णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स

श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय विश्वपूज्य

प्रातःस्मरणीय कल्पप्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर, पट्टप्रभावक चर्चाचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय धनचन्द्रसूरीश्वर, साहित्यविशारद विद्याभूषण श्रीमद् विजय भूपेन्द्रसूरीश्वर, व्याख्यानवाचस्पति श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वर, शान्तमूर्ति कविरत्न श्रीमद् विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरगुरुभ्यो नमः ।

सकल–आगम रहस्यवेदी कलिकाल सर्वज्ञ कल्प विद्वन्मान्य प्रातः स्मरणीय

प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

निर्मित

श्री अभिधानराजेन्द्रः

(सकल आगमों के समस्त संकलित शब्दों का ससंदर्भ ज्ञानमय कोष अर्थात् जिनागम कुञ्जी)

द्वितीयो भागः

('आ' से 'ऊहापन्नत')

मुनिराज दीपविजय–यतीन्द्रविजयाभ्यां प्रथमा आवृति संशोधिता संपादिता च

✿

प्रस्तुत तृतीय संस्करण प्रकाशन के प्रेरणादाता

सुविशाल गच्छाधिपति–शासन सम्राट–धर्म चक्रवर्ती –राष्ट्रसन्त-श्रुत दिवाकर–स्मित भास्कर– अनेकांत के जगप्रस्तोता–श्रमण शाश्वत धर्म के प्राण व दिशादर्शक– क्षमा दानेश्वरी–जन जन के वात्सल्य महोदधि–सत्साहित्य विधायक–जीव जगत के अक्षय अभयारण्य-

श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज साहब

प्रकाशक

श्री राजेन्द्रसूरि शताब्दि शोध संस्थान, उज्जैन (M.P.)

प्रकाशक:
राजेन्द्रसूरी शताब्दि शोध संस्थान
८७/२ विक्रम मार्ग, टावर चोक,
एस.एम.कॉम्पलेक्ष, फ्रीगंज, **उज्जैन** (M.P.)

प्राप्ति स्थान :

श्री अभिधानराजेन्द्र प्रकाशन संस्था
श्री राजेन्द्रसूरी जैन ज्ञान मन्दिर,
हाथीखाना, रतनपोल, **अहमदाबाद-३८०००१**

राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट :
शेखनो पाडो, रीलीफ रोड,
अहमदाबाद-३८०००१

राज राजेन्द्र जयंतसेन म्युजियम :
मोहनखेडा तीर्थ मार्ग,
राजगढ़, (M.P.)

पार्श्व पब्लिकेशन :
१०२, नंदन कोम्प्लेक्ष, मीठाखली गाम,
अहमदाबाद-३८०००६

विक्रम संवत् - २०७१
वीर संवत - २५४०
राजेन्द्रसूरि संवत - १०८
तृतीय आवृत्ति इस्वीसन - २०१४

सुकृत् सहयोगी
श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन श्वेताबर संघ
सुभाष चोक, गोपीपुरा, सुरत

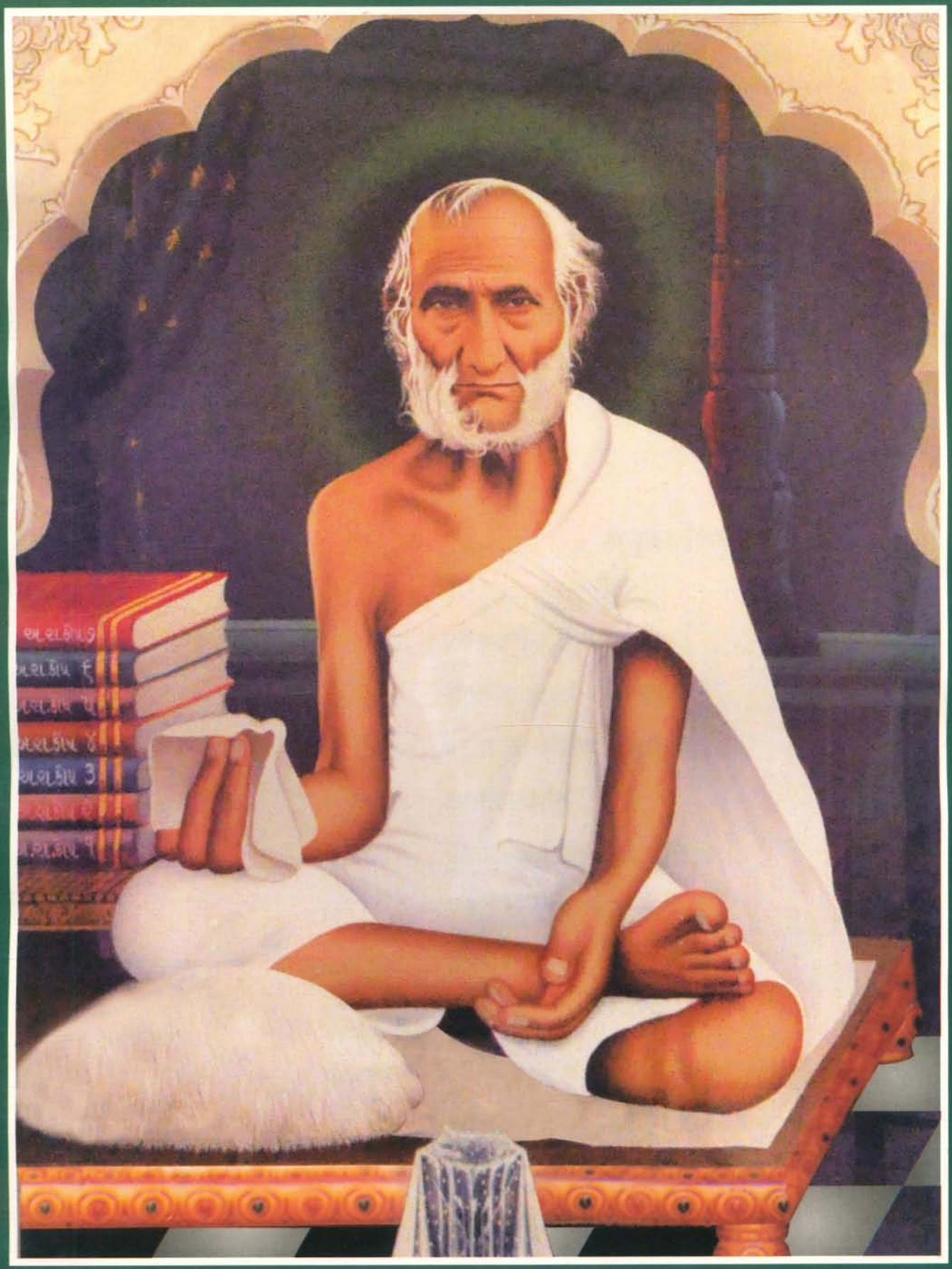
टाईप सेटिंग :
श्रीमद् जयन्तसेनसूरि सत्साहित्य कृते
श्री देवचन्द सुखराम डोलिया
इन्दौर (M.P.)

मुद्रण व्यवस्था :
खुश्बू प्रकाशन
१०३, नंदन कोम्प्लेक्ष, मीठाखली गाँव,
अहमदाबाद-६

मूल्यः संपूर्ण ७ भाग रु : ६०००-००

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि-कलिकालसर्वज्ञकल्प-परमयोगिराज

जगत्पूज्य-गुरुदेव-प्रभुश्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज



दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी - राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुतः ।
सङ्धस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान ? ॥1॥

श्री अभिधानराजेन्द्र
२०१४

अनुक्रमणिका

१.	प्रस्तावना-तृतीय आवृत्ति	४-५
२.	श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली	६
३.	प्रस्तावना-द्वितीय आवृत्ति	७-११
४.	आभार प्रदर्शन	१२-१३
५.	प्रशांत-वपुषं श्रीराजेन्द्रसूरिं नुमः	१४
६.	श्रीअभिधानराजेन्द्रः-द्वितीयो भागः	०१-१२१५

प्रस्तावना

(तृतीय आवृत्ति)

कलिकाल सर्वज्ञ कल्प–प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में तब हुए जब मुगल साम्राज्य डाँवाडोल हो चुका था, मराठा परास्त हो चुके थे और इनके साथ ही राजपूत और नवाब सभी अंग्रेजों की कूटनीतिज्ञ चाल के सामने समर्पित हो चुके थे। भारतीय संस्कृति पर कुठाराघात अपनी चरम सीमा पर था। अंग्रेज अपनी योजित शैली में भारत की अन्तरात्मा कुचलने में सफल हो रहा था। भारत के सभी धर्मावलम्बियों में शिथिलाचार जोर पकड़े हुए था। ऐसे असमंजस भरे काल में विविध जीवन–दर्शक साठ ग्रंथों के साथ अभिधान राजेन्द्रः (ज्ञान कोश) लेकर एक देदीप्यमान सूर्य के समान प्रकट हुए। इस ग्रंथ के निर्माण के साथ ही वे एक महान साधक, तपोनिष्ठ, क्रान्तिकारी युगदृष्टा के रूप में समाज और जगत् के असर कारक अप्रतिम पथ प्रदर्शक के रूप में अवतरित हुए।

आचार्य प्रवर का यह ग्रन्थराज भगवान् महावीर की वाणी का गणधरों द्वारा प्रश्रुत आर्षपुरुषों की अर्धमागधी भाषा, जिसमें सभी आगमों का संकलन हुआ है, शताब्दी का शिरमोर व विश्ववन्द्य ग्रन्थ है। यह विश्वकोश आगम साहित्य के संदर्भ ग्रन्थ के रूप में अत्यन्त मूल्यवान है। इस ग्रन्थराज की सुसमृद्ध संदर्भ–सामग्री ने, जिससे संसार सर्वथा अनभिज्ञ था, भारतीय विद्वता का मस्तक ऊँचा किया है और यूरोपीय विद्वानों ने इस ग्रन्थराज की मुक्तकंठ से भरपूर प्रशंसा की है। यह सत्यान्वेषक तथा अनुसन्धानकर्ताओं के लिए मूल्यवान पोषक रहा है। इस ग्रन्थराज के विशद ज्ञान गाम्भीर्य और विद्योदधि श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी की चमत्कारपूर्ण अद्वितीय सृजन–शक्ति के प्रति हर कोई नतमस्तक हुए बिना नहीं रहता। इस ग्रंथराज के अवलोकन करनेवालों को जैन धर्म तथा दर्शन के अपरिहार्य तथ्यों की जानकारी मंत्रमुग्ध किये बिना नहीं रहती। सूरिजी ने अंधकार–युग में अपना मार्ग स्वयं ही प्रशस्त किया और वे जगत् के लिए पथ–प्रदर्शक बने। उनका चारित्रिक बल, उनकी विद्वता और निर्भीकता प्रशंसनीय ही नहीं बल्कि समस्त विद्वज्जगत पर महान अनुग्रह हुआ है। इस महर्द्धिक ग्रन्थराज के निर्माण ने विद्वत्संसार को चमत्कृत ढंग से प्रभावित किया। इसके अनुकरण और इसकी सहायता तथा मार्गदर्शन पाकर अनेक विद्वानों ने पूरी शताब्दी भर

अपने–अपने कोश–निर्माण की भावना में इस ग्रंथराज के बीजरूप में ही रखी है। यह ग्रन्थराज बीसवीं शताब्दी की एक असाधारण घटना ही है। इसने जैन–जैनेतर सभी विद्वन्मण्डल को निरन्तरउपकृत किया है और करता रहेगा।

इस ग्रन्थराज में तमाम जैनागमों के अर्धमागधी भाषा के प्रत्येक शब्द का संकलन किया गया है और प्रत्येक शब्द का संस्कृत अनुवाद, लिंग,व्युपत्ति, अर्थ तथा सूत्रानुसार विवेचन और संदर्भ सहित ज्ञान सुविधापूर्वक दिया है, जो सुगम और अवबोध्य है।

इस ग्रन्थराज ने लुप्तप्राय अर्धमागधी भाषा को पुनरुज्जीवित करने के साथ ही इसे अमरत्व प्रदान किया है। आगम शास्त्र जिज्ञासुओं के लिए उनकी तमाम शंकाओं के समाधान के लिए यह अक्षय भंडार है।

इस ग्रंथराज के प्रथम खण्ड के अनेकांतवाद, अस्तित्ववाद, अदत्तादान, आत्मा (अप्पा), अभय, अभयारण्य, अर्हन्त जैसे विषयों पर संदर्भ सहित विशद व्याख्या के साथ प्रत्येक पाठक को आश्चर्यचकित करे, इतना ज्ञान आकर्षक रूप से व्याख्यायित है, जिनके अर्थबोध को पाकर हर कोई प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

इस ग्रंथराज के निर्माण के समय कुछ अक्षरों की अनुपलब्धता के कारण उनके स्थान पर वैकल्पिक अक्षर का उपयोग किया गया था जिससे पाठक–वृंद को पठन करने में जो असुविधा होती रही है उसका इस आवृत्ति में जिन वैकल्पिक अक्षरों का उपयोग किया गया था, उन्हें दूर कर दिया गया है तथा सर्वबोध्य अक्षरों का उपयोग कर लिया गया है। जिनके लिए वैकल्पिक अक्षर उपयोग में लिये गये थे वे हैं– अ, इ,उ, ऊ, ऋ, छ, झ, ठ, ड, ड्ढ, द,द्भ, द्ग, द्व्य, भ, ल, ट्ठ, क्ष, ज्ञ, त्र, द्ध, द्व, क्र, क्त, ह्न। अब इस प्रथम भाग की तृतीय आवृत्ति में वैकल्पिक रूप हटाकरप्रवर्त्तमान प्रचलित अक्षरों का यथास्थान उपयोग कर लिया गया है।

प्रज्ञा–पुरुष के इस ग्रन्थराज के विषय में, इसकी ज्ञान–गरिमा और आध्यात्मिक साधना की अभिव्यक्ति के विषय में कुछ कहना दैदीप्यमान सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। अन्त में इतना ही कि यह चिर प्रतिक्षित संशोधित आवृत्ति आपके हाथों में रखते हुए आनंद की अनुभूति हो रही है ।

आचार्य जयन्तसेनसूरि

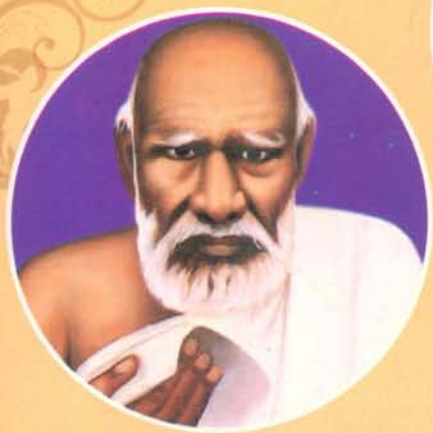
श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

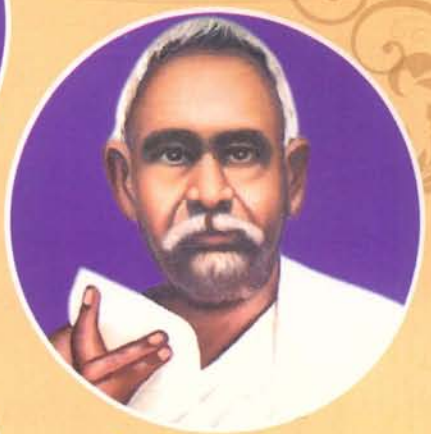
१ श्रीसुधर्मास्वामी
२ श्रीजम्बूस्वामी
३ श्रीप्रभवस्वामी
४ श्रीसय्यंभवस्वामी
५ श्रीयशोभद्रसूरि
६ श्रीसंभूतविजयजी
श्रीभद्रबाहुस्वामी
७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
८ श्रीआर्यसुहस्तीसूरि
श्रीआर्यमहागिरि
९ श्रीसुस्थितसूरि
श्रीसुप्रतिबद्धसूरि
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
११ श्रीदिन्नसूरि
१२ श्रीसिंहगिरिसूरि
१३ श्रीवज्रस्वामीजी
१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी
१६ श्रीसामन्तभद्रसूरि
१७ श्रीवृद्धदेवसूरि
१८ श्रीप्रद्योतनसूरि
१९ श्रीमानदेवसूरि
२० श्रीमानतुङ्गसूरि
२१ श्रीवीरसूरि
२२ श्रीजयदेवसूरि
२३ श्रीदेवानन्दसूरि
२४ श्रीविक्रमसूरि
२५ श्रीनरसिंहसूरि
२६ श्रीसमुद्रसूरि
२७ श्रीमानदेवसूरि
२८ श्रीविबुधप्रभसूरि
२९ श्रीजयानन्दसूरि
३० श्रीरविप्रभूसरि
३१ श्रीयशोदेवसूरि
३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
३३ श्रीमानदेवसूरि
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
३५ श्रीउद्योतनसूरि
३६ श्रीसर्वदेवसूरि
३७ श्रीदेवसूरि
३८ श्रीसर्वदेवसूरि
३९ श्रीयशोभद्रसूरि
श्रीनेमिचन्द्रसूरि
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
४१ श्रीअजितदेवसूरि
४२ श्रीविजयसिंहसूरि
४३ श्रीसोमप्रभसूरि
श्रीमणिरत्नसूरि
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
४५ श्रीदेवेन्द्रसूरि
श्रीविद्यानन्दसूरि
४६ श्रीधर्मघोषसूरि
४७ श्रीसोमप्रभसूरि
४८ श्रीसोमतिलकसूरि
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
५५ श्रीहेमविमलसूरि
५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
५७ श्रीविजयदानसूरि
५८ श्रीहीरविजयसूरि
५९ श्रीविजयसेनसूरि
६० श्रीविजयदेवसूरि
श्रीविजयसिंहसूरि
६१ श्रीविजयप्रभसूरि
६२ श्रीविजयरत्नसूरि
६३ श्रीविजयक्षमासूरि
६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि
६८ श्री विजयधनचन्द्रसूरि
६९ श्री विजयभूपेन्द्रसूरि
७० श्री विजययतीन्द्रसूरि
७१ श्री विजयविद्याचन्द्रसूरि
७२ प्रवर्तमान आचार्य
श्री विजयजयन्तसेनसूरि



राजेन्द्र कोश



धनचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



मोहनविजयजी म.सा.



राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



भूपेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



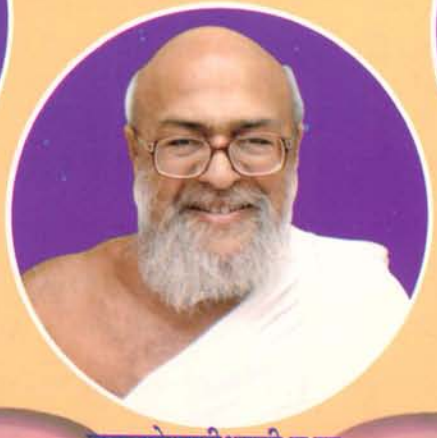
यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



श्री गुलाबविजयजी म.सा.



विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



जयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा.

प्रस्तावना

(द्वितीयावृत्ति)

अनादि से प्रवहमान है श्री वीतराग परमात्मा का परम पावन शासन ! अनादि मिथ्यात्व से मुक्त होकर आत्मा जब सम्यक्त्व गुण प्राप्त करती है, तब आत्मिक उत्क्रान्ति का शुभारंभ होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रम आत्मा में परिलक्षित होता है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय तथा मन से ग्राह्य हैं, अतः इनका समावेश परोक्षज्ञान में होता है, परन्तु अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान एवं केवलज्ञान आत्म ग्राह्य हैं ; अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान में समाविष्ट हैं।

सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही मिथ्यात्व का घना अंधेरा दूर हो जाता है और आत्मा संपूर्णता की ओर गतिमान होती है। यही सम्यक्त्व आत्मा को परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रेसर करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा लौकिक भावों से अलग हो कर लोकोत्तर भावों की चिन्तनधारा में स्वयं को डुबो दे ' जिन खोजा तिन पाईयाँ गहरे पानी पैठ।'

संसार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है आश्रव और बन्ध। दुःख से मुक्ति के लिए इनको दूर करना आवश्यक है तथा इसके साथ ही संवर और निर्जरा भी आवश्यक है। बन्धन सहज है, पर यदि उसके कारण भाव एवं कारण स्थिति से स्वंय को अलग रखा जाये तो अवश्य ही हम निर्बन्ध अथवा अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

जिनागम में अध्यात्म समाया हुआ है। सहज स्थिति की कामना करनेवालों को चाहिये कि वे जिनवाणी का श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, अनुशीलन आदि करते रहें।

कर्म और आत्मा का अनादि से घना रिश्ता है, अतः कर्म आत्मा के साथ ही लगा रहता है, जैसे खदान में रहे हुए सोने के साथ मिट्टी लगी हुई होती है। मिट्टी सुवर्ण की मलिनता है और कर्म आत्मा की। प्रयोग के द्वारा मिट्टी सुवर्ण से अलग की जा सकती है। जब दोनों अलग अलग होते हैं तब मिट्टी मिट्टी रूप में और सुवर्ण सुवर्ण के रूप में प्रकट होता है। मिट्टी को कोई सुवर्ण नहीं कहता और न ही सुवर्ण को कोई मिट्टी कहता है। ठीक इसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल आलोक में सम्यक् चारित्र के प्रयोग द्वारा अपने में से कर्म रज पूरी तरह झटक देती है और अपनी मलिनता दूर करके उज्ज्वलता प्रकट कर देती है।

कर्म की आठों प्रकृतियाँ अपने अपने स्वभावानुसार सांसारिक प्रवृत्तियों में रममाण आत्मा को कर्म के फल भुगतने के लिए प्रेरित करती रहती है। जिन्हें स्वयं का ख्याल नहीं है और जो असमंजस स्थिति में है, ऐसे संसारी जीवों की कर्म प्रकृतियाँ विभाव परिणमन करा लेती हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म आँखों पर रही हुई पट्टी के समान है। नजर चाहे जितनी सूक्ष्म हो, पर यदि आँखों पर कपड़े की पट्टी लगी हो, तो कुछ भी दिखाई नहीं देता, ठीक इसी प्रकार आत्मा की निर्मल ज्ञानदृष्टि को ज्ञानवरणीय कर्म आवृत कर लेता है। इससे ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है। यह कर्म जीव को उल्टी चाल चलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म राजा के पहरेदार के समान है। जिस प्रकार पहरेदार दर्शनार्थी को राजदर्शन से वंचित रखता है, उसे महल में प्रवेश करने से रोकता है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखता है। यह जीव को प्रमत्त भाव में आकण्ठ डुबो देता है, अतः जीव अप्रमत्त भाव से सर्वथा दूर रह जाता है। यह जीव के आत्मदर्शन के राजमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और जीव को उन्मार्गगामी बनाता है।

मधुलिप्त असि धार के समान है वेदनीय कर्म। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बना कर उसे अनन्त दुःख समुद्र में धकेल देता है।

साता का वेदन तो यह अत्यल्प करवाता है , पर असाता का वेदन यह अत्यधिक करवाता है। शहद लगी तलवार की धार को चाटने वाला शहद की मधुरता तो पाता है और सुख का अनुभव भी करता है, पर जीभ कट जाते ही असह्य दुःख का अनुभव भी उसे करना पड़ता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख के साथ अपार दुःख का भी वेदन करता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। मदिरा प्राशन करने वाला मनुष्य अपने होश–हवास खो बैठता है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म से प्रभावित जीव अपने आत्म–स्वरूप को भूल जाता है और पर पदार्थों को आत्म स्वरूप मान लेता है। यही एक मात्र कारण है जीव के संसार परिभ्रमण का। 'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपकुं भरमत बादि।' यह जीव के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग में रुकावट डालता है।

जो मनुष्य इस मोहनीय कर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है और जो इसकी स्थिति का अनुभव नहीं करता, वह अपने जीवन में आत्म विकास से वंचित रह जाता है। अहंकार और ममत्व जब तक हममें विद्यमान हैं। तब तक हम मोहनीय कर्म के बन्धन में जकड़े हुए ही हैं। अहंकार और ममत्व जितना जितना घटता जाता है, उतना ही मोहनीय कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। यह मोहनीय कर्म समस्त कर्मसत्ता का अधिपति है और सबसे लम्बी उम्र वाला है। इस मोह राजा के निर्देशन में ही कर्म सेना आगे कूच करती है। जीव को भेद विज्ञान से वंचित रखनेवाला यही कर्म है। इसने ही जीव को संसार की भूलभुलैया में भटकाये रखा है।

और बेड़ी के समान है आयुष्य कर्म। इसने जीव को शरीर रूपी बेड़ी लगा दी है, जो अनादि से आज तक चली आ रही है। एक बेड़ी टूटती है, तो दूसरी पुनः तुरंत लग जाती है। सजा की अवधि पूरी हुए बिना कैदी मुक्त नहीं होता, इसी प्रकार जब तक जीव की जन्म जन्म की कैद की अवधि पूरी नहीं होती, तब तक जीव मुक्ति का आनंद नहीं पा सकता।

नाम कर्म का स्वभाव है चित्रकार के समान। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र चित्रापट पर अंकित करता है, ठीक इसी प्रकार नाम कर्म चर्तुगति में भ्रमण करने के लिए विविध जीवों को भिन्न–भिन्न नाम प्रदान करता है। इसके प्रभाव से जीव इस संसार पट पर नाना प्रकार के नाम धारण करके देव, मनुष्य, तिर्यच और नरक गति में भ्रमण करता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। कुम्हार अनेक प्रकार के छोटे बड़े बर्तन बनाता है और उन्हें विभिन्न आकार प्रदान करता है। गोत्र कर्म भी जीव को उच्च और नीच गोत्र प्रदान करता है, जिससे जीव को उच्च या नीच गोत्र में जन्म धारण करना पड़ता है।

इसी प्रकार अन्तराय कर्म है– राजा के खजाँची के समान। खजाने में माल तो बहुत होता है पर कुञ्जी खजाँची के हाथ में होती है, अतः खजाने में से याचक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यही कार्य अन्तराय कर्म करता है। इसके प्रभाव से जीव को इच्छित वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। दान, लोभ, भोग, उपभोग और वीर्य (आत्म शक्ति) के विषय में अन्तराय कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। संक्षेप में ही है, जैन दर्शन का कर्मवाद।

इसी प्रकार जिनागमों में आत्मवाद, अनेकान्तवाद, षट्द्रव्य, नवतत्व, मोक्ष मार्ग आदि ऐसे विषयों का समावेश है, जो जीव के आत्म विकास में परम सहायक हैं। द्वादशांगी जिनवाणी का विस्तार है। आत्म कल्याण की कामना करने वालों के लिए द्वादशांगी का गहन अध्ययन् अत्यंत आवश्यक है।

संसारस्थ प्रत्येक जीव को स्व–स्वरूप अर्थात् ईश्वरत्व प्राप्त करने का अधिकार केवल जैन–धर्म–दर्शन ही देता है, अन्य कोई नहीं। ' सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरण व्रज। ' बुद्धं शरणं गच्छामि ..... धम्मं सरणं गच्छामि।' और केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। इन तीनों पक्षों के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम पक्ष जीव के लिए केवलीप्रणीत धर्म के दरवाजे खुले रखता है। इस धर्म में प्रवेश करके जीव स्वयं अनन्त ऐश्वर्यवान, केवलज्ञान सम्पन्न बन जाता है। जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। अन्य समस्त धर्म दर्शनों में जीव को परमात्म प्राप्ति के बाद भी परमात्मा से हीन माना गया है, जब कि जैनधर्मदर्शन में परमात्म पद प्राप्ति के पश्चात् जीव को परमात्म स्वरूप ही माना गया है। यह जैन धर्म की अपनी अलग विशेषता है।

परमज्ञानी परमात्मा की पावन वाणी *जीव की इस अनुपम एवं असाधारण स्थिति का स्पष्ट बोध कराती है। प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी एवं* स्याद्वाद शैली से संवृत्त जिनवाणीमय जिनागमों के गहन अध्ययन के लिए विभिन्न संदर्भ ग्रन्थों का अनुशीलन अत्यंत आवश्यक है।

आज से सौ साल पूर्व उचित साधनों के अभाव में जिनागमों का अध्ययन अत्यन्त दुष्कर था। विश्व के विद्वान जिनागम की एक ऐसी कुंजी तलाश रहे थे, जो सारे रहस्य खोल दे और उनकी ज्ञानपिपासा बुझा सके।

ऐसे समय में एक तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध त्यागवृद्ध तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध दिव्य पुरुष ने यह काम अपने हाथ में लिया। वे दिव्य पुरुष थे उत्कृष्ट चारित्र क्रिया पालक गुरुदेवप्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। उन्होंनें जिनागम की कुंजी निर्माण करने का जटिल कार्य सियाणा नगरस्थ श्री सुविधिनाथ जिनालय की छत्र छाया में अपने हाथ में लिया। कुंजी निर्माण की यह प्रक्रिया पूरे चौदह वर्ष तक चलती रही और सूरत में कुंजी बन कर तैयार हो गयी। यह कुंजी है 'अभिधान राजेन्द्र'। यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आगमों का अध्ययन करते वक्त 'अभिधान राजेन्द्र' पास में हो तो और कोई ग्रन्थ पास में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनागमों में निर्दिष्ट वस्तुतत्त्व जो ' अभिधान राजेन्द्र 'में है, वह अन्यत्र हो या न हो, पर जो नहीं है; वह कहीं नहीं है। यह महान ग्रन्थ जिज्ञासु की तमाम जिज्ञासाएँ पूर्ण करता है।

भारतीय संस्कृति में इतिहास पूर्व काल से कोश साहित्य की परम्परा आज तक चली आ रही है। निघंटु कोश में वेद की संहिताओं का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। ' यास्क ' की रचना ' निरुक्त ' में और पाणिनी के ' अष्टाध्यायी ' में भी विशाल शब्द संग्रह दृष्टिगोचर होता है ये सब कोश गद्य लेखन में हैं।

इसके पश्चात् प्रारंभ हुआ पद्य रचनाकाल। जो कोश पद्य में रचे गये, वे दो प्रकार से रचे गये। एक प्रकार है, एकार्थक कोश और दूसरा प्रकार है — अनेकार्थक कोश।

कात्यायन की ' नाममाला ', वाचस्पति का ' शब्दार्णव ', विक्रमादित्य का 'शब्दार्णव' भागुरी का 'त्रिकाण्ड' और धनवन्तरी का निघण्टु, इनमें से कुछ प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्य। उपलब्ध कोशों में अमरसिंह का ' अमरकोश ' अत्यधिक प्रचलित है।

धनपाल का ' पाइयलच्छी नाम माला ' २७९ गाथात्मक है और एकार्थक शब्दों का बोध कराता है। इसमें ९९८ शब्दों के प्राकृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने ' पाइयलच्छी नाम माला ' पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई है।

धनञ्जय ने 'धनञ्जय नाम माला ' में शब्दान्तर करने की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत की है। 'धर ' शब्द के योग से पृथ्वी वाचक शब्द पर्वत वाचक शब्द बन जाते हैं –जैसे भूधर, कुधर इत्यादि। इस पद्धति से अनेक नये शब्दों का निर्माण होता हैं।

इसी प्रकार धनञ्जय ने ' अनेकार्थ नाममाला ' की रचना भी की है।

कलिकाल, सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान चिन्तामणि ', 'अनेकार्थ संग्रह ', निघण्टु संग्रह और ' देशी नाममाला ' आदि कोश ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अलावा ' शिलोंछ कोश' 'नाम कोश 'शब्द चन्द्रिका ', 'सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव ', शब्दभेद नाममाला' ' नाम संग्रह' , शारदीय नाममाला ', शब्द रत्नाकर ', 'अव्ययैकाक्षर नाममाला' शेष नाममाला, ' शब्द सन्दोह संग्रह ', ' शब्द रत्न प्रदीप ', विश्वलोचन कोश ', 'नानार्थ कोश ' पंचवर्ग संग्रह नाम माला', अपवर्ग नाम माला', एकाक्षरी नानार्थ कोश,' 'एकाक्षर नाममलिका', एकाक्षर कोश', ' एकाक्षर नाममाला ', ' द्वयक्षर कोश ', देश्य निर्देश निघण्टु ', 'पाइय सद्दमहण्णव ', अर्धमागधी डिक्शनरी ', जैनागम कोश', ' अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश', 'जैनेन्द्र सिद्धांत कोश' इत्यादि अनेक कोश ग्रन्थ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये हैं ।

इनमें से कई कोश ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र' के पूर्व प्रकाशित हुए हैं और कुछ पश्चात् भी। 'अभिधान राजेन्द्र ' की अपनी अलग विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह आज भी समस्त कोश ग्रन्थों का सिरमौर बना हुआ है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दीया दिखाने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार इस महाग्रन्थ को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य स्वयमेव प्रकाशित है और यह ग्रन्थराज भी स्वयमेव प्रमाणित है, फिर भी इसकी कुछ विशेषताएं प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

'अभिधान राजेन्द्र' अर्धमागधी प्राकृत भाषा का कोश है। भगवान महावीर के समय में प्राकृत लोक भाषा थी। उन्होंने इसी भाषा में आम आदमी को धर्म का मर्म समझाया। यही कारण है कि जैन आगमों की रचना अर्धमगामी प्राकृत में की गई। इस महाकोष में श्रीमद् ने प्राकृत शब्दों का

मर्म 'अ'कारादि क्रम से समझाया है , यह इस महाग्रंथ की वैज्ञानिकता है। उन्होंने मूल प्राकृत शब्द का अर्थ स्पष्ट करते वक्त उसका संस्कृत रूप, लिंग, व्युत्पत्ति का ज्ञान कराया है, इसके अलावा उन शब्दों के तमाम अर्थ सन्दर्भ सहित प्रस्तुत किये हैं ।

वैज्ञानिकता के अलावा इसमें व्यापकता भी है जैन धर्म--दर्शन का कोई भी विषय इससे अछूता नहीं रह गया है। इसमें तथ्य प्रमाण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें स्याद्वाद, ईश्वरवाद, सप्तनय, सप्तभंगी, षड्दर्शन, नवतत्त्व, अनुयोग, तीर्थ परिचय आदि समस्त विषयों की सप्रमाण जानकारी है। सत्तानवे सन्दर्भ ग्रंथ इसमें समाविष्ट हैं।

वैज्ञानिक और व्यापक होने के साथ–साथ यह सुविशाल भी हैं। सात भागों में विभक्त यह विश्वकोश लगभग दस हजार रॉयल पेजों में विस्तारित है। इसमें धर्म –संस्कृति से संबधित लगभग साठ हजार शब्द सार्थ व्यख्यायित हुए हैं। उनकी पुष्टि–सप्रमाण व्याख्या के लिए इसमें चार लाख से भी अधिक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इसके सात भागों को यदि कोई सामान्य मनुष्य एक साथ उठाना चाहे, तो उठाने के पहले उसे कुछ विचार अवश्य ही करना पड़ेगा।

इस महाग्रंथ के प्रारंभिक लेखन की भी अपनी अलग कहानी है। जिस जमाने में यह महाग्रंथ लिखा गया, उस समय लेखन साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। श्रीमद् गुरुदेव ने रात के समय लेखन कभी भी नहीं किया। कहते हैं वे कपड़े का एक छोटा सा टुकड़ा स्याही से तर कर देते थे और उसमें कलम गीली करके लिखते थे। एक स्थान पर बैठ कर उन्होंने कभी नहीं लिखा। चार्तुमास काल के अलावा वे सदैव विहार--रत रहे। मालवा, मारवाड़, गुजरात के प्रदेशों में उन्होंने दीर्घ विहार किये , प्रतिष्ठा–अंजनशलाका, उपधान, संघप्रयाण आदि अनेक धार्मिक व सामाजिक कार्य सम्पन्न किये, जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान किया और प्रतिपक्षियों द्वारा प्रदत्त मानसिक संताप भी सहन किये। साथ--साथ ध्यान और तपश्चर्या भी चलती रही। ऐसी विषम परिस्थिति में केवल चौदह वर्ष में एक व्यक्ति द्वारा इस ' जैन विश्वकोश ' का निर्माण हुआ, यह एक महान आश्चर्य है। इस महान ग्रंथ के प्रणयन ने उन्हें विश्वपुरुष की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है और विश्वपूज्यता प्रदान की है।

श्रीमद् विजय यशोदेव सूरिजी महाराज 'अभिधान राजेन्द्र' और इसके कर्त्ता के प्रति अपना भावोल्लास प्रकट करते हुए लिखते हैं – आज भी यह (अभिधान राजेन्द्र) मेरा निकटतम सहचर है। साधनों के अभाव के जमानें में यह जो महान कार्य सम्पन्न हुआ है , इसका अवलोकन करके मेरा मन आश्चर्य के भावों से भर जाता है और मेरा मस्तक इसके कर्त्ता के इस भगीरथ पुण्य पुरुषार्थ के आगे झुक जाता है। मेरे मन में उनके प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न होता है, क्योंकि इस प्रकार के (महा) कोश की रचना करने का आद्य विचार केवल उन्हें ही उत्पन्न हुआ और इस विकट समय में अपने विचार पर उन्होंने पालन भी किया। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र में बीसवीं सदी की असाधारण घटना कौन सी है, तो मेरा संकेत इस कोश की ओर ही होगा, जो बड़ा कष्ट साध्य एवं अर्थसाध्य है।

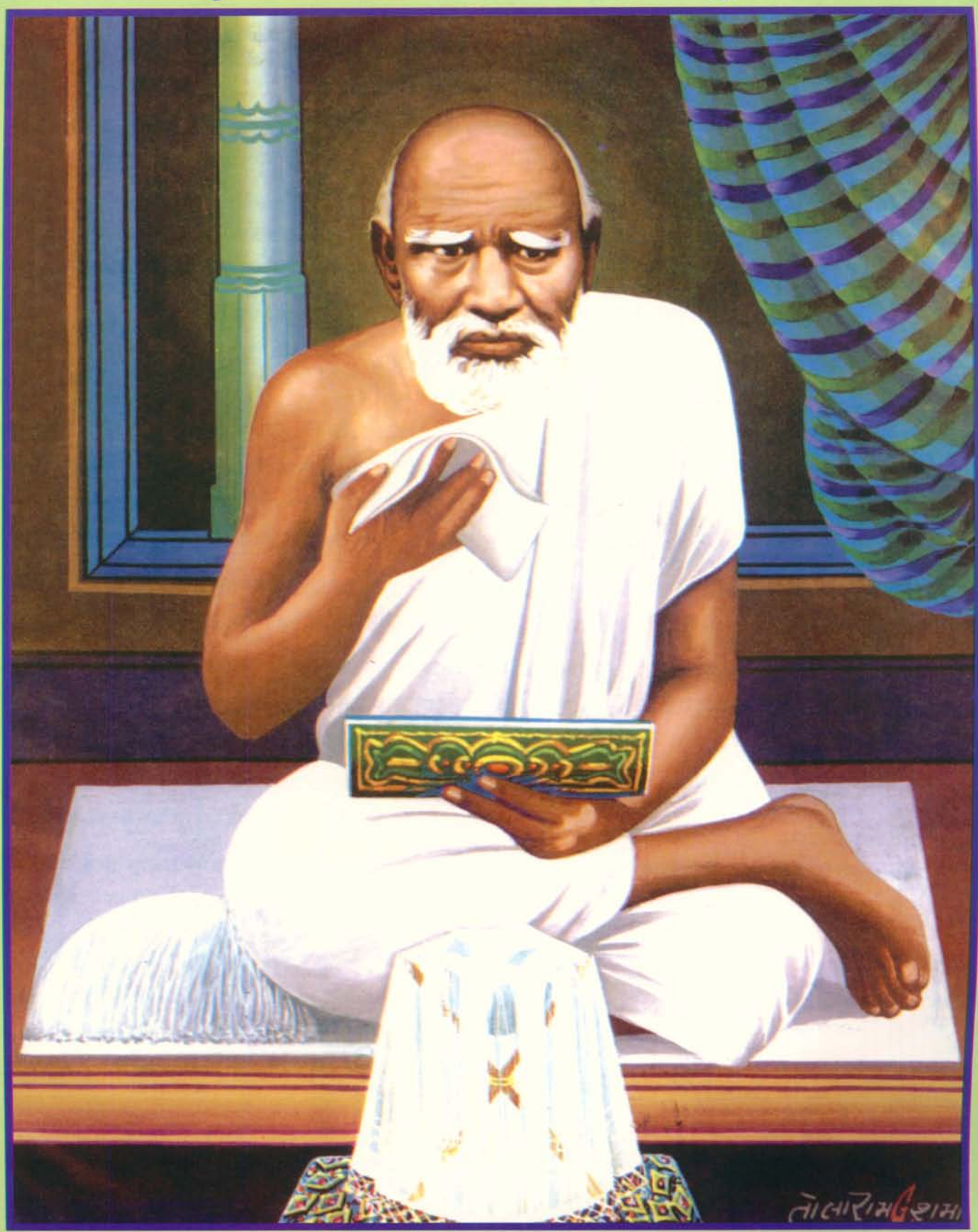
प्रस्तुत बृहद् विश्वकोश को पुनः प्रकाशित करने की हलचल और हमारा दक्षिण विहार दोनों एक साथ प्रारम्भ हुए। बंबई चार्तुमास में हमारा अनेक मुनिजनों और विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। जो भी मिला उसने यही कहा कि 'अभिधान राजेन्द्र' जो कि दुलर्भ हो गया है, उसे पुनः प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ किया जाये। हमें यह भी सुनना पड़ा कि यदि आपके समाज के पास वर्तमान में इसके प्रकाशन की कोई योजना न हो, तो हमें इनके प्रकाशन का अधिकार दीजिये। हमनें उन्हें आश्वस्त करते हए कहा कि त्रिस्तुतिक जैन संघ इस मामले में सम्पन्न एवं समर्थ है। 'अभिधान राजेन्द्र' यथावसर शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रीमद् पूज्य गुरुदेव की यह महती कृपा हुई कि हम क्रमशः विहार करते हुए मद्रास पहुँच गये। तामिलनाडू राज्य की राजधानी है यह मद्रास । दक्षिण में बसे हुए दूर–दूर के हजारों श्रद्धालुओं ने इस चार्तुमास में मद्रास की यात्रा की। मद्रास चार्तुमास आज भी हमारे लिए स्मरणीय है। चार्तुमास समाप्ति के पश्चात् पौष सुदी सप्तमी के दिन मद्रास में गुरु सप्तमी उत्सव मनाया गया। गुरु सप्तमी प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज साहब का जन्म और स्मृति दिन है। गुरु सप्तमी के पावन अवसर पर एक विद्वद् गोष्ठी का आयोजन किया गया। उपस्थित विद्वानों ने अपने प्रवचन में पूज्य गुरुदेव श्री के महान कार्यों की प्रशस्ति करते हुए उनकी समीचीनता प्रकट की और प्रशस्ति में 'अभिधान राजेन्द्र ' का उचित मूल्यांकन करते हुए इसके पुर्नमुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस ग्रन्थराज का प्रकाशन एक भगीरथ कार्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाने का आह्वान मैंने मद्रास संघ को किया। आह्वान होते ही संघ हिमाचल से गुरुभक्ति गंगा उमड़ पड़ी। इस महत्कार्य के लिए भरपूर सहयोग का हमें आश्वासन प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की छपाई गतिमान हुई, पर 'श्रेयांसि

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर-चत्राचक्रवर्ति-आगमरहस्यवेदी-श्रुतस्थविरमान्य-

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज



विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरसवद्विलासम् ।
हृद्ध्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ॥ 1 ॥

बहुविघ्नानि' की उक्ति के अनुसार हमें यह पुनीत कार्य स्थगित करना पड़ा। कोई ऐसा अवरोध इसके प्रकाशन मार्ग में उपस्थित हो गया कि उसे दूर करना आसान नहीं था। प्रकाशन को स्थगित करना सबके लिए दुःखद था, पर मैं मजबूर था। आंतरिक विरोध को जन्म देकर कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है।

हमारी इस मजबूरी से नाजायज लाभ उठाया– दिल्ली की प्रकाशन संस्थाओं ने ....! उन्होंने इस पुनीत ग्रन्थ को शुद्ध व्यावसायिक दृष्टि से चुपचाप प्रकाशित कर दिया। श्रीमद् गुरुदेव ने जो भी लिखा, स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय लिखा, व्यवसायियों के लिए नहीं। यही कारण है कि इसकी प्रथम आवृत्ति में यह स्पष्ट कर दिया कि इसके पुनःप्रकाशन का अधिकार त्रिस्तुतिक सकल संघ को है। ' त्रिस्तुतिक समाज की इस अनमोल धरोहर को प्रकाशित करने से पहले त्रिस्तुतिक समाज को इसके प्रकाशन से आगाह करना आवश्यक था। ऐसा न करके अन्य प्रकाशकों ने एक तरह से नैतिकता का भंग ही किया है।

श्री भाण्डवपुर तीर्थ पर अखिल भारतीय श्रीसौधर्मवृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ का विराट अधिवेशन सम्पन्न हुआ। देश के कोने–कोने से गुरुभक्त उस अधिवेशन के लिए उपस्थित हुए। पावनपुण्यस्थल श्री भाण्डवपुर भक्तजनों के भक्तिभाव की स्वर लहरियों से गूंज उठा।

अधिवेशन प्रारंभ हुआ। संयमयःस्थविर मुनिप्रवर श्री शान्तिविजयजी महाराज साहब आदि मुनि मण्डल की सान्निध्यता में मैंने संघ के समक्ष विश्व की असाधारण कृत्ति इस ' अभिधान राजेन्द्र' के पुनःप्रकाशन का प्रस्ताव रखा। श्री संघ ने हार्दिक प्रसन्नता व हार्दिक व अपूर्व भावोल्लास के साथ मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया और उसी जाजम पर श्रीसंघ ने इसे प्रकाशित करने की घोषणा कर दी। परमकृपालु श्रीमद् गुरुदेव के प्रति श्री संघ की यह अनन्य असाधारण भक्ति सराहनीय है।

और आज अखिल भारतीय श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ के द्वारा यह कोश ग्रन्थ पुनर्मुद्रित होकर विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है, यह हम सबके लिए परम आनंद का विषय है।

इस महाग्रन्थ के पुनर्मुद्रण हेतु एक समिति का गठन किया गया है, फिर भी इस प्रकाशन में अपना अमूल्य योगदान देने वाले श्रेष्ठिवर्य संघवी श्री गगलभाई अध्यक्ष अ.भा .सौ.बृ.त्रिस्तुतिक संघ गुजरात विभागीय अध्यक्ष श्री हीराभाई, मंत्री श्री हिम्मतभाई एवं स्थानीय समस्त कार्यकताओं की सेवाओं को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। इनकी सेवाएं सदा स्मरणीय हैं।

इस कार्य में हमें पंडित श्री मफतलाल झवेरचन्द का स्मरणीय योगदान मिला है। प्रेसकार्य, प्रुफरीडिंग एवं प्रकाशन में हमें उनसे अनमोल सहायता मिली है। हम उन्हें नहीं भूल सकते।

त्रिस्तुतिक संघ के समस्त गुरुभक्तों ने इस प्रकाशन हेतु जो गुरुभक्ति प्रदर्शित की है, वह इतिहास में अमर हो गई है। वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस कार्य में भाग लिया है। शुभम्।

नेनावा (बनासकांठा)

दिनांक २–१२–८५

– आचार्य जयन्तसेनसूरि

आभार–प्रदर्शनम् ।

--०--

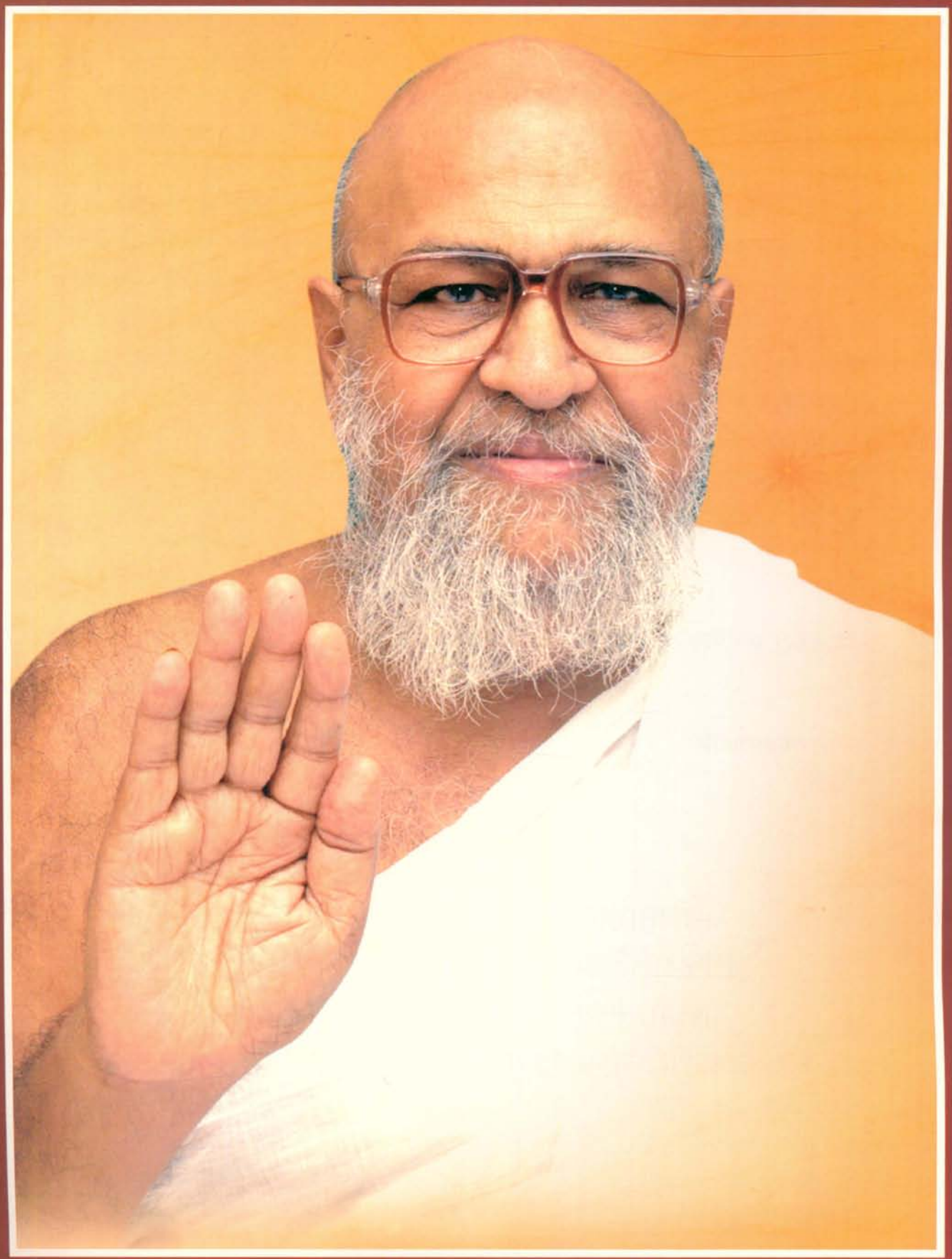
सुविहितसूरिकुलतिलकायमान–सकलजैनागमपारदृश्व–आबालब्रह्मचारी–जङ्गमयुगप्रधान–प्रातःस्मरणीय–परमयोगिराज–क्रियाशुद्ध्युपकारक–श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–सितपटाचार्य–जगत्पूज्य–गुरुदेव–भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद्–विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृतमागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्री सियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया । इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज ने भी आपको बहुत सहायता दी । इस प्रकार करीब साढे चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र–शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्रीसूर्यपुर (सूरत–गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ ।

गवालियर–रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के समय संवत् १९६३ पौष–शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी–मुनिश्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनिमहाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय –छोटे बड़े ग्राम–नगरों के प्रतिष्ठित–सद्गृहस्थों की सामाजिक–मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि–मर्हुम–गुरुदेव के निर्माण किए हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का जैन और जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इसलिए इसको अवश्य छपाना चाहिए, और इसके छपाने के लिए रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्–मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्–भागीरथजी, वीसाजी जवरचंदजीत्– प्यारचंदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्– निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख–रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र– कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकरप्रिन्टिंगप्रेस' स्वतन्त्र खोलना चाहिए । कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का समस्त–भार दिवंगत पूज्य–गुरुदेव के सुयोग्य–शिष्य–मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सोंपा जाए । बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदी ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिए रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य– मुनिराजों की देख–रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र–वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरीकलिकालसिद्धान्तशिरोमणी–प्रातःस्मरणीय–आचार्य–श्रीमद्धनचन्दसूरिजी महाराज, उपाध्याय–श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्रीमुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्ण–गुरुदेवसेवाहेवाक–मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्–महातपस्वी–मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज; साहित्यविशारद–विद्याभूषण–श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय–मुनिश्रीयतीन्द्रविजयी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी–मुनिश्रीहिम्मतविजयजी मुनिश्री–लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री–गुलाबविजयजी, मुनिश्री–हर्षविजयजी, मुनिश्री–हंसविजयजी, मुनिश्री–अमृतविजयजी, आदि मुनिवरों ने अपने अपने विहार में दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे देकर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहुँचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है ।

जिन जिन ग्राम–नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन–कार्य में आर्थिक–सहायता प्रदान की है, उनकी शुभसुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है –

सुविशाल गच्छाधिपति-शासन सम्राट-धर्म चक्रवर्ती-राष्ट्रसन्त-श्रुत दिवाकर-स्मित भास्कर-अनेकांत के जगदर्शन
श्रमण शाश्वत धर्म के प्राण व दिशादर्शक-क्षमा दानेश्वरी-जन जन के वात्सल्य महोदधि व
प्रेरणा पुंज-सत्साहित्य विधायक-जीव जगत् के अक्षय अभयारण्य



श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज साहब

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ–मालवा–

श्रीसंघ–रतलाम, वाँगरोद, राजगढ़,जावरा, वारोदा–बड़ा,झाबुवा,बड़नगर, सरसी, झकणावदा,खाचरोद,मुंजाखेड़ी, कूकसी, मन्दसोर, खरसोद–बड़ी, आलीराजपुर, सीतामऊ, चीरोला–बड़ा, रींगनोद, निम्बाहेड़ा, मकरावन, राणापुर, इन्दौर, बरड़िया, पारां, उज्जैन, (भाट) पचलाना, टांडा, महेन्दपुर, पटलावदिया, बाग, नयागाम, पिपलोदा, खवासा, नीमच–सिटी, दशाई, रंभापुर, संजीत, बड़ी–कड़ोद, अमला, नारायणगढ़, धामणदा, बोरी, बरड़ाबदा, राजोद, नानपुर

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ–गुजरात–

श्रीसंघ–अहमदाबाद, थिरपुर (थराद्), ढीमा, वीरमगाम, वाव, दूधवा, सूरत, भोरोल, वात्यम, साणंद, धानेरा, वासण, बम्बई, धोराजी, जामनगर, पालनपुर, डुवा, खंभात,

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ–मारवाड़–

श्रीसंघ–जोधपुर, भीनमाल, शिवगंज, आहोर, साचोर, कोरटा, जालोर, बागरा, फतेपुरा, भेंसवाड़ा, धानपुर, जोगापुरा, रमणिया, आकोली, भारुंदा, मांकलेसर, साथू, पोमावा, देवावस, सियाणा, बीजापुर, विशनगढ़, काणोदर, बाली, मांडवला, देलंदर, खिमेल, गोल, मंडवारिया, सांडेराव, साहेला, बलदूट, खुड़ाला, आलासण, जावाल, राणी, रेवतड़ा, सिरोही, खिमाड़ा, धाणसा, सिरोड़ी, कोशीलाव, बाकरा, हरजी, पावा, मोदरा, गुडाबालोतरा, एंदला का गुड़ा, थलवाड़, भूति, चाँणोद, मेंगलवा, तखतगढ, डूडसी, सूराणा, सेदरिया, थाँवला, दाधाल, रोवाडा, जोयला, धनारी, भावरी, काचोली,

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों की ओर से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है ।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय,

रतलाम (मालवा)

॥ श्रीः ॥

मत्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी–
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनाऽऽगमः
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशो,
कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितोविजयराजेन्द्रात्परोन्योस्तिकः ॥

प्रशान्त-वपुषं श्रीमद् राजेन्द्रसूरिं नुमः

विद्यालङ्करणं सुधर्मशरणं मिथ्यात्विनां दूषणं,
विद्वन्मण्डलमण्डनं सुजनता सद्बोधिबीजपदम् ।
सच्चरित्रनिधिं दयाभरविधिं प्रज्ञावतामादिमम्,
जैनानां नवजीवनं गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ १ ॥
धुर्य्यो यो दशसंख्येकेऽपि यतिनां धर्मे दृढः संयमे,
सत्वात्मा जनतोपकारनिरतो भव्यात्मनां बोधकः ।
शास्त्राणां परिशीलने दृढमतिर्ध्यानी क्षमावारिधि–
स्तं शान्तं करुणावतारमनिशं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ २ ॥
वाणी यस्य सुधासमाऽतिमधुरा दृष्टिमहाजञ्जुला,
संव्रज्या सुखशान्तिदा खलु सदाऽन्यायादिदोषापहा ।
बुद्धिर्लोकसुखानुचिंतनपरा कल्याणकर्त्री नृणां,
लोके सुप्रथिपताऽस्ति तं गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ३ ॥
य कर्त्ता जिनबिम्बकाञ्जनशलाका नामनेकाऽऽत्मनां,
मूर्तिश्चापि जिनेश्वरस्य शतशः प्रातिष्ठिपन्मन्दिरे ।
जीर्णोद्धारमनेकजैननिलयस्याचीकरच्छ्रावकै–
स्तं सत्कार्यकरं मुदा गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ४ ॥
लोके यो विहरन् सदा स्ववचनैर्वैरं मिथो देहिनां,
दूरीकृत्य सहानुभूतिरुचिरां मैत्रीं समावर्धयत् ।
मूढाँश्चापि हितोपदेशवचसा धर्मात्मनः संव्यधाद्,
देशोपद्रवनाशकं तमजित राजेन्दसूरिं नुमः ॥ ५ ॥
यो गङ्गाजलमिर्मलान् गुणगुणान् संधारयन् वर्णिराट्,
यं यं देशमश्चकार गरनैस्तं तं त्वपायीन्मुदा ।
सच्छास्त्रामृतवाक्यावर्षणवशाद् मेघव्रतं योऽधरन्,
तं सज्ज्ञानसुधानिधिं कृतिनुतं राजेन्दसूरिं नुमः ॥ ६ ॥
तेजस्वी तपसा प्रदीप्तवदनः सौम्योऽतिवक्ताचलः,
शास्त्रार्थेषु परान् विजित्य विविधैर्मानैस्तथा युक्तिभिः ।
शिष्यांस्तानकरोत्स्वधर्मनिरतान् यो ज्ञानसिन्धुः प्रभु–
स्ते सूरिप्रवरं प्रशान्त–वपुषं राजेन्द्रसूरिः नुमः ॥ ७ ॥
लोकान्मंदमतीन्स्वधर्मविमुखप्रायान् बहून् वीक्ष्य यो,
जैनाचार्यनिबद्धसर्वनिगमानालोड्य बुद्ध्या चिरम् ।
मर्त्यान् बोधियितुं सुखेन विशदान् धर्मान्महामागधी–
कोशं संव्यत्तनोत्तमच्छमनसा राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ८ ॥
गुरुवरगुणराजिभ्राजितं सारभूतं,
परिपठति मनुष्यो योऽष्टकं शुद्धमेतत् ।
अनुभवति स सर्वां सम्पदं मानावाना–
मिति वदति मुनीशो वाचको मोहनाख्यः ॥ ९ ॥

–उपाध्याय श्री मोहनविजयजी महाराज

श्री अभिधानराजेन्द्रः

द्वितीयो भागः

अभिधानराजेन्द्रः

सिरिवद्धमाणवाणिं, पणमिअ भत्तीइ अक्खरक्कमसो।
सद्दे तेसु य सव्वं, पवयणवत्तव्वयं वोच्छं ॥१॥

आकार

आ-अव्य० (आ) आप् - क्विप् -पृषो० प्लोपः । वाक्ये, (पूर्वमित्थं नो अमंस्थाः, इदानीं त्वेवं मन्यसे इत्येवं वाक्यस्यान्यथात्वद्योतने,) स्मृतौ, (आ एवं मन्यसे इत्येवं विस्मृततस्य स्मृतौ,), अङितो निपातत्वात् प्रगृह्यसंज्ञा । ङितस्तु न । ''निपात एकाजनाङ्'' ॥१ । १ । १४ ॥ इति सूत्रात् । अत एवोक्तम- ''मर्यादायामभिविधौ, क्रियायोगेषदर्थयोः । य आकारः स ङित् प्रोक्तो, वाक्यस्मरणयोरङित् ॥१ ॥'' वाच० । अभिविधौ० (व्याप्तौ,) ''आगमसत्थग्गहणं'' ॥२१॥ आ-अभिविधिना-सकलश्रुत व्याप्तिरूपेण मर्यादया वा । आ०म० १ अ । ''आङोऽभि विहीए०'' (१२७९) अभिविधौ, । विशे० । ''आगरा० ॥८॥'' मर्यादया अभिविधिना वा । ओघ० । मर्यादायाम, (सीम्नि,) प्रज्ञा० ३६ पद ४६ सूत्र । आ०म० । प्रव० । विशे० । भ० । आघ० । सूत्र० । समन्तादित्यर्थे, उत्त० १ अ० १३ गाथा । स० । रा० । सूत्र० । अवागर्थे, (अधोभूमौ,), प्रज्ञा० २ पद ४६ सूत्र । ईषदर्थे, ॥ आङः मर्यादेषदर्थत्वात् । विशे० १२३४ गाथा । आचा० । एका० । सूत्र० । (अत्राऽङिल्लक्षण एव तात्पर्यम, ङिदंशे मर्यादायामित्यादयस्तूदाहरण-मात्रमत एव अन्यत्रापि ङित्प्रयुज्यते) अमर्षे, आभिमुख्ये, रा० । अनुकम्पायाम् , समुच्चये, अङ्गीकारे, कोपे, पिडायाम, एका० । आः किमेतदित्येवम विस्मये, स्था० ५ ठा० ३ उ० ३९४ सूत्र० एका० । सन्तोषे, सुखततौ, चिरे, लघुवस्तुनि, परितापे, विधौ, सलिले, क्षये, एका० । स्वयंभुवि, पुं० । एका । आचार्य्ये च० । स च नामैकदेशे नाममात्रग्रहणात् - ओमितिपदे आशब्दः आचार्य्य बोधयतीति । गा० ।

आअ/आगअ त्रि० (आगत) । आयाते, उपस्थिते, प्राप्ते च । आगमने, न० । वाच० । **''व्याकरणप्राकारागते क-गोः'' ॥८ १ २६८ ॥** इति हैमप्राकृतव्याकरणसूत्रेण वैकल्पिको गकारस्य सस्वरस्य लुक् । प्रा० ।

आ(असं)अरिस-पुं० (आदर्श) । दर्पणे, वाच० । **''र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा'' ॥८ २ १०५ ॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेणान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारो वैकल्पिकः । प्रा० ।

आअड्ड धा० (व्यापृ) वि-आ-पृ० । व्यापारे, तुदा० आत्म० अनिट् । ''व्याप्रेराअड्डः'' ॥८ ४ ८१ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण वैकल्पिक आअड्ड इत्यादेशः । आअड्डेइ । वावारेइ । व्याप्रियत इत्यर्थः । प्रा० ।

आअरिअ- पुं० आचार्य्य । गुरौ, वाच० । **''स्याद्भव्य- चैत्य-चौर्य्य- समेषु यात् '' ॥८ २ १०७ ॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण एकारात्पूर्व इकारः । प्रा० । **''आचार्ये चोऽच्च'' ॥८ १ ७३ ॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण अत् । प्रा० ।

आइ- पुं० (आदि) आदीयते- (गृह्यते) इति आदिः- प्रथमः । प्रव० ७१ द्वार १ गाथा । आ-दा-कि आदि । **''क ग च ज त द प य वां प्रायो लुक्'' ॥८ १ १७७ ॥** इति दलुक् । प्रथमे, प्रा० । यस्मात्परमस्ति, न पूर्वं स आदिः । अनु० ७४ सूत्र । मूलकारणे, प्रज्ञा० ११ पद १६५ सूत्र । मूलमादिरित्यनर्थान्तरमिति । आ० चू० १ अ० । प्रथमोत्पत्तौ, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० २ गाथा । प्राथम्ये, उत्त० १ अ० ३३ गाथा । प्रधाने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० २२ सूत्र । उत्सेधाख्ये नाभेरधस्तते देहभागे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ४९५ सूत्र । भेदे, (प्रकारे,) नि० चू० १ उ० । सामीप्ये, व्यवस्थायाम्, अवयवे च । आह च ''सामीप्ये च, व्यवस्थायां, प्रकारेऽवयवे तथा । चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी, ह्यादिशब्दं तु लक्षयेत् ॥१॥'' प्रश्न० १ आश्र० द्वार ३ सूत्र ।

अस्य चतुर्विधो निक्षेपः नामस्थापना द्रव्यभावभेदात्, तद्यथा-

णामादी ठवणादी, दव्वादी चेव होति भावादी ।
दव्वादी पुण दव्वस्स, जो सभावो सए ठाणे ॥१३४॥

'णामादी' त्यादि, आदेर्निक्षेपं कर्तुकाम आह-आदेर्नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपः । नाम-स्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादिं दर्शयति-द्रव्यादिः पुनर्द्रव्यस्य परमाण्वादेर्यः स्वभावः- परि-

णतिविशेषः स्वकेस्थाने- स्वकीये पर्याये प्रथमम् - आदौ भवति स द्रव्यादिः द्रव्यस्य- दध्यादेर्य आद्यः परिणतिविशेषः क्षीरस्य विनाशकालसमकालीन एवमन्यस्यापि- परमाण्वादेर्द्रव्यस्य 'जो' यः परिणतिविशेषः प्रथममुत्पद्यते स सर्वोऽपि द्रव्यादिरेवमेव भवति। ननु च कथं क्षीरविनाशसमये एव दध्युत्पादः। तथाहि- उत्पादविनाशौ भावाभावरूपौ वस्तुधर्मौ वर्तेते न च धर्मौ धर्मिणमन्तरेण भवितुमर्हति, अत एकस्मिन्नेव क्षणे तद्धर्मिणोर्दधिक्षीरयोः सत्तामाप्नोत्येतच्च दृष्टेष्टबाधितमिति, नैष दोषः। यस्य हि वादिनः क्षणमात्रं वस्तु तस्यायं दोषो, यस्य तु पूर्वोत्तरक्षणानुगमतमन्वयि द्रव्यमस्ति तस्यायं दोष एव न भवति। तथाहि- तत्परिणामि द्रव्यमेकस्मिन्नेव क्षणे एकेन स्वभावेनोत्पद्यते परेण विनश्यत्यनन्तधर्मात्मकत्वाद्वस्तुन इति। यत्किंचिदेतत्। तदेवं द्रव्यस्य विवक्षितपरिणामेनापरिणमतो य आद्यः समयः स द्रव्यादिरिति स्थितं, द्रव्यस्य प्राधान्येन विवक्षितत्वादिति।

सांप्रतं भावादिमधि कृत्याह-

आगम णोआगमओ, भावादी तं दुहा उवदिसंति।
णोआगमओ भावो, पंचविहो होइ णायव्वो ॥१३५॥

आगमओ पुण आदी, गणिपिडगं होइ वारसंगं तु।
गंथसिलोगो पदपा-दअक्खराइं च तत्थादी ॥१३६॥

'आगम' इत्यादि, भावः-अन्तःकरणस्य परिणतिविशेषस्तं वुद्धाः-तीर्थकर-गणधरादयो व्यपदिशन्ति- प्रतिपादयन्ति। तद्यथा-आगमतो, नोआगमतश्च। तत्र नोआगमतः प्रधानपुरुषार्थत याचिन्त्यमानत्वात्पञ्चविधः- पञ्चप्रकारो भवति। तद्यथा- प्राणातिपातविरमणादीनां पञ्चानामपि महाव्रतानामाद्यः प्रतिपत्तिसमय इति। तथा- 'आगमओ' इत्यादि, आगममाश्रित्य पुनरादिरेवं द्रष्टव्यः। तद्यथा-यदेत-द्गणिन-आचार्यस्य-पिटकं- सर्वस्वमाधारो वा तद्- द्वादशाङ्गं भवति। तुशब्दात्-अन्यदप्युपाङ्गादिकं द्रष्टव्यम्। तस्य प्रवचनस्यादिभूतो यो ग्रन्थस्तस्याप्याद्यः श्लोकस्तस्याप्याद्यंपदं तस्यापि प्रथममक्षरम् एवंविधो बहुप्रकारो भावादिर्द्रष्टव्य इति। तत्र सर्वस्यापि प्रवचनस्य सामायिकमादिस्तस्यापि करोमीति पदं तस्याऽपि ककारः। द्वादशानां त्वङ्गानामाचाराङ्गम् आदिस्तस्यापि शास्त्र-परिज्ञाध्ययनमस्यापि च जीवोद्देशकस्तस्यापि 'सुयं' ति पदं तस्यापि सुकार इति पदमादिरिति। अस्य च प्रकृताङ्गस्य समयाध्ययनमस्यापि आद्युद्देशक- लोक- पाद- पद- वर्णादिर्द्रष्टव्य इति। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। ''ओयम्मि उ गुणकारे, अब्भिंतर मंडले हवइ आई। जुग्गम्मि य गुणकारे, बाहिरगे मण्डले आई'' ॥४॥ अस्यार्थः- ओजोरूपेण- विषमलक्षणेन गुणकारो भवति ततः आदिः अभ्यन्तरे मण्डले द्रष्टव्यः। युग्मे तु-समे तु गुणकारे आदिः बाह्ये मण्डले अवसेयः। सू० प्र० १० पाहु० २० पाहु० पाहु० ५६ सूत्र।

***आजि**- स्त्री०। अजन्त्यस्यामिति, अज् - इण्। संग्रामे, संथा० ६७ गाथा। समरभूमौ, मर्य्यादायाम् वा ङीप्। क्षणे, मार्गे, पुं०। भावे इण। आक्षेपे च। वाच०।

आति- पुं० अत् इण्। शरारिपक्षिणि, सततगन्तरि, त्रि०। वाच०।

आइ(दिं)अंतियमरण न० (आत्यन्तिकमरण) अत्यन्तं भवमात्यन्तिकं तच्च तन्मरणं चेति कर्मधारयः। भ० १२ श० ६ उ० ४९ सूत्र। तृतीये मरणविशेषे, प्रव०।

आत्यन्तिकमरणमाह-

एमेव आइअंतिय- मरणं न वि मरइ ताणि पुणो। २३॥

आर्षत्वादित्ययं निर्देशः। एवमेव-अवधिमरणवदात्यन्ति- कमरणमपि द्रव्यादिभेदतः पञ्चविधं, विशेषः पुनरयम् - 'न वि मरइ ताणि पुणो' त्ति- अपिशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैव तानिद्रव्यादीनि पुनर्म्रियन्ते। अयमर्थः- यानि नारकाद्यायुष्कतया कर्मदलिकान्यनुभूय म्रियन्ते मृताश्च न पुनस्तान्यनुभूय मरिष्यन्तीत्येवं यन्मरणं तद् द्रव्यापेक्षया अत्यन्त- वित्वा-दात्यन्तिकमिति। एवं क्षेत्रादिष्वपि वाच्यम्। प्रव० १५७ द्वार। उत्त०। स०।

तद्भेदा यथा-

आदिंतियमरणे णं, पुच्छा, गोयमा! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा- दव्वादिंतियमरणे, खेत्तादिंतियमरणे० जाव भावादिंतिय-मरणे। (सूत्र ४९५×) भ० १३ श० ७ उ०।

(एषां भेदाः 'मरण' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यन्ते)

आइइल्ल-त्रि० (आदिम) आद्ये, अनु०*। ''डिल्ल-डुल्लौ भवे'' ॥८ २ १६३॥ इति इल्ल। प्रा०।

आइं- अव्य० (आइं)। वाक्यालङ्कारे, प्रश्न० ३ संव० द्वार २६ सूत्र। 'आइं' ति निपातः। भ० १५ श० १ उ० ५५० सूत्र। 'तक्करं एवं वयासी-अवि-आइं अहं विजया!'' (सूत्रं ४०×) 'अपिः' संभावने 'आइं' ति भाषायाम्। ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

आइकडिल्ल- नं० (आदिकडिल्ल) आद्यगहने, तच्चादिक-डिल्लमुद्गमोत्पादनैषणारूपं ज्ञानादिरूपम्। वृ० १ उ०*। ''कंटगमादीसु जधा, आदिकडिल्ले तधा जयंतस्स'' ॥ ३१३× ॥ नि० चू० ४ उ०।

आइक्ख धा० (आङ्ख्या) अदा० पर० सेट्। सामान्येन, कथने, ''आइक्खइ।'' समान्येन भाषते इत्यर्थः। औ० २७ सूत्र। सामान्येनाचष्टे। विषा० २ श्रु० १ अ० ३३ सूत्र।

***आख्येय**- त्रि०। कथनीये, स्था० ४ ठा० २ उ० ३९७ सूत्र।

आइक्खग(य) - पुं० (आख्यायक)। शुभाशुभमाख्याय जीविकां कुर्वत्या जीविकाविशेषे, जं० २ वक्ष० ३० सूत्र।

आइक्खण- न० (आख्यान) सामन्यतः कथेन, संहिताकर्ष-णपूर्वककथने च। औ० २७ सूत्र। ''संहियकड्ढणमादिक्खणं तु'' ॥८७× ॥ इह संहिताया अस्खलित पदोच्चारणरूपाया यदाकर्षणं तत् आख्यानमुच्यते, तच्चेदम्, व्रतसमितिकषायाणां धारणरक्षणविनिग्रहाः सम्यक् दण्डेभ्यश्चोपरमो धर्मः पञ्चेन्द्रियदमश्चैवं भिक्षां गते गृहस्थानां धर्मकथनार्थं संहिताकर्षणं करोति। बृ० ३ उ०।

आइक्खमाण- त्रि (आचक्षाण) कथयति, ''आइक्खमाणो'' ॥१५+॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

आइक्खिय न०(आख्यायिक) पापश्रुतविशेषे, सा च मातङ्गविद्या यदुपदेशादतीतादि कथयतीति। स्था ९ ठा० ३ उ० ६७८ सूत्र।

आइक्खित्तए- अव्य०। (आख्यातुम)- कथयितुमित्यर्थे, बृ० ३ उ० २३ सूत्र।

आइगर- त्रि० (आदिकरे) आदि करोति अहेत्वादावपि ट:। स्त्रियां ङीप्, । प्रथमकारके प्राक्सत्ताकर्त्तरि, वाच०। ''तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे'' (सूत्र- १०×) औ०। ''ते सव्वे पावाउया आदिगरा धम्माणं'' (सूत्र-४१×)। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। आदौप्रथमत: श्रुतधर्म्माचारादि ग्रन्थात्मकं कर्म करोति तदर्थप्रणायकत्वेन प्रणयतीत्येवं शील:। भ० १ श० १ उ० ५ सूत्र। आदि:-श्रुतधर्मस्य प्रथमा प्रवृत्तिस्तत्करणशील:। रा०। स्वस्वतीर्थापेक्षया धर्मस्येति॥ कल्प० १ अधि० २ क्षण १५ सूत्र। जी०। तत्करणहेतुर्वा। ध० २ अधि० ६१ श्लोक। श्रुतधर्मस्य प्रथमप्रवृत्तिकारकेतीर्थकरे च। आव० ५ अ० १ गाथा। स०। ''नमोत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आदिगराणं तित्थगराणं''॥ रा०। इहाऽऽदौ करणशीला आदिकरा अनादावपि भवे तदा तदा तत्तत्कर्माण्वादिसम्बन्धयोग्यतया विश्वस्यात्मादिगामिनो जन्मादिप्रपञ्चस्येति हृदयम्, अन्यथा अधिकृतप्रपञ्चाऽसंभव:, प्रस्तुतयोग्यता वैकल्ये प्रक्रान्तसंबन्धाऽसिद्धे: अतिप्रसङ्ग-दोषव्याघातात्, मुक्तानामपि जन्मादि प्रपञ्चस्याऽऽपत्ते:। प्रस्तुतयोग्यताऽभावेऽपि प्रक्रान्तसम्बन्धाऽविरोधादिति परिभावनीयमेतत्। न च तत्तत्कर्माण्वादेरेव तत्स्वभाव-तयाऽऽत्मनस्तथा सम्बन्धसिद्धि:, द्विष्ठत्वेन अस्योभयोस्तथास्वभावापेक्षितत्वात्, अन्यथा कल्पना-विरोधात्, न्यायानुपपत्ते:, न हि कर्माण्वादेस्तथा कल्पनायामप्यलोकाकाशेन, सम्बन्ध:, तस्य तत्संबन्धस्व- भावत्वायोगात्, अतत्स्वभावे चाऽऽलोकाकाशे विरुध्यते कर्माण्वादेस्तत्स्वभाव-ताकल्पनेति न्यायानुपपत्ति:, तत्स्वभाव-ताङ्गीकरणे चास्यास्मदभ्युपगतापत्ति:, न चैवं स्वभावमात्रवादसिद्धि:, तदन्यापेक्षित्वेन सामग्या: फलहेतु- त्वात्, स्वभावस्य चतदन्तर्ग-तत्वेनेष्टत्वात्। निर्लोठितमेतदन्यत्र इति आदिकरत्वसिद्धि:॥३॥ ल०। ''यद्यप्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासीन्न कदाचिन्न भवति, न कदाचिन्न भवष्यिति। अभूच्च, भवति च, भविष्यति च'' इति वचनात् नित्या द्वादशाङ्गी, तथाप्यर्थापेक्षया नित्यत्वं, शब्दापेक्षया तु स्वस्वतीर्थे श्रुतधर्मादिकरत्वमविरुद्धम्। ध० २ अधि० ६० श्लोक।

आइगुण- पुं० (आदिगुण)। आदौ गुण: सप्तमीतत्पुरुष:। सहभाविनि गुणे, आव० ४ अ० १२७३ गाथा। (सिद्धानामादिगुणा एकत्रिंशत्, ते च 'सिद्धाइगुण' शब्दे सप्तमभागे द्रष्टव्या:)

आइग्घ- धा० (आघ्रा) आङ्, घ्रा-भ्वा० पर० अनिट्। गन्धोपादाने, तृप्तौ च० वाच०। **''आघ्रेराइग्घ:''** ॥८। ४। १३॥ इति हैम-प्राकृतसूत्रेणाऽऽजिघ्रतेर्वैकल्पिक आइग्घाऽऽदेश:। आइग्घइ। आग्घाअइ। जिघ्रतीत्यर्थ:। प्रा०।

आइच्च- पुं० (आदित्य)। कृष्णराज्यवकाशान्तरस्थलोकान्तिक-संज्ञकार्चिर्मालिविमानस्थे लोकान्तिकदेवविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ७७ सूत्र। स्था०। भ०। ग्रैवेयकविमानविशेषे, तन्निवासिनि वैमानिकदेवविशेषे च। प्रव० २६७ द्वार। समयावलिकादीनामादौ भवे, बहुलवचनात् त्यप्रत्यय:। सू० प्र० २० पाहु० १०५ सूत्र। भ०। सूर्य्ये, आव० ४ अ०।

सूर्य्यस्यादित्यसंज्ञा यथा-

से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ-सूरे आइच्चे ? सूरे आइच्चे गोयमा ! सूरादिया णं समयाइ वा आवलियाइ वा० जाव उस्सप्पिणीइ वा अवसप्पिणीइ वा से तेणट्ठेणं गोयमा॥ जाव आइच्चे सूरे आइच्चे सूरे। (सूत्र० ४५५)

अथादित्यशब्दस्यान्वर्थाभिधानायाह- 'सेकेणमित्यादि' 'सूराइय' त्ति-सूर:- आदि:- प्रथमो येषां ते सूरादिका: के? इत्याह- 'समयाइ व' त्ति-समया:-अहोरात्रादिकालभेदानां निर्विभागा-अंशा:, तथाहि-सूर्योदयमवधिं कृत्वा अहोरात्रारम्भक: समयो गण्यते आवलिका-मुहूर्त्तादयश्च 'से तेणमि' त्यादि, अथ तेनार्थेन सूर:- आदित्य इत्युच्यते इति आदौ अहोरात्रसमयादीनां भव: आदित्य: इति व्युत्पत्ते:। त्य-प्रत्ययश्चेहाऽऽर्षत्वादिति। भ० १२ श० ६ उ०। सू० प्र०। चं० प्र०।

आदित्यस्यास्तित्वम-

णाऽऽइच्चो उएइ, ण अत्थमेइ॥७×॥

सर्वशून्यवादिनो- ह्यक्रियावादिन: सर्वाध्यक्षमादित्योद्गमना- दिकामेव क्रियां तावन्निरुधन्तीति दर्शयति- आदित्यो हि सर्वजनप्रतीतो जगत्प्रदीपकल्पो दिवसादिकालविभागकारी स एव तावन्न विद्यते, कुतस्तस्योद्गमनमस्तमयनं वा? यच्च जाज्वल्यमानं तेजोमण्डलं दृश्यते तद् भ्रान्तमतीनां द्विचन्द्रा- दिप्रतिभासमृगतृष्णि काकल्पं वर्त्तते। (सूत्र०।) अथैतन्मतस्य निराकरणम्-तथाहि-आगोपानाङ्गनादिप्रतीत: समस्तान्धकार- क्षयकारी कमलाकरोद्बो-टनपटीयानादित्योद्गम: प्रत्यहं भवन्नुपलक्ष्यते। तत्क्रिया च देशाद्देशान्तरावाप्त्याऽन्यत्र देवदत्तादौ प्रतीताऽनुमीयत इति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। सूर्याधिष्ठिते गगने दिवानिशं बम्भ्रम्यमाणे लोकप्रकाशकरे तेजोमण्डले, ''अग्नौ प्रस्ताऽऽहुति: सम्य-गादित्यमुपतिष्ठते॥ आदित्याज्जायते वृष्टि-र्वृष्टेरन्नं तत: प्रजा:'' ॥१॥ इति। मनुना अग्निहुतद्रव्याणां हविराज्यादीनां परमाणुमात्रतयाऽवस्थितानां दग्धशेषाणां सूर्यरश्मिकर्षणेन सूर्यलोकप्राप्त्या वृष्टिहेतुत्वमुक्तम्, तच्च मण्डलार्थपरत्व एव सम्भवति। वाच०। अर्कवृक्षे, पुं। आदित्यस्यापत्यम् ण्य: यलोप: आदित्यापत्ये, पुं० स्त्री०। वाच०। ''आइच्चो य होई बोधव्वो'' ॥१५॥ (भाष्यगा०)। आदित्यास्यायमादित्य: पत्युत्तरपदय-मादित्यदितेरिति ञ्याऽपदवाद-स्त्यक्। आदित्यस्याऽयम्। आदित्य:। (''अनिदमि अणपवादे च दित्यदित्या दित्ययमपत्युत्तरपदात् ञ्य:'' ॥६। १। १५॥ एभ्य: प्राग्जितीयेऽर्थे इदं वर्जे अपत्याद्यर्थे य: अणोऽपवाद: तद्विषये च ञ्य: स्यात्। इति ञ्य:*) ''व्यञ्जनात्पञ्चमान्त-स्थाया: सरूपे वा'' ॥१ ३ ४७॥ इति पाक्षिक एकस्य यकारस्य लोप:। आदित्यचार-निष्पन्नत्वादुपचारतो मासोऽप्याऽदित्य: (व्य०)। आदित्यसम्बन्धिनि तच्चारनिष्पन्ने मासादौ, स चैकस्य दक्षिणायनस्योत्तरायणस्य वा त्र्यशीत्यधिकदिनशत-प्रमाणस्य षष्ठभागमान:। यदि वा-आदित्यचार-निष्पन्नात्वादुपचारतो मासोऽप्यादित्य:। व्य० १ उ०। ''जस्स जओ आइच्चो, उएइ सा भवइ तस्स पुव्वदिसा''। (४७×)। आचा० १ श्रु० १

अ० १ उ०। ('दिसा' शब्दे चतुर्थभागे व्याख्या द्रष्टव्या)

आइच्चगय-चि० (आदित्यगत) सूर्य्याऽऽक्रान्ते नक्षत्रादौ, ''आइच्चगए अनिव्वाणी'' ॥ रविगते नक्षत्रे शुभप्रयोजने प्रारभ्यमाणेऽसुखम्। बृ० १ उ० ※।

आइच्चजस- पुं० (आदित्ययशस्) ऋषभदेववंशजे भरतात्मजे नृपभेदे, आ० चू० १ अ०। ''राया आइच्चजसे०'' ॥३६३॥ आ०म० १ अ०। स्था०। स च पुण्डरीकशिखरे सिद्धः। ती० १ कल्प। आदित्ययशःप्रभृतयो भगवन्नाभेयवंशजाः त्रिखण्डभरता- र्द्धमनुपाल्य पर्यन्ते पारमेश्वरीं दीक्षामतिगृह्य तत्प्रभावतः सकलकर्मक्षयं कृत्वा सिद्धिमगमन्निति। नं० ५६ सूत्र।

आइच्चपीढ- न० (आदित्यपीठ) गजपुरस्थे श्रेयांसेन कारिते आदितीर्थकरस्य रत्नमये पादपीठे, आ० म०।

तद्वक्तव्यता यथा-

''सेज्जंसो वि तत्थ ठितो भयवं पडिलाभितो ताणि पयाणि पाएहिं मा अंक्कमिस्सामि त्ति भत्तीए तत्थ रयणमयं पीढं करेइ तिसंजं च पूएइ। पव्वदिवसे विसेसेण पूइऊण भुंजइ। लोगो पुच्छइ। किमेयं-सेज्जंसो भणइ- ''आइतित्थयरमण्णं'' ततो लोगेण वि जत्थ जत्थ भयवं ठितो तत्थ तत्थ पीढं कय। कालेण य ''आइच्चपीढं'' जायं॥ (३४५ गाथाटी०) अक्षरगमनिका क्रियाध्याहारतः कार्य्या। यथा गजपुरं नगरमासीत्, तत्र श्रेयांसः सोमयशसो राज्ञः पुत्रः, तेनेक्षुरसदानं भगवते कृतम्। तत्रार्द्धत्रयोदशहिरण्यकोटी वसुधारा निपतिता। पीढमिति यत्र भगवता पारितं तत्र तत्पादयोर्मा कश्चिदाक्रमणं कार्षीदिति श्रेयांसेन भक्त्या रत्नमयं पीठं कारितं गुरुपूजेति तदर्चनं कृतवान्। अ०म० १ अ०।

आइच्चमास- पुं० (आदित्यमास) आदित्यस्यायमादित्यः। आदित्यचारनिष्पन्नत्वादुपचारतो वाऽऽदित्यः स चासौ मासश्च कर्मधारयसमासः। आदित्यचारनिष्पन्ने मासभेदे, स चैकस्य दक्षिणायनस्योत्तरायणस्य वा त्र्यशीत्यधिकशतदिनप्रमाणस्य षष्ठभागप्रमाणः। व्य० १ उ० ४५ गाथा।

आइच्चे णं मासे एक्कतीसं राइंदियाणं किंचि विसेसूणाइं राइंदिग्गेणं पण्णत्ते। (सूत्र ३१×)।

आदित्यमासो-येन कालेनादित्यो राशिं भुङ्क्ते 'किंचि विसेसूणाइं' ति-अहोरात्रार्द्धेन न्यूनानीति। स० ३१ स०।

आइच्चो खलु मासो, तीसं अद्धं च० ॥३७× ॥

आदित्यसंवत्सर सम्बन्धी खलु मासो भवति त्रिंशद्रात्रिन्दिवानि एकस्य च रात्रिंदिवसस्यार्धम्। तथाहि-सूर्य संवत्सरस्य परिमाणं त्रीणि शतानि षट्षष्ट्याधिकानि रात्रिंदिवानि, द्वादशभिश्च मासैः संवत्सरस्ततस्त्रयाणां शतानां षट्षष्ट्यधिकानां द्वादशभिर्भागे हृते यथोक्तं मासपरिमाणं भवति। ज्यो० २ पाहु०।

आइच्चवण्ण- त्रि० (आदित्यवर्ण)। भास्वरे, षो० १५ विव० १४ श्लोक।

आइच्चसंवच्छर- पुं० (आदित्यसंवत्सर)। प्रमाणसंवत्सराणांमध्ये चतुर्थे संवत्सरविशेषे, यावता कालेन षडपि प्रावृडादय ऋतवः परिपूर्णा आवृत्ता भवन्ति तावान् कालविशेष आदित्यसंवत्सरः। उक्तं च- ''छप्पि उऊ परियट्टा, एसो संवच्छरो उ आइच्चो'' तत्र यद्यपि लोकेषष्ट्यहोरात्रप्रमाणः प्रावृडादिक ऋतुः प्रसिद्धः; तथापि परमार्थतः स एकषष्ट्यहोरात्रप्रमाणो वेदितव्यः तथैवोत्तरकाल-मव्यभिचारदर्शनात् अत एवास्मिन् संवत्सरे त्रीणि शतानि षट्षष्ट्याधिकानि रात्रिंदिवानां भवन्ति। चं० प्र० १० पाहु० २० पाहु० पाहु०। तत्र त्र्यशीत्यधिकशततमोऽहोरात्रः प्रथमस्य षण्मासस्य पर्य्यवसानम्। षट्षष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽहोरात्रो द्वितीयस्य षण्मासस्य पर्य्यवसानम्। एष एवंप्रमाण आदित्यसंवत्सरः। चं० प्र० १ पाहु०। (एतस्य वक्तव्यता 'अहोरत्त' शब्दे प्रथमभागे गता।) ('संवच्छर' शब्द सप्तमभागे च वक्ष्यते।) (अयमेव लक्षणप्रधानतया लक्षणसंवत्सरान्तर्गतोऽपि।)

तल्लक्षणं यथा-

पुढविदगाणं च रसं, पुप्फफलाणं च देइ आइच्चो।
अप्पेण वि वासेण वि, सम्मं निप्पज्जए सस्सं ॥४॥

पृथिव्या उदकस्य तथा पुष्पाणां फलानां च रसमादित्यसंवत्सरो ददाति, तथा अल्पेनापि- स्तोकेनापि वर्षेण वृष्ट्या सस्यं निष्पद्यते, अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् सस्यं निष्पादयति। किमुक्तं भवति- यस्मिन् संवत्सरे पृथिवी तथाविधोदकसंपर्कादतीव सरसा भवति। उदकमपि परिणामसुन्दररसोपेतं परिणमते। पुष्पाणां च मधूकादिसंबन्धिनां फलानां च चूतफलादीनां रसः प्रचुरः संभवति। स्तोकेनापि वर्षेण धान्यं सर्वत्र सम्यक् निष्पद्यते तम् - आदित्यसंवत्सरं पूर्वर्षयः उपदिशन्ति। सू०प्र० १० पाहु० २० पाहु० पाहु०। स्था०।

आइजिण- पुं० (आदिजिण)। ऋषभदेवे, हेम०। वाच०।

''नमिऊण तमाइजिणं, जस्सीसे सोहए जडामउडो।
कप्पाकप्पवियारं, पच्चक्खाणे भणिस्सामि ॥१॥'' ल० प्र०॥

आइ (दे) ज्ज- त्रि० (आदेय)। आ-दा-यत्। ठाह्ये, जं० २ वक्ष०। उपादेये, उत्त० १ अ०।

आइ (दे) ज्जमाण- त्रि० (आर्द्र्यमाण)। आर्द्रीक्रियमाणे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०।

आइ (दे) ज्जवक्क त्रि० (आदेयवाक्य)। ठाह्यवाक्ये, ''से सुद्धसुत्ते उवहाणवक्के, धम्मे च जे विन्दति तत्थ तत्थ ॥ आदेज्ज-वक्के०'' ॥२७×॥ एतद्गुणसम्पन्नश्चादेयवाक्यो भवति। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

आइ(दे)ज्जवयण- त्रि० (आदेयवचन) सकलजनग्राह्यवाक्ये, दशा० १ अ०। उत्त०। स्था०।

आइ (दे) ज्जवयणया- स्त्री० (आदेयवचनता)। सकलजन-ग्राह्यवाक्यताया ग्राह्यवचनतारूपे वचनसम्पद्भेदे, उत्त० १ अ०। स्था०।

आइञ्छ- कृष-धा०। तुदा० आ० प०। भ्वा० पर० अनिट्च। आकर्षणे, विलेखने च० वाच०। ''**कृषेः कड्ड-साअड्ढाश्चा- णच्छायञ्छा-इञ्छाः**'' ॥८। ४। १८७॥ इति वा कृषेराइञ्छादेशः। आइञ्छइ। पक्षे-करिसइ। कृषते कर्षति वा०। प्रा०।

***कर्ष** पुं० । भावे घञ् । आकर्षणे, विलेखने च । वाच० ।

आइट्ठ- न० (आतिष्ठ) । अति-स्था-क-षत्वम् । अतिष्ठस्तस्य भावः अण् । अतिक्रम्य स्थितौ, उत्कर्षे, वाच० ।

***आदिट्ठ**- न० । आ-दिश् । भावे, आज्ञायाम्, उपदेशे च । कर्मणि इक्तः । उपदिष्टे, व्याकरणप्रसिद्धे स्थानिजाते वर्णे च । त्रि० । यथा इकः स्थाने यण् आदिश्यते इति इको यणादिष्ट इत्युच्यते । आज्ञप्ते, उच्छिष्टे, अनुशिष्टे, त्रि० । वाच० । चोदिते, त्रि० । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आदेशे, भ० १२ श० १० उ० । विशेषरूपेण निर्दिष्टे, त्रि० । यथाऽयं देवदत्तोऽयं यज्ञदत्त इति । बृ० ४ उ० । आविष्टे, अधिष्ठिते, त्रि० । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

आइट्ठि- स्त्री० (आदिष्टि) । धारणायाम्, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

आइड्ढि- स्त्री० (आत्मर्द्धि) । आत्मन ऋद्धिः षष्ठीतत्पुरुषः । स्वकीयशक्तौ, आत्मलब्धौ च । भ० १० श० ३ उ० ।

आइड्ढिय- पुं० (आत्मर्द्धिक) । आत्मान एव ऋद्धिर्यस्य ६ बहु० । स्वकीयशक्तिसम्पन्न, स्वकीयलब्धिसम्पन्ने च । भ० ।

आइड्ढीए णं भंते! देवे० जाव चत्तारि पंच देवावासंतराइं वीइक्कंते, तेण परं परिड्ढीए? हंता गोयमा ! आइड्ढीए णं तं चेव०, (जाव) एवं असुरकुमारे वि, णवरं असुरकुमारावासंतराइं सेसं तं चेव, एवं एएणं कमेणं० जाव थणियकुमारेऽवि, एवं वाणमंतरजोइसिए वेमाणिए० जाव तेण परं परिड्ढिए । (सूत्र ४४१+)

'आइड्ढीए णं' ति-आत्मर्ध्या- स्वकीयशक्त्या । अथवाआत्मनः एव ऋद्धिः यस्याऽसौ आत्मर्द्धिकः । 'देवे' त्तिसामान्यः, 'देवावासंतराइं' ति-देवाऽऽवासविशेषान् । 'वीइक्कंते त्ति-व्यतिक्रांतः लङ्घितवान् । क्वचिद्- व्यतिव्रजतीति पाठः । भ० १ श० ३ उ० । (अधिकम् 'इड्ढि' शब्दे) ऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ।

आइणाह- पुं० (आदिनाथ) । ऋषभदेवे, आ०म० १ अ० । (वृत्तम्- 'उसह' शब्देऽ-स्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

आइणियंठ- पुं० (आदिनिर्ग्रन्थ) । प्रथमनिर्ग्रन्थे पुलाके प्रति० ।

'हिट्ठट्ठाणट्ठिओ वि, पावयणिगणिड्ढयाइ अधरे उ ।
कडजोगि जं णिसेवइ, आइणियंठु व्व सो पुज्जो ॥१॥''

अस्यार्थः- अधरे-आत्यन्तिकेकार्ये समुत्पन्ने कृतयोगी- कृताभ्यासः आदिनिर्ग्रन्थः- पुलाकः अधस्तनस्थानस्थितस्यैव पुष्टालम्बनेऽपि वैक्रियाद्यधिकारित्वं न तु तत्करणप्रयोज्या- धस्तन स्थानस्थितिरिति परमार्थः । प्रति० ८ श्लोक ।

आइण्ण- त्रि० (आकीर्ण) । व्याप्ते (युक्ते) रा० । आकीर्णे, समाकुले, बृ० १ उ० । संकीर्णे, औ० । संकुले, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० १७ सूत्र । ''आइण्णणोमाणविवज्जणा य'' । आकीर्णावमान-वर्जना च विहारचर्य्या प्रशस्ता । दश० २ चू० । आकीर्य्यतेव्याप्यते विनयादिगुणैरिति । जात्ये अश्वविशेषे च । स च जवविनया-दिगुणैर्युक्तः । स्था० ४ ठा० ३ उ० । ''आइण्णवरतुरयसुसंपउत्ते'' भ० ७ श० ८ उ० । जात्यवरतुरगे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ''कसं व दट्ठुमाइन्ने पावगं परिवज्जए'' उत्त० १ अ० । पुरुषविशेषे च । स च विनयादिगुणोपेतः । स्था० ४ ठा० ३ उ० । जवादिगुणयुक्ते अश्वे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । स्था० । विक्षिप्ते च । वाच० ।

***आचीर्ण**- त्रि० (आचर्य्यत) इति । कल्पनीये, नि० चू० १ उ० । आसेविते, दर्श० १ तत्त्व । आइण्णं णाम जं साहूहिं आयरियं विणा वि ओमादिकारणेहिं गेण्हइ । नि० चू० १५ उ० । आचीर्णम्- आसेवितं० तच्च नामदि षोढा, तद् व्यतिरिक्तं द्रव्याऽऽचीर्णं सिंहादेस्तृणादिपरिहारेण पिशितभक्षणम्० क्षेत्राऽऽचीर्णं वाल्हीकेषु सक्तवः । कोङ्कणेषु पेयाः । कालाचीर्णं त्विदम्- ''सरसीचंदणपंका, अग्घइ सरसा य गंधकासादी । पाडलिसिरीसमिल्लय, पेयाइं काले निदाहम्मि ॥१॥'' भावाचीर्णं तु ज्ञानादिपञ्चकं, तत्प्रतिपादकश्चाचारग्रन्थः । ''आइण्णं जं पुण अणुण्णायं ।'' आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अनुज्ञाते, नि० चू० १५ उ० । (आचीर्णलक्षणादि 'जीयव्ववहार' शब्दे । चतुर्थभागे वक्ष्यते)

आइण्णजणमणुस्स- त्रि० (आकीर्णजनमनुष्य) मनुष्य- जनेनाकीर्णः- संकीर्ण इति मनुष्यजनाकीर्णेति वाच्ये राजदन्तादि (३ १ १४९ । हैम०) दर्शनात्परनिपातः । मनुष्यजनसंकुले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० ।

आइण्णट्ठाण- न० (आकीर्णस्थान) । हिरण्यादिवस्तुव्याप्ते स्थाने, ''आइण्णादीणि वज्जए ठाणे ।'' (+४२४ गाथा) भिक्षार्थं प्रविष्टः साधुः आकीर्णादिस्थानं परिवर्जयेत् । यत्र हिरण्यादि । विक्षिप्तमास्ते तदाकीर्णस्थानं तच्च साधुना वर्जनीयम् । ओघ० ।

आइण्णणायज्जयण- न० (आकीर्णज्ञाताध्ययन) । ज्ञाताङ्गस्य सप्तदशेऽध्ययेन, आ० चू० ४ अ० । आव० । स० ।

आइण्णमणाइण्णकल्प- पुं० (आचीर्णाऽनाचीर्णकल्प) । आसेविते-ऽनासेविते आचारे, पं० भा० ।

तद्वर्णनं यथा-

आइण्णमणाइण्णे, कप्पं तु गुरूवदेसेणं ।
आहारचउक्केकरण, फासणे खेत्तकालउवगरणे ।

आइण्णे आइण्णं, तव्विवरीए अणाइण्णं ।
आहारचउक्कं खलु, असणादीयं तु होति णायव्वं ।

करणं आयरणं तु, तस्स तु जं जत्थ आइण्णं ।
पिसितं सिंधूविसए, वातिं पुण उत्तरावहाऽऽइण्णं ।

तंबोलं दमि (वि) ले (डे) सुं, एमादी खेत्तमाइण्णं ॥
काले दुब्भिक्खादिसु, व (प) लंबमादी तु सव्वमाइण्णं ।

उवगरणे आइण्णं, वोच्छामि अतो समासेणं ।
सिंधू आयलियाइं, काला कप्पा सुरट्ठविसयम्मि ।

दुग्गुल्लादिपुंडबद्धण, महरट्ठेसुं च जलपूरा ।
एवं जत्थाऽऽइण्णं, तहियं तु कप्पतीति आयरिउं ।

इतरत्थ कारणम्मि, फासणगहणं च परिभोगो ॥
आइण्णे चउवग्गो, ण य पीलाकारओ पवयणस्स ।

ण य मइलणा पवयणे, आइण्णं आयरे कप्पं ।
आहार उवहिसेज्जा, सेहा चउवग्गो होति णायव्वो ।

पवयणपीलुवघातो, पिसिया ताइ मज्जया इत्ति ॥
चोदेइ का मइलणा, भण्णति परिसहियाणं जे सेवे ।
सा होति मइलणा तु, जो पुण सुपरिट्ठिओ चरणे ।
तण्हो तु सलाहेती, धणति गुणेहिं य एसु जुत्तो त्ति ।
सुद्धकरे तप्पहितं, जो पुण करणे अजुत्तो उ ।
तं दट्ठुं संदेहो, उप्पज्जति किण्णु एस सच्छंदो ।
आऊणं उवएसो, एरिसओ देसिओ समए ।
आह जिणकप्पियाण वि, आइण्णं किंचि अत्थि अह णत्थि
भण्णति णत्थि किं पुण, आयरियजिणकप्पिताऽऽण्णं ॥
आहारउवहिदेहे, णिरविक्खो णवरि णिज्जरापेही ।
संघयणविरियजुत्तो, आइण्णं आयरति कप्पं पं भा० ५ कल्प ।

इयाणिं आइण्ण-मणाइण्णकप्पा समं चेव जंति । गाहा आहार चउक्के-आहारो चउव्विहो जत्थाऽऽइण्णो तत्थ नऽत्थि दोसो । जहा- सिंधूए-पोग्गलं । उत्तरावहे-वियडं । तंबोलं-दमिलेसु (द्रविड़ेषु) । फासुओ वत्थादि । आइण्णमणाइण्णे । एवं खेत्ते, काले वि० ओमोयरियाए सव्वाइं आइण्णाइं । उवगरणे जहा- सिंधूए-अलाउ । पोंडवद्धणे दुकूला । सुरट्ठाए-कालकंबलीओ । महारट्ठाणं-जलपूरगा । एवमाइ जत्थाऽऽइण्णाणि तत्थ कप्पो । इयरथा कारणेण कप्पन्ति । गाहा- 'आइण्णे चउ' आइण्णे पुण 'चउवग्गो' त्ति-असणाइणा य पवयणपीला भवइ । विपरिणामेण-अणाइण्हं पुण वियडाइ अणुयाइसु मइलणा । एए वियडमल्ला गिहत्था वियरंति अप्पणा अणिवित्ता । तहा पोग्गले जत्थ ण चित्तं तत्थ भणइ लोगो- एएसिं नडपढियम्मिहत्थे वारेंति मा पोग्गलं खाह ॥ अहिंसगा य होह । सव्वसेएसिं कैयवं । असज्जादियाणं एसा पीला । गाहा-का? मइलणा प्रवचने उच्यते सूत्रार्थः- प्रतिषेधमाचरिते सा मइलणा । करणजुत्तेसु पुण एवं नो भवइ । अहो सुट्ठु एयं । साहू अकरणजुत्तो पुण संसओ भवइ । किमेस अप्पच्छन्देण करेइ? उवएसो एरिसो । एवं संसओ भवइ । आहजिणकप्पे किंचि आइण्हमत्थि । गाहा- 'आहारोवहि ।' उच्चयते-आहारोवहिदेहेसु सो भयवं निरवेक्खो, न केवलं निज्जरा, मोक्खो वलविरियसंघयणजुत्तो आइण्हं कप्पमेव आयरइ । सइ वि आइण्हे जिणकप्पियपाउग्गं तं० आयरइ । एस आइण्हकप्पो । पं० चू० ५ कल्प ।

आइण्णहय- पुं० (आकीर्णहय) । आकीर्णा- गुणौर्व्याप्तः स चासौ हयश्च आकीर्णहयः । क० स० । जात्येऽश्वविशेषे, स च जवविनयादिगुणोपेतः ॥ ''आइण्णहय व्व निरुवलेवे'' यथा जात्याऽश्वो मूत्रपुरीषाद्यनुपलिप्तगात्रः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आइतित्थयर- पुं० (आदितीर्थक) । ऋषभदेवस्वामिनि, ''भगवओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स'' । नं० ४३ सूत्र ।

आइतित्थयरमंडल- न० (आदितीर्थकरमण्डल) । श्रेयांसेन कारिते आदितीर्थकरस्य पीठे, आ०म० १ अ० ३४५ गाथाटी० । ('आइच्चपीढ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विशेषो गतः)

आइत्त- त्रि० (आदीप्त) । ईषद्दीप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

आइत्ता- त्रि० (आदाता) गृहीतरि, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

आइत्तु- अव्य० (आदाय) गृहीत्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० १२७ सूत्र ।

आइद्ध- त्रि० (आविद्ध) आ-व्यध-क्त ॥ प्रेरिते, दर्श० ४ तत्त्व । ताडिते, विद्धे, छिद्रिते, क्षिप्ते च । वाच० ।

***आदिग्ध**- त्रि० व्याप्ते । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

आइदाण- नं० (आदान) ग्रहणे, प्रश्न* ।

आइधम्मिय-पुं० आंदिध(धा)र्मिक- । एतत्संज्ञया प्रसिद्धे अपुनर्बन्धकारपर्य्याये प्रथमारब्धस्थूलधर्माचारे, ध० । (धर्मसंग्रहे गृहस्थधर्मनिरूपणावैल्लक्षणादि प्रतिपादितम् ।)

अथ पूर्वोक्तगुणवत एव संज्ञाविशेषविधिं, तदवस्थाविशेषविधिंचाऽऽह-

स आदिधार्मिकश्चित्र-स्तत्तत्तन्त्रानुसारतः ।
इह तु स्वागमापेक्षं, लक्षणं परिगृह्यते ॥१७॥

सः-पूर्वोक्तगुणैरुत्तरोत्तरगुणवृद्धियोग्यतावान् आदिधार्मिकः-प्रथममेवारब्धस्थूलधर्माचारत्वेनादिधार्मिकसंज्ञया प्रसिद्धः, स च तानि तानि तन्त्राणि-शास्त्राणि तदनुसारतश्चित्रो- विचित्राचारो भवति । भिन्नाचारस्थितानामप्यन्तःशुद्धिमता- मपुनर्बन्धकत्वा- ऽविरोधात्, अपुनर्बन्धकस्य हि नानास्वरूपत्वात् तत्तत्तन्त्रोक्ताऽपि मोक्षार्था क्रिया घटते । तदुक्तं योगविन्दौ- ''अपुर्बन्धकस्यैवं, सम्यग्नीत्योपपद्यते । तत्तत्तन्त्रोक्तमखिल- मवस्थाभेदसंश्रयाद् ॥ २५१ ॥'' इति (अस्य व्याख्या 'अणुट्ठाण' शब्दे प्रथमभागे ३७७ पृष्ठे गता) । इह तु प्रक्रमे स्वागमापेक्षं- स्वागमानुसारि 'लक्षणं'- व्यञ्जकं प्रक्रमादादिधार्मिकस्य 'परिगृह्यते'- आश्रीयते । यो ह्यन्यैः शिष्टबोधिसत्त्वनिवृत्तप्रकृत्यधि-कारादिशब्दैरभिधीयते स एवास्माभिरादिधार्मिकापुनर्बन्धकादिशब्दै-रिति भावः । लक्षणमित्यत्रैकवचनं जात्यपेक्षं, तल्लक्षणसंपादनविधि-श्चायमुक्तो ललितविस्त- रायाम्- ''परिहर्त्तव्योऽकल्याणमित्रयोगः । सेवितव्यानि कल्याणमित्राणि । न लङ्घनीयोचितस्थितिः, । अपेक्षितव्यो लोकमार्गः, । माननीया गुरुसंहतिः भवितव्यमेतत्तन्त्रेण, प्रवर्तितव्यं दानादौ, । कर्त्तव्योदार पूजा भगवताम् । निरूपणीयः साधुविशेषः । श्रोतव्यं विधिना धर्मशास्त्रम् । भावनीयं महायत्नेन । प्रवर्तितव्यम्- विधानतः । अवलम्बनीयं धैर्यम् । पर्यालोचनीया आयतिः । अवलोकनीयो मृत्युः । भवितव्यं परलोकप्रधानेन । सेवितव्यो गुरुजनः । कर्त्तव्यं योगपटदर्शनम् ॥ स्थापनीयं तद्रूपादि चेतसि । निरूपयितव्या धारणा ॥ परिहर्तव्यो विक्षेपमार्गः । यतितव्यं योगसिद्धौ ॥ कारयितव्या भगवत्प्रतिमाः । लेखनीयं भुवनेश्वरवचनम् । कर्तव्यो मङ्गलजापः । प्रतिपत्तव्यं चतुःशरणम् । गर्हितव्यानि दुष्कृतानि । अनुमोदनीयं कुशलम् । पूजनीया मन्त्रदेवताः । श्रोतव्यानि सच्चेष्टितानि । भावनीयमौदार्यम् । वर्तितव्यमुत्तमज्ञाने (ते) न ॥ एवंभूतस्य येह प्रवृत्तिः सा सर्वैव साध्वी । मार्गानुसारी ह्ययं नियमादपुनर्बन्धकादिः । तद-

स्यैवंभूतगुणसम्पदाऽ (दोऽ) भावात्, अत आदित आरभ्यास्य प्रवृत्तिः सत्प्रवृत्तिरेव नैगमानुसारेण चित्रापि प्रस्थकप्रवृत्तिकल्पा । तदेतदधिकृत्याहुः- ''कुतरादिप्रवृत्तिरपि रूपनिर्माणप्रवृत्तिरेव'' तद्वदादिधार्मिकस्य धर्म्मे कार्त्स्न्येन तद्वामिनी न तद्बाधिनीति हार्दम् । तत्त्वाविरोधकं हृदयमस्य, ततः समन्तभद्रता, तन्मूलत्वात्सकलचेष्टितस्य, एवमतोऽपि विनिर्गतं तत्तद्दर्शनानुसारतः सर्वमिह योज्यं सुप्तमण्डितप्रबोधदर्शनादि । न ह्येवं प्रवर्त्तमानो नेष्टसाधक इति । भग्नोऽप्येतद्यत्नलिङ्गोऽपुनर्बन्धक इति तं प्रत्युपदेशसाफल्यम् । ''नानिवृत्ताधिकारायां प्रकृता-वेवंभूतः'' इति कापिलाः । 'नाऽनवाप्तभवविपाक इति च सौगताः । 'अपुनर्बन्धकास्त्वेवंभूता' इति जैनाः इति । ध० १ अधि० । ल० ।

अथोक्तस्वरूपस्यादिधार्मिकस्य सद्धर्म-

देशनायोग्यत्वं दर्शयति-

स धर्मदेशनायोग्यो, मध्यस्थत्वाज्जिनैर्मतः ।
योगदृष्ट्युदयात्सार्थं, यद्गुणस्थानमादिमम् ॥१८॥

सः-पूर्वोक्तगुणसम्पत्त्या प्रसिद्ध आदिधार्मिकः धर्मदेशनायोग्यः-लोकोत्तरधर्मप्रज्ञापनार्हः जिनैः- अर्हद्भिर्मतः- उपदिष्टः । कालतश्चायं चरमावर्त्तवर्त्ये वेत्यनुक्तमपि ज्ञेयम् । यत उक्तम् (हरिभद्रसूरिरचिते) उपदेशपदे-

घणमिच्छत्तो कालो, एत्थ अकालो उ होइ णायव्वो ।
कालो उ अपुणबंधग, -पभिई धीरेहिं णिद्दिट्ठो ॥१॥

णिच्छयओ पुण एसो, विन्नेओ गंठिभेअकालम्मि ।
एयम्मि बिहिसयपा- लणाउ आरोग्गमेयाओ ॥२॥

एतद्वृत्तिर्यथा- घनं-मिथ्यात्वं यत्र स तथा कालोऽचरमावर्त्त- लक्षणः 'अत्र' वचनौषधप्रयोगे 'अकालस्तु' अनवरसर एव भवति-विज्ञेयश्चरमावर्त्तलक्षणस्तु तथाभव्यत्वपरिपाकतो बीजाधानबीजोद्भेद-बीजपोषणादिषु स्यादपि काल इति । अत एवाह- 'कालस्तु' अवसरः पुनरपुनर्बन्धकप्रभृतिस्तत्रादि-शब्दान्मार्गाभिमुखमार्गपतितौ गृह्येते । तत्र मार्गः- चेतसोऽवक्रगमनं भुजङ्गनलिकाऽऽयामतुल्यो विशिष्टगुण-स्थाना-वाप्तिप्रवणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषो हेतुस्वरूपफल-शुद्ध्यभिमुख इत्यर्थः, तत्र पतितो भव्यविशेषो मार्गपतित इत्युच्यते । तदादिभावापन्नश्च मार्गाभिमुख इति । एतौ चरमयथाप्रवृत्तकरणभाग-भाजावेवज्ञेयौ । अपुनर्बन्धकोऽपुनर्बन्धककालः प्रभृतिर्यस्य स तथा, धीरैर्निर्दिष्टो व्यवहारत इति ॥१॥ निश्चयतस्तु कालो ग्रन्थिभेदकाल एव, यस्मिन् कालेऽपूर्वकरणा-निवृत्तिकरणाभ्यां ग्रन्थिर्भिन्नो भवति तस्मिन्नेवेत्यर्थः । यतोऽस्मिन् विधिनाऽवस्थोचितकृत्यकरण- लक्षणेन सदा-सर्वकालं या पालना-वचनौषधस्य तया कृत्वाऽऽरोग्यं संसारव्या-धिरोधलक्षणम्, एतस्माद्- वचनौषधप्रयोगाद्भवति । अपुनर्बन्धक-प्रभृतिषु वचनप्रयोगः क्रियमाणोऽपि न तथा सूक्ष्मबोधविधायकोऽना-भोगबहुलत्वात्तत्तत्कालस्य । भिन्न-ग्रन्थ्यादयस्तु व्यावृत्तमोहत्वेना-तिनिपुणबुद्धितया तेषु तेषु कृत्येषु वर्त्तमानास्तत्कर्मव्याधिसमुच्छेदका जायन्त इति । ध० १ अधि० । ननु ''गलमच्छभवविभोअगविसन्नभोईण जारिसो एसो । मोहासुहो वि असुद्धो, तत्फलओ एवमेसो त्ति ॥ १॥'' श्रीहरिभद्रवचनानुसारेण विपर्यासयुक्तत्वान्मिथ्यादृशां शुभपरिणामोऽपि फलतोऽशुभ एवेति कथमादिधार्मिकस्य देशनायोग्यत्वमित्याशङ्कायामाह- 'मध्यस्थत्वात्' इतिराग- द्वेषरहितत्वात् पूर्वोक्तगुणयोगादेव माध्यस्थ्योपसंपतेरित्यर्थः । मध्यस्थस्यैव चागमेषु धर्मार्हत्वप्रतिपादनात्, यतः- ''रत्तो १ दुट्ठो २ मूढो ३, पुव्विं वुग्गाहिओ ४ अ चत्तारि । एए धम्माऽणरिहा, धम्मे अरिहो उ मज्झत्थो'' ॥१॥ त्ति श्रीहारिभद्रवचनं तु कदाग्रहग्रस्ताभिग्रहिकमाश्रित्येति न विरोधः । इदमत्र हृदयम्-यः खलु मिथ्यादृशामपि केषांचित्स्वपक्षनिबद्धो दूरानुबन्धानामपि प्रबलमोहत्वे सत्यपि कारणान्तरादुपजायमानो रागद्वेषमन्दतालक्षण उपशमो भूयानपि दृश्यते स पापा-नुबन्धिपुण्यहेतुत्वात्पर्यन्तदारुण एवं, तत्फलसुखव्यामूढानां तेषां पुण्याभासकर्मोपरमे नरकादिपातावश्यंभावादित्यस- त्प्रवृत्तिरेवायम् । यश्च गुणवत्पुरुषप्रज्ञापनार्हत्वेन जिज्ञासादिगुण- योगान्मोहापकर्ष-प्रयुक्तराग- द्वेषशक्तिप्रतिघातलक्षण उपशमः, स तु सत्प्रवृत्तिहेतु-स्वाग्रहनिवृत्तेः सदर्थपक्षपातसारत्वादिति । नन्वेवमपि स्वागमानुसारिण आदिधार्मिकस्योपपन्नं माध्यस्थ्यं परं तस्य विचित्राचारत्वेन भिन्नाचारस्थितानां तेषां स्वस्वमतनिष्ठानां कथं तदुपपद्यते? तदभावे च कथं देशनायोग्यत्वमित्यत्राह- 'योगे' त्यादि-यद्यस्माद्धेतोः, तस्येति शेषः, 'योगदृष्ट्युदयात्'- योगदृष्टिप्रादुर्भावात् । 'आदिमं' 'गुणस्थानं' 'सार्थम्' -अन्वर्थं भवति । अयं भावः-मिथ्यादृष्टयोऽपि परमार्थगवेषणपराः सन्तः पक्षपातं परित्यज्याद्वेषादिगुणस्थाः खेदादिदोषपरिहारद्यदा संवेगतारतम्यमाप्नुवन्ति । तदा मार्गाभिमुख्यात्तेषामिक्षुर सकल्क (क्क) गुडकल्पा मित्रा तारा बला दीप्रा चेति चतस्रो योगदृष्ट्य उल्लसन्ति, भगवत्पतञ्जलिभदन्तभास्करादीनां तदभ्युपगमात् । (ध०) मिथ्यादृष्टिनामपि माध्यस्थ्यादि- गुणमूलकमित्रादिदृष्टि- योगेन तस्य गुणस्थानकत्वसिद्धेस्तथा प्रवृत्तेरनाभिग्रहिकस्य संभवादनाभिग्रहिकत्वमेव तस्य देशनायोग्यत्वे शोभन- निबन्धनमित्यापन्नम् ॥ 'इत्थं चानाभोगतोऽपि मार्गगमनमेवपङ्ग- बन्धन्यायेनेत्यध्यात्मचिन्तका' इति ललितविस्तरा- वचनानुसारेण यद्यनाभोगवान् मिथ्यादृष्टिरपि मिथ्यात्वमन्दतोद्भूतमाध्यस्थ्य तत्त्वजिज्ञासादिगुणयोगान्मार्गमेवानुसरति तर्हि तद्विशेषगुणयोगादनाभिग्रहिकेतु सुतरां धर्मदेशनायोग्यत्वमिति भावः । ध० १ अधि० १८ श्लोक ॥

आइबंभ- न० (आदिब्रह्मन्) । सकलजगदुत्पत्तिकारणे ब्रह्मणि, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

आइबंभद्धणि- स्त्री० (आदिब्रह्मध्वनि) । आदिब्रह्मणः शब्दे, ''आदिब्रह्मध्वनिः किं वा, वीरवेदध्वनिर्बभौ'' कल्प० १ अधि० ६ क्षण । **आइम**- त्रि० (आदिम) । आदौ भवः । आदि-डिमच् । आदिभवे, वाच० । ''पश्चादाद्यन्ताग्रादिमः'' ॥६ ३ ७५॥ इति सूत्रेण इमप्रत्यये टिलोपः । प्रथमे, आव० ५ अ० । प्रव० । कर्म० ।

आइमगणहर- पुं० (आदिमगणधर) । प्रथमगणधरे, प्रव० १ द्वार ॥

आइमज्जंतकल्लाण- त्रि० (आदिमध्यान्तकल्याण) आदिमध्यावसानेषु सुन्दरे, धर्म्मप्रशंसामुपक्रम्योत्कम्- ''सर्वागम- परिशुद्धं, यदादिमध्यान्तकल्याणम्''। षो० ३ विव०।

आइमुहुत्त- नं० (आदिमुहूर्त्त) प्रथमे मुहूर्ते, स०।

तत्प्रमाणं यथा-

अब्भिंतरओ आइमुहुत्ते छण्णउइअंगुलच्छाए पणत्ते। (सूत्र- ९६)

अभ्यन्तराद्- अभ्यन्तरमण्डलमाश्रित्येत्यर्थः, आदिमुहूर्त्तः षण्णवत्यङ्गुलच्छायः प्रज्ञप्तः। अयमत्र भावार्थः- सर्वाभ्यन्त- रमण्डले यत्र दिने सूर्यश्चरति तस्य दिनस्य प्रथमो मुहूर्तो द्वादशाङ्गुलमानं शङ्कुमाश्रित्य षण्णवत्यङ्गुलच्छायो भवति। तथा हि- तद्दिनमष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणं भवतीति मुहूर्त्तोऽष्टादशभागो दिनस्य भवति, ततश्च छायागणितप्रक्रियायता छेदेनाष्टादशल- क्षणेन द्वादशाङ्गुलः शङ्कुर्गुण्यत इति ततो द्वे शते षोडषोत्तरे भवतः- २१६, तयोरर्द्धीकृतयोरष्टोत्तरं शतं भवति- १०८, ततश्च शङ्कुप्रमाणे द्वादशापनीते षण्णवतिः- ९६ अङ्गुलानि लभ्यन्ते इति। स० ९६ सम०।

आइमूल- न० (आदिमूल)। प्रधानकारणे भावमूलभेदे, आचा०।

यथा मोक्षस्याऽऽदिमूलं विनयः, संसारस्य विषय इति। तत्र मोक्षस्यादिमूलं ज्ञानदर्शनचारित्रतपः औपचारिकरूपः पञ्चधा विनयस्तन्मूलत्वान्मोक्षावाप्तेस्तथाचाह-

''विणया णाणं णाणाउ, दंशणं दंशणाहि चरणं तु।
चरणाहिंतो मोक्खो, मोक्खे सुक्खं अणावाहं॥१॥''

''विनयफलं शुश्रूषा, शुश्रूषायाः फलं श्रुतज्ञानम्।
ज्ञानस्य फलं विरतिः, विरतेः फलं चाश्रवनिरोधः॥२॥

संवरफलं तपोबल- मथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम्।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम्॥३॥

योगनिरोधाद् भवस-न्ततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः।
तस्मात्कल्याणानां, सर्वेषां भाजनं विनयः॥४॥''

इत्यादि। संसारस्य त्वादिमूलं विषयकषायाः। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

आइमोक्ख- पुं० (आदिमोक्ष)। आदिः- संसारस्तस्मान्मोक्षः आदिमोक्षः। संसारविमुक्तौ, सूत्र०। धर्मकारणानां शरीरं तावदादिभूतं तस्य मोक्षः- तद्विमुक्तिर्यावज्जीवमित्यर्थः। शरीरपरित्यागे च। 'वियडे णं जीविज्जय आदिमोक्खं (२२+)'' यावज्जीवम्। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। आदौ-प्रथमं मोक्षोऽ- स्येति। मोक्षोद्यते साधौ, आदि-प्रधानं मोक्षास्येति। मोक्षैकताने साधौ च। सूत्र०।

इत्थीओ जे ण सेवंति, आइमोक्खा हि ते जणा॥९+॥

ये महासत्त्वाः कटुविपाकोऽयं स्त्रीप्रसङ्ग इत्येवमवधारणतया स्त्रियः सुगतिमार्गाऽर्गलाः- संसारवीथीभूताः सर्वाऽविनयरा- जधान्यः कपटजालशताकुला-महामोहनशक्तयो 'न सेवन्ते'- न तत्प्रसङ्गम- भिलषन्ति त एवंभूता जनाः- इतरजनातीताः साधव आदौ- प्रथमं मोक्षोऽशेषद्वन्द्वोपरमरूपो येषां ते आदिमोक्षाः। हुरवधारणे आदिमोक्षा एव तेऽवगन्तव्याः। इदमुक्तं भवति- सर्वाविनयास्पदभूतः स्त्रीप्रसङ्गो यैः परित्यक्तस्त एवादिमोक्षाः प्रधानभूतमोक्षस्य पुरुषार्थोद्यता आदिशब्दस्य प्रधानवाचित्वात्। सूत्र० १ श्रु० ५ अ०।

आइय- त्रि० (आचित)। आ-चि-क्त-आप्नोते, (व्याप्ते) ज्ञा० १ श्रु० ९ अ०। गुम्फिते, ग्रथिते, 'तुलापलशतं तासां, विंशत्याभार आचित'' इत्युक्तेर्भाराख्यकेद्विसहस्रपलमाने, ''आचितं दश भाराः स्यात्, शाकटो भार आचितः'' इत्युक्ते दशभारमाने, न०। शाकटभारे, पुं०। परिमाणवाचकत्वात्तन्मितेऽपि। संगृहीते, छन्ने च। वाच०।

आइयण- *न० (आदान) ग्रहणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। वाच०।*

आइयत्तिय- पुं० (आदियात्रिक) आदौ यात्राऽस्येति सार्थवाहादी- नामारक्षके, बृ०।

तस्याष्टौ भेदा यथा-

**पुराणसावगसम्मद्दिट्ठि, अहाभद्द दाणसद्धे य।
अणभिग्गहिए मिच्छे, अभिग्गहे अन्नतित्थी य॥९२३॥**

बृ० १ उ०। (अस्याः व्याख्या 'सत्थवाह' शब्दे सप्तमभाग वक्ष्यत) (एतस्याशीतिभङ्गकाः सार्थवाहवत् ते च 'विहार' शब्दे षष्ठे भागे ३२ अधिकाराङ्के द्रष्टव्याः)

आइ (दि) यावण- न० (आदापन)। ग्राहणे, ''आदियावेंति'' आदापयन्तिग्राहयन्ति। सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

आइराय- पुं० (आदिराज)। ऋषभदेवे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। (अस्य वृत्तम् 'उसह' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते।)

आइल- त्रि० (आविल)। आ-विल्। भेदने, क०। अस्वच्छे, कालुष्ययुक्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। अस्वच्छस्य हि जलादेः सम्यग्दृष्टिप्रसारभेद- नात्तथात्वम्। भेदके त्रि०। वाच०।

आइल्ल- त्रि० (आदिम)। आद्ये, श्रा० २८ गाथा। स०। सू०प्र०।

आइल्लचन्द- पुं० (आदिमचन्द्र)। उत्तरोत्तरद्वीपसमुद्रचन्द्रापेक्षया पूर्वपूर्वद्वीपसमुद्रचन्द्रे, सू०प्र०।

तस्य तथात्वम्-

**धातइसंडपमितिसु, उद्दिट्ठा तिगुणेत्ता भवे चंदा।
आदिल्लचंदसहिता, अणंतराणंतरे खेत्ते॥३३॥**

सू०प्र० १९ पाहु० १०० सूत्र।

(अस्याः व्याख्या 'जोइसिय' शब्दे ४ भागे वक्ष्यते)

आइल्लसूर- पुं० (आदिमसूर्य्य)। उत्तरोत्तरद्वीपसमुद्रसूर्य्यापेक्षया पूर्वपूर्वद्वीपसमुद्रसूर्ये सू० प्र० १८ पाहु०। (अस्य तथात्वमत्रैव 'आइल्लचंद' शब्दे गतम्।)

आई (त्ती) (दी) ण- न० (आजिन)। मूषकादिचर्मनिष्पन्ने वस्त्रे, आचा० २ श्रु० २ अ० ६ उ०। द्वीपविशेषे, समुद्रविशेषे च। पुं०। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

***आदीन**- नं०। आ-समन्ताद्दीनम्। अत्यन्तदीनतायाम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

आईणग- न० (आजिनक)। चर्म्ममये वस्त्रविशेषे, रा०। तच स्वभावादति-कोमलं भवति। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। परिकर्मितकर्मणि, कर्म० २ कर्म०। ज्ञा०। आ० म०। नि०।

जी०। ''आईणगरूयवूरणवणीयतूलफासे'' भ० ११ श० ११ उ०। 'आईणाणि वा आईणपवराणिं वा०'' (सूत्र-१०-११-१२) आजिणं चम्मं तम्मि जे कीरंति ते 'आईणाणि' त्ति। नि०चू० ७उ०।

आईणभद्द- पुं० (आजिनभद्र)। आजिने द्वीपे, आजिनभद्राजिनमहाभद्रौ। आजिनद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आई (दी) णभोइ (न्)- (आदीनभोजिन्)- पुं०। पतितपिण्डोपजीविनि, सूत्र०।

आदीणभोई वि करेति पावं,
मेता उ एगंतसमाहिमाहु ॥६॥

आदीनभोज्यपि पापं करोतीति। उक्तं च- ''पिंडोलगेव दुस्सीले, णरगाओ ण मुच्चई'' सः कदाचित् शोभनमाहारमलभमानो ऽज्ञत्वादार्तरौद्रध्यानोपगतोऽधः- सप्तम्यामप्युत्पद्यते, तद्यथा- असावेव राजगृहनगरोत्सवनिर्गतजन समूहवैभारगिरि- शिलापातनोद्यतः स दैवात्स्वयं पतितः पिण्डोपजीवीति, तदेवमादीनभोज्यपि पिण्डोलकादिवज्जनः पापं कर्म करोतीत्येवं मत्वाअवधार्य एकान्तेनात्यन्तेन च यो भावरूपो ज्ञानादिस-माधिस्तमाहुः संसारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आईणमहाभद्द- पुं० (आजिनमहाभद्र)। आजिनद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४, अधि०।

आईणमहावर- पुं० (आजिनमहावर)। आजिनसमुद्रस्थे देवे, आजिनवरसमुद्रस्थे देवे च। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवर- पुं० (आजिनवर)। द्वीपविशेषे, समुद्रविशेषे च। आजिनसमुद्रस्थे देवे, आजिनवरसमुद्रस्थे देवे च। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरभद्द- पुं० (आजिनवरभद्र)। आजिनवरद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरमहाभद्द- पुं० (आजिनवरमहाभद्र)। आजिनवरद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरोभास- पुं० (आजिनवरावभास)। द्वीपविशेषे, समुद्रविशेषे च। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरोभासभद्द- पुं० (आजिनवरावभासभद्र)। आजिनवरावभासद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरोभासमहाभद्द- पुं० (आजिनवरावभासमहाभद्र)। आजिनवरावभासद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरोभासमहावर- पुं० (आजिनवरावभासमहावर)। आजिनवरावभाससमुद्रस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरोभासवर- पुं० (आजिनवरावभासवर)। आजिनवरावभाससमुद्रस्थे देवे जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आई (दी) णवित्ति- पुं० (आदीनवृत्ति)। आ-समन्ताद्दीना- करुणास्पदा वृत्तिः- अनुष्ठान यस्य कृपणवनीपकादेरित्यर्थः। अत्यन्तदीनवृत्तिके कृपणवनीपकादौ, सूत्र०।

आदीणवित्तीव करेति पावं,
मंता उ एगंतसमाहिमाहु ॥६॥

'आदीणवित्ती' त्यादि, आदीनवृत्तिरपि पापं कर्म करोतीत्येवं सत्वा एकान्तेन भावसमाधिमाहुः संसारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आई (दी) णिय- पुं० (आदीनिक)। आ-समन्ताद्दीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन्सः। अत्यन्तदीनसत्त्वाश्रये, सूत्र०।

आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था ॥६×॥

आदीनिकं दुष्कृतिकं पुरस्तात्- पूर्वजन्मनि यन्नरकगमनयोग्यं चरितं कृतं तत्प्रतिपादयिष्ये। सूत्र० १ श्रु० ५ अ०।

आईरण- त्रि० (आजीरण)। आजिः- संग्रामस्तमीरयति-प्रेरयति क्षिपात जयतीति यावत्। राज्यावस्थायां संग्रामजेतरि, संथा० ६६ गाथा।

आईल- पुं० (आचील)। उद्गाले, ताम्बूलसंबन्धिनमुद्गालम्- आचीलं तत्र मुञ्चति। चीलस्य जिनमन्दिरे परित्यागे तीर्थकृदाशातना भवति। प्रव० ३८ द्वार।

आईवमाण- त्रि० (आदीप्यत्)। प्रकाशमाने, महा० २ अ०।

आउ- स्त्री० (अप्)। बहुव० आप्- क्विप्- ह्रस्वः। वाच०। ***''गोणादयः''*** ॥८ २ १७४॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण निपातितः। प्रा०। द्रवलक्षणे महाभूतविशेषे, ''आप्त्वयोगादापस्ताश्च रूपरसस्पर्शसंख्यापरिमाण-पृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वस्वाभाविकद्रवत्वस्नेहवगवत्यस्तासु च रूपं शुक्लमेव, रसोमधुर एव, स्पर्शः शीत एव'' इति वैशेषिकाः सूत्र०)। ''रसतन्मात्रादापो रसरूपस्पर्शवत्य'' इति श्लेष्मासृग्द्रवलक्षणा आपः'' इति च सांख्या। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। एतन्निराकरणं 'महाभूय-' शब्दे षष्ठे भागे करिष्यते) ''अपां स्थानं रसनं'' रसनेन्द्रियमिति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। तासां जीवत्वम्- ''सात्मकमम्भौ भौमं, भूमिखनेनं स्वाभाविकसंभवाद्, ददुस्वत्''। अथवा- ''सात्मकमन्तरिक्षोदकं स्वभावतो व्योमसंभूतस्य पातात्, मत्स्यवत्''। आह च- ''भूमिक्खय साभाविय- संभवआ ददुरो व्व जलमुत्तं। (सात्मकत्वेनेति) अहवा-मच्छो व्व सहा-ववोमसंभूय- पायाओ'' ॥१॥ इति। स्था० १ ठा०। ''आऊ वि जीवा''॥७×॥ आपश्च- द्रवलक्षणा जीवाः। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। (७ गाथायाः व्याख्या 'कुसील' शब्दे ३ भागे ६०९ पृष्ठे करिष्यते) (अत्र यद्वहुवक्तव्यं तत् 'आउकाइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्यम्) जलनामकेदेवविशेषे, तदधिष्ठातृकेपूर्वाषाढानात्र च। आपो जलनामा देवस्तेन पूर्वाषाढातोयमिति प्रसिद्धम्। जं० ७ वक्ष०। स्था०। ''पुव्वासाढा आउदेवताए'' (सूत्र- ४६×)। सू०प्र० १० पाहु० १२ पाहु० पाहु०। ननु स्वस्वामिभावसम्बन्धप्रतिपादक- भावमन्तरेण कथं देवतानाम्ना नक्षत्रनाम सम्पद्यते? उच्यते-अधिष्ठातरि अधिष्ठेयस्योपचाराद् भवतीति। जं० ७ वक्ष०। ''दो आऊ'' (सूत्र- ९०×) स्था० २ ठा० ३ उ०।

***आतु**- पुं० अत् उण। भेलके, उडुपे, वाच०।

***आतु (गु)**- पुं० अभिलाषायाम्, आ० क० १ अ०।
('इक्खाग' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽस्य व्युत्पत्तिः)

***आयुस्**- न० प्रतिसमयं भोग्यत्वेनायातीत्यायुः। नि० चू० ११

उ०। स्वकीयावसरे एति च, आयाति चेत्यायुः। स्था० ४ ठा० २ उ०। उत्त०। एति-गच्छस्यनेन गत्यन्तरमित्यायुः, यद्वाएति- आगच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिदुर्गने- र्निष्क्रमितुमन- सोऽपि जन्तोरित्यायुः। उभयत्राप्यौणादिकोऽ- णुस्प्रत्ययः। यद्वा-आयाति भवाद्भवान्तरं संक्रमतां जन्तूनां निश्चयेनोदयमागच्छतीति पृषोदरादित्वादायुः शब्दसिद्धिः। यद्यपि च सर्वं कर्मोदयमायाति तथाप्यस्त्यायुषो विशेषो, यतः शेषं कर्मबद्धं सत्किंचित्तस्मिन्नेव भवे उदय-मायाति, किंचित्तु- प्रदेशोदयमुक्तं जन्मान्तरेऽपि स्वविपाकत उदयमाप्योरदेव इत्युभयथाऽपि व्यभिचारः आयुषि त्वयं नास्ति बद्धस्य तस्मिन्नेव भवे वैदनात् जन्मान्तर संक्रान्तौ तु स्वविपाकतोऽवश्यं वेदनादिति विशिष्टस्यैवोदयागमनस्य विवक्षितत्वात्तस्य वायुष्येव सद्भावात्तस्यैवैतन्नाम। अथवा आयान्त्युपभोगाय तस्मिन्नुदिते सति तद्भवप्रायोग्यानि सर्वाण्यपि शेषकर्माणीत्यायुः। कर्म० १ कर्म०। प्रव०। अथवा-आ-समन्तादेति- गच्छति भवाद्भवान्तर- संक्रान्तौ जन्तूनां विपाकोदयमित्यायुः। पं०सं० २ द्वार। दशा०। जीवितविपाकवेद्ये भवोपग्राहिणि कर्मविशेषे, जं० ४ वक्ष०। उत्त०। विश०। एतद्रूपं च-'' दुक्खं न देइ आऊ न वि य सुहं देइ चउसु वि गइसु। दुक्खसुहाणाऽऽधारं, धरेइ देहट्ठियं जीवं ॥१॥'' इति। स्था० २ ठा० ४ उ०। आयुर्भवस्थितिहेतवः कर्मपुद्गलाः। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। जीविते, स्था० ८ ठा० ३ उ०। तच्च विरकालं शरीरसंम्बन्धः। तं०। स्था०।

विषयसूचनार्थमधिकाराङ्काः -

(१) आयुषो नामादिभेदतो दशविधत्वम्॥

(२) आयुषः अतिप्रियत्वम्॥

(३) आयुषः पुष्टिर्गतायुषः पुनरनागमनं च॥

(४) सर्वेषामायुषः अल्पत्वमनित्यत्वं च॥

(५) आयुषः सप्तधा भेदनं तदुदाहरणानि च॥

(६) आयुषः सोपक्रमनिरूपक्रमभेदाद् द्वैविध्यम्॥

(७) आयुषोऽल्पदीर्घशुभादिभेदाद्बहुविधत्वं, तत्कारणानि च॥

(८) आयुष्कर्मणो जीवितहेतुत्वम्॥

(९) आयुषो द्विविधत्वं प्रकारान्तरेण॥

(१०) प्रत्याख्याना- प्रत्याख्यानतदुभयनिर्वर्तितायुष्कत्वं जीवानाम्॥

(११) जीवानामाभोगाऽनाभोगनिर्वर्तितायुष्कत्वमायु-षश्चातुर्विध्यं च॥

(१२) अनन्तरोपपन्नकादीनां नैरयिकादीनामायुः॥

(१३) असंज्ञिजीवानामायुः।

(१४) एकान्तबालैकान्तपण्डितबालपण्डितानामायुः।

(१५) क्रियावाद्यादिजीवानां सलेश्यादिजीवानां चायुः।

(१६) कृष्णपाक्षिका दिसम्यग्दृष्ट्यादिक्रियावाद्या- दिजावानामायुः।

(१७) ज्ञानिनामज्ञानिनां विभङ्गज्ञानिनां सवेदकावेदकक्रिया- यावाद्यादिजीवानां, क्रियावाद्यादिनैरयिकादीनां चाऽऽयुः।

(१८) अनन्तरोपन्नकाऽऽदिक्रियावाद्यादीनामायुः।

(१९) भविकजीवानां नैरयिकादिषूपपद्यमानानां सायुष्कत्वम्॥

(२०) भविकजीवानां नैरयिकादिपूपपद्यमानानामायुष्कारणप्रतिसंवेद- नादि॥

(२१) अन्तरमुद्वर्त्योत्पद्यमाननैरयिकादीनामयुष्प्रति-संवेदनादि॥

(१) तच्चायुर्नामादिभेदतो दशधा। तद्यथा-

''नामं ठवणा दविए,

ओहे भव तब्भवे य भोगे य।

संजमे जस अ कित्ती,

जीवियं च तं भन्नई दसहा॥१॥''

तत्र नामस्थापने क्षुण्णे। 'दविए' त्ति-द्रव्यमेव सचेतनादिभेदं जीवितव्यहेतुत्वाज्जीवितं द्रव्यजीवितम्। ओघजीवितम् नारका- द्यविशेषनायुर्द्रव्यमात्रं सामान्यजीवितं भवति, नारकादिभवविशिष्टं जीवितं भवजीवितं नारकजीवित मित्यादि, 'तब्भवेय' त्ति-तस्यैव पूर्वभवस्य समानजातीयतया सम्बन्धिजीवितं तद्भव-जीवितम्, यथा मनुष्यस्य सतो मानुषत्वेनोत्पन्नस्येति, भोग-जीवितं चक्रवर्त्यादीनाम्, संयमजीवितं साधूनां, यशोजीवितं-कीर्तिजीवितं च यथा महावीरस्येति, जीवितञ्चायुरेवेति। स्था० १ ठा० १ सूत्र टी०।

(२) आयुश्च सर्वेषामतिप्रियं तथैवोक्तम्-

''तृणायापि न मन्यते, पुत्रदारार्थसम्पदः।

जीवितार्थं नरास्तेन, तेषामायुरतिप्रियम्॥१॥'' इति॥ स्था० १ ठा० १ सूत्र टी०। संस्था०।

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला आप्पयवहा पियजीविणो जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं। (सूत्र- ८०+)

प्राणशब्देनात्राभेदोपचारात्तद्वन्त एव गृह्यन्ते सर्वे प्राणिनो जन्तवः प्रियायुषः प्रियमायुर्येषां ते प्रियायुषः। ननु च सिद्धेव्यभिचारः, न हि ते प्रियायुषस्तदभाव त्: नैष दोषो; यतो मुख्यजीवादिशब्दव्युदासेन प्राणशब्दस्योपचरितस्य। ग्रहणं संसारिप्राण्युपलक्षणार्थमिति। यत्किञ्चिदेतत्। (आचा०) 'जीविउकामा' यत एव प्रियजीविनोऽत एव दीर्घकालं जीवितुकामादीर्घ कालमायुष्काभिलाषिणो दुखाभिभूता अप्यन्त्यां दशामापन्ना जीवितसेवाभिलषन्ति, उत्कञ्च- ''रमइ विहवी विसेसे, ठिइमेत्तं थेव वित्थरो महइ। मग्गइ सरीरमहणो, रोगी जीएचिव कयत्थो॥ १॥'' तदेवं सर्वोऽपि प्राणी सुखजीविता- भिलाषी। (आचा०) कस्य कियदायुरिति जिवासायां चतुर्थभागस्थः। 'ठिइ' शब्दो वीक्षणीयः) प्राणिनां जीवितमत्यर्थं दयितमित्यतो भूयो भूयस्तदेवापदिश्यत इत्यत आह-सव्वेसि- 'मि' त्यादिसर्वेषामविगानेन 'जीवितम्' असंयमजीवितं प्रियं दयितम। आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खेत्तवत्थुममायमा णाणं आरत्तं विरत्तं मणिकुंडलं सह हिरण्णेण इत्थि याउ परिगिज्ज तत्थेव रत्ता ण एत्थ तवो वा दमो वा णियमो वा दिस्सइ संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेति (सूत्र- ७९+)

'जीवितम्'- आयुष्कानुपरमलक्षणमसंयमजीवितं वा पृथगिति प्रत्येकं प्रतिप्राणि प्रियं-दयितं वल्लभम् 'इहे' त्ति-आस्मिन् संसारे एकेषाम्- अविद्योपहतचेतसां मानवानामिति उपलक्ष-

णार्थत्वात् प्राणिनां, तथाहि-दीर्घजीवनार्थं तास्ता रसायना-दिका: सत्त्वोपघातकारिणी: क्रिया: कुव्वते। आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

(३) आयु पुष्टिश्च यथा भवति तथा-

णिद्धमधुरेहि आओ, च्छपति देहिंदिया मेहा।
अत्थति जत्थ णत्थति, सद्वातिसु वीहगादीया ॥२५८॥

चोदक आह- कथमायुष: पुष्टि:? आचार्य आह। यथा देवकुरोरुत्तरासु क्षेत्रस्य स्निग्धगुणत्वादायुषो दीर्घत्वं सुषम-सुषमायां च कालस्य स्निग्धत्वाद् दीर्घत्वमायुषस्तथा- इहापि स्निग्धमधुराहारत्वात् पुष्टिरायुषो भवति। सा च न पुद्गलवृद्धे:, किंतु-युक्तग्रासग्रहणात्; क्रमेण भोगेनेत्यर्थ:। नि० चू० ११ उ०।

गतं चायुर्न पुनरावर्त्तते। उक्तं च-

''भवकोटीभिरसुलभं, मानुष्यं प्राप्य क: प्रमादो मे।
न च गतमायुर्भूय:, प्रत्येत्यपि देवराजस्य'' ॥१॥

'नो' नैव संसारे सुलभं-सुप्रापं संयमप्रधानं जीवितं, यदि वा-जीवितम्- आयुम्त्रुटितं सत् तदेव संधातुं न शक्यते, इति वृत्तार्थ:। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

(४) अल्पमनित्यं चायु: सर्वेषाम्। तत्रानित्यत्वं यथा-

दुमपत्तए पंडुरए, जह निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुआण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥१॥

(अस्या गाथाया व्याख्या 'जीविय' शब्दे चतुर्थभागे १५६ पृष्ठे वक्ष्यते) उत्त० १० अ०।

जीविशतब्देन शरीरमुच्यते। यदाह निर्युक्तिकार:-

परियट्टिय लावन्नं, चलंतसंधिं मुअंतबिंटग्गं।
पत्तं च वसणं पत्तं, कालप्पत्तं भणइ गाहं ॥३०७॥

जह तुज्जे तह अम्हे, तुज्जे वि अ होहिहा जहा अम्ह।
अप्पाहेइ पडंतं, पंडुअपत्तं किसलयाणं ॥३०८॥

न वि अत्थि न वि अ होही, उल्लावो किसलपण्डुपत्ताणं।
उवमा खलु एस कया, भवियजणविवोहणट्ठाए ॥३०९॥

उत्त० पाई० १० अ०।

(आसां गाथानां व्याख्या 'दुमपत्त' शब्दे चतुर्थभागे द्रष्टव्या।) यथा हि किशलयाणि पाण्डुपत्रेण अनुशिष्यन्ते तथा अन्योऽपि यौवनगर्विताऽनुशासनीय:।

अथाऽऽयुषोऽनित्यत्वमाह-

कु(कू) सग्गे जह ओसविंदुए, थोवं चिट्ठइ लंवमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥२॥

हे गौतम! समयमात्रमपि मा प्रमादी:। तत्र हेतुमाह। यथा- कुशस्याग्रे अवश्यायबिन्दुर्लम्बमान: सन् स्तोकं-स्तोक कालं तिष्ठति वातादिना प्रेर्यमाण: सन् पतति तथा मनुष्याणां जीवितम्- आयुरस्थिरं ज्ञेयम्। एवं आयुषोऽनित्यत्वं ज्ञात्वा धर्मे प्रमादो न विधेय इत्यर्थ:। उत्त० १ अ०। ''आयुषि बहूपसर्गे, वाताहतसलिलबुद्बुदानितरं। उच्छ्वस्य निश्वसिति य:, सुप्तो वा विबुध्यत तच्चवम्'' ॥१॥ पं० सू० ३ सूत्र टी०।

आयुष: अल्पत्वं यथा-

अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं।(सूत्र ६२)

अल्पं-स्तोकं चशब्दोऽधिकवचन:, खलुरवधारणे, आयुरिति-भवस्थितिहेतव: कर्म्मपुद्गला:। 'इहे' ति-संसारेमनुष्यभवे वैकेषां-केषांचिदेव मानवानां-मनुजानामिति पदार्थो, वाक्यार्थ:- 'इह' अस्मिन् संसारे केषांचिन्मनुजानां, क्षुल्लकभवोपलक्षि- तान्तर्मुहूर्तमात्रमल्पं स्तोकमायुर्भवति। चशब्दादुत्तरोत्तरसमया- दिवृद्धया पल्योपमत्रयावसानेऽप्यायुषि तत्र खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्संयमजीवित-मल्पमेवेति। तथा हिअन्तर्मुहूर्तादारभ्य देशोनपूर्वकोटि यावत्संयमायुष्कं तच्चाल्पमेवेति। अथवा- त्रिपल्योपमास्थितिकमप्यायुरल्पमेव, यतस्तदप्यन्तर्मुहूर्तमपहाय सर्वमपवर्त्तत। उक्तञ्च-

''अद्धा जोगुक्कोसे, वंदित्तामोगभूमिए सुलहुं।
सव्वप्पजीविये व-ज्जइ तु उव्वट्टिपा दोण्हं ॥१॥''

अस्यायमर्थ:- उत्कृष्टे योगे-बन्धाध्वसायस्थाने आयुषो यो बन्धकालोऽद्धा (समय:) उत्कृष्ट एव तं बध्या क्व भोगभूमिवेषु देवकुर्व्व दिजेषु, तस्य क्षिप्रमेव सर्वाल्पमायुर्वज्जयित्वा द्वयो-तिर्यग्मनुष्योग्पवृत्तिका अपवर्त्तनं भवति, एतच्चापर्याप्तकान्त-र्मुहूर्तान्तर्द्रष्टव्यं, तत ऊर्ध्वमनपवर्त्तनमेवेति। (आचा०) उक्तञ्च-

''स्वतोऽन्यत इतस्ततोऽभिमुखधावमानापदा-
महो निपुणाता नृणां क्षणमपीह यज्जीवितम्॥

मुखे फलमतिक्षुधा सरसमल्पमायोजितं,
कियच्चिरमचर्वितं दशनसंकटाम्ये स्थितम्?॥ १॥

उच्छ्वासावधय: प्राणा:, स चोच्छवास: समीरणात्॥

समीरणं च चलनात्, क्षणमप्यायुग्द्भुतम्॥ २॥''

इत्यादि॥ येऽपि दीर्घायुष्कस्थितिका उपक्रमणकारणाभावे आयु:स्थितिमनुभवन्ति तेऽपि मरणादप्यधिकां जराभिभूत-विग्रहा जघन्यतरामवस्थामनुभवन्ति॥ आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

वर्षशतायुष्कस्यायुषोऽल्पत्वमेव। तद्यथा-

आउसो से जहानामए केइ पुरिसे ण्हाए कयवलिकम्मे कयको उयमंगलपायच्छित्ते सिरसि ण्हाए कंठ मालाकडे आविद्ध-मणिसुवन्न अहयसुमहग्घबत्थपरिहिए चंदणोक्किन्नगायसरीरे सरससुरहिंगधगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते सुइमालावन्नगवि-लेवणे कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलंबमाणे कडिसुत्तयसुकयसोहे पिणद्धगे विज्जअंगुलिज्जलिलियंगयल लियकयाभरणे नाणामणिकणगरयणकडगतुडियथंभियभुए अहियरूवसस्सिरीए कुंडलुज्जोवियाणणे मउडदित्तसिरए हारुत्थयसुकयरइयवत्थे पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जे मुद्दिया पिंगलंगुलिए नाणामणिकणगरयणविमल-महरिहानउणोवियमिसमिसंतविरइयसुसिलट्ठ-विसिट्ठलट्ठअ विद्धबीरबलए।किंबहुणा कप्परुक्खो विव अलंकियविभूसिए सुइपयए भवित्ता अम्मापियरो

अभिवादइज्जा ॥ तए णं तं पुरिसं अम्मापियरो एवं बइज्जा- जीव पुत्ता !! वाससयंति तं पियाइं तस्स नो बहुयं भवइ कम्हा वाससयं जीवंतो वीसं जुगाइं जीवइ १, वींस जुगाइं जीवंतो दो अयणसयाइं जीवइ २, दो अयणसयाइं जीवंतो छ उऊपयाइं जीवइ ३, छ उऊसयाइं जीवंतो वारसमाससयाइं जीवइ ४, वारसमाससयाइं जीवंतो चउवीसं पक्ख सयाइंजीवइ ५, चउवीसं पक्खसयाइं जीवंतो छतीसं राइंदिअसहस्साइं जीवति छत्तीसं राइंदियसहस्साइं जीवंतो दसअवीयाइं मुहूत्तसयस- हस्साइं जीवइ ६, दस असीयाइं मुहुत्तसयसहस्साइं जीवंतो चत्तारि ऊसासकोडिसए सत्त य कोडिओ अडयालीसं च सयसहस्साइं चत्तालीसं च सहस्साइं जीवइ ७ ॥ (सूत्र- १६)

अथ यदि तस्य पुत्रस्य वर्षशतप्रमाणमायु स्यात्तदा सजीवति; नाऽन्यथेति, तदाप च आयुः 'आइं' ति-अलंकारे, तस्य वर्षशतायु पुरुषस्य न बहुक-वर्षशताधिकं भवात् कस्मात्? यस्माद्वर्षशतं जीवन् विंशातयुञ्जानि एव जीवति, निरुपक्रमा- युष्कत्वात् १० विंशतियुगानि जीवन् पुरुषो द्वे अयनशंत जीवति २० द्वे अयनशते जीवन् जीवः षड्ऋतुशतानि जीवति ३० षड्ऋतुशतानि जीवन् जन्तुः द्वादश मासशतानि जीवति ४० द्वादश मासशतानि जीवन् प्राणी चतुर्विंशतिपक्षशतानि २४०० जीवति ५० चतुर्विंशतिपक्षशतानि जीवन् षट्त्रिंशदहोरात्रसहस्राणि ३६००० जीवति सत्त्वः ६० षट्त्रिंशदहो- रात्रसहस्राणि जीवन् असुमान् दश मुहूर्तलक्षाणि अशीतिमुहूर्तसहस्राणि १०८०००० जीवति ७० दशलक्षमुहूतानि अशीतिमुहूर्तसहस्राणि जीवन् देहधारी चत्वारि उच्छ्वासकोटिशतानि सप्तकोटिः अष्टचत्वारिंशच्छ- तसहस्राणि चत्वारिंशत्सहस्राणि च ४०७४८४०००० जीवति देहभृत् ८। तं०।

(५) आयुश्च सप्तधा भिद्यते। तद्यथा-

अज्जवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाए।
फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आउं ॥२०४१ ॥

अतिहर्षविषादाभ्यामधिकमवसानं चिन्तनमध्यवसानं तस्मा द्विद्यते- खण्ड्यते-उपक्रम्यते आयुः- अतिशयेन हृदयसंरोधात्। अथवा- रागस्नेहमयभेदादध्यवसानं त्रिधा, तस्मादायुर्भिद्यते (विशे०) निमित्तं दण्डकशादिकं वक्ष्यति, तत्र च सत्यायुर्भिद्यते। तथा- आहारे समधिके अभ्यवहृते, वेदनायां, चातिशयवत्यां, शिरोऽक्षिकुक्ष्यादिप्रभवायां, पराघाते च गर्त्तपातादिसमुत्थे, तथा-स्पर्शे भुजङ्गादिसंबन्धिनि, तथा- प्राणापानयोश्च निरोधे सत्यायुर्भिद्यत। इति एवं सप्तविधं-सप्तभिः प्रकारैः प्राणिनामायुर्भिद्यते- उपक्रम्यते इति। विशे०।

एतेषां क्रमेणोदाहरणानि। तत्र रागाद्यध्यवसानेन

क्षीयते आयुः-

''एकस्य कस्यचिद् गावो, ह्रियन्ते स्म मलिम्लुचैः।
पालनाय गवां जग्मुः, पत्तयस्तस्कराननु ॥१॥
वालता वालयित्वा गा-स्तत्रैकस्तरुणः पुमान्।
गृहीताङ्ग इवानङ्ग-स्तृषितो ग्राममध्यगात् ॥२॥
तत्रैका ग्रामतरुणी, तमपीप्यत्पयः परम्।
शिरा धूनयतोऽप्यस्य, निवृत्त्यै न न्यवर्त्तत ॥३॥
स उत्थाय युवा यासी-त्सा तु तद्रूपमोहिता।
अनुरागमहाधूर्त्त- क्षिप्तचूर्णेव तद्वशा ॥४॥
निर्ध्यायन्ती तमवास्थात्, तन्मयत्वमिवेयुषी।
अदृश्यत्वं गते तस्मिं-स्तस्याः प्राणास्तमन्वगुः ॥५॥''

स्नेहाध्ययसानेनाप्यायुः क्षीयते-

''एकस्य वणिजो यूनः, प्रेयसी प्रौढयौवना।
द्वयोरपि तयोः स्नेहः, कोऽपि वाचामगोचरः ॥१॥
स वाणिज्याय गत्वाऽथ, प्रत्यावृत्तः समेष्यति।
एकाहेन निजावासं, यावत्तावन्परस्परम् ॥२॥
वयस्याश्चिन्तयामासुः, स्नेहः सत्योऽनयोर्न वा।
पूवमेकस्ततो गत्वा, तस्य कान्तामवोचत ॥३॥
मृतस्तव पतिर्भद्रे!, श्रुत्वा वग्राहतेव सा।
सत्ये सत्यमिदमिति, पृष्ठा वारत्रयं मृता ॥४॥
तत्स्वरूपं च वणिजे, कतिथं सोऽपि तत्क्षणात्।
एकोऽपि प्राप पञ्चत्व-मेवे प्रेम्णायुषः क्षयः ॥५॥''

भयाध्यवसानेनाऽप्यायुः क्षीयते, यथा-

''नगरी द्वारवत्यासी-त्सर्वा स्वर्णमयालाग।
अन्तःसमुद्रमौर्वाग्नि-र्भेज यत्प्रतिविम्बताम् ॥१॥
जतुं पौराङ्गनास्येन्दून्, यत्र स्वप्रतिपन्थिनः।
स चन्द्र सेनश्चन्द्रोऽस्थात्, शालशीषावलीमिषात् ॥२॥
वासुदेवोऽभवत्तत्र, वसुदेवनृपाङ्गज
देवकीकुक्षिकासार-कलहंसः क्षितीश्वरः ॥३॥
द्विष पौरुषवन्तोऽपि, यद्बलैरबला: कृताः।
सृष्टिव्यत्यासकरणा-ज्जिज्ञे सृष्टापि तैः स्फुटम् ॥४॥
सूनुं स्तनंधयं धाप-यन्तीं स्त्रीं वीक्ष्य काश्चन।
अधृतिं देवकी चक्रे, पृष्टारिष्टारिणा क्षणात् ॥५॥
अधृतिं किं विधत्सेऽम्ब!, तयोक्तं जात जातु मे।
तनूजन न वक्षोज-पयः केनाप्यपीयत ॥३॥
वायुदवोऽवदन्मातः!, मा कार्षीस्त्वमिहाधृतिम्।
कारायष्यामि ते पुत्र-प्राप्तिमाराध्य देवताम् ॥७॥
देवताऽऽराधिताऽवादी-द्दिव्यः सूनुर्भविष्यति।
अभूश्च तनुभूस्तस्या, नान्यथा देवतावचः ॥८॥
गजसुकुमाल इति, नाम चक्रे कृतोत्सवम्।
सुतां सोमिलविप्रस्य, स युवा पर्यणाय्यत ॥९॥
सोऽन्येद्युः स्वामिनो नेमेः, श्रुत्वा धर्ममभूद् व्रती।
विजहृ स्वामिना सार्द्धं, सेर्ष्यस्तस्मिन्नभूद् द्विजः ॥१०॥
क्रमेण प्रभुमिः साकं, द्वारिकां पुनरागमत्।
प्रभुं पृष्ट्वा पितृवने, कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥११॥
तथास्थं तत्र दृष्ट्वा तं, रुष्टो दुष्टा द्विजस्ततः।
निवेश्य कण्टकं मूर्ध्नि, चिताङ्गारैरपूरयत् ॥१२॥
तत्कष्टं सहमानस्यो-त्पन्नं केवलमुज्ज्वलम्।
अन्तकृत्केवलित्वेन, तदैव प्राप निर्वृतिम् ॥१३॥
विष्णुः प्रातः प्रभुं नत्वा, साधूश्चापृच्छदच्छधीः।
क्व मे बन्धुः प्रभुः स्माह, निश्चस्थात्प्रातमां बहिः ॥१४॥
वासुदेवो गतस्तत्र, परासुमवलोक्य तम्।

कुपितः प्रभुमप्राक्षी-त्केनामारि प्रभुर्जगौ ॥१५॥
विशन्तं स्वां पुरीं दृष्ट्वा, यस्य शीर्षं स्फुटिष्यति।
कुटुम्बं प्रेष्य विप्रोऽपि, स्वयं यावन्निरेति सः ॥१६॥
तावद् दृष्टो विशन् विष्णु-स्ततोऽतिभयसंभ्रमात्।
ययौ पतितवत्कुम्भ- स्तन्मुण्डं शतखण्डताम् ॥१७॥

आ०क० १ अ०। आ०म०। (विस्तरतो गजसुकुमारकथा- 'गजसुकुमाल' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

निमित्तादप्यायुः क्षीयते, तच्चानेकधा-

दंड-कस-सत्थ-रज्जू, अग्गी-उदगपडणं विसं वाला।
सीउण्हं अरइ भयं, खुहा पिवासा य वाही अ ॥७२५॥
मुत्तपुरीसनिरोहे, जिन्नाजिन्ने अ भोअणे बहुसो।
घसण घोलण पीलण, आउस्स उवक्कमा एए ॥७२६॥

दण्ड-कष शस्त्र रज्जवः अग्न्युदकयोः पतन विषं व्यालाः- सर्पाः शीतोष्णम् अरतिभयं क्षुत्पिपासा च व्याधिश्च मूत्रपुरीषनिरोधः जीर्णाजीर्णे च भोजने बहुशः घर्षणं चंदनस्येव घोलनं अङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां यूकाया इव पीडनमिक्ष्वादेरिव आयुष उक्रमरूपत्वादुपक्रमा एते । कारणे कार्योपचाराद् यथा तण्डु- लान्वषति पर्जन्यः, यथा च-आयुघृतम्। (आ०क० १ अ०) कथं दण्डादय उपक्रमेहतव इति चेत्, उच्यते-दण्डेन गाढमभिघाते, कशयाशस्त्रंखड्गादिना, रज्ज्वा गलादौ बन्धे, अग्निना परिदाहे, उदके सर्वस्रोतसामन्तः पूरणे, विषे भक्षिते, व्यालाः- सर्पास्तैर्दशने, शीतोष्णेन च संस्पर्शतः, अरत्या भयेन चान्तर्मनसि पीडासमुत्पत्तौ, क्षुधया अभक्षणे, पिपासया हृदयगल - तालुशोषणे, मूत्रपुरीषनिरोधे शरीरक्षो भतः, जीर्णाजीर्णं नाम अर्द्धजीर्णं तस्मिन् सति अनेकशो भोजने रसोपचयात्, घर्षणं- चन्दनस्येव घोलनम्- अङ्गुष्ठकाङ्गुलिगृहीतचाल्यमानयूकाया इव तस्मिन्, पीडनमिक्ष्वादेस्तस्मि न्नपि सति, भिद्यते आयुरि- त्येते सर्वेऽप्युपक्रमहेतवः । (आ० म० १ अ० ॥७२५॥ गाथाटी०) नन्वध्यवसानादीन्यपि निमित्तान्येवायुषोऽपक्रमस्य तत्कोऽत्र भेदः? सत्यं, किं (न्त्वान्त) त्वितरेतरविचित्रोपाधिभेदेन भेदा- द्विस्तरप्रियविनयानुग्रहार्थत्वाद्वा न दोषः। विशे०२०४३ गाथाटी०

आहारादिभिप्यायुर्भिद्यते-

''बटुरेको दिने कृत्वा, वारानष्टादशाशनम्।
शूलेन म्रियते स्माशु, मृतश्चान्यः क्षुधा पुनः ॥१॥
दृष्वेदनादिभिर्जाता, भूयांसोऽपि गतायुषः।
विद्युदाद्युपघाताच्च, श्रूयन्ते बहवो मृताः ॥२॥
स्पर्शोऽप्यायुःक्षयाय स्या-द्यथा त्वग्विषभोगिनः।
स्त्रीरत्नस्येव संस्पर्शो, यदि वा चक्रवर्तिनः ॥३॥
ब्रह्मदत्ते मृतिं प्राप्ते, द्वादशे चक्रवर्तिनि।
स्त्रीरत्नं तत्सुवोऽवादी-द्भोगान् भुङ्क्ष्व मया सह ॥४॥
तयोक्तं न मम स्पर्शः, सह्यस्ते चक्रिणं विना।
तं प्रत्याययितुं बाजी, मुखाद्यावत् कटिं तया ॥५॥
स्पष्टः करेण तत्कालं, गलद्रेतः क्षयान्मृतः।
तथाऽप्यप्रत्यये तस्य, कृत्वा लोहमयं नरम् ॥६॥
परिरेभे सरन्ते च, दैवादाशु व्यलीयत।
ततोऽभूत्प्रत्ययस्तस्य, दृष्टं को वा न मध्यते ॥७॥
प्राणापानानुरोधेऽपि मृत्युर्भवति देहिनाम्।
यज्ञाऽऽदौ मार्यमाणानां, छागानामिव याज्ञिकैः ॥८॥''

आ०क० १ अ०।

आहं- जाति आउयबंधो उवक्कमिज्जति। तेण कयविप्प- णासो, अकयब्भागमो य होइ। कहं जेण वाससयं आउयं बद्धं सो तं सव्वं आउबंधं न भुंजति, जहा तेण कयविप्पणासो तस्स य तत्थ मारिव्वए जं उरमउरति तेणं अकयब्भागमो भवति। एस यदि दोसो भवति तो णत्थि मोक्खो मोक्खगया वि पडंतु। उच्यते नाणस्स कथमुपालंभः एक्को वि दोसो न भवति। कहं जेण तं सव्वं वेदेति। कहं पलालवट्टिदिट्ठंतसाहणा, जहा- पलालवट्टी हत्थसयदीहा अंते पदीविया चिरेण डज्जति। पुञ्जिया तक्खणा चेव डज्जति । एसो से उवणतो। अहवा- अग्निकव्याधिनिदर्शनात् फलपाचननिदर्शनाच्चेति। आ०चू० १ अ०। यथा वर्षशतोपभोगाय कल्पितं धान्यं भेस्मक- व्याधिपीडितस्याल्पेनापि कालेनापि भुञ्जानस्य न कृतनाशो, नाप्यकृताभ्यागमस्तद्वदत्रापीति। तथा चाह भाष्यकारः-

''कम्मोवक्कमिज्जइ, अपत्तकालम्मि जइ ततो पत्ता।
अकयागमकयनासा, मोक्खाणासासया दोसा ॥२०४७॥
न य दीहकालियस्स वि, नासो तस्साणुभूइतो खिप्पं।
बहुकालाहारस्स व, दुयमग्गियरोगिणो भोगो ॥२०४८॥
सव्वं व पदेसतया, भुज्जइ कम्ममणुभावतो भइयं।
तेणावसाणुभवे, केवयनासादयो तस्स ॥२०४९॥
किंचिदकाले वि फलं, पाविज्जइ पच्चए य कालेणं।
तह कम्मं पाइज्जइ, कालेण य पच्चए अन्नं ॥२०५०॥
जह वा दीहा रज्जू, डज्जइ कालेण पुंजिया खिप्पं।
विततो पडओ सुस्सइ, पिंडीभूतो उ कालेणं ॥२०५१॥''

(विशे०) (असां गाथानां व्याख्या 'उवक्कमकाल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे करिष्यते) इत्यादि, ततो यथोक्तदोषानुपपत्तिरिति। आ०म० १ अ०। आयुश्च सोपक्रमायुषामेव भिद्यते, न निरुपक्रमायुषाम्। आ०चू० १ अ०। आव०। (आयुर्हि द्विविधम्) -सोपक्रमायुषां सोपक्रमम्, निरुपक्रमायुषां निरुपक्रमम्। यदा ह्यसुमान् स्वायुष- स्त्रिभागे त्रिभागत्रिभागे वा जघन्यत एकेन द्वाभ्यां चोत्कृष्टतः सप्तभिरष्टभिर्वा वर्षैरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेन कालेनात्मप्रदेशरचना- नाडिकान्तर्वर्त्तिनः आयुष्ककर्मवर्गणापुद्गलान् प्रयत्नविशेषेण विधत्ते तदा निरुपक्रमायुर्भवतीति, अन्यदा तु- सोपक्रमायुष्क इति। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ६३ सूत्र। (आयुष्कोपक्रमस्याऽपि यथायुष्कोपक्रमकालताम् 'उवक्कमकाल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

(सोपक्रमायुषो निरुपक्रमायुषश्च यथा)-

जीवा णं भंते! किं सोवक्कमाउया, णिरुवक्कमाउया। गोयमा! जीवा सोकक्कमाउया वि, णिरुवक्कहाउया वि०। णेरइया णं पुच्छा, गोयमा! णेरइया णो सोवक्कमाउया, णिरुवक्कमाउया वि। एवं० जाव थणियकुमारा पुढवीकाइया जहा जीवा। एवं० जाव मणुस्सा बाणमंतर जोइसियवेमाणिया: जहा णेरइया। (सूत्र ६८५)

जीवाणमि' त्यादि- 'सोवक्कमाउय' त्ति- उपक्रमणमुपक्रमः- अप्राप्तकालस्यायुषो निर्जरणं तेन सह यत्तत्सोपक्रमं तदेवं विधमायुर्येषां ते तथा। तद्विपरीतास्तु निरुपक्रमायुषः। इह गाथे- 'देवा नेरइया वि य, असंखवासाउया य तिरिमणुया।

उत्तमपुरिसा य तहा, चरिमसरीरा य निरुवकमा ॥१॥

सेसा संसारत्था, हवेज्ज सोवक्कमा य इयरे य।
सोवक्कमनिरुक्कम-भेओ भणिओ समासेणं ॥२॥

भ० २० श० १० उ०।

नेरइया देवा असंखेज्जवासाउगा तिरिया मणुया य उत्तमपुरिसा 'चरिमसरीर' त्ति-सेसा भविया देवा णारया। 'असंखेज्जवासाउया य' छम्माससेसाउया आउगाणि बंधंति। परभविआयुआणि सेसतिभागे सेसाउया जे निरुवक्कमा जे ते सोवक्कमा मेत्ते सिय तिभागसेसाउया परभविआयुयं पकरेंति। सिय तिभागतिभागावसेसाउया सिय तिभाग ३ सेसाउया पकरेंति। कोऽनयोः प्रतिविशेषः। इमाणं संनिवायो तिव्वो इमाणं सो सिढिलो सोवक्कमस्स उववन्नमेत्तस्स आरद्धं जत्थ रुच्चति तत्थ उयट्टिज्जति। निरुवक्कमेणं अवस्सं तं ठाणं पावियव्वं तिभागा वीप्सार्थः अणेगे तिभागा होंति, याव तिएहिं आयुयं भागं देति जो एगम्मि भाए वट्टति तत्थ अभावतो जे जीविअसंखज्जपविट्ठे सव्वनिरुद्धो स आउतो स सव्वमहंतीए आउयबंधगद्धाए तीसे णं आउयबंधगद्धाए चरिमकालसमयम्मि वट्टमाणे जहट्ठियं सो अपज्जत्तगनिव्वर्तिं निव्वत्तेति। एयस्स भागस्स हट्ठा ण तरति आउयं। बधिउं तेण य सव्वजीवाणं आउबंधा। अणाभोगा-भिनिव्वित्तिउं तेण सो अंतोमुहुत्तिओ आवलियाए वि। आ० चू० १ अ०।

(७) आयुषोऽल्पायुर्दीर्घायुरशुभदीर्घायुः शुभदीर्घायुरित्यादिका बहवो भेदास्तेषां कारणानि च। तत्राल्पायुष्कारणानि यथा-

कहं णं भंते! जीवा: अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति गोयमा!। (सूत्र २०४) (भ० ५ श० ६ उ०) तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पा उअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहापाणे अइवाइत्ता भवइ, मुसंवइत्ता भवइ, तहारूवं स मणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं पगरेंति। (सूत्र- १२५×) स्था० ३ ठा० १ उ०।

'अप्पाउयत्ताए' त्ति-अल्पायुष्कतायै अल्पजीवितव्यनिबन्धनमित्यर्थः। (भ०) अथवा- अल्पमायु-र्जीवितं यस्यासावल्पायुष्कस्तद्भावस्तत्ता तथा कर्म्मायुर्लक्षणं प्रकुर्वन्ति बध्नन्तीत्यर्थः। तद्यथा- प्राणान्- प्राणिनोऽतिपातयितेति शीलार्थतृन्नन्तमिति कर्मणि द्वितीयेति प्राणिनां विनाशनशील इत्यर्थः। एवम्भूतो यो भवति, एवं मृषावादवक्ता यश्च भवति, तथा-तत्प्रकारं रूपं-स्वभावो नेपथ्यादि वा यस्य स तथारूपो दानोचित इत्यर्थः। (स्था०) ('समणा' दिपदानां व्याख्या स्वस्व शब्दे) प्रतिलम्भयिता लाभवन्तं करोतीत्येवं शीलो यश्च भवति। (स्था०) 'पडिलाभित्त' त्ति-प्रतिलभ्य लाभवन्तं कृत्वा (भ०) तेऽल्पायुष्कतया कर्म कुर्वन्तीति प्रक्रमः इच्चएहिं' ति-इत्येतैः प्राणातिपातादिभिरुक्तप्रकारैस्त्रिभिः स्थानैर्जीवा अल्पायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्तीति निगमनमिति। इह च प्राणातिपात- यित्रादिपुरुषनिर्देशेऽपि प्राणतिपातादीनामेवाल्पायुर्बन्धनत्वेन तत्कारणत्वमुक्तं द्रष्टव्यमिति। इयं चाम्य सूत्रस्य भावना-

अध्यवसायविशेषेण एतत्त्रयं यथोक्तफलं भवतीति (स्था०) अथवेहापेक्षिकी अल्पायुष्कता ग्राह्या, यतः किल जिनागमा- भिसंस्कृतमतयो मुनयः प्रथमवयसं भोगिनं कञ्चन मृतं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति। नूनमनेन भवान्तरे किञ्चिदशुभं प्राणिघातादि चासेवितमकल्प्यं वा मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्यप्यल्पायुः संवृत्तः इति। (भ०) अथ वा-यो हि जीवो जिनादिगुणपक्षपातितया तत्पूजाद्यर्थं पृथिव्याद्यारम्भेण न्यासापहारादिना च प्राणातिपातादिषु वर्तते तस्य सरागसंयमनिरवद्यदाननिमित्तायुष्कापेक्षयेयमल्पायुष्टा समवसेयेति। अथ-नैतदेवं निर्विशेषणत्वात् सूत्रस्य अल्पायुष्कस्य क्षुल्लकभवग्रहण- रूपस्यापि प्राणातिपातादिहेतुतो युज्यमानत्वाद्, अतः कथमभिधीयते सविशेषणप्राणातिपातादिवर्ती जीव आपेक्षिकी चाल्पायुष्कतेति? उच्यते- अविशेषणत्वेऽपि सूत्रस्य प्राणातिपातादेर्विशेषणमवश्यं वाच्यं यत इतस्तृतीयसूत्रे प्राणातिपातादित एवाशुभदीर्घायुष्टां वक्ष्यति। न हि समानहेतोः कार्यवैषम्यं युज्यते, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। तथा- ''समणावासयस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिला- भमाणस्स किं कज्जइ? गोयमा! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ'' इति भगवती- वचनश्रवणादवसीयते। नैवेयं क्षुल्लकभवग्रहणरूपाऽल्पायुष्टा, न हि स्वल्पपापबहुनिर्जरानिबंधनस्यानुष्ठानस्य क्षुल्लकभवग्रहणनिमित्तता सम्भाव्यते जिनपूजाद्यनुष्ठानस्यापि तथा प्रसङ्गात्। अथाऽप्रासुकदानस्य भवतूक्तात्पायुष्टा, प्राणातिपात- मृषावादयोस्तु क्षुल्लकभवग्रहणमेव फलमिति, नैतदेवम्एका- योगप्रवृत्तत्वाद्, अविरुद्धत्वाच्चेति। अथ मिथ्यादृष्टिश्रमणब्रा- ह्मणानां यदप्रासुकदानं ततो निरुपचरितैवाल्पायुष्टा युज्यते, इतराभ्यां तु को विचार इति? नैवम्, अप्रासुकेनेति तत्र विशे- षणस्थानर्थकत्वात्। प्रासुकदानस्याप्यल्पायुष्कफलत्वाविरोधा- त्, उत्कश्च- भगवत्याम्- ''समणोवासयस्सणं भंते! तहारूवं असंजय अविरय अप्पडिहय अप्पच्चक्खाय पावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ? गोयमा! एगंतसो पावे कम्मे कज्जइ नो से काइ निज्जरा कज्जइ'' त्ति। यच्च पापकर्म्मण एव कारणं तदल्पायुष्टाया अपि कारणमिति, नन्येवं-प्राणातिपातमृषावादावप्रासुकदानं च कर्त्तव्यमापन्नमिति? उच्यते-आपद्यतां नाम भूमिकापेक्षया को दोषः। (स्था०) यतो यतिधर्माशक्तस्य गृहस्थस्य द्रव्यस्तवद्वारेण प्राणा-

नोट-१-(देवा नैरयिका अपि, चासंख्यवर्षायुषश्च तिर्यग्मनुजा उत्तमपुरुषाश्च तथा चरमशरीरश्च निरुपक्रमाः ॥१॥ शेषाः संसारस्था भवेयुः सोपक्रमायुष इतरे च सोपक्रमनिरुपक्रमभेदो भणित समासेन ॥२॥

१-भ० ५ श०६ उ० २०३ सूत्रटी०।

तिपातादिकमुक्तमेव प्रवचने (भ०) ''अधिकारिवशाच्छास्त्रे, धर्मसाधनसंस्थितिः । व्याधिप्रतिक्रिया तुल्या, विज्ञेया गुणदोषयोः ॥१॥'' तथा च गृहिणं प्रति जिनभवनकारणफल- मुक्तम्। ''एतदिह भावयज्ञः, सद्गृहिणो जन्मफलमिदं परमम् । अभ्युदयाविच्छित्त्या, नियमादपवर्गबीजामिति'' ॥१॥ तथा- ''भन्नइ जिणपूयाए, कायवहो जइ वि होइ उ कहिं वि । तह वि तहिं परिसुद्धा, गिहीणि कूवाऽऽहरणजोगा ॥१॥ असदारंभपवत्ता, जं च गिही तेण तेसि विन्नेया । तन्निव्वित्ति फल च्चिय, एसा परिभावणीयमिदं'' ॥२॥ इति, दानाधिकारे तु श्रूयते हि द्विविधाः श्रमणोपासकाः- संविग्नभाविता, लुब्धकदृष्टान्त- भाविताश्चेति । यथोक्तम्- ''संविग्गभावियाणं, लोद्धयदिठंतभावियाणं च । मुत्तूण खेत्तकाले, भावं च कहिंति सुद्धत्थं ॥१॥ इति । तत्र लुब्धकदृष्टान्तभाविता यथा कथञ्चिद्ददति संविग्नभाविता-स्त्वौचित्येनेति। तच्चेदम्- ''संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गिण्हंताणं हियं । आउरदिट्ठंतेणं, तं चेय हियं असंथरणे'' ॥१॥ इति । तथा- ''नायगयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकाल- सद्धासक्कारजम्मजुयं'' इत्यादि क्वचित् ''पाणे अइवाइत्ता मुसं वइत्ता'' इत्येवं भवति शब्दवर्ज्या वाचना, तत्रापि स एवार्थः, क्त्वाप्रत्ययान्तता व्याख्येया, प्राणानतिपात्य मृषोक्त्वा श्रमणं प्रतिलम्भ्य अल्पायुष्टया कर्म बध्नन्नीति प्रक्रमः । शेषं तथैव । (स्था०) अथ वेहाप्रासुकदानमल्पायुष्कतायां मुख्यं कारणम्, इतरे तु सहकारिकारणे इति व्याख्येयं प्राणातिपातनमृषावाद- नयोदनिविशेषणत्वात्, तथाहि- (भ०) प्राणानतिपात्याधा- कर्मादिकरणतो मृषोक्त्वा भोः साधो! स्वार्थसिद्धमिदम्भक्तादि कल्पनीयमकल्पनीयं वा न शङ्का कार्येत्यादि, ततः प्रतिलम्भ्य तथा कर्म कुर्वन्तीति प्रक्रमः । इह च द्वयस्य विशेषणत्वेनैकस्य विशेष्यत्वेन त्रिस्थानकत्वमवगन्तव्यम् । गम्भीरार्थश्चेदं सूत्रमता- ऽन्यथाऽपि भावनीयमिति। स्था० ३ ठा० १ उ०। भ० ५ श० ६ उ०।

दीर्घायुष्कारणानि यथा-

तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं ज, हा- खो पाणे अइवाइत्ता भवइ, णो मुसंवइत्ता भवइ, तहा रूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पमिलाभेत्ता भवइ, इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति। (सूत्र- १२५) । (स्था० ३ ठा० १ उ०)

अल्पायुष्कताकारणान्युक्तानि, अधुनैतद्विपर्ययस्यैतान्येव विपर्यस्ततया कारणान्याह- 'तिहिं' इत्यादि, प्राग्वदवसेयं, नवरं 'दीहाउअत्ताए' त्ति-शुभदीर्घायुष्टयै शुभदीर्घायुष्टया वेति प्रतिपत्तव्यम्। (स्था०) 'कहन्नमि' त्यादि, भवति हि जीवदयादिमतो दीर्घमायुर्येतोऽत्रापि तथैव भवन्ति दीर्घायुषं दृष्ट्वा वक्तारो जीवदयादि पूर्वं कृतमनेन तेनायं दीर्घायुः संवृत्तस्तथा सिद्धमेव वधादिबिरतेर्दीर्घमायुः (भ०) प्राणातिपातविरत्यादीनां दीर्घायुषः शुभस्यैव निमित्तत्वात् । उक्तञ्च- ''महव्वय अणुव्वएहिं, बालतवा कामनिज्जराए य । देवाउयं निबंधइ, सम्मद्दिट्ठी य जो जीवो'' ॥१॥ तथा ''पयईए तणुकसाओ, दाणरओ सीलसंयमाविहूणो । मज्जिमगुणेहिं जुत्तो मणुयाउयं बंधए जीवा'' ॥२॥ देवमनुष्यायुषी च शुभे इति । तथा भगवत्यां दानमुद्दिश्योक्तम्- 'समणोवासयस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पमिलाभेमाणस्स किं कज्जइ, गोयमा! एगंतसो निज्जरा कज्जइ, णोत्से केइ पावे कम्मे कज्जइ'' त्ति । यच्चनिर्जराकारणं तत् शुभदीर्घायुष्कारणतया न विरुद्धं महाव्रतवदिति। स्था० ३ ठा० १ उ०।

अशुभदीर्घायुष्कारणानि यथा-

तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति? तं जहा- पाणे अइवाइत्ता भवइ, मुसंवइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलेसा निंदेत्ता खिंसेत्ता गरिहित्ता अवमाणित्ता अन्नयरेणं अमणुन्नेणं अपीइकारएणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिलाभेत्ता भवइ । इच्चेएहिं तिहि ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरें ति। (सूत्र- १२५)

अन्तरमायुषो दीर्घताकारणान्युक्तानि, तच्च शुभाशुभमिति तत्रादौ तावदशुभायुर्दीर्घताकारणान्याह- 'तिहिं' इत्यादि- प्राग्वद्, नवरम् । अशुभदीर्घायुष्टयै इति नारकायुष्कायेति भावः। तथाहि- अशुभं च तत् पापप्रकृतिरूपत्वात् दीर्घं च तस्य जघन्यतोऽपि दशवर्षसहस्रस्थि- तिकत्वादुष्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमरूपत्वात् अशुभदीर्घं तदेवंभूतमायुर्जीवितं यस्मात्कर्मणास्तदशुभदीर्घायुस्तद्भावस्तत्ता तस्यै तया वेति प्राण न् प्राणिन इत्यर्थोऽपिपातयिता भवति मृषावादी च वक्ता भवति, तथा श्रमणब्राह्मणादीनां हीलनादि कृत्वा प्रतिलम्भयिता भवतीत्यक्षरघटना। हीलना तु जात्याद्युद्घट्टनतो निन्दनं मनसा खिसनं जनसमक्षं गर्हणं तत्समक्षम् अपमानन- मनभ्युत्थानादिभिः अन्यतरेण- बहूनां मध्ये एकतरेण क्वचित्त्वन्यतरेणेति न दृश्यते, अमनोज्ञेन- स्वरूपतोऽशोभनेन कदन्नादिना अत एवाप्रीतिकारकेण भक्तिमतस्त्व- मनोज्ञमपि मनोज्ञमेव तत्फलत्वादार्यचन्दनाया इव ॥ आर्यचन्दनया हि कुल्माषाः सूर्पकोणकृता भगवते महावीराय पञ्चोदनोनषाण्मासिककक्ष- पणपारणके दत्तास्तदैव च तस्या लोहनिगडानि हेममयनूपुरौ सम्पन्नौ केशाः पूर्ववदेव जाताः पञ्चवर्णविविधरत्नराशिमिगृहं भृतं सेन्द्रदेवदानवनरनाय- कैरभिनन्दिता कालेनावाप्तचारित्रा च सिद्धिसौधशिखरमुपगतेति । इह च सूत्रे अशनादिप्रासुकाऽप्रासु- कत्वादिना न विशेषितं हीलनादिकर्तुः प्रासुकादिविशेषणस्य फलविशेषं प्रत्यकारणत्वान्मत्सरजनितहीलनादिविशेषणानामेव प्रधानतया तत्कारणात्वादिति। स्था० ३ ठा० १ उ०। (वीरस्य भगवतः पारणाकारणात् आर्यचन्दनयाः कृतपुण्याहमित्यादि आर्यचन्दनायाः वृत्तम् 'अज्जचंदणा' शब्दे प्रथमभागे गतम्) वाचनान्तरे तु- ''अफासुएणं अणेसणिज्जेणं'' ति-दृश्यते तत्र च प्रासुकदानमपि हीलनादिविशेषितमशुभदीर्घायु- ष्कारणम्, अप्रासुकादानं तु विशेषित इत्युपदर्शयता ''अ-

फासुएणे'' त्याद्युक्तमिति प्राणातिपातमृषावादनयोर्दानविशेषण-पक्षव्याख्यानमपि घटत एव अवज्ञादानेऽपि प्राणातिपाता-देर्दृश्यमानत्वादिति । भवति च प्राणातिपातादेरशुभदीर्घायुस्तेषां नरकगतिहेतुत्वाद्, यदाह ''मिच्छद्दिट्ठिमहारंभपरिग्गहो तिव्वलोभ-निस्सीलो । नरयाऽऽउयं निबंधइ, पावमई रोद्द-परिणामो'' ॥१॥ नरकगतौ च विवक्षया दीर्घमेवायुः । भ० ५ श० ६ उ० २०४ सूत्र टी०।

शुभदीर्घायुष्कारणानि यथा-

तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा-णो पाणो अइवाइत्ता भवइ, णो मुसंवइत्ता भवई तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेत्ता मणुन्नेणं पीइकारएणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुहदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति। (सूत्र- १२५)

उक्तकविपर्ययेणाधुनेतरदाह ॥ 'तिहिं ठाणेहिं' इत्यादि पूर्ववत् इहापि प्रासुकाऽप्रासुकतया दानं न विशेषितं पूर्वसूत्रविपर्य- यत्वादस्य पूर्वसूत्रस्य वा विशेषणतया प्रवृत्तत्वादिति । न च प्रासुकाऽप्रासुकदानयोः फलं प्रति न विशेषोऽस्ति पूर्वसूत्रयो- स्तस्य प्रतिपादितत्वात्तस्मादिह प्रासुकैषणीयस्य कल्पप्राप्ता- वितरस्य चेदं फलमवसेयम्। (स्था० ३ ठा० १ उ०) वाचनान्तरे- तु 'फासुएणमि' त्यादि दृश्यत एवेति (भ० ५ श० ६ उ० सूत्र-२०४) अथवा- भावप्रकर्षविशेषादनेषणीयस्यापीदं फलं न विरुध्यते, अचिन्त्यत्वाच्चित्तपरिणतेः सा हि बाह्यस्यानुगुणतयैव न फलानि साधयति भरतादीनामिवेति। इह च प्रथममल्पायुःसूत्रं, द्वितीयं तद्विपक्षः, तृतीयमशुभदीर्घायुः सूत्रं, चतुर्थं तद्विपक्ष इति;, न पुनरुक्ततेति। स्था० ३ ठा० १ उ०।

अत्राऽपरं सूत्रम्-

समणोवासए णं भंते! तहारूवं समणं वा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पमिलाभेमाणे किं लब्भइ? गोयमा! समणोवासएणं तहारूवं समणं वा० जाव पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा महाणस्सा वा समाहिं उप्पाएइ, समाहिकारएणं तमेव समाहिं पडिलभइ। समणोवासए णं भंते! तहारूवं समणं वा० जाव पडिलाभेमाणे किं चयइ!, गोयमा! जीवियं चयइ, दुच्चयं चयइ, दुक्करं करेइ, दुल्लहं, लहइ बोहिं बुज्जइ, तओ पच्छा सिज्जइ, जाव अंतं करेइ। (सूत्र- २६४)

'किंचयइ' 'त्ति-किं ददातीत्यर्थः 'जीवियं चयइ' त्ति-जीवितमिव ददात्यन्नादि द्रव्यं यच्छन् जीवितस्यैव त्यागं करोतीत्यर्थः । जीवितस्येवान्नादिद्रव्यस्य दुस्त्यजत्वदेतदेवाह- 'दुच्चयं चयइ' त्ति-दुस्त्यजमेतत्त्यागस्य दुष्करत्वादेवाहदुष्करं करोतीति । अथवा- किं त्यजति-किं विरहयति । उच्यते-जीवितमिव जीवितं कर्म्मणो दीर्घा स्थितिं 'दुच्चयं' ति-दुष्टे कर्म्म द्रव्यसंचयम् 'दुक्करं' ति-दुष्करमपूर्वकरणतो ग्रन्थिभेदं, ततश्च- 'दुल्लभं लभइ' त्ति-अनिवृत्तिकरणं लभते॥ ततश्च- 'बोहिं बुज्जइ' त्ति-बोधिं-सम्यग्दर्शनं बुध्यतेअनुभवति ॥ इह च श्रमणोपासकः साधूपासनामात्रकारी ग्राह्यस्तदपेक्षयैवास्य सूत्रार्थस्य घटमानत्वात् 'तओ पच्छ' त्ति-तदनन्तरं सिध्यतीति प्राग्वत्, अन्यत्राप्युक्तं दानविशेषस्य बोधिगुणत्वं, यदाह- ''अणुकंपकामणिज्जरबालतवेदाणविणए'' त्यादि ॥ तद्यथा- 'कोई तेणेव भवे-ण णिव्वुया, सव्वकम्मओ मुक्का ॥ केई तइयभवेणं, सिज्जिस्संति जिणसगासे ॥१॥' इति । भ० ७ श० १ उ०।

मध्यमायुर्बलदेवादीनां यथा-

तओ मज्जिममाउयं पालयंति, तं जहा- अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेववासुदेवा। (सूत्र- १४३×)

'मज्जिमे' त्ति-मध्यमायुः पालयन्ति वृद्धत्वाभात्। स्था० ३ ठा० १ उ०।

(८) आयुष्कर्मणो जीवितहेतुत्वं यथा।

यावदायुष्कर्म विजृम्भते तावद्दोषैरतिपीडितोऽपि जीवत्या- युष्कर्मक्षये च दोषाणामविकृतावपि म्रियते। नं० १ गाथा टी० ''सुरनरतिरिनिरयाऊ हडिसरिसं'' (२३ गाथा) एतच्चायुर्हडिसदृशं भवति । तत्र हडिः- खोडकस्तेन सदृशं तत्तुल्यं, यथा हि राजादिना हडौ क्षिप्तः कश्चिच्चौरादिस्ततो निर्गमनमनोरथं कुर्वाणोऽपि विवक्षितं कालं यावत्तया ध्रियते तथा नारकादिस्ततो निष्क्रमितुमना अपि तदायुषा ध्रियते इति हडिसदृशमायुः। कर्म० १ कर्म०। (अत्र विशेषतो व्याख्यानम्- 'आउकम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे करिष्यते) आयाति स्वकीयावसरे इत्यायुः गतेर्निस्सरितुमिच्छन्नपि जीवो निर्गन्तुं न शक्नोति यस्मिन्सति निगडबद्ध इव तिष्ठतीत्यायुषः स्वभावः। उत्त० ३३ अ० २ गाथा।

(९) द्विविधमायुर्यथा-

दुविहे आउए पण्णत्ते, तं जहा-अद्धाउए चेव, भवाउचेव१९। (सूत्र-८५×)

'दुविहे' त्यादि, अद्धा-कालः तत्प्रधानमायुः- कर्म-विशेषोऽद्धायुः, भवात्येयऽपि कालान्तरानुगामीत्यर्थः, यथा-मनुष्यायुः, कस्यापि भवात्यय एव नापगच्छत्यति तु सप्ताष्टभवमात्रं कालमुत्कर्षतोऽनुवर्तत इति, तथा- भवप्रधानमायुर्भवायुः, यद्भवात्यये अपगच्छत्येव न कालान्तरमनुयाति, यथा- देवायुरिति, १९। स्था० २ ठा० ३ उ०। (यथायुष्कं पालयन्ति इति 'आउय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) यथायुष्कवक्तव्यता 'अहाउय' शब्दे प्रथमभागे द्रष्टव्या) (द्वयोः अद्धायुष्कमिति 'अद्धाउय' शब्दे प्रथमभागे गतम्) (द्वयोः भवायुष्कमिति 'भवाउय' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) (द्वौ यथायुष्कं पालयन्ति इति 'अहाउय' शब्दे प्रथमभागे दर्शितम्) (द्वयोः आयुष्कंसर्वतः इति 'आउयसंवट्टय' शब्देऽस्मिन्नवे भागे द्रष्टव्यम्)

जीवानामिह भविकायुः, परभविकायुर्यथा ॥ तत्र कियति पूर्वभवायुषि शेषे पारभविकमायुर्बद्धमि-

ति संशयानः पृच्छति-

नेरइया णं भंते! कइभागावसेसाऽऽउया परभवियाऽऽउयं पकरंति? गोयमा ! नियमा छम्मासाऽवसेसाउया परभ-

विआउयं, पकरंति। एवं असुरकुमाराऽवि ०जाव थणियकुमारा वि। पुढवीकाइया णं भंते! कइ-भागावसेसाऽऽउया परभवियाउयं पकरेंति? गोयमा! पुढवीकाइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा- सोवक्कमाउया य, निरुवक्कमाउया य। तत्थ णं जे ते निरुवक्कमाउया ते नियमा तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति। तत्थ णं जे ते सोवक्कमाउया ते सिय तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति; सिय तिभागतिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति; सिय तिभागतिभागतिभागावसेसाउया परभवि-याउयं पकरेंति। आउ-तेउ-वाउ- वणस्सइकाइयाणं, बेइंदिय- तेइंदिय- चउरिंदियाण वि एवं चेव ॥ पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते! कइभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरंति? गोयमा! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा- संखेज्जवासाउया य, असंखेज्जवासाउया य। तत्थ णं जे ते असंखेज्जवासाउया ते नियमा छम्मासावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति। तत्थ णं जे ते संखिज्जवासाउया ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-सोवक्कमाउया य, निरुवक्कमाउया य। तत्थ णं जे ते निरुवक्कमाउया ते नियमा तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरंति। तत्थ णं जे ते सोवक्कमाउया ते णं सिय तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरंति; सिय तिभागतिभागे परभवियाउयं पकरंति; सिय तिभागतिभागतिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरंति। एवं मणुस्सा वि, वाणमंतर-जोइसिस-देमाणिया जहा नेरइया। दारं। (सूत्र- १४४)

नेरइया णं भंते! कइभागावसेसाउया परभवियाउयं बंधं (पकरें) ति' इत्यादि। पाठसिद्धं, तदेवं यद्भागावशेषऽनुभूयमानभवायुषि पारभविकमायुर्बध्नन्ति तत्प्रतिपादितम्। प्रज्ञा० ६ पद। भ०।

नैरयिकादीनां परभविकायुर्बन्धो यथा-

णेरइया णियमा छम्मासावसेसाऽऽउया परभवियाऽऽउयं पगरेंति। एवमसुरकुमाराऽवि, ०जाव थंणियकुमारा। असंखेज्जवासाउया सन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिया णियमं छम्मासावसेसाउया परभवियाउयं पगरेंति। असंखेज्ज-वासाउया सन्निमणुस्सा णियमं ०जाव पगरेंति। वाणमंतरजोइसिया वेमाणिया जहा णेरइया। (सूत्र- ५३६)

'नियम' त्ति-अवश्येभावादित्यर्थः। 'छम्मासावसेसाउय' त्ति-षण्मासा अवशेषा-अवशिष्टा यस्य तत्तथा तदायुर्येषां ने षण्मासावशेषायुष्काः। परभवो विद्यते यस्मिंस्तत्परभविकै तच्च तदायुश्चेति परभविकायुः प्रकुर्वन्ति- बध्नन्ति। असंख्येयानि वर्षागयायुर्येषां ते तथा ते च ते संज्ञिनश्च समनस्काः पञ्चेन्द्रियति र्यग्योनिकाश्चेत्यसंख्येयवर्षायुष्क संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः। इह च संज्ञिग्रहणमसंख्येयवर्षायुष्काः संज्ञिन एव भवन्तीति नियमदर्शनार्थं न त्वसंख्येयवर्षायुषामसंज्ञिनां व्यवच्छेदार्थं, तेषामसंभवादिति। इह च गाथे-

'निरइसुरअसंख्याऊ, तिरिमणुया सेसए उ छम्मासे।
इगविगला निरुवक्कम- तिरिमणुया आउयतिभागे ॥१॥
अवसेसा सोवक्कम-तिभागनवभागसत्तवीसइमे।
बंधंति परभवाओ, नियभवे सव्वजीवा उ'' ॥२॥इति।

इदमेवान्यैरित्थमुक्तम्- इह निर्यग्मनुष्या आत्मीयायुषस्तृती- यत्रिभागे परभवायुषो बन्धयोग्या भवन्ति, देवनारकाः पुनः षण्मासे शेषे। तत्र तिर्यग्मनुष्यैर्यदि तृतीयत्रिभागे आयुर्न बद्धं ततः पुनस्तृतीयत्रिभागस्य तृतीयत्रिभागे शेषे बध्नन्ति एवं तावत् संक्षिपन्त्यायुर्यावत्सर्वजघन्य आयुर्बन्धकाल उत्तरकालश्च शेषस्तिष्ठति। इह तिर्यग्मनुष्या आयुर्बध्नन्त्ययं वा संक्षेपकाल उच्यते। तथा देवनैरयिकैरपि यदि षण्मासे शेषं आयुर्न बद्धं तत आत्मीयस्यायुषः षण्मासशेषं तावत्संक्षिपन्ति यावत्सर्वजघन्य आयुर्बन्धकाल उत्तरकालश्चावशेषोऽवतिष्ठते इह परभवायुर्देवनैरयिका बध्नन्तीत्ययमसंक्षेपकालः। स्था० ६ ठा० ३ उ०। (परभविकायुष्प्रकारः 'उववाय' शब्देऽस्मिन्नवे भागे निरुपयिष्यते)

(१०) प्रत्याख्यायाऽप्रत्याख्यानतदुभवनिर्वर्त्तिताऽऽयुष्कत्वं जीवानाम्-

जीवा णं भंते! किं पच्चक्खाणनिव्वत्तियाऽऽउया, अपच्चक्खाणणिव्वत्तियाऽऽउया पच्चक्खाणाऽपच्चक्खा-णणिव्वत्तियाउया? गोयमा! जीवा य, वेमाणिया य, पच्चक्खाणणिव्वत्तियाउया। तिण्णि वि अवसेसा अपच्चक्खाणि-निव्वत्तियाउया। गाहा-

'पच्चक्खाणं जाणइ, कुव्वंति तेणेव आउनिव्वत्ती।
सपएसुद्देसम्मि य, एमेए दंडगा चउरो ॥१॥'(सूत्र-२४०)

जीवपदे जीवाः प्रत्याख्यानादित्रअनिबद्धायुष्का वाच्या, वैमानिकपदे च वैमानिका अप्येवं प्रत्याख्यानादित्रयवतां तेषूत्पादात् 'अवसेस' त्ति-नारकादयोऽप्रत्याख्यानिर्वृत्तायुषो, यतस्तेषु तत्त्वेनाविरता एवोत्पद्यन्त इति। उक्तार्थसंग्रहगाथा- 'पच्चक्खाण' मित्यादि, प्रत्याख्यानमिति एतदर्थ एको दण्डकः, एवम्- अन्ये त्रयः। भ० ६ श० ४ उ०।

(११) जीवानामाभोगानाभोगनिर्वर्त्तितायुष्कत्वं यथा-

जीवा णं भंते! किं आभोगनिव्वत्तियाउया, अणाभोगनिव्व-त्तियाउया? गोयमा! नो आभोगनिव्वत्तियाउया; अणाभोग-निव्वत्तियाउया। एवं नेरइया वि, एवं० जाव विमाणिया। (सूत्र-२८४)। भ० ७ श० ६ उ०।

तच्चतुर्विधम्-

चउव्विहे आउए पण्णत्ते, तं जहा-णेरइयाऽऽउए, जाव देवाऽऽउए॥ (सूत्र- २९४×)

एति च; याति चेति आयुः- कर्मविशेष इति, तत्र येन निरयभ वे प्राणी म्रियते तन्निरयायुरेवमन्यान्यपि। स्था० ४ ठा० २ उ०।

अस्यैता एवोत्तरप्रकृतयः-

नेरइय तिरिक्खाओ, मणुस्साओ तहेव य।

देवाओ य चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥१२॥

उत्त० ३३ अ० । प्रव० । (अस्या गाथाया व्याख्या 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे १९ अधिकाराङ्के करिष्यते) ।

(१२) अनन्तरोपपन्नकादीनां नैरयिकादीनामायुस्तद्बन्धश्च-

णेरइया णं भंते! किं अणंतरोववण्णगा, परंपरोववण्णगा, अणंतरपरंपरअणुववण्णगा? गोयमा ! णोरइया णं अणंतरोववण्णगा वि, परंपरोववण्णगा वि, अणंतरपरंपरअणुववण्णगा वि । से केणऽट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ जाव अणंतरपरंपरअणुववण्णगा वि? गोयमा ! जेणं णेरइया पढमसमओववण्णगा तेणं णेरइया अणंतरोववण्णगा । जेणं णेरइया अपढमसमओववण्णगा तेणं णेरइया परंपरोववण्णगा । जेणं णेरइया विग्गहगइसमावण्णगा तेणं णेरइया अणंतरपरंपरअणुववण्णगा । से तेणऽट्ठेणं ०जाव अणुववण्णगा वि । एवं णिरंतरं ०जाव वेमाणिया । अणंतरोववण्णगा णं भंते! णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खमणुस्सदेवाउयं पकरेंति? गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति जाव णो देवाउयं पकरेंति । परंपरोववण्णगा णं भंते! णेरइया किं णेरइयाउयं पकरेंति ०जाव देवाउयं पकरेंति? गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति । अणंतरपरंपरअणुववण्णगा णं भंते! णेरइया किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, ०जाव णो देवाउयं पकरेंति एवं ०जाव वैमाणिया । णवरं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य परंपरोववण्णगा चत्तारि वि आउयं (पकरेंति) बंधंति सेसं तं चेव २॥

'नरेइया णमि' त्यादि, 'अणंतरोववण्णग' त्ति-न विद्यन्तेऽन्तरं समयादिव्यवधानमुपपन्ने-उपपाते येषां ते अनन्तरोपपन्नकाः 'परंपरोववण्णग' त्ति-परम्परा-द्वित्रादिसमयता उपपन्ने-उपपाते येषां ते परंपरोपपन्नकाः । 'अणंतरपरंपर-अणुववण्णग' त्ति अनन्तरम्अव्यवधानं परंपरं च द्वित्रादिसमयरूपमविद्यमानम्-उपपन्नम्उत्पादो येषां ते तथा । एते च विग्रहगतिकाः, विठाहगतौ द्विविधस्याप्युत्पादस्याविद्यमानत्वादिति ॥ अथानन्तरोपपन्नादीनाश्रित्याऽऽयुर्बन्धमभिधातुमाह- 'अणंतरे' त्यादि, इह चानन्तरोपपन्नानामनन्तरपरम्परानुपपन्नानां च चतुर्विधस्याप्यायुषः प्रतिषेधोऽध्येतव्यः । तस्यामवस्थायां तथाविधाध्यवसायस्थानाभावेन सर्वजीवानामायुषो बन्धाभावात् स्वायुष- स्त्रिभागादौ च शेषे बन्धसद्भावात्परम्परोपपन्नकास्तु स्वायुषः षण्मासे शेषे मतान्तरेणोत्कर्षतः षण्मासे जघन्यतश्चान्तर्मुहूर्त्ते शेषे भवप्रत्ययात्तिर्यङ्मनुष्यायुषी एवं कुर्वन्ति; नेतरे इति 'एवं ०जाव वेमाणिय' त्ति अनेनोक्तालापकत्रययुक्तश्चतुर्विंशतिदण्डको-ऽध्येतव्य इति सूचितम्॥ यश्चात्र विशेषस्तं दर्शयितुमाह- 'नवरं पंचिंदिए' त्यादि॥

अथानन्तरनिर्गतत्वादिना अपरं दण्डकमाह-

णेरइया णं भंते! किं अणंतरणिग्गया, परंपरणिग्गया, अणंतरपरंपरअणिग्गया ? गोयमा ! णेरइया णं अणंतरणिग्गया वि ०जाव अणंतरपरंपरणिग्गया वि । से केणऽट्ठेणं भंते! ०जाव अणिग्गया वि ? गोयमा ! जे णं णेरइया पढमसमयणिग्गया ते णं णेरइया अणंतरणिग्गया । जे णं णेरइया अपढमसमयणिग्गया ते णं णेरइया परंपरणिग्गया । जे णं णेरइया विग्गहगइसमावण्णया ते णं अणंतरपरंपर- अणिग्गया । से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! ०जाव अणिग्गया वि, एवं ०जाव वेमाणिया ३॥

''णेरइया णं' इत्यादि, तत्र निश्चितं स्थानान्तरप्राप्त्या गतंगमनं निर्गतम्- अनन्तरं समयादिना निर्व्यवधानं निर्गतं येषां तेऽनन्तरनिर्गतास्ते च येषां नरकादुद्वृत्तानां स्थानान्तरप्राप्तानां प्रथमसमयो वर्त्तते, तथा परम्परेणसमयपरंपरया निर्गतं येषां ते तथा, ते च येषां नरकादुद्वृत्तानामुत्पत्तिस्थानप्राप्तानां द्व्यादयः समयाः । अनन्तरपरम्परानिर्गतास्तु ये नरकादुद्वृत्ताः सन्तो विग्रहगतौ वर्त्तन्ते, न तावदुत्पादक्षेत्रमासादयन्ति तेषामनन्तर- भावेन; परम्परभावेन चोत्पादक्षेत्रप्राप्तत्वेन निश्चयेनानिर्गत- त्वादिति ।

अथानन्तरनिर्गतादीनाश्रित्यायुर्बन्धमभिधातुमाह-

अणंतरणिग्गया णं भंते ! णेरइया किं णेरइयाऽऽउयं पकरेंति ०जाव देवाऽऽउयं पकरेंति ? गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति ०जाव णो देवाउयं पकरेंति । परंपरणिग्गया णं भंते! णेरइया किं णेरइवाउयं पि पकरेंति ०जाव देवाउयं पकरेंति पुच्छा, गोयमा! णेरइयाऽऽउयं पकरेंति ०जाव देवाउयं पि पकरेंति। अणंतरपरअणिग्गया णं भंते! णेरइयपुच्छा, गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति ०जाव णो देवाउयं पकरेंति। एवं निरवसेसं ०जाव वेमाणिया ४॥

'अणंतरे' त्यादि, इह च परम्परानिर्गता नारकाः सर्वाण्यायूंषि बध्नन्ति । यतस्ते मनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च एव च भवन्ति । ते च सर्वायुर्बन्धका एवेति । एवं सर्वेऽपि परम्परनिर्गता वैक्रियजन्मानः, औदारिकजन्मानोऽप्युद्वृत्ताः । केचिन्मनुष्य- पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो भवन्त्यतस्तेऽपि सर्वायुर्बन्धका एवेति अनन्तरं निर्गता उक्तास्ते च क्वचिदुत्पद्यमानाः सुखेनोत्पद्यन्ते दुःखेन वेति दुःखोत्पन्न-कानाश्रित्याह- 'नेरइये' त्यादि ।

अनन्तरखेदोपपन्नकपरम्परखेदोपपन्नकानन्तरपम्परखेदोष- पन्नकानां नैरयिकादीनामायुः-

णेरइया णं भंते ! किं अणंतरखेदोववण्णगा, परंपरखेदोववण्णगा, अणंतरपरम्परखेदाऽणुववण्णगा? गोयमा! णेरइया एवं एएणं अभिलावेणं ते चेव चत्तारि दंडगा भाणियव्वा सूत्र-५०२×)

त एव पूर्वोक्ता उत्पन्नदण्डकादयः खेदशब्दविशेषिताश्चत्वारो दण्डका भणितव्यास्तत्र च प्रथमः- खेदोपपन्नदण्डको,

द्वितीयस्तदायुष्कदण्डकः, तृतीयः खेदनिर्गतदण्डकः, चतुर्थस्तु तदायुष्कदण्डक इति। भ० १४ श० १ उ०।

(१३) असञ्ज्ञिजीवनामायुः-

कइविहे णं भंते ! असण्णियाउए पण्णते ? गोयमा ! चउविव्वहे असणियाउए पण्णत्ते, तं जहा- णेरइयअसण्णियाउए, तिरिक्खजोणियअसण्णियाउए, मणुस्सअसण्णियाउए, देवअसण्णिआउए ॥ असण्णि णं भंते! जीवे किं णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्सदेवाउयं पकरेइ? गोयमा! णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खमणुस्स-देवाउयं पकरेइ । णेरइयाउयं पकरेमाणे जहण्णेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं पलिओवमस्स अमंखेज्जइभागं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं; उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरहे, मणुस्साउए वि एवं चेव। देवाउए जहा णेरइयायाउए। एयस्स णं भंते! णेरइय-असण्णिआउयस्स तिरिक्खजोणियअसण्णि-आउयस्स मणुस्सअसाण्णिआउयस्स देवअसण्णिआउयस्स कयरे कयरेहिंतो ०जाव विसेसाहिए वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवे देवअसण्णियाउए, मणुस्सअसण्णियाउए संखेज्जगुणे, तिरियअसण्णियाउए असंखेज्जगुणे, णेरइयअस- ण्णिआउए असंखेज्जगुणे। (सूत्र- २६)

'कइबिहेणमि' त्यादि, व्यक्तम्नवरं 'असन्निआउए' त्तिअसञ्ज्ञी सन् यत्परभवप्रायोग्यमायुर्बध्नाति तदसंज्ञ्यायुः। 'नरेइयअस- ण्णिआउए' त्ति- नैरयिकप्रायोग्यमसंज्ञ्यायुर्नैरयिकासंज्ञ्या- युरेवमन्यान्यपि, एतच्चासंज्ञ्यायुः सम्बन्धमात्रेणापि भवति । यथा भिक्षोः पात्रमतस्तत्कृतत्वलक्षणसम्बन्धविशेषनिरूपणायाह- 'असण्णी' त्यादि, व्यक्तं नवरं 'पकरेइ' त्ति-बध्नाति' दसवाससहस्साइं' ति- रत्नप्रभाप्रथमप्रतरमाश्रित्य 'उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइ-भागं' ति-रत्नप्रभातचतुर्थप्रतरे मध्यमस्थितिकं नारकमाश्रित्येति, कथं यतः प्रथमप्रस्तटे दशवर्षाणां सहस्राणि जघन्या स्थितिरुत्कृष्टा नवतिः सहस्राणि। द्वितीये तु दशलक्षाणि जघन्या इतरा तु नवतिर्लक्षाणि। एषैव तृतीय जघन्या इतरा पूर्वकोटी। एषैव चतुर्थे जघन्या इतरा तु सामरोषमस्य दशभागा। एवञ्चात्र पल्योपमाऽसंख्येयभागो मध्यमायुःस्थितिर्भवति। तिर्यक्सूत्रे यदुक्तम्- 'पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं ति' तन्मिथुनकतिस्श्चोऽधिकृत्येति 'मणुस्साउए वि एवं चेव' त्ति- जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्; उत्कर्षतः पल्योप-मासंख्येयभाग इत्यर्थः, तत्र चासंख्येयभागो मिथुन-कनरानाश्रित्य। 'देवा जहा नेरइय' त्ति- 'देवा' इति असञ्ज्ञिविषयं देवायुरूपचारतया वाच्यम् 'जहा णेरइय' त्तियथा असञ्ज्ञिविषयं नारकायुस्तच्च प्रतीतमेव, नवरं भवनपतिव्यन्तरानाश्रित्य तदवसेयमिति। भ० १ श० २ उ०। प्रज्ञा०।

(१४) एकान्तबालैकान्तपण्डितबालपण्डितानामायुर्यथा

एगंतबाले णं भंते! मणूसे किं नेरइयाउयं पकरेइ तिरिआउयं पकरेइ मणुयाउयं पकरेइ देवाउयं पकरेइ। नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जइ। तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ। मणुयाउयं किच्चा मणुएसु उववज्जइ। देवाउयं किच्चा देवलोएसु उववज्जइ? । गोयमा! एगंतबाले णं मणुया नेरइयाउयं पि पकरेइ, तिरियाऽऽउयं पि पकरेइ, मणुयाऽऽउयं पि पकरेइ,देवाउयं पि पकरेइ । नेरइयाउयं पि किच्चा नेरइएसु उववज्जइ । तिरियाऽऽउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ । मणुयाऽऽउयं किच्चा मणुएसु उववज्जइ । देवाउयं किच्चा देवलोएसु उववज्जइ। (सूत्र-६३)

एगंतपंडिए णं भंते! मणुस्से किं नेरइयाउयं पकरेइ ०जाव देवाउयं किच्चा देवलोएसु उववज्जइ? गोयमा! एगंतपंडिए णं मणुस्से आउयं सिय पकरेइ; सिय णो पकरेइ। जइ पकरेइ णो णेरइयाउयं पकरेइ, णो तिरियाउयं पकरेइ, णो मणुयाउयं पकरेइ । देवाउयं पकरेइ, णो णेरइयाउयं किच्चा णेरइएसु उववज्जइ, णो तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ, णो मणुयाउयं किच्चा मणुएसु उववज्जइ । देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ । से केणऽट्ठेणं ०जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ? गोयमा! एगंतपंडियस्स णं मणुस्सस्स केवलमेव दो गईओ पण्णायंति, तं जहा-अंतकिरिया चेव, कप्पोववत्तिया चेव । से तेणऽट्ठेणं गोयमा! ०जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ।

बालपंडिए णं भंते! मणूसे किं नेरइयाउयं पकरेइ ०जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ? गोयमा! णो णेरइगाउयं पकरेइ ०जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ। से केणऽट्ठेणं ०जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ? गोयमा! बालपंडिए णं मणूसे तहारूवस्य समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म, देसं उवरमइ, देसं णो उवरमइ, देसं पच्चक्खाइ, देसं णो पच्चक्खाइ, से तेणं देसोवरमइ, देसपच्चक्खाणेणं णो णेरइयाउयं पकरेइ ०जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ । से तेणऽट्ठेणं ०जाव देवेसु उववज्जइ। (सूत्र- ६४)

'एगंतबाले' त्यादि, एकान्तबालो मिथ्यादृष्टिरविरतो वा, एकांतग्रहणेन मिश्रतां व्यवच्छिनत्ति । यच्चैकान्तबालत्वे समानेऽपि नानाविधायुर्बन्धनं तन्महारम्भाद्युन्मार्गदेशनादितनुकषायत्वाऽऽद्यकामनिर्ज्जरादितद्धेतुविशेषवशादिति, अत एव बालत्वे समानेऽप्यविरत सम्यगदृष्टिर्मनुष्यो देवायुरेव प्रकरोतिः न शेषाणि, एकान्तबालप्रतिपक्षत्वा-देकान्तपण्डित सूत्रं तत्र च एगन्तपण्डिए णं' ति एकान्तपण्डितः साधुः'मणुस्से'त्तिविशेषणं स्वरूपज्ञानार्थमेव, अमनुष्यस्यैकान्त-पण्डितत्वायोगात्तदयोगश्च सर्वविस्तेरन्यस्याभावादिति । 'एगंतपंडिए

णं मणुस्से आउयं सिय पकरेइ सिय नो पकरेइ' त्ति-सम्यक्त्व- सप्तके क्षपिते न बध्नात्यायुः साधुः, अर्वाक् पुनर्बध्नातीत्यत उच्यते, स्यात्प्रकरोतीत्यादि केवलमेव 'दो गईओ पण्णगायंति' त्ति–केवलशब्दः सकलार्थस्तेन साकल्येनैव द्वे गती प्रज्ञाप्येते- अवबुध्येते केवलिना तयोरेव् सत्त्वादिति 'अंतकिरिय' त्ति-निर्वाणम् 'कप्पोववत्तिय' त्ति-कल्पेषुअनुत्तरविमानान्तदेव- लोकेषूपपत्तिः- उत्पत्तिर्या सैव कल्पोपपत्तिका इह च कल्पशब्दः सामान्येनैव वैमानिकदेवाऽऽवासाभिधायक इति । एकान्तपण्डितो द्वितीयस्थानवर्त्तित्वाद् बालपण्डितस्य बालपण्डितसूत्रम्। तत्र च- 'बालपंडिए णं' ति-श्रावकः 'दसं उवरमइ' त्ति-विभक्तिविपरिणामात् देशादुपरमते- विरतो भवति, ततो देशं स्थूलप्राणातिपातादिकं प्रत्याख्याति, वर्जनीयतया प्रतिजानीते। भ० १ श० ९ उ०।

(१५) क्रियावाद्यादिजीवानामायुर्यथा-

किरियावादी णं भंते ! जीवा किं णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं, मणुस्साउयं पकरेंति ? गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति । मणुस्साऽऽउयं पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति । जइ देवाउयं पकरेंति । किं भवणवासिदेवाउयं ०जाव वेमाणियदेवाउयं पकरेंति ? गोयमा ! णो भवणवासिदेवाउयं पकरेंति, णो वाणमंतरदेवाउयं पकरेंति, णो जोइसियदेवाउयं, पकरेंति वेमाणियदेवाउयं पकरेंति ॥ अकिरियावादी णं भंते ! जीवा किं णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्ख पुच्छा, गोयमा ! णेरइयाउयं पि पकरेंति, ०जाव देवाउयं पि पकरेंति । एवं अण्णाणियवादी वि, वेणइयवादी वि ।

'किरिये' त्यादि, 'मनुस्साउयं पि पकरेंति देवाउयं पि पकरेंति' त्ति-तत्र ये देवा नारका वा क्रियावादिनस्ते मनुष्यायुः प्रकुर्वन्ति, ये तु मनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वा ते देवायुरिति।

सलेश्यादीनां जीवानां क्रियाद्यादीनामायुर्यथा-

सलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं एवं जहेव जीवा तहेव सलेस्सा वि चउहिं वि समोसरणेहिं भाणियव्वा । कण्हलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति मणुस्साउयं पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति ॥ अकिरिया-अण्णाणिय-वेणइयवादी य चत्तारि वि आउयं पकरेंति । एवं णीललेस्सा वि । काउलेस्सा वि ॥ तेउलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति? पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति, जइ देवाउयं पकरेंति तहेव, तेउलेस्सा णं भंते ! जीवा अकिरियावादी किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति । एवं अण्णाणियवादी वि वेणइयवादी वि जहा तेउलेस्सा । एवं पम्हलेस्सा वि । सुक्कलेस्सा वि णेयव्वा ॥ अलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पुच्छा ? गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति णो मणुस्साउयं पकरेंति णो देवाउयं पकरेंति ।

'कण्हलेस्सा णं भंते ! जीवा' इत्यादौ 'मणुस्साउयं पकरेंति' त्ति-यदुक्तं तन्नारकासुरकुमारादीनाश्रित्यावसेयम्। यतो ये सम्यग्दृष्टयो मनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्च ते मनुष्यायुर्न बध्नन्तीत्येव वैमानिकायुर्बन्धकत्वात्तेषामिति। 'अलस्सा णं भंते! जीवा किरियावाई' इत्यादि, अलश्याः- सिद्धाः आयोगिनश्च ते चतुर्विधमप्यायुर्न बध्नन्तीति। भ० ३० श० १ उ०।

(१६) कृष्णपाक्षिकादीनां क्रियावाद्यादीनां जीवानामायुर्यथा-

कण्हपक्खिया णं भंते ! जीवा अकिरियावादी किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णेरइयाउयं पि पकरेंति । एवं चउव्विहं पि । एवं अण्णाणियवादी वि, वेणइयवादी वि ॥ सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा ॥

सम्यग्दृष्ट्यादिक्रियावाद्यादीनां जीवानामायुर्यथा-

सम्मद्दिट्ठी णं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्ख-जोणियाउयं पकरेंति । मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति । मिच्छादिट्ठी जहा कण्हपक्खिया ॥ सम्ममिच्छादिट्ठी णं भंते ! अण्णाणियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति जह अलेस्सा । एवं वेणइयवादी वि ॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टिपदे- 'जहा अलेस्स' त्ति-समस्तायूंषि न बध्नन्तीत्यर्थः । नारकदण्डके- 'किरियावाईणमि' त्यादौ यन्नैरयिकायुर्देवायुश्च न प्रकुर्वन्ति क्रियावादिनारकास्तन्नारकभवानुभावादेव । यच्च तिर्यगायुर्न प्रकुर्वन्ति तत्क्रियावादानुभावादित्यवसेयम्। अक्रियावादादिसमवसरणत्रयं तु नारकाणां सर्वपदेषु तिर्यग्मनुष्यायुषी एव भवतः । सम्यग्मिथ्यात्वे पुनर्विशेषोऽस्तीति तद्दर्शनायाहनवरं 'सम्मे' त्यादि, सम्यग्मिथ्यादृष्टिनारकाणां द्वे एवान्तिमे समवसरणे स्तः तेषां चायुर्बन्धो नास्त्येव गुणस्थानकस्वभावादतस्ते तयोर्न किंचिदपि आयुः प्रकुर्वन्तीति।

(१७) ज्ञानिनाम्; अज्ञानिनां; विभङ्गज्ञानिनाञ्च क्रियावाद्यादिजीवानामायुर्यथा-

णाणी आभिणिबोहियणाणी य, सुअणाणी य, ओहिणाणी य जहा सम्मद्दिट्ठी ॥ मणपज्जवणाणी णं भंते! पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणिया ऽऽउयं पकरेंति, णो मणुस्साउयं पकरेंति । देवाउयं पकरेंति । जइ देवाउयं पकरेइ किं भवणवासी पुच्छा,

गोयमा ! णो भवणवासी देवाउयं पकरेंति, णो वाणमंतरदेवाऽऽउयं पकरेंति, णो जोइसियवेमाणियदेवाउयं पकरेंति। केवलणाणी जहा अलेस्सा। अण्णाणी ०जाव विभंगणाणी जहा कण्हपक्खिया॥

सञ्ज्ञिकादीनां क्रियावाद्यादिजीवानामायुर्यथा-

सण्णासु चउसु वि ०जाव सलेस्सा णो सण्णोवउत्ता जहा मणपज्जवणाणी॥

सवेदकावेदकसकषाय्यकषायिसयोग्ययोगिसाकारोपयुक्ताऽनाकारोपयुक्तानां क्रियावाद्यादिजीवानामायुर्यथा-

सवेदगा ०जाव णपुंसगवेदगा जहा सलेस्सा॥ अवेदगा जहा अलेस्सा॥ सकसाई ०जाव लोभकसाई जह सलेस्सा। अकसाई जह अलेस्सा॥ सजोगी ०जाव कायजोगी जहा सलेस्सा॥ अजोगी जहा अलेस्सा॥ सागारोवउत्ता य, अणागारोवउत्ता य जहा सलेस्सा॥ (सूत्र-८२४)

क्रियावाद्यादिनैरयिकादीनामायुर्यथा-

किरियावादी णं भंते ! णेरइया किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पकरेइ, णो देवाउयं पकरेइ॥ अकिरियावादी णं भंते ! णेरइया पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पि पकरेइ, णो देवाउयं पि पकरेइ॥ एवं अण्णाणियवादी वि॥ वेणइयवादी वि॥ सलेस्सा णं भंते ! णेरइया किरियावादी किं णेरइयाउयं, एवं सव्वेऽवि णेरइया, जे किरियावादी ते मणुस्साउयं एगं पकरेंति। जे अकिरियावादी अण्णण्णियवादी वेणइयवादी वि ते सव्वट्ठाणेसु वि णो णेरइयाउयं पकरेंति। तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पकरेंति। णो देवाउयं पि पकरेंति, णवरं सम्मामिच्छत्ते उवरिल्लेहिं दोहिं समोसरणेहिं न किंचि वि पकरेंति, जहेव जीवपदे। एवं ०जाव थणियकुमारा जहेव णेरइया॥ अकिरियावादी णं भंते ! पुढवीकाइया पुच्छा, गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पकरेइ, णो देवाउयं पकरेइ॥ एवं अण्णाणियावादी वि॥ सलेस्सा णं भंते! एवं जं जं पदं अत्थि पुढवीकाइयाणं तहिं तहिं मज्जिमेसु दोसु समोसरणेसु एवं चेव दुविहं आउयं पकरेंति, णवरं तेउलेस्साए किं पि पकरेंति॥ एवं आउकाइयाण वि, एवं वणस्सइकाइयाण वि, तेउकाइया वाउकाइया सव्वट्ठाणेसु मज्जिमेसु दोसु समोसरणेसु णो णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, णो मणुस्साउयं पकरेइ, णो देवाउयं पकरेइ- बेइंदिय- तेइंदिय- चउरिंदिया णं जहा पुढवीकाइया णं णवरं सम्मत्ते णाणेसु ण एक्कं पि आउयं पकरेंति॥ किरियावादी णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं णेरइयाउयं पकरेंति, पुच्छा, गोयमा ! जहा मणपज्जवणाणी अकिरियावादी अण्णाणियवादी वेणइयावादी चउव्विहं पि पकरेंति। जहा ओहिया तहा सलेस्सा वि॥ कण्हलेस्सा णं भंते ! किरियावादी पंचिंदियतिरिक्खजो–णिया किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, णो मणुस्साउयं पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति॥ अकिरियावादी, अण्णाणियवादी, वेणइयावादी चउव्विहं पि पकरेंति। जहा कण्हलेस्सा। एवं णीललेस्सा वि। काउलेस्सा वि। तेउलेस्सा जहा सलेस्सा। णवरं अकिरियावादी; अण्णाणियवादी; वेणइयवादी णो णेरयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति। एवं पम्हलेलेस्सा वि। एवं सुक्कलेस्सा वि भाणियव्वा। कण्हपक्खिया तिंहिं समोसरणेहिं चउव्विहं पि आउयं पकरेंति। सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा। सम्मद्दिट्ठी जहा मणमज्जवणाणी तहेव वेमाणियाउयं पकरेंति॥ मिच्छद्दिट्ठी जहा कण्हपक्खिया॥ सम्मामिच्छादिट्ठी णं एक्कं पि आउयं पकरेंति जहेव, णेरइया णाणी ०जाव ओहिणाणी जहा सम्मद्दिट्ठी अण्णाणी ०जाव विभंगणाणी जहा कण्हपक्खिया। सेसा ०जाव अणा-गारोवउत्ता, सव्वे जहा सलेस्सा तहा चेव भाणियव्वा। जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं वत्तव्वया भणिया एवं मणुस्साण वि भाणियव्वा, णवरं मणपज्जवणाणी णो सण्णोवउत्ता य जहा सम्मद्दिट्ठी तिरिक्खजोणिया तहेव भाणियव्वा। अलेस्से केवलणाणी अवेदकअकसाई अजोगी य एए एक्कं पि आउयं ण पकरेंति, जहा ओहिया जीवा। सेसं तं चेव। वाणमंतर-जोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा। (सूत्र- ८२५)

'पुढविकाइये' त्यादौ 'दुविहं आउय' त्ति-मनुष्यायुस्ति-र्यगायुश्चेति 'तेओलेस्साए न किं पि पकरेंति' त्ति-अपर्याप्तका-वस्थायामेव, पृथिवीकायकानां तद्भावात्तद्विगम एव चायुषो बन्धादिति 'सम्मत्तनाणेसु न एक्कं पि आउयं पकरेंति' त्ति-द्वीद्रियादीनां सम्यक्त्वज्ञानकालात्यय एवायुर्बन्धो भवत्यल्पत्वात्तत्कालस्येति नैकमप्यायुर्बध्नन्ति तयोस्ते इति। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकदण्डके। 'कण्हलेस्साणमि' त्यादि, यदा पञ्चेन्द्रियातिर्यञ्चः सम्यग्दृष्ट्यः कृष्णलेश्यात्रयपरिणता भवन्ति तदायुरेकमपि न बध्नन्ति सम्यग्दृशां वैमानिकार्युबन्धकत्वेन तेजोलेश्यादित्रय एव बन्धनादिति, 'तेओलेस्सा जह सलेस्स' त्ति-अनेन च क्रियवादिनो वैमानिकायुरेव इतरे तु त्रयश्चतुर्विधमप्यायुः प्रकुर्वन्तीति प्राप्तं

सलेश्यानामेवंविधस्वरूपतयोक्तत्वादिह तु यदनभिमतं तन्निषेधनायाऽऽह- 'नवरं अकिरियावाई' त्यादि, शेषं तु प्रतीतार्थत्वान्न व्याख्यातमिति। भ० ३० श० १ उ०।

(१८) अनन्तरोपपन्नकादिक्रियावाद्यादीनामायुर्यथा-

किरियावादी णं भंते ! अणंतरोववण्णगा- णेरइया किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं णो तिरिक्खजोणियाऽऽउयं पकरेंति। मणुयाऽऽउयं पकरेंति। णो देवाउयं पकरेंति। एवं अकिरियावादी वि। अण्णाणियवादी वि। वेणइयवादी वि। सलेस्सा णं भंते ! किरियावादी अणंतरोववण्णगा णेरइया किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं ०जाव णो देवाउयं पकरेंति। एवं ०जाव वेमाणिया। एवं सव्वट्ठाणेसु अणंतरोववण्णगा णेरइया ण किंचि वि आउयं पकरेंति, ०जाव अणागारोवउत्ते त्ति। एवं ०जाव वेमाणिया। णवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं। (सूत्र-८२६)। भ० ३० श० १ उ०।

(१९) भविकजीवानां नैरयिकादिपूपपद्यमानानां सायुष्कत्वं यथा-

जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं साऽऽउए संकमइ; निराउए संकमइ। गोयमा ! साउए संकमइ, नो नेराउए संकमइ। से णं भंते ! आउए कहिं कडे, कहिं समाइण्णे। ? गोयमा। ! पुरिमे भवे कडे, पुरिमे भवे समाइण्णे, एवं ०जाव वेमाणियाणं दंडओ। से णूणं भंते। ! जे जं भविए जोणिं उववज्जित्तए से तमाउयं पकरेइ, तं जहा- नेरइयाउयं वा ०जाव देवाउयं वा? हंता गोयमा ! जे जं भविए जोणिं उववज्जित्तए से तमाउयं पकरेइ। तं जहा-नेरइयाउयं वा; तिरियमणुयदेवाउयं वा॥ नेरइयाउयं पकरेमाणे सत्तविहं पकरेइ, तं जहा-रयणप्पभापुढवी- नेरइयाउयं वा ०जाव अहे सत्तमापुढवीनेरइयाउयं वा तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे पंचविहं पकरेइ, तं जहा- एगिंदियतिरिक्खजोणियाउयं वा भेदो सव्वो भाणियव्वो मणुस्साउयं दुविहं पकरेइ, देवाउयं चउव्विहं पकरेइ। (सूत्र-१८४)

'जीवे णमि' त्यादि, 'से णं भंते' त्ति-अथ तद्भदन्त! 'कहिं कडे' 'त्ति-क्व भवे बद्धम्। 'समाइण्णे' त्ति-समाचरितं तद्धेतुसमाचरणात्' जे जं *भविए जोणिं उववज्जित्तए' त्ति- विभक्तिविपरिणामाद्यो यस्यां* योनावुत्पत्तुं योग्य इत्यर्थः, 'मणुस्साउयं दुविहं' ति-संमूर्च्छिम-गर्भव्युत्क्रान्तिकभेदाद् द्विधा 'देवाउयं चउव्विहं' ति-भवनपत्यादिभेदात्। भ० ५ श० ३ उ०।

(२०) भविकजीवानां नैरयिकादिषूपपद्यमानानामायुस्करण-प्रतिसंवेदनादि यथा-

***रायगिहे ०जाव एवं वयासी-जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं इह गए नेरइयाउयं पकरेइ, उववज्जमाणे नेरइयाउयं पकरेइ, उववण्णे नेरइयाउयं पकरेइ ? गोयमा ! इह गए नेरइयाउयं पकरेइ, नो उववज्जमाणे नेरइयाउयं पकरेइ, नो उववन्ने नेरइयाउयं पकरेइ। एवं असुरकुमारेसु वि॥ एवं ०जाव वेमाणिएसु। जीवे णं भंते।! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से भंते।! किं इह गए नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववज्जमाणे नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववन्ने नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ।? गोयमा।! नो इह गए नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववज्जमाणे नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववन्ने वि नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, एवं ०जाव वेमाणिएसु। (सूत्र-२८३)।** भ० ७ श० ६ उ०।

(२१) अनन्तरमुद्वर्त्योपपद्यमानानां नैरयिकादीनामायुष्प्रतिसंवेदनादि यथा-

णेरइया णं।! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते।! कयरं आउयं पडिसंवेदेइ ? गोयमा।! णेरइयाउयं पडिसंवेदेइ। पंचिंदियतिरिक्खजोणियाउए से पुरओ कडे चिट्ठइ। एवं मणुस्से वि॥ णवरं मणुस्साउए से पुरओ कडे चिट्ठइ। असुरकुमारा णं भंते।! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पुढवीकएसु उववज्जित्तए पुच्छा, गोयमा।! असुरकुमाराउयं पडि-संवेदेइ, पुढवीकाइयाउए ते पुरओ कडे चिट्ठइ। एवं जो जहिं भविओ उववज्जित्तए तस्स तं पुरओ कडे चिट्ठति, तत्थ ठिओ तं पडिसंवेदेइ ०जाव वेमाणिया, णवरं पुढवीकाइओ पुढवीकाइएसु उववज्जति, पुढवीकाइयाउयं पडिसंवेदेइ अण्णे य से पुढवीकाइयाउए पुरओ कडे चिट्ठइ, एवं ०जाव मणुस्सो सट्ठाणे उववातेयव्वो परट्ठाणे तहेव॥ (सूत्र-६२८) भ० १८ श० ५ उ०।

(चतुर्गत्यायुःस्थिति० 'कम्म' तृतीयभागे (२६) अधिकाराङ्के दर्शयिष्यते) (आयुषो गुणस्थानेषु बन्धोदयसत्तास्थानानां परस्परसंबन्धेन भङ्गाः ''अट्ठछला०'' ४७ गाथया 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते)

***आहोस्वित्**- अव्य० आहो च स्विच्च। द्वि०। विकल्पे, प्रश्ने च। *''आहोस्वित् शाश्वतं स्थानं, तेषां तत्र द्विजोत्तम !'' द्विपद-मित्येके।* ''किं देवाणं वयणं, गेज्जं आउ जिणवराणं'' ॥३०५॥ 'आउ' त्ति-आर्षत्वात्- आहोस्विदिति। उत्त० १ अ०।

आउंचण- न० (आकुञ्चन)। संकोचात्मके क्रियाभेदे, जङ्घादेः सङ्कोचने, घ० २ अधि०। गात्रसंकोचने, आव० ४ अ०। पञ्चा०। ऋजुद्रव्यस्य कुटिलत्वकारणं च कर्म आकुञ्चनं यथा *ऋजुनोऽङ्गुल्यादिद्रव्यस्य येऽग्रावयवास्तेषामाकाशादिभिः*

स्वसंयोगिभिर्विभागे सति मूलप्रदेशैश्च संयोगे सति येन कर्मणाङ्गुल्यादिरवयवी कुटिलः संपद्यते तदाकुञ्चनम्। सम्म० ३ काण्ड ४९ गाथाटी०।

आउंचणपट्टग- न० (आकुञ्चनपट्टक)। पर्यस्तिकापट्टे, बृ०।

तच्च निर्ग्रन्थीनां धारयितुं कल्पते (सूत्रम्)-

नो कप्पइ निग्गंथीणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥३६॥ कप्पइ निग्गंथाणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥३७॥

एवं यावद्वारुदण्डकसूत्रम्।

अथामीषां सूत्राणं सम्बन्धमाह-

बंभवयपालणऽट्ठा, तहेव पट्टायियाउ समणीणं।
बिइयपएण जईणं, पीढगफलए विवज्जित्ता ॥२८५॥

यथा ब्रह्मव्रतपालनार्थमचेलत्वादीनि न कल्पन्ते। तथा ब्रह्मचर्यरक्षणार्थमेव श्रमणीनां पट्टादयोऽपि वा संदण्डकान्ता न कल्पन्ते। द्वितीयपदे तु यतीनां कल्पन्ते, परं पीठफलकानि वर्ज्जयित्वा तानि साधूनामपवादमन्तरेणापि कल्पन्त एवेत्यर्थः। अत एतेषां सूत्राणामारम्भः। अनेन संबन्धेनायातानाममीषां (३६) प्रथमसूत्रस्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थीनामाकुञ्चनपट्टं- पर्यस्तिकापट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वा ॥३६॥ कल्पते निर्ग्रन्थनामाकुञ्चनपट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वेति सूत्रार्थः ॥३७॥

अथ भाष्यम्-

गव्वो अवाउडत्तं, अणुवधिपलिमन्थुपरिवाओ।
पट्टमतोलियदोसा, गिलाणियाए उ जयणाए ॥२८६॥

पर्यस्तिकापट्टं परिदधानामार्यिकां दृष्ट्वा लोको ब्रूयात्- अहो अस्याः कियान् गर्वो यदेवं महिलाभवन्ती पर्यस्तिकां करोति अपावृता वा पर्यस्तिकां वा कुर्वाणा भवेत्। 'अणुबहि-त्ति' य उपकारे वर्तते स उपधिरुच्यते। स च तासामुपकारं नायातीति कृत्वा अनुपधिरुभयकालं प्रत्युपेक्ष्यमाणे च तस्मिन् सूत्रार्थपरिमन्थः। शास्तुश्च-तीर्थकृतः परिवादो यथा नूनमसर्वज्ञोऽसौ येनेतः स पर्यस्तिकापट्टो न प्रतिषिद्धः। द्वितीयपदे यः संयती स्थविरो ग्लानतया यतनया अल्पसागारिक-पर्यस्तिकापट्टः परिधातव्यः उपरिचान्यत्प्रावरणीयं कारणे च गृह्यमाणे योऽजालिको-जालरहितः स गृहीतव्यो जालसदृशेषु चिरदोषः एवं निर्ग्रन्थानामप्यकारणे पर्यस्तिकां कुर्वाणानां चतुर्लघु गुर्वादयश्च त एव दोषाः।

कारणे पुनरयं विधिः-

थेरे व गिलाणे वा, मुत्तकाउमुवरिं तु पाउरणं।
वस्सए व चेट्ठो पुव्व-कतमसारिए वाए ॥२८७॥

सूत्रपौरुषीम्ः उपलक्षणत्वादर्थपौरुषीं च कर्त्तुं; शिष्याणां दातुमित्यर्थः। स्थविरो ग्लानो वाचनाचार्यः पर्यस्तिकां कृत्वा परिप्रावृणुयात्। उत्तरार्द्धं पश्चाद् व्याख्यास्यते।

सच पर्यस्तिकापट्टः कीदृश इत्याह-

फल्लो अचित्तो अह आविओ वा,
चउरंगुलो वित्थडओ असंधिमो।
विस्सामहेउं तु सरीरगस्स,
दोसा अवट्ठंभगया य एवं ॥२८८॥

फलाज्जातः फालः; सौत्रिक इत्यर्थः। अचित्रः- अकुर्वरः। अथ सौत्रिको न प्राप्यते तत आविको वा स च चतुरङ्गुलविस्तृतः। स्थूलोऽसंधिमश्चापान्तराले संधिरहितः एवंविधः पर्यस्तिकापट्टः शरीरस्य विश्रामहेतोर्गृह्यते ये वाऽवष्टम्भगताः ''अंबर-कुंथुंदेहिय'' इत्यादिका दोषाः तथैवमाकुञ्चनपट्टे परिधीयमाने न भवन्ति। बृ० ५ उ०।

आउंच-(ट)णा-स्त्री० (आकुञ्चना) आकुञ्चनं-गात्रसंकोचनं तदेवाकुञ्चना। सङ्कोचे, ध० ३ अधि०।

आउंटण- न० (आकुंचन) 'आर्षेऽन्यदपि दृश्यते' इति प्राकृतव्याकरणाच्चस्य टः। संकोचने, आव० ४ अ०। आउंटणे गात्र-संखेवो। आ० चू० ४ अ०। आवर्जने च। पञ्चा० ७ विव०।

आउंटणपसारण-न० (आकुञ्चनप्रसारण)। आकुञ्चनं जङ्घादेः संकोचनं, प्रसारणं च तस्यैव जङ्घादेः सङ्कुचितस्य ऋजुकरणं आकुञ्चन-प्रसारणे च। जङ्घादिसङ्कोचनाकुञ्चितजङ्घाद्यृजुकरण- योस्तदात्मके एकासन-प्रत्याख्यानस्याकारविशेषे च। प्रव०। ''अण्णत्थ आउंटणपसारणेणं'' आकुञ्चनं प्रसारणे चाऽसहिष्णुतया क्रियमाणे यत्किंञ्चिदासनं चलति ततोऽन्यत्र प्रत्याख्यानं तस्मिन् हि क्रियमाणे न प्रत्याख्यानभङ्गः। प्रव० ४ द्वार। ध०। हत्थं वा पायं वा सीसं वा पसारे आउंटेज्ज वा पसारेज्ज वा ण भज्जेति। आ० चू० ६ अ०।

आकुण्टनादिप्रस्तावादिदमाह-

देवे णं भंते! महिड्ढिए ०जाव महेसक्खे लोगंते ठिच्चा पभू अलोगंति हत्थं वा ०जाव ऊरूं वा आउंटावेत्तए वा पसारेत्तए वा? णो इणट्ठे समट्ठे, से केणऽट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ देवे णं महिड्ढिए ०जाव महेसक्खे लोगंते ठिच्चा णो पभू अलोगंसि हत्थं वा ०जाव पसारेत्तए वा ? गोयमा ! जीवा णं आहारोवचिया पोग्गला वोंदिचिया पोग्गला कडेवरचिया पोग्गला पोग्गला चेव पप्प जीवाण य अजीवाण य गइपरियाये आहिज्जइ, अलोए णं णेवऽत्थि जीवा णेवऽत्थि पोग्गला से तेणऽट्ठेणं ०जाव पसारेत्तए वा सेवं भंते ! भंते त्ति। (सूत्र-५८६)

'देवे णमि' त्यादि, 'जीवा णं आहारोवचिया पोग्गल' त्ति-जीवानां; जीवानुगता इत्यर्थः। आहारोपचिता- आहाररूप- तयोपचिताः। 'वोंदिचिया पोग्गल' त्ति-अव्यक्तावयवशरीर- रूपचिताः 'वोंदिचिया पोग्गल' त्ति-अव्यक्तावयवशरीररूपतया चिताः 'कडेवरचिया पोग्गल' त्ति-शरीररूपतया चिताः उपलक्षणत्वाच्चास्योच्छ्वासचिताः पुद्गला इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् अनेन चेदमुक्तं- जीवानुगामिस्वभवाः पुद्गला भवन्ति ततश्च यत्रैव क्षेत्रे जीवास्तत्रैव पुद्गलानां गतिः स्यात्तथा पोग्गला चेव पप्प' त्ति-पुद्गलानेव प्राप्यआश्रित्य जीवानां च 'अजी' वाण यत्ति- पुद्गलानां च गतिपर्यायो- गतिधर्म्मः 'आइज्जइ' त्ति-आख्यातते। इदमुक्तं भवति-यत्र क्षेत्रे पुद्गलास्तत्रैव जीवानां पुद्गलानां च गतिर्भवति, एवं चालोकेनैव सन्ति जी-

वा नैव च सन्ति पुद्गला इति तत्र जीवपुद्गलानां गतिर्नास्ति तदभावाच्चालोकेदेवो हस्ताद्याकुण्टयितुं प्रसारयितुं वा न प्रभुः। भ० १६ श० ८ उ०।

आउअकरण- न० (आयुष्करण) आयुषः करणमिति। जीवित-विपाकवेद्यस्यायुष्कर्मविशेषस्य निर्वर्तने, 'आउअकरणं०'' (२०५×गा०) 'आयुःकरणम्' इति-आयुषः- पञ्चमकर्मप्रकृत्या- त्यामकस्य करणं-निर्वर्तनम्- आयुःकरणम्। उत्त० पाई० ४ अ०। (अत्र विस्तरः 'असंखय' शब्दे प्रथमभागे गतः।)

आउक्कम्म- नं० (आयुष्कर्म्मन्) एति-याति चेत्यायुस्तन्निबन्धनं कर्मायुष्कर्म। कर्मविशेषे, उत्त० १ अ० (तद्वक्तव्यता आउ शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

आउकम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-अद्धाउए चेव, भवाउए चेव। (सूत्र-१०५) स्था० २ ठा० ४ उ०। (व्याख्या स्वस्वस्थाने)

इदानीं पञ्चविधमायुष्कर्म व्याचिख्यासुराह-

सुरनरतिरिनरयाऊ, हडिसरिसं ॥२३×॥

आयुः शब्दः प्रत्येकं योज्यते, ततश्च सुष्ठु राजन्ते इति सुराः। यद्वा-'सुरत्' ऐश्वर्यदीप्त्योः, सुरन्ति-विशिष्टमैश्वर्यमनुभवन्ति दिव्याभरणकान्त्या सहजशरीरकान्त्या च दीप्यन्त इति सुराः। यदिवसुष्ठुरान्तिददति प्रणतानामीप्सितमर्थं लवणाधिपसुस्थित इव लवणजलधौ मार्गं जनार्द्दनस्येति सुरा देवास्तेषामायः सुरायुर्येन तेष्ववस्थितिर्भवति १। नृणन्तिनिश्चिन्वन्ति वस्तु- तत्त्वमिति नराः-मनुष्यास्तेषामायुर्नरायुस्तद्भवावस्थितिहेतुः २। 'तिरि' त्तिप्राकृत-त्वारत्तिरोऽश्नन्तिगच्छन्तीति तिर्यञ्चः व्युत्पत्तिनिमित्तं चैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तु तिर्यग्गतिनाम, एते चैकेन्द्रियादयः, ततस्तिरश्चामायुस्तियेगायुर्येनैतेषु स्थीयते। नरान् उपलक्षणत्वात् तिरश्चोऽपि प्रभूतपापकारिणः कायन्तीवा- ऽऽह्वयन्तीवेति नरकाः- नरकावासाः तत्रोत्पन्ना जन्तवोऽपि नरकाः, नरको वा विद्यते येषां ते **''अभ्रादिभ्यः''** ॥७ २ ४६॥ इत्यप्रत्यय नरकास्तेषामायुर्नरकायुर्येन ते तेषु घ्रियन्ते। ''एतच्चायुर्हडिसदृशं भवति। कर्म० १ कर्म० (हडिदृष्टान्तः 'आउ' शब्देऽस्मिन्नवेभागे (८) अधिकाराङ्के गतः)

आउक्काइय- पुं० (अप्कायिक)। आपो- द्रवास्ता एव कायः शरीरं यस्येति अप्काय एवाप्कायिकः स्वार्थं इकप्रत्ययः। एकेन्द्रियसंसारसमापन्न-जीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद। (अत्रस्था सर्वा वक्तव्यता 'आउक्काय' शब्दादवगन्तव्या)

आउक्काय- पुं० (अप्काय)। आपः कायो यस्सेति। एकेन्द्रियसंसा-रसमापन्नजीवभेदे, षट्कायभेदे च जीविनि, प्रज्ञा० १ पद। स०।

विषय-सूची-

(१) अप्कायिकानां द्वैविध्यम्।

(२) अप्कायिकस्य शरीरादिवर्णनम्।

(३) सचित्ता-ऽचित्त-मिश्रविवेकः।

(४) तीव्रोदकस्याऽचित्तत्वम्।

(५) अप्कायशस्त्रनिरूपणम्।

(६) सचित्ताऽप्कायपरिभोगविचारः।

(७) अप्कायपरिभोगकारणानि।

(८) अप्कायसमारम्भव्यावृत्तस्यैव मुनित्वम्।

(९) शाक्याऽऽदिमुनयो नियमतः अप्कायिकांस्तदाश्रित- जीवांश्च विहिंसन्ति।

(१०) अप्कायविहंसननिषेधः।

(११) अप्कायस्पर्शनिषेधः।

(१२) शीतोदकाऽऽदिपसेवननिषेधः।

(१) संप्रत्यप्कायिकप्रतिपादनार्थमाह-ते च द्विविधाः-

से किं तं आउक्का (का) इया ? आउक्काइया दुविहा पन्नता। तं जहा- सुहुआउक्काइया य, बादर आउकाइया य। से किं तं सुहुमआउक्काइया ? सुहुमआउक्काइया दुविहा, पन्नत्ता, तं जहा-पज्जत्तसुहुमआउक्काइया य, अपज्जत्तसुहुमआउ-क्काइया य। सेत्तं सुहुमआउक्काइया ॥ से किं तं बादरआउक्काइया? बादरआउक्काया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-ओसा, हिमए, महिया, करए, हरतणुए, सुद्धोदए, सीतोदए, उसिणोदए, खारोदये, खट्टोदए, अंबिलोदए, लवणोदए, वारुणोदए, खीरोदए, घओदए, खोदोदए, रसोदए, जेयावण्णे, तहप्पनारा। ते समासओ दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्ज-त्तगा य। तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता। तत्थ णं जे ते पज्जत्ता एतेसि णं वण्णाऽऽदेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासादेसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं संखेज्जाइं जोणिप्पमुहसयहस्साइं, पज्जत्तगणिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति। जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा। सेत्तं बादरआउक्काइया। सेत्तं आउकाइया। (सूत्र-१६)

'उस्सा' इत्यवश्यायः त्रेहः, 'हिमं' स्त्यानोदकं, 'महिका' गर्भमासेषु सूक्ष्मवर्षः, करको-घनोपलः, हरतनुर्यो भुवमुद्भिद्य गोधूमाङ्कुरतृणाग्रादिषु बद्धो बिन्दुरुपजायते, 'शुद्धोदकम्' अन्तरिक्षसमुद्भवं नद्यादिगतं च, तच्च स्पर्शरसादिभेदादनेकभेदं, तदेवानेकभेदत्वं दर्शयति-शीतोदकं-नदीतडागाऽवट- वापीपुष्करिण्यादिषु शीतपरिणामम्, उष्णोदकंस्व-भावत एव क्वचिन्निर्जरादावुष्णपरिणामं क्षारोदकम्ईषल्लवणस्वभावं यथा लाटदेशादौ केषुचिदवटेषु, खट्टोदकम्ईषदम्लपरिणामम्, अम्लोदकं-स्वभावत एवाम्लपरिणामं काञ्जिकवत्, लवणोदकं लवणसमुद्रे, वारुणं वारुणसमुद्रे, क्षीरोदकं क्षीरसमुद्रे, क्षोदोदकं इक्षुसमुद्रे, रसोदकं पुष्करवरसमुद्रादिषु, येऽपि चान्ये तथाप्रकाराः- रसस्पर्शादिभेदभिन्ना घृतोदकादयो बादरा अप्कायिकाः ते सर्वे बादराप्कायिकतया प्रतिपत्तव्याः, 'ते समासओ' इत्यादि प्राग्वत्, नवरं सङ्ख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि इत्यत्रापि सप्त वेदितव्यानि। उक्ता अप्कायिकाः। प्रज्ञा० १ पद।

आउस्स वि दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए।
नाणात्तीउ विहाणे, परिमाणुवभोगसत्थे य ॥१०६॥

अप्कायस्यापि तान्येव द्वाराणि भवन्ति: यानि पृथिव्या: प्रतिपादितानीति, नानात्वं भेदरूपं विधानपरिमाणोपभोग- शस्त्रविषयं द्रष्टव्यं, चशब्दाल्लक्षणविषयं च, तुशब्दोऽवधारणार्थ:, एतद्गतमेव नानात्वं; नाऽन्यगतमिति।

तत्र विधानंप्ररूपणा, तद्गतं नानात्वं प्रदर्शयितुमाह-

दुविहा य आउजीवा, सुहुमा तह बायरा य लोयम्मि।
सुहुमा य सव्वलोए, पंचेव य बायरविहाणा ॥१०७॥

स्पष्टा।

तत्र पञ्च बादरविधानानि दर्शयितुमाह-

सुद्धोदए य ओसा-हिमे य महिया तरतणू चेव।
बायरआउविहाणा, पंचविंहा वण्णिया एए ॥१०८॥

शुद्धोदकं तडागसमुद्रनदीहदावटादिगतमवश्यायादिरहितमिति, अवश्यायो-रजन्यां यस्त्रेह: पतति, हिमं तु-शिशिरसमये शीत-पुद्गलसम्पर्क्काज्जलमेव कठिनीभूतमिति, गर्भमासादिषु सायं प्रातर्वा धूमिकापातो महिकेत्युच्यते, वर्षाशरत्कालयोर्हरिताङ्कु- रमस्तकस्थितो जलबिन्दुर्भूमिस्नेहसम्पर्क्कोद्भूतो हरतनुशब्देना- भिधीयते, एवमेते पञ्च बादराप्कायविधयो व्यावर्णिता:। एते बादराप्काया: समासतो द्वेधा पर्याप्तका, अपर्याप्तकाश्च। तत्रापर्याप्तकावर्णादीनाम्, संप्राप्तपर्याप्त-कास्तुवर्ण- गन्धरसस्पर्शादेशै: सहस्राग्रशो भिद्यन्ते ततश्च संख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि भवन्ति भेदानामित्यवगन्तव्यम्। संवृतयोनयश्चैते सा च योनि: सचित्ताऽचित्त-मिश्रभेदात् त्रिधा। पुनश्च शीतोष्णोभयभेदात् त्रिधैव। एवं गण्यमाना: योनीनां सप्त लक्षा भवन्ति इति प्ररूपणानन्तरं परिमाणद्वारमाह-

जे बायरपज्जत्ता पयरस्स असंखभागमेत्ता ते।
सेसा तिन्नि वि रासी, वीसुं लोगा असंखेज्जा ॥१०९॥

'जे बायरे' त्यादि, ये बादराप्कायपर्याप्तकास्ते संवर्तित-लोकप्रतरासंख्येयभागप्रदेशराशिपरिमाणा:। शेषास्तु त्रयोऽपि विष्वक्-पृथगसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिपरिमाणा इति। विशेषपश्चायम्- बादरपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्यो बादराप्काय- पर्याप्तका असंख्येयगुणा:, बादरपृथिवीकायाऽपर्याप्तकेभ्यो बादराप्कायिकाऽपर्याप्तका असंख्येयगुणा:, सूक्ष्मपृथिवी- कायाऽपर्याप्तकेभ्य: सूक्ष्माप्कायाऽप-र्याप्तका विशेषाधिका:, सूक्ष्मपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्य: सूक्ष्माप्कायप-र्याप्तका विशेषा-धिका:। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

भौमान्तरिक्षभेदाद् द्विविधत्वम्। अप्कायद्वारमाह-

आउक्काओ दुविहो, भोमो तह अन्तलिक्खो य ॥२८॥

अप्कायो द्विविध:-भौम:, आन्तरिश्च।

इदानीं प्रत्यासत्तिन्यायादान्तरिक्षस्तावदुच्यते, तत्रान्तरिक्षमपि द्विविधम्-

मिहिया वासं पुण अं-तलिक्खिअं०॥२९॥

सोऽन्तरिक्षजो द्विविध:-महिका- धूमिकारूपोऽप्काय: 'वासं' ति-वर्षारूपश्चाप्काय:। ओघ०। (भौमाप्कायिकव्याख्यानमग्रे १७५७ गाथया करिष्यते)

(२) अप्कायिकस्य शरीरादि यथा-

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीया पण्णत्ता ?गोयमा ! तओ सरीरया पण्णत्ता, तं जहा-ओरालित्ते, तेयत्ते, कम्मत्ते, जहेव सुहुमपुढविक्काइयाणं। नवरं थिवुगसंठिया पण्णत्ता, सेसं तं चेव ०जाव दुगतिया दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्ण-त्ता। सेत्तं सुहुमआउक्काइया। (सूत्र-१६×)। से किं तं बायरआउक्काइया ? बायरआउक्काइया अणेगविहा पण्ण-त्ता, तं जहा-उसा हिमे ०जाव जे यावन्ने तहप्पगारा। ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहापज्जत्ता य, अपज्जत्ता य। तं चेव सव्वं। नवरं थिवुगसंठिया, चत्तारि लेसातो, आहारो नियमा छद्दिसिं, उववाओ तिरिक्खजोणियमणुस्सदेवेहिं, ठिती-जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तवाससहस्साई। सेसं तं चेवं। जहा-बायरपुढविकाइया णं ०जाव दुगतिया तिआगतिया परित्ता असंखेज्जा पन्नत्ता समणाउसो !। सेत्तं बायरआउक्काइया। सेत्तं आउक्काइया। (सूत्र-१७)

'ते समासतो' इत्यादि, प्राग्वद्, नवरं संख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणीत्यत्रापि सप्त वेदितव्यानि 'तेसि णं भंते !! जीवाणं कइ सरीरगा' इत्यादि, द्वारकलापचिन्तायामपि बादरपृथिवीकायिकगमोऽ-नुगन्तव्यो, नवरं संस्थान-द्वारेशरीरकाणि स्तिबुकसंस्थानसंस्थितानि वक्तव्यानि॥ स्थितिद्वारेजघन्यत: स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षत: सप्तवर्षसहस्राणि॥ शेषं तथैव॥ जी० १ प्रति०।

अप्कायिकस्य जीवत्वं यथा-सांप्रतं परिमाणद्वारानन्तरं चशब्दसूचितलक्षणद्वारमाह-

जह हत्थिस्स सरीरं, कललाऽवत्थस्स अहुणोववन्नस्स।
होइ उदगंडगस्स य, एसुवमा आउजीवाणं ॥११०॥

अथवा- पर आक्षिपति-नाप्कायो जीव:, तल्लक्षणायोगात्, प्रश्रवणादिवदित्यस्य हेतोरसिद्धतोद्भावनार्थं दृष्टान्तद्वारेण लक्षणमाह- 'जहे' त्यादि, यथा हस्तिन: शरीरं कललाऽव- स्थायामधुनोत्पन्नस्य द्रवे, चेतनश्च दृष्टमेवमप्कायोऽपीति। यथा वा-उदकप्रधानमण्डक-मुदकाण्डकम्, अधुनोत्पन्नमित्यर्थ:, तन्मध्यव्यवस्थितं रसमात्रमसंजा-तावयवमनभिव्यक्तचञ्चवादि- प्रविभागश्चेतनावद् दृष्टम्। एषा एवोपमाऽप्कायजीवानामपीति। हस्तिशरीरकललग्रहणश्च महाकायत्वात्तद्बहु भवतीत्यत: सुखेन प्रतिपाद्यते। अधुनोपपन्नग्रहणं सप्ताहपरिग्रहार्थं, यत: सप्ताहमेव कललं भवति, परतस्त्वर्बुदादि। अण्डकेऽप्युदकग्रहणमेवमेव, प्रयोगश्चायम्-सचेतना आप: शस्त्रानुपहतत्वे सति द्रवत्वात्, हस्तिशरीरोपादानभूतकललवत्, विशेषणोपादानात्प्र- श्रवणादिदिव्युदास:। तथा सात्मकं तोयम्, अनुपहतत्वादण्डकमध्यस्थितकललवदिति। तथा आपो जीवशरीराणि छेद्यत्वाद् भेद्यत्वादुत्क्षेप्यत्वाद्भोज्यत्वाद्भोग्यत्वाद् ज्ञेयत्वाद्रसनीयत्वात् स्पर्शनीयत्वात् दृश्यत्वात् द्रव्यत्वादेवं सर्वेऽपि शरीरधर्मा: हेतुत्वेनोपन्यसनीया: गगनवर्जभूतधर्मा: स्वरूपवत्त्वा-कार वत्त्वादय:। सर्वत्रायं दृष्टांत:- सास्नाविषाणादिसंघातव-दिति। ननु रूपवत्त्वाऽऽकारवत्त्वादयो भूतधर्मा: परमाणु-

ष्वपि दृष्टा इत्येनकान्तिकता, नैतदेवं यदत्र छेद्यत्वादिहेतु- त्वेनोपन्यस्तं तत्सर्वमिन्द्रियव्यवहारानुपाति, न तथा परमाणवोऽतः प्रकरणादतीन्द्रियपरमाणुव्यवच्छेदः। यदि वानैवासौ विपक्षः सर्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यशरीराभ्युपगमात्, जीवसहिता- सहितत्वं तु विशेषः, उक्तञ्च- ''तणवो णब्भातिविगार- मुत्तजाइत्तउणिलं ता उ। सत्थासत्थहयाओ, निज्जीवसजीव- रूवाओ ॥१॥'' एवं शरीरत्वे सिद्धे सति प्रमाणम्। सचेतना हिमादयः, क्वचित् अप्कायत्वादितरोदकवत् इति। तथा सचेतना आपः, क्वचित् खातभूमिस्वभाविकसम्भवत्वाद्दर्दुरवत्। अथवा- सचेतना अन्तरिक्षोद्भवा आपः, स्वाभाविक- व्योमसंभूतसंपातित्वात्मत्स्यवत्, अत एते एवंविधलक्षण- भाक्त्वाज्जीवा भवन्त्यप्काया:। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

भौमाऽप्कायः-

भूमिक्खयसाभाविय-संभवओ ददुरो व्व जलमुत्तं।
अहवा मच्छो व्व सभा-ववोमसंभूयपायाओ ॥१७५७॥

विशे०। (अस्या गाथायाः व्याख्यानं 'सचेयण' शब्दे सप्तमे भागे करिष्यते) भौमं जलं सचित्तं, भूमिखाते स्वाभाविकसंभवात्, दर्दुरवदिति प्रयोगः। यथा- दर्दुरस्य भूमिखनने स्वाभाविकः संभवो जायते, तथा जलस्यापि भूमिखते स्वाभाविकसंभव इति। अथवा-सात्मकमन्तरिक्षोदकं, स्वभावतो व्योमसंभूतस्य पातान्मत्स्यवत्, यथा मत्स्यस्य स्वभावेन व्योम्नि संभूतस्य पातो दृश्यते तथाऽन्तरिक्षजलस्यापि, इति सिद्धं जीवत्वं जलस्य। ध० ३ अधि० ३८ श्लोक। सूत्र०।

आउक्काइया, (दश०) आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। (सूत्र-१) दश० अ०।

कललंऽडरसादीया, जह जीवा तहेव आउ जीवाऽवि ॥७५॥

यथा कललं गर्भप्रथमाऽवस्थारूपम् अण्डरसः इत्येवमादयो जीवा अति प्रतिपत्तव्याः, प्रयोगः अप्कायिका जीवा अनुपहतत्वे सति द्रवत्वात् कललाण्डरसादिवद्। व्य० १० उ०।

इहं च खलु भो अण्गाराणं उदयजीवा वियाहिया (सूत्र-२४)।

उदकरूपा जीवाः। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

उदकाश्रिताश्च जीवाः सन्ति। तथा चाह-

संति पाणा उदगणिस्सिया जीवा अणेगे। (सूत्र-२३)

'संति पाणा' इत्यादि, पूर्ववत्, कियन्तः पुनस्त इति दर्शयति- 'जीवा अणेगे' पुनर्जीवोपादानमुदकाश्रितप्रभूतजीवभेदज्ञापनार्थं, ततश्चेदमुक्तं भवति एकैकस्मिन् जीवभेदे उदकाश्रिता अनेके-असंख्येयाः प्राणिनो भवन्ति। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। यद्येवम्- उदकमेव जीवास्ततोऽवश्यं तत्परिभोगे सति प्राणातिपातभाजः साधव इति, अत्रोच्यते- नैव तदेवं यतो वयं त्रिविधमष्कायमाचक्ष्महे-सचित्तं, मिश्रम्, अचित्तं च। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

(३) सचित्ताऽचित्तमिश्रविवेकः-

आउक्काओ तिविहो, सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो।
सच्चित्तो पुण दुविहो, निच्छय ववहारओ चेव ॥१६॥

अप्कायस्त्रिविधः, तद्यथा- सचित्तो, मिश्रः, अचित्तश्च। तत्र सचित्तो द्विधा-निश्चयतो, व्यवहारतश्च।

एतदेव सचित्तस्य निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वैविध्यमुपदर्शयति-

घणउदही घणवलया, करगसमुद्दहाण बहुमज्जे।
अह निच्छयसच्चित्तो, ववहारनयस्स अवडाई ॥१७॥

घनोदधयो-नरकपृथ्वीनामाधारभूताः कठिनतोयाः समुद्राः, घनवलयास्तासामेव नरकपृथिवीनां पार्श्ववर्तिवृत्ताकारतोयाः ये च 'करका' घनोपलास्तथा समुद्रहदानां-लवणादिसमुद्रपद्मादिह्रदानां बहुमध्यभागेऽप्कायाः 'अह' त्रिष्वपि सर्वोऽपि अप्कायो निश्चयसचित्तः- एकान्तसचित्तः, शेषस्तु अवटाऽऽदिः अवटवापी- तडागादिस्थः। इह अवटादिस्थोऽवटादिशब्देन उक्तस्तात्थ्येन तद्व्यपदेशप्रवृत्तेः यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ, तत्रावटः- कूपस्तदादिगतोऽप्कायो व्यवहारनयस्य व्यवहारनयमतेन सचित्तः। उक्तः सचित्तोऽप्कायः।

सम्प्रति मिश्रमाह-

उसिणोदगमणुवत्ते, दंडे वासे य पडियमत्तम्मि।
मोत्तूणाऽऽदेसतिगं, चाउलउदगं बहुपसन्नं ॥१८॥

अनुवृत्ते दण्डे, अत्र च जातावेकवचनं, ततोऽयमर्थः- अनुवृत्तेषु त्रिषु दण्डेषु उत्कालेषु य दुष्णोदकं तन्मिश्रमिति प्रस्तावादव- गम्यते, तथा हि-प्रथमे दण्डे जायमाने कश्चित्परिणमति कश्चिन्नेति मिश्रः, द्वितीये प्रभूतः परिणमति स्तोकोऽवतिष्ठते, तृतीये तु सर्वोऽप्यचित्तो भवति। ततोऽनुवृत्तेषु त्रिषुदण्डेषु उष्णोदकं मिश्रमेव सम्भवति। तथा वर्षे-वृष्टौ पतितमात्रं यज्जलं ग्रामनगरादिषु प्रभूततिर्यग्मनुष्यप्रचारसंभविषु भूमौ वर्तते तद्यावन्नाद्याप्य-चित्तीभवति तावन्मिश्रमवगन्तव्यम्। ग्रामनगरादिभ्योऽपि बहिस्ताद्यदि स्तोकं मेघजलं निपतति तदानीं तदपि पतितमात्रं मिश्रमवसेयम्। पृथिवीकायसम्पर्क्कतस्तस्य परिणममानत्वात् यदाप्यतिप्रभूतं जलं मेघो वर्षति तदाऽपि प्रथमतो निपतत् पृथिवीकायसंपर्क्कतः परिणममानं मिश्रं, शेषं तु पश्चान्निपतत्सचित्तमिति, तथा- मुक्त्वा-परिहृत्य आदेशत्रिकं- मतत्रिकं तदुक्ता मिश्रता न ग्राह्येति भावार्थः। चाउलोदकम्- तण्डुलोदकम् अबहुप्रसन्नं नातिस्वस्थीभूतं मिश्रमिति गाथार्थः। अबहुप्रसन्नमित्यत्रादावकारलोप आर्षत्वात्। (आदेशत्रिकम् 'चाउलोदग' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते।)

अचित्तमिश्राऽप्कायमाह-

सीउण्हखारखत्ते, अग्गीलोणूसअंबिले नेहे।
बुक्कंतजोणिएणं, पओयणं तेणिमं होइ ॥२२॥

इयं गाथा प्रागिव व्याख्येया। नवरं पृथिवीकायस्थाने अप्कायाभिलापः कर्त्तव्यः। इह या स्वकायपरकायशस्त्रयोजना द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया वा अचित्तत्वभावना साऽपि प्रागिव यथा योगमप्कायेऽपि भावनीया। तथा यदा दधितैलादिसत्केषु घटेषु क्षिप्तस्य शुद्धजलादेरुपरि दध्याद्यवयवसत्का तरी जायते तदा सा यदि परिस्थूरा तर्हि एकया

पौरुष्या तत्परिणमति। मध्यमभावा चेत्तर्हि द्वाभ्यां पौरुषीभ्यां, स्तोका चेत्तर्हि तिसृभिः पौरुषीभिरिति।

इह तावद् व्युत्क्रान्तयोनिकेनाप्कायेनेदं प्रयोजनमित्युक्तम्, अतस्तदेव दर्शयति-

परिसेयपियणहत्था-इधोवणं चीरधोवणं चेव।
आयमणभाणधुवणं, एमाइपओयणं बहुहा ॥२३॥

परिषेको- दुष्टव्रणादेरुत्थितस्योपरि पानीयेन सेचनम्। पानम- तृडपनोदाय जलस्याभ्यवहरणम्। हस्तादिधावनंकरचरण- प्रभृतिशरीरावयवानां कारणमुद्दिश्य प्रक्षालनम्, चीवरधावनं- वस्त्रप्रक्षालनम्। अस्य भिन्नविभक्तिनिर्देशो न सदैव साधुनोप- धिप्रक्षालनं कर्तव्यमिति प्रदर्शनार्थः। आचमनम्- पुरीषोत्सर्गानन्तरं शौचकरणम्, 'भाणधुवणं' तिपात्रकादिभाजनप्रक्षालनम्। एवमादिकमादिशब्दात्-ग्लानकार्यादिपरिग्रहः। अचित्तेना-प्कायेन प्रयोजनं बहुधा-बहुप्रकारं द्रष्टव्यम्। पिं०। ओघ०। ध०।

(४) तीव्रोदकस्याचित्तत्वम्-

''तिव्वोदगस्स गहणं, केइ भायणेसु असुइपडिसेहो।
गिहिभायणेसु गहणं, ठिअवासे मीसगं छारो ॥१॥''

(अस्या गाथाया व्याख्या 'अचित्त' शब्दे प्रथमभागे गता) ध० २ अ०। तत्र योऽचित्तोऽप्कायस्तेनोपयोगविधिः साधूनां, नेतराभ्यां, कथं पुनरसौ भवत्यचित्तः, किं स्वभावाद्, आहोस्विच्छ- स्त्रसम्बन्धात्, उभयथापीति। तत्र यः स्वभावादेवाचित्तीभवति न बाह्यशस्त्रसम्बन्धा- त्तमचित्तं जानाना अपि केवलमनः- पर्यायावधिश्रुतज्ञानिनो न परिभुञ्जते अनवस्थाप्रसङ्गभीरुतया। यतोऽनुश्रूयते भगवता किल श्रीवर्द्धमानस्वामिना विमलस- लिलसमुल्लसत्तरङ्गः शैवलपटल- त्रसादिरहितो महाह्रदो व्यपगताशेषजलजन्तुकोऽचित्तवारिपूर्णः स्वशिष्याणां तृड्बा- धितानामपि पानाय नानुजज्ञे। तथा अचित्ततिलशकटस्थ-पिण्डलपरिभोगानुज्ञा चाऽनवस्थादोषसंरक्षणाय भगवता न कृतेति श्रुतज्ञानप्रामाण्यज्ञापनार्थश्च। तथाहि- सामान्यश्रुतज्ञानी बाह्येन्धनसम्पर्कादुषितस्वरूपमेवाचित्तमिति व्यवहरति, जलं, न पुनर्निरिन्धनमेवेति। अतो यद्- बाह्यशस्त्रसम्प- र्कात्परिणामन्तरापन्नं वर्णादिभिस्तदचित्तं साधुपरिभोगाय कल्पते। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० २४ सूत्रटी०।

(५) किम्पुनस्तच्छस्त्रमित्यत आह-

उस्सिंचणगालणधो-यणे य उवकरणकोसमंडे य।
बायर आउक्काए, एवं तु समासओ सत्थं ॥११३॥
किंची सकायसत्थं, किंची परकायतदुभयं किंची।
एयं तु दव्वसत्थं, भावे य असंजमो सत्थं ॥११४॥

उस्सिंचणे' त्यादि, शस्त्रं द्रव्यभावभेदात् द्विधा। द्रव्यशस्त्रमपि समास- विभागभेदात् द्विधैव। तत्र समासतो द्रव्यशस्त्रमिद- मूर्ध्वसेचनम् उत्सेचनकूपादेः कोशादिनोत्क्षेपणमित्यर्थः। गालनंघनमसृणवस्त्रा- द्धन्तेन। धावनं-वस्त्राद्युपकरणचर्म- कोशघटादिभाण्डेकविषयम्, एवमादिकं बादराप्काये। एतत्पूर्वोक्तं समासतः- सामान्येन शस्त्रम्, तुशब्दो विभागापेक्षया विशेषणार्थः ॥११३॥ विभागतस्त्विदम्-' किंची' त्यादि, किञ्चित् स्वकायशस्त्रं नादेयं तडागस्य। किञ्चित्परकायशस्त्रं मृत्तिकास्नेहकरादि। किंचिच्चोभयम्- उदकमिश्रा मृत्तिकोदकस्य। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

सत्थं चेत्थं अणुवीइपासा पुढो सत्थं पवेइयं। (सूत्र-२५)

शस्यन्ते-हिंस्यन्ते अनेन प्राणिन इति शस्त्रं तच्चोत्सेचन- गालनोपकरणधावनादि स्वकायादि च वर्णाद्यापत्तयो वा पूर्वा- वस्थाविलक्षणाः शस्त्रम्। तथा हिअग्निपुद्गलानु- गतत्वादीषत्पिङ्गलं जलं भवत्युष्णं गन्धोऽपि धूमगन्धि रसतो विरसं, स्पर्शत उष्णम्। तच्चोद्धृतत्रिदण्डमेवंविधावस्थं यदितत्कल्पते, नान्यथा। तथा कचवरकरीषगोमूत्रोपादीन्ध- नसम्बन्धात् स्तोकं स्तोकमध्यबहुभेदात्, स्तोकं स्तोकं प्रक्षिपतीत्यादिचतुर्भङ्गिकाभावना कार्या। एवमेतत्त्रिविधं शस्त्रं चशब्दोऽवधारणार्थः। अन्यतमशस्त्रसम्पर्कविध्वस्तमेव ग्राह्यं, नान्यथेति। 'एत्थं' ति- एतस्मिन्नप्काये प्रस्तुते अनुविचिन्त्य-विचार्य- इदमस्य शस्त्रमित्येवं ग्राह्यम्। पश्येत्यनेन शिष्यस्य चोदनेति। तदेवं नानाविधं शस्त्रमप्कायस्यास्तीति प्रतिपादितम्, एतदेव दर्शयति- 'पुढो सत्थं पवेदितं' पृथग्विभिन्नमुत्सेचना- दिकं शस्त्रं प्रवेदितम्- आख्यातं भगवता, पाठान्तरं वा- 'पुढोऽपासं पवेदितं' एवं पृथग्विभिन्नं लक्षणेन शस्त्रेण परिणामितमुदकग्रहणमपाशं संप्रवेदितम्- आख्यातं भगवता, अपाशः-अबन्धनं शस्त्रपरिणामितोदकग्रहणमबन्धनमाख्या-तमिति यावदेवं तावत्साधूनां सचित्तमिश्राप्काय-परित्यागेनाचित्तपयसा परिभोगः प्रतिपादितः। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

(६) सचित्ताप्कायपरिभोगविचारः।

इच्छिज्जइ जत्थ सया, बीयपएणाऽवि फासुयं उदयं।
आगमविहिणा निउणं, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥७४॥

इष्यते- वाञ्छ्यते यत्र गणे सदा-नित्यम् उत्सर्गपदापेक्षया द्वितीयपदम्- अपवादपदं तेनापि किं पुनरुत्सर्गपदेनेत्यपि शब्दार्थः। प्रगता असवःप्राणा यस्मात्तत्प्रासुकं, किम्? उदकं- जलं तच्च उत्कालत्रयोत्कलनादि- प्रकारेण प्रासुकीस्यात्; न तु तप्तमात्रम्। यत उक्तं दशवैकालिके-

''गिहिणो वेयावडियं, जायआजीववत्तिया!
तत्तानिवुडभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥१॥''

तप्तानिर्वृतभोजित्वं-तप्तं च तदनिर्वृतं चात्रिदण्डोद्धृतं च। उदकमि' ति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते, तद्भोजित्वं: मिश्रसचित्तोदकभोजि- त्वमित्यर्थः। आगमविधिनासिद्धान्तोक्त- प्रकारेण निपुणं यथा स्यात्तथा हे गौतम! स गच्छो भणितः। ग० २ अधि०।

सचित्तस्य तु विन्दुमात्रस्यापि परिभोगो न कल्पते-

जत्थ य बाहिरपाणिअ, विंदूमित्तं पि गिम्हमाईसु।
तिण्हासोसियपाणा, मरणे वि मुनी न गिण्हंति ॥७७॥

हे गौतम! यत्र- गच्छे बाह्यपानीयबिन्दुमात्रमपिसचित्तजललेशमात्रमपि ग्रीष्मादिषु कालेषु तृष्णया- द्वितीयपरीषहेण शोषिताग्लानिं प्रापिताः प्राणाइन्द्रियादयोयेषां ते तृष्णाशोषितप्राणाः मरणान्तेऽपि मुनयः साधवो न गृण्हन्ति क्षुल्लकवत्। तथाहि- ''उज्जेणी नयरी। तत्थ

धणमित्तो नाम वाणियओ। तस्स पुत्तो धणसम्मा नाम। सो धणमित्तो पुत्तेण सह पव्वइओ। अण्णया य ते साहू विहरंता मज्झण्हसमये एलगच्छ (त्थ) पुरपहे पडिया। सो वि खुड्डओ तिसाए अभिभूओ सणिअं सणिअं एइ, सोऽवि से खंतओ सिणेहाणुरागेण पच्छा उ एइ। साहुणो वि पुरओ वच्चंति। अंतर य नई समावडिया खंतएण भणियं- एहि पुत्ता ! पियसु पाणियं नित्थरसु आवइं, पच्छा आलोइज्जासि, सो न इच्छति। खंतो नइं उत्तिन्नो, चिंतेइ-अओ सरामि मणागं जावेस खुड्डगो पाणियं पियइ। मा ममासंकाए न पाही। एगंते पडिच्छइ ०जाव खुड्डो पत्तो नई दढव्वयाए सत्तसारयाए ण पीयं। अन्ने भणंति-अइवाहिओ हंत पिवामि पाणियं पच्छा गुरुमूले पायच्छित्तं पडिवज्जिस्सामि त्ति उक्खित्तो जलंजली। अह से चिंता जाया। कहमेए हलहलएजीवे पियाणि, जओ-

''एक्कम्मि उदगविंदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहिं पण्णत्ता।
ते पारेवयमित्ता, जंबुद्दीवे न माएज्जा ॥१॥

जत्थ जलं तत्थ वणं, जत्थ वणं तत्थ निच्छओ तेऊ।
तेऊवाउसहगओ, तसा य पच्चक्खया चेव ॥२॥

ता हंतूण परपा-णे य अप्पाणं जो करेइ सप्पाणं।
अप्पाणं दिवसाणं, कएण नासेइ अप्पाणं'' ॥३॥

(ग०) एवं भावंतेण अइसंविग्गेण न पीयं उत्तिन्नो नइं आसाए छिन्नाए नमोक्कारं जायंतो सुहपरिणमो कालगओ देवेसु उववन्नो। ओहिपउत्तो ०जाव खुड्डगसरीरं पासइ तहिमणुपविट्ठो खंतमणुगच्छइ खंतो वि एइ त्ति पत्थिओ। पच्छा देवेण अणुकंपाए साहूणं गोकुलाणि विउव्वियाणि। साहू वि तासु वइगासु तक्काईणि गिण्हंति वइया परंपरएण जणवयं पत्ता। पच्छिमाए वइयाए देवेण विंटिया पम्हुसाविया जाणावणनिमित्तं, एगो य साहू निवत्तो तयवत्थं पेच्छइ विटियं नऽत्थि वइया, आगंतूण समाहियं तेण, पच्छा नायं तेहिं सा दिव्वं ति। इत्थंतरे देवेण साहू वंदिया, खंतो न वंदिओ। तेहिं पुच्छिओ किमेयं न वंदसि। तओ सव्वं परिकहेइ नियवइअरं, भणइ य-अहं एएण परिचत्तो वयलोवेण दोग्गइभायणं कओ आसि तुममेयं पियाहिं जंपंतेण जइ तं पाणियं पियंतो तो संसारं भमंतो, देवो पडिगउ'' त्ति। हे गौतम ! स गच्छो ज्ञेय इति शेषः। गाथाछन्दः। ग० २ अधि०।

(७) अप्कायपरिभोगकारणानि यथा-

**ण्हाणे पियणे तह धो-यणे य भत्तकरणे य सेए य।
आउस्स उ परिभोगो, गमणागमणे य जीवाणं ॥१११॥**

स्नान-पान-धावन-भक्त-करणसेकयानपात्रोडुपगमनाऽगम-नादिरुपभोगः। एतत्परिभोगाभिलाषिणो जीवा एतानि कारणान्युद्दिश्याऽप्कायवधे प्रवर्त्तन्त इति दर्शयति-

**एएहिं कारणेहिं, हिंसंति आउकाइए जीवे।
सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरेंति ॥११२॥**

एभिः-स्नानावगाहनादिकै कारणैरुपस्थितैर्विषयविषमोहिता-त्मानो निष्करुणा अप्कायिकान् जीवान् हिंसन्ति-व्यापादन्ति, किमर्थमित्याह-सातं-सुखं तदात्मानोऽन्वेषयन्तः- प्रार्थयन्तः हिताहितविचारशून्यमनसः कतिपयदिवसस्थायिरम्ययौवनदर्पा-ध्मातचेतसः सन्तः सद्विवेकरहितास्तथा विवेकिजनसंसर्गविक-लाः परस्यअवादेर्जन्तुगणस्य दुःखम्-असातलक्षणं तत् उदीर-यन्तिः सातवेदनीयमुत्पादयन्तीत्यर्थः। आचा० १श्रु०१ अ०३ उ०।

(८) अप्कायसमारम्भव्यावृत्तस्यैव मुनित्वम्-

से वेमि जहा अणगारे उज्जुकडे नियागपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे विणाहिए। (सूत्र-१८)

स यथा पृथिवीकायसमारम्भव्यावृत्त्युत्तरकालं सम्पूर्णाऽनगार-व्यपदेशभाग् भवति तदहं ब्रवीमि। अपिः समुच्चये, स यथा चानगारो न भवति तथा च ब्रवीमि 'अणगारामो त्ति एगे पयवमाणे' त्यादि, नेति, न विद्यते अगारंगृहमेषामित्यनगारा इह च यव्यादिशब्दव्युदासेनान-गारशब्दोपादानेनैतदाचष्टे- गृह- परित्यागः प्रधानं मुनित्वकारणं, तदाश्रयत्वात्सावद्यानुष्ठा-नस्थ, निरवद्यानुष्ठायी च मुनिरिति दर्शयति- 'उज्जुकडे' त्ति- ऋजुः- अकुटिलः संयमोद्युष्प्रणिहितमनोवाक्का-यनिरोधः सर्वसत्त्वसंरक्षणप्रवृत्तत्वाद्वयैकरूपः- सर्वत्राकुटिलगतिरित यावत्। यदि वा-मोक्षस्थानगमनर्जुश्रेणिप्रतिपत्तिः सर्वसंचार- संयमात्। कारणे कार्योपचारं कृत्वा संयम एवं सप्तदशप्रकार ऋजुस्तं करोतीति ऋजुकृत्: ऋजुकारीत्यर्थः। अनेन चेदमुक्तं भवति-अशेषसंयमानुष्ठायी सम्पूर्णानगार एवंविधश्चेदृग्भवतीति दर्शयति- 'नियागपडिवन्ने' त्ति- यजनं यागः नियतो निश्चितो वा यागो नियागो मोक्षमार्गः, सङ्गताऽर्थत्वाद्धातोः सम्यग्ज्ञानदर्शन-चारित्रात्मतया गतं सङ्गतमिति। तं नियागं सम्यग्दर्शन-चारित्रतात्मकं मोक्षमार्गंप्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्नः। पाठान्तरं वा- ''निकायप्रतिपन्नो'' निर्गतः काय औदारिकादिर्यस्माद्यस्मिन्वा सति स निकायो मोक्षः तं प्रतिपन्नो निकायप्रतिपन्नस्तत्कार-णस्य सम्यग्दर्शनादेः स्वशक्त्यानुष्ठानात् स्वशक्त्यानुष्ठानं वा मायाविनो भवतीति दर्शयति- 'अमायं कुव्वमाण' त्ति- माया-सर्वत्र स्ववीर्यनिगूहनम्, न माया अमाया तां कुर्वाणोऽनि-गूहितबलवीर्यः संयमानुष्ठानं पराक्रममाणोऽनगारो व्याख्यात इति, अनेन तज्जातीयोपादानादशेषकषायापगमोऽपि द्रष्टव्य इति। उक्तं च- ''सोही य उज्जुपभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ''त्ति।

तदेवमसावुद्धृतसकलमायावल्ली-

वियतानः किं कुर्यादित्याह-

जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा विजहित्तु विसोत्तियं (पाठान्तरे)- पुव्वसंजोयं। (सूत्र- १९)

'जाए सद्धाए' इत्यादि, यया श्रद्धया प्रवर्द्धमानानुष्ठान करणरूपया निष्क्रान्तः प्रव्रज्यां गृहीतवाँस्तमेव श्रद्धामश्रान्तो यावज्जीवमनु-पालयेद; रक्षेदित्यर्थः। प्रव्रज्याकाले च प्रायशः प्रवृद्धपरिणाम एव प्रव्रजाति, पश्चात्तु संयमश्रेणीं प्रपन्नो वर्द्धमानपरिणामो वा हीयमानपरिणामो वा अवस्थित परिणामो वेति, तत्र वृद्धिकालो हानिकालो वा समयाद्युत्कर्षेणान्तर्मौहूर्तिकः, नाऽतः परं संक्लेशविशुद्ध्यद्धे भवतः। उक्तं च-''नान्तर्मुहूर्तकालमतिवृत्य शक्यं हि जग-

ति संक्लेष्टुम् । नापि विशोद्धुं शक्यं, प्रत्यक्षो ह्यात्मनः सोऽर्थः ॥१॥ उपयोगद्वयपरिवृत्तिः, सा निर्हेतुकस्वभावत्वात् । आत्मप्रत्यक्षो हि स्वभावो व्यर्थात्र हेतूक्तिः ॥२॥'' अवस्थितिकालश्च द्वयोर्वृद्धिहानिलक्षणयोर्यवमध्यवज्रमध्ययोरष्टौ समयाः, तत ऊर्ध्वमवश्यं पातात् । अयं च वृद्धिहान्यवस्थितरूपपरिणामः केवलिनां निश्चयेन गम्यो, न छद्मस्थानामिति । यद्यपि च-प्रव्रज्याभिगमोत्तरकालं श्रुतसागरमवगाहमानः संवेगवैराग्य-भावनाभावितान्तरात्मा कश्चित् प्रवर्द्धमानमेव परिणामं भजते । तथा चोक्तम्- ''जह जह सुयमवगाहइ, अइ मयरसपसर- संजुयमउव्वं । तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसंघाते ॥१॥'' तथापि स्तोक एव तादृक् बहवश्च परिपतन्त्यतोऽभिधीयते- 'तामेवानुपालयेदिति' । कथं पुनः कृत्वा श्रद्धामनुपालयेदित्यत आह- 'विजहे' त्यादि, विहाय- परित्यज्य विस्रोतसिकां- शङ्काम् । सा च द्विधा-सर्वशङ्का, देशशङ्का च । तत्र सर्वशङ्का-किमस्त्यार्हतो मार्गो न वेति, देशशङ्का तु-किं विद्योन्तेऽप्कायादयो जीवा विशेष्यप्रवचनेऽभिहितत्वात् स्पष्टचेतनात्मलिङ्गाभावान्न विद्यन्ते इति वा, इत्येवमादिकामारेकां विहाय संपूर्णाननगारगुणान् पालयेत् । यदि वा-विस्रोतांसि द्रव्यभावभेदाद् द्विधा-तत्र द्रव्यविस्रोतांसि नद्यादिस्रोतसां प्रतीतापगमनानि भावविस्रोतांसि तु मोक्षं प्रति सम्यग्दर्शनादिस्रोतसा प्रस्थितानां विरूपाणि प्रतिकूलानि गमनानि भावविस्रोतांसि तानि विहाय संपूर्णानगारगुणभाग्भवति श्रद्धां वा अनुपालयेदिति । पाठान्तरं वा- ''विजहित्ता पुव्वसंयोगं'' पूर्वसंयोगः- मातापित्रादिरस्य चोपलक्षणार्थत्वात्पसंयोगोऽपि श्वशुरादिकृतो ग्राह्यस्तं विहायत्यक्त्वा श्रद्धामनुपालयेदिति मीलनीयम् । तत्र यस्यायमुपदेशो दीयते यथा 'विहाय विस्रोतांसि तदनु श्रद्धानुपालनं कार्यं स एवाभिधीयते-न केवलं भवानेवा-पूर्वमिदमनुष्ठानमेवंविधं करिष्यति, किं त्वन्यैरपि महासत्त्वैः कृतपूर्वमिति दर्शयितुमाह-

पणया वीरा महावीहिं (सूत्र-२०)

प्रणताः- प्रह्वाः वीराः- परिषहोपसर्गकषायसेनाविजयात् वीथिः- पन्थाः महांश्चासौ वीथिश्च- महावीथिः- सम्यग्दर्शनादिरूपो मोक्षमार्गो जिनेन्द्रचन्द्रादिभिः सत्पुरुषैः प्रहतस्तं प्रति प्रह्वा-वीर्यवन्तः संयमानुष्ठानं कुर्वन्ति, ततश्चोत्तमपुरुषप्रहतोऽयं मार्ग इति प्रदर्श्य तज्जनितमार्गविश्रम्भो विनेयः संयमानुष्ठाने सुखेनैव प्रवर्तयिष्यते ।

उपदेशान्तरमाह- 'लोगं चे' त्यादि, अथ वा-यद्यपि भवतो मतिर्न क्रमतेऽप्कायजीवविषयेऽसंस्कृतत्वात्, तथापि भगवदा- ज्ञेयमिति श्रद्धातव्यमित्याह-

लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुओभयं । (सूत्र-२१)

अत्राधिकृतत्वादप्कायलोको लोकशब्देनाभिधीयते, तमप्कायलोकं चशब्दादन्यांश्च पदार्थान् आज्ञया-मौनीन्द्र-वचनेनाभिमुख्येन सम्यग् ज्ञात्वा, यथा-अप्कायादयो जीवा, इत्येवमवगम्य न विद्यते कुतश्चिद्धेतोः- केनापि प्रकारेण जन्तूनां भयं यस्मात्सोऽयमकुतोभयः- संयमस्तमनुपालयेदिति सम्बन्धः । यद्वा-अकुतोभयोऽप्कायलोको, यतोऽसौ न कुतश्चिद् भयमिच्छति, मरणभीरुत्वात्, तमाज्ञयाऽभिसमेत्यानुपालयेत्; रक्षेदित्यर्थः ।

अप्कायलोकमाज्ञयाऽभिसमेत्य यत्कर्तव्यं तदाह-

से वेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ । (सूत्र-२२)

'से वेमी' त्यादि, सोऽहं ब्रवीमि 'से' शब्दस्य युष्मदर्थत्वाद् त्वां वा ब्रवीमि, न स्वयम्-आत्मना लोकोऽप्कायलोकोऽभ्या ख्यातव्यः । अभ्याख्यानं नामासदभियोगः, यथा- अचौरं चौरमित्याह । इह तु जीवा न भवन्त्यापः केवलमुपकरणमात्रं घृततैलादिवत् । एषोऽसदभियोगः हस्त्यांदीनामपि जीवानामुपकरणत्वात् स्यादारेका, नन्वेतदेवाभ्याख्यानं यदजीवानां जीवत्वापादनं नैतदस्ति, प्रसाधितमपां प्राक् सचेतनत्वम् । यथा ह्यस्य शरीरस्याहंप्रत्ययादिभिर्हेतु- भिरधिष्ठातात्मा व्यतिरिक्तः प्राक् प्रसाधित एवमप्कायोऽप्यव्यक्तचेतनया सचेतन इति प्राक् प्रसाधितः । न च प्रसाधि- तस्याभ्याख्यानं न्याय्यम्, अथापि स्यादात्मनोऽपि शरीरा- धिष्ठातुरभ्याख्यानं कर्त्तव्यम्, न च तत्क्रियमाणं घटामियर्तीति दर्शयति- 'नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा' नैवाऽऽत्मानं- शरीरा- धिष्ठातारमहंप्रत्ययसिद्धं ज्ञानाभिन्नगुणं प्रत्यक्षं प्रत्याचक्षीत- अपह्नुवीत, ननुचैतदेव कथमवसीयते शरीराधिष्ठातात्मास्तीति, उच्यते- विस्मरणशीलो देवानांप्रिय उक्तमपि भाणयति । तथा ह्याहृतमिदं शरीरं केनचिदभिसंधिमता, कफरुधिराङ्गोपाङ्गा- दिपरिणतेरन्नादिवत्तथोत्सृष्टमपि केनचिदभिसम्बन्धिमतैव, आहृतत्वाद्, अन्नमलवदिति । तथा न ज्ञानोपलब्धिपूर्वकः परिस्पन्दो भ्रान्तिरूपः परिस्पन्दत्वात्तदीयवचनपरिस्पन्दवत् । तथा विद्यमानाधिष्ठातृव्यापारभाञ्जीन्द्रियाणि, करणत्वाद्वात्रा- दिवत् । एवं कुतर्ककमार्गानुसारिहेतुमालोच्छेदः स्याद्वादपरशुना कार्यः अत एवंविधोपपत्तिसमधिगतमात्मानं शुभाशुभफलभाजं न प्रत्यचक्षीत । एवं च सति यो ह्यज्ञः कुतर्कतिमिरोपहतज्ञान- चक्षुरप्कायलोकमभ्याख्याति- प्रत्याचष्टे स सर्वप्रमाणसिद्ध- मात्मानमभ्याख्याति, यश्चात्मानमभ्याख्याति- नास्म्यहं स सामर्थ्यादप्काय लोकमभ्याख्याति । यतो ह्यात्मनि पाण्याद्यवय- वोपेतशरीराधिष्ठायिनि प्रस्पष्टलिङ्गेऽभ्याख्याते सत्यव्यक्त- चेतनालिङ्गोऽप्कायलोकस्तेन सुतरामभ्याख्यातः । एवमनेकदोषोपपत्तिं विदित्वा नायमप्कायलोकोऽभ्याख्यातव्यः इत्यालोच्य साधवो नाप्कायविषयमारम्भं कुर्वन्तीति ।

(९) शाक्यादयस्त्वन्यथोपस्थिता इति दर्शयितुमाह-

लज्जमाणा पुढो पासअणगारा मो त्ति एके पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव उदयसत्थं समारंभति अण्णेहिं वा उदयसत्थं समा-

रंभोवेति अण्णे उदयसत्थं समारंभंते समणुजाणति तं से अहियाए तं से अबोहीए। से तं संबुज्जमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णाणं भवति- एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

'लज्जमाणे' त्यादि, लज्जमानाः- स्वकीयं प्रव्रज्याभासं कुर्वाणाः, यदि वा-सावद्यानुष्ठानेन लज्जमानाः- लज्जां कुर्वाणाः पृथग्विभक्ताः शाक्यो लूककणभुक्कपिलादिशिष्याः । पश्येति शिष्यचोदना, अविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका भवन्ति, यथा- 'पश्य मृगो धावति' द्वितीयार्थे वा प्रथमा, सुप् व्यत्ययेन द्रष्टव्या। ततश्चायमर्थः- शाक्यादीन् गृहीतप्रव्रज्यानपि सावद्यानुष्ठानरतान् पृथग्विभिन्नान् पश्य, किंस्तैरसदाचरितं येनैवं प्रदर्शयन्त इति दर्शयति- ''अनगारा वयम्'' इत्येके शाक्यादयः प्रवदन्तो यदिदं तदेतत्काक्का दर्शयति- विरूपरूपैरुत्सेचनाग्निविध्यापनादिशस्त्रैः स्वकायपरकायभेदभिन्नैरुदककर्म समारभन्ते । उदयकर्म्म समारम्भेण च उदके शस्त्रम् उदकमेव वा शस्त्रं समारभन्ते । तच्च समारभमाणोऽनेकरूपान्वनस्पतिद्वीन्द्रियादीन्विविधं हिनस्ति। तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, ययाऽस्यैव जीवितव्यस्य परिवन्दमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं यत् करोति-तद्दर्शयति-स स्वयमेवोदकशस्त्रं समारभते, अन्यैश्चोदकशस्त्रं समारम्भयति, अन्यांश्चोदकशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते। तच्चोदक- समारम्भणं तस्याऽहिताय भवति । तथा तदेवाबोधिलाभाय भवति । स एतत्सम्बुध्यमान आदानीयं सम्यग्दर्शनादि सम्यगुत्थायअभ्युपगम्य-श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वान्तिके इहैकेषां साधूनां ज्ञातं भवति तद्दर्शयति-एषो-ऽप्कायसमारम्भो ग्रन्थः- एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरक इत्येवमर्थं गृद्धो लोको यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः उदयकर्म्मसमा- रम्भेणोदकशस्त्रं समारभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनो विविधं हिनस्तीत्येतत्प्राग्वद् व्याख्येयम्।

पुनरप्याह-

से वेमि संति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगे। (सूत्र-२३)

इहं च खलु भो ! अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया। (सूत्र २४)

'से' शब्द आत्मनिर्देशे, सोऽहमेवमुपलब्धानेकाऽप्का- यतत्त्ववृत्तान्तो ब्रवीमि, *सन्तिविद्यन्ते प्राणिन उदकनिश्रिताः- पूतरकमत्स्यादयो* यानुदकारम्भप्रवृत्तो हन्यादिति। अथवा-अपरःसम्बन्धः प्रागुक्तमुदकशस्त्रं समारभमाणोऽन्या नप्यनेकरूपान् जन्तून् विविधं हिनस्तीति, तत्कथ-मेतच्छक्यमभ्युपगन्तुमित्यत आह- 'संति पाणा' इत्यादिपूर्ववत्, कियन्तः पुनस्त इति दर्शयति- 'जीवा अणेगा' इति-पुनर्जीवोपादानमुदकाश्रितप्रभूतजीवभेदज्ञापनार्थम् । ततश्चेदमुक्तं *भवति-एकैकस्मिन् जीवभेदे उदकाश्रिता अनेके-असंख्येयाः प्राणिनो* भवन्ति, एवम्- *अप्कायविषयारम्भाजः पुरुषास्ते तन्निश्रितप्रभूतसत्त्व-* व्यापत्तिकारिणो द्रष्टव्याः । शाक्यादयस्तूदकाश्रितानेव द्वीन्द्रियादीन् जीवानिच्छन्ति नादकम्* इत्येतदेव दर्शयति- खलु शब्दोऽवधारणे, इहैवज्ञातपुत्रीयप्रवचने द्वादशाङ्गे गणिपिटकेअनगाराणां साधूनामुदकरूपा जीवाश्चशब्दात्तदाश्रिताश्च पूतरकच्छेदन-कलोद्दणकभ्रमरकमत्स्यादयो जीवा व्याख्याताः, अवधारणफलं च नान्येषामुदकरूपा जीवाः प्रति पादिताः। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। जीवाः इति।

ये पुनः शाक्यादयोऽप्कायोपभोगप्रवृत्तास्ते नियमत एवाऽप्कायं विहिंसन्ति तदाश्रितांश्चान्यानिति। तत्र न केवलं प्राणाति-पातापत्तिरेव तेषां किमन्यदित्यत आह-

अदुवा अदिन्नादाणं। (सूत्र-२६)

अथवेति- पक्षान्तरोपन्यासद्वारेणाभ्युच्चयोपदर्शनार्थः, अशस्त्रोपहताप्कायोपभोगकारिणां न केवलं प्राणातिपातोऽपि किंतु-अदत्तादानमपि तत्तेषाम् । यतो यैरप्कायजन्तुभिर्यानि शरीराणि निर्वर्त्तितानि तैरदत्तानि, ते तान्युपभुञ्जन्ते, यथा कश्चित् पुमान् सचित्तशाक्यभिक्षुकशरीरकात् खण्डमुत्कृत्य गृह्णीयाददत्तं हि तस्य तत्परपरिगृहीतत्वात् । परकीयगवाद्यादानवत् । एवं तानि शरीराण्यब्जीवपरिगृहीतानि गृह्णितोऽदत्तादानमवश्यम्भावि । स्वाम्यनुस्वाम्यनुज्ञानाभावादिति ननु यस्य तत्तडागकूपादि तेनानुज्ञातं स्वकृत्तत्पय इति । ततश्च नाऽदत्तादानं, स्वामिनाऽनुज्ञातत्वात् परानुज्ञानपश्चादिघातवत्। नन्वेतदपि साध्यावस्थामेवोपन्यस्तं, यतः पशुरपि शरीरप्रदानविमुख एव भिन्नार्यमर्यादैरुच्चैरारटन् विशस्यते, ततश्च कथमिव नाऽदत्तादानं स्यात् । न चान्यदीयस्यान्यः स्वामी दृष्टः परमार्थचिन्तायाम्। नन्वेवमशेषलोकप्रसिद्धगोदानादिव्यवहारस्त्रुट्यति, त्रुट्यतु नामैवंविधः पापसम्बन्धः तद्धि देयम् यद्धि दुःखितं स्वयं न भवति। दासीबलीवर्दादिवत्। न चान्येषां दुःखोत्पत्तेः कारणं हलखड्गादिवत्। एतद्व्यतिरिक्तं दातृपरिगृहीत्रोरेकान्तत एवोपकारकं देयं प्रतिजानते जिनेन्द्रमतावलम्बिनः। उत्कञ्च- ''यत् स्वयमदुःखितं स्या-न्न च परदुःखे निमित्तभूतमपि। केवलमुपग्रहकरं, धर्मकृते तद्भवेद्देयम्'' ॥१॥ इति। तस्म-दवस्थितमेतत्तेषां तददत्तादानमपीति।

सांप्रतमेतद्दोषद्वयं स्वसिद्धान्ताभ्युपगमद्वारेण परः परि-जिहीर्षुराह-

कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं अदुवार विभूसाए। (सूत्र-२७)

अशस्त्रोपहतोदकारम्भिणो हि चोदिताः सन्त एवमाहुः- यथा नैतत्स्वमनीषिकातः समारम्भयामो वयं; किंत्वागमेनिर्जीवत्वे-नानिषिद्धत्वात् कल्पते-युज्यते नः-अस्माकं पातुम्- अभ्यवहर्तुमिति वीप्सया च नानाविधप्रयोजनविषयः उपभोगोऽभ्यनुज्ञातो भवति । तथाहि- ''आजीविकभस्मस्नान्याद्यादयो वदन्ति पातुमस्माकं कल्पते, न स्नातुं वारिणा'' शाक्यपरिव्रा- जकादयस्तुस्नानपानावगाहनादि सर्वं कल्पते इति प्रभाषन्तेः एतदेव स्वनामग्राहं दर्शयति- अथवोदकं विभूषार्थमनुज्ञातं न समये, विभूषाकरश्चरणपायूपस्थमुखप्रक्षालनादिका वस्त्र- भण्डकादिप्रक्षालनात्मिका वा, एवं स्नानादिशौचानुष्ठायिनां *नास्ति काश्चिद्दोष इति।*

एवं ते परिफल्गुवचसः परिव्राजकादयो निजराद्धान्तोपन्यासेन मुग्धमतीन्विमोह्य किं कुर्वन्तीत्याह-

पुढो सत्थेहिं विउट्टंति। (सूत्र-२८)

पृथग्- विभिन्नलक्षणैर्नानारूपैरुत्सेचनादिशस्त्रैस्तेऽनगाराय- माणाः 'विउट्टंति' त्ति-अप्कायजीवान् जीवनाद् व्यावर्त्तयन्ति; व्यपरोपयन्तीत्यर्थः। यदि वा- पृथग् विभिन्नैः शस्त्रैरप्कायिकान् विविधं कुट्टन्ति; छिन्दन्तीत्यर्थः, कुट्टेर्धातोः छेदनार्थत्त्वात्।

अधुनैषामागमानुसारिणामागमाऽसारत्वप्रदिपादनायाह-

एत्थ वि तेसिं नो निकरणाए। (सूत्र-२९)

एतस्मिन्नपि- प्रस्तुते स्वागमानुसारेणाभ्युपगमे सति ''कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं, अदुवा विभूसाए (२६)'' त्ति-एवं रूपस्तेषामयमागमो यद्बलादप्कायपरिभोगे ते प्रवृत्ताः स स्याद्वादयुक्तिभिरभ्याहतः सन् 'नो निकरणाए' त्ति-नो निश्चयं कर्तुं समर्थो भवति, न केवलं तेषां युक्तयो न निश्चयाया- ऽलम्, अपि त्वागमोऽपीत्यपिशब्दः। कथं पुनस्तेषामागमो निश्चयाय नालमिति, अत्रोच्यते-त एवं प्रष्टव्याः- कोऽयमागमो नाम? यदादेशः कल्पते भवतामप्कायारम्भः, त आहुः- प्रतिविशिष्टानुपूर्वीविन्यस्तवर्णपदवाक्यसंघात आप्तप्रणीत आगमः नित्योऽकर्तृको वा ? ततश्चैवमभ्युपगते यो येन प्रतिपन्न आप्तः स निराकर्त्तव्यः। अनाप्तोऽसावप्कायजीवा-ऽपरिज्ञानात्तद्वधानुज्ञानाद्वा भवानिव। जीवत्वं चापां प्राक् प्रसाधितमेव। ततस्तत्प्रणीतागमोऽपि सद्धर्मचोदनायामप्रमाणम्, अनाप्तप्रणीतत्वत्, रथ्यापुरुषवाक्यवत्। अथ नित्यो- ऽकर्तृकः समयोऽभ्युपगम्यते ततो नित्यत्वं दुष्प्रतिपादम्। यतः शक्यते वक्तुं- भवदभ्युपगतः समयः, सकर्तृको वर्णपदवा- क्यात्मकत्वात्, विधिप्रतिषेधात्मकत्वात्, उभयसम्मतसकर्तृ- कग्रन्थसन्दर्भवदिति। अभ्युपगम्य वा ब्रूमः-अप्रमाणमसौ, नित्यत्वादाकाशवत्, यच्च प्रमाणं तदनित्यं दृष्टं प्रत्यक्षादि- वदिति। तथा विभूषासूत्रावयवेऽपि पृष्टा न प्रत्युत्तरदाने क्षमाः, यतियोग्यं स्नानं न भवति, कामाङ्गत्वात्, मण्डनवत्। कामाङ्गता च सर्वजनप्रसिद्धा। तथाचोक्तम्- ''स्नानं मददर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम्। तस्मात्कामं परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रताः'' ॥१॥ शौचार्थोऽपि न पुष्कलो वारिणा बाह्यमलापनयनमात्रत्वात् ह्यन्तर्व्यवस्थितकर्ममलक्षालनसमर्थं वारि न दृष्टं, तस्माच्छरीरवाङ्नसामुकुशलप्रवृत्तिनिरोधो भावशौचमेव कर्मक्षयायाऽलम्। तच्चवारिसाध्यं न भवति, कुतः? अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात्सर्वभावानाम्। न हि मत्स्यादयः तत्र स्थिता मत्स्यत्वादि कर्मक्षयभावक्त्वे नाप्यभ्युपगम्यन्ते, विना च वारिणा महर्षयो विचित्रतपोभिः कर्म क्षपयन्तीति अतःस्थितमेतत्तत्समयो न निश्चयाय प्रभवतीति।

तदेवं निःसपत्नपां जीवत्वं प्रतिपाद्य तत्प्रवृत्तिनिवृत्तिविकल्पफलप्रदर्शनद्वारेणोपसंजिहीर्षुः सकलमुद्देशार्थमाह-

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति। तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदयसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं उदयसत्थं समारंभावेज्जा, उदयसत्थं समारंभंतेऽवि अण्णे ण समणुजाणेज्जा जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मेत्ति बेमि। (सूत्र-३०)

एतस्मिन्नप्काये शस्त्रं द्रव्यभावरूपं समारभमाणस्यैते समारम्भा बन्धकारणत्वेनाऽपरिज्ञाता भवन्ति। अत्रैवाऽप्काये शस्त्रमसमारभमाणस्येत्येते आरम्भा ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाता भवन्ति। प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति, तामेव प्रत्याख्या-नपरिज्ञां विशेषतो ज्ञपरिज्ञापूर्विकां दर्शयति- तदुदकारम्भणं बन्धायेत्येवं परिज्ञाय मेधावी- मर्यादाव्यवस्थितो नैव स्वयमुदकशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैरुदकशस्त्रं समारम्भयेत्। नैवाऽन्यानुदकशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्, यस्यैते उदकशास्त्र-समारम्भा द्विधा परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मा भवति। ब्रवीमीति पूर्ववत्। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

(१०) अप्कायविहिंसननिषेधः-

आउक्कायं न हिंसंति, मणसा वयसाँ कायसा।
तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिया ॥२९॥
आउकायं विहिंसंतो, हिंसईओ तवस्सिए।
तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥३०॥
तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
आउकायसमारंम्भं, जावजीवाइ वज्जए ॥३१॥दश०६ अ०।

(११) अप्कायस्पर्शादिनिषेधः-

से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरितणुगं वा सुद्धोदगं वा उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससणिद्धं वा कायं ससणिद्धं वा वत्थं न आमुसेज्जा न संफुसेज्जा न विलेज्जा न पविलेज्जा न अक्खोडेज्जा न पक्खोडेज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा, अन्नं न आमुसावेज्जा न संफुसावेज्जा न विलावेज्जा न पविलावेज्जा न अक्खोडावेज्जा न पक्खोडावेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा, अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आविलंतं वा पविलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कामामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। (सूत्र-३१)

'से भिक्खू वा' इत्यादि, 'जावज्जागरमाणेव' त्ति-पूर्ववदेव 'से उदगं वे'त्यादि, तद्यथा-उदकं वा अवश्यायं वा हिमं वा महिकां वा करकं वा हरतनुं शुद्धोदकंवा। (दश०) (उदकादिपदानां व्याख्या अस्मिन्नेव शब्दे आदौ उक्ता)

तथा उदकार्द्रं वा कायं उदकार्द्रं वा वस्त्रम् उदकार्द्रता चेह गलद्बिन्दुतुषारानन्तरोदितोदकभेदसम्मिश्रिता। तथा-सस्निग्धं वा कायं सस्निग्धं वस्त्रम् अत्र स्नेहनं स्निग्धमिति भावे निष्ठाप्रत्ययः स्निग्धेन सह वर्त्तते इति सस्निग्धं सस्निग्धता चेह बिन्दुरहितान्तरोदितोदकभेदसम्मिश्रिता (अस्य सूत्रस्य संपूर्णा टीका 'महव्वय' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते) दश० ४ अ०।

(१२) शीतोदकादिपरिषेवणनिषेधः-

सीओदकं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि य।
उसिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए ॥६॥

शीतोदकं- पृथिव्युद्भवसचित्तोदकं न सेवेत। तथा- शिलावृष्टं हिमानि च न सेवेत। तत्र शिलाग्रहणेन करकाः परिगृह्यन्ते। वृष्टं-वर्षणं, हिमं प्रतीतं, प्राय उत्तरापथे भवति। यद्येवं कथमयं वर्ततेत्याह-उष्णोदकं-क्वथितोदकं तप्तप्राशुकं तप्तं सत्प्राशुकं त्रिदण्डोद्वृत्तं नोष्णोदकमात्रं प्रतिगृह्णीयाद्वृत्त्यर्थं संयतः-साधुः। एतच्च सौवीराऽऽद्युपलक्षणमिति सूत्रार्थः।

तथा-

उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे।
समुप्पेह तहाभूयं, नो णं संघट्टए मुणी ॥७॥

नदीमुत्तीर्णो भिक्षां प्रविष्टो वा वृष्टिहतः उदकार्द्रम्- उदक-बिन्दुचितमात्मनः कायं-शरीरं स्निग्धं वा नैव पुञ्छयेत्- वस्त्रतृणादिभिर्न संलिखेत् पाणिना, अपि तु-संप्रेक्ष्य- निरीक्ष्य तथाभूतमुदकार्द्रादिरूपं नैव कायं संघट्टयेत् मुनिर्मनागपि न स्पृशेदिति सूत्रार्थः। दश० ८ अ० (उदकतीरे निवासाऽऽदि- निषेधः 'दगतीर' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते) (अप्कायस्यबहु- वक्तव्यता 'पाणग' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) (अप्कायस्य दर्पिका कल्पिका च 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते) (वस्त्र-धावनेऽप्कायप्रतिसेवनाया वक्तव्यता 'धावण' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते) (उदकसन्तरणेऽप्कायप्रतिसेवनाया वक्तव्यता 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते)

आउक्कायविहिंसग- त्रि (अप्कायविहिंसक) सचित्तजलवि- राधेक। ग० १ अधि०।

आउक्काल- पुं० (आयुष्काल)। मृत्युकाले, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।

आउक्खय- पुं० (आयुःक्षय)। आयुष्कर्मपुद्गलनिर्जरणे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। आयुर्दलिकनिजरणे, नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ०। कर्मद्रव्यनिर्जरणे, विपा० २ श्रु० १ अ०। कर्मणो दलिकनिजरणे, औ०। भ० (आयुःक्षयनिमित्तान्यध्यवसायादीनि 'आउ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतानि।

क्षीणमायुर्जिनेन्द्रैरपि न वर्द्धयितुं शक्यम्, तथा चाह-

शक्रेण स्वामी विज्ञप्तो, यत् क्षणमायुर्वर्द्धयत येन भवत्सु जीवत्सु भवज्जन्मनक्षत्रं संक्रान्तो भस्मराशिग्रहो भवच्छासनं पीडयितुं न शक्नोति, ततोऽवश्यं प्रभुणोक्तम्- न खलु शक्र! कदाचिदपीदं भूतपूर्वं यत् क्षीणमायुर्जिनेन्द्रैरपि वर्द्धयितुं शक्यते। कल्प० १ अधि० २ क्षण।

आयुषः क्षये चावश्यं जीवितनाशः-

(''ताले जह'' (६ गा०) इत्यादिकस्यार्थः 'अणिच्चया' शब्दे प्रथमभागे विशेषतो दर्शितः) सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

डहरा बुड्ढा य पासह, गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवमाउक्खयम्मि तुट्टती ॥२॥

डहरा- बाला एव केचन जीवितं त्यजन्ति। तथा- वृद्धाश्च गर्भस्था अप्येतत्पश्यत यूयं, केते? मानवाः- मनुष्यास्तेषामेवोपदेशदानार्हत्वात् मानवग्रहणम् बहूपायत्वादायुषः; सर्वास्वप्यवस्थासु प्राणी प्राणांस्त्यजतीत्युक्तं भवति। तथाहि- त्रिपल्योपमायुष्कस्यापि पर्याप्त्यन्तरमन्तर्मुहूर्तेनैव कस्यचि- न्मृत्युरुपतिष्ठतीति। अपि च-गर्भस्थम्- जायमानमित्यादि, अत्रैव दृष्टान्तमाह-यथा श्येनः-पक्षिविशेषो वर्त्तकंतित्तिरजातीयं हरेत्- व्यापादयेदेवं प्राणिनः प्राणान् मृत्युरुपहरेत्, उपक्रमकारणमायुष्कमुपक्रामेत्। तदभावे वा आयुष्यक्षये त्रुट्यति- व्यवच्छिद्यतेः जीवानां जीवितमिति शेषः। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

आयुषः क्षयमजानन्त आरम्भे प्रवर्त्तन्ते-

आउक्खयं चेव अबुज्जमाणे,
ममेति से साहसकारि मंदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे,
अट्ठेसु मूढे अजरामरे व्व ॥१८॥

आयुषो- जीवनलक्षणस्य क्षय आयुष्कक्षयस्तम्- आरम्भप्रवृत्तः छिन्नहृदमत्स्यवदुदकक्षये सत्यवबुध्यमानोऽतीव 'मम' इति ममत्ववानिदं मे अहमस्य स्वामीत्येवं स मन्दः- अज्ञः साहसं कर्तुं शीलमस्येति साहसकारीति। तद्यथा- कश्चिद्वणिङ् महाक्लेशेन महार्घाणि रत्नानि समासाद्योज्जयिन्या बहिरावासितः। स च राजचौरदायादभयाद्रात्रौ रत्नान्येवमेवं च प्रवेशयिष्यामीत्येवं पर्यालोचनाऽऽकुलो रजनीक्षयं न ज्ञातवान् अहन्येव रत्नानि प्रवेशयन् राजपुरुषै रत्नेभ्यश्च्यावित इति। एवमन्योऽपि किंकर्तव्यताव्याकुलः स्वायुषः क्षयमबुध्यमानः परिग्रहेष्वारम्भेषु च प्रवर्तमानः साहसकारी स्यादिति। तथा कामभोगतृषितोऽह्नि रात्रौ च परि-समन्तात् द्रव्यार्थी परितप्यमानो १ मम्मणवणिग्वदार्तध्यायी कायेनापि क्लिश्यते। तथा चोक्तम्- ''अजरामरवद्बालः, क्लिश्यते धनकाम्यया। शाश्वतं जीवितं चैव, मन्यमानो धनानि च'' ॥१॥ तदेवमार्तध्यानोपहतः ''कइया वच्चइ सत्थो किं भंडं कत्थ कित्तिया भूमी'' त्यादि। तथा- ''उक्खणइ खणइ णिहणइ, रत्तिं न सुयइ दिया वि य ससंको'' इत्यादि। चित्तसंक्लेशात्सुष्ठु मूढो वणिग्वदजरामरवदात्मानं मन्यमानोऽपगतशुभाध्यवसायोऽहर्निशमारम्भे प्रवर्तते। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

अहर्निशमायुषः क्षयमवबुद्ध धर्मे यतितव्यम्-

पिच्छइ आउस्स खयं,
अहोनिसं जिज्जमाणस्स ॥१८॥ (७३)
राइंदिएण तीसं तु,
मुहुत्ता नवसयाइँ मासेणं।

१- मम्मणवणिग्वृत्तं 'मम्मण' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते।

हायंति पमत्ताणं,
न य णं अबुहा वियाणंति ॥१९॥ (७४)
तिन्नि सहस्से सगले,
छच्च सए उडुवरो हरइ आउं।
हेमंते गिम्हासु य,
वासासु य होइ नायव्वं ॥२०॥ (७५)
वाससयं परमाउं,
इत्तो पन्नास हरइ निद्दाए।
इत्तो विसए हायइ,
वालत्ते वुड्ढभावे य ॥२१॥ (७६)
सीउण्हपंथगमणे,
खुहा पिवासा भयं च सोगे य।
नाणाविहा य रोगा,
हवंति तीसाइ पच्छद्धे ॥२२॥ (७७)
एवं पंचासीई,
नट्ठा पण्णरसमेव जीवंति।
जे हुंति वाससइया,
न य सुलहा वाससयजीवा ॥२३॥ (७८)
एवं निस्सारे मा-
णुसत्तणे जीविए अहिवडंते।
न करेह चरणधम्मं,
पच्छा पच्छाऽणुतप्पिह हा ॥२४॥ (७९)

'पिच्छह' त्ति-भो भव्याः! यूयं पश्यत- ज्ञानचक्षुषा वि लोकयत आयुषः क्षयमहोरात्रं क्षीयमाणस्य समये समये आवीचीमरणेन म्रियमानस्येति ॥१८॥ 'राइं' ति-अहोरात्रेण त्रिंशन्मूहूर्त्ता भवन्ति, मासेन नवशतानि ९०० मुहूर्त्तानि, तानि प्रमत्तानां- मद्यादिप्रमादयुक्तानां १ सुभूम- २ ब्रह्मदत्तादीनामिव हीयन्ते न चाऽबुधा-मूर्खा विजानन्तीति ॥१९॥ 'तिन्नि' त्तित्रीणि सहस्राणि षट्शताधिकानि ३ सकलानि-संपूर्णानि मुहूर्त्तानि हेमन्ते-शीतकाले भवन्ति। एतत्प्रमाणमायुर्जीवानां हेमन्ते उडुवरः- सूर्यो हरति, एवं ग्रीष्मे वर्षासु च ज्ञातव्यं भवति ॥२०॥ (तं०) 'वास' त्ति- सांप्रतं जीवानां परमायुः- उत्कृष्टजीवितं वर्षशतं प्रवाहेण ज्ञातव्यम्। इतो वर्षशतात् निद्रया पञ्चाशद्वर्षाणि ५० हरति-गमयति, जीवः इतःशेषपञ्चाशद्वर्षतः विंशतिर्वर्षाणि २० हीयन्ते यान्ति- प्रमादिनाम् कथम्? - बालत्वे दशकं १०, वृद्धत्वे दशकं १० चेति ॥२१॥ 'सीउ' त्ति-शीतोष्णपथगमनानि, तथा क्षुधा पिपासा भयं च शोकश्च नानाविधा रोगाश्च भवन्ति, त्रिंशतः पञ्चार्द्ध त्रिंशत्पञ्चार्द्ध- पञ्चदशवर्षरूपं तस्मिन् को भावः? -शेषत्रिंशतः पञ्चदश १५ वर्षाणि जीवानां शीतोष्णपथगमना-दिभिर्मुधा यान्तीति ॥२२॥ एवं पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चाशीतिवर्षाणि नष्टानि ८५, धर्म्मं विना विकथानिद्रालस्यवतां मुधा गतानि, कथम्? - निद्रया पञ्चाशद्वर्षाणि (५०), बालत्वे दश (१०), वृद्धभावे दश (१०), शीतादिभिः पञ्चदश (१५) एवं सर्वाणि पञ्चाशीतिवर्षाणि (८५), इति ये जीवा वर्षशतिकाः- वर्षशतप्रमाणा भवन्ति ते जीवा पञ्चदश १५ वर्षाणि जीवन्ति, अन्यानि मृतप्रायत्वात्। न च वर्षशतजीविनो जीवाः प्राप्यन्ते। किंभूताः सुखेन- अनायासेन लभ्यन्ते इति सुलभाः; सर्वथा सुखिन इत्यर्थः। उक्तं च- ''आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्द्धं गतं, तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः। शेषं व्याधिवियोगदुः-खसहितं सेवादिभिर्नीयते, जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्'' ॥१॥२३॥ एवम्- उक्तप्रकारेण निस्सारे असारे मानुषत्वे-मनुजत्वे तथा जीविते आयुषि रत्नकोटिकोटिभिरपि अप्राप्ये अधिपतति; समये समये क्षयं गच्छति सतीत्यर्थः न कुरुत यूयं चरणधर्म्म-ज्ञानदर्शनपूर्वकं देशसर्वचारित्रं 'हा' इति- महाखेदे, पश्चाद्-आयुःक्षयानन्तरम्- आयुःक्षयचरमक्षणे वा पश्चात्तापं कायवाङ्मनोभिर्महा-खेदं करिष्यथ नरकस्थशशिराज्जवदिति ॥२४॥ तं०॥ ''समस्तसत्त्वसंघानां क्षयत्यायुरनुक्षणम्। आममल्लकवारीव, किं तथापि प्रमाद्यसि'' ॥१॥ पञ्चा० १ विव०। मरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। उत्त०।

आउक्खेम-न०(आयुःक्षेम)। आयुषः क्षेममिति। आयुषः सम्यक्-पालने, जीविते च। आचा०।

जं किंचि वुक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स मप्पणो।
तस्सेव अंतरऽद्धाए, खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिए ॥६॥

एतदुक्तं भवति- आत्मायुषो यत्क्षेमं- प्रतिपालनोपायं जानीत तं क्षिप्रमेव शिक्षत्। (आचा०) यदिवा- आत्मनः आयुःक्षेमस्य- जीवितस्य। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।

आउजीव- पुं० (अब्जीव)। आप एव जीवः। स्थावरजीवविशेषे, अबाश्रितो वा जीवः। उदकाश्रिते जीवे च। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

तद्भेदा यथा-

दुविहा आउजीवाओ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥८४॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदये य उस्से य, हरितणु महिया हिमे ॥८५॥
एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोयम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥८६॥

तिसृणां गाथानामर्थः- अब्जीवास्तु द्विविधाः- सूक्ष्माः, तथा बादरा अपि। पर्याप्ता, अपर्याप्ताश्च। एवमेते द्विविधाः पुनर्वर्त्तन्ते इति शेषः ॥८४॥ अथ पुनर्बादरा ये पर्याप्ता अब्जीवास्ते पञ्चधा प्रकीर्तिताः। (उत्त०) तत्र सूक्ष्मा अप्कायजीवा एकविधा अनात्वात्तीर्थकरैर्व्याख्याताः। तत्र सूक्ष्मा अप्कायजीवाः सर्वस्मिन्- चतुर्दशरज्वात्मके लोके वर्त्तन्ते, बादरा अप्कायजीवा लोकस्यैकदेशे वर्त्तन्ते ॥८६॥

१-'सुभूम' वृत्तान्तं 'माण' शब्दे षष्ठे भागे विस्तरतो करिष्यते।

२-ब्रह्मदत्तवृत्तं 'बंभदत्त' शब्दे पञ्चमभागे करिष्यते। ३-३६००।

संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साऽऽईया, सपज्जवसिया वि य ॥८७॥

सन्ततिं- प्रवाहमार्गमाश्रित्य अप्कायजीवा अनादिकाः पुनरपर्यवसिता अपि स्थितिं- भवस्थितिं, कायस्थितिं चाश्रित्य सादिकास्तथा सपर्यवसिताः अवसानसहिता अपिवर्त्तन्त ॥८७॥

सत्तेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई आऊणं, अंतोमुहूत्तं जहन्नियं ॥८८॥

अपाम्- अप्कायजीवानां सप्तैव सहस्राणि वर्षाण्युत्कृष्टा आयुषः स्थितिर्भवेत्, जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं भवेत् ॥८८॥

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया।
कायठिई आऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥८९॥

अपाम्- अप्कायजीवानां तं स्वकायमर्थात्- अप्कायममुञ्चता- मुत्कृष्टा कायस्थितिः असंख्यकालं भवति जघन्या कार्यस्थितिरन्तर्मुहूर्त्तं भवति।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए, आउजीवाण अंतरं ॥९०॥

अब्जीवानां स्वकीये काये त्यक्ते सति अपरस्मिन् काये उत्पद्य पुनः स्वकीये काये उत्पत्तिः स्यात्तदा उत्कृष्टमन्तरमनन्तकालं भवति। जघन्यकमन्तरम्- अन्तर्मुहूर्त्तं भवति। वनस्पतिकाये जीवोऽनन्तकालं तिष्ठति तदा अनन्तकालमन्तरं भवति, इति भावः।

एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणाऽऽदेसओ वा वि, विहाणाइ सहस्ससो ॥९१॥

एतषाम्- अप्कायजीवानां वर्णतो गन्धतः रसतः स्पर्शतः संस्थानाऽऽदेशतश्चापि- संस्थाननामतश्चापि सहस्रशो-बहवो भेदा भवन्ति ॥९१॥ उत्त० ३६ अ०। अब्जीवानां च प्रत्येकशरीरिता। ''पुढोसत्ता आउजीवा'' प्रत्येकशरीरत्वा त्पृथक्- प्रत्येकं सत्त्वाः- प्रत्येकशरीरिणोऽवगन्तव्याः। सूत्र०। १ श्रु० ११ अ०।

आउज्ज- न० (आतोद्य) आ-समन्तात् तुद्यते। आतुदण्यत्। वीणादौ वाद्ये, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। स्था०। अनु०। आव०। जी०। तच्च द्विविधम्- ततविततभेदात्। ततविते अपि द्विविधे-घन-शुषिरभेदात्। स्था० २ ठा० ३ उ०। चतुर्विधम्- ततविततघनशुषिरभेदात्। बृ० १ उ०। ''ततं वीणादिकं ज्ञेयं !, विततं पटहादिकम्। घनं तु कांस्यता लादि, वंशादि शुषिरं मतम्'' ॥१॥ इति विवक्षाप्राधान्याच्च न विरोधो मन्तव्यः। स्था० २ ठा० ३ उ०। आचा०।

आतोद्यस्य ४९ भेदाः-

तते णं से सूरियाभे देवे अट्ठसयं संखाणं विउव्वति। अट्ठ सयं संगाणं विउव्वइ। अट्ठसयं संखियाणं विउव्वइ। अट्ठसयं खरमुहीणं विउव्वइ। अट्ठसयं पेयाणं विउव्वइ। अट्ठसयं पिरिपिरियाणं विउव्वति। एवमाइयाणं एगोणवणं आउज्जविहाणाइं विउव्वति।

'एवमाइयाणं' ति-आदिशब्देन- ❊ पणव ६ पटह ७ भम्भा ८ होरम्भा ९ भेरी १० जल्लरी ११ दुन्दुभी १२ मुरुज १३ मृदङ्ग १४ नंदीमृदङ्ग १५ आलिङ्ग १६ कुस्तुम्ब १७ गोमुखी १८ मर्दल १९ विपञ्ची २० वल्लकी २१ भ्रमरी २२ भ्रामरी २३ परिवादिनी २४ चर्चरी २५ सुघोषा २६ नंदीघोषा २७ महती २८ कच्छपी २९ चित्रवीणा ३० आमोद ३१ डण्डा ३२ नकुल ३३ तूणा ३४ तुम्बवीणा ३५ मुकुन्द ३६ हुडुक्क ३७ विचिकी ३८ करटी ३९ डिण्डिम ४० किणित ४१ कण्ड्वा ४२ दर्दरक ४३ दर्दरिका ४४ कुम्बर ४५ कलशिका ४६ तल ४७ ताल ४८ कांस्यताल ४९ रिंगिसिका ५० मञ्जरिका ५१ शुशुमारिका ५२ वंश ५३ चाली ५४ वेणु ५५ पिरिली ५६ बद्धकाः ५७ प्रदर्शिताः ❊) अव्याख्यातास्तु भेदाः लोकतः प्रत्येतव्याः एवमादीनि बहून्यातोद्यानि विकुर्वन्ति सर्वसंख्यया तु मूलभेदापेक्षया अतोद्यभेदा एकोनपञ्चाशत्। शेषास्तु भेदास्तेष्वेवान्तर्भवन्ति यथा वंशातोद्यविधाने चालीवेणुपिरिलीबद्धकाः। रा०। ❊'णट्ट' शब्दे ४ भागे विशेषः।

❊आवर्ज्ज-पुं०(आवर्जनमावर्जः)अभिमुखीकरणे, आवर्ज्यतेऽभिमुखीक्रियते मोक्षोऽनेनेति- शुभमनोवाक्कायव्या पारविशेषे च। उक्तश्च- ''आवज्जणमुवओगो वावारो वा'' (३०५१विशे०) इति, आवर्ज्यते- अभिमुखीक्रियत, इति घञ्। अभिमुखीकर्त्तव्ये, त्रि०। प्रज्ञा० ३६ पद।

❊आवर्ज्य- त्रि० आवर्ज्यत इति घ्यण्। अभिमुखीकर्त्तव्ये, आ०म० १ अ०।

आउज्जण- न० (आवर्जन) अभिमुखीकरणे, शुभमनोवाक्काय- व्यापारे च। प्रज्ञा० ३६ पद। विशे०।

आउज्जसद्द- पुं० (आतोद्यशब्द) नोभाषाशब्दविशेषे, स्था० २ठा० ३ उ०। स च वेणुवीणामृदङ्गादीनां यो शब्दः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

तद्भेदादि-

आउज्जसद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा- तते चेव, विततते चेव। तते दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-घणे चेव, सुसिरे चेव। एवं विततते वि। (सूत्र-८१)

(ततविततादिकमातोद्यभेदः 'आउज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे प्रदर्शितः) तज्जनितः शब्दस्ततो घनः शुषिरश्चेति व्यपदिश्यते। स्था० २ ठा० ३ उ०। (अस्य चतुर्विधत्वम् चतुर्विधातोद्यजनि- तत्वात्। आतोद्यस्य बहवो भेदाः 'आउज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे अनुपदमेव दर्शिताः)।

आउज्जिय- पुं० (आयोगिक)। उपयोगवति ज्ञानिनि, भ०। २ श० ५ उ०।

❊आवज्जित- त्रि० (आ०वृज् णिच् क्त)। अभिमुखीकृते तथा च लोके वक्तारः- आवर्ज्जितोऽयं मयाः, सम्मुखीकृत इत्यर्थः। प्रज्ञा० ३६ पद। पं०सं०। दत्ते, त्यक्ते, निम्नीकृते च। वाच०।

आउज्जियकरण- न० (आवर्जितकरण)। आवर्जितस्य करणमिति केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे शुभयोगव्यापारणे, तच्च भव्यत्वेनावर्जितस्य मोक्षगमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य शुभयोव्यापारणम्। प्रज्ञा० ३६ पद। पं० सं०। (अत्रत्या वक्तव्यता 'आउज्जीकरण' शब्देऽग्रे वक्ष्यते)

आउञ्जिया-स्त्री० (आयोजिका) भावे वुञ्। व्यापारणे, आ० म० १ अ०।

आउञ्जियाकरण- न० (आयोजिकाकरण)। आङ्- मर्य्यादया कचलिदृष्ट्या योजन-शुभानां योगानां- व्यापारणम्। भावे वुञ्। तस्य करणमिति। केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे शुभव्यापा- रात्मके क्रियाविशेषे, प्रज्ञा० ३६ पद। आ० म०। पं० सं०।

आउज्जीकरण- न० (आवर्ज्जीकरण) आवर्जनमावर्ज्जः तस्य करणमिति विवक्षायां च्विप्रत्ययः। केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे आत्मानं प्रति मोक्षस्याभिमुखीकरणेनात्मनो मोक्षं प्रत्युपयोजनकरणे, आवर्ज्यतेऽभिमुखीक्रियते मोक्षोऽनेनेति आवर्जस्तस्य करणमिति विवक्षायां च्विप्रत्ययः। केवलि- समुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे शुभमनोवाक्कायव्यापारविशेषकरणे, प्रज्ञा० ३६ पद। आवर्ज्यते इत्यावर्जः घञ्, तस्य करणमिति च्विः। केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे मोक्षे प्रत्यभिमुखीकर्त्तृ- व्यस्य करणे, तच्चान्तर्मौहूर्त्तिक उदयावलिकायां कर्म्मपुद्गल- प्रक्षेपव्यापाररूप उदीरणाविशेषः। आ० म० १ अ०। औ०। स्था०। कर्म्म०। पं० सं०।

आवर्जीकरणश्च-

कइसमइए णं भंते ! आउज्जीकरणे पण्णत्ते, गोयमा ! असंखिज्जसमइए, अंतोमुहुत्तिए आउज्जीकरणे पण्णत्ते। (सूत्र- ३४६)

सर्वोऽपि केवली केवलिसमुद्घातं गच्छन् प्रथमत आवर्जीकरणम् उपगच्छति। तथा च-केवलिसमुद्घातप्रक्रियां विभणिषुः समुद्घातशब्द- व्याख्यानपुरस्सरमाह भाष्यकारः (प्रज्ञा० ३६ पद।)

तत्थाउयसेसा हिय- कम्मसमुग्घायणं समुग्घाओ।
तं गंतुमणा पुव्वं, आउज्जीकरणमज्जेइ ॥३०५०॥
आवज्जणमुवओगो, वावारो वा तदत्थमाईए।
अंतोमुहुत्तमेत्तं, काउं कुरुए समुग्घायं ॥३०५१॥

तत्रायुःशेषाणाम्- अधिकस्थितिकानां वेदनीयादिकर्म्मणां समुद्घातनं समुद्घातः, तं च गन्तुमनाः- प्रारिप्सुः पूर्वमावर्ज्जी- करणमभ्यति- विदधाति। कथंभूतं तदिति ? उच्यते- तदर्थम्- समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो मया अधुनेदंकर्त्तव्य- मित्येवंरूप उदयावलिकायां कर्म्मप्रक्षेपरूपो व्यापारो वा आवर्जनमुच्यते। तस्यैवंभूतस्य करणमावर्ज्जीकरणं तदन्त-र्मुहूर्त्तमात्रं कालं कृत्वा ततः समुद्घातं कुरुत। विशे०।

आउज्जोवण- न० (अभ्योजन)। अप्काययंत्रयोजने, ओघ०।

तेषां हि सशब्दं व्रजतामेते दोषाः-

आउज्जोवणवणिए, अगणि कुडुंबीकुकम्मकुमरीए।
तेणे मालागारे, उब्भामगपंथि एजंते ॥९०॥

ते हि यदि सशब्दं व्रजन्ति ततश्च लोको विबुध्यते, विबुद्धश्च सन् 'आउज्जोवण' त्ति- अप्काययन्त्राणि योज्यन्ते वहनाय सज्जीक्रियन्ते। ओघ०। असंजएहिं सद्धं वसंताणं आउज्जो- वणवणियादिदोसा भवंति। नि०चू० २ उ०।

***आउट्ट**- पुं० (आउट्ट) करणे, अयमेतादृश एव सैद्धान्तिको धातुः। कल्प० ३ अधि० १ क्षण। आउट्टन्ति णाम करेंति। नि०चू० ३ उ०।

***आकुट्ट**- पुं० आकुट्टनमाकुट्टः आ-कुट्ट-घञ्। छेदने, हिंसायां च। सा चात्र प्राण्यवयवानां छेदनभेदनादिरूपो व्यापारः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

***आतुट्ट**- त्रि० सन्तुष्टे, नि०चू० १ उ०।

***आवृत्त** - त्रि० आ-समन्ताद् वृत्त इति। समन्ताद् व्यवस्थिते आचा० १ श्रु० ७ अ० ४ उ०। परावृत्ते, प्रतिनिवृत्ते च। वाच०। ''आउट्टे'' ०(२१ गाथा) आवृत्ते- आवृत्तपरिणामे साधाविति। पंचा० १६ विव०॥ समन्तात् हिंसायां प्रवृत्ते, 'आउट्टामो' प्रवर्तामहे। हिंसायाम्। आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ०। पुनः पुनरभ्यासे, आवर्त्यमाने च। वाच०।

आउट्टंत- त्रि० (आउट्टत्)। कुर्वन्ति, कल्प० ३ अधि० १ क्षण। नि० चू०।

आउट्टण-न०(आउट्टन)करणे, कल्प० ३ अधि० १ क्षण। नि० चू०।

***आकुट्टन**- न० (हिंसायाम्), सूत्र १ श्रु० १ अ० २ उ०। आ० म०।

***आवर्तन्**- न० अभिलाषायाम् आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ०। आराधनायाम्, व्य० 'कहणाऽऽउट्टण आगमण- पुच्छणं दीवणा य कज्जस्य'' (५१×गाथा)। आवर्तनम्- आकम्पनं राज्ञो भक्तीभवनम्। व्य० २ उ०। नि० चू०। आवर्जने, व्य० १० उ०। अभिमुखीभूय वर्त्तने, नं० ३२ सूत्र। निवर्तने, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। आवर्तते पूर्वभावतो निवृत्त्यान्यभाव- प्रतिपत्त्यभिमुखो वर्तते येन बोधपरिणामेन स आवर्त्तः। पुं० तथावर्तने, ईहातो निवृत्त्यापायभावप्रतिपत्त्यभिमुखीभूय वर्तनस्य हेतौ, बोधपरिणामे च। नं० ३२ सूत्र।

आउट्टणया- स्त्री० (आवर्तनता) आवर्त्ततेऽभिमुखीभूय वर्त्तते येन स तथा तद्भावस्तत्ता। आभिनिबोधिकज्ञानावशेषस्यापायस्य नामधेयविशेषे, सा चेहातो निवृत्त्यापायभावप्रतिपत्त्यभिमुखी- भूय वर्त्तते, हेतुभूता बोधपरिणामता। नं० ३२ सूत्र।

आउट्टणा- स्त्री० (आवर्त्तना) आराधनायाम्; नि०चू० २ उ०। आकम्पने, व्य० २ उ०। आवर्जने, ''आउट्टऊण अत्तीकरेइ'' आवर्त्यआवर्ज्यात्मी- करोति। व्य० १० उ०।

आउट्टावण- न० (आवर्त्तन) अभिमुखीकरणे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०।

आउट्टि- स्त्री० (आउट्टि)। करणे, ''आउट्ट त्ति णाम करेंति'' 'आउट्टि' धातुः करणार्थे सैद्धांतिकः। कल्प० ३ अधि० १ क्षण। नि०चू०।

***आकुट्टि**- स्त्री०। (हिंसायाम्) आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ०। इदं करोमीत्येवं बुध्वोपेत्य करणे, जीत०। स०। ध०। प्रव०। पं० व०। आव०। 'आउट्टिया' नाम आभोगे जानान इत्यर्थः। बृ०३ उ०। (आकुट्यां धर्मरुचेरुदाहरणम्- 'आता' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

आवृत्ति- स्त्री० (आ-वृत्-क्तिन्)। समन्तात्प्रवर्त्तने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०। अभिलाषायाम्, आचा० २ श्रु० २ चू० ६० अ०। आराधनायाम्, राज्ञो भक्तीभवनम्। व्य० २ उ०। नि० चू०। आवर्जने, व्य० १० उ०। अभिमुखीभूय वर्तते, नं०। निवर्त्तने, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। पुनःपुनरभ्यासे, भूय एकजातीयक्रियाकरणे, ''आवृत्तिः सर्वशास्त्राणां, बोधादपि गरीयसी''। प्रत्यावृत्तौ, पुनरागतौ, वाच०। सूर्य्यस्य चन्द्रस्य च भूयो भूयो दक्षिणोत्तरगमने, सू० प्र० १२ पाहु०। चं० प्र०। ज्यो०। आवृत्तयो द्विधा। तद्यथा- एकाः सूर्यस्यावृत्तयः, अपराश्चन्द्रमसः। तत्र युगे सूर्य्यस्यावृत्तयो दश भवन्ति, चतुस्त्रिंशच्छतमावृत्तीनां चन्द्रमसः। सू० प्र० १२ पाहु०। चं० प्र०।

तत्र (५ वर्षात्मकेयुगे) सूर्य्यस्य दशाऽऽवृत्तयः-

तत्थ खलु इमातो पंच वासिक्कीओ, पंच हेमन्तीओ आउट्टीओ पण्णत्ताओ। (सूत्र- ७६)

'तत्थ खलु' इत्यादि- तत्र युगे खलु इमाः- वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्च वार्षिक्यः, पञ्च हेमन्त्यः- शीतकालभाविन्यः सर्वसंख्यया दश आवृत्तयः सूर्य्यस्य प्रज्ञप्ताः। सू० प्र० १२ पाहु०। चं० प्र०।

एतस्योपपत्तिं वक्तुकाम आह-

एत्तो आउट्टीओ, वोच्छं जह य क्कमेण सूरस्स।
चंदस्य य लहुकरणं, जह दिट्ठं सव्वदंसीहिं ॥२३१॥

इतः- अयनविभागप्रतिपादनानन्तरं सूर्य्यस्य चन्द्रस्य च आवृत्तीर्भूयो भूयो दक्षिणोत्तरगमनरूपा यथाक्रमेण- परिपाट्या वक्ष्यामि, तासां चाऽऽवृत्तीनां प्रतिनियतप्रथमदिवसपरिज्ञानाय यथा दृष्टं सर्वदर्शिभिः- सर्वज्ञैस्तथा करणम्- लघूपायं वक्ष्ये।

प्रतिज्ञातमर्थं निर्वाहयितुकामः प्रथमत आवृत्तीः प्रतिपादयति-

सूरस्स य अयणसमा, आउट्टीओ जुगम्मि दस होंति।
चंदस्य य आउट्टी, सयं च चोत्तीसयं चेव ॥२३२॥

सूर्यस्य- आदित्यस्य युगे च चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धित- चन्द्राभिवर्द्धित-संवत्सरपञ्चकपरिमाणे आवृत्तयः यथोदितस्वरूपा अयनसमा भवन्ति। अयनप्रथमप्रवृत्तेरावृत्तिशब्दवाच्यत्वात्, ताश्च कति संख्याः? इत्याह- दश।

तथा चन्द्रस्यावृत्तीनां शतं चतुस्त्रिंशदधिकम्, १३४ अयनानां हि प्रथमाः प्रवृत्तय आवृत्तिशब्दवाच्याश्चन्द्रस्य वा अयनान्येतावत्यो भवन्ति, तदावृत्तयोऽप्येतावत्य एव। अथैकस्मिन् युगे सूर्यस्य दशायनानि भवन्तीति, कथमवसीयते सूर्यस्याऽऽवृत्तयो युगे दश भवन्ति, चन्द्रमसश्चाऽऽवृत्तीनां चतुस्त्रिंशच्छतमिति १३४, उच्यते-उक्तं नाम आवृत्तयस्तयोर्दक्षिणोत्तरगमरूपाः ततः सूर्यस्य चन्द्रमसो वा यावन्त्ययनानितावत्य आवृत्तयः, सूर्यस्य चायनानि दश, एतच्चावसीयते त्रैराशिकबलात्, तथाहि-यदि दिवसेनत्र्यशीत्यधिकेन शतेन एकमयनं भवति ततोऽष्टादशभिः शतैः त्रिंशदधिकैः कति अयनानि लभ्यन्ते, राशित्रयस्थापना- (१८३) (१) (१८३०) अत्रान्त्येन राशिना मध्यमस्य राशेर्गुणनम्, एकस्य च गुणेन तदेय भवतीति जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि (१८३०) तेषामाद्येन राशिना त्र्यशीत्यधिकेन शतेन भागहरणं, लब्धा दश १०। आगतं युगमध्ये सूर्यस्य दश १० अयनानि भवन्तीति आवृत्तयोऽपि दश १०। तथा यदित्रयोदशभिर्दिवसैश्चतुश्चारिंशता च सप्तषष्टिभागैरेकं चन्द्रस्यायनं भवति ततोऽष्टादशभिर्दिवसशतैस्त्रिंशदधिकै कति चन्द्रायनानि भवन्ति? राशित्रयस्थापना-१३, ४४ ६७ (१)। (१८३०)। तत्राद्ये राशौ सवर्णनाकरणार्थं त्रयोदशाऽपि दिनानि सप्तषष्ट्या गुणयित्वा चोपरितनाः चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) यानि चाष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि- (१८३०) तान्यपि सवर्णनाकरणार्थं सप्तषष्ट्या ६७ गुण्यन्ते, जातानि द्वादश लक्षाणि द्वे सहस्रे षट् शतानि दशोत्तराणि (१२०२६१०) तत्रैवंरूपेणानेन राशिना मध्यमस्य राशेरेकरूपस्य गुणनम्, एकस्य च गुणने तदेव भवतीत्येतावानेव राशिर्जातः, तस्य नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैः- ९१५ भागो ह्रियते लब्धं चतुस्त्रिंशं शतम् १३४ एतावन्ति चन्द्रायनानि युगमध्ये भवति, एत्येतावत्यः १३४ चन्द्रमस आवृत्तयः। ज्यो० १२ पाहु०। चं० प्र०। सू० प्र०।

संप्रति का सूर्यस्यावृत्तिः कस्यां तिथौ भवतीति चिन्तायां यत्पूर्वाचार्यैरूपदर्शितं करणं तदुपदर्शयते (सू० प्र० १२ पाहु०)-

आउट्टीहिं एगुणियाहिं, गुणियं सयं तु तेसीयं।
जेण गुणियं तं तिगुणं, रूवहियं पक्खिवे तत्थ ॥२३९॥

पन्नरसलाइयम्मि उ, जं लद्धं तं तेसु होइ पव्वेसु।
जे अंसा ते दिवसा, आउट्टी एत्थ बोधव्वा ॥२४०॥

अनयोर्व्याख्या- आवृत्तिभिरेकोनिकाभिर्गुणितं शतं त्र्यशीत्यधिकम्,। किमुक्तं भवति-या आवृत्तिर्विशिष्टतिथियुक्ता ज्ञातुमिष्टा तत्संख्या एकोनिका क्रियते। ततस्तयात्र्य- शीत्यधिकं शतं गुण्यते, गुणयित्वा च येनाऽङ्केन गुणितं त्र्यशीत्यधिकं शतं तदङ्कस्थानं त्रिगुणं कृत्वा रूपाधिकं सत्तत्रपूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, ततः पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते, हृते च भागे यल्लब्धं तत्तेषु तावत्संख्यावेषु पर्वस्वतिक्रान्तेषु सा विवक्षिता आवृत्तिर्भवति, ये त्वंशाः पश्चादुद्ध (द्ध) रितास्ते दिवसाः ज्ञातव्याः। तत्र तेषु दिवसेषु मध्ये चरमदिवसे आवृत्तिर्भवतीति भावः, इहावृत्तीनामेवं क्रमोयुगे-प्रथमा आवृत्तिः श्रावणे मासे, द्वितीया माघे मासे, तृतीया भूयः श्रावणे मासे, चतुर्थी माघमासे, पुनरपि पञ्चमी श्रावणे, षष्ठी माघमासे, भूयः सप्तमी श्रावणे, अष्टमी माघमासे, नवमी श्रावणमासे, दशमी माघमासे इति। तत्र प्रथमा किल आवृत्तिः कस्यां तिथौ भवतीति यदि जिज्ञासा तदा प्रथमावृत्तिस्थाने एकको ध्रियते सा रूपोना क्रियते इति न किमपि पश्चाद्रूपं प्राप्यते, ततः पाश्चात्ययुगभाविनी या दशमी आवृत्तिस्तत्संख्या दशकरूपा ध्रियते, तया त्र्यशीत्यधिकं शतं गुण्यते, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, दशकेन किल गुणितं त्र्यशीत्यधिकं शतमिति। ततःते दश १० त्रिगुणीक्रियन्ते, जातास्त्रिंशत् ३०। सा रूपाधिका

विधेया, जाता एकप त्रिंशत्, सा पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते जातान्यष्टादशशतान्येकषष्ट्यधिकानि- १८६१,तेषां पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते लब्धं चतुर्विंशतिशतं शेषं तिष्ठति एकं रूपम् आगतम् चतुर्विंशत्यधिकपर्वशतात्मकेपाश्चात्ये युगे अतिक्रान्ते, अभिनवे युगे प्रवर्त्तमाने प्रथमावृत्तिः प्रथमायां तिथौ प्रतिपदि भवतीति । तथा कस्यां तिथौ द्वितीया माघमासभाविनी आवृत्तिर्भवतीति यदि जिज्ञासा ततो द्विको ध्रियते स रूपोनः कृत इति जातः एककस्तेन त्र्यशीत्यधिकं शतं गुण्यते, 'एकेन च गुणितं दतेव भवति' इति जातं त्र्यशीत्यधिकमेव शतम् १८३, एकेन गुणितं किल त्र्यशीत्यधिकं शतमिति । एकः त्रिगुणीक्रियते, जातस्त्रिकः स रूपाधिकः क्रियते जाताश्चत्वारः ४, ते ४ पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातं सप्ताशीत्यधिकं शतम् १८७, तस्य पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते लब्धा द्वादश, शेषास्तिष्ठन्ति सप्त, आगतं युगे द्वादशपर्वस्वतिक्रान्तेषु माघमासे बहुलपक्षे सप्तम्यां तिथौ द्वितीया माघमासे- माघमासभावीनानां तु मध्ये प्रथमा आवृत्तिरिति । तथा तृतीया आवृत्तिः कस्यां तिथौ भवतीति जिज्ञासायां त्रिको ध्रियते, स रूपोनः क्रियते इति जातो द्विकस्तेन त्र्यशीत्यधिकं शतं १८३ गुण्यते जातानि षट्षष्ट्यधिकानि त्रीणि शतानि (३६६) द्विकेन किल गुणितं त्र्यशीत्यधिकशतमिति । द्विकस्त्रिगुणीक्रियते जाताः षट् ते रूपाधिकाः क्रियन्ते, जाताः सप्त, ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि-३७३ तेषां पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते लब्धाश्चतुर्विंशतिः २४; शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोदश-१३ अंशाः, आगतं युगे तृतीयावृत्तिः श्रावणमासभाविनी नां तु मध्ये द्वितीया चतुर्विंशतिपर्वात्मके प्रथमे संवत्सरेऽतिक्रान्ते श्रावणमासे बहुलपक्षे (ज्यो० १२ पाहु०) त्रयोदश्यां तिथौ भवतीति, एवमन्यास्वप्यावृत्तिषु करणवशाद्विवक्षितास्तिथयः आनेतव्याः, ताश्चमाः युगे चतुर्थी माघमासभावनीनां तु मध्ये द्वितीया शुक्लपक्षे चतुर्थ्यां पञ्चमी । श्रावण मासभाविनीनां तु मध्ये तृतीया, श्रावणमासे शुक्लपक्षे दशम्यां षष्ठी, माघमासभाविनीनां तु मध्ये तृतीया माघमासे बहुलपक्षे प्रतिपदि सप्तमी । श्रावणमासभाविनीनां तु मध्ये चतुर्थी श्रावणमासे बहुलपक्षे सप्तम्यामष्टमी । माघमासभाविनीनां तु मध्ये चतुर्थी माघमासे बहुलपक्षे त्रयोदश्यां नवमी । श्रावणमासभाविनीनां तु मध्ये पञ्चमी, श्रावणमासे शुक्लपक्षे चतुर्थ्यां दशमी । माघमासभाविनीनां तु मध्ये पञ्चमी माघमासे शुक्लपक्षे दशम्याम् तथा चैता एव पञ्चानां श्रावणमासभाविनीनां पञ्चमीनां तु माघमासभाविनीनां तु तिथयोऽन्यत्राप्युक्ताः । चं० प्र० १२ पाहु० ७६ सूत्रटी०।

सम्प्रति या सूर्यस्यावृत्तिर्यस्मिन् दिने भवति तां तथा प्रतिपादयति-

पढमा बहुलपडिवए, बिइया बहुलस्स तेरसीदिवसे ।
सुद्धस्स य दसमीए, बहुलस्स य सत्तमीए उ ॥२३३॥
सुद्धस्स चउत्थीए, पवत्तए पंचमी उ आउट्टी ।
एया आउट्टीओ, सव्वाओ सावणे मासे ॥२३४॥

इह सूर्यस्य दशावृत्तयो भवन्ति, एतच्चानन्तरमेव भावितं,तत्र पञ्च आवृत्तयः श्रावणे मासे भवन्ति, तासां मध्ये प्रथमा बहुलपक्षे प्रतिपदि १, द्वितिया- बहुलस्य- बहुलपक्षस्य सम्बन्धिनि त्रयोदशीरूपे दिवसे२, तृतीया-शुद्धस्य- शुक्लपक्षस्य दशम्याम् ३, चतुर्थी-बहुलपक्षस्य सप्तम्याम् ४, शुद्धस्यशुक्लपक्षस्य चतुर्थ्यां प्रवर्त्तते पंचमी-आवृत्तिः ५, एता सर्वा अप्यावृत्तयः श्रावणे मासे वेदितव्याः । ज्यो० १२ पाहु०।

अधुना माघमासे भाविन्य आवृत्तयो यासु तिथिषु भवन्ति ता अभिदधाति-

बहुलस्स सत्तमीए, पढमा सुद्धस्स तो चउत्थीए ।
बहुलस्स य पाडिवए, बहुलस्स य तेरसी दिवसे ॥२३६॥
सुद्धस्स य दशमीए पवत्तए पंचमी उ आउट्टी ।
एया आउट्टीओ, सव्वाओ माघमासम्मि ॥२३७॥

माघमासे प्रथमा आवृत्तिः- बहुलस्य- कृष्णपक्षस्य सप्तम्यां भवति १, द्वितीया-शुद्धस्य-शुक्लपक्षस्य चतुर्थ्याम् २, तृतीया- बहुलपक्षस्य प्रतिपदि ३, चतुर्थीः- बहुलपक्षस्य त्रयोदशीदिवसे भवति ४, पञ्चमी शुक्लपक्षस्य दशम्यां प्रवर्तते ५, एताः सर्वा अप्यावृत्तयो माघमासे भवन्ति । ज्यो० १२ पाहु०।

एतासु सूर्य्यावृत्तिषु चन्दनक्षत्रयोगपरिज्ञानार्थं करणमभिधित्सुस्तद्विषयं ध्रुवराशिमाह-

पंचसया पडिपुण्णा, तिसुत्तरा नियमसो मुहुत्ताणं ।
छत्तीस विसट्ठिभागा, छच्चेव य चुण्णिया भागा ॥२४१॥

ज्यो० १२ पाहु०।

पञ्चशतानि त्रिसप्ततानि-त्रिसप्तत्यधिकानि परिपूर्णानि मुहूर्त्तानां भवन्ति षट्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागाः । षट् चैव चूर्णिका भागाः एकस्य द्वाषष्टिभागस्य सत्काः षट्सप्तषष्टिभागाः इत्यर्थः एतावान् विवक्षितकरणे ध्रुवराशिः । कथमस्योत्पत्तिरिति चेत्? उच्यते-इह यदि दशभिः सूर्यायनैः सप्तषष्टिश्चन्द्रनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते तत एकेन सूर्याऽयनेन किं लभामहे? राशित्रयस्थापना- (१०) (६७) (१) अत्रान्त्येन राशिना एकेन मध्यस्यराशेः सप्तषष्टिलक्षणस्य गुणने ''एकेन च गुणितं तदेव लब्धं भवतीति'' जाता सप्तषष्टिः (६७) तस्य दशभिर्भागहारे लब्धाः षट् ६ पर्यायाः, एकस्य च पर्यायस्य सप्तदश १७ भागा ये च सप्तमस्य पर्यायस्यसप्तदशभागा १७ तद्गतमुहूर्त्तप्रमाणमधिकृतगाथायामुपन्य-स्तम् । अथ कथमेतदवसीयते एतावन्तस्तत्र मुहूर्त्ता भवन्ति ? इति चेदुच्यते-त्रैराशिककर्म्मचिन्ताबलात्तथा हिंयदि दशभिर्भागैः सप्तविंशतिर्दिनानि एकस्य च दिनस्य एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा लभ्यन्ते ततः सप्तभिर्भागैः किंलभामहे? राशित्रयस्थापना- (१०-२७, २१-६७ ७) अत्रान्त्येन राशिना सप्तक ७ लक्षणेन मध्यस्य राशेः सप्तविंशति १७ र्दिनानि गुण्यन्ते जातं नवाशीत्यधिकं शतं (१८९) तस्याद्येन राशिना दशक १० लक्षणेन भागे हृते लब्धा अष्टादश (१८) दिवसास्ते च मुहूर्त्तानियनाय त्रिंशता ३० गुण्यन्ते जातानि पञ्चशतानि चत्वारिंशदधिकानि- ५४०, मुहूर्त्तानां, शेषा उपरि तिष्ठन्ति नव ९, ते मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जाते द्विशते सप्तत्यधिके- २७०, त्रयोदशभि १३ र्भागे हृते लब्धा सप्तविंशतिर्मुहूर्त्ताः २७, ते पूर्वस्मिन् मुहूर्त्तराशौ

प्रक्षिप्यन्ते, जातानि पञ्चशतानि सप्तषष्ट्यधिकानि- ५६७, येऽपि च एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा दिनस्य तेऽपि मुहूर्तभागकरणार्थं त्रिंशता ३० गुण्यन्ते, जातानि षट्शतानि त्रिंशदधिकानि- ६३०, तानि सप्तभि ७ र्गुण्यन्ते जातानि दशोत्तराणि चतुश्चत्वारिंशच्छतानि- ४४१०, तेषां दशभि १० र्भागे हृते लब्धानि चत्वारि शतानि एकचत्वारिंशदधिकानि- ४४१, तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागे हृते लब्धाः षट् ६ मुहूर्त्ताः, ते पूर्वमुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहूर्त्तानां पञ्च शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि-५७३, शेषाश्चोद्धरिता एकोनचत्वारिंशत् ३९, सा द्वाषष्ट्या ६२ गुण्यते, जातानि चतुर्विंशतिशतानि अष्टादशाधिकानि-२४१८, तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागे हृते लब्धाः षट्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः, शेषास्तिष्ठन्ति षट् ६ । ते एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः सप्तषष्टिभागा, एते चातिश्लक्ष्णरूपा भागा इति चूर्णिका भागा इति व्यपदिश्यन्ते तदेवमुक्तो ध्रुवराशिः । सू०प्र० १२ पाहु० ७६ सूत्रटी०। चं०प्र० १२ पाहु०। ज्यो०।

सम्प्रति करणमाह-

आउट्टीहि एगुणियाहिं, गुणिओ हविज्ज धुवरासी ।
एयं मुहूत्तगणियं, एत्तो वोच्छामि सोहणगं ॥२४२॥

ज्यो० १२ पाहु०।

'आउट्टीहि' इत्यादि, यस्यां यस्यामावृत्तौ नक्षत्रयोगो ज्ञातुमिष्यते तया तया आवृत्त्या एकोनिकया- एकरूपहीनया गुणितोऽनन्तरोक्तस्वरूपो ध्रुवराशिर्भवेत् यावान् एतन्मुहूर्त्त- गुणितं मुहूर्त्तपरिमाणम्, अत ऊर्ध्वं वक्ष्यामि शोधनकम् ॥२४२॥

तत्र प्रथमतोऽभिजितो नक्षत्रस्य शोधनकमाह (सू०प्र०)-

अभिइस्स नव मुहुत्ता, विसट्ठिभागा उ होंति चउवीसं ।
छावट्ठी य समग्गा, भागा सत्तट्ठिछेयकया ॥२४३॥
उगुणट्ठं पोट्ठवया, तिसु चेव नवोत्तरेसु रोहिणिया ।
तिसु नवनउएसु भवे, पुणव्वसू उत्तराफग्गू ॥२४४॥
पंचेव अउणपन्ना, सयाइँ एगुणत्तराइँ छच्चेव ।
सोज्जाइँ विसाहाणं, मूले सत्तेव चोयाला ॥२४५॥
अट्ठसयमुगुणवीसा, सोहणगं उत्तराअसाढाणं ।
चउवीसं खलु भागा, छावट्ठी चुण्णिया भागा ॥२४६॥

ज्यो० १२ पाहु०।

अभिइस्से' त्यादि, अभिजितः- अभिजिन्नक्षत्रस्य शोधनकं नव ९ मुहूर्त्ताःएकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिद्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः सप्तषष्टिच्छेदकृताः समग्राः- परिपूर्णाः षट्षष्टिभागाः ६६ । कथमेतस्योत्पत्तिरिति चेदुच्यतेइहाभिजितोऽहोरात्र-सत्काः एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाश्चन्द्रेण योगः । ततोऽहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्त्ताः ३० इति मुहूर्त्तभागकरणा- र्थमेकविंशतिः २१, त्रिंशता ३० गुण्यते जातानि षट्शतानि त्रिंशदधिकानि (६३०) तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धा नव९मुहूर्त्ताः शेषास्तिष्ठन्ति सप्तविंशतिः । ते द्वाषष्टि ६२ भागकरणार्थं द्वाषष्ट्या ६२ गुण्यन्ते, जातानि षोडशशतानि चतुः सप्तत्यधि-कानि (१६७४) तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागो ह्रियते लब्धाश्चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, शेषास्तिष्ठन्ति षट्षष्टिः (६६) । ते च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः सप्तषष्टिभागाः ॥२४३॥ सम्प्रति शेषनक्षत्राणां शोधनकानि उच्यन्ते- 'उगुणट्ठमि' त्यादिगा- थात्रयम् । एकोनषष्टिमेकोनषष्ट्यधिकं शतं प्रौष्ठपदाउत्तरभाद्रपदा किमुक्तं भवति- एकोनषष्ट्यधिकेन शतेनाभिजिदादी- न्युत्तरभाद्रपदान्तानि नक्षत्राणि शुद्ध्यन्ति । तथाहि- नव९मुहूर्ता अभिज्जितः, त्रिंशच्छ्रवणस्य, त्रिंशद्धनिष्ठायाः, पञ्चदश शतभिषजः, त्रिंशत्पूर्वभाद्रपदायाः, पञ्चचत्वारिंशदुत्तरभाद्रपदाया इति शुद्ध्यन्ति । एकोनषष्ट्यधिकेन शतेनोत्तरभाद्रपदान्तानि नक्षत्राणि तथा त्रिषु नवोत्तरेषु शतेषु रोहिणिकान्तानि शुद्ध्यन्ति । तथाह्येकोनषष्ट्यनिकेनशतेनोत्तरभाद्रपदान्तानि शुद्ध्यन्ति । ततस्त्रिंशन्तमुहूर्त्तैः ३० रेवती, त्रिंशता ३० अश्विनी, पञ्चदश- भिर्भरणी त्रिंशता कृत्तिका, पञ्चचत्वारिंशता ४५ रोहिणिकेति, तथा त्रिषु नवनवत्यधिकेषु शतेषु पुनर्वस्वन्तानि शुद्ध्यन्ति । तत्र त्रिभिः शतैर्नवोत्तरैः रोहिणिकान्तानि शुद्ध्यन्ति, ततस्त्रिंशता ३० मुहूर्त्तैः मृगशिरः, पञ्चदशभिरार्द्रा, पञ्चचत्वारिंशता ४५ पुनर्वसू इति । तथा पञ्चशतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि उत्तरफाल्गुनी- पर्यन्तानि । किमुक्तं भवति-पञ्चभिः शतैरेकोनपञ्चा-शदधि- कैरुत्तरफाल्गुन्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्ध्यन्ति । तथाहि-त्रिभिः शतैर्नवनवत्यधिकै पुनर्वस्वन्तानि शुद्ध्यन्ति । ततस्त्रिंशता ३० मुहूर्त्तैः पुष्यः, पञ्चदशभिरश्लेषा त्रिंशता ३० मघा, त्रिंशता ३० पूर्वफाल्गुनी, पञ्चचत्वारिंशता- उत्तरफाल्गुनीति, तथा- षट्शतानि एकोनसप्ततानि-एकोनसप्तत्यधिकानि विशाखानां- विशाखान्तानां नक्षत्राणां शोध्यानि, तथाहि- उत्तर-फाल्गुन्यन्तानां पञ्चशतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि शोध्यानि । ततस्त्रिंशन्मुहूर्ता ३० हस्तस्य, त्रिंशत् ३० चित्रायाः, पञ्चदश १५ स्वातेः, पञ्चचत्वारिंशद्विशाखाया, इति । तथा मूले-मूलननक्षत्रे शोध्यानि सप्तशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि (७४४) तत्र षट् शतानि एकोनसप्त्यधिकानि (७६९) विशाखान्तानां नक्षत्राणां शोध्यानि, ततः त्रिंशन्मुहूर्त्ताः अनुराधायाः, पञ्चदश ज्येष्ठायाः, त्रिंशत् मूलस्येति, तथा अष्टौ शतानि समाहृतानि अष्टशतमेकोन विंशत्यधिकम् । किमुक्तं भवति-अष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधि-कानि उत्तराषाढानाम्-उत्तराषाढान्तानां नक्षत्राणां शोधनकम् । तथाहि- मूलान्तानां नक्षत्राणां शोध्यानि सप्तशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि (७४४) ततः त्रिंशन्तमुहूर्त्ता ३० पूर्वाषाढानक्षत्रस्य पञ्चचत्वारिंशदुत्तराषाढानामिति । तथा यथासंभवं सर्वेषामपि चामीषां शोधनकानामुपरि अभिजितः संबन्धिनः चतुर्विंशतिद्वाषष्टिभागाः शोध्याः एकस्य च द्वाष-ष्टिभागस्य सत्काः षट्षष्टिश्चूर्णिका भागाः ॥२४४॥ २४५॥ २४६॥

एयाइँ सोहइत्ता, जं सेसं तं हवेज्ज नक्खत्तं ।
चंदेण समाउत्तं, आउट्टीए उ बोधव्वं ॥२४७॥

'एयाइं' इत्यादि, एतानि- अनन्तरोदितानि शोधनकानि यथासंभवं शोधयित्वा यत् शेषमुद्धरति तत्र यथायोगमपान्त- रालवर्तिषु नक्षत्रेषु शोधितेषु यन्नक्षत्रं न शुद्ध्यति तन्नक्षत्रं चन्द्रेण समायुक्तं विवक्षितायामावृत्तौ वेदितव्यम् । तत्र प्रथमायामावृत्तौ प्रथमतः प्रवर्त्तमानायां केन नक्षत्रेण युक्तश्चन्द्र इति यदि जिज्ञासा तत्प्रथमावृत्तिस्थाने एकको १ ध्रियते स रूपोनः क्रियत इति न किमपि पश्चात् रूपमवतिष्ठते । ततः पाश्चात्ययुगभाविनीनामावृत्तीनां मध्ये या दशमी आवृत्तिस्तत्संख्या दशक १० रूपा ध्रियते तया प्राचीनः सम-

स्तोऽपि ध्रुवराशिः पञ्चशतानि त्रिंसप्तत्यधिकानि मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट् सप्तषष्टिभागाः (५७३) (३६ ६२ ६ ६७) इत्येवं प्रमाणो गुण्यते। तत्र मुहूर्त्तराशौ दशभिर्गुणिते जातानि सप्तपञ्चाशत् शतानि त्रिंशदधिकानि (५७३०) येऽपि च षट्त्रिंशद्- द्वाषष्टिभागास्तेऽपि दशभिर्गुणिते जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि (३६०) तेषां द्वाषष्ट्या भागे हृते लब्धाः पञ्च ५ मुहूर्त्तास्ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातः पूर्वराशिः- सप्तपञ्चाशच्छतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि (५७३५) शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टिभागाः पञ्चाशत् (५०) येऽपि च षट्चूर्णिकाभागास्तेऽपि दशभि १० र्गुणिता जाता षष्टिः ६०, तत एतस्मात् शोधनकानि शोध्यन्ते। तत्रोत्तराषाढान्तानां नक्षत्राणां शोधनकमष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि (८१९) एतानि किल यथोदितराशेः सप्तकृत्वः शुद्धिमाप्नुवन्तीति सप्तभिर्गुण्यन्ते जातानि सप्तपञ्चाशच्छतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि (५७३३) तानि पञ्चाशच्छतेभ्यः पञ्चत्रिंशदधिकेभ्यः पात्यन्ते स्थितौ पश्चात् द्वौ २ मुहूर्त्तौ द्वाषष्टिभाग-करणार्थं द्वाषष्ट्या ६२ गुण्येते जातं चतुर्विंशत्यधिकं शतं (१२४) द्वाषष्टिभागानाम् ततः प्राक्तने पञ्चाशल्लक्षणे द्वाषष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यते जातं चतुःसप्तत्यधिकं शतम् (१७४) द्वाषष्टिभागानां, तथापि ये अभिजितः संबन्धि नश्चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः शोध्यास्ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातमष्टषष्ट्यधिकं शतम् (१६८) तत् चतुः- सप्तत्यधिकात् शतात् शोध्यते स्थिताः शेषा षट् द्वाषष्टिभागाः। ते च चूर्णिकाभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते गुणयित्वा च ये प्राक्तनाः षष्टिः सप्तषष्टिभागाः ते तत्र प्रक्षिप्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि द्वाषष्ट्यधिकानि (४६२) ततो ये अभिजितः संबन्धिनः षट् षष्टिश्चूर्णिकाभागाः शोध्याः ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि द्वाषष्ट्यधिकानि (४६२) तान्यनन्तरोदितराशेः शोध्यन्ते, स्थितं पश्चात् शून्यम्। तत आगतं-साकल्येनोत्तराषाढानक्षत्रे चन्द्रेण भुक्ते सति तदनन्तरस्याभिजितो नक्षत्रस्य प्रथमसमये युगे प्रथमा आवृत्तिः प्रवर्त्तते। ज्यो० १२ पाहु०। चन्द्र० १२ पाहु०। सू०प्र०।

अथ श्रावणमासभाविनीनामावृत्तीनां चन्द्रनक्षत्रस्य संग्रहणीं गाथामाह-

पढमा होइ अभिइणा, संठाणाहि य तहा विसाहाहिं।
रेवतीए उ चउत्थी, पुव्वहि फग्गुणीहि तहा ॥२३५॥

श्रावणमासभाविनीनामनन्तरोदितस्वरूपाणां पञ्चानामावृ- त्तीनां मध्ये प्रथमा आवृत्तिरभिजिता नक्षत्रेण युता भवति, द्वितीया 'संठाणाहिं' ति- मृगसिरसा, तृतीया विशाखाभिः, चतुर्थी रेवत्या, पञ्चमी पूर्वफाल्गुनीभिः। ज्यो० १२ पाहु०।

सम्प्रति वार्षिकीणामेवाऽऽवृत्तीनां नक्षत्रयोगं प्रश्नरीत्या प्रतिपादयति-

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं वासिक्किं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ? ता अभिइणा, अभिजिस्स पढमसमएणं, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति? ता पूसेणं, पुस्सस्स एगूणवीसं मुहूत्ता तेतालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्य बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता तेतालीसां चुण्णिया भागा सेसा, (सूत्र ७६)

'ता एएसि णमि' त्यादि, एतेषाम्- अनन्तरोदितानां पञ्चानां चन्द्रादीनां संवत्सराणां', मध्ये प्रथमां वार्षिकीं- वर्षाकाल- संबन्धिनीं। श्रावणमासभाविनीमित्यर्थः। आवृत्तिं चन्द्रः केन नक्षत्रेण युनक्ति?- केन नक्षत्रेण सह योगमुपागतः सन् प्रवर्त्तयति ? एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह- 'ता अभिजिणा' इत्यादि, अभिजिता नक्षत्रेण युनक्ति, एतदेव विशेषत आचष्टे- अभिजितो नक्षत्रस्य प्रथमसमये युनक्ति, तदेवं चन्द्रनक्षत्रमवबुध्यः, सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नमाह- 'तं समयं च णमि' त्यादि, तस्मिंश्च समये णमिति वाक्यालङ्कारे, सूर्यः केन नक्षत्रेणा युनक्ति- केन नक्षत्रेण सह सूर्यो योगमुपागतः सन् तां प्रथमामावृत्तिं- प्रवर्त्तयनीति? भगवानाह- 'ता पूसेणमि' त्यादि, ता इति पूर्ववत्, पुष्येण युक्तस्तां प्रथमामावृत्तिं युनक्ति, एतदेव सविशेषमाचष्टेतदानीं पुष्यस्य एकोनविंशति १९ र्मुहूर्त्तास्त्रिंचत्वारिंशत् ४३ च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रयस्त्रिंशत् ३३ चूर्णिकाभागाः शेषाः। कथमेतदवसीयत इति चेत्, उच्यते- त्रैराशिकबलात्, तथाहि- यदि दशभिरयनैः पञ्च सूर्यकृतान्- क्षत्रपर्यायान् लभामहे तत एकेनायनेन किं लभामहे? राशित्रयस्थापना-१० ५ १। अत्रा न्त्येन राशिना एकक १ लक्षणेन मध्यमस्य राशेः पञ्चक ५ रूपस्य गुणने जाताः पञ्चैव ५, तेषां दशभि १० र्भागो ह्रियते लब्धमर्धं पर्यायस्य तत्र नक्षत्रपर्यायः सप्तषष्टिभागरूपोऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि (१८३०) तथाहि- षट् नक्षत्राणि शतभिषक् प्रभृतीनि अर्द्धक्षेत्राणि ततस्तेषां प्रत्येकं सार्द्धत्रयस्त्रिंशत् सप्तषष्टिभागास्ते सार्द्धास्त्रयस्त्रिंशत् षड्भिर्गुण्यन्ते जाते द्वे शते एकोत्तरे (२०१) षट् नक्षत्रास्युत्तरभाद्रपदादीनि द्व्यर्द्धक्षेत्राणि, ततस्तेषां प्रत्येकमेकं शतं सप्तषष्टिभागानामेकस्य च सप्तषष्टिभागस्यार्द्धम् एतत् षड्भिर्गुण्यते जातानि षट्शतानि त्र्युत्तराणि-(६०३) शेषाणि पञ्चदश १५ नक्षत्राणि समक्षेत्राणि तेषां प्रत्येकं सप्तषष्टिभागाः ततः सप्तषष्टिः पञ्चदशभिर्गुण्यते जातं पञ्चोत्तरं सहस्रम् (१००५) एकविंशतिश्चाभिजितः सप्तषष्टिभागाः सर्वसंख्यया सप्तषष्टिभागानामष्टादशशतानि त्रिंशदधि-कानि (१८३०) एष परिपूर्णः सप्तषष्टिभागात्मको नक्षत्रपर्यायः एतस्यार्द्धे नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) तेभ्य एकविंशतिरभिजितः संबन्धिनी शुद्धा, शेषाणि तिष्ठन्त्यष्टौ शतानि चतुर्नवत्यधिकानि (८९४) तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागो ह्रियते लब्धास्त्रयोदश (१३) शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोविंशतिः २३, त्रयोदशभिश्च पुनर्वस्वन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, ये च शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोविंशतिः २३ भागाः ते मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता ३० गुण्यन्ते, जातानि षट् शतानि नवत्यधिकानि (६९०) तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागो ह्रियते लब्धा दश (१०) मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति विंशतिः २०, सा २० द्वाषष्टिभागकरणार्थं द्वाषष्ट्या ६२ गुण्यते जातानि द्वादशशतानि चत्वारिंशदधिकानि (१२४०) तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागो ह्रियते, लब्धा अष्टादश द्वाषष्टिभागाः

शेषास्तिष्ठन्ति चतुस्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागास्ततः आगतं पुष्यस्य दशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टादशसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशत् सप्तषष्टिभागेषु गतेषु एकोनविंशतौ च मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमा १ श्रावणमासभाविन्यावृत्तिः प्रवर्त्तते इति।

अथ श्रावणमासभाविद्वितीयाऽऽवृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं वासिक्किं आनुट्टिं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोगं जोएति। पुच्छा, ता संठाणाहिं संठाणाणं सो चेव अभिलावो-एक्कारस मुहुत्ते ऊताली सं च वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तेपण्णं चेव चुण्णित्ता भागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति पुच्छा, ता पूसेणं, पूसस्स णं तं चेव जं पढमाए, (सूत्र-७६)

'ता एएसि णमि' त्यादि, ता इति पूर्ववत्, एषाम्- अनन्त रोदितानां चन्द्रादीनां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये द्वितीयां वार्षिकीं श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं, चन्द्रः केन नक्षत्रेण युनक्ति-केन नक्षत्रेण युक्तः सन् चन्द्रो द्वितीयामावृत्तिं प्रारम्भयति? एवं प्रश्ने कृते सति भगवानाह- 'ता संठाणाहिं' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, संस्थानाभिः- संस्थानाशब्देन मृगशिरोनक्षत्रमभिधीयते। तथा प्रवचने प्रसिद्धेः, ततो मृगशिरोनक्षत्रेण युक्तश्चन्द्रमा द्वितीयां श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति तदानीं च मृगशिरोनक्षत्रस्य एकादश मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः शेषाः। तथा हि-इह या द्वितीया श्रावणमाभाविन्यावृत्तिः सा प्राक्प्रदर्शितक्रमापेक्षया तृतीया ततस्तस्थाने त्रिको ध्रियते स रूपोनः क्रियते इति जातो द्विकः २, तेन २ प्राक्तनो ध्रुवराशिः पञ्च शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम् एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्सप्तषष्टिः ५७३। ३६-६२। ६-६७ भागाः इत्येवंप्रमाणो गुण्यते जातानि एकादश शतानि षट्चत्वारिंशदधिकानि मुहूर्त्तानां (११४६) द्वासप्ततिः ७२ एकस्य मुहूर्त्तस्य सत्का द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागाः १२-६७ तत एतेभ्यो मुहूर्त्तानामष्टभिः शतैरे- कोनविंशत्यधिकैरेकस्य मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरेकः परिपूर्णो नक्षत्र-पर्यायः शुद्धः। स्थितानि पञ्चात् मुहूर्त्तानां त्रीणि शतानि सप्तविंशत्यधिकानि एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा, एकस्य द्वाषष्टिभागस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः ३२७। ४७-६२। १३-६७ तत एतेभ्यस्त्रिभिर्मुहूर्त्तशतैर्नवोत्तरैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः ६२ एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैः ६७ अभिजितदादीनि रोहिणिकापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, तेषु चैव नवोत्तरेषु ''रोहिणिया'' इत्यादि प्रागुक्तवचनात्, ततः स्थिताः पश्चाद्- अष्टादश मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाविंशतिद्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्दश सप्तषष्टिभागाः १८। २२-६२। १४-६७ एतावता च मृगशिरो न शुद्ध्यति, ततःआगतं मृगशिरोनक्षत्रमेकादशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशत सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु द्वितीयां श्रावणमासभाविनी- मावृत्तिं प्रवर्त्तयति। संप्रति सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं चाह- 'तं समयं च णमि' त्यादि, तस्मिंश्च समये सूर्यः केन नक्षत्रेण सह योगमुपागतस्तां द्वितीयां वार्षिकीमावृत्तिं युनक्ति? भगवानाह- 'ता पूसेणमि' त्यादि, ता इति पूर्ववत्, पुष्येण युक्तः ''तं चेव'' इति- वचनसामर्थ्यादिदं द्रष्टव्यम्- ''पुस्सस्स एगुणवीसं मुहुत्ता तेयालीसं च वावट्ठीभागा मुहुत्तस्स वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता तेत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा'' इति इह सूर्यस्य दशभिरयनैः पञ्च सूर्यनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते द्वाभ्यां चायनाभ्यामेकः, तत्रोत्तरायणं कुर्वन् सर्वदैवाभिजिता नक्षत्रेण सह योगमुपागच्छति, दक्षिणायनं कुर्वन् पुष्येण, तस्य च पुष्यस्य एकोनविंशतौ मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, तथा चोक्तम्। (चं०प्र० १२ पाहु०)-

अब्भिंतराहिं नितो, आइच्चो पुस्सजोगमुवगयस्स !
सव्वा आउट्टीओ, करेइ सो सावणे मासे ॥२४८॥

श्रावणे मासे सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान् निष्क्रामन् सूर्यः सर्वा अप्यावृत्तीः करोति पुष्येण सह योगमुपागम्य, नान्यथा, तत्रापि पुष्यस्य त्रयोविंशतिं सप्त षष्टिभागान् भुक्त्वा, (ज्यो०) ते किल- ''जं रिक्खं जावइए, वच्चइ चंदेण भागसत्तट्ठी। तं पण भागे राइं-दियस्स सुरेण तावइए'' ॥१॥ इति वचनप्रामाण्यात् सूर्यमधिकृत्य रात्रिंदिवस्य पञ्च ५ भागा द्रष्टव्याः, ततस्त्रयोविंशतेः २३ पञ्चभि ५ र्भागो ह्रियते, लब्धाश्चत्वारो दिवसास्त्रयश्च पञ्च भागा रात्रिंदिवस्य, तत्रैकैकस्मिन् पञ्चभागे षट्मुहूर्त्ता लभ्यन्ते, अहोरात्रो हि त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणस्ततस्तस्य पञ्चमो भागः षण्मुहूर्त्तप्रमाणो भवतीति, त्रिभिश्च पञ्चभागैरष्टादश १८ मुहूर्त्ताः, त्रयाणां षट्का- नामष्टादशप्रमाणत्वात् तत आगतं चतुर्षु दिवसेषु अष्टादशमुहूर्तेषु पुष्यनक्षत्रस्य भुक्तेषु सर्वाभ्यन्तरान् मण्डलाद्बहिः सूर्यो निष्क्रामति। ज्यो० १२ पाहु०।

तदेवाह-

अठारस य मुहुत्ते, चत्तारि य केवले अहोरत्ते।
पुस्सस्स विसयमइगतो, बहिया अभिनिक्खमइसूरो २५०।

अष्टादश१८ मुहूर्त्तान् चतुरश्च४ कवलान् परिपूर्णान अहोरात्रान् पुष्यनक्षत्रस्य विषयमतिगतः- प्राप्तः सन् 'बहिया अभिनिक्खाइ' सूर्यः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलद्बहिर्निष्क्रामति। ज्यो० १२ पाहु०।

सम्प्रति श्रावणमासभावितृतीयावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं वासिक्किं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति? ता विसाहाहिं विसाहाणं तेणं चेव अभिलावेणं तेरस१३ मुहूत्ता चउप्पण्णं च

वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता । चत्तालीसं ४४ चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च ण सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ? ता पूसेणं, पूसस्स णं तं चेव।

'ता एएसि णमि' त्यादि, सुगमं, भगवानाह- 'ता विसाहाहिं' इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्, विशाखाभिः- विशाखानक्षत्रेण युक्तः सन् चंद्रमास्तृतीयां श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च तृतीयाऽऽवृत्तिप्रवर्त्तनसमये विशाखानां- विशाखानक्षत्रस्य त्रयोदश १३ मुहूर्त्ताः एकस्य १ च मुहूर्तस्य चतुःपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का-श्चत्वारिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथा हि-तृतीया श्रावण-मासभाविन्यावृत्तिः पूर्वप्रदर्शितक्रमापेक्षया पञ्चमी ५, ततस्त-स्स्थाने पञ्चको ५ ध्रियते स रूपोनः कार्य इति जातः श्चतुष्कः ४ तेन ४ प्राक्तनो ध्रुवराशिः- ५७३ । ३६-६२ । ६-६७ गुण्यते जातानि द्वाविंशनि शतानि द्विनवत्यधिकानि मुहूर्त्तानां चतुश्चत्वारिंशं शतं मुहूर्त्तगतानां द्वाषष्टिभागानामेकस्य च द्वाषष्टि- भागस्य चतुर्विंशतिः सप्तषष्टिभागाः- २२९२ । १४४ । २४-६७ । तत एतेभ्यः षोडशभिर्मुहूर्त्तशतैरष्टात्रिंशदधिकैरष्टाचत्वारिंशता च द्वाषष्टिभागैर्मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागगतानां च सप्तषष्टिभागानां द्वात्रिंशेन शतेन द्वौ परि पूर्णौ नक्षत्रपर्यायौ शुद्धौ, स्थितानि पश्चात् षट् शतानि चतु पञ्चाशदधिकानि मुहूर्त्तानां; मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां चतुर्नवतिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः- ६५४।९४।२६। तत एतेभ्यः पञ्चभिः शतैरेकोन-पञ्चाशदधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्यासप्तषष्टिभागैरभिजिदादीन्युत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि । स्थितम् पश्चात् पञ्चोत्तरं मुहूर्त्तशतं मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागा- नामेकोनसप्ततिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टि-भागाः, तत्र द्वाषष्ट्या द्वाषष्टिभागैरेको १ मुहूर्त्तो लब्धः, स्थिताः पश्चात् सप्तद्वाषष्टिभागाः, लब्धश्च मुहूर्त्तो मुहूर्तराशौ प्रक्षिप्यते, जातं षडुत्तरं मुहूर्त्तशतं १०६ । ७-६२ । २७-६१ ततः पञ्चसप्तन्या मुहूर्त्तैः हस्तादीनि स्वातिपर्यन्तानि त्रीणि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः शेषाः एकत्रिंशन्मुहूर्त्ताः ३१; आगतं विशाखानक्षत्रस्य त्रयोदशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुःपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चन्द्रस्तृतीयां श्रावणमासभीविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति।

सम्प्रति सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं चाह- 'तं समयं च णमि' त्यादि। सुगमम्। चं०प्र० १२ पाहु०।

सम्प्रति श्रावणमासभावि (ज्यो०)

चतुर्थ्यावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एएसिणं पंचण्हं संवच्छराणं चउत्थिं ४ वासिक्किं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ता, रेवतीहिं रेवतीणं पणवीसं मुहुत्ता वासट्ठिभागा मुहुत्तस्स वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता वत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्ख-त्तेणं जोएति ? ता पूसेणं पूसस्स णं तं चेव। (सूत्र-७६)॥

'ता एएसि णमि' त्यादि, सुगमं, भगवानाह- 'ता रेवईहिं' इत्यादि, रेवत्या युक्तश्चन्द्रः चतुर्थीं श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्तयति, तदानीं च रेवतीनक्षत्रस्य पञ्चविंशतिर्मुहूर्त्ता द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः षड्विंशतिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि- प्रागुपदर्शितक्रमापेक्षया श्रावणमासभाविनीचतुर्थ्यावृत्तिः, सप्तमी ततः सप्तको ७ ध्रियते, स रूपोनः कार्य इति जातः षट्कः ६, तेन ६ प्राक्तनो ध्रुवराशिः ५७३ ३६ ६ । गुण्यते, जातानि चतुस्त्रिंशच्छतानि अष्टात्रिंशदधिकानि (३४३८) मुहूर्तानां, मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां द्वे शते षोडशोत्तरे (२१६) एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिंश (३६) त्सप्तषष्टिभागाः तत एतेभ्यो द्वात्रिंशता शतैः षट्सप्तत्यधिकैर्मुहूर्त्तानां, मुहूर्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां षण्णवत्या द्वाषष्टिभागसत्कानां च सप्तषष्टिभागानां द्वाभ्यां शताभ्यां चतुःषष्टिसहिताभ्यां चत्वारो नक्षत्रपर्यायाः शुद्धाः, स्थितं पश्चादेकं द्वाषष्ट्यधिक मुहूर्त्तशतं मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां षोडशोत्तरं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः (१६२) (११६) ४०। तत्र एकोनषष्ट्यधिकेन मुहूर्त्तशतेन एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैः १५९ २४ ६६ । अभिजिदादीन्युक्त रभद्रपदपर्यन्तानि नक्षत्राणि भूयः शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् त्रयो मुहूर्ताः मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामेकनवतिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः द्वाषष्ट्या च द्वाषष्टिभागैरेका मुहूर्त्तो लब्धः, स मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यते, जाताश्चत्वारो ४ मुहूर्ताः- एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनत्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः (एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः) ४ २९ ४१। तत आगतं-रेवतीनक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वात्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षड्विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चतुर्थीं श्रावणभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, 'तं समयं च णमि' त्यादि, सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च प्राग्वद्भावनीयम्।

साम्प्रतं पञ्चमं श्रावणमासभाविपञ्चमावृत्तिविषयं

प्रश्नसूत्रमाह-

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पंचमीं वासिक्किं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएत्ति ? ता पुव्वाहिं फग्गुणीहिं पुव्वाणं फग्गुणीणं वारस १२ मुहूत्ता सत्तालीसं च वावट्ठिभागा मुहूत्तस्य वावट्ठिभागं च संत्तट्ठिहा छेत्तातेरस १३ चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति? ता पूसेणं पूसस्स णं तं चेव। (सूत्र-७६)॥

'ता एएसि णमि' त्यादि, सुगमं, भगवानाह- 'ता पुव्वाहिं फग्गुणीहिं' इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत्, पूर्वाभ्यां फाल्गुनीभ्यां युक्तश्चन्द्रः पञ्चमीं ५ श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति तदानीं च तस्य पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रस्य द्वादश १२ मुहूर्त्ताः एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तचत्वारिंशद् ४७ द्वाषष्टिभागाः-

६२ एकं च द्वाषष्टि ६२ भागं सप्तषष्टिधा ६७ छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रयोदेश १३ चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथा हि-पञ्चमी श्रावणमासभाविन्यावृत्तिः प्राक्प्रदर्शितक्रमापेक्षया नवमी ९ ततः तत्स्थाने नवको ९ ध्रियते । स रूपोनः कार्य इति, जाता अष्टौ ८, तैः प्रागुक्तो ध्रुवराशिः ५७३ । ३६-६२, ६-६७ गुण्यते जातानि पञ्चचत्वारिंशच्छतानि चतुरशीत्यधिकानि मुहूर्त्तानां, मुहुर्त्तगतानां च द्वाषष्टि ६२ भागानां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टाचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः ४५८४ २८८ ४८ । तत एतेभ्यश्चत्वारिंशता मुहूर्त्तशतैः पञ्चनवत्यधिकैर्मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां विंशत्यधिकेन शतेन एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्कानां सप्तषष्टिभागानां त्रिंशदधिकैस्त्रिभिः शतैः पञ्च ५ नक्षत्रपर्यायाः शुद्धाः, स्थितानि पञ्चान्मुहूर्त्तानां चत्वरि शतानि एकोननवत्यधिकानि मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां शतं त्रिषष्ट्यधिकम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः- ४८९ १६३ ५३ । तत एतेभ्यो भूयः त्रिभिः शतैर्नवत्याधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्यं षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि पुनर्वसुपर्यन्तानि नक्षत्रणि शुद्धानि स्थिताः पञ्चान्मुहूर्त्तानां नवतिः मुहुर्त्तगतानां द्वाषष्टिभागानामष्टा त्रिंशदधिकं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुःपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः ९० १३८ ५४ । तत्र चतुर्विंशत्यधिकेन द्वाष- ष्टिभागशतेन द्वौ मुहूर्त्तौ लब्धौ पश्चात् स्थिता द्वाषष्टि- भागाश्चतुर्दश, लब्धौ च मुहूर्त्तौ मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्येते जाता मुहूर्त्तानां द्विनवतिः- ९२ १४ ५४ । तत्र पञ्चसप्तत्या ७५ मुहूर्त्तैः पुष्यादीनि मघापर्यन्तानि त्रीणि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् सप्तदश मुहूर्त्ताः- १७ १४ ५४ । न चैतावता पूर्वफाल्गुनी शुध्यति तत आगतं पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रस्य द्वादश सु १२ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टि ६२ भागस्य त्रयोदशसु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु पञ्चमी ५ श्रावण-मासभाविनी आवृत्तिः प्रवर्त्तते । सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च प्राग्वद्भावनीयम् । चन्द्र० १२ पाहु० । सू० प्र० । ज्यो० ।

तदेवं चन्द्रनक्षत्रयोगविषये, सूर्यनक्षत्रयोगविषये च पञ्चापि वार्षिकीरावृत्तीः प्रतिपाद्य, संप्रति हेमन्तीः प्रतिपिपादयिषुः (चं०प्र० १२ पाहु०) आदौ चन्द्रनक्षत्रविषयकसंग्रहणीं गाथामाह-

हत्थेण होइ पढमा, सयभिसयाहि य ततो य पुस्सेण ।
मूलेण कत्तियाहि य, आउट्टीओ य हेमंते ॥२३८॥

हेमन्ते- माघमासे प्रथमा १ आवृत्तिर्भवति हस्तेन- हस्तनक्षत्रेण युता, द्वितीया २ शतभिषजा, तृतीया ३ पुष्येण, चतुर्थी ४ मूलेन, पञ्चमी ५ कृतिकाभिः । ज्यो० १२ पाहु० ।

प्रथमावृत्तिः-

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं हेमंतिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति? ता हत्थेणं, हत्थस्स णं पंच मुहूत्ता पण्णासं च बावट्टिभागा मुहूत्तस्य बावट्टिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता सट्ठि चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूर केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ? उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए ॥

'ता एएसि ण' मित्यादि, ता इति पूर्ववत्, एतेषाम्- अन्तरोदितानां चन्द्रादीनां पञ्चानां संवत्सराणां मध्य प्रथमां हेमन्तीमावृत्तिं चन्द्रः केन नक्षत्रेण युनक्ति? केन नक्षत्रेण सह योगमुपागतः सन् प्रवर्त्तयतीति भावः, भगवानाह- 'ता हत्थेणं' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, हस्तेन- हस्तनक्षत्रेण युक्तश्चन्द्रः प्रवर्त्तयति, तदानीं च हस्तनक्षत्रस्य पञ्च ५ मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चाशत् द्वाषष्टिभागाः एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः षष्टिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि- हेमन्ती प्रथमा आवृत्तिः प्रागुक्तक्रमापेक्षयां द्वितीया ततस्तत्स्थाने द्विको ध्रियते, स रूपोनः कार्य इति जात एकः १ तेन १ प्रागुक्तो ध्रुवराशिः- ५७३ । ३६-६२, ६-६७ । गुण्यते, 'एकेन च गुणितं तदेव भवती' ति जातस्तावानेव ध्रुवराशिः, तत एतस्मात् पञ्चमिः शतैरेकोनपञ्चाशदधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागै- रभिजिदादीन्युत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि स्थिताः पश्चाच्चतुर्विंशतिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकादश द्वाषष्टिभागाः एकस्य च ६२ भागस्य सप्त सप्तषष्टिभागाः २४ ११ ७ । तत आगतं हस्तनक्षत्रस्य पञ्चसु मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमां हेमन्तीमावृत्तिं चन्द्रः प्रवर्त्तयतीति । सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रमाह- 'तं समयं च ण' मित्यादि, तस्मिंश्च समये सूर्यः केन नक्षत्रेण युक्तस्तां प्रथमां हेमन्तीमावृत्तिं युनक्ति- प्रवर्त्तयति? भगवानाह- 'ता उत्तराहिं' इत्यादि, उत्तराभ्यामाषाढाभ्यां तदानीं चोत्तराषाढायाश्चरमसमयः, समकालमुत्तराषाढानक्षत्रमुपभुज्या- भिजिन्नक्षत्रस्य प्रथमसमये प्रथमां हेमन्तीमावृत्तिं सूर्यः प्रवर्त्तयतीति भावः, तथाहि- यदि दशभिरयनैः पञ्च सूर्यकृतान्नक्षत्रपर्यायान् लभामहे तत एकेनायनेन किं लभामहे? राशित्रयस्थापना- १० ५ १ । अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यमस्य पञ्च ५ करूपस्य राशेर्गुणनं जाताः पञ्चैव तेषां दशभिर्भागे हृते लब्धमेकमर्द्धं पर्यायस्य, अर्द्धं च पर्यायस्य सप्तषष्टिभागरूपं नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५, तत्र ये विंशतिः, सप्त० ६७ भागाः पाश्चात्ये अयने पुष्यस्य गताः शेषाश्चतुश्चत्वारिंशत्सप्तषष्टि- भागाः स्थिताः ते साम्प्रतमितो राशेः शोध्यन्ते स्थितानि शेषाण्यष्टौ शतान्येकसप्तत्यधिकानि ८७१, तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रयोदश पश्चान्न किमपि तिष्ठति, त्रयोदशभिश्च-श्लेषादीन्युत्तराषाढापर्यन्तानि शुद्धानि, तत आगतम्- अभिजितः प्रथमसमये माघमासभाविनी १ आवृत्तिः प्रवर्त्तते, एवं सर्वा अपि माघमासभाविन्य आवृत्तयः सूर्यनक्षत्रयोगमधिकृत्य वेदितव्याः, उक्तं च- ''बाहिर ओ पविसंतो आइच्चो अभिइजोगमुवयगम्मि । सव्वा आउट्टीओ करेइ सो माघमासंमि ॥१॥''

द्वितीयहेमन्ताऽऽवृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं हेमंतिं आउट्टिं

चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति? ता सतभिसयाहिं, सतभिसयाणं दुन्नि मुहुत्ता अट्ठावीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्य बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता छत्तालीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ? ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए २॥

'ता एएसि ण' मित्यादि सुगमं भगवावाह 'ता सयभिसयाहिं' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, शतभिषजा युक्तश्चन्द्रो द्वितीयां हैमन्तीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च शतभिषजो नक्षत्रस्य द्वौ मुहूर्त्तावेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टाविंशति- र्द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का: षट्चत्वारिंशच्चूर्णिकाभागा: शेषा:, तथाहि- प्रागुपदर्शितक्रमापेक्षया द्वितीया माघमासभाविन्यावृत्तिश्चतुर्थी ततस्तस्या: स्थाने चतुष्को ४ ध्रियते स ४ रूपोन: कार्य इति जातस्त्रिक:-३ तन ३ प्राक्तनो ध्रुवराशि: ५७३ ३६ ६। गुण्यते जातानि सप्तदश शतान्येकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामष्टोत्तरं शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टादश सप्तषष्टिभागा: १७१९ १०८ १८। तत एतेभ्य: षोडशभि: शतैरष्टात्रिंशदधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टाचत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैरेकद्वाषष्टिभागसत्कानां च सप्तषष्टिभागानां द्वात्रिंश- दधिकेन शतेन द्वौ नक्षत्रपर्यायौ शुद्धौ, स्थिता: पश्चादेकाशीति- र्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टापञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशति: सप्तषष्टिभागा: ८१ ५८ २०। ततो भूयो नवभिर्मुहूर्त्तैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैर- भिजित्नक्षत्रं शुद्धं, स्थिता: पश्चाद् द्वासप्ततिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयस्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यै- कविंशति: सप्तषष्टिभागा: ७२ ३३ २१। ततस्त्रिंशता मुहूर्त्तै: श्रवण: शुद्धस्त्रिंशता धनिष्ठा पञ्चादवतिष्ठन्ते द्वादश १२ मुहूर्त्ता:, शतभिषक्नक्षत्रं चार्द्धनक्षत्रं, तत आगतं शतभिषजो नक्षत्रस्य द्वयोर्मुहूर्त्तयोरेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टाविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु द्वितीया २ हैमन्ती आवृत्ति: प्रवर्त्तते। सूर्यनक्षत्रयोगविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च सुगमं, प्रागेव भावितत्वात्।

अधुना तृतीयमाघमासभाव्यावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

तेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं हेमंतिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति? ता पूसेणं, पूसस्स एकुणवीसं मुहूत्ता तेतालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तेत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति? ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए ३॥

'ता एएसि ण' मित्यादि, सुगमं, भगवानाह- 'ता पूसेण' मित्यादि, ता इति प्राग्वत् पुष्येण युक्तश्चन्द्रस्तृतीया माघमास- भाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च पुष्यस्य एकोनविंशति- र्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रयस्त्रिंशच्चूर्णि- काभागा: 'शेषा:, तथाहि- प्रागुपदर्शितक्रमा- पेक्षया तृतीया माघ- मासभाविन्यावृत्ति: षष्ठी ततस्तस्या: स्थाने षट्को ध्रियते स रूपोन: कार्य इति जात: पञ्चकस्तेन स प्राक्तनो ध्रुवराशि: ५७३ ३६ ६। गुण्यते जातान्यष्टाविंशति शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामशीत्यधिकं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिंशत् सप्तषष्टिभागा: २८६५ १८० ३०। तत एतेभ्य: सप्तपञ्चाशदधिकै: चतुर्वि- शतिशतैर्मुहूर्त्तानामेकमुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां द्विसप्तत्या एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्कानां सप्तषष्टिभागानामष्टान- वत्यधिकेन शतेन २४५७ ७२ १९८। त्रयो नक्षत्रपर्याया: शुद्धा:, स्थितानि पश्चात् चत्वारि मुहूर्त्तशतान्यष्टोत्तराणि मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां पञ्चोत्तरं शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागा: ४०८ १०५ ३४। तत एतेभ्यस्त्रिभि: शतैर्नवनवत्यधिकै र्मुहूर्तानामेकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि पुनर्वसुपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिता: पश्चान्नव ९ मुहूर्त्ता मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामशीति: एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागा: द्वाषष्ट्या च द्वाषष्टिभागैरेको मुहूर्त्तो लब्ध: स मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यते जाता दश मुहूर्त्ता: शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टिभागा अष्टादश-१०। १८ ३४। तत आगतं- पुष्यस्य एकोनविंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु तृतीया माघमासभाविन्यावृत्ति: प्रवर्त्तते। सूर्यनक्षत्रयोगविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च सुगमम्।

चतुर्थमाघमासभाव्यावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चउत्थिं हेमंतिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ? ता मूलेणं, मूलस्य छ मुहूत्ता अट्ठावन्नं च बावट्ठिभागा मुहूत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता वीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ? ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए ४॥

'ता एएसि ण' मित्यादि सुगमं भगवानाह 'ता मूलेण' मित्यादि, ता इति प्राग्वत्, मूलेन युक्तश्चन्द्र: चतुर्थीं ४ हेमन्तीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च मूलस्य- मूलनक्षत्रस्य षट्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टपञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्त-षष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का विंशतिश्चूर्णिकाभागा: शेषा:, तथाहि- चतुर्थी माघमासभाविन्यावृत्ति: पूर्वप्रदर्शितक्रमापेक्षया अष्टमी तस्या: स्थाने अष्टको ८ ध्रियते स ८ रूपोन: कार्य इति जात: सप्तक: ७ तेन ७ स प्राक्तनो ध्रुवराशि: ५७३ ३६-६२ ६-६७। गुण्यते जातान्येकादशोत्तरानि चत्वारिं शन्मुहूर्त्तशताणि मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाचत्वारिंशत् सप्त षष्टिभागा:-४०११ २५२ ४२। तत एतेभ्य: षट्सप्तत्यधिकैर्द्वात्रिंशच्छतैर्मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां षण्ण-

वत्या द्वाषष्टिभागसत्कानां च सप्तषष्टिभागानां द्वाभ्यां शताभ्यामष्टषष्ट्यधिकाभ्यां चत्वारो ४ नक्षत्रपर्यायाः शुद्धाः, स्थितानि पञ्चान्मुहूर्त्तानां सप्तशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि मुहूर्त्तानां, मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां द्विपञ्चाशदधिकं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः- ७३५ १५२ ४६ । तत एतेभ्यो भूयः षड्भिः शतैः मुहूर्त्तानामेकोनसप्तत्यधि- कैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि विशाखा- पर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् षट्षष्टिर्मुहूर्त्ता मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां सप्तविंशत्यधिकं शतम् एकस्य व द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः, चतुर्विंशत्यधिकेन च द्वाषष्टिभागशतेन द्वौ मुहूर्त्तौ लब्धौ, तौ २ मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्येते जाताः अष्टषष्टिर्मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टिभागास्त्रयः ६८ ३ ४७ । ततः पञ्चचत्वारिंशता मुहूर्त्तैरनुराधाज्येष्टे शुद्धे, शेषाः स्थितास्त्रयोविंशति- र्मुहूर्त्ताः २३ ३ ४७ । तत आगतं मूलस्य षट्सु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टापञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चतुर्थी ४ माघमासभाविन्यावृत्तिः प्रवर्त्तते । सूर्यनक्षत्रयोगविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च सुगमम्।

इह तावद् माघमासभाविपञ्चम्यावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पंचमं हेमंतिं आनुट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति? ता कत्तियाहिं कत्तियाणं अट्ठारस मुहुत्ता, छत्तीसं च बावट्ठिभागा, मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता छ चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति? ता उत्तराहिं आसाढाहिं उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए ५ ॥ (सूत्र-७७)

'ता एएसि णमि' त्यादि, सुगमं, भगवानाह- 'ता कत्तियाहिं' इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्, कृत्तिकाभिर्युक्तश्चन्द्रः पञ्चमीं ५ हैमन्तीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च कृत्तिकानक्षत्रस्याष्टादश १८ मुहूर्त्ता एकस्य १ च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशद्द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः षट् ६ चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि-पञ्चमी ५ माघमासभाविन्यावृत्तिः- प्रागुपदर्शितक्रमापेक्षया- दशमी १०, ततस्तस्याः स्थाने दशको १० ध्रियते, स रूपोनः कार्य इति जातो नवकः ९, तेन ९ प्राक्तनो ध्रुवराशिः- ५७३ ३६ ६ । गुण्यते जातान्येकपञ्चाशच्छतानि सप्तपञ्चाशदधिकानि मुहूर्त्तानां; मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुःपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः- ५१५७ ३२४ ५४ । तत एतेभ्य एकोन- पञ्चाशच्छतैर्मुहूर्त्तैः चतुर्दशाधिकैः मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां चतुश्चत्वारिंशदधिकेन शतेन द्वाषष्टिभागगतानां च सप्तषष्टि- भागानां त्रिभिः शतैः षण्णवत्यधिकैः षट्भिः नक्षत्रपर्यायाः शुद्धाः, स्थिते पश्चान्मुहूर्त्तानां द्वे शते त्रिचत्वारिंशदधिके मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां चतुःसप्तत्यधिकं शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टिः सप्तषष्टिभागाः- २४३ १७४ ६० । तत एकोनषष्ट्यधिकेन मुहूर्त्तशतेन एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीन्युत्तरभद्रपदापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चान्मुहूर्त्तानां चतुरशीतिः; मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां शतमेकोनपञ्चाश-दधिकम् एकस्य च द्वाषष्टि- भागस्य एकषष्टिः सप्तषष्टिभागाः-८४ १४९ ६१ । ततो द्वाषष्टिभागानां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन द्वौ मुहूर्त्तौ लब्धौ पश्चात् स्थिताः पञ्चविंशतिः २५ द्वाषष्टिभागाः, लब्धौ च मुहूर्त्तौ मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्येते जाता षडशीतिर्मुहूर्त्तानां ततः पञ्चसप्तत्या मुहूर्तानां रेवत्य-श्विनीभरण्यः शुद्धाः, स्थिताः पश्चादेकादश मुहूर्त्ताः, शेषं तथैव ११ २५ ६१ तत आगतम्- कृत्तिकानक्षत्रस्याष्टादशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्सु सप्तषष्टिभागेषु शेषषु पञ्चमी ५ हैमन्ती आवृत्तिः प्रवर्त्तते, सूर्यनक्षत्रयोगविषये च प्रश्ननिर्वचनसूत्रे सुगमे, तदेवमुक्ताः १० दशापि नक्षत्रयोंगं- मधिकृत्य सूर्यस्याऽऽवृत्तयः ॥ सम्प्रति चन्द्रस्य वक्तव्याः । तत्र यस्मिन्नेव नक्षत्रे प्रवर्त्तमानः सूर्यो दक्षिणाः, उत्तरा वा आवृत्तीः करोति तस्मिन्नेव नक्षत्रे प्रवर्त्तमानश्चन्द्रोऽपि दक्षिणाउत्तरा वा आवृत्तीः कुरुते, ततो या उत्तराभिमुख्य आवृत्तयो युगे चन्द्रस्य दृष्टास्ताः सर्वा अपि नियतमभिजिता नक्षत्रेण सह योगे द्रष्टव्याः, यास्तु दक्षिणाभिमुखाः ताः पुष्येण चन्द्रयोगे, उक्तं च (ज्योतिष्करण्डकेद्वादशे १२ प्राभृते)- ''चंदस्स वि नायव्वा, आउट्टीओ जुगम्मि जा दिट्ठा । अभिईए पुस्सेण य, नियया नक्खत्तसेसेणं'' ॥२५२॥ अत्र- ''नक्खत्तसेसेणं' ति-नक्षत्रा-र्द्धमासेन शेषं सुगमम् । तत्राभिजित्युत्तराभिमुखा आवृत्तयो भाव्यन्ते, यदि चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन चन्द्रस्य सप्तषष्टिनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ततः प्रथमे अयने किं लभ्यते? राशित्रयस्थापना १३४ ६७ १ । अत्रान्त्येन राशिना- एकक? लक्षणेन मध्यमस्य राशेः सप्तषष्टि६७रूपस्य गुणनं जाता सप्तषष्टिरेव ६७, ''ऐकेन गुणितं तदेव भवती'' ति वचनात्, तस्याश्च सप्तषष्टेः ६७ चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन १३४ भागे हृते लब्धमेकमर्द्धं पर्यायस्य; तस्मिंश्चार्द्धे नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि सप्तषष्टिभागानां भवन्ति, तत्र त्रयोविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु पुष्यनक्षत्रस्य भुक्तेषु दक्षिणाऽऽयनं चन्द्रः कृतवान्, ततः शेषाश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा अनन्तरोदितराशेः शोध्यन्ते, स्थितानि शेषाणि अष्टौ शतान्येकसप्तत्यधिकानि- (८७१) तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागो ह्रियते, इह कानिचित् नक्षत्राण्यर्द्ध क्षेत्राणि तानि च सार्द्धत्रयस्त्रिंशत्सप्तषष्टि- भागप्रमाणानि, कानिचित् समक्षेत्राणि तानि परिपूर्णसप्तषष्टिभाग- प्रमाणनि कानिचिच्च द्व्यर्द्धक्षेत्राणि तान्यर्द्धभागाऽधिकश- तसंख्यसप्तषष्टिभागप्रमाणानि गात्रं त्वधिकृत्य सप्तषष्ट्या शुद्ध्यन्ति इति ततः सप्तषष्ट्या भागहरणं लब्धास्त्रयोदश १३ राशिश्चोपरितनो निर्लेपतः शुद्धस्तैश्च त्रयोदशभिः १३ अश्लेषादीनि उत्तराषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि तत आगतमभिजितो नक्षत्रस्य प्रथमसमये चन्द्र उत्तरायणं करोति, एवं सर्वाण्यति चन्द्रस्योत्तरायणानि वेदितव्यानि, उक्तं च- ''प-

न्नरसे उ मुहुत्ते, जोइत्ता उत्तराअसाढा उ। एकं च अहोरत्तं, पविसइ अभिंतरे चंदो ॥१॥'' अधुना पुष्ये दक्षिणा आवृत्तयो भाव्यन्ते- यदि चतुस्त्रिंशदधिके नायनशतेन सप्तषष्टिश्चन्द्रस्य पर्याया लभ्यन्ते तत एकेनायनेन किं लभामहे? राशित्रयस्थापना- १३४ ६७ १ अत्रान्त्येन राशिना एकक १ लक्षणेन मध्यमस्य राशेः सप्तषष्टि ६७ रूपस्य गुणनं जाताः सप्तषष्टिरेव ६७, तस्याः ६७ चतुस्त्रिंशदधिकशतेन १३४ भागहरणं लब्धमेकमर्द्धं पर्यायस्य तच्च सप्तषष्टिभागरूपाणि नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि- ९१५, तत एकविंशतिः २१ अभिजितः संबन्धिनः सप्तषष्टिभागाः शोध्यन्ते स्थितानि पञ्चादष्टौ शतानि चतुर्नवत्याधिकानि- ८९४ तेषां सप्तष्ट्या भागो ह्रियते लब्धास्त्रयोदश १३ तैश्च त्रयोदशभिः १३पुनर्वस्वन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, शेषा तिष्ठति त्रयोविंशतिः२३, एते च किल सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य ततो मुहूर्तभागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि षट् शतानि नवत्यधिकानि- ६९० । तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागे हृते लब्धा दश १० मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति विंशतिः सप्तषष्टिभागास्तत इदमागतं पुनर्वसुनक्षत्रे सर्वात्मना भुक्ते पुष्यस्य च दशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु भुक्तेषु सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामति चन्द्रः एवं सर्वाण्यपि दक्षिणायनानि भावनीयानि, उक्तं च (''ज्योतिष्करण्डकेद्वादशे १२ प्राभृते)- ''दस १० य मुहूत्ते सगले, मुहूत्तभागे य वीसई चेव। पुस्सत्रिसयमइगओ, बहिया अभिनिक्खमइ चंदो'' ॥२५३॥ चं० प्र० १२ पाहु०।

साम्प्रतं येन नक्षत्रेण युक्तश्चन्द्रमा अभ्यन्तरं प्रविशन् बहिर्वा निष्कामन् आवृत्तीः करोति तत्प्रतिपादनार्थमाह-

चंदस्स वि नायव्वा, आउट्टीओ जुगम्मि जा दिट्ठा।
अभिईए, पुस्सेण य, नियय नक्खत्तसेसेणं ॥२५२॥

यस्मिन्नेव नक्षत्रे वर्त्तमानस्य चन्द्रमसोऽपि नक्षत्रशेषेणनक्षत्रार्द्धमासेन या उत्तराभिमुखा आवृत्तयो युगे दृष्टास्ता नियतमभिजिता नक्षत्रेण युगे द्रष्टव्याः, याश्च युगे दृष्टा दक्षिणाभिमुखा आवृत्तयस्ताः पुष्येण योगे, तत्राभिजित्युत्तरा- भिमुखा आवृत्तयो भाव्यन्ते-यदि चतुस्त्रिंशदधिके नायनशतेन चन्द्रस्य सप्तषष्टिर्नक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ? ततः प्रथमे अयने किं लभ्यते, राशित्रयस्थापना- १३४ ६७ १। अत्रान्त्येन राशिना एकक (एकक : १ लाख) लक्षणेन मध्यमस्य राशेः सप्तषष्टि६७ लक्षणस्य गुणनम्, जाता सप्तषष्टिरेव ६७, तस्याः ६७ चतुस्त्रिंशदधिकशतेन भागहरणं लब्धमेकमर्द्धं पर्यायस्य, तच्च सप्तषष्टिभागरूपाणि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि- (९१५) तत एकविंशतिः २१ अभिजितः संबन्धिनः सप्तषष्टिभागाः ६७ शोध्यन्ते स्थितानि पञ्चादष्टौ शतानि चतुर्नवत्यधिकानि- (८९४) तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागो ह्रियते लब्धाः त्रयोदश १३, तैश्चत्रयोदशभिः १३ पुनर्वस्वन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोविंशतिः २३, एते च किल सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्यः, ततो मुहूर्त्तभागकरणार्थं ते त्रिंशता ३० गुण्यन्ते जातानि षट्शतानि नवत्यधिकानि- ६९० तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागे हृते लब्धा दश १० मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति विंशतिः २०, आगतं पुनर्वसु नक्षत्रे सर्वात्मना भुक्ते पुष्यस्य दशसु १० मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु भुक्तेषु सर्वाभ्यन्तरान्मण्डला- द्बहिर्निष्क्रामति चन्द्रः। तथा चाह (चं० प्र० १२ पाहु०।)-

दस १० य मुहूत्ते सगले, मुहुत्तभागे य वीसईं २० चेव।
पुस्सस्स विसयमभिगओ, बहिया अभिनिक्खमइ चंदो ॥२५३॥

दश १० च सकलान्- परिपूर्णान् मुहूर्त्तान- मुहूर्त्तभागन् सप्तषष्टि ६७ रूपान् विंशतिं: २० पुष्यविषयमभिगतः सन् सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्ब- हिर्निष्क्रामति चन्द्रः। ज्यो० १२ पाहु०। सू० प्र०।

आउट्टि(न्)- त्रि० (आकुट्टिन्)। यो हि जानन्- अवगच्छन् प्राणिनो हिनस्ति स आकुट्टी। 'कुट्ट' छेदने। आकुट्टनमाकुट्टः स विद्यते यस्येति। छेदनभेदानादिव्यापारवति, सूत्र०। ''जाणं कायेण-ऽणाउट्टी'' (२५×गाथा)। सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। ज्ञान-पूर्वकव्यापारवति। अनापद्यप्यकार्य्यकारके च। ''आउट्टियाए पाणाइवायं करेमाणे सबले ॥१२॥'' 'आउट्टीति'- यो जानन् करोत्यापद्रहितो वा करोति। दशा० २ अ०। सूत्र०।

***आवर्तिन्**- त्रि०। आ०वृत्-णिनि। पुनः पुनर्वर्त्तनशीले, वाच०।

आउट्टिऊण आवर्त्य- अव्य०। (आवर्ज्यत्यर्थे), व्य० १० उ०।

आउट्टिज्जमाण- त्रि० (आकोट्यमान)। संकोच्यमाने सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

आउट्टित्तए (आउट्टितुम्)- अव्य० कारयितुमित्यर्थे, 'आउट्टि' एतादृश एवायं धातुस्सैद्धान्तिकः करणार्थः। कल्प० १ अधि० ९ क्षण।

आउट्टिम- न० (आकोट्टिम)। उत्कीर्णे, ''आउट्टिमं उक्किन्नं'' (१६७×) आकोट्टिमं जधा रूवओ हेट्ठा वि उवरिं वि मुहं काऊण आउट्टिज्जति। दश० २ अ०।

आउट्टिय- त्रि० (आउट्टित)। कृते, कल्प० ३ अधि० ९ क्षण।

***आकुट्टित**- त्रि० छिन्ने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। ज्ञानपूर्वककृते, दशा० २ अ०।

आउट्टिया- स्त्री० (आउट्टिका)। करणे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

आकु ट्टिका- स्त्री० छेदनभेदनादिव्यापारे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। ज्ञानपूर्वकव्यापारे, दशा० २ अ०। जीत०। स० प्रव०। आभोगे, नि० चू० १२ उ०।

***आवृत्तिका**- स्त्री० समन्तात्प्रवर्त्तने, अभिलाषायां च। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०। आराधनायाम्, व्य० २ उ०। नि० चू०। आवर्जने, व्य० १० उ०। अभिमुखीभूय वर्तने, नं० ३२ सूत्र। निर्वतने, सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आउट्टीकम्म-न० आकुट्टीकर्म्मन्। आकुट्या कृतं कर्म्म आगमोक्त कारणमन्तरेणोपेत्य प्राण्युपमर्द्दनेन विहिते कर्म्मणि, आचा०।

आकुट्टीकृतकर्म्मणि तु यद्विधेयं तदाह-

जं आउट्टीकम्मं, तं परिण्णाय विवेगमेइ। (सूत्र-१५८)

'जं आउट्टी' इत्यादि, यत्तु पुनः कर्म्माऽऽकुट्या कृतमागमोक्तकारणमन्तररेणोपेत्य प्राण्युपमर्दनेन विहितं तत्परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया विवेकमेति- विविच्यतेऽनेनेति विवेकः- प्रायश्चित्तं दश १० विधं तस्यान्तरभेदमुपैति तद्विवेकं वा- अभावाख्यमुपैति तत्करोति येन कर्म्मणोऽभावो भवति। आचा० २ श्रु० ५ अ० ४ उ०।

आउड- स्त्री० (आवृत्त्) आ-वृत्- सम्प० क्विप। आवर्त्तने, भ्रामणे, पुनः पुनश्चालने, पुनःपुनरेकजातीयक्रियाकरणे, आधारे क्विप्। परिपाट्याम्, अनुक्रमे, इति कर्त्तव्यताप्रकारे, संस्कारे, तूष्णीम्भावे च। कर्तरि क्विप्। आवर्तमाने, त्रि०। वाच०।

***आवृत्त**- त्रि०। आ-वृ-क्त कृतावरणे, अप्रकाशावृते, आच्छादिते, स्था० ३ ठा० ३ उ०। संकीर्णवर्णभेदे, पुं०। स्त्री०। स्त्रियां जातित्वात् ङीप्। वाच०।

आउडावेइत्ता- अव्य० (आखोट्य) प्रवेशयित्वेत्यर्थे, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

आउडिज्जमाण- त्रि० (आजोड्यमान) सम्बध्यमाने, 'जुड' बन्धने इति वचनात्। भ० ५ श० ४ उ० १८५ सूत्र।

***आकुट्यमान**- त्रि०। परस्परेणाभिहन्यमाने० भ०। ''छउमत्थे णं भंते ! मणूसे आउडिज्जमाणाइं सद्दाइं सुणेइ''

आउडिज्जमाणाइं' ति-जुड बन्धने इति वचनात्, आजोड्यमानेभ्यः- सम्बध्यमानेभ्यो मुखहस्तदण्डादिना सह शङ्खपट- हजर्ल्लयादिभ्यो वाद्यविशेषेभ्य आकुट्यमानभ्यो वा, एभ्य एव ये जाताः शब्दास्त आजोड्यमाना एव आकुट्यमाना एव वा उच्यन्ते, अतस्तानाजोड्यमानानाकुट्यमानान्वा, शब्दान् शृणोति। इह च प्राकृतत्वेन शब्दशब्दस्य नपुंसकनिर्देशः। अथवा- 'आउ-डिज्जमाणा' इति- आकुट्यमानि परस्परेणाभिहन्यमानानि। भ० ५ श० ४ उ०।

आउडिय- त्रि० (आकुट्टित) अङ्किते; अनु० १४८ सूत्र।

आउडेमाण त्रि० (आकुट्टयत्) ताडयति, भ० ६ श १ उ०।

आउड्ड-धा० (मस्ज) स्नाने, तुदा० पर० अकर्मक अनिट्। **''मस्जेराउड्डणिउड्ड १ चुड्ड २ थुट्ट खुप्पा''**: ॥८ ४ १०१॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण मस्जेः आउड्ड इत्यादेशः। आउड्डइ। मज्जइ। मज्जतीत्यर्थः। प्रा०।

आउत्त- त्रि० (आगुप्त)। संरक्षिते, स्था० ३ ठा० १ उ०। संयते, पुं०। संयतसम्बन्धिनि गमनादौ च। त्रि०। ''आउत्तं गमणं'' (सूत्र- ८०२×) आगुप्तस्य- संयतस्य संबन्धि यत् तदागुप्तमेवेति। भ० २५ श० ७ उ०।

***आयुक्त**- न० आ युज् क्त। उपयोगे, भ० ''आउत्तं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणं गेण्हमाणस्स''। (सूत्र- १५३) उपयोगपूर्वकमित्यर्थः। भ० ३ श० ३ उ०। उपयोगवति, संथा०। उपयुक्ते, स्था० २ ठा० १ उ०। ध०। सूत्र०।

प्रशस्तकायविनयभेदानुद्दिश्योक्तम्-

आउत्तं गमणं, आउत्तं ठाणं, आउत्तं णिसीयणं, आउत्तं तुयट्टणं, आउत्तं उल्लंघणं, आउत्तं पल्लंघणं, आउत्तं सव्विंदियजोगजुंजणया। (सूत्र- ५८५×)

आयुक्तं गमनम् आयुक्तस्य- उपयुक्तस्य संलीनयोगस्य। स्था० ७ ठा० ३ उ०। भ०। समन्तादुपयुक्ते, आ० म० १ अ०। प्रयत्नपरे, ओघ० ८०७ गाथा। शिक्षिते च। त्रि०। ''असिकंटकविसमादीसुं, गच्छंतो सिक्खिओ वि जत्तेणं। चुक्केइ एमेव मुणी, छलिज्जती अप्पमत्तो वि'' ॥१०० ॥ सिक्खिओ विआउत्तो वि छलिज्जति। नि० चू० १ उ०। संयमार्थिनि च। संजमट्ठाए त्ति वा, आउत्तो त्ति वा, अविधिपरिहारि त्ति वा, एगट्ठा इति। आ० चू० १ अ०। आ युज् कर्मणि क्तः। सम्यग्व्यापारिते, भावे क्तः। सम्यग्- नियोजने, न०। आयुक्तमनेन। इष्टा० इनिः। आयुक्ती। सम्यग्नियोजन-कर्त्तरि, त्रि० स्त्रियां ङीप्। वाच०।

आउपरिणाम- पुं० (आयुःपरिणाम) आयुषः-कर्मप्रकृतिविशेष- स्य परिणामः-स्वभावः। आयुषः स्वभावे स्था० ३ ठा० १ उ०।

तस्य भेदाः-

नवविहे आउपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा- गइपरिणामे १, गइबन्धणपरिणामे २, ठिइपरिणामे ३, ठिइबन्धणपरिणामे ४, उड्ढगारवपरिणामे ५, अहेगारवपरिणामे ६, तिरियंगारवपरिणामे ७, दीहंगारवपरिणामे ८, हस्संगारवपरिणामे। (सूत्र- ६८६)

'नवविहे' त्यादि, 'आउपरिणामे' त्यादि, आयुषःकर्मप्रकृतिविशेषस्य परिणामः-स्वभावः-शक्तिर्द्धर्म्म- इत्यायुः परिणामः। तत्र गतिर्देवादिकातां नियतां येन स्वभावेनायुर्जीवं प्रापयति स आयुषो गतिपरिणामः२, तथा- येनायुःस्वभावेन प्रतिनियतगतिकर्मबन्धो भवति, यथा नारकायुः स्वभावेन मनुष्यतिर्यग्गतिनामकर्म बध्नाति न देवनारकगतिनामकर्मेति स गतिबन्धनपरिणामः२, तथा-आयुषो याऽन्तर्मुहूर्तादित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्ता स्थितिर्भवति स स्थितिपरिणामः ३, तथा- येन पूर्वभवायुः-परिणामेन परभवायुषो नियतां स्थितिं बध्नाति स स्थितिबन्धनपरिणामः, यथातिर्यगायुः परिणामेन देवायुष उत्कृष्टतोऽप्यष्टादशसागरोपमाणीति, तथा-येन आयुःस्वभावेन जीवस्योर्ध्वदिशि गमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति स ऊर्ध्वगौरवपरिणामः ५, इह गौरवशब्दो गमनपर्यायः। एवमितरौ द्वाविति ६ ७। तथा यत आयुःस्वमावात् जीवस्य दीर्घ- दीर्घगमनतया लोकान्तात् लोकान्तं यावद्गमनशक्तिर्भवति स दीर्घगौरवपरिणामः ८, एवं च यस्मात् ह्रस्वं गमनं स ह्रस्व-गौरवपरिणामः, सर्वत्र प्राकृतत्वादनुस्वार इति अन्यथाऽप्यूह्यमेतदिति। स्था० ९ ठा० ३ उ०।

आउबहुल- त्रि० (अब्बहुल) प्रचुरजलोपेते, स० ८० सम०। ''नो चेवणं आउबहुले भविस्सइ'' (सूत्र-२८८) बह्वप्कायमित्यर्थः। भ० ७ श० ६ उ०।

आउबहुलकंड- न० (अब्बहुलकाण्ड)। प्रचुरजलोपेते रत्न प्रभायास्तृतीये काण्डे, स०।

तत्प्रमाणादि-

आउबहुले णं कंडे असीइजोयणसहस्साइं ८०००० बाहल्लेणं पण्णत्ते। (सूत्र-८०)

रत्नप्रभाय अशीत्युत्तरयोजनलक्षबाहल्यायास्त्रीणि काण्डानि भवन्ति। तत्र प्रथमे रत्नकाण्डं षोऽशविधरत्नमयं षोडशसहस्रबाहल्यम्, द्वितीयं पङ्ककाण्डं चतुरशीतिसहस्रमानम्। तृतीयमब्बहुलकाण्डमशीतिर्योजनसहस्राणीति। स० ८० सम०।

आउब्भेय- पुं० (आयुर्भेद)। आयुषो- जीवितस्य भेद- उपक्रमः आयुर्भेदः। स्था० ७ ठा० ३ उ०। आयुष उपघाते, आ० च० १ अ०। आ० म०। (तन्निमित्तानि 'आउ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतानि)

स च सप्तविधनिमित्तत्वात्सप्तविधः-

सत्त विहे आउभेदे पण्णत्ते, तं जहा-

''अज्जवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाए।
फासे आणापाणू, सत्तविधं भिज्जए आऊ ॥१॥''
(सूत्र ५६१)

अध्यवसानं- रागस्नेहभयात्मकोऽध्यवसायो निमित्तं दण्डकशाशस्त्रादीति समाहारद्वन्द्वस्तत्र सति आयुर्भिद्यत इति संबन्धः, तथा आहारे- भोजनेऽधिके सति, तथा वेदना- नयनादिपीडा पराघातो- गर्त्तपातादिसमुत्थः, इहापि समाहारद्वन्द्व एव तत्र सति, तथा स्पर्शे- तथाविधभुजङ्गा-दिसंबन्धिनि सति, तथा 'आणापाणु' त्तिउच्छ्वासनिःश्वासौ निरुद्धावाश्रित्येति एवं च सप्तविधं यथा भवति तथा भिद्यते आयुरिति। अथवा अध्यवसानमायुरुपक्रमकारणमिति शेषः, एवं निमित्तमित्यादि यावत् 'आणापाणु' त्ति व्याख्येयं, प्रथमैवकचनान्तत्वाद् अध्यवसानादिपदानामेवं सप्तविधत्त्वा-दायुर्भेदहेतूनां सप्तविधं यथा भवति तथा भिद्यते आयुः। स्था० ७ ठा० ३ उ०।

आउय- न० (आयुष्क) जीविते, उत्त० ३ अ०। संथा०। आ०स०। भवस्थितिहेतौ, कर्म्मपुद्गले च। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

तओ अहाउयं पालेंति, तं जहा-अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेववासुदेवा। ३१। (सूत्र-१४३×) स्था० ३ ठा० १उ०।

आयुषा कायति, कै। आयुषा प्रकाशमाने प्रशस्तायुष्के। वाच०।

***आवुक**-पुं० अवति- रक्षति। अव्-धा०। उण् संज्ञायां कन्०। नाट्यात्तौ, जनके, वाच०। स्था० २ ठा० ३ उ०।

आउयपरिहाणि- स्त्री० (आयुष्कपरिहानि) प्रतिक्षणायुष्कक्षये, पञ्चा० १ विव०।

आउयबंध- पुं० (आयुष्कबन्ध) आयुषो बन्ध इति। स्था० ६ ठा० ३ उ०। आयुषो निषेके, स०। स च प्रतिसमयं बहुहीनही- नतरस्य दलिकस्यानुभवनार्थं रचना। स०।

तद्भेदाः-

कइविहे णं भंते ! आउयबंधे पण्णत्ते? गोयमा ! छव्विहे आउयबंधे पण्णत्ते, तं जहा-जाइनामनिहत्ताऽऽउए१, गइनामनिहत्ताउए२, ठिइनामनिहत्ताउए३, ओगाहणानामनिहत्ताउए४, पएसनामनिहत्ताउए५, अणुभागनामनिह- त्ताउए६, दंडओ ०जाव वेमाणियाणं। (सूत्र- २५०)

(जाइनामनिहत्ताउय त्ति १) जातिरेकेन्द्रियजात्यादिः पञ्चधा, सैवं नाम इति- नामकर्मण उत्तरप्रकृतिविशेषो जीवपरिणामो वा तेन सह निधत्तं- निषिक्तम्। भ० ६ श० ८ उ०। अनुभवनार्थं बह्वल्पाल्पतरक्रमेण व्यवस्थापितं (स०) (यद् भ०) य आयुस्तज्जातिनामनिधत्तायुः (स०- १५४ सूत्रटी०) निषेकश्च कर्मपुद्गलानां प्रतिसमयमनुभवनार्थं रचना। भ० ६ श० ८ उ०। उक्तं च- ''मोत्तूण सगमवाहं, पढमाएँ ठिईएँ बहुतरं दव्वं। सेसे विसेसहीणं, जावुक्कोस्संति सव्वासिं'' ॥१॥ इति। स्था० ६ ठा० ३ उ०। (गइनामनिहत्ताउएत्ति २)- गतिः नारकगत्यादिभेदाच्चतुर्धा- तल्लक्षणं नाम कर्म्म तेन सह निधत्तं निषिक्तायुर्गतिनामनिधत्तायुः। स० १५४ सम०। (ठिइनामनिधत्ताउएत्ति ३- स्थितिरिति यत्स्थातव्यं केनचिद्विवक्षितभवे जीवेनायुःकर्म्मणा वा सैव नाम परिणामो धर्म्मः स्थितिनामस्तेन विशिष्टं निधत्तं यदायुर्दलिकरूपं तत्स्थितिनामनिधत्तायुः। अथवा-इह सूत्रे जातिनामगतिनामा- वगाहनानामग्रहणाज्जातिगत्यवगाहनानां प्रकृतिमात्रमुक्तं, स्थितिप्रदेशानुभागनामग्रहणात्तु तासामेव स्थित्यादय उक्ताः, ते च जात्यादिनामसम्बन्धित्वान्नामकर्म्मरूपा एवेति, नामशब्दः सर्वत्र कर्म्मार्थो घटत इति, स्थितिरूपं नामकर्म्मस्थितिनाम तेन निधत्तं यदायुस्तत्स्थितिनामनिधत्तायुः। स्था० ६ ठा० ३ उ०। यत्-यस्मिन् भवे उदयमागमनमवतिष्ठते तद्गतिजातिशरीरप- श्चकादिव्यतिरिक्तं स्थितिनामावसेयमिति भावः, गत्यादीनां वर्जनं तेषां स्वपदैः 'गइनामनिहत्ताउए' (१४५ सूत्रटी०) इत्यादिभिरुपात्तत्वात्। प्रज्ञा० ६ पद। (ओगाहणा-नामनिधत्ताउए त्ति ४)। अवगाहते यस्यां जीवः सा अवगाहना-शरीरम् औदारिकादि तस्या नाम औदारिकादिशरीरनामकर्मेत्यवगाह- नानाम। (अवगाहनारूपो वा, नामः परिणामोऽवगाहनानामः) तेन सह यन्निधत्तमायुस्त- दवगाहनानामनिधत्तायुः। (पएसनामनिहत्ताउए त्ति ५)- प्रदेशानाम्-आयुःकर्म्मद्रव्याणां नामतथाविधा परिणतिः प्रदेशनाम् प्रदेशरूपं वा, नामकर्मविशेष इत्यर्थः; प्रदेशनाम। भ० ६ श० ८ उ०। प्रदेशाः कर्मपरमाणवस्ते च प्रदेशाः सक्रमतोऽप्यनुभूयमानाः परिगृह्यन्ते, तत्प्रधानं नाम प्रदेशनाम, किमुक्तं भवति-यत् यस्मिन् भवे प्रदेशतोऽनुभूयते तत्प्रदेशनामेति अनेन विपाकोदयमप्राप्तमपि नाम परिगृहीतम्। प्रज्ञा० ६ पद। प्रदेशानां प्रमितपरिणामानामायुः कर्मदलिकानां नामपरिणामो यः तथाऽऽत्मप्रदेशेषु सम्बन्धनं स प्रदेशनामो जातिगत्य-वगाहनाकर्म्मणां वा यत्प्रदेशरूपं नामकर्म्म तत्प्रदेशनाम। स० १५४ सम०। तेन सह यन्निधत्तमायुस्तत्प्रदेशनामनिधत्तायुरिति। (अणुभागनामनिधत्ताउए त्ति ६)। अनुभाग आयुर्द्रव्याणामेव विपाकः। भ० ३ श० ८ उ०। तीव्रादिभेदो रसः। स० १५४ सम०। तल्लक्षण एव नाम। परिणामोऽनुभागनामोऽनुभागरूपं वा नामकर्म्मानुभागनाम। भ० ६ श० ८ उ०। स चेह प्रकर्षप्राप्तः परिगृह्यते तत्प्रधानं

नाम अनुभावनाम यत् यस्मिन् भवे तीव्रविपाकं नामकर्मानुभूयते यथा नारकायुषि अशुभवर्णगन्धरसस्पर्शोपघाताऽनादेयदुःस्वराऽयशोकीर्त्यादिनामानि तदनुभावनाम । प्रज्ञा० ६ पद । अथवा-गत्यादीनां नामकर्म्मणामनुभागबन्धरूपो भेदोऽनुभागनाम । स० १५४ सम० । तेन सह० निधत्तं यदायुस्तदनुभागनामनिधत्तायुरिति । अथ किमर्थं जात्यादिनामकर्म्मभिरायुर्विशिष्यते? उच्यते- आयुष्कस्य प्राधान्योपदर्शनार्थं यस्मान्नारका- द्यायुरुदये सति जात्यादिना-मकर्म्मणामुदयो भवति । भ० ६ श० ८ उ० । नान्यथेति भवत्यायुषः प्रधानता । प्रज्ञा० ६ पद ।

नारकादिभवोपग्राहकं चायुरेव, यस्मादुक्तमिहैव-

''नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जइ, अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ? गोयमा ! नेरइए नेरएइसु उववज्जइ, नो अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ'' त्ति । एतदुक्तंभवति- नारकायुः प्रथमसमयसंवेदन एव नारका उच्यन्ते तत्सहचारिणाश्च पञ्चेन्द्रियजात्यादिनामकर्म्मणामप्युदय इति । इह चायुर्बन्धस्य षड्विधत्वे उपक्षिप्ते यदायुषः षड्विधत्त्वमुक्तं तदायुषो बन्धाव्यतिरेकाद्बन्धस्यैव चायुर्व्यपदेशविषयत्वादिति । 'दंडओ' त्ति- नेरइयणं भंते! कइविहे आउयबंधे पन्नत्ते' इत्यादिः वैमानिकान्तश्चतुर्विंशतिदण्डको वाच्योऽत एवाह- 'जाव वेमाणियाणं' ति । भ० ६ श० ८ उ० २५० सूत्रटी० । प्रज्ञा० । स० । स्था० ।

अथ कर्मविशेषाधिकारात्तद्विशेषितानां जीवादिपदानां द्वादशदण्डकानाह-

जीवा णं भंते ! किं जाइनामनिहत्ता, ०जाव अणुभागनामनिहत्ता? गोयना! जाइनामनिहत्ता वि ०जाव अणुभागनामनिहत्ता वि, दंडओ ०जाव वेमाणियाणं । जीवाणं भंते! किं जाइनामनिहत्ताउया ०जाव अणुभागनामनिहत्ताउया? गोयमा! जाइनामनिहत्ताउया वि ०जाव अणुभागनामनिहत्ताउयावि, दंडओ ०जाव वेमाणियाणं । एवं एए दुवालस १२ दंडगा भाणियव्वा । जीवा णं भंते । किं जाइनामनिहत्ता १, जाइनामनिहत्ताउया २, जाइनामनिउत्ता ३, जाइनामनिउत्ताउया ४, जाइगोयनिहत्ता ५, जाइगोय-निहत्ताउया ६, जाइगोयनिउत्ता ७, जाइगोयनिउत्ताउया ८, जाइनामगोय-निहत्ता ९, जाइनामगोयनिहत्ताउय १०, जाइनामगोयनिउत्ता ११, जाइनामगोयनिउत्ताउया १२, ०जाव अणुभागनामगोयनि-उत्ताउया? गोयमा ! जाइनाम- गोयनिउत्ताउयावि ०जाव अणुभागनामगोयनिउत्ताउयावि दंडओ ०जाव वेमाणियाणं । (सूत्र- २५०)

'जाइनामनिहत्त' त्ति- जातिनाम निधत्तं- निषिक्तं विशिष्टबन्धं वा कृतं यैस्ते जातिनामनिधत्ताः । एवं गतिनामनिधत्ताः । यावत्करणात्- ''ठिइनामनिहत्ता, ओगाहणानाम निहत्ता, पएसनामनिहत्ता, अनुभागनामनिहत्ता'' इति दृश्यम् । व्याख्या तथैव नवरं जात्यादिनाम्ना या स्थितिर्यें च प्रदेशा यश्चानुभागस्तत्स्थित्यादिनाम अवगाहनानाम शरीरनामेति । अयमेको दण्डको वैमानिकान्तः, तथा-'जाइनामनि-हत्ताउय' त्ति- । जातिनाम्ना सह निधत्तमायुर्यैस्ते जातिनामनिधत्तायुषः, एवमन्यान्ययि पदानि अयमन्यो दण्डकः २, एवमेते 'दुवालस दंडग' त्ति- अमुना प्रकारेण द्वादश दण्डका भवन्ति, तत्र द्वावाद्यौ दर्शितावपि संख्यापूरणार्थं पुनर्दर्शयति- जातिनामनिधत्ता इत्यादिरेकः, 'जाइनामनिहत्ताउया' इत्यादिर्द्वितीयः, जीवा णं भंते! किं जाइनामनिउत्ता इत्यादिस्तृतीयः, तत्र जातिनामनियुक्तं नितरां युक्तं सम्बद्धं निकाचितं वेदने वा नियुक्तं यैस्ते जातिनामनियुक्ताः, एवमन्यान्यपि ५, 'जाइनामनिउत्ताउया' इत्यादिश्चतुर्थः । तत्र जातिनाम्ना सह नियुक्तं निकाचितं वेदयितुमारब्धं वाऽऽयुर्यैस्ते । तथा एवमन्यान्यपि ५ 'जोइगोयनिहत्ता' इत्यादिः पञ्चमः । तत्र जातेरेकेन्द्रियादिकाया यदुचितं गोत्रं नीचैर्गोत्रादि तज्जातिगोत्रं तन्निधत्तं यैस्ते जातिगोत्रनिधत्तायुष एवमन्यान्यपि ५ 'जाइगोयनिउत्ताउया' इत्यादिरष्टमः, तत्र जातिनामगोत्रं च निधत्तं यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि ५, 'जाइगोयनिहत्ताउया' इत्यादिः, दशमः । तत्र जातिनाम्ना गोत्रेण च सह निधत्तमायुर्यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि ५, 'जाइनामगोयनिउत्ता' इत्यादिरेकादशः । तत्र जातिनामगोत्रञ्च नियुक्तं यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि ५, 'जीवा णं भंते! किं जाइनामगोयनि-उत्ताउया' इत्यादिर्द्वादशः । तत्र जातिनाम्ना गोत्रेण च सह नियुक्तमायुर्यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि ५, इह च जात्यादिनामगोत्रयोरायुषश्च भवोपग्रहे प्राधान्यख्या-पनार्थं यथायोगं जीवा विशेषिता वाचनान्तरे चाद्या एवाष्टौ दण्डका दृश्यन्त इति । भ० ६ श० ८ उ० ।

अथ जात्यादिनामविशिष्टमायुः कियद्भिराकर्षैर्बध्नातीति जिज्ञासुर्जीवादिदण्डक्रमेण पृच्छति अल्पबहुत्वं च-

जीवा णं भंते ! जातिनामनिहत्ताउयं कतिहिं आगरिसेहिं पकरंति? गोयमा ! जहन्नेणं एक्केण दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं अट्ठहिं, नेरइया णं भंते ।! जातिनामनिहत्ताउयं कतिहिं आगरिसेहिं पकरंति? गोयमा ! (सूत्र- १४५) प्रज्ञा० ६ पद । सिय १ एकेणं सिय २ ३ ४ ५ ६ ७ सिय ८ अट्ठहिं, नो चेवं णं नवहिं । (सूत्र १५४×) स० १५४ सम० । जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं अट्ठहिं । (सूत्र-१४×) प्रज्ञा० ६ पद । स० । एवं ०जाव वेमाणिया । एवं गतिनामनिहत्ताउए वि० ठितिनामनिहत्ताउए वि । ओगाहणानामनिहत्ताउएवि । पदेसनामनिहत्तउए वि । अणुभावनामनिहउत्ताउए वि । एतेसि णं भंते ! जीवाणं जातिनामनिहत्ताउयं जहन्नेणं एक्को वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं अट्ठहिं आगरिसेहिं पकरेमाणा णं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा जातिनामनिहत्ताउयं अट्ठहिं आगरिसेहिं पकरेमाणा, सत्तहिं आगरिसेहिं पकरेमाणा संखेज्जगुणा एएहिं आगरिसेहिं पकरेमाणा संखेज्जगुणा, एवं

पचहिं संखेज्जगुणा, तिहिं संखेज्जगुणा, चउहिं संखेज्जगुणा, दोहिं संखेज्जगुणा, एगेणं आगरिसेणं पकरेमाणा संखेज्जगुणा। एवं एतेणं अभिलावेणं ०जाव अणुभावनिहत्ताउयं। एव एते छप्पि अप्पा-बहुदण्डगा जीवादिया माणियव्वा। (सूत्र-१४५)

'आगरिसेहिं पगरंती' त्यादि, आकर्षो नाम तथाविधेन प्रयत्नेन कर्मपुद्गलोपादानं यथा गौः पानीयं पिबन्ती भयेन पुनः पुनराघोटयति एवं जीवोऽपि यदा तीव्रेणायुर्बन्धाध्यवसायेन जातिनामनिधत्तायुरन्यद्वा बध्नाति तदा एकेन। प्रज्ञा० ६ पद। मन्देन द्वाभ्यामाकर्षाभ्यां मन्दतरेण त्रिभिर्मन्दतमेन चतुर्भिः पञ्चभिः षड्भिः सप्तभिरष्टाभिर्वा न पुनर्नवभिरेवं शेषाण्यपि 'आउगणि' त्ति- गतिनामनिधत्तायुरादीनि वाच्यानि यावद्वैमानिका इति अयञ्चैकाद्याकर्षनियमो जात्यादीनां कर्मणामायुर्बन्धकाल एव। स० १५४ सम०। आयुषा सह बध्यमानानामवसातव्यो न शेषकालं कासांचित्यप्रकृतीनां ध्रुवबन्धिनीत्वादपरासां परावर्त्तमानत्वात्। प्रभूतकालमपि बन्धसम्भवेनाकर्षनियमात्। प्रज्ञा० ६ पद। आयुर्बन्धपरिसमाप्तेरुत्तरकालमपि बन्धोऽस्त्येवैषां ध्रुवबन्धिनीनाञ्च ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रतिसमयमेव बन्धनिवृत्तिर्भवत्येतास्तु परावृत्याबध्यन्ते। स० १५४ सम०। (नारक- तिर्यग्-मनुष्य-देवायुर्बन्धकारणानि बहुप्रकारेण 'बन्धहेउ' शब्दे पञ्चमभागे विस्तरतः प्रतिपादयिष्यते) तथा देवनैरयिकैरपि यदि षण्मासे शेष आयुर्न बद्धं तत आत्मीयस्यायुषः षण्मासशेषं तावत्संक्षिपन्ति यावत्सर्व्वजघन्य आयुर्बन्ध उत्तरकालश्चावशेषोऽवतिष्ठते। इह परभवा युर्देवनैरयिका बध्नन्तीत्ययमसंक्षेपकाल इति श्रीस्थानांगषष्ठाध्ययनवृत्त्युपान्ते प्रोक्तमस्तीति ''पारं बंधंति देवनारय- असंखतिरिनरछंमाससेसाउ'' इत्यादिवचसां कथं संवाद इति प्रश्ने, अत्रोत्तरम्- 'बंधंति देवनारये' त्यादिवचनं प्रायिकं तेन केषांचिद्देवनारकाणां शेषेऽन्तर्मुहूर्तेऽप्यायुर्बन्धो भवतीति मतान्तरमवसीयते इति न कोऽपि विसंवाद इति॥३९॥ सेन०। (आयुषो बन्धकान् 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते) (आयुर्बन्धकानां कर्म्मप्रकृतिबन्धः 'कम्मपयडि' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते) (आयुर्बन्धस्थितिरायुर्बन्धकानां कर्म्मवेदना आयुर्वेदकानां कर्मप्रकृतिबन्धश्च 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते)

आउयसंवट्टय- पुं० (आयुष्कसंवर्त्तक) संवर्त्तनम्- अपवर्त्तनं संवर्त्तः स एव संवर्त्तकः; उपक्रम इत्यर्थः, आयुषः संवर्त्तक आयुःसंवर्त्तकः। आयुष उपक्रमे, स्था०।

(आयुः संवर्तकमाह)-

दोण्हं आउयसंवट्टए पण्णत्ते, तं जहा-मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव २४। (सूत्र- ८५)

स्था० ३ ठा० ३ उ०।

आउयसंवेदन-न० (आयुःसंवेदन) आयुः कर्मोदयविपाकाऽनुभवने, भ० ३५ श०।

आउयसदव्वया- स्त्री० (आयुस्सद्रव्यता) आयुः- प्रदेशकर्म तस्य द्रव्यैस्सह मानता-आयुस्सद्रव्यता। जीवस्यायुष्कर्मद्रव्यसहचारितायाम्, ''आउयसदव्वयभवे ओघो''। आयुस्स-द्रव्यता-ओघजीवितं सामान्यजीवितमिदं च सकल- संसारिणामविशेषेण सर्वदाभावीति। आ० म० १ अ०।

आउयाय- पुं० (अप्काय) एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद। भ०। (एतस्य वक्तव्यता 'आउक्काय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

आउर- त्रि० (आतुर) ईषदर्थे, आ-अत्-उरच्। वाच०। ग्लाने, (रोगिणि) स्था० १० ठा० ३ उ०। बृ०। विविधदुःखोपद्रुते, (रोगादिपीडिते) बृ० १ उ० २ प्रक०। उत्त०। बुभुक्षादिभिः पीडिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। अस्वस्थमनसि, ''तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावंति'' 'तत्थ-तत्थे' त्यादि- तत्र तत्र तेषु तेषु कारणे-षुत्पन्नेषु वक्ष्यमाणेषु शरीरचर्मशोणितादिषु च पृथग्विभिन्नेषु प्रयोजनेषु पश्येति शिष्यचोदना किं तत्पश्येति दर्शयति- मांसभक्षणादिगृद्धाः आतुराः- अस्वस्थमनसः परिसमन्तात्तापयन्ति- पीडयन्ति। आचा०। किंकर्त्तव्यतामूढे, ''पासिय आतुरए पाणे अप्पमत्तो परिव्वए'' (सूत्र-१०९)। 'पासिय' इत्यादि, स हि भावजागरस्तैर्भावः जागरस्वापजनितैः शारीरमानसैर्दुःखैरातुरान्-किंकर्त्तव्यतामूढान् दुःखसागरा- वगाढान् प्राणान्-भेदोपचारात् प्राणिनो दृष्ट्वा ज्ञात्वा अप्रमत्तः परिव्रजेत्- उद्युक्तः सन् संयमानुष्ठानं विदध्यात्। आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। आकुलतनौ, उत्त० २ अ०। क्वचिदपि स्वास्थ्य- मलभमाने सत्याकुले, जी० ३ प्रति० १ अधि०। उत्सुके, बृ० १ उ० ३ प्रक०। व्याकुले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। ''आउरं लोयमायाए'' (सूत्र-१८१)। 'आउरं' इत्यादि, लोकं मातापितृपुत्रकलत्रादिकं तमातुरं स्नेहानुषङ्गतया वियोगात्कार्यावसादेन वा। यदि वा-जन्तुलोकं कामरोगातुरमादाय ज्ञानेन परिगृहीत्वा परिच्छिद्य। आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। क्लिष्टे, '' केषाञ्चिद्विषयज्वराकुलमहो'' केषाञ्चिज्जीवानां चित्तं-मनः विषयाइन्द्रियाभिलाषा एव ज्वरस्तेन आतुरं- क्लिष्टं मनो यस्य। अष्ट० ३२ अष्ट०। दुःस्थे, भ० १६ श० ४ उ०। प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यां जिते, (क्षुत्पिपासापीडिते) चिकित्सा- क्रियाव्यपेते, मरणचिह्नान्युपलभ्याकुले च। नं० व्य०। पा०। ''आउराण य अप्पेगइयाणं मच्छमंसाइं उवदिसइ'' (सूत्र- २८×) 'आउराणं' तिचिकित्सायामविषयभूतानाम्। विपा० १ श्रु० ७ अ०। (एतस्य बहुवक्तव्यता 'गिलाण' शब्दे तृतीयाभागे करिष्यते) आतुरत्वे च। (क्षुत्पिपासाव्याधिभिरभिभूतत्वे) ''संकिए सहसागारे, उभयाउरे आवतीसु य'' (१००×) भाव-प्रधानश्चायं निर्देशस्ततोऽयमर्थः। व्य० १ उ०। 'संभमभया-उरावइ' 'आउर' त्ति-भाव-प्रधानत्वान्निर्देशस्यातुरपीडितत्वं क्षुत्पिपासाद्यैः। जीत०। लुप्तभावप्रत्ययत्वाद्वा। स्था० ९ ठा० ३ उ०। कार्य्याक्षमे, वाच०। अशक्नुवति, व्य० ४ उ०।

आउरचिन्न- त्रि० (आतुरचीर्ण) आतुरः- चिकित्साया अविषयभूतो रोगी तस्य मर्तुकामस्य पथ्यापथ्याविवेकेन दीय-

माने मनोज्ञाहारे, उत्त० ८ अ०। ('उरब्भ' शब्दे भावयिष्यते)

आउरपच्चक्खाण- न० (आतुरप्रत्याखान) आतुरः- क्रियातीतो ग्लानस्तस्य प्रत्याख्यानमातुरप्रत्याख्यानम्। चिकित्सकक्रियाव्यापेतस्य ग्लानस्य प्रत्याख्याने, नं०। आतुरःचिकित्स्यक्रियाव्यपेतस्तस्य प्रख्याख्यानं यत्राध्ययने विधिपूर्वकमुपवर्ण्यते तदातुरप्रत्याख्यानम्। उत्कालिकश्रुतविशेषे च। विधिश्चातुरप्रत्याख्यानदानविषये चूर्णिकृतैवमुपदर्शितः- ''गिलाणं किरियातीयं नाउं गीयत्था पच्चक्खावेंति दिणे दिणे दव्वहासं करेत्ता अंते य सव्वदव्वदायणाए भत्तेवरग्गं जाणि (णे) त्ता भत्ते वि (नि) त्तिण्हस्स भवचरिमपच्चक्खाणं कारवेंति'' नं० ४३ सूत्र। पा०।

आउरपडिसेवणा- स्त्री० (आतुरप्रतिसेवना) प्रतिसेवनाविशेषे, ''दप्प पमायऽणाभोगे, आउरे आवईसु य''। आतुरे-ग्लाने सति तत्प्रतिजागरणार्थमिति भावः,। अथवा- आत्मन एवातुरत्वे सति लुप्तभावप्रत्ययत्वादयमर्थः- क्षुत्पिपासाव्याधिभिरभिभूतः सन् यां करोति। उक्तं च- ''पढमवीयद्दुवाहिओ व जं सेव आउराए साइत्ति''। स्था० १० ठा० ३ उ०। (विशेषतः व्याख्या 'पडिसेवणा' शब्दे पञ्चमभागे द्रष्टव्या)

आउरभेसज्जीय- न० (आतुरभैषज्यीय) अवितर्कितसम्भवि- तुल्ये यादृच्छिकन्याये, आचा० (यथा- आतुरभवनम्भैषज्योप- कारश्चाबुद्धिपूर्विकेव, नाऽतुरस्य बुद्धिरस्ति मह्यम्भैषज्यमु- पकरिष्यति, नापि भैषज्यस्यैतादृशी बुद्धिरस्ति आतुरायोप- करिष्यामीति अथ तत्तथैव भवत्येवं सर्वं जातिजरामरणादिकं लोके यादृच्छिकमिति यदृच्छावादिनः)। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

आउरसरण- न० (आतुरशरण)दोषातुरस्याश्रयदाने, दश० ३ अ०।

***आतुरस्मरण**- न०। क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणे, दश० ''आउरस्सरणाणि य''॥६॥ तथाऽऽतुरस्मरणानि च क्षुधा-द्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणानि च अनाचरितानि। आतुरशरणानि वा दोषातुराश्रयदानानि। दश० ३ अ०। रोगादिपीडितस्य हा तात! हा मातः! इत्यादिरूपे स्मरणे च। ''आउरे सरणं तिगिच्छियं च तं परिण्णाय परिव्वए स भिक्खू'' 'आउरे सरणं' ति-सुब्व्यत्ययादातुरस्य रोगादिपीडितस्य शरणं- स्मरणं हा तात! हा मातः! इत्यादिरूपम्। उत्त० १५ अ०।

आउल- त्रि० (आकुल) व्याप्ते, औ०। ज्ञा०। ''कलुसाऽऽउलं चित्तं'' कलुषयन्ति आत्मानमिति कलुषाः- कषायास्तैराकुलं- व्याप्तं यत्तथोच्यते। आव० ४ अ०। जनाऽऽकीर्णे, बृ० १ उ०। प्रचुरे, भ० १ श० ९ उ०। क्षुब्धे, ''जत्थऽत्थमिए अणाउले (१४×)'' भिक्षुर्यत्रैवास्तमुमैति सविता; तत्रैव कायोत्सर्गादिना तिष्ठतीति। यत्रास्तमितस्तथा-ऽनाकुलः- समुद्रवन्नक्रादिभिः परीषहोपसर्गैरक्षुभ्यन्। सूत्र० १ श्रु० १ अ०। *अभिभूते, ''तह तिव्वकोहलोहाउलस्स'' तीव्रावुत्कटौ च तौ क्रोधलोभौ* च ताभ्यामाकुलोऽभिभूतस्तस्य। आव० ४ अ०। व्याकुले, (विह्वले) आ० म० १ अ०। व्यग्रे, आव० ४ अ०। व्याप्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। संकीर्णे च। ''किमिजालाउलसंसत्ते'' (सूत्र-६७) कृमिजालैराकुलैः-वयाकुलै-राकुलं वा संकीर्णं तथा भवतीत्येवं संसक्तं यत्तथा। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। ''अट्ठारसवंजणाउलं'' (सूत्र-१०६×) चं० प्र० २० पाहु०। राजगृहाङ्गणजनाकुलवदाकुलः। भावस्कन्धविशेषे च। अनु०।

आउलतर- त्रि० (आकुलतर) अतिशयेनाकुले, तथा च षष्ठ-पृथिवीनरकापेक्षया सप्तमपृथिवीनारकाणां वर्णनमुपक्रम्यो- क्तम्- ''णो आउलतरा चेव'' (सूत्र- ४७५×) 'आउलतरा चेव' त्ति- अतिकर्त्तव्यतया ये आकुला- नारकलोकास्तेषामतिशयेन योगादाकुलतराः। भ० १३ श० ४ उ०।

आउलमण- त्रि० (आकुलमनस्) आकुरञ्ज्यायं मनः- अन्तःकरणं यस्य स तथा। व्यग्रान्तःकरणे, ''तप्पडियाराउलमणस्स'' तत्प्रतीकारे- वेदनाप्रतीकारे चिकित्सायामाकुलं- व्यग्रं मनो यस्य स तथा। आव० ४ अ०।

आउलमाउला- स्त्री० (आकुलाऽऽकुला) निद्राप्रमादाभिभूतस्य मूलगुणानामुत्तरगुणानां वा या नानाविधोपरोधक्रिया तदात्मि- कायाम्, अथवा-आकुलं-नानाविधरूपं विवाहसंगमादिषु दृष्टमाचरितं वा पुनरपि आकुलास्तादृशा बहवो दृष्टा व्यापारास्तदात्मिकायां स्वप्नान्तिक-क्रियायाम्, आव०।

सुप्तस्य दैवसिकमतिचारमधिकृत्योक्तम्-

आउलमाउलाए सोयणवत्तियाए इत्थीविप्परियासिए दिट्ठिविप्परियासियाए मणविप्परियासियाए पाणभोय-णविप्परियासियाए जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥ (सूत्र)

'आउलमाउलाए' त्ति- आकुलाकुलया- स्त्र्यादिपरिभोग-विवाहयुद्धादिसंस्पर्शननानाप्रकारया स्वप्नप्रत्ययया स्वप्ननिमित्तया विराधनया योऽतिचारः। आव० ४ अ०। ''आउलमाउलताए सोवणंतियाए निद्दप्पमायाभिभूतस्स मूलगुणाणं उत्तरगुणाणं वा उवरोधकिरिया जा णाणाविधा सोवणंतिया सा आउलमाउला॥ अहवा-आउलं-णाणाविहं रूवं विवाहसंगमादिसु दिट्ठं आयरितं वा पुणो वि आउला तारिसा बहवो वारा दिट्ठा एसा आउलमाउला। केई पुण-आउलमाउलाए सोयणवत्तियाए एतं आलावगं एत्थ जातो सेसाओ आउल-माउलाओ॥ सोमणंतियाओ इत्थी दिट्ठाओ निद्दापमादाभिभूतेण तस्स मिच्छा मि दुक्कडंति पुव्वभणितं॥ आ० चू० ४ अ०।

आउलवाय- पुं० (आकुलवाद) परस्परसंकीर्णवादे, आकुलवादे इति। सदसत्त्वयोः परस्परसंकीर्णवादे, अने० १ अधि०।

आउलि- स्त्री० (आतुलि) पीतपुष्पके (तडउडा) नामकेवनस्पतिजाति-विशेषे, ''तडउडाकुसमेइ वा'' तडउडाआउली। आ० म० १ अ०। आउलिविशेष इत्यर्थः। स्था० ४ ठा० १ उ०। एत-त्काष्ठनिष्पादिते दन्ते दोषा भवन्ति। आउलिसत्कन्द काष्ठे केचिद्बहु दोषं वदन्ति तत्सत्यमसत्यं वा तथा बहरी-बब्बूलदन्तकाष्ठेभ्य आउलिदन्तकाष्ठे जीवाः किमल्पा बहवस्तुल्या वेति प्रज्ञापनायां प्रथमपदे गुच्छाधिकारे आउलि-सत्कमूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखाप्रवालेषु प्रत्येकमसंख्येयजीवा-

त्मकता प्रोक्ताऽस्ति तदनुसारेण वदरीबब्बूलयोरपि षट्स्वपि स्थानेष्व-संख्याता जीवाः संभाव्यन्ते; नतु न्यूनाधिकजीवाः ॥४१॥ सेन०।

***आकुलि**- पुं० आ कुल इन्। व्याकुलत्वे वाच०।

आउलीकरण- नं० (आकुलीकरण) प्रचुरीकरणे, भ०।

जीवानां संसारावुलीकरणकारणम् लघुत्वकारणम्प्रति-पाद्योक्तम्-

कह णं भंते ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति? गोयमा ! पाणाइ-वायवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति एवं संसारं आउलीकरेंति। (सूत्र-७२×)

'एवं आउली करेंति' त्ति-इहैवंशब्दः पूर्वोक्ताभिलापसं-सूचनार्थः, स चैवम्- ''कहं णं भंते ! जीवा संसारं आउली-करेंति ?गोयमा ! पाणाइवाएणमि'' त्यादि,। एवं उत्तरत्रापि, तत्र 'आउलीकरेंति' त्ति-प्रचुरीकुर्वन्ति; कर्मभिरित्यर्थः। भ०१ श०९ उ०।

आउलीभूय-त्रि० (आकुलीभूत) आ-कुल-च्वि। भूते क्त। स्वयं तथाभूते, वाच० आ०म०१ अ०।

आउवज्जिय- त्रि० (आयुर्वर्जित) आयुष्कर्मविरहिते,। पञ्चा० १६ विव०।

आउविज्जा-स्त्री० (आयुर्विद्या) वैद्यकेपापश्रुतविशेषे, आ०व०४ अ०।

आउविवागदसा-स्त्री० (आयुर्विपाकदशा) प्रतिसमय-भोगत्वेनाया-तीत्यायुः विपचनं विपाकः; आयुषोऽपरिहाणि-रित्यर्थः। अनुभागेन युक्तो विभागो दशा इत्युच्यते आयुर्विपाकस्य दशा आयुर्विपाकदशा। आयुर्विपाकविभागे, ''जं जम्मि काले आउयं उक्कोसं दसधा विभत्तं दस आउविवागदसा भवन्ति'' ततो य दसाओ दसवरिसपमाणातो वरिससयाउसो भवन्ति। नि० चू० ११ उ०। (दशाभेदादिकम् 'दसा' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते)

आउव्वेय- पुं० (आयुर्वेद)। आयुः-जीवितं तद्विदन्ति- रक्षितु-मनुभवन्ति चोपक्रमरक्षणेन विदन्ति वा लभन्ते यथाकालं तेन तस्मात्तस्मि-न्वेत्यायुर्वेदः। चिकित्साशास्त्रे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। वैद्यकशास्त्रे, विपा० १ श्रु० ७ अ०।

तच्चाऽष्टविधम्-

अट्ठविहे आउव्वेए पण्णत्ते, तं० जहा-कुमारभिच्चे १, कायतिगिच्छा २, सालाइयं ३, सल्लहत्ता ४, जंगोली ५, भूयविज्जा ६, खारतंते ७, रसायणे ८। (सूत्र-६११)

'कुमारभिच्चे' ति-कुमाराणां-बालकानां भृतौ-पोषणे साधुः कुमारभृत्यं तद्धि तन्त्रं कुमारभरणक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टशून्यनिमि-त्तानां व्याधीनामुपशमनार्थं चेति१। कायस्य ज्वरादिरोगग्रस्तस्य चिकित्साप्रतिपादकं तन्त्रं काय-चिकित्सातन्त्रं; तद्धि मध्याङ्गसमा-श्रितानां ज्वरातीसाररक्त-शोषोन्मादप्रमेहकुष्ठादीनां शमनार्थमिति २। शलाकायाः कर्म शालाक्यं तत्प्रतिपादकं तन्त्रं शालाक्यं तद्धि ऊर्ध्वमनुगतानां रोगाणां श्रवणवदननयनघ्राणादिसमाश्रितानामुपशम-नार्थमिति ३। शल्यस्य हत्या-हननम् उद्धारः शल्यहत्या तत्प्रतिपादकं तन्त्रमपि शल्यहत्येत्युच्यते, तद्धि तृणकाष्ठपाषाणपां सुलो-हलोष्ठास्थिनखप्रायोऽङ्गान्तर्गतशल्योद्धरणार्थमिति ४। 'जागौली' तिविषविघाततन्त्रम् ; अगदतन्त्रमित्यर्थः तद्धि सर्प्पकीटलूता-दष्टविषविनाशार्थं विविधविषसंप्रयोगोपशमनार्थं चेति ५। भूतादीनां निग्रहार्थं विद्यातन्त्रं भूतविद्या साहि देवाऽसुगन्धर्वयक्षराक्षसपितृपिशा-चनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्म- बलिकरणादिग्रहोपशमनार्थमिति ६। क्षारतन्त्रमितिक्षरणं क्षारः शुक्रस्य तद्विषयं तन्त्रं यत् तत्तथा, इदं हि सुश्रुतादिषु वाजी- करणतन्त्रमुच्यते। स्था० ८ ठा० ३ उ०। तथा च विपाकश्रुते- धन्वन्तरिवर्णने ''अट्ठंगाऽऽउवेदपाढए-तं जहा-कोमारभिच्चं १, सालागे, सल्लगहत्ते ३, कायतिगिच्छा ४, जंगोले ५, भूयवेज्जे ६, रसायणे ७, वाजीकरणे ८। (सूत्र-२८) विपा० १ श्रु० ७ अ०। अवाजिनो वाजीकरणंरेतोवद्ध्या अश्वस्येव करणामित्यनयोः शब्दार्थः सम एवेति तत्तन्त्रं हि अल्पक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायन- प्रसादोपजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थमिति ७। रसः अमृतरसस्त-स्यायनंप्राप्ती रसायनं तद्धि वयःस्थापनमायुर्मेधाकरणं रोगापहरणसमर्थं च तत्प्रतिपादकं शास्त्रं रसायनतन्त्रमिति। कृतरसायनश्च देववन्निरुपक्रमायुर्भवति ८। स्था० ८ ठा० ३ उ०।

आउस(स्स)- पुं० (आक्रोश) ''मृतोऽसि त्वम्'' इत्यादिभिर-सभ्यवचनरूपैः शापैरभिशापे, ''अप्पेगइए आउसिहिंति। (सूत्र-५५९) आक्रोशान्दास्यति, भ० १५ श०। ''भंते ! अहं णं पुरिसं आउसेज्जा वा'' (सूत्र-४२× 'आउसेज्जा व' त्तिआक्रोशयामि वामृतोऽसि त्वमित्या-दिभिः शापैरभिशपामि। उपा० ७ अ०। दण्डमुष्ट्यादिभि-र्हननव्यापारे च। सूत्र०।

परतीर्थिकानुद्दिश्योक्तम-

रागदोसाभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुता।
आउस्ससरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं ॥१८॥

'रायद्दोस्सा' इत्यादि, रागश्च प्रीतिलक्षणो द्वेषश्च तद्विपरीतलक्षणस्ता-भ्यामभिभूत आत्मा येषां परतीर्थिकानां ते तथा मिथ्यात्त्वेन विपर्यस्तावबोधेनातत्त्वाध्यवसायरूपेणाभिद्रुता व्याप्ताः सद्युक्तिभिर्वादं कर्त्तुमसमर्थाः क्रोधानुगा आक्रोशान् असभ्यवचनरूपांस्तथा दण्डमुष्ट्यादिभिश्च हननव्यापारं यान्ति आश्रयते। अस्मिन्नेवार्थे प्रतिपाद्य दृष्टान्तमाह यथा टङ्कणाम्लेच्छविशेषा दुर्जया यदा परेण बलिना स्वानीकादिनाभिद्रूयन्ते तदा ते नानाविधैरष्यायुधैर्योद्धुमसमर्थाः सन्तः पर्वतं शरणमाश्रयन्त्येवं तेऽपि कुतीर्थिका वादपराजिताः क्रोधा-द्युपहतदृष्टय आक्रोशादिकं शरणमाश्रयन्ते। न च ते इदमाकलय्य प्रत्याक्रोष्टव्याः, तद्यथा- ''अक्कोसहणणमारणधम्मब्भंसाण बालसु-लभाणं। लाभं मन्नइ धीरो, जहुत्तराणं अभावंमि'' ॥१॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

आउसंत- त्रि० (आजुषमाण) प्राकृतत्वेन तिङ्व्यत्ययः। प्रीतिप्रवण-मनसि, स० १ सम०। ''सुयं मे आउसंतेणं'' श्रवणविधिमर्यादया गुरूना-सेवमानेन। स्था० १ ठा०। उत्त०। दशा०।

***आयुष्मत्**- त्रि० (आयुरस्यास्तीति) दशा० १ अ०। दश०। जीवति, (प्राणधारणधर्मवति) स्था० १ ठा०। चिरजीविनि, उत्त० २ अ०। आयु :- जीवितं तत्संयमप्रधानतया प्रशस्तं प्रभूतं वा विद्यते यस्यासावायुष्मान्। स्था०१ ठा०१। चिरप्रशस्तजीविते, भ०१६ श०९ उ०। चिरायुः- (दीर्घायुः) आचा०१ श्रु ०१ अ०१ उ०। लक्षणगुणवति च शिष्यादौ, स्था०१ ठा०। सकलगुणाधारभूतत्त्वेनायुश्च प्रधानो गुणः सति तस्मिन्नव्यवच्छित्तिभावात्। दशा०१ अ०। दश०। एतच्च शिष्यामन्त्रणे पुत्रादेरामन्त्रणे च प्रयुज्यते। उत्त०२ आ० दश०। दशा०। ''अयमाउसो'' (सूत्र-१०७) आयुष्मन्निति पुत्रादेरामन्त्रणम्। भ०२ श०५ उ०। दशा०। परार्थप्रवृत्त्यादिना प्रशस्तमायुर्द्धारयति; न तु मुक्तिमवाप्यापि तीर्थनिकारादिदर्शनात्पुनरिहायातेना-भिमानादिभावतोऽप्रशस्तमिति। तीर्थकरे, पुं०। उत्त०२ अ०। दशा०। स्था०। यथोच्यते कैश्चित् -''ज्ञानिनो धर्म्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम्। गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥१॥''एवं ह्यनुमूलितरागादिदोषत्वात्तद्वचसोऽप्रमाण्यमेव स्यान्निः- शेषोन्मूलने हि रागादीनां कुतः पुनरिहागमनसम्भवः। स्था०१ ठा०। ''सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं'' (सूत्र-१×)। आचा० १ श्रु०१ अ०१ उ०। स०। दश०। दशा०। विष्कुम्भाव-धिकेतृतीये योगे, पुं०। विष्कुम्भः प्रीतिरायुष्मान्। ज्यो०ति०। वाच०।

आउसुह- न० (आयुःशुभ) तीर्थकरादिसम्बन्धिनि शुभे आयुष्क-र्मणि, दश०१ अ०।

आउसोय- न० (अप्शौच) अद्भिः शौचमप्शौचम्। प्रक्षालनात्मकेशौचभेदे, ''जलशौचं तु पञ्चमम्'' इति। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

आउस्सिय-न० (आवश्यक) अवश्यं भावः मनोज्ञा०। वुञ् अवश्यंभावे, प्रज्ञा ३६ पदा आ०म०।

आउस्सियकरण-न० (आवश्यककरण) आवश्यकेन आवश्यं-भावेन करणमावश्यककरणम् केवलिसमुद्घातात्पूर्वं केवलि-नामवश्यकर्त्तव्ये व्यापारविशेषे, तथादि समुद्घातकेऽपि कुर्वन्ति केचिच्च न कुर्वन्ति इदञ्चावश्यककरणं सर्वेऽपि केवलिनः कुर्वन्तीति (अत्र विशेषः 'आउज्जीकरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः।) प्रज्ञा० ३६ पद। आ०म०। वाच०।

आउह-न० (आयुध) आयुध्यतेऽनेन। रा०। जी०। आयुध्करणे धञर्थे कः। वाच० अक्षेप्येऽस्त्रे च। औ० ज्ञा०। प्रहरणे० विशे० १८६६ गाथा। ''गहियाउहप्पहरणाणं।'' (३१ सूत्र-) गृहीतान्यायुधानि खड्गादीनि प्रहरणाय यैस्ते तथा तेषाम्। अथवा- आयुधान्यक्षेप्याणि, प्रहरणानि तु क्षेप्याणीति विशेषः। औ० ज्ञा०। शस्त्रमात्रे, तस्य भेदाः समासतस्त्रिधा- प्रहरण-हस्तमुक्त- यन्त्रमुक्तभेदात्। तत्र हस्तस्थितैर्यैः प्रह्रियते तानि प्रहरणानि यथा खड्गादीनि, हस्तमुक्तानि चक्रादीनि, यन्त्रमुक्तानि शरादीनि, तेषां सर्वेषां युद्धसाधनत्वादायुधत्वम्। वाच०।

आउहघर-न० (आयुधगृह) प्रहरणशालायाम्, जं० ३ वक्ष०।

आउहघरसाला-स्त्री० (आयुधगृहशाला) प्रहरणगृहशालायाम्, जं० ३ वक्ष०।

आउहघरिय-पुं० (आयुधगृहिक) आयुधाध्यक्षे,। ''तएणं से आउहघरिए'' (सूत्र-४३) ततः चक्ररत्नोत्पत्तेरनन्तरं सः। आयुधगृहिको यो भरतेन राज्ञाऽऽयुधाध्यक्षः कृतोऽस्तीति गम्यम्। जं० ३ वक्ष०।

आउहागार-न० (आयुधागार) षष्ठी त० प्रहरणशालायाम्, औ०। ज्ञा०। (प्रहरणकोशे), स्था० ९ ठा० ३ उ०। तच्च राज्ञां प्रहरणास्थापनार्थं गृहम्। वाच०।

आउहि (न्)- त्रि० (आयुधिन्) आयुधं प्रहरणमस्त्यस्य। शस्त्रधारके, वाच० विशे० १८६६ गाथा।

आऊसिय-त्रि० (आयूषित) आ-यूष् क्त। वाच०। प्रविष्टे, ''आऊसियवयणगंडदेसं'' (सूत्र-६९×) 'आऊसिय' त्तिप्रविष्टौ वदने गण्डदेशौ-कपोलभागौ यस्य तत्तथा। संकुचिते, ज्ञा०१ श्रु० ८ अ०। ''आऊसियअक्खचम्मओट्ठगंडदेसं'' 'आऊसिय' त्ति-संकुचितं यदक्षचर्म्म जलापकर्षणकोशस्तद्वत् 'उट्ठ' त्ति-अपकृष्टौ-अपकर्षवतौ संकुटितौ गण्डदेशौ यस्य स तथा तम्। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

***आभूषित**-त्रि० संकुटिते, ''आऊसियअक्खचम्मओट्ठगंडदेसं' अन्ये त्वाहुः आभूषितानि-संकुटितानि अक्षाणिइन्द्रियाणि चर्म्म ओष्ठौ च गण्डदेशौ च यस्य स तथा तम्। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

गाहा-

रक्खाभूसणहेउं, भक्खणहेउं च मट्टियागहणं।
दीहादिमक्खइए, इमाए जतणाए णायव्वं ॥१७०॥

दीहादिणा खइए मंतेणाभिमंतिऊण कडगबंधेणा रक्खा कज्जति, मट्टियं वा मुहे घोट्टडंको आऊसिज्जति-आलिप्पति वा। नि० चू० १ उ०।

आए(दे)ज्ज त्रि० (आदेय) आ-दा-यत्। आकाङ्क्षणीये, जं०२ वक्ष०। उपादेये, जी०३ प्रति ४ अधि० ग्राह्ये, सूत्र० १ श्रु०१४ अ०। ''आएज्जलढहसुविभत्तज्जायसोयसोभत्तरुइलरोमराई''। आदेया-दर्शनपथप्राप्ता सती उपादेयासुभगा। जी०३ प्रति० ४ अधि०। आदेया-दर्शनपथमुपगता सती पुनः पुनराकाङ्क्षणीया। जं०२ वक्ष०।

आए (दे) ज्जवक्क- पुं० (आदेयवाक्य) ग्राह्यवाक्ये, सूत्र० से

से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च,
धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ।
आदेज्जवक्के कुसले वियत्ते,
स अरिहइ भासिउं तं समाहिं ॥२७॥

स-सम्यग्दर्शनस्यालूषको यथावस्थितागमस्य प्रणेताऽनु-विचिन्त्य भाषकः शुद्धमवदातं यथावस्थितवस्तु-प्ररूपणातोऽध्ययनतश्च सूत्रंप्रवचनं यस्यासौ शुद्धसूत्रः। तथोपधानतपश्चरणं यद्यस्य सूत्रस्याभिहितमागमे तद्विद्यते यस्यासावुपधानवान्,तथा धर्मं श्रुतचारित्राख्यं यः सम्यक्-वेत्तिविदन्ते वा सम्यक् लभते तत्र तत्रेति य आज्ञाग्राह्योऽ-

र्थः स आज्ञयैव प्रतिपत्तव्यो हेतुतस्तु सम्यग्घेतुना। यदि वा-स्वसमयसिद्धोऽर्थः स्वसमये व्यवस्थापनीयः पर (समय) सिद्धश्च परस्मिन्। अथवा-उत्सर्गापवादयोर्व्यवस्थितोऽर्थस्ताभ्यामेव यथास्वं प्रतिपादयितव्य एतद्गुणसंपन्नश्चादयवाक्यो- ग्राह्यवाक्यो भवति। सूत्र० १ श्रु०१५ अ०।

आए (दे) ज्जणाम- न० (आदेयनाम) नामकर्मभेदे, प्रव० २१६ द्वार। तच्च- ''आएज्जा सव्वलोयगिज्जवओ'' (५०) आदेयादादेयनामोदयेन सर्वलोकेन-समस्तजनेन ग्राह्यमादेयं वचो-वचनं यस्य स तथा कर्म० १ कर्म०। यथा यदुदयवशात् यच्चेष्टते भाषते वा तत्सर्वं लोकः प्रमाणीकरोति दर्शनसमनन्तरमेव च जनोऽभ्युत्थानादि समाचरति तदादेयनाम। पं०सं० ३ द्वार। श्रा० कर्म०।

आए(दे)ज्जवरण त्री० (आदेयवचन) ग्राह्यवचने, दशा० ४ अ०। उत्त०।

आए (दे) ज्जवयणया- स्त्री० (आदेयवचनता) सकलजनग्राह्य-वाक्यतारूपे वचनसम्पद्भेदे, दशा० ४ अ०। स्था०।

आए (दे) स- पुं० (आदेश) आ-दिश्। भावे घञ्। उपदेशे, आज्ञायाम्, वाच०। आदिश्यते-आज्ञाप्यते संभ्रमेण परिजनो यस्मिन्नागते तदातिथेयाया तदासनदानादिव्यापारे, स आ देशः। सूत्र०२ श्रु०१ अ०। आचा०। उत्त०। आदितीत्यादेशः। आयासकरे, व्य० ९ उ०। अभ्यर्हिते, उत्त० ६ अ०। नायकादौ प्राधूर्णके, उत्त० ६अ०। ''आए सो पाहुणगं''। आदेशं करोतीत्यादेशः। नि० चू० १ उ०। ध०। आचा०। आ० म०। ''सागरियस्स आएसे'' (सूत्र १-२-३-४-)'' सागारिकपिंडस्य प्रतिपादकं यत् आदिमं सूत्रं तस्य संबन्धः, अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्यासागरिको नाम शय्यातरस्तस्याऽऽदेश आयासकर आदेशः। यदि वा आदेशितः आदेशः। अथवा आदेशत इति शब्दसंस्कारस्तस्य व्युत्पत्तिमग्रे वक्ष्यामः। स च नायको मित्रं प्रभुः परतीर्थको वा द्रष्टव्यः। व्य० ९ उ०।

आदेशमनापृच्छ्य त्रिरात्रात्परं यतः प्रायश्चितं संवासवक्तव्यता-

जे भिक्खू वहियावासिंय आएसं परं तिरायाउ अवकालेत्ता संवसावेइ संवसावंतं वा साइज्जइ॥१४॥

आगतो आदेशं करोतीति आएसः; प्राघूर्ण्णकमित्यर्थः। सो य अण्णगच्छवासी बहियावासी। भण्णंति तमागतं परतो तिरायतो परतो 'तिण्हदिणाणं' तिअविफालियविप्फलणाणाम वियडणा किं णिमित्तं आगता अणवज्जंतो वा भदंत। कतो आगया, कहिं वा वच्चह, एवं अविफालेंतस्स चउत्थदिणे चउगुरुं भवति, आणादिणो य दोसा।

गाहा-

बहिवासगच्छवासी, आदेसं आगयं तु जो संतं।
तिण्हदिवसाण परतो, ण पुच्छती संवसाणादी ॥१५७॥

गताथा। गतो आरतो अविफालेंतस्स दोसा।

गाहा-

पढमदिण वितिएँ ततिए, लहुगुरुलहुगा य सुत्त तेण परं।
संविग्गमणुण्णितरे, होंतदपुट्ठे इमे दोसा ॥१५८॥

पढमदिणे अविफालेंतस्स मासलहुं। वितियदिणे मासगुरुं। ततियदिणे चउलहुं। 'तेण परं' ति-चउत्थदिणे सुत्तणिवातो; चउगुरुमित्यर्थः। संविग्गो उज्जमंतो मणुण्णा संभवति तो पासत्थदिणो वा एए जइ अपुच्छिते संवासेति तो ता इमे दोसा भवंति॥

गाहा-

उवचरगअहिमरे वा, छेवतितो तेणा मेधुणऽट्ठी वा।
रायादवकारी वा, पउत्त अत्ता व तेणो वा ॥१५९॥

कत्ताइ सो तेण वेसगाहणेणं उवचरो-भंडितो गच्छति, अहिमरो यदि गच्छति छेवति-असंविग्गो हि तो भण्णति संपक्ख परिक्खातेणि-तुमागतो तेणगो वा गच्छति, मेहुणं सेवेतुमागतो मेहुणट्ठी वा गच्छति, रण्णो वा अवकारं काउमागतो, रण्णो वा अवकारकारणाए गच्छति, वा विकप्पे आयरियस्स वा उदाइ- मारकवत्। भावे 'तेणो' सिद्धं ताव हरणट्ठताए केणति पउत्तो आगतो, अप्पणा वा, गोविंदवाचकवत्। एवमादिदोसा भवति अपुट्ठे पुच्छितो वा इमं भणे।

गाहा-

उवसंपयावराहे, कज्जे कारणिएँ अट्ठजाते वा।
बहिताउ गच्छवासि-स्साऽऽदीवण एवमादीहिं ॥१६०॥
कज्जे भत्तपरिण्णा, गिलाण राया य धम्मकहि वादी।
छम्मासा उक्कोसा, तेसिं तु वइक्कमे गुरुगा ॥१६१॥

तुब्भं चेव उवसंपज्जाणियव्वा आगतो, अवराहाऽऽलोयणं वा दायणं वा दाहामि त्ति आगतो कुलगणासंघकज्जेण वा आगतो, असिवादीहिं वा करणेहिं आगतो, अट्ठजायणिमित्तेण वा आगतो, हंसो बहिया गच्छवासी विप्फालितो एवमादीकारणे दीविज्जा आयरिओवि विप्फालितो, एवमाइकारणे सुहं जाणति कारणे तिण्हदिणाणं परतो न विप्फाले आलोयणं वा न पडिच्छे, कुलगणसंघकज्जेण आयरिओ वा वडो न विप्फालेति, भत्तपरिभत्ती अणसणोवचिट्ठो तत्थ वा वाउलो, गिलाणंकज्जेण वा वडो दिणं वा सव्वं, रन्नो धम्ममाइक्खति, परवादिणा वा सद्धिं वादं करेति, एवमादिकारणेहिं तिण्हदिणाणं परतो अविफालंतो विशुद्धो, उक्कोसेण जाव छम्मासा। छम्मासात-क्कमपढमदिणे अविफालंतस्स च गुरुगा।

गाहा-

अण्णेण पडिच्छावे, तस्साऽमति संतं पडिच्छते रत्तिं।
उत्तरवीमंसासुं, खिण्णो द णिसिं पि ण पडिच्छो ॥१६२॥

तिरातिक्कमे अण्णेण वि आलोयणं 'पडिच्छावे' ति-अण्णस्स वा आलायणारहियस्साऽसति सयमेव 'रातो' पडिच्छति अह एसो वि परवादुत्तरवीमसाए वा वडो दिवा वादकारणेण खिण्णो वीमंसंता एतो वि ण पडिच्छति एवं छम्मासा पत्ता छम्मासं ते वि अण्णे पडिच्छावति एसेव भावेत्यर्थः।

गाहा-

दोहिं तिहिं व दिणेहिं, जतिअच्छति तो न होति पच्छित्तं।
तेण परमणुण्णवणा, कुलाइँ रण्णो व दीवेंति ॥१६३॥

छण्हं मासाणां परतो दोहिं तिहिं कज्जं ण समप्पेति तो कुलगणासंघस्स रण्णो वा णिवेदेति जेहिं वा वडो भविस्सामि तेण णागमिस्सं कारणेणा विप्फालेज्जा।

गाहा-

वितियपदमणप्पज्जे, अंतगणादागयं ण विप्फाले।
अप्पज्जं च गिलाणं, अच्छितुकामं च वच्चंतं ॥१६४॥

अणवज्जो ण विफालेति, ण विफालिज्जति वा, अवज्जो गिलाणेण पुच्छिज्जति गिलाणं वा वडो वा सो वा आदेसो। गिलाणो ण पुच्छिज्जति गिलाणं वा वडो वा आएसो न पुच्छिज्जति। अहवा तेण अपुच्छिएण चेव कहियं, जहातुब्भ सगासे अच्छिउकामो आगतो, अहवा-अपुच्छिएण चेव कहियं इहाहं वसितुं इमिणो कारणेण गच्छामि चेव, एव अविफालंतो सुद्धो।

सूत्रम-

जे भिक्खू साहिगरणं अविउसवियं पाहुणगं अकडपायच्छित्तं परं तिरायाओ विप्फालियं अविप्फालियं संभुंजइ संभुजुंतं वा साइज्जइ ॥१५॥

'जति' णिट्टेसे, भिक्खू-पुव्वावणितो, 'सह'-अधिकरणे, कषाय-भावशुभभावाधिकरणसहितेत्यर्थः। विविधं विविधेहिं वा पगारेहिं उसवियं-उवसामियं किं तं पाहुडं; कलहमित्त्यर्थः। ण वि ओसवियं अविओसवियं पाहुडं तंमि पाहुडकरणे जं पच्छित्तं भंडं जेण सो कडपच्छित्तो अ, मा, नो, ना, प्रतिषेधे,। तत्कृतं प्रायश्चित्तमकृत-प्रायश्चित्त-जो तं संभुजणसंभोएण संभुजति। एगमंडलीए सभुजंते त्ति वुत्तं भवति। अहवा-दाणग्गहेणं संभोएणं भुंजति, तस्स चउगुरुगा, आणादिणो य दोसा। नि० चू० १० उ० आज्ञापने, बृ० १ उ० ३ प्रक० स्था० आज्ञायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ०। आदेशिते, आदिश्यते-सत्कारपुरस्सरमाकार्य्यत इत्यादेशः इति व्युत्पत्तेः। व्य०९ उ०। आदेशनमादेशः। उपचारे, (व्यवहारे)। स्था० ४ ठा० २ उ०। विशे०। आ०म० उपचारेऽर्थे, (आदेशवक्तव्यता 'आएससव्व' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) उद्गम-दोषविशेषस्यौद्देशिकस्य तृतीये भेदे च। स च निर्ग्रन्थ-शाक्यतापसगैरिकाजीविकानां श्रमणानां कृते चादेशाख्यमिति। आदिश्यते-ज्ञाप्यते इत्यादेशः। (कर्म्मकरादिके) यः कस्यांचित् क्रियायां नियोज्यते कर्म्मकरादिः। आचा० २ श्रु०२ चू० ६ अ०। प्रकारे, नि०चू०१ उ०। ''गहियाऽगहियम्मि आदेसे'' (८२×) गृहीतागृहीतविषये आदेशः-प्रकारश्चतुर्भङ्ग्यात्मकः। व्य०२ उ०।

दव्वओ १, खेत्तओ २, कालओ ३, भावओ ४। दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ। खेत्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वखेत्तं जाणंइ, पासइ। एवं कालओ, भावओ वि। (सूत्र-३२१+)।

आदेशः-प्रकारः सामान्यविशेषरूपस्तत्रादेशेनोद्यतो द्रव्यमात्र-तया नतु तद्गतसर्वविशेषापेक्षयेति भावः। अथवा-देशेन श्रुतपरिकर्म्मिततया सर्वद्रव्याणि-धर्मास्तिकायादीनि जानाति अवायधारणापेक्षयाऽवबुध्यते; ज्ञानस्यावायधारणारूपत्वात्। भ० ८ श० २ उ०। आदेशः-प्रकारः स च द्विधा-सामान्यरूपो, विशेषरूपश्चेति। नं०।

कोऽयमादेश इत्याह-

आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं।
धम्मत्थि आइयाइं, जाणइ, न उ सव्वभेदेणं॥४०३॥

इह आदेशो नाम ज्ञातव्यवस्तुप्रकारः, स च द्विविधः-सा-मान्यप्रकारो, विशेषप्रकारश्च। तत्रौघादेशेन-सामान्यप्रकारेण; द्रव्यसामान्येनेत्यर्थः, सर्वद्रव्याणि-धर्मास्तिकायादीनि जानाति असंख्येयप्रदेशात्मको लोकव्यापकोऽमूर्त्तः प्राणिनां पुद्गलानां च गत्युपष्टम्भहेतुर्द्धर्मास्तिकाय इत्यादिरूपेण कियत्पर्याय- विशिष्टानि षडपि द्रव्याणि सामान्येन मतिज्ञानी जानातीत्यर्थः। विशे०। ''अन्नो वि य आएसो'' अन्योवाऽऽदेशः प्रकारः। बृ० ३ उ०। आदिश्यत इत्यादेशः आचार्यपारम्पर्यश्रुत्याऽऽयातो वृद्ध-वादोऽयमैतिह्यमाचक्षते, स आदेशः। वृद्धवादाऽऽयाते दृष्टान्ते, आचा० १ श्रु०८ अ०१ उ०। आदिश्यत इत्यादेशः निर्द्देशे, नि० चू०१ उ०। आदिश्यत इत्यादेशः। व्यापारनियोजने, आचा०२ श्रु०१ चू० १ अ० १ उ०। प्रतिपादने, ''धुयमादिसंति'' धूतम् मोक्षम् आदिशन्ति-प्रतिपादयन्ति। सूत्र०१ श्रु०१ अ०। प्रतिवचने विशे०। मते, ''मोत्तूणादेसतिगं'' मुक्त्वा परिहृत्यादेशत्रिकं मतत्रिकम्। पिं०। विकल्पे, ''आदेसाइमे होंति'' आदेशाः-विकल्पाः। नि०चू० १ उ० आङ्इतिम-र्य्यादया विशेषरूपानतिक्रमात्मिकया आदिश्यते-कथ्यत इत्यादेशः विशेषे, उत्त०।

०००००००००००००००००००००आएसे चेवऽणाएसे ॥४७॥

आदिट्ठो आएसं-मि बहुविहे सरिसणाणचरणगते।
सामित्तपव्वयाइं-मि चेव किंचित्तओ वोच्छं ॥४७॥

आङ्इति-मर्यादया विशेषरूपानतिक्रमात्मिकया आदि-श्यतेकथ्यत इति आदेशो-विशेषस्तस्मिन् तदन्यस्त्वनादेशः सामान्यं पूर्वत्र चैवशब्दयोः। समुच्चयावधारणार्थयो-र्भिन्नक्रमत्वात्तस्मिंश्चैव तत्र क्षेत्रविषयोऽनादेशे यथा जम्बूद्वीपजोऽयम्, आदेशे तु-यथा भारतोऽयं, कालविषयोऽनादेशे यथादौष्यमिकोऽयम् आदेशे तु-वासन्तिकोऽयं, भावविषयोऽना देशे भाववानयम्, आदेशे त्वौदयिकादिभाववानिति। सामान्यावगमपूर्वकत्वाद्विशेषावगमस्यैवमुदाहियते। निर्युक्तौ तु विपर्ययाभिधानं जम्बूद्वीप इति सामान्यमपि लोकापेक्षया विशेषो भरतमिति, विशेषोऽपि मगधाद्यपक्षेया सामान्यमित्यादिरूपेण सर्वत्र सामान्यविशेष- योरनियतत्वख्यापनार्थम्। उत्त०१ अ०।

आएसो पुण दुविहो, अप्पियववहारणप्पितो चेव।
एक्कक्को पुण तिविहो, अप्पाणा परे तदुभए य ॥४८॥

आदेशोऽभिहितरूपः पुनःशब्दो विशेषणे, द्विविधो-द्विभेदः, कथमित्याह- 'अप्पिअववहाराणप्पिओ चेव' तिव्यवहारशब्दोऽत्र उमरुकमणिन्यायेनोभयत्र संबद्ध्यते, ततश्चार्पितो व्यवहारो यस्मि-न्सोऽयमर्पितव्यवहारः, मयूरव्यंसकादित्वात्समासः अनर्पितव्यवहा-रस्तु तद्विपरीतस्तत्रार्पितो नाम क्षायिकादिर्भावः स्वाधारे-भाववति ज्ञातोऽयमित्यादिरूपेण ज्ञानमस्येत्यादिरूपेण वा वचनव्यापारेण वक्त्रा स्थापितः अनर्पितस्तु वस्तुतः साधारत्वेऽपि निराधारप्र-रूपणार्थं विवक्षितो यथा सर्वभावप्रधानः क्षायिको भा-

वोऽनयोरपि भेदानाह-एकैक इति अर्पितव्यवहारः, अनर्पित-व्यवहारश्च। पुनस्त्रिविधः, कथमित्याह- 'अत्ताण' त्तिआकर्षत्त्वादात्मनि परस्मिन् तयोरात्मपरयोरुभयं तदुभयं तस्मिंश्च विषयसप्तम्यश्चैताः, ततो विषयत्रैविध्येनानयोस्त्रैविध्यम्। उत्त०१ अ०। (आदेशाऽनादेशयोर्बहुवक्तव्यता 'संजोग' शब्दे सप्तमभागे करिष्यते) व्यपदेशे, आचा०।

एओवम आएसो, वाए ऽसंतेऽवि रूवंमि ॥१६७॥

एतदुपमानो वायावपि भवति आदेशो-व्यपदेशः। आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०।

केसिंचिय आएसो, दंसण, णाणेहिँ वट्टए तित्थ (५५)

केषांचिद् दुर्विदग्धबुद्धीनां ज्ञानलवाध्मातचेतसां- कदाग्रहग्रस्तमनसाम् आदेशो-व्यपदेशः गूरणेति यावत् दर्शनज्ञानाभ्यां वर्त्तते। दर्श० ४ तत्त्वा श्रुतपरिकर्मिततायाम् , भ०८ श०२ उ०। श्रुतपरिकर्मणायाम्। भ० ८ श०२ उ०। सूत्रे च। ''आदेशो ण उववज्जतीति अणवद्धडो होति'' भवति आदेशः; सूत्रादित्यर्थः। नि०चू० १ उ०।

तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, न पासइ। (सूत्र-३६)

अथवा-आदेश इति-सूत्रादेशस्तस्मात्सूत्रादेशात्सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, नतु साक्षात्सर्वाणि पश्यति। नं०।

आएसो त्ति व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स मइनाणं।
पसरइ तब्भावणया, विणा सुत्ताणुसारेणं ॥४०५॥

अथवा-आदेशः सूत्रमुच्यते, तेन सूत्रादेशेन सूत्रोपलब्धेष्वर्थेषु तस्य मतिज्ञानिनः सर्वद्रव्यादिविषयं मतिज्ञानं प्रसरति। विशे०।

अङ्गोपाङ्गादिसूत्रेष्वबद्धा ये भावाः- पदार्था ज्ञानिभिः प्रकाशिताश्च ते कस्य तीर्थकरस्य समये कियन्त आदेशा उच्यते-

एवं बद्धमबद्धं, आएसाणं हवंति पंच सया।
जह एगा मरुदेवा, अचंतं थावरा सिद्धा ॥१०२३॥

एवम्-अनन्तरोक्तप्रकारं सर्वं (बद्धं) लोकोत्तरं श्रुतम्। लौकिकं त्यारण्यकादि द्रष्टव्यम् अबद्धं पुनरादेशानां भवन्ति पञ्चशतानि, किंभूतानीत्यत आह-यथैका-तस्मिन् समये अद्वितीया मरुदेवी-ऋषभजननी अत्यन्तस्थावरा-अनादिवनस्पतिराशेरुद्धृत्य सिद्धानिष्ठितार्था संजाता। उपलक्षणमेतत् अन्येषामपि स्वयं भूरमणजलधिमत्स्यपद्मपत्राणां वलयव्यतिरिक्तसकल-संस्थानसंभवादीनामिति, लौकिकमप्यनिबद्धं वेदितव्यम् । अङ्डिकाप्रत्यङ्डिकादिकरणं ग्रन्थाऽनिबद्धत्वात्। अत्र वृद्धसंप्रदायः-

''आरुहए पवयणे पंच आएससयाणि जाणि अणिबद्धाणि, तत्थेगं मरुदेवा णावि अंगे णा उवंगे पाढो अत्थि, जहा-अचंतं थावरा होइऊण सिद्धत्ति, बिइयं सयंभुरमणे समुद्दे मच्छाणं पउमपत्ताण य सव्वसंठाणाणि अत्थि वलयसंठाणं मोत्तुं, तइयं विण्हुस्स सातिरेगजोवणसयसहस्सविउव्वणं, चउत्थं करडओकुरुडा, दोसट्ठियरुवज्जाया, कुणालाणयरीए निद्धणमूले वसही, वरिसासु देवयाणुकंपणं, नागरेहिं निच्छुहणं, करडेण रूसिएण वुत्तं 'वरिस देव ! कुणालाए,' उक्कुरुडेण भणियं-'दस दिवसाणि पंच य' पुणरवि करडेण भणियं-'मुट्ठिमेत्ताहिं धाराहिं' उक्कुरुडेण भणियं-'जहा रत्तिं तहा दिवं' एवं वोत्तूणमवक्कंता, कुणालाएवि पण्णरसदिवसअणुबद्धवरिसणेणं सजाणवया (सा) जलेण उक्कंता तओ ते तइयवरिसे साएए णयरे दोऽवि कालं काऊण अहे सत्तमाए पुढवीए काले णरगे बावीससागरोवमट्ठिईआ णेरइया संवुत्ता। कुणालाणयरीविणा-सकालाओतेरसमे वरिसे महावीरस्स केवलणाणसमुप्पत्ती। एयं अनिबद्धं एवमाइ पंचाऽऽएससयाणि अबद्धाणि एवं लोइयं अबद्धकरणं बत्तीसं अड्डियाओ बत्तीसं पचड्डियाओ सोलस करणाणि, लोगप्पवाहे पंचट्ठाणाणि, तंजहा-आलीढं, पच्चालीढं, वइसाहं मंडलं, समपयं। तत्थालीढं दाहिणं पायं अग्गओहुत्तं काउं वामपायं पच्छओहुत्तं ओसारेइ, अंतरं दोण्हवि पायाणं पंचपाया, एवं चेव विवरीयं पच्चालीढं, वइसाहं पण्हीओ अब्भिंतराहुत्तीओ समसेढीए करेइ, अग्गिमयलो बहिराहुत्तो, मंडलं दोवि पाए दाहिणवामहुत्ता ओसारेत्ता ऊरुणोवि आउंटावेइ जहा मंडलं भवइ, अंतरं चत्तारि पया, समपायं दोवि पाए समं निरंतरं ठवेइ, एयाणि पंचट्ठाणाणि, लोगप्पवाए (हे) सयणकरणं छट्ठं ठाणं, इत्यलं विस्तरेण। आव०१ अ०। (सूत्रस्यादेशत्वे बहुवक्तव्यता 'आभिणिबोहियणाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

***एष्य**-त्रि०। आगमिष्यति, सूत्र०। 'आएसा वि भवंति सुव्वया'' (२०×) आगमिष्यांश्च ये भविष्यन्ति। सूत्र०१ श्रु०२ अ०३ उ०।

***आवेश**-पुं०। आविशतीत्यावेशः यस्मिन् स्थाने प्रविष्टे सागारिकस्याऽऽयासो जन्यते स आवेशः। ज्ञातिके, स्वजने, सुहृदि, प्रभौ, परतीर्थिके च। व्य०।

भाष्यकृदादेशशब्दव्याख्यानमाह-

आयासकरो आए-सितो उ आवेसणं व आविसइ।
सो नायगो सुही वा, पभू व परतित्थितो वाऽवि ॥२॥

आयासकर आदेशः आदिशतीत्यादेश इति व्युत्पत्तेः, आदिशितो वा आदेशः। आदेश्यते सत्कारपुरस्सरमाकार्यत इत्यादेशव्युत्पत्तेः। अथवा-आवेश इति संस्कारस्तत्र व्युत्पत्तिमाह-आवेशनं वाशब्दः शब्दसंस्कारापेक्षया विकल्पने, आविशतीत्यावेशः आवेशनं नाम यस्मिन् स्थाने प्रविष्टेन सागारिकस्याऽऽयासो जन्यते, स आदेशः, आवेशो वा नाम ज्ञातिकः-स्वजनः सुहृदा-मित्रं प्रभुर्वा-नायकः परतीर्थिको वाऽपि। व्य०९ उ०। आ-विश-घञ्। अहङ्कारभेदे, संरम्भे, अभिनिवेशे, आसङ्गे, अनुप्रवेशे, यथा भूताऽऽवेशः। ग्रहभये, भूताद्यावेशरोगे च। वाच०।

आएसकारिन्- पुं (आदेशकारिन्) आज्ञाकारिणि, कौटुम्बिकादौ, ''कोडुंवियपुरिसे सद्दावेंति'' (सूत्र-१२×) कौटुम्बिकपुरुषान् - आदेशकारिणः। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

आएसग (य)- त्रि० (आदेशक) आदिशति। आ-दिश् घाण्वुल्। आदेशकारके, आज्ञाकारके, वाच०। *आदिश्यते यस्मिन्नागते संभ्रमेण* परिजनस्तदासनदानादिव्यापारे स आदेशक:। प्राघूर्णके, सूत्र० २ श्रु०१ अ०।

आएसग्ग- न० (*आदेशाग्र*) *आदिश्यत इत्यादेशो-व्यापार- नियोजना।* अग्रशब्दोऽत्र परिमाणवाची, तत्र च यत्र परिमितानामादेशो; दीयते तदादेशाग्रम्। (आचा०) आदिश्यते इत्यादशा निर्देश इत्यर्थ: आदेशेनाग्रं आदेशाग्रम् । नि० चू० १ उ०। परिमितानामादेशे, तद्यथा-त्रिभि: पुरुषै: कर्म्म कारयन्ति तान्वा भोजयति। आचा० २ श्रु०१ चू०१ अ०१ उ०।

गाहा-

आदेसग्गं पंचंगु-लादि जं पच्छिमं तु आदिसति।
पुरिसाणा व जोयंते, भोयणाकम्मादिकज्जेसु ॥५३॥

आदिश्यते इति आदेशो; निर्देश इत्यर्थ: तेण आदेसेण अग्गं आदेशग्गं, तत्थुदाहरणं पंचंगुलादि; पंचण्हं अंगुलीदव्वाण कम्मट्ठिताण जदि पच्छिमं आदिसति तं आदेसग्गं भवति आदेसकारणं इमं भोयणकाले जहा सत्तट्ठाणे बहुआण कम्मट्ठिताण इमं बहुयं भोजयसु त्ति (आदिसति) एवं कम्माइकज्जेसु वि नेयं। गयं आदसग्गं। नि० चू०१ उ०।

***आवेशन**- न०। आ-विश आधारे ल्युट। वाच०। लोहकारादिशालायाम्। आचा०२ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ०। तानि चायस्कार कुम्भकारादिस्थानानि येषु लोका आविशन्ति। औ०। शिल्पशालायाम्, तत्र हि मनोऽभिनिवेशेन च कार्य्य-करणात्तस्यास्तथात्वम्। भूतावेशादिरोगे, कोपादौ, वाच०।

आएसपर- त्रि० (आदेशपर)आदिश्यते-आज्ञाप्यते इत्यादेश:। य: कस्यांचित्क्रियायां नियोज्यते कर्म्मकरादि: स चासौ परश्चादेशपर: । कस्यांचित्क्रियायां नियुक्ते कर्म्मकरादौ, आचा०२ श्रु०२ चू० ६ अ०।

भोअणपिंसणमादी-सु एगखेत्तट्ठियं तु जं पच्छा।
आदिसइ भुंजऊणसु, व आएसपरो हवइ तत्थ ॥५८३॥

एतद्भाजनं प्रतीतं, पेषणं-व्यापारणं तदादिषु कारणेषु यं कञ्चन पुरुषमेकस्मिन् क्षेत्रे स्थितमपि पश्चात्पर्यन्ते आदिशतियथा, भुङ्क्ष्व-भोजनं विधेहि, कुरु वा कृष्यादिकर्म्म, एष आदेशपरो भवति आदश-आज्ञापनं तदाश्रित्य पर: पाश्चात्य आदेशपर:। बृ०१ उ० ३ प्रक०।

आएसभत्त- न० (आदेशभक्त) आएसो-पाहुणगो आगतो तस्स भत्तं आदेशभक्तम्। प्राघूर्णकभक्ते। नि० चू० ९ उ०। ('एतद्वक्तव्यता' 'भत्त' शब्दे ५ पञ्चमे भागे करिष्यते)

आएससव्व- पु० (आदेशसर्व) आदेशनमादेश:- उपचारो व्यवहार:। स च बहुतरे प्रधाने वाआदिश्यते, देशेऽपि यथा- विवक्षितं घृतमभिसमीक्ष्य बहुतरे भुक्ते; स्तोके च शेषे उपचार: क्रियते- ''सर्वं घृतं भुक्तं'' प्रधानेऽप्युपचार: क्रियते, यथा-ग्रामप्रधानेषु गतेषु पुरुषेषु ''सर्वो ग्रामो गत'' इति व्यपदिश्यत इति। आदेशत: सर्वमादेशसर्वमुपचारसर्वमित्यर्थ:। स्था०४ ठा०२ उ०। उपचारेण सर्वस्मिन् , स्था०४ ठा०२ उ०। आ०म०।

आदेशसर्वस्य स्वरूपम्-

आएसो उवयारो, सो बहुतरए पहाणतरए वा।
देसे वि जहा सव्वं, भत्तं भुत्तं गओ गामो ॥३४८८॥

आदेश:-उपचार: स च बहुतरे प्रधानतरे वा आदेशोऽपि सर्वतया प्रवर्तते, *तद्यथा-परिगृहीतं भक्तमध्याद्बहुतरे भुक्ते सति आदिश्यते-सर्वमनेन* भुक्तमिति। प्रधानेतराऽऽदेशे च कतिपयपुरुषेषु गतेषु शेषेष्ववतिष्ठ-मानेष्वप्यादिश्यते, लोकेयथा-''गत: सर्वो ग्राम:''। विशे०।

आएसिन्- त्रि० (आदेशिन्) आदिशति। आ-दिश् णिनि। आदेशकारके, वाच०। अभिलाषिणि, ''वण्णादेसी णारभेकंचण (सूत्र-१५४×)। वर्ण:- साधुकारस्तदादेशी वर्णादेशी- वर्णाभिलाषी-सन्नारभते कञ्चन। आचा० १ श्रु०५ अ०३ उ०।

आएसिय- त्रि० (आदेशिक) उपदेष्टरि, सूत्र०।

(सम्यग्ज्ञानवतामुपदेष्टृणां गुणानाविर्भावयन्नाह)-

लोयं विजाणंति ह केवलेणं,
पुण्णेण णाणेण समाहिजुत्ता।
धम्मं समत्तं च कहंति जे उ,
तारंति अप्पाण परं च तिण्णा ॥५०॥

सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। (आस्या गाथाया व्याख्या 'अद्दगकुमार' शब्दे १ प्रथमभागे ५५९ पृष्ठे गता) आदेशितो वा आदेश: आदेशात्सत्कार-पुरस्सरमाकार्यत इत्यादेश इति व्युत्पत्ते:। (व्य०) आदेशे, (नायकादौ प्राघूर्णके)। व्य०९ उ०।

आओग- पुं० (आयोग) आ युज घञ्। गन्धमाल्योपहारे, व्यापारे, रोधे, सम्यक् सम्बन्धे च। वाच०। द्विगुणादिलाभे, स्था० ठा० ३ उ०। द्विगुणादिवृद्ध्याऽर्थप्रदाने च। भ० २ श० ५ उ०। परिकरे, ''भीमसंगामि आओगं'' (सूत्र)। भीम:-सांग्रामिक आयोग:- परिकरो यस्य। ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०।

आओगपओग- पुं० (आयोगप्रयोग) आयोगस्य-अर्थला-भस्य प्रयोगा-उपाया:। औ०। आयोगेन द्विगुणादिलाभेन द्रव्यस्य प्रयोगोऽधमर्णानां दानम् । स्था०८ ठा० ३ उ०। द्रव्योपार्जनोपाय- विशेषे, स्था० ९ ठा० ३ उ०। द्विगुणादिबुद्ध्याऽर्थप्रदाने कालान्तरे प्रयोगे च। भ० २ श० ५ उ०।

आओगपओगसंपउत्त- वि० (आयोगप्रयोगसम्प्रयुक्त) आवाहन-विसर्जनकुशले, रा०। आयोगो द्विगुणादिवृद्ध्यार्थप्रदानं प्रयोगश्च कालान्तरितौ सम्प्रयुक्तौ व्यापारितौ यैस्ते तथा। भ०२ श०५ उ०। आयोगप्रयोगा-द्रव्योपार्जनोपायविशेषा: सम्प्रयुक्ता:- प्रवर्त्तिता येन स तथा, स्था०१ ठा०। आयोगस्य-अर्थलाभस्य प्रयोगा- उपाया: संप्रयुक्ता-व्यापारिता येन तेषु वा सम्प्रयुक्तो व्यापृतो य: स। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०। प्रवर्त्तितद्रव्योपार्जनोपायविशेषे स्था० ९ ठा० ३ उ०। द्रव्योपार्जनो-पायविशेषेषु प्रवृत्ते च । ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। आयोगेन द्विगुणादिलाभेन द्रव्यस्य प्रयोग: अधमर्णानां दानम् तत्र संप्रयुक्तानि-व्यापृतानि

तेन वा संप्रयुक्तानि-संगतानीति। स्था० ८ ठा ३ उ०। द्विगुणादिलाभेन द्रव्यप्रयोगेषु व्यापृते, द्विगुणादिलाभार्थम् द्रव्यप्रयोगेण संगते च। स्था० ८ ठा० ३ उ०।

आंवुरिग्गाम- पुं० (आंवुरिग्राम) अशीतितीर्थजिनान्तर्गतश्री मतिदेवजिनाधिष्ठिते ग्रामविशेषे, आंवुरिग्रामे श्रीमतिदेवः। ती० ४३ कल्प।

आकंखा- स्त्री० (आकाङ्क्षा) आ-काङ्क्ष-अङ् अभिलाषे, न्यायमते, वाक्यार्थज्ञानहेतौ, यत्पदं विना यत्पदस्यानन्वय- स्तत्पदे तत्पदवत्त्वरूपे संबन्धे, पदान्तरव्यतिरेकेणान्वयाभावे च। वाच०। वाञ्छायाम्, षो० १५ विव०। (अभिलाषायाम्) आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०। ''तत्तत्त्वं यद् दृष्ट्वा, निवर्त्तते दर्शनाऽऽ-काङ्क्षा''॥१२॥ दर्शनाकाङ्क्षा-दर्शनवाञ्छा। षो० १५ विव०।

आकंदमाण- त्रि० (आक्रन्दत्) आकन्दशब्दं कुर्वति, विपा०१ श्रु० ९ अ०।

आकंप- पुं० (आकम्प) आवर्जने, स्था० १० ठा० ३ उ०। व्य०ध०। आराधने, व्य० १ उ०। आ-ईषदर्थे, कपि घञ्। ईषत्कम्पे वाच०।

आकंपइत्ता- अव्य० (आकम्प्य) आराध्येत्यर्थे, व्य०१ उ०। आवर्ज्येत्यर्थे, ध० २ अधि०। स्था०। (आकम्पालोचनो हि आलोचकस्य दशसु दोषेषु प्रथमो दोषः 'आलोणा' शब्देऽग्रेऽस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्यः)

आकंपइत्तु-(आकम्प्य)अव्य०। आवर्जेत्यर्थे, स्था०१० ठा०३ उ०।

आकंपण- न० (आकम्पन) आराधने, आवर्जने च। व्य० १ उ०। ध०। आकम्पते, आ-कपि-युच्। ईषत्कम्पनशीले, त्रि०। भावे ल्युट् ईषत्कम्पे, न०। आ-कपि-णिच्-ल्यु०। ईषच्चालके त्रि०। तत एव भावे ल्युट् ईषच्चालने, न० वाच०।

आकड्ढ- पुं० (आकर्ष) अभिमुखमाकर्षणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। नि०चू०।

आकड्ढण- न० (आकर्षण) अभिमुखं कर्षणमाकर्षणम्। अभिमुखकर्षणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। ''आकड्ढणमाकसणं'' अप्पणो तेण आगड्ढणमागसणं''। नि०चू० १८ उ०।

आकड्ढविकड्ढ- पुं० (आकर्षविकर्ष) द्वि० अभिमुखकर्षणविपरीतकर्षणयोः, ''आकड्ढविकड्ढ'' (सूत्र-४×)। आकृष अभिमुखं कर्षणं कुरु। वि-कृष विपरीतं कर्षणं कुरु। प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

आकड्ढविकड्ढिया- स्त्री० (आकर्षविकर्षिका) अभिमुखमाकृष्टस्य विपरीतकर्षणे, प्रश्न०१ आश्र०द्वार। ''आकड्ढविकड्ढिं करेमाणे'' (सूत्र-५५६+)। भ० १५ श०। नि०चू०।

आकण्णन- न० (आकर्णन) श्रवणे, आचा०१ श्रु०१ अ० १ उ०। ध०र०। (एतद्वक्तव्यता) 'सवण' शब्दे सप्तमे भागे दृष्टव्या) आ-कर्ण्ण ल्युट् श्रवणे, ''मुदा तदाकर्णनतत्परोऽभत्।'' नैष०। वाच०।

आकण्णिय- त्रि० (आकर्णित) श्रुते, आचा० १ श्रु०१ अ०१ उ०।

आकम्हिय- त्रि० (आकस्मिक) अकस्मादित्यव्ययं कारणाभावे, कारणं विना भवः। विनया० ठक् टिलोपः। अकस्माद्भवे, स्त्रियां ङीष्। वाच०। अकस्मादेव यद्भवति तदाकस्मिकम्। विशे० निर्युक्तिके आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। अहेतुके, विशे०।

वज्जनिमित्ताभावा, जं भवमाकम्हियं तं ति ॥३४५१॥

यत्तु बाह्यनिमित्ताभावात् -अकस्मादेव भवति तदाकस्मिकम्। विशे०। (एतद्वक्तव्यता 'सभाव' शब्दे सप्तमभागे करिष्यते)

आकिइ- स्त्री० (आकृति) आ-कृञ्-क्तिन्। **''इत्कृपादौ''** ॥८।१।१२८॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणेत्त्वम्। प्राकृतत्वात्त- कारलोपः। प्रा०। आक्रियते-व्यज्यते जातिरनया। करणेक्तिन्। जाति-व्यञ्जकेऽवयवसंस्थानभेदे, ''आकृतिग्रहणा जातिः'' महाभा०। जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थाः। गौ० सू०। वाच०। आकारे, आ०म०१ अ०। ज्ञा०। संस्थाने, नयो०। 'आगार त्ति वा आग त्ति वा संठाणं ति वा एगट्ठा' आ० चू० १ अ०। आकृतिशब्देन प्राण्यवयवानां पाण्यादीनां तदवयवानां चाङ्गुल्यादीनां संयोगोऽभिधीयते। तथा च सूत्रम्- ''आकृतिजातिलिङ्गाख्या'' (न्यायद० अ०२ आ० २ सू० ६७) इति अस्य भाष्यम्। (सम्म०१ काण्ड २ गाथाटी०। (''सद्द'' शब्दे सप्तमे भागे विस्तरतः प्रतिपादयिष्यते) (अस्याः शब्दार्थत्वविचार 'आगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे करिष्यते) रूपे, ''यत्राकृतिस्तत्र गुणावसन्ति'' आचा० १ श्रु०१ अ० १ उ०।

आकिइमंत- त्रि० (आकृतिमत्) प्रशस्तस्वरूपोपेते, ''जो वि अगीतो वि आगइमंतो'' (९७×)। अगीतार्थोऽपि आकृतिमान्- रूपेण मकरध्वजतुल्यः स गणधरपदे निवेश्यते। व्य०३ उ०।

आकिंचणिय- नं० (आकिंचन्य) अकिञ्चनस्य भावः ष्यञ्। दरिद्रतायाम्। वाच०। नाऽस्य किञ्चन द्रव्यमस्तीत्यकिञ्चनस्तस्य भाव आकिञ्चन्यम्। प्रव० ६६ द्वार। षो०। ध०। कनकादिरहित- तायाम्, पञ्चा० ११ विव०। आकिंचणियंनत्थि जस्स किंचण सो अकिंचणो तस्स भावो आकिंचणियं, कंमनिज्जरट्ठं सदेहादिसु विणस्समेण भवितव्वं। आ०चू०४ अ०।

आकिंचणियव्वय- न० (आकिञ्चन्यव्रत) पञ्चमे महाव्रते, ध०।

परिग्रहस्य सर्वस्य, सर्वथा परिवर्जनम्।
आकिञ्चन्यं व्रतं प्रोक्त-मर्हद्भिदर्हितकाङ्क्षिभिः॥४४॥

सर्वस्य-सचित्ताऽचित्तादिविषयस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयस्य वा परिग्रहस्य-मूर्च्छाभावस्य सर्वथा त्रिविधे त्रिविधेन परिवर्जनं- त्यागः तत् आकिञ्चन्यव्रतं, न विद्यते किंचन द्रव्यं यस्यासाव- किञ्चनस्तस्य भाव आकिञ्चन्यं तच्च तद्व्रतं चेति समासः; अपरिग्रहव्रतमित्यर्थः। प्रोक्तप्रज्ञप्तं कैरर्हद्भि-र्जिनैः, किंविशिष्टैस्तैर्हितकाङ्क्षिभिर्हितेच्छुभिरिति शब्दार्थः। ध०३ अधि०।

आकीलवास- पुं० (आक्रीडावास) गौतमद्वीपस्थसुस्थित-लवणाधिपतेरत्यर्थक्रीडावासे भौमेयविहारे, जी०। (तद्वक्तव्यता 'गोयमदीव' शब्दे तृतीये भागे वक्ष्यते)। जी०३ प्रति०४ अधि०।

आकुट्ठ- त्रि० (आक्रुष्ट)। आ-क्रुश-क्त। कृताक्रोशे, यं प्रति आक्रोश: कृतस्तस्मिन्, शब्दिते, निन्दिते च। भावे क्रु०। पुरूषभाषणे, न०। ''माज्जारिमूषिकास्पर्शे आक्रुष्टे क्रोधसम्भवं''। कात्या०। आक्रुष्टे, परुषभाषणे, वाच०। वाग्भिराक्रुष्टं, आचा०१ श्रु०६ अ०३ उ०। ''आक्रुष्टन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मति: कार्या। यदि सत्यं क: कोप:, स्यादनृतं किं नु कोपेन॥१॥'' सूत्र०१ श्रु०१४ अ०।

आकूय- न० (आकूत) आ-कू-भावे क्त०। आशये, अभिप्राये, वाच०। अभिप्रेते वस्तुनि, विशे०। भावे च०। विशे०।

आकेवलिय- पुं० (आकेवलिक) न केवलमकेवलं तत्र भवा आकेवलिका: सद्वन्द्वे, (सप्रतिपक्षे) असम्पूर्णे च०। ''आकेवलिएहिं'' (सूत्र-२८२+) आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ०।

आकोसायंत- त्रि० (आकोशायमान) आकोशायते इत्याकोशायमानम्। विकचीभवति कमलादौ, जी०। ''आकोसायेतपउमगंभीरवियडा'' (सूत्र-१४७×)। आकोशायते इत्याकोशायमानं, विकचीभवदित्यर्थ:। पद्मं तद्वद्गम्भीरा विकटा च नाभिर्येषां ते। जी०३ प्रति० ४ अधि०।

आखंडल- पुं० (आखण्डल) आखण्डयति भेदयति पर्व्वतान् आ-खडि-डलच् डस्य नेत्त्वम्। इन्द्रे, वाच०। ''अ० (आखे) क्खंडलो सुरवइ, पुरंदरो वासवो सुणासीरो।'' (२३+) पाइ० ना० २३ गाथा। (अस्य वक्तव्यता 'सक्क' शब्दे सप्तमभागे वक्ष्यते)।

आगइ- स्त्री० (आगति) आगमनमागति: नारकत्वादेरेव प्रज्ञापकप्रत्या-सन्नस्थाने प्रतिनिवृत्तौ, (आगमने) स्था० १ ठा०। कल्प०। ''गइं च जो जाणइऽणागइं च'' (२०+)। यश्च जीवानामागतिम्-आगतम् कुत: समागता नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवा:। सूत्र० २ श्रु० १२ अ०। ''एगस्स जंतो गतिरागती य।'' (१८×)। आगति: -आगमनं भवान्तरादुपजायते कर्म- सहायस्यैव। सूत्र० २ श्रु० १३ अ०। उत्पत्तौ, स्था० ७ ठा० ३ उ०। ''एगा आगती'' (सूत्र-४३+)। आगनम्- आगतिर्नारकत्वादेरेव प्रति-निवृत्तिस्तदेकत्त्वं गतेरिवेति) स्था० १ ठा०।

नैरयिकाणां दण्डकक्रमेण गत्यागती-

नेरइया दुगइया दुयागइया पन्नत्ता, तं जहां-नेरइए नेरइए सु उववज्जमाणे मणुस्सेहिंतो वा पंचिंदियतिरक्खजोणिएहिंतो वा उववज्जेज्जा। से चेव णं से नेरइए नेरइयत्तं विप्पजहमाणे मणुस्सत्ताए वा पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छेज्जा। एवं असुमाराणं वि, णवरं चेव णं से असुरकुमारे असुरकुमारत्तं विप्पजहमाणे माणुस्सत्ताए वा तिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छेज्जा। एवं सव्वदेवा, पुढविकाइया दुगइया दुयागइया पन्नत्ता, तं जहा-पुढविकाइए पुढविकाइएसु उववज्जमाणे पुढविकाइएहिंतो वा णो पुढविकाइएहिंतो उववज्जेज्जा। से चेव णं से पुढविकाइयत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए वा णो पुढविकाइयत्ताए वा गच्छेज्जा, एवं० जाव मणुस्सा। (सूत्र-७८)।

दण्डक: कण्ठ्यो नवरं नैरयिकानारकाद्वयो:- मनुष्यगतितिर्यग्गतिलक्षणयोर्गत्या।धिकरणभूतयोर्गतिर्येषां ते तथा, द्वाभ्यामेताभ्या-मेवाऽवधिभूताभ्यामागति: आगमनं येषां ते तथा, उदितनारकायुर्नारक एव व्यपदिश्यते, अत उच्यते- 'नेरइए नेरइएसु' त्ति-नारकेषु मध्ये इत्यर्थ:। इह चोद्देशक्रमव्यत्ययात् प्रथमवाक्येनागतिरुक्ता, 'से चेव णं से' त्ति-यो मानुषत्त्वादितो नरकं गत: स एवाऽसौ नारकोनाऽन्य:, अनेनैकान्ताऽनित्यत्वं निरस्तमिति। 'विप्पजहमाणे' त्तिविप्रजहन् -परित्यजन् , इह च भूतभावतया नारकव्यपदेश:, अनेन वाक्येन गतिरुक्ता, इत्थञ्च व्याख्यानं तेजस्कायिकाद्यागतयस्तिर्यङ्मनुष्यापेक्षया एकगतयस्तिर्यगपेक्षयेति वाक्यमुपजीव्येति, 'एवं असुरकुमारावि' त्ति-नारकवद्वक्तव्या इत्यर्थ:, 'नवरं' त्ति-केवलमयं विशेष:- तिर्यक्षु न पञ्चेन्द्रियेष्वेवोत्पद्यन्ते। पृथिव्यादिष्वपि तदुत्पत्तेरित्यत: सामान्यत आह-'से चेव णं से' इत्यादि जाव तिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छेज्ज' त्ति-'एवं सव्वदेव' त्तिअसुरवद् द्वादशाऽपि दण्डकदेवपदानि वाच्यानि तेषामप्ये-केन्द्रियेषूत्पत्तेरिति। 'नो पुढविकाएहिंतो' त्ति-अनेन पृथ्वी-कायिकनिषेध-द्वारेणाष्कायिकादय: सर्वे गृहीता द्विस्थान-कानुरोधादिति, तेभ्यो वानारकवर्जेभ्य: समुत्पद्यते। 'नोपुढविका-इयत्ताए' त्ति-देवनारकवर्जाऽष्कायादितया गच्छेदिति, 'एवं जाव मणुस्से' त्ति-यथा पृथ्वीकायिका ''दुगइया'' इत्यादिभिरभिला-प्यैरुक्ता:, एवमेभिरेवाष्कायिकादयो मनुष्याऽवसाना: पृथ्वीकायिक-शब्दस्थानेऽप्कायादिकव्यपदेशं कुर्द्विरभिधातव्या इति। व्यन्तरादयस्तु पूर्वमतिदिष्टा एवेति। स्था० २ ठा० २ उ०। ('उववाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे आगति: कुत्त उत्पद्यत इत्यादि वक्ष्ये)

एकेन्द्रियादीनां गत्यागती-

एगिंदिया पंचगइया पंचाऽऽगइया पण्णत्ता, तं जहा-एगिंदिए एगिंदिएसु उववज्जमाणे एगेंदिएहिंतो वा० जाव पंचेंदिएहिंतो वा उववज्जेज्जा। से चेव णं से एगेंदिए एगेंदियत्तं विप्पजहमाणे एगेंदियत्ताए वा० जा पचेंदियत्ताए वा गच्छेज्जा। बेइंदिया पंचगइया पंचाऽऽगइया एवं चेव। एवं० जाव पंचेंदिया पंच गइया, पंचाऽऽगइया पंण्णत्ता, तं जहा पंचेंदिया० जाव गच्छेज्जा। (सूत्र-४५८+) स्था०५ ठा० ३ उ०।

पृथ्वीकायिकादीनां गत्यागती-

पुढविकाइया छ गइया, छ आगइया पन्नत्ता, तं जहापुढ-विकाइए पुढविकाइएसु पुढविकाइएहिंतो वा० जाव तस-काइएहिंतो वा गच्छेज्जा णो चेव णं से पुढविकाइए पुढ-

विकाइयत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए वा ०जाव तसकाइयत्ताए वा गच्छेज्जा। (सूत्र-४८३×)। स्था० ६ ठा० ३ उ०।

अण्डजाऽऽदीनां गत्यागतिप्रतिपादनाय सूत्रम्।

अंडगा सत्तगइया सत्ताऽऽगइया पण्णत्ता, तं जहा-अंडगे अंडगेसु उववज्जमाणे अंडगेहिंतो वा पोयएहिंतो वा ० जाव उब्भिएहिंतो वा उववज्जेज्जा, से चेव णं से अंडए अंडगत्तं विप्पजहमाणे अंडयत्ताए वा पोययत्ताए वा जाव उब्भियत्ताए वा गच्छेज्जा। पोयया सत्तगइया सत्ताऽऽगइया एवं चेव सत्तण्ह वि गहरागई भाणियव्वा ० जाव उब्भियत्ति। (सूत्र- ५४३)।

'अंडये' त्यादि सूत्रसप्तकम्, तत्र मृतानां सप्तगतयः अण्डजादियोनिलक्षणा येषां ते सप्त गतयः सप्तभ्य एवाण्डजादियोनिभ्यः आगतिरुत्पत्तिर्येषां ते सप्ताऽऽगतयः। 'एवं चेव' त्ति-यथाऽण्डजानां सप्तविधे गत्यागती भणिते तथा पोतजादिभिः सह सप्तानामप्यण्डजादिजीवभेदानां गतिरागतिश्चभणितव्या। 'जाव उब्भिय' त्ति-सप्तमसूत्रं यावदिति, शेषं सुगमम्। स्था० ७ ठा० ३ उ०।

अंडया अट्ठगइया अट्ठाऽऽगइया पण्णत्ता, तं जहा-अंडए अंडएसु उववज्जमाणे अंडएहिंतो वा० जाव उववाइएहिंतो वा उववज्जिज्जा। से चेव णं से अंडए अंडगत्तं विप्पज्जहमाणे अंडगत्ताए वा पोयगत्ताए वा० जाव उववाइयत्ताए वा गच्छेज्जा। एवं पोयया वि। जराउया वि। सेसाणं गइरागई नऽत्थि। (सूत्र-५९५+)।

'अट्ठविहे' त्यादि, सूत्रचतुष्टयं सुगमं, नवरमौपपातिका देवनारकाः, 'सेसाणं' ति-अण्डजपोतजजरायुजवर्जितानां रसजादीनां गतिरागतिश्च नास्तीत्यष्टप्रकारेति शेषः, यतो रसजादयो नोपपातिकेषु सर्वेषूत्पद्यन्ते, पञ्चेन्द्रियाणामेव तत्रोत्पत्तेः। नाप्यौपपातिका रसजादिषु सर्वेष्वप्युपपद्यन्ते पञ्चेन्द्रियैकेन्द्रियेष्वेव तेषामुपपत्तेरिति अण्डजपोतजजरायुजसूत्राणि त्रीण्ययेव भवन्तीति। स्था० ८ ठा० ३ उ०।

पृथ्वीकायिकादीनां पुनरपि गत्यागती-

पुढविकाइया नवगइया नवआगइया पण्णत्ता, तं जहा पुढविकाइए पुढविकाइएसु उववज्जमाणे पुढविकाइएहिंतो वा० जाव पंचिंदिएहिंतो वा उववज्जेज्जा, से चेव णं से पुढविक इए पुढविकाइयत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए ० जाव पंचिंदियत्ताए वा गच्छेज्जा॥२॥ एवं आउकाइयाऽवि॥३॥ ० जाव पंचिंदियत्ते॥१०॥ (सूत्र- ६६६×)। स्था० ९ ठा० ३ उ०।

गत्यागतिपरिज्ञानेन कर्मक्षयम्-

आगतिं गतिं परिण्णाय दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणेहिं से ण छिज्जति, ण भिज्जति, णा डज्जति, ण हण्णति कंचणं सव्वलोए। (सूत्र-११६×)।

आगमनमागतिः, सा च तिर्यग्मनुष्ययोश्चतुर्द्धा चतुर्विधनरकादिगमनसद्भावाद्, देवनारकयोर्द्विधा-तिर्यङ्मानुष्यगतिभ्यामेवागमनसद्भावादेवं देवगतिरपि मनुष्येषु तु पञ्चधा, तत्र मोक्षगतिसद्भावाद् अतस्तामागतिं गतिं वा परिज्ञाय संसारचक्रवालेऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायं वेत्य मनुष्यत्वे मोक्षगति- सद्भावमाकल्प्यान्ते हेतुत्वादन्तौ रागद्वेषौ ताभ्यां द्वाभ्यामन्ताभ्यामदृश्यमानाभ्यामनपदिश्यमानाभ्यां वा, क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियागाह- 'से' इत्यादि 'से'- आगतिगतिपरिज्ञता रागद्वेषाभ्यामनपदिश्यमानो न छिद्यते अस्यादिना, न भिद्यते कुन्तादिना, न दह्यते पाचकादिना, न हन्यते नरकगत्यानु- पूर्व्यादिना बहुशः। अथवा रागद्वेषाभावात्सिध्यत्येव, तदवस्थस्य चैतानि छेदनादीनि विशेषाणानि, 'कंचण' मिति- विभक्तिविपरिणामात् केनचित् सर्वस्मिन्नपि लोके न छिद्यते, नापि भिद्यते रागद्वेषोपशमादितितदेवमागतिगतिपरिज्ञानाद्रागद्वेषपरित्यागः, तदभावाच्च छेदनादिसंसारदुःखाऽभावः।

अपरे तु सांप्रतेक्षिणः कुतो वयमागताः? क्व यास्यामः? किं वा तत्र न संपत्स्यते? नैवं भावयन्त्यतः संसारभ्रमणं पात्रतामनुभवन्तीति दर्शयितुमाह-

अवरेण पुव्विं न सरंति एगे,
किमस्स तीयं वत्तिं वाऽऽगमिस्सं।
भासंति एगे इह माणवाओ,
जमस्स तीयं व तमागमिस्सं॥१॥
नाऽईयमट्ठं न य आगमिस्सं,
अट्ठं नियच्छन्ति तहाऽऽगया उ।
विहूयकप्पे एयाणुपस्सी,
निज्जोसइत्ता खवगे महेसी॥२॥

'अवरेण' इत्यादिरूपकम्, अपरेण-पश्चात्कालमाविना सहपूर्वमतिक्रान्तं न स्मरन्ति अन्ये-मोहाज्ञानावृतबुद्धयो, यथा किमस्य जन्तोर्नरकादिभवोद्भूतं बालकुमारादिवयोपचितं वा दुःखाद्यतीतं किं वाऽऽगमिष्यति आगामिनि काले किमस्य सुखाभिलाषिणो दुःखद्विषो भावीति। यदि पुनरतीताऽऽगामि- पर्यालोचनं स्यान्न तर्हि संसारे रतिः स्यादिति, उक्तं च-''केण समेत्थुप्पत्ती, कहं इओ तह पुणो वि गंतव्वं। जो एत्तियं पि चिंतइ, इत्थं सो को न निव्विण्णो''॥१॥ एके- पुनर्महामिथ्याज्ञा नेनो भाषन्ते- इहास्मिन्संसारे- मनुष्यलोकेवा मानवा- मनुष्या यथा यदस्य- जन्तोरतीतं- स्त्रीपुंनपुंसकसुभगदुर्भगश्वगोमायुब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रादिभेदावेशात्पुनरप्यन्यजन्मानुभूतं तदेवागमिष्यम्-आगामीति। यदि वा-न विद्यते परः-प्रधानोऽस्मादि-त्यपरः संयमस्तेन वासितचित्ताः सन्तः पूर्वं पूर्वानुभूतं विषयसुखोपभो-गादि न स्मरन्ति- न तदनुस्मृतिं कुर्वते, एके- रागद्वेषविप्रमुक्ताः, तथा नाऽऽगतदिव्याङ्गनाभोगमपि नो काङ्क्षन्ति, किंच-अस्य जन्तोरतीतं सुखदुःखादि किं वाऽऽगमिष्यम्-आगामीति एतदपि न स्मरन्ति, यदि वा-कियान् कालोऽतिक्रान्तः कियानेष्यति लोकोत्तरास्तु भाषन्ते एके- रागद्वेषरहिताः केवलिनश्च- तुर्दशपूर्वविदो वा यदस्य जन्तोरनादिनिधनत्वा-

त्कालशरीरसुखाद्यतीतमागामिन्यपि तदेवेति, अपरे तु पठन्ति- ''अवरेणा पुव्वं किह से अतीतं, किह आगमिस्सं न स (म) रंति एगे। भासंति एगे इह माणवाओ, जह से अईयं तह आगमिस्सं''॥१॥ (अस्याः १ व्याख्या)- अपरेणा- जन्मादिना सार्द्धं पूर्वम्- अतिक्रान्तं जन्मादि न स्मरन्ति, कथं वा केन प्रकारेणाऽतीतं- सुखदुःखादि कथं चैष्यमित्येतदपि न स्मरन्ति, एकेभाषन्ते- किमत्र ज्ञेयम्? यथैकस्य रागद्वेषमोहसमुत्थैः कर्मभिर्बध्यमानस्य जन्तोरस्तद्विपाकांश्चानुभवतः संसारस्य यदतिक्रान्त- मागाम्यपि तत्प्रकारमेवेति। यदि वा-प्रमाद- विषयकषायादिना कर्माण्युपचित्येष्टानिष्टविषयाननुभवतः सर्वज्ञवाक्सुधास्वादासंविदो यथा संसारोऽतिक्रान्तस्तथाऽऽगा- म्यपि यास्यति॥१॥ ये तु पुनः संसारार्णवतीरभाजस्ते पूर्वोत्तरवेदिन इत्येतद्दर्शयितुमाह- 'नाऽईयमि' त्यादि, तथैव- अपुनरावृत्त्यागतं गमनं येषां ते तथागताः-सिद्धाः, यदि वा- यथैव ज्ञेयं तथैव गतं-ज्ञानं येषां ते तथागताः सर्वज्ञाः, ते तु नाऽतीतमर्थमनागतरूपतयैव नियच्छन्ति- अवधारयन्ति नाप्यनागतम- तिक्रान्तरूपतयैव, विचित्रत्वात्परिणतेः। पुन-रर्थग्रहणं पर्यायरूपार्थ, द्रव्यार्थतया त्वेकत्वमेवेति। यदि वा-नाऽतीतमर्थं विषयभोगादिकं, नाऽप्यनागतं- दिव्याङ्गनासङ्गादिकं स्मरन्ति, अभिलषन्ति वा, के? तथागताः-राग-द्वेषाभावात्पुनरावृत्तिरहिताः, तुशब्दो विशेषमाह-यथा मोहोदयादेके-पूर्वमागामि चाभिलषन्ति, सर्वज्ञास्तु नैवमिति, तन्मार्गानुयाय्यप्येवंभूत एवेति दर्शयितुमाह- 'विहूयकप्पे' इत्यादि, विविधम्-अनेकधा धूतमपनीतमष्टप्रकारं कर्म्म येन स विधूतः कोऽसौ कल्पःआचारः। विधूतः कल्पो यस्य साधोः स विधूतकल्पः स एतदनुदर्शी भवति; अतीतानागतसुखाभिलाषी न भवतीति यावत् , एतदनुदर्शी च किं गुणो भवतीत्याह- 'निज्जोसइत्ता' इत्यादि, पूर्वोपचितकर्म्मणां निर्जोषयिताक्षपकः, क्षपयिष्यति वा तृजन्तमेतल्लुङन्तं वा।

कर्म्मक्षपणायोद्यतस्य च धर्म्मध्यायिनः शुक्लध्यायिनो वा महायोगी- श्वरस्य निरस्तसंसारसुखदुःखविकल्पाऽऽभासस्य यत्स्यात्तद्दर्शयति-

का अरई केआणंदे? इत्थं पि अग्गहे चरे। (सूत्र-१७×)

इष्टाऽप्राप्तिविनाशोत्थो मानसो विकारो रतिः, अभिलषितार्थावा- प्तावानन्दः योगिचित्तस्य तु धर्म्मशुक्लध्यानांवशावष्टब्धध्येयान्तराव- काशस्यारत्यानंदयोरुपादानकारणाऽभावादनुत्थानमेव इत्यतोऽपदिश्यते-केयमरतिर्नामि को वाऽऽनन्द इति? नास्त्येवेतरजन- क्षुण्णोऽयं विकल्प इति। एवं तर्ह्यरतिरसंयमे संयमे चाऽऽनन्द इत्येतदन्यत्रानुमतमनेनाभिप्रायेण न विधेयमि-त्येतदनिच्छतोऽ- प्यापन्नमिति चेत्, न, अभिप्रायापरिज्ञानात् ; यतोऽत्राऽरतिरति- विकल्पाध्यवसायो निषिषित्सितो, न प्रस- ज्ञायते अप्यरत्यरती, तदाह -'एत्थं पी' त्यादि। अत्राप्यर- तावानन्दे वोपसर्ज्जनप्राये न विद्यते ग्रहो गार्द्ध्यं तात्पर्यं यस्य सो ग्रहः स एवंभूतश्चरेदवतिष्ठेत, इदमुक्तं भवति- *शुक्लध्यनादरतौ रत्यानन्दौ कुतश्चिन्निमित्तादायातौ तदाग्रहग्रहरहि-* तस्ता- वप्यनुचरेदिति। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। परस्परं द्वयोर्द्वयोः पदयोर्यत्र विशेषणविशेष्यतया प्रत्यावृत्त्याप्रातिकूल्येन गमनमागतिः। लक्षणविशेषे, विशे०। यथा ''देवो जीव'' इत्यत्र देवत्वमनूद्य जीवत्वं पृच्छ्यते इतीह प्रत्यावृत्त्या देवपदाज्जीवपदे आगतिः। विशे० २१५६ गाथा। आ०म०। (अस्याः भेदादिकम् 'गइरागइलक्खण' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

आगइगइविण्णाण- न० (आगतिगतिविज्ञान)। शुभाशुभपूर्वजन्माना- गतजन्मनां निर्णये, आगत्या- आगमनेनास्खलितेतरा- दियुक्तेन गतिविज्ञानम्, आगामिभवविज्ञानम्, आगतिविज्ञानम्। स्खलितास्ख- लितागमनेनागामिभवविज्ञाने च। पञ्चा०। ''आगइगइविण्णाणं'' ॥२५॥ आगतिगतिविज्ञानंशुभाशुभ- पूर्व-जन्मानागतजन्मनां निर्णयेन कार्यम्, अथवा- गत्या- गमन-नाऽस्खलितेतरादियुक्तेन गतिविज्ञानम्, आगामिभवज्ञान- मागतिविज्ञानाम्, इह व्याख्याने समासितमपि गतिविज्ञान- मित्येतत्पदं प्राकृतत्वेनोत्तरत्र संबन्धनीयम्। पञ्चा०२ विव०।

आगंतगार- पुं० न० (आगन्तागार)। आगन्तुकानां कार्पटिकादीनाभावा- सार्थे गृहे, सूत्र०। ''आगंतगारे आरामगारे, समणे उ भीते ण उवेति वासं।'' (२५)। आगंतुकानां कार्पटिकादीनामगारमागन्तागाम्। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

आगंता- त्रि० (आगन्तृ)। आ समंताद् गन्ता। आगन्ता। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। आगमनशीले, स्था० ३ ठा० ३ उ०। ''आगंतारो महब्भयं'' (३१×)। महाभयं पौनःपुन्येन संसारपर्य्यटनतया नारकादिस्वभावं दुःखभागन्तारः - आगमनशीला भवन्ति। सूत्र० २ श्रु० ११ अ०।

आगंतार- पुं० न० (आगन्ताऽऽगार)। ग्रामबाह्याऽऽवासे, नि० चू०। ''आगंतारो जत्थ'' आगत्य विहरंतीति आगंतारो जत्थ आगारा आगंतुं विहरंति तं० आगंतागारं गामपरिसट्ठाणति वुत्तं भवति। आगंतुगाण वा कयं अगारं आगंतागारं बाहियावसो त्ति। नि० चू० ३ उ०। आगमा- रक्खा तेहिं कतं अगारं आगंतुं जत्थ चिट्ठंति आगारा तं आगंतागारं परिसमंतागारणं गिहभावगतेत्यर्थः। पज्जायोपवज्जा सो य चरगपरिव्वायगसक्कआजीवगमादि- ऽणेगविधो। नि० चू० ३ उ०। ('अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे पृष्ठे ४६४ विस्तरो गतः)

***आगन्तार**- पुं० न० यत्र ग्रामादेर्बहिरागत्याऽऽगत्य पथिकादयस्तिष्ठन्ति तान्यागन्तागाराणि। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ०२ उ०। पत्तनाद्बहिर्गृहे आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ०८ उ०। प्रसङ्गायाता आगत्य वा यत्र तिष्ठन्ति तदागन्तारं तत्पुनर्ग्रामान्तनेगराद्बहिः स्थानम्। आचा०१ श्रु० ९ अ० २ उ०। औ०। (तत्र अन्ययूथिक-गृहस्थेभ्योऽशनादिदाननिषेधः 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे गतः)

आगंतारद्वि य- त्रि० (आगन्तुकागारस्थित)। आगन्तुकागारोषिते प्राघूर्णकादौ, बृ०।

आगंतारद्वियाणं, कज्जे आदेसमाइणा केइ।
वसिउं० विस्समिउं वा, छड्डिउं गया अणाभोगा॥१०७१॥

इह यत्रागारिण आगत्याऽऽगत्य तिष्ठन्ति तदागन्तुकागारं तत्र कार्ये कारणविशेषतः स्थितानां प्रकृतस्तत्र अवतरति, कथमित्याह आदेशाप्राघूर्णकस्तथा क्वचित्पथिका आगन्तु- कागारे रजन्यां वा समुपगता यावद् भोजनाय विश्रामं

कृतवन्तः तत उषित्वा विश्रम्य वा किंचित् द्रव्यजातमनाभोगात्परित्यज्य गताः। बृ० ३ उ०। (तत्र कर्तव्यता वसहि' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते।)

आगंतु(ग)य-त्रि० (आगन्तुक) अन्यत आगते, बृ०४ उ०। कार्पटिकादौ, सूत्र०।

उपसर्गमधिकृत्य-

आगंतुगो य पीला-करो य जो सो उवस्सग्गो ॥४५॥

अपरस्माद्-दिव्यादेरागच्छतीत्यागन्तुको योऽसावुपसर्गो भवति स च देहस्य संयमस्य वा पीडाकारी। सूत्र० १ श्रु० ३ अ०१ उ०। व्रणभेदमधिकृत्य-''आगंतुको य नाव्वो'' आगन्तुकः- कण्टकादिप्रभवः। आव० ५ अ०।

आगच्छमाण- त्रि० (आगच्छत्) प्रतिनिवर्तिनि, भ० १२ शु० ६ उ०।

आगम- पुं० (आगम)। आ-गम्-घञ्। आगतौ, प्राप्तौ च। वाच०। ''जेण आगमो होइ''॥३२×॥ आगमो भवतिप्राप्तिर्भवति। दश०१ अ०। उत्पत्तौ, सामाद्युपाये च। आगम्यते स्वत्वमनेन। स्वत्वप्रापकेक्रयप्रतिग्रहादौ, वाच०। ज्ञाने, ''आगमेत्ता आणवेज्जा'' (सूत्र-१५९×)। ज्ञात्वाऽऽज्ञापयेत्। आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। ''लाघवं आगममाणा'' (सूत्र-१८५×)। लाघवम् आगमयन्- अवबुध्य-मानः। आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

नायं आगमियं ति, एगट्ठं जस्स सो परायत्तो।
सो पारोक्खो वुच्चइ, तस्स पएसा इमे हुन्ति ॥२०८॥

ज्ञानमागमितमित्येकार्थमेवं च ज्ञानमागम इत्येकार्थमापतितम्, तत्र यस्य, स आगमोऽपराधीनः स प्रत्यक्ष उच्यते सचाऽवध्यादिरूपः। यस्य तु परायत्तः स परोक्ष उच्यते स च चतुर्दशपूर्वादि समुत्थस्तस्य परोक्षस्यागमस्य प्रदेशाः; प्रतिभागा भेदा इत्यर्थः। व्य० १ उ०। (ते च 'आगमववहार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शयिष्यते) आप्तवचनादाविर्भूतवमर्थसंवेदनमागमः। उपचारादाप्तवचनं चेति। स्या० ३८ श्लोकटी०।

आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः इति ॥१॥

आप्तः प्रतिपादयिष्यमाणस्वरूपः तद्वचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः। आगम्यन्ते-मर्यादयावबुध्यन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः। रत्ना० ४ परि०। शब्दार्थपरिज्ञाने, नयो० ८६ श्लोक। आअभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्तिरूपेण, मर्य्यादया वा यथा-वस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्ते अर्था येन स आगमः। पुन्नाम्नि घः॥५।३।१३०॥ इति करणे घप्रत्ययः। आ०म०१ अ०२१ गाथा। आणज्जंति अत्थाजेण सो आगमो त्ति। आ०चू० १ अ० २१ गाथा। केवलमनः-पर्य्यायावधिज्ञाने० स्था० ५ ठा० २ उ० ४२१। सूत्र। पञ्चा। आ० म०। नं०। व्य०। ध०। जी०। आ-समन्ताद् गम्यते वस्तुतत्त्वमनेनेत्यागमः। श्रुतज्ञाने, आ०म०१ अ० १ गाथा। आ०चू०। सर्वज्ञप्रणीतोपदेशे, आचा०१ श्रु० ६ अ०४ उ० १९३ सूत्र। व्य०। प्रतिविशिष्टवर्णानुपूर्वीविन्यस्तवर्णपदवाक्यसंघातात्मके आप्तप्रणीते (आचा०१ श्रु० १ अ० ३ उ० २९ सूत्र।) गणधरादिविरचिते (दर्श० ३ तत्त्व ९ गाथा) द्वादशाङ्गादिरूपे (सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०) सिद्धान्ते, आ०म०१ अ० ध०र०। पञ्चा०। सूत्र०। दर्श०। प्रश्न०। इहापारसंसारान्तर्गतेनाऽसुमताऽवाप्याऽतिदुर्लभं मनुजत्वं सुकुलोत्पत्तिसमग्रेन्द्रियसाम्रयाद्युपेतेनाऽर्हद्दर्शनमशेष-कर्मोच्छित्तये यतितव्यम्। कर्मोच्छेदश्च सम्यग्विवेकसव्य-पेक्षोऽसावप्याप्तोपदेशमन्तरेण न भवति, आप्तश्चात्यन्तिका-द्वेषक्षयात्, सचार्हन्नेव, अतस्तत्प्रणीतागमपरिज्ञाने यत्नो विधेयः। आगमश्च द्वादशाङ्गादिरूपः, सोऽप्यार्यरक्षित-मिश्रैरैदंयुगीनपुरुषानुग्रहबुद्ध्या चरणकरणद्रव्यधर्मकथागणितानुयोग-भेदाञ्चतुर्धा अवस्थापितः। सूत्र० १ श्रु० १ अ०१ उ०।

आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः इति ॥१॥

रत्ना० ४ परि०। (अस्य सूत्रस्य व्याख्याऽस्मिन्नेव शब्दे प्रागता) उपचारादाप्तवचने, रत्ना०।

ननु यद्यर्थसंवेदनमागमः तर्हि कथमाप्तवचनात्मकोऽसौ सिद्धान्तविदां सिद्ध इत्याशङ्क्याहुः-

उपचारादाप्तवचनं चेति ॥२॥

प्रतिपाद्यज्ञानस्य ह्याप्तवचनं कारणमिति कारणे कार्योपचारात्तदप्यागम इत्यच्यते। रत्ना० ४ परि०। स्या०। अनु०। दर्श०। दश०। आ०चू०। वचने, यो० विं०। सूत्रे, आगमश्च वन्दनकसूत्रादिकम्। आव० ४ अ०। श्रुतिस्मृत्यादिके उत्त० २५ अ०। आ-मर्य्यादा- भिविधिभ्यां परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः। चतुर्दशकदशक- नवमपूर्वे च। पञ्चा० १६ विव०। शेषं-श्रुतमाचारप्रकल्पादिकं श्रुतं नवादिपूर्वाणां श्रुतत्वेऽप्यतीन्द्रियार्थ-ज्ञानहेतुत्त्वेन साति-शयत्वादागमव्यपदेशः केवलवद्। स्था० ५ ठा० २ उ०।

आगमव्यवहारिणमधिकृत्योक्तम्-

केवलमणो हि चोद्दस, दस नव पुव्वी उ नायव्वो॥१३५॥ व्य० १ उ०।

(चतुर्दशक दशक नवमपूर्वस्यागमत्वं, तदितरस्य श्रुतत्वं) श्रुतव्यवहाराश्चाचाराङ्गदीनामष्टपूर्वान्तानामेव यदुक्तम्- 'आयारप्पकप्पाई, सेसं सव्वं सुयं विणिद्दिट्ठं।'' अत्राह कश्चित् किमष्टपूर्वान्तमेव श्रुतं, नवमपूर्वादीनां न श्रुतत्त्वम्, उच्यते आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अतीन्द्रियाः पदार्था येन स आगम इति व्युत्पत्तेः, नवमपूर्वादीनां श्रुतत्वाविशेषे केवलज्ञानादि- वदतीन्द्रियार्थेषु विशिष्टज्ञानहेतुत्वेन सातिशयत्वादागमत्वेनैव व्यपदेशः शेषश्रुतस्य तु नाऽतीन्द्रियार्थेषु तथाविधोऽव- बोधस्ततोऽस्मिनश्रुतव्यवहारः। जीत०। व्य०। आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः। प्रमाणभेदे, स्था०। स च आप्तवचनसम्पाद्यो विप्रकृष्टार्थप्रत्ययः। उक्तञ्च-

''दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्, परमार्थाभिधायिनः।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं, मानं शाब्दं प्रकीर्त्तितम् ॥१॥

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य-मदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्थं, शास्त्रं कापथघट्टनम्।२॥ इति।
स्था०४ ठा० ३ उ०।

विषयसूचनार्थमधिकाराङ्काः-

(१) आगमभेदाः ।
(२) आगमस्य स्वतः प्रामाण्यम् ।
(३) आगमस्य पौरुषेयत्वम् ।
(४) आगमश्चाऽऽप्तप्रणीत एवं प्रमाणम् ।
(५) सम्भवद्रूपस्यैवाऽऽगमस्य प्रामाण्यं, न वेदस्यैव ।
(६) मूलाऽऽगमप्रामाण्यम्, नेतराऽऽगमप्रामाण्यम् ।
(७) प्रमाणान्तराविषय एवाऽऽगमविषयः ।
(८) आगमप्रमाणस्यानुमानप्रमाणेऽन्तर्भावः ।
(९) आगमप्रामाण्ये संवादित्वम् ।
(१०) शब्दस्य बाह्यार्थप्रामाण्यम् ।
(११) अपोहः शब्दार्थ इति बौद्धाः ।
(१२) अर्थः किंस्वरूपः ।
(१३) वाच्यवाचकभावः ।
(१४) वाचकरूपस्य शब्दस्य विचारः ।
(१५) स्फोटः शब्दः । (इति 'फोड' शब्दे ५ भागे वक्ष्यते)
(१६) जैनानां वाचकः शब्दः ।
(१७) शब्दनित्यत्वविचारः ।
(१८) शब्दार्थयोः सम्बन्धः ।
(१९) शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः ।
(२०) आगमद्वैविध्यम् हेतुवादाऽहेतुवादभेदात् ।
(२१) आगमस्य सर्वव्यवहारनियामकत्वम् ।
(२२) आगमस्यैव प्रामाण्यम् धर्ममार्गे, मोक्षमार्गे च ।
(२३) जिनाऽऽगमस्यैव सत्यत्वम् ।
(२४) जिनाऽऽगमपूजासत्कारः ।
(२५) आगमशब्दस्य अर्थान्तराणि ।

(१) आगमभेदाः-

से किं तं आगमे ? आगमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-लोइए अ, लोउत्तरिए अ। से किं तं लोइए ? लोइए जण्णं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठीएहिं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पियं। तं जहा-भारहं, रामायणं ०जाव चत्तारि वेआ संगोवंगा। से तं लोइए आगमे। से किं तं लोउत्तरिए ? लोउत्तरिए जण्णं इमं अरिहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाणदंसणधरेहिं तीयप- च्चुप्पण्णमणागयजाणएहिं तिलुक्कवहिअमहिअपूइएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरसीहिं पणीअं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा- आयारो ०जाव दिट्ठिवाओ । (सूत्र १४७×)।

'से किं तं आगमे' इत्यादि, गुरुपारंपर्येणागच्छतीत्यागमः, आसमन्ताद्गम्यन्ते ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्था अनेनेति वा आगमः, अर्थ च द्विधा प्रज्ञप्तः। अनु० भ०। ज्ञा०।

अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सुत्ताऽऽगमे, अत्थाऽऽगमे, तदुभयाऽऽगमे। (सूत्र १४७+)

'अहवा आगमे तिविहे' इत्यादि, तत्र सूत्रमेव सूत्रागमः, तदभिधेयश्च अर्थ एवाऽर्थागमः, सूत्रार्थोभयरूपस्तु तदुभयागमः।

अहवा-आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-अत्थाऽऽगमे १, अणंतराऽऽगमे २, परंपराऽऽगमे ३। तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे, अत्थस्स अणंतरागमे। गणहरसीसाणं सुत्तस्स अणंतरागमे, अत्थस्स परंपरागमे। तेणं परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे, णो अंतरागमे, परंपरागमे । (सूत्र १४७+)

अथवा-अनेन प्रकारेणागमस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा- 'आत्मागम' इत्यादि, तत्र गुरूपदेशमन्तरेणात्मन, एव आगम आत्मगमो-यथा, तीर्थकराणामर्थस्यात्मागमः, स्वयमेव वेद्यलोपलब्धेः, गणधराणां तु सूत्रस्यात्मागमः स्वयमेव ग्रथितत्वात्, अर्थस्यानन्तरागमोऽनन्तरमेव तीर्थकरादाग-तत्त्वात्, उक्तं च 'अत्थं भासइ अ (रि) रहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणमि' त्यादि। गणधरशिष्याणां जम्बूस्वामिप्रभृतीनां सूत्रस्याऽनन्तरागमः अव्यवधानेन गणधरादेव श्रुतेः, अर्थस्य परंपरागमः-गणधरेणैव व्यवधानात्। तत ऊर्ध्वं प्रभवादीनां सूत्रस्यार्थस्य च नात्मागमो नानन्तरागमस्तल्लक्षणायोगात्; अपि तु परंपरागम एवा अनेन आगमस्य तीर्थकरादिप्रभवत्व-भणनेनैकान्ताऽपौरुषेयत्वं निवारयति। पौरुषताल्वादिव्या-पारमन्तरेण नभसीव विशिष्टशब्दानुपलब्धेस्ताल्वादि- भिरभिव्यज्यत एव शब्दो न तु क्रियते इति चेत्, ननु यद्येवं तर्हि सर्ववचसामपौरुषेयत्वप्रसङ्गस्तेषां भाषापुद्गलनिष्पन्नत्वाद् भाषापुद्गलानां च लोके सर्वदैवावस्थानतो पविक्रियमाणाता अयोगेन तालादिरभिव्यक्तिमात्रस्यैव निर्वर्त्तनात्। न च वक्तव्यं वचनस्य पौद्गलिकत्वमसिद्धं महाध्वनिपटलपूरितश्रवणावा-धिर्यकुड्यस्खलनाद्यन्यथानुपपत्तेः, तस्मान्नकान्तेनाऽपौरुषयमागमवचस्तालवादिव्यापाराभिव्यङ्ग्यत्वाद्ववक्तादिवाक्य-वदित्याद्यन्यत्र बहुवक्तव्यं, तत्तु नोच्यते स्थानान्तरनिर्णीत-त्वादिति। 'सेत्तं लोगुत्तरिए' इत्यादि निगमनत्रयम् । अनु०। भ०। अङ्ग०। नि० चू०। सूत्र०। ''आगमो दुविहो लोइतो, लोउत्तरिओ य । लोइतो चोद्दसविज्जाट्ठाणाणि'' ''अङ्गानि चतुरो वेदा, मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्याश्चैताश्चतुर्दश ॥१॥'' (अस्य श्लोकस्य व्याख्या) तत्राऽङ्गानि षट् ६, तद्यथाशिक्षा १ कल्पो २, व्याकरणं ३, छन्दो ४, निरुक्तं ५, ज्योतिषं ६, चेति। ''लोउत्तरो दुवालस १२, अंगा, चोद्दस १४, पुव्वाणि य''। आ० चू० १ अ०। आ० म०। ('सुय' शब्दे सप्तमे भागे प्रकारान्तरेण निक्षेपः)

(२) आगमस्य च स्वतः प्रामाण्यम् -

सिद्धं सिद्धट्ठाणं ठाणामणोवमसुहमुवगयाणं ।
कुसमयविसासणं सा-सणं जिणाणं भवजिणाणं ॥१॥

अस्याश्च समुदायार्थ एतत्पातनिकयैव प्रकाशितः, अवयवार्थस्तु प्रकाश्यते शास्यन्ते जीवादयः पदार्था यथावस्थितत्वेनानेनेति शासनं द्वादशाङ्गम्, तच्च सिद्धं प्रतिष्ठितं निश्चितप्रामाण्यमिति यावत् स्वमहिम्नैव नाऽतः प्रकरणात्प्रतिष्ठाप्यम् । सम्म० १ काण्ड ।

शब्दसमुत्थस्य स्वभिधेयविषयज्ञानस्य यदि प्रामाण्यमभ्युपगम्यते तदा-अपौरुषेयत्वस्यासंभवाद् गुणवत्पुरुषप्र-

णीतस्तदुत्पादकः शब्दोऽभ्युपगन्तव्यः, अथ तत्प्रणीतत्वं नाऽभ्युपगम्यते तदा तत्समुत्पन्नज्ञानस्य प्रामाण्यमपि न स्यादित्यभिप्रायवानाचार्यः प्राह-जिनानां रागद्वेषमोहलक्षणान् शत्रून् जितवन्त इति जिनास्तेषां शासनं तदभ्युपगन्तव्यमिति प्रसङ्गसाधनम्। नचाऽत्रेदं प्रेर्यं-यदि जिनशासनं जिनप्रतीतत्वेन सिद्धं निश्चितप्रामाण्यमभ्युपगमनीयम्; अन्यथा प्रमाण्यस्या- प्यनभ्युपगमनीयत्वादिति प्रसङ्गसाधनमत्र प्रतिपाद्यत्वेनाभिप्रेतं तत्किमिति बौद्धयुक्त्यार्हतेन त्वया स्वतः प्रामाण्य- निरासोऽभिहितः? यतः सर्वसमयसमूहात्मकत्वमेवाऽऽचार्येण प्रतिपादयितुमभिप्रेतम्। यद्वक्ष्यत्यस्यैव प्रकरणस्य परिसमाप्तौ, यथा- ''भद्दं मिच्छद्दंसणसमूहमहयस्स अमयसारस्स। जिणवय- णस्स भगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स'' ॥७०॥ (अस्यैव ग्रन्थस्य तृतीय काण्डगाथेयम्) इत्यादि। अयमेवार्थो बौद्धयुक्त्युपन्यासेन समर्थितः, अन्यत्राप्यन्यमतोऽपक्षेपेणान्यमतनिरासोऽयमेवाभि-प्रायो द्रष्टव्यः, *सर्वनयानां परस्परसापेक्षाणां सम्यग् मतत्वेन, विपरीतानां विपर्ययत्वेना-* चार्यस्येष्टत्वात्, अतएवोक्तमनेनैव (चतुर्थ) द्वात्रिंशिकायाम्- ''उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदी-रणास्त्वयि नाथ! दृष्टयः। न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥१॥'' सम्म० १ काण्ड १ गाथाटी०।

(३) आगमस्य पौरुषेयत्त्वम् -

स हि पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेयो वा ? पौरुषेयश्चेत्सर्वज्ञकृतः, तदितरकृतो वा ? आद्यपक्षे-युष्मन्मतव्याहतिः। तथा च भव- त्सिद्धान्तः-''अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते। नि- त्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो, यथार्थत्वविनिश्चयः ॥१॥'' द्वितीयपक्षे तु- तत्र दोषवत्कर्तृकत्वेनाऽनाश्वासप्रसङ्गः। अपौरुषेयेयश्चेन्न सम्भव- त्येव स्वरूपनिराकरणात्; तुरङ्गशृङ्गवत्। तथाहि- ''उक्तिः- र्वचनमुच्यते'' इति चेति पुरुषक्रियानुगतं रूपमस्य। एतत्क्रि- याभावं कथं भवितुमर्हति। नचैतत्केवलं क्वचिदध्वनदुपलभ्यते उपलब्धावप्यदृश्यवक्त्राशङ्का- सम्भवात् तस्माद्यद्वचनं तत्पौरु- षेयमेव, वर्णात्मकत्वात् कुमारसम्भवादिवचनवत्। वचना- त्मकश्च वेदः, तथाचाहुः - ''तालवादिजत्मा न तु वर्णवर्गो, वर्णात्मको वेद इति स्फुटञ्च। पुंसश्चतालवादि ततःकथं स्या दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः''॥१॥ इति। श्रुतेरपौरुषेयत्वमुररी- कृत्यापि तावद्भवद्भिरपि तदर्थव्याख्यानं पौरुषयमेवाङ्गीक्रियते। अन्यथा-'' अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः'' इत्यस्य स्वमांसं भक्ष- येदिति किं नार्थो नियामकाभावात्, ततोऽवरं सूत्रमपि पौरुषेय- भ्युपगतम्। अस्तु वा अपौरुषेयस्तथाऽपि तस्य न प्रामाण्यम् आप्तपुरुषाधीना हि वाचां प्रमाणतेति। स्या० ११ श्लोक।

जयइ सुयाणं पभवो, (२+ गाथा)

श्रुतानां-स्वदर्शन-परदर्शनानुगतसकलशास्त्राणां प्रभवन्ति सर्वाणि शास्त्राणि अस्मादिति प्रभवः-प्रथममुत्पत्तिकारणं, तदु- पदिष्टमर्थमुपजीव्य सर्वेषां शास्त्राणां प्रवर्त्तनात्, परदर्शन- शास्त्रेष्वपि हि यः कश्चित्समीचीनोऽर्थः संसारासारतास्वर्गापर्गा- दिहेतुः प्राण्यहिंसादिरूपः स भगवत्प्रणीतशास्त्रेभ्य एव समुद्धृतो वेदितव्यो, न खल्वतीन्द्रियार्थपरिज्ञानमन्तरेणातीन्द्रियः प्रमा- णाबाधितोऽर्थः पुरुषमात्रेणोपदेष्टुं शक्यते, अविषयत्वात्। नच-अतीन्द्रियार्थपरिज्ञानं परतीर्थिकानामस्तीत्येतदग्रे वक्ष्यामः। ततस्ते भगवत्प्रणीतशास्त्रेभ्यो मौलं समीचीनमर्थलेशमुपादाय पश्चादभिनिवेशवशतः स्वस्वमत्युनुसारेण तास्ताः स्वप्रक्रियाः प्रपञ्चितवन्तः। उक्तं च स्तुतिकारेण- ''सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसम्पदः। तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिताः, जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्लु (प्रु) षः ॥१॥'' शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणीः स्वोपज्ञशब्दा-नुशासनवृत्ता- वादौ भगवतः स्तुतिमेवामाह- ''श्रीवीरममृत्तं ज्योति-र्नत्वादिं सर्ववेदसाम्'' अत्र च न्यासकृतो व्याख्या- 'सर्व्ववेदसां' सर्वज्ञानानांस्व- परदर्शनसंबंन्धिसकलशास्त्रानुगत- परिज्ञानानाम् 'आदिं' प्रभवं प्रथममुत्पत्तिकारणमिति। अत एव चेह श्रुतानामित्यत्र बहुवचनम्, अन्यथैकवचनमेव प्रयुज्यते प्रायः श्रुतशब्दस्य केवलद्वादशाङ्गमा- त्रवाचिनः सर्वत्रापि सिद्धान्ते एकवचनान्ततया प्रयोगदर्शनात्, सर्वश्रुतकारणत्वेन च भगवतः स्तुतिप्रतिपादने इदमप्यावेदितं द्रष्टव्यम्- सर्वाण्यपि श्रुतानि पौरुषेयाण्येव, न किमप्यपौरुषेयमस्ति, असंभवात्। तथाहि- शास्त्रं वचनात्मकम्। वचनं च तालोष्ठपुटपरिस्पन्दादिरूपपुरुष- व्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायि, ततस्तदभावे कथं भवति? न खलु पुरुषव्यापारमन्तरेण वचनमाकाशं ध्वनदुपलभ्यते। अपि च-तदपौरुषेयं वचनमकारणत्वान्नित्यभ्युपगम्यते, 'सदकारण- वन्नित्य' मिति वचनप्रामाण्यात्। ततश्च-अत्र विकल्पयुग- लमवतेतीयते, तदपौरुषयं वचः किमुपलभ्यस्वभावम्: उताऽनुपलभ्यस्वभावं वा ? तत्र यद्यनुपलभ्यस्वभावं तर्हि तस्य नित्यत्त्वेनाभ्युपगमात्कदाचिदपि स्वभावाऽप्रच्युतेः 'सर्वदैवोप- लम्भाभावप्रसङ्गः, अथोपलम्भस्वभावं तर्हि' सर्वदानुपरमेणोपलभ्येत, अन्यथा-तत्स्वभावताहानिप्रसङ्गात्, अथोपलभ्यस्वभावमपि सहकारिप्रत्ययमपेक्ष्योपलम्भमुप-जनयति तेन न सर्वदोपलम्भप्रसङ्गः। तदयुक्तम्, एकान्तनित्यस्य सहकार्य्यपेक्षया अयोगात्। ततो विशेषप्रतिलम्भलक्षणा हि तस्य तत्रापेक्षा, यदाह धर्म्मकीर्तिः- 'अपेक्षाया विशेषप्रतिलम्भ- लक्षणत्वात्' इति। न च नित्यस्य विशेषप्रतिलम्भोऽस्ति, अनित्यत्वापत्तेः। तथाहि- स विशेषप्रतिलम्भः तस्यात्मभूतः, ततो विशेषे जायमाने स एव पदार्थस्तेन रूपेण जातो भवति, प्राक्तनं च विशिष्टावस्थालक्षणं रूपं विनष्टमित्य-नित्यत्वापत्तिः। अथोच्येत-स विशेषप्रतिलम्भो न तस्यात्मभूतः किं तु व्यतिरिक्तः कथमनित्यत्वापत्तिः? यद्येवं तर्हि कथं स तस्य सहकारी न हि तेन सहकारिणा तस्य वचनस्य किमप्युपक्रियते, भिन्नविशेषकरणात्, अथ भिन्नोऽपि विशेषतस्तस्य संबंधी तेन तत्संबन्धिविशेषकरणात् तस्याप्युपकारी द्रष्टव्य इति सहकारी व्यपदिश्यते, ननु विशेषेणापि सह तस्य वचनस्य कः संबंधो न तावत् 'तादात्म्यं' भिन्नत्वेनाभ्युपगमात्, नापि तदुत्पत्तिः, विकल्पद्वयानतिक्रमात्, तथाहि-किं वचनेन विशेषो जन्यते? उत विशेषेण वचनं? तत्र न तावदाद्यः पक्षः; विशेषस्य सहकारिणोऽभावात्, नापि द्वितीयः- च

चनस्य नित्यतया कर्त्तुमशक्यत्वात्, अथ मा भूद् वचनविशेष-योर्जन्यजनकभावः, 'आधाराऽऽधेयभावो' भविष्यति, तद्प्यसमीचीनम्, आधाराऽऽधेयभावस्यापि परस्परोपकार्योपकारक-भावापेक्षत्वात्, तथाहि बदरं पतनधर्म्मकं सत्कुण्डेन स्वानन्तरदेशस्थायितया परिणामि जन्यते, ततस्तयोराधाराधेयभाव उपपद्यते; वचनेन तु विशेषो जन्यते, तस्यान्यतो भावात्, ततः कथमनयोराधाराधेयभावः? अथ तेन विशेषेण वचनस्योपकारः कश्चित् क्रियते ततः स तस्य संबन्धी, न तु स उपकारस्ततो भिन्नः, अभिन्नो वेत्यादि तदेवावर्तते इत्यनवस्था। अपि च- कुतः प्रमाणाद्वचनस्यापौरुषेयत्वाभ्युपगमः, कर्तुरस्मरणादितिचेत्, न, तस्याप्यसिद्धत्वात्, तथाहि-स्मरन्ति-जिनप्रणीतागम- तत्त्ववेदिनो वेदस्य कर्तृन् पिप्पलादप्रभृतीन् सकर्तृस्मरण- वादस्तेषां मिथ्यारूप इति चेत्, क इदानीमेवं सति पौरुषेयः सर्व्वस्याप्यपौरुषयत्त्वप्रसक्तेः। तथाहि कालिदासादयोऽपि कुमारसंभवादिष्वात्मानमन्यं वा प्रणेतारमुपदिशन्त एवं प्रतिक्षेप्तुं शक्यन्ते मिथ्यात्वमात्मानमन्यं वा कुमारसंभवादिषु प्रणेतारमुपदिशन्तीति। ततः कुमारसंभवादयोऽपि ग्रन्थाः सर्व्वेऽप्यपौरुषेया भवेयुः तथा च-कः प्रतिविशेषो वेदे ? येन स एव प्रमाणतयाभ्युपगम्यते; न शेषाऽऽगमाः। अपि चयौष्मा- कीणैरपि पूर्वमहर्षिभिः सकर्तृकत्वं वेदस्याभ्युपगतमेव, तथा च-तदग्रन्थः- ''ऋग्गिरावृचश्चक्रुः सामानि सामगिरावितिं''। अथ तत्र करोतिः स्मरणे वर्त्तते, न निष्पादने, दृष्टश्च करोतिर- र्थान्तरेऽपि वर्तमानो, यथा संस्कारे तथा च लोकेवक्तारः- 'पृष्ठं मे कुरु पादौ मे कुर्विति' अत्र हि संस्कारे एव करोतिर्वर्तते, नापूर्वनिर्वर्त्तने संभवति अशक्यक्रियत्वात्, ततोऽन्यथानुपपत्त्या संस्कारे एव करोतिर्वर्त्तते, वेदविषये तु नान्यथानुपपन्नत्वं किमपि निबन्धनमस्ति। ततः कथं तत्र स्मरणे वर्तयितुं शक्यते? स्यादेतत् यदि वेदविषये करोतिः स्मरणेन वर्त्तेत तर्हि वेदस्यं प्रामाण्यं न स्याद्, अथ च प्रामाण्यमभ्युपगम्येत, तद्धा-पौरुषेयत्वादेव, अन्यथा सर्वागमानामपि प्रामाण्यप्रसक्तेः। ततोऽत्रापि करोतिः प्रामाण्यान्यथानुपपत्त्या स्मरणे वर्त्य इति, तदेतदसत्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्, तथाहि प्रामाण्ये सिद्धे सति तदन्यथानुपपत्त्या करोतेः स्मरणे वर्त्तनं, करोतेः स्मरणे वृत्तौ चापौरुषेयत्वसिद्धितः प्रामाण्यमित्येकाऽसिद्धावन्यतरा- ऽसिद्धिः, अनैकान्तिकं च कर्तुरस्मरणं, 'वटे वटे वैश्रवणः' इत्यादिशब्दानां पौरुषेयाणामपि कर्तुरस्मृतेः यत्नवान् तत्कर्त्तारमुपलभत एवेति चेत्, नावश्यं तदुपलम्भसंभवः, नियमाभावात्, किं च-पौरुषेयत्वेनाभ्युपगतस्य वेदस्य कर्त्ता नैवास्ति कश्चित् पौरुषेयत्वेनाभ्युपगतस्य च वटे वटे वैश्रमणा इत्यादिरस्तीति न प्रमाणात् कुतश्चिद्विनिश्चयः, किं तु परोप-देशात्, स च भवतो न प्रमाणं, परस्य रागादिपरीतत्वेन यथावद्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, ततः कर्तृभावसंदेह इति संदिग्धासिद्धोऽप्ययं हेतुः, एतेन यदन्यदपि साधनमवादीत् वेदवादी- 'वेदाध्ययनं सर्वं गुर्व्वध्ययनपूर्वकं' वेदाध्ययनत्वाद्, अधुनातनवेदाध्ययनवदिति। तदपि निरस्तमवसेयम्। एवम्- पौरुषेयत्वसाधने सर्व्वस्याप्यपौरुषेयत्वप्रसक्तेः, तथाहि कुमारसंभवाध्ययनं सर्व्वं गुर्व्वध्ययनपूर्वकं, कुमारसंभवाध्ययनत्वात्, इदानींतनकुमारसंभवाध्ययनवादिति कुमारसंभवादीनामध्ययनाऽऽदितासिद्धेरपौरुषेयत्वं दुर्निवारम्, न च तेषामपौरुषेयत्वं स्वयं करणपूर्वकत्वेनापि तदध्ययनस्य भावाद् एवं वेदाध्ययनमपि किंचित् स्वयं करणापूर्वकमपि भविष्यतीति वेदाध्ययनत्वादिति व्यभिचारी हेतुः, स्यादेतत्, वेदाऽध्ययनम् स्वयं करणापूर्वकं न भवति, वेदानां स्वयं कर्तुमशक्तेः। तथा चात्र प्रयोगः- पूर्वेषां वेदरचनायामशक्तिः, पुरुषत्वाद्, इदानींतन-पुरुषवदिति, तदप्ययुक्तम् अत्रापि हेतोर्व्यभिचारात्, तथाहि-भारतादिष्विदानींतनपुरुषाणामशक्तावपि कस्यचित्पुरुषस्य व्यासादेः शक्तिः श्रूयते, एवं वेदविषयेऽपि, संप्रति पुरुषाणां कर्तुमशक्तावपि कस्यचित्प्राक्तनस्य पुरुषविशेषस्य शक्तिर्भविष्यतीति। अपि च यथाग्निसामान्यस्य ज्वालाप्रभवत्व-मरणिनिर्मथनप्रभवत्वं च परस्परमबाध्यबाधकत्वान्न विरुध्यते, को ह्यत्र विरोधः अग्निश्च स्यात् कदाचिदरणिनिर्मथनपूर्वकः कदाचित् ज्वालान्तरपूर्वकश्च। ततो यथाऽऽद्योऽपि पथिककृतोऽग्निर्ज्वालान्तरपूर्वको नारणिनिर्मथनपूर्वकः पथिकाऽग्नित्वाद् आद्यानन्तराग्निवदित्ययं हेतुर्व्यभिचारी, विपक्षे वृत्तिसंभवात् तथा वेदाध्ययनमपि विपक्षे वृत्तिसंभवात् व्यभिचार्येव, तथाहि-वेदाध्ययने स्वयंकरणपूर्वकत्वमध्ययनान्तरपूर्वकत्वं, च परस्परमबाध्यबाधकत्वादविरुद्धं, ततश्च वेदाध्ययनमपि स्यात्किंचित् स्वयंकरणपूर्वकमपीति, यदा त्वेवं विशिष्यतेयस्तु तथाविधः स्वयं कृत्वा अध्येतुमसमर्थः तस्य वेदाध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकमिति तदा न कश्चिद्दोषः, यथा यादृशोऽग्निर्ज्वालाप्रभवो दृष्टः तादृशः सर्वोऽपि ज्वालाप्रभव इति, अस्तु वा सर्व वेदाऽध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकं तथा-ऽप्येवमनादिता सिद्धेर्द्वेदस्य; नापौरुषेयत्वम्, अथाऽत एवानादितामात्रादपौरुषेयत्वसिद्धिरिष्यते तर्हि डिम्भकपां-शुक्रीडादेरपि पुरुषव्यवहारस्याऽपौरुषेयतापत्तिः, तस्यापि पूर्वपूर्व्वदर्शनप्रवृत्तित्वेनाऽनादित्वात्।

अपि च-स्युरपौरुषेया वेदा यदि पुरुषाणामादिः स्याद्वेदाध्ययनं चानादि, तदाप्याद्यपुरुषस्याध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकं न सिद्ध्यति, अध्यापयितुरभावात्, न च पुरुषस्य ताल्वादिकरण- ग्रामव्यापाराभावात् स्वयं शब्दा ध्वनन्ति ततो वेदस्य प्रथमो-ऽध्येता कर्त्तव वेदितव्यः, अपि चयद्वस्तु यद्धेतुकमन्वय- व्यतिरेकाभ्यां प्रसिद्धं तज्जातीयमन्यदप्यदृष्टहेतुकं ततो हेतोर्भवतीति संप्रतीयते, यथेन्धनादेको बह्निदृष्टस्तत्तस्तत्समान- स्वभावोऽपरोऽप्यदृष्टहेतुकः तत्समानहेतुकः संप्रतीयते, लौकिकेन च शब्देन समानधर्मा सर्वोऽपि वैदिकः शब्दराशिः, ततो लौकिकवद्वैदिकोऽपिशब्दराशिः पौरुषेयः सम्प्रतीयताम्। स्यादेतद्वैदिकेषु शब्देषु यद्यपि न पुरुषो हेतुः, तथापि पौरुषेयाभिमतशब्दसमानाऽवशिष्टपदवाक्यरचना भविष्यति ततः कथं तत्समानधर्म्मतामवलोक्य पुरुषहेतुकता तेषामनुमीयते, तदेतद् वालिशजल्पितं पदवाक्यरचना हि यदि हेतु- मन्तरेणापीष्यते तत आकस्मिकी सा भवेत् ततश्चाकाशादावपि सा सर्वत्र संभवेत्, अहेतुकस्य देशादिनियमायोगात्, न च

सा सर्वत्राऽपि संभवति, तस्मात् पुरुष एव तस्या हेतुरित्यवश्यं प्रतिपत्तव्यम्, अन्यच्च पुरुषस्य रागादिपरीतत्वेन यथावद् वस्तुपरिज्ञानाऽभावात् तत्प्रणीतं वाक्यमयथार्थमपि संभाव्यते इति संशयहेतुः पुरुषोऽपकीर्णः, स च संशयोऽपौरुषेयत्वा- भ्युपगमेऽपि वेदवाक्यानां तदवस्थ एव, तथाहि-स्वयं तावत्पुरुषो वेदस्यार्थं नाऽवबुध्यते, रागादिपरीतत्वात्, नाऽप्यन्यतः पुरुषान्तरात् , तस्यापि रागादिपरीतत्वेन यथा तत्त्वमपरिज्ञानाद् , अथ जैमि (म) निश्चिरतरपूर्वकालभावी पटुप्रज्ञः सम्यग्वेदार्थस्य परिज्ञातासीत् ततः परिज्ञानमभूदिति, न हि सर्वेऽपि पुरुषाः समानाः प्रज्ञामेधादिगुणैरिति वतुंशक्यं, संप्रत्यपि प्रतिपुरुषं प्रज्ञादेस्तारतम्यस्य दर्शनात्, ननु स जैमि (म)निः पुरुषो वेदस्यार्थं यथावस्थितमवगच्छति स्मेति कुतो निश्चयः? प्रमाणेन संवादादिति चेत् नन्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु न प्रमाणस्यावतारो यथाग्निहोत्रवचनस्य स्वर्गसाधनत्वे, बहवश्चातीन्द्रियार्था वेदे व्याक्रियन्ते, तत्कथं तत्र संवादः? अथ येष्वर्थेष्वस्मादृशां प्रमाणसंभवः तद्विषये प्रमाणसंवाददर्शनादतीन्द्रियाणामप्यर्थानां स सम्यक् परिज्ञातभ्युपगम्यते तदप्ययुक्तम, रागादिकलुषिततया तस्याऽतीन्द्रियार्थपरिज्ञानाऽसंभवाद्, अन्यथा सर्वेषामप्यतीन्द्रियार्थदर्शित्वप्रसक्तिः ततस्तत्कृतातीन्द्रियार्थव्याख्या मिथ्यैव। अपिच-आगमोऽर्थतः परिज्ञातः सन् प्रेक्षावतामुपयोगविषयो भवति, नापरिज्ञातार्थं शब्दगडुमात्रं, ततोऽर्थः प्रधानः, स चेत्पुरुषप्रणीतः किं शब्द- मात्रस्याऽपौरुषेयत्वपरि कल्पनेन निरर्थकत्वात्, तन्नाऽन्यतोऽपि वेदार्थस्य सम्यगवग्रमः। नाऽपि वेदः स्वकीयमर्थमुपदेशमन्तरेण स्वयमेव साक्षादुपदर्शयति, ततो वेदस्येष्टार्थप्रतिपत्त्युपाया-ऽभावाद् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यत्र श्रुतौ यथा वेदप्रामाणिकैरयमर्थः परिकल्प्यते घृताऽऽद्याहुतिं प्रक्षिपेत् स्वर्गकाम इति। तथाऽयमप्यर्थः तैः किं न कल्प्यते-स्वादेत् स्वमांसं स्वर्गकामः इति, नियामकाऽभावात्,

उक्तं च-

''स्वयं रागाऽऽदिमान्नाऽर्थं, वेत्ति वेदस्य नाऽन्यतः।
न वेदयति वेदोऽपि, वेदार्थस्य कुतो गतिः ॥१॥
तेनाऽग्निहोत्रं जुहुयात् , स्वर्गकाम इति श्रुतौ ॥
खादेत्स्वमांसमित्येष, नाऽर्थ इत्यत्र का प्रमा ॥२॥''

अथ य एव शाब्दा व्यवहारो लोके प्रसिद्धः स एव वेदवाक्यार्थनिश्चयनिबन्धनं, न च लोकेऽग्निहोत्रशब्दस्य स्वमांसं वाच्यम्, नाऽपि जुहुयादित्यस्य भक्षणं, तत्कथमयमर्थः परिकल्प्यते? तदयुक्तं, नानाऽर्था हि लोकेशब्दा रूढा यथा गोशब्दः।

अपि च-सर्वे शब्दाः प्रायः सर्वार्थानां वाचका देशादिभेदतो द्रुतविलम्बितादिभेदेन, तथाप्रतिदर्शनात्, तथाहि द्रविडस्यार्यदेशमुपागतस्य मारिशब्दात्-जगि(टि) ति वर्षविषया प्रतीतिरूपजायते विलम्बिता चोपसर्गविषया, यद्वाआर्यदेशो- त्पन्नस्य द्रविडदेशमधिगतस्य शीघ्रमुपसर्गविषया प्रतीति-र्विलम्बिता च वर्षविषया एवमनया दिशा सर्वेषामपि शब्दानां स-र्वार्थवाचकत्वं परिभावनीयम्।

न च वाच्यम् एवं सति घटशब्दमात्रश्रवणादखिलार्थ- प्रतीतिप्रसङ्गो, यथा क्षयोपशममवबोधप्रवृत्ते, क्षयोपशम- श्चसंकेताद्यपेक्ष इति तदभावे न भवति, ततोऽग्निहोत्रादिशब्दस्य स्वमांसादिवाचकत्वेऽप्यवरोध इति लौकिकशाब्दव्यवहारानु- सरणेऽपि न वैदिकवाक्यानामभिलषितनियतार्थप्रतिपत्तिः। किं च- लोकप्रसिद्धेनैव शाब्देन व्यवहारेण वयं वेदवाक्यानां प्रतिनियतमर्थं निश्चेतुमुद्युक्ताः, लौकिकश्च शाब्दो व्यवहारोऽनेकधा परिप्लवमानो दृष्टः संकेतवशतः प्रायः सर्वेषामपि शब्दानां सर्वार्थप्रतिपादनशक्तिसंभवात्, ततो लौकिकेनैव शाब्देन व्यवहारेणास्माकमाशङ्कोदपादिकोऽत्रार्थ स्यात्? किं घृताद्याहुतिं प्रक्षिपेत् स्वर्गकाम इति उताहो स्वमांसं खादेदिति? तत्कथं तत एव निश्चयः कर्तुं बुध्यते? न हि योऽत्र संशयहेतुः स तत्र निश्चयमुत्पादयितुं शक्त इति।

अपि च नैकान्तेन वेदे लौकिकशब्दव्यवहारानुसरणं स्वर्गोर्वश्यादिशब्दानामरूढार्थानामपि तत्र व्याख्यानात्, यथा स्वर्गः सुखविशेषः, उर्वशी तु अणिरिति। तथा शब्दान्तरेष्वा-रूढार्थकल्पना किं न संभविनी? उक्तं च- ''स्वर्गोर्वश्या-दिशब्दस्य, दृष्टो रूढार्थवाचकः। शब्दाऽन्तरेषु तादृक्षु, तादृश्येवाऽस्तु कल्पना ॥१॥'' स्यादेतत् अग्निहोत्रादेर्वाक्यस्य स्वमांसभक्षणप्रसङ्गो न युक्तो, वेदे नैवान्यत्र तस्यान्यथा व्याख्यानात् तदयुक्तम, तत्राऽपि वाक्यार्थस्य निर्णयाभावा-द्यथोक्तं प्राक्-न हि अप्रसिद्धार्थस्य वाक्यस्याऽप्रसिद्धार्थमेव वाक्यान्तरं नियतार्थप्रसाधनायालं, तुल्यदोषत्वात्। अथेत्थमाचक्षीथाः यत्रार्थे न काचित्प्रमाणबाधा सोऽर्थो ग्राह्यो, न चाग्निहोत्रादिवाक्यस्य घृताऽऽद्याहुतिप्रक्षेपरूपेऽर्थे प्रमाणबाधामुत्पश्यामः, तत्कथं तमर्थं न गृह्णीमः। तदेतत्स्व-मांसभक्षणलक्षणेऽप्यर्थे समानं न हि तत्रापि काश्चित् प्रमाणबाधामीक्षामहे।

अपि च-यदि प्रमाणबलात्प्रवृत्तिमीहसे तर्हि पौरुषेयमेव वचस्त्वयोपादेयं तस्य लोकप्रतीत्यनुसारितया संप्रदायतोऽधिगतार्थतया च प्रायो युक्तिविषयत्वात्, नाऽपौरुषेयम्, विपरीततया तत्र युक्तेरसंभवात्, तथाहि काऽत्र युक्तिः? यथा स्वमांसभक्षणात्स्वर्गप्राप्तिर्बाध्यते, न घृताद्याहुतिप्रक्षेपादिति? घृताऽऽद्याहुतिप्रक्षेपादीनां स्वर्गप्रापणादिशक्तेरतीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वात् संप्रदायस्य चार्थनैयत्यकारिणोऽसंभवात्, एतच्चानन्तरमेव वक्ष्यामः।

अथाऽऽगमार्थाऽऽश्रया युक्तिः स्वमांसभक्षणतः स्वर्गप्राप्ते-र्बाधिका भविष्यति, तदयुक्तम, आगमार्थस्याऽद्याप्यनिश्चयात्। अनिश्चितार्थस्य च बाधकत्वाऽयोगात् , अथ संप्रदायादर्थनिश्चयो भविष्यति, तथा हि ''प्रथमतो वेदेन जैमिनये स्वार्थ उपदर्शितः पश्चात्तेनास्मभ्यमुपदिष्ट'' इति, तदप्यसत्, वेदस्य हि यदि स्वार्थापदर्शनशक्तिस्ततोऽस्मभ्यमपि स्वार्थं किं नोपदर्शयति? तस्माज्जैमिनयेऽपि न तेन स्वार्थो दर्शितः, किन्तु-स वेदमुखेनात्मानमेवार्थनियमस्रष्टरमुपदर्शितवान्, यथा कश्चित्के नचित्पृष्टः- 'को मार्गः पाटलिपुत्रस्य?' स प्राह-एष स्थाणुर्दृश्यमानो वक्ति- 'अयं मार्गः पाटलिपुत्रस्य,' तत्र न स्थाणावर्चनशक्तिः, केवलं स्थाणुमुखेन स एवात्मानं मार्गोपदेष्टारं कथयति एवं वेदस्यापि न स्वाऽर्थोपदर्शनशक्तिः ततस्तन्मुखेन जैमि (म) निरात्मानमेवार्थनियमस्रष्टारमुपदर्शितवान्, तत्र लौकिकशब्दव्यवहारानु-

सरणान्नापि युक्तेर्नापि च संप्रदायाद्वेदस्यार्थनिश्चयो, नापि तस्याऽपौरुषेयत्वसाधकं किमपि प्रमाणमित्यसंभव्यपौरुषेयम्: उक्तं च ''बान्ध्येयखरविषाणतुल्यमपौरुषेयमि'' ति। ननु यदि बान्ध्येयखरविषाणतुल्यमपौरुषेयं भवेत्तर्हि न वेदवचोऽपौरुषेयतया शिष्टाः प्रतिगृह्णीयुः।

अथ च-सर्वेष्वपि देशेषु शिष्टाः प्रतिगृह्णन्तो दृश्यन्ते, तस्मान्नात्रसंभव्यपौरुषेयं, तदत्र पृच्छामः-केशिष्टाः? ननु किमत्र प्रष्टव्यम्? ये ब्राह्मणीयोनिसंभविनो वेदोक्तविधिसंस्कृताः वेदप्रणीताचारपरिपालनैकनिषण्णचेतसस्ते शिष्टाः तदेतदयुक्तं, विचाराक्षमत्वात्, तथा हि-किमिदं नाम ब्राह्मणत्वं यद्योनि- संभवाच्छिष्टत्वं भवेत् ? ब्रह्मणोऽपत्यत्वमिति चेत् तथा हि ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मण इति व्यपदिशन्ति पूर्वेषयः न एवं सति चाण्डालस्यापि ब्राह्मणत्वप्रशक्तिः, तस्याऽपि ब्रह्मतनोः समुत्पन्नत्वात्। उक्तं च ''ब्रह्मणाऽपत्यतामात्रात्, ब्राह्मणोऽतिप्रसज्यते। न कश्चिदब्रह्मतनोरुत्पन्नः क्वचिदिष्यते॥१॥ यदप्युक्तम्-वेदोक्तविधिसंस्कृता वेदप्रणीताचारपरिपालनैक- निषण्णचेतसः' इति तदप्ययुक्तम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि-वेदस्य प्रामाण्ये सिद्धे सति तदुक्तविधिसंस्कृता- स्तदर्थसमाचरणाच्छिष्टा भवेयुः शिष्टत्वे च तेषां सिद्धे सति तत्परिग्रहाद्वेदप्रामाण्यमित्येकाभावेऽन्यतरस्याऽप्यभावः।

आह च- ''शिष्टैः परिगृहीतत्वा-च्चेदन्योऽन्यसमाश्रयः। वदार्थाचरणाच्छिष्ट-स्तदाचाराच्च स प्रमा॥१॥'' स्यादेतत् भवतोऽपि तत्त्वतोऽपौरुषेयं वचनामिष्टमेव, तथाहि- 'सर्वोऽपि सर्वज्ञो वचनपूर्वको भवतीत्येवेष्यते' ''तप्पुव्विया अरिहया'' इति वचनप्रामाण्यात्, ततोऽनादित्वात्सिद्धं वचनस्यापौरुषे- यत्वमिति, तदयुक्तम, अनादितायामप्यपौरुषेयत्वायोगात्, तथाहि-सर्वज्ञपरम्पराप्येषाऽनादिरिष्यते, ततः पूर्वः पूर्वः सर्वज्ञः प्राक्तसर्वज्ञप्रणीतवचनपूर्वकोऽभवन्न विरुध्यते, किं च-वचनं द्विधा शब्दरूपम्, अर्थरूपं च। तत्र शब्दरूपवचनापेक्षया नायमस्माकं सङ्गरोयदुतं- 'सर्वोऽपि सर्वज्ञो वचनपूर्वक' इति, मरुदेव्यादीनां तदन्तरेणाऽपि सर्वज्ञत्वश्रुतेः, किं त्वर्थरूपापेक्षया, ततः कथं शब्दाऽपौरुषेयत्वाभ्युपयमप्रसङ्गः। नन्वर्थपरिज्ञानमपि शब्दमन्तरेण नोपपद्यते तत्कथं न शब्दरूपापेक्षायाऽपि सङ्गर, तद्सत्, शब्दमन्तरेणापि विशिष्टक्षयोपशमादिभावतोऽर्थ परिज्ञानस्य सम्भवात्, तथा हि दृश्यन्ते तथाविधक्षयोपशम- भावतो मार्गानुसरिबुद्धेर्वचनमन्तरेणापि तदर्थप्रतिपत्तिरिति कृतं प्रसङ्गेन। नं० २ गाथाटी०।

ये तु श्रोत्रियाः श्रुतेरपौरुषेयत्वेऽपौरुषीं स्फो(र)टयांचक्रुः, ते कीदृशीं श्रुतिममूमास्थाय किं वर्णरूपाम आनुपूर्वीरूपां वा? यदि प्राचिकीं, तदस्पष्टम उपरिष्टाद् ''अकारादिः पौद्गलिको वर्णः'' इत्यत्र वित्रास्यमानत्वादस्याः। अथोदीचीनां, तर्हि तत्र तत्प्रतीतौ प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, अर्थापत्तिः, आगमो वा प्रमाणं प्रणिगद्येत। न प्रत्यक्षम्, अस्य तादात्विकभावस्वभावाऽवभासमात्रचरित्रप-वित्रत्वात् ''संबद्धं वर्तमानं च, गृह्यते चक्षुरादिना'' इति वचनात्। यैव श्रुतिर्मया प्रागध्यगायि, सैवेदानीमपीति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षमक्षुण्णं लक्ष्यत एवास्याः सदात्वमवद्योतयदिति चेत्, नन्वसौ- ''समुदयमात्रमिदं कलेवरम्'' इत्यादिलोकायता- गमेष्वष्येकरसैवास्तीति तेऽपि तथा स्युः, तथा च-तत्पठिता- नुष्ठाननिष्ठापटिष्ठतां विप्राणामपि प्राप्नोति, अन्यथा प्रत्यवाय- संभवात्। अथात्रेयमभिधानानन्तरानुपलम्भेन बाध्यते, किं न श्रुतावपि? अभिव्यक्त्यभावसंभवी तदानीमनुपलम्भः श्रुतौ नाभावनिबन्धन इति चेत्, किं न नास्तिकसिद्धान्तेऽप्येवम्, इति सकलं समानम्।

किं च-अनुभवानुचरणचतुरं प्रत्यभिज्ञानम् अनुभवश्च प्रायेण प्रत्यभिज्ञां ताद्विकीं, जातिस्मृयादिमतः कस्यापि कतिपयभवविषयां च प्रभावयितुं *प्रभुः, इति कथमनादौ काले केनापि नेयं श्रुतिः सूत्रिता इतिप्रकटायितुं* पटीयसीयं स्यात् ? तत्र तत्र प्रत्यक्षं क्षमते। नाऽप्यनुमानं, तद्धि कर्त्रस्मरणं, वेदाध्ययनवाच्यत्वं, कालत्वं वा तत्रैतेषु सर्वेष्वपि प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमबाधितत्वं तावत्पक्षदोषः। तत्र-प्रत्यक्षबाधस्तावत्। तथाविधमठपीठिकाप्रतिष्ठशठवठराध्वर्यूद्गातृहोतृप्रायप्रचुर- खण्डिकेषु यजुःसामर्च उच्चैस्तरां युगपत्पूत्कुर्वत्सु कोलाहलममी कुर्वन्तीति प्रत्यक्षं प्रादुरस्ति तेन चापौरुषेयत्वपक्षो बाध्यते। अभिव्यक्तिसद्भावादेवेयं प्रतीतिरिति चेत्, तर्हि हंसपक्षादि-हस्तेष्वपि किं नेयं तथा ? इति तेऽपि नित्याः स्युः। वर्णयिष्यमाणवर्णव्यक्तिव्यपाकरणं चेहाऽप्यनुसंधानीयम्। 'श्रुतिः पौरुषेयी' वर्णाद्यात्मकत्वात्, कुमारसंभवादिवद् इत्यनुमानबाधः। पुरुषोहि परिभाव्याभिधेयभावस्वभावं तदनुगुणां ग्रन्थवीथीं ग्रथ्नाति, तदभावे कौतस्कुतीयं संभवेत्? यदि हि शङ्खसमुद्र- मेघादिभ्योऽपौरुषेयेभ्योऽपि कदाचित्तदात्मकं वाक्यमुपलभ्येत, तदाऽत्राऽपि संभाव्येत, न चैवम्। अथ वर्णाद्यात्मकत्वमात्रं हेतुचिकीर्षितं चेत्, तदानीमप्रयोजकं, बल्मीकस्य कुलाल- पूर्वकत्वे साध्ये मृद्विकारत्ववद्। अथ लौकिकश्लोकादिविलक्षणं तत्तर्हि विरुद्धं; साधनशून्यं च *कुमारसंभवादिनिदर्शनं, तत्रैव साध्ये विशिष्टमृद्विकारत्ववत्* कुटदृष्टान्तवच्चेति चेत्। नैतच्च- तुरस्रम्। यतस्तन्मात्रमेव हेतुः; न चाऽप्रयोजकं विशिष्टवर्णा- ऽऽद्यात्मकत्वस्यैव क्वाऽप्यसंभवाद्। दुःश्रवणादुर्भणत्वादिस्तु श्रुतिविशेषस्य। ''नांष्टास्त्वाष्ट्रारिराष्ट्रेण, भाष्ट्रेणादंष्ट्रिणो जनाः। धार्तराष्ट्राः सुराष्ट्रेण, महाराष्ट्रे तु नोष्ट्रिणः॥१॥ इत्यादौ लौकिकश्लोके सविशेषस्य सद्भावाद् अभ्यर्थिं (धि)ष्महि च- ''यत्कौमारकुमारसंभवभवाद्वाक्यान्न किंचिद्भवे द्वैशिष्ट्यं श्रुतिषु स्थितं तत इमाः स्युः कर्तृशून्याः कथम् इति। ''प्रजापतिर्वेदमेकमासीत्, न अहः आसीत्, न रात्रिः आसीत्; स तपोऽतप्यत, तस्मात्तपनः; तपनाच्चत्वारो वेदा अजायन्त'' इति स्वकर्तृप्रतिपादकागमबाधः। ननु नाऽयमागमः प्रमाणं भूतार्थाभिधायकत्वात्, कार्ये एव ह्यर्थे वाचां प्रामाण्यम्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां लोके कार्यान्वितेषु पदार्थेषु पदानां शक्त्यवगमादिति चेत् तदश्लीलं कुशलादर्कसंपर्कर्कशः साधूपास्याप्रसङ्ग इत्यादेर्भूतार्थस्यापि शब्दस्य लोके प्रयोगोपलम्भात्। अथाऽत्रापि कार्यार्थतैव, तस्मादत्र प्रवर्तिततव्यमित्यवगमादिति चेत्, स तर्ह्यवगम औपदेशिक औ-

पदेशिकार्थकृत्तो वा भवेत्। न तावदाद्यः तथाविधोप-देशाऽश्रवणात्। द्वितीयस्तु स्यात्; न पुनस्तत्रोपदेशस्य प्रामाण्यम, अस्य स्वार्थप्रथा-मात्रचरितार्थत्वात्। प्रतिपादकत्वेनैव प्रमाणानां प्रामाण्याद्। अन्यथा प्रवृत्ताविव तत्साध्यार्थेऽपि प्रामाण्य-प्रसङ्गात्। प्रत्यक्षस्य च विवक्षितार्थवत्तत्साध्यार्थक्रियापि प्रमेया भवेत्, तस्मात्पुरुषेच्छा-प्रतिबद्धवृत्तिप्रवृत्तिरस्तु। मा वा भूत्, प्रमाणेन पदार्थपरिच्छेदश्चेचकाणः, तावतैव प्रेक्षावतोऽपेक्षाबुद्धेः पर्यवसानात्, पुण्य प्रामाण्यमस्यावसेयम्। यद्वा-अस्तु तस्मादत्र प्रवर्तितव्यमित्यवगमात्कुशलोदर्क्यादिवाक्यानां प्रामाण्यं किं तु तद्वदेव वेदे कर्तृ प्रतिपादकाऽऽगमस्यापि प्रामाण्यं पासाङ्क्षीदेवेति सिद्ध आगमबाधोऽपि।

यत्तु कर्त्रस्मरणं साधनम्, तद्विशेषणं सविशेषणं वा वर्ण्यते। प्राक्तनं, तावत्पुराणकूपप्रासादारामविहारदिभिर्व्यभिचारि, तेषां कर्त्रस्मरणेऽपि पौरुषेयत्वात्। द्वितीयं तु संप्रदायाव्यवच्छेदे सति कर्त्रस्मरणादिति व्यधिकरणाऽसिद्धम्, कर्त्रस्मरणस्य श्रुतेः अन्यत्राश्रये पुंसि वर्तनात्। अथाऽपौरुषेयी श्रुतिः; संप्रादायावच्छंदे सत्यस्मऽर्य्यमाणकर्तृकत्वाद्, आकाशवद् इत्यनुमान-रचनायामनवकाशाव्यधिकरणासिद्धिः। नैवम्। एवमपि विशेषण संदिग्धाऽसिद्धताऽऽपत्तेः। तथाहि आदिमतामपि प्रासादादीनां संप्रदायो व्यवच्छिद्यमानो विलोक्यते, अनादेस्तु श्रुतेरव्यवच्छेदी संप्रदायोऽद्यापि विद्यत इति मृतकमुष्टिबन्धमन्वकार्षीत्; तथा च कथं न संदिग्धाऽसिद्धं विशेषणम्? विशेष्यमप्युभयाऽसिद्धं, वादिप्रतिवादिभ्यां तत्र कर्तुः स्मरणात्। ननु श्रोत्रियाः श्रुतौ कर्तारं स्मरन्तीति मृषोद्यं श्रोत्रियापसदाः खल्वमी इति चेत् ननु यूयमाम्नायमाम्नासिष्ट तावत्ततः- ''यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति'' इति, ''प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्ततस्त्रयो वेदा अन्वसृजन्त'' इति च स्वयमेव स्वस्य कर्तारं स्मारयन्तीं श्रुतिं विश्रुतामश्रुतामिव गणयन्तो यूयमेव श्रोत्रियाऽपसदाः किन्न स्यात् ? किं च-कण्व माध्यन्दिनितित्तिरिप्रभृतिमुनिनामाङ्किताः काश्चन शाखास्त-त्कृतत्वादेव मन्वादिस्मृत्य दिवत्। उत्सन्नानां तासां कल्पादौ तैर्दृष्टत्वात्, प्रकाशितत्वाद्वा तन्नामचिह्ने अनादौ कालेऽनन्त- मुनिनामाऽङ्कितत्वं तासां स्यात्। जैनाश्च कालाऽसुरमेतत्कर्तारम् स्मरन्ति। कर्तृविशेषं विप्रतिपत्तेरप्रमाणमेवैतत्स्मरणमिति चेत् नैवम्। यतो यत्रैव विप्रतिपत्तिः, तदेवाऽप्रमाणमस्तु, न पुनः कर्तृमात्रस्मरणमपि।

''वेदस्याऽध्ययनं सर्वं, गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वा-दधुनाऽध्ययनं यथा ॥१॥
अतीताऽनागतौ कालौ, वेदकारविवर्जितौ।
कालत्वात्तद्यथा कालो, वर्तमानः समीक्ष्यते ॥२॥''

इति कारिकोक्तेः वेदाध्ययनवाच्यत्वकालत्वेऽपि हेतुः 'कुरङ्ग- शृङ्गभङ्गुरं कुरङ्गाक्षीणां चेतः' इति वाक्याध्ययनं गुर्वध्य- यनपूर्वकम् एतद्वाक्याध्ययनवाच्यत्वाद्, अधुनातनाध्ययनवद् अतीतानागतौ कालौ प्रक्रान्तवाक्यकर्तृवर्जितौ कालत्वात्, वर्तमानकालवत्, इतिवदप्रयोज-कत्वाद्, अनाकर्णनीयौ सकर्णानाम्। अथाऽअर्थाऽऽपत्तेरपौरुषेय-त्वनिर्णयो वेदस्य। तथाहि-संवाद विसंवाददर्शनाऽदर्शनाभ्यां तावदेष निःशेषपुरुषैः प्रामाण्येन निरणायि। तन्निर्णयश्चास्य पौरुषेयत्वे दुरापः। यतः-

''शब्दे दोषोद्भवस्ताव द्वक्तृधीन इति स्थितिः।
तदभावः क्वचित्तावद्, गुणवद्वक्तृकत्वतः॥१॥
तद्गुणैरपकृष्टानां, शब्दे संक्रान्त्यसंभवात्।
वेदे तु गुणावान् वक्ता, निर्णेनुं नैव शक्यते॥२॥
ततश्च दोषाभावोऽपि, निर्णेतुं शक्यतां कथम्।
वक्त्रभावे तु सुज्ञानो, दोषाभावो विभाव्यते॥३॥
यस्माद्वक्तुरभावेन, न स्युर्दोषा निराश्रयाः''।

ततः प्रामाण्यनिर्णायान्यथाऽनुपपत्तेरपौरुषेयोऽयमिति। अस्तु तावदत्रः कृपणपशुपरंपराप्राण्यपरोपणप्रगुणप्रचुरोपदेशाऽपवित्रत्वादप्रमाणमेवैषः इत्यनुत्तरोत्तरप्रकारः। प्रामाण्यनिर्णयोऽप्यस्य न साध्यसिद्धिः, विरुद्धत्वाद, गुणवद् वक्तृकतायामेव वाक्येषु प्रामाण्यनिर्णयोपपत्तेः। पुरुषो हि यथा रागादिमान्मृषावादी, तथा सत्यशौचादिमान् अवितथवचनः समुपलब्धः। श्रुतौ तु तदुभयाभावेनैरर्थक्यमेव भवेत्। कथं वक्तुर्गुणित्वनिश्चयश्छन्दसीति चेत्, कथं पितृपितामहप्रपितामहादेरप्यसौ ते स्यात्? येन तद्धस्तन्यस्ताक्षरश्रेणेः पारंपर्योपदेशस्य वाऽनुसारेण ग्राह्यदेयनिधानादौ निःशङ्कः प्रवर्तेथाः। क्वचित्संवादाच्चेद्, अतएवान्यत्रापि प्रतीहि। कारीर्यादौ संवाददर्शनात्। कदाचित् क्वचित्संवादस्तु सामग्रीवैगुण्यात्त्वयाऽपि प्रतीयत एव, प्रतीताप्तमन्त्रो-पदिष्टमन्त्रवत्। प्रतिपादितश्च प्राक् रागद्वेषाज्ञानशून्यपुरुषविशेषनिर्णयः। किं च अस्य व्याख्यानं तावत्पौरुषेयमेव, अपौरुषेयत्वे भावनानियोगादि-विरुद्धत्वाख्याभेदाभावप्रसङ्गात्, तथा च को नामाऽत्र विश्रम्भो भवेत? कथं चैतद् ध्वनीनामर्थनिर्णीतिः? लौकिक-ध्वन्यनुसारेणेति चेत्, किं न पौरुषेयत्वनिर्णीतिरपि? तत्रोभय-स्याऽपि विभावनाद्। अन्यथा त्वर्द्धजरतीयम्। न च लौकिकाऽ-र्थानुसारेणा मदीयोऽर्थः स्थापनीय इति श्रुतिरेव स्वयं वक्ति, न च जैमिन्यादावपि तथा कथयति प्रत्यय इत्यपौरुषेयवचसामर्थाऽप्यन्य एव कोऽपि संभाव्येत। पौरुषेयीणामपि म्लेच्छार्यवाचामैकार्थ्यं नाऽस्ति, किं पुनरपौरुषेयवाचाम्। ततः परमकृपापीयूषप्लावितान्तःकरणः कोऽपिपुमान् निर्दोषः प्रसिद्धार्थैः ध्वनिभिः स्वाध्यायं विधाय व्याख्याति, इदानींतनग्रन्थकारवत्, इति युक्तं पश्यामः। अवोचाम च- ''छन्दः स्वीकुरुषे प्रमाणमथ चेत्तद्वाच्यनिश्चायकं, कंचिद्विश्वविदं न जल्पसि ततो ज्ञातोऽस्य मूल्यक्रयी'' इति।

आगमोऽपि नापौरुषेयत्वमाख्याति। पौरुषेयत्वाविष्कारिण एवास्योक्तवत्सद्भावात्। अपि च-इयमानुपूर्वी पिपीलिका- दीनामिव देशकृताङ्कुरपत्रकन्दलकाण्डादीनामिव कालकृता वा वर्णानां वेदे न संभवति तेषां नित्यव्यापकत्वात्। क्रमेणाऽभिव्यक्तेः सा संभवतीति चेत्, तर्हि कथमियमपौरुषेयी भवेद्, अभिव्यक्तेः पौरुषेयत्वात् इति सिद्धा पौरुषेयी श्रुतिः। रत्ना० ४ परि०।

(४) आगमस्य चाप्तप्रणीतस्यैव प्रामाण्यं; नतु विरुद्धार्थ-स्यआगमानां च येषां पूर्वापरविरुद्धार्थत्वं तेषामप्रामाण्यमेव

थस्त्वाप्तप्रणीत आगमः स प्रमाणामेव कषच्छेदतापलक्षणोपपित्रयविशुद्धत्वात्। कषाऽऽदीनां च स्वरूपं पुरस्ताद्वक्ष्यामः। न च वाच्यम् अमाप्तः क्षीणसर्वदोषस्तथाविधं चाऽऽप्तत्वं कस्याऽपि नाऽस्तीति; यतो रागाऽऽदयः कस्यचिदत्यन्तं छिद्यन्ते अस्म-दादिषु तदुच्छेदप्रकर्षाऽपकर्षोपलम्भात् सूर्याऽऽद्यावारकजल-दपटलवत्। तथा चाऽऽहुः- ''देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिल-नश्वराः। मेघपङ्क्त्यादयो यद्वदेवं रागाऽऽदयो मताः''॥१॥ इति यस्य च निरवयवतयैते विलीनाः स एवाऽऽप्तो भगवान् सर्वज्ञः।

अथाऽऽनादित्वाद्रागाऽऽदीनां कथं प्रक्षय इति चेत? न; उपायतस्तद्भावात्, अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पु- टपाकादिना विलयोपलम्भात्। तद्वदेवाऽनादीनामपि रागाऽऽदि- दोषाणां प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाऽभ्यासेन विलयोपपत्तेः। क्षीणदोष-स्य च केवलज्ञानाऽव्यभिचारात् सर्वज्ञत्वम्। तत्सिद्धिस्तु ज्ञानतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तारतम्यत्वात् आकाशपरिमाणतार-तम्यवत्। तथा सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाऽनु- मेयत्वात् क्षितिधरकन्धराधिकरणधूमध्वजवत्। एवं चन्द्रसूर्योपरागादिसूचकत्योतिर्ज्ञानाविसंवादार्थानुपपत्ति- प्रभृतयोऽपि हेतवो वाच्यास्तदेवमाप्तेन सर्वविदा प्रणीत आगमः प्रमाणमेव; तदप्रामाण्यं हि प्रणायकदोषनिबन्धनं ''रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषास्तस्याऽनृतकारणां किं स्यात्''॥१॥ इति। स्था० १७ श्लोक।

न च आगमानां परस्परविरुद्धार्थतया सर्वेषामप्यप्रामाण्य-मभ्युपेयं, सर्वज्ञमूलस्याऽवश्यं प्रमाणत्वेनाभ्युपगमार्हत्वाद्, अन्यथा-सम्यक् प्रमाणाऽप्रमाणविभागाऽपरिणतेः प्रेक्षावत्ता-क्षतिप्रसङ्गात्, अथ कथमेतत्प्रत्येयं यथाअयमागमः सर्वज्ञमूल इति? उच्यते यदुक्तोऽर्थः प्रत्यक्षेणाऽनुमानेन च न बाध्यते नाऽपि पूर्वाऽपरव्याहतः सोऽवसीयते। सर्वज्ञप्रणीतोऽन्यस्य तथारूपत्वा-ऽसंभवात्, ततस्तस्माद्यत्सिद्धम् तत्सर्वं सुसिद्धम, उक्तं च- ''दिट्ठेणं इट्ठेण य, जम्मि विरोहो न जुज्जइ कहिंचि। सो आगमो ततो जं, नाणं तं सम्मनाणं ति॥१॥'' (धर्म० ५१९) आ० म०१ अ० ६00 गाथाटी०।

जैनाऽऽगमस्य च सर्वज्ञप्रणीतत्वम-

''सव्वण्णु विहाणम्मि वि, दिट्ठेट्ठाबाहिया उ वयणाओ। सव्वण्णू होइ जिणो, सेसा सव्वे असव्वन्नू॥१॥'' एतेन यदुक्तं भवतु वा वर्द्धमानस्वामी सर्वज्ञस्तथाऽपि तस्य सत्कोऽयमाचारादिक उपदेश इति कथं प्रतीयते इति, तदपि दूराऽपास्तम् अन्यस्येत्थंभूतदृष्टेष्टाबाधितवचनप्रवृत्तेरसंभवात्, यदप्युक्तं भवत्वेषोऽपि निश्चयो यथाऽयमाचारादिक उपदेशो वर्द्धमानस्वामिन इति, तथाऽपि तस्योपदेशस्याऽयमर्थो नाऽन्य इति न शक्यं प्रत्येतु-मित्यादि, तदप्युक्तं, भगवान् हि वीतरागस्ततो न विप्रतारयति विप्रतरणाहेतुरागाऽऽदिदोषगणाऽसंभवात्। तथा सर्वज्ञत्वेन विपरीतं सम्यग्वार्थमवबुध्यमानं शिष्यं जानाति ततो यदि विपरीतमर्थमवबुध्यते श्रोता तर्हि निवारयेत्, न च निवारयति न च विप्रतारयति, करोति च देशनां कृतकृत्योऽपि तीर्थकरनामक- र्मोदयात् ततो ज्ञायते एष एवाऽस्योपदेशस्याऽर्थ इति। उक्तं च-

''नाए वि तदुपएसे, एसेवत्थो मओ त्ति से एवं।
नज्जइ पवत्तमाणं, जं न निवारेइ तह चेव॥१॥
अन्नह य पवत्तं तं, निवारइ न य तओ पवंचेइ।
जम्हा स वीयरागो, कहणे पुण कारणं कम्मं॥१॥''

एवं च भगवद्विवक्षायाः परोक्षत्वेऽपि सम्यगुपदेशस्यार्थनिश्चये जाते। यदुक्तम- 'गौतमादिरपि छद्मस्थ' इत्यादि, तदप्यसार- मवसेयं, छद्मस्थस्याऽप्युक्तप्रकारेण भगवदुपदेशार्थनिश्च- योपपत्तेः। तथा चित्रार्था अपि शब्दाः भगवतैव समर्थितास्ते च प्रकरणाद्यनुरोधेन तत्तदर्थप्रतिपादकाः प्रतिपादितास्ततो न कश्चिद्दोषः, तत्तत्प्रकरणाद्यनुरोधेन तत्तदर्थनिश्चयोपपत्तेः। भगवताऽपि च तथा तथाऽर्थावगमे प्रतिषेधाऽकरणादिति एवं च तदानीं गौतमादीनां सम्यगुपदेशार्थस्यावगताचार्यपरंपरात इदानीमपि तदर्थावगमो भवति। नचाऽऽचार्यपरम्परा न प्रमाणम् अविपरीतार्थव्याख्यातृत्वेन तस्याः प्रामाण्यस्या-ऽपाकर्तुमशक्यत्वात् अपि च भवद्दर्शनमपि किमागममूलम्, अनागममूलं वा ? यद्यागममूलंतर्हि कथमाचार्यपरंपरामन्तरेणा? आगमार्थस्याऽवबोद्धुमशक्यत्वात्, अथाऽनागममूलं तर्हि न प्रमाणम्, उन्मत्तकविरचितदर्शनवत्। नं। ४६ सूत्रटी०।

(५) संभवदूषस्यैव वचनस्य प्रामाण्यं नत्वसंभवदूषस्येति-

एयं पि ण जुत्तिखमं,
ण वयणमित्ताउ होइ एवमियं।
संसारमोअगाण वि,
धम्मो दोसप्पसंगाओ॥१२३३॥ पं०व०।

एतदपि न युक्तिक्षमं यदुक्तं परेण, कुत इत्याह- न वचनमात्रादनुपपत्तिकाद्भवत्येवमेतत्सर्वं, कुत इत्याह-संसार मोचका-नामपि वचनात् हिंसाकारिणां धर्मस्य, दुःखिनो हन्तव्या इत्यस्याऽदोषप्रसङ्गाददुष्टतापत्तेरित्यर्थः॥१२४॥ प्रति०।

सिय त ण सम्मवयणं,
इयरं सम्मवयणंति किं माणं ?
अह लोगो चिय णेयं,
तहा अपाढा विगाणा य॥१२३४॥ पं०व०।

स्यात् 'तत् -' संसारमोचकवचनं, न सम्यग्वचनमित्याशङ्क्याह- 'इतरद' वैदिकं सम्यग् वचनमिति किं मानम् ? अथ लोक एवं मानमित्याशङ्क्याह-नैतत्तथा, लोकस्य प्रमाणतया अपाठात्, अन्यथा प्रमाणस्य षट्संख्याविरोधात्। तथाविगानाच्च, नहि वेदवचनं प्रमाणमित्येकवाक्यता लोकानामिति॥१२५॥ प्रति०।

अह पाढोऽभिमओ चिय,
विगाणमवि एत्थ थो (थे) वगाणं तु।
इत्थं पि णप्पमाणं,
सव्वेसि विदंसणाओ उ॥१२३५॥ पं०व०।

अथा पाठोऽभिमत एव लोकस्य प्रमाणमध्ये, षण्णामुप-

लक्षणत्वात्, विगानमप्यत्र-वेदववचनाप्रामाण्ये स्तोकानामेव लोकानामित्येतदाशङ्क्याह-अत्राऽपि कल्पनायां न प्रमाणं, सर्वेषां लोकानामदर्शनाद्, अल्पबहुत्वनिश्चयाऽभावादित्यर्थः ॥१२६॥ प्रति०।

किं तेसि दंसणेणं,
अप्पबहुत्तं जहित्थ तह चेव।
सव्वत्थ समवसेयं,
णेवं वभिचारभावाओ ॥१२३६॥ पं०व०।

किं तेषां सर्वेषां लोकानां दर्शनेन? अल्पबहुत्वं यथा इह मध्यदेशाऽऽदौ वेदवचनप्रामाण्यं प्रति तथैव सर्वत्र क्षेत्रान्तरेष्वपि समवसेयं, लोकत्वादिहेतुभ्यः, इत्यत्राऽऽहनैवं, व्यभिचार-भावात्कारणात् ॥१२७॥

एतदेवाह (प्रति०)।

अग्गाऽऽहारे बहुगा,
दीसंति दिया तहा ण सुद्ध त्ति।
ण य तद्दंसणओ च्चिय,
सव्वत्थ इमं हवइ एवं ॥१२३७॥ पं०व०।

अग्राऽऽहारे बहवो दृश्यन्ते द्विजा-ब्राह्मणास्तथा न शूद्रा इति, ब्राह्मणवद्, बहवो दृश्यन्ते। न च तद्दर्शनादेवाऽग्राऽऽहारे बहुद्विजदर्शनादेव सर्वत्र भिल्लपल्ल्यादावप्येतद्भवत्येव द्विज-बहुत्वमिति गाथार्थः॥१२८॥ प्रति०।

उपपत्त्यन्तरमाह-

ण य बहुगाणा वि(ए)इत्थं,
अविगाणं सोहणं ति णियमोऽयं।
न य णो थेवाणं पि हु,
मूढेयरभावजोएणं ॥१२३८॥ पं०व०।

न च बहुनामप्यत्र-लोके अविगानम् एकवाक्यतारूपं शोभन-मिति नियमः न च स्तोकानामपि न शोभनं मूढेतरभावयोगेन मूढानां बहुनामपि न शोभनममूढस्य त्वेकस्यैवेतिभावः॥१२९॥ प्रति०।

ण य रागाऽऽइविरहिओ,
को वि पमाया विसेसकारि त्ति।
जं सव्वे वि य पुरिसा,
रागाऽऽइजुआ उ परपक्खे ॥१२३९॥पं०व०।

न च रागादिविरहितः कोऽपि माता-प्रमाता विशेषकारी-विशेषकृत् यत् सर्वेऽपि पुरुषा रागादियुताः परपक्षेपरनये मीमांसकस्य सर्वज्ञाऽनभ्युपगन्तृत्वात् ॥१३०॥

दोषान्तरमाह (प्रति०)-

एवं च वयणमित्ता,
धम्मादोसा ति मिच्छगाणं पि।
घाएंताण दियवरं,
पुरओ नणु चंडिगाऽऽईणं ॥१२४०॥पं०व०।

एवं च प्रमाणविशेषाऽपरिज्ञानं सति वचनमात्रात् सकाशात् धर्माददोषौ प्राप्नुत, म्लेच्छादीनामपि-भिल्लादीनामपि घातयतां द्विजवरम्-ब्राह्मणमुख्यं पुरतो ननु चण्डिकाऽऽदीनां देवता-विशेषाणाम् ॥१३१॥ प्रति०।

ण य तेसिं पि ण वयणं,
एत्थ णिमित्तं ति जं न सव्वे उ।
तै तह घायंति सया,
अस्सुअतच्चोअणावक्का ॥१२४१॥ पं०व०।

न च तेषामपि म्लेच्छानां न वचनमत्र निमित्तमिह द्विजघाते किंतु वचनमेव कुत इत्याह-यत्र सर्व एवं म्लेच्छास्तं द्विजवरं घातयन्ति अश्रुतं तच्चोदनावाक्यं द्विजवरघातविधिवचनं यैस्ते तथा ॥१३२॥ प्रति०।

अह तं ण एत्थ रूढं,
एयं पि ण तत्थ तुल्लमेवेयं।
अह तं थो (थे) वमणुचियं,
इमम्मि एयारिसं तेसिं ॥१२४२॥ पं०व०।

अथ तन्म्लेच्छप्रवर्त्तकवचनं नाऽत्र रूढं लोकेइत्याशङ्क्या-हइयमेतदपि वैदिकं न तत्र भिल्लमते रूढमिति तुल्यमन्य-तरारूढवम्, अथ तन्म्लेच्छप्रवर्त्तकं वचनं स्तोकमनुचितम-संस्कृतमित्याशङ्क्याह-इदमप्येतादृशं तेषां म्लेच्छप्रवर्त्तकमेव वचनं वेदेऽस्ति न द्विजप्रवर्त्तकं श्रवणमात्रस्याऽतन्त्रत्वात् अश्रवण-स्योच्छिन्नशाखत्वेनोपपत्तेरिति तैरपि वक्तुं शक्यत्वादिति॥१३३॥

अन्याऽपि कल्पना ब्राह्मणापरिगृहीतत्वादिरूपा भिल्लपरि-गृहीतत्वादितुल्यत्वेन दुष्टेत्याह (प्रति०)।

अह तं वेअंगं खलु,
न तं पि एमेव इत्थ वि ण माणं।
अह तत्थाऽसवणमिणं,
सि एअमुच्छिण्णसाहं तु ॥१२४३॥
ण य तव्वयणाओ च्चिय,
तदुभयभावो त्ति तुल्लभणिईओ।
अण्णा वि कप्पणेवं,
साहम्मविहम्मओ दुट्ठा ॥१२४४॥

अथ तद्वेदाङ्गं खलु द्विजप्रवर्त्तकमित्याशङ्क्याह न तदपि म्लेच्छ-प्रवर्त्तकमेवमेव वेदे इत्यत्रापि न मानम्, अथ तत्र वेदे अश्रवण-मिदम् मानम्, न हि तद् वेदे श्रूयत इत्याशङ्क्याह-स्यादेतत्-उत्स (च्छि) त्रशाखमेवैतदपि सम्भाव्यतइति गाथार्थः॥१२४३॥ न च तद्वचनाद् वेदवचनादेव तदुभयभावो-धर्मादोषभाव इति, कुत इत्याह भणितेः, म्लेच्छवचनादेवैतदुभयमित्यपि वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः, अन्याऽपिकल्पना ब्राह्मणपरिगृहीतत्वादिरूपा एवम् उक्तवत् भिल्लपरिगृहीतवादिना प्रकारेणा साधर्म्यवैधर्म्यतः कारणात् दुष्टेति गाथार्थः ॥१२४४॥ पं०व०।

यस्मादेवम् (प्रति०)-

तम्हा ण वयणमित्तं,
सव्वत्थ विसेसओ बुहजणेणं।

एत्थ पत्तिनिमित्तं,
ति एय दट्ठव्वयं होइ ॥१२४५॥ पं०व०।

तस्मान्न वचनमात्रमुपपत्तिशून्यं सर्वत्राऽविशेषतः कारणात् बुधजनेन-विद्वज्जनेन अत्र लोकेप्रवृत्तिनिमित्तमेवे दृष्टव्यं भवति ॥१३६॥ प्रति०।

किं पुण विसिट्ठगं चिय,
जं दिट्ठिट्ठाहि णो खलु विरुद्धं ।
तह संभवंस (त) रूवं,
वियारिउं सुद्धबुद्धीए ॥१२४६॥ पं०व०।

किं पुनः विशिष्टमेव वचनं प्रवृत्तिनिमित्तमिह द्रष्टव्यं, किं भूतं यत् दृष्टेष्टाभ्यां न खलु विरुद्धं: तृतीयसंस्थानसंक्रान्तमित्यर्थः। तथा संभवत्स्वरूपं यत् , न पुनरत्यन्ताऽसंभवि विचार्च्य शुद्धबुद्ध्या मध्यस्थेयेति गाथार्थः ॥१३७॥ प्रति०।

जिनागमस्यैव च सम्भवद्रूपत्वं, तदितरस्य चाऽसम्भवद्रूपत्वम्-

तह संभवंतरूवं,
सव्वं सव्वन्नुवयणओ एयं ।
तं णिच्छियं हि आगम-
पउत्तगुरुसंपदाएहिं ॥१२७७॥ पं०व०।

तथा संभवद्रूपं सवं सर्वज्ञवचनत एतत्, तन्निश्चित हिताऽऽ-गमप्रयुक्तगुरुसंप्रदायेभ्यः॥१६८॥ प्रति०।

वेयवयणं तु णेवं,
अपोरूसेयं तु तं मयं जेणं ।
इयमच्चंतविरुद्धं,
वयणं च अपोरिसेवं च ॥१२७८॥ पं०व०।

वेदवचनं तु नैवं संभवत्स्वरूपम्, अपौरुषेयमेव तन्मतम् इदम-त्यन्तविरुद्धं वर्त्तते, यदुत वचनं चाऽपौरुषेयं चेति गाथार्थः॥१६॥

एतद्भावनायाऽऽह (प्रति०)-

जं बुच्चइ त्ति वयणं,
पुरिसाभावे उ णेयमेयंति ।
ता तस्सेवाऽभावो,
णियमेण अपोरुसेयत्ते ॥१२७९॥

यत् - यस्मात् उच्यत इति वचनम इत्यन्वर्थसंज्ञा पुरुषाऽभावे तु नैवमेतत्; नोच्यते इत्यर्थः तत्तस्यैव वचनस्याऽभावो नियमेनाऽपौरुषेयत्वे सत्यापद्यते॥१७०॥ प्रति०।

तव्वावारविरहियं,
णा य कत्थइ सुव्व इह तं वयणं ।
सवणे वि य णाऽऽसंका,
अदिस्सकत्तुब्भवाऽवेइ ॥१२८०॥ पं०व०।

तद्व्यापारविरहितं न च कदाचित् श्रूयते इह च लोके श्रवणेऽपि च नाऽऽशङ्का अदृश्यकर्तृद्भवापैति, प्रमाणाभावादिति गा-थार्थः ॥१७१॥प्रति०।

अदिस्सकत्तिगं णो,
अण्णं सुव्वइ कहं णु आसंका ?
सुव्वइ पिसायवयणं,
कयाइ एयं तु ण सदेव ॥१२८१॥ पं०व०।

अदृश्यकर्तृकम् 'नो' नैवान्यत् श्रूयते कथं चाशङ्केति विपक्षा-दृष्टेरित्यर्थः। अत्राह-श्रुयते पिशाचवचनं, कथंचन कदाचित् लौकिकमेतत्तु वैदिकमपौरुषेयं न सदैव श्रूयते ॥१७२॥

यथाभ्युपगमदूषणमाह (प्रति०)

वण्णा य पोरसेयं,
लोइयवयणाण ऽवीह सव्वेसिं ।
वेयम्मि को विसेसो,
जेण तहिं एस ऽसग्गाहो ॥१२८२॥ पं०व०।

वर्णाद्यपौरुषेयं लौकिकवचनानामपीह सर्वेषां, वर्णात्वादिवा-चकत्वादेः पुरुषैरकरणात् , वेदे को विशेषो येन तत्रैषोऽ-सद्ग्राहोऽपौरुषेयत्वासद्ग्रह इति ॥१७३॥ प्रति०।

ण य णिच्छओ वि हु तओ,
जुज्जइ पायं कहं चि सण्णाया ।
जं तस्सत्थपगासणा-
विसएह अइंदिया सत्ती ॥१२८३॥ पं०व०।

न च निश्चयोऽपि ततो वेदवाक्यात् युज्यते प्रायः क्वचिदवस्तुनि सन्नयायात् यद्-यस्मात्तस्य वेदवचनस्यार्थप्रकाशनविषयेहप्र-क्रमेऽतीन्द्रियाशक्तिरिति गाथार्थः ॥१७४॥ प्रति०।

णो पुरिसमित्तगम्मा,
तदतिसओ वि हु ण बहुमओ तुम्हं ।
लोइयवयणेहिंतो,
दिट्ठं च कहिंचि वेहम्मं ॥१२८४॥ पं०व०।

न पुरुषमात्रागम्या एषा तदतिशयोऽपि न बहुमतो युष्माकम् अतीन्द्रियदर्शी लौकिकवचनेभ्यः सकाशाद् दृष्टं च कथंचिद्वैधर्म्यं वेदवचनानामिति गाथार्थः ॥१७५॥ प्रति०।

ताणि ह पोरुसेयाणि,
अपोरुसेयाणि वेयवयणाणि ।
सग्गुव्वसिपमुहाणं,
दिट्ठो तह अत्थभेओऽवि ॥१२८५॥ पं०व०।

तानीह पौरुषेयाणि लौकिकानि अपौरुषेयाणि वेदवचनानीति वैधर्म्यं, स्वर्गोर्वशीप्रमुखानां शब्दानां दृष्टः; स्तथार्थभेदोऽपि एव च 'य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः, स एवैषामर्थ' इति यत् किंचिदेतत् ॥१७६॥ प्रति०।

णा य तं सहावओ चिय,
सत्थपगासणपरं पईओ व्व ।
समयविभेयाऽजोगा,
मिच्छत्तपगासजोगा य ॥१२८६॥ पं०व०।

न च तद्वेदवचनं स्वभावत एव स्वार्थप्रकाशनपरं प्रदीपवत् कुत ? इत्याह-समयविभेदाऽयोगात् संकेतभेदाऽभावात्

मिथ्यात्वप्रकाशयोगाच्च, क्वचिदेतदापत्तेरिति भावः ॥१७७॥

तदाह (प्रति०)-

इंदीवरंमि दीवो,
पगासई रत्तयं असंतं पि ।
चदो वि पीयवत्थं,
धवलं ति न णिच्छओ तत्तो ॥१२८७॥ पं०व०।

इन्दीवरे दीपः प्रकाशयति रक्ततामसतीमपि चन्द्रोऽपि पीतवस्त्रं धवलमिति प्रकाशयति न निश्चयस्ततो वेदवचनाद् व्यभिचारिण इति गाथार्थः ॥१७८॥ प्रति०।

एवं णो कहियाऽऽगम-
पओगगुरुसंपयायभावोऽवि ।
जुज्जइ सुहो इहं खलु,
नाएणां छिन्नमूलत्ता ॥१२८८॥ पं०व०।

एवं न कथिताऽऽगमप्रयोगगुरुसंभदायभावोऽपि प्रवृत्त्यङ्गभूतो युज्यते यत इह खलु वेदवचने न्यायेन, 'छिन्नमूलत्वात्' तथाविधवचना-संभवादिति गाथार्थः ॥१७९॥ प्रति०।

ण कयाइ इओ कस्सइ,
इह णिच्छयमो कहिं चि वत्थुम्मि ।
जाओ त्ति कहइ एवं,
जं सो तत्तं स वामोहो ॥१२८९॥ पं०व०।

न कदाचिदतो वेदवचनात् कस्यचिदिह निश्चय एव क्वचिद्वस्तुनि जात इति कथयति एवं सति यदसौ वैदिकस्तत्त्वं स व्यामोहः स्वतोऽप्यज्ञात्वा कथनात् ॥१८०॥ प्रति०।

तत्तो अ आगमो जो,
विणेयसत्ताण सो वि एमेव
तस्स पओगो चेवं,
अणिवारणगं च णियमेणं ॥१२९०॥ पं०व०।

ततश्च वैदिकादर्थादागमो यो व्याख्यारूपः विनेयसत्त्वानां संबंधी सोऽप्येवमेव व्यामोह एव तस्याऽऽगममार्थस्य प्रयोगोऽप्येवमेव व्यामोह एव अनिवारणं च नियमेन व्यामोह एवेति गाथार्थः॥८१॥ प्रति०।

णेवं परंपराए,
माणं एत्थ गुरुसंपयाओ वि ।
रूवविसेसट्ठवणे,
जह जच्चंधाण सव्वेसिं ॥१२९१॥ पं०व०।

नैवं परंपरायां मानम्, अत्र च व्यतिकरे गुरुसंप्रदायोऽपि निदर्शनमाह-सितेतरादिरूपविशेषस्थापने यथा जात्यन्धानां सर्वेषामनादिमताम् ॥१८२॥

पराऽभिप्रायमाह (प्रति०)-

भवतो वि य सव्वन्नू,
सव्वो आगमपुरस्सरो जेणं ।
ता सो अपोरुसेओ,
इअरो वाऽणागमा जो उ ॥१२९२॥ पं०व०।

भवतोऽपि च सर्वज्ञः सर्व आगमपुरस्सरः येन कारणेन स्वर्गकैवलार्थिना तपोध्यानादिकर्तव्यमित्यागमः अतः प्रवृत्ते-रिति, तदसावपौरुषेयः, इतरः अनादिमत् सर्वज्ञोऽनागमादेव कस्यचित्तमन्तरेणापि भावादितिगाथार्थः ॥१८३॥ प्रति०।

णोभयमवि जमणाई,
बीयंऽकुरजीवकम्मजोगसमं ।
अहवऽत्थतो उ एवं,
ण वयणओ वत्तहीणं तं ॥१२९३॥

अत्रोत्तरम् - 'नो' नैतदेवमुभयमप्यागमः सर्वज्ञश्च यद्यस्मादनादिबीजाङ्कुरजीवकर्मयोगसमं न ह्यत्रेदं पूर्वमिदं नेति व्यवस्था ततश्च यथोक्तदोषाभावः, अथवा-अथत एव बीजाऽङ्कुरादिन्यायः सर्व एव कथंचिदागममासाद्य सर्वज्ञो जातः तदर्थश्च तत्साधक इति न वचनतो न वचनमेवाश्रित्य मरुदेव्यादीनां प्रकारान्तरेणापि भावात् । तद्वचनं वक्त्रधीनं, नत्वनाद्यपि वक्तारमन्तरेण वचनप्रवृत्तेरयोगात् । तदर्थप्रतिपत्तिस्तु क्षयोपशमादेरविरुद्धा, तथा दर्शनादेतत्सूक्ष्मधिया भावनीयम् ॥१८४॥ प्रति०।

वेयवयणम्मि सव्वं,
णाएणासंभवंतरूवं जं० ॥
ता इयस्वयणसिद्धं,
वत्थु कहं सिज्जई तत्तो ॥१२९४॥ पं०वि०।

वेदवचने सर्वमागमादिन्यायेनाऽसंभवद्रूपं यद् - यस्मात् तत् तस्मादितरवचनात्सिद्धं सद्रूपवचनसिद्धं वस्तु हिंसादोसादि कथं सिध्यति ततो-वेदवचनादिति गाथार्थः ॥१८५॥ प्रति०।

(आगमस्य च स्वरूपप्रतिपादकस्यापि प्रामाण्यम्)-

नच स्वरूपप्रतिपादकानामप्रामाण्यं, प्रमाणजनकत्वस्य सद्भा-वात्। तथाहि-प्रमाजनकत्वेन प्रमाणस्य प्रामाण्यं न प्रवृत्तिनिवृत्तिजनकत्वेन तद्येहास्त्येव प्रवृत्तिनिवृत्ती तु पुरुषस्य सुखदुःखसाधनत्वाध्यवसाये समर्थस्यार्थित्वाद्भवत इति। अथ विधावङ्गत्वादमीषां प्रमाण्यं न स्वरूपार्थत्वादिति चेत् तदसत्, स्वार्थप्रतिपादकत्वेन विध्यङ्गत्वात्, तथाहि स्तुतेः स्वार्थप्रतिपादकत्वेन प्रवर्त्तकत्वं, निन्दायास्तु निवर्त्तकत्वमिति । अन्यथा हि तदर्थापरिज्ञाने विहितप्रतिविषिद्धेष्व-विशेषेण प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा स्यात्तथाविधिवाक्यस्यापि स्वार्थप्रतिपाद-नद्वारेणेव पुरुषप्रेरकत्वं दृष्टम् एवं स्वरूपपरेष्वपि वाक्येषु स्यात्, वाक्यस्वरूपताया अविशेषात् विशेषहेतोश्चाऽभावादिति। तथा स्वरूपार्थानामप्रामाण्ये ''मेध्या आपोदर्भाः पवित्रम्, अमेध्यमशुची'' त्येवंस्वरूपापरिज्ञाने विध्यङ्गतायामप्यविशेषणं, प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसङ्गः, न चैतदस्ति; मेध्येष्वेव प्रवर्त्तते अमेध्येषु च निवर्त्तते इत्युपलम्भात्। तदेवं स्वरूपार्थेभ्यो वाक्येभ्योऽर्थस्वरूपावबोधे सति इष्टे प्रवृ- त्तिदर्शनात् अनिष्टे च निवृत्तेरिति ज्ञायते-स्वरूपार्थानां प्रमाजन- कत्वेन प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा विधिसहकारित्वमिति, अपरिज्ञानात्तु, प्रवृत्तावतिप्रसङ्गः। अथ स्वरूपार्थानां प्रमाण्ये ''ग्रावाणः प्लवन्ते'' इत्येवामादीनामपि यथार्थता स्यात्, न;

मुख्ये बाधकोपपत्तेः । यत्र हि मुख्ये बाधकं प्रमाणमस्ति तत्रोपचारकल्पना, तदभावे तु प्रामाण्यमेव । न चेश्वरसद्भावप्रतिपादनेषु किंचिदस्ति बाधकमिति स्वरूपे प्रामाण्यमभ्युन्तत्यम्। सम्म०१ काण्ड १ गाथाटी०।

(मूलाऽऽगमैकदेशभूतस्य चाऽऽगमान्तरस्यापि प्रामाण्यम्)-

ऐदंपर्य शुध्यति, यत्रासावागमः सुपरिशुद्धः ।
तदभावे तद्देशः, कश्चित्स्यादन्यथा ग्रहणात् ॥१२॥

एदंपर्य-तात्पर्य पूर्वोक्तं शुध्यति-स्फुटीभवति यत्राऽऽगमे असावागमः सुपरिशुद्धः-प्रमाणभूतस्तदभावे-ऐदंपर्यशुध्यभावे तद्देशः- परिशुद्धाऽऽगमैकदेशः कश्चिद अन्य आगमः स्यान्नतु मूलागम एव अन्यथाग्रहणात् मूलाऽऽगमैकदेशस्य सतो विषयस्यान्यथा प्रतिपत्तेर्यतः समतामवलम्बमानास्तेऽपि तथेच्छन्ति।

मूलाऽऽगमव्यतिरिक्ते तदेकदेशभूत आगमेऽन्यथा परिगृहीते द्वेषो विधेयो न वेति, तदभावप्रतिपादनायाह-

तत्राऽपि च न द्वेषः, कार्यो विषयस्तु यत्नतो मृग्यः ।
तस्याऽपि न सद्वचनं, सर्वं यत्प्रवचनादन्यत् ॥१३॥

तत्रापि च तदेकदेशभूत आगमान्तरे न द्वेषः कार्यो न द्वेषो विधेयो विषयस्त्वभिधेयज्ञेयरूपो यत्नतो-यत्नेन मृग्यः अन्वेषणीयो यद्येवं सर्वमेव तद्वचनं किं न प्रमाणीक्रियत इत्याह तस्याप्यागमान्तरस्य न सत्-शोभनं वचनं सर्वम्-अखिलं यत्प्रवचनात्-मूलाऽऽगमादन्यत् यत्तु तदनुपाति तत्सदेवेति।

कस्मात्पुनस्तत्राऽद्वेषः क्रियत इत्याह-

अद्वेषो जिज्ञासा, शुश्रूषा श्रवणबोधमीमांसाः ।
परिशुद्धा प्रतिपत्तिः, प्रवृत्तिरष्टाङ्गिकी तत्त्वे ॥१४॥

अद्वेषः-अप्रीतिपरिहारस्तत्त्वविषयस्तत्पूर्विका ज्ञातुमिच्छा- जिज्ञासा तत्त्वविषया ज्ञानेच्छा तत्त्वजिज्ञासा सा पूर्विका बोधाम्भःश्रोतसः शिराकल्पा श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा तत्त्वविषयैव। तत्त्वशुश्रूषानिबन्धनं श्रवणम्-आकर्णनं तत्त्वविषयमेव बोधः- अवगमः परिच्छेदो विवक्षितार्थस्य श्रवणनिबन्धन-स्तत्त्वविषय एव मीमांसा सद्विचाररूपाबोधानन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव। श्रवणं च बोधश्च मीमांसा च श्रवणबोधमीमांसाः। परिशुद्धा-सर्वतो भावविशुद्धा प्रतिपत्तिर्मीमांसोत्तरंकालभाविनी निश्चयाकारा परिच्छित्तिरिदमिदमेवेति तत्त्वविषयैव। प्रवर्त्तनं प्रवृत्तिरनुष्ठानरूपा परिशुद्धाप्रतिपत्त्यनन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव, प्रवृत्तिशब्दो द्विरावर्त्यते तेनायमर्थो भवति। तत्त्वे प्रवृत्तिरष्टभिरङ्गैर्निर्वृत्ताष्टाङ्गिकी एभिरद्वेषादिभिरष्टभिरङ्गैस्तत्त्वप्रवृत्तिः संपद्यते तेनाऽऽगमान्तरे मूलाऽऽगमैकदेशभूते न द्वेषः कार्य इति। षो० १६ विव०।

(७) प्रमाणान्तराविषय एव पदार्थो नाऽऽगमेन बोध्यते किन्तु प्रमाणान्तरविषयोऽपि-

''न ह्यागमसिद्धाः पदार्था'' इति, प्रत्यक्षस्यापि प्रतिक्षेपो युक्तः। यदपि प्रत्यक्षानुमानाविषये चार्थे आगमप्रामाण्यवादिभिस्तस्य प्रामाण्यमभ्युपगम्यते-तदुक्तम्-'' आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।'' (जैमि०१-२-१।) इति तदप्युक्तम्; यतो यथाप्रत्यक्षप्रतीतेऽप्यर्थे विप्रतिपत्तिविषयेऽनुमानमपि प्रवृत्ति-मासादयतीति प्रतिपादितम्। तथा प्रत्यक्षानुमानप्रतिपन्ने- ऽप्यात्मलक्षणेऽर्थे तस्य वा प्रतिनियतकर्मफलसंबंधलक्षणे किमि-त्यागमस्य प्रवृत्तिर्नाभ्युपगमस्य विषयः? नचाऽऽगमस्य तत्राप्रामाण्यमिति वक्तुं युक्तं, सर्वज्ञप्रणीतत्वेन तत्प्रामाण्यस्य व्यवस्था पितत्वात्। सम्म०१ काण्ड १ गाथाटी०।

आगमप्रमाणञ्च प्रमाणान्तरे नान्तर्भवति तथा चाऽत्र शङ्कितम्-

आगमोऽपि नाऽनुमानाद् भिद्यते, परमार्थतस्तस्याप्यनुमानत्वात्तथाहि- 'शाब्दं प्रमाणमागमः' उच्यते शब्दश्च द्विविधो- दृष्टार्थाविषयः, अदृष्टार्थविषयश्च। तत्र दृष्टार्थविषया शब्दाद् या प्रतीतिः, सा वस्तुतोऽनुमानसमुत्थैव यतः क्वचित्प्रथमं पृथुबुध्नोदरोर्ध्वकुण्डलोष्ठायतवृत्तग्रीवादिमति घटपदार्थे घटशब्दं प्रयुज्यमानं दृष्ट्वा तदुत्तरकालं क्वापि घटमानयेत्यादिशब्दं श्रुत्त्वा पृथुबुध्नोदरादिमदर्थ एव घट उच्यते, तथाभूतपदार्थे एव घटशब्दप्रयोगप्रवृत्तेः, यथा पूर्वं कुम्भकारापणादौ घटशब्दश्राय- मिदानीमपि श्रूयते तस्मात्तथाभूतस्यैवपृथुबुध्नोदरादिमतः पदार्थस्य मया आनयनादिक्रिया कर्त्तव्या इत्यनुमानं विधाय प्रमाता घटानयनादिक्रियं करोति, इत्येवं दृष्टार्थविषयं शाब्दं प्रमाणं वस्तुतो नानुमानाद्विद्यते। विशे० १५५२ गाथाटी०।

(८) आगमप्रमाणस्यानुमानप्रमाणेऽन्तर्भावः-

काणादाः- शब्दोऽनुमानं व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्त्वाद्धूमवदिति। तत्र हेतोरामुखे कूटाऽकूटकार्षापणनिरूपण- प्रवणयप्रत्यक्षेण व्यभिचारस्तथाभूतस्यापि तत्प्रत्ययक्षस्यानु- मानरूपताऽपायात्। आः कथं प्रत्यक्षं नाम भूत्वा व्याप्ति-ग्रहणपुरस्सरं पदार्थं परिच्छिन्द्यात् ? उन्मीलितं हि चेल्लोचनं जातमेव परीक्षणकाणां कूटाकूटविवेकेन प्रत्यक्षमिति क्व व्याप्तिग्रहणावसर इति चेत्, तदेवान्यत्रापि प्रतीहि। तथाहि- समुच्चारितश्चेद्ध्वनिः, जातमेव जनस्य शब्दार्थसंवेदनमिति क्व व्याप्तिग्रहणावकाश इति। एवं तर्हि नालिकेरद्वीपवानोऽपि पनसशब्दात्तदर्थसंवित्तिः स्यादिति चेत् , किं ना परीक्षकस्यापि कार्षापणे कूटाकूटविवेकेन प्रत्यक्षोत्पत्तिः? अथ यावानेता- दृशविशेषसमाकलितकलेवरः कार्षापणः तावानशेषः कूटोऽकूटो वा निष्टङ्कनीयस्त्वया; इत्युपदेशसाहायकापेक्षं चक्षुरादि तद्विवेके कौशलं कलयति; नचापरीक्षकस्यायं प्राक्प्रावर्त्तिष्टति चेत् तर्हि शब्दोऽपि यावान् पनसशब्दस्तावान् पनसार्थवाचक इति संवित्तिसहायस्तत्प्रतिपादने पटीयान् ; न च नालिकेरद्वीपवासिनः प्रागियं प्रादुरासीदिति कथं तस्य तत्प्रतीतिः स्यात् ?। अथैतादृशसंवेदनं व्याप्तिसंवेदनरूपमेव, तदपेक्षायां च शब्दार्थज्ञानमनुमानमेव भवेदिति चेत्, कूटाकूटकार्षापणविवेकप्रत्यक्षमपि किं न तथा। तत्रापि तथाविधोपदेशस्य व्याप्त्युल्लेखस्वरूपत्वात्। अथ व्याप्तेः प्राक् प्रवृत्तावपि तदानीमभ्यासदशापन्नत्त्वेनानपेक्षणात्प्रत्यक्षमेवैतत्तदपेक्षायां तु भवत्येवैतदनुमानं, कूटोऽयं कार्षापणः, तथाविधविशेष- समन्वितत्वात्प्राक्प्रेक्षितकार्षापणवत्, इति चेत्, एतदेव समस्तमन्यत्रापि तुल्यं विदांकुरोतु भवान् न खल्वभ्यासदशायां कोऽपि व्याप्तिं शब्देऽप्यपेक्षते, सहसैव तज्ज्ञानोत्पत्तेः। अनभ्या-

से तु को नाम नानुमानतां मन्यते,। यथा कस्यचिद्वि- स्मृतसंकेतस्य कालान्तरे पनसशब्दश्रवणे, यः पनसशब्दः स आमूलफले ग्रहिविटपिविशेषवाचको, यथा यज्ञदत्तोक्तः प्राक्तनस्तथा चायमपि देवदत्तोक्त इति। एवं च पक्षैकदेशे सिध्यसाध्यता, शब्दोऽनुमानमित्यत्र सकलवाचकानां पक्षीकृता- नामेकदेशस्यानुमानरूपतया स्वीकृतत्वात्। यस्त्वागमरूपतया स्वीकृतः शब्दस्तत्राभ्यासदशापन्नत्वेन व्याप्तिग्रहणा- पेक्षैव नास्ति। अन्यथा कूटाऽकूटकार्षापणप्रत्यक्षेण व्यभिचारापत्तेः तथा च हेतोरसिद्धिः। एवं च (शब्दत्वस्य व्याप्तिग्रहणानपेक्षत्वे सिद्धे) विवादास्पदः शब्दो नानुमानं, तद्विभिन्नसामग्रीकत्वात्, कूटा- ऽकूटकार्षापणविवेकप्रत्यक्षवदिति सिद्धम्।

किं च-वाचामनुमानमानतामातन्वानोऽसौ कथं पक्षधर्मतादिक- मादर्शयते? चैत्रः ककुदादिमदर्थविवक्षावान् गोशब्दाच्चारण- कर्तृत्वात्, अहमिव इतीत्थमिति चेत्, नन्वतो विवक्षामात्रस्यैव प्रतीतिः स्यात्, तथा च कथमर्थे प्रवृत्तिर्भवेत्? विवक्षातो- ऽर्थसिद्धिरिति चेत्। मैवम्। अस्याः तद्व्यभिचारात् नाप्तानाम- न्यथापि तदुपलब्धः। अथ यथाप्रोक्ताच्छब्दात्तथाप्तविवक्षातो- ऽक्षुण्णैवार्थसिद्धिर्भविष्यतीति चेत्, सत्यम्। किं प्रतीतिपरा- हृतैवेयं परम्परा, शब्दश्रुतौ सत्यां प्रतीत्यन्तराव्यवहितस्यैवार्थस्य संवेदनात्, यथा लोचनव्यापारे सति रूपस्य। अपि च-अप्राती- तिकैतादृक्कल्पनामहापातकं क्रियतां नाम, यदि नान्या गतिः स्यात् अस्ति चेयं शब्दस्य स्वाभाविकवाच्यवाचक- भावसंबन्ध-द्वारेणार्थप्रत्यायकत्वोपपत्तेः। एतच्च ''स्वाभाविकसामर्थ्य- समयाभ्यामि'' त्यादिसूत्रे निर्णेष्यते।

उदाहरन्ति-

समस्त्यत्र प्रदेशे रत्नंनिधानं, सन्ति रत्नसानुप्रभृतय इति॥३॥

वक्ष्यमाणलौकिकजनकादिलोकोत्तरतीर्थकराद्यपेक्षया क्रमेणो- दाहरणोभयी। रत्ना० ४ परि०।

अत्राह मीमांसकः- ''शब्दज्ञानादसन्निकृष्टेर्थे बुद्धिः शाब्दम्''- (१-१-५। शाबरभा०) इति वचनात् ''शब्दादुदेति यद् ज्ञान- मप्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि। शाब्दं तदिति मन्यन्ते, प्रमाणान्तर- वादिनः''॥१॥ इतिलक्षणलक्षितस्य प्रमाणान्तरस्य सद्भावात्, कथं द्वे एव प्रमाणे ? न चास्य प्रत्यक्षप्रमाणता सविकल्प- कत्वात्, नाप्यनुमानता त्रिरूपलिङ्गाप्रभवत्वात् अनुमानगोचरा- विषयत्वाच्च। तदुक्तम्- ''तस्मादननुमानत्वं, शाब्दं प्रत्यक्ष-वद्भवेत्। त्रैरूप्यरहितत्वेन, तादृग्विषयवर्जनात्'' (श्लो० वा० शब्दप० ९८)। तथाहि-न शब्दस्य पक्षधर्मत्वं धर्मिणोऽयोगात्। नचार्थस्य धर्मित्वं तेन तस्य संबन्धासिद्धेः। नचाप्रतीतेऽर्थे तद्धर्मतया शब्दस्य प्रतीतिः संभविनी प्रतीते चार्थे न तद्धर्मताप्रतिपत्तिः शब्दस्योपयोगिनी तामन्तरेणप्यर्थस्य प्रागेव प्रतीतेः अन्यथा तस्य तद्धर्मतया प्रतीत्ययोगात्। भवतु वाऽर्थो धर्मी तथाऽपि किं तत्र साध्यमिति वक्तव्यं ? सामान्यमितिचेत्, न; तस्य धर्मिपरिच्छेदकाल एव सिद्धत्वात्। तदपरिच्छिदे धर्मिपरिच्छेदाऽयोगाद् ''नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः'' इति न्यायात्। न च सामान्यं धर्मि अर्थविशेषस्तत्र साध्यो धर्मः उक्तदोषानतिक्रमात्। विशेषस्य चानन्वयाद्। अथ-शब्दो धर्मी अर्थवानिति साध्यो धर्मः शब्द एव च हेतुः, न; प्रतिज्ञार्थै- कदेशत्वप्राप्तेः। अथ शब्दत्वं हेतुरिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वं दोषः, न; शब्दत्वस्यागमकत्वात् गोशब्दत्वस्य च निषेत्स्यमान- त्वेनासिद्धत्वात्। अत एवानुमानतुल्यविषयताऽपि न शाब्दे संभवति। तदुक्तम्-

''सामान्यविषयत्वं हि, पदस्य स्थापयिष्यते।
धर्मी धर्मविशिष्टश्च, लिङ्गीत्येतच्च साधितम्॥
न तावदनुमानं हि, यावत्तद्विषयं न तत्।
अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन, पक्षः कस्मान्न कल्प्यते।
प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते।
पक्षे धूमविशेषे हि, सामान्यं हेतुरिष्यते।
शब्दत्वं गमकं नात्र, गोशब्दत्वं निषेत्स्यते।
व्यक्तिरेव विशेष्याऽतो, हेतोश्चैका प्रसज्यते'' इति (श्लो० वा० शब्दप० ५५-५६-, ६२-६४।) शब्दस्य चार्थेन संबन्धाभावतो यथा न पक्षधर्मत्वं तथाऽन्वयोऽपि प्रमेयेण व्यापाराभावतोऽसङ्गत एव तदुक्तम् -

''अन्वयो न च शब्दस्य, प्रमेयेण निरूप्यते।
व्यापारेण हि सर्वेषा-मन्वेतृत्वं प्रतीयेते।
यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्ने-रस्तित्वेनान्वयः स्फुटः।
नत्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति, तत्राऽर्थोऽस्तीति निश्चयः।
न तावत् यत्र देशेऽसौ, न तत्कालेऽवगम्यते।
भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत्, सर्वार्थेष्वपि तत्समम्।
तेन सर्वत्र दृष्टत्वाद्, व्यतिरेकस्य चागतेः।
सर्वशब्दैरशेषार्थ-प्रतिपत्तिः प्रसज्यते'' (श्लो० वा० शब्दप० ८५-८८) अन्वयाभावे व्यतिरेकस्याप्यभावः, उक्तं च- ''अन्वयेन विना तस्मा-द्व्यातिरेकः कथं भवेत्-?'' इति तदेव-मनुमानलक्षणाभावात् शाब्दं प्रमाणान्तरमेव। सम्म० २ काण्ड १ गाथाटी०।

अत्र प्रतिविधीयते-यत्तावत् शाब्दस्य त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषया- भावाच्चानुमानान्तर्भावप्रतिपादमभ्यधायि तद् युक्तमेव न ह्यप्रमाणस्या- नुमानेऽन्तर्भावो युक्तः। कुतः पुनः शब्दोद्भवस्य ज्ञानस्याप्रामाण्यं ? शब्दस्यार्थप्रतिबन्धाभावात्। न हि शब्दोऽर्थस्य स्वभावः अत्यन्तभेदात् नापि कार्यं तेन विनाऽपि भावात्। न च तादात्म्यतदुत्पत्तिव्यतिरिक्तः संबन्धो गमकत्वनिबन्धनमस्ति। न च सङ्केतबलाद्वास्तवप्रतिपत्ति- शक्तियुक्तानां प्रदीपानामिवार्थप्रकाशकत्वं संभवति। न च व्यवस्थितैवार्थप्रतिपादनयोग्यता संकेतेन शब्दस्याभिव्यज्यत इति वक्तव्यं पुरुषेच्छावशादन्यत्रार्थे शब्दस्य समयादप्रवृत्ति-प्रसक्तेः। दृश्यते च पुरुषेच्छावशादन्यत्रापि विषये शब्दानां प्रवृत्तिः। न च पुरुषेच्छावृत्तिः समयो वस्तुप्रतिबद्धः तदभावेऽपि तस्य प्रवृत्तेः। न च संकेतमरन्तरेण शब्दस्य वस्तुप्रत्यायकत्वं संकेताभावप्रसक्तेः। आप्तप्रणीतशब्दानां पुनरर्थव्य- भिचारेऽप्याप्तप्रणीतत्वानिश्चयादेवाप्रामाण्यं न पुनराप्तस्यैवासंभवात्। तदसंभवबाधकप्रमाणाभावात्। ततो बाह्ये विषये शब्दानां प्रतिबन्धाभावतः प्रामाण्यमेव न संभवति

पक्षधर्मत्वाद्यसंभवादनुमानत्वाभावप्रतिपादनं युक्तमेवेति स्थितम्। यत्र तु वक्त्रभिप्रायसूचने प्रामाण्यमस्य तत्रानुमानलक्षणयुक्तस्यैव नान्यादृग्भूतस्येति न प्रमाणान्तरत्वम्। सम्म० काण्ड १ गाथाटी०।

(९) आगममधिकृत्योक्तम् -

तस्य च जीवाऽजीवादिलक्षणं दृष्टविषये वस्तुतत्त्वे सर्वदा अविसंवादात् अदृष्टविषयेऽप्येकवाक्यतया प्रवर्तमानस्य च प्रामाण्यं प्रतिपत्तव्यम्। न च वक्त्रधीनत्वात् तस्य अप्रामाण्यं वक्त्रधीनत्वप्रमाणत्वयोर्विरोधाभावाद्वक्त्रधीनस्यापि प्रत्यक्षस्य प्रामाण्योपलब्धेः न चाक्षजत्त्वाद्वस्तुप्रतिबद्धत्वेन तत्र प्रामाण्यं न शाब्दस्य विपर्ययादिति वक्तव्यं शाब्दस्य अत एव प्रमाणान्तरत्वोपपत्तेः अन्यथा अनुमानादविशेषप्रसङ्गात्। तथाहि- गुणवद्वक्तृप्रत्युक्तशब्दप्रभवत्वादेव शाब्दम् अनुमान- ज्ञानाद्विशिष्यते अन्यथा बाह्यार्थप्रतिबन्धस्यात्रापि सद्भावात् नानुमानादस्य विशेषः स्यात्। यदा च परोक्षेऽपि विषयेऽस्य प्रामाण्यमुक्तन्यायात् तदा गुणवद्वक्तृप्रयुक्तत्वेनास्य प्रामाण्यम् अतश्च गुणवद्वक्तृप्रयुक्तत्वमितीतरेतराश्रयदोषोऽपि नाऽत्राऽवकाशं लभते यथोक्तसंवादादस्य प्रामाण्यनिश्चये । कुतोऽयमस्यात्र संवादः इत्यपेक्षायाम् आप्तप्रणीतत्वादित्यवगमो न पुनः प्रथममेव तत्प्रणीतत्वनिश्चयादस्यार्थप्रतिपादकत्वं प्रतिबन्धनिश्चयादनु- मानस्येव नापि दृष्टविषयाविसंवादिवाक्यैकवाक्यतां विरहय्य अदृष्टार्थवाक्यैकदेशस्यान्यतः कुतश्चित्प्राक् संवादित्वनिबन्धनस्य प्रामाण्यस्य निश्चयोऽभ्यासावस्थायां तु आप्तप्रणीतत्वनिश्चयात् प्रवृत्तिरदृष्टार्थवाक्यान्न वार्यत इति कुत इतरेतराऽऽश्रया- ऽवकाशः?

(ऐकान्तिकं वाच्यस्वरूपं निरसितुं लडादेरर्थविचारपक्षाः)-

एकान्तवादिवाक्यात्तु दृष्टार्थेऽपि विसंवादिनः सर्वथा अप्रवृत्तिरेव निश्चितविसंवादाङ्कुल्यग्रहस्तितयूथशतप्रतिपादकवाक्यादिवत् नह्येकान्तवादिवचनानां वाच्यं संभवत्युक्तम्। यतः सामान्यं वा तद्वाच्यं भवेत्, विशेषो वा, उभयम्, अनुभयं वेति विकल्पाः। न तावत्सामान्यं तस्येतरव्यावृत्तप्रतिनियतैकवस्तुरूपत्वायोगात् । शब्दवाच्यत्वे घटाद्यानयनाय प्रेरितः सर्वत्र प्रवर्तेत न वा क्वचिद् भेदनिबन्धनत्वात् प्रवृत्तेः सामान्यस्य अनर्थक्रिया- कारितया च प्रवृत्तिनिबन्धनत्वायोगात्। अथापि स्याद्यदाऽयं प्रतिपत्ता वाक्यमश्रुतपूर्वं शृणोति तदा पदानां संकेतकालानुभूतानामर्थं सामान्यलक्षणमेव प्रतिपद्यते या तु वाक्यार्थप्रतिपत्तिः सा अपेक्षासन्निधानाभ्यां विशेषणविशेष्यभावात्पदार्थप्रतिपत्ति- निबन्धना न पुनस्ततो वाक्यात् तथाविधस्य तस्य स्वार्थेन सह संबन्धाप्रतिपत्तेः वाक्यमेव च प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यवहारक्षमं न पदं तस्यानर्थक्रियाकारिसामान्यप्रतिपादकत्वेनाऽप्रवृत्त्यङ्गत्वाद्। अत एव न विवक्षाप्रतिभासनमप्यर्थं प्रतिपादयन्तः शब्दा अनुमानतामासादयन्ति अगृहीतप्रतिबन्धादपि वाक्यविशेषात् यथोक्तन्यायतो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः। अनेनैवाभिप्रायेण सौगता वाक्यगतां चिन्तामनादृत्य पदमेवानुमाने अन्तर्भावितवन्तः। उक्तं च मीमांसकैः-

''वाक्यार्थे तु पदार्थेभ्यः, संबन्धानुगमादृते।
बुद्धिरुत्पद्यते तस्मा-द्भिन्ना साऽप्यक्षबुद्धिवत्॥''

(श्लो० वा० शब्द प० श्लो० १०९) तथा-

''वाक्येष्वदृष्टेष्वपि सार्थकेषु,
पदार्थचिन्मात्रतया प्रतीतिम्।
दृष्ट्वानुमानव्यतिरेकभीताः।
क्लिष्टाः पदाभेदविचारणायाम्॥''

(श्लो० वा० शब्दप० श्लो० १११) इति।

असदेतत्; एवं कल्पनायां पदार्थानामपि वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वासंभवात्। तथा हि- 'घटः पटः कुम्भः' इत्यादिपदेभ्यो यथाऽन्योन्याननुषक्तस्वतन्त्र सामान्यात्मकार्थप्रतिपत्तिस्तथासंबद्धपदसमूहश्रवणादपि किं न तथाभूतसामान्यप्रतिपत्तिर्भवेत्? नहि ततः सामान्यमात्राऽधिगमे तत्परित्यागतो विशिष्टार्थप्रतिपत्तौनिमित्तमस्ति न वापेक्षा-सन्निधानादिकं पदार्थानां तत्प्रतिपत्तौनिमित्तं पदार्थस्य पदार्थान्तरं प्रत्युत्पत्तौ प्रतिपत्तौ वाऽपेक्षादेरयोगात् तस्य सामान्यात्मकत्वेनोत्पत्तेरसंभवात् स्वपदेभ्य एव प्रतिपत्तेस्तत्रापि पदार्थान्तरापेक्षाद्यनुपपत्तेः। अर्थशक्तित एव ततो विशेषप्रतिपत्तिरितिचेत् तर्हि पदार्थानामेकार्थसंभवा प्रतिपत्तिर्यस्य तस्यापि ततस्तत्प्रति-पत्तिर्भवेत्। न च सामान्यत्यागे किंचिन्निबन्धनं बाधकाभावात् सत्यर्थित्वे उभयप्रतिपत्ति-प्रवृत्ती स्याताम्। न च वाक्यार्थप्रत्यय एव बाधकस्तेन तस्य विरोधाभावात् सामान्यविशेषयोः साहचर्यात् सामान्यप्रत्ययस्य च विशेषप्रतिपत्तिं प्रति निमित्तत्वाभ्युपगमात् निमित्तस्य च निमित्तिना अबाध्यत्वाद् अन्यथा तस्य तन्निमित्तत्वायोगाद्। अथ प्राग्प्येवमयं व्युत्पादितः यत्र पदार्थानामेकद्रव्यसंभवस्तत्र पदार्थसामान्यत्यागाद्विशेषः प्रतिपत्तव्यो यथा नीलोत्पलादौ, नन्वेवं सर्ववाक्यान्यस्य व्युत्पादितान्येव भवन्ति। तथाहि- यः कश्चित् संभवदेकद्रव्यार्थनिवेशः पदसमूहः संकेतसमयावगतसामान्या-त्मकावयवार्थपरित्यागतस्तेषामेव विशेषणविशेष्यभावेन विशिष्टाऽर्थगोचरः प्रतिपत्तव्यो, यथा 'नीलोत्पलं पश्य' इत्यादिपदसंघातः, तथा चायमपूर्ववाक्यात्मकः पदसमुदाय इति संकेतमनुसृत्य यदा ततस्तथाभूतमर्थं प्रत्येति तदा कथं न विशिष्टार्थवाचकं वाक्यम्? अनेनैव च क्रमेण शब्दविदां समयव्यवहार उपलभ्यते। यथा- 'धात्वादिः क्रियादिवचनः, कर्त्रादिवचनश्च लडादिः' इति समयपूर्वकं 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत' इति व्युत्पादितोऽनर्थक्रियाकारित्वेन सामान्यमात्रस्य विशेषनिरपेक्षस्य प्रतिपादयितुमनिष्टेः तत्परित्यागेन व्यवहारकाले विशेषमवगच्छति व्यवहारी। न च प्रकृतिप्रत्ययार्थावेवात्र पदार्थं प्रतिपादयतो न पदमिति मन्तव्यम्।

''अशाब्दे वाऽपि वाक्यार्थे, न पदार्थेष्वशाब्दता।
वाक्यार्थस्येव नैतेषां, निमित्तान्तर संभवः॥'' (श्लो० वा० वाक्याधि० श्लो० २३०) इत्यस्य विरोधप्रसक्तेः। न च वाक्यस्य वाक्यार्थे संकेतकरणेऽनुमानात् शाब्दस्याऽविशेषप्रतिपत्तिः, विशेषस्य प्राक् प्रतिपादितत्वात्। केवलस्य च पदस्य प्रयोगानर्हत्वाद्वाक्यस्य तु प्रयोगार्हस्य सामान्यानभिधायकत्वात् कथं सामान्यं शब्दार्थः स्यात्?

यस्तु पूर्वपदाऽनुरञ्जितं पदमेव वाक्यं पदार्थ एव पदार्था-

न्तरविशेषितो वाक्यार्थोऽभ्युपगतः । तथाहि-'दण्डी' 'छत्री' त्यादिव्यपदेशं यथा पुरुष एव समासादयति नान्यस्तद्व्यतिरिक्तः तथा 'अपाक्षीत्' 'पचति' 'पक्ष्यति' इत्याद्यतीतकालाद्यवच्छिन्नः क्रियाविशिष्टश्च देवदत्त एव प्रतीयते- 'अपाक्षीद्' इत्यादिशब्दानां देवदत्तशब्देन सामानाधिकरण्यात्-न तु तद्व्यतिरिक्तोऽर्थः अथ यद्यंत्र कालाद्यवच्छिन्नपुरुष एव प्रतीयते तदा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'ग्रामं गच्छ' 'स्वाध्यायः कर्त्तव्य' इति लिट्-लोट्-कृत्य- प्रयोगेषु कस्यार्थस्य प्रतीतिः? अत्रापि कर्मणि नियुक्तः क्रियाविशिष्टोऽध्येषणादिविशिष्टश्च देवदत्त एव प्रतीयते केवलं वर्त्तमानादिकालो न विशेषणत्वेनाऽत्रावतिष्ठते।

अथ यदि नात्रार्थातिरेकावगतिर्भावसंपादने कथं पुरुषः प्रवर्तते ? यथा हि देवदत्तः पचति इत्यादिवाक्यान्न प्रवर्तते तथा 'जुहुयाद्' इत्यस्मादपि नैव प्रवर्त्तेत प्रवृत्ति निमित्तस्यानवबोधात्, असदेतत् 'जुहुयाद्' इत्यादिवाक्यजनितविज्ञानस्यैव प्रवर्त्तक- त्वात् प्रवृत्तस्तद्भावभावित्वेनोपलम्भाद् एतद्वाक्यसमुत्थं ज्ञानं पुरुषं स्वर्गादिसाधने नियोजयदुपलभ्यते न 'पचति' आदि- वाक्यसमुत्थम्। तथाहि-विध्यादिवाक्यजनितज्ञानान्तरमिच्छा तदनन्तरं प्रयत्नः तदनन्तरं च पुरुषस्य स्वर्गादिफलार्थः परि- स्पन्दस्ततोऽपि फलपर्यन्ता स्वर्गफलावाप्तिः इत्यभिधानात् । तेऽपि अयुक्तिकारिणः एकान्तपक्षे विशेषण विशेष्ययोरत्यन्तभेदे अभेदे वा विशेषणानुरागस्य पद-पदार्थेषु असंभवाद्वाक्यार्थ- कल्पनादेरनुपपत्तेः अत एव 'अपाक्षीद्देवदत्तः' इत्यादौ न काल-क्रियाविशिष्टपुरुषप्रतिपत्तिः क्रियादेः पुरुषाद्भेदे संबन्धाऽसिद्धितो व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः अभेदेऽप्येकस्य तात्विक- विशेषणविशेष्यरूपतासंगतेः। अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। कल्पनार- चितस्य तद्रूपत्वस्य सर्वत्राविशेषात् विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तेश्च अन्य- निमित्तत्वात् विरोधादिदोषस्य च तत्र प्रागेव प्रतिविहितत्वादेतेन लिङादियुक्तवाक्य- जनितविज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वमेकान्तवादिप्र- कल्पितं प्रतिक्षिप्तं तद्भावभावित्वस्य अन्यथासिद्धत्वप्रति- पादनात्। सम्म० ३ काण्ड ६३ गाथाटी०।

(१०) (शब्दस्य बाह्यार्थे प्रामाण्यं शास्त्रप्रयोजनम-धिकृत्योक्तम्)-

यदि प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनप्रतिपादनायादिवाक्यमु- पादीयते तदा ते प्रेक्षापूर्वकारित्वादेवाप्रमाणके नैव प्रवृत्तिं विदधति। नच प्रयोजनप्रतिपादकमादिवाक्यं तत्प्रभवं वा ज्ञानं प्रमाणम् अनक्षजत्वेनाध्यक्षत्वायोगात्।

नाऽप्यनुमानं स्वभावकार्यलिङ्गसमुत्थं तद्भावत्वेन तत्का- रणत्वेन वा तत्प्रत्याय्य प्रयोजनस्य प्रमाणतोऽप्रतिपत्तेः तदुत्था- पकस्य लिङ्गस्य तत्कार्यत्वानवगमाद्, अन्यस्य च स्वसाध्या- प्रतिबन्धाद् अप्रतिबद्धस्य च स्वसाध्यव्यभिचारेणागमकत्वात्, तत्त्वे वाऽतिप्रसङ्गात्; तत्प्रतिबद्धत्वेऽप्यनिश्चितप्रतिबन्धस्याति- प्रसङ्गत एव अगमकत्वात्।

न च वाक्यमिदं प्रवर्त्तमानं स्वमहिम्नैव स्वार्थं प्रत्यायतीति शब्दप्रमाणरूपत्वात्स्वाभिधेयप्रयोजनप्रतिपादने प्रमाणम्, शब्दस्य बाह्यऽर्थे प्रतिबन्धासंभवेनाप्रामाण्यात्; विवक्षायां प्रामाण्येऽपि तस्या बाह्यार्थाविनाभावित्वायोगात्। नाऽपि ये यमर्थं विवक्षन्ति ते तथैवं तं प्रतिपादयन्ति, अन्यविवक्षायामप्यन्य- शब्दोच्चारणदर्शनाद्विवक्षायाश्च बाह्यार्थप्रतिबद्धत्वानुपपत्तेरे- कान्ततः । तत्र शब्दादपि प्रमाणादादिवाक्यरूपात् प्रयोजन विशेषोपायप्रतिपत्तिः तदप्रतिपत्तौ च तेषां ततः प्रवत्तौ प्रेक्षा-पूर्वकारिताव्यावृत्तिप्रसङ्गात्। प्रयोजनविशेषोपायसंशयोत्पादकत्वेन प्रवृत्त्यङ्गत्वादादिवाक्यस्य सार्थकतत्त्वम् । तथाहि-अर्थसंशयादि प्रवृत्तिरूपलभ्यते, यथा कृषीबलादीनां कृष्यादावनवगतशस्यावाप्तिफलानाम् । अथ अबीजादिविवेकेनावधृतबीजादिभावतया निश्चितोपायाः। तदुपेयशस्यावाप्त्य-निश्चयेऽपि तत्र तेषां प्रवृत्तिर्युक्ता न पुनः शास्त्रश्रवणा-दावुपेयप्रयोजनविशेषानिश्चयवत्तदुपायाभिमतादिवाक्य- प्रत्याय्योपायनिश्चयस्याप्यसंभवाद्, अयुक्तमेतत्; यतो यथा शस्यसंपत्त्यादौ फले कृषी बलादेः संदेहः तथा तदुपाया-भिमतबीजादावपि, अनिर्वर्त्तितकार्यस्य कारणस्य तथाभावनिश्चयायोगात्। तत्र यथाकृष्यादिकं संशय्यमानोपायभावं प्रवृत्तिकारणं तथा शास्त्रमप्यादिवाक्यादनिश्चितोपायभावं किं न प्रवृत्तिकारणमभ्युपगम्येत इति चेद्, असदेतत् आदि-वाक्योपन्यासः शास्त्रप्रयोजनविषयसंशयोत्पादनार्थं संशयोऽपि च निश्चयविरुद्धः- अनुत्पन्ने च निश्चये तत्राप्रतिबद्धप्रवृत्तिहेतुतया प्रादुर्भवन् केन वार्यते आदिवाक्योपन्यासमन्तरेणापि ?

अथाश्रुतप्रयोजनवाक्यानां प्रयोजनसामान्ये तत्सत्त्वेतराभ्यां संशयो जायते-'किमिदं चिकित्साशास्त्रवत्सप्रयोजनम् उत काकदन्तपरीक्षावन्निष्प्रयोजनम् ततश्च संशयादनुपन्यस्यते प्रयोजनवाक्ये प्रयोजनसामान्यार्थिनः प्रवर्त्तन्तां प्रयोजनविशेषे तु कथमश्रुतप्रयोजनवाक्यानां संशयोत्पत्तिः ? प्रायेण च प्रयोजनविशेषविषयस्येव संशयस्य प्रवृत्तिकारणत्वात् तदुत्पादनयादिवाक्यमुपादेयम् अतश्च प्रयोजनसामान्यविशेषेषु संशयानाः 'किमिदं सप्रयोजन उत निष्प्रयोजनं सप्रयोजनत्वेऽपि किमभिलषितेनैव प्रयोजनेन तद्वद् इति पक्षपरामर्शं कुर्वाणाः प्रवर्त्तन्ते असदेतत्; कुत्रचिच्छास्त्रादनुभूतप्रयोजनविशेषं श्रोतारं प्रति प्रयोजनवाक्यस्यानुपयोगात्- स हि किंचिच्छास्त्रमुपलभ्य प्रागनुभूतप्रयोजनविशेषेण शास्त्रेणास्य वाक्यात्मकत्वेन साधर्म्यमवधार्येदमपि निष्प्रयोजनम् उत-अनभिमतप्रयोजनवद् उताऽभीष्टप्रयोजनवद्वा इत्याशङ्कमानः प्रयोजनवाक्यमन्तरेणापि प्रवर्त्तत एव अननुभूतप्रयोजनविशेषस्तु प्रयोजनवाक्यादपि नैव प्रवर्त्तते, तं प्रति तस्यापि तदुत्पादकत्वायोगात्-न हि प्रागननु- भूतशास्त्रप्रयोजनविशेषः 'प्रयोजनप्रतिपादकं वाक्यमेतदर्थमि' त्यपि प्रतिपत्तुं समर्थोऽपरयत्नमन्तरेणा नाप्यनुभूतविस्मृत- प्रयोजनविशेषः प्रयोजनवाक्यात्संस्मृत्य तद्विशेषं संशयानः प्रवर्त्तते, तद्रहितशास्त्रादपि तद्विशेषे स्मृतिसंभवात् नियमेन तु नोभाभ्यामपि तदनुस्मरणं भवति, तथाऽपि प्रयोजनवाक्यस्य ततः स्मृतिहेतुत्वत उपन्यासे अन्यस्यापि तद्धेतोः किं नोप- न्यासः ? सामान्यविशेषयोश्च दर्शनाऽदर्शनाभ्यां विशेषस्मरणसहकारिभ्यां संशयाः, न च प्रयोजनवाक्यं प्रयोजनविशेषस्य भावाऽभावयोः सामान्यम्। अथ विवक्षापरतन्त्रत्वात् स्वार्थतथाभावाऽतथाभावयोरपि प्रयोगसंभवात्सामन्यमेव वाक्यं,

शास्त्रमपि तर्हि शास्त्रान्तरसादृश्यात्प्रयोजननिर्वृत्त्युपायत्वाऽनुपायत्वयोः सामान्यम्- अन्यतरनिश्चयनिमित्ता-भावात्तत: संशयान: प्रवर्त्ततां किमकिंचित्करप्रयोजनवाक्येन ? न च सामान्यस्य विशेषस्य च दर्शनाऽदर्शनाभ्यामेव यथोक्ताभ्यां संशय:, किं तु-साधकबाधकप्रमाणावृत्तावपि; सा च प्रयोज-नवाक्योपन्यासाऽनुपन्यासयोरपि संभवत्येव।

मा भूत्संशयोत्पादनेन वाक्यस्स शास्त्रश्रवणादिप्रवृत्तौ सामर्थ्यं, किं तु-प्रकरणारम्भप्रतिषेधाय 'नारब्धव्यमिदं प्रकरणम्, अप्रयोजनत्वात्, काकदन्तपरीक्षावद्' इति व्यापकानुपलब्धेर- सिद्धतोद्भावनाय तदुपन्यास इति चेत्, एतदप्यसत्; यत: शास्त्रप्रयोजनं, वाक्येनाप्रदर्शयता तदसिद्धिरुद्भावयितुम- शक्या, वाक्यस्याऽऽप्रमाणतया प्रयोजनविशेषसद्भावप्रकाशन- सामर्थ्याभावात्। न च सप्रयोजनत्वेतरयो: परस्परपरिहार- स्थितयो: कूतश्चित्प्रमाणादेक भावाप्रतिपत्तावितराभावप्रति-पत्ति: - अतिप्रसङ्गात्- येन वाक्यमात्रस्योपक्षेपेण हेतोरसिद्धि: स्यात् । नाऽपि कुतश्चित्प्रयोजनविशेषमुपलभ्यमानेन स्वयमुपलब्ध प्रयोजविशेषोपलम्भोपायमप्रदर्शयता कर्तुमशक्या असिद्धतोद्भावना वाक्यस्याप्रमाणस्य हेतुप्रतिपक्षभू- तार्थोपस्थापना अशक्तस्योपन्यासमात्रेणासिद्धेरयोगात् । नाऽप्यनिबन्धना प्रतिपत्ति:, अतिप्रसङ्गात्।

अथ यद्यप्यप्रमाणत्वाद्विपरीतार्थोपस्थापनमुखेनासिद्धतामिदं नोद्भावयति। तथापि शास्त्रस्य निष्प्रयोजनता संदिग्धा अत:, संदिग्धनिष्प्रयोजनत्वस्य शास्त्रस्य प्रयोजनाभावं निश्चितं प्रेक्षावदारम्भप्रतिषेधहेतुं प्रयुञ्जानोऽनेन वाक्येन प्रतिक्षेतुमिष्ट: न पुन: प्रयोजनविषयनिश्चय एवोत्पादयितुमिष्ट:, नहि प्रतिपक्षोपक्षेपेणेव साधनधर्म्मिणामसिद्धि: अपि तु स्वग्राहिज्ञानविकलतायसंदिग्धधर्म्मिसंबन्धित्वमप्यसिद्धत्वमेव, तस्मात्संदिग्धसिद्धतोद्भावनाय वाक्यप्रयोग इति, तदप्यनुपपन्नम्; यथाहिसप्रयोजनत्वे संदेहोत्पादने वाक्य-स्यानुपयोगित्वं- शास्त्रमात्रादपि भावात्- तथा निष्प्रयोजन-त्वेऽपि; एवं ह्यनेन वाक्येन हेतोरसिद्धतोद्भाविता भवति यति तत्सत्तासंदेहनिबन्धनानि कारणान्यपि तदैव प्रकाशितानि भवन्ति। न च विपर्यस्तपुरुषसंदेहोत्पादने तद्वाक्यं प्रभवति, अदर्शनात्। नच प्रस्तुतशास्त्रस्य प्रयोजनवत् शास्त्रान्तरेण कथंचित्साम्यात्साधक- बाधकप्रमाणाप्रवृत्तिश्चान्यानि संदेहकारणानि संभवन्ति, वाक्यमप्येतावन्मात्रप्रकाशनपरं हेतो: संदिग्धासिद्धतामुद्भावयेत्, तच्च तथाप्रकाश-नमनुपन्यस्तेऽपि वाक्ये शास्त्रमात्रादपि दर्शनात् प्रमाणद्वयावृत्तेश्च भवतीति कस्तस्योपयोग:? अनुपन्यस्ते कथं तदिति चेत्, उपन्यस्तेऽपि कथं नहि तदुप- न्यासाऽनुपन्यासाऽवस्थयो: संदिग्धत्त्वाप्रस्तुतात्कथंचन विशेषं पश्याम:? असिद्धतोद्भावनमनेन न्यायेन सर्वमेवासङ्गतमिति चेत्, नैतत्; नह्यनन प्रकारेणासिद्धतोद्भावनमेव प्रतिक्षिप्यते, किंतु प्रमाण-रहिताद्वाङ्मात्रादसिद्धता नोद्भावयितुं शक्येति प्रदर्श्यते। तत्र प्रयोजनवाक्यं हेत्वसिद्धतोद्भावनार्थमपि युक्तम्।

नच परोपन्यस्ते साधने प्रयोजनवाक्येपासिद्धतामुद्भाव्य कथमसिद्धि: साधनस्येति प्रत्यवस्थानवन्तं शास्त्रपरिसमाप्ते: प्रयोजनमवगमयन् शास्त्रं श्रावयति। तत: समधिगते प्रयोजने तदुपन्यस्तस्य साधनस्याऽसिद्धिरिति वक्तुं शक्यं, शास्त्र- श्रवणत: प्रयोजनायवगमे शास्त्रस्यादौ तद्वाक्योपन्यासस्य वै- यर्थ्यप्रसक्ते: । अत एव ''शास्त्रार्थप्रतिज्ञाप्रतिपादनपर: आदि- वाक्योपन्यास:'' ( ) इत्याद्यपि प्रतिक्षिप्तम्, अप्रमाणादादि- वाक्यात्तदसिद्धे:। तथा-संबन्धाभिधेयप्रत्यायनपराण्यपि वाक्यानि शास्त्रादौ वाङ्मात्रेण निश्चयायोगान्निष्प्रयोजनानि प्रतिक्षिप्तान्येव, उक्तन्यायस्य समानत्वात्। तदयुक्तम् 'समय' इत्याद्यभिधेय- प्रयोजनप्रतिपादकं- (अस्य काण्डस्य द्वितीयं) गाथासूत्रम्।

(उत्तरपक्ष:- आदिवाक्योपन्यासस्य सार्थकत्वसमर्थनम्)-

अत्र- प्रतिविधीयते- यदुक्तं न प्रत्यक्षमनुमानं वा शब्द: तत्र सिद्धसाध्यता, प्रत्यक्षानुमानलक्षणयोगात्तत्र। यच्च 'नापि' शब्द: प्रमाणं बहिरर्थे तस्य प्रतिबन्धवैकल्येन, विवक्षायां तु प्रति-बन्धेऽपि यथाविवक्षमथर्शसंभवात्, तदप्यसारम्, बाह्यार्थेन शब्दप्रतिबन्धस्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात् तत्रैव च प्रतिपत्तिप्रवृत्त्यादिव्यवहारस्योपलभ्यमानत्वाद्बाह्यार्थे एव शब्दस्य प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् प्रत्यक्षवत् । न चार्थाऽव्यभिचारित्व- प्रामाण्यनिश्चयवतां तत: प्रवर्त्तमानानां प्रेक्षापूर्वकारिताक्षति:। न चाऽनाप्तप्रणीत 'सरित्तटपर्यायस्तगुडशकटं' पटुवाक्यविशिष्ट- तानवगमान्नात: प्रवृत्ति: प्रत्यक्षाभासात्प्रत्यक्षस्येवानाप्तप्रणीत- वाक्यादस्य विशिष्टतावसायात्; यस्य तु न तद्विशिष्टावसायो नासावत: प्रवर्त्तते अनवधृतहेत्वाभासाविवेकाद्धेतोरिवानुमेयार्थक्रियार्थी। न चाप्तानां परहितप्रतिबद्धप्रयासानां प्रमाणभूतत्वात्स्ववाङ्मात्रेण प्रवर्त्तयितुं प्रभवतां प्रयोजनवाक्योपन्यासवैयर्थ्यं सुनिश्चितासंप्रणीतवाक्यादपि प्रतिनियतप्रयोजनार्थिनां तदुपायानिश्चये तत्र प्रवृत्त्योगात् नच प्रयोजनविशेषप्रतिपादक वाक्यमन्तरेणाऽऽप्तप्रणीतशास्त्रस्यापि तद्विशेषप्रतिपादकत्व- निश्चय: येन तत, एव तदर्थिनां तत्र प्रवृत्ति: स्यात् तदन-भिमतप्रयोजनप्रतिपादकानामपि तेषां संभवाद्।

अत:-''यत्र खल्वाप्तै: 'इदं कर्त्तव्यम्' इति पुरुषा: प्रतीत-तदाप्तभावा नियुज्यन्ते तत्रावधीरिततत्प्रेरणाऽतथाभाव- विषयविचारास्तदभिहितं वाक्यमेव बहु मन्यमाना अनादृत- प्रयोजनपरिप्रश्ना: एव प्रवर्त्तन्ते विनिश्चिततदाप्तभावानां प्रत्यवस्थानासंभवात्'' ( ) इति निरस्तम्, आप्तप्रवर्त्तित- प्रतिनियतप्रयोजनार्थिजनप्रेरणावाक्यस्यैव प्रयोजनवाक्यत्व- निश्चयाद् अन्यथाऽभिमतफलार्थिजनप्रेरकवाक्यस्याप्तप्रयुक्त- त्वमेवानिश्चितं स्याद् अनभिमतार्थप्रेरकस्यावगताप्तवाक्यत्वे चातिप्रसङ्ग:, न चाप्तवाक्यादपि प्रतिनियतप्रयोजनार्थिनस्तदवगमे तत्र प्रवर्त्तितुमुत्सहन्ते, अतिप्रसङ्गादेवेति सुप्रसिद्धम्। अर्थसंशयोत्पादकत्वेन चादिवाक्यस्य प्रवर्त्तकत्वप्रतिक्षेपे सिद्धतासाधनम्, व्यापकानुपलब्धेस्त्वसिद्धतोद्भावनमादिवाक्यान्निश्चितबाह्यार्थप्रामाण्यात् युक्तमेव, यथा च तत्र तस्या (तस्य) प्रामाण्यं तथा प्रतिपादयिष्याम:। अत एव- ''आप्ताभिहितत्वासिद्धेरविसंवाद कत्वायोगादप्रमाणत्वाभाव-निश्चयनिमित्ताभावदप्रवर्त्तकत्वं प्रयोजनवाक्यस्य प्रेक्षापूर्वकारिण: प्रति'' ( ) इति। यदुच्यते तदपि प्रतिव्यूढं द्रष्टव्यम्। सम्म० १ काण्ड २ गाथाटी०।

(११) अपाहः शब्दार्थ इति बौद्धाः-

ननु च-'समयपरमार्थविस्तर'- इत्यनेनाऽऽगमस्याकल्पितो बाह्योऽर्थः प्रतिपाद्यत्वेन शब्दार्थयोश्च वास्तवः संबन्धो निर्दिष्टः, द्वितयमप्येतदयुक्तं; प्रमाणबाधितत्वाद् इतिबौद्धाः। तथाहि- शब्दानां न परमार्थतः किंचिद्वाच्यं वस्तुस्वरूपमस्ति: सर्व एवं हि शाब्दप्रत्ययो भ्रान्तः, भिन्नेष्वर्थेष्वभेदाकाराध्यवसायेन प्रवृत्तेः। यत्र तु पारंपर्येण वस्तुप्रतिबंधस्तत्रार्थसंवादो भ्रान्तत्वेऽपि, तत्र यत्तदारोपितं विकल्पबुद्ध्याऽर्थेष्वभिन्नं रूपं तदन्यव्या वृत्तपदार्थानुभवबलाया-तत्वात्स्वयं चान्यव्यावृत्ततया प्रतिभास-नाद् भ्रान्तैश्चाऽऽन्यव्यावृत्तार्थेन सहैक्येनाध्यवसितत्वात् अन्यापोढपदार्थाधिगतिफलत्वाच्च अन्याऽपोह इत्युच्यते। अतः अपोहः शब्दार्थ इति प्रसिद्धम्।

('विधिरेव शब्दस्यार्थः' इति विधिवादिमतस्य संक्षिप्य प्रतिस्थापनम्)-

अत्र विधिवादिनः प्रेरयन्ति- यदि भवतां द्रव्य-गुणकर्म-सामान्यादिलक्षणानि विशेणानि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि परमार्थतां न सन्ति कथं लोके 'दण्डी' इत्याद्यभिधानप्रत्ययाः प्रवर्तन्ते द्रव्याद्युपाधिनिमित्ताः, तथा हि- 'दण्डी' 'विषाणी' इत्यादिधीध्वनी लोके द्रव्योपाधिकौ प्रसिद्धौ, 'शुक्लः' 'कृष्णः' इति गुणौपाधिकौ, 'चलति' 'भ्रमति' इति कर्म्मनिमित्तौ, 'अस्ति' 'विद्यते' इति सत्तानिमित्तकौ, 'गौः' 'अश्वः' इति सामान्यविशेषोपाधी, 'इह तन्तुषु पटः' इति समवायनिमित्तः। (तौ)। तत्रैषां द्रव्यादीनामभावे 'दण्डी' इत्यादिप्रत्यय-शब्दौ निर्विषयौ स्याताम्। न चानिमित्तावंतौ युक्तौ, सर्वदा तयोर- विशेषेण प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। नचाविभागेन तयोः प्रवृत्तिरस्ति, तस्मात्सन्ति द्रव्यादयः पारमार्थिकाः प्रस्तुतप्रत्ययशब्दविषयाः।

प्रमाणयन्ति चात्र-ये परस्परासंकीर्णप्रवृत्तयस्ते सनिमित्ताः, यथा श्रोत्रादिप्रत्ययाः, असंकीर्णप्रवृत्तयश्च 'दण्डी, इत्यादिशब्द-प्रत्यया इति स्वभावहेतुः। अनिमित्तत्वे सर्वत्राऽविशेषेण प्रवृत्तिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणम्।

(विधिवादिमतं सविस्तरं दूषयताम् अपोहवादिनां मतस्य निर्देशः)-

अत्र यदि पारमार्थिकबाह्यविषयभूतेन निमित्तेन सन्निमित्तत्त्व- मेषां साधयितुमिष्टं तदा अनैकान्तिकता हेतोः; साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणाभावात्। अथ येन केनचिन्निमित्तेन सन्निमित्तित्त्व- मिष्यते तदा सिद्धिसाध्यता। तथाहि-अस्माभिरपीष्यते एवैषा-मन्तर्जल्पवासनाप्रबोधो निमित्तं नतु विषयभूतम्, भ्रान्तत्वेन सर्वस्य शा(श)ब्द- प्रत्ययस्य निर्विषयत्वात्। तदुक्तम्- ''येन येन हि नाम्ना वै, यो यो धर्म्मोऽभिलप्यते। न स संविद्यते तत्र, धर्म्माणां सा हि धर्मता'' ( ) इति।

नच शाब्दप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वाऽविषयत्वयोः किं प्रमाणमिति वक्तव्यम्, भिन्नेष्वभेदाध्यवसायेन प्रवर्त्तमानस्य प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात्। तथाहि- यः 'अतस्मिंस्तद्' इति प्रत्ययः स भ्रान्तः, यथा मरीचिकायां जलप्रत्ययः, तथा चायं भिन्नेष्वर्थेष्व-भेदाध्यावसायी शाब्दः प्रत्यय इति स्वभावहेतुः। न च सामान्यं वस्तुभूतं ग्राह्यमस्ति येनासिद्धतास्य हेतोः स्यात्, तस्य निषिद्धत्वात्। सम्म० १ काण्ड २ गाथाटी०। (इतिऽग्रे 'सद्द' शब्दे सप्तमे भागे ३४० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

इतश्च- स्वलक्षणव्यपदेश्यं शब्दबुद्धौ तस्याः प्रतिभासनात्। यथाहि- उष्णाद्यर्थे विषयेन्द्रियबुद्धिः स्फुटप्रतिभासानुभूयते न तथा उष्णादिशब्दप्रभवा नह्युपहतनयनादयो मातुलिङ्गादिशब्द-श्रवणात्तद्रूपाद्यनुभाविनो भवन्ति यथानुपहतनयनादयः अक्षबुद्ध्यानु-भवन्तः। यथोक्तम्- ''अन्यथैवाग्निसंबन्धाद्दाहं दग्धोऽभिमन्यते। अन्यथा दाहशब्देन, दाहार्थः संप्रतीयते''॥ (वाक्यप० द्वि० का० श्लो० ४२५)

न च यो यत्र न प्रतिभाति स तद्विषयोऽभ्युपगन्तुं युक्तः अतिप्रसङ्गात्। तथा च प्रयोगः-यो यत् कृतप्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थः यथा रूपशब्दजनिते प्रत्यये रसः, न प्रतिभासते च शाब्दप्रत्यये स्वलक्षणम् इति व्यापकानुपलब्धिः। अत्र चातिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणम्। तथाहि- शब्दस्य तद्विषयज्ञानज- कत्वमेव तद्बाधकत्वमुच्यते नान्यत्, नच यद्विषयं ज्ञानं यदाकारशून्यं तत्तद्विषयं युक्तमतिप्रसङ्गात्। न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्तिस्पष्टम् अस्पष्टं च येनाऽस्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दैरभिधीयते-एकस्य द्वित्वविरोधात्। भिन्नसमयस्थायिनां च परस्परविरुद्धस्वभावप्रतिपादनात् न शब्दगोचरः स्वलक्षणम्। सम्म० १ काण्ड २ गाथाटी०।

(१२) शब्दार्थविचारः

अत्थो किं हुज्ज सुई, विण्णाणं वत्थुभेओ वा ॥१६००॥

जाई दव्वं किरिया, गुणोऽहवा संसओ तवो जुत्तो।

अयमेवेति न वा यं, न वत्थुधम्मो जओ जुत्तो ॥१६०१॥

सव्वं चिय सव्वमयं, सपरप्पजायओ जओ निययं।

सव्वमसव्वमयं पि य, विचित्तरूवं विवक्खाओ ॥१६०२॥

सामण्णविसेससमओ, तेण पयत्थो विवक्खया जुत्तो।

वत्थुस्स विस्सरूवो, पज्जाया-वेक्खया सव्वो ॥१६०३॥

अर्थः श्रुतिः- शब्दो भवेत्, यथा भेरी-पटह-ढक्कादीनां शब्द- स्य शब्द एवार्थः; अथवा-यद् घटादिशब्दे समुच्चारिते तदभि- धेयार्थविषयं विज्ञानं भवद्-दृश्यते तत्तेषामर्थः; किं वा- घट- शब्द समुत्कीर्तिते 'पृथुबुध्नोदराद्याकारवान् घटलक्षणोऽर्थोऽने- केषो, नतु पटादिः' इत्येवं यो वस्तुभेदः प्रतीयते स एषामर्थः; यदि वा-किं जातिरमीषामर्थो, यथा गोशब्दे समुच्चारिते गोजा- तिरवसीयते; यदि वा-किं द्रव्यमेषामर्थो यथा दण्डीत्यादिषु दण्डादिमद् द्रव्यं किं वा धावतीत्यादीनामिव धावनादिक्रि या अमीषामर्थः; अथवा-किं शुक्लादीनामिव शुक्लादिगुण एतेषा- मर्थ इति ? अयं च संशयस्तवाऽयुक्तो, यस्माद्-'अयमेव, नैव वाऽयमि' त्येवं कस्यापि वस्तुनो धर्म्मोऽवधारयितुं न युक्तः। शब्दोऽपि वस्तुविशेष एव, ततः 'एवंभूतस्यैवार्थस्यायमभि-धाय- को, नैव वा इत्थंभूतस्यार्थस्यायं प्रतिपादकः' इत्येवमेतद्धर्म्मस्याप्यवधारण-मयुक्तमेव। कुतः? इत्याह-'सव्वं चिये' त्यादि, यस्मात्सर्वमपि वाच्यवाचकादिकं वस्तु नियतं- निश्चितं स्व-

परपर्यायैः सर्वात्मकमेव सामान्यविवक्षयेत्यर्थः। तथा-सर्वमसर्वमयमस्ति विविक्तरूपं सर्वतो व्यावृत्तम् कया? इत्याह- विवक्षया, केवलस्वपर्यायापेक्षयेत्यर्थः, विशेषविषययेति तात्पर्यार्थः। तस्मात्सर्वेषामपि पदानां विवक्षावशतः सामान्यमयो विशेषमयश्च पदार्थो युक्तः, न पुनरेकान्तेनेत्थंभूत एव, अनित्थंभूत एव वेतिकुतः? इत्याह- वस्तुस्स्येत्यादि,' यस्मात्सर्वोऽपि वाच्यस्य वाचकस्य वा वस्तुनः स्वभावः पर्यायापेक्षया विश्वरूपो नानाविधो वर्त्तते। ततश्च सामान्यविवक्षायां घटशब्दः सर्वात्मकत्वात्सर्वेषामपि द्रव्यगुणक्रियाद्यर्थानां वाचकः विशेषविवक्षया तु प्रतिनियत- रूपत्वात् य एवास्येह पृथुबुध्नोदराद्याकारवानर्थो वाच्यतया रूढस्तस्यैव वाचकः। एवमन्योऽपि शब्दो विशेषविवक्षया यो यत्र देशादौ यस्यार्थस्य वाचकतया रूढः स तस्य वाचको द्रष्टव्यः। सामान्यविवक्षया तु 'सर्वः सर्वस्य वाचकः सर्वं सर्वस्य वाच्यमि' त्यनया दिशा सकलं स्वधिया भावनीयमिति। विशे०।

(१३) अथ स्वाभिमतसामान्यविशेषोभयात्मकवाच्यवाचकभावसमर्थनपुरस्सरं तीर्थान्तरीयप्रकल्पिततदेकान्तगोचरवाच्यवाचकभावनिरासद्वारेण तेषां प्रतिभावैभवाऽभावमाह-

अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं,
द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम्।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्ता-
वतावकानां प्रतिभाप्रमादः ॥१४॥

व्याख्या-वाच्यम्-अभिधेयं चेतनम् अचेतनं च वस्तु एवकारस्याप्यर्थत्वात् सामान्यरूपतया एकात्मकमपि व्यक्तिभेदेन अनेकम्-अनेकरूपम्। अथवा-अनेकरूपमपि एकात्मकम् अन्योन्यसंबलितत्वादित्थमपि व्याख्याने न दोषः। तथा च- वाचकमभिधायक शब्दरूपं तदप्यवश्यं निश्चितं द्वयात्मकं; सामान्यविशेषोभयात्मकत्वादेकानेकात्मकमित्यर्थः। (उभयत्र वाच्यलिङ्गत्वेऽप्यव्यक्तत्वान्नपुंसकत्वम्। अवश्यमिति पदं वाच्यवाचकयोरुभयोरप्यनेकात्मकत्वं निश्चिन्वत्तदेकान्तं व्यवच्छिनत्ति) अत उपदर्शितप्रकारादन्यथा सामान्यविशेषैकान्तरूपेण प्रकारेण 'वाचकवाच्यक्लृप्तौ'- वाच्यवाचकभावकल्पनायाम्, 'अतावकानाम्'- अत्वदीयानाम्-अन्यथूथ्यानाम् 'प्रतिभाप्रमादः'- प्रज्ञास्खलितम्, इत्यक्ष-रार्थः। (अत्र चाल्पस्वरत्वेन वाच्यपदस्य प्राग्निपाते प्राप्तेऽपि यदादौ वाचकग्रहणं तत्प्रायोऽर्थप्रतिपादनस्य शब्दधीनत्वेन वाचकस्याऽर्च्यत्वज्ञापनार्थम्)। तथा च शाब्दिकाः- ''न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव- ज्ञानं, सर्वं शब्देन भासते ॥१॥इति। भावार्थस्त्वेवम्-एके तीर्थिकाः सामान्यरूपमेव वाच्यतया शब्दार्थमभ्युपगच्छन्ति ते च द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदा, अद्वैतवादिनः, सांख्याश्च। केचिच्च विशेषरूपमेवं वाच्यं निर्बुवन्ति। ते च पर्यायास्तिकनयानुपारिणः सौगताः। अपरे च-परस्परनिरपेक्ष- पदार्थपृथग्भूतसामान्यविशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते। ते च नैगमनयानुरोधिनः काणादा आक्षपादाश्च। स्था० १४ श्लोक।

एवं वाचकमपि शब्दाख्यं द्वयात्मकम् (सामान्य विशेषा-त्मकम्)। सर्वशब्दव्यक्तिष्वनुयायिशब्दत्वमेकं शाङ्कशार्ङ्गतीव्रमन्दोदात्तानुदात्तस्वरितादिविशेषभेदादनेकम्। शब्दस्य हि सामान्यविशेषात्मकत्वं पौद्गलिकत्वाद्व्यक्तमेव, तथाहिपौद्गलिकः शब्दः; इन्द्रियार्थत्वाद्रूपादिवत् यच्चास्य पौद्गलिकत्वानिषेधाय स्पर्शशू याश्रयत्वादतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातात्पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धेः सूक्ष्ममूर्त्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वाद्वगनगुण-त्वाच्चेति पञ्च हेतवो यौगैरुपन्यस्तास्ते हेत्वाभासाः, तथाहि- शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा न पुनराकाशं तत्र च स्पर्शो निर्णीयत एव। यथा शब्दाश्रयः स्पर्शवान्; अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणापलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियार्थत्वात्तथाविधगन्धाऽऽद्याधारद्रव्यपरमाणुवत्। इत्यसिद्धः प्रथमः।

द्वितीयस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिकः वर्त्तमानजात्यकस्तूरिकादिगन्धद्रव्यं हि पिहितद्वारापवरकस्यान्तर्विशति, बहिश्च निर्याति। नचापौद्गलिकम्। अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसंभवा- न्नातिनिविडत्वम्। अतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्क्रमौ कथमन्यथोद्घा- टितद्वारावस्थायमिव न तदेकार्णवत्वं? सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः संभवः। इति चेत्तर्हि शब्देष्येतत्समानम्। इत्यसिद्धो हेतुः। तृतीयस्तु तडि (विद्यु)ल्लतोल्कादिभिरनैकान्तिकः। चतुर्थोऽपि तथैवः गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभि- चारात्। नहि गन्धद्रव्यादिकमपि नासायां निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं दृश्यते।

पञ्चमः पुनरसिद्धः। तथाहि-न गगनगुणः शब्दः; अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्रूपादिवद्। इति सिद्धः पौद्गलिकत्वात्सामान्यविशेषा- त्मकः शब्द इति। नच वाच्यम्- ''आत्मन्यपौद्गलिकेऽपि कथं सामान्यविशेषात्मकत्वं निर्विवादमनुभूयते, इति; यतः संसार्यात्मनः प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तकर्मपरमाणुभिः सह वह्नितापितघनकुट्टितनिर्विभागपिण्डीभूतसूचीकलापवल्लोलीभावमापन्नस्य कथंचित्पौद्गलिकत्वाभ्यनुज्ञानादिति। यद्यपि स्याद्वादवादिनां पौद्गलिकम् अपौद्गलिकं च सर्वं वस्तु सामान्य- विशेषात्मकं तथाप्यपौद्गलिकेषु धर्माधर्माकाशकालेषु तदात्म- कत्वमवागदृशां न तथा प्रतीतिविषयमायाति पौद्गलिकेषु पुन-स्तत्साध्यमानं तेषां सुश्रद्धानम्। इत्यप्रस्तुतमपि शब्दस्य पौद्गलिकत्वं सामान्यविशेषात्मकत्वं साधनायोपन्यस्तमिति।

अत्रापि नित्यशब्दवादिसंमतः शब्दैकत्वैकान्तोऽनित्यशब्दवाद्यभिमतः शब्दानैकत्वैकान्तश्च प्राग्दर्शितदिशा प्रति-क्षेप्यः। अथवा-वाच्यस्य घटादेरर्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्वे तद्वाचकस्य ध्वनेरपि तत्त्वम्; शब्दार्थयोः कथंचित्तादात्म्याभ्यु- पगमात्। यथाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः-

''अभिहाणं अभिहेआउ, होइ भिन्नं अभिन्नं च।
खुर अग्गिमोयगुच्चा-रणंमि जम्हा दु वयणसवणाणं ॥१॥
न विच्छेओ न वि दाहो, न पूरणं तेण भिन्नं तु।
जम्हा य मोयगुच्चा- रणंमि तत्थेव पच्चओ होइ ॥२॥
ण य होइ स अन्नत्थे, तेण अभिन्नं तदत्थाउ।''

एतेन-

''विकल्पयोनयः शब्दा, विकल्पाः शब्दयोनयः।

कार्यकारणता तेषां, नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि''॥१॥

इति प्रत्युक्तम् ''अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया'' इति वचनात्, शब्दस्य ह्येतदेव तत्त्वं यदभिधेयं याथात्म्येनासौ प्रतिपादयति। स च तत्तथा प्रतिपादयन् वाच्यस्वरूपपरिणाम- परिणत एव वक्तुं शक्तो नान्यथाऽतिप्रसङ्गात्, घटाभिधानकाले पटाद्यभिधानस्यापि प्राप्तेरिति। अथवाभङ्ग्यन्तरेण सकलं काव्यमिदं व्याख्यायते-वाच्यं वस्तु घटादिकमेकात्मक- मेवैकस्वरूपमपि सदनेकम् (अनेकस्वरूपम्) अयमर्थः। प्रमाता तावत् प्रमेयस्वरूपं लक्षणेन निश्चिनोति। तच्च सजातीयवि- जातीयव्यवच्छेदादात्मलाभं लभते। यथा घटस्य सजातीया मृन्मयपदार्था विजातीयाश्च पटादयस्तेषां व्यवच्छेदस्तल्ल-क्षणम् । पृथुबुध्नोदराद्याकारः कम्बुग्रीवो जलधारणाहरणादि-क्रियासमर्थः पदार्थविशेषो घट इत्युच्यते । तेषां च सजातीय-विजातीयानां स्वरूपं तत्र बुद्ध्या आरोप्य व्यवच्छिद्यते, अन्यथा-प्रतिनियततत्स्वरूपपरिच्छेदानुपपत्तेः सर्वभावानां हि भावाऽभावात्मकं स्वरूपम् एकान्तभावात्मकत्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्याद् एकान्ताऽभावात्मकत्वे च निःस्वभावता स्यात्, तस्मात्स्वरूपेण सत्त्वात्पररूपेण चाऽसत्त्वाद्भावाभावात्मकं वस्तु, यदाह- ''सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च। अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात्, स्वरूपरयाप्यसंभवः''॥११॥ ततश्चैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेरनेकात्मकत्वं घटस्य सूपपादकम्। एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानं; सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निषेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासंभवात्। आगमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः- ''जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ''। तथा- ''एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः। सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः''॥१॥ ये तु सौगताः परासत्त्वं नाङ्गीकुर्वते तेषां घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः। तथाहि- यथा घटस्य स्वरूपादिना सत्त्वं तथा यदि पररूपादिनापि स्यात्तथा च सति स्वरूपा-दिसत्त्ववत्पररूपादिसत्त्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत् ? परासत्त्वेन तु प्रतिनियतोऽसौ सिद्ध्यति ।

अथ न नाम नास्ति परासत्त्वं किं तु स्वसत्त्वमेव तदितिचेदहो वैदग्धी न खलु यदेव सत्त्वं तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति विधि-प्रतिषेधरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायोगात् । अथ युष्मत्पक्षेऽप्येवं विरोधस्तदवस्थ एवेति चेदहो वाचाटता देवानांप्रियस्य न हि वयं येनैव प्रकारेण सत्त्वं तेनैवासत्त्वं येनैव चाऽसत्त्वं तेनैव सत्त्वमभ्युपेमः, किंतुस्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत्त्वं पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वम्। तदा क्व विरोधावकाशः? यौगास्तु प्रगल्भन्ते- ''सर्वथा पृथग्भूतपरस्परा-भावाभ्युपगममात्रेणैव पदार्थप्रतिनियमसिद्धेः किं तेषामसत्त्वा-त्मकत्वकल्पनया'' इति, तदसत्, यदाहि- पटाद्यभावरूपो घटो न भवति तदा घटः पटादिरेव स्यात्। यथा च घटाभावाद्भिन्नत्वाद् घटस्य घटरूपता तथा पटादेरपि स्याद् घटाभावाद्भिन्नत्वादेव इत्यलं विस्तरेण॥ मूर्खस्य।

एवं वाचकमपि शब्दरूपं द्वयात्मकम् एकात्मकमपि सदनेकमित्यर्थः, यथोक्तन्यायेन शब्दस्यापि भावाऽभावात्मक- त्वात् अथवा-एकविषयस्यापि वाचकस्याऽनेकविषयत्वोपपत्तेः। यथा किल घटशब्दः संकेतवशात्पृथुबुध्नोदराद्याकार- वति पदार्थे प्रवर्त्तते वाचकतया तथा देशकालाद्यपेक्षया तद्वशादेव पदार्थाऽन्तरेष्वपि तथा वर्त्तमानः केन वार्यते? भवन्ति हि वक्तारो योगिनः शरीरं प्रति घटः इति; संकेतानां पुरुषेच्छा-धीनतयाऽनियतत्वात्। यथा चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोऽपि दाक्षिणात्यानाम्- ओदने प्रसिद्धः। यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढः, एवं कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेयाः। कालापेक्षया पुनर्यथा जैनानां प्रायश्चित्तविधौ धृतिश्रद्धासंहननादिमति प्राचीनकाले षड्गुरु-शब्देन शतमशीत्यधिक-मुपवासानामुच्यते स्म। सांप्रतकाले तु तद्विपरीते तेनैव षड्गुरुशब्देनोपवासशत्रयमेव संकेत्यते जीत-कल्पव्यवहारानुसारात्।

शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी त्रिपुराणवे च अलिशब्देन मदिराभिषिक्ताऽन्ने च मैथुनशब्देन मधुसर्पिषाग्रहणमित्यादि। न चैवं संकेतस्यैवार्थप्रत्यायने प्राधान्यं; स्वाभाविकसामर्थ्यसाचिव्यादेव तत्र तस्य प्रवृत्तेः सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् यत्र च देशकालादौ यदर्थप्रति- पादनशक्तिसहकारिसंकेतास्तत्र तमर्थं प्रतिपादयति । तथा च-निर्जितदुर्जयपरप्रवादाः श्रीदेवसूरिपादाः- ''स्वाभाविक- सामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः''। अत्र शक्तिपदार्थ- समर्थनं ग्रन्थान्तरादवसेयम्, 'अतोऽन्यथे' त्यादि उत्तरार्द्धं पूर्ववत्। प्रतिभाप्रमादस्तु तेषां सदसदेकान्ते वाच्यस्य प्रति-नियतार्थविषयत्वे च वाचकस्योक्तयुक्त्या दोषसद्भावाद् व्यवहारानुपपत्तेः। तदयं समुदायार्थः सामान्यविशेषात्मकस्य भावाऽभावात्मकस्य च वस्तुनः सामान्यविशेषात्मको भावा- भावात्मकश्च ध्वनिर्वाचक इति अन्यथा प्रकारान्तरैः पुनर्वाच्यवाचकभावव्यवस्थामातिष्ठमा-नानामन्धवादिनां प्रतिभैव प्रमाद्यति न तु तद्गणितयो युक्तिस्पर्शमात्रमपि सहन्ते। कानि तानि वाच्यवाचकभावप्रकारान्तराणि परवादिनामिति चेदेते ब्रूमः। अपोह एव शब्दार्थ इत्येके ''अपोहशब्दलिङ्गाभ्यां, न वस्तुविधिनोच्यते'' इति वचनात्। अपरे सामान्यमात्रमेव शब्दानां गोचरः, तस्य क्वचित् प्रतिपन्नस्यैकरूपतया सर्वत्र संकेत-विषयतोपपत्तेः, न पुनर्विशेषाः, तेषामानन्त्यतः कार्त्स्न्येनोप-लब्धुमशक्यतया तद्विषयतानुपपत्तेः विधिवादिनस्तु विधिरेव वाक्यार्थोऽप्रवृत्तप्रवर्त्तनस्व-भावत्वात्तस्येत्याचक्षते। विधिरपि तत्तद्वादिविप्रतिपत्त्याऽनेकप्रकारः, तथाहि-वाक्यरूपः शब्द एव प्रवर्त्तकत्वाद्विधिरित्येके तद्व्यापारो भावनाऽपरपर्यायो विधिः इत्यन्ये। नियोग इत्यपरे । प्रैषादय इत्येके तिरस्कृत- तदुपाधिप्रवर्त्तनामात्रमित्यन्ये । एवं फलतदभिलाषकर्मा-दयोऽपि वाच्याः एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्याय-कुमुदचन्द्रादवसेयमिति काव्यार्थः। स्या० १४ श्लोक। (इतोऽग्रे 'सद्द' शब्दे सप्तमभागे विशेषः)

(१४) (शब्दस्य वाचकताविचारः)-

('अत्र वैयाकरणाः प्राहुः' इत्याद्यारभ्य स्फोटविचारः 'फोड' शब्दे ५ पञ्चमे भागे द्रष्टव्यः।)

(१५) अथ गकाराद्यानुपूर्वीविशिष्टोऽन्त्यो वर्णो विशिष्टा- नुपूर्विका वारा गंकारौकारविसर्ज्जनीयाः शब्दाः। तथा च मीमांसकाः प्राहुः- ''यावन्तो यादृशा ये च, यदर्थप्रतिपादकाः। वर्णाः प्रज्ञातसामार्थ्या-स्ते तथैवाऽवबोधकाः'' (श्लो० वा० स्फोट० वा० श्लो० ६९)॥ इति। एतदपि न सम्यग्; यतः। आनुपूर्वी यद्यनर्थान्तरभूतास्तदा वर्णा एव नानुपूर्वी, ते च व्यस्ताः समस्ता वा अर्थप्रत्यायका न भवन्तीत्यावेदितम्। अथार्थान्तरभूता तदा वक्तव्यं सा नित्या, अनित्या वा ? न तावदनित्या स्वसिद्धान्तविरोधात्- वैदिकानुपूर्व्या नित्यत्वेनाभ्युपगमात्। ''वक्ता न हि क्रमं कश्चित्, स्वातन्त्रेण प्रपद्यते'' (श्लो० वा० शब्दनित्य० श्लो० २८८) इत्याद्यभिधानात्। नापि नित्या स्फोटपक्षोदितसमस्तदोषप्रसक्तेः। नच वैदिकवर्णाद्यानुपूर्वी नित्या, लौकिकतदानुपूर्व्यविशेषात्। तथाहि- वैदिकवर्णा- द्यानुपूर्वी अनित्या, वेदानुपूर्वीशब्दवाच्यत्वात् लौकिकवर्णाद्या- नुपूर्ववीत्।

न च लौकिकानुपूर्व्या विलक्षणेयं, वैलक्षण्यासिद्धेः। तथाहि- किमपौरुषेयत्वमस्याः वैलक्षण्यम्, आहोस्विद्विचित्र रूपता? न-तावदाद्यः पक्षः अपौरुषेयत्वस्य निरस्तत्वात्। नापि वैचित्र्यं- तस्यानित्यत्वेनाविरोधा तत्सद्भावेऽपि नित्यत्वाप्रसाक्त्वा- ल्लाकिकवाक्येष्वपि वैचित्र्यस्योपलब्धेश्च। नच वर्णानां नि- त्यव्यापिनामानुपूर्वी संभवति। देश-कालकृतक्रमानुपपत्तेः। नचाभिव्यक्तानुपूर्वी तेषां संभविनी। अभिव्यक्तेः प्राग्निरस्त- त्वात्। 'पूर्ववर्णसंवित्प्रभवसंस्कारसहितः तत्स्मृतिसहितो वा अन्त्यो वर्णः पदम्' इत्यभ्युपगमोऽपि न युक्तिसङ्गतः। संस्कार- स्मरणादेरनुपलभ्यमानस्य तदा सहकारित्वकल्पनायां प्रमाणा- भावात्।

न चार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तिस्तत्कल्पनायां प्रमाणं, तत्प्रति- पत्तेरन्यथासिद्धत्वात्। न चानुपूर्वीसंभवेऽपि परपक्षे वर्णा अर्थप्रतीतिहेतुतया संभवन्ति, तेषां तत्प्रतिपत्तिजननस्वभावत्वे सर्वदा तत्प्रतिपत्तिप्रसक्तेस्तज्जननस्वभावस्य सर्वदा भावात्। अतज्जन- नस्वभावत्वे न कदाचिदप्यर्थप्रतिपत्तिं जनयेयुः अनप-गताऽतज्जनन- स्वभावत्वात्। नच सहकारिसन्निधानेऽपि तेषामतज्ज-ननस्वभावता व्यपगच्छति अनित्यतासक्तिदोषापत्तेः। नित्याश्च परैस्ते अभ्युपगता इत्यभ्युपगमविरोधश्च।

(१६) (वाच्यवाचकयोः संबन्धस्य नित्यत्वं निषिध्य तस्य कृतकत्वव्यवस्थापनम्)-

नच नित्यसंबन्धवादिनस्तदपेक्षा वर्णा अर्थप्रत्यायकाः संभवन्ति, नित्यस्यानुपकारकत्वेनापेक्षणीयत्वापोगात्। न नित्यः संबन्धः शब्दार्थयोः प्रमाणेनावसीयते। प्रत्यक्षेण तस्याननुभवात्। तदभावेनानु- मानेनापि, तस्य तत्पूर्वकत्वाभ्युपगमात्। न च शब्दार्थयोः स्वाभाविकसंबन्धमन्तरेण गोशब्दश्रवणानन्तरं ककुदादिमदर्थप्रतिप- त्तिर्नभवेद् अस्ति च सा इति शब्दस्य वाचिका शक्तिरवगम्यत इति वाच्यम्, अनवगत संबन्धस्यापि ततस्तदर्थप्रतिपत्तिप्रसक्तेः।

न च संकेताभिव्यक्तः स्वाभाविकः संबन्धोऽर्थप्रतिपत्तिं जनयतीति नायं दोषः संकेतादेवार्थप्रतिपत्तेः स्वाभाविक- संबन्धपरिकल्पनावैयर्थ्य- प्रसक्तेः। तथाहि-संकेताद् व्युत्पाद्याः 'अनेन शब्दनेत्थंभूतमर्थं व्यवहारिणः प्रतिपादयन्ति' इत्यवगत्य व्यवहारकाले पुनस्तथाभूत- शब्दश्रवणात्। संकेतस्मरणे तत्सद्दशं तं चार्थं प्रतिपद्यन्ते न पुनः स्वाभाविकं संबन्धमवगत्य पुनस्तत्स्मरणे अर्थमवगच्छन्ति।

न च वाच्यवाचकसंकेतकरणे स्वाभाविकसंबन्धमन्तरेणानवस्था- प्रसक्तिः वृद्धव्यवहारात् प्रभूतशब्दानां वाच्यवाचक- स्वरूपावधारणात्। तथाहि-एको व्युत्पन्नव्यवहारः तथाभूताय गामभ्यज शुक्लां देवदत्त ! दण्डेन' इति यदा व्यपदिशति द्वितीयस्तु तद्व्यपदेशान्तरं तथैव विदधाति तदा अव्युत्पसंकेतः शिशुस्तं तथा कुर्वाणमुपलभ्यैवमवधारयति- 'अनेन गोशब्दा-द्भवार्थः प्रतिपन्नः अभ्याजाऽऽदिशब्दादभ्याजिक्रियादिकः अन्यथा कथमपरनिमित्ताभावेऽपि गोपिण्डाऽऽनयनादिकं वाक्यश्रव- णान्तरं विदध्याद्' एवमपोद्धारकल्पनयाऽव्युत्पन्नानां संकेतग्रहण- संभवान्नानवस्थादोषः।

न च प्रथमसंकेतविधायिनः स्वाभाविकसंबन्धव्यतिरेकेण वाच्य- वाचकयोः कुतो वाच्यवाचकरूपावगतिरिति वक्तव्यम्, अनादित्वादस्य व्यवहारस्यापरापरसंकेतविधायिपूर्वकत्वेन निर्दोषत्वात।

न च वाच्यवाचकसंबन्धस्य पुरुषकृतत्वे शब्दवदर्थस्यापि वाचकत्वम् अर्थवच्छब्दस्यापि वाच्यत्वं प्रसक्तमिति वक्तव्यम्। योग्यतानतिक्रमेण संकेतकरणात्। न च स्वाभाविकसंबन्ध- व्यतिरेकेण प्रतिनियतयोग्यताया अभावः, कृतकत्वेऽपि प्रतिनियतयोग्यतावतां भावानामुपलब्धेः। तथाहि-यत्र लोहत्वं छेदिकाशक्तिस्तत्रैव क्रियमाणा दृष्टा; न जलादौ, यत्रैव तन्तुत्वमस्ति तत्रैव निष्पाद्यते पटोत्पादनशक्तिर्नतु वीरणादौ तत्र तन्तुत्वाभावाद् एवं च यद्यथोपलभ्यते तत्तथैवाभ्युपगन्तव्यम्। दृष्टाऽनुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तेः तेन यत्रव वर्णत्वादिकं निमित्तं तत्रैव वाचिका शक्तिः संकेतेनोत्पाद्यते यत्र तु तन्नियतं निमित्तं नास्ति तत्र न वाचिका शक्तिरिति न नित्यवाच्यवाचक- संबन्धपरिकल्पनया प्रयोजनम्। एकान्तनित्यस्य तु ज्ञानजन- कत्वे सर्वदा ज्ञानोत्पत्तिः तदजननस्वभावत्वेन कदाचिद्विज्ञानो- त्पत्तिरिति प्राक् प्रतिपादितम्। समयबलेन तु शब्दादर्थप्रतिपत्तौ यथासंकेतं विशिष्टसामग्रीतः कार्योत्पत्तौ न कश्चिद्दोषः।

(अनुमानात् शब्दस्य प्रमाणान्तरत्वप्रसाधनम्)-

अत एवानुमानात् प्रमाणान्तरं शाब्दम्। अनुमानं हि पक्षधर्म त्वान्वयव्यतिरेकबल्लिङ्गबलादुदयमासादयति। शाब्दं तु संकेतसव्य- पेक्षशब्दोपलम्भात् प्रत्यक्षानुमानागोचरेऽर्थे प्रवर्त्तते। स्वसाध्याऽ- व्यभिचारित्वमप्यनुमानस्य त्रिरूपलिङ्गोद्भूतत्वेनैव निश्चीयते। शाब्दस्य त्वाप्तोक्तत्वनिश्चये सति शब्दस्योत्तर- कालमिति। किं च-शब्दो यत्र यत्रार्थे प्रतिपादकत्वेन पुरुषेण प्रयुज्यते तं तमर्थं यथासंकेतं प्रतिपादयति, नत्वेवं धूमादिकं लिङ्गं पुरुषेच्छावशेन जलादिकं प्रतिपादयतीत्यनुमानात् प्रमाणान्तरं सिद्धः शब्दः।

न च शब्दादर्थप्रतिपत्तौ शब्दस्य त्रैरूप्यमस्ति। यतो न तस्य पक्षधर्मता यत्रार्थस्तत्र धर्मिणि शब्दस्यावृत्तेर्गोपिण्डाधारेण प्रदेशेन शब्दस्याऽऽश्रयाऽऽश्रयिभावस्य जन्यजनकभावनि- बन्धनस्याऽभावाद् अतः- 'गोपिण्डवानयं देशो गोशब्दवत्त्वात्' इति नाऽभिधातुं शक्यम्। नापि गोपिण्डे गोशब्दो वर्त्तते। आधाराधेयवृत्त्या जन्यजनकभावेन वा गोपिण्डाऽभावेऽपि गोशब्दस्य दर्शनात्। नच-गम्यगमकभावेन तत्रासौ वर्त्तते पक्ष- धर्मत्वाभावे तस्यैवानुपपत्तेः वाच्यवाचकभावेन वृत्तावनुमानात् प्रमाणान्तरत्वम्। तेन 'गोपिण्डो गोत्ववान् गोशब्दवत्त्वाद् अयमपि प्रयोगोऽनुपपन्न एव नापि गोत्वे गोपिण्डविशेषणे वर्त्तते। तत्सामान्येनाश्रयाश्रयिभावस्य जन्यजनकभावस्य वा अस्याभावाद्। अतः 'गोत्वं गोपिण्डत् गोशब्दवत्त्वाद्' इत्यपि वक्तुमशक्यम्। विशेषे च साध्येऽन्वयश्चात्र पक्षे दोषः। नच- 'गोशब्दो गवार्थवान् गोशब्दत्वात्' इति प्रयोगो युक्तः तथा प्रतीत्यभावात्। नहि 'गौर्गच्छति' इत्युक्ते गमनक्रियाविशिष्ट- गवार्थप्रतीतिमन्तरेण गोपिण्डेन तद्वान् शब्दो लोकेनाऽवगम्यते।

नच- गोशब्दो गवार्थवाचकत्वेन गोशब्दत्वादनुमीयत, किंतु- गवार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या गवार्थवाचकत्वं तस्य गम्यते। प्रतिनियतपदार्थनिवेशिनां तु देवदत्तादिशब्दानां नान्वयः नापि पक्षधर्मता दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभेदं चानुमानप्रवृत्तेः। नच-शाब्दं स्वभावलिङ्गजमनुमानं शब्दस्यार्थस्वभावत्वासिद्धेराकारभेदात् प्रतिनियतकरणग्राह्यत्वाद्वाचकस्वभावत्वाच्च तस्य। वाप्रि कार्यलिङ्गजम् अर्थाभावऽपीच्छातः शब्दस्योत्पत्तेः। नच-न बाह्यार्थविषयत्वेन शब्दस्यानुमानता सौगतैरभ्युपगयते अपि तु विवक्षाविषयत्वेनेति वक्तव्यम्, यतो यथा न तदर्थो विवक्षा तथा शब्दप्रामाण्यप्रतिपादनेऽभिहितं न पुनरुच्यते।

(परिकल्पितां वर्णानां नित्यतां तत्पदादिप्रक्रियां च प्रदूष्यानेकान्तदृष्ट्या शब्द-तदर्थसंबन्धयोस्स्वरूपनिरूपणम्)-

न च- मीमांसकाभिप्रायेण वर्णानां वाचकत्वम् अभिव्यक्तानभिव्यक्तपक्षद्वयेऽपि दोषाद् अनभिव्यक्तानां ज्ञानजन-कत्वे सर्वपुरुषान् प्रति सर्वे सर्वदा ज्ञानजनकाः स्युः केनचित् प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावाद् अभिव्यक्तानां ज्ञानजनकत्वे एकवर्णाऽऽवरणापाये सर्वेषां समानदेशत्वेनाभिव्यक्तत्वाद्युगपत् सर्वश्रुतिप्रसक्तिरित्युक्तं प्राक्। इन्द्रियसंस्कारपक्षेऽपि पूर्वप्रति-पादितमेव दूषणमनुसर्त्तव्यम्। किं च- यद्यनवगतसंबन्धा वर्णा अर्थप्रत्यायकास्तदा नारिकेरद्वीपवासिनोऽप्युपलभ्यमाना अर्थावगतिं विदध्युः। अर्थावगतसंबन्धास्तथा सति पदस्य स्मारकत्वमेव स्यान्न वाचकत्वं तथा चानधिगतार्थाधिगमहेतुत्वाभावान्न प्रमाणता भवेत्, तदुक्तम्- ''पदं त्वभ्यधिकाभा- वात्, स्मारकान्न विशिष्यते। अथाऽऽधिक्यं भवेत्किंचित्, स पदस्य न गोचरः''॥ (श्लो० वा० शब्दप० श्लो० १०७) इति, तत्र मीमांसकमतेनापि वर्णानां शब्दत्वम्। कथं तर्हि वर्णाः शब्दरूपतां प्रतिपद्यन्ते ? उक्तमत्र परिमितसङ्ख्यानां पुद्गल- द्रव्योपादानपरित्यागेनैव परिणतानामश्रावणस्वभावपरित्यागा- वाप्तश्रावणस्वभावानां विशिष्टानुक्रमयुक्तानां वर्णानां वाचकत्वात् शब्दत्वम्; अन्यथोक्तदोषानतिवृत्तेः। वैशेषिकपरिकल्पितपदादिप्रक्रियात्वनुभवबाधितत्वादयुक्ता।

न च- निरन्वयविनाशिनां विज्ञानहेतुता संभवतीत्यसकृत्प्रतिपादितम्। षट्क्षणावस्थायित्वलक्षणमप्यनित्यत्वं तत्परिकल्पितं निरन्वयविनाशपक्षे अर्थक्रियानिर्वर्त्तनानुपयोगितेषाम्। नच षट्क्षणावस्थानमपि संभवति, प्रथमक्षणसत्ताया द्वितीयक्षणसत्ताऽनुप्रवेशे तत्क्षणसत्ताया अप्युत्तरक्षणसत्तानुप्रवेश- परिकल्पनायां क्षणिकत्वमेवा अननुप्रवेशेऽपि परस्परविविक्त- त्वान्। क्षणस्थितीनां तदैव क्षणिकत्वमिति कुतः षट्क्षणा- वस्थानमेकस्य? अक्षणिकत्वे चार्थक्रियाविरोधः प्रतिपादित एवेति। न पदादिपरिकल्पना वैशेषिकपक्षे युक्तियुक्तेति स्थितम्। ननु भवत्पक्षेऽपिक्रमस्य वर्णेभ्यो व्यतिरेके न वर्णविशेषणत्वम् अव्यतिरेके वर्णा एव केवलास्ते च न व्यस्तसमस्ता अर्थप्रतिपादका इति पूर्वमेव प्रतिपादितमिति न शब्दः कश्चिदर्थप्रत्यायकः, असदेतत्, वर्णव्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तस्य क्रमस्य प्रतिपक्षेः। तथाहि- न वर्णेभ्योऽर्थान्तरमेव क्रमः वर्णानुविद्धतया तस्य प्रतीतेः। नापि वर्णा एव क्रमः। तद्विशिष्टतया तेषां प्रतिपत्तेः। नच तद्विशषणात्वेन प्रतीयमानस्य क्रमस्याऽपह्णवो युक्तिसङ्गतो वर्णेष्वपि तत्प्रसक्तेः।

नच-भ्रान्तिरूपा प्रतिपत्तिरियं, वर्णानां तद्विशिष्टतया बाधिताध्यक्षगोचरतया प्रसाधितत्वाद् अर्थप्रतिपत्तिकारणतोऽनुमितत्वाच्च। न चाऽभावः कस्यचिद्बाधाध्यवसायि तया विशेषणं नाऽप्यर्थप्रतिपत्तिहेतुर्नच कमोऽप्यहेतुः तथात्मक- वर्णेभ्योऽर्थ- प्रतीतेः। ततो भिन्नाऽभिन्नानुपूर्वीविशिष्टा वर्णा विशिष्ट-परिणतिमन्तः शब्दः स च पदवाक्यादिरूपतया व्यवस्थितः तेन विशिष्टानुक्रमवन्ति तथाभूतपरिणतिमापन्नानि पदान्येव वाक्यमभ्युपगन्तव्यम्। तद्व्यतिरिक्तस्य तस्य पदवदनुपपद्यमान- त्वात्। सम्म० १ काण्ड ३२ गाथाटी०।

(१७-१८) शब्दस्य नित्यवाऽनित्यत्वविचारः, शब्दार्थतत्सम्बन्धविचारश्च-

अकारादिः पौद्गलिको वर्णः इति ॥९॥

पुद्गलैः- भाषावर्गणापरमाणुभिरारब्धः पौद्गलिकः। अत्र याज्ञिकाः प्रज्ञापयन्ति-वर्णस्यानित्यत्वमेव तावद् दुरुपपादं कुतस्तरां पुद्गलारब्धत्वमस्य स्यात् ? तथाहि-स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञा, शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववद् इत्य-नुमानम्, शब्दो नित्यः, परार्थं तदुच्चारणान्यथानुपपत्तेरित्यर्था-पत्तिश्चेति प्रमाणानि दिनकरकरनिकरनिरन्तरप्रसरपरामर्शो पजातजृम्भारम्भोजानीव मनः प्रसादमस्य नित्यत्वमेव द्योतयन्ति। तदवद्यम्। यतः प्रत्यभिज्ञानं तावत्कथंचिदनित्यत्वेनैवाविनाभावमाभेजानम्, एकान्तैकरूपतायां ध्वनेः स एवायमित्याकारोभयगाचरत्वविरोधात्। कथमात्मनि तद्रूपेऽपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञेति चेत्। तदशस्यम्। तस्यापि कथंचिदनित्यस्यैव स्वीकारात्। प्रत्यभिज्ञाभासश्चायम्, प्रत्यक्षा-नुमानाभ्यां बाध्यमानत्वात्, प्रदीपप्रत्यभिज्ञावत्। प्रत्यक्ष हि तावदुत्पेदे विपेदे च वागियमिति प्रवर्त्तते।

नच-प्रत्यभिज्ञानेनैवेदं प्रत्यक्षं बाधिष्यत इत्यभिधानीयम्, अस्याऽनन्यथा सिद्धत्वात्। अभिव्यक्तिभावाभावभ्यामेवेयं प्रतीतिरितिचेत् कुटकटकटाहकटाक्षादावपि किं नेयं तथा? कुम्भकारमुद्गरादिकारणकलापव्यापारोपलम्भात्तदुत्पत्ति- विपत्तिस्वीकृतौ, तालुवातादिहेतुव्यापारप्रेक्षणादक्षरेष्वपि तत्स्वीकारोऽस्तु। तालुवातादेरभिव्यक्तत्वनभिव्यक्तिमात्रहेतुत्वे कुलालादेरपि तदस्तु। नचाभिव्यक्तिभावाऽभावाभ्यां तथा प्रतीतिरुपापादि। दिनकरमरीचिराजीव्यज्यमाने, घनत-रतिमिरनिकराकीर्यमाणे च कुम्भादावुदपादि व्यपादि चायमिति प्रतीत्यनुत्पत्तेः। तिमिरावरणवेलायामपि स्पार्शनप्रत्यक्षेणा-स्योपलम्भान्न तथेयमिति चेत्, यदा तर्हि नोपलम्भस्तदा किं वक्ष्यसि? अथ क्वापि तिमिरादेस्तत्सत्त्वाविरोधित्वाव-धारणात्सर्वत्रानभिव्यक्तिदशायां तत्सत्त्वं निश्चीयते इति चेत्, तत्किमावृतावस्थायां शब्दस्य सत्त्वनिर्णायकं न किंचित्प्रमाणमस्ति? ओमिति चेत्तर्हि साधकप्रमाणाभावादसत्त्वमस्तु । अस्त्येव प्रत्यभिज्ञादिकं तदिति चेत् । न । अस्य प्रत्यक्ष-बाधितत्वेनोन्मङ्क्तुमशक्तेः। उन्मज्जनेऽपि व्यक्तिभावाभावयोः कुम्भादाविवात्राप्युदयव्ययाध्यवसायो न स्याद्। अस्ति चायम्, तस्मादनन्यथासिद्धंप्रत्यक्षप्रतिबद्ध एवेति निश्चीयते। अनित्यः शब्दस्तीव्र- मन्दतादिधर्म्मोपेतत्वात्, सुखदुःखादिवदित्य-नुमानबाधः। व्यञ्जकाश्रितास्तीव्रतादयस्तत्रा भान्तीति चेत्, किं तत्र व्यञ्जकम्? कोष्ठवायुविशेषा ध्वनय इति चेत्कथं तर्हि तद्धर्म्माणां तेषां श्रावणप्रत्यक्षे प्रतिभासः स्यात्? ध्वनीनामश्रावणत्वेन तद्धर्म्माणामप्यश्रावणत्वात्। न खलु मृदुसमीरलहरीतरङ्ग्यमाणनिष्पङ्कपयोभाजनादौ प्रतिबिम्बितमुखा- दिगतत्वेन तरलत्वमिव माधुर्यमप्यचाक्षुषं चक्षुःप्रत्यक्षेण प्रेक्ष्यते। श्रोत्रग्राह्य एव कश्चिदर्थः शब्दस्य व्यञ्जकः, स्तीव्रत्वादिधर्म्मवान् अनित्यश्चेष्यत इति चेत् । न । तस्यैव शब्दत्वात् । श्रोत्रग्राह्यत्वं हि शब्दलक्षणे; तल्लक्षणयुक्तस्य च तस्य ततोऽर्थान्तरत्वम-युक्तम्।

किं च-कस्य किं कुर्वन्तोऽमी व्यञ्जका ध्वनयो भवेयुः? शब्दस्य, श्रोत्रस्योभयस्य वा। संस्कारमिति चेत्, कोऽयं संस्कारोऽत्र रूपान्तरोत्पत्तिः; आवरणविपत्तिर्वा। आद्यश्चेत्, कथं न शब्दश्रोत्रयोरनित्यत्वं स्यात् ? स्वभावान्यत्वरूपत्वात्तस्य। अथ रूपं धर्म्मः; धर्म्मधर्म्मिणोश्च भेदात्, तदुत्पत्तावपि न भावस्वभावान्यत्वमिति चेत्, ननु धर्मान्तरोत्पादेऽपि भावस्व- भावोऽजनयद्रूपस्वरूपस्तादृगेव चेत्; तदा पटादिनेव श्रोत्रेण घटादेरिव ध्वनेर्नोपलम्भः संभवेत्। तत्संबन्धिनस्तस्य करणा-ददोष इति चेत्, स तावत्संबन्धो न संयोगः, तस्याऽद्रव्यत्वात्। समवायस्तु कथञ्चिदविष्वग्भावान्नान्यो भवितुमर्हतीति तदात्मकधर्म्मोत्पत्तौ धर्म्मिणोऽपि कथञ्चिदुत्पत्तिरनिवार्या। आवरणापगमः संस्कारः क्षेमकार इति चेत्, स तर्हि शब्दस्यैव संभाव्यते, ततश्चैकत्रावरणविगमे समग्रवर्णाऽऽकर्णनं स्यात्। प्रतिवर्णं पृथगावरणमिति यस्यैवाऽऽवरणविरमणम्, तस्यैवोपलब्धिरिति चेत्, तन्नावितथम्। अपृथग्देशवर्त्तमकेन्द्रियग्राह्याणां प्रतिनियतावरणावार्यत्वविरोधात्। यत् खलु प्रतिनियतावरणावार्यं; तत्पृथग्देशे वर्त्तमानम्, अनेकेन्द्रियग्राह्यं च दृष्टं, यथा घटपटौ, यथा वा रूपरसाविति। अपृथग्देश-वर्त्तमानैकेन्द्रियग्राह्यत्वादेव च नास्य प्रतिनियतव्यञ्जकव्य-ङ्ग्यत्वमपि । अस्तु वैतत्तथाप्ययमभिव्यज्यमानः सामस्त्येन, प्रदेशतो वा व्यज्येत। नाद्यः पक्षः क्षेमङ्करः। सकलशरीरिणां युगपत्तदुपलम्भापत्तेः। द्वितीयविकल्पे तु कथं सकर्णस्यापि संपूर्णवर्णाऽऽकर्णनं भवेत्? न खलु निखिलावृताङ्गराजाङ्गनानामपटु पवनापनीयमानवसनाञ्चलत्वेन चलनाङ्गुलिकोटिप्रकटतायां विकस्वरशिरीषकुसुमकुमारसग्राविग्रहयष्टिनिष्टङ्कनं विशिष्टेक्षणानामपीक्ष्यते। प्रदेशाभिव्यक्तौ चास्य सप्रदेशत्वं प्रसज्यते। ततो व्यञ्जकस्य कस्यचिच्छब्दे संभवाऽभावात्। तद्गता एव तीव्रतादय इति नासिद्धो हेतुः। यदपि श्रावणत्वादित्यनुमानं, तदपि- ''कान्तकीर्त्तिप्रथाकामः, कामयेत स्वमातरम्। ब्रह्महत्यां च कुर्वीत, स्वर्गकामः सुरां पिबेत् ॥१॥'' इत्याद्यानुपूर्व्या सव्यभिचारम्। नित्यैवेयमिति- चेत् तर्हि प्रेरणावत्प्रामाण्यप्रसङ्गः, तदर्थानुष्ठानाश्रद्धाने च प्रत्यवाया-ऽऽपत्तिः। उदात्तस्वरिततीव्रमन्दसुस्वरविस्वरत्वादिधर्म्मैश्च व्यभिचारः, तेषां नित्यत्वे सदाष्येकाकारप्रत्ययप्रसक्तेः। नित्यवेऽप्यभीपामभिव्यक्तिः कादाचित्कीतिचेत्, तदचारु। परस्परविरुद्धानामेकत्र समावेशासंभवात्। प्रभाकरेण शब्दत्वाऽस्वीकारादुभयविकलश्च तं प्रत्यत्र दृष्टान्तः।

अथ भट्ट एवेत्थमनुमानयति । प्रभाकरस्तु देशकालभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्धय एकगोशब्दगोचराः, गौरित्युत्पद्यमानत्वाद्, अद्योच्चारितगोशब्दव्यक्तिबुद्धिवदिति वदतीति चेत्। तदप्य- नवदातम्। अत्र प्रतिबन्धाभावात्, तडित्तन्तुनित्यत्वसिद्धावप्ये- वंविधानुमानस्य कर्तुं शक्यत्वात्। याऽप्यर्थाऽऽपत्तिः प्रत्यपादि, तत्रायमर्थः- अनित्यत्वे सति यो गृहीतसंबन्धः शब्दः, स तदैव दध्वंसे इति व्यवहारकालेऽन्य एवाऽगृहीतसंबन्धः कथमुच्चार्यत? उच्चार्यते च तस्मान्नित्य एवायमिति। तदयुक्तम्। अनेन न्यायेनार्थस्याऽपि नित्यतैकतापत्तेः, अन्यथा बाहुलेये गृहीतसबन्धोऽपि गोशब्दः शाबलेयादिष्वगृहीतसबन्धः कथं प्रतिपत्तिं कुर्यात्? सामान्यस्यैव शब्दार्थत्वाददोष इति चेत्। नः लम्बकम्बलः ककुद्मान्, वृत्तशृङ्गश्चायं गौरिति सामानाधिकर-ण्याभावाप्रसक्तेः। ततः सामान्यविशेषाऽऽत्मैव शब्दार्थः, स च नैकान्तेनाऽन्वेतीति न नित्यैकरूपोऽभ्युपेयः स्यात्। कथं च धूमव्यक्तिः पर्वते पावकं गमयेत्?' धूमत्वसामान्यमेव गमकमिति चेत्, वाचकमपि सामान्यमेवास्तु। अथ शब्दत्वं, गोशब्दत्वं, क्रमाभिव्यज्यमानगत्वौत्वादिक वा तद्भवेत् । आद्यपक्षे प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिर्न स्यात्, सर्वत्र शब्दत्वस्याऽविशेषात्। गोशब्दत्वं तु नाऽस्त्येव, गोशब्दव्यक्तेरेकस्याः कस्याश्चित्-दाधारभूताया असंभवात्, क्रमेण व्यज्यमानं हि वर्णद्वयमेवैतत्। क्रमाभिव्यज्यमाने-त्यादिपक्षोऽप्यसंभवी, गत्वाऽऽदिसामान्यस्या-विद्यमानत्वात्, सर्वत्र गकारादेरेकत्वात्। अत्रोच्यते- अस्तु तार्तीयीकः कल्पः; नच गकारादेरैक्यं, गर्गभर्गवर्गस्वर्गमार्गादिषु भूयांसोऽमी गकारा इति तद्भेदोपलम्भात्। व्यञ्जकभेदादयमिति चेद्, अकाराद्यशेषवर्णेष्वप्येषोऽस्तित्वत्येक एव वर्णः स्यात् । अथय-

था अयमपि गकारः, अयमपि गकारः, इत्येकाकारा प्रतीतिः, तथा नाकाराद्यशेषवर्णेषु अपीति चेत्। नैवम्। अयमपि वर्णः, अयमपि वर्णः, इत्येकप्रत्यवमर्शोत्पत्तेः। सामान्यनिमित्तक एवायमितिचेत्, तर्हि गकारादावपि तथाऽस्तु। अथाकारेकारादौ विशेषोऽनुभूयते, नतु गर्गादिगकारेषु, तेषां तुल्यस्थाना- ऽऽस्यप्रयत्नादित्वादिति चेदेवं तर्हि ''सहर्षं हेषन्ते हरिहरिति हम्मीरहरयः'' इत्यादिहकारात्कण्ठ्या- द्वह्निजिह्वादिहकारस्य, ह ''उरस्यो वह्निजिह्वादौ, वर्गपञ्चमसंयुतः'' इति वचनादुरस्य- त्वेन स्थानभेदप्रतीतेः। ततो भिन्नोऽयं वर्णो भवेत्।

नच गकारे नास्ति विशेषावभासः, तीव्रोऽयं मन्दोऽयं गकार इति तीव्रतादिविशेषस्फुरणात् व्यञ्जकगतास्तीव्रतादयस्तत्र स्फुरन्तीति चेत्, कृतोत्तरमेतत्। अकारेकारादावप्यनुभूयमानः स विशेषस्तद्गत एवाऽस्तु, तथा चैक एव वर्णः किन्न भवेत् ? मा भूद्वा विशेषावभासो गकारेषु भेदावभासस्तु विद्यत एव, बहवोऽमी गकारा इति प्रतीतेः। भवति च विशेषावभासं विनापि भेदस्फूर्तिः, सर्षपराशौ गुरुलाघवादिविशेषावभासं विनाऽपि तद्भेदप्रतिभासवद्। इति सिद्धो गकारभेदः। तथाच- तदादिवर्णवर्त्तिसामान्यानामेव वाचकत्वमस्तु तत्त्वतस्तुगोशब्द- त्वमेव सदृशपरिणामात्मकं वाचकं क्रमाभिव्यज्यमानं वर्णद्वय- मेवैतत्, नैका गोशब्दव्यक्तिरिति च न वाच्यम्। नित्यत्वा-प्रसिद्धावद्याप्यस्योत्तरस्य कूर्प्परकोटिसंटङ्कितगुडायमानत्वात्। तस्मात्क्रमोत्पदिश्नु तत्तद्गकारा- दिपर्यायोपहितभाषाद्रव्यात्मको गोशब्द एव सदृशपरिणामात्मा वाचकोऽस्तु। तथा च क्षीणा-ऽर्थाऽऽपत्तिः।

अस्तु अनित्यो ध्वनिः, किंतु-नाऽयं पौद्गलिकः संगच्छत इति यौगाः संगिरमाणाः सप्रणयप्रणयिनीनामेव गौरवार्हाः। यतः कोऽत्र हेतुः, स्पर्शशून्याश्रयत्वम्, अतिनिविडप्रदेशे प्रवेश- निर्गमयोरप्रतिघातः, पूर्वं पश्चाच्चाऽवयवानुपलब्धिः। सूक्ष्म- मूर्त्तद्रव्यान्तराऽप्रेरकत्वं, गगनगुणत्वं वा ? नाद्यः पक्षः। यतः शब्दपर्यायस्याश्रये भाषावर्गणारूपे स्पर्शाभावो न तावदनुपलब्धिमात्रात्प्रसिध्यति, तस्य सव्यभिचारत्वात्। योग्यानुपलब्धि- स्त्वसिद्धा, तत्र स्पर्शस्यानुभूतत्त्वेनोपलब्धि- लक्षणप्राप्तत्वा- भावात्, उपलभ्यमानगन्धाऽऽधारद्रव्यवत्। अथ घनसारगन्ध- साराऽऽदौ गन्धस्य स्पर्शाव्यभिचारनिश्चयादत्रापि तन्निर्णयेऽ- प्यनुपलम्भादनुद्भूतत्वं युक्तं, नेतरत्र, तन्निर्णायकाभावाद्, इति चेत्, मा भूत्तावत्तन्निर्णायकं किंचित्। किंतु-पुद्गलाना- मुद्भूतानुद्भूतस्पर्शानामुपलब्धेः शब्देऽपि पौद्गलिकत्वेन परैः प्रणिगद्यमाने बाधकाभावे च सति संदेह एव स्यात्, नत्वभावनिश्चयः, तथा च संदिग्धाऽसिद्धो हेतुः। नच नास्ति तन्निर्णायकम्। तथाहि- शब्दाश्रयः स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणो- पलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रिया-र्थत्वात्, तथाविधगन्धाऽऽधार- द्रव्यवद्, इति। द्वितीयकल्पेऽपि गन्धद्रव्येण व्यभिचारः। वर्त्तमानजात्यकस्तूरिकाकर्प्पूरकश्मीरजादिगन्धद्रव्यं हि पिहितकपाटसंपुटापवरकस्यान्तर्विशति, बहिश्च निस्सरति, नचापौद्गलिकम्। अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसंभवेनातिनिविडत्वा- भावात्तत्प्रवेशनिष्काशौ; अत एव तदल्पीयस्ता, नत्वपावृतद्वारदशा- यामिव तदेकार्णवत्त्वं, सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे नैतौ संभवत इति चेद्, एवं तर्हि शब्देऽपि सर्वस्य तुल्ययोगक्षेमत्वादसिद्धता हेतोरस्तु। पूर्वं पश्चा- द्वावयवानुपलब्धिः, सौदामिनीदामोल्कादिभिरनैकान्तिकी। सूक्ष्ममूर्त्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वमपि गन्धद्रव्याविशेषसूक्ष्मरजोधूमाऽऽदिभि- र्व्यभिचारि। न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नसि निविशमानं तद्विवरद्वारदेशो- द्विन्नस्मश्रुप्रेरकं प्रेक्ष्यते। गगनगुणत्वं त्वसिद्धम्। तथाहि-न गगनगुणः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, रूपादिवदिति। पौद्गलिकत्वसिद्धिः पुनरस्य, शब्दः पौद्गलिकः इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिवदेवेति। रत्ना० ४ परि०।

अथ संकेतमात्रेणैव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति; नतु स्वाभाविक- संबन्धवशादिति गदतो नैयायिकान्, समयादपि नायं वस्तु वदतीति वदतः सौगतांश्च पराकुर्वन्ति-

स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः इति ॥११॥

स्वाभाविकम्- सहजम्। सामर्थ्यं- शब्दस्यार्थ-प्रतिपादनशक्तिः; योग्यतानाम्नी। समयश्च-संकेतः ताभ्यामर्थ-प्रतिपत्तिकारणं शब्द इति। तत्र नैयायिकान्प्रत्येवं विधेयानुवाद्यभावः, योऽयम् अर्थबोधनिबन्धनं शब्दः अभ्युपगतोऽस्ति, स स्वाभाविक सामर्थ्यसमयाभ्यां-द्वाभ्यामपि, न पुनः समयादेव केवलात्। समयो हि पुरुषाऽऽयत्तवृत्तिः; नचपुरुषेच्छया वस्तुनियमो युज्यते। अन्यथा तदिच्छाया अव्याहतप्रसरत्वादर्थोऽपि वाचकः, शब्दोऽपि वाच्यः स्यात्। अथ गत्वौत्वादिसामान्यसंबन्धो यस्य भवति, स वाचकत्वे योग्यः, इतरस्तु वाच्यत्वे, यथा द्रव्यत्वाविशेषेऽ- प्यग्नित्वादिसा-मान्यविशेषवत् एव दाहजनकत्वं, न जलत्वादि- सामान्यविशेषवत् इति चेत्। तदयुक्तम्। अतीन्द्रियां शक्तिं विनाऽग्नित्वादेरपि कार्यकारणभावनिययामकत्वानुपपत्तेः। अग्नित्वं हि दाहवद्विजातीयकारणजन्यकार्येष्वपि तुल्यरूपम्। नहि दाहं प्रत्येवाऽग्नेरग्नित्वं, यथा पुत्रापेक्षं पितुः पितृत्वम्। ततश्चाग्नि- र्दाहवत्पिपासापनोदमपि विदध्यादिति नातीन्द्रियां शक्ति- मन्तरेणाग्नित्वादीनां कार्यकारणभावव्यवस्थाहेतुत्वं, तद्वदेव च गत्वौत्वादिसामान्यानामपि न वाच्यवाचकभावनियम- हेतुत्वमिति नियामिका शक्तिः स्वीकर्त्तव्यैव। अथ किमनेनातीन्द्रियशक्ति- कल्पनाक्लेशेन ? करतलानलसंयोगादिसहकारिकारणनिकर- परिकरितं कृपीटयोनिस्वरूपं हि स्फोटघटनपाटवं प्रकटयिष्यति, किमवशिष्टं यदनया करिष्यते। तथा च जयन्तः ''स्वरूपादुद्भवत्कार्यं, सहकार्युपबृंहितात्। नहि कल्पयितुं शक्तं, शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम्॥१॥'' यत्तूक्तम्- अग्निर्दाहवत्पिपासापनोदमपि विदद्ध्यादिति। तत्र सत्। नहि वयमद्य कश्चिदभिनवं भावानां कार्यकारणभावमुत्थापयितुं शक्नुमः किंतु यथा प्रवृत्तमनुसरन्तो व्यवहरामः। नह्यस्मदिच्छया आपः शीतं शमयन्ति कृशानुर्वा पिपासां, किंतु तत्र दाहादावन्वयव्यतिरेकाभ्यां वा वृद्धव्यवहाराद्वा ज्वलनादेरेव कारणत्वमवगच्छाम इति तदेव तदर्थिन उपादध्महे, न जलादि। तदेतदतथ्यम्। यतो यथाभूतादेव विभावसोर्दाहोत्पत्तिः

प्रतीयते, तथाभूतादेव मणिमन्त्रयन्त्रतन्त्रौषधादिसन्निधाने सति न प्रतीयते। यदि हि दृष्टमेव रूपं स्फुटं स्फोटं घटयेत्, तदा तदानीं तस्य समस्तस्य सद्भावात्तदनुत्पादो न स्याद्। अस्ति चासौ, ततो दृष्टरूपस्य व्यभिचारं प्रपञ्चयन्नतीन्द्रियायाः शक्तेः सत्त्वं समर्थ(र्प) यति। तथा च ''स्वरूपात्काऽप्यनुद्यत्तत्सह-कार्युपबृंहितात्। किं न कल्पयितुं शक्तं, शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम् ॥१॥ यत्तूक्तम्- ''दाहादावन्वयव्यतिरेकाभ्यां वृद्धव्यवहाराद्वा ज्वलनादेरेव कारणत्वमवगच्छामः'' इति। तदुक्तिमात्रमेव। यत एव हि दाह-दहनयोः कार्यकारणभावनियमः प्रसिद्धिपद्धति-प्रतिबद्ध एव, तत एव प्रसङ्ग प्रवर्तते। यदि कृशानुः स्वरूपमात्रादेव दाहमुत्पादयेत्, तर्हि तदविशेषादुदन्यापनोदमपि विदध्यादिति।

अथ न मणिमन्त्रादिप्रतिबन्धकनैकट्ये सति स्फोटानुत्पत्तिर दृष्टं रूपमाक्षिपति, यथा ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधृतसामर्थ्यो दहनो दाहहेतुः, तथा प्रतिबन्धकाभावोऽपि। स च प्रतिबन्धक-योगे विनिवृत्त इति सामग्रीवैगुण्यादेव दाहस्यानुत्पत्तिः, नतु शक्तिवैकल्यादिति चेत् तदयुक्तम्। यतः प्रतिबन्धकाभावो भावादेकान्तव्यतिरिक्तः कथं किंचित्कार्यं कुर्यात्? कूर्मरोमराजीवत्। ननु नित्यानां कर्मणामकरणात्प्रागभावस्वभावात्प्रत्यवाय उत्पद्यते, अन्यथा नित्याऽकरणे प्रायश्चित्तानुष्ठानं न स्यात्, वैयर्थ्यात्। तन्न तथ्यम्। नित्याकरण-स्वभावात्क्रियान्तरकरणा-देव प्रत्यवायोत्पत्तेभ्युपगमात्, त्वन्मतस्य तस्य तद्धेतुत्वाऽसिद्धेः। यदप्युच्यते- ''सुखदुःखसमुत्पत्तिरभावे शत्रुमित्रयोः॥ कण्टकाऽभावमालक्ष्य, पादः पथि निधीयते'' ॥१॥ तत्राऽप्य-मित्रमित्रकण्टकाभावज्ञानानामेव सुखदुः खाङ्घ्रिनिधान-कार्यकारित्वं, नत्वभावानाम्। तज्ज्ञानमप्यमित्रमित्रकण्टक-विविक्तप्रतियोगिस्त्वन्तरसंपादितमेव, नतु त्वदभिमताभावकृतम्। अथ भाववदभावोऽपि भावजननसमर्थोऽस्तुः को दोषः। न हि निःशेषसामर्थ्यरहितत्वमभावलक्षणम्; अपि तुनास्तीति ज्ञानगम्यत्वम्। सत्प्रत्ययगम्यो हि भाव उच्यते, असत्य-प्रत्यगम्यस्त्वभाव इति चेत्। तदयुक्तम्। त्वदभ्युपगताभावस्य भावात्सर्वथा पार्थक्येन स्थितस्य भावोत्पादत्वविरोधात्। तथाहि- विवादास्पदीभूतोऽभावो भावोत्पादको न भवति, भावादेकान्तव्यतिरिक्तत्वात्, यदेवं तदेवं यथा तुरङ्गशृङ्गम्। तथा चायं तस्मात्तथा। प्रागभावप्रध्वंसाभावपरस्पराभावस्वभावो ह्यभावो वस्तुनो व्यतिरिक्तमूर्तिर्भावोत्पादकः परैरिष्टः, सोऽत्र विवादपदशब्दितः। अन्यथा-जैनस्य भावाविष्वग्भूताभावैर्भावो-त्पादकत्वेनाङ्गीकृतैर्बाधा स्यात्। यौगस्य चात्यन्ताभावेन भावानुत्पादकेन सिद्धसाध्यता भवेत्। नन्वयं धर्म्मित्वे-नोपात्तोऽभावो भवद्भिः प्रतिपन्नो न वा। यदि प्रतिपन्नः; किं प्रत्यक्षाद्, अनुमानात्, विकल्पाद्वा; उपमानादेरत्रानुचितत्वात्। यदि प्रत्यक्षात्; तदा कथमभावस्य भावो-त्पादनापवादस्सूपपादः स्यात्? प्रत्यक्षस्यैवोत्पादित्वात्। अथानुमानात्तत्प्रतिपत्तौ; तत्राप्यभावधर्म्मिणः प्रतीतिर-नुमानान्त-रादेव, इत्यत्राऽनवस्थादौस्थ्यस्थेमा। विकल्पादपि तत्प्रतीतिः; प्रमाणमूलात्, तन्मात्रादेव वा। न प्रथमात्; प्रमाणप्रवृत्तेस्तत्र तिरस्कृतत्वात्। विकल्पमात्रात्तु तत्प्रतीति-रसत्कल्पा, ततः कस्यापि प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः। अन्यथा- प्रामाणिकानां प्रमाणपर्येषणमरमणीयं स्यात्। तथा चाश्रयासिद्धो हेतुः। अथाप्रतिपन्नः, तर्हि कथं धर्म्मितयोपादायि? उपात्ते चास्मिन्। हेतुराश्रयासिद्ध एव। अत्रोच्यते-विकल्पमात्रादेव तत्प्रतिपत्तिं ब्रूमहे। नचाश्रयासिद्धिः, अवस्तुनि विकल्पा-त्प्रसिद्धेरवश्याश्रयणीयत्वाद्। अन्यथा बन्ध्यास्तनन्धया-दिशब्दानुच्चारणप्रसङ्गात्। नच-नोच्चार्यत एवायं मयेति वाच्यम्। बान्ध्येयोऽस्ति, नास्ति वेति। पर्यनुयोगे पृथ्वीपतिपरिषद्यवश्यं विधिनिषेधान्यतराभिधायिवचनस्यावकाशात्। तूष्णीं पुष्ण-तोऽस्याप्रतिपित्सितं, किंचिदुच्चारयतो वा पिशाचकित्व-प्रसङ्गात्। तथाविधवचनोच्चारणे च कथमेतदिति प्रमाणगवेषणे अनुमानमुच्चार्य-माणमाश्रयासिद्धिग्रस्तम्। समस्तं निष्प्रमाणकं वचनमात्रं प्रेक्षावता प्रश्नकृताऽनपेक्षितमेव। न चोभया-भावोऽभिधातुं शक्यः। विधिनिषेधयोर्भावाभावस्वभावत्वात्, एकनिषेधेनापरविधानात्। विधिप्रतिषेधो हि निषेधः, निषेधप्रतिषेधश्च विधिः। अस्तु वोभयप्रतिषेधप्रतिज्ञाहेतोस्तु तत्रोपादीयमानस्य नाश्रया सिद्धिपरिहारः। तदुक्तम्-''धर्म्मस्य कस्यचिदवस्तुनि मानसिद्धा-बाधाविधिव्यवहृतिः किमिहास्ति नो वा अस्त्येव चेत्कथमियन्ति न दूषणानि, नास्त्येव चेत् स्ववचनप्रतिरोधसिद्धिः॥१॥ (अस्य व्याख्या)-अवस्तुनि बाधाविधिव्यवहारो नास्तीत्येतदनेनैव स्ववचनेन प्रतिरुध्यते; नास्तीति प्रतिषेधस्य स्वयं कृतत्वाद्, इत्यन्त्यपादस्यार्थः। तुरङ्गशृङ्गदृष्टान्तोऽपि विकल्पादेव प्रसिद्धः स्वीकर्त्तव्यः। तत्र च वस्त्वेकान्तव्यतिरेके सति भावानुत्पादकत्वमपि प्रतीतम्, इति नास्य साध्यसाधनोभयवैकल्पम्। ननु जैनैर्भावाद-भिन्नस्याभावस्याभ्युपगमात् वाधसिद्धो हेतुरिति चेत्, तदसत्। पराभ्युपगताभावस्य धर्म्मीकृतत्वात्, तस्य च भावादेकान्तेन पृथग्भूततया जैनैरपि स्वीकारात्। न खल्ववस्तु वस्तु-भूताद्भावादभिन्नमिति मन्यन्ते जैनाः। ततो नाभावो भावोत्पादक-स्तवास्तीति सिद्धम्॥ किंच यदाप्रतिबन्धकाभावो विभावसुस्व-रूपादेकान्तभिन्नोऽभ्युपागमि, तदा विभावसुः प्रतिबन्धकस्वभाव-स्स्वीकृतः स्यात्, प्रतिबन्धकाभावाह्यावर्त्तमानत्वान्मणिमन्त्रा-दिप्रतिबन्धकस्वरूपवत्। तथा च कथं कदाचिद्दाहादिकार्योत्पादो भवेत्? विभावसोरेव प्रतिबन्धक-त्वात्। अथ कथं विभावसुः प्रतिबन्धकः स्यात्? तत्र प्रतिबन्धकप्रागभावस्य विद्यमानत्वात्। तदनवदातम्। एतावता हि तत्र वर्त्तमानः प्रतिबन्धकप्रागभाव एव प्रतिबन्धकस्वभावो मा भूत्, विभावसुस्वरूपं तु तदभावाद्व्यावर्त्तमानं प्रतिबन्धकतां कथं न कलयेत्? यथाहि-प्रतिबन्धकः स्वभावाद्व्या-वर्त्तमानः प्रतिबन्धकतां दधाति, तथा-तनूनपादपि प्रतिबन्धका-भावाद्व्यावर्त्तमानमूर्तिः कथं न प्रतिबन्धरूपतां प्रतिपद्येत? स्याद्वादिनां तु भावाऽभावोभयात्मकं वस्त्विति प्रतिबन्धकाभावा-त्मनः कृष्णवर्त्मनो न प्रतिबन्धकरूपता। किं च-प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वे, प्रतिबन्धकस्य कस्यचि- न्नैकट्येऽपिप्रतिबन्धकाभावा-न्तराणामेकेषां भावात्कथं न कार्योत्पादः? नहि कुम्भकारकारणः कुम्भः कुम्भकारस्यैकस्याभावेऽपि कुम्भकारान्तरव्यापारान्न भवति। नचैक एव

कश्चित्प्रतिबन्धकाभावः कारणं, यदभावात्तदानीं न कार्यं जायते, तद्भवेत्वन्मतेन सर्वेषामवधृतसामर्थ्यत्वात्।

अथ सर्वे प्रतिबन्धकाभावाः समुदिता एव कारणं; न पुनरेकैकशः कुम्भकारवत्, तर्हि कदाचिदपि दाहादिकार्योत्पत्तिर्न स्यात्, तेषां सर्वेषां कदाचिदभावात्, भुवने मणिमन्त्रतन्त्रादिप्रतिबन्धकानां भूयसां संभवात्। अथ ये प्रतिबन्धकास्तं तनूनपातं प्रतिबद्धुं, प्रसिद्धसामर्थ्याः, तेषामेवाऽभावाः सर्वे कारणं, नतु सर्वेषां, सर्वशब्दस्य प्रकारकार्त्स्न्ये वर्त्तमानस्य स्वीकारात्, इति चेत्। ननु प्रसिद्धसामर्थ्या इति सामर्थ्यशब्दस्यातीन्द्रिया शक्तिः, स्वरूपं वा प्रतिबन्धकानां वाच्यं स्यात्। प्राच्यपक्षकक्षीकारे, क्षीणः क्षणेनावयोः कण्ठशोषः; अतीन्द्रियशक्तिस्वीकारात्। द्वितीयपक्षे तु त एव तं प्रति प्रतिबन्धकाः; नापरे, इति कौतस्कुती नीतिः? स्वरूपस्योभयेषामपि भावात्। न खलु मणिमन्त्रादेः कश्चिदेव जातवेदसमाश्रित्य तत्स्वरूपं, न पुनर्जातवेदोऽन्तर-मिति। तथा न प्रतिबन्धकस्यात्यन्ताऽभाव-स्तावत्कारणतया वक्तुं युक्तः, तस्याऽसत्त्वाद्, अन्यथाजगति प्रतिबन्धककथां प्रत्यस्तमयप्रसङ्गात्।

अपरे पुनः प्रतिबन्धकाभावा एकैकशः सहकारितां दधीरन्, द्वित्रा वा। प्रथमपक्षे; प्रागभावः, प्रध्वंसाऽभावः, परस्पराऽभावः, यः कश्चिद्वा सहकारी स्यात्। न प्रथमः, प्रतिबन्धकप्रध्वंसेऽपि पावकस्य प्लोषकार्योपलम्भात्। न द्वितीयः, प्रतिबन्ध-कप्रागभावेऽपि दहनस्य दाहोत्पादकत्वात्। न तृतीयः, प्रतिबन्धकसंबन्धबन्धोरपि धनञ्जयस्य स्फोटघटनप्रसङ्गात्, तस्य तदानीमपि भावात्। न चतुर्थः, प्ररूपयिष्यमाणानियत- हेतुकत्वदोषानुषङ्गात्। द्वित्रप्रतिबन्धकाभावभेदे तु किं प्रागभा- वप्रध्वंसाऽभावौ, प्रागभावपरस्पराऽभावौ, प्रध्वंसाऽभावपरस्प- राऽभावौ, त्रयोऽपि वा हेतवो भवेयुः। नाद्यः पक्षः, उत्तम्भकनैकट्ये तावन्तरेणापि पावकस्य प्लोषकार्याऽर्ज्जनदर्शनात्। न द्वितीयतृतीयतुरीयाः, प्रतिबन्धकपरस्परापाऽभावस्य प्राक् तदकारणत्वेन वर्णितत्वात्, भेदत्रयस्यापि चास्य परस्परापाभाव-संबलितत्वात्। अथ प्रागभावप्रध्वंसाभावोत्तम्भकमणिमन्त्र-तन्त्रादयो यथायोगं कारणमिति चेत्। तदस्फुटम्। स्फोटादिकार्यस्यैवमनियत-हेतुकत्वप्रसङ्गात्। अनियतहेतुकं चाऽहेतुकमेव। तथाहि- अन्वयव्यतिरेकावधार्यः कार्यकारभावो भावानाम्, धूम-धूमध्वजयोरिव। प्रस्तुते तु प्लोषादि यदेकदैकस्मादुत्पद्य-नमामीक्षामासे, तदन्यदा यद्यन्यतोऽपि स्यात्, तर्हि तत्कारण-कमेव तन्न भवेदिति कथं नाऽहेतुकं स्यात्?

अथ गोमायात्, वृश्चिकाच्च वृश्चिकोत्पादः प्रेक्ष्यते। न च तत्रानियतहेतुकत्वं स्वीकृतं त्वयाप्रीति चेत्। तदपि त्रपापात्रम्। सर्वत्र हि शालूकगोमयादौ वृश्चिकडिम्भारम्भशक्तिरेकास्ति इति यानि तच्छक्तियुक्तानि तानि तत्कार्योत्पादकानि, इति नायं नः कलङ्कः सङ्क्रामति। भवतां पुनरत्राप्ययं प्रादुर्भवन् दुष्प्रतिषेधः, येषां वृश्चिकगोमयसाधारणमेकं किंचिन्नास्तीति। नच प्रागभाव-प्रध्वंसाभावोत्तम्भकादीनामप्येकं किंचित्तुल्यं रूपं वर्त्तने। इति नानियतहेतुकत्वेन दुर्विधदैवेनेवाऽमी मुच्यन्ते। एतेन 'भावस्वभावोऽप्य भाव एवास्तु हेतुर्नत्वतीन्द्रियशक्तिस्वीकारः सुन्दरः' इत्यप्युच्यमानमपास्तम्। उक्ताभावविकल्पानामत्राप्य-विशेषात्। अथ शक्तिपक्षप्रतिक्षेपदीक्षिता ''आक्षपादा'' एवं साक्षेपमाचक्षते-ननु भवत्पक्षे प्रतिबन्धकोऽकिंचित्करः किंचित्करो वा भवेत्। अकिंचित्करप्रकारेऽ-तिप्रसङ्गः, शृङ्गभृङ्ग- भृङ्गाराऽऽदेरप्यकिंचित्करस्य प्रतिबन्धकत्व-प्रसङ्गात्। किंचित्करस्तु किंचिदुपचिन्वन् अपचिन्वन्वा स्यात्। प्राचिपक्षे, किं दाहकशक्तिप्रतिकूलां शक्तिं जनयेत्, तस्या एव धर्म्मान्तरं वा। न प्रथमः, प्रमाणाभावात्। दाहाऽभावस्तु, प्रतिबन्धक-सन्निधिमात्रेणैव चरितार्थ इति न तामुपपादयितुमीश्वरः। धर्म्मान्तरजनने तदभावे सत्येव दाहोत्पाद इत्यभावस्य कार- णत्वस्वीकारः, त्वदुक्ताशेषप्रागभावाऽऽदिविकल्पाऽवकाशश्च।

अपचयपक्षे तु प्रतिबन्धकस्तां शक्तिं विकुट्टयेत्, तद्धर्म्मं वा। प्रथमप्रकारे-कुत्तस्त्यं कृपीटयोनेः पुनः स्फोटघटनपाटवम्। तदानीमन्यैव शक्तिः संजातेति चेत्। ननु सा संजायमाना किमुत्तम्भकात्प्रति-बन्धकाभावात् देशकालादिकारकचक्रात् अतीन्द्रियार्थान्तराद्वा जायते। आद्यभिदायाम्, उत्तम्भकाभावे- ऽपि प्रतिबन्धकाभावमात्रात्कौतस्कुतं कार्याऽर्ज्जनं जातवेदसः।

द्वितीयभेदे-तत एव स्फोटोत्पत्तिसिद्धेः शक्तिकल्पनावैयर्थ्यम्। तृतीये-देशकालादिकारकचक्रस्य प्रतिबन्धकालेऽपि सद्भावेन शक्त्यन्तर-प्रादुर्भावप्रसङ्गः। चतुर्थे- अतीन्द्रियार्थान्तरनिमित्त- कल्पने तत एव स्फोटः स्फूटं भविष्यति, किमनया कार्यम्? तत्र शक्तिनाशः श्रेयसः। तद्वदेव तद्धर्म्मनाशपक्षोऽपि प्रतिक्षेपणीयः। अत्राभिद्ध्महे। एतेषु शक्तिनाशपक्ष एव कक्षीक्रियत इत्यपरविकल्पशिल्पकल्पनाजल्पाकता कण्ठशोषाशयैव वः संबभूव। यत्तूक्तम्- कुतः पुनरसावुत्पद्येतेति। तत्र शक्त्यन्तर- सहकृता कृपीटयोनेरेवेति ब्रूमः। ननु प्रतिबन्धकदशायां सा शक्तिरस्ति; न वा। नास्ति चेत् कुतः पुनरुत्पद्येत। शक्त्यन्त-रसहकृतादग्नेरेवेति चेत्, तर्हि साऽपि शक्त्यन्तरसधीचस्त-स्मादेवोन्मज्जेदित्यनवस्था। अथाऽस्ति, तदानीमपि स्फोटो- त्पादिकां शक्तिं संपादयेत् ततोऽपि स्फोटः स्फुटं स्यादेवेति। अत्रोच्यतेप्रति-बन्धकावस्थायामप्यस्त्येव शक्त्यन्तरं, घटयति च स्फोटघटनलम्पटां शक्तिं तदापि। यस्तु तदा स्फोटानुत्पादः, स प्रतिबन्धकेनोत्प-न्नोत्पन्नायास्तस्याः प्रध्वंसात्। प्रतिबन्धकापगमे तु स्फोटः स्फुटीभवत्येवेत्यतीन्द्रियशक्तिसिद्धिः। अत्रा- ऽऽशङ्कान्तरपरिहारप्रका-रमौक्तिककणप्रचयावचायः स्याद्बादर- त्नाकरात् तार्किकैः कर्त्तव्यः। एवं च स्वाभाविकशक्तिमान् शब्दः अर्थं बोधयतीति सिद्धम्, अथ तदङ्गीकारे तत एवार्थसिद्धेः संकेतकल्पनाऽनर्थिकैव स्यादिति चेत्, मैवम्। अस्य सहकारितया स्वीकाराद्; अङ्कुरोत्पत्तौ पयःपृथिव्यादिवत्। अथ स्वाभाविक-संबन्धाभ्युपगमे देशभेदेन शब्दानामर्थभेदो न भवेत् भवतिचायम्, चौरशब्दस्य दाक्षिणात्यैरोदने प्रयोगादिति चेत्। तदशस्यम्। सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात्। यत्र च देशे यदर्थप्रति-पादनशक्तिसहकारी संकेतः, स तमर्थं तत्र प्रतिपादयतीति सर्वमवदातम्। सौगतांस्तु प्रत्येवंविधेयानुवाद्यभावः योऽयं शब्दो

वर्णात्मा आवयोः प्रसिद्धः, स स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यां कृत्वा अर्थबोधनिबन्धनमेवेति।

अथ स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यां शब्दस्यार्थे सामान्यरूपे, विशेषलक्षणे, तदुभयस्वभावे वा वाचकत्वं व्याक्रियेत। न प्रथमे, सामान्यस्यार्थक्रियाकारित्वाभावेन नभोऽम्भोजसन्निभत्वात्। न द्वैतीयीके, विशेषस्य स्वलक्षणलक्षणस्य वैकल्पिकविज्ञा-नागोचरत्वेन संकेतास्पदत्वाऽसंभवात्। तत्संभवेऽपि विशेषस्य व्यवहारकाला-ननुयायित्वेन संकेतानैरर्थक्यात्। तार्तीयीकेतु स्वतन्त्रयोः, तादात्म्यापन्नयोर्वा सामान्यविशेषयोस्तद्गोचरता संगीर्येत। नाद्यः पक्षः, प्राचिकविकल्पोपदर्शितदोषानुषङ्गात्। न द्वितीयः, सामान्यविशेष-योर्विरुद्धधर्म्माध्यासितत्वेन तादात्म्याऽयोगादिति नार्थो वाच्यो वाचाम्, अपि तु परमार्थतः सर्वतो व्यावृत्तस्वरूपेषु स्वलक्षणेष्वेकार्थकारित्वेन, एककारण-त्वेन चोपजायमानैकप्रत्यवमर्शरूपविकल्पस्याकारो बाह्यत्वे-नाभिमन्यमानो बुद्धिप्रतिबिम्बव्यपदेशभाक् अपोहः; शब्दश्रुतौ सत्यां तादृशोल्लेखशेखरस्यैव वेदनस्योत्पादात्। अपोहत्वं चास्य स्वाकारविपरीताकारोन्मूलकत्वेनावसेयम्। अपोह्यते स्वाकाराद्विपरीत आकारोऽनेनेत्यपोह इति व्युत्पत्तेः। तत्त्वतस्तु न किंचिद्वाच्यं वाचकं वा विद्यते, शब्दार्थतया कथिते बुद्धिप्रतिबिम्बात्मन्यपोहे कार्यकारण-भावस्यैव वाच्यवाचकतया व्यवस्थापितत्वात्।

''अथ श्रीमदनेकान्त-समुद्घोषपिपासितः। अपोहमापिबामि प्राग्, वीक्षन्तां भिक्षवः क्षणम्''॥१॥ इह तावद्विकल्पानां तथाप्रतीति-परिहृतविरुधर्म्माध्यासकथंचित्तादात्म्यापन्न-सामान्यविशेषस्वरूप-वस्तुलक्षणाक्षूणदीक्षादीक्षितत्वं प्राक्प्राक-त्यत। ततस्तत्त्वतः शब्दानामपि तत्प्रसिद्धमेव। यतोऽजल्पि युष्मदीयैः ''स एव शब्दानां विषयो यो विकल्पानाम्'' इति कथम् अपोहः शब्दार्थः स्यात्। अस्तु वा तथाप्यनुमानवत्किं न शब्दः प्रमाणमुच्यते। अपोहगोचरत्वेऽपि परंपरया पदार्थं प्रतिबन्धात्प्रमाणमनुमानमिति चेत् तत एव शब्दोऽपि प्रमाणमस्तु अतीतानागताम्बरसरोजादिष्वसत्स्वपि शब्दोपलम्भान्ना-त्रार्थप्रतिबन्ध इति चेत्, तर्ह्यभूद् वृष्टिः, गिरिनदीवेगोपलम्भात्, भावीभरण्युदयः, रेवत्युदयात्, नास्ति रासभशृङ्गं समग्रप्रमाणैरनुपलम्भात् इत्यादेरर्थाभावेऽपि प्रवृत्तेरनुमाने-ऽपिनार्थप्रतिबन्धः स्यात्। यदि वचोवाच्याऽपोहोऽपि पारंपर्येण पदार्थप्रतिष्ठः स्यात्। तदानीम्- अलाबूनि मज्जन्तीत्या-दिविप्रतारकवाक्याऽपोहोऽपि तथा भवेदिति चेद्, अनुमेया-ऽपोहेऽपि तुल्यमेतत् प्रमेयत्वादिहेत्वनुमेयाऽपोहेऽपि पदार्थप्रतिष्ठताप्रसक्तेः। प्रमेयत्वं हेतुरेव न भवति, विपक्षा-सत्त्वतल्लक्षणाभावादिति कुत्सस्या तदपोहस्य तन्निष्ठतेति चेत्, तर्हि विप्रतारकवाक्यमप्यागम एव न भवति आप्रोक्तत्वल्लक्षणा-भावादित्यादि समस्तं समानम्। यस्तु ''नाप्तोक्तत्वं वचसि विवेचयितुं शक्यम्'' इति ''शाक्यो'' वक्ति स पर्यनुयोज्यः। किमाप्तस्यैव कस्याप्यभावादेवमभिधीयेत, भावेऽप्यभावस्य निश्चयाभावात्, निश्चयेऽपि मौनव्रतिकत्वात्, वक्तृत्वेऽप्य- नाप्तवचनात्, तद्वचसो विवेकावधारणाभावाद्वा। सर्वमप्येतत् ''चार्वाका'' दिवाचां प्रपञ्चात्। मातापितृपुत्रभ्रातृगुरुसुगतादिव- चसां विशेषमातिष्ठमानैरप्रकटनीयमेव।

नच-नाऽस्ति विशेषस्वीकारः, तत्पठितानुष्ठानघटनायामेव प्रवृत्तेर्निर्निबन्धनत्वाऽऽपत्तेः। अथानुमानिक्येवाप्तदशब्दादर्थ- प्रतीतिः; कथम्? ''पादपार्थविवक्षावान्, पुरुषोऽयं प्रतीतेः। वृक्षशब्दप्रयोतृत्वात्, पूर्ववस्थास्वहं यथा''॥१॥ इति विवक्षामनुमाय, सत्या विवक्षेषयम्; आप्तविवक्षात्वात्, मद्विव- क्षावादिति वस्तुनो निर्णयादिति चेत्, तदचतुरस्रम्। अमूदृश- व्यवस्थाया अनन्तरोक्तवैशेषिकपक्षप्रतिक्षेपेण कृतनिर्वचन-त्वात्। किंच- शाखादिमति पदार्थे वृक्षशब्दसंकेते सत्येतद्वि-वक्षानुमानमातन्येत्, अन्यथा वा। न तावदन्यथा। केनचित्कक्षे वृक्षशब्दं संकेत्य तदुच्चारणात्, उन्मत्तसुप्तशुकसारिकादिना गोत्रस्खलनवता चान्यथाऽपि तत्प्रतिपादनाच्च हेतोर्व्यभिचारा- पत्तेः। संकेतपक्षे तु यद्येष तपस्वी शब्दस्तद्वशाद्वस्त्वेव वदेत्तदा किंनाम क्षूणं स्यात्। न खल्वेषोऽर्थाद्विभेति। विशेषलाभश्चैवं सति यदेवंविधाननुभूय-मानपारंपर्यपरित्याग इति। यदकथि- 'परमार्थतः सर्वतोऽव्यावृत्तस्वरूपेषु स्वलक्षणेष्वेकार्थकारित्वेन' इत्यादि। तदवद्यम्। यतोऽर्थस्य वाहदोहादेरेकत्वम्, अद्विरूपत्वं, समानत्वं वा विवक्षितम्। न तावदाद्यः पक्षः- षण्डमुण्डादौ कुण्डकाण्डभाण्डादिवाहादेरर्थस्य भिन्नस्यैव संदर्शनात्।

द्वितीयपक्षेऽपि सदृशपरिणामास्पदत्वम् अन्यव्यावृत्त्य- धिष्ठितत्वं वा समानत्वं स्यात्। न प्राच्यः प्रकारः, सदृशपरि- णामस्य सौगतैरस्वीकृतत्वात्। न द्वितीयः, अन्यव्यावृत्तेर- तात्विकत्वेन बान्ध्येयस्येव स्वलक्षणेऽधिष्ठानासंभवात्। किंच- अन्यतः सामान्येन विजातीयाद्वा व्यावृत्तिरन्यव्यावृत्तिर्भवेत्। प्रथमपक्षे, न किंचिदसमानं स्यात्, सर्वस्यापि सर्वतो व्यावृत्तत्वात् द्वितीये तु विजातीयत्वं वाजिकुञ्जरादिकार्याणां वाहादि-सजातीयत्वे सिद्धे सति स्यात्, तच्चान्यव्यावृत्तिरूपमन्येषां विजातीयत्वे सिद्धे सति, इतिस्पष्टं परस्पराश्रयत्वमिति। एवं च कारणैक्यं प्रत्यवमर्शैक्यं च विकल्प्य दूषणीयम्। अपि च-यदि बुद्धिप्रतिबिम्बात्मा शब्दार्थः स्यात्तदा कथमतो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात्? स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायाच्चेत्। ननु कोऽयम-र्थाध्यवसायो नाम अर्थसमारोप इति चेत्, तर्हि सोऽय-मर्थानर्थयोरग्निमाणवकयोरिव तद्विकल्पविषयभावे सत्येव समुत्पत्तुमर्हति नच समारोपविकल्पस्य स्वलक्षणं कदाचन गोचरतामश्नुते।

यदि चाऽनर्थेऽर्थसमारोपः स्यात्, तदा वाहदोहाद्यर्थ- क्रियार्थिनः सुतरां प्रवृत्तिर्न स्यात्। नहि दाहपाकाद्यर्थी समारोपितपावकत्वे माणवके कदाचित्प्रवर्त्तते। रजतरूपतावभा-समानशुक्तिकायामिव रजतार्थिनोऽ-र्थक्रियार्थिनो विकल्पात्तत्र प्रवृत्तिरिति चेत्। भ्रान्तिरूपस्तर्ह्ययं समारोपः, तथा च कथं ततः प्रवृत्तोऽर्थक्रियार्थी कृतार्थः स्यात्। यथा शुक्तिकायां प्रवृत्तो रजा- तार्थक्रियार्थीति। यदपि प्रोक्तं कार्यकारणभावस्यैव वाच्यवाचक-तया व्यवस्थापित्वादिति। तदप्ययुक्तम्। यतो यदि कार्यकारणभाव एव वा वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानः शब्दः स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणमिति तस्याऽप्य सौ वा-

चक: स्यात्। यथा च विकल्पस्य शब्द: कारणम्, एवं परंपरया स्वलक्षणमपि, अतस्तदपि वाचकं भवेदिति प्रतिनियत-वाच्यवाचकभावव्यवस्थानं प्रलयपद्धतिमनुधावेत्, तत: शब्द: सामान्यविशेषाऽऽत्मकार्थविबोधनिबन्धनमेवेति स्थितम्।

स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धने शब्द: इत्युक्तम्। अथ किमस्य शब्दस्य स्वाभाविकं रूपं, किंच परापेक्षमिति विवेचयन्ति-

अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं प्रदीपवद्यथाऽर्थत्वा-ऽयथाऽर्थत्वे पुन: पुरुषगुणदोषावनुसरत: इति ॥१२॥

अर्थप्रकाशकत्वम्-अर्थाबबोधसामर्थ्यम्। अस्य-शब्दस्य स्वाभाविकम्- पराऽनपेक्षम्। प्रदीपवत्-यथा हि प्रदीप: प्रकाश- मान: शुभम् अशुभं वा यथासन्निहितं भावमवभासयति, तथा शब्दोऽपि वक्त्रा प्रयुज्यमान: श्रुतिवर्त्तिनीमवतीर्ण: सत्ये अनृते वा, समन्विते असमन्विते वा, सफले निष्फले वा, सिद्धे साध्ये वा; वस्तुनि प्रतिपत्तिमुत्पादयतीति तावदेवास्य स्वाभाविकं रूपम्। अयं पुन: प्रदीपाच्छब्दस्य विशेष:-यदसौ संकेतव्युत्प- त्तिमपेक्षमाण: पदार्थप्रतीतिमुपजनयति, प्रदीपस्तु तन्निरपेक्ष:। यथाऽर्थत्वाऽयथार्थत्वे- सत्यार्थत्वाऽसत्यार्थत्वे पुन: प्रतिपाद- कनराधिकरणशुद्धत्वाऽशुद्धत्वे अनुसरत:; पुरुषगुणदोषापेक्षे इत्यर्थ:। तथाहि-सम्यग्दर्शिनि शुचौ पुरुषे वक्तरि यथार्था शाब्दी प्रतीति: अन्यथा तु मिथ्यार्थेति। स्वाभाविक तु याथार्थ्ये मिथ्यार्थत्वे चाऽस्या: स्वीक्रियमाणे विप्रतारकेतरपुरुषप्रयुक्त- वाक्येषु व्यभिचाराऽव्यभि-चारनियमो न भवेत्। पुरुषस्य च करुणादयो गुणा, द्वेषादयो दोषा: प्रतीता एव। तत्र च यदि पुरुषगुणानां प्रामाण्यहेतुत्वं नाभिमन्यते जैमिनीयैस्तर्हि दोषा-णामप्यप्रामाण्यनिमित्तता मा भूत्। दोषप्रशमनचरितार्था एव पुरुषगुणा:, प्रामाण्यहेतवस्तु न भवन्तीत्यत्र च कोशपानमेव शरणं श्रोत्रियाणामिति। रत्ना० ४ परि०।

(१९) (शब्दाऽर्थयोर्वाच्यवाचक भाव एव सम्बन्ध: इति 'णिद्देस' शब्दे चतुर्थभागे १५३० विशेषावश्यकगाथाव्याख्या-वसरेवक्ष्यते) संबन्धस्त्वभिधेयेन सह वाच्यवाचकभावलक्षण:-शास्त्रस्यावश्यंभावी, इत्यनुक्तोऽपि अर्थात् गम्यते, इति संबन्धरहितत्वाऽऽशङ्कानुत्थानोपहतैवेति। रत्ना० १ परि० १ सूत्रटी०।

(सम्मतितर्क- स्याद्वादमञ्जरी- रत्नाकरावतारिकादिग्रन्थेभ्यो विशेषोऽवगन्तव्य:)। (शब्दस्य पौद्गलिकत्वं नाऽऽकाश-गुणत्वमिति 'सद्द शब्दे७ सप्तमे भागे दर्शयिष्यते)

(२०) (आगमस्य हेतुवादाऽहेतुवादभेदेन द्वैविध्यम् 'अहेउवाय' शब्दे प्रथमभागे ८९१ पृष्ठे अहेतुवादस्वरूपं, तत्रैव हेतुवादल- क्षणमपि गतम्)

''जीवाऽजीवाऽऽश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्'' (तत्त्वार्थ सू० १-४) इत्युभयवाऽऽदागमप्रतिपाद्यान् भावांस्तथैवा-संकीर्णरूपान् प्रतिपादयन् सैद्धान्तिक: पुरुष:, इतरस्तु तद्विराधक इत्याह-

जो हेउवायपक्ख- म्मि हेउओ आगमे य आगमिओ।
सो स समयपण्णवओ, सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥४५॥

यो हेतुवादाऽऽगमविषयमर्थं हेतुवादाऽऽगमेन, तद्विपरीतागम-विषयं चार्थमागममात्रेण प्रदर्शयति वक्ता स स्वसिद्धान्तस्य- द्वादशाङ्गस्य प्रतिपादनकुशल:, अन्यथाप्रतिपादयँश्च- तदर्थस्य प्रतिपादयि-तुमशक्यत्वात् तत्प्रतिपादके वचसि अनास्थाऽऽदि- दोषमुत्पादयन्-सिद्धान्तविराधको भवति सर्वज्ञप्रणीतागमस्य नि:सारताप्रदर्शनात्, तत्प्रत्यनीको भवतीति यावत्।

तथाहि-पृथिव्यादेर्मनुष्यपर्यन्तस्य षड्विधजीवनिकायस्य जीवत्वमागमेनाऽनुमानादिना च प्रमाणेन सिद्धं तथैव प्रतिपादयन् स्वसमयप्रज्ञापक:, अन्यथा तद्विराधक:। यत: प्रव्यक्तचेतने त्रसनिकाये चैतन्यलक्षणं जीवत्वं स्वसंवेदनाध्यक्षत: स्वात्मनि प्रतीयते, परत्र तु अपरेण-अनुमानत:। वनस्पतिपर्यन्तेषु पृथिव्यादिषु स्थावरेषु त्वनुमानतश्चैतन्यप्रतिपत्ति:। तथाहि- वनस्पतयश्चेतना:, वृक्षायुर्वेदा-भिहितप्रतिनियतकालायुष्क- विशिष्टौषधप्रयोगसंपादितवृद्धिहानि-क्षतभग्नसंरोहणप्रतिनियतवृद्धिषड्भावविकारोत्पादनाशावस्था-नियतविशिष्टशरीरस्निग्धत्वरूक्षत्वविशिष्टदौहृदबालकुमारवृद्धा-वस्थाप्रति- नियतविशिष्टरसवीर्यविपाकप्रतिनियतप्रदेशाहारग्रहणा-दिमत्त्वान्यथानुपपत्ते:, विशिष्टस्त्रीशरीरवदित्याद्यनुमानं भाष्यकृत्प्रभृति-भिर्विस्तरत: प्रतिपादितं तच्चैतन्यप्रसाधक- मित्यनुमानतस्तेषां चैतन्यमात्रं सिध्यति। साधारणप्रत्येक- शरीरत्वादिकस्तु भेद: (जीवविचारगाथा)-

''गूढशिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरगं च छिन्नरुहं।
साहारणं सरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥१२॥''

इत्याद्यागमप्रतिपाद्य एव। जीवलक्षणव्यतिरिक्तलक्षणा-स्त्वजीवा धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गलभेदेन पञ्चविधा:। तत्र पुद्गलास्तिकायव्यति-रिक्तानां स्वतो मूर्त्तिमद्द्रव्यसंबन्धमन्तरेणात्मद्रव्यवदमूर्त्तत्वादनुमा-नप्रत्ययावसेयता। तथाहि- ''गतिस्थित्यवगाहलक्षणं पुद्गलास्तिका-यादिकार्यं'' विशिष्टकारणप्रभवं, विशिष्टकार्यत्वात्, शाल्यङ्कुरादिका-र्यवत्, यश्चासौ कारणविशेष: स धर्माऽधर्माऽऽकाशलक्षणो यथासंख्यमवसेय:। कालस्तु विशिष्टपरापरप्रत्ययादिलिङ्गानुमेय:। पुद्गलास्तिकायस्तु प्रत्यक्षानुमानलक्षणप्रमाणद्वयगम्य: यस्तेषां धर्मादीनां संख्ये- यप्रदेशात्मकत्वादिको विशेषस्तत्प्रदेशानां च सूक्ष्म-सूक्ष्मतरत्वा- दिको विभाग: स:- ''कालो य होइ सुहुमो'' इत्याद्यागमप्रति- पाद्य एव नाऽऽगमनिरपेक्षयुक्त्यवसेय:। एवमाश्रवादिष्वपि तत्त्वेषु युक्त्या आगमगम्येषु युक्तिगम्यमंशं युक्तित एव, आगमगम्यं केवलाऽऽगमत एव प्रतिपादयन् तु स्वसमयप्रज्ञापक:, इतरस्तु तद्विराधक इति प्रज्ञापकलक्षणमवगन्तव्यम्। सम्म० ३ काण्ड।

(२१) आगमस्य सर्वव्यवहारनियामकत्वम्-

आगमात्सर्व एवाऽयं, व्यवहार: स्थितो यत:।
तत्रापि हाठिको यस्तु, हन्ताऽज्ञानां स शेखर:॥२३९॥

आगमाद्- गुरुवचनप्रत्ययरूपात्सर्व एवनिखिलोऽप्ययम्योग-मार्गोपयोगी व्यवहारो हेयोपादेययोर्हानोपादानरूप: स्थित:- प्रतिष्ठितो यत:- यस्मादतीन्द्रियफलत्वात्तस्यातीन्द्रि-

यफलषु चानुष्ठानेषु शास्त्रस्यैव प्रतीतिहेतुत्वात् ततस्तत्राप्यागम- माधीने व्यवहारे किं पुनरितररूपे इत्यपि शब्दार्थः । 'हाठिकः' स्वविकल्पप्रवृत्त्यागमनिरपेक्षत्वेन बलात्कारचारी। यस्तु- यः पुनर्योगी हन्तेति सन्निहितसभ्यामन्त्रणमज्ञानाम्-अबुद्धिमतां स शेखरः- शिरोमणिर्वर्त्ततेऽनुपायप्रवृत्तत्वात्तस्य ।

किंच-

तत्कारी स्यात्स नियमात्, तद्द्वेषी चेति यो जडः ।
आगमाऽर्थे तमुल्लङ्घ्य, तत एव प्रवर्त्तते ॥२४०॥

तत्कारी-तत्करणशीलः स्याद्-भवेत्स नियमादवश्यंभावेन तद्द्वेषी च- स्वयमेव क्रियमाणवस्तुद्वेषवांश्चेत्येतत्तद्रूपः संपद्यते यः-कश्चिज्जडो- मन्दः, आगमार्थे- आगमविहिते चैत्यवन्दनादौ विधातुमिष्टे। तम्- आगममुल्लङ्घ्य- अतिक्रम्य 'तत एव'- आगमादेव प्रवर्त्तते- आगमनिरूपितविधिनिरपेक्षितया आग-मार्थमनुतिष्ठन्नपि न तद्भक्तः । किंतु- तद्द्विष एव द्वेषमन्तरेण तदुल्लङ्घनाभावादिति भावः । यो० बिं०।

(अतीन्द्रियार्थप्रत्यायकस्त्वागम एव)-

''आगमश्चोपपत्तिश्च, संपूर्णं दृष्टिलक्षणम् ।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥१॥
आगमो ह्याप्तवचन-मप्तं दोषक्षयाद्विदुः ।
वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात्'' ॥२॥
दश० ४ अ० । अनु०।

तथा च-

शास्त्रस्यैवावकाशौ च, कुतर्क्काऽऽग्रहतस्ततः ।
शीलवान् योगवानत्र, श्रद्धावाँस्तत्त्वविद्भवेत् ॥१३॥

अत्र- अतीन्द्रियार्थसिद्धौ शास्त्रस्यैवावकाशस्तस्यातीन्द्रियार्थसा- धनसमर्थत्वाच्छुष्कतर्कस्यातथात्वात्, तदुक्तम्- ''गोचरस्त्वागमस्यैव, ततस्तदुपलब्धितः । चन्द्रसूर्योपरागादि- संवाद्यागमदर्शनात्॥१॥'' द्वा० २३ द्वा०। (श्लोकार्थः 'कुतक्क' शब्दे तृतीयभागे ५८५ पृष्ठे करिष्यते)

अस्थानं रूपमन्धस्य, यथा सन्निश्चयं प्रति ।
तथैवातीन्द्रियं वस्तु, छद्मस्थस्यापि तत्त्वतः ॥२५॥
हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं, तत एव कथंचन ।
अत्र तन्निश्चयोऽपि स्या-त्तथाचन्द्रोपरागवत् ॥२६॥

द्वा० १६ द्वा०। (अनयोरर्थः 'इस्सर' शब्देऽस्मिन्नेवभागे विस्तरतः दर्शयिष्यते)

(आगमस्य परलोकादिसाधकत्वम्)-

आगमप्रमाणबलाद्धि सकलमपि परलोकादिपरस्वरूपं यथा- वदनुगम्यन्ते नान्यतस्तेन यदुच्यते प्रज्ञाकरगुप्तेन- ''दीर्घकाल- सुखादृष्टा-विच्छा तत्र कथं भवेत्'' इति तदपास्तमवसेयम् आगतौ दीर्घकालसुखस्य दर्शनात् । न चागमस्य न प्रामाण्यं तदप्रामाण्ये सकलपरलोकानुष्ठानप्रवृत्त्यनुपपत्तेः उपायान्तराऽ- भावात् । नं० ३ गाथाटी०।

शास्त्रमासन्नभव्यस्य, मानमामुष्मिकेविधौ ।
सेव्यं यद्विचिकित्सायां, समाधिप्रतिकूलता ॥३०॥

द्वा० १४ द्वा०। (अस्य श्लोकस्यार्थः 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६३२ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

(२२) धर्ममार्गे चाऽऽगमस्यैव प्रामाण्यम्, कुशीलानामागमाऽ- प्रमाण्यम्)-

जम्हा न धम्ममग्गे, मोत्तूणं आगमं इह पमाणं ।
विज्जइ छउमत्थेणं, तम्हा एत्थेव जइअव्वं ॥१७०७॥

यस्मान्न धर्म्ममार्गे- परलोकगामिनि मुक्त्वा आगममेकं परमार्थत इह प्रमाणं- प्रत्याख्यानादि विद्यते छद्मस्थानां प्राणिनां, तस्मादत्रैवागमे कुग्रहान्विहाय यतितव्यम् । जिज्ञासाऽश्रवणश्रवणानुष्ठाने यत्नः कार्यो नागीतार्थ-जनाचरणपरेण भवितव्यमिति गाथार्थः ।

प्रत्यपायप्रदर्शनद्वारेणैतदेवाह-

सुअबज्जायरणरया, पमाणयंता तहाविहं लोअं ।
मुअणगुरुणो वरागा, पमाणयं नावगच्छंति ॥१७०८॥

श्रुतबाह्याचरणरताः- आगमबाह्यानुष्ठानसक्ताः प्रमाणयन्तः- सन्तः केनचिच्चोदनायां क्रियमाणायां तथाविधं लोकं- श्रुत- बाह्यमेवाऽगीतादिकं, किमित्याहभुवनगुरोः- भगवतस्तीर्थकरस्य वराकास्तेऽप्रमाणतामर्थापत्तिसिद्धां नावगच्छन्ति, तथाहि- यदि ते सूत्रबाह्यस्य कर्त्तारः प्रमाणं भगवांस्तर्हि तद्विरुद्धसूत्रार्थवक्ता अप्रमाणमिति महामिथ्यात्वं बलादापद्यत इति गाथार्थः ।

अत एव प्रक्रमाद्धर्म्मानधिकारिणमाह-

सुत्तेणं चोइओ जो, अण्णं उट्ठिसिअ तण्ण पडिवज्जे।
सो तत्तवायबज्झो, न होइ धम्मंमि अहिगारी॥१७०६॥

सूत्रेण चोदितः- इदमित्थमुक्तम् एवं, यः सत्त्वः अन्यं-प्राणिनं मुदिश्यात्मतुल्यमुदाहरणतया तन्न प्रतिपद्यते। सौत्रमुक्तं, स- एवंभूतः- तत्त्ववादबाह्यः, परलोकमङ्गीकृत्य परमार्थवादबाह्यो, न भवति, धर्म्मे सकलपुरुषार्थहेतावधिकारी सम्यग्विवेकाभा- वादिति गाथार्थः ।

अत्रैव प्रक्रमे किमित्याह-

तीअबहुस्सुयणायं, तक्किरिआदरिसणा कह पमाणं ।
वोच्छिज्जंती अइमा, सुद्धा इह दीसई चेव ॥१७१०॥

तीतबहुश्रुतज्ञातम्, अतीता अप्याचार्या बहुश्रुता एव, तैः कस्मादिदं वन्दनं कायोत्सर्गादि नानुष्ठितमित्येवंभूतंकिमि- त्याह- तत्क्रियादर्शनाद् तीतबहुश्रुतसंबन्धिक्रियादर्शनात्का- रणात्कथं प्रमाणं; नैव प्रमाणं, न ज्ञायते ते कथं वन्दनादिक्रियां कृतवन्त इति । नचेदानींतनसाधु- मात्रगतक्रियानुसारतः ततथातावगम इत्याहव्यवच्छिद्यमाना चेयं क्रिया शुद्धा आगमानुसारिणी इह लोकेसांप्रतमपि दृश्यत एव, कालदोषा- दिति गाथार्थः।

उपसंहरन्नाह-

आगमपरतंतेहिं, तम्हा णिच्चं पि सिद्धिकंखीहिं ।
सव्वमणुट्ठाणं खलु, कायव्वं अप्पमत्तेहिं ॥१७११॥

यस्मादेवम्-आगमपरतन्त्रैः- सिद्धान्तायत्तैः तस्मान्नित्यमपिसर्वका- लमपि सिद्धिकाङ्क्षिभि-र्भव्यसत्त्वैः सर्वमनुष्ठानं खलु वन्दनादि कर्त्तव्यमप्रमत्तैः- प्रमादरहितैरिति गाथार्थः । पं० व०।

मोक्षमार्गे चाऽऽगमस्यैव प्रामाण्यम्-

जम्हा न मोक्खमग्गे, मोत्तूणं आगमं इह प्रमाणं।
विज्जइ छउमत्थाणं, तम्हा तत्थेव जइयव्वं ॥३७॥

यस्मान्न नैव मोक्षमार्गे- मोक्षे साध्ये; मोक्षागमशास्त्रं परित्य- ज्येत्यर्थः 'इहे' ति-धर्मविचारे प्रमाणम्-आलम्बनमित्यर्थः, विद्यते छद्मस्थानाम्, अतिशयवतां हि कथं चेत्सेवातिशय- वशात्प्रवर्त्तमानानामपि निर्जरालाभ एवावसीयते, तद्वहितैः पुनः सर्वथा शास्त्रमेव प्रमाणीकर्त्तव्यम्। तस्मात्तत्रैव यतितव्यम्- उद्यमः कार्य इति गाथार्थः। दर्श० ५ तत्त्व।

''धर्म्माऽधर्मव्यवस्थायां, शास्त्रमेव नियामकम्।
तदुक्तासेवनाद्धर्म-स्त्वधर्मस्तद्विपर्ययात् ॥१॥''

षो० टी० १ विव०।

(आगमावलम्बनस्यैवैहिकामुष्मिकफलसिद्धिहेतुत्वम्) धर्मार्थिना-धर्म्ममार्गे प्रवर्त्तमानेन आगमावलम्बनेनैव प्रवर्त्तितव्यं तस्यैवैकस्यै-हिकामुष्मिकफलसिद्धिहेतुतयोपादेयत्वात् अन्यस्य पुरुषमात्रस्यावलम्बने तदुच्छेदः स्यादित्येतद्दर्शयन्निदमाह-

किं वा देइ वराओ, मणुओ सुट्ठु वि धणी वि भत्तो वि।
आणाअइक्कमं पुण, तयं पि अणंतदुहहेऊ ॥८२॥

किं वा न किंचिद्ददाति- प्रयच्छति वराकः- अत्यन्तशक्तिरहितो मनुजो-नरः सुष्ठ्वपि-अतिशयेन धन्यपि- धान्यादिसंपदुपेतः भक्तोऽपिभक्तपानवस्त्रपात्रादिदानसमर्थ एवं स्यात्; पुनः सुगतेः, आज्ञातिक्रमणंभगवदाज्ञोल्लङ्घनं पुनः परापेक्षयापि तनुकम-पिस्वल्पमपि आस्तां तावद् बह्वित्यपिशब्दार्थः, अनन्तदुखहेतुः; अनन्तसंसारनिबन्धनमित्यर्थः, अपेक्षया सर्वविदाज्ञांल्लङ्घनं क्रियते स हि आहारादिदानमात्र एव समर्थः न पुनः कुगति-रक्षाक्षमः, अतः किं तदपेक्षया भगवदाज्ञोल्लङ्घनेनान्त-संसारनिवर्त्तनेनेति गाथार्थः। दर्श० ४ तत्त्व।

(युक्त्युपपन्नस्यैव सदागमत्वम्) नाऽऽगममात्रमेऽर्थप्रति-पत्ति हेतुर्भवतीति दर्शयन्नाह-

जुत्तीए अविरुद्धो, सदागमो साऽवि तयविरुद्ध त्ति।
इय अण्णोण्णाऽणुगयं, उभयं पडिवत्तिहेउ त्ति ॥४५॥

व्याख्या-युक्त्या-उपपत्त्याऽविरुद्धः-अबाधितः सदागमः-सत्सिद्धान्तो भवति। साऽपियुक्तिरपि, तदविरुद्धा-सिद्धान्ता-ऽविरुद्धा स्यात्तदन्या त्वयुक्तिरेव, इतिः वाक्यार्थसमाप्तौ, इति- एवम् अन्योऽन्यानुगतं- परस्परानुयायि, उभयम्- युक्ति- सदागमरूपं द्वयं प्रतिपत्तिहेतुः- अर्थप्रतीतिकारणम, इतिशब्दः समाप्तौ, इति गाथार्थः। पञ्चा० १८ विव०।

वचनाऽऽराधनया खलु, धर्म्मस्तद्बाधया त्वधर्म्म इति।
इदमत्र धर्म्मगुह्यं, सर्वस्वं चैतदेवाऽस्य ॥१२॥

'वचने' त्यादि वचनाराधनया- आगमाराधनयैव खलुशब्द एवकारार्थः। धर्म्मः-श्रुतचारित्ररूपः संपद्यते। षो० २ विव०। ('धम्मदेसणा' शब्दे चतुर्थभागेऽत्र २७२२ पृष्ठे विशेष- व्याख्यानम्)

(२३) जिनाऽऽगामस्यैव सत्यत्वम्-

एकाऽप्यनाद्याखिलतत्त्वरूपा,
जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः।
तत्राऽप्यसत्यं त्यज सत्यमङ्गी,
कुरु स्वयं स्वीयहिताऽभिलाषिन् ॥१॥

'एकेति' एकापि जिनेशगीः- अर्हद्वाणी अर्हन्मुखान्निर्गच्छमाना अद्वितीया यथाभाषितं तथाश्रूयमाणा तथा अनाद्या-आदिरहिता एकेन तीर्थकृता यदुपदिष्टं तदनेकेषां पूर्वपूर्वतरतीर्थकृतामपि तथैव निरुप्यमाणत्वात् आदरहिता। पुनः कीदृशी- अखिलतत्त्वरूपा-समस्ततत्त्वमपि वितर्कैः- विचारैर्विस्तरं- बहुभेदतां प्राप्य बहुप्रकारैर्बहुधा विस्तृता, यतो दिग्वाससां मतमपि जिनमतं धृत्वा एतादृशनयानाम् अनेकाकारतां प्रवर्त्तयति, अतस्तन्मतेऽपि यद्विमृश्यमानं सत्यं जायते तदेवाऽङ्गीकुरु, यच्चाऽसत्यं तत्सर्वमपि त्यज, स्वयम्- आत्मना हेस्वीयहिताभिलाषिन्!- निजहितकाङ्क्षिन्! शब्दान्तरत्वेन तन्मतमपि न द्वेषविषयीकर्त्तव्यं सर्वमपि अर्थैकत्वविवक्षया असमंज समेवेति। द्रव्या० १ अध्या०।

सेवं भंते सेवं भंते ! ''तमेव सच्चं णिस्संकं, जं जिणेहिं पवेइयं''। हंता जंबू !- ''तमेव सच्चं निस्संकं, जं जिणेहिं पवेइयं''। कहं आगासमंडलाओ निवडिआ इव भासह। अम्मापिऊणं संजोए संताणे भवति। किं अन्नहा वि भवति पवेइयं हंता जंबू ! ''तमेव सच्चं निरसंकं जं जिणेहिं पवेइयं''। अंग०।

से णूणं भंते !- ''तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं।'' हंता गोयमा !- तमेव सच्चं नीसंकं, एवं ०जाव पुरिसक्कार-परक्कमेइ वा। (सूत्र-३७)। भ० १ श० ३ उ०।

(जिनागमस्य सिद्धत्वम्)-

''जिणवयण सिद्धं'' ४९ इत्यादिगाथया 'धम्म' शब्दे चतुर्थ- भागे २६८४ पृष्ठे प्रतिपादयिष्यते।

(परप्रवादानां मत्सरित्वम् जिनागमस्यामत्सरित्वम्)

अधुना परदर्शनानां परस्परविरुद्धार्थसमर्थकतया मत्सरित्वं प्रकाशयन् सर्वज्ञोपज्ञसिद्धान्तस्यान्यान्यानुगतसर्वनयमयतया मात्सर्याभाव-माविर्भावयति-

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्,
यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयाऽनशेषानविशेषमिच्छन्,
न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥३०॥

स्या० ३० श्लोक०। (श्लोकार्थः 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८९६ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

(२४) (जिनागमप्रशंसा) जिनागमो हि कुशास्त्रजनितसंस्कार विषसमुच्छेदनमन्त्रायमाणो धर्म्माऽधर्म्मकृत्याऽकृत्यभक्ष्याऽभक्ष्यपेयाऽ-पयगम्याऽगम्यसाराऽसारादिविवेचनाहेतुः सन्तमसे दीप इव, समुद्र द्वीपमिव, मेरौ कल्पतरुरिव, संसारे दुरापः, जिनादयोऽप्येतत्प्रामाण्यादेव निश्चीयन्ते यदूचुः स्तुतिषु श्रीहेमसूरयः-

''यदीयसम्यक्त्वबलात्प्रतीमो,
भवादृशानां परमाप्तभावम्।
कुद्यासनापाशविनाशनाय,
नमोऽस्तु तस्मै जिनशासनाय ॥१॥''

जिनागमबहुमानिनां च देवगुरुधर्मादयोऽपि बहुमता भवन्ति। किंच-केवलज्ञानादपि जिनागम एव प्रमाण्येनातिरिच्यते, यदाहुः- ''ओहेसु उवउत्तो, सुअनाणी जइ हु गिण्हइ असुद्धं। तं केवली वि भुंजइ, अपमाणसुअं भवे इहरा॥१॥'' एकमपि च जिनागमवचनं भविनां भवनाशहेतुः, यदाहुः- ''एकमपि च जिनवचनाद्यस्मान्निर्वाहकं पदं भवति। श्रूयन्ते चानन्ताः, सामायिकमात्रपदसिद्धाः ॥१॥'' यद्यपि च मिथ्यादृष्टिभ्य आतुरेभ्य इव पथ्याऽन्नं न रोचते जिनवचनं तथापि नान्यत्स्वर्गा-पवर्गमार्गप्रकाशनसमर्थमिति सम्यग्दृष्टिभिस्तदादरेण श्रद्धातव्यं, यतः कल्याणभागिन एव जिनवचनं भावतो भावयन्ति, इतरेषां तु कर्णशूलकारितेनामृतमपि विषायते, यदि चेदं जिनवचनं नाभविष्यत्तदा धर्म्माऽधर्म्मव्यवस्थाशून्ये भवान्धकारे भुवनमपतिष्यत्, यथा च-''हरीतकीं भक्षयेद्विरेककामः'' इति वचनाद्धरीतकीभक्षणप्रभवविरेकलक्षणेन प्रत्ययेन सकलस्याप्यायुर्वेदस्य प्रामाण्यमवसीयते, तथाऽष्टाङ्गनिमित्तकेवलिकाचन्द्रार्कग्रहचारधातुवादरसरसायनादिभिरप्यागमोपदिष्टैर्दृष्टार्थवाक्यानां प्रामाण्यनिश्चये नाऽदृष्टार्थानामपि वाक्यानां प्रामाण्यं मन्दधीभिर्निश्चेतव्यम्। ध० २ अधि०। (जिनागमलेखनफलम् 'पोत्थग' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यते) (जिनागमलिखितपुस्तकानां दानफलम् 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे वर्णयिष्यते) ''आगमं आयरंतेणं, अत्तणो हियकंखिणो। तित्थनाहो सयंबुद्धो सव्वे ते बहुमन्निया ॥१॥'' अष्ट० २४ अष्ट०। ''आगम चक्खू साहू'' अष्ट० २४ अष्ट०।

आगम्यते परिच्छिद्यतेऽर्थोऽनेनेत्यागमः। केवलमनःपर्य्याया-वधिपूर्वचतुर्दशकदशकनवकरूपे व्यवहारभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ०। व्यवहरता चास्य व्यवहारहेतुत्वाद्। पञ्चा० १६ विव०। तन्निबन्धनत्वात् ज्ञानविशेषोऽपि व्यवहारः। स्था० ५ ठा० २ उ०। (विस्तरत आगमव्यवहारस्य वक्तव्यता 'आगमववहार' शब्दोऽस्मिन्नेव भागे आगमिष्यति)। प्राप्तौ, दश० १ अ०। (लाभे,) स्था० २ ठा० ४ उ०।

(२५) आगमस्याऽर्थान्तराणि-

आतो त्ति आगमो त्ति य, लाभो त्ति य होंति एगट्ठा ॥९॥

आय इति, आगम इति च, लाभ इति च, भवन्त्येकार्थिकाः। उत्त० पाइ० १ अ०। ''आगमं'' लाभम्। लाभे, बृ० ३ उ०। पुरुषद्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। आगच्छति- प्रकृतिप्रत्ययावनुपहृत्य उत्पद्यते कर्त्तरि संज्ञायां घः। व्याकरणोक्ते प्रकृतिप्रत्ययानुपघातकेऽट् इट् इत्यादौ शब्दे, *आगमादेशयोर्मध्ये बलीयानागमो विधिः*'' व्याकरणान्तर- परिभाषा ''यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते'' ''आगमशास्त्रमनित्यम्'' इति च परिभा०। ''आगमाः आद्युदात्ताः'' ''आगमा अविद्यमानवद्भवन्तीति'', च। का वा। वाच०।

(आगमनिष्पन्नं नामाधिकृत्याह)-

से किं तं आगमेणं आगमेणं पद्मानि पयांसि कुण्डानिसेत्तं आगमेणं। (सूत्र-१२५×)

आगच्छतीत्यागमः न्वागमादिस्तेन निष्पन्नं नाम यथा 'पद्मानी' त्यादि, ''धुट्स्वराद् धुटि नुः'' (का० रु० २४) इत्येननात्र न्वागमस्य विधानाद् उपलक्षणमात्रं चेदं, संस्कार उपस्कार इत्यादेरपि सुडाद्यागमनिष्पन्नत्वदिति। अनु०। ('सत्थ' शब्दे सप्तमभागे विस्तारो द्रष्टव्यः)

आगमकुसल- त्रि० (आगमकुशल) आगमनिपुणे, आतु०। ''आगमकुसला सदाररया ॥४६४॥'' आगमः- श्रुतिस्मृत्यादि- रूपस्तस्मिन् कुशलावागमकुशलाविति। उत्त० २५ अ०।

आगमण- न० (आगमन)। आगम् भावे ल्युट् किञ्चिद्देशावधिकविभाजन-क्रियायामागतौ,। वाच०। गमनं स्वस्थानादन्यत्र यानम्। आगमनश्च तद्व्यत्ययः। ध० ३ अधि०। अन्यतः स्थानात् प्रज्ञापकसम्मुखं यदागम्यते तदागमनम्। बृ० १ उ० ३ प्रक०। व्य०। उत्पत्तौ। वाच०। प्राप्तौ, वाच०।

आगमणगहियविणिच्छय- त्रि० (आगमनगृहीतविनिश्चय) आगमने गृहीतः- कृतो विनिश्चयो- निर्णयो येन स तथा। आगमनाय कृतनिश्चये, भ० ९ श० ३३ उ०।

आगमणगिह- न० (आगमनगृह)। पथिकादीनामागमनेनोपेतं, तदर्थं वा गृहमागमनगृहम्। बृ० २ उ०। सभाप्रपादौ, सूत्र०। ''आगमणगिहंसि वा'' (सूत्र-१९१×) स्था० ३ ठा० ४ उ०। आगमनगृहमागन्तुकागारं यत्र कार्पटिकादय आगत्य वसन्तीति। पञ्चा० १८ विव०।

(आगमनगृहं व्याचष्टे)-

**आगंतुऽगारत्थजणो जहिं तु,
संठाइ जं वाऽऽगमणंमि तेसिं।
तं आगमोकं तु विदू वयंति,
सभा-पवा-देउलमाइयं वा ॥१९३॥**

आगन्तुकः- पथिकः 'अगारस्थजनो' यत्र-आगत्य संतिष्ठते यच्च तेषां पथिकादीनाम् आगमने वर्त्तते तदागमौकः- आगमनगृहं विद्वांसः-श्रुतधरा वदन्ति, तच्च सभा वा, प्रपा वा, देवकुलादिकं वा मन्तव्यम्। बृ० २ उ०। स्था०। (अत्र च निवसि दोषा 'वसहि' शब्दे षष्ठभागे वर्णयिष्यते।)

आगमणपह- पुं० (आगमनपथ) आगमनमार्गे, नि० चू०। आगम-णपहंसिजंणं पहेण पक्खियादिसु आगच्छंति तंमि पहे। नि० चू० ४ उ०। (निर्ग्रन्थीनामागमनपथे दण्डादिस्थापने दोषा 'उवहि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शयिष्यते)

आगमणागमणपविभत्ति- न० (आगमनागमनप्रविभक्ति) नाट्य-विधिविशेषे, रा०। ''*आगमणागमणपविभत्तिणामं दिव्वं णट्टविहिं उवंदसेति*'' (सूत्र-×) रा०। चन्द्रागमनप्रविभक्तियुक्तमागमन-प्रविभक्तिनाम सप्तमं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति। रा०।

आगमणीइ- स्त्री० (आगमनीति) आगमन्यायें, पञ्चा०। ''एसा पवयणणीई'' (सूत्र-१४) एषा- अनन्तरोक्ता प्रव-

चननीतिः-आगमन्यायो वर्त्तते । पञ्चा० ९ विव०। सिद्धान्तभणिताऽऽचारे, ''मग्गो आगमणीई'' (८०+)। आगमनीतिः- सिद्धान्तभणिताचारः । ध० र० ३ अधि० १ लक्ष०। ध०। (तस्य मार्गत्वम् 'मग्ग' शब्दे ६ षष्ठे भागे प्रतिपादयिष्यते)

आगमतंत- त्रि० (आगमतन्त्र) आगमपरतन्त्रे, आगमानुसारिणि, षो०।

आगमतन्त्रः सततं, तद्वद्वक्त्यादिलिङ्गसंसिद्धः ।
चेष्टायां तत्स्मृतिमान्, शस्तः खल्वाशयविशिष्टः ॥१३॥

आगमतन्त्रः- आगमपरतन्त्रः; आगमानुसारी। षो० ७ विव०। (अत्र विशेषव्याख्या 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२६९ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

आगमतत्त- न० (आगमतत्त्व) आगमपरमार्थे, षो०।

आगमतत्त्वं तु बुधः, परीक्षत सर्वयत्नेन ॥२॥

आगमतत्त्वं तु- आगमपरमार्थमिदं पर्यवरूपं बुधो- विशिष्टविवेकसंपन्नः परीक्षते-समीचीनमवलोकयति सर्वयत्नेन- सर्वादरेण धर्म्माऽधर्म्मव्यवस्थाया आगमनिबन्धनत्वात् यत उक्तम् ''धर्म्माऽधर्म्मव्यवस्थायां, शास्त्रमेव नियामकम्। तदुक्त-सेवनाद्धर्म्मस्त्वधर्म्मस्तद्विपर्यात्॥१॥'' षो० १ विव०। (अत्रार्थे 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६९४ पृष्ठे विशेषो दर्शयिष्यते)

आगमदिट्ठि- स्त्री० (आगमदृष्टि) आगमः- आप्तवचनं स एव दृष्टिर्हिताऽहितपदार्थप्रकाशकत्वादागमदृष्टिः। आप्तवचना- त्मिकायां दृष्टौ, दर्श० ३ तत्त्व।

आगमदिट्ठिदिट्ठसुन्नायमग्ग- पुं० (आगमदृष्टिदृष्टसुज्ञातमार्ग) आगमः- आप्तवचनं स एव दृष्टिर्हिताऽहितप्रकाशकत्वात् आगमदृष्टिस्तया दृष्टम्- अवलोकितमागमदृष्टिदृष्टं तेन शोभन-प्रकारेण ज्ञातो मार्गो ज्ञानादिको यैस्ते आगमदृष्टिदृष्टसुज्ञात-मार्गाः। आगमदृष्टया सम्यगवलोकित-दर्शनादिके, दर्श० ३ तत्त्व।

आगमपरतंत- त्रि० (आगमपरतन्त्र) सिद्धान्तपरतन्त्रे, पं० व०।

एत्थ वि मूलं णेअं, एगंतेणेव भव्वसत्तेहिं ।
सिद्धाइभावओ खलु, आगमपरतंतया णवरं ॥१७०६॥

अत्रापि-आराधनायत्ने मूलं-कारणं ज्ञेयमेकान्तेनैव भव्य- सत्त्वैर्भव्यप्राणिभिः, किमित्यत्राहश्रद्धादिभावतः खलुश्रद्धादि- भावादेव कारणादागमपरतन्त्रता-सिद्धान्तपारतन्त्र्यं नवरं, नान्यन्मूलमिति गाथार्थः । पं० व० ५ द्वार।

आगमपह- पुं० (आगमपथ) लाभमार्गे, स्था० २ ठा० ४ उ०।

आगमबलिय- पुं० (आगमबलिक) आगमज्ञानविशेषवति केवल्यादिके, भ०। ''आगमबलिया समणा णिग्गंथा'' (सूत्र- ३४०+) आगमबलिका उक्तज्ञानविशेषबलवन्तः श्रमणानिर्ग्रन्थाः केवलिप्रभृतयः। भ० ८ श० ८ उ०।

आगममलारहियय- पुं० (आगममलारहृदय) आगमार्थप्रतिपत्त्यसमर्थहृदये, (आगमार्थकुण्ठितबुद्धौ) सम्म०।

समयपरमत्थवित्थर- विहाडजणपज्जुवासणसयण्हो ।
आगममलारहियओ, जह होति तमत्थमन्नेसु ॥२॥

सम्म० १ काण्ड ।

अत्र च- 'आगममलारहृदय इत्यनुवादेन समयपरमार्थविस्तरहाटजनपर्युपासनसकर्णो यथा भवति तमर्थमुन्नेष्ये' इति- विधिपरः पदघटना कर्त्तव्या। पदार्थस्तु मलमिवारा- प्राजनकविभागो यस्यासौ मलारो-गौर्गली आगमे तद्वत्कुण्ठं हृदयं यस्य तदर्थप्रतिपत्त्यसामर्थ्यादसौ तथा मन्दधीः, सम्यग् ईयन्ते- परिच्छिद्यन्तेऽनेनार्था इति समयः-आगमस्तस्य परमः- अकल्पितश्चासावर्थः समयपरमार्थस्तस्य विस्तरो-रचनाविशेषः शब्दार्थयोश्च भेदेऽपि पारमार्थिकसंबन्धप्रतिपादनायाऽभेदविवक्षया 'प्रथने वावशब्दे (पाणि०।३।३।३३।) इति घञ् न कृतः तस्य विहाट इतिदीप्यमानान् श्रोतृबुद्धौ प्रकाशमानानर्थान् दीपयति-प्रकाशयति विहाटश्चासौ जनश्चचतुर्दशपूर्व-विदादिलोकः। तस्य पर्युपासनं-'कारणे कार्योपचारात्' सेवाजनिततद्व्याख्यानम्। तत्र सह कर्णाभ्यां वर्त्तत इति सकर्णः तद्व्याख्यातार्थावधारणसमर्थः। यथा इतियेन प्रकारेण भवति तं तथाभूतमर्थम् उन्नेष्ये-लेशतः प्रतिपादयिष्ये। यथाभूतेनार्थेन प्रतिपादितेनातिकुण्ठधीरपि श्रोतृजनो विशिष्टागम-व्याख्या-तृप्रतिपादितार्थावधारणपटुः संपद्यते । तमर्थमनेन प्रकरणेन प्रतिपादयिष्यामीति यावत्। सम्म० १ काण्ड।

आगममाण-त्रि० (आगमयत्) आपादयति, ''लाघवियं आगम-माणे'' (सूत्र-२१३+)। लाघविकमात्मानमागमयन्आपादयन्। आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ०। आगमयति, (अवबुध्यमाने) ''लाघवं आगममाणा'' (१८५×)। आगमयन्- अवगमयन् अवबुध्यमानः। आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

आगमलोयणीइ- स्त्री० (आगमलोकनीति) जिनप्रवचनन्याय-लौकिन्याययोः, षो०।

जिणबिंबपइट्ठाए, विहिमागमलोयणीतीए ॥१॥

जिनबिम्बप्रतिष्ठायाः प्रतीताय विधिं-विधानमागमलोक-नीत्या-जिनप्रवचनन्यायेन; लौकिकन्यायेन चेत्यर्थः । लोक- ग्रहणेन चेदं दर्शयति- लोकनीतरपि क्वचिज्जिनमत-विरुद्धाश्रयणीया अत एव प्रासादादिलक्षण तदुक्तमप्याश्रीयत इति गाथार्थः । पञ्चा० ८ विव०।

आगमवयणा- ना० (आगमवचन) आर्षवचने, षो०।

सर्वज्ञवचनमागम- वचनं यत् परिणते ततस्तस्मिन् ।
नासुलभमिदं सर्व, ह्युभयमलपरिक्षयात् पुंसाम् ॥११॥

सर्वज्ञवचनम्- आगमवचनं यद्-यस्मात् परिणाते ततस्तस्मिन्-आगमवचने नासुलभमिदं-न दुर्लभमिदं किंतु सुलभमेव भवति सर्वं हिपूर्वोक्तमुभयमलपरिक्षयात् क्रियामलभावमलपरिक्षयात् पुंसां पुरुषाणाम् । षो० ५ विव०।

आगमवयणपरिणइ- स्त्री० (आगमवचनपरिणति) आगमवच- नस्य विषयविभागेन चेतसि व्यवस्थितौ, षो०

किमित्यागमवचनपरिणामः प्रशस्यत इत्याह-

आगमवचनपरिणति-र्भवरोगसदौषधं यदनपायम् ।

तदिह परः सद्बोधः, सदनुष्ठानस्य हेतुरिति॥९॥

आगमवचनपरिणतिर्यथावत् तत्प्रकाशरूपा भवरोगसदौषधं-भवरोगस्य-संसारामयस्य सदौषधं तदुच्छेदकारित्वेन यद्- यस्मात्, अनपायम्- अपायरहितं-निर्दोषं वर्त्तते तदिह परः सद्बोधस्तच्च भवरोगसदौषधम्-आगमवचनपरिणत्याख्यं, परःप्रधानः सद्बोधः-सम्यग्ज्ञानं वर्त्तते सदनुष्ठानस्य- सुन्दरानुष्ठानस्य हेतुः- कारणमिति कृत्वा। षो० ५ विव०।

आगमववहार- पुं० (आगमव्यवहार) आ-मर्य्यादाऽ-भिविधिभ्यां गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्तेऽर्था येनासावागमः केवलमनःपर्य्यायावधिचतुर्दशदशनवपूर्वलक्षण व्यवहारभेदे, पञ्चा०। व्यवहारता चास्य व्यवहारहेतुत्वाद् । पञ्चा० १६ विव०। स्था०। ध०। (एतेषां च यथा आगमत्वं तथा 'आगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्)

आगमव्यवहारभेदाः-

आगमतो ववहारो, सुणह जहा धीरपुरिसपन्नत्तो।
पच्चक्खो य परोक्खो, सोऽवि य दुविहो मुणेयव्वो॥२०१॥

तत्र-आगमतो व्यवहारो यथा धीरपुरुषैः प्रज्ञप्तस्तथा शृणुत, स-आगमतो व्यवहारो द्विविधो ज्ञातव्यः, तद्यथाप्रत्यक्षः, परोक्षश्च।

पच्चक्खो वि य दुविहो, इंदियजो चेव नो व इंदियजो।
इंदियपच्चक्खो वि य, पंचसु विसएसु नेयव्वो॥२०२॥

प्रत्यक्षोऽपि द्विविधः, तद्यथा-इन्द्रियजो, नोइन्द्रियजश्च। तत्र इन्द्रियजः प्रत्यक्षः पञ्चसु रूपादिषु विषयेषु ज्ञातव्यः।

नोइंदियपच्चक्खो, ववहारो सो समासतो तिविहो।
ओहिमणपज्जवेया, केवलनाणे य पच्चक्खे॥२०३॥

यस्तु-नोइन्द्रियजः प्रत्यक्षो व्यवहारः स समासतस्त्रिविधः, तद्यथा-अवधिप्रत्यक्षं, मनःपर्यवप्रत्यक्ष, केवलज्ञानप्रत्यक्षम्।

तत्राऽवधिप्रत्यक्षमाह-

ओही गुणपच्चइए, जे वट्टंती सुयंगवी धीरा।
ओहिविसयनाणत्थे, जाणसु ववहारसोहिकरे॥२०४॥

अवधिर्द्विधा-भवप्रत्ययजो, गुणप्रत्ययजश्च। तत्र संयतानां गुणप्रत्ययज एव; न भवप्रत्ययजः, तत आह-अवधौगुण- प्रत्यये ये वर्त्तन्ते श्रुताङ्गविदो धीरास्तान् अवधिविषयज्ञानस्थान् जानीत व्यवहारशोधिकरान्-शुद्धव्यवहारकारिणः।

उज्जुमती विउलमती, जे वट्टंती सुयंगवी धीरा।
मणपज्जवनाणत्थे, जाणसु ववहारसोहिकरे॥२०५॥

ये ऋजुमतौ विपुलमतौ वा मनःपर्यवज्ञाने श्रुताङ्गविदो धीरा वर्त्तन्ते तान् मनःपर्यवज्ञानस्थान् जानीत व्यवहारशोधिकरान्-शुद्धव्यवहारकारिणः।

आदिगरा धम्माणं, चरित्तवरनाणदंसणसमग्गा।
सव्वत्तगनाणेणं, ववहारं ववहरंति जिणा॥२०६॥

ये धर्म्मयोः- श्रुतधर्म्मस्य चारित्रधर्म्मस्य चादिकराः- तत्प्रथम- तया प्रवर्त्तनशीलाश्चारित्रवरज्ञानदर्शनसमग्रास्ते जिनाः सर्वत्र-ग्ज्ञानेन व्यवहारं व्यवहरन्ति उक्तः प्रत्यक्षः।

संप्रति परोक्षमाह-

पच्चक्खागमसरिसो, होति परोक्खोऽवि आगमो जस्स।
चंदमुही विव सो वि हु, आगमौ ववहारवं होइ॥२०७॥

यद्यपि पूर्वादिकं श्रुतं तथापि यस्याऽऽगमश्चतुर्दशपूर्वादिकः परोक्षोऽपि प्रत्यक्षाऽऽगमसदृशः। प्रत्यक्षावध्यादितुल्यरूपो भवति सोऽप्यागमव्यवहारवान् वक्तव्यो भवति। यथा चन्द्रसदृशमुखी कन्या चन्द्रमुखीति, एतदुक्तं भवति-यद्यपि पूर्वाणि श्रुतं नाऽऽगमतुल्यानीति (तदपि) तैर्व्यवहरन् आगम-व्यवहारवानुच्यते इति। व्य० १० उ०। (आगमस्य व्याख्यानम् 'आगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे प्राग् गतम्)

आगमभेदाः-

पारोक्खं ववहारं, आगमतो सुयधरा ववहरंति।
चोद्दस दस पुव्वधरा, नवपुव्विय गंधहत्थी य॥२०९॥

ये श्रुतधराश्चतुर्दशपूर्वधरा दशपूर्वधरा नवपूर्विणो वा गन्ध-हस्तिनो-गन्धहस्तिसमानाः ते आगमतः परोक्षं व्यवहारं व्यवहरन्ति।

अत्राक्षेपपरिहारावभिधित्सुराह-

किह आगमववहारी, जम्हा जीवाऽऽदयो पयत्था उ।
उवलद्धा तेहिं तु, सव्वेहिं नयविगप्पेहि॥२१०॥

कथं-केन प्रकारेण साक्षात् श्रुतेन व्यवहरन्तः आगमव्यवहा- रिणः प्रोच्यन्ते, सूरिराह-यस्मात् जीवादयः पदार्थास्तैः चतुर्दश-पूर्वधरादिभिः सर्वैः-नयविकल्पैः- नैगमादिनयभेदैरुपलब्धाः।

एतदेव सविशेषमाह-

जह केवली वि जाणइ, दव्वं खेत्तं च कालभावं वा।
तह चउलक्खणमेवं, सुयनाणी चेव जाणाति॥२११॥

यथा केवली केवलज्ञानेन सर्वं द्रव्यं सर्वं क्षेत्रं सर्वे कालं सर्वं भावं च सर्वात्मना स्वपरपर्यायभेदभिन्नं जानाति। एवं श्रुतज्ञान्यपि चतुर्लक्षणं द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपं श्रुतबलेन जानाति।

तत एतेऽप्यागमव्यवहारिण उच्यन्ते, एतदेवं प्रस्तुतं प्रायश्चित्त-शुद्ध्यधिकारमधिकृत्य योजयति-

पणगं मासविवड्ढी, मासगहाणी य पणगहाणी य।
एगाऽहे पंचाऽहं, पंचाहे चेव एगाऽहं॥२१२॥

रागद्दोसविवड्ढिं, हाणिं वा नाउं देंति पच्चक्खी।
चोद्दसपुव्वादी वि हु, तह नाउं देंति हीणऽहियं॥२१३॥

यथा प्रत्यक्षिणः प्रत्यक्षागमज्ञानिनस्तुल्येऽप्यपराधे पञ्चक-पञ्चकयोग्ये एकस्य पञ्चकं ददति। अपरस्यरागद्वेषविवृद्धिमुपलभ्य मासेन मासाभ्यां मासैर्वा वृद्धिं प्रयच्छन्ति। उपलक्षणमेतत्-मूलम् अनवस्थाप्यं पाराञ्चितं वा प्रयच्छन्ति। तथा तुल्येऽपि पाराञ्चित-योग्याऽपराधे एकस्य पाराञ्चितम्, अपरस्य अनवस्थाप्यं मूलं छेदं मासेन मासाभ्यां मासैर्वा हान्या तपो वा चशब्दात्पञ्चकं यावदन्ते नमस्कारसहितं हा दुष्टु कृतं, हा दुष्टुकारितं, हा दुष्टु अनु-मोदितमित्येवं वैराग्यभावनातो रागद्वेषहानिं भूयसीम्अतिभूय-स्तरामुपलभ्य प्रयच्छन्ति, तथा कस्यचित् मासिकप्रतिसेवना-

यामल्पां राग-द्वेषहानिमुपलभ्य पञ्चकहान्या मासिकं ददति; पञ्चविंशतिं दिनानि ददतीत्यर्थः। तथा एकाहं नाम- अभक्तार्थं प्रतिसेविते पञ्चाहं ददति; पञ्चाहे वा प्रतिसेविते एकाहम्; उपलक्षणत्वाद्वाचाम्लम् एकाशनं पूर्वार्द्धं निर्विकृतं पौरुषीं नमस्कारसहितां वा प्रयच्छन्ति। एवं चतुर्दशपूर्वादयोऽपि 'हु' निश्चितं रागद्वेषहानिवृद्धी उपलभ्य हीनमधिकं वा प्रायश्चित्तं ददति।

अत्र परस्य प्रश्नमुदीरयति-

चोयगपुच्छा पच्च-क्खनाणिणो थोवं कह बहुं दैंति।
दिट्ठंतो वाणियए, जिणचोदसपुव्विए धमए ॥२१४॥

चोदकस्यात्र पृच्छा-प्रत्यक्षज्ञानिनो जिनादयः स्तोकेऽपराधे कथं बहु प्रयच्छन्ति प्रायश्चित्तम् उपलक्षणमेतत् भूयसि वा अपराधे स्तोकम् ? अत्र सूरिराह- दृष्टान्तोऽत्र वणिजा द्रष्टव्यः, तथा भूयः परस्य पृच्छा ?- जिनादयः केवलज्ञानादिवलेन परस्य भावं जानते चतुर्दशपूर्विणस्तु कथं येन स्तोकेऽपि बहु बह्वपि-स्तोकं ददति। सूरिराह- अत्र धमको दृष्टान्तः।

तत्र प्रथमतो वणिग्दृष्टान्तं भावयति-

जं जह मोल्लं रयणं, तं जाणइ रयणवाणितो निउणो।
थोवं तु महल्लस्य वि, कासइ अप्पस्स वि बहुं तु ॥२१५॥

यथा निपुणो रत्नवणिक् यत् रत्नं यथामूल्यं तत्तथा सम्मक् जानाति, ज्ञात्वा च कस्यचित् महतोऽपि रत्नस्य स्तोकं मूल्यं ददाति, कस्यचिदल्पस्याऽप्यद्भुतगुणोपेतस्य बहु।

इमामेव तद्दृष्टान्तभावनां प्रकारान्तरेणाह-

अहवा कायमणिस्स उ, सुमहल्लस्स वि उ कागणी मोल्लं।
वइरस्स उ अप्पस्स वि, मोल्लं होती सयसहस्सं ॥२१६॥

अथवेति- प्रकारान्तरे रत्नपरीक्षको वणिक् काचमणेः सुमहतोऽपि मूल्यम् काकिनीं करोति, वज्रस्य तु-रत्नस्याल्प- स्यापि मूल्यं तेन क्रियमाणं शतसहस्रं भवति।

अत्रोपनयमाह-

इय मासाण बहूण वि, रागद्दोसप्पयाऍं थोवं तु।
रागद्दोसोवचया, पणगे वि उ तो बहुं दैंति ॥२१७॥

इति'-अमुना दृष्टान्तप्रकारेण बहूनामपि-मासानां योग्ये अपराधे वैराग्यभावनाछलतो रागद्वेषाल्पतया स्तोकं प्रायश्चित्तं ददति। सिंहव्यापादकस्येव रागद्वेषोपचयात् पञ्चकेऽप्यपराधे बहु प्रायश्चित्तं पदति।

अधुना ''जिनचोद्दसपुव्विए धमए'' (२१४)

इत्यस्य व्याख्यानमाह-

पच्चक्खी पच्चक्खं, पासइ पडिसेवगस्स सो भावं।
किह जाणइ पारोक्खी, नायमिणं तत्थ धमएणं ॥२१८॥

प्रत्यक्षी-जिनादिः प्रत्यक्षं प्रतिसेवकस्य भावं जानाति, परोक्षी-चतुर्दशपूर्वादिः कथं जानाति येन सोऽपि तथैव व्यवहरति, सूरिराह-तत्र तस्मिन्विषये ज्ञातम्- उदाहरणमिदंवक्ष्यमाणं धमकेन-शङ्खध्मात्रा।

तदेव दर्शयति-

नालीधमएण जिणा, उवसंहारं करैंति पारोक्खं।
जह सो कालं जाणइ, सुएण सोहिं तहा सोउं ॥२१९॥

जिनाः-तीर्थकृतः परोक्षे आगमे उपसंहारं नालीधमकेन- कुर्वन्ति, इयमत्र भावना-नाडिकायां गलन्त्यामुदकगलन- परिमाणतो जानाति एतावत्युदके गलितयामो दिवसस्य रात्रेर्वा गत इति ततोऽन्यस्य परिज्ञानाय शङ्खं धमति तत्र यथा सोऽन्यो जनः शङ्खस्य शब्देन श्रुतेन कालं यामलक्षणं जानाति, तथा परोक्षागमज्ञानिनोऽपि शोधिम्-आलोचनां श्रुत्वा तस्य यथाऽवस्थितं भावं जानन्ति; ज्ञात्वा च तदनुसारेण प्रायश्चित्तं ददति। व्य० १० उ०।

आगमतो ववहारं, परसोच्चा संकियंमि उ चरित्ते।
आलोइयंमि आरा-हणा अणालोइए भयणा ॥२२२॥

आगमतः प्रत्यक्षज्ञानी वा परे-परस्मिन् व्यवहारं करोति। परस्यालोचनां श्रुत्वा नान्यथा। तत्र यदि कलुषितचारित्रतया न सम्यगालोचयति, किंतु आलोचनामर्यादामतिक्रम्य वर्त्तत तदा शङ्कितमिति वा भिन्नमिति वा कलुषितमिति वा एकार्थं, चारित्रे सति न सम्यगनेनालोचितमिति ज्ञात्वा तं ब्रूते- अन्यत्र गत्वा शोधिं कुरु, यदि पुनः सम्यगालोचयति तदा ददाति प्रायश्चित्तम्। अथ यदि प्रत्यक्षागमज्ञानिनः परोक्षाऽऽज्ञानिनो वा सर्वभाव-विषयपरिज्ञानात् ततः कस्मात्तस्य पुरत आलोच्यते। किंतु-तस्य समीपमुपगम्य वक्तव्यम्- अपराधं से भवन्तो जानते तस्य शोधिं प्रयच्छत, तत आह- 'आलोई' त्यादि, आलोचिते बहुगुणसंभवतः सम्यगाराधना भवति, अनालोचिते आराधनाया भजना-विकल्पना कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति एतच्चाग्र भावयिष्यते।

तत्र ''आगमतो ववहारं, परसोच्चा''

(२२२) इति व्याख्यानयति-

आगमववहारी छ-व्विहो वि आलोयणं निसामेत्ता।
देति ततो पच्छित्तं, पडिवज्जइ सारिओ जइ य ॥२२३॥

आगमव्यवहारी षड्विधोऽपि परस्यालोचनां निशम्य ततः प्रायश्चित्तं ददाति, यदि च-कमप्यपराधं विस्मृतं स्मारितः सन् सम्यक् प्रतिपद्यते तदा स्मारयति वा अन्यथा तस्याऽऽलोचनामेव न ददाति।

सांप्रतमुत्तरार्द्धं (२२२) व्याख्यानयति-

आलोइय पडिक्कंत-स्स होइ आराहणा सुनियमेणं।
अणालोइयंमि भयणा, किह पुण भयणा हवइ तस्स ॥२२४॥

पूर्वमपराधजातमालोचितं ततस्तस्मात्प्रतिक्रान्तस्य अपुनः कारणतया प्रतिनिवृत्तस्य नियमेन पर्यन्ते सम्यगाराधना भवति। अनालोचिते पुनर्भजना। आहकथं पुनरनालोचिते तस्याराधनाविषये भजना भवति।

अत्राऽऽह--

कालं कुव्वेज्ज सयं, अमुहो वा हुज्ज अहव आयरियो।
अप्पत्ते पत्ते वा, आराहणाँ तह वि भयणेवं ॥२२५॥

कोऽपि आलोचनां ग्रहीष्यामीत्यालोचनापरिणामपरिणत आलोचनाग्रहणाय संप्रस्थित आलोचनार्हसमीपं, स च तमप्राप्त एवापान्तराले स्वयं कालं कुर्यात्, यदि वा

प्राप्तोऽपि रोगवशादमुखो जातः । अथवा–तस्याप्राप्तवत एव स आलोचनार्ह आचार्यः कालगतः, यदि वा– प्राप्तवतोऽप्यमुखो जातः ततः स एवमालोचनापरिणतः आलोचनायाः असंभवेऽपि कालं कुर्वन्नाराधकः, यदि पुनर्न सम्यगालोचनापरिणामपरिणतस्तदा सोऽनाराधकः, स च तथाकालगतो दीर्घसंसारी भवति । एवमाराधना आलोचना हि प्राप्ते अप्राप्ते वा भजनया भवति ।

संप्रत्यागमव्यवहारिणामपि पुरत आलोच-
नायां गुणानुपदर्शयति-

अवराहं बियाणंति, तस्स सोहिं च जद्दवि ।
तहाऽवि आलोयणावुत्ता, आलोयंते बहू गुणा ॥२२६॥

यद्यप्यागमव्यवहारिणस्तथाप्यालोचकस्यापराधं विजानन्ति शोधिं च तथाऽपि तेषामपि पुरत आलोचना दातव्या उक्ता तीर्थकरगणधरैर्यत आलोचयति (सति) बहवो गुणास्तथा ह्यालोचनाऽऽचार्येण स आलोचकः प्रोत्साह्यते यथा वत्स! त्वं धन्यस्त्वं सभाग्यः। यदेवं मानं निहत्याऽऽत्महितार्थतया स्वर- हस्यानि प्रकटयसि महादुष्करमेतत्, एवं स प्रोत्साहितः सन् प्रवर्द्धमानपरिणामः सम्यग् निःशल्यो भूत्वा यथावस्थितमालो- चयति। शोधिं च सम्यक् प्रतिपद्यते । ततः पर्यन्ते आराधना स्तोककालेन च मोक्षगमनमिति ।

अथ च कथमागामनो व्यवहारं प्रयुञ्जते, तत आह-

दव्वेहिँ पज्जवेहि य, कम-खेत्त-काल-भावपरिसुद्धं ।
आलोयणं सुणेत्ता, तो ववहारं पउंजंति ॥२२७॥

द्रव्यैः सचित्तादिभिः, पर्यायैः- तेषामेव सचित्तादिद्रव्याणामेव स्थानविशेषैः- परिणामविशेषैः, तथा क्रमतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च परिशुद्धामालोचनां श्रुत्वा ततस्तदनन्तरं व्यवहारं- शोधिव्यवहारं प्रयुञ्जते, नान्यथा, तत्र यदि सचित्तं सेवित्वा सचित्तमेवालोचयति तदा द्रव्यशुद्धा सा आलोचना, यदा तु सचित्तं प्रतिसेव्य अचित्तमालोचयति तदा द्रव्याऽशुद्धा । तथा यामवस्थामुपगतं सचित्तं प्रतिसेव्य तामेवावस्थागतं तदालोचयति तदा सा आलोचना पर्यायशुद्धा; यदा त्वन्यामवस्थामुपगतं प्रतिसेव्यान्यामवस्थामालोचयति तदा पर्यायाऽशुद्धा। तथा यदि प्रतिसेवनानुलोममालोचयति तदा सा क्रमशुद्धा, उत्क्रमेणाऽऽ-लोचयतः क्रमाऽशुद्धा। तथा यद्यत्र जनपदे अध्वनि वा प्रतिसेवितं तत्तथैवालोचयतः क्षेत्रशुद्धा आलोचना, जनपदे प्रतिसेवितमध्वनि कथयतः क्षेत्राऽशुद्धा। यथा यत् यदा दुर्भिक्षे सुभिक्षे वा दिवा रात्रौ वा प्रतिसेवितं तत्तदाऽऽलोचयतः कालशुद्धा, सुभिक्षे प्रतिसेव्य दुर्भिक्षे कथयतो रात्रौ वा प्रतितिसेव्य दिवसे कथयतः काला-ऽशुद्धा, तथा-येन अनाभोगादिना सेवितं तं भावं कथयतो भाव-शुद्धा, उपेत्य प्रतिसेव्याऽनाभोगादिना कथयतो भावाऽशुद्धा ।

संप्रति भावमेवोपदर्शयति-

सहसा अन्नाणेण व, भीएण व पेल्लिएण व परेण ।
वसणेण पमादेण व, मूढेण व रागदोसेहिं ॥२२८॥

तेन-प्रतिसेवकेन सहसा अज्ञानेन वा परेण वा प्रेरितेन वा व्य-सनेन वाद्यूतादिना प्रमादेन वा मूढेन वा रागद्वेषाभ्यां वा प्रतिसेव्य यदि तथैवाऽऽलोच्यते प्रायश्चित्ताय मे ददाति नान्यथेति वाक्यशेषः ।

संप्रति ''सहसे'' (२२८) त्यस्य व्याख्यानमाह-

पुव्वं अपासिऊणं, (उ) चच्चूढें पायंमि जं पुणो पासे ।
न य तरइ नियत्तेउं, पायं सहसाकरणमेयं ॥२२९॥

पूर्वम्- अग्रतनप्रदेशे कुलिङ्गिनमदृष्ट्वा उत्क्षिप्ते- उत्पादिते पादे यत्पुनः पश्यति कुलिङ्गिनं समापतितं न पादं निवर्त्तयितुं शक्नोति। तत एवं यस्तस्य व्यापादनमेतत्सहसाकरणम् ।

सांप्रतमज्ञानमाह-

अन्नयरपमाएणं, असंपउत्तस्स नोवउत्तस्य ।
इरियाइसुं भूयत्थे, अवट्टतो एयमण्णाणं ॥२३०॥

पञ्चानां प्रमादानाम्अन्यतरेणाऽपि प्रमादेनाऽसंप्रयुक्तस्या-ऽऽक्रोडीकृतः स्यात्, एवम् ईर्यादिषु समतिषु भूतार्थेन तत्त्वतो वर्त्तमानस्य यद्वचनम् एतदज्ञानम् ॥

अधुना ''भीएण व पेल्लिएण व परण'' (२२८×)
इत्यस्य व्याख्यानमाह-

भीतो पलायमाणो, अभियोगमएण वाऽवि जं कुज्जा ।
पडितो वाऽपडितो वा, पेल्लिज्जउ पेल्लिओ पाणे ॥२३१॥

अभियोगभयेन भीतः पलायमानो यत् कुर्यात्प्राणव्यपरोपणादि तत् भीतेनेति द्रष्टव्यं, तथा परेण प्रेरितः सन्पतितोऽपतितो वा प्राणान् द्वीन्द्रियाऽऽदीन् एकेन्द्रियादीन् वा प्रेरयेत ।

संप्रति व्यसनाऽऽदिपदानि व्याचष्टे-

जूयादि होइ वसणं, पंचविहो खलु भावपमादो उ ।
मिच्छत्तभावणा उ, मोहो तह रागदोसा य ॥२३२॥

द्यूताऽऽदि भवति व्यसनं प्रमादः खलु मद्यादिभेदाद्भवति पञ्चविधः मिथ्यात्वभावना मोहः रागद्वेषाः सुप्रतीताः ।

एएसिं ठाणाणं, अन्नयरे कारणे समुप्पन्ने ।
तो आगमवीमंसं, करेंति अत्ता तदुभयेणं ॥२३३॥

एतेषामन्तरोदितानां सहसा प्रभृतीनां स्थानानामन्यतरस्मिन्कारणे समुत्पन्नं सति आलोचनायां प्रदत्तायामागमविमर्शमात्मा उभयेन सूत्रार्थलक्षणेन कुर्वन्ति। यथाऽयं सहोऽयमसहः अयमेतावता शोत्स्यति अयं नेति। अथवा-किमनेन सम्य-गालोचितं, किं वा नेति ।

सांप्रतमागमविमर्शमेव व्याख्यानयति-

जइ आगमो य आलो-यणा द दोण्णि वि समं तु निवयंति ।
एसा खलु वीमंसा, जो व सहो जेण वा सुज्जे ॥२३४॥

यद्यागमश्चालोचना च एते द्वे अपि समकं- परस्परमविसंवादि- तया निपततो यथैव तस्याऽऽवमस्तथैवेतरस्याऽऽलोचना। यथैव तस्याऽऽलोचना तथैवागमिन आगमः। एष खलु आगमविमर्श उच्यते, अस्मिन् सति शोधिं ददति नाऽन्यथा, यदि वा-यः सहोऽसहो वा येन वा यः शुद्ध्यति । एतत् परिभावनमागमविमर्शः। व्य० १० उ०।

(''नाणमादीणि अत्ताणि'' (२३५) गाथा 'अत्त' शब्दे १ प्रथमभागे गता तत्रैव व्याख्याता च)

संप्रति 'उभय' शब्दव्याख्यानार्थमाह-

सुत्तं अत्थो उभयं, आलोयण आगमो वयति उभयं।
जं तदुभयंति वुत्तं, तत्थ इमा होति परिभासा ॥२३६॥

सूत्रम्, अर्थः इत्युभयं तेनागमविमर्शं कुर्वन्ति किमयं सह इत्यादि, *अथवा-आलोचनमागमविमर्शं विदधति। यथा किं यथावस्थिताऽस्याऽऽलोचना, किं वा नेति। तत्र यत्तदुभयमि त्युक्तं तत्र इयं वक्ष्यमाणा परिभाषा भवति।*

तामेवाह-

पडिसेवणाइयारे, जइ नाउट्टइ जहक्कमं सव्वे।
न हु देंती पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स ॥२३७॥

यदि प्रतिसेवनातिचारान् यथाक्रमं सर्वान् यदि नाकुट्टयति-नाऽऽलोचयति तदा तस्यागमव्यवहारिणः प्रायश्चित्तं न ददति। यदि पुनः प्रतिसेवनातिचारान् यथाक्रमं सर्वान् आकुट्टयति- आलोचयति तदा तस्यागमव्यवहारिणः प्रायश्चित्तं ददति।

कहे(हि)सु सव्वं जो वुत्तो, जाणमाणोऽवि गूहति।
न तस्स दिंति पच्छित्तं, विंति अन्नत्थ सोहय ॥२३८॥

यान् सर्वानालोचयन् कथय सर्वं मा निगूहय इति य उक्तः सन् जानानोऽपि गूहयति तस्य प्रायश्चित्तमागमव्यवहारिणो न ददति, किंतु ब्रुवते- अन्यस्य समीपे गत्वा शोधय-शोधिं गृहाण।

न संभरति जो दोसे, सब्भावा न य मायया।
पच्चक्खी साहए ते उ, माइणो उ न साहए ॥२३९॥

यो दोषान् सद्भावतो न स्मरति न मायया तस्य प्रत्यक्षी-प्रत्यक्षागमज्ञानी कथयति।

जइ आगमतो आलो-यणा व दोऽवि विसमं निवइयाइं।
न हु देंति य पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स ॥२४०॥

यद्यागम आलोचना च एते द्वे अपि विषमं निपतिते यथा तेनालोचितं तथा गमज्ञानी तस्यातीचारं न प्रेक्षते किंत्वन्यादृशम्, ऊनमधिकं वा इत्यर्थः। तदा तस्याऽऽगमव्यवहारिणः प्रायश्चित्तं न ददति।

जइ आगमो य आलो-यणा य दोन्नि वि समं निवडियाइं।
देंति ततो पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स ॥२४१॥

यद्यागम आलोचना च एते द्वे अपि समं निपतिते; यथाऽपराधमालोच-नामागमज्ञानी पश्यतीत्यर्थः। ततस्तस्यागम- व्यवहारिणः प्रायश्चित्तं ददति। व्य० १० उ०।

आलोचनार्हस्याष्टादश स्थानानि षट्त्रिंशत्स्थानान्युक्त्वा प्रतिपादितम्-

छत्तीसेयाणि ठाणाणि, भणियाणणुपुव्वसो।
जो कुसलो एएहिं, ववहारी सो समक्खातो ॥३२८॥

एतानि-अनन्तरोदितानि स्थानानि षट्त्रिंशत् आनुपूर्व्याक्रमशः; क्रमेण भणितानि यस्तेषु कुशलः स व्यवहारी-आगमव्यवहारी समाख्यातः।

पुनरपि यादृशा आगमव्यवहारिणस्तादृशानाह-

अट्ठहिँ अट्ठारसहिं,
दसहि य ठाणेहिँ जे अपरोक्खा।
आलोयणदोसेहिं,
छहियं ठाणेहिं जे अपरोक्खा ॥३२९॥

आलोयणठाणेहिं,
छहियं ठाणेहिँ जे अपरोक्खा।
पंचहिँ नियंठेहिं,
पंचहि य चरित्तमंतेहिं अट्ठसु ॥३३०॥

अष्टसु आचारवत्त्वप्रभृतिषु स्थानेषु अष्टादशसु वृतषट्क-प्रमुखेषु दशसु च प्रायश्चित्तस्थानेषु ये अपरोक्षाः-प्रत्यक्ष- ज्ञानिनः, तथा-दशसु आलोचनादोषेषु वा ये अपरोक्षविज्ञानाः- प्रत्यक्षविज्ञानिनः, तथादशस्वालोचनागुणेषु षट्सु च स्थानेषु अनन्तरभाविषु ये अपरोक्षाः-साक्षाज्ज्ञानिनःस्तथा पञ्चसु निर्ग्रन्थेषु पुलाकादिषु पञ्चसु चारित्रवत्सु-सामायिकादिसंयम- वत्सु ये प्रत्यक्षज्ञानिनस्ते आगमव्यवहारिणः। व्य० १० उ०।

आगमव्यवहारिणश्च यावदार्यरक्षितमेवाऽभूवन्-

तो जाव अज्जरक्खिय, आगमववहारिणो वियाणित्ता।
न भविस्सति दोसो त्ति, तो वायंती उ छेदसुयं ॥६२॥

यावदार्यरक्षितास्तावदागमव्यवहारिणोऽभूवन् ते चाऽऽग-मव्यवहारबलेन विज्ञाय यथा एतस्याश्छदश्रुतवाचनायां दोषो न भविष्यतीति संयतीमपि छेदश्रुतं वाचयन्ति स्म।

आरेणागमरहिया, मा विद्दाहिंति तो न वाएंति।
तेण कहं कुव्वंतु, सोहिं तु अयाणमाणी ती ॥६३॥

आर्यरक्षितादारतः आगमरहितास्ततस्ते मा छेदश्रुताध्ययनतः संयत्यो विद्रास्यन्ति- विनङ्क्षयन्तीति हेतोश्छेदश्रुतानि संयतीर्न वाचयन्तीति, अत्राह-तेन छेदश्रुताध्ययनाभावेन कथं ताः संयत्योऽजानानाः शोधिं कुर्वन्तु,।

अत्राऽऽचार्य आह-

तो जाव अज्जरक्खिय, सट्ठाणे पगासयंसु वइणीतो।
असतीए विवक्खंमि वि, एमेव य होंति समणाऽवि ॥६४॥

यतः पूर्वमागमव्यवहारिणः स्युश्छेदश्रुतं च संयत्यः अधीयेरन् ततो यावदार्यरक्षिनास्तावद् व्रतिन्यः स्वस्थाने-स्वपक्षे संयतीनां प्रकाशनाम्नकार्षुः, स्वपक्षाभावे विपक्षेऽप्यालोचितवत्यः श्रमण्य एवमेव श्रमणा अपि भवन्ति ज्ञातव्याः। किमुक्तं भवति- श्रमणाः, अपि स्वपक्षे आलोचितवन्तः, तदलाभे विपक्षेऽपि; श्रमणीनां पार्श्वे इत्यर्थः दोषाभावात्, आगमव्यवहारिभिर्हि दोषाभावमवबुध्य छेदश्रुतवाचना संयतीनां दत्ता नान्यथेति। आर्यरक्षितादारतः पुनः श्रमणानामेव समीपे आलोचयन्ति श्रमण्योऽपिः श्रमणा-नामागमव्यवहारच्छेदात्। व्य० ५ उ०।

आगमववहारि(न्)पुं०(आगमव्यवहारिन्) प्रत्यक्षज्ञानिनि, व्य०।

आगम-सुय ववहारी, आगमतो छव्विहो उ ववहारी।

केवलि मणोहि चोद्दस, दस-नवपुव्वी उ नायव्वो ॥१३५॥

तत्राऽऽगमतो व्यवहारी षड्विधः, तद्यथा-केवली-केवलज्ञानी 'मणोहि' त्ति-पदैकदेशे पदसमुदायपचारात् मनःपर्य्याय-ज्ञानी, अवधिज्ञानी, 'चोद्दसदसनवपुव्वी' ति-पूर्वि-शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते चतुर्दशपूर्वी दशपूर्वी नवमपूर्वी च ज्ञातव्या एते चागमव्यवहारिणः प्रत्यक्षज्ञानिन उच्यन्ते; चतुर्दशादिपूर्वबल- समुत्थस्यापि ज्ञानस्य प्रत्यक्षतुल्यत्वात्। व्य० १ उ०। जी०। (विस्तरतः आगमव्यवहारिणः 'आगमववहार' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेवोक्ताः)

आगमविहि-पुं० (आगमविधि) आगमो- गणधरादिविरचित-शास्त्रपद्धतिस्तस्य विधिः। आगमन्याये, दर्श०।

जावज्जीवं आगम- विहिणा चारित्तपालणं पढमो।(९)

तत्र यावज्जीवं- यावत्प्राणधारणं; नतु परपरिकल्पितन्यायेने- त्यर्थः। आगमो-गणधरादिविरचितशास्त्रपद्धतिस्तस्य विधिस्तेनआगमन्या-येनेत्यर्थः। वयोरिक्तीकरणं चारित्रं तस्य पालनं यत्तत्सकलसमितिगुप्ति-प्रत्युपेक्षणाद्यनुष्ठानकरणं, तत्किमित्याह- प्रथमः-आद्यस्तस्य मुख्यवृत्त्यैव समस्तसमीहि-तप्रापकत्वेन प्रधानत्वात्। दर्श० ३ तत्त्व।

आगमवीमंस- पुं० (आगमविमर्श) आगमपरिभावने, व्य० १० उ०। (आगमविमर्शस्वरूपं विस्तरतः ''जइ आगमो०॥२३४॥'' इत्यादि व्यवहारदशमोद्देशगाथया 'आगमववहार' शब्देऽस्मि- न्नेव भागेऽनुपद-मेवोक्तम्)

आगमसंपण्ण- पुं० (आगमसम्पन्न) विशिष्टश्रुतधरे, दश०। १ अ०।

आगमसज्जोग- पुं० (आगमसद्योग) आगमनमागमः- सम्यक्-परिच्छेदस्तेन सद्योगः-सद्व्यापारः आगमसहितो वा यः सद्योगः सत्क्रिया। सम्यक्परिच्छेदात्मके सद्व्यापरे, आगमसहितायां सत्क्रियायाञ्च। षो०।

रागादयो मलाः ख-ल्वागमसद्योगतो विगम एषाम्। तदयं क्रियात एव हि, पुष्टिः शुद्धिश्च चित्तस्य ॥३॥

षो० ३ विव०।

(अस्य व्याख्या 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६६९ पृष्ठे वक्ष्यते)

आगमसत्थ- न० (आगमशास्त्र) आ-अभिविधिना सकलश्रुति-विषयव्याप्तिरूपेण, मर्य्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्तेऽर्था येन स आगमः। नं०। शिष्यते शिक्ष्यते-बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रम् आगमरूपं शास्त्रम् आगमशास्त्रम्। श्रुतज्ञाने, विशे०।

अत्र भाष्यम्-

सासिज्जइ जेण तयं,
सत्थं तं वा विसेसियं नाणं।
आगम एव य सत्थं,
आगमसत्थं तु सुयनाणं ॥५५९॥विशे०।
आगमसत्थग्गहणं,
जं बुद्धिगुणेहिँ अट्ठहिं दिट्ठं।
बेंति सुयनाणलंभं,
तं पुव्वविसारदा धीरा ॥१८३॥ (सूत्र ५८+)

आ-अभिविधिना सकलश्रुतिविषयव्याप्तिरूपेण मर्यादया वा यथाऽवस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते-परिछिद्यन्ते अर्थाः येन स आगमः। नं०। ''पुंनाम्नि घः।'' ॥५।३।१३०॥ (सिद्धहे०) इति करणे घः। आ०म० १ अ० २१ गाथा टी०। स चैवं व्युत्पत्त्या अवधिकेवलादिलक्षणोऽपि भवति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह- शास्त्रेति- शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रम् आगमरूपं शास्त्रम् आगमशास्त्रम् आगमग्रहणेन षष्टितन्त्रादि-कुशास्त्रव्यवच्छेदः, तेषां यथावस्थितार्थप्रकाशनाभावतोऽनाग- मत्वात् आगमशास्त्रस्य ग्रहणमागमशास्त्रग्रहणं यद् बुद्धिगुणै- र्वक्ष्यमाणैः कारणभूतैरष्टभिर्दृष्टं, तदेव ग्रहणं श्रुतज्ञानस्य लाभं ब्रुवते पूर्वेषु विशारदाः विपश्चितः धीरा-व्रतपालने स्थिराः, किमुक्तं, भवति-यदेव जिनप्रणीतप्रवचनार्थपरिज्ञानं तदेव परमार्थतः श्रुतज्ञानं; न शेषमिति। नं०। विशे०। आ०म०। आ०चू०।

आगमसिद्ध- पुं० (आगमसिद्ध) आगमो-द्वादशाङ्गं प्रवचनम् तत्रासाधारणार्थावगमात् सिद्ध आगमसिद्धः। सिद्धभेदे, ध० २ अधि०।

आगमसिद्धो सव्वंऽ-गपारओ गोयमो व्व गुणरासी।

आगमसिद्धः सर्वाङ्गपारगो-द्वादशाङ्गवित् अयं च महातिशय- वानेव, यत उक्तम्- ''संखाता ते वि भवे साहइ,'' इत्यादि इयं, च गौतम! अवगुणराशिरवगन्तव्यः अत्र भूयांसः सातिशयवेष्टिता उदाहरणम्। आ० म० १ अ०। भावार्थः कथानकदिवसेयः, तच्चेदम्- ''तत्थाऽऽगमसिद्धो किर सयंभूरमणे वि मच्छादीया। जं चिट्ठंति स भयवं उवउत्तो जाणइ।'' आ०म० १ अ०।

आगमसुद्ध- त्रि० (आगमसुद्ध) आगमः- आप्तवचनं तेन शुद्धः-तदुक्तार्थानुवादेन निर्दोष आगमशुद्धः। आगमाऽनुवादेन- निर्दोषे, पञ्चा०।

स्तवविधिमधिकृत्य-

थवविहिमागमसुद्धं, सपरेसिमणुग्गहट्ठाए ॥१॥

आगमः- स्तवपरिज्ञानादिकमाप्तवचनं तेन शुद्धः- तदुक्तानुवा देन निर्दोष आगमाशुद्धस्तं, किमर्थमित्याह- स्वपरयोरात्मतदन्ययोरनुग्रहः- उपकारस्तल्लक्षणे, योऽर्थः- पदार्थः प्रयोजनं वा सोऽनुग्रहार्थस्तस्मै अनुग्रहार्थाय, तत्र स्वानुग्रहः प्रावचनिका- र्थानुवादे निर्मलबोधभावात् परोपकारद्वारायात-कर्मक्षयाप्तेश्च। परानुग्रहस्तु परेषां निर्मलबोधः तत्पूर्वकक्रिया-संपादनात्परंपरया निर्वाणसंपादनाच्चेति गाथार्थः। पञ्चा० ६ विव०।

आगमाऽऽभास- पुं० (आगमाऽऽभास) अनाप्तवचनसमुत्थे ज्ञाने, रत्ना०।

आगमाऽऽभासमाहुः-

अनाप्तवचनप्रभवं ज्ञानमागमाभासमिति ॥८३॥

अभिधेयं वस्तु यथाऽवस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्त उक्तः। तद्विपरीतोऽनाप्तः। तद्वचनसमुत्थं ज्ञानम्- आगमाऽऽभासं ज्ञेयम्।

अत्रोदाहरन्ति-

यथा मेकलकन्याकाया: कूले तालहिन्तायोर्कूले सुलभा: पिण्डखर्जूरा: सन्ति, त्वरितं गच्छत गच्छत शावका: इति ॥८४॥

रागाऽऽक्रान्तो ह्यनाप्त: पुरुष क्रीडापरवश: सन् आत्मनो विनोदार्थं किञ्चन वस्त्वन्तरमलभमान: शावकैरपि समं क्रीडाभिलाषेणेदं वाक्यमुच्चारयति। रत्ना० ६ परि०।

***आगमिय**- त्रि० (आगमिक) आगमादागत: ठञ्। आगमप्राप्ते, वाच०। आगमगम्ये च । पं० व०। ''आगमिअमागमेणं ॥९९१॥'' आगमिकं वस्त्वागमेन, यथा- स्वर्ग अप्सरस, उत्तरा: कुरव: इति । पं० व० ४ द्वार।

आगमित- त्रि० अधीते । वाच०। गृहीते, ''उववारो त्ति वा अहीतंति वा आगमियंति वा गृहीतंति वा एगट्ठा'' नि० चू० १ उ०। ज्ञाते, वाच०। ''नायं आगमियं य एगट्ठं''०॥२०८×॥ ज्ञातम् आगमितमित्येकार्थम्। व्य० १० उ०। पठिते, प्रेरणे, णिच् क्त। यापिते, प्रापिते च। वाच०।

आगमिस्स(त्)- त्रि० (आगमिष्यत्) आगामिनि, ''जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो'' (सूत्र-१२६+)। ये चागामिनः। आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। आगामिनि काले, ''किमस्सऽतीतं किंवाऽऽगमिस्सं०''॥१॥ (सूत्र-११७+) ''किंवाऽऽगमिष्यति- आगामिनि काले सुखाभिलाषिणो दुःखद्विषो भावीति। आचा० १ श्रु० ३ उ०। ''सिजिस्सइ आगमिस्से णं'' (सूत्र- ६७२+)। आगमिष्यति काले सेत्स्यति। स्था० ९ ठा० ३ उ०। ''सो आगमिस्साए जिणो भविस्सइ'' 'आगमिस्साए' आयत्याम्। आगामिनि काले, आव० ३ अ०। ''आगमिस्सा वि सुव्वया०'' (२५+) आगामिनि चानन्ते काले तथाभूता: सत्संयमानुष्ठायिनो भविष्यन्ति। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। ''आगमिस्सं च पावगं०'' (२१×) आगामिनि काले यत्करिष्यते तत्सर्वमिति। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। ''हवइ पुणो आगमिस्साणं'' (५१×) 'आगमिस्साणं' ति-एष्यत्काले इत्यर्थः, प्राकृतत्वादत्रापि विभक्तिव्यत्ययः । आतु०। ''आगमिस्सेण होक्खइ''॥ (१+) (सूत्र-५५९+) आगमिष्यता कालेन हेतुना भविष्यतीत्यर्थः। स्था० ७ ठा० ३ उ०। उत्तरकालभाविनि च । ''पडिक्कमे आगमिस्साणं'' (॥४२॥+) आगमिष्याणाम्- उत्तरकालभाविनाम्। आतु०।

आग(म्म)मेत्ता- अव्य० (आग(म्य)त्य) आ-गम-ल्यप् वा मोलोपे तुक्। आगमनं कृत्वेत्यर्थ। वाच०। ज्ञात्वेत्यर्थ, ''आगमेत्ता आणविज्जा'' (सूत्र-१५९+) ज्ञात्वाआज्ञापयेदिति। आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। ''आगम्मुक्कुडुओ संतो''॥२२×॥ आगत्योत्कुटुक: त्यक्तासन इति। उत्त० १ अ०।

आगमेयव्व- त्रि० (आगमयितव्य) आगमनम्- आगमनपरि- ज्ञानम् । तदगोचरत्वमानयितव्ये, बृ० १ उ० २ प्रक०।

आगमेसि(त्)- त्रि० (आगमिष्यत्) आगामिनि, स्था० ८ ठा० ३ उ०। कल्प०। आगमिष्यति काले, प्रश्न० १ संव० द्वार।

आगमेसिभद्द- न० (आगमिष्यद्भद्र) आगमिष्यति काले भद्रं कल्याणे यत्तदागमिष्यद्भद्रम्। आगमिष्यत्कालभाविनि कल्याणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। आगमिष्यद्भद्रं यस्येति । आगमिष्यत्काल-भाविकल्याणवति, स्था०।

समणस्स णं भगवओ महवीरस्स अट्ठ सया अणुत्त-रोववाइयाणं गइकल्लाणाणं०जाव आगमेसिभद्दाणं उक्कोसिया अणुत्तरोव-वाइसंपया होत्था ॥१॥ (सूत्र-६५३)

आगमिष्यत्भद्रं- निर्वाणलक्षणं येषां ते तथा। स्था० ८ ठा० ३ उ०। आगामिभवे सेत्स्यमानत्वात्। कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

आगमिष्यद्भद्रकर्म्मकारणान्याह-

दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसिभद्दत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा- अनिदाणयाए १, दिट्ठिसंपन्नयाए २, जोगवाहियाए ३, खंतिखमणयाए ४, जिइंदियाए ५, अमाइल्लयाए ६, अपासत्थयाए ७, सुसामन्नयाए ८, पवयणवच्छल्लयाए ९, पवयणउब्भावणयाए १०। (सूत्र-७५८)

'दसहिं' इत्यादि, आगमिष्यद्- आगामिभवान्तरे भाविभद्रं- कल्याणं; सुदेवत्वलक्षणमनन्तरं सुमानुषत्वप्राप्त्या मोक्षप्राप्ति- लक्षणं च येषां ते आगमिष्यद्भद्रास्तेषां भाव: आगमिष्यद्भद्रता तस्यै आगमिष्यद्भद्रतायै; तदर्थमित्यर्थः, आगमिष्यद्भद्रतया वा-कर्म शुभप्रकृतिरूपं प्रकुर्वन्ति-बध्नन्ति, तद्यथा-निदायते- लूयते ज्ञानाद्याराधनालता आनन्दरसो-पेतमोक्षफला येन परशुनेव देवेन्द्रादिगुणर्द्धिप्रार्थनाऽध्यवसानन तन्निदानम्- अविद्यमानं तद्यस्य सोऽनिदानस्तद्भावस्तत्ता तया हेतुभूतया, निरुत्सुकतयेत्यर्थः।१। दृष्टिसम्पन्नतया-सम्यग्दृष्टितया।२। योगवाहितयाश्रुतोपधानकारितया, योगेन वा-समाधिना सर्वत्रानुत्सु-कत्वलक्षणेन वहतीत्येवंशीलो योगवाही तद्भावस्तत्ता तया।३। क्षान्त्या क्षमते इति क्षान्तिक्षमण: क्षान्ति-ग्रहणमसमर्थतातात्व्यवच्छेदार्थं यत:-असमर्थोऽपि क्षेमत इति क्षान्तिक्षमणस्य भावस्तत्ता तया।४। जितेन्द्रियतया- करणनिग्रहेण।५। 'अमाइल्लयाए' त्ति-माइल्लो-मायावांस्त- त्प्रतिषेधेनामायावांस्तद्भावस्तत्ता तया।६। तथा-पार्श्वे बहिर्ज्ञा- नादीनां देशत: सर्वतो वा तिष्ठतीति पार्श्वस्थः, (स्था०) (पार्श्वस्थलक्षणम् 'पासत्थ' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यते) पार्श्वस्थस्य भाव: पार्श्वस्थता न सा अपार्श्वस्थता तया।७। तथा-शोभन: पार्श्वस्थादिदोषवर्जिततया मूलोत्तरगुणसम्पन्नतया च स चासौ श्रमणश्च साधु: सुश्रमणस्तद्भावस्तत्ता तया।८। तथा-प्रकृष्टं-प्रशस्तं; प्रगतं वा वचनम्-आगम:- प्रवचनं-द्वादशाङ्गं तदाधारो वा सङ्घस्तस्य वत्सलता हितकारिता प्रत्यनीकत्वादिनिरासेनेति प्रवचनवत्सलता तया।९। तथा-प्रवचनस्यद्वादशाङ्गस्योद्भावनम्- प्रभावनं प्रावचनिकत्व धर्मकथावादा-दिलब्धिभिर्वर्णवादजननं प्रवचनोद्भावन तदेव प्रवचनोद्भावनता तयेति। १०।स्था०१० ठा०३ उ०।

आगय- त्रि० (आगत) आ-गम्-क्त । आयाते, । विशे०। भ०।

वाच०। जाते, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०। उत्पन्ने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

आगयमिवागयं तं, तत्तो जत्तो समुब्भवो जस्स।
सपरंपरओ य जओ, तमागयमिओ तदुवयारो ॥१०८४॥

'जत्तो' त्ति-यतो यस्मात् रूपकादेर्घटादेर्वा सकाशाद्यस्य भोजनादेः रूपादिविज्ञानस्य वा समुद्भवः-उत्पत्तिः 'तं' तितद्भोजनादिकं रूपादिज्ञानं वा वस्तु 'तत्तो' त्ति-ततो रूपकादेर्घटादेर्वा सकाशादागतमिवागतमुच्यते; हिमवतः समागतगङ्गाप्रवाहस्येव तस्य तद्धेतुकत्वादित्यर्थः। (विशे०।) आगतशब्दश्चेहोत्पत्तिवचनो, बोधवचनो *मन्तव्यः- इदमत्र हृदयम्-यस्य वस्तुनो यस्माद्वस्तुनः* सकाशात्समुद्भवस्तद्वस्तुन आगतमिवावगतं व्यपदिश्यते । यथा कार्षापणरूपकादिभ्यः समुद्भूतं धान्यभोजनादि, घटादेः समुद्भूतं रूपादिज्ञानं वा ततः समागतमित्युच्यते। विशे०। उपस्थिते, वाच०। ''आगयसमए'' (सूत्र-८२+)। आसन्नीभूतोऽवसरो यस्य स इत्यर्थः। ज्ञा० १ श्रु० ९ अ०। ज्ञाते, ''अभिसमन्नागया'' (सूत्र-१०६+)। आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। प्राप्ते, वाच०। ''सिरीअतुलमागया''॥१६+॥ (सूत्र-३०+) श्रीर्लक्ष्मीरतुलाऽसाधारणाऽऽगताप्राप्तेति । स० ३० सम०। भावे क्त। आगमने, न०। वाच०।

आगयगंध- त्रि० (आगतगन्ध)। जातसुरभिगन्धे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०।

आगयपण्ण- त्रि० (आगतप्रज्ञ)। आगता-उत्पन्ना प्रज्ञा यस्यासावागतप्रज्ञः। संजातकर्त्तव्याऽकर्त्तव्यविवेके, सूत्र०। ''समितीसु गुत्तीसु य आगयपण्णे''॥५×॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

आगयपण्णाण- त्रि० (आगतप्रज्ञान)। आगतं- स्वीकृतं प्रज्ञानम् सदसद्विवेको यस्य स तथा। स्वीकृतसदसद्विवेके, ''सया आगयपण्णाणे'' (सूत्र-१२९+)। आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। ''आगयपण्णाणाणं किसा बाहा भवंति'' (सूत्र-१८६×)। आगतं प्रज्ञानं पदार्थाविर्भावकं येषां ते तथा तेषामागतप्रज्ञानानां तपसा परिषहातिसहनेन च कृशा बाहवो भुजा भवन्ति। यदि वा- सत्यपि महोपसर्गपरिषहादावागतप्रज्ञानत्वाद् बाधाः- पीडाः कृशा भवन्ति। आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

आगयपण्हया- स्त्री० (आगतप्रश्रवा)। आयातप्रश्रवायाम्, ''तएणं सा देवाणंदा माहणी आगयपण्हया'' (सूत्र-३८२×) आयातप्रश्रवा; *पुत्रस्नेहादागतस्तन्मुखस्तन्येत्यर्थः।* भ० ९ श० ३३ उ०। अन्त०।

आगयभम- त्रि० (आगतभ्रम)। उत्पन्नभ्रमणे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

आगयसमय- त्रि० (आगतसमय)। आसन्नीभूतोऽवसरो यस्य सः। आसन्नीभूतावसरे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ०।

आगर- पुं० (आकर)। आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः। उत्त० ३० अ०। आगत्य तस्मिन् कुर्वन्तीत्याकरः। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। (अस्यैकार्थिकानि 'आयारंग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)। खनौ, ''धाउमणिसिलप्पबलरयणागरे य साहिंति'' (सूत्र-७+)। धातुमणिशिलाप्रबालरत्नाऽऽ*नामाकराः- खनयस्तान साधयतीति। प्रश्न० १ आश्र० द्वार।* ''गुणआगरं''॥५+॥ गुणानां-ज्ञानदर्शन- चारित्राणामाकरं खनिमिति। उत्त० १९ अ०। निधाने, ''गुणसयाऽऽगरो संघो''॥२४४+॥ गुणशतानामनेकेषां गुणा-नामाकरोनिधानम् गुणशताकरः संघः। व्य० २ उ०। बृ०। मर्य्यादयाऽभिविधिनाऽऽक्रियन्ते वज्रादीनि तेष्विति। ओघ०। हिरण्याकरादौ, व्य० १ उ०। जी०। प्रज्ञा०। आचा०। रा०। स च हिरण्याद्युत्पत्तिभूमिः। ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। ओघ०। उत्त०। ताम्रादेरुत्पत्तिस्थानम्। आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ०। लौहाद्युत्पत्तिभूमिः। *स्था० २ ठा० ४ उ०। लौहाद्युत्पत्तिस्थानम्। अनु०। प्रश्न०। भ०।* लौहादिधातुजन्मभूमिः। गो० १ अधि०। लवणाद्यु-त्पत्तिभूमिः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०। लवणाद्युत्पत्तिस्थानमिति। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। यत्र सन्निवेशे लवणाद्युत्पद्यते । स्था० ९ ठा० ३ उ०। रूप्यसुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानम्। न०। भ०। आकीर्य्यन्ते धातवोऽत्र कृ-अप्। रत्नाद्युत्पत्तिस्थाने, वाच०। ''अयमाइआगरा खलु''॥२८४×॥ अयो-लोहं तदादय आकरा उच्यन्ते यत्र पाषाणं धातुधमनादिना लोहमुत्पाद्यते स अयआकारः, आदिशब्दात्- ताम्ररूप्याद्याकरपरिग्रहः। बृ० १ उ० २ प्रक०। ''वइरे कणगे य रययलोहे य। चत्तारि आगरा खलु''॥८+॥ वज्राणि-रत्नानि तेषामाकरः- खनिर्वज्राकरः, ''चिंतालोहागरिए'' त्ति इत्यतः सिंहावलोकितन्यायेनाऽऽकरग्रहणं संबध्यते एतेन कारणेन 'होइ उ' त्ति-इत्यस्माद्भवति क्रिया सर्व्वत्र मीलनीयेति, कनकंसुवर्णं तस्याऽऽकरो भवति द्वितीयः, रजतं-रूप्यं तद्विषयः तृतीयः आकारो भवति, चशब्दः, समुच्चये, अनेकभेदभिन्नं रूप्याकरं समुच्चिनोति, 'लोहे य' त्ति-लोहमयस्तस्मिन्, लोहे लोहविषयश्चतुर्थ आकरो भवति, चशब्दो मृदुकठिन-मध्यलोहसमुच्चायकः। चत्वार इति संख्याः आक्रियन्ते एतेष्वित्याकरास्तथा च मर्यादया अभिविधिना वा क्रियन्ते वज्रादीनितेष्विति, खलुशब्दो विशेषणे। ओघ०। (एतेषां प्राधान्याऽप्राधान्यविवेकः 'अणुओग' शब्दे १ भागे ३५७ पृष्ठे गतः)।

आकरशब्दस्य चतुर्धा निक्षेपः-नामादिस्तत्र व्यतिरिक्तो रजतादिः, भावाऽऽकरोऽयमेव ज्ञानादिः, तत्प्रतिपादकश्चायमेव ग्रन्थो, निर्जरादिरत्नानामत्र लाभात्। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। उत्पत्तिभूमौ, अनु०। ''कमलाऽऽगरनलिणीखंडवोहए'' (सूत्र-१९×) कमलानामाकरा-उत्पत्तिभूमयो ह्रदादिजलाशय- विशेषास्तेषु यानि नलिनीखण्डानि तेषां बोधको यः स तथोक्तः। अनु०।

अयाऽऽगरेइ वा, तंवागरेइ वा, तउआगरेइ वा, सीसागरेइ वा, रुप्यागरेइ वा सुवण्णागरेइ वा। (सूत्र-५९७×)

अयआकरो-लोहाकरो यत्र लोहं ध्मायते। स्था० ८ ठा० ३ उ०।

तत्थ णं बहवे हिरण्णागरा य, सुवण्णागरा य, रयणागरा य, वइरागरा य। (सूत्र-१३२×)

हिरण्याऽऽकराँश्च, सुवणाकराँश्च, रत्नाकराँश्च, वैराकराँश्च; तत्तदुत्पत्ति-*भूमीरित्यर्थः। ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। स्थानामात्रे च। व्य०।*

तत्थ न कप्पइ वासो, गुणाऽऽगरा जत्थ नऽत्थि पंच इमे। आयरियउवज्जाए, पवत्तिथेरे य गीयत्थे ॥३२४॥

वणिज इव राजाद्यभावे साधोरपि तत्र गच्छे वासो न कल्पते, यत्र इमे-वक्ष्यमाणा गुणानामाकराः- स्थानानि गुणाकराः पञ्च न सन्ति, केते इत्याह-आचार्यः, उपाध्यायः, प्रवृत्तिः, स्थविरो, गीतार्थश्च। व्य० १ उ०। आकुर्व्वन्ति, संधीभूय कुर्व्वन्ति व्यवहारमत्र आ-कृ-घः। समूहे, श्रेष्ठे च। वाच०। अरघट्टादिसमीपस्थे प्रदेशे, अरघट्टादिसमीपे, प्रभूता यत्र तुषा भवन्ति स आकर उच्यते। बृ० ५ उ०। को पुण आगरो भण्णति- जत्थ घरट्टादिसमीवे सुवहं जवभुसुट्ठं; सो, आगरो भण्णति। नि० चू० १ उ०। भिल्लपल्ल्यादौ, यत्राऽलाबूनि भवन्ति। ''आगरपल्लीमाई''॥३४९×॥ आकरो नाम-भिल्लपल्ली, भिल्लकोदं वा तत्र प्रायोऽलाबूनि प्राप्यन्ते। बृ० ३ उ०।

***आगर**- पुं०। आगीर्य्यते उद्गमितुमारभ्यते चन्द्रमा अत्र। आगृ आधारे अप्। अमावास्यायाम्, वाच०।

आगरणिवेस- पुं० (आकरनिवेश) आकरस्थाने, ''आगररनि- वेसेसु'' (सूत्र-३५×)। प्रज्ञा० १ पद।

आगरणी- स्त्री० (आकरणी) लोहकराम्बरीषायाम्, स्था० ८ ठा० ३ उ०।

आगरपल्ली- स्त्री० (आकरपल्ली)। स्वर्णाद्युत्पत्तिस्थानस्थिते वृक्षवंशादिगहनाश्रिते प्रान्तजनस्थाने, उत्त०। 'निगमे य आगरे पल्ली''॥१६+॥ आकरः- स्वर्णाद्युत्पत्तिस्थानं तस्मिन् आकारे। पल्ली वृक्षवंशादिगहनाश्रिता प्रान्तजनस्थानम्। तस्यां पल्ल्याम्, उत्त० ३० अ०।

आगरमुत्ति- स्त्री० (आकरमुक्ति) चिक्कणिकायाम्, सा च नो कर्म्मद्रव्यलोभः। आव० १ अ०। आ०म०। अण्णे भणंतिणो कम्मे आकरमोत्ती एवमादि आकरमोत्ति चिक्कणिकेति। आ० चू० १ अ०। (एतद्वक्तव्यता 'लोभ' शब्दे षष्ठभागे वक्ष्यते)।

आगरि(न्)- त्रि० (आकरिन्) आकरः- उत्पत्तिस्थानं प्राशस्त्येनाऽस्त्यस्येति इनि स्त्रियां ङीप्। प्रशस्ताकरजाते, ''दधतमाकरिभिः करिभिः क्षतैः'' किरा०। वाच०। आकरवति, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

आगरिस- पुं० (आकर्ष) आकर्षणमाकर्षः आ-कृष् घञ्। **''र्श-र्ष- तप्त-वज्जे वा''॥८।२।१०५॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेणेकारः। प्रा०। उदाने, आकर्षो नाम कर्मपुद्गलोपादानमिति। स०। आकर्षो नाम-तथाविधेन प्रयत्नेन कर्मपुद्गलोपादानम्। प्रज्ञा० ६ पद ७ द्वारे। (आयुष्कर्माकर्षाः 'आउबंध' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गताः) ग्रहणे, आ०म० १ अ०। विशे०। प्रथमतया ग्रहणे, मुक्तस्य ग्रहणे च। आ०म० १ अ०। विशे०। ग्रहणमोचनयोः, आकर्षणमाकर्षः। ग्रहणमोचनमित्यर्थः। आ० चू० १ अ०। स च द्विविधः-एकभविको, नानाभविकश्चेति। प्रव० १२२ द्वार। आ० चू०। विशे०। अनु०। आ०म०। (सामायिकस्याकर्षाः 'सामाइय' शब्दे सप्तमभागे वक्ष्यते) प्राप्तौ, भ०।

पुलागस्स णं भंते ! एगभवग्गहणिया केवइया आगरिसा पण्णत्ता, जहण्णेणं एक्को, उक्कोसेणं तिण्णि। (सूत्र-७७८)

आकर्षणमाकर्षः- चारित्रस्य प्राप्तिरिति। भ० २५ श० ६ उ०। (वकुसाऽऽदीनामाकर्षाः 'णिग्गंथ' शब्दे चतुर्थभागे २०४२ पृष्ठे वक्ष्यते)

आगरिसग- पुं० (आकर्षक) आकर्षति सन्निकृष्टस्थं लौहम् आ- कृष्-ण्वुल्। (चुम्बक) इतिख्याते अयस्कान्ते, आकर्षणकर्त्तरि, त्रि०। आकर्षे नियुक्तः आकर्षादि० कन्। आकर्षनियुक्ते, ''आकषः निकषोपल'' इति रेफरहितः पाठो युक्तः सि०कौ०। वाच०। आ०म० १ अ०।

आगरिसण- त्रि० (आकर्षण) आ-कृष् ल्युट्। अन्यत्र स्थितस्य वस्तुनः बलेन अन्यत्र नयने, ''योषिदाकर्षणे चैत्र- विनियोगः प्रकीर्त्तितः।'' आकृष्यते अनेन करणे ल्युट्। आकर्षणसाधने तन्त्रोक्ते षट्कर्म्मान्तर्गते विधानभेदे च। वाच०। आकृष्यत-इति आकर्षणम्। द्रविणे, आकृष्यत इति आगरिसणं तं च दविणं। नि० चू० २ उ०। प्रेरणे, आकड्ढणमाकरिसणं अप्पणो तेण। आघट्टणमागसण उदगगतेन प्रेरणमिति। ति० चू० १८ उ०।

आगलण- न० (आकलन) अध्यवसाये, 'धणुबलं वा आगलंति'' (सूत्र-१४३×) 'आगलंति' त्ति-आकलयन्ति- जेष्याम इत्यध्यवस्यन्तीति। भ० ३ श० २ उ०।

आगलिय- त्रि० (आगलित) निवारिते, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ०।

आगल्ल- त्रि० (आगल्ल) ग्लाने, ''तेण एस आगल्लो'' ॥४३६×॥ तेनाऽयमागल्लो-ग्लानः संजातः। बृ० ४ उ०।

आगाढ- त्रि० (आगाढ) अत्यन्तदुर्भेदे, व्य०। ''आगाढपण्हेसु य संथवेसु''॥२६९+॥ आगाढप्रश्नेषु चाऽत्यन्तदुर्भेदप्रश्नेषु परिचयेसु सत्स्विति। व्य० १ उ०। कर्कशे, बृ०। ''आगाढे अहिगरणे'' ॥५७३×॥ आगाढे-कर्कशेऽधिकरणे उत्पन्ने। बृ० १ उ० ३ प्रक०। कारणे, नि० चू० ६ उ०।

अद्धाणविवित्ताणं, आगाढं सेसऽणागाढं ॥८४॥

अद्धाणे विवित्ताणं आगाढकारणं। सेसं अद्धाणं तंमि उवगरणा-भावे आगाढं ण भण्णइ। नि० चू० ५ उ०। आगाढेहिं वा कारणेहिं बोलेंति। नि० चू० २ उ०। ''आगाढकारणेहिं''॥३५०+॥ आगाढैः- कुलादिभिः कारणैः। बृ० १ उ० २ प्रक०। आगाढं- प्रत्यनीक-स्तेनादिरूपं यत्कारणम्। बृ० १ उ० ३ प्रक०। अशिवादिकेकारणे, बृ०।

असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए अ आगाढे।
गेलन्न उत्तिमट्ठे, णाणे तह दंसणचरित्ते॥९१८॥

आगाढशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, आगाढे-अशिवे, अवमौदर्ये, राज्यद्विष्टे, बोधिकस्तेनादिभये च यथा आगाढं नाम शैक्षसागारिकादिमन्यतमकारणं तदा ग्लान उत्तमार्थप्रतिपन्नो वा क्वचिद्देशान्तरे श्रुतः अपान्तराले च तत्र छिन्नः पन्था अतस्तत्परिचरणार्थं गन्तव्यम्, उत्तमार्थं वा प्रतिपित्सुः संविग्नगीतार्थसमीपछिन्नेनापि पथा गच्छति।

ज्ञानमाचाराऽऽदि, दर्शनं दर्शनविशुद्धिकारकाणि शास्त्राणि तदर्थमध्वानं गच्छेत्, चारित्रार्थं नाम-यत्र देशे स्त्रीदोषा वा भवन्ति तं परित्यज्य देशान्तरं गन्तव्यम्।

एएहिं कारणेहिं, आगाढेहिं तु गम्ममाणेहिं।
उवगरणपुव्वं गहिऊ-ण पडिलेहिएण गंतव्वं ॥९१९॥

एतैः- अशिवादिभिः कारणैरागाढैरेव गम्यमानैः- प्राप्यमाणैः उपकरणमध्वप्रायोग्यं गृहीत्वा पूर्वं गमनात् प्राक् प्रत्युपेक्षितः सम्यक् शुद्धाऽशुद्धतया निरूपितो यः स सार्थस्तेन सह गन्तव्यम्। बृ०१ उ० ३ प्रक०।

(ग्लानवैयावृत्यमधिकृत्योक्तम्)- आगाढे कारणजाते सति वैयावृत्त्यं कुर्यादपि, परित्यजेद्वा ग्लानं, किं पुनस्तत्कारण- जातम्। बृ० १ उ० २ प्रक०। इति 'गिलाण' शब्दे तृतीयभागे ८९३ पृष्ठे वक्ष्यते।)

अणुवसमंते निग्गमो, लिंगविवेगेण होइ आगाढे।
देसंतरसंकमणं, भिक्खुगमादी कुलिंगेणं ॥२७०॥

अनुपशमयति- उपशममकुर्वति राशि निर्गमो भवति। कथमित्याह- लिङ्गविवेकेन- लिङ्गपरित्यागेन; गृहस्थलिङ्गेने- त्यर्थः। अथ तथाऽपि न मुञ्चति गाढकोपावेशात्, तत आह- अगाढम् अत्यन्तप्रकोपतो गाढममोक्षणे भिक्षुकादिलिङ्गेन देशान्तरसंक्रमणं कर्त्तव्यम्। अशिवाऽऽदौ वा कारणे समुपस्थिते देशान्तरगमनं किल कर्त्तव्यम्। व्य० १ उ०। (''असिवे०'' इत्यादिगाथाभिः 'आगाढ' स्वरूपं 'कालकप्प' शब्दे तृतीयभागे ४८९ पृष्ठे वक्ष्यते)

आगाढे अन्नलिंगं, कालक्खेवो य होति गमणं वा ।९९४।

आगाढे-राजद्विष्टे। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

(आहारमधिकृत्याऽऽगाढस्य भेदाः) किं पुण आगाढं, अणागाढं वा। तत्थिमं आगाढं समासतो चउव्विहं। गाहा-

अद्धाणे ओमे वा, गेलण्ण-परिण्ण-दुल्लभे दव्वे।
आगाढं नायव्वं, मुत्तूण होंतिऽणागाढा ॥१९०॥

इमं खेत्ताऽऽगाढं अद्धाणपडिवण्णगाढं सव्वं जाहं असंथरणं तं गाढं। इमं कालाऽऽगाढ ओमकाले जं असंथरणं तं गाढं। इमे गिलाणपरिण्णा दोऽवि भावाऽऽगाढं गिलाणस्स तद्दिवसं पायोग्गं जति न लब्भंति तो गिलाणो गाढं परिण्णस्स असमाधाणे उप्पण्णे दिया राओ वा परिण्णाऽऽगाढं गिलाणस्स तद्दिवसं पायोग्गं इह राती अहिगारो। इमं दव्वाऽऽगाढं 'दुल्लभदव्वे' ति-सतपागसहस्सपागं, घयं, तेल्लं तेण साहुणो कज्जं तंमि अलभंते दुल्लभदव्वाऽऽगाढं। एवंविधं आगाढं नायव्वं। पडिपक्खे अणागाढं। नि०चू० ११ उ०।

(विस्तरेणाऽऽगाढस्य भेदाः)-

दव्वे खेत्ते काले, भावे पुरिसे तिगिच्छे असहाए।
एतेहिं कारणेहिं, सत्तविहं होइ आगाढं ॥

पं०भा० ४ कल्प०। नि०चू०।

दव्वे ताव वेज्जो पुच्छियव्वो। जाव इयाणिं दव्वाणि उवइसइ ताव इयाणिं न पडिसेविज्जंति। जहा एयं अम्ह न कप्पइ। जाहे उवइट्ठाणि, ताहे ओमत्थइ परिहाणीए भण्णइ। पं०चू०।

(द्रव्याऽऽगाढम्)-

एगादीयवड्ढीए, एगुत्तरिया य होति दव्वाणं।
ओमत्थगपरिहाणी, दव्वागाढं वियाणाहि॥

जंयेति पुणो वेज्जो, सच्चित्तं दुल्लभं च दव्वं वा।
अप्पडिहणंतो अच्छति, उद्दिसिउं जाव सो ठाति॥

जाहे उद्दिट्ठाणी, ताहे ओमत्थहाणिए भणति।
अम्हे करेमो जोगं, अलंभे एयस्स किं कुणिमो॥

एवं तु हावयंता, खेत्तं कालं च भावमासज्ज।
ता जूहंती जाव उ, लंभे जेसिं तु दव्वाणं॥

अह पुण भणेज्ज एवं, अवस्समेत्तेहि कज्जदव्वेहिं।
एतं दव्वाऽऽगाढं तहिं जए पणगहाणीए॥

पं०भा०।

एगाइयवड्ढीए अम्हे करेमु जोगं मग्गसु तं चेव जाव कलमसाली। खेत्तकालगाहा। तहेव य जहिं लाभो तहिं ठायंति। अहवा-भणेज्जा अवस्सिमाणि दव्वाणि जाणि दव्वाणि दुल्लहाणि परित्ताणह स तेल्लमाईणि वा तहि तं दव्वाऽऽगाढं पणगपरिहाणीए जयंति जाव चउगुरुएण वि गेण्हंति। पं०चू०।

खेत्ताऽऽगाढमियाहिं गाहा-

खेत्ताऽऽगाढं इणमो, असती खेत्ताण मासज्जोग्गाणं।
असिवं वा अन्नत्थ, णदी व य वा होज्ज सद्धा तु॥

आयरियादि अहारग, अहवा अन्नत्थ सावता होज्ज।
अंतर जहिं च गम्मति, बाला ताहे ण खुत्तियं वा॥

एतेहि कारणेहिं, खेत्ताऽऽगाढंमि पुरिसे य।
तो अत्थंति असढभावा, एगखेत्ते वि जयणाए॥

पं०भा०।

खेत्तस्स वा अलंभे असइ मासपाउग्गाणं खेत्ताणं एगत्थ अत्थंति असिवं वा अनत्थ नई वा तीरंति गंतूण अकारगं वा आयरियाणं अन्नत्थ सावया वा तत्थ अंतरा वा दिग्घजाइया वा अन्नंमि देसे अंतरा वा ताहे एगत्थ अत्थंति अहवा-खेत्ताऽऽगाढं। पं०चू०।

(कालाऽऽगाढम्)-

कालस्स वाऽवि असती, वासावासे वियारणा णऽत्थि।
एतेहिं कारणेहिं, कालाऽऽगाढं वियाणाहि॥

वासाजोगं खेत्तं, पडिलेहे तं तु कालेणं बहुतो।
वच्चंताण य अंतर-वासं तु णिवडितुं पव्वत्तं॥

डहरं वंतरखेत्तं, ताहे तं चेव पुव्वखेत्तं तु।
गंतू वसती वासं, समतीते वा ति दस रातं॥पं०भा०॥

कालओ कालेण बहुत्तो वासावसपाउग्गं खेत्तं वच्चंताणं अंतरावासं पडियं तं च अंतराखेत्तं संनिसद्धगं ताहे तं चेव पुव्वपडिलेहियं खेत्तं। जं तिउल्लंता वि अइत्थिरा वा वासावासे जइ वासइ मग्गसिरे दस राया तिण्णि होंति

उक्कोसेण ओमोयरियाए वा जा जयणा आहाराइसु एयं कालाऽऽगाढं। पं० चू०।

इयाणिं भावाऽऽगाढं-

अतिउक्कडं च दुक्खं, अप्पा वा वेदणा भये आसुं।
एतेहिं कारणेहिं, भावाऽऽगाढं वियाणाहि॥

अचुक्कडसूलादी, अहिडक्काई तु वेदणा अप्पा।
तत्थऽग्गि तावणादी, दाहच्छेदोवगाढादी॥पं० भा०॥

'अइउक्कडं च' अइउक्कडंति- विसूइयाइ अहिदट्ठविसं अप्पा वा वेयणा हियसूलाइ तत्थ अग्गी कंदाइं वा परित्ताणं ताइ दायव्वं एयं भावाऽऽगाढं। पं० चू०।

(पुरुषाऽऽगाढम्)-

जंमि विणट्ठे गच्छ-स्स विणासो तह य णाणचरणाणं।
एतेहिं कारणेहिं, पुरिसाऽऽगाढं वियाणाहि॥

तस्स तु सुद्धालंभे, जावज्जीवं पि होत सुद्धेणं।
कायव्वं तु य णियमा, पुरिसाऽऽगाढं भवे एतं॥

जेण कुलं आतत्तं, तं पुरिसं आदरेण रक्खाहि।
ण हु तुंबुंमि विणट्ठे, अरया साहारगा होंति। पं० भा०।

पुरिसाऽऽगाढे-जंमि विणट्ठे गच्छस्स विणासो णाणदरिसण- चरित्ताईणं विणासो। न हु तुंबुंमि विणट्ठे गाहा-ताहे तस्स असुद्धेणावि कीरइ जाव जीवइ एयं पुरिसाऽऽगाढं। पं० चू०।

(चिकित्साऽऽगाढम्)-

संजोगदिट्ठपाढी, फासुगउवदेसणासु जो कुसलो।
एतारिसस्स असती, णायव्वं तिगिच्छमागाढं॥

मज्जणतूलिविभासा, अरणे पाउरणए य पाणे य।
केवडियाण पहाणे, अन्नध वत्तो गिलाणो तु॥ पं० भा०।

संयोगदिट्ठपाढी-वेज्जस्स वा संयोगदिट्ठपाढिस्स असइ गीयत्थ-संविग्गस्स। ताहे गीयत्थवेज्जस्स जा पाहुडिया कीरइपहाणभोयण-चोयणाइ तं सद्दहइ। एयं तिगिच्छाऽऽगाढं। पं० चू०।

सहायाऽऽगाढम्-

हुज्ज व सहायरहितो, अव्वत्ता वाऽवि अहव असमत्था।
एय सहायाऽऽगाढं, तम्हाणु मुणी ण विहरेज्जा। पं० भा० ४ कल्प०।

होज्ज व सहायसहाया वासावासे नत्थि अवत्तव्वया सुत्तेण वा दोसा य हिंडमाणस्स वा एगाणियस्स ताहे एगत्थ अत्थइ एगं अत्थंतो अपायच्छितो जाव सहाए न लभइ पाउग्गे, एयं सहायाऽऽगाढं। पं० चू० ४ कल्प। आशुघातिनि अहिदंशनादिकेकारणे च। बृ०।

अहिडक्कविसविसूइय- सज्जक्खयसूलमागाढं॥१४९॥

अहिना- सर्पेण दष्टः कश्चित्साधुः, विषं वा केनचिद्भक्तादि- दिमिश्रं दत्तं, विसूचिका वा कस्यापि जाता, सद्यः क्षयकारि वा कस्यापि शूलमुत्पन्नम् एवमादिकमाशुघाति सर्वमप्यागाढम्। एतद्विपरीतं तु चिरघाति कुष्ठादिरोगात्मकम्- अनागाढम्। बृ० १ उ० २ प्रक०। नि० चू०। ग०। ('गच्छसारणा' शब्दे तृतीय भागेऽत्र विस्तरो वक्ष्यते) अवश्यकर्त्तव्ये कार्य्ये, ग०।

अणगाढे आगाढं, करंति आगाढे अणगाढं॥११९॥

आगाढम्-अवश्यकर्त्तव्यं ग्लानप्रतिजागरणादिकं न आगाढम् अनागाढं तस्मिन् अनागाढे; कार्य इति शेषः। आगाढम्- अवश्यकर्त्तव्यमिति कृत्वा कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा-आगाढे- अवश्यकर्त्तव्ये कार्ये। अनागाढं कार्यं येन कृतेन विनाऽपि सरति; तत्कार्यं कुर्वन्तीत्यर्थः। अथवा-अनागाढयोगानुष्ठाने वर्त्तमाने; आगाढयोगानुष्ठानं कुर्वन्ति। तथा-आगाढयोगानुष्ठाने अना-गाढयोगानुष्ठानं कुर्वन्ति स्वच्छन्दाः। ग० ३ अधि०। औत्पत्तिकेकार्य्ये च। आगाढं तु किंचिदौत्पत्तिकं कार्य्यम्। बृ० १ उ० ३ प्रक०। ''आगाढमुसावाई''॥३७२×॥ आगाढे-कुलकार्य्ये संघकार्य्ये वेति। व्य० ३ उ०।

करणे य विवच्चासं, करेइ आगढेऽणागाढं॥७२२×॥

आगाढे-ग्लानादिकार्य्ये अनागाढं त्रिः कृत्वा परिभ्रमणा-दिलक्षणम्, अनागाढं वा आगाढं सद्यः प्रतिसेवनात्मकं करोति। बृ० १ उ० १ प्रक०। आगाढे- राजद्विष्टादिककार्य्ये। बृ० १ उ० ३ प्रक०। अभिगृहीतमिथ्यादर्शने, पुं०। आगाढःअभिगृहीतमिथ्यादर्शनः। बृ० १ उ० २ प्रक०।

आगाढजोग- पुं० (आगाढयोग) योगभेदे, नि० चू०।

आगाढमणागाढे, दुविहे जोगे समासतो होति॥३६+॥

जोगो दुविहो-आगाढो य, अनागाढो य। आगाढं तु राजम्मि जोगे जतणा सो आगाढो यथा ''भगवती'' त्यादि। नि० चू० १ उ०। बृ०। (अत्र विशेषव्याख्यानम् 'अज्जा' शब्दे प्रथमभागे २२० पृष्ठे गतम्)

आगाढपण्ण- न० (आगाढप्रज्ञ) शास्त्रे, व्य०। ''आगाढपण्णेसु य भावियप्पा''॥३७×॥ आगाढप्रज्ञानि शास्त्राणि तेषु भावितात्मात्यर्थ्य-ग्राहितया तत्रातीवनिष्पन्नमतिः। व्य० ३ उ०।

आगाढपण्ह- पुं० (आगाढप्रश्न) अत्यन्तदुर्भेदप्रश्ने, व्य०।

''आगाढपण्हेसु य संथवेसु''॥२७०+॥ आगाढप्रश्नेषु वाऽत्य-न्तदुर्भेदप्रश्नेषु परिचयेषु सत्स्विति। व्य० १ उ०।

आगाढपरियावण- न० (आगाढपरितापन) बहुतमपीडोत्पाद- नात्मके परितापे, जीत०। ''आगाढपरियावणुद्दवणे''॥३१×॥ बहुतमपीडोत्पादनं चाऽऽगाढम्। जीत०।

आगाढमुसावाइ-(न्)त्रि० (आगाढमृषावादिन्) आगाढे-कुलकार्य्ये, गणकार्ये, संङ्घकार्य्ये वा अनाभाव्यस्य आभाव्यस्य वा (नाभाव्यस्य वा) ज्ञानतया रागद्वेषाज्ञानस्य वा भणनात् मृषावदतीत्येवंशील आगाढमृषावादी। कार्य्ये सति मृषावादिनि। व्य०।

आगाढमुसावादी, बितियतइए उ लोवेति वएउ॥३७२+॥

आगाढे मृषावादी द्वितीयमृषावादादत्तादानविरतिरूपे व्रते लोपयति। व्य० ३ उ०। ('उद्देस' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽत्र विस्तरं वक्ष्यामि)

आगाढवयण-न० (आगाढवचन) अत्यर्थं गाढम् आगाढम् । ''गाढुत्तगूहणकरं, गाहेउं व तेण आगाढं'' (३+)। गाढं उत्तं गाढुत्तं तं केरिसं गूहणकरं अन्यस्थाख्यातुं न शक्यते । अथवा- शरीरस्योष्मा येनोक्तेन जायते तमागाढम् इत्युक्त- लक्षणे वचने, । नि०चू० १० उ०।

सूत्रम्-

जे भिक्खू भदंतं आगाढं वयइ वदंतं वा साइज्जइ ॥१॥

आगाढवचन- परुषवचना-ऽऽगाढपरुषवचननिषेधः-

मा भुंज रायपिंडं-ति चोदितो तत्थ मुच्छितो गिद्धो ।
खुज्जाती माल वच्चह,आगाढं च उप्पती दसमे ॥१॥

गुरुणा वेतितो मुच्छियो गिद्धो एकार्थवचने, अहवा- तं भुंजतो संजमाऽसंजमे ण जाणइ, मूर्च्छितवत् मूर्च्छितो अभिलाषमात्र- गृद्धः, अहवा-खुज्जादियाणमालयं वच्चहेति चोदितो आगाढ- वयणं भणेज्ज। एस उप्पत्ती आगाढवयणस्स दसमुद्देसगस्स्स एस संबंधो। (१ सूत्र व्याख्या)- 'जे' इति णिद्देसे भिक्खू पुव्वव- ण्णिओ, 'भदि' कल्याणे, सुखे च। दीप्ति-स्तुति-सौख्येषु वा, मोहात्मस्य सिलोकः । भदंतो- आचार्या अत्यर्थम्- आगाढं, 'वद' व्यक्तायां वाचि, अण्णं वा वदति-अणुमोदति।

णिज्जुत्तीगाहा-

आगाढं पि य दुविधं, होइ असूआए तह प सूयाए ।
एएसिं द्विविधम्- दोएहं पि पडूवणं वोच्छं ॥२॥

आगाढं द्विविधम्-असूताये, सूताए वा। आगाढफरुसोभय-सुत्ताण तिण्ह वि इमं सइं वा।

गाहा-

गाढुत्तगूहणकरं, गाहेउं व तेण आगाढं ।
णेहरहितं तु फरुसं, उभए संजोयणा णवरं ॥३॥

गाढम्- उक्तं गाढुत्तं, तं केरिसं-गृहणकरं- अन्यस्याख्यातुं न शक्यते। अहवा-शरीरस्योष्मा येनोक्तेन जायते तमागाढं, नेहरहियं णिप्पिवासं, फरुसं भण्णति । गाढफरुसं-उभयं ततियसुत्ते जोगो दोण्ह वि, सूयाऽसूयवयणाणं इमेहिं दारेहिं सरूवं जाणियव्वं।

गाहा-

जातिकुलरूवभासा, धणबलपरियागजसत्तदेलाभे ।
सत्तवयबुद्धिधारण, उग्गहसीले समायारी ॥४॥

अम्हे मो१ जातिहीणा, जातीमंतेहिं को विरोहेण ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥५॥

लोकप्रसिद्धं उल्लिंधितवचनं तव अत्र तादृशं न गृहीतव्यम् । इह तु परं दोषेण सूचयति; स्पष्टमेव दोषं भासतीत्यर्थः । परवत्थुणिद्देसो णामं-'भदंतं' चेव भण्णति, तुमं जातिहीणो त्ति।

गाहा-

अम्हे मो१ कुलहीणा, को कुलपुत्तेहिं सह विरोहेणं ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥६॥

अम्हे मो१ रूवहीणा, सरूवदेहेसु को विरोहेण ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥७॥

अम्हे मो अकतमुहा, अलं विवाएण णेकत्तमुहेहिं ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥८॥

वाग्मीकृतमुखभासाए द्वितीयव्याख्यानम्।

गाहा-

खरफरुसणिट्ठुरं णे, वक्कं तुज्जं मो महुरगंभीरं ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥९॥

सरोसवणियमिअकंतं खरं प्रणयनं हणि तण्हं फरुसं-जगा- रादियं अणुवयारं णिट्ठुरं। 'मो' इत्यात्मनिर्देशे, अक्खरेहिं मितं अत्थमभिधाणेहिं मधुरं सरेण गंभीरं।

गाहा-

अम्हे मो धणहीणा, आसि अगारंमि इड्ढिमं तुज्जे ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥१०॥

एमेव सेसएसु वि, जोएयव्वा असूय- सूयाओ ।
अत्तगता तु असूया, सूया पुण पागडं भणिया ॥११॥

अप्पणो दोसं भासति, ण परस्स, एसा असूया । ण अप्पणो परस्स पुडमेव दोसं भासति एसा सूया। सूयतीव सूया। औरसबलयुक्तो बलवान्। परियाओ- प्रव्रज्याकालः । सक्तो वा सक्तः- प्रथमे वयसि वर्त्तमानः, त्रिदशवत् वयोवर्जो वा जंमि वए ठितो तस्स तदा गुणवासंति उप्पत्तियादिबुद्धिजुत्तो बुद्धिमं धारणा दढस्मृतिः बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रिताः- संदिग्धं ब्रुवाणा उग्गहं करेंति, अक्कोहादिणा सालेवे चक्कबालसामायारीपज्जुत्तो कुसलो वा एते अत्था सव्वे सूयाऽसूएहिं भाणियव्वा।

गाहा-

एक्केक्का सा दुविधा, संतमसंता य अत्तणि परे य ।
पच्चक्खपरोक्खाऽवि य, असंतपच्चक्खदोसयरा ॥१२॥

आत्मगता असूया। परगता सूया। असूया-संता, असंता य । सूया विसंता, असंता य। जहत्थेण ठियं संतं अभूतार्थं अनृतं, असंतं- परस्स जं पभासति पच्चक्खं महंतदोसतरं भवति, अहवा- इमेहिं अप्पाणं, परं वा, पसंसति, णिंदति वा।

गाहा-

गणि वायते बहुसुते, सेहा वाऽऽयरियधम्मकहिवादी ।
अप्पकसाए थूले, तणुए दीहे य मडहे य ॥१३॥

अम्हे खमणा ण गणी, को गणवसमेहिं सह विरोहेण ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥१४॥

अगणिं तु हासणादीहिं अगणिं व गणिं पूयागणिं च ।
एवं सेसपएसु वि, सप्पडिपक्खं तु नेयव्वं ॥१५॥

सेसा पादा बहुसुतादीया निवित्तं, बहुयं च सुयं बहुस्सुतो, तिविधो- मेहावी-गहणधारणमेधावी य, आयरियोगच्छाहिवती, तत्थेवं भासति-अम्हे के? आयरियत्तस्स जे सामायारिं पि ण याणामो । अहवा-भणति तुमं को आयरियत्तस्स जो सामायारिं पि ण यासि, चतुव्विहाए अक्खेवणियमादियाए धम्मकहाए लद्धीए जुत्तो ससमय-

१- 'मो' इत्यसात्मनिर्देशे, (६) गाथा विवरणे वक्ष्याते चूर्णिकारः ।

परसमएसु गतागमो उप्पण्णपइतो वादी बहु अल्पकषायः क्रियासु दक्षः स्थूरः तनुर्दक्षः क्षमापूरदेहाको तणुदेहे हीणेण सह विरोधो घट्टेमो णिच्चं उवरिं मडहसरीरेहिं को विरोहेण, णिंदं च करेंति, थुती य, परमप्पणो कहतरं णाउं परवयणपयोगवसा पुव्वुत्तरमप्पणो देति एतेसामन्नतरं आगाढं जो वदति तस्सिमा सोही।

गाहा-

छेदादी आरोवण, नेयव्वा जाव मासियं लहुगं।
आयरिए वसभंमि य, भिक्खुंमि य खुड्डुए चेव ॥१६॥
आयरिओ आयरियं, आगाढं वयति पावई छेयं।
वसभे छग्गुरु भिक्खु- म्मि छल्लहू खुड्डुए गुरुगा ॥१७॥

आयरिओ आयरियं आगाढं वदति- छेदो, आयरिओ वसभं ह्व, आयरिओ भिक्खुं ह्व, आयरिओ खुत्ते ह्व।

गाहा-

वसभे छग्गुरुगाई, छल्लहुगा भिक्खुखुड्डे गुरुगाई।
अंता पुण सिं चउ लहु, मासगुरू मासलहुओ य ॥१८॥

वसभो आयरियं आगाढं वदति ह्व, खुत्तो वसभं ह्व, खुत्तो खुत्तं, अहवा अन्यथा प्रायश्चित्तक्रमः।

गाहा-

पंचण्हापरियारइ, छेया एक्केक्कहासणा अहवा।
राइंदियवीसंऽतं, चउण्ह चत्तारि अविसिट्ठा ॥१९॥

आयरियवसभभिक्खुंयरो खुत्तो यच्छेदादी वीसए रातिंदियाइं अंतेणं चेव वारणियप्पओगेणं वारेयव्वं, जत्थ जत्थ चउगुरुगं तत्थ तत्थ सुत्तणिवाओ दट्ठव्वो, अहवा-पुव्वुत्ताण चउण्हं चउगुरुगं तव-कालविसेसियं, अहवा-सव्वेसिं अविसिट्ठं चउ।

गाहा-

जं चेव परट्ठाणे, आसायंताण पावए ओमं।
तं चेव य ओमो वि य, आसाइंतो वि राइणियं ॥२०॥

परट्ठाणं परप्रधानं, ज्येष्ठमित्यर्थः। जं सो ओमं आसादेंतो पावति ओमे वि तं चेव जेट्ठं आसादेंतो पावति।

गाहा-

एएसामन्नयरं, आगाढं जो वदे भयंतारं।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥२१॥

असंखडादयो दोसा पक्खाऽपक्खगहणे य गच्छभेदाः कारणे भणेज्जाऽवि। नि०चू० १० उ०।

ण य णिच्छयमावसिया, छट्ठं बल्ली फलाऽवि संबद्धा।
इति हरिसगमणचोदण- आगाढं चोदितो भणति ॥१॥

कारणे-वासावासे भायं णाणं कसेणं कतेणं वसित्ता पासति। तं बीओ जायपुत्तं भंडाओ ताहे सो हरिसितो भणति-ण णित्थयामो वसित्ता मम वादेसु अतीव बल्लीओ पसारिता ण केवलं पसरिता तो पभूता फलावि संबद्धा न केवलं संबद्धा प्रायशो निष्पन्ना। अभिस्समो पादे तं एवं भणंतं कोऽवि साधू पडिचोएज्जा। मा अज्जो! एवं भणाहि ण वट्टति। ततो सो पडिचोदणाए रुट्ठो फरुसं वदेज्ज।

तत्प्रतिषधार्थमिदं सूत्रमारभ्यते-

जे भिक्खू भिक्खूणं आगाढं वदइ वदंतं वा साइज्जइ॥१॥
जे भिक्खू भिक्खूणं फरुसं वदइ वदंतं वा साइज्जइ॥२॥
जे भिक्खू भिक्खूणं आगाढफरुसं- वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥४॥
आगाढ-फरुस-मीसग-दसमुद्देसंमि वण्णियं पुव्वं।
तं चेव विवज्जंतो, सो पावति आणमादीणि ॥४॥

नि०चू० १५ उ०।

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥९॥
जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा फरुसं वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥१०॥
जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढफरुसं वदइ वदंते वा साइज्जइ ॥११॥ नि०चू०-१३ उ०।
आगाढफरुसमीसग- दसमुद्देसंमि वण्णितं पुव्वं।
गिहिअण्णतित्थिएहि व, ते चेव य होंति तेरसमे ॥२५॥

जहा दसमुद्देसे भदंतं प्रति आगाढफरुसमीसगसुत्ता भणिता, तह इहं गिहत्थ अण्णउत्थियं प्रति वक्तव्या, इमेहिं जातिमत्तिएहिं गिहत्थं अण्णतित्थियं वा ऊणतरं परिभवंतो आगाढं फरुसं वा भणति। नि०चू० १३ उ०।

आगाढसुय- न० (आगाढश्रुत) श्रुतभेदे, नि०चू०। आगाढसुयं भगवतीमाइ, अणागाढं आयारमाति ति। नि०चू० १ उ०। ''आगाढे एवमत्थे वि''॥२४+॥ आगाढे तु-उत्तराध्ययन- भगवत्यादिकेश्रुते। जीत।

प्रागाढाऽऽगाढकारण- न० (आगाढाऽऽगाढकारण) तथाविधे प्रयोजने, ''अण्णत्थ आगाढाऽऽगाढेहिं'' (सूत्र-६६+) अन्यत्र-तथाविधप्रयोजनात्। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०।

भिक्खू य बहुस्सुए बब्भागमे बहुआगाढाऽऽगाढेसु कारणेसु माई मुसावाई। (सूत्र-२३×)

(इदं संपूर्णं सूत्रम् 'उद्देस' शब्दे अस्मिन्नेव भागे व्याख्या सहितं दर्शयिष्यते।) कुलप्रासं गणप्रासं संघप्रासं यत् सचितादिकं व्यवहारेण छेत्तव्यं कार्य्यं वा आगाढाऽऽगाढं कारणे तेषु आगाढाऽऽगाढेषु। व्य० ३ उ०।

आगाढाऽऽगाढकारणदीनि पदानि व्याचिख्यासुराह (भाष्य-कृत्)-

कुलगणसंघप्पत्तं, सच्चित्तादी तु कारणागाढं॥२८५×॥

सचित्त निमित्तोऽचित्तनिमित्तो वा यो व्यवहारः कुले क्षिप्तो यथेदं सचित्तादिकं विवादास्पदीभूतं कुलेन छेत्तव्यमिति तत्कुलप्राप्त-मेवं गणप्राप्तं सङ्घप्राप्तं भावनीयम्, यत्र यत्सचित्तादिकं विवादास्पदीभूतं व्यवहारेण छेद्यतया कुलप्राप्तं वा गणप्राप्तं वा तत्कारणाऽऽगाढं कारणम्। व्य० ३ उ०।

आगामि (न्)- त्रि० (आगामिन्) आगन्तुके, भविष्यत्कालवृत्तौ च। वाच०। लब्धव्ये। स्था० २ ठा० ४ उ०।

आगामिपह- पुं० (आगामिपथ) आगामिनो- लब्धव्यस्य वस्तुनः पन्थाः आगामिपथः। लब्धव्यवस्तुमार्गे, स्था० २ ठा० ४ उ०।

आगामिय- त्रि० (आकामिक) अनभिलषणीये, स्था० ५ ठा०२ उ०।

***अग्रामिक**- त्रि० ग्रामरहिते, स्था० ''अत्थेगइया णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य एगमइं आगामियं छिन्नावायं दीहमद्धमडविमणु- प्पविट्ठा'' (सूत्र-४१७+)। स्था० ५ ठा० २ उ०।

आगार- पुं० (आकार) आ-कृ-घञ्। आकृतौ, आ० म० १ अ०। कल्प०। ज्ञा०। स्था०। भ०। रा०। संस्थाने, औ०। ''सिंगारागारचारुवेसाए'' (सूत्र) शृङ्गारो-मण्डन-भूषणाटोपस्तत्प्रधान आकारः- आकृतिर्यस्याः सा तथा। तथा चारु वेशो- नेपथ्यो यस्याः सा तथा, ततः कर्मधारयः। रा०। औ०। सन्निवेशविशेषे, शृङ्गारः- शृङ्गाररसपोषकः आकारः- सन्निवेशविशेषो यस्य। चं० प्र० २० पाहु०। ''आगारविगारं तह प्पयासंति''॥१२१+॥ आकारं-मुखनयनस्तनाद्याकृतिः, विकारं च मुखनयनादिविकृतिः। यद्वा- आकारस्य स्वाभावि- काकृतेर्विकारो विकृतिस्तं तथा प्रकाशयन्ति। ग० ३ अधि०। आगारो णाम-आगारो त्ति वा, आगति त्ति वा, संठाणं ति वा, एगट्ठा। आ० चू० १ अ०। स्वरूपे, ध० ३ अधि०। ''कइवागयस्स आगारा'' (सूत्र-५५३+)। आकारा- आकृतयः; स्वरूपाणीत्यर्थः। स्था० ७ ठा० ३ उ०। रूपमाकारश्चक्षुर्विषयः। स्था० १ ठा०। प्रतिवस्तुनियते ग्रहणपरिणामे च। आगारो उ विसेसो,'' इति वचनादिति। जी० १ प्रति०। सह आकारेण वर्त्तत इति साकारं विशेषग्रहणप्रवणम्। दर्श० ५ तत्त्व।

(सर्वस्य च वस्तुन आकारवत्त्वम्)-

आगारो च्चिय मइस-द्दवत्थुकिरिया फलाभिहाणाइं।
आगारमयं सव्वं, जमणागारं तयं नऽत्थि॥६४॥
न पराणुमयं वत्थुं, आगाराऽभावओ खपुप्फं व।
उवलंभव्ववहाराऽ-भावाओ नाणऽऽगारं च॥६५॥

विशे०। (अनयोर्गाथयोरर्थः 'ठवणाणय' शब्दे चतुर्थभागे वर्णयिष्यते) आक्रियते- आकल्प्यतेऽभिप्रेतं मनोविकल्पितं वस्त्वनेनेत्याकारः। आ-कृ-करणे घञ्। बाह्यचेष्टायाम्, विशे०। आ० म० आकारः- स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थाना-दिभावाऽभिव्यञ्जको दिगवलोकनादिः। आह च-

''अवलोयणं दिसाणं, वियंभणं साडयस्स संठवणं।
आसणसिढिलीकरणं, पट्ठियलिंगाइँ एयाइं। उत्त० पाई० १अ०।

यदुक्तम-

''अवलोकनं दिशानां, विजृम्भणं शाटकस्य संवरणम्।
आसनशिथिलीकरणं, प्रस्थितलिङ्गानि चैतानि।१। उत्त० १ अ०।

''आगारेहिं सरेहि य''॥१४०×॥ आकाराः-शरीरगता भावविशेषाः। व्य० १ उ० (विस्तरोऽस्य 'आगारलक्खण' शब्दे-ऽसिमन्नेव भागे वक्ष्यते)। भावे घञ्। हृद्गतभावावेदने, इङ्गिते च। वाच०। आक्रियन्त इत्याकारा आगृह्यन्त इति भावना। सर्वथा कायोत्सर्गापवदे, आव० ५ अ०। ल०। कायोत्सर्गाकारानभिधायोक्तम्- 'एवमादिएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ होज्ज मे काउस्सग्गो'' (सूत्र-३+) त्ति। ल०। आव० (ते च 'काउस्सग्ग' शब्दे तृतीयभागे वर्णयिष्यते)। आमर्य्यादया मर्य्यादाख्या-पनार्थम् आक्रियन्तेविधीयन्ते प्रत्याखान-भङ्गपरिहार्थमित्याकाराः। प्रत्याख्यानापवादहेतावनाभोगादिके, स्था० १० ठा० ३ उ०। प्रव०। पञ्चा०। आव०। ''आगारेहिं विसुद्धं''॥५०५+॥ आकारैः- अनाभोगादिभिः। पं० व० २ द्वार। ''गहणे आगारेसुं''॥४+॥ आकारेषु- प्रत्याख्यानापवादेषु। पञ्चा० ५ विव०। ''दो चेव नमुक्कारे आगारा''॥५०८+॥ आकारो हि नाम- प्रत्याख्यानाऽपवादहेतुः। पं० व० २ द्वार।

(कस्य प्रत्याख्यानस्य कत्याकाराः)-

नवकारपोर (रि) (रु) सीए,
पुरिमड्ढेक्कासणेगठाणे अ।
आयंबिलऽभत्तट्ठे,
चरिमे अ अभिग्गहे विगई॥५०६॥
दो छच्च सत्त अट्ठ य,
सत्तऽट्ठ य पंच छच्च पाणम्मि।
चउ पंच अट्ठ नवए,
पत्तेअं पिंडए नवए॥५०७॥

'नमस्कार' इति-उपलक्षणत्वात् नमस्कारसहिते पौरुष्यां पुरिमार्द्धे एकासने एकस्थाने च आयाम्ले अभक्तार्थे चरमे च अभिग्रहे विकृतौ, किं ?- यथासङ्ख्यमेते आकाराः, द्वौ षट्सप्त अष्टौ च सप्त अष्टौ च पञ्च षट् (पाने) चतुः पञ्च नवाऽष्टौ प्रत्येकं, पिण्डके नवक इति गाथाद्वयाक्षरार्थः॥५०६॥५०७॥

भावार्थमाह-

दो चेव नमुक्कारे, आगारा छच्च पोरिसीए उ।
सत्तेव य पुरिमड्ढे, एकासणगम्मि अट्ठेव॥५०८॥
सत्तेकट्ठाणस्स उ, अट्ठेवाऽऽयंबिलस्स आगारा।
पंच अभत्तट्ठस्स उ, छप्पाणे चरिम चत्तारि॥५०९॥
पंच चउरो अभिग्गह, निव्विइए अट्ठ नव य आगारा।
अप्पावरणे पंच उ, हवंति सेसेसु चतारि॥५१०॥
णवणी उग्गाहिमए, अद्दवदहि पिसिअ घय गुले चेव।
नव आगारा तेसिं, सेसदवाणं च अट्ठेव॥५११॥

द्वावेव नमस्कारे आकारौ, इह नमस्कारग्रहणात् नमस्कार-सहितं गृह्यते, तत्र द्वावेवाकारौ, आकारो हि नामप्रत्याख्यानापवादहेतुः, इह च सूत्रम्-''सूरे उग्गए नमुक्कार-सहिअं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अण्णत्थणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ'' सूत्रार्थः प्रकट एव, आकारार्थस्त्वयम्- आभोगनमाभोगः न आभोगोऽनाभोगः; अत्यन्तविस्मृतिरित्यर्थः तेन, अनाभोगं मुक्त्वेत्यर्थः, अथ सहसा करणं सहसाकारः; अतिप्रवृत्त- योगानिवर्त्तनमित्यर्थः, 'षट्च पौरुष्यां तु' इह पौरुषीनाम-

प्रत्याख्यानविशेषः, तस्यां षडाकारा भवन्ति इह चेदं सूत्रम्- ''पोरुसिं पच्चक्खाइ सूरे उग्गए चउव्विहं पि आहारं असणमित्यादि, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ'' अनाभोगसहसाकारौ पूर्ववत्, प्रच्छन्नकालादीनां त्विदं स्वरूपम्- ''पच्छन्नाओ दिसाओ रएण रेणुना पव्वएण वा अंतरितो सूरो ण दीसइ, पोरुसी पुण्णत्तिकाउं व पारितो, पच्छा णायं ताहे ठाइयव्वं, न भग्गं, जइ भुंजइ तो भग्गं, एवं सव्वेहिऽवि, दिसामोहेण कस्सइ पुरिसस्स कम्हिवि खित्ते दिसामोहो भवइ, सो पुरिमं दिसं न जाणइ, एवं सो दिसामोहेणं अइरुग्गयंपि सूरं दट्ठुं उसूरीहूयंति मण्णइ, नाए ठाति। 'साहुवयणेणं' साहुणो भणंति- उग्घाडा पोरुसी, ताहे सो पजिमितो, पारित्ता भिणइ, अण्णो वा भिणति, तेण से भुंजंतस्स कहियं ण पूरति, ताहे ठाइयव्वं। समाही णाम तेण पोरुसी पच्चक्खाया आसुकारियं च दुक्खं जायं, अण्णस्स वा, ताहे तस्स पसमणनिमित्तं पाराविज्जइ ओसहं वा दिज्जइ, एत्थंतरा णाए तहेव विवेगो। सप्तैव तु पुरिमार्द्धे, पुरिमार्द्धे- प्रथमप्रहरद्वयकालावधिप्रत्याख्यानं गृह्यते तत्र सप्ताऽऽकारा भवन्ति, इह चेदं सूत्रम्- 'सूरे उग्गए' इत्यादि पूर्वसदृशं 'मयहराऽऽगारेणं' ति विशेषः, अस्य चायमर्थः- अयं च महान् अयं च महान् अयमनयोरतिशयेन महान् महत्तरः आक्रियत इत्याकारः, एतदुक्तं भवतिमहल्लं पयोयणं, तेण अब्भत्तट्ठो पच्चक्खातो, ताहे आयरिएहिं मण्णइ- अमुगं गामं गंतव्वं, कहेइ जहा मम अज्ज अब्भत्तट्ठो, जदि ताव समत्थो करेउ जाउ, य, ण तरइ अण्णो भत्तट्ठिओ अभत्तट्ठिओ वा जो तरइ सो वच्चउ, णऽत्थि अण्णो तस्स कज्जस्स समत्थो ताहे तस्स चेव अब्भत्तट्ठियस्स गुरू विसज्जिंजति, एरिसस्स तं जेमंतस्स अणभिखासस्स अण्भत्तट्ठियनिज्जरा जा सा से भवइ, एवमादिमयहरागारो। एकाशने अष्टावेव, एकाशनं नाम सकृदुपविष्टपुताचालनेन भोजनं, तत्राष्टावाकारा भवन्ति, इह चेदं सूत्रम्- एक्कासणगमित्यादि, ते च अण्णत्थणाभोगेणं १ सहसागारेणं २ सागारिआगारेणं ३ आउट्टणपसारणगारेणं ४ गुरुअब्भुट्ठाणेणं ५ पारिट्ठावरियागारेणं ६ मयहरागारेणं ७ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं ८ वोसिरति, अणाभोगसहसाकारा तहेव, सागारिअं अद्धसमुद्दिट्ठस्स आगयं, जइ बोलेइ पडिच्छइ, अह थिरं ताहे सज्जायवाघाउ त्ति उट्ठेउं अण्णत्थ गंतूणं समुद्दिसइ, हत्थं वा पायं वा सीसं वा आउट्टिज्ज वा पसारिज्ज वा ण भज्जइ, अब्भुट्ठाणारिहो आयरितो पाहुणगो वा आगओ अब्भुट्ठेयव्वं तस्स एवं समुद्दिट्ठस्स उट्ठियस्स ण भज्जइ, पारिट्ठावणिया जइ होज्ज कप्पइ, मयहरागारसमाहीओ तहेव त्ति गाथार्थः॥५०८॥ 'सप्तैकस्थानस्य तु' एकस्थानं नाम प्रत्याख्यानं, तत्र सप्ताऽऽकारा भवन्ति, इहेदं सूत्रम्- 'एगट्ठाण' मित्यादि, एगट्ठाणए जं जहा अंगोवंगं ठविअं तेण तहाठिएण चेव समुद्दिसियव्वं, आगारा से सत्त, आउंटपसारणा नऽत्थि, सेसं जहा एक्कासणए। अट्ठेवाऽऽयामाम्लस्याऽऽकाराः, अणाभोगा० १ सहसागारेणं २ लेवालेवेणं ३ उक्खित्तविवेगेणं ४ गिहत्थसंसट्ठेणं ५ पारिठावणियागारेणं ६ मयहरागारेणं ७ सव्व-समाहिवत्तियागारेणं ८ वोसिरति, अणाभोगसहसक्कारा तहेव, लेवालेवो वा, जइ भाणे पुव्वं लेवाडगं गहिअं समुद्दिट्ठं संलिहिये च जइ तेण आणेति ण भज्जइ, उक्खित्तविवेगो जइ आयंबिले पडइ विगतिमादि उक्खिवित्ता विकिंचउ, मा णवरि गलउ, अण्णं वा आयंबिलस्स अपाउग्गं जइ उद्धरिउं तीरइ उद्धरिए ण उवहम्मइ, गिहत्थसंसट्ठेऽवि जइ गिहत्थो डोवलियं भायणं वा लेवालेवाडं कुसणाईहिं तेण इसित्ति लेवाडादीहि देति ण भज्जइ, जइ गसो आलक्खिज्जइ बहुओ ताहे ण कप्पइ, पारिट्ठावणियमयहरगसमाहीओ तहेव। पश्चाऽभक्तार्थस्य तु, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः, उपवास इत्यर्थः, तस्य पञ्चाऽऽकारा भवन्ति, इहेदं सूत्रम्- 'सूरे उग्गए' इत्यादि, तस्स पंच आगारा- अणाभोग- सहसाकार-पारिट्ठावण- मयहर- समाहि त्ति, जइ तिविहस्स पच्चक्खाइ तो विकिंचणिया कप्पइ, जइ चउव्विहस्स पच्चक्खाइ पाणगं च नऽत्थि न वट्टइ जइ पुण पाणगंपि उव्वरियं ताहे से कप्पइ, जइ तिविहस्स पच्चक्खाइ ताहे से पाणगस्स छ आगारा कीरंति- लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा, अच्छेण वा, बहलेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा, वोसिरइ'' प्रकटार्था एते छप्पि। एतेन षड्पान इत्येतदपि व्याख्यातमेव। 'चरमे चत्वार' इत्यत्र चरिमं दुविहं- दिवसचरिमं भवचरिमं च, दिवसचरिमस्स चत्तारि- अण्णत्थअणाभोगा सहस मयहर सव्वसमाहि, भवचरिमं- जावज्जीवियं, तस्सवि एए चत्तारि त्ति गाथार्थः ॥५०९॥ पञ्च चत्वारश्चाभिग्रहे निर्विकृतौ अष्टौ नव वाऽऽकाराः 'अप्रावरण' इत्यप्रावणाभिग्रहे पञ्चैवाकारा भवन्ति शेषेष्वभिग्रहेषु- दण्डकप्रमाजनादिषु चत्वार इति गाथार्थः॥५१०॥ भावार्थस्तु- 'अभिग्गहेसु अवाउडत्तणं कोइ पच्चक्खाइ तस्स पंच-अणाभोगा सहसा चोलपट्टगाऽऽगारा मयहर समाहि, सेसेसु चोलपट्टगागारो णत्थि, निव्विगईए अट्ठ नव य आगारा' इत्युक्तं, अत्र विकृतयः पूर्वोक्ताः, अधुना प्रकृतमुच्यते- क्वाष्टौ क्व वा नवाऽऽकाराः ? इति, तत्र-नवनीते उद्गाहिमके अद्रवदध्निः, गालित इत्यर्थः, 'पिशिते'- मांसे कृते गुडे चैव, अद्रवग्रहणं सर्वत्राभिसंबन्धनीयं, नवाकारा अमीषां विकृतिविशेषाणां भवन्ति, शेषाणां द्रवाणां- विकृतिविशेषाणामष्टावेवाकारा भवन्ति, उत्क्षप्तविवेको न भवनीति गाथार्थः॥५११॥ इह चेदं सूत्रम्- 'निव्विगतीयं पच्चक्खाइ' इत्यादि, अण्णत्थ १ सहसा २ लेवालेव ३ गिहत्थसंसट्ठ ४ उक्खित्तविवेग ५ पडुच्चमक्खिएणं ६ पारिट्ठावणिया ७ मयहर ८ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं ९ वोसिरइ, तत्थ अणाभोग- सहसाकारा लेवालेवा तहेव दट्ठव्वा, गिहत्थसंसट्ठस्स उ इमो विहीखीरेण जइ कुसणिओ कूरो लब्भइ, तस्स जइ कुंडगस्स ओदणाउ चत्तारि अगुलाणि दुद्धं ताहे निव्विगइयस्स कप्पइ, पंचमं त्वारद्धं विगतीयं, एवं दहिस्सवि, वियडस्सवि, केसुवि विसएसु वियडेण मीसिज्जइ ओदणो ओगाहिमगो वा, फाणि-यगुलस्स तिल्लघयाण य एएहिं कुसिणिए जइ अंगुलं उवरिं अच्छइ तो वट्टइ, परेण न वट्टइ, महुस्स पोग्गलरसगस्स य अद्ध-अंगुलेण संसट्ठं होइ, पिंडगुलस्स नवणीयस्स य अ(द्वा) मलमित्त संसट्ठं, जइ वि बहूणि एतप्पमाणाणि कप्पंति, एगं पि वड्डं न

कप्पइ, उक्खित्तविवेगो जह आयंबिलये उद्धरिउं तीरइ सेसुसु णऽत्थि, पडुच्च मक्खियं पुण जइ अंगुलिए गहाय मक्खेइ तिल्लेण वा घएण वा ताहे निव्विगइयस्स कप्पइ, अहधाराए छुभइ मणागंपि न कप्पइ, पारिट्ठावणियागारो उलेसओ भणिओ एवइतिवृद्धसम्प्रदायः, कृतंप्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः- आह इह आकारा एव किमर्थमित्याह-

वयभंगे गुरुदोसो, थेवस्सऽवि पालणा गुणकरी अ।
गुरुलाघवं च नेअं, धम्मम्मि अओ उ आगारा ॥५१२॥

व्रतभङ्गो गुरुदोषः भगवदाज्ञाविराधनात्, स्तोकस्यापि पालना व्रतस्य गुणकारिणी च, विशुद्धकुशलपरिणामरूपत्वाद्, गुरुलाघवं च विज्ञेयं धर्मे, एकान्तग्रहस्य प्रभूतापकारित्वेनाशोभनत्वात्, यत एतदेवमतः- अस्मात् कारणादाकारा इति गाथार्थः ॥५१२॥ गृहे, आगमेहिं कतमागारं, आगमारुक्खा तेहिं कतं आगारं ति। नि० चू० ३ उ०।

आगारगोवणा-स्त्री० (आकारगोपना) स्त्रीणां द्वासप्ततिक- लान्तर्गते कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

आगारचरित्तधम्म- पुं० (आगारचरित्रधर्म्म) अगारं गृहं तद्यो- गादागारा- गृहिणस्तेषां यश्चरित्रधर्म्मः- सम्यक्त्वमूलाणुव्रता- दिपालनरूपः स तथा। चारित्रधर्म्मभेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

आगारभाव- पुं० (आकारभाव) आकारस्य- आकृतेर्भावः- पर्य्यायः। भ० ६ श० ७ उ०। आकृतिलक्षणपर्य्याये, भ० १ श० ४ उ०। आकारभावः स्वरूपविशेषः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आगारभावपडोयार- पुं० (आकारभावप्रत्यवतार) आकारस्य- आकृतेर्भावः- पर्य्यावः। अथवा- आकाराश्च भावाश्च आकार-भावास्तेषां प्रत्यवतारः- अवतरणमाविर्भावः आकारभाव-प्रत्यवतारः। भ० ६ श० ७ उ०। आकारभावस्यआकृति- लक्षणपर्य्यायस्य प्रत्यवतारः- अवतरणमाकारभावप्रत्यवतारः। भ० ६ श० ७ उ०। आकृतिलक्षणपर्य्यायस्याविर्भावे, जी०।

किमागारभावपडोयारा णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता। (सूत्र- १२३+)

आकारभावः- स्वरूपविशेषः कस्याऽऽकारभावस्य प्रत्यवतारो येषां ते किमाकारभावप्रत्यवताराः, बहुलग्रहणाद्वैयधिकरण्येऽपि समासः। णमिति पूर्ववत्, द्वीपसमुद्राः किंस्वरूपं द्वीपसमुद्राणामिति भावः। जी० ३ प्रति० ४ अधि० १ उ०। (अत्र विस्तरः 'दीवसमुद्द' शब्दे चतुर्थभागे २५४३ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

आगारलक्खण- न० (आकारलक्षण) आक्रियते- अभिप्रेतं ज्ञायतेऽनेनेत्याकारो- बाह्यचेष्टारूपः स एवान्तरोक्तगमकत्वाल्लक्षणमाकारलक्षणम्। लक्षणविशेषे, आन्तरोक्तगमकता चाकारस्य सुप्रसिद्धा। आ० म० १ अ०।

''आगारे'' त्ति (२१४९)।आकारलक्षणम् (भाष्यकारः) व्याचिख्यासुराह-

बाहिरचिट्ठागारो, लक्खिज्जइ तेण माणसाकूतं।
आहारादिच्छाह- त्थवयणनेत्ताइसण्णाहिं ॥२१५५॥

आक्रियते-आकल्प्यते ज्ञायतेऽभिप्रतं- मनोविकल्पितं वस्त्वनेनेत्याकारो- बाह्यचेष्टारूपः। तेन च मानसमाकूतम्- अभिप्रेतं वस्तु लक्ष्यत इति लक्षणमसावुच्यते। तथाहि-राजादीनामाहारादीच्छाहस्तवदननेत्रादिसंज्ञाभिलक्ष्यत एव विचक्षणैः। उक्तं च-''आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च नेत्र-वक्त्रविकारैश्च, लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः''॥१॥ इति। विशे०।

(तच्चानेकविधं दर्शितं यथा)-

''आगारलक्खणं अणेगविहं- गंतुमागारे देति, भोत्तुमागारं देति, सौतुमागारं देति एवं वक्तुं, द्रष्टुमित्यादि, कहं गंतुं। ''अवलोयणादिसाणं, वियंभणं साडगस्स सट्ठवणा। आसणसिढिलीकरणं, पडित्तलिंगाणि चत्तारि ॥१॥ भोत्तुं- मिच्छातिभोयणविधिं वदणं पस्संदते य से बहुसो दिट्ठी य भमति तत्थेव पडति छायस्स लिंगाणि तण्णं विक्रियता ततो हुतं वा पुलोएति। सोतुं जहा उदीरते य णिद्दाति तस्स वि य सइसकागयतस्स दुहियस्स उ मिलाइवमसत्थवीयरागस्स गाथा। द्रष्टुं जह आगारेहिं सुणे मोणी वन्नेहिं चक्खुरागेहिं जणमणुरत्तविरत्तं पहट्ठचित्तं च पदुट्ठं ''आकारैरिङ्गितैर्भावैः, क्रियाभिर्भाषितेन च। नेत्रवक्त्रविकारैश्च, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः''॥१॥ अत्थीणि चेव जाणंति रूडस्स खरा दिट्ठीओ। उप्पलधवला पसन्नचित्तस्स दुहियस्स उ गिलायंति गंतुमणस्सुस्सुया होति। आ० चू० १ अ०।

आगारविगार- पुं० (आकारविकार) आकृतेर्विकृतौ, ग०।

गइविब्भमाइएहिं, आगारविगार तह पयासंति।

स्वच्छन्दः श्रमणो गतिभ्रमादिकैः। 'आगारविगार' त्ति-अत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्। तत आकारं मुखनयनस्तनाद्या- कृतिः, विकारं च मुखनयनादिविकृतिः। यद्वा- आकारस्य- स्वाभाविकाऽऽकृतेः विकारो-विकृतिस्तम्, तथा प्रकाशयन्ति। ग० ३ अधि०।

आगारसुद्धि- स्त्री० (आकारशुद्धि) आकारशुद्धिस्तु राजाभियोगादिप्रत्ययाख्यानापवादमुत्कलीकरणात्मिका। शुद्धिभेदे, घ० २ अधि०।

आगारिय-त्रि० (आकारिक) आकारे कुशलः ठञ्, आकारिकः। तत्र नियुक्ते, वाच०।

***आकास्ति**- त्रि० उत्सारिते, ''आरिओ आगारि आस्सारिओ वा एगट्ठं ति''। आव० ४ अ०।

***आगारिक**- न० अगा-वृक्षास्तैः कृतमगारं गृहं तदस्यास्तीति मतुब्लोपादगारो गृहस्थस्तस्येदमागारिकम्। विशे०।

दुविहं चेव चरितं, अगारमणगारियं चेव ॥७८६॥

अगाः- वृक्षास्तैः कृतत्वाद् आ-समन्तात् राजते इति अगारम्- गृहम्, ''क्वचित्''॥५।१।१७१ इति डप्रत्ययः, तदस्यास्तीति। ''अभ्रादिभ्यः''॥७।२।४६॥ इति मत्वर्थीयः आकारप्रत्ययः। अगारःगृही तस्मिन् भवम् आगारिकम्। ''अध्यात्मादिभ्यः इकण्''॥६।३।७८॥ इति इकणप्रत्ययः, चारित्रसामायिकभेदे, आ० म० १ अ०। विशे०।

आगारेऊण- अव्य० (आकार्य्य) रे क्रयास्यसीदानीमित्येव- माहूयेत्यर्थे, आव०।

आगारेऊण परं, रणि व्व जइ सो करिज्ज उस्सग्गं ॥१४५५×॥

'आगारेऊण' त्ति- आकार्य रे रे क्र यास्यसीदानीम्, एवं परम्- अन्यं कञ्चन 'रणि' व्व संग्राम इव यदि स: कुर्य्यात्कायोत्सर्गम्। आव० ५ अ०।

आगाल- पुं० (आगाल) आगालनमागाल:। समप्रदेशावस्थाने, आचा०। सोऽपि चतुर्द्धा-व्यतिरिक्त उदकादेर्निम्नप्रदेशावस्था- नम्, भावागालो ज्ञानादिक एव तस्यात्मनि रागादिरहितेऽव- स्थानमिति कृत्वा। आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। उदीरणाविशेषे च। प्रथमस्थितौ च। यत्पुनर्द्वितीयस्थिते: सकाशादुदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्योदये प्रक्षिपति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते। कर्म्म० ५ कर्म०। (अधिकम् 'उवसमसेढि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

आगास- पुं० (आकाश) न०। आकाशन्ते-दीप्यन्ते स्वधर्मोपेता आत्मादयो यत्र। तस्मिन्, दश० १ अ०। आ-समन्तात् सर्वाण्यपि द्रव्याणि काशन्ते दीप्यन्ते अत्र व्यवस्थितानि। जी० १ प्रति०। आ-मर्य्यादयाऽभिविधिना वा सर्वेऽर्था: काशन्ते- प्रकाशन्ते स्वस्वभावं लभन्ते यत्र तदाकाशम्। भ० २ श० १ उ०। आङिति मर्य्यादया स्वस्वभावापरित्यागरूपया काशन्ते- स्वरूपेण प्रतिभासन्तेऽस्मिन् व्यवस्थिता: पदार्था इत्याकाशम्, यदा त्वभिविधावाङ्तदा आङिति सर्वभावाभिव्याप्त्या काशते इत्याकाशम्। (सूत्र- टी० ३) प्रज्ञा० १ पद। उत्त०। सर्वभावाव- काशनादाकाशम्। आ-मर्य्यादया तत्संयोगेऽपि स्वकीय- स्वकीयरूपेऽवस्थानत: सर्वथा तत्स्वरूपत्वाप्राप्तिलक्षणया काशन्ते स्वभावलाभेनावस्थितिकरणेन च दीप्यन्ते पदार्थसार्था यत्र तदाकाशमिति। अथवा-अभिविधिना सर्वात्मना तत्संयोगा-नुभवलक्षणेन काशन्ते दीप्यन्त पदार्था यत्र तदाकाशम्। अनु० ९७ सूत्रटी०। सर्वद्रव्यस्वभावानाकाशयति- आदीपयति तेषां स्वभावलाभेऽवस्थानदानादित्याकाशम्। आङ्-मर्य्यादाऽभिविधिवाची, तत्र मर्य्यादायाम्- आकाशे भवन्तोऽपि भावा: स्वात्मन्येवासते नाकाशतां यान्तीत्येवं तेषामात्मसादकरणाद् अभिविधौ तु-सर्वभावव्यापनादाकाशमिति। स्था० २ ठा० १ उ० ७४ सूत्रटी०। आ-समन्तात् काशतेऽवगाहदानतया प्रतिभासते इत्याकाशम्। कर्म० ४ कर्म०। लोकालोकव्याप्यनन्तप्रदेशा- त्मकाऽमूर्तद्रव्यविशेषे, अनु०। आकाशं तु जीवादिपदार्थानामा- धारान्यथानुपपत्तेरस्तीति श्रद्धेयम्। न च धर्म्माधर्म्मास्ति-कायावेव तदाधारौ भविष्यत इति वक्तव्यं, तयोस्तद्गतिस्थितिसाधकत्वेनोक्तत्वात्, न चान्यसाध्यं कार्यमन्य: प्रसाधयत्यतिप्रसङ्गादिति। अनु०। ९७ सूत्रटी०। ''जीवानां पुद्गलानां च, धर्माधर्मास्तिकाययो:। बादराणां घटादीना- माकाशमवकाशदम्॥१॥'' इति। आव० ४ अ०। जीवानां पुद्गलानां धर्माधर्मास्तिकाययोर्बादरघटादीनां चोपग्रहवदवकाशदम्। दर्श० ४ तत्त्व।

अथाऽऽकाशद्रव्यस्य लक्षणमाविष्करोति-

यो दत्ते सर्वद्रव्याणां, साधारणावगाहनम्।
लोकालोकप्रकारेण, द्रव्याकाश: स उच्यते ॥८॥

य:-आकाशास्तिकाय: सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहनम्- सामान्यावकाशं दत्ते स द्रव्याकाश: लोकालोकप्रकारेण उच्यते इति। यत: सर्वद्रव्याणां य: सर्वदा साधारणावकाशदाता स: अनुगत एक आकाशास्तिकाय: कथित: सर्वाऽऽधार इति। यथा पक्षिणां गगनमिवेति व्यवहारनयदेशभेदेन भवेत्, तद्देशीयानुगत आकाश एव पर्यवसन्न: स्यात्। तथा च-तत्तद्देशोर्ध्व- भागावच्छिन्नमूर्त्ताभावादिना तद्व्यवहारोप-पत्तिरिति वर्द्धमाना- द्युक्तं नाऽनवद्यम्। तस्याभावादिनिष्ठत्वेनानु-भूयमानद्रव्या-धारांशापलपप्रसङ्गात्तावद्गतिसन्धानेऽपि लोकव्यवहा-रेणाकाशदेशप्रतिसंधतयोक्तव्यवहाराच्च। द्रव्या० १० अध्या०।

मायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥९॥

यत्पुन: सर्वद्रव्याणां-जीवादीनां भाजनम्- आधाररूपं नभ:- आकाशम् उच्यते। तच्च नभ: अवगाहलक्षणं अवगाढुं प्रवृत्तानां जीवानां पुद्गलानां आलम्बो भवति इति। अवगाह:- अवकाश: स एव लक्षणं यस्य तत् अवगाहलक्षणं नभ उच्यते। उत्त० २८ अ०।

(आकाशस्य नित्यत्वं द्रव्यत्वञ्च)-

आकाशाख्यैकनित्य- द्रव्यप्रसिद्धये शब्दं गुणत्वाल्लिङ्गत्वेन प्रतिपादयन्ति। तथा च परेषां प्रयोग:- ये विनाशित्वोत्पत्ति-मत्त्वादिधर्माध्यासितास्ते क्वचिदाश्रिता:, यथा घटादय:, तथा च-शब्दास्तस्मादेभिराश्रितै: क्वचिद् भवितव्यं, यश्चैषामाश्रय: स पारिशेष्यादाकाश:, तथाहि- नायं शब्द: पृथिव्यादीनां वायु-पर्यन्तानां गुण:, अध्यक्षग्राह्यत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात्, ये तु पृथिव्यादीनां चतुर्णां गुणास्ते बाह्येन्द्रियाऽध्यक्षत्वे सति-अकारणगुणपूवका न भवन्ति, यथा रूपादयो, न च तथा शब्द: एवम्-'अयावद्द्रव्यभावित्वाद्' 'आश्रयाद्ग्रेर्यादेरन्यत्रोपलब्धेश्च' इत्यादयो हेतवो द्रष्टव्या:। स्पर्शवतां यथोक्तविपरीता गुणा उपलब्धा:। 'प्रत्यक्षत्वे सति' इति च विशेषणं परमाणुगतै: पाकजैरनैकान्तिकत्वं मा भूदित्युपात्तम्। न च-आत्मगुण: अहंकारेण विभक्तग्रहणाद् बाह्येन्द्रियाध्यक्षत्वात् आत्मान्तरग्राह्यत्वाच्च, बुध्यादीनामात्मगुणानां तद्वैपरीत्योपलब्धे:। न दिक्-काल-मनसां श्रोत्रग्राह्य- त्वात्। अत: पारिशेष्यात् गुणो भूत्वा आकाशस्य लिङ्गम् आकाशं च शब्दलिङ्गाविशेषात् विशेषलिङ्गाभावच्च एकं विभु च सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् समवायित्वे सत्यनाश्रितत्वाच्च, द्रव्यम्, अकृतकत्वान्नित्यम्। सम्म० ३ काण्ड ४९ गाथाटी०।

(आकाशस्य सावयवत्त्वम्)-

न च सावयवत्वमसिद्धं प्रदेशव्यवहारस्याऽऽकाशे दर्शनात्। न च-'आकाशस्य प्रदेशा:' इति व्यवहारो मिथ्या, मिथ्या-त्वनिमित्ताभावात्। न च संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वनिमित्त: सावयवत्वाध्यारोपो मिथ्या-त्वकारणं निरवयवे अव्याप्यवृत्ति: संयोगाधारत्वस्याध्यारोपनिमि-त्तस्यैवानुपपत्ते:। यदि च-सावयवं नभो न भवेत् तदा श्रोत्राकाश-

समवेतस्येव शब्दस्य ब्रह्मभाषितस्याप्युपलम्भोऽस्मदादि (दे) र्भवेत् निरवयवैकाकाशश्रोत्रसमवेतत्वात्। अथ धर्माधर्माभिसंस्कृतकर्ण-शष्कुल्यवरुद्धाकाशदेश एव श्रोत्रं तत्र न च ब्रह्मभाषितस्यासमवा-यान्नाऽस्मदादिभिः श्रवणम्। नन्वेवम्सैव सावयवत्वप्रशक्तिः श्रोत्राकाशप्रदेशात् ब्रह्मशब्दाधाराकाश- देशस्यान्यत्वात्। यदि च-सावयवमाकाशं न भवेत्, शब्दस्य नित्यत्वं सर्वगतत्वं च स्याद् आकाशैकगुणत्वात्तन्महत्त्ववत्। अथ क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणत्वस्य शब्दे प्रमाणतः प्रतिसिद्धेर्नायं दोषः। नन्वेवमेकदेशवृत्तिविशेषगुणत्वाभ्यु-पगमे कथं न शब्दाधारस्याकाशस्य सावयवत्वप्रसिद्धिः? 'न हि निरवयवत्वे तस्यैकदेशे एव शब्दो वर्त्तते न सर्वत्र' इति व्यपदेशः संगच्छते। न च संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वनिबन्धनोऽयं यत आकाशं व्याप्य संयोगो न वर्त्तते इति तदेकदेशे वर्त्तते इत्यभ्युपगमप्रसक्तिः। व्याप्यवृत्तित्वं हि सामस्त्यवृत्तित्वं, तत्प्रतिषेधश्च पर्युदासपक्षे एकदेशवृत्तित्वमेव, प्रसज्यपक्षे तु वृत्तिप्रतिषेध एवः, नचासौ युक्तः संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात्। तदभावे च तदभावात्। न च निरवयवत्वे आकाशस्य सन्तानवृत्त्या आगसत्य शब्दस्य श्रोत्रेणाप्युपलब्धिः संभवति अन्याऽन्याकाशदेशोत्पत्तिद्वारेण तस्य श्रोत्रसमवेतत्वा- नुपपत्तेः। जलतरङ्गन्यायेनाऽपराऽपराऽऽकाशदेशादावपरापरशब्दोत्पत्तिप्रक-ल्पनायां कथं नाऽऽकाशस्य सावयवत्वम्? किं च- आकाशं शब्दोत्पत्तौ समवायिकारणमभ्युपगम्यते, यच्च स मवायिकारणं तत्सावयवं, यथा-तन्त्वादि, समवायिकारणं च। परेण शब्दोत्पत्तावाकाशमभ्युपगतम्। न च परमाणवात्मादिना व्यभिचारः तस्यापि सावयवत्वात्; अन्यथा-द्व्यणुकबुद्ध्या- देस्तत्कार्यस्य सावयत्वं न स्यात् न च बुद्ध्यादेः सावयव-त्वमसिद्धम् आत्मनः सावयवत्वेन साधित्वात् तद्विशेषगुणत्वेन बुद्ध्यादेः कथंचित्तादात्म्यसिद्धितः सावयवत्वोपपत्तेः।

नच यत एव प्रमाणादणवः सिद्धास्तेषां निरवयवत्वमपि तत एव सिद्धमिति तदग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् सावर्यवत्वा- नुमानस्याप्रामाण्यं प्रमाणतः परमाणूनामसिद्धावाश्रयासिद्धितः सावयवत्वानुमानस्या-प्रवृत्तिरिति वाच्यं, यतः सावयवकार्यस्य सावयवकारणपूर्वकत्वे साध्ये न पूर्वोक्तदोषावकाशः। न च कार्यकारणयोरात्यन्तिको भेदः, समवायनिषेधे हि हिमवद्- विन्ध्ययोरिव भेदे विशिष्टकार्यकारणरूपता-नुपपत्तेः। ततो द्व्यणुकादेः परमाणुकार्यस्य सावयवत्वात् तदात्मभूताः परमाणवः कथं न सावयवा इति न परमाण्वादिभिर्व्यभिचारः।

अपि च-सावयवमाकाशं तद्विनाशान्यथानुपपत्तेः। नचा-ऽऽकाशस्य विनाशित्वमसिद्धम्। तथाहि-अनित्यमाकाशं, तद्विशेषगुणाभिमतशब्द-विनाशान्यथानुपपत्तेः। यतो न तावदा-श्रयविनाशाच्छब्दविना-शोऽभ्युपगतस्तन्नित्यत्वाभ्युपगमविरोधात्; न विरोधिगुणप्रादु-र्भावात्, तन्महत्त्वादेरेकार्थसमवायित्वेन रूपरसयोरिव विरोधिता-ऽसिद्धेः। विरोधित्वे वा श्रवण-समयेऽपि तद्भावप्रसङ्गः तदापि तन्महत्त्वस्य सद्भावात्। नापि संयोगादिर्विरोधिगुणस्तस्य तत्कारणत्वात्। नाऽपि संस्कारः तस्य गुणत्वेन शब्देऽसं भवात्संभवे वा शब्दस्य द्रव्यत्वप्रसक्तिः आकाशस्य द्रव्यत्वेन तत्संभवेऽपि तपस्याभावे आकाशस्याप्यभावप्रक्तिः तस्य तदव्यतिरेकात् व्यतिरेक वा 'तस्य' इति संबन्धायोगात्। नापिशब्दोपलब्धिप्रापकधर्माद्यभावात् तदभावः तस्य विभिन्नाश्रय-स्यानेन विनाशयितुमशक्यत्ववात्। शक्यत्वे वा तदाधारस्यापि विनाशप्रसङ्गस्तस्य तदव्यतिरेकात् ततोऽम्बरविशेषगुणत्वे शब्दस्य तद्विनाशान्यथानुपपत्त्या तस्यापि विनाशितत्वं, ततोऽपि सावयत्वम्। न च बुद्ध्यादिभिर्व्यभिचारः उक्तोत्तरत्वत्।

किंच- आश्रितविनाशे आश्रयत्वस्यापि विनाशः आश्रित-त्वनिबन्धनत्वात् तस्य धर्मस्य च धर्मिणः कथंचिदव्यतिरेकात्। तथा आकाशस्य विनाशित्वात्सावयवत्वं घटादेरिवोपपन्नम्। किं च सावयवमाकाशम्, हिमवद्विन्ध्यावरुद्धविभिन्नदेशत्वात् तदवष्टब्धदेश-भूभागवद्, अन्यथा तयोरूपरसयोरिवैकदेशा- कास्थितिप्रसक्तिः, न चैतद् दृष्टमिति सर्वं वस्तूत्पादविनाश- स्थित्यात्मकत्वात्कथंचित्सावयवं सिद्धम्। सम्म० ३ काण्ड ३३ गाथाटी०।

(आकाशस्य निरालम्बनत्वम्)- ''आगासं चेव निरालंबं'' (सूत्र-२९×) आकाशमिव निरालम्बो यथाऽऽकाशमनालम्बनं तथा साधुर्न किञ्चिदालम्बते। प्रश्न० ५ संव० द्वार।

(आकाशं द्विविधम्)-

दुविहं आगासे पण्णत्ते, तं जहा- लोगागसे चेव, अलोगागासे चेव। (सूत्र- ७४+)

तत्र लोको यन्नाकाशदेशे धर्म्मास्तिकायादिद्रव्याणां वृत्तिरस्ति स एवाकाशं लोकाकाशमिति। (स्था०) लोकाऽलोकभेदेनाऽऽकाश-द्वैविध्यमुक्तम्। स्था० २ ठा० १ उ०।

(एनमेवार्थं मीमांसयन्नाह)-

धर्मादिसंयुतो लोको-ऽलोकस्तेषां वियोगतः।
निरवधिः स्वयं तस्या-ऽवधित्वं तु निरर्थकम्॥१॥

धर्मास्तिकायादिसंयुक्त आकाशो लोकः, तदितरस्त्वलोकः। स च पुनर्निरवधिः- अपारः अलोकः, तस्य- अलोकस्य स्वयम्-आत्मनाऽ-वधित्वमन्तर्गडु इति। कश्चिदाहात्र- यथा लोकस्य पार्श्वे अलोकस्यापि पारोऽस्ति; तथैवाग्रेऽपि द्वितीयतटे पारो भविष्यतीति ब्रुवाणमुत्तरय-न्तिलोकस्तु भावरूपोऽस्ति, तस्यावधित्वं घटते, परं तु अग्रे अलोकस्य केवलमभावात्मकस्याऽवधित्वं कथं कल्पते शशशृङ्गवत्। यथा असद्-अविद्यमानं शशशृङ्गं न कुत्रापि निरीक्ष्यमाणं विद्यमानवदाभाति तथैवैतस्याप्यलोकस्य अविद्यमानस्यावधित्वं न घटामाटीकते। अथ भावरूपात्मकत्वमङ्गीक्रियते तदा तु षडतिरिक्तमन्यद् द्रव्यं नास्तीति व्यवहारात् आकाशदेशरूपस्य तु तदन्तत्वं कथयतां बुद्ध्या घातो जायते। तस्मादलोकाकाशस्तु अनन्त एवं मन्तव्य इति। आकाशो यथा साऽन्तः शंसितो धर्माऽधर्मानुभावात् तस्य भावस्तदभावात्तदभावः। अलोकाका-शोऽपि सान्तो धर्माधर्मानुभावी भवन् अतिरिक्तद्रव्यत्वमापत्स्यते। तस्माद्यथोक्तमेव न्याय्यम्। यावता आकाशेन तद्धर्माधर्मौ व्याप्त स्थितौ तावता

तत्परिमाणशालिना आकाशेनापि भवितव्यं तयोरभावात्त- स्याप्यभाव: सुपरिशीलनीय: इति। द्रव्या० १० अध्या०।

(लोकाऽलोकाऽऽकाशौ विस्तरेण)-

कइविहें णं भंते ! आगासे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे आगासे पण्णत्ते, तं जहा- लोयाऽऽगासे य, अलोयाऽऽगासे य।

'कतिविहे णं भंते !' इत्यादि, तत्र लोकाऽलोकाऽऽकाशयोर्लक्षणमिदम्- ''धर्मादीनां वृत्ति-र्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम्। तैर्द्रव्यै: सह लोक- स्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम्''॥१॥ इति।

लोयाऽऽगासे णं भंते ! किं जीवा, जीवदेसा, जीवपएसा, अजीवा, अजीवदेसा, अजीवपएसा? गोयमा ! जीवा वि जीवदेसा वि, जीवपदेसा वि, अजीवा वि, अजीवदेसा वि, अजीवपदेसा वि। जे जीवा ते नियमा एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया, जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा ०जाव अणिंदियदेसा, जे जीवपदेसा ते नियमा एगिंदियपदेसा ०जाव अणिंदियपदेसा। जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहारूवी य, अरूवी य। जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-खंधा, खंधदेसा, खंधपदेसा, परमाणुपोग्गला। जे अरूवी ते पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा- धम्मत्थिकाए, नो धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा। अधम्मत्थिकाए नो अधम्मत्थि- कायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पदेसा। अद्धासमए। (सूत्र-१२१)

'लोगागासेणमि' त्यादौ षट् प्रश्ना। तत्र लोकाकाशेऽधिकरणे 'जीव' त्ति-सम्पूर्णानि जीवद्रव्याणि 'जीवदेस' त्ति- जीवस्यैव बुद्धिपरिकल्पता द्व्यादया विभागा:। 'जीवप्पएस' त्ति-तस्यैव बुद्धिकृता एव प्रकृष्टा देशा: प्रदेशा निर्विभागा; भागा इत्यर्थ:। 'अजीव' त्ति- धर्मास्तिकायादय:, ननु लोकाकाशे जीवा अजीवाश्चित्युक्ते तद्देशप्रदेशास्तत्रोक्ता एव भवन्ति, जीवाद्यव्यतिरिक्तत्वाद्देशादीनां, ततो जीवाजीवग्रहणे किं देशादिग्रहणे- नेति? नैवम्- निरवयवा जीवादय इति मतव्यवच्छदार्थत्वादस्येति। अत्रोत्तरम्- 'गोयमा! जीवाऽवी' त्यादि, अनेन चाद्यप्रश्नत्रयस्य निर्वचनमुक्तम्। अथान्त्यस्य प्रश्नत्रयस्य निर्वचनमाह- 'रूवीय' त्ति- मूर्त्ता:; पुद्गला इत्यर्थ:,'अरूवीय' त्ति-अमूर्त्ता; धर्मास्तिकायादय इत्यर्थ:, 'खंध' त्ति-परमाणुप्रचयात्मका: स्कन्धा:स्कन्धदेशा द्व्यादयो विभागा: स्कन्धप्रदेशास्तस्यैव निरंशा अंशा: परमाणुपुद्गला: स्कन्धभावमनापन्ना: परमाणव इति, ततो लोकाकाशे रूपिद्रव्यापेक्षया 'अजीवा वि अजीवदेसावि अजीवप्पएसावि' इत्येतदर्थत: स्यादणूनां स्कन्धानाश्चाजीवग्रहणेन ग्रहणात्, 'जे अरूवी ते पंचविहे' त्यादि- अन्यत्राप्यरूपिणो दशविधा उक्ता:, तद्यथा- आकाशास्तिकायस्तद्देश- स्तत्प्रदेशश्चेत्येवं धर्माधर्मास्तिकायौ समयश्चेति दश इह तु सभेदस्याकाशस्याधारत्वन विवक्षितत्वात्तदाधेया: सप्त वक्तव्या भवन्ति, न च तेऽत्र विवक्षिता: वक्ष्यमाणकारणात्, ये तु विवक्षितास्तानाह पञ्चेति, कथमित्याह- 'धम्ममित्थकाये' त्यादि- इह जीवानां पुद्गलानां च बहुत्वादेकस्यापि जीवस्य पुद्गलस्य वा, स्थाने सङ्कोचादि तथाविधपरिणामवशाद् वहवो जीवा: पुद्गलाश्च तथा तद्देशास्तत्प्रदेशाश्च सम्भवन्तीति कृत्वा जीवाश्च जीवदेशाश्च जीवप्रदेशाश्च तथा रूपिद्रव्यापेक्षया अजीवाश्चाजीवदेशाश्चा- जीवप्रदेशाश्चेति सङ्गतम्, एकत्राप्याश्रये भेदवतो वस्तुत्रयस्य सद्भावात्। धर्मास्तिकायादौ तु द्वितयमेव युक्तं, यतो यदा सम्पूर्णं वस्तु विवक्ष्यते तदा धर्मास्तिकायादीत्युच्यते, तदंशविवक्षायां तु तत्प्रदेशा इति तेषामवस्थितरूपत्वात्, तद्देशकल्पना त्वयुक्ता, तेषामनवस्थितरू- पत्वादिति। यद्यपि चानवस्थितरूपत्वं जीवादिदेशानामप्यस्ति तथापि तेषामेकत्राश्रये भेदेन सम्भव: प्ररूपणाकारणम् इह तु तन्नअस्तिकायादेरे- कत्वादसङ्कोचादिधर्मकत्वाच्चेति। अत एव धर्मास्तिकाया- दिदेशनिषेधायाह- ''नो धम्मत्थिकायस्स देसे'' तथा- ''नो अधम्मत्थिकायस्स देसे'' त्ति-, चूर्णिकारोऽप्याह- 'अरूविणो दव्वा समुदयसद्देणं भण्णंति। नीसेसा पएसेहिं वा नीसेसा भणेज्जा, नो देसेणं तस्स अणवट्ठियपमाणत्तणओ, तेणं न देसेण निद्देसो, जो पुण देससद्दो एएसु कओ सो विसयगयववहारत्थं परदव्वफुसणादिगयववहारत्थं चेति, तत्र स्वविषये धर्मास्तिकायादिविषये यो देशस्य व्यवहारो यथा- धर्मास्ति- काय: स्वदेशेनोर्ध्वलोकाकाशं व्याप्नोतीत्यादि तदर्थं, तथा पर- द्रव्येण ऊर्ध्वलोकाकाशादिना य: स्वस्य स्पर्शनादिगतो व्यवहारो यथा ऊर्ध्वलोकाकाशेन धर्मास्तिकायस्य देश: स्पृश्यते इत्यादि: तदर्थमिति 'अद्धासमए' त्ति-अद्धाकालस्तल्लक्षण: समय:क्षणोऽद्धा- समय:, स चैक एव वर्त्तमानक्षणलक्षण:, अतीताना- गतयोरसत्त्वादिति,। कृतं लोकाकाशगतप्रश्नषट्ककस्य निर्वचनम्।

अथाऽलोकाऽऽकाशं प्रति प्रश्नयन्नाह-

अलो(गाऽऽ) याकासे णं भंते ! किं जीवा ? पुच्छा तह चेव, गोयमा ! नो जीवा ०जाव नो अजीवप्पदेसा। एगे अजीवदव्वदेसे अगुरुयलहुए अणंतेहिं अगरुयलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वाऽऽगासे अणंतभागूणे। (सूत्र-१२२)

'पुच्छा तह चेव' त्ति- यथा लोकाकाशप्रश्ने, तथाहि- 'अलोकाकासे णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा जीवप्पएसा अजीवा अजीवदेसा अजीवप्पएस' त्ति- निर्वचनं त्वेषां षण्णामपि निषेधस्तथा- 'एगे अजीवदव्वदेसं' त्ति- अलोकाकाशस्य देशत्वं लोकालोकरूपाकाश- द्रव्यस्य भागरूपत्वात् 'अगरुअलहुए' त्ति- गुरुलघुत्वाव्यपदश्यत्वात् 'अणंतेहिं अगुरुयलहुयगुणेहिं ति- अनन्तै: स्वपर्यायपरपर्यायरूपैर्गुणै:, अगुरुलघुस्वभावैरित्यर्थ:। 'सव्वागासे अणंतभागूणे' त्ति- लोकाकाशस्यालोकाकाशा- पक्षयाऽऽनन्तभोगरूपत्वादिति। भ० २ श० १० उ०। (एकैकस्या- काशप्रदेशस्यागुरुलघुपर्याया अनन्ता इति 'अगरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे द्रष्टव्यम्।) आकाशस्य पर्य्याया:- नभो- व्योमा- ऽन्तरिक्षाऽऽ-काशादय:। विशे०। आकाशं नभस्तारापथो व्यो-

माऽम्बरमित्यादि। अनु०। स्था०। (अस्य बहवः पर्य्याया 'आगासत्थिकाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वर्णयिष्यते)। अवगाह-दानलक्षणे सर्वद्रव्याधारभूते महाभूतविशेषे च। सूत्र०२ श्रु०१ अ०। शब्दतन्मात्रादाकाशं सुषिरलक्षणम्। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। ''शब्दतन्मात्रादाकाशं गन्धरसरूपस्पर्शवर्जियमुत्पद्यत'' इति च सांख्याः। सूत्र०१ श्रु०१२ अ०। आकाशमिति पारिभाषिकी संज्ञा एकत्वात्तस्य। तच्च-''संख्यापरिमाण-पृथक्त्वसंयोग-विभागाशब्दाख्यैः षड्भिर्गुणैर्गुणवत् शब्दलिङ्गत्वे'' ति। (वैशेषिकाः।) सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। (शब्दस्याकाशगुण-त्वनिराकरणम् 'आगास' शब्दे अस्मिन्नेव भागे गतम्) (आकाशस्य वर्णगन्धादि 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे द्रष्टव्यम्) अनावृते स्थाने च। आकाशम-नावृतं स्थानम्। प्रश्न० ४ सवं० द्वार। छिद्रे, गणितादिप्रसिद्धे सूत्राङ्के च। वाच०।

आगासग-त्रि० (आकाशग) आकाशगामिनि, वाच०। स्वनामख्याते भूतविशेषे, प्रज्ञा०१ पद।

आगासगमा-स्त्री०(आकाशगमा) गमनं गमः आकाशेन गमो यस्याः सा आकाशगमा। विद्याविशेषे, आ०म०१ अ०।

तथा चार्य्यवज्रस्वामिकथायाम्- ''पदानुसारिणा तेन, स्वामिना प्रस्मृता सती। महापरिज्ञाध्ययना- द्विद्योद्धृत्ये नभोगमा''॥१॥ आ०क०१ अ०। ''तेण भगवया पयाणुसा- रित्तणओ पहुद्धा महापरिन्नातो अज्जयणातो आगासगामिणी विज्जा उद्धरिया, तीए गमणलद्धिसंपन्नो भयवं ति।

उक्तमर्थं सम्यगाधायाऽऽह-

जेणुद्धरिया विज्जा, आगासगमा महापरिण्णातो।
वंदामि अज्जवइरं, अपच्छिमो जो सुयधराणं॥७६९॥

येनोद्धृता विद्या 'आगासगम' त्ति-गमनं गमः आकाशेन गमो यस्यां सा आकाशगमा महापरिज्ञातो- महापरि- ज्ञानामकादध्य- यनात् तमार्यवज्रम् आरात्- सर्वहेयधर्म्येभ्यो जातः-प्राप्तः सर्वैरूपादेयगुणै-रित्यार्यः, सचासौ वज्रश्चेति आर्यवज्रस्तं वन्दे, अपश्चिमो यः श्रुतधराणम् दशपूर्वविदाम्।

सांप्रतमन्येभ्योऽधिकृतयाज्ञानिषेधख्यापनाय प्रदान-
निराचिकीर्षुस्तदनुवादतावत्; इदमाह-

भणइ य आहिंडिज्जा, जंबुद्दीवं इमाइ विज्जाए।
गंतूण माणुसनगं, विज्जाए एस मे विसओ॥७७०॥

भणति च वर्त्तमाननिर्देशप्रयोजनं प्राग्वत्। आहिण्डेत्। पाठान्तरं वा- 'आभणिंसु य हिंडिज्जा' इति, बभाण, हिण्डेत्- पर्यटेत् जम्बूद्वीपमनया विद्यया, तथा गत्वा च मानुषनगं- मानुषोत्तरपर्वतं: तिष्ठेयमिति वाक्यशेषः, विद्याया एष मे विषयो-गोचरः।

भणइ य धारेयव्वा, न हु दायव्वा इमा मए विज्जा।
अप्पड्ढिया उ मणुया, होहिंति अतो परं अन्ने॥७७१॥

'भणति चे' ति पूर्ववत्। धारयितव्या प्रवचनोपकाराय, न पुनर्दातव्या इयं मया विद्या। हुशब्दः पुनःशब्दार्थः, किमित्यत आह- अल्पर्द्धय एव, तुशब्द एवकारार्थः, भविष्यन्त्यतः परमन्ये भविष्यत् कालभाविनः। आ० म०१ अ०।

आगासगय- त्रि० (आकाशक) प्रकाशके, स० ३४ सम०।

***आकाशगत**- त्रि० व्योमवर्त्तिनि, स०३४ सम०। औ०। ''आगा-सागएणं चक्केणं आगासगएणं छत्तेणं'' (सूत्र-१०+) आकाशवर्तिना चक्रेण। औ०।

बुद्धातिशेषानधिकृत्येत्याह-

आगासगयं चक्कं, आगासगयं छत्तं, आगासगयाओ सेयचाम-राओ। (सूत्र-३४×)

आकाशगतं- व्योमवर्ति आकाशग (कं) तं वा; प्रकाशमित्यर्थः; चक्रं धर्मचक्रमिति षष्ठः॥६॥ एवमाकाशगं छत्रम्; छत्रत्रयमित्यर्थः इति सप्तमः॥७॥ आकाशवेप्रकाशे श्वेतवरचामरे प्रकीर्णकेइत्यष्टमः॥८॥ स० ३४ सम०। अत्यर्थं तुङ्गे च। स०।

आगासगओ कुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामो इंदज्जओ पुरओ गच्छइ। (सूत्र-३४+)

'आगासगओ' त्ति-आकाशगतः- अत्यर्थन्तुङ्गमित्यर्थः। स० ३४ सम०।

आगासगामि-(न्) त्रि० (आकाशगामिन्) आकाशगे पक्ष्यादौ, आचा०। ''आगासगामिणो पाणा पाणे किलेसंति'' (सूत्र-१७७+) अपरे त्वाकाशगामिनः- पक्षिण इत्येवं सर्वेऽपि प्राणाः- प्राणिनोऽपरान् प्राणिन आहाराद्यर्थं मत्सरादिना वा क्लेशयन्ति- उपतापयन्ति। आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०। सम्प्राप्ताकाशगमन- लब्धिषु, चतुर्विधदेवनिकायविद्याधर-वायुषु च। ''आगासगामि य पुढोसिया जे''॥१३॥ ये केचनाऽऽका-शगामिनः- संप्राप्त-गमनलब्धयश्चतुर्विधदेवनिकायविद्याधरपक्षिवायवः। सूत्र०१ श्रु०१२ अ०।

आगासत्थिकाय-पुं०(आकाशास्तिकाय) असन्तयश्चेहप्रदेशा-स्तेषां कायः- सङ्घातः ''गणकायनिकाए खंधे वग्गे तहेव रासी य'' इति वचनात्, अस्तिकायः; प्रदेशसंघात इत्यर्थः। प्रज्ञा०१ पद। स०। कर्म०। उत्त०। आकाशं च तदस्तिकायश्चेत्या-काशास्तिकायः। प्रज्ञा०१ पद। जी०। लोकालोकव्याप्य- नन्तप्रदेशात्मकामूर्त्तद्रव्यविशेषे, अनु०।

आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए॥६+॥

आकाशम्- आकाशास्तिकायः जीवपुद्गलयोरवकाशदाय्याकाश-मिति सप्तमो भेदोऽरूप्यजीवस्येति। उत्त० ३६ अ०।

(आकाशास्तिकायस्य पर्यायाः)-

आगासत्थिकायस्स णं पुच्छा, गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता, तं जहा- आगासेइ वा आगासत्थिकाएति वा गगणत्ति वा नभेइ वा समेति वा विसमेति वा खहेति वा विहेति वा वीयीत्ति वा विवरेति वा अंबरेति वा अंबरसेति वा छिड्डेति वा जुसिरेति वा मग्गेति वा वि-मुहेति वा अ(द्दे)ट्टेति वा वियट्टे(द्दे)ति वा आधारेति वा वोमेति वा भायणेति वा अंतरिक्खेति वा सामेति वा

उवासंतरेति वा अगमेति वा फलिहेति वा अणंतेति वा, जेयावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते आगासत्थिक, यस्स अभिवयणा। (सूत्र-६६४+)

'आगासे' त्ति-आ-मर्यादया, अभिविधिना वा; सर्वेऽर्थाः काशन्ते-प्रकाशन्ते स्वस्वभावं लभन्ते यत्र तदाकाशम्, 'गगणे' त्ति-अतिशयगमनविषत्वाद्गगनं निरुक्तिवशात्, 'नभे' त्ति-न भाति-न दीप्यत इति नभः 'समे' त्ति-निम्नोन्नतत्वाभावा- त्सममम्, 'विसमे' त्ति-दुर्गमत्वाद् विषमम्, 'खहे' त्ति-खनने भुवो हाने च त्यागे यद्भवति तत्वखहमिति निरुक्तिवशात्, 'विहे' त्ति- विशेषेण हीयते- त्यज्यते तदिति विहायः, अथवा- विधीयते-क्रियते कार्यजातमस्मिन्निति विहम्, 'वीइ' त्ति- वेचनाद्विक्तस्वभावत्वाद्वीचिः 'विवरे' त्ति-विगतवरणतया विवरम्, 'अंबरे' त्ति-अंबेब-मातेव जननसाधर्म्यादम्बा-जलं तस्य राणाद्- दानान्निरुक्तितोऽम्बरम्, 'अंबरसे'त्ति-अम्बा- पूर्वोक्तयुक्त्या जलं तद्रुपो रसा यस्मान्निरुक्तितोऽम्बरसम्, 'छिड्ड त्ति-छिदश्छेदनस्यास्तित्वाच्छिद्रम् 'जुसिरे' त्ति-जुषेः शुषेः शोषस्य दानाच्छुषिरम्, 'मग्गे'त्ति-पथिरूपत्वान्मार्गः 'विमुहे' त्ति-मुखस्यादेरभावाद्विमुखम्, 'अद्दे' त्ति-अर्द्यते-गम्यते, अअट्यते वा-अतिक्रम्यतेऽनेनेति अर्द्दः अट्टो वा, 'विय(ट्टे) द्दे'त्ति-स एव विशिष्टो व्यर्द्धो व्यट्टो वा। 'आहारे' त्ति-आधारणादाधारः 'वोमे'त्ति-विशेषेणावनात्-व्योम, 'भायणे' त्ति-भाजनात्-विश्वस्याश्रयणाद्भाजनम्, 'अंतलिक्खेत्ति- अन्तः- मध्ये ईक्षा-दर्शनं यस्य तदन्तरीक्षम्, 'सामे'त्ति-श्यामवर्णत्वाच्छ्यामम्, 'उवासंतरे' त्ति-अवकाशरूपमन्तरं न विशेषादिरूपमित्यवकाशान्तरम्, 'अगमे' त्ति-गमनक्रियारहितत्वेनागम्, 'फलिहे' त्ति-स्फटिकमिव स्वच्छत्वात्स्फटिकम्, 'अणंते' त्ति- अन्तर्वर्जितत्वात्। भ० २० श० २ उ०। (आकाशस्य वर्णगन्धादिकम् 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे गतम्)

आकाशास्तिकायस्य जीवाजीवद्रव्याधारत्वम्-

आगासत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं, अजीवाणं य किं पवत्तइ ? गोयमा ! आगासत्थिकाए णं जीवदव्वाण य अजीवदव्वाण य भायणभूए- ''एगेण वि से पुण्णे, दोहि वि पुन्ने सयं पि माएज्जा। कोडिसएण वि पुण्णे, कोडिसहस्सं पि माएज्जा॥१॥'' अवगाहणालक्खणे णं आगासत्थिकाए। (४८१+)

'आगासत्थिकाए णभि' त्यादि। जीवद्रव्याणां चाजीवद्रव्याणां च भेदेन भाजनभूतः अनेन चेदमुक्तं भवति- एतस्मिन्सति जीवादीनामवगाहः प्रवर्तते एतस्यैव प्रश्नितत्वादिति, भाजनभावमेवास्य दर्शयन्नाह- 'एगेण वी' त्यादि, एकेन परमाण्वादिना। 'से' त्ति-असौ आकाशास्तिकायप्रदेश इति गम्यते, पूर्णो भूतस्तथा द्वाभ्यामपि ताभ्यामसौ पूर्णः, कथम-तद् ? उच्यते- परिणामभेदात्, यथा- अपवरकाऽऽकाशमेकप्रदीपभाषटलेनाऽपि पूर्यते, द्वितीयमपि तत्तत्र माति यावच्छतमपि तेषां तत्र माति, तथौषधिविशेषा- पादितपरिणामादेकत्र पारदकर्षे सुवर्णकर्षशतं प्रविशति, पारदकर्षीभूतं च सदौषधिसामर्थ्यात्पुनः पारदस्य कर्षः सुवर्णस्य च कर्षशतं भवति विचित्रत्वात्पुद्गलपरिणामस्येति, 'अव-गाहणालक्खणेणं' तिइहाऽवगा-हनाश्रयभावो 'जीवत्थिकाएण' मित्यादि, जीवास्तिकायेनेति अन्तर्भूतभावप्रत्ययत्वाज्जीवा-स्तिकायत्वेन; जीवतयेत्यर्थः। भ० १३ श० ४ उ०।

आगासत्थिकायदेस-पुं०(आकाशास्तिकायदेश) आकाशास्तिकायस्य बुद्धिकल्पिते द्व्यादिप्रदेशात्मके विभागे, प्रज्ञा० १ पद। जी०। अस्यारूप्यजीवत्वम्- ''आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए॥६+॥'' आकाशस्य देशः कतमो विभागः आकाशास्तिकायदेश इत्यष्टमो भेदोऽरूप्यजीवस्य। उत्त० ३६ अ०।

आगासत्थिकायप्पएस- पुं० (आकाशास्तिकायप्रदेश) आकाशास्तिकायस्य निर्विभागे भागे, प्रज्ञा० १ पद। जी०। अस्यारूप्यजीवत्वम्। ''आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए''॥६+॥ तस्याकाशास्तिकायस्य निरंशो देशस्तत्प्रदेश आकाशास्ति-कायप्रदेश इति नवमो भेदोऽरूप्यजीवस्येति। उत्त० ३६ अ०।

आगासथिग्गल- न० (आकाशथिग्गल) शरत्कालिके मेघविनिर्मुक्ते आकाशखण्डे, । कृष्णमणिवर्णनमाधिकृत्य- ''आगासथिग्गलेइ वा'' (सूत्र-१२६+) आकाशथिग्गलं- शरदि मेघविनिर्मुक्तमा-काशखण्डं तद्धि कृष्णमतीव प्रतिभातीति तदुपादानम्। जी० ३ प्रात० ४ अधि० १ उ०। जं०। आ० म०।

(तद्य केन स्पृष्टमित्याह)-

आगासथिग्गले णं भंते ! किण्णा फुडे कइहिं वा काएहिं फुडे किं धम्मत्थिकाएणं फुडे धम्मत्थिकायस्स देसेणं फुडे धम्मत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे, एवं अधममत्थिकाएणं आगासत्थिकाएणं एएणं भेदेणं ०जाव पुढवीकाएणं फुडे ०जाव तसकाएणं फुडे अद्धा समएणं फुडे ? हंता गोयमा ! धम्मत्थिकाएणं फुडे, नो धम्मत्थिकायस्स देसेहिं फुडे, धम्मत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे, एवं अधम्मत्थिकायेण वि नो आगासत्थिकाएणं फुडे आगासत्थिकायस्स देसेणं फुडे आगासत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे ०जाव वणस्सइकाएणं फुडे, एवं तसकाइएणं सिय फुडे, सिय नो फुडे, अद्धा समएणं देसेणं फुडे। (१८८×)

आगासथिग्गले णं भन्ते ! इत्यादि, आकाशथिग्गलम्लोकः स हि महतो-बहिराकाशस्य विततपटस्य थिग्गलमिव प्रतिभाति, भदन्त! केन स्पष्टो व्याप्तः, एतत् सामान्येन स्पृष्टमेतदेव विशेषतः प्रश्नयति- कतिभिः कियत्सख्याकैः कायैः स्पृष्टः वाशब्दः पक्षान्तरद्योतनार्थः प्रकारान्तरं च सामान्याद्विशेषतः तान् कायान् प्रत्येकं पृच्छन्ति- 'किं धम्मत्थिकाएणं फुडे' इत्यादि, सुगमं, भगवानाह-हे गौतम! धर्मास्तिकायेन स्पृष्टः धर्मास्तिकायस्य सर्वात्मना तत्रावगाढत्वात्, अत एव नोधर्मास्तिकायस्य देशेन

स्पृष्टो यो हि येन सर्वात्मना व्याप्तो नासौ तस्यैव देशेन व्याप्तो भवति-विरोधात्, प्रदेशैस्तु व्याप्तः। सर्वेषामपि धर्मा-स्तिकायप्रदेशानां तत्रावगाढत्वात्, एवमधर्मास्तिकाय- विषयेऽपि, निर्वचनं वाच्यम्। तथा नो आकाशास्तिकायेन सकलेन द्रव्येण स्पृष्टः, आकाशास्तिकाय-देशमात्रत्वाल्लोकस्य, किन्तु-देशेन व्याप्तः। प्रदेशैश्च पृथिव्यादयोऽपि सूक्ष्माः सकललोकापन्ना वर्त्तन्ते ततस्तैरपि सर्वात्मना व्याप्तः, 'तसकाइएणं सिय फुडे' इति, यदा केवली समुद्घातं गतः सन् चतुर्थे समये वर्त्तते तदा तेन स्वप्रदेशैः सकललोकपूरणात् त्रसकायेन स्पृष्टः केवलि-नस्त्रसकायत्वात्, शेषकालं तु न स्पृष्टः सर्वत्र त्रसकाय-नामभावात्। प्रज्ञा० १५ पद १ उ०।

आगासपइट्ठिय- त्रि० (आकाशप्रतिष्ठित) आकाशं- व्योम तत्र प्रतिष्ठितो-व्यवस्थितआकाशप्रतिष्ठितः। आकाशव्यवस्थिते, ''आगासपइट्ठिए वाए'' (सूत्र- २८६×)। स्था० ३ ठा० १ उ०। भ०। ''तप्पइट्ठिओ लोगो''॥१२३+॥ तत्प्रतिष्ठितो लोकस्तत्- इत्यनेनाकाशपरामर्शस्त-स्मिन्नाकाशे प्रतिष्ठितसतत्प्रतिष्ठितः; प्रकर्षेण स्थितवानित्यर्थः। दश० १ अ०।

आगासपंचम-पुं०(आकाशञ्चम) आकाशं- सुषिरलक्षणम्। तत्पञ्चमं यषां तानि। पृथिव्यादिके पञ्चमहाभूते, सूत्र०। ''पुढवी आउ तेऊ, वाउ आगासपंचमा''॥७॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

आगासपय- न० (आकाशपद) सिद्धश्रेणिकपरिकर्मश्रुतभेदे, स० १४७ सूत्र।

आगासप्पएस- पुं० (आकाशप्रदेश) आकाशस्य निर्विभागे भागे, प्रज्ञा० १ पद। षोडशाकाशप्रदेशाः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

आगासफलिह (फालिय) पुं० (आकाशस्फटिक) आकाशमिव यदत्यन्तमच्छं-स्फाटकमाकाशस्फटिकम्। स० ३४ सम०। अतिस्वच्छे स्फटिकविशेषे। ''आगासफलिहामएणं सपायपीढेणं सीहासणेणं'' (सूत्र-५+टी०)। आकाशस्फटिकमतिस्वच्छं स्फटिकविशेषस्तन्म-येनोपलक्ष्यत इति गम्यम्। भ० १ श० १ उ०। जं०। रा०। आकाशे भवः स्फटिक इव वर्षोपले कर्काख्ये संहतजलखण्डे तदुत्पादविलयौ श्रीपतिराह- ''उद्भूतैः पांसुभिर्भूमेः, प्रचण्डपवनोच्चयात्। मेघमण्डल-मानीतैः- मालिन्य-परिवर्जितैः॥१॥ मिश्रणाज्जलबिन्दूनां, पिण्डभावो भवेदिह। दृषद्वन्निपतन्त्येते, द्रवन्ते च पुनः क्षितौ॥२॥'' वाच०।

आगास(फलिह)फालियसरिसप्पह- त्रि० (आकाशस्फ-टिकसदृशप्रभ) आकाशस्फटिकयोराकाशरूपस्फटिकस्य वा सदृशी प्रभा येषां तानि तथा। आकाशस्फटिकतुल्ये, औ०।

आगास(फलिहा)फालियामय त्रि० (आकाशस्फटिकमय) अतिस्वच्छस्फटिकविशेषमये, भ० १ श० १ उ०। ''आगास-फालियामयं सपायपीढं सीहासणं'' (सूत्र-३४+)। आकाशमिव यदत्यन्तमच्छं स्फटिकं तन्मयं सिंहासनं सपादपीठम्। स० ३४ सम०। रा०। आकाशतुल्यं स्वच्छतआ यत् स्फटिकं तन्मयेन सपादपीठेन सिंहासनेनेति। औ०।

आगासमग्ग- पुं० (आकाशमार्ग) द्रव्यमार्गभेदे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। आकाशमार्गो विद्याधरादीनाम्। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

आगासातिवाइ (न्)- पुं० (आकाशतिपातिन्) आकाशम्व्योम अतिपततीति। आकाशगामिविद्याप्रभावात् पादलेपादिप्रभावाद्वा आकाशमतिकामति, आकाशाद्वा हिरण्यवृष्ट्यादिकमिष्टमनिष्टं वा अतिशयेन पातयतीत्येवंशीले च। औ० १५ सूत्र०।

***आकाशादिवादिन्**- पुं० (अमूर्त्तानामपि) पदार्थानां साधन-समर्थवादिनि, औ०। ''अप्पेगइया विउलमइविउव्विणिड्ढिपत्ता चारणा विज्जाहरा आगासातिवाइणो'' (सूत्र-१५+) 'आगासातिवाइ' ति-आकाशंव्योमातिपतन्तिअतिक्रामन्ति। आकाशगामिविद्याप्रभावात् पादलेपादिप्रभावाद्वा आकाशाद्वा हिरण्यवृष्ट्यादिकमिष्टमनिष्टं वा अतिशयेन पातयन्तीत्येवंशीला आकाशातिपातिनः। आकाशादिवादिनो वा। अमूर्त्तानामपि पदार्थानां साधनसमर्थवादिन इति भावः। औ०।

आगासिउं- अव्य० (आक्रष्टुम्) हठात्समाकृष्यात्मनः समीप-मानेतुमित्यर्थ, विशे०।

आगासिय- त्रि० (आकर्षित) आकृष्टे, उत्पाटिते, औ०।

***आकाशित**- त्रि० आकाशम्- अम्बरम् इतः- प्राप्तः। आकाशं गते, ''आगासियाहिं सेअचामराहिं। (सूत्र-१०+) आकाशम्- अम्बरमिताभ्यां- प्राप्ताभ्याम्, आकर्षिताभ्यां वा; आकृष्टा- भ्याम्- उत्पाटिताभ्यामित्यर्थः। औ०।

आगिइत्तिग- नं० आकृतित्रिक। आकृतयः- संस्थानानि षट्संहन-नानि षट् जातयः पञ्चेत्येवं सप्तदशके आवृत्त्युपलक्षिते त्रिके, कर्म० ५ कर्म०।

आगु- पुं० (आकु(गु) 'अक' 'अग' कुटिलायां गतौ, उण् अभिलाषायाम्, आव०। ''सक्को वंसट्ठवणा इक्खुअगू तेण हुंति इक्खागा'' 'अक' 'अग' कुटिलायां गतौ, अनेकार्थ-त्वाद्धातूनाम्। अकधातोरौणादिकेउणप्रत्यये आगुशब्दे-ऽभिलाषार्थः; ततः स्वामी इक्षोः आकुना-अभिलाषेण करं, प्रासारयत् शक्र आर्प्पयत् तेन कारणेन भवन्ति इक्ष्वाकुवंशभवा ऐक्ष्वाकाः। आ० क० १ अ०।

आग्घाण-त्रि० (आघ्राण) आ-घ्रा-क्त। प्रहीतगन्धे पुष्पादौ, नासिकया यस्य गन्धज्ञानं जातम्। तस्मिन्, तृप्ते च। भावे क्त। गन्धग्रहणे, तृप्तौ च। न०। वाच०। ''**आघ्रेराइग्घः**'' ॥८।४।१३॥ इति आइग्घादेशः। आइग्घइ। आग्घाइ। प्रा०।

आघं- त्रि० (आख्यातवत्) कथयितरि, सूत्र०। ''आघं मईमं अणुवीय धम्मं''॥१×॥ 'आघं' ति-आख्यातवान्। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आघअज्जयण- न० (आख्यातवदध्ययन) सूत्रकृताङ्गप्रथम-श्रुतस्कन्धस्य समाध्यध्ययनापरनामधेये दशमेऽध्ययने, सूत्र०। निर्युक्तिकृदाह-''आयाणपदेणाऽऽघं, गोणं णामं पुणो समाहि त्ति'' ॥१०३×॥ आदीयते- गृह्यंत प्रथममादौ यत्त-

दादानम् आदानं च तत्पदं च सुवन्तं तिङन्तं वा तदादानपदं तेनाऽऽघन्ति नामास्याध्ययनस्य यस्मादध्यानादाविदं सूत्रम्। सूत्र० १ श्रु० १० अ०। (अत्र विशेषः दृष्टान्तश्च 'समांहि' शब्दे सप्तमे भागे दर्शयिष्यते।)

आघंसण- न० (आघर्षण) भावे ल्युट्। मर्दने, वाच०। ईषत् घर्षणे, ''आघंसेज्ज वा'' (सूत्र-६७×)। ईषत्पुनः पुनर्वा घषयेद्। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०।

जे भिक्खू अप्पणो दंते आघंसेज्ज वा पघंसेज्ज वा आघसंतं वा पघसंतं वा साइज्जइ ॥४७॥

एक्कदिणं-आघंसणं, दिणे दिणे पघंसणं ति। नि०चू० ३ उ०।

आघवत्ता- त्रि० (आख्यातृ) आख्यायके, (प्रज्ञापके) स्था० ४ ठा० ४ उ०।

आघवण- न० (आख्यान) सामान्यविशेषाभ्यां कथने, ''आघविज्जंति'' (सूत्र- १३७×)। प्राकृतशैल्या- आख्यायन्ते सामान्यविशेषाभ्यां कथ्यन्ते इत्यर्थः। स०। आव०। आख्यापने, सामान्यविशेषरूपेण कथने,- ''दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेइ'' (सूत्र- ७५०×)। सामान्यविशेषरूपत आख्यापयतीति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

***आग्रहण**- न०। आदाने, अनु०।

***आग्राहण**- न०। आदापने, भ० ९ श० ३१ उ०।

***अर्थापन**- न०। प्रतिपादनतः पूजाप्रापणे, भ०। ''केवलिपण्णत्तं धम्मं आघवेज्ज वा'' (सूत्र-३६८×)। आग्राहयेच्छिष्यानर्था- पयेद्वा प्रतिपादनतः पूजां प्रापयेदिति। भ० ९ श० ३१ उ०।

आघावणा- स्त्री० (आख्यापना) आख्याने, उपा०। ''बहूहिं आघवणाहि य'' (सूत्र-४४×)। ''आघवणाहि य' त्ति-आख्यानैः। उपा० ७ अ०। तच्च सामान्यतः प्रतिपादनम्- ''आघवणाहि य'' (सूत्र-२३+)। आख्यापनाभिश्चसामान्यतः प्रतिपादनैः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। नि०। भ०।

आघवित्तए- अव्य० (आख्यातुम्) भणितुमित्यर्थे, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ०। भ०।

आघविय- त्रि० (आख्यात) आ-ख्या-कर्मणि-क्त। कथिते, वाच०। ''भगवया महावीरेणं आघविए'' (सूत्र-७७×)। 'आघविए' त्ति- आर्षत्वादाख्यात इति। उत्त० २९ अ०।

***आगृहीत**- त्रि०। आदत्ते, ''आवस्सए त्ति पयं आघवियं पन्नवियं परूवियं'' भ० २ अधि०। 'आघवियं' ति-प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च गुरोः सकाशादागृहीतम्। अनु०।

***आग्राहित**- त्रि०। आदापिते, भ० ९ श० ३१ उ०।

***अर्थापित**- त्रि०। प्रतिपादनेन पूजां प्रापिते, '' केवलिपण्णत्तं धम्मं आघवेज्ज वा'' (सूत्र-३६८)। आग्राहयेच्छिष्यान्, अर्थापयेद्वा- प्रतिपादनतः पूजां प्रापयेद्। भ० ९ श० ३१ उ०।

आघवेमाण- त्रि० (आख्यात्) कथयति, आव० ३ अ०।

आघसंत- त्रि० (आघर्षण) ईषद्घर्षणं कुर्वति, नि० चू० १७ उ०।

आघसावण- न० (आघर्षण) ईषद्घर्षणे, नि०चू०।

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दंते अण्णउत्थिएण वा गारित्थएण वा आघसावेज्ज वा पघसावेज्ज वा आघसंतं वा पघसंतं वा साइज्जइ ॥५३॥ नि०चू० १७ उ०।

आघाण- न० (आख्यान) कथने, -आचा० ''आघाइ णाणी'' (सूत्र १३१×)। ज्ञानी आख्याति- आचष्टे। आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

आघाय- त्रि० (आख्यात) आ-ख्या-कर्मणि क्त। कथिते, वाच०। ''आघायं तु सोच्चा'' (सूत्र-१८८×)। आख्यातमेवैतत् कुशीलविपाकादिकं श्रुत्वा निशम्येति। आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। भावे क्त। आशये च। न०। ''आघायं पुण एगेसिं'' (॥१+॥)। नियतिवादिनां पुनरेकेषामेतदाख्यातम्, अत्र च- ''अविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका भवन्तीति'' ख्यातेर्घातो- र्भावे निष्ठाप्रत्ययस्तद्योगे कर्त्तरि षष्ठी; ततश्चायमर्थः- तैर्निय-तिवादिभिः पुनरिदमाख्यातं; तेषामयमाशय इत्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

***आघात**- पुं०। आ-हन्-घञ्। वधे, आहनने, ताडने च। आधारे घञ्। वधस्थाने, वाच०। आहन्यन्तेऽपनयन्ति विनाश्यन्ते प्राणिनां दशप्रकारा आपे प्राणा यस्मिन् स आघातः। मरणे, सूत्र० १ श्रु० ९ अ०।

आघायकिच्च- न०(आघातकृत्य) अग्निसंस्कारजलाञ्जलि-प्रदानपितृपिण्डदिकेमरणकृत्ये, सूत्र०।

आघायकिच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो।
हरंति अन्ने तं वित्तं, ॥४×॥

आहन्यन्ते- अपनयन्ति; विनाश्यन्ते प्राणिनां दशप्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातो मरणं, तस्मै तत्र वा कृतमग्निसंस्कारजला-ञ्जलिप्रदानपितृपिण्डादिकमाघातकृत्यं तदाधातुम् आधाय-कृत्वा पश्चात् ज्ञातयः-स्वजनाः; पुत्र- कलत्रभ्रातृव्यादयः, किम्भूताः ? विषयानन्वेषुं शीलं येषां ते, अन्येऽपि विषयैषिणः सन्तस्तस्य दुःखार्जितं वित्तं- द्रव्य- जातम्- अपहरन्ति- स्वीकुर्वन्ति। सूत्र० १ श्रु० ९ अ०।

आ (घ) घायण- न० (आघातन) वधस्थाने, वाच०। ''तत्थ णं महं एगं आघातणं पासंति'' (सूत्र-८×)। 'आघायणं ति-वध- स्थानम्। ज्ञा० १ श्रु० ९ अ०। ''आघायणपांडदुवारसंपाविया'' (सूत्र-१२×)। आघातनस्य वध्यभूमिमण्डलस्य प्रतिद्वारं संप्रापिता। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। ''असिवो मा०''॥१४५६+॥ आघायणंति जत्थ वा महासंगाममया बहू। आ०चू० ४ अ०। आव०। भावे ल्युट्। हनने, वाच०।

आघुम्मिय- त्रि० (आघूर्णित) आ-घूर्ण-क्त। ''घूर्णेर्घुल-घोल- **घुम्म-पहल्लाः**''॥८।४।११७॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणैते चत्वार आदेशाः। प्रा०। चलिते, भ्रान्ते च। वाच०। घुलइ। घोलइ। घुम्मइ। पहल्लइ। प्रा० ४ पाद।

आघुलिस- त्रि० (आघूर्णित) 'आघुम्मिय' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद।

आघोलिय- त्रि० (आघूर्णित) 'आघुम्मिय' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद।

आचंदसूरिय- न० (आचन्द्रसूर्य्य) यावच्चन्द्रसूर्य्यौ तावदित्यर्थे, पञ्चा०।

आचन्दसूरियं तह, होइ इमा सुप्पतिट्ठ त्ति ॥३४॥

आचन्द्रसूर्य्य- चन्द्रसूर्य्यौ यावत्तावद् भवतु-अस्तु, इयम्- अधिकृता सुप्रतिष्ठा- शोभनावस्थानम्। पञ्चा० ८ विव०।

आचेलक्क- त्रि० (आचेलक्य) न विद्यते चेलं-वस्त्रं यस्य सः- अचेलकस्तस्य भाव आचेलक्यम्। विगतवस्त्रत्वे, कल्प० १ अधि० १ क्षण। तदात्मके कल्पभेदे च। आचेलक्यधर्म्मोपेतत्वा- दाचेलक्यः। चारित्रलक्षण धर्म्मे चा पुं०। ''आचेलक्को धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स''॥१२+॥ पञ्चा० १७ विव०। (भेदादिबहुवक्तव्यता 'अचेल (ग)' शब्दे प्रथमभागे गता)

आचोक्ख- पुं० (आचोक्ष) अष्टमे पिशाचनिकाये, प्रज्ञा० १ पद।

आजम्म- अव्य० (आजन्मन्) यावज्जीवमित्यर्थे, ''वसिज्ज तत्थ आजम्मं, गोयमा ! संजए मुणी''॥७॥ आजन्म-जीवितकालमभिव्याप्य; यावज्जीवमित्यर्थः। ग० १ अधि०।

आज (य) वंजवीभाव- पुं० (आजवंजवीभाव) पुनः पुनर्गमना- गमने, ''आरंभसत्ता पकरंति संगं'' (सूत्र- ६०+)। संगाच्च पुनरपि संसार-आजवंजवीभावरूपः। आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०। ''एस मरणा पमुच्चइ'' (सूत्र- १११×) मरणाद्- आयुःक्षयलक्षणान्मुच्यते आयुषो बन्धनाभावात्, यदि वा-आजवंजवीभावात्, आवीचि-मरणाद्वा सर्व एव संसारो मरणं तस्मात्प्रमुच्यते। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

आजा(या)इ- स्त्री० (आजाति) आ-जन् क्तिन्। आजन-नमाजातिः। स्था० १० ठा० ३ उ०। ''आइण्णाऽऽजाइ'' ॥७×॥ आजायन्ते तस्यामित्याजातिः। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। (कतिविधा सा आजातिः इति 'आयारंग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते।) आजनने, जन्मनि, ''ताडयित्वा तृणेनापि, संवादान्मतिपूर्वकम्। एकविंशतिमाजातीः, पापयोनिषु जायते''॥१॥ ''साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशै-र्वध्यते वारुणैर्भृशम्। विवशः शतमा जाती-स्तस्मात् साक्ष्ये वदेदृतम्''॥१॥ इति च मनुः। वाच०। आजननमाजातिः। सम्मूर्छतगर्भोपपाततो जन्म। स्था० १० ठा० ३ उ०। आजातिः- ततश्च्युतस्य मनुष्यजन्म। स्था० ८ ठा० ३ उ०। आजायन्ते तस्यामित्याजातिः, साऽपि चतुर्द्धा-व्यतिरिक्ता, मनुष्यादिजातिः, भावाऽऽजातिस्तु, ज्ञानाद्याचार-प्रसूतरयमेव ग्रन्थ इति। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

***आयाति**- स्त्री० आगतौ, आजाति-र्जन्म। आयातिः- आगतिः। स्था० ३ ठा० ३ उ०। आयातिः-गर्भान्निष्क्रमः। स्था० २ ठा० ३ उ०।

आजीव-पुं०(आजीव) आजीवनमाजीवः। भावे घञ्। जीविका-याम्, प्रव० ६७ द्वार। आजीवनार्थमालम्बने, वाच०। आसमन्ताज्जीवन्त्यनेनेति आजीवः। अर्थनिवये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। आजीविकायाम्, व्य० १ उ०। आत्मवर्त्तनोपाय, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। वाच०।

आजीवमेयं तु अवुज्जमाणो,
पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥१२॥

आजीवम्- आजीविकाम्; आत्मवर्त्तनापायं कुर्वाणः पुनः पुनः संसारकान्तारे विपर्य्यासं- जन्मजरामरणरोगशोकोपद्रवम् उपैति-गच्छति तदुत्तरणायाभ्युद्यतो वा तत्रैव निमज्जतीत्ययं विपर्य्यासः। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। आजीवनं- जातिकुलगण- कर्मशिल्पानां गृहस्थसमानाभिधानत उपजीवनम्- आजीवाः। उत्पादनादोषविशेषे, पञ्चा० १३ विव०। जात्यादिकथनाद् आजीवनम् आजीवः। ग० १ अधि०।

आजीवस्य भेदादिकमाजीवपिण्डदोषस्य स्वरूपादिकञ्च-

जाई- कुल-गणकम्मे, सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा।
सूयाएँ, असूयाए, व अप्पाणं कहेहि एक्केक्क ॥४३७॥

आजीवना पञ्चविधा, तद्यथा- जातिविषया; जातिमाजीवनीं करोतीत्यर्थः, एवं- कुलविषया, गणविषया, कर्मविषया, शिल्पविषया च। सा चाजीवना एकैकस्मिन् भेदे द्विधा, तद्यथा- सूचया आत्मानं कथयति। असूचया च, तत्र सूचा- वचनभङ्गिविशेषेण कथनम्, असूचा स्पुटवचनेन।

तत्र जात्यादीनां लक्षणमाह-

जाई कुले विभासा, गणो उ मल्लाइ कम्म किसिमाई।
तूणादि सिप्पणाव- ज्जगं च कम्मे य आवज्जे ॥४३८॥

जातिकुले विभाषा-विविधं भाषणं कार्य्यं, तच्चैवम्- जातिः- ब्राह्मणादिका, कुलम्- उग्रादि। अथवा- मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलम्। गणो- मल्लादिवृन्दम्। कर्म- कृष्यादि, शिल्पं- तूर्णादिः तूर्णनसीवनप्रभृति। अथवा- अनावर्जकम्- अप्रीत्युत्पादकं कर्म, इतरत्तु- आवर्जकं प्रीत्युत्पादकं शिल्पम्, अन्ये त्वाहुः- अनाचार्य्योपदिष्टं कर्म, आचार्य्योपदिष्टं तु शिल्पमिति। पिं०। (तत्र जातिलक्षणम्, तद्व्यवस्था च 'जाइ' शब्दे चतुर्थे भागे दर्शयिष्यते।) (कुललक्षणम्, तद्भेदाः, तद्- व्यवस्था च 'कुल' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते।) (आदिजिनो भगवान् प्रथमम् उग्र-भोग-राजन्य-क्षत्रियलक्षणानि चत्वारि कुलानि स्थापितवान् इति 'उसभ (ह) शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शयिष्यते।) (कुलकर्ताशेऽत्येऽपि सन्ती- 'कुलगर' शब्दे तृतीयभागे विस्तरतो दर्शयिष्यते।) (गणलक्षणम्, तद्व्यवस्था च 'गण' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते।) (कर्मलक्षणम्, तदिस्तरश्च 'कम्म' शब्दे ३ भागे दर्शयिष्यते। तत् प्रकृतयश्च 'कम्मपयडि' शब्दे तस्मिन्नेव ३ भागे दर्शिता भविष्यन्ति।) (शिल्पलक्षणम्, तस्य पञ्च मूलभेदाः, पुनस्तेषां प्रत्येकं विंशतिः विंशतिः भेदाः सन्तीति प्रतिपादनम् 'सिप्प' शब्दे सप्तमभागे वक्ष्यते।) शिल्पशतभेदाः कालनिधौ विस्तरतः 'भरह' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते।)

तत्र यथा साधुः सूचया स्वजातिप्रकटनाज्जातिमुपजीवति तथा दर्शयति-

होमायवितहकरणे, नज्जइ जह सोत्तियस्स पुत्तो त्ति।
वसिओ वेस गुरुकुले, आयरियगुणे व सूइए ॥४३९॥

साधुर्भिक्षार्थमटन् ब्राह्मणगृहे प्रविष्टः सन् तस्य पुत्रं होमादि-क्रियाः कुर्वाण दृष्ट्वा तदभिमुख प्रति स्वजातिप्रकटनाय जल्पति होमादिक्रियाणामवितथकरण एष एव पुत्रो ज्ञायते- यथा श्रात्रियस्य पुत्र इति। याद वा-उषित एष सम्यग् गुरुकुले इति ज्ञापते। अथवा-सूचयति- एष तव पुत्र आत्मन आचार्य्यगुणान् ततो नियमदिप महानाचार्य्यो भविष्यतीति। तत एवमुक्ते स ब्राह्मणो वदति साधो ! त्वमवश्य ब्राह्मणो येनेत्थं होमादीनामवितथत्वं जानासि, साधुश्च मौनेनाऽवतिष्ठते, एतच्च सूचया स्वजातिप्रकटनम्, अत्र च अनेकेदोषाः, तथाहि- यदि स ब्राह्मणो भद्रकस्तर्हि स्वजातिपक्षपातात्प्रभूत- माहारादिकं दापयति। तदपि च जात्युपजीवनानमित्तमिति भगवता प्रतिषिद्धम, अथ प्रान्तस्तर्हि भ्रष्टाऽयं पापाऽऽत्मा ब्राह्मण्यं परित्यक्तमिति विचिन्त्य स्वगृहनिष्काशनादि करोति, असूचया तु जात्या जीवनं पृष्टोऽपृष्टो वा आहा रार्थं स्वजातिं प्रकटयति- यथा- 'अहं ब्राह्मण' इति, तत्राऽप्यनन्तरोक्ता एव दोषाः, एवं क्षत्रियाऽदिजातिष्वपि, प्रविष्टोऽपि, एवं कुलादिष्वपि भावनीयम्। पिं०। प्रव०।

एतदेव किंचिद् व्यक्तीकुर्वन्नाह-

सम्ममसम्मा किरिया, अणेण ऊणाहिया च विवरीया।
समिहामंताहुयट्ठा- णजागकाले य घोसाई ॥४४०॥

साधुर्भिक्षार्थमटन् क्वचित् ब्राह्मणगृहे प्रविष्टः सन् तस्य पुत्रं होमाऽऽदिक्रियाः कुर्वाणं दृष्ट्वा पितरं स्वजातिप्रकटनाय जल्पति अनेन तव पुत्रेण सम्यक् असम्यग्वा होमादिका क्रिया कृता, तत्राऽसम्यक् त्रिधा, तद्यथा- न्यूना, अधिका, विपरीता वा। सम्यक् समिधादीन्घोषादींश्च यथावस्थितानाश्रित्य तत्र समिधः- अश्वत्थादिवृक्षाणां प्रतिशाखा-खण्डानि, मन्त्राः- प्रणवप्रभृतिका अक्षरपद्धतयः, आहुतिः- अग्नौ घृतादे० प्रक्षेपः, स्थानम्- उत्कुटादि, यागः अश्वमेधादिः, कालः- प्रभातादिः, घोषाः उदात्तादयः, आदिशब्दात्- ह्रस्वदीर्घादिधर्मपरिग्रहः, एवं चोक्ते स साधुं ब्राह्मणं जानाति। तथा च सति भद्रे, प्रान्ते वा पूर्ववत् दोषा वक्तव्याः। उक्तं जातेरुपजीवनम्।

अथ कुलाद्यपजीवनमाह-

उग्गाइकुलेसु वि एवा- मेव गणिमण्डलप्पवेसाइ।
देउलदरिसणभासा- उवणयणे दंडमाईया ॥४४१॥

एवमेव- जात्यादिवत्कुलादिष्वपि उग्रादिषूपजीवनमव- गन्तव्यम्, यथा कोऽपि साधुरुग्रकुले भिक्षार्थं प्रविष्टस्तत्र च तत्पुत्रं पदातीन् यथावदारक्षककर्मसु नियुञ्जानं दृष्ट्वा तत्पितरमाह- योऽयं 'ते' तव पुत्रोऽप्रवेदितोऽपि यथायोगं पदातीनां नियोजनेनोग्रकुले सम्भूत इति। ततः स जानात्येषोऽपि साधुरुग्रकुलसमुत्पन्न इति, इदं तु सूचया स्वकुलप्रकाशनम्, यदा तु स्पुटं वां चैप स्वकुलमावेदयतियथाहमुग्रकुलो भोगकुल इत्यादि। तदा असूचया प्रकटनं तेषा भद्रप्रान्तत्वे पूर्वोक्तानुसारेण दोषा वक्तव्याः। तथा- 'गणे'-गणविषये मण्डलप्रवेशादि इहाङ्कखलकेप्रविष्टस्यैकस्य मल्लस्य यल्लभ्यं भूखण्डं तन्मण्डलं तत्र वर्तमानस्य प्रतिद्वन्द्विनो मल्लस्य विबोधाय यः प्रवेशस्तदादिशब्दात्- ग्रीवा ग्रहादिपरिग्रहः, तथा देवाकुलदर्शनं युद्धप्रदेशे चामुण्डाप्रति-माप्रणमनं, भापोपनयनं प्रतिमल्लह्वानाय तथा तथा वचनढौकनं दण्डादिकाः धरणि-पातच्छुप्ताङ्कयुद्धप्रभृतयः, एतान् गुणान् गृह प्रविष्टः सन् तत्पुत्रस्य प्रशंसात, तथा च सति तेन ज्ञायते- ययैषाऽपि साधुर्मल्ल इत्यादि प्राग्वत्।

कर्म-शिल्पयागजीवनमाह-

कतरि पओयणावे- क्खवत्थुबहुवित्थरेसु एमेव।
कम्मेसु य सिप्पेसु य, सम्ममसम्मेसु सू इयरा ॥४४२॥

कर्मसु, शिल्पषु च एवमेव-कुलादाविवोपजीवनं वक्तव्यम्, कथमित्याह- 'कर्त्तरि' कर्म्मणां शिल्पानां च विधायके, उपलक्षणमेतद्विधायके च वणिजादौ, सप्तमी चात्र षष्ठ्यर्थे, ततोऽयमर्थः- कर्तुः कारापकस्य च प्रयोजनापेक्षेषु भूमिविले- खनादिप्रयोजननिमित्तं ध्रियमाणेषु हलादिषु वस्तुषु सूत्रे चात्र विभक्तिलोप अषित्वात्। बहुविस्तारेषु- प्रभूतेषु नानाविधेषु च सम्यक् असम्यगिति वा प्रोच्यमानेषु शोभनानि अशोभनानीति वा कथ्यमानेषु यदात्मनि कर्मणि शिल्पे वा कौशल-ज्ञापनं तत्तयोरुपजीवनम्, इयमत्र भावना- भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् साधुः कृष्पादेः कर्तुः कारापकस्य वा तत्प्रयोजनापेक्षणीयानि नानारूपाणि हलादीनि बहूनि वस्तूनि तानि दृष्ट्वा आत्मनः कर्मणि शिल्पे वा कौशलज्ञापनाय शोभनान्यशोभनानीति वा यत् वक्ति तत्कर्मशिल्पयागजीवनम्। अनेन च प्रकारेण कौशलज्ञापनं, सूचा स्पुटवचनन च कौशलकथनम् असूचा। पिं। नि०चू०।

आजीविकपिण्डग्रहणे दोषाः। सूत्रम-

जे भिक्खू आजीवियं पिंडं भुंजइ भुजंतं वा साइज्जइ ॥६२॥

जातिमातिभाव उवजीवति त्ति आजीवणपिंडो।

गाहा-

जे भिक्खू जीवपिंडं, गेण्हेज्ज सयं त अहवा सातिज्जे।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१४८॥

स्वय हण्हति, अण्णं वा गेण्हावति, अणुजाणाति वा, तस्स आणादिया य दोषा, चउलहुं च पाच्छत्तं। नि०चू० १३ उ०। आजीवति, कर्त्तरि अच्। आजीवनकारिणि, कर्माजीवनृपाजीव इत्यादौ तु आजीव अण् उप० स० इति भेदः। वाच०। कुशीलभेदे, प्रव० २ द्वार। व्य०। आजीवनम्- उपजीवनं जांति- कुलगणशिल्पादिना करोतीति। दर्श० ४ तत्त्व।

स च पञ्चविधः-

पंचविहे आजीवे पण्णत्ते, तं जहा-जाइआजीये, कुलाऽऽजीवे, कम्माऽऽजीवे, सिप्पाऽऽजीवे, लिंगाऽऽजीवे। (सूत्र-४०७)

कुशीलभेदे, व्य०।

(अस्य सप्त भेदाः)-

जाती कुले गणे वा, कम्मे सिप्पे तवे सुए चेव।
सत्तविहं आजीवं, उवजीवइ जो कुसीलो उ ॥२५३॥

जातिर्मातृकी, कुले पैतृकं, गणो मल्लगणादिः, कर्म्म-अना- चार्यकम्, आचार्योपदेशजं शिल्पम्। तपः- श्रुते, प्रतीते। एवं सप्तविधम् आजीवं य उपजीवति- जीवनार्थमाश्रयति, त-

यथा- जातिं कुलं चात्मीयं लोकेभ्यः कथयति। येन जाति-पूज्यतया कुलपूज्यतया व भक्तपानादिकं प्रभूतं लभेयमिति, अनयैव बुद्ध्या मल्लगणादिभ्यो गणेभ्यो गणविद्याकुशलत्वं कर्म्मशिल्पकुशलेभ्यः कर्म्मशिल्पकौशलं कथयति। तपसः उपजीवना तपः कृत्वां क्षपकोऽहमिति जनेभ्यः कथयति श्रुतोपजीवना बहुश्रुतोऽहमिति सः कुशीलः। व्य० १ उ०। (कुशीलानां बहवो भेदाः ते च 'कुसील' शब्दे तृतीयभागे विस्तरतो वक्ष्यते। आजीवस्य प्रायश्चित्तं च तत्रैव।) श्रमणभेदे च। ये गोशालकमतमनुसरन्ति भण्यन्ते ते तु आजीवकाः इति। एते ऽपि लोकेश्रमणा इति व्यपदिश्यन्त इति। प्रव० ९४ द्वार।

आजीवग- पुं० (आजीवक) आ-जीव-कर्त्तरि ण्वुल्। आजीवन- कर्त्तरि। वाच०। श्रमणभेदे। प्रव० ९५ द्वार। आचा०।

***आजीवग**- पुं० आ-समन्ताज्जीवन्त्यनेनेत्याजीवः- अर्थनिचयस्तं गच्छति- आश्रयत्यसौ- आजीवगः। अर्थमदे, सूत्र०। ''आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उत्तमपोग्गले से''॥१५॥ आ समन्ताज्जीवन्त्य-नेनेत्याजीवोऽर्थनिचयस्तं गच्छत्याश्रय- त्यसौ आवाजीगः- अर्थमदस्तं च चतुर्थं नामयेत् चशब्दाच्छेषानपि मदान्नामयेत् तन्नामनाद्यासौ पण्डितः- तत्त्ववेत्ता भवति। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

आजीवण- न० (आजीवन) आजीवत्यनेन, करणे ल्युट्। वृत्त्यर्थमुपायग्रहणे, वाच०। जात्याद्या- जीवनेनोत्पादिते आहारशय्यादिके, ''वणीमगाऽऽजीवणनि- काए''॥१६४+॥ आजीवनं यदाहारशय्यादिकं जात्याद्याजीव- नेनोत्पादितम्। व्य० ३ उ०।

आजीवणा- स्त्री० (आजीवना) परोपजीवने, दर्श० १ तत्त्व।

आजीवणापिंड- पुं० (आजीवनापिण्ड) उत्पादनादोषविशेषस्पष्टे जातिकुलगणकर्मशिल्पैरात्मनो गृहस्थस्य च तुल्यरूपताख्या-पनने लब्धजीवनापिण्डे, जीत०।

आजीवणाभय- न० (आजीवनाभय) आजीवना- परोपजीवनं सैव भयम् आजीवनाभयम्। भयभेदे, यथा राजामात्यादिपदाति- आजीवनाभया-त्संग्रामादौ मरणमध्यवस्यति। दर्श० १ तत्त्व।

आजीवदिट्ठंत- पुं० (आजीवदृष्टान्त) आ-सकलजगदाभिव्याप्य जीवानां यो दृष्टान्तः- परिच्छेदः स आजीवदृष्टान्तः। सकल-जीवनिदर्शने, आह अ मूलटीकाकारः- 'आजीव- दृष्टान्तेन- सकलजीवनिदर्शनेन। जी० ३ प्रति० २ अधि० १ उ०। (आजीवदृष्टान्तेन तिर्य्यग्योनिकानां जातिकुलकोटिविचारः 'तिरिक्खजोणिय' शब्दे चतुर्थभागे करिष्यते)।

आजीवपिंड- पुं० (आजीवपिण्ड) जातिकुलगणकर्मशिल्पादि- प्रधानेभ्य आत्मनस्तद्गुणत्वारोपणं भिक्षार्थमाजीवपिण्ड इत्युक्तलक्षणे उत्पादनादोषभदे, ध० ३ अधि०। आचा०। पञ्चा०। ''जच्चाइना जीवे''- जात्यादिना जातिकुलगणकर्म- शिल्पादिकमाजीवेद्- उपजीवति यस्तस्य तत्कथनमुपजीवनं चोत्पादनादोषः। पञ्चा० १३ विव०। (अस्य वक्तव्यता 'आजीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव गता।)

आजीववित्तिया- स्त्री०(आजीववृत्तिता)जातिकु लगणकर्म-शिल्पानामाजीवनमाजीवस्तेन वृत्तिस्तदभाव आजीववृत्तिता। जात्याद्याजीवनेनात्मपालनायाम्, ''जा य आजीववित्तिया'' ॥६+॥ इयं चानाचरिता। दश० ३ अ०।

आजीवि(न्)- पुं० (आजीविन्) गोशालकशिष्ये, उपा० १ अ०।

आजीविय- पुं० (आजीविक) नाग्न्यधारिणि पाखण्डिविशेषे, अविवेकिलोकतो लब्धिपूजाख्यात्यादिभिस्तपश्चरणादीन्या- जीवति, भ० १ श० २ उ०। श्रमणभेदे, आचा० २ श्रु० २ चू० १ अ० १ उ०। स्था०। ते च गोशलकशिष्याः (स्था०। ४ ठा० २ उ०। उपा०।) गोशालकप्रवर्त्तिता आजीविकाः पाखण्डिनः। नं०। ''आजीवियाणं' (सूत्र-२५×) पाखण्डिविशेषाणां नाग्न्यधारिणां, गोसालकशिष्याणामित्यन्ते। आजीवन्ति वा ये अविवेकिलोकतो लब्धिपूजाख्यात्यादिभिस्त-श्चरणादीनि ते आजिविकास्तित्वेनाऽऽजीविका अतस्तेषाम् भ० १ श० २ उ०।

आजीविकाः-निह्नवा अनाराधकाः तेषामुपपत्तिगतिस्थितयो यथा-

से जे इमे गामागर ०जाव सन्निवेसेसु आजीवका भवंति। तं जहा- दुघरंतरिया तिघरंतरिया सत्तघरंतरिया उप्पलबेंटिया घरसमुदाणिया विज्जुअंतरिया उट्टिया समणा, ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तेहिं तेसिं गती बावीसं सागरोवमाइं ठिती, अणाराहका सेसं तं चेव ॥१७॥ (सूत्र-४१×)

आजीविका- गोशालकमतानुवर्त्तिनः, 'दुघरंतरिय' त्तिएकत्र गृहे भिक्षां गृहीत्वा येऽभिग्रहविशेषाद् गृहद्वयमतिक्रम्य पुनर्भिक्षां गृह्णन्ति; न निरन्तरमेकान्तरं वा ते द्विगृहान्तरिकाः द्वे गृहे अन्तरं भिक्षाग्रहणे येषामस्ति ते द्विगृहान्तरिकाः इति निर्वचनम्। एवं त्रिगृहान्तरिकाः सप्तगृहान्तरिकाश्च 'उप्पलवेंटिय' त्ति-उत्पलवृन्तानि नियमविशेषात् ग्राह्यतया भैक्षत्वेन येषां सन्ति ते उत्पलवृन्तिकाः। 'घरसमुदाणिय' त्ति-गृहसमुदानं- प्रतिग्रहं भिक्षाया येषां ग्राह्यतयाऽस्ति ते गृहसमुदानिकाः। 'विज्जुयंतरिय' त्ति-विद्युति सत्याम् अन्तरं भिक्षाग्रहणस्य येषामस्ति ते विद्युदन्तरिकाः; विद्युत्सम्पाते भिक्षां नाटन्तीति भावार्थः। 'उट्टियासमण'त्ति- उष्ट्रिका-महान्मृण्मयो भाजनविशेषस्तत्र प्रविष्टा ये श्राम्यन्ति तपस्यन्तीत्युष्ट्रिकाश्रमणाः। एषां च पदानामुत्प्रेक्षया व्याख्या कृतेति॥१७॥ औ०। कुशीलभदे च। आव० ३ अ०। (तस्य भेदादि 'आजीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शिताः।) सामायिककृतः श्रावकस्य कोऽपि भाण्डमपहरेत्तत्कस्येति आजीविकपृच्छा 'सामाइयकथ' शब्दात्सप्तम-भागावगन्तव्या।

आजीवियभय- न० (आजीविकाभय) निर्द्धनः कथं दुर्भिक्षादावात्मानं धारयिष्यामीत्येवंरूपे भयभेदे, आव० ४ अ०।

आजीवियभयगत्था, मूढा णो साहुणो णेया ॥५१॥

आजीवनमाजीविका- निर्वाहस्तद्भावनया यद् भयंभीतिस्तदाजीविकाभयं तेन ग्रस्ता-अभिभूता ये तथा गृहस्थैर्विज्ञातनिर्गुणत्वादनादिविरहिता वा; कथं निर्वक्ष्याम इत्यभिप्रायवन्त इत्यर्थः। मूढाः-मुग्धाः परलोकसाधनवैमुख्ये- नेहलोकप्रतिबद्धत्वात्। 'नो' नैव साधवो ज्ञेया-ज्ञातव्याः। पञ्चा० १७ विव०।

आजीवियसमय-पुं० (आजीविकसमय) गोशालकसिद्धान्ते, भ०।

आजीवियसमयस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते, अक्खीण-पडिभोइणो सव्वे सत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवइत्ता आहारमाहरेंति। (सूत्र-३३०+)

आजीविकसमयस्य- गोशालकासिद्धान्तस्य 'अयमट्ठे' त्तिइदमभिधेयम्- 'अक्खीणपरिभोइणो सव्वसत्त'त्ति- अक्षीणम् अक्षीणायुष्कम्-अप्रासुकं परिभुज्यत इत्येवंशीला अक्षीणपरि- भोगिनः, अथवा-इन्प्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वादक्षीणपरिभोगाः; अनपगताहाराभोगा सत्तयः इत्यर्थः, सर्वे सत्त्वाः असंयताः सर्वे प्राणिनो यद्येवं ततः किमित्याह- 'से हंते' त्यादि, 'से' त्ति-ततः। 'हन्त्ते' त्ति-हत्वा लगुडादिनाऽन्यवहार्य प्राणिजातं छित्त्वा-असिपुत्रिकादिना द्विधा कृत्वा 'भित्त्वा' शलादिना भिन्नं कृत्वा 'लुप्त्वा' पक्ष्मादिलोपनेन 'विलुप्य' त्वचो विलोपनेन 'अपद्राव्य' विनाश्य आहारमाहारयन्ति। भ० ८ श० ५ उ०।

आजीवियसुत्त-न० (आजीविकसूत्र) गोशालकप्रवर्त्तितपाखण्ड-सूत्र, स०। ''आजीवियसुत्तपरिवाडीए'' (सूत्र- १४७×) गोशालकप्रवर्त्तितपाखण्डसूत्रपरिपाट्या। स० १४७ सम०। (एतद्वक्तव्यता विशेषतः 'सुत्त' शब्दे सप्तमभागे वक्ष्यते।)

आजीविया- स्त्री० (आजीविका)आजीवयति आ-जीव णिच-ण्वुल्। जीविकायाम्, वृत्तौ, जीवनार्थे व्यापारे, वाच०। आजीवनमाजीविका। निर्वाहे, पञ्चा० १७ विव०। आजीविका च सप्तभिरुपायैः स्याद्- वाणिज्येन १ विद्यया २ कृष्या ३ शिल्पेन ४ पाशुपल्येन ५ सेवया ६ भिक्षया ७ च। तत्र वाणिज्येन वणिजाम् १, विद्यया वैद्यादीनाम् २, कृष्या कौटुम्बिकादीनाम् ३, पाशुपाल्येन गोपालादीनाम् ४, शिल्पेन चित्रकारादीनाम् ५, सेवया सेवकानाम् ६, भिक्षया भिक्षाचराणाम्।७। (६४ श्लोकटी०)। ध० २ अधि०।'

आजीवियादोस-पुं० (आजीविकादोष) चतुर्थ उत्पादनादोषे, उत्त०। यदा गृहस्थस्य ज्ञातिं कुलं ज्ञात्वा आत्मीयमपि साधु- स्तमेव ज्ञातिं तदेव कुलं स्वकीयं प्रकाश्याऽऽहारं गृह्णाति तदाऽऽजीविकादोषश्चतुर्थः। उत्त० २४ अ०।

आजीवियोपासग-पुं०(आजीविकोपासक) आजीविकागोशालकशिष्यास्तेषामुपासक आजीवोपासकः। उत्त० २४ अ०। गोशालकशिष्यश्रावके, भ०।

आजीविकसमयमधिकृत्य दर्शिताः-

तत्थ खलु इमे दुवालस आजीवियोवासगा भवंति, तं जहा-ताले १, तालपलंबे २, उव्विहे ३, संविहे ४, अवविहे ५, उदए ६, नामुदए ७, णमुदए ८, अणुवालए ९, संखवालए १०, अयंबुले ११, कायरिए १२, इच्चेए दुवालस आजीवि-योवासगा अरहंतदेवयागा अम्मापिउसुस्सूसगा पंचफल-पडिक्कंता, तं जहा- उउंबरेहिं बडेहिं वोरेहिं सतरेहिं पिलक्खूहिं पलंडुल्हसुणकंदमूलविवज्जगा अणिल्लंछिएहिं अणक्कभिण्णेहिं गोणेहिं तसपाणविवज्जिएहिं वित्तेहिं वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। एए वि ताव एवं इच्छंति किमंग ! पुण जे इमे समणोवासगा भवंति तेसिं णो कप्पंति इमाइं पण्णरसकम्माऽऽदाणाइं सयं करेत्तए वा कारवेत्तए वा करंतं वा अण्णं ण समणुजाणेत्तए, तं जहा-इंगालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाडीकम्मे फोडीकम्मे दंतवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे केसवाणिज्जे रसवाणिज्जे विसवाणिज्जे जंतपीलणकम्मे निल्लंछणक्कम्मे दवग्गिदावणया सरदह-तलावपरिसोसणया असईपोसणया इच्चेए समणोवासगा सुक्का सुक्काभिजाइया भविया भवित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। (सूत्र-३३०+)

'तत्थ' त्ति-तत्र-एवं स्थितेऽसंयतसत्त्ववर्गे; हननादिदोषपरायणे इत्यर्थः, आजीविक-समये वाऽधिकरणभूते द्वादशेति विशेषानुष्ठानत्वात् परिगणिता आनन्दादिश्रमणोपासकवदन्यथा बहवस्ते, 'ताले' त्ति-तालाभिधान एकः, एवं तालप्रलम्बा-दयोऽपि, 'अरहंतदेवयाग' त्ति-गोशालकस्य तत्कल्पन-माऽऽर्हत्वात् 'पंचफलपडिक्कंत' त्ति-फलपञ्चकान्निवृत्ता उदुम्बरादीनि च पञ्च पदानि पञ्चमीबहुवचनान्तानि प्रतिक्रान्त-शब्दानुस्मरणादिति। 'अनिल्लंछितएहिं' 'त्ति- अवधितैकैः, 'अणक्कभिन्नेहिं' ति- अनस्तितैः 'एए वि ताव एवं इच्छंति' त्ति-एतेऽपि तावत; विशिष्टयोग्यताविकला इत्यर्थः, 'एवं इच्छंति' अमुना प्रकारेण वाञ्छन्ति धर्ममिति गम्यम्' किमंग ! पुण' इत्यादि किं पुनर्ये इमे श्रमणोपासका भवन्ति ते नेच्छन्तीति गम्यम्; इच्छन्त्येव ते ति विशिष्ट स्तरदेवगुरुप्रवचनसमाश्रितत्वात्तेषाम्। भ० ८ श० ५ उ०।

आजुत्त- त्रि० (आयुक्त) अप्रमत्ते, ''अच्चत्थं जुत्तो आजुत्तो वा'' अप्रमत्त इत्यर्थः। नि०चू० १ उ०।

आडंबर- पुं० (आडंबर) आडवि। क्षेपे, अरन्। हर्षे, दर्पे, तूर्य्यस्वने, आरम्भे, संरम्भे, अक्षिलोम्नि, घनगर्ज्जिते, आयोजने च, मत्वर्थे इनि। आडम्बरिन्। तद्युक्ते, त्रि०। वाच०। पटहे, ''आडम्बरो धबइयं'' (सूत्र-५५३+)। स्था० ७ ठा० ३ उ०। अनु०। यक्षे, ''पाणाडंबरे अरुद्दे पाणत्ति मायगा तेसिं आडम्बरो जक्खो हरिमिक्को वि भणंतीति। आव० ४ अ०। आ० चू०। यक्षायतने, ''आडंबरे य'' ॥३४+॥ आडम्बरे- आडम्बरयक्षायतने, व्य० ७ उ०।

आडहण- न० (आदहन) आ-दह भावे ल्युट् आ-समन्ताद्दहने, ''थूलं वियासे मुहे ˇ आडहंति''॥३×॥ मुखे विकाशं कृत्वा स्थूलं बृहत्तमायोगोलादिकं प्रक्षिपन्त आ-समन्ताद्दहन्ति। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। दाहे, हिंसायां, कुत्सने च। आदह्यतेऽत्र आधारे ल्युट्। श्मशाने वाच०।

आडोव- पुं० (आटोप) आ-तुप्-घञ्-पृषो० टत्वम्। दर्पे, संरम्भे,। वाच०। आडम्बरे च। उपा० २ अ०। स्फारतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। वातजन्ये उदरशब्दभेदे, वाच०।

आढई- स्त्री० (आढकी) आढौकते अच् पृषो० गौ० ङीष्। गुच्छात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। ''आढकी तुवरी रक्षा, मधुरा शीतला लघुः। ग्राहिणी वातजननी, वर्ण्या पित्तकफास्रजित्''॥१॥ भावप्र०। फले, अस्य पुंस्त्वमपि ''आढकांश्च मधुरांश्च, कोद्रवान् लवणं त्यजेत्। काशी० स्त०। वैश्वदेवे, वर्जने, वाच०।

आढग(य)-पुं०(आढक) आढौकते आ-ढौक्-घञ्-पृ०। चतुष्प्रस्थात्मके धान्यप्रमाणविशेषे, अनु०। ''चउपत्थमाढयं'' (सूत्र-३८+ टी०)। औ०। ज्यो०। आ०म०। ज्ञा०। उत्त०। चतुर्भिः प्रस्थैराढकः। तं०। ''तंदुलाणाऽऽढयं कलमा''॥५८४॥ तन्तुलानां कलमा इति प्राकृतशैल्या कलमानाम् आढकम्- चतुःप्रस्थप्रमाणम्। आ०म० १ अ०। ''आढकं तंडुलाणं सिट्ठं ति''। आ० चू० १ अ०। ''अष्टमुष्टिर्भवेत् कुञ्चिः, कुञ्चयोऽष्टौ तु पुष्कलम्। पुष्कलानि च चत्वारि, आढक परिकीर्तितः''॥१॥ वाच०।

आढत्त-(आरद्ध)-त्रि०(आरब्ध) आ-रभ-क्त। ''मलिनोभय-**शुक्तिष्वारब्धपदार्तेर्मइलावहसिप्पिष्ठिक्काऽऽढत्तापाइक्कं''॥ ८।२।१३८॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण आढत्त इत्यादेशो वा। पक्षे-आरद्ध। प्रा०। कृतारम्भणे, भावे क्त। आरम्भे, न०। अवरुद्धे, वाच०। ''सा दाउं आढत्ता''॥१३×॥ सा संघाटं दातुं प्रवृत्ता; परावर्तयितुं, व्याख्यातुं च; प्रवृत्तेत्यर्थः। व्य० ५ उ०।

आढप्प-अव्य आरभ्य-**''आरभेराढप्पः''॥८।४।२५४॥** इति हैमप्राकृत-सूत्रेणाङ्पूर्वस्य रभेः कर्मभावे आढप्प इत्यादेशो व यक्लुक् च। आढप्पइ। पक्षे-आढवीअइ। प्रा०।

आढव- पुं० (आरंभ) आ-रभ-भावे घञ्। **''आडो रभेः रम्भ-ढवौ''॥८।४।१५५॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण रभेः रम्भढव इत्यादेशौ वा। प्रा०। आरम्भणे, वाच०। आरम्भइ। आढवइ। आरभइ। प्रा० ४ पाद।

आढाइत्ता- अव्य० (आदृत्य) आ-दृ-ल्यप् सम्मान्येत्यर्थे, वाच०। ''एयमट्ठं णो आढाइ'' (सूत्र-३८६×) नाद्रियते तत्रार्थेऽनादरवान् भवति। भ० ९ श० ३३ उ०। स्था०।

आढायमाण- त्रि० (आद्रियमाण) आदरक्रिययाविषयीक्रिय- माणे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। ''परं आढायमाणे'' (सूत्र- १९७×) परम्-अत्यर्थमा-द्रियमाणः इति अत्यर्थमादरवान्। आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

आढिय- त्रि० (आदृत) आ-दृ-कर्त्तरि क्त। **''आदृतेः ढिः'' ॥८।१। १४३॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण ढिरादेशः। प्रा०। सादरे, कृतादरे कर्मणि क्त। यस्यादरः कृतस्तस्मिन्, वाच०। आदर-क्रियाविषयीकृते, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। सम्मानिते, पूजिते च। वाच०। आदरे, न०। आव० ३ अ०।

आण- पुं० (आण(न) उच्छ्वासक्रियायाम्, प्रज्ञा० ७ पद।

स च नैरयिकादिदण्डकक्रमेण दर्शितः-

णेरइया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ? गोयमा ! सततं संतया-मेव आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र- १४६+)

'नेरइया णं भंते!' इत्यादि, नैरयिका णमिति वाक्यालंकारे, 'भदन्त ? केवइकालस्स' इति- प्राकृतशैल्या पञ्चम्यर्थे तृतीयार्थे षष्ठी, ततोऽयमर्थः- कियतः कालात्- कियता वा कालेन आणमन्ति 'आनं'ति- 'अन' प्राणने इति धातुपाठात्, मकारोऽलाक्षणिकः, एवमन्यत्रापि यथायोगं परिभावनीयम् 'पांणमंति वा'- प्राणन्ति वाशब्दौ समुच्चयार्थौ, एतदेव पदद्वयं क्रमेणार्थतः स्पष्टयति- 'ऊससंति वा नीससंति वा'- यदेवोक्तम्- आनन्ति तदेवोक्तमुच्छ्वसन्ति तथा यदेवोक्तं प्राणन्ति तदेवोक्तं- निःश्वसन्ति, अथवा- आनमन्ति प्राणमन्ति इति- 'णम्' प्रह्वत्वे शब्दे इत्यस्य दृष्टव्यम्; धातूनामनेकार्थतया श्वसनार्थत्वस्याप्यविरोधः। अपरे व्याचक्षते- आनन्ति प्राणन्ती-त्यनेनान्तः स्फुरन्ति उच्छ्वासनिःश्वासक्रिया परिगृह्यते उच्छ्वसन्ति निःश्वसन्तीत्यनेन तु बाह्याः, एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह गौतम! सततम्- अविरहितं अतिदुःखिता हि नैरयिकाः, दुःखितानां च निरन्तरमुच्छ्वासनिःश्वासौ, तथा लोके दर्शनात्, तच्च सततं प्रायो वृत्तयाऽपि स्यादत आह- ''संतयामेव''-सततमेव- अनवरतमेव नैकोऽपि समयस्तद्विरहकालो, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, आनमन्तीत्यादेः पुनरुच्चारणं शिष्यवचने आदरोपदर्शनार्थं गुरुभिराद्रियमाणवचना हि शिष्याः सन्तोषवन्तो भवन्ति, तथा च सति पौनःपुन्येन प्रश्नश्रवणार्थं निर्णयादिषु घटन्ते, लोके चादेयवचना भवन्ति एवं प्रभूत-भव्योपकारस्तीर्थाभिवृद्धिश्च।

असुरकुमारा णं भंते केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं सत्तण्हं थोवाणं, उक्कोसेणं सातिरेगस्स पक्खस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा।

नागकुमारा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं सत्तण्हं थोवाणं, उक्कोसेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स।

एवं जाव थणियकुमारा णं। (सूत्र- १४६+)

असुरकुमारसूत्रे 'उक्कोसेणं सातिरेगस्स पक्खस्स' इति-इह देवेषु यस्य यावन्ति सागरोपमाणि स्थितिस्तस्य तावत् पक्षप्रमाण उच्छ्वासनिःश्वास-क्रियाविरहकालः। असुर कुमाराणां चोत्कृष्टा स्थितिरेकं सातिरेकं सागरोपमम् ''चमरबलिसारमहिय'' मिति वचनात्, ततः- 'साति-

रेगस्स पक्खस्स' इत्युक्तं सातिरेकात्पक्षादूर्ध्वमुच्छ्वसन्ती-त्यर्थः। प्रज्ञा०७ पद। भ०। 'सत्तण्हं थोवाणं' ति-सप्तानां स्तोकानामुपरीति गम्यते, स्तोकलक्षणं चैतदाचक्षते ''हट्ठस्स अणवगल्लस्स, निरुवकिट्ठस्स जंतुणो। एगे ऊसासणीसासे, एस पाणु त्ति वुच्चइ''॥१॥ सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि वा लवे। लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए॥२॥'' इति। इदं जघन्यमुच्छ्वासादिमानं तज्जघन्य-स्थितिकानाश्रित्यावगन्त- व्यम्, उत्कृष्टं चोत्कृष्टस्थितिकानाश्रित्येति। भ० १ श० १ उ०। 'मुहुत्तपुहुत्तस्स' त्ति-मुहूर्त्त उक्तलक्षण एव, पृथक्त्वं तु द्विप्रभृ- तिरानवभ्यः संख्याविशेषः, समयो प्रसिद्धः। भ० १ श० १ उ०।

पुढवीकाइया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! वेमायाए आणमंति वा ०जाव नीससंति वा। एवं ०जाव मणुस्सा।

वाणमंतरा जहा नागकुमारा। (सूत्र-१४६+)

पृथिवीकायिकसूत्रे 'वेमायाए' इति-विषमा मात्रा तथा, किमुक्तं भवति-अनियतविरहकालमात्रप्रमाणा तेषामुच्छ्- वासनिःश्वासक्रिया। प्रज्ञा०७ पद।

जोइसिया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स उक्कोसेण वि मुहुत्तपुहुत्तस्स ०जाव नीससंति वा (सूत्र-१४६+)

उच्छ्वासस्तेषां न नागकुमारसमानः, किंतु- वक्ष्यमाणः, तथा चाह-'जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्से' त्यादि, पृथक्त्वं द्विप्रभृतिरानवभ्यस्तत्र यज्जघन्यं मुहूर्त्तपृथक्त्वं तद् द्वित्रा मुहूर्त्ताः, यच्चोत्कृष्टं त्रदष्टौ नव वेति। भ० १ श० १ उ०।

वेमाणिया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स उक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

सोहम्मदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा? गोयमा ! जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स उक्कोसेणं दोण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

ईसाणगदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं सातिरेगस्स मुहुत्तपुहुत्त-स्स उक्कोसेणं सातिरेगाणं दोण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

सणंकुमारदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं दोण्हं पक्खाणं उक्कोसेणं सत्तण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

माहिंदगदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं सातिरेगं दोण्हं पक्खाणं, उक्कोसेणं सातिरेगं सत्तण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

बंभलोयदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं सत्तण्हं पक्खाणं, उक्कोसेणं दसण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

लंतगदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं दसण्हं पक्खाणं, उक्कोसेणं चउदसण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

महासुक्कदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं चोदसण्हं पक्खाणं उक्कोसेणं सत्तरसण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

सहस्सारगदेवा णं भंते ? केवलकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं सत्तरसण्हं पक्खाणं उक्कोसेणं अट्ठारसण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

आणयदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठारसण्हं पक्खाणं उक्कोसेणं एगूणवीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

पाणयदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं एगूणवीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं वीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

आरणदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं वीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं एक्कवीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

अच्चुयदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्कवीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं वावीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं बावीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं तेवीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

हेट्ठिममज्जिमगेविज्जदेवा णं भंते केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं तेवीसाए पक्खा- उक्कोसेणं चउव्वीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

हेट्ठिमउवरिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ? केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं चउव्वीसाए पक्खाणं, उक्कोसेणं पणवीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

मज्जिमहेट्ठिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं पणवीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं छव्वीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

मज्जिममज्जिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ! केवइ-कालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं छ-

व्वीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं सत्तावीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

मज्जिमउवरिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ? केवलकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं सत्तावीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं अट्ठावीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

उवरिमहेट्ठिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठावीसं पक्खाणं उक्कोसेणं एगूणतीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

उवरिममज्जिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं एगूणतीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं तीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

उवरिमउवरिमगेविज्जगा णं भंते ! देवा णं केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं तीसाए पक्खाणं, उक्कोसेणं एक्कतीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

विजय-वैजयंत-जयंत-अपराजितविमाणेसु णं भंते ! देवा णं केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्कतीसाए पक्खाणं, उक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

सव्वट्ठगसिद्धदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ? गोयमा ! अजहन्नमणुक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा (सूत्र-१४६×)

तथा देवेषु यो यथा महायुः स तथा सुखी, सुखितानां च यथोत्तरं महान् उच्छ्वासनिःश्वासक्रियाविरहकालो, दुःखरूपत्वादुच्छ्वासनिःश्वास-क्रियायास्ततो यथा यथाऽऽयुषः सागरो- पमवृद्धिस्तथा तथोच्छ्वा-सनिःश्वासक्रियाविरहप्रमाणस्यापि पक्षवृद्धिः। प्रज्ञा० ७ पद।

(सागरादिविमानेषु देवतयोपपन्नानामानप्राणादि)-

जे देवा सागरं सुसागरं सागरकंतं भवं मणुं माणुसोत्तरं लोगहियं विमाणं देवत्ताए उववन्ना। (स०) ते णं देवा एगस्स अद्धमासस्स आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१+)

ये देवा सागरं-सागराऽभिधानम्, एवम्सुसागरम्, सागरकान्तम्, भवम्, मनुम्, मानुषोत्तरम्, लोकहितम्, (स०) विमान-मृदेवनिवासविशेषम् आसाद्येति शेषः, देवत्वेन (स०) उत्पन्नाः जाताः ते देवाः (स०) अर्द्धमासस्यान्त आनन्ति, प्राणन्ति, एतदेव क्रमेण व्याख्यानयन्ना-हउच्छ्वसन्ति, निःश्वसन्ति। स० १ सम०।

जे देवा सुभं सुभकंतं सुभवण्णं सुभगंधं सुभलेसं सुभफासं सोहम्मवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा (स०) ते णं देवा दोण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससन्ति वा। (सूत्र-२×) स० २ सम०।

जे देवा आभंकरं पभंकरं आभंकरंपभंकर चंदं चंदावत्तं चंदप्पभं चंदकंतं चंदवण्णं चंदलेसं चंदज्जयं चंदसिंगं चंदसिट्ठं चंदकूडं चंदुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा तिण्हं अद्धमासाणं आणंमति वा पाणमंति वा ऊससन्ति वा नीससन्ति वा। (सूत्र-३×)।

आभंकरम्, प्रभङ्करम्, आभङ्करप्रभङ्करम्, चन्द्रम, चन्द्रावर्तम्, चन्द्रप्रभम्, चन्द्रकान्तम्, चन्द्रवर्णम्, चन्द्रलेश्यम्, चन्द्रध्वजम्, चन्द्रशृङ्गम्, चन्द्रसृष्टम्, चन्द्रकूटम्, चन्द्रोत्तरा- ऽवतंसकं विमानम्। स० ३ सम०।

जे देवा किट्ठिं सुकिट्ठिं किट्ठियावत्तं किट्ठिप्पभं किट्ठिजुत्तं किट्ठिवण्णं किट्ठिलेसं किट्ठिज्जयं किट्ठिसिंगं किट्ठिसिट्ठं किट्ठिकूडं किट्ठुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा चउण्हऽद्धमासाणं आणमंति वा पाणमन्ति वा ऊससंति वा नीससन्ति वा। (सूत्र-४+) स० ४ सम०।

जे देवा वायं सुवायं वायावत्तं वायप्पभं वायकन्तं वायवण्णं वायसिंगं वायसिट्ठं वायकूडं वाउत्तरवडिंसगं, सूरं सुसूरं सूरावत्तं सूरप्पभं सूरकंतं सूरवण्णं सूरलेसं सूरज्जयं सूरसिंगं सूरसिट्ठं सूरकूडं सूरुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा अद्धमासाणं आणमन्ति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-५+) स० ५ सम०।

जे देवा सयंभुं सयंभूरमणं घोसं सुघोसं महाघोसं किट्ठि- घोसं वीर सुवीरं वीरगतं वीरावत्तं वीरप्पभं वीरकंतं वीरवण्णं वीरलेसं वीरज्जयं वीरसिंगं वीरसिट्ठं वीरकूडं वीरुत्तरव-डिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा (स०) तेणं देवा छण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-६+) स० ६ सम०।

जे देवा समं समप्पभं महापभं पभासं भासुरं विमलं कञ्चनकूडं सणंकुमारवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा सत्तण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-७+) स० ७ सम०।

जे देवा अर्चि, अर्चिमालिं वइरोयणं पभंकरं चंदाऽऽभं सूराऽऽभं सुपइट्ठाऽऽभं अग्गिच्चाऽऽभं रिट्ठाऽऽभं अरुणा-

ऽऽमं अरुणुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा । (स०) ते णं देवा अट्ठण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा (सूत्र-८+) स० ८ सम०।

जे देवा पम्हं सुपम्हं पम्हावत्तं पम्हप्पभं पम्हकंतं पम्हवण्णं पम्हलेसं पम्हज्जयं पम्हसिंगं पम्हसिट्ठं पम्हकूडं पम्हुत्तरवडिंसगं सुज्जं सुसुज्जं सुज्जवित्तं सुज्जप्पभं सुज्जकंतं सुज्जवण्णं सुज्जलेसं सुज्जज्जयं सुज्जसिंगं सुज्जसिट्ठं सुज्जकूडं सुज्जुत्तरवडिंसगं (रुइल्लं) रुइल्लावत्तं रुइल्लप्पभं रुइल्लकंतं रुइल्लवण्णं रुइल्ललेसं रुइल्लज्जयं रुइल्लसिंगं रुइल्लसिट्ठं रुइल्लकूडं रुइल्लुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा (स०) ते णं देवा नवण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-९+) स० ९ मस०।

जे देवा घोसं सुघोसं महाघोसं नंदिघोसं सुस्सरं मणोरमं रम्मं रम्मगं रमणिज्जं मंगलाऽऽवत्तं बंभलोगवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा दसण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१०+) स० १० सम०।

जे देवा बंभं सुबंभं बंभावत्तं बंभप्पभं बंभकंतं बंभवण्णं बंभलेसं बंभज्जयं बंभसिंगं बंभसिट्ठं बंभकूडं बंभुत्तरवडिं-सगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा । (स०) ते णं देवा एकारसण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-११×) स० ११ सम०।

जे देवा महिंदं महिंदज्जयं कंबुं कंबुरगीवं पुंखं सुपुंखं महापुंखं पुंडं सुपुंडं महापुंडं नरिंदं नरिंदकंतं नरिंदुत्तरवडिं-सगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा (स०) ते णं देवा बारसण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१२×) स० १२× सम०।

जे देवा वज्जं सुवज्जं वज्जावत्तं वज्जप्पभं वज्जकंतं वज्जवण्णं वज्जलेसं वज्जरूवं वज्जसिंगं वज्जसिट्ठं वज्जकूडं वज्जुत्तरवडिंसगं वइरं वइरावत्तं वइरप्पभं वइरकंतं वइरवण्णं वइरलेसं वइररूवं वइरसिंगं वइरसिट्ठं वइरकूडं वइरुत्तरवडिंसगं लोगं लोगाऽऽवत्तं लोगप्पभं लोगकंतं लोगवण्णं लोगलेसं लोगरूवं लोगसिंगं लोगसिट्ठं लोगकूडं लोगुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा । (स०) ते णं देवा तेरसहिं अद्धमासेहिं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा। (सूत्र-१३+) स० १३ सम०।

जे देवा सिरिकंतं सिरिमहिअं सिरिसोमनसं लंतयं काविट्ठं महिंदकंतं महिंदुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा चउद्दसहिं अद्धमासेहिं आणमंति व पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१४+) स० १४ सम०।

जे देवा णंदं सुणंदं णंदावत्तं णंदप्पभं णंदकंतं णंदवण्णं णंदलेसं णंदज्जयं णंदसिंगं णंदसिट्ठं णंदकूडं णंदुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा । (स०) ते णं देवा पण्णरसण्हं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१५+) स० १५ सम०।

जे देवा आवत्तं विआवत्तं नंदिआवत्तं महाणंदिआवत्तं अंकुसं अंकुसपलंबं भद्दं सुभद्दं महाभद्दं सव्वओभद्दं भद्दुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा । (स०) ते णं देवा सोलसहिं अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१६+) स० १६ सम०।

जे देवा सामाणं सुसामाणं महासामाणं पउमं महापउमं कुमुदं महाकुमुदं नलिणं महानलिणं पौंडरीअं महापौंडरीअं सुक्कं महासुक्कं सीहं सीहकंतं सीहवीअं भाविअं विमाणं देवत्ताए उववण्णा । (स०) ते णं देवा सत्तरसहिं अद्धामासेहिं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१७×) स० १७ सम०।

जे देवा कालं सुकालं महाकालं अंजणं रिट्ठं सालं समाणं दुमं महादुमं विसालं सुसालं पउमं पउमगुम्मं कुमुदं कुमुदगुम्मं नलिणं नलिणगुम्मं पुंडरीअं पुंडरीयगुम्मं सहस्सारवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा । (स०) ते णं देवा अट्ठारसेसिं अद्धमासेहिं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१८×) स० १८ सम०।

जे णं देवा आणतं पाणतं णतं विणतं घणं सुसिरं इंदं इंदोकंतं इंदुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा । (स०) ते णं देवा एगूणवीसाए अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१९+) स० १९ सम०।

जे देवा सायं विसायं सुविसायं सिद्धत्थं उप्पलं मित्तिलं तिगिच्छं दिसासोवत्थियं पलंबं रुइलं पुप्फं सुपुप्फं पुप्फावत्तं पुप्फपभं पुप्फकंतं पुप्फवण्णं पुप्फलेसं पुप्फज्जयं पुप्फसिंगं पुप्फसिद्धं पुप्फुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा वीसाए अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-२०+) स० २० सम०।

जे देवा सिरिवच्छं सिरिदामकंडं मल्लं किट्टं चावोण्णतं अरण्णवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा एक्कवीसाए अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-२१×) स० २१ सम०।

जे देवा महियं विसूहियं विमलं पभासं वणमालं अच्चुतवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा। (स०) ते णं देवा बावीसाए अद्धमासएणं आणमंति वा पाणमंति उस्स-संति वा नीससंति वा। (सूत्र-२२×) स० २२ सम०।

द्वीन्द्रियाऽऽदीनामानप्राणाद्यस्तित्वं यथा-

जे इमे भंते ! बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया। जीवा एएसि णं आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा जिस्सासं वा जाणामो पासामो, जे इमे पुढविकाइया ०जाव वणप्फइकाइया एगिंदिया जीवा एएसि णं आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा ण जाणामो, ण पासामो। एएसि णं भंते ! जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा ? हंता गोयमा ! एए वि य णं जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा। (सूत्र-८४×)

'जे इमे' इत्यादि, यद्यप्येकेन्द्रियाणामागमादिप्रमाणाज्जीवत्व प्रतीयते तथापि तदुच्छ्वासादीनां साक्षादनुपम्भाज्जीवच्छरीरस्य च निरुच्छ्वासादेरपि कदाचिद्दर्शनात् पृथिव्या-दिपूच्छ्वासादिविषया शङ्का स्यादिति तन्निरासायतेषा-मुच्छ्वासादिकमस्तीत्येतस्यागप्रमाण-प्रसिद्धस्य प्रदर्शनपरमिदं सूत्रमवगन्तव्यमिति।

उच्छ्वासाद्यधिकाराज्जीवादिषु पञ्चविंशतौ पदेषूच्छ्वासा-दिद्रव्याणां स्वरूपनिर्णयाय प्रश्नयन्नाह-

किण्णं भंते ! एते जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा ? गोयमा ! दव्वओ णं अणंतपएसियाइं दव्वाइं, खित्तओ असंखेज्जपएसोगाढाइं, कालओ अण्णयरट्ठिइयाइं, भावओ वण्णमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं आणमंति वा पाणंमति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा। जाइं भावओ वण्णमंताइं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा ताइं किं एगवण्णाइं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा ? आहारगमो नेयव्वो ०जाव पंचदिसं।

'किण्णं भंते ! जीवे' त्यादि, किमित्यस्य सामान्य-निर्देशत्वात्कानि; किंविधानि द्रव्याणीत्यर्थः, 'आहारगमो नेयव्वो' त्ति; प्रज्ञापनाया अष्टाविंशतितमाहार पदोक्तसूत्र- पद्धतिरिहाध्येयेत्यर्थः, सा चेयम्- ''दुवण्णाइं तिवण्णाइं ० जाव पंचवण्णाइं पि जाइं वण्णओ कालाइं ताइं किं एगगुणकालाइं ०जाव अणंतगुणकालाइं पि'' इत्यादिरिति।

किण्णं भंते ! णेरइया आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा तं चेव ०जाव नियमा छद्दिसिं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नी ०वा, जीवा एगिंदिया वाघाया निव्वाघाया भाणियव्वा, सेसा नियमा छद्दिसिं।

'जीवेगिंदिए' त्यादि, जीवा एकेन्द्रियाश्च 'वाघाय- निव्वाघाय' त्ति-मतुब्लोपाद् व्याघातनिर्व्याघातवन्तो भणितव्याः इह चैवं पाठेऽपि निर्व्याघातशब्दः पूर्व्वं द्रष्टव्यस्तदभिलापस्य सूत्रे तथैव दृश्यमानत्वात्, तत्र जीवा निर्व्याघाताः सव्याघाताः सूत्रे एव दर्शिताः, एकेन्द्रियास्त्वेवम्- 'पुढविकाइया णं भंते ! कइ दिसिं आणमंति ? गोयमा ! निव्वाघाए णं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं' मित्यादि, एवमप्कायादिष्वपि तत्र निर्व्याघातेन षड्दिशं षड्दिशो यत्रानमनादौ तत्तथा। व्याघातं प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशं, स्याच्चतुर्दिशं, स्यात्पञ्चदिशं, आनमन्ति यतस्तेषां लोकान्त-वृत्तावलोकेन त्र्यादिदिक्षूच्छ्वासादिपुद्गलानां व्याघातः सम्भव-तीति 'सेसा नियमा छद्दिसिं' इति- शेषा नारकादित्रसाः षड्दिशमानमन्ति तेषां हि त्रसनाड्यन्तर्भूतत्वात् षड्दिशमुच्छ-वासादिपुद्गलग्रहोऽस्त्येवेति। अथैकेन्द्रियाणामुच्छ्वासादिभावा-दुच्छ्वासादेश्च वायुरूपत्वात् किं वायुकायिकानामप्युच्छ्वा- सादिना वायुनैव भवितव्यम् ? उत अन्येन केनापि पृथिव्या-दीनामिव तद्विलक्षणेनेत्याशङ्कायां प्रश्नयन्नाह-

वाउयाए णं भंते ! वाउयाए चेव आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा ? हंता गोयमा ! वाउयाए णं ०जाव नीससंति वा। (सूत्र-८५)

'वाउयाए णमि' त्यादि; अथोच्छ्वासस्यापि वायुत्वादन्येनोच्छ्वास-वासवायुना भाव्यम्, तस्याप्यन्येनैवमनवस्था, नैवम-चेतनत्वात्तस्य, किञ्च-योऽयमुच्छ्वासवायुः स वायुत्वेऽपि न वायुसम्भाव्यौदारिक-वैक्रियशरीररूपः तदीयपुद्गलानामानप्राणसंज्ञितानामौदारिक-वैक्रियशरीरपुद्गलेभ्योऽनन्त-गुणप्रदेशत्वेन सूक्ष्मतया एतच्छरीराव्यप-देशत्वात्, तथा च प्रत्युच्छ्वासादीनामभाव इति नाऽनवस्था। भ० २ श० १ उ०। संख्येयावलिकाप्रमाणे एकोच्छ्वासात्मके कालविशेषे च। संख्येया आवलिकाः- ''आण त्ति'' (सूत्र-११५+) आणः- एक उच्छ्वास इत्यर्थः, अनु०। जी०। कर्म०। ज्ञा०। स्था०। भ०।

पुढविकाइया णं भंते ! पुढविकाइयं चेव आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ? हंता गोयमा ! पुढवीकाइया पुढवीकाइयं चेव आणमंति वा ०जाव नीससंति वा। पुढवीकाइए णं भंते ! आउकाइयं आण-मंति वा ०जाव नीससंति वा ? हंता गोयमा ! पुढवीकाइया णं आउकाइयं आणमंति वा ०जाव नीससंति वा, एवं तेउकाइय-वाउकाइयं, एवं वणस्सइकाइयं। आउकाइए

णं भन्ते ! पुढविकाइयं आणमंति वा पाणमंति वा ? एवं चेव, आउकाइए णं भंते ! आउकाइयं चेव आणमंति वा, एवं चेव, एवं तेऊवाऊवणस्सइकाइयं। तेऊकाइए णं भन्ते ! पुढवीकाइयं आणमंति वा एवं ०जाव वणस्सइकाइए णं भन्ते ! वणस्सइकाइयं चेव आणमंति वा तहेव।

'पुढविकाइया णं भंते!' इत्यादि, इह पूज्यव्याख्या। यथा वनस्पतिरन्यस्योपर्यन्तः स्थितस्तत्तेजोग्रहणं करोति एवं पृथिवीकायिकादयोऽप्यन्योन्यसम्बद्धत्वात्तत्तद्रूपं प्राणापानादि कुर्वन्तीति, तत्रैकः पृथिवीकायिकोऽन्यं स्वसम्बद्धं पृथिवी- कायिकम्, अनितितद्रूपमुच्छ्वासं करोति यथोदरस्थिकर्पूरः पुरुषः कर्पूरस्वभावमुच्छ्वासं करोति एवमप्कायादिकानित्येवं पृथिवीकायिकसूत्राणि पञ्च एवमेवाप्कायादयः प्रत्यकं पञ्च सूत्राणि लभन्त इति पञ्चविंशतिः सूत्राण्येतानीति।

पुढवीकाए णं भंते ! पुढवीकाइयं चेव आणममाणे वा पाणममाणे वा ऊससमाणे वा नीससमाणे वा कइकिरिए ? गोयमा! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए। पुढवीकाइए णं भन्ते ! आउक्काइयं आणममाणे वा एवं चेव, एवं ०जाव वणस्सइकाइयं, एवं आउकाइएण वि सव्वे वि भाणियव्वा, एवं तेउक्काइएण वि, एवं वाउक्काइएण वि, ०जाव वणस्सइकाइए णं भंते ! वणस्सइकाइयं चेव आणममाणे वा पुच्छा, गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए। (सूत्र-३९२)। वाउक्काइए णं भन्ते ! रुक्खस्स मूलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कइ-किरिए ? गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए। एवं कंदं एवं ०जाव मूलं वीयं पचालेमाणे वा पुच्छा ? गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय पंचकिरिए, सेवं भन्ते ! भंते त्ति। (सूत्र- ३९३)

क्रियासूत्राण्यपि पञ्चविंशतिस्तत्र 'सिय किरिए' त्ति-यदा पृथिवीकायिकादिः पृथिवीकायिकादिरूपमुच्छ्वासं कुर्वन्नपि न तस्य पीडामुत्पादयति स्वभावविशेषात्तदासौ कायिक्यादित्रि- क्रियः स्यात्। यदा तु तस्य पीडामुत्पादयति तदा पारितापनिकक्रियाभावाच्चतुष्क्रियः, प्राणातिपातिसद्भावे तु पञ्चक्रिय इति। क्रियाधिकारादेवेदमाह- 'वाउकाइए णमि' त्यादि, इह च वायुना वृक्षमूलस्य प्रचलनं प्रपातनं वा तदा सम्भवति यदा नदीभित्त्यादिषु पृथिव्याऽनावृत्तं तत्स्यादिति। अथ कथं प्रपातेन त्रिक्रियात्वं परितापादेः सम्भवात्- उच्यते-अचेतनमूलापेक्षयेति। भ० ९ श० ३४ उ०।

आणंतरिय- न० (आनन्तर्य्य) अनन्तरमेव चतुर्व० स्वार्थे ष्यञ्। अव्यवहिते, अनन्तरस्य भावे ष्यञ्। अव्यवधाने, वाच०। अनुक्रमे, ''आणंतरियं णाम-आणंतरियंति वा अणुपरिवाडि त्ति वा अणुक्कमेत्ति वा एगट्ठा'' आ०चू० १ अ०।

आणंद- पुं० (आनन्द) आ-नन्द-घञ्। चित्ताह्लादे, औ०। सुखे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। सुखविशेषे, पं०सू० ५ सूत्र। हर्षे, दश० २ चू०। अभिलषितार्थावाप्तिजन्ये मानसे विकारे, ''के आणंदे'' (सूत्र-११७+) अभिलषितार्थावाप्तावानन्दः। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। (अत्र विशेषव्याख्यानम् 'आगइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्) दुःखाभावे ब्रह्मणि, अर्शआदित्वादच्। आनन्दवति, त्रि०। वाच०। अहोरात्रभवे त्रिंशन्मुहूर्त्तान्तर्गते स्वनामख्याते षोडशे मुहूर्त्ते, ज्यो० २ पाहु०। कल्प०। जं०। चं० प्र०। (गणनया एकादशो मुहूर्त्त आनन्दः) स० ३० सम०। स्वनामख्याते षष्ठे बलदेवे, (८४ गाथा) स० (१५९ सूत्र×) (तद्वक्तव्यता 'दसारमंडल' शब्दे चतुर्थभागे २४८५ पृष्ठे दर्शयिष्यते) स्वनामख्याते शीतलजिनस्य प्रथमशेष्ये च। ''पुण आणंदे०''॥४०+॥ स०। (सूत्र-१५८+) (तद्वृत्तम् 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२९१ पृष्ठे दर्शयिष्यते) भगवत ऋषभदेवस्य शतपुत्रान्तर्गते स्वनामख्याते पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। स्वनामख्याते भगवतो महावीर-स्यान्तेवासिनि, स्था० १० ठा० ३ उ०। ''समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी आणंदे णामं थेरे'' (सूत्र-५४७×) भ० १५ श०। (तद्वक्तव्यता 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते) धरणस्य नागेन्द्रस्य नागराजस्य स्वनामख्याते स्थानीकाधिपतौ, (सूत्र-४०४×) स्था० ५ ठा० १ उ०। गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते देवे, जं० ४ वक्ष०। पुष्करवरद्वीपार्द्धस्थितमानुषोत्तरपर्वतस्थे स्वनामख्याते सुवर्णकुमारे, द्वी०। स्वनामख्याते पितृसेनकृष्णाङ्गजे, तद्वक्तव्यता प्रतिबद्धे निरयावलिकोपाङ्गे द्वितीयवर्गस्य कल्पावतंसिकाभिधस्य नवमेऽध्ययने च। नि० १ श्रु० २ वर्ग ९ अ०। (तद्वक्तव्यता यथा पितृसेनकृष्णाङ्गजो नवमः वर्षद्वयं व्रतपर्य्या-यपरिपालनं कृत्वा प्राणतदेवलोकेदशमे उत्पद्य एकोनविंशति-सागरो-पमाण्यायुरनुपाल्य ततश्च्युतो विदेहे सेत्स्यतीति) वाणिजग्रामस्थे स्वनामख्याते श्रावके उपा० १ अ०। नि०। संथा०। ''अट्ठ य वीसाऽऽणन्दे०''॥४९६×॥ आनन्दस्य गृहे, आ० म० १ अ०।भ०। आनन्दाभिधानोपासकवक्तव्यता प्रति-बद्धमध्ययनमानन्दः। उपा० ३ अ०। आनन्दो वाणिजग्रामा- भिधाननगरवासीमहर्द्धिको गृहपतिर्महावीरेण बोधित एका- दशोपासकप्रतिमां कृत्वोत्पन्नावधिज्ञानो मासिक्या संलेखनया सौधर्ममगमदिति वक्तव्यता प्रतिबद्धे उपासकदशायाः प्रथमेऽ- ध्ययने च। स्था० १० ठा० ३ उ०।

(तद्वक्तव्यता यथा)-

पढमस्स णं भंते ! ०जाव संपत्ते णं केअट्ठे पण्णत्ते ? (सूत्र २×) एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियग्गामे णामं णयरे होत्था। वण्णओ। तस्स णं वाणियग्गामस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए दूयपलासे चेइए। तत्थ णं वाणियग्गामे जिय-

सत्तू राया, वण्णओ। तत्थ णं वाणियग्गामे आणंदे णामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे ०जाव अपरिभूए, तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स चत्तारि हिरण्णकोडीओ णिहाणपत्ताओ चत्तारि हिरण्णकोडीओ वुड्ढिपत्ताओ चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थरपत्ताओ, चत्तारि वया, दस गोसाहस्सीणं वएणं होत्था। से आणंदे गाहावई बहूणं ईसर ०जाव सत्थवाहाणं बहूसु कज्जेसु य कारणेसु य मंतेसु य कुडुंबेसु य गुज्जेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुज्छणिज्जे सयस्स वि य णं कुडुंबस्स मेढीभूए आहारे आलंबणं चक्खुमेढिभुये सव्वकज्जवट्टावए आवि होत्था। तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स ''सिवाणंदा'' णामं भारिया होत्था, अहीण ०जाव सुरूवा। आणंदस्स गाहावइस्स इट्ठा आणंदेणं गाहावइणा सद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठा सद्द ०जाव पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुब्भवमाणी विहरइ। तस्स णं वाणियग्गामस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं ''कोल्लागए'' णामं सन्निवेसे होत्था। रिद्धित्थमिए ०जाव पासादीए ४, तत्थ णं कोल्लागए सन्निवेसे आणंदस्स गाहावइस्स बहूए मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणे परिवसइ। अड्ढे ०जाव अपरिभूए। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे ०जाव समोसरिए परिसा निग्गमा कोणिए राया जहा, तहा जियसत्तू राया णिग्गछति निग्गच्छित्ता ०जाव पज्जुवासइ, तए णं ते आणंदे गाहावई इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं खलु समणे भगवं ०जाव विहरइ। तं महाफलं ०जाव गच्छामि णं ०जाव पज्जुवासामि। एवं संपेहेइ संपेहित्ता, ण्हाये सुद्धप्पावेसाइं ०जाव अप्पमहग्घाभरणालंकिय-सरीरे। साओ गिहाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता स कोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं माणुस्सवग्गुरा-परिक्खित्तो पायविहारचारेणं वाणियग्गामं णयरं मज्जं मज्जेणं णिगच्छइ णिग्गच्छित्ता जेणामेव दूयपलासे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ आया० करित्ता वंदइ णमंसइ ० जाव पज्जुवासइ। (सूत्र-३)

तए णं समणे भगवं महावीरे आणंदस्स गाहावइस्स तीसे य महइ महालियाए ०जाव धम्मकहा, परिसा पडिगया, रायाऽवि य गओ। (सूत्र-४) तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव एवं वयासी- सद्दहामि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते! णिग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते ! इच्छियमेयं भंते ! पडिच्छियमेयं भंते ! इच्छियपडिच्छियमेयं भंते! से जहेय। तुब्भे वयहत्तिकट्ठ जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसरतलवरमाडंबियकोडुं-बियसेट्ठि-सत्थवाहप्पभिइया मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया ०जाव पव्वइत्ता। णो खलु तहा अहं संचाएमि मुंडे ०जाव पव्वइत्तए, अहण्णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वयं सत्तसिक्खावयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि। जहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेइ। (सूत्र-५)

तए णं से आणंदे गाहावइस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खामि। (उपा०) (तत्स्वरूपम् 'पाणाइवायवेरमण' शब्दे ५ भागे० वक्ष्यते।) तयाणंतरं च णं थूलगं मुसावायं पच्चक्खा (मि) इ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं-ण करेमि, ण कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा। (उपा०) (स्थूलमृषावादस्वरूपम् 'मुसावायवेरमण' शब्दे षष्ठेभागे दर्शयिष्यते।) तदाणंतरं च णं थूलगं आदिण्णादाणं पच्चक्खामि। (उपा०) (तत्स्वरूपम् 'अदत्तादाणवेरमण' शब्दे १ भागे गतम्।) तयाणंतरं च णं सदारसंतोसिए परिमाणं करेइ णण्णत्थ एकाए सिवाणंदाए भारियाए अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि (तत्स्वरूपं प्रतिषेधरूपेण 'मेहुण' शब्दे षष्ठे भागे 'हत्थकम्म' शब्दे सप्तमभागे च वक्ष्यते) (उपा०) तयाणंतरं च णं इच्छापरिमाणं करेइ, हिरण्णसुवण्णविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ चउहिं हिरण्णकोडीहिं णिहाणपउत्ताहिं चउहिं बुड्ढिपउत्ताहिं चउहिं पवित्थरमाणपत्ताहिं अवसेसं सव्वं हिरण्णसुवण्णविहिं पच्चक्खामि दुविहं ण करेमि, ण कारवेमि, तिविहेणं मणसा वयसा, कायसा, तयाणंतरं च णं चउप्पयविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ चउहिं वएहिं दसगोसाहस्सिएणं वएणं आसेसं सव्वं च(उ)तुप्पयविहिं पच्चक्खामि, दुविहं तिविहेणंमण० ३ तयाणंतरं च णं खेत्तवत्थुपरिमाणं करेइ णण्णत्थ पंचहिं हलसएहिं णियत्तणसइएणं हलेणं अवसेसं सव्वं खेत्तवत्थुं पच्चक्खामि, दुविहं तिविहेणं मण० ३, तयाणंतरं च णं सगडविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ पंचहिं सगडसएहिं दिसाजत्तिएहिं पंचहिं सगडीसएहिं संवाहणिएहिं अवसेसं सव्वं सगडविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं वाहणविहि-परिमाणं करेइ, णण्णत्थ चउहिं वाहणेहिं दिसाजत्तिएहिं चउहिं वाहणेहिं संवाहणिएहिं अवसेसं सव्वं वाहण-विहिं पच्चक्खामि० ३, (सूत्र० ५)। तयाणंतरं च णं

उवभोगपरिभोगविहिं पच्चक्खामि (उपा०) (अस्य विधेः स्वरूपम् 'उवभोगपरिभोगपरिमाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते।) तयाणंतरं च णं ण्हाणमाणे उल्लणियाविहिपरि-माणं करेइ, णण्णत्थ एगाए गंधकासाइए अवसेसं सव्वं उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि दुविहं तिविहेणं मणसा, वयसा, कायसा।

तयाणंतरं च णं दंतवणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं अल्ललट्ठीमहुएणं, अवसेसं दंतवणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं फलविहिपरिमाणं करेइ णण्णत्थ एगेणं खीरामलएणं अवसेसं सव्वं फलविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं अब्भङ्गणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ सयपागसहस्स-पागेहिं तेल्लेहिं, अवसेसं अब्भंगणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं उव्वट्टणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं सुरभिणा गंधवट्टएणं अवसेसं उवट्टणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं मज्जणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ अट्ठहिं उट्टिएहिं उदगस्स घडएहिं अवसेसं मज्जणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं वत्थविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं खोमयजुयलेणं अवसेसं वत्थविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं विलेवणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ अगरुंकुकुमचंदण-माइ-एहिं अवसेसं विलेवणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं पुप्फविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं सुद्धपउमेणं मालिकुसुमदामेणं वा, अवसेसं पुप्फविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं आभरण-विहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ मट्ठकण्णेज्जएहिं णाममुद्दिएहिं, अवसेसं आभरणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं धूवणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ अगरुतुरुक्कधूवमाइएहिं, अवसेसं धूवणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं भोयणविहिपरिमाणं करेमाणे पेज्जविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगाए कट्ठपेज्जाए, अवसेसं पेज्जविहिं पच्चक्खामि मण० ३, तयाणंतरं च णं भक्खणविहिप-रिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेहिं घयपुन्नेहिं खंडखज्जएहिं वा, अवसेसं भक्खणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं ओयणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ कलमसालिओदणेणं, अवसेसं ओदणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं सूवविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ कलायसूवेण वा मुग्गमाससूवेण वा अवसेसं सूवविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं घयविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ सारइएणं गोघयमंडेणं, अवसेसं घयविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं सागविहिप-रिमाणं करेइ, णण्णत्थ वत्थुसाएणं वा सोतत्थियसाएण वा मंडुक्कियसाएणं वा, अवसेसं सागविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं माहुरयविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं पालंगामाहुरएणं, अवसेसं माहुरयविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं जेमणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ सेहंबदालियंबेहि अवसेसं जेमणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं पाणियविहि- परिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं अंतलिक्खोदएणं अवसेसं पाणियाविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं मुहवास-विहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ पंचसोगंधिएणं तंबोलेणं, अवसेसं मुहवासविहिं पच्च० ३, (सूत्र ६)

तयाणंतरं च णं चउव्विहं अणत्थदंडं पच्चक्खामि तं जहा-अवज्झाणाचरियं पमायाचरियं हिंसप्पयाणं पावकम्मोव-एसे दुविहं तिविहेणं मणसा, वयसा, कायसा (सूत्र ७)

इह खलुआणंदाइसमणोभगवं महावीरे आणंदं समणो-वासगं एवं वयासी- एवं खलु आणंदाइसमणोवासएणं अभिगयजीवा-जीवेणं उवलद्धपुण्णपावेणं आसवसंवर-निज्जरकिरिया-अहिगरणबंधुमक्खुलेणं असहिज्ज देवासुरनागसुवन्नजक्ख-रक्खसकिंनरकिंपुरुसगरुलगंध-व्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जेणं सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा- संका, कंखा, वितिगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासंडसंथवो। तदाणंतरं च णं थूलयस्स पाणाइवायवेरणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा-बहे, बंधे, छविच्छेए अइभारे, भत्तपाणवोच्छेए, तयाणंतरं च णं थूलगस्स मुसावायवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-सहसाऽब्भक्खाणे, रहस्साऽभक्खाणे, सदारमंतभेए, मोसोवएसे, कूडलेह-करणे य २। (उपा०) (स्थूलकाऽदत्तादानास्य अतिचाराः 'अदिण्णादाणवेरमण' शब्दे १ भागे गताः)। (स्वदारसंतोषविषयाऽतिचाराः 'परदारगमण' शब्दे पञ्चम-भागे दर्शयिष्यते।) (इच्छापरिमाणातिचार-स्वरूपम् 'इच्छापरिमाण' शब्दे अस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते।) तयाणंतरं च णं दिसि विदिसि पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा- उड्ढदिसि परिमाणाइक्कमे अहोदिसि परिमाणाइक्कमे, चउदिसि परिमाणाइक्कमे, खेत्तवुड्ढिस्स अंतरद्धा। (उपा०) (उपभोग-परिभोगपरिणामस्याऽतिचाराः 'उवभोगपरिभोग परिमाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते।) (अनर्थदण्डविरमण-विषयातीचाराः 'अणट्ठादंडवेरमण' शब्दे प्रथमभागे गताः।) (सामायिकविषयातिचाराः 'सा-

माइय' शब्दे दर्शयिष्यते) (देशाऽवकाशिकविषयाऽतिचाराः 'देसाऽवगासिय' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते) (पौषधोपवासविषयाऽतिचाराः 'पोसह' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) (अतिथिसंविभागविषयातिचाराः 'अइहिसंविभाग' शब्दे प्रथमभागे गताः) (अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना- जोषणाऽऽराधनताविषयाऽतिचाराः 'अपच्छिममारण- न्तियसंलेहेणाजूसणाऽऽराहणता' शब्दे प्रथमभागे गताः।)

तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-णो खलु मे भंते ! कप्पइ अज्जप्पभिइ अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि वा अरिहंतचेइयाइं वंदित्तए वा णमंसित्तए वा, पुव्विं अणालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा, तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पयाउं वा णण्णत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारेणं, कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एस णिज्जेणं असणपाण- खाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पीढफलग- सेज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए त्तिकट्टु। इमं एयाणुरुवं अभिग्गहं अभिगिह्णइ २ त्ता, पसिणाइं पुच्छइ पुच्छित्ता, अट्ठाइं आइयइ२त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ वंदित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ २ त्ता जेणेव वाणियगामे णयरे जेणेव सइ गिहे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सिवाणंदं भारियं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिए! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे णिसंते, सेवि य धम्मे मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए तं गच्छ णं तुभं देवाणुप्पिए ! समणं भगवं महावीरं वंदाहि ०जाव पज्जुवासाहि समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं पंचाणुव्वतियं सत्तसिक्खावतियं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि। (सूत्र-८)

तए णं सा ''सिवाणंदा'' भारिया आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी-खिप्पामेव लहुकरणं ०जाव पज्जुवासति। तए णं समणे भगवं महावीरे सिवाणंदाए भारियाए। तीसे य महइ ०जाव धम्मं कहेइ, तए णं सा सिवाणदा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सुच्चा णिसम्म हट्ठा ०जाव गिहिधम्मं पडिवज्जइ २ त्ता तमेव धम्मियं जाणपवरं दुरुहइ २ त्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। (सूत्र-९) भंतेत्ति, भयवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ वंदित्ता एवं वयासी-पहू णं भंते ! आणंदे समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे ०जाव पवइत्तए, णो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! आणंदे णं समणोवासए बहूइं वासाइं समणोवासगपरियायं पाउणिहिइ २ त्ता ०जाव सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववज्जिहिति तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं आणंदस्स वि समणोवासगस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। तते णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइ बहिया ० जाव विहरति। (सूत्र-१०)

ततेणं से आणदे समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे ०जाव पडिलाभेमाणे विहरइ। तए णं सा सिवाणंदा भारिया समणोवासिया जाया ०जाव पडिलाभेमाणी विहरइ (सूत्र-११)। तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स उच्चावएहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणस्स चोद्दससंवच्छराइं दीइक्कंताइं पण्णरससंवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्जत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने- एवं खलु अहं वाणियग्गामे नयरे बहूणं ईसर- ०जाव सयसावियकुटुंबस्स ०जाव आधारे, तं एतेणं विक्खेवेणं अहं णो संचएमि समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उपसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। तं सेयं खलु ममं कल्लं ०जाव जलंते विपुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा जहा पूरणो ०जाव जेट्ठपुत्तं कुटुंबे ठवित्ता तं मित्तं ०जाव जेट्ठपुत्तं च आपुच्छित्ता कोल्लाए संनिवेसे णायकुलंसि। पोसहसालंपडिलेहित्ता समणस्स भगवओ महा- वीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। एवं संपेहेइ संपेहित्ता कल्लं विउलं तहेव जिमित भुत्तुत्तरा- गए तं मित्त ०जाव विउलेणं पुप्फ-पीढ-फलग-सेज्जा- संथारएणं सक्कारेइ संमाणेइ २ त्ता तस्सेव मित्त ०जाव पुरओ जेट्ठपुत्तं सद्दावेइ २ त्ता, एवं वयासी- एवं खलु पुत्ता ! अहं वाणियग्गामे बहूणं ईसर जहा चिंतियं ० जाव विहरित्तए। तं सेयं खलु मम इयाणिं तुमं सयस्स कुटुंबस्स आलंबणं०४ ट्ठावित्ता ०जाव विहरइ। तए णं जेट्ठपुत्ते आणंदस्स समणोवासगस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडि-

सुणेइ। तए णं से आणंदे समणोवासए तस्सेव मित्त ० जाव पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठवेइ २ त्ता। एवं वयासी- मा णं देवाणुप्पिया! तुब्भे अज्जप्पभिइं केइ ममं बहुसु कज्जेसु ०जाव आपुच्छउ वा पडिपुच्छउ वा ममं अट्ठाए असणं वा पाणं व खाइमं वा साइमं वा उवक्खडेउ वा उवकरेउ वा। तए णं से आणंदे समणोवासए जेट्ठपुत्तं मित्तणाइं आपुच्छइ २ त्ता सयाओ गिहाओ पहिणिक्खमइ २ त्ता वाणियग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ २ त्ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे जेणेव नायकुले जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ २ त्ता पोसहसालं पमज्जइ २ त्ता उच्चारपास-वणभूमिं पडिलेहइ २ त्ता दब्भसंथारं संथरइ २ त्ता दब्भसंथा-रयं दूरूहइ २ त्ता पोसहसालाते पोसहिते दब्भसंथारोवगये समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। (सूत्र- १२)

तए णं से आणंदे समणोवासए पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। पढमं उवासगपडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासेइ ०जाव आराहेइ। तए णं से आणंदे समणोवासए दोच्चं उवासगपडिमं, अहासु०। एवं-तच्चं उवा०, चउत्थं उ० पंचमं उ० छट्ठं उ० सत्तमं उ० अट्ठमं उ० नवमं उ० दशमं उ० एक्कारसमं उ० ०जाव आराहेइ (सूत्र-१३)। तए णं से आणंदे समणोवासए इमेणं एयारूवेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पयाहित्तेणं तवोकम्मेणं सुक्के० ०जाव किसे धमणिसतते जाए। तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्ता ०जाव धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयं अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने एवं खलु अहं इमेणं ०जाव धमणिसंतए जाए तं अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्म-बल-वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे सद्धा धिई संवेगे। तं ०जाव तामे अत्थि उट्ठाणे सद्धा धिई संवेगे ०जाव मे धममायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ, ताव ता मे सेयं कल्लं ०जाव जलंते अपच्छिममारणंतिय-संलेहणाजूसणाजूसितस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए। एवं संपेहेइ संपेहित्ता कल्लं पाउ ०जाव अपच्छिमं ०जाव कालं अणवकंखमाणे विहरइ। तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अण्णया कय इ सुभेणं अज्झवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं लेसाहिं वि सुज्झमाणीहिं णाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ओहिनाणे समुप्पन्ने पुरच्छिमे णं लवणसमुद्दे पंचोजयणसइयं खेत्तं जाणइ पासइ। एवं दक्खिणेणं पच्चत्थिमेण य उत्तरेणं ०जाव चुल्लहिमवंतं वासधरपव्वतं जाणइ पासइ। उड्ढं ०जाव सोहम्म कप्पं जाणइ पासइ अहे ०जाव इमी से रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयं अच्चुयं णरयं चउरासीइवाससहस्सट्ठितियं जाणइ पासइ (सूत्र-१४)

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए परिसा निग्गया ०जाव पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूईणामं अणगारे गोयमगोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचतुरंससंठाण-संठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कण-गपुलगनिघसपम्हगोरे उग्गवते दित्ततवे तत्ततवे घोरतवे महातवे उराले घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलते-उलेसे जियकोहे जियमाणे जियमाए जियलोभे जाइसंपण्णे कुलसंपण्णे बलसंपण्णे रूवसंपण्णे ०जाव तेयंसी छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्जायं करेइ वीआए पोर (रु) सीए जाणं जियाइ, तईयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभताए मुहपत्तियं पडिलेहेइ २ त्ता। भायणवत्थाइं पडिलेहेइ २ त्ता। भायणवत्थाइं पमज्जइ २ त्ता भायणाइं उग्गाहेइ २ त्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ त्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए छट्ठक्खमण-पारणगंसि वाणियग्गामे णयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए अहासुहं देवाणुप्पिया? मा पडिबंधं करेह। तए णं गोयमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ २ त्ता अतुरियमचवलमसंभंते जुगंतरपरिलोयणाए दिट्ठीए पुरओ इरियं सोहमाणे जेणेव वाणियग्गामे णयरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता वाणियग्गामे णगरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ। तए णं से भगवं गोयमे वाणियग्गामे नगरे जहा पण्णत्तीए तहा ०जाव भिक्खायरियाए ० जाव अडमाणे अहापज्जत्तं भत्तपाणं संमं पडिगाहेइ २ त्ता वाणियगामाओ पडिनिग्गच्छइ २ त्ता कोल्लायस्स सन्नि-वेसस्स अदूरसामंते णं वीतीवयमाणे बहुजणसद्दं णिसामेइ बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० ४ एवं खलु - देवाणुप्पिया! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासा

आणंदे णामं समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिममार० जाव अणवकंखमाणे विहरइ, तए णं तस्स गोयमस्स बहुजणस्स अंतिए एतमट्ठं सोच्चा णिसम्म अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने, तं गच्छामि णं आणंदं समणोवासयं पासामि, एवं संपेहेइ संपेहित्ता जेणेव कोल्लाए संनिवेसे जेणेव आणंदे समणोवासए जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ। तण णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासेत्ता हट्ठ०जाव हियए, भगवं गोयमं वंदति णमंसति २ त्ता एवं वयासी- एवं खलु भंते ! अहं इमेणं उरालेणं०जाव धमणिसंतते जाए, णो संचाएमि देवाणुप्पियस्स अंतियं पाउब्भवित्ता णं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाए अभिवंदित्तए, तुब्भे णं भंते ! इच्छाकारेणं अणभिओएणं इतो चेव (एह) एवं जण्णं देवाणुप्पियाणं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदामि णमंसामि। तए णं से भगवं गोयमे जेणेव आणंदे समणो-वासए तेणेव उवागच्छइ (सूत्र-१५)।

तए णं से आणंदे समणोवासए भगवओ गोयमस्स तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदति णमंसति २ त्ता एवं वयासी- अत्थि णं भंते ! गिहिणो गिहिमज्जावसंतस्स ओहिणाणे णं समुपज्जइ। हंता अत्थि, जइ णं भंते ! गिहिणो० जाव समुप्पज्जइ। एवं खलु भंते ! मम वि गिहिणो गिहिमज्जावसंतस्स ओहिनाणे समुप्पण्णे पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दे पंच जोयणसयाइं०जाव लोलुयच्चुयं णरयं जाणामि पासामि। तए णं से भगवं गोयमे आणंदं समणो-वासयं एवं वयासी-अत्थि णं आणंदा ! गिहिणो०जाव समुप्पज्जइ, णो चेव णं एव महालए तं णं तुमं आणंदा ! एतस्स ठाणस्स आलोएहि०जाव तवोकम्मं पडिवज्जहि। तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एवं वयासी-अत्थि णं भंते ! जिणवयणे संताणं १ तच्चाणं १ तहियाणं सब्भुयाणं भावाणं आलोइज्जइ०जाव पडिवज्जिज्जइ? णो इणट्ठे समट्ठे। जइ णं भंते ! जिणवयणे संताणं०जाव भावाणं णो आलोएज्जइ०जाव तवोकम्मं णो पडिवज्जिज्जइ। तं णं भंते ! तुब्भे चेव एयस्स ठाणस्स आलोएह०जाव पडिवज्जह। तए णं से भगवं गोयमे आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए वितिगिच्छा-समावण्णे आणंदस्स अंतियाओ पडिनिक्खमइ २ त्ता जेणेव दूइपलासे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते गमणागमणाए पडिक्कमइ २ त्ता। एस णं समणे आलोएइ २ त्ता भत्तपाणे पडिदंसेइ २ त्ता समणं भगवं वहावीरं वंदइ नमंसइ २ त्ता। एवं वयासी-एवं खलु भंते ! अहं तुम्हेहिं अब्भणुण्णाए तं चेव सव्वं कहेइ०जाव तए णं पडिदंसेइ। अहं संकिते कंखिए वितिगिच्छासमावण्णे आणंदसस्स समणोवासगस्स अंतिए पडिणिक्खामामि २ त्ता जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए तं णं भंते ! किं आणंदे णं समणोवासए णं तस्स ठाणस्स आलोएयव्यं०जाव पडिवज्जेयव्वं। उदाए मए? गोयमाइसमणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी-गोयमा! तुमं चेव णं तस्स ठाणस्स आलोएहि०जाव पडिवज्जेहि, आणंदं समणोवासयं एयमट्ठं खामेहि। तए णं से भगवं गोयमे समणस्स भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ २ त्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ०जाव पडिवज्जइ। आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेइ २ त्ता तए णं से समणे भगवं महावीरे बहिया अण्णया कयाइ बहिया जणवयविहारं विहरइ (सूत्र-१६+)। तए णं से आणंदे समणोवासए बहूहिं सीलव्वएहिं०जाव अप्पाणं भावेइ २ त्ता वीसं वासाइं समणोवासयपरियायं पाउणित्ता एकारस य उवासगपडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं जूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरपुरिच्छमेणं अरुणे विमाणे देवत्ताए उववण्णे। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं आणंदस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। आणंदे णं भंते ! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चुओ चुइत्ता कहिं गच्छहिति कहिं उववज्जिहिति। गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्जिहिति, णिक्खेवो। सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पढमं अज्जयणं सम्मत्तं। (सूत्र-१७)

उपा० १ अ०। आचू०। आ० म०। भाविन्यामुत्सर्पिण्यामरक-द्विकेव्यतिक्रान्ते तृतीयारकेआनन्दजीव: पेढालस्तीर्थकृद्- भविष्य-ति। ती० २० कल्प। भाविन्या उत्सर्पिण्योस्तृतीयारके "पेढालं अट्ठमयं, आणंदजीयं नमंसामि"॥५६६॥ पेढाल- मष्टमकञ् आनन्दजीवं नमस्यामि। प्रव० ४९ द्वार। अनुत्तरो- पपातिकदशाया: सप्तमेऽध्ययने च। एतच्च वाच्यन्तरापेक्षया ननूपलभ्यमानवाचनापेक्षया। स्था० १० ठा० ३ उ०।

आणंदअंसुपाय- पुं० (आनन्दाऽश्रुपात) हर्षाश्रुमोक्षणे, ''आणंद-अंसुपायं कासि सिज्जंभवा तहिं थेरा''॥३७१×॥ आनन्दा-श्रुपातम्अहो आराधितमनेनेति हर्षाश्रुतिमोक्षणम्। दश० २ चू०।

आणंदकूड- न० (आनन्दकूट) आनन्दनाम्नो देवस्य कूटमानन्द- कूटम्। गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्थे कूटभेदे, जं० ४ व क्ष०।

आणंदचंदण-न० (आनन्दचन्दन) स्वरूपानुभवानन्दचन्दने, अष्ट०। ''वेष्टनं भयसर्प्पाणां, न तदानन्दचन्दने''॥५॥ अष्ट० १७ अष्ट०।

आणंदजीव-पुं० (आनन्दजीव) आनन्दस्यात्मनि, भाविन्या उत्सर्पिण्यास्तृतीयारके, पेढालम् अष्टकम् आनन्दजीवं नमस्यामि। ''आणंदजी(वं)यं''॥५६६×॥ प्रव० ४९ द्वार।

आणंदज्जयण- न० (आनन्दाध्ययन) आनन्दवक्तव्यताप्रतिबद्धे उपासकदशायाः प्रथमेऽध्ययने, उपा० १ अ० १ स्था०। अनुत्तरोपपातिकदशायाः सप्तमेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ३ उ०। निरयावलिकोपाङ्गद्वितीयवर्गस्य कल्पावतंसिकाभिधस्य नवमेऽध्ययने च। नि० १ श्रु० २ वर्ग २ अ०। (एतेषां वक्तव्यता 'आणंद' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ऽनुपदमेव गता।)

आणंदण- न० (आनन्दन) आनन्दयत्यनेन आ-नदि-णिच् करणे ल्युट्। यातायातकाले, मित्रादेः आरोग्यस्वागतादिप्रश्ने, तत्कालिकालिङ्गने च। भावे ल्युट्। सुखजनने, वाच०। भगवत ऋषभदेवस्य शतपुत्रान्तर्गतं स्वनामख्याते पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। वक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते देवे च। स्था० ७ ठा० ३ उ०।

आणंदणंदण- न० (आनन्दनन्दन) आनन्दः- आत्मानन्दस्तदेव नन्दनमानन्दनन्दनम्। आनन्दात्मकेनन्दनवने, ''निर्भयः शक्रवद्योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने॥७॥'' अष्ट० ५ अष्ट०।

आणंदणकू ड- न० (आनन्दनकूट) गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

आणंदपुर- न० (आनन्दपुर) स्वनामख्याते नगरे, ''आणंदपुरं नगरं जितारी राया''। बृ० ४ उ०। (जितारिराज्ञः वृत्तम् 'मूढ' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते।) ''आणंदपुरे मरुओ'' आ०म०१ अ०। बृ०। ''वीरात्त्रिनन्दाङ्क (९९३) शरद्यचीकरत्त्वच्चैत्यपूते ध्रुवसेनभूपतिः। यस्मिन्महैः संसदि कल्पवाचना-माद्यां तदानन्दपुरं न कः स्तुते''॥१॥ कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

आणंदमेरु- पुं० (आनन्दमेरु) राजमल्लाभ्युदयनाममहाकाव्य- कृतः पद्मसुन्दरस्य परमगुरोः पद्ममेरोर्गुरौ, जै० इ०।

आणंदरक्खिय- पुं० (आनन्दरक्षित)। स्वनामख्याते स्थविरे, ''तत्थ णं आणंदरक्खिए नामं थेरे,''॥ (सूत्र-११०+) भ०२ श० ४ उ०।

आणंदविमलसूरि- पुं० (आनन्दविमलसूरि) स्वनामख्याते सूरिविशेषे, ''आनन्दन्दैर्विमलाभिधानै- रिहोद्धृता सूरिभिरु- ग्रचर्य्या''॥६॥ प्रति०। स च हेमविमलसूरेः शिष्यः।

इतश्च-

''श्रीहेमविमलसूरि-र्दूरीकृतकल्पषः स सूरिगुणम्।
ज्ञात्वा योग्यं तूर्णं, धर्म्मस्याभ्युदयसंसिद्धैः॥४४॥
सौभाग्यपूर्णसंवेग-तरङ्गनीरनिधिम्।
आनन्दविमलसूरिं, स्वपट्टे स्थापयामास॥४५॥युग्मम्।
धन्या नागरसंकाशा- स्तपोभिर्दुस्तपैर्भृशम्।
स्थूलभद्रोपमा यस्य, ब्रह्मचर्यगुणैरपि॥४६॥
श्रीमदानन्दविमल- प्रभवः शासनाद् गुरोः।
शश्वत् शुद्धां क्रियां कर्तुमकुर्वं निश्चलं मनः॥४७॥''

ग० ३ अधि०।

आणंदवीर- पुं० (आनन्दवीर) श्राद्धप्रतिक्रमं भाष्यकृतः रत्नशेखरसूरेर्गुरोरुदयवीरगणिनः परमगुरौ, जै० इ०।

आणंदसूरि- पुं० (आनन्दसूरि) नागेन्द्रगच्छीये सिद्धराजेन राज्ञा व्याघ्रशिशुकेति नाम्ना प्रख्यापिते बृहद्गच्छीये स्वनामके आचार्ये च। जै० इ०।

आणंदहिययभाव- पुं० (आनन्दहृदयभाव) आनन्दलक्षणे भावे, ''आणंदहिययभावनंदणकरा'' (सूत्र-१५+) आनन्दलक्षणो यो भावस्तस्य नन्दकराः- वृद्धिकरा ये ते तथा। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

आणंदा- स्त्री० (आनन्दा) आनन्दयति सेवनात् आनदि णिच् अच्। विजयायाम्, (सिद्धि) राजनि०। वाच०। पौरस्त्यायां स्वनामख्यातायां दिक्कुमार्य्याम्, आ०म०१ अ०। जी०। जं०। स्था०। ती०। आ०चू०। आ०क०। लवणद्वीपस्थपौरस्त्यां जनकपर्वतस्थायां स्वनामख्यातायां नन्दापुष्करिण्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ०।

आणंदिय- त्रि० (आनन्दित) आ-नदि क्त० हर्षयुक्ते, वाच०। प्रमोदं प्राप्ते, जं० ३ वक्ष०। सुखिनि, आ-नदि-णिच्-क्त यस्यानन्दो जनितस्तस्मिन् अभिनन्दिते, त्रि०। वाच०। स्फीतीभूते, 'टुनदि' समृद्धाविति वचनात्। आ० म० १अ०। जी०। रा०। ईषन्मुखसौम्यतादिभावैस्यसमृद्धिमुपगते, ''हट्ठतुट्ठचित्त-माणंदिए'' (सूत्र-११×)। औ०।

आणग्गहण- न० (आणग्रहण) प्राणापानयोग्यपुद्गलोपादाने, ''समयं आणग्गहणं''॥९५+॥ (सूत्र-२६+)

समकं च प्राणापानग्रहणं- प्राणापानयोग्यपुद्गलोपादानम्। प्रज्ञा० १ पद।

आणट्ठाकिइ- त्रि० (आज्ञार्थाकृति) आज्ञाऽऽगमोऽर्थशब्दस्य हेतुवचनस्यापि दर्शनादर्थो-हेतुरस्याः सा तथाविद्याऽऽकृतिरर्थान्मुनिवेषात्मिका यत्र तदाज्ञार्थाकृति। उत्त०। मुनिवेषाकृति- मति, उत्त०। ''आणट्ठाकिइ पव्वए'' (॥४९+॥) आज्ञार्थाकृति यथाभवत्येवं प्राव्राजीदिति। उत्त० १८ अ०।

आणण- न० (आनन) अनित्यनेन। आआनकरणे ल्युट्। मुखे, मुखेन हि जलपानादिना प्राणादेः स्थितिरतस्तस्यतथात्वम्। ''क्षितीश्वरः, नृपस्य कान्तं पिवतः सुताननम्'' इति च रघुः। वाच०। ''कुंडलउज्जोइया-ऽऽणणे'' (सूत्र-४३+) कुण्डलाभ्यामु- द्योतितम् आननं-मुखं यस्य स तथेति। जं० ३ वक्ष०। तं०। रा०। है०।

आणणकोडुंबिय- त्रि० (आननकौटुम्बिक) मुखस्य सहायके कल्प०। ''आणणकोडुंबिएणं'' (सूत्र-३६×)। आननस्य- मुखस्य कौटुम्बिकेनेव यथा राजा कौटुम्बिकैः- सेवकैः शोभते एवं श्रीदेव्याः आननं तेन शोभासमुदयेनेति। कल्प० १ अधि० २ क्षण।

आणत्त- त्रि० (आज्ञप्त) आ ज्ञा-णिच् पुक् क्त ह्रस्वः। आदिष्टे, कृतादेशे, वाच०। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। नि० चू०। आव०।

***आनर्त**- पुं०। आनृत्यत्यत्र-आधारे घञ्। नृत्यशालायाम्, युद्धे च। तत्र हि वीरैर्हर्षात् नृत्यमिव क्रियते इति तस्य तथात्वम्। सूर्य्यवंश्ये राजभेदे, ''शर्य्यातेर्मिथुनं त्वासीदानर्त्तो नामविश्रुतः''। हरिवं १० अ०। तत्कृते देशेभेदे, वाच०। तद्देश-वासिजनेषु, तद्राजेषु च। चन्द्रवंश्ये राजभेदे, पुं०। आनृत्यतीति कर्त्तरि अच्। जलेन तस्य तरङ्गरूपेण नृत्यस्येव करणात्तथात्वम्। नर्तके त्रि०। भवि घञ्। नर्तने, वाच०।

***अन्यत्व**- न० परस्परं भिन्नत्वे, ''तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं किं आणत्तं वा'' (सूत्र-१९६+)। प्रज्ञा० १५ पद १ उ०।

आणत्ति- स्त्री० (आज्ञप्ति) आ-ज्ञा-णिच्-पुक्-क्त ह्रस्वः। आज्ञायाम्, वाच०। आदेशे, ''आणत्तियं पच्चप्पिणह'' (सूत्र-१२+) आज्ञप्तिम्-आदेशं, प्रत्यर्पयत। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रज्ञा०।

आणत्तिकिंकर-पुं०(आज्ञप्तिकिङ्कर) यथादेशकारिणि, ''आणत्तिकिंकरेहिं'' (सूत्र-१२+) आज्ञप्तिकिंकरैर्यथादेशकारि- किंकुर्वाणैः। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

आणत्तिया- स्त्री० (आज्ञप्तिका) आज्ञायाम्, ''आणत्तिअं पच्चप्पिणह'' (सूत्र-३०×) आज्ञाप्तिकाम्-आज्ञां प्रत्यर्प्य- सम्पाद्यः, मम निवेदयंत्यथः। औ०। ''एतमाणत्तिअं खिप्पमेव पच्चप्पिणाहिइ'' (सूत्र-४६+) एतामाज्ञाप्तिकां क्षिप्रं प्रत्यर्पयतीति। जं० ३ वक्ष०।

आणप्प- त्रि० (आज्ञाप्य) आज्ञापनीये, सूत्र०। ''आणप्पा हवंति दासा वा'' (॥१५॥) स्त्रीणाम्पुरुषाः स्ववशीकृता दासा इव-क्रयक्रीता इव आज्ञाप्या- आज्ञापनीया भवन्ति। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

आणम(व)णी- स्त्री० (आज्ञापनी) असत्यामृषाभाषाभेद, आज्ञापनी कार्य्ये प्रवर्तनी (परस्य प्रवर्त्तनं- यथेदं कुर्विति)। भ० १० श० ३ उ०। प्रज्ञा०। ध०।

आणय- त्रि० (आनत) आनम्-क्त। कृतप्रणामे, अधोमुखे, विनयेन नते च। वाच०। विमानविशेषे, अनु०। सकलविमान-प्रधानावतंसकविमान-विशेषोपलक्षित आनतः। कल्पभेदे, ऊर्ध्वदेवलोकभेदे, अनु०। स च वैमानिकदेवलोकः। प्रव० १९४ द्वार। विशे०। स०। आनते भवा आनताः। कल्पोपगवैमानिक- देवभेदे, ''आणया''॥१३+॥ उत्त० ३६ अ०।

***आनय**- पुं० आनी-भावे अच्। देशात् देशान्तरनयने, आनीयते वेदाद्यध्ययनायाऽत्र आधारे अच्। उपनयनसंस्कारे, हेम०। भावे ल्युट्। आनयनमप्युभयत्र। न०। वाच०।

आणयण- न० (आनयन) विवक्षितक्षेत्राद्बहिःस्थितस्य सचेतनादिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रे प्रापणे, ''आणणं''॥३८९॥ प्रव० ६ द्वार। ध०। पञ्चा०। आनीयतेऽनेनेत्यानयनम्- आनयनसाधने, त्रि०। उत्त० ३६ अ०।

आण(व) यणप्पओग- पुं० (आनयनप्रयोग) आनयने विवक्षितक्षेत्राद्बहिर्वर्त्तमानस्य सचेतनादिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रप्रापणे प्रयोगः आनयनप्रयोगः। देशावकाशिकदिग्व्रतस्यातिचारभेदे, स च स्वयं गमने व्रतभङ्गभयादन्यस्य संदेशकादिना व्यापारणम्। पञ्चा० १ विव०। उपा०। ध०। प्रव०।

आणवंण- न० (आज्ञापन) आदेशे, स्था० २ ठा० १ उ०। प्रतिबोधने, ''आगमेत्ता आणवेज्जा'' (सूत्र-२१०+) आगम्य ज्ञात्वा तं गृहपतिमाज्ञापयेत्प्रतिबोधयेदिति। आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ०। प्रवर्त्तने, ''आणवयंति भिन्नकहाहिं''॥७×॥ आज्ञापयन्ति- प्रवर्त्तयन्ति स्ववशं ज्ञात्वा कर्मकरवादाज्ञां कारयन्ति। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। प्रा०।

***आनायन**- न० प्रापणे, स्था० २ ठा० १ उ०।

आणवणिया- स्त्री० (आज्ञापनकी) (आनायनी) आज्ञापन-स्यादेशनस्येयमाज्ञापनमेवेत्याज्ञापनी सैवाज्ञापनिका तज्जः कर्मबन्ध आदेशनमेवेति, आनायनं वा। आनायनीक्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

आणवणिया किरिया दुविहा। जीवआणवणिया, अजीव-आणवणिया य। जीवाऽऽणवणी जीवं आज्ञापयति परेण, अजीवं च आणवेइ। आव० ४ अ०।

जीवमाज्ञापयत आनायतो वा परेण जीवाज्ञापनी, जीवानयनी वा। एवमेवाजीवविषया अजीवाज्ञापनी, अजीवानायनी वा। स्था० २ ठा० १ उ०। आ० चू०।

आणा- स्त्री० (आज्ञा) आ-ज्ञा-अङ्। अनुष्ठाने। विशे० ५६४ गाथा। आदेशे, आदेशश्च निकृष्टस्य भृत्यादेः कृत्यादौ प्रवृत्त्यर्थो व्यापारभेदः। वाच०। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। पञ्चा०। ''आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठंति'' (सूत्र- १३७।१४०+) आज्ञा-कर्त्तव्यमेवेदमित्याद्यादेशः। उपपातः- सेवा। वचनम्- अभियोगपूर्वक आदेशः, निर्देशः- प्रश्निते कार्ये नियतार्थमुक्त- रम्। भ० ३ श० १ उ०। विधिविषयक आदेश आज्ञा। स्था० ७ ठा० ३ उ०। आज्ञायोगेषु प्रवर्त्तनालक्षणा। स्था० ५ ठा० २ उ०।

आणाबलाभियोगो, निग्गंथाणं न कप्पए॥

आज्ञापनमाज्ञा भवतेदमित्येवंरूपा तथा विवक्षितं कार्य्यमाज्ञापि यस्याप्यकुर्वतो बलात्कारेण नियोजनं बलाभियोगः एतौ द्वावपि निर्ग्रन्थानां न कल्पेते कर्त्तुम्। आ० म० १ अ०। (अपवादतस्त्वाज्ञाबलाभियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ इति 'इच्छाकार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) उपदेशे, ''अणाणाए एगे सोवट्ठाणा'' (सूत्र-१६६+)। आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०। ''एसा आणा नियंठिता''॥२६+॥ एषाऽऽज्ञा अयमुपदेशो निर्ग्रन्थो भगवांस्तस्य। सूत्र० १ श्रु० ९ अ०। आज्ञाप्यत इत्याज्ञाहितप्राप्ति-परिहाररूपतयोपदेशे, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। कल्प०। पञ्चा०। तीर्थंकर-

गणधरोपदेशे। दश० १० अ०। तीर्थकरोपदेशप्रणीते सदाचारे, ''आणाए एगे निरुवट्ठाणा'' (सूत्र- १६६) आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० निर्देशे (४१७ गाथा टी०।) ''उववातो णिद्देसो, आणा विणओ अ होंति एगट्ठा''॥ व्य० १ उ० वचने, पञ्चा० ५ विव०। आसामस्त्येनानन्तधर्मीविशिष्टतया ज्ञायन्ते-अवबुध्यन्ते जीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा। स्या० २१ श्लोक। आ-समन्तात् ज्ञाप्यन्ते-बोध्यन्ते सुकृतकर्माणोऽनयेत्याज्ञा। आगमे, (प्रवचने) दर्श० ४ तत्त्व। आङिति स्वस्वभावावस्थानात्मिकया मर्य्यादयाऽभिव्याप्त्या वा ज्ञायन्तेऽर्था अनयेत्याज्ञा। उत्त० १ अ०। स्था०। भगवदभिहितागमे, उत्त० १ अ०। आप्तप्रवचनं, स्था० ४ ठा० १ उ०। ''आणाए अभिसमेच्चा'' (सूत्र-१३०×) आज्ञया तीर्थकरप्रणीतागमेनेति। आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० आज्ञया-मौनीन्द्रप्रवचनेनेति। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। ''आणाए मामगं धम्मं'' (सूत्र- १८४+) आज्ञायतेऽनयेत्याज्ञा तया मामकं धर्म्मं सम्यगनुपालय तीर्थकर एवमाहेति। आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। आज्ञाप्यते जन्तुगणो हितप्रवृत्तौ यया साऽऽज्ञा। द्वादशाङ्गे नं०। मोक्षार्थमाज्ञाप्यन्त प्राणिनोऽनयेत्याज्ञा। श्रुते, अनु०। विशे० सर्वज्ञवचने, स्था० १० ठा० ३ उ०। उत्त०। बोधौ, (सम्यक्त्वे) ''आणाए लंभो णऽत्थि'' (सूत्र-१३८×) आज्ञायास्तीर्थकरोपदेशस्य लाभो नास्ति, यदि वा-आज्ञा-बोधिः; सम्यक्त्वम्। आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०। सूत्रार्थे, ''आगमउवएसाऽऽणा''। आगमः-सूत्रमेतदनुसारेण कथनमुपदेश आज्ञा त्वर्थ इति। आव० १ अ०। निर्युक्त्यादिकेसूत्र व्याख्याने च। स्था० ४ ठा० १ उ०।

विषयसूचना-

(१) आज्ञानिक्षेपः।
(२) आज्ञामनुचिन्तयेत्।
(३) सदाऽऽज्ञाराधकः स्यात्।
(४) परलोकेआज्ञाया एव प्रामाण्यम्।
(५) आज्ञया प्रवर्त्तमानोऽप्यप्रवर्त्तमानः।
(६) अपुनर्बन्धकादिभ्या एव देयैषाऽऽज्ञा।
(७) तीर्थकराऽऽज्ञाऽन्यथाकरणे दोषाः।
(८) आज्ञाऽऽराधन-विराधने।
(९) आज्ञाऽऽराधकत्वे वज्राऽऽचार्यः।
(१०) आज्ञाभङ्गे प्रायश्चित्तम्।
(११) आज्ञारहितस्य चारित्रमपि न भवति।
(१२) आज्ञाव्यवहारः।

(१) आज्ञाया निक्षेपः-

कडकरणं दव्वे सा-सणं तु दव्वे व दव्वओ आणा।
दव्वनिमित्तं भुवयं, दुन्नि वि भावे इमं चेव ॥१८७॥

नोआगमतो द्रव्यशासनं व्यतिरिक्तं कृतकरणं; मुद्रा इत्यर्थः। आज्ञाऽपि द्रव्यतो नोआगमतां व्यतिरिक्त सैव मुद्रा। अथवा- द्रव्यनिमित्तं-द्रव्योत्पादननिमित्तं यत् उभयं शासनम्- आज्ञा तद्द्रव्यशासनम्- सा द्रव्याज्ञा, द्वे अपि च शासनाऽऽज्ञे भवत इदमेवाध्ययनम्, किमुक्तं भवति-नोआगमतो भावशासनं भावाज्ञा च इदमेव कल्पाख्यमध्ययनं, तथाहि-य एतस्याऽऽज्ञां न करोति सोऽनेकानि मरणाऽऽदीनि प्राप्नोति। बृ० १ उ० २ प्रक०। दर्श०।

(२) आज्ञामनुचिन्तयेत्-

सुनिउणमणाइणिहणं, भूयहियं भूयभावणमहग्घं।
अमियमजियं महत्थं, महाणुभावं महाविसयं ॥४५॥

व्याख्या- सुष्ठु- अतीव निपुणा-कुशला सुनिपुणा ताम्, आज्ञामिति योगः, नैपुण्यं पुनः सूक्ष्मद्रव्याद्युपदर्शकत्वात्तथा मत्यादिप्रतिपादकत्वाच्च, उक्तं च- 'सुयनाणंमि नेउण्णं, केवले तयणंतरं। अप्पणो सेसगाणं च, जम्हा तं परिभावगं॥१॥'' इत्यादि, इत्थं सुनिपुणां ध्यायेत्, तथा 'अनाद्यनिधनाम्' अनुत्पन्नशाश्वतामित्यर्थः, अनाद्यनिधनत्वं च द्रव्याद्यपेक्षयेति, उक्तं च- ''द्रव्यार्थादेशादित्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासी'' दित्यादि, तथा 'भूतहिता' मिति इह भूतशब्देन प्राणिन उच्यन्ते तेषां हितां-पथ्यामिति भावः, हितत्वं पुनस्तदनुपरोधिनीत्वात्तथा हितकारिणीत्वाच्च, उक्तं च- 'सर्वे जीवा न हन्तव्या' इत्यादि, एतत्प्रभावाच्च भूयांसः सिद्धा इति, 'भूतभावनाम्' इत्यत्र भूतंसत्यं भाव्यतेऽनयेति भूतस्य वा भावना भूतभावना, अनेकान्तपरिच्छेदात्मिकेत्यर्थः, भूतानां वा- सत्त्वानां भावना भूतभावना, भावना वासनेत्यनर्थान्तरम्, उक्तं च- 'कू रावि सहावेणं, रागविसवसाणुगावि हाऊणं। भावियजिणवयणभणा, तेलुक्कसुहावहा होंति ॥१॥' श्रूयन्ते च चिलातीपुत्रादय एवंविधा बहव इति, तथा 'अनर्घ्याम्' इति सर्वोत्तमत्वाद-विद्यमानमूल्यामिति भावः, उक्तं च- ''सव्वेऽवि य सिद्धंता, सदव्यवरयणासया सतेलोक्का। जिणावयणस्स भगवओ, न मुल्लमित्तं अणग्घेणं ॥१॥'' तथा स्तुतिकारेणाप्युक्तम्- ''कल्पद्रुमः कल्पितमात्रदायी, चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते। जिनेन्द्रधर्मातिशयं विचिन्त्य, द्वयेऽपि लोको लघुतामवैति ॥१॥'' इत्यादि, अथवा 'ऋणघ्ना' मित्यत्र ऋणं- कर्म तद्घ्नामिति, उक्तं च- ''जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं। तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसाससमि- त्तेणं ॥१॥'' इत्यादि, तथा 'अमिताम्' इत्यपरिमिताम्, उक्तं च- ''सव्वनदीणं जा हो-ज्ज वालुया सव्वउदहीण जं उदयं। एत्तोवि अणंतगुणो, अत्थो एगस्स सुत्तस्स॥१॥'' अमृतां वा मृष्टां वा पथ्यां वा, तथा चोक्तम्- ''जिणवयणमोदगस्स उ, रत्तिं च दिवा य खज्जमाणस्स। तित्तिं बुहो न गच्छइ, हेउसहस्सो- वगूढस्स ॥१॥ नरनारयतिरियसुरगण- संसारिय- सव्वदुक्खरो- गाणं। जिणवयणमेगमोसह-मपवग्गसुहक्खयं फलयं ॥२॥'' सजीवां वाऽमृतामुपपत्तिक्षमत्वेन सार्थिका-मिति भावः, नतु यथा-'तेषां कटतटभ्रष्टै-र्गजानां मदबिन्दुभिः। प्रावर्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वर-वाहिनी॥१॥' इत्यादिवन्मृ- तामिति, तथा 'अजिता' मिति शेषप्रवचनाज्ञाभिरपराजितामित्यर्थः, उक्तं च-'जीवाइवत्थुचिंतण-कोसल्ल- गुणेणऽणण्ण-सरिसेणं। सेसवयणेहिं अजियं, जिणिंदवयणं महाविसयं॥१॥' तथा 'महार्था' मिति, महान्-प्रधानोऽर्थो यस्याः सा तथाविधा तां, तत्र पूर्वापराविरोधित्वादनु-योगद्वारात्मकत्वान्नयगर्भ-त्वाच्च प्रधानां, महत्स्थां वा अत्र महान्तःसम्यग्दृष्टयो भव्या एवोच्यन्ते ततश्च महत्सु

स्थिता महत्स्था तां च; प्रधानप्राणिस्थितामित्यर्थः, महास्थां वेत्यत्र महापूजोच्यते तस्यां स्थिता महास्था तां, तथा चोक्तम्-'सव्वसुरासुरमाणुसजोइसवंतरसुपूइयं णाणं । जेणेह गणहराणं, छुहंति चुण्णे सुरिंदावि॥१॥' तथा 'महानुभावा' मिति तत्र महान्- प्रधानः प्रभूतो वाऽनुभावः- सामर्थ्यादिलक्षणो यस्याः सा तथा तां, प्राधान्यं चास्याश्चतुर्दशपूर्वाविदः सर्वलब्धिसम्पन्नत्वात्, प्रभूतत्वं च प्रभूतकार्यकरणाद्, उक्तं च- 'पभू णं चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं करित्तए' इत्यादि, एवमिहलोके परत्र तु जघन्यतोऽपि वैमानिकोपपातः, उक्तं च- 'उववाओ लंतगंमि, चोद्दसपुव्वीस्स होइ उ जहण्णो। उक्कोसो सव्वट्ठे, सिद्धिगमो वा अकम्मस्स ॥१॥' तथा 'महाविषया' मिति महद्विषयत्वं तु सकलद्रव्यादिविषयत्वाद्, उक्तं च- 'दव्वओ सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणई'- त्यादि कृतं विस्तरेणेति गाथार्थः ।

जाइज्जा निरवज्जं, जिणाणमाणं जगप्पईवाणं ।
अणिउणजणदुण्णेयं, नयभंगपमाणगमगहणं ॥४६॥

व्याख्या- 'ध्यायेत्' चिन्तयेदिति सर्वपदक्रिया, 'निरवद्या' मिति अवद्यं- पापमुच्यते निर्गतमवद्यं यस्याः सा तथा ताम्, अनृतादिद्वात्रिंशद्दोषावद्यरहितत्वात्, क्रियाविशेषणं वा, कथं ध्यायेत्? निरवद्यम् - इहलोकाद्यासंसारहितमित्यर्थः, उक्तं च- 'नो इहलोगट्ठयाए नो परलोगट्ठयाए नो परपरिभवओ अहं नाणी' त्यादिकं निरवद्यं ध्यायेत्, 'जिनाना' प्राग्निरूपितशब्दार्थानाम् 'आज्ञां' वचनलक्षणां कुशलकर्मण्याज्ञाप्यन्तेऽनया प्राणिन इत्याज्ञा तां, किंविशिष्टां ? जिनानां- केवलालोकेनाशेष-संशयतिमिरनाशनाज्जगत्प्रदीपानामिति, आज्ञैव विशेष्यते- 'अनिपुणजनदुर्ज्ञेयां' न निपुणः अनिपुणः, अकुशल इत्यर्थः जनः- लोकस्तेन दुर्ज्ञेयामिति- दुरवगमां, तथा 'नयभङ्गप्रमाण- गमगहनाम्' इत्यत्र नयाश्च भङ्गाश्च प्रमाणनि च गमाश्चेति विग्रहस्तैर्महना- गह्वरा तां, तत्र नैगमादयो नयास्ते चानेकभेदाः, तथा भङ्गाः क्रमस्थानभेदभिन्नाः, सत्र क्रमभङ्गा यथा एको जीव एक एवाजीव इत्यादि, स्थापना-

I	S	I	S S
I	S	I	S S
S S			

स्थानभङ्गास्तु यथा प्रियधर्मा नामैकः, नो दृढधर्मेत्यादि, तथा प्रमीयते ज्ञेयमेभिरिति प्रमाणानिद्रव्यादीनि, यथा-ऽनुयोगद्वारेषु गमाः- चतुर्विंशति-दण्डकादयः, कारणवशतो वा किञ्चिद्विसदृशाः सूत्रमार्गा यथा षड्जीवनिकाऽऽदाविति कृतं विस्तरेणेति गाथार्थः ।

ननु० या एवंविशेषणविशिष्टा सा बोद्धुमपि न शक्यते मन्दधीभिः, आस्तां तावद्ध्यातुं, ततश्च यदि कथञ्चिनावबुध्यते तत्र का वार्तेत्यत आह-

तत्थ य मइदोब्बलेणं, तव्विहाऽऽयरियरिहओ वाऽवि ।
णेयगहणत्तणेण य, णाणावरणोदएणं च ॥४७॥

व्याख्या- 'तत्र' तस्यामाज्ञायां, चशब्दः प्रस्तुतप्रकरणानुकर्ष- णार्थः किं? जडतया चलत्वेन वा मतिदौर्बल्येनबुद्धेः, सम्यगर्थानवधारणेनेत्यर्थः; तथा 'तद्विधाचार्यविरहतोऽपि' तत्र तद्विधः सम्यग्विपरीततत्त्वप्रतिपादन कुशलः आचर्यतेऽसावि- त्याचार्यः सूत्रार्थावगमार्थं; मुमुक्षुभिरासेव्यत इत्यर्थः, तद्विध- श्वासावाचार्यश्च तद्विधाचार्यः तद्विरहतः तदभावतश्च, चशब्दः अबोधे द्वितीयकारणसमुच्चयार्थः, अपिशब्दः क्वचिदुभयवस्तू- पपत्तिसम्भावनार्थः तथा 'ज्ञेयगहनत्वेन च' तत्र ज्ञायत इति ज्ञेयं- धर्मास्तिकायादि तद्गहनत्वेन- गह्वरत्वेन, चशब्दोऽबोध एव तृतीयकारणसमुच्चयार्थः, तथा 'ज्ञानावरणोदयेन च' तत्र ज्ञानावरणं प्रसिद्धं तदुदयेन तत्काले तद्विपाकेन, चशब्दश्चतुर्थाबोधकारणसमुच्चयार्थः, अत्राह-ननु ज्ञानावरणोदयादेव मतिदौर्बल्यं तथा तद्विधाचार्यविरहो ज्ञेयगहनाप्रतिपत्तिश्च, ततश्च तदभिधाने न युक्तममीषामभिधानमिति, न, तत्कार्यस्यैव संक्षेपविस्तरत उपाधिभेदेनाभिधानादिति गाथार्थः ।

तथा-

हेऊदाहरणासं-भवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्जेज्जा ।
सव्वण्णुमयमवितहं, तहावि तं चिंतए मइमं ॥४८॥

व्याख्या- तत्र हिनोति- गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्था- नितिहेतुः- कारको व्यञ्जकश्च, उदाहरणं- चरितकल्पितभेदं, हेतुश्चोदाहरणं च हेतूदाहरणे तयोरसंम्भवः, कश्चन पदार्थं प्रति हेतूदाहरणासम्भवात्, तस्मिंश्च, चशब्दः पञ्चमषष्ठकार- णसमुच्चयार्थः, 'सति' विद्यमाने, किं ? 'यद्' वस्तुजातं 'न सुष्ठु बुद्ध्येत' नातीवावगच्छेत् 'सर्वज्ञमतमवितथं तथापि तच्चिन्तयेन्मतिमा' निति तत्र सर्वज्ञाः- तीर्थकरास्तेषां मतं सर्वज्ञमतं- वचनं, किं ? वितथम्- अनृतं न वितथम्- अवितथं; 'तथापि' तदबोधकारणे सत्यनवगच्छन्नपि 'तत्' मतं वस्तु वा 'चिन्तयेत्' पर्यालोचयेत् 'मतिमान्' बुद्धिमानिति गाथार्थः ।

किमित्येतदेवमित्यत आह-

अणुवकयपराणुग्गह- परायणा जं जिणा जगप्पवरा ।
जियरागदोसमोहा, य णण्णहावादिणो तेणं ॥४९॥

आव० ४ अ० दर्श० । (अस्या गाथाया व्याख्या 'जिण' शब्दे चतुर्थे भागे १४६२ पृष्ठे वक्ष्यते।)

(३) आज्ञाग्राहकेण च सदैव भवितव्यम्-

सयाऽऽणागाहगे सिया, सयाणाभावगे सिया, सया-णापरितंते सिया, आणा हि मोहविसपरममंतो, जलं रोसाइजलणस्स, कम्मवाहितिगिच्छासत्थं, कप्पपायवो सव्वफलस्स । (सूत्र २+)

सदाज्ञाग्राहकः स्यात्, अध्ययनश्रवणाभ्याम्, आज्ञाआगम उच्यते। सदाज्ञाभावकः स्यात्, अनुप्रेक्षादारेण सदाज्ञापरतन्त्रः स्यादनुष्ठानं प्रति । किमेवमित्याह- आज्ञा हि मोहविषयपरम- मन्त्रः तदपनयनेन । जलं, द्वेषादिज्वलनस्य, तद्विध्यापनेन कर्मव्याधिचिकित्साशास्त्रं, तज्ज्ञायकारणत्वेन कल्पपादपः सर्वफलस्य, तदबन्ध्यसाधकत्वेन । पं० सू० २ सूत्र । (आज्ञा- ग्राह्यार्थस्याज्ञयैव व्याख्यानमिति 'वक्खाण' शब्दे षष्ठेभागे वक्ष्यते)

(यत्राऽऽज्ञा न स्खलति स एव गच्छः)-

जत्थ य उसभाऽऽदीणं, तित्थयराणं सुरिंदमहियाणं ।

कम्मऽट्ठविप्पमुक्काणं, आणं न खलिज्जइ स गच्छो । महा० १ अ०।

(मोक्षार्थिनाऽऽज्ञायैव सर्वत्र यतितव्यम् इति 'चेइय' शब्दे तृतीये भागे १२६८ पृष्ठे वक्ष्यते)

(आज्ञास्थितानामेव साधुत्वम्) तीर्थकराज्ञास्थितानेव स्वरूपत आह-

ते पुण समिया गुत्ता, पियदढधम्मा जिइंदियकसाया ।
गंभीरा धीमंता, पण्णवणिज्जा महासत्ता ॥४०॥

व्याख्या- तीर्थकराज्ञास्थिताः, साधवः, पुनरिति विशेषणार्थः । समिताः समितिपञ्चकेन गुप्ता- गुप्तित्रयेण, प्रियः प्रीतिस्थानं दृढश्च स्थिरो विपत्स्वपि अविमोचनाद् धर्मः श्रुतचारित्राऽऽत्मको येषां ते प्रियदृढधर्माणः । जितेन्द्रियकषायाः- न्यक्तकृकरणकोपादिभावाः । गम्भीरा अलक्ष्यमाणहर्षदैन्यादि- भावाः । गाम्भीर्यलक्षणं चेदम्- ''यस्य प्रभावादाकाराः, क्रोधहर्षभयादिषु । भावेषु नोपलभ्यन्ते, तद् गाम्भीर्यमुदाहृतम् ॥१॥'' इति। धीमन्तो- बुद्धिमन्तः प्रज्ञापनीया- सुखावबो- द्ध्याः, महासत्त्वाः- अवैक्लव्याऽध्यवसायवन्तः। ''आपत्सु अवैक्लव्यकरमध्यवसानकरं सत्त्वम्'' इत्युक्तेः इति गाथार्थः।

उस्सग्गववायाणं, वियाणगा सेवगा जहासत्तिं ।
भावविसुद्धिसमेता, आणारुतिणो य सम्मं ति ॥४१॥

व्याख्या- उत्सर्गापवादयोः- सामान्योक्तविशेषोक्तविध्योः, विज्ञायकाः- विज्ञाः, तथा सेवकाः- अनुष्ठानरताः, तयोरेव। यथाशक्ति- शक्त्यनिगूहनेन, भावविशुद्धिसमेताः- परिणाम- विशुद्धितान्विताः, आज्ञारुचयः आगमबहुमानिनः, चशब्दः समुच्चये, सम्यग्- अविपरीततया, न पुनः स्वाग्रहानुसारेण, इतिशब्दः समाप्तौ इति गाथार्थः। पञ्चा० ११ विव०।

(आज्ञासारमेव सम्यगनुष्ठानं साधुधर्मः)-

धम्मो पुण एसस्सिह, संमाणुट्ठाणपालणारूवो ।
विहिपडिसेहजुयं तं, आणासारं मुणेयव्वं ॥८॥

व्याख्या- एष तावत्साधुरुक्तो धर्मः पुनर्दुर्गतिगमनधारण- स्वभावः एतस्य साधोः इह- साधुधर्मविचारे, सम्यक्- समीचीनं, यदनुष्ठानं- प्रत्युपेक्षादिक्रिया, तस्य या अनुपालना- सेवा सम्यग् वा याऽनुष्ठानपालना सैव रूपं- स्वभावो यस्यासौ सम्यगनुष्ठानपालनारूपः, सम्यगनुष्ठानमेव किमुच्यते ? इत्याह-विधिप्रतिषेधयुक्तं ध्यानादिहिंसा- दिष्वासेवापरिहारान्वितं, तत्सम्यगनुष्ठानम् आज्ञासारमाप्तवचनप्रधानम् 'मुणेयव्वं' ति-विज्ञेयम्। इति गाथार्थः। पञ्चा० ११ विव०।

अथ कस्मादाज्ञासारमेव सम्यगनुष्ठानं साधुधर्म इत्युक्तमि- त्याशङ्क्याह-

आणरुइणो चरणं, आणाए च्चिय इमंति वयणाओ ।
एत्तोऽणाभोगम्मि वि, पण्णवणिज्जो इमो होइ ॥१२॥

व्याख्या- आज्ञारुचेः- आप्तोपदेशाभिलाषयुक्तस्य। न त्व(न्य) स्य चरणं चारित्रं भवतीति गम्यं, कुत एवं सिद्धमित्याह- 'आणाए च्चिय' त्ति-आज्ञयैव- आप्तोपदेशेनैव, नाऽन्यथा, 'इदं चरणं भवती' ति वचनात्- आगमवाक्यात्, तथाहि- ''आणाए च्चिय चरणं तब्भंगे जाण किं न भग्गं ति। आणं च अइक्कंतो, कस्सा-एसा कुणइ सेसं''॥१॥ अथाज्ञारुचेरप्यनाभोगाच्चरणविघातो भविष्यतीत्याशङ्क्याह 'एत्तो' त्ति- इतः अस्मादाज्ञारु-चित्वात्प्रज्ञापनीयो भवतीति योगः। अनाभोगेऽपि- अज्ञानेऽपि अनाभोगजनिते; सदसत्प्रवृत्तावपीत्यर्थः। अनाभोगस्तस्य प्रायो न संभवतीति ख्यापनार्थोऽपिशब्दः। प्रज्ञापनीयः- सुखसंबोध्यः, अयमाज्ञारुचिः, भवति-स्यात्, ततश्चाज्ञारु- चित्वात्प्रज्ञापनीयत्वे- नाऽस्य चरणं भवतीत्याज्ञासारं तदुक्तम्। इति गाथायर्थः। पञ्चा० ११ विव०।

(४) परलोकेचाऽऽज्ञाया एव प्रामाण्यम्-

आणा इत्थ पमाणं, विण्णेआ सव्वहा उ परलोए ॥१३८४+॥

आज्ञा अत्र प्रमाणं विज्ञेया, सर्वथैव परलोके। पं० व० ४ द्वार।

धर्ममूलं चाऽऽज्ञैव-

आणाभंगाउ च्चिय, धम्मो आणाए पडिबद्धो ॥१८॥

आज्ञाभङ्गादेव- सर्वविदामागमोल्लङ्घनादेव । (दर्श०) धर्मःद्रव्य- स्तवरूपः आज्ञायाम्- आप्तवचने प्रतिबद्धः- नियमाद् वर्तते। दर्श० १ तत्त्व।

आज्ञोल्लङ्घनेऽपि कथं धर्माऽभाव इत्याह-

तित्थगराणामूलं, नियमा धम्मस्स तीऍ वा पाए ।
किं धम्मो किमहम्मो, मूढा नेयं वियारिंति ॥१९॥

तीर्थकराज्ञैव-सर्वविदुपदेश एव मूलं प्रथमारोहणरूपं नियमो- निश्चयो न धर्मस्य। महामहीसहस्याविकलसकलसुखफल- संसाधकस्य तस्याः तीर्थकरस्याज्ञाया विघातेविनाशे किं धर्मः शुभस्वभावः सुखसंदोहसंपादको वा किम्, अथवा- धर्मः पुण्याभावस्वभावः सदा देहिसंदोहदुःखदानदुर्ललितः। मूढा-मिथ्यात्वमहामोहमोहितान्तःकरणा हिताऽहितविवेकविकला नेदं विचारयन्ति नेदं पर्यालोचयन्ति यदुत- सर्वविदुपदशोल्लङ्घनेन स्वबुध्या सुन्दरमप्यनुष्ठानं विधीयमानं किं कर्माऽभावाय- कर्मबन्धाय भविष्यतीति गाथार्थः।

तर्हि तत्त्वपर्यालोचनेऽपि किं वृत्तमित्याह-

आराहणाए तीए, पुण्णं पावं विराहणाए उ ।
एयं धम्मरहस्सं, विण्णेयं बुद्धिमंतेहिं ॥२०॥

आराधनया तस्याः-आज्ञायाः सर्वविदुपदेशस्य पुण्यं-शुभं सर्वज्ञाऽऽज्ञापक्षपातजनितशुभभावकुशलानुष्ठायिनो हि शुभ- भावादेव शुभानुबन्धि पुण्यबन्धो भवत्येव, पापमशुभवेद्यविरा- धनया सर्वविदाज्ञोल्लङ्घनेन, तुशब्दः पुनरर्थस्ततोऽयमर्थः स यद्यपि स्वाग्रहवशाद्- गतानुगप्रवाहदर्शनाद् बोधकुशल-बुध्या धर्मादन्येषु प्रवर्तते तथाऽपि जिनागमोक्तमार्गोल्लङ्घनजनितं पापमेव भवति, यतः- ''धर्मार्थी खलु शुद्धबुद्धि-विभवःसर्वत्र कृत्येषु, प्राणित्राणविधावपीह सततं जैनेषु पूजादिषु। स्वाभिप्रायवशो गतानुगतिकप्रायप्रवाही सदा, दत्ते धर्मधियापि पापमतुलं तीर्थाधिपाज्ञां विना॥१॥'' अन्यैरप्युक्तम्-''जिणाणाए कुणंताणं, नूणं निव्वाणसाहणं। सुंदरं पि सबुद्धीए, सव्वं भवनिबंधणं''॥१॥ एतद्धर्म-रहस्यं धर्मसर्वस्वं विज्ञेयम्- अवबोद्धव्यम्। बुद्धिमद्भिः-

हिताहितविवेकविकलैरिति गाथार्थः। दर्श० १ तत्त्व।

(५) (आज्ञया प्रवर्त्तमानस्याऽप्रवर्त्तमानत्वम् सर्वज्ञवचन एवाज्ञायाः सर्वहितकारकत्वं च।)-

आणा परतंतो सो, सा पुण सव्वण्णुवयणओ चेव।
एगंतहिया वेज्जग-णातेणं सव्वजीवाणं ॥१६॥

व्याख्या- आज्ञापरतन्त्रः- आप्तवचनाधीनः, स-प्रस्तुतसाधुः, सा पुनः-आज्ञा पुनः, सर्वज्ञवचनत्वादेव-आप्तप्रणीतत्वादेव, इह भावप्रत्ययो लुप्तो द्रष्टव्यः। एकान्तहिता-सर्वथोपकारिणी, वैद्यकज्ञातेन-आयुर्वेदोदाहरणेन, सर्वजीवानां विवक्षया- समस्ताङ्गिनां, यथा हि-वैद्यशास्त्रं नैकस्य कस्यचिदेवातुरस्य स्वस्थस्य वा वैद्यस्य तत्पुत्रस्य तदन्यस्य वा उपकारकम्, एवमाज्ञापि न केषांचिदेवोपकारिणी। इति गाथार्थः। पञ्चा० १४ विव०। पं०व०।

(६) (आज्ञा वा पुनर्बन्धकातिरिक्तेभ्यो न प्रदेया)-

एसा आणा इह भगवओ समंतभद्दा तिकोडिपरिसुद्धीए अपुणबंधगाइगम्मा। एअप्पिअत्तं खलु इत्थ लिंगं ओचित्तवित्ति-विन्नेयं संवेगसाहगं निअमा। न एसाऽण्णेसिं देया। लिंगविवज्जयाओ तप्परिण्णा। तयणुगाहइयाए आमकुंभोदग-नासनाएणं एसा करुण त्ति बुच्चइ, एगंतपरिसुद्धा अविराहणाफला तिलोगनाहबहुमाणेणं निस्सेअसमाहिग त्ति। (सूत्र-५+) पं०सू०। (अस्य व्याख्या 'पवज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ७६० पृष्ठे वक्ष्यते)

आज्ञायां च प्रमादो न विधेयः-

लद्धूण माणुसत्तं, संजमसारं च दुल्लभं जीवा।
आणाएँ पमाएणं, दुग्गइभयवड्ढणा होंति ॥६३॥

लब्ध्वा- प्राप्य मानुषत्वं, तथा संयम एव सारः- प्रधानं मोक्षाङ्गं तं च दुर्लभं- महावारिधिनिमग्नानर्घ्यरत्नमिव दुष्प्रापं लब्ध्वा ये जीवा भागवत्या आज्ञाया- विधिप्रतिषेधरूपाया प्रमादेन कालं गमयन्ति। ते 'दुर्गतिभयवर्धना भवन्ति'- आत्मनो देवादिदुर्ग- तिपरिभ्रमणजनितं भयं वर्द्धयन्तीति भावः। बृ० ३ उ०।

(७) (तीर्थकराऽऽज्ञाया अन्यथाकरणे दोषः)-

तित्थगराणं आणा, सम्मं विहिणा उ होइ कायव्वा।
तस्साऽण्णहा उ करणे, मोहादतिसंकिलेसो त्ति ॥६॥

व्याख्या- तीर्थकराणां- जिनानामाज्ञोपदेशः सम्यग्भावतः- विधिना तु- वक्ष्यमाणविधानेनैव भवति- स्यात् कर्त्तव्या, विधिविपर्यपदोषमाह-तस्या- जिनाज्ञाया अन्यथा तु करणे- अविधिविधाने, पुनः कुत इत्याह-मोहाद्- अज्ञानात्, किं- मित्याह- अतिसंक्लेशम्- आत्यन्तिकं चित्तमालिन्यं भवति। पञ्चा० १५ विव०।

(८) जिनाज्ञारहितस्य सुन्दरस्यापि स्वबुद्धिकल्पितस्य भवकारणत्वम्, यत उक्तम्-

''जिणाणाए कुणंताणं, नूणं निव्वाणकारणं।
सुन्दरं पि सबुद्धीए, सव्वं भवनिबंधणं ॥१॥'' दर्श० ३ तत्त्व।

आज्ञाराधन- विराधनयोर्दोषगुणौ-

जह चेव उ मोक्खफल, आणा आराहिआ जिणिंदाणं।
संसारदुक्खफलया, तह चेव विराहिया होइ ॥११९॥

व्याख्या- यथैव तु मोक्षफला भवतीति योगः, आज्ञा आराधिता-अखण्डिता सती जिनेन्द्राणां संबन्धिनीति संसारदुःखफलदा तथैव च विराधिता-खण्डिता भवतीति गाथाऽर्थः। पं०व० १ द्वार।

(आज्ञाराधकानाराधकौ तयोर्दोषाऽदोषौ वासाऽर्हमवासाऽर्हगच्छमधिकृत्योक्तम्)-

से भयवं ? किमेस वासेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगे जेण वासेज्जा, अत्थेगे जेणं नो वासेज्जा। से भयवं ? केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ ? जहा णं गोयमा ! अत्थेगे जेणं वासेज्जा, अत्थेगे जेणं नो वासज्जा। गोयमा ! अत्थेगे जेणं आणाएठिए। अत्थे(ट्ठे)गे जेणं आणाविराहगे। जेणं आणाठिए। से णं सम्मद्दंसणनाणचरित्ताराहगे, जेणं सम्मद्दंसणनाणचरित्ताराहगे से णं गोयमा ! अचंतविऊ सुपवरकडुच्छुए मोक्खमग्गे। जे य उण आणाविराहगे से णं अणंताणुबंधी कोहे माणे अणंताणुबंधी माणे से णं अणंताणुबंधा कइयावसेणं अणंताणुबंधी लोभे। जेणं अणंताणुबंधी कोहाइकसायचउक्के से णं घणराग दोसमोहमिच्छत्तपुंजे जेणं घणरागदोसमोहमिच्छत्तपुंजे से ण अणुत्तरघोरसंसारसमुद्दे। जेणं अणुत्तरघोरसंसार-समुद्दे से णं पुणो पुणो जंमे, पुणो पुणो जरा, पुणो पुणो मच्चू। जेणं पुणो पुणो जम्मजरामरणे से णं पुणो पुणो बहुभवंतरवत्ते। से णं पुणो पुणो चुलसीइजोणिलक्खमा-हिंडणं। जेणं पुणो पुणो चुलसीइलक्खजोणिमाहिंडणं से णं पुणो पुणो सुदूसहे घोरतिमिसंऽधयारे रुहिरविलि विलेवसवसपूयवंतपित्तसिंभचि-क्खिल्लदुग्गंधाऽसुइ-विलीणजंबाल केयकिट्ठिसक्खरन-पडिपुन्ने। अणिट्ठ-उच्चियणिज्जअइघोरचंडमहरोद्दुक्खदारुण गब्भ-परंपरापवेसे। जेणं पुणो पुणो दारुणो गब्भपरम्परापवेसे णं दुक्खो से णं केसे णं रोगाणं केसेयं सेयं सेणं सोगसंता-वुव्वेगे से णं अण्णे वुत्ती जेणं अण्णे वुत्ती से णं जहट्ठिमणोर-हाणं असंपत्ती। से णं नोवपंचप्पयारअणंतरायकंमोदए जत्थ णं पंचोपयारअंतराकं मोदए तत्थ णं सव्वदुक्खाणं। अग्गणीभूख पढमे ताव दरिद्दे जेणं दारिद्दे से णं अयसम-क्खाणं अकित्तीकलंकरासीणं मेलावगामे। से णं सयलजण-लज्जणिज्जनिंदणिज्जे गरहणिज्जे खिंसणिज्जे दुगुंछ-णिज्जे सव्वपरिभूए जीविए, जेणं सव्वपरिभूए जीविया से णं सम्मद्दंसणनाणचरित्ताइगुणेहिं सुदूरयरेणं विप्प-

मुक्के चेव मणुयजंमे । अन्नहा वा सव्वपरिभूए चेव णं भवेज्जा ।। जेणं सम्मद्दंसणनाणचरित्ताइगुणेहिं सुदूरयरेणं विप्पमुक्के चेव णिभवो से णं अणिरुद्धा सदारत्ते चेव जेणं अणिरुद्धा सव्वचारित्ते चेव से णं बहूण लघूणं पावकम्मायणे जेणं बहूण लघूण पावकंमागमे से णं बंधी से णं वंदी से णं गुत्ती से णं चारगे से णं सव्वमकल्लाणममंगलजाले। दुव्विमोक्खे कक्खडघणबद्धपुट्ठनिगाइयकंमगंठी जेणं कक्खडघणबद्ध-पुट्ठनिगाइयकंमगंठी से णं एगेंदियत्ताए बेइंदियत्ताए तेइंदियत्ताए चउरिंदियत्ताए पंचिंदियत्ताए नारयतिरिच्छकुमाणुसेसुं अणेगविहं सारीरमाणसं दुक्ख-मणुभवमाणं वेइयव्वे। एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-जहा अत्थेगे जेणं वासेज्जा से भयवं किमित्थ तेणं उच्छाइए केइ गच्छे भवेज्जा गोयमा ! जेणं से आणाविराहगे गच्छे भवेज्जा से णं निच्छयओ चेव मिच्छत्तेणं उच्छाइयगच्छे भवेज्जा। से भयवं ? कयराओ ण सा आणाजीविए गच्छे आराहगे भवेज्जा ? गोयमा ! संखाइएहिं ठाणंतरेहिं गच्छे से णं आणापन्नत्तीए ठिए गच्छे आराहगे भवेज्जा । से भयवं ? किं तेसिं संखातीताणं गच्छमेरा ठाणंतराणं । अत्थि केई अन्नयरे थाणंतरे णं जेणं उस्सग्गेण वा अववाएण वा कहं वि पमायदोसेणं असई अइक्कमेज्जा अइक्कंतेणं वा आराहगे भवेज्जा ? गोयमा ! णिच्छयओ नत्थि। ये भयवं ? केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा णं निच्छयओ नऽत्थि । गोयमा! तित्थयरेणं ताव तित्थयरे तित्थं पुण चाउवन्ने समणसंघे से णं गच्छे सुपइट्ठिए गच्छेसु पुण सम्म-द्दंसणनाणचरित्तपइट्ठिए ते य सम्मद्दंसणनाणचारित्ते परमपुज्जेणं परमपुज्जयरे। परमसरन्नाणं सरन्ने परमसद्धाणं सद्धयरे ताइं च जत्थ णं गच्छे अन्नयरे ठाणे कत्थइ विराहिज्जंति से णं गच्छे समग्गपणासए उम्मग्गदेसए जेणं गच्छे समग्गणासगे उम्मग्गदेसए से णं निच्छओ चेव अणाराहगे, एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जहा णं संखादीयाणं गच्छमेरा ठाणंतराणं जेणं गच्छे एगण्णयरट्ठाणं अइक्कमेज्जा से णं एगंतेणं चेव अणाराहगे ।। महा० ५ अ०।

(आज्ञाऽऽराधन-विराधनयोः फलं 'सुय' शब्दे सप्तम भाग-वक्ष्यते)

(भगवदाज्ञाराधनकृतसेवादोषो भगवदाज्ञाखण्डनकृतमेव दोषं च इति 'आहाकम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे व्याख्यास्यते)

एगंते मिच्छत्तं, जिणाण आणा य होइऽणेगंता ।
एगं पि असद्दहाउ, मिच्छद्दिट्ठी जमालि व्व १२०२ति०।

(सावद्याचार्य्यकथां 'सावज्जायरिय' शब्दे सप्तमे भागे कथ-यिष्यामि)

तित्थयरसमो सूरी, हुज्ज य कम्मट्ठमल्लपडिमल्ले ।
आणं अइक्कमंते, ते कापुरिसे न सप्पुरिसे ।।
भट्ठाऽऽयारो सूरी, भट्ठायाराणुसिक्खिओ सूरी ।
उम्मग्गट्ठिओ सूरी, तिण्णि वि मग्गं पणासेंति ।।
उम्मग्गट्ठिए सूरि-म्मि निच्छयं भव्वसत्तसंघाए ।
जम्हा तं मग्गमणु-सरंति तम्हा ण तं जुत्तं। महा० ६ अ०।

(कीदृशेन गणिना भाव्यामिति 'गणि' शब्दे तृतीयभागे ८२३ पृष्ठे वक्ष्यते)

तम्हा गणिणं समस-त्तुमित्तपक्खेण परहियरएणं ।
कल्लाणकंखुणा-अ-प्पणो वि आणा ण लंघेया ।।

महा० ६ अ०।

(जिनस्याऽऽचार्य्यादिश्चाऽऽज्ञाया अतिक्रमे आराधकाऽनाराध-कत्वं, वज्राऽऽचार्यदृष्टान्तश्च)-

से भयवं ! जइ णं गणिणो अचंतविसुद्धपरिणामस्स वि कइ दुस्सीले सच्छंदत्ताए जइ गारवत्ताएइ वा जायाइमय- त्ताए वा आणं अइक्कमेज्जा से णं किमाराहगे भवेज्जा ? गोयमा ! जे णं गुरुसमसत्तुमित्तपक्खो गुरुगुणेसु ठिए सयं सुत्ताणुसारेणं चेव विसुद्धासए विहरेज्जा तस्साऽऽणामइ- क्कंतेहिं णवणउएहिं चउहिं सएहिं साहूणं जहा तहा चेव अणाराहगे भवेज्जा । से भयवं ! कयरे णं ते पंचसए क्क- विवज्जिए साहूणं जेहिं च णं तारिसगणोववेयस्स महाणु- भागस्य गुरुणो आणं अइक्कमिय णाराहियं गोयमा ! णं इमाए चेव उसभं चउवीसगाए अतीताए तेवीसइमाए चउवी- सगाए जाव णं परिनिव्वुडे चउवीसं इमे अरहा ताव णं अइ- क्कंतेण केवइ णं कालेणं गुणनिष्फन्ने कमसेलमसुसूरणे महायसे महासत्ते महाणुभागे सुग्गहिय-नामधिज्जे ''वइरे'' णाम गच्छाहिवई भूए, तस्स णं पंचसयं गच्छं निग्गंथाइं विणा निग्गंथीहिं समं दो सहस्से अहेसिं ता गोयमा ! ताओ निग्गंथीओ अचंतपरलोगभीरुयाओ सुविसुद्धनिम्मलंतक्क- रणाओ खंताओ दंताओ मुत्ताओ जिइंदियाओ अचंतभणि- रीओ नियसरीरस्सवि व छक्कायव-च्छलाओ जहोवइट्ठअचंतघोरवीरतवचरणसोसिय-सरीराओ जहा णं तित्थयरेणं पन्नवियं तहा चेव अदीणमणसाओ मायामय-महंकारममकरे इतिहासखेडकंदप्पणादवायविप्पमु-क्काओ तस्साऽऽयरियस्स सगासमन्नमणुचरंति। ते य साहुणा सव्वे वि गोयमा ! न तारिसे भणगे अहन्नया गोयमा ! ते साहुणो तं आयरियं भणंति जहा णं जइ भणियं च तुमं आणवेहित्ताणं अम्हेहिं तित्थयत्तं कारिय। चंदप्पहसामियं वंदिता धम्मवक्कं गंतूण मा गच्छामो ताहे गोयमा ! अदीणमणसा अणुत्तालगंभीरमहुराए

भारतीए भणियं तेणाऽऽयरिएणं जहा इच्छायारेणं न कप्पइ तित्थयत्तं गंतुं सुविहियाणं ता ०जाव णं बोलेइ जत्तं ताव णं अहं तुम्हे चंदप्पहं वंदावेहामि, अन्नं च जत्ताए गएहिं असंजमे पडिज्जइ, एएणं कारणेणं तित्थयत्ता पडिसेहिज्जइ। तओ तेहिं भणियं- जहा भयवं ! केरिसओ णं तित्थयत्ताए गच्छमाणाणं असंजमो भवइ, सो पुण इच्छायारेणं विइज्जवार-परिसंउलावेज्जा बहुजणेणं वाउलगो भन्निहिसि ताहे गोयमा ! चिंतेणं तेणं आयरिएणं जहा णं मम वइक्कमिय निच्छयओ एए गच्छिहिंति तेणं तुमए समयं च उत्तरेहिं चयंति अह अन्नया सुबहुं मणसा संधीरेउ णं चेव भणियं तेणं आयरिएणं-जहा णं तुब्भे किंचि वि सुत्तत्थं वियाणह णच्चियाण तारिसं तित्थजत्ताए गच्छमाणाणं असंजमं भवइ। तारिसं सयमेव वा वियाणेह किंचि एत्थ बहुविलंबिएणं अन्नं च चिंदियं तुम्हेहिं पि संसारसहावजी-वाइपयत्थं तत्थं वा अहण्णया बहुउवाएहिं णं विणिवारितस्स वि तस्साऽऽयरियस्स मन्नए चेव । तं साहुणो णं कुद्धेणं कयं तेणं परिए तित्थयत्ताए तेसिं च गच्छसाणाणं कत्थइ णेसणं कत्थइ हरियकायसंघट्टणं कत्थइ वीयक्कमणं कत्थइ पिवीलियादीणं तसाणं संघट्टएणं परितावेणोद्दवणाइं संभवं कत्थइ वि इट्ठ-पडिक्कमणं कत्थइ ण कीरिए चेव बाउक्काइयं सज्जायं कत्थइ ण संपडिलेहेज्जा मत्तभंडोवगरणस्स विहीए उभयकालं पेहपक्खेजा ण पडिलेहणपडणं किं बहुणा गोयमा ! कित्तियं भन्निहियं अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं सत्तरस्स वि सहस्साणं संजमस्स दुबालसविहस्स णं सब्भिंतरबाहिरस्स तवस्स ०जाव णं खंताइ अहिंसालक्खणस्स वयस्स दसविहसहस्साऽणगारधम्मस्स जत्थेक्केक्कपयं चेव सुबहुएणं पि कालेणं थिरपडिचिएण दुबालसंगमहासुयक्खंधेणं बहुभंगसयं संघत्तणाए दुक्खनिरइयारं परिवालिऊणं । जे एयं च सव्वं जहा भणियं निरइयारणुट्ठेयंति एवं संभारिऊण चिंतियं तेण गच्छाहिवइणा जहा णं मे विप्परुक्खेणं ते दुट्ठसीसे मज्जं अणाभोगमविणएणं सुबहुं असंजमं काहेंति । तं च सव्वमपच्छंतियं होही। जओ णं हं तेसिं गुरू ताहं तेसिं पट्ठिए गंतूणं पडिजागरामि जणाहमित्थपए पायच्छित्तेणं णो संवज्जेज्जत्ति वियप्पिऊणं गओ सो आयरिओ तेसिं पट्ठीए ०जाव ण दिट्ठे तेणं असमंजसेणं गच्छमाणं ताहे गोयमा ! सुमहुरमंजुलालावेणं भणियं तेणं गच्छाहिवइणा जह भो ! भो ! उत्तमकुलनिम्म- लवंसविहूसणा ! असुगयसुग्गइमहासत्ता ! साहूउ पडि-वन्नाणं पंचमहव्वयाहिया ! तं णूणं महाभागाणं साहूणं साहुणीणं सत्तावीसं सहस्साइं थंडिलाणं सव्वदंसीहिं पन्नत्ताइं ते य सुओवउत्तेहिं विसोहिज्जंति ण उण अन्नोवत्तेहिं ता किमेयं सुन्नासुन्नीए अण्णोवउत्तेहिं गम्मइ इच्छायारेणं उवओगं देहि अन्नं इणमो सुत्तत्थं। किं तुम्हाणं वि समरिओ भवेज्जा । जं सारं सव्वपरमतत्ताणं जहा एगो वेदिये पाणी एगं सयमेव । हत्थेण वा पाएण वा अन्नयरेण वा सलागाइअहिगरणभूओ चरणजाएणं णं केइं संघट्टावेज्जा पासघट्टियं वा अपरं समणुजाणेज्जा से णं तक्कम्मं जया उदिण्णं भवेज्जा तया जहा उच्छु खंडाइं जंते तहा निपीडिज्जमाणो छम्मासेणं खवेज्जा, एवं गाढे दुवालसेहिं संवच्छरेहिं तं कम्मं वेदेज्जा, एवं आगाढ-परियावणे वाससहस्सं, गाढपरियावणे दसवासहस्सं, एवं आगाढकिलावणे वासलक्खं, गाढकिलावणे दसवासलक्खाइं, उद्दवणे वासकोडी, एवं तेइंदियाइसुं पि णेयं ता एवं च वियाणामाणो मा तुम्हे मुज्जह त्ति। एवं च गोयमा ! सुत्ताणुसारेणं सारयंतस्सवि तस्साऽऽयरियस्स ते महापावकम्मे गमगमहल्लफलेणं हल्लोहलीभूएणं तं आयरियाणं असेसपावकम्मट्ठदुक्खविमोयगे णो बहुकम्मट्ठदुक्खविमोयगे णो बहु मन्नंति ताहे गोयमा! मुणियं तेणाऽऽयरिएणं जहा निच्छियओ उम्मग्गपट्ठिए सव्वपगारेहिं चेव इमे पावमई दुट्ठसीसे ता किमट्ठमह-मिमेसिं पट्ठीए लल्लीवागरणं करेमाणो अणुगच्छमाणो य सुक्खाए गयजलाए णदीए उवुज्जए गच्छदसदुवारेहिं । अहयं तु तावाऽऽयहियमेवाऽणुचिट्ठेमो किमज्जपक्खएणं सुगूहं तेणावि पुत्तपब्भरेणं थेवमवि किं वि परित्ताणं भवेज्जा अपरक्कमेणं चेव आगजुत्ततवसंजमाणुट्ठाणेणं भवोयही तरेयव्वो एस उण तित्थयराऽऽएसो, जहा-

''अप्पहियं कायव्वं, जइ सक्का परिहयं च पयरेज्जा ।
अत्तहिय- परहियाणं, अत्तहियं चेव कायव्वं ॥१॥''

अन्नंच-

''जइ एते तवसंजम- किरियं अणुपालियं होंति तओ ।
एएसिं ववसेयं, होइ जेहिं ण करेहिंति ॥१॥''

तओ एएसिं चेव दुग्गइगमणमणुत्तरं हविज्जा । नवरं तहा वि मम गच्छो समप्पिओ गच्छाहिवई अहयं भणामि । अन्नं च जे तित्थयरेहिं भगवंतेहिं छत्तीसं आयरियगुणे समाइट्ठे । तेसिं तु अहयं एक्कमवि णाइक्कमामि। जइ वि पाणोवरमं भवेज्जा जं वाऽऽगमे इहपरलोगविरुद्धं तं णाऽऽयरामि, ण कारयामि, न कज्जमाणं समणुजाणामि । तमेरिसगुण-जुत्तस्सऽवि जइ भणियं ण करेंति ताहमिमेसिं वेसग्गहणा उद्धालेमि एवं समए पन्नत्ती, जहा जे केई साहू

साहुणी वा वायामित्ते णो वि असंजममणुचेट्ठेज्जा। से णं सारेज्जा से णं सारिज्जंते वा वारिज्जंते वा चोइज्जंते वा पडिचोडिज्जंते वा। जण्णं तं वयणमवमन्निय अतसाइमाणे वा अभिनिविट्ठेइ वा तह त्ति पडिवज्ज इत्थं पउंजित्ताणं तत्थ आणापडिक्कमेज्जा से णं तस्स वेसग्गहणं उद्दालेज्जा। एवं तु आगमुत्तणाएणं गोयमा! जाव तेणायरिए एगस्स सेहस्स वेसग्गहणं उद्दालियं ताव णं अवसेसे विदिसो दिसिं पणट्ठे ताहे गोयमा! सो आयरिओ सणियं सणियं तेसिं पट्ठिए जातुमारद्धो णो णं तुरियं तुरियं से भयवं किमट्ठे तुरियं तुरियं णो पयाइ, गोयमा! खाराए भूमीण जा महुरं संकमेज्जा महुराए खारं किण्हाए पीथं पीयाओ किण्हं जलाउ थलं थलाओ जलं संकमेज्जा। तेणं विहीए पाए पमज्जिज्ज संकामियव्वं णो पमज्जेज्जा तओ दुवालससंवच्छरियपच्छित्तं भवेज्जा एएणमट्ठेणं। गोयमा! सो आयरिओ ण तुरियं तुरियं गच्छं अहन्नया सुयाउत्तविहीए थंडिलजलसंकमणं करेमाणस्स णं गोयमा! तस्सायरियस्स आगओ बहुवासरखुहापरिगय-सरीरे वियडदाढविकरालयं तं मासुरोपलयकालमिथ-घोररूवो केसरी। भणियं च तेण महाणुभागेणं गच्छाहिवइणा जहा जेयं दुग्गं गच्छेज्जा इमस्स णवरं दुग्गं गच्छमाणेणं अंसजमं ताव सरीरवोच्छेयं ण असंजमपवत्तणंति चिंतिऊण विहीए उवट्ठियस्स सहसा जमुद्दालियं वेसग्गहणं तं दाऊण ठिओ णिप्पडिकम्मपायपोवगमणाणं से एण सो विसोही तहेव अहऽन्नया अचंतविसुद्धंतकरणे पंचमंगलायारे सुहज्जवसायत्ताए दुवियगोयमवाईए तेण सीहेणं अंतगडे केवली जाए। अट्ठप्पयारमलकलंकविप्पमुक्केसिद्धे य ते पुण गोयमा! एकूणे पंचसए साहूणं तक्कम्मदोसेणं जं दुक्खमणुभवमाणे चिट्ठंति जं वाऽणुभूयं जं वाऽणुभविहिंति अणंतसंसारसागरं परिभमंते तं कालं केवलिणं अणंतेणं भणिउं समत्थो। एते गोयमा! एगूणे पंचसए साहूणं जहिं च णं तारिसगुणोववेयस्स णं महाणुभागस्स गुरुणो आणं अइक्कमिय णो आराहियं अणंतसंसारियं जाए, से भयवं! किं तित्थयरसंतियं आणं णाइक्कमेज्जा, उयाहु आयरियसंतियं? गोयमा! चउविव्वहा आयरिया भवंति, तं जहा नामाऽऽयरिया, ठवणाऽऽयरिया, दव्वाऽऽयरिया, भावाऽऽयरिया, तत्थ णं जे ते भावायरिया ते तित्थपयर-समा चेव दट्ठव्वा, तेसिं संतियाऽऽणं णाइक्कमेज्जा। महा० ४ अ०।

(आज्ञाभङ्गे दण्डो यथा)-

तित्थकरआणा य एसा अणुपालियव्व त्ति जहा रण्णो अप्पणो रज्जे जं माणं प्रतिष्ठापितं जा ततो माणतो अतिरेगभूयाणं वा करेति सो अवराही डंडिज्जति, एवं जो तित्थकराणं आणं कोवेत्ति सो दीहसंसारी (१८६ गाथाचूर्णिः) नि०चू० २० उ०। व्य० १ उ० २ प्रक० २२० गाथाटी०। ''तंमि य आणाभंगे चउगुरुयं पच्छित्तं ति''। नि०चू० ५ उ० ९४ गाथा।

(१०) (प्रलम्बग्रहणमधिकृत्य)- भगवता प्रतिषिद्धं यत्प्रलम्बं-न कल्पतं तद्ग्रहणं कुर्वता भगवतामाज्ञाभङ्गः कृतो भवति, तस्मिंश्चाज्ञाभङ्गे चतुर्गुरुकाः।

अत्र परः प्राह-

अवराहे लहुगतरो, आणाभंगम्मि गुरुतरो किह णु।
आणाए चिय चरणं, तब्भंगे किं न भग्गं तु ॥११८॥

अपराधे-चारित्रातिचारे लघुतरो दण्डो भवद्भिः पूर्वं भणितः, तथाहि-अचित्ते प्रलम्बे मासलघु, इह पुनराज्ञाभङ्गे चतुर्गुरु- कमिति गुरुतरो दण्डः, कथं-कस्मात् तुरिति वितर्के, अपि च-अपराधे जीवोपघातो दृश्यते, तेन तत्र गुरुतरो दण्डो युक्तियुक्तः, आज्ञायां पुनर्नास्ति जीवोपघात इति लघुतर एवात्र भणितुमुचित इति। आचार्यः आह-आज्ञायामेव भागवत्यां चरणं-चारित्रं व्यवस्थितम् अतस्तद्भङ्गे- तस्या आज्ञाया भङ्गे किं तन्मूले उत्तरगुणादिकं वस्तु न भग्नम्; अपि तु सर्वमपि भग्नमिति, अनाज्ञायां गुरुतरो दण्डः।

उच्यते अस्यैवाचार्यस्य प्रसाधनार्थं दृष्टान्तमाह-

सोऊण य घोसणयं, अपरिहरंता विणासँ जह पत्ता।
एवं अपरिहरंता, हियसव्वस्साउ संसारे ॥११९॥

राज्ञा कारितां घोषणां श्रुत्वा घोषणायां च निवारितम-र्थमपरिहरन्तो यथा द्रव्यापहारलक्षणं विनाशं प्राप्ता एवं तीर्थकरनिषिद्धे प्रलम्बग्रहणमपरिहरन्तो हृतसर्वस्वाः- अपहृतसंयमरूपसर्वसाराः संसारे दुःखमवाप्नुवन्ति एषा ''भद्रबाहुस्वामि'' विरचिता गाथा।

अथाऽस्या एवं भाष्यकारो व्याख्याने करोति-

छप्पुरिसा मज्जपुरे, जो आसादेज्ज ते आजातो।
तं दंडेमि अकंडे, सुणे तु पुरओ जणवया य ॥१२०॥
आगामिय परिहरंता, निद्दोसा सेसगा न निद्दोसा।
जिणआणागमचारी, अदोस इयरे भवे दंडो ॥१२१॥

''जहा केइ नरवई सो छहिं पुरिसेहिं अन्नतरे कज्जे तोसितो इमेणऽत्थेण घोसणं करेइ-इमे छप्पुरिया। मज्जपुरि अप्पणो इच्छाए विहरमाणा महाजणेणं अदिट्ठपुव्वा अणुवलद्धविभवने- वत्था अच्छंति। जो ते छिवइ वा पांडेइ वा मारेइ वा तस्स उग्गं दंडं करेमि, एअ घोषणत्थं सोऊण ते पउरजवया य दंडं भीता ते पुरिसे पयत्तेण वन्नरुवाईहिं विधेहिं आगमिऊण पीडापरिहारकयबुद्धी तेसिं छण्णं पुरिसाणं पीडं परिहरंति ते निद्दोसा। जे पुण अणायारमंता न परिहरंति घोसस्साऽवराहदंडेण दंडिया। एस दिट्ठंतो। अयमत्थोवणओ-रायत्थाणीया तित्थयरा, पुरत्थाणीओ लोगो, छप्पुरिसत्थाणीया छक्काया, घोषणाथाणीया छक्कायरक्खण परूवणपरा छज्जीवणियादओ आगमा, विवण्णइत्था-

णीया संघट्टणादी, पउरजणवयत्थाणीया साहू, दंडत्थाऽऽणीओ संसारो, तत्थ जे पयत्तेण छण्हं कायाणं सरूवं रक्खणे वायं च आगमेऊण जहुत्तविहीए पीडं परिहरंति ते कम्मबंधदंडेणं न दंडिज्जंति, इयरे पुण संसारे पुणो पुणो सारीरमाणसेहिं दुक्खसयसहस्सेहिं दंडिज्जंति त्ति।

अथाऽक्षरगमनिका-षट्पुरुषा मम पुरे वर्त्तन्ते यस्तानजानन्नपि आशातयेत् तमहं दण्डयाम्यकाण्डे-अकाले शृण्वन्तु एतत्पौराः- पुरवासिनो जनपदाश्च- ग्रामवासिनो लोका, इति, राज्ञा कारितां घोषणां श्रुत्वा तान् पुरुषानागम्योपलक्ष्य परिहन्तः सन्तो निर्दोषाः शेषाः पुनर्ये पीडां न परिहरन्ति ते न निर्दोषा इति दण्डिताः। एवमत्रापि जिनाज्ञया यः षट्कायानामागमः- परिज्ञानं तत्पूर्व-कचारिणः- संयमाध्वगामिनः सन्तोऽदोषाः, इतरेषां भवेसंसारे शारीरमानसिकदुःखलक्षणो दण्डः। गतमाज्ञाद्वारम्। बृ० १ उ० २ प्रक०। नि० चू०।

(अपराधपदमधिकृत्याऽपि उक्तम्)-

अपराधपदे वर्त्तमानस्तीर्थकृतामाज्ञाभङ्गं करोति तत्र चतुर्गुरु- रिति। बृ० १ उ० २ प्रक०।

अत्र नोदकः प्राह-

अवराहे लहुगयरो, किं णु हु आणाए गुरुरो दंडो।
आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे किं न भग्गं तु ॥३५१॥

जघन्यकेअपरिगृहीते वा तिष्ठति प्राजापत्यपरिगृहीतं जघन्यमसंनिहितमदृष्टं प्रतिसेविते उभयत्रापि चतुर्लघु, एवं स्थानतः प्रतिसेवनेन यश्चापराधे लघुकतरो दण्ड उक्त आज्ञाभङ्गे चतुर्गु- रुकमित्यतः 'किमि' ति परिप्रश्ने, 'नुरि' ति वितर्के 'हुरि' ति गुर्वामन्त्रणे, किमेवं भगवदाज्ञायां भग्नायां गुरुतरो दण्डो दीयते। सूरिराह-आज्ञयैव चरणं व्यवास्थतं तस्य भङ्गे कृते सति किं न भग्नं; चरणस्य सर्वमपि भग्नमेवेति भावः। अपि च-लौकिका अप्याज्ञाभङ्गे गुरुतरं दण्डंप्रवर्त्तयन्ति।

तथा चाऽत्र पूर्वोद्दिष्टं मौर्यदृष्टान्तमाह-

भत्तमदाणमडंते, अणवट्ठाणवं अंबच्छेतु वंसवती।
गविसणपहदरिसिए, पुरिसवइबालडहणं च ॥३५२॥

''पाडलिपुत्ते नयरे चंदगुत्तो राया, सो य मोरपोसगपुत्तो त्ति जे खत्तिया अभिजाणंति ते तस्स आणं परिवभवंति। चाणक्कस्स चिंता जाया, आणाहीणे केरिसो राया। तम्हा जम्हा एयस्स आणाभिक्खा भवइ तहा करेमि त्ति तस्स य चाणक्कस्स कप्पडियत्ते भिक्खं अडंतस्स एगंमि गामे भत्तं न लद्धं तत्थ य गामे बहुअं बा, वं सा य अत्थि। तेउं तस्स गामस्स पडिनिविट्ठेणं आणाहवणानिमित्तं इमेरिसो लेहो पेसिओ- आम्रान् छित्त्वा वंशानां वृत्तिः शीघ्रं कार्यते तर्हि गामेअगेहिं दुल्लिहियं ति काउं वंसे छेत्तुं अंबाण वई कया गवेसावियं चाणक्केणेविक्कक्कयं तओ तत्थागंतूण उवालद्धा भे गामेयगा एतं वंसगा रोहगादिसु उवउज्जंति कीस भे छिन्नत्ति दंसियं लेहवीरियं अन्नं संदिट्ठं, अन्नं चेव करेह त्ति, तओ पुरिसेहिं अधोसिरेहिं वयं काउं सो गामो सव्वो दड्ढो।

अथ गाथाऽक्षरगमनिका- चाणक्यस्य भिक्षामटतः क्वापि ग्रामे भक्तस्यादानं; भिक्षा न लब्धेत्यर्थः। तत आज्ञास्थापना- निमित्तमयं लेखः प्रेषितः- 'अम्ब छेत्तु वंसवइ' त्ति आम्रान् छित्त्वा वंशानां वृत्तिः कर्त्तव्या ततो गवेषणे कृते ग्रामेण च पथिदर्शिते अन्यदादिष्टं मया, अन्यदेव च भवद्भिः कृतमित्यु- पालभ्य तैः पुरुषैः वृत्तिं कारयित्वा सबालवृद्धस्य ग्रामस्य दहनं कृतम्। एष दृष्टान्तः।

अर्थोपनयस्त्वेवम्-

एगमरणं तु लोए, आणत्तिअ उत्तरे अणंताइं।
अवराहरक्खणट्ठा, तेणाऽऽणा उत्तरे बलिया ॥३५३॥

लोकेआज्ञाया अतिचारे-अतिक्रमे एकमेव मरणमवाप्यते, लोकोत्तरे पुनराज्ञाया अतिचारे अनन्तानि जन्ममरणानि प्राप्यन्ते तेन कारणेन अपराधरक्षणार्थं लोकोत्तरे आज्ञा बलीयसी। बृ० १ उ० ३ प्रक०। (आज्ञाभङ्गे सति दण्डे दृष्टान्तः 'असज्जाइय' शब्दे प्रथमभागे ८२७ पृष्ठे गतः)

(आज्ञाभङ्गस्य दुःखकारणत्वम्)-

ता जत्थ दुक्खविक्खिण्णं, एगंतसुहपावणं।
सा आणा नो खंडेज्जा, आणाभंगे कओ ? सुहो ॥१॥ महा० ४ अ०

(११) (आज्ञारहितस्य चारित्रमपि न भवति)-

दुप्पसहं तं चरणं, जं भणियं भगवया इहं खेत्ते।
आणाजुत्ताणमिणं, न होइ अहुणो त्ति वामोहो ॥५७॥

दर्श० ४ तत्त्वा (गाथार्थः 'दुप्पसह' शब्दे चतुर्थभागे दर्शयिष्यते)

(तीर्थकराऽऽज्ञानिन्दकस्य निन्दा)-

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि,
स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः।
जिन! त्वदाज्ञामवमन्यते यः,
स वातकी नाथ! पिशाचकी वा ॥२१॥

त्वदाज्ञा (आ-सामस्त्येनानन्तधर्माविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबु- द्ध्यन्ते जीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा-आगमः, शासनं तवाऽऽज्ञा त्वदाज्ञा ता त्वदाज्ञां) भवत्प्रणीत ''स्याद्वादमुद्रां,'' यः-कश्चिदविवेकी अवमन्यते-अवजानाति (जात्यपेक्षमेक- वचनमवज्ञया वा) स पुरुषपशुः वातकी, पिशाचकी वा। स्या०। ('अस्य विशेषतः व्याख्यानम् 'अणेगंतवाय' शब्दे प्रथमभागे ४२५ पृष्ठे गतम्।) (तीर्थकराऽऽज्ञारहितधर्म्मस्य फलाऽफलत्वविचारः 'आणाखण्डण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

(जिनाऽऽज्ञास्थित्यवधिश्च)-

से भयवं ! केवइयं कालं जाव एस आणा पवेइगा ? गोयमा ! जाव णं महायसे महासत्ते महाणुभागे सिरिप्पभे अणगारे। से भयवं ! केवइएणं कालेणं से सिरिप्पभे अणगरे भवेज्जा ! गोयमा ! होही दुरंतपंतलक्खणे अदव्वे रोद्दे चंडे उग्गे पयंडदंडे निम्मिरे निक्किवे निग्घिणे निस्तिंसे *कूरयरपावमई अणारिए मिच्छद्दिट्ठी ''कक्की'' नाम रायाणो*

(णे) से णं पावे पाहुडियं भमाडिउकामे सिरिसमण-संघं कयत्थेज्जा जाव णं कयत्थे ताव णं गोयमा ! जे केइ तत्थ सलिद्धो महाणुभागो अवलियसत्ते तवोवहाणे अणगारे। तेसिं च पाडिहेरियं कुज्जा सोहम्मे कुलिसपाणी एरावणगामी सुरवरिंदे एवं च गोयमा ! देविंदवंदिए दिट्ठपव्वए णं सिरिसमणसंघेज्जा णिट्ठिज्जा कुणए पासंड-धम्मे ०जाव णं गोयमा ! एगे अविइज्जे। अहिंसालक्खणं खंतादिदसविहधम्मे। एगे अरहा देवाहिदेवे एगे जिणालये एगे वंदे पूए दक्खे सक्कारे संमाणे महाजसे महासत्ते महाणुभागे दढसीलयनियमधारए तवोवहाणे साहु तत्थ णं चंदमिव सोमलेसे सूरिए इव तवतेयरासी पुढवी इव परिसहोवसग्गसहे मेरुमंदरधरे इव निप्पकंपे ठिए अहिंसालक्खणखंतादिदसविहे धम्मे । से णं सुसमण-गणपरिवुडे । निरब्भगयणामलकोमुइजोगजुत्ते इव गहरिक्ख-परिवारिए गहवई चंदे अहिययरं विराहेज्जा गोयमा ! से णं सिरिप्पभे । अणगारे भो गोयमा ! एवतियं कालं ०जाव एसा आणा पोइया से भयवं उड्ढं मुच्छा गोयमा ! तओ परेणं उड्ढं हायमाणे कालसमये तत्थ णं जे के ई छक्कायस-मारंभविवज्जए । से णं धन्ने पुन्ने वंदे पूए पसंसणिज्जे । जीवियं सुजीवियं तेसिं । महा० ४ अ०।

(१२) आज्ञाव्यवहारः-

आज्ञायते-आदिश्यते इत्याज्ञा। व्यवहारभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ०। भ०। व्य०। पञ्चा०। दशान्तरस्थितयोर्द्वयोर्गीतार्थयो-र्गूढपदैरालोचनानि जातिवारनिवे दनम्-आज्ञाव्यवहारः एतदुक्तं भवति-यदा द्वावप्याचार्यावासेवितसूत्रार्थतयाऽतिगीतार्थौ क्षीण-जङ्घाबलौ विहारक्रमानुरोधतो दूरतरदेशान्तरव्यवस्थितावत एव परस्य समीपे गन्तुमसमर्थावभूतां तदाऽन्यतरप्रायश्चित्ते समापतिते सति तथाविधयोग्यगीतार्थशिष्याऽभावे मतिधारणा-कुशलमगीतार्थमपि शिष्यं समयभाषया गूढार्थान्यतिचारा-सेवनपदानि कथयित्वा प्रेषयति, तेन च गत्वा गूढपदेषु कथितेषु स आचार्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंहननधृतिबलादिकं परिभाव्य स्वयं च तत्राऽऽगमनं करोति, शिष्यं वा तथाविधं योग्यं गीतार्थं प्रज्ञाप्य प्रेषयति। तदभावे तस्यैव प्रेषितस्य गूढार्थमतिचारशुद्धिं कथयतीति। प्रव० १२६ द्वारा व्य०।

(तथा च)-

पढमस्य य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
पढमे छक्केअट्ठिमं-तरं उ पढमं भवे ठाणं ॥१॥

अत्र प्रथमं कार्यं दर्प्पः, तत्र प्रथमं पदं दर्शननिमित्त प्रथमं षट्कं व्रतषट्कं तत्राभ्यन्तरम्- अन्तर्गतं प्रथमस्थानं प्राणातिपातः।

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
पढमे छक्केअट्ठिमं-तरं तु बीयं भवे ठाणं ॥२॥

अत्र द्वितीयं स्थानं मृषावादः, एवमदत्तादानादिष्वपि भावनीयम्।

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
बिइए छक्केअट्ठिमं-तरं तु पढमं भवे ठाणं ॥३॥

अत्र द्वितीयं षट्कं कायषट्कमित्यादि। एवं तेन कथितेन आचार्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंहननधृतिबलादिकं परिभाव्य स्वयं वा गमनं करोति। शिष्यं वा तथाविधं योग्यं गीतार्थं प्रज्ञाप्य प्रेषयति, तदभावे तस्यैव प्रेषितस्य गूढार्थमतिचारविशुद्धिं कथयति। व्य० १ उ०।

आणाए ववहारं, सुण वच्छ जहक्कमं वुच्छं ॥६०९॥

आज्ञया व्यवहारं यथाक्रमं यथा वक्ष्ये तं च वक्ष्यमाणं वत्स ! शृणु।

समणस्स उत्तमट्ठे, सल्लुद्धरणकरणे अभिमुहस्स।
दूरत्था जत्थ भवे, छत्तीसगुणा उ आयरिया ॥६१०॥

श्रमणस्य उत्तमार्थ-भक्तप्रत्याख्याने व्यवसितस्य यत्किमपि सत्यमनु-धृतमस्ति तदुद्धरणकरणे, अभिमुखस्य। 'दूरत्था जत्थ भवे छत्तीसगुण' त्ति-यत्र प्रायश्चित्तव्यवहारे षट्त्रिंशद्गुणा आचार्या दूरस्था भवेयुस्तत्राऽऽ-ज्ञया व्यवहारः।

कथमित्याह-

अपरक्कमो सि जाओ, गंतुं जे कारणं च उप्पन्नं।
अट्ठारसमन्नयरे, वसणगतो इच्छिमो आणं ॥६११॥

स आलोचयितुकामश्चिन्तयति- सांप्रतमहमपराक्रमो जातोऽस्मि ततस्तेषां समीपे गन्तुं न शक्नोमि। कारणं च मम तत्पार्श्व-गमननिमित्तं समुत्पन्नम्। यतोऽष्टादशानां व्रतषट्कादीनाम् अन्यतरस्मिन्नतीचारे व्यसनगतः- पतितस्तस्मादिच्छा- म्याज्ञाव्यवहारमिति।

एतदेव सविशेषं भावयति-

अपरक्कमो तवस्सी, गंतुं जो सोहिकारगसमीवं।
आगंतुं न वाएई, सो सोहिकरो वि देसाउ ॥६१२॥

सः-आलोचयितुकामस्तपस्वी शोधिकारकसमीपे गन्तुम् अपराक्रमो यस्स शोधिः कर्त्तव्या सोऽपि देशादालोचयितुं समीपमागन्तुं न शक्नोति।

अह पट्ठवेइ सीसं, देसंतरगमणनट्ठचेट्ठागो।
इच्छामज्जो काउं, सोहिं तुब्भं सगासम्मि ॥६१३॥

अथ-अनन्तरमालोचयितुकामो देशान्तरगमननष्टचेष्टक आलोचनाऽऽ-चार्यस्य समीपे शिष्यम्, आर्य ! युष्माकं सकाशे शोधिं कर्तुमिच्छामीत्ये-तत्कथयित्वा प्रेषयति।

सो वि अपरक्कमग-सीसं पेसेइ धारणाकुसलं।
एयस्स दाणि पुरओ, करेहि सोहिं जहावत्तं ॥६१४॥

सोऽपि आलोचनाऽऽचार्योऽपराक्रमगतिर्न विद्यते पराक्रसो गतौ यस्येति विग्रहः। शिष्यं धारणाकुशलं प्रेषयति। यस्त्वालोच- यितुकामेन प्रेषितस्तस्य संदेशं कथयति, त्वमिदानीमेतस्य पुरतो यथावृत्तं शोधिं कुरु।

अपरक्कमो अ सीसं, आणापरिणामगं परिच्छेज्जा।
रुक्खे य बीयकाए, सुत्ते वा मोहणाधारी ॥६१५॥

सः-आलोचनाचार्योऽपराक्रमः शिष्यमाज्ञापरिणामकं परीक्षेत; किमेष आज्ञापरिणामकः, किं वा नेति ? आज्ञापरीणामको नाम-यत् आज्ञाप्यते तत्कारणं न पृच्छति ''किमर्थमेतदिति'' किंत्वाज्ञया एव कर्त्तव्यतया श्रद्दधाति, यदत्र कारणं तत्पूज्या एव जानन्ते एवं यः परिणामयति स आज्ञापरीणामकस्तत्प- रीक्षा च वृक्षे बीजकाये च वक्ष्यमाणरीत्या कर्त्तव्या। आज्ञाप- रिणामित्वं परीक्ष्य; पुनरिदं परीक्षणीयं यथा किमेषोऽग्रहणे समर्थो धारणासमर्थश्च किं वा नेति। तत्राध्ययनादिपरीक्षया सूत्रे चशब्दात्- अर्थे वा अमोहनं-मोहरहितं समस्तम् आ-समन्ताद्धारयतीत्येवं शीलः अमोहधारी तं परीक्षेत।

तत्र वृक्षेणाऽऽज्ञापरिणामित्वपरीक्षामाह-

दट्ठमहं ते भक्खो, गणिओ रुक्खो विलग्गिउं डेव।
अपरिणयं वेंति तहिं, न वट्टइ रुक्खे वि आरोढुं ॥६१६॥
किं वा मारेयव्वो, अहियंतो वेह रुक्खओ डेव।
अतिपरिणामो भणति, इय हेऊ अम्ह वेसिच्छा ॥६१७॥

दृष्ट्वा महतो महीरुहान् गणिकः- आचार्यो ब्रूते- अस्मिन्नुचै- स्त्वेन तालप्रमाणे वृक्षे विलग्य तत आत्मानं (डिप) क्षिप्रपातं कुर्वित्यर्थः, एवमुक्ते तत्र- आज्ञापरिणामको ब्रूते-न वर्त्तते वृक्षे विलगितुं साधोः सचित्तत्वाद्वृक्षस्य प्रपाते च कुर्वन् आत्मविरा- धना भवति। सा च भगवता निषिद्धा, किंतु-अमुनोपायेन मारयितव्योऽभिप्रेतो ब्रूथ वृक्षादात्मानं डेपेति। अतिपरिणामकः पुनरिदं भणति-इत्येव भवतु, करोमि प्रपातमिति भावः अस्माकमप्येषा इच्छा वर्त्तते।

वेइ गुरू अह तंतू, अपरिच्छियत्थे पभाससे एवं।
किं च मए तं भणितो, आरुहरुक्खे(य) सचित्ते ॥६१८॥

अथ- अनन्तरं तमतिपरिणामकं ब्रूते-अपरीक्षिते- अपराभाविते मद्वचनस्यार्थं त्वमेवमुक्तप्रकारेण प्रभाषसे यथा करोमि प्रताप-मस्माकमप्येषेच्छा वर्त्तते। अपरिणामक्रमधिकृत्य ब्रूते-त्वं वा मया किमेवं भणितो यथा सचित्ते वृक्षे आरोहाय नोद्यते न वर्त्तते साधोः वृक्षे विलगितुमिति किंतुतन्मयोक्तम्।

तदेवाऽऽह-

तवनियमनाणरुक्खं, आरुहिउं भवमहण्णवाऽऽपण्णं।
संसारग(ङ्ग)त्तकुलं, डेवे हंत मए भणितो ॥६१९॥

तपोनियमज्ञानमयं वृक्षं भवार्णवापन्नं- भवसमुद्रमध्य- प्राप्तमारुह्य संसारगर्त्ताकूलं 'डिप' उल्लङ्घय इति मया भणितः।

जो पुण परिणामो खलु, आरुह भणितो वि सो विचिंतेइ।
नेच्छंति पावमेते, जीवाणं थावरा(दी)णं (पि)॥६२०॥
किं पुण पंचेंदीणं, तं भणियव्वेत्थ कारणेणं तु।
आरुहणववसियं तु, वारेइ गुरुववत्थंतो ॥६२१॥

यः पुनः खलु परिणामः-आज्ञापरिणामकः स आरोहेति भणि-तश्चिन्तयति- नेच्छन्ति पापमेतं मदीया नुरवो जीवानां स्थावराणामपि; किं पुनः पञ्चेन्द्रियाणां तस्मादत्र कारणेन भवितव्यम, एवं विचिन्त्य आरोहणे व्यवसितः। तमारोहण- व्यवसितं गुरुरवष्टभ्य- बाहौ धृत्वा वारयति। यदेवमुक्तं वृक्षे परीक्षणम्।

अधुना जीवेषु तदाह-

एवाऽऽणेह य बीयाइं, भणितो पडिसेहे अपरिणामो।
अइपरिणामो पोट्टल, बंधूणं आगतो तहियं ॥६२२॥

एवम्-अमुना प्रकारेण बीजानि अनायत इत्युक्ते अपरिणामः प्रतिषेधयति-न कल्पयन्ते बीजानि गृहीतुमिति, यस्त्व-तिपरिणामकः स बीजानां पोट्टलं बद्ध्वा तत्र गुरुसमीपे समागतः।

ते वि भणिया गुरूणं, भणिया नेह अमलिबीयाइं।
न विरोहसमत्थाइं, सचित्ताइं व भणियाइं ॥६२३॥

तावत् यः अपरिणामको गुरुणा भणितो मया भणितमानय अम्लिकाबीजानिकाञ्जिकिनीबीजानि, यदि वा-सचित्तानि-विध्वस्तयोनिमयानि, यानि न विरोहसमर्थानि तान्यानयेति भणितानि।

तत्थ वि परिणामो तू, भणती आणेसि केरिसाइं तु।
कत्तियमित्ताइं वा, विरोहमविरोहजोग्गाइं ॥६२४॥

तत्रापि यः परिणामकः स भणति-कीदृशानि बीजान्यानयासि। विरोहयोग्यानि, अविरोहयोग्यानि वा, कियन्मात्राणि वा।

सो वि गुरूहिं भणितो, न ताव कज्जं पुणो भणीहामि।
हसितो व मए तासिं, वीमंसत्थं व भणितो सि ॥६२५॥

सः-अप्याज्ञापरिणामको गुरुभिर्भणितो न तावदिदानीं कार्यं यदा तु कार्यं भविष्यति तदा पुनर्भणिष्यामः। अथवा-हसितोऽसि मया तावदिदानीं न पुनर्बीजैः प्रयोजनं, यदि वा- विमर्शार्थं तव-विमर्शपरीक्षणार्थं त्वमेवं भणितोऽसि।

संप्रत्यमोहनाधारिपरीक्षामाह-

पयमक्खरमुद्देसं, संधीसु तत्थ तदुभयं चेव।
अक्खरवंजणसुद्धं, जह भणितं सो परिकहेइ ॥६२६॥

पदमक्षरमुद्देशं सन्धिम्- अधिकारविशेषं सूत्रमर्थं तदुभयं च अक्षरव्यञ्जनशुद्धं पूर्वमवग्राहयति किमेष ग्रहणधारणायोग्यः किं वा नेति अवग्राह्य, ततो ब्रूते- उच्चारय प्रेक्षे किमपि गृहीतं न वा किं त्वगृहीतमपि किं स्मृतं किं वा नेति। तत्र यदि यथा भणितं तथा सर्वं परिकथयन्ति तदा ज्ञातव्य एष ग्रहणधारणे कुशल इति।

एवं परिच्छिऊणं, जोग्गं नाऊण पेसये तं तु।
वच्चाहि तस्सगासं, सोहिं सोऊण आगच्छ ॥६२७॥

एवं परीक्ष्य-योग्यं ज्ञात्वा तं प्रेषयेत् संदिशति च व्रज तस्य-साधोरालोचयतुकामस्य शोधिम्- आलाचनां श्रुत्वा पुनरत्राऽऽगच्छ।

अह सो गतो उ तहियं, तस्स सगासंमि सो करे सोहिं।
दुगतिचउविसुद्धं, तिवेहे काले विगटभावो ॥३२८॥

अथ- प्रेषणानन्तरं यत्राऽऽलोचयतुकामो विद्यते। तत्र गतस्त-स्वाऽऽगतस्य समीपे आलोचयितुकामः प्रशस्तेषु द्रव्यादिषु शोधिम्आलोचनां करोति। कथमित्याह- द्विकदर्शना-

तिचारे; चारित्राचारमालोचयतीत्यर्थः। दर्शनग्रहणं ज्ञान-ग्रहणमपीति ज्ञानातिचारं चेत्यपि द्रष्टव्यम्। चारित्रा-तिचारालोचनेऽपि च द्विभेदा-मूलगुणातिचारविषया, उत्तरगुणविषया च। तां करोति। पुनस्त्रिकाम्-आहारोपधिशय्यां भेदत एकैकां त्रिप्रकाराम्, चतुर्विशुद्धां-प्रशस्तद्रव्यक्षेत्र- कालभावोपेतां, त्रिविधे काले-अतीते, प्रत्युत्पन्ने च यत्सेवितम्, अनागते च यत्सेविष्ये इत्यध्यवसितं विकटभावः-प्रकटभावः; अप्रतिकुञ्चन इत्यर्थः। व्य० १० उ०।

(आज्ञाव्यवहारसाधकः)

दव्वे भावे आणा, खलु सुयं जिणवराणं।
सम्मं ववहरमाणो, उ तीऐं आराहओ होति ॥५६॥

आज्ञा द्विविधा-द्रव्ये, भावे च। तत्र द्रव्याज्ञा-राजादीनामाज्ञा, भावाज्ञा खलु श्रुतं जिनवराणाम्। तत्र सम्यक् पञ्चविधान्यतमेन व्यवहारेण-प्रागुक्तनीत्या व्यवहरन् तस्याःआज्ञाया आराधको भवति। व्य० ३ उ०।

आणाअविराहग- पुं० (आज्ञाऽविराधक) आज्ञाया आराधके, पं० सू० २ सूत्र।

आणाआराहण- न० (आज्ञाऽऽराधन) आप्तोपदेशानुपालने, पञ्चा०। "आणा आराहणाओ" ॥(५+)॥ आज्ञाऽऽराधनात्-आप्तोपदेशानु-पालनान्निर्निदानतामेव हि जिना मन्यन्ते। पञ्चा० ६ विव०।

आणाआराहणजोग- पुं० (आज्ञाऽऽराधनयोग) आप्तोपदेशा-नुपालनसम्बन्धे, पञ्चा० १२ विव०।

आणाइत्त- त्रि० (आज्ञावत्) आप्तोपदेशवर्तिनि, पञ्चा० १५ विव०।

आणाईसर- पुं० (आज्ञेश्वर)। आज्ञया आज्ञाया वा ईश्वर आ-ज्ञेश्वरः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। आ०म०। आज्ञाप्रधाने ईश्वरे, जं० १ वक्ष०। औ०।

आणाईसरसेणावच्च- न० (आज्ञेश्वरसेनापत्य) आज्ञाया ईश्वर आज्ञेश्वरः। (जी० ३ प्रति० ४ अधि० आ०म०) सेनायाः पतिः सेनापतिः आज्ञेश्वरश्चासौ सेनापतिश्च आज्ञेश्वरसेनापतिस्तस्य कर्म आज्ञेश्वरसेनापत्यम्। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। आज्ञाप्रधानो यः सेनापतिः-सैन्यनायकः तस्य भावः कर्म वा आज्ञेश्वर-सेनापत्यम्। औ०। स्वसैन्यं प्रत्यद्भुते आज्ञाप्राधान्ये, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। "आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे" ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। विपा०। स०। प्रज्ञा०।

आणाकंखिन-पुं०(आज्ञाकाङ्क्षिन्) आज्ञामाकाङ्क्षितुं शीलम-स्येत्याज्ञाकाङ्क्षी। सर्वज्ञोपदेशानुष्ठायिनि, आचा०। "इह आणाकंखी पंडिए" (सूत्र-१५३×) इह- अस्मिन् मौनीन्द्रे प्रवचने व्यवस्थितः सन आज्ञां-तीर्थकृतोपदेशमाकाङ्क्षितुं शीलम-स्येत्याज्ञाकाङ्क्षी आगमानुसारप्रवृत्तिकः कश्चैवंभूतः पण्डितः-सदसद्विवेकज्ञः। आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०।

आणाकरण-न०(आज्ञाकरण)आगमज्ञवचनासेवने, पञ्चा०। सौत्रविधिस-म्पादने, पं०व०।

ता एअम्मि वि काले, आणाकरणे अमूढलक्खेहिं।
सत्तीए जइयव्वं, एत्थ विही हंदि एसो अ ॥१०००॥

यस्मादेवं तस्मादेतस्मिन्नपि काले-दुःखमारूपे आज्ञाकर-णेसौत्रविधिसम्पादने अमूढलक्षैः-सद्भिः शक्त्या यतितव्य- मुपसम्पदादौ, अत्र विधिरेष व्याख्यानकरणे हन्दीत्युपप्रदर्शने, एष च वक्ष्यमाणलक्षणः। इति गाथार्थः। प०व० ४ द्वार।

आणाका(गा)रि(न्)-पुं०(आज्ञाकारिन्) आप्तोपदेशव र्त्तिनि, पञ्चा० ८ विव०। आप्तोपदेशविधायिनि, पञ्चा०।

तथा च-

एयस्स फलं भणियं, इय आणाकारिणो उ सड्ढस्स ॥४४+॥

एतस्स-समस्तजिनभवनविधानस्य फलम-प्रयोजनं भणितम्- उक्तम् इत्येवम्- उक्तनीत्या। आज्ञाकारिणस्तु- आप्तोपदेश-विधायिन एव श्राद्धस्य-श्रद्धावतः; श्रावकस्येत्यर्थः। पञ्चा० ७ विव०।

आणाखंडण-न०(आज्ञाखण्डन) आज्ञाभङ्गे, "आणा नो खंडेज्जा, आणाभंगे कओ सुहो"। महा० ४ अ०।

(आज्ञाखण्डनकरधर्म्मस्य विचारे पण्डितश्रीकल्याणकु शल-गणितकृतप्रश्ना यथा)-

"आणाखंडणकरी य, सव्वं पि निरत्थयं तस्स।
आणारहिओ धम्मो, पलालपूलु व्व पडिहाइ ॥१॥"

"कलं नग्घइ सोलसिमि" त्यादि वचनालम्बनेन साङ्ख्यादिदर्शनान्तरेषु यद्बालतपःकष्टानुष्ठानं समाचरन्ति तत्सर्वं सर्वथा निष्फलमेव, न कापि कर्मनिर्जरा भवति केषांचित्संमतं, केषां- चित्तु तेषामपि तारतम्येन स्वल्पमपि फलं स्वीकार्यं न तु निष्फलता। अत्राऽऽगमः-"जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाइँ वासकोडिहिं। तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥१॥" पं०भा०। "कलं नग्घइ सोलसिं पलालपूलु व्व" इत्यादावपीदमेव तात्पर्यम्- "अविरयमाइसुराउं, बालतवोकामनिज्ज-रा जयइ"- त्ति, "सरागसंजमेणं बालतवेणं" ति, "चरगपरिव्वा यगबंभलोगो जा"। इत्यपि अत एव बालतपस्विनामपि कोडिन्नदिन्न-सेवालिनाम्नां स्वीयस्वीयतपोऽनुसारेणैव सोपान-प्राप्तिः, सर्वथा विफलतायां तु सर्वेषामप्राप्तिः प्रसज्यते कथं च कर्मलाघवमन्तरेण मिथ्यात्विन एव ग्रन्थिदेशं यावदागच्छन्ति न वा कामनिर्जरामात्रामेव तत्र हेतुः कारणान्तराणामपि विबाधः प्रज्ञप्तिवृत्तावुक्तत्वात्, तथाहि-

"अणुकंपकामनिज्जर- बालतवे दाणविणयविभंगे।
संजोगविप्पओगे, वसणूसवइड्ढिसक्कारे" ॥१॥

दृश्यते चैतदर्थसंवादः साक्षादेवं महानिशीथे नागिलाधिकारे, तद्यथा-"अकामनिज्जराए वि किंचि कम्मक्खयं भवइ। किं पुण जं बालतवेणं, एवं सति निरत्थयं तस्स ॥१॥" इत्यादीनां का गतिरिति चेत्सत्यम्, सर्वाणि चैतानि उत्सर्गसूत्राणि ततोऽत्र "उत्सर्गादपवादो बलीयान्" अयमेव न्यायोऽनुसर्त्तव्यः, ततः सिद्धं तेषामपि तारतम्येन किंचित्[२] फलमिति समादधते[३]। तथा केचित् महानिशीथगतम्" जे यावि निन्हगाण अनुकूलं भासिज्जा" इत्यादि प्रसिद्धालापकमुपष्टभ्ये वक्तारो भवन्ति। तथाहि-ये

पक्षान्तरीयविहितं पतज्जिनप्रासादादिपरित्राणमाचार्योपा ध्यायादीनामापन्निवारणं साधुमुद्दिश्य दानसत्कारादिकं चानुमन्यन्ते तेषां महत्पातकं जायते, सम्यक्त्वमपि प्रतिहन्यते, तेन मतान्तरायत्तं तं युगप्रधानाचार्यभक्त्यादिकमपि सर्वथा नानुमोदनीयमेवेति, केचित्तु- तानपि प्रतिवदन्ति। यथा- नयसाधनश्रेष्ठिसंगमादीनां मिथ्यात्वभाजामपि दानं बहुषु ग्रन्थेषु परंपरया चानुमोद्यमानं दृश्यते, तथा सर्वतीर्थकृत्सातिशय- साधुपारणासु पञ्चदिव्यावसरे अहा दानमहो दानमित्युद्घोषोऽपि यदनुमोदनीयं न तत्कार्यते, कथं दृश्यन्ते च भवदादयः सर्वेऽपि मार्गं प्रतिपन्नाः। कारयन्तो यथा देहि भोः किंचिदस्मभ्यं तव भूयान् लाभो भावीति, यदि च प्रदत्ते तदा सन्तुष्टिरपि जायते इति स्वयमनुभूयमानस्यार्थस्य विलोपः कर्तुं सतां नोचित इत्याशयतयैव सूत्रकारेणाभ्यधायि, ''अहवा सव्वं वि य विअराये'' त्यादि अत्र सम्यग्दृष्टिपर्यन्तानां पूर्वमुक्तत्वान्मिथ्या- त्विनामपि किंचित्करणीयमनुमोदनीयमित्यापतितम्, तच्च विचार्यमाणं जिनजिन- बिम्बजिनालयाचार्योपाध्यायसाधु- श्राद्धादीनां वास्तवाराध्यानाम- शनपानप्रदानादि भक्तिवर्णन- संज्वलनाऽऽपत्परित्राणादिकं दृश्यते चानुमोदितं साक्षा-दप्याचाराङ्गादौ, साधुना साग्निशकटीपुरस्करणे मम न कल्पते भवता। पुनः पुण्यप्राग्भारार्जनमकरीत्यादि कथं च जिनशासन- प्रभावनाकारिणो म्लेच्छा अप्यनुमोद्यन्ते इत्याद्यनाग्रहबुद्ध्या पर्यालोचनीयमिति ॥४॥ ही०। तथा तृतीय-चतुर्थप्रश्नप्रतिवचनं तु द्वाददशजल्पपट्टका- दवसेयं, किंच- ''सव्वं पि निरत्थयं तस्स'' इत्यादिवचन- स्यापेक्षिकत्वान्नैकान्तवादः। अपेक्षा च मोक्षफलाभावलक्षणेति भावः। अन्यच्च महानिशीथ-प्रसिद्धालापकमुपष्टभ्य एकान्तेन परपाक्षिकप्रशंसानिषेधः। सोऽपि न संगच्छते यतस्तस्मिन्नेवालापके- ''अविमुह-मुद्धपरिसामज्जगए सलाहेज्जा'' इति वचनेनाभिमुख- मुग्धपरिषद्विशेषमध्य एव तत् श्लाघाया निषेधः प्रति- पादितोऽस्ति, न तु सामान्यपर्षदीति, किंचाऽत्रार्थे- ऊह- प्रत्यूहादिबहुवक्तव्यमस्ति तत्तु साक्षान्मिलने एव समीचीनता- मश्नुतीति ॥३॥४॥ ही० १ प्रका०।

आणागाहग- पुं० (आज्ञाग्राहक)। आगमग्राहके, ''सयाऽऽणा- गाहगे सिया'' (सूत्र-२+)। सदाज्ञाग्राहकः स्यात्, अध्याय नश्रव- णभ्याम्। पं०सू० २ सूत्र।

आणागिज्ज-त्रि० (आज्ञाग्राह्य)। आगमविनिश्चये, पं०व०।

आणागिज्जो अत्थो,
आणाए चेव सो कहेयव्वो ॥९९३+॥

पं०व० ४ द्वार।

आज्ञा-आगमस्तद्ग्राह्यस्तद्विनिश्चेयोऽर्थोऽनागतातिक्रान्त- प्रत्याख्यानादिराज्ञयैव-आगमेनैवासौ कथयितव्य इति। यद्वा- सामान्येनैवाज्ञाग्राह्योऽर्थः-सौधर्मादिः, आज्ञयैवासौ कथयि- तव्यो; न दृष्टान्तेन तस्य तत्र वस्तुतोऽसम्भवात्। आव० ६ अ०। (इत्यादिबहुवक्तव्यता वक्खाण' शब्दे षष्ठे भागे करिष्यते।)

आणाजुत्त- त्रि० (आज्ञायुक्त) आगमोपेते, दर्श०।

चारित्रमुद्दिश्य-''आणाजुत्ताणामिणं, न होइ अहुणो त्ति वामोहो''॥५७॥ आज्ञायुक्तानामपि न केवलमाज्ञाबाह्यानामिदं प्रस्तुतं चारित्रं न भवति- न जायते। दर्श० ४ तत्त्व।

आणाजोग (य)- पुं० (आज्ञायोग)। आज्ञा-नियोगः शासनं यथा राजाऽऽज्ञा-राजशासनम् तस्यां योग-उत्साहः तया वाऽऽज्ञया योगः- सम्बन्धः। दत्ताया अविफलीकरणे, षो० १३ विव०। आप्तवचनसम्बन्धे च। पञ्चा० १३ विव०। सूत्रव्यापारे, पं०व०।

पापं विसाइतुल्लं, आणाजोगो अ मंतसमो ॥९९९॥

सर्वमपि पाप निन्द्यम्; विषादितुल्यं, विपाकदारुणत्वाद् आज्ञायोगश्च- सूत्रव्यापारश्च अत्र मन्त्रसमः तद्दोषापनयनात्। पं०व० ४ द्वार।

आणाणिद्देस- पुं० (आज्ञानिर्देश) भगवतभिहितागमस्यो- त्सर्गापवादाभ्यामिदमित्थं विधेयमिदमित्थं चेत्येवमात्मकेप्रतिपादने, उत्त० १ अ०।

आणाणिद्देसयर- त्रि० (आज्ञानिर्देशकर)। भगवदभिहितागम- प्रतिपादनकरणशीले, भगवदभिहितागमानुलोमानुष्ठायिनि च। उत्त० १ अ०।

***आज्ञानिर्देशतर**-त्रि० गुरुवचनस्येदमित्थमेवं करोमीति निश्चयाभिधानन भवाम्भोधेस्तरणशीले, उत्त० १ अ०।

तथा च विनीतशिष्यमधिकृत्य-

आणाणिद्देसकरे ॥३+॥

आङिति स्वस्वभावावस्थानात्मिकया मर्यादयाभिव्याप्त्या वा ज्ञायतेऽर्थो अनयेत्याज्ञा-भगवदभिहितागमरूपा तस्या निर्देश- उत्सर्गाऽपवादाभ्यां प्रतिपादनम्, आज्ञानिर्देश इदमित्थं विधेय- मिदमित्थं वेत्येवमात्मकं तत्करणशीलस्तदनुलोमानुष्ठानो वा आज्ञानिर्देशकरः। यद्वा- आज्ञा-सौम्य! इदं कुरु, इदं च मा कार्षीरिति गुरुवचनमेव, तस्या निर्देशः-इदमित्थमेव करोमीति निश्चयाभिधानं तत्करः। आज्ञानिर्देशन वा तरति भवाम्भोधि- मित्याज्ञानिर्देशतर इति, इत्यादयोऽनन्तगमपर्यायत्वाद् भगव- द्वचनस्य व्याख्याभेदाः संभवन्तोऽपि मन्दमतीनां व्यामोहहेतु- तया बालाऽबलादिबोधोत्पादनार्थत्वाच्चास्य प्रयासस्य न प्रतिसूत्रं प्रदर्शयिष्यन्ते। उत्त० १ अ०।

***आज्ञाऽनिर्देशकर**- पुं० आज्ञाविराधके, उत्त०।

अविनीतशिष्यमधिकृत्य- ''आणाऽनिद्देसकरे॥३×॥'' स शिष्योऽ- विनीत इत्युच्यते य आज्ञायाः- तीर्थकरवाक्यस्य, गुरोर्वाक्यस्य चाऽनिर्देशकरः- अप्रमाणकर्त्ता आज्ञाविराधकः। उत्त० १ अ०।

आणाणिप्फादय- पुं० (आज्ञानिष्पादक) आज्ञासाधके, पं०सू० २ सूत्र।

आणाऽणुग- त्रि० (आज्ञाऽनुग) आज्ञामनुगच्छति, अनु०। गम-ड ६ त०। आदेशानुसारेण गन्तरि दासादौ, क्त आज्ञानुगतोऽप्यत्र। त्रि०। वाच०। आज्ञानुसारिणि, दर्श० ४ तत्त्व। आगमानुसारिणि, पञ्चा०।

सुहभावा तव्विगमो, सो वि य आणाणुगो निओगेण ॥२९+॥

शुभभावात्-प्रशस्ताध्यवसायात्तद्विगमः-अशुभकर्मविगमो भवति 'सो वि य' त्ति स पुनः शुभभावः आज्ञानुगः-आगमानुसारी भवति नियोगेन-नियमेन अनाज्ञाऽनुगम्यशुभ एवति भावः। पञ्चा० १६ विव०।

आणाऽणुगामि-(न्)-त्रि०(आज्ञाऽनुगामिन्) आज्ञामनुच्छति, अनु०। गम-णिनि ६ त०स०। आज्ञानुगते, स्त्रियां ङीप्। वाच०।

आणापडिच्छय-पुं०(आज्ञाप्रतीच्छक) आज्ञाप्रतीच्छाकारके पं०सू० २ सूत्र।

आणापरतंत-पुं० (आज्ञापरतन्त्र) आप्तवचनाधीने, पञ्चा० १४ विव०। (आज्ञापरतन्त्रा प्रवृत्तिरप्रवृत्तिरेवेति 'आणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम्।)

आणापरिणामग-पुं० (आज्ञापरिणामक)। यदाज्ञाप्यते तत्करोति तत्कारणान्न पृच्छति;-किमर्थमेतदिति किंत्वाज्ञयैव कर्त्तव्यतया श्रद्दधातीत्येवंलक्षणे परिणामकभेदे, व्य० १० उ०। (एतस्य लक्षणाऽऽदिबहुवक्तव्यता 'परिणामग' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) (एतस्य परीक्षाप्रकार आज्ञाव्यवहारनिरूपणवसरे 'आणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः)

आणापवित्ति-स्त्री० (आज्ञाप्रवृत्ति)। आप्तोपदेशपरतन्त्रप्रवर्त्तने, पञ्चा०।

आज्ञाप्रवृत्तिकश्च शुद्ध एव। तथाच विम्बविधिमधिकृत्य-

आणापवित्तिउ चिय, सुद्धो एसो ण अण्णाह णियमा।
तित्थगरे बहुमाणो, तदभावाओ य णायव्वो ॥१२॥

आज्ञाप्रवृत्तित एव-आप्तोपदेशपरतन्त्रप्रवर्त्तनादेव शुद्धो-विशुद्धः। एष परिणामो बिम्बविधायको वा ज्ञेय इति योगः। पञ्चा० ८ विव०। (अत्र विशेषः 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२६८ पृष्ठे वक्ष्यते)

आणापवित्तिय-पुं० (आज्ञाप्रवृत्तिक) आप्तोपदेशपरतन्त्र प्रवृत्ति-मति, पञ्चा० ८ विव०।

आणापहाण-पुं० (आज्ञाप्रधान)। आगमपरतन्त्रे, ध० २ अधि०।

आणापाणपज्जत्ति-स्त्री० (आनप्राणपर्याप्ति)। पर्याप्तिभेदे, मया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादायोच्छ्वासरूपतया परिण-मय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा प्राणापानपर्याप्तिरिति। प्रव० २३२ द्वार।

आणापाणवग्गणा-स्त्री० (आनप्राणवर्गणा)। उच्छ्वासनिश्वास-योग्यायां पुद्गलवर्गणायाम्, कर्म० ५ कर्म०। (वक्तव्यता 'वग्गणा' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते)

आणापाणु-पुं० (आनप्राण) कालविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। अनु०। स्था०। ज्ञा०। कर्म०।

***आणुप्राणु**-त्रि० प्र अन् उण्। वाच०।

(सूर्यप्रज्ञप्तावानप्राणकालपरिमाणम्)-

''आवलियाति वा आणापाणू ति वा। (सूत्र-१०५+) असङ्ख्यया आवलिका एक आनप्राणः, ''द्विपञ्चाशदधिकत्रिचत्वारिंशच्छत-सङ्ख्यावलिकाप्रमाणं एक आनप्राणः'' इति वृद्धसंप्रदायः।

तथा चोक्तम्-

''एगो आणापाणू, तेयालीसं (सयालीसं) सया उ वाबन्ना।
आवलियपमाणेणं, अणंतनाणीहिँ निद्दिट्ठो ॥१॥''

सप्ताऽऽनप्राणप्रमाणः स्तोकः। सू०प्र० २० पाहु०।

आणाबज्ज-त्रि० (आज्ञाबाह्य) आप्तोपदेशशून्ये, पञ्चा०।

आज्ञाबाह्यायाश्च स्वमतिप्रवृत्तेर्भवनिबन्धनत्वम्-

समितिपवित्ती सव्वा, आणाबज्ज त्ति भवफला चेव।
तित्थगरुद्देसेणं वि, ण तत्तओ सा तदुद्देसा ॥१३॥

स्वमतिप्रवृत्तिः-आत्मबुद्धिपूर्विका चेष्टा सर्वासमस्ता द्रव्य-स्तव-भावस्तवविषया आज्ञाबाह्याआप्तोपदेशशून्या इति हेतोर्भवफलैवसंसार-निबन्धनमेव आज्ञाया एव भवोत्तारहेतुषु प्रमाणत्वात्। पञ्चा० ८ विव०। (विशेषः 'चेइय शब्दे तृतीयभागे १२६८ पृष्ठे वक्ष्यते।) आप्तवचनबहिष्कृते च। पञ्चा०।

आणाबज्जत्तणओ, न होइ मोक्खंगया णवरं।

आज्ञाबाह्यत्वाद्-आप्तवचनबहिष्कृतत्वाद्यदाज्ञाबाह्यं तन्मोक्षाङ्गं न भवति। पञ्चा० ६ विव०।

आणाबलाभिओग-पुं० (आज्ञाबलाभियोग)। आज्ञापनम्-आज्ञा; भवतेदं कार्य्यमेव तदकुर्वतो बलात्कारणम् बलाभियोगस्तत- श्चाऽऽज्ञया सह बलाभियोग आज्ञाबलाभियोगः आज्ञाबलयोर- भियोगोव्यापारणमिति समासः। आज्ञाबलयोर्व्यापारणे, पञ्चा०।

आणाबलाऽभियोगो, णिग्गंथाणं ण कप्पते काउं।
इच्छा पउंजियव्वा, सेहे तह चेव राइणिए ॥८॥

आज्ञाबलाऽभियोगो निर्ग्रन्थानां-साधूनां न कल्पते-न युज्यते कर्त्तुं-विधातुं परपीडोत्पादकत्वादात्मनश्चाभियोगिककर्मबन्ध- हेतुत्वात्तस्ये-त्यादि-(बहुवक्तव्यता 'इच्छाकार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) पञ्चा० १२ विव०।

आणाभंग-पुं० (आज्ञाभङ्ग) आज्ञाया-आदेशस्य भङ्ग-स्वविषयेषु प्रसाराभावः, आदेशस्याऽकरणेन आदिष्यविषयेषु प्रचाराऽभावे, वाच०। आप्तोपदेशाननुपालने, पञ्चा० १५ विव०। सर्ववि-दागमोल्लङ्घने च। दर्श० १ तत्त्व। (एतद्वक्तव्यता 'आणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

आणाभावग-पुं० (आज्ञाभावक) आज्ञाया भावयितरि, पं० सू०। ''सयाणाभावगे सिया'' (सूत्र-२+)। सदाऽऽज्ञाभावकः स्यादनुप्रेक्षाद्वा-रेणेति। पं०सू० २ सूत्र।

आणामिय-त्रि० (आनामित)। ईषन्नामिते, उपा० २ अ०। तं०। प्रश्न०। जी०। ''आणामियचावरुइलकिण्हचिउरराइसुसंठियसंग-यआययसुजायभूमया'' (सूत्र-१४+)। (आनामितं चापरुचिर-कृष्णचिकुरराजिसुसंस्थितसंगतायतसुजातभ्रूकाः) आनामितम्-ईषन्नामितं यच्चापं-धनुस्तद्वद्विरे-शोभने कृष्णचिकुरा-जिसुसंस्थिते कुत्रापिकृष्णा भ्रूराजिसुसंस्थिते संगते आयतेदीर्घे सुजाते-सुनिष्पन्ने भ्रुवौ येषां ते तथा। तं०। प्रश्न०। ''आणामियचावरुइलतणुकसिणनिद्धभूमया'' (सूत्र-१४७+)। आनामितम्- इषन्नामितम् - आरोपितमिति भावः, यच्चापं- धनुस्तद्वत् रुचिरे-संस्थानविशेषभावतो रमणीये तनू-तनुः

श्लक्ष्णपरिमितबालपङ्क्तच्यात्मकत्वात् कृष्णे-परमकालिमोपेते स्निग्धे-स्निग्धच्छाये भ्रुवौ येषां ते आनामितचापरुचिरतनु- कृष्णस्निग्धभ्रूकाः। जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ०। (हस्तिवर्ण- कमधिकृत्य) ''आणामिय-चावललितसंवेल्लितऽग्गसोंडं'' (सूत्र-२१×)। आनामितम्- ईषन्नामितं यच्चापंधनुस्तद्वद् ललिता च-विलासवती संवेल्लिता च-वेल्लन्ती संकोचिता वा अग्रशुण्डा- शुण्डाग्रं यस्य तत्तथा। उपा० २ अ०।

आणामेत्त- न० (आज्ञामात्र) आप्तवचनमात्रे, ''आणामेत्तंमि सव्वहा जुत्तो''॥२८+॥ आज्ञामात्रे, आप्तवचन एव सर्वथा सर्वप्रकारैर्युक्तः उद्यतः। पञ्चा० १४ विव०।

आणारुइ- स्त्री० (आज्ञारुचि) आज्ञा-सूत्रव्याख्यानं; निर्युक्त्यादि, तत्र तया वा रुचिः श्रद्धानम् सा आज्ञारुचिः। स्था० ४ ठा० १ उ०। भ०। निर्युक्त्यादेस्तत्त्वश्रद्धाने, ग० १ अधि०। औ०। ''आणा- रुई तित्थगराणं आणं पसंसति''। आ० चू० ४ अ० १२४८ गाथा। रागद्वेषपरहितस्य पुंस आज्ञयैव धर्मानुष्ठानगतारुचिराज्ञा- रुचिः। तृतीये सम्यग्दशनभेदे, ध० २ अधि०। आज्ञा-सर्वज्ञ- वचनात्मिका तया रुचिर्यस्य सः। स्था० १० ठा० ३ उ०। उत्त०। आप्तोपदेशाभिलाषयुक्ते, पञ्चा०। ''आणारुइणो चरणं'' ॥१२+॥ आज्ञारुचेः- आप्तोपदशाभिलाषयुक्तस्य चरणं-चारित्रम्। पञ्चा० ११ विव०। आगमबहुमानिनि च। पञ्चा० १६ विव०। ''आणारुइणो य सम्मं ति'' ॥४१+॥ आज्ञारुचयः आगम-बहुमानिनः। पञ्चा० ११ विव०। तदात्मकेतृतीये सरागसम्यग्दर्शिनि च। स्था० १० ठा० ३ उ०। उत्त०। यो हि प्रतनुरागद्वेष-मिथ्याज्ञानतयाऽऽचार्य्याऽऽदीनामाज्ञैव कुग्रहाभावाज्जीवा-दितयेति रोचयते मानुषादिवत् स आज्ञारुचिः। स्था० १० ठा० ३ उ०।

(तल्लक्षणं यथा)-

रागो दोसो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ।
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नाम ॥२०॥

स खलु निश्चयेन आज्ञारुचिर्नाम इति प्रसिद्धो भवति, स इति कः? यस्य रागः-स्नेहो, द्वेषः-अप्रीतिः, मोहः- शेष-मोहनीयप्रकृतयः, अज्ञानं-मिथ्यात्वरूपम् एतत्सर्वं नष्टं भवति अस्य देशतोऽपगतं गम्यते; न सर्वतोऽपगतशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धः। यस्य रागो द्वेषोऽपगतः, यस्य द्वेषोऽपि देशतोऽपगतः, यस्य मोहोऽपि देशतोऽपगतः, यस्य अज्ञानं देशतोऽपगतम्, एतेषां अपगमात् आज्ञया आचार्याद्युपदेशेन रोचमानजीवादितत्त्वं तथैवेति प्रतिपद्यमानो यो भवति सः; आज्ञारुचिरित्यर्थः। अत्र माषतुषद्दष्टान्तः-मा रूस मा तुस इति स्थाने माषतुष इति। दृष्टान्तोऽस्ति ॥२०॥ उत्त० २८ अ०। प्रव०। स्था०। ''आणारुई''॥११५+॥ आज्ञा-सर्वज्ञवचनात्मिका तस्यां रुचिः-अभिलाषो यस्य स आज्ञारुचिः। सरागसम्यग्दर्शनाऽऽर्यभेदे, जिनाज्ञैव सेत्तत्त्वं; न शेषं युक्तिजातमिति योऽभिमन्यते स आज्ञारुचिः। (३७ सूत्र टी०) प्रज्ञा० १ पद।

(आज्ञारुचिमाह)-

जो हेउमयाणंतो, आणाए रोयए पवयणं तु।
एमेव णण्णहत्ति य, एसो आणारुई नाम ॥११९॥ (सूत्र ३७)

यो हेतुम्- विवक्षितार्थगमकमजानानः प्रवचनमाज्ञयैव तुशब्द एवकारार्थः, केवलया रोचते, कथमित्याह-एवमेतत्; प्रवचनोक्त-कर्मजातं, नान्यथेति एष आज्ञारुचिनर्मि। प्रज्ञा० १ पद।

आणाल- न० (आलान) आ-लीयतेऽत्र आ-ली-ल्युट्। **''आलाने ल्नोः''॥८।२।११७॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण ल्-नोर्व्यत्ययः। प्रा०। गजबन्धनस्तम्भे, करणे ल्युट्। तद्बन्धनरज्ज्वाम्, भावे ल्युट्। बन्धनमात्रे च। वाच०।

आणालक्खंभ-पुं० (आलानस्तम्भ) गजबन्धनस्तम्भे, प्रा० २ पाद। वाच०।

आणावं-त्रि०(आज्ञावत्) आप्तोपदेशवर्त्तिनि, ध० २ अधि०।

आणावट्टि(न्)-त्रि० (आज्ञावर्त्तिन्) भगवत्प्रणीतवचनानुसारिणि, आचा०।

आणाववहार- पुं० (आज्ञाव्यवहार)। व्यवहारभेदे, ध० २ अधि०। व्य०। पञ्चा०। (वक्तव्यता 'आणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता।)

आणाविजय-पुं० (आज्ञाविचय) (ज) य आ-अभिविधिना ज्ञायन्तेऽर्था यया सा-प्रवचनं; सा विचीयते- निर्णीयते; पर्य्या- लोच्यते वा यस्मिंस्तदाज्ञाविचयं- धर्म्मध्यानमिति, प्राकृतत्वेन- विजयमिति। स्था० ४ ठा० १ उ०। आज्ञा-जिनप्रवचनं तस्या विचयो-निर्णयो यत्र तदाज्ञाविचयम्, प्राकृतत्वात्- आणाविज- यम्। औ०। ग०। आज्ञा वा विजीयतेऽधिगमद्वारेण परिचिती- क्रियते यस्मिन्नित्याज्ञाविजयम्। स्था० ४ ठा० १ उ०। आज्ञागु- णानुचिन्तनात्मकेधर्मध्यानभेदे, औ०। ग०। भ० स च आज्ञाया अनन्तत्वपूर्वापराविरोधित्वादिस्वरूपे चमत्कारपूर्वकचित्तवि- श्रामः आज्ञाविचयः। अष्ट० ६ अष्ट०। अतीन्द्रियत्वाद्धेतूदाह- रणादिसद्भावेऽपि बुद्धयतिशयशक्तिविकलैः परलोकबन्धमोक्षधर्माधर्मादिभावेष्वत्यन्तदुःखाम्बोधेष्वाप्तप्रामाण्यात्तद्विषयं तद्वचनं तथैवेत्याज्ञाविचयम्। सम्म० ३ काण्ड ६३ गाथाटी०। धर्म्यमपि ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्यभावनाभिः कृताभ्यासस्य नयादिभिरति-गहनं न बुध्यते तुच्छमतिना परं सर्वज्ञमतं सत्यमेवेति चिन्तन-माज्ञाविचयः। ध० ३ अधि०।

(एतत्स्वरूपम्)-

(१२८४ गाथा) तत्थ आणाविजये आणं विवेएति। जधा पंचत्थिकाए छज्जीवनिकाए अट्ठ पवयणमाता, अण्णे य सुत्त- निबद्धे भावे, अबद्धे य पेच्छ, कहं आणाए परियाणिज्जंति? एवं चिंतेति, भासति या तधा पुरिसादिकारणं पडुच्च किच्छासज्जेसु हेतुविसया तातेसु वि वत्थुसु वि सव्वण्णादिट्ठेसु एवमेव सेतंति चिंततो भासंतो य आणा विधेयेति। आ० चू० ४ अ०।

आणाविराहणा- स्त्री० (आज्ञाविराधना) आप्तोपदेशाननुपालने, पञ्चा० १६ विव० (आप्तोपदेशाऽननुपालने किं भवतीति 'आणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्)

आणाविराहणाऽणुग-त्रि०(आज्ञाविराधनाऽनुग)। आप्तोपदेशा-ऽननुपालनानुसारिणि, पञ्चा०।

तथा च अशुभाऽध्यवसानमधिकृत्य-

आणाविराहणाणुग-मेयं पि य होति दट्ठव्वं ॥२८॥

इदं पुनरशुभाध्यवसानम्-आज्ञाविराधनाम्- आप्तोपदेशाननुपालनाम्-अनुगच्छति- अनुसरतीत्याज्ञाविराधनानुगं भवति स्याद् द्रष्टव्यम्- ज्ञेयम्। पञ्चा० १६ विव०।

आणाविवरीय- त्रि० (आज्ञाविपरीत) आप्तवचनविपर्य्यस्ते, पञ्चा०। ''आणाविवरीयमेव जं किंचि''॥६+॥ आज्ञाविपरीतमेव-आप्तवचनविपर्य्यस्तमपि। पञ्चा० ६ विव०।

आणावेतव्य- त्रि० (आज्ञापयितव्य) आदेशनीये, आचा०।

आणासार-त्रि० (आज्ञासार) आप्तवचनप्रधाने, ''आणासारं मुणेयव्वं'' ॥८+॥ आज्ञासारम्- आप्तवचनप्रधानम्। पञ्चा० ११ विव०।

आणासिद्ध- त्रि० (आज्ञासिद्ध) आप्तवचनसिद्धे, सूत्र०। ''पुराण मानवो धर्मः, साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥१॥ इति परतीर्थिकाः। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

आणिज्जंत- त्रि० (आनीयमान) प्राप्यमाणे, ''णिज्जंताऽऽणिज्जंतो'' ॥९४२॥ 'आणिज्जंतो' त्ति-गृहपतिः गृहादानीयमानो वा। बृ० ३ उ०।

आणि (णी) य- त्रि० (आनीत) आ-नी-कर्मणि क्त। **''पानीयादिष्वित् ॥८।१।१०१॥''** इति हैम प्राकृतसूत्रेण- इत्त्वम्। प्रा०। देशाद्देशान्तरं नीते, वाच०। आहृते, प्रव० ६ द्वार।

आणील-पुं० (आनील) ईषदर्थे, आङ्। प्रा०स०। ईषन्नीलवर्णे, सामस्त्येन नीलवर्णे च। ''आणीलं च वत्थं रयावेहि'' ॥९॥ वस्त्रम्-अम्बरं परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय आनीलम्- ईषन्नीलं सामस्त्येन नीलं भवति। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। तद्वति, त्रि०। नीलघोटके, पुं०। हेम०। तज्जातिस्त्रियाम्, स्त्री०। ङीप्। वाच०।

आणुकंपिय-त्रि० (आनुकम्पिक) अनुकम्पया चरतीत्यानुकम्पिकः। भ० १५ श०। कृपावति, भ० ३ श० १ उ०। प्रति०।

आणुगामिय- त्रि० (आनुगामिक) गच्छन्तं पुरुषम् आसमन्तादनुगच्छत्येवंशीलः आनुगामि, आनुगाम्येवानुगामिकं स्वार्थे कप्रत्ययः। अथवा-अनुगमः प्रयोजनं यस्य तदानुगामिकम्। अनुशतिकादिपाठादुभयपदवृद्धिः। आ०म० १ अ०। नं०। स्था०। अनुगन्तरि, (अनुगमनशीले)। ध० ३ अधि०। ''आणु-गामियं ति वेमि'' (सूत्र-२१७+)। आनुगामिकं तदार्जित-पुण्यानुगमनाद्। आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ०। सहगन्तरि, सूत्र०। ''से एगईओ आणुगामियभावं पडिसंधाय'' (सूत्र-३१×)। आनुगामुकभावं प्रतिसंधाय-सहगन्तृभावेनानु-कूल्यं प्रदिपद्य। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। अवधिज्ञानविशेषे, देशान्तरगतमपि ज्ञानिनमनुगच्छति लोचनवत्तदवधिज्ञानमा-नुगामि। कर्म्म० १ कर्म०।

आणुगामिओऽणुगच्छइ,
गच्छंतं लोअणं जहा पुरिसं ॥७१४+॥विशे०।

नं० स्था०। (एतद्व्याख्याम् 'ओहि' शब्दे तृतीयभागे १४१ पृष्ठे करिष्यते।)

(आनुगामिकानानुगामिकमिश्रावधिज्ञानस्वरूपम्)-

ऑणुगामिओ य ओही, नेरइयाणं तहेव देवाणं।
अणुगामि अणाणुगामी, मीसो य मणुस्सतेरिच्छे ॥७१४॥

अनुगमनशील आनुगामुकः। (सर्वोऽप्यवधिज्ञानविषयः 'ओहि' शब्दे तृतीयभागे १४१ पृष्ठे दर्शयिष्यते) (विशे०।) त्रिविधोऽप्यवधिर्मनुष्येषु तिर्यक्षु च भवतीति निर्युक्तिगाथार्थः। विशे०। तत्रेहान्तगतो न ग्राह्यो, देवनारकाणामभ्यन्तरावधित्वात्, किन्तु-मध्यगतः, सोऽप्यन्त (न्त्य) व्याख्यानविशिष्टो देव-नारकाणां स्वावधिद्योतितक्षेत्रमध्यवर्त्तित्वात्, तुशब्द एवकारार्थः, सचअवधारणे, आनुगामिक एव यथोक्तरूपो नान्य इति, केषामित्याह-नरान् कायन्ति स्वयोग्यनाह्वयन्तीति नरकाः तेषु भवा नारकास्तेषां तथा दीव्यन्ति-यथेच्छया क्रीडन्तीति देवाः तेषां मनुष्याश्च तिर्यक्च मनुष्यतिर्यक् तस्मिन्मनुष्यतिरश्चि जातावेकवचनं, ततोऽयमर्थः-मनुष्येषु तिर्यक्षु आनुगामिक उक्तशब्दार्थः, अनानुगामिकः- अवस्थितः शृङ्खलादि-नियन्त्रितप्रदीप इव यो गच्छन्तं पुरुषं नानुगच्छति, आह च भाष्यकृत्- ''अणुगामिकोऽणुगच्छइ, गच्छंतं लोयणं जहा पुरिसं। इयरो उ नाणुगच्छइ, ठियप्पदीवो व्व गच्छतं'' (विशे० ७१४)। यस्य तू पन्नस्यावधेर्देशो व्रजति स्वामिना सह अपरश्च देशः प्रदेशान्तरचलितपुरुषस्योपहतैकलोचनवदन्यत्र न व्रजति स मिश्र उच्यते, उक्तं च- ''उभयसहावो मीसो, देसो जस्सा-ऽणुजाइ नो अन्नो। कासइ गयस्स कत्थइ, एगं उवहम्मइ जहच्छिं'' (विशे० ७१५) एष च भवति गाथासंक्षेपार्थः। देव-नारकाणां सर्वात्मदेशजाभ्यन्तरावधिरूपमध्यगत आनुगा- मिकोऽवधिः, तिर्यङ्मनुष्याणां सर्वप्रभेदः-आनुगामिकः, अनानुगामिको, मिश्रश्चेति। आ०म० १ अ०।

एतस्य भेदाः-

से किं तं आणुगामियं ओहिनाणं ? आणुगामियं ओहिनाणं दुविहं पण्णत्तं; तं जहा-अंतगयं; मज्जगयं च। (सूत्र-१०+)

'से किं तमि' त्यादि, अथ किं तदानुगामिकमधिज्ञानम्? आनुगामिकव-धिज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-अन्तगतं च, मध्यगतं च। नं०। (अन्तगताऽवधिज्ञान स्वरूपम् 'अन्तगय' शब्दे प्रथमभागे गतम्)। (मध्यगताऽवधिज्ञानस्वरूपम् 'मज्जगय' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते।)

(अन्तगत- मध्यगतयोर्विशेषः)-

अंतगयस्स मज्जगयस्स य को पइविसेसो? पुरओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पुरओ चेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा जोयणाइं जाणाइ पासइ, मग्गओ अंतगएणं ओहिनाणेणं मग्गओ चेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा जोयणाइंणइ पासइ, पासओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पासओ चेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि

वा जोयणाइं जाणइ पासइ, मज्जगएणं ओहिनाणेणं सव्वओ समंता संखिजाणि वा असंखिज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ। (सूत्र-१०+)

अन्तगतस्य मध्यगतस्य च परस्परं कः प्रतिविशेषः? प्रतिनियतो विशेषः सूरिराह- पुरतोऽन्तगतेनावधिज्ञानेन पुरतएवाग्रत एव संख्येयानि-एकादीनि; शीर्षग्रहेलिकापर्यन्तान्यस- ङ्ख्येयानि वा योजनानि; एतावत्सु योजनेष्वगाढं; द्रव्यमित्यर्थः, जानाति-पश्यति ज्ञानं विशेषग्रहणात्मकं, दर्शनं सामान्य-ग्रहणात्मकम्। तदेवं पुरतोऽन्तगतस्य शेषावधिज्ञानेभ्यो भेदः। एवं शेषाणामपि परस्परं भावनीयः। 'नवरं सव्वओ समंता' इति-सर्वतः सर्वासु दिग्विदिक्षु समन्तात्सर्वैरेवात्मप्र- देशैः सर्व्वैर्वा विशुद्धस्पर्द्धकैः, उक्तं च चूर्णौ- ''सव्वउ त्ति सव्वासु दिसि विदिसासु समंता। इति सव्वायप्पएसेसु सव्वेसु वा विसुद्धफड्डगेसु'' इति। अत्र 'सव्वायप्पएसेसु 'इत्यादौ तृतीयार्थे सप्तमी भवति च तृतीयार्थे सप्तमी, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-''व्यत्ययोऽप्यासा'' मित्यत्र सूत्रे-'तृतीयार्थे सप्तमी' यथा-''तिसु तेसु अलंकिया पुहवी'' इति। अथवा-समन्ता इत्यत्र स अवधिज्ञानी परामृश्यते, मन्ता इति ज्ञाता, शेषं तथैव। नं०। साध्यमसाध्यमग्न्यादिकमनुगच्छति साध्या- भावेन भवति यो धूमादिहेतुः सोऽनुगामी ततो जातमानुगामि- कम् अनुमानं तद्रपो व्यवसायोऽपि आनुगामिक एव। अनुमाने, तदात्मक व्यवसायविशेषे च। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

आणुगामियत्ता-स्त्री० (आनुगामिकता) परम्पराशुभानुबन्ध, ''आणुगामियत्ताए भविस्सइ'' (सूत्र-३८०×) आनुगामिकत्वायः शुभानुबन्धायेत्यर्थः। भ० ९ श० ३३ उ०। ''आणुगामियत्ताए अब्भुट्ठेत्ता भवति'' ॥१६+॥ आनुगामिकतायै- परम्पराशुभा-नुबन्धायेति। दशा० ४ अ०। स्था०। भवपरम्परासु, सानुबन्धसुखे च। ''आणुगामियत्ताए भविस्सइ॥११+॥'' आनुगामिकत्वाय- भवपरम्परासु सानुबन्धसुखाय भविष्यति। दशा० १० अ०। नि०।

आणुधम्मिय- त्रि० (आनुधार्मिक) अन्यैरपि तद्धार्मिकैस्समा- चीर्ण, आचा०। भगवतो महावीरस्य विहारसमये इन्द्रप्रक्षिप्त-वस्त्रधारण-मधिकृत्य-''एवं खु आणुधम्मियं तस्स'' (सूत्र-२+)। एतद्वस्त्रावधारणं तस्य भगवतोऽनुपश्चाद्धार्मिकमानुधार्मिकम- वेत्यपरैरपि तीर्थकृद्भिः समाचीर्णमित्यर्थः। आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ०।

आणुपुव्व-न० (आणुपूर्व्य) पूर्वस्य पश्चादनुपूर्वं तस्य भावः इत्यर्थे। ''गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः'' (पाणि० ५।१।१२९) कर्मणि चेति ष्यञ्। उत्त० १ अ०। अनु०। क्रमे, औ०। परिपाट्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। विशिष्टरचनायाम्, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

आणुपुव्वट्ठिय- त्रि० (आनुपूर्व्यस्थित) विशिष्टरचनया स्थिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

आणुपुव्व-(व्वि) सुजाय-त्रि० (आनुपूर्व्य) (र्व्वी) सुजात। परि-पाट्या सुष्ठुजाते,। तथा च वृक्षवर्णनमुपक्रम्य- ''आणु पुव्वसुजायरुइल-वट्टभावपरिणया'' (सूत्र-२ टी०) आनुपूर्व्येण- मूलादिपरिपाट्या सुष्ठु जाता रुचिराः वृत्तभावं च परिणता ये ते तथा। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आनुपूर्व्यामूलादिपरिपाट्या जन्मदोषरहितं यथा भवति एवं जात आनुपूर्वी- सुजातः। रा०। जं०। तथा च ह्रदवर्णनमुपक्रम्य- ''आणु, पुव्व- सुजायवप्पगंभीरसीयजले'' (सूत्र-५१+) आनुपूर्व्येणपरिपाट्या सुष्ठु जाता वप्राः- तटा यत्र स तथा गम्भीरम्- अगाधं शीतलं जलं यत्र स तथा ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। ज्ञा० १ श्रु० ४ अ०। ''आणुपुव्वसुसंहयंगुलीए'' (सूत्र-१०+) आनुपूर्व्येणक्रमेण वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यम्, सुसंहता-सुष्ठु अविरला अङ्गुल्यः पादाग्रावयवा यस्य स तथा। औ०।

आणुपुव्विग-त्रि० (आनुपूर्वीग) आनुपूर्वी-क्रमस्तं गच्छतीत्यानु- पूर्वीगः। क्रमवति, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। ''आणुपुव्विगमा एसो पव्वज्जासुत्तअत्थकरणं च'' ॥२६८+॥ आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

आणुपुव्विगंथिय- त्रि० (आनुपूर्वीग्रन्थित)। परिपाट्या गुम्फिते, भ०। अन्ययूथिकानधिकृत्य-''आणुपुव्विगंथिया'' (सूत्र-१८३×) आनुपूर्व्या-परिपाट्या ग्रन्थिता-गुम्फिता आद्युचितग्रन्थीनामादौ विधानादन्तो-चितानां च क्रमेणान्त एव करणाद्। भ० ५ श० ३ उ०।

आणुपुव्विणाम- न० (आनुपूर्वीनामन्) वृषभनासिकान्यस्तर-ज्जुसंस्थानीयाः कर्मसंहत्या विशिष्टं स्थानं प्राप्यते असौ यथा चोर्द्धोत्तमाङ्गाधरश्वरणादिरूपो नियमतः शरीरविशेषो भवति सा अनुपूर्वीति। आव० १ अ०। कूर्परलाङ्गलगोमूत्रिकाकाररूपेण यथाक्रमं द्वित्रिचतुःसमयप्रमाणेन विग्रहेण भवान्तरोत्पत्ति-स्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रोणिनियता गमनपरिपाटी आनुपूर्वी, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि, कारणे कार्योपचारादानुपूर्वी। पंचा० ७ विव०। कूर्परलाङ्गलगोमूत्रिकाररूपेण यथाक्रमं द्वित्रिचतुःसमयप्रमाणेन विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यअनुश्रेणिगमनमानुपूर्वी, तन्निबन्धनं नाम आनुपूर्वी-नाम। कर्म० ६ कर्म०। नामकर्मभेदे, यदुदयादन्तराले गतो जीवो याति तदानुपूर्वीनाम। स० ४२ सम०। तच्चतुर्विधम्- नारकानुपूर्वी- नाम १, तिर्यगानुपूर्वीनाम २, मनुष्यानुपूर्वीनाम ३, देवानुपूर्वीनाम ४, । कर्म० ६ कर्म०। ''आणुपुव्वी चउभेया''॥१२८३×॥ आनुपूर्वी चतुर्द्धा-नारक-तिर्य्यग्मनुष्यदेवानु-पूर्वीभेदाद्। प्रव० २१६ द्वार। कर्म०। चतुर्द्धा गतिरिवानुपूर्वी प्रागुक्तरूपा भवति, कोऽर्थः- गत्याभिधानव्यपदेश्यमानुपूर्वीनाम, ततो निरयानुपूर्वीति-र्यगानुपूर्व्वीमनुष्यानुपूर्वीदेवानुपूर्व्वीभेदात्-आनुपूर्वीनाम चतुर्द्धेति तात्पर्यम्। तत्र नरकगत्या नाम कर्मप्रकृत्या सहचरितानुपूर्वी नरकगत्यानुपूर्वी तत्समकालं चास्या वेद्यमानत्वात्सहचरित्वम्। एवं तिर्यग्मनुष्यदेवानुपूर्व्योऽपि वाच्याः। कर्म० १ कर्म०। ननु आनुपूर्व्या उदयो नरकादिषु किमृजुगत्या गच्छत आहो-स्विद्वक्रगत्येत्याशङ्क्याऽऽह-'पुव्वीउदओ वक्के त्ति-पूर्व्या आनुपूर्व्या वृषभस्य नासिकारज्जुकल्पाया उदयो-विपाको वक्र एव भवति। अयमर्थः- नरके द्विसमयादिवक्रेण

गच्छतो जीवस्य नरकानुपूर्व्या उदयः, तिर्यक्षु-द्विसमयादिवक्रेण जीवस्य गच्छतस्तिर्यगानुपूर्व्या उदयः, मनुष्येषु द्विसम- यादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य मनुष्यानुपूर्व्या उदयः, देवेषु द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य देवानुपूर्व्या उदयः। उक्तं च बृहत्कर्मविपाके–

''नरयाउवस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स।
नरयाणुपुव्वियाए, तहिँ उदओ अन्नहिं नऽत्थि ॥१॥

एवं तिरिमणुदेवे, तेसु वि वक्केण गच्छमाणस्स।
तेसिमाणुपुव्वियाणं, तहिँ उदओ अन्नहिं नत्थि ॥२॥

कर्म० १ कर्म० ४२ गाथाटी०।

आणुपुव्विविहारि(न्)-पुं०(आनुपूर्वीविहारिन्) प्रव्रज्यदिक्रमण विहारिणि, आचा०।

(आह निर्युक्तिकारः)-

**आणुपुव्विविहारीणं, भत्तपरिण्णा य इंगिनीमरणं।
पायवगमणं च तहा, अहियारो होइ अट्ठमए ॥२५७॥**

अष्टमके तु अयमर्थाधिकारः, तद्यथा- आनुपूर्वीविहारिणाम्-प्रतिपालितदीर्घसंयमानाम्; शास्त्रार्थग्रहणप्रतिपादनोत्तर-कालमवसीदत्संयमाऽध्ययनाऽध्यापनक्रियाणां निष्पादित- शिष्याणामुत्सर्गतो द्वादशसंवत्सरसंलेखनाक्रमसंलिखितदेहानां भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणं, पादपोपगमनं वा यथा भवति तथोच्यते। आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

तत्रैवानुपूर्वीविहारिणां मरणमधिकृत्य सूत्रम्-

ऑणुपुव्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज ॥१+॥

आनुपूर्वी क्रमः,-तद्यथा- प्रव्रज्याशिक्षासूत्रार्थग्रहणपरिनिष्ठितस्यैककालिकविहारित्वमित्यादि, यदि वा-आनुपूर्वी-संलेखनाक्रमश्चत्वारि विकृष्टानीत्यादि, तया आनुपूर्व्या यान्यभिहितानि। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।

आणुपुव्वियसंखाए, कम्मणाओ तिउट्टइ ॥२॥

आनुपूर्व्या- प्रव्रज्यादिक्रमेण संयममनुपाल्य मम जीवतः कश्चिद् गुणो नाऽस्तीत्यतः शरीरमोक्षावसरः प्राप्तस्तथा कस्मै मरणाय समर्थोऽहमित्येवं संख्याय-ज्ञात्वा आरम्भणमारम्भः- शरीरधारणायाऽन्नपानाद्यन्वेषणात्मकस्तस्मात् त्रुट्यति; अपग- च्छतीत्यर्थः सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे चतुर्थे, पाठान्तरं वा- ''कम्मुणाओ तिउट्टइ'' कर्म्माष्टभेदं तस्मात् त्रुटिष्यतीति त्रुट्यति, ''वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा'' (पाणि० ३।३।१३१। इत्यनेन भविष्यत्कालस्य वर्त्तमानता। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।

आणुपुव्वी- स्त्री० (आनुपूर्वी) पूर्वस्य पश्चादनुपूर्वं तस्य भावः इत्यर्थे ''गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः'' (पाणि०।५।१।१२९।) कर्मणि चेति ष्यञ् तस्य च षित्करणसामर्थ्यात् स्त्रीत्वे ''षिद्गौरादिभ्यश्च'' (पाणि०।४।१।४१) इत्रत ङीषि आनुपूर्वी। क्रमे, परिपाट्याम्, उत्त० १ अ०। आचा०। रा०। विशे०। पं०सं०। जं०। आनुपूर्वी, अनुक्रमः, अनुपरिपाटीति पर्य्यायाः; त्र्यादिवस्तुसंघा इत्यर्थः। अनु०। ''आणुपुव्वं पाणेहिं संजए'' (सूत्र-१३×)। आनुपूर्व्याश्रमणधर्मप्रतिपत्त्यादिलक्षणया प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यक् यतः संयतः। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। ''आणु-पुव्विधसंखाए'' (सूत्र-२+) आनुपुर्व्या- प्रव्रज्ययादिक्रमेण। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। विशिष्टरचनायाम्, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। तदात्मक शास्त्रीयोपक्रमभेदे, प्रकारान्तरेण शास्त्रभावो-पक्रमभेदे च। अनु०।

विषयसूचनार्थमधिकाराङ्काः-

(१) आनुपूर्व्याः सामान्यतो भेदाः।
(२) आनुपूर्व्याः द्रव्यादिना भेदाः।
(३) नैगमव्यवहारसम्मताया द्रव्यानुपूर्व्या निरूपणम्।
(४) प्रसङ्गप्राप्तस्यानुगमस्य निरूपणम्।
(५) आनुपूर्व्याः संग्रहनयमतेन निरूपणम्।
(६) प्रागुद्दिष्टाया औपनिधिक्या द्रव्याऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।
(७) प्रागुद्दिष्टक्षेत्राऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।
(८) क्रमप्राप्तकालाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।
(९) उत्कीर्त्तनाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।
(१०) गणानाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।
(११) प्रागुद्दिष्टसंस्थानाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।
(१२) भावाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम्।

(१) आनुपूर्वीस्वरूपनिरूपणगर्भं भेदमाह-

से किं तं आणुपुव्वी ? आणुपुव्वी दसविहा पण्णत्ता, तं जहा-नामाऽऽणुपुव्वी १, ठवणाऽऽणुपुव्वी २, दव्वा- ऽऽणुपुव्वी ३, खेत्ताऽऽणुपुव्वी ४, कालाणुपुव्वी ५, उक्कित्तणाऽऽणुपुव्वी ६, गणणाऽऽणुपुव्वी ७, संठाणा- ऽऽणुपुव्वी ८, सामाआरियाणुपुव्वी ९, भावाऽऽणुपुव्वी १० (सूत्र-७१) नामट्ठवणाओ गयाओ। (सूत्र-७२+)

'से किं तमि' त्यादि, अथ किं तदानुपूर्वी वस्त्विति प्रश्नार्थः। अत्र निर्वचनम्- 'आणुपुव्वी दसविहे 'त्यादि, इह हि पूर्वं, प्रथमम्, आदिः, इति पर्यायाः। पूर्वस्य अनु-पश्चादनुपूर्वं, ''तस्य भाव'' इति यणप्रत्यये स्त्रियामीकारे चानुपूर्वी, अनुक्रमो, अनुपरिपाटीति पर्यायाः; त्र्यादिवस्तुसंहतिरित्यर्थः। इयामानुपूर्वी दशविधा- दशप्रकारा प्रज्ञप्ता, तद्यथानामाऽऽनुपूर्वी, स्थापनाऽऽनुपूर्वी, द्रव्याऽऽनुपूर्वी, क्षेत्राऽऽनुपूर्वी, कालाऽऽनुपूर्वी, उत्कीर्तना-ऽऽनुपूर्वी, गणनाऽऽनुपूर्वी, संस्थानाऽऽनुपूर्वी, सामाचार्या-नुपूर्वी, भावानुपूर्वीति ॥७१॥ अत्र नामस्थापनानुपूर्वीसूत्रे नामस्थापनावश्यकसूत्रव्याख्यानुसारेणव्याख्येये ॥७२×॥

(२) द्रव्यादिना आनुपूर्वीभेदमाह-

से किं तं दव्वाणुपुव्वी ? दव्वाणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-आगमतो अ, नो आगमतो(ओ) अ। से किं तं आगमाओ दव्वाणुपुव्वी ? २ जस्स णं आणुपुव्वि त्ति पदं सिक्खि (अं) तं ठितं जितं मितं परिजितं ०जाव नो अणुप्पेहाए कम्हा अणुवओगो दव्वम्मि तिकट्ठ णेगमस्स णं एगो अणुवउत्तो आगमतो एगा दव्वाणुपुव्वी ०जाव कम्हा जति जाणए अणुवउत्ते न भवति। सेत्तं आगमओ दव्वाणुपुव्वी॥ से किं तं नोआगमतो दव्वाणुपुव्वी ? नो-

आगमतो दव्वाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता ? तं जहा- जाणगसरीरदव्वाणुपुव्वी, भवियसरीरदव्वाणुपुव्वी, जाणगसरीरभविअसरीरव्वतिरित्ता दव्वाणुपुव्वी। से किं तं जाणगसरीरदव्वाणुपुव्वी ? जाणगसरीरदव्वाणुपुव्वी पदत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगतचुतचावितचत्तदेहं, सेसं जहा दव्वाऽऽवस्सए तहा भाणिअव्वं ०जाव सेतं जाणगसरीरदव्वाणुपुव्वी। से किं तं भविअसरीर-दव्वाणुपुव्वी ? भविअसरीरदव्वाणुपुव्वी जे जीवे जोणीजम्मणनिक्खंते, सेसं जहा दव्वावस्सए ०जाव से(तं) त्तं भविअसरीरदव्वाणुपुव्वी । से किं तं जाणयसरीरभविअसरीरवतिरित्ता दव्वाणुपुव्वी ? जाणयसरीरभविअसरीरवतिरित्ता दव्वाणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता ? तं जहा- उवणिहिआ य, अणोवणिहिआ य। तत्थ णं जा सा उवणिहिआ सा ठप्पा, (सूत्र-७२+)

द्रव्यानुपूर्वीसूत्रमपि द्रव्यावश्यकवदेव भावनीयम् यावत्- ''जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुपुव्वी दुविहे'' त्यादि, तत्र निधानं, निधिः, निक्षेपो, न्यासा, विरचना, प्रस्तारः, स्थापना, इति पर्यायाः। तथा च-लोके-निधेहीदं निहितमिद- मित्यत्र निपूर्वस्य धागो निक्षेपार्थः प्रतीत एव, उप-सामीप्येन निधिरुपनिधिः एकस्मिन्विवक्षितेऽर्थे पूर्वं व्यवस्थितापिते तत्समीप एवापरापरस्य वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण यन्निक्षेपणं स; उपनिधिरित्यर्थः। उपनिधिः प्रयोजनं यस्या आनुपूर्व्याः सा औपनिधिकीति, प्रयोजनार्थे इकण् प्रत्ययः। सामायिकाध्ययनादिवन्तूनां वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिप्रस्तारप्रयोजनानुपूर्वी औपनिधिकीन्युच्यते इति तात्पर्यम्। अनुपनिधिः वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेणाविरचनं प्रयोजनमस्या इत्यनौपनिधिकी; यस्यां वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण विरचना न क्रियते सा त्र्यादिपरमाणु निष्पन्नस्कन्धविषया आनुपूर्वीति अनौपनिधिकीत्युच्यते इति भावः। आह नन्वानुपूर्वी परिपाटिरुच्यते भवता च त्र्यणुकादिकोऽनन्ताणुकावसान एकैकस्कन्धः अनौपनिधिक्यानुपूर्वी-त्वेनाभिप्रेतो न च स्कन्ध-गतत्र्यादिपरमाणूनां नियता काचित्परिपा-टिरस्ति विशिष्टैकपरिणामपरिणतत्वात्तेषां तत्कथमिहानुपूर्वीत्वं, सत्यम्, किंतु-त्र्यादिपरमाणूनामादिमध्यावसानभावेन नियतपरिपाट्या व्यवस्थापनयोग्यताऽस्तीति योग्यतामाश्रित्यात्राप्यानुपूर्वीत्वं न विरुध्यते। 'तत्थ णमि' त्यादि, तत्र या सा वौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी सा स्थाप्या सा न्यासिकी तिष्ठतु तावदल्प-तरवक्तव्यत्वन तस्या उपरि वक्ष्यमाणत्वादिति भावः।

अनोपनिधिकी तु पश्चान्निर्दिष्टाऽपि बहुतरवक्तव्यत्येन प्रथमं व्याख्यायते। बहुतरवक्तव्यत्वे हि वस्तुनि प्रथममुच्यमानेऽल्पतरवक्तव्यवस्तुगतः कश्चिदर्थस्तन्मध्येऽप्युक्त एव लभ्यते इति गुणाधिक्यं पर्यालोच्य सूत्रकारोऽनौपनिधिक्याः स्वरूपं विवरीषुराह-

तत्थ णं जा सा अणोवनिहिआ सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-नेगमववहाराणं, संगहस्स य ॥ (सूत्र-७२+)

'तत्थ णमि' त्यादि, तत्र याऽसावनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी सा नयवक्तव्याश्रयणात्- द्रव्यास्तिकनयमतेन, द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा- नैगमव्यवहारयोः, संग्रहस्य च। नैगमव्यवहारसंमता संग्रहसंमता, चेत्यर्थः। अयमत्र भावार्थः इहौघतः सप्त नया भवन्ति नैगमादयः, उक्तं च-नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र- शब्द-समभिरूढै-वंभूता नया एते च द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिक- लक्षणनद्वयेऽन्तर्भाव्यन्ते द्रव्यमेव परमार्थतोऽस्मिन् पर्याया इत्यभ्युपगमपरः द्रव्यास्तिकः, पर्याया एव वस्तुतः सन्ति न द्रव्यमित्यभ्युपगमपरः पर्यायास्तिकः, तत्राद्यास्त्रयो द्रव्यास्तिकाः, शेषास्तु पर्यायास्तिकाः। पुनर्द्रव्यास्तिकोऽपि सामान्यतो द्विविधः-विशुद्धः, अविशुद्धश्च। तत्र नैगमव्यवहाररूपः अविशुद्धः, संग्रहरूपस्तु विशुद्धः। कथं यतो नैगमव्यव- हारावनन्तपरमाण्वनन्तद्व्यणुकाद्यनेकव्यक्त्यात्मकं कृष्णाद्यने- कगुणाधारं त्रिकालविषयं वा विशुद्धं द्रव्यमिच्छतः संग्रहश्च परमाण्वादिकं- परमाण्वादिसाम्यदिकं तिरोभूतगुणकलापम- विद्यमानपूर्वापरविभागं नित्यं सामान्यमेव द्रव्यमिच्छति, एतच्च किलानेकताद्यभ्युपगमकलङ्केनाकलङ्कित-त्वाच्छुद्धम्, ततः शुद्ध- द्रव्याभ्युपगमपरत्वादयमेव शुद्धः। अत्र च द्रयानुपूर्व्येव विचार- यितुं प्रक्रान्ता अतः शुद्धाऽशुद्धस्वरूपं द्रव्यास्तिकमतेनैवासौ दर्शयिष्यते न पर्यायास्तिकमतेन पर्यायविचारस्यानुपक्रान्त- त्वात्, इत्यलं विस्तरेण।

(३) तत्र नैगमव्यवहारसम्मतामिमां दर्शयितुमाह-

से किं तं नेगमववहाराणं अणोवनिहिआ दव्वाऽऽणुपुव्वी ? नेगमववहाराणं अणोवनिहिआ दव्वाऽऽणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-अट्ठपयपरूवणया १, भंग-समुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोआरे ४, अणुगमे ५ (सूत्र-७३)

अत्र निर्वचनम्। 'नैगमववहाराणं अणोवणिहिया दव्वाणु-पुव्वी पंचविहे' त्यादि, अर्थपदप्ररूपणतादिभिः पञ्चभिः प्रकारैर्विचार्यमाणत्वात्पञ्चविधा-पञ्चप्रकारा प्रज्ञप्ता, तद्यथा- अर्थपदप्ररूपणता, भङ्गसमुत्कीर्त्तनता, भङ्गोपदर्शनता, समवतारः, अनुगमः, एभिः पञ्चभिः प्रकारैर्नैगमव्यवहारनयम तेन अनौपनिधिक्या द्रव्यानुपूर्व्याः स्वरूपं निरूप्यते इतीह तात्पर्यम्। तत्र-अर्यते इति अर्थः त्र्यणुकस्कन्धादिः स्तद्युक्तं तद्विषयं वा पदमानुपूर्व्यादिकं तस्य प्ररूपणं-कथनं तद्भावोऽर्थपदप्ररूपणता इयमानुपूर्व्यादिका संज्ञा अयं च तद-भिधेयस्त्र्यणुकादरर्थः। संज्ञीत्येवं संज्ञासंज्ञिसंबन्धकथनमात्रं प्रथमं कर्तव्यमिति भावार्थः। नेषामेवानुपूर्व्यादिपदानां समुदितानां वक्ष्यमाणन्यायेन संभविनो विकल्पाः- भङ्गा उच्यन्ते- विभज्यन्ते; विकल्पयन्ते इति कृत्वा; तेषां समुत्कीर्त्तनं- समुच्चारणं भङ्गसमुत्कीर्त्तनं, तद्भावो भङ्गसमुत्कीर्त्तनता, आनुपूर्व्यादिपदनिष्पन्नानां प्रत्येकभङ्गानां; द्व्यादिसंयोगभङ्गानां च समुच्चारमित्यर्थः, तेषामेव सूत्रमात्रतया अनन्तरसमुत्कीर्त्तितभङ्गानां प्रत्येकं स्वाभिधेयेन त्र्यणुकाद्यर्थेन सहोपदर्शनं- भङ्गोपदर्शनं तद्भावो भङ्गोपद-

र्शनता। भङ्गसमुत्कीर्त्तने भङ्गकविषयं सूत्रमेव केवलमुच्चार-णीयम्, भङ्गोपदर्शने तु तदेव स्वविषयभूतेनार्थेन सहोच्चार-यितव्यमिति विशेषः। तथा तेषामेवानुपूर्व्यादिद्रव्याणां स्वस्थान परस्थानान्तरभावचिन्तनप्रकारः समवतारः। तथा तेषामेव आनुपूर्व्यादिद्रव्याणां सत्पदप्ररूपणादिभिरनुयोगद्वारैरनुगमनं- विचारणमनुगमः।

तत्राऽऽद्यभेदं विवरीषुराह-

से किं तं नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया ? नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया तिपएसिए आणुपुव्वी, चउप्पएसिए आणुपुव्वी ०जाव दसपएसिए आणुपुव्वी, संखेज्जपएसिए आणुपुव्वी, असंखिज्जपएसिए आणुपुव्वी, अणंतपएसिए आणुपुव्वी, परमाणुपोग्गले अणाणुपुव्वी, दुपएसिए अवत्तव्वए, तिपएसिआ आणुपुव्वीओ, ०जाव अणंतपएसिआओ आणुपुव्वीओ, परमाणुपोग्गला अणा-णुपुव्वीओ, दुपएसिआइं अवत्तव्वयाइं सेत्तं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया। (सूत्र-७४)

अथ केयं नैगम- व्यवहारयोः सम्मता अर्थपदप्ररूपणता ? इति। अत्रोत्तरमाह। 'नेगमववहाराणमि' त्यादि, तत्र त्रयः प्रदेशाः परमाणुत्रयलक्षणा यत्र स्कन्धे सा त्र्यणुकानुपूर्वीत्युच्यते, एवं यावदनन्ता अणवो यत्र सः अनन्ताणुकः सोऽप्यानुपूर्वीत्युच्यते। 'परमाणुपोगले' त्ति- एकः परमाणुः परमाण्वन्त- रासंसक्तोऽनानुपूर्वीत्यभिधीयते। द्वौ प्रदेशौ यत्र स द्विप्रदेशिकः स्कन्धोऽवक्तव्यकमित्याख्यायते बहवस्त्रिप्रदेशिकादयः स्कन्धाः आनुपूर्व्यो, बहवश्चैकाकिपरमाणवोऽनानुपूर्व्यः, बहूनि च द्व्यणुकस्कन्धद्रव्याण्यवक्तव्यकानि। आनुपूर्व्यां प्रकान्ता-यामनानुपूर्व्यवक्तव्यकयोः प्ररूपणमसङ्गतमिति चेत्, न, तत्प्रतिपक्षत्वात्तयोरपि प्ररूपणीयत्वात्, प्रतिपक्षपरिज्ञाने च प्रस्तुतवस्तुनः सुखावसेयत्वादिति भावार्थः। इहानुपूर्वी अनुपरिपाटिरिति पूर्वमुक्तं सा च यत्रैवादिमध्यान्तलक्षणः संपूर्णो गणनानुक्रमोऽस्ति तत्रैवोपपद्यते; नान्यत्र, एतच्च त्रिप्रदेशिकादिस्कन्धेष्वेव। तथा हि- ''यस्मात्परमस्ति न पूर्वं स आदिः, यस्मात् पूर्वमस्ति न परं सोऽन्तः, तयोश्चान्तरं मध्यमुच्यते,''अयं च संपूर्णो गणनानुक्रमस्त्रिप्रदेशादिस्कन्ध एव, न परमाणौ; तस्यैकद्रव्यत्वेनाऽऽदिमध्यान्तव्यवहाराभावाद्, अतः एवाय-मनानुपूर्वीत्वेनोक्तः, नापि द्व्यणुकस्कन्धः, तत्रापि मध्याभावेन संपूर्णगणनानुक्रमाऽभावाद्, अत्राऽऽह- ननु पूर्वस्यानु- पश्चादनुपूर्वं तस्य भाव आनुपूर्वीति पूर्वं व्याख्यातम्, एतच्च द्व्यणुकस्कन्धेऽपि घटत एव परमाणुद्वयस्यापि परस्परापेक्षया पूर्वपश्चाद्भावस्य विद्यमानत्वात्ततः संपूर्णगणनानुक्रमाभावेऽपि कस्मादय-मप्यानुपूर्वी न भवति ? नैतदेवं, यतो यथा मेर्वादिके क्वचित्पदार्थे मध्ये अवधौ व्यवस्थापिते लोकेपूर्वादिविभागः प्रसिद्धस्तथा यद्यत्रापि स्यात्तदा स्वादप्येवं न चैवमत्रास्ति, मध्येऽवधिभूतस्य कस्यचिदभावतोऽसाङ्कर्येण पूर्वपश्चाद्भावस्यासिद्धत्वात्, यद्येवं परमाणुवत् द्व्यणुकस्कन्धोऽप्यनानुपूर्वीत्वेन कस्मान्नोच्यते सत्यं, किंतु-परस्परापेक्षया पूर्वपश्चाद्भावमात्रस्य सद्भावादेवमप्य-भिधातुमशक्योऽसौ तस्मादानुपूर्व्यनानुपूर्वीप्रकाराभ्यां वक्तुमशक्यत्वादवक्तव्यकमेव द्व्यणुकस्कन्धः, तस्माद्व्यव- स्थितमिदम् आदिमध्यान्तभावेनाऽवधिभूतं मध्यवर्त्तिनमपे- क्ष्याऽसांकर्येण मुख्यस्य पूर्वपश्चाद्भावस्य सद्भावात् त्रिप्रदे- शादिस्कन्धः एवानुपूर्वी, परमाणुस्तूक्तयुक्त्या अनानुपूर्वी द्व्यणुकोऽवक्तव्यकः, इत्येवं संज्ञासंज्ञिकसंबन्धकथनरूपा अर्थपदप्ररूपणा कृता भवति। यद्येवं त्रिप्रदेशिका आनुपूर्व्य इत्यादि बहुवचननिर्देशः किमर्थः ? एकत्वमात्रेणैव संज्ञासंज्ञि- संबन्धकथनस्य सिद्धत्वात्, सत्यम्, किंत्वानुपूर्व्यादिद्रव्याणां प्रतिभेदमनन्तव्यक्तिख्यापनार्थो नैगमव्यवहारयोरित्थंभूताभ्यु- पगमप्रदर्शनार्थश्च बहुत्वनिर्देश इत्यदोषः। अत्राह- नन्वनानु- पूर्वीद्रव्यमेकेन परमाणुना निष्पद्यते, अवक्तव्यकद्रव्यं परमाणुद्वयेन आनुपूर्वीद्रव्यं तु जघन्यतोऽपि परमाणुत्रयेण इत्थं द्रव्यवृद्ध्या पूर्वानुपूर्वीक्रममाश्रित्य प्रथममनानुपूर्वी ततः अवक्तव्यकम् ततश्चानुपूर्वीत्येवं निर्देशो युज्यते, पश्चानुपूर्वीक्रमाश्रयणे तु व्यत्ययेन युक्तस्तत्कथं क्रमद्वयमुल्लङ्घ्यान्यथा निर्देशः कृतः ? सत्यमेतत्, किंत्वनानुपूर्व्यपि व्याख्याङ्गमिति ख्यापनार्थः। यदि वा-त्र्यणुकचतुरणुकादीन्यानुपूर्वीद्रव्याण्यनानुपूर्व्यवक्तव्यक- द्रव्येभ्यो बहूनि तेभ्योऽनानुपूर्वीद्रव्याण्यल्पानि तेभ्योऽप्यवक्तव्यकद्रव्याण्यल्पतेराणीत्यत्रैव वक्ष्यते, ततश्चेत्थं द्रव्यहान्या पूर्वानुपूर्वीक्रमनिर्देश एवायमिति। अलं विस्तरेण। 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम्।

एआए णं नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं ? एआए णं नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ। (सूत्र-७५)

'एताए णमि' त्यादि, एतया अर्थपदप्ररूपणतया किं प्रयोजन-मिति, अत्राऽऽह-एतया अर्थपदप्ररूपणतया भङ्गसमुत्कीर्तना क्रियते, इदमुक्तं भवति- अर्थपदप्ररूपणतायां संज्ञासंज्ञिव्यवहारो निरूपितस्तस्मिंश्च सत्येवं भङ्गकाः समुत्कीर्त्त- यितुं शक्यन्ते, नाऽन्यथा, संज्ञामन्तरेण निर्विषयाणां भङ्गानां प्ररूपयि-तुमशक्यत्वात् तस्माद्युक्तमुक्तम् एतया अर्थपदप्ररूपणतया भङ्गसमुत्कीर्त्तना क्रियते इति।

तामेव भङ्गसमुत्कीर्त्तनां निरूपयितुमाह-

से किं तं नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया ? नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया- अत्थि आनुपूव्वी १, अत्थि अणाणुपुव्वी २, अत्थि अव्वत्तव्वए ३, अत्थि आणुपुव्वीओ ४, अत्थि अणाणुपुव्वीओ ५, अत्थि अव्वत्तव्वयाइं ६, इकसंयोगी छ भंगा। द्विकसंयोगीभंगा- अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ १, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ २, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वी अ ३, अहवा अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ ४, अहवा अत्थि आणुपुव्वी अ अव्वत्तव्वए अ ५, अहवा अत्थि आणुपुव्वी अ अव्वत्तव्वयाइं च ६, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अव्वत्तव्वए अ७, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वाइं च ८, अहवा अत्थि अणाणुपुव्वी अ अवत्तए अ ९, अहवा-अत्थि अणाणु-

पुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च १०, अहवा-अत्थि अणा- णुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ११, अहवा-अत्थि अणा- णुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च १२॥ त्रिकसंयोगी भङ्गा- अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ १, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च २, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीअ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ३, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणा-णुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च ४, अहवा- अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ५, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वी अ अवतव्वयाइं च ६, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ७, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइ च ८, त्रिकसंयोगी एए अ(ड)ट्ठ भंगा। एवं सव्वेऽवि छव्वीसं भंगा। सेत्तं नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया। (सूत्र ७६)

प्रश्ने अत्र चानुपूर्व्यादिपदत्रयेणैकवचनान्तेन त्रयो भङ्गा भवन्ति। बहुवचनान्तेनापि तेन त्रय एव भङ्गाः, एवमेते असंयोगतः प्रत्येकं भङ्गाः षड् भवन्ति, संयोगपक्षे तु पदत्रय- स्यास्य त्रयो द्विकसंयोगाः, एकैकस्मिंस्तु द्विकसंयोगे एक- वचनबहुवचनाभ्यां चतुर्भङ्गीसद्भावतः त्रिष्वपि द्विकसंयोगेषु द्वादशभङ्गा संपद्यन्ते, त्रिकसंयोगस्त्वत्रैक एव, तत्र च (एकवचनान्तास्त्रयः एते बहुवचनान्तास्त्रयः) एकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ भङ्गाः सर्वेऽप्यमी षट्विंशतिः, अत्र स्थापना चेयम्-



सर्वेऽपि षड्विंशतिरेव एते चोत्तरं प्रयच्छता अनेनैव क्रमण सूत्रेऽपि लिखिताः सन्तीति भावनीयाः। अथ किमर्थं भङ्गकसमुत्कीर्त्तनं क्रियत इति चेत्, उच्यते- इहानुपूर्व्यादिभिस्त्रिभिः पदैरेकवचनान्तबहुवचनान्तैः प्रत्येकचिन्तया संयोगचिन्तया च षड्विंशतिर्भङ्गाः जायन्ते, तेषु च मध्ये येन केनचिद्भङ्गेन वक्ता द्रव्यं वक्तुमिच्छति तेन प्रतिपादयितुं सर्वानपि प्रतिपादनप्रकारानेकरूत्वान्नैगमव्यवहारनयाविच्छत इति प्रदर्शनार्थं भङ्गकसमुत्कीर्त्तनमिति। 'संत्तमि' त्यादि निगमनम्। उक्ता भङ्गसमुत्कीर्त्तनता।

अथ भङ्गोपदर्शनतां प्रतिपिपादयिषुराह-

एआए णं नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओअणं ? एआए णं नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए नेगमववहाराणं भंगोवदंसणया कीरइ। (सूत्र-७७)

'एताए णमि' इत्यादि, एतया भङ्गसमुत्कीर्त्तनतया किं प्रयोजनमिति? अत्रोत्तरमाह- 'एतोए णमि' त्यादि, एतया भङ्गसमुत्कीर्त्तनया भङ्गोपदर्शनता क्रियते, इदमुक्तं भवति- भङ्गसमुत्कीर्त्तनतायां भङ्गकसूत्रमुक्तं, भङ्गोपदर्शनतायां तस्यैव वाच्यं त्र्यणुकस्कन्धादिकं कथयिष्यते। तच्च सूत्रे समुत्कीर्त्तिते एव कथयितुं शक्यते, वाचकमन्तरेण वाच्यस्य कथयितुमश- क्यत्वाद् अतो युक्तं भङ्गकसमुत्कीर्त्तनतायां भङ्गोपदर्शनता- प्रयोजनम्, अत्राह-ननु भङ्गोपदर्शनतायां वाच्यस्य त्र्यणुक-स्कन्धादेः कथनकाले आनुपूर्व्यादिसूत्रं पुनरप्युत्कीर्त्तयिष्यति तत् किं भङ्गसमुत्कीर्त्तनतया प्रयोजनमिति, सत्यं, किंतु-भङ्गसमुत्कीर्तनता सिद्धस्यैव सूत्रस्य भङ्गोपदर्शनतायां वाच्यवाचकभावसुखप्रतिपत्त्यर्थं प्रसङ्गतः पुनरपि समुत्कीर्त्तनं करिष्यते; न मुख्यतयेत्यदोषः। यथाहि- ''संहिता च पदं चैव'' इत्यादि व्याख्याक्रमे सूत्रं संहिताकाले समुच्चारितमपि पदार्थ- कथनकाले पुनरप्यर्थकथनार्थमुच्चार्यते तद्वदत्रापीति भावः।

अथ केयं पुनर्भङ्गोपदर्शनतेति प्रश्नपूर्वकं तामेव निरूपयितुमाह-

से किं तं नेगमववहाराणं भंगोपदंसणाया ? नेगमववहा-राणं भंगोवदंसणया ? तिपएसिए आणुपुव्वी १, परमाणुपोग्गले अणाणुपुव्वी १, दुपएसिए अवत्तव्वए २, अहवा- तिपएसियानुपुव्वीओ परमाणुपोग्गला अणाणु- पुव्वीओ दुपएसिया अव्वत्तव्यवयाइं ३, अहवा-तिपएसि- यए अ परमाणुपोग्गले अ आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ ४, चउभंगो। अहवा-दुपयसिए य तिपएसिए अ आणुपुव्वी अ अव्वत्तव्वए य चउभंगो, अहवा- दुपएसिए य परमाणुपोग्गले अ अवत्तव्वए य आणुपुव्वी अ, अहवा-तिपएसिआ अ परमाणुपोग्गला य आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ ४, अहवा- तिपएसिए अ दुपएसिए अ आणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ५, अहवा-तिपएसिए अ दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च ६, अहवा- तिपएसिआ य आंणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च ७, अ-

हवा-तिपएसिआ य दुपएसिए अ आणुपुव्वीओ अ अवत्त-व्वए अ, अहवा-तिपएसिआ य दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ, अहवा तिपएसिआ य दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च ८, अहवा-परमाणुपोग्गले अ दुपएसिए अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ९, अहवा-परमाणुपोग्गले अ दुपएसिआ य अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च १०, अहवा परमाणुपोग्गल्ला य दुपएसिए अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ११, अहवा परमाणुपोग्गला य दुपएसिआ य अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च १२,

अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गले अ दुपएसिए अ आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ १, अहवा- तिपएसिए अ परमाणुपोग्गले य दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च २, अहवा तिपएसिए अ परमाणुपोग्गला अ दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ३, अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गला य दुपएसिया अ आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ४, अहवा तिपएसिए अ परमाणुपोग्गला य दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ५, अहवा तिपएसिआ य परमाणुपोग्गले अ दुपएसिए अ आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च ६, अहवा-तिपएसिआ य परमाणुपोग्गले अ दुपएसिआ य आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वी अवत्तव्वआ ७, अहवा तिपएसिआ य परमाणुपोग्गले अ दुपएसिआ य आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च ८, सेत्तं नेगमववहाराणं भंगोवंदसणया। (सूत्र-७८)

'से किं तमि' त्यादि, 'तिपएसिए आणपुव्वी' त्ति-त्रिप्रदेशिकोऽर्थः आनुपूर्वीत्युच्यते; त्रिप्रदेशिकस्कन्ध-लक्षणेनार्थेनानुपुर्वीति भङ्गका निष्पद्यत इत्यर्थः। एवं परमाणुपुद्गलक्षणोऽर्थः अनानुपूर्वीत्युच्यते, द्विप्रदेशिकस्कन्ध- लक्षणोऽर्थोवक्तव्यकमुच्यते एवं बहवस्त्रिप्रदेशिका आनुपूर्व्यः बहवः परमाणुपुद्गला अनानुपूर्व्यः बहवो द्विप्रदेशिकस्कन्धा अवक्तव्यकानिति षण्णां प्रत्येकभङ्गानामर्थकथनम्। एवं द्विकसंयोगेऽपि त्रिप्रदेशिकस्कन्धः परमाणुपुद्गलश्चानुपू- र्व्यनानुपूर्वीत्वेनोच्यते, यदा त्रिप्रदेशिकस्कन्धः परमाणुपुद्गलश्च प्रतिपादयितुमभीष्टो भवति। तदा 'अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ' इत्येवं भङ्गो निष्पद्यत इत्यर्थः, एवमर्थकथनपुरस्सराः शेषभङ्गा अपि भावनीयाः अत्राहनन्वर्थोप्यानु- पूर्व्यादिपदानां त्र्यणुस्कन्धादिकोऽर्थपदप्ररूपण- तालक्षणे प्रथमद्वारे कथित एव तत्किमनेन ? सत्यम ? किंतु तत्र पदार्थमात्रमुक्तम; अत्र तु तेषामेवानुपूर्व्यादिपदानां भङ्गकर-चनासमादिष्टानामर्थः कथ्यत इत्यदोषः, नयमतवैचित्र्य-प्रदर्शनार्थं वा पुनरित्थमर्थोपदर्शनमिति। अलंविस्तरेण। 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम्। उक्ता भङ्गोपदर्शनता।

अथ समवतारं विभणिषुराह-

से किं समोआरे ? समोआरे नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समोअरंति ? किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति ? अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति ? अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति ? नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं आणुपुव्वी-दव्वेहिं समोअरंति, नो अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोअरंति, नो अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति, नेगमववहाराणं अणाणुपुव्वी-दव्वाइं कहिं समोअरंति ? किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति ? अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति ? अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति? नो आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति, आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति, नो अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति । नेगमववहाराणं अवत्तव्वयदव्वाइं कहिं समोअरंति ? किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति ? अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति ? अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति, नो आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति; नो आणुपुव्वि-दव्वेहिं समोअरंति; अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति । सेत्तं समोआरे। (सूत्र-७९)

अथ कोऽयं समवतार इति प्रश्ने सत्याह- 'समोयारे तिअयं समवतार उच्यत इति शेषः, कः समवतार इत्याह-नेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्याइं कहिं समोयरंति' त्यादि प्रश्नः अत्रोत्तरम् 'नेगमवव-हाराणं आणुपुव्वी' इत्यादि, आनुपूवीद्रव्याणि आनुपूवीद्रव्यलक्षणायां स्वजातावेव वर्त्तन्त; न स्वजात्य-तिक्रमणेत्यर्थ; इदमुक्तं भवति-सम्यग्अविरोधेनावतरणंवर्त्तनं समवतार; अविरोधवृत्तिता प्रोच्यते, सा ज स्वजातिवृत्तावेव स्यात् परजातिवृत्तेर्विरुद्धत्वात् ततो नानादेशादि-वृत्तीन्यपि सर्वाण्यानुपूर्वीद्रव्याणि आनुपूर्वीद्रव्येष्वेव वर्त्तन्ते इति स्थितम्। एवमनानुपूर्व्यादीनामपि स्वस्थानावतारो भावनीयः। 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम्। उक्तः समवतारः।

(४) अथाऽनुगमे विभणिषुरुपक्रमते-

से किं तं अणुगमे ? अणुगमे नवविहे पण्णत्ते, तं जहा-''संतपयपरूवणया १

दव्वपमाणं च २ खित्त ३ फुसणा य ४। कालो य ५, अंतरं ६ भाग ७ भाव ८ अप्पाबहुं चेव ९ ॥१॥'' (सूत्र-८०)

अत्रोत्तरम् 'अणुगमे नवविहे' इत्यादि, तत्र सूत्रार्थस्यानुकूलमनुरूपं वा गमनं, व्याख्यानमनुगमः। अथवा सूत्रपठना-दनु पश्चाद् गमनं व्याख्यानमनुगमः। यदि वा अनुसूत्रमर्थो गम्यते ज्ञायते अनेनेत्यनुगमोव्याख्यान-मेवेत्याद्यन्यदपि वस्त्वविरोधेन स्वधिया वाच्यामिति। स च नवविधो नवप्रकारो भवति। तदेव नवविधत्वं दर्शयति,

तद्यथेत्युपदर्शनार्थः। 'संतपयगाहा'- सदर्थविषयं पदं सत्यपदं तस्य प्ररूपणं-प्रज्ञापनं सत्यपदप्ररूपणं तस्य भावः सत्पद- प्ररूपणता सा प्रथमं कर्तव्या। इदमुक्तं भवति-इह स्तम्भ- कुम्भादीनि पदानि सदर्थविषयाणि दृश्यन्ते खरशृङ्गव्योम- कुसुमादीनि त्वसदर्थविषयाणि दृश्यन्ते तत्रानुपूर्व्यादिपदानि किं स्तम्भादिपदानीव सदर्थविषयाणि आहोस्वित् खर-विषाणादिपदवत् असदर्थगोचराणि इत्येतत्प्रथमं पर्यालोचयितव्यं, तथा आनुपूर्व्यादिपदाभिधेयद्रव्याणां प्रमाणं संख्यास्वरूपं प्ररूपणीयम् च: समुच्चये एवमन्यत्रापि तथा तेषामेव क्षेत्रं तदाधारस्वरूपं प्ररूपणीयं; कियति क्षेत्रे तानि भवन्तीति चिन्तनीयमित्यर्थः। तथा स्पर्शना च वक्तव्या; कियत्क्षेत्रं तानि स्पृशन्तीति चिन्तनीयमित्यर्थः। तथा कालश्च तत्स्थितिलक्षणो वक्तव्यः तथा अन्तरं-विवक्षितस्वभावपरित्यागे सति पुनस्तद्भावप्राप्तिविरहलक्षणं प्ररूपणीयं, तथा आनुपूर्वीद्रव्याणि शेषद्रव्याणां कतिभागे वर्त्तन्ते इत्यादिलक्षणो भागः प्ररूपणीयः तथा आनुपूर्व्यादिद्रव्याणि कस्मिन् भावे वर्त्तन्ते इत्येवंरूपो भावः प्ररूपणीयः, तथा अल्पबहुत्वं चानुपूर्व्यादिद्रव्याणां द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थोभयार्थताश्रयणेन परस्परं स्तोकबहुत्वचिन्तालक्षणं प्ररूपणीयम् एवकारोऽवधारणे, एतावत्प्रकार एवानुगम इति गाथासमासार्थः।

विस्तरा (व्यासा) र्थं तु ग्रन्थकारः स्वयमेव विभणिषुरा-द्यावयवमधिकृत्याह-

नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि णऽत्थि ? णियमा अत्थि। नेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि णऽत्थि ? नियमा अत्थि। नेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं किं अत्थि णऽत्थि, नियमा अत्थि। (सूत्र-८१)

नैगमव्यवहारयोरानुपूर्वीशब्दाभिधेयानि द्रव्याणि त्र्यणुक-स्कन्धादीनि किं सन्तिः न इति (च) प्रश्नः, अत्रोत्तरं-नियमा 'अत्थि' इति, एतदुक्तं भवति-नेदं खरशृङ्गादिवदानुपूर्वीपद-मसदर्थगोचरम्, अतो नियमात्सन्ति तदभिधेयानि द्रव्याणि तानि च त्र्यणुकस्कन्धीदीनि पूर्वं दर्शितान्येव, एवमनानुपूर्व्यवक्तव्य-कपक्षद्वयेऽपि वाच्यम्। कृता सत्पदप्ररूपणा।

अथ द्रव्यप्रमाणमभिधित्सुराह-

नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं संखिज्जाइं असंखिज्जाइं अणंताइं ? नो संखिज्जाइं नो असंखिज्जाइं, अणंताइं, एवं अणाणुपुव्विदव्वाइं, अवत्तव्वगदव्वाइं च अणंताइं भाणिअव्वाइं। (सूत्र-८२)

'नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं संखेज्जाइमि' त्यादि, अयमत्र निवर्चनभावार्थः- इहानुपूर्व्यनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याणि प्रत्येकमनन्तान्येवैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे प्राप्यन्ते किं पुनः सर्वलोके, अतः संखेयासंखेयप्रकारद्वयनिषेधेन त्रिष्वपि स्थाने- ष्वानन्त्यमेव वाच्यमिति। न च वक्तव्यं कथमसंख्येये लोके अनन्तानि द्रव्याणि तिष्ठन्ति ? अचिन्त्यत्वात, पुद्गलपरिणा- मस्य, शक्तिर्दृश्यते चैकगृहान्तर्वर्त्यकाशप्रदेशेष्वेक प्रदीपप्रभापरमाणुव्याप्तेष्वप्यनेकाऽपर-प्रदीपप्रभापरमाणूनां तत्रैवावस्थानं, नचाऽक्षिदृष्टेऽप्यर्थेऽनुपपत्तिः अतिप्रसङ्गादिति। अलं प्रपञ्चेन।

इदानीं क्षेत्रद्वार मुच्यते-

नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं लोअस्स किं संखिज्जइभागे होज्जा, असंखिज्जइभागे होज्जा संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा सव्वलोए होज्जा ? एगंदव्वं पडुच्च संखेज्जइ भागे वा होज्जा असंखिज्जइ भागे वा होज्जा संखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा असंखिज्जेसु भागेसु वा होज्जा सव्वलोए वा होज्जा, णाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोए होज्जा। नेगमववहा-राणं अणाणुपुव्विदव्वाइं किं लोअस्स किं संखिज्जइभागे होज्जा ०जाव सव्वलोए वा होज्जा ? एगं दव्वं पडुच्च नो संखेज्जइभागे होज्जा, असंखिज्जइभागे होज्जा, नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, नो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, नो सव्वलोए होज्जा, णाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोए होज्जा, एवं अवत्तव्वगदव्वाइं भाणिअव्वाइं। (सूत्र-८३)

आनुपूर्वीद्रव्याणि किं लोकस्यैकस्मिन संख्याततमे भागे 'होज्ज' ति। आर्षत्वात् भवन्ति अवगाहन्त इति यावत्। यदि वा-एकस्मिन्नसंख्याततमे भागे भवन्ति उत बहुषु संख्येयेषु भागेषु भवन्ति आहोश्चिद्बहुष्वसंख्येयेषु भागेषु भवन्ति अथ सर्वलोके भवन्तीति पञ्च प्रश्नस्थानान्यत्र निर्वचनसूत्रस्येयं भावना-इहानुपूर्वीद्रव्याणि त्र्यणुकस्कन्धादीन्यनन्ताणुस्कन्ध पर्यवसनान्युक्तानि तत्र च सामान्यत एकं द्रव्यमाश्रित्य तथाविधपरिणामवैचित्र्यात् किंचिल्लोकस्यैकस्मिन् संख्या-ततमे भागे भवित एकं तत्संख्यातभागमवगाह्य तिष्ठतीत्यर्थः अन्यत्तु तदसंख्येयंभागमवगाहते, अपरस्तु-बहुंस्तदसंख्येयान् भागानवगाह्य वर्त्तते, अन्यच्च बहून् तदसंख्येयभागानवगाह्य तिष्ठतीति, 'सव्वलोए वा होज्ज त्ति' इहानन्तानन्तपरमाणु-प्रचयनिष्पन्नं प्रज्ञापनादिप्रसिद्धाचित्तमहास्कन्धलक्षण-मानुपूर्वीद्रव्यं समयमेकं सकललोकावगाहि प्रतिपत्तव्यमिति। कथं पुनरयमचित्तमहास्कन्धः सकललोकावगाही स्याद् ? उच्यते-समुद्घातवर्त्तिकेवलिवत्- तथाहि-लोकमध्यव्यव-स्थितोऽसौ प्रथमसमये तिर्यगसंख्यातयोजनविस्तरं संख्यातयोजनविस्तरं वाऊर्ध्वमधस्तु चतुर्दशरज्वायतं विश्रसापरिणामेन वृत्तं दण्डं करोति द्वितीये कपाटम्, तृतीये मन्थानं, चतुर्थे लोकव्याप्तिं प्रतिपद्यते। पञ्चमे अन्तराणि संहरति षष्ठे मन्थाने सप्तमे कपाटमष्टमे तु दण्डं संहृत्य खण्डशो भिद्यत इत्येके, अन्येत्वन्यथापि व्याचक्षते; तत्तु विशेषावश्यकादवसेयमिति 'वा' शब्दः समुच्चये एवं यथासंभव-मन्यत्रापि। 'नाणा दव्वाइं पडुच्चे त्यादि नानाद्रव्याण्यानुपूर्वीपरिणाम-वन्ति प्रतीत्य प्रकृत्य वा; अधि-कृत्येत्यर्थः, नियमात् नियमेन सर्वलोके भवन्ति, न संख्येयादिभागेषु यतः सर्वलोकाकाशस्य स प्रदेशोऽपि नास्ति यत्र सूक्ष्मपरिणामवन्त्यनन्तान्यानुपूर्वीद्रव्याणि न सन्तीति अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येषु त्वेकं द्रव्यमाश्रित्य लोकस्याऽ-

संख्येयभाग एव वृत्तिर्न संख्येयभागादिषु यतोऽनानुपूर्वीतावत्परमाणु-रुच्यते, स चैकाकाशप्रदेशाऽवगाढ एव भवति अवक्तव्यकं तु द्व्यणुकस्कन्धः, स चैकाकाशप्रदेशावगाढोद्वि-प्रदेशावगाढो वा स्यादिति यथोक्तभागवृत्तितैवेति, नाना द्रव्य-भावना पूर्ववदिति। उक्तं क्षेत्रद्वारम्।

साम्प्रतं स्पर्शनाद्वारमुच्यते-

नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखेज्जइ-भागं फुसंति असंखेज्जइभागं फुसंति संखेज्जे भागे फुसंति असंखेज्जे भागे फुसंति सव्वलोअं फुसंति ? एगंदव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागं वा फुसंति ०जाव सव्वलोगं वा फुसंति णाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोगं फुसंति। णेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं लोअस्स किं संखेज्ज-इभागं फुसंति ०जाव सव्वलोगं फुसंति। एगं दव्वं पडुच्च नो संखिज्जइजभागं फुसंति असंखिज्जइभागं फुसंति नो संखिज्जे भागे फुसंति नो असंखेज्जे भागे फुसंति नो सव्वलोअं फुसंति, नाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोअं फुसंति, एवं अवत्तव्वगदव्वाइं भाणिअव्वाइं। (सूत्र-८४)

भावना तु क्षेत्रद्वारवदेव कर्त्तव्या नवरं क्षेत्रस्पर्शनयोरयंविशेषः क्षेत्रम् अवगाह्याक्रान्तप्रदेशमात्रं, स्पर्शना तु षड्दिक्कैः प्रदेशैस्तद्बहिरपि भवंति, तथा च-परमाणुद्रव्यमाश्रित्य ताव-दवगाहनास्पर्शनयोरन्यत्रोक्तो भेदः। 'एगपएसोगाढं सत्त पएसा य से फुसणंत्ति-अस्यार्थः-परमाणुद्रव्यमगाढं तावदेस्मिन्नेवा-काशप्रदेशे, स्पर्शना तु (से) तस्य सप्त प्रदेशा भवन्ति, षड्दिग्व्यवस्थितान् षट्प्रदेशान यत्र चावगाहस्तं च स्पृशतीत्यर्थः, एवमन्यत्रापि क्षेत्रस्पर्शनयोर्भेदो भावनीयः। अत्रः सौगताः प्रेरयन्ति-यदि परमाणोः षड्दिगस्पर्शना अभ्युपगम्यते तदैकत्वमस्य ह्रीयते, तथा हि प्रष्टव्यमत्र, किं येनैव स्वरूपेणासौ पूर्वाद्यन्यतरदिशा सम्बद्धस्तेनैवान्यदिग्भिः, उत स्वरूपान्तरेण ? यदि तेनैव तदाऽयं पूर्वदिक्संबन्धोऽयं चापरदिक्संबन्ध इत्यादि विभागो न स्यात् एकस्वरूपत्वात्, विभागाभावे च षड्दिक्संबन्धवचनमुपप्लवत् एव, अथाऽपरो विकल्पः कल्प्यते तर्हि तस्य षट्स्वरूपाऽऽपत्त्या एकत्वं विशीर्यते, उक्तं च-'दिग्भागभेदो यस्याऽस्ति तस्यैकत्वं न युज्यत' इति। अत्र प्रतिविधीयते-इह परमाणुद्रव्यमादिमध्याऽन्त्यादिविभागरहितं निरंशमेकस्वरूपमिष्यते अतः सांशवस्तु संभवित्वात्परोक्तं विकल्पद्वयं निरास्पदमेव, अथानभ्युपगम्यमानाऽपि परमाणोः सांशता अनन्तरोक्त-विकल्पबलेनापाद्यते, ननु भवन्तोऽपि तर्हि प्रष्टव्याः-क्वचिद्विसंज्ञानसंताने विक्षितः कश्चिद्विज्ञानलक्षण-क्षणः स्वजनकपूर्व-क्षणस्य कार्यं स्वजन्योत्तरक्षणस्य कारणमित्यत्र सौगतानां तावदविप्रतिपत्तिः तत्रेहापि विचार्यते-किमसौ येन स्वरूपेण पूर्वक्षणस्य कार्यं तेनैवोत्तरक्षणस्य कारणम्; उत स्वरूपान्तरेण ? यद्याद्यः पक्षस्तर्हि यथा पूर्वापेक्षयाऽसौ कार्यं तथोत्तरापेक्षयापि स्यात् यथा वा उत्तराऽपेक्षया कारणं तथा पूर्वापेक्षयापि स्याद्, एकस्वरूपत्वात्तस्येति, अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि तस्य सांशत्वप्रसङ्गोऽत्राऽपि दुर्वारः स्याद् अथ निरंश एवासौ ज्ञानलक्षणक्ष-णोऽकार्य्यकारणरूपः तत्तद्वस्तुव्यापृतत्वात्। तथा तथा व्यपदिश्यते, न पुनस्तस्यानेकस्वरूपत्वमस्ति, नन्वस्माकमपि नेदमुत्तरमतिदुर्लभं स्यात्, यतो द्रव्यतया निरंश व परमाणुस्तथाविधाऽ-चिन्त्यपरिणामत्वाद् द्विकषट्केन सह नैरन्तर्येणावस्थितत्वात्तस्य स्पर्शकमुच्यते, न पुनस्तत्रांशैः काचित् स्पर्शना समस्तीति, अत्र बहुवक्तव्यं; तत्तु नोच्यते स्थानान्तरेषु चर्चितत्वादिति। अलं विस्तरेण। उक्तं स्पर्शना-द्वारम्।

इदानीं कालद्वारं विभणिषुराह-

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं कालओ केवच्चिरं होइ ? एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च णिअमा सव्वऽद्धा अणाणुपुविदव्वाइं अवत्तव्वगदव्वाइं च एवं चेव भाणि-अव्वाइं। (सूत्र-८५)

नैगमव्यवहारयोरानुपूर्वीद्रव्याणि कालतः- कालमाश्रित्य कियच्चिरं-कियन्तं कालं भवन्ति आनुपूर्वीत्वपर्यायेणाव- तिष्ठन्ते? अत्रोत्तरम-'एगं दव्वमि' त्यादि, इयमत्र भावना- परमाणुद्वयादेरपरैकादिपरमाणुमीलने अपूर्वं किं- चिदानुपूर्वीद्रव्यं समुत्पन्नम्, ततः समयादूर्ध्वं पुनरप्येकाद्यणौ वियुक्तेऽपगत- स्तद्भाव इत्येकमानुपूर्वीद्रव्यमधिकृत्य-जघन्यतः समयः- अव- स्थितिकालः, यदा तु तदेवासंख्यातं कालं सद्भावेन स्थित्वा-ऽनन्तरोक्तस्वरूपेण वियुज्यते तदा उत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽवस्थितिकालः प्राप्यते, अनन्तं कालं पुनर्नावतिष्ठते उत्कृष्टाया अपि पुद्गलसंयोगस्थितेर-संख्येयकालत्वत्वादिति। नानाद्रव्याणि बहूनि पुनरानुपूर्वीद्रव्याण्यधि-कृत्य सर्वाऽद्धास्थितिर्भवति, नाऽस्ति सः कश्चित्कालो यत्रानुपूर्वीद्रव्य-विरहितोऽयं लोकः स्यादिति भावः। अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येष्वपि जघन्यादिभेद-भिन्न एतावानेवावस्थितिकालः, तथाहि-कश्चित्परमा-णुरेकं समयमेकाकीभूत्वा ततः परमाण्वादिना अन्येन सह संयुज्यत इत्थमेकमनानुपूर्वीद्रव्यमधिकृत्य जघन्यतः समयः- अवस्थिति-कालः, यदा तु स एवावसंख्यातं कालं तद्भावेन स्थित्वा अन्येन परमाण्वादिना सह संयुज्यते तत उत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽव-स्थितिकालः संप्राप्यते, नानाद्रव्यपक्षस्तु पूर्ववदेव भावनीयः। अवक्तव्यकद्रव्यमपि परमाणुद्वयलक्षणं यदा समयमेकं संयुक्तं स्थित्वा ततो वियुज्यते तदवस्थमेव वाऽन्येन परमाण्वादिना संयुज्यते तदा तस्याऽवक्तव्य-कद्रव्यतया जघन्यतः समयोऽ- वस्थानं लभ्यते, यदा तू तदेवाऽसंख्यातं कालं तद्भावेन स्थित्वा विघटते तदवस्थमेव वाऽ(चा)न्येन परमाण्वादिना संयुज्यते तदोत्कृष्टतः अवक्तव्यकद्रव्यतया असंख्यातं कालमव-स्थानं प्राप्यते, नानाद्रव्यपक्षस्तु तथैव भावनीय इति। उक्तं कालद्वारम।

अथाऽन्तरद्वारं प्रतिपिपादयिषुराह-

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाणं अंतरं कालओ केवच्चिरं होइ ? एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं

उक्कोसेणं अणंतं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च णऽत्थि अंतरं। णेगमववहाराणां अणाणुपुव्वीदव्वाणं अन्तरं कालओ केवच्चिरं होइ ? एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च णऽत्थि अन्तरं। णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाणं अन्तरं कालओ केवच्चिरं होइ ? एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं। नाणादव्वाइं पडुच्च णऽत्थि अंतरं। (सूत्र-८६)

नैगमव्यवहारयोरानुपूर्वीद्रव्याणामन्तरं कालतः कियच्चिरं भवतीति प्रश्नः अन्तरम् - व्यवधानं, तच्च क्षेत्रतोऽपि भवति, यथा भूतलसूर्ययोरष्टौ योजनशतान्यन्तरमित्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं मुक्तं कालतः- कालमाश्रित्य, तदयमत्रार्थः-आनुपूर्वीद्रव्याण्या- नुपूर्वीस्वरूपतां परित्यज्य कियता कालेन तान्येव पुनस्तथा भवन्ति; आनुपूर्वीत्व-परित्याग-पुनर्लाभयोरन्तरे कियान् कालो भवतीत्यर्थः। अत्र निर्वचनम् -'एगं दव्वमि' त्यादि, इयमत्र भावना-इह विवक्षितं त्र्यणुकस्कन्धादिकं किमप्यानुपूर्वीद्रव्यं विश्रसापरिणामात्प्रयोगपरिणामाद्वा खण्डशो वियुज्य परि-त्यक्तानुपूर्वीभावं संजातं एकस्माच्च समयादूर्द्धं विश्रसादि-परिणामात्पुनस्तैरेव परमाणुभिस्तथैव तन्निष्पन्नामित्येवं जघन्यतः सर्वस्तोकतया एकं द्रव्यमाश्रित्याऽऽनुपूर्वीत्वपरित्या- गपुनर्लाभयोरन्तरे समयः प्राप्यते, उत्कृष्टतः सर्वबहुतया पुनरन्तरमनन्तं कालं भवति, तथाहि-तदेव विवक्षितं किमप्यानुपूर्वीद्रव्यं तथैव भिन्नं भित्त्वा च ते परमाणवोऽन्येषु परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकादिषु अनन्ताणुस्कन्धपर्यन्तेषु अनंतस्थाने पूत्कृष्टान्तराधिकारादसकृत्प्रतिस्थानमुत्कृष्टां स्थितिमनुभवन्तः पर्यटन्ति, कृत्वा चेत्थं पर्यटनं कालस्यानन्तत्वा-द्विश्रसादिपरिणामतो यदा तैरेव परमाणुभिस्तदेव विवक्षितमानुपूर्वीद्रव्यं निष्पद्यते, तदाऽनन्त उत्कृष्टान्तरकालः प्राप्यते, नानाद्रव्याण्यधिकृत्य पुनर्नाऽस्त्यन्तरम, नहि स कश्चित्कालोऽस्ति यत्र सर्वाण्यप्यानु-पूर्वीद्रव्याणि युगपदानुपूर्वीभावं परित्यजन्ति अनन्तानन्तैरानुपूर्वीद्रव्यैः सर्वदैव लोकस्याऽशून्यत्वादिति भावः। अनानुपूर्वीद्रव्यान्तर-कालचिन्तायाम्- 'एगं दव्वं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं' ति-इह यदा किंचिदनानुपूर्वीद्रव्यं परमाणुलक्षणमन्येन परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकादिना केनचित् द्रव्येण सह संयुज्य समयादूर्ध्वं वियुज्य पुनरपि तथा स्वरूपमेव भवति तदा समयलक्षणो जघन्यान्तरकालः प्राप्यते, 'उक्कासेणं असंखेज्जं कालं' ति-तदेवाऽनानुपूर्वीद्रव्यं यदा अन्येन परमाणुद्व्यणु-कत्र्यणुकादिना केनचिद् द्रव्येण सह संयुज्यते तत् संयुक्तं चाऽसंख्येय कालं स्थित्वा वियुज्य पुनस्तथास्वरूपमेव भवति तदा असंख्यात उत्कृष्टान्तरकालो लभ्यते। अत्राह-ननु अनानुपूर्वीद्रव्यं यदा अनन्ताऽनन्तपरमाणु- प्रचितस्कन्धेन सह संयुज्युते, तत्संयुक्तं चासंख्येयं कालमवतिष्ठते ततोऽसौ स्कन्ध उद्भिद्यते भिन्ने च तस्मिन् यस्तस्माल्लघुस्कन्धो भवति तेनापि सह संयुक्तमसंख्यातं कालभवतिष्ठते पुनस्त-स्मिन्नपि भिद्यमाने यः तस्माल्लघुतरः स्कन्धो भवति तेनापि संयुक्तमसंख्येय कालमवतिष्ठते पुनस्तस्मिन्नपि भिद्यमाने यस्तस्माल्लघुतमः स्कन्धो भवति तेनापि संयुक्तमसख्येयं कालमवतिष्ठते इत्येवं तत्र भिद्यमाने क्रमेण कदाचिदनन्ता अपि स्कन्धाः संभाव्यन्ते, तत्र च प्रतिस्कन्धसंयुक्तमनानुपूर्वीद्रव्यं यदा यथोक्तां स्थितिमनुभूय तत एकाक्येव भवति तदा तस्य यथोक्तानन्त-स्कन्धस्थित्यपेक्षया अनन्तोऽपि कालोऽन्तरे प्राप्यते, किमित्यसंख्येय एवोक्तः, अत्रोच्यतेस्यादेवं, हन्त यदि संयुक्तोऽणुरेतावन्तं कालं तिष्ठेदेतच्च नास्ति, पुद्गलसंयोगस्थिते-रुत्कृष्टतोऽप्यसंख्येय-कालत्वादित्युक्तमेव, अथ ब्रूयात-यस्मि- न्नेव स्कन्धे संयुज्यते असौ परमाणुः स चेत् स्कन्धः असंख्येय- कालाद् भिद्यते तर्ह्योतावतैव चरितार्थः पुद्गलसंयोगाऽसंख्येय- कालनियमो, विवक्षितपरमाणुद्रव्यस्य तु वियोगो मा भूदपीति नैतदेवं, यस्या अन्येन संयोगो जातस्तस्यासंख्येयकाला-द्वियोगश्चिन्त्यते, यदि च परमाण्वाश्रयः स्कन्धो वियुज्यते तर्हि परमाणोः किमायांत ? तस्यान्संयोगस्य तदवस्थत्वात्, तस्मादणुत्वेनासौ संयुक्तोऽसंख्येयकालादणुत्वेनैव वियोजनीय इति यथोक्त एवान्तरकालो नत्वनन्त इति, कथं पुनरणुत्वेनैव तस्य वियोगश्चिन्तनीय इति चेत् सूत्रप्रामाण्यात्, प्रस्तुतसूत्रे व्याख्याप्रज्ञप्त्यादिषु च परमाणोः पुनः परमाणुभवने संख्येयरूपस्यैवान्तरकालस्योक्तत्वाद् इत्यलं विस्तरेण। 'नाणादव्वाइं पडुच्चे' त्यादि, पूर्ववद्भावनीयम्। अवक्तव्य-कद्रव्याणामन्तरचिन्तायाम् 'एगं दव्वं पडुच्चे त्यादि। अत्र भावना-इह कश्चिद द्विप्रदेशिकः स्कन्धो विघटितः स्वतंत्रं परमाणुद्वयं जातं, समयं चैकं तथा स्थित्वा पुनस्ताभ्यामेव परमाणुभ्यां द्विप्रदेशिकः स्कन्धो निष्पन्नः, अथवा- विघटित एव द्विप्रदेशिकः स्कन्धोऽन्येन परमाण्वादिना संयुज्य समयादूर्ध्वं पुनस्तथैव वियुक्त इत्यवक्तव्यकस्य पुनरप्यवक्त-व्यकभवने उभयथाऽपि समयोऽन्तरे लभ्यते, 'उक्कोसेणं अणंतं कालं' इति कथम् ? अत्रोच्यते-अवक्तव्यकद्रव्यं किमापि विघटितं विशकलित-परमाणुद्वयं जातं तच्चानन्तैः परमाणुभिरनन्तै र्द्व्यणुकस्कन्धैरन-न्तैस्त्र्यणुकस्कन्धैर्यावदनन्तैरनन्ताणुकस्कन्धैः सह क्रमेण संयोगमासाद्य उत्कृष्टान्तराधिकारच्च प्रतिस्थानमसकृदुत्कृष्टां संयोगस्थितिमनुभूय कालस्यानन्तत्वात् यदा पुनरपि तथैव द्व्यणुकस्कन्धतया संयुज्यते तदा अवक्तव्यकैकद्रव्यस्य पुनस्तथाभवने अनन्तोऽन्तरकालः प्राप्यते नानाद्रव्यपक्ष-भावनालोकेसर्वदैव तद्भावात् पूर्ववद्वक्तव्या। उक्तमन्तरद्वारम।

साम्प्रतं भागद्वारं निर्दिदिक्षुराह-

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं सेसदव्वाणं कति भागे होज्जा ? किं संखिज्जइ भागे होज्जा असंखिज्जइ भागे होज्जा संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा ? नो संखिज्जइ भागे होज्जा नो असंखिज्जइ भागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, नियमा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा। णेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदवाइं सेसदव्वाणं कति भागे होज्जा ? किं संखिज्जइ भागे होज्जा असंखिज्जइ भागे होज्जा संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा ? वो

संखेज्जइ भागे होज्जा नो असंखिज्जइ भागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागे होज्जा। एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि भाणिअव्वाणि। (सूत्र-८७)

नैगमव्यवहारयोस्त्र्यणुकस्कन्धादीन्यनन्ताणुकस्कन्ध- पर्यन्तानि सर्वाण्यप्यानुपूर्वीद्रव्याणि शेषद्रव्याणां समस्तानानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्य-लक्षणानां 'कति भागे होज्ज' त्ति-कति भागे भवन्तीत्यर्थः, किं संख्याततमभागे भवन्ति, यथा असत्कल्पनया शतस्य विंशतिमिताः किमसंख्याततमे भागे भवन्ति ? यथा शतस्यैव दश, अथ संख्यातेषु भागेषु भवन्ति? यथा शतस्यैव चत्वारिंशत्षष्टिर्वा, किमसंख्यातेषु भागेषु भवन्ति ? यथा शतस्यैवाशीतिरिति प्रश्नः अत्रनिर्वचनम् '-नो संखेज्जइभागे होज्जा' इत्यादि, नियमात् 'असंखेज्जेसु भागेसु होज्ज' त्ति-इह तृतीयार्थे सप्तमी, ततश्चानुपूर्वीद्रव्याणि शेषेभ्योऽनानुपूर्व्यवक्त-व्यकद्रव्येभ्योसंख्येयैर्भागैरधिकानि, भवन्तीनि वाक्यशेषो द्रष्टव्यः ततश्चायमर्थः प्रतिपत्तव्यः-आनुपूर्वीद्रव्याणि शेषद्रव्येभ्योऽसंख्येय-गुणानि, शेषद्रव्याणि तु तदसंख्येयभागे वर्त्तन्ते, न पुनः शतस्याशीतिरिवानुपूर्वीद्रव्याणि शेषेभ्यः स्तोकानीति कस्मादेवं ? व्याख्याते- स्तोकान्यपि तानि भवन्त्विति चेत् नैतदेवम, अघटमानकत्वात् , तथाहि- अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येषु एकाकिनः परमाणुपुद्गला द्व्यणुकाश्च स्कन्धा इत्येतावन्त्येव द्रव्याणि लभ्यन्ते, शेषाणि तु त्र्यणुकस्कन्धादीन्यनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तानि द्रव्याणि समस्ता-न्यप्यानुपूर्वीरूपाण्येव तानि च पूर्वेभ्योऽसंख्येयगुणानि, यदुक्तम्-''एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखिज्जपएसियाणं असंखेज्जपएसियाणं अणंतपएसियाण य खंधाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा! सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा, परमाणुपोग्गला अणंतगुणा, संखिज्जपएसिया खंधा संखिज्जगुणा असंखेज्जपएसिया खंधा असंखेज्जगुणा'' तदर्थ सूत्रे पुद्गलजातेः सर्वस्यापि सकाशादसंख्यातप्रदेशिकाः स्कन्धा असंख्यातगुणा उक्तास्ते चानुपूर्व्यामन्तर्भवन्ति, अतः तदपेक्षया आनुपूर्वीद्रव्याणि शेषात्समस्तादपि द्रव्यादसंख्यातगुणानि, किं पुनरनानुपूर्व्य-वक्तव्यकद्रव्यमात्रात्, ततो यथोक्तमेव व्याख्यानं कर्तव्यमित्यलं विस्तरेण । 'अणाणुपुव्विदव्वाइमि' त्यादि । इहानानुपूर्वीद्रव्या-ण्यवक्तव्यकद्रव्याणि च शेषद्रव्याणां यथा असंख्याततम एवं भागे भवन्ति, न शेषभागेषु तथा अनन्तरोक्तन्यायादेव भावनीयमिति। उक्तं भागद्वारम।

साम्प्रतं भावद्वारमाह-

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं कतरंमि भावे होज्जा ? किं उदइए भावे होज्जा उवसमिए भावे होज्जा खइए भावे होज्जा खओवसमिए भावे होज्जा पारिणामिए भावे होज्जा संनिवाइए भावे होज्जा ? णिअमा सादिपारि- णामिए भावे होज्जा, अणाणुपुव्विदव्वाणि, अवत्तव्व- गदव्वाणि अ; एवं चेव भाणिअव्वाणि (सूत्र-८८)

'नेगमववहराणमि' त्यादि प्रश्नः, अत्र चौदयिकादिभावानां शब्दार्थौ भावार्थश्च विस्तरेणोपरिष्टात् स्वस्थान एव वक्ष्यते, अत्र निर्वचनसूत्रे नियमा 'साइपारिणामिए भावे होज्ज' त्ति-परिणमनं-द्रव्यस्य तेन तेन रूपेण वर्त्तनं- भवनं परिणामः, स एव पारिणामिकः तत्र भवस्तेन वा निर्वृत्त इति वा पारिणामिकः, स च द्विविधः-सादिः, अनादिश्च। तत्र धर्म्मास्तिकायाद्यरूपि द्रव्याणामनादिपरिणामोऽनादिकालत्तद्द्रव्यत्वेन तेषां परिणतत्वाद्, रूपिद्रव्याणां तु सादिः परिणामः अभ्रेन्द्रधनुरादीनां तथा परिणतेरनादित्वाभावाद्, एवं च स्थिते नियमाद् अवश्यंतया आनुपूर्वीद्रव्याणि सादिपारिणामिक एव भावे भवन्ति, आनुपूर्वीत्वपरिण-तेरनादित्वासंभवात, विशिष्टैकपरिणामेन पुद्गलानामसंख्येयकाल-मेवावस्थानादिति भावः। अनानु-पूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येष्वपीत्थमेव भावना कार्या इति। उक्तं भाव-द्वारम।

इदानीमल्पबहुत्वदारं विभणिषुराह-

एएसिं णं भंते ! णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाणं अणाणुपुव्विदव्वाणं अवत्तव्वगदव्वाण य दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसेसाहिआ वा ? गोयमा ! सवत्थो- वाइं णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए अणा- णुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं पएसट्ठयाए णेगमववहाराणं सव्वत्थोवाइं अणाणुपुव्विदव्वाइं अपएसट्ठयाए अवत्त- व्वगदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहिआइं आणुपुव्विदव्वाइं पएसट्ठयाए अणंतगुणाइं दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए अणाणुपुव्वि- दव्वाइं दव्वट्ठयाए अपएसट्ठयाए विसेसाहियाइं अवत्तव्व- गदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं ताइं चेव पएसट्ठयाए अनंतगुणाइं। सेत्तं (तं) अणुगमे। सेत्तं (तं) णेगमववहाराणं अणोवणिहिआ दव्वाणुपुव्वी। (सूत्र-८९)

द्रव्यमेवार्थो द्रव्यार्थस्तस्य भावो द्रव्यार्थता तया; द्रव्यत्वेन इत्यर्थः, प्रकृष्टो- निरंशो देशः प्रदेशः स चासावर्थश्च प्रदेशार्थस्तस्य भावः प्रदेशार्थता तया, परमाणुत्वेनेति भावः, द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया तु यथोक्तोभयरूपतयेति भावः, तदयमर्थः एतेषां आनुपूर्व्या-दिद्रव्याणां मध्ये 'कयरे-कयरेहिंतो' त्ति-कतराणि कान्याश्रित्य द्रव्यापेक्षया प्रदेशापेक्षया उभयापेक्षया वाऽल्पानि। विशेषहीन-त्वादिना बहूनि असंख्येयगुणत्वादिना तुल्यानि समसंख्यत्वेन विशेषाधिकानि किंचिदाधिक्येनेति वाशब्दाः पक्षान्तरवृत्ति-द्योतकाः, इति पृष्टे वाचः क्रमवर्तित्वाद् द्रव्यार्थतापेक्षया तावदुत्तर-मुच्यते, तत्र 'सव्वत्थोवाइं नेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए' त्तिनैगमव्यवहारयोः द्रव्यार्थतामपेक्ष्य तावद-वक्तव्यकद्रव्याणि सर्वेभ्योऽन्येभ्यः स्तोकानि सर्वस्तो-

कानि अनानुपूर्वीद्रव्याणि तु द्रव्यार्थतामेवापेक्ष्य विशेषाधिकानि कथम् ? वस्तुस्थितिस्वभावात्, उक्तं च-''एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं दुपएसियाणं खंधाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा० ? गोयमा ! दुपएसिएहिंतो खंधेहिंतो परमाणुपोग्गला बहुग'' त्ति-तेभ्योऽपि आनुपूर्वीद्रव्याणि द्रव्यार्थ- तयैवासंख्येयगुणानि, यतोऽनानुपूर्वीद्रव्येष्वेव वक्तव्यकद्रव्येषु च परमाणुलक्षणं द्व्यणुकस्कन्धलक्षणं चैकैकमेव स्थानं लभ्यते, आनुपूर्वीद्रव्येषु तु त्र्यणुकस्कन्धादीन्येकोत्तरवृद्ध्यानन्ताणुक स्कन्धपर्यन्तान्यनन्तानि स्थानानि प्राप्यन्ते, अतः स्थान-बहुत्वादानु-पूर्वीद्रव्याणि पूर्वेभ्योऽसंख्यातगुणानि। ननु यदि तेषु स्थानान्यनन्तानि तर्ह्यनन्तगुणानि पूर्वेभ्यस्तानि कस्मान्न भवन्तीति चेत, नैवम्, यतोऽनन्ताणुकस्कन्धाः केवलानानुपूर्वीद्रव्योभ्योऽप्यनन्तभागवर्तित्वात् स्वभावादेव स्तोका इति न किंचित्तैरिह वर्द्धयते अतोवस्तुवृत्त्या किलासंख्यातान्येव तेषु स्थानानि प्राप्यन्ते तदपेक्षया त्वसंख्यातगुणा-न्येव तानि एतच्च पूर्वं भागद्वारे लिखितप्रज्ञापनासूत्रात्सर्वं भावनीयमित्यलं विस्तरेण। उक्तं द्रवयार्थतया अल्पबहुत्वम् , इदानी प्रदेशार्थतया तदेवाह- 'पएसट्ठयाए सव्वथोवाइं नेगमववहाराणमि' त्यादि, नैगमव्यवहारयोः प्रदेशार्थतया अल्पबहुत्वे चिन्त्यमाने अनानुपूर्वीद्रव्याणि सर्वेभ्यः स्तोकानि कुत इत्याह- 'अपएसट्ठयाए' त्ति-प्रदेशलक्षण-स्यार्थस्य तेष्वभावादित्यर्थः, यदि हि तेषु प्रदेशाः स्युस्तदा द्रव्यार्थता-यामिव प्रदेशार्थता- यामप्यवक्तव्यकापेक्षयाधिकत्वं स्यात्, नचैतदस्ति ''परमाणुरप्रदेश'' इति वचनाद् अतः सर्वस्तोकान्येतानि ननु यदि प्रदेशार्थता तेषु नास्ति तर्हि तया विचाराऽपि तेषां न युक्त इति चेत्, न, एतदेवम्-प्रकृष्टः- सर्वसूक्ष्मः पुद्गलास्तिकायस्य देशो-निरंशो भागः-प्रदेश व्युत्पत्तेः प्रतिपरमाणुप्रदेशार्थता- भ्युपगम्यत एव आत्मव्यतिरिक्त-प्रदेशान्तरापेक्षया त्वप्रदेशा- र्थतेत्यदोषः, अवक्तव्यकद्रव्याणि प्रदेशार्थतयाऽनानुपूर्वीद्रव्येभ्यो विशेषाधिकानि यतः किलासत्कल्पनया अवक्तव्यकद्रव्याणां षष्टिः अनानुपूर्वीद्रव्याणां तु शतम्, ततो द्रव्यार्थताविचारे एतानीतरापेक्षया विशेषाधिकान्युक्तानि, अत्र तु प्रदेशार्थताविचारे अनानुपूर्वीद्रव्याणां निष्प्रदेशत्वात्तदेव शतमवस्थितम् अवक्तव्यकद्रव्याणां त्विह प्रत्येकं द्विप्रदेशत्वाद् द्विगुणितानां विंशत्युत्तरं प्रदेशशतं जायते इति तेषामितरेभ्यः प्रदेशार्थतया विशेषाधिकत्वं भावनीयम् । आनुपूर्वीद्रव्याणि प्रदेशार्थतया अवक्तव्यकद्रव्ये भ्योऽनन्तगुणानि भवन्ति, कथम् ? यतो द्रव्यार्थतयापि तावदेतानि पूर्वेभ्योऽसंख्यातगुणान्युक्तानि यदा तु संख्यातप्रदेशिकस्कन्धा-नामसंख्यातप्रदेशिकस्कन्धानामनन्ताणुकस्कन्धानां च सम्बन्धिनः सर्वेऽपि प्रदेशा विवक्ष्यन्ते तदा महानसौ राशिर्भवतीति प्रदेशार्थत-याऽमीषां पूर्वेभ्योऽनन्तगुणत्वं भावनीयम्। उक्तं प्रदेशार्थतयाऽल्प-बहुत्वम। इदानीमुभयार्थतामाश्रित्य तदाह-'दव्वट्ठपएसट्ठयाए' इत्यादि इहोभयार्थताधिकारेऽपि यदेवाल्पं तदेवाऽऽदौदर्श्यते-अवक्तव्यकद्रव्याणि च सर्वाऽल्पानि इति प्रथममेवोक्तम्, 'सव्वत्थोवाइं नेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए' त्ति- अपरं चोभयार्थताधिकारेऽपि-''अणाणुपुव्विदवाइं दव्वट्ठयाए'' इत्यादि यदुक्तम्- अपएसट्ठयाए' त्ति-तदात्मव्यतिरिक्त-प्रदेशान्तराभावतोऽनानुपूर्वीद्रव्याणामप्रदेशिक-त्वादिति मन्त-व्यम्। ततश्चेदमुक्तं भवति-द्रव्यार्थतया अप्रदेशार्थतया च विशिष्टान्यनानुपूर्वीद्रव्याण्यवक्तव्यकद्रव्येभ्यो विशेषाधिकानि शेषभावना तू प्रत्येकचिन्तावत्सर्वा कार्या । आह-यद्येवं प्रत्येकचिन्तायामेव प्रस्तुतोऽर्थ सिद्धः किमनयोभयार्थता-चिन्तयेति चेत्, नैवम, यत आनुपूर्वीद्रव्येभ्यस्तत्प्रदेशाः किय-ताप्यधिका इति प्रत्येकचिन्तायां न निश्चतम् अत्र तु-'ताइं चेव पएसट्ठयाए अणंतगुणाइं'' इत्यनेन तन्निर्णीतमेव ततो-ऽनवगतार्थप्रतिपादनार्थत्वात्प्रत्येकावस्थातो भिन्नैवोभया- वस्था वस्तूनामिति दर्शनार्थत्वाच्च युक्तमेवोभयार्थ-ताचिन्तन- मित्यदोषः। तदेवमुक्तो नवविधोऽप्यनुगम इतिनिगमयति। 'से तं अणुगमे' त्ति। तद्गणने च समर्थिता नैगमव्यवहारयोरनौप-निधिकी द्रव्यानुपूर्वी इति निगमयति । 'से तं नेगमे' त्यादि, व्याख्याता नैगमव्यवहारनयमतेन अनोपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी।

(५) साम्प्रतं संग्रहनयमतेन तामेव व्याचिख्यासुराह-

से किं तं संगहस्स अणोवणिहिआ दव्वाणुपुव्वी ? संगहस्स अणोवणिहिआ दव्वाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोआरे४, अणुगमे५। (सूत्र ९०)

सामान्यमात्रसंग्रहणशीलः संग्रहो नयः, अथ तस्य संग्रहन-यस्य किं तद्वस्त्वनौपनिधिकीद्रव्यानुपूर्वीति प्रश्नः, आहननु ''नेगमसंगहववहारे'' त्यादिसूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगमानन्तरं संग्रहस्योपन्यासो युक्तः, तत्किमिति व्यवहारमपि निर्दिश्य ततोऽमुच्यत इति, सत्यम्, किं तु नैगमव्यवहा-रयोरत्र तुल्य-मतत्वाल्लाघवार्थं युगपत्तन्निर्देशं कृत्वा पश्चात्संग्रहोनिर्दिष्ट इत्यदोषः, अत्र निर्वचनमाह-'संगहस्स अणोव-णिहिया दव्वाणुपुव्वी पंचविहा पणत्त' त्ति-संग्रहनयमतेनाप्यनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी प्राक्प्ररूपितशब्दार्था पञ्चभिरर्थपद-प्ररूपणतादिभिः प्रकारैर्विचार्य-माणत्वात् पञ्चविधाश्चप्रकारा प्रज्ञप्ता तदेव दर्शयति-'तं जहे' त्यादि, अत्रव्याख्या पूर्ववदेव।

से किं तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया ? संगहस्स अट्ठपयपरूवणया तिपएसिए आणुपुव्वी चउप्पएसिए आणुपुव्वी ०जाव दसपएसिए आणुपुव्वी संखिज्जपएसिए आणपुव्वी असंखिज्जपएसिए आणुपुव्वी अणंतपएसिए आणुपुव्वी परमाणुपुग्गले अणाणुपुव्वी, दुपएसिए अवत्त-व्वए। सेत्त (तं) संगहस्स अट्ठपयपरूवणया। (सूत्र-९१)

यावत 'तिपएसिए आणुपुव्वी' इत्यादि-इह पूर्वमेक-स्त्रिप्रदेशिक आनुपूर्वी अनेके त्रिप्रदेशिका आनुपुर्व्य इत्याद्युक्तम, अत्र तु संग्रहस्य सामन्यवादित्वात्सर्वेऽपि त्रिप्रदेशिका एकैवानुपूर्वी इमां चात्र युक्तिमयमभिधत्ते त्रिप्रदेशिकाः स्कन्धास्त्रिप्रदेशिकत्वसामान्याद्व्य-तिरेकिणः, अव्यतिरेकिणो वा ? यद्याद्यः पक्षस्तर्हि ते त्रिप्रदेशिकाः स्कन्धाः त्रिप्रदेशिका

एव न भवन्ति, तत्सामान्यव्यतिरिक्तत्वात, द्विप्रदेशिकादिवा-दिति। अथ चरम: पक्षस्तर्हि सामान्यमेव ते तदव्यतिरे-कात्तत्स्वरूपवत्सामान्यं चैकस्वरूपमेवेति सर्वेऽपि त्रि-प्रदेशिका एकैवानुपूर्वी एवं चतु: प्रदेशिकत्वसामा- न्याऽव्यतिरेकात्सर्वेऽपि चतु:प्रदेशिका एकैवानुपूर्वी एवं यावदनन्तप्रदेशिकत्वसामान्याऽव्यतिरेकात्सर्वेऽप्यनन्त-प्रदेशिका एकैवानुपूर्वी इत्यविशुद्धसंग्रहनयमतं विशुद्धसंग्रह- नयमतेन तु सर्वेषां त्रिप्रदेशिकादीनामनन्ताणुकपर्यन्तानां स्कन्धानामानुपूर्वीत्वसामान्या-व्यतिरेकाद् व्यतिरिक्ते चानु-पूर्वीत्वाभावप्रसङ्गात्सर्वाऽप्येक-कैवानुपूर्वीति। एवमनानु-पूर्वीत्वसामान्याव्यतिरेकात्सर्वेऽपि परमाणुपुद्गला एकैवानानुपूर्वी तथा अवक्तव्यकत्वसामान्यव्यति-रेकात्सर्वेऽपि द्विप्रदेशिकस्कन्धा एकमेवावक्तव्यकमिति सामान्यावा-दित्वेन सर्वत्र बहुवचनाभाव:। 'सेत्तमि' त्यादि, निगमनम्।

भङ्गसमुत्कीर्त्तनतां निर्दिदिक्षुराह-

एआए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं ? एआए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणायाए संगहस्स भंग-समुक्कित्तणया कज्जइ। से किं तं संगहस्स भंग-समुक्कित्तणया ? संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आणुपुव्वी ? अत्थि अणाणुपुव्वी २, अत्थि अवत्तव्वए ३, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ, अणाणुपुव्वी अ ४, अहवा अत्थि आणुपुव्वी अ, अवत्तव्वए अ ५, अहवा-अत्थि अणाणुपुव्वी अ, अवत्तव्वए अ ६, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ, अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ७, एवं सत्तभंगा। सेत्तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया। एआए णं संगहस्स भङ्ग-समुक्कित्तणयाए किं पओअणं ? एआए णं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणयाए। संगहस्स भंगोवदंसणया कीरइ। (सूत्र ९२)

'एआए णमि' त्यादि अत्रापि व्याख्या कृतैव द्रष्टव्या यावत् 'अत्थि आणुपुव्वी' त्यादि इहैकवचनान्तास्त्रय, एव प्रत्येक्तभङ्गा:, सामान्यवादित्वेन व्यक्तिबहुत्वाभावतो बहुवचनाभावाद् आनुपूर्व्यादिप-दत्रयस्य च त्रयो द्विकयोगा भवन्ति एकैकस्मिँश्च द्विकयोगे एकवचनान्त एक एव भङ्ग:, त्रिकयोगेऽपि एक एवैक-वचनान्त इति, सर्वेऽपि सप्त भङ्गा: संपद्यन्ते, शेषास्त्वेकोन-विंशतिर्बहुवचनसंभवित्वान्न भवन्ति। अत्र स्थापना-आनुपूर्वी १ अनानुपूर्वी १, अवक्तव्यक १, इति त्रय प्रत्येकभङ्गा:, आनुपूर्वी १, अनानुपूर्वी १, इति प्रथमो द्विकयोग: आनुपूर्वी १ अवक्तव्यक १, इति द्वितीयो द्विकयोग:। अनानुपूर्वी अवक्तव्यक इति तृतीयो द्विकयोग:। आनुपूर्वी १, अनानुपूर्वी १, अवक्तव्यक १, इति त्रिकयोग:, एवमेते सप्त भङ्गा: 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम्।

भङ्गोपदर्शनतां विभणिषुराह-

से किं तं संगहस्स भंगोवंदसणया १, संगहस्स भंगोवदंसणया तिपएसिया आणुपुव्वी परमाणुपोग्गला अणाणुपुव्वी दुपएसिया अवत्तव्वए, अहवा-तिपएसिया अ परमाणुपोग्गला य आणुपुव्वी य, अणाणुपुव्वी य, अहवा-तिपएसिया य दुपएसिया अ आणुपुव्वी य अवत्तव्वए य, अहवा-परमाणुपोग्गला अ दुपएसिया य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य, अहवा-तिपएसिया य परमाणुपोग्गला य दुपएसिया य आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य। सेत्तं संगहस्स भंगोवदंसणाया। (सूत्र-९३)

अत्राऽपि सप्त भङ्गास्त एवाऽर्थकथनपुरस्सरा भावनीया:, भावार्थस्तु सर्वं: पूर्ववत्, 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम्।

अथ समवताराऽभिधित्सया प्राऽऽह-

से किं तं संगहस्स समोआरे ? संगहस्स समोआरे संगह-स्स आणुपुव्विदव्वाइं कहिं समोयरंति ? किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोयरंति ?अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोयरंति ? अवत्तव्वगदव्वेहिं समोयरंति ? संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं आणुपुव्विदव्वेहिं समोयरन्ति, णो अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोयरंति, णो अवत्तव्वगदव्वेहिं समोय-रंति, एवं दोण्णि वि सट्ठाणे सट्ठाणे समोयरंति। सेत्तं (तं) समोयारे। (सूत्र ९४)

'से किं तं संगहस्स समोयारे' इत्यादि। इदं च द्वारं पूर्ववन्निखिलं भावनीयम्।

अथाऽनुगमं व्याचिख्यासुराह-

से किं तं अणुगमे ? अणुगमे अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा-संतपयपरूवणया १,

दव्वपमाणं च २, खित्त ३, फुसणा य ४।

कालो य ५ अंतर ६ भाग

७ भावे ८ अप्पाबहुं णऽत्थि ॥१+॥'

'से किं तं अणुगमे' त्ति-अत्रोत्तरम् 'अणुगमे अट्ठविहे पन्नत्ते' इति पूर्वं नवविध उक्तोऽत्र त्वष्टविध एव, अल्पबहुत्वद्वारा- भावात्तदेवाष्टविधत्वं दर्शयति- तद्यथेत्युपदर्शनार्थ: ' संतपयगाहा' इयं पूर्वं व्याख्यातैव नवरम् 'अप्पाबहुं नऽत्थि' संग्रहस्य सामान्यवादित्वासामान्यस्य च सर्वत्रैकत्वादल्पबहुत्वविचारोऽत्र न संभवतीत्यर्थ:।

तत्र सत्पदप्ररूपणताभिधानार्थमाह-

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि ? नऽत्थि ? नियमा अत्थि, एवं दोण्णि वि ×।

'संगहस्से' त्यादि, ननु संग्रहविचारे प्रक्रान्ते आनुपूर्वी-द्रव्याणि सन्तीत्यनुपपन्नम् आनुपूर्वीसामान्यस्यैवैकस्य ते नास्ति-त्वाभ्युपगमात् सत्यं मुख्यरूपतया सामान्यमेवास्ति, गुणभूतं च व्यवहारमात्रनिबन्धनं द्रव्यबाहुल्यमप्यसौ वदतीत्यदोष: शेषभावना पूर्वविदिति।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं किं संखेज्जाइं, असंखेज्जाइं,

अणंताइं ? नो संखिज्जाइं, नो असंखिज्जाइं, नो अणंताइं। णिअमा एगो रासी, एवं दोण्णि वि +।

द्रव्यप्रमाणद्वारे यदुक्तं नियमा 'एगो रासि' त्ति-अत्राह-ननु यदि संख्येयादिस्वरूपाण्येतानि न भवन्ति तर्ह्येको राशिरित्यपि नोपपद्यते, द्रव्यबाहुल्ये सति तस्योपपद्यमानत्वाद्, व्रीह्यादिराशिषु तथैव दर्शनात्, सत्यं किंत्वेकोराशिरिति वदतः कोऽभिप्रायः बहूनामपि तेषामानुपूर्वीत्व-सामान्येनैकेन क्रोडीकृतत्वादेकत्वमेव, किं च यथा विशिष्टैकपरिणाम-परिणते स्कन्धे तदारम्भकाऽवय-वानां बाहुल्येऽप्येकतैव मुख्या तद्वदवात्राऽऽपूर्वीद्रव्यबाहुल्येऽपि तत्सामान्यस्यैकरूपत्वादेकत्वमेव मुख्यमसौ नयः प्रतिपद्यते, तद्वशेनैव तेषामानुपूर्वीत्वसिद्धेः, अन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, तस्मान्मुख्यस्यैकत्वस्याऽनेन कक्षीकृतत्वात्संख्येय-रूपतादि-निषेधो गुणभूतानि तू द्रव्याण्याश्रित्य राशिभावोऽपि न विरुध्यते, एवमन्यत्रापि भावनीयमित्यलं प्रपञ्चेन।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स कइ भागे होज्जा ? किं संखेज्जइभागे होज्जा असंखेज्जइभागे होज्जा। संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा सव्वलोए होज्जा ? नो संखिज्जइभागे होज्जा नो असंखेज्जइभागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा णो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा; णिअमा सव्वलोए होज्जा, दोण्णि वि। संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखेज्जइभागं फुसंति असंखेज्जइभागं फुसंति। संखेज्जे भागे फुसंति असंखेज्जे भागे फुसंति सव्वलोअं फुसंति, नो संखेज्जइभागं फुसंति नो असंखेज्जइभागं फुसंति। नो संखेज्जे भागे फुसंति, नो असंखेज्जे भागे फुसंति। णिअमा सव्वलोगं फुसंति। एवं दोण्णि वि +।

'क्षेत्रद्वारे' नियमा सव्वलोए होज्ज' त्ति आनुपूर्वासामान्य-स्यैकरूपत्वाद् सर्वलोकव्यापित्वाच्चेति भावनीयम, (एकत्वमेव मुख्यमसौ नयः प्रतिपद्यते तद्वशेनैव तेषामानुपूर्वीद्वाराण्येव) एवमितरद्वयेऽप्यभ्यूह्यमिति स्पर्शनाद्वारमप्येवमेव चिन्तनीयमिति।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं कालओ केवच्चिरं होन्ति ? णिअमा सव्वद्धा, एवं दोण्णि वि। संगहस्स आणुपुव्विदव्वाणं कालओ केवच्चिरं अंतरं होइ ? नऽत्थि अंतरं, एवं-अणाणुपुव्वीदव्वाणं, अवत्तव्वगदव्वाण वि।

कालद्वारेऽपि तत्सामान्यस्य सर्वदा अव्यवच्छिन्नत्वात् त्रयाणामपि सर्वाऽद्धावस्थानं भावनीयमिति, अत एवाऽन्तरद्वारे नास्त्यन्तरमित्युक्तं तद्भावव्यवच्छेदस्य कदाचिदप्यभावादिति।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं सेसदव्वाणं कति भागे होज्जा ? किं संखेज्जइ भागे होज्जा असंखेज्जइभागे होज्जा संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा ? नो संखेज्जइभागे होज्जा नो असंखेज्जइभागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा नो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा णियमा तिभागे होज्जा, एवं दोण्णि वि+।

भागद्वारे- 'नियमा तिभागे होज्ज' त्ति-त्रयाणां राशिनामेको राशिस्त्रिभाग एव वर्त्तत इति भावः, यत्तु राशिगतद्रव्याणां पूर्वोक्तमल्प-बहुत्वं तदत्र न गण्यते, द्रव्याणां प्रस्तुतनयमते व्यवहारसंवृत्तिमात्रेणैव सत्त्वादिति।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं कतरम्मि भावे होज्जा ? णिअमा साइपारिणामिए भावे होज्जा, एव दोण्णि वि+।

भावद्वार- 'सादिपारिणामिए भावे होज्ज' त्ति- यथा आनुपूर्व्यादिद्र-व्याणामेतद्भावर्त्तित्वं पूर्वं भावितं, तथा अत्रापि भावनीयम्, तेषां यथास्वं सामान्यादव्यतिरिक्तत्वादिति।

संगहस्स अप्पाबहुं नऽत्थि। सेत्त अणुगमे। सेत्तं संगहस्स अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी। सेत्तं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी। (सूत्र-९५)

अल्पबहुत्वद्वाराऽसंभवस्तु उक्त इति समर्थितोऽनुगमः, तत्स-मर्थने च समर्थिता संग्रहनयमतेनानौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी, तत्समर्थने च व्याख्याता सर्वथापीयम, अतः 'सेत्तमि' त्यादि, निगमनत्रयम। गता अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी।

(६) साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टामेवौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी व्याचिख्या-सुराह-

से किं तं उ (ओ)वणिहिया दव्वाणुपुव्वी ? उवणिहिया दव्वाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छा-णुपुव्वी, अणाणुपुव्वी य। (सूत्र-९६)

'से किं तमि' त्यादि, अथ केयं प्राग्निर्णीतशब्दार्थमात्रा औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वीति प्रश्नः, अत्र निर्वचनम् औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-पूर्वानुपूर्वी त्यादि, उपनिधिर्निक्षेपो विरचनं प्रयोजनमस्या इत्यौपनिधिकी द्रव्य-विषया आनुपूर्व्यापरिपाटि-र्द्रव्यानुपूर्वी सा त्रिप्रकारा, तत्र विविक्षितधर्म्मास्तिकायादि-द्रव्यविशेषस्तत्समुदाये यः पूर्वः- प्रथमः तस्मादारभ्यानुपूर्वी-अनुक्रमः परिपाटिर्निक्षप्यते-विरच्यते यस्यां सा पूर्वानुपूर्वी तत्रैव यः पाश्चात्यः- चरमस्तस्मादारभ्य व्यत्ययेनैवानुपूर्वी परिपाटिर्विरच्यते यस्यां सा निरुक्तविधिना पश्चानुपूर्वी न आनुपूर्वी अनानुपूर्वी। यथोक्तप्रकार-द्वयाति- रिक्तस्वरूपेत्यर्थः।

तत्राऽऽद्यभेदं तावन्निरूपयितुं प्रश्नमाह-

से किं तं पुव्वाणुपुव्वी १, पुव्वाणुपुव्वी छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अद्धासमए। सेत्तं पुव्वाणुपूर्वी+।

(धर्मास्तिकायपदव्याख्या 'धम्मत्थिकाय' शब्दे चतुर्थे भागे वक्ष्यते) (अधर्मास्तिकायव्याख्या 'अध(ह)म्मत्थिकाय'

शब्दे प्रथमभागे ५६७ पृष्ठे गता) (विशेषतः स्वरूपम् 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे ५१३ पृष्ठे गतम्) (आकाशास्तिकायव्याख्या 'आगासत्थिकाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे प्राग् गता) अत्र च जीवपुद्गलानां गत्यन्थानुपपत्तेधर्माऽस्तिकायस्य तेषामेव स्थित्यन्यथानुपपत्तेरधर्मास्तिकायस्य सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । अनु० । (जीवास्तिकायव्याख्या 'जीवत्थिकाय' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते) पुद्गलास्तिकायस्य तु घटादिकार्यान्यथानुपपत्तेः कालोऽप्यस्ति बकुलाशोकचम्पकादिषु पुष्पफलप्रदानस्या- नियमेनादर्शनात् , यस्तु तत्र नियामकः स काल इति, स्वभावादेव तु तद्भवने ''नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा०'' इत्यादि दूषणप्रसङ्गः, अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थदुरवगमता- भयादिति। आह-धर्मास्तिकायस्य प्राथम्यम् अधर्मास्तिकायादीनां तु तदनन्तरं क्रमेणेत्थं निर्देशः कुतः सिद्धः? येनात्र पूर्वानुपूर्वीरूपता स्यादिति, अत्रोच्यते-आगमेइत्थमेव पठितत्वात्तत्रापि कथ-मित्येव पाठ इति चेत् उच्यते-धर्म्मास्तिकाय इत्यत्र यदाद्यं धर्म्मे' ति पदं तस्य माङ्गलिकत्वाद्धर्मास्तिकायस्य प्रथममुपन्यासः, ततस्तत्प्रतिपक्षात्वाद्धर्मास्तिकायस्य ततस्तदाधारत्वादा- काशास्तिकायस्य ततः स्वाभाविकाऽमूर्तत्वसाम्याज्जी- वास्तिकायस्य ततस्तदुपयोगित्वा-पुद्गलास्तिकायस्य ततो जीवाजीवपर्यायत्वात्तदनन्तरमद्धासमयस्योपन्यास इति पूर्वानुपूर्वीसिद्धिरिति।

अथ पश्चानुपूर्वीं निरूपयितुमाह-

से किं तं पच्छानुपुव्वी ? पच्छाणुपुव्वी छव्वि० तं० अद्धासमए पोग्गलत्थिकाए जीवत्थिकाए, आगासत्थिकाए अहम्मत्थि काए धम्मत्थिकाए। सेत्तं पच्छा (णु)नुपूव्वी।

'से किं तं पच्छाणुपुव्वी' इत्यादि, पाश्चात्यादारभ्य प्रतिलोमं व्यत्ययेनैव आनुपूर्वी-परिपाटीः क्रियते यस्यां सा पश्चानुपूर्वी अत्रोदाहरणमुत्क्रमेण, इदमेवाह- 'अद्धासमये' त्यादि, गतार्थ-मेव।

अथाऽनानुपूर्वीं पूर्वं निरूपयति-

'से किं तं अणानुपूव्वी ? अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए छगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दू (दु)-रूवूणो। सेत्तं अणानुपूव्वी। (सूत्र-९७)

'से किंतमि' त्यादि, अत्र निर्वचनम्-'अणाणुपुव्वीएताए चेव' इत्यादि, न विद्यते आनुपूर्वी यथोक्तपरिपाटिदयरूपा यस्यां सा अनानुपूर्वी विवक्षितपदानामनन्तरोक्तक्रमद्वयमुल्लङ्घ्य परस्पराऽसदृशैः संभवद्भिर्भङ्गकैर्न्यस्यां विरचना क्रियते साऽना-नुपूर्वीत्यर्थः। का पुनरियमित्याह- 'अन्नमण्णब्भासो' त्ति- अन्योन्यम् - परस्परमभ्यासो गुणनम् अन्योन्याऽभ्यासः 'दू (दु)रूवूणो' त्ति- द्विरूपन्यूनः आद्यन्तरूपरहितः अनानुपूर्वीति संटङ्कः। कस्यां विषये योऽसावभ्यास इत्याह-श्रेण्याम्-पङ्क्तौ, कस्यां पुनः श्रेण्यामित्याह 'एताए चेवे' ति- अस्या-मेवाऽनन्तराधिकृतधर्म्मास्तिकाया दिसंबन्धिन्याम् कथंभूताया-मित्याह-एक आदिर्यस्यां सां एकादिकी एकैक उत्तरः प्रवर्द्धमानो यस्यां सा एकोत्तरा तस्याम्, पुनः कथंभूतायामित्याह- 'छगच्छगताए' त्तिषण्णां गच्छः- समुदायः षड्गच्छस्तं गता-प्राप्ता-षड्गच्छगता तस्यां धर्म्मास्तिकायादिवस्तुषट्क-विषयायामित्यर्थः। आदौ व्यवस्थापितैककायाः पर्यन्ते न्यस्त-षट्काया धर्म्मास्तिकायादिवस्तुषट्कविषयायाः पङ्क्तेर्या परस्परगुणने भङ्गकसंख्या भवति सा आद्यन्तभङ्गकद्वयरहिता अनानुपूर्वीति भावार्थः तत्रोर्ध्वाधः किलैककादयः षट्पर्यन्ताः अङ्कास्थापिताः तत्र चैककेन द्विकेगुणिते जातौ द्वावेव, ताभ्यां त्रिको गुणितो जाताः षट्, तैरपि चतुष्को गुणितो जाता चतुर्विंशतिः पञ्चकस्य तु तद्गुणेन जातं विंशं शतं, षट्कस्य तदगुणने जातानि विंशत्याधिकानि सप्तशतानि, स्थापना ६-५-४-३-२-१ आगमतम्-७२० अत्राद्यो भङ्गःपूर्वानुपूर्वी अन्त्यश्च (स्तु) पश्चानुपूर्वीति तदपगमे शेषाण्यष्टादशोत्तराणि सप्तभङ्गकशतान्यनानुपूर्वीति मन्तव्यानिः । अत्र च भङ्गकस्व-रूपानयनार्थं करणगाथा-

''पुव्वाणुपुव्विहिट्ठा समयाभेएंण कुरु जहा जेट्ठं।
उवरिमतुल्लं पुरओ, निसेज्ज पुव्वक्कमो सेसे ॥१॥' इति।

व्याख्या इह विवक्षितपदानां क्रमेण स्थापना पूर्व्वानुपूर्वी-त्युच्यते तस्याः 'हेट्ठ' त्ति-अधस्तात्- द्वितीयादिभङ्गकान् जिज्ञासुः 'कुरु' त्ति-स्थापय एकादीनिपदानीति शेषः कथमित्याह ज्येष्ठस्यानतिक्रमेण यथाज्येष्ठं यो यस्यादौ स तस्य ज्येष्ठः, यथा द्विकस्यैको ज्येष्ठः, त्रिकस्य त्वेकको-ऽनुज्येष्ठश्चतुष्कादीनां तु स एव ज्येष्ठानुज्येष्ठ इति एवं त्रिकस्य द्विको ज्येष्ठः स एव चतुष्कस्यानुज्येष्ठः पञ्चकादीनां तु स एव ज्येष्ठानुज्येष्ठः इत्यादि, एवं च सति उपरितनाङ्कस्य अधस्ताज्ज्येष्ठो निक्षिप्यते, तत्रालभ्यमाने अनुज्येष्ठः तत्राप्यलभ्यमाने ज्येष्ठानुज्येष्ठं इति यथाज्येष्ठे निक्षेपं कुर्यात, कथमित्याह-समयाऽभेदेनेति समयः- सङ्केतः प्रस्तुतभङ्गकरचनव्यवस्था तस्य अभेदः- अनतिक्रमः, तस्य च भेदस्तदा भवति यदा तस्मिन्नेव भङ्गकेनिक्षिप्ताङ्कसादृशोऽपरोङ्कः पतति ततो यथोक्तं समयभेदं वर्ज्जयन्नेव ज्येष्ठाद्यङ्कनिक्षेपं कुर्यात् उक्तं च ''जहियम्मि उ निक्खित्ते, पुणरवि सो चेब होइ कायव्वो। सो होइ समयभेओ, वज्जेयव्वो पयत्तेणं॥१॥'' निक्षिप्तस्यचाङ्कस्य यथासंभवं 'पुरउ' त्ति-अग्रतः उपरितनाङ्कतुल्यंसदृशं यथा भवत्येवं न्यसेत्, उपरितनाङ्कसदृशानेवाङ्कान्निक्षिपेदित्यर्थः 'पुव्वक्कमो सेसे' त्ति-स्थापितशेषानङ्कान्निक्षिप्ताङ्कस्य यथासंभवं पृष्ठतः पूर्वक्रमेण स्थापयेदित्यर्थः, यः संख्येया लघुरेककादिः स प्रथमं स्थाप्यते वस्तुतया महान् द्विकादिः स पश्चादिति पूर्वक्रमः पूर्व्वानुपूर्विलक्षणे प्रथमभङ्गके इत्यमेव दृष्टत्वादिति भावः इत्यक्षरघटना। भावार्थस्तु दिङ्मात्रदर्शनार्थं सुखाधिगमया च त्रीणि पदान्याश्रित्य तावत् दर्श्यते, तेषां च परस्पराभ्यासे षड्भङ्गका भवन्ति, ते चैवमानीयन्ते-पूर्वानुपूर्वीलक्षण-स्तावत्प्रथमोभङ्गः, तद्यथा-१-२-३ अस्याश्च पूर्वानुपूर्व्या अधस्ताद्भङ्गकरचने क्रियमाणे एककस्य तावज्जयेष्ठ एव नास्ति द्विकस्य तु विद्यते एकः, स तदधो निक्षिप्यते, तस्य चाग्रतस्त्रिको दीयते, ''उवरिमतुल्लमि'' त्यादिवचनात्,पृष्ठ

तस्तु स्थापितशेषो द्विको दीयते, ततोऽयं द्वितीयो भङ्गः २-१-३ अत्र च द्विकस्य विद्यते एकको ज्येष्ठः परं नासौ तदधस्तान्निक्षिप्यते अग्रतः सदृशाङ्कपातेन समयभेदप्रसङ्गात्, एकस्य तु ज्येष्ठ एव नास्ति, त्रिकस्य तु विद्यते द्विको ज्येष्ठः स तदधस्तान्निक्षिप्यते, अत्र चाग्रभागस्य तावत्संभव एव पृष्ठतस्त्वस्थापितशेषावेककत्रिकौ क्रमेण स्थाप्येते ''पुव्वक्कमो सेसे त्ति'' वचनात्, ततस्तृतीयोऽयं भङ्गः १-३-२, अत्राप्येक-कस्य ज्येष्ठ एव नास्ति त्रिकस्य तु ज्येष्ठोऽस्ति द्विको न च क्षिप्यते अग्रे सदृशाङ्कपातेन समयभेदापत्तेस्ततोऽस्यैवानुज्येष्ठ एकः स्थाप्यते अग्रतस्तु द्विकः ''उवरिमतुल्लमि'' त्यादिवचनात्, पृष्ठतस्तु स्थापितशेषस्त्रिको दीयते इति चतुर्थोऽयं भङ्गः ३-१-२ एवमनया दिशा पञ्चमषष्ठावप्यभ्यूह्यौ, सर्वेषां चामीषामियं स्थापना १-२-३ अत्राप्याद्यभङ्गस्य पूर्वानुपूर्वीत्वादन्त्यस्य च पश्चानुपूर्वीत्वान्मध्यमा एव चत्वारो-ऽनानुपूर्वीत्वेन मन्तव्या एवमनया दिशा १-२-३ चतुरादिप-दसंभाविनोऽपि भङ्गाः भावनीयाः भूयांसश्चोत्तराध्ययन-टीकादिनिर्दिष्टाः प्रस्तुतभङ्गानयनोपायाः १-३-२। सन्ति नचोच्यन्ते अतिविस्तरभयात्, तदर्थिना तु तत एवावधारणीयाः। तदिदमत्र तात्पर्यं ३-१-२ पूर्वानुपूर्व्यां ताव-द्धर्म्मास्तिकायस्य प्रथमत्वमेव तदनुक्रमेणाधर्म्मास्ति- कायादीनां द्वितीयादित्वं पश्चानुपूर्व्यां २-३-१ त्वद्धासमयस्य प्रथमत्वं पुद्गलास्तिकायादीनां तु प्रतिलोमतया द्वितीयादित्वं अनानुपूर्व्यां त्वनियमेन क्वचिद्भङ्गके ३-२-१ कस्यचित्प्रथमा-दित्यलं विस्तरेण 'सेत्तमि' त्यादि, निगमनं, तदेवमत्र पक्षे धर्म्मास्तिकायादीनी षडपि द्रव्याणि पूर्वानुपूर्व्यादित्वेनोदाहृतानि।

साम्प्रतं त्वेकमेव पुद्गलास्तिकायमुदाहर्तुमाह-

अहवा-उवनिहिआ दव्वाऽऽणुपुव्वी, तिविहा पण्णत्ता, तं जहा पुव्वानुपुव्वी, पच्छानुपुव्वी, अणाणुपुव्वी। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ? पुव्वाणुपुव्वी परमाणुपोग्गले दुपएसिए तिपएसिए ०जाव दसपएसिए संखिज्जपएसिए असंखिज्ज-पएसिए अणंतपएसिए। सेत्तं पुव्वानुपूव्वी। से किं तं पच्छानुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी अणंतपएसिए असंखिज्जपएसिए संखिज्जपएसिए ०जाव दसपएसिए ०जाव तिपएसिए दुपएसिए परमाणुपोग्गले। सेत्तं पच्छानुपुव्वी।

'अहवा' इत्यादि, अत्र चौपनिधिक्या द्रव्यानुपूर्व्या ज्ञातमति त्रैविध्यं यत्पुनरप्युपन्यस्तं तत्प्रकारान्तभणनप्रस्तावादेवेति मन्तव्यम्।

से किं अणाणुपुव्वी ? अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए अणंतगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। सेत्तं अणाणुपुव्वी। सेत्तं उवणिहिआ दव्वाण-पुव्वी। सेत्तं जाणगवतिरित्ता दव्वाणुपुव्वी सेत्तं नोआगमतो दव्वाणुपुव्वी। सेत्तं दव्वाणुपुव्वी (सूत्र-९८)

'अणंतगच्छगताए' त्ति अत्रैकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धानामनन्तत्वादनन्तानां गच्छः समुदायोऽनन्तगच्छस्तं गता अनन्तगच्छगता तस्याम्, अत एव भङ्गाः अत्राऽनन्ताः एवाऽवसेया इति। शेषभावना च सर्वा पूर्वोक्तानुसारतः स्वयमप्यवसेयेति। आह-ननु यथैकः पुद्गलास्तिकायो निर्द्धार्य्य पुनरपि पूर्वानुपूर्व्या-दित्वेनोदाहृतः, एवं शेषा अपि प्रत्येकं किमिति नोदाहियन्ते? अत्रोच्यते-द्रव्याणां क्रमः परिपाट्यादिलक्षणः पूर्वानुपूर्व्यादि-विचारः इह प्रक्रान्तः, स च द्रव्यबाहुल्ये सति सम्भवति, धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशास्ति-कायेषु च पुद्गलास्तिकाय-वन्नाऽस्ति प्रत्येकं द्रव्यबाहुल्यम्, एकैकद्रव्यत्वात्तेषाम्, जीवास्तिकाये त्वनन्तजीवद्रव्यात्मकत्वादस्ति द्रव्यबाहुल्यं केवलं परमाणुद्विप्रदेशिकादिद्रव्याणमिव जीवद्रव्याणां पूर्वानुपूर्व्यादित्वनिबन्धनः प्रथमपाश्चात्यादिभावो नाऽस्ति, प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशत्वेन सर्वेषां तुल्यप्रदेशत्वापरमाणुद्विप्रदेशिका-दिद्रव्याणां तु विषमप्रदेशिकत्वादिति अद्धासमय- स्यैकत्वादेव तदसम्भव इत्यलमतिचर्चितेन, तदेवं समर्थिता औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी। तत्समर्थने च समर्थिता प्रागुद्दिष्टा द्विःप्रकारापि द्रव्यानुपूर्वी। ततः 'सेत्तमि' त्यादि निगमनानि, इति द्रव्यानुपूर्वी समाप्ताः उक्ताद्रव्यानुपूर्वी।

(७) अथ प्रागुद्दिष्टामेव क्षेत्रानुपूर्वी व्याचिख्यासुराह-

से किं तं खेत्ताऽऽणुपुव्वी ? खेत्ताणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-उवणिहिआ य, अणोवणिहिआ य। (सूत्र-९९)तत्थ णं जा सा उवणिहिआ सा ठप्पा।

'से किं तं खेत्ताणुपुव्वि' त्ति-इह क्षेत्रविषयानुपूर्वी क्षेत्रानुपूर्वी, का पुनरियमित्यत्र निर्वचनं-क्षेत्रानुपूर्वी द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-औपनिधिकी, पूर्वोक्तशब्दार्था अनौपनिधिकी च। तत्र या सा औपनिधिकी सा स्थाप्या; अल्पवक्तव्यत्वादुपरि वक्ष्यते इत्यर्थः।

तत्थ णं जा अणोवणिहिया सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-णोगमववहारणं, संगहस्स य। (सूत्र-१००)

तत्र या असौ अनौपनिधिकी सा नयवक्तव्यताश्रयणाद् द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा- नैगमव्यवहारयोः संग्रहस्य च; सम्म-तेति शेषः।

तत्र नैगमव्यवहारसम्मतां तावद्दर्शयितुमाह-

से किं तं णेगमववहाराणं अणोवनिहिआ खेत्ताऽऽणु-पुव्वी ? नेगमववहाराणं अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोआरे ४, अणुगमे ५, से किं तं णेगमवव-हाराणं अट्ठपयपरूवणया ? णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया तिपएसोगाढे आनूपूव्वी ०जाव दसपएसोगाढे आनुपुव्वी ०जाव संखिज्जपएसोगाढे आनुपुव्वी असंखिज्जपएसोगाढे आनुपुव्वी, एगपएसोगाढे अणानुपुव्वी, दुपएसोगाढे अवत्तव्वए, तिपएसोगाढा आनुपुव्वीओ ०जाव दसपएसोगाढा आनुपुव्वीओ, ०जाव

असंखिज्जपएसोगाढा आनुपुव्वीओ, एगपएसोगाढा अणानुपुव्वीओ, दुपएसोगाढा अवत्तव्वगाइं। सेत्तं णेगमववहाराणं अट्ठपयस्वरूणया। एआए णं णेगमववहाराणं अट्ठपय-रूवणयाए किं पओअणं ? एआए णेगमववहाराणं अट्ठपय-रूवणयाए णेगमववहाराणं भंगमुक्किक्त्तणया कज्जइ। से किं तं णेगमववहाराणं भंगमुक्किक्त्तणया ? णेगमववहाराणं भंगसमुक्किक्त्तणया अत्थि आनुपुव्वी, अत्थि अणानुपूव्वी, अत्थि अवत्तव्वए, एवं दव्वानुपुव्विगमेणं खेत्तानुपुव्वीएऽवी ते चेव छव्वीसं भंगा भाणिअव्वा, ०जाव सेत्तं णेगमवव-हाराणं भंगसमुक्किक्त्तणया। एआए णं णेगमववहाराणं भंगसमुक्किक्त्तणयाए किं पओअणं ? एआए णं णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्किक्त्तणयाए णेगमववहाराणं भंगोवदं-सणया कज्जइ। से किं तं णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया ? णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया तिपएसोगाढे आनुपुव्वी, एगपएसोगाढे अणानुपुव्वी दुपएसोगाढे अवत्तव्वए, तिपएसोगाढा आणुपुव्वीओ, एगपएसोगाढा अणानुपुव्वी ओ, दुपएसोगाढा अवत्तव्वगाइं, अहवा-तिपएसोगाढे अ, एगपएसोगाढे अ, आणुपुव्वी अ, अणाणुपुव्वी आ एवं तहा चेव दव्वाणुपुव्विगमेणं छव्वीसं भंगा भाणिअव्वा ०जाव सेत्तं णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया। से किं तं समोआरे ? समोआरे णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं कहिं समो-तरंति? किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोतरंति ? अणाणु-पुव्विदव्वेहिं समोतरंति ? अवत्तव्वगदव्वेहिं समोतरंति ? आणुपुव्विदव्वाइं आणुपुव्वि-दव्वेहिं समोतरंति, णो अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोतरन्ति णो अवत्तव्वगदव्वेहिं समोतरन्ति, एवं तिण्णि वि सट्ठाणे समोअरंति त्ति भाणिअव्वं सेत्तं समोतारे। से किं तं अणगुमे ? अणुगमे नवविहे पण्णत्ते, तं जहा- ''संतपयपरूवणया ०जाव अप्पा बहुं चेव'' १, णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि नऽत्थि ? णिअमा अत्थि, एवं दोण्णि वि+।

'से किं तमि' त्यादि, इह व्याख्या-यथा द्रव्यानुपूर्व्यां तथैव कर्त्तव्या, विशेषं तु वक्ष्यामः, तत्र तिपएसोगाढे आणुपुव्वि' त्ति-त्रिषु नभःप्रदेशेष्ववगाढः- स्थितः त्रिप्रदेशावगाढस्त्र्यणुकादिकोऽनन्ताणुकपर्यन्तो द्रव्यस्कन्ध एवानुपूर्वी, ननु यदि द्रव्यस्कन्ध एवानुपूर्वी कथं तर्हि तस्य क्षेत्रानुपूर्वीत्वं ? सत्यं किन्तु-क्षेत्रप्रदेशत्रयावगाह-पर्यायविशिष्टोऽसौ द्रव्यस्कन्धो गृहीतो नाविशिष्टः, ततोऽत्र क्षेत्रानुपूर्व्यधिकारात् क्षेत्रावगाहपर्यायस्य प्राधान्यात्सोऽपि क्षेत्रानुपूर्वीति न दोषः प्रदेशत्रयलक्षणस्य क्षेत्रस्यैवात्र मुख्यं क्षेत्रानुपूर्वीत्वं तदधिकारादेव किन्तु तदवगाढं द्रव्यमपि तत्पर्यायस्य प्राधान्येन विवक्षितत्वात् क्षेत्रानुपूर्वीत्वेन न विरुध्यत इति भावः यद्येवं तर्हि मुख्यं क्षेत्रं परित्यज्य किमिति तदवगाढद्रव्यस्यानुपूर्व्यादिभावश्चिन्त्यते ? उच्यते-'सन्तपयपरूवणये' त्यादिवक्ष्यमाणबहुतरविचार- विषयत्वेन द्रव्यस्य शिष्यमतिव्युत्पादनार्थत्वात् क्षेत्रस्य तु नित्यत्वेन सदावस्थितमानवत्वादचलत्वाच्च प्रायो वक्ष्यमाण-विचारस्य सुप्रतीतत्वेन तथाविधशिष्यमतिव्युत्पत्त्यविषयत्वाद्, एवमन्यदपि कारणमभ्यूह्यमित्यलं विस्तरेण। एवं चतुःप्रदेशा-वगाढादिष्वपि भावना कार्या, यावदसङ्ख्यातप्रदेशावगाढा आनुपूर्वीति असंख्यातप्रदेशेषु चावगाढोऽसंख्याताणुकोऽनन्ताणुको वा द्रव्यस्कन्धो मन्तव्यो, यतः पुद्गल-व्याणामवगाहमित्थं जगद्गुरवः प्रतिपादयान्तिपरमाणुराकाशस्यैकस्मिन्नेव प्रदेशेऽवगाहते, द्विप्रदेशिकादयोऽसंख्यातप्रदेशिकान्तास्तु स्कन्धाः प्रत्येकं जघन्यत एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहन्ते उत्कृष्टतस्तु यत्र स्कन्धे यावतः परमाण्वो भवन्ति स तावत्स्वेव नभःप्रदेशेष्ववगाहते, अनन्ताणुकस्कन्धस्तु जघन्यतस्तथैव उत्कृष्टतस्त्वसंख्येयेष्वेव नभःप्रदेशेष्ववगाहते नाऽनन्तेषु लोकाकाशस्यैवासंख्येयप्रदेशत्वात्, अलोकाकाशे च द्रव्यस्याऽवगाहाऽभावादित्यलं प्रसङ्गेन प्रकृतमुच्यते- तत्रानुपूर्वीप्रतिपक्षत्वादनानुपूर्व्यादिस्वरूपमाह-'एगपए-सोगाढे अणाणुपुव्वि' त्ति-एकस्मिन्नभः-प्रदेशेऽवगाढः स्थितः एकप्रदेशाऽवगाढः परमाणुसङ्घातस्स्कन्धसङ्घातश्च क्षेत्रतोऽनानुपूर्वीति मन्तव्यः, 'दुप्पएसोगाढे अवत्तव्वए' त्ति-प्रदेशद्वयेऽवगाढो द्विप्रदेशिकादिस्कन्धः क्षेत्रतोऽवक्तव्यकं, शेषो बहुवचननिर्देशादिको ग्रन्थो यथाऽधस्ताद् द्रव्यानुपूर्व्यां व्याख्याततस्तथेहापि तदुक्तानुसारतो व्याख्येयः यावत् द्रव्यप्रमाणद्वारे।

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं संखिज्जाइं असंखिज्जाइं अणंताइं ? नो संखिज्जाइं, असंखिज्जाइं णो अणंताइं एवं दोण्णि वि। नेगमववहाराणं आणुपुव्वि-दव्वाइं अणंताइं, नो संखिज्जाइं, असंखिज्जाइं, नो अणंताइं एवं तिण्णि वि×।

'णगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं संखेज्जाइं 'इत्या-दिप्रश्नः, अत्रोत्तरम - 'नो संखेज्जाइमि' त्यादि त्र्यादि- प्रदेश-विभागावगाढानि द्रव्याणि क्षेत्रत आनुपूर्वीत्वेन निर्दिष्टानि, त्र्यादिप्रदेशविभागाश्चासङ्ख्यातप्रदेशात्मके लोकेऽसङ्ख्याता भवन्ति, अतो द्रव्यतया बहुनामपि क्षेत्रावगाहमपेक्ष्य तुल्यप्रदेशा-वगाढानामकत्वात् क्षत्रानुपूव्यामसङ्ख्यातान्येवानुपूर्वीद्रव्याणि भवन्तीति भावः एवमेकप्रदेशावगाढं बहूपि द्रव्यं क्षेत्रत एकैवाऽनानुपूर्वीत्युक्तम्। लोके च प्रदेशा असङ्ख्याता भवन्ति अतस्तत्तुल्यसङ्ख्यत्वादनानुपूर्वीद्रव्याण्यप्यसङ्ख्येयानीति एवं प्रदेशद्वयेऽवगाढं बहूपि द्रव्यं क्षेत्रत एकमेवावक्तव्यकमुक्तं द्विप्रदेशिकात्मकाश्च विभागा लोकेऽसङ्ख्याता भवन्त्यतस्तान्यप्यसंख्येयानीति।

क्षेत्रद्वारे निर्वचनसूत्रे-

नेगमववहाराणं आनुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखिज्जइ भागे होज्जा असंखिज्जइभागे होज्जा ०जाव सव्वलोए

होज्जा? एगं दव्वं पडुच्च लोगस्स संखिज्जइभागे वा होज्जा असंखिज्जइभागे वा होज्जा संखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा देसूणे वा लोए होज्जा, नाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोए होज्जा, नेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाणं पुच्छा-एगं दव्वं पडुच्च नो संखिज्जइभागे होज्जा, असंखिज्जइभागे होज्जा, नो संखेज्जेसु नो असंखेज्जेसु नो सव्वलोगे होज्जा, नाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोए होज्जा, एवं अवत्तगदव्वाणि वि भाणिअव्वाणि ×।

'एगं दव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागे वा होज्जे' त्यादि, इह स्कन्धद्रव्याणां विचित्ररूपत्वात् कश्चित स्कन्धो लोकस्य संख्येयं भागमवगाह्य तिष्ठति, अन्यस्त्वसंख्येयम्, अन्यस्तु संख्येयांस्तद्-भागानवगाह्य वर्त्तते, अन्यस्त्वसंख्येयान् इत्य-तस्तत्स्कन्धद्रव्यापेक्षया सङ्ख्येयाऽऽदिभागवर्त्तित्वं भावनीयम् विशिष्टक्षत्रावगाहो पलक्षितानां स्कन्धद्रव्याणामेव क्षेत्रानु-पूर्वीत्वेनोक्त्वादिति भाव:। 'देसूणे वा लोए होज्ज' त्ति-देशोने वा लोके आनुपूर्वीद्रव्यं भवेदिति, अत्राह-नन्वचित्तमहा-स्कन्धस्य सर्वलोकव्यापकत्वं पूर्वमुक्तं तस्य च समस्त-लोकवर्त्यसंख्येयप्रदेशलक्षणायां क्षेत्रानुपूर्व्यामवगाढत्वा-त्परिपूर्णस्यापि क्षेत्रानुपूर्वीत्वं न किंचिद्विरुध्यते , अत: तदपेक्षे क्षेत्रतोऽप्यानुपूर्वीद्रव्यं सर्वलोकव्यापि प्राप्यते, किमिति देशोनलोकव्यापिता प्रोच्यते ? सत्यं, किन्तु-लोकोऽयमानु- पूर्व्यनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्यै: सर्वदैवाऽशून्य एवेष्टव्ये इति-समयस्थिति: यदिचात्रानुपूर्व्या: सर्वलोकव्यापिता निर्दिश्यते तदाऽनानुपुर्व्यवक्तव्यकद्रव्याणां निरवकाशतया अभाव: प्रतीयते, तत:-अचित्तमहास्कन्धपूरिते अपि लोकेजघन्यतोऽप्येक: प्रदेशोऽनानुपूर्वी-विषयत्वेन प्रदेशद्वयं चाऽ- वक्तव्यकविषयत्येन विवक्ष्यते, आनुपूर्वीद्रव्यस्य तत्र सत्त्वेऽप्यप्राधान्यविवैक्षणादनानुपूर्व्यवक्तव्य-कयोस्तु प्राधान्यविवक्षणा-दिति भाव:, ततोऽनेन प्रदेशत्रयलक्षणेन देशनहीनोऽत्र लोक: प्रतिपादित इत्यदोष: उक्तं च पूर्वमुनिभि:- ''महखंधा पुण्णे वि, अवत्तव्वगणाणुपुव्विदव्वाइं । जद्देसोगाढाइं तद्देसेणं स लोगूणो ॥१॥'' ननु यद्येवं तर्हि द्रव्यानुपूर्व्यामपि सर्वलोकव्या-पित्वमानुपूर्वीद्रव्यस्य यदुक्तं तदसङ्गतं प्राप्नोति, अनानुपूर्व्य-वक्तव्यकद्रव्याणामनवकाशत्वेन तत्राप्यभावप्रतीतिप्रसङ्गात् , सर्वकालं च तेषामप्यवस्थितिप्रतिपादनात् , नैतदेवं, यंतो द्रव्यानुपूर्व्या द्रव्याणामेवानुपूर्व्यादिभाव उक्तो, न क्षेत्रस्य, तस्य तत्रानधिकृतत्वाद्, द्रव्याणां चानुपूर्व्यादीनां परस्परभिन्नानामप्येकत्रापि क्षेत्रेऽवस्थानं न किंचिद्विरुध्यते, एकाऽपवरकान्तर्गताऽनेकप्रदीपप्रभावस्थानदृष्टा-न्तादिसिद्धत्वात्, अतो न तत्र कस्याप्यनवकाश:, अत्र तु द्रव्याणा-मौपचारिक एवानुपूर्व्यादिभावो मुख्यस्तु क्षेत्रस्यैव क्षेत्रानुपूर्व्यधिकारात् ततो यदि लोकप्रदेशा: सामस्त्येनैवानुपूर्व्या क्रोडीकृता: स्युस्तदा किमन्यदनानुपूर्व्यवक्तव्यकतया प्रतिपद्येत, यस्त्विहवै येष्वाकाशप्रदेशे-ष्वानुपूर्व्यस्तेष्वेवेतरयोरपि सद्भाव: कथयिष्यते स द्रव्यावगाहभेदेन क्षेत्रभेदस्य विवक्षणात्, अत्र तु तदविवक्षणादिति, तस्मादनानुपूर्व्य-वक्तव्यकविषयप्रदेशत्रयलक्षणेन देशेन लोकस्योनता विवक्षितेति। अथवा आनुपूर्वीद्रव्यस्य स्वावयव-रूपा देशा: कल्प्यन्ते यथा पुरुषस्याङ्गुल्यादय: ततश्च विवक्षिते कस्मिंश्चितद्देशे देशिनोऽस-द्भवोविवक्ष्यते, यथा पुरुषस्यवा-ङ्गुलीदेशे देशित्वस्यैव तत्र प्राधान्येन विवक्षितत्वादिति भाव:, न च वक्तव्यं देशिनो देशा न कश्चिद्भिनो दृश्यते, एकान्ताभेदे देशमात्रस्य देशिमात्रस्य चाभावप्रसङ्गात्, ततश्च समस्तलोक- क्षेत्रावगाहपर्यायस्य प्राधान्याश्रयणादत्राचित्तमहास्कन्ध-स्यानुपूर्वीत्वेऽपि देशोन एव लोक:, स्वकीयैकस्मिन्देशे तस्याऽभावविक्षणात्, तस्मिंश्चानुपूर्व्यव्याप्तदेशे इतरयोरवकाश: सिद्धो भवतीति भाव: । न च देशदेशिभाव: कल्पनामात्रं सम्म-त्यादिन्यायनिर्दिष्ट्युक्तिसिद्धत्वात् इत्यलं प्रसङ्गेन। 'नाणा-दव्वाइमि' त्यादि त्र्यादिप्रदेशावगाढद्रव्यभेदतोऽत्रानुपूर्वीणां नानात्वं, तैश्च त्र्यादिप्रदेशावगाढै: द्रव्यभेदै: सर्वोऽपि लोको व्याप्त इति भाव:। अत्रानानुपूर्वीचिन्तायामेकद्रव्यं प्रतीत्य लोक-स्यासंख्येयभाग-वर्त्तित्वमेव, एकप्रदेशावगाढस्यैवानानुपूर्वीत्वेन प्रतिपादनात्, एकप्रदेशस्य च लोकाऽसंख्येयभागवर्त्तित्वादिति, 'नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्ज' त्ति- एवैकप्रदेशावगाढैरपि द्रव्यभेदै: समस्तलोकव्याप्तैरिति एवम्-' अवत्तव्वगदव्वाणि वि' त्ति- अवक्तव्यक-द्रव्यमप्येक लोका-संख्येयभाग एव वर्त्तते, द्विप्रदेशावगाढस्यैवाऽ-वक्तव्यकत्वे- नाभिधानात्, प्रदेशद्वयस्य च लोकाऽसंख्ययभागव-र्त्तित्वादिति, तथा प्रत्येकं द्विप्रदेशावगाढैरपि द्रव्यभेदै: समस्तलोक-व्याप्तैर्नानाद्रव्याणामत्रापि सर्वलोकव्यापित्वमवसेयमिति । अत्राऽऽह-नन्वानुपूर्व्यादिद्रव्याणि त्रीण्यपि सर्वलोकव्यापी-नीत्युक्तानि, ततश्च येष्वेवाकाशप्रदेशेष्वानुपूर्वी तेष्वेवेतरयोरपि सद्भाव: प्रतिपादितो भवति कथं चैतत्परस्परविरुद्धं भिन्नविषयं व्यपदेशत्रयमैकस्य स्यात् ? अत्रोच्यते-इह त्र्यादिदेशावगाढात् द्रव्याद्भिन्नमेव तावदेकप्रदेशावगाढं ताभ्यां च भिन्नं द्विप्रदेशावगाढं ततश्चाधेयस्यावगाहकद्रव्यस्य भेदादाधारस्याप्यवगाह्यस्य भेद: स्यादेव, तथां च व्यप्रदेशभेदो युक्त एव अनन्तधर्म्माध्यासिते च वस्तुनि तत्तत्सहकारिसन्निधानात्तत्त-द्धर्माभिव्यक्तौ दृश्यत एव समकालं व्यवप्रदेशभेदो, यथा खड्गकु तकवचादियुक्ते देवदत्ते खड्गी कुन्ती कवचीत्यादिरिति इह क्वचिद्वाचनान्तरे- 'अणाणुपुव्विदव्वाइं अव्वत्तव्वगदव्वाणि य जहेव हिट्ठे' त्ति- अतिदेश एव दृश्यते तत्र 'हेट्ठे' त्ति- यथाऽधस्ताद् द्रव्यानुपूर्व्यामनयो: क्षेत्रमुक्तं: तथाऽत्रापि ज्ञातव्यमित्यर्थ:, तस्स व्याख्यातमेव, इत्येवमन्यत्रापि यथासंभवं वाचनान्तरमवगन्त- व्यमिति । गतं क्षेत्रद्वारम।

णेगमववहारणं आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखे-ज्जइभागं फुसन्ति असंखिज्जइभागं फुसंति संखिज्जे भागे फुसंति ०जाव सव्वलोगं फुसंति? एगं दव्वं पडुच्च संखिज्जइभागं वा फुसइ संखज्जिइ भागे असंखिज्जइ भागे संखेज्जे वा असंखेज्जे भागे वा देसूणं वा लोगं फु-

सइ, नाणादव्वाइं पडुच्च णिअमा सव्वलोगं फुसंति, अणाणुपुव्वीदव्वाइं अवत्तव्वगदव्वाइं च जहा खेत्तं नवरं फुसणा भणिअव्वा +।

स्पर्शनाद्वारमपि चेत्थमेव निखिलं भावनीयं नवरमत्र कस्या- श्चिद्वाचनाया अभिप्रायेणानुपूर्व्यामेकद्रव्यस्य संख्येयभागा- दारभ्य यावद्देशोनलोकस्पर्शना भवतीति ज्ञायते, अन्यस्या- स्त्वभिप्रायेण असंख्येयभागादारभ्य यावत्संपूर्णलोकस्पर्शना स्यादित्यवसीयते एतच्च द्वयमपि बुध्यत एव, यतो यदि मुख्यतया क्षेत्रप्रदेशनामानुपुर्व्वीत्व- मङ्गीक्रियते तदा अनानुपूर्व्यवक्तव्यकयोर्निरवकाशताप्रसङ्गात्पूर्ववद्देशो- नता लोकस्य वाच्या अथाऽऽनु- पूर्वीरूपे, क्षेत्रे अवगाढत्वादचित्त महास्कन्धस्यैवावुपूर्वीत्वं तेर्हि द्रव्यानुपूर्व्यामिवात्रापि संपूर्णता लोकस्य वाच्यति नचात्रापूर्व्या सकलस्यापि लोकस्य स्पृष्टत्वादितरयोरव- काशाभाव इति वक्तव्यम्, एकैकप्रदेशरूपे द्विद्विप्रदेशरूपे च क्षेत्रेऽवगाढानां प्रत्येकमसंख्येयानां द्रव्यभेदानां सद्भावतस्तयोरपि प्रत्येकम- संख्येयभेदयोः लोके सद्भावाद् , द्रव्यावगाहभेदेन च क्षेत्रभेदस्येह विवक्षितत्वादिति भावः वृद्धबहुमतश्चायमपि पक्षो लक्ष्यते तत्त्वं तु के वलिनो विदन्ति । क्षेत्रस्पर्शनयोस्तु विशेषः प्राग्निदर्शित एवेति । गतं स्पर्शनाद्वारम्।

अथ कालद्वारम्-

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कालओ केवचिरं होइ? एवं तिण्णि वि, एगं दव्वं पडुच्च जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वद्धं+।

तत्र क्षेत्राऽवगाहपर्यायस्य प्राधान्याविवक्षया त्र्यादिप्रदेशावगाढद्रव्या- णामेवाऽऽनुपूर्व्यादिभावः पूर्वमुक्तः अतस्तेषामेवाऽव-गाहस्थितिकालं चिन्तयन्नाह- 'एगं दव्वं पडुच्चे' त्यादि, अत्र भावना-इह द्विप्रदेशावगाढस्य वा एकप्रदेशावगाढस्य वा द्रव्यस्य परिणामवैचित्र्यात्प्रदेशत्रयाद्यव- गाहभवने आनु- पूर्वीव्यपदेशः सजातः सामयं चैकं तद्भावमनुभूय पुनस्तथैव द्विप्रदेशावगाढमेकप्रदेशावगाढं वा तद् द्रव्यं संजातमित्या- नुपूर्व्याः समयो जघन्याऽवगाहस्थितिः यदा तु तदेव द्रव्यमसंख्येयं काले तद्भावमनुभूय पुनस्तथैव द्विप्रदेशावगाढमेकप्रदेशावगाढं वा जायते तदा उत्कृष्टतया असंख्येयोऽवगाहस्थितिकालः । सिध्यति, अनन्तस्तु न भवति, विवक्षितैकद्रव्यस्यैकावगाहेनोत्कृष्टतोऽप्य- संख्यातकालमेवावस्थानादिति, नानाद्रव्याणि तु सर्वाऽद्धासर्वकालमेव भवन्ति त्र्यादिप्रदेशावगाढद्रव्यभेदानां सदैवाऽवस्थानादिति, एवं यदा समयमेकं किंचिद् द्रव्यमेकस्मिन् प्रदेशे अवगाढं स्थित्वा ततो द्व्यादिप्रदेशावगाढं भवति तदा अनानुपूर्व्याः समयो जघन्यावगाह- स्थितिः, यदा तु तदेवाऽसंख्यातं कालं तद्रूपेण स्थित्वा ततो द्व्यादिप्रदेशावगाढं भवति तदोत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽवगाहस्थितिकालः नानाद्रव्याणि तु सर्वकालम् एकप्रदेशावगाढद्रव्यभेदानां सर्वदैव सद्भावादिति, अवक्तव्यकस्य तु द्विप्रदेशावगाढस्य समयादूर्ध्वमेकस्मिं- स्त्र्यादिषु वा प्रदेशेष्ववगाहप्रतिपत्तौ जघन्यः समयोऽवगाह- स्थितिः असंख्येयकालादूर्ध्वं द्विप्रदेशावगा(हं)ढं परित्यज्यत उत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽवगाह- स्थितिकालः सिध्यति, नाना-द्रव्याणि तु सर्वकालं, द्विप्रदेशावगाढद्रव्यभेदानां सदैव भावा-दिति, एवं समानवक्तव्यत्वादतिदिशति एवं 'दोण्ण वि' त्ति।

इदानीमन्तरद्वारम-

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाणं अंतरं कालओ केवचिरं होइ ? तिण्हं पि एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च नऽत्थि अंतरं ×।

'जहण्णेणं एगं समयं' ति-अत्र भावना इह यदा त्र्यादिप्रदशाव- गाढं किमप्यानुपूर्वीद्रव्यं समयमेकं तस्माद्विवक्षितक्षेत्रादन्यात्रावगाहं प्रतिपद्य पुनरपि कबलमन्यद्रव्यसंयुक्तं वा तेष्वेव विवक्षितत्र्याद्याकाशप्रदेशे- ष्ववगाहते। तदैकानुपूर्वीद्रव्यस्य समयो जघन्योऽन्तरकालः प्राप्यते, 'उक्कोसेणं असंखेज्जं काले' 'ति-तदेव यदाऽन्येषु क्षेत्रप्रदेशेष्वसंख्येयं कालं परिभ्रम्य केवलमन्यद्रव्यसंयुक्तं वा समागत्य पुनरपि तेष्वेव विवक्षित- त्र्याद्याकाशप्रदेशेष्ववगाहते तदोत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽन्तरकालः प्राप्यते, पुनर्द्रव्यानुपूर्व्यामिवानन्तः, यतो द्रव्यानुपूर्व्या विवक्षि- तद्रव्यादन्ये द्रव्यविशेषा अनन्ताः प्राप्यन्ते तैश्च सह क्रमेण संयोगे । उक्तोऽनन्तः कालः। अत्र तु विवक्षितावगाहक्षेत्रादन्य- त्क्षेत्रमसंख्येयमेव प्रतिस्थानं चावगाहनामाश्रित्व संयोगस्थितिरत्राप्यसंख्येयकालैव। ततश्च-असंख्येये क्षेत्रे परिभ्रमता द्रव्येण पुनरपि केवलेनान्यसंयुक्तेन वाऽसंख्येयकालात्तेष्वेव नभः प्रदेशेष्वागतत्यावगाहनीयम्, न च वक्तव्यमसंख्येयेऽपि क्षेत्रे पौनः- पुन्येन तत्रैव परिभ्रमणे कस्मादनन्तोऽपि कालो नोच्यत इति? यत इहासंख्येयक्षेत्रे असंख्येयकालमेवान्यत्र तेन पर्यटितव्यम् तत ऊर्ध्वं पुनस्तस्मिन्नेव विवक्षितक्षेत्रे । नियमादवगाहनीयं वस्तुस्थितिस्व (स्वा) भावा (व्या)-दिति, तावदेकीयं व्याख्यानमादर्शितम्, अन्ये तु व्याचक्षतेयस्मात् त्र्यादिप्रदेश- लक्षणाद्विवक्षितक्षेत्रात्तदानुपूर्वीद्रव्यमन्यत्र गतं, तस्य क्षेत्रस्य स्वभावा- देवासंख्येयकालादूर्ध्वं तेनैवानुपूर्वी-द्रव्येण वर्णगन्धरसस्पर्श- संख्यादिधर्मैः सर्वथा तुल्येनान्येय वा तथाविधाऽऽधेयेन संयोगे सति नियमात्तथाभूता-धारतोपपत्तेरसंख्येय एवान्तरकाल इति, तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति गम्भीरत्वात् सूत्रप्रवृतेरिति। 'नाणा- दव्वाइं' इत्यादि, नहि त्र्यादिप्रदेशावगाढानुपूर्वीद्रव्याणि युगपत्सर्वाण्यपि तद्भावं विहाय पुनस्तथैव जायन्त इति कदाचिदपि संभवति, असंख्येयानां तेषां सर्वदैवोक्तत्वादिति भावः। अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येष्वप्यसावेवैका- नेकद्रव्याश्रया अन्तरकालव- क्तव्यता केवलमनानुपूर्वीद्रव्यस्यैक- प्रदेशावगाढस्यावक्तव्य-कद्रव्यस्य तु द्विप्रदेशावगाढस्य पुनस्थाभवन अंतरकाल-श्चिन्तनीयः, शेषा तु व्याख्याद्वयभावना सर्वाऽपि तथैवति। उक्तमन्तरद्वारम्।

साम्प्रतं भागद्वारमुच्यते-

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं सेसदव्वाणं कइ-

भागे होज्जा ? तिण्णि वि जहा दव्वाणुपुव्वीए ×।

तत्र च यथा द्रव्यानुपूर्व्यां तथाऽत्राप्यानुपूर्वीद्रव्याणि अनानुपूर्व्यवक्तव्यकलक्षणेभ्यः शेषद्रव्येभ्योऽसंख्येयैर्भागैरधिकानि, शेषद्रव्याणि तु तेषामसंख्येभागे वर्त्तन्त इति । अत्राह- ननु त्र्यादिप्रदेशावगाढानि द्रव्याण्यानुपूर्व्य एकैक प्रदेशा-वगाढान्यनानुपूर्व्यो द्विद्विप्रदेशावगाढान्यवक्तव्यकानीति प्राक् प्रतिज्ञातम्, एतानि चानुपूर्व्यादीनि सर्वस्मिन्नपि लोक सन्त्यतो युक्त्या विचार्यमाणान्यानुपूर्वीद्रव्याण्येव स्तोकानि ज्ञायन्ते, तथाहि-असत्कल्पनया किललोके त्रिंशत्प्रदेशाः, तत्र चानानुपूर्वीद्रव्याणि त्रिंशदेव, अवक्तव्यकानि तु पञ्चदश आनुपूर्वीद्रव्याणि तु यदि सर्वस्तोकतया त्रिप्रदेशनिष्पन्नानि गण्यन्ते तथापि दशैव भवन्तीति, शेषभ्यः स्तोकान्येव प्राप्नुवन्ति, कथमसंख्येयगुणानि स्युरिति ? अत्रोच्यते- एकस्मिन्नापूर्वीद्रव्ये ये नभःप्रदेशाः उपयुज्यन्ते ते यद्यन्यस्मिन्नपि नोपयुज्येरँस्तदा स्यादेवं तच्च नास्ति यत एकस्मिन्नपि प्रदेशत्रयनिष्पन्ने आनुपूर्व्वीद्रव्ये ये त्रयः प्रदेशास्त एवाऽन्यान्यरूपतयाऽवगाढे नाधेयद्रव्येणाऽऽक्रान्ताः सन्तः प्रत्येकमनेकेषु त्रिकसंयोगेषुगण्यन्ते, प्रतिसंयोगमाधेयद्रव्यस्य भेदात, तद्भेदे चाधारभेदादिति भावः । एवमन्यान्यपि चतुः- प्रदेशावगाढाद्याधेयेनाध्यासितत्वात् त एवानेकेषु चतुष्कसंयोगेष्वनकेषु पञ्चकसंयोगेषु यावदेनेकेष्वसंख्येयकसंयोगेषु प्रत्येक-मुपयुज्यन्ते, एवं चतुरादिप्रदेशनिष्पन्नेष्वप्यानुपूर्वीद्रव्येषु ये चतुरादयः प्रदेशास्तेषामप्यन्यान्यसंयोगोपयोगिता भावनीया, तस्मादसंख्येयप्रदेशात्मकेक्वस्थित्या व्यवस्थिते लोक यावन्तस्त्रिकसंयोगादयोऽसंख्येयकसंयोगपर्यन्ताः संयोगा जायन्ते तावन्त्यानुपूर्वीद्रव्याणि भवन्ति, प्रतिसंयोगमाधेयद्रव्यस्य भेदेनावस्थितिसद्भावाद्, आधेयभेदे चाधारभेदात्, नहिनभः प्रदेशा येनैव स्वरूपेणैकस्मिन्नाधेये उपयुज्यन्ते तेनैव स्वरूपे- णाधेयान्तरेऽपि आधेयैकताप्रसङ्गाद्, एकस्मिन्नाधारस्वरूपे तदवगाहाभ्युपगमात्, घटे *तत्वस्वरूपवत्, तस्मात् त्र्यादिसं-योगानां लोकेबहुत्वाद्यानुपूर्वीणां बहुत्वं* भावनीयम् । अवक्त- व्यकानि तु स्तोकादि द्विकसंयोगानां तत्र स्तोकत्वाद्, अनानु- पूर्व्योऽपि स्तोका एव लोकप्रदेशसंख्यमात्रत्वाद् अत्र सुखप्रति- पत्त्यर्थं लोकेकिल पञ्चाकाशप्रदेशाः कल्प्यन्ते, तद्यथा-

00000 अत्रानुपूर्व्यस्तात्पञ्चैव प्रतीताः अवक्तव्यकानि त्वष्टौ द्विकसंयोगानामिहाष्टानामेव संभवाद्, आनुपूर्व्यस्तु षोडश सभवन्ति, दशानां त्रिकसंयोगानां पञ्चानां चतुष्कसंयोगानामे-कस्य तु पञ्चकयोगस्येह लाभाद्, दश त्रिकयोगाः कथमिह लभ्यन्ते ? इति चेत्, उच्यते-षड् तावत् मध्यव्यवस्थापितेन सहलभ्यते चत्वारस्तु त्रिकसंयोगादिव्यवस्थापितैश्चतुर्भिरेव केवलैरिति, चतुष्कयोगास्तु चत्वारो मध्यव्यवस्थापितेन सह लभ्यन्ते, एकस्तु तन्निरपेक्षैर्दिव्यवस्थितैरेवेति सर्वे पञ्च, पञ्चकयोगस्तु प्रतीत एवेति, तदेवं प्रदेशपञ्चकप्रस्तारेऽप्या-नुपूर्वीणां बाहुल्यं दृश्यते, अत एव तदनुसारेण सद्भावतोऽसंख्येयकप्रदेशात्मकेलोकेऽत्रानुपूर्वीद्रव्याणां शेषेभ्यो-ऽसंख्यातगुणत्वं भावनीयमित्यलं विस्तरेण । उक्तं भागद्वारम ।

साम्प्रतं भावद्वारमाह-

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कत (य) रंमि भावे होज्जा ? तिण्णि वि णिअमा साऽऽदिपारिणामिए भावे होज्जा ।। एवं दोण्णि वि ×।

तत्र च द्रव्याणां त्र्यादिप्रदेशावगाहपरिणामस्य एकप्रदेशावगाहपरिणामस्य द्विप्रदेशावगाहपरिणामस्य च सादिपारिणामिकत्वात् त्र्याणामपि सादिपारिणामिकभाववर्त्तित्वं भावनीयमिति ।

अल्पबहुत्वद्वारे-

एएसि णं भंते ! णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाणं अणाणुपुव्विदव्वाणं अवत्तव्वगदव्वाण य दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए कतरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसेसाहिआ वा, जहा दव्वाणुपुव्वीए तहा भाणिअव्वं, णवरं अणंतगं नऽत्थि ।। (गोयमा ! सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए अणाणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं, पएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाइं अपएसट्ठयाए अवत्तव्वगदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्वीदव्वाइं पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं, दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए अणा-णुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए अपएसट्ठयाए विसेसाहियाइं अवत्तव्यगदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्वी-दव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं ताइं चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं।) सेत्तं अनुगमो (मे) सेत्तं णेगमववहाराणं अणोवणिहिआ खेत्ताणुपुव्वी । सूत्र-१०५)

इह द्रव्यगणनं द्रव्यार्थता, प्रदेशगणनं प्रदेशार्थता, उभयगणनं तूभयार्थता, तत्रानुपूर्व्यां विशिष्टद्रव्यावगाहोपलक्षिता- स्त्र्यादिनभः-प्रदेशसमुदायास्तावद् द्रव्याणि । समुदायारम्भ-कास्तु प्रदेशाः अनानुपूर्व्यां त्वेकैकप्रदेशावगाहिद्रव्योपलक्षिताः सकलनभः प्रदेशाः प्रत्येकं द्रव्याणि, प्रदेशास्तु न संभवन्ति, एकैकप्रदेशद्रव्ये हि प्रदेशान्तरायोगाद्, अवक्तव्यकेषु तु यावन्तो लोकेद्विकयोगाः संभवन्ति तावन्ति प्रत्येकं द्रव्याणि तदारम्भ-कास्तु प्रदेशा इति, शेषा त्वत्र व्याख्या द्रव्यानुपूर्वीवत्कर्त्तव्येति 'नवरं सव्वत्थोवाइं नेगमववहाराणं अव्वत्तव्वदव्वाइमि' त्यादि, अत्राह- ननु यदा पूर्वोक्तयुक्तया एकैको नभःप्रदेशोऽनेकेषु द्विकसंयोगेषुपयुज्यते तदा अनानुपूर्वीद्रव्येभ्योऽवक्तव्यकद्रव्याणामेव बाहुल्यमवगम्यते, यतः पूर्वोक्तायामपि पञ्चप्रदेशनभः-कल्पनायावक्तव्यकद्रव्याणामेवाऽष्टसंख्योपेतानां पञ्चसंख्येभ्योऽनानुपूर्वीद्रव्येभ्यो बाहुल्यं दृष्टं तत्कथमत्र व्यत्ययः प्रतिपाद्यते ? सत्यम्, असत्येतत्केवलं लोकमध्ये, लोकपर्यन्तवर्त्तिनिष्कुटगतास्तु ये कण्टकाकृतयो विश्रेण्या निर्गता एकाकिनःप्रदेशास्ते विश्रेणिव्यवस्थितत्वादवक्तव्यक

त्याऽयोग्या इत्यनानुपूर्वीसङ्ख्यायामेवान्तर्भवन्ति, अतो लोक- मध्यगतां निष्कुटगतां च प्रस्तुतद्रव्यसंख्यां मीलयित्वा यदा केवली चिन्तयति तदा अवक्तव्यकद्रव्याण्येवस्तोकानि, अनानु- पूर्वीद्रव्याणि तु तेभ्यो विशेषाधिकतां प्रतिपद्यन्ते, अत्र निष्कुट- स्थापना-'४४४' अत्र विश्रेणिलिखितौ द्वौ अवक्तव्यकायोग्यौ दृष्टव्याविति, एवंभूताश्च किलामी सर्वलोकपर्यन्तेषु बहवः सन्तीत्यनानुपूर्वीद्रव्याणां बाहुल्यमित्यलं विस्तरेण। आनुपूर्वीद्रव्याणां तु तेभ्योऽसंख्यातगुणत्वं भावितमेव, शेषं द्रव्यानुपूर्व्यनुसारेण भावनीयम्, नवरमुभयार्थताविचारे आनुपूर्वीद्रव्याणि स्वद्रव्येभ्यः प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयगुणानि कथम् ? एकैकस्य तावद् द्रव्यस्य त्र्यादिभिरसंख्येयान्तैर्नभः प्रदेशैरारब्धत्वात्, नभः प्रदेशानां च समुदितानामप्य-संख्येयत्वादिति। 'सेत्तमि' त्यादि निगमनद्वयम्। उक्ता नैगमव्यवहारनयमतेन अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी।

अथ तामेव संग्रहमतेन बिभणिषुराह-

से किं तं संगहस्स अणोवणिहिआ खेत्ताऽऽणुपुव्वी ? संगहस्स अणोवणिहिया खेत्ताऽऽणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा- अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोतारे ४, अणुगेम ५। से किं तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया ? संगहस्स अट्ठपयपरूवणया तिपएसोगाढे आणुपुव्वी चतुप्पएसोगाढे आणुपुव्वी ०जाव दसपएसोगाढे आणुपुव्वी संखिज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी असंखिज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी, एगपएसोगाढे अणाणुपुव्वी, दुपएसोगाढे अवत्तव्वए। सेत्तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया। एआए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं? एआए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ। से किं तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया ? संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आ (णु) नुपुव्वी अत्थि अणानुपुव्वी अत्थि अवत्तव्वए, अहवा-अत्थि आनुपूव्वी अ अणाणुपुव्वी अ। एवं जहा दव्वानुपूव्वीए संगहस्स तहा भाणिअव्वं ०जाव सेत्तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया। एआए णं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओअणं ? एआए णं भंगसमुक्कित्तणयाए संगहस्स भंगोवदंसणया कज्जइ। से किं तं संगहस्स भंगोवदंसणया? संगहस्स भंगोवदंसणया तिपएसोगाढे आनुपुव्वी एगपएसोगाढे अणानुपुव्वी दुपएसोगाढे अवत्तव्वए, अहवा-तिपएसोगाढे अ एगपएसोगाढे अ आनुपूव्वी अ अणानुपुव्वी अ। एवं जहा दव्वानुपुव्वीए संगहस्स तहा खेत्तानुपुव्वीए वि भाणिअव्व० जाव सेत्तं संगहस्स भंगोवदंसणया। से किं तं समोआरे ? समोआरे संगहस्स आनुपुव्विदव्वाइं कहिं समोतरंति ? किं आनुपुव्विदव्वेहिं समोतरंति अणानुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति अवत्तव्वगदव्वेहिं समोअरंति ? तिण्णि वि सट्ठाणे समोतरंति। सेत्तं समोआरे। से किं तं अणुगमे अणुगमे अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा- ''संतपयपरूवणया, ०जाव अप्पाबहुं नऽत्थि''॥१॥ संगहस्स आनुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि नऽत्थि निअमा अत्थि। एवं तिण्ण वि सेसगदाराइं जहा दव्वाणुपुव्वीए संगहस्स तहा खेत्तानुपुव्वीए वि भाणिअव्वाइं; ०जाव सेत्तं अनुगमे। सेत्तं संगहस्स अणोवणिहिआ खेत्तानुपुव्वी। सेत्तं अणोवनिहआ खेत्ता (णु) पुव्वी। (सूत्र १०२)

'से किं तमि' त्यादि, इह संग्रहाभिमतद्रव्यानुपूर्व्यनुसारेण निखिलं भावनीयम्। नवरं क्षेत्रप्राधान्यादव 'तिपएसोगाढा आणुपुव्वी ०जाव असंखज्जपएसोगाढा आणुपुव्वी एगपएसगाढा अणाणुपुव्वी, दुपएसोगाढा अवत्तव्वए' इत्यादि वक्तव्यं शेषं तथैवेति। उक्ता अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी।

अथौपनिधिकीं तां निर्दिदिक्षुराह-

से किं तं उवनिहिआ खेत्तानुपुव्वी ? उवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा- पुव्वाणुपुव्वी १, पच्छानुपुव्वी २, अणानुपुव्वी ३। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ? पुव्वाणुपुव्वी अहोलोए तिरिअलोए उड्ढलोए। सेत्तं पुव्वानुपुव्वी। से किं तं पच्छानुपुव्वी ? पच्छाणुपुव्वी उड्ढलोए तिरिअलोए अहोलोए। सेत्तं पच्छानुपुव्वी। से किं तं अणानुपुव्वी ? अणाणुपुव्वी, एआए चेव एगाइआए एगुत्त-रिआए तिगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। सेत्तं अणाणुपुव्वी।

'से किं तं उवणिहिये' त्यादि। अत्र व्याख्या पूर्ववत्कर्त्तव्या, नवरं तत्र द्रव्यानुपूर्व्यधिकाराद्धर्म्मास्तिकायादिद्रव्याणि पूर्वानुपूर्व्यादित्वेनोदाहृतानि अत्र तु क्षेत्रानुपूर्व्यधिकारात्-धोलोकादिक्षेत्रविशेषा इति, (अनु०) (अधोलोकव्याख्या 'अहोलोय' शब्दे प्रथमभागे ८९२ पृष्ठे गता) (तिर्यग्लोकव्याख्या 'तिरियलोय' शब्दे चतुर्थभागे २३२२ पृष्ठे दर्शयिष्यते) (ऊर्ध्वलोकव्याख्या 'उड्ढलोग' शब्दे अस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) अत्र च जघन्यपरिणामवद् द्रव्ययोगतो जघन्यतया गुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टेरिवादावेवाऽधोलोकस्योपन्यासः, तदुपरि मध्यमद्रव्यवत्त्वान्मध्यमतया तिर्यग्लोकस्य तदुपरिष्टादुत्कृष्टद्रव्यवत्त्वादूर्ध्वलोकस्योपन्यास इति पूर्वानुपूर्वीत्वसिद्धिः पश्चानुपूर्वी तु व्यत्ययेन प्रतीतैव, अनानुपुर्व्यां तु पदत्रयस्य षड् भङ्गा भवन्ति, ते च पूर्वं दर्शिता एव, शेषभावना त्विह प्राग्वदेवेति। अत्र च क्वचिद्वाचनान्तरेऽएकप्रदेशावगाढादीनामसंख्यात-प्रदेशावगाढास्तानां प्रथमं पूर्वानुपूर्व्यादिभाव उक्तो दृश्यते, सोऽपि क्षेत्रानुपूर्व्यधिकारादविरुद्ध एव सुगमत्वाच्चोक्तानुसारेण भावनीय इति।

१० अस्मिन्नेव भागे १५७ पृष्ठे ९५ सूत्रे जावशब्दसंग्रहीतं गतम्।

साम्प्रतं वस्त्वन्तरविषयत्वेन पूर्वानुपूर्व्यादिभावं दिदर्शयिषुरधोलोकादीनां च परिभेदज्ञानं शिष्यव्युत्पत्तिं पश्यन्नाह-

अहोलोअखेत्तानुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा पुव्वानुपुव्वी, पच्छानुपुव्वी, अणानुपुव्वी । से किं तं पुव्वानुपुव्वी ? पुव्वाणुपुव्वी रयणप्पभा सक्करप्पभा वालुअप्पभा पंकप्पभा धूमप्पभा तमप्पभा तमतमप्पभा । सेत्तं पुव्वानुपुव्वी । से किं तं पच्छानुपुव्वी ? पच्छाणुपुव्वी तमतमा ०जाव रयणप्पभा । सेत्तं पच्छानुपुव्वी । से किं तं अणानुपुव्वी ? अणाणुपुव्वी एआए चेव ए गाइआए एगुत्तरिआए सत्तगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणानुपुव्वी +।

'अहोलोयखेत्ताणुपुव्वी तिविहे' त्यादि। अधौलोकक्षेत्रविषया आनुपूर्वी, आनुपूर्वी औपनिधिकीति प्रक्रमाल्लभ्यते सा त्रिविधा प्रज्ञप्ता, 'तद्यथे' त्यादि, शेषं पूर्ववद्भावनीयम्। यावद्रत्नप्रभेत्यादि (अनु०)। रत्नप्रभायाः व्याख्यां 'स्यणप्पभा' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यामि) (शर्कराप्रभायाः सर्वा वृत्तान्तः 'सक्करप्यभा' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते) (वालुकाप्रभाविस्तर : 'वालुयप्पभा' शब्दे षष्ठे भागे कथयिष्यते) (पङ्कप्रभायाः सर्वं वृत्तम' पंकष्पभा' शब्दे पञ्चमे वक्ष्यते) (धूमप्रभायाः व्याख्यानम् 'धूमप्पभा' शब्दे चतुर्थे भागे करिष्यते) (तमःप्रभाकीदृशीति तमप्पभा' शब्दे चतुर्थे भागे वक्ष्यते) (तमस्तमः प्रभायाः सर्वा विषयः तमतमप्पभा' शब्दे चतुर्थे भागे करिष्यते ।) अत्र प्रज्ञापकत्यासन्नेति रत्नप्रभाया आदावुपन्यास० कृतः, ततः परं व्यवहितव्यवहिततरादित्वात् क्रमेण शर्कराप्रभादीनामिति पूर्वाऽऽनुपूर्वीत्वं व्यत्ययेन पश्चानुपूर्वीत्वम्, अमीषां च सप्तानां पदानां परस्पराभ्यासे पञ्चसहस्राणि चत्वारिंशदधिकानि भङ्गानां भवन्ति तानि चाद्यन्तभङ्गकद्वयरहितान्यनानुपूर्व्यां दृष्टव्यानि इति, शेष भावना पूर्ववदिति।

तिरिअलोखेत्तानुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा पुव्वाणुपुव्वी १, पच्छाणुपुव्वी २, अणाणुपुव्वी ३। सेकिं तं पुव्वाणुपुव्वी ? पुव्वाणुपुव्वी-

''जंबुद्दीवे लवणे, धायइ कालोअ पुक्खरे वरुणे ।
खीर घय खोअ नंदी, अरुणवरे कुंडले रुअगे ॥१॥

आभरणवत्थगंधे, उप्पलतिलए अ पुढविनिहिरयणे ।
वासहर-दह-नईओ, विजया वक्खार-कप्पिंदा ॥२॥

कुरुमंदरआवासा, कूडा नक्खत्तचंदसूरा य ।
देवे नागे जक्खे, भूए अ संयभुरमणे अ ॥३॥

सेत्तं पूव्वाणुपुव्वी ।

से किं तं पच्छाणुपुव्वी ? पच्छाणुपुव्वी संयभूरमणे अ० जाव जंबुद्दीवे । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ? अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए असंखेज्जगच्छगयाए सेढीए अन्नमण्णब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी । (सूत्र-१०३)

तिर्यग्लोके क्षेत्रानुपूर्व्यां 'जंबुद्दीवे' इत्यादि गाथाव्याख्याद्वाभ्यां प्रकाराभ्यां स्थानदातृत्वाहाराद्युपष्टम्भहेतुत्वलक्षणाभ्यां प्राणिनः पान्तीति द्वीपाः- जन्त्वावासभूतक्षेत्रविशेषाः सह मुद्रया-मर्यादया वर्त्तन्त इति समुद्राः प्रचुरजलोपलक्षिताः क्षेत्रविशेषा एव० एते च तिर्यग्लोके प्रत्येकमसंख्येया भवन्ति, तत्र समस्तद्वीप-समुद्राभ्यन्तरभूतत्वेनादौ तावज्जम्बूवृक्षेणोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपस्ततस्तं परिक्षिप्य स्थितो लवणरसास्वादनीरपूरितः समुद्रो लवणसमुद्रः एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वात्, एवं पुरस्तादपि यथासम्भवं द्रष्टव्यं 'धायइकालोय' त्ति ततो लवणसमुद्रं परिक्षिप्य स्थितो धातकीवृक्षखण्डोपलक्षितो द्वीपो धातकीखण्डस्तत्परितोऽपि शुद्धोदकरसास्वादः कालोदधिसमुद्रः तं च परिक्षिप्य स्थितः पुष्करैः- पद्मवरैरूपलक्षितो द्वीपः पुष्करवरद्वीपः तत्परितोऽपि शुद्धोदकरसास्वाद एवं पुष्करोदः समुद्रः, अनयोश्च द्वयोरप्येकैव पदेयात्र संग्रहो द्रष्टव्यः 'पुक्खरे' त्ति-एवमुत्तरत्रापि ततः- 'वरुणो' त्ति-वरुणवरो द्वीपस्ततो वारुणीरसास्वादो वारुणोदः समुद्रः 'खीर' त्ति-क्षीरवरो द्वीपः क्षीररसास्वादो क्षीरोदः समुद्रः 'घय' त्ति-घृतवरो द्वीपः घृतरसास्वादो घृतोदः समुद्रः 'खोय'- त्ति इक्षुवरो द्वीपः इक्षुरसास्वाद एवेक्षुरसः समुद्रः, इत ऊर्ध्वं सर्वेऽपि समुद्रा द्वीपसदृशनामानो मन्तव्याः, अपरंच- स्वयंभूरमणवर्जाः सर्वेऽपीक्षुरसास्वादाः, तत्र द्वीपनामान्यमुनि, तद्यथा-नन्दी-समृद्धिस्तस्या ईश्वरो द्वीपो नन्दीश्वरः, एवम् अरुणवरः अरुणावास० कुण्डलवरः, शङ्खवरः, रुचकवरः, इत्येवं षड् द्वीपनामानि चूर्णौ लिखितानि दृश्यन्ते; सूत्रे तु- 'नन्दी अरुणवरे कुण्डले रुयगे' इत्येतस्मिन गाथा दले चत्वार्येव तान्युपलभ्यन्ते अतश्चूर्णि-लिखितानुसारेण रुचकस्त्रयोदशः सूत्रलिखितानुसारस्तु स एवैकादशो भवति, तत्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति गाथार्थः। इदानीमनन्तरो- क्तद्वीपसमुद्राणामवस्थितिस्वरूपप्रतिपादनार्थं शेषाणां तु नामाभिधानार्थमाह-

''जंबुद्दीवाओ खलु, निरंतरा सेसया असंखइमा।
भुयगवरकुसवरा वि य, कोंचवराऽऽभरणमाई य'' ॥१॥ इति।

(अस्याः गाथायाः) व्याख्या-एते-पूर्वोक्ताः सर्वेऽपि जम्बूद्वीपा-दारभ्य निरन्तरा नैरन्तर्येण व्यवस्थिताः,न पुनरमीषामन्तरे अपरो द्वीपः कश्चनापि समस्तीति भावः, ये तु शेषकाः भुजगवरा-दय इत ऊर्ध्वं वक्ष्यन्ते ते प्रत्येकमसंख्याततमा द्रष्टव्याः, तथा हि-'भुयगवरे' त्तिपूर्वोक्ताद् रुचकवराद् द्वीपादसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् गत्वा भुजगवरो नाम द्वीपः समस्ति। 'कुसवर' त्ति- ततोऽप्यसंख्येयाँस्तान् गत्वा कुशवरो नामद्वीपः समस्ति अपिचेति समुच्चये 'कोंचवर' त्ति-ततोऽप्यससंख्येयांस्तानतिक्रम्य क्रौञ्चवरो नाम द्वीपः समस्ति 'आभरणमाई य' त्तिएवमसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानुल्लङ्घ्याऽऽभरणाऽऽदयश्च आभरणादिनाम-सदृशनामानश्च द्वीपा, वक्तव्याः, समुद्रास्तु तत्सदृशना-

मान एव भवन्तीत्युक्तमेवेति गाथार्थः। इयं च गाथा कस्याश्चिद्वाचनायां न दृश्यत एव केवले क्वाऽपि वाचनाविशेषे दृश्यते टीकाचूर्ण्योस्तु तद्व्याख्यानमुपलभ्यत इत्यत्माभिरपि व्याख्यातेति। तान्येवाऽऽभरणादीनाह- 'आभरणवत्थे'' त्यादि गाथाद्वयम्, असंख्येयानां संख्येयानाम् द्वीपानामन्ते आभरणवस्त्रगन्धोत्पलतिलकादिपर्यायसदृशनामक एकैकोऽपि द्वीपस्तावद्वक्तव्यो यावदन्ते स्वयंभूरमणो द्वीपः शुद्धोदकरसः स्वयंभूरमण एव समुद्र इति गाथाद्वयभावार्थः। ननु यद्येवं तर्ह्यसंख्येयान् द्वीपानतिक्रम्य ये वर्त्तन्ते तेषामेव द्वीपानामेतानि नामान्याख्यातानि; ये त्वन्तरालेषु द्वीपास्ते किंनामका इति वक्तव्यम ? सत्यम लोकेपदार्थाना शङ्खध्वजकलशस्वस्तिक- श्रीवत्सादीनि यावन्ति शुभनामानि तैः सर्वैरप्युपलक्षितास्तेषु द्वीपाः प्राप्यन्त इति स्वयमेव दृष्टव्यं, यत उक्तम् 'दीवसमुद्दा णं भंते ! केवइया नामधिज्जेहिं पण्णत्ता ? गोयमा ! जावइया लोए सुभा नामा सुभा रूवा सुभा गंधा सुभा रसा सुभा फासा एवइया णं दीवसमुद्दा नामधिज्जेहिं पण्णत्ता'' इति । संख्या तु सर्वेषामसंख्येयस्वरूपा ''उद्धारसागराणं, अड्ढाईज्जाण जत्तिया समया। दुगुणा दुगुणपवित्थरदीवोदहिरज्जु एवइया ॥१॥' इति गाथा प्रतिपादिता द्रष्टव्या तदेवमत्र क्रमोपन्यासे पूर्वानु--पूर्वीव्यत्ययेन पश्चानुपूर्वी, अनानुपूर्वी त्वममीषामसंख्येयानां पदानां परस्पराभ्यासे येऽसंख्येया भङ्गा भवन्ति भङ्गकद्वयोना तत्स्वरूपा द्रष्टव्येति।

उड्ढलोअखेत्ताणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ? पुव्वाणुपुव्वी-सोहम्मे ईसाणे सणंकुमारे माहिंदे बंभलोए लंतए महासुक्के सहस्सारे आणए पाणए आरणे अच्चु (ए) ते गेवेज्जविमाणे अणुत्तरविमाणे ईसिपब्भारा। सेत्तं पुव्वानुपुव्वी। से किं तं पच्छाणुपुव्वी ? पच्छाणुपुव्वी ईसिप्पब्भारा ०जाव सोहम्मे। सेत्तं पच्छाणु-पुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ? अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए पण्णरसगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी। अहवा-उवनिहिआ खेत्ताऽऽणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा- पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी? पुव्वाणुपुव्वी-एगपएसोगाढे दुपएसोगाढे दसपएसोगाढे संखिज्जपएसोगाढे ०जाव असंखिज्जपएसोगाढे। सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी ॥ से किं तं पच्छाणुपुव्वी ? पच्छाणुपुव्वी- असंखिज्जपएसोगाढे संखिज्जपएसोगाढे ०जाव एगपएसोगाढे । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ? अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए एगुत्त-रिआए असंखिज्जगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो। सेत्तं अणाणुपुव्वी। सेत्तं उवनिहिआ खेत्ताणु-पुव्वी। सेत्तं खेत्ताणुपुव्वी (सूत्र १०४)

ऊर्ध्वलोकक्षेत्रानुपूर्व्याम्- सोहम्मे' त्यादि । सकलविमान प्रधानसौधर्म्मवतंसकाभिधानविमानविशेषोपलक्षित-त्वात्सौधर्म्मः एवं सकलविमानप्रधानेशानावंतसक-विमानविशेषोपलक्षित ईशानः, एवं तत्तद्विमानावतंसक-प्राधान्येन तत्तन्नाम वाच्यंयावत्सकल-विमानप्रधाना-च्युतावतंसकाभिधानविमानविशेषोपलक्षितोऽच्युतः लोकपुरुषस्य ग्रीवाविभागे भवानि विमानानि ग्रैवेयकानि, नैषामन्यान्युत्तराणि विमानानि सन्तीत्यनुत्तरविमानानि, ईषद्भाराक्रान्तपुरुषवन्नता अन्तेष्वितीषत्प्राग्भारेति । अत्र प्रज्ञापकप्रत्यासत्तेः आदौ सौधर्म्मस्योपन्यासः, ततो व्यवहितादिरूपत्वात् क्रमेणेशानादीनामिति पूर्वानुपूर्वीत्वं, शेषभावना तु पूर्वोक्तानुसारतः कर्त्तव्येति । क्षेत्रानुपूर्वी समाप्ता। उक्ता क्षेत्रानुपूर्वी।

(८) साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टामेव क्रमप्राप्तां कालानुपूर्वी व्याचिख्या-सुराह-

से किं तं कालाणुपुव्वी ? कालाणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता, तं जहा- उवनिहिआ य, अणोवणिहिआ य। (सूत्र-१०५)। तत्थ णं जा सा उवनिहिआ सा ठप्पा। तत्थ णं जा सा अणोवणिहिआ सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा णेगमववहाराणं, संगहस्स य। (सूत्र-१०६) । से किं तं नेगमववहाराणं अणोवनिहिआ कालाणुपुव्वी ? अणो-वणिहिआ कालाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा- अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोआरे ४, अणुगमे ५। (सूत्र १०७)। से किं तं णेगमवव-हाराणं अट्ठपयपरूवणया ? णेगम० तिसमयट्ठिइए आणुपुव्वी ०जाव दससमयट्ठिईए आणपुव्वी संखिज्ज-समयट्ठिईए आणुपुव्वी असंखिज्जसमयट्ठिईए आणुपुव्वी एगसमयट्ठिईए अणाणुपुव्वी दुसमयट्ठिईए अवत्तव्वए तिसमयट्ठिईयाओ आणुपुव्वीओ एगसमयट्ठिइआओ अणाणुपुव्वीओ दुसमयट्ठिइआ अवत्तव्वगाइं । सेत्तं नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया। एआए णं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए किं पओयणं ? एयाए णं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए, नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ, (सूत्र १०८) । से किं तं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया ? णेगम अत्थि आणुपुव्वी, अत्थि अणाणुपुव्वी, अत्थि अवत्तव्वए, एवं दव्वाणुपुव्वीगमेणं कालाणुपुव्वीए वि ते चेव छव्वीसं २६ भंगा भाणिअव्वा ०जाव सेत्तं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया । एआए णं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओअणं ? एआए ण णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए णेगमववहा-राणं भंगोवदंसणया कज्जइ, सूत्र (१०९) । से किं तं

णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया ? णेगमव० तिसमयट्ठिईए आणुपुव्वी, एगसमयट्ठिईए अणाणुपुव्वी, दुसमयट्ठिईए अवत्तव्वए तिसमयट्ठिईआ आणुपुव्वीओ, एगसमयट्ठिइआ अणाणुपुव्वीओ, दुसमयट्ठिईआ अवत्तव्वगाइं। अहवा-तिसमयट्ठिईए अ एगसमयट्ठिईए अ आणपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ, एवं तहा चेव दव्वाणुपुव्वी-गमेणं छव्वीसं २६ भंगा भाणिअव्वा ०जाव सेत्त नेगमववहाराणं भंगोवदंसणया (सूत्र-११०)। से किं समोतारे ? समोआरे णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समो-तरंति? किं आणपुव्वीदव्वेहिं समोतरंति अणाणु-पुव्वीदव्वेहिं, एवं तिण्णि वि सट्ठाणे समोतरंति इति भाणिअव्वं। सेत्तं समोतारे। (सूत्र-१११)।

से किं तं अणुगमे ? अणुगमे णवविहे पण्णत्ते, तं जहा ''संतपयपरूवणया ०जाव अप्पाबहुं चेव'' ॥१॥ (सूत्र ११२×)

'से किं तं कालानुपुव्वी' त्यादि। अत्राक्षरगमनिका यथा द्रव्यानुपुर्व्या तथा कर्त्तव्या, यावत् -'तिसमयट्ठिईए आणुपुव्वी' त्यादि, त्रय समया: स्थितिर्यस्य परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकाद्यनन्ता- णुकस्कन्धपर्यन्तस्य द्रव्यविशेषस्य स: त्रिसमयस्थितिर्द्रव्यविशेष आनुपूर्वीति। आह- ननु यदि द्रव्यविशेष एवात्राप्यानुपूर्वी कथं तर्हि तस्य कालानुपूर्वीत्वम्? नैतदेवम्- अभिप्राया-ऽपरिज्ञानात्, यत: समयत्रयलक्षणकालपर्याय-विशिष्टमेव द्रव्यं गृहीतं, ततश्च पर्यायपर्यायिणो: कथञ्चिदभेदा-त्कालपर्यायस्य चेह प्राधान्येन विवक्षितत्वाद् द्रव्यस्यापि विशिष्टस्य कालानुपूर्वीत्वं न दुष्यति, मुख्यं समयत्रयस्यैवात्रानुपूर्वीत्वं, किन्तु-तद्विशिष्टद्रव्यस्यापि तदभेदोपचारात्तदुक्त इति भाव:। एवं चतु:समयस्थित्यादिष्वपि वाच्यं, यावद्दश समया:० स्थितिर्यस्य परमाण्वादिद्रव्यसङ्घातस्य स तथा। संख्येया: समया: स्थितिर्यस्य परमाण्वादे: स तथा। असंख्येया: समया: स्थितिर्यस्य परमाण्वादे: स तथा, ''अनन्तास्तु समया द्रव्यस्य स्थितिरेव न भवति'' स्वाभाव्या-दित्युक्तमेवेति, शेषा बहुवचन-निर्देशादिभावना पूर्ववदेव एकसमयस्थितिकं परमाण्वा-द्यनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तं द्रव्यमनानुपूर्वी द्विसमयस्थितिकं तु तदेवावक्तव्यकमिति, शेषं पूर्वोक्तानुसारेण सर्वं भावनीयम्।

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं किं अत्थि णऽत्थि ? नियमा तिण्णि वि अत्थि। नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं किं संखेज्जाइ ? असंखेज्जाइं ? अणंताइं ? तिण्णि वि नो संखिज्जाइं, असंखेज्जाइं, नो अणंताइं ×।

यावद द्रव्यप्रमाणद्वारे-नो संखेज्जाइं, असंखेज्जाइं, नो अणंताइं' इति। अस्य भावना इह त्र्यादिसमग्रस्थितिकानि परमाण्वादिद्रव्याणि लोके, यद्यपि प्रत्येकमनन्तानि प्राप्यन्ते तथाऽपि समयत्रयलक्षणाया: स्थितेरेकस्वरूपत्वात् काल-(स्य चेह) स्यैवेह प्राधान्येन द्रव्यबहुत्वस्य गुणीभूतत्वात् त्रिसमयस्थितिकैरनन्तैरप्येकमेवानुपूर्वीद्रव्यम् एवं चतु:समय-लक्षणाया: स्थितेरेकत्वादनन्तैरपि चतु:- समयस्थितिकद्र-व्यैरेकमेवानुपूर्वीद्रव्यम्, एवं समयवृद्ध्या तावन्नेयं यावदसंख्येय-समयलक्षणाया: स्थितेरेकत्वादनन्तैरप्यसंख्येयसमय-स्थितिकैर्द्रव्यै-रेकमेवानुपूर्वीद्रव्यमिति, एवमसंख्येयान्येवात्रानु- पूर्वीद्रव्याणि भवन्ति एवमनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याण्यपि प्रत्येकमसंख्येयानि वाच्यानि, अत्राह-नन्वेकसमयस्थितिकद्र- व्यव्यस्यानानुपूर्वीत्वं द्विसमयस्थितिकस्य त्ववक्तव्यकत्वमुक्तम्, तत्र यद्यप्येकद्विसमयस्थितीन परमाण्वादिद्रव्याणि लोके प्रत्येकमनन्तानि लभ्यन्ते तथाऽप्यनन्तरोक्तत्वादुक्तयुक्तयैव समयलक्षणाया द्विसमयलक्षणायाश्च स्थितितेरेकैकरूपत्वाद् द्रव्यबाहु-ल्यस्य च गुणीभूतत्वावादेकमेवानानुपूर्वाद्रव्यमेकमेव चाऽवक्तव्यकद्रव्यं वक्तुं युज्यते, न तु प्रत्येकमसंख्येयत्वम् अथ द्रव्यभेदेन भेदोऽङ्गीक्रियते तर्हि प्रत्येकमानन्त्यप्रसक्ति: एकसमय-स्थितीनां द्विसमयस्थितीनां च द्रव्याणां प्रत्येकमनन्तानां लोके सद्भावादिति सत्यमेतत्, किन्त्वेकसमयस्थितिकमपि यदव-गाहभेदेन वर्त्तते तदिह भिन्नं विवक्ष्यते, एवं द्विसमय-स्थितिकमप्यवगाहभेदेन भिन्नं चिन्त्यते, लोके च असंख्येया अवगाहभेदा: सन्ति। प्रत्यवगाहं चैकद्विसमयस्थिति-काऽनेकद्रव्यसम्भवादनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याणामाधारक्षेत्रभेदात् प्रत्येकसंख्येयत्वं न विहन्यत इति अनया दिशा अतिगहनमिदं सूक्ष्मधिया पर्यालोचनीयमिति।

क्षेत्रद्वारे-

नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं लोगस्स किं संखिज्जइभागे होज्जा ? असंखिज्जइभागे होज्जा ? संखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा ? असंखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा ? सव्वलोए वा होज्जा ? एगं दव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागे वा होज्जा असंखेज्जइभागे वा होज्जा ? संखेज्जेसु वा भागेसु होज्जा ? असंखेज्जेसु वा भागेसु होज्जा ? देसूणे वा लोए होज्जा ? नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्जा, एवं अणाणुपुव्वीदव्वं, आएसंतरेण वा सव्वपुच्छासु होज्जा, एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि भाणिअव्वाणि जहा खेत्ताणुपुव्वीए। फुसणा कालाणुपुव्वीए वि तहा चेव भाणिअव्वा। (सूत्र-११२ +)

'एगं दव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जाइभागे वा होज्जा ० जाव देसूणे वा लोगे 'होज्ज' त्ति-इह त्र्यादिसमयस्थितिकद्रव्यस्य तत्तदवगा (ह) ढसंभवत: संख्येयादिभागवर्तित्वं भावनी-यम् यदा त्र्यादिसमय-स्थितिक: सूक्ष्मपरिणाम: स्कन्धो देशोने लोकेऽवगाहते तदैकस्यानुपूर्वी-द्रव्यस्य देशोनलोकवर्त्तित्वं भावनीयम्, अन्ये तु-''पदेसूणे वा लोगे होज्ज'' त्ति पाठ मन्यन्ते तत्राप्ययमेवार्थ:, प्रदेशस्यापि विवक्षया देशत्वादिति, संपूर्णेऽपि लोककस्मादिदं न प्राप्यत इति चेद्, उच्यते-सर्वलोकव्यापां अचित्त महास्कन्ध एव प्राप्यते स च तद्व्याप्तिया एकमेव समयमव-

तिष्ठते, तत ऊर्ध्वमुपसंहारस्योक्तत्वात, नचैकसमयस्थितिकमानुपूर्वीद्रव्यं भवितुमर्हति, त्र्यादिसमयस्थितिकत्वेन त स्योक्तत्वात्, तस्मात् त्र्यादिसमयस्थितिकमन्यद् द्रव्यं नियमादेकेनाऽपि प्रदेशेनोन एव लोकऽवगाहत इति प्रतिपत्त-व्यम्। अत्राह नन्वचित्तमहास्कन्धोऽप्येकसमयस्थितिको न भवति, दण्डाद्यवस्थासमयगणनेन तस्याप्यष्टसमयस्थितिक- त्वाद् एवं च सति तस्याप्यानुपूर्वीत्वात् संपूर्णलोकव्यापित्वं युज्यतेऽत्र वक्तुमिति, नैतदेवम्, अवस्थाभेदेन वस्तुभेदस्येह विवक्षितत्वाद्भिन्नाश्च परस्परं दण्डकपाटाद्यवस्थाः, ततस्तद्भेदेन (स्कन्धभेदेन) वस्तुनोऽपि भेदाद्, अन्यदेव दण्डकपाटाद्यवस्थाद्रव्येभ्यः सकललोकव्याप्यचित्तमहास्कन्धद्रव्यं, तच्चैकसमयस्थितिकमिति, न तस्यानुपूर्वीत्म एतच्चानन्तरमेव पुनर्वक्ष्यत इत्यलं विस्तरेण। अथवा-यथा क्षेत्रानुपूर्व्यां तथाऽत्रापि सर्वलोकव्यापिनोऽप्यचित्तमहास्कन्धस्य विवक्षामात्रमाश्रित्य एकस्मिन्नभःप्रदेशे त्वप्रधान्याद्देशोव लोकवर्त्तित्वं वाच्यम्, एकसमयस्थितिकस्यानानुपूर्वीद्रव्यस्य द्विसमयस्थितिका- वक्तव्यकस्य च तत्र प्रदेशे प्राधान्याश्रयणादिति भावः । एवमन्यदपि आगमाऽविरोधतो वक्तव्यमिति। 'नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्ज' त्ति- त्र्यादिसमयस्थितिकद्रव्याणां सर्वलोकऽपि भावादिति भावनीयम्। अनानुपूर्वीद्रव्यचिन्तायां यथा क्षेत्रानुपूर्व्यां तथा अत्राप्येकद्रव्ये लोकस्यासंख्येयभाग एव वर्त्तते कथमिदम् ? उच्यते-यत् कालत एकसमयस्थितिकं तत् क्षेत्रतोऽप्येकप्रदेशावगाढमेवेहानानुपूर्वीत्वेन विवक्ष्यते तच्च लोकसंख्येयभाग एव भवति, 'आएसंतरेण वा सव्वपुच्छासु होज्ज' -त्ति अस्य भावनाइहाचित्तमहास्कन्धस्य दण्डाद्य-वस्थाः परस्परं भिन्नाः, आकारादिभेदाद्, द्वित्रिचतुः प्रदेशा-कादिस्कन्धवत्, तश्च ता एकैकसमयवृत्तित्वात् पृथग-नानुपूर्वीद्रव्याणि तेषु च मध्ये किमपि कियत्यपि क्षेत्रे वर्त्तत इत्यनया विवक्षया किलैकमनानुपूर्वीद्रव्यं मतान्तरेण संख्येय-भागादिकासु पञ्चस्वपि पृच्छासु लभ्यते, एतच्च सूत्रेषु प्रायो न दृश्यते, टीकाचूर्ण्योस्त्वेवं व्याख्यातमुपलभ्यत इति, नाना-द्रव्याणि तु सर्वस्मिन्नपि लोकेभवन्ति, एकसमयस्थितिकद्रव्याणां सर्वत्र भावादिति। अवक्तव्यकद्रव्यचिन्तायां क्षेत्रानुपूर्व्यामिवैकद्रव्यं लोकस्यासंख्येयभाग एव वर्त्तते, कथमिति, उच्यते- यत्कालतो द्विसमयस्थितिकं तत् क्षेत्रतो द्विप्रदेशावगाढमेवेहावक्तव्यकत्वेन गृह्यते, तच्च लोकासंख्येयभाग एव स्यात्, अथवा द्विसमय-स्थितिकं द्रव्यं स्वभावादेव लोकस्यासंख्येयभागएवावगाहतेः न परतः, आदेशान्तरेण वा- ''महाखंधवज्जमन्नदव्वेसु आइल्लचउपुच्छासु होज्ज'' त्ति अस्य हृदयम्- मतान्तरेण किल द्विसमयस्थितिकमपि द्रव्यं किंचिल्लोकस्य संख्येयभागेऽवगाहते किंचित्त्वसंख्येये अन्यत्तु संख्येयेषु तद्भागेष्ववगाहते अपरंत्वसंख्येयेष्विति महास्कन्धं वर्जयित्वा शेषद्रव्याण्याश्रित्य यथोक्तस्वरूपास्वाद्यासु चतसृषु पृच्छास्वे- कमवक्तव्यकद्रव्यं लभ्यते, महास्कन्धस्य त्वष्टसमयस्थितित्वेनोक्तत्वान्न द्विसमयस्थितिकत्वसंभव इति तद्वर्जनम्, अत एव सर्वलोकव्याप्तिलक्षणायाः पञ्चमपृच्छाया अत्राऽसंभवः महास्कन्धस्यैव सर्वलोकव्यापकत्वात्तस्य चावक्तव्यकत्वा- योगादिति। एतदपि सूत्रं वाचनान्तरे क्वचिदेव दृश्यते। नानाद्रव्याणि तु सर्वलोकेभवन्ति द्विसमयस्थितीनां सर्वत्र भावादिति। गतं क्षेत्रद्वारम्। स्पर्शनाद्वारमप्येवमेव भावनीयम्।

कालद्वारे-

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कालओ केवच्चिरं होन्ति ? एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं तिण्णि समया, उक्कोसेणं असखेज्जं कालं नाणादव्वाइं पडुच्च सव्वऽद्धा। णेगम-ववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाइं कालओ केवच्चिरं होइ ? एगं दव्वं पडुच्च अजहन्नमणुक्कोसेणं एक्कं समयं नाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वऽद्धा । अवत्तव्वगदव्वाणं पुच्छा, एगं दव्वं पडुच्च अजहणमणुक्कोसेणं एक्कं समयं नाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वऽद्धा +।

'एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं तिण्णि समय' त्ति- जघन्यतोऽपि त्रिसमयस्थितिकस्यैवानुपूर्वीत्वेनोक्तत्वादिति भावः। 'उक्को-सेणं असंखेयं काले' ति-असंख्येयकालात्परत एकेन परिणामेव द्रव्यावस्थानस्यैवाभावादिति हृदयम्। नानाद्रव्याणि तु सर्वकालेभवन्ति, प्रतिप्रदेशं लोकस्य सर्वदा तैरशून्यत्वादिति। अनानुपूर्व्यवक्तव्यकाचिन्तायाम् 'अजहन्नमणुक्कोसेणं' ति-जघन्योत्कृष्टचिन्तामुत्सृज्येत्यर्थः न हि एकसमयस्थितिक- स्यैवानानुपूर्वीत्वे द्विसमयस्थितिकस्यैव चावक्तव्यव्यकत्वेऽभ्यु-पगम्यमाने जघन्योत्कृष्टचिन्ता सम्भवतीति भावः, नानाद्रव्याणि तूभयत्रापि सर्वकालं भवन्ति, प्रतिप्रदेशं तैरपि सर्वदा लोकस्या-शून्यत्वादिति।

अंतरद्वारे-

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाणमंतरं कालओ केवच्चिरं होई ? एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं दो समया नाणादव्वाइं पडुच्च नऽत्थि अंतरं । णेगमववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाणमंतरं कालओ केवच्चिरं होइं ? एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं दो समया, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च णऽत्थि अंतरं। नेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाणुपुव्विदव्वाणं पुच्छा एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समअं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणदव्वाइं पडुच्च नऽत्थि अंतरं +।

'एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एक्कं समयं' ति-अत्र भाव-नाइह त्र्यादिसमयस्थितिकं विवक्षितं किञ्चिदेकमानुपूर्वीद्रव्यं ते परिणामं परित्यज्य यदा परिणामान्तरेण समयमेकं स्थित्वा पुनस्तेनैव परिणामेन त्र्यादिसमयस्थितिकं जायते तदा जघन्यतया समयोऽन्तरे लभ्यते, 'उक्कोसणं दो समय' त्ति-तदेव यदा परिणामान्तरेण द्वौ समयौ स्थित्वा पुनस्तमेव त्र्यादिसमयस्थिति-युक्तम् प्राक्तनं परिणाममासादयति तदा द्वौ समयावुत्कृष्टतोऽन्तरे भवतः यदि पुनः परिणामान्तरेण क्षेत्रादिभेदतः समय-

द्वयात् परतोऽपि तिष्ठेतदा तत्राप्यानुपूर्वीत्वमनुभवेत्, ततो-ऽन्तरमेव न स्यादिति भावः नानाद्रव्याणां तु नाऽस्त्यन्तरं सर्वदा लोकस्य तदशून्यत्वादिति। अनानुपूर्वीचिन्तायाम् 'एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं दो समय' त्ति-एकसमयस्थितिकं द्रव्यं यदा परिणामान्तरेण समयद्वयमनुभूय पुनस्तमेवैकसमयस्थितिकं परिणाममासादयति तदा समयद्वयं जघन्योऽन्तरकालः, यदि तु परिणामान्तरेणाऽप्येकमेव समयं तिष्ठेत्तदा अन्तरमेव न स्यात्, तत्राप्यनानुपूर्वीत्वाद्, अथ समयद्वयात्परतस्तिष्ठेत्तदा जघन्यत्वं न स्यादिति भावः। 'उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं' ति- तदेव यदा परिणामान्तरेणासंख्येयकालमनुभूय पुनरेकसमयस्थितिकं परिणाममनुभवति तदोत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽन्तरकलः प्राप्यते। आह ननु यदि च अन्यान्यद्रव्यक्षेत्रसम्बन्धे तस्यानन्तोऽपि कालाऽन्तरे लभ्यते किमित्यसंख्येय एवोक्तः? सत्यम्, किन्तु-कालानुपूर्वीप्रक्रमात्कालस्यैवेह प्राधान्यं कर्त्तव्यम्, यदि त्वन्यान्यद्रव्यक्षेत्रसम्बन्धतोऽन्तरकालबाहुल्यं क्रियते तदा तद्द्वारेणैवान्तरकालस्य बहुत्वकरणात्तयोर्द्वयोरेव प्राधान्यमाश्रितं स्यान्न कालस्य तस्मादेकास्मिन्नेव परिणामान्तरे यावान् कश्चिदुत्कृष्टः कालो लभ्यते स एवान्तरे चिन्त्यते, सचासंख्येय एव ततः परमेकेन परिणामेन वस्तुनोऽवस्थानस्यैव निषिद्धत्वादित्येवं भगवतः सूत्रस्य विवक्षावैचित्र्यात्सर्वं पूर्वमुत्तरत्र चागमाऽविरोधेन भावनीयमिति। नानाद्रव्याणां तु नास्त्यन्तरं प्रतिप्रदेशं लोकेसवदा तल्लाभादिति। अवक्तव्यकद्रव्याचिन्ता-याम् 'जहण्णेणं एगं समयं' ति-द्विसमयस्थितिकं किञ्चदवक्तव्यकद्रव्यं परिणामान्तरेण समयमेकं स्थित्वा यदा पूवानुभूतमेव द्विसमयस्थितिकपरिणाममासादयति ता समयो जघन्या-न्तरकालः। 'उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं' ति- तदेव यदा परिणामान्तरेणासंख्येयं काले स्थित्वा पुनस्तमेव पूर्व्यानुभूतं परिणाममासादयति तदाऽसंख्यात उत्कृष्टोऽन्तरकाला भवति, आक्षेपपरिहारावत्राप्यनानुपूर्वीवत् दृष्टव्याविति। नानाद्रव्यान्तरं तु नास्ति सर्वदा लोक तद्भावादिति। उक्तमन्तरद्वारम्।

भागद्वारे-

भाग-भाव अप्पा बहुं चेव जहा खेत्ताणुपुव्वीए तहा भाणिअव्वाइं, ०जाव सेत्तं अणुगमे। सेत्तं नेगमववहाराणं अणोवनिहिआ कालाणुपुव्वी। (सूत्र-११२×)

भागद्वारे तु यथा द्रव्य-क्षेत्रानुपूर्व्योस्तथैवानुपूर्वीद्रव्याणि शेषद्रव्यभ्योऽसंख्येयैर्भागैरधिकानि व्याख्येयानि, शेषद्रव्याणि त्वानुपूर्वीद्रव्याणामसंख्येयभाग एव वर्त्तन्ते इति, भावना त्वित्थं कर्त्तव्याइहानानुपूर्व्यामेकसमयस्थितिलक्षणमेकमेव स्थानं लभ्यते, अवक्तव्यकेप्यपि द्विसमयस्थितिलक्षणमेकमेव तल्लभ्यते, आनुपूर्व्यां तु त्रिसमयचतुःसमयपञ्चसमयस्थित्या दीन्येकोत्तरध्द्याऽसंख्येयसमयस्थित्यन्तान्यसंख्येयानि स्थानानि लभ्यते, इत्यानुपूर्वीद्रव्याणामसंख्येयगुणत्वम्, इतरयोस्तु तदसंख्येयभागवर्त्तित्वमिति। भावद्वारे सादिपारिणामिकभाववर्त्तित्वं त्रयाणामपि पूर्ववद्भावनीयम्। अल्पबहुत्वद्वारम्-सर्वस्तोकान्यवक्तव्यकद्रव्याणि द्विसमय-स्थितिकद्रव्याणां स्वभावत एवं स्तोकत्वात् अनानुपूर्वीद्रव्याणि तु तेभ्यो विशेषाधिकानि, एकसमयस्थितिकद्रव्याणां निसर्गत एव पूर्वेभ्यो विशेषाधिकत्वाद्, आनुपूर्वीद्रव्याणां तु पूर्वेभ्यो-ऽसंख्यातगुणत्वं भागद्वारे भावितमेव, शेषं तु क्षेत्रानुपूर्व्या-द्युक्तानुसारतः सर्वं वाच्यमिति अत एव केषुचिद्वाचनान्तरेषु भागादिद्वारत्रयं क्षेत्रानुपूर्व्यतिदेशेनैव निर्दिष्टं दृश्यते, नतु विशेषतो लिखितमिति। 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम्। उक्ता नैगम व्यवहारनयमतेनानौपनिधिकी कालानुपूर्वी।

अथ संग्रहनयमतेन तामेव व्याचिख्यासुराह-

से किं तं संगहस्स अणोवनिहिआ कालाऽऽनुपुव्वी? संगहस्स अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोव-दंसणया ३, समोतारे ४, अणगुमे ५। (सूत्र-११३)। से किं तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया? संगहस्स अट्ठपयपरूवणया एआइं पंच विदाराइं जहा खेत्ताणुपुव्वीए संगहस्स तहा कालाणुपुव्वीए विभाणिअव्वाइं, णवरं ठिई, अभिलावो, ०जाव सेत्तं अणगुमे। सेत्तं संगहस्स अणोवनिहिआ कालाणुपुव्वी। सेत्तं अणोवनिहिआ कालाणुपुव्वी, (सूत्र-११४)।

'से किं तं' त्यादि। यथा क्षेत्रानुपुर्व्यामियं संग्रहमतेन प्राग्निर्दिष्टा तथाऽत्रापि वाच्या, 'नवरं तिसमयठिइया आनुपुव्वी ०जाव असंखेज्जसमयट्ठिइया आणुपुव्वी' त्यादि अभिलापः कार्यः शेष तु तथैवोत। उक्ता संग्रहमतेनाष्यनौपनिधिकी कालानुपूर्वी, तथा च सति अवसितः तद्विचारः।

इदानीं प्रागुद्दिष्टामेवौपनिधिकीं तां निर्दिदिक्षुराह-

से किं तं उवनिहिआ कालाणुपुव्वी उवणिहिआ कालाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी, से किं तं पुव्वानुपुव्वी? पुव्वाणुपुव्वी। (अनु०)। एगसमयट्ठिइए, दुसमयट्ठिइए, तिसमयट्ठिइए ०जाव दससमयट्ठिइए संखिज्जसमयट्ठिइए असंखिज्जसमय-ट्ठिइए। सेत्तं पूव्वानुपुव्वी। से किं तं पच्छानुपुव्वी? पच्छाणुपुव्वी असंखिज्जसमयट्ठिइए ०जाव एगसमयट्ठिइए। सेत्तं पच्छानुपुव्वी। से किं तं अणानुपुव्वी? अणाणुव्वीएआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए असंखिज्ज-गच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो। सेत्तं अणानुपुव्वी।

'से किं तमि' त्यादि। एकः समयः स्थितिर्यस्य द्रव्यविशेषस्य स तथा, एवं यावदसंख्येयाः समयाः स्थितिर्यस्य स तथेति पूर्व्वानुपुर्वी शेषभावना त्वत्र पूर्वोक्तानुसारेण सुकरैव।

अथ कालविचारस्य प्रस्तुतत्वात्समयादेश्च कालत्वेन प्रसिद्धत्वादनुषङ्गतो विनेयानां समयादिकालपरिज्ञानदर्शनाच्च तद्विष-यत्वेनैव प्रकारान्तरेण तामाह-

अहवा उवणिहिआ कालाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी अणाणुपुव्वी । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ? पुव्वाणुपुव्वी। (अनु०)

समए १, आवलिआ २, आण ३, !४१। पाणु ५, थोवे ६, लवे ७, मुहुत्ते ८, अहोरत्ते ९, पक्खे १०, मासे ११, उऊ १२, अयणे १३, संवच्छरे १४, जुगे १५ वाससए १६, वाससहस्से १७, वाससयसहस्से १८, पुव्वंगे १९, पुव्वे २०, तुडिअंगे २१, तुडिए २२, अडडंगे २३, अडडे२४, अववंगे २५, अववे २६, हुहुअंगे २७, हुहए२८, उप्पलंगे २९, उप्पले ३०, पउमंगे ३१, पउमे ३२, णलिणंगे ३३, णलिणे ३४, अत्थनिउरंगे ३५, अत्थनिउरे ३६, अउअंगे ३७, अउए ३८, नउअंगे ३९ नउए ४०, पउअंगे ४१, पउए ४२, चूलिअंगे ४३, चूलिआ ४४ सीसपहेलिअंगे ४५, सीसपहेलिआ ४६, पलिओवमे ४७, सागरोवमे ४८, ओसप्पिणी ४९, उस्सप्पिणी ५० पोग्गलपरिअट्टे ५१, अतीतद्धा ५२, अणागतद्धा ५३, सव्वऽद्धा ५४। सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी । से किं तं पच्छाणुपुव्वी? पच्छाणुपुव्वी सव्वद्धा अणागतद्धा ०जाव समए, से तं पच्छाणुपुव्वी। से किं तं अणाणुपुव्वी ? अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए अणंत-गच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो, से तं अणाणुपुव्वी ।। सेत्तं उवणिहिआ कालाणुपुव्वी । सेत्तं कालाणुपुव्वी। सूत्र- ११५)।

'अहवे' त्यादि, तत्र समयो- वक्ष्यमाणस्वरूप: सर्वसूक्ष्म: कालांऽश: स च सर्वप्रमाणानां प्रभवत्वात् प्रथमं निर्दिष्ट: (१)। तैरसङ्ख्येयैर्निष्पन्ना आवलिका (२)। सङ्ख्येया आवलिका: 'आण' त्ति- आण:; एक उच्छ्वास इत्यर्थ: (३)। ता एव सङ्ख्येया नि:श्वास: अयं च सूत्रेऽनुक्तो ऽपि द्रष्टव्य: स्थाना-न्तरप्रसिद्धत्वादिति (४)। द्वयोरपि काल: 'पाणु' त्ति-एक प्राणुरित्यर्थ : (५)। सप्तभि: प्राणुभि: स्तोक: (६)। सप्तभि: स्तोकैर्लव: (७)। सप्त-सप्तत्या लवानां मुहूर्त: (८)। त्रिंशता मुहूर्तैरहोरात्रम् (९) तै० पञ्चदशभि:० पक्ष: (१०)। ताभ्यां दाभ्यां मास: (११)। मासद्वयेन ऋतु: (१२)। ऋतुत्रयमानमयनम् (१३) । अयनद्वयेन संवत्सर: (१४)। पञ्चभिस्तैर्युगम् (१५)। विंशत्या युगैर्वर्षशतम् (१६)। तैर्दशभिर्वर्षसहस्रम् (१७)। तेषां शतेन वर्षशतसहस्रम् ; लक्षमित्यर्थ: (१८)। चतुरशीत्या च लक्षै: पूर्वाङ्गं भवति (१९)- ८४०००००। तदपि चतुरशीतिलक्षैर्गुणितं पूर्वं भवति (२०), तच्च सप्ततिकोटिलक्षाणि षट्पञ्चाशच्च कोटि-सहस्राणि वर्षाणाम्, उक्तं च 'पुव्वस्स उ परिमाणं सयरी खलु हुंति कोडिलक्खाउ। छप्पण्णं स सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं ॥१॥'' स्थापना- ७०५६०००००००००। इदमपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं त्रुटिताङ्गं भवति (२१)- ५९२७०४००००, अग्रेदश १० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। एतदपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं त्रुटितं भवति (२२)- ४९७८७१३६००००० अग्रेपञ्चदश १५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । तदपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितमटटाङ्गम् (२३)- ४१८२११९४२४००००० अग्रे विंशिति : २० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। एतदपि तेनैव गुणकारेण गुणितमटटम् (२४)- ३५१२९८०३१६- १६००००० अग्रे पञ्चविंशति: २५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । एवं सर्वत्र: पूर्व: पूर्वो राशिश्चतुरशीतिलक्षस्वरूपेण गुणकारेण गुणित उत्तरोत्तर- राशिरूपतां प्रतिपद्यत इति प्रतिपत्तव्यं, ततश्च-अववाङ्गम् (२५)- २९५०९- ०३४६५५७४४०००००० अग्रे त्रिंशत् ३० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। अववम् (२६) -२४७८७५८९११०८-२४९६००००० अग्रे पञ्चत्रिंशत् ३५ शून्यानि अन्यानि स्थापनी-यानि। हूहुकाङ्गम्(२७)- २०८२१५७४८५- ३०९२९६६४००००० अग्रे चत्वारिंशत् ४० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। हूहुकम (२८)-१७४९०१२२८-७६५९८०९१७७६००००० अग्रे पञ्चचत्वारिंशत् ४५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । उत्पलाङ्गम् (२९)-१४६९- १७०३२१६३४ ३९७०९१८४००००० अग्रे पञ्चाशत् ५० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। उत्पलम् (३०) १२३४१०३०७०१७२७६१३५५७१४५- ६००००० अग्रे पञ्चपञ्चाशत् ५५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । पद्माङ्गम् (३१)- १०३६६४६५७८९४५११९५३८८००२३०- ४००००० अग्रे षष्टि: ६० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। पद्मम् (३२)- ८७०७८३१२६३१३९००४१२५९-२१९३५३६००००० अग्रे पञ्चषष्टि: ६५ शून्यान्यन्यानि स्थाप०। नलिनाङ्गम् (३३)- ७३१४५७८२६१०३६७- ६३४६५७७४४२५७०२४००००० अग्रेसप्तति: ७० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि नलिनम् (३४)-६१४४२४५७३९२७०८८-१३११२५०५१७५९००१६- ००००० अठो पञ्चसप्तति ७५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । अर्थ- निरापूराङ्गम् (३५)- ५१६११६६४२०९८७५-४०३०१४५०४३४७७५- ६१३४४००००० अग्रे अशीति: ८० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। अर्थनिपूरम् (३६)- ४३३५३७९७९३६२९५३३-८५३२१८३६५२१- १५१५२८९६००००० अग्रे पञ्चाशीति: ८५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । अयुताङ्गम् (३७) ३६४१७१९०२६-६४८८०८४३६७०३४२६-७७७६७२८४३२६४००००० अग्रे नवति: ९० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । अयुतम् (३८)- ३०५९०४३९८२३८४९९-९०८६८३०८७८४९३२४५१८८३४१७६००००० अग्रे पञ्चनवति: ९५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । नयुताङ्गम् (३९)- २५६९५९६-९४५२०३३९९२३२९३७९-३७९३४३२५९५८२०७०७८४००००० अग्रे शत १०० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। नयुतम् (४०)- २१५८४६१४३३९७०-८५५३५५६६७८- ६७८६४८३३८०४८९३९४५८५६००००० अग्रे पञ्चाधि-

१ -चतुर्थाङ्के टीकाद्रष्टव्या।

१ अङ्कस्थापना-स्पष्टावबोधार्थ: कोशकारेण दर्शिता।

कशत १०५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । प्रयुताङ्गम् (४१)- १८१३१०७६०४५३५५१८४९८७६१००९००६४६०३९६११० ९१४५१९०४००००० अग्रे दशाधिकशत ११० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । प्रयुतम् (४२)- १५२३०१०३८७८०९८३५५३८९५९-२४७५६५४२६७३२७३३१६८१९९९९३६००००० अग्रे पञ्चदशाधिकशत ११५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। चूलिकाङ्गम् (४३)-१२७९३२८७२५७६-०२६१८५२७२५७६७९५४९५८४५५४९५८६१२ ८४६३४६२४००००० अग्रे विंशत्यधिकशत १२० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। चूलिका (४४)-१०७४६३६१२९६३८६१-९९५६२८९६४५०६११६५१०२६१६५३३४७७४१-३०८४१६००० अग्रे पञ्चविंशत्यधिकशत १२५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। शीर्षप्रहेलिकाङ्गम् (४५)- ९०२६९४३४८८९६४४०७६३२८ ३३०१८५१३७८-६८६१९७८७९७२१०२६९९०६९४४००००० अग्रे त्रिंशदधिकत १३० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। एवमेते राशयश्चतुरशीतिलक्षस्वरूपेण गुणकारेण यथोत्तर वृद्धा द्रष्ट-व्यास्तावद् यावदिदमेव शीर्षप्रहेलिकाङ्गम् चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं शीर्षप्रहेलिका भवति (४६) अस्या स्वरूपमङ्कतोऽपि दर्शयते-७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९७-३५५५१५८०९६४०८६२१८९६५६६२६७२१८३२९६ अग्रे च चत्वारिंशं शून्यशतम् १४०, तदेवं शीर्षप्रहेलिकायां सर्वाण्यमुनि चतुर्णवत्यधिकशतसंख्यानि १९४ अङ्कस्थानानि भवन्ति, अनेन चैतावता कालमानेन केषांचिद् रत्नप्रभानारकाणां भवनपतिव्यन्तरसुराणां सुषमदुःषमारक-संभविनां नरतिरश्चां च यथासंभवमायूंषि मीयन्ते, एतस्माच्च परतोऽपि संख्येयः कालोऽस्ति, किंत्वनतिशयिनाम-संव्यवहार्यत्वात्सर्षपाद्युपमयाऽत्रैव वक्ष्यमाणत्वाच्च नेहोक्तः, किं तर्हि? उपमामात्रप्रतिपाद्यानि पल्योपमादीन्येव, तत्र पल्योपम-सागरोपमे ४७, ४८ अत्रैव वक्ष्यमाणस्वरूपे दशसागरो-पमकोटाकोटिमाना त्ववसर्प्पिणी ४९, तावन्मानैवोत्सर्प्पिणी ५०, अनन्ता उत्सर्प्पिण्यवसर्पिण्यः पुद्गलपरावर्तः ५१, अनन्तास्तेऽतीताद्धा ५२, तावन्मनैवाऽनागताद्धा ५३, अतीतानागतवर्त्तमानकालस्वरूपा सर्वाऽद्धेति ५४, एषा पूर्वानुपूर्वी। शेषभावना तु पूर्वोक्तानुसारतः सुकरैव, यावत्कालानुपूर्वी समाप्ता ।

(९) साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टर्मिवोत्कीर्त्तनानुपूर्वीं बिभणिषुराह-

से किं उक्कित्तणाणुपुव्वी ? उक्कित्तणाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा पुव्वानुपुव्वी, पच्छानुपुव्वी, अणानुपुव्वी। सें किं तं पुव्वानुपुव्वी ?पुव्वाणुपुव्वी उसभे १, अजिए २, संभवे ३, अभिणंदणे ४, सुमती ५, पउमप्पहे ६, सुपासे ७, चंदप्पहे ८, सुविही ९ सीतले १०, सेज्जंसे ११, वासुपुज्जे १२, विमले १३, अणंते १४, धम्मे १५, संती १६, कुंथू १७, अरे १८, मल्ली १९, मुणिसुव्वते २०, नमी २१, अरिट्ठनेमी २२, पासे २३, वद्धमाणे २४, । सेत्तं पुव्वानुपुव्वी। से किं तं पच्छाणुपुव्वी ? पच्छाणुपुव्वी वद्धमाणे ० जाव उसभे । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ? अणाणुपुव्वी- एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए चउवीसगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो सेत्तं। अणाणुपुव्वी। सेत्तं उक्कित्तणाणुपुव्वी। (सूत्र-११६)

'से किं तमि' त्यादि। उत्कीर्त्तन- संशब्दनम्-अभिधानो- च्यारणम, तस्यानुपूर्वी- अनुपरिपाटिः सा पूर्वानुपूर्व्यादिभेदेन त्रिविधा, तत्र ऋषभः प्रथममुत्पन्नत्वात्पूर्वमुत्कीर्त्यते तदनन्तरं क्रमेण अजितादय इति पूर्वानुपूर्वी शेषभावना तु पूर्ववद्। अत्राह-ननु औपनिधिक्या द्रव्यानुपूर्व्या अस्याश्च को भेदः ? उच्यते-तत्र द्रव्याणां विन्यासमात्रमेव पूर्वानुपूर्व्यादिभावेन चिन्तितम्, अत्र तु तेषामेव तथैवोत्कीर्त्तनं क्रियते, इत्येतावन्मात्रेण भेद इति भवत्वेवं, किंत्वावश्यकस्य प्रस्तुतत्वादुत्कीर्तनमपि सामायिकाद्यध्ययनानामेव युक्तम्, किमित्यप्रक्रान्तानाम् ऋषभादीनां तद्विहितमिति ? सत्यं किंतु सर्वव्यापकं प्रस्ततुतशास्त्रा-मित्यादावेवोक्तं तद्दर्शनार्थमृषभादि-सूत्रान्तरोपादानं भगवतां च तीर्थप्रणेतृत्वात्तत्स्मरणस्य समस्तश्रेयः फलकल्पादपत्वात् युक्तं तन्नामोत्कीर्तनं, तद्विषयत्वेन चोक्तमुपलक्षण-त्वादन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति, शेषं भावितार्थं यावत्, 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम्।

इदानीं पूर्वोद्दिष्टामेव गणनाऽऽनुपूर्वीमाह-

से किं तं गणणाऽऽणुपुव्वी ? गणणाऽऽपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा पुव्वाणुपुव्वी १, पच्छाणुपुव्वी २, अणाणुपुव्वी ३। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ? पुव्वाणुपुव्वी-एगो दस, सतं, सहस्सं *दससहस्साइं, सत्तसहस्सं, दससतसहस्साइं कोडी*, दसकोडीओ, कोडिसयं, दस-कोडिसयाइं। सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी। से किं तं पच्छाणुपुव्वी १, पच्छाणुपुव्वी- दसकोडीसयाइं जाव एक्को। सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ? अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए दसकोडिसतगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। सेत्तं अणानुपुव्वी। सेत्तं गणनाणुपुव्वी। (सूत्र-११७)

'से किं तमि' त्यादि, गणनं-परिसंख्यानम् -एकं, द्वे त्रीणि, चत्वरि इत्यादि, तस्य आनुपूर्वी-परिपाटिर्गणनानुपूर्वी, अत्रोपल क्षणमात्रमुदाहर्तुमाह- 'एगे' त्यादि सुगमम्, उपलक्षणमात्रे चेदमतोऽन्येऽपि संभविनः संख्याप्रकारा अत्र दृष्टव्याः । उत्कीर्तनानुपूर्व्यां नाममात्रोत्कीर्तनमेव कृतम्, अत्र त्वेकादिसंख्याभिधानमिति भेदः 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम्।

अथ प्रागुद्दिष्टामेव संस्थानानुपूर्वीमाह-

से किं तं संठाणानुपुव्वी ? संठाऽऽणाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ? पुव्वाणुपुव्वी- समचउरंसे निग्गोहमंडले, सादी, खुज्जे, वामणे, हुंडे । सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी। से किं तं पच्छाणुपुव्वी ? पच्छाणुपुव्वी हुंडे

०जाव समचउरंसे। सेत्तं पच्छाणुपुव्वी। से किं तं अणाणुपुव्वी? अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए ए-गुत्तरिआए छगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। सेत्तं अणाणुपुव्वी। सेत्तं संठाणाणुपुव्वी। (सूत्र-११८) (१०) *अधिकाराङ्कः।

'से किं तमि' त्यादि, आकृतिविशेषाः- संस्थानानि: तानि च जीवाऽजीवसंबन्धित्वेन द्विधा भवन्ति, तत्रेह जीवसंबन्धीनि, तत्रापि पञ्चेन्द्रियसंबन्धीनि वक्तुमिष्टानि, अत: तान्याह- 'समचउरंसे' त्यादि, तत्र समाः- शास्त्रोक्तलक्षणाविसंवादिन्य- श्चतुर्दिग्वर्तिन्यः अवयवरूपाश्चतस्रोऽस्रयो यत्र तत्समासान्तात् प्रत्यये समचतुरस्रं संस्थानं, तुल्यारोहपरिणाहः संपूर्णलक्षणो-ऽपि साङ्गोपाङ्गावयवः स्वाङ्गुलाष्टाधिकशतोच्छ्रयः सर्व-संस्थानप्रधानः पञ्चेन्द्रियजीवशरीरा-कारविशेष इत्यर्थः १। नाभेरुपरि न्यग्रोधवन्मण्डलम्- आद्यसंस्थानलक्षणयुक्तत्वेन विशिष्टकारं न्यग्रोधमण्डलं, न्यग्रोधो-वटवृक्षः, यश्चा चायमुपरि वृत्ताकारतादिगुणोपेतत्वेन विशिष्टकारो भवति: अधस्तु न तथा एवमेतदपीति भावः २। सह आदिना नाभेरधस्तनकायलक्षणेन वर्त्तते इति सादि, ननु सर्वमपि संस्थानं आदिना सहैव वर्त्तते ततो निरर्थकं सादित्वविशेषणम्, सत्यम, किंतु-अत एव विशेष-णवैफल्यप्रसङ्गादाद्यसंस्थानलक्षणयुक्त आदिरिह गृह्यते, ततस्तथाभूतन आदिना सह यद्वर्त्तते नाभेस्तूपरितनकाये आद्यसंस्थानलक्षणविकल तत्सादीति तात्पर्यम् ३। यत्र पाणिपादशिरोग्रीवं समग्रलक्षणपरिपूर्णम्; शेषं तु हृदयोदर-पृष्ठलक्षणं कोष्ठम्- लक्षणहीनं तत् कुब्जम् ४। यत्र तु हृदयोदर-पृष्ठं सर्वलक्षणोपेतम्; शेषं तु हीनलक्षणं तद्वामनम्; कुब्जविपरीतमित्यर्थः ५। यत्र सर्वेऽप्यवयवाः प्रायो लक्षण-विसंवादिन एव भवन्ति तत्संस्थानं हुण्डमिति ६। अत्र च सर्वप्रधानत्वात्समचतुरस्रस्य च प्रथमत्वम्, शेषाणां तु यथाक्रमं हीनत्वाद् द्वितीयादित्वमिति पूर्वानुपूर्वीत्वं, शेषभावनां पूर्वव-दिति। आह-यदीत्थं संस्थानानुपूर्वी प्रोच्यते तर्हि संहनन-वर्णरसस्पर्शाऽऽद्यानुपूर्व्योऽपि वक्तव्याः स्युः, तथा च सत्यानु-पूर्वीणामियत्तैव विशीर्यते, ततो निष्फल एव प्रागुपन्यस्तो दशविधत्वसंख्यानियम इति, सत्यम्, किन्तु-सर्वासामपि तासां वक्तुमशक्यत्वादुपलक्षणमात्रमेवायं सङ्ख्यानियमः एतदनुसारे- णाऽन्या अप्येता अनुसर्त्तव्या इति तावल्लक्षयामः, सुधिया त्वन्यथापि वाच्यं गम्भीरार्थत्वात् परममुनिप्रणीतविवक्षायाः एवमुत्तरत्रापि वाच्यम्, इत्यले विस्तरेण।

(११) सामाचार्य्यानुपूर्वीं विवक्षुराह-

से किं तं सामायारीआणुपुव्वी ? समायारीआणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा- पुव्वाणुपुव्वी १, पच्छाणुपुव्वी २, अणाणुपुव्वी ३। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ? पुव्वाणुपुव्वी-

''इच्छा १, मिच्छा २, तहक्कारो ३,
आवस्सिआ य ४, निसीहिआ ५।
आपुच्छणा य ६ पडिपुच्छा ७,
छंदणा य ८, निमंतणा ९।।१।।
उवसंपया य १० काले,
सामायारी (भवे) दसविहा उ।

सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी। से किं तं पच्छाणुपुव्वी ? पच्छाणुपुव्वी उवसंपया ०जाव इच्छागारो। सेत्तं पच्छाणुपुव्वी। से किं तं अणाणुपुव्वी ? अणाणुपुव्वी- एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए दसगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। सेत्तंअणाणुपुव्वी। सेत्तं सामायारी आणुपुव्वी। (सूत्र-११९)

(सामाचारीव्याख्यानम् 'सामायारी' शब्दे सप्तमे भागे करिष्यते) इह धर्म्मस्यापरोपतापमूलत्वादिच्छाकारस्याज्ञा बलाभियोगलक्षण-परोपतापवर्जकत्वात्प्राधान्यात्प्रथममुपन्यासः अपरोपतापकेनापि च कथंचित् स्खलने मिथ्यादुष्कृतं दातव्य-मिति, तदनन्तर मिथ्याकारस्य, एतो च गुरुवचनप्रतिपत्तविव ज्ञातु शक्यौ, गुरुवचनं च तथाकारकरणेनैव सम्यक् प्रतिपन्नं भवतीति तदनन्तरं तथाकारस्य प्रतिपन्नगुरुवचनेन चोपाश्रयाद्बहिर्निर्गच्छता गुरुपृच्छापूर्वकं निर्गन्तव्यमिति। तथाकारानन्तरं तत्पृच्छारूपाया आवश्यक्याः बहिर्निर्गतेन च नैषधिकीपूर्वकं पुनः प्रवेष्टव्यमिति तदन्तरं नैषेधिक्याः, उपाश्रयप्रविष्टेन च गुरुमापृच्छ्य सकलमनुष्ठेयमिति तदनन्तरमा-पृच्छनायाः, आपृष्टे च निषिद्धे पुनः प्रष्टव्यमिति तदनन्तरं प्रतिपृच्छनाया प्रतिप्रश्ने चानुज्ञातेनाऽशनाद्यानीय तत्परिभोगाय साधव उत्साहनीया इति तदनन्तरं छन्दनायाः एषा च गृहीत एवाऽदशनादौ स्याद् अगृहीते तु निमन्त्रणैवेति तदनन्तरं निमन्त्रणायाः, इयं च सर्वाऽपि निमन्त्रणापर्यन्ता सामाचारी गुरूसंपदमन्तरेण न ज्ञायते इति तदनन्तरमुपसम्पद उपन्यास इति पूर्वानुपूर्व्वीत्वसिद्धिरिति। शेषं पूर्ववदिति।

(१२) अथ भावाऽऽनुपूर्वीमाह-

से किं तं भावाणुपुव्वी ? भावाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा- पुव्वाणुपुव्वी १, पच्छाणुपुव्वी २, अणाणुपुव्वी ३। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ? पुव्वाणुपुव्वी-उदइए, उवसमिए, खाइए, खओवसमिए, पारिणामिए, सन्निवाइए। सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी। से किं तं पच्छाणुपुव्वी ? पच्छाणुपुव्वी संनिवाइए ०जाव उदइए। सेत्तं पच्छाणुपुव्वी। से किं तं अणाणुपुव्वी ? अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए छगच्छगयाए सेढीए अन्नपमन्नब्भासो दुरूवूणो। सेत्तं अणाणुपुव्वी। सेत्तं भावाणुपुव्वी। सेत्तं आणुपुव्वी आणुपुव्वि त्ति पदं समत्तं। (सूत्र-१२०)

से किं तमि' त्यादि, इह तेन तेन रूपेण भवनानि भावावस्तुपरिणामविशेषाः- औदयिकादयः अथवा तेन-तेन रूपेण भवन्तीति भावास्त एव यद्वा भवन्ति तैस्तेभ्यस्तेषु

वा सत्सु प्राणिनस्तेन तेन रूपेणेति भावा यथोक्ता एव तेषामानुपूर्वी परिपाटिर्भावानुपूर्वी, औदयिकादीनां तु स्वरूपं पुरस्तात् न्यक्षेण वक्ष्यते, अत्र च नारकादिगतिरौदयिको भाव इति वक्ष्यते, तस्यां च सत्यां शेषा भावाः सर्वेऽपि यथासम्भवं प्रादुर्भवन्तीति शेषभावाऽऽधारत्वेन प्रधान-त्वादौदयिकस्य प्रथममुपन्यासः, ततश्च शेषभावपञ्चकस्य मध्ये औपशमिकस्य स्तोकविषयत्वात् स्तोकतया प्रतिपादयिष्यत इति तदनन्तरमौपशमिकस्य, ततो बहुविषयत्वात् क्षायिकस्य ततो बहुतरविषयत्वात् क्षायोपशमिकस्य, ततो बहुमतविषयत्वात्पारिणामिकस्य, ततोऽप्येषामेव भावानां द्विकादिसंयोगसमुत्थत्वा-त्सान्निपातिकस्योपन्यास इति पूर्वानुपूर्वीक्रमसिद्धिरीति । शेष पूर्वोक्तानुसारेण भावनीयम्। तदेवमुक्ताः प्रागुद्दिष्टा दशाप्यानुपूर्वीभेदाः तद्गणने चोपक्रम-प्रथमभेदलक्षणा आनुपूर्वी समाप्ता। अनु०।

आणौहे- पुं० (आज्ञौघ) सम्यग्दर्शनविकले आज्ञामात्रे पञ्चा०। ''आणोहेणाऽणेता मुक्का'' ॥४८×॥ पञ्चा०। आज्ञाया-आप्तोपदेशस्यौघः- सामान्यमाज्ञौघः सम्यग्दर्शनविकलमाज्ञामात्र-मित्यर्थः। तेन सताऽपीति गम्यम् अनन्तानि अनन्तसंख्यानि मुक्तानि त्यक्तानीति। पञ्चा० १४ विव०।

आतं (यं) क- पु० (आतङ्क) 'तकि' कृच्छ्रजीवने आतङ्कनमा-तङ्कः। आ-तकि-घञ्। कृच्छ्रजीवने, (दुःखे) आचा०१, श्रु०१, अ० ७ उ०। नरकादिदुःखे च। आच० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। तच्च द्विविधम शारीरं, मानसं च । तत्राद्यम्कटुकक्षार-शस्त्रगण्डलूतादिसमुत्थम्, मानसं प्रियविप्रयोगाऽप्रिय- संप्रयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्मनस्यादिकृतम। आचा० १ श्रु १ अ० ७ उ०। यदिवा- आतङ्को द्वेधा- द्रव्यभावभेदात्। (स च 'आतं (यं) कंदंसि' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव दर्शयिष्यते) रोगे, स्था० ५ ठा० ३ उ०। उत्त० को० अनु० आङिति सर्वात्म-प्रदेशाऽभिव्याप्त्या तङ्कयन्ति कृच्छ्रजीवितमात्मानं कुर्वन्ती-त्यातङ्काः। सद्योघातिनि रोगविशेषे उत्त० १० अ०। ''आयङ्को जरमाइं''। ॥१४३२॥ आतङ्को-ज्वरादिः सद्यो घाती रोगः। प०व० ५ द्वार। उत्त० ''आसुघाई आतंको'' आव० ४ अ० स्था० पं० सू०। आ० चू०। जी०। उत्त०। प्रव०। रा०। आ० म०। दश०। आतंका विविहा फुसंति'' ॥१८+॥ आतङ्कारोग-परीषहाःस्पृशन्ति। उत्त० २१ अ०। आतङ्कः-कृच्छ्रजीवितकारी ज्वरादिकः। भ० १६ श० २ उ०। ''उयाहु ते आतंका फुसंति'' (सूत्र १४७×)। आतङ्का- आशुजीवितापहारिणः शूलादयो-व्याधिविशेषाः स्पृशन्ति- अभिभवन्ति पीडयन्ति आचा० १ श्रु० ५ अ०२ उ०। उत्त०। भ०। ज्ञा०। सूत्र०। स्था०। 'दीहकालिएणं रोगातंकेणं'' (सूत्र-१३५+)। आतङ्कः कृच्छ्रजीवित-कारी सद्योघाती शुलादिः स्था० ३ ठा० १ उ०। ज्ञा०। प्रश्न० १ आतङ्क०- सद्योघातिनः। शुलादिक रोगाः। संथा०। भ०। 'आयंके से वहाय होई ॥९॥'' सूत्र १×)। आतङ्कः सद्योघाती विशूचिकादिको रोगस्तस्य गृहिणो धर्मबनधुरहितस्य वधाय-विनाशाय भवति। दश० १ चू०।

ते चोत्तराध्ययने दर्शिता यथा-

अरई गंडं विसूइया, आयंका विविहा फुसंति ते।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयमा! मा पमायए ॥२७॥

हे गौतम! 'ते' तव विविधाः- नानाप्रकारा आतङ्का रोगाः शरीरं स्पृशन्ति ते केचन आतङ्का अरतिश्चतुरशीतिविविधवा- तोद्भूतचित्तोद्वेगो; वातप्रकोप इत्यर्थः। गण्डंरूधिर-प्रकोपाद्भूतस्फोटकः। विशूचिका-अजीर्णोद्भूतवमनाध्मात-विरेचादि सद्यो मृत्युकृत रूक्० इत्यादयो रोगा आतङ्का दे पीडयन्ति, तैः रोगैः पीडिते शरीरे सति धर्माराधनं दुष्करं ते शरीरं रोगाभिभूतं सत् विपतति, विशेषेण बलापचयात् नश्यति, पुनः शरीरं 'ते' तव विध्वस्यते जीवमुक्तं सत् विशेषेण अधः पतति, अत्र सर्वत्र यद्यपि 'ते' तव इत्युक्तं गौतमे च केशपाण्डु-रत्वादि इन्द्रियाणां हानिश्च न संभवति तथापि तन्निश्रया अपरशिष्यादिवर्गप्रतिबोधार्थमुक्तं दोषाय न भवति, तथा च प्रमादो न विधेयः। उत्त० १० अ०। रोगाः-अकालमहाव्याधय आतङ्कास्त एव सद्योघातिन इति। औ०। आतङ्करोगयोर्विशेषो यथा-स्यात् केरिसो रोगो, केरिसो वा आतङ्कस्तत उच्यते।

गाहा-

गंडी कोढं खइयादी, रोगा कासादितो तु आतंको।
दीहरुया वा रोगो, आतङ्को आसुघाती य ॥२१९॥

(अस्याः गाथायाः व्याख्या 'पलंब' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयि-ष्यते। बृ० १ उ २० प्रक०। नि० चू०। आतङ्को ज्वरादिस्तद्योगा दातङ्किनोऽप्यातङ्काः। आतङ्किनि पिं०। संतापे, सन्देहे, मुरजशब्दे, भये च। वाच०।

आतं (यं) कंदसि (न्) पु० (आतङ्कदर्शिन) 'तकि' कृच्छ्रजीवने आतङ्कनमातङ्कः कच्छ्रजीवनं-दुःखं, तच्च द्विविधम शारीरं, मानसं च। तत्राद्यं कटुकक्षारशस्त्रगण्डलूतादिसमुत्थम्, मानसं प्रिय-संप्रयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्मनस्यादिकृतम एतदुभयमातङ्कं पश्यति तच्छीलश्चेत्यातङ्कदर्शी। अवश्यमेतदुभयमपि दुःख-मप्यापततीत्येवं ज्ञातरि, आचा०।

(तथा च वायुकायसमारम्भमधिकृत्य)-

आयंकदंसी अहियंति णच्चा। (सूत्र- ५६+)

अवश्यमेतदुभयमपि दुःखमापतति मय्यनिवृत्तवायुकाय- समारम्भे ततश्च तद्वायुकायसमारम्भणमातङ्कहेतुभूतमहितमिति ज्ञात्वैतस्मान्नि-वर्तने प्रभुर्भवतीति। यदि वा आतङ्को द्वेधा-द्रव्य-भावभेदाद्। तथा द्रव्यातङ्के इदमुदाहरणम्-

''जंबुद्दीवे दीवे, भारहवासम्मि अत्थि सुपसिद्धं।
बहुणयरगुणसमिद्धं, रायगिहं णाम णयरं ति ॥११॥
तत्थासि गरुयदरिया- रिमद्दणो भुयणनिग्गयपयावो।
अभिगयजीवाजीवो, राया णामेण जियसत्तू ॥२॥
अणवरयगरुयसंवे-गभाविओ धम्मघोसपामूले।
सो अन्नयाकयाई, पमाइणं पासए सेहं ॥३॥
चोइज्जंतमभिक्खं, अवराहं तं गुणो वि कुणमाणं।
तस्स हिअट्ठं राया, सेसाण य रक्खणट्ठाए ॥४॥

आयरियाणुण्णाए आणावइ सो उ णियगपुरेसेहिं।
तिव्वुक्कडदव्वेहिं, संधिय पुव्वं तहिं खारं ॥५॥
पक्खित्तो जत्थ णरो, णवरं दोगोहमेत्तकालेण।
णिज्जिण्णमंससोणिय-अट्ठिऽवसेसत्तणमुवेइ ॥६॥
दो ताहे पुव्वमए, पुरिसे आणावए तहिं एया।
एगं गिहत्थवेसं, बीयं पासंडिणेवत्थं ॥७॥
पुव्वं वि य सिक्खविए, ते पुरिसे पुच्छए तओ राया।
अवराहो एएसिं, भणंति आणं अइक्कमइ ॥८॥
पासंडिओ जडुत्ते-ण वट्टई अत्तणो य आयारे।
पक्खिवह खारमज्जे खित्ता गोदोहमेत्तस्स ॥९॥
दट्ठूणऽट्ठिऽवसेसं, ते पुरिसे अलियरोसरतऽच्छो।
सेहं आलोयंतो, राया तो भणइ आयरियं ॥१०॥

तुम्ह वि कोऽवि पमादी,
सोसेमि य तं पि णऽत्थि भणइ गुरू।
जइ होहिइ तो साहे,
तुम्हे चिय तस्स जाणिहिह ॥११॥

सेहो गए णिवंमि, भणइ ते साहुणो उण पुण ति।
हा हं पमायसीलो; तुम्हं सरणागओ धणियं ॥१२॥
जइ पुण होज्ज पमाओ, पुणो ममं सङ्कभावरहियस्स।
तुम्हं गुणेहिं सुविहिय, तो सावगरक्खसामुच्चे ॥१३॥
आयंकभउव्विग्गो ताहे सो णिच्चउज्जुओ जाओ।
कोवियमती य समए, ग्रह्या नारिसाविओ पच्छा ॥१४॥
दव्वायंकाऽऽदंसी, अत्ताणं सव्वहा णियत्तेइ।
अहियारंभा उस्सया जह सीसो धम्मघोसस्स ॥१५॥''

भावातङ्काऽऽदर्शी तु नरकतिर्यग्मनुष्यामरभवेसु प्रियविप्रयोगादिशारीरमानसाऽऽतङ्कभीत्या न प्रवतते, वायुसमारम्भे। अपि तु अहितमेतद्वायुसमारम्भणमिति मत्वा परिहरति। आच० १ श्रु० १ अ० ७ उ०।

आयंकदंसी न करइ पावं ॥४+॥ (सूत्र-१११)

आतङ्को-नरकादिदुःखं तद्द्रष्टुं शीलमस्येत्यातङ्कदर्शी स 'पापं' पापानुबन्धि कर्म न करोति, उपलक्षणार्थत्वान्न कारयति, नानुमन्यत इति। आचा १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

आतं(यं)कविवच्चास-पु०(आतङ्कविपर्यास) आगाढे अनागा-ढकरणे। आयंकविवच्चासो नाम-आगाढे अहिदट्ठाइ, अणागाढं करेइ त्ति। पं० चू० ४ कल्प।

आतं(यं)कसंपओगसंपउत्त-त्रि०(आतङ्कप्रयोगसंप्रयुक्त) आतङ्को-रोगस्तस्य सम्प्रयोगः-संबंधस्तेन संप्रयुक्तः सबन्धो यः स तथा। आतङ्कसंबद्धे, 'आतंकसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगे सति समणागए यावि भवइ ३।'' (सूत्रं ४४७+)। (अयं चार्तध्या-नस्य तृतीयो भेदस्तद्वक्तव्यता 'अ(इ)त्तज्झाण' शब्देप्रथमभागे गता) स्था० ४ ठा० १ उ०।ग०।औ०।

आतं (यं) कि (न्)- पु० (आतङ्किन्) रोगिणि, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

आतं (यं) चणिया- स्त्री० (आतंचनिका) कुम्भकारभाजने, भ०। आयंचणिओदएणं गाताइं परिसिंचमाण विहरइ'' (सूत्र- ५५३+)। 'आयंचणिओदएणं' ति-इह आतञ्चनिकोदकं-कुंभकारस्य भाजने स्थितं तेमनाय मृन्मिश्रं जलं तेन। भ० १५ श०।

आतंऽ (यं) तकर- पुं० (आत्मान्तकर) आत्मनोऽन्तम्अवसानं भवस्य करातीत्यात्मान्तकरः। प्रत्येकबुद्धादिके, स्था० ४ ठा० २ उ०। आत्मनोऽन्तं-मरणं करोतीत्यात्मान्तकरः। आत्मवधकेस्था० ४ ठा० २ उ०। ''आयंतकरे णाममेगे णो परंतकरे'' (सूत्र-२८७) स्था० ४ ठा० २ उ०।

आंत(यं)तम-पुं०(आत्मतम) आत्मानं तमयतिखेदयती-त्यात्मतमः। आचार्यादिकेआत्मखेदयितरि, स्था०। आत्मैव तमः-अज्ञाने; क्रोधो वा यस्य स आत्मतमाः। अज्ञानात्मनि, क्रोधात्मना च। स्था०। ''आयंतमे नाममेगे णो परंतमे'' (सूत्र- २८७+) स्था ४ ठा० २ उ०।

आतं (यं) दम-पुं० (आत्मदम) आत्मानं दमयति-शमवस्तं करोति-शिक्षयति, वेत्यात्मदमः। आचार्य्ये, स्था०। अश्वदम-कादौ च। 'आयंदमे णाममेगे णो परंदमे'' (सूत्र २८७+)। स्था० ४ ठा० २ उ०।

आतं(यं)व-त्रि० (आताम्र) ईषद्रक्ते, जं० २ वक्ष०। औ०। 'आयंवतलिणसुइरुइलनिद्धनक्खा'' (सूत्र-१४७)। आताम्राः-ईषद्रक्तास्तलिनाः- प्रतलाः शुचयः-पवित्रा रुचिरा दीप्ता स्निग्धा-अरूक्षा नखाः कररुहाः येषां ते आताम्रतलिनशुचि- रुचिरस्निग्धनखाः। जी० ३ प्रति ४० अधि० २ उ०।

आतं (यं) वज्झयण- न० (आताम्राऽध्ययन)। सूर्य्यस्याग्रमहिष्या आताम्राया वक्तव्यताप्रसिद्धे ज्ञाताधर्मकथाया द्वितीयश्रुत-स्कन्धसप्तमवर्गस्तिय द्वितीयऽध्ययने, ज्ञा० २ श्रु ४ वर्ग १ अ०।

आतं (यं) भरे- त्रि० (आत्मम्भरि) आत्मानं विभर्त्ति भृखिमुम्-च-उप० सं०। स्वोदरमात्रपूरके। देवतातिथ्यंनादरेणात्म-पोषकत्वात्तस्य तथात्वम्। ''आत्मम्भरिस्त्वं पिशितैनेराणाम्'' भट्टिः। वाच०। आत्मानं विभर्ति पुष्णातीति आत्मम्भरिः। स्वार्थकारके, स्था०। '' आयंभरे णाममेगे णो परंभरे'' (सूत्र ३२७+) आत्मम्भरिः प्राकृतत्वात् 'आयंभरे'। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

आत (य) कम्म (न्)- त्रि० (आत्मकर्मन) ६ त०। आत्मनः- स्वस्य कर्त्तव्ये कार्य्ये, ''आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ?'' रघुः। वाच०। ज्ञानावरणादिके आत्मकृतकर्मणि भ० ''किं आयकम्मणा उववज्जंति ? परकम्मणा उववज्जंति'' (सूत्र ६८६+) भ० २० श० १० उ०।

आत(य)गवेसय- त्रि० (आत्मगवेषक) आत्मानं कर्म्ममलापहारेण शुद्धं गवेषयतीत्यात्मगवेषकः। उत्त० १५ अ०। आत्मानं कर्म-विगमाच्छुद्ध-स्वरूपं गवेषयति-कथमयमित्थंभूतो भवेदित्य-न्वेषयते यः स आत्मगवेषकः। कर्म्मविगमाच्छुद्धस्वरूप-स्यात्मनोऽन्वेषके उत्त० पाई० १५ अ०। ''सहिए आयगवेसए स भिक्खू'' ॥५×॥ उत्त० १५ अ०।

आत (य) गय- त्रि० (आत्मगत)। आत्मनि गतमात्मगतम्। आत्मगे, सूत्र०।

संलोकणिज्जमणगारं, आयगयं निमंतणे णाहंसु ॥३०+॥

संलोकनीयं- संदर्शनीयमाकृतिमन्तं कञ्चनाऽगारंसाधुमात्मनि गतमात्मगतम्; आत्मज्ञमित्यर्थः। सूत्र १ श्रु ४ अ २ उ०।

आत (य) गुत्त- त्रि० आत्मगुप्त आत्मा-शरीरम् आत्मशब्दस्य शरीरवचनस्यापि दर्शनात्, उक्तं, हि- ''धर्मधृत्यग्निधीन्द्रकत्त्वकृतत्त्व-स्वार्थदेहिषु। शीलाऽनिलमनोयत्नै -कवीर्येष्वात्मनः स्मृतिः ॥१॥' इति तेन गुप्त आत्मगुप्तो न यतस्ततः कर-चरणादिविक्षेपकृत्, इतस्ततः करचरणाऽविक्षेपके, यद्वा- गुप्तो रक्षितोऽसंयमस्थानेभ्य आत्मा येन स तथा। उत्त० पाई० १५ अ०। असंयमस्थानेभ्यो रक्षितात्मनि, आत्मा गुप्तो यस्य स आत्मगुप्तः। सूत्र श्रु २ अ०। मनोवाक्कायैरात्मा गुप्तो यस्य सः आत्मगुप्तः। सूत्र १ श्रु ७ अ०। मनोवाक्कायगुप्ते, सूत्र० १ श्रु ११ अ०। इन्द्रिय नोइन्द्रियात्मना गुप्त आत्मगुप्तः। आचा० १ श्रु ३ अ० ३ उ०। आत्मनामनोवाक्कायरूपेण गुप्त आत्मगुप्तः। सूत्र १ श्रु ११ अ०। मनोवाक्कायात्मना गुप्ते ''आयगुत्ते सयावी (धी) रे ॥१+॥ (सूत्र-११६×)। ''आयगुत्ते सया दंते'' ॥ सूत्र १ श्रु० ११ अ०।

(आत्मगुप्तस्य फलमाह)

कंड च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं।
सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥२१॥

साधुद्वेशेन यद् अपरैः अनार्यकल्पैः कृतम-अनुष्ठितं पापकं कर्म तथा वर्त्तमाने च काले क्रियमाणं तथाऽऽगामिनि च काले यत्करिष्यते तत्सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिर्नानुजानन्ति ना नुमो-दन्ति तदुपभोगपरिहारेणेति भावः। यद्यप्यात्मार्थं पापकं कर्म परैः कृतं, क्रियते, करिष्यते वा तद्यथा- शत्रोशिरश्छिन्नं, छिद्यते, छेत्स्यते वा तथा चौरो हतो, हन्यते, हनिष्यते वा इत्यादिकं परानुष्ठानं नाऽनुजानन्ति- न च बहु मन्यन्ते तथाहि। यदि परः कश्चिदशुद्धेनाहारेणोपनिमन्त्रयेत्तमपि नानुमन्यत इति। क एवंभूता भवन्तीति दर्शयति- आत्माऽकुशलमनोवा-क्काय- निरोधेन गुप्तो येषां ते तथा, जितानी-वशीकृतानि इन्द्रियाणि-श्रोत्रादीनि यैस्ते तथा एवंभूताः पापकर्म नाऽनुजानन्तीति स्थितिम्। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

***गुप्तात्मन्**- त्रि० (गुप्तः) असंमयस्थानेभ्यो रक्षित आत्मा येन स गुप्तात्मा प्राकृतत्वाद्विपर्य्ययः। असंयमस्थानेभ्यो रक्षितात्मनि, उत्त० १५ अ०। आत्मना गुप्तः स्वशक्त्यैव रक्षिते लताभेदे स्त्री० तस्याः स्पर्शने हि अतिकण्डूयने दुःखं भवति तद्भयाच्चान्यैर्न सा-स्पृश्यत इति तस्या आत्मगुप्तत्वम्। वाच०।

आत (य) छट्ठवाइ (न्)- पु० (आत्मषष्ठवादिन्) आत्मा षष्ठो येषां तान्यात्मष्ठानि भूतानि विद्यन्त इत्येवं वादिनि सांख्यादौ सूत्र०।

सांप्रतमात्मषष्ठवादिमते पूर्वपक्षयितुमाह-

संति पंचमहाभूया, इह मेगेसि आहिया।
आयछट्ठो पुणो आहु आया लोगे य सासए ॥१५॥

शास्त्रतत्त्वमेव भूयः प्रतिपादयितुमाह-

दुहओ ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं।
सव्वे दि सव्वहा भावा, नियतीभावमागया ॥१६॥

सूत्र १, श्रु १ अ० १ उ०। (अनयोर्गाथयोर्व्याख्यानम् 'अत्तछट्ठ' शब्दे प्रथमभागे ५०२ पृष्ठे गतम्।)

आत (य) जस (स्)- न० (आत्मयशस्) आत्मसंबन्धिनि यशसि, यशोहेतुभूते संयमे च। भ०। ''जीवा किं आयजसेणं उव-वज्जंति'' (सूत्र ८७६+) 'आयजसेणं' ति- आत्मनः संबन्धि यशो यशोहेतुत्वाद्यशः-संयम आत्मयशस्तेन (भ०) 'आयजसं उवजीवंति' त्ति-आत्मयशः-आत्मसंयममुपजीवन्ति आश्र-यन्ति; विदधतीत्यर्थः। भ० ४१ श०।

आत(य) जोगि (न्)-पुं०(आत्मयोगिन्) आत्मनो योगः कुशलमनः प्रवृत्तिरूप आत्मयोगः स यस्यास्ति। सदा धर्मध्यानावस्थिते सूत्र २० श्रु २ अ०।

आत (य) ट्ठ (अप्पणट्ठ)- पुं० (आत्मार्थ) आत्महिते, ''आयट्ठं'' (सूत्र-६९+टी०)। आचा० १ श्रु २० अ० १ उ०। आत्मनोऽर्थ आत्मार्थः। ज्ञानदर्शनचारित्रेषु, आत्मने हितम्प्रयो-जनमात्मार्थम्। चरित्रानुष्ठाने, आचा० १, श्रु २ अ० १ उ०।

आयतट्ठ (अप्पणट्ठ)- पुं० (आयतार्थ) आयतः अपर्य्यवसा-नान्मोक्ष एव स चासावर्थश्चायतार्थः। मोक्षात्मकेप्रयोजने, आयतोमोक्षः अर्थः-प्रयोजनं यस्य सः। मोक्षप्रयोजनकेदर्शनादिके, आच० १, श्रु २ अ० १ उ०। आत्मनिमित्ते, ''अप्पणट्ठा परट्ठा वा'' (सूत्र-१३+)। आत्मार्थमात्मनिमित्तम्। दश० ९ अ० २ उ०।

(आत्मार्थश्चावश्यमुपासनीयः)

अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं ॥६२॥

आचा० १ श्रु० २ अ १ उ०। (अस्य व्याख्या 'आउ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे प्राग् दर्शिता)

येऽपि दीर्घायुष्कस्थितिका उपक्रमणकारणाभावे आयुःस्थितिमनु-भवन्ति तेऽपि मरणादप्यधिकां जराभिभूतविग्रहा जघन्यतरामवस्थाम-नुभवन्तीति तद्यथेत्यादिना दर्शयति-

तं जहा- सो य परिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं चक्खु-परिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं घाणपरिण्णाणेहिं परिहाय-माणेहिं रसणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं फासप-रिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं अभिकंतं च खलु वयं सपेहाए तओ से एगदा मूढभावं जणयंति ॥६३॥

'सो य परिण्णाणेहिं' इत्यादि। ततः स एकदा मूढभावं जनयंतीति। यावत् शृणोति भाषापरिणतान् पुद्गलानिति श्रोत्रं, तच्च कदम्बपुष्पाऽऽकारं द्रव्यतो, भावतो भाषाद्रव्यग्रहणलब्ध्युपयोगस्वभावमिति, तेन श्रोत्रेण परिः-समन्ताद् घटपदशब्दाऽऽदिविषयाणि ज्ञानानि-परिज्ञानानि तैः श्रोत्र-परिज्ञानैर्जराप्रभावात्परिहीयमानैः सद्भिस्ततोऽसौ प्राणी एकदावृद्धावस्थायाम्-रोगोदयावसरे वा मूढभावम्-मूढतां कर्त्त-

व्याऽकर्त्तव्यज्ञतामिन्द्रियपाटवाभावादात्मनो जनयति: हिताऽहितप्राप्ति-परिहारविवेकशून्यतामापद्यत इत्यर्थ:। जनयन्तीति विवेकवचनावसरे ''तिडां तिङो भवन्ति'' इति बहुवचनमकारि, अथवा-तानि वा श्रोत्रविज्ञानानि परिक्षीय- माणान्यात्मन: सद्सद्विवेकशून्यतामा-पादयन्तीति, श्रोत्रा-दिविज्ञानानां च तृतीया प्रथमार्थे सुब्व्यत्ययेन द्रष्टव्येति, एवं चक्षुरादिविज्ञानेष्वपि योज्यम् । अत्र च करणत्वादिन्द्रियाणामेवं सर्वत्र द्रष्टव्यम्- श्रोत्रेणात्मनो विज्ञानानि चक्षुषात्मनो विज्ञानानीति । (आचा०) अत्र च 'सोयपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेही' त्यादि, य उत्पत्तिं प्रति व्यत्ययेनेन्द्रियाणामुपन्यास: स एवमर्थं द्रष्टव्य:- इह संज्ञिन: पञ्चेन्द्रियस्य उपदेशदानेनाधि-कृतत्वादुपदेशश्च श्रोत्रेन्द्रियविषय इति कृत्वा तत्पर्याप्तौ च सर्वेन्द्रियपर्याप्ति: सूचिता भवति। श्रोतादिविज्ञानानि च वयोऽतिक्रमे परिहीयन्ते, तदवाह-'अभिक्केतमि' त्यादि, अथवा श्रोत्रादिविज्ञानैर-पचितै: करणभूतै: सद्भि: 'अभिक्कंतं च खलु वयंसपेहाए' तत्र प्राणिनां कालकृता शरीरावस्था- यौवनादिर्वय: तज्जरामाभि मृत्युं वा क्रान्तमभिक्रान्तम्, इह हि चत्वारि वयांसि कुमारयौवनमध्यमवृद्धत्वानि, उक्तं च- ''प्रथमे वयसि नाधीतं, द्वितीये नार्जितं धनम्। तृतीये न तपस्तप्तं, चतुर्थे किं करियष्यति''॥१॥ तत्राद्यवयोद्वयातिक्रमे जराभि-मुखमभिक्रान्तं वयो भवति, अन्यथा वा त्रीणि वयांसी कौमारयौवनस्थविरत्वभेदाद् उक्तं च-''पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने। पुत्राश्च स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥१॥' अन्यथा वा त्रीणि वयांसि बालमध्यमत्ववृद्धत्वभेदाद, उक्तं च- ''आषोडशाद्भवेद बालो, यावत्, क्षीरान्नवर्तक:। मध्यम: सप्ततिं याव-त्परतो वृद्ध उच्यते ॥१॥' एतेषु वयस्सु सर्वेष्वपि या उपचयवत्यवस्था तामतिक्रान्तोऽतिक्रान्तवया इत्युच्यते, च: समुच्चये, न केवलं श्रोत्रचक्षुर्घाणरसनस्पर्शनविज्ञानै-र्व्यस्तसमस्तैर्देशत: सर्वतो वा परिहीयमानैर्वा मोह्यमापद्यते, वयश्चातिक्रान्तं प्रेक्ष्यपर्यालोच्य, 'स' इति प्राणी खलुरिति विशेषणे विशेषेण अत्यर्थं मौह्यमापद्यत इति आह च- 'ततो से' इत्यादि, 'तत' इति तस्मादिन्द्रियविज्ञानापचयाद् वयोऽतिक्रमणाद्वा 'से' इति प्राणी 'एकदे' ति-वृद्धावस्थायां मूढ-भावो-मूढत्वं किंकर्तव्यताभावमात्मनो जनयति, अथवा-'से' तस्याऽसुभृत: श्रोत्रादिविज्ञानानि परिहीयमाणानि मूढत्वभावं जनयन्तीति।

स एवं वार्द्धक्ये मूढस्वभाव: सन् प्रायेण लोकावगीतो भवतीत्याह-

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वि णं एगदा णियगा पुव्विं परिवयंति, सोऽवि ते णियए पच्छा परिव्वएज्जा, णाऽलं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णाऽलं ताणाए वा सरणाए वा, से ण हासाय ण किड्डाए ण रतीए ण विभूसाए। (सूत्र-६४)

'जेहिं वे' त्यादि, वाशब्द: पक्षान्तरद्योतक:। आस्तां तावत् अपरो लोको यै: पुत्रकलत्रादिभि: सार्द्धं सह संवसति त एव भार्यापुत्रादयो णमिति वाक्यालङ्कारेणा एकदेति-वृद्धावस्थायां 'नियगा' आत्मीया ये तेन समर्थाविस्थायां पूर्वमेव पोषितास्ते तं 'परिवदन्ति' परि-समन्ताद्वदन्ति-यथाऽऽयं न म्रियते, नापि मश्चकं ददाति, यदि वापरिवदन्ति-परिभवन्तीत्युक्तं भवति, अथ वा-किमनेन वद्धेनेत्येवं परिवदन्ति न केवलमेषां तस्यात्मापि तस्यामवस्थायामवगीतो भवतीति, आह च-'' वलिसंतत-मस्थिशेषितं, शिथिलस्नायुधृतं कडे (ले) वरम्। स्वयमेव पुमान् जुगुप्सते, किमु कान्ता कमनीयविग्रहा''॥१॥ गोपाल-बालाङ्गनादीनां च दृष्टान्तद्वारेणोपन्यस्तोऽर्थो बुद्धिमधि-तिष्ठतीत्यतस्दाविर्भावनाय कथानकम्-कौशाम्ब्यां नगर्यामर्थवान् बहुपुत्रो धनो नाम सार्थवाहस्तेन चैकाकिना नानाविधै-रुपायै: स्वापतयमुपार्जितम्, तच्चाशेषदु:खितबन्धुजनस्वजन-मित्रकलत्रपुत्रादिभोग्यतां निन्ये, ततोऽसौ कालपरिपाकवशाद् वृद्धभावमुपगत: सन् पुत्रेषु सम्यक्पालनोपचितकलाकुशलेषु समस्तकार्यचिन्ताभरं निचिक्षेप। तेऽपि वयमनेनेदृशीमवस्थां नीता: सर्वजनाग्रे 'सरा विहिता' इति कृतोपकारा: सन्त: कुलपुत्रताम-वलम्बमाना: स्वत: क्वचित् कार्यव्यासङ्गात् स्वभार्याभिगस्तमकल्पं वृद्धं प्रत्यजजागरन् ता अप्युद्वर्तन-स्नानभोजनादिना यथाकालमक्षुण्णं विहितवत्यस्ततो गच्छत्सु दिवसेषु वर्द्धमानेषु पुत्रभाण्डेषु प्रौढीभवत्सु भर्तृषु जरद्वृद्धे च विवशकरणपरिचारे सर्वाङ्गकम्पनि गलदशेषश्रोतसि सति शनै: शनैरुचितमुपचारं शिथिलतां निन्यु: असावपि मन्दप्रतिजागरणतया चित्ताभिमानन विश्रसया च सुतरां दु:खसागरावगाढ: सन् पुत्रेभ्य: स्नुषाक्षुण्णान्याऽऽचचक्षे ताश्च स्वभर्तृभिश्चेखिद्यमाना: सुतरामुपचारं परिहृतवत्य: सर्वाश्च पर्यालोच्यैकवाक्यतया स्वभर्तृनभिहितवत्य: क्रियमाणेऽप्ययं प्रतिजागरणे वृद्धभावाद्विपरीतबुद्धितयाऽपह्नुते, यदि भवतामप्यस्माकमुपर्यवस्रम्भस्ततोऽन्येन विश्वसनीयेन निरूपयत तेऽपि तथैव चक्रु: तास्तु तस्मिन्नवसरे सर्वा अपि सर्वाणि कार्याणि यथावसरं विहितवत्य:, असावपि पुत्रै: पृष्ट: पूर्वविरूक्षितचेतोस्तथैव ता अपवदति नैता मम किञ्चित्सम्यक् कुर्वन्ति, तैस्तु प्रत्ययैकवचनादवगततत्त्वैर्यथा-यमुपचर्यमाणोऽपि वार्द्धक्याद् रोरुद्यते, ततस्तैरप्य-वधीरितोऽन्येषामपि यथाऽवसरे तद्भण्डनस्वभावतामावचक्षिरे। ततोऽसौ पुत्रैरवधीरित: ग्नुभाषि: परिभूत: परिजनेनावगीतो वाङ्मात्रेणापि केनविदप्यनन्नु-वर्त्यमान: सुखितेषुदु:खित: कष्टतरामायु: शेषामवस्थामनुभवतीति, एवमन्यो ऽपि जराभिभूत विग्रहस्तृणकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थ: सन् कार्येकनिष्ठ लोकात्परिभवमाप्नातीति, आह- ''गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गता, दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव हसते वक्त्रं च लाला-यते। वाक्यं नैव करोति बान्धवजन: पत्नी न शुश्रुषते, धिक्कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥१॥ इत्यादि, तदेवं जराभिभूतं निजा: परिवदन्त्यसावपि परिभूयमान-स्तद्विरक्तचेतास्तदपवादान् जनायाऽऽचष्टे,आह- च 'सो वा' इत्यादि,वाशब्द:पूर्वापेक्षया पक्षान्तरं दर्शयति ते वा निजास्तं परवदन्ति,स वा जगर्जर्ज्जरितदेहस्ताविजान् अनेकदोषोद्घट्टनतया परिवदेत्निन्देद्,

अथ वा- खिद्यमानार्थतया तानसाववगायति; परिभवतीत्यर्थः। येऽपि पूर्वकृतधर्म्मवशात्तं वृद्धं न परवदन्ति तेऽपि तद्- दुःखाऽपनयनसमर्था न भवन्ति, आह च- 'नालामि' त्यादि- नाऽलं-न समर्थास्ते पुत्रकलत्रादयस्तवेति। प्रत्यक्षभावमुपगतं वृद्धमाह-त्राणाय शरणाय वेति, तत्रापत्तरणसमर्थं त्राणमुच्यते, यथा महाश्रोतोऽभिरुह्यमानः सुकर्णधाराऽधिष्ठितं प्लवमासाद्या- ऽऽपस्तरतीति, शरणं पुनर्यदवष्टम्भान्निर्भयैः स्थीयते तदुच्यते, तत्पुनर्दुर्ग-पर्वतः पुरुषो वेति, एतदुक्तं भवति-जराभिभूतस्य न कश्चित् त्राणाय, शरणाय वा, त्वमति तेषां नालं त्राणाय शरणाय वेति, उक्तञ्च- ''जन्मजरामरणभयैं-रभिद्रुते व्याधि- वेदनाग्रस्ते । जिनवरवचनादन्य-त्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके॥१॥'' इत्यादि, स तु तस्यामवस्थायां किंभूतो भवतीत्याह- 'से ण हस्साए' इत्यादि, स जराजीर्णविग्रहो न हास्याय भवति, तस्यैव हसनीयत्वात्; न परान् हसितुं योग्यो भवतीत्यर्थः। स च समक्षं परोक्षं वा एवमभिधीयते जनैः-किं किलास्य हसितेन हास्यास्पदस्येति। न च क्रीडायै न च लङ्घनवल्गना-स्फोटनक्रीडानां योग्योऽसौ भवति, नापि रत्यै भवति रतिरिह विषयगता गृह्यते सा पुनर्ललनावगूहनादिका, तथाभूतोऽप्यव-जुगूहिषुः स्त्रीभिरभिधीयते-न लज्जते भवान्न पश्यति-आत्मानं नावलोकयति शिरःपलितभस्मावगुण्डितं मां दुहि- तृभूतामेवं गूहितुमिच्छसीत्यादिवचसामास्पदत्वान्न रत्यै भवति न विभूषायै, यतो विभूषितोऽपि प्रततचर्म्मवलिकः स नैव शोभते, उक्तञ्च-

''न विभूषणमस्य युज्यते, न च हास्यं कुत्त एव विभ्रमः ?
अथ तेषु च वर्तते जनो, ध्रुवमायाति परां विडम्बनाम्'' ॥१॥

''जं जं करेइ तं तं, न सोहए जोव्वणे अतिक्कंते।
पुरिसस्स महिलियाए, एक्कं धम्मं पमुत्तूणं'' ॥२॥

गतमप्रशस्तं मूलस्थानम्। साम्प्रतं प्रशस्तमुच्यते-

इच्चेवं समुट्ठिए अहोविहाराए अंतरं च खलु इमं संपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए वओ अच्चेति जोव्वणं व (सूत्र-६५)

अथ वा-यत एवं ते सुहृदो नाऽलं त्राणाय शरणाय वा अतः किं विदध्यादित्याह- इच्चेवमि' त्यादि, इतिरूपप्रदर्शने, अप्रशस्तमूलगुण-स्थाने वर्तमानो जराभिभूतो न हास्याय न क्रीडायै न रत्यै न विभूषायै प्रत्येकं च शुभाशुभकर्म्मफलं प्राणिनामित्येवं मत्वा, समुत्थितः-सम्यगुत्थितः शस्त्रपरिज्ञोक्तं मूलगुणस्थानमधितिष्ठन् 'अहो' इत्याश्चर्ये, विहरणं विहार आश्चर्यभूतो विहारोऽहोविहारो यथोक्तसंयमानुष्ठानं तस्मै अहोविहारायोत्थितः सन् क्षणमपि नो प्रमादयेदित्युत्तरेण सण्ट- ङ्कः। किं च- 'अन्तरं चे' त्यादि, अन्तरमिति- अवसरस्तच्चार्यक्षेत्रसुकुलो-त्पत्तिबोधिलाभसर्वविरत्यादिकं, चः समु- च्चये, खलुरवधारणे इममिति अनेनेदमाह- विनेयस्तपःसंयमा- दावसीदन् प्रत्यक्षभावापन्नमार्य-क्षेत्रादिकमन्तरमवसरमुपद- र्श्याभिधीयते- तवायमेवंभूतोऽवसरोऽनादौ संसारे पुनरतीव सुदुर्लभ एवेति, अतस्तमवसरं संपेक्ष्य पर्यालोच्य धीरः सन् मुहूर्तमप्येकं नो प्रमादयेत्- नो प्रमादवशगो भूयादिति, संपेक्ष्येत्यत्र अनुस्वार लोपश्छान्दसत्वादिति, अन्यदप्यलाक्षणिकमेवंजातीयम-स्मादेव हेतोरवगन्तव्यमिति,। आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वाच्च छाद्मस्थिकोपयो-गस्य मुहूर्तमित्युक्तम्, अन्यथा समयमप्येकं न प्रमादयेदिति वाच्यं, तदुक्तम-

''संप्राप्य मानुषत्वं, संसारासारतां च विज्ञाय।
हे जीव ! किं प्रमादा-न्न चेष्टसे शान्तये सततम्॥१॥
ननु पुनरिदमतिदुर्लभ- मगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम्।
मानुष्यं खद्योतक-तडिल्लताविलसितप्रतिमम्'' ॥२॥

इत्यादि, किमर्थञ्च नो प्रमादयेदित्याह- 'वयो अच्चेइ' त्ति-वयः कुमारादि 'अत्येति' अतीव एति-याति अत्येति, अन्यच्च- ''जोव्वणं व'' त्ति-अत्येत्यनुवर्त्तते, यौवनं वाऽत्येति- अति-क्रामति, वयोग्रहणेनैव यौवनस्यावगतत्वात्तदुपादानं प्राधान्य-ख्यापनार्थं, धर्मार्थकामानां तन्निबन्धनत्वात् सर्ववयसां यौवनं साधीयः तदपि त्वरितं यातीति, उक्तं च- नईवेगसमं चवलं, जीवियं जोव्वणञ्च कुसुमसमं। सोक्खं च जं अणिच्चं तिण्णि वि तुरमाणभोज्जाइं'' ॥१॥ तदेवं मत्वा अहो विहारायोत्थानं श्रेय इति।

ये पुनः संसाराभिष्वङ्गिणोऽसंयमजीवितमेव बहु
मन्यन्ते ते किंभूता भवन्तीत्याह-

जीविए इह जे पमत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपिता उद्दवित्ता उत्तासइत्ता, अकडं करिस्मामि त्ति मण्णमाणे, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं पोसेंति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसिज्जा नाऽलं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं नाऽलं ताणाए वा सरणाए वा। (सूत्र-६६)

'जीविए' इत्यादि, ये तु वयोऽतिक्रमणं नावगच्छन्ति, ते 'इह' इति-अस्मिन्नसंयमजीविते प्रमत्ता अभ्युपपन्ना विषयकषायेषु प्रमाद्यन्ति प्रमत्ताश्चाहर्निशं परितप्यमानाः कालाऽकाल- समुत्थायिनः सन्तः सत्त्वोपघातकारिणीः क्रियाः समारम्भत, इति, आह च -'से हंता' इत्यादि 'से' इत्यप्रशस्त- गुणमूलस्थानवान्विषयाभिलाषी प्रमत्तः सन् स्थावरजङ्गमा- नामसुमतां हन्ता भवतीति, अत्र च बहुवचन- प्रक्रमेऽपि जात्येपक्षयैकवचननिर्द्देश इति, तथा छेत्ता कर्णनासिकादीनां भेत्ता-शिरोनयनोदरादीनां लुम्पयिता ग्रन्थिच्छेदनादिभि-र्विलुम्पयिता ग्रामघातादिभिरपद्रावयिता प्राणव्यपरोपको विषशस्त्रादिभिरपद्रावयिता वा उत्त्रासको, लोष्टप्रक्षेपादिभिः स किमर्थं हननादिकाः क्रियाः करोतीत्याह- 'अकडं' इत्यादि अकृतमिति, यदन्येन नानुष्ठितं तदहं करिष्यामीत्येवं मन्यमानोऽर्थोपार्जनाय हननादिक्रियायु प्रवर्त्तते स एवं क्रूरकर्म्मा -अतिशयकारी समुद्रलङ्घनादिकाः क्रियाः कुर्वन्नप्यला भोदयादपगतसर्वस्वः किंभूतो भवतीत्याह- 'जेहिं वा' इत्यादि। वाशब्दो भिन्नक्रमः पक्षान्तरद्योतको, यैर्मातापितृस्वजनादिभिः सार्द्धं संवसत्यसौ त एव वा णमिति वाक्यालङ्कारे, एकदेति-अर्थनाशाद्यापि शैशवे वा निजा आत्मीया बान्धवाः सुहृदो वा

'पुव्विं' पूर्वमेव तं सर्वोपायक्षीणं पोषयन्ति स वाऽप्रासेष्ट-मनोरथलाभः संस्तान्निजान् पश्चात्पोषयेदर्थदानादिना सम्मानयेदिति। ते च पोषकाः पोष्या वा तवापद्गतस्य न त्राणाय भवन्तीत्याह- 'नालं' इत्यादि। तेज निजा मातापित्रा-दयस्तवेत्युपदेशविषयापन्ना, उच्यते- त्राणायआपद्रक्षणार्थं शरणाय-निर्भयस्थित्यर्थं नालं-न समर्थाः, त्वमपि तेषां त्राण-शरणे कर्तुं नालमिति : तदेवं तावत् स्वजनो न त्राणाय भवतीत्येतप्रतिपादितम्।

अर्थोऽपि महता क्लेशेनोपात्तो रक्षितश्च न त्राणाय भवतीत्येतत्प्रतिपिपादयिषुराह-

उवादितसेसं तेण वा संणिहिसंणिचओ किज्जइ, इहमे-गेसिं असंजयाणं भोयणाए, तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसति, ते वा णं एगया णियगा तं पुव्विं परिहरंति, सो वा ते णियए पच्छा परिहरेज्जा, णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा, (सूत्र-६७)

'उवादिते' ति-'अद्' भक्षणे इत्येतस्मादुपपूर्वानिष्ठाप्रत्ययः, तत्र बहुलं छन्दसीतीडागमः, उपादितम्- उपभुक्तं, तस्य शेषमुपभक्तशेषं, तेन वा वाशब्दादनुपभुक्तशेषेण वा सन्निधामं सन्निधिस्तस्य सन्निचयस्सन्निधि-सन्निचयः अथ वा- सम्यग्निधीयते-स्थाप्यत उपभोगाय योऽर्थः स संनिधिस्तस्य सन्निचयः प्राचुर्यमः; उपभोग्यद्रव्यनिचय इत्यर्थः स इहास्मिन् संसारे एकेषाम-असंयतानां; संयताऽऽभासानां वा केषां चिद्भोजनाय-उपभोगार्थं क्रियते-विधीयत इति, असावपि यदर्थमनुष्ठितोऽन्तरायोदयात्तत्संपत्तये न प्रभवतीत्याह- 'तओ से' त्यादि, ततो द्रव्यसंनिधिसंनिचयादुत्तरकालमुपभोगाऽवसरे से तस्य बुभुक्षोरेकदेति द्रव्यक्षेत्रकालभावनिमित्ता-विर्भावितवेदनीयकर्म्मोदये रोगसमुत्पादाः- ज्वरादिप्रादुर्भावाः 'समुत्पद्यन्त' इति- आविर्भवन्ति। स च तैः कुष्ठराज-यक्ष्मादिभिरभिभूतः सन् भग्नासिको गलत्पाणिपादो-ऽविच्छेदप्रवृत्तश्वासाऽऽकुलः किंभूतो भवति इत्याह- 'जेहिं इत्यादि, यैर्म्मातापित्रादिभिर्निजैः सार्द्धं संवसति त एव वा निजा एकदा रोगोत्पत्तिकाले पूर्वमेव तं परिहरन्ति, स वा तान्निजान् पश्चात्परिभवोत्था-पितविवेकः परिहरेत् त्यजेत्तन्निर-पेक्षः सेडुकवत्स्यादित्यर्थ; ते च स्वजनादयो रोगोत्पत्तिकाले परिहरन्तो अपरिहरन्तो वा न त्राणाय भवन्तीति दर्शयति- 'नालं' इत्यादि, पूर्ववद्,

रोगाद्यभिभूतान्तःकरणेन- चाऽपगतत्राणेन न च किमालम्ब्य सम्यक्करणेन रोगवेदनाः सोढव्या इति आह-

जाणित्तु दुक्खं पत्तेय सायं। (सूत्र-६८)

'जाणित्तु', इत्यादि, ज्ञात्वा प्रत्येकं प्राणिनां दुःखं तद्विपरीतं शातं वा दीनमानसेन ज्वरादिवेदनोत्पत्तिकाले स्वकृतकर्म्मफलमवश्यमनुभव-नीयमीति मत्वा न वैक्लव्यं कार्यमिति, उत्युक्तं च- 'सह कले (डे) वर! दुःखमचिंतयत्, स्ववशता हि पुनस्तव दुर्लभा। बहुतरं च सहिष्यसि जीव हे! परवशो न च तत्र गुणोऽस्ति ते'' ॥११॥

यावच्च श्रोतादिभिर्विज्ञानैरपरिहीयमानैर्ज्जराजीर्णं न निजाः परिवदन्ति, यावच्चानुकम्पया न पोषयन्ति रोगाभिभूतं च न परिहरन्ति तावादात्मार्थोऽनुष्ठेय इत्येतद्दर्शयति-

अणभिक्कंतं च खलु वं संपेहाए! (सूत्र-६९)

'अणभिक्कंतञ्च' इत्यादि, चशब्दः आधिक्ये खलु शब्दः पुनःशब्दार्थे पूर्वमभिक्रान्तं वयः समीक्ष्य मूढभावं व्रजतीति प्रतिपादितम्, अनभिक्रान्तं च पुनर्वयः संप्रेक्ष्य 'आयट्ठंसम्मं समणुवासेज्जासि' (सूत्र-७१) इत्युत्तरेण संबन्धः, आत्मार्थम् आत्महितं समनुवासयेत्; कुर्यादित्यर्थः।

किमनतिक्रान्तवयसैवात्महितमनुष्ठेयमुतान्येनापीति ? परेणापि लब्धावसरेणात्महितमनुष्ठेयमित्येतद् दर्शयति-

खणं जाणाहि पंडिए (सूत्र-७०)

क्षणः अवसरो धर्म्मानुष्ठानस्य स चार्यक्षेत्रसकुलोत्पत्त्यादिकः परिवादपोषणपरिहारदोषदुष्टानां जराबालभावरोगाणामभावे सति, त क्षणं जानिहि अवगच्छ पण्डित!- आत्मज्ञ! अथ वा- अवसीदन् शिष्यः प्रोत्साह्यते-हे अनतिक्रान्तयौवन! परिवादादिदोषत्रयास्पृष्टपण्डित! द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदभिन्नं क्षणम्- अवसरमवंभूतं जानीहि-अवबुध्यस्व। आच०। (क्षण-स्वरूपम् 'खण' शब्दे ३ भागे दर्शयिष्यते)

एवंभूतमवसरमवाप्यात्मार्थं समनुवासयेदित्युत्तरेण सम्बन्धः।

किञ्च-

०जाव सोत्तपरिण्णाणा अपरिहीणा णेत्तपरिण्णाणा अपरिहीणा घाणपरिण्णाणा अपरिहीणा रसणपरिण्णाणा अपरिहीणा फासपरिण्णाणा अपरिहीणा इच्चेतेहिं विरूव-रूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहायमाणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि। (सूत्र-७१)

'जाव' इत्यादि-, यावदस्य-विशरारोः कायापसदस्य श्रोत्रविज्ञानानि जरसा रोगेण वा अपरिहीनानि भवन्ति एवं नेत्रघ्राणरसनस्पर्शविज्ञानानि न विषयग्रहणस्वभावतया मान्द्यं प्रतिपद्यन्ते इत्येतैर्विरूपरूपैः- इष्टानिष्टरूपतया नानारूपैः प्रज्ञानैः- प्रकर्षैर्ज्ञानैरपरिक्षीयमाणैः सद्भिः किं कुर्यात, इत्याह- 'आयट्ठं' इत्यादि, आत्मनोऽर्थ आत्मार्थः स च ज्ञान-दर्शनचारित्रात्मकः, अन्यस्त्वनर्थ एव। अथवा आत्मने हितं प्रयोजनमात्मार्थं तच्च चारित्रानुष्ठानमेव। अथ वा आयतः- अपर्यवसानान् मोक्ष एव स चासावर्थश्चायतार्थोऽतस्तम्, यदि वा-आयत्तो-मोक्षः अर्थः- प्रयोजनं यस्य दर्शनादित्रयस्य तत्तथा 'समनुवासयेद्' इति-'वस' निवासे, इत्यस्माद्धेतुमण्णिजन्ताल्लिट, (सिप्) सम्- सम्यग्- यथोक्तानुष्ठानेन अनु-पश्चादनभिक्रान्तं वयः संप्रेक्ष्य क्षणम् अवसरं प्रतिपद्य श्रोत्रादिविज्ञानानांवा प्रहीणतामधि-गम्य तत आत्मार्थंसमनुवासयेः- आत्मनि विदध्याः। अथ वा अर्थवशाद्विभक्तिपुरुष-विपरिणाम इति कृत्वा तेन

वा आत्मार्थेन ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकेनात्मानं समनुवासयेद्- भावयेद् रञ्जयेत् आयतार्थं वा मोक्षाख्यं सम्यक् अपुनरागम-नेना अन्विति- यथोक्तानुष्ठानात्पश्चादात्मना समनुवासयेद्-अधिष्ठापयेत्, इतिः परिसमाप्तौ० ब्रवीमीति सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिनमिदमाहयद्भगवता श्रीवर्द्धमानस्वामिनाऽर्थतोऽभ्यधायि तदेवाहं सूत्रात्मना वच्मीति। आचा० १, श्रु २, अ० १ उ०।

आत (य) ट्ठि (न्)- पु० (आत्मार्थिन्) आत्मनोऽर्थः आत्मार्थः स विद्यते यस्य स तथा। आत्मवति, ''एवं से भिक्खू आत (य) ट्ठी'' (सूत्र-४२×)। यो ह्यान्यमपायेभ्यो रक्षति स आत्मार्थी-आत्मवानित्युच्यते। सूत्र २० श्रु० २ अ०।

आत(य)निप्फेडय-पुं० (आत्मनिस्फोटक) आत्मानं सम्य-ग्दर्शनादिकेनानुष्ठानेन संसारचारकान्निस्सारकेसूत्र०। 'आय-निप्फडए आयाणामेणं पडिसाहरेज्जासि'' (सूत्र-४२+)। आत्मानं सम्यग्दर्शना-दिकेनानुष्ठानेन संसारचारका-न्निस्सरियतीति। सूत्र २, श्रु २ अ०।

आत (य) ण्ण- पुं० (आत्मज्ञ) आत्मज्ञानिनि सूत्र०।

अत्ताण जो जाणति जो य लोगं (सूत्र० २०×)

यो ह्यात्मानं परलोकयायिनं शरीराद्व्यतिरिक्तं सुख- दुःखाधारं जानाति यश्चात्महितेषु प्रवर्त्तते स आत्मज्ञो भवति। येन चात्मा यथावस्थित-स्वरूपोऽहंप्रत्ययग्राह्योऽभिज्ञानो भवति नैवायं सर्वोऽपि लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो विदितो भवति, स एव चात्मज्ञोऽस्तीत्यादिक्रियावादं भाषितुमर्हतीति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

आत(य)तंत-त्रि (आत्मतन्त्र) आत्मायत्ते, स्था० ४ ठा० २ उ०।

आत (य) तंतकर- पुं० (आत्मतन्त्रकर)। आत्मतन्त्रः सन् कार्य्याणि करोतीत्यात्मतन्त्रः। आत्मायत्ते जिनादौ, आत्म-तन्त्रमात्मायत्तं धनम्- गच्छादि करोतीत्यात्मतन्त्रकरः। आत्माऽऽयत्तस्य धनस्य गच्छादिकस्य कारकेच। स्था० ४, ठा० २ उ०।

आत (य) तत्त-न० (आत्मतत्त्व) आत्मनस्तत्त्वम्। आत्मनो यथार्थ-स्वरूपे, चैतन्यरूपे मतभदे, कर्तृत्वादिरूपे, आत्मैव तत्त्वम्परमपदार्थ, आत्मरूप परमपदार्थे च वाच०। ज्ञानदर्शन-चारित्रात्मक तत्त्व च। परमार्थद्दशां ज्ञानदर्शनचारित्रा- त्मकमात्मतत्त्वं विहायान्यत्सर्वं शरीराद्यपि पराक्यमेवेति। आचा०।

आत (य)तत्तप्पगास-पुं० (आत्मतत्त्वप्रकाश) आत्मधर्म- प्राग्भावे, अष्ट०।

गुरुत्वं स्वस्य नोदेति, शिक्षासात्म्येन यावता।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन तावत्सेव्यो गुरुत्तमः ॥५॥

अष्ट ८ अष्ट०। वाच०।

आत(य)तरग-पुं०(आत्मतरक) आत्माने केवलं तारय-तीत्यात्मतराः, स्वार्थिककप्रत्ययविधानात् आत्मतरकाः। व्य०। प्रायश्चित्तार्हे पुरुषविशेषे व्य०। ''आयतरगा०'' ये पुनस्तपोबलिष्ठा वैयावृत्त्यलब्धिहीनास्ते तप एव यथोक्तरूपं कुर्वन्ति न वैयावृत्त्यमाचार्य्यादीनामित्यात्मानं केवलं तार-यन्तीत्यात्मतराः, स्वार्थिककप्रत्ययविधानात् आत्मतरकाः। व्य १ उ०।

आत(य)तुला स्त्री० (आत्मतुला) आत्मौपम्ये, सूत्र २ श्रु २ अ०। आत्मतुल्यतायाम् सूत्र १, श्रु २, अ ३ उ०।

कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ? पाणिनो डहिज्जा, दड्ढे किं भविस्सइ ? दुक्खं ति मन्नमाणा पडिसाहरइ, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे (सूत्र-४१+)

अवश्यमग्निदाहभयान्न कश्चिदग्न्यभिमुखं पाणिं ददा-तीत्येत्परोऽयं दृष्टान्तः। पाणिना दग्धेनापि किं भवतां भविष्य-तीति ? दुःखमिति चेत् यद्येवं भवन्तो दाहापादित दुःखभीरवः सुखलिप्सवः तदेवं सति सर्वेऽपि जन्तवः संसारोदरविवरवर्तिन एवंभूता एवेत्येवम् आत्मतुलया-आत्मौपम्येन यथा मम नाभिमतं दुःखमित्येवं सर्वजन्तूनामि-त्यवगम्याऽहिंसैव प्राधान्येनाश्रयणीया, तदेतत्प्रमाणम्,एषा युक्तिः। ''आत्मवत्स- र्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति।'' सूत्र २ श्रु २ अ०।

एवं सहित हियासए, आयतुलं पोण्णेहिं संजए ॥१२×॥

'एवम्'' अनन्तरोक्तरीत्या परिवर्त्तमानः सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानादियुक्तो वा संयतः- प्रव्रजितोऽपरप्राणिभिः सुखार्थिभिरात्म-तुलाम्- आत्मतुल्यतां दुःखाऽप्रियत्वसुखप्रियत्वरूपामधिकं पश्येत् आत्मतुल्यान् सर्वानपि प्राणिनः पालयेत्। सूत्र १, श्रु २० अ०। ''आयतुले पयासू'' ॥३×॥ प्रजायन्त इति प्रजाः पृथिव्यादयो जन्तवस्तास्वात्म-तुल्यः; आत्मवत्सर्वप्राणिनः पश्यतीत्यर्थः, एवंभूत एव साधुर्भवतीति, तथा चोक्तम्- ''जह मम ण पियं दुःखं जाणिय एमेव सव्व-जीवाणे। ण हणइ ण हणावेइ य, सममणई तेण सो समणो'' ॥१॥ सूत्र० १ श्रु १० आ

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आतओ पाइस सव्वलोए ॥१८॥

ये केचन 'डहरे' त्ति-लघवः- कुन्थ्वादयः सूक्ष्मा वा ते सर्वेऽपि प्राणाः प्राणिनो ये च वृद्धा बादरशरीरिणस्तान्सर्वान- प्यात्म- तुल्याम्-आत्मवत्पश्यति- सर्वस्मिन्नपि, लोक्यावत्प्रमाण मम तावदेव कुन्थोरपि यथा वा मम दुःखमनभिमतमेव सर्व-लोकस्यापिसर्वेषामापि प्राणिनां दुःखमुत्पद्यते, दुःखाद् वोद्वि-जन्ते। सूत्र १० श्रु० १२० अ०।

आत(य) त्त-न० (आत्मत्व) आत्मनो भावे, आत्मधर्मे वाच०।

अह पास तेहिं कुलेहिं, आयताए जाया (सूत्र १७२×)

'अथ' इति-वाक्योपन्यासार्थे, पश्य त्वं तेषूच्चावचेषुकुलेषु आत्मत्वाय-आत्मीयकर्मानुभवनाय जाताः, आचा० १ श्रु ६० अ० १ उ।

अशेषकर्मकलङ्करहितत्वे मोक्षभावे, संयमभावे च। सूत्र०।

आरंभं तिरियं कट्टु, अंतलाए परिव्वए ॥७॥

आरम्भम्-सावद्यानुष्ठानरूपं, तिर्यक्कृत्वा- अपहस्तयित्वा आत्मनो भाव आत्मत्वम्- अशेषकर्मकलङ्करहितत्वं तस्मै आत्मत्वाय। यदि वा आत्मा-मोक्षः; संयमो वा तद्भावस्तस्मै तदर्थं परि-समन्ताद् व्रजेत्; संयमानुष्ठानक्रियायां दत्तावधानो भवेदित्यर्थः। सूत्र १ श्रु ३ अ ३ उ०।

आत (य) दंड- पु० (आत्मदण्ड) आत्मानं दण्डयतीत्यात्म-दण्डः। आत्मन उपघातके, ''बीयाइ अस्संजय आयदण्डे''॥१+॥ असंयतो-गृहस्थः, प्रव्रजितो वा तत्कर्मकारी गृहस्था एव। स च हरितच्छेदविधाय्यात्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्डः। स हि परमार्थतः परोपघातेनात्मानमेवोपहन्ति। सूत्र १० श्रु ७० अ०। ''एतेण काएण य आयदण्डे'' ॥२+॥ यथैभिः कायैः- समारभ्यमाणैः; पीड्यमानैरात्मा दण्ड्यते; तत्समारम्भादात्मदण्डो भवतीत्यर्थः। सूत्र १ श्रु० ७ अ०। ''णिस्सिय, आयदण्डा'' ॥२३×॥ आत्मैव दण्डयतीतिः दण्डो येषां ते भवन्त्यात्मदण्डा असदाचारप्रवृत्ते-रिति। सूत्र०२ श्रु ६ अ०।

आत(य)दण्डसमायार-त्रि० (आत्मदण्डसमाचार) आत्मा दण्ड्यते-हितात् भ्रश्यते येन स आत्मदण्डः समाचारःअनुष्ठानं येषामनार्य्याणां ते। आत्महितानुष्ठातरि, सूत्र १ श्रु० २ अ १ उ०। ''आयदण्ड-समायारे''॥१४+॥ सूत्र १ श्रु ३ अ० १उ०।

आत(य)दरिस-पुं०(आत्मदर्श) आत्मा देहः दृश्यतेऽस्मिन् आधारे घञ्। र्दपणे, आदर्शे को०। घञ् ६ त०। आत्मनो दर्शने, आत्मसाक्षात्कारे, वाच०।

आत(य)पएस- पुं० (आत्मप्रदेश) जीवांशे, पञ्चा० १४ विव०।

आत(य)परिणइ-स्त्री० (आत्मपरिणति) आत्मनोजीवस्य परि-णतिरात्मपरिणतिः। जीवस्यानुष्ठानविशेषसम्पादके परिणाम-विशेषे, हा०।

विषयप्रतिभासं चा-त्मपरिणतिमत्तथा।
तत्त्वसंवेदनं चैव, ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥१॥

आत्मनो जीवस्य परिणतेः अनुष्ठानविशेषसंपाद्यः परिणाम-विशेषः सैव ज्ञेयतया यस्मिन्नस्ति ज्ञानेन पुनस्तद्रूपप्रवृत्तिनिवृत्ती अपि तदात्मपरिणतिमत्। हा० ९ अष्ट।

विषयप्रतिभासाख्य-मात्मपरिणतिमत्तथा।
तत्त्वसंवेदनं चैव, त्रिधा ज्ञानं प्रकीर्तितम् ॥२॥

तथा आत्मनः-स्वस्य परिणामः अर्थानर्थप्रतिभासात्मा विद्यते यत्र तत्, आत्मनो-जीवस्य परिणामः अनुष्ठानविशेषसंपाद्यो विद्यते यत्रेति येन सम्यक्त्वलाभप्रयोज्यवस्तुविषयता- वत्त्वमर्थो लभ्यते। द्वा० ६ द्वा०।

आत (य) पसंसा-स्त्री० (आत्मप्रसंसा) आत्मस्तुतौ, अष्ट०। (आत्मप्रशंसा च न कार्या) आत्मस्वरूपध्यानी सर्वं परम्- अनात्मत्वेन जानाति। सः आत्मवित् प्रशंसां न करोति तदेवाऽऽह-

गुणैर्यदि न पूर्णोऽसि, कृतमात्मप्रशंसया।
गुणैरेवाऽसि पूर्णश्चेत्, कृतमात्मप्रशंसया ॥१॥

व्या०-गुणैरिति- 'यदि गुणैः' केवलज्ञानादिभिः पूर्णः न असि तर्हि 'आत्मप्रशंसया' व्यर्थात्मस्तुत्या 'कृतं' नाम-श्रितं निर्गुणात्मनः का प्रशंसा ? पौद्गलिकोपाधिजा गुणा इति मूढा वदन्ति तैर्न प्रशंसा 'चेद्' यदि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोरूपैः साधनगुणैः ज्ञायिकज्ञानदर्शन-चारित्ररूपैः सिद्धगुणैः पूर्णः तर्हि वाचकात्मकप्रशंसया कृतम्; श्रितमित्यर्थः, प्राग्भाविता गुणाः स्वत एव प्रकटीभवन्ति नेक्षुयष्टिः पलालावृत्ता चिरकालं तिष्ठति इति का स्वमुखात्स्वगुणप्रशंसना।

पुनर्व्यवहारेण दर्शयति-

श्रेयोद्रुमस्य मूलानि, स्वोत्कर्षाम्भःप्रवाहतः।
पुण्यानि प्रकटीकुर्वन, फलं किं समवाप्स्यसि ?॥२॥

व्या०- 'श्रेयाद्रुम' इति- भो भद्र ? 'पुण्यानि' पवित्राणि 'श्रेयोद्रुमस्य मूलानि' कल्याणवृक्षस्य मूलानि 'स्वोत्कर्षाम्भः प्रवाहतः' स्वस्य उत्कर्षः-औत्सुक्यं स एव अम्भःप्रवाहः तस्मात् 'प्रकटीकुर्वन' व्यक्तं कुर्वन् किं फलं समवाप्स्यसि ? अपि तु नैव, यस्य द्रुमस्य मूलम् उत्खातं तेन फलोत्पत्तिर्न भवति।

आलम्बिता हिताय स्युः परैः स्वगुणरश्मयः।
अहो स्वयं गृहीतास्तु पातयन्ति भवोदधौ ॥३॥

व्या०- 'आलम्बिता' इति 'स्वगुणरश्मयः' आत्मीयगुणरज्जवः 'परैः' अन्यैः 'आलम्बिताः' स्मरणचिन्तनेन गृहीताः 'हिताय' कल्याणाय स्युः, स्वसुखाय भवन्ति, 'अहो' इति- आश्चर्ये स्वगुणाः स्वयं-गृहीता भवोदधौ पातयन्ति स्वमुखेन स्वगुणोत्कर्षः न कार्यः।

उच्चत्वदृष्टिदोषोत्थ-स्वोत्कर्षज्वरशान्तिकम्।
पूर्वपुरुषसिंहेभ्यो, भृशं नीचत्वभावनम् ॥४॥

व्या०- 'उच्चत्वदोष' इति अभ्यासात्प्राप्तज्ञानविनयतपोरूप-गुणान्तर्ज्वलित्महामोहोदयेन आत्मनि उच्चत्वम् अहं गुणी मया प्राप्तमिदं, ज्ञानं विनयगुणवानहमिति उच्चत्वदृष्टिदोषेण उत्थो यः स्वोत्कर्षः स एव ज्वरः तस्य 'शान्तिकम् उपशमकारणं 'पूर्वपुरुषाः' अर्हदादयः ते एव सिंहाः तेभ्यः 'आत्मन्यूनत्वभावनं' मानोदयतापनिर्वापणं ज्ञेयम्।

''धन्नो धन्नो वयरो, सालिभद्दो य थुलभद्दो अ।
जेहिं विसयकसाया, चत्ता रत्ता गुणे नियए ॥१॥''

(अस्या गाथाया व्याख्या)- धन्याः पूर्वपुरुषा ये वान्ताश्रवाः अनादिभुक्तपरभावास्वादनरामणीयकं त्यजन्ति; सदुपदेश-ज्ञातसत्तासुखप्सया आत्मधर्मश्रवणसुखम् अनुभूयमानाः चक्रिसंपदो विपद इव मन्यन्ते, स्वगुणेषु धन्यः स्थूलभद्रः यो ह्यत्यातुररक्त, १कोशाप्रार्थनाऽकम्पितपरिणामस्तु- ''२अहो स्वयं गृहीतास्तु, पातयन्ति भवोदधौ ॥३॥

उच्चदृष्टिदोषोत्थः, स्वोत्कर्षज्वरशान्तिकम्।
पूर्वपुरुषसिंहेभ्यो, भृशं नीचत्वभावनम् ॥४॥
शरीररूपलावण्य-ग्रामारामधनादिभिः।

१- कोशानाम्नीवेश्या २- मूलमेव टीकाकारेण संग्रहीतम्।

उत्कर्ष, परपर्यायै-श्चिदानन्दघनस्य कः ॥५॥''

अहं तु निरर्थककुविकल्पैः चिन्तयामि विषयविषोपायान्।

उक्तं च-''संतेवि कोवि उज्जइ, को वि असंते वि अहिलसई। भोए चए इयरचयेण वि ददुं पभवेण जह जंबू ॥१॥''

इत्यादिभावनया स्वदोषचिन्तनेन आत्मोत्कर्षपरिणामो- निवार्यः।

शरीररूपलावण्य-ग्रामाऽऽरामधनादिभिः।
उत्कर्षः परपर्यायैः- श्चिदानन्दघनस्य कः ॥५॥

व्या०- 'शरीरे' ति-'चिदानन्दघनस्य' चिद्-ज्ञानम आनन्दः- सुखं ताभ्यां घनस्य-आत्मनः परपर्यायै-संयोगसंभवैः पुद्गल-संनिकर्षाद्भवैः क उत्कर्ष-उन्मादः कैरिति शरीराणिऔदारिकादीनि विनाशिस्वभावानि रूपंसंस्थाननिर्माण-वर्णनामकर्मोद्भवं लावण्यं-चातुर्यं सौभाग्यनामोदयनिष्पन्नं वेदादिमोहसंनिकर्षसंभवं ग्रामः-जननिवासलक्षणः आरामाः-वनोद्यानभूमयः, धनं गणिमधरिमादि तेषां द्वन्द्वः तैः क उत्कर्ष परत्वात् कर्मबन्धनिबन्धनात् स्वस्वरूपरपरोधकात् तत्संयोगः निन्द्य एव तर्हि क उत्कर्षः ? उक्तं च उत्तराध्ययने-

''धणेण किं धम्मपुराहिगारे,
सयणेण वा कामगुणेहिं चेव।
समणा भविस्सामो गुणोहधारी,
बहिं विहारा अभिगम्म भिक्खुं ॥१॥
न तस्स दुक्खं विभजंति णाइओ,
न मित्तवग्गा न सुआ न बांधवा।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं''॥२॥

अतः आत्मगुणानन्दपरिणतानां कर्माधाधिसंभवे उत्कर्षो न भवति।

शुद्धाः प्रत्यात्मसाम्येन, पर्यायाः परिभाविताः।
अशुद्धाश्चाप्रकृष्टत्वात्, स्वोत्कर्षाय महामुनेः ॥६॥

व्या०-'शुद्धाः प्रत्यात्म' इति तथा मुनेः-निर्ग्रन्थस्य पाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरगृहीतात्मस्वरूपस्य शुद्धाःपर्यायाः सम्यग्ज्ञानचरणध्यानप्राग्भावरूपा आत्मपर्याया न उत्कर्षाय भवन्ति। कथं न भवन्तीत्याह-प्रत्यात्मसाम्येन परिभाविता आत्मानम् आत्मानं प्रति प्रत्यात्म तत्र साम्येन तुल्यत्वेन् भाविताः। भावना च किमाधिक्यं मम जातं ? तेन एते ज्ञानादयो गुणाः सर्वात्मनि सन्त्येवं सर्वसाधारणे क उत्कर्ष ? इति भाविताशयः सर्वजीवानां ज्ञानाद्यनन्तपर्यायत्वं तुल्यं सिद्ध- संसारस्थयोः न सत्ता भेदः। उक्तं च संवेगरङ्गशालायाम्-

'नाणाइणंतगुणोववेयं, अरूवमणहं च लोगपरिमाणं।
कत्ता भोत्ता जीवं, मन्नहु सिद्धाण तुल्लमिणं ॥१॥''

श्रीपूज्यैश्च- ''जीवो गुणपडिवन्नो, न जस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं'' तथा ठाणांगे-'एगे आया' (सूत्र-२। स्था० १ ठा०) इत्यादिपाठात् सर्वत्र तुल्यत्वे आत्मनः सदगुणप्राकट्येक उत्कर्षः अशुद्धाः पर्यायाः औदयिकाः शुक्रत्वादयः अपकृष्टत्वात् तुच्छत्वाद् दोषत्वाद् गुणघातत्त्वज्ञानरमणोपघातत्वात् शोफरोग-पुष्टत्ववन्न उत्कर्षाय भवन्ति, किमेभिः पुद्गलोपचयरूपैः परो-पाधिजैः संसर्गैश्च मे कदा निवृत्तिः एभ्य इति संवेग-निर्वेदपरिणतानां नोन्माद इति।

पुनः आत्मानमुपदिशति-

क्षोभं गच्छन्समुद्रोऽपि स्वोत्कर्षपवनेरितः।
गुणौघान् बुद्बुदीकृत्य, विनाशयसि किं मुधा ॥७॥

व्या०-'क्षोभं गच्छन्नि' ते-हे हंस! स्वतत्त्वजलपूर्णस्वरूपमानसनिवासरसिकः त्वं 'समुद्रोऽपि' मुद्रा-साधुलिङ्गरूपा तया युक्तोऽपि 'स्वोत्कर्षपवनेरितः' साऽहंकारपवनप्रेरितः क्षोभं गच्छन् अध्यवसायैः एवमेवं भवन् गुणोघान् अभ्यासोत्पन्नान् श्रुतधरव्रतधरलक्षणान् आमर्षौषधिरूपान् बुद्बुदीकृत्य 'मुधा' व्यर्थं किं विनाशयसि प्राप्तगुणगम्भीरो भव स्वगुणाः स्वस्यैवं हितहेतवः तन्न, किं परदर्शनेन मानोपहतस्य गुणाः तुच्छीभवन्ति, अतो न मानो विधेयः।

निरपेक्षाऽनवच्छिन्ना-नन्तचिन्मात्रमूर्त्तयः।
योगिनो गलितोत्कर्षा- पकर्षानल्पकल्पनाः ॥८॥

व्या०- 'निरपेक्षा' इति-योगिनो- यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगाभ्यासोत्पन्नरत्नत्रयीलक्षणस्वयोगसिद्धा ईदृशा भवन्ति, 'निर-पेक्षाः' निर्गता अपेक्षा-अपेक्षणं येभ्यस्ते निरपेक्षाः अपेक्षारहिता इत्यर्थः। 'अनवच्छिन्ना' अवच्छेदरहिता।

अनन्तचिन्मात्रमूर्त्तयः' अनन्तं प्रान्तरहितं चिद्-ज्ञानं तन्मात्रा ज्ञानमात्रा मूर्त्तिः येषां ते अनन्तचिन्मात्रमूर्त्तयः इत्यनेन परभावानुगतचेतनाविकलाः स्वच्छस्वरूपानुगतचिन्तनपरिणताः 'गलितोत्कर्षापकर्षाः' गलितः उत्कर्ष-उन्मादः अपकर्षः-दीनता तयोः अनल्पाः-कल्पनाः विकल्पजालपटलानि येषां एवंविधा योगिनः ज्ञानपरिणताः ज्ञानैकरसाः तिष्ठन्ति ते एव तत्त्व-साधनचिन्मया इति अतो मानोन्मादजनकः। स्वोत्कर्षो निवार्यः। अष्ट १८ अष्ट०।

अहाहू से आयरियाण सयंसे,
जो लावएज्जा असणस्स हेऊ ॥२४॥

अथाऽसावाचार्यगुणानां शतांऽशे वर्तते शतग्रहणमुपलक्षणं सहस्रांऽशादेरप्यधो वर्तते इति 'यो' हाह्यस्य हेतुम्भोजननिमित्तमपरवस्त्रादिनिमित्तं वा आत्मगुणान् परेणालापयेद्-भाणयेत् असावप्यार्यगुणानां सहस्रांशे वर्त्तते। क्रिमङ्ग ! पुनर्यः स्वत एवाऽऽत्मप्रशंसां विदधातीति। सूत्र १ श्रु ७ अ०।

आत(य)प्पओग-पुं०(आत्मप्रयोग) आत्मव्यापारे, ''आयप्प-ओगेणं उववज्जंति, णो परप्पओगेणं उववज्जंति'' (सूत्र ६८६×) भ० २० श० १० उ०।

आत (य) प्पओगणिव्वत्तिय- त्रि० (आत्मप्रयोगनिर्वर्तित)। 'आयप्पओगणिव्वत्तिए'' (सूत्र ५६४+)। आत्मनः प्रयोगेणमनःप्रभृतिव्यापारेण निर्वर्त्तितं निष्पादितं यत्तत्तथा। आत्मनो मनःप्रभृतिव्यापारेण निष्पादिते, भव १६ श १ उ।

आत (य) प्पमाण- त्रि० (आत्मप्रमाण)। सार्द्धहस्तत्रयप्रमाणे, प्रव० २ द्वार।

आत (य) प्पवाय- न० (आत्मप्रवाद) आत्मानं जीवमनेकधा नयमतभेदेन यत्प्रवदति तदात्मप्रवादम्। नं०। यत्राऽऽत्माजीवोऽनेकनयैः प्रोच्यते तदात्मप्रवादम्। स० १४ सम०। आत्माऽनेकधा यत्र नयदर्शनैर्वर्ण्यते तदात्मप्रवादम्। (स० १४७ सूत्र टी०) पूर्वगतश्रुतविशेषे, (स० १४७ सूत्रटी०) तस्य पदप्रमाणं षड्विंशतिपदकोट्यः। नं० स०।

आयप्पवायपुव्वस्स णं सोलस १६ वत्थू पण्णत्ता। नं०।

आत्मप्रवादपूर्वस्य सप्तमस्या स० १६ समo।

आयप्पवायपुव्वं अहिज्जमाणस्स तीसगुत्तस्स।
नयमयमयाणमाणस्स, दिट्ठीमोहो समुप्पन्नो ॥२३३५॥

आत्मप्रवादनामकं पूर्वमधीयानस्य। विशे०। (अस्या गाथायाः व्याख्या 'जीवपएसिय' शब्दे चतुर्थभागे १५५४ पृष्ठे वक्ष्यते)

आयप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती ॥१६+॥

इह आत्मप्रवादपूर्वं-यत्रात्मनः संसारिमुक्ताद्यनेकभेदभिन्नस्य प्रवदनमिति तस्मान्निर्यूढा भवति धर्म्मप्रज्ञप्तिः; षड्जीव-निकेत्यर्थः। दश० १ अ०।

आत (य) प्पियसंबंधणसंयोग-पु० (आत्मार्पितसम्बन्धन- संयोग)। संयोगभेदे, उत्त० १ अ०। तद्वक्तव्यता 'संजोग' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते)

आत (य) बल- न० (आत्मबल) आत्मनो बलम् शुक्लच्युपचय- आत्मबलम्। आत्मनः शुक्लच्युपचये, आचा० १ श्रु २ अ २ उ०। बहुलाधिकारात्। **पो वः ॥८।१।२३१॥** अस्य वैकल्पिकत्वात्।

आत (य) बोध- पुं० (आत्मबोध) आत्मज्ञाने, अष्ट०।

आत्मबोधो न वः पाशो, देहगेहधनादिकम्।
यः क्षिप्तोऽप्यात्मना तेषु, स्वस्य बन्धाय जायते ॥६॥

भो भव्याः! वः युष्माकम् आत्मबोधः आत्मज्ञानं न पाशः बन्ध- हैतुः तेषु देहगृहधनादिषु यः आत्मना क्षिप्तः स पाशः- रागपरिणामः स्वस्य- आत्मनः एव बन्धाय जायते इत्यनेन देहगृहादिषु यः रक्तः स सर्वः भवपाशैर्बध्नाति स्वस्य बन्धहेतुः इत्यनेन परभावा-रागादयः आत्मनो बन्धवृद्धिहेतवः अष्ट० १४ अष्ट०।

आत (य) भाव- पुं० (आत्मभाव) अनादिभवाभ्यस्ते मिथ्यात्वा-दिके विषयगृध्नुतायाम्, ''विणइज्जओ सव्वउ आयभावं'' ॥२१+॥ आत्मभावः-अनादिभवाभ्यस्तो मिथ्यात्वादिस्तमपनयेत्। यदिवा- आत्मभावो-विषयगृध्नुता, अतस्तमपनयेद्। सूत्र १ श्रु १३ अ०। स्वाभिप्राये च० भ० २ श० ५ उ०।

आत(य)भाववंकणया-स्त्री०(आत्मभाववङ्कनता) आत्मभाव-स्याऽप्रशस्तस्य वङ्कनता-वक्रीकरणं प्रशस्ततत्त्वोपदर्शनतात्म-भाववङ्कनता। मायाप्रत्ययिकाक्रियाभेदे, वङ्कनानां च बहुत्वविवक्षायां भावप्रत्ययो न विरुद्धः सा च क्रियाव्यापार-त्वात्। स्था० २ ठा० १ उ०। ''अप्पणो चियं भावं गूहति नियडिमंतो उज्जगभावं दरिसेइ संजमादिसिढिलोवा करणफला जो डोमं दरिसेइ।'' आव ४ अ०।

आत (या) भाववत्तव्वया- स्त्री० (आत्मभाववक्तव्यता)। आत्मभाव एव स्वाभिप्राय एव न वस्तुतत्त्वं वक्तव्यो-वाच्योऽभिमानाद् येषां ते आत्मभाववक्तव्यास्तेषां भाव आत्मभाववक्तव्यता। अहंमानितायाम्। भ० २ श० ५ उ०। 'सच्चेणं एस अट्ठे नो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए'' (सूत्र- १११×) नैवात्मभाववक्तव्यतया-ऽयमर्थः न वयमहंमानितयैव ब्रूमः; अपि तु-परमार्थ एवायमेवंविधः इति भावना। भ० २ श० ५ उ०।

आत(य)भू-पुं० (आत्मभू) आत्मनो-मनसो, देहाद्वा भवति, भू-क्विप्- ६-त०। मनोभवे कामे, देहभवे पुत्रे, कन्यायाम्, वाच०।

''नार्य्याः कुत्राऽपि कस्याश्चि-द्वारकौ द्वौ बभूवतुः।
सपत्नीतनुभूरेको, द्वितीयश्चात्मभूर्द्वयोः'' ॥१॥

आ० क० ६ अ०। बुद्धौ च। स्त्री०। आत्मनैव भवति। भूक्विप्। शिवे विष्णौ च। वाच०।

आत(य)रक्ख-त्रि० (आत्मरक्ष) अङ्गरक्षके, औ०। आत्मानं रागद्वेषादेर-कृत्योद्भवकूपाद्वा रक्षन्तीत्यात्मरक्षाः। रागद्वेषादेरकृत्याद्वा-त्मनो रक्षके, स्था०।

तेच-

तओ आयरक्खा पन्नत्ता, तं जहा-धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता भवइ १, तुसिणीए वा सिया २, उट्ठित्तु वा आयाए एगंतमवक्कमेज्जा ३। (सूत्र १७२+)

'धम्मियाए पडिचोयणाए' त्ति-आत्मना एवं धार्मिकोपदेशेन नेदं भवादृशां विधातुमुचितमित्यादिना प्रेरयिताऽपदेष्टा भवतीति अनुकूलेतरोपसर्ग-कारिणः ततोऽसावुपसर्ग- करणान्निवर्तते ततोऽकृत्यासेवा न भवतीत्यत आत्मा रक्षितो भवतीति १, तूष्णीको वा-वाचंयमः; उपेक्षक इत्यर्थः, स्यादिति २, प्रेरणाया अविषये उपेक्षणासामर्थ्ये च ततः स्थानादुत्थाय 'आय' त्ति- आत्मना एकान्तम्-विजनम् अन्तं भूमिभागमवक्रामेत् गच्छेत्। स्था० ३ ठा० ३ उ०। विमानाधिपतेः सूर्याभस्य देवस्यात्मानं रक्षयन्तीत्या-त्मरक्षाः। कर्मणोऽण ॥५।३।१४॥ इत्यणप्रत्ययः। रा०। देवविशेषे, रा०। सूर्य्याभस्य वर्णकमधिकृत्य- ''सोलसेहिं आयरक्खदेवसाहस्सीणं'' (अस्य सूत्रांशस्य व्याख्या)- षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैरिति विमानाधिपतेः सूर्याभस्य देवस्यात्मानं रक्षयन्तीत्यात्मरक्षाः। कर्म्मणोऽण ॥५।३।१४॥ इत्यणप्रत्ययः। ते च शिरस्त्राणकल्पाः, यथा हि शिरस्त्राणंशिरस्यावि-द्धप्राणरक्षकं भवति तथा तेऽप्यात्मरक्षका गृहीतधनुर्दण्डादिप्रहरणाः समन्ततः सप्तानीकाधिपतेरग्रतश्चावस्था-यिनो विमानाधिपतेः सूर्याभस्य देवस्य प्राणरक्षकाः। देवानामपाया-भावात् तेषां तथा ग्रहणपुरस्सर-मवस्थानं निरर्थकमिति चेतराणां स्थिति-मात्रपरिपालनहेतुत्वात् प्रीतिप्रकर्षहेतुत्वाच्च तथा हि-ते समन्ततः- सर्वासु दिक्षु गृहीतप्रहरणा ऊर्ध्वस्थिता अवतिष्ठमानाः

स्वनायकशरीररक्षणपरायणाः स्वनायकैकनिषण्णदृष्टयः परेषामसहमानानां क्षोभमुत्पादयन्ति-जनयन्ति स्वनायकस्य परां प्रीतिम् । रा०।

(तथा च)-

चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुरण्णो कइ आइरक्खदेवसहस्सीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि चउसट्ठीओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, एए णं आयरक्खवण्णओ। एवं सव्वेसिं इंदाणं जस्स जत्तिया आयरक्खा ते भाणियव्वा (१६४+)

'वण्णओ' त्ति-आत्मरक्षदेवानां वर्ण्णको वाच्यः, स चायम् - ''सन्नद्धबद्धवम्मियकवया उप्पीलियसरासणपट्टिया पिणद्धगे-वेज्जा बद्धआविद्धविमलवरचिंधपट्टा गहियाउहपहरणा तिणयाइं तिसंधियाइं वइरामयकोडीणि धणूइं अभिगिज्झ पयओ परमाइयकंडकलावा नीलपाणिणो पीयपाणिणो रत्तपाणिणो एवं चारुचावचम्मदंडखग्गपासपाणिणो नीलपीयरत्तचारुचावचम्म- दंडखग्गपासवरधरा आयरक्खा रक्खोवगया गुत्ता गुत्तपालिया जुत्ता जुत्तपालिया पत्तेयं पत्तेयं समयओ विणयओ किंकरभूया इव चिट्ठंति'' त्ति, अस्यायमर्थः संनद्धासन्नहतिकया कृतसन्नाहाः बद्धः कशाबन्धतः वर्म्मितश्च वर्म्मीकृतः शरीरारोपणतः कवचः कङ्कटोयैस्ते तथा, ततः सन्नद्धशब्देन कर्मधारयः । तथा उत्पीडिता प्रत्यञ्चाऽऽरोपणेन शरासनपट्टिका धनुर्यष्टिर्यैस्ते तथा, अथ वा-उत्पीडिता बाहौ बद्धा शरासनपट्टिका धनुर्यष्टिर्यैस्ते तथा। पिनद्धं परिहितं ग्रैवेयकं ग्रीवाभरणं यैस्ते तथा, तथा बद्धो ग्रन्थिदानेन आविद्धश्च शिरस्यारोपणेन विमलो वरश्च चिह्नपट्टो योधतासूचको नेत्रादिवस्त्ररूपः सौवर्णो वा पट्टो यैस्ते तथा, तथा गृहीतान्यायुधानि प्रहरणाय यैस्ते तथा, अथ वा-गृहीतान्यायुधानि क्षेप्यास्त्राणि प्रहरणानि च यैस्ते तथा, तथा त्रिनतानि मध्यपार्श्वद्वयलक्षणस्थानत्रयेऽवनतानि त्रिसन्धितानि त्रिषु स्थानेषु कृतसन्धिकानि; नैकाङ्किकानीत्यर्थः। वज्रमयकोटीनि धनूंष्यभिगृह्य वदतः पदे मुष्टिस्थाने तिष्ठन्तीति सम्बन्धः। परिमात्रिकः सर्वतो मात्रावान् काण्डकलापो येषां ते तथा । नीलपाणय इत्यादिषु नीलादिवर्णपुङ्खत्वान्नीलादयो बाणभेदाः सम्भाव्यन्ते । चारुचापपाणय इत्यत्र च चापं-धनुरेवानारोपितज्यमतो न पुनरुक्तता, चर्मपाणय इत्यत्र चर्मशब्देन स्फुरक उच्यते, दण्डादयः प्रतीताः, उक्तमेवार्थं संग्रहणेनाह- 'नीलपीए' त्यादि अथ वा-नीलादीन् सर्वानेव युगपत्केचिद्धारयन्ति देवशक्तेरिति दर्शयन्नाह- 'नीलपीए' त्यादि, ते चात्मरक्षा न संज्ञामात्रेणैवेत्याह आत्मरक्षाः; स्वाम्यात्मरक्षा इत्यर्थः, ते एव विशेष्यन्ते रक्षोपगता रक्षामुपगताः; सततं प्रयुक्तरक्षा इत्यर्थः। एतदेव कथमित्याह- गुप्ताः अभेदवृत्तयः, तथा गुप्तपालीकाः तदन्यतो व्यावृत्तमनोवृत्तिकाः मण्डलीका, युक्ताः परस्परसम्बद्धाः, युक्तपालीका, निरन्तरमण्डलीकाः, प्रत्येकमेवैकशः समयतः पदातिसमाचारेण विनयतीविनयेन किंकरभूता इव-प्रेष्यत्वं प्राप्ता इवेति, अयं च पुस्तकान्तरे साक्षाद् दृश्यत एवेति' एवं सव्वेसिमिंदाणं ति-'एवमि'ति-चरवत्सर्वेषामिन्द्राणां सामानिकचतुर्गुणा आत्मरक्षा वाच्याः, ते चार्थत एवम- सर्वेषामिन्द्राणां सामानिकचतुर्गुणा आत्मरक्षाः, तत्र चतुःषष्टिसहस्राणि चमरस्येन्द्रसामानिकानाम्, बलेस्तु षष्टिः, शेषभवनपतीन्द्राणां प्रत्येकं षट्षट्सहस्राणि शक्रस्य चतुरशीतिः, ईशानस्याऽशीतिः सनत्कुमारस्य द्विसप्ततिः, माहेन्द्रस्य सप्ततिः, ब्रह्मणः षष्टिः लान्तकस्य पञ्चाशत्, शुक्रस्य चत्वारिंशत, सहस्रारस्य त्रिंशत्, प्राणतस्य विंशतिः, अच्युतस्य दशसहस्राणि सामानिकानामिति, यदाह-

''चउसट्ठी सट्ठी, खलु, छच्च सदस्सा उ असुरवज्जाण।
सामाणिया उ एए चउग्गुणा आयरक्खाउ ॥१॥
चउरासीइ असीई, बावत्तरि सत्तरी य सट्ठी य।
पण्णा चत्तालीसा, तीसा वीसा दससहस्सा'' ॥२॥ इति।

भ० ३ श० ६ उ०।

आत [य] रक्खि[न्]- त्रि० (आत्मरक्षिन्) आत्मानं रक्षत्य-पायेभ्यः-कुतिगमनादिभ्य इत्येवंशीलः आत्मरक्षी। कुतिगमनादिभ्य आत्मनो रक्षणशीले, उत्त० पाइ० ४ अ०। ''अप्पाणरक्खी चरमप्पमत्तो'' ॥१०+॥ उत्त० ४ अ०।

आत (य) रक्खिय- त्रि० (आत्मरक्षित) आत्माऽपायेभ्योदुर्गतिगमनादिभ्यो रक्षितो येन स तथा। दुर्गतिगमनहेतुनिबन्धनात्सावद्यानुष्ठानान्निवृत्ते, सूत्र०। 'आयपरक्कमे आयरक्खिए'' (सूत्र ४२+)। दुर्गतिगमनहेतुनिबन्धनस्य सावद्यानुष्ठानस्य निवृत्तत्वाद्। सूत्र २, श्रु २ अ०।

अरंइ पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए ॥१५×॥

आत्मरक्षितो दुर्गतिहेतोरपध्यानादेरनेनेत्यात्मरक्षितः ।

आहिताग्न्यादिषु ॥३।१।१५३॥ दर्शनात् कान्तस्य परनिपातः (हैम व्याकरण सूत्रेण) उत्त० २ अ०।

आत (य) वं- त्रि० (आत्मवत्)। 'आयवं'' (सूत्र-१०×)।

आत्मा ज्ञानादिकोऽस्यास्तीत्यात्मवान्। ज्ञानादिमति, आचा०१ श्रु०३ अ १० उ०।आत्मा-चित्तं वश्यतयाऽस्त्यस्य मतुप। मस्य वः स्त्रियां ङीप्। वश्यचित्ते, निर्विकारचित्ते च । आत्मा प्रकाश्यतया विद्यतेऽस्य आत्मप्रकाशकेशास्त्रे, आत्मना तुल्यक्रियावति, आत्मतुल्यक्रियायाम्, अव्य०। वाच०।

आतव- पुं० (आतप)। आ-समन्तात्तपति संतापयति जग-दित्यातपः। उत्त०१ अ०। आ-तप*घ। उद्द्योते, कर्म २ कर्म०। स चोद्योतो यद्यपि लोके भेदेन प्रसिद्धो यथा, सूर्य्यगत आतपः, चंद्रगतः प्रकाश इति। तथाप्यातपशब्दः चंन्द्रप्रभायामपि वर्त्तते, यदुक्रम- ''चन्द्रिका कौमदी ज्योत्स्ना, तथा चन्द्रातपः स्मृतः'' ॥१॥ इति। सू० प्र० ३ पाहु०। ''आतवाइ वा'' (सूत्र-९५×) आतप इति वा। आतप आदित्यस्येति। स्था० २ ठा० ४ उ०। घर्मे, उत्त० २ अ०। ''आयवताणनिमित्तं॥९६×॥ उष्णेन परितापना। व्य०८ उ०। आतप्यते-पीड्यते शरीरमनेनेत्यातपः । तृणपाषाणादौ, ''आयवस्स निवाएणं, अउला हवई वेयणा'' ॥३५×॥ उत्त० २अ०। निविडकिरणे, रौद्रे च प्रकाशे, वाच०। स्वनामख्याते आहोरात्रभवे चतुर्विंशतितमे मुहूर्ते च० सम० ३० । च० प्र० *पो० व: १८।१।२३१। इतिपस्यवः।

आतवणाम (न्)- न० (आतपनामन्) नामकर्मभेदे, श्रा०। यदुदयादातपवान् भवति । पृथिवीकाये, आदित्यमण्डलादिवत्। श्रा०। यदुदयाज्जन्तुशरीराणि स्वरूपेणानुष्णान्यपि उष्णप्रकाश- लक्षणमातपं कुर्वन्ति तदातपनाम। तद्विपाकश्च भानुमण्डल- गतभूकायिकेष्वेव न वह्नौ, प्रवचनप्रतिषेधात; तत्रोष्णत्वमुष्ण- स्पर्शनामोदयात्, उत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्व-मिति० प० सं० ३ द्वार । यदुदयवशाज्जन्तुशरीराणि भानुमण्डल-गतपृथ्वीकायिकरूपाणि स्वरूपेणानुष्णान्यपि उष्णप्रकाश-लक्षणमातपं कुर्वन्ति तदातपनाम। आतपनामोदयश्च वह्निशरीरे न भवति सूत्रे प्रतिषेधात्। तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शनामोदयात् । उत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वम् । कर्म० ६० कर्म०।

रविबिंबे उ जियंगं, तावजुयं आयवाउ न जलणे ।
जमुसिणफासस्स तहिं, लोहियवण्णस्स उदउ त्ति ॥४४॥

आतपाद्-आतपनामोदयाज्जीवानामङ्गं -शरीरम् तापयुतं स्वयमनुष्णमपि उष्णप्रकाशयुक्तं भवति। आतपस्य पुनरुदयो रविबिम्बे एव। तुशब्द एवकारार्थः । भानुमण्डलादिपा- र्थिवशरीरेष्वेव; न पुनर्ज्वलने- हुतभुजि। अत्र युक्तिमाह- यद्यस्मात्कारणात तथा ज्वलने ज्वलनजन्तुशरीरे; तेजस्कायशरीरे इत्यर्थः उष्णस्पर्शस्योदयः, तथा- 'लोहित- वर्णस्योदय' इति- तेजस्कायशरीराण्येवोष्णस्पर्शोदयेनोष्णानि, लोहितवर्णनामोदयात्तु प्रकाशयुक्तानि भवन्ति, न त्वातपोदयादिति भावः। तदुदयाज्जन्तुशरीराण्यात्मनानुष्णान्यप्युष्णप्रकाशरूपमातपं कुर्वन्ति, तदातपनामेत्यर्थः । कम० १ कर्म०।

आत (य) वणिवाय- पुं० (आतपनिपात)। आतपस्य-घर्मस्य नितरां पातो निपातः । घर्मस्य नितराम्पाते, उत्त०।

आयवस्स निवाएणं, अउला हवइ वेयणा ॥ ३५×॥

आतपस्य निपातेन-घर्मस्य संयोगेन अतुला वेदना भवति, तापशीतवर्षावातादिपीडाऽस्माभिः सोढुं न शक्यते अथ वा-आतप्यते-पीड्यते शरीरमनेनेत्यातपः तृणपाषाणादिरप्युच्यते तस्य संगेनास्मच्छरीरे महती वेदना भवति। उत्त०२अ०।

आत (य) वत्तत्त- त्रि० (आतपवत्त) घर्मवत्ते, ''आतवत्तत्ते वहे अहवे''॥२०१×)॥ आयवत्तत्तं अप्पोदगं अवहं घेप्पंति। असइ आयवत्तत्तं वहं घिप्पति । नि० चू० उ०।

आत (य) ववं (त्)- त्रि० (आतपवत्)। आतपोऽस्त्यत्र मतुप्। मस्य वः। आतपयुक्ते, ''शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः'' वाच०। अहोरात्रभवे स्वनामख्याते चतुर्विंशमुहूर्ते, जं० ७ वक्ष०। कल्प०।

आत(य) वाल- त्रि० (आत्मपाल) आत्मानमेव पालयतीत्या-त्मपालः। आत्मनः पालके ज्ञा १, श्रु १ अ०।

आतवालोय- पुं० (आतपालोक) हुतवहतापदर्शने, ज्ञा०। ''आतवालोयमहंततुंबइयपुण्णकण्णे'' (सूत्र २७×)। ज्ञा० १ श्रु १ अ०।

आत (य) वस- त्र० (आत्मवश) आत्मनो वशः आयत्तता यत्र । आत्माधीने, ''यद्यदात्मवशं तु स्या-त्तत्तत्सेवत यत्नतः । सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्'' ॥१॥ मनु०। वाच०।

सव्वत्थेसु विमुत्तो, साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ।६८+।

सर्वार्थेषु विमुक्तः-सर्वपदार्थेषु ममतारहितः साधुः मोक्षसाधकः सर्वत्रात्मवशो भवति; न कुत्रापि परवशः। ग०२ अधि०।

आत (य) वायपत्त- त्रि० (आत्मवादप्राप्त)। आत्मन उप-योगलक्षणस्य जीवस्यासंख्येयप्रदेशात्मकस्य संकोचविकाश-भाजः स्वकृतफलभुजः प्रत्येकसाधारणतया व्यवस्थितस्य द्रव्यपर्य्यायतया नित्यानित्याद्यनन्तधर्मात्मकस्य वा वाद आत्मवादस्तं प्राप्त आत्मवादप्राप्तः । सम्यग् यथावस्थि- तात्मस्वतत्त्ववेदिनि, सूत्र०। ''आयवायपत्ते विऊ'' (सूत्र० ४×) सूत्र० १ श्रु १६ अ०।

आत (य) वि (द्)- त्रि० (आत्मविद्)। पाठान्तरे-''आयवी'' (सूत्र-१०७×) आत्मानं श्वभ्रादिपतनरक्षणद्वारेण वेत्तीत्यात्म-वित्। आत्मनो रक्षके आचा० १० श्रु० ३ अ० १० उ०। आत्मानं यथार्थरूपेण वेत्ति, विद्-क्विप्-६ त०। आत्मस्वरूपज्ञे, आत्मानं स्वपक्षं वेत्ति क्विप्। स्वपक्षज्ञातरि,। वाच०।

आत (य) वीरिय- न० (आत्मवीर्य्य)। वीर्यभेदे, नि० चू०। आयविरियं दुविहं-विओगावीरियं च, अविओगायवीरियं च। विओगायवीरियं जहा-संसारावत्थस्स जीवस्स मणमादिजोगा वियोगजा भवन्ति, अविओगाऽऽयवीरियं पुण-उवओगो असंखेज्जा पप्प एसत्तणं । नि० चु० १ उ०।

आत (य) विसोहि- स्त्री० (आत्मविशुद्धि)। उत्कालिकश्रुत-विशेषे, नं०। आत्मनो-जीवस्यालोचना प्रायश्चित्तप्रतिपत्ति-प्रभृतिप्रकारेण विशुद्धिः कर्मविगमनलक्षणा प्रतिपाद्यते यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा आत्मविशुद्धिः । नं०। आत्मनो जीवस्या-लोचनादिप्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिप्रकारेण विशुद्धिः कर्मवि-गमनलक्षणा प्रतिपाद्यते यत्र तदध्ययनमात्मविशुद्धिः । पा०।

आत (य) वेयावच्चकर- त्रि० (आत्मवैयावृत्त्यकर) अलसे, विस-म्भोगिके च। स्था०।

आयवेयावच्चकरे नाममेगे, णो परवेया वच्चकरे । (सूत्र-३२०×)

आत्मवैयावृत्त्यकरः-अलसो, विसम्भोगिको वा। स्था० ४, ठा० ३० उ०।

आतसंचेयणिज्ज- पुं० (आत्मसंचेतनीय)। आत्मना संचेत्यन्ते-क्रियन्त इत्यात्मसंचेतनीयाः। स्था० ४, ठा० ४ उ०। उपसर्गभेदे, स्था० ४० ठा० ४ उ०। (अस्य भेदोहरणादिबहुवक्तव्यता 'उवसग्ग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

आत (य) संजम- पुं० (आत्मसंयम)आत्मनः शरीरस्य संयमः । संवृताङ्गोपाङ्गेन्द्रियत्वे, पा०। आत्मनो-मनसः संयमः। चित्तसंयमने, वाच०।

आत (य) संयमपर- त्रि० (आत्मसंयमपर) आत्मनः शरीरस्य संयमः संवृताङ्गोपाङ्गेन्द्रियत्वम् तत्परं-तत्प्रधानम् । संवृताङ्गोपाङ्गेन्द्रियत्व-प्रधाने, ष०९ विव०।

आत (य) संयमोवाय- पुं० (आत्मसंयममोपाय)। संयमनं संयम आत्मनः संयम आत्मसंयमस्तदुपायः। आत्मसंयमनोपाये, दश०। उक्तं च-'' तस्यात्मा संयतो यो हि, सदाचारे रतस्सदा। स एव धृतिमान् धर्म स्तस्यैव च जिनो हितः'' ॥१॥ इति। दश०। १ अ०।

आत (य) संवेयण- न० (आत्मसंवेदन) द्रव्योपसर्गभेदे, सूत्र०।

तथा च उपसर्गमधिकृत्य-

दव्वे चउव्विहो दे-वमणुयतिरियायसंवेतो ॥४७॥

आत्मसंवेदना अपि चतुर्विधा, तद्यथा घट्टनातः लेशनातः, अङ्गुलाद्यवयवसंश्लेषरूपाया स्तम्भनातः प्रपाताच्च। सूत्र०१ श्रु३ अ०१उ०।

आत (य) संवेयणिज्ज- पुं० (आत्मसंवेदनीय)। आत्मना क्रियन्त इत्यात्मसंवेदनीयाः। द्रव्योपसर्गभेदे, आ० चू० १ अ०। (एतस्य भेदादिबहुवक्तव्यता 'उवसग्ग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)।

आत (य) सक्खि (न्)-त्रि० (आत्मसाक्षिन्) आत्मनः बुद्धिवृत्तः साक्षी-प्रकाशकः वेदान्तादिमतसिद्धे बुद्धिवृद्धिप्रकाशके चैतन्ये वाच०। आत्मा-स्वजीवः स्वस्वसंचितप्रत्यक्षविरतिपरि-णामपरिणतः साक्षी यत्र तदात्मसाक्षिकम्। स्वजीवसाक्षिके पा०।

आत (य) (अप्प) सत्तम- त्रि० (आत्मसप्तम) आत्मना सप्तमः सप्तानां पूरण आत्मा वा सप्तमो यस्यासावात्मसप्तमः। सप्तानां पूरण आत्मा यस्य। तस्मिन्, स्था०। ''मल्लीणं अरहा अप्पसत्तमे मुंडे भवित्ता'' (सूत्र५६४+) स्था०७ ठा० ३ उ०।

आत (य) सम्पपण- न० (आत्मसमर्पण)। आत्मनिवेदने, पञ्चा०।

गुरवे चात्मनिवेदनं महते फलाय-

अह तिपयाहिणपुव्वं, सम्मं सुद्धेण चित्तरयणेण।
गुरुणोऽणुवेयणं स-व्वहेव दढमप्पणा एत्थ ॥२९॥

अथ तदात्मनिवेदनं गुरुः प्रतिपद्यते न वा यदि न प्रतिपद्यते तदा न युक्तं निष्फलत्वात्तस्येत्याङ्कां परिहरन्नाह-

एसा खलु गुरुभत्ती, उक्कोसो एस दाणधम्मो उ।
भावविसुद्धीऐं दढं, इहरा वि य बीयमेयस्स ॥३०॥

कथमिदं भावविशुद्ध्याभावपूर्वकमात्मनिवेदनमुत्कृष्टदानधर्म-बीजं भवतीत्याह-

जं उत्तमचरियमिणं, सोउं पि अणुत्तमाण पारे त्ति।
ता एयसगासाओ, उक्कोसो होइ एयस्स ॥३१॥

अथ यदि तदात्मनिवेदनं गुरुः प्रतिपद्यते तदाऽधिकरणदोषो गुरोःस्यादित्याशङ्कां परिहरन्नाह-

गुरुणो वि णाऽहिगरणं, ममत्तरहियस्स एत्थ वत्थुम्मि।
तब्भवसुद्धिहेउं, आणाऐं पयत्तमाणस्स ॥३२॥

पञ्चा० २ विव०।

(एतासां गाथानां व्याख्या 'पवज्जा' शब्दे पञ्चमेभागे करिष्यते)।

आत (य) समया- स्त्री० (आत्मसमता)। आत्मौपम्ये, आचा०।

सर्वत्रात्मौपम्यं समाचरेदित्याह-

आतवो बहिया पास, तम्हा ण हंता ण विघायए। (सूत्र ११५×)।

यथा ह्यात्मनः सुखमिष्टमितरत्त्वन्यथा तथा बहिरपिआत्मनो व्यतिरिक्तानामपि जन्तूनां सुखप्रियत्वमसुखप्रियत्वं च पश्य- अव धारय, तदेवमात्मसमतां सर्वप्राणिनामवधार्य किं कर्त्तव्य-मित्याह- 'तम्हा' इत्यादि। यस्मात्सर्वेऽपि जन्तवो दुःखद्विषः सुखलिप्सवस्त-स्मात्तेषां न हन्तान व्यापादकः स्यात्, नाप्य-परैस्तान् जन्तून् विविधैर्नानाप्रकारैरुपायैर्घातयेत्विघातयेदिति। आचा०१ श्रु०३ अ०३०उ०।

आत (य) समोयार- पुं० (आत्मसमवतार) ज्ञशरीरभव्यशरीर-व्यतिरिक्तद्रव्यसमवतारभेदे, अनु०।

सव्वदव्वा वि णं आयसमोआरेणं आयभावे समोअरंति। (सूत्र-१५३+)

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यसमवतारस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा- आत्मसमवतार इत्यादि। तत्र सर्वद्रव्याण्यप्यात्म- समवतारेण चिन्त्यमानान्यात्मभावे- स्वकीयस्वरूपे समवत-रन्ति- वर्तन्ते तदव्यतरिक्तत्वात्तेषाम्। अनु०। (अत्र बहुवक्तव्यता 'समोयार' शब्दे सप्तमे भागे करिष्यते)

आत (य) सरीरखेत्तोगाढ- त्रि० (आत्मशरीरक्षेत्रावगाढ) स्वशरीरक्षेत्रव्यवस्थिते, भ०। ''आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेन्ति'' (सूत्र२५८+) स्वशरीरे व्यवस्थितानित्यर्थः भ०६ श०१० उ०।

आत (य) साय- न० (आत्मसात) आत्मसुखे, सूत्र०। ''भुताइँ जे हिंसति-आयसाते ॥५+॥'' अभूवन् भवन्ति भविष्यन्तीति भूतानि-प्राणिनस्तानि आत्मसुखार्थं हिनस्तिव्यापादयति। सूत्र०१ श्रु०७अ०।

आत (य) सायाणुगामि (न्)- पुं० (आत्मसातानुगामिन्) स्व-सुखलिप्सौ, सूत्र०।

हंता छेत्ता पगब्भित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥५॥

आत्मसातानुगामिनः-स्वसुखलिप्सवः। सूत्र १ श्रु ८ अ०।

आत (य) सुह- न० (आत्मसुख) शरीरसुखे सूत्र०। ''आयसुहं पडुच्च'' ॥४+॥ आत्मसुखम्प्रतीत्य-स्वस्य शरीरसुखकृते। सूत्र०१ श्रु० ५० अ० १ उ०। जे छिंदेति आयसुहं पडुच्च ॥८×॥ सूत्र १ श्रु०७ अ०। जीवसुखे द्रव्या०।

अर्हत्क्रमाऽम्भोजयुगोपयोगि,
चेतःकुरुष्वाऽऽत्मसुखं लभस्व ॥७॥

आत्मनो-जीवस्य सुखं-निराबाधानुभवं लभस्व-प्राप्नुहि नयज्ञानात् जीवादीन् परीक्ष्य कर्मभ्य आत्मानं वियोज्यानन्त- सुखभाक् भव इत्यर्थः। द्रव्या० ८ अध्या०। आत्मैव सुखमस्य आत्मलाभमात्रेण सुखिनि, त्रि०। आत्मैव सुखं सच्चिदा-नन्दरूपत्वात्। आत्मरूपे परमानन्दे, न० वाच०।

आत (य) सोहि- स्त्री० (आत्मशुद्धि) आत्मनो-देहस्य, मनसो वा शुद्धिः। देहशुद्धौ, चित्तशुद्धौ च। वाच०। कर्मक्षयोपशमक्षये च। ''आययजोगमायसोहीए'' ॥१५×॥ आत्मशुध्याकर्मक्षयो पशमक्षयलक्षणयाऽऽयतयोगं-सुप्रणिहितमनोवाक्कायात्मकं विधाय। आचा० १ श्रु०९ अ ४ उ०।

आत (य) हित- त्रि० (आत्महित) स्वहिते, सूत्र। ''आयहियाए सण्णिसेज्जाओ'' ॥१६×॥ आत्महिताय स्वहितं मन्यमानाः। सूत्र० १, श्रु० ४ अ० १ उ०। शरीराय हिते, ''आयट्ठीणं आयहि-ताणं'' (सूत्र-१+॥) आत्महितानां हितमिव हितम् आत्महितं च शरीरे आत्मनि च भवति। तत्र शरीरे हिताऽहितं पथ्या-ऽपथ्याहारादिकम्। आत्मनि तु हिंसादिप्रवृत्तिनिवृत्ती। अथवा-आत्मनो हितानी त्रीणि त्रिषष्ठानि पाखण्डिकशतानि तदधनयनं तदस्ति येषां ते आत्महिताः। दश० ५० अ०। अहिताचाराश्च चौरादयः, अयं त्वात्महित ऐहिकामुष्मिकापाय-भीरुत्वाद् सूत्र०२ श्रु०२ अ०। ''आयहिए अणियाणसंवुडे'' (सूत्र-२०१)। सूत्र०१ श्रु०२ अ०३ उ०।

आयहेउ- पुं० (आत्महेतु) आत्मनिमित्ते, दश०। ''आयहेउ पर उभये'' ॥३३९+॥ आत्महेतोः-आत्मनिमित्तम। दश० १० अ०। ''वेई पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा'' (सूत्र-१७+) आत्मनिमित्तम्-आत्मार्थम्। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

आता (अप्पा)- स्त्री०(आत्मन्) -पुं०अत-मनिण्। स्वरूपे, वाच०। भ०। भस्माऽऽत्मनो० **पो वा** ॥८/२/५१॥ इति हेमप्राकृतसूत्रेण भस्माऽऽत्मनोः संयुक्तस्य पो वा। अप्पा। अप्पाणे। पक्षेअत्ता। प्रा०। **पुंस्यन आणो राजवच्च** ॥८।३।५६॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण पुल्लिङ्गे वर्त्तमानस्याऽऽन्तस्य स्थाने आण इत्यादेशो वा भवति। पक्षे यथादर्शनं राजवत् च कार्य्यं भवति। आणादेशे च-''अतः **सेर्डोः**''॥८।३।२॥ इत्यादयः प्रवर्तन्ते। पक्षे तु राजवत्-अप्प शस। **जस्शस्ङसिङसां णो** ॥८।३।५०॥ **टो णा** ॥८।३।५१॥ **इणममामा** ॥८।३।५३॥ इति प्रवर्तन्ते। अप्पाणो। अप्पाणा, प्रथमा। अप्पाणं। अप्पाणे, द्वितीया। अप्पाणेण। अप्पाणेहिं, तृतीया। अप्पाणाओ अप्पाणासुन्तो, पञ्चमी। अप्पाणस्स। अप्पाणाण, षष्ठी। अप्पाणम्मि। अप्पाणेसु, सप्तमी। अप्पाण कअं। पक्षे राजवत्। अप्पा। अप्पो प्रथ०। हे अप्पा!। हे अप्प!, संबोध-नम्। अप्पाणो चिट्ठंति। अप्पाणो पेच्छ। अप्पाणा, अप्पेहिं। अप्पाणो अप्पाओ। अप्पाउ। अप्पाहि। अप्पाहिन्तो। अप्पा। अप्पासुन्तो। अप्पाणो धणं। अप्पाणं। अप्पे। अप्पेसु। प्रा०। **''आत्मनष्टो णिआ णइआ''** ॥८।३।५७॥ आत्मनः परस्याष्टायाः स्थाने णिआ णइआ इत्यादेशौ वा भवतः। अप्पणिआ पाउसे उवगअम्मि। अप्पणिआ अविअड्डिखाणिआ। अप्पणइआ। पक्षे-अप्पाणेण। प्रा०। यत्ने, वाच०। स्वस्मिन्, ''आयाए एगंतमंतं अवक्कमंति'' (सूत्र- १४२+)। 'आयाए' त्ति-आत्मना; स्वयमित्यर्थः। भ०३ श०२ उ०।

दोहिं ठाणेहिं आया सरीरं फुसित्ता णं णिज्जाति, तं जहा देसेण वि आया सरीरं फुसित्ता णं णिज्जाति, सव्वेण वि आया सरीरगं फुसित्ता णं णिज्जाति, एवं फुरित्ता णं, एवं फुडित्ता, एवं संवट्टित्ता, निव्वट्टित्ता। (सूत्र-९७)

'दोहिं' इत्यादिकं कण्ठ्यम्। नवरं द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां 'देसेण वि' त्ति-देशेनापि कतिपयप्रदेशलक्षणेन केषांचित्प्रदेशा वा इलिकागत्योत्पाद-स्थानं गच्छता जीवेन शरीराद्-बहिः क्षिप्तत्वात, आत्मा-जीवः शरीरम्-देहां स्पृष्ट्वाश्लिष्ट्वा निर्याति शरीरान्मरणकाले निस्सरतीति, 'सव्वेण वि' त्ति- सर्वेण-सर्वात्मना सर्वैर्जीवप्रदेशैः कन्दुकगत्योत्पादस्थानं गच्छता शरीराद् बहिःप्रदेशानामक्षिप्तत्वादिति। अथवा देशेनाऽपि-देशतोऽपि अपिशब्दः सर्वेणापीत्यपेक्षः। आत्मा-शरीरं कोऽर्थः? शरीरदेशं-पादादिकं स्पृष्ट्वा अवयवान्तरेभ्यः प्रदेशसंहारान्निर्याति, स च संसारी। सर्वेणापिसर्वतयाऽपि, अपिः देशेनापीत्यपेक्षः सर्वमपि शरीरं स्पृष्ट्वा निर्यातीति भावः, स च सिद्धो वक्ष्यति च- ''पायणिज्जाणा निरएसु उववज्जंती'' त्यादि, यावत्-''सव्वंगनिज्जाणा सिद्धेसु'' त्ति। आत्मना शरीरस्य स्पर्शने सति स्फुरणं भवतीति, इत्यत उच्यते- 'एवमि' त्यादि, 'एवमि' 'ति' दोहिं 'ठाणेहिं'। इत्याद्यभिलाप- संसूचनार्थः, तत्र देशेनापि कियद्विरप्यात्मप्रदेशैरिलिकागति-काले 'सव्वेण वि' त्ति सर्वैरपि गेन्दुकगतिकाले शरीरम्। 'फुरित्ता णं' ति-स्फोरयित्वा सस्पन्दं कृत्वा निर्याति, अथवा- शरीरकं देशतः; शरीरदेशमित्यर्थ, स्फोरयित्वा पादादि- निर्याणकाले सर्वतः शरीरं स्फोरयित्वा सर्वाङ्गनिर्याणावसर इति। स्फुरणाच्च सात्मकत्वं स्फुटं भवतीत्याह-'एवमि' त्यादि- 'एवमि' ति-तथैव देशनात्मदेशेन शरीरकम् 'फुडित्ता णं' ति-सचतेनतया स्फुरणलिङ्गतः स्फुटं कृत्वा इलिकागतौ सर्वेण-सर्वात्मना स्फुटं कृत्वा गेन्दुकगताविति, अथवा-शरीरकं देशतः सात्मकतया स्फुटं कृत्या पादादिना निर्याणकाले सर्वतः सर्वाङ्गनिर्वाणप्रस्ताव इति, अथवा-'फुडित्ता' स्फोटयित्वा विशीर्णं कृत्वा तथा देशतोऽक्ष्यादिविघातेन, सर्वतः सर्वविश- रणेन देवदीपादिजीववदिति शरीरकं सात्मकतया स्फुटीकुर्वंस्तत्संवर्त्तनमति कश्चित्करोतीत्याह- 'एवमि' त्यादि, 'एवमि' ति तथैव 'संवट्टइत्ता णं' ति-संवर्त्य-संकोच्य शरीरकं देशेने- लिकागतौ शरीरस्थितप्रदेशैः सर्वेण-सर्वात्मना गेन्दुकगतौ सर्वात्मप्रदेशानां शरीरस्थितत्वान्निर्यातीति, अथवा-शरीरकं शरीरिणमुपचाराद्दण्डयो-गाद्दण्डपुरुषवत्, तत्रः देशतः संवर्त्तनं संसारिणो म्रियमाणस्य पादादिगतजीवप्रदेश- संहारात्सर्वतस्तु निर्वाणं गन्तुरिति। अथवा-शरीरकं देशतः संवर्त्य हस्तादिसङ्कोचनेन सर्वतः सर्वशरीरसङ्कोचनेन पिपीलिकादिवदिति। आत्मनश्च संवर्त्तनं कुर्व्वन् शरीरस्य निवर्तनं करोतीत्याह-एवं 'निवट्टइत्ता णं' ति-तथैव निवर्त्य-जीवप्रदे-

शेभ्यः; शरीरकं पृथक् कृत्वेत्यर्थः, तत्र देशेनैलिकागतौ सर्वेण गेन्दुकगतौ, अथवा-प्रदेशतः शरीरकं निवर्त्यात्मनः पादादिनिर्याणवान्, सर्वतः सर्वाङ्गनिर्याणवानिति, अथवा पञ्चविधशरीरसमुदयापेक्षया देशतः शरीरम्-औदारिकादि निवर्त्य तैजस- कार्म्मणे त्वादायैव तथा सर्वेण सर्वं शरीरसमुदायं निवर्त्य निर्याति; सिद्ध्यतीत्यर्थः, अनन्तरं सर्वनिर्याणमुक्तं, तच्च परम्परया धर्मश्रवणलाभादिषु ते च यथा स्युस्तथा दर्शयन्नाह-

दोहिं ठाणेहिं आता केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवण-ताते, तं जहा-खतेण चेव, उवसमेण चेव, एवं ०जाव मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा, तं जहा-खतेण चेव, उवसमेण चेव। (सूत्र-९८)

'दोही' त्यादि, कण्ठ्यं, नवरम् 'खएण चेव' त्ति- ज्ञाना-वरणीयस्य दर्शनमोहनीयस्य च कर्मण उदयप्राप्तस्य क्षयेण निर्जरणेन अनुदितस्य चोपशमेन-विपाकानुभवनेन क्षयोप-शमेनेत्युक्तं भवति, यावत्करणात्-''केवलं बोहिं बुज्जेज्जा मुंडेभवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा केवलं बंभचेरवासमावसेज्जा केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा केवलमाभिणिबोहियनाणमुप्पाडेज्जा'' इत्यादि दृश्यम्, एवं यावन्मनःपर्यवज्ञानमुत्पादयेदिति, केवलज्ञानं तु क्षयादेव भवतीति तन्नोक्तम्। इह च यद्यपि, बोध्यादयः सम्यक्त्वचारित्ररूपत्वात्के वलेन क्षयेण, उपशमेन च भवन्ति। तथाप्येते क्षयोपशमेनापि भवन्ति। श्रवणाभिनिबोधिकादीनि तु क्षयोपशमेन भवन्तीति सर्वसाधारणः क्षयोपशम उक्तः। स्था० २ ठा० ४ उ०। देहे, उत्त०। उक्तं हि-''धर्म्मधृत्यग्निधीन्द्वर्क- त्वकृतत्त्वसूर्य्यदेहेषु। शीलानिलमनोयत्नै-कवीर्येऽप्यात्मनः स्मृतिः''॥१॥ इति। उत्त० १५० अ०।

तथा च-

जमि णं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारम्भा कज्जंति, तं जहा-अप्पणो से पुत्तांणं। (८६+)

'तं जहा अप्पणो' इत्यादि तद्यथेत्युपप्रदर्शनार्थं नोक्तमात्रमेवान्यदप्येवंजातीयकं मित्रादिकं द्रष्टव्यम् (से) तस्यार-म्भारिप्सोर्य आत्मा-शरीरं तस्मै अर्थं तदर्थं कर्म्मारम्भाः पाकादयः क्रियन्ते। आचा० १ श्रु० २० अ० ५ उ०। मनसि; बुद्धिस्थे निजे स्वभावे बुद्धौ च। वाच०। देहावच्छिन्ने चैतन्ये चा अन्तःकरणे, वाच०। ज्ञान, प्रकाशस्वरूपे बुद्धौ आत्मनि, बुद्धिर्हि मनआदिकरणानि प्राप्नोत्यात्मा तेषां प्रत्यभिज्ञानम्। वाच०। अर्के, वह्नौ, वायौ, वाच०। अततीत्यात्मा। विशे० २२५६ गाथा। अतति-सततं गच्छत्यपरापरान् स्वपरुपर्य्यायानित्यात्मा। अथवा-अतधातोर्गमनार्थत्वेन ज्ञानार्थत्वादतति- सततमव- गच्छत्युपयोगलक्षणत्वादित्यात्मा। भ० १० श० १२ उ०। अतति- सातत्येन गच्छति तांस्तान् ज्ञानदर्शनसुखादिपर्य्यायानित्याद्यात्मादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तसंभवात्, उक्तञ्च ''एवं जीवो जीवो, संसारी पाणधारणाणुगओ। सिद्धो पुणरज्जीवो, जीवण- परिणामरहिओ त्ति'' आ० म० १ अ०। को ह्यात्मा भगवानाह- योऽहमित्यभिमन्यते, स कीदृक् सूक्ष्मोऽसौ ? किं तत्सूक्ष्मं-यन्न गृह्णीमः न तु शब्दगन्धानिलाः, किं तु ते इन्द्रियग्राह्याः तेन ग्रहणमात्मा न तु ग्राहयिता हि सः। आ० चू० १ अ०।

विषयसूचना-

(१) एकविधः आत्मा।
(२) एकविधोऽप्यात्मा त्रिविधः।
(३) निक्षेप आत्मनः।
(४) अष्टविध आत्मा।
(५) आत्मानः- सूक्ष्मा, बादराश्च नवविधाश्च।
(६) आत्मनः लक्षणम्।
(७) परिभोगोपभोगकषायद्वाराणि।
(८) इन्द्रियाण्यात्मनः।
(९) चित्तादीनि आत्मनः।
(१०) आत्मनः अस्तित्वम्।
(११) अभ्याख्यानमात्मनः।
(१२) आत्मनोऽस्तित्वमिन्द्रभूतिं प्रति।
(१३) अभौतिकत्वमात्मनः।
(१४) कस्या दिश आगतोऽहम्।
(१५) अन्यत्वम्, अमूर्त्तत्वम्, अनित्यत्वं च आत्मनः।
(१६) कर्त्तृत्वमात्मनः।
(१७) विभुत्वमात्मनः।
(१८) परिमाणमात्मनः।
(१९) विस्तरत एकत्वमात्मनः।
(२०) क्रियावत्त्वमात्मनः।
(२१) ज्ञानमात्मनो भिन्नम्, अभिन्नं च।
(२२) द्वाभ्यां स्थानाभ्यामात्मा जानाति।
(२३) आत्मनिरूपणे स्फुटगाथाः।
(२४) क्षणिकत्वमात्मनः।
(२५) रत्नप्रभादिभावानामात्मत्वम्।
(२६) गाथाः-'' अप्पा णई वेयरणी'' ति।

(१) एकविध आत्मा।

एगे आता (या)। (सूत्र-२)

एकः; न द्व्यादिरूपःआत्मा-जीवः कथञ्चिदिति गम्यते। स्था० १ ठा०। (अस्य सूत्रस्य विस्तरतो व्याख्या (१९) ऊनविंशे अधिकाराङ्के करिष्यते) ('आत्मत्वमेव जीवत्वम्' अस्याग्रे विवेचनं भविष्यति द्विविधत्वम् जीवस्य 'जीव' शब्दे चतुर्थभागे १५२२ पृष्ठ करिष्यते)

(२) एकविधोऽपि स च (आत्मा) त्रिविधः-

बाह्यात्मा चान्तरात्मा च परमात्मेति च त्रयः।
काया-धिष्ठायकध्येयाः, प्रसिद्धा योगवाङ्मये ॥१७॥

बाह्यात्मा चेति-कायः स्वात्मधिया प्रतीयमानः अहं स्थूलः, अहं कृश इत्याद्युल्लेखनाधिष्ठायकः कायचेष्टाजनकप्रयत्नवान् ध्येयश्च ध्यानभाव्य एते त्रयः 'बाह्यात्मा च अन्तरात्मा च परमात्मा चे 'ति-योगवाङ्मये- योगशास्त्रे प्रसिद्धाः। द्वा० २० द्वा० यस्य देहमनोवचनादिषु आत्मत्वभासः देह एवात्मा एवं सर्वपौद्गलिकप्रवर्त्तनेषु आत्मनिष्ठेषु आत्मत्वबुद्धिः सबाह्यात्मा १, मिथ्यादृष्टिः एषः। पुनः स कर्मावस्थायाम-

पि आत्मनि ज्ञानाद्युपयोगलक्षणे शुद्धचैतन्यलक्षणे महानन्द-स्वरूपे निर्विकाराऽमृताऽबाधरूपे समस्तपरभावमुक्ते आत्म-बुद्धिः, अन्तरात्मा- सम्यग्दृष्टिगुणस्थानकृतः क्षीणमोहं यावत् अन्तराऽऽत्मा उच्यते २, यः केवलज्ञानदर्शनोपयुक्तः शुद्धसिद्धः स परमात्मासयोगी अयोगी केवली सिद्धश्च स परमाऽऽत्मा उच्यते। अष्ट०१५ अष्ट०। (अस्य वक्तव्यता 'जोग' शब्दे चतुर्थ-भागे १६३१ पृष्ठे वक्ष्यते) (''आत्मत्वमेव जीवत्वम्'' ॥४९×॥ इत्यादि श्लोकविवरणं 'जी' शब्दे चतुर्थभागे १५५१ पृष्ठे वक्ष्यते)

(३) अधुना जीवपद (निक्षेप) माह-

जीवस्स उ निक्खेओ, परूवणा लक्खणं च अत्थित्तं।
अन्नामुत्तत्तं नि-च्चकारगो देहवावित्तं ॥२२०॥

गुणिउड्ढगइत्ते या, निम्मयसाफल्लता य परिमाणे।
जीवस्स तिविहिकालं-मि परिक्खा होइ कायव्वा ॥२२१॥

(दो दारगाहाओ) एतद् द्वारगाथाद्वयम्, अस्य व्याख्या० जीवस्य तु निक्षेपो नामाऽऽदिः प्ररूपणा द्विविधाश्च भवन्ति जीवा इत्यादिरूपा लक्षणं चाऽऽदानादि अस्तित्वं सत्त्वं शुद्ध-पदवाच्यत्वादिना अन्यत्वं देहात्, अमूर्तत्वं स्वतः नित्यत्वं विकारानुपलम्भेन, कर्तृत्वं-स्वकर्मफलभोगात् देहव्यापित्वं- तत्रैव तल्लिङ्गोपलब्ध्या, गुणित्वं योगादिना, उद्ध्वंगति-त्वगुरुलघुभावेन, निर्मायता विकाररहितत्वेन, सफलता च कर्म्मणः, परिमाणं लोकाकाशमात्र इत्यादि एवम्- 'जीवस्य त्रिविधकाल' इति-त्रिकालविषया, परीक्षा भवति- कर्त्तव्या। इति द्वारागाथाद्वयसमासार्थः। व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेयः।

तथर च निक्षेपमाह-

नामं ठवणा जीवो, दव्वजीवो य भावजीवो य।
ओहभवग्गहणंमि य, तब्भवजीवे य भावम्मि ॥२२२॥

व्या०- 'नामस्थापनाजीव' इति-जीवशब्दः प्रत्येकमभि-संबध्यते, नामजीवः स्थापनाजीव इति। तथा द्रव्यजीवश्च भाव-जीवश्च वक्ष्यमाणलक्षणः। तत्रौघ इत्रत ओघजीवः, भवग्रहणे चेति भवजीवः, तद्भवजीवश्च-तद्भव एवोत्पन्नः, भावे भावजीव इति गाथासमासार्थः।

व्यासार्थ त्वाह [भाष्यकारः]

नामं ठवणॉगयाओ, दव्वे गुणपज्जवेहि रहिओ त्ति।
तिविहो य होइ भावे, ओहे भवतब्भवे चेव ॥६॥

व्या०- नामस्थापने गत क्षुण्णत्वादिति भावः। 'द्रव्ये' इतिद्रव्य- जीवो गुणपर्यायाभ्यां चैतन्यमनुष्यत्वादिलक्षणाभ्यां रहितः। बुद्धिपरिकल्पितो, न त्वसावित्थंविधः संभवतीति। त्रिविधश्च भवति 'भाव' इति-भावजीवत्रैविध्यमाह- ओघजीवो भवजीव- स्तद्भवजीवश्चेति। प्रागाथोक्तमप्येतादित्थं- विधभाष्यकाशैली- प्रामाण्यतोऽदुष्टमेवेति। अन्ये तु पठन्ति - ''भावे उ तिहा भणिओ, तं गुण संखेवओ वोच्छं'' 'भाव' इति-भावजीवः, त्रिधेति-त्रिप्रकारो भणितो निर्युक्तिकारेण ओघजीवादिः, तमपि च भावार्थमधिकृत्य संक्षेपतो वक्ष्य इति गाथार्थः।

तत्रौघजीवमाह (भाष्यकारः)-

संते आउयकम्मे, धरई तस्सेव जीवई उदए।
तस्सेव निज्जराए, मओ त्ति सिद्धो नयमएणं ॥७॥

व्या०-सति-विद्यमाने आयुष्ककर्म्मणि सामान्यरूपे ध्रियते सामान्येनैव तिष्ठति भवोदधौ कथमित्थमवस्थानमात्राज्जीवत्वमस्येत्या-शङ्क्याऽऽत्रैवान्व-र्थयोजनामाह-तस्यैवओघायुष्क- कर्मणो 'जीवत्युदये' उदये सति जीवत्यासंसारं प्राणान् धारय- त्यतो जीवनाज्जीव इति। तस्यैवौघायुष्ककर्मणो निर्ज्जरया क्षयेण 'मृत इति' सर्वथा जीवनाभावात्, स च सिद्धो मृतो नान्यः, विग्रहगतावपि तथा जीवनसद्भावात्, नयमतेनेति सर्वनयमतेनैव मृत इति गाथार्थः। ❊जीवत्यनेनेति जीवः ओघेन सामान्ययेन जीवः ओघजीवितविशिष्टो जीवः मध्यपदोक्त-रपदोलोपादित्थं भवति उक्त ओघजीवितविशिष्ट ओघजीवः। ❊अधिकः पाठः।

सांप्रतं भवजीवं तद्भजीवं चाह (भाष्यकारः)-

जेण य धरइ भवगओ, जीवो जेण य भवाउ संकमइ।
जाणाहि तं भवाऽऽउं, चउव्विहं तब्भवे दुविहं ॥८॥

निक्खेओ त्ति गयं।

व्या० येन- च-नारकाद्यायुष्केण ध्रियते तिष्ठति भवगतो नारकादिभव-स्थितो जीवः, तथा येन च मनुष्याद्यायुष्केण भवान्नारकादिलक्षणात् संक्रामति-याति, मनुष्यादिभवन्तिर-मिति सामथ्यादम्यते, जानीहि-विद्धि। तदित्थंभूतं भवा-युर्भवजीवितं चतुर्विधं नारकतिर्यङ्मनुष्यामर-भेदेन तथा तद्भवे तद्भवविषयम् आयुरिति वर्तते, तच्च द्विविधम् तिर्यक्त्वतद्भवायुः, मनुष्यत्वतद्भवायुश्च। यस्मात्तावेव मृतौ सन्तौ भूयस्तस्मिन्नेव भव उत्पद्येते; नान्ये, तद्भवजीवितं च तस्मान्मृतस्य तस्मिन्ने-वोत्पन्नस्य यत्तदुच्यते इति। अत्रापि च भावजीवाधिकारात्तद्भव-जीविताविशिष्टश्च जीव एव गाह्यः, जीवितं तु तद्विशेषणत्वाद्युक्तमिति गाथार्थः। उक्तो निक्षेपः। दश०४ अ०। (चतुर्विध-पञ्चविध- षड्विध सप्तविधत्वं 'जीव' शब्दे चतुर्थभागे १५२४ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

(४) आत्मनोऽष्टविधनिक्षेपः-

कइविहा णं भंते ! आता पण्णता ? गोयमा ! अट्ठविहा आता पण्णत्ता, तं जहा-दवियाऽऽता १, कसायाऽऽता २, जोगायाऽऽता ३, उवओयाऽऽता ४, णाणऽत्ता ५, दंसणाऽऽया ६, चरित्ताऽऽया ७, वीरियाऽऽता ८।

'कइ विहा ण' मित्यादि, 'आय' त्ति-अतति-सततं गच्छति अपरापरान् स्वपरपर्यायानित्यात्मा, अथवा- अतधातोर्गमनार्थत्वेन ज्ञानार्थत्वा-दततिसततमवगच्छत्युपयोगलक्षणत्वादित्यात्मा, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे स्त्रीलिङ्गनिर्देशः, तस्य चोपयोगलक्षणत्वात्सामान्येनैकविधत्वेऽप्यु-पाधिभेदादष्टधात्वं, तत्र 'दवियाय' त्ति- द्रव्यं त्रिकालानुगाम्युपसर्जनी-कृतकषायादिपर्यायं तद्रूप आत्मा द्रव्यात्मा सर्वेषां जीवानाम् १, 'कसायाय' त्ति-क्रोधादिकषायविशिष्ट आत्मा कषायात्मा, अक्षीणामुपशान्तकषायाणाम् २, 'जोगाय' त्ति-योगा मनःप्रभृतिव्यापारास्तत्प्रधान आत्मा योगात्मा,

योगवतामेव ३, 'उवओगाय' त्ति-उपयोगः साकारानाकारभेदस्तत्प्रधान आत्मा उपयोगात्मा, सिद्धसंसारिस्वरूपः सर्वजीवानाम्। अथवा विवक्षितवस्तूपयोगापेक्षयोपयोगात्मा ४, 'नाणाय' त्ति-ज्ञानाविशेषत उपसर्जनीकृतदर्शनादिरात्मा ज्ञानात्मा सम्यग्दृष्टेः ५, एवं दर्शनात्मादयोऽपि नवरं दर्शनात्मा सर्वजीवानाम् ६, चारित्रात्मा विरतानाम् ७, वीर्यम्-उत्थानादि तदात्मा सर्वसंसारिणामिति। उक्तं च-

जीवानां द्रव्यात्मा ज्ञेयः स कषायिणां कषायात्मा।
योगः संयोगिनां, पुनरुपयोगः सर्वजीवानाम् ॥१॥
ज्ञाने सम्यग्दृष्टे-र्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम्।
चारित्रं विरतानां, तु सर्वसंसारिणां वीर्यम् ॥२॥ इति, ८॥

एवमष्टधात्मानं प्ररूप्य अथ यस्यात्मभेदस्य यदन्यदात्म-भेदान्तरं युज्यते यच्च न युज्यते तस्य तद्दर्शयितुमाह-

जस्स णं भन्ते ! दवियाऽऽता तस्स णं कसायाता, जस्स कसायाता तस्स दवियाता ? गोयमा !, जस्स दवियाता तस्स कसायाता सिय अत्थि सिय णत्थि, जस्स पुण कसायाता तस्स दवियाता णियमं अत्थि।

'जस्स णमि' त्यादि, इहाष्टौ पदानि स्थाप्यन्ते तत्र प्रथमपदं शेषैः सप्तभिः सह चिन्त्यते-तत्र यस्य जीवस्य द्रव्यात्मां- द्रव्यात्मत्वं; जीवत्वमित्यर्थः, तस्य कृषायात्मा स्यादस्ति कदाचिदस्ति सकषायावस्थायां स्यान्नास्ति कदाचिन्नास्ति क्षीणोपशान्तकषायावस्थायां यस्य पुनः कषायात्माऽस्ति तस्य द्रव्यात्मत्वं जीवत्वं नियमादस्ति, जीवत्वं विना कषायाणामभावादिति।

जस्स णं भंते ! दवियाऽऽता तस्स जोगाता ? एवं जहा दवियाता कसायाता भणिया तहा दवियाता जोगा-याया वि० भाणियव्वा।

तथा यस्य द्रव्यात्मा तस्य योगात्माऽस्ति योगवतामिव नास्ति चायोगिसिद्धानामिव तथा यस्य योगात्मा तस्य द्रव्यात्मा नियमादस्ति जीवत्वं विना योगानामभावादेतदेव पूर्वसूत्रोपमानेन दर्शयन्नाह- 'एवं जहा दवियाये' त्यादि।

जस्स णं भंते ! दवियाऽऽया तस्स उवओगाता एवं सव्वत्थ पुच्छा भाणियव्वा, गोयमा! जस्स दवियाता तस्स उवओगाया णियमं अत्थि, जस्स वि उवओगाता तस्स वि दवियाता णियमं अत्थि, जस्स दवियाता तस्स णाणाता भयणाए, जस्स पुण णाणाता तस्स दवियाता णियमं अत्थि। जस्स दवियाता तस्स दंसणाता णियमं अत्थि, जस्स वि दंसणाता तस्स दवियाता णियमं अत्थि, जस्स दवियाता तस्स चरित्ताया भयणाए, जस्स पुण चरित्ताता तस्स दवियाता णियमं अत्थि। एवं वीरियाताए वि समं०।

तथा यस्य जीवस्य द्रव्यात्मा तस्य नियमादुपयोगात्मा यस्याप्युपयोगात्मा तस्य नियमाद् द्रव्यात्मा, एतयोः परस्परेण अविनाभूतत्वाद्यथा सिद्धस्य, तदन्यस्य च द्रव्यात्मास्त्युप-योगात्मा चोपयोगलक्षणत्वाज्जीवानाम्, एतदेवाह- 'जस्स दवियाये' त्यादि, तथा 'जस्स दवियाता तस्स नाणाया भयणाए, जस्स पुण नाणाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि' त्ति-यस्य जीवस्य द्रव्यात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति तथा सम्यग्दृष्टीनां स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृष्टीनामित्येवं भजना, यस्य तु ज्ञानात्मा तस्य द्रव्यात्मा नियमादस्ति, यथा सिद्धस्येति। तथा 'जस्स दवियाया तस्स दंसणाया नियमं अत्थि' त्ति-यथा सिद्धस्य केवलदर्शनम्। 'जस्स वि दंसणाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि' त्ति-यथा चक्षुर्दर्शनादिदर्शनवतां जीवत्वमिति, तथा 'जस्स दवियाया तस्स चरित्ताया भयणाए' त्ियतः सिद्धस्याविरतस्य वा द्रव्यात्मत्वे सत्यपि चरित्रात्मा नास्ति विरतानां चास्तीति भजनेति 'जस्स पुण चरित्ताया तस्स दवियाया नियमं अत्थि' त्ति-चारित्रिणां जीवत्वाव्यभिचारित्वादिति, एवं 'वीरियायाए वि समं' ति- यथा द्रव्यात्मनश्चारित्रात्मना सह भजनोक्ता, नियमश्चैवम्वीर्यात्मनापि सहेति, तथाहि-यस्य द्रव्यात्मा तस्य वीर्यात्मा नास्ति यथा सकरणवीर्यापेक्षया सिद्धस्य, तदन्यस्य त्वस्तीति भजना, वीर्यात्मनस्तु द्रव्या-त्मास्त्येव यथा संसारिणामिति ॥७॥

अथ कषायात्मनः सहान्यानि पदानि चिन्त्यन्ते-

जस्स णं भंते ! कसायाऽऽता तस्स जोगाया पुच्छा ? गोयमा ! जस्स कसायाता तस्स जोगाता णियमं अत्थि, जस्स पुण जोगाया तस्स कसायाता सिय अत्थि सिय णत्थि, एवं उवओगाए वि समं कसायाता णेयव्वा, कसायाता णाणाता य परोप्परं दोवि भइयव्वाओ, जहा कसायाया य उवओगाया य तहा कसायाया य दंसणाता य कसायाता चरित्ताता य दोऽवि परोप्परं भइयव्वाओ, जहा कसायाता य जोगाता तहा कसायाता य वीरियाया य भाणियव्वाओ एवं जहा कसायायाए वत्तव्वया भणिया तहा जोगायाए वि उवरिमाहिं समं भाणियव्वाओ।

'जस्स णमि' त्यादि यस्य कषायात्मा तस्य योगात्माऽस्त्येव न हि सकषायोऽयोगी भवति यस्य तु योगात्मा तस्य कषायात्मा स्याद्वा न वा। सयोगानां सकषायाणामकषायाणां च भावादिति। एवम- 'उवओगायाए वी' त्यादि, अयमर्थः-यस्य कषायात्मा तस्योपयोगात्मावश्यं भवत्युपयोगरहितस्य कषायाणामभावात् यस्य पुनरुपयोगात्मा तस्य कषायात्मा भजनया उपयोगात्मतायां सत्यामपि कषायिणामेव कषायात्मा भवति। निष्कषायाणां तु नासाविति भजनेति, तथा- 'कसायाया य नाणाया य परोप्परं दोवि भइयव्वाओ' त्ति-कथं ? यस्य कषायात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, यतः कषायिणः सम्यग्-दृष्टेर्ज्ञानात्मास्ति मिथ्यादृष्टेस्तु तस्य नास्त्यसाविति, भजना। तथा यस्य ज्ञानात्मास्ति तस्य कषायात्मा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, ज्ञानिनां कषायभावात् तदभावाच्चेति भजनेति। 'जहा कसायाया उवओगाया तहा कसायाया य दंसणाया

य' त्ति-अतिदेशः, तस्माच्चेदं लब्धम्- 'जस्स कसायाया तस्स दंसणाया नियमं अत्थि' दर्शनरहितस्य घटादेः कषायात्मनोऽभावात् 'जस्स पुण दंसणाया तस्स कसायाया सिय अत्थि सिय नऽत्थि' दर्शनवतां कषायसद्भावात्तदभावा-च्चेति, दृष्टान्तार्थस्तु प्राक् प्रसिद्ध एवेति 'कसायाया य चरित्ताया य दोवि परोप्परं भइयव्वाओ' त्ति-भजना चैवम्- यस्य कषायात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, कथं कषायिणां चारित्रस्य सद्भावात्, प्रमत्तयतीनामिव तदभावाच्चासंयताना-मिवेति, तथा यस्य चारित्रात्मा तस्य कषायात्मा स्यादस्ति स्यान्नास्ति, कथं सामायिकादिचारित्रिणां कषायाणां भावाद्यथाख्यातचारित्रिणां च तदभावादिति । 'जहा कसायाया य जोगाया य तहा कसायाया य वीरियाया य भाणियव्वाओ' त्ति-दृष्टान्तः प्राक् प्रसिद्धः, दार्ष्टान्तिक-स्त्वेवम्- यस्य कषायात्मा तस्य वीर्यात्मा नियमादस्ति, न हि कषायवान् वीर्यविकलोऽस्ति, यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्य कषायात्मा भजनया, यतो वीर्यवान् सकषायोऽपि स्याद्यथाऽसंयतः अकषायोऽपि स्याद्यथा केवलीति ॥६॥ अथ योगात्माऽग्रेतनपदैः पञ्चभिः सह चिन्तनीयस्तत्र च लाघवार्थमतिदिशन्नाह- 'एवं जहा कसायायावत्तव्वया भणिया तहा जोगायाए वि उवरिमाहिं समं भाणियव्व' त्ति-सा चैवम्-यस्य योगात्मा तस्योपयोगात्मा नियमात् यथा सयोगनां, यस्य पुनरुपयोगात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति यथा सयोगानां स्यान्नास्ति यथा- अयोगिनां सिद्धानां चेति, तथा यस्य योगात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति सम्यग्दृष्टीनामिव, स्यान्नास्ति मिथ्यादृष्टीनामिव, यस्य ज्ञानात्मा तस्यापि योगात्मा स्यादस्ति, योगिनामिव, स्यान्नास्ति अयोगिनामिवेति, तथा यस्य योगात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येवेति योगिनामिव, यस्य च दर्शनात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति योगवतामिव स्यान्नास्त्ययोगिनामिव, तथा यस्य योगात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति विरतानामिव, स्यान्नास्त्यविरतानामिव, यस्यापि चारित्रात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति सयोगचारित्रवतामिव, स्यान्नास्त्योगिना-मिवेति, वाचनान्तरे पुनरिदमेवं दृश्यते- 'जस्स चरित्ताया तस्स जोगाया नियमं' ति-तत्र च चारित्रस्य प्रत्युपेक्षणादिव्यापाररूपस्य विवक्षितत्वात्तस्य च योगाविनाभावित्वाद्यस्य चारित्रात्मा तस्य योगात्मा नियमादित्युच्यते इति, तथा यस्य योगात्मा तस्य वीर्यात्मास्त्येव योगसद्भावे वीर्यस्यावश्यं भावात्, यस्य तु वीर्यात्मा तस्य योगात्मा भजनया यतो वीर्यविशेषवान् सयोग्यपि स्यात् यथा सयोगिक-वल्यादिरयोग्यपि स्याद्यथाऽयोगे-केवलीति ॥५॥

अथोपयोगात्मना सहान्यानि चत्वारि चिन्त्यन्ते । तत्रा-तिदेशमाह-

जहा दवियाताए वत्तव्वया भणिया तहा उवओगाताए वि उवरिल्लाहिं समं भाणियव्वा ।

एवं च भावना कार्या यस्योपयोगात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति यथा सम्यग्दृशां, स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृशां, यस्य च ज्ञानात्मा तस्यावश्यमुपयोगात्मा सिद्धानामिवेति १, तथा यस्योपयोगात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव, यस्यापि दर्शनात्मा तस्योपयोगात्मास्त्येव यथा सिद्धादीनामिति २, तथा यस्योपयोगात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, यथा संयतानाम्, असंयतानां च, यस्य तु चारित्रात्मा तस्योपयोगात्मास्त्येव यथा संयतानां ३, तथा यस्योपयोगात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति संसारिणामिव स्यान्नास्ति सिद्धा-नामिव, यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्योपयोगगात्मास्त्येव संसारिणा-मिवेति ४।

अथ ज्ञानात्मना सहान्यानि त्रीणि चिन्त्यन्ते-

जस्स णाणाऽऽया तस्स दंसणाया णियमं अत्थि, जस्स पुण दंसणाया तस्स णाणाया भयणाए, जस्स णाणाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि सिय णत्थि, जस्स पुण चरित्ताया तस्स णाणाया णियमं अत्थि, णाणाता वीरियाता दो वि परोप्परं भयणाए ।

तत्र यस्य ज्ञानात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव सम्यग्दृशामिव, यस्य च दर्शनात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति यथा सम्यग्दृशां, स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृशामत एवोक्तम्- 'भयणाए' त्ति, १, तथा 'जस्स नाणाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि' त्ति। संयतानामिव। 'सिय नत्थि' त्ति, असंयतानामिव 'जस्स पुण चरित्ताया तस्स नाणाया नियमं अत्थि' त्ति, ज्ञानं विना चारित्रस्याभावादिति २, तथा- 'नाणाये' त्यादि । अस्यार्थः- यस्य ज्ञानात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति केवल्यादीनामिव, स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्यापि वीर्यात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति, सम्यग्दृष्टेरिव, स्यान्नास्ति मिथ्यादृश इवेति ३।

अथ दर्शनात्मना सह द्वे चिन्त्येते-

जस्स दंसणाया तस्स उवरिमाओ दो वि भयणाए, जस्स पुण ताओ तस्स दंसणाया णियमं अत्थि । जस्स चरित्ताया तस्स वीरियाता णियमं अत्थि, जस्स पुण वीरियाता तस्स चरित्ताया सिय अत्थि सिय णत्थि ।

'जस्स दंसणाये' त्यादि, भावना चास्य- यस्य दर्शनात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति संयतानामिव, स्यान्नास्त्य-संयतानामिव, यस्य च चारित्रात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव साधूनामिवेति, तथा यस्य दर्शनात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति संसारिणामिव, स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्य च वीर्यात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव संसारिणामिवेति ॥२॥ अथान्तिमपदयोर्योजना- 'जस्स चरित्ते' त्यादि, यस्य चारित्रात्मा तस्य वीर्यात्मास्त्येव वीर्यं विना चारित्रस्याभावात्, यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति साधूनामिव, स्यान्नास्ति असंयतानामिवेति ।

अधुनैषामेवात्मनाल्पबहुत्वमुच्यते-

एयासि णं भंते ! दवियाऽऽताणं कसायाऽऽताणं ०जाव वीरियायाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ०जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा चरित्तायाओ णाणायाओ अणंतगुणाओ, कसायायाओ अणंतगुणाणो जोगायाओ

विसेसाहियाओ, वीरियाताओ वि उवयोगदवियदंसणा-याओ तिन्नि वि तुल्लाओ, विसेसाहियाओ। (सूत्र-४६७)

तत्र च 'सव्वत्थोवाओ चारित्तायाओ' त्ति चारित्रिणां संख्या- तत्वात्। नाणायाओ अणंतगुणाओ' त्ति सिद्धादीनां सम्यग्दृशां चारित्रिभ्योऽनन्तगुणत्वात्। 'कसायायाओ अणंतगुणाओ' 'त्ति, सिद्धेभ्यः कषायोदयवतामनन्तगुणत्वात् 'जोगायाओ विसेसाहियाओ' त्ति- अपगतकषायोदयैर्योगवद्भिरधिका इत्यर्थः वीरियायाओ विसेसाहियाओ' त्ति अयोगिभिरधिका इत्यर्थः, अयोगिनां वीर्यवत्त्वादीति, 'उवओगदवियदंसणायाओ तिण्णि वितुल्लाओ विसेसाहियाओ' त्ति-परस्परापेक्षया तुल्याः सर्वेषां सामान्यजीवरूपत्वात्, वीर्यात्मभ्यः सकाशादुपयोगद्रव्यदर्शनात्मानो विशेषाधिकाः, यतो वीर्यात्मनः सिद्धाश्च मीलिता उपथोगाद्यात्मनो भवन्ति, ते च वीर्यात्मभ्यः सिद्ध-राशिनाऽधिका भवन्तीति। भवन्ति चात्र गाथा-

''कोडिसहस्सपुहुत्तं, जईण तो थोवियाउ चरणाया।
नाणायाणंतगुणा, पडुच्च य सिद्धाओ ॥१॥

होंति कसायायाओ-ऽणंतगुणा जेण ते सरागाणं।
जोगायाभणियाओ, अजोगिवज्जाण तो अहिया ॥२॥

जं सेलेसिगयाण वि, लद्धी विरियं तओ समहियाओ।
उवओगदवियदंसण-सव्वजियाणं तवो अहिया'' ॥३॥

इति। भ०१२ श०१० उ०।

(५) जीवाः सूक्ष्माः, बादराश्च (नवविधाश्च)

यथा सन्ति तथाऽऽह भाष्यकारः-

**दुविहा य हुंति जीवा सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि।
सुहुमा य सव्वलोए दो चेव य बायरविहाणे ॥९॥**

व्या०- द्विविधाश्च-द्विप्रकाराश्च, चशब्दात्- नवविधाश्च पृथिव्यादिद्वीन्द्रियादिभेदेन भवन्ति जीवाः, द्वैविध्यमाहसूक्ष्मा, तथा बादराश्च तथा सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्माः, बादरनामकर्मोदयाच्च बादरा इति, 'लोके' इति लोकग्रहणम- लोकेजीवभवनव्यवच्छेदार्थं तत्र सूक्ष्माश्च सर्वलोक इति चशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सूक्ष्मा एव सर्वलोकेषु न बादराः। क्वचित्तेषामसंभवात् 'द्वे एव च' पर्याप्तकाऽपर्याप्तकलक्षणे 'बादरविधाने' बादरविधौ चशब्दात् सूक्ष्मविधाने च। तेषामपि पर्याप्तकाऽपर्याप्तकरूपत्वादिति गाथार्थः।

एतदेव स्पष्टयन्नाह (भाष्यकारः)-

**सुहुमा य सव्वलोए, परियावन्ना भवंति नायव्वा।
दो चेव बायराणं पज्जत्तियरे अ नायव्वा ॥१०॥**

व्या०-सूक्ष्मा एव पृथिव्यादय, सर्वलोके- चतुर्दशरज्जवात्मकेपर्यायापन्ना भवन्ति-ज्ञातव्याः, पर्यायापन्ना' इति-तमेव सूक्ष्म-पर्यायमापन्ना भावसूक्ष्मा न तु भूतभाविनो द्रव्यसूक्ष्मा इति भावः। तथा द्वौ भेदौ बादराणां पृथिव्यादीनां चशब्दात्सूक्ष्माणां च पर्याप्तकेतरौ ज्ञातव्यौ पर्याप्तकाऽपर्याप्तकाविति गाथार्थः। दश० ४ अ०।

(६) (लक्षणद्वारम् 'लक्खण' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते)।

तत्रादानादीनां दृष्टान्तानाह (भाष्यकारः)-

**अयगारकूरपरसू, अग्गिसुवन्ने य खीरनरवासी।
आहारो दिट्ठंता, आयाणाईण जहसंखं ॥१३॥**

व्या०-अयस्कारः क्रूरस्तथा परशुरग्निः सुवर्णं च क्षीरनरवाश्यः तथा आहारो दृष्टान्ता आदानादीनां प्रक्रान्तानां यथासंख्यं प्रतिज्ञाद्युल्लङ्घनेन चैतदभिधानं परोक्षार्थप्रतिपत्तिं प्रति प्रायः प्रधानाङ्गताख्यापनार्थमिति गाथार्थः।

सांप्रतं प्रयोगानाह (भाष्यकारः)-

**देहिंदियाइरित्तो, आया खलु गज्झगाहगपओगा।
संडासा अयपिंडो, अयकाराइ व्व विन्नेओ ॥१४॥**

व्या०- देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा। खलुशब्दो विशेषणार्थः, कथंचित्, न सर्वथा अतिरिक्त एव तदसंवेदनादिप्रसङ्गादिति अनेन प्रतिज्ञार्थमाह, प्रतिज्ञा पुनः अर्थेन्द्रियाण्यादेयादानानि विद्यमानादातृकाणि, कुतः इत्याह-गाह्यग्राहकप्रयोगात्। ग्राह्या-रूपादयः। ग्राहकाणीन्द्रियाणि तेषां प्रयोगः- स्वफलसाधनव्यापारस्तस्मान्न ह्यमीषां कर्मकरणभावः कर्त्तारमन्तरेण स्वकार्यसाधनप्रयोगः संभवत्यनेनापि हेत्वर्थमाह। हेतुश्चादेयादानरूपत्वादिति। दृष्टान्तमाह- संदंशादादानात्- अयस्पिण्डादादेयात् 'अयस्कारादिवत्' लोहकारवद्विज्ञेयः अतिरिक्तो विद्यमान आदानत्यनेनापि दृष्टान्तार्थमाह दृष्टान्तस्तु संदंशकायस्पिण्डवत्। यस्तु तदनतिरिक्तः न ततो ग्राह्यग्राहकप्रयोगः। यथा देहादिभ्य एवेति व्यतिरेकार्थः, व्यतिरेकस्तु यानि विद्यमानादातृकाणि न भवन्ति तान्या-दानादेयरूपाण्यपि न भवन्ति। यथा मृतकद्रव्येन्द्रियादीनीति गाथार्थः। उक्तमादानद्वारम्।

(७) अधुना (भाष्यकारः) परिभोगद्वारमाह-

**देहो सभोत्तिओ खलु, भोज्जत्ता ओयणाइथालं व।
अन्नप्पउत्तिगा खलु, जोगा परसु व्व करणत्ता ॥१५॥**

व्या०- देहः सभोक्तृकः खल्विति प्रतिज्ञा, भोग्यत्वादिति हेतुः ओदनादिस्थालवत्- स्थालस्थितौदनवदिति दृष्टान्तः। भोग्यत्वं च देहस्य जीवेन तथानिवसतोपभुज्यमानत्वादिति। उक्तं परिभोगद्वारम्। अधुना योगद्वारमाह- अन्यप्रयोक्तृकाः खलु योगाः, योगाः-साधनानि मनःप्रभृतीनि करणानीति प्रतिज्ञार्थः करणत्वादिति हेतुः, परशुवदिति दृष्टान्तः। भवति च विशेषे पक्षीकृते सामान्यं हेतुः, यथा अनित्यो वर्णात्मकः शब्दः, शब्दत्वात् मेघशब्दवदिति गाथार्थः। उक्तं योगद्वारम्।

साम्प्रतम् (भाष्यकारः) उपयोगद्वारमाह-

**उवओगा नाभावो, अग्गि व्व सलक्खणा परिच्चागा।
सकसाया णाभावो, पज्जयगमणा सुवन्नं व ॥१६॥**

व्या०- उपयोगात्-साकारानाकारभेदभिन्नात् 'नाभावो' जीव इति गम्यते, कुत इत्याह-स्वलक्षणापरित्यागादुपयोगलक्षणासाधारणात्मीयलक्षणाऽपरित्यागात् अग्निर्यद्यथाऽग्निरौष्ण्यादिस्व लक्षणापरित्यागान्नाभावस्तथा जीवोऽत्पीति प्रयोगार्थः प्रयोगस्तु सन्नात्मा स्वलक्षणापरित्यागाद्, अग्निवदिति। उक्तमुपयोगद्वारम्।

अधुना कषायद्वारमाह- सकषयत्वाद् अचेतनविलक्षणक्रोधादिपरिणामोपेतत्वादित्यर्थः। नाभावो जीवः। कुत

इत्याह पर्यायगमनात् क्रोधमानादिपर्यायप्राप्तेः । सुवर्णवत् कटकादिपर्यायगमनोपेतसुवर्णवदिति प्रयोगार्थाः प्रयोगस्तु, सन्नात्मा पर्यायगमनात्सुवर्णवदिति गाथार्थः । उक्तं कषायद्वारम् ।

इदानी (भाष्यकारः) लेश्याद्वारमाह-

लेसाओ णाऽभावो, परिणमणसभावाओ य खीरं व ।
उस्सासा णाभावो, समसब्भावा खउ व्व नरो ॥१७॥

व्या०- लेश्यातो लेश्यासद्भावेन न अभावो जीवः, किं तु भाव इति, कुत इत्याह- परिणमनस्वभावत्वात्कृष्णादिद्रव्यसाचिष्येव जम्बूखादकादिदृष्टान्तसिद्धतथाविधपरिणामधर्म्मत्वात्, क्षीरवदिति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु सन्नात्मा परिणाम-मित्वात् क्षीरवदिति । गतं लेश्याद्वारम् ।

प्राणापानद्वारमाह-उच्छ्वासादिति अचेतनधर्म्मविलक्षण-प्राणापानसद्भावान्नाऽभावो जीवः, किन्तु- भाव: एव इति, श्रमसद्भावेन परिस्पन्दोपेतपुरुषवदिति प्रयोगार्थः । प्रयोगस्तु पुनरत्र व्यतिरेकी द्रष्टव्यः । सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्वात् यत्तु सात्मकं न भवति तत्प्राणादिमदपि न भवति, यथा-ऽऽकाशमिति गाथार्थः । उक्तं प्राणापानद्वारम् ।

(८) (भाष्यकारेण) अधुनेनिन्द्रियद्वारमुच्यते-

अक्खाणेयाणि पर-त्वगाणि वासाइवेह करणत्ता ।
गहवेयगनिज्जरओ, कम्मस्सन्नो जहाहारो ॥१८॥

व्या०- अक्षाणीन्द्रियाणि एतानीति लोकप्रसिद्धानि देहाश्रयाणि परार्थानि-आत्मप्रयोजनानि वास्यादिवदिह करणत्वादिहलोके वास्यादिवदिति प्रयोगार्थः । आह- आदावान्येवेन्द्रियाणि तत्किमर्थं भेदोपन्यासः ? उच्यते विवृत्युपकरणद्वारेण द्वैविध्यख्यापनार्थं ततश्च तत्रोपकरणस्य ग्रहणमिह तु निवृत्तेरिति, प्रयोगस्तु-परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनादिवत् न चायं विशेषविरुद्धः, कर्मसंबद्धस्यात्मनः संघातरूपत्वाभ्युपग-मात् । उक्तमिन्द्रियद्वारम् । इदानीं (अधुना) बन्धादिद्वाराण्याह- ग्रहणवेदकनिर्ज्जरकः कर्मणोऽन्यो, 'यथाहार' इति-तत्र ग्रहणं - कर्म्मणो बन्धः वेदनम्-उदयः निर्ज्जरा-क्षयः, 'यथाहारे' इति-आहराविषयाणि ग्रहणादीनि न कर्त्रादिव्यतिरेकेण तथा कर्मणो-ऽपीति प्रयोगार्थः। प्रयोगस्तु विद्यमानभोक्तृकमिदं कर्मग्रहण-वेदननिर्जरणसद्भावात् आहारवदिति गाथार्थः । उक्तानि बन्धादिद्वाराणि । व्याख्याता च प्रथमा प्रतिद्वारगाथा ।

(९) सांप्रतं द्वितीयामधिकृत्य चित्ता-दिस्वरूपव्याचिख्यासयाऽऽह-

चित्तं तिकालविसयं, चेयणपच्चक्खसन्नमणुसरणं ।
विण्णाणणेगभेयं, कालमसंखेयरं धरणा ॥१९॥

व्या०-चित्तं त्रिकालविषयम् ओघतोऽतीतानागतवर्त्तमानग्राहि चेतनं चेतना सा प्रत्यक्षवर्त्तमानार्थग्राहिणी । संज्ञानं संज्ञा सा अनुस्मरणम् इदं तदिति ज्ञानम्, विविधं ज्ञानं विज्ञानमनेकभेदम्-अनेकप्रकारम्, अनेकधर्मिणि वस्तुनि तथा, तथाऽध्यवसाय इत्यर्थः । कालमसंख्येयेतरम्' असंख्येयं संख्येयं वा धारणा अविच्युतिस्मृतिवासनारूपा, तत्र वासनारूपा संख्येयवर्षा-युषामसंख्येयम्, संख्येयवर्षायुषां च संख्येयमिति गाथार्थः ।

(भाष्यम्)-

अत्थस्स ऊह बुद्धी, ईहा चेट्ठत्थअवगमो उ मई ।
संभावणत्थतक्का, गुणपच्चक्खा घडो व्व ऽत्थि ॥२०॥

व्याख्या-अर्थस्येहा बुद्धिः संज्ञिनः परिनिरपेक्षार्थपरिच्छेद इति भावः, ईहा-चेष्टा किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इति, सदर्थपर्यालोचनरूपा, अर्श्वावयमस्तु अर्थपरिच्छेदस्तु शिरःकण्डूयनादिधर्मोपपत्ते, पुरुषः एवायमित्येवरूपा मतिः 'संभावणत्थतक्क' त्ति-प्राकृतशैल्या अर्थसंभावना । एवमेव चायमर्थ उपपद्यत इत्यादिरूपा तर्का । इत्थं द्वाराणि व्याख्याय सर्व एते चित्तादयो गुणा वर्त्तन्त इति जीवाख्यगुणप्रतिपादकेन प्रयोगार्थेनोपसंहरन्नाह-गुणप्रत्यक्षत्वाद्धेतोः घटवदस्ति जीव इति गम्यते । एष गाथार्थः ।

(भाष्यकारः) एतदेवस्फुटयति-

जम्हा चित्ताईया, जीवस्स गुणा हवंति पच्चक्खा ।
गुणपच्चक्खत्तणओ, घडु व्व जीवा अओ अत्थि ॥२१॥

व्याख्या-यस्माच्चित्तादयोऽनन्तरोक्ता जीवस्य गुणाः, नाऽजीव-स्य शरीरादिगुणविधर्म्मत्वात् । एते च भवन्ति प्रत्यक्षाः स्वसंवेद्यत्वात्, यतश्चैवम्-गुणप्रत्यक्षत्वाद्धेतोर्घटवज्जीवः । अतोऽस्तीति प्रयोगार्थः । प्रयोगस्तु सन्नात्मा गुणप्रत्यक्षत्वात् घटवन्नायं घटवदात्मनोऽचेतनत्वापादनेन विरुद्धः ''विरुद्धो-ऽसति बाधने'' इति वचनात्, एतच्चैतन्यं प्रत्यक्षेणैव बाधनमिति गाथार्थः । व्याख्यातं मूलद्वारगाथाद्वये प्रतिद्वारद्वयेन लक्षण-द्वारम् ।

(१०) इदानीमस्तित्वत्वद्वारावसरः, तथा चाह भाष्यकारः-

अत्थि त्ति दारमहुणा, जीवस्सइ अत्थि विज्जए नियमा ।
लोआययमनघाय-त्थमुच्चए तरिथमो हेऊ ॥२२॥

व्याख्या- अस्तीति द्वारमधुना सांप्रतमवसरप्राप्तम् तत्रैत-दुच्यते-जीवः सन्, पृथिव्यादिविकारदेहमात्ररूपः सन्निति । सिद्धिसाध्यता । न तु ततोऽन्योऽस्तीत्याशङ्कापनोदायाह- अस्त्यन्यश्चेतन्यरूपस्तदपि मातृचैन्तयोपादानं भविष्यति परलोकयायी तु न विद्यत इति मोहापोहायाहविद्यते नियमात्-नियमेन, तथाचाहलोकायतमतघातार्थम्- नास्तिकाभि-प्रायनिराकरणार्थमुच्यते एतत्, तस्य चानन्तरोदित एवाभिप्राय इति सफलानि विशेषणानि तत्र लोकायतमतविघाते कर्त्तव्ये अयम्- वक्ष्यमाणलक्षणो हेतुः, अन्यथानुपपत्तिरूपो युक्तिमार्ग इति गाथार्थः ।

(भाष्यम)-

जो चिंतेइ सरीरे, नऽत्थि अहं स एव होइ जीवो त्ति ।
नहु जीवम्मि असंते, संसय, उप्पायओ अन्नो ॥२३॥

व्याख्या-यश्चिन्तयति शरीरे अत्र लोकप्रतीते नास्त्यहं स एव चिन्तयिता भवति 'जीव इति' कथमेतदेवमित्याह- न यस्माज्जीवे असति मृतदेहादौ संशयोत्पादकः अन्यः-प्राणादिः चैतन्यरूपत्वात्संशयस्येति गाथार्थः-

एतदेव (भाष्यकारः) भावयति-

जीवस्स एस धम्मो, ईहा अत्थि नऽत्थि वा जीवो ।

खाणुमणुस्साणुगया,, जह ईदा देवत्तस्स ॥२४॥

व्या०-जीवस्यैष स्वभाव:-एष धर्म: या ईहा सदर्थ-पर्यालोचनात्मिका, किं विशिष्टेत्याह-अस्ति, नाऽस्ति वा जीव इति लोकप्रसिद्धं निदर्शनमाह-स्थाणुमनुष्यानुगता-किमयं स्थाणु: ? किं वा पुरुष ? इत्येवंरूपा या इहादेवदत्तस्य जीवतो धर्म्म:। इति गाथार्थ:।

(भाष्यकार:) प्रकारान्तरैणैतदेवाह-

सिद्धं जीवस्स अत्थित्तं, सद्दादेवाणुमीयए।
नासओ भुवि भावस्स, सद्दो हवइ केवलो ॥२५॥

व्या०- सिद्धम्-प्रतिष्ठितं जीवस्योपयोगलक्षस्यास्तित्वं, कुत इत्याह-शब्दादेव जीव इत्यस्मादनुमीयते, कथमेतदेव- मित्याह- 'नाऽसत' इति न असत:- अविद्यमानस्य भुवि पृथिव्यां भावस्य पदार्थस्य शब्दो भवति वाचक इति, खरविषाणा- दिशब्दैर्व्यभिचारमाशङ्क्याह- केवल: शुद्ध:- अन्यपदासंसृष्ट:, खरादिपदसंसृष्टाश्च विषाणादिशब्दा इति गाथार्थ:।

एतद्विवरणायैवाह भाष्यकार:-

अत्थि त्ति निव्विगप्पो, जीवो नियमाउ सद्दओ सिद्धी।
कम्हा सुद्धपयत्ता, घडखरसिंगाणुमाणाओ ॥२६॥

व्या०- अस्तीति निर्विकल्पो जीव: 'निर्विकल्प' इति- नि:संदिग्ध: नियमात् नियमेनैव प्रतिपत्त्रपेक्षया शब्दत: सिद्धि: वाचकाद्वाच्यप्रतीते:। एतदेव प्रश्नद्वारेणाह-कस्मात्कुत एतदेव-मिति ? आह-शुद्धपदत्वात् केवलपदत्वाज्जीवशब्दस्य घटखरशृङ्गानुमानादनुमानशब्दो दृष्टान्त-वचन: घटखरशृङ्गदृष्ट-न्तादिति प्रयोगार्थ:, प्रयोगस्तुमुख्येनार्थेनार्थवान् जीवशब्द:, शुद्धपदत्वात् घटशब्दवत्, यस्तु मुख्येनार्थेनार्थवान्न भवति स शुद्धपदमपि न भवति, यथा खरशृङ्गशब्द इति गाथार्थ:।

पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह (भाष्यकार:)

चोयग ! सुद्धपयत्ता, सिद्धी जइ एव सुण्णसिद्धि अम्हं पि।
तं न भवइ संत्तेणं, जं सुन्नं सुअगेहं व ॥२७॥

व्या०-उक्तवच्छुद्धपदत्वात्सिद्धिर्यदि जीवस्य एवं तर्हि शून्यसि-द्धिरस्माकमपि, शून्यनष्टशब्दस्यापि शुद्धपदत्वादित्यभिप्राय:। अत्रोत्तरमाह-तन्न भवति यदुक्तं परेण। कुत इत्याह- सता विद्यमानन पदार्थन यद्-यस्मात् शून्यं शून्यमुच्यते। किंवदित्याह-शून्यगृहमिव, तथा हि-देवदत्तेन रहितं शून्य गृहमुच्यते। निवृत्तो-घटो नष्ट इति, न त्वनयोर्जीवशब्दस्य जीववदवशिष्टं वाच्यमस्तीति गाथार्थ:।

प्रकारान्तरेणास्तित्वपक्षमेव समर्थयन्नाह (भाष्यकार:)

मिच्छा भवउ सव्वऽत्था, जे केई पारलोइया।
कत्ता चेवोपभोत्ता य, जइ जीवो न विज्जइ ॥२८॥

व्या०- मिथ्या भवेयु:-अनृता: स्यु: सर्वेऽर्था ये केचन पारलौकिका दानादय: यदि किमित्याह-कर्त्ता चैव कर्म्मण: उपभोक्ता च तत्फलस्य, यदि जीवो न विद्यते परलोकथायीति गाथार्थ:।

एतदेवाव्युत्पन्नशिष्यानुग्रहार्थं स्पष्टतरमाह (भाष्यकार:)

पाणिदया-तव-नियमा, बम्भं दिक्खा य इंदियनिरोहो।
सव्वं निरत्थमेयं, जइ जीवो न विज्जई ॥२९॥

व्या०-प्राणिदया-तपो-नियमा:-करुणोपवासहिंसाविरत्या-दिरूपा: तथा ब्रह्म-ब्रह्मचर्यम्, दीक्षा च योगलक्षणा इन्द्रिय-निरोध: प्रव्रज्याप्रतिपत्तिरूप: सर्वं निरर्थकं -निष्फलमेतत् यदि जीवो न विद्यते परलोकयातीति गाथार्थ:।

किंच शिष्टाचरितो मार्ग: शिष्टैरनुगन्तव्य इति।

तन्मार्गख्यापनायाह (भाष्यकार:)-

लोइया वेइया चेव, तहा सामाइया विऊ।
निच्चो जीवो पि हो देहा, इह सव्वे ववत्थिया ॥३०॥

व्या०- लोक भवा लोके वा विदिता इति लौकिका- इति-हासादिकर्त्तार:। एवं वैदिकाश्चैव- त्रैविद्यवृद्धास्तथा सामायिका: त्रिपिटकादिसमयवृत्तयो विद्वांस:-पण्डिता: नित्यो जीवो नानित्य:। एवं पृथग् देहात् शरीरादित्येवं सर्वे व्यवस्थिता नान्यथेति गाथार्थ:।

एतदेव व्याचष्टे (भाष्यकार:)

लोगे अच्छेज्ज भेज्जो, वेए सुपरीसदद्धगसियालो।
समए अहमासि गओ, तिविहो दिव्वाइसंसारो ॥३१॥

व्या०- लोक अच्छेद्योऽभेद्य आत्मा पठ्यते, यथोक्तं गीतासु-''अच्छेद्योऽयमभेद्योऽय- मविकार्योऽयमुच्यते। नित्य: सर्वगत: स्थाणु-रचलोऽयं सनातन:॥१॥'' इत्यादि। तथा वेदे- ''सपुरीषो दग्ध: शृगाल पठ्यते'' इति, यथोक्तम्- ''शृगालो वै एष जायते य: सपुरीषो दह्यते'' - अथाऽपुरीषो दह्यते ''आक्षोधुका अस्य प्रजा: प्रादुर्भवन्ती'' त्यादि। तथा समये ''अहमासीद्रज:'' इति पठ्यते, तथा च बुद्धवचनम्- ''अह मासं भिक्षवो हस्ती, षड्दन्त: शङ्खसंनिभ:। शुक: पञ्चरवासी च शकुन्तो जीवजीवक:''॥१॥ इत्यादि। तथा त्रिविधो दिव्यादिसंसार: कैश्चिदिष्यते। देवमानुषतिर्यग्भेदेन, आदि-शब्दाच्चतुर्विध:- कैश्चिन्नारकाधिक्येनेति गाथार्थ:।

अत्रैव प्रकारान्तरेण तदस्तित्वमाह (भाष्यकार:)-

अत्थि सरीरविहाया, पइनियया गारयाइभावाओ।
कुंभस्स जह कुलालो, सो मुत्तो कम्मजोगाओ ॥३२॥

व्या०- अस्ति शरीरस्यौदारिकादेर्विधाता विधातेतिकर्त्ता। कुत इत्याह-'प्रतिनियताकारादिसद्भावात्;' आदिमत्प्रति-नियताकारत्वादित्यर्थ:। दृष्टान्तमाह- कुम्भस्य यथा कुलालो विधाता कुलालवदेवमसावपि मूर्त्त: प्राप्नोतीति। विरुद्धमाशङ्क्य परिहरन्नाह-स आत्मा य: शरीर विधाता। असौ मूर्त्त: कर्मयोगादितिमूर्तकर्मसंबन्धा-दिति गाथार्थ:।

(भाष्यकार:) अत्रैव शिष्यव्युत्पत्तये अन्यथा तदग्रहण-विधिमाह-

फरिसेण जहा वाऊ, गिज्जई कायसंसिओ।
नाणाईहिं तहा जीवो, गिज्झई कायसंसिओ ॥३३॥

व्या०- स्पर्शेन-शीतादिना यथा वायुर्गृह्यते कायसंसृतोदेह-सङ्गतः अदृष्टोऽपि तथा ज्ञानादिभिर्ज्ञानदर्शनेच्छादिभिर्जीवो गृह्यते कायसंसृतो देहसङ्गत इति गाथार्थः।

असकृदनुमानादस्तित्वमुक्तं जीवस्य, अनुमानं च प्रत्यक्षपूर्वकं न चैनं केचन पश्यन्तीति ततश्चाशोभनमेतदित्याशङ्क्याह (भाष्यकारः)-

अणिंदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंसचक्खुणा।
सिद्धा पासंति सव्वन्नू, नाणसिद्धा य साहूणो ॥३४॥

व्या०-अनिन्द्रियगुणम्- अविद्यमानरूपादीन्द्रियग्राह्यगुणं जीवम्- अमूर्त्तत्वादिधर्म्मकं दुर्ज्ञेयं-दुर्ल्लक्ष्यं मांसचक्षुषाछद्मस्थेन पश्यन्ति, सिद्धाः-सर्वज्ञा अञ्जनसिद्धादिव्यवच्छेदार्थं सर्वज्ञग्रहणं; ततश्च ऋषभादय इत्यर्थः, ज्ञानसिद्धाश्च साधवोभवस्थकेवलिन इति गाथार्थः।

सांप्रतमागमादस्तित्वमाह (भाष्यकारः)-

अत्तवयणं उ सत्थं, दिट्ठा य तो अइंदियाणं पि।
सिद्धी गहणाईणं, तहेव जीवस्स विन्नेया ॥३५॥

व्या०- आप्तवचनं तु शास्त्रम् आप्तो रागादिरहितः तुशब्दो-ऽवधारणे, आप्तवचनमेव अनेक अपौरुषेयव्यवच्छेदमाह, तस्याऽसंभवादितिः दृष्टा च तत इत्युपलब्धा च तत आप्तवचनशास्त्रात् अतीन्द्रियाणामपि इन्द्रियगोचरातिक्रान्तानामपि, सिद्धिर्ग्रहणादीनामिति उपलब्धिश्चन्द्रोपरागादीनामित्यर्थ; तथैव जीवस्य विज्ञेयेति। अतीन्द्रियस्याप्याप्तवचनप्रामाण्यादिति गाथार्थः। मूलद्वारगाथायां व्याख्यातमस्तित्वद्वारम्। दश० ४ अ०।

(११) अभ्याख्यानम्। आत्मनोऽस्तित्वे-

णेव सयं लोग अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा। जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ। (सूत्र-३१+)

नैवात्मानं शरीराधिष्ठातारं ज्ञानगुणं प्रत्यात्मसंवेद्यं प्रत्याचक्षीत तस्य शरीराधिष्ठातृत्वेनाहृतमिदं शरीरं केनचिदभि-संधिमता तथा त्यक्तमिदं शरीरं केनचिदभिसन्धिमतैवेत्येवमा- दिभिर्हेतुभिः प्रसाधितत्वात्, न च साधितसाधनं पिष्टपेषणवत् विद्वज्जनमनांसि रञ्जयति। आचा० १ श्रु १ अ० ४ उ०।

अन्यच्च-

आत्मा न विद्यते; तस्य प्रत्यक्षाऽऽदिभिरनुपलभ्यमानत्वात्, तथाहि- न प्रत्यक्षग्राह्योऽसावतीन्द्रियत्वात्, नाप्यनुमान-ग्राह्यः, अनुमानस्य लिङ्गलिङ्गिनोः साक्षात्सम्बन्धदर्शनेन प्रवृतेरिति, आगमगम्योऽपि नाऽसौ आगमानामन्योऽन्यं विसंवादादिति, अत्रोच्यते-केयमनुपलभ्यमानता ? किमेक- पुरुषाश्रिता ? सकलपुरुषाश्रिता वा ? यद्येकपुरुषाश्रिता न तयाऽऽत्माऽभावः सिध्यति सत्यपि वस्तुनि तस्याः सम्भवात, न हि कस्यचित् पुरुषविशेषस्य घटाद्यर्थग्राहकं प्रमाणं न प्रवृत्तमिति सर्वत्र सर्वदा तदभावो निर्णेतुं शक्य इति, नहि प्रमाणनिवृत्तौ प्रमेयं विनिवर्त्तते, प्रमेयकार्यत्वात् प्रमाणस्य न च कार्याभावे कारणाभावो दृष्ट इत्यनैकान्तिकताऽनुपलम्भहेतोः, सकलपुरुषाश्रितानुपलम्भस्त्वसिद्ध इत्यसिद्धो हेतुः, न ह्यसर्वज्ञेन सर्वे पुरुषाः सर्वदा सर्वत्रात्मानं पश्यन्तीति वक्तुं शक्यमिति, किञ्च-विद्यते आत्मा, प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यमानत्वात्, घटवदिति न चायमसिद्धो हेतुः यतोऽस्मादिप्रत्यक्षेणाप्यात्मा तावद्गम्यत एव आत्मा हि ज्ञानादनन्यः, आत्मधर्म्मत्वात् ज्ञानस्य, तस्य च स्वसंविदितरूपत्वात्, स्वसंविदितत्वं च ज्ञानस्य नीलज्ञानमुत्पन्नमासीदित्यादिस्मृतिदर्शनात् न ह्यस्वसंविदिते ज्ञाने स्मृतिप्रभवो युज्यते, प्रमात्रन्तरज्ञानस्यापि स्मृतिगोचर- त्वप्रसङ्गादिति, तदेवं तदव्यतिरिक्तज्ञानगुणप्रत्यक्षत्वे आत्मा गुणी प्रत्यक्ष एव, रूपगुणप्रत्यक्षत्वे घटगुणीप्रत्यक्षत्ववदिति उक्तश्च विशेषावश्यके-

''गुणपच्चक्खत्तणओ, गुणी वि जीवो घड़ो व्व पच्चक्खो।
घडओ व्व घिप्पइ गुणी, गुणमित्तग्गहणओ जम्हा ॥१५५८॥''

तथा-

'अण्णोऽणन्नो व गुणी, होज्ज गुणेहिं ? जइ णाम सोऽणन्नो।
णाणगुणमित्तगहणे, घिप्पइ जीवो गुणी सक्खं ॥१५५९॥
अह अन्नो तो एवं गुणिणो न घडादयो वि पच्चक्खा।
गुणमित्तग्गहणाओ, जीवंमि कुतो विआरोयं ॥१५६०॥''

इति, ये तु सकलपदार्थसार्थस्वरूपाविर्भावनसमर्थज्ञानवन्तस्तेषां सर्वात्मनैव प्रत्यक्ष इति। तथाऽनुमानगम्योऽप्यात्मा, तथाहि- विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरं भोग्यत्वाद्, ओदनादिवत् व्योमकुसुमं विपक्षः स च कर्त्ता जीव इति, नन्वोदनकर्तृवन्मूर्त आत्मा सिद्ध्यतीति साध्यविरुद्धो हेतुरिति नैव, संसारिणो मूर्त्तत्वेनाप्यभ्युपगमात्, आह च- ''जो कत्ता सो जीवो, सब्भविरुद्धो त्ति ते मई होज्जा। मुत्ताइ य संगाओ, तत्तो संसारिणो दोसो'' ॥१॥ इति। न चायमेकान्तो; यदुतलिङ्गचविनाभूतलिङ्गोपलम्भव्यतिरेकेणानुमानस्यैव एकान्ततोऽप्रवृत्तिरिति हसितादिलिङ्गविशेषस्य ग्राहाख्या-लिङ्गचविनाभावग्रहणमन्तरेणापि ग्रहगमकत्वदर्शनात्। न च देह एव ग्रहो येनाऽन्यदेहे दर्शनमविनाभावग्रहणनियामकं भवतीति, उक्तश्च (विशे०)- ''सो नेगंतो जम्हा, लिंगेहिं समं अदिपट्ठपुव्वो वि। गहलिंगदरिसणाओ, गहोऽणुमेओ सरीरम्मि ॥१५५६॥'' इत्यागमगम्यत्व त्वात्मनः-'एगे आया' अत एव वचनात्, न चास्यागमान्तरैर्विसंवादः सम्भावनीयः। सुनिश्चिता-सप्रणीतत्वादस्येति, बहुवक्तव्यमत्र तत्तु स्थानान्तरादवसेय्र-मिति। किञ्चआत्माभावे जातिस्मरणादयस्तथा प्रेती-भूतपितृपितामहादि कृतानुग्रहोपघातौ च न प्राप्नुयुरिति। स्था० १० ठा०।

(१२) इन्द्रभूतिमुद्दिश्य भगवता महावीरेणोक्तं विस्तरतः जीवास्तित्वम्-

जीवे तुह संदेहो, पच्चक्खं जं न घिप्पइ घडो व्व।
अच्चंता पच्चक्खं, न नऽत्थि लोए खपुप्फं व॥१५४९॥

आयुष्मन्! इन्द्रभूते! तवैष संदेहः। किमयमात्मा-अस्ति ? नास्ति वा ? उभयहेतुसद्भावात्, तत्र नास्तित्वहेतवोऽमीनास्त्यात्मा, प्रत्येक्षणात्यन्तमगृह्यमाणत्वाद्, इह यदत्यन्ताऽप्रत्यक्षं तल्लोकेनास्त्येव, यथा-खपुष्पं यत्त्वस्ति तत्प्रत्यक्षेण गृह्यत एव, यथा-घटः इत्यसौ व्यतिरेकदृष्टा-

न्तः । अणवोऽपि ह्यप्रत्यक्षाः, किंतु-घटादिकार्यतया परिणतास्ते प्रत्यक्षत्वमुपयान्ति, न पुनरेवमात्मा कदाचिदपि भावप्रत्यक्षमुपगच्छत्योऽत्रात्यन्तविशेषणमिति।

एवं च मन्यसे त्वं किमित्याह-

न य सोऽणुमाणगम्मो, जम्हा पच्चक्खपुव्वयं तं पि।
पुव्वोबलद्धसंबं-धसरणओ लिंगलिंगीणं ॥१५५०॥

न चासावात्मानुमानगम्यः यस्मात्तदप्यनुमानं प्रत्यक्षपूर्वकं प्रवर्त्तते, कुत इत्याह-'पुव्वोबलद्धे' त्यादि लिङ्ग्यतेगम्यतेऽतीन्द्रियार्थोऽनेनेति लिङ्गम्; अथ वा-लीनं-तिरोहितमर्थं गमयतीति लिङ्गं धूमकृतकत्वादिकं, तदस्यास्तीति लिङ्गी वह्न्यनित्यत्वादिस्तयोर्लिङ्गलिङ्गिनोर्यः पूर्वं महानसादौ प्रत्यक्षा-दिना उपलब्धकार्यकारणभावादिकः । संबन्धस्तस्य यत् स्मरणं तस्मादिति। इदमुक्तं भवति-पूर्वं महानसादावग्निधूमयोर्लिङ्गिलिङ्गयोरन्वयव्यतिरेकवन्तमविनाभावमध्यक्षतो गृहीत्वा तत उत्तरकालं क्वचित्कान्तारपर्वतनितम्बाऽऽदौ गगनाऽवलम्बिनीं धूमलेखामवलोक्य प्रागृहीतं संबन्धमनुस्मरति, तद्यथा-''यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र प्रागहं वह्निम् अद्राक्षं'' यथा- महानसादौ, धूमश्चात्र दृश्यते तस्माद्वह्निनापीह भवितव्यम् इत्येवं लिङ्गग्रहणसंबन्धस्मरणाभ्यां तत्र प्रमाता हुतभुजमवगच्छति; न चैवमात्माना लिङ्गिना सार्द्धं कस्यापि लिङ्गस्य प्रत्यक्षेण संबन्धः सिद्धोऽस्ति, यतः तत्संबन्धमनुस्मरतः पुनस्तल्लिङ्गदर्शनाज्जीवे संप्रत्ययः स्यात् । यदि पुनर्जीवलिङ्गयोः प्रत्यक्षतः संबन्धसिद्धिः स्यात्तदा जीवस्यापि। प्रत्यक्षत्वापत्त्यानुमानवैयर्थ्यं स्यात्तत एव तत्सिद्धेरिति।

एतदेवाह-

न य जीवलिंगसंबं-धदरिसणमभू जओ पुणो सरओ।
तल्लिंगदरिसणाओ, जीवे संपच्चओ होज्जा ॥१५५१॥

गतार्था। न च वक्तव्यं सामान्यतो दृष्टात् अनुमानात् आदित्यादिगतिवज्जीवः सिध्यति, यथा-गतिमानादित्यो, देशान्तरप्राप्तेः, देवदत्तवदिति, यतो हन्त देवदत्ते दृष्टान्तधर्म्मिणि सामान्येन देशान्तरप्राप्तिं गतिपूर्विकां प्रत्यक्षेणैव निश्चित्य सूर्येऽपि तां तथैव प्रमाता साधयतीति युक्तम्, न चैवमत्र क्वचिदपि दृष्टान्ते जीवसत्त्वेनाविनाभूतः कोऽपि हेतुरध्यक्षेणोपलक्ष्यते इति । अतो न सामान्यतो दृष्टादप्यनुमानात्तद्गतिरिति।

न चाऽऽगमगम्योऽपि जीव इति दर्शयति-

नाऽऽगमगम्मो वि तओ, भिज्जइ जं नागमोऽणुमाणाओ।
न य कासइ पच्चक्खो, जीवो जस्साऽगमोवयणं ॥१५५२॥

न चागमगम्योऽपि तकोऽसौ जीवो, यद्-यस्मादागमोऽपि अनुमानाद् भिद्यते (इत्यादिगाथार्द्धव्याख्यानं 'आगम' शब्दे- ऽस्मिन्नेव भागे गतम्) न चैवमसौ आत्मशब्दः शरीराद् ऋते- अन्यत्र प्रयुज्यमानः क्वचिदुपलब्धो । यत्र खल्वात्मशब्दश्रवणाद् आत्मा इति प्रत्ययो भवेदिति । यदपि स्वर्गनरकाद्यदृष्टार्थविषयं शाब्दं प्रमाणं, तदपि तत्त्वतोऽनुमानं, नातिवर्तते। तथाहि- प्रमाणं स्वर्गनरकाद्यदृष्टार्थविषयं वचनम्, अविसंवादिवचनात्प्रणीतत्वाच्चन्द्रार्कोपरागादिवचनवदित्येवमनुमानादेव तत्र प्रमाणता। न चैवं भूतमाप्तं कमपि पश्यामो, यस्यात्मा प्रत्यक्ष इति तद्वचनमागम इति प्रतिपद्येमहि इति शेषः।

किं च-

जं चाऽऽगमा विरुद्धा, परोप्परमओ वि संजुत्तो।
सव्वप्पमाणविसया-इओ जीवो त्ति तो बुद्धी ॥१५५३॥

यतश्च तीर्थिकानां संबन्धिनः सर्वेऽप्यागमाः परस्परविरोधिनः खल्वतोऽपि संशय एवात्मनो युक्तो; न तु निश्चयः, तथाहि- केचिदागमा आत्मनो नास्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति यदा-हुर्नास्तिकाः-''एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे ! वृकपदं पश्य, यद्वदन्ति बहुश्रुताः'' ॥१॥ इत्यादि, भट्टोऽप्याह-''विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न च प्रेत्य संज्ञास्ति।'' सुगतस्त्वाह-'' न रूपं भिक्षवः पुद्गलः'' इत्यादि। आत्मास्तित्ववचनान्यप्यागमेषु श्रूयन्ते, तथा च वेदः-''न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत'' इति । तथा-''अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः'' इत्यादि। कापिलागमे तु प्रतिपाद्यते-''अस्ति पुरुषः अकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूपः'' इत्यादि। तस्मादागमानां परस्परविरुद्धत्वान्नागम-प्रमाणादप्यात्मसत्त्वसिद्धिः। इदं च वैशेषिकमतेन प्रत्यक्षानुमाना-गमलक्षणं प्रमाणत्रयमुपन्यस्तम्॥ एतच्च स्वयं द्रष्टव्यम्- उपमाप्रमाणगम्योऽपि जीवो न भवति । तत्र हि 'यथा गौस्तथा गवय' इत्यादावेव सादृश्य-मसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति। न चेहाऽन्यः कश्चित त्रिभुवनेऽप्यात्मसदृशः पदार्थोऽस्ति, यद्दर्शनादात्मानमवगच्छामः । कालाऽऽकाशदिगादयो जीवतुल्या विद्यन्ते इति चेत् ? न तेषामपि विवादास्पदीभूतत्वेन तदंहि (ङिघ) वद्धत्वात् । अर्थापत्तिसाध्योऽपि जीवो न भवति न हि दृष्टः श्रुतो वा कोऽप्यर्थ आत्मानमन्तरेण नोपपद्यते, यद्बलात्तं साधयामः, तस्मात्सर्वप्रमाणविषयातीतो जीव इति तव बुद्धिः भावोपलम्भप्रमाणपञ्चकविषयातीतत्वात् प्रतिषेधसाधकाऽभावाख्यषष्ठप्रमाणविषय एव जीव इत्यर्थः इति पूर्वपक्षः।

अथैतत्प्रतिविधानमाह-

गोयम! पच्चक्खो च्चिय, जिवो जं संसयाइविन्नाणं।
पच्चक्खं च न संज्झं, जह सुह-दुक्खा सदेहम्मि ॥१५५४॥

गौतम ! भवतोऽपि प्रत्यक्ष एवायं जीवः, किमन्येन प्रमाणान्तरोपन्यासेन ? कोऽयं जीवो मम प्रत्यक्ष ? इति चेत्, उच्यते- यदेतत्तवैव संशयादिविज्ञानं स्वसंवेदनसिद्धं हृदि स्फुरित । स एव जीवः, संशयादिज्ञानस्यैव तदनन्यत्वेन जीवत्वात् । यच्च प्रत्यक्षं तद् न प्रमाणान्तरेण साध्यं, तथा ।- स्वशरीर एवात्मसंवेदनसिद्धाः सुखदुःखादयः, प्रत्यक्षसिद्धमपि सग्रामनगरं विश्वं शून्यवादिनं प्रति साध्यत एवेति चेत, नैवम्, निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवद्, इत्यादेस्तदुद्भावितबाधकप्रमाणस्यैव तत्र निराकरणाद्, अत्र त्वात्मग्राहके प्रत्यक्षे बाधकप्रमाणाऽभावादिति।

इतश्चायं प्रत्यक्षो जीवः कुत ? इत्याह-

कयवं करेमि काहं, वाहमहं पच्चया इमाऊ य।
अप्पा स प्पच्चक्खो, तिकालकज्जोवएसाओ ॥१५५५॥

'वा' इति-अथवा-कृतवानहं, करोम्यहं, करिष्याम्यहम्, उक्तवानहं, ब्रवीम्यहं, वक्ष्याम्यहं, ज्ञातवानहं, जानेऽहं, ज्ञाम्याम्यहम्, इत्यादिप्रकारेण योऽयं त्रैकालिकः कार्यव्यपदेशस्तद्विषयप्रयुज्यमानतया तत्समुत्थो योऽयम्- 'अहंप्रत्यय' एतस्मादपि प्रत्यक्ष एवायमात्मेति प्रपद्यस्व, अयं 'ह्यहंप्रत्ययो' नानुमानिकः, अलैङ्गिकत्वात् नाप्यागमादिप्रमाणसंभवः, तदन-भिज्ञानानां बालगोपालादीनामप्यन्तर्मुखतया आत्मग्राहकत्वेन स्वसंविदितस्य तस्योत्पादाद् घटादौ चानुत्पादादिति।

अपि च-

कह पडिवन्नमहं ति य, किमत्थि नऽत्थि त्ति संसओ कह णु।
सइ संसयंमि वायं, कस्साऽहंपच्चओ जुत्तो ॥१५५६॥

हन्त कथमसति जीवे 'अहमिति' प्रतिपन्नं त्वया विषयाभावे विषयिणोऽनुत्थानप्रसङ्गाद्देह एवास्य प्रत्ययस्य विषय इति चेत्, न, जीवविप्रमुक्तेऽपि देहे तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात, सति च जीवविषये अस्मिन्नहंप्रत्यये किमहमस्मि नास्मीति भवतः संशयः कथं केन प्रकारेणोपजायते ? अहंप्रत्ययग्राह्यस्य जीवस्य सद्भावाद् अस्म्यहमिति निश्चय एव युज्यते इति भावः। सति वा अस्मिन्नात्मास्तित्वसंशये कस्यायम् 'अहंप्रत्ययो' युज्यते निर्मूलत्वेन तदनुत्थानप्रसङ्गादिति।

जीवाभावे संशयविज्ञानमपि न युज्यत एवेति तद्दर्शयन्नाह-

जइ नऽत्थि संसय च्चिय, किमत्थि नऽत्थि त्ति संसओ कस्स।
संसइए व सरूवे, गोयम ! किमसंसयं होज्जा ॥१५५७॥

यदि संशयी जीव एवादौ नास्ति, तर्ह्यस्ति नास्तीति संशयः कस्य भवतु। संशयो हि विज्ञानाख्यो गुण एव, न च गुणिनमन्तरेण गुणः संभवति। देहोऽत्र गुणीति चेत्, न देहस्य मूर्त्तत्वाज्जडत्वाच्च ज्ञानस्य चामूर्त्तत्वाद् बोधरूपत्वाच्च न चाननुरूपाणां गुणगुणिभावो युज्यते आकाशरूपादीनामपि तद्भावापत्त्या अति-प्रसङ्गप्राप्तेः। 'संसइए वे' त्यादि 'वा' इति-अथवा संशयिते स्वरूपे गौतम! किमसंशयं शेषं भवेद् ? इदमुक्तं भवति-किमस्मि नास्म्यहमित्येवं यः स्वरूपेऽपि संशेते- आत्मनिश्चयोऽपि यस्य नास्तीत्यर्थः, तस्य शेषं कर्मबन्धमोक्षादिकं घटपटादिकं किमसंशयम्-असंदिग्धं स्यात् ? न किंचित्सर्वसंशय एव तस्य स्यादित्यर्थः आत्मास्तित्वनिश्चयमूलो हि शेषवस्तुनिश्चय इति भावः। अहंप्रत्ययग्राह्यं च प्रत्यक्षमात्मानं निह्नुवानस्य अश्रावणः शब्द इत्यादिवत्प्रत्यक्षविरुद्धो नाम पक्षाऽऽभासः, तथा- वक्ष्यमाणात्मास्तित्वानुमानसद्भावान्नित्यः शब्द इत्यादिवदनुमानविरुद्धोऽपि। तथा- अहमस्मि संशयीति प्रागभ्युपगम्योत्तरत्र नास्मीति प्रतिजानानस्य साङ्ख्यस्य अनित्यः कर्त्ता अचेतनः आत्मेत्यादिवदभ्युपगमविरोधः। बाल-गोपालाङ्गनादिप्रसिद्धं चात्मानं निराकुर्वतः अचन्द्रः शशी इत्यादिवल्लोकविरोधः, अहं नाहं वेति गदतो 'माता मे बन्ध्या' इत्यादिवत्स्ववचनव्याहतिः। एवं च प्रत्यक्षादिबाधितेऽस्मिन् पक्षे अपक्षधर्मतया हेतुरप्यसिद्धः। हिमवत्पलपरिमाणादौ पिशाचादौ च प्रमाणपञ्चकाभावस्य प्रवृत्तेस्नैकान्तिकोऽपि वक्ष्यमाणानुमानप्रमाणसिद्धे चात्मनि विपक्ष एव वृत्तेर्विरुद्धश्चेति।

प्रकारान्तरेणाप्यात्मनः प्रत्यक्षसिद्धतामाह-

गुणपच्चक्खत्तणओ, गुणी वि जीवो घडो व्व पच्चक्खो।
घडओ वि घेप्पइ गुणी, गुणमित्तग्गहणओ जम्हा ॥१५५८॥

प्रत्यक्ष एवं गुणी जीवः स्मृतिजिज्ञासाचिकीर्षाजिगमिषाशंशीत्यादिज्ञानविशेषाणां तद्गुणानां स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-सिद्धत्वाद्, इह यस्य गुणाः प्रत्यक्षाः स प्रत्यक्षो दृष्टो, यथा घटः, प्रत्यक्षगुणश्च जीवः तस्मात्प्रत्यक्षः यथा घटोऽपि गुणी रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वादेव प्रत्यक्षस्तद्वद्विज्ञानादिगुण-प्रत्यक्ष- त्वादात्मापीति। आह-अनैकान्तिकोऽयं यस्मादाकाशगुणः शब्दः प्रत्यक्षोऽस्ति न पुनराकाशमिति। तदयुक्तम्, यतो नाकाशगुणः शब्दः, किं तु- पुद्गलगुणः, ऐन्द्रियकत्वात् रूपादिवदिति।

गुणानां प्रत्यक्षत्वे गुणिनस्तद्वपतायां किमायातम् ? इति चेद्, उच्यते-

अन्नोऽणण्णो व गुणी होज्ज गुणेहिं जइ नाम सोऽणन्नो।
ननु गुणमेत्तग्गहणे, घेप्पइ जीवो गुणी सक्खं ॥१५५९॥
अह अन्नो तो एवं, गुणिनो न घडादओ वि पच्चक्खा।
गुणमेत्तग्गहणाओ, जीवम्मि कउवियारोऽयं ॥१५६०॥

ननु भवता गुणेभ्यो गुणी किमर्थान्तरभूतोऽभ्युपगम्यते, अनर्थान्तरभूतो वा ? यदि नाम-सोऽनन्यस्तेभ्योऽनर्थान्तरभूतः तर्हि ज्ञानादिगुणग्रहणमात्रादेव गुणी जीवः प्रत्यक्षेण गृह्यत इति सिद्धमेव। प्रयोगः- योयस्मादनर्थान्तरं स तद्ग्रहणेन ग्रह्यते, यथा वाससि रागो गुणेभ्योऽनर्थान्तर च गुणी, तस्माद् गुणग्राहकप्रत्यक्षेण सोऽपि गृह्यत एवेति। अथ गुणेभ्योऽन्योऽर्थान्तरभूत एव गुणी, तत एवं सति घटादयोऽपि गुणिनः न प्रत्यक्षास्तदर्थान्तरभूतस्य रूपादिगुणमात्रस्यैव ग्रहणात्। इह यद्-यस्मादर्थान्तरभूतं तद्ग्रहणेऽपि नेतरस्य ग्रहणं, यथा घटे गृहीते पटस्य अर्थान्तरभूताश्च गुणिनो गुणा इष्यन्ते अतो गुणग्रहणेऽपि न गुणिग्रहणम्। अतो घटादीनामपि समानोऽग्रहणदोषे कोऽयं नाम भवतः केवलजीवे विचारो नास्तित्वाविवक्षा, येनोच्यते- ''पच्चक्खं जं न घिप्पइ घडो व्व'' इत्यादि, अथ द्रव्यविरहिताः केऽपि न सन्त्येव गुणाः, इत्यतस्तद्ग्रहणद्वारेण गृह्यन्त एवं घटादयः। नान्वेतदात्मन्यपि समानमव। किं च-गुणिनो गुणानामर्थान्तरत्वे अभ्युपगम्यमाने गुणीभवतु, मा भूद्वा प्रत्यक्षः, तथापि ज्ञानादिगुणेभ्यः पृथगात्मा गुणी त्वदभ्युपगमेनापि सिद्ध्यत्येवेति।

अत्र पराभिप्रायमाशङ्कमानः प्राह-

अहमन्नसि अत्थि गुणी, न य देहत्थंतरं तओ किं तु।
देहे नाणाइगुणा, सो च्चिय तेसिं गुणी जुत्तो ॥१५६१॥

अथ मन्यसे अस्त्येव ज्ञानादिगुणानां गुणिनैव तं प्रत्या-

चक्ष्महे, एतत्तु नाभ्युपगच्छामो यद्देहादर्थान्तरं तकोऽसौ इति, किन्तु-देह एव ज्ञानादयो गुणाः समुपलभ्यन्ते अतः स एव तेषां गुणी युक्तो, यथा रूपादीनां घटः प्रयोगः देहगुणा एव ज्ञानादयः, तत्रैवोपलभ्यमानत्वा-द्वौरकृशस्थूलतादिवदिति।

अत्रोत्तरमाह-

नाणादओ न देहस्स, मुत्तिमत्ताइओ घटस्सेव।
तम्हा नाणाइगुणा, जस्स संदेहाहिओ जीवो ॥१५६२॥

प्रयोगो देहस्य संबन्धिनो ज्ञानादयो गुणा न भवन्त्येव तस्य मूर्तिमत्त्वात्, चाक्षुषत्वाद्वा, घटवत्। न च द्रव्यरहितो गुणः समस्ति ततो यो ज्ञानादिगुणानामनुरूपः अमूर्तः, अचाक्षुषश्च गुणी स देहातिरिक्तो जीवो ज्ञातव्यः। आह-ज्ञानादयो न देहस्येति प्रत्यक्षबाधितमिदम्, देह एव ज्ञानादिगुणानां प्रत्यक्षेणैव ग्रहणात्। तदयुक्तम, अनुमानबाधितत्वादस्य प्रत्यक्षस्य, तथा हि- इहेन्द्रियातिरिक्तो विज्ञाता, तदुपरमेऽपि तदुलब्धार्थानु-स्मरणात्, यो हि यदुपरमेऽपि यदुपलब्धमर्थमनुस्मरति स तस्मादर्थान्तरं दृष्टो, यथा-पञ्चवातायनोपलब्धार्थानुस्मर्त्ता देवदत्त इत्यादि वायुभूतिप्रश्ने। वक्ष्याम इति।

उपसंजिहीर्षुराह-

इय तुह देसेणऽयं पच्चक्खो सव्वहा महं जीवो।
अविहयनाणत्तणओ, तुह विन्नाणं व पडिवज्जा॥१५६३॥

'इति'-एवम्-उक्तप्रकारेण स्वशरीरे तवापि देशतः प्रत्यक्षो-ऽयमात्मा छद्मस्थत्वेन भवतः सर्वस्यापि वस्तुनो देश- विषयत्वात्, घटवत्, तथाहि-सर्वमपि-स्व- परपर्यायतो- ऽनन्तपर्यायं वस्तु छद्मस्थश्च प्रत्यक्षेण साक्षात् तद्देशमेव गृह्णाति। प्रत्यक्षेण च प्रदीपादिप्रकाशेनैव देशतः प्रकाशिता अपि घटादयो व्यवहारतः प्रत्यक्षा उच्यन्ते एव। सर्वात्मना च केवली प्रत्यक्षमेव वस्तु प्रकाशयति अतो ममाऽप्रति-हताऽनन्तज्ञानत्वेन सर्वात्मनापि प्रत्यक्षोऽयं जीवो यथा-ऽतीन्द्रियमपि त्वत्संशयविज्ञानमिति प्रतिपद्यस्वेति।

परशरीरे तर्हि कथमित्याह-

एवं वि य परदेहे, ऽणुमाणओ गिण्ह जीवमत्थि त्ति।
अणुवित्तिनिवित्तीओ, विण्णाणमयं सरूवे व्व॥१५६४॥

यथा स्वदेहे, एवं परदेहेऽपि गृहाण जीवमनुमानतः कथम् ? इत्याह-अस्ति-विद्यते इति। कथंभूतं जीवम् ? इत्याह- विज्ञा- नमयं-विज्ञानात्मकम् अनुमानमेव सूचयन्नाह- ''अणुवित्तिनि त्तीओ'' 'सरूवे व' त्ति-इदमुक्तं भवतिपरशरीररेऽप्यस्ति जीवः। इष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात् यथा-स्वरूपे स्वात्मनि इह यत्रेष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिनिवृत्ती दृश्येते तत्सात्मकं दृष्टं यथा स्वशरीरं तथा च प्रवृत्तिनिवृत्ती दृशयेते परशरीरे, अतस्तदपि सात्मकम् आत्माभावे चेष्टानिष्टप्रवृत्ति-निवृत्ती न भवतो, यथा घटे इत्यनुमानात्परशरीरेऽपि जीवसिद्धिः।

अत्र परमतमाशङ्क्योत्तरमाह-

जं च न लिंगेहिं समं, मन्नसि लिंगी पुरा जओ गहिओ।
संगं ससेण व समं, न लिंगओ तोऽणुभेए सो ॥१५६५॥
सोऽणेगंतो जम्हा, लिंगेहिं समं न दिट्ठपुव्वो वि।
गहलिंगदरिसणाओ, गहोऽणुमेओ सरीरम्मि ॥१५६६॥

यच्च न य जीवलिङ्गसंबन्धदरिसणमभू०॥१५५१॥' इत्यादि पूर्वोक्तपूर्वक्षानुसारेण मन्यसे त्वम्। किमित्याह-ततो न लिङ्गतो-लिङ्गादनुमेयोऽसौ जीवः। यतः किमित्याह-यतो न खलु लिङ्गैः कैश्चिदपि समं लिङ्गी जीवः क्वापि केनापि पुरा पूर्वं गृहीतः, किंवदित्याह- शृङ्गमिव शशकेन समं ततो लिङ्गलिङ्गिनोः पूर्वं संबन्धाग्रहणान्न लिङ्गाज्जीवोऽ-नुमीयत इति यन्मन्यसे त्वं, तत्र प्रतिविधीयते-सोऽने कान्तः यस्माल्लिङ्गैः समम् अदृष्ट-पूर्वोऽपि ग्रहो-देवयोनिविशेषतः, शरीरे हसन्गानरोदनकर-चरणभ्रूविक्षेपादिविकृतग्रहलिङ्गदर्शनादनुमीयत इति बालानामपि प्रतीतमेवेति।

अनुमानान्तरमप्यात्मसाधकमाह-

देहस्सऽत्थिविहाया, पइनिययागारओ घडस्सेव।
अक्खाणं च करणओ, दंडाईणं कुलालो व्व ॥१५६७॥

हेहस्याति विधाता-कर्त्तेति प्रतिज्ञा, आदिमत्प्रतिनियता- कारत्वाद्, घटवत्, यत्पुनरकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथा अभ्रविकारः, यश्च देहस्य कृर्त्ता स जीवः। प्रतिनियताऽऽकारत्वं मेर्वादीनामप्यस्ति, न च तेषां कश्चिद्विधाता, इति तैरनैकान्तिको हेतुः स्याद्, अतोऽनुक्तमप्यादिमत्त्वविशेषणं द्रष्टव्यमिति। तथा अक्षाणाम्-इन्द्रियाणामस्त्यधिष्ठाता इत्यध्याहारः, करणत्वात् यथा चक्रचीवर-मृत्सूत्रदण्डादीनां कुलालः, यच्च निरधिष्ठातृकं तत्करणमपि न भवति यथा आकाशं, यश्चेन्द्रियाणामधिष्ठाता स जीव इति।

तथा-

अत्थिदियविसयाणं, अयाणादेयभावओऽवस्सं।
कम्मार इवादाया, लो संडासलोहाणं ॥१५६८॥

इह यत्रादानादेयभावस्तत्रावश्यमादाता समस्ति, यथा लोके संदंशकलोहानां कर्म्मारोऽयस्कारः विद्यते चेन्द्रियविषयाणा-मादानादेयभावः, अतस्तेषामप्यस्त्यादाता, स च जीवः, यत्र त्वादाता नास्ति, तत्रादानादेयभावोऽपि न विद्यते यथा आकाश इति।

तथा -

भोत्ता देहाईणं, भोज्जत्तणओ नरो व्व भत्तस्स।
संघायाइत्तणओ, अत्थि य अत्थी घरस्सेव ॥१५६९॥

इह देहादीनां भोक्ता समस्ति भोग्यत्वात्, यथा शाल्यादिभक्तवस्त्रादीनां नरः, यस्य च भोक्ता नास्ति तद्भोग्यमपि न भवति यथा खरविषाणं, भोग्यं च शरीरादिकं ततो विद्यमानभोक्तृकमिति। तथा-अर्थी-स्वामी। ततश्च देहादीनां विद्यते स्वामी, संघातरूपत्वाद् आदिशब्दात्- मूर्तिमत्त्वात् ऐन्द्रियत्वाद्याक्षुषत्वाद् इत्यादयोऽप्यनैकान्तिकत्वपरिहारार्थं संभव-द्विहितविशेषणा हेतवो योजनीयाः, यथा गृहादीनां सूत्रधारादय इति दृष्टान्तः, यत पुनरस्वामिकं तत्संघातादिरूपमपि न भवति, यथा गगनकु सुमं संघातादिरूपं च देहादिकं तस्माद्विद्यमानस्वामिकमिति।

आह-ननु ''देहस्सऽत्थि विहाया (१५६७)'' इत्यादिना शरीरादीनां कर्त्रादय एव सिध्यन्ति। न तु प्रस्तुतो जीवः, इत्याशङ्क्योत्तरमाक्षेपपरिहारौ चाह-

जो कत्ताइ स जीवो, सज्झविरुद्धो त्ति ते मई होज्जा।
मुत्ताइपसंगाओ, तं न संसारिणो दोसो ॥१५७०॥

यश्चायमनन्तरं देहेन्द्रियादीनां कर्त्ता; अधिष्ठाता, आदाता भोक्ता, अर्थी, चोक्तः स सर्वोऽपि जीव एव, अन्यस्येश्वरादेर्यु- क्त्यक्षमत्वेन कर्तृत्वाद्यसंभवादिति। अथ साध्यविरुद्धसाधक- त्वाद्विरुद्धा एते हेतव इति तव मतिर्भवेत् तथा हि- घटादीनां कर्त्रादिरूपाः कुलालादयो मूर्तिमन्तः संघातरूपा अनित्या- दिस्वभावाश्च दृष्टा इत्यतो जीवोऽप्येवंविध एव सिध्यति, एतद्विपरीतश्च किलास्माकं साधयितुमिष्टः, इत्येवं साध्यविरुद्ध- साधकत्वं हेतुनामिति, तदेतदयुक्तत्वान्न, यतः खलु संसारिणो जीवस्य साधयितुमिष्टस्याऽदोषोऽयं, स हि अष्टकर्म्मपुद्गलसंघातोपगूढत्वात् सशरीरत्वाच्च कथंचिन्मूर्त्तत्वादिधर्मयुक्त एवेति भावः।

अपरमप्यात्मसाधकमनुमानमाह-

अत्थि च्चिय ते जीवो, संसयओ सोम्म ! थाणुपुरिसो व्व।
जं संदिद्धं गोयम ! तं तत्थऽन्नत्थवत्थु(त्थि) धुवं ॥१५७१॥

हे सौम्य ! गोयम ! अस्त्येव तव जीवः संशयतः संशयसद्भा- वाद्यत्र यत्र संशयस्तत्तदस्ति यथा स्थाणुपुरुषौ, संशयश्च तव जीवे, तस्मादयस्त्येवायं, तथाहि-स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वत्वारोहपरिणाहाद्युभयसाधारणधर्म्मप्रत्यक्षतायां चलनशिरः कण्डूयनवयोनिलयनवल्ल्यारोहणाद्युभयगतविशेषधर्म्मा- प्रत्यक्षतायां चोभयगतैतद्धर्मानुस्मरणे च सत्येकतरविशेषनिश्चयचिकीर्षोः किमिदमिति विमर्शरूपः संशयः प्रादुरस्ति। एवंभूते च स्थाणुपुरुषादिगतसंशये तत्स्थाणुपुरुषादिकं वस्त्वस्त्येव अवस्तुनि संशयायोगात् एवमात्मशरीरयोरपि प्रागुपलब्धसामान्यविशेषधर्म्मस्य प्रमातुस्तयोः सामान्य- धर्म्मप्रत्यक्षतायां विशेषधर्म्माऽप्रत्यक्षत्वेऽपि च तद्विषयानुस्मृतौ सत्यामेकतरविशेषोपलिप्सोः 'किमयमात्मा किं वा शरीरमात्रमिदम्' इति, विमर्शरूपः संशयो जायते। अयं चात्मशरीरयोः सत्त्व एवोपपद्यते, नैकतरस्याप्यभावेऽतोस्ति जीवः। अथैवं ब्रूषे-अरण्यादिषु स्थाणुपुरुषसंशये तत्र विविक्षितप्रदेशे अनयोरेकतर एव भवति, न पुनरुभयमपि तत्कथमुच्यते-विद्यमान एव वस्तुनि संशयो भवति इति ? तदयुक्तम, अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्, न हि वयमेवं ब्रूमस्तत्रैव प्रदेशे तदुभयमप्यस्ति इति, किं तु यद्गतसंदेहः तद्वस्तु तत्रान्यत्र वा प्रदेशे ध्रुवमस्त्येव अन्यथा-षष्टभूतविषयोऽपि संशयः स्यादेतदेवाह-'जं-संदिद्धमि' त्यादितस्मात् संशयविषयत्वा- दस्त्येव जीव इति स्थितम्।

अथ पूर्वपक्षमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

एवं नाम विसाणं, खरस्स पत्तं न तं खरे चेव।
अन्नत्थ तदत्थि च्चिय, एवं विवरीयगाह वि ॥१५७२॥

हन्त; यदि यत्र संशयस्तेनावश्यमेव भवितव्यम्, एवं ततः खरविषाणमप्यस्तीति प्राप्तं, तत्रापि कस्यचित्संशयसद्भावाद् उच्यते-नत्वभिहितमत्र यदुत तत्रान्यत्र वा विद्यमान एव वस्तुनि संशयो भवति, नाविद्यमाने। खरस्य विषाणं खरविषाणं नास्तीत्यत्र च कोऽर्थः इत्याह-'न तं खरे चेव' त्ति- खर एव तद्विषाणं नास्ति, अन्यत्र गवादावस्त्येवेति; न कश्चिद् व्यभि-चारः। एवं 'विवरीयगाहे वि' ति-इदमुक्तं भवति-यदा विपर्यस्तः कश्चित्स्थाणौ पुरुष एवायमित्यादिविपरीतग्रहं करोति तदाप्ययमेव न्यायो वाच्यः-सोऽपि विपरीतग्रहो विपरीते पुरुषादिके वस्तुनि सत्येवोपपद्यते; नाविद्यमान इत्यर्थः। एवं भवदभिप्रायेण योऽस्मादृशां शरीरे आत्मास्तित्वाभिमानो, नायमात्मनः सर्वथा नास्तित्वे युज्यते इति।

इतोऽप्यस्ति जीवः कुत ? इत्याह-

अत्थि अजीवविवक्खो, पडिसेहाओ घडोऽघडस्सेव।
नऽत्थि घडोत्ति व जीव-त्थित्तपरो नऽत्थि सद्दोयं॥१५७३॥

अत्र प्रयोगः- प्रतिपक्षवानयमजीवः, अत्र व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदप्रतिषेधाद् यत्र व्युत्पत्तिमतः शुद्धपदस्य प्रतिषेधो दृश्यते स प्रतिपक्षवान् दृष्टो, यथा घटोऽघटप्रतिपक्षवान्, अत्र ह्यघटप्रयोगे शुद्धस्य व्युत्पत्तिमतश्च पदस्य प्रतिषेधः, अतोऽवश्यं घटलक्षणेन प्रतिपक्षेण भवितव्यम्। यस्तु न प्रतिपक्षवान् न तत्र शुद्धस्य व्युत्पत्तिमतश्च पदस्य प्रतिषेधः, यथा-अखरविषाणम्, 'अडित्थ' इति- अखरविषाणमित्यत्र खरविषाणलक्षणस्याऽशुद्धस्य सामासिकपदस्य प्रतिषेध इति, अतोऽत्र खरस्य विषाणं खरविषाणमित्यादिव्युत्पत्तिमत्त्वे सत्यपि खरविषाणलक्षणो विपक्षो नास्ति 'अडित्थ' इत्यत्र तु व्यत्पत्तिरहितस्य डित्थस्यडित्थपदस्य प्रतिषेध इति समासरहितत्वेन शुद्धत्वे सत्यपि नावश्यमवस्थितो डित्थलक्षणः कोऽपि पदार्थो जीववद्विपक्षभूतोऽस्तीति।

'नऽत्थि घडो त्ति व 'इत्यादि पश्चार्धम्। 'नास्त्यात्मा' इति च योऽयमात्मनिषेधध्वनिः स जीवास्तित्वे नान्तरीयक एव, यथा नास्त्यत्र घट इति शब्दोऽन्यत्र घटास्तित्वाविनाभाव्येव। प्रयोगः- यस्य निषेधः क्रियमाणो दृश्यते तत् क्वचिदस्त्येव यथा घटादिकम्, निषिध्यते च भवता 'नास्ति जीवः' इति वचनात् जीवः, तस्मादस्त्येव असौ, यच्च सर्वथा नास्ति तस्य निषेधो न दृश्यत एव, यथा खरविषाणकल्पानां पञ्चभूतातिरिक्तभूतानां निषिध्यते च त्वया जीवः, तस्मान्निषेध एवायं तत्सत्त्वसाधक इति।

अनैकान्तिकोऽयं हेतुः; असतोऽपि खरविषाणा-

देर्निषधदर्शनादित्याशङ्क्याह-

असओ नऽत्थि निसेहो, संजोगाइपडिसेहओ सिद्धं।
संजोगाइचउक्कं, पि सिद्धमत्थंतरे निययं ॥१५७४॥

असतः- अविद्यमानस्य नास्ति-न संभवत्येव निषेध इति सिद्धम्। कुत इत्याह संयोगादिप्रतिषेधाद्, आदिशब्दात्समवायसामान्यविशेषपरिग्रहः। एतदुक्तं भवति-इह यत्किं-चित्क्वचित् देवदत्तादिकं निषिध्यते तस्यान्यत्र सत एव विवक्षितस्थाने कस्मिंश्चित्संयोग- समवाय-सामान्य- विशेषलक्षणं चतुष्टयमेव निषिध्यते, न तु सर्वथैव देवदत्तादेर-

भावः प्रतिपाद्यते। तत्र 'नास्ति गृहे देवदत्त' इत्यादिषु गृह-देवदत्तादीनां सतामेव संयोगमात्रं निषिध्यते, न तु तेषां सर्व-थैवास्तित्वमपाक्रियते। तथा-'नास्ति खरविषाणम् इत्यादिषु खरविषाणादीनां सतामेव समवायमात्रं निराक्रियते। तथा- 'नास्त्यन्यश्चन्द्रमाः' इत्यादिषु विद्यमानस्यैव चन्द्रमसोऽन्य- चन्द्रनिषेधाच्चन्द्रसामान्यमात्रं निषिध्यते, न तु सर्वथा चन्द्राभावः प्रतिपाद्यते। तथा-'न सन्ति घटप्रमाणा मुक्ता' इत्यादिषु घटप्रमाणतामात्ररूपो विशेषो मुक्तानां निषिध्यते, न तु मुक्ताभावः, ख्याप्यत इति, एव च सति 'नास्त्यात्मा' इत्यत्र विद्यमानस्यैवात्मनो यत्र क्वचन येन केनचित्सहसंयोगमात्रमेव त्वया निषेद्धव्यम्, यथा 'नास्त्यात्मा वपुषी' त्यादि न तु सर्वथात्मनः सत्त्वमिति। अत्राह कश्चित्-ननु यदि यन्निषिध्यते तदस्ति, तर्हि मत्त्रिलोकेश्वरताप्यस्ति, युष्मदादिभिर्निषिध्य- मानत्वात्; तथा-चतुर्णां समवायादिप्रतिषेधानां, पञ्चमोऽपि प्रतिषेधप्रकारोऽस्ति त्वयैव निषिध्यमानत्वात्, तदयुक्तम्त्रि- लोक्येश्वरताविशेषमात्रं भवतो निषिध्यते, यथा घटप्रमाणत्वं मुक्तानां, न तु सर्वदैवेश्वरता, स्वशिष्यादीश्वरतावास्तवा- पिविद्यमात्वात्। तथा- प्रतिषेधस्यापि पञ्चसंख्याविशिष्ट- त्वमपाक्रियते, न तु सर्वथा प्रतिषेधस्याभावः, चतुःसंख्या- विशिष्टस्य तस्य सद्भावात्। ननु सर्वमप्यसंबद्धमिदम्, तथाहि- मत्त्रिलोकेश्वरत्वं तावदसदेव निषिध्यते, प्रतिषेधस्यापि पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमविद्यमानमेव निवार्यते, तथा संयोग समवाय-सामान्य- विशेषाणामपि गृहदेवदत्तखरविषाणादिष्व- सतामेव प्रतिषेधः इत्यतः 'यन्निषिध्यते तदस्त्येव' इत्येतत्कथं न प्लवते इतयाशङ्क्याह- 'संयोगाइचउक्कं पी' त्यादि, इदमुक्तं भवति- देवदत्तादीनां संयोगादयो गृहादिष्वेवाऽसन्तो निषिध्यन्ते। अर्थान्तरे तुतेषां ते विद्यन्त एव; तथाहि- गृहेणैव सह देवदत्तस्य सेयोगो न विद्यते, अर्थान्तरेण तु क्षेत्रहट्टग्रामादिना सह तस्यासौ समस्त्येव, गृहस्यापि देवदत्तेन सह संयोगो नास्ति, खट्वादिना तु सह तस्यासौ विद्यत एव, एवं विषाणस्यापि खर एव समवायो नास्ति गवादावस्त्येव; सामान्यमपि द्वितीयचन्द्राभावाच्चन्द्र एव नास्ति, अर्थान्तरे तु घटगवादावस्त्येव; घटप्रमाणत्वमपि मुक्तासु नास्ति, अर्थान्तरे तु-कूष्माण्डादावस्त्येव। त्रिलोकेश्वरताऽपि भवत एव नास्ति, तीर्थकरादावस्त्येव पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमपि प्रतिषेधे नाऽस्ति, अर्थान्तरे त्वनुत्तरविद्यमानादावस्त्येव, इत्यनया विवक्षया ब्रूमः- 'यन्निषिध्यते तत्सामान्येनाऽस्त्येव, नत्वेवं प्रतिज्ञानीमहे- यद् यत्र निषिध्यते तत्तत्रैवास्ति, इति, येन व्यभिचारः स्यात्। वयमपि शरीरे जीवं निषेधयामो नान्यत्रेति चेत् साधूक्तम, अस्मत्समीहितस्य सिद्धत्वात्, जीवसिद्ध्यर्थमेव हि यतामहे वयं, स चेत्सिद्धः, तर्हि तत्सिद्धपन्यथानुपपत्तेरेव तदाश्रयः सेत्स्यति किं तया चिन्तया ? न च शरीमन्तरेण जीवस्याश्रयान्तरमुपपद्यते, तत्रैव तदवस्थानलिङ्गोप-लब्धेः, न च वक्तव्यम् शरीरमेव जीवो, 'जीवति मृतो मूर्च्छित' इत्यादि व्यवस्थानुपपत्तेः, इत्यादेरभिधास्यमानत्वादिति।

जीवसिद्धावेवोपपत्त्यन्तरमाह-

जीवो त्ति सत्थयमिणं सुद्धत्तणओ घडाभिहाणं व।
जेणऽत्थेण सदत्थं, सो जीवो अह मई होज्ज।१५७५।।

अत्थो देहो चिय, से नो पज्जायवयणभेयाओ।
नाणाइगुणो य जओ, भणिओ जीवो न देहो त्ति।।१५७६।।

जीव इत्येतद्वचनं सार्थकमिति प्रतिज्ञा, व्युत्पत्तिमत्त्वे सति शुद्धपदत्वात्, इह यद् व्युत्पत्तिमत्त्वे सति शुद्धपदं तदर्थवद् दृष्टं यथा घटादिकं, तथा च जीवपदं, तस्मात्सार्थकं, यत्तु सार्थकं न भवति तद्व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदं च न भवति, यथा डित्थादिकं खरविषाणादिकं च, न च तथा जीवपदं, तस्मात्सार्थकम्। यद्व्युत्पत्तिमन्न भवति तच्छुद्धपदमपि सद् न सार्थकम्। यथा डित्थादिपदम्, इति हेतोरनैकान्तिकतापरिहारार्थं व्युत्पत्ति- मत्त्वविशेषेणं द्रष्टव्यम्। यदपि शुद्धपदं न भवति किं तु सामासिकं तदपि व्युत्पत्तिमत्त्वे सत्यपि सार्थकं न भवति, यथा खर-विषाणादिकम्, इति शुद्धत्वविशेषणम्। अथ मन्यसे देह एवास्य जीवपदस्यार्थो न पुनरर्थान्तरम्, उक्तं च-''देह एवाय-मनुप्रयुज्यमानो दृष्टो, यथैष जीवः, एनं न हिनस्ति'' इति अतो देह एवास्यार्थो युक्त इति। तदेतन्न, कुतः? इत्याह- देहजीवयोः पर्यायवचनभेदात्, यत्र हि पर्यायवचनभेदस्तत्रान्यत्वं दृष्टम्, यथा घटाकाशयोः तत्र घटकुटकुम्भकलशादयो घटस्य पर्यायाः, नभोव्योमान्तरिक्षाऽऽकाशादयस्तु आकाशपर्यायाः। प्रस्तुते च जीवो जन्तुरसुमान्प्राणी सत्त्वो भूत इत्यादयो जीवपर्यायाः, शरीरं वपुः कायो देहः कलेवरमित्यादयस्तु शरीरपर्यायाः। पर्यायवचनभेदेऽपि च वस्त्वेकत्वे सर्वैकत्वप्रसङ्गोऽत्र बाधकम्। यत्पुनरिदमुक्तम्- ''देह एवायमनु-प्रयुज्यमानो दृष्टः'' इत्यादि, तच्छरीरसहचरणावस्थानादितः शरीरे जीवोपचारः क्रियते। किं च-इत्थमपि श्रूयत एव- 'गतः स जीवः, दह्यतामिदं शरीरम्' इति। किं च 'नाणाइ' इत्यादि, यस्माच्च ज्ञानादि-गुणयुतो जन्तुः, जडश्च देहः, तत्कथं देह एव जीवः। प्रागिहैव चोक्तम्-न ज्ञानादिगुणो देहः, मूर्तिमत्त्वाद्, घटवत्; तथा देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा, तदुपरमेऽपि तदुपलब्धार्था- नामनुस्मरणात्, वातायनपुरुषवदिति।

तदद्याप्यप्रतिबुध्यमाने इन्द्रभूतौ भगवानाह-

जीवोऽत्थि वओ सच्चं, मव्वयणाओऽवसेसवयणं व।
सव्वण्णुवयणओ वा, अणुमयसव्वण्णुवयणं व।।१५७७।।

'जीवोऽस्ति' इत्येतद्वचः सत्यं मद्वचनत्वात्, भवत्संशयविषयाद्यवशेष-वचनवत्, यच्च सत्यं न भवति तद् मदीयवचनमपि न भवति यथा कूटसाक्षिवचनम्। अथ वा-सत्यं 'जीवोऽस्ति' इतिवचनं सर्वज्ञवचन-त्वाद्भवदनुमतसर्वज्ञवचनवदिति।

यदि वा-

भयरागदोसमोह-भावाओ सच्चमणइदाइं च।
सव्वं चिय मे वयणं, जाणयमज्झत्थवयणं व।।१५७८।।

सर्वमपि मद्वचनं सत्यम् अनतिपाति च बोद्धव्यं भयरागद्वेषाज्ञानरहितत्वात् इह यद्भयादिरहितस्य वचनं त-

त्सत्यं दृष्टम्, यथा मार्गज्ञस्य भयरहितस्य प्रष्टरि रागद्वेष-रहितस्य मार्गोपदेशवचनम्, तथा च मद्वच: तस्मात्सत्य मनतिपाति चेति।

अत्र गौतममाशङ्क्य भगवानुत्तरमाह–

कह सव्वण्णु त्ति मई, जेणाहं सव्व संसयच्छेई।
पुच्छसु व जं न जाणसि, जेण व ते पच्चओ होज्जा ॥१५७९॥

कथं नाम 'त्वं सर्वज्ञ:' इति ते मति:? एवं त्वं मन्यसे, तथा भयरागद्वेषमोहाभावश्चासिद्ध इति मन्यसे, तदयुक्तम् येनाहं सर्वसंशयच्छेदी यश्च सर्वसंशयच्छेत्ता स सर्वज्ञ एव। दृष्टान्ताभावेनान्वयासिद्धेरनैकान्तिकोऽयं हेतुरिति चेत्, न सर्वसंशयच्छेतृत्वानुपपत्तिरेवेह विपर्यये बाधकं प्रमाणं, किमि-हान्वयान्वेषणेन? यदि वापृच्छ्यतां यत्त्रैलोक्यान्तर्गतं, वस्तु त्वं न जानासि, येन सर्वज्ञत्वप्रत्ययस्तव जायते। भयाद्यभावोऽपि तल्लिङ्गादर्शनात् मयि सिद्ध एवेति स्वयमेव द्रष्टव्यम्। कदाचिदपि लिङ्गादर्शने लिङ्गिनोऽस्तित्वशङ्कायामतिप्रसङ्ग इति।

अथोपसंहरन्नाह–

एवमुवओगलिंगं गोयम! सव्वप्पमाणसंसिद्धं।
संसारीयरथावर-तसाइभेयं मुणे जीवं ॥१५८०॥

एवम्- उक्तेन प्रकारेण जीवम्- आत्मानं गौतम! मुणप्रति-पद्यस्वेति संबन्ध:। कथंभूतम्? उपयोग एव लिङ्गं यस्य स तथा, सर्वै: प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणै: संसिद्धम्प्रतिष्ठितम्, तथा संसारीतरस्थावर-त्रसादिभेदम्। संसारिणश्च इतरेसिद्धा:। आदिशब्दाच्चसूक्ष्मबादर-पर्याप्तापर्याप्तादि भेदपरिग्रह इति। विशे०। (जीवस्यैकत्वनिराकरणयुक्ति: 'एगावाइ' शब्दे तृतीय-भागे ३५ पृष्ठे वक्ष्यते)

अथ ''विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य: समुत्थाय तान्येवानु-विनश्यति; न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति'' इत्यावेद दिवाक्यार्थमनुभाव-यतस्त्यजतोऽपि मम संशयोऽतिविरोधिताहित इव पृष्ठं न मुञ्चति, तत्किं करोमि? इति चेत्तदयुक्तं कुत:? इत्याह–

गोयम! वेयपयाणं, इमाण अत्थं च तं न याणासि।
जं विन्नाणघणो चिय, भूएहिंतो समुत्थाय ॥१५८८॥
मन्नसि मज्जंगेसु व, मयभावो भूयसमुदउब्भूओ।
विण्णाणमेत्तमाया, भूएऽणुविणस्सई सब्भूओ ॥१५८९॥
अत्थि न ये पेच्च सण्णा, जं पुव्वभवेऽभिहाणममुगो त्ति।
जं भणियं न भवाओ, भवंतरं जाइ जीवो त्ति ॥१५९०॥

गौतम! इत्यामन्त्रणम्, वेदपदानाम् -श्रुतिवाक्यानाममीषां ''विज्ञानघन एवैतेभ्य:'' इत्यादीनां चेतसि वर्तमानानामर्थं यथास्थितं त्वं जानासि-नावबुध्यसे। किमिति? अत आह-यद्यस्मात्त्वमात्माभिप्रायेणैवंभूतमिहार्थं मन्यसे विकल्पयसीति संबन्ध:। कथंभूतम्? इत्याह-'विण्णाणघणो चिय' त्ति पृथिव्यादिभूतानां विज्ञानलवसमुदायो विज्ञानघन: पृथिव्यादिवि- ज्ञानांशानां पिण्ड इत्यर्थ: अवधारणं त्वात्मवादिपरिकल्पितस्य भूतसमुदायातिरिक्तस्य ज्ञानदर्शनादिगुणाश्रयस्यात्मनो निरा- सार्थम्। भूतेभ्य:- पृथिव्यादिभ्य: समुदितेभ्यो न तु व्यस्तेभ्यो, ज्ञानस्य तत्समुदायपरिणामाङ्गीकारादिति भाव:, मद्याङ्गेषु- मद्ययकारणेषु धातक्यादिषु मद्भाव इव, कथंभूतो विज्ञानघन:? इत्याह- 'भूयसमुदउब्भूओ विण्णाणमेत्तमाय' त्ति - भूतसमुदा यादुद्भूतस्तदैव जातो न तु परभावात्कश्चिदायातो; विज्ञानमात्ररूप आत्मेत्यर्थ:, समुत्थाय- उत्पद्य ततस्तान्येव-पृथिव्यादिभूतानि विनाशमश्नुवानान्यनु लक्षीकृत्य भूय:पुनरपि स विज्ञानघनो-विज्ञानामात्ररूप: आत्मा विनश्यति, न त्वात्मवादिनामिवान्यभवं याति। अत एव न प्रेत्य भवेपरभवे संज्ञास्ति, यत्पूर्वभवे नारकादिजन्मन्यभिधानमासीत्तत्परभवे नास्ति, यदुत-अमुको नारको देवो वा भूत्वा इदानीं मनुष्य: संवृत्त इत्यादि, नारकादे: प्रागेव सर्वनाशं नष्टत्वादिति भाव: किमिह वाक्ये तात्पर्यवृत्त्या प्रोक्तं भवति? इत्याह-'जं भणियमि त्यादि सर्वथात्मन: समुत्पद्य विनष्टवान्न भवाद्भवान्तरं कोऽपि यातीत्युक्तं भवति।

यद्येवभूतमस्य वेदवाक्यस्यार्थमहम–

वगच्छामि तत: किम्? इत्याह–

गोयम! पयत्थमेवं मन्नंतो नऽत्थि मन्नसे जीवं।
वक्कंतरेसु य पुणो, भणिओ जीवो जमत्थि त्ति ॥१५९१॥
अग्गिहवणाइकिरिया-फलं च तो संसयं कुणसि जीवे।
मा कुरु न पयत्थोऽयं, इमं पयत्थं निसामेहि ॥१५९२॥

गौतम! अस्य वाक्यस्य दर्शितरूपमेव पदार्थं मन्यमानस्त्वं 'नास्ति' इत्येवं जीवं मन्यसे। यस्माच्च पुन: ''न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत:'' इत्यादिषु वेदवाक्यान्तरेषु 'अस्ति' इत्येवं जीवो भणित:- प्रतिपादित:, तथा-''अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:'' इत्यादिवचनादग्निहवनादिक्रियाया: फलं च पारभविकं श्रूयते। न चेदं भवान्तरयायिनमात्मानमनन्तरेणोपपद्यते। अत: किं जीव: अस्ति, नास्ति वा इत्येवं संशयं जीवे करोषि त्वम्; तदमुं मा कृथा: यस्माद् ''विज्ञानघन एव ''इत्यादिवाक्यस्य नाऽयमर्थो यं भवानध्यवस्यति; किं त्वभुम्- वक्ष्यमाणं पदार्थमिह निशमय- आकर्णयेति।

तमेव दर्शयति–

विण्णाणाओऽणण्णो, विण्णाणघणो त्ति सव्वओ वाऽवि॥
स भवइ भूएहिंतो, घडविण्णाणाइभावेण ॥१५९३॥
ताइं चिय भूयाइं, सोऽगणुविस्सइ विणस्समाणाइं।
अत्थंतरोवओगे, कमसो विण्णेयभावेणं ॥१५९४॥

इह विज्ञानघनो जीव उच्यते। कथम्? इति चेत् उच्यते-विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं, ज्ञानदर्शनोपयोग इत्यर्थ:, तेन विज्ञानेन सहानन्यभूतत्वादेकतया घनत्वं निविडत्वमापन्नो विज्ञानघनो जीव: उच्यते। यदि वा-'सव्वओ वा वि' त्ति-सर्वत: प्रतिप्रदेशमनन्तान्तविज्ञानपर्यायसंघातघटितत्वाद्विज्ञानघनो जीव:। एवकारेण तु विज्ञानघन एवासौ, न तु नैयायिकादीनामिव 'स्वरूपेण निर्विज्ञानत्वाज्जडोऽसौ, बुद्धिस्तु तत्र समवेतैव' इति नियम्यते। स भवति उद्यत इति क्रिया। केभ्य? इत्याह-'भूएहिंतो' त्तिभूतानीह घटपटादिज्ञेयवस्तुरूपाण्यभिप्रेतानि, तेभ्यो ज्ञेय-

भावेन परिणतेभ्यः। केन भवति ? इत्याह 'घटोऽयं' 'पटोऽ- यमि' त्यादिविज्ञानभावेन-घटादिज्ञानपर्यायेण। ततः किम्? इत्याशङ्क्य तान्येवानुविनश्यतीत्यस्यार्थमाह- 'ताइं चिए' त्यादि, तान्येव ज्ञानालम्बनभूतानिघटादिभूतानि क्रमशः- कालक्रमेण व्यवधानस्थगनाऽन्यमनस्कत्वादिनार्थान्तरोपयोगे सति विज्ञेयभावेन- ज्ञानविषयभावेन विनाशमश्नुवानानि अनुपश्चात्- तद्बोधपर्यायेण, स विज्ञानघनो विनश्यतीति संबन्धः। ज्ञानपर्यायेण घटादिभ्यो ज्ञेयभूतेभ्यो जीवः समुत्थाय कालक्रमाद् व्यवधानादिना अर्थान्तरोपयोगे सति ज्ञेयभावेन तान्येव विनाशमश्नुवानान्यनुविनश्यतीति तात्पर्यार्थः।

किमित्थं सर्वथाऽयमात्मा विनश्यति ? न इत्याह–

पुव्वावरविण्णाणो-वओगओ विगमसंभवसहाओ।
विण्णाणसन्तईए, विणाणघणोऽयमविनासी ॥१५९५॥

एक एवायमात्मा त्रिस्वभावः। कथम्? इत्युच्यतेअर्थान्त-रोपयोगकाले पूर्वं विज्ञानोपयोगेन तावदयं विगमस्वभावो-विनश्वररूपः, अपरविज्ञानोपयोगतस्तु संभवस्वभाव उत्पाद- स्वरूपः, अनादिकाल-प्रवृत्तसामान्यविज्ञानमात्रसंतत्या पुनरयं विज्ञानघनो जीवः अविनष्ट एवावतिष्ठते। एवमन्यदपि सर्वं वस्तूत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावमेवावगन्तव्यम्, न पुनः किमपि सर्वथात्पद्यते विनश्यति चेति।

'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' इत्येतद्व्याचिख्यासुराह–

न च पेच्च नाणसन्ना-ऽवतिट्ठए संपओवओगाओ।
विण्णाणघणामिक्खो, जीवोऽयं वेयपयमिहिओ ॥१५९६॥

न च प्रत्येति- न चान्यवस्तूपयोगकाले प्राक्तनी ज्ञानसंज्ञाऽस्ति कुतः? सांप्रतवस्तुविषयोपयोगात्। इदमुक्तं भवति यदा घटोपयोगनिवृत्तौ पटोपयोग उत्पद्यते, तदा घटोपयोगसंज्ञा नास्ति, तदुपयोगस्य निवृत्तत्वात्; किं तुपटोपयोगसंज्ञैवास्ति, तदुपयोगस्यैव तदानीमुत्पन्नत्वात्। तस्माद्विज्ञानघनाऽभिख्यो वेदपदेष्वभिहितोऽयं जीवः। ततो गौतम! प्रतिपद्यस्व एनमिति।

पुनरपहि प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह–

एवं पि भूयधम्मो, नाणं तब्भावभावओ बुद्धी।
तन्नो तदभावम्मि वि, जं नाणं वेयसमयम्मि् ॥१५९७॥
अत्थमिए आइच्चे, चंदे संतासु अग्गिवायासु।
किं जोइरयं पुरिसो, अप्पज्जोइ त्ति निद्दिट्ठो ॥१५९८॥

'बुद्धी' ति स्याद् बुद्धिः प्रेकरस्य-एवमपि 'स भवइ भूयेहिंतो' इत्यादिना युष्मद्व्याख्यानप्रकारेणापीत्यर्थः, पृथिव्यादिभूतधर्म एवं ज्ञानं भूतस्वाभावात्मकमेव ज्ञानमिति भावः। कुत इत्याह- 'तब्भावभावउ' त्ति-एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु-विनश्यतीति वचनाद्भूतसद्भावे ज्ञानस्य भावात्; तदभावे चाभावा-दित्यर्थः, यस्य च भावे एव यद्भवति, अभावे च न भवति तत्तस्यैव धर्म्मो, यथा चन्द्रमसश्चन्द्रिका, तथा च ज्ञान-मनुविदधाति भूतान्वयव्यतिरेकौ, तस्मात्तद्भूतधर्म्म एव। तदयुक्तम्, विशिष्टमेव हि नीलपीतादिभूतग्राहकं ज्ञानं तदन्वयव्यतिरेकावनुविदधाति न तु सामान्यं ज्ञानमात्रम्, यस्माद्, भूताभावेऽपि वेदलक्षणे समये सिद्धान्ते 'सामान्यज्ञानं भणितमेव' इति शेषः केन वाक्येन इत्याह-'अत्थमिए' इत्यादि, अस्तमिते आदित्ये, याज्ञ-वल्क्यश्चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नौ, शान्तायां वाचि, किं ज्योतिरेवायं पुरुषः, आत्मज्योतिः सम्राडिति होवाच,'ज्योति रिति-ज्ञानामाह। आदित्याऽस्तमयादौ किं ज्योतिः? इत्याह-'अयं पुरुष' इति, पुरुषः, आत्मेत्यर्थः। अयं च कथंभूत? इत्याह-'अप्पज्जोइ' त्ति-आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽयमात्म-ज्योतिः- ज्ञानात्मक इति हृदयम्, निर्दिष्टो वेदविद्भिः कथितः, ततो न ज्ञानं भूतधर्म्म इति स्थितम्।

इतश्च न ज्ञानं भूतधर्म्मः, कुत ? इत्याह–

तदभावे भावाओ, भावे चाभावओ न तद्धम्मो।
जह घडभावाऽभावे, विवज्जयाओ पडो भिन्नो ॥१५९९॥

न भूतधर्म्मो ज्ञानम्, मुक्तव्यवस्थायां भूताभावेऽपि भावात्, मृतशरीरादौ तद्भावेऽपि चाभावात्, यथा घटस्य धर्म्मः पटो न भवति, किं तु तस्माद्भिन्न एव। कुतः? इत्याह- घटभावाभावे विपर्ययात्-घटभावेऽप्यभावात्; तदभावेऽपि च भावादित्यर्थः। विशे०। आ० म०। आव०। कल्प०। (विशेषस्त्वत्र सम्म-तितर्कग्रन्थादवसेयः)

(१३) अभौतिकत्वमात्मनः–

(पञ्चभूताद् व्यतिरिक्तो गन्धरसोरूपस्पर्शशब्दरूपः भिन्नो न कश्चित् पदार्थः)–

एए पचं महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥८॥

'एए पञ्च महब्भूया' इत्यादि, एतानि-अनन्तरोक्तानि पृथिव्यादीनि पञ्चमहाभूतानि यानि तेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्यः एकः कश्चिच्चिद्रूपो भूताऽव्यतिरिक्त आत्मा भवति; न भूतेभ्यो व्यतिरिक्तोऽपरः कश्चित्परः-परकल्पितः परलोकानुयायी सुखदुःखभोक्ता जीवाख्यः पदार्थोऽस्ती-त्येवमाख्यातवन्तस्ते, तथाहि-एवं प्रमाणयन्ति- न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्मास्ति, तद्ग्रहकप्रमाणाभावात्, प्रमाणं चात्र प्रत्यक्षमेव, नानुमानादिकम्, तत्रेन्द्रियेण साक्षादर्थस्य संबन्धाभावाद्व्यभिचार-संभवः। सति च व्यभिचारसंभवे सदृशे च बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यादिति सर्वत्रानाश्वासः। तथाचोक्तम्-''हस्तस्पर्शादिबान्धेनविषमे पथि धावता। अनुमानप्रधानेन, विनिपातो न दुर्लभः'' ॥१॥ अनुमानं चात्रोपलक्षणमागमादीनामपि। साक्षादर्थसंबन्धाभावाद्ध- स्तस्पर्शेनेव प्रवृत्तिरिति। तस्मात्प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं, तेन च भूतव्यतिरिक्तस्यात्मनो न ग्रहणम्। यत्तु चैतन्यं तेषूपलभ्यते तद्भूतेष्वेव कायाकारपरिण-तेष्वभिव्यज्यते मद्याङ्गेषु समुदितेषु मदशक्तिवदिति। तथा न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्यत्वाद् घटादिवदिति तदेवं भूतव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभावाद् भूतानामेव चैतन्याभिव्यक्तिर्जलस्य बुद्बुदाभिव्यक्तिवदिति। केषांचिल्लोकायतिकानामाकाशस्यापि भूतत्वेनाभ्युपगमाद्ध- तपञ्चकोपन्यासो न दोषायेति। ननु च यदि भूतव्य-

तिरिक्तोऽपरः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते कथं तर्हि मृत इति व्यपदेश इत्याशङ्क्याह-अथैषां कायाऽऽकारपरिणतौ चैतन्याभिव्यक्तौ सत्यां तदूर्ध्वं तेषामन्यतमस्य विनाशे-अपगमे वायोस्तेजसश्च उभयोर्वा देहिनोदेवदत्ताख्यस्य विनाशः-अपगमो भवति, ततश्च मृत इति व्यपदेशः प्रवर्तते, न पुनर्जीवापगम इति भूताऽव्यतिरिक्त चैतन्यवादिपूर्वपक्ष इति।

अत्र प्रतिसमाधानार्थं निर्युक्तिकृदाह-

पंचण्हं संजोए, अण्णगुणाणं च चेयणाइगुणो।
पंचिंदियठाणाणं, ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो ॥३३॥

'पंचण्हं संजोए' इत्यादि, पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां संयोगे-कायाकारपरिणामे चैतन्यादिकः। आदिशब्दात्भाषा- चङ्क्रमणादिकश्च गुणो न भवतीति प्रतिज्ञा, अन्यादयस्त्वत्र हेतुत्वेनोपात्ताः। दृष्टान्तस्त्वभ्यूह्यः, सुलभत्वात्तस्य नोपादानम्। तत्रेदं चार्वाकः प्रष्टव्यः- यदेतद्भूतानां संयोगे चैतन्यमभिव्यज्यते तत्किं तेषां संयोगेऽपि स्वातन्त्र्य एव, आहोस्वित् परस्परापक्षया पारतन्त्र्ये इति। किंचातः ? न तावत्स्वातन्त्र्ये, यत आह- 'अन्नगुणाणं चे' ति-चैतन्यादन्ये गुणा येषां तान्यन्यगुणानि, तथाहि-आधारकाठिन्यगुणा पृथिवी, द्रवगुणा आपः, पक्तृगुणं तेजः, चलनगुणो वायुः, अवगाहदानगुणमाकाशमिति। यदि वा प्रागभिहिता गन्धादयः पृथिव्यादीनामेकैकपरिहान्याऽन्ये गुणाश्चैतन्यादिति, तदेवं पृथिव्यादीन्यन्यगुणानि, चशब्दो द्वितीयविकल्पवक्तव्यतासूचनार्थः, चैतन्यगुणे साध्ये पृथिव्यादीनामन्यगुणानां सतां चैतन्यगुणस्य पृथिव्यादीना- मेकैकस्याप्यभावान्न तत्समुदायाचैतन्याख्यो गुणः सिद्ध्यतीति, प्रयोगस्तत्र भूतसमुदायः स्वातन्त्र्ये सति धर्मित्वेनोपादीयते, न तस्य चैतन्याख्यो गुणोऽस्तीति साध्यो धर्मः, पृथिव्या दीना-मन्यगुणत्वात्, यो योऽन्यगुणानां समुदायस्तत्र तत्राऽपूर्वगुणोत्पत्तिर्न भवतीति, यथा सिकतासमुदायै स्निग्धगुणस्य तैलस्य नोत्पत्तिरिति, घटपटसमुदाये वा न स्तम्भाद्याविर्भाव इति, दृश्यते चाकाये चैतन्यं, तदात्मगुणो भविष्यति, न भूतानामिति। अस्मिन्नेव साध्ये हेत्वन्तरमाह- 'पंचिंदिय-ठाणाणं' ति-पञ्च चतानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रात्रा ख्यानीन्द्रियाणि तेषां स्थानानि- अवकाशास्तेषां चैतन्य गुणाभावान्न भूतसमुदाये चैतन्यम्। इदमत्र हृदयम्- लोकायतिकानां हि अपरस्य द्रष्टुरनध्युपगमादिन्द्रियाण्येव द्रष्टृणि। तेषां च यानि स्थानान्युपादानकारणानि तेषामचिद्रूपत्वान्न भूतसमुदाये चैतन्यमिति, इन्द्रियाणां चामूनि स्थानानि। तद्यथा- श्रोत्रेन्द्रियस्याकाशं सुषिरात्मकत्वात्, घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवी तदात्मकत्वात्, चक्षुरिन्द्रियस्य तेजस्तद्रूपत्वात्, एवं रसनेन्द्रियस्याऽऽपः स्पर्शनेन्द्रियस्य वायुरिति। प्रयोगश्चात्र- नेन्द्रियाण्युपलब्धिमन्ति तेषामचेतनगुणाऽऽरब्धत्वात्, यद्यदचेतनगुणाऽऽरब्धं तत्तदचेतनम्, यथा घटपटादीनि। एवमपि च भूतसमुदाय चैतन्याभाव एव साधितो भवति, पुनर्हेत्वन्तरमाह- 'ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो' त्ति- इहेन्द्रियाणि प्रत्येकं भूतात्मकानि तान्येवापरस्य द्रष्टुरभावाद् द्रष्टृणि तेषां च प्रत्येकं स्वविषयग्रहणादन्यविषये चाप्रावृत्तेर्नान्यदिन्द्रियज्ञातमन्यदिन्द्रियं जानातीत्यतो मया पञ्चापि विषया ज्ञाता इत्येवमात्मकः संकलनाप्रत्ययो न प्राप्नोति, अनुभूयते चायं, तस्मादेकेनैव द्रष्टा भवितव्यम्, तस्यैव च चैतन्यं न भूतसमुदायस्येति, प्रयोगः पुनरेवम्-न भूतसमुदाये चैतन्यं, तदारब्धेन्द्रियाणां प्रत्येक-विषयग्राहित्वे सति संकलना- प्रत्ययाभावात्, यदि पुनरन्यगृहीतमप्यन्यो गृह्णीयाद्देवदत्तगृहीतं यज्ञदत्तेनापि गृह्येत न चैतद् दृष्टमिष्टं चेति। ननु च स्वातन्त्र्यपक्षेऽयं दोषः। यदा पुनः परस्पर-सापेक्षाणां संयोगपारतन्त्र्याभ्युपगमेन भूतानामेव समुदि तानां चैतन्याख्यो धर्मः संयोगवशादाविर्भवति, यथा किंण्वोदकादिषु मद्याङ्गेषु समुदितेषु प्रत्येकमविद्यमानापि मदशक्तिरिति तदा कुतोऽस्य दोषस्यावकाश इति। अत्रोत्तरम् गाथो पात्तचशब्दाऽऽक्षिप्तमभिधीयते-यत्तावदुक्तं यथा भूतेभ्यः परस्परव्यपेक्षसंयोगभाग्भ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते, तत्र विकल्पयामः-किमसौ संयोगः संयोगिभ्यो भिन्नः अभिन्नो? वा भिन्नश्चेत्षष्ठभूतप्रसङ्गो नचान्यत्पञ्चभूतव्यतिरिक्तसंयोगाख्य- भूतग्राहकं भवतां प्रमाणमस्ति प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमात्तेन च तस्याग्रहणात् प्रमाणान्तराभ्युपगमे च तेनैव जीवस्यापि ग्रहणमस्तु तथाऽभिन्नो भूतेभ्यो भूतानामेव संयोगस्तत्राप्ये तच्चिन्तनीयं किं भूतानि प्रत्येकं चेतनावन्ति, अचेतनावन्ति वा यदि चेतनावन्ति तदा एकेन्द्रियसिद्धिस्तदा समुदायस्य पञ्चप्रकारचैतन्यापत्तिः, अथअचेतनानि तत्रोक्तो दोषो न हि यद्यत्र प्रत्येकमविद्यमानं तत्समुदाये भवदुपलभ्यते सिकतासु तैलवदित्यादिना। यदप्यत्रोक्तम्- यथा मद्याङ्गेष्वविद्यमानाऽपि प्रत्येकं मदशक्तिः समुदाये प्रादुर्भवतीति। तदप्ययुक्तम्, यतस्तत्र किंण्वादिषु या च यावती शक्तिरुपलभ्यते, तत्राहि-किण्वे बुभुक्षापनयनसामर्थ्यं भ्रमिजननसामर्थ्यं चोदकस्य तृडपनयनसामर्थ्यमित्यादिनेति, भूतानां प्रत्येकं चैतन्याऽनभ्युपगमे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यम्। किं च-भूतचैतन्याभ्युपगमे मरणाऽभावो, मृतकायेऽपि पृथिव्यादीनां भूतानां सद्भावात्, नैतदस्ति, तत्र-मृतकाये वायोस्तेजसो वा अभावान्मरणसद्भाव इत्यशिक्षितस्योल्लापः। तथाहि-मृतकाये शोफोपलब्धेर्न वायोरभावः कोथस्य च पक्तिस्वभावस्य दर्शनान्नाग्नेरिति, अथ सूक्ष्मः कश्चिद्वायुविशेषोऽग्निर्वा ततोऽपगत इति मतिरित्येवं च जीव एव नामान्तरेणाभ्युपगतो भवति, यत् किंचिदेतत्। तथा न भूतसमुदायमात्रेण चैतन्याविर्भावः पृथिव्यादिष्वेकत्र व्यवस्था- पितेष्वपि चैतन्यानुपलब्धेः। अथ कायाकारपरिणतौ सत्यां तदभिव्यक्तिरिष्यते, तदपि न यतो लेप्यमयप्रतिमायां समस्तभूतसद्भावेऽपि जडत्वमेवोपलभ्यते। तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोच्यमानो नायं चैतन्याख्यो गुणो भूतानां भवितुमर्हति, समुपलभ्यते चायं शरीरेषु। तस्मात् पारिशेष्यात् जीवस्यैवायमिति स्वदर्शनपक्षपातं विहाया- ङ्गीक्रियतामिति। यच्चोक्तं प्राग् न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्मा-स्ति, तद्ग्राहकप्रमाणा-भावात्, प्रमाणं चात्र प्रत्यक्ष-मेवैकमित्यादि, तत्र प्रतिविधीयते- यत्तावदुक्तम्- 'प्रत्यक्षमेवैकं

प्रमाणं नानुमानादिकम्' इत्येतदनुपासितगुरोर्वचः । तथाहि- अर्थाऽविसंवादकं प्रमाणमित्युच्यते, प्रत्यक्षस्य च प्रामाण्य-मेवं व्यवस्थाप्यते। काश्चित्प्रत्यक्षव्यक्तीर्धर्म्मित्वेनोपादाय प्रमाणयति- प्रमाणमेता अर्थाऽवि संवादकत्वादनुद्भूतप्रत्यक्ष-व्यक्तिवत् । न च ताभिरेव प्रत्यक्षव्यक्तिभिः स्वसंविदिताभिः परं व्यवहारयितुमयमीशस्तासां स्वसन्निविष्टत्वान्मूकत्वाच्च । प्रत्य-क्षस्य नानुमानं प्रमाणमित्य-नुमानेनैवानुमाननिरासं कुर्वंश्चार्वाक; कथं नोन्मत्तः स्यात्? एव ह्यसौ तदप्रामाण्यं प्रतिपादयेत् । यथा नानुमानं प्रमाणं विसंवादकत्वाद्दनु-भूतानुमानव्यक्तिवदित्येतच्चा-नुमानम्, अथ परप्रसिध्यैतदुच्यते तदयुक्तम्, यतस्तत्पर-प्रसिद्धमनुमानं भवतः प्रमाणम्; अप्रमाणं वा ? प्रमाणं चेत्कथम-नुमानप्रमाणमित्युच्यते, अथाऽप्रमाणं कथमप्रमाणेन सता तेन परः प्रत्याय्यते ? परेण तस्य प्रामाण्येनाभ्युपगतत्वादिति चेतदप्यसांप्रतम्, यदि नाम परो मौढ्यादप्रमाणमेव प्रमाणमित्य-ध्यवस्यति किं भवताऽतिनिपुणेनापि तेनैवाऽसौ प्रतिपाद्यते ? यो ह्यज्ञो गुडमेव विषमिति मन्यते किं तस्य मारयितुकामेनापि बुद्धिमता गुड एव दीयते? तदेवं प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्याप्रमाण्ये व्यवस्थापयतो भवतोऽ- निच्छतोऽपि बलादायातमनुमानस्य प्रामाण्यम्। तथा स्वर्गा-पवर्गदेवतादेः प्रतिषेधं कुर्वन् भवान् केन प्रमाणेन करोति ? न तावत्प्रत्यक्षेण प्रतिषेधः कर्तुं पार्यते, यतस्तत्प्रत्यक्षं प्रवर्त्तमानं वा तन्निषेधं विदध्यान्निवर्त्तमानं वा ? न तावत्प्रवर्तमानं, तस्याऽभावविषयत्व-विरोधात् नापि निवर्तमानम्, । यतस्तच्च नास्ति तेन च प्रतिपत्तिरित्यसङ्गतम् । तथाहि- व्यापकविनिवृत्तौ व्याप्यस्यापि निवृत्तिरिष्यते, न चार्वाकदर्शितप्रत्यक्षेण समस्तवस्तुव्याप्तिः संभाव्यते, तत्कथं प्रत्यक्षविनिवृत्तौ पदार्थव्यावृत्तिरिति? । तदेव स्वर्गाऽऽदेः प्रतिषेधं कुर्वता चार्वाकेणाऽवश्यं प्रमाणान्तरमभ्युपगतम् । तथाऽन्याभिप्राय-विज्ञानाभ्युपगमादत्र स्पष्टमेव प्रमाणान्तरमभ्युपगतम् । अन्यथा कथं परावबोधाय शास्त्रप्रणयनमकारि चार्वाकेणत्य- लमतिप्रसङ्गेन । तदेवं प्रत्यक्षादन्यदपि प्रमाणमस्ति तेनात्मा सेत्स्यति किं पुनस्तदिति चेत्, उच्यते-अस्त्यात्मा, असाधारण- तद्गुणोपलब्धेः, चक्षुरिन्द्रियवत् । चक्षुरिन्द्रियं हि न साक्षा-दुपलभ्यते । स्पर्शनादीन्द्रियाऽसाधारणरूप-विज्ञानोत्पादन-शक्त्यात्वनुमीयते। तथाऽऽत्मापि पृथिव्याद्यसाधारण-चैतन्य-गुणोपलब्धेरस्तीत्यनुमीयते, चैतन्यं च तस्यासाधारणगुण इत्येतत्पृथिव्यादिभूतसमुदाये चैतन्यस्य निराकृतत्वादवसेयम् । तथाऽस्त्यात्मा समस्तेन्द्रियोपलब्धार्थसंकलनाप्रत्ययसद्भावात् । पञ्चगवाक्षानन्योपलब्धार्थसंकलनाविधाय्येकदेवदत्तवत्, तथाऽत्माऽर्थद्रष्टा नेन्द्रियाणि । तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थस्म-रणात, गवाक्षोपरमेऽपि तद्द्वारोपोलब्धार्थस्मर्तृदेवदत्तवत्। तथाऽर्थापत्त्याप्या-त्मास्तीत्यवसीयते, तथाहि- सत्यपि पृथिव्यादिभूतसमुदाये लेप्यकर्मादौ न सुखदुःखेच्छाद्वेषप्र-यत्नादिक्रियाणां सद्भाव इत्यतः सामर्थ्यादवसीयते । अस्ति भूतातिरिक्तः कश्चित्सुखदुःखेच्छादीनां क्रियाणां समवायिकारणं पदार्थः, स चात्मेति, तदेवं प्रत्यक्षानुमाना-दिपूर्विकाऽन्याप्य-र्थापत्तिरभ्यूह्या । तस्यास्त्विदं लक्षणम्- 'प्रमाणषट्कविज्ञातो, यत्राऽर्थो नाऽन्यथाभवन् । अदृष्टं कल्पयेदन्यं, सार्थापत्ति-रुदाहृता'' ॥१॥ तथाऽऽगमादप्य- स्तित्वमवसेयम् । स चायमागमः- ''अत्थि मे आया उववाइए'' इत्यादि । यदि वा-किमत्राऽपर- प्रमाणचिन्तया? सकलप्रमाणज्येष्ठेन प्रत्य-क्षेणैवात्माऽस्तीत्यवसीयते । तद्गुणस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात् । ज्ञानगुणस्य च गुणिनोऽनन्यत्वात् प्रत्यक्ष एवाऽऽत्मा रूपादिगुणप्रत्यक्ष-त्वेन पटाऽऽदिप्रत्यक्षवत्, तथाहि- अहं सुखी अहं दुःखी एवमाद्यहंप्रत्ययग्राह्यश्चात्मा प्रत्यक्षः, अहंप्रत्ययस्य स्वसंविद्रूपत्वादिति । ममेदं शरीरं पुराणं कर्मेति च शरीराद्भेदेन निर्दिश्यमानत्वादित्या-दीन्यन्यान्यपि प्रमाणानि जीवसिद्धाव- भ्यूह्यानीति। तथा यदुक्तमन भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्यत्वात् घटादिवदिति, एतदप्यसमीचीनम्, हेतोर-सिद्धत्वात्, तथाहि-न भूतानां कार्यं चैतन्यं, तेषामतद्गुणत्वात् भूतकार्यचैतन्ये संकलनाप्रत्ययासंभवाच्च इत्यादिनोक्तप्रायम्, अतोऽस्त्यात्मा भूतव्यतिरिक्तो ज्ञानाधार इति स्थितम् । ननु च किं ज्ञानाधारभूतेनात्मना ज्ञानाद्भिन्नेनाश्रितेन? यावता ज्ञानादेव सर्वसंकलनाप्रत्ययादिकं सेत्स्यति, किमात्मनान्तर्गडुकल्पे-नेति। तथाहि-ज्ञानस्यैव चिद्रूपत्वाद् भूतैश्चेतनैः काया-कारपरिणतैः सह संबन्धे सति सुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्नक्रियाः प्रादुष्यन्ति तथा संकलनाप्रत्ययो भवान्तरगमनं चेति । तदेवं व्यवस्थिते किमात्मना कल्पितेनेति? अत्रोच्यते- न ह्यात्मान-मेकमाधारभूतमन्तरेण संकलनाप्रत्ययो घटते, तथाहि-प्रत्येकमिन्द्रियैः स्वविषयग्रहणे सति परविषये चाप्रवृत्तेरेकस्य च परिच्छेत्तुरभावात् । मया पञ्चापि विषयाः परिच्छिन्ना इत्यात्मकस्य संकलनाप्रत्ययस्याभाव इति । आलयविज्ञानमेकमस्तीति चेत्, एवं सत्यात्मन एव नामान्तरं भवता कृतं स्यात्। न च ज्ञानाख्यो गुणो गुणिनमन्तरेण भवतीत्यवश्यम् आत्मना गुणिना भाव्यमिति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० । सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्य-चित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात् क्षितिधरकन्धराधिकरणधूमध्वजवत् । एवं चन्द्रसूर्योपरागादि सूचकज्योतिर्ज्ञानाविसंवादान्यथाऽनुपपत्तिप्रभृत-योऽपि हेतवो वाच्याः । तदेवमाप्तेन सर्वविदा प्रणीत आगमः प्रमाणमेव। तदप्रामाण्यं हि प्रणायकदोषनिबन्धनम्; ''रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषा- स्तस्यानृतकारणं किं स्यात्'' ॥१॥ इति वचनात्। प्रणेतुश्च निर्दोषत्वमुपपादितमेव। इति सिद्ध आगमादप्यात्मा- ''एगे आया'' इत्यादिवचनात् । तदेवं प्रत्यक्षानुमानागमैः सिद्धःप्रमाता । स्या० १७ श्लोक ।

प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा ॥५५॥

अतति-परापरपर्यायान् सततं गच्छतीत्यात्मा- जीवः। रत्ना०७ परि०। (अस्य टीका रत्नाकरावतारिकाग्रन्थादवसेया) (शून्यवादनिराकरण-पूर्विकाऽऽत्मत्वसिद्धिः विस्तरतः स्याद्वादमञ्जरीग्रन्थादवसेया)

(१४) साम्प्रतं कस्या दिश आगतोऽहमिति प्रकृतमनुस्रियते। यो हि 'सोऽहम्' इत्यनेनाहङ्कारज्ञानेनात्मोल्लेखेन पूर्वादिदिश आगतमात्मानमवच्छिन्नसन्ततिपतितं द्रव्यार्थतया नित्यम्। पर्य्यायार्थतया त्वनित्यं जानाति स परमार्थत आत्मवादीति। सूत्रकृद्दर्शयति–।

अत्थि मे आया उववाइये, जो इमाओ दिसाओ अणुदि-साओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोहं (सूत्र-४×) आचा०१ श्रु०१ अ०१,उ०।

(अस्य सूत्रस्य व्याख्या चतुर्थभागात् -२५२६ पृष्ठे करिष्यमाणादवगन्तव्या)

से आयावादी, लोगावादी, कम्मावादी, किरियावादी। (सूत्र-५)।

'से' इति-यो भ्रान्तः पूर्वं नारकतिर्यङ्नरामराद्यासु भावदिक्षु पूर्वाद्यासु च प्रज्ञापकदिक्षु अक्षणिकामूर्तादिलक्षणोपेत- मात्मानमवैति स इत्थंभूत आत्मवादीति आत्मानं वदितुं शीलमस्येति। यः पुनरेवंभूतमात्मानं नाभ्युपगच्छति। सोऽना- त्मवादी; नास्तिक इत्यर्थः। योऽपि सर्वव्यापिनं नित्यं क्षणिकं वाऽऽत्मानमभ्युपैति; सोऽप्यनात्मवाद्येव यतः सर्वव्यापिनो निष्क्रियत्वाद्भवान्तरसंक्रान्तिर्न स्यात्सर्वथा नित्यत्वेऽपि अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यमिति कृत्वा मरणाऽभावेन भवान्तरसंक्रान्तिरेव न स्यात्,सर्वथा क्षणिकत्वेऽपि निर्मूल- विनाशात् सोऽहमित्यनेन पूर्वोत्तरानुसंधानं न स्यात्। य एव चात्मवादी स एव परमार्थतो लोकवादी। यतो-लोकयतीति लोकः-प्राणिगणस्तं वदितुं शीलमस्येत्यनेन चात्माद्वैतवादि- निरासेनात्मबहुत्वमुक्तम्, यदि वा-लोकाऽप्नतीति लोकः- चतुर्दशरज्वात्मकः, प्राणिगणो वा, तत्राऽऽपतितुं शीलमस्ये- त्यनेन च विशिष्टाकाशखण्डस्य लोकसंज्ञा वंदिता, तत्र च जीवास्तिकायस्य संभवेन जीवानां गमनागमनमावेदितं भवति। य एव च दिगादिगमनपरिज्ञानेनात्मवादी लोकवादी च संवृत्तः स एवासुमान् कर्मवादी कर्म-ज्ञानवरणीयादि तद्वदितुं शीलमस्य यतो हि प्राणिनो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैः पूर्वं गत्या-दियोग्यानि कर्माण्याददते, पश्चात्तासु तासु विरूपरूपासु योनिषूत्पद्यन्ते। कर्म च प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशात्मक- मवसेयमिति। अनेन च कालयदृच्छा-नियतीश्वरात्मवादिनो निरस्ता द्रष्टव्याः। तथा य एव कर्मवादी; स एव क्रियावादी। यतः कर्म्म योगनिमित्तं बध्यते, योगश्च- व्यापारः, स च क्रियारूपः, अतः कर्मणः कार्यभूतस्य वदनात्तत्कारणभूतायाः क्रियायाः अप्यसावेव परमार्थतो वादीति क्रियायाश्च कर्मनिमित्तत्वं प्रसिद्धमागमे, स चायमागमः 'जाव णं भंते ! एस जीवे सया समियं एयइ वेयइ चलति फंदति घट्टति तिप्पति जाव तं तं भावं परिणयति ताव (वं) च णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एकविहबंधए वा णो णं अबंधए'' त्ति। एवं च कृत्वा य एव कर्म्मवादी स एव क्रियावादीति। अनेन च साङ्ख्याभिमतमात्मनोऽक्रियावादित्वं निरस्तं भवति।

सांप्रतं पूर्वोक्तां क्रियामात्मपरिणतिरूपां विशिष्टकालाभिधायिनातिङ्प्रत्ययेनाभिदधदहंप्रत्ययसाध्यस्यात्मनस्तद्भव एवावधिमनः पर्यायकेवलज्ञानजातिस्मरणव्यति-रेकेणैव त्रिकाल- संस्पर्शिना मतिज्ञानेन सद्भावावगमं दर्शयितुमाह अकरिस्सं च हं कारवेसुं च हं करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि। (सूत्र-६)

इह भूतवर्त्तमानभविष्यत्कालापेक्षया कृतकारितानुमतिभिर्नववविकल्पाः संभवन्ति, ते चामी-अहमकार्षमचीकरमहं कुर्वन्तमन्यमनुज्ञासिषमहं करोमि कारयाम्यनुजानाम्यहमिति करिष्या-म्यहं कारयिष्याम्यहं कुर्वन्तमन्यमनुज्ञास्याम्यहमिति, एतेषां च मध्ये आद्यन्तौ सूत्रेणैवोपात्तौ तदुपादानाच्च तन्मध्यपातिनां सर्वेषां ग्रहणम्, अस्यैवार्थस्याविष्करणाय द्वितीयो विकल्पः। ''कारवेसुं चऽहमिति'' सूत्रेणोपात्तः, एते च चकारद्वयोपादानादपिशब्दो-पादानाच्च मनोवाक्कायैश्चिन्त्यमानाः सप्तविंशतिः २७ भेदा भवन्ति, अयमत्र भावार्थः अकार्षमहमित्यत्राहमित्यने-नात्मोल्लेखिना विशिष्टक्रियापरिणतिरूप आत्मा अभिहित-स्ततश्चायं भावार्थो भवति-स एवाऽहं येन मयास्य देहादेः पूर्वं यौवनावस्थायामिन्द्रियवशगेन विषयविषमोहितान्धचेतसा तत्तदकार्य्यानुष्ठानपरायणेनानुकूल्यमनुष्ठितम्। उक्तञ्च-''विहवावलेबनडिएहिं, जाइं कीरंति जोव्वणमएणं। वयपरिणामे सरियाइं ताइं हियए खुडुक्कंति'' ॥१॥ तथा अचीकरमहमित्यनेन परोपकार्यादौ प्रवर्त्तमानो मया प्रवृत्तिं कारितः, तथा कुर्वन्तमन्यमनुज्ञातवानित्येवं कृतकारितानुमतिभिर्भूतकालाभिधानं, तथा करोमीत्यादिना वचनत्रि-केण वर्त्तमानकालोल्लेखः, तथा करिष्यामि कारयिष्यामि कुर्वतोऽन्यान्प्रति समनुज्ञापरायणो भविष्यामीत्यनागत-कालोल्लेखः, अनेन च कालत्रयसंस्पर्शेन देहेन्द्रियाति-रिक्तस्यात्मनो भूतवर्तमानभविष्यत्कालपरिणतिरूपस्यास्तित्वावगतिरावेदिता भवति, सा च- नैकान्तक्षणिकनित्य-वादिनां संभवतीत्यतोऽनेन ते निरस्ताः क्रियापरिणामेनात्मनः परिणामित्वाभ्युपगमादिति, एतदनुसारेणैव संभवानुमानादतीतानागतयोरपि भवयोरात्मास्तित्वमवसेयम्। यदि वा-अनेन क्रियाप्रबन्धप्रतिपादनेन कर्म्मण उपादानभूतायाः क्रियायाः स्वरूपमावेदितमिति।

अथ किमेतावत्य एव क्रियाः उतान्या अपि सन्तीत्येता एवेत्याह–

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति। (सूत्र-७)

एतावन्तः सर्वेऽपि लोकेप्राणिसंघाते कर्मसमारम्भाः क्रिया-विशेषा ये प्रागुक्ताः अतीतानागतवर्त्तमानभेदेन कृतकारिता नुमतिभिश्चाशेषक्रियानुप.यिना च करोतिना सर्वेषां संग्रहा-दित्येतावन्त एव परिज्ञातव्या भवन्ति; नान्ये इति। परिज्ञा च ज्ञप्रत्याख्यानभेदाद् द्विधा, तत्र ज्ञपरिज्ञायामात्मनो बन्धस्य चास्तित्वमेतावद्भिरेव सर्वैः कर्म्मसमारम्भैर्ज्ञातं भवति प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सर्वे पापोपादानहेतवः कर्मसमारम्भाः प्रत्याख्यातव्या इति। इयता सामान्येन जीवास्तित्वं प्रसाधितम्।

अधुना तस्यैवात्मनो दिगादिभ्रमणहेतूपदर्शनपुरस्सरमपायान् प्रदर्शयितुमाह-यदि वायस्तावदात्मकर्मादिवादी स दिगा दिभ्रमणान्मोक्ष्यते इतरस्य तु विपाकान्दर्शयितुमाह–

अपरिण्णायकम्मा खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ अणु संचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ साहेति (सूत्र-८)

'अपरिज्ञाये' त्यादि, योऽपं पुरि शयनात्पूर्णः सुखदुःखानां वा पुरुषो जन्तुर्मनुष्यो वा, प्राधान्याच्च पुरुषस्योपादानम्, उपलक्षणं चैतत्, सर्वोऽपि चतुर्गत्यापन्नः प्राणी गृह्यते दिशोऽनुदिशो वा अनुसञ्चरति, सः अपरिज्ञातकर्माअपरिज्ञातं कर्माऽनेनेत्यपरि- ज्ञातकर्मा, खलुरवधारणे, अपरिज्ञातकर्मैव दिगादौ भ्राम्यति नेतर इति, उपलक्षणं चैतद् अपरिज्ञाताऽऽत्मा अपरिज्ञात-क्रियश्चेति यश्चापरिज्ञातकर्मा स, सर्वा दिशः सर्वाश्चानुदिशः 'साहेति' स्वयंकृतेन कर्मणा सहानुसञ्चरति, सर्वग्रहणं सर्वासां प्रज्ञापकदिशां भावदिशां च उपसंग्रहार्थम्।

स यदाप्नोति तद्दर्शयति–

अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे पडि-संवेदेइ (सूत्र-९)

आचा०। (कति जीवोत्पत्तिस्थानानि इति 'जोणि' शब्दे चर्तुथ-भागे वक्ष्यते।) एताश्चानेकरूपा योनीर्दिगादिषु पर्यटन्न-परिज्ञातकर्माऽसुमान् 'संधेइ' त्ति-सन्धयति सन्धिं करोत्यात्मना सहाऽविच्छेदेन संघट्टयतीत्यर्थः, ''सन्धावइ'' त्ति- पाठान्तरं, सन्धावति, पौनःपुन्येन तासु गच्छतीत्यर्थः, तत्सन्धाने च यदनुभवति तद्दर्शयतिविरूपं वीभत्सममनोज्ञं रूपं स्वरूपंयेषां स्पर्शानां दुःखोपनिपातानां ते तथा स्पर्शाश्रिता दुःखोपनिपाताः स्पर्शा इत्युक्तास्तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति कृत्वा उपलक्षणं चैतन्मानस्योऽपि वेदना ग्राह्या अतस्तानेवंभूतान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयतिअनुभवति प्रतिग्रहणात्प्रत्येकं शारीरान्मानसांश्च दुःखोपनिपाताननुभवतीत्युक्तं भवति स्पर्शग्रहणं चेह सर्वसंसारान्तर्वर्तिजीवराशिसंग्रहार्थं, स्पर्शनेन्द्रियस्य सर्वजीवव्यापित्वात्, अत्रेदमपि वक्तव्यं, सर्वान्विरूपरूपान् रसगन्धरूपशब्दान्, प्रतिसंवेदयतीति विरूपरूपत्वञ्च स्पर्शानां कार्यभूतानाम् विचित्र-कर्मोदयात् कारणभूताद्भवतीति वेदितव्यं, विचित्र- कर्मोदयाच्चापरिज्ञातकर्मा संसारी स्पर्शादीन्विरूपरूपांस्तुेषु तेषु योन्यन्तरेषु विपाकतः परिसंवेदयतीति, आह च–

''तैः कर्म्मभिः स जीवो, विवशः संसारचक्रमुपयाति।
द्रव्यक्षेत्राद्धाभा-वभिन्नमावर्त्तते बहुशः ॥१॥
नरकेषु देवयोनिषु, तिर्यग्योनिषु च मनुजयोनिषु च।
पर्यटति घटीयन्त्रव-दात्मा विप्रच्छरीराणि ॥२
सततानुबद्धमुक्तं, दुःखं नरकेषु तीव्रपरिणामम्।
तिर्यक्षु भयक्षुत्तृड्-बधादिदुःखं सुखं चाल्पम् ॥३॥
सुखदुःखे मनुजानां, मनःशरीराश्रये बहुविकल्पे।
सुखमेव हि देवानां, दुःखं स्मर्त्तव्य इत्यपि भवम् ॥४॥
कर्मानुभावदुःखित, एवं मोहान्धकारगहनवति।
अन्ध इव दुर्गमार्गे, भ्रमति हि संसारकान्तारे ॥५॥
दुःखप्रतिक्रियार्थं, सुखाभिलाषाच्च पुनरपि तु जीवः।
प्राणिबधादीन् दोषा-नधितिष्ठिति मोहसंछन्न ॥६॥
बध्नाति ततो बहुविध-मन्यत्पुनरपि नवं सुबहु कर्म।
तेनाथ पच्यते पुन-रग्नेरग्निं प्रविश्यैव ॥७॥
एवं कर्माणि पुनः, पुनः सम्बध्नंस्तयैव मञ्चंश्च।
सुखकामो बहुदुःखं, संसारमनादिकं भ्रमति ॥८॥
एवं भ्रमतः संसा-रसागरे दुर्लभं मनुष्यत्वम्।
संसारस्य महत्त्वं, त्वधर्मदुष्कर्म्मबाहुल्यैः ॥९॥
आर्यो देशः कुलरूप-सम्पदायुश्च दीर्घमारोग्यम्।
यतिसंसर्गः श्रद्धा, धर्म्मश्रवणं च मतितैक्ष्णयम् ॥१०॥
एतानि दुर्लभानि, प्राप्तवतोऽपि दृढमोहनीयस्य।
कुपथाकुलेऽर्हदुक्तोऽ-तिदुर्लभो जगति सन्मार्गः'' ॥११॥

यदि वा-योऽयं पुरुषः सर्वा दिशोऽनुदिशश्चानुसञ्चरति तथा अनेकरूपा योनीः सन्धावति विरूपविरूपांश्च स्पर्शान् प्रति-संवेदयति 'सोऽविज्ञातकर्मा' अविज्ञातम् -अविदितं कर्म्म क्रियाव्यापारो मनोवाक्कायलक्षणः अकार्षमहं, करोमि, करिष्या-मीत्येवंरूपः जीवोपमर्दात्मकत्वेन बन्धहेतुः सावद्यो येन सोऽयम-विज्ञातकर्मा, अविज्ञातकर्मत्वेन च तत्र तत्र कर्मणि जीवोपम-र्दादिके प्रवर्त्तते येन येनास्याष्टविधकर्म्मबन्धो भवति, तदुदया-च्चानेकरूपयोन्यनुसन्धानं विरूपरूपस्पर्शनिभवश्च भवतीति।

यद्येवं ततः किमित्यत आह–

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेइया। (सूत्र-१०)

(अस्य सूत्रस्य व्याख्या 'परिण्णा' शब्दे पञ्चमे भागे करिष्यते) आचा० १ श्रु०१ अ०१ उ०।

अमुमेवार्थं निर्युक्तिकृदाह–

**तत्थ अकारि करिस्सं-ति बंधचिंता कया पुणो होइ।
सहसंगइया जाणइ कोऽई पुण हेउजुत्तीए ॥६७॥**

तत्र-कर्मणि-क्रियाविशेषे, किम्भूत इत्याह-'अकारि करिस्संति' अकारीति-कृतवान 'करिस्संति' करिष्यामीत्य नेनातीतानागतोपादानेन तन्मध्यवर्तिनो वर्तमानस्य कारिता-नुमत्योश्चोपसंग्रहात् -नवापि भेदा आत्मपरिणामत्वेन योगरूपा उपात्ता द्रष्टव्याः, तत्रानेनात्मपरिणामरूपेण क्रियाविशेषेण बन्धचिन्ता कृता भवति बन्धस्योपादानमुपात्तं भवति, ''कर्म-योगनिमित्तं बध्यत'' इति वचनात्, एतच्च कश्चिज्जानाति आत्मना सह या सन्मतिः स्वमतिर्वाऽवधिमनः पर्याय केवलिजा-तिस्मरणरूपा तया जानाति, कश्चिच्च पक्षधर्म्माऽन्वयव्यतिरेक-लक्षणया हेतुयुक्त्येति।

अथ किमर्थमसौ कटुकविपकेषु कर्माश्रवहेतुभूतेषु क्रिया-विशेषेषु प्रवर्त्तत इत्याह–

इम्मस चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाई-मरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं। (सूत्र-११)

तत्र जीवितमिति जीवन्त्यनेनायुष्कर्म्मणेति जीवितंप्राणधारणं, तच्च *प्रतिप्राणि स्वसंविदितमिति कृत्वा प्रत्यक्षासन्नवाचिना इदमा निर्दिशति* यशब्दो वक्ष्यमाणजात्यादिसमुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणे अस्यैव जीवितस्यार्थपरि-

फल्गुसारस्य तडिल्लताविलसितचञ्चलस्य बह्वपायस्य दीर्घ-सुखार्थं क्रियासु प्रवर्तते। तथा हि-जीविष्याम्यहमरोगः सुखेन भोगान् भोक्ष्ये ततो व्याध्यपनयनार्थं स्नेहापानलावकपिशित-भक्षणादिषु क्रियासु प्रवर्त्तते, तथा अल्पस्य सुखस्य कृतेऽभिमानग्रहाकुलितचेता बह्वारम्भपरिग्रहाद् बह्वशुभं कर्माऽऽदत्ते, उक्तञ्च-

''द्वे वाससी प्रवरयोषिदपयशुद्धा,
शय्यासनं करिवरस्तुरगो रथो वा।
काले भिषग्नियमिताशनपानमात्रा,
राज्ञः पराक्यमिव सर्वमवेहि शेषम्॥२॥
पुष्ट्यर्थमन्नमिह यत्प्रणिधिप्रयोगैः,
संत्रासदोषकलुषो नृपतिस्तु भुङ्क्ते।
यन्निर्भयः प्रशमसौख्यरतिश्च भैक्षं,
तत् स्वादुतां भृशमुपैति न पार्थिवाऽन्नम्॥२॥
भृत्येषु मन्त्रिषु सुतेषु मनोरमेषु,
कान्तासु वा मधुमदाङ्कुरितेक्षणासु।
विश्रम्भमेति न कदाचिदपि क्षितीशः,
सर्वाभिशङ्कितमतेः कुतस्तु सौख्यम्'' ॥३॥

तदेवमनवबुद्धतरुणकिशलयपलाशचञ्चलजीवितरतयः कर्मा- ऽऽश्रवेषु जीवितोपमर्दादिरूपेषु प्रवर्त्तन्ते तथा अस्यैव जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं हिंसादिषु प्रवर्तन्ते। तथा परिवन्दनम्- संस्तवः; प्रशंसा तदर्थमाचेष्टते, तथाहि- अहं मयूरादिपिशिता-शनाद्बली तेजसा देदीप्यमानो देवकुमार इव लोकानां प्रशंसास्पदं भविष्यामीति माननम्- अभ्युत्थानासनदानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपं तदर्थं वा चेष्टमानः कर्माऽऽचिनोति, तथा पूजनंपूजा द्रविण वस्त्रान्नपानसत्कारप्रमाण-सेवाविशेषरूपं तदर्थ च प्रवर्त्तमानः क्रियासु कर्माश्रवैरात्मानं सम्भावयति, तथाहि- वीरभोग्या वसुन्धरेति मत्वा पराक्रमते, दण्डभयात्सर्वाः प्रजा बिभ्यतीति दण्डयति, इत्येवं राज्ञामन्येषामपि यथासम्भवमायोजनीयम्, अत्र च वन्दनादीनां द्वन्द्वसमासं कृत्वा तादर्थ्ये चतुर्थी विधेया, परिवन्दनमाननपूजनाय जीवितस्य कर्माश्रवेषु प्रवर्त्तन्त इति समुदायार्थः। न केवलं परिवन्दनाद्यर्थमेव कर्मादत्ते, अन्या-र्थमप्यादत्त इति दर्शयति-जातिश्च मरणश्च मोचनश्च जातिमरण-मोचनमिति समाहारद्वन्द्वात्तादर्थ्ये चतुर्थी, एतदर्थं च प्राणिनः क्रियासु प्रवर्तमानाः कर्मादत्ते, तत्र जात्यर्थं क्रौञ्चारि-वन्दनादिकाः क्रिया विधत्ते; तथा यान् यान् कामान् ब्राह्मणादिभ्यो ददाति तांस्तानन्यजन्मनि पुनर्जातो भोक्ष्यते, तथा मनुना-ऽप्युक्तम्- ''वारिदस्तृप्तिमाप्नोति, सुखमक्षयन्नदः। तिलप्रदः प्रजामिष्टामायुष्कमभयप्रदः'' ॥१॥ अत्र चैकमेव सुभाषितम्- अभयप्रदानमिति; तुषमध्ये कणिकावदिति एवमादिकुमा-र्गोपदेशात् हिंसादौ प्रवृत्तिं विदधाति, तथा मरणार्थमपि पितृपिण्डदानादिषु क्रियासु प्रवर्त्तते, यदि वाममानेन सम्बन्धी व्यापादितस्तस्य वैरनिर्यातनार्थं वधबन्धादौ प्रवर्त्तते, यदि वा मरणनिवृत्त्यर्थमात्मनो दुर्गाद्युपयाचितमजादिना बलिं विधत्ते, यशोधर इव पिष्टमयकुक्कुटेन तथा मुक्त्यर्थमज्ञानावृतचेतसः पञ्चाग्नितपोऽनुष्ठानादिकेषुप्राण्युपमर्द्दकारिषु प्रवर्त्तमानः कर्माऽऽददते, यदि वाजातिमरणयोर्विमोचनाय हिंसादिकाः क्रियाः कुर्वते, ''जाइमरणमोयणाए''- त्ति पाठान्तरम् तत्र भोजनार्थं कृष्यादिकर्मसु प्रवर्त्तमाना वसुधाजलज्वलनप-वनवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियव्यापत्तये व्याप्रियन्त इति। तथा दुःखप्रतिघातमुररीकृत्यात्मपरित्राणार्थ-मारम्भानासेवन्ते, तथा हिव्याधिवेदनार्ता लावकपिशितमदिराद्यासेवन्ते तथा वनस्पतिमूलत्वक्पत्रनिर्यासादिसिद्धशतपाकादितैलार्थम-न्यादि- सम्मारम्भेण पापं कुर्वन्ति, स्वतः कारयन्त्यन्यैः कुर्वतोऽन्यान् समनुजानत इत्येवमतीतानागतकालयोरपि मनोवाक्कायय़ोगैः कर्माऽऽदानं विदधतीत्यायोजनीयम्। तथा दुःखप्रतिघातार्थमेव सुखोत्पत्त्यर्थं च कलत्रपुत्रगृहोपस्कराद्या-ददते तल्लाभपालनार्थं च तासु तासु क्रियासु प्रवर्तमानाः पापकर्माऽऽसेववन्त इति। उक्तञ्च- ''आदौ प्रतिष्ठाधिगमे प्रयासो, दारेषु पश्चाद् गृहिणः सुतेषु। कर्तुं पुनस्तेषु गुणप्रकर्षं, चेष्टा तदुचैः पदलङ्घनाय'' ॥१॥ तदेवंभूतैः क्रियाविशेषैः कर्मोपादाय नानादिक्ष्वनुसञ्चरन्ति अनेकरूपासु च योनिषु सन्धावन्ति विरूपरूपांश्च स्पर्शान् प्रतिसंवेदयन्ति, इत्येतज्ज्ञात्वा क्रियाविशेषनिवृत्तिर्विधेयेति।

एतावन्त एव च क्रियाविशेषा इति दर्शयितुमाह-

एयावन्ति सव्वान्ति लोगंसि कम्मसमारम्भा परिजाणियव्वा भवन्ति। (सूत्र-१२)

'एतावंती' त्यादि 'एआवन्ति सव्वावन्ति' इति-एतौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिध्या एतावन्तः सर्वेऽपीत्येतत्पर्यायौ एता-वन्त एव सर्वस्मिन लोकधर्माऽधर्मास्तिकायावच्छिन्ने नभः खण्डे ये पूर्वं प्रतिपादिताः कर्मसमारम्भाः- क्रियाविशेषाः नैतेभ्योऽधिकाः केचन सन्तीत्येवं परिज्ञातव्या भवन्ति, सर्वेषां पूर्वत्रो-पादानादिति भावः, तथाहि- आत्मपरोभयैहिकामुष्मिकाऽतीताऽनागत वर्तमानकाल-कृतकारिताऽनुमतिभिरारम्भाः क्रियन्ते, ते च सर्वेऽपि प्रागुपात्ता यथा सम्भवमायोज्या इति।

एवं सामान्येन जीवास्तित्वं प्रसाध्य तदुपमर्द्दकारिणां च क्रिया-विशेषाणां बन्धहेतुत्वं प्रदर्श्योपसंहारद्वारेण विरतिं प्रतिपाद-यन्नाह-

जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि। (सूत्र-१३)

'जस्से' त्यादि, भगवान् समस्तवस्तुवेदी केवलज्ञानेन साक्षा-दुपलभ्यैवमाहयस्यमुमुक्षोरेतेपूर्वोक्ताः कर्मसमारम्भाः क्रिया-विशेषाः कर्मणो वा ज्ञानावरणीयाद्यष्टप्रकारस्य समारम्भा उपा-दानहेतवस्ते च क्रियाविशेषा एव परिसमन्तात् ज्ञाताः परिच्छिन्नाः कर्म्मबन्धहेतुत्वेन भवन्ति, हुरवधारणे, मनुते मन्यते वा जगत-स्त्रिकालावस्थामिति मुनिः स एव मुनिर्ज्ञपज्ञिया परिज्ञातकर्म्मा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्यातकर्म्मबन्धहेतुभूतसमस्तम-नोवाक्कायव्यापार इति अनेन च मोक्षाङ्गभूते ज्ञानक्रिये उपात्ते भवतो, न ह्याभ्यां विना मोक्षो भवति, यत उक्तम्-''ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः'' इति। इतिशब्द एतावानयमात्मपदार्थ-

विचारः कर्मबन्धहेतुविचारश्च सकलोद्देशकेन परिसमापित इति प्रदर्शकः, यदि वा-'इति' -एतदहं ब्रवीमि यत्प्रागुक्तं यच्च वक्ष्ये तत् सर्वं भवगदन्तिके साक्षात् श्रुत्वेति । आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ० । (आत्माऽस्तित्वे बहुभङ्गाः क्रियावादिनः, अक्रियावादिनः, ते च 'अकिरियावाइ' शब्दे प्रथमभागे दर्शिताः । 'किरिया-वाइ' शब्दे तृतीयभागे च दर्शयिष्यामि ।)

आत्मास्तित्वं विस्तरेण–

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं-इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ। (सूत्र-१)। तं जहा पुरच्छिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चच्छिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं णो णायं भवति। (सूत्र-२)

आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ० । (अनयोः सूत्रयोर्व्याख्यानं 'सण्णा' शब्दे सप्तमभागे करिष्यते) अत्रस्थनिर्युक्तिगाथाव्याख्यानम् 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे करिष्यते) अत्र च सामान्यदिग्ग्रहणेऽपि यस्यां दिशि जीवानामाविर्भावेन गत्यागती स्पष्टे सर्वत्र संभव-तस्तयैवेहाधिकार इति तामेव निर्युक्तिकृत्साक्षाद्दर्शयति भावादिग्भावेन भाविनी सामर्थ्यादधिकृतैव यतस्तदर्थमन्वादिश-श्चिन्तयन्नाह । आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ । तत्रेह- एवमेगेसिं णो णायं भवइ' इत्यनेन केषांचिदेव संज्ञानिषेधात्केषांचित्तु भवती-त्युक्तं भवति । तत्र सामान्यसंज्ञायां प्रतिप्राणि सिद्धत्वा-त्तत्कारणपरिज्ञानस्य चेहाकिंचित्करत्वा द्विशिष्टसंज्ञायास्तु केषांचिदेव भावात्तस्याश्च भवान्तरगात्म्यात्मनः स्पष्टप्रतिपादने सोपयोगित्वाद् सामान्यसंज्ञाकारणप्रतिपादनमनादृत्य विशिष्ट-संज्ञायाः कारणं सूत्रकृद्दर्शयितुमाह–

से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं अंतिए वा सोच्चा, तं जहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, ०जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं जं णायं भवति-अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोऽहं। (सूत्र-४)

आचा०१ श्रु०१० अ०१ उ० । (अस्य सूत्रस्य व्याख्यानम् 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे करिष्यते)

इममेवार्थं निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमना गाथात्रितयमाह–

जाणइ सयं मतीए, अन्नेसिं वाऽवि अंतिए सोच्चा।
जाणगजणपण्णविओ, जीवं तह जीवकाए वा ॥६४॥

एत्थ य सह सम्मइय-त्ति जं एयं तत्थ जाणना होइ।
ओहीमणपज्जवना-णकेवले जाइसरणे य ॥६५॥
परवइवागरणं पुण, जिणवागरणं जिणा परं नऽत्थि।
अण्णेसिं सोच्चं ति य जिणेहिँ सव्वो परो अण्णो ॥६६॥

'जाणइ' त्यादि 'एत्थये' त्यादि, 'परे' त्यादि कश्चिदना-दिसंसृतौ पर्यटन्नबध्यादिकया चतुर्विधया स्वकीयया मत्या जानाति । अनानुपूर्वीन्यायप्रकटनार्थं पश्चादुपात्तमप्यन्येषा-मित्येतत्पदं तावदाचष्टे अन्येषां वाऽतिशयज्ञानिनामन्तिके श्रुत्वा जानाति, तथा-'जाणगजणपण्णविओ' इत्यनेन परव्याकरण-मुपात्तं, तेनायमर्थोज्ञाप-कस्तीर्थकृत तत्प्रज्ञापितश्च जानाति यज्जानाति तत्स्वत एव दर्शयति-सामान्यतो 'जीवमि' ति अनेन चाधिकृतोद्देशकस्यार्थाधिकारमाह, तथा- 'जीवकायांश्च' पृथ्वीकायादीन् इत्यनेन चोत्तरेषां षण्णामप्यु-द्देशकानां यथाक्रममधिकारार्थमाहेति, अत्र- च-'सहम्मइए'त्ति-सूत्रे यत् पदं, तत्र 'जाणण' त्ति-ज्ञानमुपात्तं भवति, 'मन' ज्ञाने, मननं मतिरिति कृत्वा, तच्च किंभूतमिति दर्शयति अवधिमनः पर्यायकेवलजातिस्म-रणरूपमिति, तत्रावधिज्ञानी संख्येयानसंख्ये-यान्वा भवान् जानाति एवं मनःपर्यायज्ञान्यऽपि, केवली तु नियमतोऽनन्तान्, जातिस्मरणस्तु नियमतः संख्येयानिति, शेषं स्पष्टम् अत्र च-सहसन्मत्यादिपरिज्ञाने सुखप्रतिपत्त्यर्थं त्रयो दृष्टान्ताः प्रदर्श्यन्ते, तद्यथावसन्तपुरे नगरे जितशत्रू राजा, धारणी महादेवी, तयोर्द्धर्म्मरुच्यभिधानः सुतः । स च राजाऽन्यदा तापसत्वेन प्रव्रजितुमिच्छुर्द्धर्मरुचिं राज्ये स्थापयितुमुद्यतः । तेन च जननी पृष्टा किमिति तातो राज्यश्रियं त्यजति?, तयोक्तं किमनया चपलया नारकादिसकलदुःखहेतुभूतया स्वर्गापवर्गमार्गार्गलयाऽवश्यम-पायिन्या परमार्थत इह लोकेऽप्यभिमान-मात्रफलयेत्यतो विहायैनां सकलसुखसाधनं धर्मं कर्तुमुद्यतः; धर्मरुचिस्तदाकर्ण्योक्तवान्यद्येवं किमहं तातस्यानिष्टो येनैवंभूतां सकलदोषाश्रयणीं मयि नियोजयति, सकलकल्याणहेतो-र्द्धर्मात्प्रच्याव्ययतीत्यभिधाय पित्राऽनुज्ञातस्तेन सह तापसा-श्रममगात्, तत्र च सकलास्तापसक्रिया यथोक्ताः पालयन्नास्ते । अन्यदामावास्यायाः पूर्वाह्णे केनचित्तापसेनोक्तं यथा भोः भोः तापसाः श्वोऽनाकुट्टिर्भविता अतोऽद्यैव समित्कुसुमकुशकन्द-फलमूलाद्याहरणं कुरुतैतच्चाकर्ण्य धर्मरुचिना जनकः पृष्टस्तात ! केयमनाकुट्टिरिति तेनोक्तंपुत्र ! कन्दफलादीनामच्छेदनं तद्भ्यमावास्यादिकेविशिष्टे पर्वदिवसे न वर्त्तते, सावद्य-त्वाच्छेदनादिक्रियायाः । श्रुत्वा चैतदसावचिन्तयत्-यदि सर्वदानकुट्टिः स्याच्छोभनं भवेद्, एवमध्यवसायिनस्त-स्यामावास्यायां तपोवनसन्नपथेन गच्छतां साधूनां दर्शनम-भूत्तेच तेनाभिहिताः किमद्य भवतामनाकुट्टिर्न सञ्जाता येनाटवीं प्रस्थिताः, तैरप्यभिहितं यथाऽस्माकं यावज्जीवमनाकुटिः, इत्यभिधायातिक्रान्ताः साधवस्तस्य च तदाकर्ण्येहापोहविमर्शेन जातिस्मरणमुत्पन्नंयथाहं जन्मान्तरे प्रव्रज्यां कृत्वा देवलोक-सुखमनुभूयेहागत इति एवं तेन विशिष्टदिगागमनं स्वमत्या जातिस्मरणरूपया विज्ञातं, प्रत्येकबुद्धश्च जातः, एवमन्येऽपि वल्कलचीरिश्रेयांसप्रभृतयोऽत्र योज्या

जना यथा देशेनापीति देशतोऽपि शृणोति विवक्षितशब्दानां मध्ये कांश्चिच्छृणोतीति सर्व्वेणापीति सर्वतश्च सामस्त्येन; सर्वानिवेत्यर्थः, एवं रूपादीनपि, तथा विवक्षितस्य देशं सर्व्वं वा विवक्षितमवभासयत्येवं प्रभासयति एव विकुर्व्वणीयं विकुरुते परिच रणीयं स्त्रीसरीरादि परिचारयति भाषणीयापेक्षया देशतो भाषां भाषते सर्व्वतो वेति अभ्यवहार्यमाहारयति, आहृतं परिणमयति, वैद्यं कर्म्म वेदयति देशतः सर्व्वतो वा, एवं निर्जरयत्यपि। स्था० २ ठा० २ उ०।

(२३) आत्मनिरूपणम्। तथा च पूर्वाचार्यकृतगाथाः—

'जीवो अणाइनिहणो, अविणासी अक्खओ धुवो निचं।
दव्वट्ठयाए णिचो, परियायगुणेहि य अणिचो ॥१॥
जह पंजराउ सउणी, घडाउ वयराणि कंचुआ पुरिसो।
एवं न चेव भिण्णो, जीवो देहाउ संसारी ॥२॥
जह खीरोदगतिलतिल्ल-कुसुमगंधाण दीसइ न भेओ।
तह चेव न जीवस्स वि, देहादचंतिओ भेओ ॥३॥
संकोअविकोएहि य, जहक्कमं देहलोयमित्तो वा।
हत्थिस्स व कुंथुस्स व पएससंखा समा चेव ॥४॥
कालो जहा अणाई, अविणासी होई तिसु वि कालेसु।
तह जीवो वि अणाई, अविणासी तिसु वि कालेसु ॥५॥
गयणं जहा अरूवी, अवगाहगुणेण घिप्पई तं तु।
जीवो तहा अरूवी, विण्णाणगुणेण घेत्तवो ॥६॥
जह पुढवी अविणट्ठा, आहारो होई सव्वदव्वाणं।
तह अहारो जीवो, नाणाईणं गुणगणाणं ॥७॥
अक्खयमणंतमउलं, जह गयणं होइ तिसु वि कालेसु।
तह जीवो अविणासी, अवट्ठिओ तिसु वि कालेसु ॥८॥
जह कणगाओ कीरं-ति पज्जवा मउलकुंडलाईया।
दव्वं कणगं तं चिय, नाम विसेसो इमो अन्नो ॥९॥
एवं चंउगाईए, परिब्भमंतस्स जीवकणगस्स।
नामाइँ बहुविहाइं, जीवदव्वं तयं चेव ॥१०॥
जह कम्मयरो कम्मं, करेइ भुंजेइ सो फलं तस्स।
तह जीवो वि अकम्मं, करेइ भुंजेइ तस्स फलं ॥११॥
उज्जोवेउं दिवसं, जह सूरो वच्चई पुणो अत्थं।
नय दीसइ सो सूरो, अन्नं खित्तं पयासतो ॥१२॥
जह सूरो तह जीवो, भवंतरं वच्चए पुण्णो अन्नं।
तत्थ वि सरीरमन्नं, खेत्तं व रवी पयासेई ॥१३॥
फुल्लुप्पलकमलाण चंदणअगरूण सुरहिगंधीणं।
घिप्पइ नासाइगुणो, न य रूवं दीसए तेसिं ॥१४॥
एवं नाणगुणेणं, घिप्पइ जीवो वि बुद्धिमंतेहि।
जह गंधो तह जीवो, न हु संक्खा कीरए भित्तुं ॥१५॥
भंभामउहमद्दल-पणवमकुंदाण संखसन्नाणं।
सद्दु चिय सुव्वइ, के—वलु त्ति न हु दीसई रूवं ॥१६॥
पच्चक्खं गहगहिओ, दीसई पुरसो न दीसई पिसाओ।
आगारेहिँ मुणिज्जइ, एवं जीवो वि देहठिओ ॥१७॥
हसइ विरूसइ रूसई, नच्चइ गाएइ रुयइ सुहदुक्खं।
जीवो देहमइगओ, विविहपयारं पयंसेइ ॥१८॥
जह आहारो भुत्तो, जिआण परिणमइ सत्तभेएहिं।
बस १ सोणिय २ मंस ३ ऽट्ठिअ ४-मज्जा ५ तह मेय ६ सुक्केहिं ७ ॥१९॥
एवं अट्ठविहं चिअ, जीवेण अणाइसहगयं कम्मं।
जह कणगपाहाणे, अणाइसंजोगनिप्फन्नं ॥२०॥
जीवस्स य कम्मस्स य, अणाइमं चेव होई संजोगो।
सो वि उवाएण पुढो, कीरइ न दलाउ जह कणगं ॥२१॥
जह पुव्वयरं कम्मं, जीवो वा जइ हविज्ज वा वई कोई।
सो वत्तव्वो कुक्कुडि-अंडाणं भणसु को पढमो ॥२२॥
जह अंडसंभवा कुक्कुडि, त्ति अंडं च कुक्कुडी उ भवं।
न य पुव्वाऽवरभावो, जह तह कम्माण जीवाणं ॥२३॥
अणुमाणपहे सिद्धं, छउमत्थाणं जिणाण पच्चक्खं।
गिण्हसु गणहर! जीवं अणाइयमक्खयसरूवं ॥२४॥
कत्थ य जीवो बलिओ, कत्थ य कम्माइँ हुंति बलियाइं।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वनिबद्धाइँ वेराइं ॥२५॥

ग० २ अधि०।

(२४) आत्मतत्त्वनिरूपणं बौद्धादिसम्मतात्मत्वनिराकरणेन प्रदर्शितम्—

बौद्धास्तु-बुद्धिक्षणपरंपरामात्रमेवाऽऽत्मानमाम्नासिषुः, न पुनर्मौक्तिककणनिकरनिरन्तरानुस्यूतैकसूत्रवत्तदन्वयिनमेकम्। ते लोकायतलुण्टाकेभ्योऽपि पापीयांसः, तद्भावेऽपि तेषां स्मरणप्रत्यभिज्ञानाद्यघटनात्; तथा हि-पूर्वबुद्ध्यानुभूतेऽर्थे नोत्तर-बुद्धीनां स्मृतिः सम्भवति, ततोऽन्यत्वात्, सन्तानान्तरबुद्धिवत्। न ह्यन्यदृष्टोऽर्थोऽन्येन स्मर्यते, अन्यथैकेन दृष्टोऽर्थः सर्वैः स्मर्येत। स्मरणाभावे कौतुस्कुती प्रत्यभिज्ञाप्रसूतिः? तस्याः स्मरणानुभवोभयसम्भवत्वात्; पदार्थप्रेक्षणप्रबुद्धप्राक्तन- संस्कारस्य हि प्रमातुः स एवायमित्याकरणेयमुत्पद्यते। अथ स्यादयं दोषो यद्यविशेषेणान्यदृष्टमन्यः स्मरतीत्युच्यते किं त्वन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावादेव स्मृतिः, भिन्नसन्तानबुद्धीनां तु कार्यकारणभावो नाऽस्ति, तेन सन्तानान्तराणां स्मृतिर्न भवति; न चैकसान्तानिकीनामपि बुद्धीनां कार्यकारणभावो नास्ति, येन पूर्वबुद्ध्यनुभूतेऽर्थे तदुत्तरबुद्धिनां स्मृतिर्न स्यात्। तदप्यनवदातम्, एवमपि नानात्वस्य तदवस्थत्वात्। अन्यत्वं हि स्मृत्यसंभवे साधनमुक्तम्, तच्च कार्यकारणभावाभिधानेऽपि नाऽपगतम्, न हि कार्यकारणभावाभिधाने तस्यासिद्धत्वा-दीनामन्यतमो दोषः प्रतिपद्यते। नाऽपि स्वपक्षसिद्धिस्तेन क्रियते, न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यत्रोभयप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः। अथ "यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव संधत्ते, कर्प्पासे रक्तता यथा ॥१॥" इति कर्प्पासरक्त- तादृष्टान्तोऽस्तीति चेत्। तदसाधीयः साधनदूषणाऽसंभवात्। अन्वयाद्यसंभवात् न साधनं-न हि कार्यकारणभावो यत्र तत्र स्मृतिः कर्पासे रक्तताविदित्यन्वयः संभवति, नाऽपि यत्र न स्मृतिस्तत्र न कार्यकारणभाव इति व्यतिरेकोऽस्ति। असि-द्धत्वाद्यनुद्भावनाच्च न दूषणम्। न हि ततोऽन्यत्वादित्यस्य हेतोः कर्प्पासे रक्तताविदित्यनेन कश्चिद्दोषः प्रतिपाद्यते। किं च- यद्यन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावेन स्मृतेरुत्पत्तिरिष्यते, तदा शिष्याचार्यादिबुद्धीनामपि कार्यकारणभावसद्भावेन स्मृत्यादि स्यात्। अथ नाऽयं प्रसङ्गः एकसन्तानत्वे सतीति विशेषणादिति चेत्, तदयुक्तम्, भेदाऽभेदपक्षाभ्यां तस्योपक्षीणत्वात्। क्षणपरं-

परातस्तस्याऽभेदे हि क्षणपरंपरैव सा, तथा चं सन्तान इति न किंचिदतिरिक्तमुक्तम्। भेदे तु पारमार्थिकोऽपारमार्थिको वाऽसौ स्यात्। अपारमार्थिकत्वे त्वस्य तदेव दूषणम्। पारमा-र्थिकत्वे स्थिरो वा स्यात्, क्षणिको वा । क्षणिकत्वे सन्तानि-निर्विशेष एवायमिति किमनेनस्तेनभीतस्यस्तेनान्तरशरण स्वीकरणकारिणा?

''स्थिरमथ सन्तानमभ्युपेयाः, प्रथयन्तं परमार्थसत्स्वरूपम्। अमृतं पिब पूतयाऽनयोक्त्या, स्थिरवपुषः परलोकिनः प्रसिद्धेः ॥१॥'' उपादानोपादेयभावप्रबन्धेन प्रवर्तमानः कार्यकारण- भाव एव सन्तान इति चेत् । तदवद्यम्, अविष्वग्भावादिसंबन्ध-विशेषाभावे कारणत्वमात्राऽविशेषादुपादानेतरविभागनुपपत्तेः । सन्तानजनकं यत्तदुपादानमिति चेत्। न, इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् सन्तानजनकत्वे-नोपादानकारणत्वम्, उपादानकारणजन्यत्वेन च सन्तानत्वमिति। लोके तु समानजातीयानां कार्यकारणभावे सन्तानव्यवहारः क्रियते। तद्यथा-ब्राह्मणसन्तान इति, तत्प्रसिद्ध्या चास्माभिरपि शब्दप्रदीपादिषु सन्तानव्यवहारः क्रियते। तवापि यद्येवमभिप्रेतः सन्तानस्तदा कथं न शिष्याचार्यबुद्धीनामेक- सन्तानत्वम् ? नह्यासां समानजातीयत्वं कार्यकारणभावो वा नाऽस्ति, ततः शिष्यस्य चिरव्यवहिता अपि बुद्धयः पारंपर्येण कारणमिति तदनुभूतेऽप्यर्थे यथा स्मृतिर्भवति तथोपाध्याय-बुद्धयोऽप्याजन्मप्रभृत्युत्पन्नाः पारंपर्येण कारणमिति तदनुभूते-ऽप्यर्थे स्मृतिर्भवेत्। किंच-धूमशब्दादीनामुपादानकारणं विनैवो-त्पत्तिस्तव स्यात्, न हि तेषामप्यनादिप्रबन्धेन समानजातीयं कारणमस्तीति शक्यते वक्तुम्, तथा च ज्ञानस्यापि गर्भादाव-नुत्पादनैवोत्पत्तिः स्यादिति परलोकाभावः। अथ धूमशब्दादीनां विजातीयमप्युपा-दानमिष्यते, एवं तर्हि ज्ञानास्याप्युपादानं गर्भशरीरमेवास्तु न जन्मान्तरज्ञानं कल्पनीयम्, यथा दर्शनं ह्यु पादानमिष्टम्, अन्यथा धूमशब्दा- दीनामप्यनादिः सन्तानः कल्पनीयः स्यादिति सन्तानघटनात्, न परेषां स्मृत्यादिव्यवस्था नापि परलोकः कोऽपि प्रसिद्धिपद्धतिं दधाति परलोकिनः कस्यचिदसंभवात्। सत्यपि वा परलोके कथमकृता-भ्यागमकृतप्रणाशौ पराक्रियेते ? येन हि ज्ञानेन चैत्यवन्दनादि कर्मकृतम्, तस्य विनाशान्न तत्फलोपभोगो यस्य च फलोपभोगस्तेन न तत्कर्म कृतमिति । अथ नाऽयं दोषः, कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात्, अनादिप्रबन्धप्रवृत्तो हि ज्ञानानां हेतुफलभावप्रवाहः। स च सन्तान इत्युच्यते तद्वशात्सर्वो व्यवहारः संगच्छते। नित्यस्त्वात्माभ्युपगम्यमानो यदि सुखादिजन्मना विकृतिमनुभवति। तदयमनित्य एव चर्मा- दिवदुक्तः स्यात्, निर्विकारकत्वे तु सताऽसता वा सुख- दुःखादिना कर्मफलेन कस्तस्य विशेषे? इति कर्मवैफल्यमेव। तदुक्तम् -''वर्षाऽऽतपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्। चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः, खतुल्यश्चेद-सत्समः ॥१॥'' इति तस्मात् त्यज्यतामेष मूर्द्धाभिषिक्तः प्रथमो मोह आत्मग्रहो नाम, तन्निवृतावात्मीयग्रहोऽपि विरंस्यति। अहमेव न, किं मम ? इति। तदिदमहङ्कारममकारग्रन्थिप्रहाणेन नैरात्म्यदर्शनमेव निर्वाणद्वारम्, अन्यथा कौतुस्कुती निर्वाणवार्तापि ? तदपि वार्तम्, हेतुफलभावप्रवाहस्वभावस्य सन्तानस्यान्तरमेव नियामकत्वेन निरस्तत्वात्। यत्पुनः सुखादिविकाराभ्युपगमे चर्मादिवत् आत्मनोऽनित्यत्वं प्रसञ्जितं तदिष्टमेव, कथंचिद-नित्यत्वेनात्मनः स्याद्वादिभिः स्वीकारात्। नित्यत्वस्य कथंचिदेवाभ्युपगमात्। यत्तु नित्यत्वे अस्यात्मीयग्रहसद्भावेन मुक्त्यनवाप्तिदूषणमभाणि तदप्यनवदातं विदितपर्यन्त-विरससंसारस्वरूपाणां परिगतपारमार्थिकैका-न्तिकात्यन्ति-कानन्दसन्दोहस्वभावाऽपवर्गोपनिषदां च महात्मनां शरीरेऽपि किंपाकपाकोपलिप्तपायस इव निर्ममत्त्वदर्शनात्। नैरात्म्यदर्शने पुनरात्मैव-तावन्नास्ति कः प्रेत्य सुखीभवनार्थं यतिष्यते ? ज्ञान-क्षणोऽपि संसारी कथमपरज्ञानक्षणसुखीभवनाय घटिष्यते ? न हि दुःखी देवदत्तो यज्ञदत्तसुखाय चेष्टमानो दृष्टः; एकक्षणस्य तु दुःखं स्वरसनाशित्वात्तेनैव सार्द्धं दध्वंसे। सन्तानस्तु न वास्तवः कश्चिदिति प्ररूपितमेव, वास्तवत्वे तस्य निष्प्रत्यूहात्मसिद्धि-रिति।

अथ-आत्मनः परपरिकल्पितस्वरूपप्रतिषेधाय स्वाभिमत-धर्मान्विर्णयन्ति-

चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेहपरि-माणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकाऽदृष्टवांश्चाऽयमिति ॥५६॥

चैतन्यं साकारनिराकारोपयोगाख्यं स्वरूपं यस्यासौ चैत- न्यस्वरूपः परिणमनं प्रतिसमयपरापरपर्यायेषु गमनं परिणामः स नित्यमस्यास्तीति परिणामी, करोत्यदृष्टादिकमिति कर्त्ता, साक्षादनुपचरिवृत्त्या भुङ्क्ते सुखादिकमिति साक्षाद्भोक्ता, स्वदेह- परिमाणः स्वोपात्तवपुर्व्यापकः, प्रतिक्षेत्रं प्रतिशरीरं भिन्नः पृथक्, पौद्गलिकादृष्टवान् पुद्गलघटितकर्म-परतन्त्रः, अयमित्यनन्तरं प्रमातृत्वेन निरूपित आत्मेति। अत्र चैतन्यस्वरूपत्वपरि- णामित्वविशेषणाभ्यां जडस्वरूपः कूटस्थनित्यो नैयायिका- दिसम्मतः प्रमाता व्यवच्छिद्यते। यतो येषामात्मानुप-योगस्वभावस्तावत्, तेषां नासौ पदार्थपरिच्छेदं विदध्याद्, अचेतनत्वाद्; आकाशवत्। अथनोपयोगस्वभावत्वं चेतनत्वम्, किं तु चैतन्यसमवायः स चात्मनोऽस्तीत्य-सिद्धमचेतनत्वमिति चेत् । तदनुचितम्, इत्थमाकाशादेरपि चेतनत्वापत्तेः, चैतन्यसमवायो हि विहायः-प्रमुखेऽपि समानः; समवायस्य स्वयमविशिष्टस्यैकस्य प्रतिनियम-हेत्वभावादात्मन्येव ज्ञानं समवेतं नाकाशादिष्विति विशेषाद्व्य-वस्थितेः। ननु यथेह कुण्डे दधीतिप्रत्ययान्न तत्कुण्डादन्यत्र तद्वधिसंयोगः शक्यसंपादनः, तथेह मयिज्ञानमितिहेदंप्रत्ययात् नात्मनोऽन्यत्र गगनादिषु ज्ञानसमवाय इति चेत्। तदयौक्तिकम्। यतः खाऽऽदयोपि ज्ञानमस्मास्विति प्रतियन्तु, स्वयमचेतनत्वाद्, आत्मवत्; आत्मानो वा मैवं प्रतिगुः, तत एव, खादिवद्; इति जडात्मवादिमते सन्नपि ज्ञानमिहेति प्रत्ययः प्रत्यात्मवेद्यो न ज्ञानस्यात्मनि समवायं नियमयति, विशेषाभावात्। नन्वेवमिह पृथिव्यादिषु रूपादय इति प्रत्ययोऽपि न रूपादीनां पृथिव्यादिषु समवायं साधयेत्, यथा खादिषु; तत्र वा स तं साधयेत्, पृथिव्यादिष्विव, इति न क्वचित्प्रत्यय-विशेषात् कस्यचित् व्यवस्थेति चेत्। सत्यम् अयमपरो-

ऽस्य दोषोऽस्तु, पृथिव्यादीनां रूपाद्यनात्मकत्वे खादिभ्यो विशिष्टतया व्यवस्थापयितुमशक्तः। स्यान्मतम्, आत्मनो ज्ञानमस्मास्विति प्रतियन्ति। आत्मत्वात्, ये तु न तथा तेनाऽऽत्मनो, यथा खादयः। आत्मानश्चैतेऽहंप्रत्ययग्राह्या- स्तस्मात्तथा; इत्यात्मत्वमेव खाऽऽदिभ्यो विशेषमात्मनां साधयति, पृथिवीत्वादिवत्, पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादियोगाद्धि पृथिव्यादयः तद्वदात्मत्वयोगादात्मान इति। तदयुक्तम्, आत्मत्वादिजातीनामपि जातिमदनात्मकत्त्वे तत् समवायनियमासिद्धेः। प्रत्ययविशेषात्तत्सिद्धिरिति चेत् स एव विचारयितुमारब्धः परस्परमत्यन्तभेदाविशेषेऽपि जातितद्वताम्, आत्मत्वजातिरात्मनि प्रत्ययविशेषमुपजनयति, न पृथिव्यादीषु पृथिवीत्वादिजातयश्च तत्रैव प्रत्ययमुत्पादयन्ति, नात्मनि; इति कोऽत्र नियमहेतुः? समवाय इति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः- सति प्रत्ययविशेषे जातिविशेषस्य जातिमति समवायाः, सति च समवाये प्रत्ययविशेष इति। प्रत्यासत्तिविशेषादन्यत एव तत्प्रत्ययविशेष इति चेत्। स कोऽन्योऽन्यत्र कथंचित्तादात्म्य-परिणामाद् ? इति स एव प्रत्ययविशेषहेतुरेषितव्यः तदभावे तद्घटनाज्जातिविशेषस्य क्वचिदेव समवायाऽसिद्धेरात्मादि- विभागानुपपत्तेरात्मन्येव ज्ञानं समवेतमिहेदमिति प्रत्ययं कुरुते न पुनराकाशादिषु; इति प्रतिपत्तुमेशक्तेर्न चैतन्ययोगादा-त्मनश्चेतनत्वं सिध्येत्; अथ किमपरेण? प्रतीयते तावच्चेतनासमवायादात्मा चेतन इति चेत्। तदयुक्तम्। यतः प्रतीतिश्चेत्प्रमाणीक्रियते, तर्हि निष्प्रतिद्वन्द्वमुपयोगात्मक एवाऽऽत्मा प्रसिध्यति। न हि जातुचित्स्वयवमचेतनोऽहं चेतनायोगाच्चेतनः, अचेतने वा मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति; ज्ञाताऽहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः। भेदे तथा प्रतीतिरिति चेत्। न कथंचित्तादात्म्याभावे तददर्शनात्। यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद् दृष्टा न पुनस्तात्विकी तथा चात्मनि ज्ञाताऽहमिति प्रतीतिः कथंचिच्चेतनाऽऽत्मतां गमयति तामन्तरेणानुपपद्यमानत्वात् कलशादिवत्; न हि कलशादिरचेतनात्मको ज्ञाताऽहमिति प्रत्येति। चैतन्ययोगाभावादसौ न तथा प्रत्येतीति चेत्। न, अचेतनस्यापि चैतन्ययोगाच्चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वाद्, इत्यचेतनत्व सिद्धमात्मनो जडस्यार्थपरिच्छेदं पराकरोति; तं पुनरिच्छता चैतन्यस्वरूपताऽस्य स्वीकरणीया। ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः, अन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनतद्वतोर्भेदाभावानुषङ्गादिति कश्चित्। तदप्यसत्। यतो ज्ञानवानहमिति नाऽऽत्मा प्रत्येति जडत्वैकान्तरूपत्वाद्, घटवत्। सर्वथा जडश्च स्यादात्मा, ज्ञानवानहमिति प्रत्ययश्चाऽस्य स्यात्, विरोधाभावाद्, इति मा निर्णैषीः; तस्य तथोत्पत्त्यसंभवात्; ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नागृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते, स्वमतविरोधात्। "नागृहीताविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" इति वचनात्। गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यते इति चेत् कुतस्तद्गृहीतिः ? न तावत्सवतः स्वसंवेदनानभ्युपगमात् स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते, नान्यथा; सन्तानान्तरवत्। परतश्चेत्, तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यमिति। ज्ञानान्तरात्, तद्ग्रहणेन भाव्यमित्यनवस्था-नात्कुतः प्रकृतप्रत्ययः? तदेवं नाऽऽत्मनो जडस्वरूपता संगच्छते नाऽपि कुटस्थनित्यता। यतो यथाविधः पूर्वदशायामात्मा तथाविध एव चेत् ज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि भवेत्तदा प्रागिव कथमेष पदार्थपरिच्छेदकः स्यात्? प्रतिनियत- स्वरूपाप्रच्युतिरूपस्वात्कौटस्थ्यस्य; पदार्थपरिच्छेदे तु प्राग् प्रमातुः प्रमातृरूप-तया परिणामात्कुतः कौटस्थ्यमिति कर्त्ता साक्षाद्भोक्तेति विशेषणयुगलकेन कापिलमतं तिरस्क्रियते, तथा हि-कापिलः कर्तृत्वं प्रकृतेः प्रतिजानीते; न पुरुषस्य। "अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता" इति वचनात्। तदयुक्तम्। यतो यद्ययमकर्त्ता स्यात्, तदानीमनुभवितापि न भवेत्। द्रष्टुः कर्तृत्वे मुक्तस्याऽपि कर्तृत्वप्रसक्तिरिति चेत्। मुक्तः किमकर्त्तेष्टः? विषयसुखादेरकर्त्तैवेति चेत्, कुतः स तथा ? तत्कारण-कर्मकर्तृत्वाभावादिति चेत्, तर्हि संसारी विषयसुखादिकारणकर्मविशेषस्य कर्तृत्वात् विषयसुखादेः कर्त्ता, स एव चानुभविता किं न भवेत्?। संसार्यवस्थायामात्मा विषयसुखाऽऽदितत्कारण कर्मणां न कर्त्ता चेतनत्त्वात्, मुक्ताऽवस्थावत्; इत्येतदपि न सुन्दरम्। स्वेष्टविघातकारित्वात् संसार्यवस्थायामात्मा न सुखादेर्भोक्ता, चेतनत्वात्, मुक्तावस्थावद्; इति स्वेष्टस्यात्मनो भोक्तृत्वस्य विघातात्। प्रतीतिविरुद्धमिष्टविघातसाधनमिदमितिचेत्। कर्तृत्वा-भावसाधनमपि किं न तथा ? पुंसः श्रोता घ्राताऽहमिति स्वकर्तृत्वप्रतीतेः। अथ श्रोताऽहमित्यादिप्रतीतिरहंकाराऽऽस्पदम्, अहंकारस्य च प्रधानमेव कर्तृतया प्रतीयत इति चेत्, तत एवाऽनुभवितृप्रधानमस्तु। न हि तस्याऽहंकारा-ऽऽस्पदत्वं न प्रतिभाति, शब्दादेरनुभविताहमिति प्रतीतेः सकलजन साक्षिकत्वात्। भ्रान्तमनुवितुरहङ्काराऽऽस्पदत्वमिति चेत्, कर्तुः कथन्न भ्रान्तम्? तस्याऽहंकाराऽऽस्पदत्वादिति चेत्, तत एवानुभवितुस्तदभ्रान्तमस्तु, तस्योपाधिकत्वादहंकारा-ऽऽस्पदत्वं भ्रान्तमवति चेत्, कुतस्तदौपाधिकत्वसिद्धिः? अथ पुरुषस्वभावत्वाऽभावादहंकारस्य तदास्पदत्वं पुरुषस्वभावस्यानुभवितृत्व- स्यौपाधिकमिति चेत्। स्यादेवं, यदि पुरुषस्वभावोऽहंकारो न स्यात्। मुक्तस्याऽहंकाराऽभावात् अपुरुषस्वभावा एवाऽहंकारः; स्वभावो हि न जातुचित्तद्वन्तं त्यजति, तस्य निःस्वभावत्व- प्रसङ्गादिति चेत्। न स्वभावस्य द्विविधत्वात सामान्यविशेषपर्यायभेदात्, तत्र सामान्यपर्यायः शाश्वतिकस्वभावः। कादाचित्को विशेषपर्याय इति न कादाचित्कत्वात्पुंस्यहङ्कारादेव तत्स्वभावता, ततो न तदास्प-दत्वमनुभवितृत्वस्यौपाधिकं, येनाऽभ्रान्तं न भवेत्। ततः सिद्धमात्मानुभवितैव कर्त्ता; अकर्तुर्भोक्तृत्वानुपपत्तेश्च। ननु भोक्तृत्वमप्युपचरितमेवास्य, प्रकृतिविकारभूतायां हि दर्पणाकारायां बुद्धौ संक्रान्तानां सुखदुःखादीनां पुरुषः स्वात्मनि प्रतिबिम्बोदयमात्रेण भोक्ता व्यपदिश्यते। तदशस्यं तस्य तथापरिणाममन्तरेण प्रतिबिम्बोदयस्याऽघटनात् स्फटिकादावपि परिणामेनैव प्रतिबिम्बोदयसमर्थनात्, तथापरिणामभ्युपगमे च कुतः कर्तृत्वमस्य न स्यात्? इति सिद्ध-

मस्य कर्तृत्वं साक्षाद् भोक्तृत्वं चेति, स्वदेहपरिमाण इत्यने-नापि नैयायिकादिपरिकल्पितं सर्वगतत्वमात्मनो निषिध्यते, तथात्वे जीवतत्त्वप्रभेदानां व्यवस्थानाप्रसिद्धिप्रसङ्गात् । सर्वगतात्मन्येकत्रैव नानात्मकार्यपरिसमाप्तेः, सकृन्नानामनः समायोगो हि नानाऽऽत्मकार्यं तच्चैकत्रापि युज्यते, नभसि नाना-घटादिसंयोगवत् । एतेनयुगपन्ना-नाशरीरेन्द्रियसंयोगः प्रतिपा-दितः । युगपन्नानाशरीरेष्वात्मसमवायिनां सुखदुःखादीनाम-नुपपत्तेः, विरोधादिति चेत् । न युगपन्नानाभेर्यादिष्वा-काशसमवायिनां विततादिशब्दानामनुपपत्तिप्रसङ्गात्, तद्विरोध-स्याविशेषात् । तथाविधशब्दकारणभेदान्न तदनुपपत्तिरिति चेत्, सुखाऽऽदिकारणभेदात्तदनुपपत्तिरप्येकत्रात्मनि मा भूद् विशेषाभावात् । विरुद्धधर्माध्यासादात्मनो नानात्वमिति चेत् । तत एवाकाशस्यापि नानात्मवस्तु । प्रदेशभेदोपचाराददोष इति चेत्, तत एवात्मन्यप्यदोषः । जननमरणकरणादिप्रतिनियमोऽपि सर्वगतात्मवादिनां नाऽऽत्मबहुत्वं साधयेत्, एकत्राऽपि तदुपपत्तेः, घटाकाशादिजननविनाशाऽऽदिवत्; न हि घटाकाशस्योपपत्तौ घटाकाशस्योत्पत्तिरेव, तदा विनाशस्यापि दर्शनात्; नापि विनाशे विनाश एव, जननस्यापि तदोपलम्भात्, स्थितौ वा न स्थितिरेव विनाशोत्पादयोरपि तदा समीक्षणात् । सति बन्धे न मोक्षः, सति वा मोक्षे न बन्धः स्याद्, एकत्रात्मनि विरोधादिति चेत् । न, आकाशेऽपि सति घटबन्धे घटान्तरमोक्षाभावप्रसङ्गात्; सति वा घटविश्लेषे घटान्तरविश्लेषप्रसङ्गात् । प्रदेशभेदोपचारान्न तत्प्रसङ्ग इति चेत, तत एवात्मनि न तत्प्रसङ्गः । नभसः प्रदेशभेदोपगमे जीवस्याप्येकस्य प्रदेशभेदोऽस्त्विति कुतो जीवतत्त्वप्रभेदव्यवस्था? यतो व्याकत्वं स्यात् । नन्वात्मनो व्यापकत्वाऽभावे दिग्देशान्तरवर्त्तिपरमाणु-भिर्युगपत्संयोगा-भावादाद्यकर्माभावः, तदभावादन्त्यसंयोगस्य तन्निमित्तशरीरस्य तेन तत्संबन्धस्य चाऽभावादनुपायसिद्धः । सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात् । अस्तु वा यथा कथंचिच्छरीरोत्पत्तिः, तथाऽपि सावयवं शरीर प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा साऽवयवः स्यात्, तथा चास्य पटादिवत् कार्यत्वप्रसङ्गः । कार्यत्वे चाऽसौ विजातीयैः सजातीयैर्वा कारणैरारभ्येत । न प्राच्यः प्रकारः, विजा- तीयानामनारम्भकत्वात् । न द्वितीयः यतः सजातीयत्वं तेषामा- त्मत्वाऽभिसबंन्धादेव स्यात् तथा चात्मभिरारभ्यते इत्यायातम् एतच्चायुक्तम्, एकत्र शरीरेऽनेकात्मनामात्मारम्भकाणा-मसंभवात् । संभवे वा प्रतिसंधानानुपपत्तिः; न ह्यन्येन दृष्टमन्यः प्रतिसंधातुमर्हत्यतिप्रसङ्गात्, तद्रारभ्यत्वे चास्य घटवदवयवक्रियातो विभागात्संयोगविनाशाद्विनाशः स्यात् । शरीरपरिणामत्वे चात्मनो मूर्त्तत्वानुषङ्गाच्छरीरेऽनुप्रवेशो न स्यात्, मूर्ते मूर्त्तस्यानुप्रवेशविरोधात्; ततो निरात्मकमेव अखिलं शरीरमनुषज्यते । कथं वा तत्परिमाणत्वे तस्य बाल-शरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरिमाणस्वीकारः स्यात् ? तत्परिमाणपरित्यागात् तदपरित्यागाद्वा । परित्यागाच्चेत् तदा शरीरवत्तस्याऽनित्यत्वप्रसङ्गात्परलोकाद्यभावाऽनुषङ्गः । अथा-परित्यागात्, तन्न, पूर्वपरिमाणाऽपरित्यागे शरीरवत्तस्योत्तर-परिमाणोत्पत्त्यनुपपत्तेः । तथा- ''यदि वपुः परिमाणपवित्रितं वदसि जैनमतानुग ! पूरुषम् । वद तदा कथमस्य विखण्डने, भवति तस्य न खण्डनडम्बरम् ॥१॥'' अत्राभिदध्महे-यदभ्यधायि नन्वात्मनो व्यापकत्वाभाव इत्यादि, तदसत्यम् । यद्येन संयुक्तं तदेव तं प्रत्युपसंपतीति नियमाऽसंभवात्; अयस्कान्तं प्रत्ययसस्तेनाऽसंयुक्त-स्याप्याकर्षणोपलब्धेः । अथासंयुक्तस्याप्याकर्षणे तच्छरीरारम्भं प्रत्येकमुखीभूतानां त्रिभुवनोदरविवरवर्त्तिपरमाणूनामुपसर्पणप्रसङ्गात न जाने कियत्परिमाणं तच्छरीरं स्यादिति चेत् । संयुक्तस्याप्याकर्षणे कथं स एव दोषो न भवेद् ? आत्मनो व्यापकत्वेन सकलपरमाणूतां तेन संयोगात् । अथ तदभावाविशेषेऽप्यदृष्टवशाद्विवक्षितशरीरोत्पादनानुगुणा नियता एव परमाणव उपसर्पन्ति तदि-तरत्रापि तुल्यम् । यच्चान्यदुक्तम्-''सावयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मे'' त्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्-सावय-वत्वकार्यत्वयोः कथञ्चिदात्मन्यभ्युपग मात् । न चैवं घटा-दिवत्प्राक् प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिः; न खलु घटादावपि कार्ये प्राक् प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगा-रभ्यत्वं दृष्टम्, कुम्भकारादिव्यापारान्वितान्मृपिण्डात्प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याका-रस्याऽस्योत्पत्तिप्रतीतेः । द्रव्यस्य हि पूर्वा कारपरित्यागेनोत्तराकार-परिणामः कार्यत्वं तच्च बहिरिवान्त-रप्यनुभूयत एव । न च पटाऽऽदौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्य-त्वोपलम्भात् सर्वत्र तथाभावो युक्तः, काष्ठे लोहलेख्य- त्वोपलम्भात् वज्रऽपि तथाभावप्रसङ्गात; प्रमाणबाधनमु-भयत्र तुल्यम् । न चोक्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽ-प्यात्मनोऽनित्यत्वा-नुषङ्गात । प्रतिसंधानाभावोऽनुषज्यते, कथञ्चिदनित्यत्वे सत्येवास्यो-पपद्यमानत्वात् । यच्चाऽवाचि शरीरपरिमाणत्वे चाऽऽत्मनो मूर्त्तत्वानुषङ्ग इत्यादि, तत्र किमिदं मूर्त्तत्वं नाम ?- असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वं, रूपादिमत्त्वं वा । तत्र नाद्यः पक्षो दोषपोषाय, सम्मतत्वात् । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; व्याप्त्यभावात्; न हि यदसर्वगतं तन्निमयेन रूपादिमदित्यविनाभावोऽस्ति, मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि तदसंभवात् । अतो नाऽऽत्मनः शरीरे-ऽनुप्रवेशा- नुपपत्तिर्यतो निरात्मकं तत्स्यात् । अर्सवगत-द्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्त्तत्वस्य मनोवत्प्रवेशाप्रतिबन्धकत्वात्; रूपाऽऽदिमत्त्वलक्षणमूर्त्तत्वोपेतस्याऽपि हि जलादेर्भस्मा-दावनुप्रवेशो न निषिध्यते, आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिबध्यत इति महच्चित्रम् । यदप्यवादितत्परिमाणत्वे तस्य बालशरीरपरिमाणस्ये-त्यादि, तदप्युक्तम्, युवशरीरपरिमाणा-वस्थायामात्मनो बालशरीर-परिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशाऽसंभवात्, विफणावस्थोत्पादे सर्पवत्, इति कथं परलोकाभावोऽनुषज्यते? पर्यायतस्तस्यानित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात् । यच्चाजल्पि ''यदि वपुष्परिमाणपवित्रितम्'' इत्यादि तदप्यपेशलम्, शरीरखण्डने कथंचित्तत्खण्डनस्येष्टत्वात् शरीरसंबद्धा-त्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां खण्डितशरीरप्रदेशे अवस्थानमात्मनः खण्डनं, तच्चात्र विद्यत एव; अन्यथा शरीरात्पृथ-ग्भूतावयवस्य कम्पापलब्धिर्न स्यात् । न च खण्डितावयवानु-प्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्गः । ''तत्रैवानुप्रवेशात्'' । न चैकत्र सन्तानेऽनेक आत्मा अनेकार्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभासाभाव-प्रसङ्गात्, शरीरान्तरव्यवस्थितानेक-ज्ञानावसेयार्थसं-

वित्तिवत्। कथं खण्डिताऽखण्डितावयवयोः संघट्टनं पश्चादिति चेत्? एकान्तेन छेदानभ्युपगमात्, पद्मनालतन्तुवदच्छेदस्यापि स्वीकारात्; तथाभूताऽदृष्टवशाच्च तत्संघट्टनमविरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवाऽऽत्मा-ङ्गीकर्त्तव्यो, न व्यापकः। तथा चाऽऽत्मा व्यापको न भवति, चेतनत्वात्, यत्तु नैवं न तच्चेतनं; यथा व्योम, चेतनश्चाऽऽत्मा, तस्मादव्यापकः। अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन सिद्धा शरीरपरिमाणता। प्रतिक्षेत्रं विभिन्न इत्यनेन तु विशेषणेनाऽऽत्माद्वैतमपास्तम् एतदपासन-प्रकारश्च प्रागेव प्रोक्त इति न पुनरुच्यते। रत्ना० ७ परि०।

(२५) आत्माधिकाराद् रत्नप्रभादिभावानात्मत्वादिभावेन चिन्तयन्नाह-

आया भंते! रयणप्पभा पुढवी, अण्णा रयणप्पभा पुढवी? गोयमा! रयणप्पभापुढवी सिय आया, सिय णो आया, सिय अवत्तव्वं आताति य, णो आताति य। से केणऽट्ठे णं भंते! एवं वुच्चइ रयणप्पभा पुढवी सिय आया, सिय णो आया, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य? गोयमा! अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे णो आया, तदुभयस्य आदिट्ठे अवत्तव्वं रयणप्पभा पुढवी आयाति य, णो आयाति य से तेणऽट्ठेणं तं चेव ०जाव णो आयाति य। आया भंते? सक्करप्पभा पुढवी जहा रयणप्पभा पुढवी तहा सक्करप्पभाए वि एवं ०जाव अहे सत्तमा।

आया भंते! इत्यादि, अतति-सततं गच्छति तांस्तान्पर्यायान्नित्यात्मा ततश्चात्मा सद्रूपा रत्नप्रभा पृथिवी, 'अन्न' त्ति-अनात्मा; असद्रूपेत्यर्थः। 'सिय आया सिय नो आय' त्ति-स्यात्सती स्यादसतीति। 'सिय अवत्तव्वं' ति-आत्मत्वेनाऽनात्मत्वेन च व्यपदेष्टुमशक्यं वस्त्विति भावः। कथमवक्तव्यम? इत्याह आत्मेति च नो आत्मेति च; वक्तुमशक्य-मित्यर्थः, 'अप्पणो आइट्ठे' त्ति-आत्मनः, स्वस्य रत्नप्रभाया एव वर्णादिपर्यायैरादिष्टे आदेशे सति तैर्व्यपदिष्टासतीत्यर्थः, आत्मा भवति स्वपर्यायापेक्षया सतीत्यर्थः, 'परस्स आइट्ठे नो आय' त्ति-परस्य शर्करादिपृथिव्यन्तरस्य पर्यायैरादिष्टे-आदेशे सति; तैर्व्यपदिष्टा सतीत्यर्थः, नोआत्मा अनात्मा भवति; पररूपापेक्षयाऽसतीत्यर्थः, तदुभयस्स आइट्ठे अवत्तव्वं' ति-तयोः स्वपरयोरुभयं तदेव वा उभयं तदुभयं तस्य पर्यायैरादिष्टे आदेशे सति; तदुभयपर्यायैर्व्यपदिष्टेत्यर्थः, अवक्तव्यम् -अवाच्यं वस्तु स्यात्, तथाहि-नह्यसौ आत्मेति वक्तुं शक्या, परपर्यायापेक्षया अनात्मत्वात्तस्या नाऽप्यनात्मेति वक्तुं शक्या, स्वपर्यायापेक्षया तस्या आत्मत्वादिति, अवक्तव्यत्वं च आत्माऽनात्म-शब्दोपेक्षयैव न तु सर्वथा, अवक्तव्यशब्देनैव तस्या उच्यमानत्वादन-भिलाप्यभावानामपि भावपदार्थवस्तु प्रभृतिशब्दैरनभिलाप्यशब्देन वाऽभिलाप्यत्वादिति।

आया भंते! सोहम्मे कप्पे पुच्छा, गोयमा! सोहम्मे कप्पे सिय आया, सिय णो आया० जाव णो आयाति य, से केणऽट्ठेणं भंते! जाव णो आयाति य? गोयमा! अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे णो आया, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य, से तेणऽट्ठेणं गोयमा! तं चेव० जाव णो आयाति य, एवं ०जाव अच्चुय-कप्पे। आया भंते! गेविज्जगविमाणे अण्णे गेविज्जग-विमाणे एवं जहा रयणप्पभापुढवी तहेव, एवं अणुत्तरवि-माणा वि, एवं ईसिप्पब्भारा वि। आया भंते! परमाणुपोग्गले, अण्णे परमाणुपोग्गले। एवं जहा सोहम्मे कप्पे तहा परमाणुपोग्गले वि भाणियव्वे।

एवं परमाणुसूत्रमपि।

आया भंते! दुपदेसिए खंधे, अण्णे दुपदेसिए खंधे? गोयमा! दुपदेसिए खंधे सिय आया १, सिय णो आया २, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, सिय आया य, सिय णो आया य ४, सिय आया य अवत्तव्वं आयाति य, णो आयाति य ५, सिय णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ६, से केणऽट्ठेणं भंते! एवं तं चेव० जाव णो आयाति य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य? गोयमा! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे णो आया २, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं दुपदेसिए खंधे आयाति य णो आयाति य ३। देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे दुपदेसिए खंधे आया य णो आया य ४, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे दुपदेसिए खंधे आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ५, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे दुपदेसिए खंधे णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ६ से तेणऽट्ठेणं तं चेव० जाव णो आयाति य।

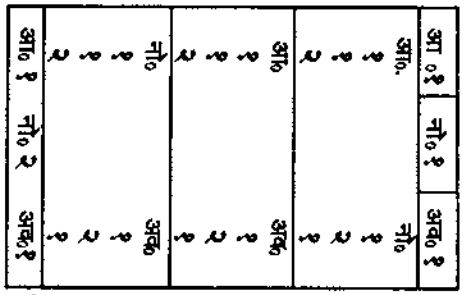
द्विप्रदेशिकसूत्रे षड्भङ्गाः, तत्राद्यास्त्रयः सकलस्कन्धा-पेक्षाः पूर्वोक्ता एव, तदन्ये तु त्रयो देशापेक्षास्तत्र च गोयमेत्यत आरभ्य व्याख्यायते- 'अप्पणो' त्ति-स्वस्य पर्यायैः 'आदिट्ठे' त्ति- आदिष्टे- आदेशे सति; आदिष्ट इत्यर्थः, द्विप्रदेशिक-स्कन्ध आत्मा भवति १, एव परस्य पर्यायैरादिष्टोऽनात्मा २, तदुभयस्य द्विप्रदेशिकस्कन्धतदन्यस्कन्ध-लक्षणस्य पर्यायैरादिष्टोऽसाववक्तव्यं वस्तु स्यात्, कथम ? आत्मेति चाऽनात्मेति चेति ३, तथा द्विप्रदेशत्वात्तस्य देश एक आदिष्टः, सद्भावप्रधानाः- सत्तानुगताः पर्यवा यस्मिन् स सद्भावपर्यवः, अथवातृतीयाबहुवचनमिदं स्वपर्यवैरित्यर्थः, द्वितीयस्तु देश आदिष्टः असद्भावपर्यवः परपर्यायैरित्यर्थः, परपर्यवाश्च तदीयद्वितीयदेश-सम्बन्धिनो वस्त्वन्तरसम्बन्धिनो वेति, ततश्चासौ द्विप्रदेशिकः स्कन्धः क्रमेणात्मा चेति नोआत्मा चेति ४, तथा तस्य देश आदिष्टः सद्भा-

वपर्यवो देशश्चोभयपर्यवस्ततोऽसौ, आत्मा चावक्तव्यं चेति ५, तथा तस्यैव देश आदिष्टोऽसद्भावपर्यवो देशस्तूभयपर्यव- स्ततोऽसौ नोआत्मा चावक्तव्यं च स्यादिति ६, सप्तमःपुनरात्मा च नोआत्मा चावक्तव्यं चेत्येवं रूपो न भवति द्वि-प्रदेशिकेद्व्यंशत्वादस्य, त्रिप्रदेशिकादौ तु स्यादिति सप्तभङ्गी।

आया भन्ते! तिपदेसिए खंधे अण्णे तिपदेसिए खंधे ? गोयमा! तिपदेसिए खंधे सिय आया १, सिय णो आया २, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, सिय आया य णो आया य ४, सिय आया य णो आयाओ य ५, सिय आयाओ य णो आया य ६, सिय आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ७, सिय आयाइ य अवत्तव्वाइं आयाओ य णो आयाओ य ८, सिय आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ९, सिय णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १०, सिय आया य अवत्तव्वाइं आयाओ य णो आयाओ य ११, सिय णो आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १२, सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १३, से केणऽट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ तिपदेसिए खंधे सिय आया एवं चेव उच्चारेयव्वं० जाव सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ? गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे णो आया २, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असभावपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य णो आया य ४, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठाअसब्भावपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य णो आयाओ य ५, देसा आदिट्ठा सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे तिपदेसिए खंधे आयाओ य णो आया य ६, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ७, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा तदुभयज्जवा तिपदेसिए खंधे आया य अवत्तव्वाइं आया उ य णो आयाउ य ८, देसा आदिट्ठा सब्भावपज्जवा देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ९, एए तिण्णि भंगा देसे आदिट्ठे असब्भाव-पज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १०, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा तदुभय-पज्जवा तिपदेसिए खंधे णो आया य अवत्तव्वाइं आयाउ य णो आयाउ य ११, देसा आदिट्ठा असब्भावपज्जवा देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे णो आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १२, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १३, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-तिपदेसिए खंधे सिय आया तं चेव० जाव णो आयाति य।

त्रिप्रदेशिकस्कन्धे तु त्रयोदशभङ्गास्तत्र पूर्वोक्तेषु सप्तस्वाद्याः सकलादेशास्त्रयस्तथैव तदन्येषु तु त्रिषु त्रयस्त्रय एकवचन-बहुवचनभेदात् सप्तमस्त्वेकविध एव स्थापना चेयम्-

यत्रेह प्रदेशद्वयेऽप्येक-वचनं क्व चित्तत्तस्य प्रदेशद्वय-स्यैक-प्रदेशाव

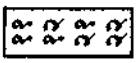
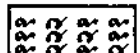


गाढ त्वादिहेतुनैकत्वविवक्षणात्, भेदविवक्षायां च हुवचनमिति।

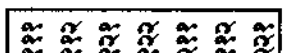
आया भंते, चउप्पदेसिए खंधे अण्णे० पुच्छा, गोयमा ! चउप्पदेसिए खंधे सिय आया १, सिय णो आया २, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, सिय आया य णो आया य ४, सिय आया य अवत्तव्वं ४, सिय णो आया य अवत्तव्वं ४, सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आति य १६ सिय आया य णो आया य अवत्तव्वाइं आयाओ य णो आयाओ य १७, सिय आया य णो आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १८, *सिय आयाओ य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति* य १९, से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ- चउप्पदेसिए खंधे सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं, तं चेव अट्ठे पडिउच्चारेयव्वं ? गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे णो आया २, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे ४ चउभंगो, सब्भाव-पज्जवेणं तदुभएण य ४, चउभंगो, असब्भावेणं तदुभएण य ४, चउभंगो, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभय-पज्जवे चउप्पदेसिए खंधे आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १६, देसे आदिट्ठे सब्भाव-पज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा तदुभयपज्जवा चउप्पदेसिए खंधे भवइ आया य णो आय य

अवत्तव्वाइं आयाओ य णो आयाओ य १७ देसेआ-दिट्ठे सब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा असब्भावपज्जवा देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे चउप्पदेसिए खंधे आया य णो आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १८, देसा आदिट्ठा सब्भावपज्जवा देसे आदिट्ठे असब्भाव-पज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे चउप्पदेसिए खंधे आयाओ य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १९, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ चउप्पदेसिए खंधे सियआया सिय णो आया सिय अवत्तव्वं, निक्खेवो ते चेव भंगा उच्चारेयव्वा० जाव णो आयाति य।

चतुष्प्रदेशिकेऽप्येवं नवरमेकोनविंशतिर्भङ्गास्तत्र त्रयः सकलादेशास्तथैव शेषेषु चतुर्षु प्रत्येकं चत्वारो विकल्पास्ते चैवं-

चतुर्थादिषु त्रिषु  सप्तमस्त्वेवम्- 

आया भंते! पंचदेसिए खंधे अण्णे पंचदेसिए खंधे ? गोयमा ! पंचपदेसिए खंधे सिय आया १, सिय णो आया २, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, सिय आया य णो य सिय अवत्तव्वं ४, णो आया य अवत्तव्वेण य ५, तियगसंयोगे एक्को न पठति, से केणऽट्ठेणं भंते ! तं चेव पडिउच्चारेयव्वं?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे णो आया २, तदुभयस्य आदिट्ठे अवत्तव्वं ३, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भाव- पज्जवे एवं दुयगसंजोगे सव्वे पठंति, तियगसंजोगे एक्को न पठति, छप्पदेसियस्स सव्वे पठंति जहा छप्पदेसिए एवं ० जाव अणंतपदेसिए। सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० जाव विहरइ। (सूत्र- ४६९)

पञ्चप्रदेशकेतु द्वाविंशतिस्तत्राद्यास्त्रयस्तथैव, तदुत्तरेषु च त्रिषु प्रत्येकं चत्वारो विकल्पास्तथैव, सप्तमे तु सप्त, तत्र त्रिकसंयोगे किलाऽष्टौ भङ्गका भवन्ति, तेषु च सप्तैवेह ग्राह्या एकस्तु तेषु न पतत्यसम्भवात्, इदमेवाह- 'तिगसं जोगे' इत्यादि तत्रैतेषां स्थापनायश्च न पतति स पुनरयम् -२२२ षट्प्रदेशिकेत्रयोविंशतिरिति। भ० १२ श० १० उ०। (आत्मस्वरूपादि  'जीव' शब्दे चतुर्थभागेऽपि वक्ष्यते)

(२६) (अप्पा णई वेतरणी, अप्पा कूड सामली।)
अप्पा काम दुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥३६॥

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ ॥३७॥

आत्मेति-व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यस्यात्मैव नान्यः कश्चिदित्याह-नदी-सरित् वैतरणीति नरकनद्या नाम, ततो महा-ऽनर्थहेतुतया नरकनदीव अत एवाऽऽत्मैव कूटमिव जन्तुया- तनाहेतुत्वाच्छाल्मली कूटशाल्मली नरकोद्भवा। तथाऽऽत्मैव कामान्-अभिलाषान् दोग्धिकामितार्थप्रापकतया प्रदूरयति कामदुघा धेनुरिव धेनुः, इयं च रूढित उक्ता, एतदुपमत्त्वं चाभिलषितस्वर्गापवर्गावाप्तिहेतुतया, आत्मैव 'मे' मम नन्दनं नन्दननामकं वनम्-उद्यानम् एतदौषम्यं चास्य चित्तप्रह्लाद- हेतुतया यथा चैतदेवं तथाऽऽहआत्मैव कर्त्ता- विधायको दुःखानां, सुखानां चेति योगः, प्रक्रमाच्चात्मन एव विकरिता च- विक्षेपकश्चात्मैव तेषामेव अतश्चात्मैव मित्रम् उपकारितया सुहृत् 'अमित्तं' ति-अमित्रं च-अपकारितया दुर्हृत् कीदृक्सन्- 'दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ' त्ति-दुष्टं प्रस्थितः- प्रवृत्तो दुष्प्रस्थितः; दुराचारविधातेति यावत्; सुष्ठु प्रस्थितः सुप्रस्थितः, सदनुष्ठान-कर्त्तेति यावत्, योऽर्थः एतयोर्विशेषणसमासः, दुष्प्रस्थितो ह्यात्मा समस्दुः-खहेतुरिति वैतरण्यादिरूपः, सुप्रस्थितश्च सकल सुखहेतुरितिकामधेन्वाकल्पः, तथा च- प्रव्रज्यास्थायामेव सुप्रस्थितत्वेन आत्मनोऽन्येषां च योगकरणसमर्थत्वान्नाथत्व-मिति सूत्रद्वयगर्भार्थः। उत्त० २० अ०।

आत्मा चावश्यं पालयितव्यः-

अप्पा खलु सययं रक्खिअव्वो,
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥१६॥

आत्मा 'खल्विति'- खलुशब्दो विशेषणार्थः शक्तौ, सत्यां परोऽपि सततं-सर्वकालं रक्षितव्यः-पालनीयः पारलौकिकाऽपा- येभ्यः, कथमित्युपायमाह-सर्वेन्द्रियैः, स्पर्शनादिभिः सुसमाहितेन; निवृत्तविषयव्यापारेणेत्यर्थः, अरक्षणरक्षणयोः फलमाह-अरक्षितः सन् जातिपन्थानम्- जन्ममार्गसंसारमुपैति-सामीप्येन गच्छति सुरक्षितः पुनर्यथाऽऽगमनप्रमादेन सर्वदुःखेभ्यः-शारीरमानसेभ्यो विमुच्यते, विविधम्-अनेकै प्रकारैरपुनर्ग्रहणपरमस्वास्थ्यापादनलक्षणैर्मुच्यत इति दश० २ चू०।

आत्मा च सर्वस्याऽवलम्बनम्-

ममत्तं परिवज्जामि, निम्ममत्तं उवट्ठिओ।
आलंबणं च मे आया, अवसेसं च वोसिरे ॥३७॥

तथा ममत्वम्-ममैतदित्येवं रूपो भावो ममत्वम्- प्रतिबन्धस्तव मनोऽभिमतवस्तुष्विति शेषः परिजानामि ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वाः प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरामीत्यर्थः अहं किंभूतः सन् निर्ममत्वं-निःसङ्गत्वम् उपस्थितः; आश्रित इत्यर्थः, तर्हि किमालम्बनतया चिन्तयतीत्याहआलम्बनं च आश्रयोऽवष्टम्भः आधार इत्यर्थः 'मे' ममात्मैवाराधनाहेतुरयम्, अव-शेषम्अपरं; शरीरोपध्यादि सर्वं व्युत्सृजामि।

अथ केषु कार्य्येष्वयमात्माऽवलम्बनम्विषय इत्याह-

आया हू महं नाणे, आया मे दंसणे चरित्ते य।
आया पच्चक्खाणे, आया मे संयमे जोगे ॥३८॥

अतति- सततं गच्छति तासु तासु योनिष्विति आत्मा

स मम ज्ञाने ज्ञानविषये आलम्बनं; सहाय इत्यर्थः, 'हू' स्फुटं भवतु इति शेषः। आत्मा मे दर्शन सम्यक्त्वे चारित्रेऽपि चालम्बनं, तथा प्रत्याख्यानेभक्तपरिज्ञारूपे संयमे च संयमसर्वविरत्यङ्गीकाररूपे, योगे च-प्रशस्तमनोवाक्कायव्यापाररूपे ममाऽऽत्मैवालम्बनमनन्तान्यप्युपात्तानि द्रष्टव्यानि। एक एव चाऽऽत्मा सर्वमङ्गीकरोति।

अथ निर्ममत्वाय एकत्वभावनां भावयति–

एगो वच्चइ जीवो, एगो चेवुववज्जइ।
एगस्स चेव मरणं, एगो सिज्झइ नीरओ ॥३९॥

'एगो वच्चइ' एकः स्वजनधनादिरहितो व्रजति जीवो; भवान्तरमिति शेषः, एक एव च उत्पद्यते मनुष्यादिरूपतया, एकस्यैव मरणं भवति, एक एव च कर्मरजोरहितः सन् सिध्यति जीवः, भवान्तरगमनस्य मरणस्य चैकार्थत्वेऽपि पृथ गुपादानमेकत्व-भावनोत्कर्षपोषार्थं नानादेशजविनेयानां व्यक्तार्थं प्रतिपादनार्थं वा।

एगा मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥४०॥

'एगो मे' एक एव 'मे' मम आत्मा शश्वद्भवनात् शाश्वतः सहचारी ज्ञानदर्शनसंयुक्तः स एव; मदीय इत्यर्थः, शेषा केचन 'मे' मम बाह्या भावाः पदार्थाः; पुत्रकलत्रादिकाः ते सर्वे संयोजनं संयोगः स एव लक्षणं येषां ते तथा कृत्रिममेलापका एवेत्यर्थः; नतु शाश्वताः येषां संयोगस्तेषामवश्यंभावी वियोग इति हेतोर्न मदीयास्ते इति परमार्थः। आतु०।

आत्मकृतमेव च भुज्यते–

को देइकस्स देज्जइ, विहियं को हरइ हीरए कस्स।
सयमप्पणा विढत्तं, अल्लियइ सुहं पि दुक्खं पि ॥११॥
महा० ६ अ०

आत्मनैव च संसारमुत्तरति–

णो णं गोयमा! गुरुसीसगाण निस्साए संसारमुत्तरेज्जा। णो णं गोयमा! परस्स निस्साए संसारमुत्तरेज्जा। अप्पणो निस्साए संसारमुत्तरेज्जा। महा० ३ अ०।

(आत्मजयेनैव च क्रोधादिजयः)

जे उ संगामकालंमि, नाया सूरपुरंगमा।
णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ॥६॥

सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। (अस्या गाथाया अर्थः 'अजत्तविसीयण' शब्दे प्रथमभागे २२९ पृष्ठे गतः)

तदेवं सुभटदृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह–

तमेगे परिभासंति, भिक्खयं साहुजीविणं।
जे एवं परिभासंति, अंत एते समाहिये ॥८॥

सूत्र १ श्रु० ३ अ ३ उ०। (अस्या गाथाया अर्थः 'परवादिवयण' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते)

धर्मः स्वाऽऽत्मसाक्षिक एव–

आया सयमेव अत्थाणं, निउणं जाणे जहट्ठियं।
आया चेव दुप्पतिज्जे, धम्मं वि य अत्तसक्खियं ॥९॥

महा० १ अ०।

उक्तं च श्रीहरिभद्रपूज्यैः–

''आयप्पभवं धम्मं, आयंति, य अप्पणो सरूवं च।
दंसणनाणचरित्ते-गत्तं जीवस्य परिणामं ॥१॥''

रे भव्य! हिताय वदामः सर्वागमेषु धर्म आत्मनः शुद्धापरिणतिरेव निमित्तस्योपादानात्प्राक्त्यहेतुत्वात्, बाह्या- चरणादिकं साथकैरारभ्यस्ते तथापि धर्महेतुत्वेनोपादेयं श्रद्धावद्भिः, तत्स्वात्मक्षेत्रव्यापकरूपानन्तपर्यायलक्षणं धर्मः उत्तराध्ययनावश्यकादिसर्वसिद्धान्ताशयः। अष्ट० ३२ अष्ट०।

आत्मज्ञानस्यैव विद्यात्वम्–

नित्यशुच्यात्मताख्याति-रनित्याऽशुच्यनात्मसु।
अविद्यातत्त्वधीर्विद्या, योगाचार्यैः प्रकीर्तिता ॥१॥
यः पश्येन्नित्यमात्मान-मनित्यं परसंगमम्।
छल लब्धुं न शक्नोति, तस्य मोहमलिम्लुचः ॥२॥
तरङ्गतरलां लक्ष्मी-मायुर्वायुवदस्थिरम्।
अदभ्रधीरनुध्याये-दभ्रवद्भङ्गुरं वपुः ॥३॥
शुचीन्यप्यशुचीकर्तुं, समर्थोऽशुचिसम्भवे।
देहे जलादिना शौच-भ्रमो मूढस्य दारुणः ॥४॥
यः स्नात्वा समताकुण्डे, हित्वा कश्मलजं मलम्।
पुनर्न याति मालिन्यं, सोऽन्तरात्माः परः शुचिः ॥५॥
आत्मबोधो नवः पाशो, देहगेहधनादिषु।
यः क्षिप्तोऽप्यात्मना तेषु स्वस्य बन्धाय जायते ॥६॥
मिथो युक्तपदार्थाना-मसंक्रमचमत्क्रिया।
चिन्मात्रपरिणामेन, विदुषैवानुभूयते ॥७॥
अविद्यातिमिरध्वंसे, दृशा विद्याञ्जनस्पृशा।
पश्यन्ति परमात्मान-मात्मन्येव हि योगिनः ॥८॥

अष्ट० १४ अष्ट०। (अस्याष्टकस्य व्याख्यां 'विज्जा' शब्दे षष्ठे भागे करिष्यामि)

(आत्मविवेकस्यैव विवेकत्वम्)-

कर्मजीवं च संश्लिष्टं, सर्वदा क्षीरनीरवत्।
विभिन्नीकुरुते योऽसौ, मुनिहंसो विवेकवान् ॥१॥
देहाऽऽत्माद्यविवेकोऽयं, सर्वदा सुलभो भवे।
भवतोऽद्यापि तद्भेद-विवेकस्त्वतिदुर्लभः ॥२॥
शुद्धेऽपि व्योम्नि तिमिराद्, रेखाभिर्भिन्नेश्रिता यथा।
विकारैर्भिन्नेश्रिता भाति, तथात्मन्यविवेकतः ॥३॥
यथा योधैः कृतं युद्धं, स्वामिन्येवोपचर्यते।
शुद्धात्मन्यविवेकेन, कर्मस्कन्धोर्जितं तथा ॥४॥
इष्टकाद्यपि हि स्वर्णं, पीतोन्मत्तो यथेक्षते।

आत्मा मेदभ्रमस्तद्वद् , देहादावविवेकिनः ॥५॥
इच्छन्न परमान्मावान् , विवेकाद्रेः पतत्यधः ।
परमं मावमन्विष्य-न्नविवेकेनिमज्जति ॥६॥
आत्मन्येवात्मनः कुर्यात् यः षट्कारकसंगतिम् ।
क्वाऽविवेकज्वरस्यास्य, वैषम्यं जलमज्जनात् ॥७॥
संयमास्त्रं विवेकेन, शाणेनेत्तेजितं मुनेः ।
धृतिधारोल्ल्वणं कर्म, शत्रुच्छेदक्षमं भवेत् ॥८॥
अष्ट,२९ अष्ट०।

आत्मार्चनस्यैव भावपूजात्वम्–

दयाऽम्भसाकृतस्नानः, सन्तोषशुभवस्त्रभृत् ।
विवेकतिलकभ्राजी, भावनापावनाशयः ॥१॥
भक्तिश्रद्धानुघुसृणो-न्मिश्रकश्मीरजद्रवैः ।
नवब्रह्मगतो देवं शुद्धमात्मानमर्चय ॥२॥
क्षमापुष्पस्रजं धर्म्म-युग्मक्षौमद्वयं तथा ।
ध्यानाभरणसारं च० तरङ्गे विनिवेशय ॥३॥
मदस्थानमिदा त्यागै-र्लिखाडग्रे चाष्टमङ्गलम् ।
ज्ञानाऽग्नौ शुभसंकल्प-काकतुण्डं च धूपय ॥४॥
प्राग् धर्मलवणोत्तारं, धर्मसन्यासवह्निना ।
कुर्वन्पूरय सामर्थ्य- राजन्नीराजनाविधिम् ॥५॥
स्फुरन्मङ्गलदीपं च, स्थापयानुभवं पुरः ।
योगनृत्यपरस्तूर्य-त्रिकसंयमवान् भव ॥६॥
उल्लसन्मनसः सत्य- घण्टां वादयतस्तव ।
भावपूजारतस्येत्थं, करक्रोडे महोदयः ॥७॥
द्रव्यपूजोचितामेदो-पासना गृहमेधिनाम् ।
भावपूजा तु साधूना-ममेदोपासनात्मिका ॥८॥

अष्ट०२९ अष्ट०। (अस्याष्टकस्य व्याख्या 'पूया' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते) मोक्षे, संयमे च। ''आतताए परिव्वए'' ॥७॥ आत्मा-मोक्षः, संयमो वा; तद्भावस्तस्मै तदर्थं परि-समन्ताद् व्रजेत्; संयमानुष्ठानक्रियायां दत्तावधानो भवेदित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । तथा प्रवचनसारोद्धारवृत्त्यादौ इन्द्रियविषयप्रमाणता आत्मालङ्गुलेन प्रोक्ताऽस्ति चक्षुष उत्कृष्टविषयतायां कृतलक्षयोजनरूपो विष्णुकुमारो दृष्टान्तः प्रोक्तोऽस्ति तथा हिचक्षुः सातिरेकयोजनलक्षाद्रूपं गृह्णातीति, सातिरेकत्वं तु विष्णुकुमारादयः स्वपदपुरःस्थितं गर्तादिकं तन्मध्यगतं च लेष्ट्वादिकं पश्यन्तीति नवतत्त्वमहाचूर्ण्यवस्ति, इति चक्षुषः सातिरेकलक्षयोजनदूरस्थरूपग्रहणविषये दृष्टान्तकरणाद्विष्णु-कुमारविकुर्वितरूपमात्मालङ्गुलेन संभाव्यते, अन्यथा न दृष्टान्तसंगति-रित्येवं सति प्रश्नोत्तर-समुच्चयचतुर्थप्रकाशप्रान्ते यद्विष्णुकुमारवि-कुर्वितरूप-मुत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नलक्षयोजन-प्रमाणमुक्तमस्ति तत्कथमिति प्रश्नः, अत्रोत्तरम् -विष्णुकुमारकृतं सातिरेकलक्षयोजन-प्रमाणरूपं चमरेन्द्रादिवत्प्रमाणाङ्गुलेनापि संभवति न काऽपि विप्रतिपत्तिः यच्च प्रश्नोत्तरे उत्सेधाङ्गुलेन प्रोक्तमस्ति तत्र किं चिद्विधेयमस्तीति। २८० प्र०। सेन० ३ उल्ला०। ५९

आता(या)णुकंपय - त्रि० (आत्मानुकम्पक) आत्मानमेवानर्थ-परिहारद्वारेणानुकम्पते शुभानुष्ठानेन सद्गतिगामिनं विधत्ते इत्यात्मानुकम्पकः । सूत्र० २ श्रु २ अ० । आत्महितप्रवृत्ते, प्रत्येकबुद्धे जिनकल्पिके च । स्था० । ''आयाणुकंपए णाममेगे'' (सूत्र-३५२×)। आत्मनानुकम्पकः आत्महितप्रवृत्तः प्रत्येकबुद्धो जिनकल्पिको वा परानपेक्षो वा निर्घृणः । स्था ४० ठा० ४ उ०।

आता(या)णुस्सरण- न० (आत्मानुस्मरण) आत्मनोऽनुस्मृतौ, षो०। ''आत्मानुस्मरणाय च'' ॥१६॥ आत्मनोऽनुस्मरणाय च-स्वयमेवानुस्मृतिनिमित्तम् । षो० । १६ विव०।

आता(या)णुसासण- न० (आत्मानुशासन) आत्मनोऽनुशास्तौ, सूत्र०।

मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
अहियं च असाहु सोयती, से थणती परिदेवती बहुं ॥७॥

मा पश्चात्-मरणकाले, भवान्तरे वा कामानुषङ्गादसाधु-ताकुगतिगमनादिकरूपा भवेत्-प्राप्नुयादिति । अतो विषया-सङ्गादात्मानम्- अत्येहि-त्याजय । तथा आत्मानं च अनुशाधि-आत्मनोऽनुशास्तिं कुरु, यथा हे जीव ! यो ह्यसाधुः-असाधुकर्मकारी-हिंसानृतस्तेयादौ प्रवृत्तः सन् दुर्गतौ पतितः अधिकम्- अत्यर्थमेवं शोचति, स च परमाऽधार्मिकै कदर्थ्यमानस्तिर्यक्षु वा क्षुधादिवेदनाग्र-स्तोऽत्यर्थं स्तनति-सशब्दं निःश्वसिति । तथा-परिदेवते विलपति-आक्रन्दति । सुबह्विति । ''हा मातर्म्रियत इति, त्राता नैवाऽस्ति सांप्रतं कश्चित् । किं शरणं मे स्यादिह दुष्कृतचरितस्य पापस्य ? ॥१॥'' इत्येवमादीनि दुःखान्यसाधुकारिणः प्राप्नुवन्तीत्यतो विषया-नुषङ्गो न विधेय इत्येवमात्मनोऽनुशासनं कुर्विति संबन्धनीयम् । सूत्र १० श्रु० २ अ० ३ उ०।

आताव पुं० (आताप) ईषत्तापे आचा०। ''णो खलु मे कप्पति अगणिकायं उज्जालित्तए वा पज्जालित्तए वा कायं आयाबेत्तए वा पयाबेत्तए वा'' (सूत्र-२१+) । कायम्-शरीरमीषत्तापयितुं वा प्रकर्षेण तापयितुं प्रतापयितुंवा। आचा० १ श्रु० ८, अ० ३ उ०। **''अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां-ग-घ- द-ध-ब-भाः'' ॥८।४।३९६॥** इति अपभ्रंशे पस्य बः। प्रा०।

आता(या)वग पुं० (आतापक) आतापयत्यातापनां शीतातपादिसहनरूपां करोतीत्यातापकः। स्था०५ ठा०२ उ०। आतापनाग्राहिणि परतीर्थिकभेदे, सूत्र २, श्रु २ अ०।

आता(या)वण न० (आतापन) सकृदीषद्वा तापने, ''आयाबिज्जा न पयाबेज्जा'' सकृदीषद्वा तापनमातापनम् । दश० ४ अ०। शीतादिभिः शरीरस्य सन्तापने च। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

आता(या)वणया स्त्री० (आतापनता) आतापनानां शीतादिभिः शरीरस्य संतापनानां भावः आतापनता। शीतातपादेः सहने, स्था ३० ठा० ३ उ०।

आता(या)बणा- स्त्री० (आतापना) शीतादिसहनात्मकेतपोभेदे; पञ्चा०। 'आयाबणठाणमाईया ॥४८॥'' पञ्चा० १८ विव०। ''आयाबणाए आयोबेमाणस्स''। आ०म० १ अ० ५२४ गाथाटी०। ''आताबते'' (सूत्र ३९६×)आतापयति-आताप-नाम्-शीताऽऽतपादिसहनरूपाम्। स्था० ५ ठा०१ उ०।

''आयाबणा य तिविहा, उक्कोसा १, मज्झिमा २ जहन्ना य ३। उक्कोसा उ निविण्णा, निसण्णमज्झा ठिय जहन्ना ॥३॥ तिविहा होइ निवण्णा, ओमंथिय १, पास २ तइय उत्ताणा॥'' इति।

निषण्णाऽपि त्रिविधा--

''गोदुह उक्कुडु पलियं-कमेस तिविहा य मज्झिमा हो।
तइया उ हत्थिसुंडे-गपायसमपाइया चेव॥१॥''

इयं च निषण्णादिका त्रिविधाप्यातापना स्वस्थाने पुन-रुत्कृष्टादिभेदा ओमन्थियादिभेदेनावगन्तव्या। इह च यद्यपि स्थानातिगत्वादीनामातापनायामन्तर्भावस्तथापि प्रधानेतर-विवक्षया न पुनरुक्तत्वं मन्तव्यमिति। स्था० ५ ठा०१ उ०।

तद्वक्तव्यत--

नो कप्पइ निग्गंथीए बहिया गामस्स वा ०जाव सन्निवेसस्स वा उड्ढं बाहाओ पगिज्जिय २ सुरामिमुहाए एगपाइयाए ठिच्चा आयाबणाए आयाबित्तए ॥२३॥ कप्पइ से उवस्सयस्स अंतोवगडाए संघाडिपडिबद्धाए पलंबियाहियाए समतलपाइयाए ठिच्चा आयाबणाए आयाबित्तए॥२४॥

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या बहिर्ग्रामस्य वा यावत् संनिवेशस्य वा ऊर्ध्वम्-ऊर्ध्वमुखो बाहू प्रगृह्य; प्रकर्षेण गृहीत्वा; कृत्वेत्यर्थः, सूर्याभिमुख्या एकपादिकाया एकं पादमूर्द्ध्वमाकुञ्च्य अपरं एकपदे सुविकृतवत्या एवंविधायाः स्थित्वा आतापयितुम्॥२३॥ किं तु कल्पते- 'से' तस्याः उपाश्रयस्यान्तर्वगडायाः संघाटी-प्रतिबद्धायाः प्रलम्बितबाहुकायाः समतलपादिकायाः स्थित्वा आतापनया- आतापनाय; आतापयितुमिति सूत्रार्थः।

अथ भाष्यम्--

**आयाबणा य तिविहा, उक्कोसा मज्झिमा जहण्णा य।
उक्कोसा उ णिवण्णा, णिसण्णमज्झा वि य जहण्णा॥२६५॥**

आतापना त्रिविधा उत्कृष्टा मध्यमा, जघन्या च। तत्रोत्कृष्टा-निवन्ना-निपत्य; शयितो यां करोतीत्यर्थः। मध्यमा-निषण्णस्य, जघन्या तु ऊर्द्ध्वस्थितस्य।

पुनरेवैका त्रिविधा--

**तिविहा होई निवण्णा, ओमंथे पासतइयमुत्ताणा।
उक्कासुक्कोसा उक्को-समज्झिमा उक्कोसगजहण्णा॥२६६॥**

निवन्नस्योत्कृष्टा आतापना, सा त्रिविधा भवति- उत्कृष्टोत्कृष्टा, उत्कृष्टमध्यमा, उत्कृष्टजघन्या च। तत्र यदवाङ्मुखं निपत्य आतापना क्रियते सा उत्कृष्टोत्कृष्टा, या तु पार्श्वतः शयाने क्रियते सा उत्कृष्टमध्यमा, या पुनरुत्तानशयनेन विधीयते सा उत्कृष्टजघन्या।

**उक्कोसा दुहओ वि, मज्झिममज्झिमा जहन्ना य।
अहमुक्कोसाहममज्झिमा, यह अहमाऽधमा चरिमा॥२६७॥**

निषण्णस्य मध्यमा आतापना, सा द्विधा-मध्यमोत्कृष्टा, 'दुहओ वि मज्झिम' त्ति मध्यममध्यमा, मध्यमजघन्या। ऊर्ध्व-स्थिततस्य या जघन्या सा त्रिधा-अधमोत्कृष्टा अधममध्यमा। अधमा च चरमेति अधमशब्दो जघन्यवाचकोऽत्र द्रष्टव्यः।

एतासामिदं सूत्रम्--

**पलियकअद्ध उक्कुडु -गमो य तिविहा उ मज्झिमा होई।
तइया उ हत्थिसुंडे-गपादसमपादिगा चेव॥२६८॥**

मध्यमोत्कृष्टा-पर्यङ्कासनसंस्थिता, मध्यममध्या- अर्द्धपर्यङ्का, मध्यमजघन्या-उत्कुटुका। क्वचिदादर्शे पूर्वार्द्धमित्थं दृश्यते- '' गोदोहुक्कुडपलियंकमो यं वि तिविहा उ मज्झिमा होई ''त्ति, तत्र मध्यमोत्कृष्टागोदोहिका, मध्यमाउत्कुटुका, मध्यम जघन्या-पर्यङ्कासनरूपा। गोशब्दः पादपूरणे, एषा त्रिविधा मध्यमा भवति। या तु तृतीयाऽस्ति तस्या जघन्योत्कृष्टादिभेदात्त्रिधा भणिता, सजघन्योत्कृष्टा, हस्तिसुण्डिका, पुनर्नाभ्यामुपविष्टस्यैकपादोत्पादनरूपा। जघन्यमध्यमाएकपादिका, उत्थि-तस्यैकपादेनावस्थानं, जघन्यजघन्यासमतलाभ्यां पादाभ्यां स्थित्वा, यदूर्द्ध्वस्थितैरातापयते।

कथं पुनः शयितस्योत्कृष्टा आतापना भवतीत्युच्यते--

**सव्वंगिओपतावो, य ताविया धम्मरस्सिणा भूमी।
ण य कमइ तत्थ वाऊ, विस्सामो नेव गत्ताणं॥२६९॥**

भूमौ निवन्नस्य सर्वाङ्गानां प्रतापः- प्रकर्षेण तापो लगति घर्म्मरश्मिना च भूमिः प्रकर्षेणात्यन्ततापिता, नच तत्र भूमौ वायुः क्रमते- प्रचरति न च गात्राणाम्- अङ्गानां विश्रामो भवति, अतो निवन्नस्योत्कृष्टा आतापना मन्तव्या।

अथैतासां मध्यमादार्यिकाणां का आतापना कर्तुं कल्पते इत्यत आह--

**एयासिं णवण्हा- णुण्णाया संजईण अंतिल्ला।
सेसा नाणुन्नाया, अट्ठ तु आतावणा तेसिं॥२७०॥**

एतासां नवानामप्याऽपनानां मध्याद् अन्तिमासमपादिकाख्या आतापना संयतीनासमनुज्ञाता, शेषा अष्टावातापना आसां नाऽनुज्ञाताः।

कीदृशे पुनः स्थाने च आतापयन्तीत्युच्यते--

***पालीहिं जत्थ दीसइ, जत्थ य सइरं विसंति न हु दाता।
उग्गहमादिसु सज्जा, आयावयते तहिं अज्जा॥२७१॥***

यत्र प्रतिश्रयपालिकाभिः-संयतीभिः आतापयता दृश्यते। यत्र च स्वैरं-स्वच्छन्दं युवानो न प्रविशन्ति तत्र स्थाने अवग्रहानन्तकादिभिः संघटिकान्तैरुपकरणैः सज्जा-आयुक्ता आर्यिका प्रलम्बितबाहुयुगला आतापयन्ति।

किमर्थमवग्रहानन्तकादिसज्जेति चेदत आह--

**मुच्छाए विवडिताए, तावेण मुमुच्छुतेव संवरणे।
गोचरमजयणदोसा, जे वुत्ता ते उ पावेआ॥२७२॥**

तस्या आतापयन्त्याः खरतराऽऽतपसंपर्क परितापितायाः कदाचिन्मूर्च्छा संजायेत तया च निवर्तिता वा तेन वा

संवरणे-प्रावरणे समुद्भूते 'अग्रहानातकादिभिर्विना गोचरचर्यायामयतनया प्रविष्टाया ये दोषास्तृतीयोद्देशकेऽउक्तास्तान् प्राप्नुयात्, अतस्तैः प्रावृता आतापयेत्। बृ० ५ उ०। (आतापनोदकतीरे न कर्त्तव्येति 'दगतीर' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते।)

आताबि (न्)-पुं०- (आतापिन्) आतापयति-आतापनां शीतातपादिसहनरूपां करोतीत्यातापी। शीतादिसहनकर्तरि, स्था० ४ ठा० ३ उ०। वस्त्रादेरातपे दातरि च। कल्प० ३ अधि० ९ क्षण। आतपति आ-तप्-णिनि। पक्षिभेदे० क्षीरस्वामी वाच०।

आता(या)बित्तए- अव्य० (आतापयितुम्) आतपे दातुमित्यर्थे, ''आयाबित्तए पयाबित्तए वा'' (सूत्र ५२×) आतापयि-तुमेकवारमातपे दातुं, प्रतापयितुं पुनः पुनरातपे दातुमिच्छति। कल्प० ३ अधि० ९ क्षण।

आता(या)बिया-अव्य० (आतापयित्वा) आतापनां कृत्वत्यर्थे ''आयाबिय २'' (सूत्र- ×)। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०।

आता(या)बेमाण- त्रि० (आतापयत्) आतापनां कुर्वति, ''आयाबणाए आयाबेमाणस्स छट्ठेणं भत्तेणं'' (५२४ गाथाटी०) आ० म० १ अ०।

आता(या)भिणिवेस- पुं० (आत्माभिनिवेश) आत्मनोऽभिनि-वेशे, यावद्यात्माभिनिवेशस्तावदेव संसारः। न०।

शौद्धौदनीयाः पुनरेवमाहुः—

नैरात्म्यादिभावना रागादिक्लेशप्रहाणिहेतुः नैरात्म्यादिभा- वनायाः सकलरागादिविपक्षभूतत्वात्, तथाहि नैरात्म्यावगतौ नाऽऽत्माभिनिवेशः। आत्मनोऽवगमाभावाद्, आत्माभिनिवेशा- भावाच्च न पुत्रभ्रातृकलत्रादिष्वात्मीयाभिनिवेशः आत्मनो हि य उपकारी स आत्मीयो, यश्च प्रतिघातकः स द्वेष्यः, यदा त्वात्मैव न विद्यते किन्तु पूर्वापरक्षणत्रुटितानुसन्धानाः पूर्वपूर्वहेतुप्रतिबद्धा ज्ञानक्षणा एव तथा तथोत्पद्यन्ते तदा कः कस्योपकर्त्ता उपघातको वा ? ज्ञानक्षणानां च क्षणमात्रावस्थायितया पर-मार्थत उकर्तुमपकर्त्तुं वा अशक्यत्वात्, तन्न तत्त्ववेदिनः पुत्रादिष्वात्मीयाभिनिवेशो, नाऽपि वैरिषु द्वेषो, यस्तु लोकानाममात्मीयानात्मीयाद्यभिनिवेशः सोऽनादिवासनापरि-पाकोपनीतो वेदितव्योऽतत्त्वमूलत्वात्, ननु यदि न परमार्थतः कश्चिदुपकार्योपकारकभावस्तर्हि कथमुच्यते भगवान् सुगतः करुणया सकलसत्त्वोपकाराय देशनां कृतवानिति। क्षणिकत्वमपि च यद्येकान्तेन तर्हि तत्त्ववेदी क्षणानन्तरं विनष्टः सन्ना कचनाऽप्येवं भूयो भविष्यामीति जानानः किमर्थं मोक्षाय यत्नमारभते? तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात् भगवान् हि प्राचीनायामवस्थायामवस्थितः सकलमपि जगद्रागद्वेषादिदुःखसंकुलमभिजानानः कथमिदं सकलमपि जगन्मया दुःखादुद्धर्तव्यमिति समुत्पन्नकृपाविशेषा नैरात्म्यक्षणिक- त्वादिकमवगच्छन्नपि तेषामुपकार्यसत्त्वानां निःक्लेशक्षणोत्पादनाय प्रजाहितो राजेव स्वसंततिशुद्धयै सकलजगत्साक्षा-त्करणसमर्थः स्वसंततिगतविशिष्टक्षणोत्पत्तये यत्नमार-भते, सकलजगत्साक्षात्कारमन्तरेण सर्वेषामक्षणविधानमुपकर्त्तुमशक्यत्वात्। ततः समुत्पन्नकेवलज्ञानः पूर्वाऽहितकृपाविशेषसंस्कारवशात् कृतार्थोऽपि देशनायां प्रवर्त्तते इति। तदेवं श्रुतमप्यात्मप्रज्ञया निर्दोषं नैरात्म्यादिवस्तुतत्त्वं परिभाव्य भावतः तथैव भावयतो जन्तोर्भावनाप्रकर्षविशेषतो वैराग्यमुपजायते, ततो मुक्तिलाभः, यस्त्वात्मानमभिमन्यते न तस्य मुक्तिसंभवोयत् आत्मनि परमार्थतया विद्यमाने तत्र स्नेहः प्रवर्तते। ततः स्नेहवशाच्च तत्सुखेषु परितर्षवान् भवति, तृष्णा-वशाच्च सुखसाधनेषु दोषान् सतोऽपि तिरस्कुरुते गुणा-नस्त्वभिभूतानपि पश्यति। ततो गुणदर्शी सन् तानि ममत्व-विषयीकरोति तस्माद्यावदात्माभिवेशः तावत्संसारः,

आह च—

''यः पश्यत्यात्मानं तत्रा-स्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात्सुखेषु तृष्यति, तृष्णादोषांस्तिरस्कुरुते ॥१॥
गुणादर्शी परितृष्यन् ,ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो, यावत्तावत्स संसारे'' ॥२॥

तदेतत्सर्वमन्तःकरणकृतावासमहामोहमहीयस्ताविलसितम्, आत्माभावे बन्धमोक्षाऽऽद्येकाधिकरणत्वायोगात्, तथाहि - यदि नात्माभ्युगम्यते किं तु पूर्वापरक्षणत्रुटितानुसंधाना ज्ञान-लक्षणा एव, तथा सत्यन्यस्य बन्धः, अन्यस्य मुक्तिः, अन्यस्य क्षुद्, अन्यस्य तृप्तिः, अन्योऽनुभविता, अन्यः स्मर्ता, अन्य-श्चिकित्सादुःखमनुभवति, अन्यो व्याधिरहितो भवति, अन्यः तपःक्लेशमपि सहते; परः स्वर्गसुसुखमनुभवति, अपरः शास्त्रमभ्यसितुमारभते, अन्योऽधिगतशास्त्रार्थो भवति, न चैतद्युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्, सन्तानापेक्षया बन्धमोक्षादेरेकाधि- करण्यमितिचेत्, न, सन्तानस्यापि भवन्मते नानुपपद्यमानत्वात्, सन्तानो हि सन्तानिभ्यो भिन्नो वा स्यादभिन्नो वा ? यदि भिन्नस्तर्हि पुनरपि विकल्पयुगलमुपढौकते। स किं नित्यः क्षणिको वा ? यदि नित्यस्ततो न तस्य बन्धमोक्षादिसंभवः; आकालमेकस्व-भावतया तस्यावस्थावैचित्र्यानुपपत्तेः। न च नित्यं किमप्यभ्युपगम्यते, ''सर्वं क्षणिकम्'' ति वचनात्, अथक्षणिकस्तर्हि तदेव प्राचीनं बन्धमोक्षादिवैयधिकरण्यं प्रसक्तम्, अथाभिन्न इति पक्षस्तर्हि सन्तानिन एव, न सन्तानः, तदभिन्नत्वात्, तत्स्वरूपवत्, तथा च सति तदवस्थमेव प्राक्तनं दूषणमिति। नं०।

आता(या)भिसित्त पुं० (आत्माभिषिक्त)। निजबलेन राज्या-भिषिक्ते भरतदौ, व्य०।

अहवा राया दुविहो, आयाभिसित्तो पराभिसित्तो य।
आयाभिसित्तो भरहो, तस्स उ पुत्तो परेणं तु ॥१०५॥

राजा द्विविधो भवति। तद्यथा-आत्माभिषिक्तः, पराऽभिषि-क्तश्च। व्य० ५ उ०। (विशेषतश्चास्या गाथायाः व्याख्या षष्ठे भागे 'राय' शब्दे करिष्यते)

आता(या)रामि(न्) पुं० (आत्मारामिन्) आत्मविश्रामिणि आत्मानुभवमग्ने, स स्वयं संसारान्निवृत्तस्तत्सेवनापरान्नि- स्तारयति। अष्ट० ९ अष्ट०।

आतालिज्जंत- त्रि० (आताड्यमान) आ-समन्तात् ताड्यमाने, ''आतालिज्जंताणं तालीणं, तालाणं कंसतालाणं'' ति। आ० चू०१ अ०।

आता(या)व- पुं (आताप) **''पो वः'' ॥८।१।२३१॥**

इति प्राकृतसूत्रेण पस्य वः। असुरकुमारविशेषे, विशेषस्तु नाव गम्यते इति, अभयदेवसूरिः। भ०१३ श०६ उ०।

आया(या)वाइ(न्) पुं०-(आत्मवादिन्) ''से आयावादी'' (सूत्र-५×)। आत्मानं वदितुं शीलमस्येति । आचा० १ श्रु० १ अ०१ उ०। ''एस आयावाई'' (सूत्र १६५×)। यथावस्थितात्मवादिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०। (आत्मवादिनोऽशेषवक्तव्यताऽऽचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धप्रथमाध्ययनस्य प्रथमे उद्देशके (सूत्र-५ आरभ्य) सा 'आता' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता) तथा च ऐक्यवादिनमधिकृत्य-अपरस्त्वामैवास्ति; नान्यदिति प्रतिपन्नः, तदुक्तम्- ''पुरुष एवेद सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्, उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति, यदेजति यन्नैजति यद् दूरे यदन्ति केयदन्त-रस्य सर्वस्यास्य बाह्यतः'' इति। स्था० टी० ८ ठा० ३ उ०। येऽपि च आत्मवादिनः ''पुरुष एवेदं सर्वमि'' त्यादि प्रतिपन्नाः, तेऽपि महामोहोरगगरलपूरमूर्च्छितमानसा वेदितव्याः। नं०। (अत्र विस्तरं 'एगावाइन्' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यामि)

आता(या)हम्म- न० (आत्मघ्न)। आत्मा हन्यते तेषु तेषु यातनास्थानेषु येन तदात्मघ्नम्। दर्श० ४ तत्त्व।

आत्मघ्नैकार्थिकानि-

आहा अहे य कम्मे, आताहम्मे य अत्तकम्मे य।
तं पुण आहाकम्मं, नायव्वं कप्पते कस्स ॥४५६॥

आधाकर्म १, अधःकर्म २, आत्मघ्नः ३, आत्मकर्म ४, इति चत्वारि नामानि। (बृ०) आत्मानं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं हन्तिविनाशयतीत्यात्मघ्नम्। बृ० ४ उ०। आत्मानं दुर्गतिप्रपात-कारणतया हन्ति-विनाशयतीत्यात्मघ्नम्। पिं०। आधाकर्म्मणि, पिं०। (आत्मघ्नस्याधाकर्म्मैकार्थिकत्वम् 'आधाकम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विस्तरतो वक्ष्यते)

एतस्य निक्षेपः-

आयाहम्मे वि चउव्विधो निक्खेवो, दव्वाऽऽयाहंमे अणुवउत्तो पाणाऽतिवायं करेंतो भावाऽऽते णाणदंसणचरणा, तं हणंतो भावाऽऽताहम्मं। नि० चू०१० उ०।

संप्रत्यात्मघ्ननाम्नोऽवसरः तदपि चात्मघ्नं चतुर्द्धा, तद्यथा-नामाऽऽत्मघ्नं, स्थापनात्मघ्नं, द्रव्यात्मघ्नं, भावात्मघ्नं च। इदमप्यधःकर्मवत् तावद्भावनीयं यावन्नोआगमतो ज्ञशरीर-द्रव्यात्मघ्नम्, भव्यशरीरद्रव्यात्मघ्नम्।

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्यात्मघ्नं निर्युक्तिकृदाह-

अट्ठाए अणट्ठाए, छक्कायपमद्दणं तु जो कुणइ।
अनियाए अ नियाए, आयाहम्मं तयं वेंति ॥१०३॥

यो गृही अर्थाय-स्वस्य परस्य वा निमित्तम्, अनर्थाय प्रयो-जनमन्तरेण एवमेव पापकरणशीलतया 'अणियाए य नियाए' त्ति-निदानं निदा-प्राणिहिंसा नरकादिदुःखहेतुरिति जानतापि, यद्वा-साधूनामाधाकर्म न कल्पते इति परिज्ञानवता यज्जी-वानां प्राणव्यपरोपणं सा निदा। तन्निषेधाद्- अनिदा यत् स्वं पुत्रादिकमन्यं वा विभागेनाविविच्य सामान्येन विधीयते। अथ वा- व्यापाद्यस्य सत्त्वस्य हा धिक् संप्रत्येष मां मारयिष्यतीति परिज्ञानतो यत् प्राणव्यपरोपणं सा निदा, तद्विपरीताअनिदा, यत् अजानतो व्यापाद्यस्य सत्त्वस्य व्यापादनमिति।

तथा चाह भाष्यकृत्-

जाणंतोऽजाणंतो, तहेव उद्दिसिय ओहओ वाऽवि।
जाणगअजाणगं वा, वहेइ अनिया निया एसा ॥३१॥

व्याख्यातार्थ। ततो निदया अनिदया वा यः षट्कायप्रमर्द्दनं करोति-षण्णां पृथिव्यादीनां कायानां प्राणव्यपरोपणं विदधाति। तत् षट्कायप्रमर्द्दनम् आत्मघ्नम् नोआगमतो द्रव्यात्मघ्नं ब्रुवन्ति तीर्थकरगणधराः। अथ षट्कायप्रमर्दनं कथं नोआगमतो द्रव्यात्मघ्नम् ? यावता भावाऽऽत्मघ्नं कस्मान्न भवति ? अत आह-

दव्वाऽऽया खलु काया,

अस्य व्याख्या-कायाः-पृथिव्यादयः खलु निश्चयेण द्रव्यात्मानो द्रव्यरूपा आत्मानः जीवानां गुणपर्यायवत्तया द्रव्यत्वात्, उक्तं च-''अजीवकायाः-धर्म्माऽधर्म्माऽऽकाशपुद्गलाः, द्रव्याणि जीवाश्च'' (तत्त्वा०५ अ०-सूत्र १-२) इति। ततस्तेषां यत् उपमर्दनं तत् द्रव्याऽऽत्मघ्नं भवति। उक्तं द्रव्यात्मघ्नम्।

संप्रति भावाऽऽत्मघ्नं वक्तव्यं, तच्च द्विधा-आगमतो, नोआग-मतश्च। तत्र आगमत आत्मघ्नशब्दार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्तः।

नोआगमत आत्मघ्नमाह-

भावाऽऽया तिन्नि नाणमाईणि।
परपाणपाडणरओ, चरणायं अप्पणो हणइ ॥१०४॥

भावाऽऽत्मानो भावरूपा आत्मानस्त्रीणि ज्ञानादीनिज्ञान-दर्शनचारित्राणि आत्मनो हि पारमार्थिकं स्वस्वरूपं ज्ञानदर्शन-*चरणात्मकं ततस्तान्येव परमार्थत आत्मनो न शेषं द्रव्यमात्रं* स्वस्वरूपाभावात्, ततो यश्चारित्री सन् परेषां पृथिव्यादीनां ये प्राणा इन्द्रियादयस्तेषां यत् पातनं-विनाशनं तस्मिन् रतः- आसक्तः स आत्मनश्चरणरूपं भावाऽत्मानं हन्ति। चरणात्मनि च हते ज्ञानदर्शनरूपावप्यात्मानौ परमार्थतो हताविव द्रष्टव्यौ।

यत आह-

निच्छयनयस्स चरणा-ऽऽयविघाए नाणदंसणवहो वि।
ववहारस्स उ चरणे, हयम्मि भयणा उ सेसाणं ॥१०५॥

निश्चयनयस्य मतेन चरणात्मविघाते सति ज्ञानदर्शनयोरपि वधोविघातो द्रष्टव्यः, ज्ञानदर्शनयोर्हि फलं चरणप्रति-पत्तिरूपा सन्मार्गप्रवृत्तिः। सा चेन् नास्ति तर्हि ते अपि

ज्ञानदर्शने परमार्थतोऽसती एव, स्वकार्याकरणात् । उक्तं च मूलटीकायाम्चरणाऽऽत्मविघाते ज्ञानदर्शनवधोऽपि तयोश्चरणफलत्वात् फलाभावे च हेतोर्निरर्थकत्वादिति । अपि च-यश्चरणं प्रतिपद्य आहारलाम्पट्यादिना ततो न विनिवर्त्तते स नियमाद्भगवदाज्ञाविलोपादिदोषभागी,भगवदाज्ञाविलोपादौ च वर्तमानो न सम्यग्ज्ञानी नापि सम्यग्दर्शनी। उक्तं च-

''आणाइ चिय चरणं, तब्भंगे जाण किं न भग्गं ति।
आणं च अइक्कंतो, कस्साऽऽएसा कुणइ सेसं'' ॥१॥

तथा-

''जो जह वायं न कुणइ, मिच्छादिट्ठी-तओ हु को अन्नो।
वड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो'' ॥२॥

ततश्चरणविघाते नियमतो ज्ञानदर्शनविघातः । व्यवहारस्यव्यवहारनयस्स पुनर्मतेन हते चरणे शेषयोर्ज्ञानदर्शनयोर्भजना क्वचिद्भवतः । क्वचिन्न । य एकान्तेन भगवतो विप्रतिपन्नस्तस्य न भवतो यस्तु देशविरतिं भगवति श्रद्धानमात्रं वा कुरुते तस्य व्यवहारनयमतेन सम्यग्दृष्टित्वाद्भवत इति। ततो निश्च-यनयमतापेक्षया चरणात्मनि हते ज्ञानदर्शनरूपावप्यात्मानौ हतावेवेति । परप्राणव्यपरोपणरतः समूलघातमात्मघ्न इति परप्राणव्यपरोपणमात्मघ्नं, तच्च साधोराधाकर्म्मभुञ्जानस्यानु- मोदनादिद्वारेण नियमतः संभवतीत्युपचारतः आधाकर्म्म आत्मघ्नमित्युच्यते तदेवमुक्तमात्मघ्ननाम । पिं० । आत्मघ्नपिण्डे, पिं० ।

आता(या)हिगरणवत्तिय- त्रि० (आत्माधिकरणप्रत्यय) आत्मनोऽधिकरणानि आत्माधिकरणानि तान्येव प्रत्ययः- कारणं यत्र क्रियाकरणे तदात्माधिकरणप्रत्ययम् । आत्माधिकरण-कारणके ''आयाहिगरणवत्तियं च णं तस्स नो इरियावाहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ'' (सूत्र-२६२×) । साम्परायिकी क्रिया क्रियत इति योगः । भ०७ श०१ उ० ।

आता(या)हिगरणि (न्)- पु० (आत्माधिकरणिन्) । अधि-करणी कृष्यादिमान् आत्मनाऽधिकरणी आत्माधिकरणी । आत्मना कृष्यादिमति, भ०१६ श०१ उ०। ''आया हिगरणी भवइ'' (सूत्र-२६२×)। आत्माजीवोऽधिकरणानिहलशकटा-दीनि कषा-याश्रयभूतानि यस्य सन्ति सोऽधिकरणी। भ०७ श०१ उ०।

आता(या)हिय- त्रि० (आत्महित) आत्मोपकारके, आचा०। ''परलोकविरुद्धानि, कुर्णानं दूरतस्त्यजेत्। आत्मानं यो न सन्धत्ते, सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः ॥१॥'' इति आचा० १ श्रु०६ अ० ४ उ०।

आता(ती)ण- न० (आजिन) मूषिकादिचर्मनिष्पन्ने वस्त्रे, आचा०। ''आति (ती) णाणि वा'' (सूत्र-१४५)। आजिनानि मूषिकादिचर्म्मनिष्पन्नानि। आचा० १ श्रु०५ अ० १ उ०।

आती(अप्पी)कय- त्रि० (आत्मीकृत) । आत्मना गाढत-रमागृहीते आत्मप्रदेशैस्तुलग्नतोयवन्मिश्रीभूते, विशे०। आ०म०।

आतीय- त्रि० (आतीत) आ-समन्तादतीव इतः-ज्ञातः। सम-न्तादतीव ज्ञाते, सामस्त्येनातिक्रान्ते, समन्तादतीव गते च। आचा० १ श्रु० ८ अ०६ उ० । ''अणातीये'' (सूत्र २२२+) आ- समन्तादतीव इतो-गतोऽनाद्यनन्ते संसारे आतीतः न आतीतोऽनातीतः, अनात्तो वा संशयो येन स तथा; संसारार्णवपारगामीत्यर्थः। आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ०।

***आत्मीय**-त्रि० आत्मनोऽयम् छ अत्ययः छस्य ईयाऽऽदेशश्च। आत्मसंबन्धिनि, वाच०।

आतीयट्ठ-त्रि० (आतीतार्थ) आ-समन्तादतिशयेन ज्ञात-जीवादिपदार्थे, सामस्त्येनातिक्रान्तार्थे उपरतव्यापरे, ''आतीयट्ठे अणातीए'' (सूत्र-२२२+) आ-समन्तादतीव इताः-ज्ञाताः परिच्छिन्ना जीवादयोऽर्था येन सोऽयमतीतार्थः। आदत्तार्थे वा। यदि वा-अतीताः सामस्त्येनातिक्रान्ता अर्थाः-प्रयोजनानि यस्य स तथा; उपरतव्यापार इत्यर्थः। आचा० १ श्रु० ८ अ०६ उ०।

आतुर- त्रि० (आतुर) ईषदर्थे, आ। आत-उरच्। कार्य्याऽक्षमे वाच०। विह्वले, उत्त० ३२ अ०।

आतेस्सरिय न० (आत्मैश्वर्य्य) स्वरूपसाम्राज्ये, अष्ट० आत्मैश्वर्यम्स्वरूपसाम्राज्यम् (१ श्लोकटी०) अष्ट० १२ अष्ट०।

आत्त(ताय) त्रि० (आदत्त) गृहीते अनु०। ''आत्तएणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं,'' (सूत्र १७+) । आत्तेन आदत्तेन वा गृहीतेन प्राकृतशैलीवशादात्मीयेन वा। अनु०।

आत्ततर-त्रि० (आत्ततर) अतिशयेन आत्तो-गृहीतः आत्ततरः। यत्नेनाध्यवसिते, आचा०१ श्रु० ८ अ०८ उ०।

आदं (यं)स पुं० (आदरिस-आदस्स-आदर्श) आदृश्यतेऽत्र दृश-आधारे घञ्। वाच०। आ-समन्ताद् दृश्यते आत्मा यस्मिन् स आदर्शः। सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०। दर्प्पणे, रा०। ''आदंसंग च पयच्छाहि'' (सूत्र-११)। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । चक्षुरिन्द्रियजज्ञाने च । ''श्रावण वेदनादर्शाऽऽस्वादवार्ताश्च वित्तयः ॥११॥'' द्वा०। आदर्शश्चक्षुरिन्द्रियजज्ञानम्, आ-समन्तात् दृश्यते-अनुभूयते रूपमनेनेति कृत्वा, यत्प्रकर्षाद्दिव्यरूप-ज्ञानमुत्पद्यते। द्वा० २६ द्वा०। तत्र हि बिम्बपदार्थस्य प्रतिबिम्बपतनात् तत्संयोगेन नयनरश्मीनां परावर्तने वा बिम्बग्रीहितया बिम्बं दृश्यते इति तस्य तथात्वम्। आदृश्यते सम्यग्रूपेण ज्ञायते ग्राम्यार्थो यस्मिन्। टीकायां ३ प्रति-रूपपुस्तकादौ यत्रत्यमक्षरसन्निवेशं दृष्ट्वा तदनुरूपमन्य-ल्लिख्यते तादृशे पुस्तकेयथादर्शं तथा लिखितमिति भूरि प्रयोगः। तत्र तदीयगुणान् दृष्ट्वा परैस्तथा गुणा आश्रीयन्त इति तस्य तथात्वम्। जनपदसीमाभेदे च। वाच०। वृषभादिग्रीवाभरणे च। आदर्शस्तुवृषभादिग्रीवाभरणम्। अनु०।

आदं (यं)सग- पुं० (आदरिसग आदसग-आदर्शक) आसमन्ताद् दृश्यते आत्मा यस्मिन् स आदर्शः। स एवादर्शकः। दर्प्पणे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०। रा०। आदर्शे भवः।

भवादौ वुञ् जनपदावधिसूचकस्थानभवे च त्रि०। वाच०।

आदं (यं)स(आदरिस)(आदस्स)घरग- न०। (आदर्शगृहक) आदर्शनये गृहे, रा०। ''आदंसघरगा सव्वरयणामया'' आदर्श-गृहकाणि आदर्शमयानीव गृहाणि। रा०। जं०। जी०।

(भरतस्यादर्शगृहस्थितिकथानकं 'भरह' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते।)

आदं(यं)सतल- न० (आदर्शतल) दर्पणतले औ०।

आदं(यं)स(आदरिस)(आदस्स)तलोवम- त्रि० (आदर्शतलोपम)- आदर्शो- दर्पणस्तस्य तलं तेन समतयोपमा यस्य आदर्शतलोपमः। आदर्शतलवत्समे, रा०।

आदं(यं)स(आदरिस)(आदस्स)मंडल न०- (आदर्श-मण्डल) आदर्श इव मण्डलमस्य। आदर्शा- कारमण्डलयुक्ते सर्पभेदे, आदर्शो मण्डलमिव। मण्डलाकारे दर्पणे, न०। वाच०। जावशब्दग्राह्ये बहुसमत्ववर्णकेटीकायाम् पाठः- 'आयंसमण्डलेइ वा'' (सूत्र-६+)। जं० १ वक्ष०। ''आयंसमंडलतल व्व'' (सूत्र-२९) प्रश्न० ५ संव० द्वार।

आदं(यं)स(आदरिस)(आदस्स)मुह- पुं० (आदर्शमुख)- स्वनामख्याते अन्तरद्वीपभेदे, जी० ३ प्रति० ३ अधि०। तद्वक्त-व्यता 'अन्तरदीव' शब्दे प्रथमभागे गता।

आदं(यं)स(आदरिस)(आदस्स)लिवि- स्त्री० (आदर्श-लिपि) ब्राह्मलिपर्लेख्यविधानभेदे, स० १८ सम०।

आद(य)र- पुं० (आदर) आ-दृ-कप्। गौरवहेतुकेकर्मणि, सम्माने, वाच०। सत्कारे, स्थान० ६ ठा० ३ उ०। ''तं पुरिसं आयरेण रक्खेह॥१३३+॥ आ० म० १ अ०। उचितकृत्यकरणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रयत्नातिशये, पञ्चा०। ''यत्रादरोऽस्ति परमः प्रीतिश्च हितोदया भवति। कर्तुः शेषत्यागे- न करोति यच्च तत्प्रीत्यनुष्ठानम्'' ॥१॥ पञ्चा० २ विव०। **''आ दृङः सन्नामः''** ॥८।४।८३॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणाद्रियतेः सन्नाम इत्यादेशो वा भवति। सन्नामइ। आदरेइ। प्रा०।

आद(य)रण- न० (आदरण) अभ्युपगमे, भ० १२ श० ५ उ०।

आद(य)रणया- स्त्री० (आदरणता)। अभ्युपगमे, ''आयरणया'' (सूत्र-४४९)। 'आयरणय' त्ति-यतो मायाविशेषादादरण- मभ्युपगमं कस्यापि वस्तुनः करोत्यसावादरणम्, ताप्रत्ययस्य च स्वार्थिकत्वात् आदरणया, आचरणं वा परप्रतारणाय विविधक्रियाणामाचरणम्। भ० १२ श ५ उ०।

आद(य)रतर- पुं० (आदरतर) अत्यादरे, दश०। ''आयरतरेण रंधंति'' (सूत्र ११२×) अत्यादरेण राध्यन्ति। दश० १ अ०।

आद(य)राइजुत्त- त्रि० (आदरादियुक्त) आदरकरणप्रीत्या-दिसमन्विते षो०।

स्यादादरादियुक्तं, यत्तद्देवार्चनं चेष्टम् ॥१४॥

'स्यादादरादियुक्तं' यद् आदरकरणप्रीत्यादिसमन्वितं यत् स्यात् तद्देवार्चनं चेष्टं-तच्च देवार्चनमिष्टम्। षो० ५ विव०।

आदहण- न० (आदहन)। आ-दह-भावे ल्युट। दाहे, हिंसायाम्, कुत्सने च। आदह्यतेऽत्र आधारे ल्युट श्मशाने, वाच०। आ-समन्ताद्दहने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

आदा(या)ण- नं० (आदान)। आ-दा-भावे ल्युट्। ग्रहणे वाच०। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार०। पं० व० औ०। आ० चू०। उत्त०। स्था०। विशे०। प्रव०। ''आयाणं सुसमाहरे'' ॥२०॥ आहरेत् -आददीत; गृह्णीयादित्यर्थः। सूत्र १० श्रु ८ अ०। ''दंडसमा-दाणं संपेहाए'' (सूत्र ७५×) दण्ड्यन्ते-व्यापाद्यन्ते प्राणिनो येन स दण्डस्तस्य सम्यगादानं-ग्रहणम्- समादानम्। आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। स्वीकरणे स्था० ३ ठा० ३ उ०। ''सयमाइयंति अन्ने वि, आदियावेंति अन्नं पि आयतंतं समणुजाणंति'' (सूत्र-९) स्वयम्-आत्मना सावद्यमनुष्ठानमाददते स्वीकुर्विन्ति अन्यान्य-प्यादापयन्ति ग्राहयन्ति अन्यमप्यादानंपरिग्रहं स्वकुर्वन्तं समनुजानन्ति। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। आदीयत इत्यादानाम् परिग्राह्ये वस्तुनि, स्था० ४ ठा० १ उ०। आदीयते-ठाह्यत इत्यादानम्। धनधान्यादिकेपरिग्रहे, आव० ४ अ०। प्रव०। कल्प० स्था०।

आयाणं नरयं दिस्स, नायइज्ज तणामवि ॥८॥

साधुस्तृणमपि 'नायइज्ज' इति-नाऽऽददीत-अदत्तं न गृह्णीत, किं कृत्वा आदानं-नरकं दृष्ट्वा आदीयते इत्यादानंधनधान्यादिकं परिग्रहं, नरकं नरकहेतुत्वान्नरकं; ज्ञात्वेत्यर्थः। उत्त० लक्ष्मी० टी० ६ अ०। आदीयत इत्यादानं धनधान्यादि, कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि ''कृत्यल्युटो बहुलम्'' (पाणि० ३।३।११३।) इति कर्मणि ल्युट्। आर्षत्वादादानीयं वा० नरककारणत्वान्न-रकं दृष्ट्वा, किमित्याहनाददीत- न गृह्णीत न स्वकुर्य्यादिति यावत्। 'तणमवी'ति तृणमप्यास्तां रजतरूप्यादीनि। उत्त० पाई १ अ०। मिथ्यात्वादिनाऽऽदीयत इत्यादानम्। सूत्र १ श्रु १३ अ०। आदीयते सावद्यानुष्ठानेन स्वीक्रियते इत्यादानाम्, कर्म। ''आयाणसोयगढिए'' (सूत्र-१३८×)। अष्टप्रकारके कर्मणि, सूत्र १, श्रु १३ अ०। आचा०। आदीयते वाऽनेनेत्यादानम्। कर्मोपादाने, ''आयाणं'' (सूत्र-१८५)। आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०। ''सागारिए उवस्सए णो ठाणं वा निसीयणं वा तुयट्टणं वा चेतेज्जा। आयाणमेयं'' (सूत्र-६७×)। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०।'' एयं खु मुणी आयाणं सया सुअक्खायधम्मे विधूतकप्पे णिज्झोसइत्ता'' (सूत्र-१८५)। एतत् -पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं वा खुः वाक्यलंकारे, आदीयत इत्यादानं-कर्म, आदीयते वाऽनेन कर्मेत्यादानं-कर्मोपादानम् तच्च धर्मोप-करणातिरिक्तं वक्ष्यमाणं वस्त्रादि तन्मुनिर्भाषयितेति संबन्धः। आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०। ''सन्ति मे तओ आयाणा जेहिं कीरइ पावगं'' (२६×)। ''सन्ति-विद्यन्ते अमूनि त्रीणि आदियन्ते- स्वीक्रियन्ते अमीभिः कर्मेत्यादानानि एतदेव दर्शयति-यैरादानैः क्रियते विधीयते निष्पाद्यते पापकं कल्मषम्। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। ''संखडिं खंखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए, केवली बूया-आयाणमेयं'' (सूत्र-१७)। केवली

ब्रुयात्- आदानमेतत्-कर्मोपादानमेतदिति । पाठान्तरं वा- 'आययणमेयं' ति-आयतनं-स्थानमेतद्दोषाणां यत्संखडी- गमनम् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । ''एते आयाणा संति'' (सूत्र-१५×) । यस्मादेतानि आयतनानिकर्मोपादानकारणानि सन्ति-भवन्ति । आचा० २ श्रु० १चू० १ अ० ३ उ० । आदीयते- गृह्यते आत्मप्रदेशैः सह श्लिष्यते अष्टप्रकारं कर्म येन तदादानम् । हिंसाद्याश्रवद्वारे, अष्टादशपापस्थानेषु च। आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । ''आयाणं सगडभिज्जं'' (सूत्र-२२१×) आदीयते-गृह्यते आत्मप्रदेशैः सह श्लिष्यते अष्टप्रकारं कर्म येन तदादानं हिंसाद्याश्रवद्वारमष्टादशपापस्थानरूपं वा, तत् स्थितेर्निमित्तत्वात् कषायापादानं तद्गमिता स्वकृतभिद् भवति । आचा० १ श्रु ३ अ० १ उ० । ('सगडभिज्ज' शब्दे सप्तमे भागे व्याख्या दृष्टव्या) कषाये, परिग्रहे सावद्यानुष्ठाने च । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । ''जओ जओ आदाणं अप्पणो पद्वोसहेऊ तओ तओ आदाणतो पुव्वं पडिविरते'' (सूत्र-) आदीयते स्वीक्रियतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तदादानम्- कषायः परिग्रहः सावद्यानुष्ठानं वेति । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइया ।
सत्थादाणाइँ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥१०॥

पलिउंचणञ्च भयणञ्च, थंडिल्लुस्सयणाणि य ।
धूणादाणाइँ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥११॥

तथा-आदीयते-गृह्यतेऽष्टप्रकारं कर्मभिरिति (आदानानि) कर्मोपादानकारणान्यस्मिन् । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । एतानि पलि- कुञ्चनादीनि अस्मिन् लोके आदानानि वर्तन्ते तदेतद्विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । (१०-११ । अनयोर्गाथयोर्विशेषतः व्याख्यानं 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे करिष्यते) आदीयते-स्वीक्रियते; प्राप्यते वा: मोक्षो येन तदादानम् । ज्ञानदर्शनचारित्रेषु, ''बुसीए य विगयगेही आयाणं सम्मरक्खए'' ॥११×॥ विविधम्- अनेक-प्रकारमुषितः- स्थितो दशविधचक्रबालसामाचर्यां व्युषितस्तथा विगताऽपगता आहारादौ गृद्धिर्यस्यासौ विगतगृद्धिः साधुरेवंभूतश्चादीयतेस्वीक्रियते, प्राप्यते वा मोक्षो येन तदा-दानीयं ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं तत्सम्यग्-रक्षयेद्- अनुपालयेत्; यथा तस्य वृद्धिर्भवति तथा कुर्यादित्यर्थः । सूत्र १० श्रु० १ अ० ४ उ० । ''आयाणअट्ठी वोदाणमोणं'' (सूत्र-१७×) । मोक्षा-र्थिनाऽऽदीयत इत्यादानम् सम्यक् ज्ञानादिकमिति । सूत्र १, श्रु० १४ अ० । ''आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जा ॥५५॥ मोक्षा-र्थमादीयतइत्यादानं-सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्ररूपं तद्विद्यते यस्यासावादानवान् । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । ''आयाणं सुसमाहरे'' ॥१९॥ मोक्षस्यादानम् -उपादानं सम्यग्दर्शनादिकं सुष्ठूद्युक्तः सम्यग्विस्रोतसिकारहित आहरेत् -आददीत; गृह्णीयादित्यर्थः । सूत्र० १० श्रु० ८ अ० ''अज्झप्पजोगेसुद्धादाणे'' १४१ । (सूत्र-३×) शुद्धमवदातम् आदानं-चरित्रं यस्य स शुद्धादानो भवति । सूत्र० १ श्रु १६ अ० । आदीयत इत्यादानम् । मोक्षे, ''आयाणमट्ठं खलु वंचयित्ता'' (सूत्र-४) आदीयत इत्यादानम्-ज्ञानादिकं, मोक्षो वा तमर्थं वञ्चयन्ति भ्रंशयन्त्यात्मनः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । संयमे, ''आयाणगुत्ते वलयाविमुक्के ॥२२+॥ मोक्षार्थिनाऽऽदीयते-गृह्यत इत्यादानं- संयमस्तेन तस्मिन्वा सति गुप्तः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । संयमानुष्ठाने च । ''एस वीरे पसंसिए, जे ण णिव्विज्जति आदाणाए'' (सूत्र-८५×) भोगाशाछन्दविवेचकोऽप्रमादी पञ्चमहाव्रत-भारारोहणोन्नामितस्कन्धो वीरः कर्मविदारणात् प्रशंसितः- स्तुतो देवराजादिभिः, क एष वीरो नाम योऽभि- ष्टूयत इत्यत आह- 'जे' इत्यादि; यो न निर्विद्यते न खिद्यते- न जुगुप्सते, कस्मै? आदानाय- आदीयते-गृह्यते अवाप्यते आत्मस्वतत्त्वमशेषाचारककर्मक्षयाविर्भूत-समस्तवस्तुग्राहिज्ञा- नाबाधसुखरूपं येन तदादानंसंयमानुष्ठानं तस्मै न जुगुप्सते, तद्वा कुर्वन् सिकताकवलचर्वणदेशीयं क्वचिदलाभादौ न खेदमुपयातीति ।आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । आदीयत इत्यादा-नम् । प्रथमव्रतग्रहणे । सूत्र० । ''जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो, आमरणंताए दंडे निक्खित्ते'' (सूत्र०) । यावद्यैर्येषु वा श्रमणोपासकस्याऽऽदीयत इत्यादानम्-प्रथमव्रतग्रहणम्; तत आरभ्य आमरणान्ताद्दण्डो निक्षिप्तः-परि-त्यक्तो भवति । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । केनचिदादीयत इत्यादानम् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । कारणे कल्प० । ''आयाणमेवं,'' कर्मणां-दोषाणां वा आदानम् -उपादानकारणम् । कल्प० ३ अधि० ९ क्षण । ''एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे'' (सूत्र-३२+) । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । एकः कश्चित् प्रकृत्या क्रोधनोऽसहिष्णुतया केनचिदादीयत इत्यादानम्-शब्दादिकं कारणं तेन विरुद्धः समानः परस्या- पकुर्य्यात् शब्दादानेन तातवत्केन चिदाद्युष्टो निन्दितो वाचा विरुध्येत् रूपादादानेन तु बीभत्सं कञ्चन दृष्ट्वा अपशकुना- ध्यवसायेन कुप्येत । सूत्र० २ श्रु० २ अ । आदीयन्ते गृह्यन्ते शब्दादयोऽर्था एभिरित्यादानानि । इन्द्रिये, बृ० १ उ० । केवली णं आयाणेहिं न जाणइ न पासइ'' (सूत्र-१९८+) । आदीयते-गृह्यतेऽर्थ एभिरित्यादानानि-इन्द्रियाणि तैर्न जानाति केवलित्वाद् । भ० ५० श० ४ उ० । ''आयाणनिरुद्धाओ'' ॥१८६॥ आदानानीन्द्रियाणि निरुद्धानि यस्यां सा निरुद्धादाना, गाथायां व्यत्यासेन पूर्वापरनिपातः प्राकृतत्वाद् । बृ० १ उ० ३ प्रक० । ''आयाणगुत्ता विकहाविहीणा'' (८८४) । आदानैः- इन्द्रियैर्गुप्ताः । बृ० ३ उ० । आदीयते कर्मनेनेत्यादानम् । दुष्प्रणिहिते इन्द्रिये च आचा० । ''आयाणसोयमतिवायसोयं'' ॥१६×॥ आचा० १ श्रु० ९ अ० । आदीयते गृह्यते, प्रथमम्-आदौ यत्तदानम् । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आचा० । आदौ० (प्रथमे) ''आयाणपएनेयं ॥५०३+॥ आदीयत-इत्यादानम्-आदेः; प्रथममित्यर्थः, तच्च तत्पदञ्च निराकाङ्क्षतया अर्थगमकत्वेन वाक्यमेवादानपदम् । उत्त० २९ अ० । ''से किं तं आयाणपदेणं'' (सूत्र+) आदीयते तत्प्रथमतयाउच्चारयितुमारभ्यतेशास्त्रस्याध्ययनोद्देशकादेश्चा-दिपदमित्यर्थः । अनु० । नि० चू० ।

आदानशब्दस्य तत्पर्यायस्य च ग्रहणशब्दस्य
च निक्षेपं कर्त्तुकामो निर्युक्तिकृदाह-

आदाणे गहणंमि य, णिक्खेवो होतो दोन्नि वि चउक्के।

एगट्ठं नाणट्ठं, च होज्ज पडयं तु आदाणे ॥१३२॥

अथवा-'जमतीयं' ति-अस्याध्ययनस्य नाम, तच्चादानपदेन, आदवादीयते इत्यादानं, तच्च ग्रहणमित्युच्यते, तत्राऽऽदान-ग्रहणयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह- 'आदाणे' इत्यादि, आदीयते-कार्यार्थिना तदित्यादानं, कर्मणि ल्युट्प्रत्ययः, करणे वा, आदीयते-गृह्यते स्वीक्रियते विवक्षितमनेनेतिकृत्वा, आदानं च-पर्यायतो ग्रहणमित्युच्यते, तत आदानग्रहणयोर्निक्षेपो भवति द्वौ चतुष्कौ, तद्यथा-नामादोनम्, स्थापनादानम्, द्रव्यादानम्, भावादानञ्च। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यादानं वित्तं यस्मा-ल्लौकिकैः परित्यक्तान्यकर्त्तव्यैर्महता क्लेशेन तदादीयते, तेन वाऽपरं द्विपदचतुष्पदादिकमादीयत इति कृत्वा, भावाऽऽदानं तु द्विधाप्रशस्तम्, अप्रशस्तं च। तत्र-अप्रशस्तम्-क्रोधाद्युदयो, मिथ्यात्वाविरत्वादिकं वा, प्रशस्तंतूत्तरोत्तरगुणश्रेण्या विशुद्धा-ध्यवसायकण्डकोपादानं सम्यक्ज्ञानादिकं वेत्येतदर्थप्रतिपादनपरमेतदेव वाऽध्ययनं द्रष्टव्यमिति। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

आदा(या)णअट्ठि(न्)–पुं०(आदानाऽर्थिन्) मोक्षार्थिनाऽऽदीयते इत्यादानम्- सम्यक्ज्ञानादिकं तेनार्थः स एवार्थः आदानार्थः स विद्यते यस्यासावादानार्थी। सम्यक्- ज्ञानादिप्रयोजनवति, ''आदाणअट्ठी वोदाणमोणं'' (सूत्र १७×)। सूत्र०१ श्रु० १४ अ०।

आदा(या)णगुत्त- त्रि० (आदानगुप्त)। संयमगुप्ते, मनोवाक्कायै, कर्मणि गुप्ते च। सूत्र०। ''आयाणगुत्ते वलयाविमुक्के (सूत्र-२२+)। मोक्षार्थिनाऽऽदीयते-गृह्यत इत्यादानं संयमस्तेन तस्मिन्वा सति गुप्तः, यदि वा- मिथ्यात्वादिनाऽऽदीयते इत्यादानम्-अष्टप्रकारकं कर्म तस्मिन्नादातव्ये मनोवाक्कायैर्गुप्तः समितश्च। सूत्र०१ श्रु०१३ अ० इन्द्रियैर्गुप्ते च। ''आयाणगुत्ता विकहाविहीणा'' (८८४×)। आदानैः- इन्द्रियैर्गुप्तः। बृ० ३ उ०।

आदा(या)णणिक्खेवदुगुंछय- त्रि० (आदाननिक्षेपजुगुप्सक)। आदाननिक्षेपै-पात्रादेर्ग्रहणमोक्षौ आगमप्रतिषि (सि) (ब) द्धौ जुगुप्सति-न करोतीति आदाननिक्षेपजुगुप्सकः। आव० ४ अ०। आगमप्रति (ब)षिद्धौ पात्रादेर्ग्रहणमोक्षौ च कुर्वति, आग-मानुसारेण प्रत्यवेक्षणप्रमार्जनपूर्वमुपयुक्तः सन्नुपधेरादाननिक्षेपौ करोतीत्यर्थः। (६४३ गाथाटी०)। प्रव० ७२ द्वार।

आदा(या)णनिरुद्ध त्रि० (निरुद्धाऽऽदान)। निरुद्धेन्द्रिये, ''आयाणनिरुद्धाओ'' ॥१८६×)। आदानानि- इन्द्रियाणि निरुद्धानि यस्यां सा निरुद्धाऽऽदाना, गाथायां व्यत्यासेन पूर्वाऽपरनिपातः प्राकृतत्वाद्। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

आदा(या)णपय- न० (आदानपद)। आदीयते–गृह्यते प्रथमम्- आदौ यत्तदादानम् आदानञ्च तत्पदं च सुबन्तं तिङन्तं वा तदादानपदम्। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। शास्त्रस्याध्ययनो-द्देशकादेश्चादिपदे, अनु०। येषामादानपदेनाऽभिधानं तन्म-तेनादौ यत्पदं तदादानपदम्। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। उत्त०।

से किं तं आयाणपदेणं? आयाणपएणं धम्मो मंगलं चूलिआ आवंती चाउरंगिज्जं असंखयं अहातत्थिज्जं अद्दइज्जं जण्णइज्जं पुरिसइज्जं (उसुकारिज्जं) एलइज्जं वीरियं धम्मो मग्गो समोसरणं गत्थो जंमइयं। सेतं आयाणपएणं। (सूत्र-१३१×)

'से किं तं आयाणपएणमि 'त्यादि-आदीयते-तत्प्रथम तया उच्चारयितुमारभ्यते शास्त्राद्यनेनेत्यादानं तच्च तत्पदं चादानपदं, शास्त्रस्याध्ययनो द्देशकादेश्चादिपदमित्यर्थः, तेन हेतुभूतेन किमपि नाम भवति, तच्च ''आवंती'' त्यादि, तत्रआवन्तीत्याद्या-रस्य पञ्चमाध्ययनम्, तत्र ह्यादावेव- 'आवंती' त्यालापको विद्यते इत्यादानपदेनैतन्नाम। ''चाउरंगिज्जं'' ति- एतदुत्तराध्ययनेषु तृतीयमध्यनम्, तत्र- ''चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो'' इत्यादि विद्यते, ''असंखयं ति- इदमप्युत्तराध्ययनेष्वेव चतुर्थमध्ययनम्, तत्र च आदावेव- ''असंखयं जीवियमाप-मायए'' इत्येतत् पदमस्ति, ततस्तेनेदं नाम, एवमन्यान्यपि कानिचिदुत्तराध्ययनान्तर्वर्तीन्यध्ययनानि; कानिचित्तु दशवैका-लिकसूयगडाध्ययनानि (सूत्रकृता-ङ्गाऽध्ययनानि) स्वधिया भावनीयानि। अनु०।

आदा(या)णफलिह–पु० (आदानपरिघ) आदीयते द्वारस्थग-नार्थं गृह्यत इत्यादानः। स चासौ परिघश्चादानपरिघः। द्वारस्थगनार्थं ग्राह्यायामर्गलायाम्, जं० २ वक्ष० २१ सूत्रटी०। जी०। ''आयाणफलिह'' (सूत्र-२+)आदीयते इत्यादानम्- आदेयो-रम्यो यः परिघः-अर्गला स आदानपरिघः। रम्या-यामर्गलायाम्, प्रश्न ४ आश्र० द्वार।

आदा(या)णभंडमत्तनिक्खेवणासमिइ- स्त्री० (आदान-भाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति)। आदाने-ग्रहणे भाण्डमात्राया उपकरण-मात्राया, भाण्डस्य वा, वस्त्राद्युपकरणस्य मृण्म- यादिपात्रस्य च साधुभाजनविशेषस्य निक्षेपणायां च समितिः सुप्रत्युपेक्षितसुप्रमार्जितक्रमेणेति आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणा- समितिः। समितिभेदे, पा० १७ सूत्र० टी०। स्था०। (अत्र सूत्रम् 'समिइ' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते) भाण्डमात्रे, आदा-ननिक्षेपविषया सुन्दरचेष्टा। स्था०५ ठा० ३ उ० ४५८ सूत्रटी०। ''इह च सत्त भंगा होन्ति पत्तादि न पडिलेहइ, ण पमज्जइ, चउत्थभंगो, एत्थ चउत्थे चत्तारि गमा-दुप्पडिलेहियं दुप्पमज्जियं चउभंगो, आइल्ला छ अप्पसत्था, चरिमो पसत्थो, चउत्थीए उदाहरणं- ''आयरिएण साहू भणिओ गामं वच्चामो, उग्गहिए संते केण इ कारणेण ठिया, एक्को एत्ताहे पडिलेहियाणि त्ति काउं ठवेउमारद्धो, साहूहिं चोइओ भणइ-किमित्थ सप्पो अच्छइ सन्निहियाए देवयाए सप्पो विउव्विओ, एस जहण्णओ असमिओ, अण्णो तेणेव विहिणा पडिलेहित्ता ठवेइ, सो उक्कोसओ समिओ''। आव० ४ अ० १०५ गाथाटी०। अत्राप्युदाहरणम्- ''एकस्स आयरियस्स'' पंच सीससयाइं, तेसिमेगो सेट्ठिसुओ पव्वइओ, सो जो जो साहू एइ तस्स तस्स डंडगं निक्खवइ, एवं तस्स उट्ठियस्स

अन्नो एति, अन्नो जाइ, तहावि सो भगवं अतुरियं अवबलं उवरिं हेट्ठा मज्जिउं ठवेइ। एवं बहुएण वि कालेण न परितम्मइ'' पा० १७ सूत्रटी०।

आदा (या) णभंडमत्तनिक्खेवणासमिय– त्रि० (आदानभाण्ड-मात्रनिक्षेपणासमित)। ''आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए'' (सूत्र-९२×)। आदानेन ग्रहणेन सह भाण्डमात्रा या- उपकरण- परिच्छदस्य या निक्षेपणान्यासस्तस्यां समितो यः स तथा। आदानभाण्डमात्र-निक्षेपणासमितौ सम्यक् प्रवृत्ते, भ०२ श०१ उ०।

आदा (या) णभय न० (आदानभय) आदीयत इत्यादानं-घनं तदर्थं चौरादिभ्यो यद् भयं तदादानभयम्। आव० ४ अ० ८३ गाथाटी०। स्था०। भयस्थानभेदे, स० ७ सम०। नि० चू०। आदान- भयम्-आदानं पुण्यार्थमपुण्यार्थं वा परेण राजादिना वितरित- ग्रामनगरभूखण्डादेः स्वीकरणं तदेव भयम् आदानभयम् मा कश्चनापराधमवाप्य तद् ग्रहीष्यति। दर्श० १ तत्त्व ९ गाथाटी०।

आदा(या)णभरिय–न० (आदानभृत) आग्रहणभृत्ते, उपा० ''आदाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि'' (सूत्र-२८+) आदा-नम्-आद्रहणं यदुदकतैला-दिकमन्यतरद्रव्यपाकायाऽऽनावुत्ता-प्यत्त तद्भृते। उपा० ३ अ०।

आदा(या)णया–स्त्री० (आदानता) ग्रहणतायाम् ,इह च ताप्रत्ययः स्वार्थिकः। प्राकृतत्वेनादानादीनां भावविवक्षया वा। स्था० २० ठा० २ उ०।

आदा(या) णवंत– त्रि० (आदानवत्) मोक्षार्थमादीयत इत्यादा-नम् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपं तद्विद्यते यस्यासावादानवान् सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रवति साधौ, सूत्र०। ''आयाणवन्तं समुदाहरेज्जा'' ॥५५॥ सूत्र०२ श्रु०६ अ०।

आदा(या) णसोयगढिय– त्रि० (आदानश्रोतोगृद्ध आदीयते)- कर्मानेनेति आदानं- दुष्प्रणिहितमिन्द्रियमादानं च श्रोत-श्चादानश्रोतः। आचा० १ श्रु०९ अ० १ उ०१६ गाथाटी० आदीयते- सावद्यानुष्ठानेन स्वीक्रियते इत्यादानं कर्म संसारबीजभूतं तस्य श्रोतांसि इन्द्रियविषया मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा वा 'तेषु गृद्धः'-अध्युपपन्नः। आचा० १ श्रु०४ अ०३ उ०। ''आदानश्रोतस्यध्युपपन्ने, आचा०।

आयाणसोयगढिए बाले अबोच्छिण्णबंधणे अण-भिक्कंतसंजोए तमंसि अविजाणओ आणाए लंभो णऽत्थि त्ति बेमि। (सूत्र-१३८+)

(आदानश्रोतोगृद्धः) स्यात्, कोऽसौ ? बालः–अज्ञः रागद्वेषमहामोहा-भिभूतान्तःकरणः। यश्चादानश्रोतोगृद्धः स किं भूतः स्यादित्याह- ''अव्वोच्छिन्नबंधणे'' इत्यादि, अव्यवछिन्नंजन्मशतानुवृत्तिबन्धनम्-अष्टप्रकारं कर्म्म यस्य स तथा, किञ्च– 'अणभिक्कंत' इत्यादि-अनभिक्रान्तः- अनतिलङ्घितः संयोगो धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादि-कृतोऽसंयमसंयोगो वा येनासावनभिक्रान्तसंयोगः तस्य चैवंभूतस्ये-न्द्रियानुकूल्यरूपे मोहात्मकेवा तमसि वर्त्तमानस्यात्महितं मोक्षोपायं वा अवि-जानत आज्ञायाः-तीर्थकरोपदेशस्य लाभो नास्तीत्येतदहं ब्रवीमि तीर्थकरवचननोपलब्धसद्भावः आचा० १ श्रु०४ अ०३ उ०।

आदा(या)णिज्ज–त्रि० (आदानीय) आदीयते उपादीयते इत्या-दानीयः। उपादेये, स्था०६ ठा०३ उ०। स०। ग्राह्ये, आचा०। ''आयाणिज्जे वियाहिए'' (सूत्र-१३७+)। स वीराणां मार्गं प्रतिपन्नः मांसशोणितयोरपनेता मुमुक्षूणामादानीयो-ग्राह्य आदेयवचनश्च व्याख्यातः। आचा० १ श्रु०४ अ०३ उ०। आदीय-न्तेगृह्यन्ते सर्वभावा अनेनेत्यादानीयम्। श्रुते, भोगाङ्गे, द्विपदचतुष्पदधनधान्यहिरण्यादिके आचा० १ श्रु० २ अ०३ उ०। ''आयाणिज्जं'' (सूत्र-१८४ +)आदीयते इत्यादानीयम्। कर्मणि० आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ०। आयाणिज्जं च आदाय तम्मि ठाणे ण चिट्ठइ''। आदीयन्ते-गृह्यन्ते-सर्वभावा अनेनेत्यादानीयम्-श्रुतम्, तदादाय तदुक्ते तस्मिन् संयमस्थाने न तिष्ठति। यदि वा-आदानीयम्- आदातव्यं भोगाङ्गं द्विपदचतुष्पदधनधान्यहिरण्यादि तदादायगृहीत्वा। अथ वा- मिथ्यात्वाऽविरतिप्रमादकषाय-योगैरादानीयं कर्मादाय, किंभूतोभवतीत्याह- तस्मिन् ज्ञानादिमये मोक्षमार्गे सम्यगुपदेशे वा प्रशस्तगुणस्थाने न तिष्ठति नात्मानं विधत्ते। आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ०। ''आयाणिज्जं परिण्णाय, परियाएणं विगिंचइ (सूत्र-१८४×)। आदीयते इत्यादानीयं-कर्म-तत्परिज्ञाय मूलोत्तर-प्रकृतिभेदतो ज्ञात्वा पर्य्यायेण-श्रामण्येन विवेचयति; क्षपयतीत्यर्थः। आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ०। आश्रयणीये, मोक्षे, मोक्षमार्गे, सम्यग्दर्शनादिके च। ''पुरिसाऽऽदाणिया नरा'' ३४ +। मुमुक्षुणामादानीयाआश्रयणीयाः पुरुषादानीयाः महान्तोऽपि महीयांसो भवन्ति। यदि वा- आदानीयो-हितैषिणां मोक्षः, तन्मार्गो वा-सम्यग्दर्शनादिकः पुरुषाणां-मनुष्याणामादानीयः स विद्यते येषामिति विगृह्य मत्वर्थीयः। ''अर्शआदिभ्योऽच् इति। सूत्र० १ श्रु०९ अ०।

से तं संवुज्जमाणे आयाणीयं समुट्ठाए तम्हा पांव कम्मं णेव कुज्जा ण कारवेज्जा। (सूत्र-९४×)

आदातव्यम्–आदानीयं तच्च परमार्थतो भावाद्- आदानीयं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं तदुत्थाय इति अनेकार्थत्वाद्आदाय-गृहीत्वा। अथवा स अनगारः एतदादानीयं ज्ञानाद्यपवर्गकारणम्। आचा०१ श्रु०२० अ०६ उ०। (९६–अस्य संपूर्णसूत्रस्य व्याख्यां 'लोगविजय' शब्दे षष्ठे भागे करिष्यामि)। ''आयाणीयं समुट्ठाय'' (सूत्र-१६+)। आदानीयं-

ग्राह्यं सम्यग्दर्शनादि सम्यगुत्थाय-अभ्युपगम्य। आचा० १ श्रु०१ अ०२ उ०।

आदा(या)णिज्जज्जयण–न० (आदानीयाध्ययन) मोक्षार्थिना-ऽशेषकर्म्मक्षयार्थं यज्ज्ञानादिकमादीयते- तदत्र प्रतिपाद्यत इति कृत्वाऽऽदानीयमिति नाम संवृत्तम। सूत्रकृताङ्गस्य स्व-नामख्याते पञ्चदशेऽध्ययने, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

आदानपदमाश्रित्यास्याभिधानमाकारि, आदानीयं वा-

ज्ञानादिकमाश्रित्य नाम कृतमिति। आदानीयाभिधानस्यान्यथा वा प्रवृत्तिनिमित्तमाह--

जं पढमस्सऽंतिमए, बितियस्स उ तं हवेज्ज आदिम्मि।
एतेणाऽऽदाणिज्जं, एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥१३५॥

यत्पदं प्रथमश्लोकस्य तदर्द्धस्य च अन्ते-पर्यन्ते तदेव पदं शब्दतः अर्थतः उभयतश्च द्वितीयश्लोकस्यादौ तदर्धस्य वाऽऽदा भवति-एतेन प्रकारेणाद्यपदसदृशत्वेनादानीयं भवति, एष आदानीयाभिधानप्रवृत्तेः पर्यायः-अभिप्रायः अन्यो वा विशिष्ट-ज्ञानादि आदानीयोपादानादिति केचित्तु- पुनरस्याध्ययन-स्यान्तादिपदयोः संकलनात्संकलि केति नाम कुर्वते। तस्या अपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपः। (स च 'संकलिया' शब्दे सप्तमे भागे दर्शयिष्यते) सूत्र०१ श्रु०१५ अ०। पञ्चदशे त्वादानीयाख्येऽध्ययनेऽर्थाधिकारोऽयम्, तद्यथा- ''आदाणिय- संकलिया आदाणीयम्मि आदयचरित्तं'' ॥२८×॥ आदीयन्ते- गृह्यन्ते- उपादीयन्ते इत्यादानीयानि पदानि अर्था वा ते च प्रागुपन्यस्तपदैरर्थैश्च प्रायशोऽत्र संकलिताः, तथा-आयतं चरित्रं सम्यक् चरित्रं मोक्षमार्गप्रसाधकं तच्चात्र व्यावर्ण्यते। सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०।

आदाणीय-- त्रि० (आदानीय) उपादेये, स्था०६ ठा० ३ उ० सूत्र०। (अस्य बहवोऽर्थाः 'आदाणिज्ज' शब्देऽनुपदमेव गताः)

आदा(या)य-अव्य० (आदाय) आ-दा-ल्यप्। गृहीत्वेत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०४ उ०। ''इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं'' ॥२०॥ आदाय-उपादाय आचार्य्योपदेशेन गृहीत्वेति। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। आचा०। प्राप्येत्यर्थे, ''एवं विवेगमादाय'' ॥१०॥ विपाकं-स्वानुष्ठानस्य आदय-प्राप्य, विवेकमिति वा क्वचित् पाठस्तद्विपाकं-विवेकं चादाय-गृहीत्वा। सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०। अङ्गीकृत्येत्यर्थे, ''तवोवहाणमादाय'' ॥४३×॥ उत्त० लक्ष्मी० २ अ०। स्वीकृत्येत्यर्थे, उत्त० पाई० २ अ०। अवगम्येत्यर्थे ''आयाए एगंतमवक्कमेज्जा'' (सूत्र-३०×) आदाय-अवगम्यैकान्त-मपक्रामेत्। आदाने, पुं०। आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०६ उ०।

आदा(या) हिणपयाहिण-- त्रि० (आदक्षिणप्रदक्षिण) आदक्षिणात्-दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिणः परितो-भ्राम्यतो- दक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिणः। रा०। आदक्षिणाद्- दक्षिणपार्श्वादारभ्य प्रदक्षिणो-दक्षिणपार्श्ववर्ती आदक्षिणप्रदक्षिणः। विपा०१ श्रु०१ अ०। दक्षिणपार्श्वादारभ्य परितो भ्राम्यतो दक्षिणपार्श्ववर्तिनि भ०। ''समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिरणपयाहिणं करेइ'' (सूत्र-७)। आदक्षिणाद्-दक्षिणहस्ता-दारभ्य प्रदक्षिणः- परितो भ्राम्यतो दक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिणोऽतस्तं करोती-ति। भ०१ श०१ उ०। नि०। औ०। ''आयाहिणं पयाहिणं करेंति'' (१८४गाथा टी०) आ-सर्वतः समन्तात्-परिभ्रमतां दक्षिणमेव जन्मभवनं यथा भवति एवं प्रदक्षिणं कुर्वन्ति। आ० म० १ अ०। जं०।

आदा (या)-हिणपयाहिणा स्त्री० (आदक्षिणप्रदक्षिणा)- आदक्षिणतः-पार्श्वात्प्रदक्षिणा पार्श्वभ्रमणमादक्षिणप्रदक्षिणा। स्था० १ ठा०। दक्षिणपार्श्वादारभ्य परिभ्रमणतो दक्षिणप्रार्श्वप्राप्तौ नि०। ''अज्जसुहम्मं थेरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ।'' त्रिःकृत्वः-त्रीन् वारान् आदक्षिणप्रदक्षिणां दक्षिणपार्श्वादारभ्य परिभ्रमणतो दक्षिणपार्श्वप्राप्तिरा-दक्षिणप्रदक्षिणा तां करोति। नि० १ श्रु०१ वर्ग १ अ०।

आदि(इ)-च-त्रि० (आदृत्य) आ-दृ-कर्म्मणि क्यप्। आदरणीये, आदर्तव्ये ल्यप्। सम्मान्येत्यर्थे, अव्य०। वाच०।

***आदित्य**-पु० कृष्णराज्यवकाशान्तरस्थलोकान्तिकसंज्ञ- कार्चि-र्मालिवमानस्थे, लोकान्तिकदेवविशेषे, भ०६ श०५ उ०। समयावलि-कादीनामादौ भवे, सू० प्र० २० प्राभृ०। सूर्ये, आव० ४ अ०। आदित्यो हि सर्वजगत्प्रतीतो जगत्प्रदीपकल्पो दिवसादिकालविभागकारी (सूत्र०)। आ-गो पालाङ्गनादिप्रतीतः समस्तान्धकारक्षयकारी कमलाकरो-द्घाटनपटीयान् आदित्योद्गमः प्रत्यहे भवन्नुपलक्ष्यते। सूत्र०१ श्रु०१२ अ०। (अस्य विमानवक्तव्यता 'विमाण' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते) (अस्य मण्डलादिवक्तव्यता 'सूरमंडल' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते) (अस्य आवृत्तयः 'आउट्टि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गताः)

जस्स जओ आइच्चो, उएइ सा भवइ तस्स पुव्वदिसा।
जत्तो य अत्थमेइ उ, अवरदिसा सा उ नायव्वा ॥४७॥
दाहिणपासम्मि य दा-हिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं।
एया चत्तारि दिसा, तावक्खेत्ते उ अक्खाया ॥४८॥

तापयतीति तापः-आदित्यः। आचा० १ श्रु०१ अ०१ उ०। (अत्र विस्तरं 'दिसा' शब्दे चतुर्थे भागे कथयिष्यामि)

आदिच्छा स्त्री० (आदित्सा) आदातुमिच्छायाम्, आव० ६ उ०।

आदिम त्रि० (आदिम) अग्रिमे, बृ०। आवासगमाईया सूयगडा जाव आइमा भावा'' (७८०×)। आवश्यकादयः सूत्रकृताङ्गं यावत् ये आगमग्रन्थास्तेषु ये पदार्था अभिधेयास्ते आदिमा भावाः उच्यन्ते। बृ०१ उ०१ प्रक०।

आदियावण न० (आदापन) ग्राहणायाम्, सूत्र०। ''स य माइअंति अन्ने वि आदियावेंति'' (सूत्र-९)। स्वयम्- आत्मना साव-द्यमनुष्ठानमाददते स्वीकुर्वन्ति, 'अन्यान्यप्यादापयन्ति- ग्राह-यन्ति। सूत्र०२ श्रु०१ अ०।

आदीण त्रि० (आदीन) आ-समन्ताद्दीनः आदीनः। सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। समन्तात्करुणास्पदे, सूत्र०१ श्रु०१० अ०।

आदीणभोइ (न्) पुं० (आदीनभोजिन्) पतितपिण्डोपजीविनि, ''आदीणभोइं वि करेइ पावं'' (६×) आदीनभोज्यपि पापं करोतीति। उक्तं च-''पिंडोलकेव दुस्सीले, णरगाओ ण मुच्चइ'' स कदाचिच्छोभन-माहारमलभमानोऽल्पत्वादार्त्तरौद्रध्यानोपगतोऽप्यधः सप्तम्यामप्युत्प-द्येत। तद्यथा- असाविव राजगृहनगरोत्सवनिर्गतजनसमूहो वै-

भारगिरिशलापातनोद्यतः स दैवात्स्वयं पतितः पिण्डोपजीवीति तदेवमादीननभोज्यपि पिण्डोलकादिवज्जनः पापं कर्म करोति। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आदीणवित्ति त्रि० (आदीनवृत्ति) आ–समन्ताद्दीना–करुणास्पदा वृत्तिः-अनुष्ठानं यस्य। एवंभूते, ''आदीणवित्ती वि करेई पावं'' (६×) आ-समन्ताद्दीना–करुणास्पदा वृत्तिरनुष्ठानं यस्य कृपणवनीपकादेः स भवत्यादीनवृत्तिरेवंभूतोऽपि पापं कर्म करोति। सूत्र० १ श्रु १० अ०।

आदीणिय त्रि० (आदीनिक) आ -समन्ताद्दीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन्स आदीनिकः। अत्यन्तदीनसत्त्वाश्रये, सूत्र० ''आदीणियं उक्कडियं पुरत्था ॥२॥'' सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

आदीव अव्य० (आदीप)। दीपादारभ्येत्यर्थे० स्या० ५ श्लोक।

आध (ह) रिसिय- त्रि० आधर्षित-आ-धृष्- क्त। अवैयात्ये इट्गुणश्च। अवमानिते, तिरस्कृते, बलात्कारेणाभिभूते च। वाच०। 'तेण भणियं जो चंडमेहं दूयं आधरिसेइ त्ति। (४४४-४४५ गाथा टी०) आ०म० १ अ०। आहरिसिओ दूओ संभंतेण नियत्तिओ (४४४-४४५ गाथाटी०) आ०म० १ अ०।

आधा(हा) स्त्री० (आधा) आधानमाधा। उपसर्गादातः ॥५।३।११०॥ इत्यङ्प्रत्ययः। पिं। साधुनिमित्तं चेतसः प्रणिधाने पञ्चा० ३१ विव०। पिं०। प्रव०। प्रश्न०। दशा०। ग०। बृ०। करणे, उत्त० ५ अ०। आधीयतेऽस्यामित्याधा। आश्रये पिं०। आश्रय आधार इत्यनर्थान्तरमिति। पिं०। साऽपि च-आधा नामा-दिभेदाच्चतुर्द्धा। तद्यथा-नामाऽऽधा, स्थापनाऽऽधा, द्रव्याऽऽधा, भावाऽऽधा च। तत्र नामाऽऽधा द्रव्याऽऽधाऽपि च आगमतो नो आगमतश्च ज्ञशरीररूपा भव्यशरीररूपा च एषणैव भावनीया। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्याऽऽधामभिधित्सुराह–

धणुजुयकायभराणं, कुडुंबरज्जधुरमाइयाणं च।
खंधाई हिययं चिय, दव्वाऽऽहा अंतए धणुणो ॥९६॥

इह द्रव्याऽऽधाया विचार्यमाणायामाधाशब्दोऽधिकरणप्र- धानो विवक्ष्यते आधीयते अस्यामित्याधा, आश्रय आधार इत्यनर्थान्तरम्। तत्र 'धणु' त्ति- धनुः-चापं तत् आधाआश्रयः प्रत्यञ्चाया इति सामर्थ्याद्गम्यते, यूपः प्रतीतः। कायः-कापोती यया पुरुषाः स्कन्धारूढया पानीयं वहन्ति। भरः-यवसादिसमूहः, तथा- कुटुम्बम्-पुत्रकलत्रादिसमुदायः, राज्यं प्रतीतं, तयोर्धूः- चिन्ता आदिशब्दात्-महाजनधूःप्रभृतिपरिग्रहः तेषां च यथासंख्यं द्रव्याऽऽधा द्रव्यरूप आधारस्कन्धादि हृदयं च। तत्र स्कन्धो बलीवर्दादिस्कन्धो नरादिस्कन्धश्च परिगृह्यते, आदिशब्दात्- गन्त्र्यादिपरिग्रहः तत्र यूपस्य द्रव्याऽऽधा द्रव्यरूपः आश्रयोवृषभादिस्कन्धः, स हि यूपस्तत्राऽऽरोप्यते। कापोत्या आश्रयो नरस्कन्धः, नरो हि पानीयानयनाय कापोती स्कन्धेन वहति। भरस्याश्रयो गन्त्र्यादि, महाप्रमाणो हि भरो गन्त्र्यादिनैवानेतुं शक्यते, नान्येन। तथा कुटुम्ब चिन्तायाः राज्यचिन्तायाश्चाश्रयो हृदयं मनः, हृदयमन्तरेण चिन्तायाः अयोगात्, धनुर्विषये भावनामाह-अन्तके करहसंज्ञे धनुषः संबन्धिनि प्रत्यञ्चाऽऽरोप्यते ततो धनुः प्रत्यञ्चाया आश्रयः, एवं शेषाणामपि यूपादीनां प्रत्याश्रयत्वं भावनीयम्, तच्च भावितमेव। उक्ता द्रव्याऽऽधा। संप्रति भावाऽऽधा वक्तव्या-सा-च द्विधा-आगमतो, नो आगमतश्च। तत्राऽऽगमत आधाशब्दार्थ-परिज्ञानकुल-लस्तत्र चोपयुक्तः, ''उपयोगो भावनिक्षेपः'' इति वचनात्। नोआगम-तस्तु भावाऽऽधा, यत्र तत्र वा मनःप्रणिधानम्, तथा हि- भावो नाम मानसिकः परिणामस्तस्य चाऽऽधानं-निष्पादनं भवति मनसस्तदनु-गुणतया तेन तेन रूपेण परिणमने सति नाऽन्यथा, ततो मनःप्रणिधानं भावाऽऽधा, सा चेह प्रस्तावात्साधुदानार्थ- मोदनपचनपाचनादिविषया द्रष्टव्या। पिं०।

आधा(हा) कम्म न० (आधाकर्म)- आधानम् आधा। उपसर्गादातः ॥५।३।११॥ इत्यङ् प्रत्ययः। साधुनिमित्तं चेतसा प्रणिधा-नम्। यथा-अमुकस्य साधोः कारणेन मया भक्तादि पचनीयमिति, आधायाः कर्म-पाकादिक्रिया- आधाकर्म तद्योगात् भक्ताद्यप्याधाकर्म। इह दोषाभिधानप्रक्रमेऽपि यद्दोषवतोऽभिधानं तद्दोषदोषवतोरभेद-विवक्षया। द्रष्टव्यम्। पिं०। ग०। प्रव०। **ख-घ-थ-ध-भाम् ॥८।१।१८७॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण बहुलं धस्य हः। प्रा०।

विषयसूची–

(१) वक्तव्यसंग्रहः।
(२) व्युत्पत्तयः।
(३) प्रतिषेवणादीनि।
(४) प्रतिश्रवणस्वरूपम्।
(५) एकार्थिकानि आधाकर्मणः।
(६) आधाकर्माश्रित्य कल्प्याऽकल्प्यविधिः।
(७) तीर्थकरस्य आधाकर्मभोजित्वम्।
(८) द्वाविंशतिजिनेषु कल्प्याऽकल्प्यविधिः।
(९) अशनादिषु आधाकर्मसंभवः।
(१०) आधाकर्मण एवाऽकल्प्यविधिः।
(११) आधाकर्मभोजिनां कटुकविपाकः।
(१२) आधाकर्मभोजिनां बन्धः।

(१) आधाकर्मदोषं व्याचिख्यासुस्तत्प्रतिबद्धद्वारगाथामाह-

आहाकम्मिय नामा, एगट्ठा कस्स वाऽवि किं वाऽवि।
परपक्खे य सपक्खे, चउरो गहणे य आणाई ॥९४॥

इह प्रथमत आधाकर्म्मिकस्य नामान्येकार्थिकानि वक्तव्यानि, ततस्तदनन्तरं कस्यार्थाय कृतमाधाकर्म भवतीति विचारणीयं, तदनन्तरं च किंस्वरूपमाधाकर्म्मेति, विचार्यं, तथा परपक्षः- गृहस्थवर्गः स्वपक्षः-साध्वादिवर्गः, तत्रः परपक्षनिमितं कृत-माधाकर्म्म न भवति। स्वपक्षनिमित्तं तु कृतं भवतीति वक्तव्यम्, तथा-आधाकर्म्मग्रहणविषये चत्वारोऽतिक्रमादयः प्रकारा भवन्तीति वक्तव्यं, तथा ग्रहणे आधाकर्मणो भक्तादेरादाने आज्ञादयः ''सूचनात्सूत्रम्'' इति न्यायादाज्ञाभङ्गादयो दोषा वक्तव्याः।

तत्रैकार्थिकाभिधानलक्षणं प्रथमं द्वारं विवक्षुराह–

आहा अहे य कम्मे, आयाहम्मे य अत्तकम्मे य।

पडिसेवणपडिसुणणा, संवासऽणुमोयणा चेव ॥९५॥

'आहा अहे य कम्मे' त्ति-अत्र कर्म्मशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, चकारश्च कर्मेत्यनन्तरं समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः तत, एवं निर्देशो ज्ञातव्यः-आधाकर्म, अधःकर्म च । तत्राऽऽधाकर्मेति प्रागुक्त-शब्दार्थम्, अधःकर्मेति अधोगतिनिबन्धनंकर्म्म अधःकर्म्म, तथा हि-भवति साधूनामाधाकर्म्मभुञ्जानानामधोगतिः, तन्निबन्धनप्राणातिपाताद्याश्रवेषु प्रवृत्तेः, तथा आत्मानं दुर्गतिप्रपातकारणतया हन्तिविनाशयतीत्यात्मघ्नं, तथा यत् पाचकादिसंबन्धिकर्म पाकादिलक्षणं ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा । तदात्मनः संबन्धि क्रियतेऽनेनेति आत्मकर्म । एतानि च नामान्याधाकर्म्मणो मुख्यानि । संप्रति पुनर्यैः प्रतिषेवणादिभिः प्रकारैस्तदाधाकर्म्म भवति । तान्यप्यभेदविवक्षया नामत्वेन प्रतिपादयति- 'पडिसेवणे' त्यादि प्रतिसेव्यते इति प्रतिषेवणं, तथा आधाकर्म्मनिमन्त्रणानन्तरं प्रतिश्रूयते । अभ्युपगम्यते यत् आधाकर्म्म तत् प्रतिश्रवणं तथा- आधाकर्मभोक्तृभिः सह संवसनं संवासः तद्वशात् शुद्धाऽऽहारभोज्यपि आधाकर्म्मभोजी द्रष्टव्यः यो हि तैः सह संवासमनुमन्यते स तेषामाधाकर्म्म-भोक्तृत्वमप्यनुमन्यते, अन्यथा तैः सह संवसनमेव नेच्छेत् अन्यच्च संवासवशतः कदाचिदाधाकर्मगत-मनोज्ञगन्धाऽघ्राणादिना विभिन्नः सन् स्वयमप्याधाकर्मभोजने प्रवर्तेत ततः संवास आधाकर्म्मदोषहेतुत्वादाधाकर्म्म उक्तः, तथाऽनुमोदनम् अनु- मोदना आधाकर्म्मभोक्तृप्रशंसाऽपि आधाकर्मसमुत्थपापनिबन्धनत्वादाधाकर्मप्रवृत्तिकारणत्वाच्च आधाकर्म्मेति उक्तम् । अमीषां च प्रतिषेवणादीनामाधाकर्मत्वमात्मकर्मरूपं नाम प्रतीत्य वेदितव्यं, तथा वक्ष्यति-'अत्तीकरेइ कम्मम्मि' त्यादिइह आधाकर्म्मेति शब्दार्थविचारे आधया कर्म आधाकर्मेत्युक्तम् । पिं० । साधूनाम् आधया-प्रणिधानेन यत्कर्म षट्कायविनाशेना- ऽशनादिनिष्पादनं तदाधाकर्म । बृ०४ उ०४५६ गाथाटी० । नि० चू० ।

(२) आधाकर्मशब्दव्युत्पत्तयः-

आधानमाधा प्रस्तावात्साधुप्रणिधानं, अमुकस्मै साधवे देयमिति तया आधाय वा साधून् कर्म षड्जीवनिकाय- विराधनादिना भक्तादिपाकक्रिया आधाकर्म्म तद्योगाद् भक्ताद्यपि तथा निरुक्ताद् यलोपः । ग०१ अधि०२१ गाथाटी० । साधुं चेतसि आधाय-प्रणिधाय; साधुनिमित्तमित्यर्थः, कर्म सचित्तस्याऽचितीकरणमचित्तस्य वा पाको निरुक्तादाधाकर्म । ध०३ अधि०२२ श्लोक टी० । आधानमाधाप्रणिधानं तया; साधुप्रणिधानेनत्यर्थः कर्मक्रिया पाकादिका आधाकर्म्म । पञ्चा० १३ विव०५ गाथाटी० । यद्वा-आधाय साधु-चेतसि प्रणिधाय यत् क्रियते-भक्तादि, तदाधाकर्म । पृषोदराऽऽदयः ॥३।२।६५५॥ इतियलोपः । पिं० । प्रव० । आधाय-चेतसि अवस्थाप्य साधुं यदशनादि सचेतनमचेतनं वा पच्यते-अचित्तीक्रियते तदाधाकर्म । दर्श०४ तत्त्व६ गाथाटी० । आधया-साधु-प्रणिधानेन यत्सचेतनमचेतनं क्रियते अचेतनं वा पच्यते-चीयते वा गृहादिकं वयते वा वस्त्रादिकं तदाधाकर्म । ''आहाकम्मं भुंजमाणे सबले भवइ'' ॥४॥ दशा०२ अ० । साधुनिमित्तं सचितस्याचित्तीकरणे अचित्तस्य पाकेच्च । प्रव०६७ द्वार ३७० गाथाटी० । साधुनिमित्तं कृते ओदनादौ च । दर्श०४ तत्त्व६ गाथाटी० । तदात्मकेऽुद्गमदोषविशेषे च । स्था०३ ठा०४ उ० । आचा० । उत्त० । आधाकर्मिकं यन्मूलत एव साधूनां कृते कृतम् । व्य० ३ उ०१६४ गाथाटी० ।

सचित्तं जमचित्तं, साहूणऽट्ठाए करिए जं च ।
अचित्तमेव पच्चइ, आहाकम्मं तयं भणिअं ॥७॥

सचित्तम्-विद्यमानचैतन्यं सत् फलबीजादि यदचित्तम् अचेतनं साधूनां-संयतानाम् अर्थाय- हेतवे क्रियते-विधियते तथा यत्, 'च' शब्दो-लक्षणान्तरसमुच्चयार्थः, अचित्तमेव- अचेतनमपि सत्तण्डुलादि पच्यते-राध्यते साधूनामर्थायेति प्रकृतम्, आधाकर्मोक्तनिर्वचनतकत्-तद्भणितम्-उक्तं जिनादिभिर्यद्यपि सचित्तस्य पृथिव्यादेरचित्तीकरणेन यत् क्रियते गृहवस्त्रादि; तदपि आधाकर्म्मोच्यते, तथापीह तन्नोक्तं, पिण्डस्यैवाधिकृत्वादिति गाथार्थः । पञ्चा० १३ विव० । ध० । पं० व० ।

आधाया निक्षेपं प्रतिपादयति तया (आधया)यत्कृतं कर्म-ओदनपाकादि तदाधाकर्म्म । तथा चाह निर्युक्तिकृत-

ओरालसरीराणं, उद्दवणनिवायणं व जस्सऽट्ठा ।
मणमाहित्ता कीरइ, आहाकम्मं तयं वेंति ॥९७॥

औदारिकं शरीरं येषां ते औदारिकशरीराः-तिर्यञ्चो, मनुष्याश्च । तत्र तिर्यञ्चः-एकेन्द्रियादय पञ्चेन्द्रियपर्यन्ता द्रष्टव्याः, एकेन्द्रिया अपि सूक्ष्मा बादराश्च । नन्विह ये अपद्रावणयोग्यास्तिर्यञ्चस्ते ग्राह्याः, न च सूक्ष्माणां मनुष्यादिकृतमपद्रावणं संभवति, सूक्ष्मत्वादेव, ततः कथं ते इह गृह्यन्ते ? उच्यते, इह यो यस्मादविरतः सत तदकु र्वन्नपि परमार्थतः कुर्वन्नेव अवसेयो यथा रात्रिभोजनादनिवृत्तो रात्रिभोजनम् । गृहस्थश्च । सूक्ष्मै-केन्द्रिया- पद्रावणादनिवृत्तस्ततः साध्यवर्थं समारम्भं कुर्वन् स तदपि कुर्व्वन्नवगन्तव्य इति सूक्ष्मग्रहणम्, यद्वा-एकेन्द्रिया बादरा एव ग्राह्या, न सूक्ष्माः, तथा च वक्ष्यति भाष्यकृत् ''ओरा-लग्गहणेणं, तिरिक्ख-मणुयाहवा सुहुमवज्जा'' तेषां औदारिकशरीराणां यत् अपद्रावणम्-अतिपातविवर्जिता पीडा । किमुक्तं भवति- साध्वर्थमुपस्क्रिय-माणेष्वोदनादिषु यावदद्यापि शाल्यादिवनस्पतिकायादीनामतिपातः-प्राणब्युपरमलक्षणो न भवति । तावदर्वा- ग्वर्तिनि सर्वाऽपि पीडा अपद्रावणम्, यथा साध्वर्थं शाल्योदनकृते शालिकरटेर्यावद्वारद्वयं कण्डनम् । तृतीयं तु कण्डनमतिपातः । तस्मिन् कृते शालिजीवा-नामवश्यमतिपात भावात् । ततस्तृतीयकण्डनमतिपातग्रहणेन गृह्यते, वक्ष्यति च भाष्यकृत् ''उद्दवणंपुण जाणसु अइवायविवज्जयं पीडं''ति । उद्दवणशब्दात्-परतो विभक्तिलोपः आर्षत्वात् ''तथा तिपाणयं' ति त्रीणि-कायवाङ् मनांसि, यद्वा-त्रीणि देहाऽऽयुरि-न्द्रियलक्षणानि । पातनं चातिपातोः विनाश इत्यर्थः, तत्र च त्रिधा समासविवक्षा, तद्यथा-षष्ठीतत्पुरुषः, पञ्चमीतत्पुरुषः, तृतीयातत्पुरुषश्च । तत्र षुष्ठीतत्पुरुषोऽयम्- 'त्रयाणां-क्राय- वाङ्-मनसां पातनं-

विनाशनं त्रिपातनम् एतच्च परिपूर्णगर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणामवसेयम्, एकेन्द्रियाणां तु कायस्यैव केवलस्य विकलेन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यङ्मनुष्याणां तु कायवचनयोरेवेति । यद्वात्रयाणां-देहायुरिन्द्रियरूपाणां पातनंविनाशनं त्रिपातनम्, इदं च सर्वेषामपि तिर्यङ्मनुष्याणां परिपूर्णं घटते केवलं यथा येषां संभवति तथा तेषां वक्तव्यम्, यथा एकेन्द्रियाणां देहस्य औदारिकस्य आयुषः-तिर्यगायुरूपस्य इन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य, द्वीन्द्रियाणां देहस्यौदारिकरूपस्य आयुषस्तिर्यगायुष इन्द्रिययोश्चस्पर्शन-रसनलक्षणयोरित्यादि, पञ्चमीतत्पुरुषस्त्वयम्- त्रिभ्यः-कायवाङ्मनोभ्यो देहायुरिन्द्रियेभ्यो वा पातनंच्यावनमिति त्रिपातनम्, अत्रापि त्रिभ्यः परिपूर्णेभ्यः कायवाङ्मनोभ्यः पातनं गर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणाम् एकेन्द्रियाणां तु कायादेव केवलात् विकलेन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यङ्मनुष्याणां तु कायवाग्भ्यामिति, देहायुरिन्द्रियरूपेभ्यस्तु त्रिभ्यः पातनं सर्वेषामपि परिपूर्णं संभ-वति, केवलं यथा येषां संभवति तथा तेषां प्रागिव वक्तव्यम्, तृतीयातत्पुरुषः पुनरयम्- त्रिभिः कायवाङ्मनोभिर्विनाशकैन स्वसम्बन्धिभिः पातनं-विनाशनं त्रिपातनं, 'च' शब्दः समुच्चये भिविभक्तिनिर्देशश्चशब्दोपादानं च यस्य साध्वर्थमपद्रावणं कृत्वा गृही स्वार्थमतिपातं करोति तत्कल्प्यं, यस्य तु गृही त्रिपातनमपि साध्वर्थं विधत्ते तन्न कल्प्यमिति ख्यापनार्थम्, इत्थंभूतमौदारिकशरीराणामपद्रावणं त्रिपातनं च यस्य साधोरेकस्यानेकस्य वाऽर्थायनिमित्तं मन आधाय- चित्तं-प्रवर्त्य क्रियते तदाधाकर्म ब्रुवते तीर्थकरगणधराः ।

इमामेव गाथां भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति--

ओरालग्गहणेणं, तिरिक्खमणुयाऽहवा सुहुमवज्जा ।
उद्दवणं पुण जाणसु, अइवायविवज्जियं पीडं ॥२५॥

कायवइमणो तिन्नि उ, अहवा देहाऽऽउइंदियप्पाणा ॥
सामित्ता वायाणे, होइ तिवाओ य करणेसु ॥२६॥

हिययंमि समाहेउं, एगमणेगं च गाहगं जो उ ।
वहणं करेइ दाया, काएण तमाह कम्मंति ॥२७॥

सुगमाः । नवरं 'देहाऽऽउइंदियप्पाण' त्ति- देहायुरिन्द्रिय-रूपास्त्रयः प्राणाः, 'सामित्ते' त्यादि स्वामित्वे- स्वामित्वविषये संबन्धविवक्षयेति भावार्थः, एवमपादाने-अपा-दानविवक्षया करणेषु विषये-करणविवक्षया अतिपातो भवति, यथा त्रयाणां पातनं त्रिपातनम्, यद्वा-त्रिभ्यः पातनं त्रिपातनम्, त्रिभिर्वा, करणभूतैः पातनं त्रिपातनं, भावार्थस्तु प्रागेवोपदर्शितः तदेवमुक्तमाधाकर्मनाम । पिं० । (आधाकर्म-णोऽधःकर्मत्वमधःकर्म 'अधेकम्म' शब्दे प्रथमभागे ५८९ पृष्ठ दृश्यम्) आधाकर्म अधोगतिनिबन्धनम् इत्यधःकर्मेत्युच्यते। पिं० १०२ गाथाटी० । (आत्मघ्नकर्म 'आताहम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे प्रागुक्तम्) । (तच्च आत्मघ्नकर्म) साधोः आधाकर्मभुञ्जानस्याऽ- नुमोदनादिद्वारेण नियमतः संभवतीत्युपचारतः आधाकर्म आत्मघ्नमित्युच्यते। पिं० १०५ गाथाटी०। (आत्मकर्म 'अत्तकम्म' शब्दे प्रथमभागे ५०० पृष्ठे दर्शितम्) अशुभो भावः आधाकर्म ग्रहणरूपः साधुना प्रयत्नेन वर्जयितव्यः । पिं० ११० गाथाटी० । परकर्मणश्चात्मीकरणम् आधाकर्मणा ग्रहणे भोजने वा सति भवति, नान्यथा, तत उपचाराद्-आधाकर्म आत्मकर्मेत्युच्यते । पिं० १११ गाथाटी०। अतिप्रसङ्गदोषभयात् कृतकारित-दोषरहितमपि न आधाकर्म भुञ्जीत । अन्यच्च तदाधाकर्म जानानोऽपि भुञ्जानो नियमतोऽनुमोदते; अनुमोदना हि नाम अप्रतिषेधनम्, 'अप्रतिषिद्धमनुमतम्' इति विद्वत्प्रवादात् । पिं० १११ गाथाटी०।

(३) संप्रति प्रतिषेवणादीनि नामानि वक्तव्यानि तानि चाऽऽत्मकर्मेति नामाङ्गत्वेन प्रवृत्तानि, ततस्तेषां आत्मकर्मेति नामाङ्गत्वं परस्परं गुरुलघुचिन्तां च चिकीर्षुरिदमाह–

अत्तीकरेइ कम्मं, पडिसेवाईहिँ तं पुण इमेहिं ।
तत्थ गुरू आइपयं, लहु लहु लहुगा कमेणियरे ॥११२॥

तत्पुनर्ज्ञानावरणीयादिकं परकर्म्म आत्मीकरोतिआत्म-सात्करोति एभिः- वक्ष्यमाणस्वरूपैः प्रतिषेवणादिभिः ततः प्रतिषेवणादिविषय-माधाकर्माऽपि प्रतिषेवणादिनाम तत्र तेषां प्रति-पेवणादीनां चतुर्णां मध्ये आदिपदं-प्रतिषेवणालक्षणं गुरुमहादोषं शेषाणि तु पदानि प्रतिषेवणादीनि लघुलघुलघुकानि द्रष्टव्यानि, प्रतिषेवणापेक्षया प्रतिश्रवणं लघुप्रतिश्रवणादपि संवासनं लघु संवासनादप्यनुमोदनमिति।

संप्रत्येतेषामेव प्रतिषेवणादीनां स्वरूपं दृष्टान्ताश्च प्रतिपिपाद-यिपुस्तद्विषयां प्रतिज्ञामाह–

पडिसेवणमाईणं, दाराणणुमोयणाऽवसाणाणं ।
जहसंभवं सरूवं, सोदाहरणं पवक्खामि ॥११३॥

प्रतिषेवणाऽऽदीनां द्वाराणामनुमोदनापर्यवसानानां यथासंभवं यद्यस्य संभवति । तस्य तत् स्वरूपं सोदाहरणम्- सदृष्टान्तं प्रवक्ष्यामि, तत्र प्रथमतः प्रतिषेवणास्वरूपं वक्तव्यम्। पिं०। (प्रतिषेवणारूपम् 'पडिसेवणा' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते ११४-११५ गाथाभ्याम्)

(४) संप्रति प्रतिश्रवणस्वरूपमाह–

उवओगम्मि य लाभं कम्मगाहिस्स चित्तरक्खट्ठा ।
आलोइए सुलद्धं, भणइ भणंतस्स पडिसुणणा ॥११६॥

पिं० (अस्याः गाथायाः व्याख्या 'पडिसुणणा' शब्दे पञ्चमभागे करिष्यते)

संप्रति संवासा–ऽनुमोदनयोः स्वरूपं प्रतिपादयति–

संवासो उ पसिद्धो, अणुमोयणकम्ममोयगपसंसा ।
एएसिमुदाहरणा, एए उ कमेण नायव्वा ॥११७॥

'संवासः' आधाकर्म्मभोक्तृभिः सह एकत्र संवसनरूपः प्रसिद्ध एव, अनुमादेनादाधाककर्म्मभोजकप्रशंसाकृतपुण्याः सुलब्धिका एते ये इत्थं सदैव लभन्ते भुञ्जते वेत्येवं रूपा। तदेवमुक्तं प्रतिषेवणादीनां चतुर्णामपि स्वरूपम्, संप्रत्येतेषामेव प्रतिषे-वणादीनां क्रमेण एतानि वक्ष्यमाणस्वरूपाणि उदाहरणानि ज्ञातव्यानि, सूत्रे च उदाहरणशब्दस्य पुल्लिङ्गता प्राकृतलक्षणवशात् ।

तत्र यान्युदाहरणानि वक्तव्यानि तेषां नामानि क्रमेण प्रतिपादयति-

पडिसेवणाए तेणा, पडिसुणणाए उ रायपुत्तो उ।
संवासंमि य पल्ली, अणुमोयण रायदुट्ठो य ॥११८॥

प्रतिषेवणस्य स्तेना उदाहरणम्, प्रतिश्रवणस्य तु राजपुत्रं, राजपुत्रोपपलक्षिताः शेषाः पुरुषाः,। संवासे 'पल्ली' - पल्लीवा- स्तव्या वणिजः, अनुमोदनायां राजदुष्टो-पलक्षिता-स्तत्प्रशंसाकारिणः।

तत्र प्रथमः प्रतिषेवणसंबन्धिनं स्तेनदृष्टान्तं भावयति--

गोणीहरण सभूमी, नेऊणं गोणिओ पहे भक्खे।
निव्विसया परिवेसण-ट्ठियाऽवि ते कूविया घत्थे ॥११९॥

इह गाथाक्षरयोजना सुगमत्वात् स्वयमेव कर्त्तव्या, केवलं 'निर्विशका'- उपभोक्तारो, निःपूर्वस्य विशेषरूपभोगे वर्तमान-त्वात् तथा चोक्तम्- ''निर्वेश उपभोगः स्यात्'' कुजकाव्या-हारकारिणः; गवां व्यावर्त्तका इत्यर्थः, 'घत्थे' इति गृहीताः। कथानकमुच्यते- इह क्वचिद्ग्रामे बहवो दस्यवः, ते चान्यदा कुतश्चित्सन्निवेशाद् गाः अपहृत्य निजग्रामाऽभिमुखं प्रचलिताः, गच्छतां च तेषामपान्तराले केऽप्यन्ये दस्यवः पथिका मिलित-वन्तस्ततस्तैऽपि तैः सार्द्धं व्रजन्ति; व्रजन्तश्च स्वदेशं प्राप्ताः ततः प्राप्तः स्वदेश इति निर्भया भोजनवेलायां कतिपया गा विनाश्य भोजनाय तन्मांसं पक्तुमारब्धवन्तः। अस्मिंश्च प्रस्तावे केऽप्यन्येऽपि पथिकाः समाययुः ततस्तेऽपि तैर्दस्युभिर्भोजनाय निमन्त्रिता ततो गोमांसे पक्वे केऽपि चौराः पथिकाश्च भोक्तुं प्रवृत्ताः केऽपि गोमांसभक्षणं बहुपापमिति परिभाव्य न भोजनाय प्रवृत्ताः, केवलमन्येभ्यः परिवेषणं विदधति अत्रान्तरे च निष्प्रत्या-कारनिशितकरवालभीषणमूर्तयः समाययुः कूजकाः, ततस्तैः सर्वेऽपि भोक्तारः परिवेषकाश्च परिगृहीताः, तत्र ये पथिका अपान्तराले मिलितास्ते पथिकाः वयमिति ब्रुवाणा अपि चौरोपनीतगोमांसभक्ष्यपरिवेषणप्रवृत्ततया चौरवद् दुष्टा इति गृहीता, विनाशिताश्च।

अमुमेवार्थं दार्ष्टान्तिकेयोजयति--

जे वि य परिवेसंती, मायणाणि धरंति य।
तेऽवि बज्झंति तिव्वेण, कम्मुणा किमु भोयिणो?॥१२०॥

इह चौराणां येऽप्यन्तराले भोजनवेलायां वा ये मिलिताः पथिकास्तत्रापि ये परिवेषमात्रं भाजनधारणामात्रं वा कृतवन्तस्तेऽपि कूजकैरागत्य बद्धाविनाशिताश्चः, एवमिहापि ये साधवोऽन्येभ्यः साधुभ्यः आधाकर्म्म परिवेषयन्ति वा धरन्ति। तेऽपि तीव्रेण- दुःसहविपाकेन नरकादिगतिहेतुना कर्म्मणा बध्यन्ते, किं पुन-राधकर्म्मभोजिनः? तत एतद्दोषभयात्परिवेषणादिमात्र-मप्याधाकर्म्मणः प्रतिषेवणं यतिभिर्नकर्त्तव्यम्, इह चौरस्थानीया आधाकर्म्मनिमन्त्रिणः साधवो गोमांसभक्षकचौरपथिक -स्थानीयाः स्वयंगृहीतनिमन्त्रिताधाकर्म्म-भोजिनो, गोमांस-परिवेकादिस्थानीया आधाकर्म्मपरिवेषकादयः, गोमां-सस्थानीमाधाकर्म्म, पथस्थानीयं मानुष जन्म कूजकस्थानीयानि कर्म्माणि, मरणस्थानीयं नरकादिप्रपातः।

संप्रति प्रतिश्रवणस्य पूर्वोक्तराजसुतदृष्टान्तं भावयति--

सामत्थण रायसुए, पिइवहणसहाय तह य तुण्हिक्का।
तिण्हं पि हु पडिसुणणा, रन्ना सिट्ठंमि सा नाऽत्थि ॥१२१॥

गुणसमृद्धं नाम नगरं तत्र महाबलो राजा तस्य शीला नाम देवी तयोर्विजितसमरो नाम ज्येष्ठः कुमारः, स च राज्यं जिघृक्षुः पितरि दुष्टाशयश्चिन्तयामास यथा ममैष पिता स्थविरोऽपि न म्रियते नूनं दीर्घजीवी संभाव्यते ततो निजभटान् सहायीकृत्यैनं मारयामीति, एवं च चिन्तयित्वा निजभटैः समं मन्त्रयितुं प्रावर्त्तत, तत्र वैश्चिदुक्तं वयं तव साहायककारिणः, अपरैरुक्तमेवं कुरु, केचित्पुनस्तूष्णीं प्रतिपेदिरे, अपरे पुनश्चेतस्यप्रतिपद्यमानाः सकलमपि तद् वृत्तान्तं राज्ञे निवेदयामासुः ततो राजा ये साहायकं प्रतिपन्ना ये च एवं कुर्वित्युक्तवन्तो येऽपि च तूष्णीं तस्थुः तान् सर्वानपि येष्ठ च कुमारं वैवस्वतमुखे प्रतिचिक्षेप यैस्त्वागत्य निवदिणं ते पूजिताः, गाथाक्षरयोजना त्वियम् -'सामत्थणं' स्वभटैः सह पर्यालोचनं 'राजसुए' त्ति-तृतीयार्थेसप्तमी, ततोऽयमर्थः- राजसुतेन कर्त्तुमारब्धमिति शेषः, तत्र वैश्चिदुक्तं पितृहनने कर्त्तव्ये तव सहाया वयमिति 'तथा' इति समुच्चये, चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, स च केचिदेवं बुर्विति भाषितवन्त इति समुच्चिनोति, केचित् पुनस्तूष्णीका जाता-मौनेनावस्थिताः, एतेषां च त्रयाणामपि प्रतिश्रवणदोषः, यैस्तु राज्ञे शिष्टं तेषां 'सा' तत्प्रतिश्रवणं नास्ति।

अमुमेवार्थं दार्ष्टान्तिकेयोजयति--

भुंज न भुंजे भुंजसु, तइओ तस्सिणीए भुंजए पढमो।
तिण्हं पि हु पडिसुणणा पडिसेहंतस्स सा नऽत्थि ॥१२२॥

इह किल केनापि साधुना चत्वारः साधव आधाकर्म्मणे निमन्त्रिता यथा भुङ्ध्वं यूयमेनमाहारमिति तत्रैवं निमन्त्रणे कृत प्रथमो भुङक्ते द्वितीयः प्राह-नाहं भुञ्जे भुङ्क्ष्व त्वमिति, तृतीयो मौनमाश्रितः चतुर्थः पुनः प्रतिषिद्धवान् यथा न कल्पते साधूनामाधाकर्म तस्मादहं भुञ्ज इति, त्रयाणामाद्यानां प्रतिश्रवणदोषः, चतुर्थस्य प्रतिषेधतः सतः 'सा' तत्प्रतिश्रवणं नास्ति, अत्राह- नन्वाद्यस्याधाकर्म भुञ्जानस्य प्रतिषेवणलक्षण एव दोषः, कथं प्रतिश्रवणदोष उक्तः? उच्यते-इह यदा आधा-कर्म्मनिमन्त्रितः सन् तद्भोजनमभ्युपगच्छति। तदा नाद्यापि प्रतिषेवणमिति प्रतिश्रवणदोषः तत ऊर्ध्वं तु प्रतिषेवणं ततो न कश्चिद्दोषः।

अथामीषामेव भोजकादीनां कः कः कायिकादिको दोषः स्याद्? अत आह-

आणंतभुंजगा क-म्मुणा उ, बीयस्स वाइओ दोसो।
तइयस्य य माणसिओ, तीहिं विसुद्धो चउत्थो उ ॥१२३॥

इह य आधाकर्म्मणः स्वयमानेता यश्चानीतस्य निमन्त्रितः सन् भोक्तौ द्वावपि कर्म्मणा आनयनभोजनरूपतया कायक्रियया तुशब्दान्मनसा वाचा च दोषवन्तौ द्वितीयस्य तु भुङ्क्ष्व त्वं नाहं भुञ्ज इति ब्रुवाणस्य वाचिको दोषः, उपलक्षणमेतत्- मानसिकश्च, तृतीयस्य तु तूष्णींस्थितस्य तु मानसिको, यस्तु चतुर्थः स त्रिभिरपि दोषैर्विशुद्धः तस्माच्चतुर्थकल्पेन सर्व्वदैव साधुना भवितव्यम्।

संप्रति दृष्टान्तोक्तस्य कुमारस्य ये दोषाः संप्रभवन्ति तानुपदर्श्याऽऽधाकर्म्मणो भोक्तरि योजयति–

पडिसेवण पडिसुणणा, संवासऽणुमोयणा उ चउरोऽवि।
पियमारग रायसुए, विभासियव्वा जइजणेऽवि ॥१२४॥

पितृमारके राजसुते प्रतिषेवण–प्रतिश्रवण–संवासाऽनुमोदनारूपाश्चत्वारोऽपि दोषा घटन्ते, तथाहि–तस्य स्वयं पितृ–मारणाय प्रवृत्तत्वात् प्रतिषेवणं, वयं तत्र सहाया इति निजभट–वचनं प्रतिपद्यमानस्य प्रतिश्रवणं, तैरेव सार्द्धमेकत्रनिवसनेन संवासः, तेष्वेव बहुमानकरणादनुमोदना, एवं यतिजनेऽप्याधा–कर्म्मणो भोक्तरि विभाषितव्यायोजनीयाः, अत्र यः स्वय–मानीयान्यैः सह भुङ्क्ते तत्र प्रथमतो योज्यन्ते तस्य आधाकर्म गृहस्थगृहादानीय भुञ्जानस्य प्रतिषेवणं, गृहस्थेना– धाकर्म्मग्रहणाय निमन्त्रितस्य तद्ग्रहणाभ्युपगमः प्रतिश्रवणं, तस्मै तदाधाकर्म्म आनीय संविभागेन प्रयच्छति तेन सहैकत्र संवसतः संवासः, तत्रैव बहुमानकरणादनुमोदना यश्चान्येनानीतमाधा– कर्मनिमन्त्रितः सन भुङ्क्ते तस्य प्रथमतो निमन्त्रणानन्तरमभ्युपगच्छतः प्रतिश्रवणं, ततो भुञ्जानस्य प्रतिषेवणं, निमन्त्रकेण सह एकत्र संवसतः संवासः तत्र बहुमानकरणादनुमोदना, तदेवं यत्र प्रतिषेवणं तत्र नियमत–श्चत्वारोऽपि दोषाः प्रतिश्रवणे च केवले त्रयः संवासे द्वौ अनुमोदनायां त्वनुमोदनैव केवला, अत एवाऽऽदिपदं गुरु, शेषाणि तु पदानि लघुलघुलघुकानीति।

संप्रति संवासे पल्लीदृष्टान्तं भावयति–

पल्लीवहम्मि नट्ठा, चोरा वणिया वयं न चोर त्ति।
न पलाया पावकर त्ति, काउं रन्ना उवालद्धा ॥१२५॥

वसन्तपुरं नाम नगरं तत्र–अरिमर्दनो नाम राजा, तस्य प्रियदर्शना देवी, तस्य वसन्तपुरस्य प्रत्यासन्ना भीमाभिधाना पल्ली, तस्यां च बहवो भिल्लरूपा दस्यवः परिवसन्ति, वणिजश्च। ते च दस्यवस्सदैव स्वपल्या विनिर्गत्य सकलमप्यरि– मर्दनराजमण्डलमुपद्रवन्ति। न स कश्चिदस्ति राज्ञः सामन्तो माण्डलिको वा यस्तान् साधयति, ततोऽन्यदा तत्कृतं सकल–मण्डलोपद्रवमाकर्ण्य महाकोपावेशपूरितमानसो राजा स्वयं महतीं सामतीं विधाय भिल्लान् प्रतिजगाम, भिल्लाश्च पल्लीं मुक्त्वा संमुखीभूय संग्रामं दातुमुद्यताः, राजा प्रबलसेना–परिकलिततया तान् सर्व्वानप्यविगणय्य सोत्साहो हन्तुमार–ब्धवान्, ते चैवं हन्यमानाः केऽपि तत्रैव परासवो बभूवुः, केऽपि पुनः पलायितवन्तः, राजा च साऽमर्षः पल्लीं गृहीतवान् वणिजश्च तत्रत्या न वयं चौरास्ततः किमस्माकं राजा करिष्यतीति बुद्ध्या नाऽनेशन्, राज्ञा च तेऽपि ग्राहिताः ततस्तैर्विज्ञपयांचक्रे यथा देव! वयं वणिजो; न चोरा इति, ततो राजाऽवादीत् यूयं चौरेभ्योऽप्यतीवापराधकारिणो येऽस्माकमपराधकारिभिश्चौरैः सह संवसंथति, ततो निगृहीताः। गाथाऽक्षरयोजना तु सुगमत्वात् स्वयं कार्या।

दार्ष्टान्तिकयोजनां करोति–

आहाकडभोईहिं, सहवासो तह य तव्विवज्जं पि।
दंसणगंधपरिकहां, भावेंति सुल्लूहवित्तिं पि ॥१२६॥

भावना–यथा वणिजां चौरैस्सहैकत्र संवासो दोषाय बभूव तथा साधूनामप्याधाकर्म्मभोक्तृभिः सहैकत्र संवासो दोषाय वेदितव्यः, यतस्तद्विवर्ज्जमपि–आधाकर्मपरिहारकमपि तथा सुरूक्षवृत्तिमपि, सुष्ठु अतिशयेन रूक्षा द्रव्यतो विकृत्य परिभोगेन भावतोऽभिष्वङ्गाभावेन निःस्नेहा वृत्तिः–वर्तनं यस्य तथा तमपि आधाकर्म्मसंबन्धिन्यो दर्शनगन्धपरिकथा भावयन्ति आधाकर्म्मपरिभोगवाञ्छापादनेन वासयन्ति। तथाहि दर्शनम्अवलोकनं, तच्च मनोज्ञमनोज्ञतराऽऽधाकर्म्माहारविषयं नियमा– द्वासयति, यतः कस्य नाम शङ्खकुन्दावदातो रस–पाकनिधान– निष्णातमहासूपकारसुसंस्कृतः शाल्याद्योदनो न मनःक्षोभमुत्पादयति। गन्धोऽपि सद्यस्तापितघृतादिसंबन्धी नासिकेन्द्रिया ऽप्यायनशीलो बलादपि तद्भोजने श्रद्धा–मुपजनयति, परिकथाऽपि च विशिष्ट– विशिष्टतरद्रव्यनिष्पा–दितमोदकादिविषया विधीयमाना तदात्वाद संपत्त्याशंसाविधौ चेत् उत्साहयितुमीश्वरा, तथादर्शनात् ततोऽवश्यमाधाकर्म्म–भोक्तृभिः सह संवासो यतीनां दोषायेति।

अनुमोदनायां राजदुष्टदृष्टान्तं भावयति–

रायारोहवराहे, विभूसिओ घाइओ नयरमज्जे।
धन्नाऽधन्न त्ति कहा, वहाऽवहो कप्पडिय खोला ॥१२७॥

श्रीनिलयं नाम नगरं, तत्र गुणचन्द्रो नाम राजा, तस्य गुणवतीप्रमुखमन्तःपुरं, तत्रैव च पुरे सुरूपो नाम वणिक्: स च निजशरीरसौन्दर्यविनिर्जितमकरध्वजलवणिमाकम नीयकामिनी– नामतीव कामास्पदं स्वभावतश्च परदाराभिष्वलङ्ग्ललसः, ततः सोऽन्यदा राजान्तःपुर–सन्निवेशसमीपं गच्छन्नन्तःपुरिकाभिः सस्नेहमवलोकितः तेनाप्यपचित्ताः साभिलाषमवेक्षितास्ततो जातः परस्परमनुरागः, दूतीनिवेदितप्रयोगवशेन च ताः प्रतिदिनं तेन सेवितुमारब्धाः, राज्ञा च कथमप्ययं वृत्तान्तो जज्ञे, ततो सदा सोऽन्तःपुरं प्राविशत्तदा निजपुरुषग्राहितो ग्राहयित्वा च यैरेवाभरणैरलंकृतोऽन्तःपुरं प्रविवेश तैरेवाभरणैर्विभूषितो नगरमध्ये चतुष्पथे सकलजनसमक्षं विचित्रकदर्थनापुरस्सरं विनिपातितः। राजा चान्तःपुरविध्वंसेनातीवदूनमनास्तस्मिन् विनाशितेऽपि न कोपावेशं मुञ्चति। ततो हेरिकान् प्रेषयामास, यथा रे दुरात्मानं तं ये प्रशंसन्ति ये वा निन्दन्ति तान् द्वयानपि मह्यं निवेदय? इति, एवं च प्रेषिताः कार्पटिकवेषधारिणः सर्व्वत्रापि नगरे परिभ्रमन्ति, लोकाश्च तं विनाशितं दृष्ट्वाकेचन ब्रुवते, यथा अहो जातेन मनुजन्मना अवश्यं तावन्मर्त्तव्यं परं या अस्मा–दृशामधन्यानां दृष्टिपथमपि कदाचनापि नायान्ति ता अप्येष यथासुखं चिरकालं भुक्त्वा मृतस्तस्माद्धन्य एष इति, अपरे वृवते– अधन्य एष उभयलोकविरुद्धकारी स्वामिनोऽन्तःपुरिका हि जननीतुल्यास्ततस्तास्वप्येष संचरन् कथं प्रशंसामर्हति शिष्टेभ्यः इति, ततस्ते द्वये अपि हेरिकैर्निवेदिता राज्ञो, राज्ञा च ये तस्य निन्दाकारिणस्ते सद्बुद्धय इति कृत्वा पूजिताः, इतरे तु–कृतान्तमुखे प्राक्षिप्यन्त, गाथाक्षरयोजना त्वेवम् राज्ञोऽव–रोधोऽन्तःपुरं तद्विषयेऽपराधे यैरेवाऽऽभरणैर्विभूषितोऽन्तःपुरे प्रविष्टस्तैरेव विभूषितो नगरमध्येघातितः। ततः कार्पटि–

कवेषधारिणः खोला-हेरिका राज्ञा नियुक्ताः। लोकानां च तद्विषया धन्याऽधन्यकथा। ततो धन्यकथाकारिणां विनाशः, इतरेषां त्वविनाशे इति। दार्ष्टान्तिकयोजना त्वेवम्- एकेसाध-वस्तावदाधाकर्म्म भुञ्जते। तत्राऽपरे- जल्पन्ति धन्या एते सुखं जीवन्ति, अन्ये ब्रुवते-धिग् एतान् ये भगवत्प्रवचनप्रति-षिद्धमाहारमश्नन्ति, तत्र ये प्रशंसिनस्ते, कर्म्मणा बध्यन्ते, इतरे तु न इहान्तःपुरस्थानीयमाधाकर्म, अन्तः पुरद्रोहकारिस्था- नीया आधाकर्मभोजिनः साधवः, नृपस्थानीयं ज्ञानावरणादिकं कर्म्म, मरणस्थानीयः संसारः, तत्र ये आधाकर्मभोक्तृप्रशंस-कास्ते कर्मराज्ञो निर्ग्राह्याः शेषसास्त्वनिर्ग्राह्याः।

संप्रत्यनुमोदनाप्रकारमेव दर्शयति–

साउं पज्जत्तं आ-यरेण काले रिउक्खमं निद्धं।
तग्गुणविकत्थणाए, अभुंजमाणे वि अणुमन्ना ॥१२८।

आधाकर्मभोजिन उद्दिश्य केचिदेवं ब्रुवते-वयं तावन्न कदा-चनाऽपि मनोज्ञमाहारं लभामहे, एते पुनः सदैव स्वादु लभन्ते, तदपि च पर्याप्तं-पूरिपूर्णं तत्राप्यादरेण-बहुमान पुरस्सरं तत्रापि काले-प्रस्तभोजनवेलायां तदपि ऋतुक्षमं-शिशिरादिऋतूपयोगि तथा स्निग्धं-घृतपूरादि तस्माद्धन्या अमी सुखं जीवन्ति। एवं तद्गुणविकत्थनयातद्गुणप्रशंसया अभुञ्जानेऽपिअनभ्य-वहरत्यपि अनुमन्याअनुमोदना इह अनुमन्याजनितो दोषोऽपि कार्ये कारणोपचारादनुमन्येत्युक्तम्, ततोऽयमर्थः- अभुञ्जानेऽ-प्यनुमोदनाद्वारेणाधाकर्मभोजिन इव दोषो भवती-ति। अन्ये तु तद्गुणविकत्थनामेवं योजयन्ति-आधाकर्मभोजिनं कोऽपि कन्दर्प्पेणानाभोगेन वा पृच्छति-साधु लब्धं त्वया भोजनं, तथा पर्याप्तं तथा आदरेण भक्त्या इत्यादि ? तत्राप्यविरोधः। तदेव-मुक्तान्याधाकर्मणो नामानि, तदुक्तौ च यदुक्तं प्राक् मूलद्वार-गाथायाम् ''आधाकम्मियनामा'' इति तद् व्याख्या-तम्। पिं०।

(५) एकार्थिकानि आधाकर्म्मणः। संप्रति 'एगट्ठा' इत्यवयवं व्याचिख्यासुरिदमाह–

आहा अहे य कम्मे, आयाहम्मे य अत्तकम्मे य।
जह वंजणनाणत्तं, अत्थेण वि पुच्छए एवं ॥१२९॥

अत्र परः एवं पृच्छति-यथा आधाकर्म्म १, अधःकर्म्म २, आत्मघ्नकर्म ३, आत्मकर्म ४, इत्येतेषु चतुर्षु नामसु व्यञ्जनैर्नानात्वं विद्यते, तथाऽत्रार्थेनाऽपि- अथापेक्षयापि नानात्वमस्ति किं वा न? इति, पृच्छतश्चायमभिप्रायः- इहा-ऽऽधा- कर्म्मादीनां नाम्नां सर्व्वेषामपि व्युत्पत्तिनिमित्तं पृथगुक्तं, तद्यथा-आधया कर्म्म आधाकर्म्म, अथ साधुविषय-प्रणिधानपुरस्सरपाकादिक्रियास्वारम्भो व्युत्पत्तिनिमित्तम् अधोऽधःकर्म- अधःकर्म, अत्र विशुद्धेभ्यः संयमादिस्थाने-भ्योऽधोऽधस्तरामागमनम्, आत्मानं हन्तीत्यात्मघ्नमिति अत्र चरणाद्यात्मविनाशनम् परकर्म्म आत्मकर्म्म क्रियते इत्यात्म-कर्म्म, अत्र परकर्म्मणः आत्मसंबन्धितया करणं ततोऽत्र संशयो यथा व्युत्पत्तिनिमित्तं पृथक् पृथक् भिन्नमेवं प्रवृत्तिनिमित्तमपि पृथक् पृथक् भिन्न यथा घटपटशकटादिशब्दानां, किं वा न यथा घटकलशकुम्भा-दीनामिति। अत्र 'आहा अहेयकम्मे' इत्यादावक्षरयोजनाप्रागिव भावनीया।

एवं परेण प्रश्ने कृति सति शिष्यमतिप्रागल्भ्याधानाय सामा-न्यतो नामविषयां चतुर्भङ्गिकामाह–

एगट्ठ एगवंजण, एगट्ठा नाणवंजणा चेव।
नाणट्ठ एगवंजण, नाणऽट्ठा वंजणा नाणा ॥१३०॥

इह नामानि जगति प्रवर्तमानानि कानिचिदुपलभ्यन्ते। एकार्थानि-एकव्यञ्जनानि१, कानिचिदेकार्थानि नानाव्यञ्जनानि २, कानिचिन्ना-नार्थानि एकव्यञ्जनानि ३, कानिचित् पुन-र्नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि ४।

अस्या एव चतुर्भङ्गिकायाः क्रमेण लौकिकनिदर्शनानि गाथाद्वयेनो-पदर्शयति–

दिट्ठं खीरं खीरं, एगऽट्ठं एगवंजणं लोए।
एगऽट्ठं बहुनामं, दुद्ध पओ पीलु खीरं च ॥१३१॥
गोमाहिसिअयाखीरं, नाणऽट्ठं एगवंजणं नेयं।
घडपडकडसगडरहा, होई पिहत्थं पिहंनामं ॥१३२॥

इह सर्वत्र ऽपि जातावेकवचनं, ततोऽयमर्थः एकार्थानि एक-व्यञ्जनानि नामानि लो॰ प्रवर्त्तमानानि दृष्टानि यथा क्षीरं क्षीरमिति, इयमत्र भावना-एकत्र क्वचि॰ गृहे गोदुग्धादिविषये क्षीरमिति नाम प्रवृत्तमुपलब्धं, तथाऽन्यत्रापि गोदुग्धादावेव विषये क्षीरमिति नाम प्रवर्तमानमुपलभ्यते एवं ततोऽप्यन्य॰ गृहान्तरे ततोऽमूनि सर्वाण्यपि क्षीरं क्षीरमित्येवंरूपाणि नामा-न्येकार्थानि एकव्यञ्जनानि, तथा एकार्थानि बहुव्यञ्जनरूपाणि नामानि यथा दुग्धं पयः पीलु क्षीरमिति अमूनि हि नामानि सर्वाण्यपि विवक्षितगोदुग्धादिलक्षणैकार्थाभिधायितया नानापुरुषैरेककालं क्रमेणैकपुरुषेण वा प्रयुज्यमानान्येकार्थानि नानाव्यञ्जनानि च ततो द्वितीये भङ्गे निपतन्ति। नाना-र्थान्येकव्यञ्जनानि, यथा-गोमहिष्यजासंबन्धिषु क्षीरं क्षीर-मिति नामानि प्रवर्त्तमानानि, एतानि हि नामानि सर्वाण्यपि समानव्यञ्जानानिभिन्नभिन्नगोदुग्धमहिषी-दुग्धादिरूपार्थवाचक-तया भिन्नार्थानि च तत उच्यन्तेनानार्थान्येकव्य-ञ्जनानि नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा घटपटकटशकटरथादीनि नामानि। तदेवमुक्तानि चतुर्थभङ्गिकया निदर्शनानि।

सांप्रतमिमामेव चतुर्भङ्गिकामाधाकर्मणि यथासंभवं गाथा-द्वयेन योजयति–

आहाकम्माईणं, होई दुरुत्ताइ पढमभंगो उ।
आहाऽहेकम्मंति य, बिइओ सकिंकद इव भंगो ॥१३३॥
आहाकम्मंतरिया, असणाई उ चउरो तइयभंगो।
आहाकम्म पडुच्चा, नियमा सुन्नो चरिमभंगो ॥१३४॥

आधाकर्म्मादीनां नाम्नां युगपद्बहुभिः पुरुषैरेकेन वा काल-भेदेन एकस्मिन्नेव अशनादिरूपे वस्तुनि यद् द्विरुक्तादि-द्विरुच्चारणादि, आदिशब्दात्रि-रुच्चारणादिपरिग्रहः, स भवति प्रथमो भङ्गः किमुक्तं भवति ? एकत्र वसतावशनविषये केनाप्याधाकर्मेति नाम प्रयुक्तं, तथाऽन्यत्रापि वसत्य-

न्तरेऽशनविषये एवाधाकर्मेति नाम प्रयुज्यते, तथा ततोऽन्यत्रापि वसत्यन्तरे, तान्यमूनि सर्वाण्यप्याधाकर्मेति नामान्येकार्थानि एकव्यञ्जनानीति प्रथमे भङ्गेऽवतरन्ति, आधाकर्म अधः- कर्मेत्यादीनि तु नामानि विवक्षिताशनादिरूपैकविषये प्रवर्तमानानि। द्वितीयो भङ्गः एकार्थानि नानाव्यञ्जनानी- त्येवंरूपद्वितीयभङ्गविषयाणि 'सक्किंद इवे' तियथा इन्द्रः शक्र इत्येवमादीनि नामानि, तथा अशनादयः- अशनपानखादिम- स्वादिमरूपाश्चत्वार आधा-कर्मान्तरिताआधा-कर्मशब्देन-व्यवहिता यथा- अशनमाधाकर्म पानमाधाकर्म इत्येवमादि, तृतीयभङ्गः- तृतीयभङ्गविषयः अत्राप्ययं भावार्थः- यदा-अशनादयः प्रत्येकमाधाकर्म आधाकर्मेति देशभेदेन बहुभिः। पुरुषैरेक- कालमेकेन वा पुरुषेण कालभेदनोच्यन्ते तदा तानि आधाकर्म आधाकर्मेति नामानि नानार्थान्येकव्यञ्जनानीति तृतीये भङ्गेऽवतरन्ति, आधाकर्मरूपं नामाश्रित्य पुनश्चरमो भङ्गो नानार्थानि नानाव्यञ्जनानीत्येवंरूपो नियमाच्छून्यः आधाकर्म आधाकर्मेत्येवमादिनाम्नां सर्वेषामपि समानव्यञ्जनत्वात, उपलक्षणमेतत्, तेन सर्वाण्यापि नामानि प्रत्येकं चरमभङ्गे न वर्त्तन्ते, यदा तु कोऽप्यशनविषये आधाकर्मेति ना प्रयुङ्क्ते पानविषये त्वधःकर्मेति खादिमविषये त्वात्मघ्नमिति, खादिमविषये त्वात्मकर्मेति तदामूनि नामानि नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि चेति चरमोऽपि भङ्गः प्राप्यते।

इह विवक्षिताशनादिरूपैकविषये प्रवर्तमानान्याधाकर्माधः कर्म-प्रभृतीनि नामानि द्वितीयभङ्ग उक्तस्ततस्तदेव भावयति-

इंदत्थं जह सद्दा, पुरंदराई उ नाऽइवत्तंते।
अहकम्म आयहम्मा, तह आहं नाऽइवत्तंते ॥१३५॥

यथा इन्दार्थं इन्द्रशब्दवाच्यं देवराजरूपं पुरन्दरादयः- पुरन्दरः शक्र इत्येवमादयः शब्दा नातिवर्तन्ते- नातिक्रामन्ति। तथा अधःकर्म-आत्मघ्नशब्दौ उपलक्षणमेतत्। आत्मकर्मशब्दश्च 'आहं'ति-''सूचनात् सूत्रमि'' ति न्यायात् आधाकर्मार्थम्- आधाकर्मशब्दवाच्यं नातिवर्तन्ते, यदेव येन दोषेण दुष्टमा-धाकर्मशब्दवाच्यमोदनादि तनेव तेनैव दोषेण दुष्टमधःकर्मादयोऽपि शब्दा ब्रुवते इति भावः।

एतदेव भावयति-

आहाकम्मेण अहे, करेइ जं हणइ पाणभूयाइं।
जं तं आययमाणो, परकम्मं अत्तणो कुणइ ॥१३६॥

आधाकर्मणा भुज्यमानेन कृत्वा यस्माद्विशुद्धेभ्यो विशुद्ध-तरेभ्यः संयमादिस्थानेभ्योऽवतीर्याधस्तादात्मानं करोति। तेन कारणेन तदेवाधाकर्म अधःकर्मेत्युच्यते, तथा यस्मादाधाकर्मणा भुज्यमानेन कृत्वा स एव भोक्ता। परमार्थतः प्राणान्द्वीन्द्रिया-दीन् भूतान्-वनस्पतिकायान् उपलक्षणमेतत् जीवान्- सत्त्वांश्च हन्तिविनाशयति। ''जस्सऽट्ठा आरम्भो पाणिवहो होइ तस्स नियमेण'' इति वचनप्रामाण्यात्प्राणादींश्च घ्नन् नियमत-श्चरणादिरूपमात्मानं हन्तिविनाशयति। 'पाणिवहे वयभंगो' इत्यादिवचनात् तत आधाकर्म आत्मघ्नमित्युच्यते, तथा यत्-स्मात्कारणात् तत्--आधाकर्म आददानः परस्य-पाचकादेः संबन्धि यत्कर्म आरम्भजनितं ज्ञानावरणीयादिक-मुत्पन्नमासीत् तदात्मनोऽपि करोति, ततस्तदाधाकर्म आत्मकर्मेत्युच्यते तस्मादधःकर्मादीनि नामानि सर्वाण्यपि नाऽऽधाकर्मशब्दार्थ-मतिवर्तन्ते इति द्वितीये भङ्गेऽवतरन्ति। तदेवं मूलद्वारगाथायाम् 'एगट्ठा' इत्यपि व्याख्यातम्। पिं।

(६) आधाकर्म्माश्रित्य कल्प्याऽकल्प्यविधिः। संप्रत्येतानेः वाधिकृत्य कल्प्याऽकल्प्यविधिर्वक्तव्यः, तत्र नामसाधर्मि-कमधिकृत्य प्रथमतः कल्प्याकल्प्यविधिं गाथाद्वयेन प्रति-पादयति-

जावंत देवदत्ता, गिहीव अगिहीव तेसि दाहामि।
नो कप्पई गिहीणं, दाहंति विसेसिए कप्पे ॥१४२॥
पासंडीसु वि एवं, मीसाऽमीसेसु होई हु विभासा।
समणेसुसंजयाणउ, विसरिसनामाणविन कप्पे ॥१४३॥

इह कोऽपि पितरि मृते जीवति वा तन्नामानुरागतस्तन्नाम- युक्तेभ्यो दानं दित्सुरेवं संकल्पयति यथा यावन्तो गृहस्था अगृहस्था वा देवदत्तास्तेभ्यो मया भक्तादिकमुपस्कृत्य दातव्यं, तत्रैवं संकल्पे कृते देवदत्ताख्यस्य साधोर्न कल्पते, देवदत्त-शब्देन तस्यापि संकल्पविषयीकृतत्वात्, यदा पुनरेवं संकल्पयति, यथा यावन्तो गृहस्था देवदत्तास्तेभ्यो दातव्यमिति, तदा एवं विशेषिते- निर्द्धारिते सति तद्योग्यमुपस्कृतं देवदत्ताख्यस्य साधोः कल्पते, तस्य विवक्षितसंकल्पविषयीकरणाभावात, तथा पाषण्डिष्वपि मिश्राऽमिश्रेषु एवं पूर्वोक्तप्रकारेण विभाषा कर्त्तव्या, इह सामान्यसंकल्पविषया मिश्रा उच्यन्ते, यथा यावन्तः पाषण्डिनो देवदत्ता इति, प्रतिनियत-संकल्पविषयास्त्वमिश्रा यथा यावन्तः सरजस्काः पाखण्डिनो, यदिवासौगता देवदत्ता इत्यादि, तत्र यावन्तो देवदत्ताः पाखण्डिन इति मिश्रसंकल्पे कृते न कल्पते। पाषण्डिदेवदत्तशब्दाभ्यां देवदत्ताख्यस्याऽपि साधोः संकल्पविषयीकृतत्वात् यदा पुनरमिश्रः संकल्पो यथा यावन्तः सरजस्काः पाषण्डिनो देवदत्ता, यदि वायावन्तः सौगता देवदत्ताः, यद्वा-साधुव्यतिरेकेण सर्व्वेऽपि पाषण्डिनो देवदत्तास्तेभ्यो दास्यामीति, तदा देवदत्ताख्यस्य साधोः कल्पते, तस्य संकल्पविषयीकरणाभावात्, यथा च पाषण्डिषु मिश्रामिश्रेषु विभाषा कृता तथा श्रमणेष्वपि मिश्रामिश्रेषु कर्त्तव्या, श्रमणा हि शाक्यादयोऽपि भण्यन्ते, यतो वक्ष्यति-''निग्गंथ-सक्क-तावस-गेरुयआजीवपंचहा समणा'' ततो यदैवं मिश्रः संकल्पो यावन्तः श्रमणा देवदत्ताख्यास्तेभ्यो दास्यामीति तदा देव-दत्ताख्यस्य साधोर्न कल्पते, तस्य श्रमणदेवदत्तशब्दाभ्यां संकल्पविषयीकृत-त्वात्, यदा पुनरेवममिश्रः संकल्पो यावन्तः शाक्याः श्रमणाः, यदि वा-आजीवका देवदत्ता, यद्वा- साधुव्यतिरेकेण सर्वे श्रमणा देवदत्तास्तेभ्यो दास्यामीति तदा कल्पते, तस्य विवक्षितसंकल्प-विषयीकरणाभावात्, संयतानां तु निर्ग्रान्थ्यातां विसदृशनाम्नामपि संकल्पे कृते देवदत्ताख्यादेः साधोर्नकल्पते, किमुक्तं भवतिचैत्रनाम्नोऽपि संयतस्योद्देशेन कृतं देवदत्ताख्यस्य साधोर्न कल्पते, तथा भगवदाज्ञाविजृम्भ-

णात् यदा पुनस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धसंकल्पनेन कृतं तदा कल्पते, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धानां सङ्घातीतत्वेन सङ्घमध्यवर्तिभिः साधुभिः सह साधर्मिकत्वाभावात्। ''संजयाणउ विसरिसना- माण वि न कप्पे'' इति वचनाच्चार्थापत्त्या यावन्तो देवदत्ता इत्यादौ विसदृशचैत्रादिनाम्नां साधूनां कल्पत एवेति प्रतिपादितं द्रष्टव्यम्। तदेवमुक्तो नाम साधर्मिकमधिकृत्य कल्प्याऽ- कल्प्यविधिः।

संप्रति स्थापनाद्रव्यसाधर्मिकावधिकृत्य तमाह–

नीसमनीसावकडं, ठवणा साहंमियम्मि उ विभासा।
दव्वे मयतणुभत्तं, न तं तु कुच्छा विवज्जेज्जा ॥१४४॥

इह कोऽपि गृही गृहीतप्रव्रज्यस्य मृतस्य जीवतो वा पित्रादेः स्नेहवशत्प्रतिकृतिं कारयित्वा तत्पुरतो ढौकनाय बलिं निष्पादयति, तन्निष्पादनं च द्विधा, तद्यथा-निश्रया, अनिश्रया च। तत्र ये रजोहरणादिवेषधारिणो मत्पितृतुल्यास्तेभ्यो दास्या-मीति संकल्प्य निष्पादयति। तदा तद्बलिनिष्पादनं निश्राकृतमुच्यते, यदा त्वेवंविधः संकल्पो न भवति, किन्त्वे- वमेव ढौकनाय बलिं निष्पादयति। तदा तद्बलिनिष्पादन-मनिश्राकृतमुच्यते, तथा चाह- ''नीसमनीसा व कडं'' इह प्रथमातृतीयार्थे वेदितव्या ततोऽयमर्थः- निश्रया अनिश्रया वा यत्कृतं-निष्पादितं भक्तादिस्थापनासाधर्मिकविषये। तत्र विभाषा कर्त्तव्या, यदि निश्राकृतं तदपि च ढौकितमढौकितं वा तर्हि न कल्पते, अनिश्राकृतं तु ढौकितमढौकितं वा कल्पते, परंतत्रापि प्रवृत्तिदोषप्रसङ्ग इति पूर्व्वसूरयो निषेधमाचक्षते, तथा द्रव्ये-द्रव्यसाधर्म्मिकविषये यत् मृततनुभक्तं तत्कालं मृतस्य साधोर्या तनुस्तस्याः पुरतो ढौकनाय यदशनादि तत्, पुत्रादिना कृतं तत् मृततनुभक्तं तदपि द्विधा-निश्राकृतम्, अनिश्राकृतं च। तत्र साधुभ्यो दास्यामीति संकल्प्यकृतं निश्राकृतम्, इतरत्तु स्वपित्रादिभक्तिमात्रकृतमनिश्राकृतं तत्र यन्निश्राकृतं तन्निषेधयति-नैव कल्पते, इतरत्तु अनिश्राकृतं कल्पते, किंतु तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा-निन्दा प्रवर्तते, यथा अहो अमी भिक्षवो निःशूका मृततनुभक्तमपि न परिहरन्तीति ततो विवर्ज्जयन्ति तत्साधवः।

संप्रति क्षेत्रकालसाधर्मिकावधिकृत्यातिदेशेन कल्प्याऽकल्प्य-विधिमाह-

पासंडियसमणाणं, गिहिनिग्गंथाण चेव उ विभासा।
जह नाममि तहेव य, खेत्ते काले य नायव्वं ॥१४५॥

यथा नाम्नि-नामसाधर्मिकविषये पाषण्डिनां श्रमणानां 'गिहि' त्ति-''सूचनात् सूत्रमि'' ति न्यायात् गृह्यगृहिणा निर्ग्रन्थानां च विभाषा कृता तथा क्षेत्रे काले च विभाषणं ज्ञातव्यं, तत्र क्षेत्रं-सौराष्ट्रादिकं कालः- दिनपौरुष्यादिकः; तत्र क्षेत्रविषये विभाषा एवम् यदि सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेभ्यः पाषण्डिभ्यो मया दातव्यमिति संकल्पः तदा सौराष्ट्रदेशोत्पन्नस्य साधोर्नकल्पते, सौराष्ट्रदेशोत्पन्नत्वेन तस्यापि संकल्पविषयीकरणात्, शेषदेशोत्पन्नानां तु कल्पते, तेषां संकल्पविषयीकरणाभावात्, यदि पुनः सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेभ्यः पाषण्डिभ्यः सरजस्केभ्यः, यदि वा-सौगतेभ्यः यद्वा- साधुव्यतिरेकेण सर्व्वपाषण्डिभ्यो दास्यामीति संकल्पस्तदा सौराष्ट्रदेशोत्पन्नस्यापि साधोः कल्पते, तस्य संकल्पाक्रोडीकरणात्, एवं श्रमणेष्वपि सामान्यतः संकल्पितेषु न कल्पते, साधुव्यतिरेकेण तु संकल्पितेषु कल्पते तथा गृह्यगृहिषु सामान्यतः सौराष्ट्रदेशोत्पन्नत्वेन संकल्पितेषु न कल्पते, केवलेषु तु गृहिषु कल्पते, निर्ग्रन्थेषु तु सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेषु असौराष्ट्रदेशोत्पन्नेषु वा संकल्पितेषु सौराष्ट्रदेशोत्पन्ना-नामन्यदेशोत्पन्नानां वा सर्वथा न कल्पते, तदेवं क्षेत्रसाधार्म्मिकेविभाषा भाविता, एवं कालसाधार्म्मिकेऽपि भावनीया, यथा विवक्षितदिनजातेभ्यः पाषण्डिभ्यो मया दातव्यमिति संकल्पिते तस्यापि तद्दिनजातस्य साधोः न कल्पते, तस्यापि तद्दिन-जातत्वेन संकल्पविषयीकरणात्, शेषदिनजातानां तु कल्पते, संकल्पविषयीकरणाऽभावात् इत्यादि सर्वं पूर्वोक्तानुसारेण भावनीयम्, प्रवचनादिपदसप्तकेष्वनुरेवं पूर्वाचार्यव्याख्या-प्रवचनलिङ्गदर्शनज्ञानचारित्राभिग्रहभावनारूपेषु सप्तसु पदेषु द्विसंयोगभङ्गा एकविंशतिः, तद्यथा-प्रवचनस्य लिङ्गेन सह एको, दर्शनेन सह द्वितीयो, ज्ञानेन सह तृतीयः, एवं यावत् भावनया सह षष्ठ इति षड् भङ्गाः एवं लिङ्गस्य दर्शनादिभिः सह पञ्च, दर्शनस्य ज्ञानादिभिः सह चत्वारः, ज्ञानस्य चारित्रादिभिः सह त्रयः, चारित्रस्याभिग्रहभावनाभ्यां द्वौ अभिग्रहस्य भावनया सहैक इत्येकविंशतिः, एतेषु च एकविंशतिसंख्येषु भङ्गेषु प्रत्येकमेवैकाः चतुर्भङ्गिकाः, तद्यथा-प्रवचनतः साधर्मिको न लिङ्गतः, लिङ्गतः साधर्मिको न प्रवचनतः, प्रवचनतः साधर्म्मिको लिङ्गतश्च न प्रवचनतो न लिङ्गतश्च शेषेषु भङ्गेषु यथास्थानं चतुर्भङ्गिका दर्शयिष्यते।

तत्र प्रथमचतुर्भङ्गिकाया आद्यभङ्गद्वयोदाहरणमुपदर्शयति–

दस ससिहागा सावग, पवयण साहम्मिया न लिंगेणं।
लिंगेण उ साहंमी, नो पवयण निण्हगा सव्वे ॥१४६॥

प्रवचनतः साधर्म्मिका न लिङ्गेन अविरसम्यग्दृष्टेरारभ्य यावद्दशमीं श्रावक प्रतिमां प्रतिपन्ना ये श्रावकास्ते द्रष्टव्याः, कुत इत्याह-'दस ससिहागा' इत्यत्र ''निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम्'' इति न्यायाद्धेतौ, प्रथमा, ततोऽयमर्थः-यतस्ते दशमीं श्रावकप्रतिमां प्रतिपन्नाः, सशिखाकाः- शिखासहिताः केशसहिता एवेत्यर्थः ततस्ते प्रवचनत एव साधर्म्मिका भवन्तिः न लिङ्गतः, ये त्वेकादशीं श्रावक प्रतिमां प्रतिपन्नास्ते निष्केशा इत्यादिना लिङ्गतोऽपि साधर्मिका भवन्तीति तद्विवर्ज्जनम् एतेषां चार्थाय यत् कृतं तत्साधूनां कल्पते, तथा लिङ्गतः साधर्म्मिका न प्रवचनतो निह्नवाः, तेषां प्रवचनबहिर्भूतत्वेन प्रवचनतः साधर्मिकत्वाभावात्, लिङ्गं तु तेषामपि रजोहरणादिकं विद्यते इति लिङ्गतः साधर्मिकाः, तेषामप्यर्थाय कृतं साधूनां कल्पते, निह्नवाश्च द्विधालोके निह्नवत्वेन ज्ञाताः अज्ञाताश्च। तत्र ये अज्ञातास्ते इह ग्राह्याः, अज्ञातानां लोके साधुत्वेन व्यवहरणभावतः प्रवचनान्तर्वर्त्तित्त्वात्, इहाद्यभङ्गद्वयेन उदाहृते शेषमुत्तरं भङ्गद्वयं स्वयमेव श्रोतारोऽवभोत्स्यन्ते। इति बुद्ध्या निर्युक्ति-कृन्नोदाहृतवान्, अनेनैव च कारणेन शेषाणामपि चतुर्भङ्गिकारणामाद्यमेव भङ्गद्वयमुदाहरिष्यति नोत्तरं भङ्गद्वयं वयं

तु सुखावबोधाय उदाहरिष्याम:, तत्रास्यामेव प्रथमचतुर्भङ्गि- कायां प्रवचनत: साधर्मिका लिङ्गतश्चेति तृतीयभङ्गे उदाहरणं साधव: एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्ना श्रावका वा, तत्र साधूना- मर्थाय कृतं न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, न प्रवचनत: साधर्मिका नाऽपि लिङ्गतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धा तेषां प्रवचनलिङ्गातीतत्वात् तेषामर्थाय कृतं कल्पते, द्विती- याचतुर्भङ्गिका-प्रवचनत: साधर्मिका, न दर्शनत: , दर्शनत: साधर्मिका न प्रवचनत:, प्रवचनत: साधर्मिका दर्शनतश्च । न प्रवचनतो न दर्शनत: ।

तत्राद्यभङ्गद्वयोदाहरणमाह–

विसरिसदंसणजुत्ता, पवयणसाहम्मिया न दंसणओ ।
तित्थगरा पत्तेया, नो पवयणदंससाहम्मी ॥१४७॥

प्रवचनत: साधर्मिका न दर्शनतो, विसदृशदर्शनयुक्ता:- विभिन्नक्षायि- कादिसम्यक्त्वयुक्ता: साधव: श्रावका वा किमुक्तं भवति-एकेषां साधूनां श्रावकाणां वा क्षायोपशमिकं दर्शनमपरेषां त्वौपशमिकं क्षायिकं वा ते परस्परं प्रवचनत: साधर्मिका न दर्शनत:, तत्र साधूनामर्थाय कृतं साधूनां न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, तथा दर्शनत: साधर्मिका न प्रवचनत:, तीर्थकरा: प्रत्येकबुद्धा वा समानदर्शना वेदितव्या:, तेषामर्थाय कृतं साधूनां कल्पते, प्रवचनत: साधर्मिका दर्शनतश्च, साधव: श्रावका वा समानदर्शना:, अत्रापि साधूनामर्थाय कृतं साधूनां न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, न प्रवचनतो नापि दर्शनस्तीर्थकर- प्रत्येकबुद्धनिह्नवा:, तत्र तीर्थकरा: प्रत्येकबुद्धाश्च विभिन्नदर्शना वेदितव्या:, निह्नवाश्च मिथ्यादृष्टय: प्रतीता एव, एतेषां च सर्व्वेषामर्थाति कृतं कल्पते, तृतीया चतुर्भङ्गिका-प्रवचनत: साधर्मिका न ज्ञानत:, ज्ञानत: साधर्मिका न प्रवचनत:, प्रवचनातेऽपि साधर्मिका ज्ञानतश्च, न प्रवचनतो नापि ज्ञानत:, एवं चतुर्थ्यपि चतुर्भङ्गिका प्रवचनस्य चारित्रेण सह वेदितव्या।

एतयोर्द्वयोरपि चतुर्भङ्गिकयोराद्यभङ्गद्वयमतिदेशेनोदाहरति-

नाणचरित्ता एवं, नायव्वा होंति पवयणेणं तु ॥

यथा प्रवचनेन सह दर्शनमुक्तमेवं ज्ञानचारित्रे अपि प्रवचनेन सह ज्ञातव्ये, तद्यथा–प्रवचनत: साधर्मिका न ज्ञानत: विसदृशज्ञानसहिता: साधव: श्रावका वा, अत्रापि यदि साधवस्तर्हि न कल्पते, अथ श्रावकास्तर्हि कल्पते, ज्ञानत: साधर्मिका न प्रवचनत: तीर्थकरा: प्रत्येकबुद्धा वा समानज्ञाना: तेषामर्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनत: साधर्मिका ज्ञानतश्च, साधव: श्रावका वा समानज्ञाना: अत्रापि साध्वर्थं कृतं न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते न प्रवचनतो नाऽपि ज्ञानत: तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवा:, तत्र तीर्थकरा: प्रत्येकबुद्धाश्च विभिन्नज्ञाना वेदितव्या, निह्नवास्तु मिथ्यादृष्टित्वादज्ञानिन: प्रतीता एव, एतेषां सर्व्वेषामप्यर्थाय कृतं कल्पते, तथा प्रवचनत: साधर्मिका न चारित्रत: साधव: श्रावकाश्च, तत्र साधवो विसदृशचारित्रसहिता वेदितव्या:, श्रावकाणां त्वरितसम्यग्दृष्टीनां सर्व्वथा विरत्यभावेन देशविरतानां तु देशचारित्रतया चारित्रत: साधर्म्मिकत्वाभाव: सुप्रतीत: साध्वर्थं चेत् कृतं न कल्पते, श्रावकार्थं चेत्तर्हि कल्पते, चारित्रत: साधर्मिका न प्रवचनत: तीर्थकर प्रत्येकबुद्धा: समानचारित्रा:, तेषामर्थाय कृंत कल्पते प्रवचनत: साधर्मिकाश्चारित्रतश्च साधव: समानचारित्रा:, तेषा-मर्थाय कृतं न कल्पते, न प्रवचनतो नापि चारित्रतस्तीर्थ-करप्रत्येकबुद्धनिह्नवा:, तत्र तीर्थकरप्रत्येकबुद्धा विसदृशचारित्रा वेदितव्या:, निह्नवास्त्वचारित्रिण एवं एतेषां च सर्व्वेषामप्यर्थाय कृतं कल्पते। पञ्चमी चतुर्भङ्गिकाप्रवचनत: साधर्म्मिका नाऽभिग्रहत:, अभिग्रहत: साधर्मिका न प्रवचनत: प्रवचनतोऽपि साधर्म्मिका अभिग्रहतश्च, न प्रवचनतोऽपि नाप्यभिग्रहतश्च, एवं षष्ठ्यपि चतुर्भङ्गिका प्रवचनस्य भावनया सह वेदितव्या।

एतयोर्द्वयोरपि चतुर्भङ्गिकयो: प्रत्येक-

माद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति-

पवयणओ साहंमी, नाभिग्गहसावगा जइणो ॥१४८॥
साहम्मऽभिग्गहेणं, नो पवयणनिण्हतित्थ पत्तेया ।
एवं पवयणभावण, एत्तो सेसाण वोच्छामि ॥१४९॥

प्रवचनत: साधर्मिका नाभिग्रहत: श्रावका यतयश्च विस-दृशाभिग्रह- सहिता:, तत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनाम्, अभिग्रहेण साधर्मिका न प्रवचनेन, निह्नवतीर्थकर-प्रत्येकबुद्धा:, एतेषां चार्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनत: साधर्मिका अभिग्रहतश्च साधव: श्रावकाश्च समानाभिग्रहा:, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, न प्रवचनतो नाऽप्य-भिग्रहत:, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवा विसदृशाभिग्रह- कलिता निरभिग्रहा वा, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, एवम् -'पवयणभावण' त्ति- एवंपूर्वोक्तेन प्रकारेण प्रवचनभावनेति प्रवचनभावना चतुर्भङ्गिकां भावनीया तद्यथा- प्रवचनत: साधर्मिका न भावनात्:, साधव: श्रावका वा विसदृशभावनाका:, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते; न साधूनां भावनात: साधर्मिका न प्रवचनत: निह्नवतीर्थकरप्रत्येकबुद्धास्तेषामर्थाय कृंत कल्पते, प्रवचनत: साधर्मिका भावनातश्च, साधव: श्रावकाश्च समानभावनाका:, तत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, न प्रवचनतो नापि भावनातस्तीर्थकरत्येकबुद्धनिह्नवा विसदृशभावनाका:, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते, तदेवमुक्तानि प्रवचना-श्रितानां षण्णां चतुर्भङ्गिकानामुदाहरणानि- 'एत्तो सेसाण वोच्छामि' त्ति-इत ऊर्ध्वं शेषाणां चतुर्भङ्गिकानामुदाहरणानि वक्ष्ये।

प्रतिज्ञातमेवातिदेशेन निर्वाहयति–

लिंगाईहि वि एवं, एक्केक्केणं तु उवरिमा नेया ।
जेऽनन्ने उवरिल्ला, ते मोत्तुं सेसए एवं ॥१५०॥

'लिंगाईहि वि' इत्यत्र सप्तम्यर्थे तृतीया; ततोऽयमर्थ:-एवं- पूर्वोक्तेन प्रकारेण लिङ्गादिष्वपि लिङ्गदर्शनप्रभृतिष्वपि पदेषु एकै केन लिङ्गादिना पदने उपरितनानि- दर्शनज्ञानप्रभृतीनिपदानि नयेत्, किमुक्तं भवति ? लिङ्गदर्शनप्रभृतिषु पदेषु दर्श-

नज्ञानादिभि: पदै: सह याश्चतुर्भङ्गिकास्ता: पूर्वोक्तानु- सारेणोदाहरेत्, अतीवेदं संक्षिप्ततरमुक्तम्, अत: न्यक्षेण विव- क्षुरिंदमाह- 'जेऽनन्ने' इत्यादि, ये अनन्ये उदाहरणापेक्षया अन्यदृशा न भवन्ति भङ्गास्तान् मुक्त्वा शेषकान् भङ्गकान् एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण जानीत, इयमत्र भावना- इह लिङ्गदर्शनयोर्ये चत्वारो भङ्गा: सोदाहरणा वक्ष्यन्ते तादृशा एव प्राय उदाहरणा- पेक्षया लिङ्गज्ञानलिङ्गचरणयोरपि भङ्गा: ततस्तान् मुक्त्वा लिङ्ग- दर्शनलिङ्गाभिग्रहादिसत्कान् भङ्गानुदाहरिष्यामीति, तत्र लिङ्ग- दर्शनयोरियं चतुर्भङ्गिका, लिङ्गत: साधर्म्मिका न दर्शनत: दर्शनत: साधर्म्मिका न लिङ्गत:, लिङ्गतोऽपि साधर्म्मिका दर्शनतश्च, न लिङ्गतो नापि दर्शनत: ।

तत्राऽऽद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति–

लिंगेण उ साहंमी, न दंसणे वीसुदंसि जइ निण्हा ।
पत्तेयबुद्धतित्थं-करा य बीयंमि भंगम्मि ॥१५१ ॥

लिङ्गेन साधर्म्मिका: 'न दंसणे' इत्यत्र तृतीयार्थे सप्तमी न दर्शनेन, विष्वग्दर्शना-विभिन्नदर्शना यतयो निह्नवाश्च उप- लक्षणमेतद्विभिन्न- दर्शना एकादशप्रतिमाप्रतिपन्ना: श्रावकाश्च तत्र निह्नवा मिथ्यादृष्टित्वात् न दर्शनत: साधर्मिका: अत्र च निह्नवानां श्रावकाणां चार्थाय: कृतं कल्पते न यतीनां, द्वितीये भङ्गे दर्शनत: साधर्मिका न लिङ्गत: इत्येवंरूपे प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकृत: एका-दशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जा श्रावकाश्च समानदर्शना ज्ञेया:, तेषामर्थाय कृतं कल्पते; शेषं भङ्गद्वयं वयमुदाहराम:, लिङ्गत: साधर्म्मिका दर्शनतश्च समानदर्शना: साधव एकादर्शीं प्रतिमां प्रतिपन्ना: श्रावकाश्च, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृंत कल्पते न साधूनां, न लिङ्गतो नापि दर्शनतो विसदृशदर्शना: प्रत्येकबुद्धतीर्थकरा एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जा: श्रावकाश्च तेषामर्थाय कृतं कल्पते, लिङ्गज्ञानचतुर्भङ्गिका त्वेवम्- लिङ्गत: साधर्मिका न ज्ञानत:, ज्ञानत: साधर्मिका न लिङ्गत: लिङ्गत: साधर्मिका ज्ञानतश्च, न लिङ्गतो नाऽपि ज्ञानत: अस्याश्चतु- र्भङ्गिकाया आद्यभङ्गद्वयोदाहरणानि प्रायो लिङ्गदर्शनचतुर्भङ्गिकाद्य-द्वयसदृशानीति कृत्वा निर्युक्तिकृन्नोदाहरति, ततो वयमे- वोदाहराम:- लिङ्गत: साधर्मिका न ज्ञानत: विभिन्नज्ञाना यतय एकादर्शीं प्रतिमां प्रतिपन्ना: श्रावका निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकाणां निह्नवानां चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, ज्ञानत: साधर्मिका न लिङ्गत: समानज्ञानास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धा एकादश प्रतिमावर्ज्जा: श्रावकाश्च, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, लिङ्गत: साधर्मिका ज्ञानतश्च समानज्ञाना: साधव एकादर्शीं प्रतिमां प्रतिपन्ना श्रावकाश्च अत्राऽपि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, न लिङ्गतो नाऽपि ज्ञानतो विभिन्नज्ञाना: प्रत्येकबुद्धतीर्थकरा: एका- दशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जा: श्रावकाश्च एतेषामर्थाय कृतं कल्पते, । लिङ्गचरणयोरियं चतुर्भङ्गिका, लिङ्गत: साधर्मिका न चरणत: १, चरणत: साधर्मिका न लिङ्गत: २, लिङ्गत: साधर्मिकाश्चरणतश्च ३, न लिङ्गतो नापि चरणत: ४ अस्या अपि चतुर्भङ्गिकाया उदाहरणानि प्राय: पूर्वसदृशानीति कृत्वा निर्युक्तिकृत् नोदाहृतवान् ततोऽहमेवोदाहरामिलिङ्गत: साधर्मिका न चरणतो विभिन्नचारित्रा यतय: एकादर्शीं प्रतिमां प्रतिपन्ना: श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावकाणां निह्नवानां चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, चरणत: साधर्मिका न लिङ्गत:, प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकृतश्च समानचारित्रा:, तेषामर्थाय कृतं साधूनां कल्पते, लिङ्गत: साधर्म्मिकाश्चरणतश्च समानचारित्रा यतय:, तेषामर्थाय कृतं न कल्पते, न लिङ्गतो नापि चरणतो विसदृशचरणा: प्रत्येक-बुद्धतीर्थकरा एकादशप्रतिमावर्जा: श्रावकाश्च, तेषामर्थाय कृतं कल्पते । लिङ्गाभिग्रहयोश्चतुर्भङ्गिका इयम्- लिङ्गत: साधर्मिका नाभिग्रहत: १, अभिग्रहत: साधर्मिका न लिङ्गत: २, लिङ्गत: साधर्मिका अभिग्रहतश्च ३,न लिङ्गतो नाप्यभिग्रहत: ४ ।

तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति–

लिंगेण उ नाभिग्गह, अणभिग्गह वीसुऽभिग्गही चेव ।
जइ सावग बीयभंगे, पत्तेयबुहा य तित्थयरा ॥१५२ ॥

लिङ्गेन साधर्मिका नाभिग्रहतोऽनभिग्रहा:, यद्वा- विष्वग्- अभिग्रहिणो-विभिन्नाभिग्रहकलिला यतय एकादर्शीं प्रतिमां प्रतिपन्ना श्रावकाश्च वेदितव्या:, उपलक्षणमेतत् निह्नवाश्च, अत्रापि निह्नवानां श्रावकाणां चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् १, अभिग्रहत: साधर्मिका न लिङ्गत: इत्येवंरूपे द्वितीये भङ्गे प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकराश्चशब्दादेका-दशप्रतिमावर्जा: श्रावकाश्च समानाभिग्रहा द्रष्टव्या: एतेषामर्थाय कृतं कल्पते २, लिङ्गत: साधर्मिका अभिग्रहतश्च समनाभिग्रहा: साधव एकादर्शीं प्रतिमां प्रतिपन्ना: श्रावका निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् ३, न लिङ्गतो नाप्यभिग्रहतश्च विसदृशा-भिग्रहास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धैकादश-प्रतिमावर्जश्रावका:, एतेषा-मर्थाय कृतं कल्पते । लिङ्गभावनयोरियं चतुर्भङ्गिकालिङ्गत: साधर्मिका न भावनात:, भावनात: साधर्मिका न लिङ्गत:, लिङ्गत: साधर्मिका भावनातश्च, न लिङ्गतो नापि भावनात: ।

तत्रास्या उदाहरणान्यतिदेशेनाह–

एवं लिङ्गेण भावण,

यथा लिङ्गे अभिग्रहेण भङ्गेषूदाहृतमेवं भावनयाऽप्युदाहर्तव्यम् । तच्चैवम्- लिङ्गत: साधर्मिका न भावनात: भावनारहिता विष्वग्भावना वा यतय एकादर्शीं प्रतिमां प्रतिपन्ना: श्रावका निह्नवाश्च । अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनाम-र्थाय १, भावनात: साधर्मिका न लिङ्गत: प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकृत एकादर्शीं प्रतिमां प्रतिपन्ना: श्रावकाश्च समानभावनाका: एतेषामर्थाय कृतं कल्पते २, लिङ्गत: साधर्मिका भावनातश्च समानभावनाका: साधव एकादर्शीं प्रतिमां प्रतिपन्ना: श्रावका निह्नवाश्च अत्रापि श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् ३, न लिङ्गतो नापि भावनातो विसदृशभावना- कास्तीर्थ-करप्रत्येकबुद्धैकादशप्रतिमावर्जश्रावका:, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते, तदेवं लिङ्गविषया: पञ्च चतुर्भङ्गिका उक्ता:। संप्रति दर्शनस्य ज्ञानादिभि: सह वक्तव्यास्तत्र दर्शनज्ञानयोरियं चतु- र्भङ्गिका- दर्शनत: साधर्मिका न ज्ञानत: १, ज्ञानत: साधर्मिका न दर्शनत: २, दर्शनतोऽपि साधर्म्मिका ज्ञानतश्च ३, न दर्शनतो नाऽपि ज्ञानत: ४।

तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति–

दंसणनाणे य पढमभंगो उ ।
जइ सावग वीसुनाणी, एवं चिय बिइयभंगोऽवि ॥१५३॥

दर्शज्ञाने-दर्शनज्ञानाविषयायां च: समुच्चये, प्रथमो भङ्गो दर्शनत: साधर्मिका न ज्ञानत: इत्येवंरूपो विष्वग्ज्ञानिन:- विभिन्नज्ञाना: समानदर्शना: यतय: श्रावकाश्च वेदितव्या: तत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनामर्थाय कृतम् । एवमेव ज्ञानत: साधर्मिका न दर्शनत इत्येवंरूपो द्वितीयभङ्गोऽपि ज्ञातव्य:; तत्राऽपि यतय: श्रावकाश्च वेदितव्या इत्यर्थ: केवलं विभिन्नदर्शना: समानज्ञाना:, अत्रापि कल्प्याऽकल्प्य-विधि: प्रागिव, ज्ञानत: साधर्मिका दर्शनतश्च समानज्ञाना: समानदर्शना यतय: श्रावकाश्च, अत्राऽपि कल्प्याऽकल्प्यविधि: प्राग्वत्, न ज्ञानतो नापि दर्शनतो विसदृशज्ञानदर्शना: साधव: श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावक-निह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनाम् । दर्शनचरण-योश्चतुर्भङ्गिकात्वियम्दर्शनत: साधर्मिका न चरणत: १, चरणत: साधर्मिका न दर्शनत: २, दर्शनतोऽपि साधर्मिकाश्चरणतश्च ३, न दर्शनतो नापि चरणत: ४।

तत्राऽऽद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति–

दसंणचरणे पढमो, सावग जइणो य बीयभंगो उ ।
जइणो विसरिसदंसी, दंसे य अभिग्गहे वोच्छं ॥१५४॥

दर्शनचरणे-दर्शनचरणचतुर्भङ्गिकायां प्रथमो भङ्गो दर्शनत: साधर्मिका न चरणत इत्येवंरूप: समानदर्शना: श्रावका विसदृशचरणा यतयश्च, अत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनामर्थाय कृतम् १, द्वितीयो भङ्गणापुनश्चरणत: साधर्मिका न दर्शनत: इत्येवंरूप: विसदृशदर्शना: समानचारित्रा, यतय: एतेषामर्थाय कृतं न कल्पते २, दर्शनत: साधर्मिकाश्चरणतश्च समानदर्शनचरणा यतय: अत्रापि न कल्पते ३, न दर्शनतो नापि चरणतो निह्नवा विसदृशदर्शना श्रावका विसदृशचरणा यतयश्च, तत्र निह्नवश्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम्, दर्शनाभिग्रहयोरियं चतुर्भङ्गिकादर्शनत: साधर्मिका नाभिग्रहत: १, अभिग्रहत: साधर्मिका न दर्शनत: २, दर्शनतं: साधर्मिका अभिग्रहतश्च ३, न दर्शनतो नाप्यभिग्रहत: ४, तत्राद्यं भङ्गद्व- यमुदाजिहीर्षुरिदमाह- 'दंसण' इत्यादि, दर्शने अभिग्रहे चाद्य- भङ्गद्वयमधिकृत्योदाहरणं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वहियति–

सावग जइ वीसऽभिग्गह -पढमो बीओ य

समानदर्शना: विष्वगभिग्रहा:-विभिन्नाभिग्रहा: श्रावका यतयश्च दर्शनत: साधर्मिका नाभिग्रहत एवंरूप: प्रथमो भङ्ग:, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते, न यतीनां, द्वितीयोऽपि भङ्गोऽभिग्रहत: साधर्मिका न दर्शनत इत्येवंलक्षण: श्रावकयतिरूप एव, केवलं ते यतय: श्रावकाश्च विसदृशदर्शना: समानाभिग्रहा वेदितव्या:, उपलक्षणमेतत्, तेन निह्नवाश्च समानाभिग्रहा ज्ञातव्या: । अत्र श्रावकनिह्नानामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, दर्शनत: साधर्मिका अभिग्रहतश्च समानदर्शनाभिग्रहा: साधु-श्रावका:, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, दर्शनतो नाप्यभिग्रहतो विसदृशदर्शनाभिग्रहा: साधुश्रावक-निह्नवा:, अत्र कल्प्याऽकल्प्यविधिर्द्वितीयभङ्गवत् । दर्शन-भावनयोरियं चतुर्भङ्गि-कादर्शनत: साधर्मिका न भावनातो १, भावनात: साधर्म्मिका न दर्शनत: २, दर्शनतोऽपि साधर्मिका भावनातश्च ३, न दर्शनतो नाऽपि भावनात: ४।

अस्या आद्यभङ्गद्वयोदाहरणातिदेशार्थमाह–

भावणा चेवं ।

यथा दर्शनेन अभिग्रह उदाहृत एवं भावनाऽप्युदाहर्त्तव्या, सा चैवम् -दर्शनत: साधर्मिका न भावनात:, विसदृशभावनाका: समानदर्शना: श्रावका यतय: १, भावनात: साधर्म्मिका न दर्शनतो विसदृशदर्शन-समानभावनाका: साधव: श्रावका निह्नवाश्च २, दर्शनत: साधर्मिका भावनातश्च समानदर्शनभावनाका: साधु-श्रावका: ३, न दर्शनतो नापि भावनातो विसदृशदर्शनभावनाका: साधुश्रावकनिह्नवा: ४, अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु कल्प्याऽकल्प्यविधि: प्रागिव । तदेवं दर्शनविषया अपि चतस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्ता: ।

संप्रति ज्ञानस्य चारित्रादिभि: सह वक्तव्या: । ताश्चाऽतिदेशेनाह–

नाणेण वि नेज्जेवं,

यथा दर्शनेन सह चतस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्ता: एवं ज्ञानेनापि सह चारित्रादीनि पदानि अधिकृत्य तिस्रश्चतुर्भङ्गिका भावनीया: । अतीवेदं संक्षिप्तमुक्तमत: स्पष्टं विव्रियते– ज्ञानचरणयोरियं चतुर्भङ्गिकाज्ञानत: साधर्मिका न चरणत: १, चरणत: साधर्म्मिका न ज्ञानत: २, ज्ञानतोऽपि साधर्मिकाश्चरणतश्च ३, न ज्ञानतोऽपि नापि चरणत: ४। तत्र ज्ञानत: साधर्मिका न चरणत:, समानज्ञाना: श्रावका: विसदृशचरणसमानज्ञाना यतयश्च, अत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् १, चरणत: साधर्म्मिका न ज्ञानतो विसदृशज्ञाना: समानचरणयतय:, अत्र न कल्पते २, ज्ञानत: साधर्म्मिकाश्चरणतश्च समानज्ञानचरणा: यतय:, अत्रापि न कल्पते ३, न ज्ञानतो नापि चरणतो विसदृशज्ञानचरणा यतयो विसदृशज्ञाना: श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृंत कल्पते, न यतीनाम् ४। ज्ञानाभिग्रहयोरियं चतुर्भङ्गिका- ज्ञानत: साधर्मिका नाभिग्रहत: १, अग्रिहत: साधर्म्मिका न ज्ञानत: २, ज्ञानतोऽपि साधर्म्मिका अभिग्रहतश्च ३, न ज्ञानतो नाप्यभिग्रहत: ४ । तत्र ज्ञानत: साधर्मिका नाभिग्रहत: समानज्ञाना विसदृशाभिग्रहा: साधुश्रावका: अत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते, न साधूनाम् १, अग्रिहत: साधर्म्मिका न ज्ञानतो विसदृशज्ञाना: समानाभिग्रहा: साधुश्रावका: समानाभिग्रहा निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनाम् २, ज्ञानत: साधर्म्मिका अभिग्रहतश्च समानज्ञानाभिग्रहा: साधुश्रावका:, अत्र कल्प्याऽक-ल्प्यविधि: प्रथमभङ्ग इव ३, न ज्ञानतो नाप्यभिग्रहतो विसदृश-ज्ञानाभिग्रहा: साधुश्रावका विसदृशाभिग्रहा निह्नवाश्च अत्र द्वितीये भङ्गे इव कल्प्याऽकल्प्यभावना ४, ज्ञानभावनयोरियं च-

तुर्भङ्गिका-ज्ञानतः साधर्म्मिकाः न भावनातः भावनातः साधर्मिका न ज्ञानतः, ज्ञानतोऽपि साधर्म्मिका भावनातश्च, न ज्ञानतो नापि भावनातः, तत्र ज्ञानतः साधर्मिका न भावनातः समानज्ञाना विसदृशभावनाकाः साधुश्रावकाः १, भावनातः साधर्मिका न ज्ञानतो विसदृशज्ञानाः समानभावनाकाः साधुश्रावकाः समानभावना निह्नवाश्च २, ज्ञानतः साधर्मिका भावनातश्च समानज्ञानभावनाकाः साधुश्रावकाः ३, न ज्ञानतो नापि भावनातो विसदृशभावनाः साधुश्रावका विसदृशभावना निह्नवाश्च ४, अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गकेषु कल्प्याऽकल्प्यभावना प्रागिव । तदेवं ज्ञानविषया अपि तिस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्ताः ।

संप्रति चरणेन सह यच्चतुर्भङ्गिकाद्वयं तदुदाहर्तुमाह–

एत्तो चरणेण वोच्छामि ॥१५५॥

इत ऊर्ध्वं चरणेन सह ये द्वे चतुर्भङ्गिके तदुदाहरणानि वक्ष्ये, तत्र चरणाभिग्रहयोरियं चतुर्भङ्गिकाचरणतः साधर्मिका नाभि-ग्रहतः अभिग्रहतः साधर्म्मिका न चरणतः, चरणतोऽपि साधर्मिका अभिग्रहतश्च न चरणतो नाप्यभिग्रहतः ।

तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाजिहीर्षुराहे–

जइणो वीसाऽभिग्गह, पढमो बिय निण्ह सावगजइणो उ ।

चरणतः साधर्म्मिका नाभिग्रहत इत्येवंरूपः प्रथमो भङ्गः समानचरणा विष्वगभिग्रहा-विभिन्नाभिग्रहा यतयः, अत्र न कल्पते, अभिग्रहतः साधर्म्मिका न चरणत इत्येवंरूपो द्वितीयो भङ्गः, समानाभिग्रहा निह्नवाः श्रावका विभिन्नचरणा यतयश्च, अत्र श्रावकाणां निह्नवानां चार्थाय कृतं कल्पते, न यतीनाम् २, चरणतः साधर्म्मिका अभिग्रहतश्च समानाभिग्रहचरणा यतयः, अत्र न कल्पते ३, न चरणतो नाप्यभिग्रहतः विसदृशाभिग्रहचरणाः साधवो विसदृशाभिग्राहाः श्रावकनिह्नवाश्च, अत्र कल्प्याऽ- कल्प्यभावना द्वितीयभङ्ग इव ४ चरणभावनयोरियं चतुर्भङ्गिका- चरणतः साधर्म्मिका न भावनातः १, भावनातः साधर्म्मिका न चरणतः २, चरणतः साधर्म्मिका भावनाताश्च ३, न चरणतो नापि भावनातः ४।

अस्या उदाहरणान्यतिदेशत आह-

एवं तु भावणासु वि,

यथा चरणेन सहाभिग्रहे उदाहृतम् एवं भावास्वप्युदाहर्तव्यम्, तच्चैवम्- चरणतः साधर्म्मिका न भावनातः समानचरणविभिन्न-भावना यतयः १, भावनातः साधर्मिका न चरणतः समानभावना निह्नवाः, श्रावका विभिन्नचरणा यतयश्च २, चरणतः साधर्मिका भावनातश्च समानचरण-भावता यतयः ३, न चरणतो नापि भावनातः विसदृशचरणभावनाः साधवो विसदृशभावनाः श्रावका निह्नवाश्च ४, अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गकेषु कल्प्याऽकल्प्यविधिः प्रागिव। तदेवं चरणविषये अपि द्वे चतुर्भङ्गिकेऽउक्ते ।

संप्रत्यभिग्रहभावनयोश्चतुर्भङ्गिकां वक्तुकाम आह–

वोच्छं दोण्हं ति माणित्तो ॥१५६॥

इत ऊर्ध्वं द्वयोरन्तिमयोः- अभिग्रहणभावनालक्षणयोः पदयोश्च-तुर्भङ्गिकामुदाहरणतो वक्ष्ये । तत्र तयोरियं चतुर्भङ्गिकाअभि-ग्रहतः साधर्म्मिका न भावनातः १, भावनातः साधर्म्मिका नाअिग्रहतः २, भावनातः साधर्म्मिका अभिग्रहतश्च ३, नाभिग्रहतो नापि भावनातः ४।

तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाजिहीर्षुराह–

जइणो सावगनिण्हव-पढमे बीए व हुंति भंगे य ।

अभिग्रहतः साधर्म्मिका न भावनातः इत्येवंरूपे प्रथमे भङ्गे भावनातः साधर्मिका नाभिग्रहत इत्येवं रूपं द्वितीये च भङ्गे यतयः श्रावका निह्नवाश्च भवन्ति, केवलं प्रथमभङ्गे समानग्रिहा विसदृशभावना वेदितव्याः, द्वितीयभङ्गे पुनः समानभावना विसदृशाभिग्रहाः अभिग्रहतः साधर्मिका भावनातश्च समानभावनाभिग्रहाः साधुश्रावकनिह्नवाः, नाभिग्रहतो नापि भावनातो विसदृशभावनाभिग्रहाः साधुश्रावकनिह्नवाः । अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनामिति। तदेवमुक्ताः २१ एकविंशतिरपि चतुर्भङ्गिकाः ।

(७) तीर्थकरस्य आधाकर्म्मभोजित्वम् । संप्रति सामान्यकेव-लिनं तीर्थकरं चाधिकृत्य कल्प्याऽकल्प्यविधिं कथययिन्त–

केवलनाणे तित्थं-करस्स नो कप्पइ कयं तु ॥१५७॥

केवलज्ञाने-केवलज्ञानिनः सामान्यसाधोः उपलक्षणमेतत्; तेन तीर्थकरप्रत्येकबुद्धवर्ज्जानां शेषसाधूनामित्यर्थः, तीर्थकरस्य; तीर्थकरग्रहणमुपलक्षणम्, तेन प्रत्येकबुद्धस्य चार्थाय कृतं यथाक्रमं न कल्पते, तुशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वात् कल्पते च। इयमत्र भावना-तीर्थकरप्रत्येकबुद्धवर्ज्जशेषसाधूनामर्थाय कृतं न कल्पते, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धानां त्वर्थाय कृतं कल्पते, तथा हि-तीर्थकरनिमित्तं सुरैः कृतेऽपि समवसरणे तत्र साधूनां देशनाश्रवणार्थमुपवेशनादि कल्पते, एवं भक्ताद्यपि एवं प्रत्येक-बुद्धस्यापि।

संप्रति यानाश्रित्य पूर्वोक्ता भङ्गाः संभवन्ति स्म तान् प्रति पादयति–

पत्तेयबुद्ध निण्हव, उवासए केवलीऽवि आसज्ज ।
खइयाइए य भावे, पडुच्च भंगे उ जोएज्जा ॥१५८॥

प्रत्येकबुद्धान्-निह्नवान् उपासकान्- श्रावकानन् केवलिनस्तीर्थकरान् अपिशब्दात्- शेषसाधूंश्चाश्रित्य तथा क्षायिकादीन् भावान् क्षायिकक्षयोपशमिकानि दर्शनानि चशब्दाद्विचित्राणि ज्ञानानि चरणाणि अभिग्रहान् भावनाश्च प्रतीत्य भङ्गान् योजयेत्, ते च तथैव योजिताः ।

तत्र प्रथमचतुर्भङ्गिकां प्रवचनलिङ्गविषयामधिकृत्य

विशेषतः कल्प्याऽकल्प्यविधिमाह–

जत्थ उ तइओ भंगो, तत्थ न कप्पं तु, सेसए भयणा ।
तित्थंकरकेवलिणो, जहकप्पं नो य सेसाणं ॥१५९॥

यत्र साधर्मिके तृतीयो भङ्ग प्रवचनतः साधर्मिका लिङ्गतश्चेत्येवंरूपस्तत्र न कल्पते, यतः प्रवचनतो लिङ्गतश्च साधर्मिका प्रत्येकबुद्धतीर्थकरवर्जा यतयस्ततस्तेषा-

मर्थाय कृतं न कल्पते, तुशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, स च श्राव- कस्य एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नस्य तृतीयभङ्गभाविनोऽप्यर्थाय कृतं कल्पत इति समुच्चिनोति, केचिदाहुः- एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नः साधुकल्प इति तस्याप्यर्थाय कृतं न कल्पते, तदयुक्तं मूलटीकायामस्यार्थ-स्यासम्मतत्वात्, मूलटीकायां हि लिङ्गामि- ग्रहचतुर्भङ्गिकाविषये कल्प्याऽकल्प्यविधिरेवमुक्तः-''लिंगे नो अभिग्गहे जइ साहू न कप्पइ, गिहत्थनिण्हवे कप्पइ'' त्ति। इह लिङ्गयुता गृहस्था एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका एव लभ्यन्ते, ततस्तेषामर्थाय कृतं कल्प्यमुक्तम्, 'सेसए भयण' त्ति-शेषकेभङ्गकत्रये भजनाविकल्पना क्वचित् कथंचित्कल्पते, क्वचिन्न, भङ्गचतुष्टयमप्यधिकृत्य सामान्यत उदाहरति- 'तित्थंकरे' त्यादि, यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः। 'तीर्थकर-केवलिनोऽर्थायं कृतं कल्पते, इह तीर्थकर उत्पन्नकेवलज्ञान एव प्रायः सर्वत्रापि भूमण्डले प्रतीतो भवति। प्रतीतस्य च तीर्थकरस्यार्थाय कृतं कल्पते, नाप्रतीतस्य ततः केवलिग्रहणम्, यदा पुनः छद्मस्थावस्थायामपि तीर्थकरत्वेन प्रतीतो भवति। तदा तस्यामप्यवस्थायां तन्निमित्तं कृतं कल्पते, तीर्थग्रहणं च प्रत्येकबुद्धानामुपलक्षणं, तेन तेषामप्यर्थाय कृतं कल्पते, 'नो य सेसाणं' ति- शेषसाधूनामर्थाय कृत न कल्पते, इदं च सामान्यत उक्तम्, ततोऽमुमेवार्थं मुपजीव्य तृतीयवर्जे शेषे भङ्गत्रये भजना स्पष्टमुपदर्श्यते प्रवचनतः साधर्मिका न लिङ्गतः, एकादश- प्रतिमाप्रतिपन्नवर्जा, शेषश्रावकास्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, ये तु चौरादिमुषितरजोहर-णादिलिङ्गाः साधवस्तेषामर्थाय कृतं न कल्पते द्रव्यलिङ्गापेक्षया साधर्मिकत्वाभावेऽपि भावतश्चरणसाध- र्मिकत्वात् लिङ्गतः साधर्मिका न प्रवचनतो निह्नवास्ते यदिं लोकेनिह्नवत्वेन ख्यातास्ततस्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, अन्यथा न, न प्रवचनतो न लिङ्गतस्तीर्थकर-प्रत्येकबुद्धास्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, तदेवं प्रथमचतुर्भङ्गिकामधिकृत्य कल्प्याऽकल्प्य-विधिरुक्त एतदनुसारेण च शेषास्वपि चतुर्भङ्गिकासु विज्ञेयः, स च प्रागेव प्रत्येकं दर्शितः। सर्वत्राप्ययं तात्पर्याथाधारणीयः- यदि तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धा निह्नवाः श्रावका वा तर्हि तेषामर्थाय कृतं कल्पते। साधूनामर्थाय कृतं न कल्पते। तदेवमुक्तः कल्प्या-ऽकल्प्यविधिः तदुक्तौ च-'आहाकम्मियनामे'- त्यादि मूलद्वारगाथायां 'कस्स वाऽवी ति व्याख्यातम्। पि०।

आत्मघ्नपिण्डे-

जीवं उद्दिस्स कडं, कंमं सोऽवि य जया उ साहंमी।
साऽवि य तइए भंगे, लिंगादीणं न सेसेसु ॥९४०॥

जीवमुद्दिश्य यत् षट्कायविराधनया कृतं सोऽपि च यदि जीवः साधर्मिकः-समानधर्मा भवति सोऽपि च साधर्मिको लिङ्गादीनां लिङ्गतः साधर्मिको न प्रवचनतः इत्यादीनां चतुर्णां भङ्गानां तृतीये भङ्गे लिङ्गतः-प्रवचनतोऽपीत्येवं लक्षणे यदि वर्तते न शेषेषु तदेतत्- आधाकर्म मन्तव्यम्।

अथ तीर्थकरप्रतिमार्थं तन्निर्वर्तते तत्साधूनां किं कल्पते नवेत्याशङ्का-निरासार्थमाह-

संवट्टमेहपुप्फा, सत्थनिमित्तं कया जइ जईणं।
न हु लब्भा पडिसिद्धं, किं पुण पडिमट्ठमारद्धं ॥९४१॥

शास्ता-तीर्थकरस्तस्य निमित्तं यानि देवैः संवर्त्तकमेघपुष्पाणि समवसरणभूमौ कृतानि तानि यतीनां यदि प्रतिषेद्धुं न लभ्यानि तेषां तत्रावस्थातुं यदि कल्पते इति भावः। तर्हि किं पुनः प्रति-मार्थम्-अजीवानां हेतोरारब्धं ततः- पुरातनं प्रतिषेधम-र्हतीत्यभिप्रायः।

आह-यदि तीर्थकरार्थं संवर्तकमेघपुष्पाणि कृतानि तर्हि तस्य भगवतस्तानि प्रतिसेवमानस्य कथं न दोषो भवतीति? उच्यते-

तित्थयरनामगोयस्स, खयऽट्ठा अवि य दोण्णि साभव्वा।
धम्मं कहेइ सत्था, पूयं वा सेवई तं तु ॥९४२॥

तीर्थकरनामानो गोत्रस्य कर्मणः क्षयार्थं शास्ता भगवान् धर्मं कथयति पूजां च तामनन्तरोक्तां संवर्त्तकवातप्रभृतिकामासेवते भगवता हि तीर्थकरनामगोत्रं कर्मावश्यं वेदनीयं विपा-कोदयाऽऽवर्तित्वात्, तस्य च वेदने अयमेवोपायो यदग्लान्या धर्मदेशनाकरणं सदेवमनुजासुरलोक-विरचितायाश्च पूजाया उपजीवनम्। ''तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाईहिं'' तथा-''उदए जस्स सुराऽसुरनरवइनिवहेहिं पूइओ लोए। तं तित्थयरं नामं, तस्स विवागो उ केवलिणो'' ॥१॥ इति वचनप्रामाण्यात्, अपिचेत्यभ्युच्चये, 'दोण्णि' त्तिनिपातो वाक्या-लङ्कारे, सा भवति। स्वो भावः स्वभावः, यथा-आपो द्रवाः चलो वायुरित्यादि, तस्य भावः स्वाभाव्यं तस्मात् तस्य हि भगवतः स्वभावोऽयं यत्तथा धर्मकथाविधानं पूजयाश्चाऽऽसेव-नम्।

इदमेव स्पष्टतरम-

खीणकसाओ अरिहा, कय किच्चो अवि य जीयमणुयत्ती।
पडिसेवंतो वि अ तओ अदोसवं होइ तं पूयं ॥९४३॥

क्षीणाः- प्रलयमुपगताः कषायाः-क्रोधादयो यस्य सः क्षीणकषाय एवंविधोऽर्हन् तां पूजां प्रतिसेवमानोऽपि न दोषवान्, इयमत्र भावनायो हि रागादिमान् पूजामुपजीवन् स्वात्मन्युत्कर्षं मन्यते स दोषभाग् भवति, भगवतस्तु क्षीणकषायस्य पूजामुप-जीवतोऽपि नास्ति स्वात्मन्यु-त्कर्षगन्धः; अतो दूरापास्तप्रसरा तस्य सदोषतेति तथा कृतकृत्यः-केवलज्ञानलाभान्निष्ठितार्थः ततः कृतकृत्यत्वादेवाऽसौ पूजामासेवते, न च दोषमापद्यते। अपि च- जीवमुपजीवनीया सुराऽसुरविरचिता पूजेत्येवंलक्षणं कल्पमनुवर्त्तयितुं शीलमस्यासौ जीवानुवर्त्ती गाथायां मकारो-ऽलाक्षणिकः।

आह भवत्वेवं परं तीर्थकरस्य तत्प्रतिमाया वा निमित्तं यत्कृतं तत्केन कारणेन यतीनां कल्पते? उच्यते-

साहंमिओ न सत्था, तस्स कय तेण कप्पइ जईणं।
जं पुण पडिमाण कयं, कस्स कहा का अजीवत्ता ॥९४४॥

शास्ता-तीर्थकरः सधार्मिको लिङ्गतः प्रवचनतोऽपि न भ-वति तच्च लिङ्गमस्य भगवतो नास्ति तथाकल्पत्वात्, अतो

न लिङ्गतः साधर्मिकः, प्रवचनतोऽपि साधर्मिकः सोऽभिधीयते- यश्चतुर्वर्णसङ्घाभ्यन्तरवर्त्ती भवति ''पवयणसंघेयगरे'' इति वचनात्, भगवांश्च तत्प्रवर्तकतया न तदभ्यन्तरवर्ती किं तु वर्णस्यापि सङ्घस्यापि ततो न प्रवचनतोऽपि साधर्मिक इत्यतस्तस्य तीर्थकरस्यार्थाय कृतं यतीनां कल्पते, यत्पुनः प्रतिमानामर्थाय कृतं तस्य का कथा-का वार्ता सुतरां तत् कल्पते, कुत इत्याह-अजीवत्वात्, जीवमुद्दिश्य यदि यत्कृतं तदाधाकर्म भवति 'जीवं उद्दिस्स कडं ॥९४० ॥'' इति प्रागेवोक्तत्वात् तच्च जीवत्वमेव प्रतिमानां नास्तीति।

अथ वसतिविषयमाधाकर्म दर्शयति-

ठाइमठाई ओसरणे, अमंडवा संजयट्ठें देसे वा।
पेढी भूमीकंमे, निसेवतो अणुमई दोसा ॥९४५॥

'ओसरणे' समवसरणे बहवः संयताः समागमिष्यन्तीति बुद्ध्या श्रावका धर्मश्रद्धया बहून् मण्डपान् कुर्युः ते च द्विधा- स्थायिनः, अस्थायिनश्च। ये समवसरणपर्वणि व्यतीते सति नोत्कीर्ल्यन्ते ते स्थायिनः, ये पुनरुत्कीर्ल्यन्ते ते अस्थायिनः। पुनरेकैके द्विविधाः- संयतार्थकृता, देशकृता वा। ये आधाः कर्मिकास्ते संयतार्थकृताः। ये तु साधूनामात्मनः स्वार्थाय कृतास्ते देशकृताः एतेषु तिष्ठतां तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। तथा पीठिकानामुपवेशनादिस्थानविशेषाः 'भूमीकम्मे' त्ति- भूमि-कर्मविषमायाः भूमेः समीकरणम्, उपलक्षणं चेदं तेन संमार्जनोपलेपनादिपरिग्रहः। एतान्यपि पीठिकादीनि संयतार्थ-कृतानि देशकृतानि भवेयुः। एतानि मण्डपादीनि सदोषाणि निषेवमाणस्य अनुमतिदोषा भवन्ति एतेषु क्रियमाणेषु या षण्णां जीवनिकायानां विराधना सा अनुमोदिता भवतीति भावः। बृ० १ उ० २ प्रक०।

आधाकर्मणः कल्प्याऽकल्प्यविवेकः-

आहा अहे य कम्मे, आताहम्मे य अत्तकम्मे य।
तं पुण आहाकम्मं, णायव्वं कप्पते कस्स ॥९४६॥

आधाकर्म्म, अधःकर्म, आत्मघ्नम्, आत्मकर्म चेति चत्वारि नामानि। तत्र साधूनामाधया-प्रणिधानेन यत्कर्मषट्का- यविनाशेनाशना-दिनिष्पादनं तदाधाकर्म, तथा विशुद्धसंयम- स्थानेभ्यः प्रतिपत्त्यात्मानमविशुद्धसंयमस्थानेषु यदधोऽधः करोति तदधःकर्म। आत्मानं-ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं हन्ति-विनाशयतीत्यात्मघ्नो यत्पाचकादिसंबन्धि कर्म पाकादिलक्षणं ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा तदात्मनः संबन्धि क्रियते अनेने-त्यात्मकर्म। तत्पुनराधाकर्म्म कस्य पुरुषस्य कल्पते न वा, यद्वा-कस्य तीर्थे कथं कल्पते, न कल्पते च। बृ० ४ उ०। (इति 'अकप्पट्ठिय' शब्दे प्रथमभागे तमः।)

(८) यथाक्रमं द्वाविंशति २२ जिनेषु कल्प्याऽकल्प्यविधिः-'अकप्पट्ठिय' शब्दे प्रथमभागे गतः।)

(९) अशनादिषु आधाकर्म्मसंभवः। संप्रति 'किंवावी' ति व्याचिख्यासुराह-

किं तं आहाकम्मं, ति पुच्छिए तस्स रूवकहणऽत्थं।
संभवपदसरिणत्थं, च तस्स असणाइयं भणइ ॥१६०॥

किं तदाधाकर्मेति शिष्येण पृष्टे तत्स्वरूपकथनार्थम्- आधाकर्मस्वरूपकथनार्थम्, तस्य-आधाकर्म्मणः संभव-प्रदर्शनार्थं च अशनादिकम्-अशनपानखादिमस्वादिमं गुरुर्भणति, इयमत्र- भावना- अशनादिस्वरूपमाधाकर्म्म-अशनादावेव आधाकर्म्मणः संभवः, ततो गुरुः किमाधाकर्म्मेति पृष्टः सन्न-शनादिकमेव वक्ति, तथा च शय्यंभवसूरिराधाकर्म दर्शयन् पिण्डैषणाध्ययने अशनादिकमभिधत्ते, तद्यथा-

''असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा, समणऽट्ठा पगडं इमं ॥१॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥२॥ इति।

संप्रत्यशनादिकमेव व्याचष्टे-

सालीमाई अवडे, फलाइ सुंग्रइ साइमं होइ।

शाल्यादिकमशनम्, 'अवट' इति- वापीकूपतडागाद्युपलक्षणं, ततः कूपवापीतडागादौ यज्जलं तत्पानं, तथा फलादिफलं नालिकेरादि, आदिशब्दाच्चिञ्चिणिकापुष्पापिरिग्रहः तत् खादिमं, शुण्ठ्यादिकं स्वादिमं, तत्र शुण्ठी प्रतीता, आदिशब्दात्-हरीतक्यादिपरिग्रहः।

तदेवं व्याख्यातान्यशनादीनि-

संप्रत्येतेष्वेवाधाकर्मरूपेषु प्रत्येकं भङ्गचतुष्टयमाह-

तस्स कडनिट्ठियंमी, सुद्धमसुद्धे य चत्तारि ॥१६१॥

तस्येति प्रस्तावात् साधोरर्थाय 'कृत' मित्यत्र बुद्धा- वादिकर्मविवक्षायां क्तप्रत्ययः ततोऽयमर्थः- कर्तुं प्रारब्धं, तथा तस्य साधोरर्थाय निष्ठितं- सर्वथा प्रासुकीकृतमिति, अत्र विषये 'चत्तारी' ति-चत्वारो भङ्गा भवन्ति तत्र प्रथम एष एव भङ्ग- स्तस्य कृतं तस्य निष्ठितं, द्वितीयः- तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं, तृतीयः- अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितं, चतुर्थः, अन्यस्य कृत-मन्यस्य निष्ठितम्। तत्र प्रथमो व्याख्यातः, द्वितीयादिनां तु भङ्गानामयमर्थः- पूर्वं तावत्तस्य साधोरर्थाय कृतम्-आरब्धं ततो दातुः साधुविषयदानपरिणामाभावतोऽन्यस्य-आत्मनः स्वपुत्रा-देर्वाऽर्थाय निष्ठां नीतं, तथा प्रथमतोऽन्यस्य पुत्रादेरात्मनो वाऽर्थाय कर्तुमारब्धं ततः साधुविषयदानपरिणामभावतः सा- धोरर्थाय निष्ठां नीतं, तथा प्रथमत एवाऽन्यस्य निमित्तं कर्तुमार-ब्धमन्यस्यैव च निमित्तं निष्ठां नीतम्। एवमशने पाने खादिमे स्वादिमे च प्रत्येकं चत्वारश्चत्वारो भङ्गा भवन्ति, ततः 'सुद्धमसुद्धे य' त्ति-आर्षत्वात् शुद्धावशुद्धौ चेति द्रष्टव्यं, तत्र शुद्धौ साधोरासेवनायोग्यौ, तौ च द्वितीयचतुर्थभङ्गौ, तथा हिक्रिया या निष्ठा प्रधाना, ततो यद्यपि प्रथमतः साधुनिमित्तं क्रिया प्रारब्धा तथाऽपि निष्ठाम्-अन्यनिमित्तं नीतेति द्वितीयो भङ्गः साधोः कल्पते, चतुर्थस्तु भङ्गः शुद्ध एव न तत्र विवादः अशुद्धौ अकल्प-नीयौ, तौ च प्रथमतृतीयौ तत्र प्रथम एकान्ते- नाशुद्ध एव साध्वर्थं प्रारब्धत्वान्निष्ठितत्वाच्च, तृतीये तु भङ्गे यद्यपि पूर्वं न साधुनिमित्तं पाकादिक्रियारम्भस्तथापि साधुनिमित्तं निष्ठां नीता, निष्ठा च प्रधानेति न कल्पते। तदेवमाधाकर्मस्वरूपमुक्तम्। पिं०।

आधाकर्मण उत्पत्तिः-

सालीघयगुलगोरस-नवेसु वल्लीफलेसु जातेसु।

पुण्णऽट्ठकरणसङ्घा, आहाकम्मे णिमंतणता ॥९३९॥

कस्यापि दानरुचेरभिगमश्राद्धस्य वा नवः शालिर्भूयान् गृहे समायातस्ततः स चिन्तयति-पूर्वं यतीनामदत्वा ममाऽऽत्मना परिभोक्तुं न युक्त इति परिभाव्याऽऽधाकर्म कुर्यात्, एवं घृते गुडे गोरसे नवेषु वा तुम्ब्यादिवल्लीफलेषु जातेषु पुण्यार्थं दानरुचिः श्राद्धः 'करणं' ति-आधाकर्म कृत्वा साधूनां निमन्त्रणं कुर्यात्। बृ० ४ उ०।

आधाकर्म सम्भवे भेदाश्च प्रदर्शिताः, तस्स आहाकम्मस्स कहं संभवो हवेज्ज इमो भण्णति।

सूत्रम्–

सालीघयगुलगोरस-नवेसु वल्लीफलेसु जातेसु।
पुण्णट्ठदाणसङ्घा, आहाकंमे णिमंतणया ॥५७॥
आहाकंमे तिविहो, आहारे उवधिवसहिमादीसु।
'आहाए आवा कम्मं, चउव्विधं होति असणादी ॥५८॥

कस्सति दाणरुइणो अभिगमसड्ढस्स वा णवो साली घरे पवेसितो ताहे दाणसड्ढो चिंतेति-पुव्वं जतीणं दाउं पच्छा अप्पणा परिभोगं कहेमि त्ति आहाकम्मं करेज्ज, जहा सालीए, एवं घृतगुडे गोरसे वा नवेसु वा तुम्ब्यादिवल्लिफलेषु जातेषु पुण्ण णिमित्तं दाणसड्ढा जया आहाकम्मं काउं साहुणो णिमंतेज्ज तस्स य आहाकम्म-स्स इमे दोसा-आहाकम्मं तिविधं-आहारे, उवधौ, वसहीए। आदिसद्दो णामादिभेदप्रदर्शनार्थः। उत्तरभेदप्रदर्शनार्थं वा आहाए कम्मं चउव्विधं असणादियं।

गाहा–

उवही आहाकम्मं, वत्थे पाए य होति नायव्वं।
वत्थे पंचविधं पुण, तिविहं पुण होति पातम्मि ॥५९॥

उवधीआहाकम्मं दुविधं-वत्थे, पादे य। तत्थ वत्थे पंचविहं-जंगियं भंगियं, सणियं, पत्तया तिरीडपट्टं च। पादे तिविहं-लाउयं, दारुयं, मट्टियापादं च। एतेसिं वक्खाणं पूर्ववत्। नि० चू० १० उ०।

साम्प्रतमशनादिरूपस्याधाकर्मणः सम्भवं प्रतिपिपादयिषुः कथानकं रूपकषट्केनाह–

कोद्दवरालगगामे, वसही रमणिज्ज मिक्खसज्जाए।
खेत्तपडिलेहसंजय, सावयपुच्छुज्जुए कहणा ॥१६२॥
जुज्जइ गणस्स खेत्तं, नवरि गुरूणं तु नऽत्थि पाउग्गं।
सालित्ति कए रुंपण, परिभायण नियगेहेसुं ॥१६३॥
वोलेंता ते व अन्ने वा, अडंता तत्थ गोयरं।
सुणंति एसणाजुत्ता, बालादिजणसंकहा ॥१६४॥
एए ते जेसिमो रद्धो, सालिकूरो घरे घरे।
दिन्नो वा सेसयं देमि, देहि वा बेंति वा इमं ॥१६५॥
थक्केथक्कावडियं, अभत्तए सालिभत्तयं जायं।
मज्जय पइस्स मरणं, दियरस्स य से मया भज्जा ॥१६६॥
चाउलोदगं पि से देहि, साली आयामकंजियं।
किमेयंति कयं नाउं, वज्जंतऽन्नं दयंति वा ॥१६७॥

इह संकुलो नाम ग्रामः, तत्र जिनदत्तनामा श्रावकः तस्य भार्या जिनमितिः, तत्र च ग्रामे कोद्रवा रालाकाश्च प्राचुर्येणो- त्पद्यन्ते इति तेषामेव कूरं गृहे गृहे भिक्षार्थमटन्तः साधवो लभन्ते, वसतिरपि स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता समभूतलादिगुणैर- तिरमणीया कल्पनीया च प्राप्यते, स्वाध्यायोऽपि तत्र वसता- मविघ्नमभिवर्द्धते, केवलं शाल्योदनो न प्राप्यत इति न केचनापि सूरयो भरेण तत्राऽवतिष्ठन्ते। अन्यदा च संकुलग्रामप्रत्यासन्ने भद्रिलाभिधाने ग्रामे केचित् सूरयः समाजग्मुः तैश्च संकुलग्रामे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय साधवः प्रेष्यन्ते, साधवोऽपि तत्राऽऽगत्य यथाऽऽगमं जिनदत्तस्य पार्श्वे वसतिमयाचिषत, जिनदत्तेनापि च साधदर्शनसमुच्छलितप्रमोदभरसमुद्भिन्नरोमाञ्चकञ्चुकित-गात्रेण तेभ्यो वसतिः कल्पनीया उपादेशि। साधवश्च तत्र स्थिताः, यथाऽऽगमं भिक्षाप्रवेशनेन बहिर्भूमौ स्थण्डिलनिरक्षिणेन च सकलमपि ग्रामं प्रत्युपेक्षितवन्तः, जिनदत्तोऽपि च श्रावको वसतावागत्य यथाविधि साधून् वन्दित्वा महत्तरं साधुमपृच्छत् भगवन्! रुचितमिदं युष्मभ्यं क्षेत्रम्? सूरयोऽत्र निजसमाग- मेनाऽस्माकं प्रसादमाधास्यन्ति। ततः स ज्येष्ठः साधुरवादीत् - वर्तमानयोगेन, ततो ज्ञातं जिनदत्तेन-यथा न रुचितमिदमेतेभ्यः क्षेत्रमिति, चिन्तयति च-अन्येऽपि साधवोऽत्र समागच्छन्ति परं न केचिदवतिष्ठन्ते, तन्न जानामि किमत्र कारणमिति, ततः कारणपरिज्ञानाय तेषां साधूनामन्यतमं कमपि साधुमृजुं ज्ञात्वा पप्रच्छ, स च यथाऽवस्थितमुक्तवान्, यथाऽत्र सर्वेऽपि गुणा विद्यन्ते गच्छस्यापि च योग्यमिदं क्षेत्रं केवलमत्राऽऽचार्यस्य प्रायोग्यः शाल्योदनो न लभ्यते, इति नाऽवस्थीयते। तत एवं कारणं परिज्ञाय तेन जिनदत्तश्रावकेण परस्माद् ग्रामात् शालिबीजमानीय निजग्रामक्षेत्रभूमिषु वापितं, ततः संपन्नो भूयान् शालिः अन्यदा च यथाविहारक्रमं ते वाऽन्ये वा साधवः समायासिषुः श्रावकश्च चिन्तयामासयथैतेभ्यो मया शाल्योदनो दातव्यो येन सूरीणामिदं योग्यं क्षेत्रमिति परिभाव्य साधवोऽमी सूरीनत्राऽऽनयन्ति, तत्र यदि निजगृह एव दास्यामि ततोऽन्येषु गृहेषु कोद्रवरालककूरं लभमानानामेतेषामाधाकर्मशङ्कोत्पत्स्यते तस्मात् सर्वेष्वपि स्वजनगृहेषु शालिं प्रेषयामीति, तथैव च कृतं स्वजनांश्चोक्तवान् यथा स्वयमप्यमुं शालिं पक्त्वा भुञ्जत, साधुभ्योऽपि च ददत, एष च वृत्तान्तः सर्वोऽपि बालादिभिर्जगम्मे, साधवश्च भिक्षामटन्तो यथाऽऽगममेषणासमितिसमिता बाला-दीनामुक्तानि शृण्वन्ति, तत्र कोऽपि बालको वक्ति एते ते साधवो येषामर्थाय गृहे गृहे शाल्योदनो निरपादि, अन्यो भाषते साधुसंबन्धी शाल्योदनो मह्यं जनन्या ददे, दात्री वा क्वचिदेवं भाषते-दत्तः परकीयः शाल्योदनः, संप्रत्यात्मीयं किमपि ददामि, गृहनायकोऽपि क्वापि ब्रूतेदत्तः शाल्योदनः परकीयः; संप्रत्यात्मीयं किमपि देहि, बालकोऽपि क्वापि कोऽप्यनभिज्ञो जननीं ब्रूते-मम साधुसम्बन्धिनं शाल्योदनं देहीति, अन्य-स्त्वीषद्दरिद्रः सहर्षं भाषते-अहो थक्के थक्कावडियमस्माकं संपन्नम्। इह यदवसरे अवसरानुरूपमापतति तत् थक्के थ-

क्कावडियमित्युच्यते, ततः स एवमाह-येन-अभक्ते-भक्ता- भावेऽस्माकं शालिभक्तमुदपादि, अत्रैवार्थे स लौकिकं दृष्टा- न्तमुदाहरति-सूरग्रामे यशोधराभिधाना काचिदाभीरी, तस्या योगराजो नाम भर्ता, वत्सराजो नाम देवरः तस्य भार्या योधनी, अन्यदा च मरणपर्यवसानो, जीवलोको मरणं चानियतहेतुकम्- अनियतकालमिति योधनी-योगराजौ समकालं मरणमुपगतौ, ततो यशोधरा देवरं वत्सराजमयाचत- तव भार्याऽहं भवामीति, देवरोऽपि च-ममापि भार्या न विद्यते इति विचिन्त्य प्रतिपन्नवान्, ततः सा चिन्तयामास-अहो ! अवसरे-अवसराऽऽपतितमस्मा- कमजायत, यस्मिन्नेवाऽवसरे मम पतिः पञ्जत्वमुपाऽगमत् तस्मिन्नेवावसरे मम देवरस्यापि भार्या मृत्युमगच्छत्, ततोऽहं देवरेण भार्यात्वेन प्रतिपन्ना अन्यथा न प्रतिपद्येत । तथा क्वाऽपि बालको जननीमाचष्टे-मातः ! शालितण्डुलोदकमपि साधुभ्यो देहि, अन्यस्त्वाह-शालिकाञ्जिकं, तत एवमादीनि बालादिजन जल्पितानि श्रुत्वा किमेतदिति पृच्छन्ति पृष्टे च सति ये ऋजवस्ते यथावत् कथितवन्तो यथा युष्माकमर्थायेदं कृतमिति, ये तु मायाविनः श्रावकेण वा तथा प्रज्ञापितास्ते न कथयन्ति, केवलं परस्परं निरीक्षन्ते, तत एवं नूनमिदमाधाकर्मेति परिज्ञाय तानि सर्वाण्यपि गृहाणि परिहृत्याऽन्येषु भिक्षार्थमटन्ति स्म, ये च तत्र न निर्वहन्ति स्म ते तत्राऽनिर्वहन्तः प्रत्यासन्ने ग्राम भिक्षा-र्थमगच्छन्, एव मन्यत्राप्याधाकर्म्म संभवति, तच्च बालादि-जल्पितविशेषैरवगत्य कथानकोक्तसाधुभिरिव नियमतो निष्कलङ्क-संयममिच्छुना परिहर्त्तव्यम्। सूत्रं तु सकलमपि सुगमं, नवरं 'रुंपण' त्ति-रोपणम् 'परिभायण' त्ति गृहे परिभाजनम् 'से' इति-एतेभ्यः 'अन्नं' ति अन्यं ग्रामम्। तदेवमुक्तोऽशनस्याधा-कर्मणः संभवः।

संप्रति पानस्याऽऽह–

लोणाऽगडोदए एवं, खाणित्तु मुहरोदगं।
ढक्कएणऽच्छते ताव, जाव साहु त्ति आगया ॥१६८॥

यथा-अशनस्याधाकर्म्मकथानकसूचनेन संभव उक्तस्तथा पानस्याऽप्याधाकर्मणो वेदितव्यः कथानकमपि तथैव, केव- लमयं विशेषः-क्वचिद् ग्रामे सर्वेऽपि ब्रूपाः क्षारोदका आसीरन् क्षारोदका नाम-आमलकोदका विज्ञेयाः, नन्वत्यन्त क्षारजलाः तथा सति ग्रामस्याप्यवस्थानानुपपत्तेः, ततस्तस्मिन् लवणा-वटे क्षेत्रे क्षेत्रप्रत्युपे-क्षणाय साधवः समागच्छन् परिभावयन्ति स्म च यथाऽऽगमं सकलमपि क्षेत्रं, ततस्तन्निवासिना श्रावकेण सादरमुपरुध्यमाना अपि साधवो नावतिष्ठन्ते, ततस्तन्मध्यवर्ती कोऽपि ऋजुकोऽनवस्थानकारणं पृष्टः, स च यथाऽवस्थितं तस्मै कथयामास, यथा विद्यन्ते सर्वेऽप्यत्र गुणाः, केवलं क्षारं जलमिति नाऽवतिष्ठन्ते, ततो गतेषु तेषु साधुषु स मधुरोदकं कूपं खानितवान्, तं खानयित्वा लोकप्रवृत्तिजनितपापभयात् फलकादिना स्थगितमुखं कृत्वा तावदास्ते यावत्ते वाऽन्ये वा साधवः समाययुः समागतेषु च साधुषु मा मम गृहे केवले आधाकर्मिक-शङ्काऽभूदिति प्रतिगृहं तन्मधुरमुदकं भाजितवान्, ततः पूर्वोक्तकथानकप्रकारेण साधवो बालादी नामुल्लापानाकर्ण्याऽऽ-धाकर्मेति च परिज्ञाय तं ग्रामं परिहृत-वन्तः। एवमन्यत्राप्याधाकर्म पानीयसंभवो द्रष्टव्यः, तेऽपि बालाद्युल्लापविशेषैः परिकलय्य कथानकोक्तसाधव इव परिहरेयुरिति। सूत्रं सुगमम्।

संप्रति खादिम-स्वादिमयोराधाकर्मणोः संभवमाह-

कक्कडिय अंबगा वा दाडिम दक्खा य बीयपूराई।
खाइमऽहिगरणकरणं- ति साइमं तिगडुगाईयं ॥१६९॥

कर्कटिका-चिर्भटिका आम्रकाणि-चूतफलानि दाडिमानि द्राक्षाश्च प्रतीताः बीजपूरकादिकम्, आदिशब्दात्- कपित्था-ऽऽदिपग्रिहः एतान्याश्रित्य खादिमविषये अधिकरणकरणं भवेत्,-पापकरणं भवेत्, एतानि साधूनां शालनकादिकार्येषु प्रयुज्यन्ते इति तेषां वपनादि कुर्यादिति भावः। तथा त्रिकटुकादिकंशुण्ठीपिप्पलीमरिचकादिकमाश्रित्य स्वादिमे अधिकरणकरणं भवेत् -साधूनामौषधाद्यर्थममूनि कल्पन्ते इति तेषां रोपणादि कुर्यादिति भावः।

संप्रति यदुक्तं प्राक् 'तस्स कडनिट्ठियंमी' त्यादि, तत्र कृत-निष्ठितशब्दयोरर्थमाह–

असणाईण चउण्ह वि, आमं जं साहुगहणपाउग्गं।
तं निट्ठियं वियाणसु, उवक्खडं तू कडं- होइ ॥१७०॥

अशनादीनां चतुर्णामपि मध्ये यत् आमम्-अपरिणतं सत् साधु-ग्रहणप्रायोग्यं कृतम् प्रासुकीकृतमित्यर्थः तं निष्ठितं विजानीत उपस्कृतं तु अत्रापि बुद्धावादिकर्म्मविवक्षायां क्तप्रत्ययः। ततोऽयमर्थः-उपस्कर्तुमारब्धमिति भावः, कृतं भवति ज्ञातव्यम्।

एतदेव विशेषतो भावयति–

कंडिय तिगुणुक्कंडा उ, निट्ठिया नेगदुगुणउक्कंडा।
निट्ठियकडो उ कूरो, आहाकम्मं दुगुणमाहु ॥१७१॥

इह ये तण्डुलाः प्रथमतः साध्यर्थमुप्तास्ततः क्रमेण कण्ट्यो जातास्तत् कण्डिताः कथंभूताः कण्डिताः? इत्याह-त्रिगुणोत्कण्डाः- त्रिगुणं त्रीन् वारान् यावत् -उत् - प्राबल्येन कण्डनं- छटन येषां ते त्रिगुणोत्कण्डाः; त्रीन् वारान् कण्डिता इत्यर्थः ते निष्ठिता उच्यन्ते, ये पुनर्वपनादारभ्य यावदेक-गुणोत्कण्डा द्विगुणोत्कण्डा वा कृता वर्त्तन्ते ते कृताः, अथवा-मा भूयन् साध्यर्थमुप्ताः केवलं ये कण्टयः सन्तः साध्यर्थं त्रिगुणोत्कण्ड-कण्डितास्ते निष्ठिता उच्यन्ते, ये त्वेकगुणोत्कण्डं द्विगुणोत्कण्डं वा कण्डितास्ते कृताः। अत्र वृद्धसंप्रदायः-इह यद्येकं वारं द्वौ वा वारौ साध्यर्थं कण्डितास्तृतीयं तु वारमात्मनिमित्तं कण्डिता राद्धाश्च ते साधूनां कल्पन्ते, यदि पुनरेकं द्वौ वा वारौ साध्यर्थं कण्डितास्तृतीयं वारं स्वनिमित्तमेव कण्डिता राद्धास्तु आत्मनिमित्तं ते केषांचिददेशेन एकेनान्यस्मै दत्तास्तेनाप्यन्यस्मायित्येवंयावत्सहस्रसंख्येयस्थाने गतास्ततः परं गताः कल्पन्ते नाऽर्वाक् अपरेषांत्वोदेशेन न कदाचिदपि यदि पुनरेकं द्वौ वा वारौ साधुनिमित्तम् आत्मनिमित्तं वा कण्डितास्तृतीयं तु वारमात्मनिमित्तं राद्धाः पुनः साध्वर्थं ते न कल्पन्ते, यदि पुनरेकं द्वौ वा वारौ

साधुनिमित्तम् आत्मनिमित्तं या कण्डितास्तृतीयं तु वारं साध्वर्थमेव तैरेव च तण्डुलैः साधुनिमित्तं निष्पादितः ब्रूरः स निष्ठितकृत उच्यते। निष्ठितैः-आधाकर्म्मतण्डुलैः कृतो-निष्पादितो; राद्ध इत्यर्थः, निष्ठितकृतः, स साधूनां सर्वथा न कल्पते, कुतः? इत्याह-'आहाकम्मं' इत्यादि, आधाकर्म प्रतीतं, द्विगुणमाहुस्तीर्थकरादयस्तं निष्ठितकृतं कुरं, तत्रैकमाधाकर्मनिष्ठिततण्डुलरूपं द्वितीयं तु पाकक्रियारूपं, तदेवमुक्तो निष्ठितकृतशब्दयोरर्थः, संप्रति चतुर्ष्वप्यशनादिषु कृतनिष्ठितता भाव्यते तत्र वपनादारभ्य यावद् वारद्वयं कण्डनं तावत् कृतत्वं, तृतीयवारं तु कण्डनं निष्ठितत्वम्, एत-च्चाऽनन्तरमेवोक्तं पाने कूपादिकं साधुनिमित्तं खनितं, ततो जलमाकृष्टं, ततो यावत्प्रासुकीक्रियमाणं नाद्यापि सर्वथा प्रासुकीभवति तावत् कृतं, प्रासुकीभूतं च निष्ठितं, खादिमे कर्कटिकादयः साधुनिमित्तमुप्ताः क्रमेण निष्पन्ना यावद्यात्रादिना खण्डिताः, तानि च खण्डानि यावन्नाद्यापि प्रासुकीभवन्ति तावत्कृतत्वमवसेयं, प्रासुकीभूतानि च तानि निष्ठितानि। एवं स्वादिमेऽपि विज्ञेयम्। सर्वत्रापि च द्वितीयचतुर्थभङ्गौ शुद्धौ, प्रथमतृतीयौ त्वशुद्धाविति।

सम्प्रति खादिम- स्वादिममाश्रित्य मतान्तरं प्रतिचिक्षि- प्सुराह-

छायं पि विवज्जंती, केइ फलहेउगाइवुत्तस्स।
तं तु न जुज्जइ जम्हा, फलं पि कप्पं बिइयभंगे ॥१७२॥

इह फलहेतुकादेः-फलहेतोः पुष्पहेतोरन्यस्माद्वा हेतोः साध्व-र्थमुप्तस्य वृक्षस्य केचिदगीतार्थाः छायामप्याधाकर्मिकवृक्ष- संबन्धिनीति कृत्वा विवर्ज्जयन्ति-परिहरन्ति, तत्तु छाया-विवर्ज्जनं न युज्यते, यस्मात्फलमपि यदर्थं स वृक्ष आरोतिस्तत आधाकर्मिकवृक्षसंबन्धि द्वितीये भङ्गे तस्य कृतमन्यार्थं निष्ठित-मित्येवंरूपे वर्त्तमानं सत्कल्पते, किमुक्तं भवति ? साध्वर्थ-मारोपितेऽपि कदल्यादौ वृक्षे यदा फलं निष्पद्यमानं साधुसत्ताया अपनीय आत्मसत्तासंबन्धि करोति त्रोटयति च तदा तदपि कल्पते, किं पुनः छाया ? सा हि सर्वथा न साधुसत्तासंबन्धिनी विवक्षिता, न हि साधुच्छायानिमित्तं स वृक्ष आरोपितस्तत् कथं न कल्पते ?

परपच्चइया छाया, न वि सा रुक्खो व्व वट्टिया कत्ता।
नट्ठच्छाए उ दुमे, कप्पइ एवं भणंतस्स ॥१७३॥

सा छाया परप्रत्ययिका-सूर्यहेतुका न वृक्षमात्रनिमित्ता, तस्मिन् सत्यपि सूर्याभावे अभावात्, तथाहि- छाया- नाम ''पार्श्वतः सव्वेत्राऽऽ-तपपरिवेष्टितप्रतिनियतदेशवर्ती श्यामपुद्गलात्मक आतपाभावः'' इत्थंभूता च छाया सूर्यस्यैवान्वयव्यतिरेका, चतुर्विधत्वेन द्रुमस्य, द्रुमस्तु केवलं तस्या निमित्तमात्रं, न वैतावता सा दुष्यति, छायापुद्गलानां द्रुमपुद्गलेभ्यो भिन्नत्वात्, न च वृक्ष इव-तरुरिव कर्त्रा वृक्षारोपकेण वर्द्धिं नीता तद्विष-यतथारूपसंकल्पस्यैवाभावात् ततो नाऽऽधाकर्मिकी छाया। किं च-यद्याधाकर्मिकीच्छायेति न तस्यामवस्थानं न कल्पते। तत एवं परस्य भणतो यदा घनपटलैराच्छादितं गगनमण्डलं भवति तदा तस्मिन् द्रुमे नष्टच्छाये सति तस्याधःशीतभयादिनाऽवस्थानं कल्पते इति प्राप्तं न चैतदयुक्तं तस्मात्स एव द्रुम आधाकर्मिक-स्तत्संस्पृष्टाश्चाधः कतिपयप्रदेशाः पूतिरिति प्रतिपत्तव्यम्, न तु छायाऽऽधाकर्मिकीति।

पुनरपि परेषां दूषणान्तरमाह-

वड्ढइ हायइ छाया, तत्थिक्कंय पूइयं पि व न कप्पे।
न य आहाय सुविहिए, नित्तयई रविच्छायं ॥१७४॥

इह छाया तथा तथा तथा सूर्यगतिवशात् वर्द्धते हीयते च ततो रवेरस्तमयसमये-प्रातःसमये चातिद्राघीयसी विवर्द्धमाना छाया सकलमपि ग्राममभिव्याप्य वर्तते, अतस्तत्संस्पृष्टं सकलमपि ग्रामसंबन्धि वसत्यादिकं पूतिकमिव- तृतीयोद्गमदोषदुष्टमश- नादिकमिव न कल्पते, न चैतदागमोपदिष्टं तन्नाऽऽधाकर्मिकी वृक्षस्य छाया, अपि च-प्रागेवैतदुक्तं सूर्यप्रत्यया सा छाया न वृक्षहेतुका, न च सूर्यः सुविहितानाधाय छायां निर्वर्तयति। ततः कथमाधाकर्मिकी ?

यदि पुनराधाकर्मिकी भवेत् तर्हि-

अघणघणचारिगगणे, छाया नट्ठा दिया पुणो होइ।
कप्पइ निरायवे ना-म आयवे तं विवज्जेउं ॥१७५॥

अघना-विरला घना-मेघाश्चरिणः- परिभ्रमणशीला यत्र इत्थंभूते गगने, विरलविरलेषुः नभसि मेघेषु परिभ्रमत्सु इत्यर्थः, छाया नष्टाऽपि सती दिवा पुनरपि भवति, ततो मेघैरन्तरिते सूर्ये- निरातपे-आतपाभावे तस्य वृक्षास्याधस्तनं प्रदेशं सेवितुं कल्पते, आतपे तु तं वर्ज्जयितुं, न चायं विषयविभागः सूत्रेऽपदिश्यते न च पूर्व्वपुरुषाचीर्णो नापि परेषां सम्मतःतस्मादसदेतत्परोक्त-मिति। इह पूर्व्वं वृक्षसंबन्धित्वेन छायामाधाकर्मिकीमाशङ्क्य 'नट्ठच्छाए उ दुमे कप्पइ' इत्याद्युक्तम्, इदानीं तु रविकृत-त्वेनाधाकर्म्मिकीमाशङ्क्य 'कप्पइ निरायवे नाम' इत्याद्युक्तम्, अतो न पुनरुक्तता।

संप्रति छायानिर्दोषतानिगमनमगीतार्थधार्मिकाणां परेषां किंचिदाश्वासनं च विवक्षुराह-

तम्हा न एस दोसो, संभवइ कम्मलक्खणविहूणो।
तं पि य हु अइघिणिल्ला, वज्जेमाणा अदोसिल्ला ॥१७६॥

यस्मात् फलमपि द्वितीयभङ्गे कल्पते तथा रविहेतुका छायेत्यादि चोक्तं तस्मादाधाकर्मिकी छायेति यो दोष उच्यते स एष दोषो न संभवति कुतः? इत्याह-कर्मलक्षणविहीन इति-अत्र हेतौ प्रथमा, कर्मेति च आधाकर्मेति द्रष्टव्यं, ततोऽयमर्थः- यत आधाकर्मलक्षण-विहीन एष दोषः न हि तरुरिव छायाऽपि कर्त्रा वृद्धिं नीता इत्यादि तस्मान्नैष दोषः संभवति, अथ वातामपि- आधाकर्मिकवृक्षच्छायां हुः-निश्चितम् अतिघृणावन्तः अतिशयेन दयालवो विवर्ज्जयन्तः परे-अदोषवन्तः। तदेवमुक्तमानुषङ्गिकं, तदुक्तौ च 'आहाकम्मियनाम' इत्याति मूलद्वारगाथायां 'किं वावी' ति व्याख्यातम्।

सम्प्रति ''परपक्खो य, सपक्खो'' द्वारद्वयं व्याख्यानयन् प्रसङ्गतो निष्ठित-प्रकृतयोः स्वरूपं ताभ्यामुत्पन्नं भङ्गचतुष्टयं चाऽऽह-

परपक्खो उ गिहत्था, समणो समणी उ होइ उ सपक्खो।
फासुकुंड रद्धं वा, निट्ठियमियरं कडं सव्वं ॥१७७॥
तस्स कडनिट्ठियंमी, अन्नस्स कडंमि निट्ठिये तस्स।
चउभंगो इत्थमदे, चरमदुगे होइ कप्पं तु ॥१७८॥

इह परपक्षः-गृहस्थाः, श्रावकादयः, तेषामर्थाय कृतं साधु-नाधाकर्म न भवति, स्वपक्षः-श्रमणाः, साधवः, 'समणी उ' त्ति-श्रमण्यो-व्रतिन्यः, तेषामर्थाय कृतं साधूनामाधाकर्म वेदितव्यम्, तथा प्राशु (सु) कं कृतं करव्यादिकं सचेतनं सत् साध्वर्थं निश्चेतनीकृतं यत्र स्वयमचेतनमपि तण्डुलादिकं कूरत्वेन निष्पादितं तन्निष्ठितमित्युच्यते इतरत् पुनरेकगुणद्विगुणकण्डित- तण्डुलादिकं सर्व्वं कृतमिति। अत्र च कृत-निष्ठितविषये तस्य साधोरर्थाय कृते निष्ठिते च तथा अन्यस्याऽप्यर्थाय कृते तस्य साधोरर्थाय निष्ठिते भक्तादौ चतुर्भङ्गिका भवति, तत्र प्रथम-तृतीयभङ्गौ साक्षाद्दर्शितौ द्वितीयचतुर्थौ तु हेतुगम्यौ, तौ चैवं- तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं तत्रो-पात्तयोर्द्वयोर्भङ्गयोः चरमौ-अनुक्तौ पाश्चात्यौ द्वौ भङ्गौ; द्वितीय-चतुर्थावित्यर्थः, प्रथमस्य हि द्वितीयः पाश्चात्यस्तृतीयस्य तु चतुर्थः, तत उपात्तप्रथमतृतीयभङ्गापेक्षया चरमौ द्वितीयचतुर्थौ लभ्येते, तस्मिन् चरमद्विके भवति कल्प्यमशनादि: एतेच यद्यपि प्रागेवोक्तं तथापि विस्मरणशीलानां स्मरणाय भूयोप्युक्तमिति न कश्चिद्दोषः। उक्तं परपक्षस्वपक्षरूपं द्वारद्वयम्।

संप्रति 'चउरो' इति व्याचिख्यासुराह--

चउरो अइक्कम्मवइ-क्कमा य अइयार त अणायारो।
निद्दरिसणं चउण्ह वि, आहाकम्मे निमंतणया ॥१७९॥

आधाकर्मणि विषये केनाप्यभिनवेन श्राद्धेन निमन्त्रणे कृते चत्वारो दोषाः संभवन्ति, तद्यथा-अतिक्रमः १, व्यतिक्रमः २, अतीचारः ३, अनाचारश्च ४। एते चत्वारोऽपि स्वयमेव सूत्रकृता व्याख्यास्यन्ते, एतेषां च चतुर्णामपि निदर्शनं- दृष्टान्तो भावनीयः, तमपि च वक्ष्यति।

तत्र प्रथमत आधाकर्मनिमन्त्रणं भावयति--

सालीघयगुलगोरस-नवेसु वल्लीफलेसु जाएसुं।
दाणे अहिणवसड्ढे, आहायकए निमंतेइ ॥१८०॥

शालिषु- शाल्योदनेषु तथा घृतगुडगोरसेषु साधूनाधाय षट्कायोपमर्दनेन निष्पादितेषु नवेषु च वल्लीफलेषु जातेषु। साधुनिमित्तमचित्तीकृतेषु दाने-दानविषये कोऽप्यभिनवश्राद्धः (द्धम्)-अव्युत्पन्नश्रावको निमन्त्रयते, यथा भगवन! प्रतिगृह्णीत यूयमस्मद्गृहे शाल्योदनादिकमिति।

ततश्च--

आहाकम्मग्गहणे, अइक्कमाईसु वट्टए चउसु।
नेउरहारिगहत्थी, चउतिगदुगएगचलणेणं ॥१८१॥

आधाकर्मग्रहणे अतिक्रमादिषु चतुर्षु दोषेषु वर्त्तते, स च यथा यथा उत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् दोषे वर्त्तते, तथा तथा तद्दोषजनितात् पापादात्मानं महता कष्टेन व्यावर्त्तयितुमीशः, अत्र दृष्टान्तमाह- 'नेउरे' त्यादि, इह नुपूरपण्डितायाः कथानकमतिप्रसिद्धत्वाद् बृहत्त्वाच्च न लिख्यते, किंतु-धर्मोपदेशमालाविवरणादेखगन्त- व्यम्, तत्र नूपुरं- मञ्जीरं तस्य हारो-हरणं श्वशुरकृतं तेन या प्रसिद्धा सा नू पुरहारिका, आगमे चान्यत्र नुपुरपण्डितेति प्रसिद्धा, तस्याः कथानकेयो हस्ती राजपत्नीं संचारयन् प्रसिद्धः स नूपुरहारिको हस्ती स यथा 'चउतिगदुगएगचलणेणं' ति-पश्चानुपूर्व्या योजना, एकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्च चरणैराकाशस्थै-र्महतामहत्तरेण कष्टेन आत्मानं व्यावर्त्तयितुमीशस्तथा आधा-कर्मग्राह्यपि, इयमत्र भावना- नूपुरहारिकाकथानके राज्ञा हस्ती स्वपत्नीमिण्ठाभ्यां सह छिन्नटङ्के समारोपितः, ततोऽपि मिण्ठेन छिनटङ्कपर्वताग्रभागे व्यवस्थाप्याऽठोतनमेकं कंचिच्च- रणमाकाशे कारितः, स च तथाकारितः सन् स्तोकेनैव क्लेशन तं चरणं व्यावर्त्य तत्रैव पर्वते आत्मानं स्थापयितुं शक्नोति, एवं साधुरपि कश्चिदतिक्रमाख्यं दोषं प्राप्तः सन् स्तोकेनव शुभाध्यवसायेन तं दोषं विशोध्याऽत्मानं संयमे स्थापयितुमीशः, यथा च हस्ती चरणद्वयमठोतनमाकाशस्थं क्लेशेन व्यावर्त्तयितुं शक्नोति, एवं च साधुरपि व्यतिक्रमाख्यं दोषं विशिष्टेन शुभेनाध्यवसायेन विशोधयितुमीष्टे, यथा च स हस्ती चरणत्रयमाकाशस्थमेकेन केनापि पाश्चात्येन चरणेन स्थितो गुरुतरेण कष्टेन व्यावर्त्तयितुं क्षमः तथा साधुरप्यतीचारदोषं विशिष्टतरेण शुभेनाध्यवसायेन विशोधयितुं प्रभुः, यथा च स हस्ती चरणचतुष्टयमाकाशस्थितं सर्व्वथा न व्यावर्त्तयितुमीशः, किंतु- नियमतो भूमौ निपत्य विनाशमाविशति, एवं साधुरप्यनाचारे वर्त्तमानो नियमतः संयमात्मानं विनाशयति। इह दृष्टान्ते चरणचतुष्टयं हस्तिना नोत्पाटितं, किंतु- दार्ष्टान्तिकयोजनानुरोधात्संभावनामङ्गीकृत्य प्रतिपादितम्। पिं०।

संप्रति 'गहणे य आणाई' इति व्याख्यानयन्नाह--

आणाइणो य दोसा, गहणे जं भणिय मह इमे ते उ।
आणामंगऽणवत्था, मिच्छत्तविराहणा चेव ॥१८३॥

यदुक्तम् 'आहाकम्मियनामे' त्यादि मूलद्वारगाथायामाधा- कर्मग्रहणे आज्ञादयः-आज्ञाभङ्गादयो दोषास्ते इमे, तद्यथा- आज्ञाभङ्गः १, अनवस्था २, मिथ्यात्वम् ३, विराधना च ४।

तत्र प्रथमत आज्ञाभङ्गदोषं भावयति--

आणं सव्वजिणाणं, गिण्हंतो तं अइक्कमइ लुद्धो।
आणं अइक्कमंतो, कस्साएसा कुणइ सेसं ॥१८४॥

तद्-आधाकर्म्मिकमशनादिकं लुब्धः सन् गृह्णानः सर्वेषा-मपि जिनानामाज्ञामतिक्रामति, जिना हि सर्वेऽप्येतदेव ब्रुवन्ति स्म-यदुत मा गृह्णत मुमुक्षवो! भिक्षव आधाकर्म्मिकां भिक्षामिति ततस्तददादानो जिनाज्ञामतिक्रामति, तां चातिक्रमन् कस्य नाम! आदेशाद्-आज्ञायाः शेषंकेशस्मश्रुलुञ्चन-भूशय-नमलिनवासोधा-रणप्रत्युपेक्षणाद्यनुष्ठानं करोति? न कस्यपीति भावः सर्व्वस्यापि सर्वज्ञाऽऽज्ञाभङ्गकारिणोऽनुष्ठानस्य (नैष्फल्यात्) निष्फलत्वात्।

अनवस्थादोषं भावयति–

एक्केण कयमकज्जं, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो ।
सायाबहुलपरंपर-वोच्छेओ संयमतवाणं ॥१८५॥

इह प्रायः सर्वेऽपि प्राणिनः कर्मगुरुतया हृष्टमात्रसुखाभि- लाषिणो न दीर्घसुखदर्शिनस्तत एकेनापि साधुना यदाधा- कर्मपरिभोगादिलक्षण- मकार्यमासेव्यते तदा तत्प्रत्ययात् तेनापि साधुना तत्त्वं विदुषापि सेवितमाधाकर्म ततो वयमपि किं न सेविष्यामहे इत्येवं तमालम्बनीकृत्यान्योऽप्यासेवते, तमप्या- लम्ब्याऽन्यः सेवते इत्येवं सातबहुलानां प्राणिनां परंपरया सर्व्वथा व्यवच्छेदः प्राप्नोति संयमतपसाम्, तद्व्यवच्छेदे च तीर्थव्यवच्छेदः, यश्च भगवत्तीर्थविलोपकारी स महाऽऽशातना- भागित्यनवस्था- दोषभयान्न कदाचनाऽप्याधाकर्म सेवनीयम्।

मिथ्यात्वदोषं भावयति–

जो जहवायं न कुणइ, मिच्छदिट्ठी तओ हु को अन्नो ।
वड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो ॥१८६॥

इह यद्देशकालसंहननानुरूपं यथाशक्ति यथावदनुष्ठानं तत् सम्यक्त्वम्, यत उक्तमाचारसूत्रे- ''जं मोणंति पासहा, तं सम्मंति पासहा, जं सम्मंति पासहा, तं मोणंति पासहा'' इति । ततो यो देशकालसंहननानुरूपं शक्त्यनिगूहनेन यथाऽऽ- गमेऽभिहितं तथा न करोति ततः सकाशात् कोऽन्यो मिथ्याहृष्टिः? नैव कश्चित्, किंतु -स एवं मिथ्यादृष्टीनां धुरि युज्यते, महामिथ्यादृष्टित्वात्, कथं तस्य मिथ्यादृष्टिता? इत्यत आह- 'वड्ढेइ य' इत्यादि चशब्दो हेतौ यस्मात्स यथावादमकुर्व्वन् परस्य शङ्का जनयति, यथा (तथाहि) यदि यत्प्रवचने अभिधीयते तत्त्वं तर्हि किमयं तत्त्वं जानानोऽपि तथा न करोति ? तस्माद् वितथमेतत् प्रवचनोक्तमिति, एवं च परस्य शङ्कां जनयन् मिथ्यात्वं सन्तानेन वर्द्धयति । तथा च प्रवचनस्य व्यवच्छेदः शेषास्तु मिथ्यादृष्टयो नैवं प्रवचनस्य मालिन्यमापाद्य परंपरया व्यवच्छेदमाधातुमीशाः, ततः शेषमिथ्यादृष्ट्यपेक्षयाऽसौ यथावा- दमकुर्व्वन् महा-मिथ्यादृष्टिरिति।

अन्यच्च–

वड्ढेइ तप्पसंगं, गेही अ परस्स अप्पणो चेव ।
सजियं पि भिन्नदाढो, न मुयइ निद्धंधसो पच्छा ॥१८७॥

साधुराधाकर्म गृह्णानः परस्य 'एक्केण कयमकज्जं'' इत्या-दिरूपया पूर्वोक्तनीत्या 'तत्प्रसङ्गम्'- आधाकर्मग्रहणप्रङ्गं वर्द्धयति आत्मनोऽपि तथाहि-सकृदपि चेदाधाकर्म गृह्णाति तर्हि तद्गतमनोज्ञरसास्वा-दलाम्पट्यतो भूयोऽपि तद्ग्रहणे प्रवर्तते, तत एवमेकदाप्याधाकर्म गृह्णन्, परस्य आत्मनश्च तत्प्रसङ्गं वर्द्धयति, तत्प्रसङ्गवृद्धौ च कालेन गच्छता परस्य आत्मनश्च गृद्धिः- अत्यन्तमाशक्तिरूपजायते, ततो विशिष्ट-विशिष्टतरमनोज्ञर- सास्वादनेन भिन्नदंष्ट्राको 'निद्धंधसः अपगतसर्वथादयावासनाको भूत्वा पश्चात् स्वयं परो वा सजीवमपि- सचेतनमपि चूतफलादिकं न मुञ्चति तदमोचने च दूरं दूरतरमपसर्पन् अपगतसर्वथा- जिनवचनपरिणामो मिथ्यात्वमपि गच्छतीति।

संप्रति विराधनादोषं भावयति–

खद्धे निद्धे य सया, सुत्ते हाणी तिगिच्छणे काया ।
पडियरगाण वि हाणी, कुणइ किलेसं किलिस्संतो ॥१८८॥

आधाकर्म प्रायः प्राघूर्णकस्यैव गौरवेण क्रियते, ततस्तत्स्वादु स्निग्धं भवति, तस्मिंश्च खद्धे-प्रचुरे स्निधे बहुस्नेहे भक्षिते रुजा-रोगो ज्वरविसूचिकादिरूपः प्रादुर्भवति, इयमात्मा- विराधना, ततो रुजा पीडितस्य 'सूत्रे'- सूत्रग्रहणमुपलक्षणम् अर्थस्य च हानिः तथा यदि चिकित्सां न कारयति तर्हि चिर-कालसंयमपरिपालनभ्रंशः अथ कारयति तर्हि चिकित्सायां क्रियमाणायां कायाः- तजेस्कायादयो विनाशमाविशन्ति, तथा च सति संयमविराधना, तथा प्रतिचारकाणामपि-परि-पालकानामपि साधूनां तद्वैयावृत्त्य-व्यापृततया सूत्रार्थहानिः षट्कायोपमर्द- कारणानुमोदनाभ्यां च संयमस्यापि हानिः तथा प्रतिचारकास्तदुत्तं यावन्न प्रपारयन्ति तावत्सः क्लिश्यमानः पीडां सोढुमशक्नुवन् तेभ्यः कुप्यति, कुप्यंश्च तेषामपि मनसि क्लेशमुत्पादयति, अथ वा-क्लिश्यमानो दीर्घकालं क्लेशमनुभवन् प्रतिचारकारणामपि जागरणतः क्लेशम्-रोगमुत्पादयति तत-स्तेषामपि चिकित्साविधौ षट्कायविराधना । तदेवं व्याख्याता सकलापि 'आहाकम्मियनाम' इत्यादिका मूलगाथा ।

(१०) संप्रत्याधाकर्मण एवाऽकल्प्यविधिं बिभणिषुः सम्बन्ध-माह–

जह कम्मं तु अकप्पं, तच्छिक्कं वाऽवि भायणठियं वा ।
परिहरणं तस्सेव य, गहियमदोसं च तह भणइ ॥१८९॥

यथा कर्म्म-आधाकर्म्म अकल्प्यम्-अभोज्यं, यथा च तेनाऽऽधाकर्म्मणा स्पृष्टमकल्प्यं यथा च भाजनस्थितं- यस्मिन् भाजने तदाधाकर्म्म प्रक्षिप्तंतस्मिन्नाधाकर्म्मपरित्यागानन्तरमकृतकल्प-त्रप्रक्षालने यत् क्षिप्तं शुद्धमशनादि तदपि यथा न कल्प्यं यथा च तस्याऽऽधाकर्मणः परिहारो विध्यविधिरूपो यथा च गृहीतं सद्गतमदोषं भवति तथा गुरुर्भणति । अनेन यथैवागमे पिण्डविशुद्धिरभाणि तथैवाऽहमपि भणामीत्यावेदितं द्रष्टव्यम्, अनया च गाथया पञ्च द्वाराणि प्रतिपाद्यान्युक्तानि ।

संप्रति तान्येव शेषं प्रतिपाद्यत्वेनाह–

अब्भुज्जे गमणाइ य, पुच्छा दव्वकुलदेसभावे य ।
एवं जयंते छलणा, दिट्ठंता तत्थिमे दोन्नि ॥१९०॥

यथा साधूनामाधाकर्म्म तत्स्पृष्टं कल्पत्रयाप्रक्षालितभाज- नस्थं वा अभोज्यं तथा भणनीयं, तथा अविधिपरिहारे गमनादिकाः कायक्लेशा-दिलक्षणा दोषा वक्तव्याः तथा विधिपरिहारे कर्तव्ये यथा द्रव्यकुलदेशभावे पृच्छा कर्तव्या चशब्दाद्-यथा च न कर्तव्या तथा वक्तव्यम्,एवं यतमाने प्रायश्छलनाया असम्भवो, यदि पुनरेवमपि यतमाने छलना- अशुद्धभक्तादिग्रहणरूपा भवेत् तत- स्तत्र दृष्टान्तावेमौ वक्ष्यमाणौ वक्तव्यौ। इह 'अब्भुज्जे' इत्यनेन पूर्वगाथाया द्वारत्रयं परामृष्टम्, 'गमणाइ य पुच्छा दव्व

कुलदेसभावे य' इत्यवेन पुनः परिहरणस्य विशेषो वक्तव्य,उक्तः उत्तरार्द्धेन तु 'गहियमदोसं' चेत्यस्य विशेषः।

सम्प्रति प्रथमं द्वारमाधाकर्मणोऽकल्प्यतालक्षणं व्याचिख्या-सुराह-

जह वंतं तु अभोज्जं, भत्तं जइ वि य सुसक्कयं आसि।
एवमसंजमवमणे, अणेसणिज्जं अभोज्जं तु ॥१९१॥

इह यद्यपि वमनकालादर्वाक् भक्तम्-ओदनादिकं सुसंस्कृतं-शोभनद्रव्यसंपर्ककृतोपस्कारमासीत् तथापि यथा तद्वान्तम-भोज्यम्, एवमसंयमवमने कृते साधोरप्यनेषणीयम- भोज्यमेव, तुरेवकारार्थः, इयमत्र भावनासंयमप्रतिपत्तौ हि पूर्वमसंयमो वान्तः- असंयमरूपं चाधाकर्म, षट्कायोपमर्द्देनेन तस्य निष्पन्न-त्वात् न च वान्तमभ्यवहर्तुमुचितं विवेकिनाम्, अतः साधोरनेष-णीयमभोज्यमिति।

पुनरप्याधाकर्म्मण एवाऽभोज्यतां दृष्टान्तान्तरेण समर्थयमानो गाथाद्वयमाह-

मज्जारखइयमंसा, मंसासित्थि कुणिमं सुरायवंतं।
वन्नाई अन्नउप्पा- इयं पि किं तं भवे भोज्ज? ॥१९२॥
केई भणंति पहिए, उट्ठाणे मंसपेसि वोसिरणं।
संभारिय परिवेसण, वारेइ सुओ करे घेत्तुं ॥१९३॥

वक्रपुरं नाम पुरं, तत्र वसत्युठातेजाः पदातिः तस्य भार्या रुक्मिणी, अन्यदा च उठातेजसो ज्येष्ठभ्राता सोदासाभिधनः प्रत्यासन्नपुरात्प्राघूर्णकः समाययौ, उठातेजस्सा च भोजनाय क्वाऽपि मांसं क्रीत्वा रुक्मिण्यै समर्प्पयामासे, तस्याश्च रुक्मिण्या गृहव्यापारव्यापृतायाः तन्मांसं मार्ज्जारोऽबभक्षत्। इतश्च सोदासोठातेजसोर्भोजनार्थमागमवेल। ततः सा व्याकुलीबभूव। अत्रान्तरे च क्वापि कस्याऽपि मृतस्य कार्प्पटिकस्य शुना मांसं भक्षयित्वा तद्ग्रहप्राङ्गणप्रदेशे तस्याः साक्षात्पश्यन्त्याः पुरतः कथमपि वातसंक्षोभादिवशादुद्भमितम्। ततः साऽचिन्तयत्-यदि नाम कुतोऽपि विपणेरन्यन् मांसं क्रीत्वा समानयिष्यामि तर्हि महदुत्सूरं लगिष्यति, प्राप्ता च समीपं पतिज्येष्ठयोर्भोजनवेला, तस्मादेतदेव मांसं जलेन सम्यक् प्रक्षाल्य वेसवारेणोपस्करोमि, तथैव च कृतम्। समागतौ सोदासोठातेजसौ उपविष्टौ च भोजनार्थं, परिवेषितं तयोस्तन्मांसम्, ततो गन्धविशेषेणोठातेजसा विज्ञे यथा वान्तमेतदिति, ततस्तेन साक्षेपं भुवमुत्पाट्य रुक्मिणी पप्रच्छे सा च साटोपभ्रूत्क्षेपदर्शनतो विभ्यती पवनधुतवृक्षशाखेव कम्पमा- नवपुर्यथाऽवस्थितं कथितवती, ततः परित्यज्य तन्मांसं साक्षेपं निर्भर्त्स्य भूयोऽन्यन्मांसं पाचिता तद्भुक्तम्। प्रथम- गाथाक्षरयोजना त्वेवम्-मार्ज्जरिण खादितं-भक्षितं मांसं यस्याः सा मार्ज्जारिखादितमांसा मांसाशिन उठातेजसः स्त्रीमहेला अन्यन्मांसमप्राप्नुवती श्ववान्तं कुणपंमांसं गृहीतवती, तच्च वेसवारोपस्कारेण वर्णादिभिरन्यदिवोत्पादितमपि किं भवति भोज्यं?; नैव भवतीति भावः, एवमाधाकर्माऽपि संयमिनामभोज्यम्॥

केचित्पुनरत्रैव कथानकेएवमाहुः-तस्या रुक्मिण्या गृहे कोऽप्यतीसारेण पीडितो "दुषप्रभनामा" कार्प्पटिकः किंचित् विविक्तं स्थानं याचित्वा स्थितवान्, स चातीसारेण मांसखण्डानि व्युत्सृजति, ततः सौदासे प्राघूर्णकेसमागते सति भर्त्रा च समानीते मांसे माज्जरिण च तस्मिन् भक्षिते रुक्मिणी प्रत्यासन्ना समागता भोजनवेलेति भयभीता अन्यन्मांसमप्राप्नुवती तान्येवातीसार-व्युतत्सृष्टानि मांस-खण्डानि गृहीत्वा जलेन प्रक्षाल्य वेसवारेण चोपस्कृत्य भोजनायोपविष्टयोः पति-ज्येष्ठयोः पतिवेषितवती, अथ च सा तानि मांसखण्डानि गह्वन्ती मृतसपत्नीपुत्रेणोठातेजसो जातेन गुणमित्रेण दहशे, न च तदानीं तेन किमपि भयाद्वक्तुं शक्तं, ततो भोजनकाले तौ द्वावपि पितृ-पितृव्यौ तेन करे गृहीत्वा निवारितौ, यथा कार्प्पटिकातीसारसक्तान्यमूनि मांसखण्डानि तन्मा यूयं विभक्षत, तत उठातेजसा सा दूरं निर्भर्त्सयामासे, तत्यजे च तन्मांसम्, द्वितीयगाथाक्षरयोजना त्वेवं केचिद्व्रणन्ति- पथिके- पथिकस्य 'उट्ठाणे' अतीसारोत्थाने मांसपेशीव्युत्सर्ज्जनं ततस्तन्मांसपेशीरादाय तासां संभृत्य-वेसवारेणोपस्कृत्य परिवेषणे कृते सुतः करेण गृहीत्वा तौ पितृ-पितृव्यौ भोजनाय वारयति स्म, ततो यथापुरीषमांसमभोज्यं विवेकिनामे-वमाधाकर्माऽपि साधूनामिति।

किं च-

अविलाकरहीखीरं, ल्हसण पलंडू सुरा य गोमंसं।
वेयसमए वि अमयं, किंचि अभोज्जं अपेज्जं च ॥१९४॥

अविला-ऊरणी करभी-उष्ट्री तयोः क्षीरं, तथा लशुनम्पलाण्डु सुरा गोमांसं च वेदे यथायोगं शेषेषु च समयेषुनिर्द्धर्मप्रणीतेषु अमतम्-असम्मतं भोजने पाने च, तथा जिनशासनेऽपि किंचिदाधाकर्मिकादिरूप-मभोज्यमपेयं च वेदितव्यम्। इयमत्र भावना-पूर्वमिह संयमप्रतिपत्ता-वंसयम- वमनेनाधाकर्मापि साधुभिर्वान्त, पुरीषमिवोत्सृष्टं वा, नच वान्त पुरीषं वा भोक्तुमुचितं विवेकिनामिति युक्तिवशादभोज्य-मुक्तमाधाकर्म्म। अथवा-मा भूत् युक्तिः, केवलं वचन- प्रामाण्याद-भोज्यमवसेयं, तथा च मिथ्यादृष्ट योऽपि वेदेषु यथायोगमन्येष्वपि समयेषु गोमांसादिकं करभीक्षीरादिकं चाभोज्यमपेयं चाभिधीयमानं वचनप्रमाण्या- भ्युपगमतस्तथेति प्रतिपद्यन्ते। तद्यदि मिथ्यादृष्टयोऽपि स्व-समयवचनप्रामाण्याभ्युपगमतस्तथेति प्रतिपन्नास्ततः साधु-भिर्भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययदार्ढ्यमवलम्बमानैर्विशेषतो भगवत्प्रणीते वचस्यभिधी- यमानमाधाकर्मादिकमभोज्यमपेयं च तथेति प्रतिपत्तव्यम्।

संप्रति तत्स्पृष्टस्याऽकल्प्यतामाह-

वन्नाइजुयावि बली, सपललफलसेहरा असुइनत्था।
असुइस्स विप्पुसेण वि, जह छिक्काओ अभोज्जाओ ॥१९५॥

यथा वर्णादियुतोऽपि बलिः उपहारः सपललफल-शेखरः इह पललं-तिलक्षोद उच्यते फलं-नालिकेरादि तत्सहितः- शेखरः- शिखा यस्य स तथा, आस्तामनेवंविध इत्यपि-शब्दार्थः एतेनास्य प्राधान्यमुक्तं, स एवंविधोऽपि यदा अशुचौ न्यस्तः- पुरीषस्योपरि स्थापितः सन् अशुचेः वि-प्रुषापि लवेनापि, आस्तां स्तबकादिनेत्यपिशब्दार्थः, स्पृष्टो

भवति तदा अभोज्यो भवति, एवं निर्दोषतया भोज्योऽप्याहार आधाकर्मावयवसंस्पृष्टतया साधूनामभोज्यो वेदितव्यः।

भोजनस्थितस्याऽकल्प्यतां भावयति–

एमेव उज्झियंमि वि, आहाकम्मंमि अकयए कप्पे।
होइ अभोज्जं भाणे, जत्थ व सुद्धेऽवि तं पडियं ॥१९६॥

यथा आधाकर्मावयवेन संस्पृष्टमभोज्यम् एवं, यस्मिन् भाजने तदाधाकर्म गृहीतं तस्मिन्नाधाकर्म्मण्युज्झितेऽपि अकृते- कल्पे- वक्ष्यमाणप्रकारेण कल्पत्रयेणाप्रक्षालिते, यद्वायत्र भाजने पूर्वं शुद्धेऽपि भक्ते गृहीते आधाकर्म स्तोकमात्रं पतितं तस्मिन् भाजने पूर्वगृहीते शुद्धे आधाकर्मणि च सर्वात्मना त्यक्ते पश्चादकृतकल्पे- वक्ष्यमाणप्रकारेणाकृतकल्पत्रये यद् भूयः शुद्धमपि प्रक्षिप्यते तदभोज्यमवसेयं, न खलु लोकेऽपि यस्मिन् भाजने पुरीषं न्यपतत् तस्मिन्नशुचिपरित्यागानन्तरमप्रक्षालिते, यद्वा-यस्मिन् भाजने भक्तादिना पूर्णेऽपि तदुपरि पुरीषं निपतितं भवेत् तस्मिन् पूर्वपरि गृहीतभक्तादिपुरीषपरित्यागानन्तरमप्रक्षालिते भूयः प्रक्षिप्त-मशनादिकं भोज्यं भवति, पुरीषस्थानीयं च संयमिनामाधाकर्म, ततस्तस्मिन् सर्वात्मना परित्येक्तेऽपि पश्चाददते कल्पत्रये भाजने यत्प्रक्षिप्यते तदभोज्यमवसेयम्।

संप्रति परिहरणं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह–

वंतुच्चारसरिच्छं, कम्मं सोउमवि कोविओ भीओ।
परिहरइ सावि य दुहा, विहिअविहीए य परिहरणा ॥१९७॥

वान्तसदृशम्-उच्चारसदृशं च आधाकर्म यतीन् प्रति प्रति-पाद्यमानं श्रुत्वा अपिः संभावने, संभाव्यते एतन्नियमतः कोविदः- संसारविमुखप्रज्ञतया पण्डितोऽत एव भीतः- आधाकर्म- भोगतः संसारो भवतीत्याधाकर्मणस्त्रतस्तदाधाकर्म्म परिहरति- न गृह्णाति, परिहरणं च द्विधाविधिना, अविधिना च। सूत्र च परि-हरणशब्दस्य स्त्रीत्वेन निर्देशः प्राकृत्वात्, ''प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचारि''।

तत्राऽविधिपरिहरणं विभणिषुः कथानकं गाथात्रयेणाह–

सालीओयणहत्थं, दट्ठुं भणई अकोविओ दिंतिं।
कत्तो चउत्ति साली, वणि जाणइ पुच्छ तं गंतुं ॥१९८॥
गंतूण आवणं सो, वाणियगं पुच्छए कओ साली?।
पच्चंते मगहाए, गोब्बरगामो तहिं वयइ ॥१९९॥
कम्मांसकाएँ पहं, मोत्तुं कंटाहि सावया अदिसिं।
छायं पि वज्जयंतो, डज्झइ उण्हेण मुच्छाई ॥२००॥

शालिग्रामे ग्रामे ग्रामणीनामा वणिक् तस्य भार्याऽपि ग्रामणीः, अन्यदा च वणिजि विपणिं गते भिक्षार्थमटन् अकोविदः कोऽपि साधुस्तद्गृहं प्रविवेश, आनीतश्च तद्भार्यया ग्रामण्या शाल्योदनः साधुना चाऽऽधाकर्मदोषाऽऽशङ्कापनोदाय सा पप्रच्छे, यथा श्राविके! कुतस्त्य एष शालिः? इति, सा प्रत्युवाच- नाहं जाने; वणिग्जानाति, ततो वणिजं विपणौ गत्वा पृच्छ इति, तत एवमुक्तः सन् स साधुस्तं शाल्योदनमपहाय वणिजं विपणौ गत्वा पृष्टवान्, वणिजाऽप्युक्तं मगधजनपदप्रत्यन्तवर्तिनो गौर्बर- ग्रामादागतः शालिरेष इति, ततः स तत्र गन्तुं प्रावर्तत, तत्रापि साधुनिमित्तं केनापि श्रावकेणाऽयं पन्थाः कृतो भविष्यतीति आधाकर्मशङ्कया पन्थानं विमुच्योत्पथेन व्रजति, उत्पथेन व्रजन्नहिकण्टकश्वापदादिभिरभिद्रूयते, नापि काञ्चन दिशं जानाति, तथा आधाकर्मशङ्कया वृक्षच्छायामपि परिहरन् मूर्ध्नि सूर्यकरनिकर-प्रपातेन तप्यमानो मूर्च्छामगतम् क्लेशं च महान्तं प्रापेति।

इय अविहीपरिहरणा, नाणाइणं न होइ आभागी।
दव्वकुलदेसभावे, विहिपरिहरणा इमा तत्थ ॥२०१॥

इति-एवम् उक्तेन प्रकारेण अविधिना परिहरणात् ज्ञानादीना-माभागी न भवति, तस्माद्विधिना परिहरणा कर्त्तव्या, तच्च- विधिपरिहरणम् इदं- वक्ष्यमाणं द्रव्यकुलदेशभावनाश्रित्य तत्र- आधाकर्मणि विषय द्रष्टव्यम्।

तत्र प्रथमतो द्रव्यादीन्येव गाथाद्वयेनाऽऽ–

ओयणसम्मिहसत्तुग-कुम्मासाई उ होंति दव्वाइं।
बहुजणमप्पजणं वा, कुलं तु देसो सुरट्ठाऽऽई ॥२०२॥
आयरऽणायरभावे, सयं व अन्नेण वाऽवि दावणया।
एएसिं तु पयाणं, चउपयतिपया व भयणा उ ॥२०३॥

ओदनः- शाल्यादिकूरः समितिमाः माण्डादिकाः सक्तवः कुल्माषाश्च प्रतीताः आदिशब्दात्- मुद्गादिपरिग्रहः अमूनि भवन्ति द्रव्याणि, कुलम्- अल्पजनं बहुजनं वा देशः-सौराष्ट्रादिकः भावे आदरोऽनादरो वा एतावेव स्वरूपतो व्याख्यानयति-स्वयं वा अन्येन वा कर्मकरादिना यत् दापनं तौ यथासंख्यमादरानादरौ, एतेषां पदानां भजना-विकल्पना चतुष्पदा त्रिपदा वा स्यात्, किमुक्तं भवति?- कदाचिच्चत्वार्यपि पदानि संभवन्ति कदा-चित्त्रीणि तत्र यदा चत्वार्यपि द्रव्यादीनि प्राप्यन्ते तदा चतुष्पदा, यदा तु आदरो नाप्यनादरः केवलं मध्यस्थवृत्तिता तदा भावस्याऽभावात् त्रिपदेति।

संप्रति यादृशेषु द्रव्यादिषु सत्सु पृच्छा कर्त्तव्या यादृशेषु न कर्त्तव्या तान्याह-

अणुचिय देसं दव्वं, कुलमप्पं आयरो य तो पुच्छा।
बहुएऽवि नऽत्थि पुच्छा, सदेसदविए अभावेऽवि ॥२०४॥

यदा अनुचितदेशम्- विवक्षितदेशासंभवि द्रव्यं लभ्यते तदपि च प्रभूतं एतच्च 'आयरो य' इत्यत्र चशब्दाल्लभ्यते, एतेन द्रव्यदेशावुक्तौ, कुलमपि च अल्पमल्पजनं अनेन कुलमुक्तम् आदरश्च प्रभूतः एतेन भाव उक्तः ततो भवति पृच्छा, आधाकर्म्मसंभवात्, बहुकेऽपि च स्वदेशद्रव्ये प्रभूतेऽपि च तद्देश-संभविनि लभ्यमाने द्रव्ये यथा मालवकेमण्डकादौ नास्ति पृच्छा, यत्र हि यद् द्रव्यमुत्पद्यते तत्र तत्प्रायः प्राचुर्येण जनैर्भुज्यत इति नास्ति तत्र बहुकेऽपि लभ्यमाने पृच्छा, आधाकर्माऽसंभवात्, परं तत्रापि कुलं महदपेक्षणीयम्, अन्यथाऽल्पजने भवेदाधाकर्मेति शङ्का न निवर्त्तते। तथा-अभावेऽपि-अनादरेऽपि नास्ति पृच्छा, यो ह्याधाकर्म कृत्या दद्यात्स प्राय आदरमपि कुर्यात्, तत आदराऽकरणेन ज्ञायते यथा नास्ति तत्राऽऽधा-

कर्मेति न पृच्छा । तदेवं यदा पृच्छा कर्त्तव्या यदा च न कर्त्तव्या तत्प्रतिपादितम् ।

संप्रति पृच्छायां कृतायां यदा तद् ग्राह्यं भवति यदा च न तदेतत्प्रतिपादयति–

तुज्झऽट्ठाए कयमिण-मन्नोऽन्नमवेक्खए य सविलक्खं ।
वज्जंति गाढरुट्ठा, का भे तत्ति त्ति वा गिण्हे ॥२०५॥

इह या दात्री ऋज्वी भवति सा पृष्टा सती यथावत् कथयति, यथा भगवन ! तवाऽर्थाय कृतमिदमशनादिकमिति, यत्तु भवति मायाविकुटुम्बं तन्मुखेनैवमाचष्टे- गृहार्थमेतत् कृतं; न तवा-ऽर्थायेति, परं ज्ञाता वयमिति सविलक्षणं सर्वाण्यपि मानुषाणि परस्परमवेक्ष्यन्ते कपोलोद्भेदमात्रं च हसन्ति, ततो यदा तवाऽर्थायेदं कृतमशनादिकमिति जल्पति; यद्वासविलक्षं सल-ज्जमन्योऽन्यम् अवेक्षन्ते चशब्दाद्हसन्ति वा, तदा साधव-स्तद्देयमाधाकर्मेति परिज्ञाय वर्ज्जयन्ति, यदा तु कस्यार्थायेदं कृतमिति पृष्टा सती गाढं सत्यवृत्त्या रुष्टा भवति, यथा का 'भे' भट्टारक! तव तृ (त) प्तिः इति तदा नैवाधाकर्मेति निःशङ्कं गृह्णीत ।

संप्रति ''गहियमदोसं च'' इत्यवयवं व्याचिख्यासुः परं प्रश्नयति-

गूढायारा ण करेंति, आयरं पुच्छिया वि न कहेंति ।
थोवंति व णो पुट्ठा, तं च असुद्धं कहं तत्थ ॥२०६॥

इह ये श्रावकाः श्राविकाश्चाऽतीव भक्तिपरवशगा गूढाचाराश्च ते नाऽऽदरमतिशयेन कुर्वन्ति मा भूत्-न ग्रहीष्यतीति नापि पृष्टा सन्तो यथावत् कथयन्ति, यथा तवाऽर्थायेदं कृतमिति, अथवा- स्तोकमिति कृत्वा ते साधुना न पृष्टाः अथ च तद् देयं वस्तु अशुद्धम्- आधाकर्मदोषदुष्टम्, अतः कथं तत्र साधोः शुद्धि-र्भविष्यति इति ।

एवं परेणोक्ते गुरुराह–

आहाकम्मपरिणओ, फासुयभोई वि बंधओ होइ ।
सुद्धं गवेसमाणो, आहाकम्मे वि सो सुद्धो ॥२०७॥

इह प्रासु (शु) कग्रहणेन एषणीयमुच्यते; सामर्थ्यात् तथाहि -साधूनामयं कल्पो-ग्लानादिप्रयोजनेऽपि प्रथमतस्तावदेष-णीयमेषितव्यम्, तदभावेऽनेषणीयमपि श्रावकादिना कारयित्वा श्रावकाभावे स्वयमपि कृत्वा भोक्तव्यं, नतु कदाचनापि प्रासुका-भावेऽप्रासुकमिति ततः कदाचिदप्यप्रासुकभोजनाऽसंभवे 'फासुयभोई वी' ति- वाक्यमनुप-पद्यमानम् अर्थात् प्रासुकशब्द-मेषणीये वर्त्तयति ततोऽयमर्थः- प्रासुकभोज्यपि- एषणीय-भोज्यपि यद्याधाकर्म्मपरिणतस्तर्हि सोऽशुभकर्मणां बन्धको भवति, अशुभपरिणामस्यैव वस्तुस्थित्या बन्धकारण- त्वात्, शुद्धम्- उद्गमादिदोषरहितं पुनर्विषयन्नाधाक-र्म्मण्यपि गृहीते मुक्ते च स शुद्धो वेदितव्यः । शुद्धपरिणामयुक्तत्वाद् ।

एतदेव कथानकाभ्यां भावयति–

संघुद्दिट्ठं सोउं, एइ दुयं कोइ भाइए पत्तो ।
दिन्नं ति देहि मज्झं- ति गाउ साउं तओ लग्गो ॥२०८॥

शतमुखं नाम पुरं, तत्र गुणचन्द्रः श्रेष्ठी, चन्द्रिका तस्य भार्या, श्रेष्ठी च जिनप्रवचनानुरक्तो हिमगिरिशिखरानुकारिजिन- मन्दिरं कारयित्वा तत्र युगादिजिनप्रतिमां प्रतिष्ठापितवान्, ततः सङ्घभोज्यं दापयितुमारब्धम् । इतश्च प्रत्यासन्ने कस्मिंश्चिद् ग्रामे कोऽपि साधुवेषविडम्बकः साधुर्वर्त्तते । तेन च जनपरंपरया शुश्रुवे । यथा शतमुखपुरे गुणचन्द्रः श्रेष्ठी सङ्घभोज्यमद्यददातीति । ततः स तद्ग्रहणाय सत्वरमाजगाम । सङ्घभक्तं च सर्वं दत्तं तेन च श्रेष्ठी याचितो यथा मह्यं देहि, श्रेष्ठिना च चन्द्रिका अभ्यधायि-देहि साधवेऽस्मै भक्तमिति । सा प्रत्युवाच-दत्तं सर्वं न किमपीदानीं वर्त्तते, ततः श्रेष्ठिना सा पुनरप्यभाणि-देहि निजरसवती-मध्यात्परिपूर्णमस्यायिति । ततः सा शाल्योदनमोदका-दिपरिपूर्ण-मदात्, साधुश्च सङ्घभक्तमिति बुद्ध्या परिगृह्य स्वोपाश्रये भुक्तवान् । ततः स शुद्धमपि स भुञ्जान आधा-कर्म-ग्रहणपरिणाम- वशादाधाकर्मपरि-भोगजनितेन कर्मणा बद्धः । एवमन्योऽपि वेदितव्यः । सूत्रं सुगमं नवरम् 'देहि मज्झंति गाउ' त्ति-भार्यया दत्तमित्युक्ते श्रेष्ठी वभाण देहि मम मध्यात्- मदीय-भोजनमध्यात् । दत्ते च स्वादुमिष्टमिदं सङ्घभक्तमिति भुञ्जानो विचिन्तयति । ततो लग्न आधाकर्मपरिभोगजनितकर्मणा बद्धः । तदेवम्- 'आधाकम्मपरिणओ' इत्यादिकथानकेन भावितम्

संप्रति 'सुद्धं गवेसमाणो' इत्यादि कथानकेन भावयति–

मासियपारणगट्ठा, गमणं आसन्नगामगे खमए ।
सङ्घीपायसकरणं, कयाइ अज्जेज्जिही खमओ ॥२०९॥
खेल्लग-मल्लगलेच्छा-रियाणि डिंभगनिब्भच्छणं च रुटंणया ।
हंदि समणत्ति पायस- घयगुलजुयजावणट्ठाए ॥२१०॥
एगंतमवक्कमणं, जइ साहू इज्ज होज्ज तिन्नोमि ।
तणुकोट्ठंमि अमुच्छा, भुत्तंमि य केवलं नाणं ॥२११॥

पोतनपुरं नाम नगरं, तत्र पञ्चभिः साधुशतैः परिवृता यथाऽऽगमं विहरन्तो रत्नाकरनामानः सूरयः समाययुः, तस्याश्च साधु-पञ्चशत्या मध्ये प्रियंकरो नाम क्षपकः, स च मासमासपर्यन्ते पारणकं विदधाति, ततो मासक्षपणपर्यन्ते मा कोऽपि मदीयं पारणकमवबुद्ध्याऽऽधाकर्मादिकं कार्षीदित्य- ज्ञात एव प्रत्यासन्ने ग्राम पारणार्थं व्रजामीति चेतसि विचिन्त्य प्रत्यासन्ने क्वचिद्ग्रामे जगाम । तत्र च यशोमतिर्नामश्राविका, तथा च यस्य क्षपकस्य मासक्षपणकं पारणकदिनं च जनपरंपरया श्रुतं, ततस्तया तस्मिन् पारणकदिने कदाचिदद्य स क्षपकाऽत्र पारणककरणाय समागच्छेदिति बुद्ध्या, परमभक्तिवशतो विशिष्टशालितण्डु लैः पायसमपच्यत; घृतगुडादीनि च उपबृंहकद्रव्याणि प्रत्यास-न्नीकृतानि ततो मा साधुः पायसमुत्तमं द्रव्यमिति कृत आधा-कर्मशङ्का कार्षीदिति मातृस्थानतो वटादिपत्रैः कृतेषु शरावाकारेषु भाजनेषु डिम्भयोग्याः स्तोका स्तोका क्षैरेयी प्रक्षिप्ता भणिताश्च डिम्भा यथा रे बालकाः । यदा क्षपकः । साधुरीदृशस्तादृशो वा समायाति तदा यूयं मणत- हे अम्ब! प्रसूताऽस्माकं क्षैरेयी परिवेषिता ततो न शक्नुमो भोक्तुम् एवं च उद्वेऽहं युष्मान्निर्भ-

त्सयिष्यामि, ततो यूयं भणत किं दिने दिने पायसमुपस्क्रियते। एव च बालकेषु शिक्षितेषु तस्मिन्नेव प्रस्तावे स क्षपको भिक्षामटन् कथमपि तस्या एव गृहे प्रथमतो जगाम, तदा सा यशोमतिरन्तः समुल्लसत्परम-भक्तिर्मा साधोः काऽपि शङ्का भूदिति बहिरादरम् अकुर्व्वती यथास्वभावमवतिष्ठते। बालकाश्च यथाशिक्षितं भणितुं प्रवृत्ताः, तथैव च तया निर्भर्त्सितास्ततः सरुषेवाऽनादरपरया क्षपकोऽपि तया वभणे यथा अमी मत्ता बालकाः पायसमपि नैतेभ्यो रोचते, तर्हि ततो यदि युष्मभ्यमपि रोचते गृह्णीत क्षैरेयीं नोचेत् व्रजत इति । तत एवमुक्ते स क्षपकसाधुर्निःशङ्को भूत्वा पायसं प्रतिगृहीतुमुद्यतः, साऽपि परमभक्तिमुद्वहन्ती परि-पूर्णभाजनभरणं पायसं घृतगुड़ादिकं च दत्तवती। साधुश्च मनसि निःशङ्को भूत्वा पायसं गृहीत्वा भोजनाय वृक्षस्य कस्य-चिदधस्ताद् गतवान्, गत्वा च यथाविधि ईर्यापथिकादि प्रतिक्रम्य स्वाध्यायं च कियन्तं कृत्वा चिन्तयामासअहो लब्धमुत्कृष्टं मया पायसद्रव्यं घृतगुडादि च, ततो यदि कोऽपि साधुरागत्य संविभागयति मां तर्हि भवामि संसारार्णवोत्तीर्णो यतो निरन्तरं ये स्वाध्यायनिषण्णचतसः प्रतिक्षणं परिभावयन्ति सकलमपि यथाऽवस्थितवस्तुजातम् अत एव च दुःखरूपात्संसाराद्विमुख-बुद्धयो मोक्षविधावेकताना यथाशक्ति गुर्वादिषु वैयावृत्योद्यता ये वा परोपदेशप्रवणाः स्वयं सम्यक् संयमानुष्ठनविधायिनश्च तेषां संविभागे कृते तद्गतं ज्ञानाद्युपष्टब्धं भवति ज्ञानाद्युपष्टम्भे च मम महान् लाभः, शरीरकं पुनरिदमसारं प्रायो निरुपयोगि च। ततो येन तेन वोपष्टब्धंसुखेन वहतीत्येवं भुञ्जानोऽपि शरीर-मूर्च्छारहितः प्रवर्द्धमानविशुद्धाध्यवसायो भोजनानन्तरं केवल-ज्ञानमासादितवान्, सूत्रं सुगमम्। नवरम् 'खेल्ल-गमल्लगलिच्छा- रियाणि' त्ति- मल्लकं-शरावं तदाकाराणि यानि खेल्लकानिवटादिपत्रकृतानि भाजनानिद्रोणा (दूता) नीत्यर्थः, तानि 'लिच्छीरियाणि' ढिम्भकयोग्यस्तोकस्तो-कपायसंप्रक्षेपणेन खरण्टितानीव खरण्टितानि कृतानि रुण्टणया इत्यवज्ञया ह्रन्दीत्यामन्त्रणे भोः श्रमण ! यदि रोचते तर्हि गृहाण विशेषः ततः शरीरयापनाया घृतगुडयुतं पायसं गृहीत्वा एकान्ते अवक्रमणं, शेषं सुगमम्। एवमन्येषामपि भावतः शुद्धं गवेषय-तामाधाकर्मण्यपि गृहीते भुक्ते वा न दोषः, भगवदाज्ञाराधनात्।

तथा च भगवदाज्ञाराधनकृतमेवाऽदोषं भगवदाज्ञाखण्डन- कृतमेव च दोषं विभावयितुकामः कथानकं रूपकचतुष्केणाऽऽह-

चंदोदयं च सूरो-दयं च रन्नो उ दोन्नि उज्जाणा।
तेसिं विवरीयगमणे, आणाकोवो तओ दंडो ॥२१२॥

सूरोदयं गच्छमहं पभाए, चंदोदयं जंतुतणाऽऽइहारा।
दुहा रवी पच्चुरसन्ति काउं, रायाऽवि चंदोदयमेव गच्छे ॥२१३॥

पत्तलदुमसालगया, दच्छामु निवंगण त्ति दुचिता।
उज्जाणपालएहिं, गहिया य हया य बद्धा य ॥२१४॥

सहस पइट्ठा दिट्ठा, इयरेहिँ निवंगण त्ति तो बद्धा।
नितस्स य अवरण्हे, दंसणमुभओ वह विसग्गा ॥२१५॥

चन्द्राननानाम पुरी, तत्र चन्द्रावतंसो राजा, तस्य त्रिलोक-रेखाप्रभृतयोऽन्तःपुरिकाः राज्ञश्च द्वे उद्याने, तद्यथा-एकं पूर्व्वस्यां दिशि सूर्योदयाभिधानम्। द्वितीयं पश्चिमायां चन्द्रोदयाभिधानम्। तत्र चान्यदा प्राप्ते वसन्तमासे कस्मिंश्चिद्दिने राजा निजान्तः पुरक्रीडाकौतुकार्थी जनानां पटहं दापितवान् यथा भोः! शृणुत जनाः! प्रभाते राजा सूर्योदयोद्याने निजान्तः पुरिकाभिः सह स्वेच्छं विहरिष्यति ततो मा तत्र कोऽपि यासीत् सर्वेऽपि तृणकाष्ठाऽऽहारादयश्चन्द्रोदयं गच्छन्त्विति, एवं च पटहे दापिते तस्य सूर्योदयोद्यानस्य रक्षणाय पदातीन् निरूपितवान्, यथा न तत्र कस्याऽपि प्रवेशो दातव्य इति, राजा च निशि चिन्तयामास सूर्योदयमुद्यानं गच्छतामपि प्रभाते-सूर्यः प्रत्युरसं भवति, ततः प्रतिनिवर्त्तमानानामपि मध्याह्ने, प्रत्युरसं च सूर्यो दुःखावहस्त-स्माच्चन्द्रोदयं गमिष्यामीति, एवं च चिन्तयित्वा प्रातस्तथैव कृतवान्, इतश्च पटहश्रवणानन्तरं केऽपि दुर्वृत्ताश्चिन्तयामासुः यथा न कदाचिदपि वयं राजान्तःपुरिका दृष्टवन्तः। प्रातश्च राजा सूर्योदये सान्तःपुरः समागमिष्यति, अन्तःपुरिकाश्च यथेच्छं विहरिष्यन्ति। ततः पत्रबहुलतरुशाखासु लीनाः केनाप्यलक्षिता वयं ताः परिभावयामः, एवं च चिन्तयित्वा ते तथैव कृतवन्तः, तत उद्यानरक्षकैः कथमपि ते शाखास्वन्तर्लीना दृष्टास्ततो गृहीता लकुडादिभिश्च हता रज्ज्वादिभिश्च बद्धाः, ये चान्ये तृणका- ष्ठाऽऽहारादयो जनास्ते सर्वेऽपि चन्द्रोदयं गताः तैश्च सहसा प्रविष्टैरठो यथेच्छं राजान्तःपुरिकाः क्रीडन्त्यो दृष्टाः, ततस्तेऽपि राजपुरुषैर्बद्धाः ततो नगराभिमुखमुद्यानान्निर्गच्छतो राज्ञ उद्यानपालकैः पुरुषैर्द्वयेऽपि बद्धा दर्शिताः, कथितश्च सर्वोऽपि यथावस्थितो वृत्तान्तः, तत्र ये आज्ञाभङ्गकारिणस्ते विनाशिताः इतरे मुक्ताः, सूत्रं सुगमं, नवरं 'तओ दंडो' त्ति-दण्डो मारणम्, एतद्भावनार्थं रूपकत्रयम्। 'सूरोदयमि' त्यादि, तत्र 'पच्चुरसं' प्रत्युरसम् उरसः संमुखं 'नितस्स य' त्ति- उद्यानापराह्णे निर्यतो राज्ञ उभयेषां दर्शनं ततो यथाक्रमं वध-विसर्गौ, एतेन यदुक्तम् -'अभोज्जे गमणाइ य' इत्यादिगाथायां 'दिट्ठंता तत्थिमा दोन्नि' त्ति—तद्व्याख्यातम्।

सांप्रतं दार्ष्टान्तिकेयोजनामाह—

जह ते दंसणकंखी, अपूरिइच्छा विणासिया रन्ना।
दिट्ठेऽवि यरे मुक्का, एमेव इहं समोयारो ॥२१६॥

यथा ते दुर्वृत्ता दर्शनकाङ्क्षिणः अपूरितेच्छा अपि आज्ञा-भङ्गकारिण इति राज्ञा विनाशिताः, इतरे च तृणकाष्ठाऽऽहारादयश्चन्द्रोदयोद्या-नगता दृष्टेऽपि तैरन्तःपुरे आज्ञा-कारित्वात् मुक्ताः एवमेव इहापि आज्ञाकर्मविषये समवतारोयोजना कार्या, सा चैवम्-आधाकर्मभोजनप-रिणामपरिणताः शुद्धमपि भुञ्जाना आज्ञाभङ्गकारित्वात् कर्म्मणा

बध्यन्ते, साधुवेषविडम्बकसाधुवत् शुद्धं गवेषयन्त आधाकर्मापि भुञ्जाना भगवदाज्ञाराधनात् न बध्यन्ते 'प्रियंकरा'ऽभिधक्षपकसाधुवदिति।

आधाकर्म्मभोजिनमेव भूयोऽपि निन्दति-

आहाकम्मं भुंजइ, न पडिक्कमए य तस्स ठाणस्स।
एमेव अडइ बोडो, लुक्कविलुक्को जह कवोडो ॥२१७॥

य आधाकर्म्म भुङ्क्ते न च तस्मात् स्थानाद्- आधाकर्म्म-परिभोगरूपात्प्रतिक्रामति प्रायश्चित्तग्रहणेन निवर्त्तते। स बोडः- मुण्डो जिनाऽऽज्ञाभङ्गे निष्फलं तस्य शिरोलुञ्जनादीति 'बोड' इत्येवमधिक्षिपति। एवमेव निष्फलमटति- जगति परि-भ्रमति, अधिक्षेपसूचकमेव दृष्टान्तमाह- 'लुक्कविलुक्को जह कवोडो' लुञ्चितविलुञ्चितो यथा कपोतः- पक्षिविशेषः, यथा तस्य लुञ्चनम् अटनं च न धर्माय; तथा साधोरप्याधाकर्मभोजिन इत्यर्थः, तत्र सामान्यतो लुञ्चनं विच्छित्त्या विशबरं वा लुञ्चनं विलुञ्चनम्। पिं०।

आधाकर्मपरिभोगे दोषमाह-

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं काया, आहाकम्मेहिँ गच्छइ ॥३॥

आधानम्; आधाकरणमित्यर्थः, तदुपलक्षितानि कर्माण्या-धाकर्म्माणि तैः किमुक्तं भवति-स्वयं विहितैरेव सरागसंयम- माहारं भासुरभावनादिभिरेव नारकासुरगतिहेतुभिः क्रियाविशेषैर्यथाकर्म्मभिर्वा तत्तद्गत्यनुरूपचेष्टितैर्गच्छति यातीति सूत्रार्थः। उत्त० ३ अ०। ''आहाकम्मं भुंजमाणे सवले ४' (सूत्र-२१ सम०)। आधाकर्म-आधया-साधुप्रणिधानेन यत्सचेतनमचेतनं क्रियते अचेतनं वा पच्यते चीयते वा गृहादिकं वयते वा वस्त्रादिकं तदाधाकर्मभुञ्जानः शवलः। दशा०३ अ०।

आधाकर्मपरिभोगे दोषस्सदृष्टान्तो यथा-

जं किंचि उ पूइकुंडं, सड्ढीमागंतुमीहियं।
साहस्संतरियं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवइ ॥१॥

यत् किञ्चिदिति-आहारजातं स्तोकमपि, आस्तां तावत्प्रभूतं, तदपि पूतिकृतम् आधाकर्मादि सिक्थेनाप्युपसृष्टम् आस्तां तावदाधाकर्म, तदपि न स्वयं कृतम्, आप तु श्रद्धावता अन्येन भक्तिमताऽपरानागन्तुकानुद्दिश्य ईहितंचेष्टितं निष्पादितं, तच्च सहस्रान्तरितमपि यो मुञ्जीतअभ्यवहरेदसौ द्विपक्षं- गृहस्थपक्षं प्रव्रजितपक्षं वा सेवते, एतदुक्तं भवति एवंभूतमपि परकृतम-परागन्तुकमत्यर्थं निष्पादितं यदाधाकर्मादि तस्य सहस्रान्तरितस्यापि योऽवयवस्तेनाप्युपसृष्टमाहारजातं भुञ्जानस्य द्विपक्षसेवनमापद्यते, किं पुनः य एते शाक्यादयः स्वयमेव सकलमाहारजातं निष्पाद्य स्वयमेव चोपभुञ्जते; ते च सुतरां द्विपक्ष-सेविनो भवन्तीत्यर्थः। यदि वा-द्विपक्षमिति- ईर्यापथः, सांपरा-यिकं वा। अथ वा-पूर्वबद्धा निकाचिताद्यवस्थाः कर्मप्रकृती-र्नयत्यपूवाश्चादत्ते (सूत्र०) ततश्चैवं शाक्यादयः पर-तीर्थिकाः स्वयूथ्या वा आधाकर्म भुञ्जाना द्विपक्षमेव सेवन्त इति सूत्रार्थः।

इदानीमेतेषां सुखैषिणामाधाकर्मभोजिनां कटुकविपाका- विर्भावनाय श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह-

तमेव अवियाणंता, विसमंसि अकोविया।
मच्छा वेसालिया चेव, उदगस्सऽभियागमे ॥२॥

उदगस्स पभावेणं, सुक्कं सिंघं तर्मिति उ।
ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहिँ ते दुही ॥३॥

तमेव-आधाकर्मोपभोगदोषमजानाना विषमः अष्टप्रकाकर्म-बन्धो भवकोटिभिरपि दुर्मोक्षश्चतुर्गतिसंसारो वा तस्मिन्न- कोविदाः कथमेष कर्मबन्धो भवति कथं वा न भवति ? केन चोपायेनायं संसारार्णवस्तीर्यत इत्यत्रा कुशलाः तस्मिन्नेव संसारोदरे कर्मपाशावपाशिता दुःखिनो भवन्तीति। अत्र दृष्टा-न्तमाह-यथा मत्स्याः पृथुरोमाणो विशालः समुद्रस्तत्र भव। वैशालिकाः; विशालाख्यविशिष्टजात्युद्भवा वा वैशालिकाः; विशाला एव वैशालिकाः- बृहच्छरीरास्ते एवंभूता महामत्स्या उदकस्याभ्यागमे समुद्रवेलाया (मागताः) सत्यां प्रबलमरुद्वेगो- द्भूतोत्तुङ्गकल्लोलमालापनुन्नाः सन्त उदकस्य प्रभावेण नदीमुखमागता पुनर्वेलापगमे तस्मिन्नुदके शुष्के वेगेनैवापगते बृहत्वाच्छरीरस्य तस्मिन्नेव धुनीमुखे विलग्ना अवसीदन्त आमिषगृध्नुभर्ढङ्कैः कङ्कैश्च पक्षिविशेषैरन्यैश्च मांसवसार्थिभिर्मत्स्यबन्धादिभिर्जीवन्त एव विलुप्यमाना महान्तं दुःखसमुद्घातमनुभवन्तोऽशरणाघातं- विनाशं यान्ति प्राप्नुवन्ति। तुरवधारणे, त्राणाऽभावाद्विनाशमेव यान्तीति श्लोकद्वयार्थः।

एवं दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिकेयोजयितुमाह-

एवं तु समणा एगे, वट्टमाणसुहेसिणो।
मच्छा वेसालिया चेव, घातमेस्संतिऽणंतसो ॥४॥

यथैते- अनन्तरोक्तमत्स्यास्तथा श्रमणाः श्राम्यन्तीति श्रमणा एके शाक्यपाशुपतादयः स्वयूथ्या वा, किंभूतास्ते इति दर्शयति-वर्तमानमेव सुखम्, आधाकर्मोपभोगजनितमेषितुं शीलं येषां ते वर्तमानसुखैषिणः, समुद्रवायसवत् तत्कालावाप्तसुखलवाऽऽसक्तचेतसोऽनालोचिताऽऽधाकर्मोपगभोगजनितातिकटुकदुः खौघानुभवना वैशालिकमत्स्या इव घातं वि (नाश) शाल-मेष्यन्ति- अनुभविष्यन्ति अनन्तोशोऽरहट्टघटीन्यायेन भूयो भूयः संसारोदन्वति निमज्जोन्मज्जनं कुर्वाणा न ते संसाराम्भोधेः पारेगामिनो भविष्यन्तीत्यर्थः। सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ०।

(१२) आधाकर्मपरिभोगे कर्मबन्धः-

अहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ, किं पकरेइ, किं चिणाइ, किं उपचिणाइ? गोयमा! आहाकम्मं णं भुं- जमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधण-बद्धाओ घणियबंधणबद्धाओ पकरेइ० जाव अणुपरियट्टइ। से केणऽट्ठेणं० जाव आहाकम्मं णं भुंजमाणे० जाव अणुपरियट्टइ? गोयमा! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आयाए धम्मं अइक्कमइ, आयाए धम्मं अइक्कममाणे पुढविकायं णावकंखइ० जाव तसकायं णावकंखइ, जेसि पि

य णं जीवाणं सरीराइं आहारमाहारेइ ते वि जीवे ना ऽवकंखइ, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ० जाव अणु परियट्टइ। (सूत्र ७८+)

'आहाकम्ममि' त्यादि आधाय साधुप्रणिधानेन यत्स-चेतनमचेतनं क्रियते, अचेतनं वा पच्यते, चीयते वा गृहादिकं, वयते वा वस्त्रादिकं, तदाधाकर्म, 'किं बंधइ त्ति-प्रकृति-बन्धमाश्रित्य स्पृष्टावस्थापेक्षया वा 'किं पकरेइ' त्ति-स्थितिबन्धापेक्षया बद्धावस्थापेक्षया वा, 'किं चिणाइ' त्ति- अनुभागबन्धापेक्षया निधत्तावस्थापेक्षया वा 'किं उवचिणाइ' त्ति-प्रदेशबन्धापेक्षया निकाचनापेक्षया वेति 'आयाए' त्ति-आत्मना श्रुतधर्म्म-चारित्रधर्म्म वा, 'पुढविकायं नावकंखइ' त्ति-नापेक्षते; नानुकम्पत इत्यर्थः। भ० ७ श० ९ अ०। 'आयाए' त्ति आत्मना धर्म-श्रुतधर्म्म चारित्रधर्म चेति 'आयाए धम्मं अइक्कममाणे पुढविकायं नावकंखइ, आउकायं नावकंखइ, तेउकायं नावकंखइ, वाउकायं नावकंखइ, वणस्सइकायं नावकंखइ, तसकायं नावकंखइ, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीर-याइं आहारमाहारेइ ते वि नावकंखइ स एएणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ आहाकम्मं भुंजमाणे० जाव परियट्टइ,'' तथा-''कहं णं भंते! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरंति ? गोयमा ! पाणे अइवाइत्ता भवइ, मुंस वइत्ता तहारूवं समणं वा माहणं वा अफा-सुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिला-हित्ता भवइ एवं खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरंति'' त्ति, द्वितीयपदे पुनर्गाढग्लानादि-कार्यासंस्तरणादिरूपे गच्छमध्यव्य-वस्थितस्य गुर्वाज्ञावर्तिनोऽशठ-भावस्य साधोः पञ्चकपरि-हाणिक्रमेण सर्वथा प्रयतमानस्यातुर-दृष्टान्तेनाधाकर्माद्यपि निर्दोषम्, तथा चारऽऽगमः- ''संथरणम्मि असुद्धं, दुण्ह वि गिण्हंत दिंतयाण हियं। आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥१॥'' तथा- ''जा जयमाणस्स भवेविराहणासुत्तविहि-समग्गस्स। सा होइ निज्जरफला, अज्झप्पविसोहिजुत्तस्स ॥१॥'' त्ति। ध० २० ३ अधि० ७ लक्ष०।

चारित्रमधिकृत्याहारविषयाऽनाचाराऽऽ-

चारौ प्रतिपादयितुकाम आह-

आहाकम्माणि भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा।
उवलित्तेति जाणिज्जा, ऽणुवलित्तेति वा पुणो ॥८॥

किमित्येवं स्याद्वादः प्रतिपाद्यत इत्याह-

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥९॥

सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। (अनयो ८-९ गाथयोर्व्याख्या 'अणायार' शब्दे प्रथमभागे ३१८ पृष्ठे गता) (वसति विषयः आधाकर्मदोषः 'वसहि' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते १६५ निशीथचूर्णिगाथया)

आधाकर्मदोषदुष्टत्वात् श्रमणार्थं कृता

वल्लिवृक्षादयो न कल्पन्ते-

वल्ली वा रुक्खो वा, कोई रोएज्ज संजयऽट्ठाए।
तेसिं परिभोगकाले, समणाण तहिं कहं भणियं ॥५३॥

वल्लीर्वा वृक्षान् वा कश्चित्संयतानामर्थाय रोपयेत् तत्र तेषां फलानां परिभोगकाले श्रमणानां कथं भणितम्; किं कल्पते किं वा न कल्पत इत्यर्थः।

अत्र सूरिराह-

तस्स कडनिट्ठियादी, चउरो भंगे विभावइत्ताण।
विसमेसु जाण विसमं, नियमा उ समो समग्गहणे ॥५४॥

तस्य कृतं तत् तस्य निष्ठितमिति प्रथमः तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति द्वितीयः। अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितमिति तृतीयः। अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति चतुर्थः। तत्र-तस्य संयतस्य निमित्तं कृतम्-आरोपितं वृक्षादि तथा तस्यैव संयतस्य निमित्तं निष्ठितं-निष्ठां नीतमचित्तीकृतमित्यर्थः। एष प्रथमभङ्गार्थः। एवं शेषाणामपि भङ्गानामर्थं परिभावनीयः, तत्र तस्य कृतं तस्य निष्ठितमित्यादीन् चतुरो भङ्गान् विभाव्य विषमयोर्भङ्गयोर्गृह्यतोः विषममसंयमं जानीयात्तन्निमित्तं निष्ठानयनात् समयो-र्द्वितीयचतुर्थयो-र्भङ्गयोर्ठाहणे समं-संयमं जानीयात्। अन्यनिमित्तं निष्ठितत्वात्।

पर आह- ननु श्रमणार्थं स आरोपितस्ततः कथं द्वितीये भङ्गे कल्पते। सूरिराह-

कामं सो समणाऽट्ठा, वुत्तो तह वि य न होइ सो कम्मं।
जं कम्मलक्खणं खलु, इह इं वुत्तं न पस्सामि ॥५५॥

कामम्-अनुमन्यामहे स वृक्षः श्रमणार्थमारोपितः तथाऽप्यसौ कर्म्म न भवति। यतो यत्कर्म्मलक्षणं खलु तीर्थकरगणधरैरुक्तं तदिह 'इं' पादपूरणे न पश्यामि।

किं तत्कर्म्मलक्षणमत आह-

सचित्तभावविकली-कयम्मि दव्वम्मि मग्गणा होई।
का मग्गणा उ दव्वे, सचेयणे फासुभोईणं ॥५६॥

यत्सचित्तभावविकलीकृतमचित्तीकृतम् द्रव्यं तत्र प्रासुकभो-जिनां मार्गणा भवति। तत आधाकर्म्मिकचिन्ताऽपि तत्रैव युक्ता; नान्यत्र। सचेतने तु द्रव्ये का मार्गणा ? नैव काचित् सचित्ततया तस्य ग्रहणाऽसंभवात्ततो न तदपेक्षया आधा-कर्म्मिकत्वमिति। तदेवमारोपितरूपकृतनिष्ठितविषये कल्प्याऽकल्प्यविधिरुक्तः।

संप्रति छिन्नरूपकृतनिष्ठितविषय तमाह-

संजयहेतुं छिन्नं, अत्तऽट्ठोवक्खडं तु तं कप्पे।
अत्तऽट्ठा छिन्नं पि हु, समणऽट्ठा निट्ठियमकप्पं ॥५७॥

अत्राऽपि भङ्गचतुष्टयम्-तस्य कृतम् तस्य निष्ठितम् १, तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितम् २, अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितम् ३, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितम् ४। अत्र कृतं छिन्नं निष्ठितं- पाकादि-करणतो निष्ठां नीतम्। तत्र प्रथम भङ्गे सर्वथा न कल्पते, चतुर्थस्तु भङ्ग एकान्तशुद्धः, द्वितीयभङ्गमधिकृत्य पूर्वार्द्धमाह- संयतहतौः-संयतनिमित्तं छिन्नमात्मार्थमुपस्कृतंनिष्ठां नीतं तत्कल्पते। तृतीयभङ्गमधिकृत्याह- आत्मार्थं छिन्नमपि श्रम-णार्थनिष्ठितमकल्प्यम्।

संप्रति बीजानि, उदकं चाऽधिकृत्याह-

बीयाणि य वावेज्जा, अगडं व खणेज्ज संजयऽट्ठाए।
तेसिँ परिभोगकाले, समणाण तहिं कहं भणियं ॥५८॥

बीजानि शाल्यादिसत्कानि वपेत, अवटं च खानयेत् संयतार्थं, तेषां परिभोगकाले तत्र श्रमणानां कथं भणितं कल्प्यम् अकल्प्यं वा।

सूरिराह-

दुच्छडाणियं च उदयं, जइ हेउं निट्ठियं च अत्तट्ठा।
तं कप्पइ अत्तऽट्ठा, कयं तु जइ निट्ठियमकप्पं ॥५९॥

अत्रापि प्रागिव भङ्गचतुष्टयम्, तत्राऽऽद्यो भङ्गः एकान्ते- नाऽशुद्धः। चरमस्त्वेकान्तशुद्धः। द्वितीयभङ्गमधिकृत्याह-यति- हेतोस्तण्डुला द्विच्छटीकृता उदकं वा संयतहेतोरवटादानीतम् उभयमपि च निष्ठितम्- अचित्तीकृतमातत्यार्थं तत्कल्पते। तृतीयभङ्गमधिकृत्याह- कृतं द्विच्छटीकृतास्तण्डुला अवटा- दानीतं पानीयं निष्ठितं तु यतिनिमित्तं तदकल्प्यमिति।

पुनरपि पर आह-

समणाण संजतीण व, दाहामि जो किणेज्ज अट्ठाए।
गावीमहिसीमादी, समणाण तहिं कहं भणियं ॥६०॥

श्रमणानां संयतीनां दुग्धादि दास्यामीति बुद्ध्या तेषामर्थाय गोमहिष्यादिकं यः क्रीणीयात्तत्र श्रमणानां कथं कल्प्यम् अकल्प्यं वा भणितम्।

सूरिराह-

संजयहेउं दूढा, न कप्पए कप्पए य सयमट्ठा।
पामिच्चिय कीया वा, जइ वि समणट्ठ या धेणू ॥६१॥

यद्यपि च धेनुः-गोरूपा महिषीरूपा वा श्रमणार्थमिय- मित्यात्मीयां धेनुं दत्त्वा परकीया याचिता क्रीता वा यदि संयतहेतोर्दुग्धा ततो न कल्पते। अथ स्वयमात्मनोऽर्थाय दुग्धा तर्हि कल्पते।

पुनरन्यथा परः प्रश्नयति-

चेइयदव्वं विभया, करेज्ज कोई नरो सयट्ठाए।
समणं वा सोवहियं, विक्केज्जा संजयट्ठाए ॥६२॥

चैत्यद्रव्यं चौराः समुदायेनापहृत्य तन्मध्ये कश्चिन्नर आत्मीयेन भागेन स्वयम्- आत्मनोऽर्थाय मोदकादि कुर्यात्, कृत्वा च संयतेभ्यो दद्यात्, यो वा संयतार्थाय श्रमणं सोपधिकं विक्रीणीयात्। विक्रीय च तत्प्रासुकं वस्त्रादि संयतेभ्यो दद्यात्।

एयारिसम्मि दव्वे, समणाणं किं नु कप्पई घेत्तुं।
चेइयदव्वेण कयं, मुल्लेण वज्जं सुविहियाणं ॥६३॥
तेण पडिच्छा लोए, वि गरहिया उत्तरे किमंग ! पुण।
चेइय जइ पडिणीए, जो गेण्हइ सो वि हु तहेव ॥६४॥

एतादृशेन द्रव्येण गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे, यत् आत्मार्थं कृतं तत् श्रमणानां किं नु ग्रहीतुं कल्पते। सूरिराह-यच्चैत्यद्रव्येण यच्च वा सुविहितानां मूल्येनात्मार्थं क्रीतं तद्दीयमानं न कल्पते। किं कारणमिति चेदुच्यते- स्तेनानीतस्य प्रतीच्छा-प्रतिग्रहणं लोकेऽपि गर्हिता किमङ्ग! पुनरुत्तरे, तत्र सुतरां गर्हिता यतः-चैत्ययतिप्रत्यनीके- चैत्ययतिप्रत्यनीकस्य हस्तात् यो गृह्णाति सोऽपि 'हू' निश्चितं तथैव चैत्ययतिप्रत्यनीक एव।

कस्मादिति आह-

हरियाहडिया सा खलु, ससत्तितो उग्गए हरा गुरुगा।
एवं तु कया भत्ती, न वि हाणी जा विणा तेण ॥६५॥

सा खलु स्तेनानीतप्रतीच्छा हृताहृतिका भण्यते स्तेनैर्हृतस्य स्तेनहरणं हृताहृतिका यत एवं तस्मात् स्वशक्तितश्चैत्यद्रव्यं सोपधिकं वा श्रमणमुद्गमयेत्-उत्पादयेत्, इतरथा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। एवं च सति कृता भक्तिर्भवति। प्रवचनस्य या च तेन विना हानिः, साऽपि न भवति।

पुनः पृच्छति-

जा तित्थयराण कया, वंदणआवरिसणादि पाहुडिया।
भत्तीहिँ सुरवरेहिं, समणाण तहिं कहं भणियं ॥६६॥

या तीर्थकराणां सुरवरैर्भक्तया वन्दनाऽऽवर्षणादिका आदि शब्दात्- पुष्पवृष्टिप्रकारत्रयादिकरणपरिग्रहः प्राभृतिका कृता तत्र श्रमणानां कथं भणितं किं तत्र स्थातुं कल्पते न वा।

अत्र सूरिराह-

जइ समणाण न कप्पइ, एवं एगागिणो जिणवरिंदा।
गणहरमादी समणा, अकप्पिए न वि य चिट्ठंति ॥६७॥

तस्यां प्राभृतिकायां श्रमणानामवस्थांतु कल्पते भगवतः प्रवचनातीत- त्वात्। अन्यच्च यदि श्रमणानां न कल्पते तत एकाकिनो जिनवरेन्द्रा भवेयुः। यतो गणधरादयः श्रमणाः अकल्पिकेनैव तिष्ठन्ति। व्य०९ उ०। बृ०।

आधाकर्मोपभोगे प्रायश्चित्तम्-

जे भिक्खू आहाकम्मं, भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥६॥

आधाकडं आहाकम्मं तं जो भुंजति तस्स चउगुरुं आणादिया य दोसा। नि० चू० १० उ०।

आधाकर्मप्रायश्चित्तम् ''गुरुगा आह य चरम०'' ॥५४१×॥ 'आह य' आधाकर्मगृह्णतः प्रायश्चित्तं च त्वारो गुरुकाः॥ बृ० १ उ० १ प्रक०। ज्ञानवत आधाकर्मादिदोषविचारः 'णाण' शब्दे चतुर्थ-भागे १९८० पृष्ठे करिष्यते) (गोचरचर्य्यां गतेनाधाकर्मिकमशनादि न ग्राह्यमिति 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ९९१ पृष्ठे वक्ष्यते।) यदाधाय- निमित्तत्वेनाश्रित्य पूर्वोक्तमष्टप्रकारमपि कर्म बध्यते तदाधाकर्मेति। कर्मभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। (तच्च विस्तरतः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २४५ पृष्ठे, ६२ सूत्रव्याख्याने वक्ष्यते।) आधानमाधाकरण- मात्मनेति गम्यते तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्माणि। स्वकृतकर्मसु उत्त०।

सुया मे णरए ठाणा, (उत्त०) पगाढा जत्थ वेयणा ॥१२॥

तत्थोववाइयं ठाणं, जहा मे तमणुस्सुयं।
आहाकम्मेहिँ गच्छंतो, सो पच्छा परितप्पइ ॥१३॥

तत्रेति-नरकेषु उपपाते भवमौपपातिकं स्थानं- स्थितिर्यथा -येन प्रकारेण; भवतीति शेषः। 'मे' मया तत्-इति-अनन्त- रोक्तपरामर्शेऽनुश्रुतम्-अवधारितं गुरुभिरुच्यमानमिति शेषः (उत्त०) औपपातिकमिति च ब्रुवतोऽस्यायमाशयः, यदि गर्भजत्वं भवेत्- भवेदपि तदपि तदवस्थायां छेदभेदादिनारकदुःखान्तरम्, औपपातिकत्वे त्वन्तर्मुहूर्तान्तिरमेव तथाविधवेदनोदय इति कुतस्तदन्तरसंभवः? तथा च-'आहाकम्मेहिँ' ति- आधानम्- आधाकरणमात्मनेति गम्यते, तदुपलक्षितानि कर्म्माण्याधा- कर्म्माणि तैराधाकर्म्मभिः- स्वकृतकर्मभिः, यद्वा- आर्षत्त्वात् - 'आहे' ति-आधाय- कृत्वा कर्म्माणीति गम्यते, ततस्तैरेव कर्म्मभिर्गच्छन्-यान्, प्रक्रमात् नरकं, यद्वा-यथा कर्म्मभिर्गमिष्यमाणगत्यनुरूपैस्तीव्रतीव्रतराद्यनुभावान्वितैर्गच्छंस्तदनु-रूपमेव स्थानं 'स' इति-बालः पश्चादिति-आयुषि हीयमाने परितप्यते- यथा-धिग्मामसदनुष्ठायिनं किमिदानीं मन्दभाग्यः करोमीत्यादि शोचते इति सूत्रार्थः। उत्त० ५ अ०।

आधा (हा)कम्मिय त्रि० (आधाकर्म्मिक) साधूनामेवार्थाय कारिते भक्तादौ, बृ० १ उ०।

आधा(हा)ण-न० (आधान) आ-धा-भावे ल्युट् संस्कारपूर्वकं वह्न्यादेः स्थापने, अग्न्याधाने, गर्भाधाने च। वाच०। स्तथाने आव०। ''इअ सव्वगुणाऽऽहाणं॥१०५×॥'' सर्वगुणाधानम्-अशेषगुणस्थानम्। आव० ४ अ०। स्थापने, षो०। ''कुलयोग्यादीनामिह, तन्मूलाऽऽधानयुक्तानाम्'' मूलाऽऽधानं- मूलस्थापनं- बीजन्यासस्तद्युक्तानाम्। षो० १३ विव०। व्यवस्थापने, आख्याने, व्याख्याने च। वाच०।

अविरइं पडुच्च बाले, आहिज्जइ, विरइं पडुच्च पंडिए
आहिज्जइ, विरयाऽविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ॥३९×॥

आधीयते-व्यवस्थाप्यते, आख्यायते वा, तथा-विरतिं चाश्रित्य प्रतीत्य पापाद् डीनः पण्डितः-परमार्थज्ञो वेत्येव- माधीयते-व्याख्यायते। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

आधा(हा)य-आधाय-अव्य०। आ-धा-ल्यप्। कृत्वेत्यर्थे, उत्त० ५ अ०। स्थापयित्वेत्यर्थे; आधानं कृत्वेत्यर्थे भावे-घञ्। आधाने, पुं०। वाच०।

आधा(हा)र-आधार-आ-धृ-आधारे-घञ्। आश्रये, ''अपामिवाधारमनुत्तरङ्गम्''कुमा०। ''चराचराणां भूतानां, कुक्षिता-धारतां गतः''। कुमा०। ''वर्त्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः'' या० स्मृ०। ''व्याकरणप्रसिद्धे औपश्ले-षिकवैषयिकाभिव्यापकाख्ये अधिकरणकारके'' आधारो-ऽधिकरणम्''। पाणिनिः। अधिकरणञ्च परम्परया क्रियाश्रयः तच्च त्रिविधिम् औपश्लेषिक- वैषयिकाऽभिव्यापकभेदात्। तत्र औपश्लेषिक एकदेशसम्बन्धः, यथाकटे आस्ते। वैषयिकः- मोक्षे इच्छास्ति। अभिव्यापकः- तिलेषु तैलमस्ति। मुग्धबोधकारस्तु ''सामपीप्या- ऽऽश्लेषविषयै--व्याप्त्याऽऽधारश्चतुर्विधः'' इति ''सामीप्यसम्बन्धे- नाप्याधारतेत्याह''। तच्चिन्त्यम्, गङ्गायां घोषो वसतीत्यादौ विषयलक्षणयैव गङ्गासमीपतीरस्योपस्थितौ न तस्य विक्त्यर्थत्वमिति पाणिनीयाः। शस्यसंपादनार्थं जलरोधनार्थे बन्धने वृक्षसेकार्थं जलधारणार्थे आलवाले च। ''आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः'' रघु०। वाच०। आधारस्य भावः तल् आधारता संबन्धविशेषेण पदार्थविशेषस्याऽऽधेयता-सम्पादके धर्म्मविशेषे, तथा च तयोः परस्परनिरूप्यनिरूपक-भावः। आधारताया अनतिरिक्तवृत्तिर्धर्म्म आधारतावच्छेदकः। एवमाधेयताया अनतिरिक्तवृत्तिर्धर्म्म आधेयतावच्छेदकः यथा संयोगेन घटाधारे भूतले भूतलत्वमाधारतावच्छेदकं भूत-लाधेये घटे च घटत्वमाधेयतावच्छेकम् तयोश्चावच्छेदकत्वात्। ताभ्यामाधारताऽऽधेयता चाऽवच्छिद्यते यथा घटत्वावच्छिन्ना घटनिष्ठाऽऽधेयता तथा भूतलत्वावच्छिन्ना भूतलनिष्ठाऽऽधारता इति नव्यनैयायिकानां रीतिः। आधारत्वात्तदर्थे, न०। वाच०। **ख-घ-थ-ध- भाम् ॥८।१।१८७॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण धस्य बाहुल्येन हः। प्रा०। ''आहारो०'' ॥१४०९×॥ द्रव्यम् आधारो भवति। विशे०।

आधि (हि)-पुं० (आधि)- आधीयते-अभिनिवेश्यते प्रतीकाराय मनोऽनेन। आ-धा-कि। मानसव्यथाभेदे, वाच०। आधीनाम् -मनःपीडानाम्। भ० १ श० १ उ० १ सूत्रटी०। शरीरमानसे पीडा-विशेषे च। ''आधीनां परमौषधम्'' ॥३×॥ आधीनां- शरीर-मानसपीडाविशेषाणां परमौषधंप्रधानौषधकल्पम्। षो० १५ विव०। ईषत् अधिक्रियते उत्तमर्णोऽत्र। आ-ईषदर्थे, धा-अधि-कारार्थे, आधारे कि, आधीयते ऋणशोधनार्थम् आ-धा-कर्मणि-कि-वा। ऋणशोधनार्थं प्रतिभूस्थानीयतया बन्धकत्वेन उत्तमर्णसमीपे अधमर्णेनाऽऽधीयमाने उत्तमर्णस्य ईषत् स्वत्व-हेतुभूतव्यापारविशिष्टे, वाच०।

आधि (हि)क्क-न० (आधिक्य) अधिकस्य भावः ष्यञ्। अधि-कतायाम्, अतिशयितायाम्, ''यदावगच्छेदायत्या- माधिक्यं ध्रुवमात्मनः''। मनु०। युग्मायामपि रात्रौ चेत् शोणितं प्रचुरं तदा। कन्या च पुंवत् भवति, शुक्राधिक्ये पुमान् भवेत् ॥१॥ ज्योतिस्तत्त्वम्। प्रतिपादिकमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये, सि० कौ० ''एवमेतद् गुणाधिक्यं, द्रव्ये द्रव्ये व्यवस्थितम्'' सुश्रु०। वाच०। ''आधिक्यस्थैर्यसिद्ध्यर्थम्'' ॥२९×॥ आधिक्यं सजातौ- यपरिणामप्राचुर्य्यम्। द्वा० १७ द्वा०।

आधि(हि) गरणिया-स्त्री० (आधिकरणिकी) अधिक्रियते आत्मा नरकादिषु येन तदधिकरणं, तेन निर्वृत्ता आधिकरणिकी, पञ्चक्रिया मध्ये तृतीये क्रियाविशेषे, सा च द्विधा चक्रस्थपशु बन्धमन्त्रतन्त्रादिप्रवर्त्तिनी खड्गादिनिर्वर्त्तिनी चेति। ध० ३ अधि०।

आधि(हि)देविय-त्रि० (आधिदैविक) अधिदेवं भवः देवान वातादीन् अधिकृत्य प्रवृत्ते वा ठञ्। अनुशति- कादित्वात् द्विपदवृद्धिः। देवाधिकारेण प्रवृत्ते शास्त्रे, वातादिनिबन्धने, दुःखे च। दुःखं हि त्रिविधम्- आध्यात्मिकादिमे-

दात् । वाच० । आधिदैविकम्-यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकम् । स्या० १५ श्लोकटी० ।

आधि(हि)भोइय त्रि०(आधिभौतिक)भूतानिव्याघ्रसर्प्पादीन्य-धिकृत्य जातम् । अधिभूत ठञ् द्विपदवृद्धिः । व्याघ्रसर्प्पादिजनिते दुःखे, वाच० । आधिभौतिकं- मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्था-वरनिमित्तम् । स्या: १५ श्लोकटी० ।

आधु(हु)णिय त्रि० (आधुनिक)- अधुना भव: ठञ् । सांम्प्रतंभवे अर्वाचीने, अप्राचीने च । स्त्रियां ङीप् । वाच० । अष्टा- शीतिग्रहाणामन्यतमे स्वनामख्याते ग्रहे, जं० । सू० प्र०२० पाहु० ।

दो आहुणिया । (सूत्र-९०+) स्था०२ ठा०३ उ० ।

आधे(हि)य त्रि० (आधेय)- आ-धा-कर्मणि यत् । १ उत्पाद्ये, ''आधेयश्चाक्रियाजश्च, सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः'' व्या० का० । यस्य सतो गुणान्तरमुत्पाद्यम् तादृशे उत्पाद्यगुणान्तरे विद्यमाने एव यत्र घटादिपदार्थे पाकादिना रक्तता गुणान्तरमाधीयते तादृशे घटादौ, आधानविधिना स्थापनीय वह्नौ, पु० । अधिक- रणेऽभिनिवेशनीये, ''अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम्'' चन्द्रा० । वाच० ।

आधाराऽऽधेयौ द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन-

आहारो आहेयं, च होइ दव्वं तहेव भावो य ।
खेत्तं पुण आहारो, कालो नियमाउ आहेओ ॥१४०९॥

(अस्याः गाथायाः व्याख्या 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४४ पृष्ठे गता ।) विशे० । स्थापनीये द्रव्ये च । भावे यत् । आधाने, न० । वाच० ।

आधे(हे)वच्च न० (आधिपत्य) अधिपतेर्भाव: कर्म्म वा पत्यन्तत्वात् यक् । स्वामित्वे, ''अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धं, राज्यं सुराणा-मपि चाधिपत्यम् ''गीता० । वाच० । यक्षाणामाधिपत्यं च, राजराजत्वमेव च'' । भा० । व० । राजकार्य्ये प्रजापालनादौ, ''दुर्य्योधनं तत्त्वहितं वै निगृह्य, पाण्डोः पुत्रं प्रकुरुष्वाधिपत्ये । अजातशत्रुर्द्धि विमुक्तराज्यो, धर्म्मणेमां पृथिवीं शास्तु राजन्।'' भा० । व० । प० । ९ । अ० । वाच० । ''आहेवच्चं'' (सूत्र-४६+) । प्रज्ञा० २ पद । अधिपते: कर्म्माधिपत्यम् । रक्षायाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि० १ उ० १७७ सूत्रटी० । आ० म० । प्रज्ञा० । भ० । कल्प० । ज्ञा० । विपा० । जं० ।

आधोधि(होहि)य पुं० (आधोऽवधिक) नियतक्षेत्रविषयाऽवधि-ज्ञानिनि, भ० ।

आहोहिए णं भंते! मणुस्से जे भविए अन्नयरेसु देवलोएसु उववज्जइ । (सुत्र-२९१+)

'आहोहिए णं' ति, आधोऽवधिकः-नियतक्षेत्रविषयाऽवधि-ज्ञानी । भ०७ श०७ उ० ।

नमिस्स णं अरहओ एगूणत्तालीसं आहोहियसया होत्था । (सूत्र-३९×)

'आहोहिय' त्ति- नियतक्षेत्रविषयावधिज्ञाननस्तेषां शतानि । स० ३९ सम० । प्रतिनियतक्षेत्रावऽवधिज्ञाने च० न० ।

केवली णं भंते ! आधोऽधियं जाणइ पासइ । (सूत्र ५४८+)

'आहोहियं' ति, प्रतिनियतक्षेत्रावधिज्ञानम् । भ० १४० श० १० उ० ।

आप(व) पुं० आप-आप्यते । आप् कर्म्मणि घञ्- अष्टसु वसुषु चतुर्थे वसौ वसौ, अपां समूहः अण । जलंसमूहे न० । आकाशे निरुक्त० । तस्य सर्वमूर्त्तसंयोगित्वात्तथात्वम् । वाच० । व्याप्तौ, आपूः व्याप्तिः । भ० १ श० ६० उ० ५० सूत्रटी०

आप(व)इ स्त्री० (आपद्) आ-पद् सम्पता क्विप् ।

आपद्विपद्संपदां दइः ॥८ ।४ ।४०० ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण आपत् शब्दद्कारस्य इकारः । ''अणउ- करन्हतो पुरिसहो, आवइ आवइ'' (अनयम् -अन्यायं) कुर्वतः पुरुषष्य आपत् आयाति । प्रा० दुं । **पो वः ॥८ ।१ ।२३१ ॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण स्वरात्परस्य पस्य वः । विपत्तौ, प्रा० । ''दुहओ गइ बालस्स, आवई वहमूलिया'' ॥१७+॥ आपदो-विपदः । उत्त० ७ अ० । ''संभम-भयाऽऽउरा- ऽऽवइ'' ॥१३+॥ आवई चउव्विहा- दव्वखेत्त- कालभावाऽऽवई । दव्वाऽऽवई-दव्वं दुल्लहं । खेत्ताऽऽवई-बोच्छिन्न- मंडबाई । कालाऽऽवई-ओमाई । भावाऽऽवई-गुरुगिलाणाई । (इति तच्चूर्णिः) । द्रव्यक्षेत्र- कालभावैस्तत्र- द्रव्यापत् -कल्पनीयाशनादिद्रव्यदुर्लभता १, क्षेत्राऽऽपत् -प्रत्यासन्नग्रामनगरादिर-हितमल्पं च क्षेत्रम् २, कालाऽऽपद् दुष्कालादि ३, भावाऽऽपद् -ग्लानत्वादि ४ । जीत० । द्रव्याऽऽपत् -प्रासुकादिद्रव्यालाभः, क्षेत्राऽऽपत्कान्ता- रक्षेत्रपतितत्वं, कालाऽऽपत्- दुर्भिक्षकालप्राप्तिः भावापत्- ग्लानत्वमिति । प्रतिषेवणायाः पञ्चमे भेदे, भ० २५ श०७ उ० ७९९ सूत्रटी० । ''आउरे अवाईसु य'' (सूत्र-७७३+) तथा आपत्सु द्रव्यादिभेदेन चतुर्विधासु, तत्र द्रव्यतः- प्रासुकद्रव्यं दुर्लभं, क्षेत्रतोऽध्वप्रतिपन्नता, कालतो दुर्भिक्षं, भावतोग्लानत्वमिति । उक्तं च- ''दव्वाइअलंभे पुण चउव्विहा आवया होइ'' इति । स्था० १० ठा० ३ उ० । व्य० । नि० चू० । आ० चू० । ''आवईसु दढधम्मया'' (सूत्र-३२+) प्रशस्तयोगसंग्रहाय साधुना-ऽऽपत्सुद्रव्यादिभेदासु, दृढधर्मता कार्य्या सुवरां तासु दृढधर्म्मिणा भाव्यमित्यर्थः । स० ३२ सम० ।

उदाहरणादियोगः-

उज्जेणीऍ धणवसू, अणगारे, धम्मघोसचम्पाए ।
अडवीए सत्थविब्भम-वोसिरणं सिज्जणा चेव ॥१२८१॥

अस्याः व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदम्- ''उज्जेणी-नयरी, तत्थ धणवसू वाणियओ, सो चंपं जाउकामो उग्घोसणं कारेइ । जहा (णाए) धन्नो, एयं अणुण्णवेइ धम्म-घोसो नाम अणगारो, तेसु दूरं अडविमइगएसु पुलिन्देहिं विलोलिओ सत्थो इओ तइओ नट्ठो, सो अणगमारो अण्णेण लोएण समं अडविं पविट्ठो, तेमूलाणि खायंति

पाणियं च पियंति, सो निमंतिज्जइ, नेच्छति, आहारजाए एगत्थ सिलायले मत्तं पच्चक्खायं, अदीणस्स अहियासेमाणस्स केवलनाणं समुप्पन्नं सिद्धो, दढधम्मयाए योगा संगहिया, एसा दव्वाऽऽवती १, खेत्ताऽऽवती-खेत्ताणं असतीए २, कालाऽऽवती-ओमोदरियादि ३।

भावाऽऽवतीए ४- उदाहरणगाह-

महुराए जउणराया, जउणावंकेण दंडमणगारे।
वहणं च कालकरणं, सक्काऽऽगमणं च पवज्जा ॥१२८२॥

व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदम्- ''महुराए नगरीए जउणो राया, जउणावङ्के उज्जाणं अवरेण, तत्थ जउणाए कोप्परो दिन्नो, तत्थ दण्डो अणगारो आयावेइ, सो रायाए णिंतेण दिट्ठो, तेया रोसेण असिणा ससिं छिन्नं, अन्ने भणन्ति-फलेण आहवो, सव्वेहिं वि मणुस्सेहिं पत्थररासीकओ कोवोदयं पइ तस्स वेयणाउदयं भावयंतस्स आवती, कालगतो सिद्धो, देवागमणं महिमाकरणं, सक्कागमणं पालएणं विमाणेण तस्स वि य रन्नो अधिती जाया, वज्जेण भेसिओ सक्केण जइ पव्वयसि तो मुञ्चसि पव्वइओ थेराण अन्तिए अभिग्गहं गेण्हइ जइ भिक्खागओ संभरामि तो ण जेमेमि जइ दरजिमिओ ता सेसंगं विगिंचामि एवं किर तेणं भगवया एगमवि दिवसं नाऽऽहारियं तस्स दव्वाऽऽवती, दण्डस्स भावाऽऽवती ४ ''आवईसु दृढधम्मत्त त्ति गयं''। आव० ४ अ०। हलन्तत्वाट्टाप्आपदाप्यत्र। वाच०।

आप(व)गा-स्त्री० (आपगा) आपेन-जलसमूहेन गच्छतिवहतिड। नद्याम्, दश०।

बहूसमाणि तित्थाणि, आवगाणं वियागरे ॥३७॥

बहुसमानि-तीर्थानि आपगानां-नदीनां व्यागृणीयात् सा- ध्यादिविषय इति। दश० ७ अ०२ उ०।

आवच्चिज्ज-पु० (अपत्य) सन्ताने, कल्प०। ''एए णं सव्वे अज्जसुहमस्स अणगारस्स आवच्चिज्जा'' एते सर्व्वे आर्यसुधर्मण: अनगारस्य अपत्यानि शिष्यसन्तानजा इत्यर्थ:। कल्प०२ अधि०८ क्षण।

आप(व)डण-न० (आपतन) आ-पत। भावे ल्युट्।

आगमने, प्राप्तौ, ज्ञाने (क्वचित्प्राकरणिकादर्थादप्राकरणिकस्या-पतनम्) साहि०। दैववशात् पतने च। वाच०। प्रस्फोटने ध० ३ अधि०२४ श्लोकटी०। प्रस्खलने च। ओघ ३१२ गाथाटी०। ''आवडणं विसमखाणुकंटेसु''। (९१०×)। विषमे वा स्थाणौ वा आपतनं-प्रस्खलनं भवति। बृ०१ उ०३ प्रक०। आपतनं नाम-यद् भूमिमसंप्राप्तस्य संप्राप्तस्य वा जानुकूर्पराभ्यां प्रस्खलनम्। बृ०२ उ० १५१ गाथाटी०। ''आवडणे लहुगं'' ॥२११+॥ आवडणं-पक्खलणं तं पुण भूमिअसंपत्तो संपत्तो वा जाणुकोप्परेहिं। नि०चू०१ उ०।

आप(व)डिय-त्रि० (आपतित) आ-पत्-क्त। हठादागते, दैवायत्तपतने च। वाच०। आस्फालिते च। 'दोऽवि आवडिया कुड्डे'' (४२+)। आपतितौ-भित्तौ आस्फालितौ। उत्त० २५ अ०।

आप(व)ण-पु० (आपण) आपण्यन्ते- विक्रीणन्त्यत्र आपण:। आधारे घञ्। हट्ट० ''पणियाऽऽवणविविह'' (सूत्र-१×) पणितानि-भाण्डानि तत्प्रधाना:- आपणा:- हट्टा:। औ०। भ०। आ० म०। कल्प०। प्रश्न०। द्वा०। विशे०। ज्ञा०। ''आवणसिंघाडग'' (सूत्र-१३४+)। अनु०। द्वा०। वीथ्याम् न०। ''कोलचचुण्णाइं आवणे'' ॥७१+॥ दश० ५ अ० १ उ०। पण्यस्थाने, प्रश्न० ३ संव० द्वारा २६ सूत्रटी०। क्रयविक्रयद्रव्यशालायां च। वाच०। ''शकटाऽऽपणवेशाश्च, वणिजो वन्दिनस्तथा। नराश्च मृग-याशीला:, शतशोऽथसहस्रश:''। भा० व० प० अ०२३८। ''भक्ष्यमाल्या-ऽऽपणानाञ्च, ददृशु: श्रियमुत्तमाम्'' भा० स० प० ४ अ०। (आपण: पण्यवीथिका) (आपणो विक्रयस्थानम्) तेनैवोक्तम्। ''पूर्णाऽऽपणा विपणिनो विपणीर्विभेजु:। माघ०।'' वाच०।

आप(व)णगिह-न० (आपणगृह) आपणमध्यवर्त्तिगृहे, बृ०।

तथा च-

जं आवणमज्झम्मि, जं च गिहं आवणा य दुहओ वि।
तं होइ आवणगिहं, रत्थामुहरत्थपासम्मि ॥१७०॥

यद् गृहमापणमध्ये समतादापणै: परिक्षिप्तं तदापणगृहम्, यद्वा- मध्ये गृहम् 'दुहओ वि' त्ति- द्वाभ्यामपि च पार्श्वाभ्यां यस्याऽऽपणे भवन्ति तदापणगृहं भवति। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

आप(व)णवीहि-स्त्री० (आपणवीथि) रत्थाविशेषे, आ० म० १ अ० १८३ गाथाटी०। द्वा०। रा०। जी०। हट्टमार्गे, दश० १० अ०। जी० ज्ञा०। ''संमट्ठरत्थंतराऽऽवणवीहियं''। आपणवीथयश्च हट्टमार्गा:। कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

आप (व) ण्ण-त्रि० आपन्न- आ-पद क्त। आपद्ठास्ते, ''आपन्न: संसृतिं घोरां, यन्नाम विवशो गृणन्। तत: सद्यो विमुच्येत, यद् बिभेति स्वयं भयम्''। भाग०। ''आपन्नाभयसत्रेषु, दीक्षिता: खलु पौरवा:''। शकु०। ''आत्मापराधादापन्नस्तत् किं भीमं जिघांससि'' भा० स्त्री० प० १३ आ०। वाच०। आश्रिते, ''इमं दरिसणमावण्णा, सव्वदुक्खा विमुच्चइ'' ॥१९॥ सूत्र० १ श्रु १ अ० १ उ०। अनु०। उत्पन्ने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ३६-३७ सूत्रटी०। प्राप्ते, ''जो जाहे आवन्नो'' (१२४५)। आव० ४ अ०। आवण्णो प्राप्त उच्यते। नि०चू० १ उ० २५९ गाथाटी०। ''आवण्णा दीहमद्धाणं, संसारम्मि अणंतए'' (१३×)। आपन्ना:- प्राप्ता:। उत्त० १ अ०। व्याप्ते, नि०।

आप(व)ण्णपरिहार-पु० (आपन्नपरिहार) भावपरिहारभेदे, नि०चू०।

(भाष्यम्)

मासादी आवण्णे, तेण उ पगयं न अन्नेहिं ॥२३॥

आवण्णपरिहारो पुण जो मालियं वा० जाव छम्मासियं

वा पायच्छित्तं आवण्णो। नि० च०२० उ०। यत् मासिकं यावत् षाण्मासिकं वा प्रायश्चित्तमापन्नं तत आपन्ने अपरिभोगेऽपि वर्त्तते, परिह्रियते इति परिहारः, कर्म्मणि घञ् आपन्नमेव परि-हारः आपन्नपरिहार इति व्युत्पत्तेः तथाचाह- 'मासादी आवन्ने' इति- मासादिकं यत् प्रायश्चित्तस्थानमापन्नं तत् आपन्ने-आपन्नपरिहारे द्रष्टव्यं; मासादिकं यत् प्रायश्चित्तस्थानमापन्नं तत् आपन्न परिहार इति भावः अथ वा-परिहरणं परिहार इति भावे घञ्, आपन्नेन- प्रायश्चित्तस्थानेन परिहारो वर्जनं साधोरिति गम्यते। आपन्नपरिहारः। तथा हि-स प्रायश्चित्ती अविशुद्धत्वात् विशुद्धचरणैः साधुभिर्यावत्प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या न शुद्धो भवति तावत् परिह्रियते, इह तेन आपन्नपरिहारेण प्रकृतमधिकारो; न शेषै परिहारैः। व्य० १ उ० २९ गाथाटी०।

आप(व)ण्णसत्ता–स्त्री० (आपन्नसत्त्वा) आपन्नः-उत्पन्नः सत्त्वो- जीवो गर्भे यस्याः सा। ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ३७ सूत्रटी। गर्भिण्यां स्त्रियाम्, ''सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विशः। रघु०। वाच०।

आप(व)त्ति–स्त्री० (आपत्ति)। आप-पद्क्तिन्। आपदि, आपच्च-रोगाद्यभिभूतावस्था सम्यग् वर्तनोपायानुपलम्भश्च। वाच०। आपादने, व्य०। आपत्तिः–प्रायश्चित्तस्याऽऽपादनम्। व्य०१ उ०१ प्रक० १६७ गाथाटी०। प्राप्तौ ''संवेगात्समरसापत्त्या ।८×।'' आपत्तिश्च प्राप्तिः। षो०९ विव० ८ श्लोकटी०।

जं जं न भणियमिहयं, तस्सावत्तीए दाणसंखेवं।
भिन्नाइया य वुच्छं, छम्मासं ताय जीएणं ॥६०॥

'जं जमिच्चाइ'। इह जीयववहारे जं जं पच्छित्तं न भणियं अवराहमुद्दिसिऊण तस्सावि आवत्तिविसेसेण दाणसंखेवं भणामि। आवत्ती-पायच्छित्तट्ठाणसंपत्ती। सायनिसीहकप्प-ववहाराभिहिया। सुत्तओ, अत्थओ य। आणाअणव-त्थमिच्छत्तविराहणा सवित्थरा। तवसो यसो य तवो पणगादी छम्मासपज्जवसाणो अणेगाऽऽवत्तिदाणविरयणालक्खणो तेसु सव्वेसु गंथेसु। इह पुण जीयववहारे संखेवेणं आवत्तीदाणं निरूविज्जइ ॥६०॥

भिन्नो अविसिट्ठो चिय, मासो चउरो य छच्च लहु गुरुया।
निव्वियगाई अट्ठम-भत्तऽन्तं दाणमेएसिं ॥६१॥

'भिन्नो अविसिट्ठ' इच्चाइ। 'भिन्न' इति ससमयसन्ना; पंचवीसं २० दिवसा भिन्नसद्देण घेप्पन्ति। सो य अविसिट्ठो एक्को चेव। अविसिट्ठगहणाओ य सव्वपणगाई मेया घेप्पन्ति। पणगं- लहुगं, गुरुगं च; दसगं- लहुगं गुरुगं च; पन्नरसगं-लहुगं गुरुगं च; वीसगं-लहुगं, गुरुगं च; पंचवीसगं- लहुगं, गुरुगं च। एस भिन्नमासो बहुभेओ वि एक्को चेव घेप्पइ। एसो य सुयववहारो जेसु जेसु अवराहेसु भणिओ तेसु तेसु चेव अवराहेसु जीएण सव्वत्थ निव्विगई। भिन्नो अविसिट्ठो चिय एवं वक्खाणियं। इयाणिं 'मासो' त्ति-सो य लहुमासो, गुरुमासो य। एत्थ य लहुमासे पुरिमड्ढं। गुरुमासे एक्कासणयं। चउरो य छच्च मासा सम्बज्झन्ति। तत्थ लहुचउमासे आयामं। चउगुरुमासे चउत्थं। छल्लहुमासे छट्ठं। छगुरुमासे अट्ठमं। एवं सुत्तनिद्दिट्ठाऽऽवत्तिं जहावराहं जाणिऊण जीएण निव्विइयाइ-अट्ठमभत्तन्तं

तवं देज्जा।

इय सव्वाऽऽवत्तीओ, तवसो नाउं जह-क्कमं समए।
जीएण देज्ज निव्वी- इगाइ दाणं जहाऽभिहियं ॥६२॥

'इय सव्वाऽऽवत्तीओ इच्चाइ। 'इय' एवं–एएण पगारेण 'सव्वाऽऽवत्तीओ' सव्वतवट्ठाणाइं। 'जहक्कमं'- पायच्छित्ताणु- लोभेण। समए-सिद्धंते। 'जीएण देज्जा'। निव्विइयाइयं दाणं जह जह भणियं तहा तहा 'देज्ज' त्ति-भणियं होइ। (इति चूर्णिः)। जीत०। इहजीतव्यवहारे अपराधमुद्दिश्य यद्यत्प्राय-श्चित्तेन भणितं तस्याऽप्यापत्तिविशेषेण दानसंक्षेपं वक्ष्ये आपत्तिश्चअमुकातिचारेऽमुकस्य तपसः प्राप्तिरिति, सा च निशीथकल्पव्यवहारादिषु विस्तरेणाभिहिता। जीत०। व्याप्तौ भ०१ श०६ उ०५ सूत्रटी०। उद्भूतौ, विशे० ६९ गाथाटी० अनिष्टप्रसङ्गे च। स च व्याप्यस्याहार्य्यारोपात् व्यापकस्या- हार्य्यारोपः यदि निर्वह्निः स्यान्निर्धूमः स्यादित्येवं रूपः। वाच०।

आप(व)त्तिसुत्त–न० (आपत्तिसूत्र) शिष्यगतप्रतिसेवनाद्वारेणा-ऽऽपन्नप्रायश्चित्तमिधायिनि सूत्रे, नि० चू०। प्रतिसेवनायां सत्यां प्रागश्चित्तापत्तिः स्यात् इत्यापत्तिसूत्राण्युच्यन्ते-जे भिक्खू बहुसो मासियं पडिसेवित्ता आलोइज्जा (१) बहुसो वि, बहुसो, वि बहुसो पंच पडिसेवित्ता आलोइज्जा (२) इति प्रत्येक-बहुससूत्रम्, जे भिक्खू मासियं वा दो मासियं, तेमासियं, च (३) इत्यादि सकलसंयोगसूत्रम्, जे भिक्खू बहुसो मासियं बहुसो दो मासियं बहुसो तेमासियम् (४) इत्यादि बहुसंयोगसूत्रम्, एत-त्सूत्रचतुष्टयमेतावता ग्रन्थेन सूत्रोपात्तं व्याख्यानम्। नि० चू० २० उ०। आवत्तीए अहिगो दिज्जति, नि० चू० २० उ० ५ सूत्रव्याख्याने।

(संपूर्णसूत्रपाठस्त्वेवम्)

जे भिक्खू बहुसो मासियं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं पलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासियं ॥६॥ जे भिक्खू बहुसोवि दोमासियं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासिअं पलिउंचिअं आलोएमाणस्स तिमासियं ॥७॥ जे भिक्खू बहुसो तिमासिअं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचिअं आलोएमाणस्स तिमासियं पलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं ॥८॥ जे भिक्खू बहुसोवि चाउम्मासियं परिहारंट्ठाणं परिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं पलि-उंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं ॥९॥ जे भिक्खू बहुसोवि पंचमासियं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलो-

एज्जा अपलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं पलिउंचि- अं आलोएमाणस्स छम्मासियं तेण परं पलिउंचियं वा अपलिउंचियं वा आलोएमाणस्स ते चेव छम्मासा ॥१०॥ नि० चू०२० उ०।

निसीहस्स पच्छिमे उद्देसगे तिविहभेदा सुत्ता, सव्वे तीसं सुत्ता, तत्थ आवत्तिसुत्ता जे दस तेसिं चउरो सुत्तेणेव भणिता, इमे अत्थतो छ जाणियव्वा तं जहा-सातिरेगसुत्तं १, बहु-ससातिरेगसुत्तं २, सातिरेगसंजोगसुत्तं ३, बहुससातिरेगसंजोग-सुत्तं ४, णमवं सगलस्स सातिरेगस्स य संजोगसुत्तं ५, दसमं बहुसस्स बहुससाइरेगस्स संजोगे सुत्तं ६, एवं एतेसु दससु आवत्तिसुत्तेसु सणिएसु एते णेव विहिणा दस आलोयणासुत्ता भाणियव्वा। नि० चू० २० उ०।

'इमे अत्थउ' त्ति- अर्थो-व्याख्यानं-भाष्यादिकं तस्मात् षट्बोद्धव्यानि ''तं जहे'' त्यादि, ''जे भिक्खू मासाइरेगदो- मासियमि'' (१) त्यादि, सातिरेकसंयोगसूत्रम्- ''जे भिक्खू बहुसो सातिरेगमासियं, बहुसोसाइरेगदोमासियं (२) च'' इत्यादि। बहुससातिरेकसंयोगसूत्रम्, ''जे भिक्खू मासियं सातिरेकमासियं (३)''। ''जे भिक्खू दुमासियं सातिरेकदुमासियं चे (४)'' त्यादि, सकलस्य सातिरेकस्य च संयोगसूत्रम्, ''जे भिक्खू बहुसो मासियं बहुसो सातिरेकमासियं च'' (५)। ''जे भिक्खू बहुसो दुमासियं, बहुसो सातिरेकदुमासियं चे'' (६) त्यादि। बहुससातिरेगस्स य संजोगसुत्तं इत्येवमापत्तिसूत्राणि दश कथितानि। नि० चू० २० उ०।

आप(व)य–त्रि० (आपद्) आपदं ददातीत्यापद्: रोगादिके पुरुषादिके च। आतु०।

आप(पि)लव–पु० (आप्लव)- आ-प्लु-घञ् -भावे। पक्षे अप्। स्नाने, जलानां सर्व्वतः समुच्छलने, ल्युट्-आप्लवनं तत्रैव। न०। वाच०। **लात्॥८।२।१०६॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण लकारात् पूर्वं इकारः। प्रा०।

आप(य)सरीरअणवकंखवत्तिया–स्त्री० (आत्मशरीरानवकाङ्क्षाप्रत्यया)- अचवकाङ्क्षाप्रत्ययक्रियाभेदे, स्था०। तत्रात्मशरीरानवकाङ्क्षाप्रत्यया सा स्वशरीरक्षतिकारिकर्म्माणि कुर्वतः क्रिया भवति। स्था० २ ठा० १ उ० ६० सूत्रटी०।

आपहल्लिय–त्रि० (आघूर्णित) 'आघुम्मिय' शब्दार्थे, प्राः ४ पाद।

आपा(वा)ग(य)–पु० (आपाक) समन्तात्परिवेष्ट्य पच्यतेऽत्र आ-कृच्। आधारे घञ्। कुम्भकारस्य मृण्मयपात्रपचनस्थाने, वाच०। तथा च-''कुंभकाराऽऽवाएइ वा कवेल्लुवाऽऽवाएइ वा इट्टाऽऽवाएइ वा'' (सूत्र-५९७+)। कुम्भकारेस्यापाकोभा-ण्डपचनस्थानम्, कवेल्लुकानि प्रतीतानि तेषामापाकः प्रतीत एव। स्था०८ ठा०३ उ०। भावे घञ्। ईषत्पाके सम्यक् पाके पुटपाकेच। वाच०।

आबाड–पु० (आबाड) स्वनामख्याते चिलातजातौ, ''उत्तर-डुभरहे वासे बहवे आबाडा णाम चिलाता परिवसंति त्ति''। आ० चू० १ अ०।

आपा(वा)य–पु० (आपात)हठात्- अविवेकात् कारणान्तरसाचिव्याभावेऽपि आगत्य पातः। अतर्कितागमने, ''गरुडापात- विश्लिष्ट-मेघनादास्त्रबन्धनः'' रघुः ''तदापातभयात् पथि कुम्भा०। आपतत्यत्राधारे घञ्। उपक्रमे ''आपातरम्या विषयाः पर्य्यन्त- परितापिनः'' किरा० ''आपातरम्याः तत्काल-रमणीयाः'' मल्लि०। उपक्रमे च ''मध्वापात इति मनुः। मध्वापातो मधुरोपक्रमः'' कुल्लू। वाच०। ''आपातभद्रते'' (सूत्र-२५५×)। आपतनमापातः। प्रथममीलके। स्था० ४ ठा० १ उ०। तत्प्रथमतया संसर्गे भ०।

तस्स भोयणस्स आवाए भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणम-माणे परिणममाणे दुरूवत्ताए दुग्गंधत्ताए जहा महस्सवए० जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ। (सूत्र-३०६)

आपातः- तत्प्रथमतया संसर्गः। भ० ७ श० १० उ०। आभि-मुख्येन समवाये, ''आवाए सव्वदव्वाणं'' ॥२६३४॥ सर्वेषामपि जीवादिद्रव्याणामापाते- आभिमुख्येन समवाये निष्पद्यते इति शेषः। विशे०। अभ्यागमे, ''अणावायमसंलोए'' (२९६×) न आपातः-अभ्यागमः, स्वपक्षपरपक्षयोर्यस्मिन् स्थण्डिले तदनापातः। ओघ०। बृ०। ''तत्थाऽऽवायं दुविहं'' (२६७+) तत्र आपातं-स्थाण्डिलं द्विविधम्-द्विप्रकारम्। ओघ०। बृ०। (अस्य बहुभेदाः 'थंडिल' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते)'' अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा'' (सूत्र-२९+) अनापाते-विजने, असंलोकेच सन्ति-भेत्। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० प्राप्तौ आपातः विषयप्राप्तिः। आ० चू० १ अ०।

***आपाद**–पु० (आ-पद घञ्)। फललाभे, आगतौ च पादपर्य्यन्तम्। अव्य०। पादपर्य्यन्ते, अव्य०। वाच०।

आपा(वा)यभद्दय–पुं० (आपातभद्रक) आपातनमापातः- प्रथममीलकस्तत्र भद्रको-भद्रकारी दर्शनाऽऽलापादिना सुखकरत्वादापातभद्रकः। प्रथममीलके दर्शनाऽऽलापादिना सुख-करे, स्था०। '' आवायभद्दए णाममेगे, णो संवासभद्दए (सूत्र- २५५×)। स्था० ४ ठा० १ उ०।

आपायावच्च–न० (आप्राजापत्य) अहोरात्रभवे एकोनविंशतितमे स्वनामख्याते मुहूर्त्ते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

आपुच्छणा–स्त्री० (आप्रच्छना) आपृच्छायाः करणमाप्रच्छना। पञ्चा० १२ विव० २६ गाथाटी०। प्रश्नकरणे, पञ्चा० १२ विव० २ गाथाटी०। भ०। ''आपुच्छणा उवाइयं दोहला'' (सूत्र-२९+) 'आपुच्छण' त्ति-भर्त्तुरापृच्छा-''इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया'' इत्यादिकां। विपा० ८ अ०। आमर्य्यादया तथाविधविनयलक्षणया, अभिविधिना वा सर्वप्रयोजनाभिव्याप्तिलक्षणेन प्रच्छनं गुरोः प्रश्नकरणमा-प्रच्छना। पञ्चा० १२ विव० २ गाथाटी०। सामाचारीभेदे, प्रव० १०१ द्वार ७६८ गाथाटी०। सा च कर्त्तुमभीष्टे कार्य्ये प्रवर्तमानेन गुरोः कार्य्या-भगवन्! अहमिदं करोमीति। प्रव०

१०१ द्वार ७७३ गाथाटी०। आ०चू०। जीत०। ग०। अनु०। ''आपृच्छा'' ध० ३ अधि०। अयं भावः यत्कार्यं साक्षादाप्रष्टुं शक्यते विशेषप्रयोजनं च तत्र साक्षादापृच्छा, यत्तु मुहुर्मुहः सम्भवितया प्रष्टुमशक्यं तत्रापि बहुवेलसंदेशनेनापृच्छाऽऽवश्य- कीति। ध० ३ अधि०। ''आपुच्छणा य तइया''। (२×)। तृतीया आपृच्छना यतो हि श्वासोच्छ्वासादिकं त्यक्त्वा अपरं सर्वं कार्यं गुरोः पृच्छां विना न कार्यम् तस्मादेषा आप्रच्छना। उत्त० २६ अ०। ''आपुच्छणा सयंकरणे'' (५+)। स्वयम् आत्मना कार्याणां करणे गुरोः आप्रच्छना कर्त्तव्या, न च गुरौ सति स्वबुद्धयैव गुरुम् अनापृच्छ्य कार्यं कर्तव्यमिति भावः। उत्त० २६ अ०। आङिति- सकलकृत्याभिव्याप्त्या प्रच्छना, प्रच्छना- इदमहं कुर्यां न वेत्येवंरूपा तां स्वयमित्यात्मनः करणं कस्यचिद्विवक्षितकार्यस्य निवर्तनं स्वयंकरणम्। तस्मिन्, उत्त० पाई० २६ अ०। उच्छ्वास- निःश्वासौ विहाय सर्वकार्येष्वपि स्वसंबन्धिषु गुरवः पृष्टव्याः, अतः सर्वविषयमपि प्रथमतः प्रच्छनमापृच्छेत्युच्यते तथा च निर्युक्तिकृता सामान्येनैवाभिहितम्- ''आपुच्छणा उ कज्जे'' ति। उत्त० २६ अ०। आ०म०।

तथा च-

आउच्छणा उ कज्जे, गुरुणो गुरुसम्मयस्स वा णियमा।
एवं खु तयं सेयं, जायति सति णिज्जराहेऊ ॥२६॥

व्याख्या- आपृच्छायाः करणम् आपृच्छना, तुशब्दः पुनरर्थः तत आपृच्छना पुनः कार्ये- ज्ञानादिसाधने प्रयोजने सति कार्येति शेषः कस्येत्याह- गुरो रत्नाधिकस्य, तत्संमतस्य वा गुरुबहुम- तस्य वा स्थविरादेः वाशब्दो विकल्पार्थो, नियमात्- अवश्यंभावेन, अथ कस्मादेषा विधेयेत्याह- एवं 'खु' एवमेव; गुर्वाद्यापृच्छापूर्वकमित्यर्थः तत्कार्यं श्रेयोऽतिशयेन प्रशस्यं जायते- भवति सकृत्सदा निर्जराहेतुकर्म्मक्षयकारणमिति कृत्वेति गाथार्थः।

अथ कथमापृच्छाविषयभूतं कार्यं श्रेयः स्यादित्यत आह-

सो विहिना या तस्सा- हणम्मि तज्जाणा सुणायंति।
सन्नाणा, पडिवत्ती, सुहभावो मंगलं तत्थ ॥२७॥

व्याख्या- 'सो' त्ति-यः-आपृच्छ्यते स गुरुः गुर्वनुमतो वा, विधिज्ञाता चिकीर्षितकार्यस्य वस्त्रधावनादेर्विधानस्य वेदिता भवति, गीतार्थत्वात्, ततश्च तत्साधने अहमिदं कार्यं करोमी- त्येवंविधिज्ञातृगुरुनिवेदने, अथ वा-विधिप्रतिपादने सति स हि पृच्छ्यमानो विधिज्ञत्वाच्चिकीर्षित- कार्यविधिं साधयति, यथा-''अच्छोडपिट्ठणासु य न धुवे धोए पयावणं न करे'' इत्यादि ''तज्जाण' त्ति- विधिज्ञानं पृच्छकस्य भवति, ततश्च- 'सुनायं' ति- ''अहो गुरुणा जिनेन वा सुष्ठु ज्ञातं सकलसत्त्वा- नुपघातकत्वेन मुमुक्षोश्चोपग्राहकत्वेन निपुणमिदं दृष्टं, नैवं दर्शनान्तरीयैरिति'' एवंविधात् स्वज्ञानात्- स्वगतसद्बोधात् सकाशात् प्रतिपत्तिर्गुरुरेव जिन एवास इत्येवंभूता रुचिर्भवति, सा च शुभभावः- प्रशस्ताध्यवसायो वर्त्तते, स च मङ्गलं- विघ्नविघातकं वस्तु तत्र कार्ये प्रवर्तमानस्येतिशषः। अथ वा- स गुरुः विधिज्ञाताऽउपायज्ञः तत्साधनेचिकीर्षितकार्यनिष्पादने ततश्च तज्ज्ञानात् गुरोः सकाशात् यत् ज्ञानं तस्मात् सुज्ञानं कार्यं भवति सुज्ञानाच्च प्रतिपत्तिः- सम्यक् क्रियाभ्युपगमः सा च शुभो भावः शेषं तथैव इति गाथार्थः पञ्चा०१२ विव०।

आपुच्छा-स्त्री० आपृच्छा- आ-पृच्छ- अङ्। आलापे, जिज्ञा-सायाम्, आभाषणे-गतागतकाले, शुभे, प्रश्ने, आनन्दने च। वाच०। ''आपुच्छणा य कज्जे'' (६९७×) आपृच्छनमापृच्छा। समाचारीभेदे, सा च कुर्तुमभीष्टे कार्य्ये प्रवर्तमानेन गुरोः कार्य्या- अहमिदं करोमीति। आ०म० १अ०। (एतद्बहुवक्तव्यता 'आपुच्छणा' शब्देऽनुपदमेव गता)।

आपुच्छणिज्ज-त्रि० (आप्रच्छनीय) पृष्टव्ये, भ० १८ श० २ उ० ६१७ सूत्र। सकृत्पृष्टव्ये, ''आपुच्छणिज्जे'' (सूत्र ७×) आप्रच्छनीयः- सकृद् पृष्टव्यः। ज्ञा १ श्रु० १ अ०।

आपुच्छिता-अव्य० (आपृच्छ्य)- आ-पृच्छ ल्यप्। जिज्ञा-सित्वेत्यर्थे, वाच०। ''आपुच्छिता ण ठंति सद्धाणे'' (४४६+)। आपृच्छ्य प्रश्नार्हत्वाद्: गुरुमिति गम्यते इति। पं०व०२ द्वार।

आपूविय-त्रि० (आपूपिक) कर्मजबुद्धेर्दशमे उदाहरणभेदे अपूप-कर्त्तरि, च चामित्वाप्यपूपानां दलस्य मानं जानाति 'पूयइ' १ (सूत्र-६८×) नं०।

आपूरिय-न० (आपूरित) आ-पूर-क्त- यस्यापूरणं कृतम्। तस्मिन्, ''पहयदेवदुंदुहिनिनायाऽऽपूरियदिसामंडलं ''ति आ० म० १ अ० ३४३ गाथाटी०। अभिव्याप्ते च। वाच०। ''आपूरियं'' (२५१)। 'आपूरियं' ति- आपूरितं-संव्याप्तं भृतं वासितमित्यर्थः। विशे०।

आपूरिमाण-त्रि०। (आपूरयत्)- आपूरणं कुर्वति, ''सद्देणं तप्पएसे सव्वओ समंता आपूरेमाणे'' (सूत्रँ) शब्देन तान् प्रत्यासन्नान् सर्वतो-दिक्षु, समन्ततो-विदिक्षु आपूरयति शब्दन्तस्य साविदं रूपम्। रा०। जी०।

***आपूर्य्यमाण**-त्रि० आ-पूर-कर्मणि शानच्। सम्यक् पूर्य्यमाणे, वाच०। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ११ सूत्रटी०। समन्तात्प्रसृते ''आपूर्य्यमाणमचल- प्रतिष्ठं, समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्'' गीता०। आधारे शानच्। सूर्य्यकिरणैः पूर्य्यमाणचन्द्रस्याधारे पक्षे वाच०।

आफोडिय-त्रि० (आस्फोटित) करास्फोटे, प्रश्न०। आफोडियसीह- नाया'' (सूत्र-११×) आस्फोटितं-करास्फोटरूपम्। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

आबबहुल-न० (आपबहुल) रत्नप्रभायाः पृथिव्या अप्बहुले काण्डे, स०।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए आप (ब) बहुले कण्डे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते, गोयमा ! असीति-जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। (सूत्र-७२)। जी०३ प्रति १ उ०।

आबाह-न० (आबाध) आ-बाध-भावे अ। पीडायाम्, तापत्रये क्लेशे च। वाच०। मानसपीडायाम्, ''आबाहे च

भये वा'' (५९९×) आबाधं नाम-मानसी पीडा। बृ०१ उ०३ प्रक०। स्त्रीत्वे टाप्। तत्र मनःशरीराऽऽबाधकराणि शल्यानि। सुश्रु०। नास्ति बाधा यस्य पीडाशून्ये, त्रि०। वाच०।

आभंकर-पुं० (*आभङ्कर*) *। स्वनामख्याते महाग्रहे, सू०प्र०२० पाहु०७ गाथा ७१०७ सूत्र। कल्प०। चं०प्र०।*

दो आभरंकरा। (सूत्र-९०+)

स्था०२ ठा०३ उ०। स्वनामख्याते विमानभेदे च। स०३ सम०३ सूत्र।

आभरण-न० (आभरण)- आ-भृ कर्मणि ल्युट्। भूषणे, स्था० ८, ठा० ३ उ०। सू०प्र०। आ०म०। औ०। 'ललियकयाऽऽभरणे'' (सूत्र-) ललितानि-शोभमानानि कृतानि न्यस्तान्याभरणानि- सारभूषणानि यस्य स तथा। तं०। ''आभरणभूसणविराइयमंगु- वंगं'' (सूत्र-) आभरणानि-अङ्गपारधेयानि ग्रैवेयककङ्कणा- दीनि। कल्प० १ अधि० २ क्षण। ''आभरणेहिं विभूसिओ'' ॥९॥ आभरणैः- कुण्डलमुकुटहारादिभिः। उत्त०२२ अ०। ''घेत्तूणाऽऽभरणाइं'' (७२+) आभरणानि-वस्त्राणि। व्य० ५ उ०। ''पाण्डवानां सभामध्ये, दुर्योधन उपागतः। तस्मै गाश्च हिरण्यं च, सर्वाण्याभरणानि च''।१। वाच०। आभरणप्रधाने च। ''आभरणाणि वा'' (सूत्र० १४५+)। आभरणानि- आभरण- प्रधानानि। आचा०२ श्रु० १ चू०५ अ०१ उ०। भावे ल्युट्। सम्यक् पोषणे। च। वाच०।

आभरणचित्त-त्रि० (आभरणचित्र) आभरणैश्चित्राणिविचित्राण्याभरणचित्राणि। आभरणैर्विचित्रे, जी०३ प्रति०२ उ० १४७ सूत्र।

आभरणजहट्ठाणविविहपरिहाण-न० (आभरणयथास्थानविविधपरिधान) आभरणानां यथास्थानं विविधरूपेण परिधान-लक्षणे द्वाषष्टितमे कलाभेदे, कल्प १० अ०७ क्षण २११ सूत्र।

आभरणप्पिय-पुं० (आभरणप्रिय) पुरुषभेदे, बृ०।

आभरणपिए जाणसु, अलंकरिते उ केसमादीणि ।४२५× ।

केशादीनि माल्यादिभिरलङ्कारैरलङ्कुर्वतः पुरुषान् आभरण-प्रियान् जानीहि। बृ०१ उ०३ प्रक०।

आभरणविचित्त-त्रि० (*आभरणविचित्र*) *आभरणविभूषिते, आचा०। ''आभरणविचित्तानि वा'' (सूत्र-१४५×)। आभरण-विचित्राणिगिरिविडकादिविभूषितानि। आचा०२ श्रु०१ चू०५ अ०१ उ०१।*

आभरणविधि-पुं०। (आभरणविधि)- आभरणं-कटकादि तस्य विधिः-भेदाः आभरणविधिः। आभरणप्रकारेषु, बृ०१ उ०३ प्रक० ३२६ गाथा। कलाभेदे, नि०चू०९ उ०९४ गाथा। स०। ज्ञा०। जं०। ''आभरणविहिपरिमाणं करेइ''उपा०१ अ०। (सूत्रम् - 'आणंद' शब्देस्मिन्नेव भागे गतम्)

आभरणविभूसिय- त्रि० (आभरणविभूषित) आभरणालंकृते ''आभरणविभूसियाणि वा'' (सूत्र-१४५+)। आचा०२ श्रु०५ अ०१ उ०।

आभव-अव्य० (अभाव) आजन्मेत्यर्थे आसंसारमित्यर्थे, च। ''तव्वयणसेवणा आभवमखंडा'' ॥३४॥ तद्वचनसेवना- गुरुवचनसेवा, आभवम् -आसंसारम्। पञ्चा० ४ विव०। आभ- वमखण्डा-आजन्म, आसंसारं वा सम्पूर्णा। ल०। ''विसुज्झमाणे आभवं भावकिरियमाराहेइ'' (सूत्र-४×) आभवम् -आजन्म, आसंसारं वा भावक्रियं निर्वाणसाधकमाराधयति। पं० सू०।

आभवंताहिगार-पुं० (आभवदधिकार) व्यवहारभेदे, पं०भा०। ''ववहारो होई दुविहो, पच्छित्ते आभवंते य'' पं०भा०१ कल्प०। व्यवहर्तव्यभेदे च। व्य०। ''आभवंते य पच्छित्ते, ववहरियव्वं समासतो दुविहं'' ॥५९॥ व्य० १० उ०। (आभवद्व्यवहारः क्षेत्रविषयः उवसंपया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) आभ- वद्व्यवहाराधिकारे, व्य०।

आभवंताऽहिगारे उ, वट्टंते तप्पसंगया।
आभवंता इमे अण्णे, सुहसीलादि आहिआ ॥४३७॥

आभवदधिकारे वर्तमाने तत्प्रसङ्गाद् -आभवदधिकारप्रस- ङ्गादिमे-वक्ष्यमाणा अन्ये अभावन्तः-सुखशीलादयस्तु सुखशी- लादिप्रयुक्ता आख्याताः। व्य०४ उ०।

आभव्व-त्रि० (आभाव्य) समंताद्भवितुं योग्ये, व्य०। एते तेअनन्त-रोदिताः चिन्हं विमार्गयन्तः सन्तः अभिधारयन्तं यान्ति- अभिधारयत आभाव्या भवन्ति, शेषेषु पुनरनभिधारयत्सु आचार्यः-श्रुतगुरुस्वामी भवति। शेषा अनभिधारयन्तः श्रुतगुरोराभाव्या भवन्ति इत्यर्थः। उक्तं च- ''जइ ते अभिधारंती, पडिच्छंते पडिच्छगस्सेव। अह नो अभिधारंती, सुयगुरुणो तो उ आभव्वा'' ॥१॥ व्य०४ उ०। (अस्य बहुवक्तव्यता 'चरियापविट्ठ' शब्दे तृतीयभागे ११६४ पृष्ठे वक्ष्यते)

आभा-स्त्री० (आभा) आ-भा- अङ्। प्रभायाम्, प्रश्न०४ आश्र० द्वार १५ सूत्रटी०। दीप्तौ, वाच०। छायायाम्, जी०३ प्रति०१ उ० २१४- सूत्र। शोभायाम्, कान्तौ, उपनामे, वाच०।

स-पुं०। (आभास)- आभासते आ-भास अच्। उपाधितुल्यतया भासमाने प्रतिबिम्बे, दुष्टहेत्वादौ, वाच०। ''प्रमाणस्य स्वरूपादि चतुष्टयाद्विपरीतं तदाभासम्''इति ॥२३॥(रत्ना०) तद्वदाभासते इति। रत्ना० ६ परि०। *(अस्यसूत्रस्यार्थः 'पमाणाभास' शब्दे पञ्चमभागे* विस्तरतो वक्ष्यते) (हेत्वाभासाश्च पञ्चधा) भाषा०''सव्यभिचारविरुद्ध-प्रकरण-मसाध्यसमातीतकाला हेत्वा-भासाः'' गौतमसूत्र०। पक्षसत्वसपक्ष-सत्वविपक्षासत्वाबाधित-त्वासत्प्रतिपक्षत्वोपपन्नो हेतुर्गमकः स इवाभासत इति हेत्वाभासस्तेन तद्भिन्नत्वे सति तद्धर्मवत्त्वम् पञ्चरूपोपपन्नत्वाभावे सति तद्रूपेणाभासमानत्वं हेत्वाभासत्वमिति फलितार्थः ''हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः'' गौ० सूत्र०। एवं प्रमाणाभासो युक्त्या-भास आगमाभास इत्यादावपि प्रामाण्ययाद्यभाववत्त्वे सति प्रमाणादिरूपेणाभासमानत्वमर्थः। ''एवं बहवो विप्रतिपन्ना

युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः'' ॥ शा० भा० ॥ तथा च यद्वाचकपदोत्तरमाभासशब्दः प्रयुज्यते तस्य तुष्टत्वं तेन गम्यते । रसाऽऽभासादावपि तिर्य्यग्योन्यादिगतत्वेन परनायकगतत्वेन च दुष्टत्वाद्रसाऽऽभासत्वम् । पुनरुक्तवदाभासादौ च न दुष्टत्वम्, किन्तुपुनरुक्तभिन्नत्वेनाऽऽभासमानत्वात् वस्तुतोऽपुनरुक्तत्वमेव गम्यते इत्येव तत्र विशेषः। ''रस्यत इति रस इति व्युत्पत्ति-दर्शनात् भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते'' ॥ सा० द० ॥ तत्र रसाऽऽभासः ''मधुद्विरिफः कुसुमैकपात्रे'' इत्यादि । ''अत्र हि सम्भोगशृङ्गारस्य तिर्य्यग्विषयत्वाद्रसाऽऽभासत्वम्'' ।सा० द० । ''आपाततो यदर्थस्य पुनरुक्तावभासमानम् । पुनरुक्तवदाभासः'' ॥सा०द० । भावे घञ् । ३ तुल्यप्रकाशे, आभास्यतेऽनेन आ-भास- णिच् करणे अच् । ग्रन्थावतारणार्थं ग्रन्थाभिप्रायवर्णने व्याख्यानांशभेदे च । वाच० । (प्रत्यक्षाऽऽभासं 'पच्चक्खाऽऽभास' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) प्रत्यभिज्ञाऽऽभासम् 'पच्चभिण्णाऽऽभास' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यामि) (तर्काभासम् 'तक्काऽऽभास' शब्दे चतुर्थभागे दर्शयिष्यामि) (पक्षाऽऽभासम् 'पक्खाऽऽभास' शब्दे पञ्चमभागे निरूपयिष्यामि। अस्य बहवः प्रकारास्तान् तत्रैव दर्शयिष्यामि) (हेत्वाऽऽभासस्वरूपं तद्भेदाश्च 'हेउआभास' शब्दे सप्तमे भागे द्रष्टव्याः) (दृष्टान्ताऽऽभासाः) 'दिट्ठन्ताऽऽभास' शब्दे चतुर्थे भागे विस्तरतो विलोकनीयाः) (उपनयाऽऽभासस्वरूपम् 'उवणयाऽऽभास'' शब्देऽस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्यम्) (निगमनाऽऽभासः 'णिगमण' शब्दे चतुर्थभागे दर्शयिष्यमाणः) (आगमाऽऽभासः 'आगमाऽऽशब्देस्मिन्नेव भागे दर्शितः)

संप्रति संख्याऽऽभासमाख्यान्ति–

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादिसंख्यानं तस्य संख्याऽऽभासमिति ॥८५॥

प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद्धि प्रमाणस्य द्वैविध्यमुक्तम्; तद्वैपरीत्येन प्रत्यक्षमेव, प्रत्यक्षानुमाने एव, प्रत्यक्षानुमानागमा एव प्रमाण-मित्यादिकं चार्वाकवैशेषिकसौगतसांख्यादितीर्थान्तरीयाणां संख्यानं, तस्य प्रमाणस्य संख्याऽऽभासम् । प्रमाण संख्या-भ्युपगमश्च परेषामितोऽवसेयः–

''चार्वाकोऽध्यक्षमेकं सुगतकणभुजौ सानुमानं सशाब्दं, तद्-द्वैतं पारमर्षः सहितमुपमया तत् त्रयं चाऽक्षपादः। अर्थाऽऽपत्त्या प्रभाकृद्वदति च निखिलं मन्यते भट्ट एतत्, साभावं द्वे प्रमाण जिनपतिसमये स्पष्टतोऽस्पष्टतश्च ॥१॥''

अथ विषयाऽऽभासं प्रकाशयन्त–

सामान्यमेव, विशेष एव, तद द्वयं वा स्वतन्त्रमित्या-दिस्तस्य विषयाऽऽभासः इति ॥८६॥

सामान्यमात्रं सत्ताद्वैतवादिनो, विशेषमात्रं सौगतस्य तदुभयं च स्वतन्त्रं नैयायिकादेरित्यादिरेकान्तस्तस्य प्रमाणस्य विषया-ऽऽभासः । आदिशब्दान्नित्यमेवाऽनित्यमेव तद्द्वयं वा परस्पर-निरपेक्षमित्याद्येकान्तपरिग्रहः।

अथ फलाऽऽभासमाह–

अभिन्नमेव भिन्नमेव वा प्रमाणात्फलं तस्य तदाभासमिति ॥८७॥

अभिन्नमेव प्रमाणात्फलं बौद्धानां, भिन्नमेव नैयायिकादीनां, तस्य प्रमाणस्य तदाभासं फलाऽऽभासं; यथा फलस्य भेदाभेदैकान्तावकान्तावेव तथा सूत्रत एव प्रागुपपादितमिति। रत्ना० ६ परि० । (नयाऽऽभासस्वरूपभेदा बहवः, ते च 'णयाऽऽभास' शब्दे चतुर्थभागे दर्शयिष्यन्ते)

आभासिय–पुं० (आभाषिक)-म्लेच्छजातिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। प्रश्न।

***आभाषित**–त्रि० परस्परकथिते नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ०।

आभासिय–पुं० (आभाषि) (सि) क आभाषि (सि) कद्वीपजे मनुष्ये, जी० ३ प्रति० ३ अधि० १ उ०। स्था०। अन्तर-द्वीपिकमनुष्यस्त्रीभेदे च। टाप्। जी० २ प्रति०।

आभासियदीव-पु० (आभाषि) (सि) कद्वीप। अन्तरद्वीपभेदे, प्रज्ञा०। स च हिमवतः पर्वतस्य पर्य्यन्तादारभ्य दक्षिणपूर्वस्यां दिशि त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य द्वितीयदंष्ट्राया उपरि एकोरुकद्वीपप्रमाण आभासिकनामा द्वीपो वर्तते। प्रज्ञा० १ पद। कर्म०। स्था०। नं०।

कहि णं भंते! दाहिणिल्लाणं आभासियमणुयाणं आभासियदीवे नामं दीवे पण्णते? सूत्र (१११×) जी० ३ प्रति० ३ अधि० १ उ०। ('अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ९५ पृष्ठे संपूर्ण सूत्रं गतम्।)

स्त्री० (आभाषी) आभाषि (सि) कंद्वीपजे, मनुष्यस्त्रीभेदे, जी० ३ प्रति० ३ अधि १० उ० ११२ सूत्र।

आभिओग–पुं० (आभियोग्य) आ- समन्ताद् युज्यन्ते प्रेष्यकर्मणि व्यापार्य्यन्ते इत्याभियोग्याः । ध० ३ अधि० ८१ श्लोक। अभियोगं-व्यापारणमर्हन्तीत्याभियोग्याः । स्था० ४ ठा० ४ उ० । आ-समन्तात् आभिमुख्येन युज्यन्ते- प्रेष्यकर्मसु व्यापार्य्यन्त इत्याभियोग्या अभियोगिकाः।रा०। किंकरे, किंकरस्थानीये देवविशेषे च। स्था० ४ ठा० ४ उ०। रा०। ''अभियोगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा'' (सूत्र-+) रा०। अभिमुखं कर्मणि युज्यते- व्यापार्य्यते इत्याभियोग्यस्तस्य भावः कर्म वा आभियोग्यम् । ''व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्थायाः सरूपे वा'' ॥१।३।४७॥ इत्येकयकारस्य लोपः। जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० १४७ सूत्र टी०। अभियोग आज्ञाप्रदानलक्षणोऽस्यास्तीत्याभियोगी तद्भावः आभियोग्यम्। दश० ९ अ० २ उ०। कर्मकमरभावे, दश० ९ अ० २ उ० १० गाथा। कर्मकरकर्मणि च। जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० १४७ सूत्र टी०। 'आभिओगमुवट्ठिया'। आभियोग्यं कर्मकर-भावमित्यर्थः, उपस्थिताः प्राप्ताः। दश० ९ अ० २ उ० ५ गाथा टी०।

आभियोगता–स्त्री० (आभियोग्यता) अभियोगं व्यापारणमर्हन्तीत्याभियोग्याः– किंकरदेवविशेषास्तद्भावस्तत्ता । किंकरस्थानीयदेवविशेषत्वे, स्था०।

तत्कारणं दर्शितं यथा–

चउहिं ग्गणेहिं जीवा अभिओगत्ताए कम्मं पगरेंति। तं जहा- अणुक्कोसेणं परपरिवाएणं, भूइकम्मेणं कोउ-यकरणेणं। (सूत्र-३४५+)।

अभियोगं–व्यापारणमर्हन्तीत्याभियोग्याः-किङ्करदेवविशेषा स्तद्भावस्तत्ता तस्यै तया वेति आत्मोत्कर्षणआत्मगुणाभिमानेन, परपरिवादेनपरदोष-परिकीर्तने, भूतिकर्म्मणाज्वरितादीनां भूत्यादिभी रक्षादिकरणेन, कौतुकरणेनसौभाग्यादिनिमित्तं; परस्तपनकादिकरणेनेति, इयमप्येव मन्यत्र- ''कोउयभूईकम्मे, पसिणपसिणे निमित्तमाजीवी। इड्ढिरससाय-गरुओ, अभिजोगं भावणं कुणइ'' ॥१॥ इति। स्था०४ ठा०४ उ०।

आभिओगपण्णत्ति–स्त्री० (आभियोगप्रज्ञप्ति) विद्याधरसम्बन्धिनि विद्याभेदे, ''संकामणि (अ) आभियोगपण्णत्तिगमणीथंभणीसु य बहुसु विज्जाहरीसु विज्जासु विस्सुयजसे'' (सूत्र-१२२)। ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०।

आभिओगि(न्)–पुं० (अभियोगिन्) अभियोगआज्ञाप्रदानलक्षणो-ऽस्यास्तीत्याभियोगी। कर्मकरे, दश०९ अ०।

आभिओगिय–पुं०(आभियोगिक)- आभिमुख्येन योजनम् अभि-योगः प्रेष्यकर्मसु व्यापार्य्यमाणत्वम्। अभियोगेन जीवन्ती-त्याभियोगिकाः, ''चेतनादेर्जीवति''। इकणप्रत्ययः। कर्मकरे, रा०। ''आभिओगिएहिं'' (सूत्र-१४+)। आभियोगः- पारवश्यं प्रयोजनं येषां ते आभियोगिकाः। विपा०१ श्रु०२ अ०। अभियोगः प्रयोजनमस्येत्याभियोगिकम्। परतन्त्रताफले कर्म्मणि, पञ्चा० १२ विव० ७ गाथा। विद्यामन्त्रादौ च। ''आभिओगेहि य आभिओगिता'' (सूत्र-१४×)। अभियोगश्च द्वेधा। (स च 'अभिओग' शब्दे प्रथमभागे विस्तरतः प्रतिपादितः) विपा०१ श्रु०२ अ०। पराभिभवहेतौ, चूर्णादिकेच। ''आभिओगिए वा'' (सूत्र-९९×)। 'आभिओगिए' त्ति- पराभिभवहेतुरिति। ज्ञा०१ श्रु० १४ अ०। अभियोजनमभियोगः प्रेष्यकर्म्मणि व्या-पार्य्यमाणत्वमिति भावः। अभियोगे नियुक्ता आभियोगिकाः। देवविशेषे, ''आभिओगिए देवे सद्दावेति, आभिओगिए देवे सद्दावेत्ता एवं वयासी'' (सूत्र-१४१+) आभियोगिकान् देवान् शब्दायन्ते- आकारयन्ति शब्दाययित्वा च तानेवमेवादिषुः। जी०३ प्रति०४ अधि०२ उ०। रा०।

आभिओगिय–त्रि० (आभियोगित) वशीकरणयन्त्रमन्त्राभिसंस्कृते, आव०। ''आभिओगिए गहिए'' ॥७३+॥ आभियोगितेशी-करणाय मन्त्राभिसंस्कृते गृहीते सति आव०४ अ०।

आभिओगियक्खय–पुं० (अभियोगिकक्षय) अभियोगः प्रयोज-नमस्येत्याभियोगिकम्परतन्त्रताफलंकर्मतस्य क्षयोविनाश आभियोगिकक्षयः। परतन्त्रताफलकर्म्मणो विनाशे पञ्चा०।

एवं आणाराहण-जोगाओ आभियोगियक्खओ त्ति॥७×॥

एवम् -उक्तविषयेणेच्छाकाराप्रयोगविधिना आज्ञाराधन-योगादआप्तोपदेशपालनसम्बन्धात्; पराभियोगपरमार्थात् अभि-योगः प्रयोजनमस्येत्याभियोगिकंपरतन्त्रताफलं कर्म तस्य क्षयो-विनाश आभियोगिकक्षयो भवति। पञ्चा० १२ विव०।

आभिओगियभावणा–स्त्री० (आभियोगिकभावना) आसमन्तात् युज्यन्ते-प्रेष्यकर्मणि व्यापार्य्यन्ते इत्याभियोग्याः; किंकर- स्थानीया देवविशेषाः, तेषामियमाभियोगिकी। ध०३ अधि० ८१ श्लोक। सैव भावनाअभियोगिकभावना। भावनाभेदे ग०। (अस्याः भावनायाः स्वरूपं 'भावणा' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते)।

''मंता जोगं काउं, भूइकम्मं च जे पउंजंति।
सायरसइड्ढिहेउं, अभिओगं भावणं कुणइ ॥२॥''

(अस्या व्याख्या)– मन्त्राणामायोगो-व्यापारो मन्त्रयोगस्तम्, यदि वा-मन्त्राश्च योगश्च तथाविधद्रव्यसंयोगाः। सूत्रत्वान्मन्त्रयोगं तत् कृत्वाविधाय, व्यापार्य का, भूत्याभस्मना उपलक्षण-त्वान्मृदा सूत्रेण कर्मरक्षार्थं वसत्यादिपरिवेष्टनं भूतिकर्म्म चशब्दात्- कौतुकादि च यः प्रयुङ्क्ते किमर्थं सातंसुखं रसा माधुर्यादयः ऋद्धिः- उपकरणादिसंपत् एते हेतवो यस्मिन् प्रयोजने तत्कसातरसर्द्धिहेतुको भावः साताद्यर्थं मन्त्रयोगादि प्रयुङ्क्ते एवमाभियोगीं भावनां करोति इह च सातादिहेतोरभिधानं निस्पृहस्याऽपवादत् एतत् प्रयोगः प्रत्युत गुणः इति ख्यापनार्थम्। ग०२ अधि० ८२ गाथाटी०।

(आभियोगिकीभावनाफलम्)

**एयाणि गारवऽट्ठा, कुणमाणो आभिओगियं बंधइ।
वीयं गारवरहिओ, कुव्वं आराहगत्तं च ॥४८४॥**
बृ०१ उ०२० प्रक०।

(अस्याः गाथायाः व्याख्या 'अभिओगी' शब्दे प्रथमभागे गता)

आभिग्गहिय–त्रि० (आभिग्रहिक)- अभिगृह्यत इत्यभिग्रहः अभिग्रहेण निर्वृत्त आभिग्रहिकः- कायोत्सर्गस्तदव्यतिरेकात्त- त्कर्त्ताप्या-भिग्रहिकः। अभिग्रहनिर्वृत्ते कायोत्सर्गादौ, अभिग्रहनिर्वृत्तकायोत्सर्गादि-कारिणि च। आव०। ''उस्सासं न निरुंभइ, आभिग्गहिओ वि किमुअ चिट्ठाओ'' ॥१५१०×॥ ऊर्ध्वं प्रबलः श्वास उच्छ्वासः तं 'न निरुंभइ' त्ति-न निरुणद्धि 'आभिग्गहिओ वि' अभिगृह्यत इत्यभिग्रहः अभिग्रहेणनिर्वृत्त आभिग्रहिकः कायोत्सर्गस्तदव्यतिरेकात्कर्त्ताप्याभिग्रहिको भण्यते, असावप्याऽभिग्रहिककायोत्सर्गकार्य्यपीत्यर्थः। 'किमुत चेट्ठाओ' त्ति किं पुनश्चेष्टाकायोत्सर्गकारी स तु सुतरां न निरुणद्धीत्यर्थः। आव० ५ अ०। अभिग्रहः–चैत्यपूजनमकृत्वा मया न भोक्तव्यं न वा स्वाध्यायमित्यादिरूपो नियमः-प्रयोजन मस्येत्याभिग्रहिकः। अभिग्रहप्रयोजनके च। पञ्चा० ४ विव० ८ गाथाटी०। जिनकल्पकादौ, पुं०। आभिग्रहि-

को जिनकल्पिकादिः। सूत्र०१ श्रु० २, अ०२ उ०१४ गाथाटी०।

आभिग्गहियकाल–पुं० (आभिग्रहिककाल) अभिग्रहश्चैत्यपूजन-मकृत्वा मया न भोक्तव्यं; न वा स्वप्तव्यमित्यादिरूपो नियमः प्रयोजनमस्येत्याभिग्रहिकः स चासौ काल आभिग्रहिककालः। अभिग्रहप्रयोजनके काले, पञ्चा०।

तासिं अविरोहेणं, आभिग्गहिओ इहं मओ कालो।
तत्थावोच्छिण्णो जं, णिच्चं तक्करणभावो त्ति ॥८॥

पञ्चा०४ विव०। (आभिग्रहिककालस्य व्याख्या 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे करिष्यते।)

आभिग्गहियमिच्छत्त–न० (आभिग्रहिकमिथ्यात्व) मिथ्या-त्वभेदे, ध०। तत्राऽभिग्रहिकं पाषण्डिनां स्वशास्त्र-नियन्त्रितविवेकालोकानां परपक्षप्रतिक्षेपदक्षाणां जैनानां च धर्म्माऽधर्म्मवादेन परीक्षापूर्वं तत्त्वमाकलय्य स्वाभ्युपगतार्थं श्रद्दधानानां परपक्षप्रतिक्षेपद- क्षत्वेऽपि नाभिग्रहिकत्वम्, स्वशास्त्रनियन्त्रितत्वाद्विवेकालोकस्य। यस्तु नाम्ना जैनोऽपि स्वकुलाचारेणैवागमपरीक्षां बाधते, तस्या- भिग्रहिकत्वमेव, सम्यग्दृशोऽपरीक्षितपक्षपातित्वायोगात्, तदुक्तं हरिभद्र-सूरिभिः- 'पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥१॥'' इति गीतार्थनिश्रितानां माष-तुषादिकल्पानां तु प्रज्ञापाटवाभावाद्विवे- करहितानामपि गुणवत्पारतन्त्र्यान्न दोष इति भावः। तच्च नास्त्यात्मेत्या-दिषड्विकल्पैः षड्विधम्। ध०२ अधि० २२ श्लोकटी०।

आभिणिबोहियणाण–न० (आभिनिबोधिकज्ञान) अर्थाभिमुखो-ऽविपर्य्ययरूपत्वान्नियतोऽसंशयरूपत्वाद् बोधः-संवेदनमभि- निबोधः स एव स्वार्थिकेक्कप्रत्ययोपादानादाभिनिबोधिकम्, ज्ञातिर्ज्ञायते अनेनेति वा ज्ञानम् आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चेत्याभिनिबोधिकज्ञानम्; इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तो बोध इति। ज्ञानभेदे, भ०८ श०२ उ० ३१८ सूत्रटी०। स्था०।

विषयसूचना–

(१) आभिनिबोधिकज्ञानशब्दव्युत्पत्तिः।
(२) भेदाः आभिनिबोधिकज्ञानस्य।
(३) अवग्रहेहावाऽ(प) यधारणानां स्वरूपम्।
(४) अवग्रहप्ररूपणा।
(५) अवग्रहादीनां क्रमोपन्यासे प्रयोजनम्।
(६) अवग्रहस्य मल्लकदृष्टान्तेन प्ररूपणा।
(७) अष्टाविंशति १८ विधमाभिनिबोधिकम्।
(८) बहुतरभेदत्वं मतेः।
(९) अवग्रहादीनां संशयादित्वव्यपोहः।
(१०) आभिनिकधिकं चतुर्विधम्-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः।
(११) अवग्रहादीनां कालमानम्।
(१२) ईहादीनां संज्ञादीनां च आभिनिबोधिकत्वम्।
(१३) सत्पदप्ररूपणतादिभिरानिबोधिकज्ञानस्य प्ररूपणम्।

(१) आभिनिबोधिकज्ञानशब्दव्युत्पत्तिः-

अभि इति आभिमुख्ये, नीति नैयत्ये, ततश्चाभिमुखो वस्तु योग्यदेशावस्थानापेक्षी नियत इन्द्रियमनःसमाश्रित्य स्व- स्वविषयापेक्षी बोधनं बोधः अभिनिबोधः स एवाऽभिनिबोधिकम् (''विनयादिभ्यः'' ॥७।२।१६९॥ इति) विनयादेराकृगणत्वा- दिकण्प्रत्ययः अभिनिबुध्यत इत्यभिनिबोध इति कर्त्तरि लिहादि (५।१।५०) त्वादच् वा, यद्वा अभिनिबुध्यते आत्मना स इत्यभिनिबोध इति कर्मणि घञ्, स एवाभिनिबोधिकमिति, तथैव आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानम्। कर्म०१ कर्म०। अभिनिबोधे वा भवं तेन निर्वृत्तं तन्मयं वा तत्प्रयोजनं वेत्याभिनिबोधिकम्, अभिनिबुध्यते वा तत् कर्मभूतमित्याभिनि- बोधिकम्, अवग्रहादिरूपं मतिज्ञानमेव, तस्य स्वसंविदितिरूप- त्वात्, भेदोपचारादित्यर्थः, अभिनिबुध्यते वा अनेनास्माद- स्मिन्वेत्याभिनिबोधिकम्, तदावरणकर्मक्षयोपशम इति भावार्थः आत्मैव वा अभिनिबोधोपयोगपरिणामानन्यत्वादभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिकम्, तच्च तज्ज्ञानं चेत्याभिनिबोधिकज्ञान- मिति। स्था०५ ठा०३ उ०४६३ सूत्रटी०। अभिमुखम्योग्यदेशाव- स्थितं नियतमर्थमिन्द्रियमनोद्वारेणात्मा येन परिणामविशेषेणा- वबुध्यते स परिणामविशेषो ज्ञानाऽपरपर्य्यायः आभिनिबोधि-कम्। आ०म०१ अ० १ गाथाटी०। अर्थाभिमुखो नियतः- प्रतिनियत- स्वरूपो बोधोबोधविशेषोऽभिनिबोधः अभिनिबोध एवाऽऽभिनि- बोधिकम्, अभिनिबोधशब्दस्य विनया-दिपाठाभ्युपगमात्, 'विनयादिभ्य'' ।७।२ ।१६९॥ इत्यनेन स्वार्थे इकण् प्रत्ययः। अतिवर्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृति-लिङ्गवचनानि'' इति वचनात्तत्र नपुंसकता, यथा विनय एव वैनयिकमित्यत्र, अथ वा अभिनिबुध्यते अस्मादस्मिन्वेति अभिनिबोधः तदावरणकर्मक्ष- योपशमस्तेन निर्वृत्तमा-भिनिबोधिकम्, तच्च तज्ज्ञानं चाऽऽभिनिबोधिकज्ञानम्, स च इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यप्रदेशा- वस्थितवस्तुविषयः स्पुटः प्रतिभासो बोधविशेष इत्यर्थः। प्रज्ञा०२९ पद ३१३ सूत्रटी०। अभीत्याभिमुख्ये, नीति नैयत्ये, ततश्चाभिमुखोवस्तु- योग्यदेशावस्थानापेक्षी नियत- इन्द्रियाण्याश्रित्य स्वस्वविषया-पेक्षी बोधोऽभिनिबोधः इति भावसाधनः स्वार्थिकत-द्धितोत्पादात्स एवाभिनिबोधिकम्, अभिनिबुध्यते आत्मना स इत्यभिनिबोध इति कर्मसाधनो वा, अभिनिबुध्यते वस्त्वसावित्यभिनिबोध इति कर्तृसाधनो वा, स एवा-भिनिबोधिकमिति तथैव, आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चाभि-निबोधिकज्ञानम्; इन्द्रियपञ्चकमनोनिमित्तो बोध इत्यर्थः अनु० १ सूत्र।

आभिनिबोधिकज्ञानशब्दार्थं दर्शयन्नाह–

अत्थाभिमुहो नियओ, बोहो जो सो मओ अभिनिबोहो।
सो चेवाऽऽभिनिबोहिय-महव जहाजोगमाउज्जं ॥८०॥

बोधनं बोधः 'ऋ' गतौ, अर्यते-गम्यते; ज्ञायत इत्यर्थः तस्या-भिमुखस्तदग्रहणप्रवणः- अर्थबलायातत्वेन तन्ना- न्तरीयकोद्भवइत्यर्थः, अयमभिशब्दस्यार्थो दर्शितः, एवं- भूतश्च बोधः क्षयोपशमाद्यपाटवे निश्चयात्मकोऽपि स्याद् ततो

नियतो-निश्चित इति निशब्देन विशिष्यते रसाद्यपोहेन रूपमे-वेदम् इत्येव धारणात्मक इत्यर्थः । उक्तं च-'' एवमवग्रहोऽपि निश्चितमवगृह्णाति, कार्यत उपलब्धेः'' । अन्यथावग्रहकार्य्य-भूतोऽपायोऽपि निश्चयात्मको न स्यादिति भावः । आह-ननु नियतोऽर्थाभिमुख एव भवति ततो नियतत्वविशेषणमेवास्तु किमाभिमुखविशेषणेन ? तदयुक्तं द्विचन्द्रज्ञानस्य तैमिरिकं प्रति नियतत्वे सत्यप्यर्थाभिमुख्याभावादिति । एवं च सति-अर्थाभि- मुखो नियतो यो बोधः स तीर्थकरगणधरादी-नामभिनिबोधो मतः- अभिप्रेतः । 'सो चेवाभिणिबोहियमिति' स एवा-आभिनिबोध एवाभिनिबोधिकं, विनयादिपाग्रदभिनिबोधशब्दस्य ''विन- यादिभ्यष्ठक्'' (पा०-५।४।३४) इत्यनेन स्वार्थ एव ठक्प्रत्य-यो; यथा विनय एव वैनयिकमिति ! अहव जहाजोग्गमाउज्जं' ति-अथवा- नेह स्वार्थिकप्रत्ययो विधीयते, किंतुयथायोगं-यथासंबन्धमायोजनीयम्; घटमानसंबन्धानुसारेण स्वयमेव वक्त-व्यमित्यर्थः, तद्यथा- अर्थाभिमुखे नियते बोधे भवम् आभिनिबो- धिकं तेन वा निर्वृत्तं, तन्मयं वा, तत्प्रयोजनं वा, आभिनिबो- धिकं तच्च तज्ज्ञानं च आभिनिबोधिकज्ञानम् । इति गाथार्थः ।

तदेवमाभिनिबोधिकशब्दवाच्यं ज्ञानमुक्तम् । अथ वा - ज्ञानं क्षयोपशमः आत्मा वा तद्वाच्य इति दर्शयन्नाह-

तं तेण तओ तम्मि व, सो वाऽऽभिनिबुज्झए, तओ वा तं ॥८१×॥

'तं' ति- आभिमुख्येन निश्चितत्वेन अवबुध्यते- संवेदयते आत्मा तदित्यभिनिबोधः अवग्रहादिज्ञानं स एवाभिनिबोधिकम्, अथ वा-आत्मा तेन प्रस्तुतज्ञानेन, तदावरणक्षयोपशमेन वा करणभूतेन घटादिवस्त्वभिनिबुध्यते तस्माद् वा-प्रकृतज्ञानात्, क्षयोपशमाद् वा अभिनिबुध्यते; तस्मिन्वाऽधिकृतज्ञाने, क्षयोपशमे वा सत्यभिनिबुध्यते अवगच्छतीत्याभिनिबोधः- ज्ञानं क्षयोपशमो वा । 'सो वाऽभिणिबुज्झए' त्ति- अथ वा- अभिनिबुध्यते- वस्तु अवगच्छतीति अभिनिबोधः । असावात्मैव ज्ञानज्ञानिनोः कथं चिदव्यतिरेकादिति । स एवाभिनिबोधिकम् 'तओ वा तमि'ति न केवलं 'अत्थाभिमुहो नियओ' इत्यादि-व्युत्पत्त्या आभिनिबोधिकमुक्तं; किन्तु यतः-'तं तेण तओ तम्मि' इत्यादिव्युत्पत्त्यन्तरमस्ति, ततोऽपि कारणा-त्तदाभिनिबोधिकमुच्यत इत्यर्थः, नन्वात्मक्षयोप-शमयोराभिनिबोधि-कशब्दवाच्यत्वे ज्ञानेन सह कथं समाना-धिकरणता स्यात् ? सत्यं, किं तु ज्ञानस्यात्माश्रयत्वात् क्षयोपशमस्य च ज्ञानकारणत्वादुपचारतोऽत्रापि पक्षे आभि-निबोधिकशब्दो ज्ञाने वर्तते । ततश्चाभिनि- बोधिकंच तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानमिति समाना-धिकरणमासः इत्यदोषः । विशे० ।

आभिनिबोधिकज्ञानस्य स्वरूपं परोक्षं ज्ञानमधिकृत्य-

पच्चक्खं परोक्खं वा, जं अत्थं ऊहिऊण निद्दिसइ ।
तं होई अभिणिबोहं, अभिमुहमत्थं न विवरीयं ॥३९॥

१- (''ठस्येकः'' ॥ इत्यनेन ठस्य इकाऽऽदेशः)

प्रत्यक्षम् -इन्द्रियविषयं परोक्षम् -इन्द्रियविषयातिक्रान्तम्, यदर्थ-मूहित्वा निर्दिशति- निर्णयपुरस्सरं ब्रूते एष एवंभूतोऽर्थ इति तदर्थं प्रति अभिमुखं- यथार्थविषयमाभिनिबोधिकं न विपरीतं नाऽनर्थाभिमुखं तस्य यथार्थतया मिथ्यारूपत्वात् तच्च द्विधा- इन्द्रियनिश्रितम्, अनिन्द्रियनिश्रितं च । बृ०१ उ०१ प्रक० ।

(२) आभिनिबोधिकज्ञानभेदाः-

जत्थ आभिणिबोहियणाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुअ-नाणं तत्थाऽऽभिणिबोहियणाणं, दो वि एयाइं अण्ण-मण्णमणुगयाइं, तह वि पुण इत्थ आयरिया नाणत्तं पण्णवयंति- अभिबुज्जई त्ति आभिणिबोहिअणाणं, सुणेइ त्ति सुअं । (सूत्र २४×)

'यत्र' पुरुषे आभिनिबोधिकं ज्ञानं तत्रैव श्रुतज्ञानमपि, तथा 'यत्र' श्रुतज्ञानं तत्रैवाभिनिबोधिकज्ञानम् । आह-यत्रा-भिनिबोधिकज्ञानं तत्र श्रुतज्ञानमित्युक्ते यत्र श्रुतज्ञानं तत्रा-भिनिबोधिकज्ञानमिति गम्यत एव, ततः किमनेनोक्तेनेति ? उच्यते, नियमतो न गम्यते, ततो नियमावधारणार्थमेतदुच्यते इत्यदोषः, नियमावधारणमेव स्पष्टयति-द्वे अप्येते- आभिनिबोधिकश्रुते अन्योऽन्यानुगते- परस्परप्रतिबद्धे, स्यादेतद्-अनयोर्यदि परस्परमनुगमस्तर्हि अभेद एव प्राप्नोति कथं भेदेन व्यवहारः? तत आह- 'तह वी' त्यादि, तथापि-परस्परमनुगमेऽपि पुनरत्र- आभिनिबोधिकश्रुतयोराचार्याः- पूर्वसूरयो नानात्वं-भेदं प्ररूपयन्ति, कथमिति चेत्? उच्यते, लक्षणभेदात्, दृष्टश्च परस्परमनुगतयोरपि लक्षणभेदोद्वेदोः यथैकाकाशस्थयोर्धर्मास्ति-कायाऽधर्मास्तिकाययोः, तथाहि- धर्माऽधर्मास्तिकायौ परस्पर लोलीभावेनैकस्मिन्नाकाशदेशे व्यवस्थितौ, तथापि यो गतिपरिणामपरिणतयोर्जीवपुद्गल- योर्गत्युपष्टम्भहेतुर्जलमिव मत्स्यस्य स खलु धर्माऽस्तिकायो, य पुनः स्थितिपरिणाम्परिणतयोर्जीवपुद्ग-लयोरेव स्थि-त्युपष्टम्भहेतुः क्षितिरिवभषस्य स खलु अधर्मास्तिकाय इति लक्षणभेदाद्भेदो भवति, एवमाभिनिबोधिकश्रुतयोरपि लक्षणभेदाद्भेदो वेदितव्यः, लक्षणभेदमेव दर्शयति- 'अभि-निबुज्झई' त्यादि, अभिमुखं- योग्यदेशे व्यवस्थितं नियत-मर्थमिन्द्रियमनोद्वारेण बुध्यते- परिच्छिनत्ति आत्मा येन परि-णामविशेषण स परिणामविशेषो ज्ञानाऽपरपर्याय आभिनिबोधिकं, तथा शृणोतिवाच्यवाचकभावपुरस्सरं श्रवणविषयेन शब्देन सहं संस्पृष्टमर्थं परिच्छिनत्त्यात्मा येन परिणामविशेषेण स परिणाम-विशेषः श्रुतम् । न० । (श्रुतज्ञानस्य सर्वा वक्तव्यता 'सुय' शब्दे सप्तमे भागे करिष्यते)

से किं तं आभिनिबोहियनाणं ? आभिणिबोहियनाणं दुविहं पण्णतं, तं जहा-सुयनिस्सियं च, अस्सुयनिस्सियं च । (सूत्र-२६+)

'से किं तं' इत्यादि, अथ किं तद् ? आभिनिबोधिक-ज्ञानं सूरिराह- आभिनिबोधिकज्ञानं द्विविध प्रज्ञप्तं, तद्यथा-श्रुतनिश्रितं च, अश्रुतनिश्रित च । तत्र शास्त्रपरिकर्मितमते-रुत्पादकाले शास्त्रार्थपर्यालोचनमनपेक्ष्यैव यदुपजायते म-

तिज्ञानं तत् श्रुतनिश्रितम् - अवग्रहादि, यत्पुनः सर्वथा शास्त्रसंस्पर्श-रहितस्य तथाविधक्षयोपशमभावत एवमेव यथाऽवस्थित वस्तुसंस्पर्शि मतिज्ञानम् उपजायते तत् अश्रुतनिश्रितम्- औत्पत्तिक्यादि, तथा चाह भाष्यकृत–

''पुव्वं सुयपरिकम्मिय-गइस्स जं संपयं सुयाईयं।
तं निस्सियमियरं पुण, अणिस्सियं मइचउक्कं तं॥१६९॥

(अस्या विशेषायवश्यकभाष्यगाथायाः विस्तरतो व्याख्या 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९५६ पृष्ठे करिष्यते)

आह- औत्पत्तिक्यादिकमप्यवग्रहादिरूपमेव तत् कोऽनयो-र्विशेषः, उच्यते-अवग्रहादिरूपमेव परं शास्त्रानुसारमन्तरेणोत्प-द्यते इति भेदेनोपन्यस्तम्। तत्राल्पतरवक्तव्यत्वात् प्रथममश्रुतनिश्रितमतिज्ञान-प्रतिपादनायाह–

से किं तं अस्सुयनिस्सियं ? अस्सुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा–

''उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मइया, पारिणामिया।
बुद्धि चउव्विहा वुत्ता, पंचमा नोवलब्भइ॥५९॥''
(सूत्र०२६)

'से किं तं' इत्यादि अथ किं तदश्रुतनिश्रितं ? सूरिराह- अश्रुतनिश्रितं चतुर्विध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा- 'उप्पत्तिया गाहा'। उत्पत्तिरेव न शास्त्राभ्यासकर्म्मपरिशीलनादिकं प्रयोजनं कारणं यस्याः सा औत्पत्तिकी, ''तदस्य प्रयोजनम्''। इतीकण्, ननु सर्वस्याः बुद्धेः कारणं क्षयोपशमः तत्कथम् ? उच्यते- उत्पत्तिरेव प्रयोजनमस्या इति ? उच्यते-क्षयोपशमः सर्व्वबुद्धिसाधारणः, ततो नाऽसौ भेदेन प्रतिपत्तिनिबन्धनं भवति, अथ च बुद्ध्यन्तराद् भेदेन प्रतिपत्त्यर्थं व्यपदेशान्तरं कर्त्तुमारब्धं, तत्र व्यपदेशा-न्तरनिमित्तमत्र न किमपि विनयादिकं विद्यते, केवलमेवमेव तथोत्पत्तिरिति सैव साक्षान्निर्दिष्टा। तथा विनयोगुरुशुश्रूषा सा प्रयोजनमस्या इति वैनयिकी, तथा अनाचार्यकं कर्म्म, साचार्यकं शिल्पम। अथवाकादाचित्कं शिल्पं, सर्वकालिकं कर्म्म। कर्म्मणो जाता कर्म्मजा तथा परिसमन्तान्नमनं परिणामः- सुदीर्घकाल-पूर्वापरपर्यालोचनजन्य आत्मनो धर्म्मविशेषः स प्रयोजनमस्याः सा पारिणामिकी। बुध्यतेऽनयेति बुद्धिः सा चतुर्विधा उक्ता तीर्थकरगणधरैः किमिति ? यस्मात्पञ्चमी केवलिनाऽपि नोप-लभ्यते, सर्वस्याप्यश्रुतनिश्रितमतिविशेषस्यौत्पत्तिक्यादि-बुद्धिचतुष्टय एवान्तर्भावात्। नं०। भ०। (औत्पत्तिकीबुद्धिविषयः सदृष्टान्तः 'उप्पत्तिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) (वैनयिक्याः बुद्धेः सर्वं रहस्यं 'वेणइया' शब्दे षष्ठे भागे स्पष्टं भविष्यति) (कर्मजबुद्धेः सर्वो विषयः 'कम्मया' शब्दे तृतीयभागे कथयिष्यते) 'पारिणामिक्याः बुद्धेः सदृष्टान्तो विषयः ५ भागे वक्ष्यते)

तथा च–

मइसुयनाणविसेसो, भणिओ तल्लक्खणाइभेएणं।
पुव्वं आभिणिबोहिय-मुद्दिट्ठं तं परूविस्सं॥१७६॥

मतिश्रुतज्ञानयोर्विशेषो भेदो भणितः केनेत्याह तयोर्लक्षणा-दिभिर्भेदः अथ वा-स चासौ अनन्तरोक्तो लक्षणादिभेदश्च तल्लक्षणादिभेदः तेन। सांप्रतं त्वाभिनिबोधिकज्ञानं प्ररूपयिष्ये-विस्तरतो व्याख्यास्यामि। शेषश्रुतादिपरिहारेण किमित्या-भिनिबोधिकं प्रथमं प्ररूप्यते ? इत्याह-यस्माज्ज्ञानपञ्चके पूर्वमादौ तदुपदिष्टमुपन्यस्तं, तस्मात् ''यथोद्देशं निर्देशः'' इति कृत्वा तत् प्रथमं व्याख्यास्यामि। इति गाथार्थः।

तत्त्वभेदपर्यायैश्च व्याख्या, तत्र तत्त्वं लक्षणं तच्च प्रागेवोक्तम्। अथ तद्भेदनिरूपणार्थमाह–

इंदियमणोनिमित्तं, तं सुयनिस्सियमहेयरं च पुणो।
तत्थेक्किक्कं च उभे- यमुग्गहोप्पत्तियाईयं॥१७७॥

इन्द्रियमनोनिमित्तं यत्प्रागुक्तमाभिनिदोधिकज्ञानं, तत् द्विभेदं भवति श्रुतनिश्रितम्, इतरच्च-अश्रुतनिश्रितम्। 'अथ' शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। तत्र श्रुतं-संकेतकालभावी परोपदेशः श्रुतग्र- न्थश्च पूर्वं तेन परिकर्मितकमतेर्व्यवहारकाले तदनपेक्षमेव यदुत्प- द्यते तत् श्रुतनिश्रितं, यत्तु श्रुतापरिकर्मितमतेः सहजमुपजायते त- दश्रुतनिश्रितम्। तत्र तयोः-श्रुतनिश्रिताऽश्रुतनिश्रितयोर्मध्ये एकैकं चतुर्विधं कथम् ? इत्याह यथासंख्यमग्रहादिकं, औत्पत्ति- क्यादिकं च- अवग्रहेहापायधारणा-भेदात् श्रुतनिश्रितं चतुर्विधम्, औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा, परिणामिकी, लक्षणबुद्धिभेदात्तु अश्रुतनिश्रितं चतुर्भेदमित्यर्थः। यद्य-प्यौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयेऽप्यवग्रहादयो विद्यन्ते तथाऽपि ''पुव्वमदिट्ठमसुयमेवइयक्खणविसुद्धगहियत्था'' इत्यादि-वक्ष्यमाण-वचनात्परोपदेशाद्यनपेक्षत्वात्ते श्रुतनिश्रिता न भवन्ति शेषास्त्ववग्रहादयः पूर्वं श्रुतपरिकर्मणान्तरेण न संभवन्ति, ईहा-दिगताभिलापस्य परोपदेशाद्यन्त- रेणाप्युपपत्तेः; इति ते श्रुतनिश्रिता उच्यन्ते। औत्पत्तिक्यादिषु त्वीहाद्यभिलापस्य तथाविधकर्मक्षयोपश-मजत्वात् परोपदेशाद्यन्तरेणाप्युपपत्तेरिति भावः इति गाथार्थः।

(३) तत्र श्रुतनिश्रितानवग्रहादींस्तावन्निर्युक्तिकारः प्राह-

उग्गहो ईह अवाओ, य धारणा एव होंति चत्तारि।
आभिणिबोहियनाण-स्स भेयवत्थू समासेणं॥१७८॥

रूपरसादिभेदैरनिर्द्देश्यस्याव्यक्तस्वरूपस्य सामान्यार्थस्याव- ग्रहणं परिच्छेदनमवग्रहः। तेनावगृहीतस्यार्थस्य भेदविचारणं वक्ष्यमाणगत्या विशेषान्वेषणमीहा, तया ईहितस्यैवार्थस्य व्यवसायस्तद्विशेष-निश्चयोऽपायः चशब्दोऽवग्रहादीनां पृथक् पृथक् स्वातन्त्र्यप्रदर्शनार्थः तेनैतदुक्तं भवति-अग्रहादेरीहादयः पर्याया न भवन्ति, पृथक्भेदवाचकत्वादिति। निश्चितस्यैव वस्तुनोऽविच्युत्यादिरूपेण धारणं धारणा। एवकारः क्रमद्योतनपरः अवग्रहादीनामुपन्यासस्यायमेव क्रमो नान्यः अवगृहीतस्यैवेहनाद् ईहितस्यैव निश्चयात् निश्चितस्यैव धारणादिति। एवमेतान्याभिनिबोधिकज्ञानस्य-४ चत्वा-र्येवभेदवस्तूनि समासेनसंक्षेपेण भवन्ति, विस्तरतस्त्वष्टा-विंशत्यादिभेदभिन्नमिदं वक्ष्यत इति भावः। तत्र भिद्यन्ते परस्परमिति भेदाः विशेषास्त एव वस्तूनि भेदवस्तूनीति समासः। इति गाथार्थः।

अथ निर्युक्तिकार एवाऽवग्रहादीन् व्याख्यानयन्नाह–

अत्थाणं उग्गहणं, अवग्गहं तह वियालणं ईहं ।
ववसायं च अवायं, धरणं पुण धारणं विंति ॥१७९॥

अर्थादीनाम् -रूपादीनां प्रथमं दर्शनानन्तरमेवावग्रहणमवग्रहं ब्रुवत इति संबन्धः । तथा विचारणं-पर्यालोचनम् अर्थानामिति वर्तते, ईहनमीहा तां ब्रुवते; इदमुक्तं भवति-अवग्रहादुत्तीर्णो-ऽपायात्पूर्वं सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसद्भूतार्थविशे- षत्यागसंमुखश्च प्रायः काकनिलयनादयः स्थाणुधर्मा अत्र वीक्ष्य-न्ते, न तु शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा इति मतिविशेष ईहेति। विशिष्टोऽवसायो व्यवसायः- निश्चयस्तं व्यवसायम्, अर्थानामितीहापि वर्तते, अवायम् -अपायं वा ब्रुवते, एतदुक्तं भवति- स्थाणुरेवायमित्यवधारणात्मकः प्रत्ययः-अवायः, अपायो वेति; चशब्द एव कारार्थः, व्यवसायमेव अवायम् अपायं वा ब्रुवत इत्यर्थः । धृतिर्धरणम्, 'अर्थानाम्' इति वर्तते, अपायेन विनिश्चितस्यैव वस्तुनोऽविच्युति-स्मृति-वासनारूपं धरणमेव धारणां ब्रुवत इत्यर्थः । पुनःशब्दस्यावधारणार्थत्वात् ब्रुवत इत्यनेन शास्त्रस्य पारतन्त्र्यमुक्तम् इत्थं तीर्थकरगणधरा ब्रुवत इति । अन्ये त्वेवं पठन्ति-''अत्थाणं उग्गहणम्मि उग्गहो'' इत्यादि, तत्र- अर्थानामवग्रहणे सत्यवग्रहो नाम मतिभेद इत्येवं ब्रुवते, एवमीहादिष्वपि योज्यम्; भावार्थस्तु पूर्ववदेव । अथ वाप्राकृतशैल्यार्थवशाद् विभक्तिविपरिणाम इति सप्तमी द्वितीयार्थे द्रष्टव्या । इति गाथार्थः । विशे० । नं० ।

अथैतदेव अवग्रहादिस्वरूपं भाष्यकारो विवृण्वन्नाह–

सामण्णत्थावग्गह–णमुग्गहो भेयमग्गहणमहेहा ।
तस्सावगमोवाओ, अविचुई धारणा तस्स ॥१८०॥

अन्तर्भूतविशेषस्य केनाऽपि रूपेणाराशनिर्देश्यस्य सामान्या-र्थस्यैकसामयिकमवग्रहणं सामान्यार्थावग्रहणम्, अथ वा-सामान्येनसामान्यरूपेणार्थस्यावग्रहणं सामान्यार्थाऽवग्रहण-मवग्रहो वेदितव्यः । अथाऽनन्तरमीहा प्रवर्तते कथंभूतेऽयम् ? इत्याह-भेदमार्गणं-भेदाः-वस्तुनो धर्मास्तेषां मार्गणम्-अन्वेषणं विचारणं प्रायः काकनिलयनादयः स्थाणुधर्माः अत्र वीक्ष्यन्ते, न तु शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा इत्येवं वस्तु धर्मविचारणमीहेत्यर्थः । तस्यैवेहया ईहितस्य वस्तुनस्तदनन्त-रमवगमनमवगमः- स्थाणुरेवायमित्यादिरूपो निश्चयः अवायः अपायो वेति तस्यैव निश्चितस्य वस्तुनः अविच्युतिस्मृति-वासनारूपं धरणं धारणा सूत्रे अविच्युतेरुपलक्षत्वात् । इति गाथार्थः ।

अत्र चावग्रहादारभ्य परैः सह विप्रतिपत्तयः सन्ति इत्यव-ग्रहविषयां तां तावन्निराकर्तुमाह–

सामाण्णविसेसस्स वि, केई उग्गहणमुग्गहं वेंति ।
जं मइरिदंतयंति च, तं नो बहुदोसभावाओ ॥१८१॥

सामान्यं चासौ विशेषश्च सामान्यविशेषः तस्यापि न केवलं सामान्यार्थस्य इत्यपिशब्दः अवग्रहणम्-अवच्छेदनं केचन व्याख्यातारः अवग्रहं ब्रुवते, किं कारणम्? इत्याह- 'जं मइरिदंतयं ति चे' ति यत्-यस्मात्कारणात् अमुतः शब्दादिलक्षणसामान्यविशेषग्राह-कावग्रहादनन्तरम् इदं तदिति चेति विमर्शलक्षणा मतिरनुधावति; ईहा प्रवर्तत इत्यर्थः, यदनन्तरं चेहादिप्रवृत्तिः सोऽवग्रह एव यथा व्यञ्जनावग्रहानन्तरभावी अव्यक्तानिर्देश्यसामान्यमात्रग्राही अवग्रहः, प्रवर्तते च शब्दादि- सामान्यविशेषग्राहकावग्रहानन्तरमीहादिः, तस्मादवग्रह एवायं, तथाहि- दूराच्छङ्खादिसंबन्धिनि शब्दे सामान्यविशेषात्मकेरूपा- दिभ्यो भिन्ने गृहीते प्रवर्तते एवायं विमर्शः- किमयं शाङ्गः, शार्ङ्गो, वा शब्दः? शार्ङ्गश्चेत् किं महिषीशृङ्गोद्भवो महिषशृङ्गजो वा ? महिषीशृङ्गसंभवश्चेत्, किं प्रसूतमहिषीशृङ्गसंभवः, अप्रसूत-महिषीशृङ्गसमुद्भूतो वा ? इत्यादि, यतश्चानन्तरमित्थं विमर्शनेहा-प्रवृत्तिर्न भवति, अन्तप्राप्तेः क्षयोपशमाभावाद्वा, स पुनरपायः ॥ तदेतत्परोक्तं दूषयितुमाह- ''तं नो'' इत्यादि, तदेतत्परोक्तं न । कुतः? इत्याह-बहवश्च ते दोषाश्च तेषां भाव उपनिपातस्तस्मात्, एवं हि सर्वायुषाप्यपायप्रवृत्तिर्न स्यात्, यथोक्तविमर्शप्रवृ-त्तेरनुष्ठितत्वात् । न च पूर्वमनीहिते प्रथमोऽपि शब्द-निश्चयो युक्तः, यतश्च पूर्वमीहा प्रवर्तते नाऽसौ अवग्रहः किं त्वपाय एवेत्यादि सर्वं पुरस्ताद्वक्ष्यते । इति गाथार्थः ।

अन्ये त्वीहायां विप्रतिपद्यन्ते, तन्मतमुपन्यस्य दूषयन्नाह–

ईहासंशयमेत्तं, कई न तयं तओ जमन्नाणं ।
मइनाणंऽसा चेहा, कहमन्नाणं तई जुत्तं? ॥१८२॥

किमयं स्थाणुः, आहोश्चित्पुरुषः? इत्यनिश्चयात्मकं संशयमात्रं यदुत्पद्यते तदीहेति केचित् प्रतिपद्यन्ते तदेतन्न घटते । कुतः? इत्याह-यद् -यस्मात्कारणात् 'तओ' त्तिअसौ संशयः- अज्ञानम् भवतु तर्ह्यज्ञानमपि ईहेति चेदित्याह-'मईत्यादि' मतिज्ञानांशश्च-मतिज्ञानभेदश्चेहा वर्तते । न च ज्ञानभेद- स्याज्ञानरूपता युज्यते, एतदेवाह- 'कहमि' त्यादि, कथम् केन प्रकारेण ज्ञानं युक्तं न कथंचिदित्यर्थः । केयमित्याह- 'तई' इति, असौ मति-ज्ञानांशरूपा ईहा, संशयस्य वस्त्वप्रतिपत्तिरूपत्वेनाऽज्ञाना-त्मकत्वादीहायास्तु ज्ञानभेदत्वेन ज्ञानस्वभावत्वात्; ज्ञानाऽज्ञानयोश्च परस्परपरिहारेण स्थितत्वान्नाऽज्ञानरूपस्य संशयस्य ज्ञानांशात्मकेहा-रूपत्वं युक्तमिति भावः । इति गाथार्थः ।

आह-ननु संशयेहयोः किं कश्चिद्विशेषोऽस्ति येनेहारूपत्वं संशयस्य निषिध्यते ? इत्याशङ्क्य तयोः स्वरूपभेदमुपदर्शयन्नाह-

जमणेगत्थालंबण–मपज्जुदासपरिकुंठियं चित्तं ।
सेय इव सव्वपयओ, तं संसयरूवमन्नाणं ॥१८३॥
तं चिय सयत्थहेऊ- ववत्तिवावारतप्परममोहं ।
भूयाऽभूयविसेसा- याणच्चायाभिमुहमीहा ॥१८४॥

यच्चित्तं- यन्मनः अनेकार्थालम्बनम् -अनेकार्थप्रतिभा-सान्दोलितम् अत एव पर्युदसनं पर्युदासो-निषेधो न तथा अपर्युदासोऽनिषेधस्तेन, तथा उपलक्षणत्वादविधिना च

परिकुण्ठितं-जडीभूतं सर्वथा अवस्तुनिश्चयरूपतामापन्नं, किं बहुना ? 'सेय इवे' त्यादि, शेत इव-स्वपितीव सर्वात्मना न किंचित् चेतयते वस्त्वप्रतिपत्तिरूपत्वात् तदेवं विधं चित्तं- संशय उच्यते इत्यर्थः तच्चाऽज्ञानं वस्त्ववबोधरहितत्वादिति । यपुनस्तदेव चेतो-वक्ष्यमाणस्वरूपं तदीहेति संबन्धः। कथंभूतं सद् ? इत्याह- 'भूयाऽभूये' त्यादि, भूतः क्वचिद् विवक्षित-प्रदेशे स्थाण्वादिरर्थः, अभूतस्तत्रा-विद्यमानः पुरुषादिस्तावेव पदार्थान्तरेभ्यो विशिष्यमाणत्वात् विशेषौ, तयोरादानत्यागा-भिमुखं भूतार्थविशेषोपादानस्याभिमुखम्, अभूतार्थत्याग-स्याभिमुखमिति यथासंख्येन संबन्धः। यतः कथंभूतम् ? इत्याह सदर्थहेतूपपत्तिव्यापारतत्परं हेतुद्वारेणेदं विशेषणं-सदर्थहेतूपपत्ति व्यापारतत्परत्वाद भूताऽभूतविशेषादानत्यागा-भिमुखमिति भावः, तत्र हेतुः साध्यार्थगमकं युक्तिविशेषरूपं साधनम्, उपपत्तिः- संभवघटनं; विवक्षितार्थस्य संभवव्य-वस्थापनम्। ततश्च हेतुश्चोपपत्तिश्च हेतूपपत्ती सदर्थस्य विवक्षितप्रदेशे अरण्यादौ विद्यमानस्य स्थाण्वादेरर्थस्य हेतूपपत्ती सदर्थहेतूपपत्ती। तद्विषयो व्यापारो घटनं-चेष्टनं सदर्थहेतूपप-त्तिव्यापारस्ततस्तत्परं तन्निष्ठमिति समासः । अत एव अमोघम्-अर्थबलायातत्वेन अविफलम्- अमिथ्यास्वरूपं, तदेवभूतं चेतः ईहा इति संबन्धः कृत एव; इदमुक्तं भवतिकेनचिदरण्यदेशं गतेन सवितुरस्तमयसमये ईषदवकाशमासादयति तमिस्रे दूरवर्त्ती स्थाणुरुपलब्धस्ततोऽस्य विमर्शः समुत्पन्नः किमयं स्थाणुः पुरुषो वा ? इति । अयं च संशयत्वात् अज्ञानम् । ततोऽनेन तस्मिन् स्थाणौ दृष्ट्वा वल्ल्यारोहणं, प्रविलोक्य काककारण्डवकादंम्बक्रौञ्चकीरशकुन्त-कुलनिलयनं, कृतश्चेतसि हेतुव्यापारः यथा-स्थाणुरयं, वल्ल्युत्सर्प्पण-काकादिनिलयनोपलम्भात्। तथा संभवपर्यालोचनं च व्यधायि, तद्यथा अस्ताचलान्तरिते सवितरि, प्रसरति चेषत्तमिस्रे महारण्येऽस्मिन् स्थाणुरयं संभाव्यते; न पुरुषः, शिरःकण्डूयनकरग्रीवाचलना-देस्तद्व्यवस्थापकहेतोरभावाद्; ईदृशे च प्रदेशेऽस्यां वेलायां प्रायस्तस्याऽसंभवात्। तस्मात् स्थाणुनाऽत्र सद्भूतेन भाव्यं; न पुरुषेण। तदुक्तम्- ''अरण्यमेतत् सविता-स्तमागतो, न चाधुना संभवतीह मानवः। प्रायस्तदेतेन खगा-दिभाजा, भाव्यं स्मरारातिसमान-नाम्ना ॥१॥'' एतच्चेदृशं चित्तं ईहा इत्युच्यते, निश्चयाभिमुखत्वेन संशयादुत्तीर्णत्वात्, सर्वथा निश्चयेऽपायत्वप्रसङ्गेन निश्चयादधो-वर्त्तित्वाच्चेति संशयेहयोः प्रतिविशेषः। इति गाथाद्वयार्थः।

अथापायधारणागतविप्रतिपत्तिनिराचिकीर्षया परमतमुपदर्श- यन्नाह—

केई तयण्णविसेसा-वणयणमेत्तं अवायमिच्छंति।
सब्भूयत्थविसेसाऽ-वधारणं धारणं विंति ॥१८५॥

तच्छब्दास्थानन्तरगाथोक्तो भूतोऽर्थः संबध्यते, तस्मात्तत्र भूतात् विद्यमानात् स्थानण्वादेर्योऽन्यः तत्प्रतियोगी तत्राविद्य-मानः पुरुषादिस्तद्विशेषाः शिरः कण्डूयनचलनस्पन्दनादयः तेषां पुरोवर्त्तिनि सद्भूतेऽर्थेऽपनयनं- निषेधनं तदन्यविशेषापनयनं तदेव तन्मात्रम्, अपायमिच्छन्ति, केचनापि व्याख्यातारः अपायनम् -अपनयनम् अपाय इति व्युत्पत्त्यर्थविभ्रमितमनस्का इति भावः। अवधारणं धारणा इति च व्युत्पत्त्यर्थभ्रमितास्ते धारणां ब्रुवते । किं तत् ?, इत्याह-सद्भूतार्थविशेषावधारणं सद्भूतस्तत्र विवक्षितप्रदेशे विद्यमानः स्थाण्वादिरर्थविशेषस्तस्य स्थाणु-रेवायम् इत्यवधारणं सद्भूतार्थ-विशेषावधारणमिति समासः। इति गाथार्थः।

तदेतद्दूषयितुमाह—

कासइ तयन्नवइरे-गमेत्तओऽवगमणं भवे भूए।
सब्भूयसमण्णयओ, तदुभयओ कासइ न दोसो ॥१८६॥

'भूए' त्ति-तत्र विवक्षितप्रदेशे भूते विद्यमानेऽर्थे स्थाण्वादौ 'कासइ' त्ति-कस्यचित् प्रतिपत्तुस्तदन्यव्यतिरेकमात्रादवगमनं- निश्चयो भवति तस्मात्स्थाण्वादेर्योऽन्यः पुरुषादिरर्थस्तस्य व्यतिरेकः स एव च तदन्यव्यतिरेकमात्रं तस्मात्स्थाण्वाद्यर्थ- निश्चयो भवतीत्यर्थः; तद्यथा-यतो नेह शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्म्मा दृश्यन्ते; ततः स्थाणुरेवायमिति। कस्यापि सद्भूत-समन्वयतः सद्भूतस्तत्र प्रदेशे विद्यमानः स्थाण्वादिरर्थस्तस्य समन्वयतः- अन्वयधर्मघटनात् भूतेऽर्थेऽवगमनं निश्चयो भवेत्, यथा स्थाणुरेवायं वल्ल्युत्सर्पण-वयोनिलयनादि-धर्म्माणा-मिहान्वयादिति। कस्यचित्पुनस्तदुभयाद्-अन्वयव्यतिरेकोभयात् तत्र भूतेऽर्थेऽवगमनं भवेत्; तद्यथायस्मा-त्पुरुषधर्माः शिरःकण्डू- यनादयोऽत्र न दृश्यन्ते, वल्ल्युत्सर्पणादयस्तु स्थाणुधर्म्माः समीक्ष्यन्ते, तस्मात् स्थाणुरेवायमिति। न चैवमन्वयात् व्यतिरेकात्, उभयाद्वा निश्चये जायमाने कश्चिद् दोषः, परव्याख्याने तु वक्ष्यमाणन्यायेन दोषः इति भावः। इति गाथार्थः।

कथं पुनस्तद्व्याख्याने न दोषः? इत्याह—

सव्वो विं य सोऽवाओ, भेए वा होंति पंच वत्थूणि।
आहेवं चिय चउहा, मई तिहा अन्नहा होइ ॥१८७॥

यस्माद् व्यतिरेकाद्, अन्वयाद्, उभयाद्वा भूतार्थविशेषा- वधारणं कुर्व्वतो योऽध्यवसायः स सर्वोऽप्यपायः- प्रस्तुत-स्थाण्वादिव-स्तुनिश्चयः, नतु सद्भूतार्थविशेषावधारणं धारणेति भावः, तस्मान्न दोषः ॥ आह ननु यथा मया व्याख्याते- सद्भू- तार्थविशेषाऽवधारणं धारणा, तथा किं कश्चिद्दोषः समुपजायते, येनाऽऽत्मीयव्याख्यानपक्ष इदमित्थमभिधीयते न दोष इति? एतदाशङ्क्याह- 'भेए वा' इत्यादि, वाशब्दः पातनायां गतार्थः, व्यतिरेकः-अपायः, अन्वयस्तु धारणा, इत्येवं मतिज्ञानतृतीय- भेदस्यापायस्य भेदेऽभ्युपगम्यमाने पञ्च वस्तूनिपञ्च भेदा भवन्ति; आभिनिबोधिकज्ञानस्येति गम्यते; तथा हि अवग्रहेहा- ऽपायधारणालक्षणाश्चत्वारो भेदास्तावत् त्वयैव पूरिताः, पञ्चमस्तु भेदः स्मृतिलक्षणः प्राप्नोति- अविच्युतेः स्वसमानकालभावि-न्यपायेऽन्तर्भूतत्वाद्, वासनायास्तु स्मृत्यन्तर्गतत्वेन विव-क्षितत्वात् स्मृतेरनन्यशरणत्वान्मतेः पञ्चमो भेदः प्रसज्यत इति भावः ॥ ''आहे' त्यादि पुनरप्याह परः-ननु यथैव मया व्या-

ख्यायते व्यतिरेकमुखेन निश्चयोऽपायः अन्वयमुखेन तु धारणा इत्येवमेव चतुर्द्धा-चतुर्विधा मतिर्भवति-युक्तितो घटते। अन्यथा तु व्याख्यायमाने-अन्वयव्यतिरेकयोर्द्वयोरप्य-पायत्वेऽभ्युपगम्यमाने इत्यर्थः। किम् ? इत्याह-त्रिधा-अवग्रहे- हापायभेदतस्त्रिभेदा मतिर्भवति, न पुनश्चतुर्द्धा, धारणाया अघटमानकत्वादिति भावः। इति गाथार्थः।

कथं पुनर्धारणाभावः? इत्याह-

काऽणुवओगम्मि धिई, पुणोवओगेय सा जओऽवाओ।
तो नऽत्थि धिई भण्णइ, इदं तदेवेति जा बुद्धी ॥१८८॥
नणु साऽवायब्भहिया, जओ य सा वासणाविसेसाओ।
जा य अवायाणन्तर-मविच्चुई सा धिई नाम ॥१८९॥

अनुपयोगे- उपयोगोपरमे सति का धृतिः का नाम धारणा ? न काचिदित्यर्थः। इदमुक्तं भवति- इह तावन्निश्चयोऽपायमुखेन घटादिके वस्तुनि अवग्रहेहापायरूपतयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण एवोप-योगो जायते। तत्र चापाये जाते। या उपयोग- सातत्यलक्षणा अविच्युतिर्भवताऽभ्युपगम्यते, सा अपाय एवाऽ- न्तर्भूता। इति न ततो व्यतिरिक्ता। या तु तस्मिन् घटाद्युपयोगे उपरते सति संख्येयमसंख्येयं कालं वासनाभ्युपगम्यते, 'इदं तदेव' इति लक्षणा स्मृतिश्चाङ्गिक्रियते, सा मत्यंशरूपा धारणा न भवति, मत्युपयोगस्य प्रागेवोपरतत्वात्। पुनरपि कालान्तरोपयोगे धारणा भविष्यितीति चेत्, इत्याह- 'पुणो' इत्यादि, कालाऽन्तरे पुनर्जायमा-नोपयोगेऽपि या ऽन्वयमुखोपजायमानावधारणरूपा धारणा मयेष्यते, सा यतोऽपाय एव भवताभ्युपगम्यते। 'सव्वो वि य सोवाओ' इत्यादिवचनात्; ततस्तत्रापि नाऽस्ति धृति-र्धारणा, पुनरप्युपयोगोप-रमेऽपि पूर्वोक्तयुक्त्यैव तदभावः, तस्मा-दुपयोगकालेऽन्वय-मुखावधारणरूपाया धारणायास्त्वयाऽनभ्यु-पगमात् उपयोगोपरमे च मृत्युपयोगाभावात्, तदेशरूपाया धारणाया अघटमानकत्वात्त्रिधैव भवदभिप्रायेण मतिः प्राप्नोति, न चतुर्द्धा, इति पूर्वपक्षाभिप्रायः।

अत्रोत्तरमाह- 'भण्णई' त्यादि, भण्यतेऽत्र प्रतिविधानम्। किम् ? इत्याह-'इदं वस्तु तदेव यत् प्रागुपलब्धं मया' इत्येवंभूता कालान्तरे या स्मृतिरूपा बुद्धिरुप जायते नत्विह सा पूर्वप्रवृत्तापायान्निर्विवादम-भ्यधिकैन, पूर्वप्रवृत्ताऽपायकाले, तस्या अभावात् सांप्रतापायस्य तु वस्तुनिश्चयमात्रफलत्वेन पूर्वापर- दर्शनानुसंधानायोगात्। ततश्च साऽनन्यरूपत्वात् धृतिर्धारणा नामेति पर्यन्ते संबन्धः। यतश्च यस्माच्च वासनाविशेषात्- पूर्वो-पलब्धवस्त्वाहित संस्कारलक्षणात्, तद्विज्ञानावरणक्षयोप- शमसान्निध्यादित्यर्थः, सा इदं तदेवेति लक्षणा स्मृतिर्भवति। साऽपि वासनाऽपायादभ्यधिकेतिकृत्वा धृतिर्नाम इतीहापि संबन्धः। 'जायाऽवाय' इत्यादि, या च अपायादनन्तरमविच्युतिः प्रवर्तते साऽपि धृतिर्नाम। इदमुक्तं भवति-यस्मिन् समये 'स्थाणुरेवाय' मित्यादिनिश्चयस्वरूपोऽपायः प्रवृत्तः, ततः समयादूर्द्धवमपि 'स्थाणुरेवाऽयं स्थाणुरेवायमि' त्यविच्युता याऽन्तर्मुहूर्तं क्वचिदपायप्रवृत्तिः साऽप्युपायाऽविच्युतिः प्रथम-प्रवृत्ताऽपायादभ्य-धिकेति धृतिर्धारणा नामेति। एवम-विच्युतिवासनास्मृतिरूपा धारणा त्रिधा सिद्धा भवति॥

अत्राह- कश्चित्- नन्वविच्युतिस्मृतिलक्षणौ ज्ञानभेदौ गृहीतग्राहित्वान्न प्रमाणं, द्वितीयादिवाराप्रवृत्तापायसाध्यस्य वस्तुनिश्चयलक्षणस्य कार्यस्य प्रथमवाराप्रवृत्तापायेनैव साधित- त्वात्। न च निष्पादितक्रिये कर्मणि तत्साधनायैव प्रवर्तमानं साधनं शोभां बिभर्ति, अतिप्रसङ्गात् कुठारादिभिः कृतच्छे- दनादिक्रियेष्वपि वृक्षादिषु पुनस्तत्साधनाय तेषां प्रवर्त्यात्तेः। स्मृतेरपि पूर्वोत्तरकालभाविज्ञानद्वयगृहीत एव वस्तुनि प्रवर्तमा- नतया कुतः प्रामाण्यं, न च वक्तव्यं पूर्वोत्तरदर्शनद्वयानधिगतस्य वस्त्वेकत्वस्य ग्रहणात् स्मृतिः प्रमाणं, पूर्वोत्तरकालदृष्टस्य वस्तुनः कालादिभेदेन भिन्नत्वाद्, एकत्वस्यैवासिद्धत्वादिति। वासना तु किं रूपा ? इति वाच्यम्। संस्काररूपेति चेत्। कोऽयं नाम संस्कारः? स्मृतिज्ञानवरणक्षयोपशमो वा, तज्ज्ञान-जननशक्तिर्वा, तद्वस्तुवि-कल्पो वा ? इति त्रयीगतिः। तत्राद्य-पक्षद्वयमयुक्तम् ज्ञानरूपत्वाभावात् तद्भेदानां चेह विचार्यत्वेन प्रस्तुतत्वात्। तृतीयपक्षोऽप्ययुक्त एव संख्येयमसंख्येयं वा कालं वासनाया इष्टत्वाद् एतावन्तं च कालं तद्वस्तुविकल्पायोगात् तदेवमविच्युतिस्मृति- वासनारूपायास्त्रिविधाया अपि धारणाया अघटमानत्वात् त्रिधैव मतिः प्राप्नोति, न चतुर्द्धा॥

अत्रोच्यते-यत्तावद् गृहीतग्राहित्वादविच्युतेरप्रामाण्यमुच्य- ते, तदयुक्तम्, गृहीतग्राहित्वलक्षणस्य हेतोरसिद्धत्वाद्, अन्य-कालविशिष्टं हि वस्तु प्रथमप्रवृत्तापायेन गृह्यते, अपरकालविशिष्टं च द्वितीयादिवाराप्रवृत्तापायेन। किं चस्पष्टस्पष्टतर स्पष्टतमभिन्नधर्मक-वासनाजनकत्वादप्यविच्युतिप्रवृत्तद्वितीया-द्यपायविषयं वस्तु भिन्नधर्मकमेवेति कथमविच्युतेर्गृहीतग्राहिता ? स्मृतिरपि पूर्वोत्तरदर्शनद्वयानधिगतं वस्त्वेकत्वं गृह्णाना न गृहीतग्राहिणी। न च वक्तव्यं कालादिभेदेन भिन्नत्वात् वस्तुनो नैकत्वं, कालादिभिर्भिन्नत्वेऽपि सत्त्वप्रमेयत्वसंस्थानरूपादिभिरेकत्वात्। वासनाऽपि स्मृतिविज्ञानाव-रणकर्मक्षयोपश-मरूपा तद्विज्ञानजननशक्तिरूपा चेष्यते। सा च यद्यपि स्वयं ज्ञानस्वरूपा न भवति, तथापि पूर्वप्रवृत्ताविच्युतिलक्षणज्ञानंका र्यत्वाद्, उत्तरकालभाविस्मृतिरूपज्ञानकारणत्वाच्चोपचारतो ज्ञान-रूपाऽभ्युपगम्यते। तद्वस्तुविकल्पपक्षस्त्वनभ्युपगमादेव निरस्तः तस्मादविच्युतिस्मृतिवासनारूपाया धारणायाः स्थित-त्वात् न मतेस्त्रैविध्यं, किं तु चतुर्द्धा सेति स्थितम्। इति गाथाद्वयार्थः।

अथैतां स्वाभिमतां धारणां व्यवस्थाप्य परं प्रत्याह-

तं इच्छंतस्स तुहं वत्थूणि य पंच मेच्छमाणस्स।
किं होउ सा अभावो, भावो नाणं व तं कयरं? ॥१९०॥

अस्मदभिमतामनन्तरप्रतिष्ठितस्वरूपां तां धारणामिच्छतस्-तव पञ्च वस्तूनि- पञ्चाभिबोधिकज्ञानभेदाः प्राप्नुवन्ति, अपायस्यैकस्यापि भेदद्वयरूपताभ्युपगमेन भेदचतुष्टय स्य त्वयाऽपिं पूरितत्वात्, पञ्चमस्य तु मदुक्तस्य धारणालक्ष-

णस्य प्रसङ्गादिति भावः। अथाऽस्मदभ्युपगता धारणा त्वया नेष्यते, ''तर्हि नेच्छमाणस्स किं होउ'' इत्यादि, तां मदभ्यु- पगतां धारणामनिच्छतोऽप्रतिपद्यमानस्य तव सा मदभ्युपगता धारणा किं भवतु अभावः अवस्तु, आहोस्विद्भावो, वस्तु इति विकल्पद्वयम्। किं चातः? न तावदभावः भावत्वेनानुभूय- मानत्वात्। न च तथानुभूयमा- नस्याभावत्वमाधातुं शक्यते, अतिप्रसङ्गात्- घटादिष्वपि तथात्वप्राप्तेः, तेऽपि ह्यनुभववशेनैव भावरूपा व्यवस्थाप्यन्ते। यदि च- अनुभवोऽप्यप्रमाणं, तदा घटादिष्वपि भावरूपतायामनाश्वास इति भावः। अथ भावोऽसौ, तर्हि वक्तव्यं- ज्ञानम्, अज्ञानं वा? न तावदज्ञानं, चिद्रू- पतयाऽनुभूयमानत्वात्। अथ ज्ञानं तदपि मतिश्रुतावधिमनः पर्यायकेवलेभ्यो ज्ञानान्तरस्याभावात्तेषां मध्ये कतमत्? इति वाच्यम्। न तावत् श्रुतादिचतुष्टयरूपम्, अनभ्युपगमात्, तल्लक्षणाऽयोगाच्च मतिज्ञानं चेत्, तदपि नावग्रहेहापायरूपं, तल्लक्षणाऽसंभवात् 'नणु सावायब्भहिया' इत्यादि, नाऽपायाभ्यधिकत्वेन साधितत्वाच्च। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चयः सर्वोऽप्यपायः, अविच्युस्मृतिवास- नारूपा तु पारिशेष्यद्धारेणैवेति स्थितम्। इति गाथार्थः।

तदेवं निरुत्तरीकृतोऽप्यविलक्षिततयाऽन्येन प्रकारेणाह--

तुज्झं बहुयरभेया, भणइ मई होइ धिइबहुत्ताओ।
भण्णइ न जाइ भेओ, इट्ठो मज्झं जहा तुज्जं ॥१९१॥

अत्र प्रेरको भणति। किम्? इत्याह- 'तुज्झमि' त्यादि, इत्थमाचार्य! तव बहुतरभेदा मतिर्भवति। कुतः? इत्याह- धृतेर्धारणाया बहुत्वात्; बहुभेदत्वादित्यर्थः, धारणाया एकस्या अप्यविच्युतिवासना- स्मृतिलक्षणभेदत्रययुक्तत्वादेवग्रहेहाऽपायैः सह षट्भेदा मतिः प्राप्नोतीति भावः। अत्र प्रतिविधानमाह- 'भण्णइ' इत्यादि, भण्यतेऽत्रोत्तरम्जा- तेर्भेदो जातिभेदो; व्यक्ति-पक्ष इत्यर्थः। स इह धारणाविचारे मम नेष्टोनाभिप्रेतः। किं तु धारणा सामान्यरूपा जातिरेव ममाभिप्रेता। कस्य यथा? इत्याह- यथा तवाऽवग्रहविषये इति शेषः। इदमुक्तं भवति- यथाऽवग्रहो व्यञ्जनार्थावग्रहभेदादुभयरूपोऽवग्रहसामान्या- देकस्त्वयाऽपीष्टः, अन्यथा मतेः पञ्चविधत्वप्रसङ्गात् तथा त्रिरूपाऽपि धारणा तत्सामान्यादेकरूपैव; इति चतुर्विधैव मतिर्न बहुतरभेदा। इति गाथार्थः।

एतदेव भावयन्नाह--

सा भिन्नलक्खणा वि हु, धिइसामण्णेण धारणा होइ।
जह उग्गहो दुरूवो, उग्गहसामण्णओ एक्को ॥१९२॥

सा धारणा अविच्युति-वासना-स्मृतीनां भिन्नस्वरूपत्वेन भिन्नलक्षणाऽपि सती धारणा सामान्याव्यतिरेकादेकैव भवति; यथाऽवग्रहो व्यञ्जनार्थावग्रहभेदात् द्विरूपोऽप्यवग्रहसामान्या- व्यतिरेकादेकः। परस्याऽपि सिद्धेः, अन्यथा मतेः पञ्चविधत्वा- पत्तेः। इति गाथार्थः।

तदेवमवग्रादिभेदचतुष्टविषया निराकृताः सर्वा अपि परा व- प्रतिपत्तयस्तन्निराकरणप्रक्रमे चानन्तरमवग्रहो द्विरूपः प्रोक्तः स च कथं द्विरूपो- भवति इत्याशङ्क्य तद्द्विरूपताकथनव्याजेन पूर्वं यान्याभिनिबोधिकज्ञानस्याऽवग्रहादीनि चत्वारि भेदव-स्तून्यु- क्तरानि, तेष्वेव मध्येऽवग्रहं तावद्, विशे०। ('उग्गह' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

तत्र व्यञ्जनं तावत्किमुच्यते? इत्यादि--

वंजिज्जइ जेणऽत्थो, घडो व्व दीवेण वंजणं तं च।
उवगरणिंदिप्पसद्दा- इपरिणयदव्वसंबंधो ॥१९४॥

व्यज्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थो येन दीपेनेव घटस्तत् व्यञ्जनं, किं पुनस्तदित्याह- 'तं चे' त्यादि। तच्च व्यञ्जनम् उपकरणे- न्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसंबन्धः। इन्द्रियं द्विविधम्- द्रव्येन्द्रि-यम्, भावेन्द्रियं च। विशे० (अत्र विस्तरः 'इंदिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) तत्र निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियं, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियं निर्वृत्तिश्च द्विधा- अङ्गुलासंख्येयभागादिमाना कदम्बकुसुमगोलकधान्यमसूरकाहलाक्षु- रप्राकारमांसगोलक-रूपा, शरीराकारा च। श्रोतादीन्द्रियाणां पञ्चानामापि यथा-संख्यमन्तर्निर्वृत्तिः; कर्णशष्कुलिकादिरूपा तु बहिर्निर्वृत्तिः। तत्र कदम्बकुसुमगोलकाकारमांसखण्डादिरूपाया अन्तर्निवृत्तेः शब्दादिविषयपरिच्छेदहेतुर्यः शक्तिविशेषः स उपकरणेन्द्रियं, शब्दादिश्च श्रोत्रादीन्द्रियाणां विषयः, आदिशब्दाद्रसगन्धस्पर्श- परिग्रहः, तद्भावेन परिणतानि च तानि भाषावर्गणादिसंबन्धीनि द्रव्याणि च शब्दादिपरिणतद्रव्याणि, उपकरणेन्द्रियं च शब्दा- दिपरिणतद्रव्याणि च तेषां परस्परं संबन्धः उपकरणेन्द्रियशब्दा- दिपरिणतद्रव्यसंबन्धः; एष तावद् व्यञ्जनमुच्यते। अपरं च- इन्द्रियेणाऽप्यर्थस्य व्यज्यमान- त्वात्तदपि व्यञ्जनमुच्यते। तथा शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरम्बमपि व्यज्यमानत्वाद् व्यञ्जनमपि- धीयते, इति। एवमुपलक्षणव्याख्यानात् त्रितयमपि यथोक्तं व्यञ्जनमवगन्तव्यम् ततश्चेन्द्रियलक्षणेन व्यञ्जनेन शब्दादि- परिणतद्रव्यसंबन्धस्वरूपस्य व्यञ्जनस्याऽवग्रहो व्यञ्जनाग्रहः, अथवातेनैव व्यञ्जनेन शब्दादिपरिणतद्रव्यात्मकानां व्यञ्ज- नानामवग्रहो व्यञ्जनावग्रहः इत्युभयत्राऽप्येकस्य व्यञ्जनशब्दस्य लोपं कृत्वा समासः। इति गाथार्थः।

अत्राऽऽक्षेपं, परिहारं चाभिधित्सुराह--

अण्णाणं सो बहिरा- ईणं व तक्कालमणुबलंभाउ।
न तदंते तत्तो च्चिय, उवलंभाओ तओ नाणं ॥१९५॥

स व्यञ्जनावग्रहोऽज्ञानं, ज्ञानं न भवति, तस्य उप करणे- न्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसंबन्धस्य कालस्तत्कालस्तस्मिन् ज्ञानस्यानुपलम्भात् स्वसंवेदनेनासंवेद्यमानत्वाद्; बधिरादीना- मिव यथा हि बधिरादीनामुपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिविषयद्रव्यैः सह संबन्धकालेन किमपि ज्ञानमनुभूयते, अननुभूयमानत्वाच्च तन्नाऽस्ति तथेहापीति भावः। अत्रोत्तरमाह- 'न तदंते' इत्यादि, नाऽसौ जडरूपतया ज्ञानरूपेणननुभूयमानत्वादज्ञानं, किं तर्हि स कोऽसौ व्यञ्जनावग्रहोज्ञानमेव। कुतः? तदन्ते- तस्य- व्यञ्जनावग्रहस्यान्ते तत एव ज्ञानात्मकस्याऽर्थावग्रहोपलम्भस्य भावात्, तथाहि- यस्य ज्ञानस्याऽन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानात्तत

एव ज्ञानमुपजायते, तज्ज्ञानं दृष्टं, यथार्थावग्रहपर्यन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानत ईहासद्भावादर्थावग्रहो ज्ञानं, जायते च व्यञ्ज-नावग्रहस्य पर्यन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानात्तत एवार्थाऽवग्रहज्ञानं, तस्माद् व्यञ्जनावग्रहो ज्ञानम्। इति गाथार्थः।

तदेवं व्यञ्जनावग्रहे यद्यपि ज्ञानं नाऽनुभूयते, तथाऽपि ज्ञानकारणत्वादसौ ज्ञानम्, इत्येवं व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानाऽभावमभ्युपगम्योक्तम्। सांप्रतं ज्ञानाऽभावोऽपि तत्राऽसिद्ध एवेति दर्शयन्नाह–

तक्कालम्मि वि नाणं, तत्थऽत्थि तणुंति तो तमव्वत्तं।
बहिराईणं पुण सो अण्णाणं तदुभया भावा ॥१९६॥

तत्कालेऽपि-तस्य व्यञ्जनसंबन्धस्य कालेऽपि तत्रानुपहतेन्द्रियसंबन्धिनि व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानमस्ति, केवलमेकतेजोऽवयवप्रकाशवत् तनु अतीवाल्पमिति; अतोऽव्यक्तं स्व-संवेदनेनापि न व्यज्यते। यद्यव्यक्तं, कथं तदस्तीति ज्ञायते ? इति चेत्! मा त्वरिष्ठाः, ''जइ विण्णाणमसंखेज्जसमइ-सद्दाइदव्वसब्भावे'' इत्यादिनाऽनन्तरमेव तदस्तित्वयुक्तेर्वक्ष्य-माणत्वात् दृष्टान्ते तु ज्ञानाऽभावे अविप्रतिपत्तिरिति दर्शय-न्नाहबधिराऽऽदीनाम्, आदिशब्दादुपहतघ्राणादीन्द्रियाणां पुनः स व्यञ्जनावग्रहोऽज्ञान- ज्ञानं न भवतीत्यत्राऽविप्रतिपत्तिरेव। कुतः ? इत्याह-तच्च तदुभयं च तदुभयं तस्याभावात्ज्ञान-कारणत्वाभावात् अव्यक्तस्यापि च ज्ञानस्याभावात्। इति गाथार्थः।

अथ पुनरप्याक्षेपं, परिहारं चाऽभिधित्सुराह–

कहमव्वत्तं नाणं, च सुत्तमत्ताइसुहमबोहो व्व।
सुत्तादओ सयं वि य, विण्णाणं नाऽवबुज्झंति ॥१९७॥

परः साऽसूयमाह- ननु कथं ज्ञानम् 'अव्यक्तं च इत्युच्यते ? तमःप्रकाशाद्यभिधानवद्विरुद्धत्वान्नेदं वक्तुं युज्यत इति भावः। अत्रोत्तरकमनन्तरमेवोक्तम् -एकतेजोऽवयवप्रकाशवत्सूक्ष्मत्वादव्यक्तम्। अथ पुनरप्युच्यते- सुप्तमत्तमूर्च्छितादीनां सूक्ष्मबोधवदव्यक्तं ज्ञानमुच्यत इति न दोषः। सुप्तादीनां तदात्मीज्ञानं स्वसंविदितं भविष्यतीति चेत् न एत देवमित्यासुप्तादयः स्वयमपि तदात्मीयविज्ञानं नाऽवबुध्यन्ते न संवेदयन्ति अतिसूक्ष्मत्वात्। इति गाथार्थः।

आह-यदि तैरपि सुप्तादिभिस्तदात्मीयज्ञानं न संवेद्यते,

तर्हि तत्तेषामस्तीत्येतत्कथं लक्ष्यते ? इत्याह–

लिक्खज्जइ तं सिमिणा- यमाणवयणदाणाइचेट्ठाहिं।
जं नाऽमइपुव्वाओ, विज्जंते वयणचेट्ठाओ ॥१९८॥

तत्सुप्तादीनां ज्ञानमस्तित्वेन लक्ष्यते। कुतः? स्वप्नायमान वचनदानादिचेष्टाभ्यः, सुप्तादयोऽपि हि स्वप्नायमानाद्यवस्थायां केचित्किमपि भाषमाणा दृश्यन्ते, शब्दिताश्चौघतो वाचं प्रयच्छन्ति, संकोचविकोचाङ्गभङ्गजृम्भितकूजितकण्डूयनादि-चेष्टाश्चश्च कुर्वन्ति, न च तास्ते तदावेदयन्ते। नापि च प्रबुद्धाः स्मरन्ति, तर्हि कथं तच्चेष्टाभ्यस्तेषां ज्ञानमस्तीति लक्ष्यते ? इत्याह- 'जमि' त्यादि, यत्-यस्मात्कारणाद् नाऽमतिपूर्वास्ता वचनादिचेष्टा विद्यन्ते, किं तु मतिपूर्विका एव, अन्यथा काष्ठादीनामपि तत्प्रसङ्गात्; अतस्ताभ्यस्तत्तेषामस्तीति लक्ष्यत एव धूमादाग्निरिव। इति गाथार्थः।

आह-ननु आत्मीयमपि चेष्टितं किं कश्चिन्न जानाति येन सुप्तादीनां स्वचेष्टितासंवेदनमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह–

जगंतो वि न जाणइ, छउमत्थो हिययगोचरं सव्वं।
जं तज्जवसाणाइं, जमसंखिज्जाइं दिवसेणं ॥१९९॥

हृदयम् -मनोगोचरस्थानं यस्य तत् हृदयगोचरम् अध्यवसायनिकुरम्बम् इति गम्यते, तज्जाठादपि छद्मस्थः सर्वम्- अपरिशेषं न जानाति- न संवेदयते, आस्तां तावत्पुनः सुप्तः- कुत ? इत्याह- अध्यवसानानि- अध्यवसायस्थानरूपाणि केवलिगम्यानि सूक्ष्माणि। यत् एकेनाप्यन्तर्मुहूर्तेनासंख्येनानि यान्ति- अतिक्रामन्ति, किं पुनः सर्वेणापि दिवसेन ? न चैतानि छद्मस्थः सर्वाण्यपि संवेदयते। ततश्च यथैतानि छद्मस्थैर- संवेद्यमानान्यपि केवलिदृष्टत्वात्सत्वेनाभ्युपगम्यन्ते, तथा व्यञ्जनावग्रहज्ञानमपि। इति गाथार्थः।

आह-ननु सुप्तादीनां ज्ञानं वचनादिचेष्टाभ्यो गम्यते इत्युक्तं तत्तावदभ्युपगच्छामः, व्यञ्जनावग्रहे तु ज्ञानरूपतागमकं लिङ्गं न किंचिदुपलभामहे, अतो जडरूपत्वान्नाऽसौ ज्ञानमिति ब्रूमः, इत्याशङ्क्याह–

जइ व ऽण्णाणमसंखे-ज्जसमइसद्दाइदव्वसब्भावे।
किह चरमसमयसद्दा- इदव्वविण्णाणसामत्थं ॥२००॥

वाशब्दः पातनासूचकः सा च कृतैव। ततश्च हन्त ! यदि-अज्ञानं व्यञ्जनावग्रहः क्व सति ? इत्याह-असंख्येयस-मयशब्दादिद्रव्यसद्भावेऽपि सति, इत्यपिशब्दो गम्यते। कथं तर्हि चरमसमयशब्दादिद्रव्याणां विज्ञानजननसामर्थ्यं ? न कथंचिदि- त्यर्थः। इदमुक्तं भवति-व्यञ्जनावग्रहे तावत्प्रतिसमयसंख्ये-यान् समयान् यावच्छ्रोत्रादीन्द्रियैः सह शब्दादिविषयद्रव्याणि संबध्यन्ते। ततश्च यद्यसंख्येयसमयान् यावच्छ्रोत्रादीन्द्रियैः सह शब्दादिविषयद्रव्यसंबन्धसधेद्भावेऽपि सति व्यञ्जनावग्रहरूपं ज्ञानं नाऽभ्यपगम्यते, कथंतर्हि चरमसमये श्रोतादीन्द्रियैः सह संबद्धानां शब्दादिविषयद्रव्याणां परेणाऽप्यर्थावग्रहलक्षणविज्ञान-जननसामर्थ्यमिष्यते ? तदभ्युपगन्तुं न युज्यते इति भावः। यदि हि शब्दादिविषयद्रव्याणां श्रोत्रादीन्द्रियैः सह संबन्धे आदिसमयादेवारभ्य ज्ञानमात्रा काचित्प्रतिसमयमाविर्भवन्ती नाऽभ्युपगम्यते, तर्हि चरमसमयेऽप्येकस्मादेवैषा न युज्यते, तथा च सत्यर्थावग्रहादिज्ञानानामप्यनुदयप्रसङ्गः। इति गाथार्थः।

तथाहि-

जं सव्वहा न वीसुं, सव्वेसु वि तन्न रेणुतिल्लं व।
पत्तेयमणिच्छंतो, कहमिच्छसि समुदये नाणं ॥२०१॥

यद्वस्तु सर्वथा-सर्वप्रकारैर्विष्वक् -पृथक् नाऽस्ति तत् समुदायेऽपि नाभ्युपगन्तव्यं, यथा रेणुकणनिकरे प्रतिरेणुक(ण)- मविद्यमानं तैलम्, एवं चेत्तर्हि त्वमपि प्रत्येकमनिच्छन् कथं समुदाये ज्ञानमिच्छसि? इदमुक्तं भवति- यदीन्द्रिय-

विषयसंबन्धस्य प्रथमसमयादारभ्य व्यञ्जनावग्रहसंबन्धिनो ऽसंख्येयान् समयान् यावत्प्रतिसमयं पुष्टिमाबिभ्रती ज्ञानमात्रां काञ्चिदपि नेच्छसि तर्हि चरमसमयशब्दादिविषयद्रव्य-संबन्धेन संपूर्णे समुदायेऽपि कथं तामिच्छसि ? चरमसमय-शब्दादिविषयद्रव्यसंबन्धे यदर्थावग्रहज्ञानम-भ्युपगम्यते, तदपि प्रत्येकमसच्चरमसिकताकणे तैलवन्न प्राप्नोतीति भाव: । तस्मा-त्तिलेषु तैलवत्सर्वेष्वपि समयेषु प्रत्येकं यच्च यावच्च ज्ञानमस्तीति प्रतिपत्तव्यम् । इति गाथार्थ: ।

किं च--

समुदाये जइ णाणं, देसूणे समुदए कहं नऽत्थि ।
समुदाये वाऽभूयं, कह देसे होज्ज तं सयलं ॥२०२॥

समुदायज्ञानवादिन् ? यदि विषयद्रव्यसंबन्धसमयानाम- संख्येयानां समुदाये ज्ञानमर्थावग्रहलक्षणमभ्युपगम्यते । तर्हि चरमसमयलक्षणो योऽसौ देशस्तेन न्यूने समुदाये चरमैकसमयो नैष्वसंख्यातेषु समयेष्वित्यर्थ:, तत्कथं नास्ति ? समस्त्येव, प्रमाणोपपन्नत्वात् ? तथाहि-सर्वेष्वपि शब्दादिद्रव्यसंबन्ध-समयेषु ज्ञानमस्तीति प्रतिजानीमहे, ज्ञानोपकारिशब्दादिद्रव्यसंबन्धसमयसमुदायै-कदेशत्वादिति हेतु:, अर्थावग्रहसमय-वदिति दृष्टान्त: । अत्राहननु शब्दादिविषयोपादानसमयसमुदाये ज्ञानं केना- भ्युपगम्यते, येन समुदायैकदेशत्वात्प्रथमादिसमयेषु सर्वेष्वपि तत् प्रतिज्ञायते । मया ह्येकस्मिन्नेव चरमसमये शब्दादिद्रव्यो- पादाने ज्ञानप्रसव इष्यते, इत्याशङ्क्याह- 'समुदाये वा ऽभूयमि' त्यादि, चशब्दो वाशब्दो वा पातनायां, सा च कृतैव । तत्र यद्येकस्मिन्नेय चरमसमये ज्ञानमभ्युपगम्यते । तदाऽसौ सर्ब-समयसमुदायापेक्षया तावदेकदेश एव । ततश्चाऽननैकदेशेनोने शेषसमयसमुदाये यद्भूतं ज्ञानं तत्कथं हन्त चरमसमयलक्षणे देशे अकस्मादेव सकलमखण्डं भवेद् अप्रमाणोपपन्नत्वात् । तथाहि-नैकस्मिंश्चरमशब्दादि- द्रव्योपादानसये ज्ञानमुपजायते, एकसयमात्रशब्दादिद्रव्योपादानात्, व्यञ्जनावग्रहाद्य-समय-वदिति । स्यादेतत्, चरमसंमयेऽर्थाव ग्रहज्ञानमनुभवप्रत्यक्षेणा-ऽप्यनुभूयते, तत: प्रत्यक्षविरोधिनीयं प्रतिज्ञा: । तदयुक्तम्, चरमसमय एव समठां ज्ञानमुत्पद्यते इति भवत्प्रतिज्ञातस्यैव प्रत्यक्षविरोधात्, चरमतन्तौ समस्तपटोत्पादवचनवत् । तथा, सर्वेष्वपि शब्दादिद्रव्य-संबन्धसमयेषु ज्ञानमस्तीत्यादि-पूर्वोक्तानुमानविरोधश्च भवत्पक्षस्य । इति गाथार्थ: ।

तस्मात्किमिह स्थितम् ? इत्याह--

तंतू पडोवगारी, न समत्तपडो य समुदिया ते उ ।
सव्वे सम्मत्तपडओ, तह नाणं सव्वसमयेसु ॥२०३॥

यथा एकस्तन्तु: पटोपकारी वर्तते, तमन्तरेणापि समठाम्य तस्याऽभावात् न चासौ तन्तुरेतावता समस्त: पटो भवति, पटैकदेशत्वात् तस्य, समुदिता: पुनस्ते तन्तव: सर्वे समस्त पटव्यपदेशभाजो भवन्ति ? तथाऽत्रापि सर्वेष्वपि समुदितेषु समयेषु ज्ञानं भवति, नैकस्मिंश्चरमसमये । ततश्चार्थावग्रहसम-यात् पूर्वसमयेषु तदेव ज्ञानमतीवास्पुटं व्यञ्जनावग्रह उच्यते ? चरमसमये तु तदेव किञ्चित् स्फुटतरावस्थामापन्नमर्थावग्रह: इति व्यपदिश्यते । अतो-यद्यपि सुप्तमत्तमूर्छितादिज्ञानस्येव व्यक्तं तथाविधं व्यञ्जनावग्रहज्ञानसाधकं लिङ्गं नास्ति तथाऽपि यथोक्तयुक्तितो व्यञ्जनावग्रहे सिद्धं ज्ञानम् । इति गाथार्थ: ।

तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्या तत्र तत्त्वं व्यञ्जनावग्रहस्य स्वरूप-मुक्तम् । अथ तस्य भेदान्निरूपयितुमाह--

नयणमणोवर्ज्जिंदिय-भेआओ वंजणोग्गहो चउहा । (२०४+)

स च व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्द्धा भवति । कुत:? इत्याह- नयनमनोव-र्जेन्द्रियभेदात् । इदमुक्तं भवति- विषयस्य इन्द्रियस्य च य: परस्परं संबन्ध:- प्रथममुपश्लेषमात्रं; तद्व्यञ्जनावग्रहस्य विषय: । स च विषयेण सहोपश्लेष: प्राप्यकारिष्वेव स्पर्शन- रसनघ्राणश्रोत्रलक्षणेषु चतुर्ष्विन्द्रियेषु भवति, न तु नयनम नसो: । अतस्ते वर्जयित्वा शेषस्पर्शनादीन्द्रियचतुष्टयभेदात् चतुर्विध एव व्यञ्जनावग्रहो भवति । विशे० । (भेदान् 'इंदिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यामि) ('मण' शब्दे च षष्ठे भागे) (व्यवस्थितम् अप्राप्यकारित्वं नयनमनसो:) ततश्च- स्पर्शन-रसन घ्राणश्रोत्रभेदात् चतुर्विध एव व्यञ्जनावग्रह: । विशे० ।

(४) अवग्रहप्ररूपणामाह । प्रतिबोधकमल्लकदृष्टान्ताभ्याञ्च प्ररूपणां सहोपात्तत्वाप्ररूपणया सहैव व्युत्क्रमेणाह--

तत्थोग्गहो दुभेओ, उग्गणं जं होइ वंजणऽत्थाणं ।
वंजणओ य जमत्थो, तेणाईए तयं वोच्छं ॥१९३॥

(अस्या गाथाया व्याख्या 'उग्गह' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) इत्यादिना ग्रन्थेन प्रतिज्ञातव्यञ्जनावग्रहस्वरूपप्रतिपादनं चेह प्रकृतम् । तस्य व्यञ्जनावग्रहस्य स्वरूपं नन्द्यध्ययनागमसूत्रे प्रतिबोधकमल्ल-कोदाहरणाभ्यां प्रतिपादितम्, तद्यथा--

''वंजणुग्गहस्स परूवणं करिस्सामि पडिबोहगदिट्ठंतेणं, मल्लगदिट्ठंतेण य । से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं? पडिबोह- गदिट्ठंतेणं से- जहानामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोहिज्जा अमुग! अमुग! त्ति । तत्थ चोयगे पण्णवगं एवं वयासी-किं एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति० जाव दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति असंखिज्ज-समयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ? एवं वदन्तं चोयगं पण्णवए एवं वयासी-नो एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति० जाव नो दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, से (त्तं) तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ॥

से किं तं मल्लगदिट्ठंतेणं ? मल्लगदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ आवागसीसाओ मल्लगं महाय तत्थेगं उदगविंदुं पक्खि-

विज्जा, से नट्ठे। अण्णे वि पक्खित्ते, सेऽवि नट्ठे। अण्णे वि पक्खित्ते, से वि नट्ठे। एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं रावेहिति। होही से उदगविंदू जे णं तंसि मल्लगंसि ठाइति। होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं भरेहिति। होही से उदगबिन्दू जे णं तंसि मल्लगंसि न ट्ठाहि-हिति। होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं पवाहहिति एवामेव पक्खिप्पमाणेहिं २ अणन्तेहिं पुग्गलेहिं जाहे तं वंजणं पूरियं होइ ताहे हुन्ति करेइ, नो चेव णं जाणइ केवि एस सद्दाइ'' (सूत्र-३५+) इत्यादि।

इदं च सूत्रं नन्दिविवरणे एवेत्थं व्याख्यातम्, तद्यथा प्रतिबोध-कमल्लकदृष्टान्ताभ्यां व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणं करिष्यामि। तत्र प्रतिबोधयतीति प्रतिबोधकः स एव दृष्टान्तस्तेन, तद्यथा-नाम कश्चिद्-अनिर्दिष्टस्वरूपः पुरुषः कश्चिद्-अन्यम् अनिर्दिष्ट-स्वरूपमेव पुरुषं सुप्तं सन्तं प्रतिबोधयेत्। कथमित्याह- अमुक ! अमुक ! इति। तत्र प्रेरकः प्रज्ञापकमेवमवादीत्किमेक-समयप्रविष्टा इत्यादि। एवं वदन्तं प्रेरकं प्रज्ञापक एवमुक्तवान्नो एकसमयप्रविष्टा इत्यादि, प्रकटार्थं, यावन्नोसंख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति। नवरमयं प्रतिषेधः शब्दविज्ञान-ग्राह्यतामधिकृत्य वेदितव्यः; शब्दविज्ञानजनकत्वेनेत्यर्थः, अन्यथा संबन्धमात्रमधिकृत्य प्रथमसमयादारभ्य पुद्गला ग्रहण-मागच्छन्त्येव। 'असंखेज्ज' इत्यादि प्रतिसमयप्रवेशेनादित आरभ्यासंख्येयसमयैः प्रविष्टाः असंख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गलाः-शब्दद्रव्यविशेषा ग्रहणमागच्छन्ति अर्थावग्रहज्ञानहेतवो भवन्तीति भावः। इह च चरमसमयप्रविष्टा एव विज्ञानजनकत्वेन ग्रहणमागच्छन्ति, तदन्ये त्विन्द्रियक्षयो- पशमोपकारिण इति सर्वेषां सामान्येन ग्रहणमुक्तम्। सेयं प्रतिबोधकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहणप्ररूपणा इति वाक्यशेषः॥ अथं केयं मल्लक-दृष्टान्तेन प्ररूपणा ? तद्यथानाम कश्चित्पुरुषः आपाकशिरसो मल्लकं शरावं गृहीत्वा रूक्षमिदं भवतीत्यस्य ग्रहणम्। तत्र मल्लके एकमुदकबिन्दूं प्रक्षिपेत्स नष्टः तत्रैव तद्भावपरिणतिमापन्न इत्यर्थः। शेषं सुबोधम् 'जाव जे णं तं मल्लगं' 'रावेहिति' आर्द्रतां नेष्यति। शेषं सुबोधम्। नवरम् 'पवाहेहिति' प्लाव-यिष्यतीति। 'एवामेवे' त्यादि, अति बहुत्त्वा- त्प्रतिसमयमनन्तैः शब्दपुद्गलैः यदा तद्व्यञ्जनं पूरितं भवति, तदा 'हुम' इति करोति तमर्थं गृह्णाणातीत्युक्तं भवति। किं विशिष्टं नामजात्यादि-कल्पनारहितम्, अत एवाह-'नो चेव णं जाणइ केवेस सद्दाइ त्ति' न पुनरेवं जानाति क एष शब्दादिः इत्यर्थः। एवं च सति सामयिकत्वादर्थावग्रहस्य अर्थावग्रहात्पूर्वं सर्व्वो व्यञ्जना-ऽवग्रहः'' तदेवमस्य व्यञ्जनाऽवग्रहस्वरूपप्रतिपादकस्य नन्दिसूत्रस्य शेषं प्रायः सुगममिति मन्यमानो भाष्यकारः ''जाहे तं वंजणं पूरियं होइ ''इत्येतत् (नन्दिसूत्रांशं) व्याचिख्यासुराह-

तोएण मल्लगं पिब, वंजणमापूरियं ति जं भणियं।
तं दव्यमिंदियं वा, तस्संजोगो व न विरुद्धं ॥२५०॥

'जं भणियं' यदुक्तं नन्दिसूत्रकारेण किं तद् ? इत्याह-व्यञ्जनमापूरितमिति। केन किंवत् ? इत्याह। तोयेनजलेन मल्लकंशरावं तद्वदिति। तस्मिन् सूत्रकारभणिते व्यञ्जनं द्रव्यं गृह्यते, इन्द्रियं वा, तयोर्वा द्रव्येन्द्रिययोः संयोगासंबन्ध इति सर्वथाऽप्यविरोधः। इदमुक्तं भवति-व्यञ्जनशब्देन शब्दादि-विषय- परिणतपुद्गलसमूहरूपं द्रव्यं श्रोत्रादीन्द्रियं वा द्रव्येन्द्रिययोः संबन्धो वा गृह्यते, न कश्चिद्विरोधः व्यज्यते-प्रकटीक्रियते विवक्षितोऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनमित्यस्या व्युत्पत्तेः सर्वत्र घटनादिति गाथार्थः।

केवलं द्रव्यादिषु त्रिष्वपि व्यञ्जनशब्दवाच्येषु प्रत्येकमापूरितत्वे विशेषो द्रष्टव्यः कः पुनरसौ ? इत्याह

दव्वं माणं पूरिय- मिंदियमापूरियं तहा दोण्हं।
अवरोप्पस्संसग्गो, जया तया गिण्हइ तमत्थं ॥२५१॥

'दव्वं' ति यदा द्रव्यं व्यञ्जनमधिक्रियते तदा 'जाहे तं वंजणं पूरियं होइ' इति- कोऽर्थः ? इत्याह-'माणं पूरियं' तिमानम् तस्य शब्दादिद्रव्यस्य प्रमाणं प्रतिसमयप्रवेशेन प्रभूतिकृत्वा-त्स्वप्रमाणमानीतं प्रकर्षमुपनीतं स्वग्राहकज्ञानजनने समर्थीकृत- मिति यावत्। यदा त्विन्द्रियमिति इन्द्रियं व्यञ्जनमधिक्रियते तदा 'जाहे तं वंजण पूरियं होइ' इति-किमुक्तं भवति ? इत्याह- 'आपूरियं' ति आपूरितं-व्याप्तं-भृतंवासितमित्यर्थः। तथा- 'दोण्हं ति'-द्वयोः श्रोत्रादीन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्ययोः संबन्धो यदि व्यञ्जनमधिक्रियते तदा 'जाहे तं वंजणं पूरियं होइ' इतिकिमुक्तं भवति ? इत्याह-'अवरोप्परं संसग्गो' त्ति-सम्यग् सर्गो-योगः संसर्गः; सम्यक् संबन्ध इत्यर्थः, इदमत्र हृदयम्- अस्मिन्पक्षे यदा तयोरिन्द्रियद्रव्ययोः परस्परमतीव संयुक्तता-अनुपक्तता अङ्गाङ्गिभावेन परिणामो भवति, तदा प्रस्तुतसंबन्ध- लक्षणं व्यञ्जनमापूरितं भवतीत्युच्यत इति। 'जया तया गिण्हइ तमत्थं' त्ति-एवं यदा त्रिविधमपि व्यञ्जनं प्रकारत्रयेणाऽऽपूरितं भवति, तदा तं विवक्षितं शब्दादिकमर्थमव्यक्तं नाम-जात्यादिकल्पना रहितं गृह्णाति। एतच्च 'ताहे हुंति करेइ' इत्यस्य व्याख्यानाम अर्थावग्रहश्चायमेक-समायिको विज्ञेयः, इतरस्तु पूर्वमन्तर्मुहूर्त्तं द्रव्यप्रवेशादिरूपो व्यञ्जनाऽवग्रहोऽवसेयः। इति गाथार्थः।

किं विशिष्टं पुनस्तमर्थं गृह्णाति? इत्याशङ्क्य स्वत एव भाष्यकारस्त-त्स्वरूपमाह-

सामण्णणिद्देसं, सरूव- नामाइकप्पणारहियं।
जइ एवं जं तेणं, गहिए सद्देत्ति तं किहणु? ॥२५२॥

ग्राह्यवस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वे सत्यप्यर्थावग्रहेण सामान्यरूप-मेवार्थं गृह्णाति, न विशेषरूपम्, अर्थावग्रहस्यैकसा- मयिकत्वात्, समयेन च विशेषग्रहणायोगादिति। सामान्यार्थश्च कश्चित् ग्रामनगरवनसे-नादिशब्देन निर्देश्योऽपि भवति, तद्व्यवच्छेदार्थमाह-अनिर्देश्य केनापि शब्देनानभिलप्यम्। कुतः पुनरेतत् ? इत्याह- यतः स्वरूपनामादि-कल्पनारहितम्, आदि- शब्दात्जातिक्रियागुणद्रव्यपरिग्रहः। तत्र रूपर-साद्यर्थानां य आत्मीचक्षुरादीन्द्रियगम्यः प्रतिनियतः स्वभावस्तत्स्व-रूपम्। रूपरसादिकस्तु तदभिधायको ध्वाननाम्, रूपत्वरसत्वादिका

तु जातिः प्रीतिकरमिदं रूपं पुष्टिकरोऽयं रस इत्यादि-कस्तु शब्दः क्रियाप्रधानत्वात् क्रियाः । कृष्णनीलादिकस्तु गुणः । पृथिव्यादिकं पुनर्द्रव्यम्। एतेषां स्वरूप-नामजात्यादीनां कल्पना अन्तर्जल्पारूषित-ज्ञानरूपा तया रहितमेवार्थमर्थावग्रहण गृह्णाणाति यतो जीवः, तस्मादनिर्देश्योऽयमर्थः प्रोक्तः तत्कल्पनारहितत्वेन स्वरूपनाम-जात्यादिप्रकारेण केनाऽपि निर्देष्टुमशक्यत्वादिति । एवमुक्तं सति परः प्राह-'जइ एवं' इत्यादि- यदि स्वरूपनामादिकल्पना-रहितोऽर्थोऽर्थाऽवग्रहस्य विषय इत्येवं व्याख्यायते भवद्भिः तर्हि 'जं' ति-यन्नन्द्यध्ययनसूत्र प्रोक्तम् । किम? इत्याह-'तेणं गहिए सद्दे' त्ति-उपलक्षणत्वादित्थं तत्संपूर्णं द्रष्टव्यम्-''से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए न उण जाणइ केवेस सद्दा'' इति, 'तं किहणु' त्ति-तदेतत्कथमविरोधेन नीयते ? युष्मद्व्याख्यानेन सह विरुद्ध्यते एवेदमित्यर्थः, तथा हि अस्मिन्नन्दिसूत्रेऽयमर्थः प्रतीयते- यथा तेन प्रतिपत्त्रार्थावग्रहेण शब्दोऽवगृहीत इति भवन्तस्तु शब्दाद्युल्लेखरहितं सर्वथा अमुं प्रतिपादयन्ति ततः कथं न विरोध इति भावः इति गाथार्थः ।

अत्रोत्तरमाह–

सद्दे त्ति भणइ वत्ता, तम्मत्तं वा न सद्दबुद्धीए ।
जइ होज्ज सद्दबुद्धी, तोऽवाओ चेव सो होज्जा ॥२५३॥

शब्दस्तेनाऽवगृह्णीत इति यदुक्तं, तत्र-'शब्दः' इति वक्ता प्रज्ञापकः सूत्रकारो वा भणति- प्रतिपादयति, अथवा-तन्मात्रं- शब्दमात्रं रूपरसादिविशेषव्यावृत्त्याऽनवधारितत्वाच्छब्दतया अनिश्चितं गृह्णाणातीति । एतावतांशेन शब्दस्तेनाऽवगृहीत इत्युच्यते न पुनः शब्दबुद्ध्या 'शब्दोऽयम्' इत्यध्यवसायेन तत्-शब्दवस्तु तेनावगृहीतं, शब्दोल्लेखस्यान्तर्मुहूर्तिकत्वाद् अर्थावग्रहस्य त्वेकत्वसामायि-कत्वादसंभव एवायमिति भावः । यदि पुनः तत्र- अर्थावग्रहे शब्दबुद्धिः स्यात्तर्हि को दोषः स्याद ? इत्याशङ्क्य सूत्रकारः स्वयमेव दूषणान्तरमाह-'जई' त्यादि-यदि पुनरर्थावग्रहे शब्दबुद्धिः- शब्दनिश्चयः स्यात् तदाऽपाय एवाऽसौ स्यात्, नत्वर्थावग्रहः, निश्चयस्यापायरूपत्वात् । ततश्चार्थावग्रहेहाभाव एव स्यात्, न चैतद् दृष्टम्, इष्टं च । इति गाथार्थः ।

अत्राह परः-ननु प्रथमसमय एव रूपादिव्यपोहेन 'शब्दोऽयम' इति प्रत्ययोऽर्थावग्रहत्वेनाभ्युपगम्यतां शब्दमात्रत्वेन सामान्य-त्वात्; उत्तरकालं तु प्रायो माधुर्यादयः शङ्खशब्दधर्म्मा इह घटन्ते, ननु शार्ङ्गधर्माः खरकर्कशत्वादय इति विमर्शबुद्धिरीहा तस्मा-च्छाङ्ग एवायं शब्द इति तद्विशेषस्त्वपायोऽस्तु । तथा च सति ''तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए'' इदं यथाश्रुतमेव व्याख्यायते- नो चेव णं जाणइ केवेस सद्दाइ तओ ईहं पविसइ'' इत्याद्यपि सर्वमविरोधेन गच्छतीति । तदेतत्परोक्तं सूरिः प्रत्यनुभाष्य दूषयति, तद्यथा-

जइ सद्दबुद्धिमेत्तयमव-ग्गहो तव्विसेसणमवाओ ।
नणु सद्दो नासद्दो, न य रूवाइविसेसोयं ॥२५४॥

भो पर! यदि शब्दबुद्धिमात्रं 'शब्दोऽयम्' इति निश्चयज्ञानमपि भवतार्थाऽवग्रहोऽभ्युपगम्यते, तद्विशेषणं तु तस्य शब्दस्य विशेषणं विशेषः 'शाङ्ग एवायं शब्दः' इत्यादिविशेषज्ञान- मित्यर्थः, अपायो मतिज्ञानतृतियो भेदोऽङ्गीक्रियते हन्त तर्हि अवग्रहलक्षणस्य तदाद्यभेदस्याऽभावप्रसङ्गः, प्रथमत एवावग्रह- मतिक्रम्याऽपाया-ऽभ्युपगमात्। कथं पुनः शब्दज्ञानमपायः? इति चेद्। उच्यते-तस्यापि विशेषग्राहकत्वात्, विशेषज्ञानस्य च भवताप्यपायत्वेनाभ्युपगतत्वात्। ननु 'शाङ्ग एवाऽयं शब्द' इत्यादिकमेव तदुत्तरकालभाविज्ञानं विशेषग्राहकं शब्दज्ञाने तु शब्दसामान्यस्यैव प्रतिभासनात्कथं विशेषप्रतिभासः येनाऽपाय- प्रसङ्गः स्याद् ? इत्याह- 'नणु' इत्यादि नन्वित्यक्षमायां, पराम-न्त्रणे वा, ननु 'शब्दोऽयं नाशब्द' इति विशेषोऽयं विशेष- प्रतिभास एवाऽयमित्यर्थः । कथं पुनर्नाशब्द इति निश्चीयते? इत्याह- न च रूपादिरिति, चशब्दो हिशब्दार्थे, आदिशब्दा- द्गन्ध-रस-स्पर्शपरिग्रहः । ततश्चेदमुक्तं भवति-यस्मान्न रूपादिरयं, तेभ्यो व्यावृत्तत्वेन गृहीतत्वाद् , अतो नाऽशब्दोऽयमिति निश्चीयते; । यदि तु रूपादिभ्योऽपि व्यावृत्तिर्गृहीता न स्यात्तदा शब्दो- ऽयमिति निश्चयोऽपि न स्यादिति भावः । तस्माच्छब्दोऽयं नाशब्दः इति विशेषप्रतिभास एवाऽयम् । तथा च सत्यस्याप्यपाय-प्रसङ्गतोऽवग्रहाभावप्रसङ्ग इति स्थितम्। इति गाथार्थः ।

अथ परोऽवग्रहाऽपाययोर्विषयविभागं दर्शयन्नाह–

थोवमियं नाऽवाओ, संखाइविसेसणगवाउ त्ति ।
तब्भेया वेक्खाए, ननु थोवमियं पि नाऽवाओ ॥२५५॥

इदं शब्दबुद्धिमात्रकं शब्दमात्रस्तोकविशेषावसायित्वात् स्तोकम्-स्तोकविशेषग्राहकम्, अतोऽपायो न भवति, किं त्ववग्रह एवाऽयमिति भावः । कः पुनस्तर्ह्यपायः? इत्याह-'संखाइ' इत्यादि, शाङ्गोऽयं शब्द इत्यादिविशेषणविशिष्टं यज्ज्ञानं तदपायः बृहद्विशेषावसायित्वादिति हृदयम् । हन्त ! यद्यत् स्तोकं तत्तन्नाऽपायः तर्हि निवृत्ता सांप्रतमपायज्ञानकथा, उत्तरोत्तरार्थविशेषग्रहणापेक्षया पूर्वपूर्वार्थविशेषा-वसायस्य स्तोकत्वाद्। एतदेवाह- 'तब्भेये' त्यादि, तस्य शाङ्गशब्दस्य ये उत्तरोत्तरभेदाः मन्द्रमधुरत्वादयः, तरुणमध्यमवृद्धस्त्री-पुरुषसमुत्थत्वादयश्च तदपेक्षायां सत्यामिदमपि ''शाङ्गोऽयं शब्दः' इत्यादि ज्ञानं ननु स्तोकंस्तोकविशेषग्राहकमेव इति नाऽपायः स्याद्। एवमुत्तरोत्तरविशेषग्राहिणामपि ज्ञानानां तदुत्तरोत्तर-भेदापेक्षया स्तोकत्वादपायत्वाभावो भावनीयाः इति गाथार्थः ।

तमेवाऽपायाभावं स्फुटीकुर्वन्नाह–

इय सुबहुणा वि कालेण, सव्वभेयावहारणमसज्झं ।
जम्मि हवेज्ज अवाओ, सव्वो च्चिय उग्गहो नाम ॥२५६॥

इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः, ततश्चेदमुक्तं भवति-यथा 'शाङ्गोऽयं शब्दः' इत्यस्यां बुद्धौ शब्दगतभेदावधारणं सांप्रतम-साध्यम्, मन्द्रमधुरत्वादित-दुत्तरोत्तरभेदबाहुल्यसंभवात् । तथा च सति स्तोकत्वान्नेयं बुद्धिरपायः, किं त्वर्थाऽवग्रह इत्येवं सुबहुनाऽपि कालेन सर्वेणाऽपि पुरुषायुषेण शब्दगतमन्द्रमधुरत्वाद्युत्तरोत्तरभेदावधारणमसाध्यं तद्भे-

दानामनन्तत्वादशक्यमित्यर्थः, यस्मिन् भेदाऽवधारणे, किम ? इत्याह- यस्मिन्नपायो भवेदन्यभेदाकाङ्क्षानिवृत्तेर्यस्मिन् भेदाऽवधारणज्ञानेऽपायत्वं व्यवस्थाप्येत, इति भावः । तस्मात्सर्वोऽपि भेदप्रत्यय उत्तरोत्तरापेक्षया त्वदभिप्राये स्तोक-त्वादर्थावग्रह एव प्राप्नोति नाऽपायः शब्दज्ञानवद् । इति गाथार्थः ।

किं च शब्द एवायमिति ज्ञानं स्तोकत्वाद्यदर्थावग्रहत्वेन भवताऽभिमतम् । तत् पूर्वमीहामन्तरेण न संभवति तत्पूर्वकत्वे च तस्याऽर्थावग्रहत्वाऽसंभव इति दर्शयन्नाह–

किंसद्दो किमसद्दो-त्तणीहिए सद्दए व किह जुत्तं ?।
अह पुव्वमीहिऊणं, सद्दो त्ति मयं तई पुव्वं ॥२५७॥

'किं शब्दोऽयम् आहो (स्व)श्चिद् अशब्दो-रूपादिः इत्येवं पूर्वमनीहिते यत् 'शब्द एव' इति निश्चयज्ञानं तदकस्मादेव जायमानं कथं युक्तम् ? विमर्शपूर्वकत्वमन्तरेण नदं घटत इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति- शब्दगतान्वयधर्मेषु रूपादिभ्यो व्यावृत्तौ च गृहीतायां 'शब्द एव' इति निश्चयज्ञानं युज्यते, तद्ग्रहणं च विमर्शमन्तरेण नोपपद्यते, विमर्शश्च-ईहा, तस्मादीहा-मन्तरेणायुक्तमेव 'शब्द एव' इति निश्चयज्ञानम्। अथ निश्चय-कालात्पूर्वमीहित्वा भवतोऽपि 'शब्द एवायम' इति निश्चय-ज्ञानमभिमतम् । हन्त; तर्हि निश्चयज्ञानात्पूर्वम् 'तई' असौ ईहा भवद्वचनतोऽपि सिद्धाः इति गाथार्थः ।

यदि नाम निश्चयज्ञानात्पूर्वमीहा सिद्धा,

ततः किम् ? इत्याह–

किं तं पुव्वं गहियं, जमीहओ सद्दए व विण्णाणं ।
अह पुव्वं सामण्णं, जमीहमाणस्स सद्दो त्ति ॥२५८॥

हन्त! यदि निश्चयज्ञानमीहापूर्वकं त्वयाभ्युपगम्यते, तर्हि प्रष्टव्योऽसि ननु ईहायाः पूर्वं किं तद्वस्तु प्रमात्रा गृहीतम्, यदी-हमानस्य तस्य 'शब्द एवायम्' इति निश्चयज्ञानमुपजायते ? न हि कश्चिद्वस्तुन्यगृहीते अकस्मात्प्रथमत एव ईहां कुरुत इति भावः । क्षुभितस्य परस्योत्तरप्रदानाऽसामर्थ्यमालोक्य स्वयमेव तन्मतमाशङ्कते अथ ब्रूयात्परः-सामान्यं नामजात्यादिकल्पना- रहितं वस्तु मात्रमीहायाः पूर्वं गृहीतं, यदीहमानस्य 'शब्दः' इति निश्चयज्ञानमुत्पद्यते । इति गाथार्थः ।

अथ ईहायाः पूर्वं सामान्यग्रहणे परेणेष्यमाणे सूरिः

स्वसमीहितसिद्धिमुपदर्शयन्नाह–

अत्थोग्गहओ पुव्वं, होयव्वं तस्स गहणकालेणं ।
पुव्वं च तस्स वंजण-कालो सो अत्थपरिसुण्णो ॥२५९॥

ननु ईहायाः पूर्वं यत् सामान्यं गृह्यते, तस्य तावद् ग्रहणकालन भवितव्यम् । स चास्मदभ्युपगतसामायिकार्थाऽवग्रहकाल-रूपो न भवति, अस्मदभ्युपगताऽङ्गीकारप्रसङ्गात्, किं तर्हि ? अस्मदभ्युपगतार्थाऽवग्रहात्तत्पूर्वमेव भवदभिप्रायेण तस्य सामान्यस्य ग्रहणकालेन भवितव्यं, पूर्वं च तस्यास्मदभ्युपग- तार्थाऽवग्रहस्य व्यञ्जनकाल एव वर्त्तते, व्यञ्जनानांशब्दादि- द्रव्याणामिन्द्रिय-मात्रेणादानकालो मध्यपदलोपाद्व्यञ्जनकालः। भवत्वेवं, तथाऽपि तत्र सामान्याऽर्थग्रहणं भविष्यति, इत्याशङ्क्याह- स च व्यञ्जन-कालोऽर्थपरिशून्यः, न हि तत्र सामान्यरूपो, विशेष्यरूपो वा कश्चनाप्यर्थः प्रतिभाति, तदा मनोरहितेन्द्रियमात्रव्यापारात्, तत्र चार्थप्रतिभासाऽयोगात् । तस्मत्पारिशेष्यादस्मदभ्युपगतार्थाऽवग्रह एव सामान्य-ग्रहणमिति गाथायामनुक्तमपि स्वयमेव द्रष्टव्यम् । तदनन्तरं चान्वयव्यतिरेकधर्मपर्यालोचनरूपा ईहा, तदनन्तरं च 'शब्द एवाऽयम्' इति निश्चयज्ञानमपायः इति सर्वं सुस्थं भवति। इति गाथार्थः ।

अथ प्रथममेवाऽर्थाऽवग्रहज्ञानेन शब्दाऽग्रहणे

परः पुनरपि दोषमाह–

जइ सद्दो त्ति न गहियं, न उ जाणइ जं क एस सद्दो त्ति ।
तमजुत्तं सामण्णे, गहिए मग्गिज्जइ विसेसो ॥२६०॥

यद्यर्थाऽवबोधसमये प्रथममेव ''शब्दोऽयम्'' इत्येवं तद्वस्तु न गृहीतं, तर्हि 'न उण जाणइ केवेस सद्दे त्ति' 'जंति', यत्सूत्रे निर्दिष्टं तदयुक्तं प्राप्नोति, यस्माच्छब्दसामान्ये रूपादिव्यावृत्ते गृहीते संति पश्चान्मृग्यते-अन्विष्यते विशेषः- 'किमयं शब्दः शाङ्गः, उत शार्ङ्गः?' इति। इदमुक्तं भवति ''न उण जाणइ केवेस सद्दे'' त्ति, अस्मिन् नन्दिसूत्रे 'न पुनर्जानाति कोऽप्येष शाङ्गशार्ङ्गाद्यन्यतरशब्दः' इति विशेषस्यैवाऽपरिज्ञानमुक्तम्, शब्दसामान्यमात्रग्रहणं त्वनुज्ञातमेव, तद्ग्रहणे तु 'क एष शब्दः किं शाङ्गः, शार्ङ्गो वा' इत्येवं विशेषमार्गणमसङ्गतमेव स्यात् विशेषजिज्ञासायाः सामान्यज्ञानपूर्वकत्वाच्छब्दसामान्ये गृहीत एव तद्विशेषमार्गणस्य युज्यमानत्वात् । इति गाथार्थः ।

अत्रोत्तरमाह–

सव्वत्थ देसयंतो, सद्दो सद्दो त्ति भासओ भणइ ।
इहरा न समयमित्ते, सद्दो त्ति विसेसणं जुत्तं ॥२६१॥

सर्वत्र-पूर्वस्मिन्, अत्र च सूत्रावयवे अवग्रहस्वरूपं देशयन्- प्ररूपयन् 'शब्दः शब्दः' इति भाषकः- प्रज्ञापक एव वदति, न तु तत्र ज्ञाने शब्दप्रतिभासोऽस्ति । इत्थं चैतद्, अन्यथा न समयमात्रेऽर्थावग्रहकाले 'शब्दः' इति विशेषणं युक्तम्, आन्तर्मुहूर्तिकत्वाच्छब्दनिश्चयस्येति प्रागेवोक्तम् । सांव्यवहारि- कार्थाऽवग्रहापेक्षं वा सूत्रमिदं व्याख्यास्यते इति मा त्वरिष्ठाः । इति गाथार्थः ।

अथ सूत्रावष्टम्भवादिनं परं दृष्ट्वा सौत्रमेव परिहारमा–

अहव सुए च्चिय भणियं, जह कोइ सुणेज्ज सद्दमव्वत्तं ।
अवत्तमणिद्देसं, सामण्णं-कप्पणारहियं ॥२६२॥

अथवा यदि तव गाढः श्रुतावष्टम्भः तदा तत्राप्येतद्भणितं यदुत-प्रथममव्यक्तस्यैव शब्दोल्लेखरहितस्य शब्दमात्रस्य ग्रहणम् । केन पुनः सूत्राऽवयवेनेदमुक्तम्? इत्याह- 'जह कोइ सुणेज्ज सद्दमव्वत्तं' ति अयं च सूत्रावयवो नन्द्य-ध्ययने इत्थं द्रष्टव्यः- ''से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्ज त्ति (सूत्र+) अत्र अव्यक्तमिति कोऽर्थः? इत्याह-अनिर्देश्यं 'शब्दोऽयं 'रूपादिर्वा' इत्यादिना प्रका-

रेणाऽव्यक्तमित्यर्थः। ननु यदि शब्दादिरूपेणाऽनिर्देश्यं, तर्हि किं तद्? इत्याह-सामान्यम् । किमुक्तं भवति?, इत्याहनामजात्यादिकल्पनारहितम् । न च वक्तव्यं शाङ्कशार्ङ्गभेददापेक्षया शब्दोल्लेखस्याप्यव्यक्तत्वे घटमाने कुत इदं व्याख्यानं लभ्यते? इति; अवग्रहस्यानाकारोपयोगरूपतया सूत्रेऽधीतत्वाद् अना- कारोपयोगस्य च सामान्यमात्रविषयत्वात् , प्रथममेवाऽपायप्रस- क्त्याऽवग्रहेहाभाव- प्रसङ्ग इत्याद्युक्तत्वाच्च। इति गाथार्थः।

अथ सूरिरेव पराभिप्रायमाशिशङ्कयिषुराह–

अहव मई पुव्वं चिय, सो गहिओ वंजणोग्गहे तेणं।
जं वंजणोग्गहम्मि वि, भणियं विण्णाणमव्वत्तं ॥२६३॥

अथ् परस्य मतिः स्यात्केयम् ? इत्याह-सः-अव्यक्तः, अनिर्देश्यादिस्वरूपः शब्दः अर्थाग्रहात्पूर्वमेव व्यञ्जनावग्रहे तेन श्रोता गृहीतः तत्किमित्यर्थावग्रहेऽपि तद्ग्रहणमुद्घुष्यते ? कथमिदं पुनर्ज्ञायते यदुत-असौ व्यञ्जनाऽवग्रहे गृहीतः? इत्याह- 'जमि' त्यादि, यत्- यस्माद् व्यञ्जनाऽवग्रहेऽपि भव-द्भिरव्यक्तं विज्ञानमुक्तम्, अव्यक्तविषयग्रहण एव चाऽव्यक्तत्वम् तस्योपपद्यते इति भावः इति। गाथार्थः।

अत्रोत्तरमा–

अत्थि तयं अव्वत्तं, न उ तं गिण्हइ सयं पि सो भणियं।
न उ अग्गहियम्मि जुज्जइ, सद्दो त्ति विसेसणं बुद्धी ॥२६४॥

अस्ति तदव्यक्तं श्रोतुर्व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानं, न तस्यात्माभि- रपलापः क्रियते, न पुनरसौ श्रोता अतिसौक्ष्म्यात्तत्स्वयमपि गृह्णाति संवेदयते। एतच्च प्रागपि भणितम्। ''सुत्तमत्ताइसुहुम-बोहो व्व'' इति वचनात्, तथा ''सुत्तादयो सयं वि य विण्णाणं णाऽवबुज्झंति'' इति वचनाच्च। तस्माद् व्यञ्जनमात्रस्यैव तत्र ग्रहणं, न शब्दस्य, व्यञ्जनावग्रहत्वान्यथाऽनुपपत्तेरेवेति । न च सामान्यरूपतया अव्यक्ते शब्देऽगृहीतेऽकस्मादेव शब्दः इति विशेषणबुद्धिर्युज्यते, अनुस्वारस्याऽलाक्षणिकत्वाद्विशेषु-बुद्धिरित्यर्थः। अस्यां च विशेषबुद्धौ प्रथममेवेष्यमाणायामा-दावेवार्थावग्रहकालेऽप्यपायप्रसङ्गः, इत्यसकृदे-वोक्तम्। इति गाथार्थः।

ननु यदि व्यञ्जनाऽवग्रहेऽप्यव्यक्तशब्दग्रहणं

भवेत्तदा को दोषः स्यात् ? इत्याह–

अत्थो त्ति विसयगहणं, जइ तम्मि वि सो न वंजणं नाम।
अत्थोग्गहो चिय ततो, अविसेसो संकरो वाऽवि ॥२६५॥

अर्थाऽवग्रहे अर्थः इत्यनेन तावद्विषयग्रहणमभिप्रेतंरूपादिभेदेनाऽनिर्द्धारितस्याव्यक्तस्य शब्दादेर्विषयस्य ग्रहणं; तत्राऽभिप्रेतमित्यर्थः । यदि च तस्मिन्नपि व्यञ्जनाऽवग्रहेऽसावव्यक्तशब्दः प्रतिभासते इत्यभ्युपगम्यते, तदा न व्यञ्जनं नाम; व्यञ्जनाऽवग्रहो न प्राप्नोतीत्यर्थः । ततश्चेदानीं निवृत्ता तत्कथा, व्यञ्जनमात्रसंबन्धस्यैव तत्रोक्तत्वात्, भवता च तदतिक्रान्तस्याऽव्यक्तार्थग्रहणस्येहाऽभिधीयमानत्वादिति। तर्ह्यव्य-क्तार्थग्रहणे किमसौ स्यात् ? इत्याह- अर्थाऽवग्रह एवाऽसौ, अव्यक्ताऽर्थावग्रहणात्, ततश्च नास्ति व्यञ्जनम् -व्यञ्जनाऽव-ग्रहः। अथास्याऽपि सूत्रे प्रोक्तत्वादस्तित्वं न परिह्रियते, तर्हि द्वयोरप्यविशेषः सोऽप्यर्थावग्रहः सोऽपि व्यञ्जनावग्रहः प्रोप्नोतीति भावः। मेचकमणिप्रभावत् संकरो वा स्यादित्थम्। इति गाथार्थः।

तदेवं व्यञ्जनाऽवग्रहे व्यञ्जनसंबन्धमात्रमेव, अर्थाऽवग्रहे त्वव्यक्तशब्दाद्यर्थग्रहणं, न व्यक्तशब्दाद्यर्थसंवेदनम्, इति प्रतिपादितम्। सांप्रतमुपपत्त्यन्तरेणाप्यर्थाऽवग्रहे व्यक्तशब्दार्थ- संवेदनं निराचिकीर्षुराह–

जेणऽत्थोग्गहकाले, गहणेहाऽवायसंभवो नऽत्थि।
तो नऽत्थि सद्दबुद्धी, अहऽत्थि नाऽवग्गहो नाम ॥२६६॥

पूर्वं तावदर्थस्य ग्रहणमात्रं ततश्चेहा, तदनन्तरं त्वपायः, इत्येवं मतिज्ञानस्योत्पत्तिक्रमः। न चैतत् त्रितयं प्रथममेवशब्दा- र्थेऽवगृहीते समस्तीति। एतदेवाह- येनार्थाऽवग्रहकालेऽर्थग्रहणे- हाऽपायानां संभवो नाऽस्ति ततोऽर्थाऽवग्रहे नाऽस्ति 'शब्द': इति विशेषबुद्धिः अर्थग्रहणेहापूर्वकत्वात्तस्याः। अथाऽस्त्यसौ तत्र, तर्हि नाऽयमर्थाऽवग्रहः, किं त्वपाय एव स्यात्, न एतद्युज्यते तदभ्युपगमेऽर्थाऽवग्रहेहयोरभावप्रसङ्गात्। इति गाथार्थः।

अपि- च अर्थाऽवग्रहे 'शब्दः' इति विशेषबुद्धाविष्य–

माणायां दोषान्तरमप्यस्ति। किं तत् ? इत्याह–

सामण्ण-तदण्णविसे- सेहावज्जणपरिग्गहणओ से।
अत्थोग्गहेगसमओ- वओगबाहुल्लमावण्णं ॥२६७॥

इह येयमर्थाऽवग्रहैकसमये 'शब्दः' इति विशेषबुद्धिर्भवताऽभ्युपगम्यते, सा तावन्निश्चयरूपा निश्चयश्चाकस्मादेव न युज्यते, किंतु क्रमेण, तथाहि-प्रथमं तावद्रूपादिभ्योऽव्यावृत्त- मव्यक्तं शब्दसामान्यं ग्रहीतव्यं, ततस्तद्विशेषविषया तदपर- रूपादिविशेषविषया च। एतैरेतैश्च धर्मैः 'किमयं शब्दः, आहो- श्वित् रूपादिः' इत्येवं रूपा ईहा, तदनन्तरं च गृहीतशब्दसा- मान्यविशेषाणां ग्रहणम्, अन्येषां तु रूपादिविशेषाणां तत्राऽ- विद्यमानानां परिवर्जनम्, इत्येवंभूतेन क्रमेण निश्चयोत्पत्तिः । तथा च सति श्रोतुरर्थाऽवग्रहैकसमयेऽपि सामान्यग्रहणादिभिः प्रकारैरुपयोगबहुत्वमापद्यते, एकस्मिँश्च समये बहवः उपयोगाः सिद्धान्ते निषिद्धाः, इति नाऽर्थावग्रहे शब्दादिविशेषबुद्धिः। इति गाथाभावार्थः।

अक्षरार्थस्तूच्यते- सामान्यमिह-श्रूयमाणशब्दसामान्यं गृह्यते, 'तयण्णविसेसेह' त्ति-तच्छब्देनान्तरोक्तं शब्द सामान्यमनुकृष्यते, अन्यशब्देन तु तत्राऽविद्यमाना रूपादयः परिगृह्यन्ते ततश्च तच्चान्ये च तदन्ये-शब्दसामान्यं रूपादयश्चेत्यर्थः, तेषां विशेषा धर्माः श्रोत्रग्राह्यत्वादयः, चक्षुरादिवेद्यत्वादयश्च, तद्विषया ईहा तदन्यविशेषेहा, किमत्र श्रोत्रग्राह्यत्वादयो धर्माः उप-लभ्यन्ते, आहोश्वित्चक्षुरादिवेद्य-त्वादयः? इत्येवं रूपो विमर्श इत्यर्थः तदनन्तरं तु वर्जनं च तत्राऽविद्यमानरूपादिगतानां हेयधर्म्माणां चक्षुर्वेद्यत्वादीनां, परिग्रहणं च तत्र च गृहीतशब्दसामान्यगतानामुपादेयधर्म्माणां श्रोत्रग्राह्यत्वादीनाम् इति वर्जन-परिग्रहणेत्यागाऽऽदाने; सामान्यं च तदन्यविशेषेहा च वर्जनपरिग्रहणे च सामान्य- तदन्यविशेषेहाव

र्जन-परिग्रहणानि तेभ्यस्ततः 'से' तस्य श्रोतुः। अर्थाव-ग्रहैकसमयेऽप्युपयोगबाहुल्यम्, आपन्नं-प्राप्तम्। तथाहि-प्रथमस्सामान्यग्रहणोपयोगः यथोक्तेहोपयोगस्तु द्वितीयः, हेयधर्मवर्जनोपयोगस्तृतीयः, उपादेयधर्मपरिग्रहणोप-योगश्चतुर्थः इत्येवमर्थावग्रहैकसमयमात्रेऽपि बहवः उपयोगाः प्राप्नुवन्ति। नचैतद्युक्तं, समयविरुद्धत्वात्। तस्मान्नार्थाऽव-ग्रहे शब्दविशेषबुद्धिः, किं तु 'सद्दे त्ति भण्णइ वत्ता' इत्यादि स्थितम्। इति गाथार्थः।

अथास्मिन्नेवार्थाऽवग्रहेऽपरवाद्यभिप्रायं निराचिकीर्षुराह–

अण्णे सामण्णग्गहण-माहुबालस्स जायमेत्तस्स।
समयम्मि चेव परिचिय-विसयस्स विसेसविन्नाणं ॥२६८॥

अन्ये-वादिनः केचिदेवमाहुः- यदेतत्सर्वविशेषविमुखस्या-ऽव्यक्तस्य सामान्यमात्रस्य वस्तुनो ग्रहणमालोचनं, तद्बाल-स्य शिशोस्तत्क्षणजातमात्रस्य भवति, नाऽत्र विप्रतिपत्तिः, अव्यक्तो ह्यसौ संकेतादिविकलोऽपरिचितविषयः। यस्तर्हि परिचितविषयः, तस्य किम् ? इत्याह- समय एव आद्यशब्द-श्रवणसमय एव विशेषविज्ञानं जायते, स्पष्टत्वात्तस्य ततश्चा-मुमाश्रित्य 'तेण सद्दे त्ति उग्गहिए' इत्यादि, यथाश्रुतमेव व्याख्यायते, तेन न कश्चिद्दोष इति भावः। इति गाथार्थः

अत्रोत्तरमाह–

तदवत्थमेव तं पुव्व-दोसओ तम्मि चेव वा समये।
संखमहुराइसुबहुय-विसेसगहणं पसज्जेज्जा ॥२६९॥

''जेणऽत्थोग्गहकाले'' (२६६गा०) इत्यादिना ग्रन्थेन सामण्णतयण्णविसेसेहा (२६७ गा०) इत्यादिना च ग्रन्थेन यद् दूषितं या तस्यावस्था-यत्तस्य स्वरूपम्-'समयम्मि चेव परिचियविसयस्स विसेसविण्णाणं' इति, तदेतत्परोक्तमपि तदवस्थमेव, न पुनः किंचिदूनाधिकावस्थम्। कुतः ? इत्याह- ''पुव्वदोसउ'' त्ति, ''जेणत्थोग्गहकाले'' (२६६ गा०) इत्यादिना ''सामण्णतयण्ण'' (२६७ गा०) इत्यादिना च यः पूर्वं दोषोऽभिहितस्तस्मात्पूर्वदोषात् पूर्वदोषानतिवृत्तेः, तदेतत्परोक्तं तदवस्थमेव, इति नान्यदूषणाद्यभिधानप्रयासो विधीयत इति भावः। अथ वा-पूर्वमपि दूषणमुच्यते। किं तद् ? इत्याह-'तम्मि चेव' इत्यादि, 'वा' इति अथ वा, तस्मिन्नेव स्पष्टविज्ञानस्य व्यक्तस्य जन्तोर्विशेग्राहिणि समये 'शाङ्ग शार्ङ्गो वाऽयं शब्दः, स्निग्धो मधुरः कर्कशः स्त्री- पुरुषाद्यन्यतरवाद्यः' इत्यादिषु बहुकविशेषग्रहणं प्रसज्येत। इदमुक्तं भवति-यदि व्यक्तस्य परिचितविषयस्य जन्तोरव्यक्तशब्दज्ञानमुल्लङ्घ्य तस्मिन्नर्थावग्रहैकसमयमात्रे शब्दनिश्चयज्ञानं भवति, तदा अन्यस्य कस्यचित्परिचिततरविषयस्य पटुतरावबोधस्य तस्मिन्नेव समये व्यक्तशब्दज्ञानमपि अतिक्रम्य, ''शाङ्गोऽयं शब्दः इत्यादिसंख्यातीतविशेषग्राहकमपि ज्ञानं भवदभिप्रायेण स्यात्, दृश्यन्ते च पुरुषशक्तीनां तारतम्यविशेषाः। भवत्येव कस्यचित्प्रथमसमयेऽपि सुबहुविशेषग्राहकमपि ज्ञानमिति चेत्, न, ''न उण जाणइ केवेस सद्दे'' इत्यस्य सूत्रावयवस्या-गमकत्वप्रसङ्गात्। विमध्यमशक्ति पुरुषविषयमेतत्सूत्रमिति चेत, न; अविशेषणोक्तत्वात्, सर्वविशेषविषयत्वस्य च युक्त्यनुपपन्नत्वात् ; न हि प्रकृष्टमतेरपि शब्दधर्मिणमगृहीत्वा उत्तरोत्तरबहुसुधर्म्मग्रहणसंवभोऽस्ति, निराधारधर्माणामनुपपत्तेः। इति गाथार्थः

किं च- समयमात्रेऽपि 'शब्दः' इति विशेषविज्ञानम–

भ्युपगच्छतोऽन्येऽपि समयविरोधादयो

दोषाः। केपुनस्ते ? इत्याह–

अत्थोग्गहो न समयं, अहवा समओवओगबाहुल्लं।
सव्वविसेसग्गहणं, सव्वमईवोग्गहो गिज्जे ॥२७०॥
एगो वाऽवाउ चिय, अहवा सोऽगहियणीहिए पत्तो।
उवक्कम-वइक्कमा वा, पत्ता धुवमोग्गहाईणं ॥२७१॥
सामण्णं च विसेसो, वा सामण्णमुभयमुभयं वा।
न य जुत्तं सव्वमियं वा, सामण्णाऽऽलंबणं मोत्तुं ॥२७२॥

'उग्गहो एक्कं समयमि' त्यादिवचनादर्थावग्रहः सिद्धान्ते सामयिको निर्दिष्टः, यदि-चार्थाऽवग्रहे विशेषविज्ञानमभ्युपगम्यते तदा सामायिकोऽसौ न प्राप्नोति, विशेषज्ञानस्याऽसंख्ये- यसामयिकत्वाद्। अथ समयमात्रेऽप्यस्मिन् विशेषज्ञानमिष्यते, तर्हि ''सामण्णतयण्ण-विसेसेहा'' (२६७ गा०) इत्यादिना प्रागुक्तं समयोपयोगबाहुल्यं प्राप्नोति। अथवेत्यग्रतोऽप्यनुवर्तते। ततश्च अथवा परिचितविषयस्य विशेषज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने परिचिततर- विषयस्य तस्मिन्नेव समये सर्वविशेषग्रहण-मनन्तरोक्तं प्राप्नोति। अथवा अवग्रहमात्रादपि विशेष-परिच्छेदेऽङ्गीक्रियमाणे ईहादीनामनुत्थानमेव। ततश्च सर्वापि मतिरवग्रहो ग्राह्यः- सर्वस्याऽपि मतेरवग्रहरूपतैव प्राप्नोतीत्यर्थः। अथवा-सर्वाऽपि मतिरपाय एवैकः प्राप्नोति, अर्थावग्रहे विशेषज्ञानस्याश्रयणात्, तस्य च निश्चयरूपत्वात्, निश्चयस्य, चाऽपायत्वादिति समयमात्रे चास्मिन्नपाये सिद्धे ''ईहावायामुहुत्तमंतं तु'' इति विरुध्यते। अथवा- अर्थेऽवगृहीते ईहिते च, अपायः सिद्धान्ते निर्दिश्यते ''उग्गहो, ईहा, अवाओ य'' इति क्रमनिर्देशात्, यदि चाद्यसमयेऽपि विशेषज्ञानाभ्युगपगमादपाय इष्यते, तर्ह्यनव-गृहीते अनीहिते च तस्मिन्नसौ प्राप्तः। 'वा' इति-अथवा, यदि तृतीयस्थाननिर्दिष्टोऽप्यपायः ''समयम्मि चेव परिचिय विसयस्स विण्णाणं'' इति वचनात्पटुत्ववैचित्र्येण प्रथममभ्युपगम्यते, तर्हि तस्मादेव पाटववैचित्र्यादवग्रहेहा-ऽपायधारणानां ध्रुवं निश्चितमुत्क्रम-व्यतिक्रमौ स्याताम्। तत्र पश्चानुपूर्वीभवनमुत्क्रमः। अनानुपूर्वीभावस्तु-व्यतिक्रमः। तथा हि। यथा शक्तिवैचित्र्या-त्कश्चित्प्रथममेवापायो भवताभ्युप-गम्यते, तथा तत एव कस्यापि प्रथमं धारणा स्यात्, ततोऽपायः, ततोऽपि ईहा तदनन्तरं त्ववग्रह इत्युत्क्रमः, अन्यस्य कस्यचित् पुनरवग्रहमुल्लङ्घ्य प्रथममेवेहा समुपजायेत, अपरस्य तु तामप्यतिक्रम्याऽपाय, अन्यस्य तु तमप्यतिवृत्य धारणा स्याद् इत्यादि व्यतिक्रमः। न चेह वयं युक्तिमाप्रच्छनीयाः भवदभ्युपगतस्य शक्तिवैचित्र्य-

स्यैव पुष्टिहेतोः सद्भावात् । न चैतावुत्क्रमव्यतिक्रमौ युक्तौ ''उग्गहो ईहा अवाओ य धारणा एव होंति चत्तारि'' इति परममुनिनिर्दिष्टक्रमस्याऽन्यथाकर्त्तुमशक्यत्वादिति । तथा यदि यत्प्रथमसमये गृह्यते स विशेषस्तर्हि ''सामण्णं स विसेसो'' त्ति- यत्सामान्यं तदपि विशेषः प्राप्तः, प्रथमसमये हि सर्वस्याऽपि वस्तुनोऽव्यक्तं सामान्यमेव रूपं गृह्यते, ततोऽस्मिन्नप्यर्था- ऽवग्रहसमये सामान्यमेव गृह्यत इति परमार्थः । यदि वा अत्र विशेषबुद्धिर्भव- ताऽभ्युपगम्यते, तर्हि यदिह वस्तस्थित्या सामान्यं स्थितं तदपि भवदभिप्रायेण विशेषः प्राप्तः । 'चि' शब्दो दूषण- समुच्चयार्थः । 'सो वा सामण्णं' त्ति- स वा भवदभिप्रेतो विशेषो वस्तु स्थितिसमायातं सामान्यं प्राप्नोतीति । 'उभयमुभयं व' त्ति- अथ-वा सामान्य-विशेषलक्षण- मुभयमप्येतत्प्रत्येकमुभयं प्राप्नोति- एकैकमुभयरूपं स्यादित्यर्थः तथा हि-अव ईषत्सा- मान्यं गृह्णातीत्यग्रह इति व्युत्पत्त्या वस्तुस्थितिसमायातं यत्- सामान्यं तत्स्वरूपेण तावत्सामान्यम्, भवदभ्युपगमेन तु विशेषः, इत्येकस्याऽपि सामान्यस्योभयरूपताः तथा योऽपि भवदभ्युपगतो विशेषः सोऽपि त्वदभिप्रायेण विशेषः वस्तुस्थित्या तु सामान्यम्, इति विशेषस्याप्येकस्योभयस्वभाव- ता । भवत्वेवमिति चेत् । इत्याह-न च युक्तं सर्वमिदम् । किं कृत्वा ? इत्याह- सामान्यमालम्बनं ग्राह्यं मुक्त्वा अर्थाऽवग्रहस्य इति शेषः । इदमुक्तं भवति-अर्थावग्रहस्याऽव्यक्तं सामान्यमात्रमा- लम्बनं परिहृत्य यदन्यद्विशेषरूपमालम्बनमिष्यते, तदभ्युपगमे च 'सामण्णं च विसेसो वा सामण्णं' इत्यादि, यदापतति, तत्सर्वमयुक्तम्, अघटमानकत्वात् । इह च गाथात्रये बहुषु दूषणेषु मध्ये यत् प्रागुक्तमपि किंचित् दूषणमुक्तं तत्प्रसङ्गायातत्वात्, इति न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम् इति गाथात्रयार्थः ।

प्रस्तुत एवाऽर्थोपरमपि मतान्तरमुपन्यस्य निराकुर्वन्नाह-

केई दीहालोयण-पुव्वमोग्गहं विंति तत्थ सामण्णं ।
गहियम हत्थावग्गह-काले सद्दि त्ति निच्छिण्णं ॥२७३॥

केचित् - वादिनः इहास्मिन्प्रक्रमेऽवग्रहं ब्रुवते-अर्थावग्रहं व्याचक्षते । किं विशिष्टम्? इत्याह-आलोचनपूर्वम् -सामान्य- वस्तुग्राहिज्ञानम् - आलोचनं तत्पूर्वं-प्रथमं यत्र स तथा तं, प्रथ- ममालोचनज्ञानं ततोऽर्थावग्रह इत्यर्थः, तथा च तैरुक्तम्- ''अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं, प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञान सदृशं शुद्धवस्तुजम्'' ॥१॥ इति । किं पुनस्तत्राऽऽलोचनज्ञाने गृह्यते ? इत्याह-'तत्थ' इत्यादि तत्र- आलोचनज्ञाने सामान्यम-व्यक्तं वस्तु गृहीतं प्रतिपत्त्रा इति गम्यते, अथानन्तरम्- अर्थाऽवग्रहकाले 'तदेव गृहीतम्' इत्यनुवर्त्तते । कथंभूतं सद् ? इत्याह- निच्छिन्नं- पृथक् कृतः रूपादिव्यावृत्तेरित्यर्थः, केनोल्लेखन गृहीतम्? इत्याह- सद्दे त्ति-शब्द-विशेषणविशिष्टमित्यर्थः । ततश्च ''से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्ज'' इति ए तदालोचनज्ञानापेक्षया नीयते, ''तेणं, सद्दे त्ति उग्गहिए'' एतत् चार्थाऽवग्रहापेक्षयेति सर्व सुस्थतामनुभवति । न चातः परं भवतोऽप्याचार्य! किंचि-द्वक्तव्यमस्ति; यदि हि युक्तय- नुभवसिद्धेनार्थेन सूत्रे विषयविभागव्यवस्थापितेऽपि वादी जयं न प्राप्स्यति, तदा तूष्णीमाश्रयन्तु विपश्चितो विचारचर्यामार्गस्य स्वाग्रहतत्परेण त्वयैव लुप्तत्वात् । इति गाथार्थः ।

तदत्र सूरिः परस्येषद्गर्व्वानुविद्धामज्ञतामवलोक-

यन् मार्गाऽवतारणाय विकल्पयन्नाह-

तं वंजणोग्गहाओ, पुव्वं पच्छा स एव वा होज्जा ।
पुव्वं तदत्थवंजण-संबंधाऽभावओ नऽत्थि ॥२७४॥

यद्यनुपहतस्मरणवासनासन्तानस्तदर्थावग्रहात्पूर्वं व्यञ्ज- नावग्रहो भवतीति यदुक्तं, प्राक् तद् भवानपि स्मरति । ततः किम्? इति चेद्, उच्यते- यदेतद्भवदुत्प्रेक्षितं सामान्यग्रसहकमा- लोचनं तत्- तस्माद्व्यञ्जनाऽवग्रहात्पूर्वं वा भवेत्, पश्चाद्वा भवेत्, सा एव वा व्यञ्जनावग्रहोऽप्यालोचनं भवेत ? इति त्रयी गतिः, अन्यत्र स्थानाऽभावात् । किं चातः? इत्याह-पूर्वं तन्नास्तीति संबन्धः । कुतः? इत्याह- अर्थव्यञ्जनसंबन्धाभावादिति अर्थः- शब्दादिविषयभावेन परिणतद्रव्यसमूहः, व्यञ्जनं तु श्रोत्रादि, अर्थश्च व्यञ्जनं च अर्थव्यञ्जने तयोः संबन्धस्तस्याऽभावात्, सति ह्यर्थव्यञ्जनसंबन्धे सामान्यार्थालोचनं स्याद्, अन्यथा सर्वत्र सर्वथा तद्भावप्रसङ्गात् । व्यञ्जनाऽवग्रहाच्च पूर्वमर्थव्यञ्जनसंबन्धो नाऽस्ति, तद्भावे च व्यञ्जनावग्रहस्यैवेष्टत्वात्तत्पूर्वकालता न स्यादिति भावः । इति गाथार्थः ।

द्वितीयविकल्पं शोधयन्नाह-

अत्थोग्गहो वि जं वं-जणोग्गहस्सेव चरमसयम्मि ।
पच्छा वि तो न जुत्तं, परिसेसं वंजणं होज्जा ॥२७५॥

तथा-अर्थावग्रहोऽपि यद्-यस्माद्व्यञ्जनाऽवग्रहस्यैव चरमसमये भवति, इति, प्रागिहापि निर्णीतम् । तस्मात्पश्चादपि व्यञ्जनाऽ- वग्रहादालोचनज्ञानं न युक्तं, निरवकाशत्वात् । न हि व्यञ्जनार्थाऽ- वग्रहयोरन्तरे कालः समस्ति, यत्र तत् त्वदी- यमालोचनज्ञानं स्यात्, व्यञ्जनाऽवग्रहचरमसमय एवार्था- वग्रहसद्भावात् । तस्मात्पूर्वपश्चात्काल- योर्निषिद्धत्वात्पारि- शेष्यान्मध्यकालवर्ती तृतीयविकल्पोपन्यस्तो व्यञ्जनं- व्यञ्जनावग्रह एव भवता आलोचनाज्ञानत्वेनाभ्युपगतो भवेत् । एवं च न कश्चिद्दोषः नाममात्र एव विवादात् । इति गाथार्थः ।

क्रियतां तर्हि प्रेरकवर्गेण वर्द्धापनकं, त्वदभिप्रायाविसंवा- दलाभात्, इति चेत् । नैवं विकल्पद्वयस्येह सद्भावात्, तथा हि-तद् व्यञ्जनावग्रहकालेऽभ्युपगम्यमानमालोचनं किमर्थस्या- लोचनं, व्यञ्जनानां वा ? इति विकल्पद्वयम् । तत्र प्रथम- विकल्पमनूद्य दूषयन्नाह-

तं च समालोयणम-त्थदरिसणं जइ न बंजणं तो तं ।
अह वंजणस्स तो कह- मालोयणमत्थसुण्णस्स? ॥२७६॥

तत्समालोचनंयदि सामान्यरूपस्यार्थस्य दर्शनमिष्यतेततः तर्हिन व्यञ्जनम्- न व्यञ्जनाऽग्रहात्मकंभवति, व्यञ्जनाऽवग्रहस्य व्यञ्जनसंबन्धमात्ररूपत्वेना- ऽर्थशून्यत्वात्, तथा च प्रागपि ''पुव्वं च तस्स वंजण- कालो सो अत्थ-

परिसुण्णो'' इत्यादिना साधितमेवेदम्। अतोऽर्थदर्शनरूपमालो- चनं कथमर्थशून्य- व्यञ्जनावग्रहात्मकं भवितुमर्हति ? विरो- धाद्। अथ द्वितीयविकल्पमङ्गीकृत्याह- अथ व्यञ्जनस्य शब्दा- दिविषयपरिणत- द्रव्यसंबन्धमात्रस्य तत्समालोचनमिष्यते, तर्हि कथमालोचनं कथमालोचकत्वं तस्य घटते ? इत्यर्थः। कथं- भूतस्य सतः? इत्याह- अर्थशून्यस्य व्यञ्जनसंबन्धमात्रान्वित- त्वेन सामान्यार्थालोच- कत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। इति गाथार्थः।

ननु शास्त्रान्तरप्रसिद्धस्यालोचनज्ञानस्य वरा-

कस्य तर्हि का गतिः? इत्याह–

आलोयण त्ति नामं, हविज्ज तं वंजणोग्गहस्सेव।
होज्ज कहं सामण्णग्गहणं तत्थऽत्थसुण्णम्मि? ॥२७७॥

तस्मादालोचनमिति यन्नाम तदन्यत्र निर्गतिकं सत्पारि- शेष्याद्- व्यञ्जनावग्रहस्यैव द्वितीयं नाम भवेत्। न च विव- क्षामात्रप्रवृत्तेषु वस्तूनां बहुष्वपि नामसु क्रियमाणेषु कोऽपि विवादमाविष्करोति? अत एतदपि नामान्तरमस्तु, को दोषः? इति । नैतदेवम्, यस्मादिदं सामान्यग्रसहकमालोचनज्ञानं भविष्यति, अर्थावग्रहस्तु विशेषग्राहक इति; एवमप्यस्माकं समीहितसिद्धिर्भविष्यतीति चेत्, इत्याह- 'होज्ज' त्यादि। व्यञ्जनावग्रहस्यैव पारिशेष्यादालोचनज्ञानत्वमापन्नं तत्र च प्रागुक्तयुक्तिभिरर्थशून्ये कथं सामान्यग्रहणं भवेत्, येन भवतः समीहितसिद्धिप्रमोदः? इति। तस्मादर्थावग्रह एव सामान्याऽर्थ- ग्राहकः न पुनरेतस्मादपरमालोचनाज्ञानम् । अत एव यदुक्तम्- ''अस्तिह्यालोचनाज्ञानं, प्रथमं निर्विकल्पकम्'' इत्यादि, तदप्यर्थावग्रहाश्रयमेव, यदि घटते; नाऽन्यविषयम्। इति गाथार्थः।

अथ 'दुर्बलं वादिनं दृष्ट्वाऽभ्युपगमोऽपि कर्त्त-

व्यः इति न्यायप्रदर्शनार्थमाह–

गहियं व होउ तहियं, सामण्णं कहमणीहिए तम्मि।
अत्थाऽवग्गहकाले, विसेसणं एस सद्दो त्ति ॥२७८॥

आथवा भवतु तस्मिन् व्यञ्जनाऽवग्रहे सामान्यं गृहीतं, तथाऽपि कथमनीहिते-अविमर्शिते तस्मिन्नकस्मादेवार्थाऽवग्रहकाले 'शब्द एषः' इति विशेषणं विशेषज्ञानयुक्तं, 'शब्द एवैषः' इत्ययं हि निश्चयः, न चायमीहामन्तरेण जगित्येव युज्यते, इत्यसकृदेवोक्तप्रायम्। अतो नार्थाऽवग्रहे 'शब्दः' इत्यादि-विशेषबुद्धिर्युज्यते। इति गाथार्थः।

अथाऽर्थाऽवग्रहसमये शब्दाद्यवगमेन सहैवेहा भविष्यतीति मन्यसे, तत्राऽऽह-

अत्थाऽवग्गहसमये, वीसुमसंखिज्जसमइया दो वि।
तक्काऽवगमसहावा, ईहाऽवाया कहं जुत्ता? ॥२७९॥

अर्थाऽवग्रहसंबन्धिन्येकस्मिन्समये कथमीहापायौ युक्तौ ? इति संबन्धः। कथंभूतावेतौ? यतः, इत्याह-तर्काऽवगमस्वभावौ तर्कोविमर्शस्तत्स्वभावा ईहा, अवगमोऽपिनिश्चयस्तत्स्व- भावोऽपायः द्वावपि चैतौ पृथगसंख्येयसमयनिष्पन्नौ । एतदुक्तं भवति- यदिदमर्थाऽवग्रहे विशेषज्ञानं त्वयेष्यते सोऽपायः, स चाऽवगमस्वभावो निश्चयस्वरूप इत्यर्थः; या च तत्समकाल- मीहाऽभ्युपेयते सा तर्कस्वभावा; अनिश्चयात्मिका इत्यर्थः। तत एतौ ईहाऽपायौ अनिश्चयेतरस्वभावौ कथमर्थावग्रहे युगपदेव युक्तौ निश्चयाऽनिश्चययोः परस्परपरिहारेण व्यवस्थितत्वादेकत्रैकदा- ऽवस्थानाभावेन सहोदयानुपपत्तेः ? इति। एषा तावद्विशेषावगमे- हयोः सहभावे एकानुपपत्तिः। अपरं च समयमात्रकालोऽर्थाऽवग्रह ईहाऽपायौ तु ''ईहाऽवायामुहुत्तमंतं तु'' इति वचनात्प्रत्येकम- संख्येयसमयनिष्पन्नौ कथमेकस्मिन्नर्थाऽवग्रहसमये स्याताम्। अत्यन्तानुपपन्नत्वात्? इति द्वितीयानुपपत्तिः तस्मादत्यन्ताऽ- संबद्धत्वाद्यत्किंचिदेतत्, इत्युपेक्षणीयम्। इति गाथार्थः।

तदेवं युक्तिशतैर्निराकृतानामपि प्रेरकाणां निःसंख्या-

त्वात्केषांचित्प्रेर्यशेषमद्यापि सूरिराशङ्कते-

खिप्पेतराइमेओ, जमुग्गहो तो विसेसविण्णाणं।
जुज्जइ विगप्पवसओ, सद्दो त्ति सुयम्मि जं केइ ॥२८०॥

'केइ' त्ति-इहार्थाऽवग्रहे विशेषज्ञानसमर्थनाग्रहममुमुक्षवो- ऽद्यापि 'केऽपि केचिद्वादिनो मन्यन्ते। किम्? इत्याह-क्षिप्रेतरा- दिभेदो यस्मादवग्रहो ठान्थान्तरे भणितः 'अत्रापि च विस्तरेण भणिष्यते' इति गम्यते। ततः 'शब्दः' इति विशेषविज्ञानं युज्यते-घटते 'अर्थावग्रहे' इति प्रस्तावादेव लभ्यते। यत्किम्? इत्याह-'सुयम्मि जं' ति- ''तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए'' इत्यादिवचनात् यत् सूत्रे निर्दिष्टं' इति शेषः। कुतः पुनरिदं विशेषविज्ञानं युज्यते? इत्याहविकल्पवशतोऽन्यत्रोक्तनाना- त्ववशतः इत्यक्षरघटना । एतत्वात्र हृदयम् क्षिप्रमवगृह्णाति, चिरेणाऽवगृह्णाति, बह्ववगृह्णाति, अबह्वगृह्णति बहुविधमवगृह्णाति अबहुविधमवगृह्णाति एवमनिश्रितं, निश्रितम्, असंदिग्धं, संदिग्धं, ध्रुवम्, अध्रुवं गृह्णाति, इत्यादिना ठान्थेनाऽवग्रहादयः शास्त्रान्तरे द्वादशभिर्विशेषणैर्विशेषिताः। अत्रापि च पुरस्तादयमर्थो वक्ष्यते। ततः 'क्षिप्रं चिरेण चाव-गृह्णाति' इति विशेषणाऽन्यथानुपपत्तेर्ज्ञायतेनैक- समयमात्रमान? एवार्थाऽवग्रहः, किं तु-चिर- कालिकोऽपि नहि समय- मात्रमानतया एकरूपे तस्मिन् क्षिप्रचिरग्रहणविशेषणमुपपद्यत इति भावः। तस्मादेतद्विशेषणबलाद-संख्येयसमय-मानोऽप्यर्थावग्रहो युज्यते। तथा-बहूनां श्रोतृणामविशेषेण प्राप्तिविषयस्थे शङ्खभेर्यादिबहुतूर्यनिर्घोषे क्षयोप-शमवैचित्र्यात्कोऽप्यबहु अवगृह्णाति; सामान्यं समुदित- तूर्यशब्दमात्रमवगृह्णातीत्यर्थः। अन्यस्तु बह्ववगृह्णाति; शङ्ख- भेर्यादिसूर्यशब्दान् भिन्नान् बहून् गृह्णतीत्यर्थः। अन्यस्तु स्त्री- पुरुषादिवाद्यत्वस्निग्धमधुरत्वादिबहुविधविशेषविशिष्टत्वेन बहुविधमव- गृह्णाति, अपरस्तु-अबहुविधविशेषविशिष्टत्वाद् अबहुविधमवगृह्णाति अत एतस्माद्बहुबहुविधाद्यनेकविकल्पना- नात्ववशादवग्रहस्य क्वचित्सामा- न्यग्रहणं क्वचित्तु- विशेषग्रहणम्, इत्युभयमप्यविरुद्धम्। अतो यत्सूत्रे- ''तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए'' इति वचनात्- 'शब्दः' इति विशेषज्ञानमुपदिष्टं तदप्यर्थाऽवग्रहे युज्यत एव इति केचित्। इति गाथार्थः।

अत्रोत्तरमाह–

सकिमुग्गहो त्ति भणइ, गहणेहाऽवायलक्खणत्ते वि।
अह उवचारो कीरइ, तो सुण जह जुज्जए सोऽवि ॥२८१॥

इह पूर्वमनेकधा प्रतिविहितमप्यर्थं पुनः पुनः प्रेरयन्तं प्रेरक वलोक्यान्तर्विस्फुरदसूयावशात्साक्षेपं काक्षा सूरिः पृच्छति- 'किमुग्गहो त्ति भण्णइ' त्ति-किंशब्दः क्षेपे, यो बहुबहुधादिवि- शेषणवशात् विशेषावगमः स किमबुधचक्रवर्तिन! अवग्रहः- अर्थाऽवग्रहा भण्यते? क्व सत्यपि ? इत्याह-'गहणे-हि' त्यादि, गहणं च सामान्यार्थस्य, ईहा अवगृहीतस्य, अपायश्च ईहिताऽर्थस्य गहणे-हाऽ-पायास्तैर्लक्ष्यते- प्रकटीक्रियते यः स तथा तद्भावस्तत्त्वं तस्मिन् सत्यपि बहु-बहुविधादिग्राहको हि विशेषाऽवगमो निश्चयः स च सामान्याऽर्थग्रहणम्, ईहां च विना न भवति, यश्च तदविनाभावी सोऽऽपाय एव, कथमर्थावग्रह इति भण्यते? इति। एतत्पूर्वसकृदेवोक्तमपि हन्त! विस्मरण- शीलतया, जडतया, बुद्धाभिनिवेशतया वा पुनः पुनरस्मान् भाणयसीति किं कुर्मः? पुनरुक्तमपि ब्रूमो यद्यस्मादायासेनाऽपि कश्चिन्मार्गमासादयतीति। ननु ग्रहणम, ईहा च विशेषावगमस्य लक्षणं भवतु, ताभ्यां विना तदभावाद्, अपायस्तु कथं तल्ल- क्षणं, तत्स्वरूपत्वादेवास्य ? सत्यं, किं तु स्वरूपमपि भेदवि- वक्षया लक्षणं भवत्येव, यदाह-'विषाऽमृते स्वरूपेण, लक्ष्यते कलशादिवत्। एवं च स्वस्वभावाभ्यां, व्यज्येते खलसज्जनौ ॥१॥'' आह-यदि बहु-बहुविधादिग्राहकोऽप्राय एव भवति, तर्हि कथमन्यत्राऽवग्रहादीनामपि बह्वादिग्रहणमुक्तम्। सत्यं, किं तु अपायस्य कारणमवग्रहादयः कारणे च योग्यतया कार्यस्व- रूपमस्ति, इत्युपचार-तस्तेऽपि बह्वादिग्राहकाः प्रोच्यन्ते, इत्यदोषः। यद्यैवं, तर्हि वयमप्यपायगतं विशेषज्ञान-मर्थावग्रहेऽप्युपचरिष्याम इति एतदेवाह-'अहे' त्यादि अथोक्तन्यायेनोपचारं कृत्वा विशेषग्राहकोऽर्थाऽवग्रहः प्रोच्यते। नैतदेवं, यतो मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्त्तते। न चैवमुपचारे किंचित्प्रयोजनमस्ति। ''तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए'' इत्यादिसूत्रस्य यथा श्रुतार्थनिगमनं प्रयोजनमिति चेत्। न ''सदे त्ति भणइ वत्ता'' इत्यादिप्रकारेणाऽपि तस्य निगमितत्वात्। सामर्थ्यव्याख्यानमिदं, न यथाश्रुतार्थव्याख्येति चेत्। तर्हि यद्युपचारेणाऽपि श्रौतोऽर्थः सूत्रस्य व्याख्यायते इति तवाभिप्रायः, तर्हि यथा युज्यते उपचारस्तथा कुरु, न चैवं क्रियमाणोऽसौ युज्यते, यतः 'सिंहो माणवकः' 'समुद्रस्तडागः' इत्यादाविव किंचित्साम्ये सत्ययं विधीयमानः शोभते। न चैतत्सामायिकेऽर्थावग्रहेऽसंख्येयसामयिकं विशेषग्रहणं कथमप्युपपद्यते तर्हि कथमयमुपचारः क्रियमाणो घटते ? *इति चेद्। अहो! सुचिरादुपसन्नोऽस्ति। ततः शृणु समाकर्णयाऽवहितेन मनसा, सोऽपि तथा युज्यते तथा कथयामि-* 'सद्दे त्ति भणइ वत्ता' इत्यादिप्रकारेण तावद्व्याख्यातं सूत्रम्। यदि चौपचारिकेणाऽप्यर्थेन भवतः प्रयोजनं, तर्हि सोऽपि यथा घटमानकस्तथा कथ्यत इत्यपिशब्दाभिप्रायः। इति गाथार्थः।

यथा प्रतिज्ञातमेव संपादयन्नाह–

सामण्णमेत्तग्गहणं, नेच्छइओ समयमुग्गहो पढमो।
तत्तोऽणंतरमीहिय-वत्थुविसेसस्स जोऽवाओ ॥२८२॥
सो पुणरीहावायाऽ-विक्खाओऽवग्गहो त्ति उवयरिओ।
एस्सविसेसाऽऽविक्खं, सामण्णं गिण्हए जेणं ॥२८३॥
तत्तोऽऽणंतरमीहा, ततोऽऽवाओ य तव्विसेसस्स।
इ सामण्णविसेसा-वेक्खा जावंऽतिमो भेओ ॥२८४॥

इहैकसमयमात्रमानो नैश्चयिको निरुपचरितः प्रथमोऽर्थावग्रहः कथंभूतः? इत्याह-सामान्यमात्रस्याऽव्यक्तनिर्देशस्य वस्तुनो ग्रहणं; सामान्यवस्तुमात्रग्राहक इत्यर्थः, सामयिकानि हि ज्ञानादिवस्तूनि परमयोगिन एव निश्चयवेदिनोऽवगच्छन्तीति नैश्चयिकोऽयमुच्यते। अथ छद्मस्थव्यवहारिभिरपि यो व्यवह्रियते, तं व्यावहारिकमुपचरित-मर्थाऽवग्रहं दर्शयति- 'तत्तो' इत्यादि, ततो नैश्चयिकाऽर्थाऽवग्रहाद-ननन्तरमीहितस्य- वस्तुविशेषस्य योऽपायः स पुनर्भाविनीमीहाम्, अपायंचाऽपेक्ष्यो-पचरितोऽवग्रहोऽर्थाऽवग्रह इति द्वितीयगाथायां संबन्धः। उपचारस्यैवास्य निमित्तान्तरमाह- 'एस्से' त्यादि, एष्योभावी योऽन्यो विशेषस्तदपेक्षया येन कारणेनायमपायोऽपि सन् सामान्यं गृह्णाति, यश्च सामान्यं गृह्णाति सोऽर्थावग्रहो यथा प्रथमो नैश्चयिकः। एतदिह तात्पर्य-प्रथमं नैश्चयिकेऽर्थावग्रहे रूपादिभ्योऽव्यावृत्तमव्यक्तं शब्दादि वस्तु सामान्यं गृहीतं, ततस्तस्मिन्नीहिते सति 'शब्द एवायम्' इत्यादि निश्चयरूपोऽपायो भवति। तदनन्तरं तु 'शब्दोऽयं किं शाङ्गः, शार्ङ्गो वा इत्यादिशब्दविशेषविषया पुनरीहाप्रवर्त्तिष्यते 'शाङ्ग एवाऽयं शब्दः' इत्यादिशब्दविशेषविषयोपायश्च यो भविष्यति तदपेक्षया 'शब्द एवायम्' इति निश्चयः प्रथमोऽपायोऽपि सन्नु- पचारादर्थावग्रहो भण्यते, ईहाऽपायापेक्षया तु इत्यनेन चोपचारस्यैकं निमित्त सूचितम्, 'शाङ्गोऽयं शब्दः' इत्याद्येष्यविशेषापेक्षया येनाऽ- सौ सामान्यशब्दरूपं सामान्यं गृह्णातीति, अनेन तूपचारस्यैव द्वितीयं निमित्तमावेदितं; तथा हि-यदनन्तरमीहा पायौ, प्रवर्त्तते, यश्च सामान्यं गृह्णाति, सोऽर्थावग्रहः यथा आद्यो नैश्चयिकः प्रवर्त्तते च 'शब्द एवायमि' त्याद्यपायानन्तरमीहापायौ गृह्णाति च 'शाङ्गो- ऽयमि' त्यादिभाविविशेषापेक्षयाऽयं सामान्यम्। तस्मादर्थावग्रहः एष्यविशेषापेक्षया सामान्यं गृह्णातीत्युक्तम्। ततस्तदनन्तरं किं भवति ? इत्याह- तृतीयगाथायाम्- 'ततोऽणंतरमि' त्यादि, ततः सामान्येन शब्दनिश्चयरूपात्प्रथमाऽपा-यादनन्तरं किमयं 'शब्दः शाङ्गः शार्ङ्गो वा ? इत्यादिरूपा ईहा प्रवर्त्तते। ततस्तद्विशेषस्य शङ्गप्रभवत्वादेः शब्दविशेषस्य 'शाङ्ग एवायमि' *त्यादिरूपेणापायश्च निश्चयरूपो भवति। अयमपि च भूयोऽन्यतम-विशेषाकाङ्क्षावतः प्रमातुर्भाविनीमीहामपायं चापेक्ष्य एष्यविशेषा-*पेक्षया सामान्यालम्बनत्वाच्चार्थावग्रहः इत्युपचर्यते। इयं च सामान्यविशेषापेक्षा तावत् कर्त्तव्या यावदन्यो वस्तुनो भेदो विशेषः। यस्माच्च विशेषात्परतो वस्तुनोऽन्ये विशेषा न संभवन्ति सोऽन्त्यः अथवा-

संभवत्स्वपि अन्यविशेषेषु यतो विशेषात्परतः प्रमातुस्तज्जि-ज्ञासा निवर्त्तते सोऽन्त्यः तमन्त्यं विशेषं यावद् व्यावहा-रिकार्थाऽवग्रहेहाऽपायार्थं सामान्यविशेषापेक्षा कर्त्तव्या । इति गाथात्रयार्थः ।

इह च गाथात्रयेऽपि यः पर्यवसितोऽर्थो भवति, तमाह--

सव्वत्थेहाऽवाया, निच्छयओ मोत्तुमाइसामण्णं ।
संववहारत्थं पुण, सव्वत्थाऽवग्गहोऽवाओ ॥२८५॥

सर्वत्र विषयपरिच्छेदे कर्तव्ये निश्चयतः- परमार्थतः ईहाऽपायौ भवतः, 'ईहा, पुनरपायः पुनरीहा, पुनरप्यपायः' इत्येवं क्रमेण यावदन्त्यो विशेषस्तावदीहापायावेव भवतः; नाऽर्थावग्रह इत्यर्थः । किं सर्वत्र एवमेव ? न इत्याह- 'मोत्तुमाइसामण्णं ति' आद्यमव्यक्तं सामान्यमात्रालम्बनमेकं सामयिक ज्ञानं मुक्त्वा-ऽन्यत्रेहापायौ भवतः, इदं पुनर्नेहा, नाऽप्यपायः, किं त्वर्थावग्रह एवेति भावः । संव्यवहारार्थं व्यावहारिकजनप्रतीत्यपेक्षं पुनः सर्वत्र यो योऽपायः स स उत्तरोत्तरेहाऽपायाऽपेक्षया, एष्यविशेषा-पेक्षया चोपचारतोऽर्थावग्रहः । एवं च तावन्नेयं, यावत्तार-तम्येनोत्तरोत्तरविशेषाकाङ्क्षा प्रवर्तते । इति गाथार्थः ।

तरतमयोगाभावे तु किं भवतीत्याह--

तरतमजोगाऽभावे, ऽवाउ च्चिय धारणा तदंतम्मि ।
सव्वत्थ वासणा पुण, भणिया कालंतरे वि सई ॥२८६॥

तरतमयोगाऽभावे- ज्ञातुरठोतनविशेषाकाङ्क्षः निर्वृत्तौ अपाय एव भवति; न पुनस्तस्यावग्रहत्वमिति भावः, तन्निमित्तानां पुनरीहादी-नामभावादिति । यद्यप्रत ईहादयो न भवन्ति, तर्हि किं भवति ? इत्याह- तदन्ते-अपायान्ते धारणातदर्थोपयोगा- प्रच्युतिरूपा भवति । शेषस्य वासनास्मृतिरूपस्य धारणाभेदद्व- यस्य क्व संभवः ? इत्याह- 'सव्वत्थ वासणा पुण' इत्यादि, वासना च वक्ष्यमाणरूपा तथा कालान्तरे स्मृतिः, सा च सर्वत्र भणिता । अयमर्थः- अविच्युतिरूपा धारणाऽपायपर्यन्त एव भवति, वासना-स्मृती तु सर्वत्र कालान्तरेऽप्यविरुद्धे । इति गाथार्थः ।

एवं चाभिहितस्वरूपव्यावहारिकार्थावग्रहाऽपेक्षया यथाश्रु-तार्थव्याख्यानमपि सूत्रस्याविरुद्धमेव, इति दर्शयन्नाह--

सद्दो त्ति य सुयभणियं, विगप्पओ जइ विसेसविण्णाणं ।
घिप्पेज्जं तं पि जुज्जइ, संववहारोग्गहे सव्वं ॥२८७॥

'वा' शब्दोऽथवार्थे, ततश्चाऽयमभिप्रायः- 'सद्दे त्ति भणइ वत्ता' इत्यादिप्रकारेण तावद्व्याख्यातं ''तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए'' इत्यादिसूत्रम् । अथवा-'शब्द' इति यत्सूत्रे भणितम्- ''शब्दस्तेनाऽवगृहीतः'' इति यत्सूत्रे प्रतिपादितम्, तद्यदि विकल्पतो विवक्षावशतो विशेषविज्ञानं गृह्यते, तदपि सर्वं युज्यते । कस्मिन् ? इत्याह- यथोक्ते औपचारिके सांव्य-वहारिकार्थावग्रहे गृह्यमाणे सति, अत्र हि 'शब्दः' इति विशेषज्ञानं युज्यते, सर्वग्रहणात्तदनन्तरमीहादयश्चोपपद्यन्ते, पूर्वोक्तयुक्तेः । ततश्च ''से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा, तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए, न उण जाणइ केवेस सद्दे, तओ ईहं पविसइ, तओ अवायं गच्छइ' इत्यादिसर्वं सुस्थं भवति । यद्येवम्, अयमेवार्थावग्रहः कस्मान्न गृह्यते, येन सर्वोऽपि विवादः शाम्यति ? इति चेत् । नैवं 'शब्द एवायम्' इत्याद्य-पायरूपोऽयमर्थावग्रहः अपायश्च सामान्यग्रहणेहाभ्यामन्तरेण न संभवति, इत्याद्यसकृत्पूर्वमभिहितमेव । इति प्राक्तनमेव व्याख्यानं मुख्यम् । इत्यलं विस्तरेण । इति गाथार्थः ।

व्यावहारिकार्थाऽवग्रहाभ्युपगमे यो गुणस्तं

सविशेषमुपदर्शयन्नाह--

खिप्पेयराइभेओ, पुव्वोइयदोसजालपरिहारो ।
जुज्जइ संताणेण य, सामण्णविसेसववहारो ॥२८८॥

क्षिप्रेतरादिभेदं यत्पूर्वोदितदोषजालं तस्य परिहारो युज्यते, 'अस्मिन् व्यावहारिकेऽर्थावग्रहे सति' इति प्रकमाद् गम्यते । इदमुक्तं भवति- एकसामयिकनैश्चयिकार्थावग्रहव्याख्यातारं प्रति प्राग् यदुक्तं- यद्यसावेकसामयिकस्तर्हि कथं क्षिप्रचिरग्रहण- विशेषणमस्योपपद्यते; तथा यद्यसौ सामान्यमात्रग्राहकः, तर्हि बहु-बहुविधादिविशेषणोक्तं विशेष ग्रहणं कथं घटते ? तथाऽर्थावग्रहस्य विशेषग्राहकत्वे यत्समयोपयोगबाहुल्यमुक्तम्; इत्यादि कस्य दोषजालस्य परिहारो व्यावहारिकेऽर्थावग्रहे सति युज्यते, तथा हि-नैश्चयिकावग्रहवादिना इदानीं शशक्यमिदं वक्तुं यदुत-क्षिप्रेतरादिविशेषणानि व्यावहारिका-वग्रहविषया-ण्येतानि, असंख्येयसमयनिष्पन्नत्वेनास्य क्षिप्रचिरग्रहणस्य युज्य-मानत्वात् विशेषग्राहकत्वेन बहु बहुविधादिग्रहणस्यापि घटमानकत्वादिति । 'सामण्णतयण्णविसेसेहा, इत्यादिना प्रागभिहितं समयोपयोगबाहुल्यमप्यस्मिन्निरास्पदमेव, सामान्य-ग्रहणेहापूर्वकत्वेन, असंख्येयसामयिकत्वेन चैकसमयोपयोग-याबाहुल्यस्याऽ-त्रासंबध्यमानत्वादिति । ननु नैश्चयिकावग्रहे किं क्षिप्रेतरादिविशेषण-कलापो, न घटते, येन व्यावहारिका-वग्रहापेक्षः प्रोच्यते ? सत्यं, मुख्यतया व्यवहारावग्रहे एव घटते, कारणे कार्यधर्म्मोपचारात् पुनर्निश्चयावग्रहेऽपि युज्यते, इति प्रागप्युक्तं, वक्ष्यते च, विशिष्टादेव हि कारणात्कार्यस्य वैशिष्ट्यं युज्यते, अन्यथा त्रिभुवनस्याप्यैश्व-र्यादिप्रसङ्गः, काष्ठखण्डादेरपि रत्नादिनिचयाऽवाप्तेः, इत्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतमुच्यते- सन्तानेन च योऽसौ सामान्यविशेषव्यवहारो लोकेरूढः सोऽपि 'व्यवहारावग्रहे सति युज्यते' इतीहापि संबध्यते । लोकेऽपि हि यो विशेषः सोऽप्य- पेक्षया सामान्यं, यत्सामान्यं तदप्यपेक्षया विशेष इति व्यवहियते, तथाहि-'शब्द एवायम' 'इत्येवमध्यवसिताऽर्थः पूर्वसामान्यापेक्षया विशेषः शाङ्खोऽयम्' इत्युत्तरविशेषापेक्षया तु सामान्यम्, इत्येवं यावदन्त्यो विशेषः इति प्रागप्युक्तम् । अयं चोपर्युपरिज्ञानप्रवृत्तिरूपेण सन्तानेन लोकेरूढः सामान्यविशेषव्यवहार औपचारिकावग्रहे सत्येव घटते; नाऽन्यथा । तदनभ्युपगमे हि प्रथमापायानन्तरमीहानुत्थानम् उत्तरविशेषाग्रहणं चाभ्युपगतं भवति, उत्तरविशेषाऽग्रहणे च प्रथमाऽपायव्यवसितार्थस्य

विशेषत्वमेव, न सामान्यत्वम्; इति पूर्वोक्तरूपो लोकप्रतीतः सामान्यविशेषव्यवहारः समुच्छिद्येत । अथ प्रथमापायानन्तरमभ्युपगम्यते ईहोत्थानम्, उत्तरविशेषग्रहणं च; तर्हि सिद्धं तदपेक्षया प्रथमापायव्यवसितार्थस्य सामान्यत्वं, यश्च सामान्यग्राहकः, यदनन्तरं चेहादि प्रवृत्तिः सोऽर्थावग्रहः नैश्चयिकाद्यर्थावग्रहवत्, इत्युक्तमेव । इति सिद्धो व्यावहारिकार्थावग्रहः तत्सिद्धौ च सन्तानप्रवृत्त्या अन्त्यविशेषं यावत्सिद्धः सामान्यविशेषव्यवहारः । इति गाथार्थः इति मतिज्ञानाद्यभेदलक्षणो द्विभेदोऽप्यवग्रहः समाप्त इति ।

अथ तद्द्वितीयभेदलक्षणामीहां व्याचिख्यासुरा–

इय सामण्णगहणा- णंतरमीहा सदत्थवीमंसा ।
किमिदं सद्दोऽसद्दो, को होज्ज व संखसंगाणं ॥२८९॥

इतिशब्द उपदर्शने, इत्येवं प्रागुक्तेन प्रकारेण नैश्चयिका- र्थावग्रहे यत्सामान्यग्रहणं रूपाद्यव्यावृत्त्या व्यक्तवस्तुमात्रग्रहण- मुक्तं, तथा व्यवहारार्थावग्रहेऽपि यदुत्तरविशेषापेक्षया शब्दादि- सामान्यग्रहणमभिहितं तस्मादनन्तरमीहा प्रवर्त्तते । विशे० । (तस्याः ईहायाः स्वरूपम् 'ईहा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) अथ मतिज्ञानतृतीयभेदस्याऽपायस्य स्वरूपम् । (विशे० । २९० गाथया 'अवाय' शब्दे प्रथमभागे ८०४ पृष्ठे गतम्) अथ चतुर्थो मतिज्ञानभेदो धारणा, इयं चाविच्युतवासनास्मृतिभेदात् त्रिधा भवत्यतः सभेदाऽपि । (विशे० । सा धारणा 'धारणा' शब्दे चतुर्थभागे २९१ गाथाया वक्ष्यते)

तदेवं ''से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्ज'' इत्यादिसूत्राऽनुरोधेन शब्दमाश्रित्यावग्रहादयो भाविताः । अथ सूत्रकारेणैव यदुक्तम्-''एवं एएणं अभिलावेणं अव्वत्तं रूवं रसं गंधं फासं'' इत्यादि, तच्चेतसि निधाय भाष्यकारोऽप्यति देशमाह-

सेसेसु वि रूवाइ-सु विसएसु होंति रूवलक्खाइं ।
पायं पच्चासन्न-त्तणेणमीहाइवत्थूणि ॥२९२॥

यथा शब्दे एवं शेषेष्वपि, रूपाऽऽदिविषयेषु साक्षादनु- क्तान्यपि रूपलक्षाणि कथितानुसारप्रसरत्प्रज्ञानां चतुरचेतसां सुज्ञेयानि भवन्ति । कानीत्याह-ईहादीन्याभिनिबोधिकज्ञानस्य भेद- वस्तूनि । केन रूपलक्षाणीत्याह- प्रायः प्रत्यासन्नत्वेन चक्षुरादिना गृह्यमाणस्य स्थाण्वादेस्तत्राऽगृह्यमाणेन पुरुषादिना सह प्रायो बहुभिर्धर्मैर्यत्प्रत्यासन्नत्वं या प्रत्यासत्तिः सादृश्यमिति यावत् तेन ईहादीनि ज्ञेयानि; न पुनरत्यन्तवैलक्षण्ये स्थाण्वादेरुष्ट्रादिना सहेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति-अवग्रहे तावत्सामान्यमात्र-ग्राहकत्वात् द्वितीयवस्त्वपेक्षाऽपि न विद्यते । ईहा पुनरुभयवस्त्ववलम्बिनी तत्र पुरोदृश्यमानस्य वस्तुनो यत्प्रतिपक्षभूतं वस्तु तत्प्रायो बहुभिर्धर्म्मैः प्रत्यासन्नं ग्राह्यं न पुनरत्यन्तविलक्षणं पुरो हि मन्दमन्दप्रकाशे दूरात् दृश्यमाने स्थाण्वादौ 'किमयं स्थाणुः, पुरुषो वा ?' इत्येवमेवेहा प्रवर्त्तते, ऊर्ध्वस्थानारोह- परिणाहतुल्यतादिभिः प्रायो बहुभिर्धर्म्मैः पुरुषस्य स्थाणुप्रत्यासन्नत्वादिति । 'किमयं स्थाणुः, उष्ट्रो वा' इत्येवं तु न प्रवर्त्तते । उष्ट्रस्य स्थाण्वपेक्षया प्रायोऽत्यन्तविलक्षणत्वात् । अत एव सामान्यमात्रग्राही अवग्रहोऽत्रादौ न कृतः, किंतु 'ईहादीनि' इत्येवमेवोक्तं उभयवस्त्व-वलम्बित्वेनेहाया एव 'पायं पच्चासन्नत्तणेण' इति विशेषणस्य सफलत्वाद् अपायस्याऽपि 'स्थाणुरेवायं, न पुरुषः' इत्यादिरूपेण प्रवृत्तेः । किंचिद्विशेषणस्य सफलत्वादादि-शब्दोऽप्यविरुद्धः । इति गाथार्थः ।

इह 'किं शब्दः, अशब्दो वा'? इति श्रोत्रेन्द्रियस्य प्रत्यासन्नवस्तूपदर्शनं कृतमेव । अथाऽशेषचक्षुरादीन्द्रियाणां विषयभू- तानि प्रत्यासन्नवस्तूनि क्रमेण प्रदर्शयति–

थाणुपुरिसाइकुड्ड-प्पलाइसंभियकरिल्लमंसाइ ।
सप्पुप्पलनालाइ व, समाणरूवाइविसयाइं ॥२९३॥

'ईहादिवस्तूनि रूपलक्षणि'' इत्युक्तं कथं भूतानि सन्ति पुनस्तानि रूपलक्षाणि? इत्याह-समानः समानधर्मा रूपसरसादिर्विषयो येषामीहादीनां तानि समानरूपा-दिविषयाणीति पूर्वगाथायां संबन्धः । कः पुनरमीषां समानधर्मा रूपादिविषयः? इत्याह-स्थाणुपुरुषादिवदिति पर्यन्ते निर्दिष्टोऽपि विषयोपदर्श- नाभिद्योतको वच्छब्दः सर्वत्र योज्यते । ततश्चक्षुरिन्द्रियप्रभव- स्येहादेः स्थाणुपुरुषादिवत्समानधर्मा रूपविषयो द्रष्टव्यः; आदिशब्दात्- किमयं शुक्तिका रजतखण्डं वा ? मृगतृष्णिका, पयःपूरो वा ? 'रज्जुर्विषधरो वा' इत्यादिपरिग्रहः । घ्राणेन्द्रियप्रभवस्येहादेः कुष्ठो (ष्ठो)त्पलादिवत्समानगन्धो विषयः, तत्र कुष्टः (ष्ठं) गन्धिकहट्टविक्रेयो वस्तुविशेषः,उत्पलं-पद्मम् अनयोः किल समानगन्धो भवति । तत ईदृशेन गन्धेन 'किमिदं कु (ष्ठं) ष्टम्, उत्पलं वा?' इत्येवमीहाप्रवृत्तिः, आदिशब्दात्- किमत्र सप्तच्छदाः, मत्तकरिणो वा?' 'कस्तूरिका, वनगजमदो वा?' इत्यादिपरिग्रहः,रसनेन्द्रियप्रभवस्येहादेः संभृतकरीलमां- सादिवत्समानरसो विषयः । तत्र संभृतानि संस्कृतानि संधानीकृ- तान्यद्भुतानि यानि वंशजालसंबन्धीनि करीलानि, तथा मांसम्, अनयोः किलाऽऽस्वादः समानो भवति । ततोऽन्धकारादावन्यतर- स्मिन् जिह्वाग्रप्रदत्ते भवत्येवं- 'किमिदं संभृतवंशकरीलम्, आमिषं वा ?' इति; आदिशब्दाद्- 'गुडः खण्डं वा ?' मृद्वीका, शुष्कराजादनं वा ? इत्यादिपरिग्रहः । स्पर्शनेन्द्रियप्रभवस्येहादेः सर्प्पोत्पलनालादिवत्समानस्पर्शो विषयः, सर्प्पो-त्पलयोश्च तुल्यस्पर्शनेहाप्रवृत्तिः सुगमैव, आदिशब्दात् -स्त्रीपुरुषलेष्टूपलादिसमानस्पर्शवस्तुपरिग्रहः । इति गाथार्थः ।

अथ यदुक्तं सूत्रे 'जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पासेज्जा'' इत्यादि, तदनुसृत्य स्वप्ने मनसोऽप्यवग्रहादीन् दर्शयन्नाह–

एवं चिय सिमिणाइसु, मणसो सद्दाइएसु विसएसु ।
होंतिंदियबावारा- भावे वि अवग्गहाईया ॥२९४॥

एवमेव-उक्तानुसारेणेन्द्रियव्यापाराभावेऽपि स्वप्नादिषु, आदिशब्दात्- दत्तकपाटसान्धकारापवरकादीनीन्द्रियव्या-

षाराभाववन्ति स्थानानि गृह्यन्ते, तेषु केवलस्यैव मनसो मन्य- मानेषु शब्दादिविषयेष्ववग्रहादयोऽवग्रहेहापायधारणा भवन्तीति स्वयमभ्यूह्या: तथाहि- स्वप्नादौ चित्तोत्प्रेक्षामात्रेण श्रूयमाणे गीतादिशब्दे प्रथमं सामान्यमात्रोत्प्रेक्षायामवग्रह:, 'किमयं शब्द:, अशब्दो वा' इत्याद्युत्प्रेक्षायां त्वीहा, शब्दनिश्चये पुनरपाय: तदनन्तरं तु धारणा। एवं देवतादिरूपे, कर्पूरादिगन्धे, मोदका- दिरसे, कामिनीकुचकलशा- दिस्पर्शे चोत्प्रेक्ष्यमाणे अवग्रहादयो मनस: केवलस्य भावनीया:। इति गाथार्थ:।

(५) आह नन्वेते अग्रहादय उत्क्रमेण व्यतिक्रमेण वा किमिति न भवन्ति। यद्वा-ईहादयस्त्रयो द्वौ एको वा किं नाऽभ्युपगम्यन्ते यावत्सर्वेऽ- प्यभ्युपगम्यन्त इत्याशङ्क्याह–

उक्कमओऽइक्कमओ, एगाभावे वि वा न वत्थुस्स।
जं सब्भावाहिगमो, तो सव्वे नियमियक्कमा य ॥२९५॥

एषामवग्रहादीनामुत्क्रमेण- उत्क्रमत: अतिक्रमेण- अति- क्रमत: 'अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वादेकस्याप्यभावे वा यस्मान्न वस्तुन: सद्भावाधिगम: तस्मात्सर्वे चत्वारोऽप्येष्टव्या: तथा नियमितक्रमाश्च- सूत्रनिर्दिष्टपरिपाट्यन्विताश्च 'भवन्त्येतेऽवग्रहा- दय:' इति प्रक्रमाल्लभ्यते। इत्यक्षरयोजना। भावार्थस्तूच्यते- तत्र पश्चानुपूर्वी- भवनमुत्क्रम:। अनानुपूर्वी भवनं त्वतिक्रम:। कदाचिद- वग्रहमतिक्रम्येहा तामप्यतिलङ्घ्यापायस्तमप्यतिवृत्य धारणेति; एवमनानुपूर्वीरूपोऽ- तिक्रम इत्यर्थ:। एताभ्यामुत्क्रम-व्यतिक्रमाभ्यां तावदवग्रहादिभि- र्वस्तुस्वरूपं नाऽवगम्यते। तथैषां मध्ये एकस्याऽप्यन्यतरस्याऽभावे वैकल्येन वस्तु-स्वभावावबोध इत्यसकृदुक्तप्रायमेव। तत: सर्वेऽप्यमी एष्टव्या:, नत्वेक:, द्वौ त्रयो वेत्यर्थ:। तथा-''उग्गहो ईहाऽवाओ य धारणा एव होन्ति चत्तारि'' इत्यस्यां गाथायां यथैवकारेण पूर्वमेतेषांनियमित: क्रम:, तथैवैते नियमितक्रमा भवन्त, नोत्क्रमाऽतिक्रमाभ्यामिति भाव:। इति गाथार्थ:।

अथोत्क्रमाऽतिक्रमयोरेकादिवैकल्ये चाऽवग्रहादीनां वस्त्व- धिगमाऽभावे युक्तिमाह–

ईहिज्जइ नाऽगहियं, नज्जइ नाणीहियं न याऽनायं।
धारिज्जइ जं वत्थुं, ते क्कमोऽवग्गहाई उ ॥२९६॥

यस्मादवग्रहेणागृहीतं वस्तु नेह्यते- न तत्रेहा प्रवर्तते, ईहाया, विचाररूपत्वाद् अगृहीते च वस्तुनि निरास्पदत्वेन वि- चाराऽयोगादिति भाव:। तदनेन कारणेनादौ अवग्रहं निर्दिश्य पश्चादीहा निर्दिष्टा। न चाऽनीहितम्-अविचारितं ज्ञायते- अपा- यविषयतां याति, अपायस्य निश्चयरूपत्वात्, निश्चयस्य च विचारपूर्वकत्वादिति हृदयम्। एतदभिप्रायवता चापायस्यादौ ईहा निर्दिष्टेति। न चाज्ञातम्अपा- येनाऽनिश्चितं धार्यते-धारणाविष- यीभवति वस्तुधारणाया अर्थावधारणरूपत्वादवधारणस्य च निश्चयमन्तरेणाऽयोगादित्य- भिप्राय:। ततश्च धारणादावपाय:। तत: किम्? इत्याह- तेनाऽवग्रहादिरेव क्रमो न्याय्य:, नोत्क्रमातिक्रमौ, यथोक्तन्यायेन वस्त्ववगमाऽभावप्रसङ्गात्। इति गाथार्थ:।

तदेवं निराकृतौ सयुक्तिकमुत्क्रमाऽतिक्रमौ। अथ यदुक्तम्- ''एगाऽभावे वि वा न वत्थुस्स जं सब्भावाहिगमो तो सव्वे' त्ति, तत्रापीयमेव युक्तिरितत दर्शयन्नाह–

एत्तो च्चिय ते सव्वे, भवंति य नेव समकालं।
न वइक्कमो य तेसिं, न अन्नहा नेयसब्भावो ॥२९७॥

यत एव 'नाऽगृहीतमीह्यते,' इत्याद्युक्तम्, एतस्मादेव च तेऽवग्रहादय: सर्वे चत्वारोऽप्येष्टव्या भवन्ति, उक्तन्यायान्नैक- वैकल्येऽपि मतिज्ञानं संपद्यते इत्यर्थ:। 'पूर्वमवगृहीमीह्यत' इत्याद्युक्तेरेव च ते भिन्ना:- परस्परमसंकीर्णा:, उत्तरोत्तरापूर्वभिन्न- वस्तुपर्यायग्रहणादिति। नागृहीतमीह्यत' इत्यादियुक्तेरेव च न ते समकालम्, भिन्ना: सिद्धास्तेऽवग्रहादय: समकालमपि नैव भवन्ति; युगपन्न जायन्त इत्यर्थ:। 'पूर्वमवगृहीत-मेवोत्तरकालमीह्यते, ईहोत्तरकालमेव च निश्चीयते' इत्या-द्युक्तन्यायेनैवावग्रहा- दीनामुत्पत्तिकालस्य भिन्नत्वात् न युगपत्संभव इति भाव:। उक्तयुक्तेरेव तेषां न व्यतिक्रम:, उपलक्षणत्वात् 'नाऽप्युत्क्रम:' इत्यपि द्रष्टव्यम्। एतच्च 'तेण कमोवग्गहाईउ' इत्यनन्तरगाथाचरमपादेन सामर्थ्यादुक्तमपि प्रस्तावात्पुनरपि साक्षादुक्तम्, इत्यदोष: तदेवं 'ईहिज्जइ नागहियं' इत्यादियुक्ते- र्यथोक्तधर्म्मका एवाऽवग्रहादय: न विपर्ययधर्माण इति साधितम्। अथ ज्ञेयवशेनाऽप्येषां यथोक्तधर्मकत्वं सिसाधयिषुरिदमाह- 'न अन्नहा नेयसब्भावो' त्ति-ज्ञेयस्याप्यवग्रहादिग्राह्यस्य शब्द- रूपादेर्नान्यथा स्वभावोऽस्ति, येनाऽवग्रहादयस्तद्ग्राहका; यथोक्तरूपतां परित्यज्याऽन्यथा भवेयुरित्यर्थ:। इदमुक्तं भवति ज्ञेयस्याऽपि शब्दादे: स स्वभावो नास्ति य एतैरवग्रहादिभिरेका- दिविकलैरभिन्नै: समकालभाविभिरुत्क्रमातिक्रमवद्भिश्चाव-गम्येत। किंतु-शब्दादिज्ञेयस्वभावोऽपि तथैव- व्यवस्थितो यथा- ऽमीभि: सर्वैर्भिन्नै: असमकालै:, उत्क्रमातिक्रमरहितैश्च संपूर्णो यथावस्थित- श्चावगम्यते, अतो ज्ञेयवशेनाप्येते यथोक्तरूपा एव भवन्ति। तदेवम्- 'उक्कमओ अतिक्कमओ एगाऽभावे वि वा' इत्यादिगाथोक्तं प्रसङ्गतोऽन्यदपि भिन्नत्वम्, असमकालत्वं च समर्थितम्, इति गाथार्थ:।

अत्र पर: प्राऽऽह–

अब्भत्थेऽवाओ च्चिय, कत्थइ लक्खिज्जई इमो पुरिसो।
अन्नत्थ धारण च्चिय, पुरोवलद्धे इमं तंति ॥२९८॥

स्वभ्यस्तेऽनवरतं दृष्टपूर्वे, विकल्पिते, भाषिते च विषये पुन: क्वचित्कदाचिदवलोकिते अवग्रहेहाद्वयमतिक्रम्य प्रथमतोऽ- प्यपाय एव लक्ष्यते-अनुभूयते निर्विवादमशेषैरपि जन्तुभि: यथाऽसौ 'पुरुष' इति। अन्यत्र पुन: क्वचित्पूर्वोपलब्धे सुनिश्चिते दृढवासने विषयेऽवग्रहेहा- पायानतिलङ्घ्य स्मृतिरूपा धारणैव लक्ष्यते, यथा 'इदं तद्वस्तु यदस्माभि: पूर्वमुपलब्धम्' इति तत्कथम् ? उच्यते-उत्क्रमाऽति- क्रमाभ्याम् एकादिवैकल्ये च न वस्तुसद्भावाऽधिगम:? इदं च कथमभिधीयते ''ईहिज्जइ नागहियं'' इत्यादीप्रेरकाभिप्राय:। इति गाथार्थ:।

भ्रान्तोऽयमनुभव इति दर्शयन्नाह–

उप्पलदलसयवेहे व्व, दुव्विभावत्तणेण पडिहाइ।
समयं व सुक्कसक्कुलि-दसणे विसयाणमुवलद्धी ॥२९९॥

'क्वचित्प्रथममेवाऽपायः क्वचित्तु धारणैव' इति यत्त्वया प्रेर्यते, तत् 'प्रतिभाति' इत्यनन्तरगाथोक्तेन संबन्धः। केनैतत् प्रतिभाति? इत्याह-दुःखेन विभाव्यते दुर्विभावो दुर्ल्लक्षस्तद्भा- वस्तत्त्वं तेन दुर्विभावत्वेन दुर्ल्लक्षत्वेनाऽवग्रहादिकालस्येति गम्यते। कस्मिन्निव इत्याह-उत्पलंपद्मं तस्य दलानि- पत्राणि तेषां शतं तस्य सूच्यादिना वेधनं वेधस्तस्मिन्निव। इदमुक्तं भवति-यथा तरुणः समर्थपुरुषः पद्मपत्रशतस्य सूच्यादिना वेधं कुर्वाण एवं मन्यते, मया एतानि युगपद्विद्धानि, अथ च प्रतिपत्रं तानि कालभेदेनैव भिद्यन्ते, न चाऽसौ तं कालमतिसौक्ष्म्याद्भे- देनावबुद्ध्यते, एवमत्राप्यऽवग्रहादिकालस्यातिसूक्ष्मतया दुर्विभावनीयत्वेनाऽप्रतिभासः, न पुनरसत्त्वेन, ईहादयो ह्यन्यत्र क्वचित्तावत्स्फुटमेवानुभूयन्ते, यत्राऽपि स्वसंवेदनेन नाऽनुभू- यन्ते, तत्राऽपि ''ईहिज्जइ नागहियं नज्जइ नाणीहियं'' इत्यादि प्रागसकृदभिहितयुक्तिकलापादवसेयाः। तस्मादुत्पलदलशतवेधोदाहरणेन भ्रान्त एवायं प्रथमत एवाऽपायादिप्रतिभासः। अथोदाहरणान्तरेणाप्यऽस्य भ्रान्ततामुपदर्शयति-'समयं वे' त्यादि, वा' इति-अथवा, यथा शुष्कशष्कुलीदशने समयं- युगपदेव सर्वेन्द्रियविषयाणां- शब्द रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाना-मुपलब्धिः प्रतिभाति, तथैषोऽपि प्राथम्येनाऽपायादिप्रतिभासः। एतदुक्तं भवति-यथा कस्यचित् शुष्कां दीर्घां शष्कुलिकां भक्षयतः, तच्छब्दोत्थानाच्छब्दविज्ञानमुपजायते, अत एव शुष्कत्वविशेषणं मृद्व्यामेतस्यां शब्दानुत्थानादिति। शब्दश्रवणसमकालमेव च दीर्घत्वात् तस्या दृष्टया तदूपदर्शनं चाऽयमनुभवति, अत एव च दीर्घत्वविशेषणम्, अति- ह्रस्वत्वे मुखप्रविष्टायास्तस्याः शब्दश्रवणसमकालं रूपदर्शनानुभवाभावादिति। रूपदर्शनसमकालं च तद्गन्धज्ञानमनुभवति, अत एव शष्कुलीग्रहणं गन्धोत्कटत्वात्तस्याः; इक्षुखण्डादिषु तु दीर्घेष्वऽपि तथाविधगन्धाभावाद्विति गन्धादिज्ञानसमकालं च तद्रसस्पर्शज्ञानेऽ-नुभवति। तदेवं पञ्चानामपीन्द्रिय-विषयाणामुपलब्धिर्युगपदेवास्य प्रतिभाति। न चेयं सत्या इन्द्रियज्ञानानां युगपदुत्पादाऽयोगात्, तथा हि-मनसा सह संयुक्तमेवेन्द्रियं स्वविषयज्ञानमुत्पादयति; नाऽन्यथा, अन्यमनस्कस्य रूपादिज्ञानानुपलम्भात्। न च सर्वेन्द्रियैः सह मनो युगपत्संयुज्यते, तस्यैकोपयोगरूपत्वाद्, एकत्र ज्ञातरि एककालेऽनेकै संयुज्यमानत्वायोगात्। तस्मान्मनसोऽत्यन्ताशुसंचारित्वेन कालभेदस्य दुर्ल्लक्ष्यत्वाद्युगपत्सर्वेन्द्रियविषयोपलब्धिरस्य प्रतिभाति। परमार्थतस्त्वस्यामपि कालभेदोऽस्त्येव ततो यथाऽसौ भ्रान्तैर्नोपलक्ष्यते तथावग्रहादिकालेऽपीति प्रकृतम्। दीर्घत्व-विशेषणं च शष्कुलिकाया गाथायामनुक्तमप्युपलक्षण- त्वाद्विहित-मिति परिभावनीयम्। तदेवमवग्रहादीनां नैकादिवैकल्यं नाप्युत्क्रमाऽ-तिक्रमाविति स्थितम्। इति गाथार्थः। विशे०।

(७) आभिनिबोधिकज्ञानस्य अष्टाविंशति २८ भेदाः–

एवं अट्ठावीसइविहस्स आभिणिबोहियनाणस्स। वंजणुग्गहस्स परूवणं करिस्सामि; पडिबोहगदिट्ठंतेणं, मल्लगदिट्ठंतेण य। से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं? पडिबोहगदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोहिज्जा अमुगा! अमुग! त्ति, तत्थ चोयगे पन्नवगं एवं वयासी- किं एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, ०जाव दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, संखिज्ज- समयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, असंखिज्ज- समयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, एवं वदंतं चोयगं पण्णवए एवं वयासी- नो एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, ०जाव नो दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, से तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं॥

से किं तं मल्लगदिट्ठंतेणं? मल्लगदिट्ठंतेणं- से जहानामए केइ पुरिसे आपागसीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेगं उदगबिंदुं पक्खिविज्जा से नट्ठे, अण्णे वि पक्खित्ते से वि नट्ठे; एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं रावेहिइ त्ति, होही से उदगबिंदू जेणं तंसि मल्लगंसि? ठाहिति, होही से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं भरिहिति, होही से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं पवाहेहिति, एवामेव पक्खिप्पमाणेहिं पक्खिप्पमाणेहिं अणंतेहिं पुग्गलेहिं जाहे तं वंजणं पुरियं होइ ताहे हुंति करेइ, नो चेव णं जाणइ केवि एस सद्दाइ? तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस सद्दाइ, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ णं धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखेज्जं व कालं। से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणिज्जा तेणं सद्दो त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ केवेस सद्दाइ तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस सद्दे तओ णं अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्ज वा कालं। से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रूवं पासिज्जा तेणं रूव त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ केवेस रूव त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस रूवे त्ति तओ अवायं पविरसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं

पविसइ तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं। से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा तेणं गंधे त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ केवेस गंधे त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुकेएस गंधे तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं। से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रसं आसाइज्जा तेणं रसो त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ केवेस रसे त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस रसे तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं। से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं फासं पडिसंवेइज्जा तेणं फासे त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ केवेस फासे त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस फासे तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं। से जहानाम केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पासिज्जा तेणं सुमिणो त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ केवेस सुमिणे त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस सुमिणे तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं। सेत्तं मल्लगदिट्ठतेणं। (सूत्र-३५)

'एवं अट्ठावीसे' इत्यादि। एवम्-उक्तेन प्रकारेण अष्टाविंशतिविधस्य, कथमष्टाविंशविधतेति, उच्यते-चतुर्द्धा व्यञ्जनावग्रहः षोढा अर्थावग्रहः षोढा ईहा, षड्विधोऽपायः षोढा धारणेत्याद्यष्टाविंशतिविधता एवमष्टाविंशतिविधस्याभिनि- बोधिकज्ञानस्य संबन्धी यो व्यञ्जनाग्रहः तस्य स्पष्टतरस्वरू- पपरिज्ञानाय प्ररूपणां करिष्यामि कथम्? इत्याह प्रतिबोधकदृ- ष्टान्तेन, मल्लकदृष्टान्तेन च। तत्र प्रतिबोधयतीति प्रतिबोधकः- सुप्तस्योत्थापकः स एव दृष्टान्तः प्रतिबोधकदृष्टान्तः तेन, मल्लकं- शरावं तदेव दृष्टान्तो मल्लकदृष्टान्तस्तेन च, 'से किं तमि' त्यादि, अथ केयं प्रतिबोधकदृष्टान्तेन, व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणेति शेषः। आचार्यः प्राह-प्रतिबोधकदृष्टान्तेनेयं व्यञ्जनावग्रहप्ररूपणा, स यथानामकोयथासंभवनामधेयः कोऽपि पुरुषः, अत्र सर्वत्राप्येकारो मागधिकभाषालक्षणा-नुसरणात्, तच्च प्रागेवानेकशः उक्तं च- कश्चिदनिर्दिष्टनामानं यथासंभवनामकं पुरुषं सुप्तं सन्तं प्रतिबोधयेत्, कथमित्याहअमुक अमुक इति, तत्र एवमुक्ते सति 'चोदको' ज्ञाना वरणकर्मोदयतः कथितमपि सूत्रार्थमनवगच्छन् प्रश्नं चोदयतीति चोदकः, यथावस्थितं सूत्रार्थं प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापको गुरुः, तम् एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण अवादीत् भूतकालनिर्देशोऽनादिमानागम इति ख्यापनार्थः, वदनप्रकारमेव दर्शयति-किमेकसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमा- गच्छन्ति?- ग्राह्यतामुपगच्छन्ति, किं वा द्विसमयप्रविष्टा?,

इत्यादि सुगमम्, एवं वदन्तं चोदकं प्रति प्रज्ञापकः अवादीत्- उक्तवान् नो एकसमयप्रविष्टा इत्यादि, प्रकटार्थं यावन्नो संख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति नवरमयं प्रतिषेधः स्फुटप्रतिभासरूपार्था- वग्रहलक्षणविज्ञान-ग्राह्यतामधिकृत्य वेदितव्यो, यावता पुनः प्रथमसमयादुप्यारभ्य किंचि-त्किञ्चिदव्यक्तं ग्रहणमागच्छन्तीति प्रतिपत्तव्यम्, 'जं वंजणोग्गहणमिति भणियं विन्नाण अव्वत्तं' इतिवचनप्रमाण्यात् 'असंखेज्जे' त्यादि, आदित आरभ्य प्रतिप्रसमय- प्रवेशनेनासंख्येयान् समयान् यावत् ये प्रविष्टाः ते असंख्येय-समयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति अर्थाव- ग्रहरूपविज्ञानग्राह्यतामुपपद्यन्ते असंख्येयसमयप्रविष्टेषु तेषु चरमसमये प्रविष्टाः पुद्गला अर्थावग्रहविज्ञानमुपजनयन्तीत्यर्थः। अर्थावग्रहाविज्ञानाच्च प्राक्- सर्वोऽपि व्यञ्जनावग्रहः। एषा प्रतिबोधकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपरूपणा व्यञ्जनाव- ग्रहस्य च कालो जघन्यतः आवलिकाऽ- सङ्ख्येयभागः, उत्कर्षतः संख्येयावलिकाः ता अपि संख्येया आवलिकाः आनपानपृथ- क्त्वकालमाना वेदितव्याः, यत उक्तम्-' वंजणवग्गहकालो आवलियासंखभागातुल्लो उ। थोवा उक्कोसा पुण, आणापाणू पहुत्तंति' ॥१॥ 'सेत्तमि'-त्यादि, नियमनम्, सेयं प्रतिबोधकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणा॥ 'से किं तमि' त्यादि, अथ केयं मल्लकादृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणा? सूरिराह-सः- अनिर्दिष्टस्वरूपो यथानामकः कश्चित् पुरुषः आपाकशिरसः- आपाकः प्रतीतः तस्य शिरसो मल्लकंशरावं गृहीत्वा इदं हि किल रूक्षं भवति ततोऽस्योपादानं, तत्र मल्लकं एकमुदकविन्दुं प्रक्षिपेत्, स नष्टः, तत्रैव तद्भावपरिणतिमापन्न इत्यर्थः, ततो द्वितीयं प्रेक्षिपेत् सोऽपि विनष्टः, एवं प्रक्षिप्यमाणेषु प्रक्षिप्यमाणेषु भविष्यति स उदकबिन्दुर्यस्तत् मल्लकं 'रावेहिइ' इति देश्योऽयं शब्दः- आर्द्रतां नेष्यति, शेषं सुगमं, यावदेवमित्यादि, एवमेव उदकबिन्दुभिरिव निरन्तरं प्रक्षिप्यमाणैः प्रक्षिप्यमाणैरनन्तैः शब्दरूपतापरिणतैः पुद्गलैर्यदा तद् व्यञ्जनं पूरितं भवति तदा हुंकरोति-हुंकारं मुञ्चति-तदा तान् पुद्गलान् अनिर्दिश्यरूपतया परिच्छिनत्ति, इति भावार्थः। अत्र व्यञ्जनशब्देन उपकरणेन्द्रियं शब्दादिपरिणतं वा द्रव्यं तयोः संबन्धो गृह्यते, तेन न कश्चिद्वि-रोधः। आह च भाष्यकृत् ''तोएण मल्लगं पि व वंजणमापूरियं ति जं भणियं। तं दव्वमिंदियं वा, तत्संबंधो व न विरोहो ॥२५०॥'' तत्र यदा व्यञ्जनमु- पकरणेन्द्रियमधिक्रियते तदा पूरितमिति कोऽर्थः- परिपूर्णं भृतं- व्याप्तमित्यर्थः, यदा व्यञ्जनं द्रव्यमभिगृह्यते तदा पूरितमिति प्रभूतीकृतं स्वप्रमाणमानीतं स्वव्यक्तौ समथा-कृतमित्यर्थः, यदा तु व्यञ्जनं द्वयोरपि संबन्धो गृह्यते तदा पूरितमिति। किमुक्तं भवति-तावत् संबन्धोऽभूत यावति सति ते शब्दादिपुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति, आह च चूर्णिकृत- ''यदा पु

ग्गलदव्वा वंजणं तया पूरियंति पभूया ते पुग्गलदव्वा जायास्वं प्रमाणमानीता: सविसयपडिबोहसमत्था जाया'' इत्यादि, ''जया उवगरणिंदियं वंजणं तथा पूरियंति कहं उच्चते ? जाहे तेहिं पुग्गलेहिं तं दव्विंदियं आवृतं भरियं'' व्यापितं तया पूरयंति भण्णइ, जया उभयसंबंधो बंजणं तया पूरियंति कहं ? उच्यते, दव्वेंदियस्स । पुग्गला अंगीभावमागता, पोग्गला दव्विंदिए अभिषिक्ता इत्यर्थ: । तया पूरियंति इति भण्णइ इति, एवं च यदा पूरितं भवति व्यञ्जनं तदा हुं इति करोति- अर्थावग्रहरूपेण ज्ञानेन तमर्थं गृह्णाति, किं च ? नामजात्यादि- कल्पनारहितं, तथा चाह-''नो चेव णं जाणइ केवेस सद्दाइ त्ति'' - न पुनरेवं जानाति क एष शब्दादिरर्थ इति, स्वरूपद्रव्यगुणक्रियाविशेष- कल्पनारहितमनिर्देश्यं सामान्यमात्रं गृह्णातीत्यर्थ: । एवं रूपसामान्य- मात्रकारणत्वादर्थावग्रहस्य एतस्माच्च पूर्व: सर्वोऽपि व्यञ्जनावग्रह: एषा मल्लकदृष्टान्तेन व्यञ्जनाऽवग्रहस्य प्ररूपणा, हुंकारकरणं चार्थावग्रहबलप्रवर्तितम्, तत ईहां प्रवि- शति किमिदं किमिदमिति विमर्शं कर्तुमारभते, तत ईहानन्तरं क्षयोपशम- विशेषभावाज्जानाति अमुक एष शब्दादिरिति, 'तत' एवं रूपे ज्ञानपरिणामे प्रादुर्भवति सति सोऽपायं प्रविशति, ततोऽपायानन्तरमन्तर्मुहूर्तकालं यावदुपगतं भवति- सामीप्येना- त्मनि शब्दादिज्ञानं परिणतं भवति, अविच्युतिरन्त- र्मुहूर्तकालं यावत् प्रवर्तत इत्यर्थ: ततो धारणां प्रविशति, सा च धारणा वासनारूपा द्रष्टव्या, यत आह- ''तत्तो णमि'' त्यादि, ततो धारणायां प्रवेशात् 'णमि' तिवाक्यालंकारे, संख्येयं वा असंख्येयं वा कालं हृदि धारयन्ति, तत्र संख्येयवर्षायुष: संख्येयं कालम्, असंख्येयवर्षायुषस्तु असंख्येयं कालम्। अत्राह-सुप्तमङ्गीकृत्य पूर्वोक्त: प्रकार: सर्वोऽपि घटते, जाग्रतस्तु शब्द-श्रवणसमनन्तरमेवाऽवग्रहेहाव्यतिरेकेणावायज्ञान- मुपजायते तथा प्रतिप्राणि संवेदनात् तन्निषेधार्थमाह- 'से जहानामए' इत्यादि, स यथानामक: कश्चित् जाग्रदपि पुरुषोऽव्यक्तं शब्दं शृणुयात्, अव्यक्तमेव प्रथमं शब्दं सृणोति, अव्यक्तं नाम अनिर्देश्यस्वरूपं नामजात्यादिकल्पनारहितम्, अनेनाऽवग्रहमाह, अर्थाऽवग्रहश्च श्रोत्रेन्द्रियस्य संबन्धिव्यञ्जनाऽवग्रहमन्तरेण न भवति ततो व्यञ्जनाऽवग्रहोऽप्युक्तो वेदितव्य:, अत्राह-नन्वेवं क्रमो न को- ऽप्युपलभ्यते, किंतु प्रथमत एव शब्दाऽपायज्ञानमुपजायते, सूत्रेऽपि चाऽव्यक्तमिति शब्दविशेषणं कृतम्, ततोऽयमर्थो व्याख्येय:- अव्यक्तम्- अनवधारितशाङ्गशार्ङ्गादिविशेषं शब्दं शृणुयादिति, इदं च व्याख्यानमुत्तरसूत्रमपि संवादयति- 'तेणं सद्दो त्ति उग्गहिए' तेनप्रमात्रा शब्द इत्यवगृहीतं, 'नो चेव णं जाणइ केवेस सद्दाऽऽह' न पुनरेवं जानाति- क एष शब्द:- शाङ्ग: शार्ङ्ग इति वा ? शब्द इत्यत्राऽऽदिशब्दात्-रसादिष्व- प्ययमेव न्याय इति ज्ञापयति, तत ईहां प्रविशति इत्यादि सर्वं संबद्धमेव, तदेतदयुक्तम्, सम्यक् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, इह हि यत्किञ्चिद वस्तु निश्चीयते तत्सर्व्वमीहापूर्वकम्, अनीहितस्य सम्यक् निश्चितत्वाऽयोगात्, न खलु प्रथमाक्षिसन्निपाते सत्य- धूमदर्शनेऽपि यावत्किमयं धूम: ? किं वा मशकवर्तिरिति विमृश्य धूमगतकण्ठक्षणनकालीकरण- सोष्मतादिधर्म्मदर्शनात् सम्यक् धूमं धूमत्वेन न विनिश्चिनोति तावत्स धूमो निश्चितो भवति, अनिवर्तितशङ्कतया तस्य सम्यक् निश्चितत्वायोगात्, तस्माव- दश्यं यो वस्तु विशेषनिश्चय: स ईहापूर्वक: शब्दोऽयमिति च निश्चयो वस्तुविशेषनिश्चयो रूपादिव्यवच्छेदात् ततोऽवश्यमित: पूर्वमीहया भवितव्यम्, ईहा च प्रथमत: सामान्यरूपेणाऽवगृहीते भवति, नाऽनवगृहीते, न खलु सर्वथा निरालम्बनमीहनं क्वापि भवदुपलभ्यते नचाऽनुपलभ्यमानं प्रतिपत्तुं शक्नुम:, सर्वस्या अपि प्रेक्षावतां प्रतिपत्ते: प्रमाणमूलत्वाद्, अन्यथा प्रेक्षावत्ताक्षितिप्रस- त्ते:, तस्माद्-ईहाया: प्रागवग्रहोऽपि नियमात्प्रतिपत्तव्य: अमु- मेवार्थं भाष्यकारोऽपि द्रढयति-''ईहिज्जइ नाऽगहियं; नज्जइ नाऽनीहियं न याऽनायं । धारिज्जइ तं वत्थुं, तेण कमोऽवग्गहाई उ'' ॥२९६॥ अवग्रहश्च शब्दोऽयमिति ज्ञानात् पूर्वं प्रवर्त्तमानोऽ- निर्देश्यसामान्यमात्र- ग्रहणरूप एवोपपद्यते, नाऽन्य: अत एवोक्तं सूत्रकृता-'अव्यक्तं शब्दं शृणुयात्' इति, स हि परमार्थत: शब्द एव, तत: प्रज्ञापकस्तं शब्दमनूद्य तद्विशेषणमाचष्टे- अव्यक्तमिति तं शब्दमव्यक्तं शृणोति, किमुक्तं भवति ? शब्दव्यक्तज्ञापि व्यक्तं न शृणोति, किं तु सामान्यमात्रनिर्देश्यं गृह्णाति इत्यर्थ: यदपि चोक्तम्- तेन प्रमात्रा शब्द: इत्यवगृहीतमिति, तत्र शब्द इति प्रतिपादयति प्रज्ञापक: सूत्रकारो, न पुनस्तेन प्रमात्रा शब्द इति अवगृह्यते, शब्द इति ज्ञानस्याऽपायरूपत्वात्, तथा हिशब्दोऽयमिति, किमुक्तं भवति ?- न शब्दाऽभावो, न च रूपादि:, किं तु शब्द एवाऽयमिति, ततो विशेषनिश्चय- रूपत्वादयमवगमोऽपायरूप एव, नाऽवग्रहरूप:, अथ च अवग्रहप्रतिपादनार्थमिदमुच्यमानं वर्त्तते तत: शब्द इति प्रज्ञापक: सूत्रकारो वदति, न पुनस्तेन प्रमात्रा शब्द इत्यवगृहीते इति स्थितं, तथा चाह सूत्रकृत्- ''नो चेव णमि'' त्यादि, न पुरेरवं जानाति क एव शब्दादिरर्थ इति, शब्दादिरूपतया तमर्थं न जानातीति भावार्थ: । अतिनिर्देश्य-सामान्यमात्रप्रतिभासात्मकत्वादर्थाऽवग्रहस्य, अर्थाऽवग्रहश्च श्रोतेन्द्रियघ्राणेन्द्रियादीनां व्यञ्जनाऽवग्रहपूर्वक इति पूर्वं व्यञ्जनाऽवग्रहोऽपि द्रष्टव्य:, तदेवं सर्वत्राप्यवग्रहेहापूर्वमवायज्ञानमुप- जायते, केवलमभ्यासदशामापन्नस्य शीघ्रं शीघ्रतरमवग्रहादेय: प्रवर्तन्ते इति कालसौक्ष्म्यात्ते स्पष्टं न संवेद्यन्ते इति स्थितम्। तत ईहां प्रविशित, इह केचिदीहां संशयमात्रं मन्यन्ते, तदयुक्तं, संशयो हि नामाऽज्ञानमिति, ज्ञानांऽशरूपा चेहा, तत: सा कथमज्ञानरूपा भवितुमर्हति ? नन्वीहाऽपि किमयं शाङ्ग:, किं वा शार्ङ्ग? इत्येवं रूपतया प्रवर्त्तते, संशयोऽपि चैवमेव तत: कोऽनयो: प्रतिविशेष:? उच्यते-इह यत् ज्ञानं शाङ्गशार्ङ्गादिविशे- षाननेकानालम्बते न चासद्भूतं विशेषमुपासितुं शक्नोति, किं तु सर्वात्मना शयानमिव वर्तते; कुण्ठीभूतं तिष्ठतीत्यर्थ:, तदसद्भूतविशेषाऽपर्युदापरि- कुण्ठितं संशयज्ञानमुच्यते यत्पुन: सद्भूतार्थविशेषविषये हेतूपपत्तिव्यापारपरतया सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखम-

सद्भूतविशेषत्यागाभिमुखं च तदीहा, आह च (विशेषाऽऽवश्यक) भाष्यकृत्–

''जमणेगत्थालंबण- मपज्जुदासपरिकुंठियं चित्तं।
सेय इव सव्वप्पयओ, तं संसयरूपमन्नाणं ॥१८३॥

तं चिय सयत्थहेऊ, वय त्ति वावारतप्परममोहं।
भूयाऽभूयविसेसा, दाणच्चाभिमुहमीहा ॥१८४॥''

इह यदि वस्तु सुबोधं भवति-विशिष्टश्च मतिज्ञानावर- णक्षयोपशमो वर्त्तते, ततोऽन्तर्मुहूर्तकालेन नियमात्तद्वस्तु निश्चिनोति, यदि पुनर्वस्तु दुर्बोधं न च तथाविधो विशिष्टो मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्तत ईहोपयोगादच्युतः पुन-रप्यन्तर्मुहूर्तकालमीहते,एवमीहोपगाविच्छेदेन प्रभूतान्य-न्तर्मुहर्त्तानि यावदीहते तत ईहानन्तरं जानातिअमुक एषोऽर्थः शब्द इति, इदं च ज्ञानमवा (पा)यरूपं, ततोऽस्मिन् ज्ञाने प्रादुर्भवति 'णमि' ति वाक्यालङ्कारे, अपायं प्रविशति ततः 'से' तस्योपगतम्- अवि- च्युत्या सामीप्येनात्मनि परिणतं भवति, ततो धारणां वासनारूपां प्रविशति, संख्येयमसंख्येयं वा कालम्। एवमनेन क्रमप्रकारेण एतेन पूर्वदर्शितेनाभिलापेन शेषेष्वपि चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु अवग्रहादयो वाच्याः, नवरमभिलाष-विषये- ''अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा'' इत्यस्य स्थाने ''अव्वत्तं रूपं पासेज्जा'' इति वक्तव्यं, उपलक्षणमेतत् तेन सर्वत्राऽपि शब्दस्थाने रूपमिति वक्तव्यं, तद्यथा-'तेणं रूवि त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ केवेस रूवि त्ति ततो इहं पविसइ, ततो जाणइ अमुगे एस रूवे त्ति, ततो अवायं पविसइ ''इत्यादि तदवस्थमेव नवरमिह व्यञ्जनावग्रहो न व्याख्येयः, अप्राप्यकारित्वाद् चक्षुषः, घ्राणेन्द्रियादिषु तु व्याख्येयः, एवं तु घ्राणेन्द्रियविषये ''अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा'' इत्यादि वक्तव्यं जिह्वेन्द्रिय विषये- ''अव्वत्तं रसं आसाएज्जा'' इत्यादि, स्पर्शनेन्द्रियविषये- ''अव्वत्तं फासं पडिसंवेदेज्जा'' इत्यादि, यथा च शब्द इति निश्चिते तदुत्तर- कालमुत्तरधर्म्मजिज्ञासायां किं शाङ्ग? किं वा शार्ङ्गः? इत्येवंरूपा ईहा प्रवर्तते तथा रूपमिति निश्चिते तदुत्तरकालमुत्तरजिज्ञासायां किमयं स्थाणुः? किं वा पुरुष? इत्यादिरूपा (सा) प्रवर्तते। एवं घ्राणेन्द्रियादिष्वपि समानगन्धादीनि वस्तूनि ईहाऽऽलम्बनानि वेदितव्यानि, आह च (विशेषावश्यक) भाष्यकृत्–

''सेससु वि रूपाइसु विसएसु होंति रूवलक्खाइं।
पायं पच्चासन्न-त्तणेण ईहावत्थूणि ॥२९२॥

थाणुपरिसाइकुट्टु-प्पलादिसंभियकरिल्लमंसाइ।
सप्पुप्पलनालाइ व, समाणरूवाइँ विसयाइं ॥२९३॥''

'से जहानामए' इत्यादि स यथानामकः कोऽपि पुरुषोऽव्यक्तं स्वप्नं प्रतिसंवेदयेत्, अव्यक्तं नाम-सकलविशेषविकल- मनिर्देश्यमिति यावत् स्वप्नमिति प्रज्ञापकः-सूत्रकारो वदति, स तु प्रतिपत्ता स्वप्नादिव्यक्तिविकलं किञ्चिदनिर्देश्यमेव तदानीं गृह्णाति, तथा अनेन प्रतिपत्त्रा ''सुविणो त्ति उग्गहिए'' इति स्वप्नमिति अवगृहीतम्, अत्राऽपि स्वप्न इति प्रज्ञापकोवदति, स तु प्रतिपत्ता अशेषविशेषवियुक्तमेवाऽ- वगृहीतवान्, तथा चाह- न पुनरेवं जानाति-क एष स्वप्न इति? स्वप्न इत्यपि तमर्थं न जानातीति भावः, तत ईहां प्रविशतीत्यादि, प्राग्वत्,एवं स्वप्न- मधिकृत्य नोइन्द्रियस्याऽर्थावग्रहादयः प्रतिपादिताः। अनेन चोल्लेखेनाऽन्यत्राऽपि विषये वेदितव्याः,तदेवं मल्लकदृष्टान्तेन व्य- ञ्जनावग्रहप्ररूपणां कुर्व्वता प्रसङ्गतोऽष्टाविंशतिसंख्या अपि मतिज्ञानस्य भेदाः सप्रपञ्चमुक्ताः, संप्रति मल्लकदृष्टान्तमुपसंह- रति-''सेत्तं मल्लगदिट्ठंतेणं'' एवं मल्लकदृष्टान्तेन व्यञ्जनाव- ग्रहस्य प्ररूपणा॥ नं०।

(७) मतान्तरेणाष्टाविंशति २८ भेदत्वम्-''उग्गह ईह अवाओ य'' इत्यादिगाथायाम् 'आभिनिबोधिकज्ञानस्य' चत्वारि भेदवस्तूनि समासत इत्युक्तं, तत्किं व्यासतो बहुभेद-मप्याभिनिबोधिकज्ञानं भवति ? 'इत्याशङ्क्य तद्भेदबहु-विधत्वदर्शनात् 'समासेन' इति विशेषणस्य सफलत्वमाह-

सोइंदियाइभेएण, छव्विहा ऽवग्गहादओऽभिहिया।
ते होंति चउव्वीसं, चतुव्विहं वंजणोग्गहणं ॥३००॥

अट्ठावीसइभेयं, एयं सुयनिस्सियं समासेणं।
केइत्तु वंजणोग्गह-वज्जे छोद्रूणमेयम्मि ॥३०१॥

अस्सुयनिस्सियमेवं, अट्ठावीसइविहं ति भासंति।
जमवग्गहो दुभेओ-ऽवग्गहसामण्णओग्गहियो ॥३०२॥

श्रोत्रेन्द्रियादीनां पञ्चानामिन्द्रियाणां मनःषष्ठानां यो भेद- स्तेनाऽवग्रहादयः प्रत्येकं षड्विधाश्चत्वारोऽप्यभिहिताः। ततस्तैः षड्भिश्चत्वारो गुणिताश्चतुर्विंशतिर्भवन्ति। अन्यच्च- स्पर्शनरसनघ्राण-श्रोत्रेन्द्रियचतुष्टयभेदात् व्यञ्जनाऽवग्रहणम्- व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्विधो भवति। एवमेतत् श्रुतनिः सृ (श्रि) तमाभिनिबोधिकज्ञानं सर्वमप्यष्टाविंशतिविधं संपद्यते। एतदपि भेदाऽभिधानं वक्ष्यमाणबहुत- रभेदकलापापेक्षयाऽद्याऽपि समा-सेन- संक्षेपेण द्रष्टव्यम्।

अन्ये त्वेतानष्टाविंशतिभेदानन्यथा पूरयन्ति तन्मतमुपद- र्शयति-'केइ तु इत्यादि, के चित्पुनराचार्य एतस्मिन्नेव श्रुतानिः (श्रि)ते मतिज्ञानभेदसमुदये, व्यञ्जनावग्रहभेदचतुष्टयवर्ज्जे 'उप्पत्ति- या, वेणइया, कम्मिया, पारिणामिया'' इत्यादिना अन्यत्र, प्राग्त्राऽपि च प्रतिपादितस्वरूपमश्रुतनिः- सृ(श्रि) तमौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयं क्षिप्त्वामीलयित्वा एवमष्टाविंश- तिविधं सर्वमपि मतिज्ञानमिति भाषन्ते। अयं हित तेषामभिप्रायःमतिज्ञानस्य संपूर्णस्येह भेदाः प्रतिपादयितुं प्रक्रान्ताः। यदि च- अश्रुतनिःसृ (श्रि)तं बुद्धिचतुष्टयं न गण्यते तदा श्रुतनिःसृ (श्र) तरूपस्य मतिज्ञानदेशस्यैवैतेऽष्टाविंशति- भेदाः प्रोक्ता भवन्ति। न तु सर्वस्याऽपि; यदा तूक्तन्यायेन श्रुतनिःसृ (श्रि) तमश्रुतनिःसृ(श्रि)तं च मील्यते तदा सर्वस्याऽपि तस्य भेदाः सिद्धा भवन्ति। ननु साधुक्तं तैः केवलमेवं सति व्यञ्जनाऽवग्रहचतुष्टयं क्व क्रियताम् ? न ह्येतदपि विक्रीयमाणं खलखण्डमात्रेण क्रीतम्, किंत्विदमपि मतिज्ञानान्तर्गतमेव ततोऽस्मान्निष्काश्यमानं वराकमिदं क्वाऽवस्थितिं बध्नातु ? इत्याशङ्क्याह- 'जमवग्गहो' इत्यादि, यत्- यस्मा-द्व्यञ्जनार्थाऽवग्रहभेदतो योऽयमवग्रहो द्विभेदः प्रागुक्तः सोऽव-ग्रहसामान्येन गृहीतोऽवग्रहसामान्येऽन्तर्भावितः भवति च विशेषाणां सामन्येऽन्तर्भावः, यथा सेनायां गजादीनां

वनादौ धवखदिरादीनाम्। अतोऽवग्रहस्य सामान्यरूपतया एकत्वादवग्रहेहाऽपायधारणानामिन्द्रियमनोभेदेन प्रत्येकं षड-विंधत्वात्। श्रुतनिः सृ(श्रि)तमतिज्ञानस्य चतुर्विंशतिरेवं भेदाः अश्रुतनिः सृ(श्रि) तस्य तु बुद्धिचतुष्टयलक्षणाश्चत्वारः इत्येवं सर्वं मतिज्ञानमष्टाविंशतिभेदं सिद्ध्यति। इति केषांचिन्मतम्। इति गाथात्रयार्थः।

एतच्च तन्मतमयुक्तम्। कुतः ? इत्याह–

चउवइरित्ता भावा, जम्हा न तमुग्गहाईओ।
भिन्नं तेणोग्गहाइ-सामण्णउतयं तग्गयं चेव ॥३०३॥

चतुर्भ्यः-अवग्रहेहापायधारणावस्तुभ्यो व्यतिरिक्तं चतुर्व्यतिरिक्तं तस्य चतुर्व्यतिरिक्तस्याश्रुतनिः सृ(श्रि) तस्याऽभावात्कारणाद्यस्मात्- यतो न तदश्रुतनिः सृ(श्रि)तम-वग्रहादिभ्यो भिन्नम्। ततः किम्, इत्याह-तेन कारणेनावग्रहादिसामान्याद्–अवग्रहादिसामान्यमाश्रित्य 'तयंतग्गयं चेव' त्ति- तेष्ववग्रहादिसंबन्धिष्वष्टाविंशति-भेदेष्वन्तर्गतं-प्रविष्टमन्तर्भूतं तदन्तर्गतमेवाऽश्रुतनिः सृ(श्रि) तं बुद्धिचतुष्टयम्। अतः किमिति व्यञ्जनावग्रहचतुष्टयं पातयित्वा श्रुतनिःसृतं बुद्धिचतुष्टयं पुनरपि प्रक्षिप्यते ? इत्यभिप्रायः। इदमुक्तं भवति- ''सोइंदियाइभेएण छव्विहावग्गहादओ'' (३००) इत्यादिना प्रतिपादितैरवग्रहादिसंबन्धिभिरष्टाविंशतिभेदैः किलाऽसंगृहीतत्वाद्व्यञ्जनावग्रहचतुष्टयापगमं कृत्वा श्रुतनिः सृतं बुद्धिचतुष्टयं मतान्तरवादिभिः प्रक्षिप्यते एतच्चायुक्तं, यतः'सोइंदियाइभेएणं' इत्यादिनाऽवग्रहादीनामेव अष्टाविंशतिर्भेदाः प्रोक्ताः अवग्रहादयश्च बुद्धिचतुष्टयेऽपि सन्ति, अतोऽवग्रहादिभणनद्वारेण तदप्यश्रुतनिः सृ(श्रि)तं बुद्धिचतुष्टयमेतेष्वष्टाविंशतिभेदेषु संगृहीतमेवेति, किमितैः पुनरपि प्रतिक्षप्यते ? इति गाथार्थः।

तत्रैतत्स्यात्प्रष्टव्यं परस्य कथमौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयेऽव-ग्रहादयः संभवन्ति? तदत्र यथा ते भवन्ति, तथा दर्शयन्नाह-

किह पडिकुक्कुड हीणो, जुज्झे बिंबेणऽवग्गहो ईहा।
किं सुसिलिट्ठमवाओ, दप्पणसंकंतबिंबं ति ॥३०४॥

इह किलाऽऽगमे- ''भरह-सिल-मिंढकुक्कुड-तिल-वालु यहत्थि-अगड-वणसंडे। पायसआइयापत्ते-खाडहिला पंच पियरो य''॥६१॥ (नन्दी सूत्र-२७) इत्यादिना औत्पत्तिक्यादिबुद्धीनां बहून्युदाहरणान्युक्तानि, तन्मध्याच्छेषोपलक्षणार्थं कुक्कुटोदाहरणमाश्रित्यौत्पत्तिक्यां बुद्धौ अवग्रहादयो भाव्यन्ते–राज्ञा नट्टकुमारकस्य भरतस्य किल बुद्धिपरीक्षणार्थमादिष्टं यदुत-अयं मदीयकु (कुं) क्कुटोद्वितीयकु (कुं)क्कुटमन्तरेणैकक एव योधनीयः। ततस्ते न जिज्ञासितं मनसि कथमयं प्रतिकु (कुं)क्कुटहीनः प्रतिपक्षभूतद्वितीयकु(कुं)क्कुटवर्जितो युध्येत। एतच्च जिज्ञासमानस्य तस्य झगित्येव स्फुरितं चेतसि किम्? इत्याह-बिंबेने' त्ति-आत्मीयेन प्रतिबिम्बेन पुरो वीक्षितेन दप्पीध्मातत्वादयं युध्यत इत्यवगृहीतमित्यर्थः एतच्च किम् ? इत्याह-अवग्रहासामान्येनैव बिम्बमात्राग्रहणादवग्रहो; मतिप्रथमभेद इत्यर्थः। ईहा तर्हि का ? इत्याह- 'ईहा किं सुसिलिट्ठ' मिति, किं पुनस्तर्हि प्रतिबिम्बमस्य योधनाय सुश्लिष्टं- सुष्ठु युज्यमानकं भवेत्-किं तडागपयः-पूरादिगमतम्, आहोस्विद्दर्प्पणगतम्? इत्यादिबिम्ब-विशेषान्वेषणम् ईहेत्यर्थः। अपायमुपदर्शयति- 'अवाओ दप्पणसंकंतबिंब' त्ति-कल्लोलादिभिः प्रतिक्षणमपनीयमानत्वाद्, अस्पष्टत्वाच्च जलादिगतबिम्बमिह न युक्तं; ततः स्थिरत्वेन, स्पष्टादित्वेन च चरणाघातादिविषयत्वाद्दर्प्पणसंक्रान्तमेव तदत्र युज्यते इत्येवं बिम्बविशेषनिश्चयः अपाय इत्यर्थः। एवमन्येष्वपि बुद्ध्युदाहरणेष्ववग्रहादयो भावनीयाः, तस्माद् बुद्धिचतुष्टयेऽप्येषां सद्भावात् श्रुतनिः(श्रि) सृतमतिज्ञानसंबन्धिष्ववग्रहादिगताऽष्टाविंशति-भेदेष्ववग्रहादिसाम्येन बुद्धिचतुष्टयस्यान्तर्भावो भावनीयः। ततो न युक्तं व्यञ्जनावग्रहचतुष्टयागमेन पुनर्बुद्धिचतुष्टयप्रक्षेपणम्। इति स्थितम्। इति गाथार्थः।

आह ननु यद्यवग्रहादिसाम्येनाश्रुतनिः (श्रि) सृतावग्रहादिष्वन्तर्भवति, तर्हि ''आभिनिबोहियनाणं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा-सुयनिस्सियं, असुयनिस्सियं च ''इत्येवमागमे यः श्रुतनिः (श्रि)सृतादश्रुतनिः(श्रि)सृतस्य भेद उक्तः स विशीर्यत एव इत्याशङ्क्याह-

जह उग्गहाइसाम-ण्णओ वि सोइंदियाइणा भेओ।
तह उग्गहाइमास-ण्णओ वि तमणिस्सिया भिन्न ॥३०५॥

यथेहावग्रहादीनामवग्रहादिसामान्ये सत्यपि; अवग्रहादित्वे तुल्येऽपि सतीत्यर्थः। किम् ? इत्याह- श्रोत्रेन्द्रियादिना भेदः, तथा हि-एके-श्रोत्रेन्द्रियसंबन्धिनोऽवग्रहादयः, यावदन्ये स्पर्श-नेन्द्रियसंबन्धिनः अपरे तु मनःसंबन्धिनः; तथा तेनैव प्रकारे- णाऽवग्रहादिसामान्ये सत्यपि तदश्रुतनिः सृ(श्रि)तं भिन्नं 'श्रुतनिः सृ(श्रि)तादि'ति विशेषः। कस्मात् हेतोर्भिन्नम्?; इत्याह- 'अणिस्सिय' त्ति-भावप्रधानोऽयं निर्देशः अनिः-सृ(श्रि)तत्वात्; श्रुतानिः सृतत्वादित्यर्थः; एतदुक्तं भवतिअष्टाविंशति-भेदविचार- प्रक्रमेऽवग्रहादिमत्त्वं सामान्यं धर्ममाश्रित्याश्रुतनिःसृतस्य श्रुतनिः सृत एवान्तर्भावो विवक्ष्यते, श्रुताऽश्रुतनिः सृतविचारप्रस्तावे त्वश्रुतनिः सृतत्वं विशिष्टं धर्ममुररीकृत्य श्रुतनिः सृतादश्रुतनिः सृतं पृथगेवेष्यते, इत्यागमोक्तस्तयोर्भेदोऽपि न किंचित् विशीर्य- ते। न च वक्तव्यं कथमेकस्यैवैकस्मादेव भेदश्चाऽभेदश्च; विरोधात् इति यतो यदि तेनैव धर्म्मेण भेदः, अभेदश्चेष्येत् स्यात्तदा विरोधः धर्मान्तरनिबन्धनौ तु भेदाऽभेदौ न विरुध्येते। किं हि नाम तद्वस्त्वस्ति, यस्य वस्त्वन्तराद्भेदाऽभेदौ न स्तः? घटादयोऽपि हि घटादित्वसामान्येन परस्परमभेदिनोऽपि स्वद्रव्यक्षेत्रका- लादिमत्त्वेन भिन्ना इति। अत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थग्रहनताप्रसङ्गाद्, अनेकान्तजयपताकादिषु[1]। विस्तरेणोक्त-त्वाच्च। इति गाथार्थः

स्यादेतत्, किमेतावता कष्टेन ? मदीयव्याख्यापक्ष एव सुखावहः, श्रुतनिःसृताऽश्रुतनिःसृतयोरभेदापत्तेरभावात् समस्त- मतिज्ञानभेद-भणनाच्चेति। तदेतदयुक्तं; सिद्धान्ताभिप्रायबहिर्भूतत्वादेतदेवोपसंहार-पूर्वकमाह–

अट्ठावीसइ भेयं, सुयनिस्सियमेव केवलं तम्हा।

१–अनेकान्तजयताकानाम्नि ग्रन्थे।

जम्हा तम्मि समत्ते, पुणरस्सुअनिस्सियं भणियं ॥३०६॥

तस्माद्-अवग्रहादिसाम्याद् श्रुतनि:सृतस्य अश्रुतनि:सृ- तेऽन्तर्भावं कृत्वा केवलं श्रुतनि:सृतमेव मतिज्ञानमष्टाविंशतिभेदं व्याख्यातुमुचितं, न तु परोक्तनीत्या व्यञ्जनावग्रहाऽपगमेन श्रुताऽश्रुतनि:सृतमिति। कुत: ? इत्याह-'जम्हा' इत्यादि, यत:-''से किं तं सुयनिस्सियं'' इत्येवमागमे तस्मिन् श्रुतनि: सृते समाप्ते-निष्ठां नीते सति पुन: पश्चात्'' से किं तं अस्सुयनि- स्सियं'' इत्यादिना ग्रन्थेनाऽश्रुतनि:सृतं भणितम्। अयमभिप्राय:- श्रुतनि:सृतं सभेदमप्यभिधाय पश्चादेवा-ऽश्रुतनि:सृतमुक्तम्। अत: कथं तत्तत्र प्रक्षिप्यते? तस्मात्समयाऽभिप्रायेण श्रुतनि:- सृतस्यैवाष्टाविंशतिभेदा: इति अतो न भवद्व्याख्यानं श्रेय: इति। तदेवम्-''चउवइरित्ताभावा'' इत्यादिगाथा मूलटीकाऽभिप्रायेण व्याख्याता:। अन्ये त्वन्यथाऽपि व्याख्यानयन्ति, तदभिप्रायं त्वतिगम्भीरत्वान्न विद्म:। इति गाथार्थ:। विशे०। ज्ञा०। अने०।

एते चावग्रहादयोऽष्टाविंशतिभेदा: प्रत्येकं बह्वादिभि: सेतरै: सर्वसङ्ख्याया द्वादशसंख्यैर्भेदैर्भिद्यमाना यदा विवक्ष्यन्ते तदा षट्त्रिंशदधिकं भेदानां शतत्रयं (३३६) भवति। तत्र बह्वादय: शब्दमधिकृत्य भाव्यन्ते। शङ्खपटहादिनानाशब्दसमूह पृथगेकैकं यदा अवगृह्णाति तदा अबह्ववग्रह: यदा त्वेकमेव कंचिच्छुब्द-मवगृह्णति तदा अबह्ववग्रह:, तथा शङ्खपटहदिना-नाशब्दसमूहमध्ये एकैकं शब्दमनेकै पर्यायै: स्निग्धगाम्भीर्यादिभिर्विशिष्टं यथावस्थितं च यदा अवगृह्णाति, तदा स बहुविधाऽवग्रह:, यदा त्वेकमनेकं वा शब्दमेकपर्य्याय-विशिष्टमवगृह्णाति तदा सोऽबहुविधावग्रह:। यदा तु अचिरेण जानाति तदा स क्षिप्रावग्रह:, यदा तु चिरेण तदा अक्षिप्राऽवग्रह: तमेव शब्दं स्वरूपेण यदा जानाति: न लिङ्गपरिग्रहात् तदा अनिश्रितावग्रह:। लिङ्गपरिग्रहेण त्ववगच्छतो निश्रितावग्रह:, अथवा-परधर्मैर्विमिश्रितं यद ग्रहणं तन्मिश्रितावग्रह:, यत्पुन:-परधर्मैरविमिश्रितस्य ग्रहणं तदमिश्रितावग्रह:। तथा निश्चितमवगृह्णतो निश्चितावग्रह:, संदिग्धमवगृह्णत: संदिग्धावग्रह: सर्वदैवं बह्वादिरूपेणावगृह्णतो ध्रुवाऽवग्रह: कदाचिदेव पुनर्बह्वादिरूपेणावगृह्णत: अध्रुवावग्रह: एष च बहुबहु-विधादिरूपोऽवग्रहो विशेषसामान्यावग्रहरूपो द्रष्टव्य:, नैश्चयिकस्यावग्रहस्य सकलविशेषनिरपेक्षा-निर्देश्यसामान्यमात्रग्राहिण एकसामयिकस्य बहुविधादिविशेषग्राहकत्वा-ऽसंभवाद्, बह्वादीनां चानन्तरोक्तं व्याख्यानं भाष्यकारोऽपि प्रमाणयति-

''नाणासद्दसमूहं, बहुं पिहं मुणइ भिन्नजातीयं।
बहुविहमणेगभेयं, एक्केक्कं निद्धमहुराइं ॥३०८॥
खिप्पमचिरेण तं चिय, सरूवओ जमनिस्सियमलिंगं।
निच्छियमसंसयं जं, धुवमच्चंतं न उ कयाइं ॥३०९॥
एतो चिय पडिवक्खं, साहेज्जा निस्सिए विसेसोऽयं।
परधम्मेहिँ विमिस्सं, मिस्सियमविमिस्सियं इयरं ॥३१०॥''

यदा पुनरालोकस्य मन्द-मन्दतर मन्दतमस्पष्ट- स्पष्टतर-स्पष्टतमत्वादिभेदतो विषयस्याऽल्पत्वमहत्त्वसंनिकर्षादिभेदत: क्षयोपशमस्य च तारतस्यभेदतो भिद्यमानं मतिज्ञानं चिन्त्यते, तदा तदनन्तभेदं प्रतिपत्तव्यम्। न० ३५ सूत्र टी०। आ० म०। कर्म०।

(८) अष्टाविंशतिविधत्वं मतिज्ञानस्योपदर्श्य, विवक्षान्त- रेण बहुतरभेदमप्येतद् भवतीति दर्शयन्नाह-

जंबहु-बहुविह-खिप्पाऽनिस्सियनिच्छियधुवेअरविभिन्ना।
पुणरुग्गहादओ तो, तं छत्तीसत्तिसयमेयं ॥३०७॥

यत्-यस्माद् बहु-बहुविधक्षिप्राऽनिश्रितनिश्चितध्रुवै: सेतरै: सप्रतिपक्षैरेकैकशो विभिन्ना भेदभाज: पुनरप्यग्रहादय इष्यन्ते। ततस्तदेवाष्टाविंशतिविधमाभिनिबोधिकज्ञानमेतैर्द्वादशभिर्भेदै: प्रत्येकं भिद्यमानत्वात् षड्त्रिंशदधिकत्रिशत ३३६ भेदं भवति। इदमुक्तं भवति-अनन्तरवक्ष्यमाणन्यायेन संक्षेपत: प्रागभिहितयुक्त्या च श्रोत्रादिभि: कश्चिद्बहुवगृह्णाति, कश्चित्त्वबहु, अपरस्तु बहुविधम्, अन्यस्त्वबहुविधम्, एवं यावदन्यो ध्रुवम्, अपरस्त्वध्रुवमवगृह्णातीति। एवमीहाऽ-पाय-धारणास्वपि सप्रभेदासु प्रत्येकममी द्वादश १२ भेदा योजनीया:। नवरमीहते, निश्चिनोति, धारयति, इत्याद्यभिलाप: कार्य:। ततश्चाष्टाविंशतौ द्वादभिर्गुणितायां षट्त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि ३३६ भेदानां भवन्तीति गाथार्थ:।

अथ शब्दलक्षणं विषयमाश्रित्य तावद् बह्वादीनामर्थं व्याख्या-तुमाह-

नाणासद्दसमूहं, बहुं पिहं मुणइ भिन्नजातीयं।
बहुविहमणेगभेयं, एक्केक्कं निद्धमहुराइं ॥३०८॥
खिप्पमचिरेण तं चिय, सरूवओ जं अणिस्सियमलिंगं।
निच्छियमसंसयं जं, धुवमच्चंतं न उ कयाइ ॥३०९॥

इह श्रवणयोग्यदेशस्थे तूर्यसमुदाये युगपद्वाद्यमाने कोऽपि श्रोता तस्य तूर्यसंघातस्य संबन्धिनं पटहढक्काशङ्खभेरिभाणकादिनानाशब्द-समूहमाकर्णितं सन्तं क्षयोपशमविशेषाद् बहुमवग्र- हादिना मुणति-जानाति। कोऽर्थ:? इत्याह पृथग-भिन्नजातीयम्, एतावन्तोऽत्र भेरिशब्दा: एतावन्तो भाणकशब्दा:,एतावन्तस्तु शङ्ख-पटहादिशब्दा: इत्येवं पृथगेकैकशो; भिन्नजातीयत्वेन तं नानाशब्दसमूहं बुद्ध्यत इत्यर्थ:। अन्यस्त्वल्पक्षयोपशम- त्वात्तत्समानदेशोऽप्यबहुं मुणति सामान्येन ''नानातूर्यशब्दोऽ- यमि' त्यादिमात्रकमेव जानाति इति प्रतिपक्ष:। एवमुत्तरगा- थायामतिदेक्ष्यमाणा प्रतिपक्षभावना सर्वत्रावबोद्धव्या। अन्यस्तु क्षयोपशमवैचित्र्याद् बहुविधं मुणति। कोऽर्थ:? इत्याहअनेक- भेदम्; इदमपि व्याचष्टे-एकैकं शङ्खभेर्यादिशब्दं स्निग्धत्वमधुर- त्वतरुणमध्यमवृद्धपुरुषवाद्यत्वादिबहुविधधर्म्मोपेतं जानातीत्य- र्थ:। अन्यस्तु-अबहुविधं स्निग्धमधुरत्वादिस्वल्प-धर्मान्वितमेव पृथग्भिन्नजातीयं नानाशब्दसमूहं जानाति। अन्यस्तु क्षिप्रम्। कोऽर्थ:, इत्याह-अचिरेण-शीघ्रमेव परिच्छिनत्ति; नतु चिरेण विमृश्येत्यर्थ:। अन्यस्तुअक्षिप्रं-चिरविमर्शितं जानाति। तथा-''तं चिय सरूवओ जं अणिस्सियमि'' ति तमेव नानाशब्दसमूहं कोऽप्यनि (श्रि)सृतं मुणतीति संबन्ध:। यं किम् इत्याह- यं

स्वरूपतो जानाति। कोऽर्थः इत्याह-आलिङ्गं; पताकाऽदिलिङ्गाऽनिःसृतमित्यर्थः। इदमुक्तं भवति-तमेव शब्दसमूहं 'देवकुलमत्र, तथाविधपताकादर्शनाद्' इत्येवं लिङ्गनिश्रामकृत्वा स्वरूपत एव यमवगच्छति, तमनिःसृतं 'मुणति' इति उच्यत इति। तमेव लिङ्गनिश्रया जानानो निःसृतं मुणतीत्युच्यते। तथा-'निच्छियम- संसयं जं' ति-यमशंसयमवच्छिनत्ति तं निश्चितं मुणति। निश्चितं तावदित्थमेतन्मया, परं न जाने तथा वा स्याद् अन्यथा वा, इत्येवं संदेहानुविद्धं न जानन्निश्चितं मुणति। 'धुवमि' त्यादि, ध्रुवं कोऽर्थः- अत्यन्तं नतु कदाचिदिति। इदमुक्तं भवति- यथैकदा बह्वाद्विरूपेणावगतं सर्वदैव तथाऽवबुध्यमानो ध्रुवं मुणतीत्युच्यते। यस्तु कदाचिद् बह्वादिरूपेण, कदा-चित्त्वबह्वादिरूपेण सोऽध्रुवं मुणति। इति गाथाद्वयार्थः।

इतरशब्दं व्याचिख्यासुराह-

एतो चिय पडिवक्खं, साहिज्जा निस्सिए विसेसो वा।
परधम्मेहिँ विमिस्सं, निस्सियमविणिस्सियं इयरं ॥३१०॥

एतस्मादेव-उक्तस्वरूपाद्-बह्वादिपदषट्कसमूहात्प्रतिपक्षमे-तद्विपर्ययमबह्वबहुविधाऽक्षिप्र-निसृताऽनिश्रिताऽध्रुवपदषट्क- लक्षणं साधयेत् स्वयमेव ब्रूयात् मेधावी। स च लाघवार्थं बह्वा- दिविचार एव साधितः तदेवं व्याख्याता द्वादशापि बह्वादयो भेदाः। अथवा-निसृते सप्रतिपक्षेऽपि व्याख्यानान्तरलक्षणो विशेषो वक्तव्यः। कः ? इत्याह परधर्मैः-अश्वादिवस्तुधर्मैर्विमिश्रं-युक्तं गवादिवस्तु गृह्णाणस्य निसृतं भवति-गामश्वादिरूपेणं गृह्णतो येयं विपर्ययोपलब्धिः तन्निसृतमित्यर्थः। इतरत्तु यत्परधर्मैर्विमिश्रं वस्तु न गृह्णाति, किं तु- यथावस्थितमेव तत्सद्भूतोपल-ब्धिरूपमनिसृतं गवादिकं वस्तु गवादिरूपणैव गृह्णतो येयम-विपर्ययोपलब्धिस्तदनिसृतमित्यर्थः।

अत्राह-ननु बहुबहुविधपरिज्ञानादीनि विशेषणानि स्पष्टार्थ-ग्राहकेष्वपायादिषु भवन्तु, व्यञ्जनावग्रहनिश्चयार्थावग्रहयोस्तु कथं तत्संभवः? तथाहि- 'सामण्णमणिद्देसं सरूवनामाइकप्प- णारहियं' इत्यादिवचनानिश्चयार्थाऽवग्रहे शब्दादिविशेषमात्रह- णमपि नाऽस्ति, कुतो यथोक्तबह्वादिपरिभवज्ञानसंभवः? अथ व्याख्यानात् व्यवहारार्थावग्रहोऽत्र गृह्यते, तस्मिंश्च विशेषग्राहि- त्वाद् बहुपरिज्ञानादिविशेषणान्युपपद्यन्त एव भवत्वेवं, तथा- प्यष्टाविंशति भेदमध्यसंगृहीतस्य व्यञ्जनावग्रहस्य कथमेतद् विशेषणसंभवः? तत्र हि सामान्यार्थग्रहणमात्रमपाकृतं बह्वादि- परिज्ञानं तु दूरोत्सारितमेवेति। सत्यमेतत्, किं तु-व्यञ्जनावग्र- हादयः कारणमपायादीनां, तानन्तरेणापायाद्यभावात्। तत- श्चापायादिगतं बह्वादिपरिज्ञानं तत्कारणभूतेषु व्यञ्जनावग्रहादि- ष्वपि योग्यतयाऽभ्युपगन्तव्यम्। न हि सर्वथाऽविशिष्टत्कारणात् विशिष्टं कार्यमुत्पत्तुमर्हति, कोद्रवबीजादेरपि शालिफलादिप्रसव- प्रसङ्गात् इति। प्रागप्युक्तप्रायम्। इत्यलमतिच-र्चितेनेति गाथार्थः।

ननु कथमेकस्यापि मतिज्ञानस्यैतावन्तो भेदो इत्याशङ्क्य निर्दिष्टभेदानां कारणम्, अन्येषामपि बहुतरभेदानां सहेतुकं संभवं चोपसंहारगर्भमाह-

एवं वज्झऽब्भं(ज्भं)तर-निमित्तवइचित्तओ मइबहुत्तं।
किंचिम्मेत्तविसेसे-ण भिज्जमाणं पुरगोऽणंतं ॥३११॥

एवं तावद्बाह्याभ्यन्तरनिमित्तवैचित्र्यान्मतिबहुत्वमुक्तम्। तत्र बाह्यं निमित्तं मतिज्ञानस्य कारणम् आलोकविषयादिकम्। तस्य च स्पष्टाऽव्यक्तमध्यमाल्पमहत्त्वसंनिकर्षविप्रकर्षभेदाद्वैचित्र्यम्? आभ्यन्तरनिमित्तं पुनरावरणक्षयोपशमोपयोगोपकरणेन्द्रियाणि। अस्याऽपि वैचित्र्यं शुद्धाऽशुद्धमध्यमभेदात्। ततश्चैतस्माद् बाह्याभ्यन्तरनिमित्तवैचित्र्यान्मतिज्ञानस्य यथोक्तभेदबहुत्व-मभिहितमवगन्तव्यम्। एतदेव च मतिज्ञानं यथोक्तनिमित्तद्वयस्य किं-चिन्मात्रभेदाद्विद्यमानं पुनरनन्तमपि भवतीति प्रतिपत्तव्यम्- सामान्येन मतिज्ञानमात्रवतां जीवानामनन्तत्वात्, तेषां च क्षयोपशमादिभेदेन मतेर्भिन्नत्वादिति भावः। इति गाथार्थः।

(९) अत्राह कश्चिन्नन्ववग्रहादयो ज्ञानमेव न भवन्ति, स्पष्टा-र्थनिर्भीसाद्यभावात्, संशयादिवत्, कथममी मतिज्ञानभेदाः? इत्याशङ्क्यैतेषां ज्ञानत्वसाधनायाऽऽह-

इह संसयादणंतभा-वाओऽवग्गहादयो नाणं।
अणुमाणमिवाह न सं-सयाइसब्भावओ तेसुं ॥३१२॥

'अवग्रहादयो ज्ञानमि'' ति प्रतिज्ञा। ''संशयादिष्वनन्तर्भा- वादि'' ति हेतुः। आदिशब्दात्-विपर्ययाऽनध्यवसायपरिग्रहः; अनुमानवदिति दृष्टान्तः। इह संशयाद्यनन्तर्भूतैर्वर्णगन्धादिभिः पुद्गलद्रव्यैर्व्यभिचार-संभवात् सूत्रस्य सूचकत्वाद, 'आत्मधर्मत्वे सति संशयाद्यनन्तर्भावात्' इति सविशेषणो हेतुर्द्रष्टव्यः। अत्राह परः-ननु सविशेषणे हेतावनैकान्तिकता मा भूद्, असिद्धता। त्वनिवार्यैवेति, एतदेवाह-'न संशया' इत्यादि, सूरे! न तद्भवदीयं वचः। कुतः? इत्याह-संशयादिसद्भावतस्तेष्वऽवग्रहादिषु, तेषां संशयादिरूपत्वात् संशयाद्यनन्तर्भावाद्, इत्यसिद्धो हेतुरिति भावः। इति गाथार्थः।

कथं पुनस्तेषु संशयादिसद्भावः? इत्याह-

ननु संदिद्धे संसय-विवज्जया संसओ ह चेहाऽवि।
वच्चासो वा निस्सिय-मवग्गहोऽणज्झवसियं तु॥३१३॥

ननु ''खिप्पमचिरेण'' (३०९) इत्यादिगाथायां यदुक्तम्- 'निच्छियमसंसयं जं' ति तत्प्रतिपक्षे यदुच्यते-''कोऽपि संदिग्धं मुणति'' इति, तत्र संदिग्धे ज्ञायमाने संशयस्तावद्व्यक्त एव, यत्र च संशयस्तत्र संदिहानस्य कदाचिद्विपर्ययोऽपि स्याद्, इत्येवं संदिग्धे संशयविपर्ययौ तावदनिवारितावैव। अथ वा- किमनेनोत्तरभेदरूपे संदिग्धे दूषणप्रदानेन? हन्तऽ येयं मूलभे- दरूपा ईहा साऽपि संशय एव, निश्चयत्वे तस्याऽपायत्व- प्रसङ्गादिति। अथ वा-''परधम्मे हि विमिस्सं निस्सिय'' (३१०) मित्यत्र यन्नि सृतमुक्तं तदपि गवादिकमश्वादिरूपेण गृह्णद्वि- पर्यास एव। न हि नृत्यन्विपर्यासो भवति, किं त्वन्यस्याऽन्य-

रूपेण ग्रहणमेवेति भावः। नैश्चयिकाऽर्थाऽवग्रहरूपोऽवग्रहः। पुनरनध्यवसितमनध्यवसाय एव, अनिर्देश्यसामान्यमात्रग्राहि- त्वात्, नह्यत्र कस्याऽप्यर्थस्य संबन्ध्यध्यवसायोऽस्तीतिकृत्वा। तदेवं संशयादिरूपत्वात् नाऽवग्रहादयो ज्ञानमिति। अतो न ते मतिज्ञानभेदाः तद्भेदत्वे वा मतिज्ञानमपि न किञ्चित्, दोषशतज- र्जराऽवग्रहाद्यात्मकत्वात्। इति गाथार्थः।

अत्राऽऽचार्यः प्राऽऽह-

इह सज्झमोग्गहाई-णसंसयाइत्तणं तह वि नाम।
अब्भुवगंतुं भण्णइ, नाणं चिय संसयाऽऽईया ॥३१४॥

इह यदवग्रहादीनां संशयादित्वं त्वयोद्भावितं तदद्याऽपि साध्यं-साधनीयं वर्तते, त्वदुक्तनिर्युक्तिकवाङ्मात्रेणैव मदुक्तहे- तोरसिद्धत्वाभावादिति मन्तव्यं, न पुनरेतावतैव जाता त्वत्स- मीहितसिद्धः; इति प्रमुदितेन न भाव्यमिति भावः। तथा हि- यदुक्तम् 'संदिग्धे संशयविपर्ययौ' इति तदयुक्तम्, अभिप्रा- याऽपरिज्ञानात् नह्यस्माभिस्तथाविधवस्त्वप्रापकं संदिग्धत्वं विवक्षितं, येन वस्त्वप्रापणात्, विपर्ययप्रापणाद्वा तत्र संशय-विपर्ययौ स्यातां; किं तु-कृतेऽपि वस्तुप्रापकेऽवितथे निश्चये यत्र तथा विधक्षयोपशमवैचित्र्यान्मनसि किंचिदल्पं शङ्कामात्रं न निवर्तते 'सम्यक् न जाने, तथैव स्यादन्यथा वा' इति, तच्चेह संदिग्धत्वं विवक्षितम्। न चैतावन्मात्रेणैवाऽज्ञानता युक्ता, व्यव- हारोच्छेदप्रसङ्गात्। न खलु धूमबलाकादेः सकाशात्सम्यग्दहन- जलादौ निश्चतेऽपि मुखेन तन्निश्चयं ब्रुवतामपि सर्वेषां प्रमातृणां चेतसि शङ्कामात्रं विनिवर्तते। न च ते सर्वेऽपि निश्चितं वस्तु न प्राप्नुवन्ति। न च क्वाऽपि संशयविपर्ययत्वेन अज्ञानता तेषां दृष्टा। यदप्युच्यते-'ईहाऽपि संशय एव'। तदप्यसंगतम्, न हि 'किमयंस्थाणुः, पुरुषो वा' इत्यादिरूपः संशय ईहाभ्युपगम्यते। किं तु यदनन्तरमेव निश्चयोऽवश्यं भवति स एवाऽन्वय-धर्मघटनव्यतिरेकधर्मनिराकरणाभ्यां निश्चयाभिमुखो बोध ईहा, इत्यसकृदेव पूर्वमावेदितम्। न चाऽयं संशयो निश्चया- भिमुखत्वात्। नाऽपि निश्चयस्तत्प्रत्यासत्तिमात्रप्राप्तत्वात्। न च वक्तव्यं निश्चयादन्यस्य सर्वस्य संशयत्वादज्ञानतैवेति; निश्चयो- पादानक्षणस्यापि सर्वथाऽज्ञानत्व-प्रसङ्गात्। तथा च सति निश्चय- स्याप्यज्ञानताप्राप्तिः। 'नह्यविशिष्टात्कारणाद्विशिष्टकार्योत्पत्तिः' इत्युक्तत्वादिति। यदप्युक्तम्-'निःसृतं विपर्यासः इति। तदप्युक्तम् 'लिङ्गासृतं निःसृतम्' इत्यस्मिन् व्याख्यानेऽस्य दोषस्य सर्वथै- वाऽसंबध्यमानत्वात्, 'परधम्मेहिं विमिस्सं निस्सियं' (३१०) इत्यस्य च व्याख्यानान्तरमात्रत्वात्। भवतु तदपि व्याख्यानं तथाऽपि व्याख्यानात् परधर्मास्तस्मिन्नाशङ्किता एव द्रष्टव्याः; नतु निश्चिताः, तथा 'गौरेवात्र, केवलमश्व इव मतिभाति' इति। एतावन्मात्रेणैव चेयं विपर्ययोपलब्धिरवगन्तव्या; नतु सर्वथा विपर्य-यधर्मनिश्चयात् सर्वथा विपर्यये तथाऽऽश्वादिसत्त्वप्रसङ्गात्। न च वक्तव्यम्-एवं सतीदमनिश्चितान्न भिद्येत, तत्र परधर्मनिः सृतत्वा- भावात्, विवक्षितवस्त्वभावशङ्कामात्रस्यैव सद्भावादिति। न च विपर्ययधर्मशङ्का-मात्रेणाऽप्यज्ञानता, वस्तुप्राप्तिविघाताऽभावादिति। यदप्युक्तम्-'अवग्रहोऽयवसायः' इति तदप्ययुक्तम्। तत्र ह्यध्यवसायः साक्षादेव नास्ति, योग्यतया पुनरस्त्येव, अन्यथा तत्कार्येषुअपा-यादिष्वपि तदभावप्रसङ्गात्, इत्युक्तमेव। अतिमत्तमूर्च्छितानामेव हि ज्ञानमनध्यवसाय उच्यते, तत्र योग्यतयाऽप्यध्यवसायस्य वक्तुमशक्य-त्वात्, तत्कार्यभूतस्याऽपायाद्यध्वसायस्याप्यलक्षणत्वात्। तदेवम-वग्रहादीनामसिद्धं संशयादित्वम्। तथाऽपि 'अभ्युपगन्तुम्' अङ्गीकृत्यापि तेषां संशयादिरूपतां ब्रूमः। ज्ञानमेव संशयादयः। संशयविपर्याया-ऽनवध्यवसायाः- तश्च तश्च संशयादिरूपत्वेऽपि नावग्रहादीनां मतिज्ञानभेदत्वं विरुद्ध्यत इति भावः। इदमुक्तं भवति- नाऽस्माभिः 'समीहितवस्तुप्रापकं ज्ञानम्, इतरदज्ञानम्' इत्येवं व्यवहारिणां प्रमाणाऽप्रमाणभूते ज्ञानाऽज्ञाने विचारयितुमुपक्रान्ते, किं तु-'ज्ञायते येन किमपि, तत्सम्यग्दृष्टिसंबन्धिज्ञानम्' इत्येतावन्मात्र-कमेव व्याख्यातुमभिप्रेतं; वस्तुपरिज्ञानमात्रं तु संशयादिष्वपि विद्यते, इति न तेषामपि सम्यग्दृष्टिसम्बन्धिनां ज्ञानत्वहानिः इति गाथार्थः।

कथं पुनः संशयादयो ज्ञानमित्याह-

वत्थुस्स देसगमग-त्तभावओ परमयप्पमाणं व।
किह वत्थुदेसविण्णा-णहेयवो सुणसु तं वोच्छं ॥३१५॥

ज्ञानमेव संशयादय इति प्राक्तनी प्रतिज्ञा, वस्तुनो-गवादेः स्वपरपर्यायैरनन्तधर्माऽध्यासितस्य यो देशः-एकदेशस्तस्य गम-कत्वभावात्, इति हेतुः;पराभिमतं प्रमाणं निश्चयमानरूपं तद्वदिति दृष्टान्तः इह यद्वस्त्वेकदेशस्य गमकं तज्ज्ञानं दृष्टं, यथा परमतं निश्चयरूपं प्रमाणं, वस्त्वेकदेशगमकाश्च संशयादयः, ततस्ते ज्ञानम्, इति। अत्र हेतोरसिद्धतां मन्यमानः परः पृच्छति- कथं वस्त्वेकदेशविज्ञानहेतवः संशयादयः? वस्तुनो निरंशत्वेन देशस्यैवाभावान्न ते एकदेशग्राहिणो घटन्त इति परस्याऽभिप्रायः। आचार्यः प्राह- यत्त्वया पृष्टं तद्वक्ष्ये-भणिष्यामि अहं, शृणु-समवहितः समाकर्णय त्वम्। इति गाथार्थः।

यथा प्रतिज्ञातमेवाह-

इह वत्थुमत्थवयणा- इपज्जयाऽणंतसत्तिसंपन्नं।
तस्सेगदेसविच्छे-यकारिणो संसयाईया ॥३१६॥

इह वस्तुनो-घटादेः मृण्मयत्वपृथुबुध्नत्ववृत्तत्वकुण्डलाय-तग्रीवायुक्तत्वादयोऽर्थरूपाः पर्यायाः-अर्थपर्यायाः अनन्ता भवन्ति। घटकुटकुम्भकलशादयस्तु वचनरूपाः पर्यायाःवचनप- र्यायास्तेऽप्यनन्ता भवन्ति, आदिशब्दात्-परव्यावृत्तिरूपा अप्यनन्ता ग्रह्यन्ते। ततश्चेत्थं समासः कर्त्तव्यः-अर्थश्च वचनानि च आदिशब्दात्-परव्यावृत्तयश्च तद्रूपाः पर्याया अर्थवच- नादिपर्यायाः, ते च तेऽनन्ताश्च त एव शक्तयः, ताभिः संपन्नं- युक्तं यतो तस्तु भवति अतस्तस्यैकदेशविच्छेदकारिणः संशया- दयो ज्ञेयाः। इदमुक्तं भवति-न खलु वयं निरंशवस्तुवादिनः, किंतु-यथोक्ताऽनन्तधर्मलक्षणवस्तुनोऽनन्ता एव देशाः सन्तीति वयं मन्यामहे। तन्मध्याच्च एकैकदेशग्राहिणः संशयादयोऽपि

भवन्त्येव, इति कथं न ते ज्ञानम् ? यदि पुनस्ते किमपि न गृह्णीयु; तदा तेषामनुत्थानमेव स्यात्, सर्वथा निर्विषयज्ञानस्य प्रसवा-ऽयोगात्, गगननलिनज्ञानवत्। ततश्च ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति व्युत्पुत्त्यर्थात्संशयादीनामपि ज्ञानता न विरुद्ध्यते। इति गाथार्थः।

अथ समस्तवस्तुरूपग्राह्येव ज्ञानं, नैकदेशग्राहकम् इत्ये- तदाशङ्क्य निराकुर्वन्नाह-

अहवा न सव्वधम्मा-ऽवभासया तो न नाणमिट्ठं ते।
नणु निन्नओ वि तद्दे-समेत्तगाहि त्ति अन्नाणं ॥३१७॥

अथवा-अथ चेदेवं ब्रूयात्परः। किम्? इत्याह न सर्वध- र्माऽवभासकाः- न कार्त्स्न्येन गवादिवस्तुसमग्राहिणः, ततो न ज्ञानमिष्टं ते संशयादयः संपूर्णवस्तुस्वरूपग्राहिण एव ज्ञानत्वात्। अत्रोत्तरमाह-ननु भवता ज्ञानत्वेऽङ्गीकृतस्तर्हि निर्णयोऽप्य-ज्ञानमेव प्राप्नोति। कुतः? इत्याह- तस्य गवादिवस्तुन एकदेशमात्रग्राहीति कृत्वा तथा हि-गौरयं, घटोऽयं, पटोऽयमि त्यादिभिर्निर्णयैरपि गोत्वघटत्वादिको वस्त्वेकदेश एव गृह्यते, अतस्तेऽपि कथं ज्ञानरूपतां भजेयुः? अथ देशस्य देशिनमन्तरेण कदाचिदप्यभावात्तदग्रहणद्वारेण सर्वमपि वस्तु निर्णयेन गृहीतम् इत्यतो ज्ञानमेवाऽसौ। तदेतत्संशयादिष्वपि समान; तथा हि-'किमयं स्थाणुः पुरुषो वा' इत्यादिरूपः संशयोऽपि स्थाणुत्वादिकं वस्त्वेकदेशं जानाति, विपर्यासोऽपि विपर्ययवस्त्वेकदेशमवबुद्ध- यते अनध्यवसायोऽपि सामान्यमात्ररूपं वस्त्वेकदेशमवगृह्णाति। ततश्च संशयादयोऽप्येकदेशपरिज्ञानद्वारेण समग्रमपि वस्तु जानन्त्येव, इति तेषामपि ज्ञानता केन वार्यते ? अथ गृह्यते संशयादिभिर्वस्त्वेदेशः, केवलं संशयेन संदिग्धः; विपर्यासेन विपर्यस्तः, अनवध्यवसायेन त्वविशिष्ट इति चेत्। ननु प्रतिविहितमप्यदः किं विस्मरसि;? यतः-'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानंमतिरूपं ज्ञानं मतिज्ञानम्' इत्येवं सामान्येनैव सम्यग्दृष्टिसंबन्धि मति- ज्ञानमिह विचार्यते। तस्य च संशयादिरूपस्य निर्णयरूपस्य वा सम्यग्दृष्टिसंबन्धिनो ज्ञानता न विरुध्यते, 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' इत्यस्याऽर्थस्य सर्वत्रोपपद्यमानत्वादिति। ननु यदि संश- यादयोऽपि मतिज्ञानं, तर्हि चतुर्भेदत्वमतिक्रम्य सप्तभेदत्वं तस्य प्रसज्यते, इति चेत्। नैतदेवं, यतोऽनध्यवसायस्तावत् सामान्यमात्रग्राहित्वेनाऽवग्रहे अन्तर्भवति संशयोऽपि पूर्वोक्तस्व- रूपेहाप्रकारत्वात्, तत्कारणत्वाच्च तस्यामेवान्तर्विशति, यदपि संशयस्य पूर्वमीहात्वमपाकृतं तदपि व्यवहारिजनानुवृत्त्या, नतु सर्वथेति; विपर्यासस्तु निश्चयरूपत्वात्साक्षादपाय एव, इति कुतश्चतुर्भेदाऽतिक्रमः? इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथा सम्य- ग्दृष्टिसंबन्धिनः संशयादयो मतिज्ञानादतिरिच्यमानाः क्रान्त- र्भवेयुः? अज्ञान इति चेत्। नैवं ''सम्मद्दिट्ठीणं भंते! किं नाणी, अन्नाणी? गोयमा! नाणी, नो अन्नाणी'' इत्याद्यागमवचनात्स- म्यग्दृष्टेः सदैव ज्ञानित्वादिति, भवत्वेवं, तथाऽपि सम्यग्दृष्टि- संबन्ध्येव मतिज्ञानमिह विचार्यत इति कुतो लभ्यते? इति चेद् उच्यते- *ज्ञानपञ्चकमेवेह विचारयितुमुपक्रान्तम्। ज्ञानं च सम्यग्- दृष्टेरेव भवति* अतस्तत् संबन्ध्येव मतिज्ञानमिह विचार्यते,सम्य- ग्दृष्टिसंबन्धिनां च संशयादीनां ज्ञानता साध्यते इत्यलं विस्तरेण। इति गाथार्थः। विशे०।

(१०) सम्प्रति पुनर्द्रव्यादिभेदतश्चतुष्प्रकारतामाह-

तं समासओ, चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा-दव्वओ १, खेत्तओ २, कालओ ३, भावओ ४। तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, न पासइ१। खेत्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वं खेत्तं जाणइ, न पासइ २। कालओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वकालं जाणइ, न पासइ ३। भावओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वे भावे जाणइ, न पासइ ४ (सूत्र-३६×)

'तं समासओ' इत्यादि-तन्मतिज्ञान समासतः-संक्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-द्रव्यतः १, क्षेत्रतः २, कालतो ३, भावतश्च ४। तत्र द्रव्यतो णमिति वाक्यालङ्कारे, आभिनिबोधि- कज्ञानी, 'आदेसेणं' ति- आदेशः-प्रकारः, स च द्विधासामा- न्यरूपो विशेषरूपश्च। तत्रेह सामान्यरूपो ग्राह्यः, ततः आदेशेन द्रव्यजातिरूपसामान्यादेशेन सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति किंचिद्विशेषतोऽपि, यथा- धर्मास्तिकायो धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः तथा-धर्मास्तिकायो गत्युपष्टम्भहेतुरमूर्त्तो लोकाऽऽकाशप्रमाणः इत्यादि, न पश्यति सर्वात्मना; धर्मास्तिकायादीन् न पश्यति, घटादीस्तु योग्यदेशावस्थितान् पश्यत्यपि, अथ वा- 'आदेश' इति- सूत्रादेशस्तस्मात्सूत्रादेशात्सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, न तु साक्षात्सर्वाणि पश्यति, ननु यत्सूत्रादेशतो ज्ञानमुपजायते तत् श्रुतज्ञानं भवति; तस्य शब्दार्थपरिज्ञानरूपत्वात्। अथ च मतिज्ञानमभिधीयमानं वर्त्तते, तत्कथमादेश इति सूत्रादेशो व्याख्यातः? तदयुक्तम्, सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानाद्, इह हि श्रुतभावितमतेः श्रुतोपलब्धेष्वप्यर्थेषु सूत्रानुसारमात्रेण येऽवग्रहेहापायादयो बुद्धिविशेषाः प्रादुःष्यन्ति ते मतिज्ञानमेव, न श्रुतज्ञानं, सूत्रानुसारनिरपेक्षत्वात्, आह च भाष्यकृत्-

''आदेसो त्ति व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स मइनाणं। पसरइ तब्भावणया, विणा वि सुत्ताणुसारेणं ॥४०५॥ १, एवं क्षेत्रादिष्वपि नवरं तान् सर्वथा न पश्यति, तत्र क्षेत्रं लोका-लोकात्मकम् २, कालः सर्वाऽद्धारूपः, अतीतानागतवर्त्तमानरूपो वा ३, भावाश्च पञ्चसंख्याः औदयिकादयः, तथा चाह भाष्यकृत-

''आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं।
धम्मत्थिकाइयाइं, जाणइ न उ सव्वभावेणं ॥४०३॥
खेत्तं लोगालोगं, कालं सव्वऽद्धमहव तिविहं च।
पंचोदइयाईए, भावे जं नेवमेवइयं ॥४०४॥ ४।नं०।

(११) अथ तेषामेव कालनिरूपणार्थमाह निर्युक्तिकारः-

उग्गहो एक्कं समयं, ईहाऽवाया मुहुत्तमेत्तं तु।
कालमसंखं संखं, च धारणा होइं नायव्वा ॥३३३॥

'अवग्रह' इति-व्याख्यानान्नैश्चयिकोर्थाऽवग्रहो द्रष्टव्यः। स किम्? त्याह-सर्वजघन्यः कालविशेषः समयः, तमेकं समयं भवति, न परतः। ईहाऽपायौ प्राक्निर्णीतिस्वरूपौ 'मुहुत्तमंतंत्वि' ति- अन्तःशब्दो मध्यवचनः, ततश्च जघन्यतः, उत्कृष्टश्च मुहू- र्त्तान्तर्भिन्नं मुहूर्त्तं ज्ञातव्यौ भवतः; अन्तर्मुहूर्त्तमित्यर्थः। तुश्च- कारार्थः। चकारश्चातानुक्तसमुच्चये। ततश्च व्यञ्जनाऽवग्रह- व्यावहारिकार्थाऽवग्रहौ च प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तं भवत इति द्रष्टव्यम्। क्वचित् ''मुहुत्तमद्धं त्वि'' ति-पाठः, तत्राऽपि मुहूर्त्तार्द्धशब्दे- नान्तर्मुहूर्त्तमेव मन्तव्यम्। तुशब्दोऽपि तथैव। कलनं कालः न विद्यते संख्या पक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादिका यस्यासावसङ्ख्य पल्योपमादिलक्षणः तं कालमसंख्यं, तथासंख्यायत इति संख्यः पक्षमासर्त्वयनादिप्रमित इत्यर्थः। तं संख्यं चशब्दादन्तर्मुहूर्त्तं च धारणा प्रागभिहितस्वरूपा भवति-ज्ञातव्या। इदमुक्तं भवति-अविच्युतिस्मृतिवासनाभेदाद्धारणा त्रिविधा। तत्राऽविच्यु- तिरूपा, स्मृतिरूपा च प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तं भवति। या तु तदर्थज्ञानावरणक्ष- योपशमरूपा स्मृतिबीजरूपा वासनाख्या धारणा सा संख्येयवर्षायुषां सत्त्वानां संख्येयं कालम्, असंख्येयवर्षायुषां तुपल्योपमादिजीविना- मसंख्येयं कालं भवति। इति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथैनां भाष्यकारो व्याख्यानयति-

अत्थोग्गहो जहन्नो, समयं सेसोग्गहादओ वीसुं।
अंतो मुहुत्तमेगं, तु वासना धारणां मोत्तुं ॥३३४॥

अवग्रह इत्यस्य व्याख्यानमर्थाऽवग्रह इति, अयमपि निश्चय-व्यवहारभेदतो द्विधा, ततो व्यवहारार्थाऽवग्रहव्यवच्छे- दार्थमाह-'जहन्न' इति-अतिस्तोककालत्वेन जघन्यो नैश्चयि- कोऽर्थावग्रहो; नेतर इत्यर्थः, अयमेकसमयं भवति। शेषास्त्वेकां वासनारूपां धारणां मुक्त्वा ये अवग्रहादयो व्यञ्जनाऽवग्रहा व्यावहारिकार्थाऽवग्रहेहापायाऽ- विच्युतिस्मृतिरूपा मतिभेदास्ते सर्वेऽपि विष्वक्-पृथक् एकमेवान्तर्मुहूर्त्तं भवन्ति। वासना- धारणायास्तु निर्युक्तिगाथोक्तमेव कालमानमवगन्त- व्यम् इत्यभिप्रायः। इति गाथार्थः। विशे०।

(१२) अथ नानादेशजविनेयाऽनुग्रहार्थं तत्पर्य्यायान् (आभि-निबोधिकज्ञानपर्यायान्) आभिधित्सुराहा-

ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा।
सण्ण सई मई पण्णा, सव्वं आभिनिबोहियं॥३९६॥

'ईह चेष्टायाम्, ईहनमीहा-सतामन्वयिनां, व्यतिरेकिणां चार्थानां, पर्यालोचना। अपोहनमपोहो निश्चयः। विमर्षणं विमर्षः, अपायात्पूर्वः ईहायाश्चोत्तरः 'प्रायः शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा इह घटन्ते, इति संप्रत्ययः। तथा- मार्गणमन्वयधर्मान्वेषणं मार्गणा। चशब्दः समुच्चयार्थः। गवेषणं व्यतिरेकधर्म्मालोचनं गवेषणा। तथा-संज्ञानं संज्ञाअवग्रहोत्तर-कालभावी मतिविशेष एव। स्मरणं स्मृतिः। पूर्वानुभूतार्थालम्बन: प्रत्ययः। मननं मतिः कथञ्चिदर्थपरिच्छित्तावपि सूक्ष्मधर्मालोचनरूपा बुद्धिः। तथा प्रज्ञानं प्रज्ञा विशिष्टक्षयोपशमजन्या प्रभूतवस्तुगत-यथावस्थितधर्म्मालोचनरूपा: मतिः। सर्वमिदमाभिनिबोधिकं कथंचित् किंचिद्भेददर्शनेऽपि तत्त्वतः सर्वं मतिज्ञानमेवेदमित्यर्थः। इति निर्युक्तिश्लोकार्थः। विशे०। आ० म०१ अ० १२ गाथा।

अत्रैव तद्व्याख्यानाय भाष्यम्-

होई अपोहोऽवाओ, सई धिई सव्वमेव मइपन्ना।
ईहा सेसा सव्वं, इदमाभिणिबोहियं जाण ॥३९७॥

अपोहस्तावत्किमुच्यत इत्याह-अपोहो भवति-अपायः योऽयमपोहः स मतिज्ञानतृतीयभेदोऽपायो: निश्चय उच्यत इत्य- र्थः। स्मृतिः पुनर्धृतिर्धारणोच्यते धारणाभेदत्वेनाप्यवयवे समुदा- योपचारादिति। मतिप्रज्ञे-मतिप्रज्ञाशब्दाभ्यां सर्वमपि मतिज्ञान- मुच्यते 'ईहा सेस' त्ति शेषाऽभिधानानि त्वीहा-विमर्श-मार्गणा गवेषणा-संज्ञालक्षणानि सर्वाण्यऽपि ईहा ईहाऽन्तर्भावीनि द्रष्टव्यानीत्यर्थः। एवं विशेषतः कथंचिद्भेदसद्भावेऽपि सामान्यतः सर्वमिदमाभिनिबोधिकज्ञानमेव जानीहि, यतः-ईहाऽपोहादयः सर्वेऽप्यमी आभिनिबोधिकज्ञानस्यैव पर्यायाः केषांचिद्वचनपर्याय- त्वात्, केषांचित्त्वर्थपर्यायत्वादिति।

एतदेवं दर्शयति-

मइपन्नाभिनिबोहिय-बुद्धीओ होंति वयणपज्जाया।
जा उग्गहाइसण्णा, ते सव्वे अत्थपज्जाया ॥३९८॥

इह ये शब्दाः किल सर्वं वस्तु-संपूर्णं प्रतिपादयन्ति ते वचनरूपा वस्तुनः पर्याया वचनपर्याया उच्यन्ते। ये तु तदेकदेशमभिदधति तेऽर्थैकदेशप्रतिपादकाः पर्याया अर्थपर्या उच्यन्ते, तत्र मतिप्रज्ञाभिनि-बोधिकबुद्धयो वचनपर्याया भवन्ति। मतिप्रज्ञा-भिनिबोधिक बुद्धिलक्षणाश्चत्वारः शब्दाः आभिनिबोधिक- ज्ञानस्य ज्ञानपञ्चकाद्य-भेदलक्षणस्य, वचनपर्याया द्रष्टव्या इत्यर्थः, संपूर्णस्याऽपि तस्यामीभिः प्रतिपाद्यमानत्वात्। येऽत्ववग्रहेहादि- काः संज्ञाविशेषास्ते सर्वेऽप्यर्थपर्यायाः तदेकदेशप्रतिपादकत्वात्। ततश्चात्रेहाऽपोहादयः आभिनिबोधिकाज्ञानस्यैवाथ पर्यायाः। मतिप्रज्ञाशब्दौ तु तस्यैव वचनपर्यायौ अतः सर्वमेवेदं सामान्येनाऽभिनिबोधिकज्ञानमेवेति स्थितम्। अथ वा- सर्वेषामपि वस्तूनामभिलापवाचकाः शब्दाः वचनरूपापन्ना वचनपर्यायाः, ये तु तेषामेव वाचकशब्दानामभिधेयार्थस्यात्मभूता भेदाः, यथा कन- कस्य कटककेयूरादयः; ते सर्वेऽप्यर्थपर्यायाः भण्यन्ते। ततश्च प्रस्तुतस्याभिनिबोधिकज्ञानस्य मतिप्रज्ञावग्रहेहादयः सर्वेऽपि वाचका ध्वनयो वचनपर्याया एव, तदभिधेयास्त्वाभिनिबोधिकस्यात्मभूता भेदा अर्थपर्याया इत्यवसेयमिति। इह पूर्वं मतिप्रज्ञादिशब्दानां सर्वमप्या-भिनिबोधिकज्ञानं वाच्यम्, अवग्रहेहादिशब्दानां तु तदेकदेशा एवाऽभिधेया इति दर्शितम्।

अथाऽवग्रहेहादिभिरपि शब्दैरन्वर्थवशात्सर्वमप्याभिनि-बोधिकम भिधीयते, इति दर्शयति-

सव्वं वाऽऽभिनिबोहिय-मिहोग्गहाइवयणसंगहियं।
केवलमत्थि विसेसं, पइ भिन्ना उग्गहा ईया ॥३९९॥

'वा' इति-अथवा, इह सर्वमाभिनिबोधिकज्ञानमवग्रहे-

हादिवचनेन संग्रह्यते, न पुनस्तदेकदेश एव तर्ह्यवग्रहादिश- ब्दानां सर्वेषामेकमरूपता प्राप्नोति, एकाभिधेयत्वाद्, बहुपुरुषो- च्चारितघटाद्येकशब्दवत् इत्याशङ्क्याह-'केवलमि' त्यादि, केवलं- नवरम् अर्थविशेषं प्रत्यवग्रहादयः शब्दा भिन्नाः। इदमुक्तं भवति- अवग्रहशब्दोऽवग्रहलक्षणेनार्थेन सर्वमाभिनिबोधिकं संगृह्णाति, ईहाशब्दस्तु चेष्टालक्षणेन, अपायस्त्ववगमनलक्षणेन, धारणा तु धरणलक्षणेनेत्यादि। ततोऽमुमवग्रहणादिलक्षणमर्थविशेषमात्रमपेक्ष्या- ऽग्रहादिशब्दा भिन्नाः तत्त्वतस्त्वभिधेयं सर्वेषामा-भिनिबोधिकज्ञानमेव।

अथवा, आह- ननु यदि सर्वमप्याभिनिबोधिकमवग्रहादि- वचनेन संगृह्यते, तर्ह्यवग्रहेहापायधारणानां तद्भेदानां सर्वेषामपि संकरः प्राप्नोति, अनन्तरवक्ष्यमाणव्युत्पत्तितः प्रत्येकमेषां सर्वेषा- मप्यवग्रहादिरूपत्वाद्, इत्याशङ्क्याह-'केवलमत्थविसेसमि' त्यादि, केवलं-नवरम् अर्थविशेषं प्रति अवग्रहादयो भिन्नाः। इदमुक्तं भवति- यद्यप्यर्थाऽवग्रहणेहनावगमनधारणमात्रस्य सामा- न्यस्य प्रत्येकं सर्वेष्वपि विद्यमानत्वादेकैकशोऽप्यवग्रहादिशब्दे- नोच्यन्तेऽवग्रहादयः, तथाऽप्यर्थविशेषमाश्रित्यैते भिन्ना एव, तथाहि- यथाभूतमवग्रहे सामान्यमात्रार्थस्यावग्रहणं, न तथाभूत- मेवेहायां, किं तु-विशिष्टं विशिष्टतरं, विशिष्टतमं, चाऽपाय- धारणयोः; यथाभूता चेहायां मतिचेष्टा न तथाभूतान्यत्र, किं तुविशिष्टा, विशिष्टतरा चाऽपायधारणयोः अविशिष्टतरा चाऽवग्रहेऽर्थावगमनमप्यपायात् विशिष्टं धारणायाम् अविशिष्टमविशिष्टतरं चेहावग्रहयोः; अर्थधारणमप्यवग्रहेहापायेभ्यः सर्वप्रकृष्टं धारणायाम्, इत्येवमवग्रहणादिमात्रे सर्वेषां सामान्ये सत्यप्यर्थविशेषं ग्राह्यमाश्रित्य भिन्ना एवावग्रहादयः। स चार्थविशेषोऽमीषां ग्राह्यः प्राग्विस्तरेण दर्शित एव, इत्येवं वा उत्तरार्द्धमिदं व्याख्याते-इदमेव च व्याख्यानं वृद्धसम्मतं लक्ष्यते, युक्त्या तु प्राक्तनमपि घटते। इत्यलं विस्तरेणेति।

कथं पुनरवग्रहादिवचनेन सर्वमप्याभिनिबोधिकं संगृह्यते ? इत्याह-

उग्गहणमोग्गहो त्ति, य, अविसिट्ठमवग्गहो तयं सव्वं।
ईहा जं महचेट्ठा, महवावारो तयं सव्वं ॥४००॥

अवग्रहणं तावदवग्रह उच्यते इति कृत्वा अविशिष्टं तत्सर्वमपि ईहादिभेदभिन्नमाभिनिबोधिकज्ञानमवग्रह एव। इदमुक्तं भवति- अवग्रहणमवग्रह इति व्युत्पत्तिमाश्रित्य सर्वमप्याभिनिबो- धिकज्ञानमवग्रहो भवति, यथाह्यवग्रहः कमप्यर्थमवगृह्णाति, एव- मीहाऽपि कमप्यर्थमवगृह्णात्येव, एवमपायधारणे अपि इति। स- र्वमप्याभिनिबोधिकज्ञानं सामान्ये-नावग्रहः। तथा यत्-यस्माद्- ईहचेष्टायाम्, नमीहेतिव्युत्पत्तेः ईहापि मतेश्चेष्टा मतिचेष्टा वर्त्तते तस्मात्सर्वमपि तदा-भिनिबोधिकमविशिष्टं मतियव्यापारः; ईहे- त्यर्थः, अहग्रहापाय-धारणानामपि सामान्येन मतिचेष्टारूपत्वा- दितिभावः।

तथा-

अवगमणमवाओ त्ति य, अत्थावगमो तयं हवइ सव्वं।
धरणं च धारणं त्ति य, तं सव्वं धरणमत्थस्स ॥४०१॥

यतश्चाऽवगमनमवा(पा)यो भण्यते, अतोऽनया व्युत्पत्त्या सर्वमपि तदाभिनिबोधिकमर्थस्यापायः अवग्रहेहाधारणा स्वपि सा- मान्येनार्थावगमनस्य विद्यमानत्वात्। तथा, धरणं धारणा यतो भण्यतेअतोऽनया व्युत्पत्त्या तत्सर्वमप्याभिनिबोधि-कमर्थधरण- रूपत्वाद्धारणा, अवग्रहेहापायेष्वप्यविशिष्टस्यार्थधरणस्य विद्य- मानत्वादिति। संकरप्राप्तिश्चैवमवग्रहादीनां प्राक् ''केवलमत्थवि- सेसं पइ'' (३९९) इत्यादिना परिहृतैवेति गाथापञ्चकार्थः। विशे०।नं०।आ० म०। ''ईह त्ति वा १, अपोहो त्ति वा २, वीमंस त्ति वा ३, मग्गण त्ति वा ४, गवेसण त्ति वा ५, सण्ण त्ति वा ६, सई त्ति वा ७, मति त्ति वा ८, पन्न त्ति वा ९,'' सव्वमेयं आभिणिबोहियं एतेहिं एगट्ठिएहिं भणितं ति। आ० चू० १ अ० १२ गाथा। (१-ईहायाः विचारो विस्तरतः 'ईहा' शब्देऽ- स्मिन्नेवभागेऽग्रे करिष्यते) (२-अपोहशब्दार्थविचारः 'अपोह' शब्दे प्रथमभागे विस्तरतः समुक्तः) (अत्र 'आगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे (११) विषयसूच्यङ्के विस्तरः प्रतिपादितः। ततोऽवशिष्टः 'सह' शब्दे सप्तमे भागे ३३७ पृष्ठादारभ्य दर्शयिष्यते) (३- विमर्शशब्दविचारः 'वीमंस शब्दे पृष्ठभागे करिष्यते) (४- मार्गणाशब्दार्थनिरूपणम् दृष्टान्तश्च 'मग्गणा' शब्दे षष्ठभागे, तथा- अस्यैकार्थिकानि 'मग्गण' शब्दे तस्मिन्नेव भागे दर्शयिष्यन्ते) (५- गवेषणाविषयो विशेषः 'गवेषणा' शब्दे तृतीय- भागे करिष्यते) (६- संज्ञासर्वस्वविचारः 'सण्णा' शब्दे७ भागे दर्शयिष्यते) (७-स्मृतिस्वरूपम् 'सइ' शब्दे सप्तमे भागे विस्त- रतो वक्ष्यते) (मतिस्वरूपं विस्तरतः 'मइ' शब्दे षष्ठभागे वक्ष्य- ते)(८-प्रज्ञाशब्दार्थविचारः 'पण्णा' शब्दे पञ्चमे भागे करिष्यते)

तदेवं तत्त्वभेदपर्य्यायैराभिनिबोधिकज्ञानं व्याख्याय,

साम्प्रतं तद्विषयनिरूपणार्थमाह-

तं पुण चउव्विहं नेयं, भेयओ तेण जं तदुवउत्तो।
आदेसेणं सव्वं, दव्वाइँ चउव्विहं मुणइ ॥४०२॥

तत्पुनराभिनिबोधिकज्ञानं चतुर्विधं-चतुर्भेदम्। नन्ववग्रहा- दिभेदेन भेदकथनं प्रागस्य कृतमेव किमिह पुनरपि भेदोपन्या- सः?। सत्यम्, ज्ञेयमेवेह द्रव्यादिभेदेन चतुर्भेदं, ज्ञानस्य तु तद्भे- दादेव भेदोऽत्राऽभिधीयते, सूत्रे तथैवोक्तत्वात्। तथा च नन्दि- सूत्रं- ''तं समासतो चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा-दव्वओ १, खेत्तओ २, कालओ ३, भावओ ४। तदव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आदेसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ न पासइ (सूत्र-३६)'' इत्यादि। ज्ञेयभेदादपि तत्कथं चतुर्विधमित्याह- 'जं तदुवउत्तो इत्यादि यत्- यस्मात्कारणात्तेनाभिनिबोधिकज्ञानेन सर्वं द्रव्यादि मुणतीति संबन्धः। कथंभूतम् ? इत्याह-चतुर्विधंचतुर्भेदं द्रव्य- क्षेत्रकाल- भावभेदभिन्नमित्यर्थः। कथंभूतः सन्। मूणति इत्याह- तस्मिन्- आभिनिबोधिकज्ञाने उपयुक्तस्तदुपयुक्तः। केन? इत्याह - आदेशेनिति।

कोऽयमादेश इत्याह-

आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं।
धम्मत्थिआइयाइं, जाणइ न उ सव्वभेदेणं ॥४०३॥

विशे०। (अस्याः गाथायाः व्याख्या 'आएस' शब्देऽस्मिन्नेव गागे गता)

क्षेत्रादिस्वरूपं विशेषतः ग्राह–

खेत्तं लोगाऽलोगं, कालं सव्वद्धमहव तिविहं ति।
पंचोदइयाईए, भावे जं नेयमेवइयं ॥४०४॥

क्षेत्रमपि-लोकाऽलोकस्वरूपं सामान्यादेशेन कियत्पर्याय- विशिष्टं सर्वमपि जानाति, न तु विशेषादेशेन सर्वपर्यायैर्विशि- ष्टमिति। एवं कालमपि सर्वाऽद्धारूपम् अतीताऽनागतवर्तमानभे- दतस्त्रिविधं वा इत्येक एवार्थः। भावतस्तु सर्वभावानामनन्तभागं जानाति, औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायकौपशमिकपारिणामिकान्वा पञ्च भावान् सामान्येन जानाति; न परतः। कुतः ? इत्याह- यत्-यस्मादेतावदेव ज्ञेयमस्ति; नाऽन्यदिति। इह क्षेत्रकालौ सामान्येन द्रव्यान्तर्गतावेव केवलं भेदेन रूढत्वा-त्पृथगुपादानममवसेयमिति।

आदेशस्य व्याख्यानान्तरमाह–

आएसो त्ति व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स महणाणं।
पसरइ तब्भावणया, विणा वि सुत्ताणुसारेण ॥४०५॥

अथवा-आदेशः सूत्रमुच्यते, तेन-सूत्रादेशेन सूत्रोपलब्धेष्वर्थेषु तस्य मतिज्ञानिनः सर्वद्रव्यादिविषयं मतिज्ञानं प्रसरति। ननु श्रुतोपलब्धेष्वर्थेषु यज्ज्ञानं तच्छ्रुतमेव भवति, कथं मतिज्ञानम् ? इत्याह-'तब्भावणये' त्यादि, तद्भावनया-श्रुतोपयोगमन्तरेण तद्वासनामात्रत एव यद् द्रव्यादिषु प्रवर्तते, तत्सूत्रादेशेन मति-ज्ञानमिति भावः। एतच्च पूर्वमपि 'पुव्वं सुयपरिकम्मियमइस्स जं संपयं सुयाईयं' इत्यादि प्रोक्तमेव। इति गाथाचतुष्टयार्थः। विशे०। भ०।

(१३) तदेवं तत्त्वभेदपर्यायैर्मतिज्ञानं व्याख्याय, विषयं च द्रव्यादिकमस्य निरूप्य, साम्प्रतमिदमेव सत्पदप्ररूपणतादिभिर्नवभिरनुयोगद्वा-रैर्विचारयितुमाह-

संतपयपरूवणया १,
दव्वपमाणं च २ क्खेत्त ३, फुसणा य ४।
कालो या ५ अंतरं ६ भाग ७
भाव८ अप्पाबहुं चेव ९॥४०६॥

सच्च तत्पदं च सत्पदं तस्य प्ररूपणं सत्पदप्ररूपणंगत्यादि द्वारेषु विचारणं तद्भावः सत्पदप्रूपणता 'कस्मिन् गत्यादिद्वारे इदं सद्' इत्येवं सतो-विद्यमानस्याऽऽभिनिबोधिकज्ञानस्यगत्यादि- द्वारेषु; प्ररूपणा कर्तव्येत्यर्थः १। तथा द्रव्यप्रमाणमिति। 'मति- ज्ञानि जीवद्रव्याणामेकस्मिन्समये कियन्तो मतिज्ञानं प्रतिपद्यन्ते, सर्वे वा कियन्तस्ते? इत्येवं प्रमाणं वक्तव्यमित्यर्थः। चशब्दः समुच्चये २। तथा-क्षेत्रमिति 'कियति क्षेत्रे तत्संभवति?' इत्येवं मतिज्ञानस्य क्षेत्र वक्तव्यम् ३। तथा-'कियत्क्षेत्रं मतिज्ञानिनः स्पृशन्ति' इत्येवं स्पर्शना वक्तव्या। यत्राऽवगाढस्तत्क्षेत्रं पार्श्व- तोऽपि च स्पर्शना, इत्येवं क्षेत्रस्पर्शनयोर्विशेषः, चः समुच्चये ४। तथा कालः स्थितिलक्षणो मतिज्ञानस्य वाच्यः चस्तथैव ५। एकदा प्रतिपद्य वियुक्तः कियता कालेन पुनरपि प्रपद्यते' इत्येवम् अन्तरं च तस्य वक्तव्यम् ६। तथा 'मतिज्ञानिनः शेषज्ञानिनां कतिभागे वर्तन्ते' इत्येवं भागोऽस्य वक्तव्यः ७। तथा 'कस्मिन् भावे मतिज्ञानिनो वर्त्तन्ते ?' इत्येवं भावो भणनीयः ८। तथा अल्पबहुत्वं वक्तव्यम्, भागद्वारादपि तल्लब्धमिति चेत्। नैवं, यतोऽत्र मतिज्ञानिनां स्वस्थान एव पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकापे- क्षयाऽल्पबहुत्वमभिधानीयं, भागस्तु शेषज्ञानापेक्षया चिन्तनीय इति विशेषः ९। इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः। विस्तरार्थं तु भाष्य- कार एव वक्ष्यति।

अथ (१) सत्पदप्ररूपणता किमुच्यते ? इत्याह-

संतं ति विज्जमाणं, एयस्स जा परूवणया।
गइआइएसु वत्थुसु, संतपयपरूवणा सा उ ॥४०७॥
जीवस्स च तं संतं, जम्हा तं तेहि तेसु वा पयति।
तो संतस्स पयाइं, ताइं तेसुं प्ररूवणया ॥४०८॥

गत्यादिद्वारेषु सत्त्वेन चिन्त्यमानत्वात्पदं सत् उच्यते। ततश्च सतो-विद्यमानस्य पदस्य या वक्ष्यमाणेषु गत्यादिद्वारेषु प्ररूपणता सा सत्पदप्ररूपणतोच्यते। अथवा जीवस्य यत्सज्ज्ञा- नदर्शनादिकं ततैश्च कारणभूतैः, तेषुवाऽधिकरणभूतेषु यस्मात् पर्यति' त्ति-पद्यते-अनुगम्यते; विचार्यते ततः-तस्मात्सतः पदानि सत्पदानि तानि गत्यादीनि द्वाराण्युच्यन्ते तैः,तेषु वा प्ररूपणता'मत्यादेः' इति गम्यते, सत्पदप्ररूपणता। इति गाथाद्वयार्थः।

तान्येव सत्पदानि गत्यादिद्वाराणि दर्शयति-

गइइंदिए य काए, जोए वेए कसायलेसासु।
सम्मत्त-नाण-दंसण-संजय-उवओग-आहारे ॥४०९॥
भासग-परित्त-पज्ज-त्त-सुहुम-सण्णी य भविय-चरिमे य।
पुव्वपडिवन्नए वा, पडिवज्जंते य मग्गणया ॥४१०॥

एतेषु गत्यादिषुद्वारेषु मतिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्य- मानकाः, तदुभयम्, उभयाभावश्च इत्येतचतुष्टयं चिन्त्यते।

तत्र येषु स्थानेषु मतिज्ञानिनो न प्रतिपद्यमानकाः, नाऽपि पूर्वप्रतिपन्नाः, किं तु उभयाभावः तान्यपोद्धृत्य दर्शयति-

एगिंदियजाईओ, सम्मामिच्छो य जो य सव्वन्नू।
अपरित्ता य अभव्वा, ऽचरिमा (य) एए सया सुण्णा ॥४११॥

इह सर्वेष्वपि गत्यादिद्वारेषु यावान् कोऽप्येकेन्द्रियजातीयः- एकेन्द्रियप्रकारः; एकेन्द्रियभेद इत्यर्थः। एष सर्वोऽपि मतिज्ञानेन शून्यः, न तत्र मतिज्ञानस्य प्रतिपद्यमानकः, नापि पूर्वं प्रतिपन्नः संभवतीत्यर्थः। ''उभयाभावो एगिंदिएसु सम्मत्तलद्धिए'' इति वचनादिति। कः पुनरेकेन्द्रियजातीयः? इति चेत्। उच्यते इन्द्रियद्वारे-तावदेकेन्द्रिय एव कायद्वारे-पृथिव्यप्तेजोवायुवन- स्पतयः। सूक्ष्मद्वारे तु-सूक्ष्म इत्यादि। तथा- सम्यग्मिथ्यादृष्टि- रपि सम्यक्त्वद्वारे मतिज्ञानशून्यः। ''सम्मामिच्छदिट्ठी णं भंते! किं नाणी, अन्नाणी?। गोयमा! नो नाणी, अण्णाणी'' ऊ इत्यादिवचनादिति। यश्च क्वाऽपि द्वारे-सर्वज्ञः केवली संभवति, सोऽपि तच्छून्य एव; तद्यथा- गतिद्वारे-

सिद्धिगतौ सिद्धः इन्द्रियद्वारे-अतीन्द्रियः कायद्वारेअकायः, योगद्वारे-अयोगः, लेश्याद्वारे-अलेश्यः, ज्ञानद्वारे-केवलज्ञानी, दर्शनद्वारे-केवलदर्शनी, तथा, संयमपरीत्त-पर्याप्त-सूक्ष्म- संज्ञि-भव्यद्वारेषु-यथासंख्यं नोसंयत-नोपरीत्त-नोपर्याप्त- नो- सूक्ष्म-नोसंज्ञि-नोभव्या इति। एते सर्वेऽपि सर्वज्ञत्वान्मतिज्ञानशून्याः, छद्मस्थस्यैव तत्संभवादिति भावः। तथा-परीत्त-भव्य- चरमद्वारेषु परीत्ता-ऽभव्याऽचरमा अपि मिथ्यादृष्टित्वान्मतिज्ञानशून्याः। तदेवमेते सर्वे सर्वदैव मतिज्ञानशून्या मन्तव्या उभयाभावात्। इति गाथार्थः।

अथ गत्यादिद्वारोष्वेव पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकचिन्तां कुर्वन्ना--

वियला अविसुद्धलेसा, मणपज्जवणाणिणो अणाहारा।
असण्णि अणगारोव-ओगिणो पुव्वपडिवन्ना ॥४१२॥

सेसा पुव्वपवण्णा, नियमा पडिवज्जमाणया भइया।
भयणा पुव्वपवण्णा अकसायाऽवेयया होंति ॥४१३॥

विकलाः-द्वित्रिचतुरिन्द्रियलक्षणा विकलेन्द्रियाः तथाअ-विशुद्धलेश्याः भावलेश्यामङ्गीकृत्य कृष्ण-नील-कापोत लेश्या- वृत्तयः तथा-मनःपर्यायज्ञानिनः अनाहारकाः, असंज्ञिनः, अना- कारोपयुक्ताः; एते सर्वेऽपि मतिज्ञानस्य यदि भवन्ति। तथा पूर्व- प्रतिपन्ना एव, नतु प्रतिपद्यमानकाः, तथा हि-इन्द्रियद्वारे केचि- द्विकलेन्द्रिया ये सास्वादनसम्यक्त्वेन सह पूर्वभवादागच्छन्ति तेषां पूर्वप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य स्यान्मतिज्ञानं, प्रतिपद्यमानस्त्वस्य विकलेन्द्रियाः सर्वेऽपि न भूवन्त्येव, तथाविधविशुद्ध्यभावात्। तथा-लेश्याद्वारे-अविशुद्धलेश्या अपि पूर्वप्रतिपन्नाः केचिद्भवन्ति, न तु प्रतिपद्यमानकाः विशुद्धभावलेश्यानामेव तत्प्रतिपत्तेः ज्ञानद्वारे-मनःपर्यायज्ञानिनः सर्वेऽपि पूर्वप्रतिपन्नाः भवन्त्येव, न तु प्रतिपद्यमानकाः, सम्यक्त्वसहचरितप्राप्तमतिज्ञानस्यैव पश्चादप्रमत्तसंयतावस्थायां मनःपर्यायज्ञानोत्पत्तेः; सम्यक्त्वसहचरित-चारित्रलाभे तु मति सहचरितं मनः पर्यायज्ञानं नोत्पद्यत एव, अत एव वचनाद् अन्यथा अवधिज्ञानीव मनः पर्यायज्ञान्यपि निश्चयनयमतेन प्रतिपद्यमानकः स्यादिति। आहारकद्वारे अनाहारकाः केचिद्देवादयः पूर्वभावाद् गृहीतसम्यक्त्वा मनुष्यादिषूत्पद्यमानाः मतेः पूर्वप्रतिपन्ना भवन्ति, नतु प्रतिपद्यमानकाः तथाविधविशुद्ध्यभावात्। संज्ञाद्वारे असंज्ञिनो विकलेन्द्रियवद्भावनीयाः। उपयोगद्वारे अनाकारोपयोगिनः केचित्पूर्वप्रतिपन्ना भवन्ति, नतु प्रतिपद्यमानकाः मतिज्ञानस्य लब्धित्वात्तदुत्पत्तेश्चाना-कारोपयोगे प्रतिषिद्धत्वादिति। उक्तशेषास्तुग-तिद्वारे नारकादयः, इन्द्रियद्वारे तु पञ्चेन्द्रियाः, कायद्वारे तु त्रसकायिकाः, इत्येवमादयो जातिमपेक्ष्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः-कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्नेति। अतिव्याप्तिनिषेधार्थमाह- 'भयणा पुव्वपवन्ना' इत्यादि कषायद्वारे अकषायाः वेदद्वारे त्ववेदकाः, भजनया पूर्वप्रतिपन्नया एव भवन्ति, छद्मस्थाः पूर्वप्रतिपन्नाः मतेर्भवन्ति, नतु केवलिनः, प्रतिपद्यमान-कास्त्वमी न भवन्त्येव, पूर्वप्रतिपन्न- मतिज्ञानानामेव क्षपकोशमश्रेणि-प्रतिपत्तेः। इति गाथाद्वयार्थः।

तदेवं संक्षेपतो गत्यादिद्वारेषु भाष्यकृता मतिज्ञानस्य कृता सत्पदप्ररूपणा। अथ विनेयाऽनुग्रहार्थं किंचिद्विस्तरतोऽप्यसौ वि-धीयते-तत्र मतिज्ञानं किमस्ति, नवा ? यद्यस्ति, क्व ? तद्व-त्यादिस्थानेषु। तत्र नारकतिर्यङ् नरामरभेदाद्गतिश्चतुर्द्धा। तत्र चतु-र्विधायामपि गतौ मतिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमात्सन्ति, प्रति-पद्यमानकास्तु भाज्याः- विवक्षितकाले कदाचिद्भवन्ति, कदाचित्तु नेत्यर्थः। आभिनिबोधिकप्रतिपत्तिप्रथमसमये प्रतिपद्यमानका उच्यन्ते, द्वितीयादिसमयेषु तु पूर्वप्रतिपन्ना इत्यनयोर्विशेषः। इन्द्रियद्वारे-एकेन्द्रियेषूभयाभावः। सैद्धान्तिकमतेन कार्म्मिकग्र- न्थिकास्तु-लब्धिपर्याप्तबादरपृथव्यब्वनस्पतीन् करणाऽपर्याप्तान् पूर्वप्रपन्नानि-च्छन्ति, सास्वादनस्य तेषूत्पत्तेः। विकलेन्द्रियास्तूभ- यमतेनाऽपि करणाऽपर्याप्ताः सास्वादनमेव पूर्वभवायातमङ्गी- कृत्य पूर्वप्रतिपन्ना लभ्यन्ते, नतु प्रतिपद्यमानकाः पञ्चेन्द्रियास्तु सामान्येन पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः।

कायद्वारे-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात्षोढा कायः। तत्राद्यकायपञ्चकेऽभयाभावः। त्रसकाये तु पञ्चेन्द्रियवद्वाच्यम्। योगद्वारे कायवाङ्मनोभेदात्त्रिधा योगः, स एष त्रिविधोऽपि समुदितो येषामस्ति तेषां पञ्चेन्द्रियद्वाच्यम्, मनोरहितवाग्योगिनां विकलेन्द्रियवत्, केवलकाययोगिनां त्वेकेन्द्रियवदिति। वेदद्वारेस्त्रीपुंनपुंसकभेदात् त्रिविधेऽपि वेदे पञ्चेन्द्रियवत् भावनीयम्। कषायद्वारे तु चतुर्ष्वनन्ताऽनुबन्धिषु सास्वादनमङ्गीकृत्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते; न प्रतिपद्यमानकः, शेषेषु द्वादशसु कषायेषु पञ्चेन्द्रियवदेव। लेश्याद्वारे-भावलेश्यामङ्गीकृत्य कृष्णादिषट्कासु तिसृष्वप्रशस्तलेश्यासु पूर्वप्रतिपन्नाः संभवन्ति, न त्वितरे; प्रशस्ते तु तेश्यात्रये पञ्चेन्द्रियवदेव। सम्यक्त्वद्वारे-निश्चयव्यवहारनयाभ्यां विचारः। तत्र व्यवहारनयो मन्यते-मिथ्यादृष्टिरज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञानयोः प्रतिपद्यमानको भवति, न तु सम्यक्त्वज्ञानसहितः। निश्चयनयस्तु ब्रूते- सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते, न तु मिथ्यादृष्टिः, अज्ञानी वा। विशे०। (यत्तत् 'कज्जकारणभाव' शब्दे तृतीयभागे (४१४) इत्यादिगाथाभिः दर्शयिष्यते)

तस्माद्-'इय न श्रवणादिकाले नाणं' (४१७) इत्यनेन यदि सर्वेष्वपि धर्मश्रवणादिसमयेषु मतिज्ञानं निषिध्यते, तदा सिद्धसाध्यता। अथ चरमक्रियासमयेऽपि तन्निषार्यते, तदयुक्तम्, तत्र तस्य प्रसाधितत्वादिति। तस्मिंश्च धर्मश्रवणादिक्रिया चरम-समये सम्यक्त्वं ज्ञानं च प्रतिपद्यमानं प्रतिपन्नमेवेति। अतः सम्य-ग्दृष्टिर्ज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते। इति निश्चय- नयमततात्पर्यम्। व्यवहारनयस्तु ब्रूतेतस्मिंश्चरमसमये सम्य-क्त्वज्ञानयोरद्याप्यसौ प्रतिपद्यमानकः, प्रतिपद्यमानं चाप्रतिपन्न-मेवा अतो मिथ्यादृष्टिः अज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते। उत्तरत्र क्रियानिष्ठासमये तु सम्यक्त्वज्ञाने युगपदेव ल-

भते । अतः प्रस्तुते सम्यक्त्वद्वारे एतन्मतेन सम्यग्दृष्टि- राभिनिबोधिकस्य पूर्वप्रतिपन्न एव भवति, नतुप्रतिपद्यमानकः, सम्यक्त्वज्ञानयोर्युगपल्लाभात्, तत्काले च क्रियाया अभावात्, तदभावे च प्रतिपद्यमानकत्वायोगादिति। निश्चयनयमतेन तु सम्यग्दृष्टेरा- भिनिबोधकस्य पूर्वप्रतिपन्नः, प्रतिपद्यमानकश्च लभ्यते, क्रियायाः कार्यनिष्ठायाश्च युगपद्भावस्य समर्थितत्वात्। इत्यलमतिविस्तरेणेति। विशे०।

ज्ञानद्वारे-मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदात्पञ्चधा ज्ञानम्। व्यवहारनयमतेन मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानिनः आभिनि- बोधिकस्य पूर्वप्रतिपन्ना भवन्ति, नतु प्रतिपद्यमानकाः ज्ञानिनो मतिज्ञानप्रतिपत्त्य- योगस्यैतन्मतेन प्रागुक्तत्वात्। केवलिनां तूभयाभावः, तेषां क्षयोपशमिकज्ञानातीतत्वात्। मत्यज्ञानश्रुताऽ- ज्ञानविभङ्गज्ञानवन्तस्तु प्रतिपद्यमानकाः कदाचित् भवन्ति, युक्तेर्दर्शितत्वात्, नतु पूर्वप्रतिपन्नाः, निश्चयनयमतनेन तु मति- श्रुतावधिज्ञानिनः पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानका अपि भजनीयाः, ज्ञानिनो ज्ञानप्रतिपत्तेः समर्थितत्वात्। मनः- पर्यायज्ञानिनस्तु पूर्वप्रतिपन्ना एव भवन्ति, न तु प्रतिपद्यमानकाः पूर्वसम्यक्त्वलाभकाले प्रतिपन्नमतिज्ञानस्यैव पश्चादन्त्यावस्थायां मनः पर्यायज्ञानसद्भावात्। केवलिनां तूभयाभावः। एवं मत्या- द्यज्ञानवतामप्युभयाभाव एव, ज्ञानिन एव ज्ञानप्रतिपत्तेः।

दर्शनद्वारे- चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदात् दर्शनं तु चतुर्द्धा। अत्राद्यदर्शनत्रये लब्धिमङ्गीकृत्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः प्राप्यन्ते, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः, तदुपयोगं त्वाश्रित्य पूर्वप्रतिपन्ना एव नतु प्रतिपद्यमानकाः मतिज्ञानस्य लब्धित्वात्, लब्ध्युत्पत्तेश्च दर्शनोपयोगे निषिद्धत्वात्, ''सव्वाओ वि लद्धीओ, सागारोपउत्तस्स उववज्जंति''- इति वचनादिति। केवलद- र्शनिनां तूभयाभावः।

संयतद्वारे- संयतादयश्चाऽऽभिनिबोधकस्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमाल्लभ्यन्ते, प्रतिपद्यमाना अपि भजनया प्राप्यन्ते। ननु सम्यक्त्वलाभावस्थायामेव मतिज्ञानस्य प्रतिपन्नत्वात्संयतः कथं प्रतिपद्यमानकोऽवाप्यते? सत्यं, किंतु-योऽतिविशुद्धिवशात्स- म्यक्त्वं चारित्रं च युगपत्प्रतिपद्यते स तस्यामवस्थायां प्रतिप- द्यमानस्य संयमस्य प्रतिपन्नत्वात्संयतो मतेः प्रतिपद्यमानको भवतिः उक्तं चावश्यकचूर्णौ-''नऽत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं दंसणं तु भयणिज्जं''। भजनामेव आह-''सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं, पुव्वं च सम्मत्तं'' उपयोगद्वारे- उपयोगो द्विधा-पञ्च ज्ञानानि, त्रीणि चाज्ञानानि साकारोपयोगः; चत्वारि दर्शनानि अनाकारोपयोगः तत्र साकारोपयोगे पूर्वप्रतिपन्ना नियमात् सन्ति, प्रतिप- द्यमानकास्तु भजनीयाः। अनाकारोपयोगे तु प्रतिपन्ना एव, नतु प्रतिपद्यमानकाः। अनाकारोपयोग लब्ध्युत्पत्तेः प्रतिषिद्धत्वादिति। आहारकद्वारेआहारकाः साकारोपयोगवद् । अनाहारकास्त्व-पान्तरालगतौ प्रतिपन्नाः संभवन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु न भवन्त्येव।

भाषकद्वारे भाष्यकार एवाह-

मासासलद्धिओ लभई, भासमाणो अभासमाणो वा।
पुव्वपडिवन्नओ वा, उभयं पि अलद्धिए नऽत्थि ॥४२७॥

भाषालब्ध्या सह वर्त्तते इतत भाषासलब्धिकः भाषालब्धि- मांश्चेद्भवतीत्यर्थः तदा भाषमाणोऽभाषमाणो वा लभते प्रतिपद्यते कश्चिन्मतिज्ञानं, पूर्वप्रतिपन्नौ वा भवति, भाषालब्धियुक्तो मनुष्यादिर्जात्यपेक्षया पूर्वप्रतिपन्नो नियमाल्लभते प्रतिपद्यमानकोऽपि भजनयेति तात्पर्यम्। अलब्धिके-भाषालब्धिशून्ये पुनरुभयमपि नास्ति, स ह्येकेन्द्रिय एव, तस्य च प्रागुक्तवदुभयाभाव एवेत्यर्थः। इति गाथार्थः।

परीत्तद्वारे-परीत्ताः प्रत्येकशरीरिणः, परीत्तीकृतसंसारा वा; स्तोकावशेषभवा इत्यर्थः। एते उभयेऽपि पूर्वप्रतिपन्ना नियमा- ल्लभ्यन्ते, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः। अपरीतास्तु साधार- णशरीरिणः, अपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तादप्युपरिवर्तिसंसारा वा; मिथ्यादृष्टित्वादुभयेऽ- प्युभयविकलाः। पर्याप्तकद्वारे- षट्पर्याप्ति- भिः पर्याप्ताः परीतवद्वाच्या- स्तदपर्याप्तास्तु प्रतिपन्ना एव न त्वितरे। सूक्ष्मद्वारे-सूक्ष्मा उभयविकलाः। बादरास्तु पर्याप्तकवद्वाच्याः। संज्ञिद्वारे-दीर्घकालिकोपदेशेन संज्ञिनो गृह्यन्ते,ते च बादरवद्भावनीयाः। असंज्ञिनस्तु अपर्याप्तवदिति। भवद्वारे- भवसिद्धिकाः संज्ञिवद्। अभवसिद्धिकास्तूभयशून्याः। चरमद्वारे- चरमो भवो भविष्यति येषां तेऽभेदोपचाराच्चरमा भव्यवद् अच- रमास्त्वभव्यवदिति । तदेवं कृता गत्यादिद्वारेषु भाष्ये वृत्तौ च सत्पदप्ररूपणता।

अथ (२) द्रव्यप्रमाणमाह-

किमिहाभिणिबोहिनियनाणि-जीवदव्वपमाणमिगसमए।
पडिवज्जेज्जं तु न वा, पडिवज्जे जहन्नओ एगो ॥४२८॥
खेत्तपलिओवमासं-खभागउक्कोसओ पवज्जेज्जा।
पुव्वपवन्ना दोसु वि, पलियासंखेज्जईभागो ॥४२९॥

किमिहाऽस्मिन् लोकेआभिनिबोधिकज्ञानपरिणामापन्नजी- द्व्याणां प्रमाणमेकस्मिन् विवक्षितसमये? एवं शिष्येण पृष्टे सत्याह-प्रतिपद्येरन्, नवेति। इदमुक्तं भवति-यदि प्रतिपद्य- मानकानां प्रमाणं पृच्छसि, तदा प्रतिपद्यमानकास्तस्य विवि- क्षितसमये प्राप्यन्ते न वा। तत्र प्रतिपद्यमानप्राप्तिपक्षे जघन्यत एकः प्रतिपद्येत, उत्कृष्टस्तु सर्वलोके क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागः प्रतिपद्येत। अथ पूर्व प्रतिपन्नानां तेषां प्रमाणमिच्छसि ज्ञातुं, तर्हि पूर्वप्रतिपन्ना द्वयोरपि पक्षयोर्जघन्यो- त्कृष्टलक्षणयोः क्षेत्रपल्योप- मासंख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणाः प्राप्यन्ते, केवलं जघन्यपदा- दुत्कृष्टं विशेषाऽधिकम्। इति गाथाद्वयार्थः।

अथ (३) क्षेत्रद्वारमधिकृत्याह-

खेत्तं हवेज्ज चोद्दस-भागा सत्तोवरिं अहे पंच।
इलियागईए विग्गह-गयस्स गमणेऽहवाऽऽगमणे ॥४३०॥

नानाजीवानपेक्ष्य सर्वेऽप्याभिनिबोधिकज्ञानिनः पिण्डिता लोकासंख्येयभागमेव व्याप्नुवन्ति। एकजीवस्य तु क्षेत्रं भवेत्किय द ? इत्याह- सप्तचतुर्द्दशभागाः चतुर्द्दशभागीकृत-

स्य लोकस्य सप्त भागाः; सप्तरज्जव इत्यर्थः, उपरि-ऊर्ध्वम् इलिकागत्या विग्रहगतस्य निरन्तराऽपान्तराल-स्पर्शिनोऽनुत्तरविमानेषु गमने, तत आगमने वा। अधस्त्वनयैव गत्या षष्ठनरकपृथिवीगमने आगमने वा पञ्चचतुर्दशभागाः पञ्च रज्जवः प्राप्यन्ते। इदमुक्तं भवति- यदाऽत्राऽऽभिनिबोधिकज्ञानी मृत्वा। इलिकागत्यानुत्तरसुरेषूत्पद्यते, तेभ्यो वाऽत्र मनुष्यो जायते, तदाऽस्य जीवप्रदेशो दण्डः सप्तरज्जुप्रमाणक्षेत्रे भवति, अधस्त्वनयैव गत्या षष्ठनरकपृथिव्यां गच्छतः, तत आगच्छतो वा पञ्चरज्जुप्रमाणक्षेत्रेऽसौ लभ्यत इति। विराधितसम्यक्त्वो हि षष्ठपृथ्वीं यावत् गृहीतेनाऽपि सम्यक्त्वेन सैद्धान्तिकमतेन कश्चिदुत्पद्यते कार्मग्रन्थिकमतेन तु वैमानिकदेवेभ्योऽन्यत्र तिर्यङ्, मनुष्यो वा तेनैव क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेनोत्पद्यते, न गृहीतेन; सप्तमपृथिव्यां पुनरुभयमतेनाऽपि वान्तेनैव तेनोपजायते। आह भवत्वेवं किंतु यः सप्तमपृथिव्या गृहीतसम्यक्त्वोऽत्रागच्छति तस्याऽधः षट्चतुर्दश भागाः किमिति न लभ्यन्ते? इति (विशे०।) ('सम्मत्त' शब्दे सप्तमे भागे स्फुटीभविष्यति) (स्पर्शनाद्वाम्। क्षेत्रस्पर्शनयोर्विशेषश्च 'फासणा' शब्दे पञ्चमभागे (४३१) गाथया दर्शयिष्यते)।

एकस्याऽऽभिनिबोधिकज्ञानिजीवस्य ये क्षेत्रस्पर्शने, ताभ्यां सकाशान्नानाऽऽभिनिबोधिकजीवानां याः क्षेत्रस्य स्पर्शनास्ता असंख्येयगुणाः नानाऽभिनिबोधिकजीवानां सर्वेषामसंख्येयत्वा- दिति भावः

कालद्वारमधिकृत्याह-

एगस्स अणेगाण व, उवओगंतो मुहुत्ताओ ॥४३४॥

द्विधा मतिज्ञानस्य कालश्चिन्तनीयः- उपयोगतो, लब्धितश्च। तत्रैकजीवस्य तदुपयोगो जघन्यत उत्कृष्टतश्चाऽन्तर्मुहूर्त्तमेव भवति, परत उपयोगान्तरगमनादिति। सर्वलोकवर्तिनामनेकाऽऽभि-निबोधिकजीवानामपीदमेवोपयोगकालमानम्, केवलमिद-मन्तर्मुहूर्त्तमपि बृहत्तरमवसेयम्।

लब्धिमङ्गीकृत्य कालमानमाह-

लद्धी वि जहण्णेणं, एगस्सेवं परा इमा होई।
अह सागरोवमाइं, छावट्ठिं सातिरेगाइं ॥४३५॥

आभिनिबोधिकज्ञानलब्धिरपि तदावरणक्षयोपशमरूपाऽऽवाप्तसम्यत्वस्यैकजीवस्य जघन्यत एवमितिएवमेव; अन्त-र्मुहूर्त्तमेवेत्यर्थः परतो मिथ्यात्वगमनात्, केवलाऽवाप्तेर्वा। परा तूत्कृष्टा तल्लब्धिरेक-जीवस्येयम्-अनन्तरवक्ष्यमाणा भवति। अथ सैवोच्यते-सातिरेकाणि षट्षष्टिसागरोपमाणि।

कथं पुनरेतानि भवन्ति, नानाजीवानां च कियान् लब्धि-कालः? इत्याह-

दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्नच्चुए अहव ताइं।
अइरेगं नरभवियं, नाणाजीवाण सव्वऽद्धं ॥४३६॥

इह कश्चित्साधुर्मत्यादिज्ञानान्वितो देशोनां पूर्वकोटीया- वत्प्रव्रज्यां परिपाल्य विजयवैजयन्तजयन्ताऽपराजितविमानाना मन्यतरविमाने उत्कृष्टं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणदेवायुरनुभूय पुनरप्रतिपतितमत्यादि-ज्ञान एव मनुजेषु उत्पन्नो देशोनां पूर्वकोटीं प्रव्रज्यां विधाय तदैव विजयादिषूत्कृष्टमायुः संप्राप्य पुनरप्रतिप- तितमत्यादिज्ञान एव मनुष्यो भूत्वा पूर्वीकोटीं जीवित्वा सिद्ध्यतीति। एवं विजयादिषु वारद्वयं गतस्य; अथवा- अच्युत-देवलोके द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकेषु देवेषु त्रीन् वारान् गतस्य तानि षट्षष्टिसागरोपमाणि अधिकानि भवन्ति। अधिकं चेह नरभवसंबन्धिदेशोनं पूर्वकोटित्रयं चतुष्टयं वा द्रव्यम्। नाना-जीवानां तु सर्वाऽद्धंसर्वकालं मतिज्ञानस्य स्थितिः। इति गाथा (विशे०।)ऽर्थः।

अथाऽन्तरद्वारमाश्रित्याह-

एगस्स जहन्नेणं, अंतरमंतो मुहुत्तमुक्कोसं।
पोग्गलपरिअट्टऽद्धं, देसूणं दोसबहुलस्स ॥४३७॥

इह कश्चिज्जीवः सम्यक्त्वसहितं मतिज्ञानमवाप्य- प्रतिपत्य चान्तर्मुहूर्तं मिथ्यात्वे स्थित्वा यदि पुनरपि सम्यक्त्वसहितं तदेव प्राप्नोति। तदेतन्मतिज्ञानस्य जघन्यमन्तरमुहूर्तमन्तरं प्राप्ति-विरहकालरूपं भवति। आशातनादिदोषबहुलस्य तु जीवस्य सम्यक्त्वात् प्रतिपतितस्य देशोनपुद्गलपरावर्ताऽर्द्धरूपमुत्कृष्ट- मन्तरं भवति, एतावता कालेन पुनरपि सम्यक्त्वाऽऽभिनि-बोधिकलाभात् इत्येकजीवस्योक्तमन्तरम्।

अथ नानाजीवानां तदभिधित्सुः, भावद्वारं च बिभणिषुराह-

जमसुन्नं तेहिँतओ, नानाजीवाणमंतरं नऽत्थि।
मइनाणी सेसाणं, जीवाणमणंतभागम्मि ॥४३८॥

यत् यस्मात्तैः- आभिनिबोधिकज्ञानिभिरशून्यं सर्वदैव ना-रकादिगतिचतुष्टयाऽन्वितं त्रिभुवनमिदं ततस्तस्मान्नानाजीवाना- श्रित्य नाऽस्ति मतिज्ञानस्याऽन्तरकालः। तथा मतिज्ञानिनः शेषज्ञानवतां जीवानामनन्ततमे भागे वर्तन्ते, शेषज्ञानिनो हि केवलिसहितत्वादनन्ताः, आभिनिबोधिकज्ञानिनस्तु सर्व-लोकेऽप्यसंख्याता एवेति भावः। इति गाथाद्वयार्थः।

अथ भावद्वारम्, अल्पबहुत्वद्वारं चाऽभिधित्सुराह-

भावे खओवसमिए, मइनाणं नऽत्थि सेसभावेसुं।
थोवा मइनाणविऊ, सेसा जीवा अणंतगुणा ॥४३९॥

मतिज्ञानाचरणे हि कर्मण्युदीर्णे क्षीणे, अनुदीर्णे तूपशान्ते मतिज्ञानमुपजायते, अतः क्षायोपशमिक एव भावे तद्वर्त्तते, न तु शेषेष्वौदयिकक्षायिकादिभावेष्विति मतिज्ञानेन विदन्तीति मतिज्ञानविदः स्तोकाः शेषज्ञानयुक्तास्तु सिद्धकेवल्यादयो जीवा अनन्तगुणा इति। एवमपि तावदल्पबहुत्वं भवति। केवलमिहै- वमुच्यमाने भागाऽल्पबहुत्वद्वारयोरर्थतः परमार्थतो न कश्चिद्विशेषो भेदो दर्शितो भवति। तेन तस्यैवाऽऽभिनिबोधिकस्य पूर्वप्रति-पन्नप्रतिपद्यमान-काना श्रित्याऽल्पबहुत्वं वक्तुमुचितं, पौन-रुक्त्याऽभावादिति।

एतदेवाह-

नेह त्थओ विसेसो, भागप्पबहूण तेण तस्सेव।

पडिवज्जमाणपडिवन्नगाणमप्पाबहुं जुत्तं ॥४४०॥ गतार्थैव।

अथ यदेव युक्तं तदेवाह-

थोवा पवज्जमाणा, असंखगुणिया पवन्नयजहन्ना।
उक्कोसए पवन्ना, होंति विसेसाऽहिया तत्तो ॥४४१॥

आभिनिबोधिकस्य ''जहन्नेणं, एक्को वा, दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं असंखेज्जा'' इत्येवं प्रतिपद्यमानका: प्रोच्यन्ते ते सर्वस्तोका:। तेभ्यो जघन्यपदवर्तिन: पूर्वप्रतिपन्नास्ते असंख्या- तगुणा: चिरकालसंकलितत्वात् प्रतिपद्यमानकानां तु विवक्षि- तैकसमयमात्रभावादिति। उत्कृष्टपदवर्तिनस्तु पूर्वप्रतिपन्ना- स्तेभ्योऽपि विशेषाधिका इति।

प्रकारान्तरमप्यल्पबहुत्वे दर्शयति-

अहवा मइनाणीणं, सेसयनाणीहिँ नाणरहिएहिं।
कज्जं सहो भएहि य, अहवा गच्चाइभेएणं ॥४४२॥

अथवा मतिज्ञानिनां शेषज्ञानिभि: सहाऽल्पबहुत्वं प्रथमं वाच्यम्, यथा- ''मइनाणी सेसाणं जीवाणमणंतभागम्मि'' इति। ततो द्वितीयस्थाने- ''नाणरहिएहिं'' ति, ज्ञानानि व्याख्यानादिह मतिज्ञानादन्यानि गृह्यन्ते, तैरहिता: वियुक्ता: पूर्वप्रतिपद्यमा- नकमतिज्ञानिन ऋव केवला इत्यर्थ: तै: सहितं मतिज्ञानि- नामल्पबहुत्वं स्वस्था एव; वक्तव्यम्। यथा- ''थोवा पवज्जमाणा, असंखगुणिया पवण्णयजहन्ना'' इत्यादि ततस्तृतीयस्थाने उभयै: शेषज्ञानिभि: समुदितै: सहाऽल्पबहुत्वं तेषां कर्तव्यम्। तद्यथा-'' सव्वथोवा मणपज्जवनाणी, ओहिनाणी असंखेज्जगुणा, मइना- णी, सुवनाणी य दोवि सट्ठाणे तुल्ला, मज्झिल्लेहिंतो विसेसा- हिया केवलनाणी अणंतगुणा'' एवं पूर्वप्रतिपन्नप्रतिद्यमानकवि- भागेनाऽप्यल्पबहुत्वमिह स्वधियाऽ- भ्यूह्यमिति। अथवा-गत्यादि- भेदेन तत्कार्यम्, यथा-सर्वस्तोका मतिज्ञानिनो मनुष्या: नारका असंख्यातगुणा: ततस्तिर्यञ्च:, ततो देवा इति। एवं संभवत: सर्वत्र वाच्यमिति।

अथोपसंहरन्नाह-

लक्खणविहाणविसया-ऽणुओगदारेहिँ वन्निया बुद्धी।
तयणंतरमुद्दिट्ठं, सुअनाणमओ परूविस्सं ॥४४३॥

लक्षणम्- आभिनिबोधिकशब्दव्युत्पत्ति:, विधानं-भेदोऽ- वग्रहादि:, विषयो द्रव्यक्षेत्रादि:, अनुयोगद्वाराणि सत्पदप्ररूप- णतादीनि, एतै: सर्वैरपि यथोक्तक्रमेणाभिनिबोधिकज्ञानलक्षणा वर्णिता व्याख्याता बुद्धि:। ततस्तदनन्तरोद्दिष्टं श्रुतज्ञानं प्ररूपयिष्ये इति गाथापञ्चकार्थ:। तदेवमाभिनिबोधिकज्ञानं समाप्तमिति। विशे०। आ० म०।

आभिणिबोहियनाणलद्धि-स्त्री० (आभिनिबोधिकज्ञानलब्धि)- आभिनिबोधिकज्ञानम्-मतिज्ञानम् तस्य लब्धि:-योग्यता। आभिनिबोधिकज्ञानयोग्यतायाम्, ''आभिणिबोहियणाणलद्धी ०जाव खवोअसमिआ'' (सूत्र-२७×) स्वस्वावरणकर्मक्षयोपश- मसाध्यत्वात् क्षायोपशमिकी। अनु०।

आभिणिबोहियनाणसागरोवओग- पुं० (आभिनिबोधिकज्ञानसा- कारोपयोग)। अर्थाभिमुखो नियत:-प्रतिनियतस्वरूपो बोधो- बोधविशेष: अभिनिबोध: अभिनिबोध एवाभिनि बोधिकम्। अभिनिबोधिशब्दस्य विनयादिपाठाऽभ्युपगमात् 'विनयादिभ्य:'' ॥७।२।१६९॥ इत्यनेन स्वार्थे इकण्प्रत्यय:। ''निवर्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययका: प्रकृतिलिङ्गवचनानि'' इति वचनादत्र नपुसंकता, यथा विनय एव वैनयिकमित्यत्र। अथवा-अभिनिबुध्यते अस्मादस्मि- न्वेति अभिनिबोध:- तदा-वरणकर्मक्षयोपशमस्तेन निर्वृत्तमाभिनि- बोधिकम्,तच्च तज्ज्ञानं च आभिनिबोधकज्ञानम्, इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यप्रदेशा-ऽवस्थितवस्तुविषय: स्फुटप्रतिभास: बोधविशेष इत्यर्थ:, च चासौ साकारोपयोगश्च आभिनिबोधिकज्ञानसाकारोपयोग:। साकारोपयोगविशेषे,प्रज्ञा०२९, पद ३१२ सूत्रटी०।

आभिसेक्क- त्रि० (आभिषेक्य)। अभिषेकमर्हति आभिषेक्यम्। अभिषेकाऽर्हे, औ०। ''आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि'' (सूत्र- २९)। औ०।

आभीर-पुं० (आभीर)। आ-समन्ताद् भियं राति रा-क। वाच०। शूद्रजातिभेदे, सूत्र०१ श्रु०९ अ०२ गाथाटी०। ''आभीराणं अहि- वई'' (४९२ गाथाटी०) आ० म० १ अ०। गोपे, सङ्कीर्णजातिभेदे, स हि अल्पभीतिहेतोरप्यधिकं विभेतीति तस्य तथा तदिदं गृहाण। उद्भट: स च संकीर्णवर्ण:। ''ब्राह्मणादुग्रकन्याया-मावृत्तो नाम जायते। आभीरोऽबष्ठकन्धाया- मायोगव्यां तु धीखण:॥१॥'' इति मनूक्ते:। ''श्रीकोङ्कणादधोभागे, तापीत: पश्चिमे तटे। आभीरदेशो दे वेशि, विन्ध्यशैले व्यवस्थित:''॥१॥ इति। देशभेदे, तद्देशवासिनि, तद्देशराजे च। वं० व०। ''एकादशक- लाधारि- कविकुलमानसहारि। इदमाभीरमवेहि, जगणमन्त्यमनु-धेहि''॥१॥ इत्युक्तलक्षणे ५ मात्रावृत्तभेदे च। वाच०।

आभीरदेस-पुं० (आभीरदेश)। देशभेदे, कल्प०। आभीरदेशे अच- लपुरासन्ने कन्ना-वेन्नानद्योर्मध्ये ब्रह्मद्वीपे पञ्चशतं तापसानामभूत्। कल्प० २ अधि०८ क्षण। ('जोगपिंड' शब्दे चतुर्थभागे १६४१ पृष्ठे॥ 'बंभदीविया' शब्दे पञ्चमभागे चाऽत्र विशेषवृत्तं वक्ष्यते)

आभीरविसय- पुं० (आभीरविषय)। देशभेदे, ''आभीरविसये कण्हावेण्णाणाम णई तस्स कूल बंभद्दीवो तत्थ पञ्च, तावसा परिवसंति। नि०चू०१३ उ०। पिं०५०३ गाथा। आ०म०। आ०चू०। ''एवं सो भगवं विहरंतो ततो आभीरविसयं गओ'' आ०चू०१ अ०। आव०१ अ० ९३४ गाथा।

आभीरसाहु- पुं० (आभीरसाधु)। आभीरपुत्रे स्वनामख्याते साधौ, उत्त० २ अ०। (तत्कथा 'अण्णाण' शब्दे प्रथमभागे ४८८ पृष्ठे गता।)

आभीरीवंचग-त्रि० (आभीरीवञ्चक)। आभीर्य्या वञ्चनकारके वणिजि, उत्त०। तत्कथा यथा-''क्वाऽपि ग्रामे कोऽपि वणिक् हट्टे क्रयविक्रयं करोति। अन्यदा एका आभीरी तद्धट्टे आगता। तया भणितम्- भो: रूपकद्वयस्य मे रुतं देहि। तेनोक्तम-अर्पयामि। अर्पितं तया रूपकद्वयम्। तेन वणिजा एकस्यैव रूपकस्य रुतं वाग्द्वयं

तोलयित्वा अर्पितम्। सा जानाति मम रूपकद्वयस्य घृतं द्वत्तम्। वञ्चिता च सा। तस्यां गतायां स चिन्तयति- एष रूपको मया मुधा लब्धः, ततोऽहमेव उपभुञ्जामि। तस्य रूपकस्य घृतखण्डादि लात्वा स्वगृहे विसर्जितं भार्यायाः कथापितम्- अद्य घृतपूराः कुर्य्याः। तया घृतपूराः कृताः। तावता तद्गृहे समित्रो जामाता समायातः। तस्यैव तया घृतपूराः पारवेषिताः। समित्रेण तेन भक्षिताः। गत समित्रो जामाता। वणिग् गृहे समायातः। स्नानं कृत्वा भोजनार्थमुपविष्टः। तया स्वाभाविकमेव भोजनं परिवेषितम्। वणिक् वदति-कथं न कृता घृतपूराः? तया उक्तम् -कृताः परमागन्तुकेन समित्रेण जामात्रा भक्षिताः। स चिन्तयति मया सा वराकी आभीरी वञ्चिता। परार्थमेवाऽयमात्मा पापेन संयोजितः। एवं चिन्तयन्नेवाऽसौ शरीरचिन्तार्थं बहिर्गतः। तदानीं ग्रीष्मो वर्तते। स मध्याह्नवेलायां कृतशरीरचिन्तः एकस्य वृक्षस्याधस्तात् विश्रामार्थमुपविष्टः। तेन मार्गेण गच्छन्तं साधुं दृष्टवान्। वणिगुवाच-भो साधो? विश्राम्यताम्। साधुनोक्तम-शीघ्रं मया स्वकार्ये गन्तव्यम्। वणिजा उक्तम्-भगवन्! कोऽपि परकार्ये गच्छति? साधुः प्राह-यथा त्वं स्वजनार्थं क्लिश्यसि। अनेन एकनैव वचनेन स बुद्धः। प्राह-भगवन्! यूयं क्व तिष्ठथ। साधुना भणितम्-उद्याने। स साधुना समं तत्र गतः। तन्मुखाद्धर्ममाकर्ण्य भणति-भगवन्! अहं प्रव्रजिष्यामि। नवरं स्वजनमापृच्छ्याऽऽगच्छामि। गतो निजगृहे बान्धवान् भार्यां च भणति-अत्रापणे व्यवहरतो मम तुच्छलाभोऽस्ति देशान्तरं यास्यामि सार्थवाहद्वयगत्रायातमस्ति। एकः सार्थवाहो मूलद्रव्यमर्पयति, इष्टपुरं नयति, न च लाभं गृह्णाति। द्वितीयो मूलद्रव्यमर्पयति सह गमनात् लाभञ्च गृह्णाति, तत्कन सह गमनं युज्यते? तैरुक्तं प्रथमेन सह व्रज। अथ स वणिक् स्वजनैः समं वने गत्वा उवाच-अयं मुनिः परलोकसार्थवाहः स्वकीयमूलद्रव्येण व्यवहारं कारयति मोक्षपुरं च नयतीत्र दृष्टान्तदर्शनपूर्वकं स्वजनानापृच्छ्य स वणिक् तस्य गुरोः समीपे दीक्षां जग्राहेति। उत्त०४ अ०।

आभोइत्ता- अव्य० (आभोगयित्वा)। ''आभोइत्ताण णीसेसं'' (८९× गाथा)। आभोगयित्वा-ज्ञात्वा निश्शेषमतिचारम्। दश० ५ अ०।

आभोएउं- अव्य० (आभोज्य)। विज्ञायेत्यर्थे, पं०व०१४२० गाथा।

आभोएमाण-त्रि० (ओभागयत्)। अवलोकयति, कल्प १ अधि०१ क्षण २११ सूत्र।

आभोग-पुं० (आभोग)- आभोगनमाभोगः। उपयोगविशेषे आव०। ''आभोगे तह अणाभोगे'' ॥४॥ आव० ४ अ०। ''लोकालो–कावलोकनाभोगम्'' (१५+)

आभोगः-उपयोगः। षो०१५ विव०। ''अन्नाए आभोगं, नाए ससद्दं करंति सज्ज्ञायं''॥७६×॥ जनेनाऽज्ञाताः स्थितास्ततो रात्रावाऽऽभोगम्-उपयोगं कुर्वते; तूष्णीका औसत इत्यर्थः। बृ० ३ उ०। ''ज्ञाने, ''आभोगणिव्वत्तिए'' (सूत्र-२४९+) स्था० ४ ठा० १ उ०। संज्ञाः-आभोगः। स्था० १० ठा० ७५२ सूत्र टी०। ''आभोगे जाणंतेण जोअइयारो कओ पुणो तस्स'' आव० ४ अ० १२४९ गाथा टी०। ज्ञानपूर्वकेव्यापारे, आतु १, सूत्र टी०। परिस्फुटबुद्धौ, ''आभोगेण वि तणुएसु'' (१२+गाथा)। ''परिस्फुडबुद्धीए वि'' चूर्णिः। आभोगेनापि- परिस्फुटबुद्ध्यापि; अविस्मृत्याऽपीत्यर्थः जीत०। 'अण्णत्थ अणाभोगेणं'' (सूत्र +) आभोजनमाभोगः- आभोगोऽत्यन्तविस्मृतिरित्यर्थः तेन अनाभोगं मुक्त्वेत्यर्थः। आव० ६ अ० २५३ भाष्यगाथाटी०। विस्तारे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० २७ सूत्र टी०। आभोजनमाभोगः 'भुज' पालनाभ्यवहारयोः मर्य्यादया अभिविधिना वा भोगनंपालनमाभोगः। प्रतिलेखनायाम्, ओघ०।

(अस्यैकार्थिकानि)-

आभोगण मग्गण गवेसणा य ईहा अपोह पडिलेहा।
पेखण निरिक्खणाऽवि य, आलोय पलोयणेगट्ठा ॥३॥

(अस्या गाथायाः व्याख्या 'पडिलेहणा' शब्दे पञ्चम भागे करिष्यते) ओघ०। आ भुज् आधारे घञ्। परिपूर्णतायाम्, सम्यक् सुखाद्यनुभवे, वरुणस्य छत्रे च। मेदि०। वाच०।

आभोगंझाण-न० (*आभोगध्यान*)। *आभोगोज्ञानपूर्वको व्यापार-स्तस्य* ध्यानम्। ज्ञानपूर्वकव्यापारस्य ध्याने, ब्राह्मणनयना-भिप्रायेण फलान्यपि मृद्नतो ब्रह्मदत्तस्येवा आतु० सूत्र-१×टी०। (अस्य वृत्तान्तं 'बंभदत्त' शब्दे पञ्चमभागे निरूपयिष्यामि)

आभोगण-न० (आभोगन)। आभोग्यतेऽनेनेति आभोगनम्। अर्थावग्रहसमयसमन्तरमेव। सद्भूतार्थविशेषाऽभिमुखे आलो- चने, नं० ३१ सूत्र टी०। उपयोगविशेषे, आवः ४ अ० ११ गाथा टी०।

आभोगणया-स्त्री०। (आभोगनता)- आभोग्यतेऽनेनेत्याभोगनम्- अर्थावग्रहसमयसमनन्तरमेव सद्भूतार्थविशेषाभिमुखलोचनम् तस्य भावः आभोगनता। ईहायाम् नं० ३१ सूत्र टी०।

आभोगणिव्वत्तिय-त्रि०। (आभोगनिर्वर्तित)- आभोगो-ज्ञानम् तेन निर्वर्तितः। ज्ञानेन कृत क्रोधादौ, यज्जानन् कोपविपाकादि रुष्यति। दैमानिकक्रोधविशेषे, स्था० ५, ठा० १ उ० २४९ सूत्र टी०।

आभोगबउस-पु०। (आभोगबकुश)- आभोगः साधूनाम- कृत्यमेतच्छरीरोपकरणविभूषणमित्येवं ज्ञानम्, तत्प्रधानो बकुश आभोगबकुशः। बकुशभेदे, भ० २५, श० ६, उ० ७५१ सूत्र टी०।

आभोगिणी-स्त्री० (आभोगिनी)। विद्याभेदे, बृ०। ''आभोगिणी य'' ॥९५२×॥ आभोगिनी नाम विद्या, सा भण्यते-या परिजपिता सती मानसं परिच्छेदमुत्पादयति। बृ० ३ उ०। नि० चू०।

आम- अव्य० (आम)। अनभ्युपगमे, प्रा०। ''आम अभ्युपगमे''

॥८।२।१७७॥ आमेत्यभ्युपगमे प्रयोक्तव्यम्। ''आम बहला वणोली'' प्रा०। ''दुविहं च तिविहं च आमं ति''॥१६५॥ आमशब्दोऽनुमतौ, सम्मतमेतदस्माकं सर्वमिति भावः। व्य०१ उ०। ''सो भणइ-आमं दिट्ठं'' आ०म०१ अ०१३१ गाथाटी०। ''आमं ति अणुमयत्थे'' आमं इत्यनुमतार्थे इति। 'आमं' ति एतदभ्युपगम्यत एवास्माभिः। नि० चू०१० उ०११७ गाथा टी०। अपक्वे, विशे० २३५ गाथा टी०। ''आमे णाममेगे'' (सूत्र-२५३×)। आमम्-अपक्वम्। (स्था०) पुरुषस्तु आमः- वयःश्रुताभ्यामव्यक्तः। स्था० ४ठा०१ उ०। ''आमं ओमं च भुंजीया''॥२०४॥ आमम्-अपक्वम्। आ०म० १ अ०।

आमनिक्षेपश्च-

नामं ठवणाआमं, दव्वाऽऽमं चेव होअ भावाऽऽमं।
उस्सेइमसंसेइम- मुवक्खडं चेव पलिआमं॥३२॥

आमं चतुर्द्धा। तद्यथा-नामाऽऽमम् १, स्थापनाऽऽमम् २, द्रव्याऽऽमम् ३, भावाऽऽमम् ४। तत्र नामस्थापने गतार्थे द्रव्या- ऽऽमं पुनश्चतुर्द्धा,तदेव दर्शयति-'उस्सेइम' इत्यादि, उत् ऊर्ध्वं निर्गच्छता वाष्पेण यः स्वेदः स उत्स्वेद उत्स्वेदेन निर्वृत्तं उत्स्वेदिमम्। भावादिमः॥६।४।२१॥ इति सूत्रेण इम प्रत्ययः। उत्स्वेदिमञ्च तदामं च उत्स्वेदिमाऽऽमं १, 'संसेइम' स एका- किभावेन स्वेदः संस्वेदस्तेन निर्वृत्तं संस्वेदिमं तदेवाऽऽमम् संस्वेदिमाऽऽमम् २, तथोपस्कृता राद्धा ये वल्लवणकादयस्तेषां मध्ये यदामं तदुपस्कृताऽऽमम् ३। पर्यायः स्वाभाविक औपाधि- को वा फलानां पाकः परिणामस्तस्मिन् प्राप्तेऽपि यदामं तत्प- र्यायाऽऽमम् ४।

अथोत्स्वेदिमादिचतुष्टयमेव व्याचष्टे-

उस्सेइम पिट्ठाई, तिलाईं संसेइमं तुऽणेगविहं।
कंकडुयाइ उवक्खड, अविपक्करसं तु पलियामं॥३३॥

उत्स्वेदिमम्-पिष्टादिपिष्टम्, सूक्ष्मतन्दुलादिचूर्णनिष्पन्नं त द्वि वस्त्रान्तरितमधःस्थितस्योष्मोदकस्य वाष्पेनोत्स्विद्यमानं पच्यते तत्र यदामं तदुत्स्वेदिमाऽऽमम्, आदिग्रहणाद्धरोला दिपरिग्रहः। संस्वेदिमं पुनस्तिलादिकमनेकविधम्। इह क्वचित् पिठरादौ पानीयं तापयित्वा पिटिकायां प्रक्लृप्तास्तिलास्तेनोष्णोदकेन सिद्धयन्ते ततस्तिलाः संस्विद्यन्ते तेषां संस्विन्नानां मध्ये ये आमास्तत् संस्वेदिमाऽऽमम्, आदिग्रहणेन-यदन्यदप्येतेन क्रमेण संस्विद्यते तत् संस्वेदिमाऽऽमम्,। तथा चण-कमुद्गादीनामुपस्कृतानां ये कङ्कुटुकादय आमास्ते उप- स्कृताऽऽमम्, पर्यायाऽऽमम् पुनरविपक्करसफलादिकमुच्यते, तच्चतुर्विधम्।

तद्यथा-

इन्धणधूमे गंधे, वच्छप्पमियामए च आमविही।
एसो खलु आमविही, तपच्चो आणुपुव्वीए॥३४॥

इन्धनपर्यायामम् १, धूमपर्यायामम् २, गन्धपर्यायामम् ३, वृक्षपर्यायाममपीत्येवं पर्यायामे आमविधिश्चतुःप्रकारः ४। एष खलु आमविधिर्ज्ञातव्यः। आनुपूर्व्या यथोक्तयाऽद्धा आनुपूर्व्वीनाम- वक्ष्यमाणलक्षणा पलालवेष्टनगर्त्ताखननकरीषप्रक्षेपणादिका यथायोग- मामफलपाचनाय रचना, तया ज्ञातव्यः आमविधिरिति।

अथेन्धनधूमपर्यायाऽऽमे विवृणोति-

कोद्दवपलालमाई, धूमेणं तिंदुगाइ पच्चंते।
मज्झगडा मगणि पेरं-ततिंदुया छिद्दधूमेणं॥३५॥

कोद्रवपलालादिकमिन्धनमुच्यते, आदिग्रहणेन शालिप- लालपरिग्रहः तेन चाम्रादीनि फलानि वेष्टयित्वा पाच्यन्ते, तत्र यान्यपक्वानि फलानि तदिन्धनपर्यायामम्। तथा धूमेन तिन्दुका- दीनि फलानि पाच्यन्ते। कथं पाच्यन्त? इत्याह- 'मज्झगडा' इति-प्रथमतो गर्त्ताया मध्ये करीषः प्रक्षिप्यते, तस्याश्च गर्त्तायाः पार्श्वेष्वपरा गर्त्ताः स्वन्यन्ते, तासु च गर्तासु तिन्दुकादिनि फलानि प्रक्षिप्य मध्यमायां करीषगर्त्तायाम् 'अगणि' त्ति- अग्निर्दीयते तासां च 'पेरंत' त्ति-पर्यन्तगर्तानां श्रोतांसि मध्यमगर्त्तया सह-मीलितानि क्रियन्ते। ततस्तस्याः करीषगर्त्तायाः सकाशाद्धूमस्तैः श्रोतोभिः पर्यन्तगर्त्तासु प्रविशति ततस्तच्छिद्रसंबन्धिना धूमेन प्रसरता तानि फलानि पाच्यन्त इति तेषां मध्ये यद्-आमं तद्धूमपर्यायाऽऽमम्।

अथ गन्धपर्यायाऽऽमे भावयति-

अंबगचिब्भिडमाई, गंधेणं जं च उवरि रुक्खस्स।
कालपत्तं न पच्चइ, वत्थपलियाममंतं तु॥३६॥

आम्रकचिर्भिटादीनि आदिशब्दात्-बीजपूरकादीनि या न्यपक्वानि फलानि तेषां मध्ये पक्वानि प्रक्षिप्यन्ते। तेषां गन्धेन प्राक्तनान्यामकानि पच्यन्ते। तत्र यदपक्वं फल तद्गन्ध- पर्यायामम्। तथ-बीजं चेति। चशब्दस्य पुनरर्थत्वाद्यत्पुनर्वृक्ष- स्योपरि शाखायां वर्त्तमानं काले वसन्तादिलक्षणे पाकसमये प्राप्तेऽपि परिपक्वेष्वपरफलेषु न पच्यते तद्वृक्षपर्यायाऽऽमम्। व्याख्यातं चतुर्विधमपि पर्यायाऽऽमम्। तद्व्याख्याने च समर्थितं द्रव्याऽऽमम्।

अथवा भावाऽऽमस्य रूपं निरूपयति-

भावाऽऽमं पि य दुविहं, वयणाऽऽमं चेव णो य वयणाऽऽमं।
वयणाऽऽमं अणुमयत्थे, आमं ति हि जो वदे वक्कं॥३७॥
नोवयणाऽऽमं दुविहं, आगमतो चेव नोआगमतो।
आगमेनोणुवउत्तो, नोआगमओ इमं होई॥३८॥

भावाममपि द्विविधम्-वचनामं चैव, नोवचनामम्। वचनरूपमामं वचनामम्, अनुमतार्थे आममिति। यद्वाक्यं वचनं वदेत्तद्वचनामम्। यथा कोऽपि साधुर्गुरूणां कार्येण गच्छन्नपरेण पृष्टः-आर्य! किं गुरुकार्येण गम्यते? स प्रत्याह-आमम्; एवमेतदित्यर्थः। नोवचनामं द्विविधम्- आगमतश्चैव, नौआगम- तश्च। तत्राऽऽगमत आमपदार्थज्ञानयुक्तं, तत्र चोपयुक्तः उपयो- गस्य भावरूपत्वात् ज्ञानस्य चागमरूपत्वात्। नोआगमतो- भावाममपीदं भवति।

तदेवाह-

उग्गमदोसाईया, भावतो असंजमो अ आमविही।

अन्नो वि य आएसो, जो वरिससयं न पूरेइ ॥३९॥

उद्गमदोषाः-आधाकर्मादयः आदिग्रहणाद् -उत्पादनपदोषा, एषणादोषाश्च; एतद भावामं प्रतिपत्तव्यम्। तथा चाचाराद्- ङ्गसूत्रम्- ''सव्वाऽऽमगंधं परिन्नाय, निरामगंधो परिव्ववए'' (सूत्र-८७+) (आचा०१, श्रु०२ अ०५ उ०।) असंयमश्च पृथिव्याद्यु- पमर्द्दलक्षणो भावतः आमविधिरेव ज्ञातव्यश्चरित्राऽपक्वताका- रणात्। यद्वाऽन्योऽपि आदेशः- प्रकारो भण्यते-यो वर्षशतायुः पुरुष आयुष्कोपक्रमेण वर्षशतमपूरयित्वा म्रियते सोऽपि भावत आमः; आयुषःपरिपाकमन्तरेण मरणात्। अत्र च द्रव्याणामधि- कारसूत्रेऽपि वृक्षपर्यायाऽऽमेण शेषाणामुच्चारितसदृशतया विनेयव्युत्पादनार्थं प्रसङ्गतः प्ररूपितत्वात्। व्याख्यातमामपदम्। बृ०१ उ०२ प्रक०। नि०चू०। अपरिशुद्धे, आचा०। ''सव्वाऽऽमगंधं परिण्णाय'' (सूत्र-८७×)। आमम्अपरिशुद्धम्। आचा०१ श्रु०२ अ०५ उ०। ''णिरामगंधे धिइमं ठितप्पा'' (सूत्र-५+) निर्गतः-अपगत आमः- अविशोधिकोट्याख्यस्तथा गन्धो-वि- शोधिकोटिरूपो, यस्मात्स भवति निरामगन्धः; मूलोत्तरगुणभेद- भिन्नां चारित्रक्रियां कृतवानित्यर्थः। सूत्र०१ श्रु ६ अ०। अम करणे घञ्। रोगमात्रे, वैद्यकोक्ते षड्विधे अजीर्णे, रोगभेदे, वाच०। अजीर्णरोगभेदे च। तत्लक्षणम्- ''आमे तु द्रवगन्धित्वम्'' (ध०)। व्याख्या द्रव्यस्यगूथस्य क्लथितनक्रादेरिव गन्धो यस्यास्ति तत्तथा तद्भावस्तत्त्वमिति। ध०१ अधि०१० श्लोक टी०।

आमइ-(न्) पुं० (आमयिन्)। आमयो रोगः स येषां विद्यते ते आमयिनः। रोगिणि, व्य०।

नाउं तिविहामयाणं, देइ लहाओ सह गणं तु॥२५८॥

त्रिविधतापादिजन्यरोगयोगतस्त्रिप्रकारा आमया-रोगाः स येषां ते आमयिनः त्रिविधाश्च ते आमयितश्च तेषां त्रिविधामयिनाम्। व्य०१ उ०

आमंतण-न०। (आमन्त्रण)- आ मन्त्र ल्युट् अभिनन्दने, संबोधने, कामचारानुज्ञारूपे, क्रियाभेदेषु प्रवर्तनव्यापारे च। व्यापरे च। युच्। आमन्त्रणाप्यत्र। स्त्री०। वाच० प्रच्छन्ने, आचा०। ''अणामं ति या परिट्ठवेति'' (सूत्र-५४+) अनापृच्छ्य प्रमादितया परिष्ठापयेत्। आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०९ उ०। ''समणामंतणखमणे''॥११०×॥ आचार्य्येण स्वगणस्य- स्वगच्छस्याऽऽमन्त्रणं प्रच्छन्नं कर्त्तव्यम्। व्य०१ उ०। (स्त्रीपुरुषयोर्वक्त- व्याक्तव्यामन्त्रणवचनानि 'भासा' शब्दे षष्ठे भागे ''तहेव काणं काण'' त्ति (१२) इत्यादि दशवैकालिक ७ सप्तमाध्ययनस्थगाथाभिर्वक्ष्यते)। ''करेमि भंते! सामाइयं'' (ध०) 'भंते' इति गुरोरामन्त्रणम्। (ध०) आमन्त्रणं च प्रत्यक्षस्य गुरोः, तदभावे परोक्षस्याऽपि बुद्धया प्रत्यक्षीकृतस्य भवति, गुरोश्चाभिमुखीकरणेन सर्वो धर्मः गुरुपादमूले तदभावे स्थापनासमक्षं कृतः फलवानिति। ध०२ अधि०७ श्लोक। (भदंत' शब्दे षष्ठे भागे विस्तरम्)

आमंतणी-स्त्री०। (आमन्त्रणी)- असत्यामृषाभाषाभेदे, संथा०७ गाथाटी०। आमन्त्रणी-हे ३ देवदत्त इत्यादिरूपा। एष । हि प्रागुक्तभाषात्र- यविलक्षणत्वान्न सत्या, ग मृषा, नापिसत्यामृषा, केवलव्यवहार- मात्रप्रवृत्तिहेतुरित्यसत्यामृषा एव, भावना कार्य्या। ध०३ अधि० ४३ श्लोक टी०। दश०। विभक्तिभेदे च। ''अट्ठमाऽऽमं- तणीभवे''॥२॥ (सूत्र-१२९+) अष्टमी संबुद्धिः- आमन्त्रणी भवेत्; आमन्त्रणार्थे विधीयत इत्यर्थः। अनु०। स्था०।

आमंतणी भवे अट्ठ-मी य जह हे ३ जुवाण ! त्ति ॥६॥ (सूत्र-६०९+)

अष्टम्यामन्त्रणी भवेदिति। सु-औ-जसिति प्रथमापीयं विभक्तिरामन्त्रणलक्षणास्यार्थस्य कर्मकरणादिवत्। लिङ्गार्थ- मात्रातिरिक्तस्य प्रतिपदाकत्वेनाष्टम्युक्ता, यथा हे ३ युवन् इति। स्था०८ ठा० ३ उ०। इदं चानुयोगद्वारानुसारेण व्याख्यातम्, आदर्शेषु आमन्त्रणेति दृश्यते। स्था०८ ठा० ३ उ०। ''आमंतणी भवे अट्ठ-मी उ जहा हे ३ जुवाण त्ति'' (सूत्र-१२९+)। आमन्त्रणी भवेदष्टमी, यथा हे-३ युवन्निति वृद्धवैयाकरणदर्शनेन चेयमष्टमी गण्यते, ऐदंयुगीनानां त्वसौ प्रथमैवेति मन्तव्यमिति। अनु०। 'असत्यामृषा-आज्ञ्यण्याज्ञापनादिका। आचा०२ श्रु १ चू०४ अ०१ उ० १३४ सूत्र टी। ('भासा' शब्दे पञ्चमभागे दशवैकालिकसप्तमाऽध्ययना-द्वितीयोद्देशक ''आमंतणि०'' २७६ इत्यादिगाथया बहुविस्तरं कथयिष्यामि)

आमंतित्ता-अव्य० (आमन्त्र्य)- आ मन्त्र- ल्यप्। सम्बोध्येत्यर्थे, वाच०।

अज्जो! त्ति समणे भगवं महावीरे गोतमादी समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी-किंभया पाणा? समणाऽऽउसो! (सूत्र-१६६+)

'अज्जो' इत्यादि, सुगमम्। केवलम् 'अज्जो त्ति' त्ति- आरात्- पापकर्मभ्यो याता आर्याः तदामन्त्रणम् हे-३ आर्या! 'इति' एवमभिलापेनाऽऽमन्त्र्येति संबन्धः, श्रमणो भगवान् महावीरः गौतमादीन् श्रमणान् निर्ग्रन्थानेवम् -वक्ष्यमाणन्यायेनाऽवादी-दिति, कस्माद् भयं येषां ते किंभयाः; कुतो विभ्यतीत्यर्थः, प्राणाः-प्राणिनः 'समणाऽऽउसो' त्ति- हे ३ श्रमणाः हे ३ आयु-ष्मन्तः इति गौतमादीनामेवाऽऽमन्त्रणमिति। स्था०३ ठा०२ उ०।

आमंतिय-त्रि०। (आमन्त्रित)- आ-मन्त्र क्त। अनावश्यके कर्मणि नियोजिते, वाच०। ''पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अपडिसुणमाणे णो एवं वदेज्जा'' (सूत्र-१३५+)। आचा०२ श्रु०१ चू०४ अ०३ उ०। वाच०। परिभाषितायां सम्बोधनार्थे प्रथमायां विभक्तौ, न०। ''सामन्त्रितम्'' पाणिनिः। सम्बोधने या प्रथमा साऽऽमन्त्रितसंज्ञा स्यात्। सि० कौ०। ''आमन्त्रितं पूर्व्वमविद्यमानवत्'' नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् पा०। निमन्त्रिते, त्रि०। ''प्रातरामन्त्रितान् विप्रान्'' वाच०।

***आमन्त्रय**-अव्य०। आ-मन्त्र-ल्यप्। सम्बोध्येत्यर्थे वाच०। आमंतिय उस्सविया, भिक्खु आयसा निमंतंति''॥५×॥

स्त्रियो हि स्वभावेनैवाऽकर्त्तव्यप्रवणाः, साधुमामन्त्र्य- यथा ऽहममुकस्यां वेलायां भवदन्तिकमागमिष्यामीत्येवं संकेतं ग्राहयित्वा (सूत्र०) भर्तारम् आमन्त्र्य-आपृच्छ्य अहमिहाऽऽ- याता। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

आमंतेमाण-त्रि० (आमन्त्रयत्)।- आपृच्छति, आचा०। ''पुमं आमंतेमाणे आमंतिते वा'' (सूत्र-१३५) आचा०२ श्रु०१ चु० ४ अ० ३ उ०।

आमंद-पुं० (आमन्द्र)।- ईषन्मद्रः। प्रा० स०। ईषद्गम्भीर शब्दे, ''आमन्द्रमन्थध्वनिदत्ततालम्'' भट्टिः। तद्युक्ते त्रिः। वाच०। **सर्वत्र लवरामचन्द्रे॥८।२।७९॥** इति रलुक्। प्रा०।

आगम-त्रि० (आमक)।- अपक्वे, भ० १५ श० १ उ० ५५४ सूत्र टी०। ''आमगमल्लगभूया'' (सूत्र-७९+) आमकमल्लकभूता- अपक्वशरावकल्पा जलसंपर्कं क्षणेन विलयनात्।ज्ञा० १ श्रु० ९ अ०। अशस्त्रोपहते च। दश०। ''आमगं विविहं बीयं''॥१०×॥ आमकम्- अशस्त्रोपहतम्। दश० ८ अ २ उ०। आचा०। ''फले बीए य आमए''॥७॥ आमकं-सचित्तम्। दश० ३ अ०।

आमगंध-न० (आमगन्ध)।- आमं च गन्धश्च आमगन्धम्। समाहारद्वन्द्वः। अविशुद्धकोट्यन्तर्गतेषु आधाकर्मादिषु, आचा०। ''सव्वाऽऽमगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए'' (सूत्र-८७+)। सर्वञ्च तदामगन्धञ्च सर्वाऽऽमगन्धं, सर्वशब्दः प्रकारकात्स्न्यर्ऽत्र गृह्यते; न द्रव्यकात्स्न्यर्, आमम्- अपरिशुद्धं, गन्धग्रहणेन तु पूतिर्गृह्यते । ननु च पूतिद्रव्यस्याप्यशुद्धत्वादामशब्दे- नैवोपादानात्किमर्थं भेदेनोपादानमिति? सत्यम्, अशुद्धसामान्याद् गृह्यते, किं तुपूतिग्रहणेनेह आधाकर्मा- द्यविशुद्धकोटिरुपात्ता, तस्याश्च गुरुतरत्वात्प्राधान्य-ख्यापनार्थं पुनरुपादानं, ततश्चायमर्थः- गन्धग्रहणेन-आत्मकर्म १, औद्देशिकत्रिकं २, पूतिकर्म्म ३, मिश्रजातं ४, बादरप्राभृतिका ५ अध्यवपूरक ६, श्वेते षडुद्गमदोषा अविशुद्धकोट्यन्तर्गता गृहीताः शेषास्त्रयो विशुद्धकोट्यन्तर्भूता आमग्रहणेनोपात्ता द्रष्टव्या इति, सर्वशब्दस्य च प्रकारकात्स्न्याभिधायकत्वाद्यद्येन केनचित्प्रकारेण आमम्- अपरिशुद्धं पूतिर्वा भवति तत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया निरामगन्धः निर्गतावामगन्धो यस्मात् स तथा परिव्रजेत्- मोक्षमार्गे ज्ञानदर्शनचारित्राख्ये परिः-समन्ताद् गच्छेत्; संयमानुष्ठानं सम्यगनुपालयेदिति यावत्। आचा०१ श्रु०२ अ०५ उ०।

आमगोरस-पुं० (आमगोरस)। आमं च तद् गोरसं च आमगोरसम्। कच्चदुग्धदधितक्रादिके, ध० २ अधि० ३४ श्लोक टी०।

आमज्जण-न० (आमार्जन)। सकृत् कर्दमादिशोधने, आचा०। ''णो आमज्जेज्ज वा'' (सूत्र-२६+) नैव सकृदामृज्यान्नाऽपि पुनः पुनः प्रमृज्यात्; कर्दमादि शोधयेदित्यर्थः। आचा० २ श्रु०१ चू० १ अ० ५ उ०। ''आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ'' (सूत्र-१६+)। नि० चू० १७ उ०। ''आमज्जावेज्ज वा पमज्जावेज्ज वा आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ'' (सूत्र-२२×) नि० चू० १७ उ०। (अनयोः सूत्रांशयोः व्याख्या 'अण्णमण्णकिरिया' शब्दे प्रथमभागे ४८० पृष्ठे गता)

जे भिक्खू अप्पणो अच्छिणी आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं साइज्जइ ॥६०॥

''अच्छीणि वा आमज्जति णाम अच्छिपत्तरोमे संठवेति पुणो पुणो करेंतस्स पमज्जणा। अहवा-बीयकणगादीणं सकृत् अवणयणे आमज्जणा पुणो २, पमज्जणा। नि० चू० ३ उ०। मृदुगोमयादिना लिम्पने च। व्य० ४ उ० २७ गाथा टी०।

आमज्जंत- आमज्जमाण त्रि० (आमार्जयत्)सकृत् हस्तादिना । शोधयति, नि० चू०। ''आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ'' (सूत्र-६०×) नि० चू० ३ उ०। ''आमज्जमाणे वा'' (सूत्र-३६×) आमार्जयत्-सकृत् हस्तादिना शोधयन्। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ०।

आमडाग-न० (आमडाग)।- अर्द्धपक्वे, अपक्वे च। अरणिक-तण्डुलीयकादिके, आचा०। ''सेज्जं पुण जाणेज्जा आमडागं वा'' (सूत्र-४६×) 'आमडागं वा' इति-आमपत्रम्- अरणि-कतण्डुलीयकादि तच्चार्द्धपक्वम्, अपक्वम्वा। आचा०२ श्रु०१ चू० १ अ०८ उ०।

आमतर-त्रि० (आपतर)। अतिशयेन प्रापके, रा०। ''मणामतराए चेव'' (सूत्र--+)। द्रष्टॄणां मनांसि आप्नुवन्ति-आत्मवशतां नयन्तीति मनआपस्ततः प्रकर्षविवक्षायां तरप्रत्ययः प्राकृतत्वाच्च पकारस्य मकारे मणामतरा इति भवति। रा०।

आममल्लगरूव-त्रि० (आममल्लकरूप)। अपक्वशरावतुल्ये, तं०। आममल्लगरूवे, निव्वेयं वच्चह सरीरे''॥३२॥ ११६) आदितः गाथाङ्कः)॥ (सूत्र-१८+) अपक्वशरावतुल्ये शरीरे निर्वेदं वैराग्यं व्रजत। तं०।

आममहुर-न० (आममधुर)। आममिव मधुरमाममधुरम्। ईषन्मधुरे फले, ''आमे णामं एगे आममहुरे'' (सूत्र-२५३+)। स्था० ४ ठा १ उ०।

आमय-पुं० (आमय)। आमं रोगं यात्यनेन करणे घञर्थे कः। आ। मीञ् हिंसायाम्। करणे अच् वा। रोगे, अनामयः निरामयः। ''समौ हि शिष्टैराम्नातौ, वर्त्स्यन्तावामयः स च'' माघः। वाच०। व्य० १ उ० २५८ गाथा टी०।

आमयकरणी-स्त्री० (आमयकरणी)। विद्याभेदे, सूत्र०२ श्रु०२ अ० ३० सूत्र टी०।

आमयभाव-पुं० (आमयभाव)। रोगोत्पत्तौ, दश०। ''निरामयाऽऽमय-भावा''॥२२६॥×। निरामयामयभावात् निरामयस्यःनीरोगस्याऽऽमय-भावाद्रोगोत्पत्तेः उपलक्षणं चैतत्साऽऽमयनिराम- यभावस्य तथा चैव वक्तार उपलभ्यन्तेपूर्वं निरामयोऽहमासं, सम्प्रति साऽऽमयो जातः। दश० ४ अ०।

आमयि-त्रि० (आमयिन्) रोगिणि, व्य०। ''नाउं तिविहामयीणं'' ॥२५८+॥ ज्ञात्वा त्रिविधा वातादिजन्य

रोगयोगतस्त्रिप्रकारा आमयो-रोगः स येषां विद्यते, ते आमयिनः। व्य० १ उ०। ''नाउं तिविहामइणं''॥१२३×॥ 'आमइणं' ति- आमती- रोगत्तो, आमती जस्स अत्थि सो आमती मणुस्सो भण्णति। नि० चू० २० उ०।

आमरकुंड-न० (आमरकुण्ड)- तैलङ्गजनपदस्थे स्वनामख्याते नगरे, ती०। ''आमरकुण्डनगरे, तैलङ्गजनपदविभूषणे रुचिरे ॥ गिरिशिखरभुवनमध्य-स्थिता जयति पद्मिनी देवी ॥१॥'' ती० ५३ कल्प। (अस्मिन् विषये बहुवृत्तम् 'पउमिणी' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते)

आमरणंत-अव्य० (आमरणान्त)- मृत्युलक्षणावसानं यावदित्यर्थे पञ्चा०। ''आमरणंतमजस्सं, संज परिपालणं विहिणा''॥४९॥ आमरणान्तम् मृत्युलक्षणावसानं यावद् पञ्चा० ७ विव०। ''एअस्स पायमूलं, आमरणंतं न मोत्तव्वं''॥१३५७॥ एतस्यगुरोः पादमूलं-समीपमामरणान्तं न मोक्तव्यं- सर्वकालम्। पं०व०।

आमरणंतदोस-पुं० (आमरणान्तदोष)- मरणमेवान्तो मरणान्तः आमरणान्तात्- आमरणान्तमसंजाताऽनुतापस्य काल-सौकरिकादेरिव या हिंसादिप्रवृत्तिः सैव दोष आमरणान्तदोषः रौद्रध्यानस्य लक्षणभेदे, भ०। ''आमरणंतदोसे'' (सूत्र-८०३+) भ० २५ श० ७ उ०। स्था०। ग०। औ०। ''नाना-विहाऽमरणदोसा॥२६×॥'' महदापद्गतोऽपि स्वतः महदापद्गतेऽपि च परे आमरणादसंजाताऽनुताप, कालसौकरिकवत्, अपि तु-असमाप्तानुतापानुशय पर इत्यामरणदोष इति। आव० १ अ०। आमरणन्तदोसो जथा पव्वतराई; परिगिलायमाणस्स वि आगतपच्चादेसस्स थोवो वि पच्छाणुताओ न भवति, अवि मरणकालेऽवि जस्स कालसोयरियस्सेव ण ताओ उवरतो भवति, एस आमरणन्तदोसो। आ०चू० १ अ० १२५८ गाथाचूर्णिः।

आमरिस-पुं० (आमर्श)- आ-मृश। स्पर्शे, घञ्। सम्यक् स्पर्शे, ल्युट। आमर्शनमप्यत्र। न०। वाच०।

***आमर्ष**-पुं० आमर्षणमामर्ष संस्पर्शने, विशे० ७७९ गाथा टी०। आ०म०। **र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा ॥८।२।१०५॥** इति हैमप्राकृत- सूत्रेण र्श-र्षयोः संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारो वा। प्रा०। आ-मृष घञ्। कोपे, असहने, सम्यग् विवेके। वाच०।

आमलईकीडा-स्त्री० (आमलकीक्रीडा)- क्रीडाभेदे, तथा च भवगतो महावीरस्य वर्णकमधिकृत्य-समानवयोभिः कुमारैः सह क्रीडां कुर्वाणः आमलकीक्रीडानिमित्तं पुराद् बहिर्जगाम, तत्र च कुमारा वृक्षारोहणादिप्रकारेण क्रीडन्ति स्म। कल्प० १ अधि० ५ क्षण। (आमलकीक्रीडाकरणसमये देवलोके शक्रकृतभगवत्प्र- शंसां श्रुत्वा कश्चित् मिथ्यादृष्टिर्देवः भगवद्व्यापनार्थमिहागत इति 'वीर' शब्दे षष्ठे भागे १०५ सूत्र विवरणे वक्ष्यते)

आमलकप्पा-स्त्री० (आमलकल्पा)- स्वनामख्यातायां नगर्याम् विशे०। ''आमलकप्पा णयरी, मित्तसिरी कूरपिउडाई''॥२३३४॥ आमलकल्पायां नगर्यां गतः, तत्र च मित्रश्रीनाम्ना श्रावकेण कूरपिउडादिना-कूरसिक्थादिदानेन प्रतिबोधित इत्यर्थः। विशे०। आ० क०। आ०चू०। आ०म०। आव०। उत्त०। रा०। ''इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पानामं नयरी होत्था।'' (सूत्र-१४८) ज्ञा० २ श्रु० १ अ०।

आमल-पुं० (आमल)- बहुबीजकेवृक्षभेदे, ''आमलपाणगं वा २०,'' (सूत्र-४३४×) आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ०।

आमलग-पुं० (आमरक)- सामस्त्येन मार्य्याम् स्था० १० ठा०। (सूत्र-७५५×) तदर्थप्रतिबद्धे कर्मविपाकदशाया नवमेऽध्ययने च। न०। स्था०

तद्वक्तव्यता यथा-

सहसुद्दाहे आमलए (सूत्र-७५५+)

'आमलए त्ति- रश्रुते'र्लश्रुत्तिरित्यामरकः सामस्त्येन मारिः, एवमर्थप्रतिबद्धं नवमं, तत्र किल सुप्रतिष्ठे नगरे सिंहसेनो राजा श्यामाभिधानदेव्यामनुरक्तस्तद्वचनादेवैकोनानि पञ्चशतानि देवीनां तामिमारविषूणि ज्ञात्वा कुपितः सन् तन्मातृणामेकोन- पञ्चशतान्यु-पनिमन्त्र्य महत्यगारे आवासं दत्त्वा भक्तादिभिः सम्पूज्य विश्रब्धानि सदेवीकानि सपरिवाराणि सर्वतो द्वारबन्धनपूर्वकमग्निप्रदानेन दग्धवांस्ततोऽसौ राजा मृत्वा च षष्ठ्यां गत्वा रोहीतके नगरे दत्तसार्थवाहस्य दुहिता देवदत्ताभिधानाऽभवत्, सा च पुष्यनन्दिना राज्ञा परिणीता, स च मातुर्भक्तिपरतया तत्कृत्यानि कुर्वन्नासामास तया च भोगविघ्नकारिणीति तन्मातुर्ज्वलल्लोहदण्डस्यापान-प्रक्षेपात्सहसा दाहेन वधो व्यधायि। राज्ञा चासौ विविधविडम्बनाभिर्विडम्ब्य विनाशितेति। विपाकश्रुते देवदत्ताभिधानं नदवममिति ९। स्था० १० ठा० ३ उ०।

***आमलक**- त्रि० आ-मल्-क्विन स्त्रीत्वे गौरा०। ङीष्। बहुबीजकेवृक्षभेदे, जी० १ प्रति० २० सूत्र। प्रज्ञा०। ल० प्र०। आचा०। स्था०। ''तत्थ णं आमलगा पक्खित्ता'' (सूत्र-१४३×)। अनु०। (धात्रीवृक्षे)। वाच०। धात्रीफले च। न०। ''आमलगाइं दगाहरणं च'' (गाथा सूत्र १०×) आमलकानि-धात्रीफलानि। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

आमलगमहुर-त्रि० (आमलकमधुर)- आमलकमिव मधुरं यद्यन्यत् आमलकमेव वा मधुरमामलकमधुरम्। ईषन्मधुरे, स्था० ४ ठा० ३ उ० २३० सूत्र टी०।

आमलगमहुरफलसमाण-पुं० (आमलगकमधुरफलसमान)ईषदुप-शमादिगुणलक्षणमाधुर्य्यवति पुरुषभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ० २३० सूत्र टी०।

आमलगरस-पुं० (आमलकरस)- धात्रीफलरसे, ''शिशिरे चामल-करस०'' सूत्र १, श्रु० ८ अ० ९३ गाथा टी०।

आमलगरसिय-त्रि० (आमलकरसित)- आमलकरससंसृष्टे, विपा०। ''आमलगरसियाणि य'' (सूत्र-२९+)। आमलकरससं- सृष्टानीति। विपा० १ श्रु० ८ अ०।

आमाऽभिभूय-त्रि०(आमाऽभिभूत)अपक्करसेनाभिभूते, विपा०। ''आमाभिभूयगत्ता'' (सूत्र-+) आमेनअपक्करसेन विपा०।

आमिस-न० (आमिष)- आमिषति स्नेहम्- अम-टिषच्दीर्घश्च वा-मांसे स्नेहातिरेकात्तस्य तथात्वम्। वाच०। ''ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहि ते दुही ॥३॥'' **ढङ्कैः ढङ्कैश्च** पक्षिविशेषैरन्यैश्च मांसवशार्थिभिर्मत्स्यबन्धादिभिः। सूत्र १, श्रु० १ अ० ३ उ०। आहारे, ''इत्तो चिय फुल्लाऽऽमिस''॥२६+॥ पञ्चा० ६ विव०। मांसादिके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ३८५ सूत्रटी०। ज्ञा०। अशनादिकेच्च भोग्यवस्तुनि, ध०२ अधि० ६१ श्लोकटी०। ''जं इच्छसि घेतुं जे, पुव्विं तं आमिसेण गिण्हाहि। आमिसपासनिबद्धो, काहिइ कज्जं अकज्जं वा॥१॥'' सूत्र १ श्रु० ४ अ० १ उ० ४ गाथाटी०। उत्कोचे, सुन्दररूपादौ, लोभे लोभनीये विषये च। वाच०। अभिष्वङ्गहेतौ, धनधान्यादिकेच। उत्त०। ''अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा॥४१+॥'' निष्क्रान्ता आमिषात्- विषयादिपदार्थात् इति निरामिषा-विषयादयः पदार्था हि विषया जीवानां गृद्धिहेतुत्वादामिषोपमाः एतस्मादहं निर्विषया सती। उत्त० १४ अ०।

सामिसं कुललं दिस्स, वज्झमाणं निरामिसं।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामो निरामिसा॥४७॥

हे३ राजन् अहं सर्वम् आमिषम्-अभिष्वङ्गहेतुं धनधान्या- दिकम् उज्झित्वा-त्यक्त्वा निरामिषः-त्यक्तसङ्गा सती अप्रति- बद्धविहारतया विहरिष्यामि, किं कृत्वा साऽऽमिषम् (आमिषेण- पिशितरूपेण)। उत्त० पाई०। आमिषम्-अभिष्वङ्गहेतुं धन- धान्यादि। उत्त० पाई० १४ अ० ४७ गाथाटी०। आमिषसहितं कुललं-गृद्धम् अपरं पक्षिणं वा परैरिति अन्यैर्वध्यमानं- पीड्यमानं दृष्ट्वा सामिषः पक्षी हि आमिषाहारिपक्षिभिः पीड्यते। अथवा-साऽऽमिषम्-सस्पृहं, भोजनाद्यर्थं लुब्धं, कुललं-पक्षिणं परैर्वध्यमानं-पीड्यमानं दृष्ट्वा यतो हि पक्षिणो यदा गृह्यन्ते तदा तान् भक्ष्यं दर्शयित्वा पाशादिना बध्यन्ते, आमिषाहारी शकुनिस्तु आमिषदर्शनेनैव लोभयित्वा मीनवत् बध्यते, सह आमिषेणआमिषरसास्वादलोभेन वर्तते इति साऽऽमिषस्तं साऽऽमिषम्। उत्त० १४ अ०। पर्णे जम्बीरफले च। वाच०। पूजादौ निवेदनीयेऽक्षतादौ च। दर्श०। ''पुप्फाऽऽमिसथुइभेआ''॥३७×॥ पुष्पाऽऽमिषस्तुतिभेदात् त्रिधा पूजा। आमिषम्चाऽख- ण्डाऽक्षतनारङ्गनालिकेरबीजपूरकफलविमलगलितजलदधिघृ- ताऽनेकविधिनैवेद्यस्वभावम्। दर्श० १ तत्त्व। ''एत्तो चिय फुल्लामिस-थुइपडिवत्तिपूयमज्झम्मि ॥२६×॥''इत एव संपूर्णाऽऽज्ञाकरणस्य भावसाधुसाध्यत्वादेव, 'फुल्लामिसथुइपडिवत्ति- पूयमज्झंमि' त्ति-पुष्पाणि-जात्यादिकुसुमानि, उपलक्षणत्वाद्व- स्त्ररत्नादीनामिहैवान्तर्भावो वेदितव्यः आमिषम्- आहारः, इहाऽपि तथैव फलादिसकलनैवेद्यपरिग्रहो दृश्यः। पञ्चा० विव०।

आमिसत्थि (न्)-त्रि० (आमिषार्थिन्)- आमिषम्-मांसादिकम् अर्थयतः- प्रार्थयतः। मांसादिप्रार्थयितरि, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ५१ सूत्र टी०।

आमिसप्पिय-त्रि० (आमिषप्रिय)- कङ्कपक्षिणि, मांसाभिलाषिणि च। वाच०। वल्लभमांसादिके, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ५१ सूत्र टी०।

आमिसलोल-त्रि० (आमिषलोल)- आमिषलम्पटे, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ५१ सूत्र टी०।

आमिसाऽऽवत्त-पुं० (आमिषाऽऽवर्त)- आमिषं-मांसादि तद-र्थमावर्तः शकुनिकादीनामामिषावर्तः। आवर्तभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ३८५ सूत्र टी०।

आमिसाऽऽहार-त्रि० (आमिषाऽऽहार)- मांसादिभोजिनि ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ५१ सूत्र टी०।

आमुट्ठ-त्रि० (आमृष्ट)- आ-मृष-क्त। आधर्षिते, आमर्दिते च। ''आमृष्टास्तिलकरुचः स्रजो निरस्ताः'' माघः। आ-मृज-क्त। परिमार्जिते, विशोधिते च। आ-मृश-क्त। संस्पष्टे च। वाच०। विपर्यासीकृते च। ओघ०। ''हेट्ठारिया आम (मुं) ट्ठं'' (२९७+भाष्या गा०)। अधस्तादुपरि च यत् 'आमुट्ठं' विपर्य्या- सीकृतं भुङ्क्ते ओघ०। **''ऋतोऽत् ।८।१।१२६॥** ऋतः अत्त्वम्। आमृष्टम्। आमट्ठं। प्रा०।

आमुम्हिय-त्रि० (आमुष्मिक)- अमुष्मिन्-परलोके भवः ठक् सप्तम्याः अलुक् टिलोपः। वाच०। अमुत्र भवः आमुष्मिकः। द्वितीयेऽतीचारभेदे, परलोकसम्बन्धिनि स्वर्गसुखादौ, ध० ३ अधि० १४८ श्लोक। परभवविपाकप्रदर्शके, द्वा०। ''महानामुष्मिकोऽपि च॥१७॥'' आमुष्मिकोऽपि-परभवे विपाकप्रदर्शकोऽपि। द्वा०। ७ द्वा०। ''शास्त्रमासन्नभव्यस्य, मानमामुष्मिके विधौ''॥२०+॥ आमुष्मिके विधौ-पारलौकिके कर्मणि। शास्त्रं मानम्। धर्माऽधर्मयोरतीन्द्रियत्वेन तदुपायत्वबोधने प्रमाणान्त- रासामर्थ्यात्। द्वा० १४ द्वा।

आमुसंत-त्रि० (आमृशत्)- सकृदीषद् वा स्पृशति, दश० ४ अ० ११ सूत्रटी०। ''सुयं मे आउसंतेणं'' (सूत्र-१×)।

***आमृशता**-भगवत्पादारविन्दं करयुगलादिना स्पृशता। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। स्था०।

आमुसमाण-त्रि० (आमृशत्)- ईषत् स्पृशति, भ०। ''आमुसमाणे वा संमुसमाणे वा'' (सूत्र-३२५+) आमृशन; ईषत्स्पृशन्नित्यर्थः। भ० ८ श० ३ उ०।

आमूल-न० (आमूल)- अभिव्याप्त्या कारणे, षो०। ''आमूलमिदं परमं, सर्वस्य हि योगमार्गस्य''॥१६॥ आमूलमअभिव्याप्त्या कारणम्। षो० १३ विव०।

आमेट्ठ (गा) घर-न० (आमेष्टकागृह)- अपक्वेष्टकागृहे, व्य०। ''सेलियकाणिट्ठघर, पक्वेऽट्ठाऽऽमेयपिंडदारुघरे''॥५५५+॥ आमा-अपक्वास्ताभिरिष्टकाभिः कृतं गृहम्- आमेष्टकागृहम्। व्य० ४ उ०। **गृहस्यघरोऽपतौ ॥८।२।१४४॥** इति घरः प्रा०।

आमेल आवेडपुं० (आपीड) आ-पीड-अच्। शेखरके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० १२४ सूत्रटी०। **'एत्पीयूषापीडबिभी- तककीदृशेदृशे''॥८।१।१०५॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेणे- कारस्यैत्वम्। प्रा०। **''नीपापीडे मो वा''॥८।१।२३४॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण पस्य वा० मः।

आमेलो प्रा०। **'डो ल:''**॥८।१।१०२॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेर्डस्य प्रायो ल:। आमेलो। आवेडो। प्रा०। शिखामाल्ये शिरोभूषणे, वाच०। ''वणमालाऽऽमेलमउल-कुंडलसच्छंदविउव्वियाभरणचारुभूसणधरा'' (सूत्र-४७×) 'आमेल' त्तिआपीडशब्दस्य प्राकृतलक्षणवशत आपीड:- शेखरक:। प्रज्ञा०२ पद। जी०। 'आविद्धतिलयामेलाणं'' (सूत्र×) आविद्धस्तिलक आमेलश्च शेखरको यकाभिस्ता आविद्धतिलका-ऽऽमेलास्तासाम् ।रा०।

आमेलग-पुं० (आपीडक)-शेखरके, भ०। ''णीलुप्पलकया- मेलएहिं'' (सूत्र-३८०×)। 'आमेल' त्ति आपीड: शेखर:। भ०८ श०३ उ० ज्ञा०। ''आमेलगओ'' (सूत्र-१२९+) आमेलक:- आपीड:; शेखरक इत्यर्थ:, जी०३ प्रति०१ उ०। ''आमेलग'' (सूत्र-२४×)आपीड:-शेखर एव स्तनप्रस्तावाच्चुक- स्तत्प्रधानौ आमेलकौ वा परस्परमीषत्संबद्धौ। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। गृहबहिर्निस्सृतकाष्ठे च आपीडकमात्रे, त्रि०। वाच०।

***आमेलक**-त्रि० परस्परमीषत्सम्बद्धे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०२४ सूत्र टी०।

***आमोडक**-पुं० पुष्पोन्मिश्रे बालबन्धविशेषे, आमोडक:- पुष्पोन्मिश्रो बालबन्धविशेष: उत्त०३ अ०१५२ गाथाटी०।

ओमक्ख-पुं० (आमोक्ष)-आमुच्यतेऽस्मिन्नित्यामोक्षणं वा आमोक्ष:। परित्यागे, आचा० १ श्रु०१ अ०१ उ०७ गाथा। अशेषकर्मक्षये सूत्र०। ''आमोक्खाए परिव्वएज्जा'' (सूत्र-२१×)। आमोक्षाय- अशेषकर्मक्षयप्राप्तिं यावत्। सूत्र०१ श्रु०३ अ०३ उ०। अशेषकर्मक्षयसाधके आचारे, आचा०। तथा चाचारैकार्थिकानधि- कृत्य- आमोक्षस्य निक्षेपो नामादिस्तत्र व्यतिरिक्तो, निगडादे: भावामोक्ष: कर्मष्टिकोद्वेष्टनमशेषमेतत् साधकश्चायमेवाचार: इति। आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ०७ गाथा टी०। (अस्यैकार्थिकानि 'आयारंग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ऽग्रे द्रष्टव्यानि)

आमोग-पुं (आमोक)- आ-मुच-घञ्-परिधाने, ल्युट आमो-चनमप्यत्र। न०। वाच०। कचवरपुञ्जे, न०।'' आमोयाणि वा (सूत्र-११६+) आमोकानि-कचवरपुञ्जा:। आचा०१ श्रु ७ अ०२ उ०।

आमोडग (लय)-न० (आमोडक)- आतोद्यभेदे, ''मुच्छिज्जंताणं आमोडगाणं'' आ० चू०१ अ०।

आमोस-पुं० (आमर्श)- आमर्शनमामर्श:। परामर्शे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०७६ सूत्र टी०। संस्पर्शे, प्रश्न०१ संव० द्वारा २२ सूत्र०। प्रव०। ग०।

***आमर्ष**-पुं० आमर्षणमामर्ष: संस्पर्शे, विशे० ७७९ गाथा टी०। आ०म०। अप्रमृज्य करेण स्पर्शने, जाग्रतोऽतिचारभेदे च। आव०। ''आमोसे ससरक्खामोसे'' अविधिनैव आमर्षणमामर्ष:, अप्र-मृज्य करेण स्पर्शनमित्यर्थ:। तस्मिन् सरजस्कामर्षे सति, सह पृथिव्यादिरजसा यद्वस्तु स्पृष्टं तत्संस्पर्श इत्यर्थ: आव०४ अ०।

आमोष-आमुष्णाति-आ-मुष-पचाद्यच्। सम्यगपहारकेचौरादौ, आमुष्-भावे घञ्। अपहरणे, वाच०।

आमोसग-पुं० (आमोषक)-आमुष्णातीत्यामोषक:। चौरे, स्था०५ ठा०२ उ०४१७ सूत्र टी०। ''आमोसगा संपिंडिया गच्छेज्जा'' (सूत्र-१३०×) आमोषका: स्तेना:। आचा०२ श्रु०१ चू०३ अ०३ उ०। ''तत्थ खलु विहरंसि बहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपिंडिया गच्छेज्जा'' (सूत्र-१५१×)। आमोषका:-चौरा:। आचा०२ श्रु:१ चू०५ अ०२ उ०।

आमोसहि-पुं० [आमर्शौ (र्षौ)षधि] आमर्शो हि हस्तादिना स्पर्श: ओषधिर्यस्य स आमर्शौषधि:। ग०२ अधि०७१ गाथा टी०। प्रव०। आमर्षणमामर्ष:-संस्पर्शनमित्यर्थ:। स एवौष- धिर्यस्यासावामर्षौषधि: करादिसंस्पर्शमात्रादेव व्याध्यप- नयनसमर्थ: लब्धिलब्धिमतोरभेदोप-चारात्साधुरेवामर्षौष- धरित्यर्थ:। विशे० ७७९ गाथाटी०। आ०म०। लब्धिभेदे, पा० १ सूत्र०। औ०। यत्प्रभावात्स्वहस्तपादाद्यवय-वपरामर्शमात्रेणैवात्मन:, परस्य वा सर्वेऽपि रोगा: प्रणश्यन्ति स आमर्शौषधि:। प्रव०२७० द्वार १५०६ गाथा। आमोसहिणाम रोगाभिभूतं अत्ताणं परं वा जवे वि तिगिच्छामि त्ति संचिंतेऊण आसुरति तं तक्खणा चेव ववगयरोगातंकं करेति त्ति। सा य अमोसहिलद्धी। सरीरेगदेसे वा सव्वसरीरे वा समुपज्जति त्ति एवमेसा आमोसहि त्ति भण्णति। आ०चू०१ अ०।

आमोसहिपत्त-त्रि० [आमर्शौ) (र्षौ) षधिप्राप्त] आमर्श:- संस्पर्श: स एवौषधि:-सर्वरोगापहारित्वात् ततपश्चरण प्रभावो लब्धि- विशेषस्तां प्राप्ता ये ते तथा। आमर्शौ (षो) षधिलब्धि- विशेषप्राप्रे, प्रश्न०। 'आमोसहिपत्तेहिं'' (सूत्र-२२×) प्रश्न०१ संव० द्वार।

आय-पुं० (आय)- आगच्छतीत्याय: द्रव्यादेर्लाभे, सूत्र १ श्रु०१० अ०१० गाथाटी०। उत्त०। आ०म०। ज्ञा०। आतु०। प्रव०। दश०। विशे०। धनागमे, वाच०। ''आयस्स हेउं पगरेइ संगं''॥१९+॥ आयस्स-लाभस्य हेतो:-कारणात्। सूत्र०१ श्रु०६ अ०। (आयं दृष्ट्वा कार्यं कुर्यादिति। ('गच्छसारणा' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते) आय:! प्राप्तिर्लाभ इत्यनार्थान्तरम्। अनु० १५४ सूत्र टी०। नि०चू०। ''गच्छपरिरक्खणट्ठा, अणागतं आउवायकुसलेणं'' ॥८६४×॥ आयो-नाम पार्श्वस्थादे: पार्श्वान्निष्प्रत्यूहसंयम-पालनादिको लाभ:। बृ०३ उ०। ''दानादिकं च लाभोचितमेव कार्यम्'' लाहोचियदाणे, लाहोचियभोगे, लाहोचियपरिवारे, लाहोचियतिहिकरे सिआ'' (सूत्र-२+)। (अस्य सूत्रांशस्य व्याख्या 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे ६८२ पृष्ठ वक्ष्यते) उक्तं चात्र लौकिकै ''पादमायान्निधिं कुर्यात्पादं वित्ताय वर्द्धयेत्। धर्मोपभोगयो: पादं, पादं भर्तव्यपोषणे''॥१॥ तथाऽन्यैरप्युक्तम् ''आयादर्द्धं नियुञ्जीत, धर्मे यद्वाऽधिकं तत:। शेषेण शेषं कुर्वीत, यतस्तत्तुच्छमैहिकम्॥१॥'' इत्यादि। पं० सू०। आ-

गच्छतीत्यायो- द्रव्यादेर्लाभस्तन्निमित्तापादितेऽष्टप्रकार-ककर्मलाभे च। ''आयं न कुज्जा इह जीविअट्ठी''॥११+॥ आगच्छतीत्यायो- द्रव्यादेर्लाभः तन्निमित्तापादितोऽष्टप्रकार-कर्मलाभः तमिहास्मिन् संसारे असंयमजीवितार्थी; भोगप्रधानजीवितार्थीत्यर्थः। यदि वा - आजीविकाभयात् द्रव्यसंचयं न कुर्य्यात्। सूत्र० १ श्रु० १० अ०। आयम्- कर्माश्रवलक्षणं न कुर्य्यात्। सूत्र० १ श्रु० १० अ० ३ गाथाटी०। उपादाने, हेतौ च। विशेष० १२२९ गाथाटी०। आयो-लाभः। प्राप्तिर्ज्ञानादीनामस्मादित्यायः। विशे० ६९१ गाथाटी०। ओघनिष्पन्ननिक्षेपेण सामान्यतः अङ्गाध्ययनोद्देशकादिकेश्रुतौ, अनु० १५४ सूत्र टी०।

तथा च-

नाणस्स दंसणस्स वि, चरणस्स य जेण आगमो होइ।
सो होइ भावणाउ, आओ लाहो त्ति एगट्ठा॥३२॥

ज्ञानस्य-मत्यादेः, दर्शनस्य चोपशमिकादेः, चरणस्य चसामायिकादेर्थेन हेतुभूतेनागमो भवति- प्राप्तिर्भवति स भवति भावाऽऽयः आयो-लाभ इति निर्दिष्टः। अध्ययनेन च हेतुभूतेन ज्ञानाद्यागमो भवतीति गाथार्थः। दश० १ अ०।

ओघनिष्पन्ननिक्षेपमधिकृत्य-

ओहो जं सामण्णं सुयाऽभिहाणं चउव्विहं तं च।
अज्झयणं अज्झीणं, आयज्मयणा य पत्तेयं॥६५८॥

इह यच्छ्रुतस्य-जिनवचनरूपस्य सामान्यमङ्गाध्ययनाद्देश- कादिकं नाम तद् ओघ उच्यते, सामान्यं शास्त्रनामेत्यर्थः। विशे०।

अथाऽऽयनिक्षेपं कर्तुमाह-

से किं तं आए? चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहानामाऽऽए १, ठवणाऽऽए २, दव्वाऽऽए ३, भावाऽऽए ४, नामठवणाओ पुव्वं भणिआओ।

'आये' त्यादि, आयः- प्राप्तिर्लाभ- इत्यनर्थान्तरम्, अस्यापि नामादिभेदभिन्नस्य विचारः सूत्रसिद्ध एवं यावत्।

से किं तं दव्वाऽऽए? दव्वाऽऽए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा- आगमओ अ, नो आगमओ अ। स किं तं आगमओ दव्वाऽऽए? आगमओ दव्वाऽऽए जस्स णं आयत्ति-पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं ०जाव कम्हा? अणुवओगो दव्वमिति कट्टु, नेगमस्स णं जावइआ अणुवउत्ता आगमतो तावइआ ते दव्वाऽऽया, ०जाव सेत्तं आगमओ दव्वाए। से किं तं नोआगमओ दव्वाए? नोआगमओ दव्वाए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा- जाणगसरीरदव्वाए, भविअसरीरदव्वाए, जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वाए। से किं तं जाणगसरीरदव्वाए? जाणगसरीरदव्वाए आयपयत्था-हिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुअचाविअचत्तदेहं जहा दव्वज्झयणे; ०जाव से तं जाणगसरीरदव्वाए। से किं तं भविअशरीरदव्वाए? भविअशरीरदव्वाए जे जीवे जोणीजम्मणणिक्खंते जहा दव्वज्झयणे ०जाव सेत्तं भविअसरीरदव्वाए। से किं तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वाए? जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वाए तिविहे पराणत्ते, तं जहा-लोइए १, कुप्पावयणिए २, लोगुत्तरिए ३। से किं तं लोइए? लोइए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सचित्ते, अचित्ते, मीसए अ। से किं तं सचित्ते? सचित्ते तिविहे पण्णत्ते। तं जहा दुपयाणं, चउप्पयाणं, अपयाणं। दुपयाणं दासाणं, दासीणं। चउप्पयाणं-आसाणं, हत्थीणं। अपयाणं- अंबाणं, अंबाडगाणं, आए से तं सचित्ते। से किं तं अचित्ते ? अचित्ते अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा- सुवण्णरयय-मणिमोत्ति-असंखसिलप्पवालरयणाणं आए से तं अचित्ते। से किं तं मीसए ? मीसए अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा-दासाणं, दासीणं, आसाणं, हत्थीणं, समाभरिआउज्जालंकि-आणं आए। से तं मीसए। से तं लोइए। से किं तं कुप्पावयणिए? कुप्पावणिए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सचित्ते, अचित्ते, मीसए अ। तिण्णि वि जहा लोइए ०जाव से तं मीसए। से तं कुप्पावगणिए॥ से किं तं लोगुत्तरिए? लोगुत्तरिए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा सचित्ते, अचित्ते, मीसए अ। से किं तं सचित्ते? सचित्ते दुविहे पण्णत्ते, तं जहा सीसाणं, सिस्सणिआणं। सेतं सचिते से किं तं अचिते? अचिते अणेगविहे पण्णत्ते, तंह जहा-पडिग्गहाणं, वत्थाणं, कंबलाणं, पायपुच्छणाणं आए। सेत्तं अचित्ते। से किं तं मीसए? मीसए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सिस्साणं, सिस्सणिआणं, सभंडोव-गरणाणं आए। सेत्तं मीसए। सेत्तं लोगुत्तरिए॥ सेत्तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वाए। से तं नो आगमओ दव्वाए। सेत्तं दव्वाए।

'से किं तं अचिते?' 'सुवण्णे' त्यादि- लौकिकोचितस्य सुवर्णादिरायो मन्तव्यः, तत्र सुवर्णादीनि प्रतीतानि 'सिल' त्ति-शिला। मुक्ताशैलराजपट्टादीनां, रक्तवस्त्राणि रत्नानिपद्मराग- रत्नानि 'संतसावएज्जस्स' त्ति-सद्-विद्यमानं स्वापतेयं द्रव्यं तस्याऽऽयः, 'समाभरियाउज्जालंकियाणं' ति-आभरितानां सुवर्णसंकलिकादि-भूषितानामातोद्यैः झल्लरीप्रमुखैरलंकृतानाम्।

से किं तं भावाऽऽए? भावाऽऽए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा आगमओ अ, नो आगमओ आ। से किं तं आगमओ भावाऽऽए? आगमओ भावाऽऽए जाणइ उवउत्ते, सेतं आगमओ भावाए। से किं तं नोआगओ भावाए ? नो आगमओ भावाए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-पसत्थे अ,

अपसत्थे अ। से किं तं पसत्थे? पसत्थे तिविहे पण्णत्ते, तं जहाणाणाऽऽए, दंसणाऽऽए, चरित्ताऽऽए, सेत्तं पसत्थे। से किं तं अपसत्थे? अपसत्थे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए। से तं अप्पसत्थे। से तं णो आगमओ भावाए। सेत्तं भावाए। सेत्तं आए। (सूत्र-२५४+) अनु०।

ज्योतिषोक्ते लग्नावधिके; राश्यवधिके च एकादशस्थाने, लग्नावधिकैकादशस्थानस्याऽऽयत्वं च। तत्स्थाने आयस्य चिन्तनीयत्वात्। वनितागारपालकेच। कर्मणि अच्, घञ् वा। ग्रामादितः स्वामिग्राह्यभागे, लभ्ये धनादौ, ''तदस्मिन् वृद्ध्यालाभशुल्कोपदादीयते'' पा०। ग्रामेषु स्वामिग्राह्यो भागः आयः। सि० कौ०। वाच०। कूष्माण्ड भेदे, प्रज्ञा०। ''आए, काए, कुहणे''॥४०॥ (सूत्र-२३×) प्रज्ञा० १ पद। आ वा०। (अत्र विस्तरः 'कुहणा' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)।

***आज**-त्रि० (आज्यतेऽनेन)। आ अज घञर्थे का घृते, ज०टी०। अजस्येदम् अण्। छागमांसादौ, त्रि०। अलंकृतं कुमारं कुशलीकृतशिरसमहतेन वाससा संवीतमैणेयेन वा अजिनेन ब्राह्मणं, रौरवेण क्षत्रियम्, आजेन वैश्यम्। आश्व० गृ०। ''गव्यमाजं तथा चौष्ट्र-माविकं माहिषं च यत्। अश्वायाश्चैव नार्याश्च, करेणूनां च यत्पयः''॥२॥ सुश्रुतः। अज भावे घञ्। न वीभावः। विक्षेपे, आजानेया वाच०।

आयइ (ई)- स्त्री० (आयति) (ती)- आ-य-ति। वा ङीप्। आगामिकाले, ''आयइ जणगो''॥२८+॥ पञ्चा० १९ विव०। बृ०। व्य०। ''से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नाऽवबुज्झइ''॥१॥ दश० १ चू०। तत्र तेषु भोगेषु मूर्च्छितो-गृद्धो बालः आयतिम् -आगमिकालं नाऽवबुद्ध्यते- न सम्यगवगच्छति। दश० १ चू०। आगामिकालविषयायां महत्यामास्थायाम्, व्य०। ''जुवराजंमि उ ठविए, एयाओ बंधंति आयतिं तत्थ''॥१६६+॥ आयतिम्- आगामिकालविषयां महतीमास्थां बन्धन्ति। व्य० ४ उ०। सन्ततौ, बृ०। राजसुतदीक्षामधिकृत्य- ''आयती इड्ढिमंतपूया य''॥८३+॥ आयतिश्च-सन्ततिरमीषामेतेन अविच्छिन्ना भविष्यतीति। बृ०३ उ०। प्रभावे कोषदण्डजे तेजसि, फलदानकाले च। आयति-स्त्री०। आ यम क्तिन्। स्नेहे, वशित्वे, सामर्थ्ये, सीम्नि, शयने, प्रभावे, ''आगतौ च उपाये च अनास्था तत्कल्पनम्''॥शा० भा०। वाच०।

आयइजणग-त्रि० (आयतिजनक)- आयतौ आगामिकाले अभीष्टं फलं जनयति- करोति योऽसावायतिजनकः। आगामिकालेऽभीष्टफलदायके, पञ्चा०। ''आयइजणगो''॥२८×॥ पञ्चा० १९ विव०।

आयइत्ता-अव्य० (आदाय)गृहीत्वेत्यर्थे, सूत्र १ श्रु १२ अ०६ गाथाटी०।

आयइफल-न० (आयतिफल)- आयतौ आगामिनि काले फलमस्येत्यायतिफिलम्। परभवफलके, पञ्चा०। ''आयतिफलमद्धुवसा- हणं च निउणं मुणेयव्वं॥४×॥'' आयतौ- आगामिकाले; परभव इत्यर्थः। फलं साध्यमस्येत्यायतिफलम्। पाठान्तरेण-आयतफलं-मोक्षफलम्। पञ्चा० १२ विव०।

आयइविराहग- त्रि० (आयतिविराधक)।- परलोकपीडाकरे; पं० सू०। ''आयइविराहगं समारंभं न चिंतिज्जा'' (सूत्र-२+) आयतिविराधकं -परपीडाकरं समारम्भम् - अङ्गारकर्मादिरूपं तथा न चिन्तयेद्। पं० सू०।

आयइसंपगासण-न० (आयतिसम्प्रकाशन)।- चतुर्थे सामभेदे, स्था०। चतुर्थं सामभेदमाधिकृत्य- ''आयत्याः सम्प्रकाशनम्'' अस्मिन्नेवङ्कृते इदमावयोर्भविष्यतीत्याशायोजनम् आयति- सम्प्रकाशन्। स्था० ३ ठा० ३ उ० १८५ सूत्रटी०।

आयंगुल-न० (आत्माङ्गुल)।- आत्मनोऽङ्गुलमात्माङ्गुलम्। आत्माऽङ्गुलप्रमाणभेदे, प्रव०। ('अङ्गुल' शब्दे प्रथमभागे स्वत्वमुक्तम्)

जं पुण आयंगुलमे-रिसेण तं भासिअं विहिणा॥१४०७॥

यत्पुनरात्माऽङ्गुलं पूर्वमुद्दिष्टं तदीदृशेन-वक्ष्यमाणस्वरूपेण विधिना-प्रकारेण भाषितं-प्रतिपादितं तीर्थकृद्गणधरैः।

तमेव विधिमाह-

जे जम्मि जुगे पुरिसा, अट्ठसयंगुलमूसिआ हुंति।
तेसिं जं जं निअमं- गुलमायंगुलमेत्थ तं होइ॥१४०८॥

ये पुरुषाश्चक्रवर्तिवासुदेवादयो यस्मिन् युगे सुषमसुख- मादिकाले निजाऽङ्गुलेनैवाऽष्टोत्तरं शतमङ्गुलानामुच्छ्रिताः- उच्चा भवन्ति तेषां च स्वकीयाऽङ्गुलेनाऽष्टोत्तराऽङ्गुलशतोच्चानां पुरुषाणां यन्निजम्-आत्मीयमङ्गुलं तत्पुनरात्माऽङ्गुलं भवति। इह च ये यस्मिन् काले प्रमाणयुक्ताः पुरुषा भवन्ति, तेषां सम्बन्धी आत्मा गृह्यते। तत आत्मनोऽङ्गुलमात्माऽङ्गुलम्। इदं च पुरुषाणां कालादिभेदेनानवस्थितमानत्वादनियतप्रमाणं द्रष्टव्यम्।

जे पुण एयपमाणा, ऊणा अहिगा य तेसिमेयं तु।
आयङ्गुलं न भन्नइ, किं नु तदाभासमेव त्ति॥१४०९॥

ये पुनः-पुरुषा एतस्मात्- अष्टोत्तराऽङ्गुलशतलक्षणा- त्प्रमाणान्न्यूनाः समधिका वा तेषां संबन्धि यदङ्गुलमेतदात्माऽङ्गुलं न भण्यते, किं तु तदाभासमेव- आत्माङ्गुलाभासमेव; परमार्थत आत्माङ्गुलं तन्न भवतीत्यर्थः। लक्षणशास्त्रोक्तस्वरादि- शेषलक्षणवैकल्यसहायं च यथोक्तप्रमाणाद्धीनाधिक्यमिह प्रतिषिद्धं न केवलमिति संभाव्यते, भरतचक्रवर्त्यादीनां स्वा-ऽङ्गुलतो विंशत्यधिकाऽङ्गुलशतप्रमाणानामप्यत्र निर्णीतत्वान्महावीरादिनां च केषांचिन्मतेन चतुरशीत्याद्यङ्गुलप्रमाणत्वादिति। प्र० २५४ द्वार।

आत्माङ्गुलं सूच्यङ्गुलादिभेदात् त्रिविधम्-

से किं तं आयंगुले ? आयंगुले (अनु० सूत्र-१३४+) तिविहे पण्णत्ते, तं जहा सूइअंगुले १, पयरंगुले २, घणंगुले ३, (सूत्र-१३४×) अनु०।

(आत्माङ्गुलेन षड्ङ्गुलानि पादः इत्यादि। ये यदा मनुष्या भवन्ति तेषां तदा आत्माङ्गुलेन स्वकीयस्वकीयकाल-

संभवीन्यवटहदादीनि मीयन्ते इत्यादि सर्वम् 'अङ्गुल' शब्दे प्रथमभागे प्रतिपादितम्।) (सूच्यङ्गुलादिप्रदेशानामल्पबहुत्वचि- न्ताऽपि 'अंगुल' शब्दे प्रथमभागे गता)

आयंत-त्रि० (आचान्त)-आ-चम्-क्त। आचमनकर्त्तरि, आचान्तः पुनराचामेत्। काशी०। कृतमाचमनं यस्य तादृशे जलादौ च। वाच०। गृहीताचमने, रा०। भ०। शौचार्थं कृतजलस्पर्शे, नि०१, श्रु०३ वर्ग ३ अ०। औ०। 'आयंते चोक्खे परमसुइभूये'' (सूत्र+) 'आयंते' इति नवानामपि श्रोतसां शुद्धोदकप्रक्षालने- नाचान्तो गृहीता-ऽऽचमनः। रा०। आचान्तौ- शुद्धोदकेन कृताऽऽचमनौ। कल्प० १ अधि० ५ क्षण १०५ सूत्र टी०। ज्ञा० भ०।

आयंबिल-न० (आचामाम्ल)- ल०प्र०१०२ गाथा। आचामः- अवश्रावणम् अम्लं चतुर्थो रसः, त एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्भाष- सक्तुप्रभृतिके, तदाचामाम्लम् । समयभा- षयौदनकुल्माषसक्तुप्र- भृतिके, ध०२ अधि० ६३ श्लोक।

आयामाऽम्ल-न० आयामम् अवश्रावणम्, अवश्रावणम् काञ्जिकम्। बृ० १ उ०। (अत्रार्थे 'अवस्सावण' शब्दः प्रथम- भागस्थो द्रष्टव्यः) (आयामः- अवशायनम्।) आव० ६ अ० १६०३ गाथा टी) अम्लंच-सौवीरकं, त एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके, तदायामाम्लम्। समयभाषै-यौदनकुल्माषसक्तुप्रभृतौ, पञ्चा० ५ विव०७ गाथाटी०। अवस्यामे, (ने, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०७ उ०४१ सूत्र टी०) ग०२ अधि०७८ गाथाटी०। (आचाम्लभेदादि 'आयंबिलपच्चक्खाण' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) तद्गते प्रत्याख्यानभेदे च। पञ्चा० ५ विव० ७ गाथा टी०। (तद्वक्तव्यता 'आयंबिलपच्चक्खाण' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते)

आयंबिलपच्चक्खाण-न० [आचा(या)माम्लप्रत्याख्यान] प्रत्याख्यान- भेदे, ध०।

अत्र सूत्रम्-

आयंबिलं पच्चक्खाइ अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं, गिहत्थसंसट्ठेणं पारिट्ठाव- णियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं, वोसिरइ। आव० ६ अ०।

आचामः- अवश्रावणम्, अम्लं चतुर्थो रसः त एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिकेतदाचामाम्लम् समयभाषयोच्यते, तत्प्रत्याख्याति, आचामाम्लप्रत्याख्यानं करोतित्यर्थः। आद्यावन्त्याश्च त्रय आकाराः पूर्ववत्, (लेवालेवेणं) लेपो-भोजनभाजनस्य विकृत्या तीमनादिना वा आचा-माम्लप्रत्याख्यातुरकल्पनीयेन लिप्तता, अलेपो- विकृत्यादिना लिप्तपूर्वस्य भोजनभाजनस्यैव हस्तादिना संलेखनतोऽलिप्तता, लेपश्चाऽलेपश्च लेपालेपम्, तस्मादन्यत्र, भाजने विकृत्याद्यवय-वसद्भावेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः। 'उक्खित्तविवेगेणं' शुष्कौदनादिभक्ते पतितपूर्वस्याचामाम्लप्रत्याख्यानवतामयोग्य- स्याद्रवविकृत्या-दिद्रव्यस्योत्क्षिप्तस्योद्धृतस्य विवेको निःशेषतया त्याग उत्क्षिप्तविवेकः; उत्क्षिप्य त्याग इत्यर्थः, तस्मादन्यत्र, भोक्त-व्यद्रव्यस्य अभोक्तव्यद्रव्यस्पर्शेनाऽपि न भङ्ग इति भावः, यत्तूत्क्षेप्तुं न शक्यं तस्य भोजने भङ्गः 'गिहत्थसंसट्ठेणं' गृहस्थस्य- भक्तदायकस्य संबन्धि करोटिकादिभाजनं विकृत्यादि-द्रव्येणोपलिप्तं गृहस्थसंसृष्टं, ततोऽन्यत्र, विकृत्यादिसंसृष्ट-भाजनेन हि दीयमानं भक्तमकल्पद्रव्यावयवमिश्रं भवति, न च तद्भुञ्जानस्याऽपि भङ्गः, यद्यकल्पद्रव्यरसो बहुर्न ज्ञायते। 'वोसिरइ' इति-आचामाम्लं चतुर्विधाहारं च व्युत्सृजति। ध० २ अधि० ७८ श्लोक। 'अट्ठेवाऽऽयंबिलम्मि आगारा॥९×)।'' अष्टैव, न न्यूनाधिकाः। आयामः-अवश्रावणम्, अम्लं च सौवीरकं, ते एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके तदा-यामाम्लं समयभाषयोच्यते, एतद्व्रतं प्रत्याख्यानमपि तदेवेत्य-तस्तस्मिन्नायामाम्ले आयामाम्लस्य चाऽऽकारा भवन्ति।

ते चैवम्। पञ्चा०५ विव०। सूत्रम्-

आयंबिलं पच्चक्खाइ अण्णत्थणाभोगेणं सहसाकारेणं लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं गिहत्थसंसट्ठेणं परिट्ठा- वणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ। आव० ६ अ० १६०५ गाथा।

व्याख्यानं सर्वं प्राग्वत् नवरम्। आयामाम्लं प्रत्याख्याति- तदेव मया भोक्तव्यमिति प्रतिजानीते। लेपो भोजनभाजनस्य विकृत्या तीमदिना वा आयामाम्लप्रत्याख्यातुरकल्पनीयेन लिप्तता, स चालेपश्च विकृत्यादिना लिप्तपूर्वस्य भोजनभाजनस्यैव हस्तादिना संलेखनतो निर्लेपतेति लेपालेपं तस्मादन्यत्र भाजने, विकृत्याद्यवयवसद्भावेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः तथा उत्क्षिप्तस्य शुष्कौदनादिभक्ते निक्षिप्तपूर्वस्यायाम्लप्रत्याख्यानवताम-योग्यस्याद्रवविकृत्यादिद्रव्यस्य विवेको निःशेषतया पृथक्करणम् -उद्धरमुत्क्षिप्तविवेकस्तस्मादन्यत्र प्रत्याख्यानं भोक्तव्यद्रव्य- स्याकल्पनीयद्रव्येण संस्पर्शेऽपि न भङ्ग इति भावः। तथा गृहस्थस्य भक्तदायकस्य सम्बन्धि संसृष्टं- विकृत्यादिद्रव्येणो- पलिप्तं यत्करोटिकादिभाजनं तद्गृहस्थसंसृष्टं ततोऽप्यन्यत्र विकृत्यादिसंसृष्टं भाजनेन हि दीयमानं भक्तमकल्पद्रव्या- वयवमिश्रं भवति, न च तत् भुञ्जानस्याऽपि भङ्ग इति भावः। 'वोसिरइ' त्ति- अनायामाम्लं व्युत्सृजनीति। पञ्चा०५ विव०९ गाथा टी०।

अधुना तदुपन्यस्तमेव चाऽऽचामाम्लऽमुच्यते-

गुन्नं नाम तिविहं, ओअण१ कुम्मास२ सत्तुआ३ चेव।
इक्किक्कं पि अ तिविहं, जहन्नयं१ मज्जिमुक्कोसं ॥१६०३॥

आयामाम्लमिति गौणं नाम, आयामः अव (शायनम्) श्रावणम् आम्ल- चतुर्थरसः ताभ्यां निर्वृत्तम् आयामाम्लम्, इदं चोपाधिभेदात्त्रिविधं भवति। ओदनः कुल्माषाः, सक्तवश्चैव। ओदनमधिकृत्य, कुल्माषान्सक्तूंश्चेति एकैकमपि चामीषां त्रिविधं भवति। जघन्यम्, मध्यमम्, उत्कृष्टं चेति।

कथमित्यत्राह-

दव्वे१ रस२ गुणे वा३, जहन्नयं १, मज्झिमं च२उक्कोसं ३।
तस्सेव य पाउग्गं, छलणा पंचेव य कुडंगा ॥१६०४॥

द्रव्ये रसे गुणे चैव-द्रव्यमधिकृत्य १, रसमधिकृत्य २, गुणं चाधिकृत्येत्यर्थः ३। किं? जघन्यकं १, मध्यमं २, चोत्कृष्टं चेति ३, तस्यैवायामाम्लस्य प्रयोग्यं वक्तव्यं, तथा आयामाम्लं प्रत्या- ख्यातमिति दध्ना भुञ्जानस्य दोषः प्राणातिपातप्रत्याख्याने तदनासेवनवदिति, छलना वक्तव्या, पञ्चैव कुडङ्गा-वक्रविशेषा इति।

तद्यथा-

लोए १ वेये२ समये३, अन्नाणे ४ खलु तहेव गेलन्ने ५।
एए पंच कुडंगा, नायव्वा अंबिलम्मि भवे ॥१६०५॥

लोकेवेदे समये अज्ञाने खलु तथैव ग्लानत्वे लोकम- ङ्गीकृत्य कुडङ्गाः एवं वेदान् समयान् अज्ञानं ग्लानत्वं च एते पञ्च कुडङ्गा ज्ञातव्याः आयामाम्ले भवन्ति; आयामाम्लविषये। इति गाथात्रयसमासार्थः॥५७॥ विस्तरार्थस्तु वृद्धसंप्रदाय- समधिगम्यः।

सचाऽयम्-

''एत्थ आयंबिलं च भवति आयंबिलपाउग्गं च, तत्थोदणे आयंबिलं च आयंबिलपाउग्गं च आयंबिला सकूरा, जाणियव्वा कूरविहाणाणि आयंबिलपाउग्गं तंदुलकणियाउ कुडंतो पिट्ठं पिहुगा पिट्ठपोवलियाओ रालगा मंडगादि, कुम्मासा पुव्वं पाणिएणं कड्ढिज्जंति पच्छा ओक्खलीए पीसंति, ते तिविहा- सण्णा, मज्झिमा, थूला, एए आयंबिलं, आयंबिलपाउग्गाणि पुण जे तस्स तुसमीसा कणियाओ ककंडुगा य एवमादि, सत्तुगा-जवाणं वा, गोधूमाणं वा, बीहियाणं वा, पाओग्गं पुण- गोधूम- भुज्जिया पिचुगालाया जाव भुंजिज्जा, जे य जतएण न तीरंति, पीसिउं, तस्सेव निद्दारो कणिगादि वा, एयाणि आयंबिलपाओग्गाणि, तं तिविहं पि आयंबिलं, तिविहं उक्कोसं मज्झिमं,जहन्नं। दव्वओ- कलमसालिकूरो उक्कोसो, जवा जस्स पत्थं रुच्चइ वा, रालगो सामागो वा जहन्नो, सेसा मज्झिमा, जो सो कलमसालीकूरो सो रसं पडुच्च तिविहो- उक्कोसो, मज्झिमो, जहन्नो य। तं चेव तिविधं पि आयंबिलं निज्जरागुणं पडुच्च तिविधं-उक्कोसो निज्जरागुणो, मज्झिमो, जहन्नो त्ति। कलमसालिकूरोदव्वओ उक्कोसं दव्वं चउत्थं रसिएण समुद्दिसइ, रसओ वि उक्कोसं तस्स वण्ण वि आयामेण उक्कोसं रसओ गुणओ जहन्नं थोवा निज्जर त्ति भणियं होइ, सो चेव कलमोयणो जया अन्नेहिं आयामेहिं तदा दव्वाओ उक्कोसो रसओ मज्झिमओ गुणओ वि स मज्झिमो चेव सो चेव जया उण्होदएण तदा दव्वओ उक्कोसं, रसओ जहन्नं, गुणओ मज्झिमं चेव, जेण दव्वओ उक्कोसं, न रसओ। ध्याणि जे मज्झिमा चाउलोदणा ते दव्वओ मज्झिमा, आयंबिलेण रसओ उक्कोसा, गुणओ मज्झिमा, तहेव च-उण्होदएण दव्वओ मज्झं रसतो जहन्नं गुणओ मज्झं मज्झिमं दव्वं ति कायव्वं रालगग्गहणकूरा दव्वओ जहन्नं-आयंबिलेण रसओ उक्कोसं गुणतो मज्झं, ते चेव आयामेणं दव्वओ जहन्नं रसओ मज्झं गुणओ मज्झं, ते चेव उण्होदएण दव्वओ जहन्नं, रसओ, जहन्नं, गुणओ उक्कोसं बहुनिज्जर त्ति भणियं होइ। अहवा- उक्कोसे तिन्नि विभासा उक्कोसोक्कोसं उक्कोसमज्झिमं, उक्कोसजहन्नं, कंजियआयामउण्होदएहिं जहन्ना,मज्झिमा, उक्कोसा निज्जरा। एवं तिसु विभासियव्वं छलणानाम एगेणाऽऽयंबिलं पच्चक्खायं, तेण हिंडंतेण सुद्धोदणो गहिओ, अण्णाणेण य खीरेण निमित्तं घेत्तूण आगमओ आलोएउं पजीओ, गुरूहिं भणिओ-अज्ज तुज्भ आयंबिलं पच्चक्खायं, भणइ सच्चं, तो किं भुंजसि? जेण मे पच्चक्खायं, जहा पाणाइवाए पच्चक्खाते ण मारिज्जइ, एवं आयंबिले वि पच्चक्खाते। तं न कीरइ, एसा छलणा'' परिहारस्तु प्रत्याख्यानं भोजने तन्निवृत्तौ च भवति, भोजने आयामाम्लप्रायोग्यादन्यत् तत् प्रत्याख्याति आयामाम्ले च वर्तते, तन्निवृत्तौ चतुर्विधमप्याहारं प्रत्याचक्षाणस्य, तथा लोकेएवमेव प्रत्याख्यानार्थः। दोसु अत्थेसु वट्टइ भोजने तन्निवृत्तौ च, तेण एसा छलणा निरत्थिया। पंच कुडंगा लोए, वेदे, समए, अन्नाणे, गिलाणे कुडंगो त्ति, एगेणाऽऽयंबिलस्स पच्चक्खायं, तेण हिंडंतेण सखडी संभाविया, अन्नं वा उक्कोसं लद्धं, आयरियाणं दंसेइ, भणियं-तुब्भ आयंबिलं पच्चक्खायं, सो भणइ-खमासमाणा! अम्हेहिं बहूणि लोइयाणि सत्थाणि परिमिलियाणि, तत्थ आयंबिलस्स सद्दो नऽत्थि, पढमो कुडंगो १। अहवा-वेदेसु चउसु संगोवंगेसु नऽत्थि आयंबिलं, बितिओ कुडंगो२। अहवा-समए चरगचीरिगभिक्खुपंडरंगाणं, तत्थ वि नऽत्थि, न जाणामि एस तुब्भं कओ आगओ? तइओ कुडंगो ३। अन्नाणेण भणइ न जाणामि खमासमणा! केरिसयं आयंबिलं भवइ? अहं जाणामि कुसणेहि वि जिम्मइ त्ति तेण गहियं ''मिच्छा दि दुक्कडं,'' न पुणो गच्छामि, चउत्थो कुडंगो ४। गिलाणो भणइ-न तरामि आयंबिलं काउं सूलं मे उट्ठेइ अन्नं वा उद्दिसइ रोगं ताहे न तीरइ करेउं। एसपंचमो कुडंगो ५। तस्स अट्ठ आगारा-

अण्णत्थणाभोगेणं सहस्सागारेणं लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं गिहत्थसंसट्ठेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरति।

अणाभोगसहसक्कारा तहेव, लेवालेवो जइ भायणे पुव्वं लेवाडगगहियं च समुद्दिट्ठं संलिहियं जति तेण आणेति ण भुञ्जति, उक्खित्तविवेगो-जं आयंबिले पडति विगतिमादि उ- क्खिवित्ता विगिंचतु मा णवरि गलतु अन्नं वा आयंबिलस्स अप्पाओग्गं जइ उद्धरितं तीरइ उद्धरिए न उवहम्मइ, गिहत्थ- संसट्ठे व जदि गिहत्थो डोलियं भाणियं वा लेवाडं कुसणादीहिं तेण ईसि त्ति लेवाडं तं भुज्जइ, जइ रसो आलिखिज्जइ बहुओ ताहे न कप्पइ, परिट्ठावणित्तमहत्तरासमाहीओ तहेव । व्याख्या- तमतिगम्भीरबुद्धिना भाष्यकारेणोपन्यस्तक्रम-मायामाम्लम्। आव० ६ अ०। तथा च-'' आयंबिलमवि तिविहं'' इत्यादिगाथाः १०२ आरभ्य- १०६ पर्यन्ताः 'अचित्त' शब्दे प्रथमभागे गताः)।

जं तिमियं काउं नो, सक्कइ तं तं न कप्पइ रयाइ ।
पायं हिंगुं न कप्पइ, दुकयदोसप्पसंगओ जयणा ॥१०७॥
दंतवणं तंबोलं, कायव्वं नेव अंबिलंमि नवे ।
जलमिण्णमणाहारं, कप्पइ सव्वं पि तत्थ ठिए ॥१०८॥
सोवीरमुसिणजलं, कप्पइ नो अण्णमेस विहिपायं ।
सोवीरं सिद्धपिट्ठं, निण्णेहं वियलमुक्किट्ठे ॥१०९॥
मज्झिमे घुग्घरियाइं, हिंगुप्पमुहा पकप्पए भयणा ।
मज्जियधण्णाईयं, सव्वं पि पकप्पइ जहन्ने ॥११०॥

काठिन्यसहितमण्डकखाखरपर्पटिकादि यतस्तिमितुम्-आद्रीकर्तुं न शक्यन्ते तत् आचामाम्ले अकल्प्यम्।

दुन्नि चउअंगुलमाणं, नीरं जइ हवइ सिद्धभत्तुवरि ।
आयंबिलं विसुद्धं, हविज्ज तो सव्वकट्ठहरं ॥१११॥
जगराजीरगजुत्तं, ओयणमिह कप्पए जईण पुणो ।
सड्ढाणं नो कप्पइ, नूयरि लट्ठाइयं वि पुणो ॥११२॥ल०प्र०॥

अत्रोत्तरम्-तथा आचामाम्लमध्ये सुण्ठीमरिचादिकं कल्पते तत्किं कारणेन स्वभावेन वेति? ॥९॥ अत्र कारणं विनापि कल्पते इति॥९॥ तथा आचामाम्लमध्ये सुण्ठीमरिचादिकं कल्पते, पिप्पलीलवङ्गादिकं च न, तत्किं शास्त्राक्षरैः परंपरातो वेति ? ॥१०॥ तथा आचामाम्लमध्ये सुण्ठीमरिचादिकं कल्पते, लवङ्गपिप्पलीहरितकीप्रमुखं पुनर्न कल्पते, तत्रै-तत्कारणं ज्ञायते- यल्लवङ्गेषु दुग्धं भक्तं दीयमानमस्ति, तथा हरीतकी- पिप्पल्यादिकं नालिकातोऽपक्वं सत् शुष्कीक्रियते, यथा युगन्धरीगोधूमादि पृथुकोराद्धस्स चाचामाम्लमध्ये न कल्पते, युगन्धरीगोधूमादिकं तु राद्धं सत् कल्पते इति संभाव्यते॥१०॥ ही० ४ प्रका०।

संप्रत्याचामाम्लशोध्यान् एतान् (दोषान्) संकलय्य गाथायुगलेनाह-

कमुद्देसिय मीसे, धायाइ पगासणाइएसुं च ।
पुरपच्छकम्मकुच्छिय- संसत्ताऽलित्तकरमत्ते ॥३७॥
अइरं परित्तनिक्खि- त्तपहियसाहरियमीसियाईसु ।
अइमाणधूमकारण, विवज्जए विहियमायामं ॥३८॥

कर्मोद्देशिकं-विभागोद्देशिकम् नवमभेदः, मिश्रं च-याव- दर्थिकमिश्राख्यो मिश्रजातायभेदः कर्मोद्देशिकमिश्रं तस्मिन् धात्र्यादिप्रकाशनादिषु च धात्र्यादयश्च धात्रीदूतीनिमित्त-कथनाऽऽजीवनापिण्डवनीपकत्वबादरचिकित्साकरण-क्रोधमानपिण्डाः द्विविधसंस्तवः विद्यामन्त्रं चूर्णयोगपिण्डाः प्रकाशनादयश्च प्रकाशकरणं द्विविधिद्रव्यक्रीतं, द्विविधं लौकिकप्रामित्यपरिवर्त्तेन निष्प्रत्यपायं-परग्रामऽऽहृतं पिहितोद्भिन्नकपाटोद्भिन्ने उत्कृष्टमालाऽपहृतं सर्वमाच्छेद्यंसर्वमनिष्टं चेति धात्र्यादिप्रकाशनादयस्तेषु पुरःकर्मः- पश्चात्कर्मणो;, 'कुच्छियसंसत्त' त्ति- भीमो-भीमसेनवदिति न्यायाद्गर्हिता-चित्तम्रक्षिते अगर्हितसंसक्ता-चित्तम्रक्षिते; आलिप्तकरमात्रलिप्तदोष इत्यर्थः, 'अइरं' परित्तोत्पन्नं परित्ताशब्दोपलक्षणत्वात् पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पति त्रसाऽऽख्याः षट्कायाः सचित्ता गृह्यन्ते । पश्चात् व्यवहितषट्का- यनिक्षिप्तपिहित-संहृतमिश्रादिषु आदिशब्दात्-षट्कायाः परिण- तषट्कायोपरि छर्दितयोः 'निक्खित्त' त्ति-अकर्दमप्रक्षिप्ते बाल- वृद्धमत्तोन्मत्तव्यपनज्वरितान्धाः निगडितकरचरणाः छिन्नपाणि- पादाः नपुंसकाः गुर्विणी बालवत्सा च भुञ्जती विलोडयन्ती भृज्जन्ती खण्डयन्ती पिम्षन्ती दलन्ती पिठरकादिकमपवर्त्य ददती साधारणं चोरितकं वा ददती बलिं स्थापयन्ती परकीय- मिदमित्युक्त्वा ददती सप्रत्यपाया च ददती कूलबालकमुनिव्रतं त्याजयित्री मागधिका वेश्येव शाकिन्यादिश एतेभ्यो दायकेभ्यो ग्रहणे च, तथातिमानं च-प्रमाणभूताहाराधिकभोजनं धूमश्च सद्वेषभोजनं कारणविपर्ययश्च निष्कारणे भोजनम् अतिमानधूमकारण-विपर्ययः तस्मिन् एतेषु सर्वेषु विहितम् आचामाम्लं प्रायश्चित्तमित्यर्थः। जीत०।

आयंबिलपाउग्ग-त्रि० (आचामाम्लप्रायोग्य)-ओदनादिसत्के कूरादौ, आव० ६ अ०। (तानि च 'आयंबिलपच्चक्खाण' शब्देऽनुपदमेव गतानि)

आयंबिलवड्ढमाण-न० [आचा (या) माम्लवर्द्धमान] तपोविशेषे, औ०। ''आयंबिलवड्ढमाणं तवोकम्मं पडिवण्णा'' (सूत्र-१५+)। यत्र चतुर्थं कृत्वा आयामाम्लं क्रियते, पुनश्चतुर्थं, पुनर्द्वे आयामाम्ले, पुनश्चतुर्थं पुनस्त्रीणि आयामाम्लानि, एवं यावच्चतुर्थं शतं चाऽऽयामाम्लानां क्रियते इति, इह च शतं चतुर्थानां तथा पञ्चसहस्राणि पञ्चाशदधिकानि ५०५०, आयामाम्लानां भवन्तीति। औ०। (एतत्तपःकरणात् महासेन-कृष्णा सिद्धिं प्राप्ता इति 'महासेणकण्हा' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते)

तत्स्वरूपं सूत्रतः-

आयंबिलं करेति० (अन्त०) एवं एगुत्तरियाए बुड्ढीए आयंबिलाइं वड्ढंति चतुत्थंतरियाइं ०जाव आयंबिलसयं करे ति आयंबिलसयं करेत्ता चउत्थं करेति। अन्त० १ श्रु० ८ वर्ग१० अ०।

आयंबिलिय-पु० [आचा (या) माम्लिक]आचामाम्लं समयप्रसिद्धं तेन चरतीत्याचामाम्लिकः। स्था०५ ठा०१ उ० ३९६ सूत्र टी०। आचामाम्लसहिते, ''आयंबिलमणायंबिले, आयंबिलगा, अणा- यंबिलंगा य । अणायंबिलगा, आयंबिलगविरहिया'' इति। आव० ६ अ०। आचाम्लम्ओदन-कुल्माषादि तेन चरतीत्याचाम्लिकः। साधुभेदे, सूत्र० २ श्रु०२ अ०।

आयग-न० (आजक)- अजानां सूमहः। वुञ्। छागसूमहे, वाच०। अजापक्ष्मनिष्पन्ने वस्त्रादौ, 'आयाणि वा' (सूत्र- १४५×) क्वचिद्देशविशेषे अजाः सूक्ष्मरोमवत्यो भवन्ति तत्पक्ष्म-निष्पन्नान्याजकानि भवन्ति। आचा०२ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०।

आयचरित्त- त्रि० (आयचरित्र)- ''आयचरितत्तो''॥३६+॥ आयभूतं निरतिचारतया चारित्रं यस्य स आयचरित्रः। दृढचरित्रे, संथा० ३६ गाथाटी०।

***आत्तचरित्र**-त्रि० गृहीतचारित्रे ''आयचरित्तो करेइ, सामण्णं ॥३६×॥'' आयभूतं-निरतिचारतया चारित्रं यस्य स आयचरित्रो दृढचारित्रत्वात् प्राकृतत्वात-आत्तचारित्रो-गृहीत-चारित्रः करोति- पालयति श्रामण्यं-श्रमणभावम्। संथा०।

आयज्झ-धा० (टुवेपृ) कम्पने, भ्वा०। आत्म०। सक० सेट्। वेपते। अवेपिष्ट ऋदित्। चङि न ह्रस्वः। टित्। वेपथुः। वाच०। **''वेपेरायम्बाऽऽयज्झौ.''॥८।४।१४७॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण वेपेः आयम्ब आयज्झ इत्यादेशौ वा। आयम्बइ। आयज्झइ। वेवइ। प्रा०।

आयट्ठ-पुं० (आयतार्थ)-आयतः अपर्य्यवसानान्मोक्ष एव, सचासावर्थश्चायतार्थः। मोक्षरूपेऽर्थे,। आयतो-मोक्षः अर्थः- प्रयोजनं यस्य दर्शनादित्रयस्य तत्तथा। दर्शनादित्रये च। आचा०१ श्रु०१ अ०२ उ०७१ सूत्र टी०।

आत्मार्थ-पुं० 'आयंट्ठ' (सूत्र-७१×) आत्मनोऽर्थः आत्मार्थः, स च ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकः, अन्यस्त्वनर्थ एव, अथवा-आत्मने हितं-प्रयोजनमात्मार्थं, तच्च चारित्रानुष्ठानमेव चारित्रानुष्ठाने, आचा०१, श्रु०२ अ०१ उ०।

आयण्णण-न० (आकर्णन)- श्रवणे, ''तत्थाऽऽयण्णणजाणण-गिण्हणपडिसेवणेसु उज्जुत्ता''। तत्राऽऽकर्णनं-विनयबहुमानाभ्यां व्रतस्य श्रवणमिति। ध०२ अधि०२२ श्लोक।

आमत- (आयत)- आ यम क्त। दीर्घे, औ० १० सूत्रटी०। आ० म०। अनु०। उत्त०। स्था०। आयामवति, प्रश्न०३ आश्र० द्वार १२ सूत्रटी०। ''गिरिवरे वा निसहोऽऽययाणं, रुयए व सेट्ठे वलया-ऽऽययाणं''॥१५+॥ यया निषधो गिरिवरो गिरीणामायतानां मध्ये जम्बूद्वीपेऽन्येषु वा द्वीपेषु दैर्घ्येण श्रेष्ठः-प्रधानः तथा वलयाऽऽयतानां मध्ये रुचकः पर्वतोऽन्येभ्यो वलयायतत्वेन। सूत्र०१ श्रु६ अ०। साद्यपर्यवसितत्वेन दीर्घत्वात् आयतः-मोक्षः। मोक्षे, पं० सू० ४ सूत्र टी०। पं० व०। आयतो-मोक्षोऽपर्य्यवसिताऽवस्थानत्वात्। सूत्र०१ श्रु०८ अ०१८ गाथाटी०। आयतोऽपर्यवसाना-न्मोक्ष एव। आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०७१ सूत्रटी०। आयतो- दीर्घसर्वकाल-भवनान्मोक्षः। सूत्र०१ श्रु०२ अ०३ उ०१५ गाथाटी०। आत्मनि सूत्र०। ''सव्वे पाणा पियाऽऽयया'' (सूत्र-८०×)। आयतः-आत्मनोऽनाद्यनन्तत्वात् स प्रियो येषां ते तथा सर्वेऽपि प्राणिनः प्रियात्मानः। आचा०१ श्रु२ अ०३ उ०। आङ्अभिविधौ, सामस्त्येन यतः-आयतः। आचा०१ श्रु०८ अ०८ उ० १९ गाथाटी०। संयते, ''आयतजोगताए सेवित्था''॥९॥ आचा०१ श्रु०९ अ०४ उ०। आकृष्टे, यत्नवति च। भ०। ''आययकण्णाययं उसुं आयामेत्ता'' (सूत्र-६८×) कर्णं यावदायतः- आकृष्टः कर्णाऽऽयतः आयतंप्रयत्नवद् यथा भवतीत्येवं कर्णायतः। भ० १श०८ उ०। संस्थानभेदे च। स्था०१ ठा०। उत्त०। (तद्ववक्तव्यता 'आयतसंठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव वक्ष्यते)

आयत (य) कण्णायय-त्रि० (आयतकर्णायत)- कर्णं यावदायतः-आकृष्टः कर्णायतः, आयतः आयतम् (वा)- प्रयत्नवद् यथा भवतीत्येवं कर्णायतः। आयतकर्णायतः। प्रयत्नेन कर्णपर्य्यन्त- माकृष्टे, ''आययकण्णाययं उसुं आयामेत्ता चिट्ठइ'' (सूत्र-६८+)। भ०१ श०८ उ०। सामान्येन कर्णपर्य्यन्तमाकृष्टे च। ''आययकण्णा- ययं उसुं करेइ'' (सूत्र-३०३×) आयतः-आकृष्टः सामान्येन स एव कर्णायतः आकर्णमाकृष्टः आयतकर्णायतस्तम्। भ०७ श०९ उ०।

आयत-(य) चक्खु-त्रि० (आयतचक्षुष्)- आयतं- दीर्घमैहिकामुष्मिकाऽपायदर्शि चक्षुः-ज्ञानं यस्य स आयतचक्षुः। ऐहिकामुष्मिकाऽपाय-दर्शिज्ञानोपेते, आचा०१ श्रु०२ अ०५ उ०९३ सूत्रटी०।

आयतचरित्त-न० (आयतचरित्र)- आयतं-चरित्रं सम्यक् चरित्रं मोक्षमार्गप्रसाधकम्। मोक्षमार्गप्रसाधके चरित्रे, सूत्र०। ''आदाणीयम्मि आयतचरित्तं''॥२८×॥ सूत्र०१ श्रु०१ अ०।

आयत-(य) जोग- पुं० (आयतयोग)- आयतः- संयतो योगोम-नोवाक्कायलक्षणः, आयतश्चासौ योगश्चायतयोगः। ज्ञानचतुष्टयेन सम्यग् योगप्रणिधाने, आचा०। ''आयतजोगताए सेवित्था''॥९×॥ आचा०१ श्रु०९ अ०४ उ०। ''सयमेव अभिसमागम्म आययजोगमायसोहिए''॥१६+॥ आयतयोगम्- सुप्रणिहितं, मनोवाक्कायात्मकं विधाय। आचा०१ श्रु०९ अ०४ उ०।

आयतट्ठ-पुं० (आयतार्थ)- आयतः- अपर्य्यवसानान्मोक्ष एव स चासावर्थश्चायतार्थः। मोक्षरूपेऽर्थे, आयतः-मोक्षः अर्थः-प्रयोजनं यस्य दर्शनादित्रयस्य तत्तथा। दर्शनादित्रये, ''आयतट्ठं संमं समणुवासेज्जा'' (सूत्र-७१+)। आयतः- अपर्य्यवसानान्मोक्ष एव स चासावर्थश्चाय-तार्थोऽतस्तं, यदि वा-आयतो मोक्षः- अर्थः प्रयोजनं यस्य दर्शनादित्र-यस्य तत्तथा। आचा०१ श्रु०२ अ०२ उ०। ''आयतट्ठं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं''॥१८॥

आयतः-मोक्षः अपर्य्यवसितावस्थानत्वान्मोक्षः स चासावर्थश्च तदर्थो वा तत्प्रयोजनो वा सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्रमार्गः स आयतार्थस्तं सुष्ठु आदाय-गृहीत्वा यो धृतिबलेन कामक्रोधादिविजयाय च पराक्रमते एतद्वीरस्य वीर्य्यमिति। सूत्र०१ श्रु०८ अ०१८ गाथाटी०।

आयतट्ठि- (न्) पुं० (आयतार्थिन्)- मोक्षार्थिनि, दश० ५ अ० २ उ० १५ गाथा टी०।

आयतट्ठित-(य)- पुं० (आयतार्थिक)- आयतो-दीर्घः सर्वकालभवना-न्मोक्षस्तेनार्थिकस्तदभिलाषी। मोक्षाभिलाषिणि सूत्र०। ''आयपरे परमायतट्ठिए''॥१५॥ सूत्र०१ श्रु०१ अ०२ उ०।

आयतण-न० (आयतन)- आयतन्तऽत्र यत् आधारे ल्युट्। गृहे, ''सव्वओ सहाऽऽययणं'' (सूत्र-१७+) आयतनंगृहम्। तं०। ''आयतणे ट्ठाणठवणा य''॥१६॥ आयतने-भवने। पञ्चा० ८ विव०। गुणा-ऽऽश्रये, प्रश्न०१ संव० द्वारा २३ सूत्रटी०। ''इच्चेयं विमोहाऽऽयतणं'' (सूत्र-२१५×)। विगतमोहानामायतनम्- आश्रयः। आचा०

१श्रु०८अ०४उ०। स्थाने, संथा०। आचा०। नि०चू०। ''दस्सुगाऽऽयतणाणि'' (सूत्र-११५×) दस्यूनां चौराणामायत- नानि- स्थानानि। आचा०२ श्रु० १ चू०३ अ०१ उ०। ''एयाइं आयतणाइं'' एतानि स्त्र्यादीन्यायतनानि- उपभोगास्पदभूतानि वर्तन्ते। आचा०। देवादिवन्दनस्थाने, वाच०। प्रश्न १, आश्र० द्वार। ''नयरस्स पुव्वेण जक्खस्स आययणं कयं'' आ०म०। ''भगवतो निव्वाणं गयस्स आययणं कारावियं भरहो अवज्जमागओ कालेण य अप्पसोगो जाओ'' आ०म० १ अ०४३६ गाथाटी०। देवकुलपार्श्वापवरकेषु। ''आयतणाणि वा'' (सूत्र-१×)। आयतनानि- देवकुलपार्श्वापवरकाः। दशा०१ श्रु०१० अ०आचा०। धार्मिकजनमीलस्थाने, ध०र०। भावश्रावकस्य शीलवत्स्वरूपं द्वितीयलक्षणं व्याख्यानयन्नाह- ''आययणं खु निसेवइ''॥३७+॥ आयतनं- धार्मिकजनमीलनस्थानम्, उक्तं च। (ओघनि०)। ''जत्थ साहम्मिया बहवे, सीलवंता बहुस्सुया। चरित्ताऽऽयारसंपण्णा, आयतणं तं वियाणाहि''॥७८३॥ खुरवधारणे, प्रतिपक्षप्रतिषेधार्थ- ततश्चायतनमेव निषेवते भावश्रावको, न अनायतनमिति योगः। ध०र०२ अधि०२ लक्ष०। दर्श०। कर्मोपादानस्थाने, आचा०। ''इच्चेयाइं आयतणाइं'' (सूत्र-६१×)। इत्येतानि- पूर्वोक्तान्यायतनानि कर्मोपादानस्थानानि। आचा०१ श्रु०१ चू०१ अ०११ उ०। ''कम्मायययणेहिं'' (सूत्र-१५+) कर्मणां ज्ञानवरणादीनाम् आयतनानि-आदानानि वा; बन्धहेतव इत्यर्थः। अन्त०१ श्रु०६ वर्ग १५ अ०। विश्रामस्थाने यज्ञस्थाने च। वाच०। आङभिविधौ समस्तपापारम्भेभ्य' आत्मा आयत्यते-आनियम्यते तस्मिन् कुशलानुष्ठाने वा यत्नत्वात् क्रियते इत्यायतनम्। ज्ञानादित्रये, आचा०। ''इक्कायतणयस्स इह विप्पमुक्कस्स णऽत्थि मग्गे विरतस्स'' (सूत्र-१४८+) आचा०१ श्रु०५ अ०२ उ०। आयतनं-द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च। तत्र द्रव्यतो- जिनगृहादि, भावतस्तु- ज्ञानदर्शनचारित्रधराः साध्वादयः। प्रव० १४८ द्वार ९४९ गाथाटी०। ओघ०।

इदानीमायतनप्रतिपदानायाह-

आययणं पि य दुविहं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं।
दव्वम्मि जिणघराई, भावम्मि होइ तिविहं तु॥७८२॥

आयतनमपि द्विविधम्-द्रव्यविषये, भावविषये च ज्ञातव्यम्। तत्र द्रव्ये- जिनगृहादि, भावे च भवति त्रिविधम्- ज्ञानदर्शन चारित्ररूपमायतनमिति।

जत्थ साहम्मिया बहवे, सीलवन्ता बहुस्सुया।
चरित्ताऽऽयारसंपन्ना, आययणं तं वियाणाहि॥७८३॥

'जथे' त्यादि, सुगमा।

सुंदरजणसंसग्गी, सीलदरिद्दं पि कुणइ सीलड्ढं।
जह मेरुगिरीजायं, तणं पि कणगत्तमणमुवेइ॥७८४॥

सुगमा। उक्तमायतनद्वारम्। ओघ०। आविष्करणे, निर्णयने च। सूत्र०। ''पसिणाऽऽयतणाणि''॥१६+॥ प्रश्नस्य- आदर्शप्रश्नादेः आयतनम्- आविष्करणं; कथनं यथा विवक्षितप्रश्ननिर्णयनानि। यदिवा प्रश्नायतनानि-लौकिकानां परस्परव्यवहारे मिथ्या-शास्त्रगतसंशये वा प्रश्ने सति यथाऽवस्थितार्थक- थनद्वारेणाऽऽयतनानि-निर्णयनानीति। सूत्र १, श्रु०९ अ०।

आयतणसेवा-स्त्री०(आयतनसेवा)-आयतनसेवाशब्दः प्रथमे शीलभेदे, दर्श०। शीलत्वभेदानधिकृत्यनित्यमायतनसेवा, अनायतनपरिहारः। तत्र आयतनं-पञ्चविधाऽऽचाराऽऽचरण- प्रवणाः सुसाधवः। दर्श०३ तत्त्व २४ गाथाटी०।

(आयतन) प्रतिसेवनाद्वारव्याचिख्यासया संबन्धं प्रति- पादयन्नाह-

एवं खलु आययणं, निसेवमाणस्स हुज्ज साहुस्स।
कंटगपहेव छलणा, रागद्दोसे समासज्ज॥७८५॥

एवम्-उक्तेन न्यायेन आयतनं सेवमानस्याऽपि साधोः भवेत् कण्टकपथ इव छलना किमासाद्य? अत आह-रागद्वेषौ समाश्रित्य, सा च रागद्वेषेण सेवा द्विविधा भवति।

एतदेवाह-

पडिसेवणाऽवि दुविहा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।
मूलगुणे छट्ठाणा, उत्तरगुणे हुंति तिगमाई॥७८६॥

ओघ०। ध०र०।

आयत (य) तर त्रि०-(आयततर)- ''आयत (य) रे सिया''॥१९×॥ आङभिविधौ सामस्त्येन यत् आयतः अयमनयोरतिशयेनायत आयततरः। यत्नेनाध्यवसिते, आचा०१ श्रु०८अ८उ०।

आयतसंठाण-न०(आयतसंस्थान)- संस्थानभेदे, आयतम्-दीर्घं यथा दण्डस्येति। उत्त०१ अ०३८ गाथाटी०। (आयतसंस्थाने कतिसंयोगाः इति 'संजोग' शब्दे उत्त०॥४०॥४१॥ गाथाभ्यां सप्तमभागे वक्ष्यते)

तथा च-

एगो पिहुले (सूत्र-४७×)।

पृथुलं-विस्तीर्णम्, अन्यत्र, पुनः इह स्थाने आयतमभि- धीयते, तदेव चेह दीर्घह्रस्वपृथुलशब्दैर्विभज्योक्तम् आयत- धर्म्मत्वादेषां, तच्चाऽऽयतं प्रतरघनश्रेणिभेदात् त्रिधा, पुररेकैकं सम-विषम- प्रदेशमिति षोढा, यच्चायतभेदयोरपि ह्रस्वदीर्घ- योरादावभिधानं तद्वृत्तादिषु संस्थानेष्वायतस्य प्रायो वृत्तिदर्श- नार्थम्। तथा हि-दीर्घायतः स्तम्भो वृत्तस्त्र्यस्रश्चतुरस्रश्चेत्यादि भावनीयम्। विचित्रत्वाद्वा सूत्रगतिरेवमुपन्यासः इति। स्था० १ ठा०। प्रज्ञा०। (भेदादिबहुवक्तव्यता 'संठाण' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते)

आयतसंठाणपरिणय-त्रि०(आयतसंस्थानपरिणत)- आयत- संस्थानभाजि, प्रज्ञा०। ''आयतसंठाणपरिणया'' (सूत्र-४+) आयत- संस्थापरिणता दण्डादिवत्। प्रज्ञा०१ पद।

आयतित्त-त्रि०(आत्मतृप्त)- आत्मस्वरूपतुष्टे, अष्ट०। ''आत्मतृप्तो मुनिर्भवेत्''॥६×॥ आत्मतृप्तः- आत्मस्वरूपेऽनन्तगुणात्मकेतृप्तः-तुष्टो भवेत्। अष्ट०१३ अष्ट०।

आयत्त-त्रि० (आयत्त) आ यत क्त। अधीने, वशीभूते, वाच०। आयत्तो-वशवर्ती तदुक्तानुयायीति। दर्श० ४ तत्त्व ८० गाथाटी०। कृतप्रयत्ने च। वाच०।

***आयस्त**-त्रि० आ-यस्-क्त क्षिप्ते, ''आयस्तसिंहाकृति- रुत्पपात'' किरा०। क्लेशिते, प्रतिहते, तीक्ष्णीकृते आयासयुक्ते च। वाच०।

आयपइट्ठिय-त्रि० (आत्मप्रतिष्ठित)- स्वरूपप्रतिष्ठिते, ''आयपइट्ठिया'' (सूत्र-१८६×) स्था० ३ ठा० ३ उ०। क्रोधभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० १०० सूत्र टी०। (व्याख्या 'कोह' शब्दे तृतीयभागे करिष्यते)

आयपण्ण-त्रि० (आगतप्रज्ञ)- आगता-उत्पन्ना प्रज्ञा यस्यासावा-गतप्रज्ञः। संजातकर्त्तव्याऽकर्त्तव्यविवेके, सूत्र०। ''समितीसु गुत्तीसु य आयपण्णे''॥५+॥ सूत्र० १ श्रु १४ अ०।

आयमग्ग-पुं० (आयतमार्ग)- मोक्षमार्गे, आयतो- मोक्षोऽव्यव- च्छेदात्तस्य मार्गो-ज्ञानादिः। पञ्चा० ११ विव० ४२ गाथाटी०।

आयमण-न० (आचमन)- आ चम् भावे ल्युट्। निर्लेपने, ''आयमणत्थं वाऽवि वोसिरइ''॥२६४×॥ आचमनम्- निर्लेपनम्। बृ० १ उ० ३ प्रक०। आयमणं-णिल्लेवणं। नि० चू० ४ उ० ३०७ गाथाचूर्णिः। पुरीषोत्सर्गानन्तरं शौचकरणे च। 'आय-मणभाणधुवणं'॥२३×॥ पिं०। ''तिहिं आयमणं अदूरम्मि''। ओघ० ३१७ गाथा। ध० ३ अधि० ४ श्लोकः। (उच्चारप्रस्रवणे कृत्वा यो न परिष्ठापयति तस्य प्रायश्चित्तं 'थंडिल' शब्दे चतुर्थभागे २३८१ पृष्ठे वक्ष्यते)

आयममाण-त्रि० (आचमत्)- आचमनं कुर्वति, स्था० ५ ठा० २ उ० ४१४ सूत्र।

आयमिणी-स्त्री० (आयमिनी)- विद्याभेदे, सूत्र०। 'आयमिणीं एवमाइआओ विज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति'' (सूत्र-३०+) सूत्र० २ श्रु० २ उ०।

आयम्ब-धा० (टुवेपृ)- कम्पने **''वेपेरायम्बाऽऽयज्झौ'' ॥८।४।१४७॥** इति हैमप्राकृतसूत्रेण वेपेरायम्बाऽऽदेशः। आयम्बइ। आयज्झइ। वेवइ। प्रा०।

आयरंत-त्रि० (आचरत्) अङ्गीकुर्वति, उत्त०। ''तमायरंतो ववहारं''॥४२+॥ उत्त० १ अ०। कुर्वति, उत्त० पाई १, अ० ४२ गाथाटी०। विदधति च। उत्त०। ''नायरेज्ज कयाइ वि''॥१॥ नाचरेत्- नाभिदध्यात् (उत्त० १ अ०) न समाचरेत् न विदध्यादिति संबन्धः। सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।

आयक्ख- पुं० (आत्मरक्ष)-आत्मरक्षके, स्था०।

सूत्रम्-

तओ आयरक्खा पन्नत्ता। तं जहा-धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता भवइ, तुसिणीतो वा सिया, उट्ठित्तु वा आयाए एगंतमन्तमवक्कमेज्जा। (सूत्र-१७२×)

'तओ आय' इत्यादि, सुगमा, नवरम् आत्मानं रागद्वेषा-देरकृत्याद्भवकूपाद्वा रक्षन्तीत्यात्मरक्षाः। 'धम्मियाए पडिचो- यणाए' त्तिधार्म्मिकोपदेशेन-नेदम् भवादृशां विधातुमुचित- मित्यादिना प्रेरयिता-उपदेष्टा भवति, अनुकूलेतरोपसर्गकारिणः, ततोऽसावुपसर्ग-करणान्निवर्तते ततोऽकृत्या सेवा न भवतीत्यत आत्मा रक्षितो भवतीति १, तूष्णीको वा वाचंयमः; उपेक्षक इत्यर्थः २, 'स्यादिति' प्रेरणाया अविषये उपेक्षणासामर्थ्ये च ततः स्थानादुत्थाय, 'आय' त्ति-आत्मना एकान्तं-विजनम् 'अंतं' भूमिभागमवक्रामेत्-गच्छेत। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

आयरक्खिय-त्रि० (आत्मरक्षित)- आत्मो रक्षितो दुर्गतिहेतो- रपध्याना-देरनेनेति आत्मरक्षितः। ''आहिताग्न्यादिषु''॥३।१। १५३॥ दर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः। दुर्गतिहेतोरात्मध्याना- देरात्मनो रक्षके, उत्त० पाई० २ अ० १५ गाथटी०।

***आयरक्षित**-त्रि० आयो वा-ज्ञानादिलाभो रक्षितोऽनेनेत्यायरक्षितः। ज्ञानादिलाभस्य रक्षके, उत्त०। ''विरओ आयरक्खिए''॥१५×॥ उत्त० पाई० २ अ०।

आयरण-न० (आचरण) अनुष्ठाने, स्था०। आचरणमाचारः। स्था० ८ ठा०। विधाने सूत्र०।

अस्सिं धम्मे अणायारं, नाऽऽयरेज्ज कराइ वि॥१॥

अस्मिन्धर्म्मे- सर्वज्ञप्रणीते व्यवस्थितः सन्ननाचारम्- सावद्यानुष्ठानरूपं न समाचरेत् -न विदध्याद्। सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। केनचित्प्रकारेण परिणमने, दश०। ''दव्वाऽऽयारं वियाणाहि''॥१८०॥ आचरणम्-आचारो द्रव्यस्या चारो द्रव्याचारः। द्रव्यस्य यदाचरणम्; तेन तेन प्रकारेण परिणमन-मित्यर्थः। दश० ३ अ०। परप्रतारणाय विविध-क्रियाणामाचरणरूपे मायाविशेषे च। भ० १२ श० ५ उ० ४४९ सूत्र टी०। आचरत्यनेन करण ल्युट्। रथे, शकटे च। त्रि०। वाच०।

***आदरण**-न०। मायाविशेषात्कस्यापि वस्तुनोऽभ्युपगमे, भ० १२ श० ५ उ० ४४९ सूत्र टी०।

आयरणकप्प-पुं०। (आचरणकल्प)- उत्सर्गाऽपवादयोः स्वस्थाने सेवना-कर्तव्यतायाम्, नि० चू०।

इदार्णीं इमो आयरणकप्पो 'जे भणित्ता गाहा''-

जे भणित्ता उ पकप्पे, पुव्वाऽवरबाहता भवे सुत्ता।
सो तह समायरंतो, सव्वो आयरणकप्पो उ॥३८६॥

जे पकप्पे एगूणवीसतिउद्देसगेहिं पुव्वावरबाहया सुत्ता अत्था वा भणिता तहेव समायारंतस्स आयरणकप्पो भवति। एत्थ पुव्वो उस्सग्गो, अवरोऽवादो। एतं परोप्परवाहता एतेसिं सट्ठाणे सेवणा कर्तव्येत्यर्थः।

गाहा-

उस्सग्गे अववायं, आयरमाणो विराहओ हो त्ति।
अववाए पुण पत्ते, उस्सग्गनिसेवओ भइओ॥३०७॥ दारं

कया भयणाए कहं उच्यते। जो धितिसंघयण संपन्नो सो अववादट्ठाणे पत्ते पि उस्सग्गं करेंतो सुद्धो जो पुण धितिसंघयणहीणो अववादट्ठाणे उस्सग्गं करेति सो विराहणं पावति। एसा भयणा। गतो आयरणकप्पो। नि० चू० २० उ०।

आयरणया- स्त्री० [आद(च)रणता] यतो मायाविशेषादादरणम्- अभ्युपगमं कस्यापि वस्तुनः करोत्यसावा-दरणम् , ताप्रत्ययस्य च स्वार्थिकत्वादादरणता। मायाविशेषे, आचरणताऽप्यत्रैव। भ० १२० श०५ उ० ४४९ सूत्र टी०।

आयरिय-पुं० (आचारिक)- स्वकीयमतोद्भवानुष्ठानसमूहे, उत्त०।

इह मेगे इह (उ) मन्नंति, अपच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ताणं, सव्वदुक्खा विमुच्चइ ॥९॥

इह-अस्मिन्संसारे एके-केचित्कापिलिकादयो ज्ञानवादिनः इति मन्यन्ते, इतीति किम् ? पापकम् -हिंसादिकम् अप्र- त्याख्याय पापम्- अनालोच्याऽपि मनुष्य आचारिकं स्वकीय- मतोद्भवानुष्ठानसमूहं विदित्वा- ज्ञात्वा सर्व्वदुःखात् विमुच्यते, एतावता तत्त्वज्ञानान्मोक्षावाप्तिः'' इति वदन्ति । जैनानां तु ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः, ज्ञानवादिनां तु ज्ञानमेव मुक्त्यङ्गम्। उत्त० ६ अ०। (एतन्मतनिराकरणं 'मोक्ख' शब्दे षष्ठे भागे करिष्यते)

***आचरित**-न० आ-चर भावे क्तः। आचरणे, उत्त०। आचरण- माचरितम्। तत्तत्क्रियाकलापः। उत्त० ६ अ० ९ गाथाटी०। आसेवने, औ० ४० सूत्र टी०। 'अवज्झाणायरिअं'' (सूत्र-६ +) आचरितः- आसेवितः। उपा० १ श्रु० १ अ०।

''जं किंचि वितहमायरियं''॥६८२×॥ यत्किंचिद्वितथम् अन्यथा आचरितम-आसेवितं भूतमिति वाक्यशेषः। आ०म० १ अ०। अनुष्ठानमापन्ने ''जं किंचि वितहमायरियं''॥१०×॥ वितथम्- अन्यथाभूतं, संयमानुत्कलमित्यर्थः, आचरितम्- अनुष्ठानमापन्नमिति शेषः। पञ्चा० १२ विव०।

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहाऽऽयरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाऽभिगच्छइ ॥४२॥

धर्म्मेण-क्षान्त्यादिरूपेणाऽर्ज्जितम्- उपार्ज्जितं धर्म्मार्ज्जितं, न हि क्षान्त्यादिधर्म्मविरहित इमं प्राप्नोतीति, चः पूरणे, विविधं विधिवद्वा व्यवहरणमनेकार्थत्वात् आचरणं व्यवहारः 'तम्' इति- कर्तव्यतारूपं बुद्धैः- अवगततत्त्वैराचरितं सदासर्वकालं, तमिति सदावस्थिततया प्रतीतमेव आचरन्-व्यवहरन्, यद्वा-यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात्सुपूव्यत्ययाच्च धर्माज्जितो बुद्धैराचरितश्च यो व्यवहारस्तमाचरन् कुर्वन् विशेषेणापहरति पापकर्म्मेति व्यवहारस्तम्, व्यवहारविशेषणमेतत्, एवं च किमित्याह- गहमिविनीतोऽयमित्येवंविधां निन्दां नाऽभिगच्छति न प्राप्नोति यतिरिति गम्यते। उत्त०१ अ०। आचर्य्यते स्म बृहत्पुरुषैरप्याचरितम्। व्यवहारे, व्यवहारैकार्थिकान्यधिकृत्य (आह भाष्यकारः)- ''आयरिए चेव ववहारे''॥७+॥ व्य० १ उ०।

***आचर्य्य**- त्रि०। आचर्य्यतेऽत्र आ-चर-आधारे यत्। अनुष्ठानयोग्ये देशे, वाच०।

***आचार्य्य**-पुं०। आचर्य्यते असावाचार्य्यः सूत्रार्थावगमार्थं ममुक्षुभिरासेव्यते इत्यर्थः। आव० ४ अ० ४७ गाथा टी० ध०। दशा०। 'आयरियाणं' (सूत्र-१×) आ-मर्य्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्य्यन्ते-सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षि क्षभि-रित्याचार्य्याः। उक्तं च-

'सुत्तत्थविऊ लक्खण-जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ'' ॥१॥ इति।

अथवा-आचारो-ज्ञानाचारादिः पञ्चधा, आ-मर्य्यादया वाऽऽचारो विहारः आचारस्तत्र साधवः स्वयंकरणात्प्रभाषणात्र- दर्शनाच्चेत्याचार्य्याः। आह च-'' पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पयासंता। आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चंति (९९४)॥'' (आव० नि०) अथवा-आईषद्; अपरिपूर्णा इत्यर्थः चाराः-हेरिका ये ते आचाराः; चारकल्पा इत्यर्थः, युक्ताऽयुक्तवि- भागनिरूपणनिपुणा विनेया अतस्तेषु साधवो यथावच्छस्त्रा- र्थोपदेशकतयेत्याचार्य्याः। भ०१ श०१ उ०। दशा०। 'चर' गति- भक्षणयोः, आङ्पूर्वः। आचर्य्यते कार्य्यार्थिभिः सेव्यते इत्याचार्य्यः। ''ऋवर्णव्यञ्जनात् ध्यण''॥५।१।१७॥ इति ध्यण्। आ० म०१ अ० ९९३ गाथा। आङ् मर्य्यादाभिविध्योः, चरिर्गत्यर्थः; मर्य्यादया चरन्तीत्याचार्य्या। आचारेण वा चरन्तीत्याचार्य्याः। आ०चू० १अ० ९९३ गाथाचूर्णिः।

अट्ठारससीलंगसहस्साहिट्ठियं तणू छत्तीसइविहमायारं जहट्ठियं मैं गिलाए महत्ति साणुसमयं आयरंति त्तिवत्तयंति त्ति आयरिया। परमप्पणो य हियमायरंति आयरिया। सव्वसत्तसीगसगणाणं च हियमायरंति आयरिया। पाणपरिच्चाए वि उ पुढवादीणं समारंभं नाऽऽयरंति, नारभंति, णाणुजाणंति, आयरिया। सुहुमावरद्धेवि ण कस्सइ मणसाऽवि पावमायरंति त्ति वा आयरिया। महा० ३ अ०।

''स्याद्व्यचैत्यचौर्य्यसमेषु यात्''॥८।२।१०७॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण चौर्य्यशब्देन समेषु शब्देषु संयुक्तस्य यात्पूर्व्व इत्। प्रा०। **''आचार्य्ये चोऽच्च ॥८।१।७३॥** इति हैमप्राकृतसू- त्रेणाचार्य्यशब्दे चस्याऽऽत इत्त्वमत्त्वं च। प्रा०। गुरौ० पं० व० १३ गाथाटी०। पञ्चस्थविराणां मध्ये प्रथमे स्थविरे, ध०३ अधि० ५४ श्लोक। आचार्य्याः-अर्थदातारः। बृ०१ उ० ३ प्रक० ६३९ गाथटी०। आचार्य्यम्सूत्रार्थदाता, दिगाचार्य्यो वा। कल्प० ३ अधि ९ क्षण ४६ सूत्र टी०। आचार्य्यस्सूत्रार्थोभयवेत्ता लक्षणादियुक्तश्च। आव०३ अ० ११९५ गाथाटी०।

विषयाः-

(१) निक्षेप आचार्य्यपदस्य।
(२) भेदाः-कलाचार्य्यः १, शिल्पाचार्यः २, धर्म्माचार्य्यश्चेति ३, तेषां विनयः।
(३) स्वरूपमाचार्य्यस्येह परत्र च।
(४) प्रव्राजनाचार्य्या उपस्थापनाचार्य्याश्च।
(५) स्वरूपमाचार्य्यस्य 'सुत्तत्थ' इत्यादि।
(६) लक्षणमाचार्य्यस्य।
(७) गुणा आचार्य्यस्य यै रहितो गुरुर्न भवति।
(८) गुणा आचार्य्यस्य 'अपरिश्रावी' त्यादि।

१-'आयरियं' ति-सूत्रत्वात्। उत्त० पाई० ६अ०।

(९) भ्रष्टाचारत्वं दुर्गुणस्सूरेः।
(१०) पराऽहितकारित्वं दुर्गुणः।
(११) सूरेः स दुर्गुणो येन कुगुरुर्भवति।
(१२) प्रमादिनमाचार्य्यं शिष्यो बोधयति।
(१३) वैरी शिष्यस्य गुरुः।
(१४) विनय आचार्य्यस्य।
(१५) गुरुविनये वैद्यदृष्टान्तः।
(१६) नमस्कार आचार्य्यस्य।
(१७) वैयावृत्त्यं गुरोः।
(१८) गच्छाधिपतिः केन कर्म्मविपाकेन भवति।
(१९) अतिशया आचार्य्यस्य।
(२०) निर्ग्रन्थीनामाचार्य्यः।
(२१) आचार्य्ये कालगते आचार्य्यान्तरस्थापनम्।
(२२) आचार्य्येऽवधाविते आचार्य्यान्तरस्थापनम्।
(२३) लक्षणं ''सुत्तत्थे णिम्माओ'' इत्यादि।
(२४) एकपाक्षिकादेर्दिगाचार्य्यः।
(२५) लक्षणं मेढीभूतः।
(२६) परीक्षा आचार्यस्य।
(२७) उद्देशः मैथुनादिप्रतिसेव्याचार्य्यत्वेन।
(२८) स्थापनाविधिराचार्य्यपदे गुरोः।
(२९) परिच्छदसहितस्यैवाचार्य्यत्वम्।
(३०) स्थापनायां स्थविराः प्रष्टव्याः।

(१) निक्षेप आचार्यपदस्य-

आङ्मर्य्यादाऽभिविध्योः चरिर्गत्यर्थः, मर्य्यादया चरन्ती- त्याचार्य्याः। आचारेण वा चरन्तीत्याचार्य्याः। ''ते चउव्विहा- णामट्ठवणाओ गताओ। द्रव्यभूतो वा द्रव्यनिमित्तं वा द्रव्यमेव वा दव्वं आयारवंतं भवति, अनायारवंतं च नाम तं प्रति, तिण्णि सिलया एरंडो य, धावणं प्रति, हारिद्दा रागो य वासणं प्रति, कवेल्लुगा वइरं व सिक्खवेणं प्रति, मदणसलागा भासादीप- करणं प्रति, सुवण्णे घंटा लोहं च अविरोधं प्रति, कीरं सकराय विरोधं प्रति, तेल्लंदाणेधिरार्च एगमादि एत्थ गाधा- ''णामण- धावण-वासण-सिक्खावण सुवण्णण अविरोधीणि। दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायारं वियाणाहि। अहवादव्वायरिओ तिविहो एगभविओ, वद्धाउओ, अभिमुहणामगोत्तो। एगभविओ वतिरित्ते जो एगेणं भवेणं उववज्जिहि त्ति। वद्धाउओ जेण आउयं बद्धं। अभिमुहणामगोत्तो जेण पदेसा उच्छूढो। अहवा-मूलगुणणि- व्वत्तितो, उत्तरगुणणिव्वत्तितो य। सरीरं मूलगुणा, विऊकम्मादि उत्तरगुणा। अहवा-जाणओ, भविओ, वतिरित्तो, मंगुवायगाणं समुद्दवायगाणं नागहत्थिवायगाणं जधासंखं आदेसो। आ० चू० १ अ०। ''दव्वाआयरियो सयाऽभव्वो'' ॥१३+॥ द्रव्याचार्यः आचार्यत्वयोग्यताया अभावादप्रधानाऽऽचार्यः। पञ्चा० ६ विव०। भावायरिओ दुविहो-आगमतो, णोआगमतो य। तहेव। णोआगमतो दुविहो-लोइओ, लोउत्तरिओ य। लोइत्तो-सिप्पाणि चित्तकम्मादि-सत्थाणि वइसेसियादि जो उपदिसति। उत्तरिओ- जो पंचविधं णाणादियं आयारं आयरति, प्रभासति य अण्णेसिं आयरियाणं आचरितव्यानि दर्शयति। एवं मन्तव्यं। एवमादि तेण ते भावायरिया तेसिं फलं तहेव। आ०चू०२ अ०।

नामं ठवणा दव्विए, भावे चउव्विहो य आयरिओ।
दव्वंमि एगभवियाइ, लोइए सिप्सत्थाई ॥३०५॥

आचार्य इति कः शब्दार्थ उच्यते- 'चरगतिभक्षणयोः' इत्यस्य (चरेः) आङि वा गुरा (पा० ३-१-१०० वार्त्तिके) विति ण्यति आचार्य इति भवति, आचर्यतेऽसावित्याचार्यः, कार्यार्थिभिः सेव्यत इत्यर्थः। अयं च नामादिभेदाच्चतुर्विधः। आव० १ उ०। इह नामस्थापने सुगमे। विशे०।

द्रव्यविचारे पुनराह-

आगमदव्वायरिओ, आयारवियाणओ अणुवउत्तो।
नो आगमओ जाणय-भव्वसरीराइरित्तोऽयं ॥३१९१॥

भविओ बुद्धाऊ, अभि-मुहो मूलाइनिम्मिओ वाऽवि।
अहवा दव्वब्भूओ, दव्वनिमित्तायरणओ वा ॥३१९२॥

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तस्त्वाचार्य्योऽयं कः इत्याह- 'भविओ' इत्यादि, एकभविको, बद्धायुष्क, अभिमुखनामगोत्र- श्वेत्यर्थः, 'मूलाइ-निम्मिओ वाऽवि' त्ति-तथा मूलगुणनिर्म्मितः, उत्तरगुणनिर्मितश्च तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याचार्य्यो मन्तव्यः। तत्र मूलगुणनिर्मित आचार्य्यशरीर निवर्त्तनयोग्यानि द्रव्याणि उत्तर- गुणनिर्मितस्तु तान्येव तदाकारपरिण-तानीति। अथवा- द्रव्य- भूतोऽप्रधान आचार्य्यस्त-द्व्यतिरिक्तो द्रव्याचार्य्यः प्रतिपाद्यते। यो वा द्रव्यनिमित्तेनाचरति चेष्टते स द्रव्यनिमित्ताचरणाद् द्रव्याचार्य्यः, स च लौकिको, लौकिकमार्गे शिल्पशास्त्रादिविज्ञेयः। यः शिल्पानि निमित्तादिशास्त्राणि च ग्राहयति स इहोपचारतः शिल्पशास्त्रादिरुक्तः। अन्ये त्विमं शिल्पशास्त्राचार्य्यं लौकिकं भावाचार्य्यं व्याचक्षते। शेषं सुगममिति।

'पंचविहमि' त्यादिना लोकोत्तरो भावाऽऽचार्य्य उक्तः। तत्स्वरूपव्या-ख्यानार्थमाह-

आ मज्जायावयणो, चरणं चारो त्ति तीए आयारो।
सो होइ नाणदंसण-चरित्ततवविरियवियप्पो ॥३१९३॥

तस्सायरणपभासण-देसणओ देसियाविमोक्खत्थं।
जे ते भावाऽऽयरिया, भावायारोवउत्ता य ॥३१९४॥

अहवाऽऽयरंति जं सय-मायारेंति व जमायरिज्जंति।
मज्जाययाऽभिगम्मं- ति जमुत्तं तेणमायरिया ॥३१९५॥

पाठसिद्धा एवं नवरं 'तीए' त्ति-तया-मर्य्यादया चरणमाचारः। 'तस्से' त्यादि, तस्य-पञ्चविधस्याचारस्य स्वयमाचरणतः परेषां च प्रभाषणतः तथा विनेयानां वस्तुप्रत्युपेक्षणा-दिक्रियाविधेर्दर्शनतो ये परात्मनो मोक्षार्थं 'देसिय' त्ति- देशितारस्ते भावाचारोपयुक्तत्वा-द्भावाचार्य्या इति। अथवा-स्वयं यस्मादाचरन्ति सदनुष्ठानम्, आचरयन्ति चान्यैः। अथवा- आचर्य्यन्ते- मर्य्यादया अभिगम्यन्ते यतो मुमुक्षुभिरिति यदुक्तमेतत्तात्पर्यमित्यर्थः तेनाऽऽचार्याः। विशे०।

कस्याऽऽचार्यस्याऽऽज्ञा नाऽतिक्रमणीयेत्यधिकृत्य-

गोयमा! चउव्विहा आयरिया भवंति, तं जहानामा- ऽऽयरिया १, ठवणायरिया २, दव्वायरिया ३, भावायरिया ४। तत्थ णं जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा, तेसिं संतियाणं णाइक्कमेज्जा, से भयवं ! कयरे णं ते भावायरिया भन्नंति, गोयमा ! जे अज्जपव्वइए वि आगम-विहीए एयं पए पए आणाणुसंवरंति ते भावायरिया। जओ णं वाससयदिक्खिए वि हुत्ताणं वायामेत्तेणं पि आगमओ वाहिं करेंति ते णामठवणाहिं णिओइयव्वे। से भयवं! आयरियाणं केवइयं पायच्छित्तं भवेज्जा। जेसिं गच्छस्स साहू णो तं आयरियमयहरपवित्तिणीए य सत्तरसगुणं अहाणं सीलखलिए भवंति। तओ तिलक्खगुणं जं अइदुक्करणासंजं सुकरं तम्हा सव्वहा सव्वपयारेहि णं आयरियमयहरे पवित्तिणिए य अत्ताण पायच्छित्तस्स संक्खेयव्वं अखिलअसीलेहिं च भवियव्वं। महा० ५ अ०।

(२) आचार्यस्य भेदाः-

तओ आयरिया पण्णत्ता । सिप्पायरिया १, कलायरिया २, धम्मायरिया ३। जे ते धम्मायरिया, परलोगहियट्ठाए निज्जरट्ठाए, आराहेयव्वा । अण्णे कलायरिया, सिप्पायरियाए, कइएहिं, कित्तबुद्धिए, आराहियव्वे । तत्थेगे धम्मायरिया, सोवाय-करंडसमा । वृद्धाइकथत्थप्पयगाहाइहिं जे सुद्धसमाए वक्खाणिंति ते सोवागकरंडसमा। वेसाकरंडसमा- जो रीरी आहारणसरिसजीहा- वक्खाणडंबरेण अंतरं सुअसारविर-हियाऽवि सुद्धसभाए जणं विमोहिंति णेरविंति अप्पाणं थुतंसि आलुच्च अत्थेणे पाडिंति गोयमगणहराणं उवमाए ते वेसारकरंडसमा। गाहावइकरंडसमा- जे संमं समुवसियसुगुरु-हिंतो संपत्तं अंगोवंगाइं सुत्तत्थेसु परिच्छियच्छेयगंथा ससमय-परसमयणिच्छया परोवयारकरणिक्कमल्लिच्छया। जणजोग-विहीए अणुओगं करिंति ते गाहावइ- करंडसमा। रायकरंडसमा-जे गणहरा चउदसपुव्विणो वा घडाओ घडसयं, पडाओ पडसयं, इच्चाइं विहाइं सयसंमाणिया ते रायकरंडसमा। गाहावइकरंडसमाणे, रायकरंडसमाणे, दोवि आयरिए तित्थयरसमाणे। अंग०।

(आचार्यस्य यथोचितसत्कारः)

केसीकुमारसमणे पदेसिं रायं एव वयासी-जाणासि णं तुम्हं पएसी केवइयाऽऽयरिया पण्णत्ता ? हंता ! जाणामि, तओ आयरिया पण्णत्ता। तं जहा कलायरिए १, सिप्पायरिए २, धम्मायरिए ३। जाणासि णं तुम्हं पएसी तेसिं तिण्हं आयरियाणं कस्स का विणयपडिवत्ती पउंजियव्वा? हंता जाणामि- कलायरियस्स, सिप्पायरिअस्स उबलेवणं वा समंज्जणं वा करेज्जा, पुप्फाणि वा आणावेज्जा, मंडवेज्जा वा, भोयवेज्जा वा, विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलएज्जा, पुत्ताणं पुत्तियं वावि विकप्पेज्जा। जत्थेव धम्माऽऽयरियं पासेज्जा तत्थेव वंदिज्जा णमंसेज्जा सक्कारेज्जा सम्माणेज्जा कल्लाणं मंगलं चेव पज्जुवासेज्जा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेज्जा पाडिहारिएणं पीठफलगसेज्जासंथारतेणं उवनिमंतिज्जा। (सूत्र-+) रा०।

आचार्य्यस्त्रिविधस्तद्यथा-

सीहाऽणुगवसभ-कोट्ठगाणूगे ॥४००॥

सिंहाऽनुगो १, वृषभाऽनुगः २, क्रोष्टुकाऽनुगश्च ३। क्रोष्टुकः-शृगालः। यत्र यो महत्यां निषद्यायां स्थितः सन् सूत्रमर्थं वा वाचयति तिष्ठति वा स सिंहानुगः। यः १ पुनरेकस्मिन् कल्पे स्थितस्सन् वाचयति तिष्ठात वा स वृषभानुगः २। यस्तु रजोहरणनिषद्यायामौपग्रहिकपादप्रोञ्छने वा स्थितो वाचयति तिष्ठति वा स कोष्टुकानुगः इति ४। व्य० १ उ०। नि० चू० २० उ० ३४३ गाथा। (कस्याचार्यस्य कः आचार्य आलोचनां दद्यात् इत्यादिबहुवक्तव्यता 'आलोयणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽग्रे वक्ष्यते)

(३) स्वरूपमाचार्यस्येह परत्र च-

आयरिओ केरिसओ, इहलोए केरिसो व परलोए।
इहलोए असारणिओ, परलोए फुडं भणंतो ॥३८१॥

य एष उपग्रहकृदाचार्य्यस्तमेव ज्ञातुमिच्छामि कीदृशः खल्वाचार्य्य इहलोकेहितकारी, कीदृशः परलोकेइति, सूरिराह-चतुर्विधस्सामान्ये-नाऽऽचार्य्यः तद्यथा-इह लोके हितो नामैको न परलोक हितः१। परलोकहितो, नेह लोकहितः २। इह लोकेहितोऽपि; परलोकेहितोऽपि ३। न इह लोकहितो; नापि परलोकहितः ४। तत्र प्रथमद्वितीयभङ्ग-व्याख्यानमाह- 'इहलोए' इत्यादि, तत्र यो वस्त्रपात्रभक्तपानादिकं समस्तमपि साधूनां पूरयति;न पुनः संयमे सीदतस्सारयति सः-असारणिकः; सारणारहित इह लोकेन परलोके एषा प्रथमभङ्गभावना। यः पुस्संयमयोगेषु प्रमाद्यतां सारणां करोति न च वस्त्रपात्रभक्तपानादिकं प्रयच्छति, स केवलं स्फुटं भणन् कुर्वाणः परलोकेहितो, नेह लोकेइति सामर्थ्यादुगम्यते, एषा द्वितीयभङ्गभावना । तृतीयचतुर्थभङ्गभावना तु स्वयं भावनीया । सा चैवम् यो । वस्त्रपात्रभक्तपानादिकं समस्तमपि साधूनां पूरयति संयमयोगेषु च सीदतस्सारयति स इहलोकेहितः परलोके च हितः चतुर्थः उभयरहितः । अत्र पर आहननु यो भद्रस्वभावतया न सारयति वस्त्रपात्रभक्तादिकं तु समस्तमापूरयति स एव समीचीनः यः पुनः खरपुरुषं कुर्वाणः- चण्डरुद्राचार्य इव सारयति स न समीचीन, असमाध्युत्पादकत्वात्।

तत्राऽऽह-

जीहाएऽभिलिहंतो, न भद्दतो जत्थ सारणा नऽत्थि।
दंडेणऽवि ताडेंतो, स भद्दतो सारणा जत्थ ॥३८२॥

यत्र नाम संयमयोगेषु सीदतां सारणा नाऽस्ति स आचार्य्यो जिह्वयाऽभिलिहन्- मधुरवचोभिरानन्दयन्, उपलक्षणमेतत्- वस्त्रपात्रादिकं च पूरयन् न भद्रको- न समीचीनः परलोका- ऽपायेषु पातनात्। यत्र पुनस्सीदतां साधूनां सम्यक् सारणा- संयमयोगेषु प्रवर्तना समस्ति स आचार्य्यो दण्डेनापि ताडयन् भद्रकः-एकान्तसमीचीनः सकलसांसारिकाऽपायेभ्यः परित्राणक- रणात्।

अथ सारणमकुर्व्वाणो जिह्वया विलिहन् कस्मान्न समीचीन इत्यत्राऽऽह-

जह सरणमुवगयाणं, जीवियववरोवणं नरो कुणइ।
एवं सारणियाणं, आयरितो असारओ गच्छे ॥३८३॥

यथा कोऽपि नर एकान्तेनाऽहितकारी शरणमुपागतानां जीवितव्यपरोपणं करोति एवं साधूनामपि शरणमुपागतानां संयमयोगेषु प्रमादव्यावर्तनेन प्रवर्तनीयानामाचार्य्योऽसारको गच्छे भावनीयः। सोऽपि शरणोपगतशिरोनिकर्त्तक इव एकान्तेनाऽहितकारीति भावः। शरणमुपगतानां संसारापारपारावारे निरनुकम्पं प्रक्षेपणात्, स च तादृश इह परलोकहितार्थिना परित्याज्यः। यस्तु खरपरुषभणनेनापि संयमयोगेषु सीदतः सारयति स संसारनिस्तार कत्वादेकान्तेनाऽऽश्रयणीयः। व्य० १ उ०। नि० चू०।

(४) प्रव्राजनाचार्य्याः, उपस्थापनाचार्य्याश्च। सूत्रम्-

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा-पव्वायणायरिए एगे नामं; नो उवट्ठावण आयरिए १। उवट्ठावणायरिए नामं एगे; नो पव्वावणायरिए २। एगे पव्वावणायरिएऽवि; उवठावणायरिएवि ३। एगे नो पव्वायणायरिए; नो उवठायणायरिए धम्मायरिए ४॥१२॥

अस्य (सूत्रस्य) संबन्धमाह-

अदढाऽपियधम्माणं तव्विवरीए करेंति आयरिए।
तेसिँ विहाणंमि इमं, कमेण सुत्तं समुद्दिट्ठं तु ॥३७॥

अदृढधर्माणामप्रियधर्म्माणां चानुशासनाय स्थविराद्याचार्य्याः।

व्याख्यानार्थमाह-

पव्वावण उट्ठावण, उभय नोभयमिति चउत्थो।
अत्तऽट्ठपरऽट्ठा वा, पव्वावणा केवला पढमे ॥३८॥
एवमेव य बितितो वि, केवलमेत्तं उवट्ठवे सो उ।
तइओ पुण उभयं पि, अत्तऽट्ठपरऽट्ठ वा कुणउ ॥३९॥
जो पुण नोभयकारी, सो कम्हा भवति आयरिगो उ।
भण्णति धम्माऽऽयरितो, सो पुण गहितो व समणो वा ॥४०॥

प्रथमे-प्रवाजनाऽऽचार्य्यः। द्वितीये-द्वितीयभङ्गेन सूचित-उपास्थापनाचार्य्यः। तृतीयभङ्गसूचित उभयः। प्रव्राजनोपस्थापनाचार्य्यः। तत्र प्रथमः-प्रथमस्यात्मार्थस्य परार्थस्य केवला प्रव्राजना। किमुक्तं भवति-आत्मनिमित्ते, परनिमित्ते वा यः केवलं प्रव्राजयति स प्रथमः प्रव्रजनाचार्य्यः। एवमेव- अनेनैव प्रकारेण द्वितीयः स केवलं मात्रम् उपस्थापयति; यः प्रव्राजितस्य सदुपस्थापनामात्रं करोति स द्वितीय इत्यर्थः। तृतीयः पुनरपि प्रव्राजनमुपस्थापनं वाऽऽत्मार्थं परार्थं वा करोति, यः पुनर्नोभ- यकारी स चतुर्थः। अय स कस्माद्भवत्याचार्य्यः उभयविकल- त्वात्सूरिराह-भण्यते स धर्म्माचार्य्यो धर्म्मदेशकत्वात् स पुनगृही श्रमणो वा वेदितव्यः।

एवं च यत्राऽऽचार्य्याः तथा चाह--

धम्मायरिपव्वायण, तह य उट्ठावणा गुरू तइओ।
को इ तिहिं संपन्नो, दोहिँ वि एक्केक्कएणं वा ॥४१॥

प्रथमो धर्म्माचार्य्यो यस्तत्प्रथमतया धर्म्मं ग्राहयति १। द्वितीयः प्रव्राजनाचार्य्यो यः प्रव्राजयति २। तृतीयो गुरुरूरुप- स्थापनाचार्यो यो महाव्रतेषूपस्थापयति ३। तत्र कश्चित्त्रिभिरपि संपन्नो भवति। तथाहि-कदाचित्स एव धर्म्मं ग्राहयति स एव प्रव्राजयति स एवोपस्थापयति कश्चिद द्वाभ्याम्, तद्यथा- धर्म्मग्राहकत्वेन प्रव्राजनेन च, अथवा धर्म्मग्राहकत्वेनोपस्थाप- नेन केनचिदेकैकेन गुणेन तद्यथा। कश्चिद् धर्म्ममेव ग्राहयति। कश्चित्प्रव्राजयत्येव कश्चिदुपस्थापयत्येव।

सूत्रम-

चत्तारि आयरिया पन्नत्ता। तं जहा- उद्देसणाऽऽरिए एगे णामं; एगे नो वायणायरिए १, वायणायरिए एगे णांम; एगे णो उद्देसणायरिए २, एगे उद्देसणायरिए वि; वायणायरिए वि ३, एगे नो उद्देसणायरिए, नो वायणायरिए ४॥१३॥

अमीषां स्वरूपमाह-

एगो उद्दिसइ सुयं, एगो वाएइ तेण उद्दिट्ठं।
उद्दिसई वाएइ य, धम्माऽऽयरिओ चउत्थो य ॥४२॥

एकः-प्रथमः श्रुतमुद्दिशति न वाचयति यथा मङ्गलबुद्ध्या प्रथमत आचार्य्य उद्दिशति तत उपाध्यायः। अत्राचार्य्यः प्रथम- भङ्गवर्ती-उपाध्यायो द्वितीयभङ्गे, तथा चाहएको द्वितीय उपा- ध्यायस्तेनाऽऽचार्य्येणोद्दिष्टं वाचयति य एवोद्दिशति स एव वाचयति एष तृतीयः उभयविकलश्चतुर्थो धर्म्माचार्य्यः। व्य० १० उ०। आचार्यते-सेव्यते वा आचार्यः स च पञ्चधा-प्रव्राजकाचार्यः १, सचित्ताचित्तमिश्रानुज्ञायी दिगाचार्यः २, प्रथमत एव श्रुतमुद्दिशति यः स उद्देशाचार्यः ३, उद्दिष्टगुर्वभावे तदेवं श्रुतं संमुद्दिशत्यनुजानीते वा यः स समुद्देशानुज्ञाचार्यः ४, आम्नायम्-उत्सर्गा-पवादलक्षणमर्थं वक्ति यः स प्रवचनार्थकथनेनानुग्राहकोऽक्षनिषद्यानुज्ञायी आम्नायार्थवाचकाचार्यः ५। ध० ३ अधि० ११६ श्लोक।

(५) स्वरूपमाचार्य्यस्य। कीदृश आचार्य्यस्तस्वरूपमाह-

सुत्तत्थतदुभएहिं, उवउत्ता णाणदंसणचरित्ते।
गणतत्तिविप्पमुक्का, एरिसया हुंति आयरिया ॥३२५॥

ये सूत्रार्थतदुभयोपेता इति गम्यते। तथा सततं ज्ञानदर्शन चारित्रे समाहारो द्वन्द्वः। ज्ञानदर्शनचारित्रेषु उपयुक्ताः कृतोपयोगाः। तथा गणस्य गच्छस्य या तन्निस्सारा* तया विप्रमुक्ताः। गणावच्छेद- प्रभृतीनां तत्तत्रेः समर्पितत्वादुपलक्षणमेतत्। शुभलक्षणोपेताश्च य एतादृशा भवन्त्याचार्य्याः। ते चार्थमेव केवलं भाषन्ते न तु सूत्र- मपि वाचयन्ति। तथा चोक्तं। ''सुत्तत्थबिऊलक्खण, जुत्तो गच्छस्स मेढिभूतोय॥ गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं भासेइ आयरियो''॥ अथ किं कारणमाचार्य्यास्स्वयं सूत्रन्न वाचयन्तीत्यत आह॥

एगग्गया य इझाणे वड्ढी, तित्थयरअणुगिई गरुया।
आणथेज्जमिति गुरु, कयरिणमुक्खो न वाएई॥

सूत्रवाचनाप्रदानपरिहारेणार्थमेव केवलव्याख्यानाय आचा- र्य्यस्य एकग्रता एकाग्रमनस्कता ध्यानेऽर्थचिन्तनात्मके भवति। यदि पुनस्सूत्रमपि वाचयेत्तदा बहुव्यग्रत्वादर्थचिन्तायामेकाग्रता न स्यात् एकाग्रतयाऽपि को गुण इत्यत आह। वृद्धिः। एकाग्रस्य हि सतोऽर्थ चिन्तयतस्सूत्रार्थस्य तत्र सूक्ष्मार्थोन्मीलनाद्वृद्धिरुप-जायते। तथा तीर्थकरानुकृतिरेव कृता भवति। तथाहि। तीर्थकृतो भगवन्तः किलार्थमेव केवलं भाषन्ते न तु सूत्रं नापि गणतमिङ्कुर्व्वन्ति। एवमाचार्य्या अपि तथा वर्तमाना-स्तीर्थकरानुकरिणो भवन्ति। सूत्रवाचनां तु प्रयच्छतामा-चार्य्याणां लाघवमप्युपजायते। तद्वाचनायास्ततोऽध-स्तनपदवृत्तिभि-रप्युपाध्यायादिभिः क्रियमाणत्वादेवं च तस्य तथा वर्तमानस्य लोकेराज्ञ इव महती गुरुता प्रादुर्भवति। तद्गुरुतायां च प्रवचनप्रभावना तथा आज्ञायां स्थैर्यमाज्ञास्थैर्यं कृतं भवति तीर्थकृतामेवमाज्ञा पालिता भवतीत्यर्थः। इयं हि तीर्थकृतामाज्ञा यथोक्तप्रकारेण ममानुकारिण आचार्येण भवितव्यमित्यस्मात् हेतुकलापात् गुरुराचार्यः। कृतः ऋणमोक्षोयेन स कृत-ऋणमोक्षस्तेन हि सा मान्यावस्थायामनेके साधवस्तत्र सूत्रमध्यापितास्तत ऋणमोक्षस्य कृतत्वात्सूत्रं न वाचयति॥ उक्तमाचार्यस्वरूपम्॥ व्य० खं० १ उ० १॥

(६) लक्षणमाचार्य्यस्य॥

आवश्यकचूर्णौ॥

किंचि आयरियं आयारकुसलं एवं संजमपवयणसंगह उवग्गह-णुग्गहकप्पववहारपन्नत्तिदिट्ठिवायससमयपरसमयकुसलं ओयंसिं तेयंसिं वच्चसिं जसंसिं दुद्धरिसं अलहुगचित्तं जितक्कोहं पयारं जितिंदियं जीवितासं समरणभयविप्पमुक्कं जियपरिस्सहं पुव्वर- यपुव्वकीलि-यपुव्वसंथवविरहितं णिम्ममं निरहंकारं अणाणुतावि सक्कारलाभालाभ-सुहदुखमाणा अवमा ण्सहं अचवलं असबलम् असंकिलिट्ठं णिव्वणचरित्तं दसविह आलोयणदो सविहिन्नुं अट्ठारसआ-यारट्ठाणजाणगं अट्ठविहालोयणारिहगुणोवदेसगं आलोयणारिहं सुतरहस्सं अपरिस्साइं पायच्छित्तकुसलं मग्गाम- ग्गवियाणगं उग्गहईहअवायधारणाप वरबुद्धिकुसलं अणुओग- जाणगं णयविहिन्नुं आहरणहेउकारणणिद-रिसणउवमाणिरुत्तलेहट्ठअट्ठदरं रिसिहिं बहुविहउपा यागारोपदेसण-इंगितायारणे गमभिलसितमूगत्त-मणुवदिट्ठा वा हयसच्छंदविकप्प-विहिविहन्नुं लिविगणितसद्दत्थ-णिमित्तउप्पादपौराणंपडिच्चभावजाणगं वसुह- समं सीतधरस माणं पुक्खरपत्तमिव, णिरुवलेवं वायुमिव, अप्पडिबद्धं पव्वयमिव णिप्पकंपं सागरमिव, अक्खोभं कुम्मो इव गुत्तिंदियं जव्वकणगमिव, जायतेयं चन्दमिव, सोम्मं सूरमिव, दित्ततेयं सलिलमिव, सव्वजगणिव्वुइकरं गगणमिव, अपरिमितणाणं मतिकेतुं सूयकेतुं सुदिट्ठत्थं सुपरणिट्ठितत्थं एगं आयतसुहगवेसगं दुद्दोसजढं तिदंडविरतं तिगारवरहितं तिसल्लणिसल्लं तिगुत्तिगुत्तं तिगणविसुद्धं चउव्विहविकहा विवज्जियमतिं चउक्कसायविजढं चउव्विहविसुद्धबुद्धिं चउव्वि हाहारणीरालंबमतिं पञ्चसमितं पञ्चमहव्वयधारगं पञ्च णियंठ-णिदाणजाणगं पञ्चविहचरित्तजाणगं पञ्चविहचरित्त लक्ख- णसंपन्नं छव्विहविकहविवज्जगं छव्विहदव्वविधिवित्थ रजाणगं छट्ठाणविसुद्ध-पच्चक्खाणदेसगं छज्जीवकायदयापरं सत्तभयवि- प्पमुक्कं सत्तविहसंसारजाणगं सत्तविहगुत्तो वदेसगं अट्ठविह- माणमहणं अट्ठविहबाहिरइझाणजोगरहियं अट्ठविहब्भंतर- इझाणजुत्तं अट्ठविहक-म्मगंठिभेदगं नवबंभचेर वावत्तिघातकं दसविहसमणधम्मजाणगं एक्कारससातियक्खरविहिवियाणगं एक्कारसउवासगपडिमोवदेसगं बारस भिक्खुपडिमाफासगं बारसंगतवभावणाभावितमतिं बारसं गसुत्तत्थपारगं एवमाइगु- णोववेयस्स णिम्मधमहिरिसिस्स सगलं सकम्मं किंतिकम्मं काऊणं भण्णति भगवं बहुपु रिसपरंपरागयं संसारणित्थरणोपायं आवस्सनाणुओग मिच्छामि तस्सायरिओ गुणमहप्पणद्धा आवस्सयाणुओग परिकहेइ०॥ आ० चू०॥

ईदृशि गुरौ गुणमाह॥

भत्तिबहुमाणसद्धा, थिरयाचरणंमि होइ सेहाणं॥
एआरिसम्मि नियमा, गुरुंमि गुणरयणजलहिंमि॥१५॥

व्याख्या। भक्तिबहुमानाविति भक्तिर्बाह्यविनयरूपा बहुमानो भावप्रतिबन्धः एतौ भवतः। शिक्षकाणामाभिनवप्रव्रजिताना मिति योगः। केत्याह ईदृश्येवं भुते गुरौ आचार्ये नियमान्नियमेन पुनरपि स एव वि शिष्यते। गुणरत्नजलधौ गुणरत्नसमुद्र इति ततः श्रद्धास्थिरताचरणे भवतीति। तथाहि। गुरुभक्ति बहुमानभावत एव चारित्रे श्रद्धा स्थैर्यं च भवति नान्यथेति गाथार्थः॥ गुणान्तरमाह॥

अणुवत्तगो अएसो, हवइ दढं जाणई जओ सत्ता॥
चित्ते चित्त सहावे, अणणुवत्ते तह उवायं च॥१६॥

व्याख्या। अनुवर्तकश्च एषोऽनन्तरोदितो गुरुर्भवति दृढम त्यर्थं कुत इत्याह। जानाति यतः सत्वान् प्राणिनश्चित्रान् नानारूपाँश्चित्र-स्वभावान्नानास्वभावान् अनुवर्त्याननुवर्तनी यान् तथोपायं चानुवर्तनोपायंच जानातीति गाथार्थः। पं० व०

(७) गुणा आचार्य्यस्य यै रहितो गुरुर्न भवति॥

गुरुगुणाश्च षटत्रिंशदनुयोगशब्दे॥

गुरुगुणरहितस्य गुरोर्विधिना परित्यागः॥

गुरुगुणरहिओ उ गुरू, न गुरू विहिचायमो उ उद्दिट्ठो।
अण्णत्थसंकमेणं, ण उ एगागित्तणेणंति॥२४॥

*तन्निश्चिन्ता। प्रतिमाशतके श्लोक ६५ तमे॥

व्याख्या। गुरुगुणाः संज्ञानं सदनुष्ठानविशेषास्तै रहितोहीनोगुरु-गुणरहितः तुशब्दः पुनर्रथः। गुरुर्धर्म्माचार्य्योगुरुर्नधर्म्माचार्य्यो भवति। सुवर्णगुणविकलं सुवर्णमिवा ततश्च (विहिचायमो उत्ति) इह मकारो लाक्षणिकस्ततश्च विधित्याग एवागमिकन्यायेन परिहार एव तस्य गुरोरिष्टोऽभिमतो जिनानां। स च न यथा कथं चिदत एवाह। अन्यत्र गुरुकुलान्तरे संक्रमेण प्रवेशेन न पुनरेकाकित्वेन एककिविहारितयेति। गुरुकुलान्तरसंक्रमणे विधिश्च ''संदिट्ठो संदिट्ठस्स चेव संपज्जइउपमाइ। चउभंगो एत्थं पूण, पढमो भंगो हवइ सुद्धो''॥१॥ इत्यादिरागमप्रसिद्ध इति सर्वथा गुरुरहितेन न भाव्य मिति भावोयदाह ''एसणमणेसणं वा, कहं तेनाहिंति जिणवरमयं वा॥ करिणं मिव पोयाला, जे मुक्का पव्वइयमेत्ता'' इतिशब्दः प्राग्वदिति गाथार्थः॥ पंचा० वृ० ११॥ अथ गुरुगुणरहितस्तु गुरुर्न गुरुरिति विधित्याग एव तस्येष्ट इति यदुक्तं तत्र विशेषाभिधानायाह।

गुरुगुणरहिओ वि इह, दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो ॥
जोण उ गुणमेत्तविहीणोत्ति चंडरुद्दो उदाहरणं ॥२१॥

व्याख्या। गुरुगुणरहितोऽपि अपि शब्दोऽत्र पुनः शब्दार्थ स्ततश्च गुरुगुणरहितो गुरुर्न भवति। गुरुगुणरहितः पुनरिह गुरु कुलवासप्रक्रमे स एव दृष्टव्योज्ञातव्यो मुलगुणवियुक्तो महाव्र- तरहितः सम्यग्ज्ञानक्रिया-विरहितोवा यो न तु नपुनर्गुणमात्रविहीनो मूलगुणव्यतिरिक्तप्रतिरूपता-विशिष्टोपशमादि गुणविकल इति हेतोर्गुरुगुणरहितोदृष्टव्य इति प्रक्रमः उप प्रदर्शनार्थोवा इति शब्दः उक्तं वेहार्थे ''काल परिहाणिदोसा, एत्तो इक्काइगुणवि- णेण।अण्णेण विप्पव्वज्जादायव्वा सीलवंतेणं'' अत्रार्थे किं ज्ञा- पकमित्याह। चंडरुद्रश्चंड रुद्राभिधानाचार्य उदाहरणं ज्ञापकं त- त्प्रयोगश्चैवं। गुणमात्र विहीनोऽपि गुरुरेव मूलगुणयुक्तत्वात् चंड-रुद्राचार्यवत् तथा ह्यसौ प्रकृतिरोषणोऽपि बहूनां संविग्नगीतार्थ- शिष्याणा ममोचनीयः विशिष्टबहुमानविषयश्चाभूत्। पंचा०बृ० ११॥

(८) गुणआचार्य्यस्य अपरिश्रावीत्यादि॥

पुनरप्याचार्यगुणानाह।

अपरिस्सावी सम्मं, समपासी चेव होई कज्जेसु।
सोरक्खइ चक्खुपिब सबालबुड्ढाउलं गच्छं ॥२२॥

व्याख्या। न परिश्रवति परिकथितात्मगुह्यजलमित्येवं शीलोऽपरिश्रावी आलोचनामाश्रित्य आचारांगोक्ततृतीयभंगतुल्य इत्यर्थः। भंगाश्चैते एकोह्रदः परिगलतश्रोताः पर्यागलत् श्रोता- श्च शीता शीतोदा प्रवाहह्रदवत्। यतेस्तत्र जलं निर्गच्छत्याग- च्छति च ॥१॥ अपरः सुपरिगलच्छ्रोता नो पर्यागलत् श्रोताः पद्मह्रदवत् पद्मह्रदे तु जलं निर्गच्छति नत्वागच्छति॥२॥ तथा परोनो परिगलत् श्रोताः पर्यागलत् श्रोताश्च लवणोदधिवत् लवणे आगच्छति जलं न तु निर्गच्छति॥३॥ अपरस्तु नो परिगलत् श्रोता नो पर्यागलत् श्रोताश्च मनुष्य लोकाद्बहिः समुद्रवत् तत्र नागच्छति न च निर्गच्छति॥४॥ तत्रा चार्यः श्रुतमंगीकृत्य प्रथमभंगपतितः श्रुतस्य दानग्रहण सद्भावात्।१। सांपरायिककर्मापेक्षया तु द्वितीयभंगपतितः कषायोदयाभावेन ग्रहणाभावात् तपः कायोत्सर्गादिना क्षपणापतेश्च सांपरायिककर्म कषायकर्म्म।२। आलोचना मंगीकृत्य तृतीयभंगपतितः आलोचनाया अपरिश्रावित्वात्।३। कुमार्गं प्रति चतुर्थभंगपतितः कुमार्गस्यहि प्रवेशनिर्गमाभावात्।४। यदि वा केवलश्रुतमाश्रित्य भंगा योज्यं ते तत्र स्थविरकल्पिकाचार्यः प्रथमभंगपतिताः।१। द्वितीयभंगपतितास्तु तीर्छकृतः।२। तृतीय-भंगपतिता यथा लंदिकाः। तेषां तुक्वचिदच्छापरिसमाप्तवाचार्यादिर्निर्णय सद्भावात्।३। प्रत्येकबुद्धास्तूभयाभावचतुर्च्छाभंगस्थाः।४। सम्यक्सर्वथे-त्यर्थः (समपासी चेव होइकज्जे सुत्ति) सममविपरीतं पश्यतीत्येवं शीलः समदर्शी ''दृशोनियच्छ पेंच्छे''त्यादिना दृशेः पासादेशः। एवं विध एव योभवति क्व कार्येषु आगमव्या ख्यानादिसकलव्यापारेष्वित्यर्थः। स आचार्यः रक्षति धत्ते कुमार्गे पतन्तमिति शेषः। कं गच्छं कणं किंभूतं सबालाश्चते वृद्धाश्च सबालवृद्धास्तैराकुलः संकीर्णस्तं सबालवृद्धाकुलं किमिव चक्षुरिवा

यथाचार्यस्वरूपमाह।

सीआवेइ विहारं सुहशीलगुणेहिं जो अबुद्धीओ ॥
सन वरं लिंगधारी, संजमजोएण निस्सारो ॥२३॥

व्याख्या। (जो अबुद्धी ओत्ति) य आचार्योऽबुद्धिकस्तत्वज्ञा- नरहितः (सीयावे इत्ति) सीदयति शिथिलीकरोति कं विहारं नवकल्परूपं गीतार्थादिरूपं वा। कै सुखशीलगुणैः सुखशीलस्य साताभिलाषिणो गुणाः पार्श्वस्थादिस्थानानि सुखशीलगुणास्तैः (स नवरित्ति) केवलं लिंगधारी वेषमात्रधारी संयम आश्रवनिरोधरूपस्तस्य योगः प्रतिलेखनादि व्यापारस्तेन रहितत्वात् निस्सारश्चर्वितताबूलवदिति गाच्छाछंदः ॥२३॥

कुलगामनगररज्जं, पयहियं जो तेसु कुणइ हुममत्तं ॥
सोन वरि लिंगधारी संजमजोएण निस्सारो ॥२४॥

व्याख्या। कुलं गृहं ग्रामं सकरं नगरमष्टादशकररहितं राज्यं सप्तांगमयं उपलक्षणत्वात् धूलीप्रकारपरिक्षिप्तं खेटं कुनगरंकर्वटं सर्वत्रार्द्धतृतीय-गव्यूतांतग्रामान्तररहितं मडंबं जलपयोपेतं जलपत्तनं द्वीपमिव स्थलपयोपेतं स्थलपत्तनं लोहा-दिधातुजन्मभूमिरूपं आकरं जलस्थलपथाभ्यामुपेतं द्रोणमुखं वणिक् समूहवासं निगममित्यादि ज्ञेयं (पयहियत्ति) प्रहायत्ति प्रहार्य्य प्रकर्षेण त्यक्त्वा पुनर्यः आचार्यस्तेषु कुलादिषु करोति विधत्ते हु पनरर्थे ममत्वं ममैतदित्यभिप्रायमित्यर्थः। स सूरिः नवरि केवलं वेषधारी संयमयोगेन निस्सार इति गाथा छन्दः ॥२४॥

अथ पुनरपि सुन्दराचार्यप्रशंसामाह॥

विहिणा जो उं चोएइ, सुत्तं अत्थं च गाहइ।
सो धन्नो सो अपुणो अ, सबन्धू मुक्खदायगो ॥२५॥

व्याख्या ''विधिणा धर्म्ममइएहिं अइसुंदरेहिं कारणगुणोवणि एहिं पल्हायन्तो अमणं सीस चोएई आयरिओ'' इत्याद्याग गमोक्तप्रकारेण (जोउत्ति) यः पुनराचार्यः (चोएत्ति) चोदयति प्रेरयति शिष्यगणं कृत्यकरणादौ तथा सूत्रमाचा रांगा-दिश्रुतविधिनेत्यस्यात्रापि सम्बन्धनात् व्यवहारदशमोद्देशका-द्युक्तेन विधिना ग्राहयति पाठयति सूत्रपाठनानन्तरं तस्य

निर्युक्तिभाष्यचूर्णिसंग्रहणीवृत्तिटिप्पनकादिपरंपरोपलब्धमर्थं च विधिनेत्यस्यात्राप्यनिसम्बन्धनात् ''सुत्तत्थो खलु पढमो बी ओ'' इत्यादिना श्रीभगवतीसूत्रपञ्चविंशतितमशतकतृतीयो द्देशकश्री-नन्दिसूत्रावश्यकनिर्युक्त्याद्युक्तेन विधिनैव ग्राहयति बोधयति अथवा सूत्रमर्थं च विधिना गाहते निरंतरं स्वयमभ्यस्यतीत्यर्थः स आचार्योधन्यः पुण्यवान् अतएव (सो अ पुणोयत्ति) स पुण्य एव प्रवित्रात्मैव बंधुरिव बन्धुः। कुमत्यादिनिवारकत्वेन परमहितकर्तृत्वात् अतएव (मुक्खदायगोत्ति) मोक्षप्राप्तिहेतु- ज्ञानादिरत्नत्रयलंभकत्वेन मोक्षदायक इत्रत अनुष्टुप्छन्दः ॥२५॥

सएव भव्वसत्ताणं, चक्खूभूए वियाहिए।
दंसेइ जो जिणुदिट्ठं, अणुट्ठाणं जहट्ठिअं ॥२६॥

व्याख्या । स एवाचार्य्योभव्यसत्वानां मोक्षगमनयोग्यजंतूनां चक्षुर्भूतोनयनतुल्यो व्याहृतः कथितो जिनादिभिः। स कोयो जिनादिष्टमार्गोक्तमनुष्ठानं मोक्षपथप्रापकरत्नत्र-याराधनमित्यर्थः। यथा स्थितमवितयं दर्शयति कुमति-निराकरणेन प्रकटीकरोतीति अनुष्टुप्छन्दः ॥२६॥

अथ पूर्व्वार्द्धेन सूरेर्गुणविशेषेणं तीर्थकरसाम्यमुत्तरार्द्धेना-ज्ञोल्लंघिनस्तस्य कापुरुषत्वं च दर्शयन्नाह ॥

तित्थयरसमोसूरी, संमं जो णिजमयं पयासेई ॥
आणं अइक्कमन्तो, सोकापुरिसो न सप्पुरिसो ॥२७॥

व्याख्या। स सूरिस्तीर्थकरसमः सर्वाचार्यगुणयुक्ततया सुधर्म्मादिव-तीर्थकरकल्पो विज्ञेयः। न च वाच्यं चतुस्त्रिंशदतिश- यादिगुणविराज-मानस्य तीर्थकरस्योपमा सूरेस्तद्विकलस्यानु चिता। यथा तीर्थकरोऽर्थं भाषते एवमाचार्योऽप्यर्थमेव भाषते तथा। यथा तीर्थकर उत्पन्नकेवलज्ञानो भिक्षार्थं न हिंडते एवमाचा- र्योऽपिभिक्षार्थं न हिंडते इत्याद्यनेकप्रका-रैस्तीर्थकरानुकारित्वस्य सर्वातिशयित्वस्य परमोपकारित्वादेश्च ख्यापनार्थं तस्या न्याय्य- तरत्वात्। किंच श्रीमहानिशीथे पंचमाध्ययनेऽपि भावाचार्यस्य तीर्थकरसाम्यमुक्तं। यथा ''सेभयवं किं तित्थयरसंतिअं आणं नाइक्कमिज्जा ? उदाहु आयरिय संति अं गोअमा! चउव्विहा आयरिया भवन्ति। तं नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया, तत्थ णं जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा तेसिं सन्तिअं आणं नाइक्कमेज्जत्ति, स कः यः सम्यग् यथास्थितं जिनमतं जगत्प्रभु दर्शनं नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्र- शब्दसमभिरूढैवं-भूतरूपनयसप्तकात्मकं प्रकाशयति भव्यानां दर्शयतीत्यर्थः। तथा आज्ञां तीर्थकरोपदेशवचनरूपां अतिक्रामन् वितथप्ररूपणादिनोल्लंघयन् स सूरिःकापुरुषः पुरुषाधमः नस- त्पुरुषो न प्रधानपुरुष इति। इहचाज्ञोल्लंघिनः कापुरुषत्व- मात्रमैहलौकिकं फलं पारलौकिकं तु तदनेकदुस्सहदुःखसन्त- तिसम्वलितमनन्तसंसारित्वं श्रीमहानिशीथ-पञ्चमाध्ययनोक्त- सावद्याचार्यस्येव ज्ञेयं॥

तस्माद्गच्छाधिपतिना सर्वदा सर्वार्थेषु अप्रमत्तेन भाव्यमिति पू-र्वाचार्यसंस्कृतः सावद्याचार्यसम्बन्ध इत्येवं विलोक्याऽचार्योपा-ध्यायप्रवर्तकादिना मोक्षार्थिना भगवदाज्ञया आगमार्थोनिरूप-णीयः न, स्वमत्या तथात्वेऽनन्तसंसारावाप्तेरितिगाथाछन्द ॥२७॥ ग०अधि०१ ॥

(९) भ्रष्टाचारत्वं दुर्गुणस्सूरेः ॥

अथ केसूरयः आज्ञामतिक्रामन्तीत्याह ॥

भट्ठायारो सूरी भट्ठायाराणुविक्खाओ सूरी ॥
उम्मग्गट्ठि ओ सूरी तिण्णिवि मग्गं पणांसति ॥२८॥

व्याख्या। भ्रष्टः सर्वथा विनष्ट आचारो ज्ञानाचारादिर्थस्य स भ्रष्टाचारः सूरिरधर्म्माचार्यः १ भ्रष्टाचाराणां विनष्टाचाराणां साधूनामुपेक्षकः प्रमादप्रवृत्तसाधूनामनिवारयितेत्यर्थः। सूरिर्मद- धर्म्माचार्यः।२। उन्मार्गस्थित उत्सूत्रादिप्ररूपण परः सुरिरधमा- धमाचार्यः।३। त्रयोऽप्येते मार्गं ज्ञानादिरूपं मोक्षपथं प्रणाशयन्ति जिनाज्ञामतिक्रामन्तीत्यर्थः। गाथा छन्दः ॥२८॥

अथ तेषां त्रयाणां सेवकस्याशुभफलमाह।

उम्मग्गनासए जोउ, सेवए सूरी नियमेणं।
सो गोयम! अप्पाणं, अप्पं पाडेइ संसारे ॥२९॥

व्याख्या। उन्मार्गस्थितान् सन्मार्गनाशकान् १ (उ) शब्दात् भ्रष्टाचारान् २ भ्रष्टाचारोपेक्षकाँश्च ३सूरीन् यः सेवते पर्युपास्ते नियमेन निश्चयेन स नरो हे गौतम! आत्मानं अत्माना पातयति संसारे चर्तुगत्यात्मकेइति गाथा छन्दः॥२९॥

अथ भंग्यन्तरेण एनमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह।

उम्मग्गट्ठिओ एक्को, विनासए भव्वसत्तसंघाए॥
तं मग्गामणुसरंतं, जह कुत्तारो नरो होई ॥३०॥

व्या० उन्मार्गस्थितः उत्सूत्रप्ररूपणानिरतः एकोऽपि अधि- कारात् सूरिर्नाशयति संसारसमुद्रे अनंतानंतमरणप्रदानेन वि- नाशयतीत्यर्थः। कान् भव्यसत्वसंघातान् किं कुर्वतस्तान् तन्मा- र्गस्थितप्रदर्शितपथं अनुसरत्: आश्रयतः प्राकृतत्वात् वचन- व्यत्ययः। अत्र दृष्टांतमाह। यथा कुतारः कुत्सितस्तारकोनरो भवति स बहून् प्रष्ठलग्नान् जंतुसमूहान् नद्यादौ विनाशयति गाथाछन्दः॥३०॥

अथोन्मार्गगामिनामेवाशुभफलं दर्शयति।

उम्मग्गमगा संपट्ठि, याण साहूणंगोअमा ! नूणं।
संसारो अ अणंतो, होई सम्मगानासीणं ॥३१॥

व्याख्या। उन्मार्गगाः गोशालकबोटिकनिन्हवादयः तेषां मार्गः परम्परा तस्मिन् अथवा उन्मार्गरूपो यो मार्गं स्तस्मिन् समित्येकीभावेन इति प्रकर्षेण स्थितानां साधूनां साधुलिंग धार- कारणां हे गौतम! नूनं निश्चितः संसारश्चतुर्गत्यात्मक अनंतोऽपर्यतो भवति चशब्दस्तद्वता-नेकदुःरकसूचकः। किंभूतानां तेषां सन्मार्गनाशिनां शुद्धपथोच्छेदकानां महानिशीथोक्तमुनिचन्द्र- साधुवत् इति गाथाछन्दः ३१ ग० अधि० १॥ (प्रव्रज्यार्हाः पञ्चदशगुरवस्ते च प्रव्रज्याशब्दे) सद्गुरुस्वरूपं दर्शयति॥

देशं खित्तं उ जाणित्ता, वत्थं पत्तं उवस्सयं।
संगहे साहुवग्गं च सुत्तत्थं च निहालाए ॥१४॥

व्याख्या। आचार्यो देशं मालवकादिकं क्षेत्रं रूक्षा रूक्षभा विताभाविता दिरूपं (उ) शब्दात् ग्लानादियोग्यं द्र यं दुर्भिक्षादिकालं दातृपरिणामादिरूपं भावं च ज्ञात्वा वस्त्रं चीवरं पात्रं पतद्ग्रहादि उपाश्रयं मुनियोग्यालयं संग

ह्लीत कोऽर्थः। आचार्यः क्षेत्रादिकारणं ज्ञात्वा वस्त्रादिकं मेलयित्वा प्रायोगृहस्थानामदर्शयन् स्वपार्श्व एव संरक्षेत् न तु यथाकथंचिदित्यर्थः। तथा (साहु वग्गन्ति) साधूनां वर्गोवृन्दं साधुवर्गस्तं च साध्वीवर्गं च संगृह्णीत तु हीनाचारवर्गं तथा सुत्तत्थं च (निहालए) इति सूत्रमाचारांगादि अथो निर्युक्ति भाष्यचूर्णिसंग्रहिणीवृत्तिटिप्पनादिः। सूत्रं चार्थश्चेति समाहारद्वन्द्वे सूत्रार्थं तन्निभालयति चिन्तयतीत्यर्थः। चशब्दात्साधूनामपि सूत्रार्थं ददातीति एवं विधोयः स सदाचार्यः स्यादिति शेषः। इत्यनुष्टुप्छन्दः ॥१४॥ ग० अधि० १ टी॥ भ्रष्टाचारस्य सूरेर्निन्दा यथा ॥

भट्ठायारोसूरी, भट्ठायाराणुविक्खओ सूरी।
उम्मग्गट्ठिओ सूरी, तिण्णि वि मग्गं पणासन्ति ॥१॥

उम्मग्गट्ठिए सूरिंमिनिच्छयं भव्वसत्तसंघाए। जम्हा तंमग्गमणुस्सरन्ति तम्हाणतंजुत्तं। एक्कंपि जोदुहत्तं सत्तं पडिबोहिं उठवे मग्गे। ससुरासुरंमिविजिगे तेण ह घोसियं आणाघोयं। भूए अत्थि भविंस्सति के इ जगवन्दणीय कमजुयले। जेसिं परहियकरणे कवद्धलकरवाणवो लिही कालं। भूए अणागए काले ण केई इहोहिंति गोयमा! सूरी। णामग्गहणेण वि जेसिं होज्जनियमेण पच्छित्तं। ए यंगच्छिचवत्थं दुप्पसहाणंतरंतुजोखंडं। तं गोयम! जाणगणिं निच्छयओ अणंतसंसारि। जेसयलजीवजग-मंगलेक्ककल्लाण परमकल्लाणसिद्धिपए। वा वोच्छिन्ने पच्छित्तं होई तं गणिणो। तम्हा गणिणं समसत्तुमित्तपक्खेण परहियरएणं कल्लाणकंखुणा अप्पणो विय अणाण लंघेया। एवं मेरा ण लंघेयव्ववत्ति एवं गच्छववच्छ लंघितुनगारवेहिं पडिबद्धे संखाईए गणिणो अज्जवि बोहिं न पावंति। ण लभेहिंति य अन्ने अणंतहुत्तोवि परिभमं तित्थं। चउगइभवंससारोचेट्ठि-ज्जचिरसुदुक्खत्तो॥ महा० ६ अ०।

(१०) पराहितकारित्वं दुर्गुणः॥

अथ ये नाममात्रग्रहणेनाऽपि पराहितकारिणः सुरयस्तानाह ॥

तीअणागयकाले, केई होहिंति गोयमा ! सूरी।
जेसिं नामग्गहणे, वि होई नियमेण पच्छित्तं ॥३७॥

व्या०। अतीतकाले ते के चिदनिर्दिष्टनामानोऽभू वन्निति शेषः। अनागतकाले च (होहिंति) भविष्यंति आद्यंतग्रहणे मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायेन वर्तमानकाले च संति। हे गौतम ! सूरयः आचार्यनामधारकाः येषां परिचयकरणादिकं दूरे आस्तां नामग्रहणेऽपि भवति नियमेन निश्चयेन प्रायश्चितं। तथाचोक्तं। श्रीमहानिशीथपंचमाध्ययने ''इत्थं चायरियाणं, पणपण्णं होंति कोडिलक्खाओ॥ कोडिसहस्से कोडिं, स एव तह एतिएचेव॥१॥ एतेसिं मज्झा एगे, निव्वु ओइ गुणगुणइण्णो॥ सव्वुत्तमभंगेणं, तित्थयरस्साणुसा रिगुरू'' इति गाथाछंदः ॥३७॥

अथात्र हेतुमाह ॥

जओ सयरी भवंति, अणविक्खयाइ जह भिच्चवाहणा लोए॥
पडिपुच्छेहिं चोयणं, तम्हाउ गुरू सया नयइ ॥३८॥

व्याख्या (जओत्ति) भिन्नं पदं यतो भणितं (सयरित्ति) स्वेच्छाचारीणी भवंति (अणविक्खया इति) अनपेक्षया शिक्षारहितत्वेन यथो लोके (भिच्चवाहणत्ति) भृत्याश्च सेवका श्च वाहनानि च हस्त्यश्वबृषभमहिषा-दीनीति द्वंद्वे भृत्यवाहनानि। तथा विनेयाः गुरूणां प्रतिपृच्छाभिः कार्यं २ प्रति पृच्छा ताभिः (चोयणत्ति) प्राकृतत्वाद्विभक्तिलोपः)। चोदनाभिश्च विनेति शेषः। स्वेच्छचारिणो भवंति (तम्हाउति) तस्मादेव कारणात्प्रति-पृच्छाभिश्चोदनादिभिश्चाचार्यो विनेयान् सदा सर्वकालं (भयइत्ति) भजते सत्यापयति शिक्षयतीत्यर्थः गाच्छाछंदः ॥३८॥ ग० अधि० १।

(११) सूरेः स दुर्गणो येन कुगुरुर्भवति।

कुगुरुश्च कदा भविष्यतीति महानिशीथे अ०८।

सेभयवं केवइअेणं कालेणं पहे कुगुरुभावी होंति गोयमा ! इओ यमाउयअद्धतेरसण्हं वाससयागं साइरेगाणं समइ क्कंताणं परउ भवीसुं से भयवं केणं अट्ठेणं गोयमा? तक्कालं इड्ढि रससायगारवसंगए ममीकरे अहंकारग्गीए अंतो संपज्जलंतदोदी अहमहंति कयमाणसे अमुणि य समयसब्भावे गणी भवीसु एएणं अट्ठेणं से भगवं किं सव्वे वीएवं विहे तक्कालगणि भवीसुं गोयमा! एगंतेणं नो सव्व केयपुण दुरन्तपंतलक्खणे अदट्ठट्ठेणं एगाए जणणीए जमगसमगं पसूए निम्मेरे पावसीले दुज्जायजम्मे सूरोद्देप यंडाभिगाहिय दूरमहामिच्छदिट्ठी भविसुं सेयं भयवं कहं ते समुबलक्खेज्जा गोयमा! उस्सुत्तउस्सगायवत्तणुदिस्सणमइप-ब्बएण वा ॥

(१२) प्रमादिमाचार्य्यं शिष्यो बोधयति॥

अथं कथंचित् प्रमादिनं गुरुं शिष्यो विबोधयतीत्याह।

तुम्हारिसा वि मुणिवर,! पमायवसगा हवंति जइ पुरिसा।
तेणन्नो को अहं, आलंबणं हुज्ज संसारे ॥१९॥

व्याख्या। युष्मादृशा अपि हे मुनिवर! श्रमणश्रेष्ठ प्रमादवशगाः प्रमादपरवशा भवंति यदि चेत् पुरुषाः पुमांसस्तेन कारणेनान्यो युष्मद्व्यतिरिक्तः कोऽस्माकं मंदभाग्यानामालंबनमत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्। सागरे नौरिव भविष्यति संसारे चतुर्गत्यात्मकेपतताामिति शेषः। अनेनं विधिना शिष्यः प्रमादिनं गुरुं विबोधयतीत्यधिकाराल्लभ्यते। तथाच विबोधनविधये आचार्य्यगुणानपि शिष्य आचार्यस्य दर्शयति यथा॥

पुढवीविव सव्वसहं, मेरुव्व अकंपिरं ठियं धम्मे।
चंदुव्व सोमलेसं, तं आयरिं पसंसंति ॥१॥

अप्परिसावि आलोयणा, रिह हेउकारणविहिन्नुं।
गंभीरं दुद्धरिसं तं आयरियं० ॥२॥

कालन्नुं देसन्नुं, भावन्नुं अत्तुरियं असंभंतं ।
अणुवत्तयं अमायं, तं आय० ॥३॥

लोइयसामाइएसु, जस्स वक्खेवो ।
ससमयपरसमयंमि अ, तं ॥४॥

बारसहिंवि अंगेहिं, सामाइयमाइपुव्वनिव्वद्धे ।
लद्धट्ठं गहियट्ठं तं० ॥५॥

आयरियसहस्साइं, लहई अ जीवो भवेहिं बहुएहिं ।
कम्मेसु य सिप्पेसुं य, धम्मायरणेसु नो कहवि ॥६॥

जे पुण जिणोवइट्ठे, निग्गंथे पवयणंमि आयरिया ।
संसारमुक्खमग्गस्स, देसगा ते हु आयरिया ॥७॥

देवा वि देवलोए, निग्गंथं पवयणं अणुसरंता ।
अच्छरगणमइझगया, आयरिए, वंदयाइंति ॥८॥

जह दीवो दीवसयं, पइप्पए दिप्पई य ।
सो दीवसमा आयरिया, अप्पं च परं च दीवंति ॥९॥

देवा वि देवलोए, निचं दिव्वोहिणा वियाणंता ।
आयरियमणुसरंता, आसणसयणाणि मुंचंति ॥१०॥

इत्यादि चंद्रकवेधकप्रकीर्णकोक्तं वाच्यमिति गाथाछन्दः ॥ ग० १ अधि० ॥

प्रमादगतस्याचार्य्यस्स श्रमणोपासकेन कथं निवारण कर्त्तव्येति (समणोपासग) शब्दे ॥

अथ चोदनाया अकर्तुः फलं दर्शयन्नाह ॥

जो उ प्पमायदोसेणं आलस्सेणं तहेव य ।
सीसवग्गं न चोएइ, तेण आणा विराहिया ॥३९॥

व्याख्या॥ योगणी चशब्दादुपाध्यायादिश्च प्रमाददोषेण प्रमाद रूपो यो दोषस्तेन तथैव च चकारादुक्तशेषैर्मोहादिभिश्च उक्तं च "आलस्स १ मोह२ वन्ना, ३ थंभा ४ कोहा५ पमाय ६ किवि णत्ता॥७॥ भय ८ सोगा ९ अन्नाणा, १० वक्खेव ११ कुऊहला १२, रमणा १३ (१)" एतैर्हेतुभिः शिष्यवर्गमंतेवासिवृंदं न प्रेरयति मोक्षानुष्ठाने इति शेषः। तेनाचार्येण उपाध्यायादिना वा आज्ञेति जिनाज्ञा विराधिता खंडितेत्यर्थ ॥ ग०अधि० १ "आचार्यस्यैव तत् जाड्यं, यच्छिष्यो नावबुध्यते। गावो गोपालकेनेव, कुतीर्थेनावतारिताः (१)" आ०म०१ खं०१ अ०॥

(१३) वैरी शिष्यस्य गुरुः॥

अथ यःसूरिश्शिष्यस्य वैरी स्यात्तं वृत्तद्वयेनाह।

संगहोवगाहं विहिणा, न करेइ य जो गणी ।
समणं समणिं तु दिक्खित्ता, सामायारीं न गाहए॥१५॥

बालाणं जो उ सीसाणं, जीहाए उवलिंपए ।
तं सम्ममग्गं गाहेइ, सो सूरि जाण वेरिउ ॥१६॥

(संगहोवगाहंति) संग्रहश्चशिष्यादीनां संग्रहणं उपग्राहश्च तेषामेव भक्तश्रुतादिदानेनोपष्टंभनं तथा तत्र करोति वा न कारयति विधिना आगमोक्तप्रकारेण योगणी आचार्य्यस्तथा यः श्रमणं श्रमणीं दिक्षित्वा तु शब्दात्प्रतिच्छकगणमपि समाचारीं आगमो- क्ताहोरात्रक्रियाकलापरूपां सत्स्वगच्छोक्तां वा न ग्राहयेन्निर्जरा-पेक्षि सन्न शिक्षयेदित्यर्थः॥१५॥ तथा यःपुनर्बालानां शिष्याणां शिरः प्रभृत्यवयवमिति शेषः। जिव्हयारसनया उपलिंपद्गौरिव वत्सस्य चुंबेत् अत्यंतबाह्यहितं करोतीत्यर्थः। ननु बालादीनां प्रव्राजने निषेधोऽस्ति तत्कथं बालानां शिष्यत्व मुच्यते। योऽयं प्रव्रजने बालो निषिध्यते स ऊनाष्टवर्षः। अत्र त्वष्ट वर्षोपरिवर्त्ती बालो गृह्यते। अपवादपदेन तु ऊनाष्टवर्षोऽपि ॥ तथा सम्यक्मार्गं मोक्षपथं न ग्राहयति दर्शयति न शिक्ष यतीत्यर्थः। स आचार्यो वैरीति जानीहि हे गोतम! त्वमिति विषमाक्षरेतिगाथा-ऽनुष्टुप्छंदसी ॥१६॥

अथ पुर्वोक्तार्थलेशं विशेषयन्नाह ॥

जीहाए विलिहंतो, न भद्दओ सारणा जहिं नत्थि ।
दंडेणवि ताडेंतो, स भद्दओ सारणा जत्थ ॥१७॥

व्याख्या॥ जिव्हया विलिहन् शिष्यं चुंबन्नाचार्यो न भद्रको न श्रेष्ठो यत्राचार्ये सारणा हित प्रवर्तनलक्षणास्मारणा वा कृत्य- स्मारणलक्षणा उपलक्षणत्वाद्वारणा अहितान्निवारणलक्षणा तोदना संयमयोगेषु स्खलितस्याऽयुक्तमेतद्भवादृशां विधातु मित्यादिवचनेन प्रेरणा प्रतिनोदना तथैव पुनःश्च प्रेरणा नास्ति न विद्यते तथा दंडेनाऽपि यष्ट्याद्यापि किं पुनर्दव रकादिना ताडयन् शरीरपीडां कुर्वन् स आचार्यो भद्रकः श्रेष्ठः। यत्र गणिनि सारणा उपलक्षणत्वाद्वारणादिर्वाऽस्तीति गाथाछंदः। ग० १ अधि०।

(१४) विनय आचार्य्यस्य ॥

आचार्य्ये सापेक्षैः साधुभिर्भवितव्यम् तेषु च तेनेति दृष्टान्तैः प्रदर्शयति ॥

वद्धीधन्नसुभरियं, कोट्ठागारं डइझते कुटुंबिस्स ।
किं अम्हमुहा देई, केई तहियं न अण्णीणा ॥

एकः कौटुंबिकः स कर्षकाणां कारणे उत्पन्ने वृद्ध्या कालांतर रूपया धान्यं ददाति । तथा च वृद्ध्या कौटुंबिकस्य कोष्ठा गाराणि धान्यस्य सुभृतानि जातानि। अन्यदा च तस्यैकं कोष्ठागारं वृद्धि-धान्यसुभृतं वन्हिना प्रदीप्तेन दह्यते। न च केचित्कर्षका विध्या-पननिमित्तं तत्र प्रदह्यमाने कोष्ठागारमसमा गताः। किमेष कौटुंबिकोऽस्माकं मुधा ददाति येन वयं विध्यापनार्थमभ्युद्यता भवामः॥

एयस्स प्रभावेणं, जीवा अम्हेति एवं नाऊणं ।
अण्णे तु समल्लीणा, विज्झविए तेसिं सो तुट्ठो ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुंबिकस्य प्रभावेण च ये जीवंति स्म जीवा अनुप्रत्यया जीविता इत्यर्थः। एवं ज्ञात्वा समालीनास्त त्र समागता विध्यापनाय च प्रवृत्तास्ततो विध्यापिते कोष्ठा गारे स कौटुंबिकस्तेषां तुष्टस्ततः किमकार्षीदित्यत आह ॥

जे ओ सहायगत्तं, करेसु तेसिं अवड्ढियं दिन्नं ॥
दट्ठंति न दिण्णियरे, अकासगा दुक्खजीवीया ॥

ये तु विध्यापने सहायत्वमकार्षुस्तेषामवृद्धिकं कालांतरहितं धान्यं दत्तं। इतरेषां तु सहायत्वमकृतवतां दत्तमित्युत्तरं विधा य न दत्तं। ततस्ते अकर्षकास्संतो दुःखवज्जीविनो जाता एव दृष्टांतः।

सांप्रतमुपनयमभिधित्सुराह ।

आयरियकुटुंबी व, सामाणियथाणिया भवे साहू ॥
बावाहअगणितुल्ला, सुत्तत्था जाण धन्नं तु ॥

आचार्यःकुटुंबीव कुटुंबितुल्य इत्यर्थः। सामान्यकर्षकस्थानीयाः साधवः। आचार्यस्य भिक्षाटने वातादिव्याबाधाऽग्नितुल्या। सूत्रा- र्थान् जानीहि धान्यं धान्यतुल्यान्॥

एमेव विणीयाणं, करेंति सुत्तत्थसंगहं थेरा॥
होवेंति उदासीणे, किलेसभागी य संसारे॥

(एमेव) कौटुंबिकदृष्टान्तप्रकारेण ये विनिितास्तषां स्थविरा आचार्याः सूत्रार्थसंग्रहं कुर्वंति सूत्रार्थान्प्रयच्छंति। यस्तूदासीन स्तत्र हापयतीति न प्रयच्छतीति भावः। सचोदासीनो वर्तमानः केवलं सूत्रार्थयोग्यो भवेत् क्लेशभागी च संसारे जायते॥ संप्रति दंडिकदृष्टांतं विभावयिषुरिदमाह॥

उप्पण्णकारणे पुण, जइ सयमेव सहस्सा गुरू हिंडे।
अप्पाणं गच्छेमुभयं, परिचयती तत्थिमं नायं॥

उत्पन्ने कारणे वक्ष्यमाणलक्षणे यदि सहसा स्वयमेव गुरुरात्मानं गच्छमुभयं च परित्यजति। तत्र चेदं वक्ष्यमाणज्ञातमुदाहरणं। तदेवाह॥

सोउं परबलमायं, सहसा एक्काणिओ उ जो राया॥
निग्गच्छति सो वयती, अप्पाणं रज्जमुभयं च॥

यो निरपेक्षो राज्ये परबलमागतं श्रुत्वा बलवाहना- न्यमेलयित्वा सहसा एकादी परबलस्यं संमुखो निर्गच्छति स आत्मानं राज्यं चेत्युभयं त्यजति बलवाहनव्यतिरेकेण युद्धारंभे मरणभावात् एवमाचार्योऽपि निरपेक्षः समुत्पन्नेऽपि कारणे सहसा भिक्षामटन्नात्मानं गच्छमुभयं च परत्यजति निरपेक्षदंडिक- दृष्टान्तभावना॥

संप्रति सापेक्षदंडिकदृष्टांतभावनामाह-

सावेक्खो पुण राया, कुमारमादीहिं परबलं खविया।
अजिए सयंपि जुज्झइ, उवमा एसेव गच्छेवि॥

सापेक्षः पुना राजा प्रथमं कुमारादीन् युद्धाय प्रेषयति। ततः कुमारादिभिः परबलं क्षपयित्वा यदा कुमारैर्न परबलं तदा तस्मि- न् जिते स्वयमपि राज्ञा युध्यते। एषैवोपमा गच्छेऽपिद्रष्टव्या। आ- चार्योऽपि पूर्वयतनां करोति तथापि असंस्तरेण स्वयमपि हिंडते। एवं चात्मानं गच्छमुभयंच निस्तारयतीति भावः। व्य० ६ उ०॥

आचार्य्यसमीपवर्त्तिना च शिष्येण किं विधेयमित्याह। तद्दिट्ठीए तम्मोत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे जयं विहारी चित्तणिवाई पथंणिज्झाई बलिवाहिरे पासि यपाणे गच्छेज्जा से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुसेमाणे पसारे-माणे विणियट्टमाणे संपरिज्जमाणे॥ आचा०॥ ४ अ०४ उ०॥

(तिद्दिट्ठीए) तस्याचार्यस्य दृष्टिस्तद्दृष्टिस्तया सततं वर्तितव्यं हेयोपादेयेषु। यदि वा तस्मिन् संयमे दृष्टिस्तद्दृष्टिस्स एव वागमो दृष्टिस्तद्दृष्टिस्तया सर्वकार्येषु व्यवहर्तव्यं तथा (तम्मोत्तीए) तेनोक्ता सर्वसंगेभ्यो विरतिर्मुक्तिस्तन्मुक्तिस्तया सदायतितव्यं तथा (तप्पुरक्कारे) पुरस्करणं पुरस्कारः सर्वकार्य्येष्वग्रतः स्थापनं तस्याचार्यस्य पुरस्कारस्तद्पुरस्कारस्त स्मिंस्तद्विषये यतितव्यं तथा (तस्सण्णी) तस्य संज्ञा तत्संज्ञा तत्ज्ञानं तद्वांस्तत्सज्ञी सर्वकार्येषु स्यान्न स्वमतिविरचनयाकार्यं विदध्यात्तथा (तण्णिवेसणे) तस्य गुरोर्निवेशनं स्थानं यस्यासौ तन्निवेशनः। सदा गुरुकुलवासी स्यादिति भावस्तत्र च गुरुकुले निवसन् किंभूतः स्यादित्याह (जयंविहारी) यत मानो यतनया विहरणशीलो विहारी स्यात्। यतमानः प्राण्यु पमर्द्दनमकुर्व्वन् प्रत्युपेक्षणादिकाः क्रियाः कु र्यादिति। किञ्च (चित्तनिवाती) चित्तमाचार्याभिप्रायस्तेन निपतितुं क्रियायां प्रवर्त्तितुं शीलमस्येति चित्तनिपाती सदा स्यादिति। तथा (पंच्छणिज्झाती) गुरोः क्वचिद्गतस्य पथानं निर्ध्यातुं प्रलोकितुं शीलमस्येति पथनिर्ध्यायी। उपलक्षणं चैतत्। शिशयिषोः संस्तारकप्रलोकी बुभुक्षोराहारान्वेषीत्यादिना गुरोराराधकः सदा स्यात्किञ्च (पलिवाहिरे) परि समन्तादगुरोरव ठाहात् पुरतः पृष्ठतो वा चस्थानात्सदा कार्यमृते बाह्यः स्यादेत स्माद्य सूत्रात् त्रय ईर्योद्देशका निर्गता इति। किञ्च (पासिय इत्यादि) क्वचित्कार्य्यादौ गुर्वादिना प्रेषितः सन् दृष्ट्वा प्राणिनां युग-मात्रदृष्टिस्तदुपघातं परिहरन् गच्छेत्किञ्च (सेइत्यादि) स भिक्षुः सदा गुर्वादेशविधायी एतद्व्यापाखान् भवति। तद्यथा। अभिक्रामन् गच्छन् प्रतिक्रामन्निवर्तमानः संकुचन् हस्तपादादिसंकोचनतः प्रसारयन् हस्तादीनवयवान् विनि वर्तमानः समस्ताशुभव्यापारान् सम्यक् परिसमंताद्धस्तपा पादादीनवयवांस्तन्नि- क्षेपस्थापनानि वा रजोहरणादिना मृजन् परिमृजन् गुरुकुलवासे वसेदिति सर्वत्र संबंधीनयम्॥ आचा० टी०॥

अस्य बहुव्यक्तव्यता (आसायणा) शब्दे॥

अथैवमाचार्य्ये रक्षिते शुश्रुषिते च को गुण इत्यत आह॥

पुयंति य रक्खंति, य, सीसा सव्वे गणीं सया पयया॥
इह परलोए य गुणा, हवंति तप्पुयणे जम्हा॥

गणिनमाचार्यं शिष्याः सर्वे सदा प्रयताः प्रयत्नपराः पूजयंति शुश्रुषंते च। यस्मात्तत्पूजने आचार्यपूजने इह लोकेपरलोकेच गुणा भवंति इह लोके सूत्रार्थतदुपधाति परलोके सूत्रार्था भ्यामधीताभ्यां ज्ञानादिमोक्षमार्गप्रसाधनं अथवा पारलौकिका गुणा ''आयरिए वेयावच्चं करेमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति'' इत्येवमादयः॥ व्य० द्वि० ख० ६ अ०।

गुरुशुश्रूषा (विणय) शब्दे॥ आचार्यस्य चतुर्विधविनये नान्तेवासी अनृणी भवतीति विनयशब्दे॥

आचार्य्यस्याराधने फलं यथा॥ ''गुर्वायत्ता यस्मात् शास्त्रा रंभा भवति सर्वेऽपि॥ तस्मात् गुर्वाराधन, परेण हितकांक्षिणा भाव्यं'' ।१। आवश्यकभाष्यकारेणाऽप्यभ्यधायि।

गुरुचित्तायत्ताइं, वक्खाणंगाइ जेण सव्वाइं॥ जेण पुण सुप्पसण्णं, होइज्जं आगारिंगियं॥१॥ कुसलं जइ सेयं, वायसं वए पुज्जा। तह वियसिं न वि कूडे, विरहमियं कारणं पुव्वे॥२॥ व्य० १ खं० १ उ०।

(१५) गुवविनये वैद्यदृष्टान्तः॥

आचार्य्यसेवायां वैद्यदृष्टान्तो यथा॥

से जहा एकेई महावाहिगहिए अणुहूअतव्वेअणे विण्णाया सरूवेणं निट्विण्णे। तत्ताओ सुविज्जवयणेण सम्मं तमवगच्छिअ जहा विहाणओ पवण्णे सुविकिरिअं निरुद्धजाहिच्छाचारो तुच्छपच्छभोईमुच्चमाणे वाहिणा नि

अत्तमाणदेअणे समुपलप्भारोग्गं पवड्ढमाणतब्भावे तल्लाभनिव्वुइण्णे तप्पडिबंधाओ सिराखाराइजोगे विवाहिसमारुगाविण्णाणेरेणं इट्ठनिप्फत्तिओ अणाकुलभावयाए किरिउवओगेण अपीडिए अव्वहिए सुहलेस्साए वड्ढइ विज्जं च बहू मन्नइ। एवं कम्मवाहिगहिए अणुभूअजम्माइवेअणे विण्णाया दुरकरूवेणं निविण्णे तत्तओ तओ सुगुरुवयणेणं अणुट्ठाणाइणा तमवगच्छीअ पुव्वुत्तविहाणओ पव्वण्णे सु किरिअं पव्वज्जं विरुद्धपमायायारे असारसुद्धभोई मुच्च-माणे कम्मवाहिणा निअत्तमाणिट्ठविओगाइवेअणे समुवलब्भ चरणारोग्गं पवड्ढमाणसुहभावे तल्लाभनिव्वुईए तप्पडिबंधविसेसओ परिसहोवसग्गाभावे वि तस्स संवेअणाओ कुसलासयवुड्ढिओ थिरासयत्तेण धम्मोवओगाओ सया थिमिए। तेउल्लेसाए वड्ढई गुरुं च बहुमन्नइ जहोचिअं असंगपडिवत्तिए निसग्गपवित्तिभावेण। एसा गुरुई विआहिआ भावसारा विसेसओ भगवंतब्बहुमाणेण जोमं पडिमन्नइ सो गुरुत्तितदाणा अन्नहा किरिआ अकिरिआ कुलडा नारी किरि- आसमा गरहिआ। तत्त वेईणं अफलजोगओ विसण्ण तित्तीफलनित्यनायं आवट्टे खुतप्फलं असुहाणुबंधे आयओ गुरुबहुमाणो अवंझकारणत्तेण अओपरमगुरुसंजोगो तओ सिद्धीरसंसयं एसोह सुहोदए पगिट्ठतयणुबंधे भववाहितेगिच्छ नइओ सुंदरं परं उवमा इत्थ न विज्जई ॥ पं० सू० ४ सू० ॥

से जहेत्यादि । तद्यथा । कश्चित्सत्व: महाव्याधिगृहीत: कुष्ठादिग्रस्त इत्यर्थ:। अनुभूततद्वेदनोऽनुभूतव्याधिवेदन: विज्ञाता स्वरूपेण वेदनाया:। न कंडूगृहीतकंडूयनकारिवद्विपर्यस्त: निर्विण्णस्तत्वतस्तद्वेदनयेति प्रक्रम: । तत: किमित्याह। सुवैद्यवचनेन हेतुभूतेन सम्यगवैपरीत्येन तं व्याधिमवगम्य यथाविधानतो यथा विधानेन देवतापूजादिलक्षणेन प्रपन्न: सुक्रियां परिपाचनादिरूपां रुद्धयदृच्छाचार: सन् प्रत्यपायभयात्तथातुच्छ पथ्यभोजी व्याध्यनुगुण्यत: अनेन प्रकारेण मुच्यमानो व्याधि ना खसराद्यपगमेन निवर्त्तमानवेदन: कंडूवाद्यभावात् समुपसभ्यारोग्यं सदुपलंभेन प्रवर्द्धमानतद्भाव: प्रवर्द्धमानारोग्यभाव:। तल्लाभ- निर्वृत्त्या आरोग्यलाभनिर्वृत्त्या तत्प्रतिबंधात् आरोग्यप्रतिबंधा- द्धेतो: शिराक्षारादियोगेऽपि शिरावेधक्षारपात भावेऽपीत्यर्थ:। व्याधिसमारोग्य- विज्ञानेन व्याधिशमाद्यदारोग्यं तदवबोधेनेत्यर्थ:। किमित्याह। इष्टनिष्पत्तेरारोग्य निष्पतेर्हेतोरनाकुलभावतया निबंधनाभावात्॥ तथा क्रियो पयोगेन इति कर्त्तव्यताया बोधेन हेतुना अपीडितो ऽव्यथितो निवातस्थानामनौषधपानदिना। किमित्याह। शुभलेश्यया प्रशस्तभाव- रूपया वर्द्धते वृद्धिमाप्नोति। तथा वैद्यं च बहुमन्यते। महापायनिवृत्ति- हेतुरयं ममेति सम्यक् ज्ञानात् एष दृष्टांतोऽयमर्थोपनय: (एवमित्यादि) एवं कर्मव्याधिगृहीत: प्राणी किंविशिष्ट इत्याह। अनुभूतजन्मादिवेदन: आदिशब्दा- ज्जरामरणादिग्रह:। विज्ञाता दु:खरूपेण। जन्मादिवेदनाया: न तु तत्रैवाशक्त्या विपर्यस्त इति। तत: किमित्याह। निर्विण्णस्त त्वत:। ततो जन्मादिवेदनाया: किमित्याह। सुगुरुवचनेन हेतुना अनुष्ठानादिना तमवगम्य सुगुरुकर्मव्याधिं च पूर्वोक्तविधानत स्तृतीयसूत्रोक्ते तद्विधानेन प्रपन्नस्सन् सुक्रियां प्रव्रज्यां विरुद्ध प्रमादाचारो यदृच्छया असारशुद्ध- भोजी संयमानुगुणेन अने न विधिना मुच्यमान: कर्मव्याधिना निवर्त्तमानेष्टवियोगादि वेदनस्तथा मोहनिवृत्त्या किमित्याह। समुपलभ्य चरणारोग्यं सदुपलंभेन प्रवर्द्धमानशुभभाव:। प्रवर्धमानचरणारोग्यभाव: बहुतरकर्मव्याधिविकारनिवृत्त्या तल्लाभनिवृत्त्या तत्प्रतिबंधविशेषात् चरणारोग्यप्रतिबंधविशेषात् स्वाभाविकात् कारणात्परीषहोपसर्ग- भोवेऽपि क्षुद्विव्यादिव्यसनभावेऽपि तत्वसंवेदनात् सम्यक्ज्ञानाद्धेतो:। तथा कुशलाशयवृद्ध्या क्षायोपशमिक भाववृद्ध्या स्थिराशयत्वेन चित्तस्थैर्येण हेतु तथा धर्मोपयोगात् इति कर्त्तव्य- ताबोधात्कारणात् सदास्तिमित: भावद्वंद्वविर हेण प्रशान्त:। किमित्याह तेजोलेश्यया शुभप्रभावरूपया वर्द्धते वृद्धिमनुभवति। गुरुं च बहु मन्यते। भाववैद्यकल्पं कथ मित्याह। यथोचितमोचित्येन असंगप्रतिपत्त्या स्नेहरहितस्तद् भावप्रतिपत्त्या। किमस्या उपन्यास इत्याह। निसर्गप्रवृत्ति भावेन सांसिद्धिकप्रवृत्तित्वेन हेतुना एषाऽसंगप्रतिपत्तिर्गुर्वी व्याख्याता भगवद्भि:। किमित्याह। भावसारा तथौदयिकभाव विरहेण विशेषतोऽसंगप्रतिपत्ते:। इहैव युक्त्यंतरमाह। भगवद्बहुमानेन अचिंत्यचिंतामणि-कल्पतीर्थकर- प्रतिबंधेन कथमय मित्याह। यो मां प्रति मन्यते भावतस्स सुकर्मत्येवं तदाज्ञा भगवदाज्ञा। इत्थं। तत्वं व्यवस्थितं अन्यथेत्यादि। अन्यथा गुरुबहुमानव्यतिरेकेण क्रियाऽप्यक्रिया: प्रत्युपेक्षणादि रूपा अक्रिया सत्क्रिया ताभ्यां किंविशिष्ट इत्याह। कुलटाना री क्रियासमा दु:शीलवनितोपवासक्रियातुल्या तत: किमित्याह। गर्हिता तत्ववेदिनां विदुषां कस्मादित्याह। अफलयोगत: इष्टफलादन्यत्फलं मोक्षात्संसारिकमित्यर्थ:। तद्यो गात् एतदेव स्पष्टयन्नाह। विषान्न तृप्तिफलमत्र ज्ञानमल्पं विपाकदारुणं विराधनासेवनात्। एतदेवाह। आवर्त्त एव तत्फलं आवर्त्तते प्राणिनोऽस्मिन्नित्यावर्त्त: संसार:। स एव तत्वत स्तत्फलं विराधनाविषजन्यं। किंविशिष्ट आवर्त्त इत्याह। अशुभानुबंध:। तथा विराधनोत्कर्षेण एवं सफलं गुर्वबहुमानमभिधाय तद्बहुमानमाह (आयत इत्यादिना) आयतो गुरु बहुमान: साद्यपर्यवसितत्वेन दीर्घत्वादायतो मोक्ष: स गुरु बहुमान: गुरुभावप्रतिबंध ऋव मोक्ष इत्यर्थ:। कथमित्याह। अवंध्यकारणत्वेन मोक्षं प्रत्यप्रतिबद्ध- सामग्रीहेतुत्वेन। एत देवाह। अत: परमगुरुसंयोग:। अतोगुरु- बहुमानात्तीर्थकर संयोग:। तत: संयोगादुदिततत्संबंधत्वात् सिद्धि- रसंशय मुक्ति रेकांतेन। यतश्चैवमत एषोऽत्र शुभोदयो गुरुबहुमान:। कारणे कार्योपचारात्। यथाऽऽयुर्घृतमिति। अयमेव विशेष्यते प्रकृष्टतदनुबंध: प्रधानशुभोदया- नुबंधस्तथा २ राधनोत्कर्षेण तथा भवव्याधिकित्सकगुरुबहुमान एव हेतुफलभावात्। न इत: सुंदरं परं गुरुबहुमानात्। उपमाऽत्र न विद्यतेगुरुबहुमाने सुंदरत्वेन भगवद्बहुमानादित्यभिप्राय:। पं० सू० टी०॥

(१६) नमस्कार आचार्य्यस्य ॥

(णमो आयरियाणं) नमस्यता चैषामाचारोपदेशकतयो

पकारित्वादिति ॥भ० श०१ उ०१ ॥

॥ आचार्य्यनमस्कारे फलं यथा ॥

आयरियनमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्सातो ॥
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥१॥
आयरियनमोक्कारो, धन्नाणभवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुमोयंतो, विसोत्तिया वारतोहोई ॥२॥
आयरियनमाक्कारो, एवं खलु वण्णित्तोमहत्थोत्ति ।
जो मरणंमिउवग्गे, अभिक्खणं कारए बहुसो ॥३॥
आयरियनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, तइयं हवइ मंगलं ॥४॥
आ०म०२ खं० १ अ०॥

(आचार्य्यस्य मङ्गलत्वम्मङ्गलशब्दे)

(१७) वैयावृत्यं गुरोः ॥

आचार्य्यस्य वैयावृत्त्यमतिशेषशब्दे (वेयावच्च) शब्दे च॥

आचार्य्यवेयावृत्ते फलं यथा ॥

गुरुवेयावच्चेणं, सदणुट्ठाणसहकारिभावाओ ॥
विउलं फलमिब्भस्स व, विसावगेणावि ववहारे ॥२२॥

व्या०। गुरुवैयावृत्त्येन आचार्यविषयेण भक्तादिदानग्लानताप्रतिचरणादिलक्षणे न हेतुना सदनुष्ठाने गुरुगते जिनप्रवच- नार्थप्रकाशन-गच्छपालनादौ सहकारिभावो यः सहायककरणं स तथा तस्मात्सदनुष्ठानसहकारिभावतः। किमित्याह। विपुलं महत्फलं कर्म्मक्षयलक्षणं गुरुकुलवासिनो भवति। कस्मिन्निवेत्याह। इभ्यस्येव सुवर्णलक्षादिमान् महाधनपतेरिव। स केन विंशोपकेनाऽपि तदीयद्रव्यविंशतितमभागेनाऽपि। आस्तां सर्वेण व्यवहारे वाणिज्ये क्रियमाणे सति। तथा हि। लक्षपति-संबंधिना लक्षविंशतिभागेनाऽपि। आस्तां सर्वेण सहस्रपंचक लक्षणेन व्यवहारतो वणिक्पुत्रस्य महान् लाभो भवत्येव। गुरोवैयावृत्यमात्रमपि कुर्वन् महत्फलमासादयति गुरुविषयवैयावृत्यमात्रस्याऽपि महत्वादिति। अन्ये त्वाहुः। इभ्यस्य गृहा गतस्य विंशोपकेनाऽपि व्यवहारे सत्कारे इति गाथार्थः। पंचा० ११ वृ०।

आचार्य्यस्य च बलाभियोगमन्तरेणैव मोक्षार्थिना स्वयमेव प्रत्युतेच्छाकारं दत्वाऽनभ्यर्थितेनैव वैयावृत्यादि कर्त्तव्य-मितिच्छाकारशब्दे ॥

(१८) गच्छाधिपतिः केन कर्म्मविपाकेन भवति ॥

केन कर्मविपाकेनाऽचार्य्यो भूत्वा ईप्सितं लभत इति महानिशीथे २ चूलि० यथा ॥

से भयवं ताकयरेणं कम्मविवागेणं तेणं गच्छाहि वइणा होऊण पुण इच्छितं समच्छियत्ति गोयमा ! मायापच्चएणं से भयवं कयरेणं से मायापच्चए जेणं पयणीकयसंसारे वीसयलपावायपणावीयविबुहजणे णिंदे सुरहिबहुदव्वघयखंडचुन्नसूसकरियसमभावपमाणपागनिप्फण्ण- मोयगमल्लगे इव तस्स भक्खे सयलदुक्खे साणमालए सयलसुहासणस्स परमपवित्ततमस्स णं अहिंसा- लक्खणसमणधम्मस्स विग्घे सम्मग्गला निरयदारभूए सयलअकित्तीकलंकलिकलहवेरायणवनिहाणनिम्मल-कुलस्स णं दुद्धरिसअकज्जकज्जलकन्हमसीखपणे तेणं गच्छाहिवइणा इत्थीभावे णिवितिएत्ति गोयमा! णो तेणं गच्छाहिवइ तेहिएणं अणुमवि माया कया सेणं तहा पुहवइचक्कहरे भवित्ता णयरलोगभीभूए णिव्विण्णकामभोगे तणमिव परिविच्चाणं तं तारिसं चोद्दसरयणनवनिहीतो चोसट्ठीसहस्से वरजुवईणं बत्तीससाहस्सीओ अणादिवरनरिंदच्छन्नउईगामकोडीओ जाव ण छखंड-भरहवासस्स णं देविंदोवमं महारायलछित्तीयं बहुपुन्नचाईए णीसंगे पव्वइएय थोवकालेणं सयलगुणोहधारी महातवस्सी सुयहरे जाए जोगेणाऊणं गुरूहिं गच्छाहिवई समणुन्नाए तहेव गोयमा! तेणं सुदिट्ठसुग्गइपहेण जहोवइट्ठसमणट्ठेणं माणेणं उग्गाभिग्गहविहारत्ताए घोरपरिसहोवसग्गहियासणेणं रागद्दोसकसायविवज्जणेणं आगमाणुसारेणं सुविहिए गणं परिचालणेणं आजम्मसमणा कप्पपरिभोगवज्जणेणं छक्कायसमारंभविवज्जणेणं ईसंपिदि व्वोरालियमेहुणपरिणामविप्पमुक्को णं इह परलोगासंसाइणियाणमायाइसल्लविप्पमुक्केणं णीसल्लालोयणनिंदणगरहणेणं जहोववइट्ठपायछित्तकरणेणं सव्वत्था पडिबद्धत्तेणं सव्वपमायालंबणं विप्पमुक्के णइ पइणिद्दिट्ठ अवसेसीकए अणेगभवसंचिए कम्मरासी अण्णेगभवे तेणं माया कया तप्पव्वईणं गोयमा! सविवागे सेभयवं कयरा उ ण अन्नभवे तेणं महाणुभागेणं मायाकया जीएणं एरिसो दारुणवि वागो गोयमा ! सेणं महाणुभागस्स गच्छाहिवईणोजीवेण।

णूणाहिएयणा फलं लक्खइमेव भवग्गहणा ॥

आचार्य्यस्य प्रायश्चित्तं महानिशीथे० अ० ६ यथा०॥

से भयवं जेणं गुरुं सहस्साकारेणं अन्नयरे ट्ठाणे चुकेज्ज वा खलेज्ज वा सेणं आराहगेण वा गोयमा ! गुरूणं गुरुगुणेसु वट्टमाणो अखलियसीले अपवादी अणालस्सी सव्वालंबणविप्पमुक्केसमसतुमित्तपक्खे समग्गपक्खवाए जावणं कहाभणिरे सद्धम्म जुत्ते भवेज्जा णो णं उम्मग्गदेसए अहमाणुरए भवेज्जा सव्वहा सपयरिहिणं गुरुणा ताव अप्पमत्तेणं भवियव्वं। णो णं पमत्तेणं जउणपमादी भवेज्जा सेणं दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठव्वे महापाठे जईणं सवीरिए हवेज्जा। तेणं कयदूसरियं जहावत्तं सपरसीसगणाणं पक्खा-विय जहा दुरंतपंतलक्खणे *अदट्ठव्वे महापावकम्मकारी संमग्गं पणासेउ अहयंतिएवं* निंदित्तागरहित्ताणं आलोइत्ताणं च जहा भणियं पायच्छित्तमणुचेरज्जा। सेणं किं उद्देसेणं आराहगे भावज्जा ।

जइणं नीसल्ले नियट्टी विप्पमुक्के न पुणो संमग्गाउ परिमंसेज्जा अट्ठाणं परिमस्स तओ णाराहेइ ॥

आलोचनाया अप्रदाने आचार्यस्य प्रायश्चित्त (मालोयणा) शब्दे॥ आचार्यस्यावश्यकप्रमादे प्रायश्चित्त (मावस्सग) शब्दे।

(१९) अतिशया आचार्य्यस्य ॥

आचार्य्यस्य पञ्चातिशया (अइसेस) शब्दे॥

आचार्यस्य बहिर्गमने दोषः (अइसेस) शब्दे, (निग्गमन) शब्दे च॥

आचार्यस्य संज्ञाभूमिगमन (मइसेस) शब्दे (थण्डिल) शब्दे च।

गोचरचर्य्या कारणेऽसत्याचार्य्येण न गंतव्येति (अइसेस) शब्दे (गोयरचरिया) शब्दे च॥

आचार्य्यस्य शुद्धवस्त्रंकीदृशम (इसेस) शब्दे॥

उपाश्रयस्याऽन्तर्बहिर्वा निवसन्नाचार्य्यो न दुष्यतीत्य (इसेस) शब्दे वसतिशब्दे च॥

आचार्यस्याचारप्रकल्पे भ्रष्टे कर्तव्यता (आयारपकप्प) शब्दे। आचार्यः स्मरन्नस्मरन् वा कल्पाकं उपस्थापयेन्नोपस्च्छा- पयेद्वा तत्र कर्त्तव्यता (उवट्ठाण) शब्दे॥

आचार्य्योपसम्पत् (उवसंपया) शब्दे॥

आचार्य्ये प्रमादिनि शिष्याणां गणान्तरोपसंपत्तिः (उवसं- पया) शब्दे॥

आचार्य्यादौ मृते ऽन्यस्योपंसपत् (उवसंपया) शब्दे।

संयमसंरक्षणार्थमन्यत्रोपसम्पद्येत तत्र दृष्टान्तादिः (उवसंपया) शब्दे॥

वर्षास्वाचार्य्ये कालगतेऽन्यत्रोपसम्पत्तिः (उवसंपया) शब्दे। आचार्यस्य कृतिः (कम्म) शब्दे॥

आचार्यस्य तीर्थकरसमानत्वं (वेयावच्च) शब्दे॥

भिक्षुणा कृतः शिष्य आचार्यस्येति (सीस) शब्दे॥

आचार्य्यस्तुतिः (थुई) शब्दे॥

(२०) निर्ग्रन्थीनामाचार्य्यः॥

श्रमणीनामाचार्य्यावश्यकता यथा॥

आयरियउवज्झातो, तइया य पत्तिणीओ समणीणं ॥
आणसि अट्ठाएत्ती, होइ एएसि तिण्हंपि ॥

श्रमणीनामाचार्य उपाध्यायस्तृतीया प्रवर्त्तिनी च भवति। श्रमणानां त्वाचार्योपाध्यायास्ततोऽन्येषामर्यायेति। यदुक्तं सूत्र द्वयेऽपि व्याख्यातम्। व्य०२ खं० ७ उ०॥

तथा च व्यवहारसूत्रम्॥

तिवासपरियाए समणो निग्गंथे तीसवासपरियाए सम णीए निग्गंथीओ कप्पइ उवज्झायताए उदिसित्तए धारित्तए। वा पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे सट्ठिवा सपरियाए समणीए निग्गंथिए कप्पइ आयरियट्ठाए उद्दिसित्तए॥१६॥

व्याख्या। त्रिवर्षपर्यायश्रमणो निर्ग्रंथस्त्रिंशद्वर्षपर्यायायाः श्रमण्याः कल्पते उपाध्यायतया उद्देष्टुं। पंचवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रंथः। षष्टिवर्षपर्यायायाः श्रमण्या निर्ग्रंथ्याः कल्पते आचार्यतया उपाध्यायतया उद्देष्टुमिति एष सूत्राक्षरार्थः॥ संप्रति भाष्ये विस्तरः॥

तइयंमिउ उद्देसे, दिसासु जा गणहरा समक्खाओ ॥
सो चेव य होइ इहं, परियातो वण्णितो नवरं ॥

तृतीये उद्देशे दिक्षु आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिस्थविरगणा- वच्छेदिरूपासु यो गणधर आचार्य उपाध्यायो वा समाख्यातः स एव इहाऽपि भवति ज्ञातव्यः। नवरमिह पर्यायोऽधिको वर्णितः तत् स एव प्रबंध्यते॥

तेवरिसो, तीसिया, जहणचत्ताए कप्पइ उवज्झे ॥
वितियाए सट्ठि सयरा, य जम्मणयणवास आयरितो ॥

त्रिवर्षस्त्रिवर्षपर्याय उपाध्यायः कल्पते त्रिंशकायास्त्रिंश- द्वर्षपर्यायाया जन्मना जन्मपर्यायेण जघन्यतश्चत्वारिंशकायश्चत्वा- रिंशद्वर्षपर्यायाया उत्कर्षतो देशोनपूर्वकोटिकायाश्चत्वारिंशत्कथं स्यादिति चेदुच्यते। दशवर्षजातायाः प्रव्रज्यायाः प्रतिपत्तिस्त्रि- शद्वर्षाणि व्रतपर्याय एवं चत्वारिंशत्तथा द्वितीयस्याः श्रमण्या निर्ग्रंथ्याः षष्टिवर्षव्रतपर्यायाया जन्मतो जघन्यतःसप्ततीःसप्त- तिवर्षपर्याय आचार्यः कल्पते। उत्कर्षतो देशोनपूर्वकोटिकाया जन्मनः सप्ततिर्वर्षाणि कथं भवंतीति चेदुच्यते। दशवर्षपर्यायाः याः प्रव्रज्याप्रतिपत्तिः प्रव्रजिताया: षष्टिवर्षाणीति॥

गीयागीतावुड्ढा व, अवुड्ढा जाव तीसपरियाया।
अरिहति तिदुसंगहं सा, दुसंगहं सा भयपरेणं ॥

गीता चागीतार्था वा भवतु अगीता वा गीतार्था वा तथा वृद्धया वाभवतु। अवृद्धया वा यावत्त्रिंशवर्षपर्यायाःतावन्निय मात् त्रिसंग्रहं त्रयाणामाचार्योपाध्यायप्रवर्तिनीनां संठाहमर्हति दुःसंग्रहं वा भयं पारणं त्रिंशद्वर्षपर्यायात्परतोऽभवद्गीता वि कल्पना त्रिसंग्रहमुपाध्यायस्य प्रवर्तिन्या वा अरोधतः। एतदेव भावयति॥

वयपरिणया य गीया, बहुपरिवारा य निव्वियारा व।
होज्जउ अणुवज्झाया, अप्पवत्तिणिजाव सट्ठीओ ॥

वयसा परिणता गीतार्था बहुपरिवारा निर्विकारा च सा यावत्षष्टिस्तावदनुपाध्याया वा भवेदप्रवर्त्तिनी वा एवं भवति द्विसंग्रहिका।

एमेव अणायरिया, थेरी गणिणा व होज्ज इयरीय।
कालगतोसण्णाए व, दिसाए धारेंति पुव्वदिसं ॥

षष्टिवर्षभ्यःपरतो गणिनी प्रवर्त्तिनी इतरा वा अप्रवर्त्तिनी स्थविरा अनाचार्या भवेत्। कथमित्याह (कालगतोसन्नाए वेत्यादि) कालगतायामवसन्नायां वा दिशि आचार्यलक्षणायां षष्टिवर्षभ्यः परतो वर्त्तमाना आर्यिका धारयंति पूर्वां दिशमे वमनाचार्या भवंति। किंकारणं संयतीनामवश्यं संग्रहीष्यते तत आह॥

बहुपच्चवाय अज्जाउ, नियमा पुण संगहे अपरिभूया।
संगहिया पुण अज्जा, थिरथावरसंजमा होइ॥

आर्या पुनर्बहुप्रत्यवाया ततः संग्रहे सति नियमात्परिभूता-भवति। पराभवस्थानमुपजायते संगृहीता पुनरार्या स्थिरस्था वरसंयमा भवति। ततः संग्रह इष्यते। अथ केअपाया इत्याह।

पेसी अइया दीया, जे पुव्वमुदीहट्ठा अवायाउ॥
ते सव्वे वत्तव्वा,दुसंगहं वन्नयं तेणय॥

पूर्वं कल्पाध्ययने द्विसंग्रहं वर्णतया पेसीअजिका आदि शब्दात्वुलपुत्रभोजिकादिपरिग्रहः। इत्यादिका उदाहृता अपायास्ते सर्वेऽत्रापि वक्तव्यास्ता बहूपायदर्शनतः संग्रहो मन्येत तदेव दृढयति।

अज्जाउविउलखंधा, लता वाएण कंपते जले वा ॥
नावा अबंधणावा, उवमाएस असंगहे होइ ॥

अजातविपुलस्कंधा यथा वातेन लता कंपते जले वा। यथा अबंधना बंधनरहिता नौरेषा असंग्रहे उपमयाऽप्यसंगृहीता सती बहुप्रत्यवायवातोत्कलिकाभिरितस्ततः संयमात्कम्पते इत्यर्थः।

दिट्ठंतो गुव्विणीए, उ कप्पट्ठगबोधिएहि कायव्वो ॥
गब्भत्थे रक्खंती, सामत्थंरवदुए अगडे ॥

अत्र लोकेदृष्टान्तो गुर्विण्या कर्त्तव्यो लोकोत्तरे कल्पस्य- कबोधिके क्षुल्लकाचौरैः तत्र गच्छे पुत्रे स्वगोत्रराजादयस्तां रक्षंति स एष पुत्रप्रभावः। अवटे गते चौरे क्षुल्लकस्य तन्मारणाय सामर्थ्यपर्यालोचनं सोऽप्येष पुरुषस्य प्रभावस्तत्र प्रथमतो गुर्विणी दृष्टांतं विभावयिषुस्तावदिदमाह॥

सगोत्तरायमादीसु, गब्भत्थोवि धणं सुतो ॥
रक्खए मायरं चेव, किमुता जायवच्छितो ॥

गर्भस्थोऽपि यतः स्वगोत्रराजादिषु धनं जिघृक्षुषु धनं रक्षति मातरं च किं पुनर्जातः प्रवर्द्धितश्च ससुतरां रक्षति। सूत्रं यथा गर्भस्थोऽपि रक्षति तथा प्रतिपादयति॥

वणिएपरायसिद्धे, गब्भिणिधणमच्छ धूपसूयाए ॥
सव्वं सुयस्स दाहं, धूया पवत्तवेवाहे ॥

एको वणिक् तस्य भार्या आपन्नसत्त्वा स वणिक् कालग- तस्ततः केनाऽपि राज्ञः शिष्टं देव! गुर्विण्या धनमस्ति राज्ञोक्तं तिष्ठतु तद्वित्तं। यदि प्रसूतायाःसुतो भविष्यति। ततः सर्वं सुतस्य दास्यामो दुहितरि च जातायां यावता भक्तं यावता च विवाहस्तावन्मात्रं दास्यामः। एवं गच्छोऽपि गर्भस्थोऽपि सुतो राज्ञःस्वगोत्रेभ्यश्च धनं रक्षति मातरं च। अन्यथा स्वगोत्र जैराज्ञा चाद्यापि तव पार्श्वे धनमस्तीति बहुधा विलुप्यते॥ भावितं लौकिकमुदाहरणमधुना लोकोत्तरं भावयति॥

लोउत्तरिए अज्जा, खुल्लग वोहिहरणं पसरणीयं ॥
चोरो मरणं कूवे, सामत्थण चारणा लेट्ठ ॥

लोकोत्तरिकोऽयं दृष्टांतः। क्वचिद्ग्रामे मालवशबरानीकमाप तितं। तत्र कैश्चिद्बौधिकैश्चौरैरार्यिकाणामेकस्य क्षुल्लकस्य हरणं कृतं। ते चौरा अन्यस्यैकस्य चौरस्यार्जिकाः क्षुल्लकं च सम- र्प्याऽन्यस्य हरणाय गताः। स चैव चौरस्तृषापीडितः सन् कूपे पानीयायावतीर्णः। ततः क्षुल्लकश्चिंतयति। वयमिति। वयमे- तावत्संख्याका बहवोऽयमेकस्ततः किमेक स्यापि न प्रभविष्याम इति विंचित्य ता आर्यिका भणिताः। पाषाणपुंजमेन कुर्म्मस्ता नेच्छंति नः मारयिष्यतीतिकृत्वा ततः क्षुल्लकेन तद्वचः श्रुत्वा महानेकः पाषाणस्तस्योपरि मुक्तस्ततः पश्चात्ताभिः सर्वाभिरेक- कालं पाषाणा मुक्तास्ततः पाषाणपुंजे नाक्रांतश्चोरोमरणमुपा-गमत्। ततः क्षुल्लकेन तास्ततो निष्काशिता एवं क्षुल्लको रक्षति किपुनर्महान् तत एतेन कारणे नउपाध्याय आचार्यश्च त्रिवर्षपं- चवर्षपर्यायस्त्रिंशत्षष्टिवर्षपर्यायाणामपि गीतार्थानामपि दीयते। व्य० २ खं० ७ उ०।

(२१) आचार्य्ये कालगते आचार्य्यान्तरस्थापनं ॥

(१) आयरियउवज्झाए गिलायमाणे अन्नत्तरं विवज्ज अज्जोमाएणं कालगतंसि समणंसि अयं समुक्कसियवे सेय समुक्कसणारिहि समुक्कसियवे णो समुक्कसिणारिहि णो समुक्कसियवे अत्थि यो अत्थ अण्णेकेई समुक्कसिणारिहे से समुक्कसियवे णत्थि या अत्थ केइ अन्ने समुक्कसिणारिहे सो चेव समुक्कसियव्वे। तेसिं चणं समुकदृंसि परावेएज्जा दुसमुकठंति अज्जो णिक्खिवाहितस्स णं णिखिवमाणस्स वा णत्थि केई अत्थे एवापरिहारे वा जे तं साहम्मियं अहाकप्पाणं णोअब्भुट्ठं तेसिं व सव्वेसिं तप्पति यं छे एवा परिहारे वा॥ व्य० सू० उ०४॥

(आयरिय उवज्झाए गिलायमाण) मित्यादि अथास्य सूत्रस्य कः संबंध इत्यत आह॥

आयरियत्ते पगते, अणुयत्तं तेयकालकाणंमि।
गच्छे सावेक्खोवा, वुत्तोइ मतो वि सावेक्खो ॥

आचार्यत्वं पूर्वसूत्रेषु प्रकृतमनुवर्त्तमानं च कालकरणं तत आचार्यत्वे प्रकृते अनुवर्तमानमेवाकालकरणे इदमपि सूत्र माप- तितमत्राऽप्याचार्यत्वस्य कालकरणस्य वाभिधास्यमानत्वात् यदि वा पूर्वमर्थतः सापेक्ष उक्तोऽयमपि चाधिकृतसूत्रे णाभिधीयमानः सापेक्ष इति सापेक्षत्वप्रकरणादनंतरमस्य सूत्रस्योपनिपातः। अनेन सबंधेनायातस्य व्याख्या॥ आचार्य उपाध्यायो वा धातुक्षोभादिना ग्लायन् अन्यतरमुपाध्यायप्रवर्त्तिगणावच्छेदक-गीतार्थभिक्षुणामन्यतमं सापेक्षः सन् वदेत्। आर्य! मयि कालगते सति अयं समुत्कर्षयितव्यः आचार्यपदे स्छापयितव्यः। सचेत्परीक्षया समुत्कर्षणार्हो भवति ति। ततः समुत्कर्षयितव्यो नोचेत्समुकर्षणार्हस्तर्हि नो समुत्कर्षयितव्यः। अछ्र यो ऽसौ पूर्वमाचार्येण समीक्षितः सोऽभ्युद्यतविहारमभ्युद्यतमरणं वा व्यवसितसूत्रमाह। अस्ति चात्र गच्छेऽन्यः कश्चित्समुत्कर्षणार्हः स समुत्कर्षयितव्यः अथ नास्ति कश्चिदन्यः समुत्कर्षणार्हस्तर्हि स एवाभ्यर्थ्यः समुत्कर्षयितव्यः। तस्मिंश्च समुत्कर्षित परोगच्छे वदेत्तं दुःसमुत्कृष्टं ते तव हेआर्य! तस्मान्निक्षिप एवं तस्य निक्षिपतो नास्ति कश्चिच्छेदः परिहारो वा। उपलक्षण- मेतदन्यतपो वा सप्तरात्रादिकं ये पुनः साधर्म्मिका गच्छसाधवो यथा कल्पेन आवश्यकादिषु यथोक्तविनयकरणलक्षणेन नोत्थाय विहरंति तेषा सर्वेषां प्रत्येकं तत्प्रत्ययं यथा कल्पनेऽभ्युथानप्रत्ययश्छेदः परिहारः सप्तरात्रं वा तपः प्रायश्चित्तमिति सूत्रसंक्षेपार्थः। एनमेव भाष्यकृत्प्रपंचयन्प्रथमतो गिलायमाण इत्यस्यार्थं भावयति॥

अतिसयनरिट्ठतो वा, धातुक्खोभेण वा धुवं मरणं।
नाउं सावेक्खगणी, भणंति सुत्तम्मि जं वुत्तं ॥

अतिशयेन श्रुतज्ञानातिशयादिना अरिष्टतो वा अरिष्टदर्शनतो वा धातुक्षोभेण वा ध्रुवं मरण ज्ञात्वा सापेक्षा गच्छापेक्षोपेता गणिनो यत्सूत्रे उक्त (मज्जोकालगयंमी) त्यादि तद्भणंति सांप्रत (मन्नतरं चएज्जा) इत्यस्यार्थमाह॥

अन्नयर उवज्झाया, दिगाउ गीयत्थपंचमा पुरिसा।
उक्कसणमणणत्तिय, एगट्ठं ठावणा चेव ॥

उपाध्यायादिका उपाध्याय:प्रवर्त्ती गणावच्छेदको गणी गीतार्थश्च भिक्षुरित्येवं रूपा गीतार्थपंचमा: पुरुषा: तेषामन्यतमोऽन्यतर: समुत्कर्षणं मननं स्थापना आचार्यत्वस्थापनमित्यर्थ:॥

पुव्वं गावेति गणे, जीवंतो गणहरं जहा राया।
कुमरेउ परिच्छित्ता, रज्जरिंह ठावए रज्जे ॥

पूर्वमेव जीवन्नाचार्यो य:शक्तिमान् तं गणधरं ठाणे स्थापयति। यथा राजा कुमारान्परीक्ष्य य:शक्तिमत्तया राज्यार्हस्तं राज्ये स्थापयति। कथं परीक्षेत्यत: परीक्षाविधिमाह ॥

दहि कुड अमच्च आणत्ती, कुमारा आतिणएतहिंएको।
पासे निरिक्खिऊणं, असिमंति पवेसणे रज्जं ॥१॥

एगो राया बहुपुत्तो, सो चिंतेइ जो सत्तिमंतो।
तं रज्जे ठावेहामि, ततोकुमारे परितच्छिउ माढत्तो ॥२॥

आणत्ता पुरिसा दहि, घडगे एगत्थओगासे।
ठवेह तेहिं ठवेत्ता, रण्णो निवेदियं अमव्वोभणितो ॥३॥

विच्छं तुमं दहिघडाणं, पासे अत्था हिगतो अमच्चो।
अन्नाते कुमारा सद्दाविता, भणिया वत्थदहिघडमेक्केकं ॥४॥

आणेह सेगया अण्णं, वहंतयं न पासंति।
ततो ते अप्पासेंता सयं चेव दहिघडमेक्केकं ॥५॥

घेत्तुंसंपट्ठियाएकोकुमारो, पासाणि निरिक्खेत्ता अण्णं च। हंतयमपासंतो अमच्चं भणति दहिघडं अमच्चे ॥६॥

नेच्छइ कुमारेण असिं उज्जिरिऊण भण्णइजइनेच्छसि सीसतेपाडेमि अमव्वेणगहितो, दहिघडो कुमारो तं धेत्तुं गतो रायसमीवं॥ रण्णा एस सत्तिमंतोत्ति परिक्खि त्ता रज्जेठ-वितो ॥७॥

अक्षरयोजनात्वियं। दधिकुटा एकत्र राज्ञा पुरुषै: स्थापिता-स्तदनंतरममात्यस्याज्ञप्ति: प्रदत्ता। यथा घटानां पार्श्वे तिष्ठ। तत कुमारा दधिघटनामानयने निरोपितास्तत्रैक: कुमार: पार्श्वात् निरीक्ष्याऽ-न्यमपश्यत् अमात्यस्योपरि असिरुद्धारितस्ततो मंत्रिणा दधिघटो गृहीतस्तेन दधिघटस्य प्रवेशने कुमारेण कारिते दृष्टे तस्य कुमारस्य राज्यं दत्तवान्। अत्रोपनयमाह ॥

दसविहवेयावाव्वतिउ, कुसलज्जयाणमेवं तु।
ठावेंति सत्तिमंतं, असत्तिमंते बहूदोसा।

एवमाचार्योऽपि दशविधेवैयावृत्ये उद्यतानामुद्यतमतीनां मध्ये (कुसलत्ति) यो यत्र कुशलस्तस्य तत्र नियोगं करोति तं तत्र नियोजयति। यस्तं शक्तिमंतं गणधरं स्थापयति अशक्तिमति तु स्थाप्यमाने बहवो दोषा: के ते इतिचेदुच्यते। सोऽशक्तिमत्वेन शक्नोति साधून् यथायोगमनियोक्तुं। तत आहारोपधिपरिहा- निर्निर्जरातश्च ते परिभ्रश्यंति। अथाशुकारणत: पूर्वं न स्थापितं स्यात्ततोऽपस्थापिते गणधरे स कालगतो न प्रकाशयितव्य इत्यादि पूर्वोक्तमपि च सातव्यम्॥

अथैव विधिशेषमाह।

दोमादीगीयत्थे पुव्वुत्त, गमेण सति गणं विभए।
मीसेव अणरिहे वा, अगीयत्थे वा भएज्जाहि ॥

आचार्येण शिष्या निर्मापितास्ते द्वौ त्रयश्चत्वारो वा भेवयु स्तेषु द्व्यादिषु गीतार्थेषु सति प्रभवति परिवारे पूर्वोक्तागमेन तृतीयोद्देशकोक्तेन प्रकारेण गणं विभजेत् तेषु सर्वेष्वपि विभज्य पृथक् २ गणोदातव्य इत्यर्थ:॥ तथा मिश्रानाम तेषामाचार्यशि- ष्याणां मध्ये केचित् गीतार्था: केचिदगीतार्थास्तानपी विभजेत्। किमुक्तं भवति । यो गीतार्थास्तान् गणधरपदे स्थाप्य तया पृथक् कुर्यादितरांस्त्व गीतार्थननर्हतया अथ वा यैरर्थो देशतो गृहीतो न देशतो गृहीतस्ते मिश्रास्तान् विभजेत् एते मिश्रा अपि योग्या एते त्वयोग्या इति विभागेन स्थापयेत् तथा ये शरीरेण जुंगिक-तया*सर्वथा गणधरपदानर्हास्तानपि विभजेत् वाशब्दोऽपि शब्दार्थ:॥ एकांतेनाऽयोग्यतया पृथक स्थापयेत् अगीतार्थत्वान्न भजेत्। इयमत्र भावना। योऽगीतार्थानामाचार्यलक्षणोपेतास्तान- नर्हतया स्थापयति ये पुनरगीतार्था अपि संभाव्य श्रुतसंपदा आचार्यलक्षणोपेतास्तान् योग्यतया पृथक् स्थापयति॥

संप्रति मिश्रपदव्याख्यानार्थमाह ॥

गीयागीया मिस्सा, अहवा अत्थस्स देसो गहितो उ।
तत्थ अगीया णअरिहा, आयरिय तस्स होंतीउ ॥

केचित् गीता गीतार्था केचिदगीतार्था एते मिश्रा अथवा अर्थस्य देशो यैर्गृहीतस्ते मिश्रास्तत्र ये अगीता आचार्यलक्षणपरिभ्रष्टाश्च ते आचार्यत्वस्याऽनर्हा भवंति॥ संप्रति "सेयसमुक्कसणारिहे समुक्क-सियव्वो नासमुक्कसणारिहे णो समुक्कसियव्वे, इत्यस्य भावार्थमभिधित्सु: प्रथमत: पूर्वपक्षमुत्था पयति ॥

कहमरिहो वि अणरिहो, किंतु हु असमिक्खकारिणो थेरा।
ठावेंति जं अणरिहं चोयग ! सुण कारणमिणं तु ॥

परो ब्रूते। कथं पूर्वमाचार्यविद्यमानवेलायामर्होऽपि सन् पश्चादनर्हो जातो येनोच्यते। स चेत्समुत्कर्षणार्हस्तार्हि समुकर्षयि- तव्य:। किंतु वितर्के वितर्कयामि । हु निश्चितमसमीक्षितकारि स्थविरा आसीरन्। यदनर्हं स्थापयंति। यथायं समुत्कर्षयितव्य: अत्र सूरि:- प्राह। चोदक ! शृणु कारणमिदं येन पूर्वमर्होऽपि पश्चादनर्हो जात:॥

तदेव कारणमभिधित्सुर्द्वारगाथामाह ॥

उप्पियणभीतसंदिसण, देसिए चेव फरुससंगहिए।
वायगनिप्फावग, अण्णसीसइच्छाअहाकप्पो ॥

(उप्पियणं) मुहु:स्वसनं तद्वारं भीतसंदेशनद्वारमदेशिक द्वारं परुषद्वारमेतानि चत्वार्यपि प्रस्तुतार्थविषयाणि। संग्रहद्वारं वाचकनिष्पादकं द्वारमन्यशिष्यद्वारमिच्छाद्वारं यथा कल्पद्वार-मित्येतानि संग्रहादीनि द्वाराणि (अत्थियाइं च अण्णे समुक्कसणारिहे) इत्यादि सूत्रविषयाणीति द्वारगाथा संक्षेपार्थ:॥

संप्रति उप्पियणद्वारं विभावयिषुराह ॥

सन्निसेज्जागयं दिस्सा, सिस्सेहिं परिवारियं।

*हस्तपादादिशरीरविकलतयेत्यर्थ:।

कौमुदी जोगजुत्तं व तारापरिवुडं ससिं ॥१॥
गिहत्थपरतित्थाहिं, संसयत्थिहि निच्चसो।
सिविज्जंतं विहगेहिं, सरं वा कमलोज्जलं ॥२॥
खज्जडे अणुसासंतं, सद्धावंतं समुज्जए।
गणस्स गिलाकुव्वंतं संगहं विसए सए ॥३॥
इंगियागारदक्खेहिं सया छंदाणुवत्तिहिं।
अविक्कडियनिद्देसं रायाणं च अनायकं ॥४॥

सती नाम शोभना स्वकीया ये निषद्या सन्निषद्या तस्यां गतमुपविष्टं शिष्यैःपरिवारितमित्थभूतमुपमयति। कौमुदी कार्त्तिकी पौर्णमासी तद्योगयुक्तं तारापरिवृतं शशिनमिव ॥१॥ तथा गहस्थैः परतीर्थिभिः संशयार्थिभिश्च साधुभिर्नित्यश: सर्वकालं सेव्यमानं किमिवेत्यत आह (कमलोज्जलं) कमलपरिमंडितं सर इव विहगैः पक्षिभिस्तथा ॥२॥ (खज्जूडान्) कुस्वभावान् अनुशासंतं सम्यक् उद्यता: समुद्यतास्तान् श्रद्धापयंत तेषां महतीं श्रद्धामुत्पादयंतं तथा गणस्य गच्छस्य अगिलया निर्जरार्थं मात्मोत्साहेन स्वकेविषये आत्मीयया शक्तया इत्यर्थः। संग्रहं कु र्वंतं ॥३॥ तथा इंगिताकारदक्षैश्छंदोऽनुवर्तिभिः सदा सर्वकालमविकटित-निर्देशमखंडिताज्ञं राजानमिव अनायकं न विद्यते नायको यस्य त स तच्छा। तंचक्रवर्त्तिनमिवेत्यर्च्छः। दृष्ट्वाकश्चिदगीतार्थ उत्पन्नगौरवो भवति।

उप्पन्नगारवे एवं, गणित्ति परिकंखिओ।
उप्पियंतं गणिं दिस्सा, अगीतो भासेइ इमं ॥

उत्पन्नमभिलषणीयतया जातं गौरवं यस्य स तच्छा। एव महमपिगणी भवामि गणिपदमवाप्य परिपालयामि। ततः शोभनं भवतीत्येव परिकांक्षितः परिकांक्षावान् गणिन्मआचार्य मुप्पियतं मुहुर्मुहुः श्वसंतं मर्तुकाममलिंगं दृष्ट्वा कश्चिदगीतोऽगीतार्थः कथ- महं गणधरो भविष्यामीति विचिंत्य यथा गच्छवर्त्तिनः साधवः शृण्वंति। तछ्रा मातृस्थानत इदं वक्ष्यमाणं भाषते। तदेवाह ॥

अलं मइझ गणेणंति, तुब्भे जीवइ मे चिरं।
किमेयं तेहि पुट्ठोउ, दिव्वए मे गणो किल ॥

अलं पर्याप्तं मम गणेन यूयं मम पुण्योदयेन चिरं प्रभूतं कालं-जीवथ। ततस्ते गच्छवर्त्तिनःसाधवस्तस्यागीतार्थं ब्रुवते। कि- मेतत्त्वं ब्रूषे। यथा अलं मम गणेन। एवं तैः पृष्ठःसन् सोऽगी- तार्थोवक्ति। क्षमाश्रमणैःकिल मे गणो दीयते। तत एवमुक्तं मयेति।

अथवा उप्पियणद्वारस्यायमर्थः ॥

अट्ठावि ऋव पुव्वंतु, गीयत्था उप्पियं तए ॥
आमदाहा मो एयस्स, संमतो एस अम्मवि ॥१॥
गीयत्थो पवयत्थो य, संपुण्णसुहलक्खणो ॥
सम्मतो एस सव्वेसिं, साहू ते ठाविंतो गणे ॥२॥

वाशब्दः प्रकारांतरद्योतने। पूर्वमस्थापितेगणधरे म्रियमाण आचार्यः किल (उप्पियंतित्ति) मुहुर्मुहः स्वसिति तं च तथाभूतं दृष्ट्वा गीतार्थश्चिन्तयति आचार्यस्य वाङ् नास्ति यया ब्रूते यथा अमुकं साधुं गणधरं स्थापयथ। मामूत् सा वार्णी वयमेव गच्छ- वर्त्तिनः साधून् भणामो यथाचार्यैरमुकोगणधरपदे संदिष्ट इति। तथा- चोपायं करिष्यामो यथा गच्छसाधूनामकंपनीयो भवति। एवं चिन्तयित्वा गच्छसाधवः शृणवंति। तथाब्रुवते ''आमदाहामो एयस्सत्ति। इच्छामः क्षमाश्रमणाश्च तस्यामुकस्य दास्यामो गणधरपदमस्माकमप्येष सम्मतो यत एष गीतार्थो वयस्थः सपूर्णानि शुभानि लक्षणानि यस्याऽसौ स संपूर्ण-शुभलक्षणस्तथा एष सर्वेषां साधूनां समतस्ततस्ते त्वया गणे स्थापितः। एवमेतौ द्वौ प्रकारा बुप्पियणद्वारेण व्याख्या तौ। एतौ द्वावपि जनौ यदि पूर्वमाचार्येण समीक्षितौ यथानर्हावितिं तदा न कश्चिदाचार्याणा-मसमीक्षितदोषः। गतमुप्पियणद्वारम् ॥

अधुना भीतसदेशद्वारमाह ॥

असमाहियमरणं ते, करेमि जइ मे गणं न देसि।
इति गीतेउ गीते, संदिसए, गुरु तओ भीओ ॥

कश्चिदगीतार्थः पापीयान् प्रत्यासन्नमरणमाचार्यमवगम्य ब्रूते। यदि मे महां गणं न ददासि ततस्तेऽसमाहितमरणंतथा करो ''मिवर्त्तमानसमीप्ये वर्तमानवद्वे'' ति वचनात् प्राकृतत्वाद्व- विष्यति। वर्त्तमाना ततोऽयमर्थः। करिष्यामि यथा दीर्घं कालं संसारे भ्रमसि तत एवमुक्ते तस्य भीत आचार्यो गीतो गीतार्थां देशकालपुरुषौचित्यवेदनात् गीतार्थान् स दिशति यथैतस्मै मया गणो दत्त इति गीतार्थाश्च विदितकारणाब्रुवते।

आमंति वोत्तुं गीयत्था, जाणंताकरणं तमु।
कयट्ठेवं तुनिज्जुहे, अतिसीसेय संवसे ॥

आमं इच्छाम इति उक्ता गीतार्थस्तत्करणं जानंतः कृतार्थे निर्यापिते आचार्ये तं दुष्टाभिप्रायं निर्गूहंति निष्काशयंति। एवमेषोऽनर्हो भवति। अथातिशेषेऽतिशयज्ञानी जानातीति यथा सांप्रतमेव निर्दोषीभूतः स वा तस्मात् स्थानात् गुरुजनसमक्षं प्रतिक्रांतस्ततः संवास्यते॥ गतं भीतसंदिसणद्वारम् ॥

इदानीमदेशिकद्वारमाह ॥

अरिहोवि अणरीहो, होइ जो उ तेसिमदेसितो ॥
तुल्लदेसीव फरुसो, महुरोव असंग्गहो ॥

एक आचार्यस्तस्य षट्कुडुक्काः। तेषां मध्ये एक आचार्ये ण गंणधरपदे समीहितोऽन्ये चाचार्यस्य शिष्याः सिंधुदेशादिषु विहरंति। ते सिंध्वादिषु विहृत्याऽचार्यसमीपमागताः। एकं कुडुक्कमाचार्यसमीहितं मुक्त्वा अन्ये सर्वे कुडुक्काः केचित् कालगताः। केचित्प्रतिभग्ना एवं सकुडुक्कः कुडुक्क देशो- द्भवस्तेषां सैन्धवादीनामनर्हो जातो येन ते तस्य भिन्न देशि- कत्वादुल्लापनं परियछंति। अक्षरयोजनात्वेवमर्होऽप्यनर्हो भवति। यस्तेषां तत्कालभाविनां साधूनामदेशिको भिन्नदेशिको यथा सैन्धवादीनां कुडक्क इति। गतमदेशिक द्वारम् ॥

अधुना परुषद्वारमाह ॥ (तुल्लदेसीवफरुसो) तुल्यदेशीयः पूर्वसमीहितो गणधरपदे स पश्चात्परुषभावो जातः परुष त्वाच्च प्रतिचोद्यमान आक्रोशति आक्रोशांश्चासहमानानामुत्संखडादिकं कुर्वन् गच्छभेदं करोति। एवमेष पश्चाद नर्हः। सप्रति (अत्थियाइं अण्णे समुक्कसणारिहे) इत्य स्यार्थं विभावयिषुः संग्रहद्वारमाह (महुरो व असंग्गहो) यैः पूर्वं समीहितः स सत्यपि मधुरत्वे असंग्रहो न संग्रहशीलः अन्यस्तु संग्रहशीलः स समुत्कर्ष्यते नेतर इति। सांप्रतम स्मिन्नेवार्थे वाचकनिष्पादकद्वारमाह।

वायंतगनिप्फायग, चउरोभंगाउ पढमो।
गब्भे तइओउ होइ, सुण्णो अण्णेण वा वाएइ॥

वाचको निष्पादक इति पदद्वयसंयोगतश्चत्वारो भंगास्तद्यथा। वाचयत्यपि निष्पादयत्यपीति प्रथमः१ वाचयति न निष्पादयति द्वितीयः २ न वाचयति निष्पादयति तृतीयः ३ न वाचयति न निष्पादयति चतुर्थः ४ अत्र सत्यपि पूर्वसमीहिते यः प्रथम- भंगवर्ती संस्थाप्यते नेतरो द्वितीयादिभंगवर्ती। तथाचाह। प्रथम- को ग्राह्यः द्वितीयभङ्गको न स्थाप्योऽनिष्पादकत्वात्। तृतीयस्तु शून्यो वाचनाया अभावे निष्पादकत्वायोगात्। यदि वा आत्मना न वाचयति अन्येन वाचयति। तदासोऽपि योग्यः। चतुर्भंगिकस्तु सर्वथाऽनर्ह एव। सांप्रतमधिकृत एवार्थेऽन्यशिष्यद्वारमाह॥

असतीव अण्णसीसं, ठावेंति गणम्मि जाव निम्मातो।
एसो चेव अणरिहो, अहवा विइमो ससिस्सोवि॥

आचार्याः कालं कर्तुकामा आत्मीयाः शिष्याः सर्वेऽप्यनिर्माता इति तेषां मध्ये गणधरपदयोग्यो एकस्मिन्नप्यसति अन्यस्य शिष्यं प्रातीच्छिकं गणे स्थापयंति च यावन्मम शिष्यो निर्मातो निष्पन्नो भवति तावत्त्वं गणधरः। निर्माते सति त्वया गणधरपदं निक्षेप्तव्यं। यदि न निक्षिपति ततश्छेदः परिहारः सप्तरात्रं वा तपः प्रायश्चित्तम्। एष समीक्षितोऽप्यनर्हो जातः। अथवाऽयं स्वशिष्योऽप्यनर्हस्तमेवाह।

जो अणुमतो बहुणं, गणहरअवियतो दुस्समुक्कट्ठो।
दोसा अणिक्खिवंते, सेसा दोसं च पावेंति।

आचार्यैःकालं कुर्वद्भिर्ज्ञातो य एष मम शिष्यः सूत्र- तोऽर्थतश्च निर्मात एतस्मादयं बहुभिर्भागैर्गणधरगुणैरभ्यधिको भविष्यति। केवलमिदानीमनिर्मातस्ततो योऽसौ निर्मातः स आ- चार्यैरुच्यते। यावदेनं त्वं निर्मापयसि। तावत्त्वं गणधरः। एत- स्मिंस्तु निर्मापिते त्वया गणधरपदं निक्षेप्तव्यम्। यत एष तव पार्श्वाद्बहुभिर्भागैर्गच्छस्य प्रवचनस्य चोपग्रहकारी भविष्यति। तेन- तथा प्रतिपन्नम्। आचार्यः कालगतः सच तेन निर्मापितो जातः समस्तस्याऽपि संघस्य प्रीतिकरः ततोयस्तेन निर्मापितो जातोऽ- नुमतो बहूनां स गणधरः स्थापनीयो यस्त्ववियत्तोऽप्रीतकरः पूर्वं स्थापितः स दुस्समुत्कृष्ट इति वक्तव्यो निक्षिप गणधरपदमेवमुक्तो यदि न निक्षिपति तत स्तस्मिन्ननिक्षिपति दोषाश्छेदं परिहारं सप्तरात्रं वा तपः प्राप्नोतीति भावः। येऽपि च शेषास्तं भंजते तेऽपि दोषं प्राप्नुवन्ति छेदं परिहारं सप्तरात्रं वा तेऽपि प्राप्नुवंतीत्यर्थः। यदेतद्वणित-मेतत्प्रसंगागतमयं पुनः स्फुटसूत्रेण निपातः।

अब्भुज्जयमेगयरं, ववसियकामंमि होइ सुत्तं तु।
तेवेंति कुणसुएक्कं, गीयं पच्छा जहिच्छा ते॥

आचार्येण कोऽपि स्वशिष्यः समीहितो यथाऽयमाचार्यपद योग्य इति ततो गीतार्थाः संदिष्टा, एष सुमुत्कर्षयितव्यः सच कालगते आचार्ये ब्रूते। अहमभ्युद्यतविहारं जनकल्पादिक मभ्युद्यतमरणं वा प्रतिपत्स्ये तस्मिन्नभ्युद्यतमेकतरं विहारं मरणं। वाच्यवशात्तुमनसि भवति निपतित सूत्रम्। अत्थिया इत्थं अण्णे केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे नत्थि याइं च केई अन्ने समुक्कसणारिहे सेचेव समुक्कसियव्वे। तस्मिन्नभ्युद्यतस्यैकतरं व्यवसातुकामे अस्ति चेदत्र गच्छेन्यः कश्चित्समुत्कर्षणार्हस्तर्हि स समुत्कर्षयितव्यो नास्ति चेदत्र कश्चिदन्यः समुत्कर्षणार्हस्ततः स एव समुत्कर्षयितव्यः। कथमिति चेदुच्यते। गीतार्था अभ्य-र्थनपुरस्सरं ब्रुवते। यूयं गणधरपदं परिपालयत। एकमस्माकं कंचन गीतं गीतार्थं कुरुत निर्मापयत ततः पश्चात्तस्मिन्निर्मापिते ते भवतां यदिष्टं यत्प्रतिभासते तत्कुरुतेतिभावः। अत्रेच्छाद्वारावसरः। एवमुक्ते तेन गणधरपदं प्रतिपाद्य कश्चनाप्येको निर्म्मापितः। पश्चात्तस्य चित्तमजायत। यथा अभ्युद्यतविहारात् गच्छपरिपालनं विपुलतरं निर्जराद्वारम् तस्मात्परिपालयाम्यहमेव गच्छमिति। तथाचाह॥

निम्माऊण णेगइमंपि, मे निज्जरायदारं तु।
निक्खिव निक्खिवामी, इत्थं इतरे उ खुब्भत्ति॥

स गणधरपदे स्थापित एकं कंचनापि निर्म्माप्येदं चित्तम- कार्षीत् इदमपि गच्छपरिपालनं महत् निर्ज्जराया द्वारं। एवं व्यवसिते तस्मिन् गच्छे गीतार्था ब्रुवते निक्षिप गणधरपदं स प्राह। न निक्षिपामि किंन्त्विच्छामि गच्छं परिपालयितुमेवमुक्ते इतरे गच्छगीतार्थाः क्षुभ्यंति ते च क्षुभ्यंतो यद्ब्रुवतै तदाह।

दुस्समुक्कट्ठं निक्खिव, भणंति गुरुगा अणुट्ठिहं तेय।
एमेव अण्णे सीसे, निक्खिवणा गाहिते नवरं॥

पूर्वं तव नेप्सितं गणधारणं पश्चादिदानीं यद्यपि रुचिस्तथापि नत्वस्माभ्यं रोचसे दुःसमुत्कृष्टं खलु तव गणधरपदं। तस्मान्नि- क्षिपेति एवं भणति गच्छसाधुवर्गे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः (अणुट्ठिहंतेयमेवे) त्यादि योऽसौ प्रातीच्छिकः स्थापितः स चेत् यावदद्यापि न निर्म्मापयति कमपि शिष्यं तावदादि गच्छसाधवो भाषंते निक्षिप त्वं गणधरपदमिति तदा तेषां तथा भाषमाणानां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। अथ तस्मिन्नन्यशिष्ये निर्मापयितुमिष्यमाणे अनुतिष्ठति अनिर्मापिते गणधर-पदनिक्षेपणं करोति तदा तस्मिन्नन्यशिष्ये अनुतिष्ठति गणधरत्वं निक्षिपतः प्रतिच्छिकस्य प्रायश्चित्तमेव चत्वारो गुरुका इत्यर्थः। यथा गीतार्थत्वेन गच्छसाधवः सेविष्यंते तन्निमित्तमापि तस्य प्रायश्चित्त नवरं केवलं तस्मिन्नन्यशिष्येग्राहिते निर्म्मापिते गणधरपदनिक्षेपणा कर्तव्या। नच तत्र तां कुर्वतस्तस्यच्छेदः परिहारः सप्तरात्रं वा तपः। गतमिछाद्वारम्॥

संप्रति यथा कल्पद्वारावसरस्तत्र ये गच्छसाधवस्ते स्वग- च्छसाधुं प्रतिच्छिकं च पूर्वस्थापितं यथा कल्पेनाऽभ्युत्तिष्ठति यथा-कल्पानभ्युत्थानमेवाह॥

आवस्सगसुत्तत्थे, भत्ते आलोयणाउवट्ठाणे।
पडिलेहा कितिकम्मं, मत्तगसंथारगतिगं च॥

आवश्यकेक्रियमाणो यो विनयस्तस्य आचार्यस्य कर्तव्यस्तं च न कुर्वंति सूत्रमर्थं वा तस्य समीपे न गृह्णंते। (भत्तेति) आचार्य्यप्रायोग्यं तस्य भक्तं न प्रयच्छंति। (आलोयणत्ति) तस्य पुरतो नालोचयंति (उवट्ठाणत्ति) आचार्यवस्त्रकबंलपात्रादिप्रत्यु- पेक्षणाय नोपतिष्ठंते। नापि कृतिकर्म वंदनकमन्यद्वा कुर्वंति नापि मात्रकत्रिकं तस्य ढौकयति तिस्रः संस्तारकभूमयस्ता अपि न प्रयच्छंति। तेषामपि यथा कल्पमनभ्युत्तिष्ठतां प्रायश्चितं छेदः परिहारः सप्तरात्रं वा तप इति। व्य० २ खं० ४ उ०॥

आचार्ये मृते तत् क्षणमेवान्यः स्थाप्यते॥ तथा च व्यवहारसूत्रं

णिग्गंथस्स णं णवडहरतरुणगस्स आयरिय उवज्झाए विसंभेज्जा णो से कप्पइ । अणायरियउवज्झायस्स होंतए कप्पइ । से पुव्व आयरियं उदिसावित्ता ततोपच्छा उवज्झायं सेकिमाहु भंते ! दुसंगहिए समणे णिग्गंथे तंज हा आयरियेणं उवजायेणय ॥११॥ व्य०सू०३उ ॥

निर्ग्रन्थस्य णमिति वाक्यालङ्कारे। नवडहरतरुणस्य वा आ- चार्यसहित उपाध्याय आचार्योपाध्यायस्तस्याचार्योपाध्या यस्येत्यर्थः। विष्कंभयात् म्रियेत। ततः सेतस्य नवडहर तरुणस्याचार्योपाध्यायस्य सतो भवितुं न कल्पते वर्तितुं किन्तु पूर्वमाचार्यमुद्देशास्स्थापयित्वा ततः पश्चादुपाध्यायमुद्देशा अप्येवमाचार्योपाध्यायस्य सतो भवितुं कल्पते। सेकिमाहु (भन्ते!इति) से शब्दोऽथ शब्दार्थः । अथ भदन्त ! किं कस्मात्कारणात् भगवन्त एवमाहुः । सूरिराह। द्वाभ्यामाचार्यो- पाध्यायाभ्यां संगृहीताद्विसंग्रहीतः श्रमणो निर्ग्रन्थस्सदा भवति तद्यथा आचार्योपाध्यायेन च एष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥११॥

(२) आचार्य्ये मृते निर्ग्रन्थीनामप्यन्य आचार्यः स्थाप्यते॥ तथा च व्यवहारसूत्रं॥

निग्गन्थीएणं णवडहरतरुणियाए आयरियउवज्झाए पवित्तिणियं विसंभेज्जा णो से कप्पइ अणायरिय

अणुवज्जाइयताए अपवत्तिणिएय होंतए कप्पइ से पुव्वं आयरियं तु दिसाविता तओ पच्छापतिओ उवझायं ततोप- च्छापवित्तिणियं से किमाहु भंतेति संगाहिया समणी निग्गंथी । तंजहा । आयरिएणं उवज्झाण्णं पवित्तिणिय्य ॥१२॥ व्य० सू० ३० उ०॥

निग्गन्थीएणमिति पूर्ववत् नवडहरतरुण्याः आचार्योपाध्यायस्स- मासोऽत्रपूर्ववत्। आचार्योपाध्यायमेतत्प्रवर्तिनी च विष्कं भयात् म्रियेत। ततस्सेतस्या अनाचार्योपाध्याया उपलक्षणमेतत् प्रवर्ति- नीरहितायाश्च नोकल्पते भवितुं। किन्तु पूर्वमाचार्यमुद्दिश्यते। ततः पश्चादुपाध्यायं। ततः पश्चात् प्रवर्तिनीं। कयाभवितुं कल्पते (से किमाहु) इत्यादि अथ भदन्त ! किंकस्मात् कारणात् भगवन्त एवमाहुः। सूरिराह। त्रिभिः संग्रहिता श्रमणी निर्ग्रन्थी सदा भवति तद्यथा आचार्येणो पाध्यायेन प्रवर्तिन्या च एष सूत्रसंक्षेपार्थः।

(२२) आचार्य्येऽवधाविते आचार्य्यान्तरस्थापनं ॥

पूर्वाचार्योऽवधावेत्तर्हि नवः स्थाप्यः ॥ तथा च व्यवहारसूत्रं आयरिय उवज्झाए उहायमाणे अन्नयरं वएज्जा अज्जो मएणं उदायंसि समणंसि अयं समुक्कसियव्वे। जाव सव्वेसिं तेसिं तप्पतियं च्छेए वा परिहारे वा ॥१३॥ व्य० सू० ४ उ०॥

व्याख्या। आचार्य उपाध्यायो वा मोहेन रागेण वा अवधा वन (मन्यतर) मुपाध्यायादिकानां गीतार्थपंचमानां पुरुषाणामन्य- तमं वदेत् यावत्करणादेवं परिपूर्णपाठो द्रष्टव्यः ॥

अज्जो ममं सिणं उहावियंमि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वो सेय समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वेसिया सेयनो समुक्क-सणारिहे नो समुक्कसियव्वे सिया अत्थिया इत्थ अण्णे केई समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे नत्थिपाइत्थ अन्ने केइ समुक्कसणरिहे से चेव समुक्कसियव्वे तेसिंचणं समुक्कितंसि परावेएज्जा दुस्समुक्किट्ठंते अज्जोनिक्खिहि तस्स णं निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेदे परिहारे वा ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् व्य० सू० ४ उ०॥

अधुना निर्युक्तिविस्तरः। केन पुनः कारणेनाऽसाववधावतीति चेदत आह ॥

मोहेण वा रागेण, ववहाणं भेसयं पयत्तेण ॥
धम्मकहाए निमित्तेणं, अणाहसालागवेसणया ॥

अवधावनं मोहेन वा कामोद्रेकरूपेण रोगेण वा। तत्र मोह विषया यतना प्राक् तृतीयोद्देशकेऽभिहिता। यदि रोगेण ततो नाधावितव्यं। किंतु प्रयत्नेन भेषजं दातव्यम् ॥ तच्च धर्म कथानिमित्तेन चोत्पादनीयं। तथाऽप्यलाभे अनाथशालातो गवेषणा भैषजस्य कर्तव्येति निर्युक्तिगाथायाः संक्षेपार्थः ॥ एतामेव संप्रति भाष्यकृद्विवरीषुरिदमाह।

मोहेण पुव्वमणियं, रोगेण करेंति माएजयणाए ॥
आयरियकुलगणे वा, संघो व कमेण पुव्वुत्तं ॥

यदि मोहेनावधावनं कर्तुमीहते तदा यत्पूर्व्वं तृतीयोद्देशकेमोहचिकित्सा विषयं भणितं तत्कर्तव्यमथ रोगेण तदाऽनयावक्ष्यमाणया प्रथमतः ततः प्रासुकेन तदलाभे वाऽप्रासुकेना-पीत्येवरूपया यतनया पूर्वोक्तं भैषज्यं प्रयत्नेन संपादनीय-मित्यादिरूपं कुर्वन्ति केते कुर्वंति। तत आचार्य्यकुलं गणसंघोवा कथमित्याह। क्रमेण परिपाट्या तामेव परिपाटीं कालनियम- नपूर्विकामाह ॥

छम्मासे आयरियकुलंतु, संवच्छराणि तिन्नि भवे ॥
संवच्छरं गणो खलु, जावज्जीवं भवे संघो ॥

प्रथमत आचार्य्यः षण्मासान् यावत् चिकित्सां कारयति तथाप्यप्रगुणीभूतं तं कुलस्य समर्प्पयति ततः कुलं त्रीन्सं वत्सरान् यावत् चिकित्सकं भवति। तच्छाऽप्यप्रगुणीभवंतं गणस्य तं समर्पयति। तदनंतरं संवत्सरं यावत गणः खलु चिकित्सको भवति। एतद्योक्तं भक्तविवेकं कर्तुमशक्नुवतो यः पुनर्भक्तविवेकं कर्तुं शक्नोति। तेन प्रथमतोऽष्टादश- मासान् चिकित्सा कारयितव्या । विरतिसहितस्य पुनः संसारे दुःप्रापकत्वात् तदनंतरं चेत्प्रगुणीभवति । ततस्सुन्दरमथ न भवति । तर्हि भक्तविवेकः कर्तव्यः । अत्रैव देशांतरमाह ॥

अहवा विइयादेसे, गुरुवसंभे, भिक्खुमादिते गच्छं ।
जत्थि वारसवासा, तिछक्कमासो असद्धेणं ॥

अथवा द्वितीय आदेशो गुरौ च ते भिक्षादौ यथाक्रमं चिकित्सां कारयंति यावज्जीवं द्वादशवर्षाणि त्रिषट्कमष्टादश मासान् कथमित्याह अशुद्धेनापिशब्दोऽत्र लुप्तोदृष्टव्यः प्रथमतः शुद्धेन तदभावे चाशुद्धेनापि। तदनन्तरं भिक्षादिना भक्त विवेकः कर्तव्यः। गुरुस्सुगच्छप्रवर्तकइति तस्य यावज्जीवं चिकित्सा तत्र प्रथममोद्देशेन च विवेकं कर्तुं शक्नुवंतं प्रत्यष्टा दशमासान् ॥ कश्चिकित्साविधिस्तमभिधित्सुराह।

पयत्तेण ओसहं से, करेंति सुद्धेण उग्गमादीहिं ।
पहाणीए अलंभे, धम्मकहाहिं निमित्तेहिं ॥

प्रथमतः प्रयत्नेनोद्गमादिभिः शुद्धेन वस्तुजातेन (से) तस्य औषधं कुर्वंति। तदलाभे पंचपरिहान्या यावच्चतुर्गुरुकेनाप्यशुद्धे

नापि धर्मकथाभिस्तदौषधमुत्पादयंति तच्छाऽप्यलाभे निमित्तै- रपि ॥

तहवि ण लाभे असुद्धं, बहिट्ठियसालाहिवाणुसट्ठादि।
नत्थंते बहिदाणं, सलिंगविसणेण उड्डाहे ॥

तथापि निमित्तैरपि चेद शुद्धं नलभेत ततोनाऽथशाला या आरोग्यशाला तस्यां मध्ये न प्रविशंति। किंतु बहिस्थितास्तत आरोग्यशालात औषधं गवेषयित्वा समानयंति। अथ ते शाला निवासिनो न प्रयच्छंति। तर्हि यस्तस्या आरोग्यशालाया: प्रभुर- धिपस्तमनुशास्य याचते। तच्छाप्यलाभे धर्मकथया आवर्जनीयस्त च्छाप्यनावर्जने निमित्ते स्वलिङ्गेनाऽप्यवर्जयि-तव्य: तच्छापि बहि: स्च्छितानामौषधप्रदान- मनिच्छति यत्यस्यार्चितं लिंगं तेन लिंगेन प्रविशंति प्रविश्यौषधमानयंति। अथ स्व लिंगेनापि तत्र कस्मान्न प्र विशंति तत आह। स्वलिंगव्यसनेन स्वलिंगप्रवेशेन प्रवचनस्यो- ड्डाह:। नामी किमपि जानते सं चामीषां धर्म: श्रेयानत: क्वचिदपि किंचिद्प्यलभमाना अनाथा इवात्र समांगता इति प्रवचनस्योप- घात:। एतदेव पणहाणी एअलंभे इत्यादिकं विवरीषुरिदमाह ॥

पणगादिज्जागुरुगा, अलप्भमाणे बहिंतु पायोज्जा ॥
बहिट्ठियेसालगवेसण, तत्थ पभुस्साणुसट्ठादि ॥

पंचकपरिहान्या पंचकादिप्रायश्चितमौषधोत्पादनायता यदा- सेवनीयं यावच्चत्वारोगुरुकास्तच्छापि बहि: प्रायोग्ये औषधे अलभ्ये आरोग्यशालाया बहि:स्च्छाता औषधस्य गवेषणं कुर्वंते तत्र तद्वास्तव्यानामदाने य: प्रभुरारोग्यशालाया अधिपति-स्तस्यानुशास्ति आदिशब्दाद्धर्मकथनिमित्तं य प्रयुंजते असई अचियलिंगेनरक्तपटा- दिरुपेण प्रवेशनं कुर्वंति तेषुच प्रविष्टेषु येप्रतिभानवंत: प्रतिवचनदानसमर्था वृषभास्ते स्वलिंगेन गत्वा प्रभुं भाषंते यथा कोयुष्माकं सिद्धांत एवमाभाष्य तत्र सिद्धांतविषये प्रभुणागृहीतलिंगैश्चसहपरस्परमुल्लापंकुर्वंति। यच्छा उत्तरवादिनो वृषभा भवंति। अच्छ वा यदि प्रतिपत्तिकुशला: परप्रतिपादनवृषभास्ततस्ते गत्वा से तस्य प्रभोर्निजकत्व-मात्मीयत्वं भावयंति। तत्रापि सिद्धांतविषये तैर्गृहीतलिंगै: सह परस्परमुल्लापं तथा कुर्वंति। यच्छा ते आ चक्षत इति।

अहवा पडिवत्तिकुसला, तेण समं करेंति उल्लावं।
पभवंतो विय सोवी, वसभेऊ उत्तरीकुणति ॥

अथवा ये प्रतिपत्तिकुशला:परप्रतिवचनदानसमर्थास्तत स्ते गत्वा तेन प्रभुणा सह परस्परमुल्लापं तथा कुर्वंति गृहीत लिंगाश्च तथा तं भावयंति तथा सोऽपि आस्तां गृहीतालिंगा इत्यपिशब्दार्थ:। प्रभवन्नपि वृषभानुत्तरीकरोति उत्तरवादिन: करोति। तत: स निरुत्तरीकृत: सन् यद्ब्रूते तदाह ॥

तोभणइ कलहमित्ता, मज्झमेव हेज्जह उदंतंति।
तंवियपडिसुणंति, एवं एगाएच्छम्मासा ॥

तत: सिद्धांतोल्लापे पराजित: सन् भणति यूयं मम कलह- मित्राणि कलहानंतरं यानि जातानि मित्राणि तानि कलहमित्राणी ततोमे ममोदंतं वहत एवमुक्ते तेपि वृषभा: प्रतिशृण्वंति अभ्यु- पगछंति। तत एवं गत्वा गतिभिस्तमतीवावर्ज्य ता षण्मासान् यावत् तत्र चिकित्सां कारयंति। एवमेकस्यामनाथशालायां षण्मासा एवं द्वितीयस्यां तृतीयस्यामपि च तथा चाह।

छम्मासा छम्मासा, विइय तइयाए एव सालाए।
काऊ अट्ठारस ऊअ, पउणे, ताहे विवेगोउ ॥

एव मुक्तप्रकारेण द्वितीयस्यामनाथशालायां षण्मासा एवं तृतीयस्यामपीति सर्वसंकलनया अष्टादशमासान् चिकित्सां कार-यित्वा प्रगुणीकरोति। अथ प्रगुणा न भवति ततस्तस्य भक्तविवेकं कर्तुमुचित: संप्रति प्रागुक्तं द्वितीयमादेशं स्पष्टयति अहवा।

गुरुणो जावज्जीवं, फासुय अफासुएण ते गित्थं।
वसभे बारसमासा, अट्ठारसमिक्खुणोमासा ॥

गुरोराचार्य्यस्य यावज्जीवं चिकित्सां प्रासुकेनाऽप्रासुकेन वा कुर्वंति सर्वस्यापि गच्छस्य तदधीनत्वात् यथाशक्ति निरंतरं सू- त्रार्थनिर्णयप्रवृत्तेश्च। वृषभे द्वादशवर्षाणि चिकित्सा तत: परं शक्तौ भक्तविवेक: एतावता कालेनान्यस्यापि समस्तगच्छ भारो व्हन- समर्थस्य वृषभस्थोत्थानात् अष्टादशमासा भिक्षोश्चिकित्सा तत: परमसाध्यतया शक्तौ सत्यां भक्त विवेकस्येव कर्तुमुचित-त्वात्॥व्य०४ उ०॥

(२३) लक्षणं सुत्तत्थे णिम्माओ इत्यादि ॥

सुत्तत्थे णिम्माओ, पिअदढधम्मोणुवत्तणाकुसलो ॥
जाइकुलसंपण्णो, गंभीरोलद्धिमंतोअ ॥१५॥

व्या०। सूत्रार्थे निर्मितो निष्ठित: प्रियदृढधर्म: उभययुक्तोऽनु वर्तनाकुशल: उपायज्ञ:। जातिकुलसंपन्न:। एतद्वयसमन्वितो गंभीरो महाशयलब्धिमांश्च उपकरणाद्यधिकृत्येति गाथार्थ:।

संगहुवग्गहीनरओ, कयकरणो पवयणाणुरागीय॥
एवं विहोओ भणिओ, गणसामि जिणवरिंदेहिं ॥१६॥

व्या०। संग्रहणोपग्रहनिरत: संग्रह उपदेशादिनोपग्रहश्च वस्त्रादिना व्यत्यय इत्यन्ये। कृतकरणो ऽभ्यस्त क्रिय:। प्रवचना- नुरागी च प्रकृत्या परार्थप्रवृत:। एवंविध एव भणि: प्रतिपादितो गणस्वामी गच्छधरैर्जिनवरेंद्रै:र्भवगद्भिरिति गाथार्थ: पं०व०॥

आहारवत्थादिसुलद्धिजुत्तं, आदेज्जवक्कं वअहीणदेहं।
सक्कारमज्जं मइमंमि लोए, पूयंति सेहाय पिहूजणाय ॥

आहारवस्त्रादिलब्धियुक्तमादेयवाक्य महीनदेहं परिपूर्णदेहा- व्यवं तथा मतिमति लोकेसत्कारभाजं विद्वज्जनपूज्यमित्यर्थ:। शैक्षका: पूजयंति। पाठांतरम् ''सक्कारहज्जंमि इमं मिलोए'' तत्राऽयमर्थ:। सक्कारेण ह्रियते आक्षिप्यते इति सत्कारहार्योऽयं यतोलोकस्तत एवं भूतेऽस्मिन् लोकेआहारवस्त्रादिषु लब्धियुक्तमित्यादिगुणै: शैक्षका: पूजयंति। पृथक् जनश्च बहुमन्यते। तत: स तादृशो गणधारी कर्तव्य:। व्य० ३ उ०॥

आयरियउवझाया, नाणुण्णाया जिणेहिं सिप्पट्ठा ॥
णाणे चरणे जोगा, वहाउ ते अणुण्णाया ॥

आचार्य्या उपाध्यायाश्च जिनैस्तीर्थकृद्भिर्न शिल्पार्था:शिल्प शिक्षणनिमित्तमनुज्ञाता: कै: कारणै: पुनरनुज्ञातास्तत आह। ज्ञाने चरणे च ये योगास्तेषामावहा: प्रापका यतो भविष्यन्ति ततस्त अनुज्ञाता:। ज्ञानचरणस्फातिनिमित्तमनुज्ञाता इत्यर्थ: अपि चेदृशा आचार्योपाध्याया अनुज्ञाता: ॥ व्य०२ खं०४ उ०।

(२४) एकपाक्षिकादेर्दिगाचार्य्य: ॥

नूतनाचार्य्यस्थापनायामेकपाक्षिकभिन्नपाक्षिकयोर्योगयता

ऽयोग्यता यथा ॥

एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पई इंतिरियं दिसं वा अणुदिसं वा धारित्तए वा जहा वा तस्स गणस्स परियंसि वा ॥२४॥ व्य० सू० ३ उ०।

एकपाक्षिकभिन्नपाक्षिकयोर्योग्याऽयोग्यता (चानुपालणाकप्प) शब्दे॥

(२५) लक्षणं मेढीभूतः ॥

तत्र गणस्य बहुव्रतिनीसमुदायात्मकस्य प्रत्येकं परीक्षा कर्तुं न शक्यते अथाचार्य्यं च परीक्षिते प्रायोगणोऽपि परीक्षित एव मेढ्यादिसमानत्वेन तत्प्रवर्तकत्वादाचार्यस्य गणस्य च तदनुव- र्तित्वादित्यतः प्रथममाचार्य्यमेव परीक्षेतेत्याह ॥

मेढी आलंबणं खंभं, दिट्ठि जाणसुउत्तमं ॥
सूरी जंहोइ गच्छस्स तम्हां तं उ परिरकए ॥८॥

व्याख्या यद्यस्मात्कारणात् सूरिः सदाचार्यो गच्छस्य गणस्य (मेढित्ति) मेढिः खले गोबंधस्थूणा तत्समानो भवति। यथा तया बद्धानि पशुवृंदानि मर्यादया प्रवर्त्तते तथाचार्य्यो मेढीबद्धो गच्छोऽपि मर्यादया प्रवर्तत इत्यर्थः। तथालंबनं हस्ताद्याधार- स्तत्समानः यथा हस्ताद्याधारो गर्तादौ पतज्जंतुं धारयति। तथा ऽचार्य्योपि भवगर्ते पतंतं गच्छं धारयतीत्यर्थः। तथा (खंभति) स्तंभः स्थूणा अत्र नपुंसकत्वं प्राकृत्वादेव तत्समानः। यच्छा स्थंभः प्रासादाधारः स्यात् तथाचार्य्योपिगच्छप्रासादाधारः तथा (दिट्ठित्ति) दृष्टिर्नेत्र तत्समानः यथाऽजंतोर्नेत्रं शुभाशुभवस्तुप्रदर्शकं भवति तथा ऽऽचार्य्योपि गच्छस्य भाविशुभाशुभप्रदेशकः स्यात् तथा (जाणं सुत्तमंति) यानं पानपात्रं सूत्तममतिप्रधानमच्छिद्रमित्यर्थः तत्समानो यथा अच्छिद्रयानपात्रं समुद्रतीरं नयति जंतून् तथाचार्य्योपिगच्छे भवति तस्मात् प्रथमं तंतुत्तिनोरवकारार्थत्वात् तमेवाचार्य्यमेव परीक्षेत गच्छपरिक्षेच्छुः साधुरिति अनुष्टुप्छंदः। एवंचात्र ग्रछे त्रयोधिकाराः सूचिताः तद्यछा आचार्यस्वरूपाधिकारः १ साधुस्वरूपाधिकारः २ साध्वी स्वरूपाधिकारश्च ३ तथा प्रथममाचार्यस्वरूपाधिकारं निरुपयितुकामः कैश्चिन्हैः छद्मस्थ उन्मार्गप्रस्थितमाचार्य्यं परीक्षेतेति प्रश्नयन्नाह ॥

भयवं कहिं लिंगेहिं, सूरिं उम्मग्गपट्ठिअं ॥
विआणिज्जाछ उमत्थे, मुणि! तंमे निसामय ॥९॥

व्याख्या। हे भगवन्!परमैश्वर्यादिसमन्वित ! कैर्लिङ्गैश्चिन्हैरुन्मार्गप्रस्थितसन्मार्गस्थितं सूरिमाचार्यं छाद्यते केवलज्ञानं केवल- दर्शनं चात्मनोऽनेनेति छद्म तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थस्तं विजानीयात् परीक्षेतेति परप्रश्ने गुरुराह हे मुने! यैश्चिन्हैराचार्यमुन्मार्गप्रस्थितं छद्मस्थः परीक्षेत तन्मे मम कथय इति शेषः (निसामयत्ति) त्वं निशामयाकर्णयेति अनुष्टुप् छंदः॥९॥ अथ वृत्तद्वयेनपूर्वोक्तशिष्यप्रश्नोत्तरमेवाह॥

सच्छंदयारिं दुस्सीलं, आरंभेसु पवत्तयं ॥
पुढवाइपडिवद्धं, आउक्कायविहिंसगं ॥१०॥
मुलुत्तरगुणब्भट्ठं, सामायारीविराहयं ॥
आदिन्नालोअणं निच्चं, विकहासु परायणं ॥११॥

अनयोर्व्याख्या॥ स्वच्छंदेन स्वाभिप्रायेण न तु जिनाज्ञया चर तीति स्वच्छंदचारी तं तथा दुष्टं शीलमाचारो यस्यस दुश्शील स्तं तथारंभः पृथिव्याद्युपद्रवणानि उपलक्षणत्वात्संरंभसमारंभावपि। तत्र संरंभः संकल्पः समारंभस्तु परितापकरः उक्तं च ॥

संकप्पो संरंभो, परितावकरो भवे समारंभो ॥
आरंभो उद्दवओ, सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं ॥१॥

तत्र स्वान्ययोः प्रवर्त्तकस्तं तथा पीठकमासनं आदिशब्दात् फलकपट्टिकादयस्तत्र प्रतिबद्धः कारणं विनापि ऋतुबद्धकाले तत्परिभोजीत्यर्थः ॥ ग० १ अधि०॥

(२६) परीक्षा आचार्य्यस्य ॥

सुद्धस्सय पारिच्छा, खुड्डयथेरेयतरुणखज्जूडे ॥
दोमादिमंडलीए, सुद्धमसुद्धे ततोपच्छा ॥

शुद्धस्य परीक्षा कर्त्तव्या कस्मिन्विषये इत्यत आह। क्षुल्लकेस्च्छविरे तरुणे खज्जूडः स्वभावाद्वक्राचारः तस्मिंस्तथा- द्वयोरादिमंडल्योः एताभिः परीक्षाभिर्यदि निवर्तितस्ततः शुद्धः इतरस्त्वशुद्धः शुद्धस्य च गणधरपदानुज्ञा कर्त्तव्या ना शुद्धस्य ततःशुद्धाशुद्धप्रतिपादनानंतरं चोदकं पृच्छा उपलक्षणमेतदाचा- र्य्यस्य प्रतिवचनं च वक्तव्यं एष द्वारगाथासंक्षेपार्च्छः। सांप्रत- मेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतः क्षुल्लकविषयं परीक्षाविधिमाह॥

उच्चफलो अहखुड्डो, सउणिच्छावोपवासिउं दुक्खं ।
पुट्ठोवि होहिति न वा पलिमंथो सारवंतस्स ॥

तस्य द्रव्यभावपरिच्छेदोपेतस्य गणधरपदयोग्यता परीक्षणाय प्रथमतः क्षुल्लको दीयते। एवं द्विविधामपि शिक्षां त्वं ग्राहय ततः स एव मुक्तः सन् यदि चिंतयति यथा (अहत्ति) एष क्षुल्लकः उच्चं चिरकालभाविफलं यस्मात्स उच्चफलश्चिरका लेनोपकारी तावता कालेन किमपि भविष्यतीति कोवेद ततः कमेनं शिक्षां ग्राहयिष्यति यदि वा शकुनिशावसिवावत्पोष्यः पोष्यतेा पुनः पुनर्बुभुक्षाभावादिति भावः। अपि च पुष्टोऽपिसन्नेष मम भविष्यति वानवा को न जानाति अन्यद्वामुं धारयतः सारं कुर्वतो मम सूत्रस्य च महान्पलिमंथो व्याघातस्ततो नैतस्य मे शिक्षया प्रयोजनमेवं चिंतयन् योन ग्राहयति सोऽनर्हस्तद्विपरीतो ऽर्हस्ततो यः स्थविर एष प्रवचनोपग्रहकरो भविष्यति दृढदेहो वा यथा आचार्यरक्षितः पितेति कारणतो दीक्षितस्तिष्ठति स शिक्षकस्तस्य समर्प्यते एवं द्विविधामपि शिक्षां ग्राहयति तस्मिंस्तत्समर्पिते यदि स इदं चिंतयति ॥

पुट्ठोवा स मरिसति, दुराणुवत्तो न वेच्छपडियारो ।
सुत्तत्थे परिहाणी, थेरे बहुयं निरत्थं तु ॥

एष प्रथमालिकादिदापनतः शिक्षाग्राहणतश्च पुष्टिकृतोऽप्याशु शीघ्रं मरिष्यति च शब्दः चिंतांतरसमुच्चये। यदिवा वृद्धः स्व- भावात् दुरनुवत्य *दुःखेनानुवर्त्य तेन वा अत्र वृद्धशिक्षापने कश्चित् प्रतीकारः किमुक्तं* भवतिनास्माद्वृद्धात् कश्चित् प्रत्युपकारोऽथवा वृद्धो वृद्धत्वादेव जडप्रज्ञश्च ततोस्य शिक्षणे मम सूत्रार्थ- परिहाणिस्तदेव स्थविरशिक्षां ग्राह्यमाणे बहुकनिर्रथक मिति य एनं चिंतयित्वा योन शिक्षां ग्राहयति सोऽनर्हस्तद्वि परितोऽर्ह इति तदनंतरं योऽसौ तरुणो मेधावी तं समर्प्य भण्यते यथा एष मंडलिपरिपाट्या आलापके दीयमाने सीदति तत स्त्वमेत-मप्याक्षेपेण पाठय। ततः स इदं चिंतयति ॥

अहियं पुच्छति गिह्णए, बहुं किं गुणो चरगेण ।।
होहिंति य विवद्धंतो, एसो ममं पडिसपत्ती ।।

एष मेधावित्वादधिकं पृच्छत्यवगृह्णाति वावधारयति बहु प्रभूतं तत इत्थमस्यैव सूत्रस्यार्थस्य चरकेण प्रदानत आक्षणिकतया को गुणो मम निरर्थकः कश्चिदित्यर्थः। केवलं दोषो निजसूत्रार्थपरिगलनादन्यच्च एष हु निश्चितं विवर्द्धमानः सूत्र-तोऽर्थतश्च वृद्धिं गच्छन् मम प्रतिसपत्नीव प्रतिपंथी भविष्यति। ततो न कोऽप्येनं पाठयिष्यतीति योन शिक्षयति सोऽनर्हं स्ततः खज्जूडं दत्वा स भण्यते। अमुं तथा ग्राहय। यच्छा सुज्ञः समाचारीकुशलश्च भवति ततो यदि ।।

कोही निरुवगारी, फरुसो सव्वस्स वामवट्ठो य।
अविणीतोत्ति व काउं, हंतुं सत्तं व निच्छुभती ।।

क्रोधी यदि वा निरुपकारी अथवा परुषः परुषभाषी तथा सर्वस्य साधुवर्गस्य वामावर्तः प्रतिकूलतया वर्तते यदि वा अ विनीत इति कृत्वा शिक्षां ग्राहयति। अथवा आकृश्य शत्रुमिव वा हत्वा निष्काशयतितर्हि सोऽनर्हस्तद्विपरीतोऽर्हः ।।

संप्रति चतुर्ष्वपि यो जनेषु तद्विपरीततया यथार्होभवति तथा भावयति ।।

वत्थाहारादीहिं, संगेह्ण अणुवत्तए य जो जुयलं ।।
गाहेइ अपरितंतो, गाहण सिक्खावए तरुणं ।।१।।
खरुमउण्ह अणुयत्तत्ति, खज्जूडं जेण पडइ पासेणं ।।
गाढमवहारविजढो, तत्थोड्डुणमप्पणो कुणइ ।।२।।

यो नाम युगलं क्षुल्लकवृद्धलक्षणं वस्त्राहारादिभिः संगृह्णाति आत्मवशीकरोत्यनुवर्तयति च तरुणमपरिभ्रांतः परिश्रममगण यन् ग्राहयति। ग्राहणं ग्राह्यते शिष्य एतदिति बाहुलकात् कर्मण्यनट्। ग्राहणमाचारादिसूत्रं आसेवनां शिक्षयति तथा खज्जू डं खरमृदुभिर्वाक्यैस्तथानुवर्तयति। येन स पाशे न पतति अन्यथा गतिं न लभते इति मन्यमानस्तद्वशीभवति तथाःयःस्थानाद पि चलन्नपि सन् खज्जूडतया विहारविजढो भवति विहारं न करो- तीति भावस्तत्र उड्डुणमंगीकारमात्मना करोति। यथैनमहं खरेण मृदुना चोपायेन विहारक्रमं कारयिष्यामीति एष एवं भूतोयोग्यः।।

इयसुव्व सुद्धमंडलिं, दाविज्जइ अत्थमंडलिं चेव।
दोहिं पि अ सीयंते, देइ गणं चोइए पुच्छा।।

इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेण चतुर्ष्वपि जनेषु सूत्रोपदेशतः परीक्षितः सन् शुद्धो भवति न मनागपि दोषः। ततस्तस्य सूत्रमंडली दाप्यते अर्थमंडली च एतयोरपि मंडल्योर्यदि न विषीदति किंत्वपरिश्रांततया गच्छवर्तिनां प्रातीच्छकानां च ज्ञाना-द्यभिलाषिणां चित्तग्राहको वर्तते ततस्तस्मिन् मूलाचार्यो गणं ददाति एवमुक्ते चोदकेचोदकस्य पृच्छा केत्यत आह।

चोएइ भणिऊणं, उभयछिन्नस्स दिज्जइ गणोत्ति ।।
सुत्तेय अणुन्नायं, भयवं चरणं पलिच्छन्नो ।।१।।
अपरिहाण परिह, परिछंध अत्थेण जं पुणो परुवेह ।।
एवं होइ विरोहो, सुत्तत्थेणं दुवेह्णंपि ।।२।।

चोदयति प्रश्नयति परोयथा पूर्वमिदमुक्तं उभयच्छिन्नस्य द्रव्य-भावपरिच्छदविशेषात् शाकल्यपरिकलितस्य गणोदीयते। युक्तं चैतत्। यतः सूत्रेऽपि च शब्दोऽपि शब्दार्थः। भगवन्! धारणं गणधार णमनुज्ञातं। परिछन्ने द्रव्यभावपरिच्छदोपेतमात्रे तत एवमुक्त्वा यदर्हानर्हपरीक्षाम-र्थेनार्थमाश्रित्य प्रारूपयथाः। नन्चेवं सति द्वयोरपि सूत्रार्थयोर्भवति विरोधः। उक्तस्वरुपस्याऽर्थस्या- धिकृतसूत्रेणासूचनात् ।।

अत्र सूरिराह ।।

संति हि आयरिय जगाणि, सत्थाणि चोयग ! सुणाहि ।।
सुत्ताणुण्णातो वि हु, होइ कयाइ अणरिहोउ ।।१।।
तेण परिच्छा कीरइ, सुवण्णगस्सेव तावनिहसादी ।।
तत्थइमो दिट्ठंतो, रायकुमारेहिं कायव्वो ।।२।।

चोदक! शृणु मदीयं वचः संति हि स्फुटं तानि शास्त्राणि यान्याचार्यद्वितीयकानि किमुक्तं भवत्याचार्यपरंपराया तत्संप्रदाय विशेषपरिकलितानि ततो यद्यप्यर्हानर्हपरीक्षालक्षणोऽर्थः सूत्रे साक्षान्नोपनिबद्धस्तथापि सूचनात् सूत्रमिति सोऽपिसूत्रेण सूचित इति संप्रदायादवगम्यते इति न कश्चिद्दोषः। तथा च सूत्रानुज्ञापि हि निश्चितं कदाचिदनर्हो भवति। नच सूत्रमन्यथा सर्वज्ञप्रणीतत्वा- त्तेन परीक्षापि सूचितेति। तापनिकषादिभिः सुवर्णस्येव सूत्रानुज्ञा- नस्याऽपि क्षुल्लकादिभिः परीक्षा क्रियते। तत्रायं वक्ष्यमाण- लक्षणोदृष्टांतो राजकुमारैः कर्तव्यः ।।

तमेवाह ।।

सूरे वीरे सत्तिए, ववसाययिरे चियायधितिमंते ।।
बुद्धिविणयकरणे, सीसेवि तहा परिच्छाए ।।
निब्भयओरस्सबली, अविसाइपुणो करेंति संठाणं ।।
नवि संमति देति अणस्सित्तो उ व उहाणुवित्ति य ।।

इहाद्यगाथापदानां द्वितीयगाथापदैर्व्याख्यानं। तद्यथासूरो नाम निर्भयः। सच कुत्रश्चिदपि न भयमुपगच्छति। वीरऔर सबलवान् तेनाक्लेशेन परबलं जयति। सात्विको नाम योमह त्यप्युदये गर्वं नोपयाति न च गरिष्ठेऽपि समापतिते व्यसने विषादं। तथाचाह। अविषादि उपलक्षणमेतत् अगर्वी वा व्यवसायी अनलस उद्यो- गवानित्यर्थः। तथाचाह। पुनः करोति संस्थानं। किमुक्तं भवति। प्रमादतः कथंचिद्व्यवसायविकलोऽपि भूत्वा पुनः करोति संस्थां कर्तुमुद्यच्छति स्वोचितव्यवसायमिति भावः। स्थिरोनाम उद्योगं कुर्वन्नपि न परिताम्यति तथा चाह। विश्राम्यतीति (वियायत्ति) दानरुचिर्यथौचित्यमाश्रित्य स्वेभ्योऽन्येभ्यश्च ददातीत्यर्थः। धृति- मान् राज्यकार्याणि कुर्वन् परनिश्रामनपेक्षमाणः तथाचाह (अ- णिस्सित्ति) इति (बुद्धित्ति) औत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयोपेतः। वि- नीतो गुर्वादिषु विनयकारी यथोचित्य गुर्वादीनामनुवर्तक इत्यर्थः। करणे इति यद्राज्ञः कर्तव्यं तत्करणे कुशलः। एतेषु परीक्षा क्रि- यते किमेते गुणास्सन्ति न वा। य एतैर्गुणैरुपेतो भवति। स राज्ञो राज्येऽभिषिच्यते। दानशीलोऽत्रयः स्थिरस्सोऽपरिभ्रांतस्सन् कर्तव्यं करोति। कृत्वापि च पश्चादनुपतापी त्यागवान् नाम दानशीलः स च स्तोकादपि स्तोकं ददानो गणस्य बहुमानभाग् भवति ।।

उवसग्गो सोढव्वे, झाये किच्चेसु या विदिसंतो ।।
बुद्धिचउक्कविणीतो, अहवा गुरुमादिविणीतोउ ।।

धृतिमान् उपसर्गान् सोढव्यान् ध्यायति। कृत्येष्वपि कार्येष्ववि- षादं प्रवर्तते। बुद्धिविनीत इत्यत्र इदमपि व्याख्यानं। बुद्धिचतुष्टयं नीतं प्रापितमात्मनि येन स बुद्धिविनीतः। सुखादिदर्शनात् क्तांतस्य पाक्षिकः परनिपातः। अथवा (बुद्धित्ति) बुद्धिच तुष्कोपेतो विनीतो गुर्वादिषु विनीतः ।।

दव्वाई जं जत्थ उ, जम्मि विकिव्वं तु जस्स वा जंतु ॥
कव्वइ अहीणकालं, जियकरणविणीयएगत्थ ॥

यद्यत्र द्रव्याद्युपयोगि यस्य वा यत्र यत्कृत्यं तत्सर्वमहीनकालं जितकरणः करोति कारयति। जितकरणो विनीत इति द्रावप्येकार्थौ: तात्पर्यं विश्रांत्या शब्दार्थस्तु परस्परं भिन्नो जित करणो नाम करणदकक्ष उच्यते। विनीत इति विनयकरणशील:।

एवं जुत्तपरिछा, जुत्तो वेतेहिमेहिउ अज्जागो ॥
आहारादिघरें तो, तिंतिणिमाइहिं दोसेहिं ॥

एवमेतैरनंतरोदितैः सूरत्वादिभिर्गुणैर्युक्ता उचिता या परीक्षा तथा युक्तोऽपि निश्चित: एभिर्वक्ष्यमाणैर्दोषैरयोग्य:। ताने वाह। आहारादि आहरोपधिपूजनिमित्तं गुणं धारयन् तिं तिण्यादिभिश्च दोषैरयोग्य:। तिंतिणीनाम यत्र तत्र वा स्तोकेऽपि कारणे करकरायणं। आदिशब्दाश्चलचित्तादिपरिग्रह: ॥

एतदेव व्याख्यानयति ॥

बहुसुत्ते गीयत्थे, धरेइ आहारपूयणट्ठाइ ॥
तिंतिणचलअणविट्ठअ, दुब्बल चरणा अजोग्गो उ ॥

बहुकालोचितं सूत्रमाचारादिकं यस्य स बहुसूत्रो गीतार्थो विदितसूत्रार्च्छ:। एतेन युक्त: परीक्षायुक्तोऽप्येतद्व्याख्यानयति एवं-भूतोऽपि यो गणं धारयति (आहारपूयणट्ठाई) उत्कृष्टो मे आहा-रोभविष्यति पूजनं वा स्वपक्षतश्चेत्येवमर्च्छ: आदिशब्दा दुपधिर-न्यद्वोपकरणमुत्कृष्टं मे भविष्यतीत्येवमर्च्छपरिग्रह:। सोऽयोग्यस्तथा योतिंतिण: स्वल्पेऽपि प्रयोजने करकरायमाण:। चलश्चल-चित्तोऽनवस्थिच्छत: स्वप्रतिपन्नार्च्छानिर्वाही। दुर्बलश्चरणचारित्रविषये दुर्बल एतेऽप्ययोग्या:।

एवं परिकिखयम्मि, पत्ते दिव्वई अपत्तिपडिसेहो।
दुपरिकिखयपत्ते, पुण चारियहावेंति मासेरा ॥

एवमनंतरोदितेषुगुणेषु च यदि परीक्षया निर्वटियो भवति गुणैरुपेतो दोषैश्च विप्रमुक्त इत्यर्थ:। तदा स पात्रमिति कृत्वा तस्मिन्परीक्षिते पात्रे गाणेदीयते। यस्तु प्रागुक्तैर्दोषैरुपेतो गुणैश्च विप्रमुक्त: सोऽपात्रमिति तस्मिन्नपात्रे गणदानस्य प्रतिषेधस्तस्मिन् गणोन दातव्य इति भाव: (दुपरिकिखय) इत्यादि। अथ कदा- चित सुदु:परीक्षित: कृतोभवेत् गणश्च तस्मै दत्त: सच गण:सी- दति तं दृष्ट्वाऽन्येऽपि गच्छवर्त्तिन: केचित् सामाचारीशिथिला भवितुं प्रवृत्तास्तत: परीक्षिते पात्रे गणे प्रदत्ते सति गणोऽवसी- दति। ये तत्र गच्छेऽन्यतीव्रधर्मका न सीदंति तैरुपायेन प्रतिचोद्य वारयितव्य:। तत्र यदि वारणानंतरमावृत्योद्यच्छति ततस्समीची- नमथ वारितोऽपि किंचित्कालमुद्यम्य पुन: समाचारीं हापयति। तत इयं मर्यादा कर्तव्या अयं विधि:प्रयोक्तव्य इत्यर्थ:। तमेवाह।

दिट्ठोवसमोसरणे, अहवा थेरा तहिं तु वव्वन्ति।
परिसायघट्ठमट्ठा, चंदणखोडी करंटणेय ॥

यत्र समवसरणे ज्ञायते आचार्योऽत्र प्रवेक्ष्यति। तत्र गच्छोऽनुलोमवचसा प्रवेशनीय:। प्रविश्य तत्र गत्वाऽचार्यस्य कथयंति। त्वं सीदन् तिष्ठसि नैव च तद्युक्तं तस्मात् भवगत्या वर्तस्व। अथवा कुलानि हिंडमाना:स्थविरा:सूत्रगछे व्रजंति तत्र दृष्टान्तै: पर्षदसाधुपरिवाररूपा। घृष्टा: पादघर्षणात् मृष्टा: शरीर- स्य केशादीनां च समारचनात्। तत स्तां तथारूपां पर्षदमव- लोक्य चंदनखोडीदृष्टांतेन खरंटना कर्तव्या साचैवम्

आयरिया दिट्ठंतमेगं सुणंति। एगोइंगालदाहओ इंगाल कट्ठाइणं अणेणट्ठाए नदीकूलं गतोतत्थ पासइ। तडे ण बुइझमाणं गोसीसचंदणखोडिं सो तं घेत्तूण पारंठितो तमंतरा वणीओ पासई जाणई एसा गोसीसचंदणखोडी। ततोतेण सो भणितो किं एएण कट्ठेण तं करिस्सई। इंगालदाहगो भणई। दहिउण इंगाले घेच्छामि। वणिउचिंतिते। जइझत्ता हवेच मज्जाहामोतो बहुंसुकं मोल्लंकाहिति तो जाहेडहिओ माढवोहिति ताहे किणीहामि। एवं चिंतित्ता जाव वणिउ मुल्लस्स काण्ण घरं गंतु एति। तावत्तेण दिट्ठा गोसीस-चंदणखोडी वणिएण आंगतुं पुच्छितो। कहींतं कट्ठं सोभणइ। दड्ढंति। एवं भणिएण खिंसितो महाभाग फिडितोसि इसरियत्तणस्स एवं जहा सो इंगालदाहओ सोयवाणियउ ईसरियत्तणस्स बुक्को। एवं तुमंपि नाणादी दहंतो निव्वाणस्स बुक्किहिसि ॥

एतदेवाह ॥

इंगालदाहखोडी, पबेसे दिट्ठाउ वाणिएणं ॥
तुज्जामुल्लं आणयए, इंगालट्ठाए तादिट्ठा ॥१॥

इय चंदणरयणनिभा, पमाय तिक्खेण परसुणा भेत्थं ॥
दुविहपडिसेवसिहिणा, तिरियणखोडि तुमे दट्ठा ॥२॥

अंगारान्दहतीति अंगारदाहस्तस्य पार्श्वे गोशीर्षचंदनखोडी प्रवेशग्राम-प्रवेशे च वणि जा दृष्टा। सच यावन्मूल्यमानयति। तावत्तेनांगारदाह-केनांऽगारार्थं सा खोडीर्दग्धा इत्यक्षरार्थ: भावार्थस्तु प्रागेवोक्त: सांप्रतमुपनयमाह॥ इयचंदणेत्यादि। इत्येवममुना प्रकारेण चंदनरत्ननिभा गोशीर्षचंदनमूल्यात्रि रत्न रत्नत्रयरूपा खोडीप्रमादरूपेण तीक्ष्णेन परशुना भित्त्वाद्विधा या प्रतिसेवा मूलगुणप्रतिसेवा उत्तरगुणप्रतिसेवाचेत्यर्थ:। सैव शिखी वैश्वानरस्तेन त्वया दग्धा एवं वारित: सन् यदि निवर्तते तत: प्रायश्चितं दत्वा तस्य वर्त्तापका: स्थविरा दातव्या: । अथ न निवर्तते तर्हि तस्य गणोऽपहरणीय: । न केवलमेतेऽनर्हा: । किं चान्येऽपि तथा चाह ॥

एएण अणरिहेहिं, अन्ने इयसूइया अणरिहातो।
केपुणे ते इणमोत्त, दीणादिया मुणेयव्वा ॥

एतैरनंतरोदितैरनर्हैरन्येऽपि खलु सूचिता अनर्हा:। केपुन- स्तेसूरिराह। इमे ते वक्ष्यमाणा दीनादयो ज्ञातव्यास्तानेवाह।

दीणाजुंगियचउरो, जातीकम्मे, यसिप्पसारीरे ॥
पाणाडोंवा किणिया, सोवागा चेव जातीए ॥

दीना:अनर्हा: कस्मादिति चेदुच्यते। तेषा नंदनाभावा दुक्तंच ॥

दीणाभासं दीणे, गतिं दीणजं पिउं पुरिसं।
कं पेच्छसि नंदंतं, दीणाए, दिट्ठिए तत्थ ॥

जुंगिका हीणाश्चत्वारोऽनर्हा:। तद्यथा जातौ कर्मणि शिल्पे शरीरे च । तत्रजातौ जुंगिकाश्चत्वारस्तद्यथा । पाणाडोंबा: किणि-का: श्वपचाश्च । तत्र पाणानाम ये ग्रामस्य नगरस्य च बहि

राकाशे वसंति तेषां गृहाणमभावात् । डोंबा येषां गृहाणि संति गीतं च गायन्ति । किणिका ये वादित्राणि परिणह्यन्ति । वध्यानां च नगरमध्ये नीयमानानां पुरतो वादयंति । श्वपचा श्वांडाला ये शुनः पचन्ति । तंत्रीश्च विक्रीणंन्तीति । एतेजातौ जुंगिका उपलक्षणमेतत् । तेनायकल्पिका ये च ये च हरिकेशजा तयोमेया ये च बरुडादयस्तेपि जातौ जुंगिका दृष्टव्याः । संप्रति कर्मणि शिल्पे च तानभिधित्सुराह ॥

पोसगवंसरनडलं, ख वाहमच्छंधरयगवा गुरिया ॥
पडगारा य परीसह, सिप्पे सरीरे य वुच्छामि ॥

पोषका ये स्त्रीकुक्कुटमयूरान् पोषयन्ति । संवरास्तानिकाः । शोधकाः नटाः प्रतीता ये नाटकानि नर्तयन्ति । लंखा ये वंशादेरुपरि वृत्तं दर्शयंति । व्याधा लुब्धका मत्स्यबंधाः कैवर्त्ता रजकावस्त्रप्रक्षालका वागुरिका मृगजालिकाजीविनः । एते कर्मणि जुंगिकाः । पटकाराः कुंचिकादयश्चर्म्मकारा इत्यपरे परीषहा नापिता एते शिल्पे जुंगिकाः ॥ संप्रति शरीरे तान् वक्ष्यामि प्रतिज्ञातं निर्वाहयति ॥

इत्थे पाए कण्णे, नासाउट्ठेहिं वज्जियं जाण ॥
वाडणगमडभकोडिया, काणा तह पंगुला चेव ॥

शरीरे जुंगिकाः जातीहि । हस्ते सप्तमी प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे । एवं सर्वत्र । ततोऽयमर्थः । हस्तेन उपलक्षणमेतत् । हस्ताभ्यां वा वर्जित एवं पादेन पादाभ्यां वा कर्णेन कर्णाभ्यां वा नासया ओष्ठेन वा वामनका हीनहस्तपादाद्यवयवाः । मृडभाः कुब्जाः कुष्टव्याध्युपहताः काणाः एकाक्षाः । पगुलाः पादगमनशक्ति विकला एतानपि शरीरे जुगिकान् जानीहि ॥

दिक्खेउंपि न कप्पंति, जुंगिया कारणेवि दोसोवि ॥
अण्णादिक्खिएवा, ताउं न करेंति आयरिए ॥

एते अनंतरोदिताश्चत्वारोऽपि जुंगिका दीक्षितुमपि न कल्पंते किंपुनराचार्य्यपदे स्थापयितुमित्यपि शब्दार्थः । कारणे तथाविधे समुत्पन्ने दोषका निर्दोषा वा दीक्षितुमपि संबध्यंते । अज्ञाता-श्चेत्कथमपि जुंगिका दीक्षिता भवेयुः ततस्तान् अज्ञात दीक्षिता-नज्ञात्वा कुर्वत्याचार्यगुणोपेतानप्याचार्यान् प्रवचनहेलनाप्रसक्तेः ॥

पच्छावि होंति विकला, आयरियत्तं न कप्पई तेसिं ॥
सीसो ठावेयव्वो, काणगमहिसो व निम्नम्मि ॥

पश्चादपि श्रामण्यस्थिता अक्षिगलनादिना विकला भवंति । तेषामप्याचार्यगुणैर्युक्तानामप्याचार्यत्वं न कल्पते । येऽप्याचार्यपदोपविष्टास्संतः पश्चाद्विकला जायंते । तेषामपि न कल्पते धारयितुमाचार्यत्वं । किंतु तैस्तथा विकलैः सङ्गिरात्मनः पदे शिष्यःस्थापयितव्यः । आत्मत्वे प्रकाशे स्थापयितव्यः । क इवेत्यत आह । काण्कमहिष इव । निम्ने । इयमत्र भावना । काणकोनाम चोरितमहिषो माकोऽप्येन मद्राक्षीदिति हेतोर्ग्रामस्य नगरस्य वा बहिर्गर्तरूपे निम्ने प्रदेश उपलक्षणमेतदिति गुपिले वा वनगहने स्थाप्यते । एव मेषोऽप्यन्यथा च प्रवचनहील-नाप्रसक्तेराज्ञादिदोषप्रसंगश्च । अथ यो वाऽऽत्मीयः शिष्यः पश्चाद्विकलैराचार्यैः स्याप्यते । स कीदृश इत्यत आह ॥

गणि अगणी वागीतो, जोवि अगीतोवि या गईमन्तो ।
लोगे स पगासिज्जइ, तहावेन्ति न किंचमियरस्स ॥

गणोऽस्यास्तीति गणी साधुपरिवारवान् यो वर्तते तदभावे अगणी । वा यो गीतो गीतार्थः कालोचितसूत्रार्थ परिनिष्ठितः तस्याऽप्यभावे योवाप्यगीतोऽप्यगीतार्थोऽपि आकृतिमान् रूपेण मकरध्वजतुल्यः स गणधरपदे निवेश्यते । यथाऽप्यमस्माकमाचार्यो नेतर इति । केवल मितरस्याऽपि जुंगिकाचार्यस्य यत्कृत्यं तत्स्थविरा अन्येऽपि च न हापयंति सर्वमपि कृत्यं कुर्वंतीति भावः । संप्रत्यनर्हान् प्रतिपादयिषुरिदमाह ॥

एयद्दोस विमुक्कावि, अणरिहा होंति सेउअण्णेवि ॥
अव्वाबाधादीया, तेसिं विभागो उ कायव्वो ॥

एतैरनंतरोदितैर्दोषैर्विमुक्ता अपि भवत्यन्ये इमे अनर्हाः । के ते इत्याह । अत्याबाधादयस्ततस्तेषामत्याबाधानां विभागः पार्थक्येन स्वरूपरूपवर्णनं कतर्व्यं । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ॥

अव्वाबाध अवायन्ते, नेच्छइ अप्पचिंतए ॥
एगपुरिसे कहं निंदू, काकवज्झा कहं भवे ॥

(अव्वाबाधेत्ति) अत्याबाध (आचाएतेत्ति) अशक्नुवन् (नेच्छत्ति) नेच्छति अनिच्छन् तथा आत्मचिंतकः एते चत्वारोऽपिपुरुषा अनर्हाः न केवलमेतेऽनर्हाः किंत्वेक-पुरुषादयोऽपि तत्र शिष्यः प्राहः । कथमेकपुरुषो भवति । कथं वा निंदूः कथं वा क की कथं वा वंध्येति । एवं शिष्येण प्रश्ने कृते सूरिः सकलविनेयजनाऽनुग्रहप्रवृत्तः सर्वानप्यत्याबाधादीन् व्याख्यान-यति ॥

अव्वाबाधो वाहइन, मन्नइवितिधरेउमसमत्थो ॥
तइओन चेव इच्छइ, तिण्णि ए ए अणरिहातो ॥

अतिशयेन आबाधा यस्य सोऽत्याबाधः । स गच्छस्य द्विविधेऽप्युपग्रहे वस्त्रपात्रादिज्ञानाद्युपष्टंभरूपे कर्तव्ये बाधां मन्यते द्वितीयोऽशक्नुवन् । गणं धारयितुमसमर्थः द्विविधमप्युपग्रहं गच्छस्य कर्तुमशक्त इत्यर्थः । तृतीयोऽनिच्छन् समर्थोऽप्यालस्ये न गणं धारयितुं नेच्छति । एते त्रयोऽप्यनर्हाः ॥

आत्मचिंतकमाह ॥

अब्भुज्जयमेगयरं, पडिवज्जिस्संति अत्तचिंतो उ ॥
जोवा गणे वसंतो, न वहति तत्तीतो अन्नेसिं ॥

आत्मानमेव केवलं चिंतयन् मन्यते यच्छाऽहमभ्युध्यतं जिनकल्पं यथा लंदकल्पानामेतरं प्रतिपश्ये इति । आत्मचिंतकः योऽपि गणेऽपि गच्छेऽपि वसन् तिष्ठन् न वहति न करोति तस्मिन्येषां साधूनां सोऽप्यात्मचिंतकः । एतौ द्वावप्या-त्मचिंतकावनर्हौ ॥

एगं मज्जति सिस्सं, पणछड्डे मरंति विद्धसंते वा ॥
अन्नमयस्स य एवं, नवरं पुणय एए गो पणत्ति ॥

पंचम एकपुरुष एकंशिष्यं मृग्यते सह्येवं चिंतयंति । किमप्येकमात्मनः सहायं मृगयामि । येन सुखं तिष्ठामीति तया कष्टे निंदूतुल्याः शिष्या म्रियंते विध्वंसते वा प्रतिभज्यंते वेति भावार्थः । इयमत्र भावना । यथा निंदूमहिला यद् यदपत्यं प्रसूते तत्तन्म्रियते । एवं योऽपि यं प्रव्राजयति स स म्रियते अपगच्छति वा ततः स निंदूरिव निंदू । सप्तमस्यापि काकीतुल्य-स्य एवमेव द्रष्टव्यं । नवरं पुनरेकं तिष्ठति किमुक्तं भवति । यस्यापि यः शिष्यः स म्रियते विध्वंसते वा केवलमेकः तिष्ठति । उपलक्षणमेतत् । न चैतदपि द्रष्टव्यं । वस्यैकस्मिन्

प्रव्राजिते सति द्वितीयविषये लब्धिरेव नास्ति स काकीव काकी काक्यपि हि किलैकं वारं प्रसूते इति प्रसिद्धिः । वंध्यातुल्यः सुप्रतीत इति न व्याख्या तदेवेदं व्याख्यानं। वंध्या किला-प्रसवधर्मा एवं यस्य नैकोऽपि शिष्य उपतिष्ठते । स वंध्येव वंध्ये-ति । पुनरन्याननर्हान् प्रतिपादयिषुरिदमाह ॥

अहवा इमे अणरिहा, देसाणं दरिसणं करेतेण ॥
जेपव्वावियतेणं, थेरादि पयछंति गुरुएणं ॥

अथवेति । अनर्हाणामेव प्रकारांतरतोपदर्शने इमे वक्ष्यमाणा अनर्हास्तानेवाह । देशानां दर्शनं कुर्वते । तेन ये प्रव्राजिकाः-स्थविरादयस्तान् प्रयछंति गुरूणां न तरुणादीन् पूर्वं बहुवचनमनेकव्यक्तयपेक्षयेत्यदोषः । स्थविरादीनेवाह।

थेरे अणरीहे सीसे, खज्जूढे एगलंभिए ॥
उक्खोवगयात्तिरिए, पेथे कालगते इय ॥

यःस्थविरान् प्रयच्छति शिष्यान् यो वानर्हान् योवा खज्जूडान् यदि वा एकलांभिकानथवा य एकं प्रधानं शिष्यमात्मना लभते गृह्णाति शेषाँस्त्वाचार्यस्य समर्पयति । स एकलाभेन चरतीति एकलाभिकः । यो वा शिष्याणमुत्क्षेपको यश्चाचार्याणामत्वरिकान् शिष्यान् करोति । योवा गुरुसंबंधिनः शिष्यान् पथि कालगतान् चशब्दात् प्रतिभग्नान् कथयति। एते सर्वेऽप्यनर्हास्तत्र स्थविरादीन् व्याख्यानयति ॥

थेराउ अतिमहल्ला, अणरिहा, काणकुंटमादीया ॥
खज्जूडाय अवस्सा, एगालंभी पहाणा उ ॥१॥

तं एगं न विवतीअ, विसेसे देइ जे गुरुणत्तु ॥
अहवा वि एगदव्वे, लभंति जे ते देइऊगुरुणं ॥२॥

स्थविरानाम अतिमहांतो वयसाऽतिगरिष्ठा इत्यर्थः । अनर्हाः काणकुंटादयः खज्जूडा अवश्याः । अयमत्र भावार्थः योऽसौ पूर्वं परीक्षितः स देशदर्शनं कार्यते । तेन च देशदर्शनं कुर्वता यदि ये स्थविराः प्रव्रजिता ये च जुंगिका ये च खज्जूडा वा ते आचार्यस्य समर्प्यंते तरुणा न व्यङ्गा विनीताश्चात्मनस्तदा सोऽनर्ह इति । एगलाभिनां यः प्रधानः शिष्यस्तमेकं योन ददति अवशेषांस्तु सर्वानपि प्रव्राजितान् गुरूणां प्रयच्छति । अथवा येषा मेकएवलानो यथा यदि भक्तं लभंते ततो वस्त्रादीनि न अथ वस्त्रादीनि लभंते तर्हि न भक्तमपि एकमेव लभंते इत्येवं शीला एकलाभिनस्तया चाह । अथवा ये एकं द्रव्यं लभंते तान् शिष्यान् गुरुणां यः प्रयच्छति । उभयलब्धिकानात्मन संबंधयति सोऽप्यनर्हः ॥

उक्खोवणं देतिन्नि वा, विउवणाति से समप्पणो ॥
आयरिया णित्तिरियं, बंधइ दिसमप्पणो वकहिं ॥

इयं किल समाचारी यावंतः किल देशदर्शनं कुर्वता प्रव्राजिताः तावंतः सर्वे गुरूणां समर्प्पणीयाः यस्तु प्रव्राजितान् द्विधा कृत्वा उत्क्षेपेण हस्तोत्पाटनेन द्वौत्रीन् वा शिष्यान् गुरूणमुपनयति शेषान् सर्वानप्यात्मना गृह्णति एषो क्षेपकोऽनर्हः ॥

तथा ये के च न देशदशनं कुर्वता प्रव्राज्यंते ते सर्वेऽप्यात्मन इत्वरिका बंधनीयाः । यथा आचार्यसमीपं गता यूयं सर्वेऽप्या-चार्यस्य यत्पुनराचार्याणां दिशमित्वरिकां बध्नाति । आत्मनस्तु यावत्कथिकां यथा यावत् यूयमाचार्यसमीपे तिष्ठत तावदाचार्य-सक्ताः शेषकालं ममेत्येवमित्वरिकान् कतिशिष्यान् सोऽप्यनर्हः ॥

पथंमियकालगया, पडिभज्जा वावितुब्भ जे सीसा ।
एए सव्वे अणरिहा, तप्पडिवक्खा भवे अरिहा ॥

यो देशदर्शनं कृत्वा समागतः सन् ब्रूते युष्माभिर्दत्ताः साधवः परिवारतया ते सर्वे युष्माकं शिष्यां पथि कालगताः प्रतिभग्नाः वा इमे पुनः सर्वे मम शिष्या एते स्थविरादयोऽनर्हाः तेषां पुनरनर्हाणामाचार्यसमीपगतानां ये तैः प्रव्राजिता शिष्या-स्तानाचार्य इच्छापयति वा न वा गुरुणामत्रेच्छाप्रमाण ॥

व्य० १ खं० ३ उ० ॥

(२७) उद्देशः मैथुनादिप्रतिसेव्याचार्य्यत्वे न ॥

मैथुनप्रतिसेवने त्रिवर्षाभ्यन्तरे आचार्य्यत्वन्न कल्पत इत्यत्र प्रमाण (मुद्देस) शब्दे।

(२८) स्थापनाविधिराचार्य्यपदे गुरोः ॥

आचार्य्यपदेऽन्यस्थापनाविधिश्च ॥

कहंणं भंते ! आयरियस्स ठवणविहीवियाहिया जंबू ! जे आयरिया विहिपुव्वं ममाउआयरियेणं पट्ठाविया तेवि आयरिया तत्थ एगे नामायरिया दव्वायरिया ठवणायरिया भावायरिया । जंबू ! जे भावायरिया ते तित्थयरस मा । अहवा तऊ आयरिया पण्णत्ता सिप्पायरिया कलायरि या धम्मायरिया जे ते धम्मायरिया परलोगगहियट्ठाए नि जरट्ठाए आराहेयव्वा । अण्णे कलायरिया सिप्पायरिया एकइएहिं कित्तबुद्धिए आराहियव्वे । तत्थेगे धम्मायरिया सोवा-यकरंडसमा बद्धाइकथथप्पयगाहाइंहिं जे सुद्ध समाए वखाणिंति ते सोवागकरंसमा । वेसाकरंडसमाजो रीआहारणसरिसजीहावक्खाणडंवरेणं अंतरं सुअसार विरहिया विसुद्धसभाए जणं विमोहिंति णेरविंति अप्पाणं थुतंसि आलुच अणत्थे पाडिंति गोयमा ! गणहराणं उवमाएतेवेसाकरंडसमा गाहावइकरंडसमा जे समं समु वसियसुगुरुहितो संपत्त अंगोवंगाइसुत्तत्थे सुपरिच्छिय च्छेयगंथा सयसमयपरसमयणिच्छया परोवयाकरणिक्क मल्लिच्छया जणजोगविहीए अणुओगं करिंति । ते गा हावइकरंडसमा रायकरंडसमा जे गणहरा चउदसपुव्विणोवा घडाओ घडसयं पडाओ पडसयं इचाइं विहाइं सयसमणिया ते रायकरंडसमा गाहावइकरंडसमाणे रायकरंडमाणे दोविए आयरिए तित्थयरसमाणे तेसिं ठवणविहि गाहाबंधो ॥

जइगुण १ काल २ णिसिज्जा ३ विज्ज ४ चंदु ५ समा ६ नंदि ७ सगच्छोभा ८ मंत ९ रक १० णाम ११ वंदण १२ अणुसट्ठिं १३ निरुद्ध १४ गणगुन्ना १५ संगा १६ संगहणीगाहा ॥

अउवरिसदिक्ख बारसु, सुत्ते अत्थे य बायगत्तेय।

पणयालीसपरिसगुण, जुत्तोसूरिपयजुग्गे ॥२॥

देसकुलं पसिद्धि, छत्तीसगुणगणालंकिओ दढचरित्ते ।
जयणाजुत्तो संघस्य, सम्मओ मुक्खकंखी य ॥३॥

कालाइव साइकाइ, गुण विहीणो विसुद्धगीयत्थो ॥
ठाविज्जइ सूरिपए, उज्जुत्तो सारणाइसुं ॥४॥

सुगुणभावे न पुणो, गुणपरिहाणी ठविज्जए सूरी ॥
अप्पते सूरिपयं, दिंतस्स गुरुस्स गुरुदोसो ॥५॥

जउत्तंबूढो गणहरस्स, दोगोयमाइहिं धीरपुरिसेहिं ॥
जोतं ठवइ अपत्ते, जाणंतो सो महापावो ॥६॥

कहं भासेइ अगीअत्थो, चउरंगं सवलो असारंगं ॥
नद्धमिअ चउरंगेण, हु सुलहं होइ चउरंगं ॥७॥

नासेइ संवेगो, चउरंगं सवलो य सारंगं ॥
नट्ठंमिय चउरंगेण, हु सुलहं होइ चउरंगं ॥८॥

एयाए विहीएसुसीसस्स परिक्खा काऊण दुसममयाणुभावेणं पसत्थे तिहिनक्खत्तमुहुत्ते गहिए पामाइअकाले पट्ठविए गुरुसीसे सिज्झाए करित्ता पसत्थजिणभवणा इखित्ते अक्खए गुरुजुगे निसिज्जादुगे कातव्वे अणुओगाणुण्णवणत्थं कियलोयस्स सीसस्स सिरे गुरुणो वासं धेति मंतिऊण सीसे खिवति । सुसीसस्स से तओ पुव्वविहीए देवे वंदावेइत्ता अणुओगाणुण्णवणत्थं काउस्सग्गं किरइ । सत्तावीसुस्सा संदुवेवि गुरुसीसा तओपयडं चउवीसं थुतं पडित्ता वारत्तिगं पंचमंगलुच्चारं करेंति । सुद्धट्ठिया । गुरु अन्नोवा अक्खलियाइगुणो पवेय नंदिसुत्तं कड्ढेइ । बुड्ढसीसो अहोणयकायुजोडियकरकमल-कुमलोपवड्ढमाणसंवेगो सुणेइ । तओ सीसो वंदितो भणेइ इच्छयारिभंते ! तुम्हे अणुओ गं जाणह तओ गुरु भणइ अहमेअस्स साहुस्स दव्वगुण पज्जवेहिं खमासमणाणं हत्थेणं अणुओगं अणुजाणामि विए संदिसह किं भणामि । वंदित्ता पवेएह तइए इच्छ यारि तुम्हे अम्हं अणुओगो अणुण्णाउं । इच्छामो अणुसट्ठिंति सीसेण भणिए गुरु भणइ । संम्डे अवहारे यव्वं अन्नेसिं पवेयहचउत्थे तुह्माणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि पंचमेय इक्कणमुक्कारेण समोसरणं च गुरुं च पयक्खिणेइ एवं तिन्नि वारा छट्ठेण तुम्हाणं पवेइउ साहूणे पवेइ ऊं संदिसह काउस्सग्गं करेमि । सत्तमे अणओगाणु जाणावणियं करेमि काउस्सगमिच्चाइणा उवसग्गे कए गुरुसमप्पिय णिसिज्जा जुओ गुरुं तिपयक्खिणीकरिय वंदित्ता गुरुदाहिणओ उचआसन्ने निसिज्जाए णिसी अइ । तउ णिसन्नस्स लग्गवेलाए दाहिणसवणे गुरुपरंपरा गयंमंतपए तिन्निवारे परिकहेइ । तओ वड्ढतिया उ तिन्निअ क्खमुट्ठिओ देइ करयलपुडे सीसो ताउ उवउत्तो गिण्हइ । तओ गुरु तस्स नामं कारिय णि सिज्जाउ उट्ठेइ । सीसो तत्थ णिसीयइ अहा सन्निहीयसंघसहिओ गुरू तस्स वंदणं देइ । इयं च तुल्यगुणाख्यापनार्थमुभयोरपिन दोषाय । यदाह ।

आयरियनिसिज्जाए उववसिणं वंदणं च तह गुरुणो तुल्लगुणाक्खायणत्थं ण तया दुट्ठं दुवण्हंपितउ वक्खाणं करेहति । गुरुणा वुत्ते तत्थट्ठिओ चेव अहिणवसूरी नंदिमाइयं परिसाणुरूवं वा वक्खाणं करेइ । तस्सम्मतीए य संघो तं वंदइ । तओसोवि णिसिज्जाउ उट्ठेइ गुरुो तत्थ णिसित्ता उववूहंति । यथा ग्रायणीपुव्वे दसमसिलोगबंधेण सिक्खा दिंति ।

नमोर्हत्सिद्धाचार्य्योपाध्यायसर्व्वसाधुभ्यः ।

यथा । धन्यस्त्वं येन विज्ञात, स्संसारगिरिदारकः ॥
वज्रवद्दुर्भिदश्चायं, महाभाग ! जिनागमः ॥१॥

इदं चारोपितं यत्ते, पदं तत्संपदां पदम् ॥
श्रीगौतमसुधर्म्मादि, मुनिसिंहनिषोवितम् ॥२॥

धन्येभ्यो दीयते भद्र, ! धन्या एवास्य पारगाः ॥
धन्या गत्वाऽस्य पारन्तु, पारं गच्छंति संसृतेः ॥३॥

भीतं संसारकांतारा, त्साधुवृन्दमिदं मुदा ॥
विमोचने समर्थस्य, भवतश्शरणागतं ॥४॥

अतो विधेयं यत्नेन, सारणावारणादिना ॥
अपायपरिहारेण, संसारारण्यपारगं ॥५॥

एवं तं उववूहिअ विणेयजणोवि अणुसासियव्वो । यथा ।

युष्माभिरपि नैवेष, सुस्थबोधिस्थसन्निभः ॥
संसारसागरोत्तारी, विमोक्तव्यः कदाचन ॥१॥

प्रतिकूलन्न कर्तव्य, मनुकूलरतैः सदा ॥
भाव्यमस्य गृहत्यागो, येनवस्सफलो भवेत् ॥२॥

अन्यथा लोकबंधूना, माज्ञालोपः कृतो भवेत् ॥
ततो विडंबना घोरा, भवेदिह परत्र च ॥३॥

ततः कुलवधून्यायात्, कार्य्यं निर्भर्त्सितैरपि ॥
यावज्जीवं न मोक्तव्यं, पादमूलममुष्य भोः ॥४॥

तो ज्ञानभाजनं धन्या, स्तेहि निर्म्मलदर्शनाः ॥
ते निष्प्रकंपचारित्रा, ये सदा गुरुसेविनः ॥५॥

इदं अणुसट्ठिं काउं दोवि णिरुद्धं करेंति दोविसज्झायस्स कालस्सय पडिक्कमंति । आयरियं पंचएए अइ सया ववहारगत्थे अभिहिया ॥

भत्ते पाणे धोवणए, पसंसणा हत्थपायसोए य ॥
आयरियअइसेसा, णइसेसा होंत णायरिया ॥१॥

उप्पन्ननाणा जहनो अडंती, चुत्ती सुबद्धा इसया जिणिंदा।
एवं गणी अदृगुणोववेआ, सत्थावनो हिंडइइड्ढिमंतु ॥२॥

गुरुहिंडणंमि गुरुगा, वसभे लहुगा णिवारयंतंमि ॥
गीयागीयगुरुलहू, आणाइआ बहूदोसा ॥३॥

पंचविआयरियाइ, यच्छंति जहन्नए वि संथरणे ॥
एवं पसत्थरंतो, सयमेव गणी अडइ गाडे ॥४॥

इच्चाइगुणजुत्तस्स दुचेट्ठावियारियस्स वा गणानुज्ञां करोति । तत्थय सकरुणो पवयणाणुरागीय एवं वि खमासणपुव्वं सीसो भणइ। इत्थयारि तुम्हे अम्हदिगाइ अणुजाणावणियं नंदिकारावणियं वासणिक्खेवं करेह इच्चाइ पुव्वुत्तविहीए चेइवंदणं चेइवंदणपुव्वं काउसग्ग करणं नंदिसुत्तस्स कड्ढणं गंधदाणं सत्तखमासणदावणं तओ उस्सग्गाणंतरं सूरिसमीवे उवविट्ठियस्स अभिणवगणहरस्स साहुणीओ वंदणयं दिंति । तओ तस्सायरियस्स सीसे हत्थं दाऊणं सासणं देइ ॥ तंजहा ।

संपारिऊण परमे, त्ताणाइ दुविहियतायणसमत्थो ।
भवभयभीयाणदढं, ताणं जो कुणई सो धन्नो ॥१॥

अत्ताणबाहिगाहिया, जइवि न सम्मं इहातुरा हुंति ॥
तहवि पुण भावविज्ञा, तेसिं अवणंति तंवाहिं ॥२॥

तातंसि भावविज्ञो, भवदुक्खनिवडियातुम्हं ॥
एए हंदिसरणं, पवन्ना मोएयव्वा पयत्तेणं ॥३॥

गच्छस्स सिक्खिदाणं पुण एवं ॥

तुज्झेहिं पिण एसो, संसाराडविमहाकडील्लंमि ॥
सिद्धिपुरसत्थवाहो, जत्तेण सया ण मुत्तव्वो ॥४॥

नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्तेय ॥
धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचन्ति ॥५॥

एवंचिय समणीणं, अणुसट्ठिं कुणइ इत्थ आयरि ओ ।
तह अजचन्दणमिगावइ, णासा होइ परमगुणा ॥६॥

एवं ठवणविहीए, ठविया जे हवन्ति आयरिया ॥
बिहिवहिया अणायरिया, भणिया सिरिवीरणाहेणम् ॥७॥
अंग० चू० । ध० ३ अधि० ॥

नूतनाचार्य्यस्थापनाविधिर्गुरुशिष्ययोरनुशासनं च पंचव स्तुके यथा ॥

एत्थाणुजाणणविही, सीसं काऊण वामपासम्मि ।
देवे वन्देइ गुरू, सीसो वन्दिओ तो भणइ ॥३६॥

व्याख्या ॥ अत्र प्रक्रमे अनुज्ञाविधिरयं शिष्यं कृत्वा वामपा र्श्वे आत्मनः देवान्वन्दते । गुरुराचार्य्यशिशष्यो वंदित्वा अत्रा तरे ततो भणति वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥३६॥

इच्छाकारेणम्हं, दिसाइ अणुजाणहत्ति आयरिया ।
इच्छामोत्ति भणित्ता, उस्सग्गं कुणइ ओ तयत्थं ॥३७॥

व्याख्या । इच्छाकारेण स्वेच्छया क्रिययाऽस्माकं दिगाद्यनुजानीतेति भणति अत्रांतरे आचार्य इच्छामि इति भणित्वा तदनंतरं कायोत्सर्गं करोति तदनन्तरं दिगाद्यनुज्ञार्थमिति गाच्छार्थः ॥

चउवीसत्थयनवकार, पारणं कड्ढिउथयं ताहे ।
नवकारपुव्वयं चि अ, कड्ढेइ अणुण्णणंदित्ति ॥३८॥

व्याख्या । चतुर्विंशतिसूत्रपाठनमस्कारपारणं नमोरिहंताणमि त्येवमाकृष्य पठित्वा स्तवं पूर्वोक्तं ततो नमस्कारपूर्वक मेवाकर्षति । पठत्यनुज्ञानंदीमिति गाथार्थः ॥

सीसो वि भाविअप्पा, सुणेइ जह वंदअं पुणो भणइ ।
इच्छाकारेणम्हं, दिसाइ अणुजाणह तहेव ॥३९॥

व्याख्या । शिष्योऽपि भावितात्मा सन् शृणोत्युपयुक्तः अथ वंदित्वा पुनर्भणति शिष्यः । इच्छाकारेणास्माकं भगवन्! दिगाद्यनुजानीत तथैव भणतीति गाथार्थः ॥

आह गुरु खमासमणं, हत्थे णिम्मस्स साहुस्स ।
अणुजाणिअं दिसाई, सीसो वंदित्तुतो भणइ ॥४०॥

व्याख्या । आह गुरुस्तत्रांतरे क्षमाश्रमणानां हस्तेन स्वमनीषयाऽस्य साधोः प्रस्तुतस्यानुज्ञातं दिगादिप्रस्तुतं शिष्यो वन्दित्वा अत्रांतरे ततो भणति वक्ष्यमाणमिति गाच्छार्च्छः ॥

संदिसह किं भणामो, वन्दितु पवेअह गुरू भणइ ।
वंदितुपवे अयई, भणइ गुरुतत्थ विहिणाओ ॥४१॥

व्या० ॥ सदिशति किं भणामि अत्र प्रस्तावे वंदित्वा प्रवेदयै वं गुरु र्भणति वंदित्वा प्रवेदयति शिष्यो भणति गुरुस्तत्रविधिना तु वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥

वंदितु भणइ तुम्हं, पवेइयं संदिसह साहूणं ।
एवं सीसोभणइ, भणइ गुरू पवेयह तओउ ॥४२॥

वंदित्वा भणति ततः किमित्याह । युष्माकं प्रवेदितं संदिशत साधूनां प्रवेदयामि एवं भणति शिष्यः । अत्रांतरे गुरुराह प्रवेदय ततस्तु तदनंतरमिति गाथार्थः । किमित्याह वंदित्वा भणति ततः किमित्याह । युष्माकं प्रवेदितं संदिशत साधूनां प्रवेदयामि एवं भणति शिष्यः । अत्रान्तरे गुरुराह । प्रवेदय ततस्तु तदनन्तरमिति गाथार्थः ॥ किमित्याह ॥

वन्दितु णमोक्कारो, कड्ढंभो से गुरुं पयक्खिणइ ॥
सो विअ देवाईणं, वासो दाऊण तो पच्छा ॥४३॥

व्या० ॥ वंदित्वा नमस्कारमाकार्षं सशिष्यो गुरुं प्रदक्षिणी करोति सोऽपिच गुरुर्देवादीनां वासान् दत्वा ततस्तदनन्तरं पश्चादिति गाथार्थः ॥ किमित्याह ॥

सीसंमि पक्खिवन्तो, भणइ तं गुरू गुणेहिं वड्ढाहिं ।
एवं तु तिण्णिवारो, उवविसइ तओ गुरूपच्छा ॥४४॥

व्याख्या । शिरसि प्रक्षिप्त्वा, तान् भणति तं साधुं गुरुगुणैर्वर्धस्वेति एवमेव त्रीन् वारानेतदुपविशति । ततस्तदनंतरं गुरुः पश्चादिति गाथार्थः ॥

सेसं जह सामइए, दिसाइ अणुजाणणामि मित्तंतु ।
णवरं इह उस्सग्गो, उवविस इ तओ गुरुसमीवे ॥४५ ॥

व्या० शेषं प्रादक्षिण्यादि तथा सामायिके तच्छैव द्रष्टव्यं दिगा द्यनुज्ञानिमित्तं तु नवरमिह कायोत्सर्गो नियमतएव उपविशति ततो गुरुसमीपे स साधुरिति गाथार्थः ॥

दिंति अ नो वंदणयं, सीसाइ तओ गुरू वि अणुसट्ठिं ।
दोएहवि करेइ तह जह, अण्णोवि अबुज्झई कोई ॥४६॥

व्या० ददति च ततो वंदनं शिष्यादयः सर्व एव ततो गुरुरप्य नुशास्ति मौलः द्वयोरपि गच्छगणधरयोः करोति । तथा संवेगसारं यथाऽन्योपि च सत्वो बुध्यते कश्चिदिति गाथार्थः ॥

गणधरानुशस्तिमाह ॥

उत्तममिअं पयं, जिणवरेहिं लोगुत्तमेहिं पण्णत्तं ।
उत्तमफलसंजणयं, उत्तमजणसेविअं लोए ॥४७॥

व्या० उत्तममिदं गणधरपदं जिनवरैर्लोकोत्तमैर्भगवद्भिः प्रज्ञप्तमुत्तमफलसंजनकं मोक्षजनकमित्यर्थः । उत्तमजनसेवितं गणधराणामुत्तमत्वाल्लोक इति गाथार्थः ॥

धण्णाण णिवेसिज्जइ, धण्णागच्छंति पारमेअस्स ।
गन्तुंइमस्स पारं, पारं वच्चंति दुक्खाणं ॥४८॥

व्या० धन्यानां निवेश्यते एतद्धन्या गच्छंति पारमेतस्य विधिना परंपारं व्रजंति दुःखानां । सिध्यंतीति गाथार्थः ॥

संपाविऊण परमे, णाणाई दुक्खिय तायणसमत्थे ।
भवभयभाअणे दढं, ताणं जो कुणइ सोधण्णो ॥४९॥

व्या० संप्राप्य परमान् प्रधानान् ज्ञानादीन् गुणान् दुःखित त्राणसमर्थान् । किमित्याह । भवभयभीतानां प्राणिनां दृढं त्राणं यः करोति सधन्यो महासत्व इति गाथार्थः ॥

अण्णाणवाहिगहिआ, जइवि न सम्मं इहाउरा हों ति ।
तहवि पुणभाववेज्जा, तेंसिं अवणिंति तंवाहिं ॥५०॥

व्या० ॥ अज्ञानव्याधिगृहीताः सन्तो यद्यपि न सम्यगिहातुरा भवंति व्याधिदोषात्तथापि पुनर्भाववैद्यास्तात्विकास्तेषामप नयंति व्याधिमज्ञानलक्षणमिति गाथार्थः ॥

तातंसि भाववेज्जा, भवदुक्खनिवीडिया तुहंएए ।
हंदिसरणं पवण्णा, मोएअव्वा पयत्तेणं ॥५१॥

व्या० ॥ त्वमसि भाववैद्यो वर्तसे भवदुःखनिपीडिताः संत स्तवैते साध्वादयः हंदिसरणं प्रपन्नाः प्रव्रज्यादिप्रतिपत्या मोचयितव्याः प्रयत्नेन सम्यक्त्वकारणेनेति गाथार्थः ॥

मोएइ अप्पमत्तो, परहिअकरणंमि णिच्चमुज्जुत्तो ।
भवसोक्खापडिबद्धो, पडिबद्धो मोक्खसोक्खंमि ॥५२॥

व्या० । मोचयति चा प्रमत्तः सन् परहितकरणे नित्योद्युक्तो य इति । भवसौख्याऽप्रतिबद्धोनिस्पृहः । प्रतिबद्धो मोक्षसौख्ये नान्यत्रेति गायार्थः ॥

ताएरिसो वि अतुमं, तह वि अ भणिओ सिसमयणीईए ।
णिअयावत्थासरिसं, भवयाणिच्चं पि कायव्वं ॥५३॥

व्या० तदीदृश एव त्वं पुण्यवांस्तथापि च भणितोऽसि मया समयनीत्या करणेन निजावस्थासदृशं कुलमेव भवता नित्यमपि कर्तव्यं नान्यदिति गाथार्थः । गच्छानुशास्तिमाह ।

तुब्भेहिं पि न एसो, संसाराडविमहाकडिल्लंमि ।
सिद्धिपुरसत्थवाहो जत्तेण खणंपि मोत्तव्वो ॥५४॥

व्या० युष्माभिरपि नैष गुरुः संसाराटवीमहाकडिल्ले गहने सिद्धिपुरसार्थवाहः ॥ तत्रानपायनयनाद्यत्नेन क्षणमपि मोक्तव्यो नेति गाथार्थः ॥

ण य पडिकूलेअव्वं, वयणं एअस्स नाणरासिस्स ।
एवं गिहवासचागो, जं सफलो होइ तुम्हाणं ॥५५॥

व्या० ॥ न च प्रतिकूलयितव्यमशक्त्या वचनमेतस्य ज्ञानराशे र्गुरोरेवं गृहवासत्यागः प्रव्रज्यया यत्सफलो भवति युष्माक माज्ञाराधनेनेति गाथार्थः ॥

इहरा परमगुरूणं, आणाभंगो निसेविउ होइ ।
विहला य होंति तं मि, निअमाइहलोअपरलोआ ॥५६॥

व्या० ॥ इतरथा तद्वचनप्रतिकूलत्वेन परमगुरूणां तीर्थकृतामाज्ञाभंगो निषेधितो भवति । निष्फलौ च भवतस्तस्मिन्नाज्ञाभंगे सति नियमादिहलोकपरलोकाविति गाथार्थः ॥

ताकुलवहुणाएणं, कज्जे निब्भच्छिएहिं विकहिं वि ।
एअस्स पायमूलं, आमरणंतं न मोत्तव्वं ॥५७॥

व्याख्या । तत् कुलवधूज्ञातनोदाहरणेन कार्य्ये निर्भर्त्सितैरपि सद्भिः । कथंचिदेतस्य गुरोः पादमूलं समीपमामरणंतं न मोक्तव्यं सर्वकालमिति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वा० ॥

नूतनाचार्य्यस्थापने गुरुशिष्ययोरनुशासनं (जिनकप्पिक) शब्देऽपि ॥

(२९) परिच्छदसहितस्यैवाचार्य्यत्वम् ॥

आचार्यस्य गणधारणे परिच्छदावश्यकता । तथा च व्यवहारसूत्रम् ।

भिक्खू इच्छेज्जा गणं धारित्तए भगवं स चे अपलिच्छिन्ने एणेएवं सेनो कप्पई गणं धारित्तए भगवं च से पलिच्छन्ने एवं से कप्पइ गणं धारित्तए ॥

व्याख्या ॥ भिक्षुश्चशब्दः आचार्यपदयोग्यानेकगुणसमुच्चयार्थः। इच्छेत् गणं धारयितुं। भगवांश्च (से) तस्य भिक्षोरपि परिच्छदः परिच्छदरहितः । परिच्छदश्च द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतः परिच्छदः शिष्यादिपरिवारः भावतः सूत्रादिकं । तत्र भगवानाचार्योऽपरिच्छदो द्रव्यतो भावतः पुनर्नियमात्स-परिच्छदोऽन्यथाचार्यत्वायोग्यात् । चशब्दादिक्षुश्च द्रव्यतो परिच्छदो भावतः सपरिच्छदः परिगृह्यते एवं से इत्यादि एवममुनाप्रकारेण(से) तस्य न कल्पते गणं धारयितुमेवं शब्दोविशेषद्योतनार्थः । सचामुं विशेषं द्योतयति । आचार्ये द्रव्यतोऽपरिच्छदे भिक्षोः सपरिच्छदस्य । न कल्पते गणं धारयितु मिति। भगवांश्च (से) तस्य द्रव्यतोपि परिच्छन्नः परिच्छदोपेतश्चशब्दात्सो पिच द्रव्यतोपि परिच्छन्नस्तत एवं (से) तस्य कल्पते गणं धारयितुमिति विशेषद्योतनार्थः । भाष्यकारो-व्याख्यानयति ॥

थेरे अपलिच्छन्ने, सयंपि वग्गहणा तत्थ ।
छन्नो थेरो पुण वा, इअरो सीसो भवे दोहिं ॥

स्थविरोनाम आचार्यः असावेव पूजावचनेन भगवच्छब्दे नोच्यते । भगवानिति महात्मनः संज्ञा । सस्थविरोऽपरिछन्नः परिच्छदरहितः चग्रहणाच्चशब्दोपादानात् भिक्षुरपि स्वयमपरिच्छन्नः तत्र स्थविरोऽपरिछन्नो द्रव्यतः परिवाररहितो द्रष्टव्यः । भावतः पुनर्नियमात् । सपरिच्छदः इतरः शिष्यः पुनर्द्वाभ्याम पि द्रव्यभावाभ्यामपरिच्छन्नो भवति । तत्र भावतो-ऽपरिच्छन्नो नियमादयोगग्य एव । इतरस्तु द्रव्यतोऽपरिच्छदो भावतः सपरिच्छदो योग्यः । अथाचार्ये द्रव्यतोऽपरिच्छदे किं सर्वथा भिक्षोर्गणं धारयितुं न कल्पते उतास्ति कश्चित्कल्पन-प्रकारः । अस्तीति ब्रूमस्तथाचाह ॥

नोकारो खलु देसं, पडिसेहयती कयाइ कप्पेज्जा ।
ओसन्नंमिउ थेरे, सोचेव परिच्छओ तस्स ॥१॥

एवं सेनोकप्पइ इत्यत्र नोशब्दो देशवचनत्वात् देशं प्रति षेधयति । तेन कदाचित्कल्पेतापि कदा कल्पते इति चेदत आह । अवसन्ने आचार्ये । इयमत्र भावना । यद्याचार्यो भावतः सूत्रा द्युपेतस्तपःसंयमोद्यतस्तस्मिन् द्रव्यतोऽपरिच्छन्ने न

कल्पतेऽयावसन्नस्तर्हि तस्मिन् द्रव्यतोऽपरिच्छदे वा कल्पते खलु शब्दोविशेषणार्थः। स चैतत् विशिनष्टि। यो भावतः स-परिच्छदस्तस्य कल्पते न शेषस्य परिच्छदे वावसन्ने। आचार्ये गणं धारयति शिष्ये य आचार्यस्य सपरिच्छदः परिवारः स एव तस्य शिष्यस्य भवति व्यवहारस्तस्या भावनात् इतरस्य न किमप्याभवति शिथिलत्वात्। इहपरिच्छदविषया चतुर्भंगिका। तद्यथा। द्रव्यतोऽपरिच्छन्नो भावतश्चापरिच्छन्नः १ द्रव्य-तोऽपरिच्छन्नोभावतः परिच्छन्नः २ द्रव्यतः सपरिच्छदो भावतोऽपरिच्छन्नः ३ द्रव्यतः सपरिच्छदो भावतश्च सपरिच्छदः ४ तत्र चतुर्थभंगवर्ती शुद्धः शेषास्त्वशुद्धाः। एष सूत्रार्थः। अधुना निर्युक्तिविस्तरः ॥

भिक्खू इच्छा गणे, धारए अपव्वाविए गणो नत्थि।
इच्छातिगस्स अट्ठा, महातडागेण ओव्वम्मं ॥

भिक्षोरिच्छा गणं धारयितुं स च गणः स्वयं प्रव्राजितो नास्ति तस्मात्स्वयं साधवः प्रव्राजनीयाः ॥ अथवा यद्यपि स्वयम प्रव्राजने गणोनास्ति तथा यद्यपि यदा अवसन्न आचार्योजातो भवति तदा योऽसावाचार्यस्य गणः स एव तस्य भवति च्छिा च गणं धारयितुं त्रिकस्य ज्ञानादिरत्नत्रयस्यार्थाय नतु पूजासत्कारनिमित्तमत्रार्थे चौपम्यमुपमा महातडागेन। किमुक्तं भवति पद्मसरसा महातडागेन गणपरिवर्द्धस्योपमा कर्तव्या। सा चाग्रे भावयिष्यते। एष निर्युक्तिगाथा संक्षेपार्थः। गण निक्षेपम्प्रतिपाद्य ॥

भावगणेण हिगारो, सो उ अपव्वाविए न संभवति।
इच्छातियगहणं पुण, नियमणहेउं तओ कुणइ ॥

भावगणेन नो आगमतो भावगणेनाधिकारः प्रयोजनं स च भावगणो यथोक्तरूपः स्वयं प्रव्राजितो नास्ति। तस्मात्स्वयं साधवः प्रव्राजनीयाः ते परिवारतया कर्तव्याः। अथवा प्रमाद्यत्याचार्ये यः परिवारः तथा स को निर्युक्तिकारो द्वार-गाथायामिच्छात्रिकग्रहणं नियमहेतुं करोतीत्युक्तं। तत्र किं नियमयति सूरिराह। निर्जरानिमित्तमेवं गणं धारयति नतु पूजादिनिमितं। स च गणं धारयन् यतिप्रभुर्महातडागेन समानो भवति। महातडागेन समानतामेव भावयति ॥

तिमिमगरेहिं न खुब्भइ, जहंबुनाहो वियंभमाणेहिं ॥
सोय महातलागो पप्फुल्लपउमं च जं अन्नं ॥

यथांऽबुनाथस्तिमिमकरैर्विज्टंभमाणैर्न क्षुभ्यति न स्व-स्थानाच्चलति। स एव चांबुनाय इह महातडागस्तथा विवक्षणात् अथवा समुद्रात् यदन्यत् प्रफुल्लपद्मं महासरस्तत् महातडागम् ॥

उपनयमाह ॥

परवादीहिं न खुब्भइ, संगिएहंतो गणं च न गिलाइ।
होंतिय सयाभिगमो, सत्ताण सरोव्व पउमड्ढो ॥

तिमिमकरैरंबुनाथ इव परवादिभिराक्षिप्यमाणो न क्षुभ्यति न च गणं संगृह्णन् यथौचित्येनानुवर्तमानो ग्लायति। यथा वा सरः पद्माढ्यं सत्वानां सदाभिगमं भवत्येवं सदा सत्वानाम भिगमसाधुः प्रभुर्भवति ॥

एयगुणसंपउत्तो, वा विज्जो गणहरोउ गच्छंमि।
पडिव्बोहादीएहि य, जइ होइ गुणेहिं संजुत्तो ॥

एतेन समुद्रतुल्यतारूपेण पद्माढ्यसरः समानत्वेन गुणेन वा संप्रयुक्तो गच्छे गणधरः स्थाप्यते। सचैतद्गुणसंप्रयुक्तस्तदा भवति यदि प्रतिबोधादिभिर्वक्ष्यमाणगुणैर्युक्तो भवति। प्रतिबोधा-दयोगुणाः प्रतिबोधकादिदृष्टांतेभ्योभावनीया इति। तानेव प्रतिबोधकादीन् दृष्टांतानुल्लिंगयति ॥

पडिव्बोहगदेसियसिरि, धरेय निज्जामगेय बोधव्वे ॥
तत्तोय महागोवो, एमेया पडिवत्तिओ पंच ॥

प्रतिबोधकः सुप्तोत्थापकः देशको मार्गदेशी श्रीगृहिकोभांडागारनियुक्तो निर्यामकः समुद्रे प्रवहण्नेता। तथा महागोपोऽतीवगोरक्षणकुशल एवमेता अनंतरोदिताः पंच प्रतिपत्तयोऽधिकृताऽर्थ अभिरिति प्रतिपत्तय उपमा। तत्र प्रतिबोधकोपमां भावयति ॥

जह आलित्ते गेहे, कोइ पसुत्तं नरं तु बोहेज्जा।
जरमरणादिभयत्ते, संसारघरंमि तह उजिए ॥

यथा आसमंततो दीप्तगृहे कोऽपि परमबंधुः प्रसुप्तं नरं प्रबोधयेत्तथा संसारगृहे जरामरणप्रदीप्ते जीवान् अविबुद्धान् भावसुप्तान् प्रबोधयति। स स्थापनीयो गणधरादेशितस्तीर्थ करैरुक्तः प्रतिबोधकदृष्टांतः। संप्रति देशकादिदृष्टांतमाह ॥

बोहेइ अपडिबुद्धे, देसिय माईविजोएज्जा ॥
एयगुणविप्पहीणो, अपलिच्छन्ने य न धरेज्जा ॥१॥

(बोहेइ अपडिबुद्धे) इति पूर्वगाथाव्याख्यायां व्याख्यातानेव देशकादीनपि दृष्टांतान्योजयेत्। ताँश्चैवं यो ग्रामादीनां पंथानमृजुकं क्षेमेण प्रापयति स देशक इष्यते। एवं ज्ञानादीनामविराधनां कुर्वन् यो गच्छं परिवर्द्धयति स गणधरः स्थापनीयो न शेषः। श्रीगृहकदृष्टांतभावना। यथा यो रत्नानि सुनिरीक्षितानि करोति स श्रीगृहे नियुज्यते एवं यो ज्ञानादीनामात्मसंयमयोश्चाविराध-नया गणं वर्द्धयति स तादृशोगणस्य नेता कर्त्तव्यः ॥ निर्यामकदृष्टांतभावना। यथा निर्यामकस्तथा कयंचनाऽपि प्रवहणं वाहयति। यथा क्षिप्रमविघ्नेन समुद्रस्य पारमुपगच्छति एष एव च तत्वतोनिर्यामक उच्यते। शेषो नामधारकः। एवं य आचार्यस्तया कथंचनापि गच्छं परिवर्द्धयति तथा क्षिप्रमविघ्नेनात्मनां गच्छं च संसारसमुद्रस्य पारं नयति। स तत्वतोगणधरः शेषोवै नाममात्रपरितुष्टः। महागोपदृष्टांतभावना यो गाः स्वपदेषु विषमेषु वा प्रदेशेष्वटव्यां वा पतंतीर्वारयित्वा च क्रमेण स्वस्थानमानयति। स महागोप उच्यते। एवमाचार्योऽपि यो गणमस्थानेषु प्रत्यंतदेशादिषु विहारिणं धारयति। पूर्वाभ्यासवृत्तानि च प्रमादस्खालिता न्यपनयति स तादृशो गणपरिवर्द्धकः करणीयो न शेषः। अथवा प्रतिबोधको नाम गृहचिंतक उच्यते। यो गृहं चिंतयन् यो यत्र योग्यस्तं तत्र व्यापारयति। तत्र व्याप्रियमाणे च प्रमादतः स्खलनं निवारयति स गृहचिंतक उच्यते। एवं यः स्थापितो यो यत्र योग्यस्तं तत्र नियुंक्ते। नियुक्तांश्च प्रमादतः स्खलतः शिक्षयति। स स्थापनीयो गणधरपदे नेतर इति। यश्चैतद्गुणविप्रहीणः प्रतिबोधादिगुणविकलो यश्च द्रव्यतो भावतेश्चत्यर्यः। छन्नः परिच्छदहीनः स गणं धारयेत्। न स गणधरपदे स्थापनीय इति भावः ॥

दोहिं वि अपलिच्छन्ने, एक्केकेणं व अपरिच्छन्नो य।
अहारणा होंति इमे, भिक्खुंमि गणंधरं तंडि ॥

द्रव्यतोऽपरिच्छन्नो भावतश्चापरिच्छन्न इत्यादिचतुर्भंगी प्रा

वोपदर्शिता। तत्र भिक्षौगणं धारयति द्वाभ्यामपि द्रव्यतो भावतश्च नेतव्यः। अपरिच्छन्ने परिच्छदरहिते प्रथमभंग उपात्तः। एकैकेनवा अपरिच्छन्ने द्वितीयभंगवर्तिनि द्रव्यतोऽपरिच्छन्ने तृतीयभंगवर्तिनि वक्ष्यमाणानि उदाहरणानि भवंतितान्येवाह॥

भिक्खू कुमारविरए, झामणपंती सियालरायाणो।
वित्तत्थजुद्ध असती, दमगभयगदामगाईया॥

भिक्षौ द्रव्यभावाभ्यामपरिच्छन्ने गणं धारयति कुमारदृष्टांतः। विरयो लघुश्रोतोरूपो ध्मापनवनदवे द्वितीयो दृष्टांतः। तृतीयः पंक्तिदृष्टांतः। चतुर्थः श्रृगालराजदृष्टांतः। पंचमो वित्रस्तेन सिंहेन सह युद्धस्याभावो दृष्टांतः। एते पंचदृष्टांता अप्रशस्ताः। प्रथमभंगवर्तिनि प्रशस्ताश्चतुर्थभंगे द्वितीये द्रमकदृष्टात-स्तृतीयभंगवर्तिनि भृतकस्य सतो दामकादिपरिग्रहो दृष्टांतः। अत्रादिशब्दात् मयूरांगचूलिकादिपरिग्रहः॥ तत्र कुमार-दृष्टांतभावनार्थमाह॥

बुद्धीबलपरहीणो, कुमारपच्चंतडमरकरणं तु।
अप्पेणेव बलेणं, गिण्हो वणमासणा रन्ना॥

एको राजकुमारः बुद्धिबलपरिहीनो हस्त्यादिबलपरिहीन-श्चेति भावः। एतेन द्रव्यभावपरिच्छदरहितत्वमस्याख्यातं। स प्रत्यंतदेशे स्थितो डमरं देशविप्लवं करोति। ततो दायादेन राज्ञा तं बुद्धिबलपरिहीनं ज्ञात्वा अल्पेनैव बलेन दंडप्रेषणेन ग्रहापणं तस्य राज्ञा कृतं। ग्रहणानन्तरं च शासना कृता। ग्राहयित्वा स विनाशित इति भावः॥

अत्रैवोपनयमाह।

सुत्तत्थअणुववेतो, अगीयपरिवारगमणपच्चन्तं।
परतित्थकउं हावण, सेवगसेहादवण्णोउ॥

एवं सूत्रेण अर्थेन वानुपपेतोऽसंपन्नोऽनेन भावतोऽपरिच्छन्न तामेवाह। अगीतपरिवारोऽगीतार्थपरिवृतोऽनेन द्रव्यतोऽपरि-च्छन्नत्वमुक्तं। स प्रत्यंतं देशं प्रति गमनं विधाय आचार्यत्वं करोति। स च तथा आचार्यत्वं विडंबयन् परतीर्थिकैः परिभीय निःपृष्टव्याकरणः क्रियते। तदनंतरं श्रावकाणा मपभ्राजना। यथा विडंबिता यूयं न भवदीयोधर्म्मः शोभनः। तथा च भवदाचार्यःपृष्टः सन्न किमप्युत्तरं ददाति। किंत्वस मंजसं प्रलपतीति। तथा शिष्या अपि तैर्विपरिणम्यंते। एवं च जायते महाननर्थः शासन-स्य। तदेवं यत इमे दोषास्तस्माद्व व्य परिच्छदरहितेन भिक्षुणा न गणे धारयितव्यः। गतं कुमारद्वारम्॥

वणदवसत्तसमागण, विरए सिंहस्स पुंछडेवणया।
तं दिस्सं जंबुएणो, विविरयवूढा मिगाईया॥

वियरयो नाम लघु श्रोतोरूपो जलाशयः। स च षोडश-हस्तविस्तारो नद्यां महागर्त्तायां वा तस्याऽकुंचः त्रिहस्तविस्तार-स्तस्य प्रवेशे मध्यो वेंटं॥

अन्नया अडवीए वणदवो जातो सो सव्वतो समंता दहंतो वच्चइ ताहे मिगादयो सत्ता तस्स वणदवस्स भीया परिधावं वेढं पविट्ठा। तत्थवि सो वणदव्वो महंतो आगच्छइ। तत्थ स सीहो पविट्ठो। आसितोयमिगादी माया चिंतिति। वेंटए स वणदवो पविसइत्ति दब्भियव्वंति। ततो सीहं पायवडिया विण्णवेंति। तुम्हे अम्हं मिगरायाओ नित्थारेहि। सीहेणं भण्णइ। पुंछे मम धणियं लग्गा। ततो सीहेण प्लुतं कयं। सोलसहत्थे विक्कंतो सह मिगाई हिंडीणं अन्नया पुणो वणदवो जातो। तहेव मिगादयो तत्थ पविट्ठा। ततो एक्को सियालो सीहेण उत्तारियपुव्वो चिंतेइ। अहं पि सीहो चेव उत्तारेहामित्ति मिगादयो भणंति। मम पुच्छे धणियं लग्गेहते लग्गा तेण सियालेण प्लुतं कयं। वियरए सह मिगाइएहिं पडिओ सव्वे विणट्ठा॥ तेअट्ठाणातीआवतीसु गीथत्थेणं वीयपए जयणानिसेवणा मिए गच्छं नित्थारियं पासित्ता अगीयत्थो चिंतेइ। सव्वेवि एवमायत्ति एवं मन्नंतो निक्कारणे वित्तियपदेण गच्छेण समं विहरइ सो तहा विहरंतो नगरगाइभववियरए अप्पाणं गच्छं च पाडेइ॥

एष भावार्थः। अधुनाऽक्षरार्थो विब्रियते। वनदवे जाते सत्वा-नां मृगादीनां वियरयपरिवृत्ते वेंटे समागतः। तेषां सिंहस्य पुच्छे लग्नानां सिंहेन सह व्यपरजसा लघुश्रोतोरूपस्य जलाशयस्य डेपनं लंघनं ततोदृष्ट्वा जंबुकेनाऽप्यन्यदा तत्कर्तुमारब्धं। तेन च तथाकर्तुमशक्नुवता मृगादयः तस्मिन् व्यपरजसि वुढाः क्षिप्ता एष दृष्टांतः॥

संप्रति दार्ष्टांतिकयोजनामाह॥

अट्ठाणादिसु एवं, दट्ठुं सव्वत्थ एव मन्नन्तो।
भवविरियं अगीतो, पाडइअन्नेवि पवडन्तो॥

अध्वादिष्वापत्स्वेव द्वितीयपदेन यतनानिषेवणतो गच्छं निस्तारयंतं दृष्ट्वा अगीतोऽगीतार्थःसर्वत्रैव मारयितव्यमिति मन्यमानोनिष्कारण-यतनया द्वितीयपदेन गच्छं परिपालयन् भाववियरयमिति द्वितीया प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे। नरकादिभवरूपे व्यपरजसि प्रपतन् अन्यानपि स्वगच्छवासिनः पातयति। गतं व्यपरजोद्वारम्॥

अधुना पंक्तिद्वारमाह॥

जम्बुककूवे चन्दे, सीहेणुत्तारणा य पंतिए।
जंबुक सपन्तिकडणं, एमेव अगीयाणं॥

एगया जेट्ठामासे सियाला तिसिया अड्ढरत्ते कूवतडे ठिया। कूवं पलोयंति। तत्थ ते जोण्हाए उदए चंदबिंबं पासंति। चिंतेतिय चंदो कूवे पडितो। तत्थ य सीहो आगतोचेट्ठइततो तेहिं सियालेहिं सीहो विण्णादितो तुमं मिगाहिवतीए सवि गहाहिवती कूवे पडितो एयस्स गुणेणं अम्हे दिवसभूयाए रत्तीए सुहं निरुवसग्गा विय रामो ततो जुज्झसि तुमं गहाहिवतिमुत्तारिउ। सीहो भणति। पंतिए समं पुच्छे लग्गित्ता वियरह अंतिल्लस्स चंदो लग्गिहिति ताहे सव्वे प्लुतेनोत्तारेहामिति ततोते पंतीए सीहपुच्छे लग्गा कूवमज्झे उत्तिण्णा सीहेण प्लुतं काउं सव्वे उत्तारिया। उवरि गगणे चंदं पासंति। कूव-

तलेय आलोलिए उदएचंदं अपासमाणा उतरियत्ति म भंति। अन्नया तहेव चंदं पासेत्ता सीहेण उत्तारियपुव्वो सियालो एवं चिन्तेइ। अहमवि सीहोइव उत्तारेमि॥ एवं चिंतित्ता सोसियालो भणइ। पंतीए मम पुच्छे लग्गित्ता उयरहते उत्तिन्ना। सीयालेणं उत्तारेहामित्ति प्लुतं कयं। ततो असमत्थोत्ति तह पुच्छे लग्गित्ता सह कूवे पडिता। तत्थेव मतो एवमट्ठाणादीसु आवईसु गीयत्थेणं वितियपदे जयणा निसेवणाए॥

इत्यादि। उपनयः पूर्ववेदष भावार्थोऽधुना अक्षरार्थः। एक दा जंबुकाः कूपतटे मिलितास्तैः कूपे कूपमध्ये चंद्रो दृष्टः। तस्मिन् दृष्टे तदुद्धरणाय सिंहपुच्छविलग्नानां पंक्त्या प्रविष्टानां शृगालानां सिंहेनोत्तारणा कृता। तत् दृष्ट्वा अन्यदा एकेन जंबुकेन सिंहोत्तारितपूर्वेण तथा कर्तुमारब्धं। ततस्तस्य जंबुकस्य संपक्तिकस्य कूपे पतनमेवमनेनैव दृष्टांतद्वयोक्तेन प्रकारेण गीतागीतयोर्भवकूपे गच्छेन सह पतनं तत उत्तारणं च गच्छस्य परिभावनीयमिति। गतं पंक्तिद्वारमिदानीं शृगालराजद्वारमाह॥

नीलारागे खसट्टुम, हत्थीसरभा सियालकच्छभओ॥
बहुपरिवारअगीते, विव्वूयणो हावणपरेहिं॥

एक्को सियालो रत्तिघरं पविट्ठो घरमाणुसेण वेंतितो निच्छुभिउमाढत्तो सो पुण गाईहि पारद्धो नीलीरागरंजणे पडितो किहवि ततो उत्तिन्नो नीलवन्नो जातो तं अन्ने सरमतरक्खु सियालादी पासिउं भणंति। को तुमं एरिसो सो भणइ अहं सव्वाहिं मृगजातीहिं खसट्टुमो नाम मिगराया क ओ। ततो अहं एत्थमागतो पासामि। ताव कोमन्नति ते जाणंति। अपुव्वो एतस्स एसदेवेहिं अणुग्गहितो ततो भणंति अम्हे तव किंकरा।

संदिसह किं करेमा खसट्टुमो भणइ हत्थिवाहणं देह दिण्णो विलग्गो वियरति। अन्नथा सियालेण उव्वुइयं। ताहे खसट्टुमेणं तं सियालसहावमसहमाणेण उव्वुइयं ततो हच्छिणा सियालोत्ति, नाउं सोंडां पवेतुं मारितो॥

एवं कोइ अगीयत्थो अगीयत्थपरिवारं लभेत्ता पच्चंतं देसं तं गंतुं आयरिउत्ति पकासेइ। सो कहिंवि विओसेहिंपे यालितो जानट्ठिकिंवि जाणइ एवं तेण अप्पा जहामितो॥

एष भावार्थोऽधुना अक्षरार्थः। नील्यासंबंधी रागो यस्य स नीलीरागः। शृगालःखसट्टुमोनाभमृगराजो जातः। तस्यह स्तिनः खरभाः शृगाला उपलक्षणमेतत्। तरक्षादयश्च परिवारः। सोऽन्यदा कस्यापि शृगालस्योन्नदमाकर्ण्य शृगालोन्नादितमकरोत्। ततःश्रृगालोऽयमिति ज्ञात्वा हस्तिना मारित इति शेषः। एवं गीताच्छंबहुपरिवारे अगीते अगीतार्थे विहरति बहुश्रुतोऽहमाचार्य इति बहुजनविश्रुतं विकुर्वाणः प्रष्टव्याकरणासमर्थतया परेभ्यः पक्षवर्तिभ्यश्चापभ्राजना भवति। अतवा अयमन्य उपनयः॥

से हादिकज्जेसुं वा, कुलादिसमितिसु जंपउ अयं तु।
गीएहीं विस्सुयंतो, निहोडणमपच्चओ सेहि।

वाशब्द उपभयांतरसूचकः। शैक्षकादिकार्येषु कुला दिसमवाये नियुक्तः कुलगणसंघसमवायेषु श्रावकाः सिद्धपुत्राश्च ब्रुवत अयमेव तुरेवकारार्थः। बहुश्रुतो जल्पतु व्यवहारनिर्णयं करोतु यथाकस्य भवतीति। ततस्तेनाव्यवहारमुक्तं तच्च गीतार्थैर्विश्रुत ततस्तै र्निहोडण मिति निहेडितं यथा अगीतार्थ एष नजानाति व्यवहारमिति। ततः शैक्षे प्राकृतत्वात् पष्ठ्यर्थे सप्तमी। एकवचने बहुवचनं। शैक्षकाणामुपलक्षणमेतत् श्रावकाणां सिद्धपुत्राणां तद्वचस्थप्रत्ययो जातः चिंतयति च एषइय त्कालमस्माभि-र्गीतार्थः संभावित इति। गतं श्रृगा लराजद्वारम्॥

संप्रति (वित्तत्यजुद्धप्रसतित्ति) द्वारं व्याचिख्यासुराह॥

एक्केक्कएगजाती, पतिदिण सममेव गिण्हाइ॥
सीहेण हु जुज्झइत्ति, पाडइ कूवंम्मि वुड्ढससगेण॥१॥

एमेव जंबुगो, वा कूवे पडिबिंबमप्पणो दिस्स।
उवणय तत्थ मरणं सामायारीगयिअगीयाणं॥२॥

एगो सीहो सो हरिणजातीणं लुद्धो दिवसे २ हरिणं मारेऊण खाइ। तओ हरिणेहिं विण्णविओ किमंगरायं तुमं हरिणजातीणं एक्कयाण परिनिव्वट्ठो ता पसायं करेहि। सव्वमिगजातीणं वारण्णं पइदिवसमेक्केक्कं मिगं खाहि। सीहेणं चिंतियं जुत्तमेस भणइ ततो सव्वे मिगा मेलित्ता सीहेण भणिया। तुब्भे कुलजुत्तत्ताए आत्मी यकु लौचित्येनेत्यर्थः। सव्वमिगजातीणं वारण्णं पइदिवसं सट्ठाणट्ठियस्स एगं पेसिज्जाह। तेहिं अब्भुवगयं।

ततो ते वि मिगा तहेव पेसंति। अन्नया ससगजातीए वारए। ससगा संपसारेंति मन्त्रयंतीत्यर्थः। कोवच्चउअज्ज सीहसगासे एगो वुड्ढुससगो भणइ। अहं वच्चामि। जो सव्वेसिं मिगाणं संति काउं एमित्ति सो बलिओ अंतराले मरुयकूवसरिसे कूवं दट्ठु उस्सूरे सीहसगासमागतो। ताहे सीहेण भणियं किं रे तुमं उस्सूरे आगतोसि। ससगो भणइ। अहं पाए आगच्छंतो संतो अन्नेण सीहेण रुद्धो। जहा कहिं वच्चसि। ततो मए सब्भावो कहिंतो। ताहे सोभणइ अन्नो न होइसो मिगराया ततो मए भणियं। जइ अहं तस्स मिगरायस्स सगासं न जामि तो सो रुट्ठो सव्वे ससगा उच्छादेहित्ति। तम्हा जामि तस्स सगासं कहेमि। ततो जो तुमं बलितोहोहित्ति तस्स अम्हे आणं कहामो। ताहे अहं तेण भणितो वच्चा कहोहि भण आगच्छ मम सगासं जदि ते सत्ती अत्थि ततो सीहे भणति दंसेहि ममं तं सीहं। ततो ससओ सीहेण समागम्म दूरं अगडं दूरत्थोववदंसेति। भणइ य एत्थ पविट्ठो चिट्ठइ। जइ तपत्तियसि तो तुमं अगज्जयज्जेण

सो वि उग्गज्जइ ॥ ततो तेण उग्गज्जियं उग्गज्ज पडिसद्दो उट्ठित्तो ततो मुहुत्तं अच्छइजाव न पुणो को वि उग्गज्जइ ताहे सीहो चिंतेइ मम भएण वित्तत्थोतो न गज्जइति। निप्फडइ वा तं एत्थेवऽएविसितामारे मिति पडितो कूवे। अपेक्ख-माणो चिंतेइ नूणं निलुक्को ताहे सीहो गज्जइ रोक्किरइय ततो चिंतेइ न जुज्झिउकामो मए समं एवं जुद्धासतीए सीहो प्लुतं काउं उत्तिण्णो । एवं गीयत्थस्स विजयविच्छलणा भवति।

तहावि सो जाणगतणेण अप्पाणं वि सोहेइ। तहाएगो जंबुगो सो भमंतोकहवि कूवतडे समागतो कूवे पाणियं पादाइयं दिट्ठं अत्तणो पडिबिंबं। तओ उन्नयइ ताहे उच्छलिओ पडिसद्दो। तं सोउ मेहक्कार इतिराया सिया ते पडितो तं मगाणं प्लुतं काउमसमत्थोत्ति तत्थे वमतो एवमगीयत्थो वलिओ वि न सक्केइ अप्पाणं पव्वुद्धरिउमिति तस्व गणो न दायव्वो ॥

एषभावार्थोऽधुनाक्षरार्थनिवरणं । सर्वा मृगजातवो मिलित्वा प्रतिदिवसमेकैकमे कस्या जातेः सिंहस्य स्थानस्थितस्य सम-प्पयंति। अन्यदा शशकस्य वारोजातः । सोऽपांतराले दवकूपे प्रतिबिंबं मरुकूपसदृशमतीवोण्डं कूपे दृष्ट्वेत्यर्थः । चिरात्तिस-हसकाश-मागतःततइशशके सिंहस्य पृच्छा कस्मा च्चिरादागतः । तस्याद्यसिंहकथनं तत (एज्जणति) सिंहस्य कूपसमीपागमनं तदनंतरं पूर्वप्रकारेण कूपे डेप आत्मनः प्रतिक्षेपः ततः। प्लुतेनोत्तरणं। एवमेवेत्यादि एवमेव यथाप्रवृत्यैवेत्यर्थः। जंबूकोऽपि कूपे प्रतिबिंबमात्मनोदृष्ट्वा डेपनकं प्रति क्षेपणकमात्मनः कृतवान् तच्च तस्य मरणमेवं समवतार उपनेयो यथाक्रमं गीतागीतार्थयोः कर्त्तव्यः। स च प्रागेव कृत इति। सांप्रतमेता-न्युदाहरणानि यं भंगमाश्रित्योपदर्शितानि तत्र योजयति॥

एए उदाहरणा, दव्वे भावे य अपलिच्छन्नडि।
दव्वेण अपलिच्छन्ने, होंति इमे तइय भंगंडि ॥

एतान्यनंतरोदितानि पंचाप्युदाहरणानि अप्रशस्तानि द्रव्ये भावे च सप्तमी प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे । द्रव्येण भावेन च अपरिच्छन्ने इति प्रथमभंगवर्तिनि वेदितव्यानि । प्रशस्तानि चतुर्भंगे द्रव्यतो भावतश्च परिच्छन्ने इति वाक्यशेषः ॥ द्रव्येण अपरिच्छन्नेऽनेन द्रव्यतोऽपरिच्छन्नो भावतः परिच्छन्न इति वा तृतीयभंगसूचितंसूत्रं। तथा भावे सप्तमी तृतीयार्थे। भावेनापरिच्छन्नो भावतोऽपरिच्छन्न इति तृतीयभंग इति न सूत्र इति न इमे वक्ष्यमाणे उदाहरणे। तत्र प्रथमतो द्वितीयभंग उपात्तः॥

दमगे वइया खीरघडि, घट्ठचिंताय कुक्कुडिप्पसवो।
धणपिंडणसमणेरि, ऊसीसगभिंदणघडीए॥

एगो दमगो गोउलं गतो तत्थ गोउलिएहिं दुद्धं उदृं पाइतो अन्नया से दुद्धस्स भरिया घडिया दिण्णा। सोतं घेत्तूण घरं गतो खट्टाएण ऊसिसमूले ठवेउं निवण्णो चिंतिउमाढत्तो। एयाए दुद्धघडियाए कल्ले कुक्कुडीतो किणिस्सामि ताहे पसवो होहिति तं पसवं विक्केहामि ततो तं मूल्लं वड्ढिए। पउंजेहामि। एवं सुबहुं धणं पंडित्ता कुलाणं समा-णेतरकुलप्पसूयं कण्णा। परिणित्ता आणेमि। ताहे सा कुलमदेण उसीसएणं सेज्जं वडिहिति ततोहंकिंउस्सीसएणा सज्जं वडिसिति पहाए आहणिस्सामिति पादोउच्छूढो तेण सा घडी भग्गा।

अक्षरयोजनां त्वियं। द्रमकोरंकः स व्रजिकायां गोकुले गतः। तेन दुग्धपानानंतरं क्षीरभृता घाटका लब्धा सा गृहंगतेनखट्वा या मुच्छीर्षकमूले स्थापिता। ततश्चिंताऽभूत् किंविषयेत्यत आह। कुक्कुट्यः क्रेतव्यास्तदनंतरं तासां प्रबंधेन प्रसवः। पुदनस्तस्य मूल्येन विक्रयस्ततो वृद्धियोगेन धनपिंडनं कृत्वा (समाणे तर) मिति। समानां समानकुल-प्रसूतामिवेत-रामसमानकुलप्रसूतां कन्यां परिणीय तां कुलमदेनोच्छीर्षकेन चटंतीं पादेनाहनिष्या मीति दुग्धघटिकाया भेदनमकार्षीत्॥

अत्रोपनयमाह॥

पव्वावइत्ताण बहूउ सिस्से, पच्छा करेस्सामि गणाहिवत्तं।
इत्थं विकप्पेहि विसूरमाणो, सज्झायमेवं न करेइ मंदो॥

बहून् शिष्यान्प्रव्राज्य पश्चात्करिष्यामि गणाधिपत्यं एव मिच्छाविकल्पैस्स मंदो नित्यकालं विस्तरयन् स्वाध्यायं न करोति सूत्रार्थपौरुषीर्न करोतीत्यर्थः । ताश्चाकुर्वाणः पूर्वं गृहीतान् सूत्रार्थान्नाशयति। यथा सद्रमको दुग्धघटिकां नाशितवान्॥

संप्रति तृतीयभंगे उदाहरणमाह॥

गावीगोरक्खंतो, घेत्थं च भत्तिए पड्डिया तत्तो।
ढिट्ठंतो गोवग्गे, होहिंति य वच्छिगा तत्थ॥१॥

तेसिं तु दामगाइं, करेमि मोरंगचूलितोय।
एवं तु तइयभंगे, वत्थादीपिंडणमगीतो॥२॥

एगो घोसो गावितो रक्खंतो चिंतेति। अहं गोरक्खणमो-ल्लेण पडियातो गहिस्सामि ततो मे पवड्ढमाणो गोवग्गो भविस्सत्ति तम्मिय पवड्ढमाणे गोवग्गे वच्छगा ओ बहुयाउ होहिंति ततो करेमि। तासां जोग्गाओ मोरंगचूलियाओ य एवं चिंतिता सो तहापकरेति एव मगीयथो वि भावेणापलिच्छन्नो तइयं भंगील्लो वहगे परिवारे चिंतेति-इति वत्थादीणी बहूणिं पिडेति॥

अक्षरयोजना त्वियं। गोरक्षणे गोपालोऽचिंतयत् भृत्या मूल्येन पड्डिका अभिनवप्रसूता गा ग्रहिष्यामि ततो मे प्रवर्द्धमानो गो वर्गोभविष्यति। तत्र तस्मिन्प्रवर्द्धमाने गोवर्गे वत्सिका भविष्यंति। ततोऽतस्तस्यां योग्यानि दामकानि करोमि। मयूरांग चूलिकाश्च मयूरांगचूलिका आभरणविशेषरूपा एवं। चिंत यित्वा स तथा प्राकृतवान्॥

तत्रोपनयमाह। एवं तु एवमेव तुरेवकारार्थस्तृतीयभंगवर्तमानस्य अगीते अगीतार्थस्य वस्त्रादिपिंडनमवगंतव्यं। अस्य यद्यपि परिवारो नास्ति तथा वस्त्रादिषु लब्धिरस्तीति द्रव्यतः परिच्छन्नत्वमंगीकृत्य तृतीयभंगे इत्युक्तं॥

अस्य दोषानाह॥

ताइं बहूइं पडिलेहयंतो, अट्ठाणमाईसुय संवहंतो ॥
एमेव वा सम्मतिरित्तगंसे, वातादिखोभेदुयएव हाणी ॥

तानि वस्त्राणि बहूनि प्रतिदिवसमुभयकालं प्रतिलेखयन् अप्रतिलेखने प्रायश्चित्तापत्तेरलब्धादिषु अध्वनि मार्गे आदि शब्दात् वसत्यंतर-संक्रमेणादौ च संवहन् श्राम्यति। श्रमाच्च ग्लानत्वे च संयमविराधना सूत्रहानिश्च एवमेव अनेनैवप्रकारेण वर्षास्वपि दोषा वाच्याः केवलं (से) तस्य उभयकालं तानि प्रतिलेख-यतोऽतिरिक्तकर्म अतिरेकेण वातादिक्षोभो भवति। तथा च सति सुदीर्घं श्रुते सूत्रस्य च शब्दार्थस्य च परिहानिः ॥

अत्र परस्याऽवकाशमाह ॥

चोदेति न पिंडेतिय, कम्हेगिण्हंति यजो सलद्धीओ ॥
तस्स न दिज्जइ किं गणो, भावे उण जो उ संच्छन्नो ॥

चोदयति पुरो यथा यः स लब्धिको भावेन च योऽसंच्छन्नो परिच्छिद्यरहितो न पूर्वमेव वस्त्रादीनि पिंडयति। किंत कार्ये समुत्पन्ने गृह्णाति तस्य किं कस्मात्कारणात् गणो न दीयते प्रागुक्तदोषसंभवात् अत्र सूरिराह ॥

चोयग ! अप्पब्भूयअसी, पूयापडिसेहनिज्झरतला।
एसंते से अणुजाणसि, पव्वइए तिन्नि इच्छासे ॥

हेचोदक ! स भावतोऽपरिच्छन्नोऽप्रभुरहितोऽतस्तस्मात्तस्मै गणो न दीयते। एतौ तृतीयभंगवर्तिन्याक्षेपपरिहारौ (असतित्ति) यस्य *तृतीयभंगवर्त्तिन आक्षेपपरिहारावभिधातव्यावितिवाक्यशेषः। तथा* (पूयत्ति) पूजार्थे गणो ध्रियते इति कस्यापि वचनं तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। किंतु निर्जरार्थं गणो धारणीय इति वाच्यं। निर्जरार्थं व्यवसिताः केचित्पूजामपीच्छंति। तत्र निर्जरार्थं गणं धारयतः पूजामपि प्रतीच्छतः आचार्यस्य न दोषस्तथा तडागं दृष्टांतत्वेन द्रष्टव्यं। तथा यो भावतः परिच्छन्नशिष्यो लब्धिमांश्च सततं परिवार (से) तस्याऽत्मीयस्य आचार्यस्य अनुजानाति कियंतमित्याह। जघन्यतस्त्रीन्प्रव्राजितान्। किमुक्तं भवति। जघन्यतस्त्रयः प्रव्राजिताः अवश्यं दातव्याः (इच्छासेत्ति) इच्छावो (से) तस्याऽचार्यस्य। इयमत्र भावना। आचार्य आत्मनो यथेच्छया त्रीन्वा बहुतरान्वा सर्वान्वा प्रव्रजितान् गृह्णातीति एष गाथासंक्षेपार्थः। व्यासार्थं तु भाष्यकृद्विवक्षुः प्रथमतः (चोयग अप्पभुत्ति पदं) व्याख्यानयति ॥

भण्णइ अविगीयस्स उ, उवगरणेदीहिं जइं विसंपत्ति।
तह वि न सो पज्जतो, वोढव्वे करीलकाओव्व ॥

चोदकेनाक्षेपे प्रागुक्ते कृते सति प्रतिवचनं भण्यते। अविगीतस्य विशिष्टगीतार्थरहितस्य हु निश्चितं यद्यपि उपकरणादीनामुपकरणशिष्यादीनां गाथायां वा तृतीया षष्ठ्यर्थे प्राकृतत्वात्। संपत्तिस्तथापि न सपर्याप्तः समर्थो वोढव्ये उपेक्षिते गणेभारं किमेवेत्यत आह (करीलकाओव्व) करीलो नाम वंशजातिविशेषो दुर्बलस्तन्मया कापोतीव कस्माद्गणभारवहनेन समर्थ इत्यत आह ॥

न य जाणइ वेणइयं, कारावेउं न यावि कुव्वंति ॥
तइयस्स परिभवेणं, सुत्तत्थेणं अप्पडिबद्धा ॥

वा यस्मादर्थे यस्मान्न जानाति विनय एव वैनयिकं विनया दिभ्य इति स्वार्थेइकण्प्रत्ययः। "अतिवर्त्तंते स्वार्थप्रत्ययकाः प्रकृति लिंग-वचनानि" विनयशब्देऽस्यपुंस्त्वेऽपि प्रत्यये समानीते नपुसकलिंगता तत् शिष्यान् कारयितुमगीतार्थत्वात्। नच तस्य पार्श्वे सूत्रमर्थो वा भावतोऽसंछन्नत्वात्। ततः सूत्रार्थाभ्यां गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे प्राकृतत्वात् अप्रतिबद्धाः संतः शिष्याः परिभवमेव केवलं मन्यंते। जन्मनो निष्फलीभवनात्। तेन च परिभवेत्। तस्य तृतीयभंगवर्तिनो वैनयिकं कारयितुं जानतोऽपि न चापि नचैव ते शिष्या विनयं कुर्वंति। तस्मान्न तृतीयभंगवर्ती गणधारणयोग्यः ॥

सांप्रत (मासत्तित्ति) पदं व्याख्यानयन्
द्वितीयभंगगतावाक्षेपपरिहारावाह ॥

वियभंगे पडिसेहो; जं पुच्छसि तत्थ कारणं सुणसु ॥
जइसेहोज्ज धरेज्जा, तदभावे किं न कारेउ ॥१॥
तांपि यहु दव्व संगहं, परिहीणं परिहरंति सेहादी ॥
संगहरीए य संगलं, गणधारित्तं कहं होइ ॥२॥

यत्पृच्छसि त्वं यथा द्वितीयभंगे द्वितीयभंगवर्त्तिना गणधारणे कस्मात्प्रतिषेधः कृतस्तत्रकारणमिदं शृणु तदेवाह यदि (से) तस्यगणो भवेत्ततो धारयेत् तदभावे गणभावे किनु धारयेत्नैव किंचिदिति भावस्ततो गणाभावादेतस्य गणधारणप्रतिषेधः। अपि च तंबहु इत्यादि तमपि च भावयेत्। संच्छन्नमपि च बहु निश्चितमलब्धिकतया द्रव्यसंग्रहपरिहीनं वस्त्रापात्राद्युपकरण-संग्रहरहितं शैक्षादयः शैक्षक आदिशब्दात् मुनि वृषभादिपरिग्रहः। परिहरंति वस्त्राद्यभावात् तेषां सीदनात् ततः संग्रहमृते विना सकलं परिपूर्णगणधारित्वं कथं भवति *नवै भवतीति भावः तदभावाच्च तस्य तत्प्रतिषेधः। इदमलब्धिकमधि-*कृत्योक्तं। यदि पुनर्द्वितीयभंगवर्त्यपि वक्ष्यमाणगुणैरुपेतो भवति ततोऽनुज्ञा-प्यतेऽपि गणधारीदोषाभावात्तथाचाह।

आहारवत्थादि इत्यादि गाथा ३१९ पृष्ठे ३० पंक्तौ द्रष्टव्या ॥

संप्रति (पूयापडिसेहे इति) पदे व्याख्यानयन्नाह

पूयत्थं नाम गणो, धरिज्जति एव ववसितो सुणत्ता ॥
आहारोवहिपूया, करणेन गणो धरेयव्वो ॥१॥

पूजां प्राप्नुयामित्येवमर्थे नाम गणो ध्रियते इत्येवं कश्चित् व्यवसितो ऽभ्युपगतवान्। एतावता (पूया) इत्यंशो व्याख्यातः। अत्राचार्यः प्राहः। शृणुत यदर्थं गणोध्रियते। तत्र परोक्तप्रतिषेध-माह। आहारोपधिपूजा-करणेन उत्कृष्ट आहारः शोभन उप-धिर्महती पूजा स्यादिति कारणतोऽत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् न गणोधारयितव्यः। एतावता प्रतिषेध इति विवृतं ॥

किमर्थं तर्हि गणो धारयितव्य इत्यत आह ॥

कम्माणनिज्जारट्ठा, एवंखु गणोभवे धरेयव्वो ॥
निज्जरणहेतुववसिया, पूयंपिव केइ इच्छंति ॥१॥

एवमनेन कारणेन खु निश्चितं भवति गणोधारयितव्यो यदुत कर्म्मणां ज्ञानावरणीयादीनां निर्जरार्थं मोक्षायैव तत्ववेदिनां प्रवृत्तोराहारादीनां चैहिकत्वात्केवलं केचित्स्थविरकल्पिका निर्जराहेतोर्गणधारणं व्यवसिताः। पूजामपि वक्ष्यमाण-लक्षणामिच्छंति। किमुक्तंभवति यद्यपि नाम तत्वतः कर्म्म-निर्जरणनिमित्तं गणो ध्रियते तच्छापि पूजामप्येष प्राप्नुयादिति पूजानिमित्तमपि तस्य गणधारणमनुज्ञाप्यते ॥

पूजामेवाह।

गणधारिस्साहारो, उवकरणं, संथवो य उक्कोसो ॥

सक्कारो सीसपडिच्छा, एहिं गिहिअन्नतित्थेहिं ॥१॥

गणधारिणस्सतः उत्कृष्ट आहार उत्कृष्टस्संस्तवस्सतां गुणानां प्रख्यानं तथा शिष्यैः प्रतीच्छकैर्गृहिभिरन्य-तीर्थिकै श्चोत्कृष्टः सत्कार उपाध्यायादिभिः पूजनं क्रियते ततः पूजानिमित्तमपि तस्य गणधारणमनुज्ञापनं संस्तवनं व्याख्यानयति ॥

सुत्तेण अत्थेण य उत्तमोउ, आगाढपण्णेसु य भावियप्पा ।
जचन्निओ यावि विसुद्धभावो, संते गुणेवं पविकत्थयंते ॥

सूत्रेण अर्थेन च एष उत्तमः प्रधानः परिपूर्णस्य सूत्रस्यार्थस्य वावदातस्यास्य संभवात्। तथा आगाढप्रज्ञानि शास्त्राणि तेषु भावितात्मा तात्पर्यग्राहितया तत्राऽतीव निषण्णमतिरिति भावः । तथा जात्या सकलजनप्रशस्ययाऽन्वितो युक्तो जात्यन्वितः । तथा विशुद्धः स्वपरसंसारनिस्तारणैकतानतयाऽवदातो भावोऽ-भिप्रायो यस्य य विशुद्धभावः । एवं स्तुतो गुणान् गणधारिणः शिष्या अपरे च प्रकर्षतो हर्षाऽतिरेकलक्षणतो विकत्थयंते श्ला-घंते । एवं पूज्यमाने आचार्ये पूजकानां यो गणस्तमुपदर्शयति ॥

आगम्म एवं बहुमाणितो हु, आणा विरत्तंच अभाविएसु ।
सुणिज्जरावेणइया य निच्चं, माणस्स भंगोवि य हुज्जयंते ॥

पूज्यमाने आचार्ये पूजकैरागमो बहुमानितो बहुमानविषयीकृतो भवति । आगमस्य तत्रस्थत्वात् । तथा भगवतामर्हतामाज्ञा परिपालिता भवति । भगवतां हि तीर्थकृतामियमाज्ञा यदुत गुरोः सदा पूजा कर्तव्या । तथा चोक्तं। ''जहाहि अग्गी जलनं नमंसे, नानाहुतीमंतपयाभिसित्तं ॥ एवायरी यं उववेइएज्जा, उणंतनाणो विगतोविसंतो,, तथा गुरुविनयकरणेन यैर्नाऽद्यापि भाविता-स्तेष्वभावितेषु क्रियमाणपूजा दर्शनतः स्थिरत्वमुपजायते। यथा वैनयिकैर्विनयनिमित्ता विनिर्जरा कर्म्मनिर्जरणं नित्यं सदा सततं भवति । गुरुविनय स्य सदा कर्तव्यत्वात् । तथा मानस्या-ऽहंकारस्य भंगोऽपि च कृतो भवति । एते पूजकानां गुणाः ॥

संप्रति निर्जरार्थमेव गणधारिणं व्यवसितस्य पूजामपीच्छतः आचार्यस्य दोषाभावे यस्तडाग दृष्टांतस्तं भावयति ॥

लोइयधम्मनिमित्तं, तडागखाणावियंमि पउमादी ।
न विगरिहियाणुभोत्तुं, एमेव इमं पि पासामो ॥

केनापि लौकिकीं श्रुतिमाकार्ण्य धर्म्मनिमित्तं तडागं खानितं । तस्मिंश्च तडागे पद्मादीनि जातानि । वर्षारात्रे चापगते यत्र यत्र पानीयं शुष्यति । तत्र तत्र धान्यं वापयति । तत्र यथा पद्मादीनि अनुभवितुं भोक्तुं गृह्यमाणान्यपि न तस्य विगर्हितानि भवंति । लोके न तथा सम्मतत्वादेवमेव अनेनैव प्रकारेण इदमपि गणधारणं पश्यामः । निर्जरार्थमाचार्याणां गणधारणमुक्तप्रकारेण पूजानिमित्तमप्यदोषायेति भावः ॥

संप्रति (सं तंसे) इत्यादि पश्चार्द्धं व्याख्यानयति ॥

संतमिउ केवइओ, सिस्सगणो दिज्जतीति ता तस्स ।
पव्वाविते समाणे, तिन्नि जहन्नेण दिज्जंति ॥

भावपरिच्छन्नस्य शिष्यस्य सति विद्यमाने परिवारे तेन तस्याऽचार्यस्य ततो गणधारणानुज्ञापनानंतरं कियान् शिष्यगणो दीयतां । अत्रोत्तरं प्रव्राजिते शिष्यगणे सति तत्र त्रयो जघन्येन दीयंते । उत्कर्षतो बहुतरकाः सर्वे वा इति वाक्यशेषः । अथ किं कारणं जघन्यतस्त्रयोऽवश्यं दातव्या इत्याह ॥

एगो चिट्ठइ पासे, सन्ना आलित्तमादिकज्जत्था ।
भिक्खादिवियारदुवे, पव्वयहेउं व दो हेउं ॥

एकः पार्श्वे समीपे संज्ञापुरीषोत्सर्गे आलप्तमालपनं कस्याऽ-प्याचार्यः कारयेदित्यादि कार्यार्थं तिष्ठति ॥ द्वौ च भिक्षायामा-दिशब्दात् औषधानयनादौ विचारे बहिर्भूमौ गच्छतः यदि वा सूत्रार्थसंवादप्रत्यये हेतू द्वौ भवेतां संप्रति प्रागुक्तायामवे चतुर्भंग्यां विशेषं वक्तुकाम आह ॥

दव्वे भावे पलिच्छ दे, दव्वे तिविहो उ होइ चित्तादी।
लोइयलोउत्तरिओ, दुविहो वा वारजुत्तियरो ॥

परिच्छदो द्विविधो द्विप्रकारो द्रव्ये भावे च । तत्र द्रव्ये द्रव्य परिच्छदस्त्रिविधोभवति । (चित्तादी) सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च एष त्रिविधोऽपि द्रव्यपरिच्छदो भूयो द्विधा लौकिको लोकोत्तरि-कश्च । तत्र लौकिकः सचित्तः त्रिविधो द्विपदचतुष्पदापदभेदात् । अचित्तो हिरण्यादिर्मिश्रः सचित्ताचित्तसमवायेन लोकोत्तरिकः सचित्तो द्रव्यपरिच्छदः शिष्यादिराचित्त उपधिमिश्रः सचित्ता-चित्तसमवायतः । तत्र लौकिके लोकोत्तरिके च द्रव्यपरिच्छदे द्विधा । यथा व्यापारयुक्त इतरो व्यापारायुक्तश्च त द्द निदर्शन-माह ॥

दो भाउया विभत्ता, एक्को पुण तत्थ उज्जुतो कम्मे ।
उवि उभतिप्पदाणं, अकालहीणं च परिवड्ढी ॥

द्वौ भ्रातरौ तौ परस्परं विभक्तौ धनं विविच्य पृथक्पृथक् जातावित्यर्थः । तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये पुनरेकः कृषिं कुर्वन् कर्म्मणि उद्युक्तः । किमुक्तं भवति । स्वयं कर्म्म करोति भृतकांश्च कारय-ति । भृतकानां वा कालपरिहीनां उचितां परिपूर्णं भृर्तिं मूल्यं ददाति । अकालपरिहीनं च परिपूर्णं भक्तं । एवं च तस्य व्याप्रिय-माणस्य कृषेः परिवृद्धिरजायत साधुवादश्च ॥

कयमकयं व न जाणइ, न य उज्जम ए सयं न वावारो ।
भत्ति भक्तकालहीने, दुग्गहियकिसीए परिहाणी ॥

द्वितीयो व्यापारायुक्तो भृतकैः किं कर्म्म कृतं किं वा न कृत मिति नैव जानाति स्वयमपरिभावनादन्यतश्चाऽप्रच्छनान्न च स्वयं कर्म्मकारणा-योद्यच्छति । न वा मध्ये स्थित्वा भृतकान् व्यापारयति । भृतिभक्ते च भृतकानां कालहीने ददाति । किमुक्तं भवति । भृतिमपरिपूर्णं ददाति । कालहीनां च एवं भक्तमपि । तत एवं दुर्गृहीतायाः कृषेस्तस्य परिहानिरभूदसाधुवादश्च ॥

संप्रति लोकोत्तरिकं द्रव्यपरिच्छदे व्यापारयुक्तमाह ॥

जो जाए लद्धीए, उववेओ तत्थ तं निजोएंति ।
उवकरणे सुत्तत्थे, वादे कहणे गिलाणे य ॥

यो यथा लब्ध्या उपपेतो युक्तो वर्तते । तत्र तं नियोजयंति सूरयस्तद्यथा उपकरणे इति उपकरणोत्पादने (सुत्ते) इति-सूत्रपाठलब्ध्युपेतं सूत्रपाठे अर्थग्रहणे लब्धिसमन्वितं परवा-दिमयने धर्म्मकथनलब्धिपरिकलितं धर्म्मकथने ग्लानमिति चरणपटीयांसं ग्लानं प्रति जागरणे ॥

जह जह वावायरते, जहा य वावारिया न हायंति ।
तह तह गणपरिवड्ढी, निज्जर वड्ढी वि एमेव ॥

यथा यथा तत्तल्लब्ध्युपेतान् तत्कर्म्मणि व्यापारयंति यथा यथा च व्यापारा न हीयंते । देशकालस्वभावौचित्येन व्यापारणात् तथा तथा गणस्य गच्छस्य परिवृद्धिर्भवति । निर्जरावृद्धि

रप्येवमेव निर्झराऽपि तथा परिवर्द्धत इतिभावः । तद्व्यतिरिक्तो व्यापारयुक्तस्तस्य गच्छपरिहानिर्भवति निर्झरिति ॥

संप्रति भावपरिच्छेदमाह ॥

दंसणनाणचरित्ते, तवेय विणए य होइ भावम्मि ॥
संजोगे चउभागा, विइए नायं वइरभूतं ।

दर्शनं क्षायोपशमिकादिभेदभिन्नं सम्यक्त्वं ज्ञानं मतिज्ञानादि चारित्रं सामायिकादि, तपोऽनशनादि, एष भावतः परिच्छदः अनयोश्च द्रव्यभावपरिच्छन्नो भावतः परिच्छन्नः इत्येवं रूप द्वितीये भंगे ज्ञातमुदाहरणं वज्रभूतिस्तेदवाह ॥

भरुयच्छे नहवाहण, देवी पउमावती वइरभूती ।
ओरोहकथगाणय, कोउयनिव पुच्छदे विगमो ॥१॥

कत्थत्ति निवाएसो, सयमासण एसचेव चेडिकहा ॥
परिदारण मदाणं वि, रूवपडिवाररहिएय ॥२॥

भरुयच्छे नयरे नहवाहणो नाम राया तस्स पउमावती देवी । तत्थ नयरे वइरभूती आयरिओ महाकई अपरिवारो रूवेण य मंदरूवो अतीव किसो तस्स कव्वं अंतेउरे गिज्जंति सा य पउमावती देवी तेण कव्वेण हयहियया कया चिंतेइ । जस्सेयं कव्वं कहमहंतं पेछिज्जा । तओ रायं अणुण्णवित्ता दासी संपरिवुडा महरिय-पण्णागारं औचित्येन ढोकनीयं घेत्तुं वइरभूतिस्स वसिहिं गता । तं वारट्ठियं पासिता वइरभूइमेव भिसियं घेत्तुं निग्गतो । वउमावतीए कहियं कहं वइरभूती दासीए सन्नियं एस चेव वइरभूती ताहे विरागं गया चिंतेइ य दिट्ठासिकसेरुमती पीयंते । पाणियं यं वरं तुह नाम न दंसणयं अत्र कसेरुमती नाम नदी । तस्याः प्रसिद्धि-रतीव । नच तत् प्रसिद्ध्यनरूपं तस्याः पानीयमिति क्षेपः । ताहेतं पण्णागारदिण्णं ठवियं । एतं आयरियस्स दिज्जसित्ति गया ॥

संप्रत्यक्षरघटना । भरुकच्छे नभोवाहनो नाम राजा तस्य पद्मावती देवी । तत्र वज्रभूतिराचार्योऽवरोधे अंतःपुरे तत्काव्यगानं कौतुकेन नृपं दृष्ट्वा देव्यास्तद्वसतौ गमः तदनंतरं पृच्छा कुत्र वज्रभूतिराचार्यस्तस्य प्रत्युत्तरं बहिर्निर्गतः । सचाचार्यः सपरि-वाराभावात् स्वयमासनं गृहीत्वा मध्याद्बाहिरागतः चेट्या दास्याः कथानकमेष एवं वज्रभूतिस्ततो विपरिणामा विपरिणामाच्च साक्षाददानां विरूपे परिवाररहिते च तस्मिन्नाचार्ये एतेनैतदावेदितं यः परिवारवानपि रूपेणाऽविरूपः सोऽपि द्रव्य-परिच्छदेनापरिच्छन्नः ततो यद्यपि तस्य परिवारोऽस्ति । तथापि योऽधस्तात् द्रव्यपरिच्छदो वर्णितस्तस्य मूलमाकृतिस्तदभावे तस्याभावः । तथाचाह ॥

मूलं खलु दव्वपलि, च्छयस्स सुंदेरमोरसबलं च ।
आकितिमतो हि नियमा, सेसावि इवंति लद्धीतो ॥

समस्तस्याऽपि प्रागुक्तस्य द्रव्यपरिच्छदस्य मूलं खलु सौंदर्य मौरसं च बलं हृदयबलिष्ठता सर्वव्यापारेषु दाक्ष्यमिति भावः । कुत इति चेदत आह । यस्मादाकृतिमतः सतो नियमाच्छेषा अपि लब्धयो वस्त्रादिविषया भवंति । न त्वाकृतिविरहितस्य तथा प्रत्यक्षत एव दर्शनात् तत आकृतिरहितोऽपि द्रव्यपरिच्छदरहित इति न तस्यापि गणधारणानुज्ञा ॥ संप्रति वक्ष्यमाणग्रंथ-संबंधनार्थमाह ॥

जो सो उ पुव्वभणितो, अपभूतो उ अविसेसिओ तहियं ।
सोचेव विसोसिज्जइ, इहइ सुत्ते य अत्थे य ॥

योऽसौ (चोयग अप्पभु) इत्यादिना ग्रंथेन अप्रभुः पूर्वः भणित स्स तत्रापि विशेषत एवोक्तः इह अस्मिन्प्रस्तावेऽप्रभुःसूत्रेऽर्थे च विशिष्यते । सूत्रतोऽर्थतश्च तस्याऽप्रभुत्वं चिंत्यते इति भावः । तदेवाह ॥

अबहुस्सुए अगीयत्थे, दिट्ठंता सप्पसीसवेज्जसुए ।
अत्थविहूणो धरंते, मासा चतारि भारीय ॥

अत्र बहुश्रुतागीतार्थपदाभ्यां भंगचतुष्टयं । तदद्यया । अबहुश्रुतोऽगीतार्थ इति प्रथमो भंगः १ अबहुश्रुतो गीतार्थः २ वा बहुश्रुतोऽगीतार्थः ३ बहुश्रुतोगीतार्थः ४ तत्र तस्य निशीथादिकं सूत्रतोऽर्थतो न गतं सप्रथमोभंगः यस्य पुनर्निशीथादिगतौ सूत्रार्थौ विस्मृतौ स द्वितीयभंगः । पुनरेकादशांगधारी अश्रुतार्थः स तृतीयभंगः । सकलकालोचित-सूत्रार्थोपेतश्चतुर्थः । अत्र बहुश्रुते अगीतार्थे वा एतेनाद्य भंगत्रयमुपात्तं । तस्मिन् गणं धारयति दृष्टांतौ सर्प्पशीर्षक वैद्यसुतश्च । इयमत्र भावना । आद्यानां त्रयाणां भंगानामन्यतरो यदि गणं धारयति । ततः स सहगणेन विनश्यति यथा सर्प्पशीर्षकं वैद्यसुतो वा एतद्दृष्टांतद्वयं यथा कल्पाध्ययने तथा भावनीयं (अत्थविहूणेत्यादि) अर्थ विहीने अगीतार्थे इत्यर्थः । अर्थग्रहणमुपलक्षणं सूत्रे इत्यपि दृष्टव्यं । तस्मिन् अर्थविहीने वा गणं धारयति । उपलक्षणमे तत् । निसृजति वा प्रायश्चित्तं चत्वारो (भारिया इति) गुरुका मासाः ॥

अबहुस्सुते अगीयत्थे, निसिरए वा धारए गमणं ॥
तद्देवसियं तस्स उ, मासा चत्तारि भारिया ॥

अबहुश्रुतोऽगीतार्थो वा यदि गणं निसृजति धारयति वा स्वयं । किमुक्तं भ वति । आद्यानां त्रयाणां भंगानामन्यतरो यदि गणं गीतार्थस्य वा निसृजति स्वयं वाऽद्यानां त्रयाणां भंगाना मेकतरः सन् यदि गणं धारयति एक द्वौ वा दिवसावुत्कर्षतः सप्तरात्रिंदिवानि ततस्तद्दिवसिकैस्तेषां सप्तानां दिवसानां निमित्तत्वतस्तस्य गणं निसृष्टुर्धारयंति स प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा गुरुकाः ॥

सत्तरत्तं तवो होही, ततो छेदो पधावती ।
छेदेण छिन्नपरियाए, ततो मूलं ततो दुगं ॥

अन्यदन्यतः सप्तरात्रं यावद्गणस्य निसर्जने धारणे वा प्रायश्चित्तं तपो भवति । तपः प्रायश्चित्तसमाप्त्यनंतरक्रमेण छेदः प्रधावति छेदेन चेच्छिन्नपर्यायो भवति ततो च्छिन्नपर्याये तस्मिन् मूलं दीयते । ततोऽप्यतिक्रमे अंतिमं द्विकमनवस्थाप्य पारांचित-लक्षणं । इयमत्र भावना । प्रथमसप्तदिवसानंतरमन्यानि चेत्सप्त-दिनानि गणं निसृजति *धारयति वा स्वयं ततः प्रायश्चित्तं षट्लघु । ततोऽप्यन्यानि सप्तदिनानि* ततः षट् गुरु । तदनंतरमप्यन्यानि चेत् सप्तादिनानि ततश्चतुर्गुरुका श्छेदः ततोऽप्यन्यसप्त दिनानि ततश्चतुर्गुरुकाश्छेदः । ततोऽप्यन्यसप्तदिव-सातिक्रमे षट्लघु-कश्छेदः । तदनंतरमप्यन्यसप्तदिवसातिवाहने षट्गुरुकच्छेदः । एतावता कालेन यदि पर्यायो न च्छिनत्ति तत्तस्ति

चत्वारिंशत्तमे दिवसे गणं धारयतो निस्रष्टुर्वा प्रायश्चित्तं मूलं चतुश्चत्वारिंशत्तमे दिवसे अनवस्थाप्यं पंचचत्वारिंशत्तमे पारां चितं तदेवं यत इत्थं प्रायश्चित्तं ततो न वर्तते। आद्यानां त्रयाणां भंगानामेकतरः स्यापयितुं कः पुनर्गणधरः स्थापयितव्य इति चेदुच्यते शुद्धः॥

अथ कोऽसौ शुद्ध इतिशुद्धलक्षणमाह॥

जोसो चउत्थभंगो, दव्वे भावेय होइ संच्छन्नो।
गणधारणंमि अरिहो, सो सुद्धो होइ नायव्वो॥

योऽसौ चतुर्थभंगश्चतुर्भगवर्ती कोऽसावित्याह। द्रव्ये भावे च यो भवति। संच्छन्नद्रव्यः परिच्छदविशेषैश्च परिकलित इति भावः॥

(३०) स्थापनायां स्थविराः प्रष्टव्याः॥

स्थविराननापृच्छ्य गणं न धारयेदाचार्य्यः व्य० सू० ३ उ०॥

भिक्खू इच्छेज्जा इत्यादिगाथा ३२७ पृष्ठे १४ पंक्तौ व्याख्याता॥

भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारित्तए। णो कप्पइ से थेरे अणापुच्छित्ता गणं धारित्तए। कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता गणं धारित्तए। थविरा य सेवयरेज्जा एवं से कप्पइ गणं धारित्तए थेरा य से एगेवियवेज्जा एवं से णो कप्पइ गणं धारित्तए जणं थेरेहिं अविदिन्नं गणं धारेंति से संतराए छेए वा परिहारे वा॥१॥

व्याख्या। भिक्षुरिच्छेत् गणं धारयितुं तत्र (से) तस्य न कल्पते। स्थविरान् गच्छगतान् पुरुषान् अनापृच्छ्य गणं धारयितुं कल्पते (से) तस्य स्थविरान् आपृच्छ्य गणं धार यितुं स्थविराश्च (से) तस्य वितरेयुरनुजानीयुर्गणधारणं पूर्वोक्तैः कारणैरर्हत्वात्। तत एवं सति (से) तस्य कल्पतेगणं धारयितुं स्थविराश्च (से) तस्य न वितरेयुर्गणधारणा-नर्हत्वादेवं सति न कल्पते। गणं धारयितुं। यः पुनः स्थविरै रवितीर्णमनुज्ञातगणं धारयेत् ततः (से) तस्य कृतादनंतरादपन्या-यात्प्रायश्चित्तं च्छेदो वा परिहारो वा चशब्दादन्यद्वा तपः। एष सूत्राक्षरार्थः। भावार्थं भाष्यकृदाह॥

काउं देसदरिसाणं, आगतउवट्ठियम्मि उवरया थेरा।
असिवादिकारणेहिं, वनठावितो साहगस्स असती॥
सा कालगतेम्मि उगतो, विदेसं व तत्थ च अपुच्छा॥
थेरे धारे य गणं, भावनिसिद्धं अणुग्घाया॥

देशदर्शननिमित्तं गतेन ये प्रव्राजितास्तान् यद्यात्मनोयावत्कथि कात् शिष्यतया बध्नाति ततस्तस्य प्रायश्चितं चतुर्गुरुकं। तथा देशदर्शनं कृत्वा तस्मिन्नागते अप्रस्थापिते च तस्मिन्नाचार्य्यपदे स्वच्छविरा यस्याचार्या उपरताः कालगता यदि वा स प्रत्याग तोऽप्याशिवादिभिःकारणैर्यद्वा-साधकस्य (असतित्ति) अभावेना चार्यपदे स्थापितोऽन्तरेवाऽचार्यः॥ ततस्तस्मिन्कालगते यदि वा गतो विदेशं तत्रैव विदेशे गणं धारयितुमिच्छेत्। एतेषु स वैष्वपि कारणेषु समुत्पन्नेषु यदि स्थविरान् गच्छमहांतोऽपृष्ट्वा यद्यपि तस्याचार्येण भावतो गणो निसृष्टोऽनुज्ञाततस्तथापि स्थविरा आप्रच्छनीयास्तत आह। भावनि सृष्टमपि गणं धारयति तर्हि तस्य स्थविरानापृच्छाप्रत्ययं प्रायश्चित्तं अनुद्घाता गुरुकाश्चत्वारो मासाः उपलक्षणमेतत्। आज्ञाऽनवस्था मिथ्या त्वाविराधनारूपाश्च तस्य दोषाः॥

सयमेव दिसाबंधं, अणणुण्णाते करे अणापुच्छा।
थेरेहिं य पडिसिद्धो, सुद्धा लग्गा उवेहंता॥

यो नाम स्वयमेव आत्मच्छंदसा को मम निजमाचार्यं मुक्त्वाऽन्य आपृच्छनीयः समस्तीत्यध्यवसायतः पूर्वाचार्येणाऽननुज्ञात आचार्यपदे तस्याऽस्थापनात्स्थविरान् गच्छमहत्तररूपान् अनापृच्छ्य दिग्बंधं करोति। स्थविरैः प्रतिषेधनीयाः। यथा निवर्तते आर्य! तव तीर्थकराणामाज्ञां लोपयितुं एवं प्रतिवेदितोऽपि यदि न प्रतिनिवर्तते तर्हि स्थविराः शुद्धाः सन्तः चतुर्गुरुके प्रायश्चित्ते लग्नाः। अथ स्थविरा उपेक्षंते तर्हि ते उपेक्षा प्रत्ययं चतुर्गुरुके लग्ना यत एवमुपेक्षायामनापृच्छायां च तीर्थकराभिहितं प्रायश्चित्तमाज्ञादयश्च दोषास्तस्मात्स्थ-विरैरुपेक्षा न कर्तव्या। तेन च स्थविरा आपृच्छनीयाः॥

सगणे थेराणसती, तिगथेरे वा तिगं तु बद्धाति।
सेवासति इत्तरियं, धारेइ न मेलितो जाव॥

अथ स्वगच्छे स्थविरा न संति तर्हि गणे स्वकीये गच्छे स्थविराणामसति अभावे ये त्रिककुलगणसंघरूपे स्थविरास्तान् त्रिकस्थविरान् त्रिकं वा समस्तं कुलं वा गणं वा संघो वा इत्यर्थः। उपतिष्ठेत यथा यूयमनुजानीत मह्यं दिशमिति। अथ अशिवादिभिः कारणैर्न पश्ये कुलस्थविरादीनाम-सत्यभावे इत्वरिकां दिशं गणस्य धारयति यावत्कुलादिभिः सह गणो न मिलितो भवति॥

जे उ अहाकप्पेणं, अणुण्णायंमि तत्थ साहम्मि।
विरहन्ति अमट्ठाए, न तेसि छेओ न परिहारो॥

ये तु साधर्मिकाः स्वगच्छवर्तिनः परगच्छवर्तिनो वा यथा कल्पेन श्रुतोपदेशेन तेषां सूत्राद्यर्थं तत्रोपस्थानात् विषये तदर्थाय सूत्राणामर्थाय आसेवना शिक्षायैवेत्यर्थः। अनुज्ञाते गणधारणा तत्र गच्छे विहरंति। ऋतुबद्धे काले मासकल्पेन वर्षासु वर्षाकल्पेन तेषां तत्प्रत्ययोपदेशोऽ-नुज्ञातो गणं धारय तीति तन्निमित्तमित्यर्थः। प्रायच्छित्तं च्छेदो न परिहार उप लक्षणमेतन्नान्यद्वा तपः श्रुतोपदेशेन तेषां सूत्राद्यर्थं तप उपस्था नात् विषयलोलता हि तस्यासमीपमुपतिष्ठमानानां दोषोन सूत्राद्यर्थमिति। व्य० ३ उ०॥

शिल्पिनि, औप० शिल्पोपाध्याये, (छेयायरियरइयदढफलि-हइंदकीला) छेकेन निपुणेनाऽचार्येण शिल्पोपाध्यायेन रचितो दृढो बलवान् परिघोऽर्गला इन्द्रकीलश्च सम्पाटित-कपाटद्वयाधारभूतः प्रवेशमध्यभागो यस्यां सा तथेति॥ राज०॥

आ(य)रिय–पुं० (आर्य) आरात् हेयधर्मेभ्यो याताः प्राप्ता उपादेयधर्म्मैरित्यार्य्याः। पृषोदरादय इति रूपनिष्पत्तिः॥ प्रज्ञा प० १। प्रव० २७५ द्वा०॥

स्यादभव्यचैत्यचौर्य्यसमेषु यात्। २। १०७। इत प्राकृत सूत्रेण स्यादादिषु चौर्य्यशब्देन समेषु च शब्देषु संयुक्तस्य यात्पूर्व इद्भवति। आराहरे याता गताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्य्याः। सूत्र० १ श्रु० ३ अ०॥

चारित्रार्हे, आचा० अ० २ सू० ५

(अणारियवयणमेयं) आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यास्त द्विपर्य्ययादनार्य्याः क्रूरकर्माण इति। आचा० ४ अ० ५ उ०॥

(मिच्छ दिट्ठी अणारिया) आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य

इत्यार्याः। सूत्र० १ श्रु० १ अ०॥

''एसट्ठाणे आरिए'' अरादयातं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यम् सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

(एगमविआरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा) आर्यं आरादयातं पापकर्मभ्य इत्यार्थं अत एव धार्मिकमिति। भ० श० १ उ० ७। आर्य्या देशभाषाचरित्रार्य्या इति आचा० ४ अ० २ उ०। विवेकिनि (तमेव पासित्ता आयरिया वयंति) आर्य्या विवेकिनः सदाचारवंतः एवं ब्रुवते। सूत्र २ श्रु० २ अ०।

आर्यदेशोत्पन्ने (आयरियमाणायरियाणं) आर्य्याणामार्यदेशोत्पन्नानाम्० उपा० २ अ०। स० ३४ स०। औप०।

आर्यभेदाः॥

सेकिंतं आयरिया ? आयरिया दुविहा पण्णता। तंजहा। इड्ढिपत्तारिया य अणिड्ढिपत्तारिया य। से किंति इड्ढिपत्तारिया ? २ छव्विहा पण्णता, तंजहा अरहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा चारणा विज्जाहरा सेत्तं इड्ढिपत्तारिया। सेकिंतं अणिड्ढिपत्तारिया ? २ नवविहा पण्णत्ता, तंजहा खेत्तारिया जातिआरिया कुलारिया कम्मारिया सिप्पारिया भासारिया णाणारिया दंसणारिया चरित्तारिया सेकिंतं खेत्तारिया ? २ अद्धछव्वीसति विहा पण्णता, तंजहा।

रायगिहमगहचंपा, अंगा तह तामलित्ति बंगा य।
कंचणपुरं कलिंगा, वाणारसि चेव कासीय ॥१॥

साएयकोसलागय, पुरं च कुरुसोरियं कुसट्ठाय।
कंपिल्लं पंचाला, अहिछत्ता जंगला चेव ॥२॥

दारवती य सुरट्ठा, मिहिलविदेहा य वच्छकोसंबी।
नंदि पुरं संडिल्ला, मद्दिलपुरमेव मलयाय ॥३॥

वइराडवच्छवरणा, अच्छा तह मत्तियावईदसण्णा॥
सोत्तियमइयाचेदी, वीइभयं सिंधुसोवीरा ॥४॥

महुरा यसूरसेणा, पावा भंगी य मासपुरिवट्टा॥
सावत्थी य कुणाला, कोडीवरिसं चलाढा य ॥५॥

सेयंविया वियनगरी, केयइ अद्धंच आरीयं भणियं॥
एत्थुप्पत्तिजिणाणं, चक्कीणं रामकण्हाणं ॥६॥

सेत्तं खेत्तारिया सेकिंतं जाइ आयरिया ? २ छव्विहा पण्णता तंजहा अंबट्ठा य कलिंदा विदेहा वेदगाइय हरिया चुंचुणा चे व छएया इब्भजाइओ सेत्तं जाइआयरिया य सेकितं कुलारिया? २ छव्विहा पण्णत्ता तंजहा उग्गा भोगा राइण्णा इक्खागा नाता कोरव्वा सेत्तं कुलारिया सेकिंतं कम्मारिया ? २ अणेगविहा पण्णत्ता तंजहा।

दोस्सिया सुत्तिया कप्पा, सिया मुत्ताविया जीया॥
भंडविया लिया कोला, लिया नरवाहणिया ॥१॥

जेयावणे तहप्पगारा सेत्तं कम्मारिया सेकिंतं सिप्पारिया ? २ अणेगविहा पण्णत्ता। तंजहा। तुण्णागा तंतुवाया पट्टागारा देयडा वरुडा कट्ठयाउयारा मुंजपा उयारा छत्तारा बंभारा पब्भारा पोत्थारा लेप्पारा चित्ता रा संखारा दंतारा भंडारा जिब्भगारा सेल्लारा कोडिगारा जेयावन्ने तहप्पगारा सेत्तं सिप्पारिया सेकिंतं भासारिया ? २ जेणं अद्धमागहाए भासाए भासंति जत्थ वियणं बंभी लिवी पवत्तइ बंभीएणं लिवीए अट्ठारस विहे लेक्खविहाणे पण्णते। तंजहा बंभी, जवणाणिया, दोसा, पुरिसा, खरुट्ठी, पुक्खरसारिया, भोगवइया, निण्हइया, अंकलिवी गणियलिवी गंधव्वलिवी, आयासलिवी, माहेसरी, दामिली, पोलिंदी। सेत्तं भासारिया सेकिंतं नाणारिया ? २ पंचविहा पण्णत्ता तंजहा आभि-णिबो हियनाणारिया सुयनाणारिया ओहिनाणारिया मणपज्जवनाणारिया केवलनाणारिया॥ सेत्तं नाणारिया सेकिंतं दंसणारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता। तंजहा सरागदंणारिया यवियरागदंसणा ८ सेकिंतं सराग-दंसणारिया ? २ दसविहा पण्णता तंजहा॥

निस्सग्गुवदेसरुई, आणारुइ सुत्तवीयरुइ चेव।
अभिगमदित्थाररुई, किरिया संखेव धम्मरुई॥१॥

भूयत्थेणाधिगया, जीवा जीवा य पुण्णपावं च
सहस्सं मुहयासव, संवरो यवेयइएस णिस्सग्गो॥२॥

जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहा सयमेव।
एमेव णण्णहत्ति य, णिसग्गरुइति णाइव्वो॥३॥

एए चेव उ भावे, उवदिट्ठे जो परेण सद्दहइ।
छउमत्थेण जिणेण, व उवएसरुइत्ति णायव्वो॥४॥

जोहेउमयाणंतो, आणाएरोयए पवयणं तु।
एमेवण्णहत्ति य, एसो आणारुई नाम॥५॥

जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं।
अंगेण बाहिरेण, वसो सुत्तरुइत्ति नायव्वो॥६॥

एगपएणेगाइं, पदाइं जो पसरइ उ सम्मत्तं।
उदइव्व तिल्लबिंदू, सो वीयरुइत्ति नायव्वो॥७॥

सो होई अभिगमरुई, सुयनाणं जस्स अत्थओदिट्ठं।
एक्कारसअंगाइं, पइण्णगा दिट्ठिवाओय॥८॥

दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा।
सव्वाहिं णयविहीहिं, वित्थाररुइत्ति नायव्वो॥९॥

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सव्वसमिइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई नाम॥१०॥

अणभिग्गहिय कुदिट्ठी, सेखेवरुइत्ति होइ नायव्वो।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु॥११॥

जो अत्थि कायकम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च॥
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइत्ति नायव्वो॥१२॥

परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि॥
वावन्नकुदंसणव, जणा य सम्मत्तसद्दहणा॥१३॥

निस्संकियनिक्कंखिय, णिव्वितिगिच्छा अमुढदिट्ठीय।

उववूहथिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥१४॥

सेत्तं सरागदंसणारिया ॥ सेकिंतं वीयरागदंस णारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा उवसंतकसायवीयरागदंसणारिया खीणकसायवीयरागदंसणरिया य । सेकिंतं उवसंतकसायवीयरागदंसणारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा पढमसमयउवसंतकसायवीतरागदंसणारिया अपढमसमयउवसंतकसायवीतरागदंसणारिया, अहवा चरिमसमयउवसंतकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयउवसंतकसायवीतरागदंसणारिया य । सेकिंतं खीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा छउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया केवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया य । सेकिंतं छउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता । तंजहा । सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया य । सेकिंतं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया य । सेकिंतं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया? सयंबुद्धछउमत्थखीण० दुविहा पण्णत्ता । तंजहा पढमसमयसंयबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया य अपढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया । अहवा चरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयसयंबुद्धछंउमत्थखीणकसायवीतरागंदसणारिया य । सेत्तं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया सेकिंतं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा पढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतराग-दंसणारिया अपढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया । अहवा । चरिमसमयबुद्धबोहिय-छउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमय बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया। सेत्तं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया । सेत्तं छउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया । सेकिंतं केवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहापण्णत्ता, तंजहा सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणा रिया अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया य । सेकिंतं सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता । तं जहा पढमसमयसजोगिके वलिखीणक-सायवीतरागदंसणारिया अपढमसमयसजोगिकेवलिखीण-कसायवीरागदंसणारिया य । अहवा । चरिमस मयस-जोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारियाय । सेत्तं सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया । सेकिंतं अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता तंजहा पढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसा-यवीतरागदंसणारिया अपढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया य । अहवा चरिम समय- अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया अचरिम-समय अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया य । सेत्तं अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया । सेत्तं केवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया सेत्तं खीणकसायवीतराग-दंसणारिया सेत्तं वीतरागदंसणारिया सेत्तं दंसणारिया । सेकिंतं चरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्तां । तंजहा । सरागचरित्तारिया वीतरागचरित्तारिया य । सेकिंतं सरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता तंजहा सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया वायरसंप-रायरागचरित्तारिया य । सेकिंतं सुहुमसंपरायसरागचरित्ता-रिया ? २ दुविहा पण्णत्ता तंजहा पढमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया अपढमसमयसुहुमसंपरायसराग-चरित्तारिया य अहवा चरिमसमयसुहुमसंपरायसराग-चरित्तारिया अचरिमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य अहवा सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता तंजहा संकिलिस्समाणा य विसुज्झमाणाय सेत्त सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया । सेकिंतं वायरसंपरायसराग-चरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णता तंजहा पढमसमय-वायरसंपरायसरागचरित्तारिया अपढमसमयवायरसंपरायसरागचरित्तारिया य । अहवा चरिमसमयबायरसंपराय-सरागचरित्तारिया अचरिमसमयबायरसंपरायसराग-चरित्तारिया य अहवा बायरसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तंजहा । पडिवाई य अपडिवाई य सेत्तं बायरसंपरायचरित्तारिया सेत्तं सरागचरित्तारिया सेकिंतं वीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता तंजहा । उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया खीणकसायवीतराग-चरित्तारिया स सेकिंतं उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा प० तंजहा पढमसमयउवसंतकसायवीतराग चरित्तारिया अपढमसमयवसंतकसायवीतराग-चरित्तारिया य अहवा चरिमसमयउवसंतकसायवीतराग-चरित्तारिया अचरिमसमयउवसंतकसायवीतराग चरित्तारिया य सेत्तं उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया । सेकिंतं खीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता तंजहा छउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया केवलिखीणकसा-यवीतराग्-चरित्तारिया य सेकिंतं छउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ?२ दुविहा पण्णत्ता तंजहा सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया बुद्धबोहियछउम-

त्थरवी णकसायवीतरागचरित्तारिया य सेकिंतं सयंबुद्धछ उमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? दुविहा पण्णत्तातंज हा पढ मसमयसं बुद्धखीण क सायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतराग-चरित्तारिया य अहवा चरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणक-सायवीतराग चरित्तारिया अचरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थ-खीणकसायवी तरागचरित्तारिया य सेत्तं सयंबुद्धछउमत्थ-खीणकसायवी तरागचरित्तारिया । सेकिंतं बुद्धबोहिय- छउमत्थकी-णकसायवीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा पढम समयबुद्धबोहियछउमत्थखीणक सायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरि-त्तारिया य अहवा अरिमसमय-बुद्धबोहियछउमत्थखीण कसायवीतरागचरित्तारिया अचरिमसमयबुद्धबोहियाउमत्थ-खीणक सायवीतरागचरित्तारिया य सेत्तं बुद्धबोहिय छउ मत्थखीणक सायवीतरागचरित्तारिया सेत्तंछउमत्थ-खीणकसायवीतराग-चरित्तारिया । सेकिंतं केवलिखीणकसा यवीतरागचरित्ता-रिया ? २ दुविहापण्णत्ता । तंजहा सजोगी केव-लिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अजोगीकेवलिखीणकसा-यवीतरागचरित्तारिया य । सेकिंतं सजोगीकेवलिखीणकसाय-वीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहापण्णत्ता । तंजहा पढमसमयस-जोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमय-सजोगीकेवलिखीणकसाय-वीतरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयसजोगिकेवलि-खीणकसायवीतरागचरित्तारिया अचरिमसमयसजोगि-केवलिखीणकसायवी तरागचरित्तारिया य सेत्तं सजोगिकेव-लीखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेकिंतं अजोगी-केवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता । तंजहा पढमसमयअजोगीकेवलिखीणकसायवीतराग-चरित्तारिया अपढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीत-रागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयअजोगिकेवलिखी-णकसायवीतरागचरित्तारिया । अचरिमसमयअजोगिकेव-लिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेत्तं अजोगिकेवलि-खीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं केवलिखीण-कसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं खीणकसाय-वीतरागचरि-त्तारिया सेत्तं वीतरागचरित्तारिया । अहवा चरित्तारिया पंचविहा पण्णत्ता । तंजहा सामाइयचरित्तारिया, छेओवट्ठावणीयचरि-त्तारिया, परिहारविसुद्धिचरित्तारिया, सुहुमसंपरायचरित्तारिया, अहक्खायचरित्तारिया य । सेकिंतं सामाइयचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता । तंजहा । इत्तरियसामाइयचरित्तारिया आवकाहयासमिाइय-चरित्तारिया य । सेत्तं सामाइयचरित्तारिया । से किंतं छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता तंजहा । साइयारा छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया निरइयारा छेओवट्ठा-वणीयचरित्तारिया । सेत्तं छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया । सेकिंतं परिहारविसुद्धियचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता । तंजहा निव्विस्समाणपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया निव्वट्ठ-काइयपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया य । सेत्तं परि-हारविसुद्धिय-चरित्तारिया । से किंतं सुहुमसंपरायचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता तं जहा, संकिलिस्समाण-सुहुमसंपरायचरित्तारिया विसुज्झमाणसुहुमसंपराय-चरित्तारिया सेत्तं सुहुमसंपरायच-रित्तारिया । से किंतं अहक्खायचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा छउमत्थअहक्खायचरित्तारिया केवलिअहक्खायचरित्ता-रिया य सेत्तं अहक्खायचरित्तारिया । सेत्तं चरित्तारिया । सेत्तं अणड्ढिपत्तारिया । सेत्तं आयरिया ॥ प्रज्ञा० १० प० ॥

आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्य्यः । मोक्षमार्गे, (आरियं-उवसंपज्जे०) सूत्र० १ ८ अ० । आराद् यातं सर्वकुयुक्तिभ्य इत्यार्यं तत्वम् । तत्वे, । (आयरियं विदित्ताणं, सव्वदुक्खा विमुच्चइ) आयरियंति सूत्रत्वात् आराद् यातं सर्वकुयुक्तिभ्य इत्यार्य्यं तत्वं तद्विदित्वा ज्ञात्वेति । उत्त० ३६ । प्रगुणे, न्यायोपपन्ने, आर्यं प्रगुणं न्यायोपपन्नमिति । आचा० २ अ० ५ उ० ॥

आयरियउवज्झाय–पुं० (आचार्य्योपाध्याय) आचार्य्यसहित उपाध्याय आचार्योपाध्यायः । आचार्य्यसहिते उपाध्याये (आयारियउवज्झाए विसंभेज्जा) व्या० सू० ३ उ० । आचार्य्यसहित उपाध्याय आचार्य्योपाध्यायः । आचार्य्य उपाध्यायश्चेत्यर्थः आचार्य्यश्च स एवोपाध्यायः आचार्य्योपाध्यायः आचार्य्यरूपे उपाध्याये, स हि केषां चिदाचार्य्यः केषांचिदुपाध्याय इति । व्य० ३ उ० ॥

आ (य) रियखेत्त–न० (आर्यक्षेत्र) अर्द्धषड्विंशतिजनपदोपलक्षिते राजगृहमगधादिके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ॥

साद्धपञ्चविंशातिः आर्यक्षेत्राणि (आयरिय) शब्दे पृष्ठे ३३६ पंक्तौ २१ उक्तानि ॥

यस्मादत्र एतेषु साद्धषड्विंशतिसंख्येषु जनपदेषूत्पत्तिर्जि नानां तीर्थकराणां चक्रवर्तिनां रामाणां बलदेवानां कृष्णानां वासुदेवानां तत आर्यमेतेन क्षेत्रस्यार्यानार्यव्यवस्था दर्शिता यत्र तीर्थकरादीनामुत्पत्ति-स्तदार्यं शेषमनार्यमिति । आवश्यकचूर्णौ पुनरित्थमार्यव्यवस्था उक्ता ''जेसु केसुवि पएसेसु मिहुणगाणि यइट्ठिएसु हक्काराईया नीई पलूढा ते आयरिया सेसा अणारिया इति'' एते च प्रत्यासत्त्या भरतक्षेत्रवर्तिन एव आर्या उक्ताः । उपलक्षणत्वाश्चैषामन्येऽपि महाविदेहांतर्वर्तिविजयमध्यम-खंडादिष्वमी बहवो द्रष्टव्या इति । प्रव० २७६ द्वा० ।

आर्यक्षेत्रसीमा निशीथचूर्णौ यथा १६ अ० ।

मगहा कोसंबीया, थूणाविसओ कुणालविसओ य ।
एसा विहारभूमी, पत्ता आयरियं खेत्तं ॥६३५॥

पुव्वेण मगहविसओ दक्खिणेण कोसंबी अवरेण थूणाविसओ

उत्तरेण कुणालाविसओ एतेसिं मज्झं आयरियं पुरतो अणारियं।

आ(य)रियट्ठाण–न० (आर्यस्थान) सर्वतो विरत्यादौ, संयमस्थाने ''जासा सव्वतोविरई एसट्ठाणे अणारंभट्ठाणे आरिए', तत्र चेयं विरतिः सम्यक्त्वापूर्विका सावद्यारम्मान्निवृत्तिः सावद्यानुष्ठान-रहितत्वात् संयमस्थानम् तत्रचैतत्स्थानमार्यस्थानम्। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

आ (य) रियदंसि (न्)–पुं० (आर्य्यदर्शिन्) आर्य्यं प्रगुणं न्यायोपपन्नं पश्यति तच्छीलश्चेत्यार्यदर्शी। न्यायोपपन्नदर्शिनि, (आयरिए आरियपण्णे आरियदंसी) आचा० २ अ० ५ उ०।

आ (य) रियदिण्ण–पुं० (आर्यदत्त) पार्श्वनाथस्य प्रथमे गणधरे प्रव० १ द्वा०।

आ(य)रियदेस–पुं० (आर्यदेश) मगधाद्यर्द्धषड्विंशतिजनपदेषु, (आयरियदेसंमि जे समुप्पण्णा) पं० व० १ द्वा०। आर्यदेशसमुत्पन्नः शुद्धजातिकुलान्वितः ध० ३ अधि०। तत्र आर्यदेशा जिनचक्रयर्द्धच-द्युत्तम पुरुषजन्मभूमयस्ते च संख्यया मगधाद्याः सार्द्धपंचविंशतिः प्रार्य्याणां वासार्हो देशः। प्रव०। आर्यावर्त्तादौ देशे।

आ(य)रियधम्म–पुं० (आर्यधर्म) आर्यस्य धर्मः। सदाचारे श्रुतचारित्ररूपे धर्मे च (वेइज्ज णिज्जरापेही आरियं धम्म-मणुत्तरं०)आरद्धेययधर्मेमर्म्यो यात इत्यार्यस्तं धर्म्मं श्रुतचा रित्ररूपमिति उत्त० २ अ०॥

आ(य)रियपएसिय–त्रि० (आर्यप्रदेति) तीर्थकरप्रणीते, (एवं से धम्मे आयरियपएसिए। आचा० ०६ अ० ४ उ०।

आ(य)रियपण्ण–पुं० (आर्यप्रज्ञ) आर्या प्रज्ञा यस्य स आर्य-प्रज्ञः। श्रुतविशेषितमतौ, आचा० २ अ० ५ उ०।

आयरियपरिभावि (न्)–त्रि० (आचार्य्यपरिभाविन्) आचार्य्य-परिभवकर्त्तरि।

उहरो अकुलीणोत्ति य, दुम्मेहो दमगमंदबुद्धित्ति।
अवि अप्पलाभलद्धी, सीसो परिभवइ आयरियं॥१॥

कश्चित्कुशिष्यस्सूचया असूचया वा आचार्य परिभवति। सूचा नाम स्वव्यपदेशेन परस्वरूपसूचनं। यथा कोपचयः परिणतं साधुबालकमाचार्य ब्रवीति। अद्यापि डहरा बालका वयं किमस्माकमाचार्यपदस्य योग्यत्वमिति। असूचा स्फुटमेव परदोषोद्घाटनं यथा भो आचार्य! त्वं तावदद्यापि डहरो मुग्धः क्षीरकंठो वर्त्तसे अतः कीदृशं भवत आचार्यकत्वमिति। योऽकुलीन आचार्यस्तमुद्दिश्य भणत्हो उत्तमकुलसंभूता अमी योग्य एवाचार्यपदस्य वयं तु हीनकुलोत्पन्नाः कुतोऽस्माकं सूरिपदयोग्यता यद्वा धिक्कष्टं यदकुलीनोऽप्ययमाचार्य पदे निवेशित इति। तथा दुर्मेधा मंदप्रज्ञो द्रमको नाम दरिद्रो भूत्वायः प्रव्रजितः मंदबुद्धिः स्वल्पमतिः अपि संभावनायां संभाव्यते कुतो ऽपि कारणा-देवंविधोऽप्याचार्य इति अल्पा तुच्छा वस्त्रपात्रादिलाभे लब्धिर्यस्य सोऽल्पलाभलब्धिः। एतानप्येव मेव सूचया असूचया च परिभवति॥

अथ शिष्यपदं व्यापदं व्याचष्टे॥

सो वि य सीसो दुविहो, पव्वावियगो अ सिक्खओ चेव।
सो सिक्खओ उ तिविहो, सुत्ते अत्थे तदुभए य॥

यः शिष्यो गुरून् परिभवति सोऽपि च द्विविधः। प्रव्राजितकः शिष्यकश्चैव यस्तेनैव परिभूयमानगुरुणा दीक्षां ग्राहितस्स प्रव्राजितकः। शिष्यकस्तु गच्छांतरादध्ययनार्थमायातः स च शिष्यकस्त्रिविधः सूत्रेऽर्थे तदुभये च सूत्रग्राहकोऽर्थग्राहक-स्तदुभयग्राहकश्चेत्यर्थः। बृ०। नि० चू० १९ अ०॥

आयरियपायमूल–न० (आचार्य्यपादमूल) आचार्य्यान्तिके (गंतूणयरियपायमूलम्मि,) आचार्य्यपादमूले आचार्य्यान्तिक इति० पं० २ द्वा०॥

आयरियभासिय–न० (आचार्य्यभाषित) प्रश्नव्याकरणदशा-यामश्चतुर्थेऽध्ययने, स्था० १० ठा०॥

आयरियमग्ग–पुं० (आर्य्यमार्ग) आराद्यातः सर्वहेयधर्म्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो निर्दोषः। पापलेश्याऽसम्पृक्ते मार्गे, (आरियं मग्गं असंपत्ता) सूत्र० २ श्रु० १ अ०॥ सदनुष्ठानरूपे मार्गे, जैनेन्द्रशासन-प्रतिपादिते मोक्षमार्गे च सूत्र १ श्रु० ३ अ०। (जे तत्थ आरिअं मग्गं परमं च समाहिए) सूत्र० द्वि० श्रु० ३ अ०॥

आयरियविज्जा–स्त्री० (आचार्यविद्या) द्वाचत्वारिंशत्तमे पुरुष कलाभेदे, कल्प०॥

आयरियविप्पडिवत्ति–न० (आचार्य्यविप्रतिपत्ति) बंधदशायाः पञ्चमेऽध्ययने, स्था० १० ठा०।

आ(य)रियव्वेय–पुं० (आर्य्यवेद) तीर्थकरस्तुतिरूपे, श्रा-वकधर्मप्रति पादके च वेदे, (दाणं च माहणाणं वेआकासीअ पुच्छनिव्वाणं) आर्यान् वेदान् कृतवाँश्च स भरत एव तत्स्वा-ध्यायनिमित्त मिति तीर्थकरस्तुतिरूपान् श्रावकधर्मप्रतिपादकाँश्च अनार्य्यास्तु पश्चात्सुलभा याज्ञवल्क्यादिभिः कृता इति० आव० २ अ०। आ० म० २ अ०।

आयरियवेयावच्च–न० (आचार्य्यवैयावृत्य) आचार्यस्य वैयावृत्यं भक्तपानादिभिरुपष्टंम्भः। वैयावृत्यभेदे, औप०॥

आयरियव्व–त्रि० (आचरितव्य) आ० चर० तव्य०। अनुष्ठेये। (जं जम्मि होइ काले, आयरियव्वं स कालमायारो)। नि० चू० १ उ०॥

आयारियादेस–पुं० (आचार्यदेश) आचार्य्यकथने, (आयरिय-देसावाहारिण्ण अत्थेण) आचार्य्यादेशात् आचार्य्यकथनात् अवधारितेनेति। व्य० ३ उ०।

आयसभायण–न० (आयसभाजन) लोहभाजने, (तोयमिव ना लियाए, तत्तायसभायणेदरत्थवा) तप्तं च तदायसभाजनं च लोहभाजनमिति०॥ आव० ४ अ०॥

आयाइ–स्त्री० (आजाति) आ जन् क्तिन् आजननमाजातिः सम्मूर्छनगर्भो पपाततो जन्मनि, स्था० १० ठा०। आजायते-ऽस्यामित्याजातिः मनुष्यादिजातौ,। तथा चाचाराङ्गे आचारै-कार्थकानाधिकृत्य इदानीमाजातिराजायंते तस्यामित्याजातिः। साऽपि चतुर्द्धा व्यतिरिक्ता मनुष्यादिजातिः भावाजातिस्तु ज्ञानाद्याचारप्रस्तुतो-ऽयमेवाचार इति। आचा० १ अ० १ उ०।

***आयाति**–स्त्री० आ० या० भावे – क्तिन्आगमने- स्थानान्त रगमने च (आयातिर्वा गतिरिति) स्था० ठा० ३ आयातिर्गर्भान्निष्क्रम इति स्था० ठा० २ उत्तरकाले च दशा०॥

आयाइट्ठाण–न० (आजातिस्थान) आजननमाजातिः सम्मूर्छ-नगर्भो पपाततो जन्म तस्याः स्थानम्। संसारे, स्था० १० ठा०

आयातिस्थान–न० उत्तरकालस्य स्थाने (आयातिट्ठाणं सम्मतं)

आयाइट्ठाणेति आयतिर्नाम उत्तरकालस्तस्य स्थानं पदमिति । दशा० ॥

आयाइट्ठाणज्झयण–न० (आजातिस्थानाध्ययन) आजन-नमाजातिः सम्मूर्छनगर्भोपपाततो जन्म तस्याः स्थानं सं सारस्तत्सनिदानस्य भवतीत्येवमर्थप्रतिपादनपरमाजातिस्थान-मुच्यत इति। आचारदशाया नवमेऽध्ययने। स्था० १० ठा०॥

आयागर–पुं० (अयआकर) लोहाकरे। **(आयागरेइवा)** अयआकरो लोहाकरो यत्र लोहं ध्मायत इति स्था० ८ ठा०॥

आया(चा)म–न० (आचाम) अवस्रावणे पानकभेदे "आया-ममवस्रावणमिति"। वृ० आव० ६ अ०। आ०म०पिं० नि० स्था ३ ठा० उ० त० १५० (आयामंवासोवीरंवासुद्धवियडंवा तहप्पगारं-पाणगजातं पुव्वामेव आलोएज्जा) आयाम्लमवश्यानमिति आचा० श्रु० १, चू॥

***आयाम**–पुं० आ-यम्-भावे घञ् दैर्घ्ये, – स्था० २ ठा०॥ नि० चू० उ०॥ आ० म०। राजं जी० "आयामेणं दुवेयणं तीसे वाहाओ अण्णवट्टिताओ भवति" आयामश्चदक्षिणेत्तरायततया प्रतिपत्तव्यो विष्कम्भः पूर्वापरायततयोति। सू० प्र० ४ प्रा०॥

आयामग–न० [आचा(या)मक] आयाममेवायामकम्अवस्रावणके पानकभेदे– उत्त० (आयामगं चेव जवोदगं च) आयामकं धान्यस्यावस्रावणम्। उत्त० १५ अ०॥

आयामसित्थभोइ(न्)–त्रि० [आचा(या)म सिक्थभोजिन्] अवस्रावणगतसिक्थभोक्तरि, तथा चौपपातिके, "रसपरित्याग-भेदानधिकृत्यआयामसित्थभोइत्ति" औप०।

आयामेइत्ता–अव्य० (आचम्य) आचमनं कृत्वेत्यर्थे, (परमण्णेणं माहणे आयामेत्था) आमेत्थत्ति, आचामितवान् तद्भोजन दानद्वारेणोच्छिष्टता-सम्पादनेन तच्छुद्ध्यर्थमाचमनं कारितवान् भोजितवानिति तात्पर्य्यम् भ० १५ श० १ उ०। माहणे आया-मइआयामेइत्ता स उत्तरोट्ठं मुंडं करेइ, भ० १५ श० १ उ०।

आयार–पुं० (आचार) आ० चर-भावे घञ्० आ० मर्य्यादायां चरणं चारः मर्य्यादया कालनियमादिलक्षणया चार आचारः आ० म०॥ आचारो ज्ञानाचारादिः पञ्चधा आ मर्य्यादया वा चारोविहार आचारः भ० १ श० १ उ०॥ दशा० विशे० "आमज्जायावयणो, चरणं चारोत्तितीए आयारो। सोहोइ नाणदंसण, चरित्त-तववीरियवियप्पो" ॥ आनुष्ठाने स्था० ४ ठा०। आचार-णमाचारोऽनुष्ठानमिति, सूत्र २ श्रु० ५ अ०। स्या०। आचारो-मोक्षार्थमनुष्ठानविशेष, इति० आचा० १ अ० ३ उ०। आचारो ज्ञानादिविषयमनुष्ठानमिति ज्ञा०। आचारः श्रुतज्ञानादि-विषयमनुष्ठानं कालाध्ययनादीनि भ० २ श० १ उ० आचरणीये आचारे आव०॥ आचर्य्यते गुणविवृद्धये इत्याचारः अष्ट०॥ आचारः साधुसमाचार इति। स्था० २ ठा० *आचारोलोचाऽस्नाना-दिसुष्ठुक्रियारूपइति। ध० १ अधि० । स्था० ४ ठा०* दशा०॥ आयारे चेव भावतेणेय॥ आचारे साधुसामाचार्य्यां विषये इति। प्रश्न० सं ३ द्वा। आचारस्तत्परिहरणपरिष्ठापनरूपइति। स्था० ७ ठा०॥ आचारः शास्त्रविहितो व्यवहार इति। ग०॥ आतु०। आचरणमा-चारः। आचर्य्यते इति वाऽऽचारः। पूर्वपुरुषाचरिते ज्ञाना-द्यासेवनविधौ,। नं०। शिष्टाचारतो ज्ञानाद्यासेवनविधिरिति। पा०॥ ध० र०॥ अनु०॥ साध्वाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिरिति भावार्थः। सम०॥

आचारस्य चतुर्विधो निक्षेपः दश०, ३ अ०। आचारस्य तुचतुर्धानिक्षेपः॥ सचायं नामाचारः स्थापनाचारो द्रव्याचारो भावाचारश्च बोद्धव्य इति गाथाक्षरार्थः भावार्थं तु वक्ष्यति। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे अतो द्रव्याचारमाह।

नामणधावणवासण, सिक्खावणसुकरणाविरोहीणि।
दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायारं वियाणाहि॥८६॥

व्या० नामनधावनवासनशिक्षापनसुकरणाविरोधीनि द्रव्याणि यानि लोके तानि द्रव्याचारं विजानीहि। अयमत्र भावार्थः। आचरणमाचारः द्रव्यस्याऽचारो द्रव्याचारः द्रव्यस्य यदाचरणं तेन २ प्रकारेण परिणमनमित्यर्थः। तत्र नामनमवनतिकरममुच्यते। तत्प्रतिद्विविधं द्रव्यं भवति। आचारवदनाचारवच्च तत्प-रिणामयुक्तमयुक्तं चेत्यर्थः। तत्र तिनिशलतादि आचारवत् एरंडाद्यनाचारवत्। एतदुक्तं भवति। तिनिशलतादि आचरित भावं तेन रूपेण परिणमति नत्वेरंडादि। एवं सर्वत्र भावना कार्या। नवरमुदाहरणानि प्रदर्श्यते। धावनं प्रति हरिद्रारक्तं वस्त्रमाचारवत् सुखेन प्रक्षालनात् कृमिरागरक्तमनाचार-वत्तद्वस्मनोऽपिरा-गानपगमात् वासनं प्रति कवेलुकाद्याचारवत् सुखेन पाटला-कुसुमादिभिर्वास्यमानत्वात्। वैड्र्याद्यनाचारवदशक्यत्वात् शिक्षापनां प्रत्याचारवच्छुकसारिकादि मुखेन मानुषभाषाद्य-संपादनात् अनाचारवच्छ्कुतादि तदनुपपत्तेः। सुकरणं प्रत्या-चारवत्सुवर्णादि सुखेन तस्य कटकादिकरणात् अनाचा-रवद्घंटालोहादि तत्राऽन्यस्य तथाविधस्य कर्तुमशक्यत्वादिति। अविरोधं प्रत्याचारवंति गुडदध्यादीनि रसोत्कर्षादुपभोगगुणाच्च अनाचारवंति तैलक्षीरादीनि विषर्ययादिति। एवंभूतानि द्रव्याणि यानि लोके तान्येव तस्याचारस्य तद्व्याव्यतिरेकाद्द्रव्याचारस्य च विवक्षितत्वात्तथा चरणपरिणाममस्य भावत्वेऽपि गुणाभावाद्द्र-व्याचारं विजानीहि अवबुध्यस्वेति गाथार्थः॥

उक्तो द्रव्याचारः सांप्रतं भावाचारमाह॥

दंसणनाणचरित्ते, तवआयारे य वीरियायारे।
एसो भावायारो, पंचविहो होइ नायव्वो॥८७॥

व्या० दर्शनज्ञानचारित्रादिष्वाचाशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते दर्शनाचारो ज्ञानाचारश्चारित्राचारस्तपाचारश्च वीर्याचारइति। तत्र दर्शनं सम्यग्दर्शनमुच्यते न चक्षुरादिदर्शनं तच्च क्षायोपश-मिकादिरूपत्वात् भाव एव। ततश्च तदाचरणं दर्शनाचार इत्येवं शेषेष्वपि योजनीयं भावार्थं तु वक्ष्यति एष भावाचारः पंचविधो भवति ज्ञातव्य इति गाथाक्षरार्थः। दश० अ० ३ विस्तरस्तु (णाणायार) शब्दे॥

तथाच निशीथचूर्णौ १ उ० निक्षेपोयथा॥

जं भणियं आयारे, चउव्विहो णिक्खेवो सो इमो॥

णामंठवणायारो, एसो खलु आयारे णिरक्केवो चउव्विहो होइ। णामणधोवणवासण, सिक्खा-वणसुकणविरोधाणि। गाहा॥

नामठवणाउ गयाउ दव्वायारो दुविहो आगमओ णोआगमओ यआगमओ जाणए अणुवउत्तो णोआगमओ जाणगसरीरं भवियसरीरं जाणगभवियसरीरवइरित्तो इमो णामणधोवण गाहा णमादिपएसु आयारो भण्णइ। तेण सिद्धिमिच्छंतो य सूरी अणायारं पि पण्णवें ति दीर्घह्रस्वव्यपदेशवत् णामण पडुच्च आयारमंतो तिणिसो अणायारमंतो एरंडो धोवणं पडुच्च

कुसुंभरागो आयारमंतो अणायारमंतो किमिरागो । वासणाए कवेल्लुगादीणि आयारमंताणि वइरं अणायारमंतं । सुकसालहियादि । सिक्खावणं पडुच्च आयारमंताणि वायसगोवगादि भंगादि अणायारमंताणि सुकरणे सुवण्णं आयारमंतं घंटालोहं अणायारमंतं । अविरोहं पडुच्च पयसक्कराणं आयारो दहितेल्लायविरोधे अणायारमंता ॥

दव्वाणि जाणि लो, दव्वायारं वियाणाहि ।
णाणे दंसणचरणे, तए विरिए य भावमायारो । गाहा ।

गुणपर्यायान् द्रवतीति द्रव्यं जाणत्ति अणिद्दिट्ठसरूवाणि अहवा एताणि चेव जाणि भणियाणि लोक्यतेइति लोकः दृश्यते इत्यर्थः तस्मिन् लोके आधारभूते दव्वायारं वियाणाहि एवमभिहि-तानभिहितेषु द्रव्येषु द्रव्याचारो विज्ञातव्य इति गतो दव्वायारो ॥

इयाणि भावायारो भणस्सइ सोऽयं पंचविहो इमो ॥

णाणेदंसणगाहट्ठं, पच्छद्धेण एएसिं पभेया गहिया ।
अट्ठट्ठट्ठदुवालस, विरिय महाणीतु जातेसिं ७ गाहा ।

णाणायारो अट्ठविहो दंसणायारो अट्ठविहो चरित्तायारो अट्ठविहो, तवायारो बारसविहो, वीरिआरो छत्तीसतिविहाणे, ते अ छत्तीसइ भेया एए चेव नाणादी मेलिया भवंति । वीरिअमिति गहिओ अहाणी असीअणं जं तेसिं नाणायाराईणं स एव वीरिआयारो भवइ ॥ आचारस्य भेदाः ॥

दुविहे आयारे पण्णत्ते तंजहा णाणायारे चेव नोणाणायारे चेव । नाणायारे दुविहे पण्णत्ते तं जहा दंसणायारे चेव नोदंसणायारे चेव नो दंसणायारे दुविहे पण्णत्ते तंजहा चरित्तायारे चेव नोचरित्तायारेचेव णो चरित्ताचारे दुविहे पण्णत्ते तं जहा तवायारे चे वीरियायारे चेव ॥ स्था० २ ठा० ॥

सूत्रचतुष्टयं कंठ्यन्नवरं । आचरणमाचारो व्यवहारो ज्ञानं शुभज्ञानन्तद्विषय आचारः कालादिरष्टविधोज्ञानाचारः ॥

पंचविहे आयारे पण्णत्ते तं जहा माणायारे
दंसमायारेचरित्तायारे तवायारे वीरियायारे स्थ० ठा० ५ ।

आचारेणैवात्मसंयमो भवति । उक्तंच । तस्याऽत्मा सयंतो यो हि सदाचारे रतः सदा । स एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव च जिनो हितः ॥१॥ इति ॥ दश १ अ० । तथा च धर्मसंग्रहे मूलगुणे-षूक्तप्रायाणामपि ज्ञानाद्याचाराणां मुख्यत्वख्यापनार्थं तत्पालन-स्य स्वान्त्रयेणाऽभिधित्सयाऽऽह ॥

ज्ञानादिपंचाचाराणां, पालनं च यथाक्रमम् ।
गच्छवासः कुसंसर्ग, त्यागोऽर्यपदाचिंतनम्--ध० अधि० ३

आचारशुद्धौ हि सामान्यायामपि कुलाद्युत्पत्तौ पुरुषस्य महात्म्यमुपपद्यते । यद्योक्तं । न कुलं हीनवृत्तस्य, प्रमाणमिति मे मतिः । अन्त्येष्वपिहि जातानां, वृत्तमेव विशिष्यत, इति ॥ ध० १ अधि० ।

आचारमाचरतः प्रशंसा यथा ॥

आयारमायरंते, एगखेत्तेवि गोयमा ! मुणिणो ।
वाससयं पि वसन्ते, गीयत्थाराहगे भणिए ॥

आचारातिक्रमे दोषो यथा ।

आयारंगं अणंतगमपज्जवेहिं पण्णविज्जमाणं समवधारियं तत्थ यं छत्तिसआयारे पण्णविज्जति तेसिं च णं जे केइ साहू वा साहुणी वा अण्णयरमायारमइकमेज्जा से णं गारवीहिं उवम्मेयं अहण्णहा समणुट्ठे वायरेज्जा पण्णविज्जा वा तओ मं अणंतसंसारी भवेज्जा ॥ महा० १ अ० ॥ आचाररहितस्य कर्म्मोपादानमाचाराङ्गे यथा ।

एत्थंपि जाणे उवादीयमाणा जे आयारेण रमंति ।

एतस्मिन्नपि प्रस्तुते वायुकाये अपिशब्दात् पृथिव्यादिषु समाश्रितमारंभं ये कुर्वंति ते उपादीयन्ते कर्मणावध्यन्ते एकस्मिन् जीवनिकाये वधप्रवृत्ताशेषनिकायवधजनितेन कर्मणा वा वध्यन्ते किमिति येनहि एकजीवनिकायविषय आरंभः शेषजीवनि-कायोपमर्दमन्तरेण कर्तुं शक्यते अतः स्त्वमेवं जानीहि अनेन श्रोतुः परामर्शः पृथिव्याद्यारंभिणः शेषकारंभकर्मणाउपादीयमाना जानीहि के पुनःकर्मणाउपादी यन्ते त्याह (जे आयारेत्ति) ये अविदित परमार्थाः पंचविधे आचारे न रमन्ते न धृतिं कुर्वन्ति ॥

आचा० १ अ० ७ उ० ।

आचारस्वरूपम्महानिशीथे यथा महा० १ अ० १ उ० ।

सेभयवं १ केरिसे आयारे कयरे वा सेणं अणायारे । गो० आयारे अणायारे णं तप्पडिपक्खा तस्य जेणं आणापडिक्खे वसे णं एगंते ण सव्वपयारेहिं णं सव्वहा । वज्झणिज्झे । जे य णं णो आणापडिरकं । से णं गंतेणं सव्वपयारेहिं णं । सव्वहा आयरणिज्जा । तहा णं गो० जंजाणेज्जा जहा णं एस णं सामन्नं विहारेज्जा से णं सव्वहा विवज्जेज्जा महा० ॥

आचारप्रतिपादको ग्रंथोऽप्याचारः ॥ सम० ॥ नं । आचारक्रिया-भिधानादाचारः । आ०म० १ अ० ॥ आचार आचारोपदेशहेतु-त्वात् । दश ५ । अ० । आचाराभिधायकत्वादाचारः । स्था० १ ठा० । द्वादशाङ्ग्याः प्रथमेऽङ्गे, ध० २० ॥ अनु साध्वाचारप्रतिपादको ग्रंथ आचार इति । विशे० ॥ एतद्बहुबक्तव्वता (आयारंग) शब्दे । नवमपूर्वस्थ प्रत्याख्यानस्य स्वनामख्याते विंशतिवस्तुषुत्टतीये वस्तुनि च । पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूनो आयारनामधेज्जो । व्य० । १ उ० । उत्पादपूर्वादीनि चतुर्दश पूर्वाणि तत्र नवमं पूर्वप्रत्याख्यानन्नामकं । तस्मिन् विंशतिर्वस्तूनि । वस्तूनि नाम अर्थाधिकार विशेषा स्तेषुविंशतौ वस्तुषु त्टतीयमाचारनामधेयं वस्त्विति व्य० । आच० १ आ ईषत् अपरिपूर्णा इत्यर्थश्चारा हैरिका येते । आचाराश्चारकल्पा इत्यर्थो युक्तायुक्त-विभागनिरूपणनिपुणा विनेया इति भ० १ श० १ उ० । दशा० ॥

आयारउवगच्छण न० (आचारोपगमन) मायाकरणरूपे योगे, आयारो-वगयशब्दे कथा । आव० ४ अ० ॥

आयारंग न० (आचारंग) द्वादशाङ्ग्याः प्रथमेऽङ्गे सम० तद्वक्तव्या आचारांगटीकायाम् । इह हि रागद्वेषमोहाद्यभिभूतेन सर्वेणापि संसारिजन्तुना शरीरमानसानेकदुःखोपहतेन तदपनयनाय हेयोपादे यपदार्थपरिज्ञाने यत्नो विधेयः । स च न विशिष्टविवेकमृते । विशिष्टविवेकश्च न प्राप्ताशेषति-

शयबलाप्तोपदेशमन्तरेण आप्तश्च रागद्वेषमोहादीनां दोषाणा मात्यन्तिक-प्रक्षयात्। सऽचार्हत एवातः प्रारभ्यतेऽर्हद्वचनानुयोगः। स च चतुर्धा तद्यथा धर्मकथानुयोगो, गणितानुयोगो, । द्रव्यानुयोगश्चरमकरणानु-योगश्चेति। तत्र धर्मकथानुयोग उत्तराध्ययनादिकः गणितानुयोगः सूर्यप्रज्ञप्त्यादिकः। द्रव्यानुयोग स्सम्मत्यादिकश्चरणकरणानुयोग आचारादिकः स च प्रधानतमः शेषाणां तदर्थत्वात्तदुक्तं चरणपरिवर्ति हेउं, जे णयरे तिण्णि अणुओगत्ति तया चरणपडिवत्तिहेउं, धम्मकहा कानदिक्खमादीया। दविए दंसणसेही, दंसणशुद्धस्सचरणं तु। गणधरैरथ त एव तस्यैवादौ प्रणयनमकार्यतस्तत्प्रतिपादकख्याचारांगस्थानुयोगः समारभ्यते । स च परमपदप्राप्तिहेतुत्वा त्सविघ्नस्तदुक्तं । ''श्रेयांसिबहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि। अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायकाः तस्मादशेषप्रत्यूहोपशमनायमङ्गलमभिधेयं तच्चादिमध्या-वसानभेदात्त्रिविधं तत्रादिमङ्गलं सुयंमे आउसं तेणं भगवया एवमक्खाय'' मित्यादि अत्र च भगवद्वचनानुवादो मङ्गलं अथवा श्रुतमिति श्रुतं ज्ञानं तच्च नन्यतिपातित्वान्मङ्गलंमित्येतच्चा-विघ्नेनाभिलषित-शास्त्रार्थपार गमनकारणं मध्यमङ्गलं लोकसाराध्ययनपद्मोद्देशकेसूत्र से जहा के वि हरए पडिपुन्ने तिट्ठइ समं। सि भोम्मे उवसन्नर एसा रक्खमाणेत्यादि अत्र चार्हद्गुणैराचार्य गुणोत्कीर्तनमाचार्यश्च पद्मनमस्कारान्तः पातित्वान्मङ्गलमित्येतच्चाभिलषितशास्त्रार्थस्थिरी-करणार्थं अवसानमङ्गलं नवमा ध्ययनेऽवसानसूत्रं अडि निव्वुडे अमाई आ वकहाए भयवं समियासी अत्राभिनिर्वृतग्रहणं संसारमहातरु-कन्दोच्छेद्यविप्रतिपत्या ध्यानकारित्वन्मङ्गलमित्येतच्चशिष्य-प्रति शिष्यसन्तानाव्यच्छेदार्थ मित्यध्ययनगतसूत्रं मङ्गल-त्वप्रतिपादने नैवाध्ययनानामपि मङ्गलत्वमुक्तमेवेति न प्रतन्यते सर्वमेववा मङ्गलं ज्ञानरूपत्वा त्तस्य निर्जरार्थत्वेनच तस्या-विप्रतिपत्तिर्युक्तं । (जं अन्नाणी कम्मं खवे इवहुयाहिं वासकाडीहिं तन्नाणीतिहिं गुत्ता खवेइ उसासमित्तेणं) मङ्गलध्वनि रुक्तं च मां गालयत्यपनयति भवादिति मङ्गलं मामूद्गले विघ्नो गालो वा नाशः शास्त्रस्येति मङ्गल मित्यादि शेष त्वाक्षेपपरिहारा दिक मन्यतोवसेयमिति। साम्प्रतमाचारानुयोगः प्रारभ्यते आचार-स्यानुयोगोऽर्थकथनमाचारानुयोगः सूत्रादनु पश्चादर्थस्य योगोऽनुयोगः। साम्प्रतमाचाङ्गस्योपक्रमादीनामनुयोग-द्वाराणां यथायोग किञ्चिद्विभणिषु रशेषप्रत्यूहोपशमनाय मङ्गलार्थं प्रेक्षापूर्वकारिणां च प्रवृत्यर्थं सम्बन्धाभिधेय प्रयोजनप्रति पादिकानि युक्तिकारो गाथामाह ॥

वन्दित्तु सव्व सिद्धे, जिणेय अणु ओगदायएसव्वे।
आयारस्स भगवओ निज्जुतिं कित्तयिस्सामि॥

तत्रवन्दित्वा सर्वसिद्धान् जिनांश्चेति मङ्गलवचनं अनुयोगदायकानित्ये-तच्च सम्बन्धवचनमपि आचारस्येत्यभिधेयवचनं निर्युक्तिं करिष्ये इति प्रयोजन कथनमितितात्पर्यार्थः। अवयवार्थस्तु वन्दित्वेति वदिअभिवा दनस्तुत्यो रित्यर्थद्वया-भिधायिधातुस्तत्राभि वादनं कायेन। स्तुतिर्वाचाऽनयोश्चमनः पूर्वकत्वा त्करणत्रये मापि नमस्कार आविदितो भवति। सितं ध्यानमेषामिति सिद्धाः प्रक्षीणाशेषकर्म्माणः सर्वेच ते सिद्धाश्च सर्वसिद्धाः सर्वग्रहणं तीर्थातीर्थानन्तरपरंपरादिसिद्धप्रतिपादकं तान्वन्दित्वेति सम्बन्धः सर्वत्र योज्यः। रागद्वेषक्षितो जिनास्तीर्थ कृतस्तानपि सर्वानतीतानागतवर्तमानसर्वक्षेत्रगतानिति अनुयोगदायिनः सुधर्मस्वामि प्रभूतयो यावदस्य भगवतो निर्युक्ति कारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्या चार्योऽत स्तान् सर्वानित्यनेन चाम्नाय कथनेन स्वमनी षिकाव्युदासः कृतो भवति वन्दित्वेतिक्त्वा प्रत्ययस्योत्तरक्रिया सध्यपेक्षत्वा दुत्तरक्रियामाह आचारस्य यथार्थनाम्नः भगवत इति अर्थधर्मप्रयत्नगुण-भाजस्तस्यैवं विधस्य निश्चिये नार्थप्रतिपादिका युक्ति र्नियुक्ति स्तां कीर्तयिष्ये अभिधास्ये इति अन्तस्तत्त्वेन निष्पन्नां निर्युक्तिं वहिस्तत्वेन प्रकाश यिष्यामीत्यर्थः यथा प्रतिज्ञातमेव विभणिषु र्निक्षेपार्हाणि पदानि तावत् सुहृद्भूत्वाचार्यः संपीड्य कथयति।

आयार अंगसुयखंध, वंभचरणे तहेव पसत्थेय।
परिन्नाए निक्खेवो, तह दिसाणं च॥२॥

न० १ अ० १ उ०। आयारेत्यादि आचार अङ्गश्रुतस्कन्ध ब्रह्मचरण शस्त्रपरिज्ञा संज्ञा दिशा मित्येतेषां निक्षेपः। कर्तव्यइति तत्राचार ब्रह्मचरण शस्त्र परिज्ञा शब्दानां निष्पन्ने निक्षेपे द्रष्टव्या अङ्गश्रुत स्कन्ध शब्दा ओघनिष्पन्नसंज्ञादि सूत्रा लापक निष्पन्ने निक्षेपे द्रष्टव्या इति एतेषां मध्ये कस्य कति विधो निक्षेप इत्यत आह॥

''चरणदिसावज्झाणं, निक्खेवो चउक्कओय नायव्वो।
चरणंडि च्छव्विहो खलु, सत्तविहो होइ ओदिसाणं॥

इ०। आचा० १ अ० १ ऊ०। चरणादिवर्जानां चतुर्विधो निक्षेपः चरणस्य षड्विधः दिक्शब्दस्य सप्तविधो निक्षेपः अत्र च क्षेत्रकालादिकं यथा सम्भवमायोज्यं नामादिचतुष्टयं सर्वत्रव्यवस्थया दर्शयितुमाह आचा० १ अ० १ उ०।

जत्थ जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
जत्थवि न जाणेज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ॥

जत्थयजमित्यादि यत्र चरणदिक्शब्दादौ यं निक्षेपं क्षेत्र-कालादिकं जानीयात् तत्र निरवशेषं निक्षिपेद्यत्र तु निरवशेषं न जानीयादाचाराङ्गदौ तत्रापि नामस्थापना द्रव्यभावचतुष्कात्मकं निक्षेपनिक्षिपेदित्युपदेश इति गाथार्थः। प्रदेशान्तरप्रसिद्ध-स्यार्थस्य लाघवमिच्छता निर्युक्तिकारेण गाथाम्यधायि।

आयारे अंगंमि य, पुव्व द्दिट्ठो चउक्कनिक्खेवो।
नवरं पुण नाणत्तं, भावायारंडि तं वोच्छं॥५॥

आयारे इत्यादि क्षुल्लिकाचारकथायामाचारस्यपूर्वो द्दिष्टोनि क्षेपोयस्य तु चतुरङ्गाध्ययनं यश्चात्र विशेषः सोभिधीयते भावाचारविषय इति॥

यथा प्रतिज्ञातमाह॥

तस्सेगट्ठं पवत्तण, पढमंगगणी तहेव परिमाणे।
समोयारे सारेय, सत्तहिं दारेहिं नाणत्तं॥

तस्येत्यादि गाथा तस्य भावाचारस्य एकार्थाभिधायिनो वाच्या केन प्रकारेण प्रवृत्तिः प्रवर्तनमाचारस्याभूत्तच्च वाच्यं तथा प्रथमाङ्गता च वाच्या तथागण्याचार्यस्तस्य कतिविधं स्थानमिदमिति च वाच्यं परिमाणमियत्ता वाच्या तथा किं क्व समवतारस्येतीत्येतच्चवाच्यं तथा सारश्च वाच्य इत्येभि र्द्वारैः पूर्वस्माद्भावाचारादस्य भेदो नानात्वमिति पिंडार्थः। अवयवार्थस्तु निर्युक्तिकृदेवाभिधातुमाह।

आयारो आचालो आगालो आगरो य आसंसो।
आगरिसो अंगं चिय आइन्ना जाइया मोक्खो ॥

आचा० १ अ० १ उ०। आचर्यते आसेव्यत इत्याचारः स च नामादि श्चतुर्धा तत्र ज्ञशरीरं भव्यशरीरं तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याचारो ऽनया गाथयानुसर्तव्यः ''णामणधोयणवासण सिरका-वणसुकरणाविरोहीणि दव्वाणि जाणि लोए दव्वायार वियाणाहि'' भावाचारो द्विधा लौकिको लोकोत्तरश्च तत्र लौकिकाः पाषडिकादयः पञ्चरात्रादिकं येकुर्वन्ति ते विज्ञेयाः लोकोत्तरस्तु पञ्चधा ज्ञानादिकः आचारशब्दे दर्शितः एष पञ्चविध आचार एतत्प्रतिपादकश्चायमेव ग्रन्थविशेषो भावाचारः। एवं सर्वत्र योज्यम्। इदानीमाचालः आचाल्यते ऽनेनेति निविडं कर्मादीत्याचालः सोपि चतुर्धा व्यतिरिक्तो वा यः भावाचालः स्वयमेव ज्ञानादिः पञ्चधा इदानीमागालः भागलनमागालः समप्रदेशावस्थानं सोपि चतुर्धाव्यतिरिक्त उदकादेर्निम्न-प्रदेशावस्थानं भावागालो ज्ञानादिक एकस्यात्मनि रागादिरहिते ऽवस्थानमिति कृत्वा। इदानीमाकारः आगत्य तस्मिन् कुर्वन्तीत्याकारो नामादि सूत्रव्यतिरिक्तो रजतादि र्भावाकारो-ऽयमेव ज्ञानादिस्तत्प्रतिपादकश्चायमेव ग्रन्थो निर्जरा-दिरत्नानामत्रलाभात्। इदानीमाश्वास आश्वसंत्यस्मिन्नित्या-श्वासो नामादिसूत्रव्यतिरिक्तो पानपात्रद्वीपादिभावश्वासौ ज्ञानादिरेव। इदानीमादर्शः आदृश्यते अस्मिन्नित्यादर्शो नामादिव्यतिरिक्तो दर्प्पणं भावादर्श उक्त एवं यतोऽस्मिन्निति कर्तव्यता दृश्यते। इदानीमंगं अज्यते व्यक्तीक्रियते ऽस्मिन्नित्यंगं नामाद्येव सूत्रव्यतिरिक्तं शिरोबाह्वादि भावां गमेवा चारः। इदानीमाचीर्णं मासेवितं तश्च नामादि षोढा तत्र व्यतिरिक्तं द्रव्या-चीर्णं सिंहादेस्तृणादिपरिहारेण पिशितभक्षणं क्षेत्राचीर्णं बाल्ही-केषुसक्तवः कोंकणेषुपेयाः कोलाचीर्णं त्विदं।

सरसीवन्दणपंको, अग्घइ सरसा य गन्धकासादी।
पाडलिसिरीस मल्लिय, पियाइं काले निदाहम्मि ॥

भावाचीर्णन्तु ज्ञानादि पञ्चकं तत्प्रतिपादकश्चाचारग्रन्थः। इदानीमाजातिराजायन्ते तस्यामित्याजातिः सापि चतुर्द्धा व्यतिरिक्ता मनुष्यादिजातिः भावाजातिस्यु ज्ञानाद्याचार प्रसू तिरयमेव ग्रन्थ इति। इदानीमामोक्ष आमुच्यन्ते ऽस्मिन्नित्यामोक्षणं वा मोक्षो नामादि स्तत्र व्यतिरिक्तो निगडादेः भाकामोक्षाकगंगिको द्वेष्टनमशेषमेतत् साधकश्चायमेवाचार इति एते किञ्चिद्विशेषादेकमेवार्थं विशेषन्तः प्रवर्तन्तइत्येकार्थिकाः शक्रपुरन्दरादिवत् एकार्थाभिधायिनां च छन्द श्चेति बन्धानु-लोभ्यादि प्रतिपत्यर्थमुद्घट्टनं उक्तं च॥

बन्धाणुलोमया खलु, सच्छंमि य लाघवं असम्मोहो।
सन्तगुणवीयरागे, विय एगट्ठं गुणाहवन्ते ॥

स इदानीं प्रवर्तनाद्वारं कदा पुनर्भगवताचारः प्रणीत इत्यत आह॥

दारं सव्वेसिं आयारो, तित्थस्स पत्तणो पढमयाए।
सेसाइं अंगाइं, एकारसआणुपुव्वीए ॥

आ० १ अ० १ उ० सव्वेसिमित्यादि सर्वेषां तीर्थकराणं तीर्थ-प्रवृत्यादा वाचारार्थं प्रथमतया भूद्भवति भविष्यति च ततः शेषां गार्थ इति गणधरा अप्यनयैवानुपूर्व्या सूत्रतया ग्रन्थन्तीति इदानीं प्रथमत्वे हेतुमाह॥

आयारो अंगाणं, पढमं अंगं दुवालसएहंपि।
एत्थ य मोक्खो वा ओ, एस य सारो पवयणस्स ॥

अयमाचारो द्वादशानाम प्यङ्गानां प्रथम मङ्गमेतस्य कारण माह। यतोत्र मोक्षोपायशश्वरण करणं निगद्यते एषच प्रवचनस्य सारं प्रधानं मोक्षहेतुप्रतिपादना दत्र च स्थितस्य शेषांगाध्ययन-योग्यत्वादस्य प्रथमतयोपन्यास इति। इदानीं गणि द्वारंसाधुर्वा गणिगुणगणो वा गणः सोऽस्यास्तीति गणी आचारायत्तं च गणित्वमिति प्रदर्शयन्नाह॥ आ० १ अ० १ उ०।

आयारंमि अहीए, जं नाउ होई समणधम्मो उ।
तम्हा आयारधरो, वुच्चइ पढमं गणि ट्ठाणं ॥१०॥

(आयारम्मीत्यादि) यस्मादाचाराध्ययनात् क्षांत्यादिक श्चरण करणात्मको वा श्रमण धर्मपरिज्ञातो भवति तस्मात्सर्वेषां गणित्वकारणा नामाचारधरत्वं प्रथममाद्यं प्रधानं वा गणिस्थान मिति।

इदानीं परिमाणं कि पुनरस्याध्ययनतः पदतश्च परिमाण मित्यत आह।

नव बंभचेरमइओ, अट्ठारस पदसहस्सिओ वेउ।
हवय स पञ्च चूलो, बहु बहुतर ओ पयग्गेणं ॥

१। अ० १ उ०। (णवेत्यादि) तत्राध्ययनतो नवब्रह्मचर्या भिधानाध्ययनात्मको वेद इति विदन्त्यस्माद्धेयोपादेय पदार्थानिति वेदः क्षायोपशमिकभाववर्त्ययमाचारः सह पञ्च भिश्चूडाभि र्वर्तत इति स पञ्चचूड श्चभवति। उक्त शेषानुवादिनी चूडा तत्र प्रथम पिंडे सण सेज्जरिया भासज्जा पायवत्थया एसा उग्गह पडिमत्ति। सप्ताध्ययनात्मिका द्वितीया सत्तसत्तिक्कया तृतीया भावना चतुर्थी विमुक्तिः पञ्चमी निशीथाध्ययनं वहुवहुयरो (पदग्गेणंति) तत्र चतुश्चूलिकात्मक द्वितीयश्रुतस्कन्ध-प्रक्षेपाद्बहुः निशीथ पञ्चम-चूलिका प्रक्षेपा द्बहुतरोऽनन्तगमं पर्यायात्मक-विवक्षया बहुतमश्च पदाग्रेण प्रमाणेन भवतीति इदानी मुपक्रमांतर्गत समवतारद्वारं। तत्रताश्चूडानवसु ब्रह्मचर्याध्ययनेष्ववतरन्तीति दर्शयितुमाह॥

आयारगाणत्थो, बंभचेरेसु सो समोयरइ।
सो वि य सत्थपरिणाए, पिंडियत्थो समोयरइ ॥१२॥

सत्थपरिण्णायत्थो, छस्सु, वि काएसु समोयरइ॥
छज्जीवणिया अत्थो, पंच, सु विवएसु उ यरइ ॥१३॥

पंचय महव्वयाइ, समोयरंतेउ सव्व दव्वे सु॥
सव्वेसिं पज्जवाणं, अणन्तभागंडि उयइंति ॥१४॥

इति। १ अ उ० १ आयारे इत्यादि। सत्थे इत्यादि। सत्थे इत्यादि। पंचेइत्यादि। उक्तानार्था नवरमाचाराग्राणि चूलिकाः द्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि पर्याया अनुरुलध्वादय स्तेषामनन्तंभागे व्रत्तानामवतार इति॥ कथं पुनर्महाव्रतानां सर्वद्रव्येष्ववतार इति तदाह॥

छज्जीवणिया पढमे, वयंमिचरमे विति एय सव्वदव्वाइं।
से सा महव्वया खलु, ते दिक्कदेसेण दव्वाणं ॥१५॥

छज्जीवणिया इत्यादि। स्पष्टा कथं पुनर्व्रतानां सर्वद्रव्येष्ववतारो न सर्वपर्यायेष्वित्युच्यते येनाभिप्रायेण चोदितया स

सर्वाकाशप्रदेशसंख्याया अनन्तगुणं सर्वनभः प्रदेशवर्गीकृत-प्रमाणमित्यर्थः । ततोद्वितीयादिस्थानैरसंख्यातगच्छगतै रनंत-भागादिकया वृद्ध्या षट्स्थानकानामसंख्येयस्थानगता श्रेणि र्भवति एवंचैकमपि स्थानं सर्वपर्यायान्वितं न शक्यते परिच्छेत्तुं किं पुनः सर्वाण्यपीत्यतः केऽन्ये पर्याया येषामननन्तभागे व्रतानि वर्तेरन्निति स्यान्मतिरन्ये केवलगम्या इतीदमुक्तं भवति केवल-गम्या प्रज्ञापनीयपर्यायाणामपि तत्र प्रक्षेपाद्बहु, त्वमेवमपि ज्ञान-ज्ञेयास्तुल्यत्वात्तुल्या एव नानन्तगुणा इतिअत्राचार्यआह । यासौ संयमस्थानश्रेणिर्निरूपिता सा सर्वा चारित्रपर्यायैर्ज्ञानि दर्शन-पर्यायसहिते तत्प्रमाणा सर्वाकाश प्रदेशानन्तगुणा इह पुन-श्चरित्रमा त्रोपयोगित्त्वा त्पर्याया नन्तभागवृत्तित्व मित्यदोषः ।

इदानीं सारद्वारं कः कस्यसार इत्याह ॥

अंगाणं किं सारो, आयारो तस्स किं हवइ सारो ।
अणु ओगत्थो सारो, तस्सवि य परूवणासारो ॥१६॥

सारोपरूवणाए, चरणं तस्स वि य होइ निव्वाणं ॥
निव्वाणस्स उ सारो, अव्वाबाहं जिणो वेंति ॥

आ० १ अ० १ उ० ॥ अंगाणमित्यादि स्पष्टा केवल मनुयोगार्थो व्याख्यानभूतोऽर्थस्तस्य प्ररूपणा यथा स्वविनियोग इति । अन्यच्च सारो इत्यादि स्पष्टैव । एतेषांचान्वर्थाभि धानानि दर्शयितुमाह ॥

सत्थपरिण्णा लोग, विजओ य सीउसणिज्जसम्मत्तं ॥
तह लोगसारनामं, वुत्तं तह महापरिण्णा य ॥३१॥

अट्ठसए य विमोक्खा, उवहाण सुयं च नवमगं भणियं ।

इचेसो आयारो, आयारग्गाणि सेसाणि ॥३२॥

सत्थ इत्यादि अट्ठसए इत्यादि स्पष्टे केवलमित्येष नवा-ध्ययनरूप अचारो द्वितीयश्रुतस्कन्धाध्ययनानि शेषाण्या-चाराग्राणी ति साम्प्रतमुपक्रमान्तर्गतोर्थाधिकारो द्वेधा अध्य-नार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च तत्राद्यमाह ॥

जियसंजमो य लोगो, जह वज्झइ जह य तंपजहियव्वं ।
सुहदुक्खतितिक्खा वि य, संमत्तं लोगसारो य ॥३३॥

निस्संगया य छट्ठे, मोहसमुत्था परीसहोवसग्गा ।
निज्झाणंअट्ठमए नवमेय जिणेण पयंति ॥३४॥

जिअइत्यादि णिस्संग इत्यादि तत्र शास्त्र परिज्ञाया मय मर्थाधिकारो (जिय संजमोत्ति) जीवेषुसंयमा जीवसंयमा स्तेषु हिंसादिपरिहारः स च जीवस्तित्वपरिज्ञाने सति भव त्यतो जीवास्तित्व विरति प्रतिपादन-मत्रार्था धिकारलोकविजये तु लोको जहवज्झइ जहायत्तं पज्जहियव्वं ति विजितभावलोकेन संयमस्थितेन लोको यथा वध्यते अष्टविधेन कर्मणा यथा च तत्प्रहातव्यं तथा ज्ञातव्य मित्ययमर्थाधिकार स्तृतीये त्वयं संयमस्थितेन जितकषायेणानु कूलप्रतिकूलोपसर्गनिपातेसुख दुखः तितिक्षाविधेयेति । चतुर्थे त्वयं प्राक्तनाध्य यनार्थसम्पन्नेन तापसादिकष्टतपः से विनामष्टगुणे श्वर्यमुद्वीक्ष्यापि दृढसम्य क्त्वेन भवितव्यमिति पंचमे त्वयं चतुरध्ययनार्थस्थितेनासार परित्यागेन लोकसार रत्नत्रयो भाव्यमिति । षष्ठे त्वयं प्रागुक्तगुणयुक्तेन निस्संगता युक्तेनाप्रतिबद्धेन भवितव्यं । सप्तमेत्वयं संयमादि गुणयुक्तस्य कदाचिन्मोह समुत्थाः परि षहोपसर्गावा । प्रादुर्भवेयुस्ते सम्यक् सोढव्याः । अष्टमे त्वयं निर्याणमंत क्रिया या सर्वगुणयुक्तेन सम्यग्विधेयेति । नव मेयं अष्टाध्ययन-प्रतिपादितोऽर्थस्सम्यगेवम् वर्धमानस्वामिना विहित इति तत्प्रदर्शनं च शेषसाधूनामुत्साहार्थं । तदुक्तम्

तित्थयरो च उरणणी, सुरमहिओसि सिज्झिसव्वय धूवंमि ।
अणिगूहियबलविरिओ, सव्वत्थाने सुउज्जमइ ॥

किं पुण अवसेसे हिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं । होंति न उज्जमियव्वं स पव्ववायंमि माणुस्से आचा० १ अ० १ उ० ॥ तथा च समवायांगे आचारस्य श्रुतस्कंधद्वय रूपस्य प्रथमां गस्य चूलिका सर्वान्तिममध्ययन विमुक्तयभिधान माचारचूलिका तद्वर्जानां तत्राचारे प्रथम श्रुतस्कंधे नवाध्ययनानि द्वितीये षोडशनिशीथाध्ययनस्य प्रस्थानान्तरत्वेने-हानाश्रयणात् । षोडशानां मध्येएकस्या चार चूलिकेति परिहृतत्वात् शेषाणां पञ्चदश सम० ॥५७ सा॥

आयारस्स णं भगवओ सचूलिआयगस्स पणवीसं अज्झयणा प० तं० सत्थपरिण्णा लोगविजओ सीओसणी असम्मत्तं । आवन्ति धुयविमोहउवहाणसुयं महपरिण्णा ॥१॥ पिंडेसणसिज्झिरिआ, भासज्झयणा य वत्थपएसा । उग्गहपडिमा सत्तिकसत्तया भावणविमुत्ती ॥२॥ निसीह-ज्झयणं पण वीस इमं ॥

सम० ॥२५॥ आयारस्स णं भगवओ सचूलियागस्स पंचासी इउद्देसणकाला प० टी० तत्राचारस्य प्रथमांगस्य नवाध्यय-नात्मकप्रथम श्रुतस्कन्धरूपस्य सचूलियागस्स इति द्वितीये हि तस्य श्रुतस्कन्धे पञ्चचूलिकास्तासु च पञ्चमी निशीथाख्येहन गृह्यते भिन्नप्रस्थानरूपत्वात् तस्यास्तदन्याश्चत स्रस्तासुच प्रथमद्वितीये सप्तसप्ताध्ययनात्मिके तृतीयचतुर्थ्यौ चैकै-काध्ययनात्मिके तदेवं सह चूलिकाभिर्वर्तत इति सचूलिका । कस्तस्य पञ्चाशीतिरुद्देशनकाला भवंतीति प्रत्यध्ययनं उद्देशनकालानामेतावत्संख्यत्वात्तथाहि प्रथमश्रुतस्कन्धे नवस्वध्ययनेषु क्रमेण सप्तषट चत्वारश्चत्बारः षट् पञ्च अष्टचत्वारः सप्त चेति द्वितीयश्रुतस्कन्धेषु तु प्रथमचूलिकायां सप्तस्वध्ययेनषु क्रमेण एकादश त्रयस्त्रयः चतुर्षु द्वौ द्वौ द्वितीयायां सप्तैकसराणि अध्यनानि एवं तृतीयैकाध्ययनात्मिका एवं चतुर्थ्यपीति सर्वमीलने पञ्चाशीतिरिति तथाचनन्द्यध्ययने ॥

सेकिंतं आयारे आयारे णं समणाणं निग्गंथाणं आयारे गोयरविणयविणयश्यसिक्खाभासा अभासा चरण-करणजायामायावित्तीओ आघविज्जंति । से समासओ पञ्चविहे पणत्ते तं जहा नाणायारे दंसणायारे चरित्तायारे तवायारे वीरियायारे आयारेणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ स णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे दो सुयखंधा पणवीसे अज्झयणा पञ्चासीइं उद्देसणकाला पञ्चासीइं समुद्देसणकाला अट्ठारस पयसहस्साणि पयग्गणं संखिज्जा अक्खरा अणंतागमा अणंतापज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाया जिण

पन्नता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जन्ति परूविज्जंति दंसिज्जन्ति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवं आयासे एवं नायासे एवं विण्णाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ सेत्तं आयारे ॥

सेकिंतमित्यादि। अथ किं तत् आचार इत्यादि अथवा कोऽय आचारः आचार्य आह (आयारेण मित्यादि) आचारणमाचारः आचार्यते इति वा आचारः पूर्वपुरुषाचरितो ज्ञानाद्यासेवन विधिरित्यर्थः। तत्प्रतिपादको ग्रंथो ऽप्याचार एव उच्यते अनेन चाचारेण करणभूतेनाथवाचारे आचारभूते णमिति। वाक्यालंकारे श्रमणानां प्राङ्निरूपित शब्दार्थानां निर्ग्रन्थानां बाह्याभ्यन्तर ग्रंथरहितानां आह। श्रमणा निर्ग्रन्था एव भवंति। तत्किमर्थं निर्ग्रन्थानामिति विशेषणमुच्यते । शाक्यादिव्यवच्छेदार्थं शाक्यादयोऽपीह लोके श्रमणा व्यपदिश्यंते तदुक्तं (निग्गन्थ-सक्कतावसगेरुअआजीवपञ्चहा समणा इति) तेषामाचारा व्याख्यायंते। तत्राऽचारो ज्ञानाऽचाराद्यनेकभेदभिन्नो गोचरो भिक्षाग्रहणविधिकलक्षणः विनयो ज्ञानादि विनयः वैनयिकं विनयफलं कर्मक्षयादि । शिक्षाग्रहणं शिक्षा आसेवनशिक्षा च विनवशिक्षेति चूर्णिकृत्। तत्र विनेयाः शिष्यास्तथा भाषा सत्या असत्या मृषा च अभाषा मृषा सत्यामृषा च चरणं व्रतादिकरणं पिंडविशुद्ध्यादि उक्तंच (वयसमणधम्मसंजम, वेया वच्चं च बंभगुत्तिओ। नाणा इति यतव कोह, निग्गहाई चरणमे यंतु ॥१॥ पिंड विसोहि समिई, भावणपडिमा इंइदियनिरोहो। पडिले-हणगुत्तीओ। अभिग्गहो चेव करणं तु ॥२॥ (जाया माया वित्तिओत्ति) यात्रा संयमयात्रा मात्रा तदर्थ मेव परिमिताहारग्रहणं वृत्तिर्विविधैरभिग्रहविशेषैर्वर्तनं। आचारश्च गोचरश्चेत्यादिद्वंद्वान्ता आचारगोचरविनयवैनयिक शिक्षाभाषाणा माचरणकरणयात्रामात्रावृत्तयः आख्यायंते इह यत्र क्वचिदन्यतरोपादानेऽन्यतरगतार्थाभिधानं तत्सर्वं तत् प्राधान्यख्या-पनार्थमवसेयं (से समासओ) इत्यादि स आचारः समासतः संक्षेपतः पंचविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा (नाणाचारो इत्यादि तत्र आयारेण मित्यादि आचारे मिति वाक्यालंकारे परित्ता परिमिता ततः प्रज्ञापकं पाठकं चाधिकृत्याद्यन्तोप लब्धैरथवा उत्स-र्पिणीमवसर्पिणी वा प्रतीत्य परित्ता अनन्ता न भवति (आइअन्तो वलंभणाओ तणाओ अहवा ओसप्पिणी मुसप्पिणीकालं पडुच्च परित्तातीयाणागयसव्वद्धं च पडुच्च अणंता) इति तथा संख्येयानि अनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि तानि ह्यध्ययनमध्ययनं प्रति वर्तते अध्ययनानि च संख्येयानीति कृत्वा तथा संख्येया वेढा वेढो नाम च्छन्दोविशेषः। तथाच संख्येयाः श्लोकाः प्रतीताः तथा संख्येया निर्युक्तयस्तथा संख्येयाः प्रार्तपत्तयः प्रतिपत्तयो नाम द्रव्यादिपदार्थाभ्युपगमाः प्रतिमाद्यभिग्रहविशेषा वा ताः सूत्रनिबद्धाः संख्येयाः। आह च चूर्णिकृत्। ''दव्वा-इपयत्थपुव्वगमा, पडिमादभिग्गह विसेसा। पडिवत्ती उत्ते समासतो सुत्तपडिबद्धासंखेज्जत्ति'' (सेणमित्यादि) स आचारो णमिति वाक्यालंकारे अंगार्थतया अंगार्थत्वेनार्थग्रहणं परलोकचिन्तायां सूत्रादर्थस्य गरीयस्त्वख्यापनार्थं अथवा सूत्रार्थोभयरूप आचार इति ख्यापनार्थं प्रथममंगं एकारांतता सर्वत्र मागधभाषालक्षणानुसरणतो वेदितव्या स्थापनामधिकृत्य प्रथममंग मित्यर्थः ॥ तथा द्वौ श्रुतस्कन्धौ अध्ययनसमुदायरूपौ पञ्चविंशतिरध्ययनानि। तद्यथा ॥

सत्थपरिन्ना लोगविजओ, सीओसणिज्जं सम्मत्तं।
आवंतिधुय विमोहो, महापरिन्नोवहाणसुयं ॥

एतानि नवाद्ययनानि प्रथमश्रुतस्कंधे ''पिंडेसणासेज्जिरिया, भासज्जाया य वत्थपाएसा। उग्गहपडिमासत्ता, सत्तिक्कया यभावणविमुत्ती ॥१॥ अत्र (सेज्जिरियत्ति) शय्याध्ययनमीर्या-ध्ययनं च (वत्थपाएसत्ति) वस्त्रैषणाध्ययनं पात्रैषणाध्ययनं च असूनि षोडशाध्ययनानि द्वितीयश्रुतस्कन्धे एव मेतानि निशीथवर्ज्जानि पंचविंशतिध्ययनानि भवंति। तथा पञ्चाशी-तिरुद्देशनकालाः कथमिति चेदुच्यते॥ इहाऽङ्गस्य श्रुतस्क-न्धस्याध्ययनस्योद्देशकस्य चैक एवोद्देशनकालः। एवं शस्त्र-परिज्ञायां सप्तोद्देशनकालाः। लोकविजये षट्। शीतोष्णाध्ययने चत्वारः॥ सम्यक्त्वाध्ययने चत्वारः लोकसाराध्ययने षट्॥ धूताध्ययने पञ्च॥ विमोहाध्ययनेऽष्टौ॥ महापरिज्ञायां सप्त॥ उपधानश्रुते चत्वारः॥ पिंडैषणाध्ययने एकादश॥ शब्दैषणाध्ययने त्रयः॥ वस्त्रैषणाध्ययने द्वौ॥ अवग्रहप्रतिमाध्ययने द्वौ॥ सप्तसप्ततिकाध्ययनेषु भावनायामेको विमुक्तावेकश्च॥ एवमेते सर्वेऽपि पिंडिताः पञ्चाशीतिर्भवन्ति॥ अत्र संग्रहगाथा॥

सत्त य छच्च उ चउरो, पंचअट्ठेवसत्तचउरोय।
एक्कारसतिन्नि य दो दो, दो दो दो सत्तेक्क एक्को य ॥१॥

एवं समुद्देशनकाला अपि पञ्चाशीतिर्भावनीयाः। तथा पदाग्रेण पदपरिमाणे नाष्टादश पदसहस्राणि इह यथार्थोपलब्धिः तत्पदं अत्र पर आह। यद्याचारे द्वौ श्रुतस्कन्धौ पञ्चविंशतिरध्ययनानि पदाग्रेण चाष्टादश पदसहस्राणि तर्हि यद्भणितं ''नव बंभचेर-मइओ अट्ठारसपयसहस्सि-ओवेओ'' इति तद्विरुध्यते। अत्र हि नवब्रह्मचर्याध्ययनमात्र एवाष्टादशाप-दसहस्रप्रमाण आचार उक्तोस्मिंस्त्वध्ययेन श्रुतस्कन्धद्वयात्मकः पञ्चविंशत्यध्ययन-रूपोऽष्टादशपदसहस्रप्रमाण इति। ततः कथं न परस्परं विरोधः तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् इह द्वौ श्रुतस्कन्धौ पञ्च-विंशतिरध्ययनानि एतत्समग्रस्याऽचारस्य परिमाणं अष्टादश-पदसहस्राणि पुनः प्रथमश्रुतस्कन्धस्य नवब्रह्मचर्याध्ययनमयस्य विधिवादार्थनिबद्धानि हि सूत्राणि भवन्ति अतएव चैषां सम्यगर्थावगमो गुरूपदेशतो भवति नान्यथा अत्राह चूर्णिकृत् ''दोसुयक्खन्धा पणवीसं अज्झयणाणि एयं आयारगं सहियस्स आयारस्स पमाणं भणियं अट्ठारसपयसहस्सा पुण पढमसुयखंधस्स नवबंभचेरमइयस्स पमाणं विचिंत अत्थ-निबद्धाणि सुत्ताणि य॰ गुरूवएस ओसिं अत्थो जाणियव्वोत्ति, तथा संख्येयान्यक्षराणि पदानां संख्येयत्वात् तथा (अणंता गमा) इति इह गमा अर्थगमा गृह्यंते। अर्थगमा नाम अर्थपरिच्छेदाः ते चानन्ताः एकस्मादेव सूत्रादतिशायि मतिमेधादिगुणानां तत्तद्धर्मविशिष्टानां तत्तद्धर्मात्मवस्तुप्रतिपत्तिभावात्॥ एतच्च टीकाकृतो व्याख्यानं॥ चूर्णिकृत् पुनराह॥ अभि-धानाभिधेयवशतो गमा भवंति ते चानन्ताः अनेन च प्रकारेण वेदितव्याः। तद्यथा। सुयं मे आउसंतेणं भगवता एवमक्खायंति, इतश्च सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह तत्रायमर्थः श्रुतं मया हे आयुष्मन्! तेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना एवमाख्यातं अथवा श्रुतं मया आयुष्मदंते आयुष्मतो भगवतो वर्द्धमानस्य स्वामिनोऽन्ते समीपे णमिति वाक्यालंकारे तथाच भगवता एवमा

ख्यातं। अथवा श्रुतं मया आयुष्मतोऽयवा श्रुतं मया भगवत्पादारविंद-युगलमामृशता। अथवा श्रुतं मया गुरु-कुलवासमावसता। अथवा श्रुतं मया हे आयुष्मन्! (तेणंति) प्रथमार्थे तृतीया तत् भगवता एवमाख्यातं। अथवा श्रुतं मया हे आयुष्मन्! (तेणंति) तदा भगवता एवमाख्यातं। अच्छ्वा श्रुतं मया हे आयुष्मन्! (तेणंति) तत्र षट् जीवनिकायविषये तत्र वा विवक्षितेन समवसरणे स्थितेन भगवता एवमाख्यातं अथ वा श्रुतं मया हे आयुष्मन्! वर्तते यतस्तेन भगवता एवमा ख्यातं एवमादयस्तं तमर्थमधिकृत्य गमा भवंति। अभिधानवशतः पुनरेवं गमाः 'सुयं मे आउसं आउस सुयं मे मे सुयं,, आउसमित्येवमर्थभेदे तथा तथा पदानां संयोजनतोऽभिधानतो गमा भवन्ति एवमादयः किल अनंता गमा भवंति। तथा अनन्ताः पर्यायास्ते च स्वपरभेदभिन्नाः अक्षरार्थगोचरा वेदितव्याः तथा परीताः परिमितास्त्रसा द्वीन्द्रियादयाः स्थावरा अनन्ता वनस्पतिकायादयः (सासयकडनिबद्धनिकाइयत्ति) शास्वता धर्मास्तिकायादयः कृताः प्रयोगाविस्रसा जन्याः घट- सन्ध्याभ्ररागादयः। एते सर्वेऽपि त्रसादयो निबद्धाः सूत्रे स्वरूपतः उक्ताः। निकाचिता निर्युक्तिसंग्रहणहेतूदाहरणादिभिरनेकधा व्यवस्थापिता जिनप्रज्ञप्ता भावाः पदार्था आख्यायंते सामान्यरूपतया विशेषरूपतया वा कथ्यन्ते प्रज्ञाप्यन्ते नामादिभेदोपन्यासेन प्रपच्यन्ते प्ररूप्यन्ते नामादीनामेव भेदा-नांसप्रपञ्चं स्वरूपकथनेन पृथग्विभक्ताः स्थाप्यन्ते दर्श्यन्ते उपमाप्रदर्शनेन यथा गौरिवगवय इत्यादि निदर्श्यते हेतु-दृष्टान्तोपदर्शनेनोपदर्श्यन्ते निगमनेन शिष्यबुद्धौ निश्शंकं व्यवस्थाप्यन्ते साम्प्रतमाचाराङ्ग ग्रहणे फलं प्रतिपादयति स एवमित्यादि स इति आचारांगग्राहकोऽभिसम्बन्ध्यते एवमात्मा एवंरूपो भवति॥ अयमत्र भावः अस्मिन्नाचारांगे भावतः सम्यगधीते सति तदुक्तक्रियानुष्ठानानुपरिपालनात्साक्षान्मूर्त इवाचारो भवति। आह च टीकाकृत्। तदुक्तक्रियापरिणामा-व्यतिरेकात्स एवाचारो भवतीत्यर्थः। इति तदेवं क्रिया-मधिकृत्योक्तं संप्रति ज्ञानमधिकृत्याह (एवं नायत्ति) यथाचारांगे निबद्धा भावास्तथा तेषां भावानां ज्ञाता भवति तथा (एवं विन्नायत्ति) यथा निर्युक्तिसंग्रहणीहेतूदाहरणादिभिर्विविधं प्ररूपितास्तथा विविधं ज्ञातारो भवंति एवं चरणकरणप्ररूपणा आचार आख्यायते सेत्तं आयारोत्ति ॥नं०॥ सेकिंतं आयारे आयारेणं समणाणं निग्गंथाणं आयारगोयरविणयवेणइयठाण-गमणचंकमणपमाणजोगजुंजणभासा समितिगुत्तीसेज्जो वहिभत्त-पाण उग्गमउप्पायएसणाविसोहि शुद्धाशुद्ध-गहणवयणि-यमतवोवहाणसुप्पसत्थामाहिज्जइ से समासओ पञ्चविहो पं० तं० णाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, आयारस्स णं परित्तावायण संखेज्जा अणुओगदारा संखेज्जाओ पडिवत्तीओ संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ से णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे दो सुयक्खधा पणवीसं अज्झयणा पञ्चासीइं उद्देसणकाला पञ्चासी समुद्देसणकाला अट्ठारस पदसहस्साइं पदग्गेणा संखेज्जा अक्खरा अणंतागमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासया कडानिबद्धा णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति नंदिस्संति उवदंसिज्जा से एवं णाए एवं विण्णाए एवं चरणकरणपरूवमया आघविज्जंति परूविज्जंति नन्दिसिज्जंति उवदंसिज्जंति सेत्तं आयारो ॥सम० १२ स०। आचाराङ्गस्य व्यवच्छेदकालश्च ॥ विण्हमुणिम्मि मरंते, हरितगोत्तम्मि होतिवीसाए॥ वरिसाणसहस्सेहिं, आयारंगस्स वोच्छेदो॥ सम्प्रतमुद्देशार्थाधिकारः शस्त्रपरिज्ञाया अयं जीव इत्यादि तत्र प्रथमोद्देशके सामान्येन जीवास्तित्वं प्रतिपाद्य शेषेषु तु षट्सु विशेषेण पृथिवीकायाद्यस्तित्वमिति सर्वेषां चावसाने बन्धविरतिप्रतिपादनमिति। एतच्चान्ते उपात्तवान् प्रत्येकमुद्देशा-र्थेषु योजनीयं प्रथमोद्देशके जीवस्वपवधे वधो विरतिष्विति एवमिति तत्र शस्त्रपरिज्ञा ॥आचा० १ अ० १ उ० साम्प्रतमाचारा-दिप्रधानस्य सुखप्रतिपत्तये दृष्टान्तोपन्यासेन विधिराख्यायते॥ यथा कश्चिद्राजाऽभिनवनगरनिवेशेच्छया भूखंण्डानि विभज्य समतया प्रकृतिभ्यो दत्तवाँस्तथा कचवरापनयने शल्योद्धारे भूस्थिरीकरणे पक्वेष्टकापीठप्रासादरचने रत्नाद्युपादाने चोपदेशं दत्तवाँस्ताँश्च प्रकृतयस्तदुपदेशानुसारेण तथैव कृत्वा यथाभिप्रेतान् भोगान् बुभुजिरे। अयमत्रार्थोपनयः। राजसदृशेन सूरिणा प्रकृतिसदृश-शिष्यगणस्य भूखण्डसदृशः संयमो मिथ्यात्व-कचवराद्यपनीय सर्वोपाधिशुद्धस्यारोपणीयस्तं च सामायिक-संयमं स्थिरीकृत्य पक्वेष्टकापीठतुल्यानि व्रतान्यारोपणीयानि ततः प्रासादकल्पोऽयमाचारो विधेयसूत्रस्थश्च शेषशास्त्रादि-रन्यान्यादत्ते निर्वाणभाग्भवति॥ आचा० १ अ० १ उ०॥

आयारंगचूला–स्त्री० (आचाराङ्गचूडा) आचाराङ्गस्य द्वितीयेऽग्रश्रुतस्कन्धे (एतद्बहुवक्तव्यताऽऽचारचूलिकाशब्दे) प्रथमा-चारचूलेति आचा०।

आयारकुसल–पुं० (आचारकुशल) आचारेण ज्ञानाद्याचारेण कर्मकुशलः कर्मोच्छेदकः आचारविषये सम्यक् परिज्ञानवति, आचारे ज्ञातव्ये प्रयोक्तव्ये वा कुशलो दक्ष आचारकुशलः। आचारज्ञाने आचारप्रयोगे वा दक्षे, च। व्य०उ० ३। आचार-कुशलशब्दस्य व्याख्यानार्थमाह॥

अब्भुट्ठाणे आसण, किं कर अब्भासकरणविभत्ति। पडिरुवजोगजुंजण, नीयोगपूजा जहा कमसो॥ अफरुस अणबल अचवल, मकुक्कयमडंभगोमसीभरणं। सहित समाहि यउवट्ठिय, गुणनिहि आयार कुशलोउ॥ आचार कुशलो नाम यो गुर्वादी नामभ्युत्थानं करोति (आसणत्ति) आसनप्रदानं च तेषामेव गुर्वादीनां विधत्ते समागतानां पीठिकाद्युपनयतीति भावः। तथा प्रातरेवागत्य आचार्यान् वदति संदिशत किंकरोमीति स किंकरः तथा (अब्भासकरणमिति) ये अभ्यागतास्तेषामात्मस-मीपवर्तित्वकरणमभ्यासकरणं अविभक्तिर्विभागाभावः शिष्यः प्रतिच्छकानां विशेषकरणमितिभावः (पडिरूव योगजुंजणत्ति) प्रतिरूपः खलु विनयः कायिकादिभेदतश्चतु र्धाऽधस्तात् पीठिकायामभिहितस्तदनुगता योगा मनोवाक्कायास्तेषां योजनं व्यापारणमवश्यकरणं अविभक्तविभागयोजनं (नियोगत्ति) योयत्र वस्त्राद्युत्पादने नियोक्तव्यः तस्य तत्र नियोगं करोति (पूजा जहा कमसोत्ति) गुर्वादीनां यथानुरूपं क्रमशो येन पूजा क्रियते अपरुषमनिष्ठुरं मनः प्रल्हादकृदित्यर्थः तद्भाषते (अण-बलत्ति) तत्र प्राकृतत्वात् यकारलोपः तेन अबलया इति द्रष्टव्यं तस्याऽभावोऽणबलया अकुटिलत्वमित्यर्थः। अचपलः स्थिरस्वभावः अकुक्कुयो हस्तपादमुखादिवि रूपचेष्टारहितः। अदभंको वंचनानुगतवचनविरहितः। सीभरो नाम य उल्लपन् परं लालया सिंचति तत्प्रतिषेधादसभिरः। प्राकृतत्वात्स्वार्थे कप्रत्ययविधानेन असीभरकः एष सर्वोऽपि

किल विनय इति वीर्याचारः प्रतिपादितो दृष्टव्यः संप्रति शेषाणां ज्ञानाद्याचाराणां प्ररूपणानिमित्तं पश्चार्द्धमाह । सहितो नाम स यस्य ज्ञानादेरुचितः कालस्तेनोपेतः । किमुक्तं भवति । काले स्वाध्यायं करोति । काले प्रतिलेखनादिकं काले च स्वोचितं तप इति सम्यक् आदितो यत् यस्योपधाने तत्करणे वा स्वाभिप्रायः समाहितः उपशमी ज्ञानादीनां हितः स्थित औत्पत्तिके ज्ञानाद्यधिकं निर्म्मलतर मात्मनोवाञ्छन् सदैव गुरुषु बहुमानपर इति भावः । एवंज्ञानाद्याचारसमन्वितो गुणनिधिर्भवति । तत आह गुणनिधिर्गुणानामाकारः एष आचारकुशलः सांप्रतमेत देव गायाद्वयं विनेयजनानुग्रहाय भाष्यकृद्व्याख्यानयति । अब्भुट्ठामं गुरुमादियाणं, आसणदाणं च होइ तस्सेव । गोसे वय आयरिये, संदिसहा किं करोमित्ति अत्र (गोसे) इति प्रातरेवेत्यर्थः ''सव्भासकरणधम्मं, छेयाण अविभत्ति सीसपाडिच्छे । पडिरुवजोगो जह, पीढियाए जुंजणं करेमि धुवं'' अत्र प्रतिरूपयोगो यथा पीठिकायां प्राक् प्रतिरूप-विनयाधिकारेऽभिहितस्तथा प्रतिपत्तव्यः (जुंजणं) इत्यस्य व्याख्यानं यत् ध्रुवमकालहीनं प्रतिरूपयोगात्करोति पारयती-तिभावः । (पूयं जहाणुरूवं, गुरुमादीणं करेह कमसोउ । उल्हा-दिजणणमफरुसं, अचवलया होइ कुलुमंतं) अत्रह्लादिजननमिति मनः प्रह्लादजनकं ''अचबलथिरस्सभावो अप्फंदणयायहोइ अकुयत्तं । उल्लाव-लालससीभर, सहितो कालेलणाणादि'' अव स्यंदनता भंडोचितहस्त-पादादिचेष्टाविकलता सम्मं अहियभावो समाहितो समीवम्मि नाणादिणं तु तद्धितो गुणनिहिजोआगरो गुणाणं गाथापंचकमपि गतार्थम् ॥व्य०॥

आयारक्खेवणी–स्त्री० (आचारक्षेपणी) आचारो लोचाऽस्नानादि-स्तत्प्रकाशनेनाक्षेपणी आचाराक्षेपणी । आक्षेपणी-कथाभेदे, ॥ स्था० ४ द्वा० ॥

आयारगोयर–पुं० (आचारगोचर) आचारो मोक्षार्थमनुष्ठान-विशेषस्तस्य गोचरो विषय आचारगोचरः आचा० ॥७० अ० १ उ० । आचारः साधुसमाचारस्तस्य गोचरो विषयो व्रतषट्कादिरा-चारगोचरः साधुसमाचारविषये, व्रतषट्कादिके, आचारश्च ज्ञानादि विषयः पञ्चधा गोचरश्च भिक्षाचर्य्येत्याचारगोचरं ज्ञानाचारादिके, भिक्षाचर्य्यायां च, । न०॥ सेहं आचारगोयरं ग्रहणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ स्था० ८ द्वा० इह विभक्तिविपरिणामादाचारगोचरस्य ग्रहण-तायां शिक्षण शैक्षमाचारगोचरं ग्राहयितुमित्यर्थः ॥स्था० ८ द्वा० ।

आयारगोयरं विणयवणइयचरणकरणजायामायावत्ति यं धम्म-माइक्खीयं ॥ आचारः श्रुतज्ञानादिविषयमनुष्ठानं कालाध्य-यनादिगोचरो भिक्षाटनम् एतयोः समाहारद्वन्द्वस्ततस्तदा-ख्यातमिच्छामीति योग इति ॥भ० २ श० १ उ० ॥ क्रियाकलापे, पुं० दश० ६ अ० ॥

रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया ।
पुच्छंति निहुअप्पाणो कहं आयारगोयरं ॥

व्या० ॥ राजानो नरपतयः राजामात्याश्च मंत्रिणः ब्राह्मणाः प्रतीताः (अदुवत्ति) तथा क्षत्रियाः श्रेष्ठ्यादयः पृच्छंति निभृतात्मानः असभ्रांता रचितांजलयः कथं ते भवता आचारगोचरः क्रियाकलापः स्थित इति सूत्रार्थः ॥

तेसिं सो निहुओदंतो, सव्वभूय सुहावहो ।
सिक्खा एसु समाउत्तो आइक्खेज्ज वियक्खरो ॥३॥

व्या० ॥ तेभ्यो राजादिभ्यः असौ मणी निभृतोऽसंभ्रांत उचितधर्म्मः कायस्थित्या दांत इंद्रिय मनोदमाभ्यां सर्वभूत सुखावहः सर्वप्राणिहितइत्यर्थः । शिक्षया ग्रहणासेवनरूपया सुसमायुक्तः सुष्ठु एकीभावेन युक्तः आख्याति कथयति विचक्षणः पंडित इति सूत्रार्थः ।

(हंदि धम्मत्थकामाणं, निगंथाण सुणेह मे । आयारगोयरं भीमं, सयलं दुरहिट्ठियं) सूत्रंव्या० ॥ हंदिइत्युपदर्शने तमेनं धर्म्मा-र्थकामानामिति धर्म्मश्चारित्रधर्म्मादिस्तस्यार्थः प्रयोजनं मोक्षः कामयंते इच्छंति विशुद्धविहितानुष्ठानकरणेनेति धम्मार्थकामाः मुमुक्षवस्तेषां निर्ग्रंथानां बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहितानां शृणुत मम समीपात् आचारगोचरं क्रियाकलापं भीमं कर्मशत्रवपेक्षया रौद्रं सकलं संपूर्णं दुरधिष्ठं क्षुद्धसत्वैर्दुराश्रयमिति सूत्रार्थः ॥

आयारग्ग–न० (आचाराग्र) आचारांगस्य द्वितीये श्रुतस्कंधे तद्वक्तव्यताऽ-चारांगटीकायाम् ॥ (आचारमेरो–र्गदितस्यलेशतः, प्रवच्मिचच्छेषिक-चूलिकागतां । प्रारिप्सितेऽर्थे गुण वान् कृती सदा, जायेत निः शेषमशेषितक्रियः १) उक्तो नवब्रह्मचर्याध्यय-नात्मक आचारश्रुतस्कंधः सांप्रतं द्वितीयोग्रश्रुतस्कंधः समारभ्यते । अस्य चायमभिसंबंधः उक्तम् प्राचारपरिमाण् प्रतिपादयता तद्यथा (णवबंभचेरमइ ओअट्ठारसपय-सहस्सिओ वेओ हवइ य स पंचचूलो बहु २ अयरो पयग्गेणं) तत्राद्ये श्रुतस्कंधे नवब्रह्मचर्याध्ययनानि प्रतिपादितानि तेषु च न समस्तोऽपिविवक्षि-तोऽर्थोऽभिहितोऽभिहितोऽपि संक्षेपतोऽतोऽ-भिहितार्थाभिधानाय संक्षेपोक्तस्य च प्रपंचाय तदग्रभूताश्चतस्रश्चूडा उक्ताः अनुक्त-संग्रहिकाः प्रतिपाद्यंते ॥ तदात्मकश्च द्वितीयोग्रश्रुतस्कंध इत्यनेन संबधेनायातस्यास्य व्याख्या प्रतन्यते तथा चाचारांगनिर्युक्तौ अग्रनिक्षेपम्प्रतिपाद्याह ॥

उवयारेण उपगयं, आयारस्सेव उवरि माइं ॥
तुरुक्खस्सपव्वयस्स य, जह अग्गाइं तहे ताइं ॥२॥

उपकाराग्रेणात्र प्रकृतमधिकारः यस्मादेतान्याचारस्यै-वोपरिवर्त्तन्ते तदुक्तं शेषवादितया तत्संबद्धानि तद्यथा वृक्ष-पर्वतादेरग्राणीति शेषाणि त्वग्राणि शिष्यमतिव्युत्पत्यर्थमस्य चोपकाराग्रस्य सुखप्रतिपत्यर्थमिति तदुक्तं (उचारिस्स सरिसं, जं केणवितं परुवए विहिणा, जेणहि गारो तं मिउ, परुविए होइ सुहगेझं) तत्रेदमिदानीं वाच्यं केनैतानि निर्व्यूढानि किमर्थं कुतो वेत्यतआह ॥ थेरेहिं अणुग्गाहट्ठा, सिसहियं होउ पागडत्थं च ॥ आयाराउ अत्थो, आयारग्गेसु पविभत्तो गाहा ॥ थेरेहीत्यादि स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दश पूर्वविद्भिर्निर्व्यूढानीति किमर्थं शिष्यहितं भवत्विति कृत्वा अनुग्रहार्थं तथा अप्रकटोऽर्थः प्रकटो-यथास्यादित्येवमर्थं च कुतोनिर्व्यूढाचारात् सकाशात्सम-स्तोऽप्यर्थः आचाराग्रेषु विस्तरेण प्रविभक्त इति ॥

सांप्रतं यद्यस्मान्निर्व्यूढ तद्विभागेनाचष्ट इति ॥

विइ अस्स य पंचमए, अट्ठमगस्स वीयंमि उद्देसो ॥
भणिओ पिंडेसणेज्जा, वत्थं पाओग्गहे चेव ॥४॥

पंचमगस्स चउत्थे इरिया वणिज्जइ समासेणं ॥
छट्ठस्सय पंचमए, भासज्जाया वियाणाहि ॥५॥

सत्तेक्काणि सत्तवि, णिज्जूढाइं महापरिण्णावो ॥
सत्थपरिण्णा भावण, णिज्जूढाउ धुवविमुत्ती ॥६॥

आयारपकप्पोउ, पचखाणस्स तइयवत्थूओ ॥
आयारणामधेज्जा, वीसइमा पाहुडच्छेया ॥७॥

विइयस्सेत्यादि चतस्रो। गाथाः ब्रह्मचर्याध्ययनानां द्वितीय मध्ययनं लोकविजयाख्यं तत्र पंचमोद्देशके इदं सूत्रं (सव्वामगं धं परिण्णाय निरामगंधो परिव्वएज्जा) तत्रामग्रहणेन हननाद्यास्तिस्रः कोट्यो गृहीता गन्धोपादानादपरास्तिस्र एताः षडप्यविशो-धिकोट्यस्ताश्चेमा स्वतो हंति घातयति घ्नन्तमनु जानीते तथा पचति पाचयति पचन्तमनुजानीत इति तथा तत्रैव सूत्रं (अदिस्समाणो कयविक्कएहिंति) अनेनापि तिसो विशोधिकोट्यो गृहीतास्ताश्चेमाः क्रीणाति क्रापयति क्रीणंतमन्यमनु-जानीते तथाऽष्टमस्य विमोहाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशके इदं सूत्रं (भिक्खू परिक्कमेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा णीसिएज्ज वा तुयेट्टज्ज वा सु साणंसि वेत्यादि) यावत् (बहिया विहरेज्जा तं भिक्खुं गाहावति उवसंकमित्तुवएज्जा अहमा उसंतो समणा तुब्भट्ठाये असणं वा ४ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइ समारब्भसमुद्दिस्स कीयं पाडिच्च) मित्यादि एतानि सर्वाण्यपि सूत्राण्याश्रित्यैकादशपिंडैषणा निर्व्यूढास्तथा तस्मिन्नेव द्वितीयाध्ययने पंचमोद्देशकेसूत्रं (से वत्थं पडिग्ग हं कंबलं पायपुंछणं उग्गहं च कडासणमिति) तत्र वस्त्रकंबलपादपुंछनग्रहणात् वस्त्रैषणा निर्व्यूढा पतद्-ग्रहपदात्पात्रैषणा निर्व्यूढा अवग्रह इत्येतस्मादवग्रहप्रतिमा निर्व्यूढा कडासनमित्येतस्माच्छय्येति तथा पंचमाध्ययनावंत्याख्यस्य चतुर्छोद्देशक सूत्रं (गामाणुगामं दुइज्जमाणस्स दुज्झायं दुप्परकंतमित्यादि नेर्या संक्षेपेण व्यावर्णितेत्यत ईर्याध्ययनं निर्व्यूढं तथा षष्ठाध्ययनस्य धुवाख्यस्य पंचमोद्देशकसूत्रं (आइक्खइ विहयइ किट्ठति धम्मकामी) त्येतस्माद्भाषाध्ययनमाकृष्टमित्येवं विजानीयास्त्वमिति तथा महापरिज्ञाध्ययने सप्तोद्देशकास्तेभ्यः प्रत्येकं सप्तापि सप्तैकका निर्व्यूढास्तत्छा शस्त्रपरिज्ञाध्ययनाद्भावना निर्व्यूढास्तथा धूताध्ययनस्य द्वितीयचतुर्थकोद्देश-काभ्यां विमुक्ताध्ययनं निर्व्यूढमिति तच्छाचार-प्रकल्पो निशीथः स च प्रत्याख्यानपूर्वस्य यत् तृतीयं वस्तु तस्याऽपि यदाचाराख्य विंशतितमं प्राभृतं ततो निर्व्यूढ इति ब्रह्मचर्याध्ययनेभ्य आचारा-ग्राणि निर्व्यूढान्यतो निर्व्यूहनाधिकारादेव तान्यपिशस्त्रपरिज्ञा-ध्ययनानि निर्व्यूढानीति दर्शयति ॥

अव्वोगडो उ भणिओ, सत्थपरिण्णाए दंडणिक्खेवो ॥
सो पुण विभज्जमाणो, तहा तहा होइ णायव्वो ॥८॥

अव्याकृतोऽव्यक्तोऽपरिस्फुट इति यावत् भणितः प्रतिपादितः कोऽसौ दंडनिक्षेपः दंडः प्राणिपीडालक्षणस्तस्य निक्षेपः परित्यागः संयम इत्यर्थः। स च शास्त्रपरिज्ञायामव्यक्तोऽभिहितो यतस्तेन पुनर्विभज्य-मानोऽष्टस्वप्यध्ययनेष्वसावेव तथा तथानेकप्रकारो ज्ञातव्यो भवतीति ॥

कथं पुनरयं संयमः संक्षेपोऽभिहितो विस्तार्यत इत्याह ॥

एगविहो पुण सो, संजमोत्ति अज्झत्तत्थ बाहिरेय दुहा।
मणवयमकायतिविहो, चउविहो चाउजामोउ ॥

पंच य महव्वयाइं तु, पंचहाराइ भोयणं छट्ठा।
सीलंगसहस्साणि य, एसो उ अट्ठिमतरो होइ ॥९॥

(एगविहो) इत्यादि (पंचय) इत्यादि अविरतिवृत्तिलक्षण एकविधः संयमः सएवाऽध्यात्मिकबाह्यभेदात् द्विधा भवति। पुनर्म्मनोवाक्काययोग-भेदात्त्रिविधः स एव चतुर्याम भेदाच्चतुर्धा पुनः पञ्चमहाव्रतभेदात्पंचधा। रात्रिभोजनविरतिपरिग्रहाच्च षोढे-त्यादिकया प्रक्रियया भिद्यमानो यावदष्टा दशशीलांगसहस्र-परिमाणो भवतीति किंपुनरस्तौ संयमस्तत्र तत्र प्रवचने पंच-महाव्रतरूपतया भिद्यते इत्याह ॥

आइक्खिउं विभइयुं, विण्णाउं चेव सुहुतरं होइ।
एएण कारणेण, पञ्चमहव्वया पण्णविज्जंति ॥११॥

संयमः पञ्चमहाव्रतरूपतया व्यवस्थापितः सन्नाख्यातुं विभक्तुं विज्ञातुं च सुखेनैव भवतीत्यतःकारणात्पञ्चमहाव्रतानि प्रज्ञाप्यंते। एतानि च पञ्चमहाव्रतान्यस्खलितानि फलवन्ति भवंत्यतो रक्षायत्तो विधेयस्त-दर्थमाह ॥

तेसिं च रक्खणट्ठा, भावणा पञ्चवए इक्केके ॥
तासत्थपरिण्णाए, एसो अट्ठिमतरो होइ ॥१२॥

तेषां च महाव्रतानामेकैकस्य तद्वृत्तिकल्पाः पंच २ भावना भवंति। ताश्च द्वितीयाग्रश्रुतस्कंधे प्रतिपाद्यंते अतोऽयं शस्त्र-परिज्ञाध्ययनाभ्यंतरो भवतीति ॥

सांप्रतं चूडानां यथा स्वं परिमाणमाह ॥ जाउग्गहपडिमाओ, पढमा सत्ति किंगावीय चूला भावणविम्मुत्ति आयारपकप्पा तिण्णि इति पंच ।१३। पिंडैषणाध्ययनादारभ्य अवग्रहप्रतिमाध्ययनं यावत् एतानि सप्ताऽध्ययनानि प्रथमाचूडा सप्तसप्तैकका द्वितीया भावना तृतीया विमुक्तिः चतुर्थी आचारविकल्पो निशीथः सा पंचमी चूडेति आचा० २ श्रु० १ चू

आयारचूला–स्त्री० (आचारचूला) उक्तशेषानुवादिनी चूडा आचारस्य चूला आचार चूला। आचाराग्रे आचारांगस्य द्वितीयेऽग्रश्रुतस्कंधे, आचा० अ० १ उ०॥

आचाराग्राणि चूलिका इति आचा०॥ आचारांगस्य-द्वितीयेग्रश्रुतस्कंधे पञ्चचूडा स्तत्र प्रथमा (पिंडेसणसेज्जरिया, भासज्जा या य वत्थपाएसा उग्गहपडिमत्ति) सप्ताध्ययनात्मिका द्वितीया सप्तसप्तिकया तृतीया भावना चतुर्थी विमुक्तिः पञ्चमी निशीथाध्ययनमिति। आचा० अ० १ उ० १ ॥

एताश्चाचारश्रुतस्कंधस्य नवभ्यो ब्रह्मचर्याध्ययनेभ्यो निर्व्यूढा इति आचाराग्रशब्दे ॥

आयारचूलिया–स्त्री० (आचारचूलिका) आचारचूलायाम्, आयारस्सणं भगवओ सचूलीयागस्स पञ्चासीइ उद्देसणकाला सम० ८५ स०॥

आचारांगस्य विमुक्त्यभिधाने सर्वांतिमेऽध्ययने, च तिण्हं गमिपिडगाणं, आयारचूलियावज्जाणं सत्तावन्नं अज्झयणा प० सम० ५७ स०॥

आचारस्य श्रुतस्कंधद्वयरूपस्य प्रथमाङ्गस्य चूलिका सर्वा-न्तिमध्ययनं विमुक्त्यभिधानमाचारचूलिका तद्वर्जानामिति सम० टी०॥

आयारटीगा–स्त्री० (आचारटीका) शीलंगाचार्य्यविरचितायामाचारांग-व्याख्यायाम्, तथाचाचारांगटीकायाम् आचार-टीकाकरणे। "आचारशास्त्रं सुविनिश्चितं यथा, जगाद वीरो जगते हिताय यः॥ तथैव किञ्चिद्वदतः स एव मे, पुनातु धीमान् विनयार्पिता गिरः ॥१॥ शस्त्रपरिज्ञाविवरण, मतिबहुगहनञ्चगन्धहस्तिकृतं॥ तस्मात्सुखबोधार्थं, गृण्हाम्यहमञ्जसा सारम् ॥२॥" आचा० टी० अ० १ उ० १ ॥

आयारट्ठ–त्रि० (आचारस्थ) आचारे स्थित आचारस्थः ज्ञाना-

चाऽऽदिपंचविधाचारयुक्ते, ॥

''नाणंमि दंसणंमिय, तवे चरित्तेय समणसारमि । ण च एत्ति जो ठवेउं, अप्पाणं गणं न गणहारी । एसगणहरमेरा, आयारत्था-णवण्णिता सुत्ते'' । पं० भा० ॥

एसा गणधरमेरोर्मर्य्यादा सीमा इत्यर्थः (आयारट्ठाणंति पंचविहे आयारे जुत्ताणं) आचारे स्थित आचारस्थः तेषां वर्णिता स्तत्र प्रणीता इत्यर्थः । पं० चू० ॥

आयारणिज्जुंत्ति–स्त्री० (आचारनिर्युक्ति) निर्युक्तानां सूत्रेऽभिधेय तथा व्यवस्थापितानामर्थानां युक्तिर्घटना विशिष्टा योजना निर्युक्तियुक्तिरेतस्मिंश्च वाच्ये युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिरित्युच्यते । सम० स० १ आचारस्य निर्युक्तिराचारनिर्युक्तिः । आचार सूत्रार्थानां विशिष्टयोजनायाम्, तथात्य समवायांगे । आचारांग मधिकृत्य ''संखेज्जाओणिज्जुत्तिओ'' सम० १ स० ॥ आचारांग निर्युक्तिश्च भद्रबाहुस्वामिना रचिता ॥ तथाचाचारांगटकियां भद्रबाहुस्वामिनमधिकृत्य । स च पूर्वमावश्यकनिर्युक्तिं विधाय पश्चादाचारांगनिर्युक्तिं चक्रे तथाचोक्तं (आवस्सयस्स दस कालियस्स तह उत्तरज्झयमायारत्ति) आचा० अ० १ उ० १

आयारतेण–त्रि० (आचारस्तेन) विशिष्टाचारवत्तुल्यरूपे ''आयारभावतेणेय कुव्वइ देवकिव्विसं ४६'' दश० अ० ५ उ० २ ॥

आयारदशा–स्त्री० (आचारदशा) आचरणमाचारो ज्ञानादिविषयः पंचधा । आचारप्रतिपादनपरा दशा आचारदशा । दशाभेदे, दशाध्ययनात्मिका-आचारदशा दशाश्रुतस्कंध इति या रूढेति स्या० ठा० १० ॥ अङ्ग दशा । अण्हावि हु उ बासगा, दिण्ण तेण्णतु विसेसो । आयारदशा तुइमो, जेणेत्थं वण्हिया यारो । पं० भा० । आचारदशानामध्ययनविभागमाह । स्था० १० ठा० ॥

आयारदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता । तंजहा वीसं असमाहिठणा इक्कवीसं सबला तित्तिसं आसायणो अट्ठविहा गणिसंपया दस चित्तसमाहिट्ठाणा इक्कारस उवासगपडि-माओ बारस भिक्खुपडिमाओ पज्जोसवणा कप्पे तिसं मोहणिज्जठाणा ।।

समाधिस्थानानि यैरासेवितैरात्मपरोभयानामिह परत्रो भयत्र वा असमाधिरुत्पद्यते तानीति भावस्तानि च विंशतिर्द्रुतचारित्वादीनि । तत एवावगम्यनीति तत्प्रतिपादक मध्ययनमसमाधिस्थानानीति । प्रथमतया एकविंशतिः शबलाः शबलं कर्बूरं द्रव्यतः पटादिः भावतः साऽतिचारं चारित्रमिह च शबलचारित्रयोगात् शबलाः साधवस्ते च करकर्म-प्रकारान्तरमैथुनादीन्येकविंशतिपदानि ॥१॥ तत्रै वोक्तरूपाणि सेवमाना उपाधित एकविंशतिर्भवति । तदर्थ मध्ययनमेकविंशति शबला इत्यभिधीयते ॥२॥ ते तो समासायणाओत्ति ज्ञानादिगुणाः आ समस्त्येन शात्यंते अपध्वस्यंते यकाभिस्ता आशातना रत्नाधिकविषयाः अविनयरूपाः पुरतो गमनादिकास्त-प्रसिद्धास्त्रयस्त्रिंशद्भेदा यत्राभिधीयन्ते तदध्ययनमपि तथैवोच्यत इति ॥३॥ (अट्ठेत्यादि) अष्टविधा गणिसंपत् आचारश्रुत-शरीरवचनादिका आचार्य्य गुणर्द्धिरष्टस्थानकोक्तरूपा यत्राऽभिधीयते तदध्ययनमपि तत्रैवोच्यत इति ॥४॥ (दसेत्यादि) दशचित्तसमाधिस्था नानि येषु सत्सु चित्तस्य प्रशस्त-परिणतिर्जायते तानि तथा असमुत्पन्नपूर्वकधर्म्मा-चित्तोत्पादादीनि तत्रैव प्रसिद्धान्यभि धीयन्ते यत्र तत्तथैवोच्यते इति ५ (एक्कारे) त्यादि एकादशो पासकानां श्रावकाणां प्रतिमाः प्रतिपत्तिविशेषाः दर्शनव्रत सामयिकादिविषयाः प्रतिपाद्यंते यत्र तत्तथैवोच्यते ॥६॥ (बारसेत्यादि) द्वादशभिक्षूणां प्रतिमा अभिग्रहा मासिकीद्विमा सि की प्रभृतयोयत्राभिधीयन्ते-तत्तथोच्यत इति ॥७॥ पज्जो इत्यादि ॥ पर्याया ऋजुबुद्धिका द्रव्यक्षेत्रकालभावसंबन्धिनउत्सृज्यन्ते उज्झन्ते यस्यां सा निरुक्तविधिना पर्योसवना अथवा परीति सर्वतः-क्रो धादिभावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा पर्युपशमना अथवा परिः सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्यतः सप्ततिदिनानि उत्कृष्टतः षण्मासान् वसनं निरुक्तादेव पर्युषणा तस्याःकल्प आचारोमर्यादेत्यर्थः ॥ पर्योसवनाकल्पः पर्य्युपश मनाकल्प पर्युषणाकल्पोवेति स च (सक्को संजोयणं विगइनववयमि) त्यादिकस्तत्रैव प्रसिद्धस्तदर्थमध्ययनं स एवोचयत इति ८ ॥ (तीसमित्यादि) त्रिंशन्मोहनीयकर्मणो बन्धस्था नानि बन्धनकारणानि (वारिमइझ-बगाहित्ता तसे पाणे विहिंसई) इत्यादि कानि तत्रैव प्रसिद्धानि मोहनीयस्थानानि तत्प्रतिपादकमध्ययनं तथैवोच्यत इति ॥९॥ (आयाइट्ठाण) मिति आजननमाजातिः सम्मूर्छनगर्भोपपाततो जन्म तस्याः स्थानं संसारस्तत्सनिदानस्य भवतीत्येवमर्थप्रतिपादन-परमाजाति स्थानमुच्यते ॥ इति ठा० टी० ठा० १० ॥

आयारपकप्प–पुं० (आचारप्रकल्प) आचार एवाचार प्रकल्पः क्रिया आचारक्रियायाम्, आव० ४ अ० ॥ आचार आचारांगम् प्रकल्पो निशीथाध्ययनम् तस्यैव पञ्चमचूला आचारेण सहितः प्रकल्पः आचारप्रकल्पःनिशीथाध्ययनसहिते आचारांगे, ध० अ० ३ ॥

अट्ठावीसइविहे आयारपकप्पे आव ३ अ० ॥

सत्थपरिन्ना लोगविजओ, असिओसणिज्जं संमत्तं ॥
आवंति धुअ विमोहो, उवहाणसुअं महपरिन्ना ॥५१॥
पिंडेसण सिज्जीरिज्जा, भासज्जा या य वत्थपाएसा ॥
उग्गहपडिमासत्ति, क्कसतयं भावणविमुत्ति ॥५२॥
उग्घायमणुग्घायं, आरोवणतिविहमो निसीहंतु ॥
इत अट्ठाविसविहो, आयारपकप्पनामोयं ॥५३॥

अष्टविंशतिविधे आचारप्रकल्पे आचार एवाचारप्रकल्पःक्रिया पूर्ववत् । पिंडेसणागाह १५२ उग्घातगाथात्रयं निगदसिद्धमेव ॥

अष्टाविंशतिविधः आचारप्रकल्पः निशीथांतमाचारांगमित्यर्थः स चैवं ॥

सत्थपरिण्णा १ लोकविजओ २ सीओसणिज्जा ३ संमत्तं ४ आवंति ५ धुव ६ विमोहो ७ उवहाणत्थयं ८ महपरिण्णा ९ प्रथमस्य श्रुतस्कंधस्याऽध्ययनानि । द्वितीयस्य तु पिंडेसण १ सेज्ज २ इरिया ३ भासाजाया य ४ वत्थ ५ पाएसा ६ उग्गहपडिमा ७ सत्तसतिक्कया ४ भावणा ५ विमुत्ति ६ उग्घाइ अणुग्घाइ २ आरुहणा ३ तिविहमोनिसीहं तु अट्ठाविसविहो आयारपकप्पनामोत्ति ॥

उद्घातिकं यत्र लघुमासादिकं प्रायश्चितं वर्ण्यते । अनुद्घाति कं तु यत्र गुरुमासादि आरोपणा च यत्रैक-स्मिन्प्रायश्चितेऽन्यदप्यारोप्यत इति ॥ प्रश्न० सं० ५ द्वा० ॥

अष्टाविंशत्या आचारप्रकल्पैः आचार आचारांगं प्रकल्पो निशीथाध्ययनं तस्यैव पंचमचूला । आचारणे सहितः प्रकल्प आचारप्रकल्पस्तैः पंचविंशत्यध्ययनात्मकत्वात्पंचविं शतिविध आचार उद्घातिममनुद्घातिममारोपणेति त्रिधा प्रकल्पोमीलनेऽष्टाविंशतिविधस्तत्र पंचविंशतिरध्ययनान्यमूनि ॥

सत्थपरिण्णा १ लोगविजओ २ सीओसणीज्जं ३ संमतं ४ आवंतिलोगसारंवा ५ धुयं ६ विमोहो ७ उवहाणसुअं ८ महापरिण्णा ९ पिंडेसणा १० सिज्जा ११ इरिया १२ भासाजायं १३ वत्थेसणा १४ पाएसणा १५ उग्गहपडिमा १६ ठाणसत्तिक्कयं १७ निसीहिआसत्तिकयं १८ उच्चारणसवणसत्तिकयं १९ सद्दसत्तिकयं २० रूवसत्तिकयं २१ परकिरिआसत्तिकयं २२ अन्नोन्नकिरिआसत्तिकयं २३ भावणा २४ विमुत्ति २५ ध० ३ अ०

आयरणं आयारो सो य पंचविहो णाणदंसण चरित्ततवविआरो य तस्स पकरिसेणं कप्पणा पकप्पणा सप्रभेदनिरूपणा आ० चू० ४ अ० । नि० चू० १ उ० ॥

आचारः प्रथमांगन्तस्य प्रकल्पोऽध्ययनविशेषो निशीथमित्य पराभिधानस्य वाऽऽचारस्य वा साध्वाचारस्य ज्ञानादिविषयस्य प्रकल्पोऽध्यवसायमित्याचारप्रकल्पः । सम० स० २८ ॥ आचा-रस्य प्रथमांगस्य पदविभागसमाचारीलक्षणप्रकृष्टकल्पा-भिधायकत्वात् प्रकल्प आचारप्रकल्पः निशीथाध्ययनं आचारां गस्य निशीथाध्ययने, स्था० ५ द्वा० ।

यस्मात्तत्रदशविध आचारः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्य्याचारश्च प्रकल्पते ख्याप्यते प्रज्ञाप्यते इत्यर्थ इत्यत आचारप्रकल्प इति पं० चू० ॥

आचारप्रकल्पस्य नामधेयानि निशीथचूर्णौ यथा ॥

आयारपकप्पस्सउ, इमाइं गोणाइं णामधिज्जाइं ।
आयारमाइयाइं, पायच्छित्तेणहीगारो ॥२॥ गाहा

आयरणं आयारो सो य पंचविहो णाणदंसमचरित्ततव-वीरियायारोय तस्स पकरिसेणं कप्पणा पकप्पणा सप्रभेद-प्ररूपणेत्यर्थः इमाइंति वक्खमाणाति गोणग्रहणं पारिभासिय उदासत्थं तंजहा अमुद्दोसमुदो इंदं गोवयतीति इंदगोवगो एवं तस्स आयारपकप्पस्स णाम न भवति गुणणिप्फण्णं भवति "गुण-निप्फण्णं गोणं, तंचेव जहत्थ मत्थवीषिति तं पुण खवणो जलणो, तवणो पवणो पदीवो य ॥१॥" णामाणि, अभिधेयाणि नामधेज्जाणि अहवा धरणियाणि वा धेज्जाति णामधेज्जातिं सार्थकाणीत्यर्थः । आयारो आदीजोसताणि नामाणि आयारादीणि पंच पायच्छित्ते अहीगारेत्ति अत्थेइं, दारं सीसो पुच्छति ण णु पायच्छिते अहिगारोत्ति पुच्छाहि अत्थाहिकार एव भणिओ आयरिओ भणति सव्वं तत्थ भणिओ इह विशेषज्ञापनार्थं भणति अण्णत्थवि आयारस रूवणा कया इह तु आयारसरूवं पायच्छित्तं परूविज्जति अहवा प्रायश्चित्ते प्रयत्न इत्यर्थः ॥

अहवा इहभणिओ तत्थ दट्ठव्वो आयारमाइयातिं जं भणि यंताणि य इमाणि ॥

आयारो अग्गंति, पकप्पे तह चूलीया णिसीहंति ।
णिसीतं सुत्तत्थ तहा, तह आणु पुव्विअक्खातं ३ ।गाहा॥

एसादारगाहा वक्खमाणसरूवा आयारमाईयाणिं इमा सामण्णणिक्खेवलक्खणा गाहा ॥

आयारे णिक्खेवो, चउविधो दशविधो य अग्जम्मि ।
छक्कायपकप्पंमि, चूलीयाए निशीथे य ॥४॥ नि० चू० १ उ०

आचारप्रकल्पः पंचविधः तच्छा च स्थानांगे ॥

पंचविहे आयारपकप्पे पं० तं० । मासिए उग्घाइए १ मासिये अणुग्घाइए २ चउम्मासिए उग्घाइए ३ चउम्मासिये अणुग्घाइये ४ अरोवणा ५ । स्था० ५ ठा० ॥

आचारस्य प्रथमांगस्य पदविभागसमाचारी लक्षणप्रकृष्ट-कल्पाऽभिधायकत्वात्प्रकल्प आचारप्रकल्प निशीथाध्ययनं स च पंचविधः । पंचविधप्रायश्चित्ताभिधायकत्वात्तथाह । तत्र केषुचिदुद्देशकेषु लघुमासप्रायश्चित्तापत्तिरुत्पद्यते १ केषुचिच्च गुरुमासापत्ति २ एवं लघुचतुर्मासि ३ गुरुचतुर्मासा ४ रोपणाश्चेति ५ तत्र मासेन निष्पन्नं मासिकं तपस्तच्च उद्घातो भोगपातो यत्रास्ति तदुद्घातिकं लघ्वित्यर्थः । यत उक्तं "अद्धेण छिन्ने सेसं, पुव्वद्धेणं तु संजुयं काउं । देज्जाहि लघु य दाणं, गुरुदाणं तत्तियं चेवत्ति ॥१॥ पंचेवत्ति । एतद्भावना मासिकतपोऽधिकृत्योपदर्श्यते । मासस्या-ऽर्द्धच्छिन्नस्य शेषं दिनानां पंचदशकं तन्मासापेक्षया च पूर्वस्य पंचविंशतिकस्याऽर्द्धेन सार्द्धद्वादशकेन संयुतं कृतं सार्द्धा सप्तविंशतिर्भवतीति । आरोपणा तु (चढावणित्ति भणियं होइ) योहि यथा प्रतिषेवित मालोचयति तस्य प्रतिषेवानिष्पन्नमेव मासलघुमासगुरुप्रभृतिकं दीयते । यस्तु न तथा तत्तावद्दीयते एवमायासनिष्पन्नं चान्यदारोप्यत इत्यारोपणेति ॥ ठा० टी० ठा० ५ ॥

अस्याष्टाविंशतिभेदाः समवायाङ्गे यथा ॥

अट्ठाविसविहे आयारपकप्पे प० तं० ॥ मासिया आरोवणा सपंचराइमासीया आरोवणा सदसराइमासियाआरोवणा सपन्नरसराइमासिया आरोवणा । सवीसइराइमासिया आरोवणा । सपंचवीसराइमासिया आरोवणा । एवं चेव दोमासीया आरोवणा सपंच-राइदोमासीया आरोवणा एवं तिमासीया आरोवणा चउमासीयाआरोवणा उवघाइया-आरोवणा अणुघाइया आरोवणा कसिणा आरोवणा अकसिणा आरोवणा । एतावता आयारकप्पे एतावताय आयरियव्वे । सम० २८ स० ॥

अत्रैव निगमनमाह ।

एतावांस्तावदाचारप्रकल्प इह स्थानके आरोपणामाश्रित्य विवक्षितोऽन्यथा तद्व्यतिरेकेणाऽपि तस्यैतद्वातिकरूपस्यभावात् अथ चैतावानेवायं तावदाचारप्रकल्पः शेषस्यात्रैवांत र्भावात् स० स० २८ ॥

आचारप्रकल्पो महानिशीथः । स च प्रत्याख्यानपूर्वस्य य तृतीयं वस्तु तस्यापि यदाचाराख्यं विंशतितमं प्राभृतं ततो निर्व्यूढ इति आचा० द्वि० श्रु० अ० १ ॥

तथा च निशीथचूर्णौ ॥

निसीथं णवणा पुव्वा, पच्चक्खाणस्स तत्तियवत्थुउ ।

आयारनामधेज्जा, वासनिभापाहुडच्छेदा ॥२१९॥

पुव्वगतेहिं तो पच्चक्खाणपुर्व्वणाम णवमपुव्वंत्तिस्सं वीसं वत्थु वत्थुत्ति वत्थुभूतं वीसं अत्थाधिकारात्तेसु तत्तियं आयारणामधिज्जं जं वत्थुं तस्स वत्थुस्स बीसं पाहुडच्छेदो परिमाणपरिच्छि-ण्णाप्राभृतवत् अर्थच्छेदपाहुडछेदा भण्णंति। तेसु वि जं वीसतिमं पादुडच्छेदं ततो णिसीहं सिद्धं ॥

तथाच व्यवहारकल्पे ॥

आयारपकप्पो ऊ, नवमे पुव्वंमि आसि सोधीय।
तत्तोवि य निज्जूढो, इहाणियतो किं न सुद्धिभवे ॥

आचारप्रकल्पः पूर्वं नवमे पूर्वे आसीत् शोधितश्च ततोऽभवत् इदानीं पुनरिहाचारांगे तत एव नवमान्निर्यूह्याऽनीतः। ततः किमेष आचारप्रकल्पो न भवति किं वा ततः शोधिर्नोपजायते । एषोऽप्याचारप्रकल्पः शोधिश्चास्मादवशिष्टा भवतीति भावः ॥ व्य० ३ उ० ॥

तथाच पंचकल्पभाष्ये ॥

आयरदसाकप्पो ववहारो नवमपुव्वा णि सं दो-चारित्तरक्खणट्ठा सुयकडस्सुवरिठविताइं अंगदसा अण्हा वि हु उव्वासगादीण तेणतु विसेसो आयारदसा उइमो जेणेत्थं वण्हियायारो, दसकप्पववहारा एगसुतखंधे कइ इच्छंति। केइं च दसाएक्कं कप्पववहारवीयं तु रयणा गरथाणीयं णवमं पुव्वं तु तस्स नीसंदो परिगालपरिस्सावो ॥

(जम्हा तेण भगवता आयरपकप्पा दसाकप्पव्यवहाराय नवमपुव्वनिसंदभूता निज्जूढा) तेनाऽसौपूजार्हः आयारपकप्प इति विधिः यस्मात्तत्र दशविध आचारो ज्ञानदर्शनचारित्रतपो-वीर्याचारश्च प्रकल्पते ॥ ख्याप्यते प्रज्ञाप्यत इत्यर्थः ॥ इत्यत आचारप्रकल्पः दशाकल्पव्य-वहाराणां पूर्वोक्तं निरुक्तं ॥ पं० चू० ॥ एते दशकप्पववहाराः किं कारणं ॥

निज्जूढाचरित्तसारिस्स, रक्खणट्ठाए खलियस्स।
तेहिं सोहिं किरति, तहो होति निरुपहतं। पं० भा० ॥

चारित्र इति चारित्तरक्खणट्ठा गाहा पंचप्रकारं चारित्रं सामायिकाद्यम-थाख्यातपर्यवसानं तस्य रक्षणार्थं भूतिः रक्षायाः परिपालनार्थमित्यर्थः। पं० चू० ॥

सूयकडुवरिठवित्ता, जह्मा त पंचवासपरियायो ॥
सुयकडमहज्झतिनुत्तो, झोग्गो होतिसो तेसिं ॥

सूत्रकृतांगस्योपरि व्यवस्थापित आह। किमर्थं सूत्रकृतां गस्योपरि व्यवस्थापित अधोवा न व्यवस्थापितः। उच्यते। सूत्रोपदेशादिति यस्माद् व्यवहारसूत्रे तृतीयोद्देशकेऽप्युक्तं त्रिवर्षपर्यायस्य कल्पते आचारप्रकल्प इति तथा व्यवहारस्सेव दशमोद्देशके सूत्रमस्ति त्रिवर्षपर्यायस्य कल्पते सूत्रकृतांगमुद्देष्टुं एतदर्थं सूत्रकृतांगस्योपरि कृत्ता इति किं कारणं तेण भगवता नवमाओ पुव्वाओ नीणीओ उच्यते पं० चू० ॥ पं० भा० ॥

अणुकंप्पा वोच्छेदो, कुसुमाभेरी तिगिच्छापारिच्छा।
कप्पे परिसा य तहा, दिट्ठंता आदिसुत्तंमि ॥१॥

ओसप्पिणीसवणाणं, हाणिं, णाउण आउगबलाणं।
होहिं तु वग्गधं, करा पुव्वगतं मि पहीणंमी ॥२॥

खेतस्स य कालस्स य, परिहाणिं गहणधारणाणं च।
बलविरिए संघयणे, सद्धाउच्छाहतो चे व ॥३॥

किं खेत्तं कालो वा, संकुयति जेण तेण परिहाणी।
भण्णइ न संकुयंति, परिहाणी तेसि तु गुणेहिं ॥४॥

भणियव्वहुसमाए, गामा होहंति त्तमसाणसामाइय।
खेत्तगुणहाणि काले, विउहोतिमाहाणि समये ॥५॥

समयेणंता परिहा, यंते उवण्हमादीया।
दव्वादीपज्जाया, अहोरत्तं तत्तीयं चेव ॥६॥

दुसमअम अण्णुभोवणं, साहुझोग्गा तु दुल्लभा खेत्ता
कालेवि य दुम्मक्खा, अभिक्खणं होंतिडमरायं ॥७॥

दूसमअणुभावेण यपरिहाणीहोति ओ सहवलाणं।
तेणमणुआणं पि, तु आउगमे हादि परिहाणि ॥८॥

दारा संघयणं पि य हिय इतत्तोय हाणीय धितिबलस्य भवो विरियं सारिरबलं तंपिय परिहातिसत्तं च हायंति यसट्ठाओ गहणे परियट्टणे यमणुयाणं उच्छाहो उज्झो गो अणालमत्तं च एगट्ठाइयणा उं परिहाणि अणुग्गहट्ठाए एस साहुणं णिज्जूढणुकंपाए दिट्ठंतेहिं इमेहिं तु पगरणे चेडणुकंपादट्ठु विदट्ठेहिं होयगारीणं जहउमेवी यभत्त रण्हा दिण्हं जहण्णवयस्स एवं अप्पतब्बिय पुव्व गतं केइ मा हु मरिहिं तिन्नोउयरिऊण ततो हेट्ठाओ तारियं तेहिं। दारं। मायहु वोछिज्जीहिती चरणणुउगोत्ति तेण णिज्जूढं। वोच्छी-ण्हे बहुयं भी चरणाभावोभ विज्जाहि कहं पुण तेण गेहं तु दिएहाइं तत्थीमो तु दिट्ठतो जहकोई दुरारोहो सुसुरमि-कुसुमो तु कप्पदुमो पुरिसा केई असत्ता तं आरोहुण कुसुमगहणट्ठा तेसिं अणुकंपमट्ठा कोइ ससत्तो समारुझ्झ धेत्तुं कुसुमा सुहमहणहेतुगं गंथिउं दले तेसिं तह चोदसपुव्वतरु आरुढो। भद्दबाहू तु अणुकंपट्ठा गुथितुं सुयगडस्सुप्परिं ववेवीरो। दारं। तं पुणतो वयेसेण वेव गहितं णसेच्छाये अह गहिए दोसो असाह गाहोंति णाणमाईणं केसवभेरीणि तं वक्खातं पुव्वसामइए अहवा तिगीच्छ उ तुज णहियं वावी उसहं देज्जा तेहिं तुण कज्जसिद्धि विव रीयए भवति दाणं पारिच्छपरिच्छीतु यकप्पमादि दलं ति जोग्गस्स परिणामादीणं तुदारुगमांदिहीं णात्तेहिं पारिच्छा आदिसुत्ते पुव्वं भणियातु जाउ विहिसुत्ते सेण धणादि परिसा पूरंताइ य भण्णिहिं परिसा। दारं। भणितं कप्पदारं ॥ कमेण हु इदाणिं किं पुण उक्कमकरणं बहुत्तव्वंत्ति नाउणं किं पुण कप्पज्झयणे वं निज्झइ

भन्नति सुण सुतावजे अभिविदिता तु अच्छा तहियंतेऊस-माणं। पं० भा०॥

उसप्पिणी समणाण। गाहा। जम्हा उसप्पिणी दोसेणं। परिहायंति साहूणं आउयं बलं बुद्धियएतन्निमित्तं उवग्गहकरा भविस्संति पुव्वगये परिहीणे किंच खे त्तस्स य कालस्सय। गाहा॥

खेत्ते ताव उसप्पिणिं, चेव पडिच्चपरिहाणी।
गहणधारणाणं, च तहा बलविरियं॥

बलं सारीरं वीरियं वीर्यं व्यवसायो वा तहा संघयम सद्धा मेधा उयं च खेत्तदोसणयं परिहायंति। गाहा। अणुकंपा वोच्छेए उक्तं च सिद्धसेनक्षमाश्रमणगुरुभिः।

पालाइणमुकंपा, संखडिकरणंमि गाहवोच्छेयं।
मि पडुच्चाओ मेय पीय, भतंर ण्णीदिणंजणवयस्स कुसुमो॥

इति तवनियमनाण्णरुक्खंगाहा भेरीचंदणकंथाते इच्छित्ति पालगिलाण गाहा। तेण भगवता अणुकंपिएण मावो च्छिज्जी-स्संतीति काठंदुरारोहमिवयादवं आरुह्य अप्पणा मालिताणि कुसुमाणि अवेसिं च दत्ताणि तवोदुवालसविहो णियमा इंदियनो इन्दियनियमनिग्रहः। निरोध इत्यर्थः इंदियनियमो सो इंदियविसयंपयानिरोहो वा सो इंदियपत्तेसुवा अत्थेसुरागदोस-निग्गहो जाव फासिंदिय नो इंदिय अकुसल मणनिरोहो। वा कुसलमणओ ईरणं वा मणसो वा एगत्तिभावकरणं। कोहस्स उइय निरोहो वा उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं जाव लोभस्स।

तपसा नियमेन ज्ञानेन च संप्रयुक्तो वृद्धः किंच सम्यगदर्शनचारित्रत-पोनियमसंयमस्तं समवृद्धादेव तत्पुरुषः समासः। ज्ञानदर्शनतपश्चा-रित्रात्मक एव वृद्धाः। ततस्तेन भगवता भद्रबाहुनापूर्वरत्नाकरश्रुत-समुद्रान्प्रयत्नेनाहृतः उत्धृतमित्यर्थः न तु स्वेच्छयातेनाऽसौश्रुतकर्त्ता ऋषिरित्यपदिश्येत ऋषिरित्ययं स्थायार्जवेति ऋषिः यस्मादसौ भगवतामार्जवे सम्यक्दर्शन ज्ञानचारित्रात्मके निर्वाणमार्गे व्यवस्थितः।

इर्यादिभिश्च समितिभिर्युक्तः इत्युक्तो ऋषिः।

सेपुण अप्पणो इच्छाए सुत्तं अत्थंवा करेइ तस्स सुत्ते चउलहु अत्थे चओ गुरू। आणाइ य विराहणादि हंतो वंदणभेरीय वासुदेवस्य असिवप्पसमए सा कृता कंथा पच्छा अहया नप्प समेइ एव सच्छंदविगाप्पिए सुत्तं मोक्खकस्स असावकं भवति पितिया पासत्थाउत्पत्ति वंने यथा दोण्ह विभेरिणं कप्पव्ववहारा पुणपुरिसंपरिक्खि ऊण दिज्जंति जहा आइसुए पुरिसा परिसा परियासे लघण कुडग गहा एवं सुसिस्स-दिज्जंति॥

तत्रशैलघनछिद्रकुंढचालनीमसकमार्जारादयः अनर्हा हंसमे षजलूकजाहकादयो योग्याः। प० चू०॥

आचारप्रकल्पश्च कस्मै उद्दिश्यते कस्मै नेति (उद्देस) शब्दे॥

आयार पकप्पोत्तिवा सपरियागस्स आरेण तंदिज्जति निवास परियागस्स वि अपरिणामगस्स अतिपरिणा मगस्स वा न दिज्जति आयारपकप्पो पुण परिणामगस्स दिज्जति नी चू० १ उ०।

एगविहकुसुमपुन्नो, वया रसरिया उकेइ अहिगा।
सस्सवति भूमिभावित, गुणसति वप्पे पकप्पंडि॥४१६॥

अणेगजातिएहिं अणेगवण्णेहिं पुप्पावयारोकओविव ती दीसत्ति एवं सुतत्थ विकप्पिया अणेगविहा अधिकारा दट्ठव्वा कहं उच्यते ए कप्पो सो केरिसो गुणस इव प्रतुल्लो वप्परूपकं इमंसस्यंयस्यां भूमौविज्जते सासस्यवतीसस्ययुक्ताक्वचिच्छालि क्वचिदिक्षूः क्वचिज्जवा क्वचिद्व्रीहयः भावितो गुणेहिं जो सो भावितगुणः गुणगत इत्यर्थः। तवगुणा सतिमादि सती णामविशिष्टा समृद्धिनिरुपहतत्वं इतिवर्जितत्वंबहुफलं च एभिर्गुणैरुपपेतोवप्रः। इदाणिं उवण उवप्पो इव पकप्पो ण्णलिमादीणि वा उद्देसत्याधिका सस्यवृद्धिरिव अनेकार्थः निरुपहतमिवदोषविवर्जित इति वर्जितमिव पासत्थचरगादि सलेप वर्जिता बहुत्वमिति एहि कल्पवित्वसं-भवात्॥ इदृशैकप्रकल्पे अनेकार्थाधिकारा इत्यर्थः॥

एवं पुण कप्पज्झयणं कस्स ण दायव्वं केरीसगुणयुतस्स वा देयव्वं अतो भणति गाहा।

भिण्णरहस्सवतार, निस्साकर एव मुक्कयोगी वा।
छव्विहगति गुविलं मी, सो संसारे भगविदीहे॥४१७॥

भिण्णरहस्सो णाम जो अववादपदे अण्णेसिं कप्पियाणं सीहत्ति णिस्साकरणामं यो किंचि अववादपदं लभित मुसलं पक्खिवइ। मुक्कयोगीणाम जेण मुक्को योगो णाणदंसणचरित्त तवणि-यमसंयमादिसु सो एस मुक्कयोगी। एरिसस्स जोदेति सो संसारे चउप्पगारे वा पंचप्पगारे वा छप्पगारे वा एव मादिगति गुविले गुविलोत्ति गहणो घुण्णा वयतीति घोरा एरिसे संसारे भमिहिति दिहं कालं एरिसे सुण दायव्वा एएसिं पडिवक्खा जे ते सुदायव्वा॥

ते य इमे गाहा॥

अरहस्स दारए पारय, य असढकरणे तुलोवमे समिते।
कप्पाणु पालणादीवणा, य आराहणछिण्णसंसारो॥४१९॥

अतीवरहस्सं तंजो धरेति सो अइरहस्स धारणो जो तं अइरहस्सं एकं दो तिण्णि वादिणा धरेति ण तेणं अहिगारो जातं रहस्सधरणं जीवियकालं पारं णेति तेण अहिकारो असढकारणो णाम सव्वत्थादान जो अप्पाणं माया पढाति असढो हेऊणं कसिणं करेति तुलसमो णाम समभट्ठिता तुला जहा ण मग्गतोपुरओ वा णमति एवं जो राग दोसविमुक्को सो तुलासमो भणति। समितो णाम पंचहिं समितिहिं समिता ए गुणसंपओते परेतो एयं *गुणसंपउत्ते यदि विणयकंप्पाणु पालणा कया भवति। अहवा एकप्पे जं* जहा भणितं तस्स अणुपालना जो करेति तस्स देयो यकप्पाणुपालणा एय दीवणे कअण्णेसिं दिवियं दरिसियं गमियं एवं कायव्वमिति अह वा दीवणा जो अरिहाणं अणालस्से वक्खाणं ण करेति तस्सेयं देयंति दीवणाए य मोक्खमग्गस्स आराहणा कता भवति। आराहणायेय चउगति गुविलो दीहसणवयग्गो छिण्णंमिय संसारे जं तं सिवमयलयमरुयमक्खयमव्वा-बाहमपुणरावत्तयं ठाणं तं पावंति तं च एतो कम्मविमुक्को

सिद्धो भवति ॥ नि० चू० २० उ० ॥

भ्रष्टाचारप्रकल्पाया निर्ग्रंथ्याः प्रवर्तिनीत्वं गणावच्छेदिकात्वं च नोद्दिश्यते। तथा च व्यवहारसूत्रम् ॥

णिग्गंथिस्स णवडहरतरुणगस्स आयारकप्पे नामं अज्झयणे परिभट्ठे सिया से य पुच्छिवे केण केण कारणेणं अज्जो आयारकप्पे नाम अज्झयणे परिभट्ठे सिया किं आबाहेणं उदाहु पमायेणं सेवएज्जा णो आबाहेणं पमायेणं जाव जीवाए तस्स तप्पतियं, णो कप्पति आयरियत्तं वा जाव गणावछेइयत्तं वा उदिसित्तएवा धारितए वासेयवएज्जा आवाहेणं णो पमाएणं से य संइट्ठ विस्सामिति संठवेज्जा। एवं से कप्पति आयरित्तं वा जाव गणावछेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा तं सेयसवच्छेसा म्मित्ति णो संठवेज्जा एवं से णो कप्पति आयरियत्तं वा जावगणावच्छे इयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तएवा ॥१४॥ णिग्गंथिएणं णवडहरस्स तरुणि याए आयारकप्पे नाम अज्झयणे परिभट्ठे सिया साय पुच्छियव्वा केण कारणेणं अज्जे आयारकप्पे नाम अज्झ यणे परिभट्ठे सिया किं आवाहेणं पमाएणं सायवएज्जा णो आवाहेणं पमाएणं जावजीवाए तीगसे तप्पतियं णोकप्पति यं पवितिणं वा गणावच्छेइणितं वा उदि सित्तए वा धारित्तएण वा सायवदोज्जा आवाहेणं णो पमाएणं सायसंठवेस्सामिति संइट्ठवेज्जा। एवं से कप्पइ पवत्तिणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा स यं सइं विस्सामिति णो संइट्ठवेज्जा। एवं सेनो कप्पति पवित्तिणित्तं वा गणावछेइणियत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१५॥ व्य० ५ उ० ॥

(निगंथिएनवडहरतरुणाए) इत्यादिसूत्रार्द्धकं अस्य व्याख्या। निर्ग्रंथ्या नवडहरतरुण्या वक्ष्यमाणस्वरूपाया आचार प्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टं स्यात् सा च प्रष्टव्या केन कारणेन आचारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टमभवत् किमाबाधेन प्रमादेन वा एवं प्रष्टा सती सा यदीति गम्यते वदेत् नो आ बाधेन किं तु प्रमादेन तर्हि यावज्जीव तस्यास्तत्प्रत्ययं प्रमाद तोऽध्यय-ननाशनप्रत्ययं नो कल्पते प्रवर्तिनीत्वं वा गणावच्छेदिकात्वं उदेष्टुं नापि तस्याः स्वयं धारयितुं अथ सा वदेत् आबाधेन नष्टं न तु प्रमादेन सा च नष्टमध्येयनं संस्थापयामीत्युक्त्वा संस्थापयेत् एवं तर्हि (से) तस्याः कल्पते प्रवर्तिनीत्वं वा गणावच्छेदिकात्वं वा उद्देष्टुमनुज्ञातुं स्वयं धारयितुमथ नष्टमध्ययनं संस्थापयिष्यामीत्युक्त्वाऽपि न संस्थापयेत् एवं तर्हि (से) तस्याः न कल्पते प्रवर्तनीत्वं बा गणाबच्छेदिकात्वं वा उद्देष्टुं वा स्वयं वा धारयितुमिति एवं निर्ग्रंथसूत्रमपि भावनीयं ॥

(नवडहरतरुण) व्याख्यानं च प्रागुक्तमवसेयं (तेवरिसो होइ नवो) व्रतपर्यायेणेतिवाक्यशेषः। आसोलसगं तु जन्मपर्यायेणेति गम्यते। डहरगं चेति (तरुणोवत्तासत्तरुणमज्झिमो थेरओ सेसो) आचार्यत्वं वा यावत्करणादुपाध्यायत्वं प्रवर्तित्वं स्थविरत्वं चेति परिग्रहःशेषं तथैव। अत्राह शिष्यः। पुरुषोत्तमो धर्म्म इति पूर्वं निर्ग्रंथसूत्रंवक्तव्यं पश्चान्निर्ग्रंथिसूत्रं। पूर्वत्र वाऽध्ययनद्वये पूर्वं निर्ग्रंथसूत्राण्युक्तानि पश्चान्निर्ग्रंथी सूत्राणि अत्र विपर्ययः कृतः। सूरिराह॥

जइवि य पुरिसादेतो, पुव्वंतहवियविव्वज्जओ जुत्तो।
जिण समणिण उपगया य, पमायबहुला य अथिरा य ॥

यद्यपि च पुरुषोत्तमो धर्म्मः पूर्वत्रऽवाध्ययनद्वये पूर्वं पुरुषा-देशस्तत्राप्यत्र विपर्ययो युक्तः केन कारणेनेत्याह। येन कारणेन श्रमण्यः प्रकृत्या तथा प्रायः श्रमण्यः प्रमादबहुला अस्थिराश्च न तु श्रमणा अध्ययनस्य च नाशः प्रायः प्रमाद स्ततः श्रम-ण्यधिकारादधिकृतसूत्रार्थस्थानत्वात् पूर्वं निर्ग्रंथ सूत्रमुक्तं पश्चान्निर्गूंथसूत्रं।

नवडहरतरुणीनां व्याख्यानमाह।

तेवरिसा होइ न वा अट्ठारसिया डहरिया होइ।
तरुणी खलु जा जुवइ, चउरो दसगा ववुत्तासा ॥

व्रतपर्यायेण यावत्त्रिवर्षा तावद्भवति वा जन्मपर्यायेण यावदष्टादशिका अष्टादशवर्षप्रमाणा तावद्भवति। डहरिका तरुणी खलु तावद् दृष्टव्या यावत् युवतिः। अथवा। पूर्वोक्तास्तृतीयोद्देशके नवडहरतरुणिसूत्रे ये अभिहितास्तरुणचत्वारो दशकाश्चत्वारिंशद्वर्षाणीत्यर्थः। तेऽत्रापि तरुण्या द्रष्टव्याः ॥१४॥ १५॥

सा एव गुणोवेया, सुत्तत्थेहिं पकप्पमज्झयणं।
सयहिंज्झिया इतो आ, वि आगया न वसु अण्णा ॥

सा नवडहरा तरुणी एतावद्गुणोपेता सूत्रार्थाभ्यां प्रकल्प-नामकमध्ययनमधीता अधीतिनी। ततः सा प्रवर्तिनित्वस्य योग्या सूरिभिः संसाधिता। अथ च तस्याः सूत्रतोऽर्थतश्चाचारप्रकल्पः परिभ्रष्टः स कथं ज्ञात इत्याह। इतश्चापि आगता अन्यगच्छादन्या साध्वी उपसंपन्ना। सा विज्ञापयति। कथमित्याह ॥

अत्थेण मेघाकप्पो, समाणितो न य जिनो महं भंतो।
अमुगा मे संघाडं, ददंतु वुत्ता उसा गुरुणा ॥

हे भदंत! भगवन् अर्येऽनार्थतो मम आचारप्रकल्पः समानी तो समाप्तिं नीतः। रं न च न वै मम स जिनः परिचितोऽभूत्। ततोऽमुकायाः प्रवर्तिनीत्वेन संभावितां संघाटं पूज्या ददतु। एवं तया विज्ञप्तं गणिना आचार्येण सा उक्ता। आर्ये! देहि (से) तस्याः संघाटं॥

सा दाउं आढत्ता, नवरं पणट्ठं न किंचि आगच्छे।
एमेव मुणंति चिट्ठति, मुणिया य सा तीये ॥

संघाटं दातुं प्रवृत्ता परावर्तयितुं व्याख्यातुं च प्रवृत्ता इत्यर्थः। न वरिष्ठं तदध्ययनं न किमप्यागच्छति केवलमेव मुण मुणन्ती अव्यक्तक्षरं किमपि ब्रुवंती तिष्ठति। ततः सा तथा मुणिता यथा न किमप्येतस्या आगच्छति ॥

पुनरवि साहती गणिणो, सा नट्ठसुया दलाहमे अन्नं।
अब्भक्खाणंपि सिया, वाहितुं होइमा पुच्छा ॥

ततः सा पुनरपि गणिन आचार्यस्य कथयति। यथा नष्ट श्रुता तस्मान्ममान्यां सहायां ददतु। एवमुक्ते आचार्येण विचारयितव्यं। सत्यं। किं परिभ्रष्टं तस्या अध्ययनं किं वा

न को जानाति अभ्याक्यानमपि काचित्केनापि कारणेन प्रद्विष्टा सती दद्यात्ततस्तां व्याहृत्य तस्या इयं वक्ष्यमाणा पृच्छा कर्तव्या ॥

तामेवाह ॥

दंडकगहनिक्खेवे, आवसियाए निसीहिया।
गुरुणं च अप्पणामे य भणसु आरोवणा काउ ॥

दंडकस्य प्रत्युपेक्षा प्रवर्जना व्यतिरेकेण ग्रहणे निक्षेपणे च तथा आवशिक्या नैषेधिक्याश्चाकरणे बहिः प्रदेशादागच्छ ता वसानः प्रवेशे नमः क्षमाश्रमणेभ्य इत्येवं गुरूणामप्रणा मा च प्रणामाकरणे च कां आरोपणा प्रायश्चित्तं भवति ॥

पुट्ठा अनिव्वहंति, किहिं नट्ठं वाहतो पमाएणं।
साहेइ पमाएणं, सोय पमादो इमो होइ ॥

सा एव पृष्टा सती यदि न निर्वहति न यथावस्थितमुत्तरं ददाति। तदा सा अनिर्वहंती भूयः प्रष्टव्या। कथं केन कारणेन ते नष्टमाचारप्रकल्पनामकमध्ययनं किमाबाधेन उक्त प्रमादेन। तत्र यदि सा कथयति प्रमादेन। स च प्रमादोऽयं वक्ष्यमाणो भवति ॥ तमेवाह ॥

धम्मकहनिमित्तादि, उपमातो तत्थ होइ नायव्वो।
मलयवइगणसेणा, तरंगवइयाओ धम्मकहा ॥

तत्र तस्यां संयत्यां धर्मकथानिमित्तादिकः आदिशब्दात् ग्रहचरित्तादि-परिग्रहप्रमादो भवति ज्ञातव्यस्तत्र धर्मकथा मलयवतीमगधसेना-तरंगवती। आदिशब्दात् वसुदेवहिंड्यादिपरिग्रहः। एतां कथामधीयानाया विस्मृतिगतं प्रकल्पनाम-कमध्ययनं ॥

ग्गहचरियविज्जमन्ता, चुण्णनिमित्तादिणा पमाएणं।
नट्ठंमि संधयंती, असंधयंतीवमानलभो ॥

गहचरित्तं ज्योतिष्कं। ससाधना विद्या। साधनरहितोमंत्रश्चूर्मो योगचूर्णः। निमित्तमतीतादिभावकथनमादिशब्दात् कुहु कशास्त्रादि-परिग्रह इत्यादिना प्रमाणेन इत्याद्यध्ययनलक्षणेन प्रमादेन नष्टे प्रकल्पे नाम्नि अध्ययने यदि भूयः सा तत्संदधाति। यदि वा न संदधाति तथापि सा संदधति वा यावज्जीवं गणं न लभते।

जावजीवं तु गणं, इमेहि नाएहि लोगसिद्धेहिं ॥
अतिवालवेज्ज जोहे, धणुगाईभग्गफलगोण ॥१॥

यावज्जीवं गणं न लभते। एभिरजापालकवैद्ययो-र्धैर्लोकसिद्धैर्ज्ञातैस्तत्र योधे प्रमादाचरितं सम्यग्विदित धनु-रादिभिर्धनुर्भगं विभग्नं दृष्टं जीवाच्छिन्नविच्छिन्नाकांडा-न्यसञ्जितानि। न केवलमेतैर्ज्ञातैः। किन्तु भग्नफलकेन सटित-पतितमलयनवज्ञातेन ॥

तत्र प्रथममजापालकदृष्टान्तमाह ॥

खेलंतेण उ अइया, पणासिया, जेण सो पुणो न लभे ॥
सूलाधिरूपा नट्ठा, विलहति एमेव उत्तरिए ॥१॥

कोइ अयवा लोवे, एण आयातो रक्खेइ तेण ॥
तएता वदृगदि, खेल्लणादिहि पमाएहिं ॥२॥

नासियातोसो अण्णा, तो दवावितो भणइ पुणो ॥
रक्खामि न परिसंकहामि, सो एवं भणंतो वि ॥३॥

जावज्जीवं अन्नत्थ, विनहति अहमुलं सेउड्डियं जरोवा ॥
अतिआ उरो आगतो, ततोनट्ठा ततोहो सो पुणा विलभते रक्खिउं ॥४॥

अक्षरगमनिका। येन खेलनावृत्तादिना क्रीडता अजिकाः प्रणाशिताः स पुनर्न लभते यावज्जीवमन्यत्राऽप्यजा रक्षितु मय शूलादिरुजा अत्रादिशब्दादत्यातुरज्वरादिपरिग्रहस्ता अजा नष्टास्ततः वैद्यज्ञानं भावयति ॥

जति से सत्थं नट्ठं, पेच्छह पेसच्छ कोसगं गंतु ॥
हीरति कलंकिएसुं, भोगो जूयादिदप्पेणं ॥

कोइ वेजोरण्णे कयं वित्तीतोतेणं जूयपमादेण विसयपमादेण विज्जसत्थं नासियं सत्थकोसगाणि पच्छणगादीणि किदृकलंकियाणि न निसीयइ। अण्णया रण्णं कज्जंजायं सद्दावितोविज्जोसो कि उवदेसं न किञ्चि सक्केइ वोतुं ततो रण्णा भणियं किमियं ततो सो भणइ मेपोत्थगाचोरेहि हिया पाडिपुच्छं पि नत्थितो मम नट्ठं वेज्जसत्थं नत्थि पुण मम अण्णोपमातो जेण वेज्जसत्थं नासियं ताहे रण्णा पुरिसा पेसिया ॥

यदि (से) तस्य शास्त्रं नष्टं तर्हि (से) तस्य यूयं गत्वा शास्त्रकौतुकं प्रेक्षध्वं ह्रियते राज्ञः समर्प्यते। दृष्टानि राज्ञा समस्तानि प्रतक्षणकप्रभृतीनि शास्त्राणि किदृकलंकितानि ततस्तेषु कलंकितेषु दृष्टेषु ज्ञातं यथा द्यूतादिदर्प्पेण द्यूतादिना प्रमादेन विनाशितं वैद्यशास्त्रं ततो भोगच्छिन्नः पश्चादन्यत्र गत्वा वैद्यशास्त्रं पुनरप्युज्ज्वाल्य समागतो भूयोऽपि राज्ञः समीपे भोगान् याचते स च याचमानोऽपि न लभते एवं लोकोत्तरेऽप्यु-पनयभावना प्राग्वत्कर्तव्या।

योधदृष्टांतभावनार्थमाह ॥

वुक्को जइ सरवेही, तहा विपलोएह से सरे गंतुं ॥
अकलंककलंकं वा, भग्गमभग्गाणि य धणूणि ॥१॥

कोइ जोहो धणुव्वेयं, अहिज्जितो गुरुवएसेण ॥
अब्भासेण य सो, अपासंतो विसद्देणं ॥२॥

विधंति रन्ना कयप भूय, वितिन्नो कतो अन्नया तेण ॥
विसयपमाएण तं, धणुव्वेय सत्थं तं च ॥३॥

अब्भासकरणं नासियं, अन्नया युद्धकज्जेसमावडिए ॥
एन किञ्वि सकेइ, विंधिउं पराजिणिउं ॥४॥

वारण्णा पुच्छितो, किमेयंति सो भणइ ॥
नत्थि मे पमादो ताहे रण्णामणियं ॥

यदिनाम प्रथमादाकरणत एकस्वरवेधी वुक्कोभुल्लस्तथापि (से) तस्य शरान् गत्वा प्रलोकयत् किं तत् शरजालमलंकं वा धनूष्यपि भग्नान्यभग्नानि वा द्रष्टं शरजालकं कलंकितं धनूंषि च भग्नानि ततो ज्ञातं प्रमादतः सर्वं नष्टं कृतो वृत्तिव्यवच्छेदः सोऽन्यत्र गत्वा धनुर्वेदशास्त्रमुज्ज्वाल्य कृताभ्यासः पुनरागतो वृत्तिं याचमानोऽपि यावज्जीवं न लभते एवं लोकोत्तरेऽप्युपनयः प्राग्वत्कर्तव्यः। फलकज्ञातमाह ॥

फालहियस्सवि एवं, जइफलतो भग्ग लुग्गोतो ॥

भोगोहीरति सव्वेसिं, पि य नभोगहारो भवेकज्जे ॥१॥

कोई अणेगवनप्पति, पत्तसागादिकलिए ॥
फलए केणावि, निउत्तो सो वि सयपमाएणं ॥२॥

जयपमाएण वा, न रक्खइ न य पाणिएणं ॥
पालेंति सोय फलहो, लोगे णाणरूवे हि य ॥३॥

उल्लूडितो मुक्को, य न किंचि ततो वणफलादि ॥
आगच्छइ, फलह सामिणा भणियं ॥४॥

किमेयं सो भणइ, किं करेमि रक्खेमि तावअहं ।
नत्थि मे पमादो, सतो फलहसामिणा फलहो गवेसावितो ॥५॥

तथाचाह (फालकिकस्य) फलकस्वामिन एवं पूर्वदृष्टान्तेषु राज्ञ इव फलगवेषणा चिन्ता जाता । यदि फलको भग्नलुग्नो भविष्यति ततोऽस्यभोगो ह्रियेत गाथायां ''वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे'' तिवचनतो भविष्यति वर्तमानता कस्मात् हरिष्यते इत्याह कार्ये प्रयोजने समापतिते सर्वेषामपि कुटुंबजनानां भोगहारो न स्या-दिति हेतोः सूत्रगवेषणे कृते फलको भग्नलुग्नो दृष्टःभग्नो गोरूपादिभिर्विध्वंसनात् लुग्नो जलसेवनाकरणतस्ततस्तस्य वृत्तिश्छिन्ना ततो नाहं भूय एवं करिष्यामीति याचमानोऽपि यावज्जीवं न लभते वृत्तिमेवं लोकोत्तरेऽप्युपनयः कर्तव्यस्तेमवाह ॥

एवं दप्पपणासिते, ण विदिंति गणं पकप्पमज्झयणे ॥
आवाहेणं नासिए, गेलण्णादिण दलयंति ॥१॥

एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तप्रकारेण दर्प्पतो धर्मकथाध्ययनतो व्याकरणाध्ययनतो निमित्तशास्त्राद्यध्ययनतो वा इत्यर्थः । प्रणाशिते प्रकल्पनाम्न्यध्ययने यावज्जीवमाचार्यास्तस्या गणंनदद ति-आबाधितग्लानत्वादिना पुनर्नाशितो भूयः प्रज्वालिते दलयंति प्रयच्छंति । एतदेव सप्रपंचं भावयति ॥

गेलण्णे असिवे वाओ, मोयरिया य रायदुट्ठे वा ॥
एएहिं नासियं मी, सन्धे मणिए दिंति गणं ॥१॥

ग्लानत्वे वा जाते ग्लानप्रतिजागरणे वा कृते अशिवे वा समुपस्थिते अवमौदर्ये वा दुर्भिक्षे जाते भिक्षापरिभ्रमणतो राजद्विष्टे वा पलायनतो वा यदि नष्टं प्रकल्पनामकमध्ययनं तत एतैः कारणैर्नाशितेऽपि पुनः सम्बन्धंत्या गणं ददति प्रयच्छंति ।

तदेवं निर्ग्रंथीसूत्रं भावितमअधुना निर्ग्रन्थसूत्रं विभावयिषुराह ॥

एवमेव य साहूणं, वागरणनिमित्तछन्दकहमादी ।
वीइयं गिलाणतो मे, अट्ठाणो चेव थूभेय ॥

एवमेव अनेन प्रकारेण साधूनामपि सूत्रं भावनीयं नवरं तत्र प्रमादो व्याकरणनिमित्तच्छदः कथाद्यधीयानस्य प्रतिपत्तव्यः ॥ द्वितीयमाबाधलक्षणं कारणं सूत्रौ ग्लाने ग्लानप्रतिजागरणे वा अवमौदर्ये अशिवादिकारणतोऽध्वनि वा गमने स्तूपे वाद्रष्टव्यमियमत्र भावना । यदि व्याकरणाध्ययनतो निमित्त शास्त्राध्ययनतश्छन्दः शास्त्राध्ययनतो धर्मकथाध्ययनत आदिशब्दाद्विद्यामन्त्रादिव्याक्षेपतो यदि प्रकल्पाध्ययनं नाशितं तदा पश्चादुज्ज्वालितेऽपि यावज्जीवं तस्मै गणं सूरयो न प्रयच्छंति अथ ग्लानत्वाद्याबाधतो नाशितं तदा तस्मिन्पुनरुज्ज्वालिते प्रयच्छंति प्रमाददोषाभावात् तत्र ग्लानत्वाविषय आबाधः प्रतीतः ॥

सम्प्रति स्तूपविषयमाह ॥

महुरा खमगाया, वणदेवयआउदृआणवेज्जत्ति । किं मम असंजतीए, अप्पत्तिय होहिती कज्जं । यूगत्ति तच्च भणिव्वुवि वा य च्छम्मास संघो को ॥ सत्तोखमगस्सगा, कंपणखिंसणुक्का कयपडगा ॥

मथुरायां नगर्यांकोऽपि क्षपणक आतापयति यस्यातापनां दृष्ट्वा देवता आवृता तमागतमागत्य वन्दित्वा ब्रूते यन्मयाकर्तव्यंतन्ममाज्ञापयेद्भवानिति । एवमुक्ते स क्षपकेण भण्यते । किं मम कार्यमसंयत्या भविष्यति । ततस्तस्या देवताया अप्रीतिकम-भूत् । अप्रतीतिवत्यचेतनयोक्तमवश्यं तव मया कार्यं भविष्यति । ततो देवतया सर्वरत्नमयः स्तूपो निर्मितस्तत्र भिक्षवो रक्तपटा उपस्थिताः अयमस्मदीयः स्तूपस्तैः समं संघस्य षण्मा-सान्विवादो जातस्ततः संघो ब्रूते । को नामात्राऽर्थे शक्तः केनापि कथितं यच्छा अमुकः क्षपकस्ततः संघेन स भण्यते क्षपक ! कायोत्सर्गेण देवतामाकंपय । ततः क्षपकस्य कायोत्सर्गकरणं देवताया आकम्पनम् । सा आगता ब्रूते । संदिशत किंकरोमि क्षपकेण भणिता तथा कुरुत यथा संघस्य जयो भवति ततो देवतया क्षपकस्य खिंसना कृता । यथा एतन्मया असंयत्या अपि कार्यं जातं एवं खिंसित्वा सा ब्रूते । यूयं राज्ञः समीपं गत्वा ब्रूत । यदि रक्तपटानां स्तूपः । ततः कल्पे रक्ता पताका दृश्यतां अथाऽस्माकं तर्हि शुक्ला पताका । राज्ञा प्रतिपन्नमेवं भवतु ततो राज्ञा प्रत्ययिकपुरुषैः स्तूपो रक्षापितो रात्रौ देव तया शुक्लपताका कृता । प्रभाते दृष्टा स्तूपे शुक्ला पताका जितं सघेन व्य० सू० ५ उ० ॥

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आयारपकप्पे णाम अज्झयणे परिभवे सिया कप्पतिं तेसिं ठवेत्ताणं वा आयरियत्ते वा जावगणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तएवा धारित्त एवा ॥ व्य० ५ उ० ॥

व्या० स्थविराणांऽस्थविरभूमिं प्राप्तानामाचार्यपदं प्राप्तानामाचारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टं स्यात्कल्पते । तेषां सूत्रं संस्थापयतामसंस्थापयतां वाचार्यत्वं वा यावत्करणादुपाध्यायत्वं वा इति परिग्रहः । गणावच्छेदकत्वमुद्देष्टुमनुज्ञातुंजीर्णमहत्वकरणतः सूत्रधरणशकनात् । एष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥

सम्प्रति भाष्यविस्तरः ।

सुत्ते अणिंते लहुगा, अत्थे अणिंते धरेंति चउगुरुगा ।
सुत्तेण वायणा, अत्थे सोही तो दोह गुण्णाय ॥

इदं सूत्रमापवादिकमुत्सर्गतः पुनः सूत्रे अनागच्छति यदि गणं धारयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । अर्थेऽनागच्छति यदि गणं धारयति चत्वारो गुरुकाः । आज्ञादयश्चदोषा-स्तस्मादुभयधारणगणोधारयितव्यः । किंकार णमत आह सूत्रेणगच्छता वाचनां ददाति । अर्थनागच्छता प्रायश्चित्त-स्थानमापन्नानां शोधिं करोति । तस्मात् द्वाभ्यामपि संपन्नो गणधारणेऽनुज्ञातः ॥

अवियविणासुत्तेणं, ववहारे उअपच्चतो होइ ॥
तेण उभयधरो ऊ, गणधारि सो अणुण्णातो ॥१॥

अपि च विना सूत्रेण व्यवहारे क्रियमाणे अप्रत्ययो भवति ।

तस्माद् व्यवहारे अर्थनिर्देशं कुर्वता सूत्रमवश्यमुच्चारणीयं। यथा इदं सूत्रं तस्मादयमेवात्र व्यवहारस्ततः प्रत्ययो भवति तेन स गणधारी उभयपरोऽनुज्ञातः॥

असती कज्जोगी पुम, अत्थेयं तं किमप्पतिधारेउं॥
जुण्णमहल्लो सुत्तं, न तरति पच्चुक्कयारेउं॥१॥

उभयधरस्य असत्यभावे यः कृतयोगी नाम यः पूर्वमुभयधर आसीत्। तदानीं सोऽर्थं समागच्छति गणं धारयितुं कल्पते। अथ केन कारणेन तस्य सूत्रमानशत् अत आह॥ (जुण्णं महल्लो) इत्यादि जीर्णो नामैको नो महान् यस्तरुणक एव सन् जरसा परिणतो जातः नो जीर्णो महानिति द्वितीयः। यो बृद्धोऽपि सन् दृढशरीरः जीर्णोऽपिच तृतीयः। नो जीर्णो नो महानिति चतुर्थः। एष शून्यशेषाणां तु त्रयाणामेकतरो न शक्नोति प्रत्युज्ज्वालयितुमतः सूत्रं तस्य नश्यति॥

उभयधरंमि उ सीसे, विज्जंते धारणा उ इच्छाए॥
मा परिभवनयाणं वा, गच्छेवअणिच्छमाणंमि॥१॥

उभयधरे सूत्रार्थधरे शिष्ये विद्यमाने स्वयं गणस्य धारणा इच्छया स्वयं वा गणं धारयति तस्य वा शिष्यस्योभयधरस्य ददाति सह गणस्य शिष्यस्य वा भावं जानाति। यदि शिष्यस्य गणं दास्यामि तत एते मम परिभवं करिष्यंति। अथवा मांत्यक्त्वा गच्छमादाय गमिष्यन्ति। यदि वा तमुभयधरं गणधरे स्थाप्यमानं गणो नेच्छति। ततो मा परिभवमेतेऽकार्षुर्नयनं वा मां त्यक्त्वाऽन्यत्र गच्छस्याकार्षुरिति हेतोरनिच्छति वा गणे तस्य गणं न ददाति। किन्तु स्वयं धारयति तत्र सूत्रं तेनोभयधरेण शिष्येण वाचयत्यर्थमात्मना ददाति। प्रागुक्तदोषाभावे तस्य गणं समर्प्पयति।

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आचारपकप्पे णाम अज्झयणे परिभवे सिया कप्पत्ति तेसिं सणिसणाण का यासे ल्लियाण वा उत्ताणेण वा तुयट्टाण वा आयारपकप्पे णाम अज्झयणे दोच्चंपि तच्चंपि पडिच्छित्तए वा परिसारेत्तए वा॥१८॥ व्य० सू० ५ उ०॥

(थेराणं थरेभूमिपत्ताण) मित्यादि स्थविराणां स्थविरभूमि प्राप्तानामाचारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टं स्यात् कल्पते तेषां सन्निषण्णानां व निषद्यागतानां (संतुयदृणे वेति) सम्यक्त्ववर्तनेन स्थितानां उत्तानानां वा (पासिल्लयाणवत्ति) पार्श्वतः तिष्ठतां वा आचारप्रकल्पनामकमध्ययनं द्वितीयमपि तृतीयमपि अपिशब्दात् चतुर्थमपि वारं प्रत्येष्टुं वा प्रतिसारयितुं वा अवमरत्नाधिकः प्रतिसारयति स्थविराः प्रतीच्छंति एष सूत्रसंक्षेपार्थः॥

अधुना भाष्यविस्तरः।

एमेव विइयसुत्तं, कारणियं सति बलेन हावेत्ति।
जं जत्थउ कितिकम्म, निहाणसमओ मराइणिए॥

यथा प्राक्तनं सूत्रं कारणिकमेवमेवेदमपि सूत्रं कारणिक सूत्रं प्रत्युज्ज्वालयन् सति बले विनयं न हापयति। अथ कोऽसो विनयो यस्तेन सूत्रं प्रत्युज्ज्वालयता सति बलेन हातव्य इत्यतआह (जजत्थउ) इत्यादि यत्कृतिकर्म वन्दन कं यत्र सूत्रे अर्थे वाऽधिकृतं तत्रावमरत्नाधिके निधानसमे सूत्रमर्थं च प्र-त्युज्वालयता तत् न हापयितव्यं। निधानसमे इति वदता निधाने दृष्टान्तः सूचितः। स चैवं। यथा महति क्षुल्लके वा निधाने उत्खनितव्ये तस्य तदनुरूपमुपचारमुतखानको यदि करोति ततस्तमुत्खनितुं शक्नोति अथ न करोति तदनुपमुपचार तर्हि वृश्चिकाद्युपद्रवतो न शक्नोति एवं यदि स रत्नाधिकेऽवमरत्नाधिके वा सूत्रमर्थं वा प्रत्युज्ज्वालयन् अपूर्वं वा पठन् तदनुरूपं विनयं न करोति तदा निर्जरालाभस्तस्य नोपजायते। नच शास्त्रं स्थिरपरिचितं भवति विभंगं वा तस्य ज्ञानं विभ्रंशितया प्रान्त-देवता कुर्यात्कलहं। एतदेवाभिधित्सुःप्रथमतः प्रायश्चित्तमाह॥

सुत्तंमिय चउलहुगा, अत्थंमि यचऊगुरुं च गच्छेण।
कित्तिकम्ममकुव्वंतो, पावति थेरोस विबलंमि॥

स्थविरः प्रत्युज्ज्वालयन्नपूर्वं पठन् वा सति बले यदि गर्वेण कृति कर्म्म न करोति तर्हि तदकुर्वन् सूत्रे सूत्रविषये चतुरो लघुकान्प्राप्नोति अर्थे चतुर्गुरुकं॥

उवयारहीणमफलं, होइ निहाणं करेइ वाणत्थं।
इयनिज्जरा य लाभो, न होई विब्भंगफलहो वा॥

यथा उपचारहीनं निधानमफलं भवति नोत्खनितुं शक्यते इति भावः। अनर्थं वा करोति वृश्चिकाद्युपद्रवकारणात् इति एवमनेनैव दृष्टान्तप्रकारेण कृति कर्म्माकरणे निर्जराया लाभो न भवति प्रान्तदेवताकोपवशाद्विभागो वा तस्योपजायेत कलहो वा॥

दूरत्थो वा पुच्छइ, अहवनिसज्जाय सन्निसन्नो उ।
अच्चासन्ननिविट्ठु, ड्डिए य चउभंगो वोच्चत्थो॥
अंजलिपमाण अकरणं, विप्पक्खंते दिसाहो उड्ढमुहे।
मासंतणुवउत्ते, वहसंते पुव्वमाणो उ॥
एएसु सत्तेसु वि, सुत्ते लहुतो उ अत्थे गुरुमासो।
नाभीतोवरिलहुगा, गुरुगमहो कोय कन्दुयाण॥

दूरस्थितो वा पृच्छति अथवा निषद्यायां सन्निषण्णः पृच्छति शृणोतीति भावार्थः। यदि वा अत्यासन्न ऊरुणा ऊरुं संघृष्य शृणोति निविष्टोत्थिते चतुर्भंगी बोद्धव्या। सा चैवं निविष्टोवा निविष्टं पृच्छति १ निविष्ट उत्थितं पृच्छति २ उत्थितो निविष्टं पृच्छति ३ उत्थित उत्थितं पृच्छति ४ यथा अंजलेर-करणमर्थपरिसमाप्तौ प्रणामस्याऽकरंण तथा दिशो विप्रेक्षमाणः पृच्छति १ यदिवाऽधोमुख ऊर्ध्वमुखो वा शृणेति न गुर्वभिमुखः २ अथवा येन तेन वा सह भाषमाणः शृणोति अनुप्रयुक्तो ३ वा शृणोति हसन्वा पृच्छति ४ एतेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु सूत्रे श्रूयमाणे प्रायश्चित्त लघुको मासः अर्थे गुरुमासः तथानाभित उपरि सूत्रं शृण्वतः कायम्डूकयने चत्वारो लघुकाः। अर्थं शृण्वतश्चत्वारो गुरुकाः। नाभितोऽधस्तात् सूत्रश्रवणे कायकण्डूयने चत्वारो-गुरुकाः। नवरं तपःकाल-योरन्यतरेण गुरुकाः।

तह्मा वज्जं तेणं, ठाणाणे याणि पंजलुक्कुडुणा।
सोप्पव्वए यत्तेणं कित्तिकम्मं वावि कायव्वं॥

यस्मादेवमविनयकरमे प्रायश्चित्त विधि स्तस्मादेतानिप्रागनन्तर-मुपदर्शितानि वर्जयित्वा प्रांजलिना प्रकृतोजलिना-उत्कुडुकेन प्रयत्नेनादरपरतया श्रोतव्यं। कृतिकर्म वापि वंदन कं कर्तव्यं। यद्यपि वंदनकेनोपस्थितं वाचनाचार्योऽनुजानाति तथापि क्षमाश्रमणं दत्वा कृतप्रांजलिना श्रोतव्यं।

तेणविधारेयव्वं, पच्छाविय उट्ठिएण मंडलितो।
वेदुट्ठ निवण्णस्सव, सारेयव्वं हवति भओ॥

तेनापि श्रोत्रवत् व्याख्यानमंडल्या, वा श्रुतं तत् मंडलीत उत्थितेन पश्चादपि धारयितव्यम्। तस्य च धारयत उपविष्टस्य ऊर्ध्वं स्थितस्य निष्पन्नस्य वा क्वचित् स्खलने तेनापि वाचनाचार्येण भूयो भवति स्मारयितव्यं गमयितव्यम्।

अह से रागो न होज्ज, ताहे भासंत एगपासंमि।
सन्निसन्नो तु पदो वा, अत्थइ अणुग्ग हपव्वत्तो।

अथ(से) तस्य स्थविरस्य रागो न भवेत्तर्हि व्याख्यानमंडल्या उत्थितो भाषमाणस्य अनुभाषमाणस्य चिन्तापयत इत्यर्थः। एकपार्श्वे तत्सेवाबुद्ध्या सन्निषण्णः सम्यग्निषद्यागतस्त्वगवर्तितो वा भाषमाणस्याऽनुग्रहप्रवृत्तस्तिष्ठति। पर आह।

थेरस्य किंतूपदूं हेणं किलेसकरणेण।
भण्णइ एगनुवयोग, सद्धजणं णा च तरुणाणं।

अथ तस्य स्थविरस्य जीर्णमहतः किमेतावन्मात्रेण क्लेश-करणेन। सुरिराह। भण्यते अत्रोत्तरं दीयते। एवमाचरतस्तस्य सूत्रार्थाभ्यां सह एकत्वोपयोगोपयुक्तस्य तु सुत्रार्थः सम्यग्लगति। तथा तरुणानां च श्रद्धाजननं कृतं भवति। तथाहि। व्याख्या-नमंडल्या उत्थितमपि निजमाचार्यं जीर्णं महान्तमेषं विनयं कुर्वन्तं दृष्ट्वा चिन्तयंति। यद्युष्माकमाचार्यो जीर्णो महानप्येवं श्रुतस्य विनयं करोति ततोऽस्माभिस्तरुणैः सुतरां कर्तव्यः आह शिष्यः। यथा जीर्णमहत आचार्यस्याऽनुग्रहः क्रियते। यथाऽनुभाषमाणस्य एकपार्श्वे सन्निषण्ण-स्त्वग्वर्तितो वा तिष्ठतु एवमन्यस्यापि क्रियते इति ब्रूमस्तथा चाह।

सो उ गणी अगणी वा, अणुभासं तस्स सुणति पासंमि।
न वइ जुण्णदेहो, होडं बद्धासणो सुचिरम्॥

सजीर्णो महान् गणी आचार्य उपाध्यायो गणावच्छेदको वा अगणी वा अन्यो यः स्थाननियुक्तः सोऽनुभाषमाणस्य चिन्तापयतु एकस्मिन्पार्श्वे सन्निसण्णस्त्वग्वर्तितो वा शृणोति यतो न शक्नोति जीर्णदेहो बद्धासनो भवितुं सुचिरं कालमिति॥ व्या० उ० ५०॥

आयारपकप्पधर–पुं० (आचारप्रकल्पधर) निशीथाध्ययनधा-रिणि, । ग० १ अधि। निशीथाध्ययनसूत्रार्थधरे, च व्य० उ० ३। पं० चू०॥

तिविहाय पकप्पधरा सुत्ते अत्थे य तदुभये चेव।
आयारपकप्पधरो, कप्पववहारधारओ अज्जो॥व्य०॥

णयसुत्तवज्जिओविहु, गयणं परियट्टि अणुराहातो। पं० चू०।

आयारपकप्पधरो गाहा। आचारणमाचारः क्रिया इत्यर्थः सचाष्टप्रकारः पंचसमितयो गुप्तित्रयं एष चारित्राचार आचारप्रकल्पधरो नाम निशीथेषु सूत्रार्थधर इत्यर्थः। किञ्चकल्प-व्यवहारधरश्च (अज्जोत्ति) आमन्त्रणे निर्देशे वा (नयवज्जिउत्ति) नयन्तीति नयाः हुपादपूरणे

दुक्खक्खयकार ओ जम्हा एएण गणपरियट्टि अणुएहाओ आह कहमनुज्ञातः।

पच्छित्तकरणअणुपालणा, य भणिता ओ कप्पववहारे।
एतेण अत्थधारी, गणधारी जो चरणधारी।
अज्जोतिआमंतणाणिद्देसे, वा णयस्स सुत्ताइं।
जातिं तु दिट्ठिवाते, पच्छित्तं दिज्जते तह तु।
तेहिं विणा विजाणति, आयारपकप्पवारओ जम्हा।
तम्हा तु अणुण्हातो, गणपरिवट्टि तु सो णियमा।
पायच्छित्तं जम्हा, पायच्छित्तकरणं अणुपालयंति तहा गणे अणुपालीज्जइ तं पकप्प पकप्पववारेसु भणियं एएण सत्थदारी जो सो गणपरियट्टी अणुएहाओ चरणजुत्तो जइ भवइ गाहा पं० भा० चू०॥

करणाणुपालपयालं तु, पञ्जवकसिणं समासतो णाणं
करणाणुपालणदुत्तं, पञ्जवकसिणं भवे तिविहं।
दुत्तिपण च्छक्कणयं, तरेसु सोलस हवंति ठाणाइं।
करणट्ठाणपसत्था, करणट्ठाणाओअपसत्था॥
एयाइं ठाणाइं, दोहि विगाहाहि जाइं भणित्ताइं।
तेसिं परूवणमिणमो, समासतो होति बोधव्वा।
करणं तु किया होति, पढिलेहण मादिसामायारी तु॥
तं पालेज्जतु णाणे, ण तं च दुविहं मुणेयव्वं। दारं।
पञ्जवकसिणसमासो, पञ्जवकसणं तु चोद्दस पुव्वा।
सामाइयं पकप्पो, होति समासो मुणेयव्वो॥
पञ्जवकसिणंतिविहं, सुत्ते अत्थे य तदुभये चेव। पं० भा०॥

करणाणुपालयाणं तं दुविहं पञ्जवकसिणं समासतश्च पञ्जवकसिणं नाम चोद्दसपुव्वाणि समासओ आयारपकप्पोसमासः संक्षेप इत्यर्थः। यथा समुद्रभूतस्तडागः चन्द्रमुखीदेवता सिं हो माणवकः एकदेशेनाप्यौपम्यं क्रियते। चतुर्दशपूर्वधरः सर्वपर्यायेषु सूत्रार्थेषु चरणकरणादयः पदार्थाः सर्व पर्यायेषु सूत्रार्थेषु चरणकरणादयः पदार्थाः प्रज्ञापयितुं समर्थाः। आचारकल्पधरस्त्वेकदेशतः। (दोण्हविचरणकरणं अणुपाले उ समत्था) तेनैकदेशाभिज्ञत्वं प्रतीत्य यथा समासतोऽप्यर्थधरः कल्पव्यवहारादयो गणपरिपालण समर्था भवंतिपञ्ज वकसिणं तिविहं सुत्ते अत्थे तदुभएय॥ पं० चू०॥

आयारपकप्पिय–पुं० (आचारप्रकल्पिक) आचारप्रकल्पाऽभिधानाध्य-यनधारिणि, (आयारपकप्पितो जोग्गो) व्य० उ० ५।

आयारपढमसुत्त–न० (आचारप्रथमसूत्र) "सुयंमि आउसं तेणं भगवया एवमक्खाय" मित्येवं रूपे आचाराभिधानप्रथमांगा दिवाक्ये, पंचा० वृ० ११।

एसा य परा आणा, पयडा जं गुरुकूलं ण मोत्तव्वं।
आयारपढमसुत्ते, एतोचिय दंसियं पयं॥१॥

आयारपण्णत्तिधर–पुं० (आचारप्रज्ञप्तिधर) आचारधरे, प्रज्ञप्तिधरे, च।

आयारपण्णत्तिधरं, दिट्ठीवाय महिज्जगं।
चइविक्खलियं नच्चा, न तं उवहसे मुणी॥५०॥ सूत्रं

व्या०। आचारप्रज्ञप्तिधरस्तान्येव प्रविशेषाणीत्येवं भूतमिति दश० अ० ८।

आयारपणिहि–पुं० (आचारप्रणिधि) आचारप्रणिधाने तत्प्रति-पादके दशवैकालिकस्य स्वनामख्यातेऽष्टमेऽध्ययने, च।

तथा च दशवैकालिके ॥

व्याख्यातं वाक्यशुद्ध्यध्ययनमिदानीमाचारप्रणिधानाख्यं मारभते । अस्य चाऽयमभिसम्बन्धः । इहानन्तराध्ययने साधुना वचनदोषगुणाभिज्ञेन निरवद्यवचसा वक्तव्यमित्युक्तं तदुक्तं इह तु तुं निरवद्यं वच आचारे प्रणिहितस्य भवतीति । तत्र यत्नवता भवितव्यमित्येतदुच्यते । उक्तं च ॥

पणिहाणरहिअस्सेह, निरवज्जं पि भासियं ।
सावज्जतुल्लं विन्नेयं, अज्झूत्थेणेहसम्बुडं ॥

इत्यनेनाभिसम्बन्धेनायातमिदमध्ययनं अस्य चाऽनुयो द्वारो-पन्यासः पूर्ववत्तावद्यावन्नाम निष्पन्नो निक्षेपस्तत्र चा चार-प्रणिधिरिति द्विपदं नाम ॥

साम्प्रतं सूत्राऽलापकनिष्पन्नस्याऽवसर इत्यादि वचः पूर्ववत्तावद्यावत्सूत्राऽनुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदं ।

आयारपणिहिं लद्धुं, जहा कायव्व भिक्खुणा ।
तम्भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१॥

अस्य व्याख्या । आचारप्रणिधिमुक्तलक्षणं लब्ध्वा प्राप्य येन प्रकारेण कर्तव्यं विहिताऽनुष्ठानं भिक्षुणा साधुना तं प्रकारं तेन भवद्भ्य उदाहरिष्यामि कथयिष्यामि । आनुपूर्व्या परिपाट्या शृणुत ममेति गौतमादयः स्वशिष्यानाहुरिति सूत्रार्थः ॥

तं प्रकारमाह ॥

पुढविदगअगणिमारुय, तणरुरकस्स बीयगा ।
तस्सा य पामा जीवंति, इह वुत्तं महेसिणा ॥२॥

व्याख्या । पृथिव्युदकाग्निवायवस्तृणवृक्षसबीजा एते पञ्चकेन्द्रियकायाः पूर्ववत् त्रसाश्च प्राणिनो द्वीन्द्रियादयो जीवा इत्युक्तं महर्षिणा वर्द्धमानेन गौतमेन वेति सूत्रार्थः ॥

तेसिं अत्थणजोएणं, निच्चं हो अव्वयं सिया ।
मणसा कायवक्केणं, एवं हवइ संजए ॥३॥

यतश्चैवमतस्तेषां पृथिव्यादीनामक्षणयोगेनाहिंसाव्यापारेण नित्यं भवितव्यं वर्तितव्यं स्याद्भिक्षुणा मनसा कायेन वाक्ये न त्रिभिः कारणैरित्यर्थः । एवं वर्तमानोऽहिंसकः सन् भवति संयतो नान्यच्छेति सूत्रार्थः ॥

एवं सामान्येन षड्जीवनिकायहिंसया संयतत्वमभिधायाधुना तद्व्रतविधिविधानतो विशेषेणाऽऽह ॥

पुढविं भित्तिं सिलिं लेलुं, नेवभिंदे न संलिहे ॥
तिविहेण करणजोएण, संजए सुसमाहिए ॥४॥

व्या० ॥ पृथिवीं शुद्धां भित्तिं तटीं शिलां पाषाणात्मिकां लेष्ठु, मिट्टालखंडं नैव भिंद्यात् न संलिखेत् । तत्र भेदनं द्वैधीभावोत्पादनं संलेखनमीषल्लेकनं त्रिविधेन त्रिकरणयोगेन न करोति मनसेत्यादिना संयतस्साधुस्सुसमाहितः शुद्धभाव इति गाथार्थः ॥

सुद्धपुढविं न निसीए, ससरक्खंमिअ आसणे ॥
पमज्जित्तु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥५॥

शुद्धपृथिव्यामशस्त्रोपहतायामनन्तरितायां न निषीदेत् । तथा रजस्के वा पृथिवीरजोवगुण्ठिते वा आसने पीठिकादौ न निषी-देत् । निषीदनग्रहणात्स्थानत्वग्वर्तनपरिग्रहः । अचेतनायां तु प्रमृज्य तां रजोहरणे न निषीदेत् ज्ञात्वेत्यचेतनां ज्ञात्वा याचयित्वाऽवग्रहमिति यस्य सबन्धिनी पृथिवी तमनु-ग्रहमनुज्ञाप्येति सूत्रार्थः ॥

उक्तः पृथिवीकायविधिरप्कायविधिमाह ।

सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि अ ॥
उसिणोदगं तत्तफासुअं, पडिगाहिज्ज संजए ॥६॥

शीतोदकं पृथिव्युद्भवसचित्तोदकं न सेवेत । तथा शिलावृष्टं हिमानि च न सेवेत । तत्र शिलाग्रहणेन करकाः परिगृह्यन्ते । वृष्टं वर्षणं । हिमं प्रतीतं प्राय उत्तरापथे भवति यद्येवं कथमयं वर्ते तेत्याह उष्णोदकं क्वथितोदकं तप्तप्रासुकं तप्तं सत्प्रासुकं त्रिदण्डोद्धृतमुष्णोदकमात्रं प्रतिगृण्हीयाद्वृत्यर्थं संयतस्साधुः । एतच्च सौवीराद्युपलक्षणमिति सूत्रार्थः ॥ तथा ॥

उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे ॥
समुप्पेह तहा भूअं, नो णं संघट्टए मुणी ॥७॥

नदीमुत्तीर्णो भिक्षाप्रविष्टो वा वृष्टिहत उदकार्द्रमुदकबिंदु-चितमात्मनः कायं शरीरं स्निग्धं वा नैव पुञ्छयेत् । वस्त्रतृणादिभिर्नैव संलिखेत् । पाणिना अपि तु संप्रेक्ष्य निरीक्ष्य तथा भूतमुदकार्द्रादिरूपं नैवं कायं संघट्टयेत् मुनिर्मनागपि न स्पृशेदिति सूत्रार्थः ॥

उक्तो ऽप्कायविधिस्तेजस्कायविधिमाह ॥

अंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइअं ॥
उंजिज्जा न घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥८॥

अंगारं ज्वालारहितं अग्नि मयः पिण्डानुगतमर्चिश्छिन्नज्वालं-अलातञ्चोल्मुकं वा सज्योतिस्साग्निकमित्यर्थः । किमि-त्याह । नोत्सिंचेत् न घट्टयेत् तत्रोज्ज्वनमुत्सेचनं प्रदीपादेर्घट्टनं मिथश्चालनं तथा नैनमग्नं निर्वापयेत् अभावमापादयेन्मुनि-स्साधुरिति सूत्रार्थः ॥

प्रतिपादितस्तेजस्कायविधिर्वायुकायविधिमाह ॥

तालविंटेण पत्तेण, साहाए विहुणेण वा ।
न वीइज्ज अप्पणोकायं, बाहिरं वावि पुग्गले ॥९॥

तालवृंतेन व्यजनविशेषेण पत्त्रेण पद्मिनीपत्रादिना शाखायावृक्षडालरूपया विधूननेन वा । किमित्याह । न वीजयेत् आत्मनः कायं स्वशरीरमित्यर्थः । बाह्यं वाऽपि पुद्गल-मुष्णोदकादीति सूत्रार्थः ॥

प्रतिपादितो वायुकायविधिर्वनस्पतिकायविधिमाह ॥

तणरुक्खं न छिंदिज्जा, फलं मूलं च कस्सई ।
आमगं विविहं बीअं, मणसावि न पत्थए ॥१०॥

तृणवृक्षमित्येकवद्भावः तृणानि दर्भादीनि वृक्षाः कदम्बादयः एतान्न छिंद्यात् । फलं मूलं वा कस्यचिद्वृक्षादेर्नछिंद्यात् । तथा आगमशास्त्रोपहतं विधमनेकप्रकारं बीजं मनसाऽपि न प्रार्थयेत् किमुताश्रीयादिति सूत्रार्थः ॥

तथा ।

गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिएसु वा ।
उदगंमि तहा निच्चं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥११॥

गहनेषु वननिकुञ्जेषु न तिष्ठेत् संघट्टनादि दोषप्रसङ्गात्तथा बीजेषु प्रसारिताशाल्यादिषु हरितेषु वा दूर्वादिषु न तिष्ठेत् । उदके तथा नित्यं अत्रोदक मनन्तवनस्पतिविशेषः । यथोक्तं ''उदए अवए पणए'' इत्यादि । उदकमेवान्ये । तत्र नियमतो

वनस्पतिभावात्। उत्तिङ्गपनकयोर्वा न तिष्ठेन्। तत्रोत्तिङ्गः सर्पछत्रादिः। पनक उल्लिवनस्पतिरिति सूत्रार्थः॥

उक्तो वनस्पतिकायविधिस्त्रसकायविधिमाह॥

तसे पाणे न हिंसेज्जा, वाया अदुव कंमुणा॥
उवर ओ सव्व भूएसु, पासेज्ज विविहं जगं॥१२॥

त्रसप्राणिनो द्वीन्द्रियादीन् न हिंस्यात्। कथमित्याह। वाचाऽथवा कर्म्मणा कायेन मनसस्तदन्तर्गतत्वाद्ग्रहणं। अपि चोपरतः सर्वभूतेषु निक्षिप्तदण्डस्सन् पश्येद्विविधं जगत्कर्म्मपरतंत्रं नरकादिगतिरूपं निर्वेदायेति सूत्रार्थः॥

उक्तः स्थूलविधिस्सूक्ष्मविधि माह॥

अट्ठ सुहमाइ पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारी भूएसु, आसचिट्ठ स एहिवा॥१३॥

अष्टौ सूक्ष्माणि वक्ष्यमाणानि प्रेक्षोपयोगतः आसीत्। तिष्ठेच्छयीत वेतियोगः। किं विशिष्टानीत्याह। यानि ज्ञात्वा संयतो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च दयाधिकारी भूतेषुभवत्यन्यथा दयाधि कार्य्येव नेति तानि प्रेक्ष्य तद्रहितः एवाऽसनादीनि कुर्य्यादन्यथा तेषां सातिचारतेति सूत्रार्थः॥ दश० ८ अ०॥

आचारप्रणिधिफलमाह॥

तवं चिमं संजमजोगयं च, सज्झायजोगं च सया अहिट्ठिए।
सूरेव सेणा एसमत्ताउहे, अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ६२

सूत्रव्याख्या। तपश्चेदमशनादिरूपं साधुलोकं प्रतीतं संयम योगं च प्रथिव्यादिविषयं संयमव्यापारं च स्वाध्याय योगं च वाचनादिव्यापारं सदा सर्वकालं अधिष्ठाता तपः प्रभृतीनां कर्तेत्यर्थः। इह च तपोभिधानात्तद्ग्रहणेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदाभिधान मिति। स एवं भूतः शूर इव विक्रान्तः भट इव सेनया चतुरंगरूपया इन्द्रियकषायादिरूपया निरुद्धः सन् समाप्तायुधः संपूर्णतपःप्रभृतिखड्गाद्यायुध अल-मित्यर्थ मात्मनो भवति संरक्षणाय अलंच परेषां निराकरणयेति सूत्रार्थः॥

तदेव स्पष्टयन्नाह॥

सज्झाय सज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झइ जंसिमलं पुरे कडं, समीरियं रुप्पमलं व जोइणा॥६३॥

सूत्र व्याख्या० स्वाध्याय एव सद्ध्यानं स्वाध्यायसद्ध्यानं तत्र रतस्य सक्तस्य त्रातुः स्वपरोभयत्राणशीलस्य अपापभावस्य लब्ध्याद्यपेक्षा-रहिततया शुद्धचित्तस्य तपस्यनशनादौ यथा-शक्तिरतस्य विशुद्ध्यते अपैति यदस्य साधोर्मलं कर्ममलं पुराकृतं जन्मांतरोपात्तं दृष्टांतमाह। समीरितं प्रेरितं रुप्पमलमिव ज्योतिषा अग्निनेति सूत्रार्थः॥ ततश्च।

सेत्तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए, सुएणजुत्ते अममे अकिंचणे॥
विरायई कम्मघणंडि अवगए, कसिणप्भपुडावगमेवचंदिमि त्तिबेमि॥६४॥

सूत्रव्याख्या स तादृशोऽनन्तरगुणपरिषहयुक्तः साधुःदुःखसहः परीषहजेता जितेन्द्रियः पराजितश्रोत्रेन्द्रियादिःश्रुतेन युक्तो विद्यावनित्यर्थः। अममःसर्वत्रममत्वरहितः। अकिञ्चनो द्रव्यभावकिञ्चन-रहितो विराजते शोभते। कर्मघने ज्ञाना-वरणीयादिकर्ममेघे अपगते सति। निदर्शनमाह। कृत्स्नाभ्रपुटा-पगम इव चन्द्रमा इति। यथा कृत्स्ने वाभ्रपुटे गते सति चन्द्रो विराजते शरदि तद्वदसावपेतकर्मधनः समासादितकेवलालोको विराजते इति सूत्रार्थः। दश० ८ अ०॥

आयारपत्त–त्रि० (आचारप्राप्त) ब्रह्मव्रताद्याचाराऽपन्ने, तथाच तण्डुलवैकालिके। स्त्रियोऽधिकृत्य (दूषणं आयारपत्ताणं दूषणं कलंकः केषां आचारप्राप्तानां ब्रह्मव्रताद्याचारापन्नानामिति। तं०॥

आयारपरक्कम–पुं० (आचारपराक्रम) आचारे ज्ञानादौ पराक्रमः प्रवृत्तिबलं यस्य स आचारपराक्रमः। ज्ञानाद्याचारप्रवृत्तिबलो-पेते, दश० चू० २॥

तम्हत्ति सूत्रं॥

तम्हा आयारपरक्कमेणं, सम्वरसमाहि बहुलेणं॥
चरिया गुणा य निअमा, होंति साहुणदट्ठव्वा॥४॥

व्या० यस्मादेतदेवमनंतरोदितं तस्मादाचारपराक्रमेणेत्याचारे ज्ञानादौपराक्रमः प्रवत्तिबलं यस्य स तथा विध इति गमक-त्वाद्बहुव्रीहिः। तेनैवंभूतेन साधुना संवरसमाधिंबहुलेनेति संवर इंद्रियविषये समाधिरनाकुलत्वं बहुलं प्रभूतं यस्य स तथाविध इति समासः पूर्ववत् तेनैवं विधेन सता अप्रतिपाताय विशुद्धये च किमित्याह। चर्या भिक्षुभावनसाधनी बाह्या अनियतवासादिरूपा गुणाश्च मूलगुणोत्तर-गुणरूपा नियमाश्चोत्तरगुणानमेवपिंड विशुद्ध्या दीनांस्वकालासेवन-वियोगा भवंति। साधूनां द्रष्टव्या इत्येते चर्यादयः साधूनां द्रष्टव्या भवंति। सम्यग्ज्ञानासेवनप्ररूपणा-रूपेणेति सूत्रार्थः।

आयारभंडग–न० (आचारभंडक) पात्रपटलरजोहरणादिके,।

सव्वोवगरणमाया य साहू आयारभंडगेण समं आचारभं डंकपात्रम् ओघ०॥

आयारभंडसेवि(न्)–पुं० (आचारभाण्डसेविन्) आचारःशास्त्र-विहितो व्यवहारस्तेन भाण्डमुपकरणमाचारभाण्डम् तत्सेवितुं शीलं यस्य स आचारभाण्डसेवी। शास्त्रविहितव्यवहारेणोपकरणसेविनि, अणायार-भंडसेवी जन्ममरणाणुबन्धाणि आतु०॥

आयरमन्तर–न० (आचारान्तर) ज्ञानादिके आचारविशेषे, आचार-व्यवधाने, च (आयारमन्तरेण विण्णयमन्तरे सेहिओ) पा०॥

आयारमन्तरेति आचारान्तरे क्वचित् ज्ञानाचाराविशेषे विषय भूते आचारव्यवधाने वा सति ज्ञानादिक्रियाया अकरणे सतीति भावः। पा० टी०

आयारमट्ठ–त्रि० (आचारार्थ) ज्ञानाद्याचारनिमित्ते, (आयार-मट्ठाविण यं पउंजे) दश० अ० ९ उ० ३ आचारार्थं ज्ञानाद्याचारनिमित्तं विनयमुक्तलक्षणं प्रयुंक्ते करोतीति। दश० टी०।

आयार(मंत)वं–त्रि० (आचारवत्) ज्ञानाऽसेवनाभ्यां पञ्चप्रकारा-ऽचारवति, स्था० ठा० ८ ज्ञानासेवनाभ्यां ज्ञानादिपञ्चप्रकारा-चारयुक्ते, अयं हि गुणत्वेन श्रद्धेयवाक्यो भवति पंचावृ० १५। ब० श० २५ उ० ७। ध० अ० २ (आयारमंतागुण सुट्ठियप्पा) आचारवंतो ज्ञानाद्याचारसमन्विता इति दश०। अ० ९ उ ३ आचारः शास्त्रो-क्तानुष्ठानं कर्तव्यतयाऽस्त्यस्य मतुप् मस्य वः शास्त्रोक्ताऽनुष्ठानयुक्ते स्त्रियां ङीप् वाच०।

अयारवज्जिय–त्रि० (आचारवर्जित) आचारेण वर्जितः शास्त्रो-

क्काचारहीने, आचारहीनादयोऽप्यत्र वाच्य॥

आयारविणय–पुं० (आचारविनय) आचारो व्रतिनां समाचारः स एव विनीयते अपनीयते कर्म्माऽनेनेतिविनय आचारविनयः विनयभेदे।

सचतुर्द्धा यथा संयमसमाचारी १ तपः समाचारी २ गण-समाचारी३ एकाकिविहारसामाचारी ४ च। तत्र संयमं स्वयमा-चरति परं च ग्राहयति तत्र च सीदंतं स्थिरीकरोति तत्रोद्यतं चोपबृंहतीति संयमसमाचारी।१। पाक्षिकादिषु तपः कर्म स्वयं करोति परंच कारयति भिक्षाचर्यां स्वयमनुतिष्ठति परं च तस्यां-नियुंक्ते इति तपःसमाचारी।२। प्रत्युपे क्षणा बालवृद्धा-दिवैयावृत्यादिकार्येषु स्वयमु द्यतोऽग्लान्यागणंप्रेरयतीतिगण-सामाचारी।३। एकाकिविहारप्रतिमां स्वयंप्रतिपद्यते परं च ग्राहयतीति एकाकिविहारसामाचारी॥।४। प्रव० द्वा० ६४ दशा०॥

सेकिं तं आयारविणए ? २ चउव्विहे पण्णते। तं जहा। संजमसामायारीयावि भवति तवसामायारी यावि भवति (महासामायारीयावि भवति) गणसामाहारीयावि भवति एगल्लविहारतासामायारीयावि भवति से त्तं आया रविण्णए ५ दशा०

अथ कथं आचारविनयेन शिक्षयति इति पृच्छन्नाह (से-किंतमित्यादि) कएत्थं गुरुराह आयारविणएणमित्यादि आचारविनयेनेत्यत्र तृतीयान्तता शिक्षयति। अनेन सम्बन्धेनोक्ता. अथवा कोऽसावाचारविनयो णं वाक्यालंकारे चतुर्विधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा। संयमसमाचारी चापि भवति १ एवं तपः २ गणं ३ एकल्लविहारसमाचार्यपि भवति ४ तत्र संयमः सप्त-दशप्रकारस्तस्य समाचारीति समाचरणं समाचारीति समाचरणं समाचारस्तस्य भावे गुणवचनब्राह्मणादिभ्य इति ङ्य तस्य च षित्करणसामर्थ्यात् स्त्रियामपि ष्टत्तिरिति षिग्दौरादिभ्य श्चेतिङीषि सामाचारीशिक्षयिता इति शेषः। भवतिकोऽर्थः। पृथिव्यादिषु संघट्टनपरितापनोपद्रवादि परिहर्तव्यं इति शिक्षायिता भवति। चापि शब्दौ पश्चाश्रवाद्विरमणाऽद्यनुक्तार्यसंग्राहकौ द्रष्टव्यौ १ एवं तपः सामाचार्य्यपि तपः पाक्षिकपौषधिकैः कारयति परैः स्वयं च करोति पाक्षिकादिषु तपश्चतुर्थादिरूपं द्वादशविधो वात्र तपः प्रकारो यथावसरं द्रष्टव्यः ३ एवं गणसामाचर्यपि गणशब्देन समुदायः साधूनामिति द्रष्टव्यं तं शिक्षयति तथा प्रतिलेखना प्रस्फोटनादि च प्रवर्तमानात् ॥१॥ नोदयति बालदुर्बलग्लानवृद्धादि वैयावृत्या दिषु आप्रवर्तमानान् दृष्ट्वा तान् तथा जयति। स्वयं वा तान् दुःखितान् दृष्ट्वा तत्र प्रवर्तते एकल्लविहार-प्रतिमामन्यान् अंगीकारयति। तथा विधानश्रुसंहननादिसमुचितान् दृष्ट्वा स्वयं च कृतकृत्यो गणे तथाविधमाचार्यादिकं स्थापयित्वा विशिष्टानुष्ठानतुलनापयोगीत्यर्थः। स न तां प्रतिपद्यते। अनेनाऽचारेणाऽ-त्मानं परं च विनयति शिक्षयति॥

व्यवहारकल्पे। आचारविनयमाह॥

आयारे विणओ, खलु च उव्विहोहोइ आणुपुव्वीए।
संयमसामायारी, तवे या गणविहरणा चेव ॥१॥

एगल्लविहारे य, सामाचारीयए च उभेया।
एयासिंतुविभागं। वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥२॥

आचो आचारविषयः खलु विनयश्चतुर्विधो भवति। आनुपूर्व्या परिपाट्या। तद्यथा। संयमसामाचारी १ तपः सामाचारी २ गणविहरणसामाचारी ३ एकाकिविहारसामाचारी ४ एवमेषा चतुर्भेदा सामाचारी। एतासांसामाचारीणां विभाग यथानुपूर्व्या वक्ष्यामि ते च तच्छब्दे द्रष्टव्याः

आयारवेई–स्त्री० (आचारवेदी) आचारस्य वेदीव पुण्य भूमौहेम० वाच०।

आयारसंवया–स्त्री० (आचारसंपत्) आचारणमाचारोऽनुष्ठानम् तद्विषया स एव वा सम्पद्विभूतिस्तस्य वा सम्पत् सम्पत्तिः प्राप्तिराचारसम्पत् प्रव० द्वा० ६४ ठा० ठा० ८ आचारो नाम प्रथममंगं तस्मिन् अधीते दशविधश्रमणधर्मो ज्ञातो भवति तस्मादाचाराङ्गं यो भणति सूत्रतोऽर्थतः सम्पद्युक्तो भवति यः स आचारसम्पत् दश० अ १ उत्त० अ० १ गणिसम्पद्भेदे।

आचारसम्पच्चतुर्धा। संयमध्रुवयोगयुक्ता १ असंप्रग्रहः २ अनियतवृत्तिः ३ वृद्धशीलता ४ चेति। तत्र संयमश्चरणं तस्मिन्ध्रुवोनित्यो योगः समाधिस्तद्युक्तबा कोऽर्थः समंतोप-युक्तता १ असंप्रग्रहः समंतात् प्रकर्षेण जात्यादि प्रकृतल क्षणेन ग्रहणमात्मनोऽवधारणं सम्प्रग्रहस्तदभावोऽ-संप्रग्रहो जात्या-द्यनुत्सिक्ततेत्यर्थः २ अनियतवृत्तिरनियतविहाररूपाऽत्र वृद्ध-शीलता वपुषि मनसि च निभृतस्वभावता निर्व्विकारतेति यावत् स्था० ८ ठा० ध० दश०।

आयारसम्पदा चउव्विहा पं० तं० संजमधुवजोगजुत्ते यावि भवति १ असंपइगहियप्पा २ अणियतवित्ती ३ वुड्ढसीले यावि ४ भवति दश०॥

टी० संयमध्रुवयोयुक्तश्चापिभवति १ असंप्रतिगृहीतात्मा २ अनियवृत्तिः ३ वृद्धशील ४ श्चापि भवति तत्राचाचारोनामप्रथममंगं तस्मिन् अधीते दशविधश्रमणधर्म्मोज्ञातो भवति तस्मादारांगं यो भणति सूत्रतोऽर्थतः-सम्यद्युक्तो भवति। यस्सआचारसम्पत्। स च संयमेत्यादि। संयमो नाम चरणं। तस्य ये ध्रुवा अवश्यं कर्तव्यत्वात् योगाः प्रतिलेखना-स्वाध्यायादयः। तैर्युक्तो भवति। अथवा संयमः सप्तदशप्रकारः पञ्चाश्रवाद्विरमणमित्यादिकः तस्मिन् ध्रुवो नित्योगोयो व्यापारो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्तः। अथवा संयमेध्रुवोनित्योयोगोव्यापारोयस्यस संयमध्रुवयोग युक्तः। च शब्दात् ज्ञानादिष्वपि नित्योपयोगः। अपिशब्दग्रहणात्परमपि योजयति। इत्येका १ असंप्रगृहीतः अनुत्सेकवानात्मा यस्य सोऽसंप्रगृहीतात्मा निरभिमान इत्यर्थः। यथा अहमाचार्यो बहुश्रुतस्तपस्वी सामाचारीकुशलो जात्यादिमान्वा इत्या-दिमदरहितः २ अनियता अनिश्चितावृत्तिर्व्यवहरणं विहारो वा यस्य सोऽनिवृत्तिर्यया ग्रामे एगराइं नगरे पंचराइं इत्यादिका। अथवा निकेतनं नाम गृहं तत्र वृत्तिर्वर्तनंयस्य सनिकेतवृत्तिः न निकेतवृत्तिरनिकेतवृत्तिः अथवा चतुर्थादि तपोविशेषैरेषणा समितियोगेन च निकेतवृत्तिः परिचितगृहेष्वंगता इतिवृद्धशीलो निभृतशीलः अवंचनशील इतियावत्। अर्थग्रहणात् वृद्धेषु ग्लानादिषु सम्यग्वैयावृत्यादिकरणकारापणयोरुद्युक्तो भवति एवं विध अथवा वृद्धशीलता वपुषिमनसि च निभृतस्वभावता निर्विकारतेतियावत्॥ प्रव० द्वा०॥

आचरणमाचारोऽनुष्ठानं तद्विषया स एव वा सम्पद्विभूतिस्तस्य वा सम्पत्सम्पत्तिप्राप्तिराचारसम्पत्। एवमग्रेऽपि व्युत्पत्त्यर्थो भावनीयः।

सा चतुर्धा यथा॥

चरणजुओ मयरहिओ, अनिययवित्ती अचंचलोचवत्ति

चरणयुतो मदरहितोनियतवृत्तिरचंश्चलश्चेति तत्र चरणं चारित्रं व्रतश्रमणधर्म्मेत्यादि सप्ततिस्थानरूपं तेनयुतो युक्तश्चरणयुतः। अन्यत्र तु संयमध्रुवयोयुक्ततेत्येवमिदं पठ्यते। तत्राप्ययमेव परमार्थो यतः संयमश्चारित्रं तस्मिन् ध्रुवोनित्यो योगः समाधिस्तेन युक्तता तत्र सततोपयुक्ततेत्यर्थः। तथा मदैर्जातिकुलतपः श्रुताद्युद्भवै-रहितो मदरहितो ग्रन्थान्तरे तु असम्प्रग्रह इति पठ्यते। तत्राऽपि सएवार्थो यतः समन्तात्प्रकर्षेण जातिः श्रुततपोरूपादिप्रकृष्टतालक्षणेनाऽत्मनो ग्रहणमहमेवं जातिमानित्यादि-रूपेणावधारणं सम्प्रग्रहो न तथाऽसम्प्रग्रहो जात्याद्यनुत्सि-क्तत्वमित्यर्थः। अनियतवृत्तिःग्रामादिष्वनियतविहार-स्वरूपता। तथाऽचंचलो वशीकृतेन्द्रियोऽन्यत्र तु वृद्धशीलतेत्येवं पाठ्यते। तत्र वृद्धशीलता वपुषि मनसिच कामिनीमनोमोहने वयसि वर्तमानस्याऽपि निभृतस्वभावता निर्विकारतेति यावत् यतो॥

मनसि रजसाभिभूता जायंते यौवनेऽपि विद्वांसः॥

मूढधियः पुनरितरे भवंति वृद्धत्वभावेऽपि प्रव० ६४ द्वा०॥१॥

तत्राचारश्चतुर्विध स्तद्यथा चरणकरणगुप्तता १ मदोहं-कारस्तद्रहितता २ द्रव्यक्षेत्रकालादिष्टनियतवृत्तिता ३ गत्याद्यचपलता दश०॥४॥

आयारसत्थ—न० (आचारशास्त्र) आचाराङ्गे आचा० अ० १॥ आचारशास्त्रं सु विनिश्चितं यथा, जगाद वीरो जगते हिताय यः॥ तथाच किञ्चिद्वदतः समेऽधुना, पुनातु धीमान् विनयार्पिता गिरः॥१॥

आयारसमाहि—पुं० (आचारसमाधि) समाधि भेदे आचार-समाधिमाह। दश वैकालिके अ० ९ उ० ४।

चउविहा खलु आयारसमाही भवइ तंजहां। नो इह लोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा १ नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा २ नो कित्तिवन्नसद्दसि लोगट्ठयाए आयरमहिट्ठिज्जा ३ अन्नत्थ अरिहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा ४ चउत्थं पयं भवइ, भवइ त्थि सिलोगो॥१०॥

चतुर्विधः खल्वाचारसमाधिर्भवति तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः। नेह लोकार्थमित्यादि आचाराभिधानभेदेन पूर्ववत् यावन्नान्यत्रार्हतै रर्हत्सम्बन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रवत्वादिनिराचारं मूलगुणोत्तरगुणमयमधि-तिष्ठेत्। निरीहस्सन् यथामोक्ष एव भवतीति चतुर्थपदं भवतीति। भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत् सचायं॥

जिणवयणरए अतिंतणो, पडिपुन्नावयमाययट्ठिए।
आयासमाहिसंवुडे, भवइ य दंते भावसन्धए॥

व्या० जिनवचनरतः आगमे सक्तः (अतिंतिनः) न सकृत्किञ्चिदुक्तः सन् असूयया भूयो २ वक्ता। प्रतिपूर्णः सूत्रादिना। आयतमायतार्थिक इत्यत्यन्तं मोक्षार्थी। आचारसमाधि संवृत्तः इत्याचारे यः समाधिः तेन स्थगिताश्रवद्वारः स भवति। दांत इन्द्रियनो इन्द्रियदमाभ्यां। भावसन्धकोभावोमोक्षस्तत्सन्धकः। आत्मनो मोक्षासन्नकारीति सूत्रार्थः

अयारसुय—न० (आचारश्रुत) आचारश्च श्रुतं च आचारश्रुतं द्वन्द्वैकद्भावः। आचारश्रुतसमाहारे। सूत्रकृतांगद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य पञ्चमेऽध्ययने च सूत्र २ श्रु ५ अ०॥

साम्प्रतं पञ्चममध्ययनमारभ्यते। अस्य चायममिसम्बन्धः। इहानन्त-राद्ययने प्रत्याख्यानक्रियोक्ता साचाचारसंव्यवस्थित स्य सतोभवतीत्य-तस्तदनन्तरमाचारश्रुताध्ययनमभिधीयते। यदि वा नाचारपरिवर्जनेन सम्यक्प्रत्याख्यानमस्खलितं भवतीत्य तोनाचारश्रुताध्ययनमभि-धीयते। यदिवा प्रत्याख्या नयुक्तः सन्नाचारवान् भवतीत्यतः प्रत्याख्यानक्रियानन्तरमाचारश्रुताध्ययनं। तत्प्रतिपक्षभूतमनाचार-श्रुताध्ययनं वा प्रतिपाद्यत इत्यनेनसम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्याऽ-ध्ययनस्योपकमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवंति। तत्रोपक्रमान्तर्गतो-ऽर्थाधिकारोऽयं तद्यथा अनाचारं प्रतिषिध्य साधूनामाचारः प्रतिपाद्यते। नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे आचारश्रुतमिति द्विपदं नाम तदन-योर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदा ह॥

णामं ठवणा दविए, दव्वे भावे य होंति नायव्वा॥
एमेव य सुत्तस्स, णिक्खेवो चउव्विहो होति॥१॥

णामंठवणेत्यदि। तत्राचारो नाम स्थापना द्रव्यभावभेद-भिन्नश्चतुर्धा द्रष्टव्यः। एवं श्रुतमपीति। तत्राचारश्रुतयोरन्यत्राभिहितयोर्लाघवार्थम-तिदेशं कुर्वन्नाह॥

आयारसुयं भणियं, वज्जेयव्वा सया अणायारा।
अबहुस्सुयस्स होज्जा, विरहेणा इत्थ जइयव्वे॥२॥

आचारसुयमित्यादि। आचारश्च श्रुतं च आचारश्रुतं। द्वन्द्वैकवद्भावस्तदु-भयमापि भणितमुक्तं। तत्राचारः क्षुल्लिका-चारकथायामभिहितः। श्रुतं तु विनयश्रुते। भावार्थस्तु वर्जयितव्याः परिहार्याः सदा सर्वकालं यावज्जीवं साधु-रनाचारास्तौं-श्चाबहुश्रुतोऽगीतार्थो न सम्यक् जानातीत्यतस्तस्य विराधना भवेत्। बहुशब्दोऽवधारणे बहुश्रुतस्यैव विराधना न गीतार्थस्येत्यतोऽत्र सदाचारे तत्परिज्ञाने च यतितव्यं। ततोहि। मार्गज्ञः पथिकः कुमार्गवर्जनेन नापथगामी भवति न चोन्मार्गदोषैर्युज्यते। एवमनाचारंवर्जयन्नाचारवान् भवति नचाना-चारदोषैर्युज्यत इत्यतस्त-न्निषेधार्थमाह॥

एयस्स पडिसेहो, इहमज्झयणंमि होत्ति नायव्वा॥
तोअणगारयं इयि, होई नामं तु एयस्स॥२॥

(एयस्स इत्यादि) एतस्याऽनाचारस्य सर्वदोषास्पदस्य दुर्ग-तिगमनैकहेतोः प्रतिषेधो निराकरणं सदाचारप्रतिपत्यर्थ-मिहाध्ययने ज्ञातव्यः स च परमार्थतोऽनगारकारणमिति। ततः। केषांचिन्मतेनैतस्या-ध्ययनस्यानगारश्रुतमित्येतन्नाम भवतीति।

आयारसुयखंध—पुं० (आचारश्रुतस्कंध) आचारांगस्य नवब्रह्मचर्याध्य-यनात्मक आचारश्रुतस्कन्ध इति। आचाराङ्गार्द्धे आचा० श्रु० द्वि० अ० १।

आयाराणुओग—पुं० (आचारानुयोग) आचारस्यानुयोगोऽनुयोगः सूत्राध्ययनात्पश्चादर्थ कथनंम्। आचाराङ्गस्यार्थकथने आचारा-ङ्गस्य सूत्राध्ययनात्यपश्चादर्थकथने च आया०। द्वि० श्रु० अ० १।

(आचाराणुयोगे) अणोर्वा लघीयसः सूत्रस्य महता र्थेन योगोऽनुयोगः। आचाराङ्गस्य महतार्थेन योगे च आचा०।

आयारोवगय–त्रि० (आचारोपगत) चतुर्दशे योगसङ्ग्रहे। (आयार विणयोवगए) आचारोपगतत्वं विनयोपगतत्वं चेत्यर्थः इतिप्रश्नः। द्वा० ५ सं०।

आयार विणययोवगएति द्वारद्वयम्। आचारोपगतः स्यान्नमायां कुर्या दित्यर्थः। विनयोपगतः स्यान्नमानं कुर्यादित्यर्थ। सम० स० ३२।

आचारो पगत माह। आ० क०।

पाडलिपुत्त हुआसण जलणसहाचेव जलणदहणो।
असोहम्मपलिअ पयणए आमलकप्याइनट्ठविही।१।

नगरे पाटली पुत्रे, श्रावकोभूद्धुताशनः। तद्भार्याज्वलनशिखा, दहन ज्वलनौ सुतौ ॥१॥ व्रतंचतुर्भिरप्यात्तं ज्वलनात्सर भात्मनः। मायावी दहनोऽभ्येही, त्युक्तोऽगाद्याहिचागमत् ॥२॥ मृतोऽसोतदनालोच्य, सौधर्मेद्वावपीयतुः। पञ्चपल्य स्थितौ जातौ, शक्राभ्यन्तर पर्षदि ॥३॥ पुर्यामामलकल्पायां श्रीवीरः समवा-सरत्। तौद्वावप्यागतौदेवौ, नाट्यं दर्शयतस्तदा ॥४॥ ऋ -जून्येकस्यरूपाणि, वक्त्राएयन्यस्य चाभवन्। तदृष्ट्वागौतमः स्वामी पप्रछ स्वामिनं ततः ॥५॥ तत्प्राग्भवं प्रभुः प्राह, माया-दोषाद्भवत्यदः। आचारोपगतैकस्य, द्वितीयस्य च ना भवत् ॥६॥ चू०॥ आवः॥

आयास–पुं० (आयास) आ-यस-घञ् खेदे। चिन्तायास निचि विपुलसालो चिन्ताश्च चिन्तनानि आयासाश्चमनः प्रभृतीनां खेदास्तएव पाठान्तरेण चिन्ताशतान्येव निचिता निरन्तरा विपुला विस्तीर्णा शाला शाखायस्य सतयेति प्रश्न० द्वा० ५।

(आयास विसूरणा कलह कम्पियग्गसिहरो) आयास शरीरखेदः विस्तरणा चित्तखेदः कलहोवनचनभण्डम् एत देव प्रकम्पितं कम्पमानमग्रशिखरं शिखाराग्रं यस्य स तथा। प्रश्न० ॥द्वा०॥५॥

आयास हेतुत्वात्परिग्रहेच परिग्रहस्य गौणनामान्यधिकृस्य आयासो आयासः खेदः तद्धेतुत्वात्परिग्रहोऽप्यायास उक्त आहच। शरीरमनसोर्व्यायामेच (आयासविसूरणं) आयास विस्तरणं स्वदार गमने शरीरमनसोर्व्यायामं कुर्व तीति प्रकृतम्। परदार सेवनायांच विस्तरणमप्राप्तौ मनः खेदं परस्य वा मनः पीडां कुर्वन्तीति। प्रश्न० द्वा० ॥५॥

आयासलिवि–स्त्री० (आयासलिपि) ब्राह्म्यालिपेरष्टादश-सुलेख्यविधा-नेषुपञ्चदशे लेख्यविधाने प्रज्ञा० पद १

आर–पुं० (आर) परभावापेक्षया इहभवेप्रव्रज्यापेक्षया गृहस्थत्वे मोक्षापेक्षया संसारेच (णाहिसिआरंकओ परंवेहासे कम्मेहिं किचती) सूत्र० श्रु० अ० २ तन्मार्गे प्रपन्नस्त्वमपि कथं ज्ञास्यसि आरमिह भवं कुतो वा परं परलोकं यदि वा आरमिति गृहस्थत्वं परमिति प्रवृज्या पर्यायम्। अथवा आरमिति ससारं। परमिति मोक्षं एवं भूतश्चान्योऽप्युभयभ्रष्टः (वेहसिति) अन्तराल उभयाभावतः स्वकृतः कर्मभिः कृत्यते पीड्यतइति। पर-लोकापेक्षयाइहलोके नरकाद्यपेक्षया मनुष्यलोके च (लोग विदिता आरं पारं च सव्वं पभूवारिय सव्ववारं) सूत्र० श्रु० १ अ० ६।

लोकंविदित्वा आरमिह लोकाख्यं पारं परलोकाख्यं यदि वा आरं मनुष्यलोकं पारमिति नरकादिकंस्वरूपतस्तत्प्राप्तिहेतुं ततश्चविदित्वा सर्वमेतत्प्रभुर्भगवान् सर्ववारं बहुशो निवारितवान् इति सूत्र० टी०।

चतुर्थ्याः पंकप्रभायाः पृथिव्याः स्वनामख्याते महानिरये च स्था० ठा० ४ आ ऋकर्तरि संज्ञायां कन् दण्डान्तर्वर्तिन्यां शलाकायां स्त्री० टाप्० (कसंकुसारणि वाय दमणाणि आराच प्रवणी परायणदण्डान्तर्वतिनी शलाकेति प्रश्न०।

आरओ–अव्य० (आरतस्) इहलोके (इहलोके आरओ वा विदुहा वियअसंजया) सूत्र० श्रु० १ अ० ८

आरतः परश्चेति इहलोक परलोकयोरिति, सूत्र० टी० आरतः परतश्चेति लौकिकी वा युक्तिरितिएवं पर्यालोच्यमाना ऐहि-कामुष्मिकयोर्द्विधापि स्वयंकरणेन परकरणेन वा संयता जीवो-पघातकारिण इत्यर्थः सूत्र० श्रु० १ अ० ८

अर्वागित्यर्थेच आरेण पव्वाए व्य० उ ४

त्रयाणां वर्षाणामारतोऽर्वाक् यानि प्रव्राजयतीति व्य०॥

आरम्भ–पुं० (आरंभ) आरभ घञ् मुम् वर्गेन्त्योवा इति प्राकृत-सूत्रेणानुस्वारस्य वर्गेपरे प्रत्यासत्तेस्तस्यैव वर्गस्यान्त्यो वा भवति आरंभो आरंभो इति प्रा० उपक्रमे प्रथम कृतौ वाच० प्रथमोत्पत्तौ (ओहिन्नाणारम्भो परिनिट्ठाणं च तं जेसु) येष्ववधि) ज्ञानस्याऽरंभः प्रथमोत्पत्तिलक्षण इति। विशे० (काऊण पञ्चमंगलमारंभो होई सुत्तस्स) आ० म०। हिंसादिकेसावद्यानुष्ठाने–सूत्र० श्रु० १ अ० २ आचा० अ० १३ उ० ७॥

आरंभतिरियंकट्टु आत्तताए परिव्वये – आरंभं सावद्यानुष्ठाना-रूपं तिर्यकृत्वेति सूत्र। श्रु० १ अ० ३। आरंभेसु अणिस्सिए आरंभेषु सावद्यानुष्ठानरूपे ष्वनिश्रितोऽसंबन्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थ इतिसूत्रश्रु० १ अ० ९॥

आरंभगंचेवपरिग्गहंचअ विनस्सियाणिस्सियआयदंडां

आरंभं सावद्यानुष्ठानेच तथा परिग्रहं वा व्युत्सृज्य परित्येज्य तस्मिन्नेवारंभेक्रयविक्रय पचनपाचनादिके तच्छा परिग्रहे धन-धान्यहिरण्यसुवर्ण चतुष्पदादिके निश्चयेन श्रिताबद्धानिश्रिता इति सूत्र० श्रु० २ अ० ६॥

आरंभः सावद्योयोगइति आचा० अ० ५ उ० ५॥

आरम्भणमारंभः शरीरधारणायान्नपानाद्यन्वेषणात्मक इति। आचा०॥

आरम्भः कृष्यादिव्यापार इति प्रश्न० द्वा० २॥

आरंभश्चस्वयं कृष्यादि करण मिति। पञ्च०॥

आरंभो हलदंतोलूखलादिखननसूना प्रकार इति। आव०॥

आरंभः परोपद्रव इति। आतु०॥

आरंभो जीवानांमुपद्रवण मिति। प्रश्न०। द्वा० १॥

आरंभाः प्रथिव्याद्युपद्रवलक्षणानि। ग०। अ० १॥

संकप्पो संरंभो, परितावकरोभवे समारंभो।
आरंभो उद्दवओ, सव्वनयाणं वि सुद्धाणं॥

प्राणातिपातंकरोमीति यः संकल्पोऽध्यवसायः स संरम्भःयस्तु परस्य परितापकरो व्यापारः स समारम्भः अपद्रावयतो जीविता-त्परं व्यपारोपयतो व्यापार आरंभः। आहच। चूर्णिकृत्॥

पाणइवायं करोमिति जोसंकप्पंकरे इति॥

चिंतयतीत्यर्थः॥

संरंभे वट्टइ परितावणं करेइ समारंभे वट्टइ। एतच्च समारंभादि त्रितयं सर्वनयानामपि शुद्धानां सम्मतं अथवा शुद्धाणमित्यत्र प्राकृतत्वात्पूर्वस्याकारस्य लोपो द्रष्टव्यः ततोऽयमर्थः सर्वनयानामप्यशुद्धानामेत्समारंभादित्रितयं सम्मतं नत्व-शुद्धानामिति--व्य० उ १ प्रज्ञा० २२ पद धर्म्म० अधि० ३ ग० अं० १ आचा० श्रु० २ चू० १॥

सव्वंपाणारम्भं पच्चक्खामिति प्राणानामारंभं विनाशादिरूपं प्रारंभमिति आतु०॥

मनःकायमनोवाक्कायव्यापारानधिकृत्य तदेतत्त्रयव्यापारापादितचिकीर्षितप्राणातिपातादिक्रिया निर्वृत्तिरारंभ इति आचा० अ० १॥

आरंभं भूतोपमर्दनमिति। दश०॥

आरंभणमारंभः प्रथिव्याद्युपमर्द इति० उत्त० अ० ७॥

प्राण्युपमर्दकारिणी व्यापार इतिसूत्र० श्रु० १ अ०॥१॥

प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरंभे व्यापारे, सू० श्रु० १ अ० १ आरम्भेण जीवोपमर्दकारिणा व्यापारेणेति सूत्र० श्रु० १ अ० १ आरंभः पृथिव्यादिजीवोपमर्दः कृष्यादि विषय इति औप०। आरम्भाः कृष्यादिद्वारेण पृथिव्याद्युपमर्द इति स्था ठा० २। जेयआरम्भणिस्सिया सूत्र०। ये चान्ये वर्णापसदा नानारूप-सावद्यारम्भनिश्रिता यंत्रपीडन निर्लाञ्छ न कर्मागारदाहादिभिः क्रियाविशेषैर्जीवोपमर्दकारिण इति सूत्रः श्रु० १ अ० ९। (पुढवा इसु आरम्भ) पृथिव्यादिकार्येषु विषयभूतेषु आरम्भ इत्या-रम्भणमारंभः संघट्टनादिरूप इति पं० व०। प्रमत्तयोगे च। आरम्भः सावद्यानुष्ठानम् प्रमत्तयोगो वा उक्तञ्च।

आयाणे णिक्खेवे, भासुस्सग्गे य ठाणगमणादी।
सव्वोपमत्तओगो, समणस्सउ होइ आरम्भो॥१॥

आचा० अ० ५ उ० २। स्था० ठा० ९। प्राणवधे, च। संघट्टनादिरूप इति प्राणवधस्य गौणनामान्यधिकृत्य आरम्भ समारम्भोऽथवेहारम्भसमारम्भयोरेकतर एव गणनीयो बहुसमरूपत्वादिति प्रश्न० द्वा० १।

आरम्भसमारम्भयो स्त्रैविध्यम् दशाश्रुतस्कन्धे। तत्रेमौद्भावपित्रिप्रकारौ तद्यथा मानसिकवाचि ककायिक भेदात्। तत्र मानसिको मंत्रादिध्यानं परमारणे हेतोः प्रथमः तथा समारम्भः परपीडाकरोच्चाटनादिनिबन्धनध्यानं वाचिको यथा आम्भः परव्यापादनक्षमक्षुद्राविद्यादि परावर्तना संकल्पसूचको ध्वनिरेव समारम्भः परपरितापकरमन्त्रादि परावर्तन कायिको यथा आरम्भोऽभिघाताय यष्टिमुष्ट्यादिकरणं समारम्भः परितापकरो मुष्ट्या अभिघातः तथा चोत्तराध्ययने (आरम्भे य तहे वय मणं य वत्तमाणं तु नियतेज्ज जयं जई) उत्त० अ० २४। आरम्भः परप्राणापहारक्षमोऽशुभपरिणामस्तस्मिन् परिणामे प्रवर्तमानं मनो निवर्तयेत्। आरम्भः परेषां क्लेशोच्चाटनमा-रणादिमन्त्रजापकरणं तत्राऽपि प्रवर्त्तमानं वचो निवारयेत् उत्त० टीः (आरम्भय तहेव य कायं पवत्तमाणं तु नियतेज्ज जयं जई) उत्त० अ० २४। आरम्भे तथैव पुनः प्राणवधाकरे यष्ट्यादि प्रयोगे कायं प्रवर्तमानं निवर्तयेत् इति उत्त० अ० २४। आरम्भस्य भेदाः स्थानाङ्गे यथा स्था० ठा० ७।

सत्तविहे आरम्भे पं० तं० पुढवीकाय आरम्भे जाव अजीवकाय आरम्भे एवमणारम्भे वि एव सारम्भे वि एवमसारम्भे वि एवं समारम्भे वि एवमसारम्भे वि।

टी० पुढवीत्यादि। सुगमं नवरं। प्रागभिहितं।

आरम्भो उद्दवओ परितावकरो भवे समारम्भो।
संरम्भो संकप्पो सुद्धणयाणं तु सव्वेसिं॥

नत्वारम्भादयोऽपद्रावण परितापादिरूपा स्था० ठा० ७। नैरयि-कादीनां सारम्भानारम्भकत्वं चतुर्विंशतिदण्डकेन प्ररूपयन्नाह।

नेरइयाणं भंते ? किं सारंभा सपरिग्गहा उदाहु अणा रम्भा अपरिग्गहा ? गोयमा ? नेरइया सारम्भा सपरिग्गहा नो अणारम्भा अपरिग्गहा से केणट्ठेणं जाव अपरिग्गहा गोयमा ? नेरइयाणं पुठविकायं समारभंति, जाव तसकायं समारभंति सरीरा परिग्गहिया भवंति, सचित्ताचित्तमीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति से तेणं तं चेव असुरकुमाराणं भन्ते ? किं सारम्भा पुच्छा गोयमा ? असुरकुमारा सारम्भा सपरिग्गहा नो अणारम्भा अपरिग्गहा से केणट्ठेणं गोयमा ? असुरकुमाराणं पुढविकायं समारम्भेति जावतसकायं समारंभंति सरीरा परिग्गहिया भवंति कम्मा परिग्गहिया भवंति भवणा परिग्गहिया भवंति देवा देवीओ मणूसा मणूसीओ तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणिणीओ परिग्गहियाओ भवंति, आसणसयणभंडमत्तोवगरणा परिग्गहिया भवंति ? सचित्तचित्तमीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति ? से तेणट्ठेणं तहेव एवं जाव थाणियकुमारा॥

भंडमत्तोवगरणानि॥ इह भांडानि मृण्मयभाजनानि पात्राणि कांश्यभाजनानि उपकरणानि लौहीकटाहकडुच्छुकादीनि एकेन्द्रियाणां परिग्रहो प्रत्याख्यानादवसेयः॥

बेइन्द्रिया णं भंते ? किं सारंभा सपरिग्गहा तं चेव जाव सरीरा परिग्गहियाभंवति वाहिरिया भंडमत्तो वगरणा परिग्गहिया भवंति, सचित्ताचित्त जाव भवंति एवं जाव चउरिंदिया वाहिरया भंडे मत्तोवगरणत्ति।

उपकारसाधर्म्याद्विन्द्रियाणां शरीररक्षार्थं तत्कृतगृहकादी न्यवसेयानि।

पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! तं चेव जाव कम्मा परिग्गहिया भवंति। टंका कूडा सेला सिहरी पब्भारा परिग्गहिया भवंति। जलथलविलगुहलेणा परिग्गहिया भवंति उज्झर निज्झर चिल्लल पल्लल चिप्पिा परिग्गहिया भवंति। अगडतडागदहनदीओ वावीपुरकरिणी दीहिया गुंजालिया सरासरपंतियाओ सरसरपंतियाओ विलयंतियाओ परिग्गहियाओ भवंति। आरामुज्जाणकाणणावणा वणखंडावणराईओ परिग्गहियाओ भवंति।

देव उलसभपव्वथूभखाइय परिखाओपरिग्गहियाओ भवंति । पागारट्टालगचरियदारगोपुरपरिग्गहिया भवंति पासायघरसरणलेण आवण परिगहिया भवंति । सिंघाडगतिग चउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहापह पहापरिग्गहिया भवंति सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसीयसंदमाणियाओ परिग्गहिओ भवति लोहीलोहकटाहकडुच्छुयापरिग्गहिया भवंति भवणा परिग्गहिया भवंति । देवा-देवीओ मणुस्सा मणुस्सीओतिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणिणीओ आसणसयण खंभभंडसचित्ताचित्तमीसयाइं दव्वाइं परिग्ग-हियाइं भवंति। से तेणट्ठेणं जहा तिरिक्खजोणिया तहा मणुस्सा वि भाणियव्वा वाणमन्तरजोइसियवेमाणिया जहा भवणबासी तहा नेयव्वा भ० श० ५ उ० ८७ ।

जीवा णं भंते किं आयारम्भा परारम्भा तदुभयारंभा अणारम्भा गोयमा ? अत्थेगइया जीवाआयारम्भा विपरारम्भा वि तदुभयारम्भा वि णो अणारम्भा अत्थेगइया जीवा णो आयारम्भा णो परारम्भा णो तदुभयारम्भा अणारम्भा से केणट्ठेणं भन्ते एवंवुच्चइ अत्थेगइया जीवा आयारम्भा वि एवंपडिउच्चारेयव्वं गोयमा जीवा दुविहा पण्णत्ता तंजहा संसारसमावण्णगा य असंसारसमावण्णगा य तत्थणं जे ते असंसारसमावण्णगाय तेणं सिद्धा सिद्धाणं णो आयारम्भा जाव अणारम्भा तत्थणं जे ते संसारसमावण्णगा ते दुविहा पं० तं० संजया य असंजया य तत्थणं जे ते संजया ते दुविहा पं० तं० पमत्तसंजया य अपमत्तसंजयाय तत्थ णं जे ते अपमत्तसंजया ते णं णो आयारम्भा णोपरारम्भा जावअणारम्भा तत्थणं जेते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च णो आयारंभा णो परारंभा जाव अणारंभा असुहजोगं पडुच्च आयारंभा वि जाव णो अणारम्भा तत्थ णं जे ते असंजया ते अविरतिं पडुच्च आयारंभावि जाव णो अणारम्भा से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ अत्थे गइया जीवा जाव अणारंभा ॥

टी० ॥ जीवा णं भंते १ किं आयारम्भेत्यादि । आरम्भो जीवोपघात उपद्रवणमित्यर्थः सामान्येन वाश्रवद्वारप्रवृत्तिस्तत्र आत्मानमारभंते आत्मना वा स्वयमारभंते इत्यात्मारम्भस्तथा परमारभंते परेणवारम्भयन्तीतिपरारम्भास्तदुभयमात्मरूप तदुभयेनवारभंत इति तदुभयारम्भः आत्मपरोभयारम्भव-जितास्त्वनारम्भा इति प्रश्नः । अत्रोत्तरं स्फुटमेव नवरं अस्तिशब्दस्याव्ययत्वेन बहुत्वार्थत्वादस्ति विद्यन्ते सन्तीत्यर्थः । अथवा अस्ति अयं पक्षो यदुत। एगयत्ति। एकका एके केचनेत्यर्थः । जीवा आत्मारम्भा अपीत्यादावपिशब्दः उत्तरपदापेक्षया समुच्चये सचात्मारम्भत्वादिधर्म्माणामेकाश्रयता प्रतिपादनार्थः भिन्नाश्रयताप्रतिपादनार्थो वा एका श्रयत्वं च कालभेदेनावगन्तव्यं तथाहि कदाचिदात्मारंभाः कदाचित् परारंभाः कदाचित्तदुभयारम्भाः अत एव नो अनारम्भाः भिन्नाश्रयत्वं तु एवं एकेजीवा असंयता इत्यर्थः आत्मारम्भा वापरारम्भा वेत्यादि अथैकस्वभावत्वात् जीवानां भेदमसम्भा-वयन्नाहा से केणट्ठेणन्ति अथ केन प्रकारेण नेत्यर्थः ॥ दुविहा-पण्णत्ति। मया चान्यैश्च केवलिभिरनेन समस्तसर्वविदांमतभेदमाह मतभेदे तु मतवि रोधिवचनतया तेषामसत्यवचनतापत्तिः । पाटलिपुत्रस्वरूपाभिधायकविरुद्धवचन-पुरुषकदम्बकवदिति प्रमत्तसंयमतस्य हि शुभोऽशुभश्च योगः स्यात्संयतत्वात् प्रमादपरत्वाच्चेत्यत आह शुभंयोगं पडुच्चति । शुभयोग उपयुक्ततया प्रत्युपेक्षणादिकरणं अशुभयोगस्तु तदेवानुपयुक्ततया आह च (पुढवी आउक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाणं पडिलेहणामउत्तो छण्हं पि विराहओ होइ। तथा सव्वो पमत्तयोगो समणस्स उ होइ आरम्भोत्ति) अतः शुभाशुभौ योगावात्मारम्भादिकारणमिति अविरइं पडुच्चत्ति इहायम्भावो यद्यप्यसंयतानां सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां नात्मारम्भकादित्वं साक्षादस्तितथाप्यविरतिम्प्रतीत्येतदस्ति तेषां ते न हि ते तो निवृत्ता अतोऽसंयतानामविरतिस्तत्रकारणमिति। निवृत्तानां तुकथं चिदात्माद्यारम्भकत्वेऽप्यनारम्भकत्वं यदाह "जाजयाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स । सा होई णिज्जरफला अब्भत्थविसोहि जुत्तस्सत्ति" ॥१॥ भ० श० १ उ० १ ।

णेरइया णं भंते किं आयारम्भा परारम्भा तदुभयारम्भा अणारंभा गोयमा णेरइया आयारम्भाविजाव णो अणारम्भा से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ गोयमा ? अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव णो अणारंभा एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा जहा जीवा णवरं सिद्धविरहिता भाणियव्वा वाणमन्तरा जाववेमाणिया जहा णेरइया सलेस्सा जहा ओहिया किण्हलेसस्स नीललेसस्स काउलेसस्स जहा ओहियाजीवा णवरं पमत्त अपमत्ताण माणियव्वा तेउलेसस्स सुक्कलेसस्स जहा ओहिया जीवा णवरं सिद्धाणं भामियव्वा ॥

टी० णेरइयाण मित्यादि व्यक्तं नवरं मणुस्सेत्यादौ अयमर्थः मनुष्येषु संयता संयत प्रमत्ताप्रमत्तभेदाः पूर्वोक्ताः सन्ति ततस्ते यथा जीवास्तथाऽध्येतव्याः किं तु संसारसमापन्ना इतरे च तेन वाच्या भववर्तित्वादेव तेषामित्येतदेवाह सिद्धविरहियेत्यादि व्यन्तरादयो यथा नारकास्तथाध्येयाः असंयतत्वसाधर्म्यादिति, आत्मारम्भकत्वादि भिर्धर्म्मैर्जीवा निरूपितास्ते च सलेश्याश्चा लेश्याश्च भवन्तीति सलेश्यांस्तांस्तैरेव निरूपयन्नाह सलेसा जहा ओहियत्ति लेश्या कृष्णादि द्रव्य सान्निध्यजानतो जीवपरिणामो यदाह । कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं लेस्या शब्दः प्रयुज्यते ।१। तत्र लेश्यावन्तो जीवाः जहा ओहियत्ति यथा नारकादि विशेषणवर्जिता जीवा अधीता जीवाणं भंते किं आयारम्भा परारम्भे त्यादिना दण्डकेन तथा सलेश्या जीवा अपि वाच्या सलेश्या नाम संसारसमापन्नत्वस्यासंभवे नासंसारसमापन्नेत्यादिविशेषण वर्जितानां शेषाणां संयतादि विशेषणानां तेष्वपि युज्यमानत्वात्तत्र चायं पाठक्रमः सलेसाणं भंते १ जीवा किं

आयारंभेत्यादि तदेव सर्वं नवरं जीवस्थाने सलेश्या इति वाच्यमिति अयमेको दण्डकः कृष्णादि लेश्याभेदात् तदन्ये षट् तदेव मेते सप्त तत्र किण्ह लेसस्येत्यादि। कृष्ण लेश्यस्य नीललेश्यस्य कापोतलेश्यस्य च जीवराशे र्दण्डको यथो-धिकजीवदण्डकस्तथा ध्येतव्यः प्रमत्ताप्रमत्त विशेषण वर्ज्यः कृष्णादिषु हि अप्रशस्त भावलेश्यासु संयतत्वं नास्ति यच्चोच्यते पुव्वं पडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाएत्ति तत् द्रव्यलेश्यां प्रतीत्येति मन्तव्यं ततस्तासु प्रमत्ताद्यभावस्तत्र सूत्रो चारण मेव।

किण्हलेसाणं भंते जीवा किं आयारंभा ? ४ गोयमा ? आयारंभा वि जाव णो अणारम्भा से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ गोयमा ? अविरइं पडुच्च।

एवं नीलकापोतलेश्या दण्डकावपीति तथा तेजोलेश्यादे र्जीवराशेर्दण्डका यथौविका जीवास्तयावाच्याः नवर तेषु सिद्धा न वाच्याः सिद्धानामलेश्यत्वात्तेचैवं।

तेउले साणं भंते जीवा किं आयारम्भा ? ४ गोयमा ? अत्थेगइया आयारम्भा वि जाव नो अणारम्भा अत्थे गइया नो अणारम्भा अत्थे गइया नो आयारंभा जाव अणारंभा से केण ट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ ? गोयमा ? दुविहा तेउलेस्सा पं० तं० संजया य, असंजया इत्यादि भ० श० १ उ० १।

आरम्भ वक्तव्यताऽऽवाराङ्गे लोकविजयाध्ययनस्य पञ्चमोद्दे-श्यके यथा तस्य चायमिसम्बन्धः इह भोगान् परित्यज्य लोकमिश्रया संयमदेहप्रतिपालनार्थं विहर्तव्यमित्युक्तं तदत्र प्रतिपाद्यते। इह हि ससारोद्वेगवता परित्यक्तभोगाभिलाषेण मुमुक्षुणोत्क्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारेण निरवद्यानुष्ठानविधायिना दीर्घसंयमयात्रार्थं देहप्रतिपालनाय लोकनिश्रया विहर्तव्यं निराश्रयस्य हि कुतो देहसाधम्मर्यं चेति उक्तं हि धर्मश्चरतः साधोर्लोके निश्रयपदानि पञ्चापि राजगृहपतिरपरः षट्काय-गणसरीरेच ॥१॥ वस्त्रपात्रान्नासन, शयनादीनि तत्रापि प्रायः प्रतिदिनमुपयोगित्वादाहारो गरीयनिति ॥२॥ स च लोकादन्वेष्ट-व्यो लोकश्च नानाविधैरुपायैरात्मीयपुत्रकलत्राद्यर्थमारम्भ-प्रवृत्तस्तत्र साधुना संयमदेहार्थं प्रवृत्तिरन्वेषणीयेति दर्शयति आचा० २ अ० ४ उ०

जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारम्भा कज्जंति तंजहा अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं णाईणं धाईणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आदेसाए पूढोपहेणाए सामासाए पायरासाए सणिहिसंणिचओ कज्जइ इह मेगेसिं माणवाणं भोयणाए समुट्ठिये अणगारे आयरिये आयरियण्णे आरियदंसी अयंसंधिति अदक्खु से णादिये णादियावये णं समणुजाणाति सव्वामगंधंपरिण्णाय णिरामगन्धो परिव्वये अदिस्समाणो कयविक्कयेसु सेकिणकिण्णेण किणावये किणन्तं अणुजाणेज्जा से भिक्खू कालेण बालणे मापणे खेयणे खणयणे विणयणे ससमयणे परसमयणे भावणे परिग्गहं अममायमाणे काले अणुट्ठाई अपडिण्णे दुहा तोच्छित्ताणियाइ वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंच्छणं उग्गहं च कडासणं एएसु चेव जाणेज्जा लद्धे आहारे आगारे मायं जाणेज्जा से जहेयं भगवया पवेइयं लाभोत्ति ण मज्जेज्जा अलाभोत्ति ण सो एज्जा बहूंपिलद्धुं ण णिहे परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा अण्णहाणं पासए परिहरेज्जा एस मग्गे अरिएहि पवेदिते जहेत्थकुलसेणोव लिपिज्जा ॥ सित्तिबेमि ॥

टी० जमिण मित्यादि। यैरविदितवैद्यैरिदमिति सुखदुःखप्राप्ति परिहारक्रियाणां कायिकाधिकरणिकाप्रांदोषिकापरितापनिका प्राणातिपातरूपाणां वा समारम्भा इति मध्यगृहणाद्बहुवचन निर्देशाच्च समारंभारंभयोरप्युपादानं भावनीयमित्यर्थः। शरीकल-त्राद्यर्थं संरम्भसमारम्भाः क्रियंतेऽनुष्ठीयंते तत्र सरंभ इष्टानिष्ट-प्राप्ति-परिहाराय प्राणातिपातादिक्रियानिवृत्तिररिसंकल्पावेशस्तत्साधनसन्निपात-कायवाख्यापारजनितपरितापनादिलक्षणः समारंभः तदत्र त्रयव्यापा-रापादितचिकीर्षितप्राणा-तिपातादिक्रियानिवृत्तिरारंभः कर्मणोवाऽष्ट-प्रकारस्यसमारम्भा उपार्जनोपायाः क्रियन्त इति लोकस्येतिचतुर्थ्य-र्थेषष्ठी सापि तादर्थ्ये। कः पुनरसौ लोको यदर्थं संरम्भसमारम्भाः क्रियन्त इत्याह तं जहा अप्पणो से इत्यादि यदि वा लोकस्य तृतीयार्थे षष्ठी यदिति हेतौ यस्माल्लोकेन नानाविधैः शस्त्रैः कर्मसमारम्भाः क्रियन्त इत्येतस्मिन् लोके साधुवृत्तिमन्वेप्य यद्यदर्थं च लोकेन कर्मसमारम्भाः क्रियन्ते तद्यथेत्यादिना दर्शयति तं जहा अप्पणो इत्यादि तद्यथेत्युपप्रदर्शनार्थं नोक्तमात्रामेवान्यदाप्येवं जातीयकमिदादिकं "दृष्टव्यं से तस्यारम्भा रिप्सार्थमात्मा शरीरं तस्मै अर्थं तदर्थं कर्म्म समारंभाः पाकादयः क्रियं ते ननु च लोकार्यं समारम्भाः क्रियंत इति प्रागभिहितं नच शरीरं लोको भवति नैतदस्ति यतः परमार्थदृश्यं ज्ञानदर्शन-चारित्रात्मकमात्मतत्वं विहायान्यत्सर्वंशरीरा दापि पारक्यमेव तथाहि बाह्यारयापौ चूलिकस्याचे नतनस्य कर्मणो विपाकभूतानि पञ्चापि शरीराणीत्यतः शरीरात्मापि लोकशब्दा-भिधेय इति तदित्थं कश्चिच्छरीरनिमित्तं कर्मारभते परस्तु पुत्रेभ्यो दुहितृभ्यः स्नुषा वध्वस्ताभ्यो ज्ञातयः पूवापरसम्बन्धाः स्वजनाः तेभ्योधात्रीभ्यो राजभ्यो दासेभ्यो दासीभ्यः कर्मकरेभ्यः कर्मकरीभ्यः आदिश्यते परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्याय निरामगंधः सन् परिव्रजेत् संयमानुष्ठानं सम्यक् पालयेत् जनो यस्मिन्नागते तदातिधेयायेत्यादेशः प्राधूर्णक स्तदर्थं कर्मसमारंभाः क्रियन्त इति स्मबन्धस्तया पुढोपहेणायेत्यादि पृथक् पृथक् पुत्रादिभ्यः प्रहेणकार्यं तथा समासाएत्ति श्यामा रजनीतः श्यामाशः तदा तदर्थं तथा (पायरासयेति) प्रातरशनं प्रातराशस्तस्मै कर्म समारम्भाः क्रियन्त इति सामान्येनो क्तावपि विशेषार्थ माह सन्निहीत्यादि सम्यग्निधीय इति संनिधि र्विनाशिद्रव्याणां दध्यो दनादीनां संस्थापन तथा सम्यगनिश्चयेन धीयते इति संनिचयो विनाशिद्रव्याणामभया सितामृद्वीकादीनां संग्रहः संनिधिश्च सेनिचयश्च संनिधिसनिचयं प्राकृतशैक्ष्या पुल्लिङ्गता अथवा संनिधेः संनिचयः संनिधिसंनिचयः स च परिग्रह संज्ञोदया दाजीविकामयाद्वा धनधान्यहिरण्यका दिन क्रियत इति स च किमर्थ-

मित्याह । इहेत्यादि इहेति मनुष्यलोके एकेषामिह लोकभूत परमार्थ बुद्धीनां मानवानां मनुष्याणां भोजनायोप भोगार्थमिति तदेवं विरूपरूपैः शस्त्रैरात्मपुत्राद्यर्थे कर्म समारम्भ प्रवृत्ते लोके पृथक प्रहेणकाय श्यामाशाय प्रातराशाय केषांचिन्मानवानां भोजनार्थं सन्निधिसन्निचय करणोद्यते सति साधुनां किं कर्तव्यमित्याह (समुट्ठिए) इत्यादि यावत् णिरामगंधोपरिव्वए सम्यक् सन्ततं सगतं वा संयमानुष्ठानेनोत्थितो नानाविधशस्त्र कर्मसमारम्भोपरत इत्यर्थः नविद्यतेअ गारं गृह मस्येत्यनगारः पुत्रदुहितृस्नुषाज्ञाति धात्र्यादिरहित इत्यर्थः सोऽनगार आराद्यात सर्वहेयधम्मभ्य इत्यार्थश्चारित्रार्ह आर्या प्रज्ञा यस्यासावार्यप्रज्ञः श्रुतविशेषता सुमुखीक इत्यर्थः आर्यं प्रगुणन्यायोपपन्नं पश्यति तच्छीलश्चेत्यार्यदर्शी पृथक् प्रहेणकस्य श्रमादि-संकल्परहितइत्यर्थः अयं सन्धीति सन्धानं सन्धीयते वासाविति सन्धिर्यस्य साधोरसावयं सन्धिश्छान्दसत्वाद्विभक्तेरलुगित्ययं सन्धिर्यथाकालमनुष्ठानविधायी यो यस्य वर्तमानः कालः कर्तव्यतयोपस्थिततस्तत्करणतथा तमेव सन्धत इति एतदुक्तं भवति सर्वाःक्रियाः प्रत्युपेक्षणोपयोग-स्वाध्यायभिक्षा-चर्याप्रतिक्रमणादिका असम्पन्ना अन्योन्याबाधयात्मीय-कर्तव्यकाले करोतीत्यर्थ इति हेतौ यस्माद्यथाकाला-नुष्ठानविधायीतस्मादस वेध परमार्थं पश्यतीत्याहुः । (अदक्खु-त्तिति) व्यत्ययेनैकवचनावसरे बहुवचनमकारि ततश्चायमर्थो योऽह्यर्थेआर्यप्रज्ञ आर्यदर्शी कालज्ञश्च सएव परमार्थमद्राक्षीन्नापर इति पाठन्तरम्वा अयं सन्धिं अदक्खु अयमनन्तरोक्तविशेषेण विशिष्टः साधुः सन्धिं कर्तव्यकालं अद्राक्षीदृष्टवानेतदुक्तंभवति यः परस्परबाधया हितप्राप्तिपरिहाररूपतया विधेया विधयावसं वेत्ति विधत्तरं च स परमार्थं ज्ञातवानिति अथवासंधिर्ज्ञानदर्शन चारित्राणामभिवृद्धिः स च शरीरमृते न भवति तदपि नोपष्ट-भकारणांतरेण तस्य च सावद्यस्य परिहारः कर्तव्य इत्यत आह (सोणाइए) इत्यादि स भिक्षुस्तद्वाः कल्प्पं नाददीत न गृण्ही-यान्नाप्यपरमादापये दुद्ग्राहयेन्नाप्यपरमनेषणीयमाददानं समनुजानी याद य वा सइंगालं सधूमं वा नाद्यान्न भक्षये न्नापर-मादापयेत् ददन्तं वा नसमनुजानी यादित्याह सव्वामग-गन्धमित्यादि आमंच गन्धं चामगन्धं समाहारद्वन्द्वस्स-वर्चं तदामगंन्धंसर्वामगन्धं सर्वशब्दः प्रकारकात्स्न्यें ऽत्रगृह्यते न द्रव्यकात्स्न्यें आममपरिशुद्धं गधं ग्रहणेन तु पूर्तिगृह्यते ननु च पूतिद्रव्यस्याप्यशुद्धत्वादामशब्देनै वो पादानात्किमर्थं भेदेनोपादानमिति सत्यमशुद्ध सामान्यत् गृह्यत किन्नद्रव्य-कात्स्न्यें ऽत्रगृह्यते किन्तु पूतिग्रहणेनेह आधाकर्मा द्यविशुद्ध कोटिरूपता त स्याश्चगुरुतरत्वा-त्प्राधान्यख्यापनार्थं पुनरुपादानां ततश्चायमर्थः गन्धग्रहणेनात्मक-र्म्मोद्देशिकत्रिकं पू तिकर्ममिश्रजातं बादरप्रभृतिकाध्यवपूरा काश्चेतेषुद्गमदोषा अविशुद्धकोट्यन्तर्गता गृहीताः शेषा स्त्रयोःविशुद्ध कोट्यन्तर्भूता आमग्रहणेनोपात्ता द्रष्टव्या इति सर्वशब्दस्य च प्रकारकात्स्न्यांभिधायकत्वाघद्येन केन चित् प्रकारेण आममपरिशुद्धं पूति वा भवति तत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया निरामगन्धः निर्गतो वामगन्धो यस्मात् स तथा परिव्रजेत् मोक्षमार्गे ज्ञानदर्नचारित्रा ख्ये परिसमंताद्व च्छेत् संयमानुष्ठानं सम्यगनुपालयेदितियावत् आमगृहणेन प्रतिषिद्धेअपि क्रीतकृते तथाप्यल्पसत्वानां विशुद्धकोट्या-लम्बनतया माभूत्तत्र प्रवृतिरतस्तदेवा नामग्राहं प्रतिषेधयिषुराह । आदिस्स । इत्यादि त्क्रयश्चश्च वित्क्रयश्च त्क्रयवि-क्रयौ । तयोः क्रयविक्रययोरदृश्यमानः कीदश श्च-तयोरदृश्यमानो भवति यतस्तयो-र्निमित्तभूतद्रव्याभावा-दिकिञ्चनोऽयवा क्रयवित्क्र ययोरदिश्यमानोऽ-मुपदिश्यमानः कश्च तयोरनुपदिश्यमानो भवति यः क्रीतकृतापरिभोगी भवतीत्याह च स नकिणे इत्यादि स मुमुक्षुर किञ्चनो धर्मोपकरणमपि न क्रीणीयात् स्वतो वा नाप्यपरेण क्रापयेत् क्रीणन्तमपि न समनुजानी यादथवा निरामगन्धः परिव्रजेदित्यत्रामग्रहणेन हनन को टित्रिकं गन्धग्रहणेन पाचनकोटित्रिकं क्रयणकोत्रिकं तुपुनः स्वरूपेणैवोपात्तमतो नवकोटीः परिशुद्धमाहार विगतांगारधूमं भुंजीत एतद्गुण विशिष्टश्च किंभूतो भवतीत्याह से भिक्खु (कालण्णे) कालः कर्तव्यावसरस्तंजानातीति कालज्ञो विदि तवेदंयस्तया बालज्ञो बलंजानातीति बालज्ञः छन्द सत्वाद्दीर्घत्वमात्मबलसामर्थ्यं जानातीति यथाशक्तयनु ष्ठानविधाय्य निगहितबलवीर्यं इत्यर्थ-स्तथा (मायण्णे) यावत् द्रव्योपयोगिता मात्रा तां जानातीति मात्राज्ञ स्तथा (खेयण्णे) खेदोऽभ्यासस्तेन जानातीति खेदज्ञो यथा खेदः श्रमः संसार पर्यटन जनितस्तं जानातीत्युक्तं च ''जरामरणदौर्गत्य व्याधयस्तावदासतां । मन्येजन्मेव वीरस्य भूयोभूयस्त्रपाकरमिति ॥१॥ अथ क्षेत्रज्ञः सं सक्त विरुद्ध द्रव्य परिहार्यकुलादिक्षेत्र स्वरूपपरिच्छेदकर तथा खणयणे) क्षण एव क्षणकोऽवसरो भिक्षार्थ मप सर्पणादिः यरतं जा नातीति तथा (विण्णयणो) विनयो ज्ञानदर्शनचारित्रौपचारिकरू पस्तं जानातीति तथा (ससमयण्णे) स्वसमयं जानातीति स्वसमयज्ञो गोचर प्रदेशादौ दृष्टः सन् सुखेनैव भिक्षादोषा नाचष्टे तद्यथा षोडशोद्गमदोषास्ते चामी आधाकर्म्म उद्देशिकं पूतिकर्म मिश्रजातं स्थापना प्राभृतिका प्रकाशकरणं क्रीतं उद्यतकं परिवर्तितं अभ्याहृतं उद्भिन्नं मालाहृतं आच्छेद्यं अनिसृष्टं अध्यवपूरक श्वेति षोडशोत्पादनादोषास्ते चामी धात्रीपिंडः दूति पिंडः निमित्तपिंड आजीवपिंडः वनीमकपिंडः चिकित्सापिंडः क्रोधपिंडः मानपिंडः मायापिंडः लोभपिंडः पूर्वसंस्तवपिंडः पश्चात्संस्तवपिंडः विद्यापिंडः मंत्रपिंडः चूर्णयोगपिंडः मूलकर्मपिंड श्वेति तथा दशैषणादोषास्ते चामी संकितं म्रक्षितं निक्षिप्तपिहितसं ह तदायकोन्मिश्रापरिण्त लिप्तोप्सितदोषाएषां चोद्गमदोषा दातृकृतां एव भवन्ति उत्पादनादोषास्तु साधुजनिता एषणादोषा श्वोभयापादिता इति तथा परसमयज्ञोग्रीष्ममध्यान्हतीव्रत-स्तरणिकर-निकरावलीढग-लत्स्वेदविन्दुकः क्लिन्नवपुष्करसाधुः केनचिद्-द्विजातिदेशेनाभिहितं कि मिति भवतां सर्वजनाचीर्णं स्नानं नसम्मतमिति स आह प्रायः सर्वेषामेवयतीनां कामांगत्वात् जलस्नानं प्रतिषिद्धं (स्नानं मददर्पकर कामाङ्गं प्रथमं स्मृतं। तस्मात्काम परित्यज्य नैवस्नांति दमेरता इत्यादि तदेव समुभयज्ञस्त द्विषये प्रश्ने उत्तर दानकुशलो भवति तथा (भावण्णे) भाव-श्चित्ताभिप्रायो दातुः श्रोतुर्वा तंजानातीति भावज्ञः किञ्च (परिग्गहं) अममायमाणे) परिगृह्यत इति परिग्रहः संयमातिरिक्तमुप-करणादिःतममीकुर्वन् अस्वीकुर्वन्मन-साऽप्यनाददान इति यावत्स एवं विधो भिक्षुः कालज्ञो मात्रज्ञः क्षेत्रज्ञः क्षणज्ञो विनयज्ञः समयज्ञो भावज्ञः परिग्रह ममी कुर्वाणश्च किंभूतो भवतीत्याह (कालानुट्ठाइ) यद्यस्मिन् काले कर्तव्यं तस्मिन्नेवानुष्ठातुं-शीलमस्येति कालानुष्ठायी कालानति-पातकर्तव्योद्यतो ननु चास्यार्थस्य से भिक्खू कालाणु इत्यनेनैव गतार्थत्वात्किमर्थं पुनरभिधीयत इति नैषदोषस्तत्र हि ज्ञपरिज्ञैव केवलाभिहिता कर्तव्यकालं

जानातीह पुनरासेवना परिज्ञा कर्तव्यकाले कार्यं विधत्त इति किञ्च (अपडिण्णे) नास्य प्रतिज्ञाविद्यत इत्यप्रतिज्ञः प्रतिज्ञा च कषायोदयादविरतिः । तद्यथा क्रोधोदयात् स्कन्दकाचार्येण स्वशिष्ययत्रपीडनव्यतिकरमवलोक्य सबलवाहनराजधानी-समन्वितपुरोहितोपरि विनाशप्रतिज्ञाऽकारि । तथामानोदयाद्बाहु-बलिना प्रतिज्ञा व्यधायि । यथा कथमहं शिशून् स्वभ्रातृनु-त्पन्ननिरावरणज्ञानान् छद्मस्थः सन् द्रक्ष्यामीति तथामानो-दयान्मल्लिस्वामि जीवेन यथा (परयत्ति) विप्रलंभनं भवति तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा जगृहे तथा लोभोदयत्वाद्विदितपरमार्था साम्प्रतेक्षिणोत्पत्या मासा मासक्षपणादिका अपि प्रतिज्ञाः कुव्वते अथवा प्रतिज्ञो निदानो वसुदेववत्सयमानुष्ठानं कुर्व्वन् निदानं न करोतीत्यथवा गोचरादौ प्रविष्टः सन्नाहारादिक ममैवैतद्ग-विष्यतीत्येवं प्रतिज्ञोयदि वा स्याद्वादप्रधानत्वात् भौनीन्द्र-गमस्यैकपक्षावधारण प्रतिज्ञा तद्रहितोऽप्रतिज्ञस्तच्छाहि मैथुनविषयं विहायान्यत्र न क्वचित् नियमवती प्रतिज्ञा विधेया यत उक्तं।

ण य किञ्चि अणुण्णायं, पडि सिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं। मोत्तु मेहुणभावं, न विणा तं रागदोसेहिं तया देसा जेण निरुंभंति, जेणभिभुज्जन्ति पुव्वकम्माइं, सो मोक्खो वा उ, रोगावत्थासु समणं वा। जेञ्ज तिया उ हेउ भवस्स तव्वेय तत्तिय मोक्खो। गणणातीत्त लोया दोण्ह वि पुण्णा भवे तुल्ला।

इत्यादि अयं सन्धीत्यारभ्य कालेणुट्ठा इति यावदेतेभ्यः सूत्रेभ्य एकादशपिंडषैणा निर्व्यूढा इत्येवं तर्ह्यप्रतिज्ञ इत्यनेन सूत्रेणेदमा-पन्न न क्वचित् केनचित्प्रतिज्ञा विधेया प्रतिपादिताश्चागमे नानाविधा अभिग्रहविशेषास्ततश्च पूर्वोत्तरव्याहितिरेव लक्ष्य तइत्यत आह।

(दुहउछित्ताणियाति) द्विषिते रागेण द्वेषेण वाया प्रतिज्ञा तां छित्वा निश्चयेन नियतं च याति ज्ञानदर्शनचारित्राख्ये मोक्षमार्गे संयमानुष्ठाने वा भिक्षाद्यर्थञ्च एतदुक्तं भ वति रागद्वेषौ छित्त्वा प्रतिज्ञा गुणवतव्यत्यय इति स एवं भूतो भिक्षुः कालज्ञो बालज्ञो यावत् द्विधाछेदनकं कुर्यात् इत्याह (वत्थं परिग्गह इत्यादि) यावत् एएसु चेवजाणिज्जा एतेषु पुत्राद्यथमारम्भप्रवृत्तेषु सन्निधिसन्नि-चयकरणोद्येतषु जानीयाच्छुद्धा-शुद्धतया परिछिद्य तत्परिच्छेद-श्चैवमात्मकः शुद्धगृह्णीयादशुद्धं परिहरेदिति यावत् किं न जानीयाद्वस्त्रं वस्त्रग्रहणेन वस्त्रैषणा सूचिता तथा पतद्ग्रहं पात्रमेतद्ग्रहणेन च पात्रैषणा सूचिता। कंबलमित्यनेनाविकः पात्रनिर्योगः कल्पश्च गृह्यते पादपुंछनक मित्यनेन च रजोहरणमित्येभिश्च सूत्रैरोघोपधिरौपग्रहिकश्च सूचितस्तथैतेभ्य एव वस्त्रैषणा पात्रैषणा च निर्व्यूढा तथा अवगृह्यत इत्यवग्रहः सच पञ्चधा देवेन्द्रावग्रहः राजावग्रहः गृहपत्यवग्रहः शय्यातरावग्रहः साधर्मिकावग्रहश्चेत्यनेनावग्रहप्रतिमा सर्वाः सूचिता अतएवासौ निर्व्यूढा अवग्रहकल्पिकश्चास्मिन्नेव क्रियते तथाकटासनं कटग्रहणेन संरतारको गृह्यते आसनग्रहणेन वासन्दकादिविष्टरमिति आस्यते स्थीयते अस्मिन्निति वा आसनं शय्या ततश्चासनग्रहणेन शय्या सूचिता अतएव निर्व्यूढेति एतानि च समस्तान्यपि वस्त्रादीन्याहारादीनि चैतेषुस्वारम्भप्रवृत्तेषुगृहस्थेषु जानीयात् सर्वमगन्धं परिज्ञाय निरामगन्धो यथा भवति तथा परि-व्रजेक्षितितनार्थः एतेषु चारम्तप्रवृत्तेषु परिव्रजन्बालभृभंगृण्ही यादुतकश्चिन्नियमोऽप्यस्तीत्याह सन्धइत्यादिलब्धे प्राप्ते सत्या-हारे आहारग्रहणं चोपलक्षणार्थमन्यस्मिन्नपि वस्त्रौषधादिके अनगारोभिक्षु-र्मात्रांजानीयाद्यावन्मात्रेण गृहीतेन गृहस्थः पुनरारम्भे न प्रवर्तते यावन्मात्रेण वात्मनो विवक्षितकार्यनिष्पत्तिर्भवति तथाभूतां मात्रामवगच्छेदिति भावः एतच्च स्वमनीविषकया नोच्यत इत्याह से जहेयं इत्यादि तद्यथेदमुद्देशकादेरारध्यानन्तर-सूत्रं यावद्भगवता ऐश्वर्यादिगुणसमन्वितेनार्द्धमागधया भाषया सर्वस्वभाषानुगतया सदेवमनुजाभ्यां पर्षदि केवलर्हानचक्षुषा अवलोक्य प्रवेदितं प्रतिपादितं सुधर्मस्वामी जंबूस्वामिने इदमा-चष्टे किञ्चान्यत् लाभोत्ति इत्यादि लाभोवस्त्राहारदेर्मम संवृत्त इत्यतोऽहं लब्धिमान् इत्येवं मदं नविदध्यान्न च तदभावे शोकाभिभूतो विमनस्कोभूयादित्याह च (अलाभोत्ति) इत्यादि अलाभे सति शोकं न कुर्यात् कथ चिन्मन्दभाग्योऽहं येन सर्वदा दानोद्यते नापि दातुंन लभेहमिति अपि तु तयोर्लाभालाभ-योर्माध्यस्थ्यं भावनीयमित्युक्त च लभ्यते साधुः साधुरेव न लभ्यते। अलब्धे तपसोवृद्धिर्लब्धे तु प्राणधारणमित्यादितदेवं पिंडपात्रवस्त्राभरणभेषणाः प्रतिपादिताः सांप्रतं सन्निधि प्रतिषेधं कुर्व्वन्नाह बहुलं पिलद्धेत्यादि बह्वपिलब्धाणं णिभेत्ति नस्थापयेन्न संनिधिं कुर्यात् स्तोकं तावन्न सन्निधीयेत एवं वह्वपि न सन्निदध्या दित्यपि शब्दार्थः न केवलमाहारसन्निधिं न कुर्य्यादप रमपि वस्त्रपात्रादिकं संयमोपकर-णातिरिक्तं न विभृयादित्याह पडीत्यादि परिगृह्यत इति परिग्रहो धर्म्मोपकरणाति रिक्तमुपकरणं तस्मा दात्मा न मपष्वष्के दपसर्पये दथवा संयमोपकरण मपि मूर्च्छया परिग्रहो भवति मूर्छापरिग्रह इति वचनात्तत आत्मानं परिग्रहा दपसर्पयन्मुप करणे तुरगवन्मूर्छां न कुर्यात् ननु च यः कश्चिद्धर्म्मोप करणा द्यपि परिग्रहो न सचित्त कालुष्यं मुने भवति तथाह्यात्मीयोपकारिणि उपघातकारिणि च द्वेस्तः परिग्रहे सति रागद्वेषौ नेदिष्ठौ तेभ्यश्च कर्मबंध तत्कच्छं परिग्रहो धर्मोपकरणं उक्तं च (ममाहमिति) चैव यावदभिमानदाहज्वरः कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशांत्युन्नयः। यशः सुखपिपासितैरयमसाधनार्थोत्तरैः परैरपसदः कुतो ऽपि कथमष्यपाकृष्यते ॥१॥ नैष दोषः नहि धर्मोपकारणे ममेदमित्येवं साधूनां परिग्रहयोगोऽस्ति। तथाह्यागमः। अवियप्पणो विदेहंमि णापरंति ममाइउं। यदिह परिगृहीत कर्म्मबन्धायोपकल्यते स परिग्रहो यत्तु पुनः कर्म्मनिर्ज्जरणार्थं प्रभवति तत्परिग्रह एव न भवतीत्याह च। अण्णहाणं इत्यादि णमितिवाक्यालंकारे अन्य वा अन्येन प्रकारेण पश्यकः सन् परिग्रहं परिहरेद्यथाह्यविदितपरमार्था गृहस्थाः सुखसाधनाय परिगृहं पश्यन्ति न तथा साधुः तथाह्यममस्याशयः आचार्यसक्तमिदमुपरणं न ममेत्ति रागद्वेषमूलत्वात्परि-ग्रहाग्रहयोगोऽत्र निषेद्यो न धर्म्मो पकरणं तेन विना संसारा-र्णवपारगमनादि उक्तं च (साध्यं तथाकथंचित् स्वल्पं कार्यं महच्च न तथेति। प्लवनमृते नहि शक्यं पारं गंतु समुद्रस्य ॥१।०) अत्र चार्हताभासैर्वोढैकैः सह मानविवादोस्तीत्यतो विवक्षितमर्थं तीर्थकराभिप्रायेणापि सिसाधयिषुराह। एसमग्गेइत्यादि। धर्मोपकरणं न परिग्रहायेत्यनंतरोक्तो मार्गः। आराद्याताः सर्वहेयधर्म्मेभ्य इत्यार्यास्तीर्थकृतस्तैः प्रवेदितः कथितो ननु यथावोटिकै कुडिकातड्डिकातड्डिकालवणिकाश्रबालधिबालादि

स्वरुचिविरचितो मार्ग इति ननु वा यथा मौद्गलिस्वातिपुत्राभ्यां शौद्धोदनिं ध्वजीकृत्य प्रकाशितः इत्यनया दिशा अन्येऽपि परिहार्या इति। इह तु स्वशास्त्रगौरवमुत्पादयितुमार्यैः प्रवेदित इत्युक्तमस्मिश्चार्थे प्रवेदिते मार्गे प्रयत्नवताभाव्यमित्याह। जहेत्थेत्यादि लब्धकर्म्मभूमिं मोक्षपादपबीज-भूताश्च बोधिं सर्वसंचारित्रं च प्राप्त तथा विधेयं यथा कुशलो विदित-वेद्योऽत्रास्मिन्नार्यप्रवेदितमार्गे आत्मनां पापेन कर्म्मणा नोप-लिंपयेदिति एवंचोपलिंपनं भवति यदि यथोक्तानुष्ठानविधायित्वं न भवति सतां चायं पन्थाः यदुत यत् स्वयं प्रतिज्ञातं तदंत्योच्छ-वासं यावद्विधेयमित्युक्तंच (लज्जांगुणौघजननींजननीमिवार्या-मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाः तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति सत्यस्थितिव्यसनितो न पुनः प्रतिज्ञा १) इति शब्दोऽधिकारसमाप्त्यर्थो ब्रवीमीति ।० आरम्भप्रशंसकस्य निन्दा दर्शनशुद्धौ यथा।

जे मय आरंमयाते, जीवा होंति अप्पदोसय रा, तउ महापावयए, जे आरम्मं पसंसंति दर्श० ॥

आरम्भ प्रसक्तानां निन्दा गच्छाचारे अ० २ यथा॥

आरंभेसु पसत्ता, सिद्धं तपरंमुहा विसयगिद्धा मुत्तुमुणिणो गोयम, वसिज्ज, मज्झेसु हियाणम् ? ७४ ॥

व्या० आरंभेषु पृथिव्या व्युपर्मदनेषु प्रसक्ता स्तत्पराः सिद्धां-तपराङमुखा आगमोक्ता नुष्ठानशून्या विषयेषु शब्दरूपर-सगंधस्पर्शेषु गृद्धा लंपटा हे गौतम ? ये एवं विधास्तान् मुनीन् मुकत्वा परित्यज्य सुविहितानां सदनुष्टानो द्यतानां मध्ये वसन्मुनिरिति।० आरम्भजीविनो ऽप्रशंसाऽनारम्भजीविनश्च प्रशंसाऽऽचारांगे लोकसाराध्ययनस्य द्वितीयोद्देशके यथा ॥०॥ अस्य चायमभिसंबंध इह प्रागुद्देशके एक चर्याप्रति पत्तेपि सावद्यानुष्ठाना द्विरतेरभावाच्च न मुनिरित्युक्तमिह तु तद्विपर्ययेण यथा मुनिभावः स्यात्तयोच्यत त्यिनेन संबंधेना यातस्यास्यो द्देश्यकस्यादिसूत्रं ॥आचा०॥

आवंत्ती केयावंती लोगंसि अणारंभजीवी ते सु चेव अणारंभजीवी एत्थो वरए तं ज्झो समाणो धम्मं असासयं चयोवजउ यं विपरिणाम पासह एवं रूव य संधिं समुवेह माणस्स एकायतणरयस्स इयस्स इह विप्पगुक्कस्स णत्थि मग्गे विरतस्सत्ति तिवेमि ॥

टी०आ० ॥ आवत्तीत्यादि यावत् केचन लोकेऽनारंभजीविनि आरभः सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा उक्तश्च।

''आयाणे णिक्खेवे भासुसग्गे य ठाणगमणादी सव्वो पमत्त जोगो समणस्सओ होइ आरंभो''

तद्विपययण त्वनारभस्तेन जीवितुं शीलमेषामित्यनारं-जीविनोयतयः समस्तारंभनिवृत्तास्तेष्वेव गृहिषु पुत्रकलत्र-स्वशरीराद्यर्थमारंभ जावनो भवन्ति एतदुक्तं भवति सावद्यानु-ष्ठानप्रवृत्तषु गृहस्थषु देहसाधनाथ मनवद्यारंभजी विनस्साधवः पकाधारपकजवान्न लेपा एव भवंति। यद्येवं ततः किमित्याह । एत्थोवरए इत्यादि अत्रास्मिन् सावद्यारंभे कर्त्तव्ये उपरतः सकुचितगात्रः अत्र चाहत धर्म्मो व्यवस्थित उपरतः पापारभात् किं कुर्यात्तत्सावद्यानुष्ठानायातं। कर्म्म जोषयन् क्षपयन् मानभाव भजत इति किममिसंध्य अत्रोपरतः स्यादि त्याह अयं संधीति ।

अदक्खु जे इमस्स विगहस्स अयं खणेत्ति अणेसीए समगे आयरिएहिं पवेदिते उट्ठिते णो पमापए जाणित्तु दुखं पत्तेयं सायं पुढोछंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवेदितं से अविह समाणे अणवपमाणे पुट्ठो फासे विपणोल्लए एस समिया परियाए वियाहिए जे असत्तापावेहिं कम्मेहिं उपा हुत्ते आयं का फुसं ति इति उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठोहिया सए से पुव्वं पेयं पच्छापेयं भिउरधम्मं विद्धं सणधम्मं अधुवं अणित्तियं ।०

अयं सधीइत्यादि अविवक्षितकर्म्मका अष्येककर्म्मका धातवो यथा पश्य मृगोधावत्येवमत्राप्यद्राक्षीदित्येतत् क्रियायोगेऽप्ययं संधिरिति प्रथम कृतेत्यिमिति प्रत्यक्षगोचरापन्न आर्यक्षेत्रे सुकुलोत्पतौ द्रियनिर्वृत्ति श्रद्धा संवेगलक्षणः संधिरवसरो मिथ्यात्व क्षयानु दयलक्षणो वा सम्यक्त्वावाप्तिहेतु भूतः कर्म्मविवर लक्षणः सन्धिः शुभाध्यवसाय-संधानभूतो वा संधिरित्येनं स्वात्मव्यवस्थित मद्राक्षी द्भावानित्यतः क्षणमष्येकं न प्रमाद्येत विषयादिप्रमादवशगो भूयात्कश्च न प्रमत्तः स्यादि-त्याह। (जे इमस्स इत्यादि) इत्युपुलब्धतत्वे ऽस्याध्यक्षस्य विशेषेण गृह्यते अनेनाष्टप्रकारं कर्मतद्वेतर शरीरविशिष्टं बाह्यो द्रियेण गृह्यत इति विग्रहः औदारिकं शरीरं तस्या यं वार्त्तमानिकः क्षण एवं भूतः सुखदुःखान्यतररूपश्च गत एवं भूतश्च भावीत्येवं यः अन्वेषणशीलः सोऽन्वेषा सदा अप्रमत्तः स्यादिति स्वमनी-षिकापरिहारार्थ माह। (एसमगो) इत्यादि एषो ऽनंतरोक्तो मार्गो मोक्षपथ आर्यैः सर्व हेयधर्म्मा रातीयवर्तिभिस्तीर्थ करगणधरैः प्रकर्षेणदौ वा वेदितः कथितः प्रवेदिति इति न केवल मनंतरो वद्धायमाणश्च तीर्थकरैः प्रवेदितं इत्याह (उट्ठिएइत्यादि) संधिम धिम्यो स्थितो धर्म चरणाय क्षणमप्येकं न प्रमाद्येत् किं वा (परमधिगम्मेत्याह) जाणित्ति इत्यादि ज्ञात्वा प्राणिनां प्रत्येकं दुःखं तदुपादानं वा कर्म तथा प्रत्येक सातं च मन आह्लादि ज्ञात्वा समुत्थितो न प्रमादन् न केवलं दुःखं कर्म वा प्रत्येक तदुपा-दानभूतोऽध्यवसायो ऽपि प्राणिनां भिन्न एवेति दर्शयितुमाह (पुढो इत्यादि) पृथग्भिन्नश्छन्दो ऽभिप्रायो ये येषां ते पृथक् छन्दा नानाभूतबन्धाध्यवसायस्याना इत्यर्थः इहेति संसारे संज्ञिलोके वा के ते मानवा मनुष्या उपलक्षणार्थावादन्ये ऽपि संज्ञिनां पृथक् संकल्पत्वाच्च तत्कार्यमपि कर्मपृथगेव तत्कारणामपि दुःखं नानारूपमिति कारणभेदे कार्यभेदस्यावश्यंभावित्वा दित्यतः पूर्वोक्तं स्मारयन्नाह (पुढो इत्यादि,) दुःखोपादान भेदात् दुःखमपि प्राणिनां पृथक् प्रवेदितं सर्वस्य स्वकृतकर्मफलेश्वरत्वा-न्नान्यकृतमन्यउपभुक्तं इत्ये तन्मत्वा किं कुर्यादित्याह से इत्यादि सोऽनारंभजीवी प्रत्येकंसुखदुःखाध्यवसायी प्राणिनो विविधैरूपायेरहिंसस्तथान-पवदन् अन्यथेव व्यवस्थितं वस्त्वन्यथा वदन्नापवदन् मृषावादमब्रुव-न्नित्यर्थः यस्य च भूतस्यापि प्राकृ तत्वादर्थत्वाद्वालोपः एवं परस्वमगृह्णन्नित्याद्यप्यायोज्यं एतद्विधायी च किमपरं कुर्यादित्याह (पूढो इत्यादि) सपञ्चमहाव्रत व्यवस्थितः सन् यथा गृहीतप्रतिज्ञानि-र्वाहणोद्यतः स्पृष्टः परीषहोपसर्गे स्तन् तत्कृतान् शीतोष्णादिस्पर्शान् दुःखस्वर्शान् चा तत्सहिष्णु तथा अनाकुलो विविधैः प्रकारैः संसार

भावनादिभिः प्रेरयन् तत्प्रेरणं च सम्यक् सहनं न तत् कृतया दुःखासिकयात्मानं भावयेदिति यावत् योहि सम्यक्करणतवा परीषहान् सहेत स किं गुणः स्यादित्याह एस इत्यादि एषोऽनंतरोक्तो यः परीषहानां प्रणोदकः समिया सम्यक्शमिता वा शमोऽस्यास्तीति शमी तद्भावः शमिता पर्यायः प्रव्रज्या सम्यक्शमितया वा पर्यायः प्रवज्यास्योति विगृह्य बहुव्रीहिः स सम्यक् प्रर्यायः शमिता पर्यायो वा व्याख्यातो नापर इति तदेव परीषहोपसर्गाक्षोभ्यतां प्रतिपाद्य व्याधिसहिष्णुतां प्रतिपादयन्नाह जे असत्ता इत्यादि, ये अपाकृतप्रदनतयासमतृणमणिलेष्टकांचनाः समतापन्नाः पापेषु कर्म्मस्वसक्ताः पापाषादानानुष्ठानरता उदाहु कदाचित्तांस्तयाभूतान् साधून् आतका आशुजीवितापहारिणः शूलादयो व्याधिविशेषाः स्पृशंत्यभिभवंति पीडयन्ति यदि नामैवं ततः किमित्याह इति उदाहु इत्यादि इत्येतद्वक्ष्य माणमुदाहृतवान् व्याकृतवान् कोऽसौ धीरो धीर्बुद्धिस्तया राजते स च तीर्थकृत गणधरो वा किंतदुदाहृतवांस्तै रातकै स्पृष्टः सन् तान् स्पर्शान् दुःखानुभवान् व्याधिविशेषापादितान-ध्यासयेत् सहेत किमाकलय्येत्याह से पुव्व इत्यादि स स्पृष्टः पीडित आशु जीवितापहारिभिरातंकैरेतद्भावयेद्यथा पूर्वमप्येतदसातावेदनी-यविपाकजनितं दुःखं मयैव सोढव्यं पश्चादप्येतन् मयैव सहनीयं यतः संसारोदरविवरवर्ती न विद्यत एवासौ यस्यासातवेदनीयवि पाकापादितारोगातका न भवेयुस्तथाहि केवलिनोऽपि मोहनीयादिघा-तिचतुष्टयादुत्पन्नज्ञानस्य वेदनीयसद्भावेन तदुदयात्तत्सम्भवं इति यतश्च तीर्थकरैरप्येतद्बद्धस्पृष्टनिध-त्तिनिकाचनावस्थायातं कर्म्मावश्यवेद्यं नान्यथा तन्मोक्षोऽ-तोनेनाप्यसातावेदनीयोदये सन्तकुमारद्रष्टांतेन मयैवैत-त्सोढव्यमित्याकलय्य नोद्विजितव्यमित्युक्तंच ''स्वकृतपरिण-तानां दुर्नयानांविपाकः पुनरपि सहनीयोऽन्यत्र ते निर्गुणस्य ॥ स्वयमनुभवतोऽसौ दुःखमोक्षाय सद्यो भवशतगतिहेतु-र्जायतेऽनि-च्छतस्ते'' अपि चैतदौदारिकं शरीरं सुचिरमप्यौषध-रसायनाद्युपबृंहितं मूण्मयामघटादपि निस्सारतरं सर्वथा सदा विशरार्विति दशयन्नाह । भेउरधम्मं इत्यादि यदि वा पूर्वं पश्चादप्येतदौदारिकं शरीरं वदयमाणधर्म्मस्वभावमित्याह । भेदुरधम्मामित्यादि स्वयमेव भिद्यत इति भिदुरः स धर्मोऽस्य शरिस्येति भिदुरधर्म्मं इदमौदारिकं श रीर सुपोषितमपि वेदनीयोदयाच्छिरोऽक्ष्युरः प्रभृत्यवयवेषु स्वत एव भिद्यत इति भिदुरं तं विध्वंसयन् धर्म्मं पाणिपादाद्यवयवविध्वंसनात् तथावश्यं भावितं त्रियामांते सूर्योदयवत् ध्रुव न तथाऽध्रुवं तथा प्रच्यु-तानुत्पन्नास्थिरैकस्वभावतया कूटस्थनित्यत्वेन व्यवस्थितं सन्नित्यं नैव यत्तदनित्यमिति तथा तेन तेन रूपेणोदकधारावत् शस्वद्भवतीति शास्वतं ततोऽन्यदशास्वतं तथेष्टाहारोपभोगतया धृत्युपट्टभादौदारिकशरीर-वर्गणापरमाणू पचयाच्चयरस्तदभावे न तद्विघटनादपचयः चयापचयौविद्येते यस्य तच्चयापचयिक मतएव विधिपरिणामोऽन्यथाभावात्मको धर्म्मः स्वभावो यस्य तद्विपरिणामधर्म्मं यतश्चेवं भूतमिदं शरीरकमतोऽस्योपरि कोऽनुबंधः का मूर्च्छनास्य कुशलानुष्ठानमृतेऽन्यथा साफल्य-मित्येतदेवाह पासह इत्यादि पश्यतैनं पूर्वोक्तंरूपं सधिभिदुर-धर्माद्याघातौदारिकं पंचेन्द्रिय निर्वृत्तिलाभावसरात्मकं दृष्ट्वा च विविधातंकजनितानस्पर्शामध्यासयेदिति एतत्पश्यतश्च यत्स्या-त्तदाह । समुवे इत्यादि सम्यगुत्प्रेक्ष्यमाणस्य पश्यतोऽनित्यता-घ्रातमिदं शरीरक मित्येवमवधारयतो नास्ति मार्ग इति संबंधः । किंच आङ् अभिविधौ समस्तपापारंभेभ्य आत्मा आयत्यते आनियम्यतेतस्मिन् कुशलानुष्ठाने वा यत्नवान् क्रियत इत्यायतनं ज्ञानादित्रयमेकमद्वितीयमायतन-मेकायतनं तत्र रतस्य किंच इह शरीरे जन्मनि वा विविधं परमार्थभावनया शरीरानुबन्धात्प्रमुक्तो विप्रमुक्तस्तस्य नास्ति न विद्यते कोऽसौ मार्गो नरकतिर्यङ्-मनुष्यगमनपद्धति वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानदर्शनान्न भविष्यतीति नास्तीत्युक्तं यदि वा तस्मिन्नेव जन्मनि समस्तकर्मक्षयोप-पत्तेर्नास्ति नरकादिमार्गः कस्येति दर्शयति विरतस्य हिंसाद्याश्रवद्वारेभ्यो निवृत्तस्य इत्यधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति सुधर्म्मस्वाम्यात्मानमाह ॥ यद्भगवता वीर-वर्द्धमानस्वामिना दिव्यज्ञानेनार्थानुपलभ्य वाग्योगेनोक्तं तदहं भवतां ब्रवीमि न स्वमतिविरचननेति ॥

आरम्भोपरमणं च सोभनं तथा चाचाराङ्गे ॥

जस्स णत्थिपुरे पच्छा मज्झे तस्स कुतो सिया । से हु पण्णाणमते बुद्धे, आरंभोवरए सममेयं ति ॥ पासह जेण बंधं वहं घोरं परितावं च दारुणं । परिच्छिंदि य बाहिरगं च सोयं ॥

जस्स नत्थि इत्यादि, यस्य भोगविपाकवेदिनः पूर्व्वमुक्ता-नुस्मृतिर्नास्ति नापि पाश्चात्यकालभोगाभिलाषिता विद्यते तस्य व्याधि विचिकित्सारूपान् भोगान् भावयतो मध्ये वर्त्तमानकाले कुतो भोगेच्छा स्यात् मोहनीयस्योपशमान्नैव स्यादित्यर्थः यस्य तु त्रिकालविषया भोगेच्छा निवृता स किंभूतः स्यादित्याह ॥ से हुश्त्यादि हुयस्मादर्थे य स्मान्निवृतभोगाभिलाषस्तस्मात्स प्रज्ञानवान् प्रकृष्टं ज्ञानं जीवाजीवादिपरिच्छेतृ तद्विद्यते यस्यासौ प्रज्ञानवान् यत एव प्रज्ञानवानत एव बुद्धोऽवगततत्वः यत एवंभूतोऽत एवाह आरभोवरए सावद्यानुष्ठान-मारंभस्तस्मादुपरत आरंभोपरतः एतच्चारंभोपरमणं शोभनमिति दर्शयन्नाह सममित्यादि यदिदं सावद्यार म्भोपरमणं सम्यगेतच्छो जनमेत-त्सम्यक्त्व काय त्वाद्वा सम्यकत्वमेतदित्येवं पश्यत एवंगृह्णीत यूयमिति किं मित्यारंभोपरमणं सम्यगिति चेदाह जेण त्यिादि येन कारणेन सावद्यारंभप्रवृतो बंधं निगडादिर्भिर्वं धं कसादिभिर्धोरं प्राणसंशयरूपं परितापं शारीरमानसं दारुणमसह्यमवाप्नोत्य त आरम्भोपरमणं सम्यक्भूतं कुर्यात् किंकत्वेत्याह पलिछिंदि इत्यादि परिछिंद्या पनीय किं तच्छ्रेतं पापोपादानं तच्चबाह्यं धनदान्यहि रण्यपुत्रकलत्रादिरूपं हिंसाद्याश्रवद्वारात्मकं च शब्दान्तरं च रागद्वेषात्मकं विषयपिपासारूपं चेति ॥ तथाच महानिशीथे २ प्र० ।

अत्थेगे गोयमा ? पाणी जेणो वयइ परिग्गहं जावइयं गोयमा तस्स सचित्ताचित्तभेयत्तंगं, पभूयं वाणुजीवस्स भवेज्जा उपरिग्गहं । तावइण्णं तु सोपाणि ससंगो मुक्ख-साहाणं णाणात्तिगं ण आराहे तम्हा वज्जेपरिग्गहं अत्थेगे गोयमा पाणि जे पयहे ताए परिग्गहं आरंभं न विवेज्जेज्जा जं पियं भवपरंपरा आरंभे पत्थियस्सेगवि यलजीवस्य वइययरे संघट्टणा इयं कम्मं वद्धं गोयमा ? सु ण एगे वेइंदिए जीवे एगं समयं अणिच्छमाणे-

वलामिओगणं हत्थेणं वा पाएणं वा अन्नयरेण वा सलागाइ ओवगरणं जाएणं जे केइ पाणि आगाढं संघट्टेज्ञ वा संघट्टिज्ञमाणं वा आगाढं परेहि समणुजाणेज्ञा सेणं गोयमा ? जाया तं कम्म उदयं गच्छेज्ञा तथा णं महया केसेणं छम्मासेणं विदिज्ञा गाढं दुवालसहिं संवच्छरेहिं तमेव आगाढं परिआवेज्ञा वाससहस्सेणं गाढं दसहिं वाससहस्सेहिं तमेव आगाढं किलामेज्ञा वासलक्खेणं गाढं दसहिंवा तलक्खेहिं अहा णं उद्धविज्ञा तउ वासकोडीए एवं ती चउपंचिंदिएसु दट्ठव्वं सुहमस्स पुढविजीवस्स जत्थेगस्सवि अप्पारंभं तयं चिंते गोयमा ? सव्वकेवली सुहुमस्स पुढविजीवस्स वावि ती जत्थसंभवे महारंभं तयं वेति गोयमा ? सव्वकेवली एवं तु समिलं तेहिं कम्मकुरुडेहिं गोयमा ? सेसो भट्ठो अणंतेहिं जे आरंभे पवतए आरंभे वट्टमाणस्स बद्धपुट्ठनिकाइयं, कम्मं वद्धं भवे तम्हा, तम्हारंभं विवज्ञए १ पुढवि इ अजीवकायं ता सव्वभावे हि सव्वहा। आरंभे जे निअट्टेज्ञा से अइए जम्मजरामरणसव्व-दारिद्ददुक्खाण विमुच्च इति अ० २। तथाचवृहत्कल्पे वस्त्रच्छेदनमधिकृत्य विन्नाय आरंभमिणं सदोसं तम्हा जहालद्धमधिट्ठिहिज्ञा, वुत्तं स ए उ खलु जावदेही ण होति सो अंतकरी तु भावे।

इयमनंतरोक्त सर्वलोकपूरणात्मकमारंभं सदोषं सूक्ष्मजीव-विराधनया सावद्यं विज्ञाय तस्मात्कारणाद्ययालब्धं वस्त्रम धितिष्ठेत् न च्छेदनादिकं कुर्यात् यतउक्तं भणित व्याख्याप्रज्ञप्तौ यावदयं देही जीवः सैजः सकंपचेष्टावानित्यर्थः। तावदसौ कर्मणो भवस्य वा अंतकारी न भवति तथा च तदालापकः

जाव णए सजीवं सयासमियं एयइ वेयइ बलइ फंदइ वट्टइ खझइ ओदीरइ॥

तं तं भावं परिणमइ ताव णं तस्स जीवस्स अंते किरिया न भवति। आरंभाच्चावश्यं विरमेत् वृ० उ० ३॥

तथा च सूत्र कृताङ्गे श्रु० १ अ० २॥

मायाहि पियाहिं लुप्पइ नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
एयाइ भयाइं पेहिया आरंभा विरमेज्ञ सुव्वए॥

टी० तथा मायाहीं इत्यादि कश्चिन्मातापितृभ्यां मोहेन स्वजनस्नेहेन च न धर्म प्रत्युद्यमं विधत्ते स च तैरेव मातापित्रा-दिभिर्लुप्यते संसारे भ्राम्यते। तथाहि। विहितमलोह-महोमहन्मातापितृपुत्रदारबधुसंज्ञं। स्नेहमयमसुमतामतः किं बंधनं श्रंखलं खलेन धात्रा॥१॥ तस्य च स्नेहा-कुलितमानसस्यसदसद्विवेकविकल्पस्य स्वजनपोषणार्थं यत्किचन-कारिण इहैव सद्विनिं दितस्य सुगतिरपिप्रेत्य जन्मांतरे नो सुलभाऽपि तु माता पितृव्यामोहितमनसस्तदर्थं क्लिश्य तो विषय सुखेप्सातश्चदुर्गतिरेव भवतीत्युक्तं भवति। तदेवमेतानि भयानि भयकारणानि दुर्गतिगमनादीनि (पेहियत्ति) प्रेक्ष्य आरंभात्सावद्याऽनुष्ठानरूपाद्विरमेत्। सुव्रतः शोभनव्रतः सन् सुस्थितोवेति पाठान्तरं॥३॥० अनिवृत्तस्य दोषमाह (जमिणमित्यादि) "जमिणं जगति पुढो जगा कम्मेहि लुप्पति पाणिणो। सयमेव कडेहि गाहरु णोतस्स मुच्चेज्ञ पुट्ठयं॥४॥ टी०॥ (जमिणमित्यादि) यद्यस्मादनिवृता नामिदं भवति किं तत् जगति पृथिव्यां (पुढोत्ति) पृथग्भूता व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानोपचितैः कर्मभिर्वि लुप्यंते नरकादिषु यातनास्थानेषु भ्राम्यंते। स्वयमेव च कृतैः कर्मभि र्नेश्वराद्यापादितैर्गाहते नरकादिस्थानानि यानि तानि वा कर्माणि दुःख-हेतूनि गाहते उपचिनोति। अनेन च हेतुसद्भावः कर्मणामुपदर्शितो भवति न च तस्याऽशुभाचरितस्य कर्मणो विपाकेनास्पृष्टोऽच्छुप्तो मुच्यते जंतुः कर्मणामुदय मननुभूय तपोविशेषमंतरेण दीक्षाप्रवेशादिना न तदपगमं वि धत्त इति भावः॥ आरंभ रहितएव च मुनिर्भवति तथाच सूत्रकृताङ्गे धम्हस्स य पारए मुणि आरंभस्स य अंतए ट्ठिए सोयंति य णं ममाइणो णो लब्भंति णियं परिग्गहं॥९॥ धर्मस्य श्रुतचा रित्रभेदभिन्नस्य पारं गच्छतीति पारगः सिद्धांतपारगामी सम्यक् चारित्रानुष्ठायी वेति। चारित्रमधिकृत्याह। आरंभस्य सावद्यानुष्ठानरूपस्यांते पर्यंते तदभावरूपे स्थितो मुनिर्भवति ये पु न नैवं भवंति ते अकृतधर्म्माः मरणे दुःखे वा समुपस्थिते आत्मानं शोचंति। णमिति वाक्यालंकारे। यदि चेष्टमरणादाऽवर्थनाशे वा (ममाइणोत्ति) ममेदमहमस्य स्वामीत्येव-मध्यवसायिनः शोचंति। शोचमाना अप्येते निजमात्मीयं परिसमंतात् गृह्यते आत्मसात्क्रियत इति। परिग्रहो हिरण्यादिरिष्टस्वजनादिर्वा। नष्टांमृतं वा न लंभते न प्राप्नुवंतीति। यदि वा धर्मस्य पारगं मुनिमारंभस्यांते व्यवस्थित मेनमागत्य स्वजना मातापित्रादयः शोचंति ममत्वयुक्ताः स्नेहालवः न च ते लभंते निजमप्यात्मीयपरिग्रहबुद्ध्या गृहीतमिति। आरम्भस्य दुःख-विपाकत्वं सूत्रकृताङ्गे यथा॥

वेराइं कुव्वई वेरी, तउवेरिहिं रज्जती।
पावोवगाय आरंभा दुक्खफासाय अंतसो॥

सांप्रतं जीवोपधातविपाकदर्शनार्थमाह। (वेराइं इत्यादि) वैरमस्यास्तीति वैरी स जीवोपमर्द्दकारी जन्मशतानुबंधीनि वै राणि करोति। ततोऽपि च वैरा दप रैवररैनुरुध्यते। वैरपरपरानुषंगी भवतीत्यथः। किमिति। यतः पापं उपसामीप्येन गच्छंतीति पापोपगाः क एते आरंभाः सावद्यानुष्ठान रूपाः। अन्तशो विपाककाले दुःखं स्पृशंतीति दुःखस्पर्शा असातोदयविपाकिनो भवंतीति॥ सूत्र० श्रु० १ अ० ८ (सारम्भस्य सपरिग्रहस्य च मोक्ष-मार्गो नास्ति) तता सूत्रकृताङ्गे॥

सपरिग्गहा य सारंभा इह मेगेसिमाहियं। अपरिग्गहा अणारंभा भिक्खू ताणं परिव्वए॥३॥

सपरिग्गहा इत्यादि सह परिग्रहेण धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिना वर्त्तते तदभावेऽपि शरीरोपकरणादौ मूर्च्छावंतः सपरि-ग्रहाः। तथा सहारंभणे जीवोपमर्दादिकारिणा व्यापारेण वर्त्तत शति तदभावेऽप्योद्देशिकादि-भोजित्वात्सारंभाः। तीर्थिकादयः सपरिग्रहारंभकत्वेनैव च मोक्षमार्ग प्रसाधयंतीति दर्शयति। इह परलोकचिंतायामेकेषां केषांचिदाख्यातं-भाषितं यथा किमनया शिरस्तुंडमुंडनादिकया क्रियया परं गुरोरनुग्रहात्परमक्षरावाप्तिस्तद्दीक्षावाप्तिर्वा यदि भवति ततो

मोक्षो भवतीत्येवं भाषमाणास्ते न त्राणाय भवंतीति । ये तु त्रातुं समर्थास्तान्पश्चार्द्धेन दर्शयति । अपरिग्रहाः । न विद्यते धर्मोपकारणादृते शरीरोपभोगाय स्वल्पोऽपि परिग्रहो येषां ते अपरिग्रहाः । तथा न विद्यते सावद्य आरंभो येषां तेऽनारंभास्ते चैवं भूताः कर्मलघवः स्वयं यानपात्रकल्पाः संसारमहोद-धेर्जंतूत्तारणसमर्थास्तान् भिक्षुर्भिक्षणशील उद्देशिकाद्यपरिभोजी त्राणं शरणं परिसमंताद् व्रजेद्गच्छेदिति ॥३॥० कथं पुनः पुनस्तेनापरिग्रहेणाऽनारंभेण च वर्त्तनीयमित्येत इर्शयितुमाह ॥

कडेसु घासमेसेज्जा, विऊ दत्तेसणं चरे ।
अगिद्धो विप्पमुक्को, अउमाणं परिवज्जए ॥४॥

टी० ॥ कडेसु इत्यादि गृहस्थैः परिग्रहारंभद्वारेणाऽत्मार्थं ये निष्पादिता ओदनादयस्ते कृता उच्यंते । तेषु कृतेषु परकृतेषु परनिष्ठितेष्वित्यर्थः । अनेन च षोउशोद्गमपरिहारः सूचितः । तदेवमुद्गमदोषरहितं ग्रस्यत इति ग्रास आहारस्तमेवंभूत-मन्वेषयन्मृगयेत् याचेतेत्यर्थः । तथा । विद्वान् संयमकरणैकनिपुणः परैराशंसादोषरहितै र्यन्निःश्रेयसबुद्ध्या दत्तमित्यनेन षोडशो-त्पादनदोषाः परिगृहीता द्रष्टव्याः ॥ तदेवंभूते दौत्यधात्री-निमित्तादिदोषरहिते आहारे स भिक्षुः एषणां ग्रहणेषणां चरेदनु-तिष्ठेदित्यनेनाऽपि दशैषणा दोषाः परिगृहीता इति मंतव्य । तथा । अगृद्धोऽनुध्युपपन्नोऽमूर्च्छितस्तस्मिन्नाहारे रागद्वेषविप्रमुक्तः । अनेनाऽपि च ग्रासेषणा दोषाः पंच निरस्ता अवसेयाः स एवंभूतो भिक्षुः परेषामपमानं परावम दर्शित्वं परिवर्जयेत् परित्यजेत् । न तपोमदं ज्ञानमदं च कुर्यादिति भावः सूत्र० श्रु० १ अ० १ ॥

आरंभेण च विद्याचरणे न लभते तथा च स्थानाङ्गे विद्याचरणेच कयमात्मा न लभत इत्याह ॥स्था० ठा० २ ॥

दोट्ठणांई अपरियाणित्ता आयाणो केवली पन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए तंजहा आरंभे चेव परिग्गहचेव दोट्ठाणाई अपरियाइत्ता आयाणो केवलं बोधि बुज्झिज्जा तंजहा आरंभे चेव परिग्गहे चेव ॥

दो ट्ठाणाइत्यादि सूत्राण्येकादश द्वे स्थाने द्वे वस्तुनी । (अपरियाणित्तति) अपरिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया यथतावारम्भपरिग्रहा वनर्थाय तच्छा अलं ममाभ्यामिति परिहाराभिमुख्यद्वारेण प्रत्याख्यानपरिज्ञया अप्रत्याख्याय च ब्रह्मदत्तवत्तयोरनिर्विण्ण इत्यर्थः ॥

अपरीयाइत्तत्ति । क्वचित्याठस्तत्र स्वरूपस्तावदपर्यादाय अगृहीत्वेत्यर्थः आत्मनो नैव केवलिप्रज्ञप्तं जिनोक्तधर्म्मं लभेत श्रवणतया श्रवणभावेन श्रोतुमित्यर्थः तद्यथा आरम्भाः कृष्यादिद्वारेण पृथिव्याद्युपम-र्दास्तान्परिग्रहा धर्म्मसाधनव्यतिरेकेण धनधान्यादय स्तानिह चैकवचनप्रक्रमेऽपि व्यक्त्यपेक्षं बहुबचनमवधारणसमुच्चयो स्वबुध्या-ज्ञेयाविति केवलां शुद्धं वाधि दर्शनं सम्यक्त्वमित्यर्थाबुध्येत अनुभवेत अथवा केवल या बोध्येति विभक्ति परिणामात् बोध्यं जीवादीति गम्यते बुध्येत श्रद्दधीतेति ॥स्था० २ ठा० ।

दोट्ठाणाइं अन्नो केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अण्ण गारियं पव्वेज्जा तंजहा आरंभे चेव परिग्गहे चेव एवं णो कवल बंभचरं वावि समावसेज्जा णो केवलण संज मेणं संजमेज्जा नो केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा नो केवलमाभिणिबोहिय णाणं उप्पाडेज्जा पदं सुअणाणं ओहिनाणं मणपज्जवनाणं केवलनाणं दो ठाणाइं परियाइत्ता आया केवलीपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए तंजहा आरंभे चेव परिग्गहे चेव एवं जाव केवल-नाणमुप्पाडेज्जा ॥

टी० ॥ मुण्डो द्रव्यतः शिरोलोचनं भावतः कषायाद्यपनयनेन भूत्वा संपद्य अगाराद्वेहान्निष्कम्येति गम्यते केवलामित्यस्येह सम्बन्धात्केवलाम्परि-पूर्णाम्विशुद्धां वा अनगारितां प्रव्रज्यां प्रव्रजेत् यायादिति । एवमिति । यथा प्राक् तथोत्तरवाक्येऽपि ॥ दोठाणाइत्यादि ॥ वाक्यं पठनीयमित्यर्थः ब्रह्मचर्येणाब्रह्मविरमणेन वासो रात्रौ स्वापः तत्रैव वा वासो निवासो ब्रह्मचर्यवासः तमावसेत्कुर्यादिति संयमेन पृथिव्यादि रक्षणलक्षणेन संयम-येदात्मानमिति संवरेणाश्रवनिरोधलक्षणेन संवृणुयादा-श्रवद्वाराणीति गम्यते केवलं परिपूर्णं सर्वं स्वविषयग्राहकं । आभिणिबोहियणाणं ॥ अर्थाभिमुखो विपर्ययरूपत्त्वान्नियतो-ऽसंशयस्वभावत्त्वाद्बोधोवेदन माभिणिबोधः स एवाभिनिबोधिकं तच्च तज्ज्ञाननञ्चेत्याभिनि-बोधिकज्ञान मिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं ओघतः सर्वद्रव्यसर्वपर्यायविषयं उप्पाडेज्जत्ति ॥ उत्पादयेदिति तथा एवमित्यनेनोत्तरपदेषु नो केवलं उप्पाडेज्जति द्रष्टव्यं सुयणाणत्ति) श्रूयते तदिति श्रुतं शद्ब एव स च भावश्रुत-कारणत्वाज्ज्ञानं श्रुतग्रन्थानुसारिओघतः सर्व द्रव्यसर्वपर्यायविषयम-क्षरश्रुतादिभेदमिति । तथा ओहिणाणंत्ति । अवधीयते अनेनास्मा-दस्मिन्वेत्यवधिः अवधीयत इत्यधोधोविस्तृतम्परिच्छिद्यते मर्यादया वेति अवधिज्ञा इत्यधोधो विस्तृतम्परिच्छिद्यते मर्यादया वेति अवधिज्ञानावरण क्षयोपशम एव तदुपयोगहेतुत्वादिति अवधानम्वाऽवधि र्विषयपरिच्छेदनमिति अवधिश्चासौ ज्ञानंचेत्यवधिज्ञानं इन्द्रियमनोनि-रपेक्षमात्मनोरूपिद्रव्य-साक्षाकारणमिति तथा मणपज्जवनाणंति । मनसि मनसो वा पर्यवः परिच्छेदः स एव ज्ञानमथवा मानसः पर्थवाः पर्याया वा विशेषावस्था मनः पर्यवादयः तेषान्तेषु वा ज्ञानम्मनःपर्यवज्ञानमेवमित-रत्रापि समय क्षेत्रगतसंज्ञिमन्यमानमनो द्रव्यसाक्षात्कारीति । (केवलनाणंति) केवलमसहायं मत्यादिनिरपेक्षत्वादकलङ्कश्चावरण-मलाभावात् सकलं वा तत्प्रथमतयैवा शेषतदावरणाभावतः सम्पूर्णात्य-त्तेरसाधारणं वाऽनन्यसदृशत्वादनन्तं वा ज्ञेयानंतत्वात्तच्च तज्ज्ञानञ्च केवलज्ञानमिति ठा० २ ॥

कुशलारब्धमेव चारब्धव्यम् तथा चाचाराङ्गे अ० ३ उ० १ ॥

कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्को सेज्जं च आरंभ ॥
जं च णारभे अणारद्धं च ण आरभ ॥

टी० ॥ कुशलेत्यादि कुशलोऽत्र क्षीणधातिकर्म्माशो विवक्षितः स च तीर्थकृत्सामान्यकेवली वा छद्मस्थो हि कर्म्मणा बद्धो मोक्षार्थी तदुपायान्वेषकः केवली तु पुनर्धातिकर्म्मक्षयान्नो बद्धो भवोपग्राहिकर्म्म-सद्भावान्नो मुक्तो यदिवा छद्मस्थ एवाभिधीयते कुशलोऽवाप्तज्ञानदर्शन-चारित्रो मिथ्यात्वद्वादशकषायो-पशमसद्भावात्तदुदयवानिव न बद्धोऽद्यापि तत्सत्कर्म्म तासद्भावान्नो मुक्त इत्यादि एवंभूतश्च कुशलः केवली छद्मस्थो वा यदा-चीर्णवानाचरितवान् तदपरेणापि मुमुक्षुणा विधेयमिति दर्शयति । सेजंच इत्यादि सकुशलो यदारभते आरब्ध

वान्वा शेषकर्म्मक्षपणोपायं संयमानुष्ठानं यच्च नारभते मिथ्यात्वाविरत्यादिकं संसारकारणं तदारब्धव्यमनारंभणीयं चेति संसारकारणस्य च मिथ्यात्वाविरत्यादेः प्राणातिपाता-द्यष्टादशरूपस्य चैकांतेन निराकार्यत्वात्तन्निषेधं च विधेयस्य संयमानुष्ठानस्य सामर्थ्यायातत्वात्तन्निषेधमाह । अणारद्ध चेत्यादि अनारब्धमनाचीर्णं केवलिविशिष्टमुनिभिर्वा तन्मु मुक्षु र्नारभेत नोकुर्यादित्युपदेशो यच्च मोक्षांगमाचीर्णं तत् कुर्यात् प्रस्तावने वधे दर्प्ये च द्रव्याणां द्रव्यान्तरेण गुणानां गुणान्त-रेणोत्पादे वैशेषिकोक्ते व्यापारे - द्रव्यारंभश्चतुर्षु स्यात् कर्मणि घञ् आरम्यमाणे। फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तनाइव-रघुः चित्रार्पितारम्भइवावतस्थे ।० कुमा० वाच० ॥ आरभ्यत इत्यारम्भः जीवे-आरम्भयते विनाश्यन्ते इत्यारंभा जीवा इति ॥ प्रश्न० द्वा० १ ॥

आरंभकड–त्रि० (आरंभकृत्) (आरम्भेण कृते) आरंभकडेति वा सावज्जकडेत्ति वा पयत्तकडेत्ति वा (आरंभकृतमेतत् सावद्य-कृतमेतत्) प्रयत्नकृतमेतदिति ॥ आचा० अ० ४ उ० १

आरंभकरण–न० (आरम्भकरण) व्यापारकरणे (हिंसालीय-अदत्तादाणमेहुणपरिग्गहारंभकरणकारावणाणुमोदणअट्ठविह-अणिट्ठकम्मपिंडितगुरुभारक्कन्तदुग्गजलोघदूरनिबोलिज्जमा-णउम्मग्गनिमग्गदुल्लहत्तलं) हिंसालीकादत्तादानमैथुनपरि-ग्रहलक्षणा ये आरम्भा व्यपारास्तेषां यानि करणकारणा-नुमोदननिति ॥ प्रश्न० द्वा० ३ ॥ आरम्भणमारम्भः पृथिव्या-द्युपमर्द्दनन्तस्य कृतिः करणम् स एव वा करणमित्यारम्भकरणम् करणभेदे स्था० द्वा० ३ ॥

आरंभकहा–स्त्री० (आरंभकथा) तित्तिरादीनामियत्तां तत्रोपयोग इत्यारंभकथा विकथाभेदे सा च भक्तकथायास्तृतीयो भेद इति ॥ स्था० ठा० ४ ॥

आरंभकिरिया–स्त्री० (आरंभक्रिया) क्रियाभेदे आरंभक्रिया द्विविधा जीवारंभक्रिया अजीवारंभक्रिया तत्र जीवांभक्रिया जीवानारभते अजीवारम्भक्रिया अजीवानारभत इति ॥ आ० चू० ॥ एत द्वक्तव्यताऽऽरम्भिकीशब्देऽपि ॥

आरंभज्झाण–न० (आरंभध्यान) आरम्भः परोपद्रवस्तस्यध्यानम् परोपद्रवध्याने (आरंभझाणे) आरंभः परोपद्रवस्तस्यध्यानम् कुरुडोत्कुरुडयोरिव द्वीपायनस्येव वा तस्मिन् इति ॥आतु० ॥

आरंभग–त्रि० (आरम्भक) आरभ ण्वुल् मुम् आरम्भकारके ॥वाच०॥ सावद्यारम्भप्रवृत्ते आचाराङ्ग . पंचमाध्ययनप्रथमो-द्देशकस्योद्देशार्थ मधिकृत्य निर्युक्तौ, हिंसगविसयारंभो एगचरोत्ति न मुणि पढमगंमि ॥आचा० ५ उ० १ अ० हिनस्तीति हिंसक आरम्भणमारम्भो विषयाणामारम्भोऽस्येति विषयारम्भकः व्यधिकरणस्याऽपि गमकत्वात्समाभः ण्वुलन्तस्य वा याज-कादिदर्श नात्समासो विषयाणामारम्भको विषययारंभक इति हिंसकश्च विषयारम्भश्चेति विगृह्य समाहारद्वंद्वः प्राकृतत्त्वात् पुल्लिंङ्गता अयमर्थो हिंसकः प्राणिनां विषयारम्भकश्च विषयार्थं सावद्यारम्भप्रवृत्तश्च न मुनिस्तथा विषयार्थमेक एव चरत्येकचरः स च न मुनिरित्येतदधिकारत्रयं प्रथमोद्देशके ॥ आचा० ॥ अ० ५ उ० १ ॥ (सावद्यानुष्ठाने पुं० आरम्भगं चेव परिग्गहं च अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा आरम्भं सावद्यानुष्ठानमिति ॥ सूत्र० ॥ श्रु० २ अ० ६ ॥ वैशेविकादिमतसिद्धे महत्वाद्युपचयाय अवयवानां विजा-तीयसंयोगे च, तत आरम्भसंयोगनाशः ॥ मुक्ता० ॥ आरम्भ-वादशब्दे ॥ शा० भा० उदा० ॥

आरम्भजीविन्–पुं० (आरम्भजीविन्) आरम्भः सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा तेन जीवितुं शीलमेषामित्यारम्भजीविनः । साव-द्यानुष्ठानप्रवते (लोगंसि अणारंभजीवी) आ० चा० अ ५ उ १ ॥

आरंम्भः सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा उक्तंच "आयाणे णिक्खेवे, भासुसग्गेय ठाणगमणादी, सव्वो पमत्तजोगो समणस्स ओ होइ आरंम्भो ॥ तद्विपर्ययेण त्वनारम्भस्तेन जीवितुं शीलमेषामित्यनारम्भजीविनो यतयः समस्तारम्भनिवृत्तास्तेष्वेव गृहिषु पुत्रकलत्रस्वशरीराद्यर्थमार-म्भजीविनो भवन्ति एतदुक्तं भवति सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु देहसाधनार्थं मनव-द्यारम्भजीविनस्साधवः पंकाधारपंकजवन्निर्लेपा एव भवन्ति आरम्भेण जीवितुं शीलमस्येत्यारभजीवी महारम्भपरिग्रह-प्रकल्पितजीवनोपाये ॥ आ० चा० अ ५ उ २ ॥ आरंभजीवी उभयाणुपस्सी ॥ आचा० अ उ १ सावद्यानुष्ठानस्थिति के सावद्यानुष्ठानवृत्तिके च ॥

आरंभट्ठाण–न० (आरम्भस्थान) सावद्यारंभाश्रये सूत्र० (तत्थणं जासा सव्वतो अविरइ एसट्ठाणे आरंभट्ठाणे अणारिए जाव असव्वदुःखप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे) असाहू तत्र पूर्वोक्तेषु येयं सर्वात्मना सर्वस्मात् अविरतिर्विरति परिणामाभावः । एतत्स्थानं सावद्यारम्भस्थानमाश्रयस्तदाश्रित्य सर्वाण्यपि कार्याणि क्रियंते यत एवमत एतदनार्यस्थान निःशूकतया यत्किंचनकारित्वाद्या-वदसर्वदुःखप्रक्षीणमार्गोऽयं तथैकांतमिथ्यारूपो साधुरिति आरम्भ एव स्थानम् वस्तुआरंभस्थानम् प्रमत्तयोगलक्षणे वस्तुनि तथा च स्थानाङ्गे ।। स्था० ठा० १० ॥ अथ महापद्मस्यआत्मनश्च सर्वज्ञत्वात्सर्वज्ञपोश्च मतामेदात् भेदे चैकस्यायथावस्तुदर्शनेनाऽ-सर्वज्ञता प्रसंगादित्युभयोभगवान् समां वस्तुप्ररूपणां दर्शयन्नाह ।

से जहा नामए अज्जोमए समणाणं निग्गंथाणं एगे आरमट्ठाणे प० एवामेव महापउमेविहा समणाणं निग्गंथाणं एगं आरंभट्ठाणं पन्नवेहिंति ॥

टी० ॥ सेजहेत्यादि सइत्यथार्थोऽथशब्दश्च वाक्योपन्यासार्थो यथेत्सुपमार्थः । नामएत्ति ॥ वाक्यालंकारे ॥ अज्जोत्ति ॥ शिष्या-मंत्रणं ॥ एगे आरंभट्ठाणेत्ति ॥ आरम्भएव स्थानं वस्तु आरम्भस्थान मेकमेव तत्तत् प्रमत्तयोगलक्षणत्वात्तस्य यदाह सव्वो पमत्तजोगो समणस्सउ होइ आरंभोत्ति ठा० ९ ।

आरंभट्ठि (न्)–पुं० (आरम्भार्थिन्) **सावद्यारंभप्रवृत्ते, आरंभट्ठी अणुवयमाणे हणपाणे घायमाणे हणओ यावि समणुजाण-माणे ॥ आचा० अ० ६ उ० ४ ।**

आरम्भार्थी सावद्यारम्भप्रवृत्तः कुत आरम्भार्थी यतः प्राण्युपमर्द्दवादा-ननुवदन्नैतद् ब्रूषे तद्यथा जहि प्राणिनोपरै रेवं घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानासीति, ॥टी० (तेइहारंभट्ठी) ते अनधीता-चारगोचर भिक्षाचर्य्यास्ते न स्वेदमलपरीषह तर्जिताः सुख-विहारिभिः शाक्यादिभिरात्मसात्परिणामिता इह मनुष्यलोके आरम्भार्थिनो भवन्ति ते वा शाक्यादयोऽन्ये वा कुशीलाः सावद्यारम्भार्थिन ॥ इति

आचा० अ० ७ उ० १ ॥

आरम्भणिस्सिय–त्रि० (आरम्भनिश्रित) आरम्भे हिंसादिके सावद्यानुष्ठानरूपे निश्चयेन श्रिताः सम्बद्धा अध्युपपन्ना आर-म्भनिश्रिताः हिंसादिकसावद्यानुष्ठानेऽध्युपपन्ने (जे इह आर-म्भणिस्सिया सूत्र० श्रु० १ अ २ ॥ जे य आरम्भणिणिस्सया,) ये चान्ये वर्णापसदानानारूपसा-वद्यारम्भ निश्रिता यंत्रपीडन निर्लाछनकर्माङ्गारदाहादिभिः क्रियाविशेषै जीवोपमर्द्दकारिण इति, ॥ सूत्र० श्रु० १ अ० ९ ॥

(मंदा आरम्भणिस्सिया) ॥

आरम्भे प्राण्युपमर्द्दकारिणि व्यापारे निश्रिता आसक्तास्सम्बद्धा अध्युपपन्ना इति ॥ प्राण्युपमर्द्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे व्यापारे निश्चयेन नितरां चाश्रिताः सम्बद्धाः पुण्यपापयोरभाव इत्याश्रित्य परलोकनिरपेक्षयाऽऽरम्भनिश्रिता इति ॥ सूत्र० ॥ श्रु० १ अ० १ ॥

आरंभदोस–पुं० (आरम्भदोष) क्रियाफले (पागोवजीविणोत्तिय लिप्पंतारंभदोसेणं) पाकोपजीविन इति कृत्वा लिप्पंते आरम्भदोषेणा-हारक्रियाकरणपलेनेच्यर्त्थइति ॥ दश० अ० १ ॥

आरंभपडिमा–स्त्री० (आरम्भप्रतिमा) अष्टम्यां प्रतिमायाम् अष्टौ मासान् स्वयमारम्भं न करोतीत्यष्टमी ॥ ध० अधि २ ॥

आरंभपरिग्गहच्चाय–पुं० (आरम्भपरिग्रहत्याग) आरम्भपरि-ग्रहवर्जने (भावेण जिणमयंमि उ आरंभपरिग्गहच्चाओ) पं० व० ॥ भावेनेति भावतः परमार्थतः जिनमत एवं रागादिजेतृत्वाज्जिनः । तन्मत एव वीतरागशासन एवेत्यर्थः आरम्भपरिग्रहत्यागः । वक्ष्यमाणारम्भपरिग्रहवर्जनं जिनशासन एवान्य-शासनेष्वारम्भपरिग्रहस्वरूपानवगमात्सम्यक्त्यागानुभ व इति गाथार्थः ।

आरम्भपरिग्रहस्वरूप प्रतिपादनायाह ।

पुढवाइसु आरंभे परिग्गहो धम्मसाहणं मुत्तुं,
मुच्छय तत्थबाह्यो इरेयरो मिथ्यतमाईओ ॥७॥

व्याख्या । पृथिव्यादिषु कार्येषु विषयभूतेषु आरम्भ इत्यारम्भणमारम्भः संघट्टनादिरूपः परिग्रहं परिग्रहः असौद्विविधः बाह्याभ्यंतरश्च तत्र धर्म्मसाधनं मुखवस्त्रिकादि मुक्त्वा बाह्य इति संबंधः । अन्यपरिग्रहणमिति गम्यते, मूर्च्छा च तत्र धर्म्मोपकरण-बाह्या एव परिग्रह इति इतरस्त्वांतरपरिग्रहो मिथ्यात्वादिरेव आदिशब्दादविरति दुष्टयोगा गृह्यंते परिगृह्यंते न कारणभूतेन कर्म्मणा जीव इति गाथार्थः ।

त्यागशब्दार्थं व्याचिख्यासुराह ॥

चाउइमेसि संगं मणवयकाएहिं अप्पवित्तिओ ।
एसा खलु पव्वज्जा मुक्खफला होइ नियमेणं ॥

व्याख्या । त्यागः प्रोज्झनमनयो रारम्भपरिग्रहयोः सम्यक् प्रवचनोक्तेन विधिना मनोवाक्कायैः त्रिभिरप्यप्रवृत्तिरेव । आरम्भेपरिग्रहे च मनसा वाचा कायेनाप्रवर्त्तनमिति भावः एषा खल्विति एषैव प्रव्रज्या यथोक्त स्वरूपा मोक्षफला भवतीतिमोक्षः फलं यस्याः सा मोक्षफला भवति नियमेनावश्यं तथा भावमंतरे णारम्भादौ मनौऽप्रवृत्यसंभवादिति गाथार्थः ॥

आरम्भपरिण्णाय–पुं० (आरम्भपरिज्ञात) आरम्भः पृथि-व्याद्युपमर्दन लक्षणः परिज्ञातस्तथैव प्रॅत्याख्यातो येन-सावारम्भपरिज्ञातः श्राद्धः अष्टम्या उपासकप्रतिमयोपेते श्राद्धे तथा च स भवायाङ्गे । अष्टमी मुपासकप्रतिमामधिकृत्य (आरंभ-परिण्णाए) ॥ सम० ११ । आरंभः पृथिव्याद्युपमर्द्दनलक्षणः परिज्ञातस्तथैवप्रतया ख्यातो येनासावारंभ-परिज्ञातः श्राद्धो-ऽष्टमीप्रतिमेति ॥

आरम्भपसत–त्रि० (आरंभप्रसक्त) आरम्भेषु पृथिव्याद्युपमर्द्दनेषु प्रसक्तस्तत्परः आरम्भतत्परे ग० अ० २ ॥

आरंभय–त्रि० (आरम्भज) आरम्भः सावद्यक्रियानुष्ठानं तस्मा-ज्जातमारम्भजं सावद्यक्रियानुष्ठानेन जाते ॥ आचा० अ ३ अ १ (आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा) ॥ आचा० अ २ उ १ ॥ आरम्भः सावद्यक्रियानुष्ठानम् तस्माज्जातमारम्भजं किंतत् दुःखं तत्कारणं वा कर्म इदमिति प्रत्यक्ष गोचरापन्न मशेषारम्भप्रवृत्त प्राणिगणानुभूयमानमित्येतत् ज्ञात्वा परिच्छिद्य निरारम्भो भूत्वाऽऽत्महिते जागृहि सावद्यक्रियानुष्ठानमारम्भजं किं तत्-दुःखमिदमिति सकलप्राणिप्रत्यक्षं तथा हि कृषिसेवा वाणिज्याद्यारम्भप्रवृत्तो यच्छारीरमानसंदुःख मनुभवति तद्वा चामगोचर इत्यतः प्रत्यक्षाभिधायिनेदमुक्तमितिरूपप्रदर्शने इत्येतदनुभवसिद्धं दुःखं ज्ञात्वा मृताचार्य्यधर्म्म विद ऋजवश्च भवन्तीति (पाणाइवाए दुविहे पण्णते तंजहा संकप्पओअ १ आरंभओअ २) आव० ॥ आरंभाज्जातस्तत्रारम्भो हलदंतो-लूखलादिखनन सूनाप्रकार स्तस्माच्छं खचंदनक पिपिलिकाधा-न्यगृहकारिकादि संघट्टन परितापा पद्रावण लक्षण इति। आव०।

आरंभपेसउद्दिट्ठवज्जय–पुं० (आरंभप्रेषोद्दिष्टवर्जक) अष्टम्या-मुपासक प्रतिमायां तथाच पञ्चाशके ।

आरंभ पेसउद्दिट्ठ वज्जए, समणभूएय ।

पं० वृ० १ तथा आरंभश्च स्वयं कृष्यादिकरणं प्रेषश्चप्रेषणं परेषां कृष्यादिषु प्रवर्तनं उद्दिष्टं चाधिकृतश्रावक मुद्दिश्य स चेतनं सदचेतनीकृतं पक्वंवा यो वर्जयति परिहरते असावारंभ प्रेषो-द्दिष्टवर्जकः प्रतिमेति प्रकृतमेव इह च प्रतिमाप्रतिमाव-तोरभेदादेवमुपन्यासः ॥१५॥

आरंभरय–त्रि० (आरंभरत) सावद्यानुष्ठानरते ।

जेमयआरंभ रया, तेजीवा होंति अप्पह दोसयए,
तओमहापावयरा, जे आरंभंपसंसंति । दश० ।

आरंभवंत–त्रि० (आरंभवत्) आरंभप्रवृत्ते षो० विव० ९

आरंभवज्जय–त्रि० (आरंभवर्जक) आरंभपरिहारके० वंचैका दशसूपासक प्रतिमास्वष्टमी प्रतिमेति प्रश्न० द्वा० ५ अष्टौमासान् ह्यमारंभं न करोतीत्यष्टमीति । ध० अ० २ ।

आरंभविणय–पुं० (आरंभविनय) पुं० आरंभविनय आरंभाभावः सविद्यते येषामिति मत्वर्थीयः आरंभाभाववति । आचा० । अ० ४ उ० २ ।

आरंभसंभिय–त्रि० (आरंभसंभृत) आरंभैः संभृता आरंभसंभृता आरंभपुष्टे । आरंभ सभिया कामा नते दुःखविनोयगाः । आरंभैः सम्यक्भृता आरंभपुष्टा आरंभाश्च जीवोपमर्दकारिणोऽतो नते काम संभृताः आरंभनिश्रिताः परगृहनिविष्टाः दुःखयतीति दुःखमष्टप्रकारं कर्म तद्विमोचकाभवंति तस्याऽपनेतारो भवंती-त्यर्थः । सू० श्रु० १ अ० ९ ।

आरंभसच्च–त्रि० (आरंभसत्य) आरंभोजीवोपद्यातस्तद्विषयं सत्य मारंभसत्यं आरंभविषये सत्ये ब० श० ८ उ० १।

आरंभसच्चमगप्पओग–पुं० (आरंभसत्यमनः प्रयोग) आरंभो जीवोपघातस्तद्विषयं सत्यमारभसत्यं तद्विषयो यो मनः प्रयोगः आरंभ सत्यविषयक मनः प्रयोगे भ० श० ८ उ० १।

आरंभसच्चमणप्प ओगपरिणय–त्रि० (आरंभसत्यमनः-प्रयोगपरिणत) आरंभो जीवोपघातस्तद्विषयं सत्यमारंभसत्यं तद्विषयो यो मनः प्रयोगस्तेनपरिणंत यत्तत्तया आरंभसत्य–विषयक मनः प्रयोगपरिणते द्रव्यादो (जइसच्चमणप्पओग परिणए किं आरंभ सच्चमणप्पओग परिणए अणा रंभसच्चमणप्पओग परिणए) भ० श० ८ उ० १॥

आरंभसत्त–त्रि० (आरंभसक्त) आरंभे सावद्यानुष्ठानरूपे सक्तो लग्नः आरंभलग्ने। सू० श्रु० १ अ १।

वेराणुगिद्धे (पाठान्तरे आरभसत्तो) णिचयं करेति, इओ चुते सुदुहमट्ठदुग्गं। तम्हाउमेधावि समिक्ख धम्मं चरेमुणी सव्वओविप्पमुक्को ॥८॥ त० टी०॥

व्या०। येन केन कर्मणा परोपतापरूपेण वैरमनुबध्यते जन्मान्तरशतानुयायि भवति तत्र गृद्धो वैरानुगृहः पाठान्तरं वा (आरंभसत्तोत्ति) आरंभे सावद्व्यानुष्ठानरूपे सक्तो लग्नो निरनुकम्पो निचयं द्रव्योपचयं तन्निमित्तापादितकर्मनिचय स्थाना चयुतो जन्मान्तरं गतः सन् वा करोति उपादत्ते स एवं भूत उपात्तवैरः कृतकर्मो पचय इत्यतोऽस्मात्स्थानाच्चयुतोजन्मांतरं गतः सन्: दुःखयतीति दुःखंनरकादिकयातनास्थान मर्थतः परमार्थतो दुर्ग विषमां दुरुत्तरमुपैति यत एवं तत्तस्मान्मेधावी विवेकी मर्यादावान् वा संपूर्ण समाधिगुणं जानानो धर्मं श्रुत चारित्राख्यंसमी क्ष्या लोच्यांगीकृत्य मुनिः साधुः सर्वतः स बाह्याभ्यंतरात्संगाद्वि प्रमुक्तोऽपगतः। संयमानुष्ठानं मुक्तिगमनकहेतुभूतं चरे दनुतिष्ठेत् स्त्र्यारंभादिसंगाद्विप्रमुक्तो निःश्रितभावेन विहरेदिति यावत् ॥ (आरंभसत्तापकरंतिसंगं) आरंत्रण मारंभः सावद्यानुष्ठानम् तस्मिन् सक्तास्तत्परा इति। आ० अ० १ उ ७

आरंभसमारंभ–पुं० (आरंभसमारंभ) आरभ्यंते विनाश्यंते इत्यारंभाः जीवा स्तेषां समारम्भ उपमर्द्दः अथवा आरंभः कृष्यादि व्यापारस्तेन समारंभो जीवोपमर्द्दः अथवाऽरंभो जीवाना मुपद्रवणं तेन सह आरंभः परितापन मित्यारंभः समारम्भः जीवोपमर्द्दः कृष्यादिव्यापारेण जीवोपमर्दे परितापसहित जीवाना मुपद्रवेण च प्राणवधे च तथा च प्रश्नव्याकरणे प्राणवधस्य गौणनामा–न्यधिकृत्य आरंभः समारंभः प्राणवधस्थ पर्यायः इति प्रश्न०। द्वा० १।

आरंभि(न्)–पुं० (आरंभिन्) पापारंभान्वेषिणि॥

वण्णादेसीणारंभे कंचण सव्वलोए।
कप्पमुह विदिसप्पतिण्णे ॥ आ० अ० ५ उ०॥

सचैवंभूतः सन्नारंभी स्यात् कुमार्ग परित्यागेन न पापारंभान्वेषी भवतीत्यर्थः आचा० सूत्र० श्रु० १ अ० ९।

एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया।
मणसा काय वक्कणं, णारंभी ण परिग्गही ॥

व्या०। एभिः पूर्वोक्तैः षड्भिरपि कायैस्त्रस स्थावररूपैः सूक्ष्म-बादर पर्याप्तका पर्याप्तकभेदभिन्नैनारंभी नाऽपिपरिग्रही स्यादिति संबंधः। तदेतद्विद्वान् सश्रुतिको ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यान परिज्ञया मनोवाक्काय कर्मभिर्जीवोपमर्द्दकारिणामारंभं परिग्रहंच परिहरेदिति॥

आरंभिया–स्त्री० (आरंभिकी) आरंभः प्रथिव्याद्युपमर्द्दः स प्रयोजनं कारणं यस्याः साऽऽरंभिकी। स्था० ठा० २ क्रियाभेदे–भ० श० १ उ० २॥

आरंभिया किरिया दुविहा पं० तं० जीवआरंभिया चेव अजीव आरंभिया चेव॥ स्था० ठा० ५॥

जीवआरंभियाचेवत्ति-यज्जीवानारभ माणस्योपमृद्नतः कर्मबन्धनं सा जीवरंभिकी अजीवारंभिया चेवत्ति यच्चाजीवान् जीवकलेवराणि षिष्टादिमयजीवाकृतीश्चवस्त्रादीन्वा रंभमाणस्य सा अजीवारंभिकीति स्था०। आव० चू०।

आरंभियाणं भंते ! किरिया कस्स कज्जइ गोयमा ! अन्नयरस्स वि पमत्तसंजतस्स, प्रज्ञा०॥ पद २२॥

अन्नयरस्स वि पमत्तसंजतस्स इति॥ अत्रापि शब्दो भिन्नक्रमः प्रमत्त संयतस्याप्यन्यतरस्य एकतरस्य कस्यचित्प्रमादे सति कायदुःप्रयोगभावतः पृथिव्यादेरुपमर्दसम्भवात् अपिशब्दोऽन्येषामधस्तन गुणस्या न वर्तिनां नियम प्रदर्शनार्थः प्रमत्त संयतस्याप्यारंभिकी क्रिया भवति किं पुनः शेषाणां देशविरति प्रभृतीनामिति एव मुत्तरत्रापि यथायोगमपिशब्दभावना कर्तव्या॥

आरंभोवरय–त्रि० (आरम्भोपरत) सावद्यानुष्ठानादुपरते॥

जे य पण्णाणमंतो पबुद्धा आरंभोवरता सम्ममेयंति पासह। आचा० अ० ५ उ० ५।

आरंभः सावद्योयोगस्तस्मादुपरता आरंभोपरता इति। आचा०।

सेहु पण्णाणमंते बुद्धे आरंभोवरए सम्ममेयंति पासह आचा० अ० ४ उ० ३।

सावद्यानुष्ठानमारंभस्तस्मादुपरता आरंभोपरता इति।

आरक्ख–पुं० (आरक्ष) आ-रक्ष-अच-हस्तिकुं भाधः स्थले, आरक्षमग्रमवमत्य सृणिं शिताग्रां। माघः। हस्तिमस्तकचर्म्मणि, सैन्यचे रक्षके, त्रि० (सहसाहत्र मारक्षं मथ्यगं रक्षसां कपिः भट्टिः (तेषामारक्षभूतन्तु पूर्वं दैवं नियोजयेत्। मनुः वाच०॥

चोरो य णगररक्खेण परिमस्समाणो तत्थेवअतिगतो नि० चू० १ उ०। आ० म०।

राज्ञामात्मरज्ञक-स्था० ठा ३। उग्रे० उग्रवंश्ये, च आरक्षकाउदग्रदण्डकारित्वादुग्रा इति। आ० म० उग्रा आदिराजेनारक्षकत्वेन व्यवस्थापितास्तद्वंश्याश्चेति स्था० ६ ठा०। भावे घञ् रक्षायां–पुं० वाच०॥

आरक्खिय–पुं० (आरक्षिक) कोट्टपाले। वृ०।

आरक्खि पुरिसेहिय अहोरायं रक्खिज्जइ नि० चू० १ उ०।
आरक्खिओ पुव्वभणिओ आरक्खिगोत्ति।
दंडवासिग्गो॥ नि० चू० १६ उ०।

आररिकयपुत्तेण हिडंतेण चोरोत्ति काऊण भल्लण्णाहया आव० म०॥

आरग–पुं० (आरक) आक्षेपे० व्य० १ उ०।

आरगय–त्रि० (आरगत) आरद्धातस्थिते (आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ णो परगयाइं) आराद्भागस्थितानिन्द्रियगोचरानित्यर्थः। भ० ५ श० ४ उ०॥

आरण–पुं० (आरण) सकलविमान प्रधानारणावतंसकाभिधान विमान विशेषोपलक्षित आरणः। अनु०। कल्पभेदे, सम० १०५। कल्पोपग वैमानिक देवलोकभेदे, च० विशे० (आरणाअच्चुयाचेवइ इकप्पो वग्गंसुरा) उत्त० अ० २२। प्रज्ञा० पद० २।

आरनाल–न० (आरनाल) सौवीरे पानकभेदे॥

सेज्जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा तंजहा तिलोदगं वातुसोदगं वा जवोदगं वा आयामं वा सौवीरं वा सुद्ध वियडंवा अण्णतरं वा तहप्पगारं पाणगजायं पुव्वामेव आलोएज्जा। आचा० अ १ उ० ७।

व्या०। यत्पनः पानकजातमेवं जानीयात् तद्यथा तिलोदक तिलैः केनचित्प्रकारेण प्रासुकीकृतमुदकमेवं तुषै र्यवैर्वा तथा आचालम्भ मवश्यानं सोवीरमारनालं शुद्धविकटं प्रासुकमुदक मन्यद्वा तथा प्रकारं द्राक्षापानकादि पानकजातं पानीयसामान्य पूर्व मेवावलोकयेत्पश्येत्।

आरण्णय–न० (आरण्यक) आवश्यके लौकिकं श्रुतमधिकृत्य लौकिक-त्वारण्यकादि दृष्टव्यमिति। आ० म० उ० १६। (आरण्यग) त्रि० आरण्यं गछंतीत्यारण्यगाः आरण्यगंतरि। नि० चू०।

आरण्णरासि–पुं० (आरण्यराशि) नि० कर्म० आरण्यशब्दोक्ते सिंहे मकरादिमार्द्धे दिवसे मेषे वृषेचराशौ। वाच०।

आराण्णय–पुं० (आरण्यक) अरण्ये वसत्याण्यकः कंदमूल फलाहारे तापसे। दशा० अ० १० अरण्ये वसंत्यारण्यकास्तेच कन्दमूलफलाहारा-स्ततः केवन वृक्षमूले वसंतिति सूत्र०। श्रु० २ अ० २। अरण्येभवाआरण्यकाः तीर्थिकविशषे।

***आरण्णिक**–पुं० अरण्ये चरंत्यारण्यकाः कंदमूलफलाशिनि तापसादौ सूत्र० श्रु० २ अ० २।

आरत–पुं० (आरक्त) ईषद्रक्तवर्णे, वाच०। आरक्त मीषद्रक्तमिति आचा०। अ० २ उ० ३। तद्वतिसम्यगनुरक्तेच त्रि० भावे० क्त० अनुरागे० न वाचा०॥

आरात्तिय–न० (आरात्रिक) दीपार्तिक्ये, (आरात्रिकं जिना-र्चायाः, कृतं श्राद्धे ज्वलच्छिखं। दीप्यमानौषधीचक्रं शैलशृंगविकंबकम्। ध० अधि० २॥

आरद्ध–त्रि० (आराद्ध) आ० राध्०क्त० संसिद्धे० तिका०

आरद्ध–त्रि० (आराद्ध) आर० राध् क्त० संसिद्धे० तिका० फिञ् आरद्धायनिः तदपत्ये० पुं० स्त्री०। वाच० आरब्ध० त्रि० आ०रभ्० क्त० कृतारम्भणे, (प्रारब्धादन्यकार्याणां करणं परिवर्तकः) अनारब्ध कार्ये एवतु इत्यादि॥ यस्य कियदंशंकर्तुमारेभे तादृशः पदार्थ आरब्धः। वाच० कड्डि उमारद्धो-नि० चू० उ० भावे० क्तः॥ आरंभे न०। वाच०।

आरभ(म्भ)–(आरभ) आङ् रभ्० भ्वा० आ० आरंभे सक० अलिट्यजादौ आर्द्धधातुके मुम् आरंभः आरंभणं लिटितु आरेभे०। वाच०। आडो रभे रम्भढवौ ५४ इतिप्राकृतसूत्रेणाङः परस्य रभे रंभ ढव इत्यादशौ वा भवतः। आरंभइ आढवइ। आरभइ॥ प्रा० व्या०॥

आरभ(म्भ) इत्ता–अव्य० (आरभ्य) आ० रभ्० ल्यप्। उप-क्रमेत्यर्थे०॥

आरभंत–त्रि० (आरभमाण) आरंभं कुर्वति आइमिउ आरभंता० आरभमाणा इति। स्था० ठा० ७। विनाशयति च स्त्रियां ङीप्। संघट्टंता रभन्तीय आरभमाणा तानेव षट्कायान् विनाशयंतीति। पिं० वृत्ति॥

आरभड–न० (आरभट) नाट्यभेदे स्था० ठ० ४ अष्टाविंशतिमे नाट्यविधिभेदे च आरभटं नाम अष्टाविंशतितममिति। राज०। स्वनामख्याते ४ दिवस भवे। मुहुर्ते पु० छच्चेवयआरभडो सोमित्तो पंच अंगुलो होइ। द० प० ८। आरः सामर्थ्येन गामीभटः शूरे वीरे० पु०। हेम०। वाच०।

आरभडभसोल–न० (आरभटभसोल) ३० नाट्य विधिभेदेआरभट भसोलं नाम त्रिंशत्तममिति। राज०। आ० म०॥

आरभडा–स्त्री० (आरभटा) प्रमादप्रतिलेखनाभेदे (आरभडासम्पद्दा वज्जेयव्वाय मोसली तइया) आरभटा विधेर्विपरीतकरणं १ त्वरित २ पृथक् ३ नवीनवस्त्रग्रहण एषा प्रथमा प्रसाद प्रतिलेखनेति। स्था०। ठा० ६॥

आरभटा वितय करण रूपा अथवा त्वरितं सर्वमारभमाणस्याथवा प्रत्युपेक्षिता एवैकत्र यदन्यान्यवस्त्रग्रहणं सा आरभटा साच वर्जनीया सदोषत्वात् इति० (वित्तहकरणे च तुरियं अण्णं अण्णं च गिण्हआरभडा) ध० अ० ३॥ वितथं विपरीतं यत्करणं तदारभटाशब्दे नोच्यते साचारभटा प्रत्युपेक्षणा न कार्या इत्यर्थः। वा विकल्पेनेयं चारभटोच्यते यदुत त्वरितमाकुलं यदन्यान्यवस्त्रग्रहणं तदारभटा शब्देनोच्यते। पंच० औ०।

आरभडी–स्त्री० (आरभटी) आरभ्यतेऽनया आ० रभ्० अटट्ङीप् नाट्ये। रचनाभेदे–वाच०॥

आरभिय–न० (आरभित) नाट्यविधिभेदे (अप्पेइयादेवा आरभियं णट्टविहिं उपदंसेइ) राज०॥

आरमण–न० (आरमण) आ० रम० भावे० ल्युट् आरामेविश्रामे० आरम्यतेऽनेन करणे ल्युट् आरति साधने। वाच०।

आरय–त्रि० (आरत) आ० रम्, क्त, उपरते विरतेचः। सूत्र०। श्रु० १ अ० ४। अपगते। सूत्र० श्रु० १ अ० १५॥

आरयमेहुण–त्रि० (आरतमैथुन) आरतमुपरतं मैथुनं कामाभिलाषो यस्यासा वा रतमैथुनः। सूत्र० श्रु० १ अ० ४॥ (दढे आरय मेहुणे) आरतमुपरतमपगतं मैथुनं यस्यसआरत मैथुनोऽपगतेच्छामदन-कामाभावाचसंयमे दृढोसौ भवतीति। सूत्र० श्रु० १ अ० १५॥

आरब–पुं० (आरब) म्लेच्छदेशभेदे–जं०॥

तत्र भवेम्ले च्छजाति भेदे। प्रश्न०। द्वा०॥१॥

स्त्रियां ङीप् आरबीहिं। भ०। श० ९। उ० ३३॥

आरबग–पुं० (आरबक) आरबदेशोद्भवे म्लेच्छविशेषे

आरबके रोमके अलसंडविसथवासीअपिक्खु रे काल-

मुहे जेणेए अ उत्तरेवेअट्ठ संसिआअ मेच्छा जाईबहुप्पगारा ॥

व्या० आरबकान् आरबदेशोद्भवान् रोमकांश्च रोमकदेशोद्भवान् कालमुखान् जोन्कांश्च म्लेच्छविशेषानिति । जं० ॥

आरसंत–त्रि० (आरसत्) विलपति आरसंतोसु भरेवमतिभीषणं शब्दंरसन् विलपन्निति उ० अ० १५ ॥

आसरिय–न० (आरसित) आरटिते इमेणंदारएणं जायमेत्तेणं चेव महया २ सद्देणं विघुट्ठे विसरे आरसिए तएणं एयस्स दारगस्स आरसिय सद्दं सोच्चा णिसम्म हस्थिणाउरे बहवे णयरे गोरूवा जाव भीया । विपा० अ० २ । महया २ तिद्धि आरसित्ति महता चिच्ची त्येवं चीत्कारेणेत्यर्थः आरसित मारटितं छिन्नंति सुभगवया आरसि-यन्ति । आ० म० । अ० १ ॥

आरा–स्त्री० (आरा) आ० ऋ अच् चर्मभेदकालेस्त्रभेदे । लौहास्त्रे प्रतोदेच । वाच० (तत्ताहिं आराहिं नियोजयन्ति) सू० श्रु० १ । अ० १ । तप्ताभिराराभिः पीड्यमानास्तप्त त्रपुपानादिके कर्मणि नियोज्यन्ते व्यापार्यन्त इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

आराम–पुं० (आराम) आरम्यतेऽत्र आ रम् आधारे घञ् आगत्या गत्य भोगपुरुषा । वरतरुणीभिः सहयत्र रमन्ते क्रीडंति स आरा मो नगरान्नादिदूरवर्ती क्रीडाश्रयस्तरुखण्डः । राज० । माधवी लताद्युपेते दम्पति रमणाश्रये वनविशेषे प्रश्न० ४ द्वा० ॥ (आरामुज्ञाणम-णाभिरामपरिमण्डियस्स) आरामै र्दम्पति रतिस्थानलता गृहो-पेतवनविशेषै रिति प्रश्न० ३ द्वा० ।

आरामाः पुष्पजातिप्रधाना वनखण्डा इति० जं० । भ० ९ श० ३३ उ० । स्था० । ठा० ५ । औप० । आरमन्ति येषु माधवी लतागृहादिषु दंपत्यादीनि ते आरामाः । ज्ञा० १ अ० । दशा० भ० ५ श० ७ उ० । औप० । (आरामाइव) आरामा विविधवृक्षलतोपशोभिताः कदल्यादिप्रछन्नगृहेषु स्त्रीहितानां पुंसां रमण स्थानभूता इति० । स्था० २ ठा० । (आरामेसुवा) आरामेषु कदल्याद्याच्छादितेषु स्त्रीपुंसयोः क्रीडास्थानेषु । कल्प० । रमणीयताऽतिशयेन स्त्रीपुरुषमिथुनानि यत्रारमंति स विविधपुष्प जात्युपशोभित आरामः । अनु० । माधवी लतासु दंपत्यादीनि येष्वारमन्ति क्रीडति ते आरामाः पुष्पफलादिसमृद्धानेकवृक्षसंकुलानीति । अनु० । (आरामेसुय) आगत्यरमन्तेऽत्र माधवीलतागृहादिषु दंपत्य इति स आरामपुष्पादिमद्वृक्ष संकुलमिति० । जी० ३ प्रति० । ज्ञा० १ अ० । राज० । आरामा वनोद्यानभूमय इतिकृत्रिमवने वाटिका यांच स्त्रियोऽधिकृत्य तन्दुलवैकालिके (आरामोकम्मरयस्स) आरामः कृत्रिमवनं कस्य कर्मरजसः कर्मपरागस्य यद्वाकर्मच निविड मोहनीयादि रश्चकामः चश्चचौरः कर्मरचं तस्यारामोवाटिकेति । तं० । आराम-यतीत्यारामः आराम कारके त्रि० । स्त्रियोऽधिकृत्याचाराङ्गे (एससे परमारामो जाओलोगंमि इत्थिओ) आचा० अ० ५ उ० ४ आरामयतीत्यारामः परमश्चासावारामश्चपरमारामः ज्ञाततत्वमपिजनं हास विलासापाङ्गे निरीक्षणादिभिर्विब्बोकौविमो-हयतीत्यर्थः । आ० अ० ५ उ० ४ वृत्तरत्नाकरटीकोक्ते षोडशभिश्चरगणै राराम इत्युक्ते दण्डकभेदेच आ-रम् भावे घञ् आरत्तौ । अन्तः-सुखोन्तरारामः । गीता० अन्तरात्मनि आरामो यस्येति विग्रहः । अध्यायुरिन्द्रियारामो मोघंपार्थ स जीवति गीता० वाच० इहा रामं परिण्णाय अल्लीणगुत्तो परिव्वए आचा० अ० ५ उ० ६ इहास्मिन् मनुष्यलोके आरमणमारामो रतिरित्यर्थः । सचारामः परमार्थचिन्तायामात्यन्तिकैकान्तिक रतिरूपः संयमः तमासेवनपरिज्ञया परिज्ञाय आलीनो गुप्तश्च परिव्रजेत् आचा० अ० १ उ० २ ।

आरामगय–त्रि० (आरामगत) आरामो विविधपुष्पजात्युपशोभितस्तत्रगते आरामगयं वा स्था० ठा० ५ ।

आरामागार–न० (आरामागार) आरामेऽगारं गृह मारामागारं आराममध्यगृहे (आरामागारेसुवा) आराममध्यगृहाण्या-रामागाराणीति आचा० आगंतगारे आरामगारे समणेऽभीतेण उवेतिवासं आरामेगारमा-गारमिति सूत्र० श्रु० २ अ० ६ ।

आरामिय–त्रि० (आरामिक) आरामे तद्रक्षणे नियुक्तःठक् उद्यान् पाले, मालिके, (आरामिउ पढइ) आ० म० । सायअण्णया आरामियेण गहिया नि० चू० उ० १ । स्था० ठा० ४ ॥

आराहग(य)–पुं० (आराधक) निष्पादके, औप० । आराधयति सम्यक् पालयति बोधिमित्याराधकः । राज० । ज्ञानाद्याराधन-वति० । पंचा० वृ० ८ । आराधकोज्ञानादीनामाराधयितेति० भ० श० ३ उ० १ । (आराहए विराहए ज्ञानादीनाराधयतेनि) प्रति० मोक्षमार्गस्याराधकः शुद्धइत्यर्थ० भ० श० ८ ६ उ० । सद्दृष्टिराराधकः आराधको ज्ञानाद्याराधनकर्तेति० प्रति० । (नहुते आराहगाभणिया) आराधका उत्तमार्थ साधकाः । आतु० । आराधको ज्ञाना-द्याराधनकर्तेति ॥ आराधकस्यफलं पंचाशके० यथाः ॥

आराहगो य जीवो, सव्वद्वभवेहिं पावतीणिय मां, ।
जम्मादि दोस विरहा, सासय मोक्खतुं णिव्वाणम् ॥५०॥

व्या० । आराधकश्च ज्ञानाद्याराधनावान् च शब्द पुनरर्थः जीव प्राणी सप्ताष्टभवैः सप्तभि रष्टाभिरित्यर्थः इदंच जघन्या राधनामाश्रित्योक्तम् अन्यथा तद्भव एव कश्चित् सिध्यतीति एतेच सप्ताष्टौभवा आराधनायुक्ता द्रष्टव्याः इतरथातुसप्तैव प्राप्नुवन्ति लभंते नियमादवश्यं तया कुतः किंविधं किमित्याहा । जन्मादिदोषविरहा ज्ञातिजरामरणप्रभृति दूषणावियोगा-देतच्चपदंशास्वत सौख्यमित्यनेन प्राप्नोतीत्यनेन वासंबन्धनीयं शास्वत सौख्यंतु नित्यसुखमेव नतु स्वास्थ्यमात्रं निर्वाणं निवृत्तिमितिगाथार्थः । अथ आराधकस्य कथंभवति० औघ०

सेसेसुजागेसुअ, वट्टंतोविदेसमाराहो ।
जहिपुणसव्वाराहण, मिच्छसितेणं निसामेहि ॥

व्या० । शेषेषुयोगेषु अवर्तमानः सम्यक्शास्त्रोक्तेन न्यायेन प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्नपिदेशकः आराधकएवअसौ नतु सर्व माराधितं भवति तेन यदि पुनः सम्पूर्णाराधनामिच्छतीत्यादि सुगमं ।

कथंच सर्वाराधको भवत्यत आह ।

पंचिंदिएहिं गुत्तो, मणमाई तिविह करण मा उत्तो ॥
तवणियम संयमंमि, जुत्तो आराहमो होई ॥५६॥

व्या० । पं चभिरिन्द्रियै र्गुप्तिः मानसादिना त्रिविधेन करणेन युक्तो यत्नवान् तपसा द्वादशविधेनयुक्तः नियम इन्द्रिय नियमो नो इन्द्रिय नियमश्च तेन युक्तः संयमः सप्तदशप्रकारः

पुढ विक्काओ आउक्काओ वाउक्काओ वणस्सइक्काओ
वे इंदिय ते इंदिय चउरिंदिय अजीवकाय संजमो पेहे ।

उपेहो पर्मजणं परिट्ठावणं मणवइक्काए ॥

अत्र संयतः सन् मोक्षस्य आराधको भवति प्रव्रज्याया वा आराधकः।

''सिद्धेउवसं पण्णो, अरहंते केवलित्तिभावेणं।
इत्तो एगयरेणं वि, एएण आराहेउ होई ॥२०॥

''लज्जाइं गारवेणं य, बहु सुयमयेण वावि दुच्चरिय।
जेन कहंति गुरूणं, नहुते आराहगा हुंति ॥९४॥

पंच महव्वय सव्वय, संपुण्ण चरित्त सीलसंजुत्ता।
जहतह मया महेसि, हवंति आराहग समाणं ॥२७॥

पडिमासुसीह निक्कीलियासु, गोरे अभिगाहा ईसु।
छब्बीह अब्भंतर एवं, भयतवे समणु रन्ना ॥४०॥

अवि हलशीला पारा, पडिवन्ना जेय उत्तमं अट्ठं।
पुव्विलाणयमाणय भणिया आराहणा चेव ॥४१॥

जह पुव्वुट्ठ अगमाणा, करण विहिणोवि सागरो पोओ।
तीरासन्नं पावइं, रहिउं अवल्लगाइहिं ॥४२॥

तहसुकरणो महेसी, ति करण आराहउ धुवं होई।
अहलहइं उत्तमं इंतं, अइलाभं नूणं जाणं ॥४३॥

आराधकत्वं विराधकत्वं च ज्ञाताऽध्ययने—यथा०

एक्कारस मस्स के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जम्बू तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे सामी समोसढे गोयमा ?। एवं बयासी कहणं भंते ! जीवा आराहगा विराहगा वा भवंति सेजहा नाम ए एगंसि समुद्दकूलंसि दाव दवानामा रुक्खा पण्णत्ता किण्हा जाव निउरंव भूया पत्तिया पुप्फिया फलिया हरियग रिरिज्झमाणा सिरीए अतीव उवसोभेमाणा चिट्ठंति जयाणं दीविच्चगाइसिं पुरे वाया पच्छा वाया मंदं मंदं वायं वायंति तदाणं बहवे दावदवा रुक्खा पत्तिया जाव चिट्ठंति अप्पे गतिया दावदवरुक्खा जुह्नाजोडा परिसडिय पंडुर पत्त पुप्फफलासुक्क रुक्ख विव मिलायमाणा २ चिट्ठंति एवा मेव समणाउ सो जे अम्हाणं निग्गंथोवा २ जाव पव्वत्ति एसमाणे बहूणं समणाणं ४ सम्मं संहति जाव अहिया सेति बहूणं अण उत्थियाणं बहूणं गिहत्थाणं णोसम्मं सहति जावनो अहिया सेति एसणं मए पुरिसे देस विराहए पण्णत्ते समणाउसो जयाणं समुद्दगाइसिं पुरे वाया पच्छा वाया मंदवाया महावाया वायंति तत्तेणं बहवे दावदवा रुक्खा जुह्नाजोडा जावमिलायमाणा चिट्ठंति ! अप्पे दावदवा रुक्खा पत्तिया पुप्फिया फलिया जाव उवसोभेमाणा चिट्ठंति एवामेव समणाउसो जे अम्हं निग्गंथोवा २ पव्वति समाणे बहूणं अन्नउत्थि गिहत्थाणं सम्मं सह निबहूणं समणाणं समणीणं नो सम्मं सहति ४ एसणं मए पुरिसे देस आराहए पण्णत्ते समणाउसो जयाणं तो दिविव्वगातो समुद्दग वि इसिं पुरेवाया जाव महावाया वायंति तयाणं सव्वे दीवदवा पत्तिया जाव चिट्ठंति एवामेवसमणाउसो जो जाव अम्हं पव्वत्तिए समाणे बहूणं समणाणं बहूणं अणउत्थिय गिहत्थाणं नो सम्मं सहति एसणं मए पुरिसे सव्वविराहए पण्णते समणाउसो जयाणं दिव्विगावि समुद्दगावि इसिं पुव्वपुरओ वायंति तयाणं सव्वे दावद्दवा पत्तिया जाव चिट्ठंति एवामेव समणाउसो जे अम्हे पव्वइए समाणे बहूणं समणाणं ४ बहूणं अण्ण उत्थियंयगिहत्ताणं सम्मं सहइ एसणं मए पुरिसे सव्वाराहे पण्णत्ते एवं खलु-गोयमा ! जीवा आराहगा विराहगा वा भवंति एवं खलु जम्बू समणेणं भगवया महावीरेणं एक्कारसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेतिबेमि। ज्ञाता०। अ० ११।

व्या० अथैकादशंविव्रियते अस्य च पूर्वेण सहायं संबन्धः पूर्वंच प्रमाद्य प्रमादिनोर्गुणहानिवृद्धिलक्षणावनर्थार्थावुक्ता विहतु मार्गाराधनविराधनाभ्यां तावुच्येते इति संबद्धमिदं सर्वं सुगमं नवरं। आराधका ज्ञानादिमोक्षमार्गस्य विराधका अपितस्यैव (जयाणमित्यादि) दीविव्वगा द्वैप्याद्वीपसंभवा ईषत्पुरेवाताः मनाक् स चेह वाताइत्यर्थः पूर्वदिक्संबंधिनो वा पथ्यावाता वनस्पतीनां सामान्येनहिता वायवः पश्चाद्वातावामंदाः शनैस्संचारिणः महावाता उद्दंडवाता वांति। तदा (अप्पेगइयत्ति) अप्येके केचनाऽपिस्तोका इत्यर्थः। (जुण्णत्ति) जीर्णा इव जीर्णा) क्रोडपत्रादि शाटनं तद्योगात्तेपिक्रोडा अतएव परिशाटितानि कानिचिच्च पांडूनि पत्राणि पुष्पफलानिचयेषांते तथाशुष्क वृक्षकइवम्लायंतस्तिष्ठंति इत्येष दृष्टांतो। योजनात्तस्यैवं। एवामेवेत्यादि (अन्नउत्थियाणत्तु) अन्ययूथिकानां तीर्थान्तरीयाणां कपिलादीनामित्यर्थः दुरवचनादीनुपसर्गान् नो सम्यक् सहत इति (एसणंति) एवंच भूत एषपुरुषो देशविराधको ज्ञानादिमोक्षमार्गस्य। इयमत्र विकल्पचतुष्टयेपि भावना यथा। दावदववृक्षसमूहः स्वभावतो द्वीपवायुभिः बहुतरदेशैः स्वसंपदासमृद्धिमनुभवंति देशेनचा समृद्धिं समुद्रवायुभिश्च देशैरसमृद्धिं देशेनच समृद्धिमुभयेषांच वायूनामभावे समृध्य-भावमुभय सद्भावेच सर्वतस्समृद्धि मेवं क्रमेण साधुः कुती-र्थिकगृहस्थाना दुर्वचनादीन्यसहमानः क्षांतिप्रधानस्य ज्ञानादिमोक्षमार्गस्य देशतोविराधनां करोति श्रमणादीनां बहुमान विषयाणां दुर्वचनादि क्षमणेन बहुतरदेशानामाराधनात् श्रमणादिदुर्वचनानां त्वसहने कुतीर्थिकादीनां सहने देशानां विराधनेन देशत एव आराधनां करोति। उभयेषामसहमानो विराधनायां सर्वथातस्यवर्तते। सहमानश्चसर्वथाराधनायामिति।

इहपुनर्विशेषयोजनामेवं वर्णयंति॥

(जहा दावदवतरुणमेवं, साहू जहेह दीविव्वा वाया तहसमणाइयसपक्ख वयणाइ दुस्सहाइं।१। जहा समुद्दयवाया तहणत्थिाइ कडुयवयणाइं। कुसुमाइं संपयाजह-सिवमग्गा राहणातहओ ॥२॥ जहकुसुमाण विणासोसिवमग्ग विराहणातहानेया। जहदीववायुजोगे बहुइड्ढी ईसियअणिड्ढी॥३॥ तहसाहम्मिय

वयणा, णसहण माराहणभवे बहुया । इयएणमसहणेपुण सिव-मग्ग विराहणाथोवा ॥४॥ जहजलहिवायजोगे थेविद्धबहुयरा अणिट्ठीओ । तहयपरपक्खखमणे आराहणमी सिबहुइयरं ॥५॥ जह उभयवाय विरहे सव्वातरु संपया विणट्ठत्ति । अनिमित्तो भयमच्छर रूवेह विराहणा तहय ॥६॥ जहउभय वायजोगे सव्वसमिद्धिवणस्स संजाया। तह उभयण सहणे सिवमग्गा एहणापुणा ॥७॥ तापुन्नसमणधम्मा एहणचित्तो सयामहा सत्तो । सव्वेण विकीरंतं सहेज्जसव्वं विपडिकूल मिति ॥८॥ मायी-मायांकृत्वा नाराधकोभवतीतिमायीशब्दे । स्था० ठा० ८ । आराधका अनाराधका औपपातिके विस्तरेण ।

यथा-जीवेणं भंते ? असंजये आवरए अपडिहय पच्चक्खाण पावकम्मेइओच्चुए पेच्चा देवेसिआ गोयमा ? अत्थे गइया देवेसिआ अत्थेगइया णोदेवेसिआ सेकेणट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ अत्थे गइआ देवेसिया अत्थे गइआ णोदेवेसिआ गोयमा ? जे इमेजीवा गामागर णगर निगमरायहाणि खेड कव्वड मडव दोणमुहवट्टणा समसंवाह सण्णिवेसेसु अकाम तण्हाए अकामछुहाए अकामबंभचेर वासणं अकाम आराहाण कसियाय वदंस मसग से अजल्लमल्ल पंक परिभावेणं अप्पतरोवा भुज्जतरोवा कालं अप्पाण परिकिलेसंति अप्पतरोवाकालं अप्पाणं परिकिलेसित्ता कालमासे कालंकिच्चा अण्णतरेसु व णमंतरेसु देवलोएस देवताए उववत्तारो भवंति तहिं तेसिं गती तहिं तेसिं ठिती तहिं तेसिं उववाए पण्णते सेणंभंते ? देवाणं केवतिअं कालं ठिती पण्णत्ता । गोयमा ? दसवाससहस्साइं ठिती पण्णत्ता तत्थणं भंते ? तेसिं देवाणं इड्ढीवा जईवा जसेतिवा बलेतिवा वीरिएइवा पुरिसक्कार परिक्कमे इवाहंता अत्थितेणं भंते ? देवा परलोगस्साराहगा णोति णट्ठे समेट्ठ । औप० ।

व्या० । (जीवेणमित्यादि) व्यक्तंनवरं (उस्सण्णंति) बाहुल्यतः कालमासे (कालंकिच्चति) मरणाऽवसरे मरणं विधायेत्यर्थः । (इओच्चुए पच्चति) इतः स्थानान्मृत्यर्लोकलक्षणाच्च्युतो भ्रष्टः प्रेत्य जन्मान्तरे देवः स्यात् (से केणट्ठेणंति) अथ केन कारण नेत्यर्थः । (जेइमेजीवत्ति) यइमे प्रत्यक्षासन्नाः जीवाः पञ्चेन्द्रिय-तिर्यङ्मनुष्यलक्षणा ग्रामागरादयः प्राग्वत् अकामतः (तह्माएत्ति) अकामानांनिर्जरा द्यनभिलाषितां सतां तृष्णा तृट् अकाम तृष्णा तया एवमन्यत्पदद्वयम् । अप्पतरोवा भुज्जतरोवा कालंति प्राकृतत्वेन विभक्ति परिणामा दल्पतरं वा भूयस्तरं वा कालंयावत् (अण्णतरेसुत्ति) बहुनांमध्ये एकतरेषु (वाणमंतरेसुत्ति) व्यंतरेषु देवलोकेषुदेवजन्येषुमध्ये (तेहितेसिंगइति) तस्मिन्चाणमंतर देवलोके तेषामसंयतादिविशेषणजीवानां । पुनः (तेणंदेवा-परलोगस्सआराहगत्ति) तेअकामनिर्जरालब्धदेवभवाव्यंतराः परलोकस्य जन्मान्तरस्य निर्वाणसाधनाऽनुकूलस्य आराधका निष्पादका इतिप्रश्नः (नोइणट्ठेत्ति) नायमर्थः (समट्ठेत्ति) समर्थः संगत इत्युत्तरं अयमभिप्रायो येहि सम्यग्दर्शनज्ञान-पूर्वकाऽनुष्ठानतोदेवाः स्यु स्तएवावश्यं तथा आनंतर्येण पारंपर्येणवा निर्वाणाऽनुकूलं भवान्तरमावर्जयंति तदन्येतुभाज्याः ।

सेजे इमेगामागर णगर निगम रायहाणि खेड कव्वडमडंब-दोणमुह पट्टण सम संबाह सन्निवेसेसु मणुआभवंति तंजहा अण्डुबद्धकाणि अलबद्धका हडिबद्धका चारगबद्धका हत्थच्छिन्नकापायच्छिन्नका कण्ण-च्छिकन्नकाणक्कच्छिन्नका उट्ठच्छिन्नका जिब्भछिण्णका सीसछिन्नका मुखछिन्नका मज्झच्छिन्नका वेकच्छच्छिन्नका हियउपाडियगा मयणुपा-डियगा दसणुपाडियगा वसणुपाडियगा गोवच्छिन्नका तंण्डुलच्छिन्नका कागणिमंसं खाइयया उलंबि आलंबियआ घंस्या घोलिअया फाडिअया पीलिअया सूलभिन्नका खारवत्तिया वज्झवत्तिया सीहपुच्छियया दव ग्गिदड्ढिया पंकोसण्णका पंके खुत्तका वलयमयका वसट्टमयका णियाणमयका अंतोसल्लमयका गिरिपडिअका तरुपडिअ का मरुपडिअका गिरिपक्खंदोलिया तरुपक्खंदोलिया मरुपक्खंदोलिया जलपवेसिका जलणपवेसिका विसभक्खि तका सत्थोवाडितका वेहाणसिया गिद्धपिट्ठका कंतारमंतका दुभिक्खमंतका असंकिलिट्ठ परिणामा तंकालमासे कालंकिच्चा अण्णतरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवदत्ताए उववत्तारो भवंति तहिं तेसिं ठिती तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते तेसिणं भंते । देवाणं केवलिंअ कालट्ठिती पण्णत्ता गोयमा ? वारसवास सहस्सांइ ठिती पण्णता अच्छिणं भंते । तेसिं देवाणं इड्ढिवा जुइवा ज सेतिवा वलेतिवा वीरीएतिवा पुरिसक्कार परिक्कमेतिवा हंताअत्थी तेणं भंते ? देवा परलोगस्सारागाहणेति णट्ठे समट्ठे । औप० ।

(उल्लंबियगत्ति) अवलम्बितकाः रज्वा बद्धा गर्त्तादाववतारिता उल्लम्बितपर्यायास्तु नैते भवन्ति उल्लम्बितानां वैहा-यंसिकशब्देन वक्ष्यमामत्वात् (सीहपुच्छियगत्ति) । इह पुच्छशब्देन मेहनं विवक्षित मुपचारात् ततः सीहपुच्छं कृतं संजातं वा येषां ते सिंहपुच्छितास्तएव-सिंहपुच्छितकाः सिंहस्य हि मैथुना-न्निवृत्तस्यात्याकर्षणात् कदाचित्मेहनं त्रुट्यति । एवं ये क्रूरिदपराधे राजपुरुषैस्त्रौटितमेहनाः क्रियन्ते ते सिंह पुच्छितकाव्यपदिश्यन्ते । (असंकिलिट्ठपरिणामत्ति) संक्लिष्टपरिणामा हि महार्तरौद्रध्यानावेशैन देवत्वं न लभन्त इति भावः ॥६॥

से जे इमे गामागर णगरणिगमरायहाणिखेडकब्बडमडंबदोण-मुहपट्टणासमसंबाहसंनिवेसेसु मणु, आ भवंति तंजहा पगतिभद्दका पगति उवसंता पगतिपतणुकोहमाणमाया-लोहा मिउमद्दवसंपण्ण अल्लीणा विणीआ अम्मापि उ स्सुस्सुका अम्मापिईणं अणत्ति-क्कमणिज्ज-वयणा अपिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं समारंभेणं अप्पाणं आरंभे समारंभेणं वित्तिं क-

पेमाणा बहुइं वासाइं आउअं पालंति पालित्ता कालमासे कालंकिच्चा अण्णतरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवताए उववत्तारोभवंति तहि तेसिं गती तहिं तेसिं ठिती तहिंते सिं उववाए पण्णते तेसिंणं भंते । देवाणं के वइअं कालं ठिती पण्णता गोअमा चउ-द्दसवासहस्सा ॥ औप०

टी० ॥ अम्बापित्रोः शुश्रूषकाः सेवकाः अत एव (अंमापिऊणं अणइक्कामणिज्जवयणा) इहेव सम्बन्धाः अम्बापित्रोः सत्क-मनतिक्रमणीय वचनं येषां ते तथा तथा (अप्पिच्छा अमहेच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहत्ति) इहारम्भः पथिव्यादि जीवोपमर्दः कृष्यादिरूपः परिग्रहस्तु धनधान्यादिस्वीकार एतदेव वाक्या-न्तरेमाह । (अप्पेणा आरम्भेण मित्यादि) इहारम्भो जीवानां विनाशः समारम्भस्तेषामेव परितापकरण आरम्भसमारम्भ-स्त्वेतदय (वित्तिति) वृतिं जीविकां (कप्पमाणति) कल्पयन्तः कुर्व्वाणाः ॥५॥०

से जाउ इमाउ गामागरणगरणिगमराय हाणिखेडक-व्वडमडंबदोणमुहपट्टणा समसंवाहसंनिवेसेसु इत्थिआओ भवंति । तंजहा अंतोउरिआओ गयपत्तिआओ मयपत्तिआओ बालविहवाओ छडितल्लिता इमाइं रक्खिआओ पिअरक्खिआओ भायरक्खिआओ कुल घररक्खिआओ ससुरकुलरक्खिआओ परूढमणहमस केसकक्खरोमाओ ववगयपुप्फगंधमल्लालं काराओअह्वा णए से अजल्लमलपंक-पारितावि आओ ववगय-खीरदहि णवणीअ सप्पित्तेल्लगुललोण-महुमज्जमंस परिचत्तकयाहा राओ अप्पिच्छिआओ अप्पारंभाओ अप्पपरिग्गाओ अप्पेणं हा आरम्भेणं अप्पेणं समारम्भेणं अप्पेणं आरम्भेणं समारम्भेणं विर्तिं कप्पमाणीओ अकाम बम्भचेर वासेणं तामेव पतिं सेज्जं णातिक्कमंति ताउण्णं इत्थिआओ एयाहंरूपेण विहारेणं विहरमाणीओ बहूइं पासाइ सेसं तं चेव जाव चउसट्ठिं वाससहस्साइं ठित्ती पण्णता ॥८॥

से जाओ (इमाओत्ति) अथया एता अंतो (अंतेपुरिया ओत्ति) अंतर्म्मध्ये अंतः पुरस्येति गम्यं (कुलघररक्खियाओत्ति) कुलगृहं पितृगृहं मित्तवाइनिययसंबन्धिरक्खिया ओत्ति क्वचित् तत्र मित्राणि पितृपत्यादिनां तासामेव वा सुहृदः एवं ज्ञातयो मातुलादिस्वजनानिजका गोत्रिया सम्बन्धिनो देवरादिरूपाः (परूढहणकेसकक्खरोमाओत्ति) प्ररूढाःवद्धिमुपगताः विशिष्टसंस्काराभावान्नकादयो यासां तास्तया पात्रन्तरे (प्रारूढनहकेसमंसुरोमाओत्ति) इह श्मश्रूणि कूर्चरोमाणि तानि च यद्यपि स्त्रीणां न भवन्ति तथाऽपि कासांचिदकल्पानि भवन्ति अपीति तद्ग्रहणं (अणहाणगसेयजल्लमलपंकपरितावाओ) अस्नानं केन हेतुना स्वेदादिभिः परितापो यासां तास्तथा तत्र स्वेदः प्रस्वेदः जल्लो रजोमात्रं मलः कठिनीभूतं तदेव (ववगयखीरदहिणवणीयसप्पितेल्ल-गुल्ललोणमहुमज्जमंसपरिचतकयाहाराओत्ति ॥ व्यपगतानि क्षीरादीनि यतस्था परित्यक्तानि मध्वा-दीननियेन स एवं विधः कृतोऽभ्यवहृत आहारो यकाभिस्तास्तथा तामेव (पइसेज्ज नाइक्कमंति) यानिधुवनार्थमाश्रीयते तामेव पतिशय्यां भर्तृशयनं नातिक्रामति उपपतिना सह नाऽऽश्रयन्तीति ॥८॥

से जे इमे गामागर णगरणिगमरायहाणिखेड कव्व-डमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाह सन्निवेसेसु मणुआ भवंति तंजहा दगवित्तिया दगतइआ दगसत्तमा दगएक्कारसमा गोअमा ? गोव्वइआ गहिधम्माधम्मचिं तका अविरुद्ध विरुद्धवुड्ढ सावकप्पभित्तिया तेसिं मणुआ णं णोकप्पइ इमाओ नवरसविगईओ आहारित्तए ते जहा खीरं दहिं णवनीयं सप्पिं तेल्लं फाणितं महुं मज्जं मंसं णणत्थ एक्काए सरसवविगइ एतेणं मणुआ अप्पिच्छा तं चेव सव्वं णवरं चउरासीइवाससहस्साइं ठित्ती पण्णता ॥९॥ से जे इमे गंगाकुलगा वाणपत्था तावसा भवंति तंजहा होत्तिया पोत्तिया कोत्तिया जण्णी सड्ढई घालई हुंपउट्ठा दंतुक्खलियां उम्मज्जका संम्मज्जका निमज्जका संपक्खाला दक्खिणकूलका उत्तरकूलका संखधमका कूलधम्मका मिगलुद्धका हत्थितावसा उद्दंडका दिसापोक्खिणो वा कवासिणो अंबुवासिणो जलवासिणी बिलवासिणो रुक्खमलिआ अंबुभक्खिणो वाउभक्खिणो सेवालभ क्खिणो मूलाहारा कंदाहारा तयाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा वीयाहारा परिसडियकंदमूलतयपत्तपुप्फफ लहारा जलाभिसे अ कठिणा गायभूया आयावणाहिं पंचवग्गित्तावेहिं इंगालसोल्लियं कंडुसोल्लियं कंठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणाबहूइं वासाइं परियायं पाउणंति बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं जोइसिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति पलिओवमं वाससयस-हस्ससमब्भहिअं वित्ती आराहगा णोतिणट्ठे समट्ठे समणो भवंति ॥१०॥

॥टी०॥ जलाभिषेककठिनं गात्रं भूतः प्राप्ता ये ते तथा (इंगाल्लसोल्लियति) अङ्गारैरिव पक्वं (कंडुसोल्लियंति) कन्दुपक्वमिवेति पलिआवमं (वाससयसहस्समब्भाहियंति) मकारस्य प्राकृतप्रभवत्वाद्वर्षशतस हस्राभ्यधिकमित्यथः अथवा पल्योपमं वर्षशतस हस्रमप्यधिकं च पल्योपमादित्येवं गमनिकाः ॥

समणो भवंति तंजहा कंदप्पिया कुकुया मोहरिया गीयरइप्पिया नच्चणसीला तेणं एएणं विहारेणं विहरमाणा बहुइ वासाइं सामण्णपरियायं पाउणंति बहुइ वासाइ सामण्णपरियायं पाउणित्ता तस्स ठाणस्स आणालोइअ अप्पडिक्कंत्ता कालमासे कालंकिच्चा आणालोइअ अप्पडिक्कंत्ता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं सोहम्मेकप्पे कदंप्पिएसु देवेसु देवताए उववत्तारो भवति तहिं तेसिं गति तहिं तेसि ठिती सेसं तंचेव णवरं पल्लिओवमं वाससहस्समज्झहिअं ठिति ।११। औ०॥ सन्निवे-सेसु परिव्वायगा भवंति तंजहा संखजोई कविलामि

उच्चा हंसा परमहंसा बहुउदया कुडिव्वया कण्हपरिव्वायगा। तत्थ खलु इमे अट्ठगाहणपरिव्वायगा भवंति तंजहा कण्हेअ करकंहूय अंबडेय परासरे। कण्हे दीवायणे चेव देवगुत्ती अ णारये। तत्थ खलु इमे अट्ठक्खतिअपरिव्वाय या भवंति तं सीलई ससिह णग्गई मग्गई तिअ विदेहे राया एमे बले तिअ। तेणं परिव्वायगा रिउव्वेदजजुव्वेदसामवेदअहव्वण-वेदहतिहास पंचमाणं णिग्घंटुछट्ठाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हंवेदाणं सारका पारगा धारका वारगा सडगवीसट्ठितंत-विसारदा संखाणे सिक्खाकप्पे वागरणे छंदे णिरुते जोतिसामयणो अण्णेसु वंमण्णएसु अ सत्थेसु सुपारिणिट्ठातावि हुत्था तेणं परिव्यायगा दाणधम्मं च सो अधम्मं च तित्थामिसेयं च आघवेमाणा पण्णवेमाणा परूवेमाणा विहरंति। जण्णं अम्ह किंचि असुई भवति तण्णं उदण्णय मट्टिआएअं अपक्खालिअं सुई भवति एवं खलु अम्ह चोक्खा चोक्खापारा सुइ सुइस मायारभवेत्ता अभि-सेअजलपूआप्पाणो अविग्घेण सग्गं गमिस्सामो तेसिणं परिव्वायगाणं णो कप्पइ अगडं वा तलायं वा णई वा वविं वा पुक्खरिणीं वा दीहियं वा गुंजालिअं वा सरं *वा सागरं वा ओगाहित्तए णण्णत्थ अद्धाणगमणं णो कप्पइ तण्डं* वा जाव संदमाणिअं वा दूरुहित्ताणं गच्छित्तए तेसिणं परिव्वायगाणं णो कप्पइ आसंवाहत्थिंवाउट्ठंवा गोणिंवामहिसं वाखरंवादुरु-हित्ताणगमित्तए तेसिणं परिव्वाय गाणंणोकप्प-इनडपेच्छाइ वा जाव मागहयेच्छाइ वा पिच्छित्तए तेसिं परिव्वायाणं णो कप्पइ हरिआणं लेसणत्ता वा घट्टणत्ता वा थंभणता वा लूसणत्ता वा उप्पाडणत्ता वा करित्तए तेसिं परिव्वायाणं णो कप्पइ इत्थि कहाइ वा भत्तकहाइ वा देसकहाइ वा रायकहाइ वा चोरकहाइ वा जणवयकहाइ वा अणत्थादंडं करित्तए तेसिणं परिव्वायाणं णो कप्पइ अयपायाइ वा तउअपायाणि वा तंबापायाणि वा जसदपायाणि वा सीसगपायाणि वा रुप्पपायाणि वा सुवण्णपायाणि वा अण्णयराणि वा बहुमुल्लाणि वा धारित्तए णणत्थ ला उपाएण वा दारुपासण वा मदिआ पाएण वा तेसिणं परिव्वयाणं णो कप्पइ अयबंधणाणि वा तउअबंधणाणि वा तवबंधणाणि जाव बहुमुल्लाणि धारित्तए तेसिणं परिव्वायाणं णो कप्पइ णाणाविहवण्णरागरत्ताइं वत्थाइं धारित्तए णण्णत्थ एक्काए धाउत्ताए तेसिणं परिव्वायाणं णो कप्पइ हारं वा अद्ध हारं वा एकावलिं वा मुत्तावलिं वा कणगावलिं वा रयणावलिं वा मुरविं वा कंठ मुरविं वा पालंबं वा तिसरयं वा कडिसुत्तं वा समुदियाणंतकं वा कडवाणि वा तुडियाणं वा अंगयाणि वा केऊराणि वा कुंडलाणि वा मउडं वा चुलामणिं वा पिणद्धित्तए णणण्णत्थ एकेणं तंविएणं पवित्तएणं तेसिणं परिव्वायाणं णो कप्पइ गंच्छि मेवडिमपूरिम संघातिम चउव्विहे मल्ले धारित्तए णणण्णत्थ एक्केणं कण्णपुरेणं तेसिणं परिव्वायाणंणो कप्पइ अगलूएणा वा चंदणेण वा कुंकुमेण वा गायं अणुलिंपित्तए णण णण त्थएक्काए गंगामट्टिआए तेसिणं परिव्वायाणं कप्पइ मागह ए पत्थए जलस्सपडिगाहित्तए सेविवहमाणे णो चेवणं अवहमाणे सेवियथिमि ओदए णो चेव णं कद्दमोए सेविअ बहुं पसण्णे णो चेवणं अबहुपसण्णे सिविअपरिपूत्ते णो चेव णं अपरिपूत्ते सेवि अणंदिण णो चेव णं अदिण्णे सेविअपिबित्तएणो चेव णं हत्थपायचरुचमसंपक्खा-लणट्ठाए सिणाइताए वा तेसिणं परिव्वायाणं कप्पइ मागहए अद्धाढए जलस्स पडिग्गाहित्तए सेविय वहमाणे णो चेवणं अवहमाणे जावणो चेवणं अदिण्णे सेविय हत्थपायचरुचं मासं पक्खालणट्ठयाइए णोचेवणं पिबइ वा तेणं परिव्वाया एया रूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहुइ वासाइ परियाइं पाउणंत्ति बहूइ वासाइं पाउणित्ताकालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं बंभलोए कप्पे देवत्ताए *उववत्तारो भवंति तेहिं तेसिं गई दससागरावमाये ठिई पण्णत्ता* सेसं तंचेव ॥१२॥६॥ तेणं कालेणं तेणं समएणं अम्मडस्स परिव्वायगस्स सत्तअंतेवासिसयाइ गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूलं मासांसि गंगाए महानईएओ उभउकूले कंपिल्लपुरातोणगराओ पुरिमतालं णगारं संपट्ठिआ विहाराए तयणं तेसिं परिव्वायगाणं तेसिं अगामियाए छिण्णो वायाए दोहट्ठाए अडवीए ॥टी०॥

कण्डवादयः षोडश पब्रिाजका लोकतोवऽसेया (ऋउवेदजजुव्वेद-सामवेय अहव्ववेदत्ति) इह षष्ठिबहुवचनलोपदर्शनात् ऋग्वेदयजुर्व्वेद-सामवेदाथर्व्ववेदानामिति दृश्यं (इतिहास-पंचमाणंति) इतिहासः पुराणमुच्यते (निग्घंटुछट्ठाणंति) निघण्टो नाम कोशः (संगोवंगाणंति) अङ्गानि शिक्षादीनि उपाङ्गानि तदुक्त प्रपञ्चनपर प्रबन्धाः (सरह स्साणंति) ऐदम्पर्ययुक्तानामित्यर्थः (चउण्हंवेयाणंति) व्यक्तं सारयति अध्यापन द्वारेण प्रवर्त्तकाः स्मारका वा अन्येषांविस्मृतस्य स्मरणात्पारयति पर्यन्त-गामिनःधारयत्ति धारयि तुंक्षमाः (षडंगवीत्ति) बडंगविदः शिक्षादि विचारकाः (सहितंत विसारयंति) कापिलीय तन्त्रपण्डिताः (संखाणेत्ति) संख्याने गणित स्कंधे सुपरि निष्टिता इति योगः अथ षडंगानि दर्शयन्नाह। (सिक्खाकप्पेत्ति) शिक्षाअक्षरस्वरूप निरूपकशास्त्रं कल्पश्च तथाविध समाचार निरूपकं शास्त्रमेवेति शिक्षाकल्पस्तत्र (वागरणत्ति) शब्दलक्षणशास्त्रे (छन्देत्ति) पद्यवनचन लक्षणशास्त्रे (निरूत्तेत्ति) शब्दनिरूक्तिप्रतिपादके (जोइसामयणेत्ति) ज्योतिषामयने ज्योति-

श्शास्त्रे अन्येषुचबहुषु (बंभण्ण एसुयत्ति) ब्राह्मणकषुच वेद व्याक्यानरूपेषु शास्त्रेषु आगमेषु वावाचनान्तरे (परिव्वाएसुयनएसुत्ति) परिव्राजकसंबन्धिषु च नयेषु न्यायेषु (सुपरिनिव्विययायाविहोत्थत्ति) सुनिष्णाताश्चाप्यभूवन्निति (आघवेमाणत्ति) आख्यन्तः कथयन्तः (पण्णवेमाणत्ति) बोधयंत) (परूवेमाणत्ति) उपपत्तिभिः स्थापयंतः (चोक्खाचोक्खायारत्ति) चोक्षा विमलदेहनेपथ्याः चोक्षाचाराः । निरवद्यव्यवहाराः किमुक्तंभवतीत्याह । (सुईसुई समायरत्ति) अभिस्सेयजलपुयप्पाणेत्ति) अभिषेकतो जलेन पूयत्ति पवित्रित आत्मायैस्त तथा अविग्घेणं विघ्नाभावेन (अबडंगत्ती अवटकूपं (वाविंचत्ति) वापीचतुरस्रजलाशयविशेषः (पुक्करिणीवत्ति) पुष्करिणीवर्तुलः स एव पुष्करयुक्तोवा (दीहियवत्ति) दीर्धिकासारणी (गुंजालियवत्ति) गुंजालिकावक्रसारणो (सरसिवत्ति) क्वचिद्दृश्यते । तत्र महत्सरः सरसीत्युच्यते (णण्णत्थ अद्धाण गमणे णंति) न इतियोनिषेधः सोऽन्यत्राध्वगमनादित्यर्थः सगडंवेत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यं (रदं वा जाणं वा जुगं वा गिल्लिं वा थील्लिं वा षवहणं वा सियवेत्ति) एतानिच प्रागिवव्याख्येयानीति (हरियाणंलेसण यावत्ति) संश्लेषणता (घट्टणयावत्ति) संघट्टनं (थंभणयावत्ति) स्तंभनमूर्ध्वीकरणं (लूसणयावत्ति) क्वचित्तत्र लूषणं हस्ता-दिनापनकादेः संमार्जनं (उप्पाडनयावा) उन्मूलनं अयपा-यागिवेत्यादिसूत्रं यावत् करणात् त्रपुकसीसकरजतजातरूप काच (वेडंतिय) वृत्त लोह कंसलोह हारपुटक रौतिका मणि शङ्ख दन्त चर्म चेल शैल शब्दविशेषितानि पात्राणि दृश्यानि (अण्ण-यराणिवा तहप्पगाराणि महद्धण मोल्लाइं) इति च दृश्यम्—तत्रायो लोहं-रजनं रूप्यं जातरूपं सुवर्णं काचः पाषाणविकार (वेडंतियत्ति) रूढिगम्यं वृत्तलोहं त्रिकूटीति यदुच्यते कांस्यलोहं कांस्यमेवहारपुटकं मुक्ताशुक्तिपुटकं रौतिका पित्तला अन्य-तराणिवा येषांमध्ये एकतराणि एतद्व्यतिरिक्तानि वा तथा प्रकाराणि भोजनादि कार्यकरणसमर्थानि महत्प्रभूतं धनं द्रव्यं मूल्यं प्रतीतं येषांतानि तथा (अलाबुपायेणंति) अलाबुपात्रात् तुंबक-भाजनादित्यर्थः तथाअयबंधणानि चेत्यत्र यावत् करणात् त्रपुकबधनादीनि शैलबंधनान्तानि दृश्यानि (अण्णयराइं तदप्पगाराइं महद्धणसल्लाइं) इत्येतच्चदृश्यमिति पुस्तकांतरे समग्रमिदं सूत्रद्वयमस्त्येवेति (णण्णत्थएगाए धाउरत्ताएत्ति) इह युगलिकयेति शेषो दृश्यः हारादीनि प्राग्वत् । औप० ।

से इमे गामागरजाणसण्णिवेसेसु पव्वइया समाणा भवंति तं जहा आयरियपडिणीया उवज्झायपडिण्णीया कुलपडिणीया मणपडिणीया आयरियउवज्झायाणं अयसकारगा अवण्णकारगा अकित्तिकारगा बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिण्णिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयंच वुग्गाहेमाणा वुपपाएमाणा विहरित्ता बहूइ वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति बहुतस्स ठाणस्स अणा-लोइयअप्पडिकंता कालमासे कालं किच्चा उक्कासेणं लंतए कप्पे देवकिब्बिसिएसु देवकिब्विसियत्ताए उववत्तारो भवंति तेहिं गतौ तेरस-सागरोवमाइ ठिती अणाराहका सेसं तं चेव ॥१५॥

टी० असद्भावोद्भावनाभिः (मिच्छत्ताभिनिवेसेहियत्ति) मिथ्यात्वे वस्तुविपर्यासे मिथ्यात्वाद्वा मिथ्यादर्शनाख्यकमणः सकाशादभिनिवेशाश्चित्तावष्टम्भा मिथ्यात्वाभिनिवैशास्तैः (वुग्गाहमाणत्ति) व्युद्ग्राहयमाणाः कुग्रहे योजयन्तः (वुप्पा-एमाणत्ति) व्युत्पाद्यमानाः असद्भावोद्भावनासु समर्थीकुर्व्वन्त इत्यर्थः (अणालोइयअपडिक्कंतत्ति) गुरूणां समीपे अकृ-तालोचनास्ततो दोषादनिवृत्ताश्चेत्यर्थः एतेषां च विशिष्ट-श्रामण्यजन्यं देवत्वं प्रत्यनीकतया जन्यं च किल्विषिकत्वं ते हि चण्डालप्राया एव देवमध्ये भवन्तीति १५ ।औप० ।

सेजेइमे सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पज्जत्तया भवंति तं जहा जलयरा खहयरा थलयरा तेसि णं अत्थेगइयाणं सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणाहिं तहावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमइएणं इहा तह मणगवेसणं कारमाणाणं सण्णीपुव्वे जाईसरणे समुप्पजति तएणं ते समुप्पण्णजाइसरणसमाणां सयमेव पंचाणुव्वयाइं पडिवज्जंति पडिवज्जिता बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमण-पच्चक्खाणपोसहोववासाइं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासा इं आउयं पालेति पालित्ता भत्तं पच्चक्खंति बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेयंति २ ता आलोइय पडिक्कंता समाहिं पत्ता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं सहस्सारे कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति तेहिं तेसिं गती अट्ठारस सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता परलोगस्स आराहगा सेसं तंचेव ॥१६॥

टी० (सण्णी पुव्वजाईसरणेति) संज्ञिनां सतां या पूर्व्वजातिः प्राक्तनो भवस्तस्या यत्स्मरणं तत्तथा ॥

सेजे इमे गामागरजावसन्निवेसेसु अजीवकम् भवंति तंजहा दुघरंतरिया तिघरंतरिया सत्तघरंतरिया उप्पलवेट्टिया घरसमुदाणिया विज्जुअन्तरिया उट्टिया समणा तेण एयारू वेणं विहारेणं विहरमाणे बहुइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति तेहिं तेसिं गती बावीसं सागरोवमाइं ठिती अणाराहका सेसं तं चेव ॥१७॥ से जे इमे गामागरजावसाण्णिवेसेसु पव्वइया समाणा भवंति तं अनुक्को सिया परपरिवाइया भूइकम्मिया भुज्जो २ कोऊयकारका तेणं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइ वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयअपडिक्कंता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेण अच्चुए कप्पे अभिओगिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति तेहिं तेसि गई बावीसं सागरोवमाइ ठिती परलोगस्स अणाराहगा सेसं तं चेव ॥१८॥

टी० (भुज्जो भुज्जो (कोउगकारगत्ति) भूयो भूयः पुनः पुनः

कौतुकं सौभाग्यादिनिमित्तं परेषां स्नपनादि तत्कर्तारः कौतुककारकाः (आभिओगिएसुत्ति) अभियोगे आदेशकर्म्मणि नियुक्ता अभियोगिका आदेशकारिण इत्यर्थः एतेषां च देवत्वं चारित्रादाभियोगिकत्वं चात्मोत्कर्षादिरिति ॥१८॥ औ० ॥

सेजे इमे गामागरजावसण्णिवेसेसु णिएहका भवंति तंबहुरया १ जीवपदेसिया २ अव्वत्तिया ३ सामुच्छिया ४ दोकरिया ५ तेरासीया६ अव्वड्ढिया७ इच्चेते सत्त प्पवयणणिण्हका केवलचरिया लिं गसामण्णा मिच्छदिट्ठी बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिसिणिवेसेहिय अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहुइ वासाइ सामण्णपरियागं पाउणंति कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं उवरिमेसु गेवेज्जेसु देवताए उववत्तारो भवंति तेहिं तेसिं गती एक्कत्तीसं सागरोमाइ ठिती परलोगस्स अणाराहगा सेसं तं चेव ॥१९॥

॥टी०॥ उपलक्षणश्च तत् सक्रियावतिंव्यापन्नदर्शना-नामन्येषामपीति (पवयणनिण्हयत्ति) प्रवचनं जिनागमं निन्हुवते अपलपन्त्यन्यथा तदैकदेशस्याभ्युपगमात्ते प्रवचननिनन्हवकाः केवलं (चारियालिंग-सामण्णा मिच्छादिट्ठीति) मिथ्यादृष्टयस्ते विपरीतबोधाः नवरं चर्यया भिक्षाटनादिक्रियया लिङ्गेन च रजोहरणादिना सामान्यः साधुतुल्य इति ॥१९॥

से जे इमे गामागरजावसण्णिवेसेसु मणुया भवंति तं जहा अप्पारंभा अप्परिग्गहा धम्मिया धम्माणुय धम्मिट्ठा धम्मक्खाइ धम्मप्पलोइ धम्मपलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मेणं चे व वित्तिं कप्पेमाणासु सीलासु व्वयासु प्पडियाणंदा साहूहिंति एक्काओ पाणाइवा ताओ पडिविरया जावज्जीवाए एक्काओ अपडिविरया एवं जाव परिग्गहातो २ एक्काओ कोहाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णओ परपरिवादाओ अरतिरतीओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया जावज्जीवाए एक्काओ अपडिविरया एक्काओ आबंभसमारंभाओ पडिविरआ यावज्जीवाए एक्काओ अपडिविरआ एक्काओ करणकारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एक्काओ पयपयावणाओ पडिविरआ जावज्जीवाए एक्काओ अपडिविरआ एक्काओ करणकारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एक्काओ पयण्णपयावणाओ पडिविरया जावज्जीवए चेव वित्तिं कप्पेमाणा सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहूहिंति एक्काओ पाणाइवा ताओ पडिविरया जावज्जीवाए एक्काओ अपडिविरया एवं जाव परिग्गहातो २ एक्काओ कोहाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ कलहाओ एक्काओ पयण-पयावणाओ अपडिविरया एक्काओ कुट्टण पिट्टण तज्जण तालण वहंबध परिकिलेसाओ पडि विरया जावज्जी वाए एक्काओ अपडिविरया एक्काओ राहाण मद्दण वण्णड विलेवण सद्द फरिस रस रूव गंध मल्लालंकाराओ पडिविरया जावज्जीवाए एक्काओ अपडिविरया जेयावण्णे तहप्पगारा सावज्जजोगा वहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति ततोजावए कज्जाओ अपडिविरया तं समणोवासका भवंति अभिगयजीवा जीवाओ बलद्धु पुण्णपावाओ आसव संबर निज्जरकिरिया अधिकरण बंधमोक्खकुसला असहेज्जाओ देवासुरणागजक्ख-रक्खसकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगादिएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अण्णइक्कमणिज्जा णिग्गंथे पावयणे णिस्संकिया णिक्कंखिया निव्वितिं गिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा अभिगयट्ठा विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंजये माणुरागत्ता अयमाउसो णिग्गंथे पावयणाअट्ठे अयं परपट्ठे सेसे अणट्ठे ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा चित्ततेउरपरघरदारप्पवेसा चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिण्णी सु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेत्ता समणणिग्गंथे फासुए सणिज्जेणं असणपाणखाइ-मसाइमेणं वत्थपडिग्गहं कंवलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पडिहारएणयप ढफलहगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा विहरंति विहरित्ता भत्तं पच्चक्खंति तंबहूइंभत्ताइं अणसणेए च्छेदिंत्ति च्छेदित्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति तेहिं तेसिं गती बावीसं सागरोवमाइं ठिती आराहया सेसं तहेव ॥२०॥

टी० ॥ (धम्मियत्ति) धर्म्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्ति येते धार्म्मिकाः कुत एतदेवमित्यत आह (धम्मिट्ठत्ति) धर्म्मश्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पूजितो वा येषान्ते धर्म्मेष्टाः धर्म्मिणांचेष्टाः धर्म्मीष्टाः अथवा धर्म्मोऽस्ति येषान्ते धर्म्मिणः त एवान्ये-भ्योऽतिशयवन्तो धर्म्मिष्ठा अत एव (धम्मक्खाइत्ति) धर्म्म मारव्यान्ति भव्यानां प्रतिपादयन्तीति धर्म्माख्यायिनःधर्म्माद्वा ख्यातिः प्रसिद्धिर्येषान्ते धर्म्मख्यातयः (धम्मपलोइयत्ति) धर्म्म प्रलोकयन्ति उपादेयता प्रेक्षन्ते पाषण्डिषु वा गवेषयन्तीति धर्म्मप्रलोकिनः धम्मगवेषणानन्तरं वा (धम्मपलज्जणत्ति) धर्म्मे प्ररज्यन्ते आसज्यन्ते ये ते धर्म्मप्ररज्जनाः ततश्च (धर्म्मसमुदाचारत्ति) धर्म्मरूपश्चारित्रात्मकः समुदाचारः सदाचारः सप्रमोदोवाऽऽचारो येषान्ते धर्म्मसमुदायाराः अत एव (धम्मेण चे व वि त्तिं कप्पेमाणत्ति) धर्म्मेषवचारित्राविरोधेन श्रुताविरोधेन वा वृत्तिं जीविकां कल्पयन्तः कुर्व्वाणा विहरन्तीति योगः (सुव्वयत्ति) सद्वृत्ताः शोभनचित्तवृत्ति-वितरणा वा (सुप्पडियाणंदा साहूहिंति) सुष्ठु प्रत्यानन्दः चित्ताह्लादोयेषान्ते सुप्रत्यानन्दाः साधुषु विषय भूतेषु अथवा (साहूहिंत्ति) उत्तरवाक्ये सम्बध्यते ततश्च साधुभ्यः सकाशात् साध्यन्तिके इत्यर्थः (एगाओ पाणा-

इवायाओत्ति) एकस्मात् न सर्वस्मात् पाठान्तरे (एगइयाओत्ति) तत्र एकक एव एककिकः तस्मादेककिकात् इत इदं सूत्रं प्रायः प्रागुक्तार्थं नवरं मिच्छादंसणसल्लाओत्ति इह मिथ्यादर्शनं तज्जन्यान्ययूथिकवन्दनादिका क्रिया ततो भावतो विरताः राजाभि-योगादिभिस्त्वाकारैरविरता इति ॥२०॥

एवं सामान्येनोक्तानां मनुष्याणां विशेषनिर्देशार्थमाह। (तंजहत्ति) एते इत्यर्थः (सेजहानामएत्ति) क्वचित्तत्राप्ययमेवार्थः।

से जे इमे गामागरजावसण्णिवेसेसु मणुआ भवंति तंजहा अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया नाव कप्पेमाणा सुसीलासुव्वता सुपडियाणंदा साहु सव्वाओ पाणाइवायातो पडिविरया जाव सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया सव्वाओ कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया सव्वाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया सव्वाओ करणकारावणाओ पडिविरया सव्वाओ पयणपयावणाओ पडिविरया सव्वाओ कुट्टणपिट्टण-तज्जणतालणवलबंधपरिकिलेसाओ पडिविरया सव्वाओ ण्हाण मद्दण वण्णक विलेवण सद्दफरिस रस रूव गंध मल्लालंकाराओ पडिविरया जेतावण्णे तह प्पगारा सावज्जजोगे वहिया कम्मंत्ता परयाणपरियावण करा कज्जंति ततो विपडिविरया जावज्जीवाए से जहाणा मए अणगारा भवंति। इरियासमिया भासासमिया जावइणमेव णिग्गंथं पावयणं पुरओ काउं विहरंति तेसिणंभगवं ताणं एतेणं विहारेणं विहरमाणाणं अत्थेगइयाणं अणंते जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जति। ते बहुइं वासा इं केवलिपरियागं पाउणंति। पाउणित्ता भत्तपच्चक्खंति भत्तं २ बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदइ २ त्ता जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे जाव अंतं करंति जेसिं पियणं एगइयाणं णो केवलवरदंसणे समुप्पज्जइ ते बहूइं वासाइं छउमत्थपरियागं पाउ २ आवाहे उप्पण्णे वा अणुप्पण्णे वा भत्तं पच्चक्खंति ते बहूइं भत्ताइं अणमणाए छेदेइ २ त्ता जस्सट्ठीए कीरए णग्गभावे जाव अंतं करेइ जसिं पियणं एगइयाणं णो केवलवरदंसणे समुप्पज्जइ। ते बहूइ वासाइं छउमत्थपरियागं पाओ २ आबाहे उप्पण्णे वा अणुप्पण्णे वा भत्तं पच्चक्खंति। ते बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेइ २ त्ता जस्सट्ठिए करिए णग्गभावो जाव तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं उस्सासणीसासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाणदंसणं उप्पाडिंति तओपच्छा सिज्झइ जाव अंतंकरेहित्ति एकच्चा पुण एकेभयं तासे पुव्वकम्मावसे सेणं कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवताए उववत्तारो भवंति तेहिंतेसिं गई तेती सं सागरोवमाइ ठिई आराहका सेसं तं चेव ॥

टी० आवाहेति रोगादिबाधायां एगच्चा पुण एगे भयं तारोत्ति एगा असाधारणगुणत्त्वात्द्वितीया मनुजभवभाविनीवा अर्च्चा पूजायेषान्ते एकार्च्चाः पुनः शब्दः पूर्वोक्ताथ र्ऽपेक्षया उत्तर-वाक्यार्थस्य विशेषद्योतनार्थः। एके केवलज्ञान भाजनेभ्यो अपरे (भयंतारोत्ति) भक्तारो अनुष्ठानविशेषस्य सेवयितारो भयत्रातारो वा अनुस्वार-स्त्वलाक्षणिकः (पुव्वकम्मावसेसेण) क्षीणा-वशेषकर्म्माणो देवतयोत्पत्तारो भवन्तीति योगः ॥

आराहण–(आराधन) आ राध-ल्युट्-आ सामस्त्येन राध्यते साध्यते पर्य्यन्तक्रियाऽनेनेत्याराधनमन शनम् अनशने, संस्ता०

आराहणपडागा–स्त्री० (आराधनपताका) आराधनरूपपता कायाम् द० प०॥

संसाररगमज्झे, धिइवल वचसाय वद्धकव्वाओ ॥ हंतूण मोहमल्लं, हरादि आराहणपडागं ॥२९॥ द० प०। चतारिय कसाए, तिन्निगारवे पंच इदियग्गामे ॥ हंता परीसहस मूहे, राहि आराहणपडाग ॥३४॥

आराहणय–पुं० (आराधनक) संस्तारके, संस्ता०॥

आराहणया–स्त्री० (आराधनता) संस्तारके, एस किलाराहणया आ सामस्त्येन राध्यते साध्यते पर्य्यन्तक्रियाऽनेनेत्याराधनमन-शनम् तस्य भाव आराधनता आराधनमेव वा आराधनका स्वार्थिककप्रत्ययोपा-दानादाराधनका अयमर्थः एष संस्तारक आराधनता आराधनका वा चारित्रधर्मोत्यापनकल्पा इति संस्ता०॥

आराहणा–स्त्री० (आराधना) आ राध णिच् युच् स्त्रीत्वाट्टाप् सेवायाम्, वाच०। पालनायाम्, पंचा वृ० ७॥ मोक्षसुखसाधनो-पाये, दर्श०॥ आराधनमाराधना ज्ञानादिवस्तुनोऽनुकूलवर्तित्वम् निरतिचारज्ञानाद्या-सेवायाम् स्था० ठा० २ आराधना ज्ञानादिगुणानां विशेषतः पालनेति० औप० (आराहणागुणाणं) आराधना-ऽखण्डनिष्पादना गुणानामिति ध० अधि० ३ (अपच्छिममारणंतिय संलेहणा जोसणाराहणाय) आरोधनाऽखण्डकालस्य करण-मित्यर्थः। आव०। उत्तमार्थ प्रतिपत्तौ आतु०॥ चरमकाले निर्यापणे, च आराधना चरमकाले निर्यापणरूपेति। द्वा०। दश० अ० १०॥

सा च द्विविधा तथा च स्थानाङ्गे २ ठा०।

दुविहा आराहण प० तं०। धम्मियाराहण चेव केवलिआराहणा चेव धम्मियाराहण दुविहा प० तंजहा सुयधम्माराहण चेव चरित्तधम्माराहण चेव केवलि-आराहण दुविहा पन्नता। तंजहा अंतकिरिया चेव कप्पविमाणोववत्तिया चेव॥

टी० दुविहेत्यादि ॥ सूत्रं कण्ठ्यं नवरं। आराधनमाराधना ज्ञानादिवस्तुनोऽनुकूलवर्त्तित्वं निरतिचारज्ञानाद्यासेवेति यावत् धर्म्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्म्मिकाः साधवस्ते षामियं धार्म्मिकी सा चासावाराधना चेति निरतिचारज्ञानादिपालना धार्म्मिकाराधना केवलिनां श्रुतावधि मनःपर्याय केवलज्ञानिना मियं कैवलिकी सा चासावाराधना चेति कैवलिकाराधनेति। सुयधम्मेत्यादौ विषयभेदेनाराधनाभेद उक्तः केवलिआरा-हणेत्यादौ तु फलभेदेनेति तत्र अंतो भवांत स्तस्य

क्रिया अंत क्रिया भवच्छेद इत्यर्थस्तद्धेतुर्याऽराधना शैलेशि रूपा सा अंतक्रियेत्युपचारात् एषा च क्षायिकज्ञानिकेवलिनामेव भवति । तथा कल्पेषु देवलोकेषु न तु ज्योतिश्चारे विमानानि देवा वासविशेषा अथवा कल्पाश्च सौधर्म्मादयो विमानानि च तदुपरिवर्ति ग्रैवेयकादीनि कल्पविमानानि तेषु उपपत्तिरूपपातो जन्म यस्याः सकाशात् सा कल्पविमानोपपातिका ज्ञानाद्याराधना एषा च श्रुतकेवल्यादीनां भवतीति एवं फला चेय-मनंतरफलद्वारेणोक्ता परंपरया तु भवांतक्रियानुपा-तिन्येवेति ॥

त्रिविधापि भगवत्याम् यथा भ० श० ८ उ० १०

कइविहाणं भंते ! आराहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा आराहणा पण्णत्ता तंजहा नाणाराहणा ? दंसणाराहणा २ चरित्ताराहणा ३ नाणाराहणाणं भंते ! कइविहा पण्णता ? तिविहा पण्णत्ता तंजहा-उक्कोसिया मज्झिमा जहण्णा दंसमाराहणाणं भंते ! कइविहा ? एवं चेव तिविहावि एवं चरित्ताराहणावि ॥

टी० आराधना निरतिचारतयानुपालना तत्र ज्ञानं पञ्चप्रकारं श्रुतं वा तस्याऽराधना कालाद्युपचारकरणं दर्शनं सम्यक्त्वं तस्याऽराधना निःशंकितत्वादि तदाचारानुपालनं चारित्रं सामा-यिकादि तदाराधना निरतिचारता (उक्कोसियत्ति । उत्कर्षा ज्ञानाराधना ज्ञानकृत्यानुष्ठानेषु प्रकृष्टप्रयत्नता मज्झिमत्ति तेष्वेव मध्यमप्रयत्नता जहण्णत्ति । तेष्वेवाल्पतमप्रयत्नता । एवं दर्शनाराधना चारित्राराधना चेति ॥ स्था० ठा० ३ ॥ ज्ञानस्य श्रुतस्याराधना कालाध्ययनादिष्वष्टसु आचारेषु प्रवृत्त्या निरतिचारपरिपालना ज्ञानाराधना एवं दर्शनस्य निःशङ्कितादिषु चारित्रस्य समितिगुप्तिषु सा चोत्कृष्टादिभेदाभाव भेदात्काल-भेदाद्विति ज्ञानादिप्रतिपतनलक्षणः ॥

अथोक्ताराधनाभेदानामेव परस्परोपनिबन्धमभिधातुमाह । भ० श० ८ उ० १० ।

जस्सणं भंते ! उक्कोसिया नाणाराहण तस्स उक्कोसिया दंसणाराहण जस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स उक्कोसिया नाणाराहणा गोयमा ! जस्स उक्कोसिया णाणा राहणा तस्स दंसणाराहणा उक्कोसा वा अजहन्नुक्कोसा वा जस्स पुण उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स नाणाराहणा उक्कोसा वा जहण्णा वा अजहण्ण मणुक्कोसा वा ॥

॥टी०॥ जस्स णमित्यादि॥ अजहण्णुक्कोसावत्ति॥ जघन्या चासावुत्कर्षा चोत्कृष्टा जघन्योत्कर्षा तन्निषेधादजघन्योत्कर्षा मध्यमेत्यर्थः । उत्कृष्टज्ञानाराधनावतोह्याद्ये द्वे दर्शनाराधने भवतो न पुनस्तृतीया तथा स्वभावत्वात्तस्येति ॥ जस्स पुणेत्यादि ॥ उत्कृष्टदर्शनाराधनावतो हि ज्ञानं प्रति त्रिप्रकारस्यापि प्रयत्नस्य सम्भवोऽस्तीति त्रिप्रकारापि तदाराधना भजनया भवतीति ॥

जस्सणं भंते ! उक्कोसिया नाणाराहणा तस्स उक्कोसिया चरित्ताराहणा जस्स उक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया नाणाराहणा ? जहा उक्कोसिया नाणा-राहणा य दंसणाराहणा य भणिया तहा उक्कोसिया नाणाराहणा च चरित्ताराहणा य भाणियव्वा ॥

टी० ॥ उत्कृष्टज्ञानचारित्राराधना संयोगसूत्रे तूत्तरं यस्योत्कृष्टा ज्ञानाराधना तस्य चारित्राराधना उत्कृष्टा मध्यमा वास्यात् उत्कृष्टज्ञानाराधनावतो हि चारित्रं प्रति नाल्पतमप्रयत्नता स्या-त्तत्स्वभावत्वात्तस्येति । उत्कृष्टचारित्राराधनावतस्तु ज्ञानं प्रति प्रयत्नत्रयमपि भजनया स्यात्, एतदेवातिदेशत आह जहा उक्कोसिए इत्यादि ।

जस्सणं भंते ! उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा जस्सुक्को सया चरित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया दंसणाराहणा गोयमा ! जस्स उक्कोसिया दंसणाराहण तस्स चरित्ताराहणा उक्कोसा वा जहण्णा वा अजहण्णमणुक्कोसा वा जस्स पुण उक्कोसिया चरित्ताराहण तस्स दंसणाराहण नियमं उक्कोसा ॥

॥टी०॥ उत्कृष्टदर्शनचारित्राराधना संयोगसूत्रेषूत्तरं ॥ (जस्सुक्को-सियादंसणाराहणेत्यादि) ॥ यस्यात्कृष्टा दर्शनाराधना तस्य चारित्राराधना त्रिविधापि भजनया स्यादुत्कृष्ट दर्शनाराधनावतो हि चारित्रं प्रति प्रयत्नस्य त्रिविधस्याऽप्यविरुद्धत्वादिति ॥ उत्कृष्टायां तु चारित्राराधनायामुत्कृष्टैव दर्शनाराधना प्रकृष्टचारित्रस्य प्रकृष्टदर्शनानु-गतत्त्वादिति ॥

अथाराधनाभेदानां फलदर्शनायाह० भ० श० ८ उ० १०

उक्कोसियं णं भंते । नाणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ अत्थेगइए दोच्चे णं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ अत्थेगइए कप्पोवएसु वा कप्पातीतएसु वा उववज्जइ, उक्कोसिया णं भंते ! दंसणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं एवं चेव ॥ उक्कोसियं णं भंते ! चरित्ताराहणं आराहेत्ता एवं चेव, णवरं अत्थेगइए कप्पातीत एसु उववज्जइ ॥

टी०॥ तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइति ॥ उत्कृष्टां ज्ञाना-राधनामाराध्य तेनैव भवग्रहणेन सिद्धत्युत्कृष्टचारित्राराधनायाः सद्भाव कप्पोवएसुवत्ति ॥ कल्पोपगेषु सौधर्म्मादिदेवलोकोपगेषु देवेषु मध्ये उपपद्यते मध्यमचारित्राराधनासद्भावे ॥ कप्पा-तीएसुवत्ति ॥ ग्रैवेयकादिदेवे-षूपपद्यते मध्यमोत्कृष्टचारित्रा-राधनासद्भाव इति ॥ तथा उक्कोसियं णं भंते ! दंसणाराहण-मित्यादौ एवंचेवत्ति करणात्तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झईत्यादि दृश्यं तद्भवसिद्धयादि च तस्यां स्याच्चा-रित्राराधनायास्तत्रोत्कृष्टाया मध्यमाया-श्चोक्तत्वादिति ॥ तथा उक्कोसियं णं भंते ! चारित्ताराहणमित्यादि एवंचेव तिकरणात्तेणेव भवग्गहणेणमि-त्यादि दृश्यं केवलं तत्र अत्थगइए कप्पोवगेसु वेत्यभिहितमिह तु तन्नवाच्य-मुकृष्टचारित्राराधनावतः सौधर्मादिकल्पेष्वगमनाद्वाच्यं पुनः अत्थेगइए कप्पातीतएसु उववज्जइति, सिद्धिगमनाभावे तस्यानुत्तरसुरेषु गमनादेतदेव दर्शयतोक्तं ॥

मज्झिमियं णं भंत ! नाणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ २ गोयमा ! अत्थेगइए दोच्चे णं भवग्गहणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ तच्चं पुण भवग्गहणं णाइक्कमइ । मिज्झमियं ण भंते । दंसणा-

राहणं आराहेत्ता एवं चेव एवं मज्झिमियं चरित्ताराहणं पि ॥

टी० ॥ नवरमित्यादि ॥ मध्यमज्ञानाराधना सूत्रे मध्यमत्वं ज्ञानाराधनाया अधिकृतभव एव निर्वाणि भवेपुनरुत्कृष्टत्वमवश्यं भावीत्यवसेयं निर्वाणाऽन्यथानुपपत्तेरिति । दोच्चेणंति ॥ अधिकृतमनुष्यभवापेक्षया द्वितीयेन मनुष्यभवेन ॥ तच्चं पुण भवग्गहणंति ॥ अधिकृतमनुष्यभवग्रहणापेक्षया तृतीयं मनुष्यभवग्रहणं ॥

जहण्णियं णंभंते ! नाणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ गोयमा ! अत्थेगइए तच्चे णं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ सट्ठत्त-भवग्गहणाइं पुण नाइक्कमइ एवं दंसणाराहणं पि । एवं चरित्ताराहणं पि ॥

एताश्च चारित्राराधनाः संवलिता ज्ञानाद्याराधना इह विवक्षिताः कथमन्यथा जघन्यज्ञानाराधनामाश्रित्य वक्ष्यति सत्तट्ठ-भवग्गहणाइ पुण णाइक्कमइत्ति ॥ यतश्चारित्राराधनाया एवेद फलमुक्तं यदाह अट्ठभवा उवचरित्तेत्ति । श्रुतसम्यक्त्वदेश विरतिभवास्त्वसङ्ख्येया उक्तास्ततश्चरणाराधनारहितज्ञान-दर्शनाराधना असङ्ख्येयभविका अपि भवन्ति नत्वष्टभविका एवेति ॥ तथाच व्यवहारकल्पे (आराहणाउ तिविहा उक्कोसा मज्झमा जहण्णाउ ॥ एगदुगतिगज हुन्नं दुतीगट्ठभवाउक्कोसा) आराधना त्रिविधा उत्कृष्टा मध्यमा जघन्या च । तत्रोत्कृष्टाराधनायाः फलमेको भवः मध्यमाया द्वौभवौ जघन्यायास्त्रयो भवाः यदि तद्भवैर्मोक्षाभावस्तदा उत्कृष्टाराधनायाः फलं जघन्यं संसरणं द्वौ भवौ मध्यमायास्त्रयो भवा जघन्याया अष्टौ भवाः ॥ द० प० म० प० ९ । दंसणनाणचरित्तं तव य आराहणा चउक्खंधा । सव्वे च होइ तिविहा उक्कोसा मज्झिम जहन्ना ३७ आराहे ऊणविऊ उक्कोसाराहणं चउक्खंधं । कम्म-रइविप्प मुक्को तेणेव भवेण सिज्झिज्जा ३८ आराहेऊणविऊ जहन्नमाराहणाचउक्खंधा । सत्तट्ठभवग्गहणे परिणामेऊण सिज्झिज्जा ३९ ॥

भणइ य तिविहा भणिया, सुविहिय आराहण जिणि देहिं । सम्मत्तंमिय पढमा, नाणचरितेहिं दोअण्णा ॥१५॥ सद्दहगा पत्तियगा, रोयगा जस्स वीरवयणस्स । समसअणु सरंता, दंसणआराहण हुन्ति ॥१६॥ संसारसमावन्ने य छविहे मुहे मस्सिएचेव । एएदुविहे जीवे, आणाए सद्द हे निच्चं १७ धम्माधम्मागास, दुग्गा जे जीवमच्छिकायं च । आणाइ सद्दकहतां, सम्मत्ताराहगा भणिया १८

आराधनामधिकृत्य महाप्रत्याख्याने० द० प० इंदियसुहसोउलउ, धोरपरीसहपराईयपराज्झा । अकयपरिकम्मकीवो, सुज्झइ आराहणाकाले ॥९३॥ सुज्झइं दुक्करकारी, जाणइं मग्गंति पावए कित्ति । विणिगूहितो निंदई, तम्हा आराहणा सेया ॥९५॥ द० प० चइऊण कसाए इंदिए य सावयगार वेहंतु तोसलिय रागदोसो करेद आराहादणा सुद्धिं ॥४४॥

आराधनोपयुक्तस्य फलम् यथा० आतु० ।

एगंपि सिलोग जो, पुरिसा मरणदसकालंमि । आराहणोवउत्ता, विततो आराहगो होइ ॥७४॥

टी० ॥ तस्मादेकमपि श्लोकं पंचपरमेष्टि नमस्कारा दिरूपं यः पुमान् मरणदेशकाले आराधनोपयुक्तः सन् चिंतयति स तं चिंतयन् स्मरन्नाराधको भवति ॥७४॥

अयाराधकस्य किम्फलमित्याह आतु० ।

आगहणोवउत्तो, सम्मं काउण सुविहिओ कालं ॥ उक्कोसं तिन्निभवे, गंतूणं लहइ निव्वाणं ॥७५॥

टी० ॥ आराधनाया उत्तमार्थप्रतिपत्त्या आराधनायां वा उपयुक्त उद्यतः सावधान इत्यर्थः कालं मरणं कृत्वा सुविहितः सुसाधुः सम्यग् श्रुद्धभावेनोत्कृष्टत उत्कृष्टाराधनाबलात्त्रीन् भवान् गत्वा लभते निर्वाणं मोक्षमित्यर्थः । यदि परमसमाधि ना कालं करोति ततस्तृतीये भवेऽवश्यं सिद्ध्यतीति भावः । अत्राह शिष्यः । ग्रंथांतरे उत्कृष्टतो निरंतरमष्ट-भवाराधनया जघन्यतस्त्रिकभवाराधनयापि सिध्यतीत्युक्तं अत्र तु तृतीयभवे सिध्यतीति तदेतन्नाप्युत्कृष्टं नापि जघन्यं ततश्च कथ न विरोधः उच्यते यदेकेनभवे नसिद्ध्यती-त्युक्तं तद्वज्रऋषभनाराच संहन नमाश्रित्य एतच्च सेवार्त्तसंहनन मंगीकृत्योच्यते सेवार्त्तसंहन नोहि यद्युत्कृष्टाराधनां करोति ततस्तृतीये भवे सिद्ध्यति उत्कृष्टशब्दश्चात्राऽतिशयार्थः । आराधनाविशेषणं च द्रष्टव्यः । नतु भवानगीकृत्य भवांगीकरणे पुनरुत्कृष्टतोऽष्टभिरेव भवैः सेवार्त्तसंहननः सिध्यतीति न विरोधः ॥७५॥

आराधनाभिमुखस्य फलम् ।पा०॥

ज य इमं गुणरयण, सायरमविराहिऊण तिण्णसंसारा । ते मंगलं करित्ता, अहमवि आराहणाभिमुहो ॥२॥

टी० ॥ तथा (जेय इमं इति) ये महामुनयश्चशब्दो मंगलांत-रसमुच्चयार्थः । इमं जैनशासनप्रसिद्धं (गुणरयमसायरंति) गुणा महाव्रतादयस्त एवरत्नानि विशिष्टफलहेतुत्वात्सर्ववस्तुसारत्वाच्च गुणरत्नानि तान्येव बहुत्वात्सागर इव सागरः समुद्रो गुणरत्न-सागरः तं किमित्याह। अविराध्य अखडमनुपाल्य तीर्णसंसारा-लंघितभदवोदधयो जातास्तान्परमात्मनो मंगलं कृत्वा शुभ-मनोवाक्कायगोचरं समानीयेत्यर्थः । अहमपि न केवलमुक्त-न्यायेनाराधकत्वात्ते तीर्णभवार्णवाः । किंत्वहमपि संसारा र्णवलंघनार्थमेवाराधनाया-स्संपूर्णमोक्षमार्गनुपालनाया अभि-मुखः संमुखः कृतउद्यतइत्यर्थः ॥ आराधनाभिमुखः संजातइति ।

आधाकर्म्मादिभुञ्जानस्य नालोचयतोऽऽप्रतिक्रामतश्च नास्त्याराधना ॥

तथाच दर्शनशुद्धौ दर्श० ॥

भुंजंइ आहाकम्मं, समं नय जो पडिक्कमइ लुद्धो ॥ सव्वजिणणाविमुहस्स तस्स आराहणा नत्थि ॥

भुंक्तेऽभ्यवहरति लौल्यादापन्निपतितो वा आधाकर्म्म उप-लक्षणत्वात् क्रीताभ्याहृताद्यपि सम्यक्नच नैव प्रतिक्रामति मयेदमनुचितमाचरित-मिति सम्यग्भावेतेन्यर्थः यः लुब्धो लोभवान् तस्य किं नास्ति न विद्यते साऽराधना मोक्षसुखसाधनोपायो यदर्थं गेहान्निष्कांत इत्यर्थः । कथंभूतस्य सर्वजिनाज्ञाविमुख-स्य ॥१०॥

आलोअणमालुंचण, विअडीकरणं च भावसोहीअ ॥ आलोइअंमि, आराहण अणलोइए भयणा ॥१५॥

अवलोकनं आलुचन विकटीकरणं चभावशुद्धिश्चयच्छेहकश्चिन्नि-पुणमालाकारःस्वस्यारामस्य सदाद्विसंध्यमवलोकनंकरोति किं-

कुसुमानि संत्युत नेति दृष्ट्वा तेषामालुंचनं करोति ग्रहणमित्यर्थः ततो विकटीकरणं विकसितमुकुलितार्द्धमुकुलितानां भेदनं विभजनमित्यर्थः च शब्दात् पश्चात् ग्रंथनं करोति ततो ग्राहका गृह्णंति ततोऽस्याभिलषितार्थलाभो भवति भावशुद्धिश्चित्त-प्रसादलक्षणा अस्या एव विवक्षितत्वात् अन्यस्तु विपरीतकारी मालाकारस्तस्य न भवति एवं साधुरपि कृतोप-धिप्रत्युप्रेक्षणादिव्यापारा उच्चारादिभूमि-प्रत्युपेक्षया घातविरहितः कायोत्सर्गस्थोऽनुप्रेक्षते सूत्रं गुरौ तु स्थिते दैवसिकावश्यकस्य मुखवस्त्रिकाप्रत्युप्रेक्षणादेः कायोत्सर्गं तस्यावलोकनं करोति पश्चादालुंचनं स्पष्टबुद्ध्याऽपराधग्रहणं ततो विकटीकरणं गुरुलघूनामपराधानां विभंजनं च शब्दादालोचनं प्रतिसेवना-नुलोमेन ग्रंथनं ततो यथाक्रमं गुरोर्निवेदनं करोति एवं कुर्वतः भावशुद्धिरुपजायते। औदयिकभावात् क्षायोपशमिक-प्राप्तिरित्यर्थः । इत्थमुक्तेन प्रकारेणालोचिते गुरोरपराध जाले निवेदिते आराधना मोक्षमार्गाकंडना भवति अनालोचिते अनिवेदिते भजना विकल्पना कदाचिद्भवति, कदाचिन्न भवति तत्रेत्थं भवति।

आलोयणापरिणओ, समं समुवट्ठिउ गुरुसगासं।
जइ अंतराओ कालं, करेज्ज आराहओ तहवि ॥१॥

एवं तु न भवति इड्ढी, एगारवेणं ब्बाहुसुयमएणावा-णिदुच्चरियं। जो न कहेइ गुरूणं नहु सो आराहआ भणि ओति ॥ गाथार्थः। आव०॥

आहाकम्मं अणवज्जेत्ति मणं पहारेता भवइ सेणं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ नात्थ तस्स आराहणा सेणं तस्स ठणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ अत्थि तस्स आराहणा एएणं गमेण नेयव्वं कीयकडं ठवियं रइयं कंतारभत्तं दुद्दिमक्खभत्तं वद्दलियाभत्तं गिलाणभत्तं सेज्जायरपिंडं रायपिंडं आहाकम्मं अणवज्जेति बहुजण-मज्झे भासित्ता सयमेव परिभुंजित्ता भवइ सेणं तस्स ठाणस्स जाव अत्थि तस्स आराहणा एयंपि तह चेव जाव रायपिंडं आहाकम्मं अणवज्जेत्ति अण्णमण्णस्स अणुपदावेइत्ता भवइ सेणं तस्स एयं तह चेव जाव रायपिंडं आहाकम्मं णं अणवज्जेति बहुजणमज्झे पभावइत्ता भवइ सेणं तस्स जाव अत्थि आराहणा जाव रायपिंडं। भ० ५ श० ६ उ०॥

(अणवज्जेत्ति) अनवद्यमिति निर्दोषमिति॥ मणे पहारोत्तित्ति॥ मानसं प्रधारयिता स्थापयिता भवति । रइयमंति । मोदकचूर्णादि पुनर्मोदकादितया रचितमौद्देशिकभेदरूपं (कंतारभत्तंति) । कान्तारमरण्यं तत्र भिक्षुकाणां निर्वाहार्थं यद्विहितं भक्तं तत्कान्तारभक्तं एवमन्यान्यपि नवरे, वार्दलिका मेघदुर्दिन। (गिलाणभत्तेति) ग्लानस्य नीरोगतार्थं भिक्षुकदानार्थ यत्कृतं भक्तं तत् ग्लानभक्तं आधाकर्मादीनां सदोषत्वेनागमेऽभिहितानां निर्दोषताकल्पनं तत एव स्वय भोजनमन्यसाधुभ्योऽनुपदापनं सभायां निर्दोषताभणनञ्च विपरीतश्रद्धा-नादिरूपत्वामिन्मथ्यात्वादि, ततश्चज्ञानादीनां विराधना स्फुटेवेति॥

निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविट्ठेणं अण्णयरे अकिच्चट्ठाणे पडिते वए तस्स णं एवं भवइ इहेव ताव अहं एयस्स ट्ठाणस्स आलोएमि पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि विउट्टामि विसोहामि अकरणयाए अब्भुट्ठेमि अहारिहं पायच्छित्त तवोकम्मं पडिवज्जामि तओपच्छा थेराणं अंतियं आलोएस्सामि। जाव तवोकम्मं पडिवज्जिस्सामि से य सपट्ठिए असंपत्ते थेराय पुव्वामेव अमुहा सिया। से णं भंते ! किं आराहए विराहए ? गोयमा ! आराहए नोविराहए से य संपट्ठिए असंपत्ते अप्पणाय पुव्वामेव अमुहे सिया से णंभंते ! किं आराहए विराहए गोयमा ! आराहए नो विराहए से य संपट्ठिए असंपत्ते थेराय कालं करेज्जा से णं भंते ! किं आराहए विराहए गोयमा ! आराहए नोविराहए से य संपट्ठिए असपत्त य अप्पणाय पुव्वामेव कालं करेज्जा सेणं भंते ! किं आराहए विराहए गोयमा ! आराहए नो विराहए से य संपट्ठिए संपत्ते थेराय अमुहा सिया से णं भंते ! किं आराहए विराहए गोयमा ! आराहए नो विराहए से य संपट्ठिए असंपत्ते अप्पणाय एवं संपत्तेण वि चत्तारि आलावगा भाणियव्वा॥ जहेव असंपत्तेणं निग्गंथेण य वहियारभूमिं वा विराहभूमिं वा निखंतेणं अण्णयरे अकिंचट्ठाणे पडिसेविए तस्स णं एवं भवइ इहेव ताव अहं एवं एत्थवि ते चेव अट्ठ आलावगा भाणियव्वा जाव नो विराहए। निग्गंथेण य गामाणुगामं दूइज्जमाणेणं अण्णयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए तस्स णं एवं भवइ इहेव ताव एत्थवि ते चेव अट्ठ आलावगा भाणियव्वा जाव नो विराहए। निग्गंथाए य गाहावइकुलं। पिंडवायपाडयाए अणुप्पविट्ठाए अण्णयरे। अकिच्चठाणे पडितेविए तीसेणं एवं भवइ इहेव ताव अहं एयस्स ठाणस्स आलोएमि जाव तवोकम्मं पडिवज्जामि तओ पच्छा पवित्तणीए अंतिए आलोएस्सामि जाव पडिवज्जिस्सामि सा य संपट्ठिया असंपत्ता पवित्तणीय अमुहा सिया साणं भंते ! किं आराहिया विराहिया ? गोयमा ! आराहिया णो विराहिया। सा य संपट्ठिया जहा णिग्गंथस्स तिण्णि गमा भणिया एवं निग्गथीए वि त्तिण्णि आलावगा भाणियव्वा जाव आराहिया नो विराहिया। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ आराहए नो विराहए ? गोयमा ! से जहा नाम ए केइ पुरिसे एग महं उण्णालोमं वा गयलोमं वा सणलोमं वा कप्पासलोमं वा तणसूयं वा दुहा वा तिहा वा संखेज्जहा वा छिंदित्ता अगणिकायंसि पक्खिवेज्जा से णूणं गोयमा ! छिज्जमाणे छिण्णे पक्खिप्पमाणे

पक्खित्ते दज्झमाणे दड्ढेत्ति वत्तव्वं सिया हंता भगवं ! छिज्जमाणे छिण्णे जाव दड्ढत्ति वत्तव्वं सिया सेजहानाम ए केइ पुरिसे वत्थं अहतं धोयं वा तंतुग्गयं वा मंजिट्ठदोणीए पक्खिवेज्जा से णूणं गोयमा ! उक्खिप्पमाणे उक्खित्ते पक्खिप्पमाणे पक्खित्ते रज्जमाणे रत्तेत्ति वत्तव्वं सिया हंता भगवं ! उक्खित्तमाणे उक्खित्ते जाव रत्तेत्ति वत्तव्वं सिया से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ आराहए नो विराहए ॥भ० ८ श० ७ उ० ।

निर्ग्रन्थप्रस्तावादिदमाह ॥

निग्गंथं चणमित्यादि ॥ इह चशब्दः पुनरर्थस्तस्य घटनाचैवं निर्ग्रन्थं कंचित्पिंण्डपातप्रतिज्ञया प्रविष्टं पिण्डादिनोपनिमन्त्रयेत् तेन च निर्ग्रन्थेन पुनः ॥ अकिच्चट्ठाणेति ॥ कृतस्य करणस्य स्थानमाश्रयः कृत्यस्थानं तन्निषेधोऽकृत्यस्थानं मूलगुणा दिप्रतिसेवारूपोऽकायेविशेषः (तस्स णंति) तस्य निर्ग्रथस्य संजातानुतापस्यैवं भवति एवं प्रकारं मनोभवति एयस्स ठणस्सत्ति) विभक्तिपरिणामादेतत् स्थानमनन्त-रासेवित-मालोचयामि स्थापनाचार्यनिवेदनेन प्रतिक्रमामि मिथ्यादुष्कृतदानेन निन्दामि स्वसमक्षं स्वस्याकृत्यस्थानस्य वा कुत्सनेन (विउट्टामिति) वित्रोटयामि तदभुबन्धच्छिनद्मि विशोधयामि प्रायश्चिताभ्युपगमेन अकरणतयाऽकरणेनाभ्युत्तिष्ठाम्युभ्युद्यतो भवामीति (अहा-रिहंति) यथार्हं यथोचितमेतच्च गीतार्थतायामेव भवति नान्यथा (अंतियति) समीपं गत इति शेषः (थेराय अमुहा सियत्ति) स्थविरा पुनरमुखानिर्वाचः स्युर्वातादिदोषात्ततश्च तस्यालोचनादिपरिणामे सत्यपि नालोचनादि-सम्पद्यत इत्यतः प्रश्नयति ॥ (सेणमित्यादि) (आराहएत्ति) मोक्षमागऽस्याराधकः शुद्धइत्यर्थ भावस्य शुद्धत्वाद्भवति चालोचना-परिणता सत्यां कथञ्चित्तदप्राप्तावप्याराधकत्वं यत उक्तं। मरणमाश्रित्य आलोयणापरिणओसम्म सपट्ठिओ गुरुसगासे ॥ जइ मरइ अंतराविय तहा विसुद्धोत्ति भावाओत्ति ॥१॥ स्थविरात्मभेदे न चेह द्वे अमुखसूत्रे द्वे कालगतसूत्रे इत्येवं चत्वारि असम्प्राप्तसूत्राणि सम्प्राप्तसत्राण्यप्येवं चत्वार्येव एवमेतान्यष्टौ पिण्डपातार्थं गृहपतिकुले प्रविष्टस्य एव विचारभूम्यादावष्टा एव ग्रामगमनेऽष्टावेवमेतानि चतुर्विंशतिसूत्राणि। एवं निर्ग्रन्थिकाया अपि चतुर्विंशतिसूत्राणीति अथानालोचित एव कथमाराधक इत्याशङ्कामुत्तरं चाह ॥ सेकेणा-मित्यादि ॥ तणसूयंवत्ति तृणाग्रंवा ॥ छिज्जमाणे छिन्नेत्ति ॥ क्रियाकालनिष्ठाकालयारेभेदेन प्रतिक्षणं कार्यस्य निष्पत्तेश्छिद्यमानं छिन्नमित्युच्यते एवमसा वालोचनापरिणतौ सत्यामाराधनाप्रवृत्तं आराधक एवेति ॥ अहयं वत्ति। अहतं नवं (धोयंति) प्रक्षालितं ॥ तंतुग्गयंति तत्रोद्गतं तुरीवेमादेरुत्तीर्णमात्रं ॥ मंजिट्ठदोणीएत्ति ॥ मांजिष्ठरागभाजने ॥ भ० टी० ॥

आराधकत्वविराधकत्ववक्तव्यताऽऽराधकशब्दे १ मार्यिनोना स्त्याराधेनति आलोयणाशब्दे २ शीलसम्पन्नश्रुतसंपन्नादीनां देशाराधकत्वसर्वाराधकत्वादि पुरुषजातशब्दे ।०३॥

तदात्मके द्वात्रिंशत्तमे योगसंग्रहे च० (आराहणा य मरणंते) मरणरूपोऽन्तो मरणान्तस्तत्रेत्यतो द्वात्रिंशद्योगसंग्रहण इति सम० स० ३२ । प्रश्न० द्वा० ५ । आव० (इयाणि आराहणाय मरणंतित्ति आराहणाए) मरणकाले योगाः संगृह्यन्ते तत्रोदाहरणं प्रति गाथापश्चार्द्धमाह आराहणाइ मरुदेवा ओसप्पणिए पढमसिद्धा ॥

आसीत्पुर्यां विनीतायां, भूपतिर्भरतेश्वरः ॥
श्रुत्वा विभूषितं तं च, मरुदेवाऽभ्यधादिदं ॥१॥

त्वत्पितापीदृशीं त्यक्त्वा, विभूषामेककोऽभ्रमत् ॥
उवाचभरतः क्वासौ, भूतिम तस्य यादृशी ॥२॥

चेन्न प्रत्येषि तद्यामो, निर्ययौ भरतेश्वरः ॥
मरुदेवीं करिस्कंधे, ऽधिरोप्य प्रभुसनिधौ ॥३॥

श्रुत्वा समवसरणे, देवेभ्योस्याः स्तवं प्रभोः ॥
आनंदाश्रैर्दृशा नीलो, नगतोऽपश्यत्प्रभोः श्रियं ॥४॥०

आथोचे भरतो मातः ! पुत्रभूषा विलोकिता ॥
कुतो ममेदृशी साय, चिंतयंतीप्रमोदतः ॥५॥

विवेंशाऽपूवकरणं, जातिस्मृतिरभून्ननु ॥
वनस्पते र्यदुद्वृत्ता, करिस्कंधजुषोऽप्यथ ॥६॥

उत्पन्नं केवलं मक्षु, प्राप प्रथमसिद्धतां ॥
ईदृगाराधनायोगा, ज्ञायते योगसंग्रहः ॥७॥ आ० कथा ।

मोक्षाराधनहेतुत्वादाराधना, आवश्यके, आवश्यकस्यैकार्थि-कान्यधिकृत्य (नाओ आराहणामग्गो) अनु० ॥

आराहणाभिमुह–त्रि० (आराधनाभिमुख) आराधनाया स-म्पूर्णमोक्षमार्गानुपालनाया अभिमुखः सम्मुखः कृतोद्यम इत्यर्थः आराधनायां कृतोद्यमे० पा० ॥

अराहणी–स्त्री० (आराधनी) आराध्यतेपरलोकापीडया यथावद भिधीयते वस्त्वनयत्याराधनी, द्रव्यभावभाषाभेदे (आराहणी-ओदव्वे सच्चे मोसाविराहणी होइ) दश० अ० ७ ॥

आराहणोवउत्त–त्रि० (आराधनोपयुक्त) आराधनया उक्तमार्थ-प्रतिपत्त्या आराधनायां वा उपयुक्त उद्यतः सावधान आरा-धनोपयुक्तः आराधनयोपयुक्ते, आराधनायामुपयुक्ते च (आरा-हणोवउत्ते विततो आराहगो होइ) आतु० ॥

आराहिता–अव्य० (आराध्य) सेवनं कृत्वेत्यर्थे, (आराहिता आणाए अनुपालइत्ता) आराध्य यथोक्तोत्सर्गापवादनयविज्ञानेन सेवनं कृत्वेति-उक्त० अ २९ सम्पाद्येत्यर्थ, पं० व० ॥कल्प०॥

आराहिय-(आराधित) आ०राध-णिच् क्त सेविते, वा संपादिते, पं० व० सम्यक्पालितति । आतु० । सम० ॥ परितोषं प्रापिते- (आराहितो रज्जसपट्टबंधं कासीयरायाउदुवक्खरस्स) आराधितः केनाऽपि गुणविशेषेण परितोषं प्रापित इति- वृ० (हरिणगमेसिं देवं भत्ति बहुमाणेणं आराहिया) आ० म० अखडिते, (जह चेव उ मोक्खफला आणा, आराहि आ जिणिंदाण) पं० व० ॥ (निष्ठां नीते, अहिंसालक्षणं प्रथमं संवरद्वारमधिकृत्य (आराहियं आणाए,) आराधितमेभिरेवप्रकारै-र्निष्टांनींतमिति - प्रश्न० सं० द्वा० । (आराहिया विभवइ) एभिरेव प्रकारैः सम्पूर्णनिष्ठां नीता भवतीति० स्था० ठा० ७ (आराहियं पयारेहिं सम्ममेएहिं निट्ठवियं) आराधितञ्चैव एभिरेव प्रकारैर्निष्ठां नीतमिति० प्रव० । उपा० अ०१ आराहियनाणदंसणचारित्तजोगनिस्सल्लसुद्धसिद्धालयमग्गभि-मुहाणं, सम० । नि० चू १ आचा०-

आराहियसंजम–त्रि० (आराधितसंयम) परिपालितसंयमे (आराहिय-सजमाय सुरलोग पडिनियत्ता-सम० ।

आरि (य)–त्रि० (आरित) आरितो आयरितो सेवितो वा एगट्ठं ति-आ० चू०। आकारिते० आरिओ आगारिओ स्सरिओ वा एगट्ठंति आव०॥

आरिस–त्रि० (आर्ष) विवाहभेदे, गोमियुनदानपूर्वमार्ष इति० ध० सं०॥

आरु (रो)ग–न० (आरोग्य) अरोगस्य भावः प्यञ् रोगशून्यत्वे, रोगाभावे, उत्त० अ० २७॥

आरोग्ये सति यद्व्याधि, विकारा भवंति नो पुंसां।
तद्धर्म्मारोग्ये, पापविकारा अपि ज्ञेया ॥८॥

टी०॥ आरोग्ये रोगाभावे सति ज्ञायमाने यद्वदिति यथा व्याधिविकारा रोगाविकारा भवंति नो पुंसामारोग्यवतां तद्वदिति तथा धर्म्मारोग्ये धर्म्मरूपमारोग्यं तस्मिन्सति पापविकारा अपि वक्ष्यमाणा न भवतीति विज्ञेया षो० वि० ३॥ नीरोगतायाम् उत्त० अ० ३॥ आरोग्यं नीरूजत्वं प्राक्तनसहजौत्पातिकरोगविरहणम्। षो० विव० ३ स्था० ठा० १०। आरोग्गसारियं माणुसत्तणं सव्वसारिओ धम्मो विज्ञानिच्छियसारा सुहाइ संतोससाराइति १। दोषाणां समत्वं चारोग्यम् "तेषां समत्वमारोग्यं क्षयवृद्धीविपर्य्यय" इतिवचनात् नं०। भावतः सम्यक्त्वे मोक्षे च लोकोत्तरतत्वप्राप्तिमधिकृत्य आद्यं भावारोग्यं बीजं चैषां रपरस्य तस्यैव। आदौभवमाद्यं भावारोग्यं भावरूपमारोग्यं तच्चेह सम्यक्त्वं तद्रूपत्वाल्लोकोत्तरंतत्वंतत्प्राप्तेर्बीजं चैषां लोकोत्तरत्वसंप्राप्तिः परस्पर प्रधानस्य तस्यैव भावारोग्यस्य मोक्षलक्षणस्य रागद्वेष-मोहानां तन्निमित्तानां च जातिजरामरणादीनां भावरोगरूप-त्वादिति० षो० वि० ४। अरोगस्य भाव आरोग्यं सिद्धत्वे ध० अधि०। २ आव०॥ आबाधारहिते त्रि० कल्प०। ज्वरादिवर्जिते, आरोग्गा अरोगा ज्वरादिवर्जिता इति० स्था० ठा० ४ (आरोग्गारोग्गं दारयं पाया) आरोग्या आबाधारहिता सा त्रिशाला आरोग्यं आबाधा-रहितम्०। कल्प। जण्णं रयणिं तिसला खत्तियाणी समणं भगवं महावीरं आरोआरोग्गं पसूया। आचा० अ० ४।

अरुग्गदिय–पुं० (आरोग्यद्विज) उज्जयिनीवास्तव्ये द्विजे। तत्कथाच ध० २०॥

अत्थि पुरी उज्जेणी, सक्कवि भूसिया हरितणुव्व।
किंतु गयलक्खकलिया, बहुसंखसिरीइ उवगूढा ॥१॥

तत्थत्थि देवगुत्तो, विप्पो गुत्तिंदिओ पवरगुत्तो।
सुविहिअसदाणंदा, नंदानामेण तस्स पिया ॥२॥

जाउताणसुओ जंमप, मिइरोगेहिं मुच्चए नव।
अवहियनामो रोगुत्ति, चेव सो विस्सुओ जाओ ॥३॥

कइया वि तस्स गेहे, भिक्खत्थं कोवि वरमुणीपुत्तो।
पाडिन्नं सुयं पाएसु, माहणेणं इमो भणिओ ॥४॥

रोगोवसमोवायं, इमस्स पहुकहसुकारुन्नं।
सेससुया णतेहिं, कहा न कहिज्जइ इयमुणी आह ॥५॥

तो तेणं मज्झण्णे, सह नियपुत्तेण गंतुउज्जाण।
नमिऊण तयं पुट्ठो, एवं सो महरिसी आह ॥६॥

पावाओ होइ दुक्खं, तं पुण धम्मो नासए खिप्पं।
जलणपलित्तं गेहं, सलिलपवाहेण विज्झाइ ॥७॥

धम्मेण सुवण्णेणं, सिग्घं नासति सयलदुक्खाइ।
एया रिसाइ नियमा, नयमा न य हुंति पुणो परभवे वि ॥८॥

इय सुणिउंते बुद्धा, गिहत्थधम्मं दुवे वि गिण्हंति।
दढधम्मो सो माहण, पुत्तो जाओ विसेसेण ॥९॥

धारिजइ इतो सायरो, कल्लोलमिन्नकुलसेलो।
न हु अन्नं जंमनिम्मि, य सुहासुहो दिव्वपरिणामो ॥१०॥

इच्चाइ विलयंतो, रोगायंके सहेइ संयमिमो।
सावज्जंच विविग्गिं मणसा वि न पच्छइ कयावि ॥११॥

अहहरणा दढधमुत्ति, संसिउ सो कयावि तो इच्छा।
पत्ता असद्दहंता दुवे सुराविज्जरूवधरा ॥१२॥

जंयंति इमं बालं, पउणे मोजई णो किरियं।
तस्स पयाणहि पुट्ठं, सोकेरिसया इमो बित्ति ॥१३॥

महुअवलोहो पढमे, पहरे चरिमे ओजन्नसुरपाणं।
नवणीयं जूयं कूरं, निसि सहपियएण भुत्तव्वं ॥१४॥

तो दियपुतेणुतं, इमेसि एगंपि नेव पकरेमि।
वयमंगभीरूचित्तो, जीववद्दो तह फुडो चेव ॥१५॥

उक्तंच॥ मद्ये मांसे तथाक्षोद्रे तक्रान्नीतेनवोद्धृते।
उत्पद्यंते विलीयंते, तद्वर्णाः सूक्ष्मजंतवः ॥१६॥

विज्जेहि तओ भणिओ, देहसिणं धम्मसाहणं मद्दं।
जह वा तह वा मउणिय, पत्थापत्थन्नमायरसु ॥१७॥

तथाचोक्तं। सव्वत्थसंजमसंजमावो, अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ, पुणोविसोही नया विरई ॥१८॥

सो आहभ इ विसोही, पछावी करिस्स एतओएयं।
किंकीरइ पढमं पि हु, भद्दा कद्दमफरिसणं च ॥१९॥

इय स याण हितित्तेण, वि भणिओ वि न जाव मन्नए एसो।
ताते पमुइयचित्ता, अमरा पइडंतिनियसरूवं ॥२०॥

कहिओ सक्कपसंसं, नीरोगणू कओ इमो तेहिं।
तुट्ठो से सयणगुणो, राया पुलयकिओ जाओ ॥२१॥

तं दट्ठुपाहट्ठमणा, जयपयडं जइणधम्ममाहप्पं।
बुद्धा बहवे जीवा, वयपालणउज्जुया जाया ॥२२॥

तप्पभइ इमो लोए, आरुग्गदिओत्ति विसुओ जाओ।
पालियवयाइ जाओ, कमेण सुहभावणं एसो ॥२३॥

एवमारोग्यविप्रस्य वृत्तंवरं। धीरधर्म्मात् श्रु त्वैतद्यमत्कृत्परं
भव्यलोका निशम्य प्रकंपां सदा पालयध्वंव्रतानि स्फुरत्संपदाः॥

आरु(रो)ग्गफल–त्रि० (आरोग्यफल) आरोग्य साधके (अवितहमारोग्गफलं, धण्णोऽहं जेणिमं णायं) पंचा वृ० १५।

आरु(रो)ग्गबोहिलाभ–पुं० (आरोग्यबोधिलाभ) आरोग्याय बोधिलाभ आरोग्यबोधिलाभः आव०। अरोग-

स्य भाव आरोग्यं सिद्धत्वं तदर्थं बोधिलाभः अर्हत्प्रणीत-धर्मप्राप्तिरारोग्यबोधिलाभः । मोक्षायार्हत्प्रणीतधर्मप्राप्तौ,

कित्तिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरोग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दितु ध० २ अ०।

अरोगस्य भाव आरोग्यं सिद्धत्वं तदर्थं बोधिलाभ आरोग्य बोधिलाभःप्रेत्य जिनधर्मप्राप्तिर्बोधिलाभोऽभिधीयते । सचाऽनि दानो मोज्ञायैव प्रशस्यते इति । आव० २ अ० (आरुग्गबोहिलाभं समाहिवर मुत्तमं दिंतु) इत्यारोग्यबोधिलाभस्य प्रार्थनयुक्तत्वं (णियाण) शब्दे व्याख्यास्यते ॥

आरु(रो)ग्गबोहिलाभाइपत्थणाचित्ततुल्ल–त्रि० (आरोग्य-बोधिलाभादिप्रार्थनाचित्ततुल्य) आरोग्यबाधिलाभादीनां आरोग्-बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंत्वित्येवं रूपा या प्रार्थना तत्प्रधानं यच्चित्तं मनस्तेन तुल्यं समानम् । तथाच पञ्चाशके - तपोऽधिकृत्य आरोग्गबोहिलाभाइ पत्थणचित्ततुल्लंति, पंचा० वृ० १९

आरु(रो)ग्गसाहग–त्रि० (आरोग्यसाधक) आरोग्यनिष्पादके, ध० अ० १

आरुस्स–अव्य० (आरुष्य) कोपं कृत्वेत्यर्थे, (आरुस्स विज्झंति तु देणपिट्ठे) सूत्र श्रु० १ अ० ५ (आरुस्स विज्झंति ककाणओ सो) आरुप्य क्रोधं कृत्वेति सूत्र० श्रु० १ अ० ५।

आरुह–(आरुह) आ० रुह भ्वा० प० अनिट्-सक् आरोहणो आरूहेश्चडवलग्गौ ८ अ० ४ वा इति प्राकृतसूत्रेणारूहेरेतावादेशौवा चडइ वलग्गइ-आरुहइ-प्रा०। चडति वलग्गति आरुहतीति एगट्ठं नि० चू० उ० १८॥

आरुहमाण–त्रि० (आरोहयत्) आरोहणं कुर्वति आरुहमाणे वा ओरुहमाणे वा स्था० ठा० ५

आरू–पुं० (आरू) ऋ ऊ-णिच् पिंगलवर्णे आरूशब्दार्थे कर्कटशूकरादौ च ततः संज्ञायां कन् (आडु) हिमाचल प्रसिद्धौषधीभेदे वाच०॥

आरूढ–त्रि० (आरूढ) आ० रुह, कर्त्तरि क्त-वाच० । आश्रिते (तवनियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी) विशे०॥ आरूढ आश्रित इति आ० चू० प्राप्ते, (आरूढाः शुद्धभुमिकाम्) आरूढाः प्राप्ताः अष्ट० (आरूढेपाउपाहिंव) पिं०। मत्तं च गंध हत्थिं च, वासुदेवस्स जेट्ठगं । आरूढो सोहइ अहिय, सिरे चुडामणी जहा । (सिया रयणं तओ समारूढो) उत्त० अ० २२

आरूढहत्थारोह–पुं० (आरूढहस्त्यारोह) आरूढमहामात्रे (आरूढहत्थारोहे) आरूढा हस्त्यारोहा महामात्रा येषु ते तथा। विपा० अध्य० २

आरेग–पुं० (आरेक) आ-रिच्-घञ् आकुञ्चने-अतिरेके च० वाच०॥

आरेगा–स्त्री० (आरेका) शंकायाम् (विजहित्तु विसोत्तियं) आचा० विहाय परित्यज्य विस्रोतसिकां शंकां सा च द्विधा सर्वशंका देशशंका चत्र तत्र सर्वशंका किमस्त्यार्हतो मार्गोन वेति । देशशंका तु किं विद्यन्तेऽप्काया-दयो जीवा विशेष्य प्रवचनेऽभिहितत्वात् स्पष्टचेतनात्मलिङ्गाभावान्न विद्यन्ते इति चेत्येवमादिकामारेकां विहाय सम्पूर्णाननगारगुणाननु-पालयेत् आचा०॥ अ० १ उ० २॥

आरेण० अव्ययं आरादित्यर्थे वृ०॥

आरोअ–(उल्लस) भ्वा० पर० सेट्० उल्लासे उल्लसेरूसलो-सुम्भणिल्लसपुलआअंगुजोल्लारोआः ॥४॥ २०१॥ इति प्राकृतसूत्रे-णोल्लसरारोअ इत्यादेशः । आरोअइ उल्लसइ प्रा०॥

आरोव–पुं० (आरोप) आरुप् णिच्करणे ल्युट् अन्यपदार्थे-ऽन्यधर्मस्यावभासरूपे मिथ्या ज्ञाने-वाच०।

अनारोपसुखं मोह, त्यागादनुभवन्नपि । आरोपप्रियलोकेषु वकुमाश्चर्यवान् भवेत् ॥७॥ अष्ट०॥४॥

आरोवण–न० (आरोपण) आरुप्-णिच् ल्युट्-आरोपशब्दार्थे, आरोहणासम्पादने च, आर्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् कुमा० रघुः वाच०॥

आरोवणा–स्त्री० (आरोपणा) आरोप्यतइत्यारोपणा। प्राय-श्चित्तभेदे, व्य०। आरोप्यतेइति आरोपणा । प्रायश्चित्ताना-मुपर्युपर्यारोपण यावत् षएमासाः परतो वर्द्धमानस्वामितीर्थे आरोपणायाः प्रतिषेधात् ॥ व्य० उ० १॥

सांप्रतमारोपणाप्रायश्चित्तमाह ॥

पंचादी आरोवणा, ने यव्वा जावहुंति छम्मासा।
ते पणगादियाणं, वण्हु वरिसो ज्झोसणं कुज्जा॥

रात्रिंदिवपंचकादारभ्यारोपणापंचादिः । रात्रिंदिवपंचकादिका आदिशब्दाद्दशपंचदशविंशति रात्रिं दिवमा सिकादिपरिग्रहा ज्ञातव्याः । तावद्यावत्षएमासा भवंति नाधिकं य त एवं तेन प्रकारेण तेषां षण्णां मासाना मुपरि (पणगाइया णंति) रात्रिं दिवपंचका दीनां ज्झोषणामपनयनं कुर्यात् । षण्मासाना मुपरि य दापपद्यते प्रायश्चित्तं तत्सर्वं त्यज्यते इति भावः । उक्तं च चूर्णौ (छम्मासाणंपरं जं आवज्जइ तं सव्वत्थ हिज्जइति) अत्र चोदक आह । किं कारणं न दिज्जइ छम्मासाणं परतो उ आरूवणा। भणइ ण मोजं कारणाज्झोसियो सेसा। षएमासानां परत आरोपणा प्रायश्चित्तं न दीयते। अत्र किंकारणमाचार्यः प्रतिवचनमाह जं कारणंति निमित्तकारणंहेतुषु सर्वा विभक्तय इति वचनात् अत्र हेतौ प्रथमा । ततोऽयमर्थः । येन कारणेन षण्मासानां परतः शेषाणि रात्रिंदिवपंचकादीनि प्रायश्चित्तानि झोषितानि त्यक्तानि तत्कारणं पुनरिदं वक्ष्यमाममिति गुरुर्भणति ।

तदेव कारणं दर्शयति।

आरोवणानिप्पन्नं, छउमत्थे जंजिणेहिमुक्कोसा।
तंतस्स उतित्थं, ववहरणं धन्नपिडगं च॥

छद्मस्थे छद्मस्थकाले यत् जिनैः स्वस्वकालापेक्षया उत्कृष्ट-तपः कर्म्म कृतं तस्य तीर्थे तुरेवकारार्थो भिन्नक्रमश्च सचैवं योजनीयस्तदेव तावत्प्रमाणमेवारोपणानिष्पन्नं तपः कर्म्म व्यवह्रियते इति व्यवहरणं बहुलवचनात्कर्म्मण्यनट् व्य-वहारणीयमिति भावः । किमित्येवत आह। धान्यपिटकमिव धान्यप्रस्थक इव । किमुक्तं भवति । येन राज्ञा यो धान्यप्रस्थकःस्थापितस्तत्काले स एव व्यवहर्तव्यो न पुरातनो नाप्यन्यः स्वमतिपरिकल्पितस्तथा भगवताऽपि तीर्थकरेण येन छद्मस्थकाले यावत्प्रमाणमुत्कृष्टं तपः कर्म्म कृतं तस्य तीर्थे आरोपणानिष्पन्नं प्रायश्चित्तमपि तावत्प्रमाणमेव व्यवहारणीयं नाधिकमन्यथा

राजाज्ञाखडनतोराजप्रयुक्तदंडस्येव भगवदाज्ञाखंडनतः संसारदंडस्य प्रवृत्तेः ॥

एनमेव धान्यपिटकदृष्टांतं भावयति ॥

जो जया पत्थिवो होश, सो तया धन्नपच्छगं ।
ठावेअन्नं पुरिल्लेणं, ववहारी य दंडए ॥

यो यदा पार्थिवः पृथिवीपतिर्भवति । स तदा स्वकाले धान्य प्रस्थकमन्यं स्थापयति । तस्मिंश्च स्थापिते ये (परित्तेणंति) पुरातनेनोपलक्षणमेतत् स्वमतिपरिकल्पितेन व्यवहरंति तान्तथा व्यहरतो दंडयति । एवं तीर्थकृदपि भगवान् यो यावरप्रमाणमुत्कृष्टं तपः कर्म्म छद्मस्थकाले कुर्वन् तपः कर्म्मपरिमाणं स्थापयति । स स्वतीर्थेतावत्प्रमाणादधिकं तपः कर्म्मव्यवहरतः संसारदंभेन दंडयति । तस्मात्तस्य तीर्थे तावत्प्रमाणमेव व्यवहर्तव्यमिति ॥

अथ कस्य तीर्थे कियत्प्रमाणं तपः कर्म्मेत्यत आह ॥

संवच्छरं तु पढमे, मज्झिमगाणट्ठ मासियं होइ ।
छम्मासपच्छिमस्स उ, माणं भणियं तु उक्कोसं ॥

प्रथमे प्रच्छमतीर्थकरकाले मानं तपःकर्म्मपरिमाणमुत्कृष्टं भणितं संवत्सरमेव तुरेवकारार्थःमध्यमकानां द्वाविंशतितीर्थकृतां तपः कर्म परिमाणमुत्कृष्टं भवत्यष्टमासप्रमाणं पश्चिमस्य तुभगवतो वर्द्धमानस्वामिनः तपः कर्म परिमाणमुत्कृष्टं भणितमिति । षण्मासाः । अत्रैव भूयः शिष्याशंकामाह ॥ पुणरविचाणइ ततो, पुरिमा चरिमाविसमसोहीया । किहसुज्झंती तेन, चोयगइण मोसुण सुवोत्थं ॥

एवमनंतरोदिते सूरिणाऽभिहिते पुनरपि शिष्यश्चोदयति ॥ प्रश्नयति यदि नामैवं ततः पूर्वा आदितीर्थकरतीर्दुवतिनश्चरमाः पश्चिमतीर्थकरतीर्थवीतनो विषमशोधिका विषमप्रायश्चिता अभवन् । ततः कथं ते विषमशोधिका अविशेषेण शुध्यंति । सर्वात्मना शुद्धिमासादयंति न खलु कारणवैषम्ये कार्यवैषम्यं दृष्टमत्र तु विषमं प्रायाश्चित्तं विशोधिस्तु सर्व्वे षामप्यविशेषेण तुल्या ततो दुर्घटमेतदिति भावः । अत्र सूरिर्यत्प्रायश्चित्त वैषम्ये कारणं यथा च कारणविषमतायामपि तुल्या विशोधिस्तदेत-त्प्रतिपिपादयिषुः प्रथमतः प्रायश्चित्तवैषम्ये कारणममिधि-त्सुरिदमाह । चोयगेत्यादि हे चोदक ! उपपन्नप्रश्नकारिन्न प्रायश्चित्तवैषम्ये इदं वक्ष्यमाणं कारणं वक्ष्ये तच्च वक्ष्य-माणमवहितमनाः शृणु । प्रतिज्ञातमवहितमनाः शृणु । प्रतिज्ञातमेव निर्व्वहियति ।

कालस्य निद्वयाए, देहबलंधिइबलं चजंपुरिमे ।
तदणंतभागहीणं, कमेण जा पच्छिमो अरिहा ॥

पुरिमे पूर्वे आदितीर्थकरतीर्त्थकालस्य स्निग्धतया हेतुभूतया प्राणिनां देहबलं शरीरबलं तदुपदिष्टं ततो धृतिबलं च यत् आसीत् तत् अवसर्प्पिणीकालस्य तथा स्वभावतया क्रमेण प्रति-क्षणमनंतभागहीनं तत् तावदायातं यावत्पश्चिमो भगवानर्हद्वर्द्धमानस्वामी ततः शारीरबलस्य धृतिबलस्य च विषमत्वात् विषमं प्रायश्चित्तं । तथा चाह ।

संवच्छरेणाविनतेसि आति, जोगाण हाणी दुविहे बलंमि । जेया विधिज्ञादिअणोववेया, तद्धम्मया सोहय एतएवि ॥

तेषामादितीर्थकरतीर्थवर्तिनां साधूनां द्विविधे बले शारीरे बले धृतिबले च अत्यंतमुपचयं प्राप्ते सति संवत्सरेणाऽपि संवत्सरप्रमाणमपि तपः कुर्वतां न योगानां संयमव्यापाररूपाणां हानिरासीत् ॥ मध्यतीर्थवर्तिनां द्विविधमप्येवं क्रमेणानंतभागहीनम् पश्चिमतीर्थकरतीर्थवर्तिनाम-त्यंतहीनमतो मध्यमकानां संवत्सरप्रमाणं तपः कुर्वतां महती योगहानिरिति तेषामष्ट-मासिकमुत्कृष्टं तपः कर्म्मव्यवस्थापितम-पश्चिमतीर्थकरतीर्थवर्तिनां तदपि कुर्वतां योगहानिः षाण्मासिकमुत्कृष्टं तपः कर्म्म तेषां प्रवर्तितं । तदेवम्तं प्रायश्चितवैषम्येकारणं । संप्रतितुल्यां विशोधिं प्रतिपादयति । ये चापि मध्यमतीर्थकरतीर्थवर्तिनश्चधैर्या द्यनुपेता धैर्येण धृतिबलेन आदिशब्दात् संहननबलेन च कालदोषतोऽनुपपेताः । तएवित्ति तकानपि तद्धर्म्मता तेषामि व आदितीर्थकरतीर्थवर्तिनामिव धर्म्मोऽशठत्वादिकस्वभावो येषां ते तद्धर्माणस्तद्भावस्तद्धर्म्मता सा शोधयति । इयमत्र भावना । इह अशठभावेना-निगूहितबलवीर्यतया यथाशक्ति तपः कर्म्मणि प्रवृत्ति-विशोधिरांतरंकरणं तच्च बाह्यतपः कर्म षोवैषम्येऽपि सर्वेषामप्यविशिष्टमतः सर्वेषांतुल्या विशोधिः । युक्तं चै तत् । तथाहि प्रथमतीर्थकरतीर्थेऽपिनसर्वेषां देहबलंच समानमथ च सर्वेषामप्यशठभावतया प्रवृत्तेस्तुल्या विशोधि रेवमत्रापि-भावनीयमित्यदोषः । अत्रैव निदर्शनमाह ॥

पत्थगा जे पुरा आसी, हीणमाणाउ तेधुणा ।
माणभंडाणि धन्नाणि, सोहिं जाणितहेवय ॥

ये पुरा पूर्वे काले प्रस्थका आसन् । ते कालदोषतः क्रमेण हीना हीनतरा जायमाना अत्यंतहीनमाना जातास्तथापि धान्यानि मानभांडानि प्रस्थकादिपरिमाणपरिच्छेद्यानि तथैव संख्या-व्यवहारस्य सर्वदाऽप्यविशिष्टत्वात् । एवमिहापि प्रायश्चित्तानां वैषम्येऽपि अशठभावेन तपः कर्म्मणि प्रवृत्तिरांतरंकारणं सर्वेषामप्यविशिष्टमिति शोधिमपि तुशब्दस्यापि शब्दार्थस्य भिन्नक्रमत्वात् । तथैव धान्यानां प्रस्थकपरिच्छेद्यतामिव तुल्यां जानीहि । प्रस्थकदृष्टांतेन सर्वत्र तुल्यां विशोधिमवबुध्यस्वेति भावः । उक्तमारोपणाप्रायपश्चित्तम् ॥ व्य० उ० १ ॥

आरोपणा पञ्चविधा । स्था० ठा० ५ ।

आरोवणा पंचविहा पण्णता तंजहा पट्ठविया ।
ठविया कसिणा अकसिणा हाडहडा ॥

आरोपणोक्तस्वरूपा तत्र (पट्ठवियत्ति) बहुष्वारोपितेषु यन्मासगुर्वादि-प्रायश्चित्तं प्रस्थापयति वोढुमारभते तदपेक्षयाऽसौ प्रस्थापितेत्युक्ता ॥१॥ (छवियत्ति) यत्प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य स्थापितं कृतं न वाहयितुमा-रब्धमित्यर्थः ॥ आचार्य्यादिवैया-वृत्यकरणार्थं तद्वि वहन्न शक्नो ति वैयावृत्यं कुर्त वैयावृत्यसमाप्तौ तु तत्करिष्यतीति स्थापितोच्यत इति२ ॥ कृत्स्नापुनर्यत्र ज्झोषेनक्रियते झोषोस्त्वयमिह तीर्थे षण्मासांतमेव तपस्ततःषण्णां मासानामुपरियान् मासानापन्नोपराधी तेषां क्षपणमनारोपणं प्रस्थे चतुः सेतिकातिरिक्तधान्यस्येव काटनमित्यर्थः । झोषाभावेन सा परिपूर्णेति कृत्स्नेत्युच्यत इतिभावः ३ अकृत्स्ना तु यस्यां षण्मासधिकं झोष्यते तस्या हि तदतिरक्तकाटनेना-परिपूर्णत्वादिति ॥४॥ (हाडहडेति) यल्लघुगुरुमासादिकमापन्नस्तत्सद्य एवं यस्यां दीयते सा हाडहडोक्तोति एतत्स्वरूपं च विशेषतो निशीथविंशति-तमोद्देशकादवगन्तव्यमिति ॥

कति भेदा आरोपणाया उच्यते पंच तथा चाह व्य० १ उ०॥

(पट्ठवितिया) पठविया कसिणाऽकसिणा तहेव हाडहडा आरोपणा पंचविधा पंचप्रकारा तद्यथा प्रस्थापित्तिका स्थापिता त्कृश्ना हाडहडाच। एषा पंचप्रकाराऽप्यारोपणा प्रायश्चित्तस्य। तच्च प्रायश्चित्तं पुरुषजातेः कृतकरणादौ यथायोग्य मवसेयमेष गाथासंक्षेपार्थः।

इदानीमेतामेव गाथां व्याख्यानयन्प्रथमतः प्रस्थापितिकादि भेदचतुष्टयं व्याख्यानयति॥

पट्ठवित्तिया वहंते, वेयावच्चट्ठिया ठवितिया उ।
कसिण्णाज्झोसविरहिया, जहिज्झोसोसा अकसिणाओ॥

यदारोपितं प्रायश्चित्तं वहति एषा प्रस्थापितिका आरोपणा यो वैयावृत्त्यकरणलब्धिसंपन्नः आचार्यप्रभृतीनां वैयावृत्यं कुर्वन् यत्प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्यारोपितमपि स्थापितं क्रियते। यावत् वैयावृत्त्यपरिसमाप्तिर्भवति। द्वौ योगावेककालं कुर्तमसमर्थ इति कृत्वा सा आरोपणा स्थापितिका। कृत्श्ना नाम यत्र झोषो न क्रियते। अकृत्श्ना यत्र किंचित् ज्झोष्यते। हाडहडा त्रिविधा तद्यथा सद्योरूपा स्थापिता प्रस्थापिता च तत्रेयं सद्योरूपा॥

उग्घायमणुग्घायं, मासादितवो उदिज्जए सव्वं।
मासादी निक्खित्तं, जं सेसं दिज्जए तं तु॥

उद्घात लघु अनुद्घातं गुरु यत् मासादिमासिकमादिशब्दात् द्वैमासिकं त्रैमासिकं वा इत्यादि तप आपन्नस्तद्यदि सद्यस्तत्कालं दीयते न कालक्षेपेण तदा सा हाडहडा आरोपणा स द्योरूपा यदि पुनर्यन्मासादिकमापन्नस्तत् वैयावृत्यमाचार्यादीनां करोतीति स्थापित क्रियते। तस्मिश्च स्थापिते यदन्यत् झोष-मुद्घातमनुद्घातं वा पद्यते तत्सर्वमपि प्रमादनिवारणाथमनुदघातं दीयते सा हाडहडा आरोपणा॥

स्थापिता प्रस्थापितायाः स्वरूपमाह॥

छम्मासादि वहंते, अंतरे आवण्णे जा उ आरूवणा।
सा होति अणुग्घाया, तिन्नि विगप्पा उ चरिमा य॥

षाएमासिकं तपो वहन् आदिग्रहणात् पांचमासिकं चातुर्मासिकं त्रैमासिकंद्वैमासिकं वा वहन् अंतरा यदन्यदापद्यते उद्घा-तमनुद्घातं वा तस्याप्यतिप्रमादनिवारणार्थमनुग्रहकृत्श्ने न चानुद्घातं यत् आरोप्यते एषा हाडहडा आरोपणा प्रस्थापिता। एते त्रयो विकल्पाश्चरमाया हाडहडायाः अथवा इमे त्रयो विकल्पाः।

सा पुण जहन्नउक्कोसा, मज्झिमा तिन्नि वि विगप्पा।
मासो छम्मासा वा, जहण्णुक्कोसजे मज्झे॥

सा हाडहडा आरोपणा त्रिविधा। तद्यथा जघन्या उत्कृष्टा मध्यमा च एते त्रयो विकल्पा हाडहडाया भवंति। तत्र गुरुको मासो जघन्या षएमासा गुरुच उत्कृष्टा एतयोर्द्वयो र्द्वयोर्मध्येये गुरु द्विमासादयो गुरुमासपंचकपर्यंता एषा जघन्योत्कृष्टा हाडहडा सा चतुर्विकल्पा तद्यथा द्वैमासिकगुरुकं त्रैमासिकं गुरुकं चातुर्मासिकं गुरुकं पांचमासिकं गुरुकमिति॥

आयारपगप्पशब्दे आचारप्रकल्पस्याष्टा विंशतिभेदप्रतिपादकं सूत्रमुक्तम्। तद्वी कायामारोपणाभेदा इत्थं॥

तत्र क्वचित् ज्ञानाद्याचारविषये अपराधमापन्नस्य कस्यचित् प्रायश्चितं दत्तं पुनरन्यमपराधविशेषमापन्नस्ततस्तत्रैव प्राक्तने प्रायश्चित्ते० मासवहनयोग्यं मासिकं प्रायश्चित्तमारोपितमित्येव् मासिक्यारोपणा भवति। तथा पंचरात्रिकशुद्धियोग्यं मासिकश्च शुद्धियोग्यं चापराधद्वय-मापन्नस्ततः पूर्वदत्तप्रायश्चित्ते सपंचरात्रिमासिकप्रायश्चित्तारोपणा-त्सपंचरात्रमासिक्यारोपणाष्षट् ६ एवं द्विमासिक्यः ६ त्रिमासिक्यः ६ चतुर्मासिक्यः ६ चतुर्विंशति-शरोपणाः तथा सार्द्धदिनद्वयस्य पक्षस्य चोपघातनेन लघूनां मासादीनां प्राचीनप्रायश्चित्ते आरोपणा उपघातिकारो पणा यदाह॥

अद्धेण छिन्नसेसं, पुव्वद्धेणं तु संजुयं काउं।
देज्जाय लहुपहाणं, गुरुदाणं तत्तियं चेवत्ति॥

यथा मासार्द्धं १५ पंचविंशतिकार्द्धं च सार्द्धद्वादशवर्षं सर्वमीलने सार्द्धसप्तविंशतिरिति लघुमासाः। तथा मासद्वयार्द्धं मासो मासिकस्याऽर्द्धं पक्ष उभयमीलने सार्द्धोमास इति लघुद्विमासिकं २५ तथा तेषामेव सार्द्धदिनद्वयाद्यनुघातनेन गुरूणामारोपणा आनुघातिकारोपणा २६ तथा यावतोऽपराधानापन्नस्तावतीनां तच्छुद्धीनामारोपणा कृत्स्नारोपणा तथा बहूनपराधानापन्नस्य षण्मासांतं तेषु इति षण्मासाधिकतपः कर्म तेष्वेवांतर्भाव्यं। शेषांतर्भाव्यशेषमारोप्यते यत्र सा अकृत्स्नारोपणे-त्यष्टाविंश-तिरेतच्च सम्यग्निशीथविशतितमोद्देशकादवगम्यम्॥सम्० २८ स०॥

आरोपणायाः स्थापनासंचयः पायच्छित्तशब्दे।

तत्प्रतिपादके निशीथाध्ययनभेदे, च आरोपणा यत्रैकस्मिन् प्रायश्चित्तेऽ-न्यदारोप्यत इति प्रश्न० द्वा० ५॥ आव०॥ बंधमोचने, प्रतिलेखने, च (पक्खिया आरोवणा) कल्प० पक्खिया आरोवणत्ति। कोऽर्थःपक्षे २ संस्तारकदवरकाणाम् बन्धा मोक्तव्याः प्रतिलेखितव्याश्चेत्यर्थः। अथवाऽऽरोपणा प्रायश्चित्तम् पक्षे २ ग्राह्यं सर्वकालं वर्षासु विशेषतः। कल्प० प्ररूपणाभेदे, च विशे०।

तत्रारोपणा इयं केत्याह॥

किंजीवो होज्ज नमो, वाजीवोत्ति जं परोपओ।
अज्झारोवणमेसो, पच्छाणुजोगो मयारूवणा॥

किं जीव एव भवेन्नमस्कारः नमस्कार एव वा जीवो भवति यत्परम्परावधारणादध्यारोपणं पर्युनुयोजनं एष पर्युनेयाग आरोपणा मता सम्मतेति॥आ० म०॥ आ० चू०॥

आरोवणापायच्छित्त—न० (आरोपणाप्रायश्चित्त) आरोपणमेका-पराधप्रायश्चित्ते पुनःपुनरासेवनेन विजातीयप्रायश्चित्ताद्या-रोपणमा-रोपणा यता पञ्चरात्रिन्दिवं प्रायश्चितमापन्नः पुन स्तत्सेवने दशरात्रिन्दिवं पुनः पंचदशरात्रिदिवमेवं यावत् षएमासान् ततस्तस्याधिकं तपो देयं न भवत्यपि तु शेषतपांसि तु तत्रैवान्त-र्भावनीयानि इह तीर्थे षएमासान्तत्वात्तपस इति उक्तश्च॥

पंचाईयारोवणे, नेयव्वा जाव होंति छम्मासा।
तेण परमासियाणं, छण्हुवरिं झोसणं कुज्जत्ति॥

आरोपणायाः प्रायश्चित्तमारोपणाप्रायश्चित्तं। प्रायश्चित्तभेदे। स्था० ठा० ४।

आरोवणिज्ज—त्रि० (आरोपणीय) आरुह्-णिचच्अनीयर्आरोपार्हे, आरोप्ये वस्तुनि-वाच०॥

आरोवप्पिय—त्रि० (आरोपप्रिय) आरोपो मिथ्योपचारः प्रियो यस्य स आरोपप्रियः मिथ्योपचारप्रिये, ॥

अनारोपसुखं मोह, त्यागादनुभवन्नपि ॥ आरोपप्रियलोकेषु, वक्तुमाश्चर्य्यवान्भवेत् ॥१॥ अष्ट० ॥

आरोवसुह–न० (आरोपसुख) आरोपजे सुखे–अष्ट०।

आरोविज्ज–त्रि० (आरोप्य) आ-रुह-णिच् कर्मणि यत्-आरोपणीये, यथा मुखं चन्द्र इत्यादौ मुखे चंद्रत्वमारोप्यं ॥ वाच० ॥

आरोलइ–धा (पुञ्जि) पुञ्जीकरणे पुंजेरारोलवमालौ ४ ॥१०२॥ इति प्राकृतसूत्रेण पुंजेरेतावादेशौवा, आरोलइ० वमालइ० पुजइ पुंजयति प्रा० ॥

आरोस–पुं० (आरोष) म्लेच्छजातिभेदे–प्रश्न द्वा० १ ॥

आरोह–पुं० (आरोह) आरुह घञ्-आक्रमणे, नीच-स्थानादूर्ध्वदेशगमने, अङ्कुरादिप्रादुर्भावे-शर्ब्दच० गज-वाजिनामुपरिगमने दीर्घत्वे वाच० (आरोहो दिग्धतं) व्य० उ० ५ ॥ उत्त० अ० १ दशा० ॥ उचितदैर्घ्ये-स्था० ठा ७। उच्छ्राये आरोहो नाम शरीरेण नातिदैर्घ्यं नातिह्रस्वता अथवा आरोहः शरीरोच्छ्राय इति -वृ० । उच्चत्वे च नितम्बे वरारोहा मत्तकाशिन्युत्तमा वरवर्णिनीअमरः । सारमा न वरारोहा, उद्भटः । आरोहैर्निविडवृहन्नितम्ब-बिम्बैः माघः वाच०।

आरोहतीत्यारोहः हस्त्यारोहादौ, नि० चू० न० ९ ॥

आसाणय हत्थीणय, दमगा जे पढमताए विणएंति ॥
परियट्टमेणुपच्छा, आरोहा जुद्धकालंमि ॥१०२॥

जे पढमं विणयं गाहेंति ते दमगा जे जवजोगासणेहिं वावारं वा वहेंति तो मदा जुद्धकाले जे आरुहंति ते आरोहा ॥

आरोहइयव्व–त्रि० (आरोहयितव्य) आरोपणीये, व्य० उ० १

आरोहग–त्रि० (आरोहक) आरुह० ण्वुल् आरोहणकर्त्तरि० वाच० हस्तिपके (वरपुरिसारोहगपंपउत्ताणं अट्ठसयं गयाणं) तत्रारोहका हस्तिपकाः औ० ॥

आरोहण–न० आ० (आरोहण) रुह ल्युट्-नी चस्थानादूर्ध्वस्या नगमने वाच० ॥ आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् कुमा० अङ्कुरादिप्रादुर्भावे च० आरुह्यतेऽनेनकरणे० ल्युट् सोपाने च०। आरोहण स्यात् सोपानम्० । अमरः वाच० ॥

आरोहणिज्ज–त्रि० (आरोहणीय) आरोहणं प्रयोजनमस्य अनु प्र० आरोहणसाधने पदार्थे, आरुह० कर्मणि० अनीयर्० आरोढुं योग्य हयादौ वाच०।

आरोहपरिणाह–पुं० (आरोहपरिणाह) शरीरस्याऽरोहसमः परिणाहः । शरीरोपसम्पद्भेदे० व्य० उ० ५। आरोहपरीणाहो, आरोहो नाम शरीरेण नातिदैर्घ्यं नातिह्रस्वता परिणाहो नातिस्थौल्यं नाति दुर्बलता अथवा आरोहः शरीरोच्छ्रयः परिणाहो बाह्वोर्विष्कंभ एतौ द्वावपि तुल्यौ न हीनाधिकप्रमाणविति । वृ० ।

आरोहो दीर्घत्वं परिणाहो विष्कंभो विशालता तत्र यावताऽरोहस्तावान् यदि विष्कंभो भवति तदा एषा उपसंपत् आरोहपरिणाहे ज्ञातव्या ॥ व्या० उ० ५ ॥

आरोहपरिणाहजुत्तता–स्त्री० (आरोहपरिणाहयुक्तता) आराहो दैर्घ्यं परिणाहो विस्तरः ताभ्यां तुल्याभ्यां युक्तता आरोह-परिणाहयुक्तता। शरीरसम्पद्भेदे, उत्त० अ० १ ॥

आरोहपरिणाहयुक्तता उचितदेर्घ्यविस्तारता इत्यर्थः स्था० ठा० ४ ॥

आरोहपरिणाहसंपण्ण–पुं० (आरोहपरिणाहसम्पन्न) शरीरसम्प-द्भेदे। आरोहपरिणाहसपण्णे यावि भवइ, इह चारोहो दैर्घ्यं परिणाहो विस्तारस्ताभ्या सम्पणेः चापि शब्दा-वन्यांगसुन्दरत्वख्यापकाविति यन उच्यते लौकिकेरेपि यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्तीति। दशा० ॥

आरोहुं–अव्य० (आरुह्य) आरोहण कृत्वेत्यर्थे (आरोहमुणि-वणियामहग्घसालंगरयमपडिपुण्णं) आरोहुमिति समारुह्य के मु निवणिजः दर्श०।

आल–न० (आल) आ-अल् पर्य्याप्तौ० अच्-अनल्पे श्रेष्ठे च त्रि वाच०। प्राकृतोक्ते मत्वर्थके प्रत्ययभेदे च । **आल्विल्लोल्लालवत्तमन्त-त्तेरमणामतोः ॥८।२॥१५९॥** प्रा० सू० सद्दालो जडालो फडालो रसालो प्रा० व्या०। उक्तंच मतुयंछमिमुणे ज्झह आले इल्लं मण च मतुयं चेति-आव०।

आलइय–न० (आलिंगित) आरोपिते-उपा० अ० २। आविद्धे जी० प्र० ४। परिहिते, कल्प०।

आलइयमालमउड–त्रि० [आल(लिं)गितमाल(ला)मुकुट] आलगितमा-लमारोपितस्रक् मुकुटो यस्य स तथा तस्मिन् उपा० अ० २ आलगितो यथास्थानं परिहितो मालामुकुटा येन स तथा तस्मिन् कल्प० ॥ मालाच मुकुटश्च मालामुकुटं आलगि तमाविद्धं मालामुकुटं येन स आलगितमालामुकुटः । आविद्धमालामुकुटे जी० प्र० ४ (आलइयमा-लमउडे) आलगितमालामुकुटः कृतकण्ठे मालः आविद्धशिरसि मुकुट इति भावः ॥ आ० म० । भ० श० ३ उ० २ ॥

आलंकारियसभा–स्त्री० (आलंकारिकसभा) चमरचंचा-राजधानीस्थे सभाविशेषे, आलंकारिका यस्यामलंक्रियत इति स्था० ठा० ५ ॥

आलंद–न० (आलन्द) कालविशेषे, तत्रोदकार्द्रः करो यावता शुष्यति तत आरभ्योत्कृष्टतः पंचरात्रिदिवानि यावत्कालोऽत्र समयपरिभाषय लंदमित्युच्यते। विश० ॥

आलंदिय–त्रि० (आलंदिक) आलदस्यानतिक्रमेण चरतीति। आलन्द-चारिणि, विशे० ॥

आलंबण–त्रि० (आलम्बन) आलम्ब्यतेऽवष्टभ्यते दुर्गपर्वता-दिस्थानमधिरोढुकामैरित्यालम्बनं दर्श०। आश्रये (आलंबणं च मे आया अवसेसं च वोसिरे) आलम्बनं चाश्रयोऽवष्टंब आ धार इत्यर्थः। आतु०। (आलंबणेण केणइ) आलम्बन इ त्यालम्बनम् प्रपतनाधारणस्थान् तेनालंबनेन केनचिदिति आव०। (जो मरणदेशकालेन होई आलंबणं किंचि) आलं बनमाधारभूतं) तं०। (मेढिआलम्बणं खंभं) आलम्बनं हस्ताद्याधारः । ग० अधि० १ (जमणेगत्थालंबणम-पज्जुदासपारकुचियं चित्तं) यच्चितं यन्म-नोऽनेका-र्थालम्बनमनेकार्थप्रतिभासांदोलितमिति विशे० ॥ आलम्बनेन चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रति मादिनेति । षो० ॥ आलंबनं द्विधा द्रव्यतो गर्तादौ निमज्जतो रज्वादि। भावतः संसारगर्तायां निपततां ज्ञानादि। वृ०। ध० अधि० ३ नि० चू० उ० १ आलंविज्जति जं तमालंबणं दुविहं दव्वे वल्लि वियाणाइ भावे य णाणादि । नि० चू० । आ लबि-

कर्मणि ल्युट् । आलम्ब्यन्ते आश्रीयन्ते तान्यालम्बनानि । औ० आश्रयणीये, आलम्बनादाश्रयणीया-दिति ॥ स्था० ठा० ३ यान्यालम्बन्यन्ते तान्यालम्बनानि भ० श० २५ उ० ७ कारणे प्रव० द्वा० १०४ ॥ नि० चू० उ० । कारणमालंबणं मोत्त, कारणं नामा लंबनम् आ० म० प्र० अ० १ ॥ (सपच्चवाएण निरालंबणेणं, निष्कारणे न प्रत्यपायसंभवे वा त्राणायालंबनीयवस्तुवर्जितेनेति ज्ञा० अ० ९ ।० आलंब्यत इत्यालम्बनम् । प्रवृत्तिनिमित्ते,आव० । आलम्ब्यते निश्चलङक्रियते मनो येनेत्यालम्बनम् उत्त० अ० २४ । प्रयोजने, (आलंबणे य काले मग्गे जयणाए चेव परिसुद्धं) आचा० अ० २ उ० ३ नि०उ० १० आलं-बणेत्यादितः प्रवचन संघगच्छाचार्य्यादिप्रयोजनम् आचा० । पुष्टालम्बनस्य मूलगुणप्रतिसेवने न दोषः वृ० । अथापुष्टा-लंबनोनिरालंबनो वा प्रतिसेवते । ततः संसारोपनिपातमासादयति ॥

तथाचात्र दृष्टांतमाह ।

तुच्छमवलंबमाणो पेहति निरालंबतो यदुग्गंमि ।
सालंबनिरालंबे, अह दिट्ठंतो णिसेवंतो ॥

इहालंबनं द्रव्यभावभेदाद्द्विधा तत्र गर्त्तादौ पतद्भिर्यद्द्रव्यमालं व्यते तत् द्रव्यालंबनं तच्च द्विधा पुष्टमपुष्टं च । अपुष्टं दुर्बलं कुशवल्वकादि पुष्टं बलिष्ठं तथाविधकठोरवल्यादि भावा-लंबनमपिपुष्टापुष्टभेदात् द्विधा पुष्टं तीर्थव्यवच्छित्तिग्रंथा-ध्ययनादि अपुष्टं शठतया स्वमतिमात्रोत्प्रेक्षितमालंबनमात्रं । ततश्च द्रव्यालंबनं पुष्टम-पुष्टमवलंबमानो निरालंबनो वा यथा दुर्गे गर्त्तादौ पतति यस्तु पुष्टालंबनमवलंबते स सुखेनैवात्मानं गर्त्तादौ पतन्तं धारयति । एवं साधोरपि मूलगुणाद्यपराधान्निषेवमाणस्य सालंबनिरालंबविषयोऽथायं दृष्टांतो मंतव्यः ॥ किमुक्तं भवति । योनिरालंबनोऽपुष्टालंबनो वा प्रतिसेवते स आत्मनं सारगर्त्तायां पतंतं न संधारयितुं शक्नोति । यस्तु पुष्टालबनः स तदवष्टभादेव संसारगर्त्तं सुखेनैवातिलंघयति ॥ अथ कस्मादालम्बन-मन्वेषणीयमित्याह ॥

सालंबणो पडंतो, अप्पाणं दुग्गमे विधारेइ ।
इअसालंबणसेवा, धारेइ जइं असढभावं ॥६॥

कानि पुनस्तान्यालम्बनानीत्याह ॥

काहं अछित्तिअदुवा अहीहं, तवोवहाणेसु व उज्जमिस्सं ।
गणं वनिइए बहुसारविस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मुक्खं ॥

व्या० काहमित्यादिवृत्तं यः कश्चिदेवं चिंतयति यथा करिष्याम्यहमत्र स्थितोऽछित्तिमव्यवस्थितिं जिनधर्म्मस्येति शेषो राजादेर्जिनशासनावतारणादिभिः (अदुवेति) अथवा अहमध्येष्ये सूत्रतोऽर्थतश्च द्वादशांगं दर्शनप्रभावकाणि वा शास्त्राणि यदि वा तपोलब्धिसमन्वितत्वात्तपोविधानेषु नानाप्रकारेषु तपस्सु उज्जमिस्स इति उद्यस्यामि उद्यमं करिष्यामि गणं वा गच्छं वा (नीईमुयत्ति) सप्तम्यास्तृतीयार्थत्वान्नीतिभिः सूत्रोक्तैर्निः सारयिष्यामि गुणैः प्रवृद्धिं करिष्यामि स एवं सालंबनसेवी । एतैरनंतरोदितैरालंबनैर्यतनया नित्यवास्मपि प्रतिसेवमानो जिनाज्ञानुल्लंघनात्समुपैति प्राप्नोति मोक्षं सिद्धिं तस्मात्तीर्थाव्यवच्छेदा दिकमेव यथोक्तज्ञानदर्शनचारित्राणां समुदितानामन्यतरस्य वा यद्वृद्धिजनकं तदालंबनं जिनाज्ञावशादुपादेयं नान्यत् ॥१४॥

संप्रति सिसाधयिषितार्थव्यतिरेकदर्शनायाह ॥

आलंबणहीणो पुण, निमडइ रवलिओ अहे दुरुत्तारे ।
इअनिक्कारणसेवी, पडइ ववोहे अगाहंमि ॥८॥

टी० ॥ आलंबनहीनः पुनर्निपतितः स्खालतः क्व आह दुरुत्तारे गर्त्तायां दुरुत्तारायां इय एवनिःकारणसेवी साधुः पुष्टालंबनरहित इत्यर्थः । पतति भवौधे अगाधे पतति भवगर्त्तायां अगाधायां अगाधता पुनरस्यादुःखेनोत्तरणसंभवादिति गाथार्थः ॥ यथा चरणविकला असहायज्ञानदर्शनपक्षमालम्बत्येवं नित्यवासा-द्यथाह ॥

जेजत्थ जया भग्गा, ओगासं ते परं अविंदंता ॥
गंतु तत्थ चयत्ता, इमं पहाणंति घोसंति ॥९॥

टी० ॥ ये साधवः शीतलविहारिणः यत्र नित्यवासादौ यदा यस्मिन्काले भग्नानिर्व्विणा अवकाशं स्थानं ते परं अन्यत् (अविंदंतित्ति) अलभमानाः गंतुं तत्र शोभने स्थाने अश क्नुवंतः किंकुर्वंति इदं पहाणंति घोसंति यदस्माभिरंगीकृतं सांप्रतं कालमाश्रित्येदमेव प्रधानमित्येवं नाघोषयंति ॥९॥ आव० ३ अ० । आ० क० द्वा० १४ अत्र सार्थेन दृष्टांतः ।०

स्वल्पोदकतरुच्छायं सार्थः कश्चिद्यथापथं ॥
प्रपन्नस्तत्रकेऽप्यस्थुः, परिश्रमजुषोऽलसाः ॥१॥

तिलतंदुलिकप्राया, स्वपि छायासु निर्वृताः ॥
तैस्तैर्जलैश्च गडुलै, शब्दयत्यपरानपि ॥२॥

प्रधानमिदमेवात्र, स्थानमित्यर्थके च न ॥
ये तद्वचः प्रपद्यास्यु स्ते क्षुत्तृड्दुःखिनोऽभवन् ॥३॥

स्वीचक्रे तद्वचोयैर्न, तमध्वानं विलंघ्यते ॥
शीघ्रं शीतोदकच्छायं, सुखमाजोऽथतेऽभवन् ॥४॥

यथा ते पुरुषास्तस्युः, पार्श्वस्थाद्यास्तथालसाः ॥
ये तूद्यमात्तं निस्तीर्णाः सुखिनस्ते सुसाधवः ॥५॥

साम्प्रतं यदुक्तमिदं प्रधानेमिति धोषयंति तद्दर्शयति ॥

निअयावासविहारं १, चेइ अमत्तिंच २ अज्जिआ लाभं ३
विगईसु अपडिबंधं, निद्दोसं चोअिं बिंति ॥१०॥

पडिदारगाहा २ ॥ टी०॥ नित्यवासेन विहरंतंनित्यवासक-ल्पमित्यर्थः चैत्येषु भक्तिस्तां च चशब्दात्कुलकार्यादिपरिग्रहः । आर्थिकाभ्योलाभस्तंक्षीराद्या विगतयो अभिधीयते ॥ तासु विगतिषु प्रतिबंध आसंगं निर्दोषं चोदिता अन्येनोद्य तवि-हारिणोब्रुवते भणंतीति गाथार्थः ॥

अधुना चेइयदारं गाहा ॥

चेइ अकुलगणंसघे, अन्नं वा किं चि काउ निस्साणं ।
अहवा वि अज्जवइरं, तो सेवती अकरणिज्जं ॥

चैत्यकुलगणसंघं अन्यद्वा किंचिदपुष्टमव्यवस्थित्यादिकृत्वालंबनमित्यर्थः । कथं नास्ति कश्चिदिह चैत्यादि प्रति जागरूकः अतोऽस्माभिरसंयमोऽङ्गीकृतः । माभूच्चैत्यादिव्यवच्छेद इति अथचाय्यवैरं कृत्वा निश्रांततः सेवंते अकृत्य असंयमं मंदधर्मा इति गाथार्थः ११५ आव० अ० ३ ॥

चेइअपूआ किं, वइरसामिणो सुअपुव्वसारेणं ।
न कया पुरिआइ तया, मुक्खंगं सा वि साहूणं ॥११५॥

टीका ॥ अक्षरार्थः सुगमः । भावार्थस्त कथानका-

दवसेयस्तच्च कथितमेव तत्र वैरस्वामि नमालंबनं कुर्वाणा इदं नेक्षंते मदधियः । किमित्याह ॥

ओहावणं परेसिं, सतित्थ उब्भावणंच वच्छल्लं ।
न गणंति गणे माणो, पुव्वुचिअ पुप्फमहिमं च ॥१६॥

टी० ॥ अपभ्राजनां लांछनं परेषां शाक्यानां स्वतीर्थो द्भावनां च दिव्यकरणेन तथा वात्सल्यं श्रावकाणां एतन्न गणयंत्यालंबनानि गणयतः संतः तथा पुव्वेचिय पुप्फमहि मं च गणयंतीति पूर्वावचितैः प्राग्गृहीतैः पुष्पैः कुसुमैर्महिमा यात्रा तामिति गाथार्थः १६ ॥ चैत्यभक्तिद्वार गतं ॥

अधुनार्यिकालाभद्वारम् । तत्रेयं गाथा ॥

अज्जियलाभे गिद्धा, सएणलाभेणजे असंतुट्ठा ।
भिक्खायरिया भग्गा, अन्निय पुत्तं ववइसंति ॥

अन्निअपुत्तायरिओ, भत्तं पाणं च पुप्फचूलाए ।
उवणीअं भुंजंतो, ते णवभावे अंतगडी ॥

टी० अक्षरार्थोनिगदसिद्धः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्च अन्विकापुत्राचार्यशब्दे । तेन मंदमतय इदमालंबनं कुर्वतः इदमपरं नेक्षंते ॥ किमत आह ॥

गयसीसगणं ओमे, भिक्खायरिआ अपच्चलं थेरं ।
न गणंति सहो विसढो, अज्जिअलाभं गवेसेज्जा ॥

टी० गतः शिष्यगणोऽस्येति समासस्तं ओमे दुर्भिक्षे भिक्षाच-र्य्यायां अप्पच्चलो असमर्थः भिक्षाचर्य्यायां अपचल असमर्थस्तं स्थविरं वृद्धं एवं गुणयुक्तं न गणयंति नालोचयंति सहा विसढा समर्थाः अपि शब्दात् सहायादिगुणयुक्तत्वेऽपि शठा मायाविन आर्यिकालाभं गवेषयंतीति अन्विषत इति गाथार्थः ११८ ॥

गतमार्यिकालाभद्वारं विकृतिद्वारमधुना तत्रेयं गाथा० ।

भत्तं वा पाणं वा, भूत्तूणं लावललिअमि विसुद्धं ।
तोवञ्जपडिच्छन्ना, उदायणरिसिव्व वइसंती ॥२०॥

टी० ॥ भत्तं वा ओदनादि पानं वा द्राक्ष पानादि भुक् त्वा उपभुज्य (लावललिवियति) लोपेत्तं अशुद्धं विगतिसपर्कदोषात् तथाच निः कारणे प्रतिषिद्ध एव विगतिपरिभोगः ॥ उक्तंच ॥

विगतिं विगति भीया, विगतिगयं जो ऊ भुंजति साहू ।
विगति विगतिसहावा, विगति विगतिं वलानेति ॥

ततः केनचित्साधुना चोदिताः संतोऽवद्यप्रतिछन्नाः पाप-प्रच्छादिता उदायनार्षेव्यवदिशत्थालंबनतयेति गाथार्थः ॥१०॥ आव० ३ अ० ॥

कथाचेयम् ।

आसीदुदायनो नाम, राजा वीतभयाधिपः ।
राज्ये निवेश्य जामेयं, प्रव्रज्यां स्वयमग्रहीत् ॥१॥

भिक्षाहारस्य तस्याभूद्, व्याधिर्वैद्यैरभाणि सः ।
केवलं दधि भुंजीथा, येन व्याधिर्न वर्द्धते ॥२॥

राजर्षिस्तु व्रजेष्वस्था, त्तत्रयत्सुलभं दधि ।
सोऽगाद्गीतभयेऽन्येद्यु, स्तत्र तज्जामिसूनृपः ॥३॥

ऊचेऽमात्यैः स्वराज्यार्यी, जितसर्वपरीषहैः ।
राजर्षिराजगामात्र, राज्यं दास्यामि सोऽवदत् ॥४॥

उक्तस्तैनार्प्यते राज्यं, चिराद् व्युद्ग्राहितोऽथ सः ।
पशुपाल्यैकया साधोः, सविषं दध्यदापयत् ॥५॥

दुष्टाः पुनरमात्यास्ते, सर्वत्राऽप्यादिशन् पुरे ।
राजर्षेरस्य युष्माभि, र्दातव्यं सविषं दधि ॥६॥

हृत्वा तद्ववताभाणी, न्महर्षे ! सविषं दधि ।
त्यजैतत्त्यक्तमेतेन, पुनर्व्याधिरवर्द्धत ॥७॥

पुनर्दध्याददे सोऽथ, पुनर्देव्यहरद्विषं ।
एवं तत्पृष्ठतो लग्ना, देवता संचचार सा ॥८॥

तस्याः प्रमादतोऽन्येद्यु, र्बुभुजे सविषं दधि ।
तत्तापार्त्तः शुभध्यानः, केवलं प्राप्य निर्वृतः ॥९॥

तस्य शय्यातरः कुंभ, कारो देवतया तदा ।
सिनपल्यां कृतो राजा, राजर्षेर्भक्तिमानिति ॥१०॥

कुंभकारकृतमि ते, तन्नाम्नाऽजनि तत्पुरं ।
पांशुवृष्ट्या पुनर्वीत, भयं सर्वं स्थलीकृतं ॥११॥

ऋषिहत्याकरमिति, कोपाद्देवतया तदा ।
कारणाद्धधिभुग्युक्तः, कर्त्तुमालंबनं न सः ॥१२॥ आ० क० ॥

सीअललुक्खाणुचिअं, वएसु विगईगएण जावंतं ॥
हट्ठा वि भणंति सट्ठा, किमासि उद्दायणो न मुणी ॥२१॥

टी० । शीतलं च तद्रुक्षं च शीतलरुक्षं अन्नमिति गम्यते । तस्याऽननुचितः अननुरूपः नरेन्द्रप्रव्रजितत्वाद्रोगाभिभूतत्वाच्च शीतलरुक्षाननुचितस्तं व्रजेषु गोकुलेषु विगतिंगतेन विगतिं यातेन यापयंतं (हट्ठावित्ति) समर्था अपि भणंति शठाः किमासीत् (उद्दायणो न मुनिः) मुनिरेव विगत्ति परिभोगे सत्यपि तस्मान्निर्दोष एवायमिति गाथार्थः ॥७॥ एवं नित्यवासादिषु मंदधर्माः संगमस्थविरादीन्यालंबनान्याश्रित्य सीदंति । अन्ये पुनः सूत्रादीन्येवाधिकृत्य तथाचाह ॥ आव० ॥

सुत्तत्थबालबुड्ढे, असहूदव्वाइआवईओ अ ।
निस्साणपयं काउं, सत्थरमाणा विसीअंति ॥२२॥

सूत्रश्चार्थश्च बालश्च वृद्धश्च सूत्रार्थबालवृद्धाः । तान् तथा असहश्च द्रव्याद्यापदश्च असहद्रव्याद्यापदस्तांश्च निश्राणां आलंबनानां पदं कृत्वा संस्तरंतोऽपि संयमानुपरोधने वर्तमाना अभिसंतः सीदंति । एतदुक्तं भवति । सूत्रं निश्रापदं कृत्वा यथाहं पठामि तावत्किं ममाऽन्येन एवमर्थं निश्रापदं कृत्त्वा शृणोमि तावत् एवं बालत्वं वृद्धत्वं असहत्वं असमर्थत्वमित्यर्थः । एवं द्रव्यापदं दुर्लभमिदं द्रव्यं, तथा क्षेत्रापदं क्षुल्लकमिदं क्षेत्रं, कालापदं दुर्भिक्षं वर्त्तते, तथा भावापदं ग्लानोऽहमित्यादि, निश्रापदं कृत्वा संस्तरंतोपि विषीदंत्यल्यसत्वा इति गाथार्थः ॥२२॥

आलंबणाण लोगो, भरिओ जीवस्स अजउकामस्स ॥
जं जं पिच्छइ लोइ, तं तं आलंबणं कुणइ ॥२३॥

टी० ॥ आलंबनानां प्राङ्निरूपितशब्दार्थानां लोको मनुष्यलोको भूतः पूर्णो जीवस्य (अजतुकामस्सति) अयतितुकामस्य तथा चायतितुकामो यद्यत्पश्यात लोके नित्यवासादि-

तत्तदालंबनं करोतीति गाथार्थः ॥२३॥

किंच द्विविधाभवंति प्राणिनो मंदश्रद्धास्तीव्रश्रद्धाश्च तत्रान्यत् मंदश्रद्धानामालम्बनमन्यच्च तीव्रश्रद्धानामित्याह च ॥

जे जच्छ जयाजईअ, बहुस्सुआ चरण्णकरणपब्भट्ठा ॥
भट्ठा जं ते समायरंती, आलंवणं मंदसद्धाणं ॥२४॥

टी० ॥ ये केचन साधवो यत्र ग्रामनगरादौ यदा यस्मिन् काले सुखमदुःखमादौ (यइयत्ति) यदा दुर्भिक्षादौ बहुश्रुताचरण-करणप्रभ्रष्टाः संतः यत्ते समाचरति। पार्श्वस्थादिरूपं तदालंबनं मदश्रद्धानां भवतीति वाक्यशेषः। तथा ह्याचार्या मथुरामगुः सुभिक्षेऽप्याहारादिप्रतिबंधापरित्यागात्पार्श्वस्थ्छतामभजत्तदेवमपि नूनं जिनैर्धर्म्मो दृष्ट एवेति गाथाभिप्रायः ॥२४॥

जे जत्थ जया जेइअ, बहुस्सुआ चरणकरणसंपत्ता ॥
जं ते समायरंती, आलंबणं तिव्वसद्धाणं ॥२५॥

ये केचन यत्र ग्रामनगरादौ यदा सुखमदुःखमादौ (जइयत्ति) यदा च दुर्भिक्षादौ बहुश्रुताश्चरणकरणसंपन्नाः यत्ते समा चरंति भिक्षुप्रतिमा तदालम्बनं तीव्रश्रद्धानां भवतीति गाथार्थः ॥आव० ३ अ०॥

आलंबनं रज्वादि तद्वदापद्गर्तादिनिस्तारकत्वादालम्बनम् आलम्बनसदृशे, च० भ० श० १८ उ० २ (आहारभूए आलंबणे) आलंबनं वस्त्रादिकमिव। ज्ञा० अ० ७॥ (मेढी आलम्बणं) खंभं) आलंबनं हस्ताद्याधारः तत्समानः यथा हस्ताद्याधारो गर्तादौ पतंतं जंतुं धारयति तथाचार्योऽपि भगवर्ते पतंतं गच्छं धारयतीत्यर्थः ग० अधि० १ (मेढीयपमाणे आहारे आलंबणे) आलंबनं रज्वादि तद्वदापद्गर्तादिनिस्तारकत्वादालम्बनम् राज०। आलम्ब्यत इत्यालम्बनम् भावेऽनट्प्रत्ययः कर्म०॥ अवष्टम्भे यथा मंदशक्तिः कश्चित् नगरे परिभ्रमणाय यष्टिमवलम्बते ततस्तदवष्टंभते। जातसामर्थ्यविशेषः सन् तान् प्राणापानादिपुद्गलान् विसृजतीति० कर्म० प्र०। गृहणशब्दे निर्ग्रन्थीनां ग्रहणं वक्ष्यते।

आलंबणजोग–पुं० (आलंबणयोग) आलम्बनवाच्ये पदार्थे अर्हत्वस्वरूपे उपयोगस्यैकतानत्वाम्। एतस्य बहुवक्तव्यता योगशब्दे अष्ट०॥ सालम्बनो निरालम्बनश्च योगः परो द्विधा ज्ञेयः। सह आलंबनेन चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रतिमादिना वर्तत इति सालम्बनम् षो० वृ० १३। योगभेदे च अष्ट०।

आलंबणभूय–त्रि० (आलम्बनभूत) आलम्बनसदृशे, (आलं-बणभूए) आलंबनं रज्वादि तद्वदापद्गर्तादिनिस्तारकत्वादालंबनम्। ज्ञा० अ १।

आलंबमाण–त्रि० (आलम्बमान) बाव्हादौ गृहीत्वा धायति, देशतः करेण गृह्णाति च। वृ०।

आलंबि(न्)–न० (आलम्बिन्) आ लबि णिनि, आश्रयिणि, ''गजाजिनालम्बिदुकूलधारिवा''। कुमा०॥ वाच०॥

आलंबिय–त्रि० (आलम्बित) लबि क्तः धृते, गृहीते, च वाच०।

आलंभ–पु० (आलम्भ) आलभ् घञ् नुम् संस्पर्शे १ हिंसने २ च वाच०॥

आलंभिय–न० (आलम्भिक) स्वनामख्याते नगरे, यत्र चुल्ल-शतको गृहपतिरासीत् स्थानांगे चुल्लशतकमधिकृत्य (सवाल-म्भिकाभिधाननगरनिवासी) स्था० ठा० १। (आलंभियणयरं मज्झं मज्झेण णिग्गच्छइ) भ० श० ११ उ० १२॥ आलम्भि कायां नगर्य्यां यत्प्ररूपितं तत्प्रतिपादक उद्देशकोऽप्यालंभिक इत्युच्यते। ततो-ऽसौ द्वादशः भगवत्या एकादशशतकस्य द्वादशे उद्देशे च॥

आलंभिया–स्त्री० (आलम्भिका) स्वनामख्यातायां नगर्य्याम् भ० श० ११ उ० १ (ततोभयवं आलंभियं नयरीं गतो) आ० म०। कल्प०॥ आ० चू०॥

अस्या वर्णको भगवत्याम् यथा॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं आलंभिया णामं णयरी होत्था वण्णओ संखवणे चेइए वण्णओ तत्थणं आलंभिया ए णयरीए बहवे इसिभद्दपुत्तप्पामोक्खा समणोवासगा परिवसंति। अड्ढे जाव अपरिभूए अभिगयजीवाजीवाजाव विहरंति॥ भ० श० ११ उ० ११।

आलत्त–त्रि० (आलप्त) आभाषिते, (आलत्ते वाहिते,) आलप्तोनाम आर्य! किं तव वर्त्तत इत्येवमाभाषित इति वृह०। (सेवगपुरीसो उ कोइ आलत्तो) आलप्तः संभाषि त इति। व्य० उ० २॥ शब्दिते, ततश्चालप्ताः शब्दिता वा तूष्णिंभावं भजन्ते०। आचा० अ० ६ उ० ४। आलपने० न० (आलत्तमादिकज्ञत्था) आलप्तमालपनम्० व्य० उ० १०।

आलद्ध–त्रि० (आलब्ध) आ लभ क्त सं सृष्ट, संयुक्ते, स्पृष्टे, हिंसिते, च०।

आलप्प–त्रि० (आलाप्य) आ० लप० कर्मणि० एयत्० कथनीये० णिच्० यत्० आभाष्यते० वाच०।

आलवंत–त्रि०(आलपत्) ईषद्वदति, (आलंवते लबंते वा) आलपति सति ईषद् वदति सति० उत्तत अ० १ सकृल्लपति, च० (आलवित्तएवा) आलपितुंवा सकृत् प्रति०। आलपनं कुर्वति, च (आलवंताणं मुरयाणं नंदिमुइंगाणं) मुरजमृदंगनंदिमृदंगाना-मालपनम्। राज०। आ० चू०।

आलय–पुं० (आलय) आलीयतेऽस्मिन्० आ० ली० आधारे च० आधारे वाच० आश्रये, स्था० ठा० ३ स्था ठा० २॥ जं०॥ आवासे० ओघ०॥ गृहे, तं०॥ स्थाने० विशे० (हिमालयो नाम नगाधिराजः) कुमा० तत्रामरालय मरालमरालकेशी नैष० नहि दुष्टात्मना मार्य्या निवसन्त्यालये चिरम्, रामा० (आलयं देव शत्रूणां सुघोरं खाण्डवं वनम्) भा० आ० प०। आलीयंते साधवोऽत्रेत्यालयः वृ०। वसतौ, स्था० ठा०। आ० चू०। (आलएणं विहारेणं) आलयो वसतिः आव०। अणुत्तरेण० आलएणं, आलयेन स्त्रीषंडादिरहित-वसतिसेवनेन कल्प०॥ उपाश्रये,॥

वृहत्कल्पे उपाश्रयस्यैकार्थिकानधिकृत्य (उवस्सगपडिस्स-गसिज्ञा आलयवसधीनिसीहिया छाणे, वृह०। शरीरे, च०

निसीहिगा सरीरगं वसही थंडिलं च भणति। यतोनिसीहिया नाम आलयो वसही थंडिलं च सरीरस्स आलओ सरीरं जीवस्स आलयोत्ति॥ आ० चू०॥

आलयवर्तिनि, च (आलयविहारसमिओ) आलयः सूचकत्वा-दालयवर्ती सकलकलंकविकलनिषेवीत्यर्थः ध० अधि० ३

भावे घञ् संश्लेषे, मर्य्यादायामव्ययी० लयपर्य्यन्ते० अव्य० वाच०॥

आलयगुण–पु० (आलयगुण) बहिश्चेष्टादौ, प्रतिलेखनादौ, उपशमगुणए च वृ०॥

आलयविन्नाण–(आलयविज्ञान) बौद्धपरिभाषितेक्षणिकविज्ञाने, आव०॥

आलयसामि(न्)–पुं० (आलयस्वामिन्) साध्वाश्रयप्रभौ, (सेज्जायरोत्ति भण्णति आलयस्वामी उ तस्स जो पिंडो) आलयस्वामी तु साध्वाश्रयप्रभुरेवपंचा० वृ० १७

आलयसुद्धाइलिंगपरिसुद्ध–पुं० (आलयशुद्धादिलिंगपरिशुद्ध) आलयशुद्धादीनि वसतिनिर्दोषताप्रभृतीनि यानि लिङ्गानि सुविहितचिन्हानितैःपरिशुद्धोनिश्चितसुविहितभावोयः स आलयशुद्धादिलिङ्गपरिशुद्धःतस्मिन्० (तम्हा जहोइयगुणो आलयसुद्धाइलिंगपरिसुद्धो) पंचा० वृ० ११॥

आलवण्ण–न० (आलवण्य) न लवण० न० त० अलवण-स्यभावःष्यञ् लवणस्सभिन्नत्वे नास्तिलवणं यत्र बहु० तलत्वंवा ष्य०अअलवणता-स्त्री० अलवणत्वंतु० न० लवणशून्यत्त्वे वाच०।

आलस–त्रि० (आलस) आलसति, ईषत्व्याप्रियते-अच० क्रियामान्द्ये अलसस्यापत्यम् बिदा० अञ्अलसापत्ये० पुं० स्त्री० यून्यपत्ये हरिता० फञ् आलसायनः तस्य यून्यपत्ये-पु० स्त्री० वाच०।

आलस्स–न० (आलस्य) अलसस्य भावः ष्यञ् अनुद्यमने उत्त० १ अ०॥

औदासीन्ये प्रमादो यत्र आलस्यमौदासीन्यं च हेतुषु आलस्यं च हेतुषु समाधिसाधनेष्वादौसीन्यं माध्यस्थं न तु पक्षपातः द्वा० द्वा० १६॥आ०म०॥

आलाव–पु० (आलाप) आलप्करणे घञ्-वाच० आङ ईषदर्थत्वादीषल्लपनमालापः स्था० ठा० ५ ईषद्भाषणे, ध० अधि० २ असकृत्संभाषण, च (आलावं वा संलावं वा) आलापः संभाषणं संलापस्तदेव पुनः पुनः भ० श० ३ उ० १॥

आलावत्ति सकृज्जल्पं सलाववत्तिमहुर्मुहुर्जल्पं० भ० श० ५ उ० ४॥ ध० अधि० २॥ ईषत्प्रथमतया वा जल्पने, चतुर्भिश्च स्थानैर्निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या सममालापे न दोषः॥ तथाच स्थानाङ्गे स्था० द्वा० ४॥

चउहिं ठाणोहिं णिग्गंथे णिग्गंथि आलवमाणे वा संलवमाणे वा णाइक्कमइ तं० पंच्छं पुच्छमाणे पंच्छं देसमाणे असणं वा पाणं खाइमं वा साइमं वा दलयमाणे दवावेमाणे वा॥

स्था० टी० (चउहीत्यादि) स्फुटं किंतु आलपन्नीषत्प्रथमतया वा जल्पन् संलपन् मिथो भाषणेन नातिक्रामति न लंघयति निर्ग्रंथाचारं (एगो एगत्थिए सद्धिं नेव चिट्ठे न संलवे) विशेषतः साध्व्या इत्येवं रूपं मार्गप्रश्नादीनां पुष्टालम्बनत्वादि ति तत्र मार्गं पृच्छन् प्रश्नीयसाधर्म्मिकगृहस्थपुरुषादीनामभावे हे आर्ये! कोऽस्मा-कमितो गच्छतां मार्ग इत्यादिना क्रमेण मार्गं वा तस्यादेशयन् धर्मशीलेऽयं मार्गस्ते इत्यादिना क्रमेण अशनादि चाददद्धर्मशीले! गृहाणेदं अशनादीत्येवं तथा अशनादि दापयन् आर्ये! दापयाम्येत्तत्तुयं आगच्छेह गृहा दावित्यादिविधिनेति॥ प्रवादे-उच्चारणविधौ च–(एसालवोऽसव्वच्छ) एष ईदृश आलाप उच्चारणविधिः वृह० (आलावोदेवदत्तादि किं भोत्ति किं देवदत्तात्ति०) (अण्णयावेभणे आलावसद्दो सुओ) नि० चू०॥

आलावग–पुं० (आलापक) आ लाप० क० उच्चारणविधौ (एवमिक्केक्के आलावगा भणियव्वा) चत्तारि आलावगा, स्था० ठा० ६॥

आलावण–न० (आलापन) आ लप णिच् भावेल्युट् परस्पर कथोपकथने, आभाषणे, आलापशब्देऽस्य प्रवृत्तिहेतुत्वमुक्तम् स्यादाभाषणमालाप इत्यमरः। स्वस्तिवाचने, च (मंगला-लापनैर्होमैः) रामा० वाच०। संभाषणे, वृ०। सकृत्संभाषणे आव०॥ भाणने० (जो लावसेज्जा असणस्स हेऊ) आला पयेद् भाणयेत्० सूत्र श्रु० अ० ८॥ आ लाप्यते आलोपनं क्रियते एभिरित्यालापनानि० रज्वादौ० भ० श० उ० ९

आलावणबंध–पुं० (आलापनबन्ध) आलाप्यते आलीनं क्रियते एभिरिति आलापनानि रज्वादीनि तैर्बन्धस्तृणादीनामालापन-बन्धः। बन्धभेदे० ब० श० ८ उ० ९।

तथाच भगवत्याम्०

सेकिंतं आलावणबंधे २ जण्णं तणभाराण वा कट्ठभा राण वा पत्तभाराण वा पलालभाराण वा वेल्लभाराण वा वेत्तलया वा गवरतरज्जुवल्लिकुशब्दममाइएहिं आ लावणबंधे समुप्प-ज्जइ। जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जं कालं। सेत्तं आलावणबंधे॥

आलि–पुं० (आलि) वनस्पतिविशेषे,। जी० प्र० ३॥

आलीकदल्यौ वनस्पतिविशेषौ० ज्ञा० ३ अ०॥

आलिग–पुं० (आलिङ्ग) मुरजनामके, वाद्यविशेषे, राज० प्र० ३ आलिंगोमृत्तमयो मुरजः जी० ३ प्र० उतालिङ्गताणं आलिगाण, राज० ।० चू०॥ (आलिंग पुक्खरेइ वा) आलिंग्य वाद्यत इत्यालिंगो मुरजवाद्यविशेषस्तस्य पुष्करं चर्मपुटं तत् किलात्यंतसममिति तेनोपमा क्रियते इति० आ० म० प्र० १ अ० जं०॥

आलिङ्गय–त्रि० आ० लिंग० एयत् आलिंगनीये प्रियादौ, वा च०॥ मुरजनामके वाद्यविशेषे, पु० (अलिंगपुक्खरे इव) आलिंग्यो नाम यो वादकेन मुरज आलिंग्य वाद्यते हृदि धृत्वा वाद्यत इत्यर्थः॥ आलिंग्यो मुरजोवाद्यविशेषः॥ एष यकारान्तः शब्दः। जी० प्र० ३

आलिंगण–न० (आलिङ्गन) आ लिगि ल्युट्-आश्लेषे-अष्ट०। ईषत्स्पर्शने० प्रव० द्वा० १७० नि० चू० उ० १ दश० अध्य० ६

आलिंगनवट्टि–स्त्री० (आलिङ्गनवर्त्ति) शरीरप्रमाणे उपधाने (तारिसगंसि सयणिज्जंसि सालिंगनवट्टिए) सहालिंगन वर्त्त्या शरीरप्रमाणेनोपधानेन यत्तत्तथा-सू० प्र० प्रा० २०। जी० प्र० ३। ब० श० ११ उ० ११। ज्ञा० अ० १

आलिंगणवट्टिया–स्त्री० (आलिङ्गनवर्त्तिका) शरीरप्रमाणे दीर्घे, गण्डोपधौन, आलिंगनवर्त्तिका नाम शरीरप्रमाणं दीर्घ-गण्डोपधानम्। कल्प०॥

आलिंगणिया–स्त्री० (आलिंगनिका) पुरुषप्रमाणे उपधाने, आलिंगनिकायां पुरुषप्रमाणायां राजेति द्ध्या समालिंग्य

राजान्तः पुर्य्यः शेरते० जी० प्र० १

आलिंगपुक्खर–न० (आलिंगपुष्कर) मुरजमुखे, भ० श० २ उ० ८ मुरजमुखपुटे, च भ० श० ६ उ० ७ जं०। आ० म० प्र० १ अ०। राज०॥

आलिंपत–त्रि० (आलिंपत्) आलेपं कुर्वति (आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ) नि० चू०उ० ३

आलिंपावंत–त्रि० (आलेपयत्) आलेपं कारयति (अण्णयरेण वा आलेवणजाएणं आलिंपावंतं वा) नि० चू० उ० १७

आलिधरग–न० (आलिगृहक) आलिर्वनस्पतिविशेषस्तन्मयानि गृहकाणि। आलिमये गृहे, राज०।

आलित्त–त्रि० (आदीप्त) समंततो दीप्ते० "जह आलित्ते गेहे, कोइ पसुत्तं नरं तु बोहेज्जा" आसमन्ततो दीप्ते गृहे, व्य० उ० ३ अंत० ५ अभि० अ० ५ अभिविधिना ज्वलिते, भ० श० २ उ० १ प्रदीपने, न० कोटिमघरे वसंते आलित्तंमि वि न डज्झई तेणे आदीप्तेऽपिप्रदीपनकऽपि न दह्यते इति-व्य० उ० ४

आलिप्त–त्रि० आ० लिप० क्त० कृतालेपने, दत्तादीपने, च वाच०॥

आलिद्ध–त्रि० (आदिग्ध) लग्ने, (अत्थेगइया पुढवीकाइया आलिद्धा) आदिग्धाः शिलायां शिलापुत्रके च लग्ना इति भ० श० १९ उ० ३

आश्लिष्ट–त्रि०। आ० श्लिष् क्त आश्लिष्टे, लघौ ॥४९॥ इति प्राकृतसूत्रेण आश्लिष्टे संयुक्तयोर्यथासंख्यं लध इत्येतौ भवतः प्रा०। आलिंगिते संबद्धे (शिखाभिरश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः। आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैः) इति माघः वाच०।

आलिद्धमणालिद्धवंदण–न० (आश्लिष्टानाश्लिष्टवन्दन) सप्त विंशे वन्दनकदोषे, तच्च (आलिद्धमणालिद्धेरयहरसीसे य होइ चउभंगो) बृ०। अश्लिष्टमनाश्लिष्टं चेति पदद्वयमाश्रित्य रजोहरणशिरसो विषये चतुर्भंगिका भवति। सा च अहोकायं काय इत्याद्यावर्तकान्ते संभवति। रजोहरणं कराभ्यामाश्लिष्यति शिरश्चेत्येको १ रजोहरणं श्लिष्यति न शिर इति द्वितीयः २ शिरःश्लिष्यति न रजोहरणमिति तृतीयो ३ न रजोहरणं न शिरः श्लिष्यति ४ इति चतुर्थो भंग इति अत्राऽऽद्योभंगः शुद्धः। शेषभंगत्रये आश्लिष्टदोषदुष्टप्रकृतवंदनमवतरति। प्रव० द्वा० १ ध० अधि २। आव०। आ० चू० २ अ०॥

आलि(ली)वग–त्रि० (आदीपक) आदीपयत्यन्यगृहमग्निं ना। आ० दीप णिच् एवुल् परगृहस्य दाहके, गृहादिदीपनक कारिषु प्रश्न० द्वा० ३। अग्निदातरि ज्ञा० अ० २ उद्दीपके, च वाच०॥

आलि(ली)वण–न० (आदीपन) आ० दीप णिच् ल्युट् तण्डुलादिचूर्ण-मिश्रितजलेन गृहादौ चित्राकारलेपनभेदे, उद्दीपने, च वाच०॥ ग्रामादिप्रदीपने (आलीवणेहि य) व्या कुललोकानां मोषणार्थं-ग्रामादिप्रदीपनैः। विपा० अ० १।

आलि(ली)विय–त्रि० (आदीपित) आ० दीप णिच् क्त दत्तादीपने गृहाङ्गनादौ, उद्दीपिते, च वाच०॥

आलिसं(सि)दग–पुं० [आलिस(सि)न्दक] धान्यविशेषे दशा० (आलिसंदगत्ति) चपलकाः जं० टी० (आलिसदगत्ति) चवलकप्रकाराः चवलका एवान्ये। भ० श० ६ उ० ७

आलिह–स्पृश् स्पर्शे तु० पर० सक० अनिट्। स्पृशः फास-फंसफरिसछिवछिहालुंखालिहाः ॥८१॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्पृशतेरालिहादेशः आलिहइ प्रा०॥ स्पृशति अस्प्राक्षीत् अस्पार्क्षीत् अस्पृक्षत् पस्पर्श। वाच०॥

आलिहमाण–त्रि० (आलिखत्) विन्यस्यति, (आलिहमाणे २ अषुप्पविसइ) आलिखन् २ विन्यस्यन् २ अनुप्रविशति॥जं०॥

आलिहिज्जमाण–त्रि० (आलिख्यमान) विन्यस्यमाने, (मंडले हिंआलि-हिज्जमाणेहिं) जं०॥

आली–स्त्री० (आली) सख्याम्॥प्रा०॥

आलीढ–त्रि० (आलीढ) आ-लिह-क्त-यु द्धासनविशेषे॥वाचा०॥ तत्र दक्षिणमूरुमग्रतो मुखं कृत्वा बाममूरुं पश्चान्मुखं प्रासारयति। अंतराबद्ध्योरपि पादयोः पंचपदोः ततो वामहस्तेन धनुर्गृहीत्वा दक्षिणहस्तेन प्रत्यंचामाकर्षति तत् आलिढम्॥ व्य० उ० १ आ०म-अ-१॥ आ-चू॥ उत्त० १ अ०। नि० चू० उ ११

आलीण–त्रि० (आलीन) आ ली कर्तरि क्त आश्लिष्टे, वाच० आलिंगिते, कल्प० सुश्लिष्टे, ज्ञा० अ २

किंचिल्लग्ने, च॥ जं०॥ प्राकृते (आलिङोऽल्ली॥५४॥) इति सूत्रेणालियतेः अल्ली इत्यादेशो भवति। अल्लिअइ अल्ली-णो॥प्रा०॥ (अल्लीणयमाणजुत्तस्सवणा) आलीनौ मस्तकभित्तौ किंचिल्लग्नौ नतु टप्परौ प्रमाणयुक्तौ स्वप्रमाणोपेतौ श्रवणौ कर्णौ येषां ते॥ जं०॥ (आलीणे महए विलीणे) आलीनः सर्व-गुणैरालिंगितः॥ कल्प०॥ (आलीणगुत्तोपरिव्वए) आचा० अ ३ उ २॥ भावे क्तः संश्लेषे, न० तत्र साधु अण वंगे धातुभेदे तस्य धात्वन्तरसंश्लेषकारक त्वात् तथात्वं। वाच०॥

आलीणगुत्त–त्रि० (आलीनगुप्त) आङ् मर्य्यादयेन्द्रियरोधादिकया लीन आलीनो गुप्तो मनोवाक्कायकर्मभिः कूर्मवत्संवृतगात्रः। आलीनश्चासौ गुप्तश्चालीनगुप्तः। इन्द्रियरोधादियुते मनोवा-क्कायकर्मभिर्गुप्ते, कूर्मवत्संवृतगात्रे, च आचा० अ० ३ उ० २ (आलीणगुत्तोपरिव्वए) आलीनो गुप्तश्च परिव्रजेत्॥आचा०॥

आलु–पुं० (आलु) आ लाति-ला-मितुड् ऋउणिच् रस्य लः वा पेचके, भेलके,। शब्दरत्ना० स्वल्पवारिधानिकायाम् सनाले जलपात्रभेदे, स्त्री० कन्दभेदे राजनि० तस्य भेदा नानाविधाः "कंदो बहुविधो लोके आलुशब्देन भण्यते॥ कच्चालुश्चैव घंटालु, पिंडालुश्शर्करादिकम्॥ काष्ठालुश्चैव माद्यं स्यात् तस्य भेदा अनेकशः" ॥वाच०॥

आचाराङ्गदीपिकायाम्। द्वात्रिंशदनंतकाय वनस्पति जीवान-धिकृत्य (आलू तह पिंडालू बत्तीसं जाणिउं अणंताइं) आचा० अ० १ उ० ३॥

आलू तह पिंडालू हवन्ति एए अणन्तनामेणं। ध० अ० २। आलू इति दीर्घान्तोप्यत्र॥

आलुई–स्त्री० (आलकी) वल्लीभेदे। आचा० अ० १ उ० ५॥ प्रव द्वा० १०॥

आलुंख–दह-दाहे-भस्मीकरणेच सक० भ्वा० प० अनिट्- दहेरहिऊ लुंखौ ॥२०७॥ इति प्राकृत सूत्रेण दहेरालुंखादेशः आलुंखइ डहइ प्रा०

आलुंख–स्पृश–स्पर्श-तु० पर० सक० अनिट् (स्पृशः फासफंसफ-

रिसछिवछिहालुंखालिहा० ८१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्पृशे-रालुंखादेशः आलुंखइ ॥प्रा०॥

आलुंचण–न० (आलुंचन) आ० लुचि० ल्युट् उत्पाटने, केशा-देर्बन्धराहित्ये, च ॥ वाच० ॥ ग्रहणे, ॥ आव० ॥

आलुंटण–न० (आलुंठन) आ लुटि० ल्युट् बलादपहरणे, वाच० ॥

आलुंप–त्रि० (आलुम्ब) आसमंताल्लुंपतीत्यालुंपः धनापहारके, आलुंपे सहसाकारे । स हि लोभाभिभूतान्तः करणोऽपगतकर्तव्याकर्तव्य-विवेकोऽर्थलोभैकदत्तदृष्टिरैहिकामुष्मिकविपाककारिणीर्निलाञ्छ-नगलकर्तनचौर्य्यादिकाःक्रिया करोति ॥ आचाअ० २ उ० १० ॥ (आलुंपह विलुंपह) आलुंपंतवस्त्रादिकं विलुंपत् सर्वस्वापहारेण ॥

आलुग(य)–पुं० आलुक आ० लाति पृथ्वीं कासरोगं वा आला० मित् डु संज्ञायां कन् शेषनागे, कासालौ, च आलु० स्वार्थे कन् कन्दभेदे, न० वाच० ॥ (तरुणगएलालुयत्ति वा) आलुकं कन्दविशेष– । तच्चानेकप्रकार मिति विशेषपरिग्रहार्थं एलालुकमित्युक्तम् ॥ आणु० अ० १ ॥ साधारणशरीरबादर-वनस्पतिकायिकानधिकृत्य (साहारणसरीरा अणोगहाते पकित्तिया आलु ए मूलए चेव सिंगवरे तहेव य) उत्त० अ० ३६ ॥ भ० श० ७ उ० २ ॥ प्रज्ञा० पद० १० ॥ जी० प्र० १ ॥

आलूण–त्रि०लू०क्त०(आलून) ईषच्छिन्ने, सम्यक्छिन्ने, च तेनामरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः कुमार० ॥ वाच० ॥ विशीर्णे, ॥ आ०म० ॥

आलेट्टुयं–अव्य० (आलेष्टुम्) आश्लेषं कर्तुमित्यर्थे, स्वार्थेकश्च वा इति प्राकृतसूत्रेण स्वार्थे कः ॥प्रा०॥

आलेप–पुं० (आलेप) आ–लिप् घञ्-उपलेपे, आलिम्पने, च आलिप्यते कर्मणि ल्युट् आलिप्यमाने, च ॥ वाच० ॥

आलेवण–न० (आलेपन) आ-लिप् ल्युट् उपलेपे, आलिम्पने, च वाच० ॥ सकृल्लेपने, नि० चू० उ० १२ ईषल्लेपने, ॥वृ०॥ दिवागृहीतगोमयै रात्रौ व्रणाद्यालेपननिषेधो ॥

नि०चू० ॥

जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गहेत्ता । दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ ॥३५॥ जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गहेत्ता रत्तिं कायं सि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ ॥४०॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिग्गहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ा वा आलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४१॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिग्गहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४२॥ चउक्कभंगसुत्तं उच्चारेयव्वं । कायः शरीरं व्रणः क्षतं तेण गोमयेण आलिंपइ सकृत् विलिंपइ अनेकशो ऽपरिवासिते मासलहुं । परिवासिते चउभंगे चउलहुं तवकालविसिट्ठा आणदिया दोसा । गाहा । दियएतो गोमत्तेणं चउक्कभयणा तु जाव णेवुत्ता । एतो एगतरेणं पक्खेत्ताणाहिणो दोसा ॥२१६॥ चउक्कभयण चउभंगो त्तत्तिउद्देसए जाव णेवुत्ता इहंपि सचेव । गाहा । ततुप्पत्तिं दुक्खं अभिभूतो वेयणा एत्तिव्वाए । अद्धाणे अव्वहितो तं दुक्खहिया सते सम्मं ॥२१७॥ अव्वोच्छित्तिणिमित्तं जीयट्ठाए समाहिहेउं वा । एतेहि कारणेहिं जयणा आलिंपणं कुज्जा ॥२१८॥ पूर्ववत् गोमय गहणा इमा विधी गाहा । अभिणववोसट्ठासत्ति इतरे उवयोगं काउगहणं तु माहिसअसत्तीगव्वं अण्णातवच्छं व विसघाता ॥२१९॥ वोसिरियमोत्तं घेत्तव्वं तं वहुणंतस्सासविइयरं चिर काल वोसिरियं तं पि उवकरे तु गहणं दिणसंसत्तं पि मादिसं घेत्तव्वं मोहिसासतिगव्वं तं पि अणायवेत्तियं छायायामित्य-र्थः । तं असुसितं विसघाती भवति आयवत्थं पुण सुसियरं सण्णगुणकारी सुत्तं जे भिक्खू दिया आलिंवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४३॥ जे भिक्खू दिया आलिंपणजायं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिं पेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४३॥ जे भिक्खू दिया आलिंपणजायं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिं पेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं विलिंपंतं वा साइ ज्जइ ॥४४॥ जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायं सि वणं आलिं पेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ ॥४५॥ जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहित्ता रत्ति कायंसि वणं आलिपेज्ज वा विलिपेज्ज वा आलिपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ ॥४६॥ आलेवण जातं आलेवणप्प गारा ॥ गाहा ॥

दियरातो लेवेणं, चउक्कभयणाउ जाव णेवुत्ता ॥
एतो एगतरेणं, मक्खेत्ताणादिणा दोसा नि० चू०उ० १२

पर्य्युषितेनालेपनजातेनालेपननिषेधो । वृहत्कल्पे ॥

णो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा पारि यसिएणं आलेवणजाएणं आलिपित्तए वा विलिपित्तए वानन्नत्थ आगाढेहिं रोगायंकेहिं ॥

एवं म्रक्षणसूत्रमप्युच्चारणीयं । व्याख्यातः कल्पते निर्ग्रन्थानां वा २ परिवासिते नालेपनजातेनालेपयितुं वा ईषल्लेपयितुं विलेपयितुं विशेषेण *लेपयितुं नान्यत्र आगाढेभ्यो रोगातंकेभ्य इति सूत्रार्थः ॥*

अथ भाष्यं ॥

मक्खेऊणं लिप्पइ, एस कमो होइ वणतिगिच्छाए ।
जइ तेण तप्पमाणं, माकुण किरियं सरीरस्स ॥

परः प्राह ॥ ननु व्रणचिकित्सायां पूर्वं व्रणो मृक्षित्वा ततः पिडी आदानेन आलिप्यते एष क्रमस्ततः प्रथमं मृक्षणसूत्रमुक्त्वा पश्चादालेपनसूत्रं भणितुमुचितमिति भावः । यदि चैतत्तव न प्रमाणं ततोमा शरीरस्य क्रियामकार्षीरिति सूरिराह ।

आलेवणेण पउणइ, जो उवणो मक्खणेण किं तत्थ।
होहिइ वणो वमासे, आलेवो दिज्जई समणं॥

नायमेकान्तो यदवश्यं व्रणे प्रक्षणमालेपनं च भवति। किन्तु कुत्रचिदेकतरं कुत्राऽप्युभयं ततो यः किल व्रण आलेपेन प्रगुणीभवति तत्र किं प्रक्षणेन कार्यं किंचिदित्यर्थः। यद्वा। मा वे व्रणो भविष्यतीति कृत्वा प्रथममेवालेपः शमनमौषधं दीयते किंच॥

चाउरे उकज्जे करित्ति, जह लाभकज्जपडिवाडी।
अणुपुव्विसंतविभवे, जुज्जइ न उ सव्वजाईसु॥

अत्यातुरे आगाढे कार्ये यथा लाभं आलापो मूक्षणं वा यः प्रथमं लभ्यते तेनैव चिकित्सां कुर्वन्ति। कुत्र नाम परिपाटिः क्रमो विद्यते इदमेव व्यनक्ति यः स द्विभावा विद्यमानविकृति सूत्रचिकित्सायां क्रियमाणायामानुपूर्वी चिकित्साशास्त्रेण भणिता परिपाटिर्युज्यते घटते न पुनः सर्वजातिषु अतः किमत्र क्रमनिरीक्षणेनेति।

सुत्तंमि कड्ढियंमि, आलेवउवत्ति चउलहू हुंति॥
आणाइणाइदोसा, विणा इमेहिं तुठाणेहिं॥

सूत्रार्थकथनेन सूत्रे आकृष्टे सति निर्युक्तिविस्तर उच्यते। यथा लेपं रात्रौ स्थापयति। तदा चतुर्लघु, आज्ञादयश्च दोषाः विराधना च अमीभिः स्थानैर्भवति॥

निद्धे दवे पणीए, आवज्जणपाणतक्खणक्खरणा।
आयंके विविज्जा, सो मासलहुगा य॥

स्निग्धे द्रवे प्रणीते आलेपे स्थापिते प्राणिनामायततत्क्षणक्षरणं तस्य द्रवादेः स्यन्दनं भवति। अत्र दोषभावना प्राग्वत्॥ आतंके च रोगे विपर्यासेन क्रियाकरणे वक्ष्यमाणं प्रायश्चित्तं मासेत्ति॥ आगाढानागाढकारणमन्तरेण पदे परिवासयत्ति। ततः प्राशुकादौ स्थाप्यमाने चतुर्लघु। अप्राशुकादौ चतुर्गुरु। इदमेव व्याचष्टे॥

तिण्हिय संचयदोसा, तयावि से लालछिवणलिहणं वा।
अंवीभूयं विइए, उज्झमणुज्झंति जे दोसा॥

त एवं संचयादयो दोषा मन्तव्याः॥ त्वग्विषः सर्प्पः स्पृशेत् लालाविषो वा जिव्हया वा लेहनं कुर्यात्। द्वितीये च दिने अम्लीभूतं तदुप्स्यते। अनुज्झतो वा ये दोषास्तान् प्राप्तान् यत एते दोषा-स्ततः॥

दिवसे २ गहणं, पिट्ठमपिट्ठे य होय जयणाए।
आगाढे निक्खिवणं, अपिट्ठ पिट्ठे य जयणाए॥

यदा ग्लानार्थमालेपो न प्रयोजनं भवति तदा दिवसे २ ग्रहणं विधेयं। तत्र प्रथमं पिष्टस्य पश्चादपि पिष्टस्यापि यतनया कर्त्तव्यं भवति। आगाढे च ग्लानत्वे आलेपस्य निक्षेपणं परिवासनमपि कुर्य्यात्। तदप्यपिष्टस्य पिष्टस्य वा यतनया कर्तव्यम्।

अथाऽऽतंकाव्यभ्यासं व्याख्याति॥

आगाढे अणागाढं, अणागाढे वा वि कुणइ आगाढं।
एव तु विवज्जासं, कुणइ ववाए कफतिगिच्छं॥

आगाढे ग्लानत्वे अनागाढां क्रियां करोति चतुर्लघु। अनागाढे वा आगाढं करोति चतुर्लघु यद्वा वाते चिकित्सनीये कफचिकित्सां करोति। एष विपर्यासो मंतव्यः।

अथ सेसे लहुगायत्ति पदं व्याचष्टे।

अगिलाणो खलु सेसो, दव्वाई ति विह आवइ जढो वा।
पच्छित्ते मग्गणया, परिवासित्तं तस्सिमा तस्स॥

शेषो नाम य आगाढोऽनागाढो वा ग्लानो न भवति यो वा द्रव्यक्षेत्रकालापद्भेदात् त्रिविधया आपदा जडो मुक्तः स शेष उच्यते तस्य परिवासयत इयं प्रायश्चित्तमार्गणा।

फासुगमफासुगे वा, अचित्तचित्ते परित्तणं तेवा।
असिणे हसिणे हसए, अणाहारा हारलहुगुरुगा।

प्राशुकं स्थापयति चर्तुलघु। अप्राशुकं स्थापयति चर्तुगुरु अचित्ते स्थाप्यमाने चर्तुलघु सचित्ते चतुर्गुरु परित्ते चतुर्लघु अनन्ते चतुर्गुरु स्नेहेगते स्नेहावगाढे चतुर्गुरु अनाहारे चतुर्लघु आहारे चतुर्गुरु॥वृ०॥

आलिप्यते अनेनत्यालेपनं आलेपनसाधने द्रव्ये, आलेवो तिविधो वेदनप्रशमकारी पाककारी व्रणादिणीहरणकारी। नि० चू० उ० ३॥

आलेवणजाय–न० (आलेपनजात) आलेपनप्रकारे, (आले-वणजाएणं आलिंपेज्ज वा वितिंपेज्ज वा) नि० चू० उ० ३॥

आलेह–पुं० (आलेख) आ-लिख्-घञ् सम्यक्लेखने, आधारे, घञ् लेखपत्रे, च॥ वाच०॥ चित्रे,॥ आ० म० प्र०॥

आलेक्ख–त्रि० (आलेख्य) आ-लिख्- ण्यत् – चित्रादौ लेख्यदेवादि-प्रतिबिम्बे, विधातुमालेख्यमशक्नुवंतः। माघः। इति संरंभिणो वाणीबलस्यालेख्यदेवताः। माघः अहो रूपमालेख्यस्य शकु० लेखनीये-त्रि० आधारे ण्यत् चित्रे॥वाच०॥

आलोइऊण–अव्य० (आलोक्य) विमृश्येत्यर्थे (आलोइऊणा एवं) आलोच्य विमृश्येति॥ पंचा० वृ० १४ वृ० ३॥

आलोइय–त्रि० (आलोकित) आ-लोक् -क्त० दृष्टे॥ वाच०॥ (आलोइयं इंगियमेव नच्चा) आलोकितं निरीक्षितमिति॥ दश० अ० ९ उ० ३॥ आलोइयपाणभोयणभोई से णिग्गंथे) आलोकितं प्रत्युपेक्षितमशना-दिभोक्तव्यं तदकरणे दोषसंभवात्॥आचा० अ० ७ उ० २॥

आलोचित–त्रि० (आ-लुचु०णिच्- क्त) आलोचनाविषयीभूते विशेषदर्शनादिना कृतालोचने, (आलोचितमिन्द्रियेणेति) सां० कौ० इति कर्त्तव्यतयावधारिते च॥वाच०॥ निवेदिते॥भ० श० २ उ० १॥ (आलोइयंमि आराहणाअणालोइए भयणा) आलोचिते गुरोरपराधजाले निवेदिते,॥ आव०॥ आलोचनावति, च॥ भ०। श० ७ उ० २॥

आलोइयणिंदिय–त्रि० (आलोचितनिन्दित) सम्यक् कृता लोचन-निन्दाविधौ,॥

कयपावो वि मणुस्सो, आलोइयनिंदियगुरु सगासे।
होइ अइरेगलहुओ, हरियमरुव्व भारवहो॥

आलोइयनिंदिओत्ति० आलोचितनिन्दितः सम्यक् कृता-लोचननिन्दाविधिरित्यर्थः॥ ध० अधि० २॥

आलोइयपडिक्कंत–त्रि० (आलोचितप्रतिक्रान्त) आलोचितं गुरूणां निवेदितं यद तिचारजातं तत् प्रतिक्रान्तमकरणविषयी कृतं येनासावालोचितप्रतिक्रान्तः तास्मिन् आलोचितश्चासावा लोचनादानात्प्रतिक्रान्तश्च मिथ्या दुष्कृतदानादालोचितप्रति-

क्रांतः ॥ भ० श० २ उ० १ । आलोचनाप्रदानपूर्वं प्रदत्तमिथ्या दुष्कृते, (आलोइयपडिक्कंता ठावयति तओगणे) वृ० ॥

आलोएमाण–त्रि० (आलोकयत्) पश्यति आचा० अ० ५ ॥

आलोएयव्व–त्रि० (आलोचितव्य) प्रकाशनीये, पंचा वृ० १५ निवेदनीये अपराधादौ, च० ॥ पंचा० वृ० १८ ॥

आलोय–पुं० (आलोक) आलोक्यतेऽनेन आ लुक् लोकृ वा करणे घञ् प्रकाशे। दश०उ० २ ॥ आव० ॥ (आलोओ उज्जोओ दित्तीभासापहा पयासो य) प्रा० को० ॥ ज्ञा० १० अ० आलोकस्थाने गवाक्षादौ, च वाच० ॥

णो गाहावइकुलस्स, आलोयं वा थिग्गलं वा संधि वा दगभवणं वा हाओपगडिमय २ अंगुलियाए वा उद्दि सिय उद्दिसिव उण्णमिय उन्नमिय २ णिज्झाएज्जा ॥

आलोकस्थानं गवाक्षादिकम् आचा० अ० १ उ० ५ आलोय थिग्गलं दारं आलोक निर्यूहकादिरूपं दश० अ० ५ ॥ आलोक्यत इत्यालोकः लोके, तथा चावश्यके लोकपर्य्यायशब्दानधिकृत्य (आलोक्कइपलोक्कइ संलोक्कईय एकट्ठा) आ० म० ॥ आचारांगे (लोयालोयपवंचाओ पमुच्चति) आलोक्यत इत्यालोकः कर्मणि घञ्। लोके चतुर्दशरज्वात्मके आलोको लोकालोकस्तस्य प्रपंचः पर्य्याप्तापर्याप्तकसुभगादिद्वन्द्वविकल्पस्तद्यथा । नारको नारकत्वेनालोक्यते एकेन्द्रियादिरेकेन्द्रियादित्वेनैवं पर्य्याप्त-पर्याप्तकाद्यपि वाच्यम् । तदेवं भूतात्प्रपंचान्मुच्यते । चर्तुशजीवस्थानान्यतरव्यपदेशार्हो न भवति इति यावत् ॥ आचा० ॥ दृष्टिविषये क्षेत्रादौ ॥ ज्ञा० अ० १ ॥ दृष्टिविषये ॥ औप० ॥ आलोकनमालोकः भावे घञ् दर्शने, । आव० ॥ ज्ञा० अ० २ ॥ (आलोए समणस्स भगवओ महावीरस्स पणामं करेइ) आलोके दर्शनमात्रे, ॥ कल्प० ॥ आलोकनमालोकः मर्याद-याऽभिविधिना वालोचनम् निरीक्षणे, (पिक्खणनिरिक्खणावि य आलोयपलोयणेगट्ठा) ओघ० ॥

आलोयग–त्रि०(आलोचक) आ-लुच्-णिच्-एवुल् आलोचना कारके, ॥ वाच० ॥ आलोचनाया योग्या आलोचका आलो-चनाशब्दे ॥ व्य० उ० १ ॥

आलोचयल–त्रि० (आलोकचल) आलोकनमालोकस्त-स्मिन्नालोके चलमालोकचलं दर्शनलालसे, आलोअचलं चक्खुं मणुव्वतं दुक्करं थिरं काउं । आव० टी० ॥

आलोयण–न० (आलोकन) आ० लुक लोक वा भावे ल्युट दर्शने, ॥ आचा० ३ उ० ५ दश० अ० ४ ॥ ततस्तदालोकनतत्पराणाम्। भुवनालोकनप्रीतिः स्वर्गिभिर्नानुभूयते ॥ कुमार० । ''व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन,, माघः ॥ वाच० ॥

निरीक्षणे, ॥ आव० ॥ निरूपणे, ॥ ओघ० ॥ प्रकाशके, प्रश्न० द्वा० १ सं० ॥

आलोचन–न० आ-लुच् णिच् भावे ल्युट् विशेषधर्मादिना विवेचने नैया० । वाच० ॥ विचारणे, (पुव्वामेव आलोएज्जा) आलोच-येद्विचारयेत् ॥ आचा० अ० ३ उ० ५ । आलोचयेद्दत्तावधानो भवेदित्यर्थः ॥ आचा० श्रु० २ अ० १ उ० ६ ॥ सामान्यवस्तु ग्राहि-ज्ञानविशेषे, च सामान्यवस्तुग्राहिज्ञानमालोचनम् । तद्वक्त-व्यताऽर्थावग्रहवक्तव्यताऽवसरेऽवग्रहशब्दे ॥ आङ्मर्य्यादायां लोचृदर्शने अर्य्यादयाऽलोचनं दर्शनमालोचनम् ॥ नि० चू० उ० २० । निवेदने, उपदर्शने, च आलोयणदायणं च दाऊणं आलोचनं तथा गृहीतभक्तपाननिवेदनं तयोरेवोपदर्शनञ्च प्रश्न० सं० द्वा० १ । आलोएहि गुरूभ्यो निवेदयेति ॥ उपा० अ० ३ ॥ स्था० ठा० ३ ॥ आलोइत्तए आलोचयितुं गुरवे अपराधान्निवेदयितुम् ॥ स्था० २ ठा० ॥ आलोचनं गुरोः पुरतः स्वापराधस्य प्रकटनम् ॥ ध० ॥ आङ्मर्यादायाम् सा च मर्य्यादा इयं ।

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥

अनया । मर्यादया लोचृदर्शने चुरादित्वाण्णिच् लोचनं लोचना प्रकटीकरणं आलोचना गुरोः पुरतो वचसा प्रकाशनमिति भावः । यत्प्रायश्चित्तमालोचनमात्रेण शुद्ध्यति तदाऽऽलोचनार्हतया कारणे कार्योपचारालोचनम् । प्रायश्चित्तभेदे ॥ प्रव० ॥ द्वा० ९८ ॥ व्य० उ० १ ॥

अस्याशेषवक्तव्यताऽऽलोचनाशब्दे आलोचनार्हशब्दे च ॥ सामाचारीभेदे च तच्च पिंडादिनिवेदनं, ॥ ग० अधि २ ॥ लोचनपर्य्यन्ते, अव्य० । ''आलोचनान्तं श्रवणं वितत्य'' रघुः । वाच० ॥

आलोयणभायण–न० (आलोकनभाजन) प्रकाशमुखे भाजने ॥ प्रश्न० सं० १ द्वा० ॥

अह कोइ न इच्छेज्जा, तओ भुंजेज्ज एकओ ।
आलोयभायणे साहू, जयं अयरिसाडियं ॥

आलोकभाजनं मक्षिकाद्यपाहोय प्रकाशप्रधाने भाजने इत्यर्थः ॥ दश० अ० ५ उ० ॥

आलोयणा–स्त्री० (आलोचना) आङ्मर्य्यादायाम् सा च मर्यादा इयम् ॥

जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥

अनया मर्यादया लोचृदर्शने चुरादित्वाण्णिच् लोचनालोचनं प्रकटीकरणम् आलोचना गुरोः पुरतो वचसा प्रकाशनम् प्रव० द्वा० ९८ । व्य० उ० १० ॥ जीत० ॥

विषयाः

(१) आलोचनाया व्युत्पत्तिरर्थः स्वरूपंच ।
(२) द्रव्यादिनिक्षेप आलोचनायाः ।
(३) आलोचनाया मूलगुणोत्तरगुणेन भेदाः ।
(४) विहारादिभेदेनालोचना त्रिविधा तद्भेदाश्च ।
(५) शल्योद्धरणार्थमालोचनकरणविधिः ।
(६) आलोचनीये विषये यथाक्रममालोचनाप्रकारः ।
(७) आलोचनायां शिष्याचार्य्यपरीक्षणे–आवश्यका दिद्वा-राणि ।
(८) क्व लोचना गृहीतव्या तानि स्थानानि ।
(९) द्रव्यादि चतुर्विधमालोचनीयम् ।
(१०) अपराधालोचनायां प्रशस्ताऽप्रशस्तद्रव्यादयः ।
(११) यथाभूतेषु द्रव्यादिष्वालोचना तादृशानां प्रतिपादनम् ।

(१२) आलोचनासमयवर्णनम्।

(१३) कस्य समीपे आलोचना कर्तव्या।

(१४) गीतार्थमवाप्य शल्लयानुद्धरणादौ दोषगुणादिकं भावयता यद्विधेयत्वम्।

(१५) मरणाभिमुखेनाप्यालोचना करणीयात्र ब्राह्मणदृष्टान्तः।

(१६) अदत्तालोचने व्याधदृष्टान्तभावना।

(१७) *स्वगणपरगणवासिकानां समीपे आलोचना।*

(१८) आलोचनाया ष्टौ अस्थानकाः दशस्थानकाश्च।

(१९) सामुदानिकाऽतिचारालोचना।

(२०) आलोचयित्रा एतानि वर्जनीयानि।

(२१) सम्यगालोचनादाने कि लिंङ्गम्।

(२२) कृतानां कर्मणां क्रमत आलोचना।

(२३) आलोचनायां दत्तायां न विरतिभंगः सदृष्टान्तः।

(२४) आलोचनायामकृतायां मृत्वाऽनाराधको भवति।

(२५) आलोचनायाः कलम्।

(१) आलोचनाया व्युत्पत्तिरर्थस्स्वरूपं च ॥

आ अभिविधिना सकलदोषाणां लोचना गुरुपुरतः प्रकाशना आलोचना भ० श० १७ उ० ३।

आसामस्त्येन स्वगताऽकरणीयस्य वागादियोगत्रयेण गुरोः पुरो भावशुद्ध्या प्रकटनमालोचना ध० अधि० २ गुरुभ्यो निजदोषकथने, ध० अधि० २॥ आमर्य्यादायां लोचृदर्शने आलोचना नाम आलोचना प्रकटना ऋजुभावनेति ॥ पं० चू० ॥ आलोचनमालोचना मर्य्यादयाऽलोचनं दर्शनमाचार्यादेरा-लोचनेत्यभिधीयते। ओघ०॥

आलोयणा णाम जहा अप्पणो जाणति तहा परस्स पागडं करेइ। नि० चू० उ० २०॥

आ अपराधमर्य्यादया लोचनं दर्शनमाचार्य्यादेः पुरत इत्यालोचना ध० अधि० ३।

गुरोः स्वचरितप्रकाशनमात्मके, प्रायश्चित्तभेदे, ॥ पंचा० वृ० १६ ''व्यवहारो आलोयणा सोही पच्छित्तमेव एगट्ठा'' व्यवहार आलोचना शोधिः प्रायश्चित्तमित्येकार्थः ॥ व्य० उ० २ आलोचनाया एकार्थिकानि प्रतिपादयन्नाह ॥

आलोयणा वियडणा, सोही सब्भावदायणा चेव।
निंदागरहविउट्टा, सल्लुद्धरणेय एगट्ठा ॥१३॥

आलोचना विकटना शुद्धिः सद्भावदापना णिंदणगरहण विउट्टण सल्लुद्धरणं चेति एकार्थिकानि इति॥ ओघ०॥

आलोचना प्रयोजनतो हस्तशताद्बहिर्गमनादौ गुरोर्विकटना। आव०॥ स्था० ठा० ४॥

जे भिक्खू मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा। व्य० उ० १॥

आलोचयेत् लोचृदर्शने चुरादित्वाण्णिच् आङमर्य्यादायाम् आ मर्य्यादया (जहा बालोजंपंतो) इत्यादि रूपया आलोचयेत् यथात्मनस्तया गुरोः प्रकटीकुर्य्यात्॥ व्य० उ० १।

अथालोचनाशब्दार्थमाह ॥

आलोयणं अकिच्च, अभिविहिणा दंसणं तिलिंगेहिं।
वइमादिएहिं सम्मं, गुरुणो आलोयणेया ॥२॥

व्याख्या। आलोचनमालोचना ज्ञेयेति योगः। आलोचनमेव किमित्याह। अकृत्ये अकरणीयविषये स्वगतस्याकृत्यस्येत्य-र्थः। अभिविधिना सामस्त्येनेत्याऽर्थः दर्शनं प्रकाशनमिति लोचृधातोः कारितां तस्यार्थ इतिशब्दोऽग्रे योक्ष्यते। कथमकृत्यद र्शनमित्याह। लिंगैः परोक्षाकृत्यगमकैर्हेतुभिर्वागादिभि-र्वचनकायविकारविशषैः। सम्यक्भावशुध्या कस्य तद्दर्शन-मित्याह। गुरोरालोचनाचार्यस्येति। एषा आलोचना प्रकरणा-द्विज्ञेया ज्ञातव्या तच्छब्दज्ञानार्थिभिरिति गाथार्थः॥ पंचा० वृ० १५ आलोचनास्वरूपं व्यवहारकल्पे यथा॥

''आलोचना नाम अवश्यकरणीयस्य कार्यस्य पूर्वं कार्यसमाप्तेरूर्द्धं वा यदि वा पूर्वमपि पश्चादपि गुरोः पुरतो वचसाप्रकटीकरण्॥३॥ व्य० १ उ०॥

(२) द्रव्यादिनिक्षेप आलोचनायाः ॥

आलोचनानिक्षेपश्चतुर्धा तथाच महानिशीथे अ० ७॥

तंजहा नामालोयणं ठवणालोयणं दव्वालोयणं भावा० लोयणं एते चउरो वि पए अणे गहा वि (१) उघोइज्जंति तत्थ ताव समासेणं णामालोयणं नाममेतेणं ठवणालोयणं पोत्थयाइसुमा-लिहियं दव्वालोयणं नाम जं आलोएत्ताणं असढभावत्ताए जहोवइट्ठं पायच्छित्तं नाणूचिट्ठे एते तओवि पए एगंतेणं गोयमा ! अपसत्थे जे यणं से चउत्थपए भावालोयणं नाम तेणं तु गोयमा !। आलो-एत्ताणं निंदित्ताणं गरहित्ताणं पायच्छित्तमणु चरित्ताणं जाव णं आयहियट्ठाए संपज्जित्ताणं संकज्जुत्तमट्ठं आराहेज्जा से भवयं कयरेणं से चउत्थे यए गोयमा ! भावालोयणं से भयवं ! भावालोयणं जेणं भिक्खू परिसे संवेगग्गगए सीलतवदाणभावण चउक्खंधसुसमण धम्ममाराहणाकंतरसिए मयभयगारवादीहिं अच्चंत-विप्पमुक्के सच्चभावनाभावंतरेहिं नीसल्ले आलोइत्ताणं विसोहिए य पडिगाहित्ताणं तहत्ति समणुट्ठिया सव्वुत्तमं संजमकिरियमणुपालिज्जा॥ तं जहा॥

कयाइं पावाइं, इमाइं जेहिं अट्ठाणवज्जए।
तेसिं तित्थयरवयणेहिं, सुद्धी अम्हाणकीरउ ॥१॥

परिनिव्वाणं तयं कम्मं, घोरं संसारदुक्खदं।
मणोव्वयकायकिरियाहिं, सीलभारं धरेमि हं ॥२॥

जह जाणइ सव्वन्नू, केवली तित्थंकरे।
आयरिए चरित्तट्ठे, उवज्झाए य सुसाहुणो ॥३॥

जह पंचलोयपाले, य सताधम्मे य जाणए।
तहालोएमिहं, सव्वं तिलमित्तं पि न निन्हवं ॥४॥

तत्थ जं पायच्छित्तं, गिरिवरगुरुयं पि आवए।
तमणुचरेमि हं, सुद्धीं जह पांव विलिज्जए ॥५॥

मरिउणं नरयतिरिएसु, कुंभीपाएसु कत्थई ।
कत्थय करवत्तनंतेहिं, कत्थइ भिन्नो उ सूलिए ॥६॥
घंसणं घोलणं कहविमि, कत्थइ च्छेयणं भयणं ।
बंधणं ण कहविमि, कत्थइं दमणमंकणं ॥७॥
णत्थणं वाहणं कहिमि, कत्थइ वहणत्तालगं ।
गुरुक्कमणं कहिं, विकत्थइ जमलारविधणं ॥८॥
उरपट्ठिअट्ठिकडिभंगं, परवसो तएहं छुहं ।
संतावुव्वेवदारिद्दं, विसहिहासि पुणो विहं ॥९॥
भारहं चेव सव्वंपि, नियदुच्चरियं जहट्ठियं ।
आलोएत्ता निंदित्ता, गरहित्ता पायच्छित्तं चरित्तुणं ॥१०॥
निद्दहेमि पावयं कम्मं, अतिसंसारदुक्खयं ।
अब्भुट्ठित्तातवं घोरं, धीरं वीरपरक्कमं ॥११॥
अचंतकडयडं कट्ठं, दुक्खरं दुरणुच्चरं ।
उग्गगायरं जिणाभिहियं, सयलकल्लाणकारणं ॥१२॥
पायच्छित्तनिमित्तेणं, पाणसंथारकारयं ।
आयरेण तवंचरिमो, जेणुत्भेसोक्खइं तणुं ॥१३॥
कसाए विहलीकट्टुं, इंदिए पंचनिग्गहं ।
मणोवइकायदंडाणं, निग्गहं धणियमारंभं ॥१४॥
आसवदारे नेरुंभित्ता, चत्तमयमच्छरअमपरिसो ॥
गयरागदोसमोहोहं, निस्संगो निपरिग्गहो ॥१५॥
निम्ममो निरहंकारं, सरीरअचंतनिप्पिहो ॥
महव्वयाइं पालेमि, निरइयाराइ निच्छिओ ॥१६॥
हट्ठीहा अहन्नोहं, पावोपावमती अहं ॥
पाविट्ठो पावकम्मोणं, वाहमोहमायारो ॥१७॥
अहं कुसीलोट्ठचरित्ती, मिल्लसूणोवमो अहं ॥
चिलातो निक्किवो पावी, कूरकम्माहं निग्घिणो ॥१८॥
इणमो दुल्लहं लभिऊं, सामन्नं नाणदंसणं ॥
चारित्तं वा विराहित्ता, अणालोइयनिंदिय ॥१९॥
गरहियअकयपच्छित्तो, वावज्जंतो जई अहं ॥
ता निच्छयं अणुत्तारे, घोरे संसारसायरे ॥२०॥
निव्वुडोभवकोडिहिं, समुत्तारं ताण वा पुणो ॥
जरा जाव ण पीडेइ, वाही जाव न केइ मे ॥२१॥
जाविंदिया ण हाइंति, ताव धम्मं चरित्तु हं ॥
निद्दहमपरेण, पावाइं निंदिउं गरहिउं चिरं ॥२२॥
पायच्छित्तं चरित्ताणं, निक्कलंको भवामि हं ।
निक्कलुसनिक्कलंकाणं, सुद्धभावाण गोयमा ! ॥२३॥
वन्नो नट्ठं जयं गहिया, सुहराम विपरिवलित्तुणं ।
कलिकलुसकम्ममलमुक्कं, जइणो सिज्झिज्जतक्खणं ॥२४॥
ताव यं देवलोगम्मि, निबुओ एसयंपहे ।
देवदुंदुहिनिग्घोसे, अच्छरासयसंकुले ॥२५॥
तओ चुया इहागंतुं, सुकुलुप्पत्तिं लभित्तुणं ।
निव्विन्नकामभोगाय, तवं काउं मया पुणो ॥२६॥
अणुत्तरविमाणेसुं, निव्विसिउणे हमागया ।
हवंति धम्मतित्थयरा, सयलतेलोक्कबंधवा ॥२७॥
एस गोयम ! विन्नेए, सुपसत्थे पए भावालोयणं ।
नाम अक्खयंसिवसोक्खदायगो ॥२८॥ त्तिबेमि ॥

(३) आलोचनाया मूलगुणोत्तरगुणेन भेदाः ।

आलोचनाया मूलगुणोत्तरगुणभेदेन भेदा यथा ओघ० ॥

आलोयणा दुविहा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
एक्केक्का चउकन्ना, दुवग्गसिद्धावसाणा य ॥१२॥

आलोचना च द्विविधा मूलगुणालोचना ।उत्तरगुणालोचना चेति । सा च द्विविधाप्येकैकमूलगुणालोचना उत्तरगुणालोचना च (चउकण्णदुवग्गति) द्वयोरपि साधुसाध्वीवर्गयोरेकैकस्य चतुष्कर्णा भवति । एक आचार्यः द्वितीयश्चालोचकः साधुरेवं साधुवर्गे चतुष्कर्णा भवति साध्वीवर्गेऽपि चतुष्कर्णा भवति । एका प्रवर्त्तिनी द्वितीया तस्या एव या आलोचयतीति साध्वी एवं साध्वीवर्गे चतुष्कर्णा भवति । द्वयोश्च साधुसाध्वी वर्गयोर्मिलितयोरष्टकर्णा भवतीति । कथमात्मद्वितीयः प्रवर्त्तिनीचात्मद्वितीया आलोचयति यदा तदाऽष्टकर्णा भवति । सामान्यसाध्वी वा यद्यालोचयति तदाष्टकर्णाश्चेति अथवा ॥

छक्कण्णा होज्जा, यदा बुड्ढो आयरिओ हवइ ।
तदा एगागिस्सवि, साहुणीदुगं आलोएइ ।
एवं छक्कण्णा हवइ, सव्वहा साहुणी उ अज्ज ।
विइयाए आलोयव्वं, न तु एगागिणी एत्ति ॥

एवं तावदुत्सर्गतः आचार्य आलोचयति शल्यं तदभावे सवदेशेषु निरूपयित्वा आलोचयितव्यं एवं तावत् यावत् सिद्धानामप्यालोचते साधूनामभावे ततश्चैवं सिद्धावसाना आलोचना दातव्येति ॥

तथाच वृहत्कल्पे राहस्यिकीं पर्षदमधिकृत्याह ॥वृ०॥

सल्लुद्धरणे समणस्स, चाउकण्णा रहसिया परिसा ।
अज्जाणं चाउकण्णा, छक्कन्ना अट्ठकन्ना वा ॥

द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्यं च द्रव्यशल्य कंटकादिभावशल्यं मायानिदानमिथ्यात्वादि अथवा भावशल्यं मूलो-त्तरगुणातिचारस्ततःश्रमणस्य भावशल्योद्धरणे आचार्यसमीपे आलोचयत इत्यर्थः । राहस्यिकी पर्षद् भवति । कथं भूतेत्यत आह । चतुष्कर्णा द्वावाचार्यस्य द्वौ साधोरिति च त्वारः कर्णा यत्र सा तथा । आचार्याणां चतुष्कर्णा षट्कर्णा वा तत्र यदा निर्ग्रंथी निर्ग्रंथ्याः पुरतः आलोचयति तदा चतुष्कर्णा । यथा निर्ग्रंथस्य निर्ग्रंथपार्श्वे आलोचयतः यदा च द्वितीयस्थविरगुरुसमीपे आलोचयति सद्वितीया भिक्षुकी तदा षट्कर्णा। स द्वितीय-तरुणगुरुसमीपे सद्वितीयाया सभिक्षुक्या आलोचयन्त्या अष्टकर्णा तत्र प्रथमतः सयतस्य चतुष्कर्णा भावयति।

आलोयणं पउंजइ, गारवपरिवज्जितो गुरुसगासे ।
एगंतमणावाए , एगो एगस्स निस्साए ॥

एकांते अनायाते एकोऽद्वितीय एकस्याद्वितीयस्याऽचार्य

स्य निश्रया तत्पुरत इत्यर्थः । गौरवपरिवर्जितः ऋद्धिरसात-गौरवपरित्यक्तो गौरवाद्धि सम्यगालोचयितव्यं न भवतीति तत्प्रतिषेधः गुरुसमीपे आलोचनाऽचार्यसमीपे आलोचनां प्रयुंक्ते। कथमित्याह।

विरहंमि दिसाभिग्गह, उक्कुडुतो पंमलीनिसेज्जा वा।
एस सपक्खे परपक्खे, मोतु च्छणंति सिज्जा वा ॥

एकांते यत्र कोऽपि न तिष्ठति तत्र विरहे छन्ने प्रदेशे पूर्वं गुरोर्निषद्यां कृत्वा पूर्वामुत्तरां चरंति । कां वा दिशमभिगृह्य वंदनकं दत्वा उत्कुहकः प्रबद्धांजलिः अथासौ व्याधिमान् प्रभूतं वा लोचनीयं ततो निषद्यामनुज्ञाप्याऽलोचयति। एष सपक्षे आलोचनाविधिः। परपक्षे नाम संयती तत्र छन्नं मुक्त्वा आलोचना दातव्या निषद्या च न कार्यते। इयमत्र भावना । यदा संयती संयतस्य पुरत आलोचयति तदा छन्नं वर्जयति किंतु यत्र लोकस्य संलोकस्तत्रालोचयति निषद्यां वाचार्यस्य न करोति ॥ आत्मनाऽभ्युत्थिता आलोचयति । श्रमणीमधिकृत्याऽलोचनाविधिश्च-तुष्कर्णत्वमाह ॥

आलोयणं पउंजइ, गारवपरिवज्जिया उ गणिणिए।
एगंतमणावाए, एगा एगाए निस्साए ॥

या श्रमणी गौरवपरिवर्जिता गणिन्याः पुरत आलोचनां प्रयुंक्ते । क्वेत्याह । एकांते अनायाते एका अद्वितीया एकस्या अद्वितीयाया गणिन्या निश्रया ततो गुरुसमीपे श्रमणस्येव श्रमण्या अपि गणिन्याः पुरतः आलोचयंत्याश्चतुष्कर्णा पर्षद् भवति ॥

षट्कर्णामाह ॥

आलोयणं पउंजइ, एगंते बहुजनस्स संलोए।
अच्चितियथेरगुणो, सवियईया भिक्खुणि निहुया ॥

अद्वितीयस्थविरगुरुसमीपे सद्वितीया भिक्षुकी निभृता निर्व्यापारा न दिशो नापि विदिशः आलोकयति नापि यत्किंचि-दुल्लापयति इत्यर्थः । एवं भूता सती एकांते बहुजनस्य संलोके आलोचनां प्रयुंक्ते ॥

अथी कीदृशी तस्या द्वितीया भवतीत्यत आह ॥

नाणदंसणसंपन्ना, पोढा वयसपरिणया।
इंगियागारसंपन्ना, मणिया तीसेवि इज्जिया ॥

ज्ञानदर्शनसंपन्ना प्रौढा समर्था या संयतस्य तस्या वाभावं विज्ञाय न मंत्रणं कर्त्तुं ददाति किंतु वदति यद्यालोचित तर्हि व्रजामो नोचेदालोचनयापि न प्रयोजनमिति । यथा वयसा परिणता परिणतवयास्तथा इंगिताकारसंपन्ना इंगितेनाकारेण च यस्य यादृशो भावस्तस्य तं जानातीत्यर्थः एवं भूता सा तस्या द्वितीया गणिन्या सा पुनः कियद्दूरे तिष्ठति । उच्यते । एके सूरयो वदंति यत्रोभयोराकारा दृश्यंते तावन्मात्रे परे ब्रुवते यत्र श्रवणं शब्दस्येति ॥

अष्टकर्णामाह ॥

आलोयणं पउंजइ, एगंते बहुजणस्स संलोए।
सच्चित्तियतरुणगुरुणो, सच्चिइया भिक्खुणि निहुया ॥

एकांते बहुजनस्य संलोके सद्वितीयस्य तरुणगुरोः समीपे सद्वितीया तादृशी प्रागुक्ता ॥

संप्रति यादृशस्य आचार्यस्य द्वितीयस्तादृशमाह ॥

नाणेण दंसणेण य, चरित्ततवविणयआलयगुणेहिं।
वयपरिणामण य, अभिगमेण इयरो हवइ जुत्तो ॥

ज्ञानेन दर्शनेन चारित्रेण तपसा विनयेन आलयगुणैर्बहिश्चेष्टाभिः प्रतिलेखनादिभिरुपशमगुणेन च यथा वयःपरिणामेन अभिगमेन सम्यक् शास्त्रार्थकौशलेन युक्तो भवत्याचार्यस्येतरो द्वितीयाः ॥ वृः ॥

सशल्यमालोचयितव्यम्। ओघनिर्युक्तौ ॥

गंतूण गुरुसगासं, काउण य अंजलिं विनयमूलं।
पव्वेण अत्तसोही, कायव्वा एसओ उवएसो ॥१९॥

सुगमा ॥

न हु सुज्झइ सस्सल्लो, जह भणियं सासणे धुवरयाणं।
उद्धरिय सव्वसल्लो, सुज्झइ जावो धुअकिलेसो ॥२०॥

न हु चैव शुद्ध्यति सशल्यः पुरुषः कथं पुनः शुद्ध्यते । यथा भणितं धुतरजसां शासने तथा शुद्ध्यते। कथं पुनः शुद्ध्यति अत आह। उद्धृतः सर्वशल्यो जीवः शुध्यति धुतक्लेश इति । तस्माद्यद्यपि कथमपि किंचिदकार्यं कृतं ततस्तदालोचयितव्यं ॥

कथं पुनस्तत्कृतं भवतीत्यत आह ॥

सहसा अन्नाणेण व, भीएण व पेल्लिएण व।
कपंवसणे णायं, केण व मूढेण वा रागदोसेहिं ॥२१॥

सहसा अप्रतर्कितमेव प्राणिवधादिकर्म्म कार्यं यदि कृतं ततस्तस्मात्प्रतिक्रमितव्यमित्येतद्द्वितीयगाथायां वक्ष्यते। अज्ञानेन च कृतं न तत्र प्राणिज्ञातां व्यापादितस्य भीतेन तेन आत्मभयात् माभूदयं मां मारयिष्यतीत्यह आह । प्राणिव्यपरोपणं यदि कृतं प्रेरितेन वा परेण यदि कृतं व्यसनेन वा आपदा यदि कृतं आतंकेन ज्वराद्युपसर्गेण यदि कृतं मूढेन वा राग द्वेषैर्यदि कृतं किंचिदकार्यं ततः॥

जं किंचि कयमकज्जं, न हु तं लब्भापुणो समायरियं।
तस्स परिक्कमियव्वं, न हु तं हियएण वोढव्वं ॥२२॥

यत्किंचित्कृतमकार्यं तत्पुनर्न हु नैव समाचरितुं लब्धं उपलभ्यते । यथा तथा प्रतिक्रमितव्यं। एतदुक्तं भवति। किंचिदकार्यं कृत्वा पुनर्यथा तत्रैव भवति नैव क्रियते तथा तस्य प्रतिक्रमितव्यं न तु तदकार्यं हृदयेन वोढव्वं सर्वमालोच-यितव्यमित्यर्थः ॥

कथं पुनस्तदालोचयितव्यमित्यत आह ॥

जह बालोजंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुक्कोओ ॥२३॥

सुगमा ॥

तस्स य पायच्छित्त, जं मग्गविऊ गुरु वउवइसंति।
तं तह आयरियव्वं, अणवच्छपसंगभीएणं ॥२४॥

तस्य च साधोर्यत्प्रायश्चित्तं मार्गविदो गुरव उपदिशंति । तत्प्रायश्चित्तं तेनैव विधिना आचरितव्यं कथमनवस्थाप्रसंगभीतेन सता आचरितव्यं अनवस्था नाम यद्यकार्यसमाचरणात्प्रायश्चित्तं न कृतं तदा अन्येऽपि न समाचरिष्यन्ति ॥

न वि तं सत्थं विसं, वदुप्पउत्तो य कुणइ वेयालो।
जंतं व दुप्पउत्तं, सप्पो य पमाइणो कुद्धो ॥२५॥

न तत्करोति दुःखं शस्त्रं नापि विषं नाऽपि दुः प्रयुक्तो दुःसाधि-तवेतालः यत्रं वा दुःप्रयुक्तं सर्प्पो वा क्रुद्धः प्रमादिनः पुरुषस्य दुःखं करोति ॥

जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धियं उत्तिमट्ठकालंमि।
दुल्लभबोहीयंतं, अणंतसंसारियत्तं च ॥२६॥

यत्करोति भावशल्यं अनुद्धृतं शस्त्रादिदुःखानि पुनरेकभव एव भवंति अतः संयतेन सर्वमालोचयितव्यं।

ता उद्धरंति गार व, गहियासूलं पुणब्भवलयाणं।
मिच्छादंसणसल्लं, मायासल्लं नियाणं च ॥२७॥

ततः एवमालोच्य गौरवरहिता मुनयः उद्धरंति उत्पाटयंति शूलं पुनर्भवलतानां यत् मिथ्यादर्शनशल्यं मायाशल्यं निदानशल्यं च उद्धरंतीति ततः ॥

उद्धरियं सव्वसल्लो, आलोइय निंदिओ गुरुसगासे।
होइ अइरेगलहुओ, उद्धरियभरुव्वभारवहो ॥२८॥

सुगमा न वरं अतिरेकप्रत्यर्थं लघुर्भवति उत्सीरयभरो उत्तारितभरोभारवहो गर्दभादिः स यथा लघुर्भवति। एवमालोचिते सति कर्मलघुत्वं भवतीति। यतश्चैवंविधः सः ॥

उद्धरिय सव्वसल्लो, भत्तपरिणाए वणियमाउत्तो।
मरणाराहणजुत्तो, चंदगविज्झ समाणेइ ॥२९॥

उद्धरितसर्वशल्यो भक्तपरिज्ञाए भक्तप्रत्याख्याते वनिकमत्यर्थं अयुक्तप्रयत्नपरः मरणाराधनयुक्तः स एवंविधश्चंद्रवेधं समानयति करोतीत्यर्थः। अत्र च कथानकं राधावेधमंगीकृत्य आवश्यकादवसेयमिति ॥ ओघ०॥

(४) विहारादिभेदेनालोचना त्रिविधा तद्भेदाश्च ॥

आलोचना त्रिविधा। तद्यथा। विहारालोचना उपसंपदा लोचनाऽपराधालोचना च व्य० उ०१

तत्रप्रथमां विहारालोचनां तावदाह ॥

तं पुण ओहविभागो, दरभुत्ते ओह जाव भिन्नोउ ॥
तेण परेण विभागो, संभमसच्छाइभयणाओ ॥१॥

तत्पुनर्विहारालोचनां द्विधा तद्यथा (ओहविभागे) इति प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी। ओघेन विभागेन वा ओघः समान्यं विभागो विस्तरः। तत्र ये साधवः समाना (ओदरभुंते) इति ईषद् भुंक्ते वास्तव्यसाधुभिरिति गम्यते। भोक्तुमारब्धवतां वास्त-व्यसाधूनामित्यर्थः। प्राघूर्णकाः समागताः (तउहत्ति) ओघेना-लोचयंति। यथा अल्पा विराधना मूलगुणेष्वल्पा पार्श्वस्थादिषु दानग्रहणतश्चेत्येवमालोच्य मंडल्यां भुंजते तत्र यदि मूलगुणापराधनिमित्तं वा प्रायश्चित्तं पंचकादि यावत्। भिन्नो भिन्नमासः भिन्नमासपर्यं तमापन्ना भवंति तदा ओघालोचना-मालोच्य साधुभिः प्रशस्तस्य प्रशस्तो वि पक्षः ततोऽयमर्थः। प्रशस्ते वा दिवसे रात्रौ वा न स्यातामिति "विवक्खतो होउ तइयाउ" इति तृतीया पुनरपराधालोचना विभागतो दीयमाना विपक्षतः सर्वस्यवाक्यस्य विपक्षव्यवच्छेदफलतया साधारण-त्वाद्विपक्षत एव प्रशस्त एव दिवसे रात्रौ वा भवतीति भावः ॥

सांप्रतमोघालोचनायाः प्रकारमाह ॥

अप्पा मूलगुणेसुं, उत्तरगुणतो विराहणा अप्पा।
अप्पापासत्थादिसु, दाणुज्झहसंपयो गाहा ॥१॥

अल्पा स्तोका विराधना मूलगुणेषु प्राणातिपातनिवृत्यादिषु रात्रिभोजनविरमणपर्यंतेषु अल्पा विराधना। उत्तरगुणेषु पिंडविशुद्ध्यादिषु अल्पा विराधना। पार्श्वस्थावसन्नकु-शीलसंसक्तेषु दानग्रहसंप्रयोगतः दानसंप्रयोगतो ग्रहणसंप्रयोग-तश्च। एषा ओघात ओघेनालोचना एवमालोच्य मंडल्यामेकत्र समुद्दिशंति ॥ व्य० उ०१ ॥

विहारविभागालोचनाया विधिमाह ॥

भिक्खादिनिग्गयेसुं, रहिएविडयंति फट्टगपईओ।
सव्वसमक्खं केई, ते वीसरियं तु सारेंति ॥

भिक्षादिनिर्गतेषु भिक्षादि आदि शब्दाद्विचारभूमिगमनार्थमन्यप्रयोजनार्थं वा बहिर्विनिर्गतेषु शेषेषु साधुषु। किमुक्तं भवति। यस्यां वेलायां शिष्याः प्रतीच्छकाश्च बहिर्विनिर्गता भवंति। तदानीं रहिते रहितस्य एकाकिन आचार्यस्य समीपे स्पर्द्धकपतिकाः स्पर्द्धकस्वामिनो विकटयंति। आलोचयंति। केचित्पुनराचार्या एतत् ब्रुवते। ये स्पर्द्धकपतिना सह समा गताः साधवस्तेषां समक्षं स्पर्द्धकपतयो विकटयंति। किं कारणमिति चेत् आह। ते वीसरियं तु सारेंति। यस्मात्ते यत्किमपि विस्मृतं तत् स्मारयंति कथयंति ॥ व्य० १ उ०॥

(५) शल्योद्धरणार्थमालोचनाकरण विधिः ॥

शल्योद्धरणायाऽलोचना विधेया तत्फलं च केवल ज्ञानम् तथाच महानिशीथे १ अ०॥

णवरं सुहासुहं, सव्वं सुविणगं समवधारए ॥
जं तत्थ सुविणगे, पासे तारिसगतं तहा भवे ॥५१॥
जईणं सुंदरगं पासे, सुमिणगंतो इमं महा ॥
परमत्थतत्थसारत्थं, सल्लुद्धरणं सुणेतु णं ॥५२॥
देज्जा आलोयणं सुद्धं, अट्ठमयट्ठाणविरहिओ ॥
रंजंतो धम्मतित्थयरे, सिद्धे लोगग्गासट्ठिए ॥५३॥
आलोएत्ता ण णीसल्लं, सामाण्णेण पुणो विय ॥
वंदित्ता चेइए साहू, विहु पुव्वेण खमावए ॥५४॥
खामित्ता पावसल्लस्स, निम्मूलुद्धरणं पुण्णो ॥
करेज्जा विहिपुव्वेणं, रंजंतो ससुरासुरं जगं ॥५५॥
एवं होऊण निस्सल्लो, सव्वभावे पुणोरवि ॥
विहिपुव्वं चेइए वंदे, खामे साहंमिए तहा ॥५६॥
नवरं। जेण समं वुत्थो, जेहिं सद्धिं पविहरिओ ॥
खरफरिसं चोइओ, जेहिं जेहिं सयं वाइओ ॥५७॥
जे वियकज्जमकज्जे वा, भणिओ खरफरुसनिट्ठुरं ॥
भणियं जेण वा किंचि, सोजइ जीवई जई मुओ ॥५८॥
खामेयव्वो सव्वभावेण, जीवंतो जत्थ चिट्ठई ॥
तत्थ गंतूण विणएण, मउवी साहुसक्खियंम् ॥५९॥
एवं खामणमरिसामणं, काउं तिहुअणसुवि भावओ ॥
सुद्धो मणवइकाएहिं, एयं घोसेज्ज निच्छिओ ॥६०॥
खमावेमि अहं सव्वे, सव्वे जीवा खमंतु मे ॥
मित्ति मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ ण केण वि ॥६१॥
खमामि अहं पि सव्वेसिं, सव्वभावेण सव्वहा ॥
भवे भवेसु वि जंतूणं, वाया मणुसा य कम्मुणा ॥६२॥
एवं घोसे तु वंदिज्जा, चेइय साहू विहियओ ॥

गुरुस्सावि विहीपुव्वं, खामणमरिसामणं करे ॥६३॥
खमावेंतु गुरुं सम्मं, नाणमहिमं स सात्तिओ ॥
काऊणं वंदिऊणं च, विहिपुव्वेण पुणोवि य ॥६४॥
परमच्छतत्तसारच्छं, सल्लुद्धरणमिमं सुणे ॥
सुणेऊणं तहमालोए, जह आलोयतोचेव ॥६५॥
उप्पाए केवलं नाणं, दिन्ने रिसभावत्थहि निसल्ला ॥
आलोयणा जेण, आलोयमाणाणं चेव उप्पन्नं तत्थकेवलं ॥६६॥
केसिं विसोहिमो नामे, महासत्ताण गोयमा ! । जेहिं
भावणा लोययं, तेहिं केवल नाणमुप्पाइयं ॥६७॥
हाहा दुट्ठु कडे साहू, हाहा दुट्ठु विचिंतिरे ।
हाहा दुट्ठुभाणिरे साहु, हाहा दुट्ठुमणुंमते ॥६८॥
संवेगालोयगे तह य, भावालोयणकेवली ॥
पयखेव केवली चेव, मुहणांतगकेवली ॥६९॥
तहा पच्छित्तकेवली, सम्मं महावेरग्गकेवली ॥
आलोयणकेवली तहय, हा हं पावित्तिकेवली ॥७०॥
उसुत्तमग्गं पन्नवए, हाहा अणायारकेवली ॥
सावज्जं न करेमित्ति, अक्खंडिय सीलकेवली ॥७१॥
तवसंजमवयंसं, रक्खे निंदणगरहणे तहा ।
सव्वतो सीलसंरक्खे, कोडीपच्छित्ते वि य ॥७२॥
निप्परिकम्मे अ कंडुपणे, अणिमिसत्थी य केवली ।
एगपासित्तदोपहरे, मूणव्वयकेवली तहा ॥७३॥
न सक्कोकाउ सामन्नं, अणसणे वामि केवली ।
नवकारकेवली तहय, च निच्चालोयणकेवली ॥७४॥
नीसल्लकेवली तह य, सल्लुद्धरणकेवली ।
धन्नोमितिसंपुन्नो, स ताहंपी किन्न केवली ॥७५॥
सलल्लो हं न पारेमि, वलकट्ठपयकेवली ।
पक्खसुद्धा विहाणे य, चाउम्मासी य केवली ॥७६॥
संवच्छरमहपच्छित्ते, जहा चलजीविते तहा ।
अणिच्चे खण्णविद्धंसी, मणुपत्ते केवली तहा ॥७७॥
आलोयं निंदरं दियए, घोरपच्छित्तदुक्करे ।
लखोवभग्गपच्छित्ते, संमहिया सण केवली ॥७८॥
हत्थोसरणनिवासे य, अट्ठकवलासि केवली ।
एगसिद्धगपच्छित्ते, दसवासो केवली तहा ॥७९॥
पच्छित्ताढवगोवेसु, पच्छित्तद्धकयकेवली ।
पच्छित्तपरिसमत्ती, य अट्ठ स उक्कोसकेवली ॥८०॥
न सुद्धिवि न पच्छित्ता, नावरं खिप्पकेवली ।
एगं काऊण पच्छित्तं, वीयं न भवे जह चेव केवली ॥८१॥
तं वा यरांम पच्छित्तं, जेण गच्छइ केवली ॥
तं वा यराम जेण तमं, सफली होइ केवली ॥८२॥
किं पच्छित्तं चरंतोहं, चिट्ठणो तवलीजिणा ॥
ण माणंण लंघेयं पाण, परिच्चयणकेवली ॥८३॥
अन्नं होही सरीरं मे, नो वोही चेव केवली ॥
सुलद्धमिणं सरीरेणं, पाविणीदुहरणकेवली ॥८४॥
अणाइपावकम्ममलं, निद्धोवेमीह केवली ।
वीयंतं न समायरियं, पमाया केवली तहा ॥८५॥
देहे खवउ सरीरं मे, निज्जराभावउ केवली ।
सरीरस्स संजमं सारं निक्कलंकं तु केवली ॥८६॥
मणसा विखंडिए सीले, पाणेण धरामि केवली ।
एवं वइकायजोगेणं, सीलं रक्खे अहं केवली ॥८७॥
एवमाई अणादीया, कालाउ णंते मुणी ।
केइयालोयणासिद्धे, पच्छित्ता जाइ गोयमा ! ॥८८॥
खंता दंता विमुत्ता य, जिइंदी सव्वभासिणो ॥
छक्कायसमारंभाओ, विरत्ते तिविहे णओ ॥८९॥
तिदंडा सवसंवरिया, इत्थिकहासंगवज्जिया ।
इत्थिणं लावन्निरयाय, अंगोवंगणिरक्खणा ॥९०॥
निम्ममत्ता सरीरेवि, अप्पडिबद्धा महायसा ।
भीयाइत्थित्थिगब्भवसहीणं, बहुदुक्खाओ भावओए ॥९१॥
तहा तोपरिसेणं, भावेणं दायव्वा आलोयणा ।
पच्छित्तं पि व कायव्वं, तहा जहा चेव एहिं कयं ॥९२॥
न पुणो तहा आलोएयव्व, मायाडंभेण केणइ ।
जह आलोयणं चेव, संसार वुड्ढिभवे ॥९३॥
अणंतेणाइकालाओ, अत्तकम्मेहिं दुम्मइ ।
बहुविकप्पल्लोले, आलोए तेवि अहोगए ॥९४॥
द० प० ॥ नहु सिज्झई स स सल्लो, जह भणियं सासणं धुयरयणा ।
उद्धरियसव्वसल्लो, सिज्झइ जीवो धुअकिलेसो ॥२४॥
सुबहुंपि भावसल्लं, जे नालोयंति गुरुसगासंमि ।
निसल्लासंथारग, सुद्धितिआराहगा हुंति ॥२५॥
अप्पंपि भावसल्लं, जे नालोयंति गुरुसगासंमि ।
वंतंपि सुयसमिद्धा, नहु ते आराहगा हुंति ॥२६॥
नवि ते सत्थं च विसं, च दुप्पउत्तो वि कुणइ वेयालो ।
जंतं च दुप्पउत्तं, सप्पुव्वपमाइओ कुद्धो ॥२७॥
जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धियं उत्तमट्ठकालंमि ॥
दुल्लभव्वोहियत्तं, अणंतसंसारियंतं च ॥२८॥
तत्थुद्धरंति गौरव, रहिया मूलं पुणज्झवलयाणं ॥
मिच्छादंसणसल्लं, मायासल्लं नियाणसल्लं च ॥२९॥
मरिझं ससल्लमरणं, संसाराडविमहाकडिल्लम्मि ॥
सुचिरं भमंति जीवा, अणोरपारंमि ओइन्ता ॥४२॥

व्याख्या । मृत्वा आसेव्य सशल्यमरणं प्रतीतं ततः किमित्याह । संसाराडविमहाकडिल्ले भवारण्यगुरुगहने सुचिरमतिदीर्घकालं भ्रमंति पर्यटंति जीवा देहिनः अनर्वाक् पारे

अर्वाक्भागपरभागवर्जिते अवतीर्णा अवगाढा इति संवेग कृत्वेति योगः ॥

तथा ॥

उद्धरियसव्वसल्ला, तित्थगराणाए सुत्थिया जीवा।
भवसयकयाइं खविओ, पापाइं गया सिवं थामं ॥४३॥

व्याख्या ॥ उद्धृत सर्वशल्याः कृतालोचनास्तीर्थकराज्ञायां जिनोपदेशे सुस्थिताः सुष्ठ व्यवस्थिताः संतो जीवा देहिनः भवशतकृतानि जन्मशत विहितानि क्षपयित्वा प्रक्षपय्य-शल्योद्धारसामर्थ्यात् पापानि कर्माणि गताः प्राप्ताः शिवं निरुपद्रवं (थामंति) स्थानं सिद्धालयमित्यर्थः ॥

सल्लुद्धरणं च इमं, ति लोगवंधूहिं दंसियं सम्मं।
अवितहमारोगफलं, धण्णोहं जेणिमं णायं ॥४४॥

व्याख्या। शल्योद्धरणमालोचना च शब्दः पूर्वगाथा-द्वयोक्तार्थापेक्षया समुच्चयार्थः। इदमनंतरोक्त विधानं त्रि-लोकबंधुभिर्जिनैरित्यर्थः दर्शितमुक्तं। सम्यक् सोपपत्तिकं अवितथमव्यभिचारि आरोग्यफलं भावारोग्यसाधकं ततश्च धन्योऽहं पुण्यवाहनं येन मया इदमेतच्छल्योद्धरणं ज्ञातमवगतं ॥

ता उद्धरेमि सम्मं, एय एयस्स णाणरासिस्स।
आवेदिय असेस, अणियाणो दारुणविवागं ॥४५॥

व्याख्या। ता इति यस्मादिदं मया ज्ञातं तत्तस्मा-दुद्धराम्यपनयामि सम्यग् न्यायेन एतत् भावशल्यं एतस्य गुरोर्ज्ञानराशेः अग्रे सद्बोधनिकरस्यावेद्य कथयित्वाऽशेषं सकल मनिदानो निर्निदानः सन् दारुणविपाकं रौद्रफलं शल्यमिति प्रक्रमः ।०

इय संवेगं काऊं, मरुगाहरणादिएहिं विधेहिं ॥
दृढ्पुणकरणाजुत्तो, सामायारिं पउंजेज्जा ॥४६॥

॥व्या०॥ इति एवमनंतरगाथाचतुष्कोक्तप्रकारं संवेगं शुभाध्यवसाय-विशेषं कृत्वा विधाय कैरित्याह। मरुकाहरणा-दिर्भिब्राम्हणोदाहरणाद्यैः समयप्रसिद्धैश्चिन्हैर्लिंगैर्मरणाभ्युपग-मेनाऽपि शुद्धिः कार्येत्येवंभूतार्थ-गमकैः॥ पंचा-वृ० १५०

नविसुज्झंतिससल्ला, जहभणियं सव्वभावदंसीहिं। गरणापुणन्भ-वरहिआ, आलोअणनिंदणा साहू॥५॥ द० प० ४॥

(६) आलोचनीये विषये यथाक्रममालोचनाप्रकारः ॥

संप्रति यत् आलोचनीयं तदालोचनाविषयं तस्य विधिमाह।

मूलगुणपढमकाया, तत्थवि पढमं तु पंथमादीसु।
पाय अपमज्जणादी, विइए उल्लाइपंथे वा ॥

इह द्विधा अपराधा (मूलगुणापराधा उत्तरगुणापराधाश्च तत्र उभयसंभवे प्रथमं) मूलगुणापराधालोचना। तेष्वपि मूलगुणापराधेषु मध्ये प्रथमं मूलगुणापराधः प्राणातिपात इति सः प्रथममालोचनीयः। स च षड्जीवकायविषय इति काया प्रथमत आलोचयिव्यास्ते च कायाः पृथिव्यादिक्रमेण तत्र सूत्रे उपन्यस्ता इति (तत्थवि) तेष्वपि कायेषु पृथिव्यादिषु मध्ये प्रथमं पृथिवीकायमेवमालोचयेत्। ''पंथमादीसु पादअपमज्जणादी,, पंथादिषु यत् पादप्रमार्जनादि कृतं। किमुक्तं भवति। पथि व्रजिता स्थंडिलादस्थंडिलाद्वा स्थंडिलं कृष्णमृत्तिकातो वा नीलमृत्तिकां नीलमृत्तिकातो वा कृष्णमृत्तिका मेवं शेषवर्णेष्वपि भावनीयं। संक्रामता पादयोर्यत्प्रमार्जनं न कृतं। तथा वातोद्धूतेन सचित्तेन रजसासचित्तया वा मृत्ति कया संसृष्टेन हस्तेन संसृष्टेन मात्रकेण वा यत् भिक्षाग्रहणं कृतं। तदेव मयाऽऽलोचीति सर्वत्रापि सामर्थ्यात् योजनीयम् ''विश्यउल्लाह पंथेवा'' इति पृथिवीकायविराधनालोचनानंतरं द्वितीये अप्कायविषये यदुदकाद्रादि आदिशब्दात्सस्निग्धादि परिग्रहः। एतदुक्तं भवति। उदकार्द्रेण सस्निग्धेन वा हस्तेन मात्रेण भिक्षाग्रहणं कृतं पथि वा मार्गे वा अयतनया उदकमुत्तीर्णं वा एवमादि तयालोचयेत्।

तइए पइट्ठिया दी अभिधारणवीयणादिवाउंडि।
वीयाइघट्टणंचमे, इंदिये अणुवायतो छट्ठे ॥

अप्कायविराधनालोचनानंतरं तृतीये तेजस्काये यत् प्रतिष्ठिता-दितेजसि परंपरादिप्रतिष्ठितं भक्तं पानं वा गृहीतं॥ आदिशब्दात् सद्योषिति वा वसतावस्थानं कृतमित्येवमादीति-भावः। तदा लोचयेत्। तदनंतरं वायौ वातकाये यत् अभिधार-णवीजनादि कृतं। घर्मार्तेन बहिर्वातोऽभिसंधारितो भक्तं पानं शरीरं वा वीजनिकादि वा जीवितं एवमादि तदालोचयेत्। ततः पंचमे वनस्पतिकाये ''वीयाइघट्टणि,,। यत् बीजादिघट्टनं आदिशब्दात् हरितकायादिपरिग्रहः उपलक्षणमेतत्। तेन यदि वा बीजादिकं भिक्षासु पतितं गृहीतमित्येवमादि तदालोचयेत्। तदनंतरं षष्ठेऽत्र त्रसकाये इंद्रियानुपात्तत इंद्रियवृद्धिक्रमेणालोचना दातव्या॥ तद्यथा। प्रथमतो। द्वींद्रियाणां संघट्टनपरितापनाद्यालोचयेत्। तदनंतरं त्रींद्रियाणां चतुरिंद्रियाणां ततः पंचेंद्रियाणामिति। एवं प्रथममूलगुणापराधेषु क्रमेणालोचितेषु सत्सु॥

दुब्भासियहीयसादी, विए तइए य जावियग्गहणं।
संघट्टणपुव्वरयादी, इंदियआलोगमेहुण्णे ॥

द्वितीये मूलगुणापराधिमृषावादे मृषावादविषये यत् दुर्भाषितहसि-तादियल्किमपि दुर्भाषितं हासेन वा मृषावादो भणितः आदिशब्दात्। क्रोधेन वा मानेन मायया वा लोभेन वा यत्किमपि मृषा भणित मिति परिग्रहस्तदालोचयेत्। तदनंतरं तृतीयेन मूलगुणापराधे अदत्तादान-लक्षणे यत् अयाचितस्य तृण-डगलकादेर्ग्रहणं उपलक्षणमेतत्। तेन अनुज्ञाप्य वा अवग्रहं कायिकादिव्युत्सृष्टं भवेदित्यादि परिग्रहः। तदालोचयेत्। मैथुनविषये ततौमैथुने यत् घट्टने पूर्वरतादि। किमुक्तं भवति। चैत्यभवनम हिमादिषु प्रभूतजनसंमर्दे स्त्रीशरीरसंघट्टने स्पर्श आस्वादितो भवेत्। पूर्वरतक्रीडितं वा अनुस्मृतं स्यात् (इंदियत्ति) इंद्रियाणि वा मनोहरणानि उपलक्षणमेतत्। वदनस्तना-दिमतिसुमनोहरमवेक्ष्य मनाक् रागं गतो भवेत्। इत्यादि तदालोचयेत्।

मुच्छातिरित्तपंचमे, छट्ठे लेवाडअगयसुंठादी।
गुत्तिसमिईविवक्खा, णामि गहणुत्तरगुणेसु ॥

चतुर्थमूलगुणापराधालोचनानंतरं पंचमे मूलगुणापराधे परिग्रहे विषयभूते यत् उपकरणेषु मूर्च्छा कृता भवेत्।

(अइरित्तित्ति) अतिरिक्तो वा उपधिः परिगृहीत एतदालोचयेत्। तदनंतरं षष्ठे मूलगुणापराधे रात्रिभोजने (लेवाडेत्ति) लेपकृदवयवः कथमपि पर्युषितो भवेत्। अगदं वा शुंठ्यादिकं किंचित्सन्निहितं परिभुक्तं भवेत्। एवमादि आलोचयेत् एवं क्रमेण मूलगुणापराधालोचनां दत्वा तदनंतरमुत्तरगुणेषु विषयेषु गुप्तिसमितिविपक्षाः कृताः। अनेषणीयग्रहणं वाऽकारि। किमुक्तं भवति। गुप्तिषु कदाचिदगुप्तः स्यात्। समि-

तिषु कदाचिदसमितोऽनेषणीयं वा भक्तं वा पान वा गृहीतं स्यादित्यादि आलोचयेत् तथा ॥

संतंमि विवलविरिए, तवोवहाणे यं जं न उज्जमियं ।
एसा विहारवियडण, वोत्थं उवसंपणाणंतं ॥

सत्यपि विद्यमानेऽपि बलं शरीरप्राणः वीर्यमांतरीशक्ति-र्यद्वशात्तपः कुर्वन् शरीरस्यातिकृशतायामपि न संयमयोगेषु सीदति बलं च वीर्यं च बलवीर्यं समाहारे द्वंद्वस्तस्मिन् तपसो द्विप्रभेदस्याऽपि उपधानं तस्मिन्नोद्यतं नोद्यमः कृतएतंदपि आलोचयेत् । एषा विहारावकटना विहारालो चना । उपसंपदालोचनाऽपि प्राय एवंरूपा केवलं यन्नानात्वं तत् वक्ष्ये ॥ व्य० । तत्रप्रथमत उपसंपदालोचनाया अप-राधालोचनायाश्च विहारालोचनया सह नानात्वं दर्शयति ॥

एगमणेगा दिवसेसु, होइ ओहे य पइविभागे य ।
उवसंपयावराहे, नायमनायं परिच्छंति ॥

उपसंपच्चापराधश्च उपसंपदपराधस्तस्मिन् आलोचनेति प्रस्तावात् गम्यते उपसंपदालोचना अपराधालोचना चेत्यर्थः । प्रत्येकं द्विधा (ओघे य) इत्यादि तृतीयार्थे सप्तमी । ओघेन पदविभागेन च तथा एकेकापि दिवसेषु चिंत्यमाना (एगमणेगा) इति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् । एक दिवसिकी-अनेकदिवसिकी चभवति । ओघालोचना एकदिवसिकी । विभागालोचनाएकदिवसिकी अनेकदिवसिकी चेत्यर्थः ॥

तदेवमुक्तमनानानात्वमधुनानात्वमुपदर्शयति । (नायमनायं परिच्छंति) उपसंपद्यमानो द्विविधो भवति । ज्ञातोऽज्ञातो वा । तत्र यदि ज्ञातस्ततः स न परीक्ष्यते तस्याग्रेऽपि ज्ञातत्वात् अथाज्ञातस्तर्हि स आवश्यकादिभिः पदैः परीक्षणीय इति ।

संप्रति यदुक्तं विभागेन (अप्पसत्थे दिण) मित्यादि । तद्व्या-ख्यातुकाम आह ॥

दियरातो उवसंपय, अवराहेदिवसतोपसत्थंमि ।
उव्वातो दिवसं, तिण्हंतु अतिक्कमे गुरुगा ॥

विहारालोचनावत् । उपसंपदालोचनाऽपि विभागेन प्रशस्ते वा दिवसे रात्रौ वा दातव्या दोषाभावात् । तथा पूर्वसूरिभि रनुज्ञानात् । अपराधे अपराधविषये पुनरालोचनादिवसतो इति सप्तम्यन्तात् तद्दिवसे उपलक्षणमेतत् । रजन्यां वा प्रशस्ते विष्टि व्यती-पातादिदोषवर्जिते ''व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिरिति'' न्यायात् द्रव्यादिषु प्रशस्तेषु दातव्या नाऽप्रशस्तेषु एषा जिनाज्ञा । तथा उव्वातो तद्दिवसमिति यस्मिन् दिवसे उपसंपद्यमान आगतः । तस्मिन् दिवसे यदि उद्घातपरिश्रांत इति कृत्वा न पृष्ट आचार्येण ततः स आचार्यः शुद्धः । त्रयाणां तु दिवसानामतिक्रमे । किमुक्तं भवति । त्रिषु दिवसेषु मध्ये यदि न पृष्टस्ततश्चतुर्थे दिवसे तस्याऽपृच्छतः परिहारस्थानं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । एतच्च उपरि व्याख्यास्यते ॥

समणुन्नदुगनिमित्तं, उवसंपज्जेत्ते य होइ एमेव ।
अण्णमणुण्णेन वरं, विभागतो कारणे भइयं ॥

उपसंपद्यमानो द्विधा तद्यथा । समनोज्ञो ऽसमनोज्ञश्चतत्र समनोज्ञस्य समीपे समनोज्ञ उपसंपद्यमानो द्विकनि मित्तं उपसंप-द्यते । तथद्या ज्ञानार्थं दर्शनार्थंच न चारित्रार्थं येन चरणं प्रति ससदृश एव समनुज्ञे द्विकनिमित्त मुपसंपद्यमाने एवमव विहारालोचनेव भवत्यालोचना । इयमत्र भावना । समनोज्ञो द्विकनिमित्त मुपसंपद्यमान अलोचनां विहारालोचना मिव ओघेन ददाति । पदविभागेन च पदविभागेनालोचना । एकदिवसेन वा भवत्यनेकदिवसैर्वा । एवं समनोज्ञस्य उपसंपदालोचना (अण्णमणुण्णे) त्यादि । अन्यो नाम भिन्न संभोगिकः समनोज्ञो ऽसंविग्नः सो ज्ञोऽ समनोज्ञश्च उपसंपद्यमान स्त्रिक निमित्त मुपसंपद्यते । तद्यथा ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं वा तस्मिंश्च तथोपसंपद्यमाने पूर्ववदालोचनां विधिः । अत्र ऽपीयं भावना अन्यो ऽसमनोज्ञो वा आलोचनां ददाति । ओघेन पदविभागेन च ददान एकदिवसेन वा ददाति । अनेक दिवसै र्वा नवरमिति विशेषेएष पुनरत्र विशेषः । तस्याऽज्ञस्यासमनोज्ञस्य वा आलोचना उत्सर्गतो विभागतः सर्ववाक्यं साधारणमिति विभागत एव कारण पुनर्भजितं विकल्पितं वेलाप्राप्तौ विभागालोचना भवति सभ्रम सार्थादिषु पुनः कारणेषु तदप्राप्ताबोधे नालोचनेतिभावः । एषा भजना अपराधालोचनाया अपि द्रष्टव्या तथाहि । अपराधालोचना व्युत्सर्गतः पद विभागेन दातव्या अपवादकारणे पुनः संभ्रम सार्थादिलक्षणा ओघेनापीति । संप्रति उच्यते । तद्दिव समिति व्याख्यातुकाम आह ।

पढमदिणविफाले, लहु विइए गुरुतइए लहुया ।
तेव्विय तम्हाकहणे, सुद्धमसुद्धोविमेहिंतु ॥

यः स मनोज्ञ उपसंपदनार्थमागतस्तं यद्याचार्यः प्रथमदिवसमिति सप्तम्येर्थ द्वितीया प्रथमदिवसेन (विप्फालेइ) देशीवचनमेतत् पृच्छतीत्यर्थः उक्तंच'' विप्फालनत्ति पुच्छणत्ति वा एगट्ठमिति,, यथा कुत आगत कुत्र वा गमिष्यसि । किं निमित्तं वा समागत इति । ततस्तस्य दिवसे एव मविप्फालने परिहारस्थानं (लहुयत्ति) मासलघु द्वितीयेऽपि दिवसे यदि न पृच्छति ततो (गुरुत्ति) मास गुरु (तइएत्ति तृतीये दिवसेऽप्यपृच्छने (लहुया) इति चत्वारो लघुमासाचतुर्थेऽपि दिवसे यदि न पृच्छति । ततः (तिण्हं तु अइक्कमे गुरुगा) इति वचनाच्चतुर्गुरु पंचमादिषुदिवसेष्वप्रच्छने तदेव चतुर्गुरु (तिण्हंतु अइक्कमे) गुरुगा इति निरवधितया वचनप्रवृत्तेः । ''तच्चियतस्साकहणे'' इति ते च प्रायश्चित्तविशेषाः क्रमेण तस्याकथने । तद्यथा । स पृष्टः सन् यदि ब्रूते कथयिष्यामि न तु कथयति । तस्मिन् प्रथम-दिवसे अकथने मासलघु । द्वितीयदिवसेऽप्य कथयतो मासगुरु । तृतीयदिवसे चतुर्लघु चतुर्थदिवसेऽप्यकथयतश्चत्वारो गुरुमासाः । ततः परं पंचमादिष्वपिदिवसेष्व कथने तदेव चतुर्गुरु।

इदानीं उद्घातो तद्दिवसमिति व्याख्याया अवसरः । तद्दिवसे प्रथमदिवसे उद्घात इति कृत्वा न पृच्छति । तत आचार्यः प्रथमदिवसे अविस्फालेअपृच्छने (लहुयत्ति) लघु न दोषगुरुः शुद्ध इत्यर्थः । कारणवशेनापृच्छनात् द्वितीयदिवसे न पृच्छति मासगुरु तृतीयदिवसेऽप्यप्रश्ने चतुर्गुरु । एवं तेनोपसंपद्यमानेन पृष्ठेन वा यदव्याख्यातं भवति । तथाचाह ॥ ननु केन कारणेन वा समागत इति । तत आगतश्चिंतनीयः (सुद्धमसुद्धोवत्ति) शुद्धोऽशुद्धो वा अत्र चत्वारो भंगास्तद्यथानिर्गमन-मप्यशुद्धमागमनमप्यशुद्धं १ निर्गमनमशुद्धमागमनं शुद्धं २ निर्गमनं शुद्धमागमनमशुद्धं ३ निर्गमनमपि शुद्धमागमनमपि

शुद्धं ४ तत्र प्रथमभंगेनिर्गमन (इमेहिंतुत्ति) एभिर्वक्ष्यमाणैद्वारै-श्चिंतितान्येव द्वाराणि दर्शयति ॥

अहिगरणविगतिजोगे, पडिणीए थद्धलुद्धनिद्धम्मे ।
अलसअणुबद्धवेरे, सच्छंदम तीपयहियव्वो ॥

यदि स उपसंपद्यमानोऽधिकरणतः स्वस्थानान्निर्गतः (विग-तित्ति) विकृतेर्लांपट्यात् (योगत्ति) योगोद्वहनभीरुतया (पडिणीएत्ति) प्रत्यनीकोऽत्र मे साधुरिति बुद्ध्या तथा थद्धलुद्ध'' इत्यादिस्तब्ध इति वा लुब्ध इति वा निर्द्धर्म्म इति वा अलस इति वा स्वच्छंदमतिरिति वा विनिर्गतस्तत स्तस्य निर्गम-नमशुद्धमिति कृत्वा (पयहियव्वोत्ति) परिहर्त्तव्यः । तदपरिहणे प्रायश्चित्तं तन्नाधिकरणाविषये प्रायश्चित्तमाह ।

गिहिसंजय अहिगरणे, लहु गुरुगा तस्स अप्पणोच्छेदो ।
विगइं न देइ घेत्तुं, उत्तुरयं व गहिये वि ॥

गृहिभिः संयतेश्च सहाधिकरणे विनिर्गतं यद्याचार्य्यः स्वीकरोति ततो यथाक्रमं प्रायश्चित्तं लघुगुरुकं । इयमत्र भावना । यदि गृहस्थेन सहाधिकरणं कृत्वा विनिर्गतस्तं यद्याचार्यःसंगृण्हाति ततस्तस्याचार्यस्य परिहारस्थानं चत्वारो लघुमासाः अथ संयतेन सममधिकरणं कृत्वा विनिर्गतस्तं यद्याचार्यः संगृण्हाति ततस्तस्याचार्यस्य परिहारस्यानं चत्वारो लघुमासाः अथ संयतेन सममधिकरणं कृत्वा समागतं संगृह्णाति ततश्चत्वारो गुरुकाः । तस्य पुनरागंतुकस्य (पणत्ति) रात्रिंदिवपंचक-प्रमाणाः पर्यायस्यच्छेदः । इहाऽधिकरणादिदोषतो विनिर्गतास्ते प्रश्ने वा सति तदुक्तिवशादवसीयंते । तत्र विकृतिदोषविनिर्गतपृष्ठस्य वा उक्तिविशेषस्तं दर्शयति (विगइमित्यादि) आचार्यो विकृतिं घृतादि कांग्रहणां य न्नददाति तथा योगवाहिभिर्योगोत्तीर्णैः कायो-त्सर्गकरणतोगृहीतोऽपि परिपूर्ण विकृति जातेऽन्यैर्भुक्ते या उद्धरिता विकृतिस्तामपि नानुजानाति किंच ।

नववज्जिया विदेहो, पगईए दुव्वलोअहं भंते ! ।
तब्भावियस्स इण्हिं, नयगहणं धारणं कत्तो ॥

वज्रिवावोनाम देशीवचनत्वादिक्षुः । उक्तं च ''वज्रियावगोउच्चू'' इति नववज्रियाववत् देहो यस्य स तथा । इयमत्र भावना । स ब्रूते अहं भवगन् ! नवेक्षुतुल्यो मम देहो यथा स इक्षुः पानीयेन विना शुष्यति तथा ममापि देहो विकृतिं विना सीदति । अन्यच्चाऽहं स्वभावेन दुर्बलो न विकृतिमंतरेण बलिको भवामि । तथा सर्वदैव विकृत्याचितदेहस्तत्स्तद्भावितस्य सतो ममेदानीं तस्याऽभावेन बलं न च सूत्राऽर्थस्य वा ग्रहणमशक्तत्वात् । पूर्वं गृहीतस्य सूत्रस्यावधारणं कुतः तत् अशक्तया सर्वं दूरत एव विस्मृतं । ततोऽहं विनिर्गतः ॥

संप्रति योगविषये प्रत्यनीकविषये चोक्तिविशेषं दर्शयति ॥

एगंतरनिव्वगत्ती, जोगोपव्वत्थिगोवमे अत्थि ।
वुक्कूखलिएसु गेण्हइ, छिद्दाणि कहेइय गुरूणं ॥

तस्मिन् गच्छेयोग एकांतरनिर्विकृतिकः । किमुक्तं भवति । सपृष्टोवा ब्रूते । तस्याऽचार्यस्य गच्छे योग एकांतरोपवासेनोह्यते । एकांतरा चाम्लेन वा तथा योगवाहिनो योगोत्तीर्णस्याऽपि ते आचार्या विकृतिं न विसृजंति । ततः कर्कशा सुत्र योगा इति विनिर्गतः ॥ न तथा तत्र गच्छे मे मम प्रत्यर्थिकः । प्रत्यनीकोऽस्ति स कथं विसामाचारीयोगेषु ''वुक्कखलिएसुत्ति'' वुक्के विस्मृते सामाचारीविशेषे स्खलिते दुःप्रत्युपेक्षणादिके मां गृह्णाति अत्यर्थं खरंटयति । अथवा बुक्कस्खलितेषु जातेषु तानि बुक्कस्खलितानि अपराधपदे छिद्राणीवछिद्राणि गृह्णाति गृहीत्वा गुरूणां कथयति । पश्चात् गुरुवो मां खरंटयंति ततो विनिर्गतः ॥

संप्रति लुब्धस्य स्तब्धस्य चोक्तिविशेषं दर्शयति ॥

चंकमणादिउठाणे, कडिगहणं काउ नत्थि वहि एवं ॥
भुंजइ सयमुक्कोसं, तयर्देति नेमिलुद्धेवं ॥१॥

स्तब्ध एवं भाषते चंक्रमणादावुत्थाने कटिग्रहणं स्वाध्यायश्च नास्ति । एतदुक्तं भवति । यद्याचार्याश्चंक्रमणं कुर्वंति । आदि शब्दात् यदि वा कायिक्यादिभूमिं गच्छंत्यागच्छंति वा तथा तथा-ऽभ्युत्थातव्याः । तेषां नायकत्वात् । ततः एवं चंक्रमणादाव-भ्युत्तिष्ठतामस्माकं कटी वा तेन गृह्यते भूयोभूय उत्थाने पलि-मंथभावात् सूत्ररूपस्याऽर्थरूपस्य वा स्वाध्यायस्य हानिः । अथ नाभ्युत्थीयतेऽतः आचार्यः प्रायश्चित्तं ददाति खरंटयति च । ततोऽहं विर्निगतः लुब्धः पुनरेवं ब्रूते यत्किमप्युत्कृष्टं शिखरिणीमोदकादि तदाचार्यः स्वयं भुंक्ते न त्वस्मादृशेभ्यो ददाति । अन्येभ्यो वा बालदुर्बलप्राघुर्णकेभ्यो ददाति ततः एवमसहमानोऽहं निर्गतः ॥

अथवा निर्द्धर्म्मालसयोरुक्तिविशेषं प्रकटयति ॥

आवासियापमज्जण, अकरणे उज्जदंडनिद्धम्मो ॥
बालावद्धादीहा, भिक्खायरिया य उब्भामा ॥१॥

योर्निद्धर्म्मा स पृष्टः सन्नेवं वक्ति आवश्यक प्रमार्जनीकरणे उदग्रदंडा आचार्याः । इयमत्र भावना । यदि कथमपि निर्गच्छन् प्रविशन् वा आवश्यकीं नैषधिकीं च न करोति दंडादिकं वा गृह्णन् निक्षिपन्वा न प्रमार्जयति । तत आचार्या निरनुकंपाः संतः उग्रं प्रायश्चित्तरूपं दंडं प्रयच्छंति ततोऽहं दंडभयाद्विनिर्गतः । यः पुनरलसः स एवं ब्रूते । बालाद्यर्थाय बालवृद्धादीनामर्याय । तस्मिन् गच्छे दीर्घभिक्षाचार्या अथवा क्षुल्लकं कर्कशं वा तत् क्षेत्रं ततो दिने दिने उद्भामा भिक्षाचर्या प्रतिदिवसमन्यत्र ग्रामान्तरे गत्वा भिक्षा नीयते इति भावस्तथा यदिकथमप्यपर्याप्तने समागम्यते ततो गुरुः खरटयति किं वसतौ न महानसमस्ति येनापर्य्याप्तः समागतः । तस्मा द्भूयोऽपि व्रज भिक्षार्थं यतः कालोऽद्यापि बहू प्राप्य इति ततोऽहं निर्गतः ॥

सांप्रतमनुबद्धवैरस्वच्छंदमत्योरुक्तिविशेषं दर्शयति ॥

पाणसुणगा व भुंजंति, एगत्तो भंडिउंपि अणुबद्धो ॥
एगागिस्स न लब्भा, बलिउं घेवंपि सच्छंदो ॥

अनुबद्धोऽनुबद्धवैरो भवति भंडित्वाऽपि भंडनं कलहस्तमपि कृत्वा पाणशुनका इव एकत्र भुंजते ॥ इयमत्र भावना ॥ यथा पाणाश्चंडालाः शुनकाः कुर्कुराः परस्परं भंडित्वा तत्क्षणादेवैकत्र भुंजते । एवं तत्र संयता अपि नवरं मिथ्यादुष्कृतं परस्परं दाप्यं इति विशेषः । अहं पुनर्न शक्नोमि *हृदयस्थेन शल्येन तैः सह एकत्र समुद्देष्टुमिति विनिर्गतः । स्वच्छंदमतिः* पुनरेवं भाषेत एकाकिनः सतः स्तोकमपि न लभ्यं चलितुं । किमुक्तं भवति । संज्ञा-भूमावप्येकाकिनः सतो न गंतुं प्रयच्छंति किंत्वेवं ब्रुवते नियमा-त्संघाटक रूपतया केनापि सहितेन गंतव्यं । ततस्तमसह-मानोऽहमत्रागतः एतान्यधिकरणादीनि पदान्याचार्यः श्रुत्वा तं परित्यजति । एतैश्चाधिकरणादिपदैरागतस्य तस्योपसंपद्यमानस्य चाप्रतीच्छतश्चाचार्यस्येद प्रायश्चित्तं ।

जइ भंडणपडिणीए, लुद्धे अणुबद्धरोस चउगुरुगा ॥
सेसा ण हुंति लहुगा, एमेव पडिच्छमाणस्स ॥

यो यतिभिः सह भंडनं कृत्वा समागतः। यश्च तत्र मे प्रत्यनीकः साधुरिति कृत्वा समागच्छेत्। यश्च लुब्धो यश्चानुबद्धरोषः। एतेषामुपसंपदं प्रतिपद्यमानानां प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः चत्वारो गुरुमासाः। शेषाणां भंडनकारिविकृतिलंपटयोगभीरुस्तब्ध-निर्द्धर्म्मस्वच्छंदमतीनां लघुका इति चत्वारो लघुकाः। यः पुनराचार्यस्तदाचार्याननुज्ञया प्रायश्चित्तदान-मतरेण च प्रतीच्छति तस्यापि प्रायश्चित्तमेवमेव। तद्यथा। यतिभंडनकारिप्रत्यनी-कलुब्धानुबद्धवैरान्प्रतीच्छतश्चत्वारोमासाः शेषान् षट्प्रती-च्छतश्चत्वारो लघुमासाः। अथवा ये एते दोषा उक्तास्तेषां मध्ये एकेनापि दोषेण नागतो भवेत् किंत्वे भिर्वक्ष्यमाणैस्तानेवाह।

एगे अपरिणए वा, अप्पाधारे य थेरए।
गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे ॥

यदि एक एकाकी पश्चादाचार्यः।

यदिवा अपरिणए वा, अप्पाधारे य थेरए।
गिलाणे बहुरोगी य मंदधम्मे य पाहुडे ॥

यदि एकतः। अकल्पिकवस्त्रादिसहितः स च कल्पिक-वस्त्राद्युत्पादने लब्धिमानथवा तदाचार्योऽल्पाधारः सूत्रार्थ-नैषणविकलः स च पृष्टः सन् सूत्रार्थकथने निपुणः शक्तिमान् यदि वा तदाचार्यः परिवारो वा स्थविरो जरसा वृद्धशरीरः। स च तेषां प्रतिजागरूकः अथवा पश्चादेकोग्लानः। स च तस्य चिंताकारी यदि वा पश्चत्तत्रैको बहुरोगी नाम बहुभिः साधारणैरागैर्जाप्यशरीरः स च तस्य वर्त्तापकः। यदि वा पश्चात्तना-चार्यपरिवारः सर्वोऽपि निर्द्धर्म्मा न गुर्वाज्ञां करोति केवलं तद्भयात् किमपि करोति। तथा तत्र पश्चात् गुरोः केनापि सह प्राभृतं वर्त्तमानमस्ति। प्राभृतं नाम अधिकरणं। स च गुरोः क्रमेण अपनतः साहाय्यकारी एवं प्राग्वर्त्तमाने यदि समागतो भवति। तदा तस्य निर्गमनमशुद्धत्वाच्च परित्याज्यमिति ॥

एनामेव गाथां व्याख्यातुकाम प्रथमत एका परिणताऽल्पा-धारद्वाराणि व्याख्यानयति ॥

एगाणियं पमोत्तुं, वत्थादि अकप्पएहिं वा सहियं।
अप्पाधारावायणं, तं चेव य पुच्छिओ देइ ॥

एकमेकाकिनं पश्चादाचार्यं मुक्त्वा यदि समागतः। अथवा वस्त्राद्यकल्पिकैः प्रथममपि ग्रहीतैरकल्पिकैर्वस्त्रादिभिः सहितं मुक्त्वा एतेनापरिणत इति व्याख्यातां। यदि वा अल्प सूत्रस्या-ऽर्थस्य वा आधार इति स आचार्यस्तमेवपृष्ट्वा शेषसाधुभ्यो वाचनां ददाति तादृशं मुक्तवा एतेनाऽल्पाधार इति विवृतं ॥

थेरं अतिमहल्लं, अजंगमं मोत्तु आगतो गुरुं तु ॥
सो व परिसाव थेरा, अहं तु अट्ठावगोतेसिं ॥१॥

स्थविरमेव व्याचष्टे अतीव महान्तमजंगमं गमनशक्तिविकलं गुरुं उपलक्षणमेतत् परिवारं वा स्थविरमुक्तरूपंमुक्त्वा यदि समागतः स च प्रतिजागरुक स्तथा च तस्य पृष्टस्य सतोऽमुमेवोक्तिविशेषं दर्शयति। स च आचार्यः स्थविरः पर्षद्वा परिवारो वा आसीत् अहं तु तेषां गुर्वादीनां वर्त्तापकः प्रति जागरूक एतेन स्थविर इति पदं व्याख्यातं ॥

ग्लानबहुरोगनिर्द्धर्म्मपदानि व्याख्यानयति ॥

तत्थ गिलाणोएगो, जप्पसरीरो य होइ बहुरोगी ॥
निद्धम्मा गुरुआणं, न करेंति समं पमोत्तूणं ॥१॥

तत्र गच्छे ग्लान एकोऽस्ति यदि वा बहुरोगी यो जाप्यशरीरो भवति। स बहुरोगी तंग्लानं बहुरोगिणं वा विमुच्य यदि स समागतस्तथा निर्द्धर्म्मपरिषद्विषये तस्य पृष्टस्य सत उक्तिविशेषं दर्शयति। निर्द्धर्म्माधर्म्मवासनारहितस्तस्यममाचार्यस्य शिष्याः सर्वथा गुर्वाज्ञांन कुर्वंति। मां प्रमुच्य मम पुनराज्ञां न कुर्वंति। तादृशं वा निर्द्धर्म्म परिवारं मुक्त्वा यदि समागतस्तर्हि स न प्रतिग्राह्यः। केवलमयमुपदेशस्त-स्मेदातव्यः ॥

तमेवाह ॥

एयारिसं विओसज्ज, विप्पवासो न कप्पई ॥
सीसायरियपडिच्छे, पायच्छित्तं विहिज्जइ ॥१॥

एतादृशमेकाक्यादिस्वरूपं गुरुमन्यं वा ग्लानादिकं व्युत्स्टज्य परित्यज्य विशेषेण प्रवासोऽन्यत्र गमनं विप्रवासो भद्रं तव न कल्पते। बहुगुणाधारो भवान् कयमीदृशं कृतवान्। तस्मात् अद्याऽपि प्रायश्चित्तं प्रतिपद्य पश्चात् गच्छ। स च समागतस्तस्य प्राक्तनाचार्यस्य शिष्यो वा स्यात् प्रतीच्छको वा एवमाग-तमुपसंपद्यमानं योऽप्याचार्यः प्रतीच्छति सोऽपि प्रायश्चित्तभाक्। ततः शिष्यप्रतीच्छकाचार्याणां प्रायश्चित्तं विवक्षुरिदमाह ॥

(सीसायरिएत्यादि) शिष्ये आचार्ये प्रतीच्छके च प्रायश्चित्तं विधीयते। प्रायश्चित्तदानविधिरुच्यते इति भावः ॥

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ॥

एगे गिलाणगे वा, तिण्हवि गुरुगा उ सीसमादीणं ॥
सेसे सिस्से गुरुगा, पडिच्छलहुगा गुरुसरिसं ॥

एकस्मिन् एकाकिनि गुरौ ग्लाने वा तत्र गच्छे तिष्ठति यदि समागतः। शिष्यः प्रतीच्छको वा आचार्येण वा तथा समागतः सन् यदि प्रतीच्छितस्तदा शिष्यादीनां शिष्यप्रतीच्छकाचा-र्याणांत्रयाणामपि प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः। यः पुनरन्यः शेषोऽपरिणताऽल्पा-धारस्यविरबहुरोगमंदधर्म्मपरिचारलक्षण-स्तस्मिन् शेषे यदि समागतः शिष्यः ततस्तस्य प्रायश्चित्तं गुरुका-श्चत्वारो गुरुमासाः। अथ प्रतीच्छकः समागतस्तर्हि तस्य लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः (गुरुसरिसमिति) गुरोरपि प्रतीच्छ- कसदृशं प्रायश्चित्तं। किमुक्तं भवति यदि शिष्यं प्रतीच्छति ततः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुमासाः। अथ प्रतीच्छकं तर्हि चत्वारो लघुका इति ॥

सीसपडिच्छे पाहुड, च्छेदो राइंदियाणि पंचेव।
आयरियस्स उ गुरुगा, दोवेए पडिच्छमाणस्स ॥

यदि प्राभृते गुरोः केनापि सहाधिकरणावर्त्तमानः शिष्यः प्रतीच्छको वा समागतः। तदा तस्य प्रतीच्छकस्य वा प्रायश्चित्तं पंचरात्रिंदिवानि पर्यायस्य छेदः। आचार्यस्य पुनर्द्वाविप्येतौ प्रतीच्छतः प्रतिगृह्णतः प्रायश्चित्तं। गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः। तदेवं प्रथमभंगे निर्गमनदोषा उक्ताः आगमनमशुद्धं तदा भवति यदा व्रजिकादिषु प्रतिबध्यमानः समागततस्त त्रापि प्रतिबंधनिमित्तं प्रायश्चित्तं सूत्रानुसारतो वक्तव्यं। गतः प्रथमो भंगः द्वितीयभंगोऽप्येतादृश एव न वरं। तत्रा-

गमनं शुद्धं क्वचिदपि व्रजिकादौ प्रतिबंधकरणात् तृतीयचतुर्थभंगावनुक्रमेणाऽह ॥

एतद्दोसाविमुक्कं, वइयादी अपडिबद्धमायातं ॥
दाऊणं पच्छित्तं, पडिबद्धं पडिच्छेज्जा ॥१॥

एतैरनंतरोदितैरधिकरणकारित्वविकृतिलांपट्यादिदोषैर्वि-मुक्तमेतेन निर्गमनं शुद्धमुक्तं। तथा व्रजिकादौ अप्रतिबद्धं क्वचिदपि प्रतिबंधमकुर्वतमायातमनेनाऽगमनं शुद्धमपि दर्शितं एष चतुर्थो-भंगः। एष एवोत्सर्गतः श्रेयानिति ज्ञापनार्थं तृतीयभंगात्पूर्वमुक्तः । एवं भूतं प्रतीच्छेत्। तृतीयभंगमाह (उणे) त्यादि यस्त्वधिकरणकारित्वादिदोषैर्विनिर्मुक्तो निर्गतः केवलं व्रजिकादिषु प्रतिबद्धमप्यपवादपदेन व्रजिकादिषु प्रतिबंधकारणमभूत्तन्निमित्तं प्रायश्चित्तं दत्त्वा प्रतीच्छेत् ॥

(७) आलोचनायां शिष्याऽचार्य्यपरीक्षणे आवश्यकादिद्वाराणि ॥

सुद्धं पडिच्छऊणं, अपरिच्छणा लहुय तिण्हिदिवसाणं।
सिस्से आयरिए वा, पारिच्छा तत्थिमा होइ ॥

शुद्धं निर्गमनागमनादिदोषरहितं प्रतीच्छ्य प्रतिगृह्य त्रीन् दिवसान्यावत् परीक्षेत। किमेष धर्म्मश्रद्धावान् किं वा नेति यदि पुनर्न परीक्षते। ततोऽपरीक्षणे परीक्षणाकरणे (लहुयत्ति) मासलघु प्रायश्चित्तं आचार्यान्तराभिप्रायेण चर्तुमासलघु। सा च परीक्षा उभययाऽपि शिष्य आचार्य परीक्षते आचार्याः शिष्यं उभययापि च परीक्षा आवश्यकादिपदैस्तयाचाह। (सिस्सिइत्यादि) तत्र तस्मिन् उपसंपद्यमाने प्रतीच्छिते सति शिष्ये आचार्ये च परस्परमियमावश्यकादिपदैर्वक्ष्यमाणा परीक्षा भवति ॥

तामेवाह ॥

आवस्सयपडिलेहण, सज्झाण भुजणा य भासाय।
वीयारे गेलन्ने, भिक्खग्गहणे पडिच्छंति ॥

आवश्यके, प्रतिलेखने, स्वाध्याये, भोजने, भाषायां, विचारे, बहिर्भूमौ, ग्लाने, भिक्षाग्रहणे, च परस्परमाचार्यशिष्यौ परीक्ष्येते ॥

तत्राऽवश्यकादिपदान्यधिकृत्य यथाचार्यः शिष्यं परीक्षते तथोपदर्शयति॥

केई पुव्वनिसिद्धा केई सारेइ तन्न सारेश।
संविग्गोसिक्खमग्गइ, सुत्तावलिमो अणाहो हं ॥

केचित्साधवोवृषभादयः तस्योपसंपत्कालात् पूर्वमेव आवश्यकादिपदेषु ये दोषास्तेभ्यो निषिद्धा यथा आचार्या इदमिदं च माकाषुरिति। ते तच्छैव वर्त्तमानास्तिष्ठंति । ये पुनःकेचित् अभिनवदीक्षितत्वादिना कारणेन प्रमाद्यंति तान् गुरुः सारयति। सम्यग् यथोक्तानुष्ठाने वर्तयति । तं पुनरुपसंपन्नं प्रमादस्थाने वर्त्तमानमपि न सारयति । तत्र यदि स उपसंपद्यमानः संविग्नो भवति। ततः सोऽप्रतिनेद्यमानः सन्नेवं चिंतयति। येषु स्थाने-ष्वन्यान्प्रमाद्यत आचार्याः सारयंति अहो अहमनाथः परित्यक्त एतैरिति चिंतयित्वा संविग्नहविहारगमिच्छन् आचार्यपादमूले गत्वा (सुत्तावलिमो) इति निपातः पादपूरणाच्छिन्नमुक्तावलीप्रकाशान्यश्रूणि विमुंचन् पादयोः पतित्वां शिक्षांमार्गयते याचते यथा मामप्यत्यादरेण भगवंतः शिक्षयन्तां मां शरणमुपागतं परित्यजत एवं परीक्षानिर्वर्तितः परिग्राह्यः। इतरस्तु परित्याज्यः॥

तत्राऽवश्यके यथा परीक्षा कर्त्तव्या तथोपदर्शयति ॥

हीणाहियविवरिए, सतिविवले पुव्वइंते चोएइ ॥
अप्पणवो देती नममंति इहं सुहं वसिउं ॥

हीनं नाम यत्कायोत्सर्गसूत्राणि मंदमंदमुच्चार्य शेषेषु साधुषु चिरकालं कायोत्सर्गे स्थितेषुपश्चात्स कायोत्सर्गे तिष्ठति। इत्या-दि। अधिकं नाम कायोत्सर्गसूत्राण्यति त्वरितमुच्चार्नुत्प्रेक्षा-करणार्थं पूर्वमेव कायोत्सर्गे तिष्ठति रत्नाधिके वोत्सारिते-कायोत्सर्गपश्चाच्चिरेण स्वं कायोत्सर्गमुत्सारयति इत्यादि। विपरीतं नाम प्रादोषिकान्कायोत्सर्गान् प्राभातिकानिव करोति । प्राभातिकान् प्रादोषिकानिव इत्यादि। हीनाधिकं च विपरीतं समाहारद्वंद्वस्तस्मिन्प्रमादतोवर्तमानात् अथवा सूर्ये किल अस्तमितमात्रे एव निर्व्याघाते सर्वैरपि साधुभिराचार्येण सह प्रतिक्रमितव्यं। यदि पुनराचार्यस्य श्राद्धादिधर्म्मकथादि भिर्व्याघातस्ततो बालवृद्धग्लानासहान् निषद्याधरं च मुक्त्वाशेषैः सूत्रार्थस्मरणार्थं कायोत्सर्गेण स्थातव्यं। ये सत्यपि वले पूर्वं कायोत्सर्गे न तिष्ठंति तान्पूर्वमतिष्ठतश्चोदयंति यः पुनः परीक्ष्यते तं प्रमाद्यंतमपि न शिक्षयंति । ततो यदि स एवं व्यवस्यति । यथा आत्मीयान् प्रमाद्यतश्चोदयति। न मामिति सुखमिह वसितु-मिति। स इत्थं भूतः पंजरभग्नो ज्ञातव्यो न प्रतीच्छनीयः ॥

जो पुण चोइज्जंते, दट्ठुण नियत्तए ततो ठाणा।
भणइ अहं भेवत्तो, चोएह ममंपि सीयंतं ॥

यः पुनश्चोद्यमाना न् शिक्ष्यमाणान् शेषसाधून् दृष्ट्वा ततः स्थानात् निवर्त्तितैर्भणति। गुरुपादमूले गत्वा मन्युभराक्रांतो गद्गदस्वरेण अहं युष्मच्छरणमागतोऽपि भगवन् युष्माभिः शिक्षाया अप्रदानतस्त्यक्तः। न चैतत् भगवतां परमकरुणापरीत-चेतसामुचितं। तस्मात्प्रमादमाध्याम मामपि सीदंतं शिक्षय-ध्वमिति एष इत्थंभूतः प्रतिग्राह्यः कृता आवश्यकमधिकृत्य परीक्षा ॥

संप्रतिप्रतिलेखनस्वाध्याय भोजनभाषाद्वाराणि अधिकृत्य तामाह ॥

पडिलेहणसज्झाए, एमेव य हीणअहियविवरीयं।
दोसेहि वा वि भुंजइ, गारत्थियढड्ढएभासा ॥

एवमेवावश्यकोक्तेनैव प्रकारेण प्रतिलेखने, स्वाध्याये, च हीनमधिकं विपरीतं च कुर्वत आत्मीयान् शिक्षयते न तु तं परीक्ष्यमाणमित्यादि पूर्ववत् तत्र प्रतिलेखनाया हीनाधिकता नाम यत् कालतो हीनामधिकां वा। विपरीतता नाम प्रभाते यत् मुखपोतिकादि क्रमेण न प्रत्युपेक्षते। किं तु स्वेच्छया यदि वा पूर्वाह्णेरणं निःपश्चिमं प्रत्युपेक्षते। अपराण्हे तु सर्वं प्रथममित्यादि। स्वाध्याये हीनता नाम यदिप्राप्तायामपिकाल वेलायां काल-प्रतिक्रमणं करोति अधिकता यदतिक्रांतायामपि कालवेलायां कालं प्रतिक्रामति। वंदनादिक्रियायां वा तदनुगतां हीनाधिकां करोति विपरीतता पौरुषीपाठमतिक्रांतायां पौरुष्यां पठति। उक्तालिकं पौरुष्यामिति तथा भोजनद्वारे आलोकादिवि-धानसूत्रोक्तेन न भुंक्ते दोषैर्वाऽपि (असुरसुरं अचवचवं अड्डय-मवलंवियमि) त्यादि विपरीतरूपैर्भुंक्ते।

तवात्मीयानतथा भुंजानान् शिक्षयतने तु परीक्ष्यमाणमित्यादि पूर्ववत् भाषाद्वारे या अगारस्थिते भाषागृहस्थभाषा च ढड्ढभाषा स्थूरस्वरभाषा तां भाषते । तत्रात्मीयान् तथारूपया भाषया भाषमाणान् शिक्षयते न पुनः परीक्ष्यमाणमित्यादि विभाषा पूर्ववत् ॥

शेषाणि त्रीणि द्वाराण्येकगाथया प्रतिपादयति ।.

थंडिलसामायारेहिं, हवेइ अतरंतगं न पडिजये ॥
अभीणतो भिक्खं, न हिंडइ अणेसणाइ च पेल्लेइ ॥

स्थंडिले सामाचारीं पादप्रमार्जनडगलकग्रहणं निदनालोक नादिरूपां हापयति परिभवति विलुंपतीत्यर्थः । तत्र तथा सामाचारी विलुंपत आत्मीयान् साधून शिक्षयते न परीक्ष्य माणमित्यादि प्राग्वत् । गतं विचारद्वारम् ॥

ग्लानद्वारमाह । अतरंतगं असमर्थं ग्लानमित्यर्थः । न प्रतिजागर्ति नापि तस्य ग्लानस्य खेलमल्लकादि कंसमर्प्पयति । अत्रापि ग्लानमप्रतिजाग्रत आत्मीयान् साधून् शिक्षयते । नतु परिक्ष्य-माणमित्यादि भाषा पूर्ववत् । गतं ग्लानद्वारं ।

भिक्षाग्रहणद्वारमाह । अभणितः सन् भिक्षां न हिंडते भणि तोऽपि च इषद्हिंडने सति प्रतिनिवर्तते अनेषणीयां भिक्षां गृह्णाति । आदिशब्दात् कौटिल्ये न चोत्पादयति इत्यादि परिगृहः । तं तथा भिक्षागृहणे प्रवर्त्तमानमपि न शिक्षयति । किं त्वात्मीयान् साधून् इत्यादि प्राग्वत् । तस्य चागमो द्वाभ्यां स्थानाभ्यां भवति । ततस्ते एव द्वे स्थाने प्रतिपादयति ॥

जयमाणपरिहवंते, आगमणं तस्स दोहिं ठमेहिं ।
पंजरभग्ग अभिमुहे, आवस्सगमादि आयरिए ॥

तस्योपसंपद्यमानस्यागमनं द्वाभ्यां स्थानाभ्यां भवेत् । तद्यथा । यतमानेभ्यः परिभवद्भ्यश्च यतमाना नाम संविग्नाः परिभवंतः पार्श्वस्थादयः । उक्तं च ।

सो पुण जयमाणगाण, वा साहूण मूलातो । आगतोहुज्जा परिभवंताण मूला उ, आगतो हुज्जा परिभवंता नाम पासत्थ ।

इति । तत्र यो यतमानसाधूनां मूलादागतः संज्ञानदर्शनार्थं पजरभग्नो वा समागतो भवेत् । यः पुनः परिभवतां मूलादागतः स चारित्रार्थमुद्यंतुकामः समागतो भवेत् । अनुद्यंतु कामो वा ज्ञानदर्शनार्थमिति । अथ वा यो यतमानेभ्यः समागतः स पजरभग्नः यः पुनः परिभवतां मूलादागतः स चारित्रार्थमुद्यंतुकामः समागतो भवेत् । अनुद्यंतु कामो वा ज्ञानदर्शनार्थमिति । अथ वा यो यतमानेभ्यः समागतः स पंजरभग्नः यः पुनः परिभवद्भ्य उद्यंतुकामश्चारित्रार्थं समागतः । सोऽभिमुखः पंजराभिमुखः एतयोर्द्वयोरपि समागतयोरावश्यकादिभिः पदैराचार्येण परीक्ष्यमाणानपि सीदतः पश्यति तत आचार्येभ्यः कथयति । तेन कथिते सति यद्याचार्याः सम्यक् प्रतिपद्य तान्प्रमादिनः प्रतिनोदयंति । प्रायश्चित्त त प्रयच्छंति । ततस्तत्रोपसंपत्तव्यं । अथ कथितेऽपि ते आचार्यास्तूष्णीं तिष्ठति । भणंति वा किं तव यद्येतेन सम्यग्वर्त्तते । तर्हि अन्यत्र गच्छांतरे उपसंपत्तव्यं । न तत्रेति अय यतमानेभ्यः समागतः पंजरभग्न इत्युक्तं तत्र पंजरे इति किमुच्यते । तत आह ॥

पणगाइसंगहो होइ, पंजरो जायसारणाणोण्णं ।
पच्छित्तं चढमणाहिं, तिवारणं, सउणिदिट्ठंतो ॥

पंचकं नाम आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिस्थविरगणावच्छेदकरूपं आदिशब्दात् भिक्षवो वृषभाः क्षुल्लकवृद्धाश्च परिगृह्यते । तेषां संग्रहः पंचकादिसंग्रहो भवति । पंजरः अथवा आचार्यादी-नामन्योन्यं परस्परं यत् । मृदुमधुरभाषया सोपालं भंवा शिक्षयति एष वा पंजरः । यदि वा यत् प्रायश्चित्तं चमढनाभिरसमाचार्यो निवारणपूर्वं स्वरपुरुषै स्तर्जयित्वा पश्चात्प्रायश्चित्तप्रदानेन यदा सामाचारीतो निर्वर्त्तनं तत् पंजरः अत्रार्थे शकुनिदृष्टांतः । यथा पंजरे शकुनेः शलाकादिभिः स्वच्छंदगमनं निवार्यते । तथा आचार्यादिपुरुषगच्छपंजरे सारणाशलाकया सामाचारी-रूपोन्मार्गगमनं निवार्यते इति । अत्र ये यतमानानां मूलात् ज्ञानर्दनार्थमागता ये च परिभवतां मूलात् चारित्रार्थमागच्छन् ते संग्रहीतव्याः । ये पुनः पंजरभग्ना ज्ञानदर्शनार्थमागता ये च परिभवतां मूलात् ज्ञानदर्शनार्थमागमन् ते न संग्रहीतव्याः ।

तत्र ये संग्रहीतव्यास्ते एको वास्मादनेको वा यत आह ॥

ते पुण एगमणेगाणं, गाणं सारणा जहा पुव्वं ॥
उवसंपयआउट्टे, अणाउट्टे अन्नहिं गच्छे ॥१॥

ते पुनरुपसंपद्यमानाः कदाचिदेको वा स्यादनेको वा तत्रानेकेषां या सारणा सा यथापूर्वं कल्पाध्ययने ''उवएसो सारण चेव तइया पडिसारणा'' इत्यादिना ग्रंथेन भणिता तथाऽत्रापि द्रष्टव्या यः पुनरेकोऽसमीचीनं कुर्वन् शिक्ष्यमाणश्च यद् व्यावृत्तः शिक्षां प्रत्यभिमुखो भवति । ततस्तस्मिन् आवृत्ते षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात्तस्यावृत्तस्य उपसंपद्भवति यदिपुनर्नावर्त्तते । तदा तस्मिन् अनावृत्ते इदं भण्यते । अन्यत्र गच्छमात्र स्था इति । अथवा इदमुत्तरार्द्धम् (आवस्सगमाइआयरिए) इति यदुक्तं त स्य व्याख्यानं आवश्यकादिषु गच्छवासिनः प्रमादिनो दृष्ट्वा आचार्याय कथयेत् । कथिते च सति यदि आचार्यः सम्यगावर्तते निजसाधून् सम्यक् शिक्षयते प्रायश्चित्तं च तेभ्यः प्रयच्छति ततस्तस्मि न्नावृत्ते तस्य तत्रोपसंपद्भवति । अथ कथिते नावर्त्तते तूष्णीं करोति न भणति किं तवैतैः स्वयं सम्यग्वर्त्तेथा इति । तदाऽन्यत्र गच्छेदिति । यदुक्तं प्राक् ॥

दाऊणं पच्छित्तवज्झंतंपी पडिच्छेज्जा ।

इति ॥ तत् व्याख्यानयति । (निग्गमणे अपरिसुद्धे, इमाए जयणाए वारेंति) तृतीये भंगे निर्गमने परिशुद्धे प्रागुक्तदोषवर्जिते आगमने अशुद्धे व्रजिकादिषु प्रतिबंधकरणादिषु प्रतिबंधकरणात् द्वितीये पदे अल्पदोषतयाप्रतीच्छाबुद्धौ सत्यां प्रायश्चित्तं प्रतिबंध-मात्रनिष्पन्नं ददाति । दत्वा च प्रतीच्छंति निर्गमने पुनः प्रथमभंगे द्वितीयभंगे वा अधिकरणमेव अधिकरणादिभिः । एगेऽपरिणए वा इत्यादिभिर्वा दोषैरपरिशुद्धे न प्रतीच्छनीयः किंतु वारणीयः । तं वाऽनया वक्षमाणयाऽथतनया वारयंति ॥

तामेवाह ॥

नत्थिसंकियसंयाड, मंडली विक्खवाहिराणयणं ।
पच्छित्तविउस्सग्ग, निगमसुत्तस्स छण्णेण ॥

यः पंजरभग्नो ज्ञानदर्शनार्थमागतः तं प्रतीय वाग्यतना यत्त्वं श्रुतमभिलषसि । तन्मम पार्श्वे नास्ति अथ स ब्रूयात् मया श्रुतं यथाऽमुकोग्रंथोऽमुकस्यापार्श्वे युष्माभिः श्रुत इति तत् इदं वक्तव्यं श्रुतः स ग्रंथः केवलमिदनीं बहुषु स्थानेषु शंकितं जातं न च शंकितं श्रुतमन्यस्मै दीयते प्रवचने निषेधात् तस्मादन्यत्र निःशंकितश्रुतात् गवेषयस्व । यस्तु स्वच्छंदमतिः संघाटकोद्विग्नःसंज्ञाभूमिमप्येकाकिना गंतुं न लभ्यमिति

सामागतस्तं प्रतीदं वक्तव्यं । अस्माकमाचार्यपरंपरात श्यं सामाचारी संज्ञाभूमिमात्रमपि न गंतव्यमेतच्च तव दुष्करमतोऽन्यत्र गच्छ तावदिति। यः पुनरनुबद्धवैरत्वेनागतस्तं प्रतीदं वक्तव्यं। मंडलीति। अस्माकमीदृशी सामाचारी यदवश्यं मंडल्यांसमुद्देष्टव्यं । यद्यपि च न पठति न शृणोति वा तथापि सूत्रपौरुष्यांमंडल्यामुपविश्यार्थः श्रोतव्यः न कदाचनापि साधूनां स्वच्छंदत्वमेतच्च भवतोऽप्रतीतिकरं तस्मादन्यत्र गम्यतां । यस्त्वलसत्वेनागतस्तं प्रतीदं वाच्यं । (भिक्ख-वाहिराणं) । भिक्षाया बहिः प्रदेशादानयनं। किमुक्तं भवति॥ अस्माकमत्र क्षेत्रे बहवो बालवृद्धाः स ग्लानाः साधवः ते च भिक्षां न हिंडंते । ततो यदि प्रतिदिवसं भिक्षां बहिः प्रदेशादानयसि ततस्तिष्ठ परमेतत् दुष्करं तव तस्मात् यत्र सुखेन तिष्ठसि तत्र याहि किमत्र क्लेशसहनेन यस्तु निर्द्धर्म्मा उग्रदंडा आचार्या इति विनिर्गत-स्तंप्रतीदमुत्तरं (पच्छित्तत्ति) अस्माकमियं सामाचारीयदिदुः प्रमार्जनादिमात्रमपिकरोति। तदातत्कालमेवप्रायश्चित्तं यथोक्तं दीयते न कालक्षेपेण नापि पक्षपातादिना स्तोकहासेन यस्तु विकृतिलंपटो न मह्यं विकृतिमनुजानातीति विनिर्गतस्तं प्रतीयं वाग्यतना (अविउस्सग्गत्ति) अस्माकमप्ययं समाचार्यागमः॥ अभ्युत्सर्गोनुत्कलनं विकृतेरिति व्याख्यानतो गम्यते। योगवाहिना अयोगवाहिना वा विकृतिर्न ग्राह्या इत्यर्थः। अत्राधिकरण प्रत्यनीकस्तब्ध लुब्धविषये यतनानोक्ता विचित्रत्वात् सूत्र-भाष्यगते सूत्राधिकरणे यतना यथा कल्पाध्ययने तथा दृष्टव्या। शेषविषया तु विनेयजनानुग्रहायाभिधीयते तत्र य प्रत्यनीकस्तत्र मे प्रत्यनीकोऽस्तीत्यागतः स भण्यते ममापि शिष्याः प्रतीच्छकाश्च ईषदपि प्रमादं न क्षमंते मह्यं कथयति । अहं च दोषानुरूपं दंड प्रयच्छामि। अन्यथैकतरपक्षपातकरणतोगच्छमुद्राभंगः । सर्वज्ञाज्ञाविलोपश्च । तस्मादत्राऽपि तवदुष्करमिति नस्थातुमुचितं स्तब्धः पुनरेवं भण्यते। अस्मा कमियं सामाचारी-चंक्रमणादिकुर्वति गुराव भ्युत्थानं अनभ्युत्तिष्ठतः प्रायश्चित्त-दानमिति लुब्धं प्रत्येषा वाग्यतनाउत्कृष्ट-द्रव्याणिमोदकादीनि अस्माकं बालवृद्धग्लानप्राधूर्णिकेभ्यो दीयंते। तदेव स्वच्छंदचारित्र प्रभृतीनां निवारणे वाग्यतनोक्ता यदि पुनरेते तथा निवारिता अपि न वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रत्यावर्त्तते नापि निर्गच्छंति येऽपि च विशुद्धनिर्गमाः प्रतीच्छिताः संतः सीदंति तेषां परिस्थापने यतनामाह (निग्गममुत्तस्स छण्णेण) यदा परिस्थापयितुमिष्यमामस्य स्वयं भिक्षादिनिमित्तं निर्गमो भवति । यदा रात्रौ निर्भद्रया सुप्त स्तदा तं त्यक्तवा नष्टव्यं॥

कथमित्याह ॥

छन्नेनाप्रकटमल्पसागारिकं किमुक्तं भवति। ये अपरिणता बालादयो वा तत्र गच्छे तेषां न कथ्यते यथाऽमुमेवं त्यक्तवानष्टव्य मिति । मा रहस्यमेदं कार्षुरिति कृत्वेति एष गाथार्थः॥

सांप्रतमेनामेव गाथां विनेयजनानुग्रहाय विवृणोति॥

नत्थेयंमिज मिच्छसि, सुयं मया आमसंकियं तं तु।
न य संकियं तु दिज्जइ, निस्संकसुए गवेस्साहि॥

यदिच्छसि शास्त्रं श्रोतुं तदेतत् मे मम पार्श्वे नास्ति। अथ ब्रूयात्। मयेदं श्रुतं यथाऽमुकं शास्त्रं भवद्भिः श्रुतमिति । तत्राह । आमं तत् शास्त्रं केवलमिदानीं शंकितं जातं नच शंकितं दीयते । तस्मान्निः शंकश्रुतान् गवेषय॥

(संघाडत्ति) मंडलीति च द्वारद्वयं व्याचिख्यासुराह॥

एगागिस्स न लब्भा, वियारादी विजयणसच्छंदे।
मोयणसुत्ते मंडली, पढमंते वा निओयंति॥

स्वच्छन्दे स्वच्छंदमतौ निवारणार्थमियं वाग्यतना अस्मा-कमेकाकिनः सतोविचारादावपि बहिर्भूम्यादावपि तत्र लभ्यं गन्तुमिति। अनुबद्धवैरे। इयं वाग्यतना। अस्मदीया मुनिवृषा भोजने सूत्रे उपलक्षणमेतत् अर्थे वा पठंतोऽपि मंडल्यां नियोजयंति । एतच्च तवदुष्करमिति॥

अधुना "भिक्खवाहिराणयणं पच्छित्तविउस्सग्गे" इति त्रीणि द्वाराणि व्याख्यानयति॥

अलसं भणंति वाहि, भिक्खंदहिंडसि अम्हएत्थबालादी।
पच्छित्तं हाडहडं, अविउस्सग्गो तहा विगई॥

अलसं प्रति भणंत्याचार्याः। अस्माकमत्र क्षेत्रे बहवो बालादयस्ते च भिक्षां न हिंडते ततो यदि बहिर्भिक्षां हिंडसे। तर्हि तिष्ठ अन्यथा व्रज स्थानांतरमिति । निद्धर्म्माणं प्रति पुनरिद वदति अस्माकं केऽपि दुःप्रमार्जनादौ कृते प्रायश्चित्तं हाडहडं देशीपद-मेतत् तत्कालमित्यर्थः। दीयते अन्यथा मूलत एव सामाचारी-विलोपप्रसक्तेः विकृतिलंपटं प्रति पुनरियं वाग्यतना योगवाहिनो वाऽस्माकं गच्छे विकृतेरव्युत्सर्गोऽनुत्कलनं भवांश्च दुर्बलशरीरो-नवेक्षुरिव पानीयैर्विकृत्याऽल्प स्वभावास्तस्मादन्यत्र प्रयाहीति॥

अत्र चोदक आह॥

तित्थ भवे मायमोसो, एवं तु भवे अणुज्ज मं तस्स।
वुत्तं च उज्जुभूते, सोही तेलोक्कदंसीहिं॥

यदेतत् निर्गमनाशुद्धे उपायेन प्रतिषेधनमुक्तं तत्र कस्यचिन् मतिः स्यात्। एवं प्रतिषेधतो माया भवति। मृषावादश्च। तत्र यत् परिचिंतनं तन्मायाविद्यमानमापि श्रुतं नास्ति शंकित वा तिष्ठतित्यादि कुर्वाणस्य मृषावादः । एवं तु अमुना प्रकारे ण पुनर्माया मृषां कुर्वते भवेत्। तस्याऽनार्जवमनृजुता मायातः कुटिलभावभावात् उक्तं पुनस्त्रैलोक्यदर्शिभिरिदं शोधिकल्पे ऋतुभूते सोहीउज्जुयस्सेत्यादेः प्रदेशांते श्रवणात् ततो नेदं माया मृषा भाषणमुचितमिति।.

अत्र सूरिः प्रत्युत्तरमाह॥

एसअगिते जयणा, गीते वि करेंति जुज्जई जं तु॥
विद्वेसकरं इह ए, मच्छरवि दोव फुडरुक्खो॥१॥

एषा अनंतरोदिता वाग्यतना अगीते अगीतार्थे गीतेऽपि गीतार्थेऽपि निर्गमनाशुद्धे निवारणा क्रियते। स्फुटाक्षरैर्यथा एवंभूतदोषात् त्वमत्रागत एवं भूतदोषश्च न सुविहितैः प्रतीच्छ्यते इति न चैवं भणितगीतार्था हि सर्वामपि सामाचारीमवबुध्यते। अवबुध्यमानाश्च कथमप्रीतिं विद्वेषं वा कुर्वंतीति॥

तथाचाह॥ (करेंति जुज्जई जंतु) यत् अत्र युज्यते युक्तिमापतति तत् गीतार्थाः कुर्वंति। ना प्रीत्यादिकमिति। इहरत्ति। इतरया यद्यगीतार्थेऽपि स्फुटरूक्षैर्निवारणा क्रियते। ततः स्फुटरूक्षे भाषिते सति स्फुटं नाम सद्भूतदोषोद्धारणं रूक्षं स्नेहोपदर्शन-रहितं यदि वा स्फुटमेव परस्य रूक्षतोत्पादनात् रूक्षं स्फुटरूक्षं तस्मिन् भा-षितेन तत् भाष्यमाणं वचस्तेषां विद्वेषकरं विद्वेषोत्पादकं भवति। अगीतार्थत्वात् चिंतयति च मत्सरभा-वेनैते सूत्रमर्थं वा न प्रयच्छंति । ततो मत्सरिण

एत इति एवं च चिंतयित्वा स्वपक्षे परपक्षे च मत्सरिण एते इति प्रकाशयति। ततो लोके मत्सरिप्रवादो विद्वेषकरं च तद्वचस्तेषां मा भूदिति प्रागुक्तयतनया निवारणा क्रियते वचनेमाया-मृषादोषसंभवः। यतः परप्रीत्यनुवादकतया परिणाममसुंदरतया चोभयोरपि गुणकारित्वेक्ष्य तछा वाग्यतना क्रियते। न विप्रतारणबुद्ध्येति॥

एतेषामेव प्रतीच्छने अपवादमाह॥

निग्गमसुमुवागए ण, वारिया गेण्हए समाउड्डं॥
अहिगरपडिणि अणुबद्ध, मेगागिजढं न साएज्जा॥

निर्गमोऽशुद्धो यस्य स, निर्गमाशुद्धस्तं उपायनप्रागुक्तयत-नालक्षणेन वारितं समावृत्तं संतं गृण्हाति। किमुक्तं भवति। यदि स तथा प्रतिषिद्धः सन् ब्रूते भगवन्मिथ्या मे दुष्कृतं न पुनरेवं करिष्यामि। किन्तु यथा यूयं भणिष्यथ तथा करिष्यामि। मुक्तो मया पापस्वभावो दुर्गतिवर्द्धन इति। तत एवं तं समावृत्तं गृण्हाति किं सर्वमपि नेत्याह॥ (अहिगरणेत्यादि) योऽधिकरणं कृत्वा समागतस्तं यश्च मे तत्र प्रत्यनीकोऽस्तीत्युक्तवान् तं तथा अनु-बद्धरोषं येन च पश्चादेकाकी आचार्यस्त्यक्तस्तं च न (साएज्जा) न सात्मयेत् न सात्मीकुर्यादिति भावः॥

केवलं प्रत्यनीके अपवादोऽस्ति तमेवाभिधित्सुराह॥

पडिणीयंमि उ भयणा, गिहंमि आयरियमादिदुट्ठंमि॥
संजयपडिणीए पुण, न होति उवसामिए भयणा॥

प्रत्यनीके भजना तामेवाह। गृहिणी गृहस्थे आचार्यादिदुष्टे। किमुक्तं भवति। यदि कोऽपिनाम गृहस्थ आचार्यस्य आदि-शब्दादुपाध्याय-प्रवर्त्तिस्थविरगणावच्छेदानां शेषभिक्षूणां च प्रद्विष्टः स चाऽनेकधा उपशम्यमानोऽपि नोपशांतस्ततस्तस्मिन् आचार्यादिप्रदुष्टे गृहिण्यनुपशमति तद्भयादागतः सन् प्रतिगृह्यते। यदि पुनः स ब्रूयात् संयतोमे तत्र प्रत्यनीकोऽस्ति ततस्तस्मिन् संयतप्रत्यनीके न भवत्युपसंपत् न स प्रतिगृह्यते इत्यर्थः। अथवा स भण्यते। गच्छ त्वं क्षमयित्वा समागच्छ। एवमुक्तो यदि तत्र गत्वा तं न क्षमयति ततो न स प्रतिगृह्यते अथ तेन गत्वाऽसौ क्षामितः केवलं स एव न क्षमते तर्हि पश्चादागतः प्रतिग्राह्यः। अथ स वक्ति मया स तदानीमेवागच्छता क्षामितः। तदा तस्मिन्नुपशांते स नियमात् प्रतिगृह्य एव न भवति भजनादिदोषत्वात्॥

सो पुण उवसंपज्जे, नाणट्ठा दंसणे, चरित्ते, य।
एएसिं नाणत्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

स पुनरुक्तप्रकारेण संगृह्यमाण उपसंपद्यते ज्ञानार्थं ज्ञाननिमित्तं दर्शने दर्शननिमित्तं सप्तम्या निमित्ते विधानात्। दर्शनप्रभावकशास्त्रनिमित्त-मित्यर्थः। चारित्रार्थं चारित्रनिमित्तं एतेषां ज्ञानाद्यर्थमुपसंपद्यमानानां नानात्वभेदं यथोपन्यासं या आनुपूर्वी तया वक्ष्यामि॥

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति॥

वत्तणा संघणा चेव, गहवे सुत्तत्थ तदुभए।
वेयावच्चे खमणे, काले आवकहाएय॥

ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चोपसंपत्प्रत्येकं त्रिधा। तद्यथा सूत्रं चार्थश्च तदुभयं च सूत्रार्थतदुभयं तस्मिन् सूत्रेऽर्थे तदुभयस्मिंश्चेत्यर्थः। निमित्तसप्तमी चेयं। ततोऽयं भावार्थः। ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चोप-संपद्यमानः प्रत्येकं सूत्रार्थं वा उपसंपद्यते। अर्थार्थं वा तदुभयार्थं चेति। पुनरेकैका प्रत्येकं भवति त्रिधा। तद्यथा। वर्त्तनेति अत्र सप्तमीलोपः प्राकृतत्वात्। वर्त्तनायां वर्त्तनानिमित्तमेवमेव संधनायां संधनानिमित्तं ग्रहणे ग्रहणानिमित्तं तत्र पूर्वगृहीतस्य सूत्रार्थस्य तदुभयस्य वा पुनः पुनः रभ्यसनं वर्तना। पूर्वगृहीतस्य विस्मृतस्य पुनः संस्थापनं संधना। तथा ग्रहणे तत्प्रथमतया अपूर्वस्य सूत्रार्थस्य तदुभयस्य वा ग्रहणनिमित्तं एवं ज्ञाने दर्शने च प्रत्येकं भवति त्रिधा उपसंपत् चरणोपसंपद्यमानोद्विधोप-संपद्यते। तद्यथा। वैयावृत्ये क्षपणे च वैयावृत्यनिमित्तं क्षपणनिमित्तं च। ते द्विधा उपसंपद्यमानाः कालतो यावज्जीवं भवेयुश्च शब्दादित्वराश्च॥

एनामेव गाथां व्याख्यानयति॥

दंसणनाणे सुत्तत्थ, तदुभए वत्तणा य एक्केक्के॥
उवसंपया य चरित्ते, वेयावच्चे य खमणे य॥१॥

दर्शनविशोधकानि यानि सूत्राणि शास्त्राणि वा तानि दर्शन शेषाणि सूत्राणि शास्त्राणि वा ज्ञानं। तत्र दर्शनज्ञाने च प्रत्येकमुपसंपत्त्रिधा। सूत्रनिमित्तमर्थनिमित्तं यदुभयनिमित्तं च। एकैकस्मिन् सूत्रादौ प्रत्येकं वर्त्तना संधना ग्रहणं च। किमुक्तं भवति। सूत्रेऽपि वर्त्तनानिमित्तमुप-संपद्यते। संधना निमित्तमुपसं-पद्यते। अपूर्वग्रहणनिमित्तं वा उपसंपद्यते। एवमर्थेऽपि त्रितयमुभयेऽपि त्रितयमिति दर्शनेऽपि नवविधोप संपद् ज्ञानेऽपि नवविधेति। चारित्रे चारित्रविषया उपसंपत् वैयावृत्ये, क्षपणे च॥

शुद्ध अपडिच्छणे, लहुगा अकरेंते सारणा अणापुच्छा।
तेसु वि मासो लहुतो, वत्तणादिसुत्थाणेसु॥१॥

यदेतद्गुरुसकाशे सूत्रं तत् सर्वमधीतं। ततोगुरुभिरनुज्ञातो विधिना आपृच्छ्य व्रजकादिष्वप्रतिवध्यमान आगतः। आगतश्च सन् त्रीन् दिवसान् यावत् परीक्षितः शुद्धः। इत्थंभूतं यो न प्रती-च्छत्याचार्यस्तस्य प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः। योऽपि उपसंपन्नो वर्त्तनानिमित्तं संधनानिमित्तं ग्रहणनिमित्तं वा स यदि वर्त्तनां संधनां ग्रहणं वान करोति तदा तस्मिन् वर्तना-दिकमकुर्वति प्रत्येकं त्रिष्वपि स्थानेषु वर्तनादिषु मासोलघुकः प्रायश्चित्तं। आचार्योऽपि यद्युपसंपन्नं प्रमाद्यंतं न सारयति तदा तस्मिन्नपि सारणा। अत्र विभक्तिलोप आर्षत्वात्। अकुर्वति त्रिष्वपि। वर्त्तनादिषु स्थानेषु मासलघु। एतच्च प्रायश्चित्तविधानं सूत्रविषयम्। अर्थे पुनर्वर्त्तनादिमकुर्वति शिष्ये अर्थनिमित्त-मुपसंपन्नं प्रमाद्यंतं वर्त्तनादिष्वसारयति गुरौ च प्रत्येकं त्रिष्वपि वर्त्तनादिषु स्थानेषु प्रायश्चित्तं मासगुरु। उभयविषये च द्वयोरपि प्रत्येकं वर्त्तनादि त्रिष्वपि स्थानेषु पृथक् उभयं प्रायश्चित्त मासगुरु मास लघु चेति। एतच्च गाथायामनुक्तमपि संप्रदायादवसितं। यथा (अणापुच्छा) इति। अनापृच्छायामननुज्ञाया-मित्यर्थः। अत्र चत्वारो भंगास्तद्यथा। अननुज्ञातोऽननुज्ञातेन सह वर्तनां करोत्ये-कोभंगः १ अनुज्ञातो अननुज्ञातेन सहेति द्वितीयः २ अनन्-ज्ञातोऽनुज्ञातेनेति तृतीयः ३ अनुज्ञातोऽनुज्ञातेनेति चतुर्थः ४ एवं संधनायां ग्रहणेऽपि च प्रत्येकं चत्वारो भंगाः। एवमर्थेऽपि तदुभयस्मिन्नपि च प्रत्येकं वर्त्तनादिषु चत्वारो भंगा। तत्र सूत्रविषये त्रिष्वपि वर्त्तनादिषु स्थानेषु प्रत्येकमाद्येषु भंगेषु ददानस्य गृण्हानस्य च प्रायश्चित्तं मासलघु। तपःकालविशेषितं। तद्यथा। वर्त्तनायामाद्येषु

त्रिषु भंगेषु मासलघु संघनायां मासलघु । तपो गुरुकाललघु । ग्रहणे मासलघु द्वाभ्यां गुरुस्तद्यथा तपसा कालेन च । एव मर्थे तपःकालविशेषितं मासगुरु । तदुभयप्रायश्चित्तमर्थविषयं च प्रायश्चित्तं गाथानुपात्तमपि व्याख्यानादवगतं । चतुर्थभंगःपुनः सर्वत्राऽपिशुद्ध इति न तत्र कस्याऽपि प्रायश्चित्त मिति । इहाचार्यस्याऽपि प्रमादतः सूत्रादिषु वर्त्तनादिकमकुर्व तमुपसंपन्नमसारयतः प्रायश्चित्तमतो नियमात्स आचार्येण-सारयितव्यस्तथा च एतदेवाह ॥

सारेयव्वो नियमा, उपसंपन्नोसि जं निमित्तं तु ।
तं कुण सु तुमं भंते ! अकरेमाणे विवेगोउ ॥

स उपसंपन्नो नियमात्सारयितव्यः कथमित्याह । अहोभदंत ! ज्ञानाद्यभ्यासकारितया परमकल्याणयोगिन् ! इह शिष्य-स्याप्याचार्येण प्रोत्साहनार्थं तथा विधयोग्यतासंभवमधि-कृत्यैवंविधमप्यामंत्रणं कर्त्तव्यमिति ज्ञापनार्थं । अन्यथा भदंतेति गुर्वामंत्रणे रूढत्वात्तत्रैव न्याय्यं न शिष्ये इति । यन्निमित्त-मुपसंपन्नस्त्वं तत्कुरु । एवमेकद्वित्रिवारं सारितोऽपि यदि न करोति वर्त्तनादिकं ततस्तस्मिन्नकुर्वति विवेक एव परित्याग एव कर्त्तव्यः । तुरेवकारार्थः ॥

(यदुक्तमणापुच्छा) इति तत् व्याख्यानयति ॥

अणणुन्नमणुण्णाए, दितं पडिच्छंतभंगचउरो उ ।
भंगतियंमि वि मासो, दुहतोणुण्णाए सद्धो उ ॥

अननुज्ञातो मकारोऽलाक्षणिकः । अननुज्ञातो ददाति इतरस्तु प्रतीच्छतीत्येवं ददानप्रतीच्छतां चत्वारो भंगास्तत्रभंगत्रिकेऽपि आद्येऽपि त्रिष्वपि वर्तनादिषु स्थानेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं मासो लघुमासः । अर्थे गुरुमासस्तदुभयस्मिन् तदुभयं प्रायश्चित्तमिति व्याख्यानात् ॥ (दुहतोणुण्णाए) इति उभयतो ददानतया प्रतीच्छकतथा चाऽनुज्ञाते भगश्चतुर्थः शुद्ध एव । तुरेवकारार्थः एषोऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु प्रागेवोपदर्शितः ।

एष प्रायश्चित्तविधिर्ज्ञानार्थमुपसंपद्युक्त एवं दर्शनार्थमुपसंपदि द्रष्टव्यस्तथा चाह ॥

एमेव दंसणाबी, वत्तणमादी पथा उ जह नाणे ।
वेयावच्चकरो पुण, इत्तरितो आवकहितो य ॥

यथा ज्ञाने वर्तनादिपदान्यधिकृत्य प्रायश्चित्तविधिरुक्त एवमेव अनेनैव प्रकारेण दर्शनेऽपि वर्त्तमानादीनि पदान्यधिकृय वेदि-तव्यः । गता ज्ञानदर्शनोपसंपत् ॥

इदानीं चारित्रोपसंपत् भावनाया ॥

तत्र काले (आवकहाए य) इति पदं व्याख्यानयति । (वेयावच्चे) त्यादि वैयावृत्यकरो वैयावृत्यार्थमुपसंपन्नः पुनर्द्विधा इत्वरः स्वल्पकालभावी यावत्कथिको यावज्जविभावी । अस्य च द्विविधस्याऽपि वैयावृत्यकरापण-विधिरयं एको गच्छवासी वैयावृत्यकरोऽपरः प्राधूर्णकः स च वक्ति अहं वैयावत्यं करोमि ॥

तत्र विधिमाह ॥

तुल्लेसु जो सुलद्धी, अन्नस्स व वारएण निच्छंते ।
तुल्लेसु व आवकही, तस्स मएणं च इत्तरिओ ॥

यदि द्वावपि कालतस्तुल्यावित्वरौ च तत्र यद्येकोलब्धिमान् अपरोऽलब्धिकस्तर्हि तयोस्तुल्यथोर्यः स लब्धिकः स कार्यते इतरस्तु उपाध्यायादिभ्यो दीयते । अथ द्वावपि यावत्कथिकौ तत्रापि यो लब्धिमान् स कार्यते इतरोऽन्येभ्यो दीयते । यदि पुनर्द्वावपि सलब्धिकौ यावत्कथिकौ च तत्र अन्यतर उपाध्यायादेः कार्यते । अथैकोऽपि तस्य नेच्छति तत आगंतुको विमुच्यते । अथ द्वावपि सलब्धिकावित्वरौ च तत आगंतुक उपाध्यायादीनां वैयावृत्यं कार्यते सूत्रालापकश्च उपाध्यायादिवैयावृत्य-फलप्रदर्शकस्ततः प्रोत्साहनार्थं पठनीयः ॥

उवज्झायवेयावच्चं, करेमाणे समणे ॥
निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे होइं ॥१॥

इत्यादि । अथ नेच्छति तर्हि तस्मिन्नन्यस्य उपाध्यायादि-वैयावृत्यमनिच्छति वा शब्दोभिन्नक्रमत्वात् । वारएण चेत्येवं योजनीयः । द्वावपि वारकेण कार्यते कियत्कालमेकः कियत्काल-पर इति । यदि वास्तव्यो वैयावृत्यकरोऽनुमन्यते । अथ नाऽनु-मन्यते तत आगंतुकस्तावंतं कालं प्रतीक्षाप्यते । यावत् वास्त-व्यस्य वैयावृत्यस्य इत्वरकालसमाप्तिमुपयाति ॥ अथ न प्रतीक्षते तर्हि विसृज्यते अथ द्वयोरपि तयोर्वैयावृत्यकरापण विधिः ॥

अथ एक इत्वर एको यावत्कथिकस्तत्राह (तुल्लेसु व) इत्या-दि । तुल्ययोर्लब्ध्यासमानयोर्यावत्कथिकः स कार्यते । इतरो ऽन्यस्योपाध्यायादेः सन्नियोजनीयः । अथ वास्तव्यो याव-त्कथिकस्तर्हि स भण्यते विश्राम्य त्वं तावत् यावदित्वरः करोति तथा चाह । तस्य वास्तव्यस्य वैयावृत्यकरस्य मतेन इच्छया इत्वरो वा कार्यते वैयावृत्यकरस्तथा प्रज्ञापितोऽपि नेच्छति तर्हि न कार्यते । स हि पश्चादपि यास्यति । तत इतरो वास्तव्यो न करिष्यती-ति । अथ इत्वरो यावत्कथिकश्च द्वावपि सलब्धिकौ तत्र यावत्कथिकः कार्यते । इतरोऽन्यस्य नियुज्यते विसृज्यते वा । अथवा इत्वरः स लब्धिकस्तत्र यावत्कथिको भण्यते । विश्राम्य तावत् वर्त्तितव्यम् । यावदेष इत्वरः सलब्धिकः करोति । पश्चात्त्वमेव करिष्यसि । अथ नेच्छति तर्हि स एव कार्यते । इतरस्त्वन्यस्मै दीयते । तस्य तत्रानिच्छायास विसृज्यते अथेत्वरोऽलब्धिको लब्धिमान् तत्र यावत्कथिक्रः कार्यते । इतर उपाध्यायादेः समर्प्यते । अथ तस्य तत्रा निच्छा तर्हि विसृज्यते । इह यदि वास्तव्यवैयावृत्यकरेणा ननुज्ञातो वैयावृत्यं कारयति । यदि वा नापृच्छया अन्यंवैयावृत्यकरं स्थापयति तदा तस्या-ऽचार्यस्य बहवो दोषास्तानेवाह ॥

अणण्णुन्नाए लहुगा, अविय्त्तमसाहजोग्ग दाणादी ।
निज्जरं महती हु भवे, तवस्सिमाई ण करणे वी ॥

वास्तव्यवैयावृत्यकरेणाननुज्ञायामुपलक्षणमेतत्तस्यानापृच्छायां वा यद्यागंतुकमित्वरं वैयावृत्ये स्थापयति । ततस्तस्य प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारोलघुमासाः । अन्ये ब्रुवते अनापृच्छायां मासलघु । अननुज्ञायां चतुर्लघु । अन्यचाननुज्ञायामनापृच्छायां वा वैया-वृत्यपदे अन्यस्येत्वरस्य स्थापने वास्तव्यस्य अविय्त्त मप्रीति-रुपजायते । अप्रीत्या च कलहं कुर्यात् (असाहजोग्गदी) इति यानि दानादीनि दानश्रद्धादीनि कुलानि योग्यानि तान्याग-तुकवैयावृत्यकरस्य न साधयति । न कथयति तस्मात्स इत्वर आगंतुको वैयावृत्यकरः प्रज्ञाप्यते । त्व तपस्या दीनां क्षपकादीनां वैयावृत्यं कुरु तेषामपि क्रियमाणे वैयावृत्ये महती निर्जरा ॥ तदेवं वैयावृत्यद्वारं गतम् ॥

इदानीं क्षपणद्वारावसरः ॥

आवकही इत्तरिए, इत्तरियविगिट्ठ तह विगिट्ठे य ।
समणामंतणखमणे, अणिच्छमाणं न ओ नियोगो ॥

क्षपक उपसंपद्यमानो द्विधा यावत्कच्छिक इत्वरश्च तत्रेत्वरो द्विधा विकृष्टतपः कारी अविकृष्टतपः कारी च । तत्र चतुर्थ षष्ठाष्टमकारी अविकृष्टतपः कृत् । दशमादितपः कारी विकृष्ट तपःकृत् तयोर्द्वयोरप्युपसंपद्यमानयोः (समणामंतणत्ति) आचार्येण स्वगच्छस्यामंत्रणं प्रच्छनं कर्त्तव्यं । यथा आचार्या ! एष विकृष्टतपः करणार्थं समागतः किं प्रतीक्ष्यतामुत प्रतिषिध्यतामिति । तत्र यदि तेषामनुमतं भवति । तदा प्रतीष्यते अनिच्छायां प्रतिषिध्यते यदि पुनः केचिन्न मन्यते तर्हि यः कश्चिन्नेष्टवान् तमनिच्छंतं तस्य क्षपकस्य वैयावृत्ये बलान्न नियोजयेत् । बलाभियोगस्य सूत्रे निषेधात् । यस्तु प्रतीच्छितः । स पृष्टव्यः किं त्वविकृष्टं तपः करोषि अविकृष्टं वा यदि ब्रूत अविकृष्टं ततो भूयोऽपि प्रष्टव्यं त्व पारणकदिने कीदृशोभवसि । यदि प्राह ग्लानोपमः तत्राह ॥

अविगट्ठकिलम्मं तं, भणंति मा खम करेहि सज्झायं ।
सक्काकिलिमिउं जेवि, विगिट्ठेणं तहिं वियरे ॥

अविकृष्टे तपसि क्लाम्यंन्तंभणन्ति सूरयो माक्षपय माक्षपणं कुरु न युक्तं तव क्षपणं कर्तुमशक्यभावादित्यर्थः । तस्मात्कुरु स्वाध्यायं तपः करणात्स्वाध्यायकरणस्य बहुगुणत्वात् । अपि च । स्वाध्यायोऽपि परमं तपः । यत उक्तं ॥

वारसविहम्मि वि तवे सब्भि तरबाहिरे कुसलदिट्ठे ॥
न वि अत्थि न वियहोहिइ, सज्झायसमं तवोकम्मं ॥

अग्लानोपमस्त्वविकृष्टतपः कारी तपः कार्यते यस्तु विकृष्टं तपः करोति स यद्यपि पारणकदिने ग्लानोपमोजायते तथापिस कार्यते । यत आह (सक्क) इत्यादि अदि शब्दः पुनरर्थे ये पुनस्तपस्विनो विकृष्टेन तपसा पारणकदिने क्लमयितु शक्याः क्लाम्यंते इतिभावः तत्र तेषु तपस्विषु वितरेत् दद्यात् तपः करणं तेषां तथा रूपाणामपि समनुजानीयात् । न तु वारणीयं विकृष्टतपः करणस्य महागुणत्वात् केवलं भक्तपानं भैषजादिकमानाय्य दातव्यं । अथ ग्लानोपमो न भवति । किंतु स्वयमेव संस्तारक-प्रतिलेखनादीन् व्यापारान् सर्वानप्य हीना तिरिक्तान् करोति प्रतीच्छते एवं च तत्र यो विकृष्टेन तपसा ग्लानोपमो भवति । तत्रेयं समाचारी ॥

अन्नपडिच्छणे लहुगा, असति गिलाणोवमे अडंते य ।
पडिलेहणसंथारग, पाणग तह मत्तगतिगं च ॥१॥

तस्मिन्गच्छे यद्यन्यः कोऽपि विकृष्टतपः कारी क्षपको विद्यते स च पारणकदिने ग्लानोपमो वा भवेद ग्लानोपमोवा तथाऽपि तस्मिन्विद्यमाने क्षपके अन्यं क्षपकमाचार्यो न प्रतीच्छेत प्राक्त नस्य हि क्षपकस्य पारणकदिने ग्लानोपमस्याग्लानोपमस्य वा सतोऽवश्यं कर्त्तव्यं । न च द्वयोर्वैयावृत्यकरणे साधवः प्रभवंति तस्मान्न प्रत्येषणीयः । यदि पुनः साधवोऽनुमन्यते सोऽपि प्रतीष्यतां तस्यापि वैयावृत्यकरणेन समाधिमुत्पादयिष्याम इति तदाप्रतीच्छनीयः यदि पुनर्गच्छे विद्यमानेऽपि विकृष्टतपः कारिणि क्षपके गच्छाननुमतावाचार्योऽन्य प्रतीच्छति तदा तस्यान्य-प्रतीच्छने प्रायश्चित्तम् ।

लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः (असतित्ति) तथा असति प्रायो-ग्यद्रव्ये ये दोषास्ते च वक्तव्याः । तेचामी । द्वयो क्षपकयोर्यु-गपत्पारणकदिने समापतिते पर्याप्त्या पारणकद्रव्ये अलाभ-तोऽसति असंस्तरणं भवेत् । असंस्तरणाच्च यदेषणादि प्रेरयंति तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमाचार्यस्याऽपतति आज्ञाभंगादयश्च दोषा जायंते । तथा पारणकप्रायोग्यद्रव्यसंपादनेन संस्तरणमकु र्वत्सु साधुषु विषये सोऽप्रीतिं कुर्यात् । अप्रीत्या च अनागाढागाढां वा परितापनां प्राप्नुयात् । तथा च सति तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चि-त्तमाचार्यस्य अन्यच्च शिष्याः प्रतीच्छकाश्च द्वयोरपि क्षपकयार्वैयावृत्यकरणतो भग्ना एवं चिंतयेयुर्यथा अन्यान्यक्षपकवैयावृत्यकरणेन नाऽस्माकं सूत्रमर्थो वा तस्मादन्यत्र व्रजाम इति । तथा (गिलाणोवम) इति तेषु गच्छवासिषु साधुषु वास्तव्य क्षपकवैयावृत्यकरणेन व्यापृतेषु ग्लानोपमो जायते । तदा तस्याऽचार्यस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः । (अडन्तेयत्ति) तथा गच्छ वास्तव्यपक्षककरणव्यापृततया भक्तंपानं वागंतुकस्याददाने स भक्तार्थं पानार्थं वा स्वय हिंडते प्रतिलेखनादिक्रियां च स्वयमेव कुर्यात् । हिंडमानश्च क्षुधा पिपासया शीतोष्णेन वा पीडितो यद्यनागाढां परितापनां प्राप्नोति तदा प्रायश्चित्तमाचार्यस्य चतुर्लघु अथागाढं तदा चतुर्गुरु । अथ मूर्छति तदा षट्लघु ॥ तथा परिताप्यमानो यद्येषणां प्रेरयति तदा तन्निमित्तं प्रायश्चित्तं अथ न प्रेरयति । तदा प्रभूतमटतोयदानागाढादिपरितापनां प्राप्नोति तन्निमित्तं प्रायश्चित्तं । अथ तत्र गच्छेऽन्योवास्तव्यः क्षपको न विद्यते । तदा नियमतः प्रतीच्छनीयः । केवलं सोऽपि गच्छानुमत्या । अन्यथा न किमपि तस्य गच्छः करिष्यति । तत्र यदि प्रमादतो वैयावृत्त्यभीरुतया गच्छो नानुमन्यते । तदा स प्रज्ञापनीयः । अथ कारणवश तस्तदा न प्रतीच्छनीयः । यदि पुनर्गच्छाननुमत्याऽपि प्रतीच्छति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकास्तथा गच्छानुमतौ यो यतः प्रतीलभ्यते ततः क्षपकप्रायोग्य-मानयति । अननुमतौ च नकोऽपि किमप्यानयतीत्यसति पारणकदिने पर्याप्तयाप्रायोग्यद्रव्ये असंस्तरणमसंस्तरणाच्च परितापनाद् दुःखं । तन्निमित्त प्रायश्चित्तमाचार्यस्य तथा पारणकदिने ग्लानोपमो जायते तथा शेषसाधुप्रयोजनांतर व्यापृततया भक्तपानं वा ददानेषु स्वयं हिंड-माने ये दोषास्तेऽपि वक्तव्याः ॥ संप्रति तस्य क्षपकस्य वा-स्नव्यस्याऽगंतु-कस्य वा कृतप्रत्याख्यानस्यापि यत् प्रतिदिवस कर्त्तव्यं तदाह । (पडिलेहणे) त्यादि । तस्योपकरणं कल्पादि यथायोगमुभयकालं प्रतिलेखनीयं संस्तारकश्च तस्य कर्त्तव्यः । तथापानकं पानीयं तस्योचितमानीय दातव्यं तथा मात्रकत्रिकं च उच्चारमात्रकं प्रस्त्रवणमात्रकं खेलमात्रक च यथाकालं समर्प्पणीयं परिस्थापनीयं वा ॥

सांप्रतमेनामेव गाथां व्याख्यानयन् प्रथमतो (अन्नपडिच्छेणे लहुगा) इति च व्याख्यानयति ॥

दुण्णेगतरे खमणे, अन्नपडिच्छंतसंथरे आणा ।
अप्पत्तियपरितावण, सुत्ते हाणिं अन्नहिं च इमे ॥

वास्तव्ये क्षपणे क्षपके द्वयोः ग्लानोपमयोरन्यतरस्मिन्विद्यमाने यदि गच्छानापृच्छ्या अन्यं प्रतीच्छति । तदा तस्मिनित्यं प्रतीच्छति प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वार इति वाक्यशेषः । तथा युगपत् द्वयोः पारणकदिने युगपत्समापतिते प्रायोग्यद्रव्ये अलाभतोऽसति यदि वास्तव्यक्षपकवैया-वृत्यकरणव्यापृत-नामागंतुकस्य वैयावृत्यकरणे वेलातिक्रमतोऽसंस्तरणं भवेत् तस्मिंश्चासंस्तरणे यादेषणादि प्रेरयति तन्निमित्त प्रायश्चित्तमाचा

र्यस्य तथा (आणत्ति) आज्ञापदैकदेशेपदसमुदायोपचारात् आज्ञाभंगानवस्थामिथ्याविराधनादोषाः प्रादुःष्युः । तस्य वा संस्तरणे अप्रीतिरप्रीत्या च परितापननिमित्तमपि प्रायश्चित्तं तथा शिष्याः प्रतीच्छाकाश्चैवं चितयें युरस्माकं द्वयोः क्षपकयोः वैयावृत्यकरणव्यापृतानां सूत्रे हानि रूपलक्षणमेतत् अर्थे च तस्मादन्यत्र व्रजामः । संप्रति (गिलाणो धामअडंतेयत्ति) व्याख्यानयति (गेलण्ण तुल्ल गुरुगा अडंते परितावणा य संयकरणे । णेसणगहणागहणेदुगद्वहिं डंतमुच्छाय) साधुषु वास्तव्यक्षपक वैयावृत्यकरणतः प्रयोजनान्तर व्यापृततया वा वैयावृत्यमकुर्वत्सु यद्यागंतुकः क्षपको ग्लानतुल्यो ग्लानोपमो जायते । तदा सूरेः प्रायश्चित्त चतुर्गुरुकाः । तथा भक्तं पानं च अददत्सु स्वयं (दुगद्वहिंडंतत्ति) द्विकार्थं च हिंडमाने स्वयं वा उपकरणस्य प्रत्युपेक्षणादेः करणे या परितापना अनागाढा वा (मूर्च्छायति) मूर्च्छा च तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमाचार्यस्य तत्रा-गाढपरि तापनानिमित्तं चतुर्लघु। आगाढपरि तापनानिमित्तं चतुर्गुरु मूर्च्छानिमित्तं षटलघु । णेसणगहणागहणे । इति स स्वयं हिंडमानः क्षुधापिपासया वा शीतेन उष्णनेवा परितापितः सन् यदि नेषणीयमपि गृण्हाति तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमग्रहणेऽनेषणी यस्य प्रभूतं हिंडमानो यदवाप्नोति । आगाढपरि तापनादिकं तन्निमित्त मपि यत एवमादयो दोषाः । तस्माद्गच्छतमापृच्छय तदनुमत्या प्रतीच्छेत् । प्रतीच्छितस्य च सर्वप्रयत्नेन निर्जरार्थतथा कर्त्तव्य-मिति । इह आगतः सन्प्रथमदिवसेऽपि प्रच्छनीयो यथा केन कारणेन त्वमिहागतो ऽसीति अन्यथा यदि तमपृष्ट्वैव आलोचना मदापयित्वा च संवासयति । तदा प्रयश्चित्तं तदेवाह ॥

पढमदिणंमि न पुच्छे, लहुओ मासो उ वाइगुरुओ य ।
तइयंमि हुंति लहुगा तिण्हं तु अतिक्कमे गुरुगा ॥

यदि प्रथमे दिने न पृच्छेत् तर्हि तस्या ऽचार्य स्य प्रायश्चित्तं लघुमासः द्वितीये दिने पृच्छतो मासगुरु तृतीये भवंति चत्वारो लघुमासाः । त्रयाण तु दिनानामतिक्रमे चतुर्था दिषु दिवसे ष प्रायश्चित्त चतुर्गुरुकश्चित्वारो गुरुमासाः । अधुना अपबादो भण्यते यदि कार्यादिप्रयोजन वशात्तमेकं द्वे त्रीणि दिनानि षण्मासानपि यावन्न पृच्ति तथापि न प्रायश्चित्त भाक् तथाचाह ॥

कज्जे भत्तपरिण्णा, गिलाणराया य धम्मकहवादी ।
छम्मासा उक्कोसा, तेसिं तु वइक्कमे गुरुगा ॥

कार्ये कुलगणसं घविषये व्यापृतो भवेदाचार्यः । तथाकेना ऽपि साधुना भक्तपरिज्ञा कृता तस्य समीपे लोकोभूयानागच्छति । तत्राचार्यो धम्मकथने व्यापृतः । ग्लानप्रयोजने वाव्यापृतः ॥

(रायाएधम्मकहीति)

राजाचधर्म्मार्थी प्रतिदिवसमेति ततस्तस्य धर्म्मः कथयि तव्य इति धर्म्मकथिक त्वेन व्यापृतः । वादीवा कश्च न प्रबलः समुत्थितः स निग्रही तव्य स्तत एतैः कारणैर्व्यापृतः सन् आचार्यो जघन्यत एकं द्वे त्रीणि वा दिनादि उत्कर्षतो यावत् षण्मासास्ता वदाग तुकं प्रष्टुमालोचनां वा प्रदापयितुं न प्रपारयेत् । इत्थमप्रपारणे च दोषाभावः तेषां षण्णां मासानां पुनर्व्यतिक्रमे किमुक्तं भवति । षण्मासेभ्यः परतोऽपि यदि न पृच्छति नाऽपि दाययत्वालोचनां ततः प्रायश्चित्तमायार्चस्य गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः ।

अन्येतु ब्रुवते । षण्मासाना परतो यदि न पृतीच्छत्यालोचनां ततः प्रायश्चित्तमाचार्यस्य गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । अन्ये तु ब्रुवते षण्मासानां परतो यदि न प्रतीच्छत्यालोचनां तदा लघुमासः । द्वितीयदिनेऽप्यप्रतीच्छने मासगुरु । तृतीयदिन चतुर्लघु । दिनेत्रयातिक्रमे चतुर्थादिषुदिनेष्वप्रतीच्छने चतुर्गुरुका इति कार्यादिप्रयोजनवशतो व्यापृत इमां यतनां कुर्यात् ॥

अन्नेण पडिच्छावे, तस्सासति सयं पडिच्छए रत्तिं ।
उत्तरवीमंसाए, खिन्नो य निसिंपि न पडिच्छे ॥

यद्यन्यो गीतार्थस्तस्याचार्यस्य समीपेऽस्त्यालोचनार्हस्तर्हि स संदेशनीयो यथा ऽयमापृच्छता । मालोचनाचास्य प्रतीष्यता-मिति । अथ नास्त्यन्यो गीतार्थस्तदा तस्य गीतार्थस्या ऽसति भावप्रधानोऽयं निर्देशोऽभावे स्वयमेव रात्रौप्रतीच्छित्यालोचनां अथ यथा श्रीगुप्तेन षडुलूकः षण्मासान् यावत् वादं दत्वा निर्जित एवं दीर्घकालावलंविनिविवादे रात्रावप्युत्त रविमर्शेन प्रत्यु-त्तरचिंतया खिन्नपरिश्रांतो निशायामपि न प्रतीच्छत्यालोचनां दत्तामिति अथवा अत्राप्यपवादस्य मेवाह ॥

दोहिंतिहिं वा दिणेहिं, जइच्छिज्जइ तेनहोइ पच्छित्तं ।
तेणपरमणुण्णवणा, कुलादिरन्नो व दीवंति ॥

यदि षण्णां मासानां परतो द्वाभ्यां दिनाभ्यां त्रिभिर्वा दिनैः परप्रवादी नियमात् पराजेष्यते कुलादिकार्यं वा समाप्ति-मुपयास्यतीत्येवं निश्चीयते । ततस्तेष्वपि दिनेष्वप्रच्छने आलोचनाया अप्रतीच्छने वा न प्रायश्चित्तं भवति । अथ ज्ञायते तेष्वष्येकद्वित्रादिषु दिवसेषु न कुलादिकार्यसमाप्ति र्भविष्यति । न च परवादीजेष्यते तदा षण्मासाऽसमाप्ता चेव राज्ञः समीपे गत्वा ज्ञापनीयम् । यथाहं दिनमेकमक्षणिको भविष्यामि नान्यथा ग्रण्हीथा इति कुलादिकार्येष्वपि कुलादी न्यनुज्ञापयति तथाचाह (तेण परमित्यादि) तेनेत्यव्ययं तत इत्यर्थे ततः षण्मासेभ्यः परं कार्यापरिच्छितौ संभाव्यमा नाथामनुज्ञापना कुलादेर्दिनमे-कयावत्कर्त्तव्या राज्ञश्च वादिविषये कारण दीपयंत्याचार्याः यथाऽहं कारणवशेन दिनमेकमक्षणिकोभविष्यामीति । एवं चेन्न कुर्वंति तदा प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः । तदेवमुक्तः क्षपणोपसंपद्विधिरिदानीं ज्ञानार्थं दर्शनार्थं प्रतीच्छितो नियमादालोचनां दापयितव्यस्सच दाष्यमानः कथमालोचनां ददाति उच्यते ॥

आलोयणा तह चेव य, मूलुत्तरे न वरि विगडिपइमं तु ।
इत्थं सारणदायण, निवेयणं तेवि ए मेव ॥

यथा सांभोगिकानां विहारालोचनायां मूलगुणातिचारविषये उत्तरगुणातिचारविषये च भणितं । तथात्राऽपि भणितव्यं । किमुक्तं भवति । उपसंपद्यमानोऽप्यालोचनां ददानः पूर्वं मूल गुणाति-चारात्प्रागुक्तक्रमेणालोचयति पश्चादुत्तरगुणानिति । नवरमयं विशेषः । विकटिते आलोचिते एकत्र स्थितान् भिन्नस्थितान्वा प्रत्येकं वन्दित्वा इदं भणति ॥

आलोयणामे दिण्णा, इच्छामि सारणवारणवोयणं ।

तेऽप्येवमेव प्रतिभणन्तो निवेदनङ्कुर्व्वन्ति (अज्जो अम्हे विसारेज्जा वारेएज्जा) इति गता उपसंपदालोचना साम्प्रतम-पराधालोचनयाऽत्र प्रकृतं ॥

एमेव य अवण्हे, किं तेन कथा तहिं वियविसोही ।
अहिगरणादीसाहति, गीयत्थोवा तहिं नत्थि ॥

यथा विहारालोचना यामुपसंपदालोचनायां चविधिर्भणित एवमेव तथैव अपराधे अपराधालोचनायामपि द्रष्टव्यो यावत्पृष्टो वा अपृष्टो वा ब्रूते अहमपराधालोचकः समागतः । ततः आचार्यैर्वक्तव्यः । केनकारणेन ते त्वया तत्रैव स्वगच्छे एव नकृता विशोधिः प्रायश्चितांगीकरणेन एवमुक्ते यदि साध्यति कथयति अधिकरणदीनि । अधिकरणं तैः सह आदिशब्दात् प्रागुक्त-विकृतियोग प्रत्यनीकादि कारणपरिग्रहः । अथवा वक्ति तत्र गीतार्थो नास्ति । तत्राऽधिकरणादिष्वविशुद्धकारणेषु समागत एवं प्रतिभणनीयः ॥

नत्थि इहं पडियरगा, खुल्लखेत्तं उग्गमवि य पच्छित्तं ।
संकीयमादीव पदे, जहक्कम्मं ते तहवि भासे ॥

अस्तीति निपातो बहुवचनार्थः प्रतिचारका नाम अपराधापन्नस्य प्रायश्चित्ते दत्ते तपः कुर्वतो ग्लानायमानस्य वैया वृत्यकरास्ते इह मे पार्श्वे न संति खलक्षेत्रं नाम मंदभिक्षं यत्र वा प्रभूतमुपकारि घृतादिद्रव्यं न लभ्यते तादृशमिदं क्षेत्रं तथाविधदान-श्रद्धश्रावकाभावात् वयमपि च स्तोकेऽष्यपराधे उग्रं प्रायश्चित्तं दद्मः तथा गुरुपारंपर्य समागमात् तथा यानि (नत्थी संकिय संघाडे) त्यादि प्रागुक्तगाथोपन्यस्तानि शंकितादीनि पदानि तानि संभवेन यथाक्रमं तथेति समुच्चये विभाषेत ब्रूयात् यथा प्रायश्चित्तसूत्रमनुसृत्य प्रायश्चित्त दीयते तदिदानीं विस्मृतं शंकितं वा जातं नचार्थं स्मरामि । ततः कथं प्रायश्चित्तं प्रयच्छामि अथवा प्रायश्चित्ते प्रतिपन्ने सति तत्तपः त्वयेह कर्तव्यं । तत्रचेयमस्माकं सामाचारी बहिर्भूमिमात्रमपि संघाटकं विना न गंतव्यं यदि पुनः कोऽपि गच्छति ततस्तस्मै प्रायश्चित्तमत्युग्रं ददामि इत्येवं यथासंभवं शंकितादीनि ब्रूयात् न तु दद्यादालोचनामिति यस्तु निर्गमन शुद्ध आगमनेन शुद्धो वा प्रतीच्छ्यते तस्यालोचनायां विधिर्वक्तव्यः ॥ व्य० उ०१ ।

नन्चकृत्येसमासेविते यत्कर्मबद्धं तदनुभवनीय मेवेत्यालोच-नायां को गुण इत्या शंकायाम् ॥

आसेविते वकिवेणा, भोगादिहिं होंति संवागा ।
अणुतावो तत्तो खलु, एसा सफला मुणोयव्वा ॥३॥

(पंचा) वृ० १५ आसेवितेऽप्याचरितेऽपि अनासेविते कर्म्माभावात् फलैर्वाज्ञाऽनुपालनादित्यपि शब्दार्थः । अकृत्ये साधूनामविधेये कथमित्याह अनाभोगादिभिरज्ञान प्रभृतिभिस्तद्यथा ॥

सहसाणाभोगेण व, भीएण व पेल्लिएणव परे ण व ।
सणेणा यं केण व, मूढेण व रागदोसेहिं ॥

भवति जायते कुतः इत्याह संवेगा संसारभयादनुतापः पश्चात्तापः प्राक्कृताकृत्य विषयस्तज्जन्यकर्म्म क्षपण हेतुभूतः आलोचना-यामिति गम्यते ततः किमित्याह । ततो ऽनुतापात् खलुवाक्या-लंकारे एषाआलोचना स फला सार्थिका (मुणोयव्वति) ज्ञातव्येति गाथार्थः ॥

अथ कथमनुतापादालोचना सफ्ला भवतीत्यत आह ॥

जहसंकिलेसओ इह, बंधो बोदारणओ तहा विगमो ।
तं पुण इमीए णियमा, विहिणा स इ सुप्पउत्ताए ॥

व्याख्या यथा यद्वत् संक्लेशाद्रागादिलक्षण चित्तमालिन्या दिहा कृत्यासेवने बंधो ऽशुभकर्म्मोपादनं जीवस्य भवति व्यवदानं दैप् शोधन इति वचनात् शुद्धिः ततो ब्यवदानात्पश्चात्तापरूप चित्तविशुद्धेः सकाशात्तया तद्वद्विगमा निर्जरणमकृत्यकरण-जन्याशुभकर्मणो भवति यद्येवं ततः किमित्याह (तंपुणत्ति) तत्पुनर्व्यवदानमनया नियमाद-वश्यतया भवति विधिना विधानेन वक्ष्यमाणेन सकृत्सदासुप्रयुक्तया भावसारं प्रवर्तितयेत्यतः सफलेयमिति गाथार्थः विधिना प्रयुक्ता लोचनाव्यवदानतः सफला स्यादित्युक्तमयोक्तस्यैव विपर्ययमाह ।

इहरहा विवज्जओ वि हु, कुवेज्ज किरिजा दिणायतोणेओ ।
अवि होज्ज तत्थ सिद्धीआणाभंगा न उणएत्थ ।

व्याख्या । इतरथाऽविधिप्रयोगे आलोचना या विपर्ययोऽपि व्यवदानाभावेन आलोचना निष्फलत्वमपि अनर्थफलत्वं वा स्यात् न केवलं विधिना सफलत्वमविधिना विपर्ययोऽपि स्यादित्य-पिशब्दार्थः हुर्वाक्यालंकारे । कुत एवमिदमित्याह । कुवैद्या-क्रियादिज्ञाततः दुर्भिषक् प्रवर्तितरोगेचिकित्साप्रभृत्युदाहरणे-नादिशब्दादविधिविद्यासाधनादि परिग्रहः ज्ञेयो ज्ञातव्यः । अविध्यालोचनायां विशेषमाह । अपीति संभाव्यत एतत् यदुत भवेज्जायेत पुण्यानु भावात् तत्र कुवैद्य चिकित्सायां सिद्धिः प्रयोजननिष्पत्तिरारोग्यमित्यर्थः न पुनरत्र नत्वविध्यालोचना-यामिष्टसिद्धिः कुत इत्याह आज्ञाभंगादाप्तोपदेशान्नतुपालनादिति गाथार्थः एतदेवस्पष्टयन्नाह ॥

तित्थगराणं आणा, सम्मं विहिणा उ होइ कायव्वा ।
तस्सण्णहा उकरण, मोहादतिसकिलेसोत्ति ॥
बंधो य संकिले सा, तत्तोण सोवेति तिव्वतरगाओ ॥
ईसिमलिणं ण वत्थ सुझइनीलीरसादीहिं ॥७॥

व्याख्या । तीर्थकराणां जिनाना माज्ञोपदेशः सम्यक् भावतः विधिना नुवक्ष्यमाणविधानेनैव भवति स्यात् कर्तव्या विधि विपर्यये दोषमाह तस्या जिनाज्ञाया अन्यथा तु करणे अविधिविधाने पुनः कु त इत्याह । मोहादज्ञानात् किमित्याह अति संक्लेशं आत्यंतिकं चित्तमालिन्यं भवति इति शब्दः समाप्ता विति बंधश्चा शुभ-कर्मबंधः पुनः सक्लेशादुक्त-रूपाद्भवति । किंचेतस्ततः संक्लेशान्न सः नैवासौ कर्मबंधोऽपैत्यपगच्छति किं भूतात् संक्लेश-दित्याह । तीव्रतरकादकृत्यासेवाहेतुभूत संक्लेशापेक्षयाऽतिशयोत्कटात् अविधालोचना कृताज्ञाभंग-जन्यादित्यर्थः ॥

इहार्थे दृष्टांतमाह ॥

ईषन्मलिनं मनाग्मलयुक्तं न नैव वस्त्रंवासः शुद्धयतिनिर्मली भवति नीलीरसादिभिर्गुलिकाद्रव्यप्रभृतिभिर्बहुतरमालिन्य-हेतुभिरादि-शब्दात् रुधिरादिपरिग्रहः । यथाहीषन्मलिनं प्रचुरमालिन्यहेतुनाशुध्य-त्येवमकृत्यासेवाकृतोबंधोअतिगाढत-रंबंधहेतु ना आज्ञाभंगहेतुभत-संक्लेशेनापैतीति गाच्छाद्वयार्थः पंचा०वृ०१५ ॥

व्यवहारे आलोचनायाश्चेमे गुणाः ॥

लहुयी ल्हादीजणणं, अप्पपर नियत्ति अज्जवं सोही ।
दुक्करकरणं विणओ, निसल्लत्तं च सोहि गुणालघोभीवो ॥

लघुता यथा भारवाही अपहतभारो लघुर्भवति तथा आलोचको ष्युधृतशल्यो लघुभवति इति लघुता तथा ल्हादनं ल्हादिणा-

दिक इ प्रत्ययः प्रल्हति स्तस्याजननमुत्पत्ति ल्हादिजननं-प्रमोदोत्पाद इति यावत् तथा ह्यतीचार धर्म्मतप्तस्य चित्तस्य मलयगिरि पवन-सपर्केणेव आलोचना प्रदानेनाती चार धर्म्मा पगमतो भवति संविग्नानां परम मुनीनां महान्प्रमोद इति। तथा (अप्पपर नियत्तित्ति) आलोचना प्रदानतः स्वयमात्मनो दोषेभ्योनिवृत्तिःकृता तांचदृष्ट्वाऽप्यन्ये आलोचना मिमुखा भवंतीत्यन्येषामपि दोषेभ्यो निवर्तनमिति। तथा यदतीचारजातं प्रति सेवितं तत्परस्मै प्रकटनामात्मन आर्जवं सम्यग्विभावितं भवति। आर्जवं नाम अमायाविता तथा अतीचार-पंकमलिनस्यात्मनश्चरणस्य वा प्रायश्चित्तजलेन अतीचार पंकप्रक्षालनतो निर्म्मलता शोधिः। तथा दुष्करकरणं दुष्कर-कारिता तथाहि यत्प्रतिसेवनं तन्नदुष्करं अनादिभवा भ्यस्तत्वात् यत्पुनरालोचयति तत् दुष्करं प्रबलमोक्षा नुयायि वीर्योल्लास विशेषेणैव तस्य कर्तुमक्यत्वात्। तथा (विणउत्ति) आलोचयता चारित्रविनयः सम्यगुपपादितो भवति (नेस्सल्लत्त) मिति सशल्य आत्मा निः शल्यः कृतो भवतीति निःशल्यता एते शोधिगुणा आलोचनागुणाः आलोचनाशोधिरित्यनर्थांतरत्वात्। व्य०उ०१।

आलोचनायांदत्तायां ये गुणा भवन्ति ते भक्तप्रत्याख्यान शब्दे वक्ष्यन्ते।

(८) क्वालोचना ग्रहीतव्या तानि स्थानानि॥

आलोचना येषु कार्येषु कर्तव्या तानि व्यवहारकल्पे यथा (आलोयणत्ति का पुणकस्स सगासे व होइ कायव्वा। केसु व कज्जेसु भवे गमणा गमणादि एसुं तु) का किंस्वरूपालोचनेति प्रथमतः प्रतिपाद्यं तत स्तदनंतरं कस्य सकाशे समीपे भवति कर्तव्यालोचनेति वाच्यं तथा केषु कार्य्येषु भवत्यालोचना तत्र प्रतिपत्ति लाघवाय संक्षेपतोऽत्रैव निर्वचनमाह। गमनागमनादिकेषु गमने आगमने आदिशब्दात् शय्यासंस्तारकवस्त्र पात्रपाद-प्रोंछनकग्रहणादिपरिग्रहः। तुशब्दो विशेषणे। सचैतद्विशिनष्टि गमनागमनादिष्ववश्यकर्तव्येषु सम्यगुपयुक्तस्याऽदुष्टभावतया निरतिचारस्य छद्मस्थस्याप्रमत्तस्य यते रालोचना भवतीति आह यानि नामावश्यकर्तव्यानि गमनादीनि तेषु सम्यगुपयुक्तस्या-ऽदुष्टभावतया निरतिचारस्याऽप्रमत्तस्य किमालोचनया तामन्त-रेणाऽपि तस्य शुद्धत्वात् यथासूत्रं प्रवृत्तेः सत्यमेतत्केवलं याचेष्टा-निमित्ता सूक्ष्मप्रमादनिमित्ता वा सूक्ष्मा आश्रवक्रियास्ता आलोचना मात्रेण शुद्ध्यंतीति तच्छुद्धिनिमित्तमालोचना उक्तं च॥

जया उवउत्तो नेरइयारो ये करेइ ये करणिज्जायत्ते जोगा तत्थ को विसोही आलोइए आणालोइए वा गुरु भणइ तत्थ जाविछ निमित्ता सुहुमां आसवकिरिया ता उसुइज्झति आलोयणामेत्तणंति॥

तत्र का नामालोचनेति यत्प्रथमं द्वारं तत्सुप्रसिद्धत्वादन्यत्र वा कल्पाध्ययनादिषुव्याख्यातं तथापि स्थानाशून्यार्थं किंचिदुच्यते। आलोचना नाम अवश्यकरणीयस्य कार्यस्य पूर्वं कार्यसमाप्ते रूर्द्धं वा यदि वा पूर्वं मपि पश्चादपि गुरोः पुरतो वचसा प्रकटीकरणं सालोचना उपरितनेषु प्रायश्चित्तेषु केषु चित्संभवति केषुचिन्न संभवति। तत्र येषु संभवति तत्प्रतिसिद्ध्यर्थमिदमाह॥

विइए नत्थि वियडणावा उ विवेगे तहा वि उस्सग्गो आलोयणाउ य नियमा गीयसगीए व केसिं वि॥

द्वितीये सूत्रक्रमः प्रामाएयानुसरणात् प्रतिक्रमणं तस्मिन् द्वितीये प्रतिक्रमणलक्षणे प्रायश्चित्ते नास्ति विकटना आलोचना तथाहि सहसाऽनाभोगतो वा यदा किंचिदाचरितं भवति यथा मनोज्ञेषु शब्दादिष्विंद्रिय गोचरमागतेषु एव मनोज्ञेषु द्वेषगमनं तदा तदनंतरमेव मिथ्यादुष्कृतमिति ब्रूते तच्च तेनैव शुद्धिं यातीति नालोचयति (वा उविवेगत्ति) वा शब्दो विभाषायां विवेके विवेकार्हे प्रायश्चित्ते आलोचनाया विभाषा कदाचित् भवति कदाचिन्नभवतीतिभावः। तथाहि तत् विवेकार्हं नाम प्रायश्चित्तं यत्परिस्थापनया शुध्यति यत्र यदकल्पिकमाधा-कर्म्मिकादिपूर्वमविदितत्वेन गृहीतं पश्चाच्चकथमपि ज्ञातं तत्यदा परिस्थापयतः शुभभावनाध्यारोहे केवलज्ञानमुत्पद्यते। तदाऽसौ कृतकृत्यो जात इति नालोचयति अनुत्पन्नेतुज्ञानातिशये नियमादागत्य गुरुसमीपलोचयतीति। (तदाविउस्सग्गेइति) यथा विवेके आलोचना विभाषा तथा व्युत्सर्गेऽपि किमुक्तं भवति। व्युत्सर्गेऽपि कदाचिदालोचना भवति। कदाचिन्नभवति। यथा स्वप्ने हिंसादिकमासेवितं तच्छुद्धिनिमित्तं च कायोत्सर्गः कृतस्तदनन्तरं च शुभभावनाप्रकर्षितः केवल-ज्ञानमुत्पादि। मरणं वा तस्याऽकस्मिकमुपजामिति नास्त्या-लोचना अनुत्पन्ने तु ज्ञाने जीवितं यावत् नियमादवश्यंविकटना यत् आलोचयति॥ तथा॥

स्वप्ने मयाहिंसादिकमासेवितं कार्योत्सर्गेण च विशोधितमिति॥

तच्चालोचनार्हम्प्रायश्चित्तमेतेषु स्थानेषु भवति। व्य०उ०१

करणिज्जेसु उजोगेसु, छउमत्थस्स भिक्खुणो॥
आलोयणपच्छित्तं, गुरूणं अंतिएसिया॥

करणीया नाम अवश्य कर्तव्या योगाः श्रुतोपदिष्टाः संयमहेतवः क्रिया अथवा योगामनोवाक्कायव्यापाराः (जोगो विरियं थामो उच्छाहपरक्कमो तहा चेट्ठा सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स हवंति पज्जाया) इति वचनात्तेचाऽवश्यंकर्तव्य इमे कूर्म इव वसतौ संलीनगात्रः सुप्रणिहितपाणिपादाऽवतिष्ठते वचनमपि सत्यमसत्या मृषां वा ब्रूते न मृषां वेति मनसोऽप्यकुशलस्य निरोधनं कुशल-स्योदीरणमेवं रूपेषु करणीयेषुसम्यगुपयुक्तस्य निरतिचारस्येति वाक्यशेषः सातिचारस्यो-परितनप्रायश्चित संभवात् छद्मस्थस्य परोक्षज्ञानिनो नतु केवलज्ञानिन स्तस्य कृतकृत्यत्वेनालोचनाया अयोगात् उक्तंच (छउमत्थस्स हवइ आलोयणा न केवलिणो) इति तच्छा तत्रोक्तेन प्रकारेण भिक्षत इत्येवं शीलो भिक्षुस्तस्य यतेरालोचनाप्रायश्चितं स्यात्तदपि च गुरूणामंतिके समीपे नान्येषामिति॥ प्रव०द्वा०९८ धर्म० अ०३॥

इह करणीया योगा इति सामान्येनोक्तम्॥

अधुनानामग्राहं करणीययोगप्रतिपादनार्थमाह व्य० उ०१।

भिक्खवियार विहारे, अण्णसुय एवमाइकज्जेसु।
अविगडियंमि अविण तो, होज्जअसुद्धे व परिभोगो॥

भिक्षाया विचारे विहारे अन्येष्वपि चेवमादिकेषु कार्येषु आलोचना प्रायश्चित्तं भवतीति वर्तते इयमत्र भावना गुरुमापृच्छ्य गुरुणाऽनुज्ञातः सन् श्रुतोपदेशेनोपयुक्तः स्वयोग्य भिक्षावस्त्रपात्रशय्यासंस्तारकपाद-प्रोंछनादि यदि वा आचार्योपाध्याय स्थविरबालग्लानशैक्षकक्षपकासमर्थ-प्रायोग्यवस्त्रपात्रभक्तपानौषधादि गृहीत्वा समागतो विचार उच्चार भूमि-

स्तस्माद्वा समागतो विहारो वसतावस्वाध्यायिकं तमकृत्वावसते रन्यत्र गमनं तत एवमादिग्रहणंचैत्यवंदननिमित्तं पूर्वगृहीत-पीठफलकशय्या-संस्तारकप्रत्यर्प्पणनिमित्तं बहुश्रुतापूर्व-संविविग्नानां वंदनप्रत्ययं वा सशयव्यवच्छेदाय वा श्राद्धस्वज्ञात्यवषण्णविहाराणामवबोधाय वा साधर्मिकाणां वा संयमोत्साहनिमित्तं हस्तशतात्परतरमासन्नं वा गत्वा समागतो यद्यपि नास्ति कश्चिदतीचारस्तथापि यच्छापि यच्छा विधिगुरूसमक्षमालोचयितव्यम् अन्यच्छा सूक्ष्मचष्टो निमित्तानां सूक्ष्म प्रमादनिमित्तानां वा क्रियाणां शुद्ध्यभावात् अन्यच्चनिरतिचारोऽपि यदि गुरोः समक्षं नालोचयति ततोऽविनयो भवति । अशुद्धपरिभोगो वा । तथाचाह । अविकटितेऽनालोचितेऽविनयोऽशुद्धे वा परिभोगो भवेत्आलोचिते तूभयदोषाभावः नत्वविनयदोषा भावः स्यादशुद्धप-रिभोगाभावः कथमुच्यते केनाऽपि साधुना भिक्ष प्रचुरासत्कारपुरस्सरा लब्धा तस्य शंकितमुपजातं किंनामेयं भिक्षा शुद्धा वा तत्र यद्यनालोच्य भुंक्ते ततोऽशुद्धपरिभोगो भवति तेनालोचितं आचार्येण पृष्टमन्यदिवसेषु तस्मिन् गृहे कीदृशी भिक्षा अलभ्यत कियंतो वा भोजनकारिणः प्राधूर्णका वा केऽप्यागताः संखंडी वा जाता इत्यादि विभाषा एवं च पृष्टे तेन यथावस्थितं कथितं ततः आचार्येण ज्ञाता शुद्धा अशुद्धा वा तस्मादालोचयितव्यं ॥ अन्यच्च ॥

छउमत्थो तहन्नहा वा हवेज्ज उवओगो ॥
आलोएंतोउहइ सो उं दवियाणईसोया ॥

अन्यच्च किंचान्यदित्यर्थः । छद्मास्थिकः सामान्यसाधुगतः उपयोग-स्तथा यथावस्थितवस्त्वनुसारी अन्यथावा विपरीतो भवेत् । आचार्यस्तु मतिमेधाधारणादिगुणसमन्वितततथा बहुश्रुततथा वातिशयज्ञानी ततः शंकितमालोचिते अशंकितमालोचितो निःशंकितं करोति तथा यद्यपि गृह्णः शंकितमुपजातं । तथापि । कदाचिदालोचयन् स्वप्रज्ञयाऽप्यूहेत ततः शुद्धम् शुद्धं वा स्वयमेव जानाति यदि वा तदीयामालोचनां श्रुत्वा श्रोताऽप्याचार्य्यादिकः पूर्व्वोक्तेनप्रकारेणयदिवा आचार्य्यादिकस्य पार्श्वे बहवो लोकाः समागच्छन्तिबहुभ्यश्चबहु शृण्वन् कदाचित्तमपि विषयं लोकतः श्रुत्वा जानाति शुद्धमशुद्धं वा तस्मादालोचयितव्यं । यदुक्तं । (गुरूणं अंतिऐ सिया) इति तन्न स्यादित्यस्य व्याख्यानमाह ॥

आसंकमवहियंमि य होइ सिया अवहिए तयं पगयं ॥
गणतत्तिविप्पमुक्के तिक्खवे वावि आसंका ॥

स्यात् शब्द आशंकमिति प्राकृ तत्वादाशंकायामवधृते चार्थे आशंका नाम विभाषा यथा स्यादिति कोऽर्थः ॥

कदाचिद्भवेत् कदाचिन्न भवेत् । अवधृतं नाम अवधारणं तत्र तयोर्द्वयो-रर्थयोर्मध्येऽवधृतेऽवधारणे प्रकृतमधिकारः । अवधारणार्थोऽत्रस्याच्छब्द इतिभावः । ततोऽथमर्थः ॥ गुरू-णामन्तिकेनियमादालोचना यदि वा अशंकायामपि कृतं तत्रा-यमर्थः । गुरूणामंतिके स्यात्तावदालोचना यदि पुनराचार्यो गणतप्तिविप्रमुक्तो भवति तत स्तस्मिन्गणतप्तिविप्रमुक्ते उपाध्यायस्य समीपे आलोचना अथोपाध्यायस्याऽपि कुलादिकार्यै श्राद्धादिकथनैर्वा व्याक्षेपस्तस्तोऽन्यस्य गीतार्थस्य तदभावे गीतार्च्छस्याऽपि समीपे आलोचयितव्यं गतमालोचना-प्रायश्चितंम् आलोचनीयाऽतिचाराः व्यवहारशब्दे ।

तिण्हमइक्कमाणं आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा णिंदेज्जा गरहिज्जा जाव पडिवज्जेज्जा तं जहा णाणाइक्कमस्स दंसणाइक्कमस्स चरिता इक्कमस्स एवं वइक्कमाणं अइयाराणं अणायारा एणं स्था ठा.३ ॥

अतिक्रमाणांत्रयाणां गुरवे निवेदनम् ॥

तिण्हं अइक्कमाणंति । षष्ठया द्वितीयार्थत्वा त्रीनतिक्रमानालो-चयेत् । गुरवे निवेदयेदित्यादि । प्राग्वत नवरं यावत्करणात् विसोहेज्जा विउट्टेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिअं तवो कम्मं पायच्छित्तमित्यध्येतव्यमिति ॥ स्था. टी.।

अथालोचयितव्यापराधदर्शनार्थं माह पंचाशके वृ.१५।

आलोएयव्वा पुण अइयारा सुहुमबायरासमं ।
णाणा यारादिगया पंचविहो सोय विण्णेओ ॥२२॥

व्याख्या । आलोचना विधिस्तावदय मालोचयितव्याः पुनः प्रकाशनीयास्तु अतीचारा अपराधाः सूक्ष्मबादराः लघु गुरुका न तु लघवएव बादरा एववा सम्यग् भावशुध्याज्ञानाचारादिगता ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारविषयाः पंचविधः पंचप्रकारः स च आचारः पुनर्विज्ञेयो ज्ञातव्य इति गाथार्थः ।

१ कः पुनस्सोऽतिचारः कुतोवा प्रभृत्यालोचयितव्यमिति भक्तपच्चक्खाण शब्दे ॥

(९) द्रव्यादिचतुर्विधमालोचनीयं ॥

किंपुनस्तदालोचनीयं । उच्यते । चतुर्विधं । द्रव्यादि तथा चाह ।

(वेयणमचित्तदव्वं जणवयसट्ठाणे होइ खेत्तम्मि । दिण निसि सुभिक्ख दुभिक्खकाले भावम्मि हेट्ठियरे) ॥

द्रव्यतश्चेतनं सचित्तमुपलक्षणमेतत् । मिश्रं वा अचित्तमचेतनं वा अकल्पिकं यत्किंचित्सेवितं क्षेत्रतो जनपदे वा अध्वनि वा कालतो दिने निशिवा यदि वा सुभिक्षे वा दुर्भिक्षे वा भावे हेट्ठेयरे सप्तमी तृतीयार्थे । रुष्टेन इतरेण वा ग्लानेन सता यतनया वा दर्प्पतः कल्पतो वा लोचयति । कथमित्याह (जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं चउक्कयं भणई । तं तहा आलोएज्जा मायामयविप्पमुक्कोउ) ।

यथा बालो मातुःपितुर्वा पुरवो जल्पन् कार्य्याकार्य्यञ्च ऋजु कमकुटिलं भणतितथा आलोचकोऽपिमायामदविप्रमुक्तः सन् तदालोचनीयं । यथा ऋजुभावेनालोचयेत् व्य. उ.४ ॥

गोचरचर्य्यातः प्रतिनिवृत्तस्यालोचना पञ्च वस्तुके । यच्छा । (चिंतितु जोगमखिलं नवकारेणं त ओ उ अरित्ता ।

पढिऊण घयंताहे साहू आलोअए विहिणा ॥३॥)

पुनः चिंतयित्वा योगमखिलसामुदानिकं नमस्कारेण ततश्च तदनंतरं पारयित्वा णमोअरहंताण मित्यनेन । ततः पठित्वा स्तवमितैश्चतुर्विंशति-स्तवपाठानन्तरं गुरुसमीपं गत्वा साधु-र्भावतश्चारित्रपरिणामापन्नः सन्नालोचने तद्विक्षानिवेदनं कुर्य्याद्विधिना प्रवचनोक्तेनेति गाथार्थः । पं०व०॥

गोचरचर्य्याया आगत्य गुरोरावेद्यालोचनं गोचरचर्य्याशब्दे ॥ गोचरचर्य्याथामकृत्यं प्रतिषेव्यालोचयतो मोक्षमार्गाराध-कत्वमाराधना शब्दे ॥ भ०॥ श०८ उ०६ ॥

यव्वहारकल्पे ॥

(१०) अपराधालोचनायां प्रशस्ताऽप्रशस्तद्रव्यादयः ॥

अपराधालोचनामधिकृत्य प्रशस्ताप्रशस्तद्रव्यादयो यथा व्य०॥१॥

दव्वादिचउरभिग्गह, पसत्थमपसत्थछेते दुहेक्केक्के ।
अपसत्थेवज्जेउं पसत्थएहिं तु आलोए ॥

अपराधालोचनायां दीयमानायां द्रव्यादयो द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्चत्वारश्चत्तुः संख्याका अपेक्षणीया भवंति । तथा (अभिग्गहत्ति दिशामभिग्रहः कर्तव्यः । ते च द्रव्यादयो दिशश्च एकैकं प्रत्येकं द्विधा द्विप्रकारास्तद्यथा । प्रशस्ता अप्रशस्ताश्च तत्र प्रशस्तान् द्रव्यादीन् अप्रशस्तांश्च दिशो वर्जयित्वा प्रशस्तैर्द्रव्या-दिभिदिग्विशेषैश्च । किमुक्तं भवति। प्रशस्तेषु द्रव्यादिषु प्रशस्ताश्च दिशोऽभिगृह्य आलोचनां दद्यात् ॥

तत्राप्रशस्तद्रव्यादिप्रतिपादनार्थमाह ॥

भग्गघरे कुडेसु य, रासीसुय जे दुमा य अमणुण्णा ।
तत्थ न आलोएज्जा, तप्पडिवक्खदिसा तिन्नि ॥

यत्र स्तंभकुला कुड्यादीनामन्यतमत्किमपि पतितं तत् भग्नगृहं तत्र तथा (कुडेसुइति) कुड्यग्रहणात् कुड्यमात्रा विशेषे यत्र पाठांतरं (रुद्देसुय) इति तत्र रुद्रेषु रुद्रगृहेषु तच्छा राशिषु अमनोज्ञतिलमाषकोद्रवादिधान्यराशिषु ये च द्रुमा अमनोज्ञा निष्कंटकिप्रभृतयोऽमनोज्ञा अप्रशस्ता सूत्रिते तेष्वप्याश्रयभूतेषु उपलक्षणमेतत् अप्रशस्तासु तिथिषु अप्रशस्तेषु च संध्यागतादिषु नक्षत्रेषु अप्रशस्ताश्च याम्यादिदि शोऽभिगृह्य नालोचयेत् । किंतु तत्प्रतिपक्षे प्रशस्तद्रव्यादि रूपे आलोचयेत् तथा प्रशस्ताश्च तिस्रो दिशः पूर्वामुत्तरां प्रतीचींचाभिगृह्य आलोचयेत्। इदानीममनोज्ञधान्यराश्यादिषु द्रव्यादित्वयोजनामाह ॥

अमणुण्णधणरासी, अमणुण्णदुमायहोंति दव्वंमि ।
भग्गघररुद्दऊसर, पवायदड्ढा इखित्तंमि ॥

अमनोज्ञधान्यराशयो ऽमनोज्ञद्रुमाश्च भवति द्रव्ये द्रष्टव्याः । भग्न-गृहं प्रागुक्तस्वरूपं (रुद्दत्ति) रुद्रग्रह (उसरत्ति) ऊषरं यत्र तृणादि नो गच्छति । च्छिन्नटंका तटीप्रपातः भृगुप्रपातादिकं वा दग्धं दवदग्धमादिशब्दाद्विद्युद्धतादिपरिग्रहः इत्यादि सर्वं क्षेत्रं द्रष्टव्यं तत्र यत् अमणुण्ण दुमाय होंति दव्वंमीत्युक्तं तदेतत् व्याख्यानयति ॥

निप्पत्तकंटइल्ले, विज्जुहते खारकडय दड्ढे य ।
अयत्तउयत्तंब सीस, गदव्वे धण्णायअमणुण्णा ॥

निष्पन्नाः स्वभावतः पत्ररहिताः करीरादयः । कंटकिनो बदरीबब्बूलप्रभृतयः । विद्युद्धता विद्युत्प्रपातभग्नाः क्षाररसा मोरहप्रभुतयः । कटुकाः कटुकरसा रोहिणी कुटजनिंबादयः । दग्धादावदग्धाः एतान् द्रुमान् अमनोज्ञान् जानीहीति वाक्यशेषः नकेवलममनोज्ञधान्यराशयो मनोज्ञा द्रुमाश्च द्रव्ये वर्जनीयाः । किंतु अयस्रपुताम्रसीसकराशयो द्रव्ये वर्जयितव्याः (अम-णुण्णाधन्नराशी) इति व्याख्यानयति । अमनोज्ञानि धान्यानि च शब्दः । पुनरर्थेअमनोज्ञधान्यराशयः ॥

संप्रति कालतो यदिच सा वर्जनीयास्तानाह ॥

पडिकुट्ठिल्लगदिवसे, वज्जेज्जाअट्ठमि च नवमिं च ।
छट्ठिं व चउत्थिं वारसिंच, दोएहंपि पक्खाणं ॥

इह इल्लप्रत्ययः प्राकृतेस्वार्थे प्रतिकृष्टा एव प्रतिकुष्टेल्लकाः । ते च ते दिवसाश्च प्रतिकुष्टेल्लकदिवसः । प्रतिषिद्धा दिव-सास्तान्वर्जयेत्। तानेव नामत आह द्वयोरपि शुक्लकृष्णरूपयोः पक्षयोरष्टमीं नवमीं षष्ठीं चतुर्थीं द्वादशीं च । एता दि तिथयः शुभप्रयोजनेषु सर्वेष्वपि स्वभावत एव प्रतिकूलास्ततो वर्जनीयाः इदं कालतोऽप्रशस्तं वर्ज्यं संध्यागतादिकं नक्षत्रं तदेवाह ॥

संज्झागयं रविज्जेरं, सग्गहं विलंवि च ।
राहुहयं गहभिन्नं, वज्जए सत्तनक्खत्ते ॥

संध्यागतं नाम यत्र नक्षत्रे सूर्योऽनंतरं स्थास्यति । तत् आदित्यपृष्ठस्थितमन्येपुनराहुर्यस्मिन्नुदिते सूर्य उदेति तत् संध्यागतमपरे त्वेवं ब्रूवते यत्र रविस्तिष्ठति । तस्माच्चतुर्दश पंचदश वा नक्षत्रं संगतं यत्र रविस्तिष्ठति । पूर्वद्वारिके नक्षत्रे पूर्वदिशा गंतव्ये यदा अपरयादिशा गच्छति । तदा तत् विद्वारं विगत द्वारमित्यर्थः । यत्तक्रूरग्रहेणाक्रांत तत् सग्रह विलंबि यत् सूर्येण परिभुज्य भुक्तं अन्ये त्वाहुः । सूरगतान् नक्षत्रान् पृष्ठतस्तृतीयं तत् पृष्टतस्तृतीयं विलंबि इति । राहुहतं यत्र सूर्यस्य चंद्रस्य वा ग्रहणं यस्य मध्ये नग्रहोऽगमत् ग्रहभिन्नं । एतानि सप्तनक्षत्राणि चन्द्रयोगयुक्तानि वर्जयेत् । यत एतेष्विमे दोषाः ॥

संज्झागयंमि कलहो, होइ कुभुत्तं विलंविनक्खते ।
विज्जोरपरविजयो, आदिच्चगए अनिव्वाणी ॥
जं सग्गहंमि कीरइ, नक्खत्तेतत्थवुग्गहोहाइ ।
राहुइ यंमि यमरणं, गहभिन्ने सोणिउग्गालो ॥

संध्यागते नक्षत्रे शुभप्रयोजनेषु प्रारभ्यमाणेषु कलहो राडिर्भ-वति । विलंबनक्षत्रे कुभक्तं विद्वारे परेषां शत्रूणां विजयः । आदित्यगते रविगते अनिर्वाणिरसुखं स्वग्रहे पुनर्नक्षत्रे यत् क्रियते तत्र व्युद्ग्रहः संग्रामो भवति । राहुहते मरणं ग्रहभिन्ने शोणितोद्गारः शोणितविनिर्गमः । एवं भूतेष्वप्रशस्त द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु नालोचयेत् किंतु प्रशस्तेषु तत्र प्रशस्ते द्रव्ये शाल्यादि-प्रशस्तधान्यराशिषु मणिकनकमौक्तिकवज्रवैडूर्यपद्मरागादिराशिषु च प्रशस्तं क्षेत्रं साक्षादाह ॥

तप्पडिवक्खेखेत्ते, उच्छुवणा सालिवेइयघरेवा ।
गंभीरमाणुणाए, पयाहिणावत्तउदयएय ॥

तस्य प्रागुक्तस्याप्रशस्तस्य क्षेत्रस्य प्रतिपक्षे प्रशस्तेक्षेत्रे इक्षुवने उपलक्षणक्षमेतत् । आरामे वा पत्रपुष्पफलोपेते (सालित्ति) वन शब्दोऽत्रापि संबंध्यते । शालिवने चैत्यगृहे वा शब्दो विकल्पो न तथा गंभीरे गंभीरं नाम भग्नत्वादिदोष वर्जितं शेषजनेन च प्रायेणालक्षणीयमध्यमभागं स्थानं गंभीरमस्थाद्यमिति वचनात् सानुनादे यत्रोच्चरिते शब्दे प्रतिशब्दः समंतात् उत्तिष्ठति । तत् सानुनादं तथा प्रदक्षिणावर्त्तमुदकं यत्र नद्यां पद्मसरसि वा तत् प्रदक्षिणावर्त्तोदकं तस्मिन्वा वशब्दो वा शब्दार्थः क्वचिद्वा शब्दस्यैव पाठः । प्रशस्त कालमाह ॥

उतदिणसेसकाले, उव्वट्टाणा गहाय भावंमि ।
पुव्वदिसउत्तरा वा, चारंति य जाव नवपुव्वी ॥

उक्तानि यानि दिनानि अष्टम्यादीनि तेभ्यो ये शेषा द्वितीयादयो दिवसास्ते च स कालश्च उक्तदिनशेषकालस्तस्मिन्प्रशस्ते व्यतीपातादिदोषवर्जिते उपलक्षणमेतत्। प्रशस्ते च करणे प्रशस्ते च मुहूर्ते एतत् कालतः प्रशस्तमुक्तं भावतः प्रशस्तमाह। उच्चं स्थानं येषान्ते उच्चस्थापना ग्रहाः। भावे भावविषयं प्रशस्तं। किमुक्तं भवति। भावत उच्चस्थाने गतेषु तत्र ग्रहाणामुच्च स्थानमेवं (सूर्यस्य मेष उच्चः स्थानं। सोमस्य वृषः। मंगलस्य मकरः। बुधस्य कन्या बृहस्पतेः कर्कटकः। शुक्रस्य मीनः। शनैश्चरस्य तुला। सर्वेषामपि च ग्रहाणामात्मीयादुच्चः स्थानात् यत्सप्तमं स्थानं तत् नीचः स्थानं। अथवा भावतः प्रशस्ता ये सोमग्रहा बुधशुक्रबृहस्पतिशशिन एतेषां संबंधिषु राशिषु एतैरवलोकितेषु च लग्नेषु आलोचयेत्। तथा तिस्रोदिशः प्रशस्ता ग्राह्याः। तद्यथा पूर्वा उत्तरा वरती च वरंती नाम यस्यां भगवानर्हद्विहरति समान्यतः केवलज्ञानी मनः पर्ययज्ञानी अवधिज्ञानी चतुर्दशपूर्वी त्रयोदशपूर्वी यावन्नवपूर्वी यदि वा योयस्मिन् युगे प्रधान आचार्यः स प्रातिहारिकान् यथा विहरति। एतासां तिसृणां दिशामन्यत-मस्या दिशोऽभिमुख आलोचनार्होऽवतिष्ठते तस्ये यं सामाचारी ॥

निसज्जासति पडिहारी य, किइकम्मं काउयं जलुक्कडुओ।
पहु पडिसेवरिसां, सुय अणुण्णवेउं निसज्जमातो ॥

आत्मीयकल्पैरपरिभुक्तैराचार्यस्य निषद्यां करोति। असति आत्मीय कल्पानामभावे अन्यस्य सक्तान् वा कल्पान् गृहीत्वा करोति। कृत्वा च यद्याचार्यः पूर्वाभिमुखो निषीदति तत आलोचकोदक्षिणत उत्तराभिमुखोऽवतिष्ठते। अथाचार्य उत्तराभिमुखो निषण्णः। तत आलोचको वामपार्श्वे पूर्वा-भिमुखस्तिष्ठति। वरंती च दिशं प्रत्यभिमुखो भवति। ततः कृति कर्म्मद्वादशावर्तवंदनकं कृत्वा प्रवृद्धोऽजलिर्येन स प्रांजलिः। उत्सर्गत उत्कटुकस्थितः सन् आलोचयेत्। यदि पुनर्बहुप्रतिसेवितमस्तीति चिरेणालोचनापरिसमाप्तिमुपयास्यति तावंतं च कालमुत्कुटुकः स्थातुं न शक्नोति। यदि वा आर्शोरोगवत उत्कुटुकस्य सतोऽर्शांसि क्षोभमुपयांति ततो बहुप्रतिसेवी। अर्शः सुबहुसु गुरुमनुज्ञाप्य निषद्यायामौपग्रहिक् पादप्रोंछने वा अन्यस्मिवा यथार्हं आसने स्थितः आलोचयंति किंपुनस्त दालोचनीयं उच्यते। चतुर्विध द्रव्यादि। तथा चाह ॥

चेयणमचित्तदव्वं, जणवयसट्ठाणे होइ खेत्तंमि।
दिणनिसिसुभिक्ख, दुब्भिक्खकाले भावंमिहेट्ठियरे ॥

द्रव्यतश्चेतनं सचित्तमुपलक्षणमेतत्। मिश्रं वा अचित्तमचेतनं वा अकल्पिकं यत्किंचित्सेवितं क्षेत्रतो जनपदे वा अध्वनि वा कालतो दिने निशि वा यदि वा सुभिक्षे वा भावे हेट्ठियरे सप्तमी तृतीयार्थे हृष्टने इतरेण वा ग्लानेन सता यतनया वा दर्प्पणः कल्पतो वा तत् आलोचयति ॥

(११) यथाभूतेषु–द्रव्यादिष्वालोचना–तादृशानां प्रतिपादनम् ॥

सम्प्रति यथाभूतेषु द्रव्यादिष्वालोचना तथाभूतद्रव्यादि प्रतिपादनार्थमाह ॥ १ व्य०१ उ०॥

आलोयणा विहाणं, तं चेव जं दिव्वखित्तकाले य।
भावे सुद्धमसुद्धो, ससणिद्धे सातिरेगाइं ॥१॥

आलोचनाविधानं तदेवात्राऽपि सविस्तरमभिधातव्यं यदुक्तं प्रथमसूत्रे (दव्वादिच उरभिग्गहे) त्यादिना ग्रंथेन ततः प्रागुक्तदोषवर्जिता आलोचना प्रशस्ते द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च प्रागुक्तस्वरूपे दातव्या नाऽप्रशस्ते। इह प्रतिसेवितं द्विधा भवति। शुद्धमशुद्धं च। तत्र यत् शुद्धेन भावेन प्रतिसेवितं यतनया च तत् शुद्धं। तच्चा शुद्धत्वादेते न प्रायश्चित्तविषयाः। यत्वशुद्धेन भावेन प्रतिसेवितमयतनया च तदशुद्धं। तच्च प्रायश्चित्तविषयेऽशुद्धत्वात् तस्मिं श्चाशुद्धे प्रायश्चित्तानि केवलानि मासिकादीनि सातिरेकाणि (ससिणिद्धे) इति सस्निग्धे हस्ते मात्रके वा सति तेन भिक्षाग्रहणत उपलक्षणमेतत् तेन बीजकासंघट्टनादिनाऽपि सातिरेकाणि द्रव्याणि तत्र सातिरेकाणि द्रष्टव्यानि ॥ व्य० पंचा०॥

(१२) आलोचनासमयवर्णनम् ॥

कालो पुण एताए, पक्खादी वण्णितो जिणिंदेहिं।
पायं विसिट्ठिगाए, पुव्वायरिया तहा चाहु ॥९॥

व्या.। कालोऽवसरः पुनः शब्देष्वेवं योज्यं। आलोचनाया विधिस्तावदयं। कालः पुनरेतस्या आलोचनायाः पक्षादिरर्द्धमासप्रभृतिरादिशब्दाच्चतुर्मासादिग्रहः वर्णित उक्तोजिनें द्वैरर्हद्भिः प्रायो बाहुल्येन। प्रायोग्रहणं यदैव विशिष्टमपराधमाप न्नस्त-दैवालोचनां कदाचित्करोति ग्लानत्वोत्थितोदीर्घाध्वगतादिर्वा न पक्षादिकमपेक्षत इत्येतदर्थसूचनार्थं किं सर्व स्यालोचनायाः पक्षादिकाल इत्यत्राह। विशिष्टकाया विशेषवत्याः सामान्या पुनरावश्यकद्वये प्रतिदिनं विधीयत एवेति पक्षादिकमालोचनाकालं पूज्यवचनेन दर्शयितुमाह। पूर्वाचार्या भद्रबाहुस्वा-मिमिश्रास्तथा च तेनैव प्रकारेण पक्षादिप्रतिपादनपरतया आहुर्ब्रुवत इति गाथार्थः यदाहुस्ते।

तदेवाह ॥

पक्खियचाउम्मासे, आलोयणणियमसो उ दायव्वा ॥
गहणं अभिग्गहाण य, पुव्वगाहिए णिवेएउं ॥१०॥

व्या०॥ पक्षेऽर्द्धमासे भवं पाक्षिकं पर्व चतुर्दशी पंचदशी वा। चतुर्षु मासेषु भवं चातुर्मासं पर्व च ततो द्वंद्वैकत्वात्पाक्षिकचातुर्मासे किमित्याह ॥ आलोचना उक्तार्था ह्रस्वत्वं प्राकृतत्वात् (नियमसाउत्ति) सकारस्य प्राकृतत्वान्नियमेन वावश्यत-यैवान्यनियमा दातव्या देया। तथा ग्रहणं चोपादानं विधेयमभिग्रहाणां नियमानां चः समुच्चयार्थो योजितश्च पूर्वगृहीतान् प्रागुपात्तान् निवेद्य गुरोराख्यायेति गाथार्थः॥ किंपुनः पक्षादावभिमतेयमित्याह ॥

जीयमिणं आणाओ, जयमाणस्सविया दोससब्भावा ॥
पम्हसणपमायाओ, जलकुंभमलादिणाएण ॥

व्या० ॥ जितमाचरितं पूर्वमुनीनामिदं पक्षादावनतिचारणा-मप्योघत आलोचनादानं तथा आज्ञातः आप्तोपदेशात्पक्षादा-वालोचनेति प्रकृतं तथा यतमानस्याऽपि च संयमे घटमानस्याऽपि चास्तामितरस्य दोषसद्भावादतिचारसभवादालोचनेति प्रकृतमथकथं यतमानस्यातिचार इत्याह। (पम्हसणंति) विस्मरणं प्रमादश्च प्रमत्तता ताभ्यामत्रोदाहरणमाह। जलकुंभमलादि ज्ञातेन नीराधारघटमालिन्यहेतुप्रभृत्युदाहरणेन यथाहि जलकुंभे नित्यं प्रक्षाल्यमानेऽपि मलसंचयो भवतीत्येवं यतमानस्याऽप्यतिचारभाव आदिशब्दात् ग्रहकचवरादिग्रहः। आह।

जहगेहं पतिदियहंपि, सोहियं तहय पक्खसंधीसु।

सोहियज्जइ सविसेसं, एवमिहयंपि नायव्वम् ॥

इति गाथार्थः ॥

आलोचना परसाक्षिकी कर्तव्या पंचा० वृ०१५

आलोचना अदाउं, सति अण्णंमिवि तहप्पणो दाउं ।
जे विहु करेंति सोहिं, ते विससन्ना विणिद्दिट्ठा ॥

आलोचनां विकटनामदत्वाऽविधाय शुद्धिं कुर्वंति । स्वकल्पनया तथा (सइअन्नंमि विति) अन्यस्मिन् परस्मिन् गीतार्थे सत्यपि विद्यमानेऽपि तथेति समुच्चये आत्मनः स्वस्यैव दत्वा विधाय लज्जादेः कारणान् अनेन च परसद्भावे परस्यैव तां यच्छन् शुद्ध्यतीत्युक्तं भवति यदाह।

छत्तीसगुणसंपन्ना, गण्णते णावि अवस्सकायव्वा ।
परसक्खिया विसोही, सुट्ठवि ववहारकुसलेण ॥

पराभावे त्वात्मनोऽपि यच्छन् शुद्ध्यति केवलसिद्धान् साक्षीकृत्य यदाह । (सिद्धा च साणायतया) गीतार्थप्राप्तौ निवेदयिष्यामीत्यध्यवसायान् स्वयमेव प्रायश्चित्तं प्रतिपद्य तद्विदधानो गीतार्थः शुद्ध्यतीत्युक्तं भवतीति । येऽपि अपिशब्दाद्ये न कुर्वत्येवं । हुशब्दोऽलंकृतौ । कुर्वंति शोधिं विशुद्धिं प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना ते तदन्येऽपि सशल्याभावशल्यो पेता विनिर्दिष्टाः उक्ता जिनैरिति गाथार्थः । स्वयं शल्योद्धारे सशल्यतैवेति दृष्टांतेनाह।

किरियण्णुणाविसंमंपि, रोहिउ जद्द वणो ससल्लोउ ।
ओहोइ अपच्छो, एवं अवण्हवणो विचिनो ॥४०॥

क्रियाज्ञेनापि व्रणचिकित्साविदिनाप्यास्तां तदन्येन सम्यमपि सर्वथाऽप्यास्तामसम्यक् रोहितो रूढतां नीतः यथा यद्वत्व्रणो देहक्षतं सशल्यो दुष्टगर्भोपातः सन् तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च भवति जायते अपथ्य एवाहित एव परिणतौ मरणकारणत्वात् एवं तद्वदन्यस्मै अनिवेदितशल्यस्यापथ्या एवानंतमरणादिकार-णत्वात्कोऽसावित्याह अपराधाव्रणोऽपि चरणरूपशरीरश्रयाति-चारक्षतमपि न केवलं देहव्रण एव विज्ञेयो ज्ञातव्यस्तत्वतस्तस्या-नुद् धृतत्वादन्यविनिवेदनमेव हि शल्योद्धार इति गाथार्थः ।

इदानीं यस्मै आलोचना दीयते तेनाऽप्यालोचयितव्यम् इत्येतदेवं प्रदर्शयन्नाह ओघ. ।

(छत्तीसेत्यादि) जातिकुलबलरूपादिषट्त्रिंशद्गुणसमन्वि-तेनाऽपि अवश्यं पर साक्षिका विशुद्धिः कर्तव्या सुष्ठुअपिज्ञानक्रियाव्यवहारकुशलो न सुविहितेनेति ॥ व्य०उ०१०।

जह कुलसो वि वेज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणोवाहिं ।
विज्जस्स य सोयंतो, पडिकम्मं समारभतो ॥
जाणं तेणविएवं, पायच्छित्तविहिमप्पणो विउणं ।
तहवि य पागडतरयं, आलोएयव्वयं होइ ॥

यथा सुकुशलोऽपि वैद्योऽन्यस्याऽत्मनो व्याधिं कथयति । सोऽपि वैद्यस्य श्रुत्वा व्याधिकथनं ततः प्रतिकर्म्म समारभते । एवं प्रायश्चित्तविधिनात्मनो निपुणं जानताऽपि तथापि प्रकट-तरमालोचयितव्यं भवतीति कृत्वा अन्यस्य समीपे आलोच-यितव्यम् ॥ ओघ०॥ ग० अधि०१ ॥

(१३) कस्य समीपे आलोचना कर्त्तव्या ॥

आलोयणाउपनियमा गीयसगीए व केसिवि । (आलोयणाउ) इत्यादि। सा आलोचना नियमाद्वश्यं तथा गीतमिति प्राकृतत्वात्। षष्ठ्यर्थे प्रथमा तस्य गीतार्थस्य सकाशे कर्तव्या नाऽगीतार्थस्य अत्रैव मतांतरमाह । (अगीयकेसिंवि) केषां-चिदाचार्याणामिदं मतं उत्सर्गतस्तावदाचार्यस्य समीपे आलो-चयितव्यं । यदा पुनराचार्यः संज्ञादिप्रयोजनगतो भवति। गीतार्थस्यापि समीपे तदा भिक्षाद्यालोचनीयमिति ॥

गीतार्थस्यालोचना देयेत्युक्तमथ दुर्लभत्वे तस्य यद्विधेयन्त-दाह ॥ पंचा. वृ.१५ ॥

सल्लुद्धरणनिमित्तं, गीयस्सन्ने सणाउउक्कोसा ॥
जोयणसयाइं सत्त, उबारसवरिसाइ कायव्वा ॥४१॥

व्या.। शल्योद्धरणानिमित्तमालोचनार्थगीतस्यगीतार्थस्यगुरो रन्वेषणा तु गवेषणा पुनरुत्कर्षादुत्कृष्टतः कियात् क्षेत्रकाल विषयेत्याह।

योजनशतानि प्रतीतानि सप्त तु सप्तैव यावत् तच्छ्रा द्वादशवर्षाणि संवत्सरान् यावत् कर्तव्या विधेयेति । इह च । शेषविशेषणानुपादानेन यद्गीतार्थग्रहणं कृतं तत्सकलोक्तगुणयुक्ताचार्यालाभे संविग्नगीतार्थमात्र-स्याऽप्यालोचनाऽचार्यत्वज्ञापनार्थं यतः श्रूयतेऽपवदतो गीतार्थसंविग्न-पाक्षिकसिद्धपुत्रप्रवचनदेवता-नामलाभसिद्धानामथालोचना देया सशल्यमरणस्य संसार-कारणत्वादित्याह च ॥

(संविग्गे गीयत्थेससई पासत्थमाई सा रुवीति) गाथार्थः ॥ प्रवच० द्वा०१२९॥

(तथा च व्यवहारकल्पे विहारालोचनामधिकृत्य–) १ व्य० उ०१॥

पक्खियचउवसंवच्छर, उक्कोसं वच्छरउक्कोसं बारस-एहवरिसाणं । समणुन्ना आयरिया, फडुगपतितायविडेंति ॥

समनोज्ञा एकसंभोगिका आचार्याः परस्परं तथा स्पर्द्धकपतयश्च स्वमूलाचार्यस्य समीपे पाक्षिके तत्राभावे चातुर्मासिके तत्राप्यभावे सांवत्सरिके तत्राप्यसत्यन्यदा (उक्कोस) मित्यादि ॥ उत्कर्षतो द्वादशभिर्वर्षैः सूत्रे षष्ठी तृतीयार्थे प्राकृतत्वाद्दूरादप्यागत्य विहार विकटयंति प्रकटयंति आलोयंतीत्यर्थः । एष गाथाक्षरार्थः । भावार्थो वृद्धसंप्रदायादवसातव्यः ॥

सवायं संभोइया आयरिया पक्खिए आलोएंति उमोयएयणीयस्स आलोएइ । रायणितोविओ मरायणियस्स आलोएइ जइसेरायणिओ नच्छि । जइ पुण ओमराइणितो-विओगो वा गीयत्थो न भवइ । तो वा चउम्मासिए आलोएइ तथा वि असंवच्छरिए तथा वि अतसीए जत्थ मिलए रायणियस्सओ मगीयत्थस्स वा तत्थ उक्कोसेणं वारसहिं वरिसेहिं दूरतोवि आगंतुं आलोएयव्वं । फडुगय इहिं वि आगंतु आलोएयव्वं फडुगय इयावि आगंतुं पक्खियाइ अमूलायरियस्स समीवे आलोएंति इति ॥

तथा च व्यवहारसूत्रम् ॥

जे भिक्खू अन्नयरं अकिच्चगणं पडिसेवित्ता इच्छेज्जा आलोइत्ताए जत्थेव अप्पणो आयरियं उवज्झाए पासिज्जा कप्पई तेसिं तिए आलोइत्तएवा पडिकमित्तए वा विउदित्तए वा सोहित्तए वा अकरणाए अब्भुट्ठित्तएवा

अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जित्तए वा णो चेव णं अप्पणो आयरियं उवज्झाए पासेज्जा जत्थेव संभोइयं बहुस्सुयं बहु आगमं पासेज्जा कप्पइ से तंम्मत्तिए आलोइत्तए वा जाव पडिकमित्तए वा णो चेवणं संभोइयं साहम्मियं बहुस्सुयं बहुआगमं पासे जाव जत्थे व असंभोइयं साहम्मियं बहुस्सुय बहुआगमं पासेज्जा कप्पइसेवं संठिए आलोइत्तए वा जाव पडिवज्जित्तए वा णो चेवणं अन्नसंभोइयं साहम्मियं बहुसुयं आगामियं पासेज्जा वा सारूवियं बहुस्सुय बहुआगमं पासेज्जा कप्पइ तंसंतिए आलोइत्तए वा पडिक्कमित्ति वा जाव पडिवज्जीत्तए वा नो चेवणं सारूवीयं बहुस्सुयं बज्झागमं पासेज्जा जत्थेव समणो वासगंपच्छा कडंबहुस्सुयं वज्झागम पासेज्जा कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्तए वा जावपडिवज्जित्तए वा णो चेवणं समणो वासगं पच्छाकडं बहुस्सुयं वज्झागमं पासिज्जा जत्थेव दसमं भावियाइं चेइयाइ पासेज्जा कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्तए वा जाव पडिवज्जित्तए वा णो चेव समभावियाइं चेइयाइं पासेज्जा बहियागामस्स वा जाव सन्निवेसस्स वा पाइणाभिमुहे वा उदिणाभिमुहेवा करपल परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिकट्टु कप्पई सेएएवं ववइत्तए एवइयामे अवराहा एवं तिक्खु त्ता य अहं अवरद्धे अरिहंताणं सिद्धाणं अंतिए आ लोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा जाव पायच्छित्तं पडिवेज्जेज्जासित्तिबेमि ॥३३॥

व्याख्या । भिक्षुरन्यतरत् अकृत्यस्थानं सेवित्वा प्रतिसेव्य इच्छेत् । आलोचयितुं स वालोचयितुमिच्छुर्यत्रैवात्मन आचार्योपाध्यान्यपश्येत्तत्रैव गत्वा तेषामंतिके समीपे आलोचयेद तीचार जातं वचसा प्रकटीकुर्यात् प्रतिक्रामेन्मिथ्यादुष्कृतं तद्विषये दद्याद्यावत्कारणात् निदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा । अकरणयाए अब्भुठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडि-वज्जेज्जा) इति परिग्रहः तत्र निंदाद्यात्मसाक्षिकं जुगुप्सेतु गर्हेत् गुरुसाक्षिकं निंद्यात् इह निंदनगर्हणमपि तात्विकं तदा भवति यदा तत्करणतः प्रतिनिवर्तते ॥ तत आह (उबट्टेज्जा) इति तस्मा-दकृत्यप्रतिसेवनात् व्यावर्तेत निवर्तेत । व्यावृतावपि कृतात् पापात्तदा मुच्यते यदात्मनो विशोधिर्भवति । तत आह । आत्मानं विशोधयेत् । पापमलस्फोटनतो निर्मलीकुर्यात् । सा च विशुद्धिर-पुनः करणतायामुपपद्यते । ततस्तामेव । पुनः करणतामाह । अकरणतया पुनरभ्युतिष्ठेत् पुनरकरणतया अभ्युत्थानेऽपि विशोधिः प्रायश्चित्तप्रतिपतिर्भवति । तत आह यथार्हं यथायोग्यं तपः कर्म्म तपोग्रहणमुपलंक्षणं छेदादिकं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत । यदि पुनरात्मीयेष्वाचार्योपाध्यायेषु सत्सु अन्येषामंतिके आलोचयति । ततः प्रायश्चित्तं तस्य चतुर्गुरु यदि पुनरात्मन आचार्योपाध्यायान्न पश्येत् अभावाद् दूरव्यावधानतो वा ततो यत्रैव सांभोगिकं साधर्मिकं विशिष्टसामाचारीनिष्पन्नं बहुश्रुतं च्छेदग्रंथादिकुशलं उद्भ्रामकमुद्यतविहारिणं पाठांतरं बव्हा-गममर्थतः प्रभूतागमं पश्येत्तस्यांऽतिके आलोचयेदत्रापि यावत्करणात्पडिक्कमेज्जा इत्यादि पदकदबंकपरिग्रहः । यदि पुनस्तस्य भावे अन्यस्य सकाशे आलोचयति । तदा चतुर्लघु - वक्तव्यं । सांभोगिकसाधिर्म्मिकबहुश्रुतस्यांतिके तस्याऽप्यभावे सारूपिको वक्ष्यमाणस्वरूपः तस्याऽप्यभावे यत्रैव सम्यग्भावितानि जिनवचनवासितांतः करणानि दैवतानि पश्यति तत्र गत्वा तेषामंतिके आलोचयेत् तेषामप्यभावे बहिर्ग्रामस्य यावत्करणात् ॥

नगरस्स वा निगमस्स वा रायहणिए वा खेडस्स वा । पट्टणस्स वा दोण्णमुहस्स वा असमस्स वा संवाहस्स वा संन्निवेसस्स वा ॥

इतिपरिग्रहः प्राचीनाभिमुखोवा उदीचीनाभिमुखो वा सूर्यदिगभिमुख उत्तरदिगभिमुखो वा इत्यर्थः ॥ इह चिरंतनव्या करणेषु दिश्यपिस्त्रियामभिधेयामामीन् प्रत्ययः स्वार्थे भवति । तत एवं निर्देशः । पूर्वोत्तरादिग्रहणमालोचनायामेतयोरेव दिशयोरर्हत्वात् । करतलाभ्यां प्रकर्षेण गृहीतः करतलप्रगृहीतः । तं तथा शिरस्यावर्तो यस्य स शिरस्यावर्तः कंठे कालवदलुकसमासः । तं मस्तके अंजलिं कृत्वा एवं वक्ष्यमाणरीत्या वदेत् ॥

तामेव रीतिं दर्शयति । एतावंतो मे ममापराधाः एतावत्कृत्व एतावतो वारान् यावदहमपराद्ध एवमपराध एवमर्हतां तीर्थकृतं कथंभूतानामित्याह । सिद्धानामुपगतमलकल्पकानामंतिके आलोचयेदित्यादि पूर्ववदेष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥

अधुना निर्युक्तिभाष्यविस्तरः । तत्र यदुक्तमकृत्यं स्थानं सेवित्वेति तद्विषयमुपदर्शयति।

अन्नयरं तु अकिव्वं, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूलं व सव्वदेसं, ए मेव य उत्तर गुणेसु ॥

अन्यतरद कृत्यं पुनः सूत्रोक्तं मूलगुणे मूलगुणविषयमुत्तरगुणे वा उत्तरगुणविषयं वा तत्र मूलं मूलगुणविषयं सर्वदेशं वा सर्व्वथामूलगुण स्योच्छेदे देशतो वा इत्यर्थः । एवमेवानेनैव प्रकारेण उत्तरगुणेष्वपि द्वैविध्यं भावनीयं । तद्यथा । उत्तरगुणस्याऽपि सर्वतो देशतो वा उच्छेदेनेति तत्रैव व्याख्यानांतरमाह ॥

अहवा पणगादीयं, मायसादीयं वावि जाव छम्मासा एवं
तथारिहं खलु, छेदादि चउण्हवेगथरं ॥

अथवेति अकृतस्य स्थानस्य प्रकारांतरतोपदर्शने पंचकादिकं रात्रिंदिवपंचकप्रभृतिप्रायश्चित्तस्थानमकृत्थं स्थानं यदि वा मासादि तच्च तावद्यावत्षएमासाः । एतत् खलु अकृत्यस्थानं तापार्हं तपोरूपप्रायश्चित्तार्हयदि वा छेदादीनां चतुर्णां प्रायश्चित्तस्थानमकृत्य स्थानं तदेवमधिकृत्य स्थानं व्याख्याय यथास्वकीयाचार्योपाध्यायादीनामदर्शनं संभवति । तथा-प्रतिपादयति ॥

आउयवाघाययं, वाहुल्लहगीयं चपत्तकालं तु ।
अपरक्कममासज्ज व, सुत्तमिणंतदिसा जाव ॥

स्वकीयानामाचार्योपाध्यायानामायुषो व्याघातोऽभवत् । जीवितस्य बहुघातसंकुलत्वात् यदि वा तस्यैवाऽलोचकस्यायुर्यावदाचार्योपाध्यायादिसमीपे गच्छति तावत् न प्रभवति स्तोकावशेषत्वात् । तत आयुषो व्याघातं वा आश्रित्य तथा

भाविष्यति कालो यत्र दुर्लभो गीतार्थः आलोचनार्हस्तत एष्यन्त कालमधिकृत्य दुर्लभं गीतार्थं चाश्रित्य तथा जंघाबलपरिहान्या रोगातंकेण वा जातोऽपराक्रम आलोचकस्ततस्तं वा प्रतीत्य सूत्रमधिकृतं प्रवृत्तं यावद्दिशादिसूत्रं। अत्र पर आह। ननुपूर्व-मेकाकिविहारप्रतिमा-सूत्राणि व्याख्यातानि। यथा एकाकिविहारे दोषाः। तदनंतरं पार्श्वस्थादिविहारोऽपि प्रतिषिद्धः। ततो नियमाद्गच्छे वस्तव्यमिति नियमितं। एवं च नियमिते कथमेकाकी जातो येनोच्यते यत्रैवात्मन आचार्योपाध्यायान्पश्येत्तत्रैव गत्वा तेषामंतिकं आलोचयेदित्यादि।

अत्र सूरिराह॥

सुत्तमिणं कारणियं, आयरियादीण जत्थ गच्छंमि।
पंचएहं हो असती, एगो व जहिं न वसियव्वं॥

सूत्रमिदमधिकृतं कारणिकं कारणे भवं कारणिकं कारणे सत्येकाकिविहारविषयमित्यर्थः। इयमत्र भावना। बहूनि खल्वशिवादीनि एकाकित्वकारणानि ततः कारणवशतोयो जात एकाकी तद्विषयमिदं सूत्रमिति न कश्चिद्दोषः अशिवादीनि तु कारणानि मुक्त्वा आचार्यादिविरहितस्य न वर्त्तते वस्तुं तथा चाह। यत्र गच्छे पंचानामाचार्योपाध्यायगणा वच्छेदिप्रवृत्तिस्थ-विररूपाणामसदभावो यदि वा यत्र पचानामन्यतमोऽप्येकोन विद्यते। तत्र न वस्तव्यमनेकदोष-सम्भवात्ता नेव दोषानाह।

एवं असुभगिलाणे परिण्णकुलकज्जमादिवग्गउ।
अण्णस्सतिसल्लस्सा जीवियथाते चरणघातो॥

एवमुक्तेन प्रकारेण एकादिहीने गच्छे एकोऽशुभकार्ये मृत-कस्थापनादौ अपरो ल्हानप्रयोजनेष्वन्यः परिज्ञायां कृत-भक्तप्रत्याख्यानस्य देशनादौ अपरः कुलकार्यादौ व्यग्र इति। अन्यस्य पंचमस्याऽप्यंत्यावस्थाप्राप्तस्य आलोचनाया असंभवेन सन्यस्य सतो जीवनाशे चरणव्याघातश्चरणगात्र-भ्रंशश्चरणभ्रंशे च शुभगतिविनाशः। अत्र पर आह॥

एवं होइ विरोहो आलोयणापरिणतोउ सुद्धोउ।
एगंतेण पमाणं परिमाणो वीन, खलु अम्हं॥

नत्वेवं सति परस्परविरोधस्तथाहि भवद्भिरिदानीमेवमुच्यते। सशलयस्य सतो जीवितनाशे चरणभ्रंशः। प्राक्त्वेवमुक्त-मदत्तलोचनेऽप्यालोचनापरिणामपरिणतः शुद्ध इति ततो भवति परस्परविरोधः। अत्र सूरिराह (एगंते णेत्यादि) न खल्वस्माकं स्वशक्त्यनिगूहनेन यथाशक्तिप्रवृत्तिविरहितः केवलपरिणामः एकांतेन प्रमाण तस्य परिणामाभासत्वात्किंतु सूत्रं प्रमाणीकुर्वतो यथाशक्तिप्रवृत्तिसमन्वितः। नचैकाद्यभाव गच्छे वसन् सूत्रमनु-वर्त्तते। ततस्तस्य तात्विकपरिणाम एव नेति सशल्यस्य जीवितनाशे चरणनाशः। पुनरपि भक्तव्यांतरं विवक्षुः प्रश्नमुत्थापयति।

चोयग किं वा कारण, पवण्ह सती तहिं न वासियव्वं।
दिट्ठंता वाणियए, पिंडियआत्थे वसिउकामो॥१॥

चोदक आह॥ यत्रपंचानां परिपूर्णानामसदभावः तत्र न वस्तव्यमित्यत्र किंवाकारणं को नाम दोषः॥ सूरिराह॥ अत्र अधिकृतार्थे वाणिजोपीडितार्थेन वस्तुकामेन दृष्टान्तः॥ उप-मागाथायां सप्तमी तृतीयार्थे॥ इयमत्र भावना॥ कोऽपि वणिक् तेन प्रभूतार्थे पीडितस्ततः सोऽचिंतयत् कुत्र मया वस्तव्यं यत्रैनमर्छं परिभुंजेऽहमिति ततस्तेन परिचिंत्येदं निश्चिक्ये॥

तत्थ न कप्पइ वासो आहारो जच्छ नत्थि पंच इमे।
राया वेज्जाधणिमं नेवइया रूवजक्खा य॥

तत्र गमनं कल्पते वासो यत्रेमे वक्ष्यमाणाः पंच नाधाराः। केते इत्याह। राजा नृपति वैद्यो भिषक् अन्ये च धनवन्तो नैतिका नीतिकारिणो रूपयक्षाः धर्म्मपाठकाः कस्मादिति चेदत आह॥

दविणस्स जीवियस्स व, वाघातो होज्ज जत्थ नत्थेतो।
वाघाए एगतरस्स, दव्वसंघाडणा अफला॥

यत्र नसंत्थेते राजादयः परिपूर्णाः पञ्च नियमतो द्रविणस्य धनस्य जीवितस्य वा व्याघातो भवेत् वैद्येन विना जीवितस्य राजादिभिर्विना धनस्य व्याघातो चैकस्य धनस्य जीवितस्य वा द्रव्यसंघाटना द्रव्योपार्जना विफला परिभोगस्थासम्भवादथवा॥

रण्णा जुवरण्णा वा, महरयय अमच्चतहकुमारेहिं।
एएहिं पडिग्गहियं, वसेज्ज रज्जं गुणविसालं॥

राज्ञा युवराजेन महत्तरकेनामात्येन तथाकुमारैरेभिः पंच परिगृहीत राज्यं गुणविशालं भवति गुणविशालत्वात् तद्व सेत् आ-चार्य्योपाध्या-प्रवर्तिस्थविरगीतार्थान् प्रतिपाद्य १ व्य० उ०१ एवमाचार्यपंचकसमेते गच्छे वस्तव्यं। यदि पुनः किंचिदपराधं प्राप्तो भवति गच्छश्च पंचकपरिहीनस्तदायं दृष्टांतः।

जह पंचकपरिहीणं, रज्जडंमरभयवोरउव्विग्गं।
उग्गहियसगडपिडगं, परंपरवच्चए सामिं॥

यथा राज्यं राजादिपंचकपरिहीनं संतं डमरं स्वदेशोत्थो विप्लवः भयं परचक्रसमुत्थं तस्कराश्चौरास्तैरुद्विग्नमुपगतं परित्यज्य आत्मीयं चशकटपिटकमुद्गृह्य परंपरंस्वामिनं द्राग् व्रजति यत्र स्वास्थ्यं लभते।

इयपंचकपरिहीने, गच्छे आसन्नकारणे साहू।
आलोयणमलहंतो, परंयाव चसिद्धे॥

इत्येवमनेन दृष्टांतप्रकारेण पंचकपरिहीने आचार्यादिपंचक विरहिते गच्छेप्रायश्चित्तस्थानमापन्नः साधुः कारणेन प्रागुक्तेन आयुर्व्याघाता-दिरूपेण निजाचार्यादीनामंतिके आलोचना मलभमानः सूत्रोक्तया नीत्या परंपरमन्यसांभोगिकादिकं तावद्व्रजति यावत् सिद्धान् गच्छति एतदेव सविशेषमाह।

आयरिए आलोयण, पंचण्हं असति गच्छे वहियाजो।
वोच्चत्थेचउलहुगा, गीयत्थे हों ति चउगुरुगा।

आचार्येआचार्यसमीपे आलोचनादातव्या। गच्छे पंचानामाचार्यादी-नामसति गच्छाद्बहिर्गंतव्यं इयमत्र भावना। प्रायश्चित्तस्यानमापन्नेन साधुना नियमतः स्वकीयानामाचार्याणां समीपे आलोचयितव्यं तेषामभावे उपाध्यायस्य तस्याऽप्यभावे प्रवर्तिनस्तस्थाऽभावे स्थविरस्य तस्याप्यभावे गणावच्छेदिनः अथ स्वगच्छे पंचानामप्यभाव-स्ततो बहिरन्यस्मिन्सांभोगिकानामाचार्यादीनामभावे संविग्नानाम-सांभोगिकानां समीपे गंतव्यं। तत्राप्याचार्यादिक्रमेणालोचना प्रदातव्या। यदा पुनरुक्तक्रमोल्लंघनेनालोचनां प्रयच्छति तदा प्रायश्चित्तं चतु-र्लघु। तथा चाह (वावुच्छे चउलहुगा) इति व्यत्यस्ते विपर्यासे उक्तक्रमोल्लंघने इत्यर्थः। चत्वारो लघुकाः लघुमासा यदि पुनरुक्तक्रममुल्लंघयन् अगीतार्थसमीपे आलोचयति। तद-

प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु। एतदेवाह (गीयत्थे होंति चउगुरुगा) तदेवं संविग्नानां संभोगिकात् यावत् विधिरुक्तः।

संप्रति शेषान्प्रति विधिमाह ॥

संविग्गे गीयत्थे, सरूविपच्छाकडे य गीयत्थे।
पडिक्कंते अब्भुट्ठिय, असती अन्नत्थ तत्थेव ॥

संविग्ने अन्यसांभोगिकलक्षणे असति अविद्यमाने पार्श्वस्थस्य गीतार्थस्य समीपे आलोचयितव्यं तस्मिन्नपि गीतार्थे पार्श्वस्थे असति सारूपिकस्य वक्ष्यमाणस्वरूपस्य गीतार्थसमीपे तस्मिन्नपि सारूपिके असति पश्चात्कृतस्य गीतार्थसमीपे आलोचयितव्य। एतेषां च मध्ये यस्य पुरत आलोचना दातुमि-ष्यते। तमभ्युत्थाप्य तदनंतरस्य पुरत आलोचयितव्यं। अभ्युत्थानं नाम वंदनकप्रतीच्छनादिकं प्रत्यभ्युपगम-कारोपणा ॥ तथा चाह। (पडिक्कंते अब्भुट्ठिएत्ति) अभ्युत्थिते वंदनाप्रतीच्छनादिकं प्रति कृताभ्युपगमेऽतिक्रांतो भूयात् नान्यथा अथ ते पार्श्वस्थादय आत्मानं हीनगुण पश्यंतो नाभ्युत्तिष्ठंति तत आह (असतित्ति) असति अविद्यमाने अभ्युत्थाने पार्श्वस्थादीनां निषद्यामारचय्य प्रणाममात्रं कृत्वा लोचयनीयमितरस्य तु पश्चात्कृतस्य इत्वरसामायिकारोपणं लिंगप्रदान च कृत्वा यथाविधि तदंतिकमा-लोचनीयं (अन्नत्थ तत्थवत्ति) यदि पार्श्वस्थादिकोऽभ्युत्तिष्ठति। तदा तेनान्यत्र गंतव्य येन प्रवचनलाघवं न भवति। तत्र च गत्वा तमापन्नप्रायश्चित्तं शुद्धतपो वहति मासा-दिमुत्कर्षतः षण्मासपर्यवसान यदि वा प्रागुक्तस्वरूपं परिहारतपः। अथ स नाऽभ्युत्तिष्ठति शुद्धंच तपः। तेन प्रायश्चित्तं दत्त ततस्तत्रव तपो वहति। एतदव असति इत्यादिकं व्याख्यानयति ॥

असतीए लिंगकरणं, सामाइय इत्तरं च कितिकम्मं।
तत्थेवय सुद्धतवो, गवेसणा जाव सुहदुक्खे ॥

असती अविद्यमाने पश्चात्कृतस्याऽभ्युत्थाने गृहस्थात्त्वात् लिंगकरणं इत्वरकाल लिंगसमर्पणं तथा इत्वरमित्वरकाल सामायिकमारोपणीयं। ततस्तस्यापि निषद्यामारचय्य कृति कर्म्म वंदनकं कृत्वा तत्पुरत आलोचयितव्यं। तदेवमसतीति व्याख्या-तमधुना तत्थेवत्ति व्याख्या। यदि पार्श्वस्थादिको नाभ्युत्तिष्ठति शुद्धं च तपस्तेन प्रायश्चित्तं तथा दत्तं ततस्तत्रैव तत् शुद्धं तपो वहति यावत्तपो वहति। तावत्तस्यालोचना प्रदायिनः सुखदुःखे गवेषयति। सर्वमुदंतं वहतीत्यर्थः। पश्चात्कृतमेव विधिमाह ॥

लिंगकरणं निसेज्जा, कितिकम्ममणिच्छत्तो पणामो य।
एमे व देवयाए, न वरं सामाइयं मुत्तुं ॥

पश्चात्कृतस्येत्वरकालसामायिकारोपणपुरस्सरमित्वरकालं लिंगकारणं रजोहरणसमर्पणं तदनंतरं निषद्याकरणं ततः कृतिकर्म्म वंदनकं दातव्यं। अथ स वंदनकं नेच्छति। ततस्तस्य कृतिकर्म्ममनिच्छतः प्रणामो वाचा कायेन प्रणाममात्र कर्त्तव्यं पार्श्वस्थादेरपि कृतिकर्म्मानिच्छायां प्रणामः कर्तव्यः। एवमेव अनेनैव प्रकारेण देवताया अपि सम्यक्त्वभावितायाः पुरतः आलोचयति ते वरंसामायिकारोपणलिंगसमर्पणं न च कर्तव्यमविरतत्वेन तस्यास्तद्योग्यताया अभावात्। यदुक्तं (गवेषणा जाव सुहदुक्खे) इति तद्व्याख्यानयति ॥

आहारउवहिसेज्जा, एएसणमादीसु होइ जइयव्वं।
अणुमोयणकारावण, सिक्खत्तिपयम्मितो सुद्धो ॥

आहारः पिंड उपधिपात्रनिर्योगादिः शय्या वसतिरेषणाशब्दः प्रत्यकमभिसंबध्यते। आहारैषणायामुपध्येषणायां शय्यै-षणायामादि शब्दाद्विनयवैयावृत्यादिषु च भवति। तेन यतितव्य कथमित्याह। अनुमोदनेन कारापणेन च। किमुक्तं भवति। यदि तस्याऽलोचनार्हस्य कश्चिदाहारादीनुत्पादयति। ततस्त-स्यानुमोदनाकरणतः प्रोत्साहने यतते। अन्यथाऽन्यः कश्चिन्नो-त्पादयति ततः स्वयमालोचक आहारादीन् शुद्धानुत्पादयति। अथ शुद्धं नोत्पद्यते। ततः श्राद्धात् प्रोत्साहाकल्पि-कानप्याहारादीन् यतनया उत्पादयतीति। अथाकल्पिका नाहारादीनुत्पादयतः तस्य महती मलिनतोपजायते। अथ च स शुद्धिकरणार्थं तदंति-कमागतस्ततः परस्परविरोधः। अत्राह (सिक्खत्तिपयम्मितो सुद्धो) यद्यपि नाम तस्यालोचना-र्हस्थाथायाकल्पिकानप्या हारादीनुत्पादयति। तथाप्या-सेवनाशिक्षा तस्यांऽतिके क्रियते। वितिपदे अपवादपदे स तथा वर्तमानः शुद्ध एव एतदेव भावयति ॥

चोइयसे परिवारं, अकरेमाणे भणाइ वा सद्धे।
सव्वोच्छित्तिकरिस्स उ, सुयभत्तीए कुणहयूयं ॥

प्रथमतः। से तस्यालोचनार्हस्य परिवारं वैयावृत्त्यादिकमकुर्वतं चोदयति शिक्षयति। तथा ग्रहणासेवना शिक्षानिष्णात एष तत एतस्य विनयवैयावृत्यादिकं क्रियमाणं महानिर्जराहेतुरिति। एवमपि शिक्षमाणो यदि न करोति। ततस्तस्मिन्नकुर्वाणे स्वय-माहारादीनुत्पादयति। अथ स्वयं शुद्धं प्रायोग्यमाहारादिकं न लभते। ततः श्राद्धान् भणति प्रज्ञापयति प्रज्ञाप्य च तेभ्योऽ-कल्पिकमपि यतनया संपादयति नच वाच्यं तस्यैवं कुर्वतः कथं नदोषो यत आह (अब्वोच्छित्तीत्यादि) अव्यवच्छित्ति-करणस्य पार्श्वस्थादेः श्रुतभक्त्या हेतुभूतया अकल्पिकस्याप्याहारादेः श्रुतभक्त्या पूजां कुरुत यूयं नच तत्र दोष एवमत्रापि। इयमत्र भावना ॥ यथा कारणे पार्श्वस्थादीनां समीपे सूत्रमर्थं च गृण्हानोऽकल्पिकमप्याहारादिक यतनया तदर्थं प्रतिसेवमानः शुद्धो ग्रहणशिक्षायाः क्रियमाणत्वादेवमालोचनार्हस्याऽपि निमित्तं प्रतिसेवमानः शुद्ध एव आसेवनाशिक्षायास्ततत्समीपे क्रिय-माणत्वादिति। एतदेव स्पष्टतरं भावयति ॥

दुविहा सती एतेसिं, आहारादी करेइ सव्वेसिं।
पणहाणी य जयंतो, अत्तट्ठाए वि एमेव ॥

इह परिवाराभावे तस्याऽलोचनार्हस्य कर्तव्यमिति सामाचारी तेषां च पार्श्वस्थादीनां दुविहा असती इति परिवाराभावो द्विविधः। विद्यमानाभावोऽविद्यमानाभावश्च। विद्यमानः सन् अभावाऽसन् वैयावृत्यादेरकरणात् विद्यमानाभावः। अविद्यमानः सन्नभावोऽविद्य-मानाभावः। तत्र द्विविधेऽप्यभावे (से) तस्या-लोचनस्याऽहारादिकं सर्वकल्पमकल्पिकं वायतनया करोति उत्पादयति। यतनया कथमकल्पिकमुत्पादयति इति चेदत आह। पंचकहान्या यतमानः। किमुक्तं भवति। अपरिपूर्ण मासिक-प्रायश्चित्तस्थानप्रतिसेवनापत्तौ गुरुलाघवपर्यालोचनया पंचकादिपंचकहीनमासिकप्रायश्चित्त-स्थानप्रतिसेवनां करोति। तामपि यतनया पंचकग्रहणमुपलक्षणं तेन देशादि हान्यापि यतमान इति द्रष्टव्यं। एवं सर्वत्र न केवलमालोचनार्हार्थमेवं यतेत किं तु कारणे समुत्पन्ने आत्मार्थमप्येवमेवं पंचकहान्या यतते इति। यदुक्तं सम्यक्त्वभावितायाः पुरत आलोचयितव्यमेतदेतद्भावयति ॥

कोरंटगं जहा भावि, यद्धम्मं पुच्छिऊण वा अन्नं ॥
असति अरहं सिद्धे, जाणंतो सुद्धो जावेव ॥१॥

कोरंटकं नाम भरुकच्छं उद्यानं तत्र भगवान्मुनिसुव्रतस्वामी अर्हन्नभीक्ष्णं समवसृतसूत्र तीर्थकरेण गणधरैश्च बहूनि प्रायश्चितानि च दीयमानानि तत्रत्यया देवतया दृष्टानि ततः कोरंटकं गत्वा तत्र सम्यक्त्वभावितदेव-ताराधनार्थमष्टमं कृत्वा तत्र च सम्यक्त्वकंपितायादेवतायाः पुरतो यथोचितप्रतिपत्ति पुर-स्सरमालोचयति । सा च प्रयच्छति यथार्हं प्रायश्चित्तं । अथ सा देवता कदाचित् च्युता भवेत् पश्चादन्या समुत्पन्ना तथा च न दृष्टस्तीर्थकरस्ततः साष्टमेनाकंपिता ब्रूते महाविदेहे तीर्थकरमापृच्छ्य समागच्छामि ततः सा तेनाऽनुज्ञाता महाविदेहे गत्वा तीर्थकरं पृच्छति पृष्ट्वा च समागच्छत्यसाधवे प्रायश्चित्त कथयति। यथा च कोरंटकमुद्यानमुक्तमेवं गुणशिलादिकमपि द्रष्टव्यम् । अत्राऽप्यभीक्ष्णं वर्द्धमानस्वाम्यादीनां समवसरणत् । तासामपिदेवतानामभावे अर्हत्प्रतिमानां पुरत स्वप्रायश्चित्तदानपरिज्ञानकुशल आलोचयति। ततः स्वयमेव प्रतिपद्यते प्रायश्चित्तं तामप्यसत्यभावे प्राचीनादिदिगभिमुखो ऽर्हतः सिद्धानभिसमीक्ष्य जानन् प्रायश्चित्तदानविधिः । विद्वान् आलोचयति । आलोच्य च स्वयमेव प्रतिपद्यते प्रायश्चित्तं सचतथा प्रतिपद्यमानः शुद्ध एव सूत्रोक्तविधिना प्रवृत्तेः । यदपि विराधितं तत्रापि शुद्धप्राय-श्चितप्रतिप्रत्तेरिति । कोरंटकं जहेत्यत्र यथाशब्दोपादाना-त्कोरंटकसमुद्दिशताऽन्यान्यऽप्युद्यानानि सूचितानीति प्रकटयिषुराह ।

सोहीकरणा दिट्ठा, गुणसिलमादीसु जह य साहूणां ।
नोर्दति विसोहीतो, पच्चुप्पण्णा व पुच्छंति ॥

गुणशीलादिषूद्यानेषु याभिर्देवताभिः साधूनां तीर्थक-रैगणधरैश्चानेकशो विधीयमानानि शोधिकरणानि दृष्टानिताः स्वयं ददति प्रयच्छंति । विशोधीः प्राचश्चित्तानि याः पुनः प्रत्युत्पन्नाः देवतास्ता महाविदेहेषु गत्वा तीर्थकरान् पृच्छंति। पृष्ट्वा च साधु-भ्यः कथयति ॥ आ०म०१ उ०ग० अधि०१ प्रतिमा० श्लो० ६४ ॥

(१४) गीतार्थमवाप्य शल्यानुद्धरणादौ दोषगुणादिकं भावयता यद्विधेयत्वम् ॥

अथ गीतार्थमवाप्य शल्यानुद्धरणादौ दोषगुणादिकं भावयता यद्विधेयं तदाह । पंचा० वृ०१६ ॥

मरिउं ससल्लमरणं, संसाराडविमहाकडिल्लंमि ।
सुचिरं भमंति जीवा, अणोरपारंमि ओइन्ना ॥४२॥

व्या.। मृत्वा आसेव्य सशल्यमरणं प्रतीतं ततः किमित्याह । संसाराडविमहाकडिल्ले भवारण्यगुरुगहने सुचिरमति दीर्घकालं भ्रमंति पर्यटंति जीवा देहिनः अनर्वाक्पारे अर्वाक् भागपर-भागवर्जिते अवतीर्णा अवगाढा इति संवेगं कृत्वेतियोगः तथा ॥

उद्धरियसव्वसल्ला, तित्थगराणाए मुच्छिया जीवा ।
भवसयकयाइं खविओ, पावाइं गथा सिवं थामं ॥४३॥

व्या. । उद्धृतसर्वशल्याः कृतालोचनास्तीर्थकराज्ञायां जिनोपदेशे सुस्थिताः सुष्ठु व्यवस्थिताः संतो जीवा देहिनः भवशतकृतानि जन्मशतविहितानि क्षपयित्वा प्रक्षपप्यः शल्योद्धारसामर्थ्यात् यानि यानि कर्माणि गताः प्राप्ताः शिवं निरुपद्रवं थामंति स्थानं सिद्धालयमित्यर्थः ।

सल्लुद्धरणं चइमंति, लोगबंधूहि दंसियं सम्मं ।
अवितहमारोग्गफलं, धण्णोहं जेणिमं णामं ॥४४॥

व्या.। शल्योद्धरणमालोचना चशब्दः पूर्वगाथाद्वयोक्तार्थापेक्षया समुच्चयार्थः । इदमनंतरोक्तविधानं त्रिलोकबंधुभिर्जिनैरित्यर्थः दर्शितमुक्तं सम्यक् सोपपत्तिकं अवितथमव्यभिचारि आरोग्यफलं भावारोग्यसाधकं ततश्च धन्योऽहं पुण्यवानहं येन मया इद-मेतच्छल्योद्धरणं ज्ञातमेवगतम् ॥

ताउद्धरेमि सम्मए, य एयस्स णाणरासिस्स ।
आवेदियं असेसं, अणियाणो दारुणविवागं ॥४५॥

व्या. ताइति यस्मादिकं मया ज्ञातं तत्तरमाद्उद्धराम्यपनया मिसम्यग् न्यायेन एतत् भावशल्यं एतस्य गुरोर्ज्ञानराशेः अग्रे सद्बोधनिकरस्याऽवेद्य कथयित्वाऽशेष सकलं अनिदानो निर्निदानः सन् दारुणविपाकं रौद्रफलं शल्यमिति प्रक्रमः ।

इयसंवेगं काउं मरुगाहरणादिएहिं विधहिं ।
दढ पुण करणजुत्तो, सामायारिं पउंजेज्जा ॥

व्या०। इति एवमनंतरगाथाचतुष्कोक्तप्रकारसंवेगं शुभाध्यवसायविशेष कृत्वा विधाय कैरित्याह मरुकाहरणा-दिभिर्ब्राह्मणोदाहरणाद्यैः समयप्रसिद्धैश्चिन्हैर्लिंगैर्मरणाभ्युपग-मेनापि शुद्धिः कार्येत्येवं भूतार्थगमकैः सशल्यतादोषज्ञापकैर्वा आदिशब्दात्पीठमहापीठादिग्रहः दृढमत्यर्थमपुनः करणयुक्तः पुनरमुमपराधं न करिष्यामीत्यभिप्रायवान् सन् सामाचारी-मालोचनागतसमाचारं वंदनकदाननिषद्यादानादिक प्रयुजीत विदध्यादालोचनाकारीति ॥

(१५) मरणाऽभिमुखेनाऽप्यालोचना करणीयाऽत्र ब्राह्मणदृष्टान्तः ॥

मरुकज्ञातं चैतत् ॥

नगरे पाटलीपुत्रे, विप्र आसीत् त्रिलोचनः ।
वेदवेदांगगर्भार्थ, विशारदशिरोमणिः ॥१॥
तस्य पार्श्वे बटुः कोऽपि, समा यातः प्रणम्य तम् ॥
उवाच मयका मोहा, त्परदाररतिः कृता ॥२॥
तस्यपापस्य मे शुद्धिः क्रियतां सोऽप्यभाषत ।
तद्भावस्य परीक्षार्थं , यथा भो विप्रपुत्रक ! ॥३॥
तप्तां लोहमयीं नारीं, फुल्लकिम्शुकसन्निभाम् ।
आलिंगय यतो नान्य, त्प्रायश्चित्तमिहागसि ॥४॥
तेनापि पापभीतेन, प्रतिपन्नमिदं ततः ।
सोपि विज्ञाय तद्भावं, शुद्धिमन्यां न्यवेदयत् ॥५॥
अथवा मरुकोदाहरणमेवं ॥
बभूव ब्राह्मणः कोऽपि वेदार्छेषु विशारदः ।
स्वागमाहितबोधेन, धर्मार्थीभूत्स तापसः ॥१॥
ततस्तपस्यतस्तस्य, वसतस्तापसाश्रमे ।
कंदमूलाशिनोऽत्यर्थं , कष्टानुष्ठानकारिणः ॥२॥
स्नानाद्यर्थं नदीतीरे, प्रयातस्यैकदा किल ।
पश्यतो मत्स्यबंधानां, मत्स्यमांसस्य भक्षणम् ॥३॥
तत्र जातामिलाषस्य, जेमितस्य प्रयाच्च तत् ।
तस्यैवाऽजीर्णदोषेण, समुत्पन्नो महाज्वरः ॥४॥

तच्चिकित्यार्थमानीतो, वैधः सोऽपि च पृष्टवान्।
किंभो स्त्व भुक्तवान्, ब्रूहि, सोऽप्यभाषत लज्जया ॥५॥
कंदमलफलाहारा, स्तापसा यत्प्रभुंजते।
तद्भक्त न पुनस्तेन, कथितं मत्स्यभक्षणम् ॥६॥
वैद्योऽपि तस्य वाक्येन, ज्ञाखा तं वातिकंज्वरं।
तथाविधक्रियां चक्रे, नचाभूतज्वरमुक्तता ॥७॥
पुनः पृष्टोऽद्यवैद्येन, तदेवाख्यातवानसौ।
चक्रे क्रियां सतामेव, विशेषान्नत्वभदगुणः ॥८॥
अन्यदावेदनाक्रांतो भीतोऽसौ मृत्युराक्षसात्।
लज्जां विहाय वैद्याय, न्यगादीन्मत्स्यभोजनं ॥९॥
ततोवैद्योऽन्यगादीत्तं, दुष्ठु दुष्ठु त्वया कृतं।
यदीयंति दिनानीदं नाख्यातं रोगकारणं ॥१०॥
अधुनापि कृतं साधु साधो यत्साधितं त्वया।
निदानं ज्वररोगस्य, करोमीतो रुजः क्षयम् ॥११॥
तस्योचितं ततो वैद्यः, क्रियां कृत्वा तकं व्यधात्।
व्याधिब्बाधाव्यपेतांगं, पुष्टदेहं महोजसमिति ॥१२॥

(१६) अदत्तालोचने व्याधदृष्टान्तभावना,

**कंटगमादिप वट्ठे, नोद्धरइ सयं नहोइ एकहए।
कमठीभूयवणगए, आगलणं खोभियामरणं ॥**

इह किल व्याधा वने संचरंत उपानहौ पादेषु नोपनह्यति माहस्तिन उपानहोः शब्दान श्रोषुरिति। तत्रेकस्य व्याधस्याऽन्यदा वने उपानहौ विना परिभ्रमतो द्वयोरपि पादयोः कंटकादयः प्रविष्टा आदिशब्दात् श्लक्ष्णं किलिंचादिपरिग्रहः ॥ तान्प्रविष्टान् कंटकादीन्स्वयं नोद्धरति। नापि भोजिकायै निजभार्यायै व्याधिं कथयति। ततः स तैः पादतलप्रविष्टैः कंटकादिभिः पीडितः सन् वनगतो हस्तिना पृष्टतो धावता प्रेर्यमाणो धावन् कमठीभूतः स्थले कमठे इव मंदगतिरभूत्ततः प्राप्तो हस्ती प्रत्यासन्न देशमिति जानन् क्षुधाक्षोभंगत्वा (आगलण) मितिवैकल्यं प्राप्तः। ततो मरणमेष गाथाक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयं।

एगो वाहो उवाहणातो विणावणे गतो तस्स पायतला कंटगाईणं भरिया ते कंटगाइयानो सयमुद्धरियानो विय वाहीए उद्धाविया अन्नया वणे संचरंतो हत्थिणा दिट्ठो तो तस्स धावंतस्स कंटगाइया दूरतरंमंसे पविद्ध। ताहे अतिदुक्खेण अट्टिंतो महापायवो इवाच्छिन्नमूलो हस्थिभएणं पवेयणभूतो पडितो हत्थिणा विणासितो ॥ विविए सयमुद्धरती अणुट्ठिए भोइयाए नीहरइ। परिमद्दणदंतमलादि पूरणं वणगयपलातो ॥

अन्यो द्वितीयो व्याध उपानहौ विना वने गतः। तस्य वने संचरतः कंटकादयः पादतले प्रविष्टा स्तान्स्वयमुद्धरति ये च स्वयमुद्धर्तुं न शक्तान् अनुद्धृतान् भोजिकया निजभार्यया व्याधा नीहारयंति निष्काशयंति तदनंतरं तेषांकंटकादि वेधस्थाना-नामंगुष्ठादिना परिमर्दनं तदनतरं दंतमलादिना आदिशब्दात्। कर्णमलादिपरिग्रहः। पूरणं कंटकादिवेधानां ततोऽन्यदा वनगतः सन् हस्तिना दृष्टोऽपि पलायितो जातो जीवितव्यमुरवानामाभागी एष दृष्टांतः। सांप्रत दार्ष्टांतिकयोजनामाह॥

**वाहत्थाणी साहू, वाहिगुरुकंटकादिअवराहा।
सोही य ओसहाइ, पसत्थनाएण वणतो उ॥**

व्याधस्थानीयाः साधवः व्याधिस्थानीयो गुरुः कंटका-दिस्थानीया अपराधा औषधानि दंतमलादीनि तत्स्थानीया शोधिः अत्र द्वौ व्याधदृष्टांतौ प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च आद्योऽप्रशस्तो द्वितीयः प्रशस्तः। तत्र प्रशस्तेन ज्ञातेन दृष्टांतेनोपनयः कर्त्तव्यः। आचार्योऽपि यदि तान् उपेक्षते ततः कंटकादीनामुपेक्षको व्याध इव सोऽपि दुस्तरामापदमाप्नोति। तथा चाह॥

**पडिसेवंते उवेक्खइ नयणं ओवीलए अकत्थंतो।
संसारहत्थिहत्थं पावति विवरीयमियरोवि॥**

इतरोऽपि आचार्योऽपि तुशब्दोऽपिशब्दार्थः। यः प्रतिसेवमानात् उपेक्षते ननु निषेधति न वा कुर्वतोऽकुर्वाणात् प्रायश्चित्तमुत्पीड-यति। न भूयः प्रायश्चित्तदानदंडेन ताडयन् कारयति सविपरी-तमाचार्यपदस्य हि यच्छोक्तनीत्या परिपालनफलमचिरात् मोक्षगमनं तद्विपरीतं संसारं एव हस्तिहस्तं प्राप्नोति। दुस्तरं संसारमागच्छतीति भावः। उपसंहारमाह॥

आलोयमणालोयणदोसा य, गुणा य वण्णिया एए॥

एते अनन्तरोदिता आलोचनायां गुणाआनालोचनायां दोषा वर्णिताः उ.१ आगमव्यवहारिकां सकाशे आलोचना (आग-मनववहारि) शब्दे॥

इदानी मागमव्यवहारिणामभावे समयानुसारेणो त्कृष्टश्रुतानां श्रुतव्यवहारिणां सन्निधावालोच्यत इति। जीत.।

(१७) स्वगणपरगणवासिकानां समीपे आलोचना.

स्वगणपरगणवासिकानां समीपे आलोचना ऽङ्गचूलिकायाम्॥

कहणं भंते सहुरूवे आयरिय उवज्झाए पमायवंते। सगण परगण वासियाणं समीवे पावं आलोइज्जा तएणं अज्जसुहम्मे जंबू एवं वयासी। जंब जिणसासणे ववहारो बलवंतो त्थि भिक्खू अणागदकम्मं अण्णतरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा तत्थ पासेज्ज पुणो आयरियउवज्झायं बहुस्सुयं बहूआगमं कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्तए पडिक्कमित्तए णिंदए गरिहारत्तिए ठिओदित्तए अकरणयाए अभुट्ठित्तए अहारिहं पायच्छित्तं पडिवज्जित्तए जत्थेवणो आयरियउवज्झायं पासेज्ज बहुस्सुय बहुआगमं तत्थेव संभोइय उवइझाय आयरिय पासेज्ज बहुस्सुयं बहुआगमं कप्पइ से तस्संतिए जाव पडि वज्जित्ता ।१। जत्थेणो संभोय आयरियउवज्झायं पासेज्ज तत्थेव अण संभोइय आयरिय उवज्झायं पासेज्ज तत्थेव बहुस्स आगमं तस्सतियं जाव पडिवज्जित्तए ।६। जत्थेव णो अण्णसंभोइय आयरिय उवज्झायं पासेज्ज तत्थवे सावयं पासेज्ज बहुसुअं तस्संतिए आलोयत्तए ॥४॥ जत्थेव णो सावयं जत्थेव सार विह जत्थेव णयेतत्थेव पच्छा कडं जाव आलो० ।५।

जत्थेव णो पच्छा०। तत्थे समभावियाइं चेइयाइ पासिज्ज जाव कप्पइ जत्थेवणो समभावियाइं पसिज्ज तत्थेव गमेणगरस्स वाहिं पाइणाभिमुहस्स वा उदीणाभिमुहस्स वा ट्ठिचा अलोइज्जा जाव पडिवजिज्जा एवं जंबू जहाविवए-हारुद्देसएपण्णत्तं तहा करिज्जा णोय रपासंडि एसु रंजिज्जा।

निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च स्वपक्षपरपक्षयोरालोचना व्यवहार-कल्पे तथा च व्यवहारसूत्रम् उ० ५।

जे निग्गंथानिग्गंथीउयंसंभोइया सियाणे एहं कप्पइ अण्णमण्णं कप्पई अणमणहस्स अंतिए आलोइत्तए अथिय इत्थ केइ आलोयणा रिहे कप्पति से तस्संतिए आलोए तएणजिया इत्थं के इ अणो आलोयणारिहे एवण्हं कप्पइ अण्णमण्णसंतिए आलोएत्तए॥१९॥

व्य०५ उ० अस्य सूत्रस्य संबंधप्रतिपादनार्थमाह॥

थेरो अरिहो आलोयणाए आयारकप्पितोजोग्गो।
साय न होइ विवक्खे नेव सपरके अगीएसु।

स्थविरः पूर्व सूत्रे ऽभिहितः स च आलोचनाया अर्हः सोऽपि च योग्य आलोचनाया भवत्याचार कल्पिक आचारप्रकल्पा भिधानाध्ययन धारी। तत एवंसति सा आलोचना न विपक्षे नाऽपि सपक्षे अगीतेष्वगीतार्थेषु भवति। तत्र संयता संयतीनां विपक्षः संयत्यः संयतानां। सपक्षः संयता संयतीनां संयत्यः संयतीनां तत्र विपक्षे सपक्षे वा गीतार्थेष्वालोचनाप्रतिषेधार्थमधिकृतं सूत्रं व्याख्याय निर्ग्रन्थानिर्ग्रन्थ्यो वा संभोगिका स्युस्तेषां (नोण्हमिति) वाक्यालंकारे कल्प ते अन्योन्यस्य परस्परस्याऽतिके आलोचयितुमगीतार्थत्वात् अस्तिचेदत्र कश्चिदालोचनार्ह एवं सति न कल्पतोऽन्यान्यस्यांतिके आलो-चयितुमेष सूत्रसंक्षेपार्थः॥ सम्भोगविभागं सप्रपचम्प्रतिपाद्य॥

सांप्रतमालोचनाविधिमाह॥

आलोयणा सपक्खे, परपक्खे चउगुरुं च।
आणादी भिन्नकह दि, विराहणं दट्ठुण व भावसंबंधो॥

आलोचना सपक्षे दातव्या। तद्यथा।

निर्ग्रथो निर्ग्रथस्य पुरत आलोचयति। निर्ग्रथो निर्ग्रथ्याः पुरतो यदि पुरतो यदि पुनर्विपक्षआलोचयति। यथा निर्ग्रथे निर्ग्रन्थ्याः पुरतो निर्ग्रन्थी वा निर्ग्रन्थस्य तदा प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकं कित्वा-ज्ञादयश्च दोषा श्चशब्दै र्भिन्नक्रमः सचतथैवयोजितः कस्मादेवमत आह भिन्नकहादि इत्यादि च चतुर्थव्रतातिचारमालोचयंत्थाः संयत्या भिन्न कथादोषो भवति चतुर्थव्रतातिचारकथनतस्तस्थाः कदाचि दालोचनाधास्य भावभेदो भवतीत्यर्थः। आदिशब्दात् षष्ठी भूता सा यांचामिति कुर्यादिति परिग्रहः एवं सति शीलं विराहणं दट्ठुणं भावसंबंधो दृष्टिविकारेण मुखविकारेण वा स वा सा वा भावं दृष्ट्वा मामिच्छतीत्यभिप्रायं ज्ञात्वा संबंधो घटना स्यात् एतदेव व्याख्यानयति॥

मूलगुणेसु चउत्थे, विगडिज्जंते विहारणा हुज्जा।
नित्थक्कचिट्ठिमहुरा, गतो य भावं वियाणंति॥

मलगुणेष मध्ये चतुर्थे मूलगुणातिचारे विकथ्यमाने आलोच्यामाने विराधना शीलस्य भिन्नकथादिना प्रागुक्तस्वरूपेण भवति तथा निच्छक्का धृष्टा सती यांचां या कुर्यात् तथा दृष्टिरागतो मुखरागतोवा परस्य भावं विजानीते यथा मामेष एषा वा इच्छतीति ततो घटना स्यात् न केवलमेते विपक्षे आलोचनायां दोषः किंत्विमेऽपि तानेवाह॥

अप्पच्चयनिब्भया, पिल्लणया जईपगासणे दोसा।
वयणी वि होइ, गुम्मा, नियए दोसे पगासिंति॥
वंदत्ते वा उड्ढे वा, गच्छो तह लहुसगत्तणाण गणे।
विगडिंतपिं जलिउदुं, दट्ठूणुदाहकुवियन्न॥

यतेः संयत्याः पुरतः प्रकाशने आलोचनायामिमे दोषाः तत्था अप्रत्ययः किमेषा वराकी जानातीति तवाज्ञातो यत्किमपि सा प्रायश्चित्तं ददाति तत्र विश्वासाभावः। तथा भूयोऽप राधकरणे गुरुर्गरीयांसं दंडं दास्यतीति महत्याशंका संयतीनां तु पुरुषस्य न भयमिति निर्भयता तद्भावाच्च भूयोभूयोऽपराधकारण प्रवृत्तिस्तथा (पेल्लणयेति) यदि महत्प्रायश्चित्तं ददाति ततः संयतो ब्रूते न भवत्येतत्प्रायश्चित्तं किंत्विदमित्येवं प्रायश्चित्तस्य प्रेरणा। तथा व्रतिन्यपि यदि संयतस्य पुरत आलोचयति ततः सा निजकान् दोषान् प्रकाशयंती गम्या भवति यथा एकवारं तावदिदमाचरितं भूयोऽपि संप्रति मया सह स समाचर्यतां पश्चात्प्रायश्चित्त दास्यते इति द्वितीयगाथा संप्रदायात् व्याख्येया। यद्येवं तर्हि कथ पूर्वमार्यिकाः च्छेदश्रुतमधीयेरन् कथं चालोचनां दद्युस्तदुत्तरमाह।

ततो जाव अज्जरक्खिय, आगमववहारिणो वियाणत्ता।
न भविस्सति दोसो, तितो वायंती उच्छेदसुयं॥

यावदार्यरक्षितास्तावदागमव्यवहारिणोऽभूवन्ते चागम-व्यावहारबलेन विज्ञाय यथा एतस्याश्च्छेदश्रुतवाचनायां दोषो न भविष्यतीति सयतीमपि छेदश्रुतं वाचयंतिस्म।

आरेणागमरहिया, मा विद्दाहिं तितो नवाएंति।
तेण कहं कुव्वंतं, सोहितु अपाणमाणीतो॥

आर्यरक्षितादारत आगमरहितास्ततस्ते माच्छेदश्रुताध्ययनतः संयत्यो विद्रास्यंति विनङ्क्षयतीति हेतोश्छेदश्रुतानि संयतीर्न वाचयंतीति। अत्राह। तेन छेदश्रुताध्ययनाभावेन कथं ताः संयत्योऽजानानाः शोधिं कुर्वंतु। अत्राचार्य आह (ततो जाव अज्जरक्खियसठाणे पगासइ सुवणीतो। असतीए विवक्खंमिवि एमेव य होंति समणावि) यतः पूर्वमागमव्यवहारिणः स्युच्छेदश्रुतं च संयत्योऽधीयेरन् ततो यावदार्यरक्षितास्तावत् व्रतिन्याः स्वस्च्छाने स्वपक्षे संयतीनां प्रकाशने प्रकाशनामकार्षुः स्वपक्षाभावे विपक्षेऽप्यालोचितवंत्यः श्रमण्यः। एव मेव श्रमणा अपि भवंति ज्ञातव्याः। किमुक्तं भवति। श्रमणा अपि सपक्षे आलोचितवंतस्तद लाभे विपक्षेऽपि श्रमणीनां पर्श्वे इत्यर्थः दोषाभावात्। आगमव्यवहारिभिर्हि दोषाभावमवबुध्य छेदश्रुतवाचना संयतीनां दत्ता नान्येथति। आर्यरक्षितादारतः पुनः श्रमणानामेव समीपे आलोचयति श्रमण्योऽपि श्रमणानामागमव्यवहारच्छेदादत्रैव परमतमाशंक्य दूषयति॥

मेहुणवज्जं आरेण, केइ समणेसु ता पगासंति।
तंतु न जुज्जइ जम्हा, लहुसगदोसा सपक्खेवि॥

आर्यरक्षितादारतः श्रमणेषु श्रमणानां पार्श्वे ताः श्रमण्याः प्रकाशयंत्यालोचयंति मैथुनवर्ज्यं मैथुनं पुनः श्रमण्यः श्रमणी

नामेव सकाश आलोचयंति इति केचिद् व्याचक्षते तत्तु न युज्यते यस्मात् लघुस्वकदोषाः सपक्षेऽपि। किमुक्तं भवति। श्रमण्योऽपि स्वकलघुदोष-तस्तुच्छत्वरूपस्वकदोषतः परिस्राविल्वं कुर्युः परिभवं वा समुत्पादयेयुस्तस्मान्मैथुनमपि श्रमणानामेवांतिके विकटनीयं।

असती कडजोगी, पुण मुत्तूणं संकियाइं ठाणाइं ॥
आइण्णो धुवकम्मिय, तरुणी थेरस्स दिट्ठिपहे ॥१॥

आर्यरक्षितकालेऽपि यदि संयत्या मूलगुणापराध-आलोचयितव्यस्तर्हि संयत्याः सकाशे आलोच्यते। तस्याऽसति अभावं यः कृतयोगी कृतः सूत्रतोऽर्थतश्च छेदग्रंथधरः स्थविरस्तस्य समीपे आलोचयति नवरं शंकितानि स्थानानि वक्ष्यमाणानि शून्य गृहादीनि मुक्त्वा किंत्वाचीर्णे उचिते प्रदेशे आलोचयितव्यं यत्र ध्रुवकर्म्मिको दृष्टिपथे वर्तते दृष्ट्या पश्यति न तु शृणोति। तत्र जवनिकांतरिता आलोचयति। तरुणी थेरस्येत्येष तृतीयभंग उपात्तः। स च शेषभंगानां त्रयाणामप्युपलक्षणं। तं चेमे। स्थविरा स्थविरस्यालोचयति १ स्थविरा तरुणस्या-लोचयति २ तरुणी स्थविरस्यालोचयति ३ तरुणी तरुणस्य ४ यदुक्तं मुक्त्वा शंकितानि स्थानानि ॥

संप्रति तान्येवोपदर्शयति॥

सुण्णघरदेउलउज्जाण, रण्णपच्छाण्णुवस्सयस्संतो।
एयंविवज्जे ठायंति, तिण्णिचउरोहवा पंच ॥१॥

शून्यगृहं देवकुलं उद्यानमरण्यं प्रच्छन्नं च स्थानम् तथा उपाश्रयस्यांऽतर्मध्ये एतद्विवर्जे एतद्विरहिते प्रदेशे आलोचनानिमित्तं तिष्ठंति। ते च जघन्यतस्त्रया यदि वा चत्वारोऽथवा पंच ते च त्रिप्रभृतयो वक्ष्यमाणभंगकानुसारेण प्रतिपत्तव्याः भंगकानेवाह॥

थेरतरुणेसु भंगा, चउरो सव्वत्थपरिहरे दिट्ठिं।।
दोण्हंपुण तरुणाणं, थेरे थेरी यप्रचुरसं ॥१॥

स्थविरतरुणेषु भंगाश्चत्वारस्ते च प्रागेवोपदर्शिताः। स्थविरा स्थविरस्यालोचयंतीत्यादि॥ तत्र यदि जवनिकाया अवकाशो नास्ति ततः सर्वत्र चतुर्ष्वपि भंगेषु दृष्टिं परिहरेत्। भूमिगत दृष्टिका सति आलोचयेत् यथा आलोचनार्हः शृणोति तत्र चतुर्भंगे द्वयोः स्थविरः स्थविरा च प्रत्युरसमिति। प्रत्यासन्नौ सहायौ दीयेते। येन परस्परं तौ दृष्टिं न बध्नोतोनापि मुख विकारं कुरुतः। एवमस्मिन् चतुर्थे भंगे चत्वारो भवंति॥

थेरो पुण असहाओ, निग्गंथी थेरिया वि ससहाया।
सरिसवयं च विवज्जे, असती पंचमं कुज्जा ॥१॥

तृतीयभंगे पुनःस्थविरोऽसहायोऽपि भवतु। तरुण्यः पुनः स्थविरासहाया दीयते। द्वितीयभंगे निर्ग्रंथी स्थविराऽपि ससहाया कर्तव्या। तरुणस्याऽलोचनार्हस्य सहायोऽस्तु वा न वा कश्चि-द्दोषः। एवं तृतीये द्वितीये च भंगे त्रयो जना भवंति। तथा सदृशवयो नियमतः सहायानां विवर्जयेत् तद संभावे सदृशवया अपि भवेत्। तत्र प्रथमभंगे चतुर्थभंगे वा सदृशवयः सहायसभवे पंचमक्षुल्लकक्षुल्लकां वा षट्टकां कुर्यात्॥

ईसिं अण्णोयताविया, उ आलोचयए विवक्खंमि।
सरिपक्खे उकुड्डु, पंजलिचिट्ठोवणुण्णातो॥

विपक्षे श्रमणस्य समीपे श्रमणी आलोयति ईषत् अवनता ऊर्ध्वस्थिताः सदृशपक्षे पुनः श्रमणः श्रमणस्य पार्श्वे पुनरुक्कु-डुका। कुतप्रांजलि-रालोचयति। अथ सोऽर्शव्याधिपीडितस्ततो-ऽनुज्ञापनां कृत्वां अनुज्ञातः सन् निषद्यामुपविष्टमालोचयति॥

दिट्ठीए हों ति गुरुगा, सविकाराओ सरत्तिसा भणिया।
तस्स विवड्ढितरागे, तिगिच्छजयणाए कायव्वा॥

यो दृष्ट्या दृष्टिं बध्नाति तस्य दृष्टौ सविकारायां भवंति प्रायश्चित्ततथा चत्वारो गुरुकास्तत्र ये ते द्वितीयका दत्तास्य यदि एकतर पश्यति तत आलोचनातोऽपसारयंति यथा अपसर-तापसरत यूयं न किमप्यालोचनया प्रयोजनमिति। अथ सा निर्ग्रंथ। स्वभावत एवोरालशरीरा सविकारा दृष्टा अपसरेति भणिता सति अपसृता तथापि तस्याऽलोचनाचार्यस्य यदि तस्या उपरि विवर्द्धितो रागस्तर्हि तस्मिन् सति यतनया चिकित्सा कर्तव्या॥

तामेवयतनामाह॥

अण्णेहिं पगारिएहि, जाहो नियतेउं से न तीरति ऊ॥
घेत्तूणाभरणाइति, गच्छजयणाए कायव्वा॥

यदा अन्यैः प्रकारैस्तं भावं निवर्तयितुं न शक्नोति तदा तस्याः संयत्या आभरणानि वस्त्राणि गृहीत्वा यतनया चिकित्सा कर्तव्या॥

एतामेवाह॥

जारिसवएहि ठिया, तारिसएहि तमस्सती चरिया।
संभलिविणोयकेयण, वेलवणं चिहुरगंडेहिं॥

यादृशैः सचित्रैर्वस्त्रैः प्रावृतेः सा संयती उपविष्टा दृष्टा तादृशैर्वस्त्रैस्तमोऽधकारमस्यास्तीति तमस्वती रात्रिस्तस्यां तरुणसाधुर्वरितः प्रावृतः क्रियते ततः संभलीति दूती प्रेष्यते ततो विनावितृको नरविहीनो य ओको निवासो गृहमित्यर्थः। तत्र केतनं संकेतो दीयते दत्वा च स तत्र स्थितस्तावत्तिष्ठति। यावत्स तरुणसाधुः संयतीनेपथ्योपेत आगच्छति। तस्मिंश्चागते चिकुरेषु केशेषु गंडयोश्च विलेपनं क्रीडनं करोति तत्र यद्येता वता शुक्रनिपाततस्तिष्ठति ततः सुंदरं। अथ नोतर्हि संयत नेपथ्योऽपसार्यते प्रकारांतरमारभ्यते॥

तदेव प्रकारांतरमाह॥

अहवा वि सिद्धपुत्तिं, पुव्विं गमेऊण तीए सिबएहि
आवरियकालियाए, सुण्णागरादिसंमेलो॥

अथवेति प्रकारांतरद्योतने पूर्वं सिद्धपुत्रीं गमयित्वा तस्याः सयत्याः शिवायैरावृत्य कालिकायां कृष्णायां रात्रौ शून्यगृहा दिषु तथा सह तस्य मेलः संगमः कर्तव्यः। व्य०॥

सा चोलाचनाऽऽचार्य्याशिष्यभावे भवति तत्र च शिष्या चार्य्याणामियं मय्यादा सामाचारि पच्छित्तशब्दे॥

सम्प्रति यादृशा उत्सर्गत आलोचनार्हास्तानभिधित्सुराह॥ व्य०५ उ०॥

गीयत्था कयकरणा, पोढा परिणामिया य गंभीरा।
चिरदिक्खिया य बुड्ढा, जईगं आलोयणा जोगा॥

गीतार्थः सूत्रार्थतदुभयनिष्णातत्वात् कृतकरणा अनेक-वारमालोचनायां सहायीभवनात् प्रौढाः समर्थाः सूत्रतोऽर्थतश्च प्रायश्चित्तदाने पश्चात्कर्तुमशक्यत्वात् परिणामिकावाऽपरि-णामिका वा गंभीरामहत्यप्यालोचकस्य दोषे श्रुते अपरि-श्राविणश्चिरं दीक्षिताः प्रभूतकं प्रव्रजिता वृद्धाः श्रुतेन

पर्यायेण वयसा च महांत एवंभूता यतीनां साधूनामुपलक्षणमेतत् संयतीनां चालोचनायोग्याः ॥ व्य०उ०५ ॥ तथाच महानिशीथे।

भयवं कस्सा लोएज्जा, पच्छित्तं को वदिज्ज वा।
कस्स व पच्छित्तं देज्जा, आलोवेज्जा वा कहंगो ॥

लोयणं ताकेवलीणबहूसुवि। जोयणसएहिं गंतुणं सुद्धभावेहिं दिज्जए। चउनाणीणं तथा भावे एवं। ओहिमईसुजस्स्स विमलयरे तस्स तारतम्मेण दिज्जई। उमग्गपन्नविंतस्स उस्सग्गोपठियस्स य। उसग्गरयणोचेव सव्वभावं तरेहिणं ।१। उवसंतस्स दंतस्स संजयस्स तवस्सिणो। सुमिती गुत्तीपहाणस्स दढवीरितस्स असढभाविणो ।२। आलोएज्जा पडिच्छेज्जा-देज्जादाविज्जवा परं। अहन्निसंत दुद्दिट्ठं पायच्छित्तं अणुच्चरो ॥३॥

पंचा. वृ.१५ आचारवान् ज्ञानासेवाभ्यां ज्ञानादिपंच-प्रकाराचारयुक्तोऽयं हि गुणत्वेन श्रद्धेयवाक्यो भवति। तथा (आहारवत्ति) अवधारः आलोचकोक्तापराधानामवधारणा तद्वान्सहिसर्वापराधेषु यथावत् शुद्धिदानसमर्थो भवति तथा (ववहारत्ति) मतुब्लोपाद्व्यवहारवान् आगमश्रुताऽज्ञाधारणा जीतलक्षणपंचप्रकारव्यवहाराऽन्यतरयुक्तः व्यवहारवांश्च यथा वत् शुद्धिकरणसमर्थो भवतीति तथा (ओवील एत्ति) लज्जया अतिचारान् गोपायंतमुपदेशविशेषैरप व्रीडयति विमतलज्जां करोतीत्यपव्रीडकः अयं ह्यालोचकस्याऽत्यंतमुपकारको भवतीति अवधारादिपदत्रयस्य च कर्मधारयः कार्यः तथा (पकुव्वीति) आलोचिताऽतिचाराणां प्रायश्चित्तदानेन शुद्धिं प्रकर्षेण कारयतो त्येवंशील इत्येतदर्थस्य सामायिकस्य कुर्वधातोर्दर्शनात् प्रकुर्वी आचार वत्वादिगुणयुक्तोऽपि कश्चित् शुद्धिदान नाभ्युपग-च्छतीत्यतस्तद् व्यवच्छेदार्थ प्रकुर्वीत्युक्तं। चः समुच्चये। तथा (निज्जवत्ति) प्राकृतत्वान्निर्यापकोपपत्तेः प्रायश्चित्तस्य निर्वा-पकोऽयं हि तथा विधत्ते यथा साधुर्महदपि प्रायश्चित्तं वोढुं शक्नोत्यत एवायमिहमहोपकारीति तत्तथा अपायान् दुर्भिक्ष-दुर्बलत्वादिकानैहलौकिकानर्यान् पश्यति। अथवा दुर्लभ बोधिकत्वादिकान् पारलौकिकान् सातिचाराणां तान् दर्शयतीत्येवं शीलोऽपायदर्शी अयं चात एवाऽलोचकस्योपकारी तथा न परिश्रवति आलोचकोक्तमकृत्यमन्यस्मै न निवेदय तीत्येवं शीलोऽपरिश्रावी तदन्यो ह्यालोचकाणां लाघवकारी स्याच्चः समुच्चये। बोद्धव्यो ज्ञेय इति आलोचनाचार्य इति योगः ॥ पं०चू०।

तहपरहियम्मि जुत्तो, विसेसओ सुहुमभावकुसलमती।
भावाणुमाणवं तह, जोग्गो आलोयणपरिओ ॥१५॥

तथेति समुच्चये। परहिते परोपकारे युक्तः उद्युक्त उद्यत इत्यर्थः। तदन्यो हि परेषामवधारको भवति। तथा विशेषत आ-चार्यान्तरापेक्षया विशेषेण सूक्ष्मभावकुशलमतिः लोकशास्त्र-गतास्थूलार्थनिपुणबुद्धिः अत एव भावानुमानवान् परचेत-समिंगितादिभिर्निश्चायकः। अयं हि परभावानुसारेण शुद्धिदाने शक्तो भवति। तथेति समुच्चय योग्य उचित आलोचनाचार्यो विकटना गुरूक्तगुणकलाप शून्यो हि न शुद्धिकरणक्षम इति गाथा द्वयार्थः। पंचा० वृ०१५॥

तथा च स्थानांगे -- स्था०॥ ठा०८॥

(१८) आलोचनाया अष्टौ स्थानकाः दशस्थानकाश्च ॥

अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ आलोयणा पडिच्छि-त्तए। तं जहा। आयारवं आहारवं ववहा रवं उव्विलए पकु व्वए अपरिस्सावी णिज्जवए अवायदंसी ॥

अट्ठहीत्यादि। सुगमं। नवरं आयारवंति। ज्ञानदिपंच-प्रकाराचारवान् ज्ञानासेवनाभ्यामाहारवंति अवधारणावान् आलोचकेनालोच्यमनानाम-तीचाराणामिति आह च।

आयारवमायारं, पंचवि मुणाई जोय आयरइ।
आहारवमहारे, आलोइं तस्स तं सव्वंति ॥

ववहारवति आगमश्रुताज्ञाधारणजीतलक्षणानां पंचाना मुक्त-रूपाणां व्यवहाराणां ज्ञातेति (उव्वीलएति) अपव्रीडति विलज्जीकरोति यो लज्जया सम्यगनालोचयन्तं सर्वं यथा सम्यग्लोचयति तथाकरोतीत्यपव्रीडिकः अभिहितं च ॥

ववहारववहरं, आगममाइ उ सुणइ पंचविहं।
ओबीलुवगूहंतु, जह आलोए इत्तंसव्वंति ॥१॥

(पकुव्वएत्ति) आलोचिते सति यः शुद्धिं प्रकर्षेण कारयति संप्रकारीति भणितं च (आलोयश्यंमि सोहिं जो कारावेइ सो पकुव्वीओत्ति। अपरिस्सात्ति) न परिश्रवति नालोचकदोषा-नुपश्रुत्याऽन्यस्मै प्रतिपादयति य एवंशीलः सोऽपरिश्रावीति यदाह (जो अन्नस्स उ दोसे न कहेइ अपरिसाइ सो होइति।) (निज्जवएति) निर्यापयति तथा करोति यथा गुर्वपि प्रायश्चित्तं शिष्यो निर्वाहयतीति निर्यापक इति न्यगादि च (निज्जवओ तह कुणइनिव्वहेईजेण पच्छित्तंत्ति।) (अवायदंसित्ति) अपाययाननर्थान् चित्तभंगा-निर्वाहादीन् दुर्विक्षदौर्बल्यादिकृतान् पश्यतीत्येवंशीलः सम्यगनालोचनायां च दुर्ल्लभबोधिकत्वादीनपायान् शिष्यस्य दर्शयतीत्यपायदर्शीति भणितं च ॥

दुम्मिक्खदुब्बलाइ, इहलोएजाणए अवाएउ।
उदंसेइय परलोए, दुल्लहव्वोहित्तसंसारेत्ति ॥१॥

भ.१५ श.७ उ.। स्था.ठा.८।

दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोसं आलोयणं पडिच्छित्तए तंजहा आयारवं आहारवं जाव अवायदंसी पियधम्मे दढधम्मे। ठा०१०

अधिकमिह प्रियधर्माधर्म प्रियो दृढधर्माय आपद्यापि धर्मान्नचलतीति। आलोचितदोषाय प्रायश्चित्तं देयम्।

अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरहइ अत्तदोसं आलोए-त्तए। तं जहा। जाइ संपन्ने कुल संपन्ने विणयसंपन्ने नाणसंपन्ने दंसण संपन्ने चरितसंपन्ने खंते दंते।

टी.(अत्तदोसत्ति) आत्मापराधमिति जातिकुले मातापितृपक्षौ तत्सम्पन्नः प्रायोऽकृत्यन्न करोति कृत्वाऽपि पश्चातापा-दालोचयतीति तद् ग्रहणं यदाह॥

जाइकुलसंपन्नो, पायमकिच्चं न सेवइ किंचि।
आसेविउंचयच्छा, तग्गुणओसम्ममालोएत्ति॥

विनयसंपन्नः सुखनैवालोचयति तथा ज्ञानसंपन्नो दोषविपाक प्रायश्चित्तं वावगच्छति यतो ॥

वा विन्नाणेउ संपन्नो, दोसविवागं वियाणिओ घोरं ।
आलोएइ सुहं विय, पावच्छित्तं च अवगच्छेत्ति ॥१॥

दर्शनसपन्नः शुद्धोऽहमिति एव श्रद्धते चरित्रसंपन्नो भूयस्तमपराधं न करोति सम्यगालोचयति प्रायश्चित्तं च निर्वाहयति इति उक्तं च ।

सुद्धो तहत्ति सम्मं, सद्दहई दंसणेण संपन्नो ।
चरणेणउ संपन्नो, न कुणइ भुज्जो तमवराहंति ॥१॥

क्षान्तः परुष भणितोऽप्याचार्यार्न रुष्यतीति । आह च ॥
खंतो आपरिएहिं, फरुसं भणिओ वि न विरूसेति ।

दान्तः प्रायश्चित्त दत्तं वोढुं समर्थो भवतीति । आह च ।
दंतो समत्थो वोढुं पच्छित्तं जमिह दिज्जए तस्सत्ति ॥

स्था०८ ठा०॥

दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोसं आलोइ-त्तए । तं जहा । जाइसंपन्ने कुलसंपन्ने एवं जहा अट्ठट्ठाणे खंते दंते अमाईअपच्छाणुतावी ॥ ठा०१०

(एवंति) अनेन क्रमेण यथा अष्टस्थानके तथेदं सूत्र पठ-नीयमित्यर्थः कियद्दूरं यावत् (खंतेदंतेत्ति) पदे तथाहि ॥

विणयसंपण्णे नाणसंपण्णे दंसणसंपण्णे चरणसंपण्णेत्ति ।
अमाईअ पच्छाणुतावीति ॥

पदद्वयमिहाधिकं प्रकटं च नवर ग्रन्थान्तरोक्तं तत्स्वरूपमिदम् ॥

नोपलिउं चेमाई, अपच्छयावो न परितप्पेति।

(१९) सामुदानिकाऽतिचारालोचना ।

ओघनिर्युक्तौ सामुदानिकानतिचारानधिकृत्य इदानीं सामुदानिकानतिचारान् आलोचयति यदि व्याक्षेपादिरहितो गुरुर्भवति अथ व्याक्षिप्तो भवति । तदा नालोचयतीत्येतदेवाह ।

विक्खित्तपराहुते, विप्पमत्ते माकयाइआलोए ।
आहारं च करेंतो, णीहारं वा जइ करेइ ॥७८२॥

व्याक्षिप्तो धर्मकथादिना स्वाध्यायेनापराण्हुतो पराङ्मुखः अन्यतोऽभिमुखः प्रमत्तः विकथयति एवं विधे गुरुन् कदाचिदालोचयेत् तथा आहारं कुर्वति सति तथा नीहारं वा यदि करोति ततो नालोचयति । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह ।

दारगाहा ।

कहणाईवक्खित्ते, विगहाए पमत्ते अन्नओ ।
वमुहो अतरमकाए, वाणीहारे सकमरणं वा ॥७८३॥

धर्मकथादिना वा प्रमत्तः अन्यतोऽभिमुखो वा भवति भुंजतेऽपि वा नालोचनीयं किं कारणं (अंतरति) अंतरायं भवति यावदालोचनां शृणोति अकारकं वा शीतलं भवति यावदालोचनां वा शृणोति तथा नीहारमपि कुर्वतो नालोचनीयं किं कारणं यत् आशंकया साधुजनितया कायिकादिनिर्गच्छति अथ धारयति ततो वा मरणं भवति यस्मादेते दोषास्तस्मात् ।

अब्भुक्खित्ताउत्तं, उवसंतमुवट्ठियं च नाऊणं ।
अण्णोणचेत्तमहावी, आलोएत्ता सुसंजए ॥७८४॥

धर्म्मकथादिना व्याक्षिप्ते गुरौ आलोचयेत् आयुक्तमुपयोगतत्परं उपशांतमनाकुलगुरुं दृष्ट्वा उपस्थितमुद्यतं च ज्ञात्वा एवंविधं अनुज्ञाप्त मेधावी आलोचयेत् सुसंयुतः साधुः ।

इदानीमेतामेव गाथां व्याख्यानयन् भाष्यकृदाह ॥

कहणाई अवक्खित्ते, कोहाइ अणाउले तदुवउत्ते ।
संदिसहत्ति अणुन्ना, काउण विदिन्न मालोए ॥८५॥

धर्मकथादिना व्याक्षिप्तोक्रोधादिभिरनाकुले तदुपयुक्ते भिक्षा-लोचनोपयुक्ते (संदिसहति) अणुन्नं काऊण संदिसत आलोच-यामीत्येवं अनुज्ञां कृत्वा मार्गयित्वेत्यर्थः (विदिण्णत्ति) आचार्येण दत्तायामनुज्ञायां भणत इत्येवं लक्षणायां तत आलोचयेत् ।

तथा च पञ्चाशकेऽर्हद्वारविवरणायाह पंचा. वृ.१५

संविग्गोउव मादी, मइमं कप्पट्ठिओ अणासंसी ।
पण्णवणिज्जो सट्ठो, आणाइत्तो दुदुकडतावी ॥१२॥

तव्विहिसमूसुगो खलु, अभिग्गहासेवणदिलिंगजुत्तो ।
आलोयणापयाणे, जोगो भणितो जिणिंदेहिं ॥१३॥

व्या. संविग्नस्तु संसारभीरुरेवाऽलोचनाप्रदाने योग्यः इति योगः । तस्यैव दुष्करकरणाध्यवसायित्वात् दुष्करं चालोचनादानं यदाह (अविरायाचरारब्धनयदुश्चरियं कहे) तथा अमायी अशठः याहीहि न यथा यावत् दुष्कृतं कथयितुं शक्नोति तथा मतिमान् विद्वांस्तदन्या ह्यालोचनीयादिस्वरूपमेव नजानाति । तथा कल्पस्थितः स्थविर-जातसमाप्तकल्पादि व्यवस्थितादन्यस्य ह्यतीचारविषया जुगुप्तैव न स्यात् यथा अनाशंसी आचार्या-द्याराधभाषारहितः सांसारिकफलान-पेक्षो वा । आशंसिनो हि न समग्रातिचारालोचना संभवत्याशंसाया एवातिचारत्वात् । तथा प्रज्ञापनीयः सुखावबोध्यस्तदन्यो हि स्वाग्रहादकृत्यविषया-न्निवर्तयितुं न शक्यते तथा श्राद्धः श्रद्धालुः स हि गुरूक्तां शुद्धिं श्रद्धते । तथा आज्ञा वान् आप्तोपदेशवर्त्ती सहि प्रायोऽकृत्यं न करोत्येव तथा दुकृतेनातिचारासेवनेन तप्यते । अनुतापं करोत्येव शीलः दुष्कृततापी स एव तदालोचयितुं शक्नोतीति । तथा तद्विधिसमुत्सुकः खल्वालोचनाकल्पनालस एव स हि तद्विधिं प्रयत्नेन परिहरति । तथा अभिग्रहासेवनादिभिर्द्रव्यादिनियमविधानविधायनानुमोदनप्रभृति-लिंगैरालोचनायोग्यतालक्षणैर्युतो युक्तोयः स तथा । आलोचनाप्रदाने प्रतीते योग्योऽर्हो भणित उक्तोजिनेद्रैस्तीर्थकरैरिति गाथाद्वयार्थः । ओघ.॥

किमेतावन्त एव करणीययोगा आहोस्विदन्येऽपि सन्तीत्याह ।

जं चन्नं करणिज्जं, जेयणो हत्थसयवाहिगयारियं ।
अविगडयम्मि अशुद्धो, आलोयंतो तयं सुद्धो ॥७॥

यच्च पूर्वोक्तकरणीयव्यापारेभ्योऽन्यद्यत्तत्करणीयं क्षेत्रप्रतिलेखना-स्थण्डिल्यान्वेषणशैक्षनिष्क्रमणाचार्य्यसंलेखना द्विहस्तशताद्बहिराचरितं तस्मिन्पूर्वोक्ते च करणीययोगनिवहे अविकटिते गुरोरप्रकाशितेऽ-नालोचिते अशुद्धः समित्याद्यतिचारलेशवान् आलोचयंस्तं करणीययोगनिवहं शुद्धः आलोचनाख्यप्रायश्चित्तेन समित्याद्यतिचार-लेशस्य निवर्त्तनाद्बस्तशताभ्यन्तराचरितं किञ्चित्प्रश्रवणादि-कमालोच्यते । किंचिच्च खेलसंधानजल्पनिवसनोत्थानविजृंभणाकुञ्चन प्रसारणोच्छासनिः श्वासचेष्टादिकन्नालोच्यते ॥ अत्राह शिष्यः । करणीय योगेष्वाहारादिग्रहणाद्येषु यथोक्तविधिना कृतेष्वपि यद्या-

लोचनाप्रायश्चित्तयोग्यता भवति । तर्हि न किमपि कर्तव्यं व्रतमादाय प्रथममेव सर्व्वरप्यनशनङ्कार्य्यं । गुरुराह । तन्न । एवं सति तीर्थोच्छेदः स्यात् । कः केन प्रतिबोध इष्यते । किञ्च न खलु मालिन्याऽशंकया वस्त्राणि न परिधीयन्ते । अपरिधानेहिं विवस्त्रं तथा सर्वेषांपशुरूपता-पत्तिस्ततः परिधीयंत एव । जातमालिन्यानि च जलेन प्रक्षाल्य निर्मलीक्रियन्ते । एवं चारित्रमपि करणीययोगकरणे संजातातिचारले-शमलं आलोच-नाप्रायश्चित्तजलेन विशोध्य निर्मलीकार्य्यं ॥

अतिचारलेशवशतोऽपि तच्छुद्धये भवत्यालोचना परं निर-तिचारस्य किमित्याह ।

कारणविणिग्गयस्सय, सगणाउपरगणागयस्स विय ।
उवसंपयाविहारे अ, आलोयणनिरयास्स ॥९॥

टीका । कारणेनाऽशिवदुर्भिक्षराजादिप्रत्यनीकत्व श्लानोत्तमार्थविराधनागुर्व्वादेशाद्विनिर्गतस्य निरतिचारस्याऽथ विराधि-तसमितिगुप्तिकस्याऽप्यालोचना भवति । सा च द्विधा । ओघतो विभागतश्च । तत्र यः कारणविनिर्गतः पक्षाभ्यन्तरे समागच्छति । आगतमात्रश्चैर्य्यापथिकीम्प्रतिक्रम्य समुद्देशवेलाया अर्वागेवा-ऽलोचर्यात । तस्याऽप्योघालोचनामात्र भवति ॥ यथा ॥

अप्पा मूलगुणा सुविराहणा, अप्पा उत्तरगुणेसु ।
अप्पा पासत्थाइसु, दाणगह संपउगोहा ॥

अल्प शब्दोऽभाववाचीतिन मूलगुणेषु विराधना अल्पा न कदाचिदुत्तरगुणेपवप्यल्पा न काचित्पार्श्वस्थावसन्नादिषु दानग्रहाभ्यां संप्रयोगः सम्पर्कः सोऽप्यल्पः । सोऽपिनासीदित्यर्थः इयमोघालोचना । यस्तु पक्षाभ्यन्तरागतोऽपि समुपदेशानन्तरमालोचयति । यावत्प-क्षात्परतः समागतः समुद्देशादर्वागप्यालोचयति । तयोर्निरतिचारयोरपि विभागालोचना विशेषालोचना सुव्यक्ता । निः शेषनिजाऽनुष्ठित-निवेदनरूपा । वस्तुतक्षशिलायां धर्म्मचक्रसय मथुरायां स्तूपस्य पुरुकायां जीवत्स्वामिप्रतिमायाः तीर्थकृज्जन्मनिः क्रमणज्ञाननिर्वाणभूमीना-मयोध्यादीनां दर्शनार्थं स्वजनगोकुलविवाहादि संखंडिकाप्रेक्षार्थं यत्र विशिष्टाहारोपधी लभ्येति । तत्र लिप्सया रम्यदेशदिदृक्षयादिना चागुर्वनादेशा-द्विनिर्गतोऽकारणविनिर्गतस्तस्य साऽतिचारत्वेन वृहत्तरप्राय-श्चित्तशोध्यत्वान्नालोचनामात्रेण शुद्धिः । तथा स्वगणा-त्सांभोगिकरूपादे कमंडली भोजिनः उभयतोऽपि संविग्ना संविग्नरूपादागतस्याऽपि चनिरतिचारस्य उपसंपयत्ति उप-संपद्यमानस्य सा चोपसंपत्पचधा । श्रुतग्रहणायान्यमाचार्य्य-मुपसम्पद्यमानस्य श्रुतोपसंपत् ३ मार्गेव्रजतोममयौष्माकी-निश्रेतिमार्गोपसंपत् ४ विनयं कर्तु गच्छांतरमुपसंपद्यमानस्य विनयोपसंपद् ५ भाष्यकृताऽप्युक्तं ॥

उपसंपयपंचविहा, सुय सुहदुक्खे यखित्तमग्गे य । विण-उपसंपयाविविय, पंचविहा होइ नायव्वा ॥

एतासामन्यतरामुपसंपदं प्रथममाददानस्य विभागालोचना भवति । विहारत्ति । विहारे कृते निरतिचारस्याऽप्यालोचना भवति । अयंभावः । एकाहात्पक्षाद्वर्षाद्वा यदा संभोगिकाः स्पर्द्धकपतयो गीतार्थाचार्य्या मिलन्ति । तदा निरतिचारेऽप्यन्योन्यस्य विहारालोचनां स्वस्वविहारक्रमानुष्ठितप्रकाशरूपां ददतीति ॥ जीत० ॥

(२०) आलोचयित्रा एतानि वर्जनीयानि ॥

णट्ठं चलं भासं भूयं तह ढंढुरं च वज्जेज्जा ॥
आलोएज्जा सुविहिओ, हत्थं मत्तं च वावारं ॥८६॥

नृत्यन्नाऽलोचयति । चलँश्च नाऽलोचयति । अङ्गानि चालय-न्नालोचयति । तथा गृहस्थभाषया नालोचयति । किं तर्हि संयतभाषया आलोचनीयमिति । तद्यथा । ''मुयारियाओ '' इत्येवमादि, तथा आलोचयन् केन स्वरेण नालोचयति मिणि मिणेण तथा ढड्ढरेण च स्वरेण उच्चैर्नालोचयति । एवं विधं स्वरं वर्जयेत् । किम्पुनरसावालोचयतीत्येतदाह ॥

आलोचयेत्सुविहितः हस्तमुदकस्निग्धं तथामात्रकं गृहस्थसत्कं कटच्छुकादि उदकाद्रार्दि तथा गृहस्थया कृतमव्यापारकुर्व्वता तदेतच्चालोचयति । इदानीमेनामेव गाथां व्याख्यानयन्नाह ॥

करपायस्समुह, सीसत्थि उट्ठमाईहिण विण्णाम ॥
चलणं हत्थसरीरे, बलणं काए भूयभावे य ॥८७॥

करस्य तथा पादस्य भ्रुवश्शिरसः अक्ष्णः ओष्ठस्य चैव-मादीनामङ्गानां सविकारं चलनं नर्तितं नाम तच्च नर्तितं कुर्व्वन्ना लोचयति । चलनं हस्तस्य शरीरस्य कुर्व्वन्नालोचयति । तथा चलनं कायस्य करोति मोटनं कुर्व्वन्नालोचयति तथा भावतश्चलनं अन्यथा गृहीतमन्यथा आलोचयति ॥

अडवियहुज्ज गारत्थिय, भासा उवज्जए भूयढड्ढरं च सरं ।
आलोएवाचारं, संसट्ठियकरमतो ॥८८॥

आलोचयेत् गृहस्थभाषया न आलोचयति यदुत (लंगणीउ लट्ठाउ मंडलका लट्ठा) इत्येवमादि किन्तु संयतभाषया आलोचनीयं (मुयारियाउ) इत्येवमादि मूकस्वरे मनाक् ढड्ढर च महान्तं स्वरं वर्जयित्वाऽलोचयति । व्यापारं गृहस्थाः संबन्धिनं तथा संसृष्ट उदकार्द्रादि इतरं असंसृष्टं किं तत्करं संसृष्टं असंसृष्टं च उदकेन तछा मात्रकं गृहस्थसत्कं डेलिकादि उद कसंसष्टं-चेति । एतदालोचयति ॥ ओघ० पं०व० ॥

तथाच स्थानाङ्गे छा.१ ।

दस आलोयणादोसा पण्णत्ता ।

आकंपइत्तु अणुमाणइत्तु, जं दिट्ठवायरं च सुहुमं वा ॥
च्छन्नं सदाउलगं, बहुजण अव्वत्ततस्सेवि ॥१॥

टीका । आकम्प्य आवर्ज्यत्यर्थः । यदुक्तं ॥

वेयावच्चाइहिं पुव्वं, आकपइत्तु आयरिए ॥
आलोएइ कहं मे, थोवं वियरेज्ज पच्छित्तंति ॥१॥

(अणुमाणइत्ता) अनुमानं कृत्वा किमयं मृदुदण्ड उतोग्रदण्ड इति ज्ञात्वेत्यर्थोऽयमभिप्रायोऽस्य । यद्ययं मृदुदण्डस्ततो दास्या-म्यालोचनामन्यथा नेति उक्तञ्च ॥

किं एस उग्गदंडो, मिउदंडो वत्तिएवमणुमाणो ।
अण्णेयविंतिच्छोवं, पच्छित्तं मज्झदेज्जाहिति ॥१॥

(जंदिट्ठति) यदेव दृष्टमाचार्य्यादिना दोषजातं तदेवालोचयति । नान्यद्दोषश्चायमाचार्य्यं रञ्जनमात्रपरत्वेनासंविग्रत्वा दस्येति । उक्तञ्च ॥

दिट्ठाव जेपरेणं, दोसावियडेयं तेब्बियण णण्णे ॥
सोहिमया जाणंतु, वएसो पयावदोसोउत्ति ॥१॥

(वायारंवति) बादरमेवातिचारजातमालोचयति न सूक्ष्म मिति (सुहुमंवत्ति) सूक्ष्ममेव वातिचारमालोचयति । यः किल सूक्ष्ममालोचयति स कथ बादरं संतं नालोचयत्येव रूपं भाव-सम्पादनायाचार्य्यस्येति । आह च ।

वायरवद्दुवण्हे, जो आलोएइ सुहुमनालोए ॥

अहवा सुहमालोए वरमणंतोउएवं तु ॥१॥
जो सुहमे आलोए, सो किह नालोय बायरे दोसेति ॥

(छन्नत्ति) प्रच्छन्नमालोचयति यथात्मनैव शृणोति नाचार्य्य भणितं (छण्णतह आलोए जह नवर अप्पणा सुणइत्ति) (सद्दाउलयत्ति) शब्देनाऽकुलं शब्दाकुलं वृहच्छब्देनालोचयति । यथान्येऽप्यगीतार्थास्तच्छृण्वन्तीत्यभाणि च । (सद्दा-उलवट्टेणं सद्देणालोय जह्व अगियाविवोहेत्ति बहुजणंति) बहवो जना आलोचनाचार्य्या यस्मिन्नालोचने तद्बहुजनं । अयमभिप्रायः ।

एगस्सालोइत्ता जो, आलोएसणोवि अण्णस्स ।
ते चेवय अवराहे, तं होई बहुजणं नामोत्ति ॥१॥

(अव्वत्तेति) अव्यक्तस्याऽगीतार्थस्य गुरोः सकाशे यदालो चनं तत्तत्सबन्धादव्यक्तमुच्यते । उक्तञ्च । (जो य अगीयत्थस्स आलोए तं तु होइ अव्वत्तमिति तस्स विति) ये दोषा आलोचयि-तव्यास्तत्सेवी यो गुरुस्तस्य पुरतो यदालो चनं स तत्से-विलक्षणमालो-चनादोषस्तत्र चाऽयमभिप्रायः आलोचयितुः ॥

जह एसो सत्तुल्लो, नो दाही गुरुगमवे पच्छित्त ॥
इय-जो किलिट्ठचित्ता, दिण्णा आलोयणा तेणंति ॥

भ० श० २५ उ० ७ । ध० अ० ध० २ । पं० चू ॥

दस दोसविप्पमुक्कं, तम्हा सव्वं अगहमाणेणं । किंपि कयमकज्जं, तं जहवत्तं कहेयव्व ॥३२॥ द० प० ॥

आलोचनायाम्परुषवचने दोषा (ववहार) शब्दे ॥
कयम्पुनरात्मनः शोधिजातमप्यालोचयेदित्याह ॥

जल बालो जंपंती, कज्जमकज्जं च उज्जयं भणति ।
तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुक्कोउ ॥४७॥

व्याख्या । यथा यद्बालः शिशुर्जल्पन्भाषमाणः विवक्षितमिति गम्यते । कार्यमकार्यं वा विधेयमविधेयं वा निर्विशेष मृजुकं अ वक्रमयन् गोपायन्नित्यर्थः । भणत्यभिधत्ते मात्रादिक प्रतीतमित्यालोचनीयाऽपराधं तच्छा तद्बालवद्वक्तव्यमवक्तव्यं वाऽलोचयेत् गुरोर्निवेदयेत् । मायामदविप्रमुक्तस्तु शठता गर्व्वरहित एव मायामदयुक्तो हि न सम्यगालोचयितुं शक्नोतीत्यतस्तद्रहिते इत्युक्तम् । व्य० उ० ४ । १० । पंचा वृ० १५ आलोचनाविधिः ॥

एत्थं पुण एसविही, अरिहो अरिहम्मि दलयति कमेण ।
आसेवणादिणा खलु सम्मं दुव्वादि सुद्धीए ॥८॥

व्याख्या । अत्रालोचनायां पुनः शब्दस्य चैवं संबंधो विधिनाऽलोचना देया । अत्र पुनः एषोऽयं वक्ष्यमाणो विधिः कल्पस्तद्यच्छा । अर्ह आलोचनादानोचितः । तथा अर्हे आलोचनादानयोग्य गुरौ विषय भूते (दलय इत्ति) ददाति प्रयच्छति तथा क्रमेणाऽनुपूर्व्वेण किं विवेनेत्याह । आसेवनादिना खलु प्रतिषेवाप्रभृतिनैव आदिशब्दादालोचनाक्रमग्रहः । तथा सम्यग्यथावत् आकुट्टिकादिभावप्रकाशनतः ॥

तथा द्रव्यादिशुद्धौ द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धौ सत्यां प्रशस्तेषु द्रव्यादिष्वित्यर्थः ॥

अथ सम्यगिति यदुक्तन्तत्राह ॥

तह आउट्टियदप्पओ, कप्पमायप्पुवजयणाए ॥
कज्जे वा जयणाए, जहट्ठियं सव्वमालोए ॥१८॥

व्याख्या । तथेति शब्दः समुच्चये । यथाक्रममालोचनाङ्गमेवमाकुट्या-दिकृतत्वमपीत्येतदर्थः । आकुट्टिकोपेत्यकरणं दर्प्पो वल्गनादिः । प्रमादा मद्यादिस्मृति भ्रंशादिर्वा एषां द्वन्द्वोऽतस्तेभ्यस्तत आकुट्टिकादर्पप्रमा-दतस्तया कल्पतो वाऽशिवादिपुष्टालम्बनतो वा कल्पश्च यतनादिविषय इत्यत आह । यतनया यथाशक्तिसंयमरक्षारूपया कार्य्ये वा प्रयोजने वा संभ्रमहेतोः प्रदीपनकादावयतनयाऽनापेक्षितसारेतरविभाग तया यदासवित तदिति गम्यं यथास्थितं यथावृत्तं सर्वं समस्तमकृत्यमा-लोचयेत् । गुरुभ्यो निवेदयेच्छुद्धिकाम इति गाथार्थः ॥१०॥ पंचा० १५ वृ० ॥

(२१) सम्यगाऽलोचनादाने किं लिङ्गम् ॥

सम्यगालोचनादाने किम्पुलिंङ्ग मित्याह ॥ पंचा० वृ० १५

आलोयणासुदाणे, लिंगमिणे बिंति मुणियसमयत्था ।
पच्छित्तकरणमुचितं, अहकरणयं चेव दोसाणं ॥४८॥

व्याख्या । आलोचनासु दाने सम्यगालोचनायां लिंगं चिन्हमिदं वक्ष्यमाणं ब्रुवते आहुः । मुणियसमयत्था ज्ञातसिद्धांतार्थाः प्रायश्चित्तकरणं विशुद्धिविशेषासेवनमुचितं योग्यं गुरूपदेशानुसारि तथा अकरणकमे-वाविधानकमक चैवेत्यवधारणे दोषाणामालोचिता-पराधानामिति गाथार्थः ॥

कच्छमुनरालोचनादानं शुद्धिकरणं भवतीत्याह ।
इयभावपहाणाणं, आणाए सुट्ठियाण हों ति इमं ॥
गुणट्ठाणसुद्धिजनगं, सेतं तु विवज्जय फलंति ॥४९॥

व्याख्या । इत्येवमुक्तनीत्या भावप्रधानानां संवेगसाराणां तथा आज्ञायामात्रोपदेशे सुस्च्छितानां सुष्ठु व्यवस्थितानां भवति स्यात् इदमालोचनादानं गुणस्थानशुद्धिजनकं प्रमत्तादिगुण-विशेषनिर्मलताधायकं शेष तूक्तादन्यत्पुनर्विपर्य्ययफलं गुणस्थानका शुद्धिजनकमिति शब्दः समाप्तावि ति गाथार्थः ॥

तथाच महानिशीथे अ० १॥

खंता दंता विमुत्ता य, जिइंदी सव्वभासिणो ॥
छक्कायसमारंभाओ, विरत्ते तिविहेणओ ॥८९॥
तिदंडा सव्वसंवरिया, इत्थिकहासंगवज्जिया ॥
इत्थिसंलावनिरया भीय, अंगोवंगनिरक्खणा ॥९०॥
निम्ममत्ता सरीरेवि, अप्पडिबद्धा महायसा ॥
भीया इत्थित्थिगब्भ, सहीणं बहुदुक्खाओभावओए ।९१।
तहातो परिसेण, भावेणं दायव्वा आलोयणा ॥
पच्छित्तं पिव कायव्वं, तहा जहा चेव एहिंकयं ॥९२॥
न पुणो तहा आलोएयव्वं, मायाडंभेण केणई ॥
जह आलोयणं चेव, संसारं वुड्ढीभवे ॥९३॥
अणंतेणाइकालाओ, अत्तकम्मेहिं दुम्मइ ।
बहुविकप्पकल्लोले, आलोए तेवी अहोगए ॥९४॥
गोयम ! केसिं विना माई, साहिमोतं निबोधय ॥
जेमालोयणपच्छित्ते, भावदोसिक्कलुसिए ॥९५॥
ससल्ले घोरमहं दुक्खं, दुरिहियासंसुद्धसहं ॥
अणुहवंति चिट्ठति, पावकम्मे नराहमे ॥९६॥
गुरुगा संजम नाम, साहू निद्वंद्वसे तहा ॥
दिट्ठिवायाकुसीले य, मणकुसीले तहेव य ॥९७॥
सुहुमालोयगे तहय, परवंचयसा लोयगे तह ॥

किं वा लोयगा तहयण, किंवा लोयगे तहा ॥९८॥
अकयालोयणे चेव, जणरंजवणे तहा ॥
नाहं काहामि पच्छित्तं, छम्मासा लोयममेव य ॥९९॥
मायाडंभप वंचीय, पुरकडतववरणकहो ॥
पच्छित्तं मे किंचि, न कायालोयणुच्चरे ॥१००॥
आसणरलोयणक्खाइं, लहुं पच्छित्तजायगो ॥
अम्हाणा लोइयं चेट्ठे, मुहबंधालोयगे तहा ॥१०१॥
गुरुपच्छित्ताहमसक्केय, गिलाणालंबणं कहे ॥
अण्डालोयगे साहू, सुणासुण्णि तहेव य ॥१०२॥
निच्छिन्ने वियपच्छित्ते, न काहं वुड्ढिसायगे ॥
रंजवणमेत्तलोगाणं, वाया पच्छित्ते तहा ॥१०३॥
पडिवज्जणपच्छित्ते, चिरयालए वेसगे तहा।
अणुणिट्ठियपायच्छित्ते, अण्णभणियण्णहायरे तहा ।१०४।
आउहीयमहापावे, कंदप्पादप्पे तहा।
अजयणासेवणे तहय, सया असुयपच्छित्ते तहा ।१०५।
दिट्ठयोच्छयपायच्छित्ते, सयं पच्छित्तकप्पगे।
एवं इयं इच्छयपच्छित्तं, पुव्वालोइयमणुस्सरे ॥१०६॥
जाइमयसंकिए चेव, कुलमदसंकिए तहा।
जाइकुलोभयमयासंके, सुत्तलाभिस्सिरि संकीयए तंही १०७।
तवोमया संकिएचेव, पडिबासयसंकिए तहा।
सक्कारमयलुद्धे य, गारवसंदूसिए तहा ॥१०८॥
अपुज्जो वा विहंजमे, एगजंमेव चिंतगे।
पाविणंपि पावतरे, सकलुसचित्तालोयगे ॥१०९॥
परकहावगे चेव, अविणयालोयगे तहा।
अदिहीयालोयगे साहू, एबमादी दुरप्पणो ॥११०॥
अणंतेणाइकालेणं, गोयमा ! अत्तदुक्खिया।
अहो अहो जावसत्त, मियं भावदोसेक्क ओगए ॥१११॥
गोयम ! णंते चिट्ठंति, जे अण्णादिए ससल्लिए।
नियमासदोससल्लाणं, भुज्जंते विरसं फलं ॥११२॥
चिट्ठइस्संति अज्जवि, तेणं सल्लेण सल्लिए।
अणंतंपि अणागयं, कालं तम्हा सल्लं न धारएण्णं मुणित्ति ॥११३॥

(२२) कृतानां कर्मणां क्रमत आलोचना ॥

आलोचनाक्रमश्च।

ते य पडिसेवणाए, अणुलोमा होंति वियडणाएय।
पडिसेववियडणाए, एत्थ चउरो भवे भंगा ॥८१॥

तांश्चातिचारान्प्रतिसेवनानुलोमेन यथैव प्रतिसेवितास्ते-नैवानुक्रमेण कदाचिच्चिन्तयति॥ तथा (वियडणाएत्ति) विकटना आलोचना तस्य च अनुलोमा एव चिंतयति एतदुक्तम्भवति। पढमं लहुओ दोसो पडिसेविउ पुणोवड्ढो वड्ढतरो चिंतई। एवमेव ततश्च प्रतिसेवनायां अनुकूलमालोचना-यामपि अनुकूलमेव। यतः प्रथमं लघुको दोष आलोच्यते पुनर्वृहत्तरः पुनर्वृहत्तमः इति एष प्रथमो भंगकः। अन्नोपडिसेवणा अनुकूलो न उणवियडणा एतदुक्तंभवति।

आसिवियं पढमं वड्ढं पुणो लहुयं पुणोवड्ढं।
पुणो वड्ढयरं चिंतेइ ।०

एवमेव ततश्च प्रतिसेवनायाः। अनुकूडं। अनुकूलं नत्वालोचनाया यतस्तत्र प्रथमं लघुरालोच्यत। पुनर्वृहत्तरः पुन वृर्हत्तमः इति एष द्वितीयो भंगः। ''अन्नो पडिसेवणाएवि अणणुकूलो आलोयणाए पुण अणुकूलो,,। एतदुक्तं भवति। अट्ठवियट्ठापडिसेवणाएवि अणणुकूलो आलोयणाएवि अणणुकूलो। एतदुक्तम्भवति पढम वड्ढो पडिसेविओपुणो वड्ढायरो वितेति पुण जं जहा संभरइ पढमं वड्ढो पुणो लहुओ पुणो वड्ढो पुणो बहुयारो एवं अपडिवियडुं चिंते तस्स ण पडिसेवणाणुकूलो यणाणु कूलो एस चउत्थो एसो वज्जेयव्वो॥

इदानीममुमेवार्थं गाथार्द्धेनोपसंहरन्नाह।

(पडिसेववियडणा एय होइ इत्थपि चउभंगो) इदं व्याख्यातमेवेति॥ओघ०॥

तथा च पंचाशके वृ० १५॥

दुविहेण णुलोमेण, आसेवणवियडणाभिहाणेणं।
आसेवणाणुलोमं जं जह आसेवियं विपडे ॥१६॥
आलोयणाणुलोमं, गुगवराहे उपच्छओ वियडे।
पणगादिणा कमेण, जहजह पच्छित्तवुड्ढि ॥१७॥

व्याख्या। द्विविधेन द्विप्रकारेणानुलोभ्येन क्रमेण द्वै विध्यमे-वाह। आसेवना यदानुलोभ्यं तदासेवनमेव विकटनेन च यत्ताद्विकटनमेवानस्ते एवाभिधाने यस्य तत्तथा तेनासेवन विकटनाभिधानेनालोचनां ददातीति द्वारगाथासंबधिपदं संबंध-नीयं। तत्राद्यं स्वरूपत आह। आसेवनानुलोम्यमुक्त शद्वार्थं तदिति शेषः। यत्किं येन क्रमेणासेवितं यथा सिंचितं विकट-यत्यालोचयत्यालोचनाकारीति। आलोचनानुलोभ्यं पुन र्व्यक्त-शब्दार्थं तद्यदिति शेषः गुरुकापराद्यान्महातिचारान् तु शब्दः पुनरर्थः। स च योजित एव पच्छउत्ति प्राकृतत्वात्पश्चाद्य-थापराधानंतरं विकटयत्यालोचयति। कथमित्याह। पण गाइणत्ति। समयभाषत्वा-त्पंचकादिना पंचदशकप्रभृतिना क्रमेणानुपूर्व्या किमित्याहं।

यथा यथायनेयेन प्रकारेण प्रायश्चित्तवृद्धिर्विशुद्धिवर्द्धनं तथातथाय-द्विकटयतीति प्रकृतमिह च लघावचोरपंचकंनाम प्रायश्चित्तं गुरुके तु दशकं गुरुतरे तु पंचदशकमित्येवमादीति तुशब्दःपूरणार्थः। अत्र च गीतार्थ आलोचनानुलोम्येनैवालोचयति कारणं तु गीतार्थगम्यमितरस्त्वासेवना-तुलोभ्येनालोच ना तु लोभ्यानभिज्ञत्वा तस्य च कारणमतिचाराणां सुस्सर त्वमिति गाथाद्वयार्थः॥

संयतीनामालोचना। महानिशीथे अ० १॥

गोयम ! समणीणणो संखा जा उनिक्कलुसनीसल्ल-वीसुद्धशुनिम्मलवमणमाणसाउ अज्झप्पविसोहीए आलोय-त्ताणसुपरिफुडं। नीसकं निखिलं निरावं नियवं नियदुब-रियमाईयं सव्वंपिभावसल्लं अहारिहं तवो कम्मं पायच्छित्तं मणुचरित्ताणं निद्धोपपावकम्ममललेवकलंकाओ उप्पन्न-दिव्वपरकेवलनाणाओ महाणुभावाओ महाय।

साओ महासत्तसंपन्नाओ सुगणहियनामाधेयाओ अणंत-मसोक्खं मोक्खं पत्ताओ॥

कासिंच गोयमा नामे, पुन्नभागाण साहिमो ॥
जेसिंमालोयमाणीणं, उप्पणंसमणीणकेवलं ॥१॥
हाहाहापाकम्माणं, पावापावमती अहं ॥
पावं ठाणं वि पावयए, हाहाहादुट्ठिचिंतिमे ॥२॥
हाहा हाइच्छे भावं, मे ताविहजं मेउवट्ठियं ॥
तहावीणघोर वीरुग्गं, कट्ठंतवसंजमं धरं ॥३॥
अणंतपावरासीओ, संमिलियाओ जयाभवे ॥
तइयाइच्छित्तणं लद्धे, शुद्धं पावाण कम्मणा ॥४॥
एगपिंडी भूताणं, समुद्दयंतणुतो तह ॥
करेमि जह न पुणो, इत्थीहं होमि केवली ॥५॥
दिट्ठीए वि न खंडामि, सीलं हंसमणि केवली ॥
हाहामणेणमे किंपि, अट्टदुहट्टाचिंतियं ॥६॥
तमालोइत्तालहुं, सुद्धिंगिण्हेहं समणिकेवली ॥
दिठ्ठूणमझलावण्णं, रूवं कंतिदित्तिंसिरिं ॥७॥
माणरपयं गाहमाजं तु, खयमणसमणीय केवली ॥
वातमोत्तूण नो अन्नो, निच्छयं मह तणुच्छिवे ॥८॥
छक्कायं समारंभं, न करेहंसमणि केवली ॥
पोग्गलकरे कारुगुज्झतं णाहि जहणं तरे तहा ॥९॥
जणाणा एवि ण दंशेमि, सुसंगुत्तं गोवं गासमणी य केवली ॥
बहुभंवतरकोडीओ, घोरं गब्भपरंपरं ॥१०॥ परियट्टंतीए सुलद्धंमे, णाणचारीत्तसुंजुअं। माणुस्स जम्मं सुसंमत्तं, पादकम्म क्खयं करं ॥११॥ तासव्वभा वणीसल्ला, आलोएमी खणेखणे ॥ पायच्छित्तमणुट्ठामि, वीयंतं न समारभं ॥१२॥ जेणागछइपछित्तं, वायामणु साय कम्मुणा। पुढबिदगागणिवाऊ, हरियकायं तहे वय ॥१३॥ वीयकायसमारंभं, विति चउपंचिंदिया णया ॥ सुसाणंपि न मासेमि, समरक्खंपि अदिन्नयं ॥१४॥ न गिण्हंसि मणंतेवि, णपच्छं मणसावि मेहुणं ॥ परिग्गहं न काहामि, मूलुत्तरगुणरवलणं तहा ॥१५॥ मयभयकसायदंडेसु, गुत्तिसुमितिं दिएसु य। अठारसीलं गसहस्साहि ठियट्ठीतणू ॥१६॥ सज्झायज्झाणयोगेसु, अभिरमं समणीकेवली ॥ तेलोकलक्ख-णक्खंभ धम्मतित्थंकरेण जं ॥१७॥ तमहंलिंगंधरिण, भणिज्जइ विजंते निप्फिलियं ॥ मज्झोमझीय दोखंडा, फालिज्जामि तहेवय ॥१८॥ अहपक्खिप्यामि दिन्नग्गिं, अहवा छिजे जइसिरं ॥ तावीहं नियमवयभंगं, सील चारित्तखंडणं ॥१९॥ मणसा वी एक्कजं, मकएण कुण समणिकेवली ॥ खरुट्टगोणजाइसुं, सरागाहिंठिया अहं ॥२०॥ विक्कमं पि समायरियं, अणंते भवभवंतरे तमेव खरकम्ममह, पवज्जाए द्वियाकुणं ॥२१॥ घोरंध यारपायाला० जेणंणोणिहरं पुणो ॥ छंडियाणमाणुसं जंम्मं तवं च बहु दुक्ख भायणं ॥२२॥ अणिचं रवणविद्धंसी, बहुदंडं दोषसंकरं। तत्थवि इत्थीसंजाया, सयलत्तेलोक्कनिंदिया ॥२३॥

तहावि पावियं धम्मं, णिविग्घमणं तराइयं। ताहं त नं विराहेमि, पावदोसेण केणई ॥२४॥ सिंगाररागसविगारं, साहिलासं न विट्ठिमो। पसंताए विदिट्ठीण, मा तु धम्मोवएसगं ॥२५॥ अन्नं पुरिसं न निज्झा य, णालंवं समणिकेवली। तं तारिसं महापावं, काओ अक्कहणीय तं ॥२६॥ सल्लमविउपन्नं जह, दत्तालोयसमणि-के वली। पमादि अणंतसमणी उ, दानसुद्धीलोयणं। नीसल्लोकेवलं यप्पा, सिद्धा उ अणादीकालेण गोयमा ! खंता दंता व मुत्ताउ जिइंदिया उ सव्वभाणिए उ। छक्कायसमारंभा विरया तिविहेण उ। तिदंडा सव्वसंवुडा पुरिसकहासंगवज्जिया पुरिससंलवविरया उ पुरि-संगोबंगनिरक्खणा निममत्ताउ सरीरे अप्पडिबद्धा उ महायसा भीयत्थिगब्भवसहीणं बहुदुक्खाओ भवसरणओ तहा ताएरिसेणं भावेणं दायव्वा आलोयणा पायच्छित्तं पि कायव्वं ॥

तह जह एयाहिं समणिहिं कयं णउणं तह आलोएयव्वं। मायाडंभेण केणई जह आलोयमाणी णं पाव-कम्मवुड्ढीभवे अणंतेणा इकालेणंमायाउं तत्थ कम्मदोसेणं कवडा-लोयपकाउसमणी उ सल्लीउ आतिउ गयस्सरेणं छवियं पुढविंग या ॥३॥ छकासिंवगोयमा ! नामेसाहिमो तंति बोधयजाउ आलोयमाणि उ भावदोसेसु द्धुत्तरगपाव-क्कम्ममलपचलिया भवसंजमसीलगाणं णीसल्लतपसंसियं तं परमभावविसोहिए विणाकणद्धंपि नाभवे तो गोयमा ! केसिमित्थिणं चित्तविसोहिं सुनिम्मलाभवंतारं विमो होही जेण नीसल्लयाभावे छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं सुक्खंतिकेवि समणि उत हवि यसंरागभावं गाणालोयंतीणं च्छडंतिबहुविहवि कप्पकल्लोल-मालाओ किलगाहणं वियरं तंतेण लक्खिज्जा २५ दुखगाहमणसागरं ते कहमालोयणं दि तुं जासि चित्तं पि नोवसे सल्लंजो ताणमुद्धरए ॥२६॥ स वंदणीओखणे खणे। असणेहि पीयपुव्वेणं धम्म-सुद्धल्लसावियं। सीलंगगुणट्ठाणेसु उत्तमेसुं धरेइ जो। इ छीबहुबंधणमुक्क-गिहकलत्ता विचारगा। सुविसुद्धसुनिम्मलचित्तं णीसल्लं सोमहायशो दट्ठव्वो वंदणीओ य देविंदाणं सउत्तमो दीणत्थी सव्वपरिभूयं विरइट्ठाणो जो उत्तमे वरेणा लोएमि अहं समणी देक हं किंचि सा हुणि बहुदोसं न कहं समणी जं दिट्ठं सम-णिहिंतं कहं असायज्ज कहासमणि बहु आलंवणा कहा पमा।

या खावगा समणि पाविट्ठा बलमाडी कहा लोगविरुद्ध - कहा तह य परवएसा लोयणीसुयपच्छित्ता तहया जायादीमयसंकिया। सूसगारमीरुया चेव गारवत्तिपदूसिया तहा। एवमादि अणेगभवादोसवसल्लेहिं पूरियानिरंतरा अणतेणं कालसमएणं गोयमा ! अइक्कंतेणं अणंताउ समाणोओ बहुरवावसहंगया गोयमा ! अणं ताउ चिट्ठंति जाअणादी सल्लसल्लीया। भावदोसे कसेल्लेहिं भुज-माणीओ कटुबिरसं घोर गतरं फलं चिट्ठइस्संति अज्ञावि तेहि सल्लेहिं सल्लिया अणंतं पि अणागयं कालं तम्हा सल्लं सुसुहुमंपि समणी णो धारेज्ज रवणं त्तिवेमि ।

(२३) आलोचनायां दत्तायां न विरतिभंगः सद्दृष्टान्तः ॥

प्रालोचनायां दत्तायामपि विरतिभंगो न कश्णीयः । महानि-शीथे । अ० ७ ॥

पाणाइवाय विरइ, सेवफलया गिण्हिउण ताधीमं मरणावयं मिपत्ते मरेज्जविरइ न खंडिज्जा १ अलियवणस्स विरइ, सावज्जं सव्वमवि न भासिज्जा परदव्वहरण विरई, करेज्ज दिन्ने वि मालोयं २ घरणं दुद्धरवं भव्वयस्सकाउं *परिग्गहवायं ॥ राइभोयणविरइ, पंचिंदियनिग्गहं विहिणा ३ अन्ने* य कोइ माणा, एगदोसे य आलोयणं दाउं। पमाहारअहंकारे, गायट्ठे सव्वं पव्वतणे। जह तव संजमसज्झा यम, गाणमाइसुसुद्धिं भावेहिं उज्जमियव्वं गोयम ! विज्जुलयाचंच ले जीवे किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाउणं पुढविकायं विराहिज्जा कत्थगुंतुं समुज्झिही किं बहुणा गोयमा ! इत्च्छं दोउणं आलोयणं वाहिणंपाणिं तहिं जम्मे जो पिएकत्थ। च्छमुजिही किं बहुणा गोयमा ! एत्थं दाउणं आलोयणं उन्हववइ जालय जाइ फुसि उत्ता कत्थसुज्झिही किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाऊण आलोयणं वाउकायं उदिरिज्जा कत्थगँतु ससुज्झिहि किं बहुणा णं गोयमा ! एत्थम्दाउणम् आलोयण जोहरियतणँ कप्पांवाफरिसे कत्थमसुझिहि किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाऊणं आलोयणं अक्कमइ बीजकायं जो कच्छगंतो समुज्झिही किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाउणं आलोयं वियलं दीविति चउ-पंचिंदियपरिठावे जो कत्थ समुत्थही किं बहुणा गोयमा इत्थं दाउणं आलोयणं छक्काए जो तं न रक्खेज्जा। सुहुमे कत्च्छसमुज्झिही किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाउणं आलोयणं तसथावरो जो न रक्खे कत्थगंतु समुज्झिही आलोइयनींदियगरहिय ओविकयपायच्छित्त निसल्लो उत्तमठाणंमिठिउपुढवारंभं परिहरिज्जा । आलोइयनिंदिउगर-हियविकयपायच्छित्तनीसल्लो उत्तमठाणंमि ठिओजोइ ए मा फुसावेज्जा। आलोइयनिंदियगरहिओविकयपा यच्छित्त-संविग्गो उत्तमठाणमि ठिओमाविराहिज्जा अत्ताणं आलोइ-यनिंदियगराहिउग्गकयपायच्छित्तंसंविग्गेच्छिन्नं पि तणं हरियं असइमणगं मा फरिसे आलोइयनिंदियगर हियो विकयपायछित्तं सविग्गो उत्तमठाणंमि ठिउ जावज्जीवं एतेसिं बेइंदियतेंदियचउरो पंचिंदियाणं जीवाणं संघट्टणप रियावण किलावणोद्दवणमाकासी आलो इयनिं दियगरहिओ विक य-पाया च्छि त्तासं विग्गो उत्तमठाणंमि ठिओ सावज्जं मामणिज्जा आलोइयनिंदियगरहिओ विकय पायच्छित्तसंविग्गो लोयतेण विभूई गहियागहिओ खिवि उदिन्ना आलोइयनिंदियगरहिओ विकयपायच्छित्तनिजो सल्लो-जो इत्थि संलोवेज्जा गोयमा ! कत्थमुज्झिहि-आलोइय निंदियगरहिय ओविकयंपायच्छित्त संविग्गोचउद्दसधम्मव गरणे उट्टमापरिहगं कुज्जा तेसुंपि वि ममतो अमुच्छिओ अगद्धिओ दड्ढंहविया अहवा कुज्जाउ ममत्तं तासुद्धी गोयमा ! नत्थि किं बहुणा गोयमा ! नत्थइत्यंदाउणं आलोयणँ रयणिए आविए पाणम्कत्थगम् तु समुज्झिही आलोइयनिंदियरहिओ विकयपायच्छित्तनीसल्लो छइक्करे मेणरक्खे जो कत्थसुद्धिं लभेज्ज से । महा० अ० ७ ॥

आलोचनार्या दत्तार्या विरभिङ्गो न करणीयस्तभा उपचारात्तत्कारण-भूतप्रमादक्रियायाश्च । ध० २ अ० ।

आलोचनायाः प्रायश्चित्तस्य प्रशस्तयोगसङ्ग्रहनिमित्तत्वा-त्तदात्मके प्रथमे योगसङ्ग्हे, च। प्रशस्तयोगसङ् ग्रहनिमित्तत्वा—दालोचनादय एव तथोच्यन्ते, सम० ३१ स० । मोक्षसाधनयोग-सङग्रहाय शिष्येणाऽऽ-चार्य्याया लोचना दत्तेति । अत्रोदाहरणम् ।

उज्जेणि अट्टणे खलु, सिंहगिरि सोपारए पुह हवई ।
मच्छिअमल्ले दुरुल्ल, क्खविओ फलिहमल्ले अ ॥११॥

दुरुल्लखविया ग्रामाः फलहीशब्दो देश्यो वउणीवाची ।

उज्जयिन्यामुज्जयिन्यां, समस्तनगरावलीः । जित-शत्रुर्नृपस्तत्र, मल्लस्तस्याट्टनामिधः ॥१॥ इत्यादि, (अट्टन) शब्दे तत्कथा।

यथाट्टनस्तथाचाय्यः, पताकानिर्वृत्तिः पुनः ।
साधुर्मल्लोऽपराधास्सु, प्रहारास्तान् गुरोर्हि यः १०
आलोचयति निः शल्य, स निर्व्वाणपताकिकां ११
त्रैलोक्यरगे गृण्हाती, त्युक्ताः शिष्यगुण इमे ।
आव० क० । आ० चू० । आव० ॥

(२४) आलोचनायामकृतायां मृत्वाऽनाराधको भवति ।

भिक्खू य अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता सेणं तस्स ठामस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ । णत्थि तस्स

आराहणा । सेणं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंतं कालं करेइ। अत्थि तस्स आराहणा। भिक्ख अण्णयरं अकिच्च-ट्ठाणं पडिसेवित्ता तस्स णं एवं भवइ पच्छाविणं अहं चरिमकालसमयंसि एयस्स ट्ठाणस्स आलोइयस्सामि जाव पडिक्कमिस्सामि। सेणं तस्स ठाणस्स आणालोइयपडिक्कंते जाव णत्थि तस्स आराहणा। सेणं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ । अत्थि तस्स आराहणा भिक्खूय अण्णतरं अकिच्चठाणं पडिसेवित्ता तस्स णं एवं भवइ जइ ताव समणोवासयावि कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। किमंग पुण अणवण्णियदेवत्तणं पिणो लभिस्सामित्ति कट्टु सेणं तस्स ठाणस्स अणालोइय पडिक्कंते कालं करेइ नत्थि तस्स आराहणा । सेणं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ अत्थि तस्स आराहणा सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥ भ० १० श० २ उ० ।

टीका। इह च शब्दश्चेदित्येतस्यार्थे वर्तते। स च भिक्षोरकृत्यस्थानासेवनस्य प्रायेणासंभवप्रदर्शनपरः (पडिसेवित्तत्ति) अकृत्यस्थानं प्रतिषविता भवतीति गम्यं। वाचनांतरे त्वस्य स्थाने (पडिसेविज्जत्ति) दृश्यते। सेणंति। स भिक्षुः तस्स ठाणस्सति तत्स्थानम् अणपन्नियदेवत्तणं पि नो लभिस्सामिति अण पन्निका व्यंतरनिकायविशषास्तत्सबंधिदेवत्वमणपन्निकदेवत्वं तदपि नोलप्स्ये इति भ० ॥टी०॥

(२५) आलोचनाफलम् ॥

आलोयणाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ आलोयणाएणं मायाणिया । मिच्छादरिसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारबंधणाणं उद्धरणं करेइ । उज्जुभावं च जण-यइ । उज्जुभावपडिवण्णे वियणं जीवे अमाइ इत्थिवेयं नपुंसगवेयं च न वुचइ पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ ॥ ५ उत्त० उ० ९ ॥

गुरुशुश्रूषां कुर्वतोऽप्यतीचारसंभेव आलोचना तथा मायाशाठ्यं निदानं ममाऽतस्पतःप्रभृत्यादेरिदं स्यादिति प्रार्थनात्मकं मिथ्या-दर्शन सांशयिकाद्येतानि शल्यानीव शल्यानि तेषां ततः कर्म्मधारये मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यानि तथाहि तो मरादिशल्यानि तत्कालदुःखादानेप्यायते दुःखदायीन्येवं मायादीन्यपीत्येवमुच्यते तेषां मोक्षविघ्नानां पापानुबधनत्वेन मुक्त्यंतरायाणां तथानंतं संसारं वर्द्धयंति वृद्धिं नयंतीत्यनंतसंसारवर्द्धनानि तेषामुद्धरणमपनयनं करोति तदुद्धरणतश्च ऋजुभावं चार्जवं जनयति ॥ (उज्जुभावपडिवण्णेयत्ति) प्रतिपन्नऋजुभावश्चजीवाऽमायी मायारहितस्ततः पुंस्त्वनिबंध नत्वादमायित्वस्य (इत्थिवेयत्ति) प्राग्वद्विंदुलोपस्त्रीवेदं नपुंसकवेदं च न बध्नाति पूर्वबद्धं च तदेव द्वयं यद्वा सकलमपि कर्म्म निर्जरयति क्षपयति तथा च मुक्तिपदमाप्नोतीत्यभिप्रायः उक्तंहि। ''उद्धियदंडो साहू अचिरेण उवेति सासयं ठाणं। सोचिय णुद्धियदंडो संसार-पकड्ढओ होत्तिति ॥२५॥'' उत्त० टी० ॥

आलोचनापरिणतस्य प्रिमाणस्यापि आधारकत्वमाराधनाशब्दे ॥

तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा णोपडिक्कमेज्जाणो णिंदेज्जा णो गरहेज्जा णो विउद्देज्जा णो विसोहेज्जा णो अकरणाया ए अब्भुट्ठेज्जा णो अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्म पडिवज्जिज्जा । तं० । अकरि सुवाहं करेमि वाहं करिस्सामि वाहं। तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टुणो आलोएज्जा णो पडिक्कमेज्जा जाव नो पडिवज्जज्जा । तं जहा । अकित्ती वा मे सिया अवन्ने वा मे सिया अविणये वा मे सिया तिहिं ठाणेहिं मायी माय कट्टुणो आलोएज्जा जाव णो पडिवज्जज्जा तं० कित्तिवा मे परिहाइस्सइ जसोवा मे परिहाइस्सइ पूयसक्कारे वा मे परिहाइस्सइ । तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा जाव पडिवज्जेज्जा । तं० । मायी स्सणं अस्सिं लो गेगरहिए भावइ उववाए गरीहए भवइ यायं गरहिया भवइ । तिहिं ठाणेहिं मायी माय कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा तं अमाइस्सणं अस्सिं लोगे पसत्थे भवइ उववाए पसत्थे भवइ आयांई पसत्थे भवई। तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्ट आलोएज्जा जाव पडिवज्जज्जा तं० । णाणट्ठयाए दंसणट्ठयाए चरितट्ठयाए स्था० ठा० ३ ॥

तिहिं ठाणेहिमित्यादि व्याख्या। मायी मायावान् मायं। मायाविषयं गोपनीय प्रच्छन्नमकार्यं कृत्वा नो आलोचयेत् मायामेवेति शेषसुगमं नवरमालोचनं गुरुनिवेदनं प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतदानं निंदऽऽत्मसाक्षिकागर्हागुरुसाक्षिकाविन्रोटनं तदध्यवसायनिच्छेदनं। आत्मनश्चारित्रस्य वाऽतिचारमलक्षालनमकरणता ऽत्युत्थानं पुनर्नैतत्करिष्यामीत्यभ्युपगमः। अहारिहं। यथो चितं पायच्छित्तंति पापच्छेदकं प्रायश्चित्तवि-शोधकं वा तपः कर्म्म निर्विकृतिकादिप्रतिपद्येत तद्यथा अकार्षमहमिदमतः कथं निन्द्यमित्यालोचयिष्यामि स्वस्य महात्म्यहानिप्राप्तेरित्येवमभिमानात्। तथा करोमि चाह-मिदानीमेव कथं साध्विति भणामि करिष्यामीति चाहमे-तदकृत्यमनागत कालेऽपीति कथ प्रायश्चित्तं प्रति पद्यत इति कीर्तिर कदिगामिनी प्रसिद्धिः। सर्वदिगामिनी सैव वर्णो यशः। पर्यायत्वादस्य अथवा ''दानपुण्यफला कीर्तिः पराक्रमकृतं यशः'' तच्च वर्णयति तयोः प्रतिषेधोऽकीर्तिरवणश्चेति। अविनयः साधुकृता स्यादिति। इदं च सूत्रमप्राप्तप्रसिद्धिपुरुषापेक्षं मायं कट्टुति मायां कृत्वा मायां पुरुस्कृत्य मायेयत्यर्थः। परिहास्यति हीना भविष्यति पूजा पुष्पादिभिः। सत्कारो वत्रादिभिरिदमेव विवक्षितमेक रूपत्वादिति। इदं तु प्राप्तप्रसिद्धिपुरुषापेक्षं शेषं सुगमं। उक्त विपर्य्ययमाह।

(तिहि) मित्यादि सूत्रत्रयं स्फुटं किन्तु मायी (मायंकट्टु आलएज्जति) इह मायो अकृत्यकरणकाल एव आलोचनादिकालेत्वमाय्येवा-लोचनाद्यन्यथानुत्तरिति (अस्सिंसति) अयं यतो मायिन इह लोकाद्या गर्हिता भवन्ति। यतश्चामायिन इहलोकाद्याः प्रशस्ता भवंति यतश्चामायिनः आलोचनादिना निरतीचारीभूतस्य ज्ञानादीनि स्वस्वभावं लभन्ते। अतोऽहन

मायी भूत्वा आलोचनादि करोमीत भावः ॥

आलोयणाणय–पुं०(आलोचनानय) आभिमुख्येन गुरोरात्म-दोषप्रकाशनमालोचना स एव नयः। आलोचनायाः नय भेदे, तद्वक्तव्यता (सामाइय) शब्दे विशे० आ० चू० २ अ०।

आलोयणारिह–न० (आलोचनार्ह) आ मर्य्यादया ''जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं'' च उज्जुओ भणइ। तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्कोय इत्येवंरूपयाऽऽलोचनं गुरोः पुरतः प्रकाशनं तावन्मात्रेणैव यस्य पापस्य शुद्धिस्तदालोचनार्हं तद् विशोधिकं प्रायाश्चित्तमप्युपचारादालोचनार्हम्। जीत० व्य०० १ आलोचनां गुरुनिवेदनां विशुद्धये यदर्हत्यतिचारजातं तदाऽऽलोचनार्हन्त-द्विशोधकमालोचनालक्षणं प्रायश्चित्तमप्युपचारादालोचनार्हम् ग० अ० १।२ औप० प्रायश्चित्तभेदे । आलोचनार्हं यद्गुरुनिवेदनया शुद्ध्यतीति ठा, ३ ठा० भग० श० २५ उ० ७ आलोचना गुरुनिवे-दनम्। तथैव यच्छुद्ध्यत्य तिचारजातं तत्र तदर्हत्वादालोचनार्हम् । तच्छुद्ध्यर्थे यत्प्रायश्चित्त तद्प्यालोचनार्हन्तच्चालोचनैव स्था० ठा० १० ।६॥

एतस्याशेषवक्तव्यताऽऽलोचनाशब्दे आलोचनायोग्ये आचार्य्या-दिके० पु० ते चालोचनाशब्दे व्य०उ० १० ध० अधि० २ नि० चू०उ० २० ॥

आलोयणायरिय–पुं० (आलोचनाचार्य्य) विकटनागुरौ (जोगो आलोयणायरिओ) आलोचनाचार्य्यो विकटनागुरुस्स च कीदृशो योग्य इत्यालोचनाशब्दे। पचा० १५ वृ० ध० अधि० २ ॥

आलोयणाविहिसुत्त–न० (आलोचनाविधिसूत्र) शिष्यनिवेदित-प्रायश्चित्तपर्य्यालोचनविषयप्रायश्चित्ताभिधायिनि सूत्रे आ-लोचनाविधिसुत्ता नाम गुरुं शिष्येण गुरोर्निवेदिते गुरुणा प्रायाश्चित्तपर्य्यालोचनाविषयाणि प्रायाश्चित्ताभिधायिनि नि० चू० उ० २ ॥

आलोयदरिसणिज्ज–त्रि० (आलोकदर्शनीय) आलोकं दृष्टिगोचर यावद् दृश्यतेऽत्युच्चत्वेन यः स आलोकदर्शनीयः भ० श० ९ उ० ३३ आलोके दृष्टिविषये क्षेत्रे स्थितोऽत्युच्चतथा दृश्यते यः स आलोकदर्शनीयः अत्युच्चतया यावद्दृष्टिगोचरं दृश्यमाने ज्ञा० अ० १ (दंसणरइयआलोअदरिसणिज्जा) आलोकं दृष्टिपच्छं याव-द्दृश्यते अत्युच्चैस्त्वेन या सा आलोकदर्शनीयेति औप० नात्युच्चतया आलोकमात्र एव दर्शनीये मङ्गल्यत्वात् प्रस्थानसमये द्रष्टु योग्ये, च ॥

दरिसणरइय आलोयदरिसणिज्जा ॥

आलोके बहिः प्रस्थानसमयभाविनि दर्शनीया द्रष्टुं योग्या मंगल्यत्वात् अन्ये त्वा हुरालोके दर्शनीया न पुनरत्युच्चा आलोकदर्शनीयति राज० ॥

आलोल–त्रि० (आलोल) इषत् लोलः प्रा० स० इषच्चञ्चले, । ''आलोलपुष्करमुखोल्लसितैरभीक्ष्णण् माघः'' वाच० ॥

आलोलिय–त्रि० (आलोलित) आ लुल् णिच् क्त ईषच्चञ्चलीकृते ॥

आवंत–पुं० (आवन्त) अवन्तेरयं राजा अण् अवन्तिदेशाधिपे चन्द्रवंश्ये नृपभेदे, वाच० ॥

आवन्तिअज्झयण–न० (आवन्त्यध्ययन) आचाराङ्गस्य नवब्रह्मचर्य्याध्ययनान्तर्गते लोकसाराख्ये पञ्चमेऽध्ययने। आवंतीत्या चारस्य पञ्चमाध्ययनम् तत्र ह्यादावेवावंतीत्यालापका विद्यते इत्यादानपदेनैतन्नाम । अनु० । आवंतीति आद्यपदेन नामान्तरण तु लोकसार इति स्था० ठा० ९ । सम० । आव० (आयाण पएणावंती। गोणनामेण लोगसारोत्ति) आदीयते प्रथममेव गृह्यत इत्यादानम् तच्च तत्पदं चादानपदम् तेन करण भूतेनावंतीत्येत प्रामाध्ययनादावा-वंतीशब्दस्योच्चारणात् आचा० अ० ५ उ० १ ॥

आव (जाव)–त्रि० (यावत्) आदेर्योजः ।८।५।। इति प्राकृतसूत्रेण पदादेर्यस्य जो वा भवति आर्षे लोपोऽपि। प्रा०। यत्परिमाणमस्य मतुप्०। यत्परिमाणे स्त्रियां ङीप् यावति साकल्ये अवधौ, व्याप्तौ, माने अवधारणे च। अव्य० अमरः। एतच्छब्दयोगे द्वितीया। वाच० ॥

आवकह–प्रव्य (यावत्कथ) यावज्जीवमित्यर्थे, आवकहं भगवं समित्तासि ॥१६॥ यावत्कथमिति यावज्जीवम् आचा० अ० ९ उ० ४ ॥

आवकहा–स्त्री० (यावत्कथा) यावती यत्परिमाणा कथा मनुष्योऽयं देवदत्तादिर्वाऽयमिति व्यपदेशलक्षणा यावत्कथा यावज्जीवे जत्थवियणं आवकहाए चिट्ठइ स्था० ठा० ४ से पा रए आवकहाए यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः। आचा० अ० ९ उ० ४ जे आवकहा समाहिए कियंतं कालं यावत् कथा देव दत्तो यज्ञदत्त इति कथा यावदिति सूत्र० श्रु० १ अ० २ धण्णा आवकहाए गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥१६॥ यावत्कथं यावज्जीवम्। पंचा १० वृ० ११ ॥

आवकहिय–त्रि० (यावत्कथिक) यावज्जीविके। पंचा० वृ० ११ एत्थ उसावय धम्मे, पायमणुव्वयगुणव्वयाइ च । आवकहियांइं सिक्खा, वयाइं पुण इत्तरां – ॥

इति पंचा १ वृ० । यावत्कथिकानि यावती यत्परिमाणा कथा मनुष्योऽयमित्यादिव्यपदेशरूपा यावत्कथा तस्यां भवानि यावत्कथिकानि यावज्जीवानीत्यर्थः । पंचा० ॥

यावत्कथिकानीति सकृद्गृहीतानि यावज्जीवमपि भावनी यानीति। आव० । सामयिकभेदेतच्च मध्यमवैदहकतीर्थकरतीर्थान्तर्गतसाधूना-मवसेयम्। तेषामुपस्थापनाया अभावात्। पंचा वृ० ११ । आत्मनः कथां यावद्यदास्ते तद्यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः । यावत्कथमेव यावत्कथिकम्। सामायिकचरित्रगुणप्रमाणभेदे, । एतच्च भरतैरावतेष्वा-द्यचरम-वर्जमध्यमतीर्थकरसाधूनां महाविदेहयतीनां च संभवति। अनु० । यावत्कथस्य भाविव्यपदेशान्तराभावात् यावज्जीविकस्य सामायिकस्याऽतिस्तत्वात् यावत्कथिकः । सामायिक संयत-भेदे, । स च मध्यमजिनमहाविदेहजिनसम्बन्धिसाधुः । भ० श० २५उ० ७। प्रतिक्रमणभेदे च स्था ठा० ॥ यावत्कथकं यावज्जीविक महाव्रतभक्त-परिज्ञानादिरूपं प्रतिक्रमणत्वं चाऽस्य निवृत्ति-लक्षणाऽन्वर्थयोगादिति। आव० ॥

पंच य महव्वयाइं रांई च्छट्ठाई चाउजा मोअं ।
भत्तपरिन्ना य तहा, दुन्हंपि अ आवकहिआइं ॥

पंच महाव्रतानि प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणानि राइभोयणछट्ठाइंति। उपलक्षणत्वात् रात्रिभोजननिवृत्तिषष्ठानि पुरिमपश्चिमतीर्थकरयोस्तीर्थ *इति। चतुर्यामश्च निवृत्तिधर्म एव भक्तपरिज्ञा च तथा चशब्दादिंगित-*मरणादिपरिग्रहः द्वयोरपि पुरिमपश्चिमयोः चशब्दान्मध्यमानां च *यावत्कथिकान्येतानीति गाथार्थः* ॥

अशनभेदे, च-भ० श० २५ उ० ७ ॥

सेकितं आवकहिए आव २ दुविहे प० तं पा ओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य ॥ प्रव० द्वा० ६ दश० अ १ ।

आवग–त्रि० (आवक्) अवति, अव एवुल्–रक्षके, वाच०

आवज्ज–न० (आतोद्य) ओतोऽद्वाऽन्योऽन्यप्रकोष्ठातोद्यशिरोवेद नामनोहरसरोरुहे क्तो श्च वः ॥१॥ ५६ इति प्राकृतसूत्रेणैष्वोतोऽत्वं वा भवति तत्संनियोगे च यथा संभवं ककारतकारयोर्वादेशः । प्रा० वीणादौ वाद्ये, अत्रत्याबहुक्तव्यता (आउज्ज) शब्दे।

आवज्जण–न० (आवर्जन) उपयोगे व्यापारे, च केवलिसमुद्घा तगन्तुमनसा केवलिना कर्तव्यमावर्जीकरणमधिकृत्य (आव-ज्जणमुव ओगो वावारो वा तदत्थमाइए) तदर्थं समुद्घातक रणार्थमादौ केवलिन उपयागो मया अधुनेदं कर्तव्यमित्येवंरूप उदयावलिकायां कर्म्मप्रक्षेपरूपो व्यापारोवाऽऽवर्जनमुच्यते । इति विशे० । अभिमुखीकरण, आ० चू० ॥

आवज्जिय–त्रि० (आवर्जित) वृज–णिच्–क्त० । अभिमुखे, आ० चू०

आवज्जियकरण–न० (आवर्जितकरण) अभिमुखीकरणे, । केवलिसमुद्-घातात्पूर्वं कर्तव्ये केवलिनोव्यापारविशेषे च आ० चू० केविदावर्जितकरण-मिति वर्णयंति ।

तेषामप्यावर्जितशब्दस्याऽतिमुखपर्यायवाचित्वात् आवर्जित-करणसिद्धिः कथमावर्जितमनुष्यवत् यथा लोकेदृष्टमेत दाव-र्जितो मनुष्योभिमुखीकृतइति तथा च सिद्धान्तः । सिद्धपर्याय-परिणामाभिमुखीकरणं यत्तदावर्जितकरणं येन कारणन परिणत आत्मा नियमात् सिद्धतत्पर्यायपरिणामाभिमुखो भवतीत्यर्थः ॥

आवज्जीकरण–न० (आवर्जीकरण) समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो मया अधुनेदं कर्तव्यमित्येवं उदयावलिकायां कर्म्मप्रक्षेपरूपो व्यापारो वा आवर्जनमुच्यते । तथा भूतस्य करणमावर्जीकरणम् केवलिसमुदघातात्पूर्वं केवलिना कर्तव्ये व्यापार भेदे, विशे०।

आव(ट्ट)(ड)(त्त)त–पुं० (आवर्त) आवर्तनमावर्तःसचस मुद्रा-देश्चक्रविशेषाणांचेति । स्था० ठा० ४ । ज्ञा० अ० १ । आ०म०प्र०। आवर्तयति प्राणिनं भ्रामयतीत्यावर्तः । सूत्र० श्रु० १ अ० ३ । आ० वृत्त० भावादौ घञ् चक्रांकारेण जलस्यपरिभ्रमणे । वाच० । र्त्तस्याधूर्तादी ॥२।३० ॥ इति प्राकृतसूत्रेण तस्य भवति धूर्तादीन् वर्जयित्वा बाहुलकाधिकाराद् धूर्तादावपि प्रा० । जलादीनां परिभ्रमणे आचा० अ० १ उ० ५ आवर्त आवर्तनं परिभ्रमणमिति ज्ञा० अ० १ मोहावर्त्तं महाभीमं । मोहोमोहनीयं कर्म्म तदेव तत्र विशिष्टभ्रमिजनकत्वादावर्तो यस्मिन्स तथा विवस्तमिति आव । स्था० द्वा० ४ ॥

चत्तारि आवत्ता पण्णत्ता । तं० खरावत्ते उन्नयावत्ते गूढावत्ते आमिसावत्ते ठा० । आवर्तन्तेपरिभ्रमंति प्राणिनो यत्र स आवर्तः ससारे आचा० अ० १ । ५ (आवट्टे सो एसंगमभिजाणति) आचा० अ० ३३ ।१। आवट्ट इत्यादि भावावर्तो जन्मजरामरणरोग-शोकव्यसनोपनिपातात्मः संसार इत्युक्तं हि "रागद्वेष वशाविद्धं, मिथ्यादर्शनदुस्तरं ॥ जन्मावर्ते जगत् क्षिप्तं, प्रमादाद् भ्राम्यते भृशं ॥१॥ भावश्रोतोऽपि शब्दादिकामगुणविषयाभिलाष आवर्तश्च श्रोतश्च आवर्तश्रोतसी तयोरागद्वेषाभ्यां सम्बन्धः सगस्त-मभिजानत्याभिमुख्येन परिच्छिनत्ति यथा यं संग आवर्तश्रोतसोः करणं जानानाश्चपरमार्थतः कोऽभिधीयतेयोऽनर्थं ज्ञात्वा परिहरति यश्चायमर्थः । संसारश्रोतः संग रागद्वेषात्मक ज्ञात्वा यः परिहरति स एव चावर्तः श्रोतसोः संगस्याभिज्ञाता (आवट्टमे वणुपरियट्टंति भावावर्तः संसारस्तमरहट्टघटीयंत्रन्यायेनानुपरिवर्त्तन्ते। तास्वेव नरकादिगतिषुभूयो २ भवन्तीति आचा० उ० ५ उ० १ ॥

(विषये आवट्टमेयं तु पेहाए एत्थ विरमेज्जवेदवी) आवट्टं तु इत्यादि रागद्वेषकषायविषयावर्तं कर्म्मबन्धावर्तं वा तुशब्दात्पुनः शब्दार्थे भावावर्तं पुनरुत्प्रेक्षात्राऽस्मिन् भावावर्ते विषय रूपे । वेदविदागमविद्धिर-मेदाश्रवद्वारनिरोधं विदध्यात् । आचा० अ० ५ उ० ६ ससारकारणे, शब्दादिगुणे, च (जेगुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे) आचा० अ० १ उ० ४ आवर्तो नामादिभेदाच्चतुर्धा । नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यावर्त्तः स्वामित्व-करणाधिकरणेषु यथा संभवं योज्यः । स्वामित्वेनद्यादीनां क्वचित्यविभागे जलपरिभ्रमणं द्रव्यावर्त्तः द्रव्याणां वा हंसकारंडवचक्रवाकादीनां व्योम्नि क्रीडतामावर्तो नादावर्त्तः । करणे तु तेनैव जलद्रव्येण भ्रमता यदन्यदावर्त्तते तृणकलिंबादि स द्रव्येणावर्तः । तथा त्रपुसीसकलो हरजतसुवर्णौरावर्तमानैर्यदन्यत्तदन्तः पात्या वर्तते । स द्रव्यैरावर्तत इति । अधिकरणत्व-विवक्षायामेकस्मिन् जलद्रव्ये आवर्तः ॥ तथा रजतसुवर्णरीतिकात्रपु-सीसकेष्वेकस्थीकृतेषु बहुषु द्रव्येष्वावर्तः । भावावर्तो नामान्यो भावसङ्क्रान्तिः औदयिकभावोदयाद्वा नरकादिगीतचुतष्टयेषु भावावर्तः । आचा० १ अ० ५ उ० ॥

उत् कटमोहोदयापादितविषयाभिलाषसंपादकसंपत्प्रा-र्थनाविशेषे, सूत्र० श्रु० १ अ० ३ ॥

अह मे संति आवट्टा, कासवेणं पवेइया ।
बुद्धाजत्थ वसप्पंति, सीयंति अबुहा जहिं ।।१४॥

टीका । अथेत्यधिकारांतरदर्शनार्थः । पाठातरं वा अहो इति । तच्च विस्मये इमे इति प्रत्यक्षासन्नाः सर्वजनविदित त्वात् संति विद्यंते वक्ष्यमाणा आवर्तयंति प्राणिनं भ्रामयंतीत्यावर्तास्तत्र द्रव्यावर्त्ता नद्यादेर्भावावर्तास्तूत्कटमोहोदयापादितविषयाभिलाषसंपादक-संपत्प्रार्थनाविशेष एते चावर्त्ता काश्यपेन श्रीमन्महावीरवर्द्धमान-स्वामिनाऽमुत्पन्नदिव्यज्ञाने नावेदिताः कथिता प्रतिपादिताः । यत्र येषु सत्सु बुद्धा अवगतत्वा आवर्तविपाकवेदिनस्तेभ्योऽवसर्पते प्रमत्ततया तद्दूरगामिनो भवंत्यबुद्धास्तु निर्विवेकतया ये ह्यवसीदंत्यासक्तिं कुर्वंतीति । आवर्तने, वाच० द्वादशावर्तादिवन्दनकगते सूत्राभिधानगर्भे कायव्यापार-विशेषे । आवत्तोवारसेवय आवपौनः पुन्यभवने।

दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ आचा० अ० २ उ० ३

दुक्खाणमित्यादि । दुःखानां शरीरमानसानामावर्त्तः पौनः पुन्यभवनमनुपरिवर्तते दुःखावर्तावमग्नौ बंभ्रम्यत इत्यर्थः । णिच् भावे अच् पुनः पुनश्चालने परिघट्टने । धातूनां द्रावणे । चिन्तायाञ्च । चिन्तयाहि चित्तं स्वविषयेषु पुनः पुनश्चाल्यते इति तस्यास्तथा-त्वम् । ध्रुवाख्यघोटकचिन्हे रोमसंस्थानभेदे । आवर्तिनः दशा-वर्त्तयुक्ताः प्रशंसायाम् णिनिः ते च । द्वावुरस्यौशिरस्यौ द्वौ, द्वौ द्वौ रन्ध्रोपरन्ध्रयोः । एको भाले ह्यपाने च, दशावर्त्ता ध्रुवाः स्मृताः ॥१॥ पयोधिपक्षे जलभ्रमः मल्लि वाच० ।

आवर्तो देवमणिनामहयानां महालक्षणतया प्रसिद्ध इति जं आवर्ताकारे, देहिनां रोमसंस्थानभेदे, च वाच० आवर्तोदाक्षि-

णे भागे, दक्षिणः शुभकृन्नृणाम्। वामो वामेऽतिनिन्द्यः स्यात्, दिगन्यत्व तु मध्यमः ॥१॥ कल्प०। राजावर्तनामके मणौ पु० वाच०। माणेलक्षणभेदे आवर्तादीनि मणीनां लक्षणनीति ॥ आ० म० प्र० जी० प्र० ३ राज०। मेघाधिपभेदे, वाच०। स्तनितकुमारेन्द्रस्य घोषस्य स्वनामक्याते लोकपाले स्तनित-कुमरेन्द्रस्य महाघाषस्य स्वनामव्याख्याते लोकपाले, च स्था० ठा० ४ भ० श० ३ उ० ८ स्वनामख्याते जंबूद्वीपस्थे दीर्घवैताढ्यपर्वते, स्था० ठा० ९ एकखुरे चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रिय-तिर्य्यग्यानिकभेदे, प्रज्ञा० पद १ अहोरात्रभवे स्वनामख्याते पंचविंशतितमे मुहूर्ते, सम० स० ३४। स्वनामख्याते ग्रामे (आवते, मुहत्तासे) ततो भगवान् आवर्ते ग्रामे बलदेवगृहे प्रतिमां प्रतिपन्न इति आ० म० द्वि०। आ० चू० माक्षिकधातौ, न० वाव० स्वनामख्याते विमानभेदे, सम० स १७। जंबुमंदरपौरस्त्ये सीताया महानद्या उत्तरस्थे स्वनामख्याते चक्रवर्तिविजयक्षेत्रे, स्था० ठा० ८। दो आवत्ता स्था० ठा० २ महाविदेहस्थे चक्रवर्तिविजयक्षेत्रे, च। जं॥

कहिणं भंते महाविदेहे वासे आवत्तणामं विजए पणत्ते गोअमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं सीआए माहणईए उत्तरेणं णलिणे कूडस्स वक्खा-गपव्वयस्स पच्छिमेणं दहावतीए महाणइए पुरच्छिमेणं एत्थणं महा-विदेहे वासे आवते णामं विजए पणत्ते सेसं जहा कच्छस्स विजयस्स ॥जं०।

आव(ट्ट) पद्मावडसेढियसोत्थिय सोवत्थिय पूसमाण-वद्धमाणगत्थंडामकरंडाजारामारापुप्फुल्लावलियपउमपत्त सागरतरंगवणलयपउमलयभत्तिचित्तं ॥

आवर्तप्रत्यावर्तश्रेणिप्रश्रेणिस्वस्तिकपुष्यमाणवर्द्धमानकम-त्स्याण्डकमकरारांडकजारमारपुष्पाव लिपद्मपत्रसागरतरंगवा सतीलतापमलताभक्तिचित्रनस्वनामख्याते नाट्यविधिभेदे, राज०॥

आव(ट्ट) त्तकूड–न० (आवर्तकूड) महाविदेहस्थनलिनकूटवक्षस्कार-पर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटे, ।जं०॥

आव(ट्ट)त्तण–(आवर्तन) आवृत आधारे ल्युट् सूर्य्यस्य पश्चिमादि गवस्थितच्छायायाः पूर्वदिग्गमनसमये मध्यान्हकाले ''आवर्त ना तु पूर्वाराहोऽपराण्हस्तु ततः परम्:'' स्मृतिः वाच० विलयने, (आवट्टती तत्थ असाहुकम्मा) आवर्तते विलीयंते इति ॥सूत्र० १ श्रु० ५ अ०॥

पीडने, (आवट्टतीकम्मसु पावएसु) आवर्त्यते पीड्यते दुःखभाग् भवतीति सूत्र० १ श्रु० १ अ०॥

आकंपने (कहणाउट्टणआगमणपुच्छणा दीवणा य कज्जस्स) आवर्तनमाकंपनं राज्ञो भक्तीभवनम् व्य० ९ उ०।

आ० वृत भावे ल्युट् आलोडणे, गुणने, च धातूनां द्रावणे आर्वतयेति संसारचक्रम् आ० वृत णिच् कर्तरि ल्यु विष्णौ, (आवर्तनो निवृत्तात्मा विष्णुसह०) जम्बुद्वीपोपद्वीपभेदे च। आवर्त्यतेऽनया ल्युट्ङीप् दर्व्याम् स्त्री आधारे ल्युटङीप् धातुद्रव्य-द्रावणाधा भूषायाम्, करणए ल्युट्वेष्टने, प्राचीरादौ न०। वाच०।

आव(ट्ट)त्तणपेढिया–स्त्री० (आवर्तनपीठिका) इंद्रकीलिका-निवेश स्थाने, आवर्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलके निवेश्यत इति जी० ३ प्र० (वइरामयीतो आवत्तणपेढिआउ) आवर्तनपीठिका नाम यत्रेन्द्रकीलका उक्तं च विजयद्वारचिन्तायाम् जीवाभिगममूल टीकाकारेण ''आवर्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलको भवतीति'' ॥ राज०। जी० जं०॥

आव(ट्ट)त णिज्ज–त्रि० (आवर्तनीय) आ० वृत–णिच्–अनीयरद्रावणीये धात्वादौ, वाच०॥

आव(ट्ट)तय–पुं० (आवर्तक) आवर्त एव स्वार्थे कन् आवर्त शब्दार्थे प्रा०॥

आव(ट्टा)त्तायंत–त्रि० (आवर्तायमान) आवर्तं कुर्वाणे भ० श० ११ उ०॥ प्रदक्षिणं भ्रमति, च कल्प०॥

आवत्तायंतवट्टतडियविमलसरिसनयणं।

(आवत्तायंति) आवर्तं कुर्वाण तद्वद् ये वृत्ते च तडिदिव विमले च सदृशे च परस्परेण ते लोचने यस्य स तथा तं। भ० ११ श० ११ उ०॥

(आवत्तायति) आवर्तायमानं प्रदक्षिणं भ्रमन्एवंविधं यत् (प्रवरकगगति) प्रवरकनक तद्वत् वृत्ते (तडियविमलत्ति) विमला या तडित् विद्युत् तत्सदृशे नयने लोचने यस्य स तथा तम्। कल्प०॥

आवडिय–त्रि० (आपतित) समन्तात्पतिते, ॥

आवण–पुं० (आपण) हट्टे, कल्प०॥

आवरग–न० (आवरक) आ वृ-करणे अप् संज्ञायां कन् अपवरके, आच्छादके वस्त्रादौ, ॥

आवरण–न० (आवरण) आव्रियते देहोऽनेन आ वृ करणे ल्युट् वाच०। आ मर्य्यादया वृणोतीत्त्यावरणम्। स्था० ४ ठा०। अंगरक्षादिके, ज्ञा० ८ अ०।

कवचादिके उत्त० ३ अ०।

(जाणावरणपहरणे) आवरणं कवचादि आ० क० आवरणए कवचादी सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

(जोहाणयं उप्पती आवरणाणं पहरणाणं च) आवरणानां सन्नाहानाम् स्था० ९ ठा०॥

आवरणानां कंकटानाम् श० १६ अ०।

स्फुरकादिके (सचावसरपहरणावरणभरियजुद्धसज्जाणं) आवरणानि च स्फुरकादीनि। औप०। फलादिके, आचा १ अ० ५ उ०।

आव्रियते आकाशमनेनेत्यावरणम् प्रसादनगरादिके, स्था० ९ ठा०॥

आच्छादनसाधनमात्रे, वाच० स्थगने, वृ० १ उ०।

ईषद्वरणे आवरिज्जइ वा णिवारइज्जइवा आवरिज्जइति इष० -द्व्रियत। ब० ९ श० ३३ उ०।

आव्रियते चैतन्यमनेन वेदान्तिमतसिद्धे चैतन्यावरणे अज्ञाने, वाच०।

आव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेत्यावरणम् यद्वा आवृणोत्याच्छादय ति जन्यादिभ्यः कर्तर्य्यनटप्रत्यये आवरणम्। मिथ्यात्वादिके कर्मभेदे, स च जीवव्यवयापाराहृतकर्म्मवर्णान्तिः पाती विशिष्टपु-द्गलसमूहः। कर्म०। प्रव० २१५ द्वा०।

तच्चाद्वीवधम् ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च (नाणस्स दंसणस्स आवरणं वेयणीयं य) पं० सं० ३ द्वा०॥

(पढमं नाणावरणं वीयं पुणदंसणस्स आवरणं) ज्ञायते परिच्छिद्यतें वस्तु अनेनेति ज्ञानं। सामान्यविशेषात्मके वस्तु नि विशेषग्रहणात्मको बोधः। आव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेत्या-

वरणं मिथ्यात्वादि, सचित्तजीवव्यापाराहृतकर्म्मवर्गणा तःपाती विशिष्टः पुद्गलसमूहज्ञानस्य मत्यादेरावरणं ज्ञानावरण तथा दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं सामान्यविशेषात्मकं वस्तुनि सामान्य-ग्रहणात्मको बोधस्तस्यावरणं दर्शनावरणं प्रव० ११५ द्वा० ॥ कर्म्म० । पंचप्रकारं ज्ञानावरणं चतुष्प्रकारं दर्शनावरणम् क० प्र० । आवरणानि मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरण-मनः पर्यायज्ञानावरणकेवलज्ञानावरणचक्षुर्दशनावरणा चक्षुर्दर्शनावरणावधिदर्शनावरणावधिदर्शनावरणा केवलदर्शनावरण-लक्षणानि भव । पंचविधं ज्ञानावरणं नवविधं दर्शनावरणं आवरणानि ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकस्वरूपाणि ॥ कर्म्म०॥

पंचविहं नाणावरणं, नव भेया दंसणस्स ।

ते च भेदा ज्ञानावरणस्य(नाणावरण) शब्दे । दर्शनावरणस्य (दंसणावरण) शब्दे ।

आवरणस्य द्विविधानि स्पर्शकानि भवन्ति । सर्व्वोपघातीनि देशोपघातीनि च । सर्व्वं स्वाचार्य्यं गुणमुपघ्नन्तीत्येवं शीलानि सर्व्वोपघातीनि । स्वाचार्य्यस्य गुणस्य देशमुपघ्नं तीत्येवं शीलानि देशोपघातीनि । आह च भाष्यकृत् ।

मइसुयनाणावरणं, दंसणमोहं च तदुवघातीणि । तप्फड्डगाइं दुविहाइं, सव्वदेसोवघाईणि ॥आ०म०द्वि० १ अ० ॥ पं० सं० ३ द्वा० ।

मिथ्यात्वादिक च किङ्करस्याऽऽवारकमित्याह ।

अहुणो जस्सोदयओ, न लप्भइ दंसणाईसामइयं ॥ लद्धं पुणो व भस्सइ, तदिहावरणं कसायाइं ॥

सुगमा । नवरं तदिह कषायादिकर्म्मावरणमुच्यते । तत्राऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयं मिथ्यात्वञ्च सम्यक्त्वस्याऽवरणं । श्रुतस्य श्रुतज्ञानाऽवरणं । चारित्रस्य चारित्रमोहनीयमिति ॥

तदेवाह ॥ पढमेल्लुयाण उदएत्यादि ॥

अथवा पातनानन्तरमाह ।

अहवा खयाइओ, केवलाइं जं जेसिं ते कई कसाया को वा कस्सावरणं, को वक्खयाई क्कमो कस्स ॥२२६॥

अथवा यत्केवलादिकमादिशब्दाद्दर्शनचारित्रपरिग्रहः एषां कषायाणां क्षयादितो भवत्यादिशब्दात्क्षायोपशमादि परिग्रहः । ते कति कषायाःको वा कस्य साहायिकस्याऽवरणं को वा क्षया-दिक्रमः । कस्येति गाथार्थः ॥

अथ क्रमेणोत्तरमाह ॥

पढमील्लुयाण उदए, नियमा संजोयणा कसायाणं । सम्मद्दंसणलंभं, भवसिद्धी या वि न लहंति ॥२२॥

तत्र प्रथमील्लुकानां संयोजनाकषायाणामुदये नियमात्सम्यग्दर्शनलाभं भवसिद्धिका अपि न लभन्ते । किमुताऽभव्याः । इत्यक्षरयोजना । भावार्थस्त्वयं । प्रथमा एवं देशीवचनतः प्रथमिल्लुकास्तेषां प्रथमिल्लकानामनन्तानुबन्धिक्रोधमान-मायालोभानामित्यर्थः । प्राथम्यञ्चैषां सम्यक्त्वाख्यप्रथमगुण-विधातित्वात् क्षपणक्रमाद्वेति। उदये विपाकाऽनुभवे सति नियमान्नियमेन अस्य व्यवहितसम्बन्धस्स च दर्शित एव । कि विशिष्टानां प्रथमिल्लुकानामित्याह । कर्म्मणा तत्फलभूतसंसारे संयोजनाहेतवः कषायाः संयोजनाकषायास्तेषामुदये नियमा-त्सम्यगविपरीतं दर्शनं सम्यग्दर्शनं। सम्यक्त्वं तस्य लाभः तं भवे सिद्धिर्येषान्ते भवसिद्धिकाः ॥ ननु सर्व्वेषामपि सिद्धिर्भवे एव कस्मिंश्चिद्भवति। किमनेन व्यवच्छिद्यते । सत्यम् । किंत्विह व्याख्यानाद्भव एव भवा गृह्यन्ते । तद्भवसिद्धिका इत्यर्थः । तेऽपि न लभन्ते किमुताऽभव्याः । इति निर्य्युक्तिगाथार्थः ॥

भाष्यम् ॥

खवणं पडुच्च पढमा, पढमगुणविगाइणोत्ति वा जम्हा। संयोयणा कसाया, भवादिसंजोयणा उत्ति ॥ गतार्थैव ॥ विशे० ॥

आओ वउवादाणं, तेष कसाया जओ कसस्साया । चत्तारि बहुव्वयणओ, एवं वीआदओ वी मया ॥

ते च बहुबचननिर्देशाच्चत्वारः क्रोधादयो गम्यन्ते । एवं देशविरत्याद्युत्तरोत्तरगुणपातित्वाद्वितीयतृतीयचतुर्थत्वेन कषाय-शब्दादिवाच्यत्वेन च द्वितीयादयोऽपि मताः सम्मता इति ॥ भवसिद्धियावीत्येतद् व्याख्यानयति ॥

भवसिद्धियावि भणिए, नियमा न लभंति तहमभव्वावि । अविसद्देणवगहिया, परित्तसंसारिया ईया ॥

भवसिद्धिका अपीत्युक्तेऽपि शब्दादभव्यास्तं नैव लभन्त इत्यवगम्यत एव। अथवाऽपि शब्दात्परित्तसंसारादयोऽपि नल-भन्त इति गम्यत इति गाथार्थः ॥२३१॥

उक्ताः सम्यक्त्वस्याऽवरणभूताः कषाया अथ देशविरत्या-वरणभूताँस्तानाह ॥

विअ कसायाणुदये, अप्पच्चक्खाणणामधेज्जाणं । सम्मद्दंसणलंभं, विरया विरइं न उ लहंति ॥

सर्व्वप्रत्याख्यानं देशप्रत्याख्यानञ्च न येषामुदये लभ्यतेऽप्रत्याख्यानाः । अकारस्य सर्व्वप्रतिषेधवचनत्वादप्रत्याख्यान इति नामधेयं येषामप्रत्याख्याननामधेयानां द्वितीयस्य देशविरतिगुणस्याऽऽचार-कत्वात् । द्वितीयास्ते च ते कषायास्तेषां द्वितीयकषायाणामुदये भव्याः सम्यग्दर्शनलाभं लभन्त इति वाक्यशेषः ॥ अयं च वाक्यशेषः (विरयाविरई न उ लहंती) इत्यत्र तु शब्दोपादानात् लभ्यते । एषामुदये भव्याः सम्यग्दर्शनलाभं लभन्ते ते विरताविरतिं देशविरतिम्पुनर्लभन्त इति वाक्यसङ्गते-रिति विरतिं वा । विरतिश्च यस्यां निवृत्तौ सा विरताविरतिस्ता-मिति निर्य्युक्तिगाथाथः ॥

भाष्यम्॥

सव्वं देसो वजओ, पच्चक्खाणं न जेसिमुदएणं । ते अप्पच्चक्खाणा, सव्वनिसेहे मओकारो ॥१॥

सम्मद्दंसणलंभं, लभंति भवियति वक्कसेसोयं । विरयाविरइविसेसे, णं तुसद्दंलखिओयंच ॥२३४॥

गतार्थैव ।

अथ तृतीयस्य सर्वविरतिगुणस्याऽऽचारकांस्तृतीयकषायानाह ॥

तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधेज्जाणं । देसिक्कदेसविरइं, चरित्तलंभं न उ लहंति ॥

सर्वविरतिलक्षणतृतीयगुणघातित्वात्क्षपणक्रमाद्वा तृतीया स्ते च ते कषायाश्च तृतीयकषायाः क्रोधादयः चत्वारः तेषा मुदये कथंभूतानामावृण्वन्त्यावरणाः प्रत्याख्यानं सर्वविरति लक्षणं तस्यावरणा एतदेव नामधेयं यषां ते प्रत्याख्यानावरण

नामधेयास्तेषां । आह न त्वप्रत्याख्याननामधेयानामुदये सर्वथा प्रत्याख्यानं नास्तीत्युक्तं । तत्राऽप्रतिषिद्धत्वादिहापि चावरण शब्देन प्रत्याख्यानस्य सर्वस्यापि निषेधो गम्यत् इति । क एषां प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते । तत्र नञ्सर्वनिषेधे उक्तः । इह त्वाङोमर्यादेवदर्थत्वा-दासर्वविरतिप्रत्याख्यानमर्यादया अथवा ईषत्सावद्ययोगानु-मतिमात्रविरतिरूपं प्रत्याख्यानमावृ ण्वं तीति प्रत्याख्यानावरणा इति व्युत्पत्तेस्सर्वविरतिरूपप्रत्याख्या-ननिषेधार्थ एवायं वर्तते न देशविरतिप्रत्याख्याननिषेधे। आवरणशब्दैस्तथाचाह देशश्च देशैकदेशौ तत्र देशः स्थूल प्राणातिपातादि, एकदेशस्तु तस्यैव दृश्यवनस्पति-कायाद्य-तिपातस्तयोर्विरतिः निवृत्तिस्तां लंभत इति वाक्यशेषः (चरित्त-लंभं न उलहंति) इत्यत्र तुशब्दोपादानादेव लभ्यते । चरंत्यनिंदित-मनेनेति चारित्रं । अष्टविधकर्मचयरिक्तीकरणाद्वाचारित्रं । सर्वविरतिक्रियेत्यर्थः । तस्य लाभस्तमेषामुदये लभत देशै-कदेशविरतिं पुनर्न लभत इति निर्युक्तिगाथार्थः । विशे० ॥

प्रत्याख्यानावरणवक्तव्यता (पच्चक्खाणावरण) शब्दे ॥

अथोक्तमेवार्थं संगृह्य विभणिषुस्तथा चतुर्थकषायाणा यथा ख्यातचरित्रादिविधातित्वं च दिदर्शयिषुराह ॥

मूलगुणाणं लंभं, न लहइ मूलगुणघाइणो उदये ।
संजलणाणं उदए, न लहइ चरणं अहक्खायं ॥

इह सम्यक्त्व महाव्रताणुव्रतानि च मूलभूता गुणा मुलगुणाः उत्तरगुणानामाधारभूतत्वात्तेषां मूलगुणानां लाभं न लभंते। कदे-त्याह । यथोक्तान् मूलगुणान् हंतुं शीलंयेषां ते मूलगुणघातिनस्तेषां मूलगुणघातिनामनंतानुबंधि अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणानां द्वादशानां कषायाणामुदये एतच्च (पढमिल्लुयाण उदए) इत्यादिना सर्वं भावितमेव तथा ईषज्ज्वलनात्संज्वलनाः संपदि ज्व-लनाद्वासंज्वलनाः परीषहादिसंपाते चारित्रिणमपि ज्वलयन्तीति वा संज्वलनाः क्रोधादय एव चत्वारः कषायास्तेषामुदये न लभंते लब्धं वा त्यजति चरणं चारित्रं किंसर्वमपि नेत्याह। यथैव तीर्थकरगण धरैराख्यातं। अकषायमित्यर्थः । सकषायं तु लभते । नच यथाख्यातचारित्रमात्रमेवोपघ्नंति संज्वलनाः किं तु विशेष चारित्राणामपि देशोपघातिनो भवंति । तदुदये शेषचारित्र देशाभिचारसिद्धेरितिनिर्युक्तिगाथार्थः । विशे० आव० म० ।

आवरणसत्थ–न० (आवरणशास्त्र) आव्रियते आकाशमनेत्या-वरणम् । भवनप्रासादनगरादि तल्लक्षणं शास्त्रमपि तथा वस्तु विद्यात्मके पापश्रुतेभेदे, स्था० ९ ठा० ।

आवरणावरणपविभत्ति–न० (आवणावरणप्रविभक्ति) नाट्य विधिभेदे, ॥

चंदावरणपविभत्तिं च सूरावरणपविभत्तिं च आवरणा वरणपविभत्तिं णामं दिव्यं णट्टविहं उवदंसेइ ॥

चन्द्रावरणप्रविभक्तिसूर्य्यावरणप्रविभक्तियुक्तमावरणावरण प्रविभक्ति-सर्य्यावरणप्रविभक्तिनामकमष्टमं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति । राज० ॥

आवरणी–स्त्री० (आवरणी) आवरणकारिण्याम् विद्यायाम्, ज्ञा० १६ अ० ॥

आवरिज्जमाण–त्रि० (आव्रियमाण) स्वल्पमाने, (आवरिज्जमा-णावा । आवरिज्जमाणत्ति) स्वल्पमानानि भ० १५ श० १ उ० ।

आवरित्ता–अव्य० (आवृत्य) आवरण कृत्वेत्यर्थे (आवरित्ता चिट्ठइ) स्था० ॥

आवरिय–त्रि० (आवृत्त) वृ क्त कृतावरणे, अप्रकाशीकृते, आच्छादिते, वाच० (आवरिओ कम्मेहि) आवृत्तःप्रच्छादितः नि० चू० १ उ० (आवरिया विरणमुहे) आवृत्ता अपि सन्नद्धसन्नाहा । अपि व्य० १ उ० ॥

आवरिसण–न० (आवर्षण) उदकादिना छटकप्रदाने, ॥

समज्जण आवरिसणउवलेवणसुहुमदीएवए चेव ।

आवर्षणमुदकेन छटकप्रदानमिति वृ० उ० १ ॥ आवरिसणं पाणिएण उप्फासण नि० चू० २ उ० । (उवलेवणसम्मज्जणा वरिसण) आवर्षणं गन्धोदकादिनेति ग० २ अधि० अनु० । उदगादि आवरिसणं उदकेनादिशब्दाद् घृतेन तैलेन वाऽऽवर्षणं करोति वृ० ४ उ० ॥

समन्ताद्वर्षण (आवरिसिज्जा) आसमन्ताद्वर्षेत् राज० ॥

आवरिहिय–त्रि० (आवर्हित) आ० वृह उद्यमने णिच् क्त आ बर्हीर्हेसायाम् क्तः । उत्पाटिते, उन्मूलिते० वाच० ॥

आवलण–न० (आवलन) मोटन (गलगवलावलणमारणाणि) गलस्य कण्ठस्य गवलस्य शृंगस्याऽवलनं च मोटनम् प्रश्न० १ द्वा० ॥

आव(लि)ली–स्त्री० [आव(लि)ली] आ वल व ङीप् पङक्तौ विशे० अणु० १ अ० (कोंचावलीइ वा हारावलीइ वा वलयावलीइ वा) आवलिपदो-पादानं वर्णोत्कत्व्य प्रतिपादनार्थम् । जं० । अस्यार्योजीवाजीवशब्दे दृष्टव्यः ॥

आवालिय–त्रि० (आवलित) आ वल चलने क्त ईषच्चलिते, सम्यक्चलिते, च । वाच० । आमोटिते, ॥

(अणच्चावियंओवलियं) अवलितं यथात्मनो वस्त्रस्य च व-लितमिति मोटनं न भवतीति । उत्त० २६ अ० ॥

आवलिय(या)णिवाय–पुं० (आवलिकानिपात) आवलिकया क्रमेण निपातः संपात आवलिकानिपातः क्रमेण संपाते, ॥

ताजोगेति व पुस्स आवलि(त) याणिवाते आहितेति वदेज्जा ताइति ॥

आस्तां तावदन्यकथनीय सम्प्रत्येतावत्कथ्यते । योग इति । वस्तुनो नक्षवजातस्य (आवंलिकानिवायोति) आवलिकया क्रमेण निपातश्च-न्द्रसूर्य्यैः सह संपात आख्यातो मयेति वदेत् सू० प्रा० प्रा० १० । चं० प्र० प्रा० १० ।

आवलिय(या) पविट्ठ–त्रि० (आवलिकाप्रविष्ट) आवलिकासु श्रेणिसु प्रविष्टा व्यवस्थिता आवलिकाप्रविष्टाः श्रेण्या व्यव-स्थिते, जी० ३ प्र० ॥

इमे सेणं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा किं संठि ता प० गो० दुविहा पं० तं आवलियपविट्ठा य आवलि यबाहिराय तत्थणं जे ते आवलियपविट्ठा ते तिविहा पं० तं० वट्टा १ तंसा २ चउंरसा ३ जी० प्र० ३ ।

आवलिकास्ते संस्थानमधिकृत्य त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा । वृत्तास्त्र्यस्राश्चतुरस्राः । जी० टी० ।

सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु विमाणे किं संठिता प० गो० दुविहा० पं० तं० आवलियाए बाहिराय ॥

तत्रावलिकाप्रविष्टानि नाम यानि पूर्वादिषु चतसृषु दिक्षु श्रेण्योवस्थितानि यानि पुनरावलिकाप्रविष्टानां प्रांगणप्रदेशे-

कुसुमप्रकर इव यतस्ततां विप्रकीणानि तान्यावलिका बाह्यानि । तानि च पुष्पावकीर्णानीत्युच्यन्ते । पुष्पाणीव इतस्ततोवकीर्णानि विप्रकीर्णानि पुष्पावकीर्णानि इति व्युत्पत्तेः । जी० टी० ४ प्र०॥

आवलिय(या) पविभत्ति–न०(आवलिकाप्रविभक्ति) दिव्ये नाट्यविधिभेदे, ॥

चंदावलिपविभत्तिं च सूरावलिपविभत्तिं च हंसावलिप-विभत्तिं च एगावलिपविभत्तिं च तारावलिपविभत्तिं च मत्तावलिपविभत्तिं च आवलियपविभत्तिं णामं दिब्बं णट्टविहं उवदंसेइ ॥

चन्द्रवलिप्रविभक्तिसूर्य्यावलिप्रविभक्ति, वलयावलि प्रविभक्ति हंसावलिप्रविभक्त्येकावलिप्रविभक्ति, तारावलिप्रविभक्ति, मुक्तावलि-प्रविभक्ति, कनकावलिप्रविभक्ति, रत्नावलि प्रविभक्त्या नितथात्मक-मावलिप्रविभक्ति नाम पञ्चमं नाट्य-विधिमुपदर्शयन्ति राज० टी०॥

आवलिय(या) बाहिर–त्रि०(आवलिकाबाह्य) इतस्ततो विप्रकीर्ण, अत्र यद्वक्तव्यन्तद् (आवलियापविट्ठ) शब्दे उक्तम् जी०४ प्र०॥

आवलिया–स्त्री(आवलिका) पङ्क्तौ वृ०३ उ०। आवलिका पङ्क्तिरमिधीयते । आलीश्रेण्यावली पङ्क्तिरिति वचनात् पं०सं० (भ्रमरावलियत्ति वा) भ्रमरावली भ्रमरपङ्क्तिः । राज० एकान्ते स्थितानां विच्छिन्नायाम्मण्डल्यां च । या विच्छिन्ना एकान्ते भवति मण्डली सा आवलिका या पुनः स्वस्थान एव सा मण्डली । व्य०४ उ०।

अथावलिकाया मंडल्याश्च कः प्रतिविशेष इत्यह आह ॥

छिण्णाछिण्णविसेसो, आवलियाएउ अंतएगत्ति ।
मंडलीए सट्ठायं, सचित्ताएसु संकमति ॥

आवलिकामंडल्योः परस्परं छिन्नाछिन्नरूपो विशेषः आवलिका छिन्ना विविक्त एकांतो भवति । मंडलिका त्वच्छिन्ना (आव-लियतत्थछिन्ना मंडलिया होइ अच्छिन्ना उ) इति वचनात् । एतदेव सुव्यक्तमाह । आवलिकायामुपाध्यायकोऽन्तर्मध्ये विविक्ते प्रदेशं तिष्ठति । मंडल्या पुनः स्वस्थानमाभवनं च पाठ यित-रिसंक्रामति सचित्तादिषु तत्क्षेत्रगतसचित्तादिविषयं (आवलियमडलिकमो पुद्युतो छिण्णछिण्ण-भेदेण) व्य०१० उ०। क्रमे, सूर०प्र०१० प्रा०चं०प्र०१० प्रा० कालविशेषे, असंख्येयसमयसंघातात्मकः कालविशेष आवलिका। विशे०। असंख्यातैः समयैरावलिका जघन्ययुक्ता संख्येयसमय-राशिमानेति । तं०। अनु०। असंख्यातसमयसमुदायात्मिका आवलिकाः क्षुल्लकभवग्रहणकालस्य षट्पञ्चाशदुत्तरद्वि–शतमभागभूता इति स्था०ठा०२ चं० प्र०प्रा०२० आ०म०।

असंखेज्जाणं समयाणं समुदयं समइ समागमेणं सा एगा आवलियत्ति पवुच्चइ । भ०।

टी० असङ्ख्यातानां सम्बन्धिनो ये समुदया वृन्दानि तेषा याः समितयो मीलनानि तासां यः समागमं संयोगः ससमु-दयसमितिसमागमस्तेन यत्कालमान भवतीति गम्यते सका-वकिलेति प्राच्येत (संखेज्जा आवलियत्ति) किल षट् पञ्चा-शदधिकशतद्वयमावलिकानां क्षुल्लकभवग्रहणं भवति भ० ६ श०७ उ०॥ अनु० विशे० नं० पं० स० दर्श० कर्म्म० ज्यो० तं०॥

अवसंत–त्रि०(आवसत्) आवासं कुर्वति ॥

(सुयंमे आउसंतेणंभगवया एवमक्खायं) सुयमे आउसंतेणंति मयेत्यस्य विशेषणात्तत आडिति गुरुदर्शितमर्यादया वसता अनेन तत्वतो गुरुमर्यादावर्तित्वरूपत्वात् गुरुकुलवासस्य तद्विधा नमथत उक्त ज्ञानादि हेतुत्वात् स्था०१ ठा०(गारमावसंतेहि) आगारमावसद्भिः सेवमानैः आचा०५ अ०३ उ०॥

आवसह–पुं०(आवसथ) आवसत्यत्र आवस अथच् गृहे, सूत्र० २ श्रु०२ अ०॥

प्रति०(आवसहं च जाणमतं च) आवसथं गृहमिति सूत्र०१ श्रु०४ अ० आश्रये, (आवसहं वासमुस्सिणामि) आवसथं वा युष्मदा-श्रयं समुच्छ्रणोमि आचा०७ अ०२ उ०। परिव्राजकाश्रये उटजाकारे गृहे, आवसथः परिव्राजकाश्रय इति प्रश्न० १ द्वा०। आवसथास्ता-पसाश्रया उटजादयः । दशा, (जेणेव-परिव्वायागावसहे तेणव उवागच्छउ परिव्वायावस हेत्ति) परिव्राजकमठः भ०२ श०१ उ० केचनावसेषूटजा कारेषु गृहेषु वंसतीति सूत्र०२ श्रु०२ अ० आर्य्याच्छंदोरचिते कोषभेदे, वाच०॥

आवसहिय–पुं०(आवसथिक) आवसथो गृहं तेन च रंतीत्या-वसथिकः । प्रति० सूत्र०१ श्रु०१ अ० आवसथे गृहे वसति ठण् स्त्रियां ङीप् गृहस्थे, वाच० आवसथास्तापसाश्रया उठजादय-स्तत्रवसन्तीत्यावसथिकाः ॥ दशा० तीर्थिकविशेषे सूत्र०२ श्रु०७ अ० आवसथिकाः केचनावसथेषूटजाकारेषु गृहेषु वसतीति सूत्र०२ श्रु०२ अ०॥

आवसहि–स्त्री०(आवसति) वसत्यत्र गृहे वसतिः रात्रिः सम्यक् वसतिः प्रा०स० निशीथे, वसतेः सम्यकत्वञ्चावश्य गृहवासयोग्यचं तच्चार्द्धरात्रेऽ-वश्यं भवतीति तस्य तथात्वम् वाच०॥

आवस्सय–पुं०(आपाश्रय) आङ्मर्यादाभिविधिवाची । आमर्या-दयाऽभिविधिना वा गुणानामापाश्रय आधार इदमित्यापा श्रयः । सामायिकादिके आवश्यके, ॥

विशेषावश्यके आवश्यकपर्यायनामान्यधिकृत्य ।

आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं धुवनिग्गहे विसोहीय ।

आमर्यादयाऽभिविधिना वा गुणानामापाश्रय आधार इद मित्यापाश्रयं गुणाधार इत्यर्थः । नन्वाधारवाचक आपाश्रय शब्दः पुल्लिङ्गे वर्तते । तत्कथमापाश्रयमिति नपुंसकत्वमितिचेन्न । प्राकृतशैलीवशतोऽ-दोषादिति । विशे०।

***आवश्यक**–न० अवश्यं भाव आवश्यकं द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्चेति मनोज्ञादेरधिकृतत्वाद्वुञ् । आ० चू०२ अ०।

अवश्यंभावे नैयत्ये, वाच० अवश्यं कर्म्म आवश्यकं अवश्यकर्तव्य-क्रियानुष्ठाने, । नं०।

आवस्सगपरिसुद्धीय, होंति भिक्खुस्स लिङ्गाइं ।

आवश्यकपरिशुद्धिश्चावश्यं करणीययोगनिरतिचारतेति । दश० अ०१० । द्वा०। आव०। धर्म०। अनु०। पंचा०। स्था०१० ठा०। नियमात्कर्तव्यो, आवश्यकानि नियमत एव करणीयानीति आव० ४ अ०। अवश्यंभावित्वा-द्वाच्यत्वाद्वावश्यकं स्था० ४ ठा० अनु०। अवश्यङ्कर्तव्यमावश्यकम् श्रमणादिभिरवश्य मुभयकालं क्रियते इति भावः । क्वचिदितिकर्मणि बाहुकाङ्ग प्रत्ययः । षृषोदगदय इति निपातनात् शेषरूपसिद्धिः । अथवा ज्ञानादिगुणानामासमन्ताद्वध्यमात्मानं करोति । यदि वा आसमन्ताद्वश्या इन्द्रियकषायादिभावशत्रवो यस्मात्तदाव-

वयकं । शेषाद्वेतिकप् प्रत्ययः यदि वा ज्ञानादिगुणकदम्बकं मोक्षोवा आसमन्ताद्वश्यः क्रियतेऽनेनेत्यावश्यकं । आ०म०प्र०१ अ० । प्रव० स्था० ग० विशे० ओव०

दंसणविणए आवस्सए असीलव्वए निरइआरो ।

आवश्यकं अवश्यकर्तव्यं संयमव्यापारानिष्पन्नं तस्मिन्पिड विशुद्ध्याद्युत्तरगुणकलापे, इति । आ०क० ज्ञा०

तत्प्रतिपादके सामायिकादिषडध्ययनकलापात्मके अङ्गबाह्ये श्रुतविशेषे च अनु० विशे० स्था० नंदी०

समएणं सावएणय, अवस्सकायव्वं हवई जम्हा ।
अंतो अहो निसस्सय, तम्हा आवस्सय नाम नाम सेत्तं आवसयं ॥

टी० श्रमणादिना अहोरात्रस्य मध्ये यस्मादवश्यं क्रियते । तस्मादावश्यकं एवमवश्यकरणीयादिपदानामपि व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या । उपलक्षणत्वादस्य इति गाथार्थः । अनु०॥

तच्छाच विशेषावश्यक । आवश्यकस्य पर्य्यायनामान्यभिधित्सुराह ।

पर्य्यायाः ॥

तस्सामिन्नत्थाहं, सुपसत्थाइं जहंनु नियया इं ।
अव्वामोहाइं, निनित्तमाहपज्जाय नामाइं ॥

तस्याऽवश्यकस्य पर्य्यायनामान्याह इति संबन्धः । कथंभूतान्यभिन्नार्थानि सुप्रशस्तानि यथार्थो व्यवस्थितस्तथैव नियतानि निश्चितानि । किमित्याह ॥ अव्वामोहादिनिमित्तं एकार्थिकैर्हि पर्यायनामभिर्ज्ञातैरन्योन्यस्थानेष्वन्यान्यनामश्रवणतः शिष्यो नमुह्यति । आदिशब्दान्नानादेशजविनयोनां सुखेनैवार्थ प्रतिपत्तिभवति इत्यादि वाच्यमिति ॥

कानि पुनस्तानि पर्यायनामनित्याह ॥

आवस्सयं १ अवस्सकरणिज्जं २ धुव ३ निग्गहो ४ विसोहिय ५ अज्झयण ६ छक्कवग्गो ७ घनाउ ८ आराहणा ९ मग्गो १०

एतानि दश पर्य्यायनामानि ॥

अत्राऽवश्यकमिति कः शब्दार्थः इत्याह ।

समणेण सावण्णय, अवस्सकायव्वयं हवई जम्हा ।
अंतो अहोनिसिस्सा, तम्हा आवस्सयं नाम ॥

श्रमणादिभिरहोरात्रिमध्येऽवश्यंकरणादावश्यकमितीह तात्पर्यमिति ॥

एतदेव सविशेषमाह ॥

जदवस्सं कायव्वं, तेणावस्सयमिदंगुणाणं वा ।
आवस्सयमाहारो, आमज्जायामिमिहिवाइ ॥
आवस्संवा जीवं, करेइ जं नाणदंसणगुणाणं ।
संनिद्धभावणत्थयणेहि, वा वासयं गुणोओ ॥

यद्यस्मादवश्यं कर्तव्यं तेन तस्मादावश्यकमिदमित्येतत्प्राक्तनगाच्छायाः पर्यवसितार्थकथनमेव । अच्छवा आङ्-मर्य्यादाभिविधिवाची । आमर्यादया अभिविधिना वा गुणानामापाश्रय आधार इदमित्यापाश्रयं गुणाधारमित्यर्च्छः । नन्वाऽधार वाचक आपाश्रयशब्दः पुंल्लिंगे वर्तते । तत्कथमापाश्रयतीति नपुंसकत्वमितिचेन्न । प्राकृतशैलीवशतोऽदोषादिति । अथवा ज्ञानादिगुणानामासमंताद्वश्यमात्मानकरोतीत्यावश्यकं । यथा । अन्तं करोतीत्यंतकः । सान्निध्यभावच्छादनैर्वा आवासकं गुणत इत्यावासकमुच्यते । इदमुक्तं भवति । वसनिवास इति गुणशून्यमात्मानं गुणैरासमन्ताद्वासयति गुणसांनिध्यमात्मनः क रोतीत्यावासकं । अथवा यथावद् वासधूपादिभिस्तथा गुणै-रासमन्तादात्मानं वासयति भावयति रंजयत्यावासकं । यदि वा वस आच्छादने गुणरासमंतादात्मानं छादयति । छद षट्ट संवरणे । दोषेभ्यः संवृणोत्यावश्यकमिति तदेतदेवमावस्सयत्याद्यं पर्य्यायनाम व्याख्यातं ।

शेषाण्यतिदिशन्नाह ॥

एवं विअ सेसाइं, विउसासुय लक्खणाणुसारेण ।
कमसो वत्तव्वाइं, तहा सुयक्खंधनामाइं ॥

एवमेव शेषाण्यपि अवश्यकरणीयादिनामानि सिद्धान्तलक्षणाऽनुसारेण क्रमशो विदुषा वक्तव्यानि । तद्यथा । मुमुक्षु-भिरवश्यं क्रियत इति अवश्यंकरणीयमिदमुच्यते। तथा अर्थतो ध्रुवत्वाच्छास्वतत्वात्ध्रुवं । निग्रह्यते इन्द्रियकषायादयो भावशत्रवोऽनेनेति निग्रहः । अन्ये तु प्रवाहतोऽनादिकालीनध्रुवं कर्म्म तन्निग्रह्यते अनेनेति ध्रुवनिग्रह इत्येकमेवेदं पर्य्यायनाम व्याचक्षते । कर्म्ममलिनस्याऽत्मनो विशुद्धिहेतुत्वाद्विशुद्धिः । सामायिकादिषडध्ययनात्मकत्वादध्ययनषट्कं । वृजी वर्जने वृज्यन्ते दूरतः परिहियन्ते रागादयो दोषा अनेनेति वर्गः । अन्येतुषडध्ययनकलापात्मकत्वादध्ययनषट्कवर्ग इतीदमत्येकमेव पयार्य नाम ब्रुवते । अभिप्रेतार्थसिद्धेः सम्यगुपायत्वान्न्यायः अथवा जीवकर्मसंबन्धापनयनान्नयायः । अयमभिप्रायो यथा कारणिकैर्दृष्टो न्यायोद्वयोरर्थिप्रत्यर्थिनोर्भूमिद्रव्यादिसंबंधे चिरकालीनमप्यपनयत्येवं जीवकर्मणोरनादिकालीनमप्याश्रयाश्रयि भावसम्बधमपनयतीत्यावश्यकमपिन्याय उच्यते । मोक्षाराधना हेतुत्वादाराधना मोक्षपुरप्रापकत्वान्मार्ग इव मार्ग इति ॥ विशे० अनु०॥ आ० चू०॥ आ०म०प्र०॥

आवश्यकस्य चतुर्धा निक्षेपो नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्

सेकिंतं आवस्सयं-आवस्सयं चउव्विहं पण्णत्तं । तंजहा । नामावस्यं १ ठवणावस्सयं २ दव्वावस्सयं ३ भावावस्सयं ४ ॥

(सेकिंतं आवस्सय) मित्यादि अत्र से शब्दो मागधदेशी प्रसिद्धोऽथ शब्दार्थे वर्तते । अथ शब्दस्तु वाक्योपन्यासार्थः । स्तथा चोक्तम् ॥

अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्य्यमंगलोपन्यासनिर्वचनसमुच्चयेष्विति किमिति परप्रश्ने । तदिति सर्वनामपूर्वप्रक्रान्तपरामर्शार्थे । ततश्चायं समुदायार्थोऽय किं स्वरूप तदावश्यकं । एवं प्रश्रिते सत्याचार्यः शिष्यवचनाऽनुरोधेन समाधानार्थं प्रत्युच्चार्य निर्दिशति ॥

(आवस्सयं चउविहं) इत्यादि अवश्यं कर्तव्यमावश्यकम् । अथवा गुणानामासमंता द्वश्यमात्मानं करोति इत्यावश्यकम् । यथांऽतं करोतीति अन्तकः । अथवा आवस्सयंति प्राकृत शैल्या आवासकं । अत्र वस निवासे इति गुण शून्यमात्मानं वा समंता-द्वासयति गुणैरित्यावश्यकं (चउविहं पण्णत्तंति) चतस्रो विधा भेदा अस्येति चतुर्विधम् प्रज्ञप्तं प्ररूपितमर्थत स्तीर्थकरैः सूत्रतो गणधरैस्तद्यथा (नामावस्सय) मित्यादि नामाभिधानतद् रूपमावश्यकं नामावश्यकं आवश्यका भिधानमेवेत्यर्थः । अथवा नाम्ना नाममात्रेणाऽवश्यकं जीवादीत्यर्थस्तल्लक्षणश्चेदम् । यद्वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपक्षे पर्यायानभिधेयं च नाम यादृच्छिकं च तथा विनेयाऽनु-

ग्रहार्थमेतद्व्याख्या यद्वस्तुन इन्द्रादिरभिधानमिन्द्र इत्यादि वर्णावलिमात्रमिदमेव आवश्यकलक्षणवर्णचतुष्टयावलीमात्र मिदमेव।

आवश्यकलक्षणवर्णचतुष्टयावलिमात्रं । त्तदो र्नित्याभिसंबन्धात्तन्नामेति संटंकः ॥

अथ प्रकारान्तरेण नाम्नोलक्षणमाह । स्थितमन्यार्थे तद-र्थनिरपेक्षं पर्य्यायानभिधेयश्चेति तदपि नाम यत्कथंभूतमित्याह । अन्यश्चासावर्थश्च अन्यार्थो गोपालदारकादिलक्षणस्तत्र स्थितमन्यत्रेन्द्रादावर्थे यथार्थत्वेन प्रसिद्धं तदन्यत्र गोपालदार कादौ यदारोपितमित्यर्थः । अतएवाह । तदर्थनिरपेक्षमिति। तस्येन्द्रादिनानाम्नोऽर्थः परमैश्वर्य्यादिरूपस्तदर्थः। स चा सावर्थश्चेति वा तदर्थस्तस्य निरपेक्षं गोपालदारकादौ तथा तदर्थ-स्याऽ भावात्पुनः किम्भूतं तदित्याह। पर्य्यायानभिधेयमिति। पर्य्यायाणां शक्रपुरन्दरादीनामनभिधेयमवाच्य गोपालदारकादयो हीन्द्रादिशब्दैरु-च्यमाना अपि शचीपत्य दिरिव शक्रपुरन्दरादिशब्दैर्ना-भिधीयन्ते । अतस्तन्नामाऽपि नाम तद्भतोरभेदोपचारात्पर्य्यायान-भिधेयमित्युच्यतेच्च। शब्दान्नाम्न एव लक्षणान्तरसूचकं शचीपत्यादौ प्रसिद्ध । तन्नाम वाच्यार्थशून्ये अन्यत्र गोपालदारकादौ यदारोपितं तदपि नामेति तात्पर्य्यम्। तृतीयप्रकारेणाऽपि लक्षणमाह। यादृच्छिकच्च तथेति । तथा विधव्युत्पत्तिशून्यं डित्थकपित्यादिरूपं यादृच्छिकं स्वेच्छया नाम क्रियते तदपि नामेत्यार्यार्थः ॥ अनु०॥

अच्छ नामावश्यकस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रकार एवाह॥

सेकिंतं नामावस्सयं २ जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा आवस्सएत्ति नामं कज्जइ सेत्तं नामावस्सयं ॥

अथ किं तन्नामावस्सकमिति प्रश्ने सत्याह ।(नामावस्सयं जस्स ण) मित्यादि। अत्र द्विकलक्षणेनाऽङ्केन सूचितं द्वितीयमपि (नामावस्सयं) ति पदं द्रष्टव्यं । एवमन्यत्राऽपि यथासभवमभ्यू-ह्यम् । णमिति वाक्यालङ्कारे। यस्य वस्तुनो जीवस्य वा अजीवस्य वा जीवानामजीवानां वा (तदुभयस्स वा) तदुभयानां वा आव-श्यकमिति यन्नाम क्रियते तन्नामावश्यकमित्यादिपदेन संबन्धः ॥ नाम च तदावश्यकं चेतिव्युत्पत्तिरथवा यस्य जीवादिवस्तुनः आवश्यकमिति नाम क्रियते। तदेव जीवादिवस्तु नामावश्यकं । नाम्ना नाममात्रेणाऽवश्यकं नामावश्यकमिति व्युत्पत्तिर्वाशब्दाः पक्षान्तरे सूचका इति समुदायार्थस्तत्र जीवस्य कथमावश्यकमिति नाम संभवतीत्युच्यते। यथा लोके जीवस्य स्वपुत्रादेः कश्चित्सीह को देवदत्त इत्यादि नाम करोति। तथा कश्चित्स्वाभिप्रायवशादावश्यकमित्यापि नाम करोति। अजीवस्य कथमिति चेदुच्यते । इहावश्यकावसकशब्दयोरकार्थता प्रागुक्ता । ततश्चोर्द्धशुष्कोऽचित्तो बहुकोटराकीर्णो वृक्षोऽन्यो वा तथाविध कश्चित्पदार्थविशेषस्सर्पादेरावासोऽयमिति लोकिकै-र्व्यपदिश्यत एव । स च वृक्षादिर्यद्यप्यनन्तैः परमाणुलक्षणैरजीव द्रव्यैर्निष्पन्नस्तथाप्येक-स्कंधपरिणातिमाश्रित्यकाजीवत्वेन विवक्षित इति स्वार्थिककप्रत्ययो-पादानादेकानि वयस्यावास कनाम सिद्धम् । जीवानामपि बहूनामावासकनाम सन्दृश्यते । यथा इष्टकापाकाद्यग्निर्मूषिकावास इत्युच्यते । तत्र ह्यग्नौ किलमूषिकाः संमूर्च्छन्त्यतस्तेषामसङ्ख्ये-यायानग्निजीवानां पूव-र्वदावासकन्नाम सिद्धम्। अजीवानान्तु यथा नीडं पक्षिणामा वास इत्युच्यते। तन्नीडं बहुभिस्तृणाद्यजीवैर्निष्पद्यते। इति बहूनां जीवानामावासकनाम भवति । इदानीमुभयस्यावासकसंज्ञा भाव्यते। तत्र गृहदीर्घिका अशोकवनिकाद्युपशोभितः प्रासादादि प्रदेशो राजादेरावास उच्यते । सौधर्म्मादिविमानं वा दवाना-मावासोऽ-भिधीयते । अत्र च जलवृक्षादयस्सचेतनरत्नादयश्च जीवा इष्टकाः काष्ठादयो चेतनरत्नादयश्चाजीवास्तन्निष्पन्नमुभयं तस्य कप्प्रत्ययो-पादाने आवासक संज्ञा सिद्धा । उभयानां त्वा-वासकसंज्ञा यथा सम्पूर्णनगरादिक राजादीनामवास उच्यते। सम्पूर्णः सौधर्म्मादिकल्पो वा इन्द्रादीनामावासोऽभिधीयते । अत्र च पूर्व्वोक्तप्रासादविमान-योर्लघुत्वादिकमेव जीवाजीवोभयं विव-क्षितमत्र तु नगरादीनां सौधर्म्मादिकल्पानां च महत्वाद्बहूनि जीवाजीवोभयानि विवक्षितानीति विवक्षयाभेदो दृष्टव्यः एव-मन्यत्राऽपि जीवादीनामावासक संज्ञा यथा सम्भवं भावनीया॥

दिङ्मात्रप्रदर्शनार्थत्वादस्य निगमयन्नाह । (सेतमित्यादि) (सेत्त) मित्यादि वा क्वचित् पाठः तदेतन्नामावश्यकमित्यर्थः ॥

इदानीं स्च्छापनाऽवश्यकनिरूपणार्च्छमाह।

सेकिंतं ठवणावस्सयं ठवणावस्सयं जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लिप्पकम्मे वा गंथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइ मे वा अक्खेवा वराउए वा एगोवा अणे गोवा सज्झावठवणा वा असज्झावठवणा वा असज्झाय ठवणा वा आवस्सएत्ति ठवणाठविज्जइ सेत्तं ठवणावस्सयं । नाम ठवणाणं कोपइविसेसो णामं आवस्सकहिअं ठवणा इत्तरिआ वा होज्जा आवकहिआ वा ॥

टीका सेंकितमित्यादि अथ किंतत् स्थापनावश्यकमिति प्रश्ने सत्याह । (ठवणा आवस्सयं जण्ण) मित्यादि । तत्र स्थाप्यत शुष्कोऽयमित्यभिप्रायेण क्रियते निर्वर्त्यत इति स्च्छापना । काष्ठकर्म्मादिगतावश्यकवत् साध्वादिरूपा । सा चासौ आव-श्यकतद्भतोरभेदोपचारादावश्यकं च स्थापनावश्यके स्च्छा-पनालक्षणं च सामान्यत इदमुक्तं । यत्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि लेप्यादिकर्म्म तत्स्थापनेति क्रियते अल्पकालं च ॥१॥ इति विनेयाऽनुग्रहार्थमत्रापि व्याख्यातुशःब्दो नामलक्षणस्य स्थापना-लक्षणस्य भेदसूचकः । स चासावर्थश्च तदर्थो भावेन्द्रभावावश्य-कादिलक्षणस्तेनवियुक्तं रहितं यद्वस्तु तद-भिप्रायेण भावेन्द्राद्यभिप्रायण क्रियते स्थाप्यते तत् स्थापनेति संबंधः । किंविशिष्टं यादित्याह । यच्च तत्करणि तेन भावेन्द्रादिना सहकारणिः सादृश्यं तस्य तत्करणि तत्सदृशमित्यर्थः । च-शब्दात्तदकरणि चाक्षादिवस्तु गृह्यते । अवसदृशमित्यर्थः । किंपुनस्तदेवं भूतं वस्त्वित्याह ।लेप्यादिकर्म्मेति लेप्यपुत्त-लिकादीत्यर्थः। आदिशब्दात् काष्ठपुत्तलिकादि गृह्यते अक्षरादि अनाकारं कियंतं कालं तत् क्रियते इत्याह । अल्पः कालो यस्य तदल्पकाल मित्वरकालमित्यर्थः । च शब्दाद्यावत्कथिकं शाश्वतप्रतिमादि यत् पुनर्भावेन्द्राद्यर्थरहितं साकार मनाकारं वा तदर्थाभिप्रायण क्रियते तत् स्थापनेति तात्पर्यमित्यार्यार्थः ॥

इदानीं प्रकृतमुच्यते (जण्णंति) णमिति वाक्याऽलंकारे यत्काष्ठ कर्मणि वा चित्रकर्म्मणि वा वराटके वा एको वा अनेको वा सद्भावस्थापनायां वा असद्भावस्थापनायं वा । आवस्सएति । आवश्यकतद्भतोरभेदोपचारात्तद्भानिह गृह्यतेऽतश्चैको वा अनेको वो कथं भूतां अत उच्यते । आवश्यकक्रिया वाआवश्यक-

क्रिया-वन्तो वा (ठवणा ठविज्झत्तेत्ति) स्थापनारूपं स्थाप्यते क्रियते आवृत्या बहुवचनांतत्वे स्थापनारूपाः स्थाप्यते तत् स्थापनावश्यकमित्यादिपदन संबन्ध इति समुदायार्थः । काष्ठकर्मादिष्वावश्यकक्रियां कुर्वतो ये स्थापनारूपा साध्वादयः स्थाप्यंते तत् स्थापनावश्यकमिति तात्पर्यम् । अधुना अवयवार्थमुच्यते । तत्र क्रियत इति कर्म काष्ठकर्म काष्ठनिष्कुट्टितं रूपकमित्यर्थः । चित्रकर्म्म चित्रलिखितं रूपकं (पोत्थकम्मवेत्ति) अत्र पोत्थं पोतं वस्त्रमित्यर्थः तत्र कर्म्म तत्पल्लवनिष्पन्नं वा उल्लिकारूप-कमित्यर्थः । अथवा पोत्थं पुस्तकं तच्चेह संपुटकरूपं गृह्यते । तत्र कर्म्म तन्मध्ये वर्तिकालिखितं रूपकमित्यर्थः । अथवा पोत्थं तालपत्रादि तत्र कर्म्म तच्छेदनिष्पन्नं रूपकं लेप्यकर्म लेप्यरूपकं ग्रन्थिमं कोशलातिशयाद् ग्रन्थिसमुदायनिष्पादितं रूपकं वेष्टिमं पुष्पवेष्टनक्रमेण निष्पन्नमानन्दपुरादि प्रतीत्य रूपमथवा एकं द्वे त्रीणि वस्त्राणि वेष्टयित्वा यत् किंचित् रूपकं तत्स्थापयति तद्वेष्टिमं । पूरिमं भरिमं पित्तलादिमयप्रतिमावत् । संघातिमं बहुवस्त्रादिखण्डसंघातनिष्पन्न कञ्चुकवत् । अथश्वदनको वराटकः कपर्दकः । अत्र वाचनान्तरे अन्यान्यपि दन्तकर्मा दिपदानि दृश्यंते । तान्यप्युक्तानुसारतो भावनीयानि । वा शब्दाः पक्षान्तरसूचकः । यथासम्भवमेवमन्यत्रापि एतेषु काष्ठकर्मादि आवश्यक्रियां कुर्वतः एकादि साध्वादयः सद्भावस्थापनया असद्भावस्थापनया वा स्थापनावश्यकं । तत्र काष्ठकर्म्मादिष्वाकारवती सद्भावस्थापना साध्वाद्याकारस्य तत्र सद्भावात् । अक्षादिषु तु नाऽकारवती असद्भावस्थापना साध्वाकारस्य तत्रासद्भावादिति निगमयन्नाह । (सेत्त मित्यादितदेतत् स्थापनावश्यकमित्यर्थः । अत्र नामस्थापनयोर भेदं पश्यन्निमाह (नाम ठवणाणं कोपइविसेसोत्ति) नामस्थापनयोः कः प्रतिविशेषो न कश्चिदित्यभिप्रायः । तथाह्यावश्यकादिभावार्थशून्ये गोपाल-दारकादौ द्रव्यमात्रे यथावश्यकादि नाम क्रियते तत् स्थापनापि तथैव । तच्छून्ये काष्ठकर्मादौ द्रव्यमात्रे क्रियतेऽतो भावशून्य द्रव्यमात्रे क्रियमाणत्वात् विशेषान्नानयोः कश्चिद्विशेषः । अत्रोत्तरमाह । (नामं आवकहिय) मित्यादि नाम यावत्कथिकं स्वाश्रयद्रव्यस्यास्तित्वकथां यावदनुवर्तते नपुनरन्तराऽप्युपरमते। स्थापना पुनरित्वरा स्वल्पकालभाविनी वा स्याद्यावत् कथिका वा स्वाश्रयद्रव्ये अवतिष्ठमानेऽपि काचिदितराऽपि निवर्तते । काचित्तु तत्सतां यावदवतिष्ठत इति भावस्तथाहि । नाम आवश्यकादिकं मेरुजम्बूद्वीपकलिङ्गमगधसुराष्ट्रादिकं चाद्यात् स्वाश्रयो गोपालदारकदेहादिः शिलासमुच्चयादिर्वासम-स्तितावदवतिष्ठति इति । तद्यावत् कथिकमेव । स्थापनात्वावश्य कत्वेन योग्यः स्थापितः स क्षणांतरे पुनरपि तथाविधप्रयो-जनसम्भवे इन्द्रत्वेन स्थाप्यते । पुनरपि च राजादित्वेनेत्यल्पका लवर्तिनः शाश्वतप्रतिमादिरूपा तु यावत्कथिकात्वर्तते तस्मातु अर्हदादिरूपेण सर्वदा तिष्ठतीति स्च्छापनेति व्युत्पतेः । स्था-पनात्वमवसेयं नतुस्थाप्यत इति स्थापना शाश्वतत्वेन केनापि स्थाप्यमानत्वाभावादिति । तस्माद्भावशून्यद्रव्याधारसाम्येऽप्यस्त्यनयोः कालकृतोविशेषः । अत्राह । ननु यथा स्थापना । काचिदल्पकालीना तथा नामापि किश्चिदल्पकालीनमेव । गोपालदारकादौ विद्यमानेऽपि कदाचिदनेकनामपरावृत्ति-दर्शनमुच्यते ।

सत्यं । किन्तु प्रायो नाम यावत् कथिकमेव । यस्तु क्वचिदन्य थोपलभः । सोऽल्पत्वान्नेह विवक्षितः इत्यदोषः । उपलक्षणमात्रं चेदं । कालभेदेनैतयोर्भेद कथनमपरस्यापि बहुप्रकाराभेदस्य सम्भवात्तथाहि । यथेन्द्रादिप्रतिमास्थापनायां कुण्डलांगदादि भूषितः सन्निहितशचीवज्रादिराकार उपलभ्यते । न तथा नामेन्द्रादौ एवं यथा स्थापनादर्शनाद्भावः । समुल्लसति नैव मिन्द्रा-दिश्रवणमात्राद् । यथाच तत् स्थापनायां लोक-स्योपयाचितेत्वापूजाप्रवृत्ति समीहितलाभादयो-दृश्यन्ते नैवं । नामेन्द्रादावित्येव मन्यदपि वाच्यमिति ।

उक्तं स्थापनावश्यकम् ।

अत्र नाम इदानीं द्रव्यावश्यकनिरूपणाय प्रश्नं कारयति ।

सेकिंतं दव्वावस्स्यं दव्वावसयं दुविहं पण्णत्तं । तंजहा । आगमओ अ नो आगमओ अ ॥

टी० अथ किंतत् द्रव्यावश्यकमिति पृष्टे सत्याह । (दव्वावस्सयं दुविह) मित्यादि तत्र द्रवति गच्छति ताँस्तान् पर्यायानिति द्रव्यं विवक्षितयोरतीतभविष्यद्भावयाः कारणम् अनुभूतं विवक्षितभावं अनुभविष्यद्विवक्षितभावं चास्ति इति द्रव्यभूतस्य भाविनो वा भावस्य हिकारणं तु यल्लोके तत् द्रव्यं तत्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ।

व्या० तद्द्रव्यं तत्वज्ञैः कथितं तत्कथंभूतं द्रव्यं यत्कारणं हेतुः कस्येत्याह । भावस्य पर्यायस्य कथभूतस्येत्याह ।

भूतस्या तीतस्य भाविनो वा भविष्यतो वा लोके आधारभूते तत्र सचेतनं पुरुषादि अचेतनं च काष्ठादि भवति ।

एतदुक्तं भवति ।

यः पूर्वं स्वर्गादिष्विन्द्रादित्वेन भूत्वा इदानीं मनुष्यादित्वेन परिणतः अतीतस्येन्द्रादिपर्यायस्य कारणत्वात्सांप्रतमपि द्रव्यमिंद्रादिरभिधीयते । अमात्यादिपदपरिभ्रष्टामात्यादिवत् तथा अग्रेऽपि य इन्द्रादित्वेनोत्पस्यते स इदानीमपि भविष्यदिन्द्रा-दिपदपर्यायकारणत्वात् द्रव्यत इन्द्रादिरभिधीयते । भविष्य-द्राजकुमारराजवत् । एवमचेतनस्यापि काष्ठादेः तत् भविष्यत् पर्यायकारणत्वेन द्रव्यता भावनीयेत् इति तात्पर्यार्थः । इतः प्रकृतमुच्यते । तच्चेह द्रव्यरूपमावश्यकं प्रकृतं तत्रावश्य-कोपयोगाधिष्ठितः साध्वादिदेहावन्दनकादिसूत्रोच्चारण लक्षणश्चागमः । आवर्तदिकाः क्रिया चावश्यकमुच्यते । आवश्यकोपयोगशून्यस्तु ता एवं देहागमक्रिया द्रव्यावश्यकं । तच्च द्विविधं प्रज्ञप्तमिति । तद्यथा । आगमत आगममाश्रित्य । नो आगमतो नो आगममाश्रित्य नो आगमशब्दार्थं यथावसरमेव वक्ष्यामः । चशब्दो द्वयोरपि स्वस्वविषये तुल्यप्राधान्यस्थापनार्थः ।

अत्राद्यभेदं जिज्ञासुराह ।

सेकिं तं आगम ओ दव्वावस्सयं दव्वावस्स्यं जस्सणं आवस्सएत्ति पदं सिक्खितं ट्ठितं जितं मितं परिजितं नाम समं घोससमं अहीणक्क्खरं अणच्चक्खरं अव्वा-इद्धक्खरं अक्खलिअं अमिलिअं अवच्चामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंटोठविप्पमुक्कं गुरुवा-यणोवगयं सेणं तत्थ वाय णाय पुच्छणाए परिअट्ठणाए धम्मकहाए नो अणुपहाए कम्हा अण्णुव ओगे दव्वमिति कट्टु ।

टी० से किं त मित्यादि– अथ किं तदागमतो द्रव्यावश्यकमिति आह । (आगमतो दव्वावसयं जस्सण) मित्यादि-

णमिति पूर्ववत् । जस्सत्ति यस्य आवस्सएति पयंति । आवश्यकपदाभिधेयं शास्त्रमित्यर्थः । ततश्च यस्य कस्यचिदा वश्यकशास्त्रं शिक्षितं जितं यावत् । वाचनोपगतं भवति (सेणं तत्थेति । सजन्तुस्तत्रावश्यकशास्त्रे वाचनाप्रच्छना परिवर्तनाधर्म्म-कथभिर्वर्तमानोऽप्यावश्कोपयोगे अवर्तमान आगमतः आगम-माश्रित्य द्रव्यावश्यकमिति समुदायार्थः । अत्राह । नन्वागममाश्रित्य द्रव्यावश्यकमित्यागमरूपमिदं आवश्यकमित्युक्तम् भवति । एतच्चायुक्तं । यतः आगमो ज्ञानं ज्ञानं च भाव एवेति । कथमस्य द्रव्यत्वमुपपद्यते । सत्यमेतत्किंत्वागमस्य कारणमात्मा तदधिष्ठितो देहशब्दश्चोपयोग शून्यसूत्रोचारणरूप इहास्ति नतु साक्षादागमः । एतच्च त्रितयमागमकारणत्वात्कारणे कार्यो-पचारादागम उच्यते । कारणं च विवक्षितभावस्य द्रव्यमेव भवतीत्युक्तमेवेत्यदोषः । अनु० ॥

शिक्षितादिपदानां व्याख्या शिक्षितादि शब्दे ॥

उदात्तादिघाषैरविकलं प्रतिपूर्णघोषं । अत्राह ।

घोष सममित्युक्तमेव तत्क इह विशेष इत्युच्यते । घोषसममिति । शिक्षाकालमधिकृत्योक्तं ॥ प्रतिपूर्ण घोषं तु परावर्तनादि कालमधिकृत्येति विशेषः ॥

तदेवं यस्य जन्तोरावश्यकशास्त्रं शिक्षितादिगुणोपेतं भवति । स जंतुस्तत्रावश्यकशास्त्रे वाचनया शिष्याध्यापनलक्षणया प्रच्छन्नयार्थादेर्गुरु प्रति प्रश्नलक्षणयापरावर्तनया पुनः पुनस्सूत्रार्थाऽभ्यासलक्षणया धर्मकथयाहिंसादिधर्म्मप्ररूप-णस्वरूपया । वर्तमानोऽप्यनुपयुक्तत्वादिति साध्याहारमागमतो द्रव्यावश्यकमित्यनेन सम्बंधः । ननु यथा वाचनादिभिस्तत्र वर्तमानोऽपिद्रव्यावश्यकं भवति । तथानुत्प्रेक्षयाऽपि तत्र वर्तमानस्त द्भवति नेत्याह । (नो अणुप्पेहाएत्ति) अनुप्रेक्षया ग्रन्थार्थानुचिंतनरूपया तत्र वर्तमानो न द्रव्यावश्यकमित्यर्थः । अनुप्रेक्षायामुपयोगमन्तरेणाऽभावादुपयुक्तस्य च द्रव्यावश्यकत्वायोग्यादितिभावः । अत्राह परः । (कम्हति) ननु कस्माद्वावाचनादिभिस्तत्र वर्तमानोऽपि द्रव्यावश्यकं कंस्माच्चानुप्रेक्षया तत्र वर्तमानो न तथेति प्रच्छकाभिप्रायः । एवं प्रष्टेसत्याह । (अणुवओगोदव्व) मिति कृत्वा उपयोजनउपयोगोपि जीवस्य बोधरूपोव्यापारः । सचेह विवक्षितार्थे चित्तस्य विनिवेशस्वरूपो गृह्यते । न विद्यते सो यत्र सोऽनुपयोगः पदाच्छंः । सविवक्षितो पयोगस्य कारणमात्रत्वात् द्रव्यमेव भवतीति कृत्वाऽस्मात्कारणादनन्तरोक्तमुपपद्यत इति शेषः । एतदुक्तम् । भवत्युपयोगपूर्वका अनुपयोगपूर्वकाश्चवाचना प्रच्छनादयः संभवंत्येव तत्रेह द्रव्यावश्यकचिन्ता प्रस्तावादनुपयोगपूर्विका गृह्यंते । अतएव सूत्रेणाऽभिहितस्याऽप्यनुपयुक्तस्याध्याहारस्तत्रकृतोऽनुपयोगस्तुभावशून्यता तच्छून्यं वस्तु द्रव्यमेव भवतीत्यतोवाचनादिभिस्तत्रवर्तमानोऽपि द्रव्यावश्यकम् । अनु-प्रेक्षा तूपयोगपूर्विकैव संभवत्यतस्तत्र वर्तमानो न तथेति भावार्थः । अत्राह ।

नन्वागममतोऽपयुक्तो वक्ता द्रव्यावश्यकमित्येतावच्चेष्टसिद्धेः शिक्षितादिश्रुतगुणकीर्तनमनर्थकम् । अत्रोच्यते । शिक्षिता गुणोत्कीर्तनं कुर्वन्निदं ज्ञापयति । यदुतैवं भूतमपि निर्दोषं श्रुत-मुच्चारयतोऽनुपयुक्तस्य द्रव्यश्रुतं द्रव्यावश्यकमेव भवति किं पुनः सदोषमुपयुक्तस्यतु स्खलितादिदोषदुष्टमपि निगदतः श्रुतमेव भवति । एवमन्यत्रापि प्रत्युपेक्षणादिक्रियाविशेषाः सर्वे निर्दोषा अप्यनुपयुक्तस्य तथा विधफलशून्या एव सपद्यन्ते उपयुक्तस्य तु मतिवैकल्पादितः सदोषा अप्यमी कर्ममलापगमायैवेत्यलं विस्तरेण ॥

इह जिनमते सर्वमपि सूत्रमर्थश्च श्रोतृजनमुपेक्ष्य (नत्थिनएहिं विहुणं सुत्तं अत्थो व जिणमए किंचि आसज्जसोयारं नए नय-विसारओपूया) इति वचनात् इदमपि द्रव्यावश्यकं न यैश्चिन्त्यते ते च मूलभेदानाश्रित्य नैगमादयः सप्त तदुक्तं ॥

निगमसंगहववहा, उज्जसुए चेव होई बोधव्वे ॥

सद्दयसमभिरूढे, एवं भूते य मूलनया ॥

तत्रनैगमस्तावत्कियंति द्रव्यावश्यकानीच्छतीत्याह ॥

नैगमस्सुणं एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं दव्वावस्सयं दोण्णि अणुवउत्ता आगमउं दोण्णि दव्वावस्सयाइ तिण्णि अणुवउत्ता आगमओ तिण्णि दव्वावस्सयाइं एव जावइआ अण्णुवउत्ता आगमओ तावइ आइं दव्वावस्सयाइं एवमेव वहारस्संवि संगहस्स णं एगो वा अणेगो वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्तावा । आगमओ दव्वावस्सयं दव्वावस्सयाणि वा उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वावस्सयं पुहुत्तं नेच्छइ तिण्हं सहानयाणंजाणए अणुवउत्ते अवत्थु कम्हा जइ जाणइ अणुवउत्ते न भवति सेत्तं । आगमउं दव्वावस्सयं ।

टी० निगमस्सेत्यादि । सामान्यविशेषादि प्रकारेण नैकोऽपितु बहवो गमा वस्तुपरिच्छेदो यस्यासौ निरुक्तविधिना ककारस्य लोपाद् नैगमसामान्यविशेषादिप्रकारैः बहुरूपवस्त्वभ्युगमपर इत्यर्थः । तस्य नैगमस्यको देवदत्तादिरनुपयुक्त आगमत एक द्रव्यावश्यकं द्वौ देवदत्तपज्ञदत्तावनुपयुक्तौ आगमतो द्रव्यावश्यके त्रयो देवदत्तयज्ञदत्तसोमदत्ता अनुपयुक्ता आगमतस्त्रीणि द्रव्यावश्यकानि । किं बहुना । एवं यावन्तो देवदत्तादयोऽनुप-युक्ताः तान्यतीतादि कालत्रयवर्तीनि नैगमस्याऽगमतो द्रव्यावश्यकानि एतदुक्तं भवति । नैगमो हि सामान्यरूपं विशेषरूपं च वस्त्वभ्युपगच्छत्येव नं पुनर्वक्ष्यमाणसंग्रहवत्सामान्यरूपमेव । ततो विशेषत्वादित्यस्येह प्राधान्येन विवक्षितत्वाद्यावन्तः केचन देवदत्तादिविशेषा अनुपयुक्ता स्तावन्ति सर्वाण्यप्यसौ द्रव्यावश्यकानि न पुनः संग्रहवत्सामान्यवादित्वादेकमेव च (ववहारस्सतित्ति) व्यवहरणं वयवहारो लौकिकप्रवृत्ति-रूपस्तत्प्रधानो नयोऽपि व्यवहारस्तस्याप्येवमेव । नैगमवदेको देवदत्तादिर-नुपयुक्तोऽथागमत एकं द्रव्यावश्यकमित्यादि सर्वं वाच्यमिदमुक्तं भवति । व्यवहारनयो लोकव्यवहारोपकारिण एव पदार्था-नभ्युपगच्छति न शेषान् । लोकव्यवहारे च जलाहरणव्रण पिंडीप्रदानादिकेघटनिंव्वादि विशेषा एवोपकुर्व्वाणा दृश्यन्ते न पुनस्तदतिरिक्तंतत्सामान्यमिति विशेषानेव वस्तुत्वेन प्रतिपद्यते-ऽसौ न सामान्यं व्यवहारानु पकारित्वाद्विशेष व्यतिरेकेणा-ऽनुपलभ्यमानत्वाच्चैत्यतो विशेषादिनैगममतसाम्येनातिदिष्टः । अत्र चातिदेशेन चेष्टार्थ सिद्धेर्ग्रंथलाघवार्थं संग्रहमतिक्रम्य व्यवहारोपन्यासः कृत इति भावनीयं (संग्रहस्सेत्यादि) सर्वमापि भुवनत्रनाऽन्तर्वर्त्तिवस्तूनि कुरुवं संगृह्णाति सामान्यरूपतयाऽध्यवस्यतीति संग्रहस्तस्य मते एको वा अनेको वा अनुपयुक्तोऽनुपयुक्ता वा यदा गमतो द्रव्यावश्यकं द्रव्यावश्यकानि वा तत्किमित्याह (सऐगत्ति) तदेकं द्रव्यावश्यकम् इदमत्र हृदयं । संग्रहनयः सा-

मान्यमेवाभ्युपगच्छति न विशेषानभिदधाति च सामान्या-द्विशेषाद् व्यतिरिक्ताः स्युः। अव्यतिरिक्ताःस्युः अव्यतिरिक्ता वा यद्याद्यः पक्षः। तर्हि न सत्यमी निःसामान्यत्वात् खरविषाण वत्। अथापरः पक्षस्तर्हि सामान्यमेव तेतद् व्यतिरिक्तत्वात्सा मान्यस्वरूपवत्तस्मात्सामान्य-व्यतिरेकेणा विशेषासिद्धेयानि का निचिद्द्रव्यावश्यकानि तानि तत्सामान्याव्यत्तिरिक्तत्वादेकमेवं संग्रहस्य द्रव्यावश्यकमिति (उज्झसुयस्से) त्यादि। ऋज्वतीतानागतपरकीयपरिहारणंमांजलंवस्तु सूत्रयत्य-भ्युपगच्छतीति। ऋजुसूत्रः। अयं हि वर्त्तमानकालभाव्य वस्तक अभ्यु पगच्छति नातीत विनष्टत्वान्नाऽप्नागत मनुत्पन्नत्वाद्वर्त्तमानकाल-भाव्यपि स्वकीयमेव मन्यते स्वकार्यसाधुकत्वात् स्वधनवत्परकीयन्तु नेच्छति स्वकाया-प्रसाधकत्वात्। परधनवत्तस्मादेको देवदत्तादिरनु-पयुक्तोऽस्यमत्ते आगमत एकं द्रव्यावश्य। कमिति (पुहत्तं त्ति) पुहत्तंनिच्छइति। अतीतानागतभेदतः परकीयभेदतश्च पृथक्त्वं पार्थक्यं नेच्छत्यसौ किं तर्हिवर्त्तमानकालीनं स्वत्वमेवंचाभ्युपैति तच्चैकमेवति (तिण्हं सद्दनयाण) मित्यादि शब्दप्रधाना नयाः शब्दनयाः शब्द-समभिरूढैवंभूतास्ते हि शब्दमेव प्रधानमिच्छतीत्यर्थन्तु गौणं शब्दवासनैवार्थप्रतीतिस्त्रयाणां शब्दनयानां ज्ञापकोऽथवानुप-युक्त इत्येतदेव तु न सम्भवतीदमित्यर्थः। (कम्हेति) कस्मा-देवमुच्यते इत्याह। यदिज्ञापकस्तर्ह्यनुपयुक्तो न भवति ज्ञानस्योपयोगरूपत्वादि-दमत्र हृदयं। आवश्यकशास्त्रज्ञस्तत्रा चानुपयुक्त आगमतो द्रव्यावश्यकमिति प्राग्निर्णातमेव स्वामी न प्रतिपद्यते यद्यावश्यकशास्त्रं जानाति कथमनुपयुक्तोऽनुपयुक्तश्चेत् कथं जानाति ज्ञानस्योपयोगरूपत्वात् यदप्याग मकारणादात्मदेहादिक-मागमत्वेनोक्तं तदप्यौपचारिकत्वादमी न मन्यन्ते। शुद्धनयत्वेन मुख्यवस्त्वभ्युपगमपरत्वात्तस्मादेतन्मते द्रव्यावश्य-कस्यासंभव इति निगमयन्नाह (सेत्तमिप्यादि) तदेतदागमतो द्रव्यावश्यकन्तेनउक्तम् आगमतो द्रव्यावश्यकमिदनिम्॥

इदानीं ना आगमतस्तदुच्यते॥ से किं तं नो आगमओ दव्वाव-स्सय दव्वावस्सय तिविहं पण्णत्तं तंजाणयं सरीर दव्वावस्सयं॥ टी० अथ किंतन्नो आगमतोद्रव्यावश्यकामति प्रश्नः। उत्तरमाह नो आगमउ दव्वावस्सयं तिविहं पण्णत्तमित्यादिनो आगमत इत्यत्र नो शब्दे आगमस्य सर्वनिषेधे देशनिषेधे वा वर्तते यत उक्तं पूर्वमुनिभिः॥

आगमसव्वनिसेहे नोसद्दोअहंवदेसपडिसेहे।
सव्वे जहण्णसरीरं भव्वस्स य आगमाभावा॥

व्याख्या। आगमस्यावश्यकादिज्ञानस्य सर्वनिषेधे वर्त्तते नोशब्दोऽथवा तस्यैव देशप्रतिषेधे वर्तते। तत्र (सव्वेत्ति) सर्वनिषेधउदाहरणमुच्यते यथेत्युपदर्शने (सरीरति) तस्य जानतःशरीरं ज्ञशरीरं नो आगमत इह द्रव्यावश्यकं भव्यस्य च योग्यस्य यच्छशरीरं तदपि नो आगमत इह द्रव्यावश्यकं कुत इत्याह। आगमस्यावश्यकादिज्ञानलक्षणस्य सर्वथा अभावा-दिदमुक्तं भवति। ज्ञशरीरं भव्यशरीरं चानन्तरमेव वक्ष्यमाणस्वरूपं नो आगमतः सर्वथा आगमाभावमाश्रित्य द्रव्यावश्यकमुच्यते।

नोशब्दस्याऽत्र पक्षे सर्वनिषेधवचनत्वादिति गाथार्थः।

देशप्रतिषेधवचनेऽपि नोशब्दे उदाहरणम्। यथा॥

किरियागमुचरंतो, आवासं कुणई भावसुन्नेउ।
किरियागमा न होई, तस्स निसेहो भवेदेसे॥

व्या०। क्रियामावर्तादिकं कुर्व्वन्नित्यध्याहार आगम च वंदनकसूत्रादिक-मुच्चारयन् भावशून्यो य आवश्यक करोति सोऽपि नी आगमत इह द्रव्यावश्यकमितिशेषः। अत्र च क्रि यावर्त्तादिकागमो न भवति जडत्वागमस्य च ज्ञानरूपत्वादतस्तस्यागम-स्य देशे क्रियालक्षणे निषेधो भवति। क्रियाआगमो न भवतीत्यर्थः अतोनो आगमतइतीह। किमुक्तं भवति। देशे क्रियालक्षणे आगमाभावमाश्रित्य द्रव्यावश्यकमिति गाथार्थः॥

तदेवं नो आगमतः। आगमाभावमाश्रित्व द्रव्यावश्यक त्रिविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकं १ भव्यशरीरद्रव्यावश्यक २ ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरित्तं द्रव्यावश्यकम्। ३ तत्राद्यभेदंवि-वरीषुराह॥

सेकिंतं जाणयसरीरदव्वावस्सयं जाणयसरीरदव्वा-वस्सयं आवस्सयस्स पयत्थाहिगारं जाणयस्स जं सरीरयं ववगतचुतचावितचत्तदेहं जीवविप्पजढं सिज्जागतं वा संच्छारयगतं वा निसीहिआगतं वा सिद्धि सिलात-लगतंवापासित्ताणं कोइ भणेज्जा अहोणंइमे णं सरीर-समुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं आवस्सएत्ति पयं आघविअं पण्णविअं परूविअं दंसिअं निदंसिअं उवदंसिअं जहा को दिट्ठंतो अयं घयकुंभे आसी अयं महुकुंभे आसीसेत्तं जाणयसरीरदव्वास्सयं॥

टी०। अथ किं तत् ज्ञशरीरद्रव्यावश्कमिति प्रश्ने निर्वचनमाह। (जाणयसरीरदव्वास्सयं आवस्सण्तीत्यादि) ज्ञातवानिति ज्ञःप्रतिक्षण शीयत इति शरीरं ज्ञस्यशरीरं ज्ञशरीरं तदेव अनु-भूतभवत्वाद् द्रव्यावश्यकं किं तदित्याह। यच्छरीरकं संज्ञापकं च वपुरित्यथः। कस्य संबधीत्याह। आयस्सएतीत्यादि आवश्य-कमिति यत्पदं आवश्यकपदाभिधेयं शास्त्रमित्यर्थः। तस्यार्थ एवार्थाधिकारोऽनेके वा तद्गतार्था अधिकारा गृह्यन्तेतस्य तेषांवा वा ज्ञातु संबंधि कथं भूतं तदिदं। ज्ञशरीरं द्रव्यावश्यकं भवती-त्याह व्यपगतच्युतं त्यक्तदेहं जीवविप्रमुक्तमित्य क्षरयोजना। इदानीं भावार्थः कश्चिदुच्यते तत्र। व्यपगतचैतन्यपर्यायाद-चैंतन्यलक्षणं पर्यायान्तरं प्राप्तमत एव च्युतं उच्छ्वासनि स्वासजीवितादिशविधप्रमाणेभ्यः परिभ्रष्टम्। अचैतन्यं श्वासाद्ययोग्यत्वादन्यथा लेष्ट्वा दीनामपि तत्प्रसंगात्तेभ्यश्च परिभ्रशस्वभावादिभिः कैश्चित् स्वभावत एवा भ्युपगम्यते। तदपोहार्थमाह। च्यावित आयुःक्षयण तेभ्यःपरिभसितं। ननु स्वभावतस्तस्य सदावस्थितत्वेन सर्वदा तत्प्रसंगादेवं च सति कथं भूतं तदित्याह। त्यक्तदेह दिह उपचते त्यक्तो देह आहारपरिणामजनितोपचयो येन तत्त्यक्तदेहं। अचेत नस्याहार-ग्रहणपरिणत्योरभावात्। एवमुक्तेन विधिना जीवेनात्मना विधमनेकधा प्रकर्षेण मुक्तं जीवविप्रमुक्तकं किं तदेतदावश्यकं। ज्ञस्य शरीरमतीता वश्यकभावस्य कारणत्वा-द्रव्यावश्यकम्। अस्य च नो आगमत्वमागमस्य तदर्नी सर्वथा भावान्नो शब्दस्य चात्र पक्षे सर्वनिषेध वचनत्वादिति भावः। ननु यदि जीवविप्रमुक्तमिदं कथं तर्ह्यस्य द्रव्यावश्यकत्वं लेष्टवादीनामपि तत्प्रसंगात्तत्पुद्गलानामपि कदाचिदावश्यकवेतृभिर्गृहीत्वा मुक्तत्वसंभ-वादित्याशंक्याह। (सेज्जागत) मित्यादि यस्मादिदं शय्यागतं वा संस्तारगतं च नैषेधिकीगतं वा सिद्धशिलातलगतं वा दृष्ट्वा कोऽपि ब्रूयादहोअनेन शरीरसमुच्छ्रायेण जिनदृष्टितभावेन आवश्यक-मित्येतत्पदे गृहीतमित्यादि यावदुपदर्शितमिति तस्मादतीतवर्तमान-

कालभावि वस्त्वेकत्वग्राहिनयानुसारिणामेवं वादिनां सम्मवाद्यथोक्त-शरीरस्य द्रव्यावश्यकत्वं न विरुध्यते लेष्ट्वादिदर्शने पुनर्नेत्थंभूतः प्रत्यय कस्याऽपि समुत्पद्यत इति। न तेषां तत्प्रसंगस्तेनैव करचरणोरुग्रीवा-दिपारणो मनानन्तर-मेवावश्यककारणत्वेन वयावृतत्वात्तदैव तथाविधप्रत्ययजनकं द्रव्यावश्यकं लेष्ट्वादय इतिभाव इति समुदायार्थः। इदानीम वयवार्थ उच्यते। तत्र शय्या महती सर्वांगप्रमाणा तां गतंशय्यास्थितमित्यर्थः। संस्तारो लघुकोऽर्द्धतृतीयहस्तमान स्वंगतं तत्रस्थमित्यर्थः। यत्र साधवस्तपःपरिकर्म्मितशरीराः स्वयमेव गत्वा भक्तपरिज्ञानशनं प्रतिपन्नपूर्वाः प्रतिपद्यंते प्रतिः पत्स्यन्ते च तत्सिद्धशिलातलमुच्यते। क्षेत्रगुणतो यथा भद्रकदेवतागुणतो वा साधूनामाराधनाः सिध्यंति।२। तत्रेति कृत्वा अन्येऽप्याचक्षते। यत्रमहर्षिः कश्चित्सिद्धस्तत् सिद्धशिलातलं तद्गतं तत्र स्थितं सिद्धशिलातलगतम्। इह निसीहयाग तं चेत्यादीन्यपि पदानि वाचनांतरे द्रश्यंते तानि च सुगमत्वात् स्वयमेव भावनीयानि। नवरं नैषेधिकी शवपरिस्थापनभूमिः अपरं चात्रान्तरे (पासित्ताण कोइ भणिज्जेति) ग्रंथः। क्वचिद् दृश्यते स च समुदायार्थकथनावसरणे जित एव यत्र तु न श्यते तत्राध्याहारो द्रष्टव्यः। अहो शब्दो दैन्यविस्मयामंत्रणेषु वर्त्तते। स चेह त्रिष्वपि घटते तथाह्यनित्यशरीरमिति दैन्ये आवश्यकं ज्ञातमिति विस्मयेऽन्यं विपार्श्वस्थितमामंत्रयमाणस्थामंत्रणे अनेन प्रत्यक्षतया द्रश्यमानेन शरीरमेव पुद्गलसंघातत्वात् समुच्छ्रयस्तेन जिनदुष्टेन तीर्थंकराभिमतेन भावेन कर्मनिर्जरणाभिप्रायेण अच्छवा भावेन तदावणकर्म्मक्षयोपश-मलक्षणेन आवश्यकपदाभिधेयं शास्त्रम् (आघवियंति) प्राकृतशैल्या च्छांदसत्वाच्च गुरोः सकाशाद् गृहीतं प्रज्ञापितं सामान्यतो विनयेभ्यः कच्छितं प्ररूपितं तेभ्य एव प्रतिसूत्रमर्च्छकच्छनतः। दर्शितं प्रत्युपेक्षणादिक्रियादर्शनतः। इदं क्रिया एभिरक्षरैरत्रोपात्ता। इत्थं च क्रियते इत्येवं विनेयेभ्यः प्रकटितमितिभावः। निदर्शितं कच्छंचिदगृह्णतः परयाऽनुकम्पया निश्चयेन पुन-पुन र्दर्शितं। उपदर्शितं सर्वनययुक्तिभिः आह। नन्वनेन शरीरसमुच्छ्रायेणाऽवश्यकमागृहीतमित्यादि नोपपद्यते गृहणप्ररूपणादीनां जीवधर्म्मत्वेन शरीरस्थाऽघटमानकत्वा सत्यं। किन्तु भूतपूर्वगत्या जीवशरीरयोरभेदोपचारदित्यच्छ-मुपन्यास इत्यदोषः। पुनर प्याह। ननु यद्यपि तच्छरीरकं शय्यादिगतं दृष्ट्वा पूर्वोक्तवक्तारो भवंति तथापि कथं तस्य द्रव्याऽवश्यकता यत् आवश्यकस्य कारणमेव द्रव्यावश्यकं भवितुमर्हति भूतस्य भाविनो वेत्यादि पूर्वोक्तवचनात्। कारणं चागमस्य चेतनाधि-ष्ठितमेव शरीरं नत्विदं चेतनारहितत्वात्तस्यापि तत्कारणत्वेऽति-प्रसंगात्सत्यं। किंत्वतीपर्यायानुवृत्यभ्युपगमपरतयानु-वृत्यातीतमावश्यककारणत्वपर्यायमपेक्ष्य द्रव्यावश्यकताऽ-स्योच्यत इत्यदोषः। स्यादेवं। यद्यत्राथैकः कश्चिददृष्टान्तः स्यादिति विकल्पात् प्रच्छति यथा कोऽत्रदृष्टातं इति प्रष्टेसत्याह। यच्छा अथं घृतकुम्भ आसीत्। अथं मधुकुम्भ आसीदित्यादि। एतदुक्तं भवति। यथा मधुनि घृते वा प्रक्षिप्यापनीते तदाधार पर्यायातिक्रांतेऽप्ययं मधुकुम्भोऽयं च घृतकुंभ इति व्यपदेशो लोके प्रवर्त्तते। तथा आवश्यककारणत्व-पर्यायेऽतिक्रांतेऽपि पर्यायानुवृत्या द्रव्यावश्यकमिदमुच्यत इति भावः। निगमयन्नाह। (सेत्तमित्यादि) तदेतत् ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकम्॥

उक्तोनो आगमतो द्रव्यावश्यकप्रथमभेदः॥

द्वितीयभेदनिरूपणायमाह।

से किं तं भविअसरीरदव्वावस्सयं २ जे जीवे जोणि-जम्मणनिक्खंते इमे णं चेव अत्तएणं सरीरसमुस्सएणं जिण-दिट्ठेणं भावेण आवस्सयति पयं सेअकाले सिक्खिस्सति न ताव सिक्खति जहा को दिट्ठंतो अयं महुकुभे भविस्सइ अयं घयकुंभे भविस्सइ सेत्तं भविअसरीरदव्वावस्सयं॥

अथ किं तद्व्यशरीरद्रव्यावश्यकमिति प्रश्ने सत्याह (भवियसरीर दव्वावस्सयं जे जीवे) इत्यादि। विवक्षितपर्यायेण भविष्यतीति भव्यो विवक्षितपर्यायार्हस्तद्योग्य इत्यर्थः। तस्य शरीरं तदेव भाविभावावश्यककारणत्वात् द्रव्यावश्यकं भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं किं पुनस्तदित्यत्रोच्यते। यो जीवो योनिजन्मभिनिष्क्रांतोऽनेन च शरीरसमुच्छ्रेयणजिनोपदिष्टेन भावेन आवश्यकमित्येतत्पदं आगामिनि काले शिक्षिष्यते न तावच्छिक्षते यज्जीवाधिष्ठितं शरीरं भव्यशरीरद्रव्यावश्यकमिति समुदायार्थः सांप्रतमवयवार्थ उच्यते। तत्र यः कश्चिज्जीवो जंतुर्योन्या योषिदवाच्यदेशलक्षणायाः परिपूर्णसमस्तदेहो जन्मत्वेन जन्मसमयेन निष्क्रांतो न पुर्नगर्भावस्थ एव पतितो योनिजन्मत्वनिष्क्रांतः। अनेन च शरीरमेव पुद्गलसंघातत्वा-दुत्पत्तिसमयादारभ्य प्रतिसमयं समुत्सर्पणाद्वा समुच्चयस्तेन। आत्तेनआदत्तेन वा गृहीतेन प्राकृतशैलीवशादात्मीयेन वा जिनोपदिष्टेनेत्यादि पूर्ववत् (सेयकालित्ति) छांदसत्वादागामिनि काले शिक्षिष्यते अध्येष्यते। सांप्रतन्तु न तावदद्यापि शिक्षते तज्जीवाधिष्ठितशरीरं भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं नो आगमत्वं चाप्या गमाभावमाश्रित्य मन्तव्यं। तदांनीं तत्र वपुष्यागमाभावान्नो शब्दस्य चात्राऽपि सर्वनिषेधवचनत्वात्। अत्राह। नन्वावश्यकस्य कारणं द्रव्यावश्यकमुच्यते। यदि त्वत्र वपुष्यागमाभावः। कथं तर्हितस्य तं प्रतिकारणत्वं न हि कार्याभावे वस्तुः कारणत्व युज्यते अतिप्रसंगात्। ततः कथमस्य द्रव्यावश्यकता। सत्य। किन्तु भविष्यत्पर्यायस्येदानीमपि योऽस्तित्वमुपचरितन-यस्तदनुवृत्त्यास्यद्रव्यावश्यकत्वमुच्यते। तथा च तद् नुसारिणः पठंति भाविनि भूतवदुपचार इति अत्रार्थे दृष्टांतं दिदर्शयिषुः प्रश्नं कारयति। यथा कोऽत्र दृष्टांत इति निर्वचन माह। यथायं मधुकुंभो भविष्यतीत्यादि। एतदुक्तं भवति यथा मधुनि घृते वा प्रक्षेमुमिष्टे तदाधारत्वपर्याये भविष्यत्यपि लोकेऽयं मधुकुंभो धृतकुंभो वेत्यादिव्यपदेशो दृश्यंते। तथास्याप्यावश्यक कारणत्व पर्य्याये भविष्यत्यपि तदस्तित्वपरतयानुवृत्या दृव्यावश्यत्वमुच्यते इति भावः। निगमयन्नाह। सेत्तमित्यादि तदेतद्व्यशरीरद्रव्या-वश्यकमिति। उक्तो नो आगमत दृव्यावश्यक द्वितीयभेदः॥

तृतीयभेदनिरूपणार्थमाह॥

से किं तं जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्तं दव्वावस्सयं दव्वावस्सयं तिविहं पणत्तं। लोइअं १ कुप्पावयणिअं २ लोउत्तरिअं ३

अथ किं तत् ज्ञशरीरभव्यंशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यावश्यकं निर्वचनमाह॥ (जाणगशरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वावस्सए तिविहे) इत्यादि यत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरयोः संबधि

पूर्वोक्तलक्षणं न घटते। तदुभाभ्यां व्यतिरिक्तं भिन्नं द्रव्या-वश्यकमुच्यते। तच्च त्रिविधं प्रज्ञप्तं। तद्यथा। लौकिकंकुप्रावच-निकं। लोकोत्तरिकम्॥

तत्र प्रथमभेदं जिज्ञासुराह॥

से किं तं लोइअं दव्वावस्सयं दव्वावस्सयं जे इमे राईसरतलवरमाडंविअकोडुंबिअइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थ-वाहप्पभितओ कल्लं पाप्पभायाए रयणीए सुविमलाए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलिअंमि अह पंडुरे पभाए रत्तासोगपगासकिंसुअसुमुहगुंजद्धरागसरिसे कमला-गरनलिणि संडवोहए उट्ठिअंमि सूरे सहस्सरस्सिंमिदिणयरे ते असा जलंते मुहधोअणदंतपक्खालणतेल्लफणिहसिद्धत्थयहरि आलिअ अद्दागधूवपुप्फगं-धमल्लतंबोलवत्थाइ आइं दव्वावस्सयाइं काउं ततो पच्छा रायकुलं वा देवकुलं वा आरामं वा उज्जाणं वा सभं वा पव्वं वा गच्छति सेत्तं लोइअं दव्वावस्सयं॥

लोइयमित्यादि॥ लोके भवं लौकिकं शेषं तथैव अत्र राज श्वरा तलवरादयः प्रभातसमये मुखधावनादि कृत्वा तत पश्चाद्राजकुलादौ गच्छंति। तत्तेषां सम्बंधि मुखधावनादि लौकिकं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यति-रिक्तं द्रव्यावश्यकं मिति समुदायार्थः॥

(कल्लं पाउप्पभायाए) इत्यादि कल्यमिति विभक्तिव्यत्य येन सामान्येन प्रभाते प्रभातस्यैव विशेषावस्थाः प्राह इत्यादि। प्रादुः प्राकाश्ये ततश्च प्रकाशप्रभातायां रजन्यां किंचिदुपलभ्यमान-प्रकाशायामिति भावः। तदनतरं सुविमलायां तस्यामेव कि-चित्परिस्फुटतरप्रकाशायान्। अथशब्द आनंतर्ये तदनंतरं पांडुरे प्रभाते कथं भूत इत्याह। फुल्लोत्पलकमलकोमलोन्मीलिते फुल्लं विकसितं तच्च तदुत्पलं च फुल्लोत्पलं कमलो हरिणविशेषः फुल्लोत्फलं च कमलश्च फुल्लोत्पलकमला तयोः कोमलमकठोरं दलानां नयनयोश्चोन्मीलित-मुन्मीलंन यत्र प्रभाते। तद्यथा। अनेन च प्रागुक्तायाः सुविमलतायाः वक्ष्यमाणसूर्योदयस्थ चांतरालभविनीं पूर्वस्थादिश्यरुणप्रभावस्थामाह। तदनंतरम् (उट्ठिए सूरिए त्ति) अभ्युद्गते आदित्ये कथं भूते इत्याह। रक्ताशोकप्रकाशकिंशुकशुकमुखगुंजार्द्धरागसदृशे। रक्ताशोकप्रकाशस्य पुष्पितं पलाशस्य शुकमुखस्य गुंजार्द्धस्य च रागेण सदृशो यः सेतथा तस्मिन् आरक्ते इत्यर्थः। तथा कमलाकरनलिनिखंड बोधके कमलानामाकरा उत्पत्तिभूमयो हृदादिजलाशयविशेषास्तेषु यानि नलिनीखंण्डानि तेषां बोधको य स तथा तस्मिन् पुनः किंभूते तस्मिन्नित्याह॥ सहस्त्ररश्मौ दिनं करोतीति दिनकरस्तस्मिन् तेजसा ज्वलति। तत्रैवैते भावाः सर्वेऽपि संतीति ज्ञापनार्थं सूर्यस्य विशेषणबहुत्वं अनेन चोत्तरोत्तरकालभाविना आवश्यककरणकालविशेषणकलापेन प्रकृष्टमध्यमजघन्योद्यमवतां सत्वा नामभिमतमावश्य-करणसमयमाह। तथाहि। के चित्प्रकृष्टोद्यमिनः किं चित्प्रकाशमानायां रजन्यां मुखधावनाद्यावश्यकं कुर्व्वंति। मध्यमोद्यमिनस्तु तस्यामेव सुविमलायामरुणप्रभावसरे वा। जघन्योद्यमिनस्तु समुद्गते सवितरीति (मुहधोवणेत्यादि) मुखधावनं च दंतप्रक्षालनं च तैलं च फणिहश्च सिद्धयर्थश्च हरितालिका च आदर्शश्च पुष्पाणि च माल्यं च गंधाश्च तांबूलं च वस्त्राणि च तान्यादिर्येषां स्नानाभरण परिधानादीनां तानि फणिहः कंकतकस्तं मस्तकादौ व्यापारयति। सिद्धार्थाः सर्षपाः। हरितालिका दूर्वा एतद्द्वयं मंगलार्थं शिरसि प्रक्षिपंति। आदर्शेषु मुखादि निरीक्षते वस्त्रादि धूपयंति अग्रथितानि पुष्पाणि ता न्येवग्रथितानि माल्यम् अथवा विकसितानि पुष्पाणि वा तान्येवाविकसितानि माल्यमेतेषां च मस्तकादिषूपयोगः। शेषंस्वरूपत उपयोगतश्चप्रतीतमेवएतानि द्रव्यावश्यकानि कृत्वा ततः पश्चाद्राजकुलादौ गच्छति तत्र रमणीयतातिशयेन स्त्री-पुरुषमिथुनानि यत्रारमंति स विविधपुष्पजात्युपशोभित आरामः वस्त्राभरणादिसमलंकृतविग्रहाः संति हिताशनाद्याहारा मदनो-त्सवादिषु कीडार्थं लोका उद्यांति यत्रतच्चम्पकादितरुख-ण्डमण्डितमुद्यानं भारतादिकथाविनोदेन यश्च लोकस्तिष्ठति सा सभा शेषं प्रतीतम्। अत्राह। ननु राजादिभिः प्रभाते अवश्यं क्रियत इति व्युत्पत्तिमात्रेणावश्यकत्वं भवतुमुखधावनादीनि भावावश्यककारणं न भवन्ति। सत्यं। किंतु भूतस्य भाविनो वेत्याद्येव द्रव्यलक्षणं मतंव्यं। किं तर्हि (अप्पाहणे वि दव्वसद्दो) तीतिवचनादाह। अप्रधानवाचकोऽपि द्रव्यशब्दोऽवगंतव्यः। अप्रधानानि च मोक्षकारणभावावश्यकापेक्षया संसारकारणानि राजादिमुखधावनादीनि ततश्च द्रव्यभूतान्यावश्यकानि द्रव्या-वश्यकानि एतानीत्यदोषः नो आगमत्वं चेहाप्यागमाभावा-न्नो-शब्दस्य च सर्वनिषेधवचनत्वादित्यलं विस्तरणे निगमयन्नाह॥

(सेत्तं लोइय) मित्यादि। तदेतज्ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यति-रिक्तं लौकिकं द्रव्यावश्यकमित्यर्थः। उक्तो नो आगमतो द्रव्यावश्यकांतर्गतज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तः द्रव्यावश्यक-प्रथमभेदः द्वितीयभेदनिरूपणार्थमाह॥

से किं तं कुप्पावयणिअं दव्वावस्सयं दव्वावस्सयं जे इमे चरगचीरिगचम्मखंडिअभिक्खोडपुंडरं गोअमगोवत्तिअगि-हिधम्मधम्मचिंतग अविरुद्धवैनयिक-वुड्ढसावगप्पभित्तओ पासंडत्था कल्लं प्पाउप्पभाए जाए जा वते असा जलं ते इंदस्स वा खंदस्स वा रुद्दस्स वा सिवस्स वा वैसमणस्स वा देवस्स वा नागस्स वा भूअस्स वा मुगुदस्स वा अज्जाए वा कोट्टकिरिआए वा उवले-वणस्स मज्जण आवरिस्सण्ण धूवपुप् फगंधमल्लादि-आइं दव्वावस्सयाइं करें ति सेत्तं कुप्पावयणिअं दव्वावस्सयं॥

से किंतं कुप्रावचनिकं द्रव्यावश्यकमत्र निर्वचनं (कुप्पावयणियं दव्वास्सयंति) इमे इत्यादि कुत्सितं प्रवचनं येषां ते कुप्र-वचनास्तेषामिदं कुप्रावचनिकं द्रव्यावश्यकं किं पुनस्तदित्याह। जे इमे इत्यादि॥ एते चरकचीरिकादयः प्रभातसमये इंद्रस्कं-दादेरुपलेपनादि कुर्व्वंति तत् कुप्रावचनिकं द्रव्यावश्यकमिति समुदायार्थः॥

देवताक्षितीशमातापितृगुरूणामविरोधेन विनयकारित्वा-दविरुद्धा वैनयिकाः पुण्यपापपरलोकाद्यनभ्युपगमपरा अक्रिया-वादिनो विशुद्धाः सर्वपार्षडिभिः सह विशुद्धचारित्वादत्राह ननु यद्येते पुण्याद्यनभ्युपगमपराः कथं तर्ह्येषां वक्ष्यमाणमिंद्राद्युपलेपनं संभवति पुण्यादिनिमित्तमेव तस्य संभवात्सत्यं

किं तु जीविकादिहेतोस्तेषामपि तत्संभवतीत्यदोषः॥

प्रभृतिग्रहणात् परिव्राजकादिपरिग्रहः पाषंडं व्रतं तत्र तिष्ठंतीति पाषंडस्थाः। (कल्लं पाउप्पभायाए) इत्यादिपूर्ववद्या-

वत्तजसा ज्वलतीति। इंदस्स वेत्यादि। तत्रेंद्रः प्रतीतः स्कंन्दः कार्त्तिकेयः रुद्रो हरः शिवस्त्वाकारविशेषधरः स एव व्यंतरविशेषो वा वैश्रवणो यक्षनायकः देवः सन्मान्यः नागो भवन पतिविशेषः यक्षभूतो व्यंतरविशेषो मुकुंदो बलदेवः आर्याप्रशांतरूपा दुर्गाऽस्यैव महिषारूढा। तत् कुट्टनपरा कौट्टक्रिया अत्रोपचारादिंद्रादिशब्देन तदायतनमप्युच्यते। अतः तस्येंद्रादिरूपोपलेपनसम्मा-र्जनवर्षणपुष्पधूपगंधमाल्यादीनि द्रव्यावश्यकानि कुर्व्वंति। तत्र लेपनं छगणादिना प्रतीतमेव। सम्मार्जनं दंडपुंछनादिना। वर्षणं गंधोदकादिना। शेषं गतार्थम् ॥ तदेवं य एते चरकादय इंद्रा-देरुपलेपनादि कुर्वंति तत कुप्रावचनिकं द्रव्यावश्यकम्। अत्र द्रव्यत्वमावश्यकत्वं नो आगमत्वं च लौकिकद्रव्यावश्यकोक्त-मिव भावनीयं निगयन्नाह (सेत्तमित्यादि) तदेतत् ज्ञशरीर भव्यशरीर-व्यतिरिक्तं कुप्रावचनिकं द्रव्यावश्यकमित्यर्थः। उक्तो नो आगमतो द्रव्यावश्यकांत्गतज्ञशरीरभव्यशरीरव्यति-रिक्तद्रव्यावश्यकद्वितीयभेदः ॥अथातृतीयभेदनिरूपणार्थमाह ॥

से किं तं लोगुत्तरिअं दव्वावस्सयं जं इमे समणगुण-मुक्कजोगीछक्कायनिरणुकंपा हयाइव उदमा गया इव निरंकुशघट्टा मट्ठा तु प्पेट्ठा पांडु रपड पाउरणा जिणाण-मणाणाए सच्छंदविहरिऊणं इमउकालं आवस्सयस्स उवट्ठावयति सेसं लोगुत्तरिअं दव्वावस्सयं सेत्तं जाणय सरीरभवि असरीवतिरित्तं दव्वावस्सयं सेत्तं नो आगमतो दव्वावस्सयं। सेत्तं दव्वावस्सयं ॥

अथ किं तल्लोकोत्तरिकं द्रव्यावश्यकमत्र निर्वचनमाह। लोकस्योत्तराः साधवः अथवा लोकस्योत्तरं प्रधानं लोकोत्तरं जिनशासनं तेषु तस्मिन्वा भवंति लोकोत्तरिकं द्रव्यावश्यकमिति व्याख्यातमेव किं पुनस्तदित्याह। जे इमेत्यादि। य एते श्रमणगुणमुक्तयोगित्वादिविशेषणविशिष्टाः साध्वाभासा जिनानामनाज्ञया स्वच्छंदविरुद्धतयोभयकालमावश्यकाय प्रतिक्र मणायोपतिष्ठंते तत्तेषां प्रतिक्र मणानुष्ठानं लोकोत्तरकं द्रव्यावश्यकमिति समुदायार्थः। इदानीमवयवार्थ उच्यते। तत्र श्रमणाः साधवस्तेषां गुणा मूलोत्तरगुणरूपास्तत्र जीववध-विरत्यादयो मूलगुणाः पिंडविशुद्ध्यादयस्तूत्तरगुणास्तेषु मुक्तो योगो व्यापारो यैस्ते सर्वधनादेराकृतिगणत्वात् श्रमणगुणमुक्ता योगिनः एते च जीववधादिविरतिमुक्ता व्यापारा अपि मनसा कदाचित्सानुकंपा अपि स्थुरित्याह। षट्सु कायेषु पृथिव्यादिषु विषये निर्गता अपगता अनुकंपा मनसा दया येभ्यस्ते तथा निर-नुकंपाः तीव्रत्तमव हया इव तुरगा इव उद्दा माश्वरणनिपात-जीवोपमर्द्दनिरपेक्षत्वात्तदचारिण इत्यर्थः ॥ किमपीत्येवं भूतास्ते इत्याह। यतो गजा इव दुष्टद्विरदा इव निरंकुशा गुर्वाज्ञाव्यति-क्रमचारिण इत्यर्थः। अत एव घट्टत्ति येषां जंघे श्लक्ष्णीकरणार्थं फेनादिना घृष्टेति भावतस्तेऽवयवावय-विनोरभेदोपचारात् घृष्टास्त-था मट्ठेति। तैलोदकादिना येषां केशाः शरीरं वा मृष्टं ते तथैव मृष्टा अथवा केशादिषु मृष्टं विद्यते येषांते मृष्टवन्तो वत् प्रत्ययलोपा-न्मृष्टाः तथा। (तुप्पोट्ठंति) तुप्राम्रक्षिता वदनेन वा वेष्टिताः शीतरक्षादि निमित्तमोष्ठा येषां ते तुप्रौष्ठा तथा मलपरीषहास-हिष्णुतादूरीकृतत्वात्पांडुरो धौतपटः प्रावरणं येषां ते तथा जिना-नामनाज्ञया स्वच्छंदं विरुद्धतीर्थकराज्ञा बाह्या स्वस्वरु-च्याविविधचेष्टाः कृत्वा तत्रोभयकालं प्रभातसमयेऽस्तमयसमये च चतुर्थ्यर्थे षष्ठीति कृत्वा आवश्यकाय प्रतिक्र मणायोपतिष्ठंते तत्तेषामावश्यकम अ त्र द्रव्यावश्यकत्वं भावशून्यत्वातृ फलाभावत्वादप्रधानतया अवसेयं। नो आगमतो देशे क्रियालक्षण आगमानावान्नोशब्दस्य चात्र देशप्रतिषेध-वचनत्वादिति अत्र च लोकोत्तरिके द्रव्यावश्यके उदाहरणं। वसंतपुरे नगरे अगीता-र्थसंविग्ने गच्छे एकोविचरति तत्र श्रमणगुणमुक्तयोगीसं विग्नाभासः साधुरेकः प्रतिदिनं पुरः कर्मादिदोषदुष्टमनेषणीं यं भक्तादि गृहीत्वा महता संवेगेन प्रतिक्रमणकाले आलोचयति। तस्य गच्छाचार्यो गीतार्थत्वात्प्रायश्चित्तं प्रयच्छन् भणति पश्यत अहोकथमसौ भावमगोपयन् अशठतया सर्वं समालोचयति। सुखं हि आसेवना क्रियते दुःखं चेत्थमालोचयितुं तस्मादेष अशठतयेव शुद्धोसौ तथा च तं प्रशस्यमानं दृष्ट्वा अन्येऽप्य गीतार्थश्रमणः प्रशंसंति चिंतयंति च गुरोश्चेदिच्छया भाव्यस्यर्हि दोषासेवना-यामसकृत्यपतितायामपि न कश्चिद्दोषः। आलोचनाया एव साध्यत्वादित्थं चान्यदा तत्र संविग्नगीतार्थः कश्चिदायातस्तेन च प्रतिदिनं तमेव व्यतिकरमालोक्य सूरिरुक्तस्त्व मित्थमस्य प्रशंसा कुर्वन् विवक्षितक्षितीश इव लक्ष्यसे। तथाहि गिरिनगरवासी कश्चिदग्निभक्तो वणिक् पद्मरागरत्नानां गृहं भृत्वा प्रतिवर्षं वन्हिना प्रदीपयति तथा विवेकतया तत्र नरपतिलोके श्लाघमाणः अहो धन्योऽयं वणिग् भगवंतं हुतभुजमित्थमौदार्यभक्त्यतिशया-द्रत्नैस्तप्पर्यति। अन्यदा च प्रबलपवनपटल-प्रेरितस्तत्प्रदीपितदहनः सराजप्रासादं समस्तमपि तन्नगर दहतिस्स। असाच राज्ञा दंडितो नगराच्च निष्कासित स्तदेवं राज्ञा तस्य प्रशंसां कुर्वता आत्मा नगरं लोकश्च नाशित स्तथा त्वमपि अस्याऽविधिप्रवृत्तस्य प्रशंसां कुर्वन्नात्मानं समस्तगच्छं चोच्छेदयसि यदि पुनरेनमेक शिक्षयसि तदा तथाविध न पइव त्वंपरिकारानिरपायतामनु भवसि। तथा ह्यन्येन केनचिद्राज्ञा तथैव कुर्वन् कश्चिद्वणिगाकर्णितस्तेभ्यो नगरदाहापायदर्शनात् क्षितोशेन अरण्यं गत्वा किमित्थं न करोषीत्यादि वचोभिस्तिरस्कृत्यदण्डितो निष्कासितश्च एव त्वम-पीत्याद्युपनयोगतार्थः। इत्यादि बहुप्रकारं भणितो यावदसौ तत्प्रशंसातो न निवर्तते तावत्तेन गीतार्थसाधुना शेषसाधवोभिहिता एष गणाधिपो महानिर्द्धर्म्मतास्पदमगीतार्थो यदि न परित्यज्यते तदा भवतां महते अनर्थाय प्रभवतीति तदेवं तत्साध्वावश्यकप्रकारं सर्वं लोकोत्तरिकं द्रव्यावश्यकमिति निगमयन्नाह (सेतमित्यादि) तदेतल्लोकोत्तरिकं द्रव्यावश्यकं एतद्गणने ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं त्रिविधमपि द्रव्यावश्यकं समर्थितं भवत्यतस्तदपि निगमयति। सेत्तमित्यादि। एतत्समर्थेन नो आगमतो द्रव्या-वश्यकस्य प्रभेदस्य समर्थितत्वात्तदपि निगमयति। सेत्तं नो आगमतो इत्यादि एतत्समर्थने च यत्प्रक्रांतं। द्रव्यावश्यकं तस्योत्तरः भेदमप्यवसितमतो निगमयति सत्वं दव्वावस्सयमिति तदेतत् द्रव्यावश्यकं समर्थितमित्यर्थः।

उक्तं सप्रपंचं द्रव्यावश्यकम्॥

साम्प्रतमवसरायातभावावश्यकनिरूपणार्थमाह ॥

से किं तं भावावस्सयं भावावस्सयं दुविहं पण्णतं तंजहा आगमतो अ नो आगमतो अ ॥

टी०॥ अथ किं तद् भावावश्यकमित्यत्र निर्वचनमाह ॥ भावा-वस्स्यं दुविहमित्यादि वक्तृविवक्षितपरिणामस्य भवनभावं-

उक्तं च भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि वै समाख्यात सर्वज्ञैरिंद्रादिवदिहेंदनादिक्रियानुभावात् व्याख्यावक्तु र्विवक्षितक्रियया विवक्षितपरिणामस्य इंदनादेरनुभवनमनुभूतिस्तया युक्तोऽर्थः संभवस्तयोरभेदोपचारः सर्वज्ञैः समारव्यातो निर्दशनमाह । इंद्रादिवदित्यादि यथा इंदनादिक्रियानुभावात् परमैश्वर्यादिपरिणामेन परिणतत्वा-दिन्द्रादिभाव उच्यते इत्यर्थः । भावश्चासावावश्यकं च भावमाश्रित्य वा ।

तत्राद्यभेदनिरूपणार्थमाह ।

से कितं आगमतो भावावस्सयं भावावस्सयं जाणए उवउत्ते सेत्तंआगमतो भावावस्सयं ॥

अथ किं तदागमतो भावावश्यकमत्राह (आगमओभावावस्सयं जाणए) इत्यादि ज्ञापकोपयुक्तं आगमतो भावावश्यकं इदमुक्तं भवत्यावश्यक-पदार्थज्ञस्तजनितसंवेगविशुद्धमानपरिमाणा-मस्तत्रचोपयुक्त साध्वादिरागममते भावावश्यकम् आवश्यकार्थो-पयोगलक्षणस्याऽत्र सद्भावात् भावावश्यकता चात्रावश्य-कोपयोगपरिणामस्य सद्भावात् । भावनाश्रित्यआवश्यकम् इति व्युत्पत्तेः अथवा आवश्यकोपयोग-परिणामानन्यत्वात्साध्वादिरपि भावस्तत्तश्च भावश्चासावश्यकं चेति व्युत्पत्तेरप्यसौ मंतव्य इति (सेत्तमित्यादि) निगमनं ।

अय भावावश्यकद्वितीयभेदनिरूपणार्थमाह ॥

से कितं नो आगमओ भावावस्सयं भावावस्सयं वितिविहं पण्णत्तं । तं जहा । लोइअं कुप्पावणिअं लोगुत्तरिअं ॥

अय किं तन्नो आगमतो भावावश्यकमत्राह नो आगमतो भावावश्यकंत्रिविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा लौकिकं कुप्रावचनिकं लोकोत्तरिकं च ॥

तत्र प्रथमभेदनिर्णयार्थमाह ॥

से किं तं लोइअं भावावस्सयं भावावस्सयं पुव्वण्हे भारहं अपरह्णे रामायणं से त्तं लोइअं भावावस्सयं ॥

अय किं तल्लौकिकं भावावश्यकमित्याह (लोइयं भावाव-स्सयं पुव्वराहे) इत्याच्छलोके भवं लौकिकं यदिदं लोकः पूर्वाह्णे भारतमपराह्णे रामायणं वाचयति शृणोतिवा तल्लौकिक भावावश्यकं हि भारतरामायणयोर्वाचनं श्रवणं वा पूर्वाह्ण-पराह्णयोरेव रूढं विपर्ययेदोषदर्शनात्ततः स्वच्छमनयोर्लोकेऽवश्यकरणीयत्वादा-वश्यकत्वंतद्वाचकस्य श्रोतृणां च तदर्थोपयोगपरिणामसद्भावात् वा चेत्थं तद्वाचकः श्रोतारश्च पत्रकपरावर्त्तनहस्ताभिनयगात्रसंयमन-काकुङ्मलमीलनादि क्रियायुक्ता भवंति क्रिया वा नामत्वेन प्रागेवोक्ताकिरियागमो न हो इति वचनात् । ततश्चक्रियालक्षणे देशे आगमस्याऽभावात् आगमत्वमपि भावनीयं नो शब्दस्यात्र देशनिषेधवचनत्वाद्देशे त्वागमोऽस्तिलौकिकाभिप्रायेण भारतादेरागम-त्वात्तथा निर्दिष्टसमये लौकिकास्तदुपयुक्ता यदवश्यं भारतादि वाचयंति शृण्वंति वा तल्लौकिकं भावावश्यकमितिभावमाश्रित्यावश्यकं भावश्चासावावश्यकं चेति वा भावावश्यकमित्यलं विस्तरेण सेत्तमित्यादि गमनम् । उक्तो नो आगमतो भावावश्यकप्रथमभेदोऽयं ॥ तद् द्वितीयभेदनिरूपणार्थमाह ॥

सेकिंतं कुप्पावणिअं भावावस्सयं भावावस्सयं जे इमे चरगचीरिगजावपासंडथायं २ इज्जांजलिहोमजप मन्दरुकन-मोक्कारमादि आइभावावस्सयाइ करेंति सेत्तं कुप्पावयणिअं भावावस्सयं ॥

टी०(से किं तं कुप्पावणीय) मित्यादि अत्र च निर्वचनमाह । कुप्पावयणियं भावावस्सयं जे इमे त्यादि कुत्सितं प्रवचनं भावावश्यकं किं तदुच्यते । य एते चरकचीरकादयः पाषंडस्था यथावसरे इज्यांजलिहोमादीनि भावरूपान्यावश्यकानि कुर्वंति। तत्कुप्रावचनिकं भावावश्यकमिति संबंधः । तत्र चरकादिस्वरूपं प्रागेवोक्तम् । इज्यांजल्यादिस्वरूपमुच्यते । तत्र यजनमिति याग इत्यर्थस्तद्विषयो-जलस्यांजलिरिज्यांजलिः । यागदेवतापूजावसरभावीति हृदयं अथवा यजनमिज्या पूजा । गायत्र्यादि पाठपूर्व्वकं विप्राणां संध्यार्चनमित्यर्थः । सूत्रां-जलिरिज्याजलि अथवा देशी भाषाया मिज्येति माता तस्या नमस्कारविधौ तद्भक्तैः क्रियमाणः करकुड्मलमीलनल-लक्षणोंऽजलिरिज्यांजलिः होमोऽग्निहोत्रिकैः क्रियमाणमग्निहवने जापो मंत्राभ्यासः । मंडुरक्कत्ति। देशीवचनं मंदु सुखं तेन रक्कं वृषभादिशब्दकरणं मंदुरक्कं । देव तादिपुरतो वृषभगर्जिता-दिकरणमित्यर्थः । नमस्कारोनमो भगवते दिवसनाथायेत्यादिक एतेषां द्वंद्वे इज्यांजलिहो मजापमंदरुक्कनमस्कारास्ते आदिर्येषां तानि । तथा आदिशब्दात् स्तवादिपरिग्रहः एतेषां चरकादिभिरवश्यं क्रियमाणत्वादावश्य-कत्वमेतत्कर्तृणां च तदर्थोपयोगश्रद्धा-दिपरिणामसद्भावात् भावत्वं । अन्यच्च चरकादयस्तदर्थोपयोग-लक्षणो देश आगमो देशस्तु करशिरोव्यापारादिक्रिया लक्षणो-नागमस्ततो देश आगमाभावमाश्रित्य नो आगमत्वमवगंतव्यं । नोशब्दस्येहापि देशनिषेधपरत्वात्तस्माच्चर-कादयस्तदुपयुक्ता यथावसरं यदवश्यमिज्यांजल्यादि कुर्वांत । ततः कुप्रावचनिकं । भावावश्यकं भावावश्यकशब्दस्य च व्युत्पत्तिद्वयं तथैव सेत्तमित्यादि निगमनं । उक्तो नो आगमतो भावावश्यकद्वितीय-भेदः । अथ तृतीयभेदनिरूपणार्थमाह ।

से किं तं लोगोत्तरिअं भावावस्सअं जण्णं समणे वा समणिवा सावओ वा साविआ वा तच्चित्ते तंमणो तल्लेस्सेतदध्यवसिते तदज्झवसाणे तदट्ठीवउत्ते तदप्पिअकरणे तम्भावणाभाविते अण्णत्थकत्थइ मण अकुव्वमाणे उवउत्ते जिणवयणधम्माण्णु-रागस्तमणे प्रत्यंतरे उभयोकालं आवस्सयं करेंति सेत्तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं ॥

सेत्तं नो आगमतो भावावस्सयं सेत्तं भावावस्सयं ।

से किं तं लोउत्तरियमित्यादि । अत्र निर्वचनं लोउत्तरियं भावावस्सयं जण्णमित्यादि। जण्णंति णमिति वाक्यालंकारे। यदिदं श्रमणादयस्त-च्चित्तादिविशेषणविशिष्टा उभयकालं प्रतिक्रमणाद्यावश्यकं कुर्व्वंति । तल्लोकोत्तरिकं भावावश्यक-मिति । संटंकस्तत्र श्राम्यतीति श्रमणः साधुः । श्रमणी साध्वी । श्टणोति साधुसमीपे जिनप्रणीतां समाचारीमिति श्रावकः श्रमणोपासकः । श्रमणोपासकः । श्राविका श्रमणोपासिका । वाशब्दाः समुच्चयार्थाः । तस्मिन्नेवावश्यके चित्त सामा-न्योपयोगरूपं यस्येति तच्चित्तः । तस्मिन्नेव मनो विशेषोपयोगरूपं यस्य स तन्मनाः तत्रैव लेश्या शुभपरिणामरूपा यस्येति सतल्लेश्यस्तथा तदध्यव सितः इहाऽध्य-वसायोऽध्यवसितं ततश्च तच्चित्तादिभावयुक्तस्य सतस्त-स्मिन्नेवावश्य-केऽध्यवसितं क्रियासम्पादनेनं विषयस्येति तदध्यवसितः । तथा । तत्तीव्राध्यवसायस्तस्मिन्नेवावावश्यके तीव्रं प्रारंभकालादारभ्य प्रतिक्षणं प्रकर्षयायिप्रयत्नविशेषल-

क्षणमध्यवसानं यस्य स तथा। तदर्थोऽपयुक्तस्तस्यावश्य-कस्यार्थस्त-दर्च्छस्तस्मिन्नुपयुक्तस्तदर्थोपयुक्तः । प्रशस्ततरसंवेगविशुध्द्यमान-स्तस्मिन्नेव प्रतिसूत्रं प्रतिक्रियं चार्थोपयुक्त इत्यर्थः। तथा तदर्पितकरणः करणानि तत्साधकतमानिदेहरजोहरणमुखवस्त्रिकादीनि तस्मिन्ना-वश्यके तथोचित व्यापारनियोगेनाऽर्पितानि नियुक्तानि तानि येन स तथा। सम्यग् यथास्थानं न्यस्तोपकरण इत्यर्थः। तथा तद्भावनाभावितः तस्याऽवश्यकस्य भावना अव्यवच्छिन्नपूर्वपूर्वतरसंस्कारस्य पुनः पुनस्तदनुष्ठानरूपा तया भावितोद्गाढभावेन परिणतावश्य-कानुष्ठानपरिणामस्तद्भावनाभावितः । तदेवंयथोक्तप्रकारेण प्रस्तुतव्यतिरेकतोऽन्यत्र कुत्रचिन्मनोऽकुर्व्वन्तुपलक्षणत्वाद्वाचं कायं चान्यत्राकुर्व्वन्नेकार्थिकानि वा विशेषणान्येतानि प्रस्तु-तोपयोगप्रकर्ष-प्रतिपादनपराणि अमूनि चलिंगपरिणामतः श्रमणी-श्राविकयोरपि योज्यानि । तस्मात्तच्चित्तादिविशेषणविशिष्टाः श्रमणादयः उभयकालमुभयसंध्ययदावश्यक कुर्वंति तल्लो-कोत्तरिकं भावमाश्रित्य भावश्चासावावश्यकं चेति वा भावा-वश्यकम् । अत्राप्यवश्यं करणादावश्यकत्वं तदुपयोगपरिणामस्य च सङ्गावात् भावत्वं । मुखवस्त्रिकाप्रत्युप्रेक्षणरजोहरणव्यापारादिक्रियालक्षणदेशस्याऽ-नागमत्वात् नो आगमत्वं भाव-नीयं। सेत्तमित्यादि। अनु०॥

निगमनं तदेवं स्वरूपतै उक्तं भावावश्यकमनेन चात्राधिकार : एतदेवं संगृह्य गाच्छयोपनिबध्नन् चतुर्विधं निक्षेपमाह। विशे०॥

तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वान्नोच्यते। द्रव्याऽवश्यकं तु द्विधा आगमतो नो आगमतश्च। तत्राऽगमतः प्राह॥

आगमओदव्वावास्सय, तमावस्सयं पयं जस्स।
सिक्खियमिच्चाइतयं, तदणुवउत्तोनिगदमाणो॥

आगमतो द्रव्यावश्यकं भवति क इत्याह॥ तदावश्यकं निगदत्यवदन्नध्येता कथंभूतस्तस्मिन्नावश्यकेऽनुपयुक्तस्त-दनुपयुक्तः यस्याऽन्येतुः। किमित्याह। यस्य तदावश्यकपदं प्रथमं शिक्षितं जितमित्यादि विशेषणविशिष्टं भवति। अथ तान्ये-वाऽनुयोगद्वारादिसूत्रोक्तानि शिक्षितादिविशेषणानि व्या-क्यानयन्नाह॥

सिक्खिय मंतं नीयं हियय मिठियं जियं रुयं। एइस क्खियवण्णाइमियं परिजियमेरुक्कमेणंमि। जहसिक्खिओयं समानांमतहंतंपि तहाठियाइ नामसमं गुरुमणियं घोससरिसं संगहियमुहत्तातओतेय नविहीणक्खमहियक्खरं च वोच्चच्छ-रयणमालव्ववाइठक्कारकरमेयं वच्चा सियव न्नासं न खलियमुवलहणं पिव अमिलियमसरूवधन्नमे लोव्ववोशत्त-गब्वहवा अमिलियपयवक्कविच्छेयं। नय विविहसत्च्छपल्लव-विमिस्समठाण विन्नमहियं वा निव्वा मेलियकोलिययायसमिव सेरिकथं वा मन्नाइनियमाणं पडिपुन्नं च्छे दसाहवत्थेणं नाकंखायसवोसुं पुणमुदताइं घोसेहिं॥ कंठोठविप्पमुक्कं नाठत्तं बालसुयमणियं वा गुरुवायणो वयातं न चोरियं पुच्छयाउ वा॥

इहानुयोगद्वारेऽप्युक्तं॥

सेकिंतं आगमओ दव्वावस्सयं २ जस्स णं आवस्स यत्ति पयं सिक्खियं ठियं जियं मियपरिजियं नामसमं घोस समं अहीणक्खरं अच्चरकरं अव्वाइद्धाक्खरं अस्खलिय अमिलियं अविच्चामेलिवं पडिपुन्नं घोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं सेणं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिअट्टणाए धम्मकहाए। वर्तत इत्यध्याहारः॥

नोअणुपेहाए इहापि वर्तत इति शेषः इदं च सूत्रं आगम-ओदव्वावस्सयमित्यादि प्रागुक्तगाथायाः प्रायो व्याख्यातं शिक्षितादिपदानि त्विदानी व्याख्यायंते तत्रशिक्षितमिति कोऽ-र्थःअंतं नीत सर्वमधीमिति स्थितं हृदिव्यवस्थितमप्रच्युतमित्यर्थः। जितं हृतमागच्छतिच्छवर्णादिभिः संख्यातमितं यदुतक्रमेणाऽप्येत्याऽग-च्छतितत्सर्वतो जितं स्वकीयेन नाम्नासमं नाम समं यथा स्वनाम शिक्षितं तथा तदप्यावश्यकं तथा यथैव स्वनामस्थितादिविशेषण विशिष्टं घटते। स्थितंजितं मितं परिमितमित्यर्थः । एवंतदप्यावश्यकमतः स्वनामसमुच्चुच्यते । यद्वाचनाचार्याभिहितोदात्ताऽनुदात्तस्वरित-लक्षणैर्घोषैः सदृशमेव गृहीतं तत् घोषसमं न हीनाक्षरं नाप्यधिकारक्षरं (वोच्चच्छे) त्यादि यथा प्राप्ताभीरिग्रोतरत्नमालाविपर्ययन्यस्तरत्ननिचया भवंत्येवं यद्यत्पासितवर्णविन्यासं विपर्ययोपन्यस्तवर्णसंतानमित्यर्थः। तद्वाक्षरं न तथावा विद्धाक्षरं इदं वर्णमात्रापेक्षं विवक्ष्यते नतु वा-क्यापक्षं पदवाक्यविपर्ययस्तस्य वक्ष्यमाणमीलितविषयत्वादिति उपलशकलाऽ-कुलभूतले हलमिव यन्न स्खलति तदस्खलितं। विसदृशानेकधान्य-मेलववद्यन्न मिलति तदमिलितं। अथवा विपर्यस्तपदवाक्यग्रंथ मिलितं नैवं यतद मिलितं (अमिलि-यपवक्कविच्छेयंति) अथवेत्यत्रापि तृतीय व्याख्यांतरसूचकः संबध्यते। अमिलितोऽसंस क्तः.पदवाक्य विच्छेदो यत्र-तद्वाऽमिलितमुच्यते। अव्यत्यामेडितं व्याख्यातुमाह। नयवि-विहेत्यादि विविधानि नानाप्रकाराण्यनेकानि शास्त्राणि तेषां-पदवाक्यावयवरूपा बहवाः पल्लवास्तैर्विमिश्रंव्यत्यामेडितं अथवा स्थानच्छिन्नग्रथितं व्यत्यामेडितं यथा। प्राप्तराज्यस्य रामस्य राक्षसा निधनं गताः। कोलिकपायसवद्वेरीकंथावद्वा यथोक्तरूपं यन्न भवति तद्व्यत्यामेडितं। परिपूर्णं द्विधा। सूत्रतोऽर्थतश्च। तत्र छंदसा छंदः समाश्रित्य मात्रादिनियतमानं सूत्रतःपरिपूर्णं। यत्वनाकांक्षादिदोषस्त-दर्थतोऽपरिपूर्णं यत्क्रियाऽध्याहारं नाऽपे-क्षते। अध्यापकश्च तंत्रं च भवति तदर्थतः परिपूर्णमिति भावः। परिपूर्णघोषमिति व्याख्यातुमाह (पुन्न-) मित्यादि। उदात्तादिघोषैः परावर्तनादिकाले उच्चारयति। तत्परिपूर्णघोषं। इह च शिक्षाकालेऽध्यापकनिगदितोदात्तादिघोषैः समं शिक्षमाणस्य घोष-समं। शेषकाले तु परावर्तनादि कुर्वन्यदुदात्तादिघोषैः परिपूर्णमुच्चा-रयति तत्परिपूर्णघोषमित्यनयोर्विशेषः । कंठोष्ठविप्रमुक्तं न तु बालमूकभाषितवदव्यक्तं गुरोः सकाशाद्वाचनया उपयातमायातं न पुनः पुस्तकादेव चोरितः स्वतन्त्रेणैवाऽधीतं वाशब्दात्कर्णोद्घाटकेन वा गृहीतमिति। अत्र प्रेरकः प्राह।

आगमओऽणुवउत्तो, वत्ता दव्वंति सिद्धमावासं।
किंसिरिकयाइ सुयगुण, विसेसणो फलमिहत्तहियं।

नन्वागमतो ऽनुपयुक्तो वक्ता द्रव्यावश्यकमित्येतावतैव सिद्ध-मागतो द्रव्यावश्यकं किं शिक्षितं स्थितं जितमित्याद्या वश्यक-श्रुतगुणविशेषणैरिहा ऽभ्यधिकं फलमिति॥ अत्रोत्तरमाह॥

जह सव्वदोसरहियं पि, निगदओसुतमणुवउत्तस्स ॥
दवस्सुयं दव्वावासयं, च तह स वदकिरिया उवओ ॥१॥
उवउत्तस्स य खलियाइ, यं पिसुद्धस्स भाव ओसुत्तं ॥
साहइ तहकिरियाओ, सव्वाओ निज्जरफलाओ ॥२॥

इहाशिक्षितादिविशेषणकलापं कुर्वन्नाचार्य इति साधयतेततः कथयतीति द्वितीयगाथायां क्रिया किंसाधयतीत्याह यथा शिक्षितादिगुणेपेतत्वात्सर्वदोषरहितं सूत्रमनुपयुक्तस्य निगदतो द्रव्यश्रुतं वक्षमाणद्रव्यावश्यकं चोक्तस्वरूपं भवति। तथा प्रत्युपेक्षणप्रमार्जनेत्यादि क्रियाऽपि सर्वा अनुपयुक्तस्य कुर्वतोंऽतः प्रणिधानशून्यत्वा-दृव्यक्रिया स्तत्फलविकला भवंति। तथा यथैव सामर्थ्यादिदं लभ्यते उपयुक्तस्य त्वंतः प्रणिधानयुक्तस्य कारणवैकल्पादिकारणात्कय मपि स्खलितादिदोषदुष्टमपि सूत्रं निगदतो भावतः शुद्धस्य तस्य भावसूत्रमेव भवति। तथा सर्वाऽपि प्रत्पुपेक्ष आदिक्रिया उपयुक्तस्य कुर्वतः कमनिर्जराफला एव भवं त्यतः सर्वेष्वपि भगवदुक्ताऽनुष्टानेप्वतः-प्रणिधानेऽतिशयः प्रयत्नः कार्य इति॥ विशे०॥

अथ नो आगमतोऽभिधित्सुराह॥

नो आगमओजाणय, भव्वसरीरइरित्तमावासं।
लोइयलोउत्तरियं, कुप्पावयणं ज हा सुत्ते॥

नो आगमतो द्रव्यावश्यकं त्रिविधं ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकं भव्य शरीरद्रव्यावश्यका। तदुभयद्रव्यावश्यकव्यतिरिक्तं च तत्र स-म्यक् पूर्वाऽधीताऽवश्यकं सिद्धशिलातलगतं जीवविप्रमुक्तं मुनि-शरीरमनुभूतभावत्वात् ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकं। यत्पुनरावश्य-कार्थ ज्ञास्यति। न पुनरिदानीं जानाति तत्सचेतन० देव दत्तादिशरीरं योग्यत्वाद्भव्यशरीरद्रव्यावश्यक। एतदुभयव्य तिरिक्तं तु नो आगमतो द्रव्यावश्यकं त्रिविधम्। लौकिकं लोकोत्तरं कुप्रावचनिकं च। तत्र लौकिकं राजादीनां मुखप्रक्षालनाद्यावश्यक लोकोत्तरंतु येश्मे श्रमणगुणविप्रमुक्ता लिंगमात्र-धारिणः साध्वाभासाः प्रतिपदमनेकान्यसंयमस्थानान्या-सव्योभयकालं प्रतिक्रमणाद्यावश्यकं कुर्वंति तद्विज्ञेयं। कुप्रावचनिकं तु यत्पाखंडिनश्चामुंडायतनोपलेपनाद्यावश्यक कुर्वति तद्बोद्धव्यं नोशब्दश्चेह सर्वत्रागमे सर्वनिषधे द्रष्टव्यः। एतच्च सर्वमपि नो आगमतो द्रव्यावश्यकं सप्रभेद यथा सूत्रे!अनु योगद्वाराख्ये प्रोक्तं तथा विज्ञेयमिति। इह लोकोत्तरं यन्नो आगमतो द्रव्यावश्यकमुक्तं तत्रोदाहरणमाह॥

लोउत्तरे अभिकखण, मासेवाजोयओ उदाहरणं।
सरयणदाहगवाणिय, नाण जइ उवालद्धे॥

लोकोत्तरं नो आगमतो द्रव्यावश्यकेऽभीक्ष्णमासेवकालोचक : साध्वाभास उदाहरणं। आसेवकश्चासावालोचकश्चेति समासः। आसेवकालोचकस्य च योऽगीतार्थोगुरुः स खलु रत्नदाह-कवणिग् ज्ञानेन गीतार्थयतिभिरुपालब्धः इत्यक्षरार्थो भावार्थस्तु कथानक-गम्यस्तच्च कथ्यते।

वसतपुरं नाम नगरं तत्र चाऽगीतार्थः संविग्नाभास एकोगच्छः सूरिसहितो विचरति। तन्मध्ये चैकः साध्वाभासस्तिष्ठति। स च प्रतिदिनमुदकाऽर्द्रहस्तादिदोषदुष्टान्यनेषणी यभक्तपा नकादीनि गृहीत्वावश्यककाले महांतं संवेगमिवोद्वहन् सर्वं गुर्वंति केऽन्व-हमालोचयति गुरुरपितच्छैव प्रायश्चित्ते प्रयच्छति। तत्र प्रच्छ-न्नगीतार्थत्वेन नित्यमेव वक्त्यहो धर्मश्रद्धालुरयं महाभागः सुखे-नासेव्यते दुष्करं च यदित्थमालोच्यते। अतोऽशठत्वादेव शुद्धो-ऽयमेतच्च दृष्ट्वान्यमुग्धसाधवश्चितंयत्यहो आलोचयितव्यमवेत साध्यं। तच्चेत्क्रियते तर्ह्यकृत्याऽसेवनेऽपि न कश्चिद्दोषइत्येवं सर्वस्मिन् गच्छे प्रायः प्रवृत्तमसमंजस इति। इत्थं च व्रजति काले अन्यदा गीतार्थः साधुः कश्चित्तत्र गच्छे प्राघूर्णकः समायातस्तेन चासौविधिःसर्वोऽपि दृष्टस्तश्चिंतित-महोऽनेनागीताथगुरुणा सर्व्योप्ययं नाशितो गच्छ स्ततस्तेन भणितो गुरुराह।

त्वममुं नित्यमकृत्यासेवकं साधुमित्थ प्रशंसन् भवसिन-गरनृपतेस्तन्नगरवासिलोकस्य च सदृशः कथमित्यत्रोच्यते।

गिरिनगरं नाम नगरं तत्र चैकोवणिक कोटीश्वरो निवसति। स च वैश्वानरभक्तवात्प्रतिवर्षं रत्नानामपवरकं भृत्वा वन्हिना प्रदीप-यति। तं च तथा कुर्वंतं राजा नगरलोकश्च सर्वदा प्रशंसति। यच्छा अहो वैश्वानरे भक्तिरस्य यदमुं भगवंतं प्रतिवर्षमित्थं रत्नैस्तर्पयत्यसौ। एवं च प्रशस्यमानोऽय मादृततरः प्रतिसंवत्सरं तथाऽनुतिष्ठति। ततोऽन्य दा प्रचण्डपवनोद्धूतस्तेन प्रदीपितो वन्हिः सराजगृहं समस्तमपि नगरं भस्मसात्करोतिस्म। ततः सनगरेण राज्ञा किमस्माभिरित्थं कुर्वन्नासौ पूर्वनिषिद्धः किंवा प्रशंसित इत्यादि बह पश्चात्ताप कृत्वा दंडितो निर्वासितश्च नगरादसौ वणिगिति। एवमाचार्य! त्वमपि अविधि-प्रवृत्तस्याऽस्यसाधोर्नित्यमित्थंप्रशंसां कुर्वन्नमुमात्मानं गच्छं च नाशयसि। तस्मान्मपुरापुरीनरपते स्तन्निवासिलोकस्य च सदृशोभव यतोऽनर्थभाग्र भवसि। कथमित्यत्राऽभिधीयते॥

मथुरानगर्यामपि वैश्वानरभक्तेन केनापीश्वरवणिजा इत्थमेव रत्नभृतं गृहं प्रदीपयितुमारब्धम् ततः स नगरलोकेन राज्ञादंडितः तिरस्कृतश्चासो-वणिगटव्यां गृहं कृत्वा किमित्थ न प्रदीपयसीति निष्कसिता नगरादिति त्वमपीत्थंकुवन्नमुमात्मान गच्छ चानर्थेभ्यो रक्षसि तदित्थं युक्तिभिः शिक्ष्यमाणोऽप्य सो गुरुरगीतार्थत्वेन साग्रहतया निर्धर्मतया च स्वप्रवृत्तेर्ननिवर्तते। ततस्तन प्राघूर्णकसाधुना गच्छसाधवोऽभिहिताः। अलमेवं भूतस्य गुरोर्वशवर्तित्वेन परिह्रियतामयमन्यथा सर्वेषामनर्थाय संपत्स्यत। ततस्तवैवाऽनुष्ठितं तैरिति। तदेवं भूतस्य गच्छस्य सत्क नोआगमतो लोकोत्तरं द्रव्यावश्यकम भिधीयत इति तदेव सोदाहरणुक्तं द्रव्यावश्यकं॥

अधुना भावावश्यकमभिधीयते। तच्च द्विधा आगमतो नो आगमतश्च। तदेतदुभयमप्याह॥

आगमओभावावस्सयं, तदत्थोवओगपरिणामो।
नो आगमओभावे, परिणामो नाणकिरियासु॥

आगमतो भावावश्यकमावश्यकार्थोपयोगपरिणामः नो आगम-तस्तु ज्ञानक्रियोभयपरिणामो मिश्रवचनत्वान्नोशब्दस्येति। इदं च त्रिविधमपि दर्शयन्नाह॥

लोइयलोउत्तरियं, कुप्पावयणं च तं समासेणं।
लोउत्तरं पसच्छं सत्थे तेणाहिगारोयं॥

तन्नो आगमतो भावावश्यकं त्रिविधं। लौकिकं लोकोत्तरं कुप्रावचनिक। एवं चोपन्यासः पूर्वं यतिरिक्तद्रव्यावश्यकेऽत्र च भावावश्यके वंधानुलोम्यादिना केनापि हेतुना कृतो यावताऽनुयोगद्वारसूत्रेण इत्थमुक्तं। लौकिकंकुप्रावचनिकंलोकोत्तरं चेति। तत्र लौकिकंनो आगमतो भावावश्यकं। पूर्वाह्णे भारतं अपराह्णे रामायणं वाचनीयमित्यादि कुप्रावचनिकं। मंत्रादि

पाठपूर्वकमिज्यांजलिहोमादि लोकोत्तरं पुनरुपयुक्तस्य श्रमणादेर्मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणावर्त्तादि क्रियामिश्रमुभयकालभावश्यकसूत्रोच्चारणं एवं सर्वत्र ज्ञानक्रियामिश्रता भावनीया। इह च त्रिविधेऽपि नो आगमतो भावावश्यके पारमार्थिकाऽनुपमाऽप-वर्गसुखप्राप्तिहेतुत्वाल्लोकोत्तरमेव प्रशस्तं। तदेव चेह शास्त्रेऽधिक्रियत इति। विशे० आ० म० प्र० १ अ०। आ० चू० १ अ०।

आवश्यकं च गुरुसाक्षिकमेव कर्त्तव्यम्।
तथा च विशेषावश्यके॥

आवस्सयंमि निच्चं, गुरूपादमूलंमि देसियं सव्वं होइ।
वीसंपि हुसंवसओ, कारणओ जंदमिसेज्जाए॥

अनेन गुर्वमंत्रणवचनेन आवश्यकं प्रतिक्रमणं गुरुपादमूल एव नित्यं कर्तव्यं इति दर्शितं भवति। यद्यद्यस्मादभिशव्यायां द्वितीयवसतावित्यर्च्छः। कारणतः कारणवशाद्विष्वगपि संवसतः साधोः कल्पग्रंथे इयं सामाचारी प्रोक्तोति शेषः का पुनरियं कल्पसमाचारीत्युच्यते।

जइ खुद्दुल्लगा वसहीतो, अन्नगंतूणा कपयया साहूणो।

वसंति तत्राचार्यसमीपे (पडिक्कमिउं पाउसिय) कालग्रहणोत्तरं कालं सूत्रार्थपौरुषीं कृत्वा अन्यस्यां गच्छंतो अथांतरा श्वापदादिभयं ततोऽर्थपौरुषां हापयंति तथा सूत्र-पौरुषांमपि कालमपि तथा चरमं कायोत्सर्गं द्वितीयमाद्यं यावत्तिष्ठत्यपि सहस्रश्रमौ तत्र यांतीति न केवलं प्रतिक्रमणं किंत्वेवमेव शेषाण्यपि सर्वाणि साधुभिरवश्यं कर्तृत्वान्यावश्यकानि। गुरुनापृच्छ्य कर्तव्यानीत्येतद्ज्ञापितमामंत्रणवचनाद्येन सर्वेषामप्यावश्यकानां सामायिकमेवादौ मतं भदंतशब्दश्च य स्मात्तदादौ निर्दिष्टस्तेनानुवर्ततो तत्कोऽसो सर्वेष्वप्यावश्यकेषु कथमित्याह॥ इदमिद च करोमि भदंता! इति। एतदेवाह॥

एवं चिय सव्वावस्सयाइ आपुच्छिउण कज्जाइं जाणा वियमामंतणवयणा। जेण सव्वेसिं सामाइयमाइयं ओ यं भदंत! सद्दोयजंतदुदाइ एतेणाण्णुवत्तइ तओकरेमि! भंते ति सव्वेसु॥

गतार्थं। किमिति गुरूनापृच्छ्यैव सर्वावश्यकानि कर्तव्यानीत्याह। किच्चाकिच्चं गुरुवो, विदंति विणयपडिवतिहेऊं च। उस्सासाइए मोत्तु, तदण्णपुछाए पडिसिद्धं॥१॥ पाठसिद्धा। यत्र तर्हि गुरुर्न भवति तत्र किं विधेयमित्याह॥

गुरुविरहम्मि य ठवणा, गुरूवसेवोवदंसणत्थं च।
जिणविरहम्मि वि जिण, बिंबसेवणमंतणं सफलं १
रन्नोवपरोक्खस्स वि, जह सेवामंतदेवया एव।
तह य परोक्खस्स वि, गुरुणो सेवा विणयहेऊ २
अहवा गुरुगुणनाणो, चउगउभाव गुरुसमा एसो।

इह विणयमूल धम्मो, वएसणत्थं चउभियं विणयसासाणमूलं। विणीऊंसंजाऊ भवो, विणयाविप्पमूक्कस्स कउधम्मो ३ कउतवो विणउवयारं, माणस्स भंजणापूयणा गुरुजणस्स। तित्थयराणय आणा, सुयधम्माराहणा किरिया॥

पाठसिद्धा एवेति॥

आवश्यकाकरणेऽसमाचारी दोषः॥

न करेंती आवस्सं, हिणाहियनिविद्ध पाउयनिविन्ना।
दंडगहणादिविणयं, राइणियादीणा न करेंति॥

आवश्यकं मूलत एव न कुर्वंति। यदि वा हीनं अधिकं वा कायोत्सर्गाणां हीनकरणतोऽधिकं वाऽनुप्रेक्षार्थं कायोत्सर्गाणामेव चिरकालकरणतः कुर्वंति। यदि वा निषण्णा उपविष्टाः प्रावृत्ताः शीताः शीतादिभयतः कल्पादिप्राचरणप्रावृत्ता निषण्णास्त्वग्वर्त-नेन निपतिताः प्रकुर्वंति। व्य० १ उ०।

आवश्यकाकरणे प्रायश्चितम्। महा० ७ अ०॥

से भयवं केवइयाइं पायच्छित्तस्स णं पयाइं खाइयाइं गोपायत्थिस्स पयाइं संखाइयाइं से भयवं तेसिणं संखा इयणं पायच्छित्त पयाणं किंतं पढमं पायच्छित्तस्स णं गोयमा! पइदिणकिरियं से भयवं किंति पइदेणकिरियं गोयमा! जं मणुं समयाअहन्निसायणोवरमंजावणुट्ठेयव्वाणि संखेज्जाणि आवस्सगाणि। से भयवं केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ। जहा ण आवस्सगाणि गोयमा! असेसकसिणट्ठकम्मक्खयकारि उत्तमसम्मदंसणं चारित्तं अचंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुक्करं तवसाहणट्ठाए परूविज्जंति। नियमिय विभत्तुदिट्ठं परिमिएणं कालसमएणं पयं पयेणाहं निसाणुसमयमाजम्मं अवस्समेव तित्थराइसु कीरंति अणुट्ठिज्जयंति उवइसिज्जं ति परुविज्जंति पन्नविज्जंति सययं एराणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ। गोयमा! जहा णं आवस्सगाणि तेसिं चणं गोयमा! जे भिरकू कालाइक्कमेणं वेलाइक्कमेणं समयाइक्कम्माणं आलसायमाणे अणोवओपमत्ते अविहीए अन्नेसिं व असट्ठं उप्पायमाणो अन्नयरमावस्सगं पमाइयसं तेणं बलवीरिएणं सातलेहडताए आलंबणं वा किंचिघेत्तूणं विराइयं पउरियाणाणं जहुतयालं समणुट्ठेज्जासेणं गोयमा! महा पायच्छित्ती भवेज्जा॥

अकएसु य पुरिमा, संणमायायं सव्वसो चउत्थं तु।
पुव्वमपेहिय थंडिल, निसिवो सिरिणे दिवासुवणे॥५३॥

अकृतेषु पुनः कार्योत्सर्गेषु वंदनकेषु च एकादिषु एकद्वित्रिषु पुरिमैकाशनाचामाम्लानि (सव्वसो चउत्थंतु) सर्व्वस्मिंस्तु प्रतिक्रमणे अकृते चतुर्थन्तु। तथा पुर्व्वं सन्ध्यायामप्रेक्षितस्थण्डिले निशि संज्ञोत्सर्गे कृते चतुर्थं। तथा दिवसे निद्राकृते चतुर्थं॥५३॥ जीत० टी०॥

निव्वीतियपुरिमद्धोअंबिलखपणा य आवासे॥

आवासे आवश्यके एकादिकायोत्सर्गाऽकरणे सर्वावश्यकाकरणे यथासंख्यं निर्विकृतिपूर्वार्द्धाचाम्लक्षपणानि। इयमत्र भावना। आवश्यके यद्येकं कायोत्सर्गं न करोति ततः प्रायश्चित्तं। निर्विकृतिकं कायोत्सर्गद्वयाकरणे पूर्वार्द्धं त्रयाणा मपि कायो-त्सर्गकरणानामकरणे आचाम्लं सर्वस्याऽपि चावश्याकस्याकरणे अभक्तार्था इति। व्य० १ उ०॥

देशतः सर्वतो वाऽऽवश्यकाकरणकारणान्यभिशय्यागमनवेलामधिकृत्य व्यवहारकल्पे॥

आवस्सयं तु काउं, निव्वाघाएण होइ गंतव्वं ।
वायाएण उभयणा, देसं सव्वं अ काउणं ॥

व्याघातस्य स्तेनादिप्रतिबंधस्याऽभावोनिर्व्याघातेन भवति । गंतव्यं वसतिराचार्यैः सममावश्यकं कृत्वा व्याघातो न पुनर्हेतु भूतेन भजनाविकल्पेन का भजनेत्यत आह । देशं वा आवश्यकं-कृत्वा सर्वं वावश्यकमकृत्वा संप्रति यैःकारणैः प्रतिबन्ध-स्तान्युपदर्शयति ।

तेणासावयवाला, गुम्मिय आरक्खिठवणपडीणीए ।
इत्थिनपुंसगसंसत्त, वासचिरकल्लकंटे य ॥

स्तेनाश्चौरास्ते संध्यासमयेऽधकारकलुषिते संचरंति । श्वापदानि चादुष्टानि भूयांसि तदा उदग्राणि हिंडंते व्याला वा भुजंगमादयो वातादिपानाय भूयांसः संचरंति तच्छा गुल्मेन स समुदायेन संचरतीति गौल्मिका आरक्षिकाणामप्युपरिस्थायिनो हिंडिकाः पुररक्षकास्ते अकाले हिंडमानान् गृह्णंति । तथा ठवणत्ति । क्वचिद्देशे एवं रूपा स्थापना क्रियते । तथा अस्तमिते सूर्ये रथ्यादिषु सर्वथा न संचरणीयमिति प्रत्यनीको वा कोऽप्यं तराविघातकरणार्थं तिष्ठन् वर्त्तते स्त्रियो नपुंसका वा कामबहुलास्तदा उपसर्गयेयुः । संसक्तो वा प्राणजातिनिरयांतराले मार्गः । ततोऽधकारेणेर्यापथिकी न शुद्ध्यति । वर्ष वा यत्तत् संभाव्यते (वासचिरुवल्लोत्ति) कर्दमो वा पथि भूयानस्ति । ततो रात्रौ पादलग्नः कर्दमः कथं क्रियते (कंटत्ति) कंटका वा मार्गेऽतिबहवस्ते रात्रौ परिहर्तुं न शक्यंते । एतैर्व्याघातकारणैः समुपस्थितैः देशतः सर्वतो वा वश्यकमकृत्वा गच्छंति तत्र देशतः कथमकृत्वेत्यत आह ॥

थुतिमंगलकितिकम्मे, उस्सग्गो य तिविहकियकम्मे ।
तत्तो य पडिक्कमणे, आलोयणायाए किति कम्मो ॥

स्तुतिमंगलमकृत्वा स्तुतिमंगलाकरणे चायं विधिः । आवश्यके समाप्ते द्वे स्तुतीउच्चार्य तृतीयांस्तु तिमकृत्वा अभिशय्यां गच्छंति तत्र च ग त्वाचेर्यापथिकिं प्रतिक्रम्य तृतीयां स्तुतिं ददति अथ वा आवश्यके समाप्ते एकां स्तुति कृत्वा द्वेस्तुती अभिशय्यां गत्वा पूर्वविधिनोच्चारयति । अथ वा समाप्ते आवश्यके अभिशय्यां गत्वा तत्र तिस्रः स्तुतीर्ददति । अथवा स्तुतिभ्यो यदवक्तितत्कृतिकर्म्म तस्मिन्नकृतेऽभिशय्यां गत्वा तत्रेर्यापथिकींप्रतिक्रम्य मुखवस्त्रिकां च प्रत्युपेक्ष्य कृतिकर्म्मकृत्वास्तु-तीर्ददति (काउस्सगो य तिविहत्ति) त्रिविधे कार्योत्सर्गे क्रमेण कृते तद्यथा चरमकार्योत्सर्गमकृत्वा अभिशय्यांगत्वा तत्र चरमकायोत्सर्गादिकं कुर्वंति । अच्छवा द्वौकार्योत्सर्गो चरमावकृत्वा यदि वा त्रीनपि कार्यात्सर्गान् अकृत्वा अथ वा कार्योत्सर्गेभ्योऽवक्तिनं यत् कृतिकर्म्म तस्मिन्नकृते उपलक्षणमेतत् । ततो अवक्तिने क्षामणेयदि वा ततोऽप्यवक्तिने कृतिकर्म्मणि अकृते अथ वा ततोऽप्यवक्तिने प्रतिक्रमणे अकृते यदि वा ततोऽप्यवक्तिने आलोचने अकृते अथवा ततोऽप्यवक्तिने कृतिकर्म्मणि अकृते अभिशय्यांमुपगम्य तत्र तदाद्यावश्यकं कर्तव्यमिति । एवमावश्यकस्य देशतोऽकरणमुक्तमिदानीं सर्वस्याकरणमाह ।

काउस्सग्गमकाऊं, कितिकम्मालोयणं जहण्णेणं ।
गमणम्मी एसविही, आगमणम्मीविहीं वोत्थं ॥

यो देवसिकातिचारानुप्रेक्षार्थं प्रथमः कार्योत्सर्गस्तमप्यकृत्वा किमुक्तं भवति। सर्वमावश्यकमकृत्वाऽभिशय्यां गच्छंति। किमेवमेव गच्छन्ति । उतास्ति कश्चन विधिरुच्यते । अस्तीति ब्रूमः । तथा चाह । कितिकम्मालोयणं जहण्णेणंति । जघन्येन जघन्यपदे सर्वमावश्यकम-कृत्वा सर्वे गुरुभ्योवंदनं कृत्वा यश्च सर्वोत्तमोज्येष्ठः स आलोच्य तदनंतरमभिशय्यांगत्वा सर्वमावश्यकमहीनं कुर्वंति । एषोऽभिसय्यायां गमनेऽभिसंज्ञातः प्रत्यागमने पुनर्योविधिस्तमिदानीं वक्ष्ये ॥

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ।

आवस्सगं अकाशं, निव्वाघाएण होइ आगमणं ।
आघायम्मि उ भयणा, देशं सव्वं च काउणं ॥

यदि कश्चनापि व्याघातो न भवति ततोनिर्व्याघातेन व्याघाता-भावेनावश्यकमकृत्वाऽभिशय्यातो वसतावागमनं भवति । आगत्य च गुरुभिः सहावश्यकं कुर्वंति व्याघाते भजना कापुनर्भजनेत्यत आह । देशमावश्यकस्य कृत्वा सर्वं वाऽऽवश्यकं कृत्वा तत्र देशत आवश्यकस्य करणमाह ॥

काउस्सग्गं काऊं, कितिकम्मालोयणं पडिक्कमणं ।
किइकम्मं तिविहं वा, काउस्सग्गं परिण्णाय ॥

कार्योत्सर्गमाद्यं कृत्वा वसतावागत्य शेष गुरुभिः सह कुर्वंति । अथ वा द्वौ कार्योत्सर्गो कृत्वा यदिवा त्रीन्कार्योत्सर्गान् कृत्वा अथ वा कार्योत्सर्गत्रयानंतरं यत् कृतिकर्म्म तत्कृत्वा अथवा तदनंतरमालोचनमपि कृत्वा यदि वा तत्परं यत्प्रतिक्रमणं तदपि कृत्वा अथवा तदनन्तरं यत्कृतिकर्म्म द्विभेदं क्षामणादवक्तिनं परश्चेत्यर्थः ॥ तदपि कृत्वा पाठांतरं तिविहं ते विमूलकृतिकर्म्मापेक्षया त्रिविधं वा कृतिकर्म्म कृत्वा अथवा कायोत्सर्ग चरम षाण्मासिकं कृत्वा परिज्ञाप्रत्याख्यानं तामपि वा कृत्वा । अत्रायं विधिः । सर्वे साधवश्चरमकार्योत्सर्गं वसतावागत्य गुरुसमीपे वंदनकं कृत्वा सर्वोत्तमश्च ज्येष्ठः आलोच्य सर्वे प्रत्याख्यानं गृह्णंति । अथवा सर्वमावश्यकं कृत्वा एकां स्तुतिं दत्वा शेषे द्वे स्तुती कृत्वा शेषं गुरुसकाशे कुर्वंति ॥ तदेवमुक्तं देशतः आवश्यकस्य करणमधुना सर्वतः कारणमाह ॥

थुति मंगलं च काऊं, आगमणं होति अभिनिसिज्जातो ।
वितियपदे भयणाऊ, गिलाणमादी उ कायव्वा ॥

अथवा प्रत्याख्यानं तदनंतरं स्तुतिमंगलं च स्तुतित्रया कर्षणरूपं तत्र कृत्वा अभिशय्यात आगमनं भवति । तत्रेयं समाचारी गुरुसमीपे ज्येष्ठ एक आलोचयति आलोच्य प्रत्याख्यानं गृह्णातीति शेषः ज्येष्ठस्य पुरत आलोचना प्रत्याख्यानं च कृतं वंदनकं च सर्वे ददति क्षामणं च । द्वितीयपदे अपवादपदे ग्लानादिषु प्रयोजनेषु भजना कर्तव्या । किमुक्तं भवति ग्लानादिकं प्रयोजनमुद्दिश्य वसतौ नागच्छेयुरपीति ग्लाना दीन्येव प्रयोजनान्याह ॥

गेलण्णवासमहिता, पदुट्ठ अंते उरे निवेअगणी ॥
अहिगरणहत्थि संभम ण, गेलण्णनिवेयणा नवरिं ॥

ग्लानत्वमेकस्य बहूनां साधूनां तत्राऽभवत् ततः सर्वेऽपि साधवस्तत्र व्यापृतीभूता इति न वसतावागमनं अथवा वर्ष पतितुमारब्धं मिहिका वा पतितुं लग्ना यद्वा (पउट्ठत्ति) प्रविष्टाः कोऽप्यंतराविरूपकरणाय तिष्ठति । अंतः पुरं वा तदानीं निर्गंतुमारब्धं । तत्र च राज्ञा उद्घोषितं यथा पुरुषेण न केनापि रथ्यासु संचरितव्यं । राजा वा तदा निर्गच्छति । तत्र हयगजपुरुषादीनां संमर्दः अग्निकायोबांतराले महान् उत्थि तोऽधिकरणं वा गृहस्थेन समं कथमपि जात वृहद्वृषभा स्तदुपशमयितुं लग्ना हस्तिसभ्रमो वा जातः । किमुक्तं भवति ।

हस्ती कथमप्याऽलानस्तंभं भंक्त्वा शून्यासनःस्वेच्छया तदा परिभ्रमति । एतेषु कारणेषु नागच्छेयुरपि वसतिं नवरमेतेषु कारणेषु मध्ये ग्लानत्वे विशेषः यदि ग्लानत्वमागाढमुपजातमे कस्यबहूनां वा तदा गुरूणां निवेदना कर्त्तव्या ॥व्य० १ उ०॥

कालाद्यतिक्रमेणाऽवश्यके प्रायश्चित्तम् । तथा च महानिशीथे ७ अ० ॥

एवं जेणं भिक्खू सुताइक्कमेणं कालाइक्कमेणं आवस्सगं कुव्वीया । तस्स णं कारणिगस्स मिछुक्कडं गोयमा ! पायछि उ वइसेज्जा जइ णं आकरिणिगतेसिं तूणं जहाजो गं चउत्थाइं ॥

आवश्यके च प्रमादो न कार्य्यः । पं० भा० ।

माकुणहप्पमायं, आवस्सएहिं संजमतवोतहाणेहिं ।
णिस्सारं माणुस्सं, दुल्लभलाभं वियाणेत्ता ॥

(माकुण हप्पमायं) अस्नानोनाः प्रतिषेधे माकुरुत कषाययोगा-दिभिः प्रमादं आवश्यकरणीयमावस्यकं । किंचित् तदाबश्यकं संयमतपोध्या-नादिभिः । एष आवश्यकः तप एव उपधानं तपो पधानं किमर्थं । यस्मान्निः सारं मानुष्यं जलबुद् बुदसमानं कुशा ग्रजलबिंदुसन्निभं चेत्यादि ततश्चैवं गुणं जातीयं दुर्लभं दुःप्रा-प्यमित्यर्थः । विविधमनेकप्रकारं वा ज्ञात्वा दिट्ठंतो ॥ पं० चू० ॥

आवश्यकप्रमादे प्रायश्चित्तम् ॥

सेभयवं जेणं गणी किं चि आवस्सगं पमाएज्जा गोयमा ! जेणंगणा अकाराणिगे किंची खणमेगमवि पमाएसेणं अवदंउवइसेज्जाजओणं तुम महाकारणिगे वि संते गणी खणमेगमविणकिंचि णियमावस्सगं पमाए सेणं वंदे पूए दट्ठव्वे जावणं सिद्धे बुद्धे पारगए खीणट्ठकम्ममले नीरए उवइसेज्जा सेसं तु महयाए बंधेणं सत्थाणे चेव भाणिहिइ एवं पच्छित्ते विहिं सोउणाणुट्ठती अदीणमणो जं जइय जहा थामं जे से आराहगे भणिए । महा० ७ अ० ॥

सम्प्रति श्रावकस्य बव्हारंभरतस्याऽप्यावश्यके न दुःखांतो भवतीति दर्शयितुमाह ।

आवस्सएण एएण, सावओ जइवि बहुरओ होइ ।
दुक्खाणमंतकिरियं, काही अचिरेण कालेणं ॥

आवश्यकेनैतेनेति षड्विधभावावश्यकरूपेण नतु दंत-धावनादिना द्रव्यावश्यकेण श्रावको यद्यपि बहुरजा बहु-बद्ध्यमानकर्म्मा बहुरतो वा विविधसावद्यारंभासक्तो भवति तथापीत्यध्याहाराद् दुःखानां शरीरमानसानां (अंतकिरियं) अंतक्रियां विनाशं करिष्यत्यचिरेण स्तोकेनैव कालेन—अत्र चांतक्रियायां अनंतरहेतुर्यथाख्यातचारित्रं तथापि परंपराहेतुरिदमपि जायते सुदर्शनादेरिवेति । ध० २ अधि० ॥

श्रावकस्याऽवश्यकम् ॥

अविरुद्धो ववहारो, काले तह भोयणं च संवरणं ।
चे इहरागमसवणं, सक्कारो वंदणाईय ॥पंचा० ॥

नत्वावश्यककरणमित्यसंगतं श्रावकं प्रति व्रतादिवत्तस्याऽगमने विधेयतया उपदिष्टत्वात्तथा ह्यसौ उपासकदशादौ मूलाग-मेनोपदेशोज्ञापकं चोपलभ्यते तदुद्धाररूपे श्रावकप्रज्ञप्त्यादौ च तथैव च श्रावकप्रतिदिनक्रियां प्रतिपादयताऽचार्येण चिइवंदणमो इत्येताव-देवोक्तमय ब्रूषे ।

समणेण सावएणय, अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा ।
अंतो अहो निसिस्सय, तम्हा आवस्सयं नाम ॥

इत्यस्यामनुयोगद्वारगाथायां श्रावकस्य तदुपदिष्टसिद्धौ हेतुः नैवं तत्र चैत्यवदनादिनैवावश्यकस्य गतार्थत्वाद्यतोयदवावश्यं कर्त्तव्यं तदेवावश्यकमवश्यकर्त्तव्यं च चैत्यपूजावंदनादिश्रावकस्य यदि पुनरिदं षड्विधावश्यकमवश्यकर्त्तव्यतया श्रावक-स्योपदिष्टम भविष्यत्तदा य एवषड्विधावश्यककारी सएव श्रावकोभविष्यन्नचैवमविरतानामपि सामायिककारिणां श्रावकत्वाभ्युपगमादिति । अत्रोच्यते । यदुक्तमुपासकदशादावमुक्तत्वात् श्रावकाणामावश्यकमयुक्तमिति । तदयुक्तमनुपदिष्टत्वस्या-सिद्धत्वात्तथाहि । यद्यप्युपासकदशादौ नोपदर्शि । तत्तेषां तथाप्यनुयोगद्वारेषु तदुपर्शि तथाहि ॥

जं इमंसमणे समणीवा सावए वा साविया वा तच्चित्ते तम्मणे ज्जाव उभओकालं छव्विहं आवस्सयं करेंति सेत्तं लोउत्तरियं भावावस्सयंति ॥

यच्चोक्तं । चैत्यवन्दनादि श्रावकस्याऽवश्यकमिति तदप्यसंगतं (मज्झयणछक्कवग्गो) इत्यादि तदेकार्थिकपदोपन्यासेन तस्य षड्विधत्वेन निश्चितत्वादुमास्वातिवाचकेनाऽप्यस्थ समर्थि-तत्वात्तथाहि तेनोक्तं । सम्यग् दर्शनसंपन्नः षड्विधावश्य कनिरतश्च श्रावको भवतीति गम्यते । तथा अशठसमाचरित त्वादिजीत-लक्षणोनामिहोप-पद्यमानत्वेन जीताभिधानपंचमव्यवहारसम-र्थितत्वात्तथा । यदुक्तं (समणेण सावएण य) इत्यत्र गाथायां यदि षड्विधावश्यकं विवक्षितमभविष्यत्तदा तत्कारिण एव श्रावका अभविष्यन्नान्ये इति । तदप्यसंगतं । श्रमणपक्षेऽप्यस्य दूषणस्य समानत्वात्तथाहि । य एव षड्विधमावश्यकं कुर्वन्ति स एव श्रमणाः स्युस्ततश्च कारणजाते प्रतिक्रमणकारिणां मध्यमतीर्थसाधू-नामश्रमणता स्यान्न चैवमय चरमतीर्थसाधूनाश्रित्येयं गाथोक्ता । सत्यं । केवलं यदि श्रावकाणां षड्विधाऽवश्यकप्रज्ञापनार्थापि स्यात्तदा किं दूषणमिति । अथ ब्रूषे षड्विधावश्यकमति-चारशुद्धिरूपं वर्तते । न च श्रावकाणामालोचनादि दश-प्रकारशुद्धेर्मध्यादेकापि प्रकल्पादिग्रंथेषूपलभ्यते । न च तेषा-मतिचारा घटंते । संज्वलनोदय एव तेषामुक्तत्वादित्यत्रोच्यते । यद्यपि श्रावकाणां प्रकल्पा दिग्रंथेषु शुद्धिर्न दृश्यते । तथाऽप्यसौ श्रावकजीतकल्पादेः सका शादवश्याभ्युपगंतव्या । अन्यथो-पासकदशासु यदुक्तं किल भगवान् गौतममुनिरानन्दश्रावकं प्रत्यवादीत् ॥

तु मण्णं आणं दाएयस्स अट्ठस्स आलोयाहि पडिक्कमाहि निंदाहि गरिहाहि अहारिहं तवोकम्मंपायाच्छित्तं पडिवज्जाहीति ॥

तत्कथं घटेताऽतएव ज्ञापकादतिचारा अपि तेषां भवंतीति सिद्धं यच्छाचारा असंज्वलनोदयेऽपि भवन्ति । तथा प्रागुक्तं किंच यदीदं चैत्यवंदनादिकमावश्यकं स्यात्तदाऽतो अहोनिसिस्सय इति मुनि-वचनेन सन्ध्याद्वय एव श्रावकस्य तद्विधेयं स्यात् श्रूयते । पुनरेवं ॥

दंसणसुद्धिनिमित्तं, तिक्कालं देववंदणाइयंति

अतः सन्ध्याद्वयकरणनियमः षड्विधावश्यकस्यैवोपपद्यते साधूनामिवेति किंच ॥

सव्वंति भाणिऊणं, विरई खलु जस्सविया नित्थ।
सोसव्वविरइवाइ, चक्कइदेसं च सव्वं च॥

इत्यनया गाथया सामयिकसूत्र सर्वशब्दवर्जं श्रावकस्योक्तं। चतुर्विंशतिस्तवस्तु सम्यग् दर्शनशुद्धिनिमित्तत्वात् सम्यग् दर्शन-स्य च श्रावकस्याऽपि शोधनीयत्वात्कर्तृविशेषस्य चानभिहित-त्वादाचरितत्वाच्चोपपन्न एवास्येति। किंचेर्यापथिका प्रति-क्रमण स्य गमनागमनमात्रेण शब्देन भगवत्यां शंखोपाख्यानकेषु पुष्कलिश्रावक-कृतत्वेन दर्शितत्वाद्गमनागमनशब्दस्य चेर्यापथिकापर्य्यायतया भगवत्यामेव तेषुतेष्वाख्यानकेषु ओघनिर्युक्तिचूर्ण्यां च प्रसिद्धत्वादीर्यापथिकाकायोत्सर्गं च चतुर्विंशति-स्तवस्य प्रायश्चित्तनीयत्वाच्चाऽसौ सिद्ध इति वन्दन कमपि गुणवत् प्रतिपत्तिरूपत्वात् गुणवत् प्रतिपत्तेश्च श्रावकस्याऽप्यविरुद्धत्वात् कृष्णादिभिश्च तस्य प्रवर्तितत्वात्संगतमेवास्य नतु॥

पंचमहव्वयजुत्तो, अनलसमानपरिवज्जियमती य।
संविग्गनिज्जरट्ठी, किई कम्मकरो, हवइ साहुत्ति॥

अनया निर्युक्तिगाथया साधुग्रहणेन श्रावकस्य व्यवच्छेदान्न संगतं। तस्य वन्दनकं नैवं ततः साधुग्रहणं तत्र तदन्यवन्दन-कोपलक्षणार्थं नतु श्रावकव्यवच्छेदार्थं। यदि तु व्यवच्छेदार्थमनविष्यत्तदा साध्व्या अपि व्यवच्छेदो भविष्यन्न चासौ संगतो मातुर्विशेषणं वन्दनकनिषेधाद्यदाह।

मायरं पियरं वा वि, जेट्ठगं वा वि भायरं।
किइकम्मं न कारेज्जा, सव्वेराइं णिए तदा॥

तथा (पंचमहव्वयजुत्तो) अनेन यथा महाव्रतग्रहणादणुव्रत-युक्तस्य व्यवच्छेदस्तथा पंचग्रहणाच्चतुर्महाव्रतयुक्तस्य मध्य-तीर्थसाधोरपि व्यवच्छेदः स्थान्नचैतदिष्टमित्यतो निर्विशेषं वन्दनकमपीति प्रतिक्रमणं तु सामान्यत ईर्ष्यापथप्रतिक्रमण भणनेनैव सिद्धमथ विचित्राभिग्रहवतां श्रावकाणां कथमेकेन प्रतिक्रमणसूत्रेण तदुपपद्यते। यतो प्रतिपन्नान्यतरव्रतस्य तदति चारासंभवस्तदसंभवे च त दुच्चारणम-संगतमेवान्यथा महाव्रतातिचाराणामप्युच्चारणप्रसंग इति। नैवमप्रतिपन्ना-न्यतरव्रतस्यापितदतिचारोच्चारतो श्रद्धाननिदविषयस्य प्रतिक्रमण स्यानुमतत्वाद्यत उक्तं॥

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणं अकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणेय तहा, विवरीयपरूवणाए य॥

अत एव साधुरप्रतिपन्नास्वप्युपासकभिक्षुप्रतिमासु (एगारस एहिं उवासगपडिमाहिं बारसेहिं भिक्खुपडिमाही) त्येवं प्रतिक्रामति। नतु यद्येवं तदा साधुप्रतिक्रमणसूत्रेणैव ते प्रतिक्रामंतु को वा किमाह केवलं श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रमणुव्रतादिविषयस्य प्रतिसिद्धाचरणस्य प्रपंचाभिधाथकत्वात् सोपयोगतरमिति तेन ते प्रतिक्रामंति नतु साधुप्रतिक्रमणाद्भिन्नं श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रम-युक्तं। निर्युक्तिभाष्य-चूर्ण्यादिभिरतंत्रितत्वेनार्षत्वान्नैवमावस्यका-दिदशशास्त्रीव्यतिरेकेण निर्युक्तीनामभावे नौपपातिकाद्युपांगानां च चूर्ण्यभावेनानार्षत्वप्रसंगात्ततः प्रतिक्रमणमप्यस्ति। तेषां कायोत्सर्गस्तु ईर्यापथप्रतिक्रमणात् पंचमप्रतिमाकरणात् सुभद्राश्राविकादिनिदर्शनतश्च श्रावकस्य विधेयतया प्रतिपदत्तव्यो यदि हि साधवोऽपि भंगभयात्साकारं कायोत्सर्गं प्रतिपद्यत तदा गृहिभिः सुतरामसौ तथा प्रतिपत्तव्या साध्वेपक्षया तेषा-मनैष्ठिकत्वादिति। एवं प्रत्याख्यानकमपि नतु परिष्ठापनिकादय आकारः साधूनामेव घटंते। ततो गृहिणामयुक्तमेतन्नैवं यतो यथा गुर्वादयः परिष्ठापनिकस्याऽनधिकारिणोऽपि यथा वा भगवती-योगवाहिनो गृहस्थं संसृष्टाद्यनधिकारिणोऽपि परिष्ठापनिकाद्या-कारोच्चारणे न प्रत्याख्याति अखंडं सूत्रमुच्चारणीयमिति न्यायादेव गृहस्था अपीति न दोषस्तस्मात्षड्विधमप्यावश्यकं श्रावकस्या-स्तीति प्रतिपत्तव्यमित्यलं प्रसंगेन विस्तरेणेतिगाथार्थः॥४४॥

पंचा १ वृ०॥ ज्ञाता० १ अ०। ध० २ अधि०॥

आवस्सय–न० (आवश्यक) समग्रस्याऽपिगुणग्रामस्याऽवास-कमित्यावश्यकम्। अनु०। सामायिकादिके,। स्था० २ ठा०॥

***आवासक**–न० गुणशून्यमात्मान मासमंत्ताद्वासयति गुणैरित्या-वासकम्सामायिकादिके,॥ ग० २ अधि० अथवा आऽऽवस्स-यंति प्राकृतशैल्याऽऽवासकम्॥ गुणशून्यमात्मानं गुणैरावासयतीत्यावासकम्। गुणसान्निध्यमात्मनः करोतीति॥ आ० म० प्र० १ अ०। अनु०॥

सन्निज्झभावत्थापण्णेहिं वावसयं गुणओ।

सान्निध्यभावस्थापनैर्वा आवसकं गुणत इत्यावासकमुच्यते। इदमुक्तं भवति। वस निवास इति गुणशून्यमात्मानं गुणैरासमन्ताद्वासयति गुणसान्निध्यमात्मनः करोतीत्यावासकम्। अथ वा यच्छा वस्त्रं वासधूपादिभिस्तथा गुणैरासमन्तादात्मानं वासयति भावयति रंजयत्यावासकम्। यदि वा वस आच्छादने गुणैरासमन्तादात्मनां छदयति छद संवरणे दोषेभ्यः संवृणोत्यावासकमिति विशे०॥

आवस्सयकरण–न० (आवश्यककरण) केवलिसमुद्घातात्पूर्वं केवलिना क्रियमाणे व्यापारभेदे, शब्दा ते स्वोपात्तमनुष्यायुषोतः प्रक्षयवशाद्भुक्तस्याऽन्तर्मुहूर्ते शेषे सिध्यत्पर्यायाभि मुखा अवश्यकरणमिति प्रश्ने प्रदर्श्यते। अन्वर्थत्वादवश्यकारणसंज्ञायाः भास्करवत् अवश्यकरणीयत्वादवश्यकरणं कुर्वंतीति। कथमिदमावश्यकरणमिति कथमिदमत्वर्थेति दर्श्यते। अर्थम-नुगता या संज्ञा सान्वर्था। अर्थमंगीकृत्य प्रवर्तत इत्यर्थः। कथमिह यथा भास्करसंज्ञा अन्वर्था। कथमन्वर्थाभासं करोतीति भास्कर इति यो भासनार्थमंगीकृत्य प्रवर्तत इत्यर्थः। तथावश्यककरणमिति इयं संज्ञा अन्वर्था कच्छमिति चेत् ब्रूमहे। अवश्यकं क्रियत इत्यावश्यकरणं इति। योऽवश्यकरणा-र्थोऽवश्यकर्त्तव्यतार्थमंगीकृत्य प्रवर्तते यस्मात्तस्मा-त्सर्वकेवलिभिः सिद्ध्यद्भिरवश्यं क्रियमाणत्वादवश्यकरण मित्यर्थ संज्ञासिद्धिरथवावश्यं भाव आवश्यकं द्वंद्व मनोज्ञादिभ्यश्चेति मनोज्ञादिरधिकृतत्वात् बुद्धिसत्यावश्यक सिद्धिः। आवश्यकं करणं आवश्यककरणं। कुतः लोके दृष्टत्वाद् मल्लस्य कक्षाबंधकरणव त् तथा मल्लोयुयुत्सुनाबध्वाशाटकं युध्यते। स हि प्रथममेव शाटकेन कक्षं बध्वा अतः परं कृतावश्यकं कक्षाबंधकरणं योद्धुमारभेत्। तथांतर्मुहूर्तायिः शेषेण केवलिभावसिद्धता प्रथममेवेदं करणं अवश्यं कर्त्तव्यमित्या-वश्यककरणमिति आ० चू० २ अ०।

आवस्सयकिइ–स्त्री० (आवश्यककृत्ति) प्रतिक्रणणकरणे ध० ३ अधि०।

आवस्सयटीगा–स्त्री० (आवश्यकटीका) हरिभद्रस्वामिविरचितायामा-वश्यकवृत्तौ, आव० ६ अ०॥

यदर्जितं विरचयता सुबोधां पुण्यं मयाऽवश्यक

शास्त्रटीकां । भवे भवे तेन ममैवमेव, भूयाज्जिनोक्तेऽनुभतेः प्रयासः ॥२॥

इयञ्च द्वाविंशतिसहस्रात्मिका ''द्वाविंशतिसहस्राणि, ग्रन्था-ग्रन्थनिसंख्या। अनुष्टुप्छंदसां मान, मस्या उद्देशतः कृतम्'' १ आव०॥

आवस्सयणिज्जुत्ति–स्त्री० (आवश्यकनिर्य्युक्ति) भद्रबाहुस्वामि-विरचितेआवश्यक व्याख्याने, । तथाचाऽवश्यकनिर्य्युक्तिं वि-वृण्वन् मलयगिरिराह। आम० प्र० १ अ०।

नत्वा गुरुपदकमलं, प्रभावतस्तस्य मन्दशक्तिरपि ॥
आवश्यकनिर्य्युक्तिं, विवृणोमि यथागमं स्पष्टम् ॥३॥

यद्यपि च विवृतयोऽस्या, स्सन्ति विचित्रास्तथापि विष-मास्ताः । संप्रति च जनो जडधी, र्भूयानिति विवृत्तिसंरम्भः ॥४॥

तत्र प्रेक्षावताम्प्रवृत्त्यर्थमादौ प्रयोजनादिकमुपन्यसनीयम न्यथा न युक्तोऽयमावश्यकप्रारम्भप्रयासो निष्प्रयोजनत्वात्कण्ट-कशाखामर्दनवत् निरभिधेयत्वात्काकदन्तपरीक्षावत् असंब-द्धत्वाद्दश दडिमानि षडपूपा इत्यादि वाक्यवत् । स्वेच्छाविरचित शास्त्रबद्धेत्याशङ्कातः प्रेक्षावन्तो व प्रवर्तेरन् । तथा मङ्गलमप्यादौ वक्तव्यमन्यथा।

कर्तुः श्रोतृणां चाविघ्नेनेष्टफलसिद्धियोगात्॥

प्रेक्षावतां प्रवृत्यर्थं फलादित्रितयंस्फुटं ।।
मंगलं चैव शास्त्रादौ, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ॥१॥

आवश्यकनिर्युक्तौ काश्चन निर्युक्तिगाथा अन्यकतृकाः प्रक्षिप्तास्ताश्च टीकाकृता तत्र व्याख्यानावसो तथा सूचितास्ता -स्वपि काश्चिद्टीकाकारेण नियुक्तिकृत्कृतत्वेन मता अपि अन्य-कर्तृका इति क्षेपकश्रेणि शब्दे ॥ मलयगिरिवचसा दर्शयिष्यामि करणशब्देऽपि करणशब्दे॥

आवस्सयपरिसुद्धि–स्त्री० (आवश्यकपरिशुद्धि) अवश्यंकरणी-ययोगनिरतिचारतायाम् ॥

आवश्ययपरिसुद्धीय, होंति भिक्खुस्स लिंगाइं।

आवश्यकपरिशुद्धिश्चावश्यंकरणीययोगनिरतिचारता च भवति भिक्षोर्भावसाधोर्लिंगानीति दश० १० अ०। द्वा० २७ द्वा०॥

आवस्सयवइरित्त–न० (आवश्यकव्यतिरिक्त) अंगबाह्ये श्रुतभेदे,॥

तथाचांगबाह्यं श्रुतमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह।

सेकिंतं आवसयं २ च्छव्विहं पण्णत्तं । तंजहा । सामाइयं १ चउवीसच्छउ २ वंदणयं ३ पडिक्कमणं ४ काउसग्गो ५ पच्चखाणं ६ । सेत्तआवस्सयं। सेकिं तं आवस्ययवइरित्तं। आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं । तंजहा । कालियं उक्कालियंच । न० ॥

टी०॥ अथकिं तदंगबाह्यं सूरिराह।

अंगबाह्यश्रुतं द्विविधं प्रज्ञप्तं। तद्यथा। आवश्यकं च आवश्यकव्यतिरिक्तं च । तत्रावश्यंकर्म्म आवश्यकं अवश्य-कर्त्तव्यक्रियानुष्ठानमित्यर्थः । अथवा गुणानामभिविधिना वश्य मात्मानं करोतीत्यवश्यकं । अवश्यकर्त्तव्यसामायिकादि क्रियानुष्ठानं तत्प्रतिपादकं श्रुतमपि आवश्यकं । च शब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः । (से किं त) मित्यादि अथकिंतदावश्यकं । सूरिराह॥

आवश्यकं षड्विधं प्रज्ञप्तं । तद्यथा । सामायिकमित्यादि निगद सिद्धं सेत्तमित्यादि तदेतदावश्यकं सेकिंतमित्यादि । अच्छ-किंतदावश्यक व्यतिरिक्तं वा आचार्य आह। आवश्यक व्यतिरिक्तं द्विविधं प्रज्ञप्तं। तद्यथा। कालिकमुत्कालिकं च। तत्र यद्दिवसनिशा प्रथमपश्चिम पौरुषीद्वये एव पठ्यते तत्कालिकं । कालेन निर्वृत्त कालिकमिति त्यत्पत्तेः । यत्पुनः कालवेलावर्जं सर्वकालेषु पठ्यते तदुक्तालिकं । आह च चूर्णकृत् तत्थकालियं दिणराइण पढम चरमपोरसी सुपढिज्जइ । जं पुणकालवेलावज्जं पढिवज्जइ तं उक्कालियंति। तत्राऽल्प वक्तव्यकत्वात् नं० टी०॥

आवस्सयवइरत्तेत्यादि। यदिह दिवसनिशा प्रथमपश्चिम पौरुषीद्वये एव पठ्यते तत्कालेनिर्वृतं कालिकमुत्तराध्ययन-नादियत्पुनः कालवेलावर्जं पठ्यते तदूर्द्धं कालिकादित्युत्कालिकं दशवैकालिकादीनि। ठा० २ ठा०॥

आवस्सयवित्ति–स्त्री० (आवश्यकवृत्ति) आवश्यकविरणे आ० म० प्र० १ अ०।

आवस्सयविसुद्धि–स्त्री० (आवश्यकविशुद्धि) आवश्यंकरणीय योगनिरतिचारतायाम् ॥

आवश्यकविशुद्धिश्चभिक्षोर्लिंगान्यकीर्त्तयन् । आवश्यक-विशुद्धिश्चावश्यंकरणीययोगानिरतिचारता । एतानि भिक्षोर्लिंगा-न्यकीर्तयन् गौतमादयो महर्षयः। द्वा० २७ द्वा०॥

आवस्सयसुयक्खंध–पुं० (आवश्यकश्रुतस्कंध) षण्णांश्रुत-विशेषाणांस्कंधः श्रुतस्कंधः । आवश्यकं च तत् श्रुतस्कंधश्चावश्यक श्रुतस्कंधः । अच्छवाऽऽवश्यकं च तत् श्रुतंचावश्यक श्रुतं । तस्यषडध्ययनसमुदायात्मक आवश्यक श्रुत स्कंधः । स्वनाम ख्याते श्रुतविशेषे, । विशे०। द्वा०॥

आवस्सयस्स जइसो, तत्थं गाइण अट्ठपुच्छी ओ।
ते होइ सुय क्खंधो, अज्झुयणा इं च नउ सेसा॥

यद्यावश्यकस्याऽनुयोगस्तच्चावश्यकं श्रुतविशेषस्तर्ह्या त्रांगादीन्या-श्रित्याष्टौ पृच्छाः संभवंति। तद्यथा।

आवस्स यन्न किं अंगं, अंगाइ सुयक्खंधो सुयर-कंधाअज्झयणं अज्झयणाइं उद्देसो।

उद्देसा इति अत्रोत्तरमाह। इह तदा वश्यकं षडऽध्ययन-समुदायलक्षणः श्रुतस्कंधः प्रत्येकमध्ययनानिच षडिति। शेषाः षट्प्रकाराः प्रतिषेद्धव्याः असंभवित्वादिति। अत्रप्रेरकः प्राह।

ननु नंदिवरकाणे, भणियमणं गं इहं कओ संका।
भण्णइ अक ओ संका, तस्स नियमं वदाए इ।

ननु नंद्यध्यने व्याख्यायमाने (इमं पुण वठवणं पडुच्च, अंगवा-हिरस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पव्वत्त) इत्यादिवचनादाव-श्यकमंगबाह्यत्वादंगं न भवतीति भणितमेवेति । कुतोऽत्राशंका येन प्रच्छा क्रियते। अत्र निर्वचनमाह। भण्यतेऽत्रोत्तरं। श्रुतस्कंधादि विषये तावदस्त्येवा शंका। तत्राऽस्यार्थस्याऽनिर्णीतत्वात् अतस्तद्विषया-स्तावत्कर्त्तव्या एव पृच्छाः। अंगानंगरूपतायामपि यदा नंद्यध्ययनमश्रुत्वा विनेयः प्रथमत एवेदं शृणोति। तथा अकृते नंदिव्याख्यानेऽस्त्येव च शंका । किमावश्यकमगं तद्वाह्यं वेति । आह । ननु नद्य-

ध्ययनं श्रुत्वा तत् आवश्यकं श्रोतव्यमितीत्थं क्रमोऽतः कथं नंद्यध्ययनस्य प्रथमव्याख्यानाकरणं येन प्रस्तुत-शंका स्यादि त्याशंक्याह। (तस्से) त्यादि तस्य प्रथमं नदिव्या-क्यानकरणस्याऽत एवांगाऽनगप्रश्ननिर्णय-वचनादाचार्योऽनियमं दर्शयति । पुरुषाद्यपेक्षयाऽन्यथापि नंद्यादिव्याख्यानकरणादिति । आह । ननुमंगलार्थं सर्वेषामपि शास्त्राणामादौ गंदिव्याख्यानम् कर्त्तव्यमेवेति कथं तदनियम इत्याह।

नाणाभिहाणमित्तं, मंगल मिट्ठं नती एवरकाणं।
इह सव्वत्थाणे जुज्जइ, जं सावीसुं सुयक्खंधो ॥

ज्ञानपंवकाभिधानमात्रमेव शास्त्रादौ मंगलमिष्टं नतु तस्या नंद्याः सर्वस्या अपि शास्त्ररूपाया इहास्थाने व्याख्यानं युज्यते तथाहि पथि प्रस्थितैर्मंगलभूतं दधिदूर्वाक्षतादिवस्तूनामभिधान-दर्शनादीन्येव मंगलतया गृह्यंते नतु तद्भक्षणतद्गुणवर्णा दीन्यपि क्रियंते। तथेहापि ज्ञानोत्कीर्त्तनमात्रमेव मंगलं युज्यते नतु नंदिव्याख्यानमिह तस्य स्थानत्वान्नह्यावश्यकशास्त्रारंभे शास्त्रांतरभूताया नंद्या व्याख्यानं युज्यते अतिप्रसंगान्न च वक्तव्यं सर्वशास्त्रांतरभूतैव नंदी यद्यत्सात्साविष्वक्-पृथगेव श्रुतस्कंधतया सिद्धांते प्रसिद्धा श्रुतस्कंधत्वं चास्याः पदवाक्य समूहात्मकत्वेनैव द्रष्टव्यं नत्वध्ययनकलापात्मकं परिभाषितमेका-ध्ययनरूपत्वेन रूढत्वादिति। ननु यदि नंदिव्याख्यानस्य स्थानमिदं तर्हि-किमितीत्थमादावेवं भवद्भिर्ज्ञानपंचकं विस्तरेण व्याख्यातमिति पौर्वापर्येण स्ववचननिरोध इत्यशंक्याह।

इहसाणुग्गहमुइयं न उ नियमोयमहवा पवादोयं।
दाइज्जइ कहणा, एकयाइ पुरिसादवि क्खाथ।

इहावश्यकारंभे यद्विस्तरेण ज्ञानपचंकऽस्यादौ व्याख्यातं तत्सानुग्रहं शिष्याऽनुग्रहमास्थायोदितमस्माभिर्नपुनरयं नियम एव ज्ञानोत्कीर्तन-मात्रस्यैव नियमेन मंगलतयात्राऽभीष्टत्वादथवा कथनया कथनविधेरप-वादोऽयं दृश्यते यथेह पुरुषाद्यऽपेक्षया कदा क्रमेणापि शास्त्राणि व्याख्यान्ते अन्यारंभेअथान्यद्वा व्याख्यायत इति तस्मादावश्यक-श्रुतस्कंधस्याऽनुयोग इति स्थिते किमिदानीं कर्तव्यमित्याह।

आवस्सयसुयक्खंधो, नामं सत्थस्स तस्स जेमेया।
ताइं अज्झयणाइं, नासो आवस्सयाइणं ॥१॥
कप्पोपिहविहाणं, जहत्थ मजहत्थछउसुण्णत्ति।
नामे चेव परिछाग, त्तं जइ होहि इ जहछं ॥२॥

इह प्रस्तुतशास्त्रस्यावश्यकश्रुतस्कंध इति नाम तस्यचावश्य कस्य ये सामायिकादयाषड्भेदाः स्तान्यऽध्ययनान्यऽभिधीयंते तत आवश्यका-दिपदानामावश्यकं श्रुतस्कंधोऽध्ययनमित्येषां पदानां न्यासो निक्षेपः पृथक्कार्यःकृतइत्यस्मद्धेतोर्यतकिंचिन्नाम तावद्यथार्थं भवति यथा दीपो दहन् इत्यादि। किंचित् त्वयथार्थं भवति यथापलाशो मंडप इत्यादि अपरं त्वर्थशून्यभवति यथा डित्थकपित्थइत्यादि यथार्थं च शास्त्राभिधानमिष्यते तत्रैव समुदायार्थविगतेरतो नाम्न्येव परीक्षाविचारणाक्रियते ततो-ग्राह्यमिदं यदि यथार्थं स्यादिति। विशे०॥

अथ सामायिकाद्यध्ययनानामर्थाधिकारदर्शनार्थं प्रस्ताव नामाह।

किंपुण छक्कज्झयणं, जेणछलत्था हिगारावि णिउत्तं।
सामाइयाइयाणां, ते य इमे तज्जहासंखं ॥

आह किं पुनरिह कारणं येन षडध्ययनमिदमावश्यकं षडध्य यनानि तत्र तेभ्यः षडध्ययनमिति समासः अत्रोच्यते। येन षड्भिरर्थाऽधिका-रैविनिर्युक्तं नियुक्तं।

निबद्धं ते च षडर्थाऽधिकाराःसामायिकादीनां षण्णामध्ययनानां यथासंख्यमेव द्रष्टव्या इति। विशे०॥

नन्वावश्यके किमिति बडध्ययनान्यत्रोच्यते षडर्थाधिकारयोगात् के पुनस्ते इत्याशक्य तदुपदर्शनार्थमाह।

आवास्सगस्स णं इमे अत्थाहिगारा भवंति। तंजहा। सावज्जजोगविरइ, उक्कित्ततणगुणवउयपडिवत्ती। खलि अस्सय निंदण्णा, वणतिगिच्छं गुणधारणं चेव ॥

आवश्यकषडध्ययनस्य वक्ष्यमाणा अर्थाधिकारा भवंति। तद्यथा। सावज्जजोगगाहा व्याख्या। प्रथमेसामायिकलक्षणे अध्ययने प्राणातिपातादिसर्वसावद्ययोगविरतिरर्थाधिकारः (उकितणत्ति) द्वितीये चतुर्विंशतिस्तवाध्ययने प्रधानकर्म्मकारणत्वाल्लब्धबोधिविशुद्धि-हेतुत्वात्पुनर्बोधिलाभफलत्वात्सावद्ययोगविरत्युपदेशकत्वेनोप-कारित्वाश्च तीर्थकारणं गुणोत्कीर्तनार्थाधिकार ॥ (गुणओयपडिवत्ति) गुणा मूलो-त्तरगुणरूपा व्रतपिंण्डविशुद्धयादयो विद्यंते यस्य स गुणवांस्तस्य प्रतिपत्तिर्वंदनादिकं कर्त्तव्येति तृतीये वंदनाध्ययनेऽर्थ-धिकारश्चशब्दात्पुष्टालम्बने गुणवतोऽपि प्रतिपत्तिकर्तव्येति द्रष्टव्यं। उक्तं च॥

परियायपरिसपुरिसं, खेत्तं कालं च आगमं नाउं।
कारणाजाए ताए, जाहारिहं जस्स संजोगं ॥

(खलियस्स य निंदणत्ते) स्खलितस्य मूलोत्तरगुणेषुप्रमादाचीर्णस्य प्रत्यागमसंवेगस्य जंतोर्विशुद्ध्यमानाध्यव-सायस्या कार्यमिदमिति भावयतो निंदाप्रतिक्रमणे अच्छधि-कारः। व्रणति गच्छतीतिव्रणः। व्रणचिकित्सा कायोत्सर्गा-ध्ययनेऽर्थाधिकारः। इदमक्तं भवति। चारित्रपुरुषस्य योऽतिचा-रूपो भावव्रणस्तस्य दशविधप्रायश्चित्तं भेषजेन कार्योत्सर्गाध्ययने चिकित्सा प्रतिपाद्यते (गुणधारणा चेवत्ति) गुणधारणा प्रत्या-ख्यानाध्ययने अर्थाधिकारः। अयमत्र भावार्थः। मूलगुणोत्तर-गुणप्रतिपत्तिस्तस्याश्च निरतिचारं संधारणं यथा भवति तथा प्रत्याख्यानाध्ययने प्ररूपणां करिष्यते च शब्दान्येऽर्थाधिकारा विज्ञेयाः। एवकारोऽवधारण इति गाथार्थः। तदेवं यदादौ प्रति-ज्ञातमावश्यकं निक्षेप्स्यामीति इत्यादि। तत्रावश्यकश्रुत-स्कंधलक्षणानि त्रीणि पदानिनिक्षिप्तानि। सांप्रतं त्वध्ययनपदम-वसरायात मपि निक्षेपूस्यते वक्ष्यमाणिनिक्षेपानुयोगद्वार-ओघनिष्पन्न-निक्षेपे तस्य निक्षेप्यमानत्वादत्रापि भणने च ग्रंथगौरवापत्तेरिति॥

इदानीमावश्यकस्य यद्व्याख्यानं यच्च व्याख्येयं तदुपदर्शय-न्नाह।

आवस्सयस्स एसो, पिंडत्थो वण्णिओ समासेणं।
एत्तो एकेक्कं पुण, अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥१॥
तं जहा। समाइयं १ चउवीसत्थओ २ वंदणय ३ पडिक्कमणं ४ काउसग्गो ५ पच्चक्खाणं।

व्या० आवश्यक स्यावश्यकपदाभिधयेस्य शास्त्रस्य एष पूर्वोक्तप्रकार-पिण्डादिसमुदायार्थो वर्णितः कथितः। समासेन संक्षेपेण। इदमत्र हृदयं। आवश्यकश्रुतस्कंध इति शास्त्र नाम पूर्वं व्याख्यातं। तच्च सामर्थ्यं ततश्च यथा सात्वर्थादा

चारादीनामत एव तद्वाच्यशास्त्रस्य चारित्राद्याचारोऽत्राभि धास्थते इत्यादिलक्षणः समुदायार्थः प्रतिपादितो भवत्येवमत्राप्यावश्यक-श्रुतस्कंध इति सान्वर्थनामकथनादेवावश्यं करणीयं सावद्य-योगविरत्यादिकं वस्त्वत्राभिधास्यत इति समुददायार्थः प्रतिपादितो भवति अत ऊर्द्धं पुनरेकैकमध्ययनं कीर्त्तयिष्यामीति गाथार्थः । तत्कीर्तनार्थमेवाह तद्यथा सामायिक चतुर्विंशतिस्तवो वंदनं प्रतिक्रमणं कायोत्सर्गप्रत्याख्यानं विशे० । आ० म० प्र० १ अ० ॥

आवस्सयाणुओग–पुं० (आवश्यकानुयोग) आवश्यकव्याख्याने, अनु० । आ० चू० १ अ० । विशे० ॥

कयपवयणप्पणामो, वोच्छं चरणगुणसंगहं सयलं ।
आवस्सयाणुओगं गुरुवएसाणुसारेणं ॥

व्याख्या । वोच्छमिति क्रिया वक्ष्येऽभिधास्येत्यर्थः । किमि-त्याह (आवस्सयाणुओगंति) अवश्यं कर्तव्यमावश्यकं सामायिकादिरूपं । क्वचिदावासयाणुयोगमितिपाठस्तत्राप्यासमंतात् ज्ञानादिगुणैः शून्यं जीवं वासयति तैर्युक्तं करोतीत्या-वासकं सामायिकादिरूपमेव तस्य वक्ष्यमाणशब्दार्थोऽनुयोगो व्याख्यानं विधिप्रतिषेधाभ्यामर्थप्ररूपण-मित्यर्थः किंविशिष्टः सन्नित्याह (कयपवयणप्पणामोत्ति) प्रोच्यंते ऽनेनास्मादस्मिन्वा जीवादयः पदार्था इति प्रवचनं । अथ वा प्रशब्दस्याव्य-यत्वेनाऽनेकार्थद्योतकत्वात्प्रगतं जीवादिपदार्थव्यापकं प्रशस्त मादौ वा वचनं द्वादशांगं गणिपिटकं आदित्वं चास्य विवक्षित-तीर्थकरापक्षया द्रष्टव्यं । नमस्तीर्थायेति वचनात्तीर्थकरेणापि तन्नमस्करणादिति । अथवा जीवादितत्वं प्रवक्तीति प्रवचनमिति व्युत्पत्तेर्द्वादशांगं गणिपिटकोपयोगानन्यत्वाद्वा चतुर्विध-श्रीश्रमणसंघोऽपि प्रवचनमुच्यते । कृतो विहितो यथोक्तप्रवचन-स्य प्रणामो नमस्कारो येन मया सोऽहं कृतप्रवचनप्रणामःकिं-स्वरूपमावश्यकानुयोगमित्याह (चरणगुणसंगहंति) चर्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते इति चरण । अथवा चर्यते गम्यते प्राप्यते भवो-दधेः परकूलमनेनेति चरणं । व्रतश्रमणधर्मादयो मूलगुणाः गुण्यंते संख्यायंत इति गुणाः पिंडविशुद्ध्याद्युत्तरगुणरूपाः चरणंच गुणाश्च चरणगुणाः अथवा चरणशब्देन सर्वतो देशतश्च चारित्रमिह विवक्षितं । गुणशब्देन तु दर्शनज्ञाने ततश्च चरणं च गुणौच चरणगुणास्तेषां संगृहीतिः संग्रहश्चरणगुणसंग्रहस्तं स च देशतोऽपि भवतीत्याह । सकलं परिपूर्णं आह । नत्वावश्यकानुयोगस्ता-वदावश्यकव्याख्यानं । चरणगुणसंग्रहस्तु ज्ञानदर्शनचारित्रसंगृहीतिरूपस्ततोऽत्यंतभिन्ना-धिकरणत्वात्कथमनयोः सामानाधिकरण्यं सत्यं किंतु (सामाइयं च तिविहं सम्मत्तसुअं तहाचरित्तं चेत्यादि) वक्ष्यमाणवचनादेकोऽपि सामायिकानुयोगस्तावत्संपूर्णं चरणगुणसंग्राहकः । किं पुनः सकलावश्यकानुयोगस्ततश्च संपूर्णचरणगुणसंग्रहयुक्तत्वादाव-श्यकानुयोगोऽपि संपूर्णचरणगुण संग्रहत्वेनोक्तो यथा दंडयोगा द्दण्डः पुरुष इत्यदोषः अथ वा चरणगुणानां संग्रहोयत्राऽवश्यकानुयोगोऽसौ चरणगुणसंग्रह इति बहुव्रीहिपक्षे प्रेर्यमेव नास्ति केवलमस्मिन् पक्षे सकलमिति विशेषणमावश्यकानुयोगस्य चरणगुणसंग्रहसंपूर्णत्वापेक्षयैव द्रष्टव्यमित्येतच्च कष्टगम्यमित्युपेक्षते । आह । ननु यदि (सामाइयं च तिविह) मित्यादि वक्ष्यमाणवचनात्सामायिकस्य संपूर्ण-चरणगुणसंग्राहकत्वं तर्हि तदनुयोगस्य तदरूपत्वे किमायातं नैत-देवं सामायिकं हि व्याख्येयं अनुयोगस्तु व्याख्यानं व्याख्ये-यव्याख्यानयोश्चैकाभिप्रायत्वा-दिहाभेदेन विवक्षित्वाददोषः इत्यलमितिचर्यति अनेन च संपूर्णचरणगुणसंग्रहलक्षणेन स्वरूपविशेषणेनावश्यकानुयोगस्य महार्थतां दर्शयति भाष्यकारः । आह । ननु यदि त्वया आवश्यकानुयोगः स्वमनीषिकया वक्ष्यते तदाऽनादेय एवायं प्रेक्षावतां छद्मस्थत्वे सति स्वतंत्र-तयाभिधीयमानत्वाद्रथ्यापुरुषवाक्यवदिति परवचनमा-शंक्यतदुपन्यस्तहेतोरसिद्धतां उपदर्शयन्नाह (गुरुवएसाणु-सारेणंति) गृणंति तत्त्वमितिगुरवस्तीर्थकरगणधरादय-स्तेषामुपदेशो भणनं तदनुसारेण तत्पारतंत्र्येणावश्यकानुयोगमहं वक्ष्ये नतु स्वमनीषिकया अतः स्वतंत्रयाऽभिधीयमान-त्वादित्यासिद्धो हेतुरिति भावः । यो हि छद्मस्थः सन्परम-गुरूपदशानपेक्षं स्वतंत्रमेव वक्ति रथ्यापुरुषस्येव तस्य वचोऽनादेयमिति ॥

वयमपि मन्यामहे केवलं तदिह नास्ति परमगुरूपदेशा-नुसारेणैवावश्यकानुयोगस्य मयाऽभिधीयमानत्वादिति । तदेव कृतप्रवचनप्रणामो गुरुपदेशनिश्रयसकलं चरणगुणसंग्रह-रूपमावश्यका-नुयोगमहं वक्ष्ये इति पिंडार्थः ॥

आह । ननु श्रीमद्भद्रबाहुप्रणीता सामयिकनियुक्तिरिह भाष्ये व्याख्यास्यते । तत्कथमिदमावश्यकानुयोगोऽभिधीयते तदेवमभिप्राया-परिज्ञानात्तथाहि । सामायिकस्य षड्विधावश्य कैकदेशत्वादावश्यक-रूपता तावन्न विरुध्यते । तन्निर्युक्तिस्त तद्व्याख्यानरूपेव व्याख्यानयोश्चैकाभिप्रायत्वादेककत्वमित्यनं तरमेवोक्तं । तस्मात्सा-मायिकस्य तन्निर्युक्तेश्च सर्वस्यावश्यकत्वात्तस्य चेह व्याख्यायमान-त्वादावश्यकानुयोगरूपता भाष्यस्य न विहन्यत इत्यलंविस्तरेण । अस्याश्च गाथायाः प्रथमपादेन विघ्नसंघातार्थं मंगलेहतुत्वादिष्ट-देवतानमस्कारः कृतः । शेषपादत्रयेण त्वभिधेयप्रयोजनसंबंधाभिधा-नमकारि । तत्र वश्यकानुयोगं वक्ष्य इति ब्रुवता आवश्यकानुयोगोऽस्य-शास्त्रस्याऽभिधेय इति साक्षादेवोक्तं प्रयोजनसंबंधौ तु सामर्थ्यादुक्तौ तथाहि संपूर्णचरणगुणसंग्राहकत्वं दर्शयता ज्ञानदर्शन-चारित्राधारताऽस्य शास्त्रस्य दर्शिता भवति । तद्रूपाणि शास्त्राणि पाठनश्रवणादिभिरनुशील्यमानानि स्वर्गापवर्गप्राप्तिनिबंधनानि भवंतीति प्रतीतमेव । अतः स्वर्गमोक्षफलावाप्तिरस्य शास्त्रस्य प्रयोजनमिति सामर्थ्यादुक्तं भवति । अभिधेयाऽभिधायकायोश्च वाचकलक्षणः संबंधोऽप्यर्थादभिहितो भवति । अस्यां च संबंधप्रयोजनाभिधाना-दिचर्चायां बह्वपि वक्तव्यमस्ति केवलं बहुषुशास्त्रेष्वतिचर्चितत्वेन सुप्रतीतत्वात्तथाविधसाध्यशून्यत्वाच्च नेहोच्यत । अनेन चाऽभिधेयाभि-धानेन शास्त्रस्य श्रवणादौ शिष्य-प्रवृत्तिः साधिता भवति । अन्यथा हि न श्रवणादियोग्यमिदं निरभिधेयत्वात्काकदंतपरीक्षावदित्याशंक्य नेहकश्चित्प्रवर्त्तते । उक्तंच ॥

सीसपवित्तिनिमित्तं, अभिधेयपओ अणाइं संबन्धो ।
ओवत्तयाइं सत्थे, तस्सुन्नत्तं सुणिज्जिहरा ॥

एवं मंगलाद्यभिधाने व्यवस्थापिते कश्चिदाह । नन्वर्हदादयएवेष्टदेवतात्वेन प्रसिद्धास्तत्किमिति तान्विहाय ग्रंथकृता प्रवचनस्य नमस्कारः कृतः । इत्यत्रोच्यते । नमस्तीर्थायेति वच-नादर्हदादीनामपि वचनमेव नमस्करणीयं अपरं चार्हदादयो-प्यस्मदादिभिः प्रवचनोपदेशेनैव ज्ञायंते तीर्थमपि च चिरकालं प्रवचनावष्टंभेनैव प्रवर्त्तत इत्यादिविवक्षयाऽर्हदादिभ्योपि प्रवचनस्य प्रधानत्वात्ज्ञानादिगुणात्मकत्वाच्चेष्टदेवतात्वं नविरुद्ध्यत

प्रवचननमस्कारं च कुर्वद्भिः पूज्यैः सिद्धांततत्वावगमरसाऽनुरंजित-हृदयत्वादात्मनःप्रवचनभक्तयतिशयःप्रख्यापितो भवति इत्यलमिति-विस्तरेण। मंगलादिविचारविषयह्याक्षेपपरिहारादिकमिहैव ग्रंथकारोऽपि संक्षेपेण वक्ष्यतीति तदेवमियं गाथा सर्वोऽपि चायं ग्रंथो महामतिभिः पूर्वसूरिभि-र्गंभीरवाक्यप्रबंधैः व्युत्पन्नभणितिप्रकारेण व्याख्यातः तच्च व्याख्यान मित्थं युक्तमपि गौरवत्वं पांडुरोगन्यायेन मतिमांद्या-त्सांप्रतकालीनशिष्याणां न तथाविधार्थावगमहेतुतां प्रतिपद्यत इत्याकलय्य मंदमतिनापि मया तेषां मंदतरमतीनां शिष्याणां अर्थावगमनिमित्तममुना ऋजुभणितिप्रकारेणेयं गाथा व्याख्या-ता। सर्वोपि च ग्रंथोऽयमनेनोल्लेखेन व्याख्यास्यत इति प्रति-पत्तव्यं। न च वक्तव्यं येषां महामतिपूर्वपुरुषवचनैरर्थावबोधो न संपद्यते तेषां मंदबुद्धेर्भवतो वचनेन कुतोऽयंसंपत्स्यते इति यतो-जायत एव समानशीलवचनैः समानशीलानामर्थप्रतिपत्तिर्यदाह।

गामिल्लुयाण गामिल्लु, एहिं मिच्छाण हुति मिच्छेहिं।
सम्मं पडिवत्ती ओ, अत्थस्स नविबुहभणिएहिं॥
नियभासायेभणंति, समाणसीलंमि अपडिवत्ती।
जायइ मंदस्स वि, न उण विविह सक्कयपबंधेहिं॥

इत्यलंबहुभाषितेनेति गाथार्थः। आवश्यकानुयोगोऽन्नाऽभि धास्यत इत्युक्तं किंपुनरस्य फलादिकं यदवगम्य वयं तच्छ्रवणादौ प्रवर्त्तामह इति प्रेक्षावच्छिष्यवचनमाशंक्यावश्यकानु योगस्य पलादीन्यभिधित्सु-स्तत्संग्रहपरां द्वारगाथामाह॥

तस्सफलजोगमंगल, समुदायत्था तहेवदाराइं।
तब्भेयनिरुत्तक्कम, पओयणाइं चवच्चाइं॥

व्याख्या। तस्येत्यावश्यकानुयोगस्य प्रेक्षावतांप्रवृत्तिनिमित्तं फलं मोक्षप्राप्तिलक्षणं तावदत्रग्रंथेवक्तव्यं ततोऽस्यप्रयोगः शिष्यप्रदाने संबंधोऽवसरः प्रस्तावो वाच्यः। आवश्यकानुयोगे च क्रियमाणे किं मंगलमित्येतदपि निरूपणीयं सामायिकाद्यध्यय नानां (सावज्जजोगविरइ ओ, क्कित्तणगुणवओ अपडिवत्ती) त्यादि-गाथया समुदायार्थश्च सावद्ययोगविरत्यादिकोऽभिधानीयः। फलं च योगश्च मंगलं च समुदायार्थश्चेति समासः (तेहवदारांइंति) तथा द्वाराणि चोपक्रमनिक्षेपादीनि कथनीयानि तेषांद्वाराणां भेदो-वक्तव्यः। तद्यथा आनुपूर्वी। नामप्रमाणवक्तव्यतार्थाधि-कारसमवतारभेदादुपक्रमः षोढा। ओघनिष्पन्ननामनिष्पन्न-सूत्रालापकनिष्पन्नभेदान्निक्षेपस्त्रिधा। सूत्रनिर्युक्तिभेदादनुगमो द्विधा। नैगमादिभेदान्नयाः सप्तविधा इत्यादि। उपक्रमणमुपक्रमो निक्षेपणं निक्षेप इत्यादि निरुक्तं च शब्द व्युत्पत्तिरूपं भणनीयं। तथा (कमत्ति) तेषामुपक्रमादि द्वाराणांप्रथममुपक्रम एव ततो यथाक्रमं निक्षेपादय एवेत्येवंरूपो योऽसौ नियतःक्रमः सयुक्त-याभिधानतोनिर्देष्टव्यो युक्तिं चात्रैव वक्ष्यति। तद्यथा नानुपक्रांतं निक्षिप्यतेना निक्षिप्तमनुगम्यत् इत्यादि तथोपक्रमादिद्वाराणां एवं प्रयोजनं शास्त्रोपकाररूपं नगरदृष्टांतेन वाच्यं। यथा सप्रकारां महानगरं किमप्यकृतद्वारं लोकस्य नाश्रयणीयं भवत्येकादि-द्वारोपेतमपि दुखनिर्गमप्रवेशं जायते चतुर्द्वारोपेतं तु सर्वजना-भिगमनीयं सुखनिर्गमप्रवेशं च संपद्यते। एवं शास्त्रमप्यु-पक्रमादिचतुर्द्वारयुक्तं सुबोधं सुखचिंतनधारणादिसंपन्नं भवतीत्येवमुपक्रमादि द्वाराणां सुखाव-बोधादिरूपः शास्त्रोपकारः प्रयोजन महवक्ष्यत इति भावः। भेदश्च निरुक्तंच क्रमश्च प्रयोजनं चेति द्वंद्वंकृत्वा पश्चात्ते षामुपक्रमादिद्वाराणां भेद निरुक्त-क्रमप्रयोजनानीत्येवं षष्ठीतत्पुरुषसमासोविधेयः। चः समुच्चये वाच्यानीति यथा योगमर्थतः सर्वत्र योजितमेवेति द्वार-गाथासंक्षेपार्थः॥२॥ विस्तरार्थंतु भाष्यकार एव दिदर्शयिषुर्यथो-द्देशं निर्देश इति कृत्वा प्रेक्षावतां प्रवृत्यर्थमावश्यकानुयोगफल-प्रतिपादितां तावद्गाथामाह।

नाणकिरियाहिं मुक्खो, तम्मयमावस्सयं जओतेणं।
तव्वक्खाणारंभो, कारणओकज्जासिद्धित्ति॥

व्याख्या। ज्ञानं च सम्यगऽवबोधरूपं क्रियाच तत्पूर्वकसा-वद्याऽवद्ययोगनिवृत्तिप्रवृत्तिरूपा ज्ञानक्रिये ताभ्यां तावन्मोक्षो-ऽशेषकर्ममलकलंकाभावरूपः साध्यत इति सर्वेषामपि शिष्टानां प्रमाणसिद्धमेव दर्शनस्य ज्ञान एवांतर्निहितत्वादिति। यदि नाम ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षस्तर्ह्यावश्यकानुयोगस्य किमायातं येन फलवत्तया प्रेक्षावतां तत्र प्रवृत्तिः स्यादित्याह तन्मयमावश्यकं ताभ्यां क्षानक्रियाभ्यां निर्वृत्तंतन्मयं ज्ञानक्रियास्वरूपमावश्यकं तत्कारणत्वादिति भावः। यथा ह्यायुर्वृद्धिकारणत्वेनोपचारा-ल्लोके घृतमायुरुच्यते नड्वलोदकं वा पादरोगकारणत्वात्तथैवा भिधीयते एवं प्रस्तुतानुयोग विषयीकृतं सामायिकादिषडध्ययनसूत्रात्मकमावश्यकमपि सम्यग्ज्ञानक्रिया-कारणत्वात् स्वरूप मेव तदध्ययनश्रवणचिंतनतदुक्ताचरणप्रवृत्ता-नामवश्यं सम्य-ग्ज्ञानक्रियाप्राप्तेस्तस्मादुक्तन्यायेन ज्ञानक्रियात्मकं यत् आवश्यकमतस्तस्यावश्यकस्य व्याख्यानं अनुयोगस्तद्व्याख्यानं तस्यारं भप्रेक्षावता क्रियामाणो न विरुध्यते। आवश्यकात्सम्यक् ज्ञानक्रियाप्राप्तिद्वारेण मोक्षलक्षणफलसिद्धेः। नन्वित्थंतह्यार्वश्य-कात्सम्यग्ज्ञानक्रियाप्राप्तिस्ताभ्यां च मोक्षलक्षणफलसिद्धि-रित्येवमावश्य कस्यैव पारंपर्येणमोक्षात्मकं फलं स्यात् नपुन-स्यदनुयोगस्य फलचिंता त्वस्यैवेह प्रस्तुतेतिचेत्सत्यं किंत्वावश्-यकं व्याख्येयं तद्व्याख्यानं चानुयोगो व्याख्यानेचव्याख्येयगत एव सर्वोऽभिप्रायः प्रकटीक्रियतेऽतोव्याख्येयस्ययत्फलं व्याख्या नस्य तत्सुतरामवसेयं तयोरेकाऽभिप्रायत्वात् तस्मात् मोक्षलक्षणं फलमभिवाञ्छता आवश्यकानुयोगेऽवश्यं प्रवर्तितव्यमेव ततोऽपि ज्ञानक्रियाप्राप्ते स्ताभ्यां च मोक्षफलसिद्धिरिति।

यदि नामावश्यकानुयोगतो ज्ञानक्रियावाऽप्तिस्ताभ्यां च मोक्षसिद्धिस्तथापि किमिति तत्र प्रवर्तितव्यं न पुनर्यत्र कुत्रचित्षष्ठि तंत्रादावित्याह। कारणात्कार्यसिद्धिर्नाकारणादिति कृत्वा कारणे हि सुविवेचितेप्रवर्त्तमानाः प्रेक्षावंतः समीहितमप्रति हतं कार्य-मासादयंति नाकारणे अन्यथा तृणादपि हिरण्यमणिमौक्ति-कावाप्तेः सर्वविश्वमदरिद्रं स्यात्कारणं च पारंपर्येणावश्यकानुयोग एव मोक्षस्य न षष्ठि तंत्रादिकं ज्ञानक्रियाजननद्वारेण तस्य मोक्षसंसाधकत्वादितरस्य तु पारंपर्येणापितदसाधकत्वा-दिति गाच्छार्थः।

उक्तं फलद्वारमधुना योगद्वारमभिधित्सुराह।

भव्वस्स मोक्खमग्गाहि, लासिणो ठि अगुरूवएसस्स।
आइए जोगामिणं, वाल गिलाणस्स बाहारं॥

व्याख्या। यदादौ प्रतिज्ञातंशिष्यप्रदानेऽस्य योग्योऽवसरोवाच्यइति। तत्राह। समस्तद्वादशांगाऽध्ययनकालस्यादौ प्रथममिदं षड्विधमावश्यकं योग्यमुपदिशंति मुनयः शेषसमग्रश्रुत प्रदानकालस्यादौ प्रथममेवाव-श्यकप्रदानस्थाऽवसरइतिभावः कस्य पुनरिदमावश्यकंयोग्यमादिशंति मुनयः इत्याह। भव्य स्यमुक्तिगमनयोग्यस्य जतोः स च कश्चिद्दूरभव्योऽसंजात०

मोक्षमार्गाभिलाषोऽपिभवति । तद्व्यवच्छेदार्थमाह । मोक्षमार्गः सम्यक् ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्तमुत्तरोत्तरविशुद्धिरूपम भिलषितुं शीलमस्य स तस्य अयं चैवंविधोऽपरिणतगुरूपदेशोऽपि स्यात्तन्निरासार्थमाह । स्थितः कर्तव्यतया परिणतो गुरूपदेशो यस्यासौ स्थितगुरूपदेशस्तस्य किं यथायोग्यमुपदिशंतीत्याह । बालग्लानयोरिवाहारं यथोपदिशंति भिषजेति गम्यते, । इदमुक्तं भवति । यथा आदौ बालस्य कोमलमधुरादिक ग्लानस्य च पेयमुद्गयूषादिकं तत्कालोचितं उत्तरोत्तरबलपुष्ट्यादिहेतु-माहारयोग्यं भेषजं समुपदिशंति तथेहापिभव्यादिविशेषण विशिष्टस्य जंतोरादाविदमेवावश्यकमुत्तरोत्तरगुणवृद्धिहेतुभूत-योग्यमुपदिशंति तीर्थकरगणधरा इति आवश्यकस्य चादौ शिष्यप्रदानाऽवसरे प्रतिपादिते तदनुयोगस्याऽसौ प्रतिपादित एव द्रष्टव्यस्तयोरेकत्वस्यानंतरमेवाख्यातत्वादिति गाथार्थः ॥४॥

आह ननु यस्य भव्यादिविशेषणविशिष्टस्यादौ योग्यमि-दमावश्यकं तस्मै योग्यमित्येतावन्मात्रमेव ज्ञात्वा तद्दत्याचार्या आहो स्विदन्योऽपि तत्र कश्चिद्विधिरपेक्षणीय इति शिष्य-वचनमांशक्यास्मिन्नेवानुयोगद्वारे तद्दानविधानादि किंचिल्लेशतः प्रासंगिकमभिधित्सुराह ।

कयपंचनमुक्कारस्स, दित्तिसामाइयायं विहिणा ।
आवस्सयमायरिया, कमेण तो सेसयसुअं पि ॥

व्याक्या । भव्यादिविशेषणविशिष्टस्याऽपि शिष्यस्य कृत पंचनमस्कारस्य चतुर्थ्यर्थे षष्ठी कृतपं चनमस्काराय मंगलार्थमुच्चारितपंचनमस्कृतिमंगलायेत्यर्थः ॥

सामायिकादिकमावासकं विधिना प्रशस्तद्रव्यक्षेत्रकालभाव रूपेण प्रशस्तदिगभिमुखव्यवस्थापनारूपेण च समयोक्तेन ददत्याचार्या नपुनर्योग्यमित्येतावन्मात्रकमेव ज्ञात्वेति भावः (तत उर्ध्वमस्मै किं न किंचित् ददतीत्याह) क्रमेण ततः शेष मप्याचारादिश्रुतं प्रयच्छंति यावत्श्रुतोदधेः पारमिति गाथार्थः ।

आवश्यकानुयोगप्रदानेऽप्ययमेव विधिरित्यावेदयितुमाह ॥

तेणेवयाणुओगं, क्कमेण तेणेव याऽहिगारोयं ॥
जेण विणेयहियत्था, यत्थेरकप्पे कमो एसो ॥१॥

चकारोऽपि शब्दार्थोभिन्नक्रमश्च । ततस्तेनैव पंचनमस्कार करणादिना क्रमेणानुयोगमपि सूत्रव्याख्यानरूपं ददत्याचार्या इति वर्तते अनयोश्च सूत्रप्रदानक्रमानुयोगप्रदानक्रमयोर्मध्ये तेनैव प्रस्तुतगाच्छाप्रक्रांतेनानुयोगप्रदानक्रमेणायमस्मदभिमतोऽधिकारः अनुयोगस्यैवेह प्रस्तुतत्वादितिभावः । कुतः पुनरिहानु-योगप्रदानक्रमेणैवाऽधिकारः इत्याह । येन कारणेन विनेयहितार्थं शिष्यवर्गस्योत्तरोत्तरगुणप्राप्तिमपेक्षेत्यर्थः । स्थविराणां गच्छवासिनां साधूनां योऽसौ विकल्पः सामाचारविशेषस्त स्यैषोऽनंतरगाथावक्ष्यमाणलक्षणः क्रमः परिपाटीरूपस्तेन कारणेनाऽनुयोगप्रदानक्रमेणैवेहाधिकारोऽयमिति० विशे० ॥

आवस्सिया–स्त्री० (आवश्यिकी) अवश्यं कर्तव्यमावश्यकम् तत्र भवाऽऽवश्यिकी अनु० । अवश्यंकर्तव्यैर्योगैर्निष्पन्नाऽऽवश्यकी स्था० ठा० १० । अवश्यं कर्तव्यैश्चरणकरणयोगैर्निर्वृत्ताऽऽवश्यकी जीत० । आव० ३ अ० । अप्रमत्तत्वेनावश्यकर्त्तव्यव्या पारे भवाऽऽवश्यकी उत्त० २६ अ० । आवश्यकेषु अप्रमत्ततयाऽवश्यकर्त्तव्यव्यापारेषु सत्सु भवाऽऽवश्यिकी ग० २ अ० सामाचारीभेदे, (पढमा) आवस्सिया नामं) उत्त० २६ अ० । प्रथमा सामाचारी आवश्यकी नाम्नी यतः उपाश्रयात् निर्गच्छन् साधुरावश्यकीति वदति उपाश्रयात् बर्हि निःसरणं चावश्यकीं विना न स्यात् तेन आवश्यकीति प्रथमा सामाचारी ज्ञानाद्यालंबनेनोपाश्रयात् बहिरवश्यं गमने समुपस्थितेऽवश्यंकर्तव्यमिदमतोगच्छा-म्यहमित्येवं गुरुं प्रतिनिवेदनाऽऽवश्यकीति हृदयम् । अनु० । वृ० १ उ० । स्था० प्रव० ।

(गमणे आवस्सियं कुज्जा) उत्त० गमने स्वस्थानादन्यत्रगमने अप्रमत्तत्वेन अवश्यकर्त्तव्यव्यापारे भवा आवश्यिकी तां आवश्यिकीं कुर्य्यात् यतोहि साधोर्गमनंनिष्प्रयोजनं नास्ति यदि अवश्यं किंचित्कार्य्यं समुत्पन्नं वर्त्तते तदैव साधुः स्वस्थानादुत्थितोस्ति इति भावः ।

अथाऽवश्यकीस्वरूपमाह ।

कज्जेणं गच्छंतस्स, गुरुणिओएणसुत्तणीइए ।
आवस्सियत्तिणेया शुद्धा अम्णत्थजोगाओ ॥

व्याख्या० । कार्येण ज्ञानादिप्रयोजनेनानेन निष्कारणगमन-निषेध उक्तो गच्छतो वसतेर्निर्गच्छतः साधोः किंस्वच्छंदेन नेत्याह । गुरुनियोगेन गुर्वनुज्ञया तत्रापि सूत्रनीत्यागमन्यायेन (इयास) मित्यादिलक्षणेन किमित्याह ।

आवश्यिकी अवश्यंकृत्यनिर्वृत्ता निर्गमक्रियात्सूचिका वाक् इति एवमुक्तन्यायेन ज्ञेयाऽवसेया किंभूतशुद्धाऽनवद्याकुतइत्याह । अन्वर्थयोगान् अनुगतशब्दार्थसंबधान् अन्वर्च्छश्चोक्त एव प्रकारांतरेण पुनरशुद्धेति गाथार्थः ॥

कार्येण गच्छत इत्युक्तं किंपुनस्तदित्याह ।

कज्जंदिण्णाण दंसण, चरित्तजोगाण साहगं जंतु ।
जइणो सेसमकज्जं, तत्थ आवस्सियासुद्धा ॥१॥

व्याख्या । इहापि शब्दः पुनरर्थः ततश्चावश्यिकी कार्येण-गच्छतोभवति कार्यं पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्रयोगादित्रयतगव्यापाराणां साधकं हेतुभूतं भिक्षाटनादि यत् इह तदिति शेषोदृश-यस्तुशब्दश्चैवकारार्थस्तताश्च तदेव नान्यत् कस्येत्याह । यतेः साधोः शेषं ज्ञानादिसाधनान्यदकार्यमप्रयोजनंमुमुक्षुत्वात्सा धोरिति किं वातइत्याह नैव तत्र ज्ञानाद्यसाधनप्रयोजनेगच्छत इति गम्यते आवश्यिकी पूर्वोक्तनिर्वचनाशुद्धानिर्दोषान्वर्या भावादिति गाथार्थः ।

यद्यसौ न शुद्धा तर्हि किंविधा सेत्याह ॥

वइमेत्तं णिव्विसयं, दोसायमुसत्तिएव विण्णेयं ।
कुसलेहिं वयणाओ, वइरेगेणंजओभणियं ॥२॥

व्याख्या । वागेव वचनमेव वाङ्मात्रं सादिशियकीति प्रकृतंवाङ्मात्रमित्यत्रावधारणार्थमात्रशब्दस्य व्यवच्छेद्यं यदाह निर्विषयं निर्गो चरमनर्थकमित्यर्थः किंफलंच तदित्याह दोषाय कर्मबद्धलक्षणदूषणार्थं कस्मोदवमित्याह मृषेति अनृतमिति कृत्वा प्रतीतं चानृतस्य दोषार्थत्वमिति (एवत्ति) इहानुस्वारस्याऽश्रवणं-छंदोवशात् एवमुक्तस्वरूपं विज्ञेयं ज्ञातव्यं कुशलैर्निपुणैरन्येषां ज्ञानासक्तत्वावचनना-दागमाद्विवक्षितवचनस्यैव प्रस्तावनार्थमाह । व्यतिरेकेण प्रकृमविपर्ययेम यतोयस्माद्भणितमुक्तं सामायिकनिर्युक्ताविति गाथार्थः ॥

यदुक्तं तदाह ॥

आवस्सियाउ आवस्स, एहिं सव्वेजुत्तं जोगस्स ॥
एयस्सेसो उचिओ, थिरस्स णचेव णत्तित्ति ॥

व्याख्या । आवश्यिकी तु प्रागुक्तनिर्वचना तु पुनः शब्दार्थः आवश्यकैः प्रतिक्रमणादिभिः सर्वै समस्तैर्युक्तयोगस्य संयुक्तकायादिचेष्टस्य शुद्धा भवतीति शेषः । तदिदंव्यतिरेकभणितं

तं नैवंविधस्य वाङ्मात्रत्वात्तस्या इति कथमेवं विधस्येयं शुद्धा भवतीत्याह एतस्यावश्यकयुक्तस्य एष इति पूर्वतमगाथोक्तोऽन्वर्थयोगः आश्यिकीशब्दोश्चाररूपे उचितः संगतो विद्यमानत्वात् उक्तव्यतिरेकेमाह (इयरस्सत्ति) इहोत्तरस्य पुनरर्थस्य चशब्दस्य संबंधादितरस्य पुनरनावश्यकयुक्तस्य नैव उचितएष इति प्रकृतं कुतइत्याह नास्तीति कृत्वाअविद्यमानत्वादन्वर्थाभावादित्यर्थः। अतस्तस्य वाङ्मात्रमेवासाविति गाथार्थः।

उक्ताऽवश्यिकी पंचा० १२ वृ०॥ ध० ३ अधि०॥

साम्प्रतमावश्यिकी नैषेधिकी द्वारद्वयावयवार्थमभिधित्सुः पातनिका गाथामाह।

आवस्सियं च निंतो, जं चायं तो निसीहियं कुणइ॥
एयं इच्छंनाउं, गणिवरतुज्झंतिए निउणं॥

आवश्यिकी पूर्वोक्तशब्दार्था तां आवश्यिकीं (निंतो) निर्गच्छन् प्रविशन् इत्यर्थः। नैषेधिकीं करोति एतत् आवश्यिकीं (निंतो) निर्गच्छन् यां च (आयंतो) आगच्छन् प्रविशन् इत्यर्थः नैषेधिकीं करोति एतत् आवश्यिकी रूपद्वयमपि स्वरूपादिभेदभिन्नं इच्छामि ज्ञातुं हेगणिवर ? युष्मदंतिके निपुणं सूक्ष्मं एतत् ज्ञातुमिच्छामीति क्रिया विशेषणं एवं शिष्येणोक्ते सत्याह आचार्यः॥

आवस्सियं चनिंतो, जं चायंतो निसीहियं कुणइ।
वंजणमेयं तु दुहा, अत्थो पूणहोइसो चे व॥

आवश्यिकीं निर्गच्छन् यां च प्रविशन्नैषेधिकीं करोति एतद व्यंजनं शब्दरूपं द्विधा किमुक्तं भवति आवश्यकीं नैषेधिकीं चेति द्वयं शब्द एव भिन्नमर्थः पुनर्भवत्यावश्यकीनैषेधिक्योः स एव एकएव यस्मादवश्यकर्तव्ययोगक्रिया आवश्यकी॥ निषिद्धात्मनश्चारेभ्यः क्रिया नैषेधिकी नह्यसाववश्यकर्त्तव्यम् व्यापारमुल्लंघ्य वर्तते आह। यद्येव भेदोपन्यासः किमर्थः उच्यते गमनस्थिति क्रियाभेदात् आह। आवश्यकीं निर्गच्छन्नित्युक्तं तत्र साधो किमवस्थानं कथं यत आह।

एगागस्स पसंतस्स, नहोंति इरियादयो गुणा होंति।
गंतव्वमवस्सं, कारणंमि आवस्सिया होइ॥

एकमग्रमालंबनं यस्येत्यस्यावेकाग्रस्तस्य स च प्रशस्तालं वनोऽपि भवति तत आह। प्रशांतस्य क्रोधरहितस्य सतस्तिष्ठतः किं न भवति इर्यादयः ईरणमीर्या गमनमित्यर्थः। इह इर्या कार्य कर्म्म ईर्याशब्देन गृह्यते। कारणे कार्योपचारात् ईर्या आदि-र्येषांमात्मसंयमविराधनादीनां दोषाणां ते ईर्यादयो न भवंति। तथा गुणाश्च स्वाध्यायध्यानादयो भवंति। प्राप्त तर्हि संयतस्य आगमनमेवं श्रेय इत्यपवादमाह। नचावस्थाने खलूक्तगुणसंभवान्नगंतव्यमवश्यं नियोगतः कारणे गुरुग्लानादिसंबंधिनियतस्तत्रागच्छतो दोषास्ततः कारणे गच्छत आवश्यकी भवति आह कारणेन गच्छतः किं सर्व्वस्यै वावश्यकी भवति उत नेति उच्यते नेति कस्य तर्हि तदुच्यते।

आवस्सिया उ आवस्स, एहिं सव्वेहिं जुत्तजोगिस्स।
मणवयणकायगुत्तिं, दियस्स आवस्सिया होइ॥

आवश्यकी आवश्यकैः प्रतिक्रमणादिभिः सर्वैर्युक्ता योगिनो भवति शेषकालमपि निरतिचारस्य क्रिया स्थास्यति भावार्थः। तस्य च गुरुनियोगादिना प्रवृत्तिकालेऽपि (मण) इत्यादिमनोवाक्कायायैंद्रियैर्गुप्तस्य किमावश्यकी भवति। सूत्रे इंद्रियशब्दस्य गाच्छाभंगभयाद्व्यवहित उपन्यासः कार्यास् पृथगिंद्रियग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थं अस्ति चायं न्यायःसामान्यग्रहणे सत्यपि प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनोपन्यासो यथा ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इति उक्ता आवश्यकी। आ०म०द्वि०१ अ०॥

आवह–पुं० (आवह) आवहति आभिमुख्येन गच्छति आ–वह अच्–सप्तस्कंधापन्नवायोः प्रथमे स्कंधे भूवायौ भूवायुरावहइह प्रवहस्तदूर्ध्वम् –सि०शि०(आवहः प्रवहश्चैव विवहश्च समीरणः। परावहः संवहश्च उद्वहश्च महाबलः। तथा परिवहः श्रीमान्) हरिवं० आवहति प्रापयति आ–वह–अच् प्रापके त्रि० वाच०। (णो पूयणं तवसा आवहेज्जा) नापि तपसा पूजनं सत्कारमावहेत् न पूजनसत्कारनिमित्तं तपः कुर्य्यादित्यर्थः सूत्र०७ अ०।

आवहमाण–त्रि०(आवहमान) आ–वह–शानच्–क्रमागते–वाच०।

अवाब–पुं०(आवाप) आ–वप्–आधारे वा घञ् वाच०।

आवावकहा–स्त्री०(आवापकथा) विकथाभेदे व्याख्या भक्तकहा शब्दे स्था०।

आवास–न०(आवश्य) आवश्यके व्य०१ उ०॥

आवास–पुं० आवसन्ति येषु ते आवासाः भ०१ श०४ उ० आ–वस्–आधारे–घञ् आश्रये–स्था० वासस्थाने गृहादौ वाच० जेसिं ते आवासा–येषां देवानां ते निधय आवासा आश्रया इति स्था०९ ठा० आवसंत्यस्मिन्नित्यावासः मनुष्यादिभवे मनुष्यादिशरीरे च (अणिच्चमावासमुवेतिजंतुणा आवसंत्यस्मिन्नित्यावासो मनुष्यादिभवस्तच्छरीरं वा तमनित्यं उपसामीप्येन यंति गच्छंति जंतवः प्राणिन इति आचा०। नरका वासाःनरकावासशब्दे। अथासुराद्यावासविषयमभिलाषं दर्शयति। सम०।

केवइयाणं भंते असुरकुमारवासा प० गोयमा० इमीसेणं रयणप्पभाए पुढवीए असी उत्तरजोयणं सयसहस्स बाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता अट्ठहत्तरिंजोयणसहस्से एत्थणं रयणप्पभाए पुढवीए चउसठिं असुरकुमारावास सयसहस्सा प० तेणं भवणावाहिं वट्टा अंतो चउरंसा अहो पोक्खर कण्णिआ संठाण संठिया उकिण्णंतर विउल गंभीर खाय फलिहा अट्टालय चरिय दार गोउर कवाड तारेण पडिदुवार देस भागा जंत मुसल भुसंढि सयग्घि परिवारिया अउझा अडयाल कोट्ठरइया अडयालकय वण्ण माला लाउल्लोइय महिया गोसीस सरस रत्तचंदण दद्दरविण्ण पंचंगुलितला कालागुरु पवर कुं दुरुक्क तुरुक्कडज्झंत धूवमघमघेंत गधुद्धुयाभिरामा सुगंध वरगंधिया गंधवट्टि भूया अच्छा सण्हा लण्हा घठा मठा नीरया णिम्मला वितिमिरा विशुद्धा सप्पभा समरीया सउज्जोआ पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा एवं जंजस्स कमातीतं तस्स जंजं गाहाहिं भणियं तहचेव वण्णओ॥

टी० वृत्तप्राकारावृत्तनगरवत् अंतः समचतुरस्राणि तदवकाशादेतस्य चतुरस्रत्वात् अधः पुष्करकर्णिकासंस्थानसंस्थितानि पुष्करकर्णिकापद्मध्यभागः सचोन्नतसमचित्रबिंदुकिनीभवतीति तथा उत्कीर्णांतरविपुलगम्भीरखातपरिखानि उत्कीर्ण-

भुवनमुत्कीर्य पालीरूपं कृतमंतरमंतरालं ययोस्ते उत्कीर्णांतरेते विपुलगम्भीरे खातपरिखे येषां तानि तत्र खातमध उपरि च समम्परिखा उपरि विशाला अधः संकुचिता तयोरंतरेषु पाली अस्तीति भावः। तथा अट्टालकाः प्राकारस्योपर्याश्रयविशेषाः चरिका नगरप्राकारयोरंतरमष्टहस्तो मार्गः पाठान्तरेण (चतुरयंति) चतुरकाः सभाविशेषाः ग्रामप्रसिद्धाः (दारगोउरत्ति) गोपुरद्वाराणि प्रतोल्यो नगरस्येव कपाटानि प्रतीतानि तोरणान्यपि तथैव प्रति द्वाराणि अवांतरद्वाराणि तत एतेषां द्वंद्व एतानि देशलक्षणेषु भागेषु येषां तानि तथा इह देशो भागश्चानेकार्थस्ततोन्योन्य-मनयोर्विशेष्यविशेषणभावो दृश्यत इति तथा यंत्राणि पाषाणक्षेपणयंत्राणि मुशलानि प्रतीतानि भुशुंड्यः प्रहरणविशेषाः शतघ्न्यः शतानामुपघातकारिण्यो महाकायाः काष्ठशैलस्तम्भय-ष्टयः ताभिः (परियारियत्ति) परिवारितानि परिकरितानीत्यर्थः। तथा आयोधानि योधयितुं संग्रामयितुंदुर्गतत्वान्न शक्यंते परबलैर्यानि तान्ययोधानि अविद्यमाना वा योधाः परबलसुभटा यानि प्रतीतान्ययोधानि तथा (अडयालकोद्वगरइयत्ति) अष्टचत्वारिंशद्रेदभिन्नविचित्रछंदो गोपुररचितानि अन्ये भणंति अडयालशब्दः किलप्रशंसावाचकः तथा (अडयालकयवण्ण-मालत्ति) अष्टचत्वारिंशद्रेदभिन्नाः प्रशंसार्हाः कृता वनमाला वनस्पतिपल्लवस्रजोयेषु तानि तथा (लाइयंति) यद्-भूमेच्छगणादिनोपलेपनं (उल्लोइयंति) कुड्यमालानां सेटिका-दिभिः सन्मृष्टीकरणं ततस्ताभ्या मिवमहितानि पूजितानि (लाउल्लोइय) महितानि तथा गोशीर्षं चन्दनविशेषः सरसंच रसोपेतं यद्रक्तचंदनं चंदनविशेषः ताभ्यां दर्दराभ्यां घनाभ्यां दत्ताः पंचांगुलयस्तलाहस्तका कुड्येषु येषु अथवा गोशीर्षसरसस्य रक्तचन्दनस्य सत्का ददरेण चपेटाभिघातेन ददरेषु वा सोपानवीथीषु दत्ताः पंचांगुलितला येषु तानि गोशीर्ष सरसरक्तचन्दनददरदत्तपंचागुलितलानि तच्छा कालागुरुः कृष्णा-गुरुर्ग धद्रव्यविशेषः प्रवरः प्रधानः कुन्दुरुक्कश्चीडा तुरुष्कः सिल्हकं गंधद्रव्यमेव एतानि च तानि (डज्झंतित्ति) दह्यमानानि चेति विग्रहः तेषां योधूमो (मघमघेंतत्ति) अनुकरणशब्दोऽयं मघमघायमानो बहलगंध इत्यर्थः। तेनोद्धुराणि उत्कटानि तानि तथा तानि च तान्यभिरामाणि रमणीयानीति समासः। तथा सुगन्धयः सुरभयो ये वरगंधाः प्रधानवासास्तेषां गन्ध आमोदो येष्वस्ति तानि सुगन्धि वरगंधिकानि तथा गंधवर्ति गंधद्रव्याणां गंधयुक्तिशास्त्रोपदेशेन निवर्तितगुटिकातद्भूतानि तत्कल्पानीति गन्धवर्तिभूतानि प्रवरगन्धगुणानीत्यर्थः। तथा अच्छानि आकाशस्फटिकवत्। (सण्हत्ति) श्लक्षणानि सूक्ष्मस्कंधदलनिष्पन्नत्वात् श्लक्ष्णदलनिष्पन्नपटवत्। (लण्हत्ति) मसृणानीत्यर्थः। घुटितपटवत् (घट्ठत्ति) घृष्टानि खरशाणया पाषाण-प्रतिमावत् (मट्ठत्ति) मृष्टानीव मृष्टानि सुकुमारशाणया पाषाण-प्रतिमेव शोधितानि वा प्रमार्जनिकयेव अतएव (नीरयत्ति) नीरजांसि रजोरहितत्वात् (निम्मलत्ति) निर्मलानि कठिनमला-भावात् (वितिमिराणि) निरंधकारत्वात् (विशुद्धत्ति) विशुद्धानि निष्कलंकत्वान्नचन्द्रवत् सकलंकानीत्यर्थः तथा (सप्पहत्ति) सप्रभाणि स प्रभावाणि अथवा स्वेनात्मना प्रभांतिशोभंते प्रकाशंते चेति स्वप्रभाणि यतः (समरीयत्ति) समरीचीनि सकिरणानि अतएव (सउज्जोयंति) सहउद्योतेन वस्त्वंतरप्रकाशनेन वर्तंत इति सोद्योतानि (पासाईयत्ति) प्रासादीयानि मनः प्रशांतिकराणि (दरिसणिज्जत्ति) दर्शनीयानि तानि हि पश्यंश्चक्षुषा न श्रमं गच्छतीति भावः (अभिरूवत्ति) अभिरूपाणि कमनीयानि (पडिरूवत्ति) प्रतिरूपाणि द्रष्टारं प्रतिरमणीयानि नैकस्य कस्यचिदेवेत्यर्थः। एवमित्यादि यथासुरकुमारावास सूत्रे तत्परिमाणमभिहितमेवमेवमिति यथा यद् भवनादिपरिमाणं यस्य नागकुमारादिनिकायस्य क्रमते घटते तत्तस्य वाच्यमिति किंविधं तत्परिमाणमतआह। ''जंजंगाहाहिंभणियं'' यद्यत्रगाथाभिः चउसट्ठि-असुरामित्यादिकाभिरभिहितं किंम्परिमाणमेव तथावाच्यं (तहेत्याह)। (तहचेववण्णओत्ति) यथा असुरकुमारभवनानां वर्णक उक्तस्तथा सर्वेषामसौ वाच्य इति तथाहि।

केवइयाणं भंते नागकुमारावासा पण्णत्ता गोयमा इमीसेणं रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तर जोयण सयसहस्स पमाणाए उप्पिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता। हेट्ठावे गं जोयण सहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरेजोयण सहस्से एत्थणं रयणप्पभाए चुलसीइ नागकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता तेणं भवणा इत्यादीनि सम०॥

तथाच भगवत्याम्॥

केवइयाणं भंते असुरकुमारा भवणावास सयसहस्सा पं० गोयमा ! चउसट्ठि असुर कुमारा भवणावाससय सहस्सा पं० तेणं भन्ते ! किंमया पं० गोयमा ! सव्वरयणामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा तत्थणं बहवे जीवाय पोग्गलाय वक्कमंति विउक्कमंतिचयंति उववज्जंति सासयाणं ते भवणा दव्वट्ठयाए वण्णपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासया एवं जावथणियकुमारावासा भ०श०१९ उ०७॥

आवासपरिमाणं चासुरादीनामपि दशानां गाच्छाया संगृह्णाति॥

चउसट्ठि असुराणं, चउरासीइं च होइ नागाणं।
बावत्तरि सुवन्नाणं, बाउकुमाराण वण्ण ओइ॥३॥
दीवदिसाउद हीणं, विज्जकुमारिंदथणियमग्गीणं।
छण्हंपि जुवलयाणं, बावत्तरिमो य सयसहस्सा॥२॥ सम०।

(छण्हंपि जुवलयाणंति) दक्षिणोत्तरभेदेनासुरादिनिकायोद्विभेदो भवतीति युगलान्युक्तानि तत्र षट्षु युगलेषु प्रत्येकं षट् सप्ततिर्भवनलक्षाणामिति एषां चासुरादिनिकाययुगलानां दक्षिणोत्तरदिशोरयं विभागः (चउतीसा चउछत्ता, अट्ठत्तीसं च सयस-हस्साउं। पण्णाचत्तालीसा, दाहिणओ होंति भवणाइं॥१॥ चत्ता-लीसत्ति॥ द्वीपकुमारादीनांषण्णांप्रत्येकं चत्वरिंशद्भवनलक्षाणि तीसा चत्तालीसा, चोत्तीसं चेव सयसहस्साइं। छायाला छत्तिसा, उत्तरओहोंति भवणाइं॥१॥ (छत्तीसत्ति) द्वीपकुमारादीनां षण्णां प्रत्येकं षट्त्रिंशद्भवनलक्षाणीति॥ भ०१ श०५ उ०।

केवइयाणाभंते ! पुढविकाइयावासा प० गोयमा !
असंखेज्जा पुढविकाइयावासा प० एव जाव मणुस्सत्ति।

॥ टी०॥ केवइयाणं भंते पुढवीत्यादि गतार्थं। नवरं मनुष्याणां गर्भव्युत्क्रान्तिकानां असंख्यातानामभावात् संख्याता एवाऽवासाः संमूर्छिमानां त्वसंख्येयत्वेन प्रतिशरीरमावासाभावाद संख्याता इति भावनीयमिति॥ भ० श० ५ उ० १

केवइयाणम्भंते ! वाणमंतरावासा पं० गोयमा ! इमीसेणं रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडस्स जोयणसहस्स बाहल्लस्स उवरि एगं जोयणसयं ओगाहेत्ता हेट्ठाचेगं जोयणसयं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु एत्थणं वाणमंतराणं देवाणं तिरियमसंखेज्जा भोमेज्जा नगरा-वाससयसहस्सा पं० तेणं भोमेज्जा नगरा बाहिं वट्टा अंतो चउरंसा एवं जहा भवणवासीणं तहेव णेयव्वा। णवरं। पडागमालाउला सुरम्मा पासाइया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा केवइयाणं भंते वाणमंतर भोमेज्ज-णयरावाससयसहस्सा पं० गोयमा ! असंखेज्जा वाणमंतरा भोमेज्जा णयरावासासयसहस्सा प० तेणं भंते ! किंसट्ठिया पं० २ सेस तं चेव ॥ भ० १९ श० ७ उ० १ ॥

॥ टी०॥ भोमेज्जनगरत्ति । भूमेरंतर्भवानि भौमेयकानि तानि च तानि नगराणि चेति विग्रहः ॥ भ०टी०॥

अरुणोदगे समुद्दे गंतूणं पंच आवासा । द्वी०॥

निरयावासा नियावासशब्दे । भावेल्युट् सम्यग्वासे वाच० ॥ निवासे, प्रश्न० ४ द्वा०॥ औप०॥ अवस्थाने, सम०॥ स० ७० ॥ स्था०४ ठा०॥ (आगारमावसंता वि) अगारं गृहं तदावसन्ततस्तस्मिंस्तिष्ठतो ग्रहस्था इत्यर्थः सूत्र०१ श्रु०९ अ०॥ (तं जोइभूयं च सया वसेज्जा) आवसेत सेवेत गुर्वन्तिक एव यावज्जीवं वसेत् सूत्र०१ श्रु०१२ अ०॥ (कम्मोवगाकुणिमे आवसंति–) आ समन्ताद्वसति तिष्ठंतीति॥ सूत्र० नीडे, व्य०१ उ०॥

आवासपव्वय–पुं०(आवासपर्वत) निवासभूते पर्वते, (गोथूभस्स णं आवासपव्वयस्स) स०॥

आवासय–न०(आवश्यक) लुप्तयरवशषसां दीर्घः १। ४३ इति प्राकृतसूत्रेण प्राकृतलक्षणवशाल्लुप्ता याद्या उपर्यधोवा येषां शकारषकारसकाराणां तेषामादेः स्वरस्य दीर्घो भवति प्रा०॥ अवश्यकर्त्तव्ये सामायिकादिके, विशे०॥

***आवासक**–न आसमन्तात् ज्ञानादिगुणैः शून्यं जीवं वासयति तैर्युक्तं करोतीत्यावासकम् सामायिकादिके, विशे०॥ आवासो नीडमावास एवावासकः नीडे, पु०वासगगयं तु षोसति वासगगयंति प्राकृतत्वादाद्या-कारस्य लोपः आवासो नीडमावास एवावासकः । व्य०१ उ०(सावासगापविउं मन्नमाणं) स्वकीयादावासका-त्स्वनीडात्, सूत्र०१ श्रु०१४ अ०॥

आवासयाणुओग–पुं०(आवासकानुयोग) आवश्यकव्याख्याने, ''आवासयाणुओगं'' आ समंताद्ज्ञानादिगुणैः शून्यं जीवं वासयति तैर्युक्तं करोतीत्यावासकं सामायिकादिरूपमेव तस्य वक्ष्यमाणशब्दार्थोऽनुयोगो व्याख्यानं विधिप्रतिषेधाभ्याम-र्थप्ररूपणमित्यर्थः विशे०॥

आवाह–पुं०(आवाह) आहूयंते स्वजनास्तांबूलदानाय यत्र स आवाहः । विवाहात् पूर्वं ताम्बूलदानोत्सवे, जी०३ प्र०। अभिनवपरिणीतस्य वधूवरस्यानयने। प्रश्न०सं०४ द्वा०॥ वध्वा वरगृहानयने, च प्रश्न०४ द्वा०॥

आवाहण–न०(आवाहन) आ० वह–णिच्–ल्युट्–सान्निध्याय देवानामाव्हाने–वाच०॥

आवाहविहारवरकहा–स्त्री०(आवाहविवाहावरकथा) आवाह विवाहप्रधानायां परिणेतकथानां. (आवाहविवाहवरकहादि) आवाहोऽभिनवपरिणीतस्य वधूवरस्याऽनयनं विवाहश्च पाणिग्रहणं तत्प्रधानां या वरकथा परिणेतृकथाआवाहविवाहवरा वा या कथा सा तथा सापि न कथयित व्येतिप्रक्रमः । प्रश्न० सं०४ द्वा०॥

आविइ–स्त्री०(आविची) अविचदेशोद्भवायाम्–राज०॥

आविंधइत्ता–अव्य०(आविध्य) परिधायेत्यर्थे (पालंवं वा सुवण्णसुत्तं वा आविधेज्ज वा पिणिंधेज्ज वा) आचा०६ अ०३ उ०॥

आवीकम्म (वीकम्म)–न०(आविष्कर्मन्) न०–प्रगटक्रिया –याम्–स्था०९ ठा० कल्प०॥

आविट्ठ–त्रि०(आविष्ट) आ–विष–क्त–भूतादिग्रस्ते, आवेश्ययुक्ते, निविष्टे, व्याप्ते, च–वाच०॥ अधिष्ठिते, स्था०५ ठा०॥ प्रविष्टे, (मच्छाविट्ठाव केयणे) केतने मत्स्यबंधने प्रविष्टा निर्गतिकाः । सूत्र०१ श्रु०३ अ० युक्ते, च सम०३ स०॥

आविद्ध–त्रि०(आविद्ध) आ–व्यध्–क्त–ताडितेऽविद्धे, छिद्रिते, क्षिप्ते, च (नश्यतीषुर्यथाऽऽविद्धः) मनु–वाच, परिहिते, कल्प औप०॥ (आविद्धमणिसुवण्णे) आविद्धानि परिहितानि मणिसुवर्णानि येन सः । तं०॥ औप०॥ आविद्धानि परिहितानि मणिसुवर्णानि लक्षणया मणिसुवर्णानि सुवर्णमयादिभूषणानि येन स तथा तस्मिन् । कल्प०॥ (आविद्धवग्घारियमल्लदामकलाव) परिहितप्रलंबपुष्पमालासमूहे, । ज्ञा०२ अ०॥

आविद्धवीरवलय–त्रि०(आविद्धवीरवलय) आविद्धानि वीर वलयानि वीरत्वगर्वसूचकानि वलयानि येन तथा तस्मिन् सुभ-टोहि यदि क्वचिदन्योऽप्यस्ति वीरव्रतधारी तदाऽऽसौ मां विजित्य मोचयत्वेतानि वलयानीति स्पर्द्धयन् यानि कटकानि परिदधाति तानि वीरवलयानीत्युच्यन्ते। औप०॥ कल्प०॥ ज्ञा०१ अ०॥

आविब्भाव–पुं०(आविर्भाव) आविस्–भू–घञ् प्रकाशे, वाच०॥ (*आविब्भावतिरोभावमेत्तपरिणामिदव्वमेवायं*) आविर्भाव-श्चकुण्डलादिरूपेण तिरोभावश्च मुद्रिकादिभावेन आविर्भाव-तिरोभावौ। तावेव तन्मात्रम् तेन परिणंतुं प्रवर्त्तितुं शीलं यस्य तदाविर्भावतिरोभावमात्रपरिणामि सुवर्णादिकं द्रव्यमेवेदं नतु तदतिरिक्ता गुणाः । विशे०॥

आविब्भूअ–त्रि०(आर्विभूत) आ–विस्–भू–कर्त्तरि–क्त–प्रकटिते,–अभिव्यक्ते, । वाच०॥

आविल–त्रि०(आविल) आकुले, (कलुसाविलचेयसे) सम० सूत्र०॥ अस्वच्छे, आविलमविमलमस्वच्छमिति जी०३ प्र०। आविलति दृष्टिं स्तृणाति–विल स्तृतौ–क–कलुषे–अयं विल भेदने विलप्रकृतिकत्वात् वर्ग्यवमध्य इति रायमु० वाच०॥

''छिन्नसोए अणाविले'' अनाविलोऽकलुषो रागद्वेषासंपृक्ततथा मलरहितोऽनाकुलो वा विषयाप्रवृत्तेः– स्वच्छचेता इति सूत्र०१ श्रु० १५ अ०॥

आविलप्पा–पुं०(आविलात्मन्) आकुलात्मनि, (अभयं करे भिक्खु अणाविलप्पा) अनाविलो विषयकषायैरनाकुल आत्मा यस्यासावनाविलात्मा॥ सूत्र० १ श्रु०१७ अ०॥

आविह–पुं०(आविध) आविध्यतेऽनेनआ–व्यध–घञर्थक०वा काष्ठादि-

वेधनसाधने सूच्याकाराग्रे अस्त्रे, वाच०॥

आवी–स्त्री०(आवी) अविरेव स्वार्थे–अण्–ङीप्–रजस्वलायां ना र्य्याम्, गर्भवत्यां, च। गर्भस्यंदनमावीनां, प्रणाशः श्यावपाण्डुता–सुश्रु०॥ वाच०॥

आवीइमरण–न०(आवीचिरमण) आसमन्ताद्वीचय इव वीचय आयुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिंस्तदावीचि अथवा वीचिर्विच्छेदस्तदमावादवीचिः दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात्तदेवं भूतं मरणमावीचिमरणम्। प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटनलक्षणे मरणभेदे, सम० १७ स०।

''अणुसमयं निरंतर, मावीइसंन्नियं तं भणंति।
पंचविहं दव्वे खेत्ते, काले भवे भावे य संसारे,॥

अणुसमयं समयमाश्रित्य इदं च व्यवहितसमयाश्रयणतोऽपि भवतीति माभूद्भातिरत आह। निरंतरं न सान्त-रालमंतरालाभावात्। किं तदेवंविधमावीचिसंज्ञितं आसमंताद्वीचय इव वीचयः प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरायुर्दलिकोदयात्पूर्वपूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिन्मरणे तदा वीचि तत् आवीचीति संज्ञा संजाता यस्मिन् तदावीचिसंज्ञितं तारकादित्वादितचि रूपमिदं। अथवा वीचिर्विच्छेदस्तद भावादवीचिः दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात् उभयत्र प्रक्रमान्मरणं तदेवं भूतं प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटन-लक्षणमावीचिमरणं पंचविधं भणति। तीर्थकरगणधरादयोऽस्मिन् संसारे जगति पंचविधत्वमेवाह, (द्रव्ये क्षेत्रे काले भवे भावे च) द्रव्यावीचिमरणं क्षेत्रावीचिमरणं कालावीचिमरणं भवावीचिमरणं भावावीचिमरणं चेत्यर्थः। तत्र द्रव्यावीचिमरणं नाम यन्नारकतिर्यङ्नरामराणामुत्पत्तिसमयात्प्रभृतिनिजनिजायुः कर्म्मदलिकानामनुसमयनुभावनाविचटनं तु तच्च नारकादिभेदाच्च-तुर्विधमेवं नारकादिगतिचातुर्विध्यापेक्षया तद्विषयं क्षेत्रमपि चतु-र्विधं ततस्तत्प्राधान्यापेक्षया क्षेत्रावीचिमरणमपि चतुर्विधम्। काल इति यथाऽयुष्ककालो गृह्यते नत्वयथाकाल-स्तद्देवादिष्वसंभवात् स च देवायुष्ककालादिभेदाच्चतुर्वि-धस्तत्प्राधान्यापेक्षया कालावीचिमरणमपि चतुर्विधमेव। चतुर्विधभवापेक्षया भवावीचिमरणमपि चतुर्धैव। तेषामेव च नारकादीनां चतुर्विधमायुः क्षयलक्षणं भावप्राधान्यापेक्षयाभावावीचिमरणमपि चतुर्धैवेति। प्रव०१५७ द्वा०।

आसमन्ताद्वीचयः प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरायुर्दलिको-दयात्पूर्वं पूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिंस्तदावीचिकम्। अथवा अविद्यमाना वीचि-र्विच्छेदो यत्र तदवीचिकम्। अवीचिकमेवावीचिकम् तच्च तन्मरणं चेत्यावीचिकमरणम्। मरणभेदे,। भ०१३ श०७ उ०॥

आवीइसण्णिय–न०(आवीचिसंज्ञित) आ समन्ताद्वी चय इव वीचयः प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरायुर्दलिकोदयात्पूर्वं पूर्वा-युर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिन्मरणे तदावीचि तत् आवीचितिसंज्ञा संजाता यस्मिन् तदावीचिसंज्ञितं तारकादित्वादितच् आवीचिसंज्ञके मरणभेदे, प्रव०१५७ द्वा०॥

आवीकम्म–न०(आविष्कर्मन्) प्रगटकर्मणि, कल्प०॥

आवुक्कण–न०(विज्ञापन) वि ज्ञा० णिच्–पुक्–ल्युट्–विशेषेण बोधने, वाच०॥

(विज्ञापेर्वोक्कावुक्कौ।४।३८) इति प्राकृतसूत्रेण विपूर्वस्य जानातेर्ण्यन्तस्य वोक्कआवुक्क इत्येतावादेशौ वा–वोक्कइ आवुक्कइ–विण्णवई। प्रा०व्या०॥

आवुट्ठि–स्त्री०(आवृष्टि) आ–वृष–क्तिन्० सम्यग् वर्षणे, वा–षं।

आवेढिय–त्रि०(आवेष्टित) सकृद्वेष्टिते, स्था०१०॥ ठि० सर्वतोवेष्टिते, च० भ०१६ श०६ उ०। सव्वओ समंतात् आवेढिय परिवेढियं–आवेढियंति सकृदावेष्टितम् परिवेढियं ति असकृदिति–स्था०॥ आवेढियंति अभिविधिना चेष्टितं सर्वत इत्यर्थः परिवेढियंति पुनः पुनरित्यर्थः॥ भ०॥

आवेढियपरिवेढिय–त्रि०(आवेष्टितपरिवेष्टित) गाढतरं संवेल्लिते,॥ प्रज्ञा०पद १५॥

आवेय–पुं०(आवेग) आ–विज्–घञ्–त्वरायाम्, अष्ट०॥

आवेत–त्रि० छन्ने प्रदेशे कुड्येऽवष्टभ्य ऊर्ध्वीकृते,। व्य० उ०॥

आवेयग–त्रि०(आवेदक) आ–विद्–णिच्–ण्वुल् विज्ञापके।

आवोम–अव्य०(आव्योम) व्योम मर्यादीकृ त्येत्यर्थ,–(आदीपमाव्योमसमस्वभावम्) आव्योमं व्योममर्यादीकृत्येतिस्था ५ श्लो०।

आस–पुं०(अश्व) अश्नुते व्याप्नोति मार्गम्–अश–क्वन्–घोटके ज्ञा०१७ अ०॥ अनु०॥ अश्वस्तुरगं इति औप०॥ आसो सत्तीवाहो एका० वाल्हीकादिदेशोत्पन्ने जात्यश्वे दश०६ अ०॥ जात्या आशुगमनशीला अश्वाः–शेषा घोटकाः जी०३ प्र०।

अश्वानां वर्णको ज्ञाताध्ययने यथा।

बहवे तच्छ आसे पासंति। किं ते हरिरेणुसोणिसुत्तग। आइण्णवेढो–ज्ञा०१७ अ०॥

बहूंश्चात्राश्वान् घोटकान् पश्यंति स्म किंतेत्ति किंभूतान् अत्रो-च्यते। हरीत्यादि॥ आईन्नवेढोत्ति। आकीर्णा जात्या अश्वाः तेषां वेढोत्ति वर्णनार्था वाक्यपद्धतिराकीर्णवेष्टकः। सचायं।

हरिरेणुसोणिसुत्तगसकविलमज्जारपायकुक्कुडवोंडसमुग्गय-सामवण्णा गोहुमगोरंगगोरपाडलगोरा पवालवण्णा य धूमवण्णा य केइ॥१॥ तलपत्तरिट्ठवण्णा सालीवण्णा य भासवण्णाय। केई जंपिय तिलकीडगय सालोयरिट्ठगाय पुंडपइयाय कणगपीडाय केई॥२॥ चक्कागपट्ठवण्णा सारसवण्णाय हंसवण्णाय केई। केई अब्भवण्णा पक्कतलमेहवण्णाय बाहुवण्णाय केई॥३॥ संज्झा-णुरागसरिसा सुयमुहगुंजद्धरागसरिसच्छकेई। एलापा-डलगोरा सामलयागवलसामला पुणोकेई॥४॥ बहवे अण्णे अणिट्ठे सासामा का सीसरत्तपीया। अच्चंतविसुद्धा वियणं आइण्ण जाइकुलविणीयागमच्छरा हयवरा जहोवए सकमवाहिणोवि य णं सिक्खाविणीय विणया लंघणवग्गणधावणधोवणतिबईण-सिक्खियगई किं ते मणसा बिउव्विहिंताईं अणेगाइं आससयाइं पासिं-तित्ति॥

तत्र हरिद्रेणवश्च नीलवर्णपांशवः श्रोणिसूत्रकं च बालकानांचर्मा दिदरवरकरूपं कटिसूत्रं तद्धि प्रायः कालकं भवति सह कपिलेन पक्षिविशेषण यो मार्जारो बिडालः स च तथा पादकुक्कुटविशेषः स च तथा बोडं कार्पासीफला तस्यसमुद्गकं संपुटमभिन्नावस्थं-

कार्प्पासीफलमित्यर्थः तद्वेति द्वंद्वस्तत एषामिव श्यामो वर्णो येषांते तथा । इह च सर्व्वत्र द्वितीयार्थे प्रथमाऽतस्तानिति तथा गोधूमो धान्यविशेषः तद्वद्गौरमंगं येषां ते तथा । तथा गौरी या पाटला पुष्पजातिविशेषस्तद्वद्ते गौरास्ते तथा ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । गोधूमगौरांगगौरपाटलागौरास्तान् तथा प्रवालवर्णांश्च विद्रुमवर्णान् अभिनवपल्लववर्णान् वा रक्तानित्यर्थः (धूमवण्णायत्ति) धूम्रवर्णांश्चधूम्रवर्णान्वा पांडुरानित्यर्थः (केईत्ति) कांश्चिन्न सर्व्वानित्यर्थः । इदं च हरीत्यत आरभ्य पांडुशब्दे कल्पितार्द्धं रूपकं भवति । तालपत्राणि तालाभिधानवृक्षपर्णानि रिष्टा च मदिरा तद्वर्णा येषां ते तालपत्ररिष्टवर्णास्तां स्तथा शालिवर्णान् शुक्लानित्यर्थः । (भासावण्णायत्ति) भस्मवर्णांश्च भासो वा पक्षि-विशेषस्तद्वर्णांश्च कांश्चिदित्यर्थः (जंपियतिलकीडगायत्ति) यापिताः कालांतरं प्राप्ता य तिलकीटा धान्य विशेषास्तद्वद्ये वर्णसाधर्म्यात्ते तथा तान् यापिततिलकीटकांश्च (सालोयरिट्ठगायत्ति) सावलोकं सोद्योतं यद्रिष्टकं रत्नविशेषस्त द्वद्ये वर्णसाधर्म्यात्ते सावलोकरिष्टकास्तांश्च (पुंडपइयायत्ति) पुंड्राणि धवलानि पदानि पादा येषां ते तथा त एव पुंड्रपदिकास्तांश्च तथा कनकपृष्ठान् कांश्चिदिति रूपकं ॥२॥ (चक्काग पट्टवण्णित्ति) चक्रवाकः पक्षिविशेषस्तत्पृष्ठस्येव वर्णो येषां ते तथा तान् सारसवर्णांश्च । हंसवर्णान् कांश्चित् इति पद्यार्द्धं (केइ अब्भवण्णेति) कांश्चिदेवाभ्रवर्णान् (पक्कतलमेहवण्णायत्ति) पक्वः पक्वपत्रो यस्तलस्तालवृक्षः स च मेघश्चेति विग्रहस्तस्येत वर्णो येषां ते तथा तान् (पविरलमेहवण्णत्ति) क्वचित्पाठः तथा (बाहुवण्णाके इति बभ्रुवर्णान् कांश्चित्पिंगलानित्यर्थः । बहुवर्णानिति क्वचित् दृश्यते रूपकमिदं ॥३॥ तथा (संज्झाणुरागसरिसत्ति) संध्यानुरागेण सदृशा वर्णत इत्यर्थः (सुयमुहगुंजद्धरागसरिसच्छके इत्ति) शुकमुखस्य गुंजार्द्धस्य च प्रतीतस्य रागेण सदृशो रागो येषां तथा तान् । अत्र इह काश्चिदित्यर्द्धं (एलापाडलगोरत्ति) एला पाटला पाटलाविशेषोऽथवाएला च पाटला चेत्येलापाटले । तद्वद्गौरा ये ते तथा तान् (सामलयागवलसामला पुणो केइत्ति) श्यामलता प्रियंगुलता गवलं च महिषशृंगं तद्वत् श्यामलान् पुनः कांश्चिदिति रूपकं ॥४॥ (बहवे अण्णे अणिट्ठेसत्ति) एकवर्णनाव्यपदिश्यानित्यर्थः । अतएवाह ॥ (सामाकासीसरित्तपीयत्ति) श्यामाकाश्च कासीसं रागद्रव्यं तद्वद्येते कासीसास्ते च रक्ताश्च पीताश्च ये ते तथा तान् शबलानित्यर्थः (अच्चंतविसुद्धावियणंति) निर्दोषांश्चेत्यर्थः । णमित्यलंकारे (आइण्ण जाइकुलविणी-यगयमच्छरत्ति) आकीर्णानां यवादिगुणयुक्तानां संबंधिनी जातिकुले येषां ते तथा ते च ते विनीताश्च गतमत्सराश्च परस्परा-सहनवर्जिता निर्म्मत्सराश्चेति । ते तथा तान् (हयवरत्ति) हया-नामश्वानां मध्ये वरान् प्रधानानित्यर्थः (जहोवदेसकमबाहिणो वियणंति) यथोपदेशक्रममिव उपदिष्टपरिपाट्यनतिक्रमेणेव वोढुं शीलं येषां ते तथा तानपि च णमित्यलंकारे (सिखाविणयत्ति) । शिक्षयेवाश्वदमकपुरुषशिक्षाकरणादिव विनीतोवाप्तो विनयो यैस्ते तथा तान् (लघणंवग्गणधावणधोरणतिपईजईणसिक्खियगईत्ति) लंघनं गर्तादीनां वलानं कूर्दनं धावनं वेगवद्गमनं धोरणं चतुरत्वं गतिविषयं त्रिपदीमल्लस्येव रंगभूम्यां गतिविशेषः । एतद्रूपा जविनी वेगवती शिक्षितेव शिक्षितागतिर्यैस्ते तथा तान् किं ते इति किमपरं (मणसावि उव्विहिं ताइंत्ति) मनसाऽपि चेतसाऽपि न केवलं वपुषा (उव्विहिंताइंति) उत्पतंति (अणेगाइं आससयाइंति) न केवलमश्वानेकैकशोऽपि तु अश्वशतानि पश्यंति स्मेति गमनिकामात्रमेतदस्य वर्णकस्य । भावार्थस्तु बहुश्रुतबोध्यइति ॥ धावमानस्याश्वस्योदरवर्त्ति-शब्दविचारो भगवत्याम् ।

आसस्सणं भंते ! क्खु धावमाणस्स किं क्खुक्खुत्ति करेइ गोयमा ! आसस्स णं धावमाणस्स हियस्स य जग यस्स य अंतरा एत्थं कक्कुडए नाम वाए समुच्छिए जेणं आसस्स धावमाणस्स खुक्खुत्ति करेइ ॥ भ०१ श०३ उ०।

॥ टी०॥ हृदयस्य यकृतस्य दक्षिणकुक्षिगतोदरावयवविशेषस्यान्तरान्तराले । भ०टी०॥

अश्विनीनक्षत्राधिष्ठातरि देवे, तदधिष्ठातृके अश्विनीनक्षत्रे, च अश्वनामको देवविशेष इति जं०॥ अश्वोऽश्वदेवतोपल-क्षिताऽश्विनीति चं०२० प्रा०॥ आशुगमनादश्वः मनसि, जी०३ प्र०॥ प्रज्ञा०२ पद ॥

***आश**–पुं० अशनमाशः । अश्भोजने–घञ् –भोजने–आ०म०प्र०१ अ०॥ (सामासाए पायरासाए) प्रातरशनं प्रातराशःप्रत्यूष स्येव भोजनमिति सूत्र०२ श्रु०१ अ०।

कर्म्मणि उपपदे कर्त्तरि अण्–उपपदस० तत्तद्वस्तुभक्षके । यथा हुताशः आश्रयाशः मांसाशः पलाशः हविष्याशः ॥ वाच०॥

आसइ–(न्)त्रि०(आश्रयिन्) आ–श्रि–इनि–आश्रयकारके, आश्रिते, ''मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन'' रघुः । पर्य्यन्ताश्रयिभिः निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतम् रत्ना०। वाच०॥

आसइत्ता–आश्रित्य–अ० आ० श्रि–ल्यप्–अवलम्ब्येत्यर्थे, वाच०॥

आसंकणिज्ज–त्रि०(आशंकनीय) आ–शकि–अनीयर् शंकया विषयीकार्य्ये–अनिष्टतथा चिन्तनीये, च वाच०॥

आसंग–पुं०(आसंग) अभिष्वङ्गे, । षो०॥ स्वरूपम् ॥

आसंगेऽप्यविधाना, दसंगसक्तयुचितमित्यफलमेतत् ॥
भवतीष्टफलदमुच्चै, स्तदप्यसंगं यतः परमं ॥११॥

आसंगेपीत्यादि ॥ आसंगेऽपि चित्तदोषे सति विधीयमाना नुष्ठाने इदमेव सुंदरमित्येवंरूपे अविधानं शास्त्रोक्तविधेरभावात् शक्तिरनवरतप्रवृत्तिः न विद्यते संगो यस्यां सेयमसंगाभिष्वंगो भाववती असंगा चासौ शक्तिश्च तस्या उचितं योग्यमिति कृत्वा फलमेतदिष्टफलरहितमेतदनुष्ठानं भवति जायते । इष्टफल-दमिष्टफलसंपादकमुच्चैरत्यर्थं तदपि शास्त्रोक्तमनुष्ठान मसंगम-भिष्वंगरहितं यतो यस्मात्परमप्रधानं आसंगयुक्तं ह्यनुष्ठानं तन्मा-त्रगुणस्थानकस्थितिकार्ये च न मोहोन्मूलनद्वारेण केवलज्ञानोत्पत्तये प्रभवति तस्मात्तदर्थिना आसंगस्य दोषरूपता विज्ञे-येति । षो०१४ वि० द्वा० गार्ध्ये, सूत्र०१ श्रु०३ अ० रोगे आचा० अ०५३ उ०४ ॥

***आसंग**–पुं० वासगेहे, ''आसंगो आसवणं आलयणं वासगे हम्मि'' देशी० व० १ श्लो० ६६ ॥

आसंदय–न०(असन्दक) आसनविशेषे, (आसनमासनकादीत्ति) आचा०१ अ०५ उ०।

आसंदिया–स्त्री०(आसंदिका) मंचिकायाम्– (आसंदियं च न-

वसुत्तं) आसंदिकां मंचिकाम् सूत्र० १ श्रु०४ अ०॥

आसंदी–स्त्री०(आसन्दी) आसद्यतेऽस्याम्–आ–सद्–अब्दादिनि गौरा० ङीष्–उपवेशनयोग्ये आसनयंत्रे क्षुद्रखट्वायाम्, वाच०॥ मंचके, सूत्र०२ श्रु०१ अ०(आसंदी पलियंके य) आसंदी-त्यासनविशेष इति। सूत्र०१ श्रु०९ अ०॥

आसंबर–पुं०(आशाम्बर) दिगंबरे जैनसाधुभेदे, एतेन यदाहु राशाम्बराः न स्त्रीणां निर्वाणमिति तदपास्तम् इति। नं०॥

आसंसप्पओग–पुं०(आशंसाप्रयोग) आशंसनमाशंसाऽ-भिलाषस्तस्याः प्रयोगो व्यापारणम् करणमाशंसाप्रयोगः। आशंसैव वा प्रयोगोव्यापार आशंसाप्रयोगः। आशंसाया व्यापारे, च आशंसारूपे व्यापारे, । प्रव०१ द्वा०॥ आशंसप्पओगो नाम निदानकारणम् इति॥ नि०चू०१ उ०॥

दसविहे आसंसप्पओगे प०तं जहा १ इहलोगासंसप्पओगे २ परलोगासंसप्पओगे ३ दुहओलोसंसप्पओगे ४ जीवियासंसप्पओगे ५ मरणासंसप्पओगे ६ कामासंसप्पओगे ७ भोगासंसप्पओगे ८ लाभासंसप्पओगे ९ पूयासंसप्पओगे १० सक्कारासंसप्पओगे। स्था०१० ठा०॥

दसविहेत्यादि। आशंसनमाशंसा इच्छा तस्याःप्रयोगो व्यापारणं करणमाशंसैव प्रयोगो व्यापारः आशंसाप्रयोगः सूत्रे च प्राकृत-त्वात् (आसंसप्पओगेत्ति) भणितं तच्च इहास्मिन् प्रज्ञाप-कमनुष्यापेक्षया मानुषत्वपर्याये यो वर्तते लोकः प्राणिवर्गः स इहलोकस्तद्व्यतिरिक्तस्तु परलोकस्तत्रेहलोकं प्रति आशंसा-प्रयोगो यथा भवेयमहमितस्तपश्चरणाच्चक्रवर्त्यादिरितीहलोका-शंसाप्रयोगः १ एवमन्यत्रापि विग्रहः कार्यः। परलोकाशंसाप्रयोगो यथा भवेयमहमितस्तपश्चरणादिन्द्रःसमानिको वा २ द्विधा लोकाशंसाप्रेयोगो यथा भवेयमिन्द्रस्ततश्चक्रवर्ती ३ अथवा इह लोके इह जन्मनि किंचिदाशास्ति एवं परजन्मन्युभयत्र वेति एतत्त्रयं सामान्यमतोऽन्ये तद्विशेषाः। एवास्ति च सामान्यविशेष-योर्विवक्षापेक्षो भेद इत्याशंसाप्रयोगाणां दशधात्वं न विरुध्यते। तथा जीवितं प्रत्याशंसा चिरम्मे जीवितं भवत्विति जीविताशंसाप्रयोगः ॥४॥ तथा मरणं प्रत्याशंसा शीघ्रं मे मरणमस्त्विंति मरणाशंसाप्रयोगः ॥५॥ तथा कामौ शब्दरूपे तौ मनोज्ञौ मे भूयास्तामिति कामाशंसाप्रयोगः ॥६॥ तथा भोगाः गंधरसस्पर्शास्ते मनोज्ञा मे भूयासुरिति भोगाशंसाप्रयोगः ॥७॥ तथा कीर्तिः श्रुतादिलाभो भूयादिति लाभाऽसंशाप्रयोगः ॥८॥ तथा पूजा पुष्पादिपूजनं मे स्यादिति पूजाशंसाप्रयोगः ॥९॥ सत्कारः प्रवरवस्त्रादिभिः पूजनं तन्मे स्यादिति सत्कारा-शंसाप्रयोगाः ॥१०॥ स्था० टी०॥ आव० ६ अ०॥

आसवण–वासगेहे, देशी० १ व०६६ श्लो०।

आसक्ख–पक्षिविशेषे, ''असक्खओ सिरिवए'' श्रीरिति व दतीति श्रीवदः प्रशस्तः पक्षिविशेषः। देशी० १ व ६७ श्लो०।

आसक्खंध–पुं०(अश्वस्कंध) हयग्रीवायाम्, स्था०२ ठा०।

आसंसा–स्त्री०(आशंसा) आशंसनमाशंसा–अभिलाषे, प्रव०५ द्वा०॥ आव० ६ अ०॥ आशंसनमाशंसा–इच्छायाम्, स्था० आशंसनमाशंसा–अप्राप्तप्रापणाभिलाषे,–आचा०। २ अ०उ०२

अहवा आसंसा एतं परिण्णाय मेहाविणे वसयं एएहिं। कज्जेहिं दंडं समारंभेज्जा–आचा०२ अ०२ उ०॥

टी०॥ अथवा आशंसनमाशंसा अप्राप्तप्रापणाभिलाषः तदर्थं दण्डसमादानमादत्ते तथाहि ममैतत्परुत्परारि वा प्रेत्य परलोके चोपस्थास्यत इत्याशंसया क्रियासु प्रवर्त्तते राजानं वाऽर्थाशाविमोहितमना विलगति–आचा०॥ विशेषावश्यके आशं-सादूषितं प्रत्याख्यानमधिकृत्य॥

आसंसाजा पुन्ने, सेविस्सामिति दूसियं तीए।

या एवंविधपरिणामरूपा कथंभूतः परिणाम इत्याह। पूर्णे प्रत्याख्याने देवलोकादौ सुरांगनासंभोगादिभोगानहं सेविष्ये इत्येवं भूतपरिणामरूपा च या आशंसा तथा प्रत्याख्यानं दूषितं भवति। विशे०॥ आ० म० द्वि० १ अ०।

तथा च सूत्रकृतांगे–

से भिक्खु अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोहे उवसंते परिनिब्बुडे णो आसंसं पुरतो कुज्जा इमेणं मे दिट्ठेण वा सुएण वा मुएण वा णाएण वा विन्नाएण वा इमेण वा सुचरियत्तव्वनियमबंभचेरवासेण इमेण वा जायामायावुत्तिएणं धम्मेणंइ उवइ पेच्चा देवो सिया काममोगा वसवत्ति सिद्धे वा अदुक्ख मसुमे एत्थ एत्थविणो सिया॥२ श्रु०१ अ०॥

सेभिक्खु इत्यादि॥ समूलोत्तरगुणव्यवस्थितो भिक्षुर्नास्य क्रिया सावद्या विद्यते इत्यक्रियः संवृतात्मकतया सांपरायिककर्मबंधक इत्यर्थः। कुत एवंभूतो यतः प्राणिनामलूषकोऽहिंस कोऽनुपमर्दक इत्यर्थः। तथा न विद्यते क्रोधोयस्येत्यक्रोध एवममानो-ऽमाय्यलोभः कषायोपशमाच्चोपशांतः शीतीभूतस्तदुपशमाच्च परिनिर्वृत इव परिनिर्वृतः। एवं तावदैहिकेभ्यकामभोगेभ्यो विरतः पारलौकिकेभ्योऽपि विरत इति दर्शयति। नो आसंसं इत्यादि। नो नैवाशंसां पुरस्कृत्य ममानेन विशिष्टतपसा जन्मांतरे काम-भोगावाप्तिर्भविष्यतीति। एवंभूतामाशंसां न पुरस्कुर्यादित्येतदेव दर्शयितुमाह। इमेण मे इत्यादि। अस्मिन्नेव जन्मन्यमुना विशिष्टतपश्चरणफलेन दृष्टेना मर्षौषध्यादिना पारलौकिकेन च श्रुतेनार्द्रकधम्मिल्लब्रह्मदत्तादीनां तथा (मुएणवत्ति) मननं ज्ञानं जातिस्मरणादिना ज्ञानेन तथाचार्यादेः सकाशाद्विज्ञानेनाऽवगतेन ममापि विशिष्टं भविष्यतीत्येवं नाशंसां विदध्यात्। तथाऽमुना वा यात्रामात्रावृत्तिना धर्मेणानुष्ठितेनातोस्माद्भवाच्चयुतस्यप्रेत्यजन्-मांतरे स्यामहं देवस्तत्रस्थस्य च मे वशवर्तिन कामभोगा भवेयुरशेषकर्माऽवियुतोवा सिद्धोऽदुखः शुभाशुभकर्मप्रकृत्य-पेक्षयेत्येवंभूतोऽहं स्यामागामिकाल इत्येवमाशंसां न विदध्या-दिति। यदि वा विशिष्टतपश्चरणादिनाऽऽगामिनि कालेममाणिमालघिमेत्यादिकाष्टप्रकारा सिद्धिर्भविष्यतीत्यनया च सिद्ध्या सिद्धोऽहमदुःखोऽशुभो वामध्यस्थ इत्येवं रूपामाशंसां न कुर्यात्। तदकरणे च कारणमाह। एत्थ विइत्यादि। अत्रापि विशिष्टतपश्चरणे सत्यपि कुतश्चिन्निमित्ता-दुष्प्रणिधानसद्भावे सति कदाचित्सिद्धिः स्यात्कदा चिच्च नैवाशेषकर्मक्षयलक्षणा सिद्धिःस्यात्। तथा चोक्तं (जेजत्तिया उहेओ, भविस्सते चेव तत्तिया मोक्खे) इत्यादि। यदि वाऽत्राप्यणिमाद्यष्टगुणकारणे तपश्चरणादौ सिद्धिः स्यात्कदाचिच्च न स्यात् तद्विपर्ययोपि वा स्यादित्येवं व्यवस्थिते प्रेक्षापूर्वकारणां कथमाशंसा कर्तुं युज्यते इति। सिद्धिश्चाष्टप्रकारेयं -

अणिमा १ गरिमा २ लघिमा ३ महिमा ४ प्राप्तिः ५ प्राकारयं ६ ईशित्वं ७ वशित्वं ८ यत्र कामावसायित्वामिति। तदेवमैहिकार्थमामुष्मिकार्थं च कीर्त्तिवर्णश्लोकाद्यर्थं च तपो न विधे यमिति स्थितं ॥५॥ सूत्र०टी०२ श्रु०१ अ०॥

आसंसाविप्पमुक्क–त्रि०(आशंसाविप्रमुक्त) इहलोकाद्यपेक्षया विप्रमुक्ते, पं०सू०॥४॥ आशंसया विनिर्मुक्तोऽनुष्ठानं सर्व माचरेत्। मोक्षे भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तमः प्रव०५ द्वा०॥

आसंसि(न्)–त्रि०(आशंसिन्) आ–शनस्–णिनि–आशंसौ आशंसाकर्त्तरि, स्त्रीयां ङीप्–वाच०॥ (धिइजुत्तो अणासंसी) अनाशंसी श्रोतृभ्यो न वस्त्राद्याकाङ्क्षति–आचा०१ उ०॥

आसंसित्ता–त्रि०(आशंसितृ) आ–शंस्–तृच्–भाविशुभेच्छावति, स्त्रियां ङीप्–वा०॥

आसंसिय–त्रि०(आशंसित) आ–शन्स्–क्त–कथिते,–इच्छा-विषयीभूते, भावे क्त आशंसायाम् न०वाच०॥

आसकण्ण–पुं०(अश्वकर्ण) अश्वमुखद्वीपात्परतोऽतरद्वीपभेदे, (अंतरदीव) शब्दे विवृत्तिः। स्था०४ ठा०। प्रव०२६२ द्वा०॥

आसण–न०(आसन) आस्यते उपविश्यतेऽस्मिन्नित्यासनम्। आतापनास्थाने, उत्त०२ अ०। वसत्यादौ, सूत्र०१ श्रु०२ अ०। स्थाने, उत्त०१ अ०१ उ०। वृ०५ उ०। आस्यते स्थीयतेऽस्मिन्निति शय्यायां आचा०२ अ०५ उ०। पीठफलकादौ, आव०४ अ०। स्था०९ ठा०। नि०चू०१ उ०। सम०स०२०। आव०५ अ०। आधारलक्षणे धर्म्मास्तिकायादीनां लोकाकाशादिके, आ०१ अ०उपवेशन योग्यनिषद्यादिके, वृ०३ अ०। विष्टरे, प्रश्न०१ द्वा०। हंसासनादिके, जी०३ प्र०। भग०१ श०११ उ०। उपवेशने, स्था०९ ठा०।

निर्ग्रन्थ्या यादृशानि आसनानि कल्पन्ते तान्याह।

नो कप्पइ निग्गंच्छीए ठाणाइयाए हुं तए नो कप्पइ निग्गंथिए पडिमइच्छयाए हुं तए पदं नेसज्जियाए उक्कुडु गासणियाए दंडासणियाए लगंडसाइयाए पउमन्थियाए उत्ताणियाए अन्तरकुज्जियाए एगपासियाए॥

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः स्थानाय तथा भवितुं पदं प्रतिमा-स्थायिन्या नैषेधिकाया उत्कुडिकासनिकाया वीरासनिकाया दण्डासनिकाया लगंडशायिन्या अवाङ्मुखाया उत्तानिकाया अन्ते कुब्जिकाया एकपार्श्वशायिन्या इति सूत्राक्षरसंस्कारः॥

अत्र भाष्यकारो विषमपदानि व्याख्यानयति॥

उद्दट्ठाणं ट्ठाणे, यतंतु पडिमाउ हुंति भासाई॥
पंचवणिसिज्झाउ, तासि विभासाउ कायव्वा॥१॥

व्या०। स्थानायतं नामोर्ध्वस्थानरूपमायतं स्थानं तद्यस्यामस्ति सा स्थानायतिका। केचित्तु (ठाणाइग) मितिपठन्ति तत्रा यमर्थः। सर्वेषां निषदनादीनां स्थानानामादिभूतमूर्ध्वस्थानमतः स्था-नानामादौ गच्छतीति स्थानादिगं तदुच्यते तद्योगादार्यिकापि स्थानदिगेति व्यपदिश्यते। प्रतिमा मासिक्यादिका तासु तिष्ठतीति प्रतिमास्थायिनी (नेसज्जियायत्ति) निषद्याः पञ्चैव भवन्ति तासां विभाषा कर्तव्या साचेयम् निषद्यानामोपवेशनविशेषास्ताः पञ्चविधास्तद्यथा॥

समपादयुता गोनिषधिका हस्तिशुंडिका पर्यङ्का अर्द्धपर्यंकाचेति तत्र यस्यां समौ पादौयुतौ च स्पृशतः सा समपादयुता यस्यान्तु गौरिवोपवेशनं सा गोनिषद्यिका यत्र तु ताभ्यामुपविश्यैकं पादमुत्पाटयति सा हस्तिशुंडिका पर्यङ्का प्रतीता अर्द्धपर्यंका यस्यामेकं जानुमुत्पाटयति एवं विधया निषद्यया चरतीति नैषद्यिकी उत्कुटिकासनन्तु सुगमत्वाद्भाष्य-कृता न व्याख्यातम्॥

वीरासनन्तु सीहासणेव जहमुक्कजणु कणिविट्ठो॥
दंडे लगंडउवमा, आयतखुज्जायदुएहंपि॥२१॥

वीरासनं नाम यथा सिंहासने उपविष्टोभून्यस्तपादअस्ते तथा तस्यापनयने कृतेऽपि सिंहासनइवनिविष्टे मुक्तजानुकश्च निरालंबनेऽपि यदतिदुष्करं चैतदतएव वीरस्य साहसिकस्यासन वीरासनमित्युच्यते तदस्यास्तीति वीरासनिका। दंडासनिका लगंडशायिका पदद्वये यथाक्रमं दंडस्य लगंडस्य चायत-कुब्जताभ्यामुपमा कर्तव्या तद्यथा। दंडस्येवायतं पादप्रसाणेन दीर्घं यदासनं तद्दंडासनं तदस्यास्तीति दंडासनिका। लगंडं किल दुस्संस्थितं काष्ठं तद्वदुत्कुब्जतया मस्तकपार्ष्णिकानां भुवि लगनेन पृष्ठस्य चालग्नेत्यर्थः। या तु यथाविध्यभिग्रहविशेषेण शेते सा लगंडशयिनी। अवाङ्मुखादीनितुपदानि सुगमत्वान्न व्या-ख्यातानीति दृष्टव्यम्। एते सर्वेऽप्यभिग्रह विशेषाः सयंतीनांप्रतिषिद्धाः एतान्प्रतिपद्यमानानां दोषानाह॥

जोणी खुब्भणपिल्लण, गुरुगा पत्ताणहोइ सइकरण।
गुरुगासवेन्नगम्मी, कारणे गहनं वग्घरणंच॥

व्या०। उर्ध्वस्थानादौ स्थानविशेषस्थितायां आर्यिकायायोनेः क्षोभो भवेत् तरुणा वा यथास्थितां दृष्ट्वा प्रेरयेयुः प्रति सेवेरन् अतएवैतानभिग्राहान् प्रतिपद्यमानायास्तस्याश्चतुर्गुरु भुक्त-भोगिनीनां च येन कारणेन स्मृतिकरणं इतरासां कौतुकं च जायते तथा वक्ष्यमाणसूत्रे प्रतिषेधयिष्यमाणं सवेन्टकं तुम्बकं यदि निर्ग्रन्थी गृण्हाति तदा चतुर्गुरु स्मृति करणादयश्च त एव दोषाः कारणेतु तस्यापि गृहणं धारणंचानुज्ञातम्। एतच्चाप्रस्तुतमपि लाघवार्थं स्मृतिकरणादि दोषसाम्यादत्र भाष्ये भाष्यकृताऽभिहितमिति संभावयामः। अन्यथा वा सुविधा परिभाव्यम्॥

वीरासणगोदोही, मुत्तं सव्वे विताणकप्पन्ति।
ते पुण पडुच्च वेट्ठं, मुत्ताओअभिग्गहं पप्प॥

अन्तरोक्तासनानां मध्यात् वीरासनं गोदोहिकासनं च मुक्त्वा शेषाण्यूर्ध्वस्थानादीनि सर्वाण्यपि तासां कल्पन्ते आह सूत्रे तान्यपि प्रतिषिद्धानि तत्कथमनुज्ञायन्त इत्याह। तानि पुनः शेषानि स्थानानि चेष्टां प्रतीत्य कल्पंते न पुनरभिग्रहविशेषं सूत्राणि पुनरभिग्रहं प्राप्य प्रतीत्य प्रवृत्तानि तत इदमुक्तं भवति। अभिग्रहविशेषास्तूर्ध्वस्थानानि संयतीनां न कल्पंते। सामान्यतः पुनरावश्यकादिवेलायां यानि क्रियन्ते तानि कल्पन्ते एवापरःप्राह ननु चाभिग्रहादिरूपं तपः कर्म निर्धारणार्थमुक्तं ततः किमेवं संयतीनां तत्प्रतिषिध्यते उच्यते।

तओ सोउ अगुन्ना ओ, जेण सेसं न लुप्पइ।
अकामियं पि पेलेज्जा, वारिउत्तेण भिग्गहो॥

व्या०। तपस्तदेव भगवद्भिरनुज्ञातं येन शेषं ब्रह्मचर्यादिकं गुण कदंबकं न लुप्यते कथंपुनः शेषं लुप्यत इत्याह अकामियमित्यादि। दंडायतादिस्थानस्थितामार्यिकां दृष्ट्वा कश्चिदुदीर्णकर्म्मा नाम कामी काममनिच्छन्तीमपि प्रेरयेत् प्रतिसेवेत

तेन कारणेन वारित एतादृशस्तासामभिग्रहः। किन्तु॥

जे य दंसादओपाण, जेय संसप्पगा भुवि।
विहुस्स अट्ठियाताव, सहन्ति जह संजया॥

व्या०। इह द्विधा कायोत्सर्गश्चेष्टायामभिभवेत्तत्राभिभवकायोत्सर्गसतासां प्रतिषिद्ध इति कृत्वाऽभिधीयते ये च दंशमशकादयः प्राणिनो ये च भुवि संसर्पकाः संचरणशीला उन्दिरकीटकादयस्ते कृतानुपद्रवान् यथासंयताः सहन्ते तथा ता अप्यार्यिकाश्चेष्टा-कायोत्सर्गस्थिता आवश्यकादिवेलायां सम्यक् सहन्ते तत एवं ता अपि कर्मनिर्जरां कुर्वन्ति आह यद्युदीर्णकर्मणा तरुणादिना प्रेर्यमाणापि सा संयतीनामुत्पादयति ततः किमिति येना-भिग्रहविशेषेण बहुतरा कर्म निर्जरा भवति सर्वा यत उच्यते॥

वसिज्जा बंभचेरंसि, भुज्जंमाणी तुकीदितु।
तदाचित्तं तत्तइंति, थेरा आवयसभीरुणो॥

व्या०। यद्यपि काचिदार्यिका धृतिबलयुक्ता युज्यमाना प्रति सेव्यमानापि भावतो ब्रह्मचर्ये वसेत् तथापि स्थविरा गौतमादयः सूरयः प्रवचनापयशः प्रमादभीरवस्तां न पूजयन्ति नप्रशंसंतीत्यर्थः किंच॥

तिव्वाभिग्गहसंजुत्ता, ह्राणमोणासणे रता।
जहा सुज्झन्ति जयउ, एगाणेगं विहारिणो॥
लज्जं च बंभचज्जं च, रक्खंतीउतवोरता।
गच्छे चेव विसुज्झन्ति, तहा अणसणादिहि॥

व्या०। तीव्रैर्द्रव्यादिविषयैरभिग्रहैः संयुक्तः स्थानमौनासन विशेषेषु रता एकानेकविहारिणः क्वचिदेकाकिविहारिणो जिनकल्पिकादय इत्यर्थः। केचिच्चानेकविहारिस्थविरकल्पिका इत्यर्थः। एवंविधा यतयोयथा शुध्यन्ति तथा निर्ग्रन्थ्योऽपि लज्जां ब्रह्मचर्यं च सूत्रोक्तविधिना रक्षन्त्यस्तपोरता स्वाध्यायादितपः कर्मपरायणा गच्छ एव वसन्त्योऽनशनादिभिर्यथोचितैस्तपोभिः शुद्ध्यन्ति न तीव्रैरभिग्रहैः। अपिच॥

जोविदिद्धंधणोहुज्जा, इत्थिविधोनुकेवली।
वसते सोवि गच्छंति, किमुच्छीवेदसिंधणा॥

व्या०। योपि दग्धेन्धनो भस्मीकृतवेदमोहनीयकर्मा स्त्रीचिन्हो बहिः स्त्रीलक्षणलक्षितः केवली भवति सोऽपिगच्छवासे वसति किंपुनर्या संयती स्त्रीवेदेन सेन्धनासासुतरां गच्छे वसेदितिभावः। यद्यप्युक्तं यदि न स्वादयति ततः कोनाम तस्याअभिग्रह ग्रहणदोषः तदप्ययुक्तं प्रतिसेव्यमानाया आस्वादनस्य यादृच्छिकत्वात्कथ-मिति चेदुच्यते॥

अलायं घट्टियं ज्झाइ, फुंफुगा सहसायइ।
कोवितो वड्ढती बाहा, इत्थी वेदेवि सोगमो॥

व्या०। अलातं उल्मुकं घटितं चालितं सत् यथा ध्यायति प्रज्वलति यथा फुंफुकाधट्टितं साहसायति भृशं दीप्यते यथा व्याधिरपथ्यासेवनादिना कोपितो वर्द्धते। स्त्रीवेदस्याऽपि समवगमो मन्तव्यः सोपि घट्टितः प्रज्वलतीत्यर्थः। अतोयादृच्छिकमास्यादनमिति आह। संयतीनां प्रतिषिद्धा अमी अभिग्रहाः परं संयतानां का वार्ता अत्रोच्यते।

कारणमकारणेविय, गीयत्थंमिय तहा अगीयंमि।
एए सव्वे विपए, संजयपक्खे विभासिज्जा॥

व्या०। यान्येतानि व्युत्सृष्टकायिकत्वादीनि पदान्युक्तानि तानि कारणे सिंहादिभिरभिभूतस्य देवताकंपननिमित्तं वा गीतार्थस्याऽ गीतार्थस्य वा कल्पन्ते अकारणे पुनरगीतार्थस्य न कल्पन्ते गीतार्थस्य निष्कारणे निर्जरानिमित्तं कल्पन्ते अचेलत्वादिकमपि गीतार्थस्य जिनकल्पं प्रतिपद्यमानस्य कल्पते एवं संयतपक्षे एतान्यचेलतादीनि सर्वाण्यपि पदानिविभाषयेत। सावश्यके आसेन निर्ग्रन्थीनां॥

नो कप्पइ निग्गन्थीणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्त एवा तु अदित्तएवा कप्पइ निग्गन्थाणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्तएवा तु यदित्तएवा।

सावश्रयं नाम यस्य पृष्ठतोऽवष्टंभो भवति। एवंविधे आसने निर्ग्रन्थीनां नोकल्पते निर्ग्रन्थानां सावश्रये आसने आसितुं वा कल्पते निर्ग्रन्थ्य एतादृशे आसने यद्युपविशंति शेरते वा तदा तएव गर्वादयो दोषाश्चतुर्गुरु च प्रायश्चित्तं द्वितीयपदे अल्पसागारिकस्थविरोग्लानो वा उपदिशेत्। निर्ग्रन्थानामपि न कल्पते यद्युपविशन्ति तदा चतुर्लघु सूत्रं तु कारणिकं तदेव कारणमाह॥

सावस्सय इत्यादि पश्चार्द्धं योवृद्ध आचार्यः स पूर्वकृते गृहस्थैस्सार्द्धं निष्पादिते सावश्रायेऽप्यासने उपविष्टोऽसागरिके एकान्तेवा यद्विनेयानां वाचनां दद्यात् सूत्रम्॥

नोकप्पइ निग्गंथीणं सविसाणंसि पठिंसि वा फलगंसि वा आसइत्तएवा तुयदि एवा कप्पइ निग्गंथाणं सविसाणंसि पीठं सिवा फलगंसि वा आसइत्तएवा तुयदित्तएवा॥

सविषाणं नाम यथा कपाटस्योभयतः शृंगे भवतः। एवं यत्र भिसिकादौ पीठे फलके वा विषाणं शृङ्गं भवति तत्र निर्ग्र-न्थीनामासितुंवा न कल्पते निर्ग्रन्थानान्तु कल्पते। निर्ग्रन्थास्तु सविषाणे पीठे फलके वा यद्युपविशन्ति शेरते च तदा चतुर्गुरुके आज्ञादयश्च दोषाः॥ तथा॥

सविसाणे उड्ढाहो, पावमादीयते पडिक्कुट्ठम्।
वितियपए वासासु, कप्पइ छिण्णे विसाणम्मि॥

सविषाण आसने उपविशत्यामार्यिकायामुड्डाहो भवति। पादकर्मादयश्च दोषास्संभवन्ति। ततः प्रतिकुष्टं तत्रोपवेशन मितिगम्यते द्वितीयपदे वर्षासु पीठफलकदुर्लभतायां सविषाण मपि गृह्यते तस्य च विषाणंछित्वा परिष्ठाप्यते एवं छिन्ने विषाणे स्थविराया अन्यस्या वा कल्पते॥

जंतु लज्जइ छित्तुं तं, थेरीणं दलंति सविसाणं।
इंति यसे दंडपाउं, छणघणमट्टिया एवा॥

यत्र पुनःस्थातुं न कल्पते ततः सविषाणमपि तदासनं स्थ-विरसाध्वीनां साधवः प्रयच्छन्ति। तदियं च दंडपादप्रोंछनंघनं छादयन्ति। तेनच चेष्टयित्वा स्थूलतरं कुर्वन्तीत्यर्थः। मृत्तिकया परिवेष्टयन्ति निर्ग्रथानां सविषाणमपि कल्पते। कुत इत्याह।

समणाणउ ते दोसा, न हुंति तेण तदुपणुण्णा य।
पीठं आसणहेउं, फलगं पुण होइ सेज्जट्ठा।

श्रमणानां पुनस्ते पादकर्म्मादियो दोषा न भवन्ति ततो द्वे अपि पीठकफलके सविषाणेप्यनुज्ञाते। तत्र पीठमासनहेतोः फलकं पुनः शय्यार्थं शयननिमित्तं वर्षासु गृह्यते। अथ किमर्थं वर्षासु तत्रोपवेशनं शयनं वा क्रियते इत्याह॥

कुत्थण आयदयट्ठा, उज्झायग अरिसवायरक्खट्ठा।
पाणा सीतल दीहा, रक्खट्ठा होइ फलगंतु ॥

आर्द्रायां भुमौ स्थाप्यमानाया निषद्यायाः कथनं भवति शीतलायां च भूमावुपविशतां धान्यं न जीर्यति ततो ग्लानत्वेनात्म विराधनोदयार्थं च जीवदयानिमित्तं वर्षाभूमौ नोपवेष्टव्यं। (उज्झायगंति) भूमेरार्द्रीभावेन मलिनीभूतस्योपद्यो जुगुप्सनीय ता स्यात् अर्शांसि वाक्षुभ्येषुः वातोवाऽधिकतरं प्रकुप्येत् ततएतेषां रक्षार्थं पीठकं गृहीतव्यं। तथा शीतलायां भूमौवहवः पनकप्रभृतयः प्राणिनः संमूर्च्छेयुः ततो भूमौ च योनीनां तेषां विराधनाभवति दीर्घजातायां वा भूमेर्निर्गत्य दशेयुरुपलक्षणमिदं। ततोपधिको न जीर्णतादयोऽपिदोषा भवन्ति। एतेषां रक्षार्थं वर्षासु फलकं गृह्यते। वृ०५ उ०॥

गुरोः पुरतः आसन विधिं (विणय) शब्दे वक्ष्यमि। सुखस्थिरासनोपेतं–स्थिरसुखमासनमिति पतंजलिःद्वा०२२ द्वा०

आसणअभिग्गह–पुं०(आसनाभिग्रह) यत्र यत्रोपवेष्टुमिच्छन्ति तत्र तत्रासननयने, पंचा०२ वृ०॥

तिष्ठत एव गुरोरादरेणासनानयनपूर्वके अत्रोपविशत इति भणने दर्शनविनयभेदे, प्रव० सम०९१ सू० नि०चू०२ उ० ध०३ अधि०॥

आसणगय–त्रि०(आसनगत) स्वस्थाने स्थिते, उत्त०। आसनासीने (आसणग कोण पुच्छे जाणेवसेज्जाग ओकया इवि) उत्त०।

आसणचाग–पुं०(आसनत्याग) आसनत्यागे, पीठकाद्युपनयने द्वा०२९ द्वा०॥

आसणत्थ–त्रि०(आसनस्थ) उत्कृटकागोदोहिकावीरासना-द्यवस्थे, आचा०१ श्रु०९ अ०। (आसणत्थो पढिउमारवाहेति) नि०चू०१ उ०।

आसणदाण–न०(आसनदान) पीठकाद्युपनयने, ध०१ अधि०।

आसणपयाण–न०(आसनप्रदान) आसनदानमात्रे दर्शनविनय रूपे विनयभेदे, ग०। नि०चू०॥

आसणाणुप्पयाण–न०(आसनानुप्रदान) गौरवमाश्रित्यासनस्य स्थानान्तरसंचारणे, भ०१४ श०३ उ०। पंचा०१८ वृ स्था०७ ठा०।

आसण्ण–त्रि०(आसन्न) निकटवर्तिनि, उत्त०१ अ०। स्था० आ म०पंचा० ३ वृ०। ध०३ अधि०। आव०। प्रत्यासत्तिमति, षो०''उज्जेणीए नयरीए आसन्नोणडाणं गामा'' आ०म०॥

आसण्णलद्धपइभ–त्रि०(आसन्नलब्धप्रतिभ) परतीर्थीकादीनामुत्तर-दानसमर्थे, ग०१ अधि०। सूरौ०प्रव०॥

आसण्णसिद्धिय–त्रि०(आसन्नसिद्धिक) समासन्नीभूतनिवृत्ति के, पं०॥

आसतर–पुं०(अश्वतर) वेसरे, ध०नि०चू०॥

आसत्त–त्रि०(आसक्त) भूमिलग्ने ज्ञा० भूमौ संवासे न०॥

आसत्ति–स्त्री०(आसाक्ति) योगिपरिभाषितेऽर्थे ज्ञा०भेदे स्था० बाधिर्य्यकुंठतांधत्वजडताजिघ्रतामूकत्वाकौण्यपंगुत्वक्लैब्योदावर्तमत्तता-रूपैकादशेन्द्रियवधतुष्टिनवकविपर्ययसिद्ध्यष्टकविपर्ययलक्षण-सप्तदशबुद्धिभेदादष्टाविंशतिधासक्तिः॥

आसत्तोसत्त–त्रि०(आसक्तोत्सक्त) आ अवाङ् अधोभूमौ सक्त आसक्तो भूमौ लग्न इत्यर्थः ऊर्ध्वं सक्तउत्सक्तः भूमौ उल्लोचने उपरि च संबद्धे जी०। कल०।

आसत्थ–पुं०न०(अश्वत्थ) पिप्पले नि०चू०स०॥

***आश्वस्त**–त्रि० मार्गजनितश्रमापनयनेनाश्वत्थतामुपगते, कल्प० भ०११ श०उ०११ मनागांश्वसिते ओ०(आसत्था मंजाव करपल समोसरह) ज्ञा०।

आसदेत्ता–अव्य०(अस्वाद्य) आस्वादनं कृत्वेत्यर्थे (सद्दफरिस रसरूवगन्धे आसदेत्ताभवइ) स्था०७ ठा०।

आसधर–पुं०(अश्वधर) अश्वधारकपुरुषे, औ० येऽश्वान् धारय-न्ति।

आसपुरा–स्त्री०(अश्वपुरा) पद्मविजये पुरीयुगले, स्था०(दो आसपुराओ) स्था०८ ठा०।

आसम–पुं०(आश्रम) तापसावसथोपलक्षिते आश्रयविशेषे, व्य० दर्श० जी० प्रथमस्तापसादिभिरावासितः पश्चादपरोऽपिलोकस्तत्र गत्वा वसति वृ०नि०चू० प्रज्ञा०औ०आचा०अनु० तीर्थस्थाने, च० स्था०।

(ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोयति स्तथा) इति चतुर्षु, लोकप्रसिद्धेषु अवस्थाविशेषभाक्षु मनुष्येषु।

आसमद्दग–त्रि०(अश्वमर्दक) घोटकानां मर्दनाधिकारिणि पुरुषे० ज्ञा०।

आसमपय–न०(आश्रमपद) तापसाश्रमोपलक्षिते स्थाने०उत्त० (कणखलं नाम आसमपदं) आ०म०द्वि०।

आसमभेय–पुं०(आश्रमभेद) ''ब्रह्मचारी गृहस्थ श्चवानप्रस्थोय-तिस्तेथत्यादिनोक्तस्वरूपे भूमिकाविशेषे, पंचा०१० वृ०।

आसमाण–त्रि०(आसीन) निषण्णे, (अजयं आसमाणोय पाण भूयाहिहिंसइं) आसीनो निषण्णतयाऽनुपयुक्त आकुंचनादि भावेन। द०४ अ०।

आसमि–पुं०(आश्रमिन्) लिङ्गिनि, पं०व०१ द्वा०।

आसमित–पुं०(अश्वमित्र) सामुच्छेदानां निन्हवानां धर्माचार्ये, योहि महागिरिशिष्यस्य कौंडिन्याभिधानस्य शिष्यो मिथिलायां नगर्य्यां लक्ष्मीगृहेचैत्ये अनुप्रवादाभिधाने पूर्वे नैपुणिके वस्तुनि छिन्नच्छेदनाय वक्तव्यतायां (पडुप्पन्नसमया नेरइया वोच्छिज्जिस्सन्ति एवं जाव वैमाणियत्ति एवं वितियाइ समए सुवत्तव्व) मित्येवं रूपमालापकमधीयानो मिथ्यात्वमुपगतः सामुच्छेदिकनिन्हावान् प्रावर्तयत् इति समुच्छेदिकशब्दो विवृत्यर्थिनाऽन्वेष्टव्यः॥ स्था०७ ठा० उत्त०१ अ० विशे०।

आसमुह–पुं०(अश्वमुख) आदर्शमुखद्वीपस्य परतोऽन्तरद्वीपे, तत्स्थे मनुष्ये च अन्तरद्वीपशब्दे विवृत्तिः उत्त० ३६ अ० प्रव० २६२ द्वा० स्था०४ ठा०॥

आसय–त्रि०(आशक) भोजिनि, आचा०५ अ०४ उ०। आशय स्वकीयदर्शनाभ्युपगमे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०। परिणामे, द्वा २९ द्वा०। अभिप्राये, सूत्र,१ श्रु०१५ अध्यवसायविशेषे, षो०३ विव०।

प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजय, सिद्धिविनियोगभेदतः प्रायः। धर्मज्ञैराख्यातः शुभाशयः पंचधात्र विधौ ॥६॥

प्रणिधानादिराशिरुक्त स्तमेव संख्याविशिष्टं नामग्राहमाह। (प्रणिधीत्यादि) प्रणिधिश्च वृत्तिश्च विघ्नजयश्च सिद्धिश्च विनियोगश्च एतएव भेदास्तानाश्रित्य कर्मणि ल्यब्लोपे पंचमी। प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजयसिद्धिविनियोगभेदतः प्राय इति

प्राचुर्येण शास्त्रेषु धर्मज्ञैर्धर्म्मवेदिभिराख्यातः कथितः शुभा शयः शुभपरिणामः पंचधा पंचप्रकारः। अत्र प्रक्रमे विधौ कर्तव्योप-देशे । प्रतिपादिताशयपंचकव्यतिरेकेण पुष्टिशुद्धिद्वय लक्षण-द्वयमनुबंधि न भवतिति प्रणिधानादिना स्वरूपमन्यत्र दृष्टादृष्टजन्मवेदनीये कर्माशये क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः षो०टी०द्वा ॥

***आश्रय**-पुं०आश्रयतीत्याश्रयः धूमबलाकादौ हेतौ, अनु० । प्रत्यये,आचा०१ अ० । आधारे, अष्ट० । आलये, स्था०३ ठा० । भजनीये, ज्ञा०१०० अ० ॥

***आस्यक**-न० मुखे,क्ष०५ अ० । जी० । आचा० (आसेणनत्थिदुरो) आस्येन मुखेन द०अ० ॥

आसयंत-त्रि०(आश्रयत्) गृण्हति,विशे०ईषद्भजमाने भ० १३ श० ६ उ०आश्रयणीयं वस्तु०भ०११ श०११ उ० ॥

आसयभेय-पुं०(आशयभेद) अध्यवसायविशेषे,कथमयं वरा कोधर्मकान्तारोत्तरणेन निखिलासुखविरहभाजनं भविष्यतीत्या दिरूपे,प्रति० ॥

आसयमहत्त-न०(आशयमहत्व) आशयस्य विपुलत्वे,षो०१ वि० ॥

आसयविसेस-पु०(आशयविशेष) चित्तोत्साहातिशये,द्वा०२१ द्वा० ॥

आसरयण-न०(अश्वरत्न) चक्रवर्तिनोऽश्वोत्कृष्टे, यक्षसहस्रा धिष्ठितेऽश्वे,स० १४ स० ॥

भरतस्य कमलामेलं णामेणं आसरयणं सेणावईक्कमेणं सममिरूढे । जं० आ०चू०१ स० ॥ स्था०९ ठा० ॥ प्रज्ञा०१९ पद० ॥

अश्ववर्णकः

तएणं तं असीइमंगलमूसिअं णवणउइमंगुलपरिणाहं अट्ठसयमंगुलनायतं छत्तीस मंगुलमूसिअसिरं चउरंगुलकण्णगं वीसइ अंगुल बाहागं चउरंगुलजाणूकं सोलस अंगुल जंघागं चउरंगुलमूसिअखुरं मुत्तोलीसंवत्त वलिअमज्जं ईसिं अंगुलपणापट्ठं संगयपट्ठं सण्णायपट्ठं सजायपट्ठं पसत्थपट्ठं विसिट्ठपट्ठं एणी जण्णुणय विछ धट्ठपट्ठं वित्तलयकसणिवायअं केल्लण्णप्पहारपरिवज्जिअंगं तवणी ज्झच्छासग्महिलाणं वक्खण सुफुल्लथासगविचित्तरयणरजुपासं कंचण मणि कणग पयर गणाणाविह घंटिअ जालमुत्तिआ जालएहिं परिमंडिएण पट्ठेण सोभमाणेण सोभमाणकट्ठेयण इंदनीलमरगयमसारगल्लमुह-मंण रइअ आविद्धमाणिक्कसुत्तग विभूसिअं कणगमय पडम सुकयतिलकं देवमइविकप्पिअं सुरवरिंदवाहणज्जोग्गं वयं सुरूवं दुईज्जमाण पंचवाह चामरा मेलगं धरेंतं अणब्भवाहं अभेलणेयण कोकासी अवहलपत्तलच्छसेया वरणन-वकण्णगतविअतवणिज्ज तालुज्जी हासयंसि अभिसेअघोणं पोक्खरपत्तमिव,सलिलबिन्दु अचंचलं चंचल सरीरं चोक्खचरगपरिव्वायगो विवहिलीयमाणं २ खुरचलणचंचु पुडेहिं धरणिअलं अभिहणमाणं २ दोवि अचलणेजमगसमगं मुहाओ विणिग्गमंतं च सिग्घयाए मुणालतंतुउदगमविणिस्साए पक्कमंतं जाइकुलरूवपव्वयप-सत्थबारसावत्तकविसुद्धलक्खणं सुकुलप्पसूअं तेहाविं भद्दथं विणीयं अणु असुकुमाललोमनिद्धच्छविं सुजायं अमरमणप-वणगरुल-जइणं चंवलसिग्घगामिं इसिमिव,खंतिखमाए सुसीसमिव, पच्चक्खया विणीयं उदगहुतवहपासाणं कद्दमसक्कर सतालुइल्ल तडकडगविसमपब्भार गिरिदरीत्थासु जघण पिल्लणणिरणासमत्थं अचंडपाडिअं दंडपातिअणं सुपाति अकालतालु च कालहेंसिं जिअनिद्दं गवेसं जिअपरिसहं जच्चजातीयमल्लहाणिं सुगपत्त सुवण्णकामेलामिरामं कमलागेलं णामेणं आसरयणं ॥

टीका ॥ तएणं तं असीइमंगुलमुसिअ इत आरभ्य सिणावइक्कमेण समभिरूढे इत्येतदंतेन सूत्रेण पदयोजना । तत इतिक्रियाक्रम सूचकं वचनं तं प्रसिद्धगुणं नाम्ना कमलामेलं अश्ववरं सेनापतिक्रमेण सन्नाहादिपरिधानविधिना समभिरूढ आरूढः किंविशिष्टमित्याह । अशीत्यंगुलानिउछ्रितं अंगुलं चात्र मानविशेषः । नव नवत्यंगुलानि एकोनशतांगुलानि एकोनश-तांगुलप्रमाणः परिणाहो मध्यपरिधिर्यस्य तत्तथा । अष्टोत्तर-शतांगुलानि आयतं दीर्घं सर्वत्र मकारोऽलाक्षणिकः । तुरङ्गाणां तुंगत्वं खुरतः प्रारभ्य कर्णावधि परिणाहः पृष्ठपार्श्वोदरांतरावधि । आयामो मुखादिपुच्छमूलं । यदाह पराशरः । मुखादापुच्छकं दैर्घ्यं,पृष्टपार्श्वोदरांतरात् । आनाह उच्छ्रयः पादा,दिज्ञेयो यावदासनम् ॥१॥ तत्रोचत्वसंख्यामेलनायसाक्षादेव सूत्रकृ-दाह ॥ लोचितशिरस्कं चतुरंगुल (बत्तीसमित्यादि) द्वात्रिंशदंगुलप्रमाणं कर्णकं ह्रस्वकर्णत्वस्य जात्यतुर गलक्षण-त्वात् । अनेन कर्णयोरुच-त्वेनास्थिरयौवनत्वमभिहितं शंकुकर्णत्वात् हयानां यौवनपाते वनितास्तनयोरिव अनयोः पातः स्यात् । दीर्घत्वात् अत्र योजनीयाः क्रमप्राप्त धान्येन पूर्वकर्णविशेषणं ज्ञेयं पश्चाच्छ्रसः अश्वश्रवसोरूर्ध्व मुच्चतरत्वात् विंशत्यंगुलप्रमाणा वाहाः शिरोभागाधोवर्ती जानुनोरुपरिवर्ती प्राक्चरणभागो यस्य तत्तथा । चतुरंगुलप्रमाणं जानु बाहुजंघासंधिरूपोऽवयवो यस्य तत्तथा । षोडशांगुलप्रमाणा जंघा या च संख्या पूर्वोक्ता असीवर्ती खुरावधिरवयवो यस्य तत्तथा । चतुरंगुलोच्छ्रिताः खुराः पादतलरूपा अवयवा यस्य तत्तथा । एषामवयवानामुच्चत्वमीलने सर्वसंख्या पूर्वोक्ता अशी त्यंगुलरूपा मकारः सर्वत्रालाक्षणिकः । यतु श्रेष्ठाश्वमानमाश्रित्यालौकिक पराशरग्रंथे "जघन्यमध्यश्रेष्ठानामश्वानामार्यातिर्भवेत् । अंगुलानां शतं हीनं विंशत्या दशभिस्त्रिभिः १ परिणाहाङ्गुलानि स्यात् सप्ततिः सप्तसप्ततिः । एकाशीतिः समासेन त्रिविधंस्याद्यथाक्रमम् २ तथा षष्टिश्चतुष्षष्टिरष्टषष्टिः समुच्छ्रयः त्रिपंचसप्तकयुताः विंशतिः स्यान्मुखायतिः ३ इत्यत्र सप्तनवत्यंगुला-न्यायति एकाशीत्यंगुलानि परिणाहः अष्टषष्ठ्य गुलानि समुच्छ्रयः सप्तविंशत्यङ्गुलानि मुखायतिरित्युक्तमस्ति तदपरश्रेष्ठहयानाश्रित्य । नतुचक्रवर्तिरत्नमाश्रित्य दृष्टश्चायं विशेषः । पुरुषोत्सेधे सामुद्रिके उत्तमपुरुषाणामष्टोत्तरशतां गुलाण्युत्सेधः । उत्तमोत्तमानां तु विंशत्युत्तरशताङ्गुलानि अनेनास्य प्रमाणोपेतत्वं सूचितं । सम्प्रत्यवयवेषु लक्षणोपेतत्वं सूचयति । मुक्तोली नाम अध उपरि च सङ्कीर्णा मध्ये-

त्वीषद्विशाला कोष्ठिका तद्वत्संवृत्तं सम्यग्वर्तुलं वलितं नमनस्वभावं न तु स्तब्धमध्यं यस्य तत्तथा । परिणाहस्यमध्यपरिधिरूपस्य चैव चिंत्यमानत्वादुचितेयमुपमा । ईषदंगुलं यावत्प्रणतं न तु प्रारब्धं अतिप्रणतस्योपवेष्टुर्दुःखावहत्वात् पृष्ठे पर्यायस्थानं यस्य तत्तथा आरोहकसुखावहपृष्ठकमित्यर्थः । सम्यग् यथा क्रमेण नतं पृष्ठं यस्य तत्तथा । सुजातं जन्मदोषरहितं पृष्ठं यस्य तत्तथा । प्रशस्तशालिहोत्र-लक्षणानुसारि पृष्ठं यस्य तत्तथा । किंबहुना विशिष्टपृष्ठं प्रधानपृष्ठमिति यावत् । उक्तं पृष्ठे पर्याणस्थानवर्णनं । अथ तत्रैवावशिष्टभागं विशिनष्टि । एणी हरिणी तस्या जानुवदुन्नतं उभयपार्श्वयोर्विस्तृतञ्च चरमभागे स्तब्धं सुदृढं पृष्ठं यस्य त-त्तथा । वेत्रो जलवंशःलता वा कशा चर्म्मदण्डस्तेषां निपातास्तैस्तथा अंकेक्षणप्रहारैस्तर्जकविशैषाघातैश्च परिवर्जितं अश्ववारमनोऽनुकूलचारित्वात् अंगं यस्य तत्तथा । तपनीयमयाः स्थासका दर्प्पणाकारा अश्वालंकारविशेषा यत्र तदेवंविधं अहिलाणं मुखसंयमनविशेषो यस्य तत्तथा । वरकनकमयानि सुष्ठुशोभनानि पुष्पाणि स्थासकाश्च तैर्विचित्रा रत्नमयी रज्जुः पार्श्वयोः पृष्ठोदरान्तवर्त्ययवयविशेषयोर्यस्य त-त्तथा । बध्यंते पट्टिकाः पर्याणदृढीकरणार्थमश्वानामुभयोः पार्श्वयोरिति कांचनयुतमणिमयानि केवलकनकमयानि च प्रतरकाणि पत्रिकाभिधानभूषणानि अन्तरान्तरीयेषु तानि तथाभूतानि नानाविधानि घंटिकाजालानि मौक्तिकजालकानि च तैः परिमंडितेन पृष्ठोन शोभमानकर्केतना दिरत्नमयं मुखमंडनाच्छं रचितं आविद्धमाणिक्यं प्रोतमाणिक्यसूत्रकं हयमुखभूषण-विशेषणविशेषस्तेन विभूषित कनकमयपद्मेन सुष्ठु कृतं तिलकं यस्य तत्तथा देवमये न स्वर्गिचातुर्येण विविधप्रकारेण कल्पितं सर्जितं । सुरवरेन्द्रवाहनमुच्चैः श्रवा हयस्तस्य योग्य मंडलकरणाभ्यास-स्तस्या व्रजगतवित्यस्य ल्युप्रत्यये व्रजनं प्रापकं । ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्च्छा इतिवचनात् । अयंभावः । यादृशं खुरलीं अयमुच्चैःश्रवाः करोति तादृशोऽयमपि । अत्र षष्ठ्यर्थे द्वितीया प्राकृतत्वात् । यथासरूपं सुंदरं द्रवंति इतस्ततो दोलायमानानि सहजचंचलाङ्गत्वा-द्वलभालमौलिकर्ण्णद्वयमूलविनिवेशितत्वेन पंचसंख्याकानि यानि चारूणि । चामराणि तेषां मेलक एकस्मिन् मूर्द्धनि संगमस्तंधरद्वहत्चामरा इत्यत्र स्त्रीनिर्देशःसमयसिद्ध एव । गौडमतेन वा चामरा इत्यादन्तःशब्दः । अत्रापीडशब्दे व्याख्यायमाने मर्द्धालंकार-एवोक्तो भवति नतु कर्णाद्यलंकारःदृश्यतेलोके एकंचामरं मूर्धालंकारभूतं चामरं एकंच कर्णालंकारभूतं एकंचभालालंकारभूतं एकं च कंठालंकारभूत-मिति तेनयथोक्तव्याख्यानमेव सुन्दरं । अथ देवमतिविकल्पिता-दिविशेषविशिष्ट उच्चैः श्रवानामशक्र हयोऽपिस्यादित्याह । अनभ्राचारीवाहोऽश्वःउच्चैःश्रवास्तदन्य (अदब्भवाहमिति) पाठे तु अदभ्रं भूरि वहतीतिअदभ्रवाहस्तत् अभेलेदोषादिना असंकुचिते नयने यस्त तत्तथा अतएव कोकासिते विकसिते बहले हढे अनश्रुपातित्वात् पत्रले पक्ष्मवती नतु ऐद्रलुप्तिकरोगवशाद्रोमरहिते अक्षिणी यस्य तत्तथा । सदाचरणे शोभार्थं दंशमशकादिरक्षार्थं वा प्रच्छादनपटेन च कनकानि नव्यवस्तुवर्णानि यस्य तत्तथा । स्वर्णतंतु स्यूतप्रछादनपटमित्यर्थः । तंप्त तपनीयं तद्वदरुणे तालुजिव्हे यत्र तदेवं विधमास्यं यस्यतत्तथा । ततः पूर्वविशेषणेन कर्मधारयः । श्रीकाया लक्ष्म्या अभिषेकोऽभिषेचन नाम शारीरलक्षणं घोणायां नासिकायां यस्य तत्तथा । क्वचित्पाठान्तरेतु (सिरिसातिसे अघोण) मिति दृश्यते तत्र शिरीषं शिरीषपुष्पं तद्वद्तिश्वेताघोणायस्येति तथा पुष्करपत्रमिव कमलदलमिव सलिलस्य बिन्दवोयत्र तदेवं विधं कोऽर्थः यथा पुष्करपत्रं जलान्तस्थं वाताहतजलबिन्दुयुतं भवति । तथैतदपि सलिलं पानीयं लावण्यमित्यर्थः । तस्य बिन्दवः छटास्तैर्युतं बिन्दुगृहणेनाऽत्र प्रत्यंगं लावण्यं सूचित लोकेऽपि प्रसिद्धमेतत् । मुखेऽस्य पानीयमिति अचंचलं स्वामिकार्यकरणे स्थिरं साधुवाहित्वात् चंचलं शरीरं जातिस्वभावात् अथ यदि चंचलाङ्गस्तदायुर्मेध्यवस्तुस्वपिस्वाङ्गप्रवर्तको भविष्यतीत्याह । चोक्षः कृतस्नानश्चरको धाटिभि क्षाचर परिव्राजको मस्करी ततश्चरकसहितः परिव्राजकश्चरकपरिव्राजकः प्रथमा द्वितीयार्थे । नचोक्षपरिव्राजकमिव प्राकृतशैल्याअकारप्रश्लेषादभिलीयमानं श अश्रुभिः संसर्गशंकया आत्मानं संवृण्वान्ति आभीक्ष्ण्ये चात्र द्विर्वचनम्

एवमग्रेऽपिभाव्यं । अथाऽस्य क्रियाविशेषैर्जात्यत्वं लक्षयति । खुरप्रधानाश्चरणाखुरचरणास्तेषां चंचुपुटा आघातविशेषा-स्तैर्धरणीतलमभिघ्नदननुभूतविलेखनं सामान्यतः पुंसइवाऽश्वस्योप-लक्षणमिति एतस्य लक्षणत्वेन शालिहोत्रे प्रतिपादनाद्यतः "खुरैःखनेद्यः पृथिवी मश्वोलोकोत्तरः स्मृतः" इति । अश्ववारप्रयोगनर्तितोहिह-योग्रपादावुदस्यति तत्रास्यशक्तिविशेषणद्वारेण दर्शयति द्वावपि च चरणौ यमकसमकं युगपन्मुखाद्विनिर्गमं दिव निस्सारयदिव कोऽर्थः । इदमग्रपादावूर्ध्वं नयत्तथा मुखान्तिकं प्रापयति यथा जन उत्प्रेक्षते इमौ मुखाद्विनिर्गमयति पुनः क्रियांतरदर्शनेनैतद्विशिनष्टि । शीघ्र तया लाघवविशेषेण मृणालं पद्मनालं तस्य तंतुः सूत्राकारोऽव यवविशेषः सच उदकं च ते अपि निश्रयावलंब्य आस्तामन्य दुर्गादिकं प्रक्रामत् संचरत् । अयमर्थः । यथा अन्येषां संचरिष्णूनां मृणालतंतूदकादावषंटभकेन भवतःतथा नास्येति सूत्रे चैकवचनमार्षत्वात् तथा जातिर्मातृपक्षः कुलं पितृपक्षः रूपं सदाकारसंस्थानं तेषां प्रत्ययो विश्वासो येभ्यस्ते च ते प्रशस्ताः प्रदक्षिणावहत्वात् शुभस्थानस्थितत्वाच्च ॥ येद्वादशावर्तास्ते यत्र तत्तथा बहुव्रीहिलक्षणः कः प्रत्ययः । विशुद्धा निर्दोषा मिश्रितानि लक्षणानि अश्वशास्त्रप्रसिद्धानि यस्य तत्तथा । ततः पदद्व-यस्य कर्मधारयः द्वादशा वर्ता श्च इमे वराहोक्ताः । "ये पाणि गलकर्णसंस्थिताः पृष्ठ मध्यनयनोपरि स्थिताः । ओष्ठसक्थिभुजकुक्षिपार्श्वगास्तेल-लाटसहिताः सुशोभनाः ॥१॥ अत्रवृत्तिलेशः । प्रपाणमुत्तरोष्ठतलं गलः कंठं यत्र स्थित आवर्तो देवमणिनाम हयानां महालक्षणतया प्रसिद्धः । कर्णौ प्रतीतौ एतेषु स्थानेषु संस्थितास्तथोष्ठपर्याणस्थानं मध्यं प्रतीतं । नयने अपि तथैव तदुपरि स्थिताः तथा ओष्ठौ प्रतीतौ । सक्थिनी पाश्चात्यपादयोर्जानूपरिभागभुजौ प्राक्पादयोर्जानूपरिगःकुक्षि रत्नवामो दक्षिणकुक्ष्यावर्तस्य गर्हितत्वात् ॥ पार्श्वौ प्रसिद्धौ तद्वताः ललाटं प्रतीतं तदावर्तनासहिताः अत्र कर्ण नयनादिस्थानानां द्विसंख्याकत्वेऽपिजात्य-पेक्षतया द्वादशैव स्थानानि स्थानभेदाऽनुसारेण स्थानिभेदा अपि द्वादशैवेति ॥ तथा सुकुलप्रसूतं हयशास्त्रोक्तं क्षत्रियाश्च पितृकं मेधावी स्वामी पदसंज्ञादि प्राप्तार्च्छा धारकं अदुष्टं विनीतं स्वामीष्टकारित्वात् । अणुकतनुकानामतिसूक्ष्माणां सुकुमालानां लोम्नां स्निग्धा छवि यत्र तत् तच्छा । सुष्ठु यानं गमनं यस्य तत्तथा । अमरमनः पवनगरुडाःप्रतीताःतान् वेगाधिक्ये न जयतीति अमरमनः

पवनगरुडजयि अतएव चपलं शीघ्रगतिकं पश्चात्पदद्वयस्यक र्मधारयः । क्षांत्या क्रोधाभावेन नत्वसामर्थ्येन या क्षमा तया ऋषिमिवानगारमिव क्षमाप्रधानत्वात्तस्य न चरणयोर्लत्तादायकं । न तु मुखेन दंशकं न च पुच्छाघातकरमिति । सुशिष्यामिव प्रत्यक्षतो विनीतं अत्र ताकारः प्राकृतशैली भवस्तेन प्रत्य-क्षविनीतं । उदकं हुतवहोऽग्निः पाषाणः पांशुः रेणुः कर्दमः शर्करं सलघूपलखंडं स्थानं सवालुकं । अत्रार्थ इल्लप्रत्ययः । बहुलसिकताकणं स्थानं तटं नदीतटं कटको गिरि-नितंबविषमप्राग्भारौ प्राग्वत् । गिरिदर्यः प्रतीताः । तासु लंघनमतिक्रामणं प्रेरणं आरुढस्य पुंसोऽभिमुखे दर्शनधावना दिना संज्ञाकरणपूवकं प्रवर्तनं निस्तारणा तत्पारप्रापणा तत्र समर्थना चंडैरुग्रैः सुभटैः रणापातितंदंडवत् पततीत्येवंशीलं दंडपाति अतर्कितमेव प्रतिपक्षं स्कंधावारे पतनशीलं अनेना ऽस्योत्पतनस्वभावोऽपि सूचितः । मार्गादिखेदेष्वापि नाश्रुपातय तीत्येवं शीलमनश्रुपाति तच्छा अकालतालुं अश्यामतालुं पूर्व रक्तवर्णितेऽपि यत्पुनरकालतालु इति विशेषणं तत्तालुनः श्यामत्वमतीतरागपलक्षणमिति तन्निषेधख्यापनार्थं चः समुच्चये कालेऽराजकानां राजनिर्णयार्थकाधिवासनादिके समये हेषते शब्दायत्येवं शीलं कालहेषि जितनिद्राआलस्ययेन तत् जित-निद्रं । त्यक्तालस्यमित्यर्थः । कार्येष्वप्रमादित्वात् यथा श्रुतार्थ व्याख्यायमाने हयशास्त्रविरोधस्तथाहि । ''सदैव निद्रा वशगा, निद्रा च्छेदस्य संभवः । जायते संगरे प्राप्ते, कर्मा रस्य च भक्षणे'' इति । यद्वा जितनिद्रत्वं समावसरप्राप्तत्वादश्वरत्नत्वेना-ल्पनिद्राकत्वाच्च । तथा गवेषकं मूत्रपुरीषोत्सर्गादौ उचिता-नुचितस्थानान्वेषकं । जितपरिषहं शीता तपाद्यातुरत्वेऽपि अखिन्नं जात्यं प्राधान्या जातिर्मातृपक्षस्तत्र भवं जात्यं जातीयं निर्दोष-कमित्यर्थः । निर्दोषपितृकत्वं तु प्रागुक्तं । ईदृग्गुणयुक्तो हि समये स्वामिने न द्रह्यति मातृमुखा वगतस्वकारणत्वात् व्यतिकरः प्रकुपितचिन्तितस्वामिद्रोहककि शोरवत् मल्लिर्विचकिलकुसुमं तद्वत्शुभ्रं अश्लेष्मत्वेनाना विलिप्तपूतिगंधिच घ्राणं पाथो यस्यतत्तथा । इकारः प्राकृत शैली भवः । ततः पूर्वपदेन कर्म-धारयः । शुकपत्रवत् शुक पिच्छवत् सुष्ठुवर्णो यस्य तत्तथा । कोमलत्वं कायेन ततःपदद्वयस्य कर्मधारयसमासः मनोभिरामम् । जं०टी० ॥

आसरह-पुं० (अश्वरथ) अश्वप्रधानो रथोऽश्वरथःज्ञा०१अ०अश्व० युक्तोरथोऽश्वरथः । अश्वेन युक्ते रथे, (चाउग्घंटं आसरयणंदुड्ढदे) नि०चू०१३ अ० ।

आसराय पुं०(अश्वराज) अणहिलपट्टननगरे जाते पौरपाटकुल मण्डने गुर्जरधराधिपतौ, । अणहिल्ल वाड्यपट्टणे य पोरवाल कुलमंडणा आसराय कुमरदेविलणया गुज्जरधराहिवई । प्रधानेऽश्वे,स्था०५ ग० ।

आसव पुं०(आसव)अप्कायतेजस्कायपवनवनस्पतिकायादि पिण्डरूपे। पिं०। मूलदलखर्जूरसारनिष्पन्ने,प्रज्ञा०पत्रादिवासकद्रव्यभेदादनेकप्रकारे निर्यासिसारे, जी० मादकरसे अष्ट० कुसुमोत्पन्ने मद्ये उत्त० । चंद्रहासादिके, रा० ।

***आश्रव**-आ-श्रवति यत् क्षरति जलं यैस्ते आश्रवाः सूक्ष्म रंध्रेषु भ० । अश्रोत्यादत्ते कर्म यैस्ते आश्रवाः । धर्म० । आश्रवति प्रविशति कर्म्म येन स आश्रव० । सूत्र० । अष्टप्रकारकं कर्म्म येन स । आ० । सम्म० । आश्रीयते उपार्ज्यते कर्म्म एभिः इत्याश्रवाः । प्रव० । उत्त० । प्राणातिपात मृषावादा-दत्तादानमैथुनमिथ्यात्वादिषु । आव० । परिग्रह लक्षणेषु वा० । आचा० । रा० । विषयकषायादिकेषु वा० । आचा० ।ओ० । सू० । कर्म्मप्रदेशद्वाररूपेषु० । सू०पापोपादानकारणेषु । ग० । औ० । रागे-आसवे आश्रवंति प्रविशन्ति येन कर्म्माण्यात्मनीति आश्रवाः कर्म्महेतुरिति भावः स्था० । व० । (एगे आसवे) आश्रवंति प्रति-शंति येन कडर्माण्यात्मनीति आश्रवः कर्म्मबन्धहेतुरितिभावः । सर्वेन्द्रियकषाया व्रतक्रियायोगरूप-क्रमेण पंचचतुः पंचपंचविंशतिभेदः । उक्तश्च । इन्द्रिय ५ कसाय ४ अव्वय ५ किरिया २५ पण चउ अपंच पणवीसा । जोगतिएणेव भवे आसो भेयाउ वाया लत्ति । तदेवमयं द्विचत्वारिंशतिद्विधोऽथवा द्विविधो द्रव्यभावभेदात्तत्र द्रव्याश्रवो यज्ञलान्तरगतनावादौ तथा-विधपरिणामेन छिद्रैर्जलप्रवेशनामावा आश्रवस्तु यज्जीवाना-म्यंचेन्द्रियवयादिछिद्रवतः कर्म्मजलसंचय इति सावाश्रव सामान्यादेक एवेति । सम० । स्था० ॥ आचा० । कर्म०प्रव० ।

जे आसवाते परिस्सवा । आचा० ।

य इति सामान्य निर्देश आश्रवत्यष्टप्रकारं कर्म्म यैरारंभैस्ते आश्रवाः परिसमन्तात्श्रवति गलति यैरनुष्ठानविशेषैस्ते परिश्रवाः यएवाश्रवाः कर्मबन्धस्थानानि तएवपरिश्रवाः ॥ कर्मनिर्जरा-स्पदानीदमुक्तं भवति । यानीतरजनाचरितानि स्त्रसंगनादीनी सुखकारणतया तानि कर्मबन्धहेतुत्वादाश्रवाः पुनस्तान्येव तत्वविदां विषय सुखपराङ्मुखानां निस्सारतया संसारसरणि-देश्यानीनि कृत्वा वैराग्यजनकान्यतः परिश्रवा निर्जरास्थानानि आश्रवतीत्याश्रवः कर्मबन्धके आचा०५ अ०६ उ० । आश्रवति तान् शोभनत्वेनाशोभनत्वे वा गृह्णातीत्याश्रवाः । सूत्र०१ श्रु० १४ अ० आ समन्तात् श्रृण्वंति गृण्हती गुरुवचनमाकर्णयंतीत्याश्रवाः उत०१ अ०गुरुवचने स्थिते । आश्रवो वचने स्थित इति हैमः उत०१ अ० ।

आसवणिरोहभाव-पुं० (आश्रवनिरोधभाव) आश्रवस्य कर्मा दानहेतोरविरतलक्षणस्थान्तरार्थस्य निरोधो निषेधो यस्तस्य यो भावः सत्ता स तथा संवरसत्वे, पंचा० । वृ० ।

आसवदार-न०(आश्रवद्वार) आस्रवणं जीवतडागे कर्मजलस्य संगलनमाश्रवः कर्मबन्धनमित्यर्थः । तस्य द्वाराणीव द्वाराणि उपाया आश्रवद्वाराणि स्था०५ ठा० । कर्मोपादानोपायेषु मिथ्यात्वादिषु, । स० १ सं० ।

पंच आसवदारा । प० मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाया जोगा ॥ आव० १ अ० ॥

आ०चू० । प्रणातिपातादिषु । स्था० । आव० । आचा० ।

अत्थेगे गोयमा पाणी, जेए यं मणुए विसं ।

आसवदारे णिरोहादि, इयरहे पसोक्खंचरे । महा० ॥

आसवभावणा-स्त्री०(आश्रवभावना) आसवतत्वालोचने,ध० । अ० आश्रवभावना चैवं ।

मनोवाक्कायकर्माणि, योगाः कर्म शुभाशुभं ।
यदाश्रवंति जंतूना, माश्रवास्तेन कीर्तिताः ॥१ ॥
मैत्र्यादिवासितं चेतः० कर्म स्यूते शुभात्मकं ।
कषायविषयाक्रांतं, वितनोत्यशुभं मनः ॥२ ॥
यतोन्यत्र-मैत्र्या सर्वेषु सत्वेषु, प्रमोदेन गुणाधिके ।
माध्यस्थ्येनाविनीतेषु, कृपया द्रःखितेषु वा ॥३ ॥

सततं वासितं स्वांतं, कस्यचित्पुण्यशालिनः ।
वितनोति शुभं कर्म, द्विचत्वारिंशदात्मकामिति ॥४॥

तथा-शुभार्जनाय निर्मिथ्यं, श्रुतज्ञानाश्रितं वचः ।
विपरीतं पुनर्ज्ञेय, मशुभार्जनहेतवे ॥५॥

शरीरेण च सुप्तेन, शरीरी चिनुते शुभं ।
सततारंभिणा जंतु, घातकेनाशुभं पुनः ॥६॥

कषायविषया योगाः, प्रमादाचरती तथा ।
मिथ्यात्वमार्तरौद्रं चे, त्यशुभं प्रति हेतवः ॥७॥

नन्वेते बंधं प्रति हेतुत्वेनोक्ताः । यदाह वाचकमुख्यः । मिथ्या दर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतव इति तत्किमाश्रव-भावनायां बंधहेतूनामेतेषामभिधानं सत्यं आश्रवभावबंधभावनापि महर्षिभिर्भाव-नात्वेनोक्ता । आश्रवभावनयैव गतार्थत्वात् आश्रवेण कषायात्ताः कर्मपुद्गला आत्मना संबद्ध्यमाना बंध इत्यभिधीयंत यदाह सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते सबन्धः स्यात् इत्यतोऽपि कर्म पुद्गलादानहेतावाश्रवे बंधहेतूनामभिधान-मदुष्टं । ननु तथापिबंधहेतूनां पाठो निरर्थकः नैवं बंधाश्रवयोरेक-त्वेनोक्तत्वादाश्रवहेतूनामेवायं पाठ इति सर्वमवदातमिति ।

आसवमाण-त्रि०(आस्रवत्) शनैः प्रस्रवति-(उदयं आसवमाणं पेहारा) आचा०४ अ०१ उ०।

आसवर-पुं०(अश्ववर) अश्वानां मध्ये प्रधाने-औ०। भ०९ श०३३ उ०।

आसवसक्कि-(ण) स्त्री०(आस्रवसक्तिन्) आस्रवा हिंसादयस्तेषु सक्तं संगं आस्रवसक्तं तद्विद्यते यस्य आस्रवसक्ती हिंसाद्यनुषंगवति आचा०। ५ अ०१ उ०।

आसवार-पुं०(अश्ववार) अश्वारूढपुरुषे-भ०। ९ श०३३ उ०।ततो आसवारेण दिट्ठो-आ०म०॥

आसवोदगा-स्त्री०(आसवोदक) आसवमिव चंद्रहासादिप-रमासवमिवोदकं यासां ताः आसवोदकाः। आसवमिष्टोदकासु वापीषु । जी० ३ प्र०। रा०।

आससेण-पुं०(अश्वसेन) चतुर्दशे महाग्रहे-जं-कल्प०। पार्श्वजिन-पितरि, स०। कल्प० भरतक्षेत्रेऽवसर्पिण्यां जातस्य चतर्थचक्रिणः पितरि, स०। आव०।

आसा-स्त्री०(आशा) वांछयाम् ज्ञा० १ अ० तं०। इच्छाविशेषे प्रश्न०। भोगाकांक्षायाम् । आसं च छंदं च ठिगिंव धीरे आचा०। आहारोपकरणगणस्वजनशरीराद्यनभिष्वंगरूपायामिच्छायाम् । अनु०। अप्राप्तार्थानां प्राप्तिसंभावनायाम् औ०। परसत्व-वस्तुप्राप्त्यभिलाषे । आतु०।

आसाइ जो पहुत्तं, देइ सदा सत्तमप्पणो वस्स ।
इय सव्वत्थमूला, परिहरियव्वा सया आसा ॥ संघा०॥

उत्तररुचकपर्वतस्य विजयकूटवासिन्यां दिक्कुमार्य्याम् । स्था० ८ ठा०द्वी०। दिशि, च वाच०।

आसाई-स्त्री०(आश्वयुजी) अश्वयुगश्विनी तस्यां भवाऽश्वायुजो । आश्विनेयमासभाविन्याममायां पूर्णिमायां । जं०।

आसाएणाण-त्रि०(आशातयत्) आशातनां कुर्वति । स्था० ४ ठा०।

***आस्वादयत्**-त्रि०इक्ष्वादेरिव ईषत्स्वाद्यति बहु त्यजति च आचा०कल्प०। वि०।

आसागह-पुं० (आशाग्रह) चित्तव्याक्षेपकारित्वात् ग्रहतुल्यवांछायाम् ।

आराध्य भूपतिमवाप्य ततो धनानि, भोक्ष्यामहे किल वयं सततं सुखानि इत्याशया व्रत विमोहितमानसानां,कालः प्रयाति मरणावधिरेव पुंसाम् ॥१॥ एहिगच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर । इत्याद्याशाग्रहग्रस्तैःक्रीडंति धनिनोऽर्थिभिः २ आचा०॥

आसाढ-पुं०(आषाढ) आषाढी पूर्णिमा यत्र मासे स आषाढः। आषाढी पूर्णिमा घटिते मासे,। आषाढे मासे सकृत् कर्कसंक्रांतौ उत्कर्षतोऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति । स०१८ स०।

आसाढेणं मासे एगूणतीसं राइंदिआइं राइंदियग्गेणं पं०। स० २९ स०॥

आषाढपुन्निमाएण उक्कोसपए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ भ०११ श०११ उ०। उत्त०। २६ अ०॥

आव्यक्तिकनिन्हवानां धर्माचार्ये,। विशे०। ठा०। आषाढो येन हि श्वेतांब्यां नगर्या पोलासा उद्याने च शिष्याणां प्रतिपन्ना गाढयोगानां रात्रौ हृदयशूलेन मरणमासाद्य दिवेन भूत्वातदनुकंपया स्वकीयमेव कलेवरमधिष्ठाय सर्वा समाचारी-मनुप्रवर्तयता योगसमाप्तिं शीघ्रं कृत्वा वंदित्वा तानभिहितं च क्षमणीयं भदंता ! यन् मया यूयं वंदनकारिताः यस्य च शिष्या इयच्चिरमसंयतो वन्दितोऽस्माभिरिति विचिंत्या व्यक्तमतमाश्रि-ताः । स्था०ठा०७ । उज्जयिन्यामवधाविते स्वनामख्याते आचार्येच। स्थिरीकरणशब्दे कच्छा०। नि० चू०।

आसाढपाडिवया-स्त्री०(आषाढप्रतिपत्) आषाढपूर्णमास्या अनन्तरा प्रतिपदाषाढप्रतिपत् । श्रावणकृष्णप्रतिपदि,स्था० १ ४ ठा०॥

आसाढभूइ-पुं०(आषाढभूति) धर्मरुचिसूरिशिष्ये, पिण्ड०।

विश्वकर्मा नाम नटः तस्य द्वे दुहितरौ ते च द्वे अप्यतिसुरूपे अतिशयाते येनवदनं कांत्या दिनकरकरोद्भासितकमलश्रियं नयनयुगलेन चंचरीककुलवलययुगलं पीनोन्नतनिरंतरेण पयोध-रयुगलेन संहततालफलयुगलं बाहुयुगलेन सपल्लवालताःत्रिव-लिभंगुरेण मध्यभागेनेंद्रायुधमध्यं जघनविस्तरेण जान्हवीपुलिन-देशं ऊरुयुगलेन गजकलभनासाभोगं जंघायुगलेन कुरुविंदवृत्त-संस्थितिंचरणयुगलेन कूर्मदेहाकृतिं सुकुमारतया शिरीषकुसुम-संचयं वचनमधुरतया वसंतमासोन्मत्त कोकिलारवं अन्यदा च तत्र यथाविहारक्रमं समाययुः। धर्म्मरुचयो नाम सूरयः। तेषामंते-वासी प्रज्ञानिधिराषाढभूतिः स भिक्षार्थमटन् कथमपि विश्वकर्मणो नटस्य गृहे प्राविशत् । तत्र च लब्धः प्रधानो मोदकः द्वारे च वि-निर्गत्य तेन चिंतितमेष सूरीणां भविष्यति तत आत्मार्थं रूप-परावर्त्तमाधायार्य्यं मोदकं मार्गयामि ततः काणरूपं कृत्वा पुनः प्रविष्टो लब्धो द्वितीयो मोदकः । ततो भूयोपि चिंतितं एष उपाध्यायस्य भविष्यति । ततः कुब्जरूपमभिनिर्वर्त्य पुनरपि प्रविष्टः लब्धः

तृतीयो मोदकः । एष द्वितीयसंघाटकसाधोर्भविष्यतीतिविचिंत्य कुष्टिरूपं कृत्वा चतुर्थवेलायां प्रविष्टः लब्धश्चतुर्थो मोदकः एतानि च रूपाणि कुर्वन् मालोपरिस्थितेन विश्वकर्मणा नटेन ददृशे । चिंतितं चानेन सम्यगेषोऽस्माकं मध्ये नटो भवति । परं केनोपायेन स यतितव्य इति । एवं च चिंतयतः समुत्पन्ना तस्य शेमुषी दुहितृभयां क्षोभयित्वा ग्रहीतव्य इति । ततो मालादुतीर्य सादरमाकार्याषाढभूतिः पात्रभरणप्रमाणैर्मोदकैः प्रलोभितः भणितश्चासावहो भगवन् ! प्रतिदिवसमस्माकं भक्तदान-ग्रहणेनानुग्रहोऽनुविधातव्यः ततो गतस्वोपाश्रयमाषाढभूति-रकथयच्चांते रूपपरावर्त्तनवृत्तांतं विश्वकर्मा निजकुटुंबस्य भणिते च दुहितरौ यथा सादरं दानस्नेहदर्शनादिना तथाकर्तव्यं । यथा युष्माकमायत्तोभवति प्रतिदिवसमायाति च भिक्षार्थमाषाढभूति-र्दुहितरावपि तथैवोपचरतः ततोऽत्यंतमनुरक्त मवगम्य रहसि भणितो यथायमत्यंतं तवानुरक्तस्त-तोऽस्मान् परिणीय त्वं परिभुङ्क्ष्वेति अत्रांतरे च तस्यादेयमियाय चारित्रावरणकर्म गलितो गुरूपदेशः प्राणे सति विवेको दूरीभूतः कुलजात्य-भिमानस्ततस्तेनोक्तमेवं भवतु परमहं गुरुपादांतिके लिंगं विमुच्य समागच्छामि गतो गुरुसमीपं प्रणतस्तेषां पादयुगलं प्रकटितो निजाभिप्रायः । ततो गुरुभिरवादि वत्स ! नेदं युष्मादृशां विवेकरत्नैकशर-णानामवगाहितसकलशास्त्रार्थानामुभयलोक-जुगुप्सनीयं समाचरितुमुचितं । तथा (दीहरसीलं परिपालि, ऊण विसएसु वच्छ मार मसु । को गोपयमि बुड्डइउपहिंत रिउण बाहाहिं) इत्यादि । तत उवाचाषाढभूतिर्भगवन्! यथा यूयमादिशथ तथैव केवलप्रतिकूल-कर्मणोदयः । प्रतिपक्षभावनारूपकवद्दुर्बलतया मदनशबरेण निरंतरं समुत्रस्यमृगनयनरमणीकटाक्षविशेषोपनिपातमादधता शतशो मे जर्जरीकृतं हृदयं एवं चोक्त्वा गुरुपादान् प्रणम्य तदंतिके रजोहरणं मुक्तवान् । ततः कथमहममीषामनुपकृतोपकारिणामपारसंसारो-दधिनिमग्न जंतुसमुद्धरणैकचेतसां सकलजगत्परमबंधुकल्पानां गुरूणां पृष्ठं ददामीति पश्चात्कृतपादप्रचारो हा कथमहं भूयोऽप्येवंविधगुरूणां चरणकमलं प्राप्स्यामीति विचिंतयत् वसतेर्विनिर्गत्य विश्वकर्मणो भवनमायातः । परिभावितमस्य सादरमनिमेषदृष्ट्या नटदुहितृभ्यां वपुः प्रत्यभासत । सकलजगदाश्चर्यमस्य रूपं ततोप्यचिंतयतामिमे अहो कौमुदीशशांकमंडलमिवास्य मनोहरकांतिवदनं, कमलदल-युगलमिव नयनयुगलं गरुत्मत इव तुंगमायतं नासानालं कुंद मुकुलश्रेणिरिव सुस्निग्धा दशनपद्धतिः, महापुरकपाट मिव विशालमस्य मांसलं, वक्षःस्थलं मृगरिपोरिव संवर्तितः कटि प्रदेशो निगूढजानुप्रदेशं जंघायुगलं सुप्रतिष्ठितकूर्मयुगलमिव चरणयुगलं ॥ ततो विश्वकर्मा अवोचत् महाभाग तवायत्तेद्वे अप्यमू कन्यके ततः स्वीक्रियतामिति । ततः परिणीते ते द्वे अपि तेन कन्यके भणिते च विश्वक[illegible]गा यो नामैतादृशीमप्यवस्थां गतो गरुपादान् स्मरति सनियमादुत्तमप्रकृतिः । तत एव भिक्षावर्जनार्थं सर्वदैव मद्यपानविरहिताभिर्युष्माभिः स्थातव्यं । अन्यथैष विरक्तो यास्यति । आषाढभूतिश्च सकलकलाकलापपरिज्ञान-कुशलो नानाविधैर्विज्ञानातिशयैः सर्वेषामपि नटानामग्रणीर्बभूव ततस्ते च सर्वेपि नटाः स्वां स्वांयुवतिं स्वस्वपृहे विसृप्य च राजकुलंगता । आषाढभूति भार्याभ्यामपि चिंतितमद्य राजकुले गतो ऽस्माकं भर्त्ता सकलामपि च रात्रिं गमयिष्यति । ततः पिबामो यथेच्छमा-सवमिति तथैव कृतं । मदवशाद्व्यपगतचेतने विगतवस्त्रे द्वितीय भूमिकाया उपरि सुप्ते तिष्ठतः । राजकुले परराष्ट्रदूतः समायात इति राज्ञो व्याक्षेपो बभूव । ततो नवसर इति कृत्वा प्रतीहारेण मुत्कलिता सर्वेऽपिनटाः समागता स्वं स्वं भवनं आषाढभूतिश्च निजावासे समागत्य यावत् द्वितीयभूमिका मारोहति । तावत्ते द्वे अपि निजभार्ये विगतवस्त्रे बीभत्स्ये पश्यति ततः स महात्मा चिंतयत् अहो मे मूढता अहो मे निर्विवेकता । अहो मे दुर्विलसितं यदेतादृशमप्यशुचिकरंडकभूतानामधो गतिनिबंधनानां कृते परमशुचिभूतमिह परलोककल्याणपरंपराजनकमोक्षेपेण मुक्तिपद-निबंधन संयममुभामाभूव ततोऽद्यापि न मे किमपि विनष्टमपि, गच्छामि गुरुपाहांतिकं, प्रतिपद्ये चारित्रं, प्रक्षालयामि पापपंकमिति, विचिंत्य गतो गृहात् । हृष्टः कथमपि विश्वकर्मणा लक्षित इंगितादिना यथा विरक्त एष यातीति ततः सत्वरं निजदुहितरावुत्थाप्य निर्भर्त्सयति । हा दुरात्मिके हीनपुण्य-चतुर्दशीके ! युष्मद्विलसितमेतादृशमवलोक्य सकलनिधा-नभूतो युश्यद्भर्ता विरक्तो यातीति तद्यदि निवर्त्तयितुं शक्नुथस्तर्हि निवर्त्तयथो नो चेत् प्रजीवनं याचध्वमिति । ततस्ताः ससंभ्रमं परिहितवसनाः पृष्ठतः प्रधाव्य गच्छतः पादयोर्लग्ना वदंति च । हा स्वामिन् ! क्षमस्वैकमपराधं निवर्त्तस्व मास्माननुरक्ताः परिहर एवमुक्तोपि स मनागपि चेतसि न रज्यते ततस्ताभ्यामवाचि । स्वामिन् ! यद्येवं तर्हि प्रजीवनं देहि येन पश्चादपि युष्मत्प्रसादेन जीवामस्तत एवं भवत्विति दाक्षिण्यवशादनुमत्य प्रतिनिवृत्तः । ततः कृतं भरतचक्रवर्त्तिनश्चरित-प्रकाशकं राष्ट्रपालं नाम नाटकं । ततो विज्ञप्तो विश्वकर्मणा सिंहरथो राजा । देव ! आषाढभूतिना राष्ट्रपालं नाम नाटकं विरचितं । तत्संप्रति नर्त्यतामिति । परं तत्र राजपुत्रपंचशतैराभरणविभूषितै प्रयोजनं । ततो राज्ञा दत्तानि राजपुत्राणां पंचशतानि तानि यथातथमाषाढभूतिना शिक्षितानि ततः प्रारब्धं नाटकं नर्त्तितुं तत्र आषाढभूतिना शिक्षित इक्ष्वा कुवंशसंभूतो भरतश्चक्रवातपदस्थितो । राजपुत्राश्च यथायोगं कृताः सामंतादयः । तत्र च नाटके यथा भरतेन भारतं षट्खंडं प्रसाधितं । यथा चतुर्दशरत्नानि नव महानिधयः प्राप्ता यथा वा दर्शगृहा-वस्थितस्य केवलालोकप्रादुर्भावो, यथा च पंचशतपरिवारेण सह प्रवृज्या प्रतिपन्ना तत्सर्वमप्यभिनीयते ततो राज्ञा लोकेन च परितुष्टेन सर्वेणापि यथाशक्ति हारकुंडलादीन्याभरणानि सुवर्णवस्त्राणि च प्रदत्तानि । ततः सर्वजनानां धर्मलाभं प्रदाय पंचशतपरिवार आषाढभूतिर्गंतुं प्रावर्तत । ततः किमेतदिति राज्ञा निवारितस्तेनोक्तं किं भरतश्चवर्तीप्रव्रज्यामादाय निवृत्तोयेनाहं निवर्ते । इति गतः सपरिवारो गुरुसमीपं वस्त्राभरणदिकं च समस्तं निजभार्याभ्यांदत्तवान् तच्च प्रजीवनकं किल तयोर्जातं । गृहीता दीक्षा तदपि च नाटकं विश्वकर्मणा कुसुमपुरे नर्तितुमारब्धं । तत्रापि पंचशतसंख्याः क्षत्रियाःप्रव्रजंतो निःक्षत्रियां पृथिवीं करिष्यंतीति नाटकपुस्तकमग्नौ प्रवेशितं । पिं० । मायापिंडे इदमुदाहरणम् ॥

आषाढा-स्त्री(आषाढा) नक्षत्रभेदे (दो आसाढा) स्था० २ ठा० । द्वे आषाढे पूर्वाषाढा उत्तराषाढा च-वाच० ।

आसाढायरिय-पुं०(आषाढाचार्य) आव्यक्तिकनिन्हवाचार्येऔ० ।

आसाढी-स्त्री०(आषाढी) आषाढानक्षत्रयुक्ता पूर्णमासी आषाढी आषाढमासभाविन्यां पूणमायाम्-सू०च० आव० ।

आसापास-पुं०(आशापाश) इच्छाविशेषरूपे बन्धने आसापास-पडिबद्धपाणा०। आशा इच्छाविशेषः सैव पाशो बन्धनं तेन प्रतिबद्धाः संरुद्धा निर्य्यान्ति इति गम्यं प्राणा येषां ते तच्छा । प्रश्न०३ द्वा० (किंकिंन कुणइ जीवो आसापासेण वा बद्धो),-संघा०।

आसावल्ली-स्त्री०(आशावल्ली) सोमनाथभंगसमये यवनैर्नाशितस्य कर्णदेवस्य मातरि, ती०।

आसाय-पुं०(आस्वाद) आ ईषदपि अ इति न स्वादः आस्वाद मनागस्वादे रसनेन्द्रियजन्ये ज्ञाने । आस्वाद्यतेऽनेनेति कृत्वा यत्प्रकर्षाद्दिव्यरस-संविदुजायतेतस्मिश्च । द्वा०ज्ञा०। विशे०। अभिलाषे २ आचा०८ अ०।

आसायण-न०(आशातन) आ समन्ताच्छातयति मुक्तिमार्गाद् भ्रंशयति इत्याशातनम् अनन्तानुबन्धिकषायवेदने । विशे०।

आसायणा-स्त्री०(आशातना) ज्ञानादिगुणा आ सामस्त्येन शात्यन्ते अपध्वस्यन्ते याभिस्ता आशातनाः स्था०। प्रतीपवर्तनेषु । अधिक्षेपेषु। सम्म० विनयभ्रंशेषु आव०। प्रतिषिद्धकरणेषु । आ० च०। लघुतापादनेषु। द०। आतु०। आशातना ज्ञानदेवगुर्वादीनां जघन्यादिभेदाः त्रिविधाः तत्र ज्ञानस्य, तत्र जघन्या ज्ञानाशातना ज्ञानोपकरणस्थनिष्ठीवन-स्पर्शेऽतिकस्थे, च । तस्मिन्नधोवातनिसर्गो हीनाधिकाक्षरोच्चार इत्यादिका १ मध्यमा आकालिकं निरुपधानतपो वा ऽध्ययनं भ्रांत्यान्यथार्थकल्पनं ज्ञानोपकरणस्य प्रमादात्पादादिस्पर्शा भूपातनं चेत्यादिरूपा २ उत्कृष्टत्वेनाक्षरमार्जनं उपर्युपवेशनशयनादिज्ञानोपकर-णेऽतिकस्थे उच्चारादिकरणं ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा निंदा प्रत्यनीकतोपघातकरणमुत्सूत्रभाषणं चेत्यादिस्वरूपा ३ जघन्या देवाशातना वासकुंपिकाद्यास्फालन-श्वांसवस्त्रांचलादिस्पर्शाद्या १ मध्यमा शरीराद्यशुद्धया पूजनं प्रतिमाभूनिपातनं चेत्याद्या २ उत्कृष्टा प्रतिमायाश्चरणश्लेष्म-स्वेदादिस्पर्शनभंगजननावहेलनाद्या च ॥ श्रुताशातना फलमुवहाणशब्दे महा०। प्रवचनाशातक आचार्यः। महा० ५ अध्य० ॥

से भयवं जेण कई कहिं कयाई पमायदोसओ पवयण मासाएज्जा। से णं किम आयरियं पावेज्जा । गोयमा ! जेणं केई कहिं वि कयाई पमायदोसओ असई कोहेण वा माणेण वा मायाए वा लाभेण वा रागेण वा दोसेण वा भएण वा हासेण वा मोहेण वा अन्नाणदोसेण वा पवयणस्स अन्नयरट्ठाणे वइमेत्तेणं पि अणगारं असमायारीपरूवमाणे वा अणुमन्नेमाणे वा पवयणमासाएज्जा से णं वोहिं पि णो पावे किंमंग ! आयरियपलंभं । से भयवं ! किं अभव्वे मिछादिट्ठी । आयरिये भवेज्जा गोयमा ! भवेज्जा । एत्थं च णं इंगालमद्दगाईन एसे भयवं ! किं मिच्छद्दिट्ठी निखमेज्जा । गोयमा ! निक्खमेज्जा देवस्य ॥

अथवा देवाशातना जघन्या दश मध्यमाश्चत्वारिंशदुत्कृष्टा श्चतुरशीतिस्ताश्च क्रमेणैवमाहुः ॥

तंबोल १ पाण २ भोअण, ३ वाहणह ४ त्थीभोग ५ सुवण ६ निट्ठवणं ७ ॥ मुत्तु ८ चारं ९ जूअं, १० वज्जे जिणमंदिरस्संते ॥१॥

इति जघन्यतो दश देवाशातनाः । प्रव०३८ द्वा तंबोलेत्या-दिगाथायां तांबूलपानभोजनोपानत्स्त्री भोगस्वपननिष्ठीवनानि मूत्रं प्रस्रवणं उच्चारं पुरीषं द्यूतमंधकादि वर्जयेत् तीर्थकृदाशातनाहेतुत्वाज्जिनमंदिर-स्यांऽतर्विवेकी जन इति।

मुत्त १ पुरीसं २ पाणं ३ जाणा ४ सण ५ सयण ६ इत्थि ७ तंवोलं ८ निट्ठीवणं च ९ जूअं १० जूआइपलोयणं ११ विगहा १२ ॥१॥ पल्हत्थीकरणं १३ पिहुपासायपसारण १४ परुप्परविचाओ १५ परिहासो १६ मच्छरिआ १७ सीहासणमाइपरिभोगो १८ ॥२॥ केससरीरविभूसण १९ छत्ता २० सि २१ किरीड २२ चमरधरणं च २३ धरणं २४ जुवईहिं सविआरहास २५ खिड्डप्पसंगाय २६ ॥३॥ अकयमुहकोस २७ मलिणंगवत्थ २८ जिणपूअणामणसोअणेगयत्तं २९ सचित्तदविआणविमुआणं ३० ॥४॥ अचित्तदव्विअबुस्सणंच ३१ तहणेगसाडिअत्तचि ३२ जिणदंसणेअणंजलि ३३ जिणंमि दिट्ठंमि अ अपूआ ३४ ॥५॥ अहवा अणिट्ठकुसुमाइपूअणं ३५ तह अणायरपवित्ती ३६ जिणपडिणीअनिवारण ३७ चेइअदव्वस्सुवेहणमो ३८ ॥६॥ सइसामत्थिउवाणह ३९ पुव्वं चिइवंदणाइपढणंच ४० जिणभवणाइठिआणं चालीसायणा एए ॥७॥

इति मध्यमतश्चत्वारिंशदाशातना ॥ उत्कृष्टाः ८४ । ध०।

खेलं १ केलिं २ कलिं ३ कला ४ कुललयं ५ तंवोल ६ मुग्गालयं, ७ गाली ८ कंगुलिआ ९ सरीरधुवणं १० केसे ११ नहे १२ लोहिअं १३ । भत्तोसं १४ तय १५ पित्त १६ वंत १७ दसणा १८ विस्सामणा १९ दामणं, २० दंत २१ च्छी २२ नह २३ गल्ल २४ नासिअ २५ सिरो २६ सोत्त २७ छदीणंमलं २८ ॥१॥ मुत्तं २९ मीलण ३० लिक्खयं ३१ विभजणं ३२ भंडार ३३ दुट्ठासणं ३४ छाणी ३५ कप्पउ ३६ दालि ३७ पप्पड ३८ वडी विस्सारणं ३९ नासणं ४० अक्कंदं ४१ विकहं ४२ सरुच्छुघउणं ४३ तेरिछसंट्ठावणं ४४ अग्गीसेवण ४५ रंधणं ४६ परिखणं ४७ निस्सीहिआभंजणं ४८ ॥२॥ छतो ४९ वाणह ५० सत्थ ५१ चामर ५२ मणोणेगत्त ५३ मंषगणं ५४ सचित्ताण ५५ मचाय ५६ चायमजिए ५७ दिट्ठीइनो अंजती ५८ साडेगुत्तरमंग-भंग ५९ मउडं ६० मोलिं ६१ सिरोसेहरं ६२ हुड्डा ६३ जिंडुहगेडि- आइरमणं ६४ जोहार ६५ मंडक्किअं ६६ ॥३॥ रेक्कारं ६७ धरणं ६८ रणं ६९ विचरणं वालाण ७० पल्हत्थिअं ७१ पाऊ ७२ पायपसारणं ७३ पुडुपुडी ७४ पंकं ७५ रओ ७६ मेहुणं

७७ जूअं ७८ जेमण ७९ गुज्ज ८० विज्ज ८१ वणिजं ८२ सिज्जं ८३ जलं ८४ मज्जणं । एमाईओ अमज्जकज्जसुजुओवज्जे जिणिं-दालए ॥

विषमपदार्थ यथा ॥ आसायणाओ चुलसी इति । अष्टात्रिंशत्त-मंद्वारमाह ॥ खेलं केलिकलिमित्यादि शार्दूलवृत्तचतुष्टयमिदं व्याख्यायते । तत्र जिनभवने इतमियं च कुर्वन्नाशातनां करोतिति तात्पर्यार्थः । आयं लाभं ज्ञानादीनां निःशेषकल्याण संप-ल्लताविताना विकलबीजानां शातयंति विनाशयंत्याशातनाः । तत्र खेलं मुखश्लेष्माणं जिनमंदिरे त्यजति । तथा केलिं क्रीडां करोति । तथा कलिं वा कलहं विधत्ते तथा केला धनुर्वेदादिकाः खलूरिकायामिव तत्र शिक्षते । तथा कुललयं गंडूषं विधत्ते तांबूलं तत्र चर्वयति तथा तांबूलसंबंधिनमुद्गाल माचीलं तत्र मुंचति । तथा गालीश्चकारमकारादि-कास्तत्र ददाति । तथा कंगुलिकां लध्वीं महतीं च विधत्ते । तथा शरीरस्य धावनं प्रक्षालनं कुरुते । तथा केशान् मस्तकादिभ्य स्तत्रोत्तारयति । तथा नखान् हस्तपादसंबंधिनः किरति । तथा लोहितं शरीरान्निर्गतं तत्र विसृजति तथा भक्तोषं सुखादिकां तत्र खादति तथा त्वचं व्रणादिसंबधिनीं पातयति । तया पित्तंधातुविशेषमौषधादिना तत्र पातयति । तथा वांतं वमनं करोति । तथा दशनान् दंतान् क्षिपति तत्संस्कारं वा कुरुते । तथा विश्रामणांगसंबाधनं कार-यति तथा दामनं बंधनमजादितिरश्चां विधत्ते तथा दंताक्षिन-खगंडनासिकाशिरश्रोत्रछवीनां संबंधिनं मलं जिनगृहे त्यजति तत्र छविः शरीरं शेषाश्च तदवयवा इति प्रथमवृत्तं । तथा मंत्र भूतादिनिग्रहलक्षणं राजादिकार्यपर्यालोचनरूपं वा कुरुते । तथा मीलनं क्वापि स्वकीयविवाहादिकृत्ये निर्णयाय वृद्धपुरुषाणां तत्रोपवेशनं । तथा लेख्यकं व्यवहारादिसंबंधि तत्र कुरुते तथा विभजनं विभागं दायादादीनां तत्र विधत्ते । तथा भांडागारं निजद्रव्यादेर्विधत्ते तथा दुष्टासनं पादोपरि पाद-स्थापनादिकमनौचित्योपवेशनं कुरुते । तथा छाणी गोमयपिंडः कूर्पटं वस्त्रं दालिर्मुद्गादिर्द्विदलरूपा पर्प्पटवटिके प्रसिद्धे । तत एतेषां विसारणं च उद्वापनकृते विस्तारणं । तथा नाशनं नृप-दायादादिभयेन चैत्यस्य गर्भगृहादिष्वंतर्द्धानं तथा आक्रंदं रुदितविशेषं पुत्रकलत्रादिवियोगं तत्र विधत्ते तथा विविधाः कथा रमणीयरमण्यादि-संबंधिनीः कुरुते तथा शराणां बाणानामिक्षूणां च घटनं सरच्छति पाठे तु शराणां अस्त्राणां च धनुः शराणां घटनं । तथा तिरश्चामश्वगवादीनां संस्थापनं तथा अग्निसेवनं शीतादौ सति तथा रंधनं पाचनमन्नादीनां तथा परीक्षणं द्रव्यादीनां तथा नैषेधिकीभंजनमवश्यमेव हि चैत्यादौ प्रविशद्भिः सामाचारीचतुरैर्नैषेधिकी करणीया । ततस्तस्य अकरणं भजन-माशातनेति द्वितीयवृत्तार्थः । तथा छत्रस्य तथा उपानहोस्तथा शस्त्राणां खड्गादीनां चामरयोश्च देवगृहाद्बहिरमोचनं मध्ये वा धरणं तथा मनसोऽनेकांतता नैकाग्र्यं नानाविकल्पकल्पनमित्यर्थः अभ्यंजनं तैलादिना तथा सचित्तानां पुष्पतांबूलपत्रादीनामत्यागो बहिरमोक्षणं तथा त्यागःपरिहरणमजीए इति अजीवानां हाररत्नमुद्रिकादीनां बहिस्तन्मोचनो हि अहो भिक्षाचराणामयं धर्म्म इत्यवर्णबादो दुष्टलोकैर्विधीयते । तथा सर्वज्ञप्रतिमादृष्टौ दृग्गोचरतायां नो नैवांजलिकरणमंजलिविरचनं तथा एकशाटकेन एकोपरितनवस्त्रेण उत्तरासंगभंग उत्तरासंगस्याकरणं तथा मुकुटं किरीटं मस्तके धरंति तथा मौलिं शिरावेष्टेनवि शेषरूपां करोति तथा शिरः शेखरं कुसुमादिमयं धत्ते । तथा हुंडा पारा-पतनालिकेरादिसंबंधिनीं विधत्ते तथा जिडुहत्ति कंदुकः गिंदुका तत्क्षेपिणी चक्रयष्टिका ताभ्यामादिशब्दाद्गलिका कपर्द्दिका-दिभिश्च रमणं क्रीडनं तथा तथा ज्यात्कारेणं पित्रादीनां । तथा भांडानां विटानां क्रिया कक्षा चोदनादिका इति तृतीयवृत्तार्थः । तथा रेकारं तिरस्कारप्रकाशकं रेरे रुद्रदत्तेत्यादि वक्ति । तथा धरणकं रोधनमपकारिणामधमर्णादीनां च तथा रणं संग्राम-करणं । तथा विचरणं बालानां विजढीकरणं तथा पर्यस्तिकाकरणं । तथा पादुका काष्ठादिमयं चरणरक्षणोपकरणं तथा पादयोः प्रसारणं स्वैरं निराकुलतायां । तथा पुटपुटिकादापनं तथा एकंकर्दमं करोति निजदेहावयवक्षालनादिना तथा रजो धूली तत्र पादादिलग्नां । जाट्यति । तथा मैथुनं मिथुनस्य कर्म्म तथा यूकां मस्तकादिभ्यः क्षिपति वीक्षयति वा तथा जेमनं भोजनं तथा गुह्यं लिंगं तस्यासंवृतस्य करणं जुज्जमिति तु पाठे युद्धं दृग्युद्धबाहुयुद्धादि । तथाविज्जत्ति वैद्यकं तथा वाणिज्यं क्रयलक्षणं तथा शय्यांकृत्वा तत्र स्वपिति तथा जलं पर्यस्तत्पानाद्यर्थंतत्र मुंचति पिबति वा तथा मज्जनं स्नानं तत्र करोति । एवमादिकमवद्यं सदोषं कार्यं ऋजुकः प्रांजलचेता उद्यतो वा वर्जयञ्जिनेंद्रालये जिनमंदिरे एवमादिकमित्यनेनेद माह न केवलमेतावत्य एवाशातनाः किंत्वन्यदपि यदनोदितं हसनचलनादिकं जिनालये तदप्याशातनास्वरूपं ज्ञेयं नन्वेवंतंबोलपाणेत्यादिगाच्छयैवाशातनादशकस्य प्रतिपादितत्वाच्छेषा-शातनानां चैतद्दश-कोपलक्षितत्वेनैव ज्ञास्यमानत्वादयुक्तमिदं द्वारांतरमिति चेन्न सामान्याभिधानेति बालादिबोधनार्थं विभिन्नविशेषाभिधानं किं यत एव यथा ब्राह्मणाः समागता वसिष्ठोपि समागत इति सर्वमनवद्यं नन्वेता आशातना जिनालये क्रियामाणा गृहिणां कंचन दोषमावहंति । उतैवमेव न करणीयास्तत्र ब्रूमो न केवलंगृहिणां सर्वसावद्यकरणोद्यतानां भवभ्रमणादिकं दोषमावहंति किं तु निसद्याचाररतानां मुनीनामपि दोषभाव हंतीत्याह । आसाय-णाउ इत्यादि एताः आशातनाः परिस्फुरद्विविधदुःख परंपरा-प्रभवभवभ्रमणकारणमिति विभाव्य परिभाव्य यतयोज्स्नाका-रित्वेन मलमलिनदेहत्वात् न जिनमंदिरे निवसंति । इति समयः सिद्धांतस्तमेव समयं व्यवहारभाष्योक्तं दर्शयति दष्भिगंधेत्यादि । एषा तनुःस्नापितापि दुरभिगंधमलप्रस्वेदश्राविणी तथा द्विधावायुपथोऽधोवायुनिर्गम उत्श्वास निश्वासनिर्गमश्च यद्वा द्विधा मुखेन अपानेन च वायुवहो वापि वातवहनं च तेन कारणेन न तिष्ठंति यततश्चैत्ये जिनमंदिरे यद्येवं व्रतिभिश्चैत्येष्वाशातना-भीरुभिः कदाचिदपि न गंतव्यं । तत्राह तिन्निवाकट्ठुइत्यादि तिस्रः स्तुतयः कायोत्सर्गादनंतरं या दीयते ताः यावत्कर्षति भणतीत्यर्थः किंविशिष्टास्तत्राह त्रिश्लोकिकाः । त्रयः श्लोकाः छंदोविशेषरूपा आधिक्येन यासुतास्तथा सिद्धाणं बुद्धाणमि त्येकश्लोको जोदेवाणवि इति द्वितीयं एक्कोवि नमोक्कारो इति तृतीय शति अग्रेतनगाथा द्वयं स्तुतिश्चतुर्थीगीतार्थाचरणेनैव क्रियते गीतार्थाचरणं तु मूलगणधरमणितमिव सर्वविधेयमेव सर्वैरपि मुमुक्षुभिरिति तावत्कालमेव तत्र जिनमंदिरेऽनुज्ञातमवस्थान यतीनांकारणेन पुनर्धर्म्मश्रवणाद्यर्थमुपस्थितं भविक-जनोपकारा-दिनां परतोपि चैत्यवंदनाय अग्रतोपि यतीनामवस्थानमनुज्ञातं । शेषकाले तु साधूनां जिनाशातनादिभयान्नानुज्ञातमवस्थानं तीर्थंकरगणधरा-दिभिस्ततो व्रति-भिरप्येवमाशातनाः परिहियंते । गृहस्थैस्तु सुतरां परि-हरणीयाइति इयं तीर्थकृतामाज्ञा आज्ञाभंगश्च महतेऽनर्थाय-

संपद्यते यदाहुः (अणाइ चियचरणमित्यादि) दर्श०। तीर्थ-कराशातनाः। वृ०। तत्र तीर्थकरं यथा शातयति तथा-भिधीयते ॥

पाहुडियं अणुमण्णति, जाणंतो किं च भुंजती भोगे ।
थीतित्थपि य वचति, अतिकरकडदेसणायावि ॥

प्राभृतिकां सुरविरचितसमवसरणमहार्यादिपूजालक्षणामर्हन् यदनुमन्यते तन्न सुंदरं । ज्ञानत्रयप्रमाणेन च भवस्वरूपं जानन् विपाकदारुणान् भोगान्निमित्ते भुंक्ते मल्लिनाथस्य स्त्रिया अपि यत्तीर्थमुच्यते । तदतीवासमीचीना अतीव कर्कशा अतीवदुरनुचरा तीर्थकरैः सर्वोपायकुशलैरपि यदि क्षमाकृता साप्ययुक्ता ॥

अण्णंच एवमादी, अविपडिमासुविति लोगमहिताणं।
पडिरूवमकुव्वंतो, पावति पारंचियं ट्ठाणं ॥

अन्येप्येवमादिकं तीर्थकृतामवर्ण्णं भाषंते तथा अपीत्यभ्युच्च ये। त्रिलोकमहितानां भगवतां याः प्रतिमास्तास्वपि यद्यवर्ण्णं भाषंते एतासां पाषाणादिमयीनां माल्यालंकारादिपूजा क्रियते एवं कवन्प्रतिरूपं वा विनयं वंदनस्तुतिस्तवादिकंतासामेव बुद्ध्या अकुर्वन्पारांचिकं स्थानं प्राप्नोति अग्रमहिषी शब्दे ताभिः सहेंद्राः भोक्तुमनीशाः प्रैत्याशातनाभयादित्युक्तम गुरोः १० वृ० ॥ जेभिक्खु भदंतं अण्णयरीए अण्णयरीए अच्चासायाणाए अच्चा-साइए अच्चासायंतंवा साइज्जइ ४ दसासु तेत्तीसं आसायणा भणिता तासिं अण्णतराए आसादणाए आसादेति आङित्युपसर्गो वाचकः षद्लृविसरणगत्य वसादनेषु । गुरुं पडुच्च विणयारणे जं फलतमायं सादेतीति आसादणाः य सो य आसादणा चउव्विहा गाहा ।

दव्वे खेत्ते कालेभावे आसायणा मुणेयव्वा ॥
एतेसिं णाणत्तं वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥३६॥

चउएह दव्वादियाण इमावक्खागाहा ॥
दव्वेआहारादिसु खेत्ते गमणादिएसु नायव्वा ॥३७॥

दव्वे आहारादिएसु सेहेराइणिएण सद्धिंअसणं बाह आहारे माणे तत्थ सेहतराए खट्टंखट्टं आहारेति सेहराणिएण सद्धिं असणं बाहूपडिगाहेत्ता तरातिणियं अणापुच्छित्ता जस्स इच्छेति तस्स खद्धं खद्धं दलति आदिग्गहणाओ वच्छादिया गुरुणो अदंसिया पडिभुंजंति खेत्ते पुरतो पासतो मग्गओ वा आसणं गमणं करेति आदिग्गहणातो चिट्ठणणिसीयणादी आसणं करेति कालंमि विवच्चासाणमसट्ठे एतिण्णियस्स रातो या वि याले वा वाहरणमाणस्स अपडिपुण्णेत्ता भवति ठिएण पडिसुणेयव्वं तस्स पुण विणए अपडिसुणेमाणस्स उस्सत्त भवति तेण वि वच्चासो भवति भावे जं गुरु भणंति तेण पडिवज्जति अपडिवज्जंतेय मिच्छा भवति गाहा ॥

कालंमि बिवच्चासे मिच्छा पडिवज्जणा भावे, काले तु सुणेमाणे अपडिसुणेतस्स होति आसायणा, हितादिफरुसाभावे अंतरभासा य कहणाया ॥ ३८ ॥

कालेत्ति रातो वावियाले वा गुरुणो वाहरें तस्स सुणेंतो वि असुण्णेता वि व अच्छति एस कालासादणा इदाणिं भावासादणां। मिच्छामि पडिवत्तितो भावेत्ति हि सित्ति वत्ता किं तुमं ति वा फरुसं भणति गुरुणोवा धम्मकहं तस्स अंतरभासए सा भावा-सायणा दव्वादिएसु चउसुवि इमो अविणयदोसो गाहा ॥

गुरुपव्वइया आसा-यणा तु धम्मस्स मूलछेदो य ॥
चउपददोसा एते एत्तो वेसेसियं वोच्छं ॥ ३९ ॥

गुरुविनयकरणे कम्मक्खए जो आतोत सादेति अहवा गुरुपव्वतितो णाणाओ आउतं अविणयदोसो ण सादेति न भवतीत्यर्थः । विणओ धम्मस्स मूलं सो य अविणयजुत्तो तस्स छेदं करेति । अहवा धम्मस्स मूलं सम्मत्तं गुरुआसायणा एतस्स छेदं करेति दव्वादिएसु चउसु वि एते सामण्णतो दो सा भणियाएत्तो एक्के, क्कस्स वि वेसेसेण भणामि ॥

सच्चित्तखट्टकारग, अविकडणमदंसणे भवे दोसो ॥
इंगाल अविवितेणि, गलगुत्तूढातिसेसे तु ॥ ४० ॥

गुरुणो अणालोतियं अपडिदेसियं वा जइ भुंजति ता इमे दोसा सचित्तं फलकंदादी भुंजेज्ज अतिप्यमाणे वा भुंजेज्ज तं अजरिं तं हादेज्ज व मारेज्जसरीरस्स वा अकारगं भुंजेज्ज तेण से वाही भुंजेज्ज अतिप्पमाणे वा भूंजेज्ज तं अजीरंतं महादेज्ज व मारेज्ज व सरीरस्स वा अकारगं भुंजेज्ज तेण सेवा ही भंजेज्ज इंगालसधूमं वा भुंजे अविधीए वा भुंजे सुरु सुरं चेव चउ अंविलंबित स परिसा-डिमणवयणकाएसु वा गुत्तो भुंजे सचित्तविहालोयवज्जित्ते तणीयं भवति । ठाणादिसयणा सणयावणा य गुरुभावे सत्तविहो आलोगो, सत्ता वि जयण सुविहियाणं सेसुत्तिराशणिएण सद्धि खद्धं डायं १२ रसिय ३ मण्णुण्णं इत्यादिगलएलाजेज्या तुरिए अतिप्पमाणेणं वा कवले उबूढे आयराहणा। दिया दोसा सव्वासादणा गता । इदाणिं खेत्तासादणा दोसा गाहा ॥

घट्टणरेणुविणासे, तिपास भावणभवे पुरतो ।
खेत्ते कालग्गलिते गिलाणअमुणेत अधिकरणं ॥४१ ॥

आसण्णं गच्छंतस्स गुरुणा संघट्टणा भवति पादुट्टियरेणुणा य वत्थुविणासो भवति सो जति पासतो वामतो दाहिणतो मग्गतो य पुरतो गच्छतओ भावणा आयरियस्स एसक्खेत्तासा दणा गता इमे कालगतो वियालेव पिलिज्जति आयरियस्स वहरतस्स अपडिसुणेमाणस्स सीसस्सा गिलाणविराहणा हवे उवकरण दाहो वा अजंगमो वा आयरिओज्जे अपडि सुणेमाणो वा अणेण। साहुणा भणितो कीस । अकण्णासुएण अच्छसित्ति उत्तरादुत्तरेण अधिक रणसंभवो कालासादणा गता ॥

इदाणिं भावासायणा गाहा

साहादीण अवण्णा, परउत्थियगंमपरिभवो लोए ।
भावासायणएसा, संममणाउदृणा चेव ॥४२ ॥

सेहादिणो विचिंतेज्ज जहा एते अम्हं जेट्ठतरा आयरियस्स वज्झां करोति तहा णज्जति णूण एसपतितो ते विसेहा अवज्ञां करेज्ज एवं ससिस्सेह परिभूतो परितित्थियाण विगम्मो भवति लोगो य परिभूतो भवति एते भावासादणा दोसा गुरुणो उपदेसपदाणे समणा उट्ठंतस्स भावादसाणा चेव मिच्छा पडिवज्जणा भवति । अस्य व्याख्या । गाहा ।

मिच्छापडिवत्तीए जे भावा जत्थ होंति सब्भूया ।
तेसु व तहं पडिवज्जणा य आसायणा य तम्हा ॥४३॥

मिहा अढंतं प्रतिपादनं प्रतिपत्तिःजत्थेत्ति दव्वादिएसु जीवादिपदेसु हा सुत्तज्जयणसुयक्खधेसु वा सब्भूया जे जिणपण्णत्ताभावा ते गुरु अयाणंतो परिसामज्जे पण्णवेति तत्थ

उवदेसा सीसो तुण्हिक्का अच्छति जाह उट्ठिवक्खाणाओ ताह सीसे एगंते गुरुणो सब्भावं सहति अह सीसो तेसु पदत्थेसु परिसामज्जे चेव वितहपडिवज्जणा एत्थ वुत्ताणं करिज्जा ताहे अविणयो भवति । अविणयपडिवत्तीए य तम्हा आसायणा भवति । अहवा परिसामज्जे गुरू चोदितो वितहपडिवज्जणं करोति न सम्यक् प्रतिपद्यत इत्यर्थः । तम्हा सीसस्स आसायणा भवति अहवा गुरू जाणंतो चेव अण्णहा अत्थपंण्णवेति मा परप्पवादी दोसं गेण्हेज्ज जहा सव्वस्स केवलिस्साजुगवंदो णत्थि उवओगा एगो प्रयोगप्रतिपादनमित्यर्थः । तहसेहतराए तोजाणति जहा अवसिद्धंतं पण्णवेत जतिवितहपडिवज्ज तिआसादणा सेहस्स चोदगाहा जमत्थं आयरिओ ण याणति तमत्थं सीसो कहं जाणति भण्णति । गाहा ॥

जंगारणगारत्ते सुतंतु, सहसंमुतं तजं किंचि ।
तं गुरुअं णह कहणे, णेव मिदं छपाडिवत्ती ॥४४॥

भंतेण सेहतराएण गिहत्थत्तणे सुएल्लयं अणगारत्ते वा अणतो सुयं अप्पणो वाहिंतं तं गरुस्स अण्णहा कहिंतस्स सो भणेज्जा ण एयं भवमिच्छापडिवत्तिओ आसादणा भवति । गाहा ॥

एवं भणतो दोसा, इमं सुतं वण्णं हिमए एवं ।
सब्भूयमसब्भूए, एवं मिच्छाउ पडिवत्ती ॥४५॥

एवं गुरुपडिकूलं भणतो आसादणा दोसो भवति अहवा सीसो गुरू भणइ तुज्ज एवं पन्नवितंस्स समयविहारणा दोसो भवति मम एयं सुयं अण्णायरियसमीवे एवं पण्णविज्जंते समयविराहणा दोसो न भवति एवं सीसस्स सब्भूयमसब्भूयं एवापरिसामज्जे मिच्छा पडियत्तिओआसा-यणाभवति । गाहा ।

वितियं पढमे ततिए, य होति गेलण्णपकज्जमादीसु ।
अद्धाणादी वितिए, ओसण्णादी चउत्थंमि ॥४६॥

वितियत्ति अववायपदं पढमेत्ति दव्वासायणा ततिएत्तिकाला-सादणा वितिएत्ति अद्धाणादिसु खेत्तासादणा चउत्थित्ति उस आदिसुद्धियस्स तत्थ पढमतत्तियत्ति मेलणं पटुच्च वितियपदं भवति । गहा ।

होज्ज गुरु गिलाणो, अपत्थदव्वं व से इट्ठं ।
अवगडमंदसितं वा, भुंजे खद्दंचगेहेज्ज ॥४७ ॥

गुरुं गिलाणो तस्स य जं अपत्थदव्वं तं लद्धं ताहे त अवियडितं अदंसियं वा सभुंजे अण्णस्स वा अणापुच्छाए खट्वं दलयत्ति मासोरा तिण्णिओ सयं भुजिहित्ति एवं गुरुरक्खणट्ठा अविणयं पि करेंतो सुद्धो ॥ गाहा ॥

कंठाइ साहणट्ठा अथ, बंभट्ठावलीणो अट्ठाणे ।
संवाधुवस्सए वा, विस्सामगिलाणछेदसुए ॥४८ ॥

खेत्तासादणं पडुच्च अवत्तो भण्णति अट्ठाणे कंदासादणट्ठा पुरतो गच्छति विसमे वा अवलबट्ठापासतो अल्लीणो गच्छति गिलाणस्स वा अवट्ठंभणट्ठा अल्लीणो अच्छति बाहुस्सएया आसणट्ठिओ अच्छति गच्छति वा आयरियस्स वा विस्सामणं कारंतो आसण्णं चिट्ठति संघट्टेति वा गिलाणस्स उव्वत्तणादी करेंतो संघट्टणादी करेति अण्णंवा चिट्ठति । यसुयंवा वक्खाणंतो अप्पसद्दं वक्खाणेति मा अपरिणया सुणेहिंति ताहे सोतारा आसणं ठविज्जंति इमकोलाववादो गाहा ॥

कालेगिलाणवावडसेहस्स वसारियं भवे वाहिं ।
संवाधुवस्सए वा अहिकरणादी इमा दोसा ॥४९॥

राओ वा दिया वा गिलाणवावडो गुरुस्स वाहरंतस्स ण देज्ज सद्दं सेहस्स वा सागारियं वोहिं अंतोहिंतो सुणेंता विसट्टणादज्झमासण्णायगासरं पच्छभिजाणित्ता उप्पवाहिंति सा हुहिं वा ओतप्रोतं संवाहुस्स एयासज्झं अलभंतो उल्लप्पिउं वयंतस्स अधिकरणादी दोसा भविस्संति तम्हा आयरिओ सणियं वा हरति तं च असुणंतो तुसिणीओ सुद्धो अधिकरणदोसभया वा तुसिणीओ अज्झति तहावि सुद्धो गाहा ।

उल्लावं तु असत्तो दाउं गिलाणो तहेव उट्ठेउं ।
तुसिणी तत्थगओ वा सुणेज्ज सो वाहरंतस्स ॥५० ॥

वावाहरंतस्स गुरुस्स गिलाणो उल्लावं दाउमसत्तो गिलाणो तुसिणीओ । अत्थेज्जउ वा आसत्तो तत्थ गतो पडिसुणेज्ज शब्दं ददातीत्यर्थः ।

इदाणीं भावस्स अववादो भण्णति गाहा ।

वणतिरहे जइ एवं हवेज्ज णिद्दोसमिहरहा दोसा ।
तुज्जे वि ताव ऊहह भणतिपगासे वि दढमूढे ॥५१॥

सेहतराएण आयरिओ परि सामज्जेण वत्तव्यो जहा तुमं पण्णवेसि एवं ण भवतित्ति तो कहिं तेण भाणियव्वं उच्यते जहा हं पण्णवेति जति एवं भण्णति तो णिद्दोसं इहरहा जहा तुमं पण्णवेह एवं समयविराहणा दोसो भवति तुब्भेवि मयाभिहितं अत्थं जहह किं घडतिण घडतीति तावशब्दः परिमाणवाचकः जहा इमेण भे पहेण गंतव्वं जावंति तं दव्वं एव इणमत्थं पुव्वावरेण ताव ऊहह जा भवे अभिगओ अहवा पादपूरणे वा दढं जो मूढो भूतत्थं पडिवज्जंतो पगासं परिसामज्जेवि भण्णति ओसणादी चउत्थंमि ॥ अस्स व्याख्या गाहा ।

विरहुत्तमट्ठायंतं उसण्णं भणति परिसमज्जेवि ।
णेवि जाणसि हित्ता वडपडियं किं भवे तेणं ॥ ५२ ॥

ओसण्णो आयरिओ विरहे एगंते वहु भणितो सागारवविरमाहित्ति अट्ठायंतो अविरमंतेत्यर्थः । परिसामत्थे वि भण्णति ण याणसि तुमं हि तवा अहियवाडणडपडितेण वा किं तुज्जे पण्णं पादेहिं वा संघट्टिज्जति जेण सो अवमाणितो चिंतेत एते मंदे वयमिव पेक्खंता इदाणिं म उसण्णदोसेण दोसमिव पासंति । तंण एतेसिं दोसो नामज्जदोसो उज्जमामि । नि० चू० उ० १० । द० अ० ७ उ० १

तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ता तंजहा सेहे राइणिअस्स पुरओ गंता भवइ आसायणा सेहस्स ॥१॥ सेहे राइणियस्स सपक्खं गंता भवइ आसायणा सेहस्स ॥२॥ सेह राइणियस्स आसायणा सेहस्स ३ एवं एएणं अभिलावेणं सेहे राइणियस्स पुरओ । चिट्ठित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ४ सहे राइणि-यस्स सपक्खं चिट्ठित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ५ सेंहे राइणियस्स आसण्णं चिट्ठिता भवइ आसायणा सेहस्स ६ सेहे राइणियस्स पुरओ निसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ७ सेहे राइणियस्स सपक्खं निसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ८ सेहे राइणियस्स आसण्णं निसीइत्ता भवइ आसायणासे हस्स ९ एवं एएणं अभिलावेणं सेहे

राइणिएणं सद्धिं वहिया विहारभूमिं निक्खंते समाणे तत्थ पुव्वामेव सीहतराए आयामइ पच्छाराइणिए आसायणा सेहस्स १० सेहे राइणिएणं सद्धिं बहिया विहारभूमिं वा निक्खंते समाणे तत्थ पुव्वामेव सीहतरा ए आलोइए पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स ११ सेहे राइणियस्स राओ वा विआले वा वाहरमाणस्स अज्जो के सुत्ते के जागरे तत्थ सेहे जागरमाणे राइणियस्स अप्पडिसुणेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स १२ सेहे राइणियस्स पुव्वं संलवित्तए तं पुव्वामेव सीहतराए आलवइ पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स १३ सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहित्ता तं पुव्वामेव सीहतराए गिहस्स आलोएइ पच्छा राइणियस्स आसायणा सेहस्स १४ सेहे असणं वा ० ४ ॥ पडिगाहित्ता पुव्वामेव सीहतराए गिहस्स पडिदंसेइ पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स १५ सेहे अस णंवा० ४ पडिगाहित्ता पुव्वामेव सीहतराए अन्नस्स उवणिमंतेइ पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स १६ सेहे राइणिएणं सद्धिं असणं वा ४ पडिगाहित्ता तं राइणियं अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खद्धं २ दसयइ आसायणा सेहस्स १७ सेहे राइणिएणं सद्धिं असणं वा ४ आहारेमाणे तत्थ सेहे खद्धं खद्धं डायं डायं रसियं रसियं उसंढ उसढं मणुण्णं मणुण्णं मणामं मणामं निद्धं निद्धं लुक्खं लुक्खं आहारेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स १८ सेहे राइणियस्स बाहरमाणस्स अप्पडिसुणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स १९ सेहे रायणियं खद्धं खद्धं वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स २० सेहे राइणियं किं वइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स २१ सेहे राइणियं तुमं इइवत्ता भवइ आसायणा सेहस्स २२ सेहे रायणियं तज्जाएणं तज्जायं पडिभणित्ता भवइ आसायणा० २३ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स नो सुमिणे भवइ आसायणा सेहस्स २४ सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्य नो सरसि एवं वत्ता भवइ आसायणा० २५ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स कहं आछिंदित्ता भवइ आसायणा सेहस्स २६ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स परिसंभित्ता भवइ आसायणा सेहस्स २७ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स तीसे य परिसाए अणु-ट्ठिआए अभिन्नाए अवोच्छिन्नाए अवोगडाए दोच्चं पि तच्चं पि तामेव कहं कहेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स २८ सेहे राइणियस्स सेज्जासंथारगं पाएणं संघट्टित्ता हत्थेणं अणुण्णवेत्ता गच्छइ आसा० २८ सेहे राइणियस्स सेज्जासंथारए चिट्ठित्ता वा निसीइत्ता तुयट्टित्ता वा भवइ आसायणा सेहस्स ३० से हे रायणियस्स उच्चासणं सिवा ३१ समासणं सिवाचिट्ठित्ता वा निसीइत्ता वा तुयट्टित्ता वा भवइ आसायणा सेहस्स ३२ सेहे राइणियस्स वाहरमाणस्स तत्थ गए चेव पडिसुणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥३३॥

टी० ॥ अथ त्रयस्त्रिंशत्तमस्थानकं तत्र आयः सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्य शातनाः खण्डना निरुक्तादाशातनास्तत्र शैक्षोऽल्पपर्यायो रात्रिकस्य बहुपर्यायस्य आसन्नमासत्तिर्य था रजोंचलादिस्तस्य लगति तथा गन्ता भवतीत्येवमाशातना शैक्ष्यस्येत्येवं सर्वत्र (पुरओत्ति) अग्रतो गंता भवति (सपक्खत्ति) समानपक्षं समपार्श्वं यथा भवति समश्रेण्या गच्छतीत्यर्थः । (चिट्ठत्ति) स्थाता आसिता भवति यावत्करणाद्दशाश्रुत-स्कन्धानुसारेणान्या इह द्रष्टव्यास्ताश्चैवमर्थतः आसन्नपुरः पार्श्वतः स्थानेन तिस्रोऽत्र निषीदनेन च तिस्रः तथा विचारभूमौ गतयोः पूर्वतरमाचमतः शैक्षस्याशातना १० एवं पूर्वं गमनागमनमालोचयतः ११ तथा रात्रौ को जागर्तीति पृष्टे रात्रिकेन तद्वचनमप्रतिशृण्वतः १२ रात्रिकस्यापूर्वमालपनीयं कंचन अवमस्य पूर्वतरमालपतः । १३ अशनादिलब्धमपरस्य पूर्वमालोचयतः ॥१४॥ एवमन्यस्योपदर्शयतः ।१५। एवं निमंत्र यतः ।१६। रात्रिक्रमनापृच्छ्याऽन्यस्मै भक्तादि ददतः ।१७। स्वयं प्रधानतरं भुंजानस्य ।१८। क्वचित् प्रयोजने व्याहरतो रात्रिकस्य च वा प्रतिशृण्वतः ।१९। रात्रिकम्प्रति तत्समक्षता वृहता शब्देन बहुधा भाषमाणस्य ।२०। व्याहृतेन मस्तकेन वन्दे इति वक्तव्ये किम्भणसीति ब्रुवाणस्य ।२१। प्रेरयति रात्रि के कस्त्वं प्रेरणायामिति वदतः ।२३। आचार्यग्लानं किं न प्रतिचरसीत्याद्युक्ते त्वं किं न तं प्रतिचरसीत्यादि भणतः ।२३। धर्म अर्थयति गुरावन्यामनस्कतां भजतोऽनुमोदयति इत्यर्थः ।२४। कथयति *गुरौ न स्मरसीति वदतः ।२५। धर्मकथामाच्छिदतः ।२६। भिक्षावेला* वर्त्तते इत्यादि वचनतः पर्षदं भिंदानस्य ।२७। गुरुपदभेदोनुत्थितायास्तथैव व्यवस्थिताया धर्मकथयतः ।२८। गुरोः संस्तारकं पादेन घट्टयतः ।२९। गुरोः संस्तारके निषीदतः ।३०। उच्चासने निषीदतः ।३१। समासनेऽप्येवं ।३२। त्रयस्त्रिंशत्तमा सूत्रोक्ता च रात्रिकस्यालपतस्तत्र गत एवासनादिस्थित एव प्रतिशृणोति आगत्य हि प्रत्युत्तरं देयमिति शैक्षस्याशातनेति । सम० ३३ स० । दशा० ।

अहवा अरिहंताणं आसायणाइ सज्झाए किंचि । नाहीअं जा कंठसमुद्दिट्ठा तितीसासायणाओ गाथाद्वयं सं० व्या० । आसायणा समत्ता समत्ता व सा पडिक्कमणसंगहणी । अत्रपदं । अरिहंताणं आसायणाए सिद्धाणं आसायणाए आयरियाणं आसायणाए उवज्जायाणं आसायणाए साहूणं आसायणाए साहुणीणं आसायणाए सावयाणं आसायणाए सावियाणं आसायणाए देवाणं आसायणाए इह लोगस्स आसायणाए परलोगस्स आसायणाए केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए सदेवमणुआसुरस्स लोगस्स आसायणाए सव्वपाणभूअजीवसत्ताणं आसायणाए कालस्स य

आसायणाए सुअस्स आसायणाए सुअदेवआए आसायणाए वायणायरिअस्स आसायणाए जंवाइद्धं वच्चामे लियं हीणक्खरं अच्चक्खरं पयहीणं विणयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुट्ठुदिन्नं दुट्ठु पडिच्छियं अकाले कओ सिज्जाओ काले न कओ सिज्जाओ असज्जाइयं ॥

सांप्रतं सूत्रोक्ता एव त्रयस्त्रिंशद्व्याख्यायंते । तत्र अरहंताणं आसायणाए अर्हतां प्राङ्निरूपितशब्दार्थानां संबंधिन्या आशा तनया यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति क्रिया एवं सिद्धादिपदेष्वपि योज्येति इत्थं चाभिदधता-महंतामाशातना भवति ॥

नत्थि अरहंतत्ति जाणंतो कीस भुंजई भोगे । पाहुडियं उवजीयं एव वदं उत्तरं इणमो ॥ १ ॥ भोगफलनिवत्तिय पुन्नपगडीए मुदयवाहल्ला । भुंजइ भोए एवं पाहुडियाए इम सुणसु ॥२ ॥ णाणादिणुरोधक अघातिसुहपायवस्स वेदाए । तित्थंकरनामाए उदया तह वीयरागत्ता ॥ ३ ॥ सिद्धाणं आसायणाए (सिद्धानामाशातनया क्रियापूर्ववत्) सिद्धाणं आसायणा एंव भणतस्स होइ मुट्ठस्स । णत्थिणि चेट्ठा वासइ वावी अहव उवओगे ॥ ४ ॥ रागदोसा धुवत्ति तहेव अन्नन्नकालमुवओगे । दंसणनाणाणं तू होइ असव्वन्नुया चेव ॥५ ॥ अन्नोन्नावरणाहव एगत्तव्वं वा वि नाणदंसणओ । मन्नति न वा एएसिं दोसो एगो वि संभवइ ॥६ ॥ अत्थित्ति नियमसिद्धा सद्दाओ चेव गम्मए एवं । नच्चेट्ठा वि भवंति विरियक्खयओ न दोसो हु ॥७ ॥ रागदोसा न भवे सव्वकसायाण निरवसेसखया । जियसा भव्वाण जुगवमुवओगे ण य मया ओय ॥ ८ ॥ न पि हू आवरणाओ दव्वेट्ठिय वा मएणं पु- रागत्तं वा भवति दंसणनाणादोन्नं पि ॥ ९ ॥ णाणछदंसणणए पडुच्च णाणं तु सव्वमेव । दंसव्वं छदंसणं तीएम सव्व न्नुया का हु ॥१० ॥ सणयं व पडुच्चागवायं वओगे दोन्नं पि । एवमसव्वन्नुत्ता दोसोएसो न संभवइ ११ आयरियाणं आसायणाए आचार्याणामाशातनया क्रिया पूर्ववत् आसातना तु । महरो अकुलीणोत्ति य दुम्मोहो दमगमंदबुद्धिया । अवियप्पला भलद्धिसीसो परिभवइ आयरियं १२ अहवा विवए एवं उवएसपरस्स देंति एवं तु । दसविहवेयावच्चे कायव्वं सयं न कुव्वंति १३ डहरो विन्नाण-बुड्ढो आकुलिणोत्ति य गुणालिओ किहणु । दुम्महादीणि वि ते भणंत संताइ दुम्मे हा १४ जाणंति न वि य न एवं निद्धम्मा मोक्खकारणं णाणं । निच्चंपचासयता वेयावच्चादि कुव्वंति १५ उवज्जा याणमासायणाए उपाध्यायानामाशातनया क्रिया पूर्ववत् आशातनापि साक्षेपपरिहारा यथाचार्य्याणां नवरं सूत्रप्रदा उपाध्याया इति । साहूणं आसायणाएत्ति साधूनामाशातनया क्रिया पूर्ववत् । जो सुणियसमयसारो साहु समुट्ठिस्स भासए एवं । अविसहणा तुरियग्गा ते भंडणं काउं च तह चेव १६ पाणसुणया व भुंजंति एगत्तो तह वि रूवनेवत्था । एमादिवयदवन्नं मूढो न सुणेइ एयं तु १७ अविसहणादिसमेया संसार सभावजाणणा नेव । साहू थो वजसाया जओ य भुंजंति एगओ तह वि १८ रूवण वत्थं एवंमादिवयदुवणं मुट्ठणेति एयं तु । अविसहणादिसमया संसारसहावजाणणा णेव साधुथोवकसाया जओ य भुंजंति ते तहवि १९ साहुणीणं आसायणाए ।

साध्वीनामाशातनया क्रिया पूर्ववत् । आशातना ।

कलहिणिया बहुउवही अह वा वीसमणुवदवा समणी गयाणियापुत्तभंडा दुमवल्लिजस्स सेवालो ॥२० ॥

अत्रोतंर ।

कलहेत्ति णेवणाउण कसाए कम्मबंधए पएति ।

संजंलणाण सुदयु ईर्सि कलहे वि को दोसो २१ उवही बहुविकप्पो बंभव्वयरक्खणत्थमत्तासि । भणिओ जिणेहि जम्हा तम्हा उवहंमिणो दोसो २२ समणाण णेयएया उबद्दाथदो सम्ममापुसरंताण । आगेमचिहिमहत्थजिणवयणसमाहि-अप्पाणं २३

सावगाण आसायणाए । श्रावकाणामाशातनया क्रिया तथैव जिनशासनभक्ता गृहस्थाः श्रावका भण्यंते । आशातना तु लद्धूण मणुस्सत्तं णाऊण वि जिणमयं ण जे विरतियमिवजंति कहंते धणोवुच्चंति लोगम्मि । सावगसुत्तासायणमिच्चुत्तरकम्मपरिण-श्वसेण जइ वि पवज्जंति णति तह वि वण्णतिमग्गट्ठिया । सम्यग्दर्शनादिमार्गस्थितत्वेन गुणयुक्तत्वादित्यर्थः । साविगाणं आसायणाए श्राविकाणामाशातनया, क्रियाक्षेपपरिहारौ च पूर्ववत् देवाणं आसायणाए देवानामासातनया क्रिया तथैव आशातना ॥

कामपसत्ता विरतीए, वज्जिया अणमिसा य णिच्चेट्ठा ।
देवा सामत्थं मिविणय, तित्थस्सुण्णतिकरा य ॥

एत्थ पसिद्धि मोहणि, यसायवेयकम्मउदयायो ।
कामपसत्तविरति, कंमोदयउव्विणयत्तेसिं ॥

अणमिसदेवसभावा णिच्चेट्ठा अणुत्तरा कियकिच्चा ।
कालणुभावाति छुण्णपिअणत्थ कुव्वंति ॥

देवीणं आसायणाए देवीनामशातनया क्रियाक्षेपपरिहारौ च प्राग्वत् इह लोकस्याशातनया क्रिया पूर्ववत् इहलोको मनुष्यलोकः आशातना तस्य वितथप्ररूपणादीति । परलोगस्स आसायणाए परलोकस्याशातनया क्रिया प्राग्वत् । परलोको मनुष्यस्य नारकतिर्यगमराः आशातना त्वस्य वितथ-प्ररूपणादिनैव द्वितयेप्या क्षेपपरिहारौ च स्वमत्या कार्य्यौ केवलिपन्नत्तस्य धम्मस्स आसायणा केवलिप्रज्ञप्तस्य धर्म-स्याशातनया क्रिया प्राग्वत् स च धर्म्मो द्विविधः । श्रुतधर्म्म-श्चारित्रधर्म्मश्च आशातना तु ॥

पागयभासा निबद्धं को वा जाणइ पणीयं केणेयं ।

किं वा चरणेणं तू दाणेण विणाउ भव इत्ति ॥
उत्तरं ।
बालस्त्रीमूढमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणां ।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धांतः प्राकृतः कृतः ॥
निपुणधर्मप्रतिपादकत्वाच्च सर्वज्ञप्रणीतत्त्वमिति चरणमा-श्रित्याह।
दानमौरविकेणापि चंडालेनापि दीयते ।
येन वा तेन वा शीलं न शक्यमभिरक्षितुं ॥
दानेन भोगानाप्नोति यत्र तत्रोपपद्यते ।
शीलेन भोगान् वर्गं च निर्वाणं चाधिगच्छति ॥
तथाभयदानं दाता चारित्रवान्नियमत एवेति । सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स आसायणाए सदेवमनुष्यासुरस्य लोकस्याशा तनया क्रिया प्राग्वत् । आशातना तु वितथप्ररूपणादिना आह च भाष्यकारः ।
देवादीयं लोयं विवरीयं भणइ सत्तदीवुदहिं ।
तह कयपयावदीणं पगतिपुरिसाण जोगे वा ॥
अत्रोत्तरं ।
सत्तसु परमियसत्ता मोक्खसुन्नत्तणं पयावइणा ।
केण कओ तणपच्छा पयईए कहं पवत्तित्ति ॥१॥
जेय चेयणेति पुरिसत्थनिमित्तं किल वयपवत्तत्ती सा य तीसे चिय अपत्तिपरोत्ति सव्वंचिय विरुद्धं सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं । आसायणाए सर्वप्राणिभूतजीवसत्त्वानामाशा तनया क्रिया प्राग्वत् । तत्र प्राणिनो द्वींद्रियादयः व्यक्तोच्छ्वासनिश्वासा अपि भूयो भवति भविष्यंति चेति भूतानि पृथिव्यादयः जीवंतीति जीवा आयुष्ककर्मा तु तव युक्ताः सर्व एवेत्यर्थः सत्त्वाःसांसारिक-संसारातीतभेदाः एकार्थिका वा ध्वनय इति आशातना तु विपरीतप्ररूपणादिनैव तथा ह्यंगुष्ठपर्वमात्रो द्वींद्रियाद्यात्मेति पृथिव्यादयस्त्वजीवा एव स्यंदनादिचैतन्यकार्य्यानुपलब्धेर्जीवाः क्षणिका इति सत्त्वाः संसारिणः अंगुष्ठपर्वमात्रा एव भवंति संसारतीताः नश्यंत्येवापि तु प्रध्यातदीपकल्पोपमो मोक्ष इति । उत्तरं देहमात्रेणैव सुखदुः खादि तत्कार्य्योपलब्धेः पृथिव्यादीनां त्वल्पचैतन्यत्वात्तत्का-र्य्यानुपलब्धिर्नाजीवत्वादिति जीवा अप्येकांतक्षणिका न भवंति निरन्वयनाशे उत्तरक्षणस्यानुपपत्तेः निर्हेतुकत्वादेकांतनष्टस्यासद्-विशेषात् सत्वाः संसारिणः प्रत्यक्षा एव संसारातीता अपि विद्यंत एवेति जीवस्य सर्वथा विनाशाभावात्तथा तैरप्युक्तं । नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपिदृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः'' इत्यादि । कालस्य य आसायणाए ''कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालोहि दुरतिक्रमः'' इत्यादि कालोऽस्ति तमंतरेण बकुलचंपकादीनां नियतः पुष्पादिप्रदानभावो न स्यात् न च तत्परिणतिर्विश्वं एकांतनित्यस्य परिणामानुपपत्तेः । ''सुयस्स आसायणाए'' । श्रुतस्याशातनया क्रिया पूर्ववत् आशातना तु ॥
को आउरस्स कालो, मइलंवरधोव्वणे व कालो अ ।
जइ मोक्खहेतुनाणं, को कालो तस्य कालो वा ॥
इत्यादि उत्तरं ॥
जोगो २ जिणसासणंमि दुखक्खयो पउज्जत्ता ।
अन्नोन्नमवाहंतो अव्वत्तो होइ कायव्वो ॥

प्राग्धर्मद्वारेण श्रुताशातनोक्ता इह तु स्वतंत्रश्रुतविषयेति न पौनरुक्त्यं । सुयदेवयाए आसायणाए श्रुतदेवताया आशातनया क्रिया प्राग्वत् आशातना तु श्रुतदेवता सा न विद्यते अकिंचित्करी वा न ह्यनधिष्ठितो मौनींद्रः खल्वागमः अतोऽसावस्ति न वा किंचित्करी तामालंब्य प्रसस्तमनसः कर्मक्षयदर्शनात् (वायणारियस्स आसायणाए) वाचनाचार्य्यस्याशातनया क्रिया प्राग्वत् । तत्र वाचनाचार्य्य उपाध्यायस्संदिष्टो य उद्देशादिकं करोति आशातना त्वियं निर्दुःखसुखप्रभूतं वा वंदनं । दापयति उत्तरं तु श्रुतोपचारः एष क इव तस्यात्र दोष इति । ''जंवाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरियं अच्चक्खरिय-पयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुट्ठुदिन्नं दुट्ठुपडिच्छियं अकाले कओ सज्जाओ काले न कओसज्जाओ असज्जायं सज्जाइयं सज्जाए न सज्जायंति एए चउद्दशसुत्ता पुविल्लयाय एगूणवीसंतिएते तेत्तीसमासा-यणस्थवन्ति'' एतानि चतुर्दश सूत्राणि श्रुतकलापकगोचरत्वान्न पौनरुक्तभाजीनीति तथा दोषदुष्टं श्रुतं यत्पठितं तद्यथा आविद्धं विपर्यस्तरत्नमालावदनेकप्रकारेण या आशातना तथा हेतुभूतया योऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमितिक्रिया एवमन्यत्रापि योज्या व्यत्याम्रेडितं कोलिकपायसवत् हीनाक्षरं अक्षरन्यूनं अत्यक्षरं अधिकाक्षरं पदहीनं पादेनैव हीनं अकृतोचितविनयं घोषहीनं उदात्तादिघोषहिरतं योगहीनं सम्यक्तयोपचारं सुष्ठु दत्तं गुरुणा दुष्ठु प्रतीतं कलुषितं तरात्मनि अकाले कृतस्वाध्यायो यो यस्य श्रुतस्य कालिकादेरकाल इति कालेन कृतः स्वाध्यायः यो यस्यात्मीयोध्यनकाल उक्त इति अस्वाध्यायिके स्वाध्यायितं । आव० ४ अध्य ॥ आत्मानं परवानाशातय-दिति । २ । आचा० ।

अणुवीइभिक्खुधम्ममाइक्खमाणो णो
अत्ताणं आसाइज्जा णो परं आसाएज्ज णो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं आसाएज्जा से अणासायए अणा-सायमाणे व उज्जमाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीवे एवं से सरणं भवति महामुणी ।

टी०॥ अतस्तेषां क्षांत्यादिकं दशविधं धर्मं यथत्योगं प्रागुपन्य-स्तं शांत्यादिपदाभिहितमनुविचिंत्य स्वपरीयभिक्षणशीलो भिक्षुर्धर्म्मकथा-लब्धिमानाचक्षीत प्रतिपादयेदिति यथा च धर्मं कथयेत्तदा (अणुवीइ भिक्खुमा) इत्यादि यावत् भवति सरणं (महामुणित्ति) स भिक्षुर्मुमुक्षुरनुविचिंत्य पूर्वापरेण धर्म्मं पुरुषं वालोच्य यो यस्य कथनयोग्यस्तं धर्म्माचक्षाण आङिति मर्यादया यथानुष्ठानं सम्यग्दर्शनादेः शातना आशातना तयात्मानं नो आशातयेत्तथा धर्म्माचक्षीत यथोन्मनआशातना न भवेद्यदिवात्मन आशातना द्विधा द्रव्यतो भावतश्चद्रव्यतो यथाहारोपकरणादेर्द्रव्यस्य कालातिपातादि-कृताशातना बाधा न भवति तथा कथयेदाहारादिद्रव्यबाधया च शरीरस्यापि पीडा भावाशातनारूपा स्यात् कथयतो वा यथा गात्रभंगरूपा भावाशतना न तस्य स्यात्तथा कथयेदिति । तथा नापरं शुश्रूषुः आशातयेत् यत्तः परो हीलनया कुपितः सन्नाहारोपकरण-शरीरान्यतरपीडायै प्रवर्त्तताऽतस्तदाशातनां वर्ज्जयन् धर्म्मं ब्रूयादिति । तथा नान्यान्वासामान्येन प्राणिनो भूतान् जीवान् नो आशातयेद्वाधयेत एवं स मुनिः स्वतोऽनाशातकरैरनाशातय-न् तथा परानाशातयतोऽनुमन्यमानोऽपरेषां बध्यमानानां प्रा-णिनां भूतानां सत्वानां जीवानां यथा पीडा नोत्पद्यते तथा धर्मं

कथयेदिति तद्यथा यदि लौकिककुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिदानानि प्रशंसत्यवटतडागादीनि वा ततः पृथिवीकायादयो व्यापादिता भवेयुरथ दूषयति ततोऽपरेषामंतरायापादनेन तत्कृतो बंधविपाकानुभवः स्यादुक्तं च ।

जे उ दाणं पसंसन्ति वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे उ णं पडिसेहेंति वित्तिच्छेयं करंति ते ॥

तस्मात्तदवटतडागादिविधिप्रतिषेधव्युदासेन यथावस्थितं दानं शुद्धं प्ररूपयेदसावद्यानुष्ठानं चेत्येवं च कुर्वन्नुभयदोषपरिहारी जंतूनामाश्वासभूर्भवतीत्येतत् दृष्टांतद्वारेण दर्शयति यथा सौद्वीपो संदीनः शरणं भवत्येवमसावपि महामुनिः तद्र क्षणोपायोपदेशतः बध्यमानानां बधकानां च तदध्यवसायान्नि वर्त्तते न विशिष्टगुणस्थानापादनाच्छरण्यो भवति तथा हि यथोद्दिष्टेन कथाविधानेन धर्मकथां कथयन् कांश्चन प्रव्राजयति कांश्चन श्रावका-न्विधत्ते कांश्चन सम्यग्दर्शनयुजः करोति केषांचित्प्रकृति-भद्रतामापादयति । आचा० उ० अ० व्य०

आसायणिज्ज त्रि० (आश्वादनीय) आ० स्वद णिच् कृब्दहुलमिति कर्तर्यनीयः । प्रज्ञा० जी० ईषत्स्वादयोग्ये, दशा० जं० ।

आसायवडिया-स्त्री० (आस्वादप्रतिज्ञा) विषयभोगप्रतिज्ञायाम् आचा० ।

आसारेंत त्रि० (आसारयत्)ईषत्स्वस्थानत्याजनेनसारयति, ज्ञा०

आसालिय पु० (आशालिक) उरः परिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रिय तिर्यग्भेदे, प्रज्ञा०

सेकिंतं आसालिया ? कहि णं भंते ! आसालिया समुछंति गोयमा! अंतो मणुस्सखेत्ते अड्ढाइज्जेसु दीवेसु णिव्वाघाण पण्णरससु कम्मभूमीसु वाघातं पदुच्च पंचसु महाविदेहेसु चक्कूवट्टी खंधावारेसु वासुदेवखंधावारेसु बलदेवखंधावारेसु मंडलियखंधावारेसु महामंडलियखंधावारेसु गामनिवेसेसु नगरनिवेसेसु निगमनिवेसेसु खेड निवेसेसु कव्वउनिवेसेसु मडंबनिवेसेसु दोणमुहनिवेसेसु पट्टणनिवेसेसु आगरनिवे-सेसु आसमनिवेसेसु संवाहनिवेसेसु रायहाणिनिवेसेसु एएसिणं चेव विणासेसु एत्थ णं आसालया समुछंति । जहन्नेणं अंगुलस्स असंखिज्जइ भागमित्तीए ओगाहणाए, उक्कोसेणं वारसजोयणइ। तहाणुरूवं च णंविक्खंभवाहल्लेणं भूमिं दालित्ताणं समुट्ठेत्ति । असन्नी मिच्छादिट्ठी अन्नाणी अंतोमुहुत्तद्धाउ या चेव कालं करेइ। सेत्तं आसालिया ॥जी०॥

आसावग त्रि० (आश्रावक) बन्धके विशे० ।

आसाविणी स्त्री० (आस्राविणी) शतच्छिद्रायाम्।

जहा आसाविणि जाइअंधे दुरूहिया, इच्छत्ति पारभागं ।
तु अंतराय विसीयति । सूत्र० श्रु० १ । अ० ११ ॥

आसास पु० (आश्वास) आश्वासन्त्यस्मिन्नित्याश्वासो नामादिसूत्रव्यतिरिक्तो द्रव्यतो यानपात्रद्वीपादौ भावतो ज्ञानादौ आचारांगे आचा० धीरो भव अहं ते सर्वमपि वैयावृत्त्यं करिष्ये- इत्यादिरूपे प्राणिनामाश्वासने, वृ० प्रश्न, विश्रामे, भारं वहत आश्वासाः स्था० ।

भारणं वहमाणस्स चत्तारि आसासा पण्णत्ता तंजहा जत्थ णं अंसाओ अंसं साहरइ तत्थ विय से एगे आसासे पण्णत्ते जत्थ वि यणं उच्चारं वा पासवणं वा परिठावंति तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते जत्थ वि य णं णागकुमारावासंसि वा सुवन्नकुमारावासंसि वा वासं उवेइ तत्थ वि य से एगे आसासे पणत्ते जत्थ वि य णं आवकहाए चिट्ठइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते । एवमेव समणोवासगस्स चत्तारि आसासा प० तं० जहा सीलव्वयगुणव्वयवेरमणपच्चक्खाण-पोसहोववासाई पडिवज्जइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते जत्थ वि य णं सामाइयं देसावगासियमणुपालेइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते जत्थ वि य णं चाउद्दसिए मुद्दिट्ठ-पुण्णिमासीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते जत्थ वि य णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाजूसणाजूसिएभत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगए कालमणवकंखमाणे विहरइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते ॥

भारं धान्यमुक्तादिकं वहमानस्य देशान्तरं नयतः पुरुषस्य आश्वासा विश्रामाः । भेदश्च तेषामवसरभेदेनेति यत्रावसरे अंशादेकस्मात् स्कंधादंशमिति स्कन्धान्तरं संहरति नयति भारमिति प्रक्रमः तत्रावसरेपि चेति उत्तराश्वासापेक्षया समुचये स तस्य वोढुरिति परिष्ठापयति व्युत्सृजति नागकुमारावासा-दिकमुपलक्षणमत्तो ऽन्यत्र वा यतने वा समुपैतीति रात्रौ वसति यावती यत्परिमाणा कथा मनुष्योयं देवदत्तादिर्वायमिति व्यपदेशलक्षणा यावत्कथा तया यावज्जीवमित्यर्थः। तिष्ठति वसतीत्ययं दृष्टान्त एवमेवेत्यादिदार्ष्टान्तिकः श्रमणान् साधूनुपास्त इति श्रमणोपासकः श्रावकस्तस्य सावद्यव्यापारभाराक्रान्तस्याश्वासास्तद्विमोचनेन विश्रामाश्चित्तस्याश्वासनानि स्वास्थ्यानि इदं मे परलोकभीतस्य वाणमित्येवंरूपाणीति स हि जिनागमसंगमावदातबुद्धितया आरम्भपरिग्रहौ दुःखपरंपराकारिसंसारकान्तारकारणभूततया परित्याज्यावित्याकलयन् करणभटवशतया तयोः प्रवर्त्तमानो महान्तं खेदं संतापं भयं चोद्वहति भावयति चैवंहि ।

एयं जिणाण आणा- चरियं मह एरिसं अउण्णस्स ।
एयं आलप्पालं अचादूरं वि सवयइ ॥१॥
हयमम्हाणं नाणं हयमम्हाणं मणुस्समाहप्प ॥
जे किल लद्धविवेया विचिट्ठिमो वालवा लुव्वत्ति ॥२॥

यत्रावसरे शीलानि समाधानविशेषा ब्रह्मचर्यविशेषा वा व्रतानि स्थूलप्राणातिपातविरमणादीनि अन्यत्र तु शीलान्यणुव्रतानि सप्तशिक्षाव्रतानि तदिह न व्याख्यातं गुणव्रतादीनां साक्षादेवोपादानादिति गुणव्रते दिग्व्रतोपभोगपरिभोगव्रतलक्षणे विरमणान्यनर्थदण्डविरतिप्रकारा रागादिविरतयो वाप्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितादीनि पौषधः पर्वदिनमष्टम्यादि तत्रोपवसनं भक्तार्थः पौषधोपवास एतेषां द्वंद्वस्तान् प्रतिपद्यतेभ्युगच्छति तत्रापि च स तस्यैक आश्वासः प्रज्ञप्तो यत्रापि च सामायिकं सावद्ययोगपरिवर्जननिरवद्ययोगप्रतिसे

वनलक्षणं यद्भावस्थितः श्राद्धः श्रमणभूतो भवति तथा देशे दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य विभागोवकाशोऽव स्थानमवतारो विषयो यस्य तद्देशावकाशं तदेव देशावकाशिकं दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिनं संक्षेपकरणलक्षणं सर्वव्रतसंक्षेपकरणलक्षणं वानुपालयति प्रतिपत्त्यनन्तरमखण्डमा सेवत इति तत्रापि च तस्यैव आश्वासः प्रज्ञप्त इति उद्दिष्टेत्यमावास्यापरिपूर्णमित्यहोरात्रं यावत् आहारशरीर-सत्कारत्यागब्रह्मचर्यव्यापारलक्षणभेदोपेतमिति यत्रापि च पश्चिमैवा मंगलपरिहारार्थमपश्चिमा चासौ मरणमेवान्तो मरणान्तस्तत्र भवा मारणान्तिकी सा चेत्पश्चिममारणान्तिकी सा चासौ सँल्लिख्यते अनया शरीरकषायादीनि सँल्लेखनात्तपोविशेषः सा चेति अपश्चिममार-णान्तिकसंलेखनात् तस्याः (जुसणत्ति) जोषणा सेवनालक्षणो यो धर्म्मस्तया (जूसिएत्ति) जुष्टः सेवितोऽथवा क्षिप्तः क्षपितदेहो यस्स तथा । तथा भक्तपाने प्रत्याख्याते येन सः पादपवत् उपगतो निश्चेष्टतया स्थितः पादपोपगतः अनशनविशेषं प्रतिपन्न इत्यर्थः । कालं मरणकालं अनवकांक्षन् तत्राऽनुत्सुक इत्यर्थः विहरति तिष्ठति । स्था० ४ ठा० ॥

आसासंकरसमुब्भव न० (आश्वासांकुरसमुद्भव) आश्वास ए वांकुर-प्ररोहस्तस्य समुद्भव उत्पत्तिर्यस्मात्तदाश्वासांकुरस मुद्भवम् ग्लानस्याश्वासप्ररोहबीजे, । वृ० १ उ० ॥

आसासदीव पु० (आश्वासद्वीप) आश्वास्यतेऽस्मिन्निति आश्वा सः स चासौ द्वीपश्चाश्वासद्वीपः यदिवा आश्वसनमाश्वासः आश्वासाय द्वीप आश्वासद्वीपः । नदीसमुद्रबहुमध्यप्रदेशे, भिन्नबोधिस्थादयो यमवाप्याश्वासंति तस्मिन्द्रव्यद्वीपविशेषे, स च द्विधा सन्दीनोऽसदीनश्च-आचा० ६ अ० ३ उ० पं० सू०-

आसित्त पुं० (आसिक्त) स्त्रीशरीरावसक्ते, ''नपुंसकविशेषे,, स च मोहोत्कटतया मेहनं योनावनुप्रवेश्य नित्यमास्ते वृ० ४ उ० पं० भा० पं०चू० ॥

जो विग्गहं अणुप्पवेसिअ छतीसा गारिअं स आसित्तो णयते भावोवसमं अलभंतो सो वि अपुमं भवे पं० भा० ।

सुगंधजलच्छटादानेन कल्प० उदकच्छटने दश० । कृतासेके जी० १ प्र० ३ प्र० । ज्ञा० १ अ० आ० म० प्र० ६ अ० । ईषत्सिक्ते, भ० ९ श० ३३ उ० ।

(आसित्तसित्तसुईअ सम्मट्ठरत्थंतरावणविहियं) आसिक्तानीष-त्सिक्तानि च तदन्यथा अत एव सुचिकानि पवित्राणि संमृष्टानि कचवरापनयनेन रथ्यामध्यानि आपणवीथयश्च हट्टमार्गा यत्र तत्तथा भ० ९ श० ३३ उ० ।

आसिम पुं० (आशिमन्) आशोर्भाव इमनिच्डिद्वत् । शीघ्रत्वे वाच० ।

आसिय त्रि० (आश्रित) प्रतिष्ठिते स्था० ६ वा० आश्रयं प्राप्ते शरणागते वाच० ।

***आसिक**-त्रि० अश्वान् भारभूतान् हरति वहति आवहति वा ठञ् भारभूतस्याऽश्वस्य हारके वाहके आवाहके । अश्वस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वा वक् अश्वलाभसूचके संयोगे उत्पाते निमित्ते च । वाच० ॥ अश्वस्वामिनि, ४ व्य० ॥

जो णाम सारहीणं, सङ्गेजो भद्दबाइणो दमए ।
दुट्ठे वि अ जोआसे, दमेइ तं आसियंवित्ति ।

पं० व० १ द्वा० ॥

आसियावण न० (आश्रितापन) अपहरणे वृ० १ उ० । निष्काश-यितुमासादने । व्य० १० व्य० स्तैन्ये, वृ० ४ उ० ।

आसियावाय पुं० (आशीर्वाद) बहुपुत्रो बहुधनो बहुधर्मो दीर्घायुस्त्वं भूया इत्यभीष्टोक्तौ, आसियावायवियागरेज्ञा-सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आसी स्त्री० (आशी) सर्पदंष्ट्रायाम्-विशे० । स्था० ४ ठा० ।

आसीण त्रि० (आसीन) उपविष्टे । प्रश्न० १ सं० द्वा० । आसिते । आव० २ अ० ।

आसीविस पुं० (आशीविष) आश्यो दंष्ट्रास्तासु विषं यस्य सः । **आसीदाढातग्गय महाविसा आसीविसा इति ।**

दंष्ट्राविषे दर्वीकरसर्पभेदे, । प्रज्ञा० १ पद । जी० १ प्र० नागे प्रश्न० १ द्वा० । स्था० ४ ठा० आशीविष इवाशीविषः यथा हि तमत्यन्तमवजानानो मृत्युमेवाप्नोति एवमेतमपि मुनिमव-जानानानामवश्यंभावि मरणम् । आशीविषलब्धिमति शापानुग्रहसमर्थे । उत्त० १२ अ० ।

(आशीविषाणां भेदाः)

कइविहा णं भंते ! आसीविसा पण्णत्ता २ गोयमा ! दुविहा आसीविसा पण्णत्ता । तंजहा । जाइ आसीविसा य कम्मआसी-विसा य ॥

कइइत्यादि । आसीविसत्ति ॥ आशीविषा दंष्ट्राविषाः । जाइ आसीविसत्ति । जात्या जन्मना आशीविषा जात्याशीविषाः कम्मआशीविसत्ति ॥ कर्म्मणा क्रियया शापादिनोपघातकरणे नाशीविषाः कर्म्माशीविषास्तत्र पंचेन्द्रियतिर्यंचो मनुष्याश्च कर्म्माशीविषाः पर्याप्तका एव एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वगुणतः खल्वाशीविषा भवन्ति शापप्रदानेनैव व्यापादयन्ती त्यर्थः । एते चाशीविषलब्धिस्वभावा-त्सहस्रारान्तदेवेष्वेवोपप-द्यन्ते । देवास्त्वेत एव ये देवत्वेनोत्पन्नास्तेऽ-पर्याप्तकावस्था- यामनुभूतभावतया कर्म्माशीविषा इति । उक्तंच । शब्दा-र्थाभेदसंवादिभाष्यकारेण । आसीदाढातग्गय, महाविसा-सीविसादुविहभेया । ते कम्मजाइभेएण, णेगहा चउविहविग-प्पा ॥ १ ॥ भ० टी० ८ श० २ उ० ॥

जात्याशीविषाः ।

जाइआसीविसाणं भंते ! । कइविहा २ पण्णत्ता गोयमा ? चउव्विहा पण्णत्ता । तंजहा । विच्छुयजाइआसीविसे १ मंडुक्कजाइआसीविसे २ उरगजाइआसीविसे ३ मणुस्सजा इआसीविसे ४ । स्था० ४ ठा० । भ० । विच्छुयजाइआसी विसस्सणं भंते । केवइए विसए पण्णत्ते २ गोयमा ! पभूणं विच्छुयजाइआसीविसे अद्धभरहप्पमाणमेत्तं बोदिविसेणं विसदृमाणं पकरेत्तए एवइए विसए नो चेवणं संपत्तीए करिसु वा करंति वा करिस्संतिवा मंडुक्कजाइअसीविसपुच्छा गोयमा ! पभूणं मंडुक्कजाइआसी विसे भरहप्पमाणमेत्तं बोदिविसेणं विसपरिगयं सेसं तं चेव जाव करिस्संति वा । एवं उरगजाइआसीविसस्सवि । नवरं ।

जंबुद्दीवप्पमाणमेत्तं वोदिं विसेणं विसपरिगयं सेसं तं चेव जाव करिस्संति वा । मणुस्सजाइआसीविसस्स वि एवं चेव । नवरं । समयखेत्तप्पमाणमेत्तं वोदिं विसेणं विसपरिगयं सेसं तं चेव जाव करिस्संति वा ॥

(केवइएति) कियान् । विसएत्ति । गोचरो विषस्येति गम्यं । अद्धभरहप्पमाणमेत्तंति । अर्द्धभरतस्य यत्प्रमाणं सातिरेकत्रिषष्ट्यधिकयोजनशतद्वयलक्षणं तदेव मात्रा प्रमाणं यस्याः तथा तां (॥ वोदिंति ॥) तनुं (विसेणत्ति ।) विषेण स्वकीयाशीप्रभवेण करणभूतेन (विसपरिगयंति) विषं भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य विषतां परिगता प्राप्ता विषपरिगताऽतस्तामत एव । विसदृमाणंत्ति । विकट्यन्तीं विदलन्तीम् (करेत्तएत्ति) कर्तुम् (विसंएसंति) गोचरोऽसौ अथवा (से) तस्य वृश्चिकस्य (विसदृयाएत्ति) विषमेवार्थो विषार्थस्तद्भावस्तत्ता तस्या विषार्थताया विषत्वस्य तस्यां वा (नो चेवत्ति ।) नैवेत्यर्थः (संपत्तीएत्ति) संपत्त्या एवंविधवोधिसम्प्राप्तिद्वारेण (करिंसुत्ति) अकार्षुवृश्चिका इति गम्यत इह चैकवचनप्रक्रमेपि बहुवचननिर्देशो वृश्चिकाशीविषाणां बहुत्वज्ञापनार्थमेवं कुर्वंति करिष्यंति त्रिकालनिर्देशश्चामीषां त्रैकालिकत्वज्ञापनार्थः । समयखेत्तत्ति । समयक्षेत्रं मनुष्यक्षेत्रं ॥

कर्माशीविषाः भ०

जइ कम्मआसीविसे किं नेरइयकम्मआसीविसे तिरिक्खजोणियकम्मआसीविसे मणुस्सकम्मआसीविसे देवकम्मासीविसे । गोयमा ! नो नेरइयकम्मासीविसे तिरिक्खजोणियकम्मासीविसे वि मणुस्सकम्मासीविसे देवकम्मासीविसे वि । जइ तिरिक्खजोणियकम्मासीविसे किं एगिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे गोयमा ! नो एगिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे जाव । नो चउरिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे पंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे जइ पंचिंदियजावकम्मासीविसे किं सम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियकाम्मासीविसे । एवं जहा वेउव्वियसरीरस्स भेओ जाव पज्जत्ता संखेज्जवासा-उयगब्भवक्कंतियकम्मभूमियपंचिंदियतिरिक्खजोणिय-कम्मासीविसे नो अपज्जत्ता संखेज्जधासाउय जावकम्मासीविसे । जइ मणुस्सकम्मासीविसे किं समुच्छिममणुस्सकम्मासीविसे गब्भवक्कंतियमणुस्सकम्मासीविसे २ गोयमा ! नो संमुच्छिममणुस्सकम्मासीविसे गब्भवक्कंतियमणुस्स-कम्मासीविसे । एवं जहा वेउव्वियसरीरं जाव पज्जत्ता संखेज्जवासाउ य कम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्सकम्मासीविसे नो अपज्जात्तजावकम्मासीविसे । जइ देवकम्मासीविसे किं भवणवासीदेवकम्मासीविसे जाव वेमाणियदेवकम्मासीविसे गोयमा ! भवणवासीदेवकम्मा-सिविसे वि वाणमंतरदेवजोइसि-यवेमाणियदेवकम्मासीविसे वि । जइ भवणवासीदेवकम्मा-सीविसे किं असुरकुमारभवणवासीदेवकम्मासीविसे जाव थणिय-कुमारजावकम्मासीविसे २ गोयमा ! असुरकुमार भवण-वासीदेवकम्मासीविसे जाव थणियकुमारजावकम्मासीविसे जइ असुरकुमारजावकम्मासीविसे किं पज्जत्ता असुर-कुमारभवणवासीदेवकम्मासीविसे किं अपज्जत्ता असुर-कुमारजावकम्मासीविसे गोयमा! नो पज्जत्ताअसुर-कुमारजावकम्मासीविसे अपज्जत्ता असुरकुमारभवणवासी-जावकम्मासीविसे । एवं थणियकुमाराणं । जइ वाणमंतरदेवकम्मासीविसे किं पिसायवाणमंतदेवकम्मासीविसे एवं सव्वेसिं अपज्जत्तगाणं जोइसियाणं सव्वेसिं अपज्जत्तगाणं । जइ वेमाणियदेवकम्मासीविसे किं कप्पोवगवेमाणिय-देवकम्मासीविसे कप्पातीयवेमाणियदेवकम्मासीविसे गोयमा ! कप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे नो कप्पातीय-वेमाणियदेवकम्मासीविसे । जइ कप्पोवगवेमाणियदेव-कम्मासीविसे किं सोहम्मकप्पोवगजावकम्मासीविसे जाव अच्चुयकप्पोवगजावकम्मासीविसे गोयमा ! सोहम्मकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे वि जाव सहस्सार-कप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे वि, नो आणयकप्पो-वगवेमाणियदेवकम्मासीविसे जाव नो अच्चुयकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे । जइ सोहम्मकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे किं पज्जत्ता सोहम्मकप्पोवगजावकम्मासीविसे अपज्जत्ता सोहम्मजावकम्मासीविसे गोयमा ! नो पज्जत्ता सोहम्मकप्पोवगवेमाणियदेव-कम्मासीविसे अपज्जत्ता सोहम्मकप्पोवगवेमाणियदेव-कम्मासी विसे एवं जाव नो पज्जत्ता सहस्सारकप्पोवग-वेमाणियदे वकम्मासीविसे अपज्जत्ता सहस्सारकप्पो-वगजावकम्मासीविसे ॥

टी० एवं (जहा वेउव्वियसरीरसभेओत्ति) यथा वैक्रियं भणत जीवभेदो भणितः तथेहापि वाच्योसावित्यर्थः । स चायं-गोयमानो संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे किं संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खिजोणियकम्मासीविसेअसंखेज्ज-वासाउ य जाव कम्मासीविसे गोयमा संखेज्जवासाउ य जाव कम्मासीविसे नो असंखेज्जवासाउ य जाव कम्मासीविसे जइ संखेज्जजावकम्मासीविसे किं पज्जत्तसंखेज्जजावकम्मासीविसे अपज्जत्तसंखेज्जजाव कम्मासीविसे ? गोयमा । शेषं लिखितमेवास्ते । भ०टी० । ८ श० १ उ० ॥

एतदेवसंक्षिप्याह ।

(आसीविस इति) आश्यो दंष्ट्रास्तासु विषं येषां ते आशी विषाः ते द्विविधा जातितः कर्म्मतश्च तत्र जातितो वृश्चिक मंडूकोरगमनुष्यजातयः क्रमेण बहुबहुतरबहुतमविषाः वृश्चिकविषं हि उत्कर्षतोऽर्धभरतक्षेत्रप्रमाणं शरीरं व्याप्नोति । मंडूकविषं भरतक्षेत्रप्रमाणं । भुजंगमविषं जंबूद्वीपप्रमाण । मनुष्यविषं समय क्षेत्रप्रमाणं । कर्म्मतश्च पंचेंद्रियतिर्यग्यो

नयो मनुष्या देवाश्चासहस्रारात्। एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वा गुणत आशीविष वृश्चिकभुजंगादिसाध्यां क्रियां कुर्व्वंति । शापप्रदानादिना परं व्यापादयंतीति भावः । देवास्त्वपर्याप्तावच्छायां तच्छक्तिमंतोऽवसातव्याः । ते हि पूर्वं मनुष्यभवे समुपार्जिताशीविष-लब्धयः सहस्रारांतदेवेष्वभिनवोत्पन्ना अपर्याप्तावस्थायां प्राग्भविकाशीविषलब्धिसंस्कारादाशीविषलब्धिमंतो व्यवह्रियंते । ततः परं तु पर्याप्तावस्थायां संस्कारस्यापि निवृत्तिरिति न तद्व्यपदेशभाजः। यद्यपि च नाम पर्याप्ता अपि देवाः शापादिना परं व्यापादयंति। तथापि न लब्धिव्यपदेशो भवप्रत्ययतस्तथा रूपसामर्थ्यस्य सर्व्वसाधारणत्वात् गुणप्रत्ययो हि सामर्थ्यविशेषो लब्धिरिति प्रसिद्धिः॥ आ० म० प्र० १ अ । विशे० प्रव० द्वा० १३९ जंबूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे वक्ष स्कारपर्वतविशेषे, स्था० ४। ८। ठा० । (दो आसीविसा) स्था० २ ठा० ।

आसीविसत्त न०(आशीविषत्व) शापानुग्रहसामर्थ्ये-स्था०५ठा०।

आसीविसभावणा स्त्री०(आशीविषभावना)आशीविषत्वं पूर्वोक्तस्वरूपं भाव्यते प्रतिपाद्यते यासु ग्रन्थपद्धतिषु ता आशीविषभावना अंगवाह्यकालिकश्रुतभेदे। पा० आशीविषभावनायां पिटिकायामाशी-विषत्वलब्धेर्यथा समाचरणैराशी-विषतयाकर्म बध्यते व्य-१ उ०सा च चतुर्दशवर्षपर्यायस्य दीयते पं०व०२ द्वा०॥

आसीविसलद्धि स्त्री०(आशीविषलब्धि) तपश्चरणमाहात्म्याद्, गुणादितरतोपि वा ॥ आशीविषसमर्थाः स्युर्निग्रहेऽनुग्रहेऽपि च ॥१॥ ग० अधि० । इत्युक्तस्वरूपे निग्रहाऽनुग्रहसामर्थ्ये ग० अ० । आ०चू० १

आसीस स्त्री०(आशिष्) आ० शास क्विप्- आङ्पूर्वकत्वात् अतइत्वम् गोणादित्वादन्त्यस्यात्वम् । इष्टार्थाविष्करणे प्रार्थने, च । वाच० ।

आसु अव्य० (आशु) शीघ्रे, वि० । नि० आव० । सूत्र० क्षिप्रे सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ॥ स्वल्पकाले-आव० ।

आसुक्कार पु० (आशुकार) करण कारः अचित्तीकरणं गृह्यतेआशु शीघ्रं कार आशुकारः । मारणे, । तद्धेतुत्वादहिविषविसूचिकादौ, आव० मरणावसरे, च । आतु० ॥

आसुक्कारोवगय त्रि०(आशुकारोपगत) आशुकारेण शूलादिनो परतः कालगत आशुकारोपगतः। शूलादिना मृते । व्य० ४ उ० ।

आसुग पु०(आशुग) आशु-गम् ड-बायौ, । सूर्ये बाणे । वाच०

आसुपण्ण-पु०(आशुप्रज्ञ)-आशु शीघ्रं कार्य्याकार्येषु प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपा प्रज्ञा मतिर्यस्य स आशुप्रज्ञः उत्त० क्षिप्रप्रज्ञे । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० पटुबुद्धौ । सदसदविवेकविकले । सूत्र० २ श्रु० १ अ० निरावरणत्वात् आव०- सर्वत्र सदोपयोगादच्छद्मस्थे० सूत्र १ श्रु० ६ अ०। मानसाऽपर्य्यालोच्यैव पदार्थपरिच्छित्तिविधायके सूत्र० १ श्रु० ६ अ । केवलज्ञानिनि उत्पन्नदिव्यज्ञाने (णेआमुणीकासव आसुपन्ने) सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ॥

आसुयर त्रि० (आशुचर) शीघ्रसंचरणशीले-विशे० ॥

आसुर न०(आसुर) असुरकुमारभावे, उत्त० । असुरभावना जनितेऽनुष्ठाने, । स्था० पणबन्धेन कन्याप्रदाने-विवाहभेदे-ध०

आसुरता स्त्री०(आसुरता) आसुरभावे० स्था०।

आसुरा-री स्त्री०(आसुरी) असुरा भवनपतिदेवविशेषास्तेषा-मियमासुरी येष्वनुष्ठानेषु वर्त्तमानोऽसुरत्वं जनयति तैरात्मनो वासने वृ० उप० स्था०।

चउहिं ठाणेहिं जीवा आसुरत्ताए कम्मं पकरेति तंजहा कोवसीलयाए पाहुडसीलयाए संसत्ततवोकम्मेणं निमित्ताजीवयाए । स्था० ४ ठा०

व्या० चउहिं ठाणेहिमित्यादि कंठ्यं नवरं असुरेषु भव आसुर असुरविशेषस्तद्भाव आसुरत्वं तस्मै आसुरत्वाय तदर्थं मित्यर्थः अथवा असुरतायै असुरताया वा कर्म तदायुष्कादि प्रकुर्वन्ति कर्तुमारभन्ते तद्यथा क्रोधनशीलतया कोपस्वभावत्वेन प्राभृत-शीलतया कलहनसंबंधतया संसक्ततपःकर्मणा आहारो-पधिशय्यादि प्रतिबद्धभावतपश्चरणेन निमित्ता जीवनतया त्रैकालिकलाभालाभादिविषयनिमित्तोपात्ताहारा-द्युपजीवनेनेति। स्था० ४ ठा० ।

अथासुरीमाह ।

अणुबद्धविग्गहो वि य संसत्ततवोनिमित्तमाएमी ।
निक्किवनिराणुकंपो आसुरियं भावणं कुणइ ॥

अनुबद्धविग्रहसंसक्ततया निमित्तादेशी निष्कृपो निरनुकंप-स्सन्नासुरीं भावनां करोतीति निर्युक्तिसमासार्थः । वृ० उ० १ प्रव० ध० । पं० व० । आसुर्यपि सदा विग्रहशीलत्व १ संसक्ततपः २ निमित्तकथन ३ निष्कृपता ४ निरनुकम्पता ५ भेदेन पंचविधा उक्तं च सइविग्गहेत्यादि १ असुराणामियमासुरी सूत्र० । रौद्राणां रुद्रकर्मकारिणां भावदिशि, उत्त० ।

आसुरि पु०(असुरि) सांख्याचार्यकपिलप्रथमशिष्ये, यदाह आसुरिः विविक्ते दकपरिणतौ भोगोऽस्य कथ्यते । स्या० । आ० म० प्र० आ० चू० ।

आसुरिय पु०(आसुरिक) असुराणां चण्डकोपेन चरन्तीति आसुरिकाः। प्राक्संयतभवे कृतचण्डकोपेषु, असुरत्वेनोत्पन्नेषु । आतु० ।

***आसुर्य** न० असुरभावे, प्रश्न० ।

आसुरुत्त त्रि०(आसुरुप्त) आशु शीघ्रं रुप्तः कोपोदयाद्विमूढो रुप् लुप् विमोहने इति वचनात् । भ० श० ७ उ० ९ । शीघ्रं कोप-विमूढबुद्धौ, भ० । श० ६ उ० १ । स्फुरितकोपलिंगे । ज्ञा० । अ० २ । जं० ।

***आसुरोत्त** त्रि० आसुरम्मसुरत्कटकोपेन दारुणत्वात् उक्तं भणितं यस्य स आसुरोक्तः । असुरसदृशकोपेन दीर्घ शब्दकारिणि, नि०।

***आशुरुष्ट** त्रि० आशुशीघ्रं रुष्टः क्रोधेन विमोहितो यःसःनि०कोपेन विमोहिते, विपा० अ- ९ वि० । कुपिते विपा० । क्रुद्धेज्ञा० । अ १६

आसूणि न० (आशूनि) येनाशूनः सन् आ समन्ताच्छूनीभवति बलवानुपजायते तदाशूनीत्युच्यते । घृतपानादौ आहारविशेषे रसायनक्रियायां, च सूत्र० १ अ ६ । आसूणिमक्खिरागं च गिद्धवज्झायकम्मगं-सूत्र० ।

आसूणिय त्रि०(आशूनित) ईषच्छूनीकृते- प्रश्न० ।

आसेय पु०(आसेक) आ सिच्-घञ्-जलादिना वृक्षादेरीषत्सेचने, आ सम्यक् सिच्यते येन० । करणे ल्युट् आसेचनसाधने पात्रे, वाच०।

आसेवण न०(आसेवन), सम्यक्सेवने, सततसेवने पौनःपुन्ये, च वाच० । सम्यक्पालने- । मैथुनक्रियायाम् । द० ।

आसेवणा स्त्री०(आसेवना) प्रतिसेवायाम् पंचा० । संयमस्य विपरीताचरणे,-ध० अधि० ३ । प्रव०। अभ्यासे, आ० चू० यथावस्थितसूत्रानुष्ठाने । सूत्र० श्रु० १ अ० १४ ।

आसेवणाकुसील पु०(आसेवनाकुशील) संयमस्य विपरीता राधनया कुशीले, प्रव० । स्वरूपमस्य कुसीलशब्दे ॥

आसेवणासिक्खा स्त्री०(आसेवनाशिक्षा) ''औधिकी दश धाऽऽख्या च तथा पदविभागयुक् । सामाचारी त्रिधेत्युक्ता तस्याः सम्यक् प्रपालनम् इत्युक्तलक्षणे शिक्षाभेदे-ध० अधि० ३ ।

आसेविय त्रि०(आसेवित) सकृत्करणात् (ज्ञा० आचा० पंचा०) प्रतिसेविते, सम्यक्, सेविते, पौनः पुन्येन सेविते, च भावेक्तः आसेवनायाम् । वाच० ।

आसोअ पुं०(अश्वयुज्) आश्विनमासे,- जो० (आसोअमावासाए नेमिजिणिंदस्स) । आ० म०प्र० ।

आसोत्थ पु०(अस्वत्थ) बहुबीजकवृक्षविशेषे, प्रश्न० ।

आहंसु आख्यातवति, प्रश्न० ।

आहच्च अव्य०(आहत्य) सहसा इत्यस्य (आचा०) कदाचिदित्यस्य वार्थे भ० नि० चू० ४ व्य० । आचा० । उत्त० आहत्य अव्य० ढौकित्वा आचा० । उपेत्य । आचा० ॥

व्यवस्थाप्य । सूत्र० श्रु २ अ० १ । सूत्र० । परिभाज्य । परिभागीकृत्यइत्यस्य वार्थे, आचा० ''आहपुदिज्जमाणं भुंजमाणे'' सबले आहृत्य दीयमानं स्वस्थानात्साध्व-र्थमभिमुखदानमानीय, दशा० ।

आहच्चा स्त्री०(आहत्वा) आहनने, प्राहारे, । नि० ।

आहट्ट पुं०(आहत्त) प्रेहलिकायां, वृ० ॥

आहट्टु अव्य०(आहृत्य) व्यवस्थाप्य अपाहृत्य वेत्यर्थे । सूत्र० अभिहडं आहट्टु देसियं । सूत्र० श्रु० २ अ० १ ।

आहड-त्रि०(आहृत)-**प्रत्यादौडः ८ ।१ ।६ ।** इति तस्य डः प्रा० साध्वर्थं यद् गृहस्थेन नीयते तदाहृतम्० सूत्र० श्रु० १ अ० ५ आनीते,-आव० आचा० दर्श० । प्राहणके-वृ० उ० २ । आहृतं द्विधा स्वग्रामाहृतं परग्रामाहृतं । सप्रत्यवायमप्रत्यवायं चेत्याद्यभ्याहृत शब्दे । जीत० नि० चू० व्य० ।

आहडिया स्त्री०(आहृतिका) प्राहणके-वृ० उ० २ ।

आहत्तहिय न०(याथात्म्य) यथातथाभावो याथातथ्यम् धर्म मार्ग-समवसरणाख्याध्ययने तत्रोक्तार्थ-तत्त्वे सत्तानुगतसम्य क्त्वे- चारित्रे, च-सूत्र० यथावस्थितेऽर्च्छे । सूत्र० श्रु० १ आ० १ परमार्थेन परमार्थचिंतायां सम्यग्ज्ञानादिके-सूत्र० श्रु १ अ० १३ । तत्प्रतिपादके त्रयोदशे सूत्रकृताध्ययने । सम० २३ स० ।

आहम्म धा०(आहम्म) हम्म गतौ० आपूर्वः । आहम्मई आहम्मति-प्रा० ।

आहम्मत् त्रि०(आहन्यमान) वाद्यमानेषु पणवादिषु, आहम्म ताणं पणवाणं पडिहाणं । प्रा० ।

आहय त्रि० (आहत) अननुबद्धे- स्था० प्रेरिते-आव० रा० आवश्यकर्त्तव्ये-गमनागमनादौ । प्रव० । चूर्णिते, । प्रति० ।

***आहत** त्रि० उपदर्शिते-प्रति० ।

***आख्यात** न० आख्यानकप्रतिबद्धे- प्रज्ञा० । जी० स्था० । आ० म०प्र० । भ० ।

आहरत्त त्रि०(आनयत्) आनयति,-द० ।

आहरण न०(आहरण) व्यवस्थापने, आचा० । स्वीकरणे आचा० । आनयने,-सूत्र० श्रु० २ अ० २ । आचा० आदाने, ग्रहणे, सूत्र० श्रु० १ अ० ८ ।

***उदाहरण** न० उदाह्रियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेनदार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युदाहरणम् द० साध्यसाधनान्वयप्रदर्शने दृष्टान्ते, आ० म०प्र० । विशे० ।

आहरणं दुविहं चउव्विहं होइ इक्कमेकं तु ।

आ अभिविधिना ह्रियतेप्रतीतौ नीयते अप्रतीतोऽर्थोऽ-नेनेत्याहरणं यत्र समुदित एव दार्ष्टांतिकोऽर्थ उपनीयते यथा पापं दुःखाय ब्रह्मदत्तस्यैवेति । द० अ० १ स्था० ।

आहरणे चउव्विहे पन्नत्ते । तंजहा आवाए ।
उवाए ठवणाकम्मे पडुप्पन्नविणासीआ ॥

सांप्रतमुदाहरणमभिधातुकाम आह ॥

चउहा खलु आहरणे होइ अवाउ उवाय ठवणा य ।
तह य पडुपन्नविणासमेव पढमं चउविगप्पं ॥ २५ ॥

व्या० चतुर्द्धा खलूदाहरणं भवति अथ चतुर्द्धा खलूदाहरणे विचार्यमाणे भेदो भवति । तद्यथा । अपायः उपायः स्थापना च तथा च प्रत्युत्पन्नविनाशमेवेति स्वरूपमेव प्रपंचेन भेदतो निर्युक्तिकार एव वक्ष्यति द० अ० १ अपायादीनां व्याख्याऽन्यत्र स्वस्वस्थाने ।

आहरणतद्देश-पुं०(आहरणतद्देश) तस्य देशस्तद्देशः स चासा-वुपचारादाहरणं चेति प्राकृतत्वादाहरणशब्दस्यपूर्वनिपाते । आहरणतद्देशः । दृष्टान्तार्थदेशेनैव दार्ष्टान्तिकस्यार्थ स्योपनयनं क्रियते तत्तद्देशेउदाहरणमिति-यथा-चन्द्र इवमुखमस्या इति । इह हि चन्द्रे सौम्यत्वलक्षणेनैव देशेन मुखस्योपनयननानिष्टेन नयननासावर्जितत्वं कलंकादिना । स्था० ठा० । ४ ।

आहरणतद्देसे चउव्विहे पन्नते तंजहा अणुसट्ठि उवालंभे पुच्छाणिस्सावयणे । अनुशास्त्यादीनां व्याख्या स्वस्थाने ।

आहरणतद्दोस पु० (आहरणतद्दोष) तथा तस्यैवाहरण तद्देश-स्यैवाहरणस्य संबन्धी साक्षात्प्रसंगसंपन्नो वा दोषस्तद्दोषः स चासौ धर्मे धर्मिण उपचारदाहरणं चेति प्राकृतत्वेन पूर्वनिपातादा-हरणतद्दोषः । अथवा तस्याऽऽहरणस्य दोषो यस्मिंस्तत्तथा । दुर्हेतुभेदे,-स्था० ठा० ४ इह साध्य साधन कैवल्यं नाम दृष्टांत-दोषो यद्यासत्यादिवचनरूपं तद्दोषाहरणं यथा सर्वथाहमसत्यं परिहरामि गुरुमस्तककर्त्तनवदिति, यद्वा । साध्यसिद्धिं कुर्वदपि दोषान्तरमुपनयति तदपि तदेव यथा सत्यं धर्म्ममिच्छंति लौकिकमुनयोऽपि '' वरं कूपशताद्वापी वरं वापीशतात् क्रतुः । वरं क्रतुशतात्पुत्रः सत्यं पुत्रशताद्वरमिति'' ।१ । वचनवक्रनार-दवदिति अनेन च श्रोतुः पुत्रक्रतुप्रभृतिषु प्रायः संसारकारणेषु धर्म्मप्रतीतिराहितेति आहरणतद्दोषतेति यथा वा बुद्धिमता केनापि कृतमिंद जगत्सन्निवेशविशेषवत्त्वात् घटवत् स चेश्वर इति अनेन हि स बुद्धिमान् कुंभकारतुल्योपीश्वरः सिध्यतीति ईश्वरश्च स विवक्षित इति स्था० । ४ ठा०

तद्यथा ।

आहरणतद्दोसे चउव्विहे पन्नत्ते । तं जहा । अधम्मजुत्ते पडिलोमे आत्तोवणीए दुरोवणीए ॥

स्था० ठा० ४ दश० अ० २ ।

आहरिज्जमाण त्रि०(आह्रियमाण) खाद्यमाने पुद्गले आहारे अभ्यवह्रियमाणे, स्था० ठा० १० । आहारतया जीवेन गृह्यमाणे । स्था० ठा० ३ ।

आहरित्तए अव्य० (आहर्त्तुम्) अदनं कर्त्तुमित्यर्थे, । तं० ।

आहरिसिय त्रि०(आधर्षित) भर्त्सिते, आ० म०प्र० ।

आहवण न०(आह्वान) संशब्दने, पंचा० १ व- (अग्गिकुमाराहवणे धूवं एगं इहं वेति) । पंचा० ।

आहव्वणी स्त्री०(आथर्वणी) स्वाभिधानायां सद्योऽनर्थकारिण्यां विद्यायाम् सूत्र० श्रु० ५ अ० २ ।

आहा धा०(कांक्ष) आकांक्षायाम्, **कांक्षेराहाहिलंघाहिलंखवबवंकमहसिहविलुंपाः । ८ ।४ ।९ ।** इति कांक्षेराहादेशः । आहाइ । कांक्षति । प्रा० ।

आहार पुं०(आधार) अधिकरणे, विशे० आ०चू०अ०१ अनु० ।

दोण्हं गब्भत्थाणं आहारे पं० तं० मणुस्साणं चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव ॥

टी० द्वयोरेव गर्भस्थयोराहारोऽत्येषां गर्भस्थैवाभावादिति । स्था० ठा० २ । स चतुर्भेदस्तद्यथा वैषयिको व्यापक औपश्लेषिकः सामीप्यकश्च आ० म० द्वि० यथा ।

आहारोआहेयं च होइ दव्वं तहेव भावा य ।

द्रव्यं आधारो भवति पर्य्यायाणाम् । विशे० । आश्रये, ज्ञा० अ० २ आलम्बने, संथा० आधेयस्यैव सर्वलोकानामुपकारित्वात् (ज्ञा० अ० १) आधार इवाधार आश्रय इति यावत् । सम्यक्त्वे, यथा धरातलमन्तरेण निरालंबं जगदिदं न तिष्ठति एवं धर्मजगदपि सम्य क्त्वलक्षणाधारव्यतिरेकेण नावतिष्ठत इति तथा भावनीयम् । प्रव० ध० । आधारणादाधारः । आकाशे, भ० श० २ उ० २ ।

✱**आहार** पुं० आहरणमाहारः ग्रहणे, क-प्र० । भोजने, प्रश्न० अभ्यवहरणे प्रव० ।

आहारनिक्षेपः ।

नामं ठवणा दविए रवेत्ते भावे च होंति बोधव्वो ।
एसो खलु आहारेनिक्खेवो होइ पंचविहो ॥

(नामं ठवणेत्यादि) नामस्थापना द्रव्य क्षेत्रभावरूपः पंचप्रकरो भवति निक्षेप आहारपदाश्रय इति । तत्र नामस्थापनेअनादृत्य द्रव्याहारं प्रतिपादयितुमाह ।

दव्वे सचित्तादी खेत्ते नगरस्स जणवओ होइ ।
भावाहारो तिविहो ओए, लोमे य पक्खेवे ॥

(दव्वे इत्यादि) द्रव्याहारे चिंत्यमाने स चित्तादिराहारस्त्रिविधो भवति । तद्यथा सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च तत्रापि सचित्तः षड्विधः पृथिवीकायादिकः । तत्र सचित्तस्यं पृथिवीकायस्य लक्षणादिरूपापन्नस्याहारो द्रष्टव्यः तथाप्कायादरेपीति एवं मिश्रोऽचित्तश्चायोज्यः नवरमग्निकायमचित्तं प्रायशो मनुष्या आहारयंति ओदनादेस्तद्रूपत्वादिति । क्षेत्राहारस्तु यस्मिन्क्षेत्रे आहारः क्रियते उत्पद्यते व्याख्यायते । यदि वा नगरस्य यो देशो धान्यधनादिनोपभोग्यःस क्षेत्राहारः । तद्यथा । मथुरायाः समासन्नो देशः परिभोग्यो मथुराहारो माठरकाहारः खेडाहार इत्यादिभावाहारस्त्वयं । क्षुधोदयाद्भक्षपर्यायोपपन्नं वस्तु यदाहार यति स भावाहार इति तत्रापि प्रायश आहारस्य जिव्हेन्द्रियविषयत्वात्तिक्तकटुककषायाम्ललवणमधुररसा गृह्यंते । तथा चोक्तं "राईभत्ते भावओ तित्ते वा जाव मधुरेत्यादि" अन्यदपि प्रसंगेन गृह्यते । तद्यथा । खरविशदमभ्यवहार्यं भक्ष्यं तत्रापि पुष्पाढ्य ओदनः प्रशस्यते न शीतः । उदकं तु शीतमेव तथा चोक्तं शैत्यमपां प्रधानो गुणः । एवं तावदभ्यवहार्यं द्रव्यमाश्रित्य भावाहारः प्रतिपादितः । सांप्रतमाहारकमाश्रित्य भावाहारं निर्युक्तिकृदाह । भावाहारस्त्रिविधस्त्रिप्रकारो भवति । आहारकस्य जंतोस्त्रिभिः प्रकारैराहारोपादानादिति । प्रकारानाह (ओहेति) तैजसेन शरीरेण तत्सहचरितेन च कर्मणा कार्मणेनाभ्यां द्वाभ्यामप्याहारयति यावदपरमौदरिकं शरीरं न निष्पद्यते । तथा चोक्तं "तएण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो । तेण परं मिस्सेणं जाव शरीरस्य निष्पत्ती ॥ तथा । ओहारा जीवा सव्वे आहारगा अपज्जता" । लोमाहारस्तु शरीरपर्याप्त्युत्तरकालं बाह्यया त्वचा लोमभिराहारो लोमाहारस्तथाप्रक्षेपेण कवलादेराहार प्रक्षेपाहारः स च वेदनीयोदयेन चतुर्भिः स्थानैराहारसद्भावाद्भावति । तथाचोक्तं " चउहिं ठाणेहिं आहारसन्ना समुप्पज्जइ तं जहा ओमोट्ठयाए छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मई एतमट्ठोवओ गेणंति ॥

सांप्रतमेतेषां त्रयाणामप्येकयैव गाथया व्याख्यानं कर्तुमाह ।

सरीरेणोयाहारो तयायफासेण लोमआहारो ।
पक्खेवाहारो पुण कावलितो होइ नायव्वो ॥

सरीरेणेत्यादि ॥ तैजसेन कार्मणेन च शरीरेणौदारिकादिशरीरानिष्पत्तेर्मिश्रेण च य आहारः स सर्वोऽप्योजाहार इति केचिद् व्याचक्षते । औदरिकादिशरीरपर्याप्तापर्याप्तकोपींद्रियानापानभाषामनःपर्याप्तिभिरपर्याप्तकः शरीरेणाहारयन् ओजाहार इति गृह्यते तदुत्तरकालं त्वचा स्पर्शेंद्रियेण आहारः स लोमाहार इति । प्रक्षेपाहारस्तुकावलिकः कवलप्रक्षेपनिष्पादित इति ज्ञातव्यो भवति के ओजाहाराः के लोमाहाराः के प्रक्षेपाहारा पुनरप्येषामेव स्वामिविशेषेण विशेषमाविर्भावियन्नाह ॥

ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा ।
पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होइ नायव्वा ॥४॥

ओयाहार इत्यादि । यः प्रागुक्तः शरीरेणौजसाहारस्तेनाहारेणा हारका जीवाः सर्वेऽप्यपर्याप्तका ज्ञातव्याः । सर्वाभिः पर्याप्तिभिरपर्याप्तास्ते वेदितव्याः । तत्र प्रथमोत्पत्तौ जीवः पूर्व-शरीरपरित्यागे विग्रहेणाविग्रहेण चोत्पत्तिदेशे तैजसेन कार्मणेन शरीरेण तप्तस्नेहपतितसंपानकवत्तत्प्रदेशस्थानात्पुद्गलानादत्ते तदुत्तरकालमपि यावदपर्याप्तकावस्था तावदोज आहार इति पर्याप्तकास्त्विंद्रियादिभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः केषांचिन्मतेन शरीरपर्याप्तका वा गृह्यंते तदेवं तेलोमाहारा भवंति तत्र स्पर्शेंद्रियेणोष्मादिना तप्तच्छायया शीतवायुनोदकेन प्रीयतेप्राणी गर्भस्थोऽपि पर्याप्त्युत्तरकालं लोमाहार एवेति प्रक्षेपाहारे तु भजनीया यदैव प्रक्षेपं कुर्वंति तदैव प्रक्षेपाहारो नान्यदा लोमा-हारता तु वाय्वादिस्पर्शात्सर्वदैवेति स च लोमाहारश्चक्षुष्म-तामर्वाग्दृष्टिमतां न दृष्टिपथमवतरत्यतोऽसौ प्रतिसमयवर्ती प्रायशः प्रक्षेपाहारस्तूपलभ्यते प्रायः स च नियतकालीयः । तद्यथाः । देवकुरूत्तरकुरुप्रभवा अष्टमभक्ताहाराः संख्येय-वर्षायुषामनियतकालीयः प्रक्षेपाहार इति ॥

सांप्रतं प्रक्षेपाहारं स्वामिविभागेन दर्शयितुमाह ॥

एगिंदियदेवाणं नेरइयाणं च नत्थि पक्खेवो ।
सेसाणं पक्खेवो संसारत्थाण जीवाणं ॥

(एगिंदिय इत्यादि) एकमेव स्पर्शेंद्रियं येषां भवति ते एकेन्द्रियाः पृथिवीकायादयस्तेषां देवनारकाणां च नास्ति प्रक्षेपस्ते हि पर्याप्त्युत्तरकालं स्पर्शेंद्रियेणैवाहारयंतीति कृत्वा लोमाहाराः तत्र देवानां मनसा परिकल्पिताः शुभाः पुद्गलाः सर्वेणैव कायेन परिणमंति नारकाणां त्वशुभा इति । शेषास्त्वौदारिकशरीरा द्वीन्द्रियादयस्तिर्यङ् मनुष्यास्तेषां प्रक्षेपाहार इति । तेषां संसार-स्थितानां कायस्थितेरेवाभावात्प्रक्षेपमंतरेण कावलिक आहारो जिव्हेंद्रियसद्भावादिति अन्ये त्वाचार्या अन्यथा व्याचक्षते तत्र यो जिव्हेंद्रियेण स्थूलशरीरे प्रक्षिप्यते स प्रक्षेपाहारः यस्तु घ्राणदर्शनश्रवणैरुपलभ्यते धातुभावेन परिणमति स ओजाहारः । य पुनः स्पर्शेन्द्रियेणैवोपलभ्यते धातु भावेन प्रयाति स लोमाहार इति । सूत्र- श्रु० २ अ ३ प्रव० दवा २५

सांप्रतं कालविशेषमधिकृत्याऽनाहारकानभिधित्सुराह ।

एक्कं च दोवसमए तिन्निवसमए मुहुत्तमद्धं वा ।
सादीयमनिहणं पुण कालमणाहारगा जीवा ॥

एक्कं चेत्यादि । तत्र 'विग्गहगइमावन्ना केवलिणोसमोहया अ योगीया । सिद्धा य अणाहारा सेसाआहरगाजीवा'' अस्था लेशतोयऽमर्थः उत्पत्तिकाले विग्रहगतौ वक्रगतिमापन्नाः केवलिनो लोकपूरणकाले समुद्घतावस्थिता अयोगिनः-शैलेश्यवस्थाः सिद्धाश्चानाहारकाः शेषास्तु जीवाहारकाः इत्यवगंतव्यं तत्र भवाद्भवांतरं यदासमश्रेण्या याति तदानाहारको न लभ्यते यदापि विश्रेण्यामेकेन वक्रेणोत्पद्यते तदापि प्रथमसमये पूर्वशरीरस्थेनाहारितं द्वितीये त्ववक्रसमये समाश्रित-शरीरस्थेनेतिवक्रद्वये तु त्रिसमयोत्पतौ मध्यसमयेनाहारक इति । इतरयो स्त्वाहारक इति वक्रत्रयेतु चतुः समयोत्पत्तिके मध्यवर्त्तिनोः समययोरनाहारकश्चतुः समयोत्पत्तिश्चैव भवति । त्रसनाड्या बहिरुपरिष्टादधोधस्ताद्वापर्युत्पद्यामानो दिशो विदिशि विदिशो वा दिशि यदोत्पद्यते तदा लभ्यते । तत्रैकेन समयेन त्रसनाडी प्रवेशो द्वितीयेनोपर्यधो वा गमनं तृतीयेन च बहिर्निःसरणं चतुर्थेन तु विदिक्षूत्पत्तिदेशप्राप्तिरिति । पंचमसमयस्तु त्रसनाड्या बहिरेव विदिशो विदिगुत्पतौ लभ्यते । तत्र च मध्य वर्तिषु आनाहारक इत्यवगंतव्यं । आद्यंतसमय-योस्त्वाहारकइति । केवलिसमुद्घातेपि कार्मणशरीर-वर्तित्वात्तृतीयचतुर्थ पंचमसमयेष्वनाहारको द्रष्टव्यः । शेषेषु त्वौदरिकतन्मिश्रवर्तित्वा दाहारक इति (मुहुत्तमद्धंचत्ति) अंतर्मुहूर्तं गृह्यते । तच्च केवली स्वायुषः क्षये सर्वयोगनिरोधे सति ह्रस्वपंचाक्षरोद्गिरणमात्रकालम् यावदनाहारक इत्येवमवगंतव्यं सिद्धजीवास्तु शैले श्यवस्थाया आदिसमयादारभ्यानंतमपि कालमनाहारका इति । सांप्रतमेतदेव स्वामिविशेषविशेषि-ततरमाह ।

एक्कं च दोव समए केवलिपरिवज्जिया अणाहारा ।
पंचमि दोणि लोए य पूरिए तिन्नि समयाओ ॥

एक्कंचेत्यादि ॥ केवलपरिवर्जिताः संसारस्था जीवा एकं द्वौवा अनाहारका भवंति ते च द्विविग्रह त्रिविग्रहोत्पत्तौ त्रिचतुः सामयिकायां द्रष्टव्याः चतुर्विग्रहपंचसमयोत्पत्तिस्तु स्वल्प-सत्वाश्रितेपि न साक्षादुपात्ता । तथा चान्यत्राप्यभिहितं एकं द्वौ वानाहारकः । वाशब्दात् त्रीन् वा आनुपूर्व्या अभ्युदग्र उत्कृष्टतो विग्रहगतौ चतुरः समयानागमेऽभिहिताः तेच । पंचमसमयोत्पत्तौ लभ्यते नान्यंत्रेति । भवस्थकेवलिनस्तु समुद्घाते मंथे तत्करणोपसंहारावसरे तृतीयपंचमसमयौ द्वौ लो कपूरणा-चतुर्थसमयेन सहितास्त्रयः समया भवंतीति ।

पुनरपि निर्युक्तिकारः सादिकमपर्यवसानं कालमनाहारकत्वं दर्शयितुमाह ॥

अंतो मुहुत्तमद्धं सेलेसीए भवे अणाहारा ।
सादीयमनिहणं पुण सिद्धायणाहारगा होंति ॥

(अंतोमुहुत्तमित्यादि) शैलेश्यवस्थाया आरभ्य सर्वथानाहारकः सिद्धावस्थाप्राप्तावनंतमपि कालं यावदिति पूर्वं तु कावा लिकाख्यव्यतिरेकेण प्रतिसमयमनाहारकः कावलिकेन तु कादाचित्क इति । सूत्र० श्रु० २ अ० ३ ॥ सयोगिकेवली अनाहारक इति वदतां दिगम्बराणां तस्याऽऽहारकत्वसाधनेन प्रतिक्षेप कृतः । सूत्र० । सम्म० । तदेवं संसारस्था जीवा विग्रहगतौ जघन्येनैकं समयं उत्कृष्टतः समयत्रयं भवस्थकेवली च समुद्घातावस्थाः समयत्रयमनाहारकः शैलेश्यवस्था यांत्वंतर्मुहूर्तं सिद्धास्तु-सादिकमपर्यंतं कालमनाहारका इति स्थितं ॥

सांप्रतं प्रथमाहारग्रहणं येन शरीरेण करोति तद्दर्शयति ॥

जोएण कम्मएणं आहारेई अणंतरं जीवा ।
तेण परं मीसेणं जीवशरीरस्स पज्जत्ती ॥

जोएणेत्यादि । ज्योतिस्तेजस्तदेव तत्र वा भवं तैजसं कार्मणेन वाहारयति । तैजसकार्मणे हि शरीरे आसंसारभाविनि ताभ्यामेवोत्पत्तिदेशं गता जीवा प्रथममाहारं कुर्वंति ततः परमौदा-रिकमिश्रेण वैक्रियमिश्रणेन वा यावच्छरीरं निष्पद्यते तावदाहारयंति । शरीरनिष्पत्तौ त्वौदारिकेण वैक्रियेण वाऽऽहारयंतीति स्थित । सूत्र० श्रु० २ अ० ३ । श्रा० ।

केवलिनां प्रच्छन्नावाहारनिर्हारौ ॥ स० ॥

पृथ्वीकायिकादीनामाहारनिरूपणम्-कथं किं वा ते आह रन्ति ॥

सुयं मे आउसंते णं भगवया एवमक्खायं इह खलु आहारपरिण्णा णामज्जयणे तस्स णं अयमट्ठे इह खलु पाईणं वा सव्वत्तो सव्वावंति च णं लोगंसि चत्तारि वीयकाया एवमाहिज्जंति । तं जहा अग्गवीया मूलवीया पोरवीया खंधवीया ते सिं च णं अहाविएणं अहावगासेणं इहे गतिया सत्ता पुढवीजोणिया पुढविसंभवा पुढवीवुक्कमये तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति ॥१ ॥

॥ टी० ॥ सुधर्मस्वामी जंबूस्वामिनमुद्दिश्येदमाह । तद्यथा श्रुतं मयाऽऽयुष्मता तु भगवतेदमाख्यातं । तद्यथा । आहारपरिज्ञेदमध्ययनं तस्य चायमर्थः । प्राच्यादिषु दिक्षु सर्वत इत्यूर्ध्वाधो विदिक्षु च (सव्वावंतित्ति) सर्वस्मिन्नपि लोके क्षेत्रेप्रज्ञापकभावदिगाधारभूतेऽस्मिन् चत्वारो बीजकाया बीजमेव कायो येषां ते तथा बीजं वक्ष्यमाणं चत्वारो बीजप्रकारा समुत्पत्तिभेदा भवंति तद्यथा अग्रे बीजं येषामुत्पद्यते ते तलता लिसहकारादयः शाल्यादयो वा । यदिवाग्राण्येवोत्पत्तौ

कारणतां प्रतिपद्यंते येषां कोरंटादीनां ते अग्रबीजास्तथा मूलबीजा आर्द्रकादयः पर्वबीजास्त्विक्ष्वादयः स्कंधबीजाः सल्लक्यादयः । नागार्जुनीयास्तु पठंति (वणस्सइकाइयाणं पंचविहा बीजवक्कंती एवमाहिज्जइ तं जहा अग्गमूलपोरुक्खंधबीयरुहा छट्ठापि एगेंदिया समुच्छिमा बीया जायंते) यथा दग्धवनस्थलीषु नानाविधानि हारितान्युद्भवंति पथिन्यो वाऽभिनवतडागादाविति तेषां च चतुर्विधानामति वनस्पतिकायानां यद्यस्य बीजमुत्पत्तिकारणं तद्यथा बीजं । तेन यथाबीजेनेति । इदमुक्तं भवति । शाल्यंकुरस्य शालिबीजमुत्पत्तिकारणं । एवमन्यदपि द्रष्टव्यं । यथावकाशेति यो यस्यावकाशः यद्यस्योत्पत्तिस्थानमथवा भूम्यंबुकालाकाशबीजसंयोगा यथावकाशे गृह्यंते तेनेति । तदेवं यथाबीजं यथावकाशेन चेहास्मिन् जगत्येके केचन सत्त्वा ये तथाविधकर्मोदयाद्वनस्पतिषूत्पित्सवस्ते हि वनस्पतावुत्पद्यमाना अपि पृथिवीयोनिका भवंति यथा तेषां वनस्पतिबीजं कारण-मेवमाधारमंतरेणोत्पत्तेरभावात्पृथिव्यपि शैवालजंबालादेरुदक-वदिति । तथा पृथिव्यां संभवः सदा भवनं येषां वनस्पतीनां तथा । इदमुक्तं भवति । न केवलं ते सद्योनिकायस्थितिका-श्चेति । तथा पृथिव्यामेव विविधमुत्प्राल्येन क्रमःक्रमणं येषा ते पृथिव्युत्क्रमाः । इदमुक्तं भवति । पृथिव्यामेव तेषामूर्ध्वक्रमण-लक्षणा वृद्धिर्भवति । एवं च ते तद्योनिकास्तत्संभवास्तद् व्युत्क्रमा इत्येतदनूद्याप्यपरं विधातुकाम आह ॥

कम्मोवगा इत्यादि । ते हि तथाविधेन वनस्पतिकायसंभवेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तेष्वेव वनस्पतिषूपसामीप्येन तस्यामेव च पृथिव्यां गच्छंतीति कर्मोपगा भण्यंते तेहि कर्मवशगा वनस्पतिकायादागत्य तेष्वेव पुनरपि वनस्पतिषूत्पद्यंते । न चान्य त्रोत्पा अन्यत्र भविष्यंतीति उक्तं च । ''कुसुमपुरोसे बीजे मथुरायां नाङ्कुरः समुद्भवति । यत्रैव तस्य बीजं तत्रैवोपद्यते प्रसवः '' तथा ते जीवाः कर्मनिदानेन कारणेन समाकृष्यमाणास्तत्र वनस्पति-काये वा व्युत्क्रमाः समागताः संतो नानाविधयोनिकासु पृथिवीष्वित्यन्येषामपि षण्णां कायानामुत्पत्ति-स्थानभूतासु सचित्ताऽचित्तमिश्रासु वा श्वेतकृष्णादिवर्णतिक्तादिर ससुर-भ्यादिगंधमृदुकर्कशादिस्पर्शादिकैर्विकल्पैर्बहुप्रकारासु भूमिषु वृक्षतया विविधा वर्तंते ते च तत्रोत्पन्नास्तासां पृथिवीनां स्नेहं स्निग्धभावमाददते स एव च तेषामाहार इति । नच ते पृथवीशरीरमाहारयंतः पृथिव्याः पीडामुत्पादयंति ॥ सूत्र० श्रु० २ अ- ६ ।

ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउशरीरं तेउशरीरं वाउशरीरं वणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं शरीरं पुव्वा हारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूवियकडं संतं अवरेवियणं तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णाणा णागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणा विह-सरीरपुग्गलविउव्वित्ता ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥

टी० एवमप्कायतेजोवायुवनस्पतीनामायोज्यं । अत्र च पीडा-नुत्पादनेऽयं दृष्टान्तः । तद्यथा । अण्डोद्भवाद्या जीवा-मातुरुष्मणा विवर्धमाना गर्भस्था एवोदरगतमाहारयंतो नातीव पीडामुत्पादयंत्येव-मसावपि वनस्पतिकायिकः पृथिवीस्नेहमाहार यन्नातीव तस्याः पीडामुत्पादयति उत्पद्यमानः समुत्पन्नश्च बुद्धिमुपगतोऽ-सदृशवर्णरसाद्युपेतत्वात् बाधां विदध्यादपीति । एवमप्कायस्य भौमस्यांतरिक्षस्य वा शरीरमाहारयंति तथा तेजसो भस्मादिकं शरीरमाददति । एवं वाय्वादेरपीति द्रष्टव्यं । किंबहुनोक्तेन नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणिनां यच्छरीरं तत्ते समुत्पद्यमाना अचित्तमपि स्वकाये नावष्टभ्य प्रासुकीकुर्वंति । यदि वा परिविध्वस्तं पृथिवीकायादिशरीरं किंचित्परितापितं कुर्वंति ते वनस्पतिजीवाएतेषां पृथिवीकायादीनां तच्छरीरं पूर्वमाहारितमिति तैरेव पृथिवीकायादि-भिरुत्पत्तिसमये आहारितमासीत् स्वकायत्वेन परिणामितमासीत् । तदधुना वनस्पतिजीवस्तत्रोत्पद्यमान उत्पन्नो वा त्वचा स्पर्शेनाहार-यत्याहार्यं च स्वकायत्वेन विपरिणामयति विपरिणामितं च तच्छरीरं स्वकायेन सह स्वरूपतां नीतं सत्तन्मयतां प्रतिपद्यते । अपराण्यपि मूलशाखाप्रतिशाखापत्रपुष्पफलादीनि तेषां पृथिवीकायिकानां वृक्षाणां नानावर्णानि । तथाहि । स्कंध-स्यान्यथाभूतो वर्णो मूलस्य चान्यादृश इति । एवं यावन्ना-नाविधशरीरेषु पुद्गलविकुर्वितास्ते भवंतीति । तथाहि । नाना-रसवीर्यविपाका नानाविधपुद्गलोपचयात्सुरूपकुरूपसंस्था-नास्ते भवंतीति । तथा दृढाल्पसंहननाः कृशस्थूलस्कंधाश्च भवंत्येवमादिका नानाविधस्वरूपाणि विकुर्वंतीति स्थितम् । केषांचिच्छाक्यादीनां वनस्पत्याद्या स्थावरजीवा एव न भवंतीति अतस्तत्प्रतिषेधार्थमाह । ते जीवा इत्यादि । ते वनस्पतिषूत्पन्ना जीवा उपयोगलक्षणत्वाज्जीवानां तेषामप्याश्रयोत्सर्पणादिकया क्रिययोपयोगो लक्ष्यते । तथा विशिष्टाहारोपचयापचयाभ्यां शरीरोपचयापचयसद्भा-वादभकजीवाः स्थावरास्तथाच्छि-न्नप्ररोहणात्स्वापात्सर्वत्वगपहरणे मरणादित्येवमादयो हेतवोऽत्र द्रष्टव्याः यदत्र कैश्चित्पृष्टेपि वनस्पतीनां चैतन्ये सिद्धानैकांतिकत्वादिकमुक्तं स्वदर्शनानुरागात्तदपकर्णनीयं न हि सम्यगार्हतमताभिज्ञोऽसिद्धविरुद्धानैकांतिकोपन्यासेन व्यामोह्यते सर्वस्य कथांचिदभ्युपगतत्वात्प्रतिषिद्धत्वाच्चेति ते जीवास्तत्र वनस्पतिषु तथाविधेन कर्मणा उपपन्नगाः । तच्चेदं एकेंद्रियजातिस्थावरनामवन-स्पतियोग्यायुष्कादिकमिति तत्कर्मोदयेन तत्रोत्पन्ना उच्यंते न पुनः कालेश्वरादिना तत्रोत्पाद्यंते इत्येवमाख्यातं तीर्थकरादिभिरिति। एवं तावत्पृथिवीयोनिका वृक्षा अभिहिताः सूत्र० श्रु० २ अ० ३ ।

सांप्रतं तद्योनिकेष्वेव वनस्पतिषु अपरे समुत्पद्यंत इत्येत-द्दर्शयितुमाह । सूत्र०

आहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्ख-संभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं । तत्थ वुक्कमा पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउद्दंति ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विप्परिणामियं सारूविकडं संतं अवरेवियणं तेसिं रुक्ख जोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावन्ना णाणा-गंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविह-

सरीरपुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं ॥ ३ ॥

टी० । सुधर्मस्वामी शिष्योद्देशेनेदमाह ॥ अथापरमेतदा ख्यातं पुरा तीर्थकरेण यदि वा तस्यैव वनस्पतेः पुनरपरं वक्ष्य-माणमाख्यातं यद्यथेहास्मिन् जगत्येके केचन तथाविधक-र्मोदयवर्तिनः सत्वाः प्राणिनो वृक्षा एव योनिरुत्पत्तिस्था नमाश्रयो येषां ते वृक्षयोनिकाः । इह च यत्पृथिवीयोनिकेषु वृक्षेष्वभिहितं तदेतेष्वपि वृक्षयोनिकेषु वनस्पतिषु तदुपचयकर्तृसर्वमायोज्यं यावदाख्यातमिति । सूत्र० श्रु० २ अ० ३ ।

साम्प्रतं वनस्पत्यवयवानधिकृत्या ऽऽह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खत्ताए विउदृंति ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंतिपुढवीसरीरं आउते उवाउवणस्सइसरीरं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणामियं सारूविकडं संतं अवरेवियणं तेसिं रुक्ख जेणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावन्ना जाव ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥४ ॥

अथापरमेतदाख्यातं तद्दर्शयति । इहास्मिन् जगत्येके न सर्वे तथाविधकर्मोदयवर्तिनो वृक्षयोनिकाः सत्वा भवंति तदवयवा श्रिताश्च परे वनस्पतिरूपा एव प्राणिनो भवंति तथा यो ह्येको वनस्पतिजीवः सर्ववृक्षावयवव्यापी भवति तस्य चापरे तद वयवेषु मूलकंदस्कंधत्वक्-शाखाप्रवालपत्रपुष्पफलबीजभूतेषु दशसु स्थानेषु जीवाः समुत्पद्यंते ते च तत्रोत्पद्यमाना वृक्षयोनिका वृक्षव्युत्क्रमाश्चोच्यंते इति । शेषं पूर्ववत् इह च प्राक् चतुर्वि-धार्थप्रतिपादकानि सूत्राण्यभिहितानि । तद्यथा वनस्पतयः पृथिव्याश्रिता भवंतीत्येकं १ तच्छरीरं अप्कायादिशरीरं वाऽऽहारयंतीति द्वितीयं २ तथा विवृद्धास्तदाहारितं शरीरमचित्तं विध्वस्तं च कृत्वात्मसात्कुर्वंतीति तृतीयं ३ अन्यान्यपि तेषां पृथिवीयोनिकानां वनस्पतीनां शरीराणि मूलस्कंधकं दादीनि नानावर्णानि भवंतीति चतुर्थं ॥ ४ ॥ एवमत्रापि वनस्पतियोनिकानां वनस्पतीनामेवंविधार्थ-प्रतिपादकानि चतुष्प्रकाराणि सूत्राणि द्रष्टव्यानीति यावत्ते जीवा वनस्प-त्यवयव मूलस्कंधादिरूपाः कर्मोपपन्नगा भवंत्येवमाख्यातं । सूत्र-श्रु० ३ -अ० ३ ॥

अथ वृक्षोपर्य्युत्पन्नान् वृक्षानाश्रित्याह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कया तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिए सु रुक्खेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउदृंति ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थंतं सरीरगं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं क्खंधाणं तयाणं सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव णाणाविहसरीरं पुग्गलविउव्वित्ता ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥ ५ ॥

अथापरमेतत्पुराऽऽख्यातं यद्वक्ष्यमाणमिहैके सत्वा वृक्षयोनिका भवंति तत्र ये ते पृथिवीयोनिका वृक्षास्तेष्वेव प्रतिप्रदेशतया ये परे समुत्पद्यंते तस्यैकस्य वनस्पतेर्मूलारंभकस्योपचयकारिणस्ते वृक्षयोनिका इत्यभिधीयंते । यदि वा ये ते मूलकंदस्कंधशाखादिकाः पूर्वोक्तदशस्थान-वर्तिनस्त एवमभिधीयंते तेषु च वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु कर्मोपपादननिष्पादि-तेषु उपर्युपरि अध्यारोहंतीत्यध्यारुहा वृक्षोपरिजाता वृक्षाभिधानाः कामवृक्षाभिधाना वा द्रष्टव्यास्तदभावे वाऽपरे वनस्पतिकायाः समुत्पद्यंते वृक्षयोनिकेषुः वनस्पतिष्विति । इहापि प्राग्वच्चत्वारि सूत्राणि द्रष्टव्यानि ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोववन्नगा कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्जारोहत्ताए विउदृंति ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं अवरे विय णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्जारुहाणं सरीरा णाणा वन्ना जाव मक्खायं ॥६ ॥

तद्यथा योनिकेषु वृक्षेष्वपरेऽध्यारुहाः समुत्पद्यंते ते च तत्रोत्पन्नाः स्वयोनिभूतं वनस्पतिशरीरमाहारयंति तथा पृथिव्यप्तेजोवा य्वादीनां शरीरकमाहारयंति तथा तच्छीरमाहारितं सदचित्तं विध्वस्तं परिणामितमात्मसात्कृतं स्वकायावयवतया व्यवस्था पयंत्यपराणि च तेषामध्यारुहाणां नानाविधरूपरसगंधस्पर्शोपेतानि नानासंस्थानानि शरीराणि भवंति ते जीवास्तत्रस्वकृतकर्मोपपन्ना भवंतीत्येतदाख्यात-मिति प्रथमं सूत्रम् । सूत्र० श्रु० २ अ० ३ ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्जारोहजोणिया अज्जारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्ख जोणिएसु अज्जारोहेसु अज्जारोहत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं अज्जारोहजोणियाणं अज्जारोहाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति ते जीवा पुडवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि यणं तेसिं अज्जारोहजोणियाणं अज्जारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥७ ॥

द्वितीयं त्विदमथापरं पुराख्यातं । ये ते प्राग्वृक्षयोनिषु वृक्षेषु अध्यारुहाः प्रतिपादितास्तेष्वेवोपरि प्रतिप्रदेशोपचयकर्त्तारोऽध्यारुहवनस्पति-त्वेनोपपद्यंते ते च जीवा अध्यारुहप्रदेशेषूत्पन्ना अध्यारुहजीवास्तेषां स्वयोनिभूतानि शरीरास्याहारयंति । तथाऽपराण्यपि पृथिव्यादीनि शरीराणि आहारयंति अपराणि चाध्यारोहसंभवानामध्यारुहजीवानां नानाविधवर्ण कादिकानि शरीराणि भवंतीत्येवमाख्यातं ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्जारोहजोणिया अच्जारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा अज्जारोहजोणिएसु अज्जारोहत्ताए विउदृंति ते जीवा तेसिं अज्जारोहजोणियाणं अच्छारोहाणं सिणेहमा हारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरा आउसरीरा जावसारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं अज्जारो हजोणियाणं अज्जारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥ ८ ॥

तृतीयं त्विदं ॥ अहावरमित्यादि । अथापरं पुराख्यातं तद्यथा इहैके सत्वा अध्यारुहसंभवेष्वध्यारुहत्वेनोपपद्यंते ये चैवमुत्पद्यंते तेऽध्यारुहजीवा आहारयंति तृतीये त्वध्यारुहयोनिकानामध्यारुहजीवानां शरीराणि द्रष्टव्यानीति विशेषः ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्जारोहजोणिया अज्जारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा अज्जारोहजोणिएसु अज्जारोहेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउदृंति ते जीवा तेसिं अज्जारोहजोणियाणं अज्जारोहाणं सिणेहमाहारेंति जाव अवरेवि य णं तेसिं अज्जा-रोहजोणियाणं मूलाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥७ ॥

इदं तु चतुर्थकं तद्यथा (अहावरमित्यादि) अथापर-मिदमाख्यातं। तद्यथा इहैके सत्वा अध्यारुहयोनिकेष्वध्यारुहेषु मूलकंदस्कंधत्वक्शाखाप्रवालपत्रपुष्पफलबीजभावेनोत्पद्यंते ते च तथाविधकर्मोपगा भवंतीत्येतदाख्यातमिति शेषं तदेवेति । साम्प्रतं वृक्षव्यतिरिक्तशेषवनस्पतिकायमाश्रित्याह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव णाणाविहजोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउदृंति ते जीवा तेंसि णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति जाव ते जीवा कम्मोववन्ना भवंतीति मक्खायं १० एवं पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउदृंति जाव मक्खायं ११ एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउदृंति तणजोणीयं तणसरीरं च आहारेंति जावमक्खायं १२ एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउदृंति ते जीवा जाव एवमक्खायं १३ एवं ओसहीणं वि चत्तारि आलावगा १४ एवं हरियाणं वि चत्तारि आलावगा ॥ १५ ॥

साम्प्रतं वृक्षव्यतिरिक्तं शेषवनस्पतिकायमाश्रित्याह । (अहावरमित्यादि) अथापरमिदमाख्यातं यदुत्तरत्र वक्ष्यते । तद्यथा इहैके सत्त्वाः पृथिवीयोनिकाः पृथिवीसंभवाः पृथिवीव्युत्क्रमा इत्यादयो यथा वृक्षेषुचत्वार आलापका एवं तृणान्यप्याश्रित्य द्रष्टव्याः । ते चामी नानाविधासु पृथिवीयोनिषु तृणत्वेनोपपद्यंते पृथिवीशरीरं चाहरयन्ति १० द्वितीयं तु पृथिवीयोनिकेषु तृणेषूत्पद्यन्ते तृणशरीरं चाहारयंतीति ११ तृतीयं तु तृणयोनिकेषु तृणेषूत्पद्यंते तृणयोनिकं शरीरं चाहारयंतीति १२ चतुर्थं तृणयोनिकेषु तृणावयवेषु मूलादिदशप्रकारेषूत्पद्यंते तृणशरीरं चाहारयंत्येवं यादवाख्यातमिति १३ एव मौषध्याश्रयाश्चत्वार आलापका भणनीयाः १४ नवरमौषधिग्रहणं कर्तव्यमेवं हरिताश्रयाश्चत्वार आलापका भणनीयाः । कुहणेषु त्वेक एवालापको द्रष्टव्यस्तद्योनिकानामपरेषामभावादिति भावः ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणा-विहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कूहणत्ताए कंदुकत्ताए उव्वेहणियत्ताए निव्वेहणियत्ताए सछत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउदृंति ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं आयत्ताणं जाव कूराणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं एगो चेव आलावगो सेसा तिण्णि णत्थि ॥१६॥

इह चामी वनस्पतिविशेषा लोकव्यवहारतोऽनुगंतव्याः प्रज्ञा-पनातो दावासेया इति । अत्रार्थे सर्वेषामेव पृथिवीयो-निकत्वात्पृथिवीसमाश्रयत्वेनाभिहिताः इह च स्थावराणां वनस्पतेरेव प्रस्पष्टचैतन्यलक्षणत्वात्तस्यैव प्राक्प्रदर्शितं चैतन्यं ।

सांप्रतमप्काययोनिकस्य वनस्पतेः स्वरूपं दर्शयितुमाह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणावि हजोणिएसु उदएसु रक्खत्ताए विउदृंति । ते जीवा ते सिं णाणाजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेतिं पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं । जहा पुढविजोणियाणं चत्तारि गमा अज्जारुहाणं वि तहेव तणाणं ओसहीणं हरियाणं चत्तारि आलावगा भणियव्वा। एक्केके तहा उदगजोणियाणं रुक्खाणं इक्कके ॥ १७ ॥ अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उ दगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदयेसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए कच्छभाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउम-त्ताए कुमुयत्ताए नलिणत्ताए सुभगत्ताए सोगंधियत्ताए पोंडरियत्ताए महापोंडरियत्ताए सयपत्ताए सहस्सपत्ताए एवं कहलारकोकणपत्ताए अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिसमि-समुणालपुक्खलत्ताए पुक्खलत्थिभगत्ताए विउदृंति ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवी सरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उद गाणं जाव पुक्खलत्थिभगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं एगो चेव आलावगो ॥ १८ ॥

(अहावरमित्यादि) अथानंतरमेतद्वक्ष्यमाणमाख्यातं तद्यथा

इहैके सत्वास्तथाविधकर्मोपचयादुदकं योनिरुत्पत्तिस्थान येषां ते तथा । तथोदके संभवो येषां ते तथा । यावत्कर्मनिदानेन संदानितास्तदुपक्रमा भवंतीति ते च तत्कर्मवशगा नानाविधयोनिषूदकेषु वृक्षत्वेन व्युत्क्रामंत्युत्पद्यंते । ये च जीवा उदकयोनिका वृक्षत्वेनोत्पन्नास्ते तच्छरीरमुदकं शरीरमाहारयंति न केवलं तदेवान्यदपि पृथिवीकायादिशरीरमाहारयंतीति शेषं पूर्ववत् यथा पृथिवीयोनिकानांवृक्षाणां चत्वार आलापका एवमुदकयोनिकानामपि वृक्षाणां भवंतीत्येवं द्रष्टव्यं अपरस्य प्रागुक्तस्य विकल्पाभावादिति किं तर्हि एक एवालापको भवति १७ एतेषां हि उदकाकृतीनां वनस्पतिकायानां तथावयव-पनकशैवलादीनामपरस्य प्रागुक्तस्य विकल्पस्याभावादिति । एते च उदकाश्रया वनस्पतिविशेषाः कलंबुका हडादयो लोक-व्यवहारतोऽवसेया इति ॥१८॥

साम्प्रतमन्येन प्रकारेण वनस्पत्याश्रयमालापकत्रयं दर्शयि-तुमाह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता तेसिं चेव पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं रुक्खजोणिएहिं अज्जारोहेहिं अज्जारोहजोणिएहिं अज्जारुहेहिं अज्जा- रोहजोणिएहिं मूलेहिं जान बीएहिं पुढविजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं ओसहीहिं वि तिन्नि आलावगा एवं हरिएहिं वि तिन्नि आलावगा पुढविजोणिएहिं विआएहिं काएहिं जाव कूरेहिं उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं अज्जारुहेहिं वि तिण्णि तणेहिं वि तिण्णि आलावगा ओसहीहिं वि तिण्णि हरिएहिं वि तिण्णि उदगजोणिएहिं उदएहिं अवएहिं जाव पुक्खलत्थिभएहिं तसपाणत्ताए विउदृंति ॥१९॥

टी० तद्यथा । पृथिवीयोनिकैर्वृक्षैर्वृक्षयोनिकैर्वृक्षैस्तया वृक्षयोनिकैर्मूलादिभिरिति एवं वृक्षयोनिकैरध्यारुहैस्तथाऽध्यारुहयोनिकैर्मूलादिभिरिति एवमन्योपि तृणादयो द्रष्टव्याः एवमुदकयोनिकेष्वपि वृक्षेषु योजनीयं ॥१९॥

तदेवं पृथिवीयोनिकवनस्पतेरुदकयोनिकवनस्पतेश्च भेदानुपदर्श्याऽधुना तदनुवादेनोपसंजिघृक्षुराह ॥

ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं उदगजोणियाणं रुक्खजोणियाणं अज्जारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहीजोणियाणं हरियजोणियाणं रुक्खाणं अज्जारुहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव करवाणं उदगाणं अवगाणं जाव पुक्ख-लत्थिभगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्जारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलत्थिभगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥२०॥

(तेजीवा इत्यादि) ते वनस्पतिषूत्पन्ना जीवा पृथिवीयोनिकानां तथोदकवृक्षाध्यारुहतृणौषधिहरितयोनिकानां वृक्षाणां यावत्स्नेहमाहरयंतीत्येतदाख्यातमिति । तथा त्रसानां प्राणिनां शरीर महारयन्त्येतदवसाने द्रष्टव्यमिति । तदेवं वनस्पतिकायिकानां सुप्रतिपाद्यचैतन्यानां स्वरूपमभिहितं शेषाः पृथ्वीकाया-दयश्चत्वार एकेंद्रिया उत्तरत्र प्रतिपादयिष्यंते । सूत्र, श्रु० २ अ० ३ ।

उत्पलादिजीवानामाहारो वनस्पतिशब्दे ।

मनुष्याणाम् ॥

सांप्रतं त्रसकायस्याऽवसरः स च नारकतिर्यङ्मनुष्यदेव-भेदभिन्नः तत्र नारका अप्रत्यक्षत्वेनानुमानग्राह्या दुष्कृत-कर्मफलभुजः केचन संतीत्येवं ते ग्राह्या तदाहारोऽप्येकान्तेना-शुभपुद्गलनिवर्त्तित ओजसा प्रक्षेपेणेति । देवा अप्यधुना बाहुल्येनानुमानगम्या एव तेषामप्याहारः शुभ एकांतेनौजोनिवर्तितो न प्रक्षेपकृत इति । सचाभोगनिवर्तितो नाभोगकृतश्च । तत्र नाभोगकृतः प्रतिसमयभावी आभोगकृतश्च जघन्येन चतुर्भक्तकृत उत्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिंशद्वर्षसहस्रनिष्पादित इति शेषास्तु तिर्यङ्मनुष्यास्तेषां च मध्ये मनुष्याणामभ्यर्हितत्वात्तानेव प्राग्दर्शयितुमाह ॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं मणुस्साणं तं जहा कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं अरियाणं मिलुक्खयाणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावकासेणं इत्थीए पुरिस्ससयं कम्मकडाए जोणिए एत्थणं मेहु णवत्तियाए वणामं संजोगे समुप्पज्जइ ते दुहओ वि सिणेहं संचिणंति तत्थणं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुं सगत्ताए विउदृंति ते जीवा माओओयं पिउसुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किव्विसं तं पढमत्ताए आहारमाहा रेंति ततो पच्छा जं से माया णाणाविहाउ रसविईउ आहारमाहारेंति ततो एगदेसेणं ओय-माहारेंति आणुपुव्वेण वुड्ढा पलिपागमणुविन्ना ततो कायातो अभिनिवट्टमाणा इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति णपुंसगं वेगया जणयंति ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहा रेंति आणुपुव्वेण वुड्ढा ओयणं कुम्मासं तसथावरेय पाणे ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्सगाणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सरीरा णाणावण्णा भवंतीति मक्खायं ॥ २१ ॥

(अथावरं पुरक्खाय) मित्यादि । अथानंतरमेव तु पुरा पूर्वमाख्या तं तद्यथा आर्याणामनार्याणां च कर्मभूमिजाऽकर्मभूमिजादीनां मनुष्याणां नानाविधयोनिकानां स्वरूपं वक्ष्यमाणनीत्या समाख्यातं तेषां च स्त्रीनपुंसक-भेदभिन्नानां । यथाबीजेनेति । यद्यस्य बीजं तत्र स्त्रियाः- संबंधि शोणितं पुरुषस्य च शुक्रं एतदुभयमप्यविध्वस्तं शुक्राधिकं सन्मनुष्यस्य शोणिताधिकं स्त्रियास्तत्स

मता नपुंसकस्य कारणतां प्रतिपद्यते । तथा यथावकाशनेति । योऽर्थस्यावकाशो मातुरुदरकुक्ष्यादिकस्तत्रापि किल वामा स्त्रिया दक्षिणा कुक्षिः पुरुषस्योभयाश्रितः षंढ इति । अत्र चाविध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजमिति चत्वारो भंगाः तत्राप्याद्य एव भंगक उत्पत्तेरवकाशो न शेषेषु त्रिष्विति । अत्र च स्त्रीपुंसयोर्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिवर्तितायां योनौ मैथुनप्रत्ययिको रताभिला षोदयजनितोऽग्निकारणयोररणिकाष्ठयोरिव संयोगः समुत्पद्यते तत्संयोगे च तच्छुक्रशोणिते समुपादाय तत्रोत्पित्सवो जंतव स्तैजसकार्मणाभ्यां शरीराभ्यां कर्मरज्जुसंदानितास्तत्रोत्पद्यंते ते ते च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाचिन्वंत्यविध्वस्तायां योनौ सत्यामिति । विध्वस्यते तु योनिः ''पंचपंचाशिका नारी सप्तसप्ततिः पुरुष इति'' तथा द्वादश मुहुर्त्तानि यावच्छुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके भवतस्तत ऊर्ध्वं ध्वंसमुपगच्छत इति । तत्र जीवा उभयोरपि स्नेहमाहार्य्य स्वकर्मविपाकेन यथा स्वं स्त्रीपुन्नपुंसकभावेन । (विउट्टंतित्ति) वर्तंते समुत्पद्यंत इति यावत् । तदुत्तरकालं च स्त्रीकुक्षौ प्रक्षिप्ताः सन्तः स्त्रिया हारितस्याहारस्य निर्यासं स्नेहमाददति तत्स्नेहेन च तेषां जंतूनां क्रमोपचयादानेन क्रमेण निष्पत्तिरुपजायते (सत्ताहं कललं होइ सत्ताहंहोइबुब्बुयं) इत्यादि तदेवमनेन क्रमेण तदेकदेशेन वा मातुराहारमोजसा मिश्रेण वा लोमभिर्वानुपूर्व्वेणाहारयंति यथाक्रममानुपूर्व्येण वृद्धिमुपागताः संतो गर्भपरिपाकं गर्भनिष्पत्ति-मनुप्रपन्नास्ततो मातुःकायादभिनिवर्त्तमानाः पृथग्भवंतः संतस्त-द्योनेर्निर्गच्छंति । ते च तथाविधकर्मोदयादात्मनः स्त्रीभाव-मप्येकदा जनयंत्युत्पादयंत्यपरे कैचन पुंभावं नपुंसकभावं च । इदमुक्तं भवति । स्त्रीपुंनपुंसकभावः प्राणिनां स्वकृतकर्मनिवर्तितो भवति न पुनर्यो यादृगिह भवे सोमुऽष्मिन्नेव तादृगेवेति । ते च तदहर्जातबालकाः संतः पूर्वभवाभ्यासादाहाराभिलाषिणो भवंति मातुः स्तन्यमाहारयंति तदाहारेण चानुपूव्येण च वृद्धास्तदुत्तरकालं नवनीतदध्योदनादिकं यावत्कुल्माषान् भुंजते तथाहारत्वेनोपगतास्त्रसान् स्थावरांश्च प्राणिनस्ते जीवा आहारयंति तथा नानाविधपृथिवीशरीरं लवणादिकं सचेतनं वाहारयंति तद्याहारितमात्मसात्कृतं सारूप्य मापादितं सत् रसासृङ्मांसभेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातव इति सप्तधा व्यवस्थापयंत्यपराण्यपि तेषां नानाविधमनुष्याणां शरीराणि नानावर्णान्याविर्भवंति। ते च तद्योनिकत्वात्तदाधारभूतानि नानावर्णानि शरीराण्याहारयंतीत्येवमाख्यात मिति ॥ २१ ॥ सूत्र० श्रु० २ अ० ३।

तिर्यग्जलचराणाम्।

एवं तावद्गर्भव्युत्क्रांतजमनुष्याः प्रतिपादितास्तदनंतरं संमूर्छनजानामवसरस्त्वतांश्चोत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामि ।

सांप्रतं तिर्यग्योनिकास्तत्रापि जलचरानुद्दिश्याह ।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं जलचराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं । तंजहा । मच्छाणं जाव सुसमा-राणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडा तहेव जाव ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुविन्ना ततो कायाओ अभिनिवट्टमाणा अंडं वेगया जणयंति पोयं वेगया जणयंति से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति नपुंसगं वेगया जणयंति ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेहमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सति-कायं तसथावरे य पाणे ते जीवा आहारेंति । पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे विय णं तेसिं नानाविहाणं जलचर-पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छाणं सुसुमाराणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ २२ ॥

अथानंतरमेतद्वक्ष्यमाणं पूर्वमाख्यातं । तद्यथा । नानाविध-जलचरपंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां संबंधिनः कांश्चित्स्वनामग्राह-माह । तद्यथा । (मच्छाणं जाव सुसुमाराण) मित्यादि तेषां मत्स्यकच्छपमकरग्राहसुषुमारादीनां यस्य यथा यद्बीजं तेन तथा यथावकाशेन यो यस्योदरादाववकाशस्तेन स्त्रियाः पुरुषस्य च स्वकर्मनिवर्तितायां योनावुत्पद्यंते ते च तत्राभिव्यक्ता मातुराहारेण वृद्धिमुपगताः स्त्रीपुंनपुंसकानामन्यतमेनोत्पद्यंते । ते च जीवा जलचरा गर्भाद्व्युत्क्रांताः संतस्तदनंतरं यावद्डहरंति लघवस्ता-वदप्स्नेहमप्कायमेवाहारयंति आनुपूर्व्येण च वृद्धाः संतो वनस्पतिकायं तथापरांश्चत्रसाँस्थावरां-आहारयंति यावत्पंचेंद्रिया नत्याहारयंति तथाचोक्तं '' अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शत-योजनविस्तरः । तिंमिंगिलगिलोप्ययस्ति तद्विलोऽप्यस्ति राघवः'' तथा तेजीवाःपृथिवीशरीरं कर्दमस्वरूपं क्रमेण वृद्धिमुपगताः संत आहारयंति तद्याहारितं समानरूपीकृत-मात्मसात्परिणामयंति शेषं सुगमं यावत्कर्मोपगता भवंतीत्येवमाख्यातं ॥२२॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं च उप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं दुखुराणं गंडीपदाणं सणप्पयाणं ते सिं चणं आहावीएणं अहावगासेणं इत्थि-पुरिसस्स यकम्म जाव मेहुणवत्तिए णामं संजोगे समुपज्जइ तेदुहओसिणेहं संचिणंति तत्थणं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति ते जीवा माउओयं पिउसुक्कं एवं जहा मणुस्साणं इत्थि वि वेगया जणयंति पुरिसंपिनपुसंग पि ते जीवा डहरा समाणा माउ क्खीरं सप्पिं आहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसयावरेय पाणे ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि यणं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्ख-जोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्पयाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ २३ ॥

टी० अथापरमेतदाख्यातं नानाविधानां चतुष्पदानां तद्यथा। एकखुराणामित्यश्वखुरादीनां, तथा द्विखुराणां, गोमहिष्यादीनां तथा गंडीपदानां हस्तिगंडकादीनां, तथा सनखानां सिंहव्याघ्रादीनां, यथाबीजेन यथावकाशेन सकलपर्याप्तिमवाप्योप्पद्यंते तथोत्पन्नाः संतस्तदनंतरं मातुः स्तन्यमाहयंतीति । क्रमेण च वृद्धिमुपगताः संतोऽपरेषामपि शरीरमाहार-यंति । शेषं सुगम यावत्कर्मोपगताः भवंतीति ॥२३॥

साम्प्रतमुरःपरिसर्पानुद्दिश्याह ।

अहावरंपुरक्खायं णाणाविहाणंउरपरिसप्पथलयरपंचिंदिय तिरिक्खयोणियाणं तेसिं चणं तं जहा अहीणं अयगराणंअ सालियाणं महारेगाणंतेसिंचणं अहावीएणं अहावगासे णं

इत्थीए पुरिस जाव एत्थ णं मेहुणं एवं तं चेव नाणत्तं तेसिं च णे अंडं वेगइया जणयंति पोयं वेगइया जणयंति से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिंवेगइया जणयंति पुरिसं पि णपुंसगं पि ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमा हारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरपाणे ते जीवा आहारेंति पुढिव सरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरतिरिक्खा पंचिंदियअहीणं जाव महोरगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव मक्खायं ॥२४॥

टी० नानाविधानां बहुप्रकारणामुरसा ये प्रसर्प्पंति तेषां । तद्यथा अहीनामजगराणामाशालिकानां महोरगाणं यथावकाशेन यथा-बीजत्वेन चोत्पत्त्यांडजत्वेन पोतजत्वेन वा गर्भान्निर्गच्छंतीति ते च निर्गता मातुरूष्माणं वायुं चाहारयंति तेषां जातिप्रत्ययेन तेनैवाहारेण क्षीरादिनैव वृद्धिरुपजायते । शेषं सुगमं यावदा-ख्यातमिति ॥

सांप्रतं भुजपरिसर्पानुद्दिश्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तं जहा । गोहाणं नउलाणं सिंहाणं सरडाणं सल्लाणं सरघाणं खराणं घरकोइलियाणं विस्सभराणं मुसगाणं मंगुसाणं पयलाइयाणं विरालियाणं जोहाणं चउप्पाइयाणं तेसिं च णं अहावीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिंदियथलयरतिरिक्खाणं तं गाहाणं जाव मक्खायं ॥२५॥

टी० नानाविधाभ्यां भुजाभ्यां ये परिसर्प्पंति तेषां । तद्यथा। गोधानकुलादीनां स्वकर्मोपात्तेन यथाबीजेन यथावकाशेन चोत्पत्तिर्भवति। ते चांडजत्वेन पोतजत्वेनचोत्पन्नास्तदनंतरं मातुरूष्मणावायुना वाहारितेन वृद्धिमुपयांति शेषं सुगमं यावदा-ख्यातमिति ॥

सांप्रतं खेचरानुद्दिश्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं खहचरंपचिंदियतिरि-क्खजोणियाणं तं जहा चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं तेसिं च णं अहावीएणं अहावगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं नाणत्तं ते जीवा डहरा समाणा माउगात्तसिणेहमाहारेंति आनुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं खहचरपंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाणं चम्मपक्खीणं जावमक्खायं ॥ २६ ॥

नानाविधानां खेचराणामुत्पत्तिरेवं द्रष्टव्या यथा चर्मपक्षिणां चर्मकीटवल्गुलीप्रभृतीनां तथा लोमपक्षिणां सारसराजहंसका-कवकादीनां समुद्गपक्षिविततपक्षिणां वहिर्द्वीपवर्तिनामेतेषां यथाबीजेन यथावकाशेन चोत्पन्नानामाहारक्रियैवमुपजायते । तद्यथा । सा पक्षिणी तदंडकं पक्षाभ्यामावृत्य तावत्तिष्ठति यावत्तदंडकं तदूष्मणा हारितेन वृद्धिमुपगतं सत् कललावस्थां परित्यज्य चंद्रादिकानवयवान् परिसमाप्य्य भेदमुपयाति तदुत्तर-कालमपि मात्रोपनीतेनाहारेण वृद्धिमुपयाति शेषं प्राग्वत् ॥२६॥

विकलेन्द्रियाणाम् ।

व्याख्याताः पंचेंद्रिया मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च तेषां चाहारो द्वेधा । आभोगनिवर्तिताऽनाभोगनिवर्तितश्च तत्रानाभोगनिवर्तितः । प्रतिक्षण-भाव्याभोगनिवर्तितस्तु यथास्वं क्षुद्वेदनीयोदयभावीति ।

सांप्रतं विकलेंद्रियानुद्दिश्याह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवुक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पोग्गलाणं सरीरेसु वा सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसुयत्ताए विउदृंति ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अणुसूयमाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥२७॥

(अहावरमित्यादि) अथानंतरमेतदाख्यातमिहास्मिन् संसारे एके केचन तथाविधकर्मोदयवर्तिनः सत्वाः प्राणिनो नाना-विधयोनिकाः कर्मनिदानेन स्वकृतकर्मण उपादानभूतेन तत्रोत्पत्तिस्च्छाने उपक्रम्यागत्य नानाविधत्रसस्थावराणां शरीरेषु अचित्तेषु सचित्तेषु वा (अणुसुयत्ताएत्ति) अपरशरीराश्रिततया परनिश्रया विवर्तते समुत्पद्यंते इति यावत् ते च जीवा विकलेंद्रियाः सचित्तेषु मनुष्यादिशरीरेषु यूकालिक्षादिकत्वेनोत्पद्यंते । तथा तत्परिभुज्यमानेषु मंचकादिष्वचित्तेषु मत्कुणत्वे नाविर्भवंति तथाऽचित्तीभूतेषु मनुष्यादिशरीरकेषु विकलेंद्रियशरीरेषु वा ते जीवाअनुस्यूतत्वेन परनिश्रयाः कृम्यादित्वेनोत्पद्यंते । अपरे तु सचित्ते तेजःकायादौ मूषिकादित्वेनोत्प-द्यंते यत्र चाग्निस्तत्र वायुरित्यस्तदुद्भवा अपि द्रष्टव्याः तथा पृथिवीमनुश्रित्य कुंथुपि-पीलिकादयो वर्षादावूष्मणा संस्वेदजा जायंते तथोदके पूतरका डोल्लणकभ्रमरिकाच्छेदनकादयः समुत्पद्यंते तथा वनस्वतिकाये पनक भ्रमरादयो जायंते तदेवं तेजीवास्तानि स्वयोनि-शरीराण्याहारयंतिइत्येवमाख्यातमिति ।

सांप्रतं पंचेंद्रियमूत्रपुरीषोद्भवानसुमतः प्रतिपादयितुमाह

एवं दुरूवसंभवत्ताए ॥२८॥

एवमिति पूर्वोक्तपरामर्शः । यथा सचित्ताचित्तशरीरनिश्रया विकलेंद्रियाः समुत्पद्यंते तथा तत्संभवेषु मूत्रपुरीषवांतादिषु अपरे जंतवो दुष्टं विरूपं रूपं येषां क्रम्यादीनां ते दुरूपास्तत्संभवत्वेन तद्भावेनोत्पद्यंते ते च तत्र विष्ठादौ देहान्निर्गतेऽनिर्गते वा समुत्प-द्यमाना उत्पन्नाश्च तदेव विष्ठादिकं स्वयोनिभूतमाहारयंति । शेषं प्राग्वत् ॥२८॥

एवं खुरदुगत्ताए ॥२९॥

सांप्रतं सचित्तशरीराश्रयान् जंतून् प्रतिपादयितुमाह (एवं खुरदुगुत्ताएइत्यादि) एवमिति यथा मूत्रपुरीषादावुत्पादस्तथा तिर्यक्शरीरेषु । खुरदुगत्ताएत्ति । चर्मकीटतया समुत्पद्यंते ।

इदमुक्तं भवति जीवतामेव गोमहिष्यादीनां चर्मणोंतः प्राणिनः संमूच्छ्यर्थं ते च तन्मांसचर्मणी भक्षयंतश्चर्मणो विवराणि विदधति गलच्छोणितेषु विवरेषु तिष्ठंतस्तदेव शोणितमाहारयंति । यथा अचित्तगवादिशरीरेऽपि तथा सचित्ताचित्तवनस्पतिशरीरेऽपि धुणकीटकाः संमूच्छ्यंते ते च तत्र संमूर्छतस्तच्छरीरमाहारयंतीति ॥२९॥

साम्प्रतमप्कायं प्रतिपादयिषुस्तत्कारणभूतवातप्रतिपादनपूर्वकं प्रतिपादयतीत्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तस थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा तं सरीरगं वायसं सिद्धं वा वायसंगहियं वा वायं परिगहियं उट्ट वाएसु उट्टभागी भवति अहेवाएसु अहेभागी भवति तिरियंवाएसु तिरियंभागी भवति तं जहा ओसाहिमए महियाकरए हरतणुए सुद्धोदए ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥३०॥

(अहावरमित्यादि) अथानंतरमेतद्वक्ष्यमाणं पुरा पूर्वमाख्यातं इहास्मिन् जगत्येके सत्वास्तथाविधकर्मोदया नानाविधयो निकाः संतो यावत्कर्मनिदानेन तत्र तस्मिन्वातयोनिके ऽच्चाये व्युत्क्रम्यागत्य नानाविधानां बहुप्रकाराणां त्रसानां दर्दुरप्रभृतीनां स्थावराणांच हरितलवणादीनां प्राणिनां सचित्ताचित्तभेदभिन्नेषु शरीरेषु तदप्कायशरीरं वातयोनिकत्वादप्कायस्य वायुनो-पादानकारणभूतेन सम्यक् संसिद्धं निष्पादितं तथा वातेनैव सम्यग्गृहीतमभ्रपटलांतरनिर्वृत्तं तथा वातेनान्योन्यानुगत-त्वात्परिगतं तथोर्ध्वगतेषु वातेषूर्ध्वभागी। भवत्यप्कायो गगनगतवातवशाद्दिवि संमूर्च्छते जलं तथाधस्तादृतेषु तद्वशाद्भवत्यधोभागीत्यप्काय एवं तिर्यग्गतेषु तिर्यग्भागी भवत्यप्कायः । इदमुक्तं भवति । वातयोनिकत्वादप्कायस्य यत्र यत्रासौ तथाविधपरिणामपरिणतो भवति तत्र तत्र तत्कार्यभूतं जलमपि संमूर्च्छते। तस्य चाभिधानपूर्वकं भेदं दर्शयितुमाह । तद्यथा (ओसत्ति) अवश्यायः (हिमयेति) शिशिरादौ वातेरिता हिमकणाः। मिहिका धूमिकाः । करकाःप्रतीताः (हरतणुयत्ति) तृणाग्रव्यवस्थिता जलबिंदवः शुद्धोदकं प्रतीतमिति । इहास्मि-न्नुदकप्रस्तावे एके सत्वास्तत्रोत्पद्यंते स्वकर्मवशगास्तत्रोत्पन्ना-स्ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां स्वोत्पत्त्याधार-भूतानां स्नेहमाहारयंति ते जीवास्तच्छरीरमाहारयंति अनाहारका न भवंतीत्यर्थः शेषं सुगमं यावदेतदाख्यातमिति ॥३०॥ तदेवं वातयोनिकमप्कायं प्रदर्श्याधुनाऽप्कायसंभवमेवाप्कायं दर्शयितुमाह।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदग-संभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा तसथावर-जोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउदृन्ति ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं- तसथावरजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥३१॥

अथापरमाख्यातमिहास्मिन् जगति उदकाधिकारे वा एके सत्वास्तथाविधकर्मोदयाद्घातवशोत्पन्नत्रसस्थावरशरीराधारमुदकं योनिरुत्पत्तिस्थानं येषां ते तथा तथोदकसंभवा यावत्कर्मनिदानेन तत्रोत्पित्सवस्त्रसस्थावरयोनिकेषूदकेष्वपरोदकतया विवर्तंते समुत्पद्यंते ते चोदकजीवास्तेषां त्रसस्थावरयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयंत्यन्यान्यपि पृथिव्यादिशरीराण्याहारयंति । तच्च पृथिव्यादिशरीरमाहारितं सत् सारूप्यमानीयात्मसात्प्रकुर्वत्य-पराण्यति तत्र त्रसस्थावरशरीराणि निवर्तंते तेषां चोदकयोनि-कानामुदकानां नानाविधानि शरीराणि निवर्तन्ते इत्येतदा-ख्यातम् ॥३१॥

तदेवं त्रसस्थावरसंभवमुदकयोनित्वेन प्रदर्श्याऽधुना निर्विशेषणमप्कायसंभवमेवाप्कायं दर्शयितुमाह ।

अहावरं पुरक्खायं इहे गतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउदृंति ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं जीवाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं जीवाणं उदगजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥ ३२ ॥

(अहावरमित्यादि) अथापरमाख्यातमिहास्मिन् जगत्यु दकाधिकारे वा एके सत्वाःस्वकृतकर्मोदयादुदकयोनिषूदकेषूद्यंते ते च तेषामुदकसंभवानामुदकजीवानामात्माधारभूतानां शरीरमाहारयंति शेषं सुगमं। यावदाख्यातमिति ॥३२॥

सांप्रतमुदकाधारानपरान् पूतरकादिकांस्त्रसान् दर्शयितुमाह।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउदृंति ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥३३॥

(अहावरमित्यादि) अथापरमेतदा ख्यातमिहै के सत्वाउ दक-योनिषु चोदकेषु त्रसप्राणितया पूतरकादित्वेन विवर्तन्ते समुत्पद्यंते ते चोत्पद्यमानाः समुत्पन्नाश्च तेषामुदकयोनीनामुदकानां स्नेह-माहारयंति शेषं सुगमं यावदाख्यातमिति ॥३३॥

साम्प्रतं तेजस्कायमुद्दिश्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावर जोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं सेसा तिन्नि आलावगा उदगाणं ॥३४॥

(अहावरमित्यादि) अथैतदपरमाख्यातं इहास्मिन् संसारे एके केचन सत्वाः प्राणिनस्तथाविधकर्मोदयवर्तिनो नानाविधयोनयः प्राक् सन्तः पूर्वजन्मनि तथाविधं कर्मोपादाय तत्कर्मनिदानेन नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणिनां सचित्तेष्वचित्तेषु शरीरेषु चाग्नित्वेन विवर्त्तन्ते प्रादुर्भवंति । तथाहि । पंचेंद्रिय-तिरश्चांदंतिमहिषादीनां परस्परं युद्धावसरे विषाणसंघर्षे सति अग्निरुत्तिष्ठते एवमचित्तेष्वपि तदस्थिसंघर्षादग्नेरुत्थानं तथा द्वींद्रियादिशरीरेष्वपि यथासंभवमायोजनीयं तथा स्थावरेष्वपि वनस्पत्युपलादिषु सचित्ताचित्तेष्वग्निजीवाः समुत्पद्यंते ते चाग्निजीवास्तत्रोत्पन्नास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां स्नेहमाहारयंति । शेषं सुगमं यावद्भवंतीत्येवमाख्यातं । अपरे त्रयोऽप्यालापकाः प्राग्वद्दृष्टव्या इति ।

साम्प्रतं वायुकायमुद्दिश्याह ॥

अहावरंपुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वाउकायत्ताए विउद्दंति जहा अगणीणं तहा भाणियव्वा चत्तारि गमा ॥३५॥

अथापरमेतदाख्यातमित्याद्यग्निकायागमेन व्याख्येयम् । साम्प्रतमशेषजीवाधारं पृथिवीकायमधिकृत्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया णं । जाव कम्मनियाणेणं तत्तच्छ वुक्कमा णाणाविहाणं तस थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ पुढवी य सक्करा वालुयाय उवले सिला य लोणूसे । अयत उय तंव सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरेय ? हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजणपवाले । अब्भपडल प्पवालु य वायरकाए मणिविहाणा २ गोमेज्जए य रूयए अंके फलिहिय लोहियक्खे य । मरगयमसारगल्ले भूयमोयग इंदणीले य ३ चंदण गेरुयहसंगब्भे पुलए सोगंधिए य बोद्धव्वे । चंदप्पभवेरुलिए जलकंते सूरकंते य ४ एयाओ एएसु भाणियव्वा एओ गाहाओ जाव सूरकंताए विवुद्दंति ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेह माहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं सेसं तिण्णि आलवगा जहा उदगाणं ॥३६॥

अथापरमेतत्पूर्व्वमाख्यातं इहैके सत्वाः पूर्व्वं नानाविध योनिकाः स्वकृतकर्म्मवशा नानाविधत्रसस्थावराणां शरीरेषु पृथिवीत्वेनोत्पद्यन्ते । तद्यथा । सर्प्पशिरस्सु मणयः करिदंतेषु मौक्ति-कानि, स्थावरेष्वपि वेण्वादिषु तान्येवेति । एवमचित्ते षूपला-दिषु लवणभावेनोत्पद्यन्ते । तदेवं पृथिवीकायिका नाना विधासु पृथिवीषु शर्करावालुकोपलशीता-लवणादिभावेन तथा गोमेदकादिरत्नभावेन च बादरमणिविधानतया समुत्पद्यन्ते । शेषं सुगमं । यावच्चत्वारोऽप्यालापका उदकागमेन नतव्या । इति ॥३६॥

साम्प्रतं सर्व्वोपसंहारद्वारेण सर्वजीवान् सामान्यता विभ-णिषुराह ।

अहावरं पुरक्खायं सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगतीया कम्मट्ठिइया कम्मणा चेव विप्परिया समुवेंति ॥३७॥

(अहावरमित्यादि) अथापरमेतदाख्यातं । तद्यथा । सर्वे प्राणा प्राणिनोऽत्र च प्राणिभूतजीवसत्वशब्दाः पर्य्यायत्वेन दृष्टव्याः । कथंचिद्भेदं चाश्रित्य व्याख्येयाः । ते च नानाविधयोनिका अतो नानाविधासु योनिषूत्पद्यन्ते नारकतिर्यग्नरामराणां परस्परगमनसंभवात्ते च यत्र यत्रोत्पद्यन्ते तत्तच्छरीराण्याहार-यन्ति तदाहारवन्तश्च तत्रागुप्ताश्रवद्वारतया कर्मवशगा नारकतिर्यङ्नरामरगतिषु जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थितयो भवंति । अनेनेदमुक्तं भवति । यो यादृगिह भवे स तादृगेवामुत्रापि भवतीत्येतन्निरस्तं भवति । अपितु कर्म्मोपगाः कर्म्मनिदानाः कर्म्मायत्तगतयो भवन्ति । तथा तेनैव कर्म्मणा सुखलिप्सवोऽपि तद्विपर्य्यासं दुःखमुपगच्छंतीति ॥३७॥

साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिघृक्षुराह ॥

से एवमायाणहसे एवमायाणित्ता आहारगुत्ते सहिए समिए सयाजए त्तिबेमि ॥ बियसुय क्खंधस्स आहारप रिण्णा णाम तईयमज्जयणं सम्मत्तम् ॥

यदेतन्मयादितः प्रभृत्युक्तं । तद्यथा । यो यत्रोत्पद्यते स तच्छरीराहारको भवति आहारगुप्तश्च कर्म्मादत्ते कर्म्मणा च नानाविधासु योनिषु अरहट्टघटीन्यायेन पौनःपुन्येन पर्य्यट तीत्येवमाजानीत यूयं एतद्विपर्यासं दुःखमुपगच्छंतीति । एतत्परिज्ञाय च सदसद्विवेक्याहारगुप्तः पञ्चभिस्स-मितिभिस्समितो यदि वा सम्यक् ज्ञानादिके मार्गे इतो गतः समितस्तथा सह हितेन वर्त्तते सहितः सन् सदा सर्वकालं याव दुच्छ्वासं तावद्यतेत तत्संयमानुष्ठाने प्रयत्नवान् भवेदिति । इति परिसमाप्तयर्च्छब्रवीमीति पूर्ववत् । गतोऽनुगमः साम्प्रतं नयास्ते च प्राग्वद्दृष्टव्याः ॥३८॥ समाप्तमाहारपरिज्ञाख्यं तृतीयमध्ययनम् ॥३॥

आहारस्य दिक् ॥

छहिं दिसाहिं जीवाणं आहारे पवत्तइ ।
तंजहा पाईणाए जाव अहाए ॥ स्था० ठा० ६ ।

आहारः प्रतीतः सोऽपि षट्स्वेव दिक्षु एतद्व्यवस्थितप्रदेशावगाढपुद्गलानामेव जीवेन स्पर्शनात्स्पृष्टानामेवाहरणात् । स्था० टी० ॥ जीवा० प्र० १ ॥ स च देशतः सर्वतश्च ।

दोहिं ठाणेहिं आया आहारेइ देसेण वि सव्वेण वि ।

आहारयति देशेन मुखमात्रेण सर्वेण ओज आहारापेक्षया आहारमेव परिणमयति परिणामन्नयति खलरसविभागेन भक्ता श्रयदेशस्य प्लीहादिना रुद्धत्वात् देशतोऽन्यथा सर्वतः । स्था० ठा० २ टी० ॥

चतुर्गतिषु आहारः ॥

णेरइयाणं चउव्विहे आहारे पन्नत्ते तंजहा ।
इंगालोवमे मुम्मुरोवमे सीयले हिमसीयले ॥

नारकानाहारतो निरूपयन्नाह । नेरइयाणमित्यादि । व्यक्तं केवलं अंगारोपमः अल्पकालदाहत्वान्मुर्मुरोपमः स्थिर-तरदाहत्वाच्छीतलः शीतवेदनोत्पादकत्वात् हिमशीतलो ऽत्यन्तशीतलोऽत्यंतशीतवेदनोत्पादकत्वात् अधोऽध इति क्रम इति ॥ स्था० ठा० ४ ।

तिरिक्खजोणियाणं चउव्विहे आहारे पं० तं० कंकोवमे विलोवमे पाणमंसोवमे पुत्तमंसोवमे । मणुस्साणं चउव्विहे आहारे पं० तं० असणे जाव साइमे । देवाणं चउव्विहे आहारे पं० तं० वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते ॥

तिरिक्खजोणियाणमित्यादि । व्यक्तमनवरं कंकः पक्षिविशेष स्तस्याहारेणोपमा यत्र च मध्यमपदलोपात्कङ्कोपमः । अयमर्थो यथा हि कंकस्य दुर्जरोऽपि स्वरूपेणाहारः सुखभक्ष्यःसुखपरिणामश्च भवति एवं यस्तिरश्चां सुखभक्ष्यस्सुखपरिणामश्च स कङ्कोपम इति । तथा विले प्रवेशद्रव्यं बिलमेवतेनोपमा यत्र स तथा । बिले हि अलब्धरसास्वादं जटिति यथा किल किंचित्प्रविशति एवं यस्तेषां गलबिले प्रविशति स तथोच्यते । पाणो मातङ्गस्तन्मांसमस्पृश्यत्वेन जुगुप्सया दुःखाढ्यं स्यादेवं यस्तेषां दुःखाढ्यस्स पाणमांसोपमः । पुत्रमांसन्तु स्नेहपरतया दुःखाढ्यतरं स्यादेवं यो दुःखाढ्यतरः स पुत्रमांसोपमः क्रमेण चैते शुभसमा शुभाशुभतरा वेदित व्याः वर्णवानित्यादौ प्रशंसायामतिशायने वा मतुरिति । स्था ठा० ॥४॥ टी० ॥

आहारमधिकृत्य वक्तव्यार्थाः ।

सचित्ताहारट्ठी केवति किंवा वि सव्वतो चेव ।
कतिभागं सव्वे खलु परिणामे चेव बोधव्वे ॥१॥
एगिंदियसरीरादि लोमाहारे तहेवमणभक्खी ।
एतेसिं तु पदाणं विभावणा होइ कायव्वा ॥२॥

प्रथमोऽधिकारस्सचित्तपदोपलक्षितस्स चैवं (नैरइयाणं भंते ! किं सचित्ताहारा अचित्ताहारा) इत्यादि १ द्वितीय आहारार्थिन इति २ तृतीयः । (केवइयत्ति) कियता कालेन आहारार्थः समुत्पद्यते इत्यादिरूपः ३ । चतुर्थः किमाहारमाहारयन्तीति पदोपलक्षितः ४ । पंचमः सर्वत इति पदोपलक्षितस्स चैवः- (नेरइयाणं सव्वतो परिणामन्तीत्यादि) । ५ । चेव शब्दस्समुच्चये (कइभागंति) गृहीतानां पुद्गलानां कतिभागमाहारयन्तीत्येवमादि षष्ठोऽधिकारः ६ तच्छा (सव्वं इति) यान्पुद्गलानाहारतया गृण्हन्ति तान्किं सर्व्वानपरिशेषान् आहारयन्ते उत सर्व्वानित्येवमुपलक्षितः सप्तमोऽधिकारः ७ तथा अष्टमोऽधिकारः परिणामः परिणामरूपो बोद्धव्यः सचैवं (नेरइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति तेणं तेसिं पुग्गला कीसत्ताए भुज्जो २ परिणामन्तीत्यादि-) रूपः ८ नवमोऽर्थाधिकारः एकेन्द्रियादीनि शरीराणि सचैवं (नेरइयाणं भंते ! किं एगिंदियसरीराइं । आहारेंति जाव पंचिंदियशरीराइं आहारेंति) इत्यादि ९ दशमोऽधिकारो लोमाहारो लोमाहारवक्तव्यतारूपः ।१०। एकादशो मनोभक्षिवक्तव्यतारूपः ।११। एएसिं तु इत्यादि । एतेषां सामान्यतोऽनन्तरमुद्दिष्टानां पदानामर्थाधिकाराणां विभावना विस्तरतः प्रकाशना नाम भवति कर्तव्या । सूत्रकारवचनमेतत्प्रतिज्ञातमेव निर्व्वाहयितुकामो यथोद्देशनिर्देश इति न्यायात्प्रथमाधिकारं विभावयति । प्रज्ञा० पद० २८ । भ० श० १ उ १ ॥

सचित्ताहाराः ॥

नेरइयाणं भंते ! किं सचित्ताहारा अचित्ताहारा मीसाहारा ? गोयमा ! नो सचित्ताहारा अचित्ताहारा नो मीसाहारा एवं असुरकुमारा जाव वेमाणिया । उरालिय सरीरा जाव मणूसा सचित्ताहारा वि अचित्ताहारा वि मीसाहारा वि ॥

नैरयिका भदन्त ! किं सचित्ताहाराः सचित्तमाहारयन्तीति सचित्ताहाराः एवमचित्ताहारा मिश्राहारा इत्यादि भावनीयं भगवानाह- (गोयमेत्यादि) इह वैक्रियशरीरिणो वैक्रियशरीरपरिपोषयोग्यान् पुद्गलानाहारयन्ति ते चाचित्ता एव संभवंति न जीवपरिगृहीता इत्यचित्ताहारा नापि मिश्राहारा एवमसुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्य्यवसाना भवनपतयो व्यन्तरज्योतिष्का वैमानिकाश्च वैदितव्याः । औदारिकशरीरिणः पुनरौदारिकशरीरपरिपोषयोग्यान्पुद्गलानाहारयन्ति ते च पृथिवीकायिकादिपरिणामपरिणता इति ।

सचित्ताहारा मिश्राहारा अपि घटन्ते । तथाचाह । (उरालियसरीरी जाव मणूसा इत्यादि) औदारिकशरीरिणः पृथिवीकायिकेभ्यः आरभ्य यावन्मनुष्याः । किमुक्तम्भवति पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिरूपा एकेन्द्रिया द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च एते प्रत्येकं सचित्ताहारा अपि अचित्ताहारा अपि मिश्राहारा अपि वक्तव्याः ॥ उक्तः प्रथमोऽधिकारः ॥

सम्प्रति द्वितीयानष्टपर्य्यन्तान्सप्ताधिकारान् चतुर्विंशदिण्ड-कक्रमेण युगपदभिधित्सुः प्रथमतो नैरयिकाणामभिदधाति ।

नेरइया णं भंते ! आहारट्ठी ? हंता आहारट्ठी णेरइयाणं भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ? गोयमा ! णेरइयाणं दुविहे आहारे पण्णत्ते । तं० आभोगनिवत्तिए य अणाभोगनिव्वत्तिए य । तत्थ णं जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से णं अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से णं असंखेज्जसमइए अंतो मुहुत्तिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ ॥

(नेरयाणमित्यादि) नैरयिका णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! आहारार्थिनो नैरयिका इति यदि आहारार्थिनस्ततो भगवानाह (हंतेत्यादि) हंतेत्यनुमतौ अनुमतमेतत् गौतम ! आहारार्थिनो नैरयिका इति यदि आहारार्थिनस्ततो भदन्त ! नैरयिकाणमिति पूर्ववत् (केवइकालस्सत्ति) प्राकृतत् तृतीयार्थे षष्ठी । कियता कालेन आहारार्थ आहारलक्षणं प्रयोजनं आहाराभि-लाष इति यावत्समुत्पद्यते- भगवानाह (गोयमेत्यादि) नैरयिकाणां द्विविधो द्विप्रकार आहारस्तद्यथा । आभोगनिर्वर्तित आहारयामीति इच्छापूर्वनिर्म्मापित इति यावत् । तद्विपरीतोऽनाभोगनिर्वर्तितः । आहारयामीति विशिष्टेच्छामन्तरेण यो निष्पाद्यते प्रावृट्काले प्रचुरतरसूत्राद्यभिव्यंगशीत पुद्गलाद्याहारवत्सोऽनाभोगनिर्वर्तित इति भावाः । (तत्थणमित्यादि) तत्राभोगानाभोगनिर्वर्तितयोर्मध्ये योऽनाभोग-निर्वर्तितः आहारः (सेणमिति) पूर्ववत् अनुसमयं प्रतिसमयं २ समयं २ इत्यर्थः । इत्यदीर्घकालोपभोगस्याहारस्यैक वारमपि ग्रहणे तावंतं कालमनुसमयम्भवति । तत आभवपर्य्यन्तंसातत्यग्रहणप्रतिपाद-नार्थमाह । अविरहित आहारार्थस्समुत्पद्यते । अथवा सततप्रवृत्ते आहारार्थेऽपांतराले

चुक्कस्खलितन्यायेन कथञ्चिद्विरहे भावेऽपि लोके तदगणनया अनुसमयमिति व्यवहारः प्रवर्तते । ततोऽप्यान्तराले विरहाभावप्रतिपादनार्थमित्युक्तं । अनुसमयविरहितोऽनाभोगनिर्वर्तित आहारार्थः समुत्पद्यमान ओज आहारादिना प्रकारेणा वसेयः । (तत्थणमित्यादि) तत्राभोगानाभोगनिर्वर्तितयोर्मध्ययोऽसावनाभोगनिर्वर्तित आहारार्थः सोऽसंख्येयसामायिकोऽसंख्येयैः समयैर्निर्वर्तितम् । यथासंख्येयसमयनिर्वर्तितं तत् जघन्यपदेऽप्यन्तर्मुहूर्तिकम्भवति । न हीनमत आन्तर्मुहूर्तिक आहारार्थः समुत्पद्यते । *किमुक्तं भवति । अन्तर्मुहूर्तकालं यावत्प्रवर्तते न परतो* नैरयिकाणां हि योऽसावाहारयामीत्यभिलाषः स परिगृहीताहारद्रव्यपरिणामेन यज्जनितमतितीव्रतरं दुःखं तद्भावादन्तर्मुहूर्तान्निर्वर्तते । तत आन्तर्मुहुर्तिको नैरयि-काणामाहाराच्छ्वः (नेरइयाणमित्यादि) नैरयिकाणमिति पूर्ववत् किंस्वरूपमाहारयन्ति भगवान्द्रव्यादिभेदतस्तमाहारयन्तीति निरूपयितुकाम आह (गोयमेत्यादि)॥

किमाहारमाहारयन्ति ॥

णेरइया ण भंते ! किमाहारमाहारेंति ? गोयगा ! दव्वओ अणंतपदेसियाइं खेत्तओ असंखेज्जपदेसोगाढा इं कालओ अन्नतरकालट्ठितियाइं भावतो वन्नमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं जाइं भावओ वन्नमंताइं आहारंति ताइं किं एगवन्नाइं आहारंति जाव किं पंचवन्नाइं आहारंति ! गोयमा ! ठाणमग्गणं पडुच्च एगवन्नाइं पि आहारंति । जाव पंचवन्नाइं पि आहारंति विहाणमग्गणं पडुच्च कालवन्नाइं पि आहारंति जाव सुक्किल्लाइं पि आहारंति । जाइं वन्नओ कालवन्नाइं आहारंति ताइं किं एगगुणकालाइं आहारंति जाव दसगुणकालाइं आहारंति संखिज्ज असंखिज्ज अणंतगुणकालाइं आहारंति । गोयमा ! एगगुणकालाइं पि आहारंति जाव अणंतगुणकालाइं पि आहारंति एवं जाव सुक्किल्लाइं । एवं गंधतो वि रसतो वि । जाइं भावओ फासमंताइं ताइं नो एगफासाइं आहारंति नो दुफासाइं आहारंति नो तिफासाइं आहारंति चउफासाइं पि आहारंति । जाव अट्ठफासाइं पि आहारंति । विहाणमगाणं पडुच्च कक्खडाइं पि आहारंति जाव लुक्खवाइं पि आहारंति । जाइं फासओ कक्खडाइं आहारंति ताइं किं एगगुणकक्खडा इं आहा-रंति । जाव अणंतगुणकक्खडाइं आहारंति गोयमा ! एगगुणकक्कडाइं पि आहारंति जाव अणंतगुणकक्कडाइं पि आहारंति एवं अट्ठविहफासा भाणियव्वा । जाव अणंतगुणलुक्खवाइं पि आहारंति । जाइं भंते ! अंणतगुणलुक्खाइं आहारंति ताइं किं पुट्ठाइं आहारंति अपुट्ठाइं ! गोयमा ! पुट्ठाइं आहारंति नो अपुट्ठाइं आहारंति जहा भासुद्देसए जाव नियमाछद्दिसिं आहारंति ओसन्नं कारणं पडुच्च वन्नओ कालनीलाइं गंधओ दुब्भिगंधाइं रस ओ तित्तरसकडुयाइं फासओ कक्खडगरुयसीतलुक्खवाइं तेसिं पोराणा वन्नगुणे गंधगुणे रसगुणे फासगुणे विपरिणामइत्ता परिपीलइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता अन्ने अपुव्वे वन्नगुणे गंधगुणे फासगुणे उप्पाडेत्ता आयसरीरखित्तोगाढे पोग्गले सव्वप्पणायाए आहारमा हारेइ ॥

टी॰ गौतम ! द्रव्यतोद्रव्यस्वरूपपर्यालोचनायां अनन्त-प्रादेशिकानि द्रव्याणि । अन्यथा ग्रहणासंभवात् न हि संख्यातप्रदेशात्मका असंख्यातप्रदेशात्मका वा स्कंधा जीवस्य ग्रहणयोग्या भवन्ति । क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढानि । कालतोऽन्यतरस्थितिकानि जघन्यस्थितिकानि मध्यम-स्थितिकानि उत्कृष्टस्थितिकानि चेति भावार्थः । स्थितिरिति चाहारयोग्यस्कंधपरिणामत्वेनावस्थानमवसेयं । भावतो वर्ण्ण-वंति गंधवंति रसवंति स्पर्शवंति च । प्रतिपरमाण्वेकैकवर्णगंधरसद्विस्पर्शभावात् । (जाइं भावओ वन्नमंताइं) इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह । (गोयमा ! ठाणमग्गणं पडुच्चेत्यादि) तिष्ठंति विशेषा अस्मिन्निति स्थानं सामान्यमेकवर्ण्णं द्विवर्ण्णं त्रिवर्णमित्यादिरूपं तस्य मार्गणमन्वेषणं तत्प्रतीत्य सामान्य चिन्तामाश्रित्येति भावार्थः । एकवर्णान्यपि द्विवर्णान्यपि इत्यादि सुगमं । नवरं तेषामनन्तप्रादेशिकानां स्कन्धानामेकवर्णत्वं द्विवर्णत्वमित्यादि व्यवहारनयमतापेक्षया । निश्चय नयमतापेक्षया तु अनन्तप्रादेशकस्कंधीयानपि पञ्चवर्ण एव प्रतिपत्तव्यः । (विहाणमग्गणं पडुच्चेत्यादि) ॥ विव्यक्त-मितरव्यवच्छिन्नं धानं पोषणं स्वरूपस्य यत्तद्विधानं विशेषः कृष्णो नील इत्यादिविशेष इति यावत्तस्य मार्गणं तत्प्रतीत्य त्यक्त्वा सवर्णान्यप्याहारयंतीत्यादि सुगमं । नवरमेतदपि व्यवहारतः प्रतिपत्तव्यं । निश्चयतः पुनरवश्यं तानि पञ्चवर्णान्येव ॥ जाइं वन्नओ कालवन्नाइं पीत्यादि॥

सुगमं । यावदनन्तगुणसुक्किलाइं पि आहारंति । एवं गंधरसस्पर्शविषयाणि सूत्राण्यपि भावनीयानि (जाइं भंते ! अनन्तगुणलुक्खाइं इत्यादि) यानि भदन्त ! अनन्तगुणरूक्षाणि उपलक्षणमेतत् । एवं गुणकालादीन्यप्याहारयन्तीति तानि च भदन्त ! किं स्पृष्टान्यात्मप्रदेशस्पर्शविषयाण्याहारयन्ति उतास्पृष्टानि । भगवानाह । स्पृष्टानि नो अस्पृष्टानि (जहाभासुद्देसए जाव नियमा । छद्दिसिंति) अत उर्ध्वं यथा भाषोद्देशके प्राक्सूत्रमभिहितं तथात्रापि दृष्टव्यं । तत्र तावत् यावन्नियमाः (छद्दिसिंति) पदं तच्चैवं ।

जाइं पुट्ठाइं आहरंति ताइं भंते ! किं ओगाढाइं आहारंति गोयमा ! ओगाढाइं आहारंति णो अणोगाढाइं आहारंति । जाइं भंते ओगाढाइं आहारंति ताइं किं अणंतरोगाढाइं आहारंति परंपरोगाढाइं आहारंति गोअणंतरोगाढाइं आहारंति नो परंपरोगाढाइं आहारंति जाइं अणंतरोवगाढाइं आहारंति ताइं भंते ! किं अणूइं आहारंति बादराइं आहारंति ? गोयमा ! अणुं पि आहारंति बायराइंपि आहारंति । जाइं भंते ! अणूं पि आहारंति बायराइं पि आहारंति ताइं किं उड्ढं आहारंति अहे आहारंति तिरियं आहारंति ! गोयमा ! उड्ढं पि आहारंति अहे वि आहारेंति तिरियं पि आहारंति जाइं भंते ! उड्ढं पि आहारंति अहे पि आहारंति तिरियं पि आहरंति

ताइं आइं पि आहारंति मज्जे आहारंति पज्जवसाणे आहारंति ? गोयमा ! आइं पि आहारंति मज्जे वि आहारंति पज्जवसाणे वि आ० । जाइं भंते ! आइं पि आहारंति मज्जे वि आहारंति पज्जवसाणेवि आहारंति ताइं भंते ! किं सविसए आहारंति अविसए आहारंति ? गोयमा ! सविसए आहारंति नो अविसए आहारंति । जाइं भंते ! सविसए आहारंति ताइं किं आणुपुव्विए आहारंति । अणाणुपुव्विए । गो० ! आणुपुव्विं आहारंति नो अणाणुपुव्विं आहारेंति । जाइं भंते ! आणुपुव्विं आहारंति ताइं किं तिदिसिं आहारंति । चउदिसिं आहारंति पंचदिसिं आहारंति छद्दिसिं आहारंति ?

अस्य व्याख्या । इहात्मप्रदेशैः संस्पर्शनेनात्मनः प्रदेशावगाढात्क्षेत्राद्बहिरपि सम्भवति ततः प्रश्नयति । (जाइं भंते ! इत्यादि) यानि भदन्त ! स्पृष्टान्याहारयन्ति तानि किं अवगाढानि आत्मप्रदेशैः सह एकक्षेत्रावस्थायीनि उत अनवगाढानि आत्मप्रदेशावगाढक्षेत्राद्बहिरवस्थितानि-। भगवानाह गौतम ! अवगाढान्याहारयंति नानवगाढानि । उत अवगाढानि आत्म-प्रदेशावगाढक्षेत्रे किमनन्तरावगाढानि । विमुक्तं भवति । यथात्मप्रदेशेषु यान्यव्यवधानेनावगाढानि वैरात्मप्रदेशै-स्तान्येवाहारयंति उत । परम्परावगाढानि एकद्व्याद्यात्मप्रदेशा व्यवहितानि । भगवानाह । गौतम ! अनन्तरावगाढानिआहारयंति नो परम्परावगाढानि । यानि भदन्त ! अनन्तरावगाढा न्याहारयंति तानि किमणूनि स्तोकान्याहारयन्ति उत बादराणि प्रभूतप्रदेशोपचितानि । भगवानाह । अणून्यप्याहारयन्ति बादराण्यप्याहारयन्ति । इहाणुत्वबादरत्वे तेषामेवाहारयोग्यानां स्कन्धानां प्रदेशस्तोकत्वबाहुल्यापेक्षया वेदितव्ये इति । यानि भदन्त ! अणून्यप्याहारयन्ति तानि भदन्त ! किमूर्ध्वं मूर्ध्वप्रदेशस्थितान्याहारयन्ति अधस्तिर्यग्वा । इह ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्त्वं यावति क्षेत्रे नैरयिको ऽवगाढस्तावत्येव क्षेत्रे तदपेक्षया परिभावनीयं । भगवानाह । ऊर्ध्वमप्याहारयन्ति ऊर्ध्वप्रदेशावगाढान्यप्याहारयंति एवमधोऽपि तिर्य्यगपि । यानि भदन्त ! ऊर्ध्वमप्याहारयन्ति अधोऽप्याहारयन्ति तिर्यगप्याहारयन्ति तानि किमादावाहारयन्ति मध्ये आहारयन्ति पर्य्यवसाने आहारयन्ति । अयमत्राभिप्रायो नैरयिका ह्यनन्तप्रादेशिकानि द्रव्याण्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावदुपभोगोचितानि गृण्हन्ति ततः संशयः किमुपभोगोचितस्य काल-स्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्यादौ प्रथमसमये आहारयन्ति उत मध्ये मध्येषु समयेषु आहोस्वित्पर्य्यवसाने पर्य्यवसानसमये ? भगवानाह । गौतम ? आदावपि मध्येऽपि पर्य्यवसाने ऽप्याहारयन्ति । किमुक्तं भवति । उपभोगोचितस्य काल-स्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणस्यादिमध्यावसानेषु समयेषु आहारयन्ति उतअविषयाणि स्वोचिताहारयोग्यान्याहारयन्ति । भगवानाह । गौतम ! स्वविषयानाहारयन्ति नो अविषयान् । यानि भदन्त ! स्वविषयानाहारयन्ति तानि भदन्त ! किमानुपूर्व्या आहारयन्ति अनानूपूर्व्या ? आनुपूर्व्वी नाम यथासन्नं । तद्विपरीता अनानुपूर्व्वी। भगवानाह । गौतम ! आनुपूर्व्या सूत्रे द्वितीया तृतीयार्थे वेदितव्या प्राकृतत्वात् यथा आचाराङ्गे (अगणिपुट्ठा) इत्यत्र आहारयन्ति नो अनानुपूर्व्या ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यग्वा यथासन्नं नातिक्रम्याहारयन्तीति भावनीयानि । भदन्त ! आनुपूर्व्या आहारयन्ति तानि किं (तिदिसिंति) । तिस्रोदिशः समाहृतास्त्रिदिक् तस्मिन् व्यवस्थितान्याहारयन्ति चतुर्दिशि पंचदिशि षड्दिशि वा इह लोकनिष्कुटपर्य्यन्ते जघन्यपदे त्रिदिग्व्यवस्थितमेकदिग्व्यवस्थितं वा अतस्त्रिदिश आरभ्य प्रश्नः कृतः । भगवानाह । गौतम ! नियमात् षड्दिशि व्य-वस्थितान्याहारयन्ति । नैरयिका हि त्रसनाड्यां मध्ये व्यवस्थितास्तत्रचावश्यं षड्दिक्संभव इति । (ओसन्नकारणं पडुचेत्यादि) ओसन्नशब्दो बाहुल्यवाची । यथा ओसन्नं देवासायं वेयणं वेयंतीत्यत्र । तत ओसन्नकारणं बाहुल्यकारणं प्रतीत्य किंतद्बाहुल्यकारणमिति चेदुच्यते । अशुभानुभाव एव । तथापि प्रायो मिथ्यादृष्टयः कृष्णादीन्याहारयन्ति न तु भविष्यत्तीर्थकरादयः । तत ओसन्नेत्युक्तं । वर्णतः कालनीलादि । गन्धतो दुरभिगन्धाद्रि । रसतस्तिक्तकटुकानि । स्पर्शतः कर्कशगुरुशीतरूक्षादि इत्यादि तेषामाहार्य्यमाणानां पुद्गलानां पुराणान् अग्रेतनान् वर्णगुणान् गन्धगुणान् स्पर्शगुणान् (विपरिणामइत्ता परिपीलदत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता) एतानि चत्वार्य्यपि पदान्येकार्थिकानि विनाशार्थप्रतिपादकानि नाना देशजविनेयानुग्रहार्थमुपात्तानि विनाश्य किमिति आह । अन्यानपूर्व्वा न्वर्णगुणान् रसगुणान् स्पर्शगुणानुत्पाद्य आत्मशरीरक्षेत्रावगाहान् पुद्गलान् (सव्वप्पणयाए) सर्व्वात्मना सर्व्वैरेवात्मप्रदेशैराहारमाहाररूपानाहारयन्ति ॥

प्रज्ञा० पद २८ । जी० प्र० १ । भ० श० ६ उ० ४ ।

नेरइया णं भंते ! जे पोग्गला अत्तमायाए आहारंति ते किं आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमाए आहारंति अणंतरखेत्तोगाढेपोग्गले अत्तमायाए आहरंति परं पर खेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहरंति ? गोयमा ! आयसरीरंखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमाया एआहारंति नो अणंतरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारंति नो परंपर खेत्तोगाढे जहा नेरइया तहा जावे वेमाणियाणं दंडओ ॥

टी० नरेइयाणमित्यादि ! (अत्तमाएत्ति) । आत्मना आदाय गृहीत्वेत्यर्थः । जीवाधिकारादेवेदमाह । (आयसरीरे खेत्तो-गाढेत्ति) । स्वशरीरक्षेत्रे अवस्थितानीत्यर्थः (अणंतरखेत्तो-गाढेत्ति) । आत्मशरीरावगाढक्षेत्रापेक्षया यदनन्तरं क्षेत्रं तत्रा-वगाढानीत्यर्थः (परंपरखेत्तागाढेत्ति) आत्मक्षेत्रानन्तरक्षेत्राद्यत्परं क्षेत्रं तत्रावगाढानीत्यर्थः) ॥ भ० श० ६ । उ० १० ।

नेरइयाणं भंते सव्वओ आहारंति सव्वओ परिणामंति सव्वओ ऊससन्ति सव्वओ नीससंति अभिक्खणं २ आहारंति अभिक्खणं २ परिणामन्ति अभिक्खणं ऊससंति अभिक्खणं नीससंति आहच्च आहारंति आहच्च परिणामंति आहच्च ऊससंति आहच्च नीससंति । हंता गोयमा ! णेरइया सव्वओ आहारंति एवं चेव जाव आहच्च नीससंति णेरइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं पोग्गलाणं सेयालंसि कतिभागं आहारंति कइभागं आसायंति ? गोयमा ! असंखेज्जइ भागं आहा

रंति अणंतभागं आस्साएंति णेरइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति ते किं सव्वे आहारंति नोसव्वे आहारंति ! गोयमा ! ते सव्वे अपरिसेसिएआहारंति ॥

(नेरइया णं भंते इत्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमं । (नेरइयाणंभंते ! जे पोग्गलाइत्यादि) नैरयिका णमिति पूर्ववत् भदन्त ! यान् पुद्गलानाहारतया गृण्हन्ति नैरयिकास्तेषां गृहीतानां पुद्गलानां (सेकालंसि) एष्यत्काले ग्रहणकालोत्तरकालग्रहणकालमित्यर्थः (कइभागं ति) कतिथं भागमा हास्यन्ति आहारतयोपभुंजते तथा ! कतिभागं कतिथं भागमाहार्य्यमाणपुद्गलानामास्वादं गृण्हंति। न हि सर्वे पुद्गलाआहार्यमाणान्यास्वादमायान्ति इति पृथक् प्रश्नः। भगवानाह। गौतम ! असंख्येयं भागमाहारयन्ति । अन्ये तु गवादिपृथमवृहद्ग्रासग्रहण इव परिसटंति । आहा-र्य्यमाणानां च पुद्गलानामनन्तभागमास्वादयन्ति। शेषास्त्व-नास्वादिता एव शरीरपरिणाममापद्यन्ते इति ॥

णेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं तेसिं पोग्गला कोसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ? गोयमा ! सो इंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए अणिट्ठत्ताए अकंतत्ताए अप्पियत्ताए अमणुन्नाए अमणामत्ताए अणिच्छियत्ताए अभिज्जियत्ताए अहत्ताए नो उड्ढत्ताए दुक्खात्ताए नो सुहत्ताए एतेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति असुरकुमाराणं भंते ! आहारट्ठी ? हंता ! आहारट्ठी । एवं जहा णेरइयाणं तहा असुरकुमाराणं विभाणियव्वम् जाव तेसिं भुज्जो २ परिणमन्ति । तत्थ णं जेसे आभोगनिव्वत्तिए सेणं जहन्नेणं चउत्थभत्तस्स उक्कोसेणं सातिरेगस्स वाससहस्सस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ओसन्न-कारणं पडुच्च वन्नओ हालिद्दसुक्किलाइं गंधओ सुब्भिगंधाइं रसओ अविलमहुराइं फासओ मउलहुयणिद्धुण्हाइं तेसिं पोराणं वन्नगुणे जाव फासिंदियत्ताए जाव मणामत्ताए इच्छियत्ताए भिज्जियत्ताए उड्ढत्ताए नो अहत्ताए सुहत्ताए नो दुहत्ताए तेसिं भुज्जो २ परिणमंति सेसं जहा णेरइयाणं एवं जाव थणियकुमाराणं । नवरं आभोगनिव्वत्तिए उक्कोसेणं दिव सपहुत्तस्स आहरट्ठे समुप्पज्जइ ॥

नैरयिका णमिति पूर्ववत् यान्पुद्गलानाहारतया गृण्हंतिइह ग्रहणं विशिष्टमवसेयं । ततो ये उज्जितशेषाः केवला हारपरिणामयोग्या एवावतिष्ठन्ते ते ऽत्राहारतया गृह्यमाणाः पृष्टा द्रष्टव्याः । अन्यथा निर्व्वचनसूत्रमपेक्ष्य पूर्व्वापरविरोधप्रसङ्गो नच भगवद्वचने विरोधसम्भावनाऽप्यस्ति तत इदमेव व्याख्यानं सम्यक् । अत एवंविधपूर्व्वापरे विरोधाशङ्काव्युदासार्थं पूर्व-सूरिभिः कालिकसूत्रस्या-नुयोगः कृतः उक्तश्च । ''जं तह सुत्ते भणियं तहेव तं जइ वियालणा नत्थि । किं कालियाणुजोगो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं'' ॥ १ तान् किं सर्व्वानाहारयन्ति उत नो सर्व्वान् सर्वैकदेशभूतान् । भगवानाह । तान्सर्व्वान-विशेषेणाहारयन्ति उज्जितशेषाणामेव केवलाना माहारपरि-णामयोग्यानां गृहीतः स्यात् (नेरइयाणमित्यादि) नैरयिका णमिति पूर्ववत् । यान्पुद्गलानाहारतया गृण्हन्ति ते पुद्गला णमिति पूर्ववदेव । नैरयिकाणां कीदृक्तया किं स्वरूपतया भूयः २ परिणमन्ते । भगवानाह । गौतम ! श्रोत्रेन्द्रियतया यावत्करणाच्चक्षुरिन्द्रियतया घ्राणेन्द्रियतया जिह्वेन्द्रियतयेति परिग्रहः । स्पर्शनेन्द्रियतया इन्द्रिय-रूपतयापि परिणममाणाः शुभरूपाः किंत्वेकांताशुभरूपाः यत आह । (अणिट्ठत्ताए इत्यादि) इष्टा मनसा इच्छाविषयी कृता यथा ''शोभनमिदं जातं यदित्थमिमे परिणता इति'' । तद्विपरीता अनिष्टास्तद्भावस्तत्ता तया इह किंचित्परमार्थतः श्रुतमपि केषाञ्चिदनिष्टं भवति । यथा मक्षिकाणां चन्दनकर्पूरादिस्ततआह (अकंतत्ताए) कांताः कमनीयाः अकांता अत्यंताशुभवर्ण्णोपेतत्वात् अत एवाऽप्रिय-तया न प्रिया अप्रिया दर्शनापात कालेऽपि तत्प्रियबुद्धि-मात्मन्युत्पादयंतीति भावः। तद्भावोऽप्रियता तया (असुभत्ताए इति) न शुभा अशुभा अशुभगन्धरसस्पर्शात्मकत्वात् तद्भावस्तत्ता तथा (अमणुन्नत्ताए इति) न मनोज्ञा अमनोज्ञा विपाककाले दुःखजनक-तया न मन प्रह्लादहेतव इति अमनोज्ञा भावः । तद्भावस्तत्ता तथा (अमणामत्ताए) भोज्यतया मन आप्नुवंतीति मन आपा प्राकृतत्वात्पकारस्य मकारत्वे मणाम इति सूत्रनिर्देशः । न मन आपा अमन आपा न जातुचिदपि भोज्यतया जंतूनमनोज्ञान् कुर्वन्तीति भावः । तद्भावस्तत्ता तया अत एव । (अणिच्छियत्ताए इति) अनीप्सिततया भोज्यतया स्वादितुमिष्टा ईप्सिता न ईप्सिता अनीप्सितास्तद्भावस्तत्ता तया । (अभिज्जियत्ताए।) अभिध्यामनभिध्या अभिलाष इत्यर्थः । अभिध्या सञ्जाता येष्विति अभिध्यितास्तारकादिदर्शनादितच् प्रत्ययः । तद्भावस्तत्ता तया । किमुक्तं भवति । ये गृहीताहारतया पुद्गला न ते तृप्तिहेतवोऽभूवन्निति न पुनरभिलषणीयत्वेन परिणमन्ते तथा । (अहत्ताए इति) अधस्तया गुरुपरिणामत-येति भावः। नो ऊर्ध्वतया लघुपरिणामतया अत एव दुःखतया गुरुपरिणाम परिणतत्वात् न सुखतया लघुपरि-णामपरिणतत्वाभावात् । ते पुद्गलास्तेषां नैरयिकाणां भूयः परिणमन्ते एतान्येव आहारार्थिन इत्यादीनि सप्त द्वाराणि । असुरकुमारादिषु भवनपतिषु चिचिंतयिषुरिदमाह (जहा नेरइयाणमित्यादि) यथा नैरयिकाणां तथा असुरकुमाराणामपि भणितव्यं । यावत् तेसिंभुज्जो २ परिणमन्तीति पर्य्यन्तपदं । तत्र नैरयिकसूत्रस्य विशषमुपदर्शयति (तत्थ णं जेसे इत्यादि)एवं चोपदर्शित सूत्रन्न मन्दमतीनां यथास्थितं प्रतीतिमागच्छति ततस्तदनुग्रहाय सूत्रमुपदर्शयते (असुरकुमाराणं भंते ! आहार-ट्ठी ? हंता आहारट्ठी असुरकुमाराणं भंते ! केवइ कालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ।) अत्र सप्तम्यर्थे षष्ठी कियति कालेऽतिक्रान्ते सति भूय आहारार्थः समुत्पद्यत इत्यर्थः । (असुरकुमाराणं दुविहे आहारे पन्नत्ते । तंजहा । आभोगनिव्वत्तिए अणाभोगनिव्वत्तिए य । तत्थ णं जेसे अणाभोगनिव्वत्तिए से णं अणुसमयम विरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । तत्थणं जेसे आभोगनिव्वत्तिए सेणं जहन्नेणं चउत्थभत्तस्स उक्कोसेणं साइरेगस्सवाससहस्सस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ।) अत्र तु चउत्थभत्तस्सेति सप्तम्यर्थे षष्ठी । चतुर्थभक्त आगमिकीयं संज्ञा एकस्मि-

न्दिवसेऽतिकान्ते इत्यर्थः । भूयो जघन्येनाहारार्थः । समुत्प-द्यते । एतच्च दशवर्षसहस्रायुषां प्रतिपत्तव्यमुत्कर्षतः सातिरेके अभ्यधिके वर्षसहस्रेऽतिक्रांते । एतच्च सागरोपमायुषामवसेयं ॥

असुरकुमाराणं भंते ! किमाहारमाहारयंति ? गोयमा ! दव्वओ अणंतप्पएसियाइं खेत्तओ असंखेज्जपएसोगाढाइं कालओ अन्नयरठियाइं भावओ वन्नमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं जावनियमा । छद्दिसिं आहारंति ओसन्नं कारणं पडुच्च वन्नओ हालिद्दसुक्किल्लाइं, गंधओ सुरभिगंधाइं, रसओ अंबिलमधुराइं, फासओ मउयलहुणिधुण्हाइं,तेसिं पोराणं वन्नगुणं गंधगुणे फासगुणे जाव इच्छियत्ताए अभिज्जियत्ताए उट्ठत्ताए नो अहत्ताए सुहत्ताए नो दुहत्ताए एतेसिं भुज्जो २ परिणमंति यथा चासुरकुमाराणां सूत्रमुक्तं । तथा नागकुमारादीनामपि स्तनितकुमारपर्य्यवसानानांवक्तव्यवन्नवरमाभोगनिवर्त्तिताहारार्थं चिन्तायामुत्कर्षाभिधाना-नुसारेण **''उक्कोसेणं दिवसपुहुत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ''** इति वक्तव्यं । एतच्च पल्योपमासंख्येय-भागायुषां तदधि- कायुषां चावसेयं । शेषं तथैव । तथा चाह । **एवं जाव थणियकुमाराणमित्यादि** ✱॥

सम्प्रति पृथिवीकायिकानामेतान्सप्ताधिकारान् चिंतयितुकाम माह । पृथ्वीकायिकानाम् ॥

पुढवीकाइयाणं भंते ! आहारट्ठी हंता आहारट्ठी । पुढविकाइयाणं भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । गोयमा ! अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । पुढविकाइयाणं भंते ! किमाहारमाहारंति । एवं जहा । णेरइयाणं जाव ताइं भंते ! कइदिसिं आहारेइ निव्वाघाए णं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं नवरं उसन्नकारणं न भण्णइ । वन्नओ काललीललोहियहालिद्द-सुक्किल्लाइं, गंधओ सुब्भिगंध दुब्भिगंधाइं, रसओ तित्तरसकडुयकसायअंबिलमहुराइं, फासओ कक्कडफासग-रुयलहुयसीतउसिणणिद्धलुक्खाइं, तेसिं पोराणा वन्नगुणा । सेसं जहा । नेरइयाणं जाव आहच्च नीससंति पुढविकाइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति । तेसि णं भंते ! पोग्गलेणं सेयालंसि कतिभागं आहारंति । कतिभागं आसायंति ? गोयमा ! असंखेज्जइभागं आहारंति अणंतभागं आसायन्ति पुढविकाइयाणं भंते ! जे पुग्गले आहारत्ताए गेण्हंति तेकिं सव्वे आहारंति नो सव्वे आहारंति जहेव णेरया तहेव । पुढविकाइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति तेणं तेसिं पोग्गलाणं कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ? गोयमा ! फासिंदियवेमाणियत्ताए तेसिं भुज्जो २ परिणमंति । एवं जाव वणस्सइकाइया । बेइंदियाणं भंते ! आहारट्ठी ? हंता गोयमा ! आहारट्ठी । बेइंदियाणं भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ जहा णेरइयाणं न वरं तत्थणं जेसे आभोगनिव्वत्तिए सेणं असंखेज्जसमए अंतो मुहुत्तिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ सेसं जहा पुढविकाइयाणं जाव आहच्च नीससंति नवरं नियमा छद्दिसिं बेइंदियाणं पुच्छा जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ताए गेण्हंति तेणं तेसिं पोग्गलाणं कइभागं आहारंति । कइभागं आसायंति । एवं जहा नेरइयाणं । बेइंदिया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति । तेसिं किं सव्वे आहारंति । बेइंदियाणं दुविहे आहारे पण्णते । तंजहा । लोम आहारे य पक्खेवाहारे य । जे पोग्गले लोमआहा-रत्ताए गिण्हंति ते सव्वे अपरिसेसे आहारंति । जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ताए गेण्हंति तेसिं असंखेज्जइभागमाहारंति अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अफासाइज्जमाणाणं अणास्साइज्जमाणाणं विद्धंसमागच्छंति । प्रज्ञा० पद २८ ॥

टी० (पुढविकाइयाणं भंते ! इत्यादि) सर्वं पूर्ववदसुरकुमारवद्भावनीयं नवरं (निव्वाघाएणं छद्दिसिमित्यादि) व्याघातो नाम अलोकाकाशेन प्रतिस्खलनं व्याघातस्त-स्याभावोनिर्व्याघातः । ''शब्देयथावदव्यय-पूर्वपदार्थनित्य-मव्ययीभाव'' इत्यव्ययीभावस्तेन वा तृतीयायामिति विकल्पेन आम्बिधानात्पक्षेऽत्राम् भावः । नियमादवश्यतया षड्दिशि व्यवस्थितानि षड्भ्यो विगृभ्य आगतानि द्रव्याण्याहारयंतीति भावः । व्याघातम्पुनः प्रतीत्य लोकनिष्कुटादौ स्यात्कदाचित् । त्रिदिशितिसृभ्यो दिगभ्य आगतानि कदाचिच्चतुर्दिगभ्यः कदाचित्पञ्चदिगभ्यः । काऽत्र भावनेति चेदुच्यते । इह लोकनिष्कुटे पर्यंताधस्त्यप्रतराग्नि-कोणावस्थितो यदा पृथिवीकायिको वर्तते तदा तस्या-धस्तादलोकेन व्याप्त-त्वादधोदिक् पुद्गलाभावः । आग्नेयकोणावस्थितत्वात्पूर्वदिक् पुद्गलाभावो दक्षिणदिक्पुद्गलाभावश्च । एवमधः पूर्वदक्षिणरूपाणां तिसृणां दिशामलोकेन व्याप्यन्ता अपास्य याः परिशिष्टा उर्ध्वा अपरा उत्तरा च दिग् व्याहृता वर्तते तत आगतान्पुद्गलानाहारयन्ति यदा पुनस्स एव पृथिवीकायिकः पश्चिमां दिशममुञ्चन् वर्तते तदा पूर्वा दिगभ्याधिका जाता । द्वेच दिशौ दक्षिणाधस्त्यरूपे अलोकेन व्याहृते इति स चतुर्दिगागतान्पुद्गलानाहारयति । यदापुनरूर्ध्वं द्वितीयादिप्रतर-गतपश्चिमदिगवलम्ब्य तिष्ठति तदा अधस्त्याऽपि दिगभ्यधिका लभते केवलदक्षिणैवैका पर्य्यन्तवर्तिनी अलोकेन व्याहतेति पञ्चदिगागता-न्पुद्गलानाहारयन्तीति । शेषं सूत्रं समस्तमपि पूर्ववद्भणनीयं यस्तुविशेषस्तमुपदर्शयति (न वरमुसन्नकारणं न हवइ इत्यादि) सुगमं (फासिंदियवेमायत्ताए इति) । विषममात्रा विमात्रा तस्याभावो विमात्रता तया इष्टानिष्टा नानाभेदतयेति भावो न तु यथा नारकाणामे-कान्ताशुभतया सुराणां च शुभतयै-वेति । एवं जाववणस्सइकाइयाणंति । यथा पृथिवीकायिकानां सूत्रमुक्तमेवमप्तेजोवायुवनस्पतीनामपि भणनीयं । सर्वेषामपि सकललोकव्यापितयो विशेषाभावात् (बेइंदियाणं भंते ! इत्यादि) सुगमं नवरं । (लोमाहारे पक्खेवाहारेयत्ति) लोम्न आहारो

लोमाहारः । पक्षिप्यतेऽर्थान्मुखे इति प्रक्षेपः स चासावाहारश्च प्रक्षेपाहारः तत्र यः खल्वोघतो वर्षादिषु पुद्गलप्रवेशो मूत्रादिगम्यस्स लोमाहारः । कावलिकमुखप्रक्षेपाहारः । तत्र यान्पुद्गलान् लोमाहारतया गृण्हाति तान्सर्व्वानपरिशेषानाहारयन्ति तेषां तथा २ स्वभावत्वात् । यान्पुद्गलान्प्रक्षेपाहारतया गृण्हंति तेषा-मसंख्येयतमं भागमाहारयन्ति । अनेकानि पुनर्भागसहस्राणि बहवोऽसंख्येया भागा इति अस्पृश्यमानानामनास्वाद्यमानानां विध्वंसमागच्छंति । किमुक्तं भवति । बहूनिद्रव्याण्यंतर्बहिश्च अस्पृष्टान्येवाऽनास्वादितान्येव विध्वंसमायान्ति नवरं यथायोगं केचिदतिस्थौल्यतः केचिदतिसौक्ष्म्यतः इति । प्रज्ञा० । पद ॥२८॥

सम्प्रत्यस्पृश्यमानानामनास्वाद्यमानाश्च परस्परमल्पबहुत्व-मभिधित्सुराह ।

एएसिणं भंते ! पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणाणं अफा-साइज्जमाणाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा पोग्गला अणासाइज्जमाणा अफासाइज्ज माणा पोग्गला अणंतगुणा ॥

(एएसिणं भंते ! इत्यादि) इह एकैकस्मिन्स्पर्शयोग्ये भागे अनन्ततमो भाग आस्वाद्यो भवति ततो येनास्वाद्यमानाः पुद्गलास्ते स्तोका एवाऽस्पृश्यमानपुद्गलापेक्षया तेषामनन्त-भागवर्तित्वात् । अस्पृश्य-मानास्तु पुद्गला अनन्तगुणाः ॥

बेइंदियाणं भंते जे पोग्गले आहारत्ताए पु० ! गोयमा ! जिब्भिंदिय फासिंदियबेमायत्ताए तेसिं भुज्जो प,० एवं जाव चउरिंदिया नवरं अणेगाइं च णं भागसहस्सा इं अणुग्घा-इज्जमाणाइं अफासाइज्जमाणाइं विद्धंस मागच्छंति ।

टी० ॥ (जिब्भिंदिय फासिंदिया वेमायत्ताए इति ।) विमात्रतात्रापि प्राग्वद्भावनीया । एवं जाव चउरिंदिया । एवं द्वीन्द्रियोक्तप्रकारेण । सूत्रं तावद्वक्तव्यं यावच्चतुरिन्द्रियाश्चतुरिन्द्रिय गतं सूत्रं प्रायः समानवक्तव्यत्वात् । यस्तु विशेषस्स उपदर्श्यते नवरमित्यादि यान्पुद्गलान्प्रक्षेपाहारतया गृण्हंति तेषां पुद्गलानामेकमसंख्येयतमं भागमाहारयन्ति । अनेकानिपुनर्भागसहस्राणि संख्यातीता असंख्येयभागा इत्यर्थः । अनाघ्रायमाणानि अस्पृश्यमानानि अनास्वाद्यमानानि विध्वंसमागच्छन्ति तानि च यथायोगमति-स्थौल्यतोऽतिसौक्ष्म्यतश्च वेदितव्यानि । अत्रैवाल्पबहुत्वमाह ।

एतेसिणं भंते पोग्गलाणं अणुग्घाइज्जमाणाणं अणासाइज्ज-माणाणं अफासाइज्जमाणाणं य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा पोग्गला अणु ग्घाइज्जमाणा अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा तेइंदियाणं भंते ! जे पोग्गले पुच्छा गोयमा ! घाणिंदिय जिब्भिंदिय फासिंदिय वे मायत्ताए तेसिं भुज्जो भुजो परिणमंति । चउरिंदियाणं चक्खिंदिय जिब्भिं दिय घाणिंदिय फासिंदिय वेमायत्ताए तेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति सेसं जहा तेइंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा तेइंदिया नवरं तत्थणं जेसे आभोगनिव्वत्तिए से जहन्नेणं अंतो हुत्तस्स उक्कोसेणं छट्ठ-भत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । पंचिंदियति रिक्खजोणियाणं भंते ! पोग्गलाणं पुच्छा, गोयमा ! सोइंदिय चक्खिंदिय घाणिंदिय जिब्भिंदिय फासिंदिय वेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । मणूसा एवं चेव नवरं आभोगनिव्वत्तिए जहन्नं अंतोमुहुत्तस्स उक्को० अट्ठमभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । वाणमंतरा जहा नागकुमारा एवं जोइसिया वि नवरं आभोगनिव्वत्तिए जहन्नं दिवसप० उक्कोसेण वि दिवसपहुत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । एवं वेमाणिया वि नवरं आभोगनिव्वत्तिए जहण्णेणं दिवसप० उक्को० तेतीसाए वासस हस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जइ । सेसं जहा असुरकुमा राणं जाव तेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति सोहम्मे आभोगनिव्वत्तिए जहन्नेणं दिवसप० उक्कोसेणं दोण्हं वाससहस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जइ । ईसाणे पुच्छा गोयमा! जहन्नं दिवसपु० सातिरेगस्स उक्कोसेणं सातिरेगाणं दोण्हं वास सहस्सा । सणंदकुमाराणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं दोण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं सत्तण्हं वाससहस्साणं । माहिंदे पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं दोण्हं वाससहस्साणं सा तिरेगाणेणं उक्कोसेणं सत्तण्हं वाससहस्साणं सातिरेगाणं । बंभलोए पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं दसण्हं वाससहस्साणं । लंतए पुच्छा । गोयमा ! जहण्णं दसण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं चोदसण्हं वाससहस्साणं । महासुक्केणं पुच्छा । गोयमा ! जहण्हं चोद्दसण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं सत्तदसण्हं वास सहस्साणं । सहस्सारे पुच्छा गोयमा ! जहन्नं संत्तदसण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं अट्ठारसण्हं वाससहस्साणं आणतेणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नं अट्ठारसण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं एगूणवीसाए वाससहस्साणं । पाणएणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नं एगूणवीसाए वाससहस्साणं उक्कोसेणं वीसाए वाससहस्साणं । आरणेणं पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेणं वीसाए वाससहस्साणं उक्कोसेणं एक्कवीसाए वाससहस्साणं । अच्चुएणं । पुच्छा ! गोयमा ! जहन्नेणं एक्कवीसाए वाससह-स्साणं । उक्कोसेणं बावीसाए वाससहस्साणं । हेट्ठिम २ गेविज्जगाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं बावीसाए वाससहस्साणं उक्कोसेणं तेवीसाए वाससहस्साणं । एवं सव्वत्थ सहस्साणि भाणियव्वाणि । हे ट्ठिममज्जिमाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नं तेवीसाए उक्कोसं चउवीसाए हेट्ठिमउवरिमाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नं चउवीसाए उक्कोसेणं पणवीसा । मज्जि-महेट्ठिमाणं पुच्छा । जहन्नं पणवीसाए उक्कोसेणं छव्वीसाए ।

मज्जिममज्जिमाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नं छव्वीसाए उक्कोसेणं सत्तावीसाए । मज्जिम उवरिमाणं पुच्छा । गोयमा! जहन्नेणं सत्तावीसाए। उक्कोसेणं अट्ठावीसाए । उवरिमहेट्ठिमाणं पुच्छा। गोयमा ! जहण्णं अट्ठावीसाए उक्कोसेणं एगूणतीसाए । उवरिममज्जिरमाणं पुच्छा, गोयमा! जहण्णं एगूणतीसाए उक्कोसेणंतीसाएउवरिम२-गेविज्जगाणंपुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं तीसाए उक्कोसेणं एक्कतीसाए वाससहस्साणं । विजयवेजयंत जयंतअपरा जियाणं पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेणं एक्कतीसाए उक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं सव्वट्ठसिद्धदेवाणं पुच्छा, । गोयमा! अजहन्नमणुक्को सेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जइ ॥

टी० ॥ एएसिणं भंते ! इत्यादि । इह एकैकस्मिन् भागे स्पर्शयोन्येऽनन्ततमोभाग आस्वादयोग्यो भवति । तस्याप्यनन्त तमोभाग आघ्रायमाणयोग्यः । ततो यथोक्तमल्पबहुत्वं भवति शेषं सर्वं सुगमं । पंचेन्द्रियसूत्रे- जहन्नेणं अंतो मुहुत्तस्सेति । षष्ठ्याः सप्तम्यर्थत्वादन्तर्मुहूर्ते गते सति भूय आहारार्थः समुत्पद्यते उत्कर्षतः षष्टभक्ते ऽतिक्रान्ते एतच्च देवकुरूत्तरकुरु-तिर्य्यक्पंचेद्रियापेक्षया द्रष्टव्यं । मनुष्यसूत्रे उक्कोसेणं अट्ठमभत्तस्सत्ति । उत्कर्षतो ऽष्टमभक्ते ऽतिक्रान्ते । एतच्च तास्वेव देवकुरूत्तरकुरुषु द्रष्टव्यं व्यंतरसूत्रे नागकुमारसूत्रवत् । ज्योतिष्कसूत्रमपि तथैव यस्तु विशेषस्तमुपदर्शयति । नवरं (जहन्नेण वि दिवसपुहुत्तस्स उक्कोसेण वि दिवसपुहुत्तस्सत्ति) ज्योतिष्का हि जघन्यतोऽपि पल्योपमाष्टमभागप्रमाणा-युषस्ततस्तेषां जघन्यपदेऽप्युत्कृष्टपदेऽपि दिवसपृथक्त्वेऽतिक्रांते भूय आहारार्थः समुत्पद्यते । पल्योपमासंख्येय-भागायुषां च स्वरूपत एव दिवसपृथक्त्वातिक्रमे भूय आहारार्थस्समुत्पधयते । वैमानिकसूत्रे-नवरं (आभोगनिव्वत्तिए जहन्नेणं दिवसपुहुत्तस्स इति) एतत्पल्योपमाद्यायुषामवसेयं । उक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं ति । एतदनुत्तरसुराणामव-सेयं । इह यस्या यावन्ति सागरोपमाणि स्थितिस्तस्यास्तावत्सु वर्षतश्च स्थितिपरिमाणं परिभाव्य वैमानिकसूत्र सकलमपि स्वयं विज्ञेयमिति ॥ प्रज्ञा० पद० ॥२८॥

संयतशब्दे तदाहारः ॥

नैरयिकाः किंवीचिद्रव्याण्यवीचिद्रव्याणि वाहारयंति ।

णेरइयाणं भंते ! किं वीचिं दव्वाइं आहारेंति अवीचिं दव्वाइं आहारेंति ? गोयमा ! णेरइया वीचिदव्वाइं पिआहारेंति अवीचिदव्वाइं पि आहारेंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ । णेरइया वीची तं चेव आहारेंति ! गोयमा ! जेणं णेरइया एकपदे सूणाइंपि दव्वाइं आहारेंति तेणं णेरइया वीचिदव्वाइं आहारेंति जेणं णेरइया पडिपुण्णाइं दव्वाइं आहारेंति तेणं *णेरइया अवीचिदव्वइं आहारेंति से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ* जाव आहारेंति एवं जाव वेमणिया आहारेंति ॥

टी० । वीइं दव्वाइंति । वीचिर्विवक्षितद्रव्याणां तदवयवानां च परस्परेण *पृथग्भावो 'विचिर पृथग्भाव'' इति वचनात् तत्र वीचिप्रधानानि द्रव्याणि* वीचिद्रव्याणि एकादिप्रदेश न्यू-नानीत्यर्थः । एतन्निषेधादवीचिद्रव्याणि । अयमत्र भावोयावता द्रव्यसमुदायेनाहारः पूर्य्यते स एकादिप्रदेशो नो वीचिद्रव्याण्युच्यते । परिपूर्णस्त्ववीचिद्रव्याणीति टीकाकारः । चूर्णिकार-स्त्वाहारद्रव्यवर्गणा अधिकृत्येदं व्याख्यातवान् तत्र च याः सर्व्वोत्कृष्टा आहारद्रव्यवर्गणास्ता अवीचिद्रव्याणि । यास्तु ताभ्य एकादिना प्रदेशेन हीनास्ता वीचिद्रव्याणीति (एगएसूणाइं पि दव्वाइंति) एकप्रदेशोनान्यपि अपि शब्दादनेकप्रदेशोनान्यपीति ॥ भ० १४ श० ६ उ० ॥

अनन्तरा हाराः परम्पराहाराः ।

णेरइयाणं भंते ! अणंतराहारा तत्तो निव्वत्तणया तत्तो परियाइणया तत्तो परिणामणया तत्तो परियारणया तत्तो पच्छा विउव्वणया ? हंता गोयमा ! णेरइया अणंतराहारा तत्तो निव्वत्तणया तत्तो परियाइणया तत्तो परिणामणया तओ परियारणया तओ पच्छा विउव्वणया असुरकुमाराणं भंते ! अणंतराहारा तओ निव्वत्तणया तओ परियाइणता तओ परिणामणता तओ विउव्वणया तओ पच्छा परियारणाया ? हंता गोयमा ! असुरकुमारा अणंतराहारा तओ निव्वत्तणया जाव तओ पच्छा परियारणया । एवं जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं भंते ! अणंतराहारा तओ निव्वत्तणया तओ परियाइणता तओ परिणामणता तओ परियारणता तओ विउव्वणया ? हंता गोयमा ! तं चेव जाव परियारणता नो चेव णं विउव्वणता एवं जाव चउरिंदिया नवरं वाउक्काइया पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा जहा णेरइया वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा ॥

टी० । नैरयिका णमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! परमसुखयोगिन् ! वा अनन्तरमुपपात-क्षेत्रप्राप्तिसमयमेव आहारयन्तीत्यनन्तराहाराः । ततो निव्वत्तणया इति । ततोऽनन्तराहार ग्रहणादारभ्य क्रमेण शरीरस्येति निर्वर्तिता निष्पत्तिर्भवति । तओ परियाइणया इति । ततश्च शरीरनिष्पत्तेरारभ्य पर्यादानं यथायोगमङ्गप्रत्यङ्गैर्लोमाहारादि ना समन्ततः पुद्गलादानं । तओ परिणामणया इति । ततः पुद्गलादानादनन्तरं तेषां पुद्गलानाम्परिणामनमिन्द्रियादिरूपतया परिणमत्यापादनं ततो परियारणया इति । तत इन्द्रिया दिरूपतया परिणमत्यापादनादूर्ध्वं परिचारणा यथायोगं शब्दादिविषयोपभोगः ततः पश्चात् विकुर्व्वणा वैक्रियलब्धिवशात् विक्रिया नानारूपा एवमुक्ते भगवानाहहंता गोयमेत्यादि । हंतेत्य-भ्यनुज्ञायां हंता गौतम ! नैरयिका अनंतराहारा इत्यादि । तदेवं यथा नैरयिकाणामनंतराहारादिवक्तव्यतोक्ता तथा असुर-कुमारदीनामपि स्तनितकुमारपर्य्यवसानानां वक्तव्या नवरं पूर्वंविकुर्व्वणं पश्चात्परिचारणा ते हि विशिष्टशब्दा-द्युपभोगवाञ्छायां पूर्वमिष्टं वैक्रियरूपं कुर्व्वन्ति पश्चात् शब्दाद्युप भोगमित्येष नियमः । शेषास्तु शब्दाद्युपभोगसंपत्तौ सत्यांहर्ष वशाद्विशिष्टतरशब्दाद्युपभोगवाञ्छातो ऽन्यतो वा कुतश्चित्कारणाद्विकुर्व्वते । ततस्तेषां पूर्वं *प्रविचारणा पश्चाद्विकुर्व्वणेति पृथिवीकायविषये प्रश्नसूत्रे तथैव उत्तरसूत्रे* तावद्वक्तव्यं-यावत्परिचारणा तेषामपि स्पर्शोपभोगसंभवात् । नो चेव णं

विउव्वणयत्ति । न चैव तेषां विकुर्वणा वाच्या वैक्रियलब्धेर-संभवात् । एवामित्यादि । एवं पृथिवीकायवदप्कायादयो वातकायवर्जास्तावदध्येतव्या यावच्चतुरिन्द्रियाः सर्वेषामपि वैक्रियलब्धेरसंभवेन सूत्रस्य समानत्वात् वातकायान् प्रति विशेषमभिधित्सुः समानगमत्वात्पञ्चेन्द्रियतिर्य्यङ्मनुष्याणामपि वातकायैः सहानिर्देशमाह । नवरमित्यादि। जहा नेरइया इति । यथा नैरयिकास्तथा वक्तव्याः । किमुक्तं भवति । नैरयिकवद्विकुर्व्वणाप्येतेषां वक्तव्या वैक्रियलब्धि-संभवात् । सा च प्रविचारणायाः पश्चादिति । वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा इति । असुरकुमाराणमिव व्यन्तरादीनामपि पूर्व्वं विकुर्व्वणा पश्चात्परिचारणा वक्तव्येति भावः । सुरगणानां सर्वेषामपि तथा स्वाभाव्यात् । उक्तञ्च मूलटीकायां ''पुव्वं विउव्वणा खलु पच्छा परिचारणा सुरगणाणं । सेसाणं पुव्वं परियारणाओ पच्छा विउव्वणया'' इति । प्रज्ञा० ३४ पद ।

सम्प्रत्याहारविषयमाभोगं चिचिन्तयिषुरिदमाह ।

णेरइया णं भंते ! आहारे किं आभोगनिव्वत्तिए अणाभोगनिव्वत्तिए ? गोयमा ! आभोगनिव्वत्तिए विअणाभोगनिव्वत्तिए वि । एवं असुरकुमाराणं जाव वेमाणियाणं नवरं एगिंदिया णं नो आभोग निव्वत्तिए अनाभोगनिव्वत्तिए । णेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते किं जाणंति पासंति आहारंति उदाहु न जाणंति न पासंति आहारंति गोयमा ! न जाणंति न पासंति आहारंति । एवं जाव तेइंदिया । चउरिंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! अत्थेगइया न जाणंति पासंति आहारंति, अत्थेगतिया न जाणंति न पासंति आहारंति । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा । गोयमा ! अत्थेगतिया जाणंति पासंति आहारंति अत्थेगतिया जाणंति न पासंति आहारंति अत्थेगतिया न जाणंति पासंति आहारंति, अत्थेगतिया न जाणंति न पासंति आहारंति । एवं मणुस्सावि । वाणमंतरजोइसिया जहा णेरइया । वेमाणियाणं पुच्छा । गोयमा ! अत्थेगतिया जाणंति पासंति आहारंति अत्थेगतिया न जाणंति न पासंति आहारंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइवेमाणिया अत्थेगतिया जाणंति पासंति आहारंति । अत्थेगतिया न जाणंति न पासंति आहारंति ? गोयमा ! वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा माई मिच्छदिट्ठी उववन्नगा य अमाई सम्मदिट्ठी उववन्नगा य । एवं जहा इंदियउद्देसे पढमे भणिए तहा भाणियव्वं जाव से तेणट्ठेणं गो० एवं वुच्चइ ॥

टी० आभोगनिर्वर्त्तितो यदा मनःप्रणिधानपूर्व्वमाहारं गृण्हाति शेषकालमनाभोगनिर्वर्तितः स च लोमाहारोऽवसातव्यः । एवं शेषाणामपि जीवानामाभोगनिर्वर्तितोऽनाभोग निर्वर्तितश्चाहारो भावनीयः । नवरमेकेन्द्रियाणामतिस्तोका पटुमनोद्रव्यलब्धि संपन्नत्वात् । पटुतर आभोगो नोपजायते । इति तेषां सर्वदानाभोगनिर्वर्तित एवाहारो न पुनः कदाचिदप्याभोगनिर्वर्तितः । अधुनाहार्य्यमाणपुद्गलविषये ज्ञानदर्शने चिन्तयति । नेरइयाणं इत्यदि । नैरयिका णमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! यान्पुद्गलानाहारतया गृण्हन्ति ।

भगवानाह गौतम ! जानन्त्यवधिज्ञानेन लोमाहारतया तेषामतिसूक्ष्मत्वेन नारकावधेरविषयत्वात् ॥ न च पश्यंति चक्षुरिन्द्रियविषयाभावात् । द्वीन्द्रिया न जानन्ति । मिथ्या-ज्ञानतया तेषां सम्यक् परिज्ञानाभावात् । द्वीन्द्रियाणां हि मत्यज्ञानं तदपि चास्पष्टमनःप्रक्षेपाहारमपि न ते स्वयं गृह्यमाणमपि सम्यक् जानन्ति न च पश्यन्ति चक्षुरिन्द्रियाभावात् । एवं त्रीन्द्रिया अपि ज्ञानदर्शनविकला भावनीयाः । चतुरिन्द्रियाः । अत्थेगइयत्ति । सन्त्येकके स्वयं गृह्यमाणमप्याहारप्रक्षेपकत्वरूपमपि न जानंति । मिथ्याज्ञानित्वात् । तेषामपि हि द्वीन्द्रियाणामिव मत्यज्ञानं तदपि चाविस्पष्टमिति चक्षुषा पुनः पश्यंति चक्षुरिन्द्रियसद्भावात् । तथाहि । पश्यन्ति मक्षिकादयो गुडादिकमिति एवमाहारयन्ति तथा संत्येकके चतुरिन्द्रिया ये न जानन्ति मिथ्यात्वान्न च पश्यन्ति अन्ध कारादिना चक्षुर्दर्शनस्य व्याहतत्वात् अनाभोगसंभवाद्वा । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतिरश्चां चतुर्भंगी प्रक्षेपाहारं लोमाहारञ्चाधिकृत्य भावनीया । तत्र प्रक्षेपाहारमधिकृत्यैवं भावना । सन्त्येकके तिर्यक्पंचेन्द्रिया ये प्रक्षेपमाहारं जानन्ति सम्यग्ज्ञानितया तेषां यथा-वस्थितपरिज्ञानात् । पश्यन्ति चक्षुरिन्द्रियभावात् । एवमाहारयन्ति । सन्त्येकके ये जानन्ति पूर्व्ववन्न च पश्यन्ति दर्शनस्यान्धकारादिना अनाभोगेन वा व्याहत त्वात् । तथा सन्त्येकके ये न जानन्ति मिथ्याज्ञानतया सम्यक् परिज्ञाना-भावात् । पश्यन्ति पुनश्चक्षुरिन्द्रिययोगात् । तथा सन्त्येकके ये न जानन्ति । मिथ्याज्ञानित्वान्न च पश्यंति पूर्ववत् । एवमाहारयन्ति लोमाहारापेक्षया त्वेवं भावनां सन्त्येकके तिर्यक् पंचेन्द्रिया ये लोमाहारमपि जानन्ति विशिष्टावधिज्ञानपरिकलितत्वात् । पश्यन्ति । तथाविधक्षयोपशमभावत इन्द्रियपाटवस्यातिविशुद्धत्वात् । एवमाहारयन्ति । यथा सन्त्येकके ये जानन्ति पूर्व्ववत् । न च पश्यन्ति तथा विधस्येन्द्रियपाटवस्याऽभावात् । तथा सन्त्येकके न जानन्ति पश्यन्ति तथारूपपाटवाभावादिति एवं मनुष्याणामपि लोमाहारप्रक्षेपाहारौ प्रतीत्य चतुर्भंगी भावनीया । बाणमंतरजोइसिया जहा नेरइया । नैरयिकावधिरिव व्यन्तरज्योतिष्कावधिरपि मनोभक्षित्वेऽप्याहारपुद्गलानामविषयत्वात् । वेमाणियाणं पुवंति । वैमानिकानाम्पृथक् सूत्रं वक्तव्यं । वेमाणियाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति ते किं जाणंति पासंति उदाहु न जाणंति न पासंति आहरंति इति । भगवानाह गोयमेत्यादि । माया पूर्वभवकृता विद्यते येषान्ते मायिनो मायया हि यथा तथा वादररूपकृतया कलुषकर्मप्रादुर्भावः । कलुषे च कर्म्मण्युदयमागते भवप्रत्युदयादप्युपजायमानोऽवधिर्नातिसमीचीनो भवति । एते च सम्यग्दृशो वेदितव्याः तथामिथ्याविपर्य्यस्तादृष्टिर्जिनप्रणीतवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्येषांन्ते मिथ्यादृष्टयः । मायिनश्च मिथ्यादृष्टयश्च मायिमिथ्यादृष्टयस्ते च ते उपपन्नाश्च मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नास्त एव स्वार्थिककप्रत्ययविधानात्

मायिमिथ्यादृष्टयुपपन्नकास्ते चोपरितनोपरितनग्रैवेयक-पर्यवसाना विज्ञेयाः । तेषां यथायोगमवश्यं मिथ्यादृष्टित्वस्य मायित्वस्य च भावात् । तद्विपरीता अमायिसम्यग्दृष्ट- युपपन्नकास्ते चानुत्तरविमानवासिनस्तेषामवश्यं सम्यग्दृष्टित्वं पूर्व्वानंतरभवे नितरां प्रतनुक्रोधमानमायालोभत्वस्योप-शान्तकषायत्वस्य च भावात् । आह च मूलटीकाकारः (वेमाणिया माइमिच्छदिट्ठी उववन्नगा जाव उवरिमगेवेज्जा अमायिसम्मदिट्ठी उववन्नगा) अनुत्तरा एव गृह्यन्ते इति । एवं जहेत्यादि । एव मुक्तेन प्रकारेण प्राक् यथा इन्द्रियसत्के प्रथमोद्देशके भणितं तथा भणितव्यं । तच्च तावत् यावत्सर्वान्तिमं । से एणमित्यादिना निगमनवाक्यं तच्चैवं -

तत्थ णं जे ते मायिमिच्छदिट्ठिउववन्नगा तेणं न याणंति न पासंति आहारंति तत्थ णं जे ते अमायिसम्मदिट्ठि उवव-न्नगा तेणं दुविहा पण्णत्ता । तं अणंतरोववन्नगा परंपरोव-वन्नगा य । तथ्य णं जे ते अणंतरोववन्नगा ते न याणंति न पासंति आहारंति । तत्थ णं जे ते परंपरोववन्नगा ते दुविहा पण्णत्ता । तं० पज्जत्तगा य अपज्जत्तगाय तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते न याणंति न पासंति आहारंति । जे ते पज्जत्तगा ते दुविहा पण्णत्ता । तं० उवउत्ता च अणुवउत्ता य । तत्थ णं जे ते अणुवउत्ता ते न याणंति न पासंति आहारंति । तत्थ णं जे ते उव उत्ता ते जाणंति पासंति आहारंति से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ । अत्थेगइया न जाणंति न पासंति आहारंति अत्थेगइया जाणंति पासंति आहारंति इति ।

अस्यायमर्थः । सूत्रे ये ते मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नका उपरितनोपरितनोपरिग्रैवेयकपर्य्यवसाना इत्यर्थः । ते मनोभक्ष्याहारयोग्यान्पुद्गलान् न जानंति अवधिज्ञानेन तदेवावधेस्तेषामविषयत्वात् । न पश्यन्ति चक्षुषा तथाविधपाटवाभावात् । येऽप्यमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नका अनुत्तरविमानवासिन इत्यर्थः। ते द्विधा अनन्तरोपपन्नकाः परम्परोपपन्नकाश्च । प्रथमसमयोत्पन्ना अप्रथमसमयोत्पन्नाश्चेत्यर्थः । अत्र ये ते अनन्तरोपपन्नकास्ते न जानन्ति न पश्यन्ति प्रथमसमयोत्पन्नतयाऽवधिज्ञानोपयोगस्य चक्षुरिन्द्रियस्याभावात् । किन्त्वेवमेवाहारयंति । तत्र ये ते परम्परोपन्नकास्ते द्विविधास्तद्यथा पर्य्याप्ता अपर्य्याप्ताश्च । तत्र ये ते अपर्य्याप्तकास्ते न जानन्ति न च पश्यन्ति पर्य्याप्तानाम-संपूर्णत्वेनावध्याद्युपयोगाभावात् । ये ऽपि पर्य्याप्तास्तेऽपि द्विविधास्तद्यथा उपयुक्ता अनुपयुक्ताश्च । तत्र ये ते उपयुक्तास्ते जानन्ति अवधावनंशतो यथाशक्तिनियमेन ज्ञानस्य स्वविषयपरिच्छेदाय प्रवृत्तिसंभवात् । पश्यन्ति चक्षुषा इन्द्रिय-पाटवस्य तेषामनिविशिष्टत्वात् । ये त्वनुपयुक्तास्ते न जानन्ति न च पश्यन्ति अनुपयुक्तत्वादेव । उपयुक्ता अपि कथं मनोभक्ष्याहारयोग्यान्पुद्गलान् जानन्ति इति चेदुच्यते । इहावश्यकप्रथमपीठिकायामवधिज्ञानाधिकारेऽभिहितं '' संखेज्जकम्मदव्वे लोए धोऊणयं पलियं'' ॥ अस्यायमर्थः । कार्म्मणशरीरद्रव्याणि पश्यन् क्षेत्रतो लोकस्य संख्येयान् भागान्पश्यन्ति । कालतः स्तोकाः पल्योपमं यावत् अनुत्तरास्तु सम्पूर्णा लोकनाडीम्पश्यन्ति । '' सम्भिन्नलोगनालिलिंपासन्ति अनुत्तरधे वा '' इति वचनात् । ततस्ते मनोभक्ष्याहारयोग्यानपि पुद्गलान् जानन्ति । आह च मूलटीकाकारः । ते जानन्ति आहारयंति च विशुद्धत्वादवधेरिन्द्रियविषयस्य चातिविशुद्ध-वात्पश्यत्यपि इति । अत्रेन्द्रियविषयस्येति इन्द्रियपाटव स्येतिभावः । उपसंहारवाक्यं प्रतीतार्थं ॥

सम्प्रत्येकेन्द्रियशरीरादीनामधिकारमभिधित्सुराह ॥

नेरइयाणं भंते ! किं एगिंदियसरीराइं आहारंति जाव पंचिंदियसीराइं आहारंति ? गोयमा ! पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च एगिंदियसरीराइं पि आहारंति जाव पंचिंदिय सरीराइं पि आहारंति । पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्च नियमा पंचिंदियसरीराइं पि एवं जाव थणियकुमारा । पुढविकाइ-याणं पुच्छा, गोयमा ! पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च एवं चेव पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्च नियमा एगिंदियसरीराइं आहारं-ति । बेइंदिया पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च एवं चेव पडुप्पन्न-भावपन्नवणं पडुच्च नियया बेइंदियसरीराइं आहारंति । एवं जाव चउरिंदिया जाव पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च एवं पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्च नियमा जस्स जइ इंदिया तस्स इंदियसरीराइं ते आहारंति । सेसं जहा नेरइया जाव वेमाणिया ॥

टी० ॥ नेरइयाणं भंते ! इत्यादिप्रश्नसूत्रं सुगमं निर्वचनसूत्रमाह । गोयमेत्यादि । पूर्वोऽतीतो भावस्तस्य प्रज्ञापना प्ररूपणा ताम्प्रतीत्य एकेन्द्रियशरीराण्यपि यावत्करणात् द्वित्रिचतुरिन्द्रिय शरीरपरिग्रहः । पंचेन्द्रियशरीराण्यप्याहारयन्ति । इयमत्र भावना । यदा तेषामाहार्य्यमाणानां पुद्गलानामतीतोभावः परिभाव्यते तदा ते किंचित्कदाचित् एकेन्द्रियशरीरतया परिणता आसीरन् । कदाचित् द्वीन्द्रियशरीरतया परिणता आसीरन् । कदाचित् त्रीन्द्रियशरीरतया कदाचिच्चतुरिन्द्रियशरीरतया कदाचित्पञ्चेन्द्रियशरीरतया ततो यदि पूर्व्वभाव इदानीमध्यारोप्य विवक्ष्यते तदा नैरयिका एकेन्द्रियशरीराण्यपि यावत्प-ञ्चेन्द्रियशरीराण्यप्याहारयन्तीति भवति । पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुचेत्यादि । प्रत्युत्पन्नो वार्तमानिकः स चासौ भावश्च प्रत्युत्पन्नभावस्तस्य प्रज्ञापना तां प्रतीप्य नियमादवश्यतया पंचेन्द्रियशरीराण्याहारयन्ति । कथमिति चेदुच्यते । इह प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनां करोति नय ऋजुसूत्रो न शेषा नैगमादयः । ऋजुसूत्रश्च क्रियमाणं कृतमभ्यवहियमाणमभ्यवहृतं परिणम्यमाणं परिणतमभ्युपगच्छति । अभ्यवहियमाणाश्च पुद्गलास्ते उच्चयन्ते ये स्वशरीरतया परिणम्यमाना वर्तन्ते । अभ्यवहियमाणं चाभ्यवहृतं परिणम्यमानञ्च परिणतमिति तन्मतेन शरीर-मेवाभ्यवहियते । स्वशरीरञ्च तेषां पंचेन्द्रियशरीरात्तेषामत उक्तं नियमात्पञ्चेन्द्रियशरीराण्याहारयन्तीति । एवमसुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्य्यवसाना भवनपतयो वक्तव्याः । पृथिवीकायिकसूत्रे प्रत्युत्पन्नभावप्ररूपणाचिन्तायां नियमादे-केन्द्रियशरीराण्याहारयन्तीति वक्तव्यं । तेषामेकेन्द्रियतया तच्छरीराणामेकेन्द्रियशरीरत्वात् । एवं द्वीन्द्रियसूत्रे नियमाद्द्वीन्द्रियशरीराण्याहारयन्तीति वक्तव्यं । त्रीन्द्रियसूत्रे नियमात्त्रीन्द्रियशरीराणि चतुरिन्द्रियसूत्रे नियमाच्चतुरिन्द्रिय शरीराणीति । तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या व्यंतरज्यो-तिष्कवैमानिकाश्च नैरयिकवद्वक्तव्याः तथाचाह (पुढवीकायाणं पुच्छा) इत्यादि ॥ प्रज्ञा० प० २८ ॥

अधुना लोमाहाराधिकारं विभावयिषुरिदमाह ॥

नेरइया णं भंते ! किं लोमाहारा पक्खेवाहारा ? गोयमा ! लोमाहारा नो पक्खेवाहारा । एवं एगिंदिया सव्वे देवा य भाणियव्वा जाव वेमाणिया । बेइंदिया जाव मणुस्सा लोमाहारा वि पक्खेवाहारा वि ॥

(नेरइयाणमित्यादि) सुगमं नवरं नैरयिकाणां प्रक्षेपाहारो न भवतीति वैक्रियशरीराणां तथा स्वभावत्वात् लोमाहारोऽपि च पर्य्याप्तानामवसेयो नापर्य्याप्तानामिति ॥ (एवमेगिंदिया इत्यादि) एवं नैरयिकोक्तेन प्रकारेण एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवन-स्पतयः सर्वे देवाश्चासुरकुमारादयो यावद्वैमानिका भणितव्या-स्तत्रैकेन्द्रियाणां प्रक्षेपाहाराभावो मुखाभावात् । असुरकुमारा-दीनां वैक्रियशरीरितया तथा स्वभावात् द्वित्रिचतुरिन्द्रिया-स्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च लोमाहारा अपि वक्तव्याः प्रक्षेपाहारा अपि उभयरूपस्याप्याहारस्य तेषां संभवात् ।

चरममर्थाधिकारमभिधित्सुराह ॥

नेरइया णं भंते ! किं ओयाहारा मणभक्खी ? गोयमा ! ओयाहारा णो मणभक्खी एवं सव्वे उरालियसरीरा वि देवा सव्वे जाव वेमाणिया ओयाहारा वि मणभक्खी वि । तत्थ णं जे ते मणभक्खी देवा तेसि णं इच्छामणे समुप्पज्जइ इच्छामो णं मणभक्खणं करित्तए तए णं तेहिं देवेहिं एवं मणसीकए समाणे खिप्पामेव जे पोग्गला इट्ठा कंता जाव मणामा तेसिं मणभक्खत्ताए परिणमंति से जहा नामए सीता पोग्गला सीतं पप्पसीतं चेव अतिवइत्ताणं चिट्ठंति उसिणा वा पोग्गला उसिणं पप्पउसिणं चेव अतिवइत्ताणं चिट्ठंति एवामेव तेहिं मणभक्खणे कए समाणे से इच्छामणे खिप्पामेव अवेति ॥

(नेरइया णं भंते! इत्यादि) ओज उत्पत्तिदेशे आहार-योग्यपुद्गलसमूहः । ओज आहारो येषान्ते ओजआहारा मनसा भक्षयन्तीत्येवं शीला मनोभक्षिणः । तत्रनैरयिका ओज आहारा भवन्ति । अपर्य्याप्तावस्थाया-मोजस एवाहारस्य संभवात् मनोभक्षिणस्त्वेते न भवन्ति मनोभक्षणलक्षणो ह्याहारस्स उच्यते । ये तथाविधशक्तिवशान्मनसा स्वशरीरपुष्टिजनकाः पुद्गला अभ्यवह्रियन्ते । यदभ्यवहरणानन्तरञ्च दृष्टपूर्व्वः परमसन्तोष उपजायते नचैतन्नैरयिकाणामस्ति । प्रतिकूल-कर्म्मोदयवशतस्तथारूपशक्त्यभावादेवं (सव्वे उरालियशरीरावि) इति । एवं नैरयिकोक्तेन प्रकारेणौदारिकशरीरिणोऽपि सर्व्वे पृथिवीकायिकादयो मनुष्यपर्य्यवसाना वक्तव्याः । तद्यथा । (पुढविकाइया णं भंते ! किं ओयाहारा मणभक्खी ? गोयमा ! ओयाहारा नो मणभक्खी त्यादि) देवा इत्यादि देवास्सर्वे यावद्वैमानिका ओजआहारा अपि मनोभक्षिणोऽपि वक्तव्याः । तद्यथा-

असुरकुमारा णं भंते ! किं ओयाहारा मणोभक्खी ? गोयमा ! ओयाहारा वि मणभक्खी वि जाव वेमाणियाणं पुच्छा गोयमा ! ओयाहारा वि मणभक्खी वि ॥

सम्प्रति मनोभक्षित्वं देवानां यथा भवति तथोपदर्शयति ।

तत्र तेषु संसारिषु जीवेषु मध्ये णमिति वाक्यालंकारे । येमनोभक्षिणो देवास्तेषां णमिति प्राग्वत् । मनः प्रस्ता-वादाहारविषयं समुत्पद्यते । केनोल्लेखेनेत्यत आह इच्छामो अभिलषामो णमिति पूर्व्ववत् मनोभक्षिणमिति मनसा भक्षणं मनोभक्षणं कर्तुमिति तत एवं तैर्मनसि कृते व्यवस्थापिते मनो-भक्षणे सति तथा विधशुभकर्म्मोदयवशात् क्षिप्रमेव तत्कालमेवेति भावः । ये इष्टाः कान्ताः प्रिया मनोज्ञाः मन आपा पुद्गला-स्तेषां व्याख्यानं प्राग्वात् । तेषां देवानां मनोभक्षतया परिणमन्ति कथमित्यत्रैव दृष्टान्तमाह (से जहा नामए) से शब्दोऽथशब्दार्थः सचात्र वाक्योपन्यासे यथा नामेति विवक्षिताः शीताः पुद्गलाः शीतं शीतयोनिकं प्राणिनं प्राप्य ते शीतत्वमेवातिव्र ज्यातिश-येन गत्वा तिष्ठन्ति किमुक्तं भवति । विशेषतश्शीतीभूय शीतयोनिकस्य प्राणिनः सुखित्वायोप-कल्पन्त इति। उष्णा वा पुद्गला उष्णम् उष्णयोनिकं प्राप्य उष्णमेव उष्ण-त्वमेवातिव्रज्यातिशयेनगत्वा तिष्ठन्ति विशेषतस्स्वरूप-लाभसम्पत्त्या तस्य सुखित्वायोपतिष्ठन्त इति भावः । एवमेव अनेनैव प्रकारेण तैर्देवैः प्रागुक्तरीत्या मनोभक्षणे कृते सति स तेषां देवानामिच्छा मन आहारविषयेच्छा प्रधानमनः क्षिप्रमेवापैति तृप्तिभावान्निवर्तत इति भावः । इयमत्र भावना यथा शीत पुद्गलाः शीतयोनिकस्य प्राणिनः सुखित्वायोपकल्पन्ते उष्ण पुद्गला वा उष्णयोनिकस्य तथा देवैरपि मनसाऽभ्यवह्रियमाणाः पुद्गला-स्तेषां तृप्तये परमसंतोषाय चोपकल्पन्ते तत आहारो विषयाभिलाषनिवृत्तिर्भवतीति । अत्र च ओज आहारा-दिविभागप्रतिपादिका इमास्सूत्रकृताङ्गनिर्युक्तिगाथाः ।

सरीरेणोसयाहारो तयादिफासेण लोम आहारो ।
पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो ॥१॥
ओयाहार जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा ।
पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होंति भइयव्वा ॥२॥
एगिंदियदेवाणं णेरइयाणं च णत्थि पक्खेवो ।
सेसाणं जीवाणं संसारत्थाणपक्खेवा ॥३॥
लोमाहार एगिंदियाओ णेरइयसुरगणा चेव ।
सेसाणं आहारो लोमे पक्खेवओ चेव ॥४॥
ओयाहारा मणभक्खिणो य सव्वे वि सुरगणा होंति ।
सेसा हवंति जीवा लोमे पक्खेवओ चेव ॥५॥

अथक आहार आभोगनिर्वर्तितःको वाऽनाभोगनिर्वर्तितः इति चेदुच्यते । देवानामाभोगनिर्वर्तित ओज आहारः स चापर्य्याप्तावस्थायां लोम आहारोऽपि अनाभोगनिर्वर्तितस्स्स च पर्य्याप्तावस्थायां आभोगनिर्वर्तितो मनोभक्षणलक्षणः स च पर्य्याप्तावस्थायां आभोगनिर्वर्तितो मनोभक्षणलक्षणनिर्वर्तित आहारोऽपर्य्याप्तावस्थायां लोमाहारः पर्याप्तावस्थायां नैरयिकवर्ज्जानां लोमाहारो नैरयिकाणां लोमाहार आभोग-निर्वर्तितोऽपि द्वीन्द्रियादीनां मनुष्यपर्य्यवसानानां यः प्रक्षेपाहारस्स आभोगनिर्वर्तित एवेति ॥

नैरयिकादिषु आहारपुद्गलानां चयोपचयादिजीवशब्दे।

आहारपदस्य द्वितीये उद्देशोऽर्थाधिकाराः ।

आहारभवियसन्नी लेस्सादिट्ठी य संजयकसाए ।
नाणाजोगुवओगे वेदेयसरीरपज्जत्ति ॥१॥

प्रथमं सामान्यत आहाराधिकारो, द्वितीयो भव्याधिकारो भव्य-विशेषिताहाराधिकारः । एवं तृतीयः संज्ञाधिकार, श्चतुर्थो लेश्या-धिकारः, पंचमो दृष्ट्यधिकारः, षष्ठःसंयताधिकारः, सप्तमः

कषायाधिकारो, ऽष्टमो ज्ञानाधिकारो, नवमो योगाधिकारो, दशम उपयोगाधिकार, एकादशो वेदाधिकारो, द्वादशः शरीराधिकार, त्रयोदशः पर्य्याप्त्यधिकारः। इह भव्यादिग्रहणेन तत्प्रतिपक्षभूता अभव्यादयोऽपि सूचिता द्रष्टव्याः। तथैवाग्रे वक्ष्यमाणत्वात् ॥

तत्र प्रथमं सामान्यत आहाराधिकारं विभावयिषुरिदमाह।

जीवे णं भंते ! किं आहारए अणाहारए ? गोयमा !

सिय आहारए सिय अणाहारए । एवं नेरइए जाव असुरकुमारे जाव वेमाणिए । सिद्धे णं भंते ! किं आहारए ? गोयमा ! णोआहारए अणाहारए ।

जीवेणं भन्ते! इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं भनवानाह। गोयमे त्यादि गौतम ! स्यात्कदाचिदाहारकः कदाचिदनाहारकः कथमिति चेदुच्यते। विग्रहगतौ केवलसमुद्घाते शैलेश्य वस्थायां सिद्धत्वे चानाहारकः शेषास्ववस्थास्वाहारक उक्तं च। '' विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समोहया अजोगी य। सिद्धा यअणाहारा, सेसा आहारगा जीवा '' ॥१॥ तदेवं सामान्यतो जीवचिन्तां कृत्वेदानीं नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डक क्रमेणा-हारानाहारकचिन्तां करोति (सिद्धेणं भन्ते ! किं आहारे-त्यादि) सुगमं तदेवं सामान्यतो जीवपदे नैरयिकादिषु चैकवचनेन आहारकानाहारकत्वचिन्ता कृता ॥

सम्प्रति बहुवचनेन तां चिकीर्षुराह ॥

जीवाणं भंते ! किं आहारया अणाहारया ? गोयमा ! आहारया वि अणाहारया वि । नेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा । आहारगा । १ ।अहवा आहारगा य अणाहारगे य । २ । अहवा आहारगा य अणाहारगा य । ३ । एवं जाव वेमाणिया । नवरं । एगिंदिया जहा जीवा । सिद्धाणं पुच्छा । गोयमा ! नो आहारगा अणाहारगा ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं । भगवानाह । गौतम ! आहारका अपि अना हारका अपि सदैव बहुवचनविशिष्टा उभये ऽपि लभ्यन्ते इति भावः। तथाहि। विग्रहगतिव्यतिरेकेण शेषकालं सर्व्वेऽपि संसारिणो जीवा आहारका विग्रहगतिस्तु क्वचित्कदा-चित्कस्यचित्तु भवतीति सर्वकालमपि लभ्यमाना सम्प्रति निय तानामेव लभ्यते तत आहारकेषु बहुवचनं अनाहारका अपि सिद्धास्सदैव लभ्यन्ते ते चाभव्येभ्यो ऽनन्तगुणाः। अन्य । च्च सर्वकालमेकैकस्य निगोदस्य प्रतिसमयसंख्येयभागो विग्रह-गत्यापन्नो लभ्यते ततो ऽनाहारकेष्वति बहुवचनं नैरयिकसूत्रे सर्वे ऽपि तावद्भवेयुराहारकाः। किमुक्तं भवति। कदाचिन्नैर-यिकाः सर्व्वे ऽप्याहारका एव भवन्ति न त्वेको ऽप्यनाहारकः कथमिति चेदुच्यते। उपपातविरहात्तथाहि। नैरयिकाणामुपपातविरहो द्वादश मुहूर्त्ता एतावति चान्त रे पूर्वोत्पन्न-विग्रहगत्यापन्ना अपि आहारका जाता अन्यस्त्वनुत्पद्यमानत्वात्। अथवा आहारका अनाहारकपदे बहुवचनमनाहारकपदे एकवचनमिति भावः। कथमेष भङ्गो घटामियर्तीति चेदुच्यते इह नरकेषु जन्तुः कदा चिदेक उत्पद्यते कदाचिद् द्वौ कदाचित्त्रयश्चत्वारो यावत्संख्याता असंख्याता वा। तत्र यदा एक उत्पद्यते सो ऽपि विग्रहगत्यापन्नः प्रतिसमयमसंख्यातानां वनस्पतिषु प्रतिसमयमनंतानां विग्रहगत्योत्पाद्यमानानां लभ्य-मानतया अनाहारकपदे ऽपि सदैव तेषु बहुवचनस्य सम्भवात्। तथाचाह (एवं जाव वेमाणिया नवरं एगिंदिया जहा जीवा इति) ॥ एवं नैरयिकोक्तभङ्गप्रकारेण शेषा अप्यसुर-कुमारादयस्तावद्वक्तव्या यावद्वैमानिकाः। नवरमेकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिरूपाः प्रत्येकं यथा उभयत्रापि बहुवचनेन जीवा उक्तास्तरा वक्तव्याः। सिद्धेष्वेक एवं भंगो ऽनाहारका इति सकलशरीरप्रहाणितस्तेषामाहारासंभवात्। बहुनाञ्च सदाभावादिति। गतं प्रथमद्वारम्।

द्वितीयं भव्यद्वारमभिधित्सुराह।

भवसिद्धिएणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए एवं जाव वेमाणिए।

भवसिद्धिएणं भंते ! इत्यादि ॥ भवैः संख्यातैरनन्तैर्वा सिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिको भव्यस्स् कदाचिदनाहारकः। विग्रहगत्याद्यवस्थायां भवति अन्ये च पूर्व्वोत्पन्नतया आहारका अभवन्। तदा एष भङ्गो लभ्यते। तृतीयभङ्गमाह-अहवा आहारगा य अणाहारगा य। अत उभयत्रापि बहुवचनं एष च भंगो यदा बहवो विग्रहगत्योत्पद्यन्ते तदा द्रष्टव्यः। शेषभंगकास्तु न संभवन्ति आहारकपदस्य नैरयिकाणां सर्वदैव बहुवचनविषयतया लभ्यमानत्वात्। एवमसुरकुमारादिषु स्तनितकुमारपर्य्यवसानेषु द्वीन्द्रियादिषु च वैमानिकपर्य्यन्तेषु प्रत्येकं भङ्गत्रिकं भावनीयम्। उपपातविरहभावात्। प्रथम भङ्गस्य एका-दिसंख्यतयोत्पत्तेः। शेषस्य च भङ्गद्वयस्य सर्वत्रापि लभ्य-मानत्वात्। एकेन्द्रियेषु पुनः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिरूपेषु प्रत्येकमेकशेष एवैको भंगः। आहारका अपिअनाहारका अपि पृथिव्यप्तेजोवायुषु प्रत्येकं जायमाना अनाहारकाः शेषकालं त्वाहारका एवं चतुर्विंशति दण्डकेऽपि प्रत्येकं वाच्यं। तथाचाह- एवं जाव वेमाणिए। अत्र च सिद्धिविषमयं सूत्रं न वक्तव्यं मोक्ष-पदप्राप्ततया तस्य भवसिद्धिकत्वायोगात्॥

अत्रैव बहुवचनेनाहारकानाहारकत्वचिन्तां चिकीर्षुराह ॥

भवसिद्धिया णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहार गा । जीवेगिंदियज्जो तियभगो अभवसिद्धिए वि । एवं चेव नो भवसिद्धिए नो अभवसिद्धिएणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! नो आहारए अणाहारए एवं सिद्धे वि । नो भवसिद्धिया नो अभवसिद्धिया णं भंते । जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! नो आहारगा अणाहारगा एवं सिद्धा वि ॥

(भवसिद्धिएणं भंते ! इत्यादि) अत्राप्याहारद्वार इव जीव पदे एकेन्द्रियेषु च प्रत्येकमुभयत्र च बहुवचनेनैक एव भंगो यथा आहारका अपि अनाहारका अपि शेषेषु नैरयिकादिषु स्थानेषु भंगत्रिकं कदाचित्केवला आहारका न त्वेकोऽप्यनाहारकः। अथवा कदाहारकः एकोऽनाहारकः। अथवा । आहार का अपि अथवा ऽनाहारका अपि। उभयत्रापि बहुवचनं। तथा चाह। ''जीवे गिंदियवज्जो तियभंगो'' इति। यथाच भवसिद्धिके एकस्मिन् बहुषु चाहारकानाहारकत्वचिन्ता

कृता तथा अभवसिद्धिकेऽपि कर्तव्या । उभयत्रापि एकवचने न भंगसंख्यायास्सर्वत्रापि समानत्वात् । तथा चाह । अभवसिद्धिए एवं चेव । अभवसिद्धिकोऽपि भवसिद्धिक इव एकवचने बहुवचनेन वक्तव्यमिति । यस्तु न भवसिद्धिको नाप्यभवसिद्धिकः स सिद्धः स हि भवसिद्धिको न भवति भवातीतत्वात् अभव-सिद्धिकस्तु रूढ्या यस्सिद्धिगमनयोग्यो व भवति स उच्यते ततो भवसिद्धिकोऽपि न भवति सिद्धिप्राप्तवात् । तथाच सति नोभव-सिद्धि कानोअभवसिद्धि कत्वचितायां द्वे एव पदे । तद्यथा जीवपदं सिद्धपदञ्च उभयत्राप्येकवचने एक एव भंगो ऽनाहारक इति बहुवचने ऽप्येक एवानाहारक इति ॥ संज्ञिद्वारम् ॥

सन्नीणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए । एवं जाव वेमाणिए नवरं । एगिंदियविगलिंदिया न पुच्छिज्जंति । सन्नीणं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा गोयमा ! जीवादिओ तिगभंगो जाव वेमाणिया ॥

(सन्नीणं भंते !) इत्यादि ॥ प्रश्नसूत्रं सुगमं निर्वचनसूत्रमाह । गोयमेत्यादि । विग्रहगत्या ऽनाहारकः शेषकालमाहारकः । ननु संज्ञी समनस्तु उच्यते विग्रहगतौ च मनो नास्ति ततः कथं संज्ञी सन्ननाहारको लभ्यते उच्यते इह विग्रहगत्यापन्नोऽपि संज्ञ्-यायुष्कवेदनात्संज्ञी व्यवह्रियते यथा नारकायुष्कवेदनान्नारको न कश्चिद्दोषः । एवमित्यादि । एवं मुपदर्शनेन प्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकाऽवैमानिकसूत्रं, नवरं मेकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न प्रष्टव्याः । किमुक्तं भवति तद्विषयसूत्रं सर्वथा न वक्तव्यं तेषाममनस्कतया संज्ञित्वायोगात् । बहुवचनचिंतायां जीवपदे नैरयिकादिपदेषु च प्रत्येकं सर्वत्र भङ्गत्रयं तद्यथा-सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवाऽऽहारकाश्च अनाहारकश्च २ अथवाऽऽहारकाश्च अनाहारकाश्च ३ तथाचाह । ''जीवाइयो तियभङ्गो जाव वेमाणिया'' इति ॥ तत्र सामान्यतो जीवपदे प्रथमभंगे सकललोकापेक्षया संज्ञित्वेनोत्पातविरहाभावात् । द्वितीयभंगे एकस्मिन् संज्ञिनि विग्रहगत्यापन्ने तृतीयभंगे बहुषु संज्ञिषु विग्रहगत्यापन्नेषु, एवं नैरयिकादिपदेष्वपि भंगभावना कार्य्या ॥

असंज्ञिद्वारम् ॥

असन्नी णं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए एवं णेरइए जाव वाणमंतरे नवरं जोइसियवेमाणिया न पुच्छिज्जंति । असन्नीणं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! आहारगा वि अणाहारगा वि एगो भंगो । असन्नीणं भंते ! णेरइया किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! आहारगा वा अणाहारगा वा अहवा अहारए य आणाहारए य अहवा आहारए य । अहवा आहारगा य अणाहारए य । अहवा आहारगा य अणाहारगा य एवं एते छभंगा । एवं जाव थणियकुमारा, एगिंदियेसु, अभंगकं बेइंदिय जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु तियभंगो मणुस्सवाणमतरेसु छभंगा नो सन्नी नो असन्नीणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए । एवं मणुस्से वि । सिद्धे अणाहारए पुहुत्तेणं नो सन्नी नो असन्नी जीवा आहारगा वि अणाहारगावि मणुस्सेसु तियभंगो सिद्धा अणाहारगा ॥

(असन्नीणं भंते ! इत्यादि) अत्रापि विग्रहगतावनाहारकः शेषकालमाहारकः (एवं जाव वाणमंतरे इति) एवं सामान्यतो जीवपद इव चतुर्विंशतिदंडकक्रमेण तावद्वक्तव्यं । यावद्वानव्यन्तरो वानव्यंतरविषयसूत्रं । अथ नैरयिका भव नपतयो वानव्यन्तराश्च कथमसंज्ञिनो येनासंज्ञिसूत्रे तेऽपि पठ्यंत इति उच्यते । इह नैरयिका भवनपतयो व्यन्तराश्च संज्ञिभ्योऽप्युत्पद्यन्ते । संज्ञि-भ्योऽपि असंज्ञिभ्यश्चोत्पद्यमाना असंज्ञिन इति व्यवह्रियन्ते । संज्ञिभ्य उत्पद्यमानाः संज्ञिनस्ततो संज्ञिसूत्रेऽपि ते उक्तप्रकारेण पठ्यन्ते । ज्योतिष्कवैमानिकास्तु संज्ञिभ्य एवोत्पद्यन्ते । नासंज्ञिभ्यः असंज्ञित्वव्यवहाराभावादिह ते न पठ्यन्ते । तथाचाह । ''जोइसियवेमाणिया न पुच्छिज्जंति'' किमुक्तं भवति । तद्विषयसूत्रं न वक्तव्यं तेषामसंज्ञित्वाभावादिति । बहुवचनचिन्तायां सामान्यतो जीवपदे एक एव भंगस्तद्यथा आहारका अपि अनाहारका अपि प्रतिसमयमेकेन्द्रिया-णामनन्तानां विग्रहगत्यापन्नानामत एवानाहारकाणां सदैव लभ्यमानतयाहारकपदेऽपि सर्वदा बहुवचनभावात् । नैरयिकपदे षड्भंगाः । तत्र प्रथमो भंग आहारका इति अयं च भंगो यदाऽन्यो संज्ञी नारक उत्पद्यमानो विग्रहगत्यापन्नो न लभ्यते । पूर्वोत्पन्नास्त्वसंज्ञिनः । सर्वेऽप्या हारका जातास्तदा लभ्यन्ते । द्वितीयोऽनाहारक इति एष यदा पूर्वोत्पन्नोऽ संज्ञी नारक एकोऽपि न विद्यते । उत्पद्यमानास्तु विग्रहगत्यापन्ना बहवो लभ्यंते तदा विज्ञेयः । तृतीय आहारकश्च अनाहारकश्च द्वित्वेऽपि प्राकृते बहुवचनचिन्ताया-मेषोऽपि भंगस्समीचीन इत्युपन्यस्तः । तत्र यदा चिरकालोत्पन्न एको संज्ञी नारको विद्यते । अधुनोत्पद्यमानोऽपि विग्रहगत्यापन्न एकस्तदायं भंगः चतुर्थः आहारकश्चानाहारकाश्च एकश्चिरकालोत्पन्ने एकस्मिन्न-संज्ञिनि नारके विद्यमाने बहुष्वधुनोत्पद्यमानेषु असंज्ञिषु विग्रहगत्यापन्नेषु द्रष्टव्यः पंचमः आहारकाश्चानाहारकश्चायं चिरकालोत्पन्नेषु बहुषु असंज्ञिषु नारकेषु अधुनोत्पद्यमाने विग्रहगत्यापन्ने एकस्मिन्नसंज्ञिनि विज्ञेयः । षष्ठः आहारकाश्चानाहारकाश्चैषु बहुषु चिरकालो-त्पन्नेषूत्पद्यमानेषु चासंज्ञिषु वेदितव्यः । एवमेते षड्भंगा एवमुपदर्शितेन प्रकारेण एते षड्भंगास्तद्यथा । आहारकपदस्य केवलस्य बहुवचनेनैकः । १ । अनाहारकपदस्य केवलस्य बहुवचनेन द्वितीयः । २ । आहारकपदस्यानाहारकपदस्य च युगपत्प्रत्येकमेकवचनेन तृतीयः । ३ । आहारकपदस्यैकवचनेन अनाहारकपदस्य बहुवचनेन चतुर्थः ॥ ४ ॥ आहारकपदस्य बहुवचनेन अनाहारकपदस्यैकवचनेन पञ्चमः ॥ ५ ॥ उभयत्रापि बहुवचनेन षष्ठः ॥ ६ ॥ शेषास्तु भंगा न सम्भवन्ति । बहु-वचनचिन्तायाः प्रक्रान्तत्वात् । एते च षड्भंगा असुरकुमारा-दिष्वपि स्तनितकुमारपर्य्यवसानेषु वेदित व्यास्तथा चाह ''एवं जाव थणियकुमारा एगिंदिएसु अभंगमिति'' एकेन्द्रियेषु पृच्छिव्य-स्तेजोवायुवनस्पतिरूपेष्वभंगकं भंगकाभावः । एक एव भंग इत्यर्थः । सचाऽयं आहारका अपि अनाहारका अपि । तत्राहार-का बहवः सुप्रसिद्धा अनाहारका अपि प्रतिसमयं पृथिव्यप्तेजो-

वायवः प्रत्येकमसंख्येयाः । प्रतिसमयं वनस्पतयो ऽनन्ताः सर्व्वकालं लभ्यन्ते इति तेऽपि बहवः सिद्धाः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिंद्रिय-तिर्य्यक्पञ्चेन्द्रियेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । तद्यथा । आहारका अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च । अथवा आहारकाश्चानाहरकाश्च तत्र द्वीन्द्रियान् प्रतिभावना यदा द्वीन्द्रिय एकोऽपि विग्रहगत्यापन्नो लभ्यते तदा पूर्व्वोत्पन्नाः सर्व्वेऽप्याहारका इति प्रच्छमो भंगः । यदा पुनरेको विग्रहगत्यापन्न स्तदा पूर्व्वे सर्व्वेऽप्याहारका उत्पद्यमानस्त्वेकोऽनाहारक इति । यदा तूत्पद्यमाना अपि बहवो लभ्यन्ते तदा तृतीयः । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्य्यक् पञ्चेन्द्रियेष्वपि भावना कार्य्या । मनुष्यव्यंतरेषु षड्भंगाः । ते च नैरयिकेषु च भावनीयास्तथा-चाह । ''बेइंदियजावपंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु । तियभंगो मणूसवाणमंतरेसु छभंगा ॥ १ ॥'' इति । नो संज्ञी नो असंज्ञी च केवली सिद्धश्च । ततो नोसंज्ञिनोअसंज्ञित्वचिन्तायां त्रीणि पदानि तद्यथा । जीवपदं मनुष्यपदं सिद्धपदञ्च । तत्र जीवपदे सूत्रमाह ''नो सन्नी नोअसन्नीणं भंते ! जीवे'' इत्यादि । स्यात्कदादिदाहारकः केवलिनः समुद्घाताद्यवस्थाविरहे आहारकः । स्यात्कदाचिदनाहारकः । समुद्घातावस्थायां सिद्धत्वावस्थायां वा भावनीयं । सिद्धे अणाहारए इति । सिद्धे सिद्धविषये सूत्रे । अणाहारए इति वक्तव्यं (पुहुत्तणंति) पृथक्त्वेन बहुत्वेन चिन्तायामिति प्रक्रमः (आहारगा वि अणाहारगा वि इति) तत्राहारका अपि बहूनां केवलिनां समुद्घाता-द्यवस्थारहितानां सदैव लभ्यमानत्वात् । अनाहारका अपि सिद्धानां सदैव भावात्तेषां चानाहारकत्वादिति (मणुस्सेसु तियभंगो इति) मनुष्यविषयं भंगत्रिकं तद्यथा । आहारका एष भंगो यदा न कोऽपि केवली समुद्घाताद्यवस्थागतो भवति । अथवा । आहारकाश्चानाहारकश्च । एष भंगो एकस्मिन्केवलिनि समुद्घाताद्यवस्थागते सति लभ्यते अथवा आहार-काश्चानाहारकाश्च । एषु बहुषु केवलिषु समुद्घाताद्यवस्थागतेषु सत्सु वेदितव्यः ॥ प्रज्ञा० ॥ लेश्याद्वारम् ।

सलेसेणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारएसिय अणाहारए एवं जाव वेमाणिए सलेस्सा णं भंते ! जीवां किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । एवं कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्साए वि ! जीवेगिंदिय तियभंगो तेउलेस्साए पुढविआउवणस्सइकाइयाणं छ भंगा सेसाणं जीवादिओ तियभंगो जेसिं अत्थितेउलेसा पम्हलेसाए सुक्कले-साए य जीवादिओ तियभंगो अलेस्सा जीवा मणुस्सा सिद्धा एगत्तेण वि पुहुत्तेण वि नो आहारगा ॥

टीका । सामान्यतः सलेश्यसूत्रमाह । (सलेसणं भंते ! जीवे इत्यादि) इदं सामान्यतो जीवसूत्रमिव भावनीयं । अत्रापि सिद्धसूत्रं वक्तव्यं सिद्धानामलेश्यत्वात् । बहुवचनचिन्तायां जीवपदे एकेन्द्रियेषु च पृथिव्यादिषु प्रत्येकमेक एव भंगस्तद्यथा । आहारका अपि अनाहारका अपि उभयेषामपि सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । शेषेषु तु नैरयिकादिषु प्रत्येकं भंग त्रिकं । तद्यथा । सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवाऽऽहाकाश्चा-नाहारकश्च २ अथवा आहारकाश्च अनाहारकाश्च ३ अमीषाञ्च भावना प्राग्वत् । तथाचाह । '' जीवेगिंदियवज्जोतियभंगो इति'' एवमित्यादि । एवं यथा सामान्यतः सलेश्यसूत्रमुक्तं तथा कृष्णलेश्याविषयमपि नीललेश्याविषयमपि कापोतलेश्या-विषयमपि सूत्रं च वक्तव्यं । सर्वत्र सामान्यतो जीवपदे एकेन्द्रियेषु च प्रत्येकमभङ्गकं शेषपदेषु भङ्गत्रिकं । तेजोलेश्याविषयमपि सूत्रमेकत्वं प्राग्वत् बहुत्वं पृथिव्यप्वनस्पतिषु षड्भङ्गाः तेषु कथं तेजोलेश्यासंभव इति चेदुच्यते । भवनपतिव्यन्तरज्यो-तिष्कसौधर्म्मेशानांदेवानां तेजोलेश्यावतां-तत्रोत्पादभावात् । उक्तञ्चास्या एव भगवत्याः प्रज्ञापनायाश्चूर्णौ ''जेणं तेसु भवणवइ बाणमंतरजोइसियसोहम्मी साणया देवा ॥ उववज्जन्ति तेणं तेउलेस्सा लब्भइ १'' इति । ते षड् भङ्गा इमे सर्व्वे आहारकाः ॥ १ ॥ अथवा सर्वेऽनाहारकाः २ अथवा आहारकश्चानाहरकः ३ अथवा आहारकश्चाहारकाश्च ४ अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च ५ अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च । ६ । शेषाणां जीवपदादारभ्य सर्वत्रापि भङ्गत्रिकं । तथाचाह । (तेउलेस्साएपुढवी आउव णस्सइकाइयाणं छभंगा सेसाणं जीवाइओ तियभंगो इति) आह किं सर्वेषामविशेषेण जीवपदादारभ्य भङ्गत्रिक मुत केषां चिदत आह (जेसि अत्थि तेउलेसा इति) येषामस्ति तेजोलेश्या तेषामेव भङ्गत्रिकं वक्तव्यं न शेषाणां । एतेन किमावेदितं भवति । नैरयिकविषयं तेजोवायुविषयं द्वित्रिचतुरिन्द्रिय-विषयञ्च तेजोलेश्यासूत्रं वक्तव्यमिति तथा पद्मलेश्यासूत्रं वक्तव्यमिति तथा पद्मलेश्या च येषां संभवति तद्विषयं तयोः सूत्रं वक्तव्यं तत्र पद्मलेश्या शुक्ललेश्या च । तिरर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वैमानिकेषु च लभ्यते न शेषेष्विति । तयोः प्रत्येकं चत्वारि पदानि । तद्यथा । सामान्यतो जीवपदं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियपदं मनुष्यपदं वैमा-निकपदञ्च सर्वत्राप्येकवचनचिन्तायां स्यादाहारक इति भंगो बहुवचन चिन्तायां भङ्गत्रिकं । तद्यथा । सर्वेऽपि तावद्भवे-युराहारकाः १ अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च २ अथवा आहार-काश्चानाहारकाश्च ३ । तथाचाह (पम्हलेसाए सुक्कलेसाए जीवाईओ तियभंगोत्ति) अलेश्या जीवास्ते चायोगिकेवलिनः सिद्धाश्च ततः स्यात्त्रीणि पदानि । तद्यथा । सामान्यतो जीवपदं मनुष्याः सिद्धाश्च । सर्वत्राप्येकवचनेन बहुचनेन चानाहारगा इति ॥

सम्प्रति सम्यग्दृष्टि द्वारम् ॥

सम्मदिट्ठीणं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! सियआहारगा सिय अणाहारगा । बेइंदिय तेइंदिय चउरिंदियछभंगा । सिद्धा अणाहारगा अवसेसाणं तियभंगा । मिच्छदिट्ठीसु जीवे गिंदियवज्जो तिय भंगो । सम्मा मिच्छदिट्ठीणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! आहारए नो अणाहारए एवमेगिंदियविगलिंदियवज्जं जाव वेमाणिए एवं पुहुत्ते वि ॥

सम्यग्दृष्टिश्चौहोपशमिकसम्यक्त्वेन सास्वादनसम्यक्त्वेन क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेन क्षायिकसम्यक्त्वेन वा प्रतिप्रत्तव्यः सामान्यतउपादानात्तथैव चाग्रे भङ्गचिन्तायामपि करिष्यमाणत्वात् । तत्रोपशमिकसम्यग्दृष्ट्यादयः सुप्रतीताः वेदकसम्यग्दृष्टिः पुनः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयन् चरमग्रासमनुभवन्नवसेयः । एकत्वे सर्व्वेष्वपि जीवादिपदेषु प्रत्येकमेष भंगः स्यादाहा-

रकः स्यादनाहारक इति नवरमत्र पृथिव्यादिविषयसूत्रन्न वक्तव्यं तेषां सम्यग्दृष्टित्वायोगात् उभयाभावो (पुढवाइएसु) इति वचनाद्बहुवचन-विषयसूत्रं । सामान्यतो जीवपदे आहारका अपि अनाहारका अपीत्येष एव भंगः उभयेषामपि सदा सम्यग्द्रष्टीनां बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । नैरयिकभवनपतितिर्यक्पंचे-न्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं। तद्यथा कदाचित्सर्वेत्याहार का एव १ कदाचिदाहारका एकश्चानाहारकः २ कदाचिदाहारका अनाहारकाश्च ३ द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु नो षड्भंगाः । ते च प्राग्वद्भावनीयाः । द्वीन्द्रियादीनां च सम्य-ग्द्रष्टित्वमपर्य्याप्तावस्थायां सम्भवति । सास्वादनसम्य-क्त्वापेक्षया द्रष्टव्यं । सिद्धास्त्वनाहारकाः । एतेषां क्षायिक-सम्यक्त्वयुक्तत्वात्। तथा चाह (वेइंदियतेइंदियचतुरिंदिएसु छ भंगा सिद्धा अणाहारगा अवसेसाणं तियभंगो) मिथ्यादृष्टिष्वपि एकवचने सर्वत्र स्यादाहारकः स्यादनाहारक इति वक्तव्यं । बहुवचने जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च प्रत्येकमाहारका अपीति उभयेषामपि सर्वदैव तेषु पदेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वेन शेषेषु तु सर्वेषु स्थानेषु भंगत्रिकं सिद्धसूत्रं चात्र न वक्तव्यं । सिद्धानां मिथ्यात्वापगमादेतदेवाह ॥'' मिच्छादिट्ठिसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो सम्मामिच्छदिट्ठीणं भंते ! जीवे '' ॥ इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगम् ।

भगवानाह । गौतम ! आहारको नो अनाहारकः कस्मादिति चेदुच्यते-इह संसारिणामनाहारकत्वं विग्रहगतौ न सम्यग् मिथ्यादृष्टिर्विग्रहग-त्यभावतोऽनाहारकत्वाभावः । एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण सर्वत्रापि वक्तव्यं । नवरमेकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न वक्तव्यास्तेषां सम्यग् मिथ्यादृष्टित्वासंभवात् । एवं बहुवचनेऽपि वक्तव्यं तद्यथा॥

सम्मा मिच्छ दिट्ठीणं भंते ! जीवा किं आहारगा ! गोयमा ! आहारगा नो आणाहारगा सम्मामिच्छदिट्ठीणं भन्ते ! नरइया किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! आहारगा नो अणाहारगा । एवमेगिंदियविगलिंदियवज्जा जाव वेमाणिया ॥

इति ॥ गतं दृष्टिद्वारम् ॥

सम्प्रति संयतद्वारम् ॥

संजएणं भंते ! किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए एवं मणुस्से वि । पुहुत्तेणं तियभंगो असंजए पुच्छा, गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए पुहुत्तेणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो संजतासंजते जीवे पंचिंदियतिरिक्ख-जोणिए मणूसे एते एगत्तेण विपुहत्तेण वि आहारगा नो अणाहारगा नो संजते नो असंजए नो संजयासंजए जीवे सिद्धे य एते एगत्तपुहत्तेण वि नो अहारगा अणाहारगा ॥

संयतत्वं मनुष्याणामेव तत्र द्वे पदे । तद्यथा । जीवपदं मनुष्यपदश्च । तत्र जीवपदे सूत्रमाह (संजएणं भंते ! जीवे इत्यादि) सुगमं नवरं । अनाहारकत्वं केवलिसमुद्घातावस्थायाम-योगित्वावस्थायां वेदितव्यं शेषकालमाहारकत्वं । एवं । (मणुस्सेवित्ति) एवं मनुष्यविषयं सूत्रं वक्तव्यं । तद्यथा । (संजएणं भंते ! मणूसे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए) भावनान्तरमेवोक्ता (पुहुत्तेणं तिय-भंगोत्ति) पृथक्त्वेन बहुवचनेन जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येकं भंगत्रिकं । तच्चैवं । सर्वेऽपि तावन्द्वावेयुराहारका एष भंगो यदावं कोऽपि केवलिस-मुद्घातमयोगित्वं वा प्रतिपन्नो भवति वेदितव्यः । अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च एष एकस्मिन् केवलिनि समवहते शैलेशीगते वा प्राप्यते अथवा आहारकाश्च अनाहारकाश्च एषु बहुषु केवलिषु समवहतेषु शैलेशीगतेषु वा लभ्यते । असंयतसूत्रे एकवचने सर्वत्र स्यादाहारक इति वक्तव्यं । बहुवचने जीवपदे पृथिव्यादिषु च पदेषु प्रत्येकमाहारकाअना-हारका अपि इत्येष भङ्गः । शेषेषु तु नैरयिकादिषु स्थानेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं संयतासंयतदेशविरतास्ते च तिर्यक्पंचेन्द्रिया मनुष्या वा न शेषाः शेषाणां स्वभावत एव देशविरतिपरिणामाभावादेव चैतेषां त्रीणि पदानि । तद्यथा । सामान्यतो जीवपदं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियपदं मनुष्यपदञ्चैतेषु त्रिष्वपि स्थानेषु एकवचने बहुवचने च आहारका भवन्ति । भवान्तरगतः केवलिसमु-द्घाताद्यवस्थासु च देशविरतिपरिणामाभावात् नो संयतो नो ऽसंयतो नो संयतासंयतो । गतं संयतद्वारम् । तच्चिंतायां द्वे पदे । तद्यथा । जीवपदं सिद्धपदञ्च । उभयत्रा ऽप्येकवचने बहुवचने चानाहारकत्वमेववक्तव्यं नत्वाहारकत्वम् । सिद्धानाम-नाहारकत्वात् ॥

सम्प्रत्ति कषायद्वारम् ॥

सकसाईणं भंते ! जीवे किं आहा० अणा० सिय आहा० सिय अणाहा० एवं जाव वेमाणिए पुहत्तेणं जीवेगिंदियवज्जो तिय-भंगो । कोहकसाईसु जीवाईसु एवं चेव नवरं देवेसु छभंगा माणकसाईसु मायाकसा ईसु देवणेरइएसु छभंगा अवसेसाणं जीवेगिंदियवज्जोतियभंगो । लोभकसाईसु नेरइएसु छभंगा। अवसेसेसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो अकसाई जहा नो सन्नी नो असन्नी।

(सकसाईणं भंते ! जीवे) इत्यादि ॥ एकवचनविषयं सूत्रं सुगमं । बहुवचने (जीवेगिंदियवज्जो तियभंगोत्ति) जीवपदे पृथिव्यादिषु च पंचसु पदेषु प्रत्येकं आहारका अपि अनाहारका अपि वक्तव्यं । उभयेषामपि सकषायाणां सदैव तेषु स्थानेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्। शेषेषु तु स्थानेषु भंगत्रिकं । कोहकसाए एवंचेवत्ति क्रोधकषाय्यपि एवमेव सामान्यतः सकषायवदवसेयः । तत्रापि जीवपदे पृथिव्यादि पदेषु चाभङ्गकं शेषेषु तु स्थानेषु भंगत्रिकमिति भावः । किं सर्वेष्वपि शेषेषु स्थानेषु भंगत्रिकं नेत्याह । (नवरं देवेसुछ भंगा) देवा हि स्वभावत एवं लोभबहुला भवन्ति । न क्रोधादिबहुलाः । ततः क्रोधकषायिण एकादयोऽपि लभ्यन्ते । इति षड्भङ्गास्तद्यथा । कदाचित्सर्व्वेऽप्या-हारका एव क्रोधकषायिण एकस्यापि विग्रहगत्यापन्नस्यालभ्यमा-नत्वात् १ कदाचित्सर्वेऽप्यनाहारका एकस्यापि क्रोधकषायिणस्तत-आहारकस्या-प्राप्यमाणत्वात् क्रोधोदयो हि मानाद्युदयविविक्त एवेह विवक्ष्यते । न मानाद्युदयसहितोऽपि तेन क्रोधकषायिणः ततः कदाचिदाहारकस्य सर्वथाऽप्यभावः ॥२॥ तथा कदाचिदेक आहारक एकोऽनाहारकः ॥३॥ कदाचिदेक आहारको बहवोऽनाहारकाः ॥४॥ कदाचिद्बहव आहारका एकोऽनाहारकः ॥ ५ ॥ कदाचिद्ब-

हव आहारका बहवोऽनाहारकाः ॥६॥ इति मानकषायसूत्रं मायाकषायसूत्रं चैकवचने प्राग्वत् । बहुवचने विशेषमाह । (माणकसाईसु) इत्यादि । मानकषायिषु मायाकषायिषु बहुवचने चिन्त्यमानेषु देवेषु नैरयिकेषु च प्रत्येकं षड्भंगाः । नैरयिका हि भवस्वभावतः क्रोधबहुला देवास्तु लोभबहुलास्ततो देवानां नैरयिकाणाञ्च मानकषायो मायाकषायश्च प्रविरल इति प्रागुक्त-प्रकारेण षड्भंगाः । जीवपदे पृथिव्यादि पदेषु च प्रत्येक-मभंगकमाहारकाणामनाहारकाणां च मानकषायिणां मायाक-षायिणाश्च प्रत्येकं सदैवतेषु स्थानेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । शेषेषु तु स्थानेषु भंगत्रिकं । लोभकषाय सूत्रमप्येकवचने तथैव बहुवचने विशेषमाह (लोभकसाईसु इत्यादि) लोभकषायिषु नैरयिकेषु षड् भंगास्तेषां लोभबहुलतया षड्भंग्यसंभवात् । जीवेष्वेकेन्द्रियेषु च प्राग्वदेष एव भंगः । आहारका अप्यनाहारका अपीति (अकसाई जहा नो सन्नी नो असन्नीति) अकषायिणो नोसंज्ञिनो नोऽसंज्ञिनो उक्तास्तथा वक्तव्याः किमुक्तं भवति । अकषायिणोऽपि मनुष्याः सिद्धाश्च । मनुष्या उपशांतकषायादयो वेदितव्याः ॥ अन्येषां सकषायित्वात् । तत एतेषामपि त्रीणि पदानि । तद्यथा ॥ सामान्यतो जीवपदं मनुष्यपदं सिद्धपदञ्च तत्र सामान्यतो जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येकमेकवचने स्यादाहारकः स्यादनाहारक इति वक्तव्यं । सिद्धपदेष्वनाहारक एवेति । बहुवचने जीवपदे आहारका अपि अनाहारका अपीति । केवलिनामाहारकाणां सिद्धानामनाहारकाणां सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । मनुष्यपदे भंगत्रिकं । सर्वेऽपि तावद्भवेयु-राहारकाः १ अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च २ अथवा आहार-काश्चनाहारकाश्च ३ भावना प्रागेवानेकशः कृता सिद्ध पदे त्वनाहारक एक एव ॥

सम्प्रति ज्ञानद्वारम् ॥

नाणी जहा सम्मदिट्ठी । आभिणिबोहियनाणी सुयनाणीसु बेइंदियतेइं दियचउरिंदिएसु छभंगा । अवसेसु जीवादिओ तियभंगो । जेसिं अत्थि ओहिनाणी पंचिंदियतिरिक्-खजोणिया मणूसा व आहारगा नो अणाहारगा अवसेसेसु जीवादिओ तियभंगो जेसिं ओहिनाणं मणपज्ज वनाणं जीवा मणूसा य एगत्तेण वि पुहत्तेण वि आहारगा नो अणाहारगा केवलनाणी जहा नो सन्नी नो असन्नी अन्नाणीमति अन्नाणी सुयअन्नाणी जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो विभंगनाणी पंचिंदियतिरिक्ख-जोणिया मणूसा य आहारगा नो अणाहारगा अवसेसेसु जीवादिओ तियभंगो ॥

(तत्र नाणी जहा सम्मदिट्ठीति) ज्ञानी यथा प्राक् सम्यग्द्र-ष्टिरुक्तस्तथा वक्तव्यस्तद्यथा ॥

नाणीणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गो० सिय आहारए सिय अणाहारए नाणीणं भंते ! नेरइए किं आहारए अणाहारए ? गो० सिय अहारए सिय अणाहारए एवमेगिंदियवज्जं जाव वेमाणिए नाणीणं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गो० आहारगावि अणाहारगावि नाणीणं भंते ! णेरइया किं आहारगा अणाहारगा गो० सव्वे वि ताव होज्जा आहारगा १ अहवा आहारगा य अणाहारगे य २ अहवा आहारगा य अणाहारगा य एवं जाव थणियकुमारा । बेइंदियाणं पुच्छा गो० सव्वे वि ताव होज्ज१ आहारगा अहवा अणाहारगा य २ अहवा आहारगेय ३ अहवा आहारगे य अणाहारगा य ४ अहवा आहारगा य अणाहारगे य ५ अहवा आहारगा य अणाहारगा य ६ एवं तेइंदियचउरिंदिया वि भाणियव्वा अवसेसा जाव वेमाणिया जहा नेरइयाणं सिद्धाणं पुच्छा गो० ॥

(अणाहारगा इति) आभिनिबोधिकज्ञानसूत्रे चैकवचने प्राग्व-दवसेयं । बहुवचने द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु भङ्गाः । अथ शेषेषु जीवा-दिस्थानेष्वेकेन्द्रियवर्जेषु भङ्गत्रिकं तद्यैवं ॥

*** आभिनिबोहियनाणी णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा? गोयमा ! सव्वेवि ताव होज्ज आहारगा अहवा आहारगा य अणाहारगे य २ अहवा आहारगा य अणा-हारगा य ३ इत्यादि । तथा चाह । आभिनिबोहियनाणी सुयनाणी सुयबेइंदियचउरिंदियेसु छभंगा अवसेसेसु जीवाइओ तियभंगो तेसिं अत्थि इति ***

सुगमं । नवरं जेसिं अत्थि येषां जीवानामाभिनिबोधिक-ज्ञानश्रुत ज्ञानेस्ता । तेषु भंगत्रिकं वक्तव्यं न शेषपृथिव्या-दिष्विति । अवधिज्ञानसूत्रमेकवचने तथैव बहुवचनचिंतायां पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिका आहारका एव नत्वनाहारकाः । कस्मा-दिति चेदुच्यते । इह पंचेन्द्रियतिरश्चामनाहारकत्वं विग्रहगतौ । न च तदानीं तेषां गुणप्रत्ययतोऽवधिसंभवो गुणानामे वासंभवान्नाप्यप्रतिपतिता-वधिर्देवोमनुष्यो वा तिर्यक्षूत्पद्यते । ततोऽवधिज्ञानिनः सन्तः पंचेन्द्रियतिरश्चोऽनाहारकत्वायोगः । शेषेषु तु स्थानेष्वेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियवर्जेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । एतदेवाह ।

"ओहिनाणीणं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया आहारगा अवसेसेसु जीवाइ ओ तियभंगो । जेसिंअत्थि ओहिनाण मिति ॥"

मनः पर्य्यायज्ञानं मनुष्याणामेव ततो द्वे पदे । तद्यथा । जीवपद मुभयत्रापि चैकवचने बहुवचने च मनः पर्य्यायज्ञानिन आहारका एव वक्तव्याः नत्वनाहारका विग्रहगत्याद्यवस्थायां मनः पर्य्यायज्ञाना-संभवात् । केवलज्ञानी यथा प्राक् नो संज्ञी नो ऽसंज्ञी उक्तस्तथा वक्तव्यः । किमुक्तं भवति केवलज्ञान-चिन्तायामपि त्रीणि पदानि । तद्यथा । सामान्यतो जीवपदं मनुष्यपदं सिद्धपदञ्च तत्र सामान्यतो जीवपदे मनुष्यपदे चैकवचने स्यादाहारकः स्यादनाहारकः इति वक्तव्यं सिद्धपदे त्वनाहारक इति बहुवचने सामन्यतो जीव पदे आहारका अपि अनाहारका अपि मनुष्यपदे भंगत्रिकं । तच्च प्रागेवोप-दर्शितं सिद्धपदे त्वनाहारका अपि अज्ञानिसूत्रं मत्यज्ञानिसूत्रं श्रुताज्ञानिसूत्रं च एकवचने प्रागेव बहुवचनचिन्तायां जीवपदे एकेन्द्रियेषु पृथिव्यादिषु प्रत्येकमाहारका अनाहारका अपि इति वक्तव्यं शेषेषु भंगत्रिकं । विभङ्ग-ज्ञानिसूत्रमप्येकवचने तथैव बहुवचनचिन्तायां पञ्चेन्द्रिय-तिर्यक्योनिका मनुष्या आहारका एव वक्तव्याः । नत्वनाहारका त्रिभङ्गज्ञानसहितस्य विग्रहगत्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु

मनुष्येषु चोत्पत्तिसम्भवात् । अवशेषेषु स्थानेषु एकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । गतं ज्ञानद्वारम् ॥

संप्रति योगद्वारम् ॥

सजोगीसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो मणजोगी वइजोगी य जहा सम्मामिच्छादिट्ठी । नवरं वइजोगी विगलिंदियाण वि कायजोगीसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । अजोगी जीवमणूससिद्धा अणाहारगा । दारम् ॥

तत्र सामान्यतः सयोगीसूत्रमेकवचने तथैव बहुवचने जीवैकेन्द्रियपदानि वर्जयित्वा शेषेषु स्थानेषु भङ्गत्रिकं, जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च पुनः प्रत्येकमाहारका अपि अनाहारका अपीति भङ्ग उभयेषामपि सदैवतेषु स्थानेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । मणजोगी वइजोगी जहा सम्मामिच्छादिट्ठीयत्ति । मनोयोगिनो वाग्योगिनश्च । यथा प्राक् सम्यग्मिथ्यादृष्टय उक्तास्तथा वक्तव्याः । एकवचने बहुवचने वाऽऽहारका एव वक्तव्या नत्वनाहारका इति भावः (नवरं वइजोगी विगलिंदियाणवित्ति) नवरमिति । सम्यग्मित्थादृष्टिसूत्रादत्रायं विशेषः । सम्य-ग्मिथ्यादृष्टित्वं विकलेन्द्रियाणां नास्तीति तत्सूत्रं तत्रोक्तं । वाग्योगः पुनर्विकलेन्द्रियाणामप्यस्ति तत्सूत्रमपि वाग्योगे वक्तव्यं । तच्चैवं ॥

मणजोगीणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! आहारए नो अणाहारए एवमेगिंदियवज्जं जाव वेमाणिए एवं पुहुत्तेण वि ॥

काययोगिसूत्रमप्येकवचने बहुवचने च सामान्यतः सयोगिसूत्रमिव (अजोगीणं भंते ! जीवे किं आहारए) तेनात्र त्रीणि पदानि । तद्यथा जीवपंद मनुष्यपदं सिद्धपदं च त्रिष्वपि स्थानेष्वेकवचने बहुवचनेनाहारकत्वमेव ॥

अधुना उपयोगद्वारम् ॥

सागाराणागारोवउत्तेसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो सिद्धा अणाहारगा । दारम् ॥

तत्र साकारोपयोगसूत्रे च प्रत्येकमेकवचने सर्वत्र स्यादनाहारक इति वक्तव्यं सिद्धपदे त्वनाहारक इति बहुवचने जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु चाहारका अपि अनाहारका अपीतिभङ्गः । शेषेषु भङ्गत्रिकं । सिद्धास्त्वनाहारका इति सूत्रोल्लेखस्त्वयं ॥

*** सागारोवओगोवउत्तेणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए ॥***

गतमुपयोगद्वारं ॥

वेदद्वारम् ॥

सवेदजीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । इत्थिवेयपुरिसवेएसु जीवाइओ तियभंगो । नपुंसगवेदए जीवेगिंदियवज्जो तिय-भंगो । अवेयए जहा केवलनाणी ॥

सामान्यतः सवेदसूत्रमेकवचने स्यादाहारकस्स्यादनाहारक इति बहुवचने जीवपदे एकेन्द्रियाश्च वर्जयित्वा शेषेषु स्थानेषु भङ्गत्रिकं जीवपदे एकेन्द्रियेषु च पुनःप्रत्येकमभंगकं आहारका अनाहारका अपीति स्त्रीवेदसूत्रं पुरुसवेदसूत्रं च एकवचने तथैव नवरमत्र नैरयिकैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिया न वक्तव्यास्तेषां नपुंसकत्वात् बहुवचने जीवादिषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । नपुंसकवेदेऽपि सूत्रमेकवचने तथैव नवरमत्र भवनपतिव्य-न्तरज्योतिष्क वैमानिका न वक्तव्याः । तेषां न नपुंसकत्वाद्बहुवचने जीवैकेन्द्रियवर्जेषु भंगत्रिकं । जीवपदे एकेन्द्रियपदेषु च पृथि-व्यादिषु पुनरभंगकं प्रागुक्तस्वरूपमिति । अवेदो यथा केवली तथा एकवचने बहुवचने च वक्तव्याः । जीवपदे मनुषयपदे च एकवचने स्यादाहारकस्स्या-दनाहारक इति बहुवचने जीवपदे आहारका अपि अनाहारका अपि मनुष्येषु भंगत्रिकं सिद्धे त्वनाहारका इति वक्तव्यमिति भावः ॥ गतं वेदद्वारम् ॥

शरीरद्वारम् ॥

ससरीरे जीवेगिंदियवज्जो तियभगो । उरालियसरीरिसु जीवमणूसेसु तियभंगो । अवसेसा आहारगा नो अणाहारगा जेसिं अत्थि उरालियसरीरं वेउव्वियसरीरी आहारगसरीरी य अणाहारगा जेसिं अत्थि तेयगकम्मगसरीरी जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । असरीरी जीव सिद्धा य नो आहारगा अणाहारगा ॥

शरीरद्वारे सामान्यतः शरीरसूत्रे सर्वत्रैकवचने स्यादाहारकः स्यादनाहारक इति । बहुवचने जीवैकेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु स्थानेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च प्रत्येक मभङ्गकं प्रागुक्तमिति । औदारिकसूत्रमेकवचने तथैव नवरमत्र नैरयिकभवन पतिव्यंन्तरज्योति-ष्कवैमानिका न वक्त व्यास्तेषामौदारिकशरीरा भावात् । बहुवचने जीवपदे मनुष्यपदेषु च प्रत्येकं भंगत्रिकं । तद्यथा । सर्वेऽपि तावद्भवेयु राहारका एष भंगो यदा न कोऽपि केवली समुद्घातगतयोगी वा । अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च एष एकस्मिन्केवलिनि समुद्घातगते ज्योगिनि वासति प्राप्यते । अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च एष भंगो बहुषु केवलिषु समुद्घातगतेषु अयोगिषु वा सत्सु वेदितव्यः । शेषास्त्वेकेन्द्रियद्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियतिर्यक् पंचेन्द्रिया आहारका एव वक्तव्याः नत्वनाहारकाः । विग्रहगत्युत्ती-र्णानामेवौदारिक शरीरसम्भवात् । वैक्रियाहारकशरीरिणश्च सर्व्वे ऽप्येकवचने बहुवचने चाहारका एव नत्वनाहारका नवरं येषां वैक्रियमाहारकं वा संभवति त एव वक्तव्या नान्ये । तत्र नैरयिक भवनपतिवायुकायिकतिर्यक्पंचेन्द्रियमनुष्यव्यंतरज्यो तिष्कवैमानिकेषु आहारकं मनुष्येष्वेव । सूत्रोल्लेखश्चायं ।

*** वेउव्वियसरीरिणं ! भंते जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! आहारए नो अणाहारए ॥ वेउव्वियसरीरेणं भंते ! नेरइए किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! आहारए नो अणाहारए ॥***

इत्यादि । तैजसकार्म्मणशरीरसूत्रे चैकवचने सर्वत्र स्यादाहार-कस्स्यादनाहारक इति । बहुवचने जीवैकेन्द्रियवर्जेषु स्थानेषु भंगत्रिकं जीवपदे एकेन्द्रियेषु पुनरभंगकं । अशरीरिणस्सिद्धास्तेन तत्र द्वे एव पदे । तद्यथा । जीवास्सिद्धाश्च । तत्रैकवचन बहुवचने चोभयत्राप्यनाहारक एव ॥ गतं शरीरद्वारम् ॥

सम्प्रति पर्य्याप्तिद्वारम् ॥

आहारपज्जत्तिपज्जत्ताए सरीरपज्जत्तीपज्जत्ताए इंदिय पज्जत्तिपज्जत्ताए आणापाणूपज्जत्तीपज्जत्ताए एतासु चउसु वि पज्जत्तीसु जीवेसु मणूसेसु य तियभंगो अवसेसा

आहारगा नो अणाहारगा भासामणपज्जत्तिपंचिंदियाणं अवसेसाणं नत्थि आहारपज्जत्ती अपज्जत्तए नो आहारए अणाहारए एगत्तेण वि पुहत्तेणवि । सरीरपज्जत्तिअपज्जत्तिए सिय आहारए सिय अणाहारए । चउरिन्द्रियासु चउसु अपज्जत्तीसु णेरइयदेवमणूसेसु छ भंगा । अवसेसाणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । भासामणपज्जत्तीए जीवेसु पंचिंदियतिरिक्खजोणीएसु य तियभंगो । णेरइयत्ते देव-मणूसेसु छ भंगा । सव्व पदेसु एते एगत्तपुहत्तेणं जीवादिओ दंडगोपुच्छाए भाणियव्वो जस्स जं अत्थि तस्स तं पुच्छिज्जइ जं नत्थि तं न पुच्छिज्जइ जाव भासामणपज्जत्तीएसु अपज्जत्तएसु णेरइयदेवमणूसएसु छभंगा सेसेसु य तियभंगा ॥

तत्रागमे पर्य्याप्तयः पञ्च भाषामनः पर्याप्त्योरेकत्वेन विवक्ष-णात् । तथाहारपर्य्याप्तया पर्य्याप्ते शरीरपर्य्याप्त्या पर्य्याप्ते इन्द्रियपर्य्याप्त्या पर्य्याप्ते प्राणापानपर्य्याप्त्या पर्य्याप्ते भाषामनःपर्य्याप्त्या पर्य्याप्ते चिन्त्यमानेऽत्रैव सर्वसंकलनामाह । एतासु पञ्चस्वपि पर्य्याप्तिषु समर्थितासु चिन्त्यमानास्विति शेषः । प्रत्येकमेकवचने जीवपदे मनुष्यपदे च स्यादा-हारकस्यादनाहारक इति । शेषेषु चु स्थानेषु आहारका इति बहुवचने (जीवेसु मणूसेसु य तियभंगोत्ति) जीवपदे मनुष्यपदे च भङ्गत्रिकश्च वक्तव्यं । तद्यौदारिकशरीरसूत्रमिव भावनीयं । अवशेषास्सर्वेऽप्याहारका वक्तव्याः नवरं भाषामनः पर्य्याप्ति-पञ्चेन्द्रियाणामेवेति । तत्सूत्रे एकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न वक्तव्याः किन्तु शेषाः । तदेवाह । भासामणपज्जत्ती पंचिंदियाणं नत्थि इति । आहारपर्य्याप्त्यपर्य्याप्तिसूत्रे एकवचने सर्वत्राप्यनाहारको वक्तव्यो नो आहारक आहारपर्य्याप्त्या ह्यपर्य्याप्तो विग्रहगतावेव लभ्यते उपपातक्षेत्रप्राप्तस्य प्रथम समय एवाहारकपर्य्याप्त्या पर्य्याप्तत्व-भावादन्यथा तस्मिन्समये आहारकत्वानुपपत्तेर्बहुवचने त्वनाहारका इति । शरीरपर्य्याप्त्या पर्य्याप्तिसूत्रे एकवचने सर्वत्र स्यादाहारक इति । तत्र विग्रहगतावनाहारक उपपातक्षेत्रप्राप्तस्तु शरीरपर्य्याप्तिपरिसमाप्तिं यावदाहारक इति । एवमिन्द्रियपर्य्याप्त्या पर्य्याप्तिसूत्रे प्राणापानपर्य्याप्त्या पर्य्याप्तिसूत्रे भाषामनः पर्य्याप्त्या पर्य्याप्तिसूत्रे च प्रत्येकमेकवचने स्यादाहारकस्स्यादनाहारक इति वक्तव्यं । बहुवचने (उबरिल्लिया) इत्यादि । उपरितनीषु शरीरपर्य्याप्तिप्रभृतिषु चतसृसु अपर्य्याप्तिषु चिन्त्यमानासु प्रत्येकं नैरयिकदेवमनुष्येषु षड्भंगा वक्तव्यास्तद्यथा । कदा चित्सर्व्वेऽप्याहारका एव १ कदाचित्सर्व्वेऽप्य-नाहारका एव २ कदाचिदेक आहारक एकोऽनाहारकः ३ कदाचिदेक आहारको बहवोऽनाहारकाः ४ कदाचिद्बहव आहारका एकश्चानाहारकः ५ कदाचिद्बहव आहारका बहवश्चानाहारकाः ६ अवशेषाणां नैरयिकदेवमनुष्यव्यतिरिक्तानां जीवैकेन्द्रियवर्जं भङ्गत्रिकं वक्तव्यं । तद्यथा । सर्व्वेऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च २ अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च ३ जीवपदे एकेन्द्रियपदेषु च पुनश्शरीरपर्य्याप्त्या पर्य्याप्तिसूत्रे इन्द्रियपर्य्याप्त्या पर्य्याप्तिसूत्रे प्राणापानपर्य्याप्तिसूत्रे च प्रत्येकमभङ्गकं आहारका अपि अनाहारका अपि । उभयेषामपि च सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । भाषामनः पर्य्याप्त्यपर्य्याप्तिकास्त्वेकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न भवन्ति किन्तु पञ्चेन्द्रिया एव । येषां हि भाषामनः पर्य्याप्तिसंभवोऽस्तित एव तत्पर्य्याप्ताः प्रोच्यन्ते न शेषा इति । ततस्तत्सूत्रं । बहुवचने जीवपदेऽपि पञ्चेन्द्रियतिर्य्यग्-योनिपदे च भङ्गत्रिकं । पंचेन्द्रियतिर्य्यंचो हि सम्मूर्च्छिमाः सदैव बहवो लभ्यन्ते । ततो यावदद्याप्यन्यो विग्रहगत्यापन्ने लभ्यमाने द्वितीयो भङ्ग आहारकाश्चानाहारकश्च इति । यदा तु विग्रहगत्यापन्ना अपि बहवो लभ्यन्ते तदा तृतीयो भङ्गः । आहारकाश्चानाहारकाश्चेति जीवपदेऽपि भङ्गत्रिकमेतदपेक्षया । (णेरइयत्ति) नैरयि-कदेवमनुष्येषु प्रत्येकं षड्भंगाः । ते च प्रागेवोक्ताः । इह भव्यपदादारभ्य प्राय एकत्वेन बहुत्वेन च विवक्षितानि सूत्राणि जीवादिदण्डकक्रमेण नोक्तानि ततो माभून्मन्दमतीनां सम्मोह इति तद्विषयमतिदेशमाह (न सव्वपएसु एगत्ते) इत्यादि । एते जीवादयो दण्डकास्सर्वपदेषु सर्व्वेष्वपि पदेषु एकत्वेन बहुत्वेन च पृच्छया उपलक्षणमेतन्निर्वचने च भणितव्याः । किं सर्वत्राप्यविशेषेण कर्तव्या । नेत्याह । यस्येत्यादि । यस्य यदस्ति तस्य तत्पृच्छति तद्विषयं सूत्रं भण्यते यस्य पुनः यन्नास्ति न तस्य तत्पृष्टव्यं न तद्विषयं तस्य सूत्रं वक्तव्यमिति भावः । कियद्दूरं यदेव कर्तव्यमिति शङ्कायां चरमदण्डकवक्तव्यतामुपदिशति (जाव भासामणपज्जत्तीएसु) इत्यादि भावितार्थं इहाधि-कृतार्थभावनार्थमिमाः पूर्व्वाचार्य्यप्रतिपादिता गाथाः ।

सिद्धेगिंदियसहिया, जहिं तु जीवा अभंगयं तत्थ ।
सिद्धेगिंदियवज्जे–हिं होइ जीवेहिं तियभंगो ॥१॥

असन्नीसु य नेरइय, देवमणुएसु होंति छब्भंगा ।
पुढविदगतरुगणेसु य, छब्भंगा तेउलेसाए ॥२॥

कोहे माणे माया, छब्भंगा सुरगणेसु सव्वेसु ।
माणे मायालोभे, नेरइएहिं पि छब्भंगा ॥३॥

आभिणिबोहियनाणे, सुयनाणे खलु तहेव सम्मत्ते ।
छब्भंगा खलु नियमा, बियतियचउरिंदियेसु भवे ॥४॥

उबरिल्लउपज्जत्ती-सु चउसु नेरइयदेवमणुएसु ।
छब्भंगा खलु नियमा, वज्जे पढमा उपज्जत्ती ॥५॥

सन्नी विसुद्धलेस्सा, संजयहिट्ठिल्लतिसुयनाणेसु ।
त्थीपुरिसाणयवेदेवि, छब्भंगा खलु तियभंगो ॥६॥

सम्मामिच्छमणवइ, मणनाणे बालपंडियवेउव्वी ।
आहारसरीरंमि य, नियमा आहारया होंति ॥७॥

ओहिम्मिवि भंगंमि, नियमा आहार याउ नायव्वा ।
पंचिंदिया तिरिच्छा, मणुया पुण होंति विप्भंगा ॥८॥

ओरालसरीरम्मि य, पज्जत्तीणं च पंचसु तहेव ।
तियभंगो जियमणुएसु होंति आहारगा सेसा ॥९॥

णो भव अरूविलेसा, अजोगिणो तहय होंति असरीरी ।
पढमाए अपज्जतिए, तउ नियमा अणाहारा ॥१०॥

सन्नासन्नविउत्ता, वेयकसाइणो य केवलिणो ।
तियभंग एकवयणं सिद्धाणाहारया होंति ॥११॥

एताश्च सर्वा अपि गाथा उक्तार्थप्रतिपादकत्वाद्भावितार्था

इति न भूयो भाव्यन्ते । ग्रन्थगौरवभयात् । न वरं । (एक्कवयणे सिद्धाणाहारया होंति इति ।) एक्कवयणे इत्यत्र तृतीयार्थे सप्तमी । एकवचनेन एकार्थेनेति भावः । सर्वत्र सिद्धा अनाहारका भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ प्रज्ञा० २८ पद ॥

जीवः कं समयमनाहारकः ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं- वयासी जीवेणं भंते ! कं समयमणाहारए भवइ ? गोयमा ! पढमे समये सिय आहारए सिय अणाहारए, वितिए समये सिय आहारए सिय अणाहारए, तइए समये सिय आहारए सिय अणाहारए, चउत्थे समए नियमा आहारए, एवं दंडओ जीवा य एगिंदिया य चउत्थे समए सेसा तइ ए समए ॥ भ०-७ श० १ उ० ॥

(कं समयमणाहारएत्ति) परभवं गच्छन् कस्मिन्समयेऽनाहारको भवतीति प्रश्नः । उत्तरन्तु यदा जीव ऋजुगत्योत्पादस्थानं गच्छति तदा परभवायुषः प्रथम एव समय आहारको भवति । यदा तु विग्रहगत्या गच्छति तदा प्रथमसमये वक्रेऽनाहारको भवति, उत्पत्तिस्थानाऽनवाप्तौ तदाहरणीयपुद्गलानामभावादत आह (पढमे समए सिय आहारए सिय अणाहारएत्ति) तथा यदा एकेन वक्रेण द्वाभ्यां समयाभ्यामुत्पद्यते तदा प्रथमेऽनाहारको द्वितीये-त्वाहारको यदा तु वक्रद्वयेन त्रिभिः समयैरुत्पद्यते तदा प्रथमे द्वितीये चानाहारक इत्यत आह (बीयसमये सिय आहारए सिय अणाहारएत्ति) तथा यदा वक्रद्वयेन त्रिभिस्समयैरुत्पद्यते तदा द्वयोरनाहारकस्तृतीये त्वाहारको यदा तु वक्रत्रयेण चतुर्भिस्समयैरुत्पद्यते तदाद्ये समयत्रयेऽनाहारकश्चतुर्थे तु नियमादाहारक इति कृत्वा (तइए समए सिय०) इत्याद्युक्तं वक्रत्रयं चेत्थं भवति । नाड्या बहिर्विदिग्व्यवस्थितस्य सतो यस्याधोलोकादूर्ध्वलोके उत्पादो नाड्या बहिरेव दिशि भवति सोऽवश्यमेकेन समयेन विश्रेणितस्समश्रेणीं प्रतिपद्यते द्वितीयेन नाडीम्प्रविशति तृतीयेनोर्द्धलोकं गच्छति चतुर्थेन लोकनाडीतो निर्गत्योत्पत्तिस्थान उत्पद्यते । इह चाद्ये समयत्रये वक्त्र-यमवगन्तव्यं । समश्रेण्यैव गमनात् । अन्ये त्वाहुः वक्रचतुष्टयमपि सम्भवति । यदाहि विदिशो विदिश्येवोत्पद्यते तत्र समयत्रयं प्राग्वत् । चतुर्थसमये तु नाडीतो निर्गत्य समश्रेणीं प्रतिपद्यते पञ्चमेन तूत्पत्तिस्थानं प्राप्नोति । तत्र चाद्ये समयचतुष्टये वक्रवतुष्कं स्यात्तत्र चाना हारक इति । इदञ्च सूत्रे न दर्शितं प्रायेणेत्यमनुत्पत्तेरिति (एवं दंडओत्ति) अमुनाऽभिलापेन चतुर्विंशतिदण्डको वाच्यस्तत्र च जीवपद एकेन्द्रियपदेषु च पूर्वोक्तभावनयैव चतुर्थे समये नियमादाहारक इति वाच्यं । शेषेषु तु पदेषु तृतीयसमये नियमादाहारक इति । तत्र यो नारकादित्रसस्त्र सेष्वेवोत्पद्यते । तस्य नाड्या बहिस्तादागमनं गमनञ्च नास्तीति तृतीयसमये नियमादाहारकत्वम् । तथाहि यो मत्स्या दिर्भरतस्य पूर्वभागादैरवत-पश्चिमभागस्याऽधो नरकेषूत्पद्यते । स एकेन समयेन भरतस्य पूर्वभागात्पश्चिमं भागं याति द्वितीयेन तु तत ऐरवतपश्चिमं भागं ततस्तृतीयेन नरकमिति । अत्र चाद्ययोरनाहारकस्तृतीयेत्वाहारक एतदेव दर्शयति (जीवाय एगिंदिया य चउत्थे समये सेत तइयसमएत्ति ॥

कास्मिन् समये सर्वाल्पाहारकः ।

जीवेणं भंते ! कं समयं सव्वप्पाहारए भवइ ? गोयमा ! पढमसमयोववण्णाए वा चरिमसमयभवत्थे वा एत्थ णं जीवे सव्वप्पाहारए भवइ दंडओ भाणियव्वो जाव वेमाणि-याणं । भ०- ७ श० १ उ० ॥

कस्मिन् समये सर्वाल्पः सर्वथा स्तोको न यस्मादन्यः स्तोकतरोऽस्ति स आहारोयस्य सः सर्वाल्पाहारः स एव सर्वाल्पाहारकः (पढमसमयोववण्णएत्ति) प्रथमसमय उत्पन्नस्य यस्य प्रथमो वा समयो यत्र तत्प्रथमसमयं । तदुत्पन्नमुत्पत्ति यस्य स तथा उत्पत्तेः प्रथमसमय इत्यर्थः । तदाहार ग्रहणहेतोः शरीरस्या ऽल्पत्वात्सर्वाल्पाहारता भवतीति । (चरमसमय-भवत्थेवत्ति) । चरमसमये भवस्य जीवितस्य तिष्ठतियः स तथा आयुषश्चरमसमय इत्यर्थः । तदानीं प्रदेशानां संहृतत्वेनाऽल्पेषु शरीरावयवेषु स्थितत्वात्सर्वाल्पाहारतेति ।

वनस्पतिः सर्वाल्पाहारकः ।

वणस्सइकाइया णं भंते ! कं कालं सव्वप्पाहारगा वा सव्वमहाहारगा वा भवंति ? गोयमा ! पाउसवरिसा रत्तेसु णं एत्थणं वणस्सइकाइया सव्वमहाहारगा भवंति । तयाणंतरं च णं सरए, तयाणंतरं च णं हेमंते, तयाणंतरं च णं वसंते, तयाणंतरं च णं गिम्हासु, णं वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवंति । जइ णं भंते ! गिम्हासु वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवंति । कम्हाणं भंते ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाइया पत्तिया पुप्फिया फलिया हरिय गरेरिज्ज-माणा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवचिट्ठंति ? गोयमा ! गिम्हासु णं बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य वणस्सइकाइयत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उव-वज्जंति । एवं खलु गोयमा ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाइया पत्तिया पुप्फिया जाव चिट्ठंति । से नूणं भंते ! मूला मूलजीव-फुडा कंदा कंदजीव फुडा जाव बीया बीयजीव वफुडा ? हंता गोयमा ! मूला मूलजीवफुडा जाव बीया बीयजीफुडा । जइणं भंते ! मूला मूलजीवफुडा जाव बीया बीयजीवफुडा कम्हाणं भंते ! वणस्सइकाइया आहारंति परिणामंति ? गोयमा ! मूला मूलजीवफुडा पुढवीजीवपडिवद्धा तम्हा आहारंति तम्हा परिणामंति कंदा कंदजीवफुडा मूलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारंति तम्हा परिणामंति एवं जाव बीया बीयजीवफुडा फलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारंति तम्हा परिणामंति ।

(वणस्सइ) इत्यादि । (कं कालंति) कस्मिन्काले । (पाउसेत्यादि ।) प्रावृडादौ बहुत्वाज्जलस्नेहस्य महाहारतोक्ता प्रावृट् श्रावणादिर्वर्षारात्रोऽश्वयुजादिः । (सरएत्ति) शरन् मार्गशीर्षादिस्तत्र चाल्पाहारा भवन्तीति ज्ञेयं । ग्रीष्मे सर्वाल्पाहारतोक्ता । अत एव च शेषेष्वप्यल्पाहारता क्रमेण द्रष्टव्येति । (हरितगरेरिज्जमाणत्ति ।) हरितकाश्च ते नीलका रेरिज्यमानाश्च देदीप्यमाना हरितकरेरिज्यमानाः ।

(सिरीएत्ति ।) वनलक्ष्म्या । (उसिणजोणिएत्ति ।) उष्ण मेव योनिर्येषान्ते उष्णयोनिकाः । (मूलामूलजीवफुडत्ति) । मूलानि मूलजीवैः स्पृष्टानि व्याप्तानीत्यर्थः । यावत्करणात् (खंधाखंधजीवफुडा) एवं (तया साला पवाला पत्ता पुप्फा फलत्ति) दृश्यं । (जइण) मित्यादि । यदि भदन्त ? मूलादीन्येव मूलादिजीवैः स्पृष्टानि तदा (कम्हत्ति) । कस्मात्केन हेतुना कथमित्यर्थः । वनस्पतय आहारयंति । आहारस्य भूमिगतत्वान्मूलादिजीवानां च मूलादिव्याप्त्यै वावस्थितत्वात्केषाञ्चिच्च परस्परव्यवधानेन भूमेर्दूरवर्तित्वादिति । अत्रोत्तरं । मूलानि मूलजीवस्पृष्टानि केवलं पृथिवी जीवप्रतिबद्धानि । (तम्हत्ति) । तस्मात्तत्प्रतिबन्धाद्धेतोः पृथिवीरसं मूलजीवा आहारयन्ति कन्दाः कन्दजीवस्पृष्टाः केवलं मूलजीव प्रतिबद्धा स्तस्मात्तत्प्रतिबंधान्मूलजीवो पात्तं पृथिवीरसमाहारयंतीत्येवं स्कंधादिष्वपि वाच्यं ॥ भ० श० ७ उ० २ ॥

आहारकाणां कायस्थितिः (कायट्ठिइ) शब्दे उक्ता ॥ अदत्तमाहारमाहारयंति ॥

जे भिक्खू आयरिय उवज्जाएहिं अदिन्नं आहारं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे भिक्खु आयरियउवज्जाएहिं अविदिन्नं विगयं आहारेति आहारंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

आचार्य्य उपाध्यायः । असहीणोवायरिए उवज्जाओ पुच्छि-ज्जइ । अथवा उवज्जायगहणेणं जो जं पुरतो काउं विहरति सो तेण पुच्छियव्वो अविदिण्णं अदत्तं अणुण्णा यं अण्णायं अण्णतरं गहणतोणवविगत्तीओ जो आहारेइ तस्समासलहुं एस सुत्तत्थो ॥ नि० चू० ४ ॥

ओषधीराहारयति ॥

जे भिक्खू कसिणाओ ओसहीओ आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

कसिणा, संपुण्णा दव्वतो अभिण्णा ओसहीओ सालिमातियाओ आहारेति भुंजति तस्स मासलहुं कसिणत्ते ओसहीए दव्वभावेहिं चउभंगो कायव्वो दव्वतो ॥

कसिणत्तमोसहीणं, दव्वे भावे व उक्कभयणाउ ।
दव्वेण जातु सकला, जीवजुता भावितो कसिणा ॥२५॥

कसिणा सम्पुण्णा अखंडिता अप्फुडिता भावकसिणा जा सचेयणा ॥

सतुसा सचेयणा वि य, पढम भंगोउ ओसधीणीउं ।
वितिओ सचेतणा अतुसा ओखण्डिता अतिच्छडिता ॥

जा सतुसा दव्वतो अभिण्णा सचेयणा य एस पढमभंगो जा सचेयणा अतुसा चेयणा तंदुला सउसा वा खंडिता अतिच्छडा एगदुच्छड्डा वा कता एस वितियभंगो ॥

णियगाठितिमतिक्कंता सतुसा वीयाउ ततियओभंगो ।
पढममतिविवरीओ चउत्थभंगोमुणे तव्वो ॥२७॥

णियगा आत्मीयस्थिति मतिकन्ता अचेतना इत्यर्थः । दव्वतो पुण सतुसा अखंडिता अप्फुडिता एरिसा जा ओसहीओ एस ततियभंगो भावतो णियगट्ठितिमतिक्कन्ता दव्वतो भिण्णो ए स पढमभंगविवरीतो चतुर्थभंगो भवतीति ।

एतेसु चउभंगेसु इमंपच्छित्तं ।

दोसु लहुया दोसु लहुओ, तवकालविसेसिता जधा कमसे
परित्तोसधीणसोधी, एसे व गुरुअणंताणं ॥२८॥

आइल्लेसु दोसु भंगेसु चउलहुं । पच्छिमेसु दोसु भंगेसु मासलहुं जहाकमं आतिल्लातो समारब्भ तवकालविसेसिया कायव्वा । पढमे दोहिं वि गुरु वितिए तव गुरु ततिए कालगुरु चउत्थे दोहिं वि लहु एवं परित्ते भणियं अणंतवीएसु एवं पच्छित्तं गुरुगं दत्तव्वं ।

चोदगआह ।

अण्णोण्णेण विरुद्धं तु, सोविसुत्तंव मा भणसा ।
संघट्टणे तुसोही, पंचाहा भुंजतो सुत्तं ॥ २९ ॥

सुत्तगहणतो इहसुत्ते वितिएसु मासलहुं सो वि गहणाउ इहेव पढिगाए अत्थेवीएसु पाणगं दत्तं एए दो वि अण्णोण्ण विरुद्धा एवं मा भणाहि आचार्याआह सातु संघट्टणे पच्छद्धं पंच राइ-न्दिया अत्थेण जे वीएसु भणिता ते संघट्टणा इमं पुण भुंजओ सुत्ते मासलहुं अंतो भणियं तम्हातो अण्णोण्णविरुद्धं अण्णे आयरिया वक्खाणेंति । अत्थतो चोइए आचार्य उत्तरमाह अण्णेण्णेण गाहा शेषं पूर्ववत् ।

पुणरवि चोयगआह ।

गा० जं च वीएसु पंचावो, कुंडरोट्टेसु मासियं ।
तत्थपाती तु सो वीयं, कुंडरोट्टतुणिच्चसाउ ॥ ३० ॥

प्रचोदको भणति वीएसु संघट्टिएसु पणगकुंडरोट्टेसु संघट्टितेसु मासलहुं एत्थ किं कारणं तुसमुहीकणिया कुक्कसमीसा कुडगं भणति असत्थो वहतो आमो चेयणं च तंदुले लोट्टो भणति आयरिओ भण्णति तत्थे पाती तु पच्छद्धं चोइते तत्थेव उत्तरं भणति पाति रक्खति सो तुसो तं बीयं तेणं तत्थपणगं कुंडरोट्टे पुण णितुसा वेण वत्थमहंततवरी पीडा अतो तत्थ मासितं ।

गा०- एते सामण्णतरं, कसिणं जोऊ अधिउ आधारे ।
सा आणा अणवत्थं, मिच्छत्त विराधणं पावे ॥३१॥

तिलमुग्गमासचवलगा गोधूम चणयसालिकंगुमातीयाणं अणंतरं कसिणं भुंजति सो आणाती दोसे पावति इमे दोसा ।

गा० पलिमंथोअणाइण्णं, जो णिग्घातो असंजमे ।
अतिभुत्ते य आयाए, पत्थारंमि पसज्जणा ॥३२॥

चमलयमातीयासु संगासु सचित्तासु अचित्तासु वा पलिमंथो पगरिसिणं संजमो मंयिज्जति जेण सो पलिमंथो साहूण वा तओ अण्णाइण्णा जोणीभूते बीए जोणी घातो भवतीत्ति सचित्ते असंजमो भवति रसाले वा अतिभुत्ते विसूइयत्ति आयविराहणा अण्णतरे वा दीहे रोगायंके भवति तत्थपत्थारसंगोप्रसूरणं प्रस्तारप्रसंगःउत्तरोत्तरदुःखसंभव इत्यर्थः ।

तत्थ परितावमहादुक्खे ॥

गा०- वितियपदं गेलाणे, अद्धाणे चेव तह य उमंमि ॥
कसिणोसहीणगहणो, जतणाए कप्पती काउं ॥ ३३ ॥

वेज्जुवदेसागिलाणो भुंजति भत्तालंभेअद्धाणे अकच्चं ता वा उमेकसिणो वा उमेकसिणोसही गहणं करेज्ज तं पि लयणाए पण्णगातिमासपत्तो पच्छाचरिमभंगेण ततो ततियभंगे, ततो वितियभंगे, ततो पढमेण एवं गहणं काउं कप्पति ॥

यावज्जीवं कियद्भुंक्ते ॥

चत्तारि य उसासकोडिसए जाव चत्तालीसं च

ऊसास सहस्साइं जीवतो अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजइ । कहमाउसो अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजइ । गोयमा ! दुव्वलाए खंडियाणं वलियाए छड्डियाणं खयरमुसलपच्चाहयाणं ववगयतुसकणियाणं अखण्डाणं अफुडियाणं फलगसरीयाणं एक्किक्कं वीयाणं अद्धतेरसपलियाणं पत्थयणं सेवियणं पत्थ ए मागहए कल्लंपत्थो १ सायंपत्थो २ चउसट्ठितंदुलसाहस्सीओ मागहओ पत्थो विसाहस्सिएणं कवलेणं बतीसं कवला पुरिसस्स आहारो १ अट्ठाविसं इत्थीयाए २ चउवीसं पंडगस्स ३ एवमेवआउसो एयाए गणणाए दो असईओ पसई १ दो पसईउ सेइया होइ २ चउवीसं पंडगस्स ३ एव मेव आउसो चत्तारी सेइयाकुलउ चत्तारिकुलया पत्थो ४ चत्वारि पत्था आढगं ५ सट्ठीएआढगाणं जहन्नए य कुंभे ६ असीए आढगाणं मज्जिमेकुंभे ७ आढगसयं उक्कोसए कुम्भे ८ अट्ठेव आढगसयाणि बाहो एएणं वाहपमाणेणं अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजइ ते य गणिय निद्दिट्ठा ''चत्तारि य कोडिसया, सट्ठिं चेव य हवंति कोडियो । असीइं च तंदुलसय- सहस्सा हवंतित्ति विक्खायं'' ४६०८०००००० तं एवं अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजंतो अद्धछट्ठे मुगाकुंभे भुंजइ । अद्धछट्ठे मुगाकुम्भे भुंजंतो चउवीसं नेहाढगसयाइं भुंजइ चउवीसं नेहाढगसयाइं भुंजंतोबत्तीसं लवणपलसहस्साइं भुंजइ बत्तीसं लवणपलसहस्साहं भुंजंतो छप्पडगसाडगसयाइं नियंसेइ दोमासीएण परियट्टणएणं मासिएण वा परियट्टेणं बारसपडसाडगसयाइं नियंसेइ एवमेव आउसो वाससयाउयस्स सव्वं गणियं तुलियमवियं नेहलवणभोयणं छायणंपि एयं गणियप्पमाणं दुविहं भणियं महरिसीहिं जस्सत्थि तस्स गुणिज्जइ जस्स नत्थि तस्स किं गणिज्जइ '

'ववहारगणियदिट्ठं, सुहुमं निच्छयगयं मुणेयव्वं ॥
जइ एयं नविएयं, विसमा गणणा मुणेयव्वा ॥१॥

चत्वारि उच्छ्वासकोटिशतानि यावच्चत्वारिंशदुच्छ्वास-सहस्राणि जीवन्सार्द्ध द्वाविंशति तंदुलवाहान् वक्ष्यमाणस्वरूपान् भुनक्ति । कथं हे आयुष्मन् ! हे सिद्धार्थनंदन ! सार्द्ध द्वाविंशतितं दुलवाहान् भुनक्ति संसारीति हे गौतम ! दुर्वलिकया स्त्रिया कंडितानां वलवत्या रामया छूटितानांशूर्पादिना खदिरमुशलप्रत्याहतानां व्यपगततुषकणिकाणां अखंडानां संम्पूर्णवयवानां अस्फुटितानां राजिरहितानां (फलगसरियाणं) फलक वीनितानां कर्करादिकर्षणेन एकैकबीजानां वीननार्थं पृथक् २ कृतानामित्यर्थः । एवं विधानां सार्द्धद्वादशपलानां तंदुलानां प्रस्थकोभवति णं वाक्यालंकारे ॥ पलमानं यथा पंचभिर्गुजाभिर्माषः षोडशमाषाः कर्षः अशीतिगुंजाप्रमाण इत्यर्थः । स यदि कनकस्य तदासुवर्ण संज्ञः नान्य स्यरजतादेरितिचतुर्भिः कर्षैः पलमिति विंशत्यधि-कशतत्रयगुंजाप्रमाणमित्यर्थः (३२०) सोपि च प्रस्थकः मगधे भवो मागध इत्युच्यते कल्लन्ति श्वः प्रातः कालइत्यर्थः प्रस्थो भवति भोज नायेति सायमिति संध्यायां प्रस्थो भोजनायेति १ एकस्मिन्मागधप्रस्थके कति तंदुला भवन्ति इत्याह । चउसट्ठि १ चतुः षष्टि तंदुलसाहस्रिको मागधप्रस्थोभक्त्येकः एवं कवलं कतिभिः तंदुलैः स्यादित्याह (विसाहस्सिएणं कवलेणंति) द्विसाहस्रीकेण तंदुलेन कवलो भवति तत्र गुंजा कति भवन्ति यथा एकविंशत्यधिकशतप्रमाणः किंचित्न्यूना एका गुंजाचेति अनेन कवलमानेन पुरुषस्य द्वात्रिंशत् कवलरूप आहारो भवति १ स्त्रिया अष्टाविंशतिकवलरूप आहारः २ पंडकस्य नपुंसकस्य चतुर्विंशतिकवलरूप आहारः ३ (एवमेवेति) उक्तप्रकारेण वक्ष्यमाणप्रकारेण च हे आयुष्मन् एतया गणनया एतन्मानं भवति । अथासत्यादिमानपूर्वकं अष्टाविंशतिहस्राधिकलक्ष तंदुलमानं चतुः षष्ठीकवलप्रमाणं प्रस्थद्वयं प्रतिदिनं भुंजन्- प्रतिवर्षण कति तंदुलवाहान् कतितंदुलांश्च भुनक्तीत्याह (दो असईओ पसई इत्यादि) धान्यभृतोऽवाङ्मुखीकृतो हस्तोऽसतीत्युच्यते द्वाभ्यामसतीभ्यां प्रसृतिः १ द्वाभ्यां प्रसृतिभ्यां सेतिका भवति २ चतसृभिः सेतिकाभिः कुडवः ३ चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थः ४ चतुर्भिः प्रस्थैराढकः ५ षष्ठ्याआढकैर्जघन्यकुंभः ६ अशीत्याढकै र्मध्यकुं भः ७ आढकशतेनोत्कृ ष्टः कुं भः ८ अष्टभिराढकशतैः वाहोभवति ९ अनेनवाह प्रमाणेन सार्द्धद्वाविंशति तंदुलवाहान्भुनक्ति वर्षशतेनेति ते च वाहोक्त तंदुला गणयित्वा संख्यां कृत्वा निर्दिष्टाः कथिताः यथा चत्वारिकोटिशतानि षष्टिचैवकोटयः अशीतिस्तंदुलशतसह-स्राणि भवंतीत्याख्यातं कथितं एकेनप्रस्थेन चतुः षष्टि स्तंदुल-सहस्राणि भवन्ति प्रस्थद्वयेनाष्टाविंशतिसहस्राधिकंलक्षं भवति प्रतिदिनं द्विर्भोजनेन एतावत्तंदुलान् भुनक्तीति अतोष्टा-विंशतिसहस्राधिकलक्षं वर्षशतेन षट्त्रिंशद्दिनसहस्रमानत्वात् षट्त्रिंशत्सहस्रैर्गुण्यन्ते । शून्यानि पंच भवन्ति चत्वारि-कोटिशतानि षष्टि कोटयः अशीतिलक्षणि । ४६०८०००००० तंदुलानामिति (तं एवंति) तदेवंसार्द्धद्वाविंशति तंदुलवाहान् भुंजन् सार्द्धपंचमुद्गकुंभान् भुनक्ति सार्द्धपंचमुद्ग कुंभान् भुंजन् चतुर्विंशति स्नेहाढकशतानि भुनक्ति चतुर्विंशति स्नेहाढकशतानिभुंजन् षट्त्रिंशल्लवणपलसहस्राणि भुनक्ति षट्त्रिंशल्लवणपलसहस्राणिभुंजन् षट्पटकशाटकशतानि (नियंसे इति) परिदधाति । द्वाभ्यांमासाभ्यां (परियट्टएणन्ति) परावर्त्तमानत्वेनेति वा अथवा मासिकेन परावर्तित्वेन द्वादश-शतशाटक शतानि नियंसे इति परिदधाति (एवमेवेत्ति) उक्तप्रकारेण हे आयुष्मन् वर्षशतायुषः पुरुषस्य सर्वगुणितं तंदुलप्रमाणादिनातुलितं पलप्रमाणादिनामवित्तमसत्ती-प्रसृत्यादिना प्रमाणे न तत्किमित्याह। स्नेहलवणभोजना-च्छादनमिति एतत्पूर्वोक्तं गणितप्रमाणं द्विधाभणितं महर्षिभिः यस्य जन्तोरस्ति तंदुलादिकं तस्य गुण्यते यस्य तु नास्ति तस्य किं गुण्यते न किमपीति व्यवहारगणितदृष्टं स्थूलन्यायमंगीकृत्य कथितं सूक्ष्मं निश्चयगतं ज्ञातव्यं यदि एतन्निश्चयगतं भवती तदा एत द्व्यवहारगणितं नास्त्येव अतो विषमा गणना ज्ञातव्येति १ आहारकारणानि ॥

छहिं ठाणेहिं समणे निग्गन्थे आहारमाहारेमाणे णाइक्कमइ तंजहा ''वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणिवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए'' ॥

॥ टी० ॥ कएठद्यन्नवर माहारमशनादिक माहारयन्नभ्य वह-

रन् नातिक्रामत्याज्ञां पुष्टिकारणत्वादन्यथात्वतिक्रामत्येव रागा दिभावा त्तद्यथा वेदनेत्यादिगाथा वेदना च क्षुद्वेदनावैयावृत्यं चाचार्यादिकृत्यकरणं वेदना वैयावृत्यं तत्र विषये भुञ्जीत वेद नोपशमनार्थं वैयावृत्यकरणा-यर्थं चेति भावः ईर्या गमनं तस्याः विशुद्धिर्युगमात्रनिहितदृष्टित्व-मीर्याविशुद्धिस्तस्यै इदमीर्या-विशुध्यर्थं इह च विशुद्धिशब्दलोपा-दीर्यार्थमित्युक्तं बुभुक्षितो हीर्या शुद्ध्यावशक्तः स्यादिति तदर्थमिति च समुच्चये संयमः प्रेक्षोत्प्रेक्षाप्रार्मजनादिलक्षणस्तदर्थं तथेति कारणान्तरस मुच्चये प्राणा उच्छ्वासादयोबलंवा प्राणास्तेषां तस्य वा वृत्तिः पालनं तदर्थं प्राणसंधारणार्थमित्यर्थः षष्ठं पुनः कारणं धर्मचिन्तायै गुणनानुत्प्रेक्षार्थमित्यर्थः इत्येतानि षट् कारणानीति स्था० ६ ठाणा० ।

अधुनाकारणे द्वारमाह ।

छहिं कारणेहिं साहू, आहारेन्तो य आयरइ धम्मं ।
छहि चेव कारणेहिं, नञ्जूहिन्तो वि यायरइ ॥

षड्भिर्वक्ष्यमाणस्वरूपैः साधुराहारयन्नप्याहारमाचरति धर्म्मं षड्भिरेवकारणे वक्ष्यमाण स्वरूपै भोजनकारणनिबंधनैः (निञ्जूहिन्तो वित्ति) परित्यजन्नप्याचरति धर्म्मं तत्र यैः षड्भिः कारणैराहारमाहारयति तानि निर्दिशति ''वेयण वैयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तहपाणिवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्म चिन्ताए'' इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् (वेयणत्ति) क्षुद्वेदनोपशमनाय तथा आचार्यादीनां वैयावृत्तिकरणाय तथा ईर्यापथि संशोधनार्थं तथा प्रेक्षादिसंयमनिमित्तं तथा प्राण-प्रत्ययार्थं प्राणसंधारणार्थं षष्ठं पुनः कारणं धर्म्मचिन्ताभिवृद्धार्थं भुञ्जीतेति क्रियासंबन्धः ।

एनामेव गाथां विवृण्ववन्नाह ।

नत्थि छुहाए सरिसा, वियणा भुंजेज्ज तप्पसमणट्ठा ।
छामो वेयावच्चं, न तरइ काउं अओ भुंजे ॥
इरियं न विसोहेई, पेहाईयं च संजमं काउं ।
थामो वा परिहायई, गुणनमणुप्पेहासु य असुत्तो ॥

नास्ति क्षुधाया बुभुक्षाया सदृशी वेदना उक्तं च ''पंथसमानस्थि जरा, दालिद्दसमो य परिभवो नत्थि । मरणसमं नत्थिभयं, खुहासमा वेयणा नत्थि ॥ तंनत्थि जन्न वाहइ, तिलतुसमित्तंपि यए कायस्सासन्निज्जं सव्वदुहाइं, देंति आहारहियस्स'' ततस्तत्प्रशमनार्थं भुंजीत तथा क्षामो बुभुक्षितः सन् वैयावृत्त्यं न शक्नोति कर्तुं । तथाचोक्तं । ''गलइ बलं उच्छाहो, अवेइ सिढिले इ सयलवावारे । नासइ सत्तं अरई, विवड्ढ असणरहियस्स'' अतो वैयावृत्त्यकरणाय भुंजीत । तथा बुभुक्षितःसन्नीर्यापथे न शोधयत्यशक्तत्वादतस्तच्छोधननिमित्तं वा अश्नीयात् तथा क्षुधार्तः सन् न प्रेक्षादिकं संयमं विधातुमलमतः संयमाभिवृद्ध्यर्थं भुंजीतं तथा स्थामं बलं प्राण इत्येकार्थः ततः बुभुक्षितस्य परिहीयते परिहानिं याति । ततोऽश्नीयात् तथा गुणनं ग्रन्थपरावर्तनमनुप्रेक्षा चिन्ता तयोरुपलक्षणमेतत् वाचनादिष्वपि बुभुक्षितः सन् असक्तोऽसमर्थो भवति ततोऽश्नीयात इत्यंभूतैश्च षड्भिः कारणैः समयैरन्यतमेन वा कारणेनाहारयन्नति क्रामति ।

संप्रत्यभोजनकारणप्रतिपादनार्थं संबंधगाथामाह ।

अहवं न कुज्जाहारं, छहिं ठाणेहिं संजओ ।
पच्छा पच्छिमकालम्मि, कारं अप्पखमं खमं ॥

अथवा षड्भिः स्थानैर्वक्ष्यमाणस्वरूपैः संयतः आहारं न कुर्यात् तत्र विचित्रा सूत्रगतिरिति षष्ठं शरीरव्यवच्छेदलक्षणं कारणं व्याख्यानयति (पच्छा इत्यादि) पश्चात् शिष्यनिष्पादनादि सकलकर्तव्यतानंतरे पश्चिमे काले पाश्चात्त्ये वयसि (अप्पक्खमंति) संलेखनाकरणेनात्मानं क्षपयित्वा यावज्जीवमशनप्रत्याख्या-नकरणस्य क्षमं योग्यमात्मानं कृत्वा भोजनं परिहरेन्नान्यथा । एतेन शिष्यनिष्पन्नाद्यभावे प्रथमे वा द्वितीये वा वयसि संलेखनामन्तरेण वा शरीरपरित्यागार्थमशनप्रत्याख्यानकरणे जिनाज्ञाभङ्गमुपदर्शयति । पिंड० ॥

(भावत एवाहरेदिति अस्मिन्नेव शब्दे ।)

आहारत्यागकारणानि ।

छहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे आहारं वोच्छिंदमाणे णाइक्कमइ तंजहा ''आतंके उवसग्गे, तितिक्खणे बंभ चेरगुत्तीए । पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्ठाए''

(वोच्छिंदमाणेत्ति) परित्यजन् आतंके ज्वरादावुपसर्गे राजस्वजनादिजनिते प्रतिकूलस्वभावे तितिक्षणे अधिसहने कस्याः ब्रह्मचर्यगुप्तेः मैथुनव्रतसंरक्षणस्याहारत्यागिनो हि ब्रह्मचर्यं सुरक्षं स्यादिति । प्राणिदया च संपातिम-त्रसादिसंरक्षणं । तपश्चतुर्थादि षण्मासान्तं प्राणिदया तपस्तच्च तद्धेतुश्च प्राणिदया तपो हेतुस्तस्मात् प्राणिदया तपो हेतोर्दयादिनिमित्तमित्यर्थ-स्तथा शरीरव्यवच्छेदार्थं देहत्यागाय आहारं व्यवच्छिन्दन्ना-तिक्रामत्याज्ञामिति प्रक्रम इह गाथे । ''आयंको जरमाई, रायासन्नाइगयवसग्गे । बंभवयपालणट्ठा, पाणिदया वासमहि-याई ॥१॥ तवहेउ चउत्थाइ, जाव य छम्मासिओ तवो होइ । छट्ठंसरीरवोच्छे यणट्ठयाहोंति अणाहारोत्ति ॥२॥'' स्था० ६ ठा० ॥

संप्रत्यभोजनकारणानि निर्दिशति ।

आयंके उवसग्गे, तितिक्खए बंभचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेउ, शरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥

आतंके ज्वरादावुत्पन्ने सति न भुंजीत । तथा उपसर्गे राज स्वजनादिकृते देवमनुष्यतिर्यक्कृते वा संजाते स ति तितिक्षार्थ मुपसर्गसहनार्थं तथा ब्रह्मचर्यगुप्तिस्विति । अत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी । ततोऽयमर्थः ब्रह्मचर्यगुप्तीनां परिपालनाय तथा-प्राणिदयार्थ तथा तपोहेतोस्तपः करणनिमित्तं तथा चरमकाले शरीरव्यवच्छेदार्थं सर्वत्र न भुंजीतेति क्रियासंबन्धः ।

एनामेव गाथां विवृण्वन्नाह ॥

आयंको जरमाई, रायासन्नाइ गय उवसग्गे ।
बंभवयपालणट्ठा, पाणिदया वासमहियाई ॥

आतंको ज्वरादिस्तस्मिन्नुत्पन्ने सति न भुंजीत यत उक्तं '' बलावरोधिनिर्दिष्टं ज्वरादौ लंघनं हितं । कृतेऽनिलसमक्रोध शोककामक्षतज्वरान्,, राजस्वजनादिकृते उपसर्गे यद्वा देव मनुष्यतिर्यक्कृते उपसर्गे जाते सति तदुपशमनार्थं नाऽश्नीयात् । तथा मोहोदये सति ब्रह्मव्रतपालनार्थं न भुंजीत भोजननिषेधेहि प्रायो मोहोदयोविनिवर्तते । तथा चोक्तम् ॥ ''विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्येवं, परंदृष्ट्वा निवर्तते'' । तथा । वर्षे वर्षति मिहिकायां वा निपतन्त्यां प्राणिदयार्थं नाश्नी-यात् । आदिशब्दात् सूक्ष्ममंडूकादिसंसक्तायां भूमौ प्राणि-दयार्थमटनं परिहरन् न भुञ्जीत।

तवहेउ चउत्थाई, जाव छम्मासिओ तवो होई ।
छट्ठं शरीरवोच्छे-यणट्ठया होइ अणाहारो ।

तपोहेतोस्तपः करणनिमित्तं न भुंजीत तपश्चतुर्थादिकं चतुर्थादारभ्य तावद्भवति यावत्षाण्मासिकं षण्मासप्रमाणं परतो भगवद्वर्द्धमानस्वामितीर्थे तपसः प्रतिषेधात् षष्ठं पुनः प्रागुक्तविधिना चरमकाले शरीरव्यवच्छेदनार्थं भवत्यनाहारः । तदेव-मुक्तं कारणद्वारं पिं० । उत्त० । अ० ३० ॥

जह कारणं तु तंतू, पडस्स तेसिं च होंति पम्हाइं ।
नाणाइतिगस्सेवं, आहारो मोक्खनेमस्स ॥

यथा पटस्य तन्तवः कारणं तेषामपि च कारणं पक्ष्माणि भवन्ति । एवमेव प्रकारेण ज्ञानादित्रिकस्य (मोक्खनेमस्सत्ति) नेमशब्दो देश्यः कार्य्याभिधाने रूढः ततो मोक्षो नेमः कार्य्य यस्य तस्य कारणं भवत्याहारः । पिं० । नि० चू० १ उ० ॥

आहारप्रमाणद्वारम्

बत्तीसं किर कवला, आहारोकुच्छिपूरओ भणिओ ।
पुरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला ॥

पुरुषस्य कुक्षिपूरक आहारो मध्यप्रमाणो द्वात्रिंशत्कवलः किलेत्याहारस्य मध्यमप्रमाणतासूचकः । महिलायाः कुक्षिपूरक आहारो मध्यमप्रमाणोऽष्टाविंशतिकवलः । नपुंसकस्य चतुर्विंशतिः स चात्र न गृहीतो नपुंसकस्य प्रायः प्रव्रज्यनर्हत्वात् कवलानाश्च प्रमाणं कुकुट्यण्डम् । कुक्कुटी च द्विधा । द्रव्यकुक्कुटी भावकुक्कुटी च । द्रव्यकुक्कुट्यपि द्विधा । उदरकुक्कुटी गलकुक्कुटी च । तत्र साधोरुदरं यावन्मात्रेणाहारेण न न्यूनं ना ऽप्याध्मातं भवति स आहार उदरकुक्कुटी । उदरपूरक आहारः कुक्कुटी च उदरकुक्कुटीति मध्यमपदलोपिसमासाश्रयणात् । तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकं तत्प्रमाणः कवलः स्यात्तथा गलः कुक्कुटीव गलकुक्कुटी गल एव कुक्कुटीत्यर्थः । तस्यान्तरालमण्डकम् । किमुक्तं भवति । अविकृतस्य पुंसो गलान्तराले यः कवलोऽविलग्नः प्रविशति तावत्प्रमाणं कवलमश्नीयात् । अथवा शरीरमेव कुक्कुटी तन्मुखमण्डकं तत्राक्षिकपोलभ्रुवां विकृतिमनापाद्य यः कवलो मुखे प्रविशति तत्प्रमाणम् । अथवा कुक्कुटी पक्षिणी तस्या अंडकं प्रमाणं कवलस्य । भावकुक्कुटी येन आहारेण भुक्तेन न न्यूनं नाऽप्यत्याध्मातमुदरम्भवति । धृतिश्च समुद्वहति । ज्ञानदर्शनचारित्राणाञ्च वृद्धिरुपजायते । तावत्प्रमाण आहारो भावकुक्कुटी । अत्र भावस्य प्राधान्यविवक्षणादेष प्राग् द्रव्य-कुक्कुट्यप्युक्तः । इह भावकुक्कुटी उक्तः । तस्य द्वात्रिंशत्तमोभागो अण्डकप्रमाणो तत्कवलस्य ।

एत्तो किणईहीणं, अद्धं अद्धद्धगं च आहारं ।
साहुस्स वेंति धीरा, जायामायं च ओमं च ॥

एतस्मात् द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणादाहारात् (किणई इति) किञ्चिन्मात्रया एकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा कवलैः खाधोर्हीनं हीनतरं यावदर्द्धमर्द्धस्याऽप्यर्द्धमाहारं यात्रामात्र माहारं धीरास्तीर्थकृदादयो ब्रुवते न्यूनश्च एष यात्राहार एष एव वाऽव-माहार इति भावः । पिं० ॥

संप्रति प्रमाणदोषानाह ॥

पगामं च निगामं च, पाणीयं भत्तपाणमाहारे ।
अइबहुयं अइबहुसो, पमाणदोसो मुणेयव्वो ॥

यः कामं निकामं प्रणीतं वा भक्तपानमाहारयति तथाऽतिबहु-कमतिबहुशश्च तस्य प्रमाणदोषा ज्ञातव्याः ॥

संप्रति प्रकामादिस्वरूपमाह ॥

बत्तीसाइपरेण, पगाम निद्धंतमिव उ निकामं ।
जं पुण गलितसिणेहं, पणीयमिति तं बुहा विंति ॥

द्वात्रिंशदादिकवलेभ्यः परेण परतो भुञ्जानस्य यद्भोजनं तत्प्रकामभोजनं तदेव तत्प्रमाणातीतमाहारं नित्यन्तं प्रतिदिवसमश्नतो निकामभोजनम् । यत्पुनर्गलितस्नेहं भोजनं तत्प्रणीतं बुधास्तीर्थकृदादयः ब्रुवते ॥ तथा-

अइबहुयं अइबहुसो, अइप्पमाणेण भोयणं भुत्तं ।
हाएज्ज व वामेज्ज व, मारेज्ज व तं अजीरंतं ॥

अतिबहुकं वक्ष्यमाणस्वरूपमतिबहुशोऽनेकशोऽमृष्यता सता भोजनं भुक्तं सत् हादयेत् अतीसारं कुर्यात् तथा वामयेत् यद्वा तदजीर्यन्मारयेत् । तस्मान्न प्रमाणातिक्रमः कर्तव्य इति ।

संप्रति अतिबह्वादिस्वरूपमाह ।

बहुयातीयमइबहुं, अइबहुसो तिन्निसिन्नि परेणं ।
तंचिय अइप्पमाणं, भुंजेज्जइ वा अतिप्पंतो ॥

बहुकातीतमतिशयेन बहु अतिशयेन निजप्रमाणाभ्यधिकामित्यर्थः । तया दिवसमध्ये यस्त्रीन् वारान् भुंक्ते त्रिभ्यो वा वारेभ्यः परतस्तद्भोजनमतिबहुशः । तदेव च वारत्रयातीत-मतिप्रमाणमुच्यते अइप्पमाणे त्यवयवो व्याख्यातः । अस्यैव प्रकारांतरेण व्याख्यानमाह ॥ भुंक्ते यद्वा अतृप्यन् एष अइप्प-माण इत्यस्य शब्दस्यार्थः । अइप्पमाण इत्यत्र च शानच् प्रत्ययस्ताच्छील्यविवक्षायां यद्वा प्राकृतलक्षणवशादिति ।

संप्रति प्रमाणयुक्तहीनतरादिभोजने गुणानाह ।

हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।
न ते विज्जा चिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥

हितं द्विधा द्रव्यतो भावतश्च द्रव्यंतोऽविरुद्धानि द्रव्याणि भावत एषणीयं तदाहारयंति ये ते हिताहाराः । मितं प्रमाणो-पेतमाहारयन्तीति मिताहाराः । द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणा-दप्यल्पमल्पतरं वा आहाराः । सर्वत्र वा बहुव्रीहिः हित आहारो येषां ते हिताहारा इत्यादि एवंविधा ये नरास्तान् वैद्या न चिकित्संति हितमितादिभोजनेन तेषां रोगस्यैवा संभवात् किं त्वेते स्वत एव रोगोत्थानप्रतिषेधकरणेनाऽऽत्मनैवात्मनस्ते चिकित्सकाः ।

सांप्रतमहितहितस्वरूपमाह ॥

तेल्लदहिसमा जोगा, अहितं उ खीरदहिकंजियाणं च ।
पत्थं पुण रोगहरं, विनासगं होइ रोगस्स ।

दधितैलयोस्तथा क्षीरदधिकांजिकानां च यः समायोगः सोऽहितो विरुद्ध इत्यर्थः । तथा चोक्तं शाक्रमूलफलपिण्या-ककपित्थलवणैः सह करीरदधिमत्सयैश्च प्रायः क्षीरं विरुध्यते इत्यादि अविरुद्धद्रव्यमेलनं पुनः पथ्यं तच्च रोगहरं प्रादूर्भूत रोगविनाशकरं न च भाविनो रोगस्य हेतुः कारणम् । उक्तंच "अहिताशनसम्पर्को, बहुरोगोद्भवो यतः । तस्मात्तदहितं पथ्यं, न्याय्यं पथ्यनिषेवणम्" ।

सांप्रतं मितं व्याचिख्यासुराह ।

अद्धमसणस्स सव्वं, जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे ।
वाउपवियारणट्ठं, छब्भायउ ऊणयं कुज्जा ॥

इह किल सर्वसुन्दरं षड्भिर्भागैर्विभज्यते तत्राद्धं भागत्रय-

रूपमशनस्य सव्यंजनस्य तक्रशाकादिसहितस्याधारं कुर्यात् तथा द्वौ भागौ द्रव्यस्य पानीयस्य षष्ठं तु भागं वायु प्रविचरणार्थं न्यूनं कुर्यात् इह कालापेक्षया तथा तथा आहारस्य प्रमाणं भवति । कालश्च त्रिधा तथा चाह-

सिओ उसिणो साहारणो य, कालो तिहा मुणेयव्वो ।
साहारणंमि काले, तत्थाहारे, इमा मत्ता ॥

त्रिधा कालो ज्ञातव्यस्तद्यथा शीत उष्णः साधारणश्च तत्र तेषु कालेषु मध्ये साधारणे काले आहारविषया इयमनंतरोक्ता मात्रा प्रमाणम् ॥

सीए दवस्स एगा, भत्ता चत्तारि अहव दो पाणी ।
उसिणे दवस्स दोन्नि उ, तिन्नि व सेसा उ भत्तस्स ॥

शीते अतिशयेन शीतकाले द्रव्यस्य पानीयस्यैको भागः कल्पनीयश्चत्वारि भक्तस्य । मध्यमे तु शीतकाले द्वौ भागौ पानीयस्य कल्पनीयौ त्रतस्तु भागा भक्तस्य । वा शब्दो मध्यमशीतकाल संसूचनार्थः । तथा उष्णे मध्यमोष्णकाले द्वौ भागौ द्रव्यस्य पानीयस्य कल्पनीयौ शेषास्तु त्रयो भागाः भक्तस्य । अत्युष्णे च काले त्रयो भागा द्रव्यस्य शेषौ द्वौ भागौ भक्तस्य । वा शब्दोऽत्रात्युष्णकालसंसूचनार्थः सर्वत्र च षष्ठो भागो वायुप्रविचरणार्थमुक्तोऽतो मोक्तव्यः ।

संप्रति भागानां स्थिरचरविभागप्रदर्शनार्थमाह ।

एगो दवस्स भागो, अवट्ठितो भोयणं दो भागा ॥
वड्ढंति व हाइंति व, दो दो भागा उ एक्केक्के ॥१॥

एको द्रव्यस्य भागोऽवस्थितो द्वौ भागौ भोजनस्य शेषौ तौ द्वौ भागौ एकैकस्मिन् भक्ते पाने चेत्यर्थः । वर्द्धेते वा हीयेते वृद्धिं वा व्रजेते हानिं वा व्रजेते इत्यर्थः । तथा हि । अतिशीतकाले द्वौ भागौ भोजनस्य वर्धते अत्युष्णकाले च पानीयस्य । अत्युष्णकाले च द्वौ भागौ भोजनस्य हीयेते अतिशीतकाले पानीयस्य ।

एतदेव स्पष्टं भावयति ॥

एत्थ उ तइयचउत्था, दोन्नि य अणवट्ठिया भवे भागा ।
पंचमछट्ठो पढमो, विइओ विअवट्ठिया भागा ॥१॥

आहारविषयौ तृतीयचतुर्थौ भागावनवस्थितौ तौ ह्यति-शीतकाले भवतोऽत्युष्णकाले च न भवतः । तथाऽयं पानविषयः पंचमो भागो यश्च वायुप्रविचरेणार्थं षष्ठो भागो यौ च प्रथमद्वितीयावाहारविषयावेतेसर्वेऽपि-भागा अवस्थिता न कदाचिदपि भवंतीतिभावः । तदेवमुक्तं प्रमाणद्वयम् । पिं० । सूत्र० १ श्रु० ७अ० । ''आहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं, स्यादाहारः प्राणसंधार-णार्थं ॥ प्राणा धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं, तत्त्वंज्ञेयं येन भूयो न भूयात्'' ॥ ॥१॥ आचा० अ० ३ उ० १ ॥

प्रणीताहारभोजनं न युक्तं ब्रह्मचारिण इति (बम्हचेरसमाहि) शब्दे ॥ स्तोकाहारफलं (पडिक्कमण) शब्दे ॥

आहारस्यांगारधूमादिदोषाः (अंगारधूमादि) शब्देषु उक्ताअपि संग्रहेणाह ॥

अह भंते ! सइंगालस्स सधूमस्स संजायेणादासेदुट्ठस्स पाणभोयणस्य के अट्ठे पण्णत्ते ? गोयमा ! जेणं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असणपाण २ पडिग्गहेत्ता संमुच्छिए गिद्धे गढिए अज्जोववण्णए आहारं आहारेइ एसणं गोयमा ! सइंगाले पाणभोयणे जेणं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण ४ पडि ग्गहेत्ता महया अप्पत्तियकोहकिलामं करेमाणे आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! सधूमे पाणभोयणे जेणं निग्गंथे वा जाव पडिग्गहेत्ता गुणुप्पायणहेउं अण्णदव्वेणं सद्धिं संजोएत्ता आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! संजोयणादोसदुट्ठे पाणभोयणे एएणं गोयमा ! संइंगालस्स सधूमस्स संजोयणादोसदुट्ठस्स पाणभोयणस्स अट्ठे पण्णत्ते ॥

(संइंगालस्सत्ति) चारित्रेन्धनमङ्गारमिवयः करोति भोजनविष यरागाग्निःसोऽङ्गार एवोच्यते तेन सह यद्वर्तते पानकादि तत्साङ्गारं तस्य (सधूमस्सत्ति) चारित्रेन्धनधूमहेतुत्वाद्धूमो द्वेषस्तेन सह यत्पानकादि तत्सधूमं तस्य (संजोयणादोसदुट्ठस्सत्ति) संयोजना द्रव्यस्य गुणविशेषार्थं, द्रव्यान्तरेण योजनं स इव दोषस्तेन दुष्टं यत्तत्तथा तस्य (जेणंति) विभक्तिपरिणामाद्यमाहारमाहारयन्तीति संबन्धः (मुच्छिएत्ति) मोहवान् दोषानभिज्ञत्वात् (गिद्धेत्ति) तद्विशेषाकांक्षावान् (गढिएत्ति) तद्गतस्नेहतन्तुभिः संदर्भितः (अज्जोववण्णत्ति) तदेकाग्रतां गतः (आहारमाहारे त्ति) भोजनं करोति (एसणंति) एष आहारः साङ्गारं पानभोजनम् (महयाअप्पत्तियंति) महदप्रीतिकमप्रेम (कोहकिलामंति) क्रोधात्क्लमः शरीरायासः कोधत्क्लमोऽतस्तं (गुणुप्पायणहेउं-ति) रसविशेषोत्पादनायेत्यर्थः ॥ भ० ७ श० १ उ० ।

उत्तरगुणानधिकृत्याह ॥

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा ।
अमुच्छिएण ज्जुववन्नएवा ॥
धितिमं विमुक्केण य पूयणट्ठि ।
न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा ॥२३॥

निक्खम्म गेहाउ निरावकंखी ।
कायंवि उस्सेज्ज नियाणछिन्ने ॥
णो जीवियं णो मरणावकंखी ।
चरेज्ज भिक्खू वलयाविमुक्के त्तिबेमि ॥२४॥

(सुद्धेसिया इत्यादि) उद्गमोत्पादनैषणाभिः शुद्धे निर्दोषे स्यात् कदाचिद्याते प्राप्ते पिंडे सति साधू रागेद्वषाभ्यां न दूषयेत् । उक्तं च ''बायालीसेसणसं, कडंमि गहणंमि जीव नहु च्छलिओ । इण्हिं जह न छलिज्जसि, भुंजंतो रागदोसेहिं'' तत्रापि रागस्य प्राधान्यख्यापनायाह। न मूर्छितोऽमूर्छितः सकृदपि शोभनाहारलाभे सति गृद्धिमकुर्वन्ना-हारयति । तथा नाऽध्युपपन्नस्तमेवाहारं पौनः पुन्येनानभिलषमाणः केवलं संयम यात्रापालनार्थमाहारमाहारयेत् प्रायो विदितवेद्यस्यापि विशिष्टा-हारसन्निधावभिलाषातिरेको जायत इत्यतोऽमुर्छितोऽनध्यु पपन्न इति च प्रतिषेधद्वयमुक्तम् । उक्तं च '' भुत्तभोगो पुरा जो वि, गीयत्थो वि य भाविओ । संते साहारमाईसु, सोविखिप्प तु खुज्जइ '' ॥ सूत्र० श्रु० १ अ० १०॥

शास्त्रातिक्रान्त आहारः ॥

अह भंते ! सत्थातीयस्स, सत्थपरिणामियस्स, एसियस्य, वेसियस्स, समुदाणियस्स, पाणभोयणस्स, के अट्ठे पण्णत्ते ? गोयमा ! जेणं निग्गंथे वा २ निक्खित्तसत्थमुसले ववगयमालावण्णगविलेवणे ववगयचुयचइयचत्तदेहं जीवविप्पजढं अकयमकारिमसंकाप्पियणाहूयमकिय-कडमणुद्दिट्ठं नवकोडिपरिसुद्धं दसदोसविप्पमुक्कं उग्गमउप्पायणेसणासु परिसुद्धं वीइंगालं वीइधूमं संजोयणादोसविप्पमुक्कं असुरसुरं अचवचवं अदुयमविलंबियं अपरिसाडिं अक्खोवंजणवणाणुलेवणभूयं संजमजाया मायावत्तियं संजमभारवहणट्ठयाए विलमिव पण्णगभूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेइ एसणं गोयमा ! तस्यातीयस्स, सत्थपरिणामियस्स, जाव-पाणभोयणस्स, अयमट्ठे पण्णत्ते तं चेव सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥

(सत्थातीतस्सत्ति) शस्त्रादयादेरतीतमुत्तीर्णं शस्त्रातीतम् एवं भूतं च तथाविधप्रयुकादिवदपरिणतमपि स्यादत आह (सत्थपरिणामियस्सत्ति) वर्णादीनामन्यथा करणेनाचित्ती–कृतस्येत्यर्थः । अनेन प्रासुकत्वमुक्तम् (एसियस्सत्ति)एषणीय–स्य गवेषणाविशुद्ध्या गवेषितस्य (वेसियस्सत्ति) विशेषेण विविधैर्वा प्रकारैरेषितं व्येषितं गृहणैषणाग्रासैषणाविशोधितं तस्य अथवा वेषो मुनिनेपथ्यं स हेतुर्लाभे यस्य तद्वैषिकं आकारमात्र–दर्शनादवाप्तं नत्वावर्जन या अनेन पुनरुत्पादनादोषापोहमाह । (समुदाणियस्सत्ति) ततस्ततो भिक्षारूपस्य किं भूतो निर्ग्रन्थ इत्याह । (निक्खित्तसत्थमुसलेत्ति) त्यक्तखड्गादिशस्त्रमुसलः (ववगयमालावण्णगविलेवणेत्ति) व्यपगपुष्प-मालाचंदनानुलेपनः स्वरूपविशेषणे चेमे न तु व्यवच्छेदार्थे निर्ग्रन्थानामेवं रूपत्वादेवेति (ववगयचुयचइयचत्तदेहंति) व्यपगता स्वयं पुथग्भूता भोज्यवस्तुसंभवा आगंतुका वा कृत्यादयश्च्युता मृताः स्वत एव परतो वा ऽभ्यवहार्यवरत्वात्मकाः पृथिवीकायिकादयः । (चइयति) त्याजितां भोज्यद्रव्यात् पृथक्कारिता दायकेन (चत्तंत्ति) स्वयमेव दायकेन त्यक्ता भक्ष्यद्रव्यात् पृथक् कृता देहाभेदविवक्षयादेहिनो यस्मात् स तथा तमाहारम् । वृद्धवायख्या तु व्यपगत ओघतश्चेतनापर्याया-दपेतश्च्युतो जीवनक्रियातो भ्रष्टश्चयावितस्तत एवाऽऽयुष्कक्षयेण भ्रंशितस्त्यक्तदेहः परित्यक्तजीवसंसर्गजनिताहारप्रभवोपचयस्तत एषां कर्मधारयोऽतस्तं किमुक्तं भवतीत्याह (जीवविप्पजढंति) प्रासुकमित्यर्थः (अकयमकारियमसंकप्पियमणाहूयमकीथ-कडमणुद्दिट्ठं) अकृतं साध्वर्थमनिर्वर्तितंदायकेन एवमकारितं दायकेनैव अनेन विशेषणद्वयेनानाधाकर्मिक उपात्तः असंकल्पितं स्वार्थं संस्कुर्वता साध्वर्थतया न संकल्पितं अनेनाप्यनाधाकर्मिक एव गृहीतः स्वार्थ मारब्धस्य साध्वर्थं निष्ठां गतस्याऽपि आधाकर्मिकत्वात् । न विद्यते आहूतमाह्वानमामन्त्रणं नित्यं मद्गृहे पोषमात्रमन्नं ग्राह्यमित्येवं रूपं कर्मकराद्याकरणं वा साध्वर्थं स्थानान्त शदन्नाद्यानयनाय यत्र सोऽनाहूतोऽनित्यपिण्डो ऽनभ्याहृतोवेत्यर्थः । स्पर्धया वाऽऽहूतं तन्निषेधादनाहूतो दायके नास्पर्धयादीयमान इत्यर्थः । अनेन भावतोऽपरिणता-भिधान एषणादोषनिषेध उक्तोऽतस्तस्तमक्रीतकृतं क्रयेण साधुदेयं न कृत मनुद्दिष्टमनौद्देशिकं (नवकोडीपरिसुद्धंति) इह कोटयो विभागास्ताश्चेमा बीजादिकं जीवं न हन्ति न घातयति घ्नन्तं नानुमन्यते । ३ । एवं न पचति । ३ । न क्रीणाति । ३ । इत्येवं रूपाः (दसदोसविप्पमुक्कंति) दोषाः शंकितप्रक्षितादयः । (उग्गममुप्पायणेसणासुपरिसुद्धंति) उद्गमश्च आधाकर्म्मादिः षोडशविधः । उत्पादना च धात्रीदूत्यादिका षोडशविधैव उद्गमोत्पादने एतद्विषया या एषणा पिण्ड विशुद्धिस्त या सुष्ठु परिशुद्धो यः स उद्गमोत्पादमैषणासु परिशुद्धो ऽतस्तम् अनेन चोक्तानुक्तसंग्रहः कृतः । वीतांगारादीनि क्रियाविशेषणान्यपि भवन्तिः प्रयोऽनेन च ग्रासैषणा विशद्धिरुक्ता (असुरसुरंति) अनुकरणशब्दोऽयम् एवं (अचवचवमित्यपि) (अदुयंति) अशीघ्रं (अविलंवियंति) नातिमन्थरम् (अपरिसाभिंति) अनवययोज्जितं (अक्खोवंजणवणाणुलेवणभूयंति) अक्षोपांजनं च शकटधूर्म्रक्षणं व्रणानुलेपनं च क्षतस्यौषधेन विलेपनं अक्षोपांजनव्रणानुलेपने ते इव विवक्षितार्थसिद्धिरसादिनिरभिष्वङ्गतासाधर्म्याद्यः सोक्षोपांजनव्रणानुलेपनभूतोऽतस्तं क्रियाविशेषणं वा ॥५॥ (संजमजायामायावित्तियंति) संयमयात्रा संयमानुपालनं सैव मात्रा आलम्बनसमूहांशः संयमयात्रा मात्रा तदर्थं वृत्तिः प्रवृत्तिर्यत्राहारे स संयमयात्रामात्रावृत्तिकोऽतस्तं संयमयात्रामात्रावृत्तिक वा यथा भवति संयमयात्रामात्रा वा प्रत्ययो यत्र स तथाऽतस्तं संयमयात्रा मात्राप्रत्ययं वा यथा भवति । एतदेव वाक्यान्तरेणाह । (संजमभारवहणट्ठयाएत्ति) संयम एव भारस्तस्य वहनं पालनं स एवार्थः संयमभारवहनार्थस्तद्भावस्तत्ता तस्यै (बिलंमिव एण्णगभूएणं अप्पाणेणंति) विले इव रन्धे इव पन्नगभूतेन सर्प्पकल्पेनात्मना करणभूतेन आहारमुक्त विशेषणं आहारयति शरीरकोष्ठके प्रक्षिपति । यथा किलबिले सर्प आत्मानं प्रवेशयति पार्श्वनसंस्पृशन्नेवं साधुर्व दनकंदरपार्श्वनसंस्पृशन्नाहारेण तदसंचारणतो जठरबिले आहारं प्रवेशयतीति । (एसणंति) एषोऽनंतरोक्तविशेषण आहारः शस्त्रातीतादिविशेषणस्य पानभोजनस्यार्थो ऽभिधेयः प्रज्ञप्तः । भ० ७ श० १ उ० ॥ अनु० । वि० ।

आहारपरिष्ठापना (परिट्ठावणा) शब्दे ॥

भक्तपरिज्ञा तु समाध्यर्थमाहारो दीयते । (इति भत्तपरिण्णा) शाब्दे । युगलिनः कन्दाद्याहारा आसन् ऋषभस्वामिना-ऽन्नाहारिणः कृता : ।

सूत्रं । जे भिक्खू पिउमंदपलासयं वा पडोलपलासयं वा विल्लपलासयं वा सीउदगवियट्ठेण वा उसिणोदगवियट्ठेण वा संफाणिय संफाणिय आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

पिचुमंदो निंबो पलासं पत्तं संफाणियंति धोविउं अहवा संफोडिउं मेलितुमित्यर्थः ।

गा०-आहारमणाहारस्स, मग्गणा णिमसा कता होति ।
निंबपडोलादीहिं, दियराओ चउक्कभयणाओ । ३८ ।

को आहारो को वा अणाहारो एतेहिं लिंबपडोलाइएहिं मग्गणा कता भवति आहार आणाहारे दियरे वा रातिं चउभंगो दियागहियं दियाभुत्तं एवं च भंगो ॥

गा०-जा हट्ठस्साहारो, चउव्विहो परियासियं तं तु ।

णिंबपडोलादीयं सति लाभे जं व परिवसति ॥ ३९ ॥

हट्ठो णिरोगो णिव्वाधितो समत्तो तस्स जो आहारो असणाइचउव्विहो तं परियासिउं जो भुंजति चउभंगेण तस्सपच्छित्तं । इमं ।

गा०-आहारे चउभंगे, चउगुरुगेतरे व चउलहुगा ॥
सुत्तं पुण तद्दिवसं जो धुवति अचेतणा पलासो ॥४० ॥

आहारे परियासिते चउसु चउगुरुगं इतरे अणाहारिमेसु चउसु विभंगेसु चउलहुं इमे पुण सुत्तं जो तद्दिवसियं अचित्तंधुविओ भुंजति तस्स भवति अणाहारियं परियासियं पडुच्च भण्णति ॥

गा०- भयणपदाण चउण्हं, अण्णतराएण जो तु आहारे ।
णिंवपडोलादीयं, सो पावति आणमादीणि ॥ ४१ ॥

चउरो भंगा भयणापदात्तेहिं जो आहारेति तस्स आणादिदोसा संफाणंति सुत्तपदं तेस्सिं मावक्खा ॥

गा०- सतिणव उसिणेणव, वियडेणं धोवणानुफंसण्णा ।
अहवा जायं धोवति, संफाहो एगहाणेगाहं ॥ ४२ ॥

एगाहाणेगाहं एगाणेगदिवसपिंडिताणि धोवति इमा विराहणा ।

गा०-छट्ठवतविराधणता, पाणादीया समुच्छंति ।
तद्दिवसधोवणट्ठा, तं णिस्सितघाती भुंजंतो ॥ ४३ ॥

छट्ठं रातीभोयणवयं तं विराहिज्जति मच्छियातिपाणा तत्थतिलिंति ते गिहिकोइलिया तिणंति किज्जंतेसु वा पिंडिएसु कुंथुमाती संमुच्छंति । आद्य शब्दः तर्कणादिदोषादिप्रतिपादनः यथा गवाद्यां ब्राह्मणान् परिभोजयेत् एते परिवासितेदोसा इने तद्दिवसिते वि लिंबपत्ताति अणट्ठा घेत्तुं धोविउं भुंजंतस्स तण्णिसियपाणिघातो भवति धावंतस्स य प्लावणदोसो अतो तद्दिवसियंपि ण कप्पति भुंजिउं कारणाकप्पति ॥

वितियपदं गेलण्णो, वेज्जुवएसे य दुल्लभंदव्वं ।
दविसंजत्तणाए, वीयं गीयत्थसंविग्गे ॥ ४४ ॥

गिलाणकारणे वेज्जुवदेसेण संफाणे दुल्लभं दव्वं वा अणेगदिवसे संफाणेतितद्दिवसियं पुण परसंफाणियं गेण्हंति असति अप्पणा वि संफाणेति तद्दिवसियंमि अ लभंते वितियमिति आगाढे पओयणे गीतत्थे संविग्गे सविग्गरणं पि करेज्ज तं पुण पित्तादिरोगाणं पसमणट्ठा इमं गेण्हे ॥

पउमप्पलमाउलुंगे, एरंडे चेव णिंबुपत्ते य ।
वेज्जुवदेसे गहणं, गीतत्थे विकरणं कुज्जा ॥ ४५ ॥

पित्तुंदए य पउमप्पलासणिं वाए निंबाए मातुलुंगं वा एरंडो संभेणिं च पत्ता तद्दिवस जयणाएत्ति । अस्य व्याख्या । वेज्जुवएसे गहणंति । वितियं संविग्गेत्ति । अस्य व्याख्या । गीयत्थे विकरणं कुज्जाएतदेवार्थं स्फुटतरं करोति ॥

संफाणितस्स गहणं, असती घेत्तूण अप्पणा धोवे ।
तद्दिवसिगिलंमासति, णेगा विणिसा तु संफाणो ॥४५ ॥

तद्दिवसियस्स अलाभे अणेगदिवसे वि करेति ॥ नि०चू०२ उ० ॥ (सचित्तवृक्ष मधिष्ठायनाहारः कार्य इति सचित्तरुक्खशब्दे ॥)

(आहारग्रहणविधिः-गोयरचरिया, शब्दे ॥)

संसार चक्कवाले, सव्वे ते पुग्गलामए बहुसो ।
अहारिया य परिणा-मियाय न यहं गओ तत्ति ॥ २५ ॥

आहारनिमित्तेणं, अह यं सव्वेसु नरयलोएसु ।
उववन्नोमिय बहुसो, सव्वासु य मिच्छजाईसु ॥ २३ ॥

आहार निमित्तेणं, मिच्छा गच्छंति दारुणे नरए ।
सचितो आहारो, न खमइ मणसा वि पच्छेउं ॥ २४ ॥

महा० प० ॥

आहियते इत्याहारः । ओदनादौ, ॥सूत्र ॥ १ श्रु० प्र० अ० ।
चउविहे आहारे प० तं असणे पाणे खाइमे साइमे ॥
स्था० ४ वा० ॥ अट्ठविहे आहारे पण्णत्ते तं० ॥
मणुण्णे असणे पाणे खाइमे साइमे अमणुण्णे असणे पाणे खाइमे साइमे । स्था० ८ वा० ॥

असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा ।
एसो आहारविही, चउविहो होइ नायव्वो ॥ ३६ ॥

अशनं मंडकौदनादि पानं चैव द्राक्षापानादि खादिमं फलादि स्वादिमं गुडादि एष आहारविधिश्चतुर्विधो भवति ज्ञातव्य इति गाथार्थः । आव० । ६ अ० ।

सांप्रतं समयपरिभाषया शब्दार्थनिरूपणायाह ॥

आसुं खुहं समेइं, असणं पाणाणुवग्गहे पाणं ।
खे माइ खाइमंति, साएइ गुणे तओ साइ ॥ ३७ ॥

सव्वो वि अ आहारो, असणं सव्वो वि वुच्चई पाणं ।
सव्वो वि खाइमंति अ, सव्वो वि अ साइमं होई ॥३८ ॥

जइ असणं चि अ सव्वं, पाणगमविवज्जणंमि सेसाणं ।
हुवइ असेसविगेगो, त्तेण विभत्ताणि चउरोवि ।३९ ।

असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा ।
एवं परूविअं मीस- द्दहिं ओ जे मुही होइ ॥ ४० ॥

(आसुत्ति) आशु शीघ्रं क्षुधां बुभुक्षां समयतीति अशनम् । तथा प्राणानामिन्द्रियादिलक्षणानामुपग्रहे उपकारे यद्वर्तते इति गम्यते तत्पानमिति । खमित्याकाशं तद्य मुखविवरमेव तस्मिन्मातीति यतस्ततः खादिमम् । स्वादयति गुणान् रसादीन् संयमगुणान्वा यतस्ततः स्वादिमं । हेतुत्वेन तदेवास्वादयतीत्यर्थः । विचित्रनिरुक्तिपाठाद्भ्रमति रौति तद्भ्रमरइत्यादिप्रयोगदर्शनात् साधुरेवाऽयमन्वर्थः इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ उक्तः पदार्थ पदविग्रहस्तु समासभाक् पदविषय इतनोक्तः अधुना चालना-माह ॥ (सव्वो वि यत्ति) यद्यनंतरोदितपदार्थपेक्षया अशनादीनीति । यतः सर्वोऽपि चाहारश्चतुर्विधोऽपि तथा । अशनं सर्व्वोऽपि चोच्यते । पानकं सर्वोऽपि च खादिमं सर्व एव च स्वादिमं भवति अन्वर्थाविशेषात् । तथा हि यथैवाशन-मोदनमंडकादि क्षुधं शमयति एवं पानमपि तत्तथैव द्राक्षाक्षीरपानादि । खादिममपि फलादि, स्वादिममपि गुडादि । यथा च पानं प्राणानामुपग्रहे वर्तते एवमशनादीन्यपि तथा चत्वार्यपि खे मान्तिचत्वार्यपि वा स्वादयन्ति अस्वाद्यंते चेति न कश्चिद्विशेषस्त स्मादयुक्त एवं भेद इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ इयं चालना । प्रत्यवस्थानं तु यद्यपि एतदेव तथापि तुल्यत्वार्थप्राप्तावपि रुढितो नीति प्रयोजनं च संयमोपकारकमस्त्येवं कल्पनया अन्यथा दोषस्त था चाह (जइ असणत्ति) यद्यशनमेव सर्वमाहारजातं गृह्यते ततः शेषापरिभोगेऽपि पानकाद्यवर्जने उदकापरित्यागे शेषाणामाहारभेदानां निवृत्तिर्न कृता भवतीति

वाक्यशेषः ततः का नो हानिरिति चेत् भवति विशेषविवेकः अस्ति च शेषाहारभेदपरित्यागः न्यायोपपन्नत्वात् प्रेक्षापूर्वं नेत्यर्द्धं कुक्कुट्या पक्ष्यते अर्द्धं प्रसवाय कल्पत इत्यपरिणतानां श्रद्धा च न जायते एवं सामान्यविशेषभेदनिरूपणया सुखाव सेयं सुखश्रद्धेयं च भवतीति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

तथा चाह- असणंगाहा, असनं पानकं चैव खादिमं स्वादिमं तथा । एवं प्ररूपिते सामान्यविशेषभावनाख्याते तथ्यावबोधात् श्रद्धा प्रवर्तते उपलक्षणार्थत्वाद्दीयते पाल्यते च सुख मिति गाथार्थः । ४० ॥

उपस्कृतसंपन्नादिना आहारचातुर्विध्यम्

चउव्विहे आहारे पं० तं० उवक्खरसंपन्ने उवक्खड संपन्ने सभावसंपन्ने परिजुसिय संपन्ने ॥

उपस्क्रियतेऽनेनेत्युपस्करो हिंग्वादिस्तेन संपन्नो युक्त उपस्क रसंपन्नस्तया उपस्करमुपस्कृतं पाक इत्यर्थस्तेन संपन्न ओदनकमंडकादिः उपस्कृतसंपन्नः पाठान्तरेण नो उपस्कारसंपन्नो हिंग्वादिभिरसंस्कृत ओदनादिः । स्वभावेन पाकं विना संपन्नः सिद्धः द्राक्षादिः स्वभावसंपन्नः (परिजुसियत्ति) पर्युषितं रात्रिपरिवसनं तेन संपन्नः इङ्गुरिकादिः यतस्ताः पर्युषिता-कलनीकृता आम्लरसा भवंति।

आहारस्य लौकिकालौकिकोत्तरिकाश्च भेदाः (पिंडशब्देवक्ष्यंते) पिंडरूपत्वात् तस्य ।

आहारपरिश्रावणम् ।

॥ सूत्रं- जे भिक्खू असणं वा ४ अणागाढे परिसावेइ परिसावंतं वा साइज्जइ ॥ १८४ ॥

जे भिक्खू परिसावियस्स असणं वा ४ तया पमाणं वा भुंजप्पमाणं वा विंदुप्पमाणं वा आहारं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ॥१८५॥

अश् भोजनो । खाद भक्षणे । पा पाने । स्वद आस्वादनेऽते चतुरो तिण्णि दो अण्णयरं वा जे रातो अणागाढेण आगाढं अणागाढं तंमि जो परिवसावेति तस्स चउगुरुं आणादि विराहणा य भवति इमा निज्जुत्तिगाहा ।

जे भिक्खू असणादि, रातो अणागाढणिक्खवेज्जाहि सो आणा अणवत्थं मिच्छत्तविराहणं पावे । १७५)

(आगाढचातुर्विध्यमागाढशब्दे)

अणागाढे इमं सुत्तं अणागाढं परिवसावेति तस्स य सोहि संजमो य विराहणादोसा य तत्थ संजमे इमा विराधणा ॥

संमुच्छंति तहिं वा, अण्णे आगंतुगावलग्गंति ।
परनोपरगलमाणा, विसएमेव असणादि ॥१८९॥

असणादिए परिवेसाविते किमिरसगादीपाणा संमुच्छंति अण्णे वा मुच्छियमसगमक्कोडपिवीलिगादी पडंति तक्कों ति परंपरतो वा भवंति तं परिवासिदव्वं मच्छियगपइंगमुसगा दि तक्केंति, मच्छियातो गिहिकोइलिया तक्केति, गिहकोइलगं मज्जारो तक्केति, मज्जारं साणो तक्केति, एस तक्केंति, परंपरओ अह च भायणं परिगलिति तत्थ वि परिगलितं एवं चेव तक्केत्त परंपरओ, अत्र मधुवेंदोपाख्यानं दृष्टव्यं एसा संजमविराहणा

लाला तया विसो वा, उंदरपिंडी व पडणसुक्कंवा ।
घरकोइलसत्तेज्जा पिवीलगा मरणतो णाणं ॥ १९२ ॥

भत्ते पाणे वा परिवासियवविते सप्पादिणा जंघासणेण लालाविस-संमिस्सा मुक्को हवेज्जा तया विसेण वा फंसितं हवेज्जा तेहिं वासगतेहिं वीयं निसंठं तं पडेज्जा । घरकोइलो वा सुत्तेज्जा गिहकोकिल अवयवसंमिस्सेण भुत्तेण पोट्टे किलगिहकोइला संमुच्छंति मुइंगा संमुदि वा पडिपायत्थ मुइंगासु मेहा परिहायति । मेहापरिहाणीए णाणं विराहणा सेसेसु आयविराहण परियावणा परियावणादि जाव चरिमं पावती वितियपदे आगाढो कारणे निक्खिवंतो अदोसो तं च इमं ॥

वितियपदं गेलण्णो, अट्ठाणो मे य उत्तमट्ठेय ।
एतेहि कारणेहिं, जयणाए णिक्खमे भिक्खू ॥ १९३ ॥

गिलाणस्स पदं दिण्णं अलभंते अट्ठाण पावं नाणं असंथरणे दुब्भिक्खे य असंथेरंते उत्तमट्ठपडिवन्नस्स असमाहाणे तक्खणमलंभे एवमादिकारणेहिं जयणा ते परिवासेज्जा इमा जयणागाहा ॥

सवड्ढुपमुहे वा, दद्दरमतणातीअपरिभुंजंते ।
उंदरभए सरावं, कंटियठवरिंअहेभूति ॥ १९४ ॥

लाउए सवोढं उज्जति अप्पमुहे वा कुडमुहादिसु तत्थ बोढुं चम्मेण धणेण वा चीरेण दद्दरेति दद्दरासति सरावादीपिधाणं दातुं संधिमयणेण लिंपति छगणेण मट्टियाए वा ततो अव्वा बाहे एंत गवेंति, जत्थ उंदरभयं तत्थ सिक्कं एकातुं चेहासे तवेंति, जदि रज्जए उंदरा अवतरंति तत्थंतरा सरावं ठवेंति, कंटकाउ काउं वा कट्ठमे उद्धंमुहा करेंति । एसा उवरिरिक्खा भूमिठियस्स वा अहोभूती करेंति परिगलणभया चेहा सट्ठियस्स अहोभूती करिज्जति जत्थ पिवीलिगभयं तसगायणत्थि रज्जवा मूसगेहिं छिंदेण भयं तत्थिमा आलयविही ।

ईसिं भूमिमपत्तं, असणं वा विच्छिणरक्खट्ठा ॥
पडिलेहउभयकालं, अगीय अंतरं न अण्णंतु । १७५ ।

भूमिए ईसिं अपत्तं रज्जूए उसारेंति आसण्णं वाहेट्ठा अणप्फिडंतं ठवंत्ति किमेवं ठविज्जति जदि मूसगेण रज्जूछिज्जति तो सपाणभोयणं पडितं पिण भिज्जति ररिकयं भवति पुव्वा वरासु य सज्जासु पडिलेहपमज्जणा करेंति अगीतगिलाणा जत्थ वसहीए, तत्थ उवेंति ते वा अगीय- गिलाणा अण्णत्थ ठवेत्ति । नि० चू० ११ उ० ॥

आहारप्रतिपादकत्वात् प्रज्ञापनाया अष्टाविंशे पदे, च । प्रज्ञा० १ पद ॥

आहारएसणा- स्त्री०(आहारौषणा) आहारस्य एषणा ग्रहणाद् गवेषणादिग्रहणस्तदर्थसूचकत्वादाहारैषणा । द्रुमपुष्पिका नाम नि दशवैकालिकस्य प्रथमे अध्ययने, दश० १ अ० ॥

आहारओ-अव्य(आहारतस्) ल्यप् लोपे कर्मणि पंचमी । आहारमाश्रित्येत्यर्थे, ''आहारओ पंचकवज्जणेण'' आहार माश्रित्य पञ्चकं वर्जयन्ति । ''लसणं पलांडुः करमीक्षीरं गोमां सं मद्यं चेत्येतत्पंचकवर्जनेन मोक्षं वदन्ति ।'' सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ॥

आहारग-न०(आहारक) चतुर्दशपूर्वविदाऽऽहियते गृह्यते इत्याहारकमथवा ऽऽहियन्ते गृह्यन्ते केवलिनः समीपे सूक्ष्म जीवादयः पदार्था अनेनेत्याहारकम् । अनु० विशे० । स्था० । वा० २ । शरीर भेदे, स० ।

अणाहारगशब्दे दंडकमुक्तम् ॥

ओ जो लो मप्रक्षे पाहाराणामन्यतमाहारमाहारयतीति आहारकः । अनाहारकविलक्षणे जीवे, कर्म० ॥ चतुर्दशपूर्वविदा

तथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निवर्त्यते इत्याहारकं। अथवाऽऽह्रियंते गृह्यंते तीर्थकरादि समीपे सूक्ष्मजीवादयः पदार्था अनेनेत्याहारकं । कृद्बहुलमिति कर्मणि करणे वा णकः । यदवादि 'कज्जंमि समुप्पन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए । जं इत्थ आहरिज्जइ, भणंति आहारगं तं तु ॥१॥ '' कार्य्य चेदं । पाणिदय-रिद्धिदरिसण, छम्मत्थो वग्गहण हेऊ वा संसयवुच्छे यत्थं, गमणं जिणपायमूलम्मि २। कर्म० । एतच्चाहारकं कदाचनापि लोके सर्वथा पि न भवति तच्चाऽभवनं जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतः षण्मासान् यावत् । उक्तंच ''आहारगाई लोके छम्मासा जा न होंति विकयाई । उक्कोसेणं नियमा, एक्कं समयं जहन्नेणं,, जी० १ प्र० । प्रज्ञा० २० पद । पं० सं० । द्वा० । आव० । सूत्र० ।

आहारकशरीरं चतुः कृत्वा मोक्ष इति न सर्वस्य चतुर्दशपूर्विण इति (समुग्घाय) शब्दे ॥ ओगाहणशब्दे तदवगाहना ॥ आहारकाः सदैवानाहारका विग्रह गतौ सदैवानाहारकाः भवन्ति, स्था० २ ठा० ॥ आहारकशरीर वति, विशे० ॥ आहारकशरीरलब्धिसंपन्ने कल्प० ॥

आहारगंगोवंगणाण- न०(आहारकाङ्गोपाङ्गनामन्) अङ्गोपाङ्गनामकर्मभेदे, यदुदयादाहारकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गला नामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरूपजायते, कर्म० ॥

आहारगजुगल- न०(आहारकयुगल) आहारशरीराहारकां गोपांङ्गलक्षणे आहारकद्विके,कर्म० ।

आहारगणाम- न०(आहारकनामन्) आहारकनिबंधने नाम्नि कर्म० ॥

आहारगदुग-न०(आहारकद्विक) आहारकशरीराहारकांगो पांगलक्षणे नामकर्म्मोत्तरप्रकृतिद्वयेऽर्थे, पं० सं० ॥

आहरगलद्धि- स्त्री०(आहारकलब्धि) आहारकशरीरकरण शक्तौ, आहारकशरीरं च हस्तप्रमाणमेकस्मिन् भवे, द्विः संसारे च चतुः कृत्वस्तीर्थकरस्फीतिदर्शनार्थं चतुर्मासाः । ग० २ अधि । प्रव० ॥

आहारगवग्गणा-स्त्री०(आहारकवर्गणा)आहार एवाहारक स्तत्प्रायोग्यवर्गणा आहारकवर्गणा आहारकशरीरग्रहणकप्रा योग्यवर्गणायाम् कर्म्म० प्र० । वग्गणाशब्दे स्वरूपं ।

आहारगसमुग्घाय - पुं०(आहारकसमुद्घात) आहारके प्रारम्भ माणे समुद्घात आहारकसमुद्घातः । प्रव० ॥ आहारकर्मविषये, पं० सं० ॥ चतुर्दशपूर्वविद आहारकलब्धिमंत क्वचित्संदेहापगमाय तीर्थंकरांतिकगमनार्थमाहारकशरीरं समुपादा तुं बहिरात्म-प्रदेशप्रवेशे, आचा० ॥ आहारकसमुद्घातस्तु जीवप्रदेशान् शरीरादेर्बहिर्निष्क्रम्य वाहल्यमात्रमायामतश्चसंख्येयानि योजनानि दण्ड निसृजति निसृज्य च यथा स्थूलाना-हारकशरीरनामकर्मपुद्गलान् शातयति ॥ स्था० ठा० ७ । प्रज्ञा० ॥

आहारगसरीरकायप्पओग-पुं०(आहारकशरीरकायप्रयोग) आहारकशरीरनिवृत्तेः प्रधानेऽङ्गे । भ० ८ श० १ उ० ।

आहारगुत्त-त्रि०(आहारगुप्त) अनतिमात्राऽस्निग्धाहारभोजिनि, आव० ४ अ० । सूत्र० ॥

आहारजतित्ति-स्त्री० (आहारजतृप्ति) भोजनजनितबुभुक्षोपशमे, पंचा० ६ वृ० ॥

आहारजाइ-स्त्री०(आहारजाति) अभ्यवहार्यसामान्ये, पंचा० ५ वृ०

आहारजात- न०(आहारजात) अभ्यवहार्यसामान्ये पंचा० १० वृ०

आहारणीइ-स्त्री०(आहारनीति) संस्कृताहारभक्षणप्रकारे, ऋषभस्वामिनो गृहावासात् पूर्वमसंस्कृताहारेण आसन् ते च तदा ऋषभस्वामिनाऽन्नाहारिणः कृताः इति उसभशब्दे उक्तं । आ० चू० ॥

आहारणीहार- पुं०(आहारनिहार) विसर्जने, विड्विसर्जने, नि० चू० २ उ० ॥

आहारपइण्णा- स्त्री०(आहारपरिज्ञा) आहारस्य परिज्ञाप्ररूप के सूत्रकृतांगस्य २ श्रु० द्वितीयेऽध्ययने, स्था० ७ ठा० । आव० । प्रश्न० २ अ० । द्वा० ॥

आहारपच्चक्खाण-न०(आहारप्रत्याख्यान) सदोषाहारपरिहारे, तत्फलं यथा ॥

आहारपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ जीविया संसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेण न संकिलिस्सइ ॥ ३५ ॥ उत्त० २९ अ० ॥

हेभदन्त !आहारस्य प्रत्याख्यानेन सदोषाहारत्यागेन उपवासादिना जीवः किं फलं जनयति गुरुराह हेशिष्य ! आहारप्रत्याख्यानेन आशंसा अभिलाषस्तस्याः प्रयोगो व्यापारो जीवि ताशासंसप्रयोगस्तं व्यवच्छिनत्ति निवारयति जीविता शंसा रहितो मुनिर्न क्लेशभाक् स्यात् इति भावः ॥

दु-ति-चऊविहारेसु कप्पम् लघुप्रवचने यथा-

भट्ठं धन्नं सव्वं, बदाम अक्खोडउच्छुगंडुलिया ॥
फलपक्कन्नं सव्वं, बहुव्विहं खाइमं मेयं ॥४८॥
दंतवणं तंबोलं, चित्तं तुलसी कुहेडगाईयं ॥
महु पिप्पली सुंठि मरी, पण्णगं जाइफलाणं च ॥४९ ॥
एलदुगं लविंगं अजमोयतियं तियं च अभयाणं ॥
स कप्पुर-कविट्ठाइं, हिंगुलवणयाण असणगं च ॥५०॥
विडलवण बडिंगव्वुल, कंटकरुक्खाणच्छल्लिया सव्वा ।
फोफलकसेल्लपुक्खा, रजवासपण्णकूलगयच्छल्ली ॥
तिव्वुय सुगंधि धण्णय, पत्तजडी पप्पडी वरट्टा य ॥
रसजाई भेसज्जपमुहं साइमं अणेगविहं ॥ ५२ ॥
दुविहारे कप्पिज्जइ, पाणं साइ मणेगहासव्वं ॥
तिविहारे पाणं, पुण चउहारे किमवि नो कप्पं ॥ ५३ ॥
साइमगयासिमासि, न कप्पए तह पसंग दोसाओ ॥
गुरुलवणहिंगुसींधव, जीरय धरणा वरट्टा य ॥ ५४ ॥
अजमो अतियं कविट्ठं, आमलगं च तह कपूरकंदा य ॥
अंबोलगं च सूया, एमाइं असणववहारो ॥ ५५ ॥
चउहारे रयणीए, कप्पिज्जइ जाणिमाणिं वत्थूणि ॥

---

* सुहुमंपच्छावगहणहेउं, इति पाठो जीवाभिगम टीकायाम् ।

समभागकया तिहला, भूनिंबोसीर चंदणयं ॥५६॥
गोमुत्तं कडुरोहिणी, वग्धी अमया य रोहिणी तुग्गा ॥
गुग्गुलवया करीरय, लिंबपंचग भासगणो ॥५७॥
तह आसगंधि बंभी, चीडहलिद्दा य कुंदरुकुट्ठा ॥
विसनाइ य धमासो, बोलय बीया अरिट्ठा य ॥५८॥
मींडल मजिट्ठकंकेल्लि, कुमारि कंथेरं बेरकट्ठा य ॥
कप्पारुबीय पत्तय, अगुरुतुरुष्का य तंतु वडा ॥५९॥
धवखयरपलासाइं, कंटकरुक्खाणबल्लियासाणा ॥
जं कडुयरसपरिगयं, आहारं पिच्छ अणाहारं ॥६०॥
इच्चाइ जं अणिट्ठं, पंकुवमंतं भवे अणाहारं ॥
जं इच्छाए भुंजइ, तं सव्वं हवइ आहारं ॥६१॥

आहारपज्जत्ति-स्त्री० (आहारपर्याप्ति) आहारपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतावात्मनः शक्तिविशेषे, -पं० सं० ॥ यथा बाह्यमा हारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति साऽऽहारपर्याप्तिः ॥ कर्म ४० । दर्श० । जी० १ प्र० । नं० । प्रज्ञा० १ पद ॥ प्रव० ॥ पर्याप्तिर्नाम शक्तिस्तत्र यथा शक्त्या करणभूतया भुक्तमा हारं खलरसरूपं च या करोति सा ॥ वृ० १ उ० ।

आहारपूइ-स्त्री०(आहारपूति) (असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने । अद्धाण रोहए वा गहणं आहारपूइए ३०९) इत्युक्तक्षणायामाहारशुद्धौ, नि० चू० १ उ० ।

आहारपोसह-पुं०(आहारपोषध)आहारः प्रतीतस्तद्विषय स्तन्निमित्तं पोषधश्चाहारपोषधः । आहारविशेषत्यागे, ''आहा रपोसहो दुविहो, देसे सव्वे य देसे स अमुगाविगतिआयंविल एक्कंसि वा दो वा १ सव्वे चउविहोत्ति आहारो अहोरत्तं पच्चक्खा'' आव० ६ अ०! आहारपोषधो देशतो विवक्षिते विकृतेरवि कृते एवाऽऽम्लस्य वा सकृदेव द्विरेव वा भोजनमिति सर्वतस्तु चतुर्विधस्याहारस्याहोरात्रं यावत्प्रत्याख्यानं ध० २ अधि० ।

आहारसण्णा-स्त्री०(आहारसंज्ञा)क्षुद्वेदनीयोदयात्कावलि काद्याहारार्थ पुद्गलोपादानक्रियैव संज्ञायतेऽनया तस्या नित्याहारसंज्ञा ॥ भ० ७ श० ८ उ० । स्था० १० वा० ॥ आहारा-भिलाषरूपे क्षुद्वेदनीय प्रभवे आत्मपरिणामविशेषे, कर्म० ॥ अभिलाषश्च ममैवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि तद्यदीदमवाप्यते ततः समीचीनं भवतीत्येवं शब्दार्थालेखानुबद्धः स्वपुष्टिनिमित्तभूत-प्रतिनियत वस्तु प्राप्त्यध्यवसायरूपः । जी० १ प्र० । प्रज्ञा० ७ उ०।

संज्ञाशब्दवक्तव्यता (सण्णा) शब्दे ।

चउहिं वाणेहिं आहारसण्णा समुप्पज्जइ । तं जहा ओमकोट्ठयाए छुहावेयमिज्झस्स कम्मस्स उदएणं मईए तदट्ठोवओगेणं ॥ स्था० ४ वा० ॥

टी०- अवमकोष्ठतया विक्तोदरतया मत्या आहारकथाश्रवणा दिजनितया तदर्थोपयोगेन सततमाहारचिन्तयेति ॥

आहारतृष्णाक्ये कर्म्मणि, मोहाभिव्यक्तचैतन्यस्य, द्वा० ३० द्वा० ।

आहारादिचागणुट्ठाण- न०(आहारादित्यागानुष्ठान) भोजन देहसत्काराऽब्रह्मव्यापारपरिहारकरणे । पंचा० १० वृ० ॥

आहारिज्जमाण- त्रि०(आहियमाण) संगृह्यमाणे, अभ्यवहि यमाणे च, भ० १ श० उ० ॥ खाद्यमाने, स्था० १० ठा० ।

आहारिज्जस्समाण- त्रि०(आहरिष्यमाण) अनागते काले आहारं करिष्यमाणे भ० १ श० । उ० ।

अहारित्तए- अव्य० अहर्तुम् अभ्यवहर्तुमित्यर्थे आचा० ।

आहारित-त्रि०(आहारित)भुक्ते, तं० ॥ आहारत्वेन गृहीते, अनु० ॥

आहारेयव्व-त्रि०(आहर्तव्य)अभ्यवहार्ये स्था० ३ ठा० ॥

आहारेमाण-त्रि०(आहारयत्) अभ्यवहरति, स्था० ६ वा० आचा० ॥

आहारेसणा- स्त्री० (आहारैषणा)अभ्यवहर गवेषणा यांदश १ अ० ।

आहारोवचय-त्रि०(आहारोपचय) आहारेणोपचयोऽस्य । आहारोपचिते, ''आहारोवचया देहा परीसहपभंगुरा'' आचा० ७ अ० २ उ० ।

आहारोवचिय-त्रि०(आहारोपचित) आहाररूपतया संचितेषु, भ० १६ श० २ उ० ।

आहावणा-स्त्री० (आभावना) उद्देशमात्रे अपरिगणनायाम् पिं० ॥

आहि-पुं०(आधि) शारीरमानसपीडाविशेषे, षो० १५ विव० ।

मनः पीडायां, । भ० १ श० १ उ० ।

आहिंडग- पुं०(आहिण्डक)भ्रमणशीले गच्छनिर्गतसाधौ, औ० ।

इदानीमाहिंडकान् प्रतिपादयन्नाह ॥

उवएस अणुवएसा, दुविहा आहिंडगा समासेणं ।
उवएसदेसदंसण, थूभाई हुंति णुवएसा ॥२७॥

तत्र एके उपदेशहिंडका अपरे अनुपदेशहिंडका एवमेतत् द्विधा अहिंडका मुणितव्यास्तत्र उवदेसन्ति । द्वारपरा मर्शः (देस-दंसणत्ति) देशदर्शनार्थं द्वादशवर्षाणि यः पर्यटतिस सूत्रार्थौ गृहीत्वा एति उपदेशहिंडका अनुपदेशत्वमी भवंति (थूभाई होंति णुवएसा) स्तूपादिगमनशीला अनुपदेशा हिंडकाः औ० । व्य० ।

आहिंडिऊण-अव्य० (आहिड्य) परिभ्रम्येत्यर्थे, । संथा० ।

आहिक्क- न०(आधिक्य) सजातीयपरिणामप्राचुर्ये । द्वा० ॥

आहिदेविय- न०(आधिदैविक) यक्षराक्षसग्रहाद्यावेश हेतुके दुः खादौ, स्था० ठा० ॥

आहिभोतिय- न०(आधिभौतिक) मनुष्यपशुपक्षिमृगसरी सृपस्थावरनिमित्ते दुः खादौ, स्था० वा० ॥

आहिय- त्रि०(आख्यात) प्रतिपादिते, कथिते, । सूत्र० १ श्रु । स्था० अनु० । आख्यानकप्रतिबद्धे, सू-प्र० । आविर्भाविते, भावे क्तः अभिप्राये, इहमेगेसि आहियं । सूत्र० ॥ श्रु० अ

***आहित**-त्रि० प्रवचन ऋषिभाषितादौ आत्मनि वा व्यवस्थिते सूत्र०-व्यवस्थापितै, स्था० ४ वा० । निवेशिते, जं० । ढौकि ते, अनुष्ठिते, । सूत्र० । प्रयोगविश्रसाभ्यां स्वकर्मपरिणत्या वा जनिते । आचा० । समंताद्विते च, सूत्र० ॥

आहियग्गि- पुं०(आहिताग्नि) कृतावसथादिब्राह्मणे, दश० अ० ९ उ० १ । अग्निं गृहीत्वा ऋषभचितायां स्थापितवन्तस्तेन कारणे-नाहिताग्नयः आ० म० प्र० ॥

आहियविसेसत्त- न०(आहितविशेषत्व) शेषपुरुषवचनापेक्षया शिष्टोत्पादनमतिविशेषतायां । रा० । सत्यवचनातिशये, । सम।

आहीर- पुं० (आभीर) गोचारिप्रधाने देशभेदे । कल्प० (आभीरदेशे अचलपुरासन्ने कृष्णवेणानद्यो र्मध्ये ब्रह्म

द्वीपः । कल्प० । अहिर इतिख्याते शूद्रजातीये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ॥

आहु-त्रि०(आहोतृ) दातरि, । ज्ञा० १ अ० । औ० ।

आहुणिज्ज-त्रि०(आहवनीय)सम्प्रदानभूते ज्ञा० १ अ० । औ० ॥

आहुणिज्जमाण- त्रि०(आधूयमान) कम्पमाने विद्रवमुपागते, । ज्ञा० १ अ० । औ० ॥

आहुणिय-पुं०(आधुनिक)अष्टाशीतेर्महाग्रहाणां पंचमे, । दो आहुणिया, स्था० ५ वा० । कल्प० । जं० । सू० । प्र० ॥

आहूय-त्रि०(आहूत) कृताव्हाने, वाच० । अ०उ० ।

आहूय-अव्य० उपादायेत्यर्थे, (कम्मआहूय जंच्छणं) कर्माहूय ॥ आचा० ।

आहेऊ- अव्य० (आधातुं) आधानं कुर्तमित्यर्थे । सूत्र०, १ श्रु० ७ अ० ।

***आहेण**- न० विवाहोत्तरं वधूप्रेवशे वरगृहे क्रियमाणे भोजने । आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ० ॥

आहेवच्च- न०(आधिपत्य)अधिपतेः कर्माधिपत्यम्-रक्षार्थम् जं० । कल्प० । स० । भ० । प्रज्ञा० । आ० । भ० म० फ ३० । ज्ञा० । वि० । स्वामितायाम् । स्था० ७ ग० । तदा-श्रितलोकेभ्यः आधिक्येन तेष्ववस्थायित्वे, औ० ॥

आहेवण-न०(आक्षेपण) पुरक्षोभादिकरणे, प्रश्न० २ द्वा० ॥

आहोहिय- पुं०(आधोऽवधिकः) नियतक्षेत्रयित्वेविषयाव धिज्ञानिनि ॥ भ० ७ श० ७ उ० । स० प्रज्ञा० ।

***आभोगिकः** पुं०-आभोग उपयोगः स प्रयोजनं यस्य तदा भोगिकम् उपयोगप्रधाने, । कल्प० ॥

इति श्रीमद्वृहत्सौधर्म्मतपागच्छीय – कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु – श्रीमद्भट्टारक – जैन श्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्रीविजयराजेन्द्रसूरीविरचिते अभिधानराजेन्द्रे ''आकारादि शब्दसङ्कलनम्'' समाप्तम् ॥

(इकार)

इ–पुं० (इ) अस्य विष्णोरपत्यम् अ० इञ् कामदेवे, गायत्री। एका० । स हि रुक्मिण्यां विष्णोरंशात् कृष्णात् जातः । तत्कथा च यथा–रुक्मिण्यां वासुदेवाच्च, लक्ष्म्यां कामो धृतव्रतः । शम्बरानतकरो जज्ञे, प्रद्युम्नः कामदर्शनः । हरि० १६३ अ० । एवं व्युत्पत्तिमत्त्वेन कामदेवस्यैव इशब्दार्थता नाभिलाषस्येति बहवः । कामदेवदैवत्याच्च अभिलाषे औपचारिक इत्यन्ते। वाच० । कम्पे, सायके, सर्प्पे, सरसीरुहकेसरे, । शक्रचापे, बाणे कमलायाम्, रचनायाम्, क्षोणीभृत्कुहरे, पद्मदले, ज्ञाने, गतौ च । एका० । नञर्थकस्य अ इत्यस्येदम् अ इञ् । भेदे ३ सरो षोक्तौ, ४ निराकरणे, ५ अनुकम्पायाम्, ६ गदे, ७ विस्मये, ८ निन्दायाम् ९ सम्बोधने, च । अव्य० चादि । निपातैकाच् कत्वात् अस्य प्रगृह्यसंज्ञा तेनइ इन्द्र इत्यादौ न सन्धिः । वाच० वाक्यालंकारे, च । सहि निपातः पादपूरणाय प्रयुज्यते ''इड्डी वा जुई वा'' इ शब्दो निपातो वाक्यालङ्कारार्थ इति। औप० । ज्ञा० १ अ० । ''उसभे इ वा पढमराया इ वा, पढमभिक्खा यरे इ वा, पढमजिणे इ वा पढमतित्थंकरे इ अ'' क० सू० । इकारः सर्वत्र वाक्यालंकारे इति वृत्तिः । कल्प० । (सुत्तंमि अणुण्णाइं इह इं पुण अत्थतो (निसेहेह) व्य० । इ पादपूरणे इति वृत्तिः व्य० ५ उ० ॥ तथा चाह वररुचिः स्वप्राकृतलक्षणे । ''इजेरापादपूरणे इति'' आ० म० द्वि० । ''इह इं भणिया पुरिसजाया'' । व्य० सू० । इ इति पादपूरणे इति वचनात् सानुस्वारता प्राकृतत्वात् । प्राकृते हि पदान्ते सानुस्वारता भवतीति । व्य० १ उ० ।

इ–इ गतौ–भ्वादि० सकर्म० अनिट् अयति ऐषीत् इयाय ईयतुः ईयुः इययिथ इयेथ आयन् । इ ई इति प्रश्लेषात् अयं च धातुः कटी गतौ इत्यत्र लब्धः । सि० कौ० । वाच० ॥

इ (क्) इक् स्मरणे इति वचनादिति भ० १ श० २ उ० । अधिपूर्वक एव कित् । कित्करणमधीगर्थेत्यादौ विशेषार्थम् । अदादि० पर० सक० अनिट् अध्येति अध्यैषीत् । वाच० ।

इ (ङ्) इङ् – अध्ययने ''इङ् अध्ययने इति वचनादिति'' भ० १ श० १ उ० ॥ अध्ययने अधिपूर्व एव ङित् अदा० आत्म० सक० अनिट् अधीते अधीयीत अध्यैष्ट । वाच० ।

इ (ण्) इण् गतौ ''इण् गताविति वचनादिति भ० १ श० १ उ० ॥ णित् इडो भेदार्थम् अदा० पर० सक० अनिट् एति इतः यन्ति इयात् इहि ऐत् आयत् अगात् । वाच० ॥

इ (त्)–त्रि० (इत्) एति गच्छति इ क्विप् गत्वरे, व्याकरणोक्ते प्रक्रियाकालोच्चारिते अस्थायिनि वर्णभेदे, यथा तिप् सिप् इत्यादौ पकारादि ॥ वाच० ।

इ (स्)–त्रि० (इष्) इष् इच्छायां क्विप् । इच्छायुक्ते १ कर्मणि क्विप् इष्यमाणे, २ त्रि० ३ अन्ने, इष्यते इष् अन्तर्भूतण्यर्थे कर्मणि क्विप, ४ एषणीये, इष्–गतौ भावे क्विप् । ५ यात्रायाम्, स्त्री० वाच० ।

इह (ति)–अव्य० (इति) इण् क्तिन् १ आद्यर्थे ''गई इय'' इति शब्दआद्यर्थस्तताश्च ''गइइंदियकाए'' इत्यादि द्वारकलापे-ऽवधिर्वक्तव्य इति । विशे० । इयत्ताप्रदर्शने, माने० वाच० (सम्मत्तंति) इति शब्दः इयत्ताप्रदर्शनार्थः एते क्षुधादयः सम्यक्त्वान्ता द्वाविंशतिरिति न न्यूनाधिकाः परिषहा भवन्ती-ति । प्रव० ८४ द्वा० । उपप्रदर्शने, ''महया जणसद्देइ वा'' इह संधिप्रयोगादितिशब्दे द्रष्टव्यः स चोपदर्शने इति वृत्तिः । ज्ञा० १ अ० । ''इति चोदकदिट्ठंतं पडिहंतुं कधिज्जते ससब्भावो उवदंसणे इति,, । नि० चू० ३ उ० ॥ औप० । स्था० ठा० ३ । सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । विशे० । ''इच्चेवं संवच्छरियं थेरकप्पं'' इतिः रूपप्रदर्शने तं पूर्वोपदर्शितं सांवत्सरिकं स्थविरकल्पमिति वृत्तिः । कल्प० । नि० चू० ४ उ० । ''असोगवणेइ वा'' इति शब्द उपप्रदर्शने अनुस्वारलोपः संधिश्च प्राकृतत्वादिति भ० १ श० १ उ० । औप० । प्रश्न० । गच्छा० । ''इति भो इति भोत्ति ते अण्णमण्णस्स किच्चाइं । करणिज्जाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति'' (इति भोत्ति) एतत् कार्यमस्ति भोशब्दश्चामन्त्रणे इति । भ० ३ श० १ उ० ॥ ''उल्लेखे'' इतिशब्द उल्लेखार्थ इति । रा० । ''तए णं से पालए देवे तस्स णं दीवस्स जाणवि माणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वइ से जहा नामए आलिंगपुक्खरेइ वा'' इत्यादि इति । शब्द उपमाभूतवस्तुपरिसमाप्तिद्योतक इति आ० म० प्र० । इति शब्दाः सर्वेऽपिस्वस्वोपमाभूतवस्तुसमाप्तिद्योतका इति, जं० । राय० ॥ ''तत्थ णं जे ते किण्हाभणीतणा य तेसि णं अयमेया रूवेवण्णा वासे पण्णत्ते तंजहा से जहा णामएजीमूतेइ वा'' इत्यादि सूत्रं इतिशब्द उपमाभूतवस्तुनामपरिसमाप्तिद्योतकः इति । जं० ॥ एवकारार्थे, अहवा इतिशब्द एवकारार्थे दट्ठव्व इति नि० चू० २ अ० ॥ ''अहवा इतिसद्दो एवार्थे'' नि० चू० अ० १५ । एवं प्रकारार्थे, उक्तप्रकारेणेत्यर्थे, षो० प्र० १० । ''महब्भयं दुःक्ख त्ति बेमि'' ॥ इतिशब्द एवमर्थे, एवमहं ब्रवीमीत्यर्थः । आचा० ६ अ० । अमुना प्रकारेणेत्यर्थे, । सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । ''मिच्छा पावयणेति य इत्येवं प्रकारे'' स्था० ठा० ९ ॥ पूर्वक्रान्तपरामर्शे, ॥ ''इतिकम्मं परिण्णाय,, इतिः पूर्व प्रक्रान्तपरामर्शक इति । आचा० २ अ० ६ उ० ॥

उचियं खलु कायव्वं, सव्वत्थ सया णरेण बुद्धिमता ।

इह फलसिद्धी णियमा, एस च्चिय होइ आणत्ति ॥

इत्यनेनोचितकरणेन फलसिद्धिरिति वृत्तिः । पंचा० ६ बृ० इह विज्ञामणुसंचरे'' इतीत्वेवंरूपां विद्यां सम्यग् ज्ञानपालन रूपामन्विति लक्षीकृत्य संचरेत् सम्यक्संयमाऽध्वीन यायादिति, इत्येतत्पूर्वोक्त-नीत्योचावचस्थानोत्पादादिकामिति वृत्तिः आचा० १ अ० ३ उ० । ''थिरसंघयणं तिकट्टुत्तं अणुप्पविसामि'' इति कृत्वा इति हेतोस्तदनु प्रविशामिति वृत्तिः । भ० १५ श० १ उ० ''अधारणिज्जमितिकट्टु तुरए निगिण्हइ'' इति कृत्वा इति हेतोरित्यर्थः । भ० १३ श० ७ उ० । समाप्तौ, ज्ञा० २ अ० । परिसमाप्तिप्रदर्शने, ''से हु मुणी परिण्णाय कम्मेति बेमि'' इतिशब्द एतावानयमात्मपदार्थविचारः कर्मबन्ध हेतुविचारश्च सकलोद्देशकेन परिसमापित इति प्रदर्शकः आचा० १ अ० १ उ० सूत्र० । सम० । विपा० । वाक्यसमाप्तौ, इति शब्दो वाक्यसमाप्त्यर्थ इति । विशे० । यथा– ''गिहत्थधम्माओ चुक्कंति'' ग० । दर्श० । वाक्यार्थसमाप्तौ पंचा० । यथा– ''से अट्ठी संजयोत्ति'' इति शब्दो व्यवस्थितवाक्यार्थ-परिसमाप्तौ, प्रश्न० सं० द्वा० ४ ॥ अधिकारपरिसमाप्तिद्योतके, यथा ''से केणट्ठेणं भंते । एवं इइ भरहे वासे'' ।२। इति सूत्रेण नामार्थ प्रच्छतो गौतमस्य प्रति वचनाय ''तच्थणं विणीआए रायहाणीए भरहे णाम राया चाउरंतचक्कवट्टी समुप्पज्जित्था'' इत्यादिसूत्रैर्भरतचरित्रं प्रपञ्चितं तच्च परिसमाप्तमित्यर्थः । जं० । स्वरूपपरामर्शे, अस्माद्धेतोरित्यर्थ, उत्त० ।

जाणाहि मे जायण जीविणोत्ति, सेसावसेसं लभओतवस्सी ।

जानीतावगच्छत (मेत्ति) सूत्रत्वात् मां (जायजीविणोत्ति) याचनेन जीवनं प्राणधारणमस्येति याचनजीवनं आर्षत्वादिकारः पठ्यते च ''जायणजीविणोत्ति'' इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शकस्तत एवं स्वरूपं यतश्चैवमतो मह्यमपि ददध्वमिति भावः । कदाचिदुत्कृष्टमेवासौ यावत् इति तेषामाशयः स्यादत आह । अथवा जानीत मा याचनजीवितं याचनेन जीवनशीलत्वात् द्वितीयार्थे षष्ठी । पाठान्तरे तु प्रथमा । इतीत्यस्माद्धे-तोः किमित्याह–शेषा विशेषमुद्धरितस्थाप्युद्धरितमन्तः प्राप्तमित्यर्थः । लभतां प्राप्नोतु तपस्वी यतिर्वराको वा । उत्त० १२ अ० ॥

जाभिएगे इत्यादिषु इतिशब्दो हेत्वर्थे, स्था० ३ ठा० ॥

प्रकाशने, निदर्शने, प्रकारे, अनुकर्षे, प्रकरणे, स्वरूपे, सान्निध्ये, विवक्षानियमे, मते, प्रत्यक्षे, व्यवस्थायाम्, परामर्शे, माने, प्रकर्षे, उपक्रमे च । तत्र स्वरूपद्योतकता त्रिधा ॥ ''शब्दस्वरूपद्योतकता प्रातिपदिकार्थ द्योतकता वाक्यार्थद्योतकताचेति तत्र शब्दस्वरूपद्योतकत्वे तद्योगेन प्रथमा ''वीरेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते'' ॥ ''अत एव गवित्याह, भूसत्तायमितीदृशमिति'' भर्तृहरिः ॥ प्रातिपदिकार्थद्योतकत्वे प्रथमा । ''क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः'' । (इत्यादौ) माघ० । वदन्त्यपार्णेति च तां पुराविदः । कुमारसम्भ० । वाक्यार्थद्योतकत्वेन प्रथमा । निपातेनाभिहिते प्रातिपदिकार्थे एव प्रथमाविधानात् । वाक्यस्य च शक्त्या लक्षणया वा एकार्थबोधकत्वाभावेन प्रातिपदिकत्वाभावात् ॥ भूसत्ता-यामितीदृशं'' भर्तृ० । ''श्रुतार्थस्यपरित्यागादश्रुतार्थस्य कल्प-नात् । प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदोषिका,, मीमांसकाः । तत्र हेतौ इतीव धारामवधीर्य्य,, । नैष० । ''इति स्म सा कारुतरेण लेखितं'' नैष० । प्रकारे, ''इति मदमदनाभ्यां रागणिः स्पष्टरागाः'' माघ० प्रकाशार्थे, ''इतिहरि'' इत्यादौ अव्ययी० । इदमर्थे, विरोधिसिद्धमिति-कर्तुमुद्यतं । प्रकरणे, इति कृत्यमिति कर्तव्यम् इति वृत्तम् । वाच० ॥ इण् गतौ भावे क्तिन् । आव० । गतौ; संथा० । चेष्टायाम् । आव० । ज्ञाने, वाच० । प्रवृत्तौ, च स्त्री० । स्था० । द्वा० ८ ।

इह (ति) कह–त्रि०(इतिकथ) इति इत्थं कथ यस्य । अर्थशून्यवाक्यप्रयोक्तरि, अश्रद्धेयवचने, । वाच० ।

इइ (ति) कायव्वया–स्त्री०(इतिकर्तव्यता) इत्येवं रूपा कर्तव्यानां भावः कर्तव्यता ।

सर्वत्रानाकुलता, यतिभावाव्ययपरा समासेन ।
कालादिग्रहणविधौ, क्रियेति कर्तव्यता भवति ॥

इत्युक्तलक्षणं क्रियायाम्, इति कर्तव्यता माह (सर्वत्रेत्यादि) सर्वत्र सर्वस्मिन्ननाकुलता निराकुलता अत्वरा यते र्भावः सामा-यिकरूपस्तस्याऽव्ययपराव्ययाभावनिष्ठाऽनाकुलता वा यति-भावाव्ययपरा न किंचिद्यतिभावाद् व्येत्यपगच्छतीति कृत्वा तथोच्यते विशेष्यत्वात् क्रियाभिसंबध्यते समासेन संक्षेपेण कालादिग्रहणविधौ कालस्वाध्यायादिग्रहणविधिविषया क्रिया चेष्टा स्वशास्त्रप्रतिद्धा इतिकर्तव्यता भवति इत्येवं रूपा कर्तव्यानां भावः कर्तव्यतोच्यते षो० ३ विव० ।

इइ (ति) ह–अव्य० (इतिह) इति एवं ह किल द्वन्द्वः । उपदेशपरंपरायाम् यथाऽत्र वटे यक्ष इत्युपदेशपरंपरैव न तु केनापि दृष्ट्वा तथा कथितमिति तस्य प्रसिद्धिमात्रमा इति होचुर्वृद्धाः । सि० कौ० । वाच० ।

इइ (ति) हास–पुं०(इतिहास) इतिह पारम्पर्य्योपदेश आस्तेऽस्मिन् । आस् आधारे घञ्– ६ त० वाच० पुराणे,–(इतिहास पचमाणं) इतिहासः पुराणं पंचमो येषां ते तथेति । कल्प० । इतिहासः पुराणमुच्यते इति । औप० । पुरुषस्य द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाविशेषे, कल्प० ''धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ॥ पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते'' ॥ उक्तलक्षणे पुरावृत्तप्रकाशके भारतादिग्रंथे, ॥ वाच० ।

इ ओ (त्तो)(एत्तो)–अव्य० (एतस्) इदम्– तसिन् इशादेशः **''तो दो तसो वा'' प्रा० ॥८।२।१६०॥** इति प्राकृतसूत्रेण तो दो इत्यादेशौ वैकल्पिकौ । पंचाशके । एत्तो इति । अस्मादित्यर्थ, वाच० (इओ चुतेसु दुहमट्ठदुगं) इतः स्थानाच्युतो जन्मान्तरं गत इति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ॥ (इउ आउक्खए चुया) इतो मनुष्यजन्मनः सकाशादायुः क्षये मरणे सति च्युता इति प्रश्न० १ द्वा० । (एत्तोऽणाभोगंमि विपण्णवणिज्जो इमो होइ) एतोत्ति इतोऽस्मादाज्ञारुचित्वात् प्रज्ञापनीयो भवतीति योगः । पंचा० ३ वृ० ॥ इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् । ''इतो निषीदेति विसृष्ट भूमिः'' ॥ कुमा० । प्रयुक्तमप्य स्त्रमितो वृथा स्यात्'' रघुः । वाच० ।

इंखिणिया – स्त्री० (इंखिणिका) परनिन्दायाम् । ''अदु इंखिणिया उपाविया'' इंखिणिया परनिंदा तु शब्दस्यैवकारार्थत्वात् पापिकैव दोषवत्येव अथवा स्वस्थानादधमस्थाने पातिकेति वृत्तिः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

इंखिणिका हि कर्णमूले घंटिकां चालयन्ति ततो यक्षाः खल्वागम्य तासां कर्णेषु किमपि प्रष्टुर्विवक्षितं कथयंतीत्युक्तलक्षणे नैमित्तिकविशेषे, च (इंखिणियारूयं वा पुच्छा) इति आ० म० प्र० । नि० चू० ॥

इंखिणी–स्त्री०(इङ्खिणी) अन्यनिन्दायाम्, (अह सेयकरी अनेसि इंखिणी) अथाऽनंतरमसौ अश्रेयस्करी पापकारिणी इंखिणीति निन्दा अन्येषामतो न कार्येति वृत्तिः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

इंग–पुं०(इङ्ग) इगि भावे घञ् । १ चलने, २ कम्पने, ३ इङ्गिते, च कर्तरि अच् । जङ्गमे, त्वया सृष्टमिदं सर्वं, यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति भा० व० अद्भुते, च । वाच० ।

इंगाल– पुं०(अङ्गार) विगतधूमज्वाले दह्यमाने इन्धनादिके, उत्त० ३६ अ० । अंगार इत्येतत् प्रकरणे एवंविधाः शब्दाः ।

इंगालकम्म–न०(अङ्गारकर्मन्) अंगारकरणपूर्वकस्तद्विक्रय एवं यदन्यदपि वह्निसमारम्भपूर्वकं जीवानामिष्टकादिपाकरूपं तदङ्गारकर्म तस्मिन्, ॥ उपा० अ० १ ॥

इंगिअ (य)–न०(इङ्गित) प्रा० इगि भावे क्तः । चलने, । हृद्गतभावावेदके, वाच० । निपुणमतिगम्ये प्रवृत्तिनिवृत्तिसूचके ईषद्भ्रूशिरः कंपादिके आकारे चेष्टाविशेषे, उत्त० १ अ० । ''इंगिअचिंतियपत्थियवियाणिया'' उत्त० अ० १ । इङ्गितेन नयनादि चेष्टाविशेषेण चिन्तितं परेण हृदि स्थापितं प्रार्थितं चाऽभिलषितं च जानन्ति यास्तथा ताभिरिति वृत्तिः । दश० । ''आलोइ यं इंगियमेव णच्चा, जो छंदमाराहइ एस पुज्जो'' । दश० ९ अ० ३ उ० ।

अगोपांगादिमोटनात्मके स्वचित्तविकारसूचके चेष्टाविशेषे, च (न जं पियं इंगियपेहियं वा–इंगितमङ्गोपाङ्गादिमोटनं स्वचित्तविकारसूचकं तच्च स्त्रीणां न साधुना रागेण द्रष्टव्य मिति । उत्त० ।

इंगिअज्ञ–पुं०(इंगितज्ञ) ''ज्ञोऽज्ञ'' पाद० २–सू० ८३ इति सूत्रेण ज्ञस्य ज्ञ्वा । नयनादिचेष्टाविशेषज्ञे, प्रा० व्या० ।

इंगिअण्णु–पुं०(इंगितज्ञ) नयनादिचेष्टाविशेषज्ञे, प्रा० व्या० ।

इंगिअ(य)मरण–न०(इंगितमरण) इंगिते प्रदेशे मरणमिंगितमरणम्, मरणविशेषे, तद्वक्तव्यता इंगिणीमरणशब्दे । ग० । पंचा० । दश० ।

इंगिणी–स्त्री०(इंगिनी) इंग्यते प्रतिनियतदेश एव चेष्ट्यतेऽस्यामनशनक्रियायामितीङ्गिनी श्रुतविहिते क्रियाविशेषे, तद्विशिष्टयावत्कथिकानशनतपोभेदे, च । ध० ३ अधि० । उत्त० । सम० ।

इंगिणीमरण–न०(इंगिनीमरण) इंग्यते प्रतिनियतदेश एव चेष्ट्यतेऽस्मामनशनक्रियायामिति इंगिनी श्रुतविहितः क्रिया विशेषस्तद्विशिष्टमनशनमिंगिनी तया मरणमिङ्गिनी मरणम् । सम० १७ स० । तदुपलक्षितं वा मरणमिङ्गिनीमरणम् ॥ ध० ३ अधि० । उत्त० ५ अ० । प्रव० । पण्डितमरणविशेषे, । तद्धि चतुर्विधाराहारस्य प्रत्याख्यातुर्निष्पत्तिकर्मशरीरस्येङ्गितदेशाभ्यंतरवर्तिन एवेति । सम० १७ स० । तल्लक्षणं चेदम् ॥ ''इंगियदेसंमि सयं, चउव्वि-हाहारचायनिष्फन्नं । उव्वत्तणाइजुत्तं, नन्नेण उ इंगिणीमरणं'' ॥२१॥ स्या० २ ठा० ॥ अत्र नियमाच्चतुर्विधाहारविरतिः परपरि-कर्मविवर्जनं च भवति । स्वयं पुनरिंगितदेशाऽभ्यंतरे उद्वर्त्तना-दिचेष्टात्मकं परिकर्म यथासमाधि विदधाति । प्रव० द्वा० । दश० । संथा० ॥

धर्मसंग्रहेऽपि ''इंगिनीमरणं चेष्टा, वताभाहरवर्जनात् ॥'' आहारवर्जनात्सर्वाहारपरित्यागात् चतुर्विधाहारपरित्यागेनेत्यर्थः । इंगिनीमरणमुक्तलक्षणं चेष्टावतां परिमितचेष्टासहितानां सर्वाहारत्याग-द्भवति । अयं भावः । अस्य प्रतिपत्त्या तेनैव क्रमेणायुषः परिहाणिमवबुध्य तादृशसंहननाभावात्पादपोपगमन-कर्तृमशक्तः स्तोककालजीवितानुसारेण संलेखनां कृत्वा प्रव्रज्याकालादारभ्य च विकटनां दत्वा चतुर्विधाहारं नियमा-त्प्रत्याख्याति । तथाविधे एव च स्थाण्डिले एकाकी छायात उष्णं उष्णतश्च छायां संक्रामन्निर्तीगितदेशे सचेष्टः सम्य-ग्ध्यानपरायणः प्राणान् जहाति । अयं च परकृतपरिकर्मरहितः स्वयं तत् करोति । ध० ३ अधि० ।

अथ भक्तपरिज्ञातोऽस्याः को विशेष इत्याह–

आयप्परपडिकम्मं, भत्तपरिन्ना य अणुण्णाता ।
परवज्जिया य इंगिणि, चउव्विहाहारविरई या ॥

भक्तपरिज्ञायां द्वे अपरिज्ञाते तद्यथा आत्मना स्वयं परिकर्म्म परेण च इंगिनी पुनः परवर्जिता परस्तत्र परिकर्म न कार्यते । तथा भक्तपरिज्ञायां चतुर्विधस्य त्रिविधस्याहारस्य विरतिर्भवति इंगिन्यां तु नियमाच्चतु-र्विधाहारविरतिः ।

परपरिकर्मविवर्जनमेव भावयति–

ठाणं निसीय तुवट्टण, इत्तरियाइं जहा समाहीए ।
सयमेव य सो कुत्ति, उवसग्गपरीसहा य अहियासे ॥
संघयणधितीजुत्तो, नवदसपुच्छा सुएण अंगा वा ।
इंगिणियातोवगमं, नीहारी वा अनीहारी ॥

स्थानं उर्ध्वस्थानं निषीदनमुपवेशनं च त्वग्वर्तनं शयनं एतानि इत्वरकाणि स यथासमाधि स्वयमेव करोति न तु परतः कारय-ति । तथा दिव्यादीन् उपसर्गान् क्षुधादिपरिसहांश्च सम्यगध्यास्ते सहते । तथाहि चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानात्तस्य पानकमपि भव-ति । नाप्यपवादतश्चरमाहारदानमिति । तथा संहननेन त्रयाणामाद्यानाम-न्यतमेन धृत्या च युक्तस्थान श्रुतेन सूत्रतो यस्य पूर्वाणि नवदश वा केवलानि अंगानि । स इङ्गिनीमरणं प्रतिपद्यते । व्य० द्वि० १० उ० ।

निशीथचूर्णौ तु–

जाव अव्वो णिच्छित्ति ताव णेयव्वं पंचधाउ लेउणं इंगिणीम-रणं । परणओ इंगिणीए आयं वेयावचं परो न कहेइणियमा चउविहाहारविरई जइ वहिं पडिवज्जइ तो अणीहारिमं अह गच्छे तो णीहारिमं पढमविइयसंघयणी पडिवज्जइ जेण अहीयं णवमपुव्वस्स तइयं आयारवत्थुं एक्कारसंगी वा पडिवज्जइ धितियवज्जकुड्डसामाणं सव्वाणि उवसग्गाणि अहियासेइ । नि० चू० ११ उ० ।

इंगिनीमरणमाह –

पव्वज्जादी काउं, नेयव्वं जाव होइवोच्छित्ती ।
पंच तुलेऊण तवो, इंगिणिमरणं परिणओ उ ॥

प्रव्रज्यादिकं प्रव्रज्या शिष्या ग्रहणं व्रतारोहः अर्थग्रहणमनियतं वा संगच्छस्य परिपूर्णस्य निवृत्तिं गच्छनिवृत्तिकरणेन च तीर्थस्या-व्यवच्छेदः कृतः तत आह । तावद् ज्ञातव्यं यावद्भवति व्यवच्छित्तिः तत्पर्यतं कृत्वा पंचतपः तत्र सत्वैकत्वबललक्षणानि तोलयित्वा स इंगिनीमरणं परिणतः प्रतिपन्नो भवति । व्य० १० उ० ॥

(अस्य सविचाराविचारत्वसपरिकर्माऽपरिकर्मत्वनिर्हारित्वा-निर्हारित्वानि मरणशब्दे।)

(अस्य पण्डितमरणेषु मध्यमत्वं पण्डियमरण शब्दे)।

इंगिनी मरणं विशिष्टतरधृति संहननवतामेव भवतीति पण्डियमरणशब्दे।

इंगिनीमरण ञ्चाणक्यः प्रतिपन्नस्तद्यथा॥

पाडलिपुत्तंमि पुरे, चाणक्को नाम विस्सुओ आसी।
सव्वारंभनिवत्तो, इंगिनीमरणं अह निवत्तो॥

पाटलीपुत्रे पुरे चाणक्यनामा मन्त्री विश्रुतः ख्यात आसीत् सर्वारम्भनिवृत्तः त्यक्तसर्वराज्यव्यापारः इंगिणीमरणं इंगित-भूप्रदेशाद्बहिर्निर्गमरूपं मरणमथ निवृत्तः सुप्तः आस्त ततः गोवाटके इंगिनीमरणं प्रतिपद्य तस्मिन्करीषे सुप्तः इंगिनीमरणेन व्यवस्थितः। इदम्।

इंगियदेसंमि सयं चउव्विहाहारवाय निप्पन्नं।
अप्पडिकम्मे नियमा अन्नेण य इंगिणीमरणं॥

इह यच्चाणक्यस्य इंगिनीमरणं भणितं न पुनरिंगनीमरणमेव यतः श्रावकाणां पादपोपगमेंगिनीमरणनिषेधः। यदाह।

"सव्वावि य अज्झाउ, सव्वे वि य पढमसंघयणवज्जा। सव्वे वि देसविरया, पच्चक्खाणओ मरंति" इति। संथा०।

इंगिनीमरणविधानम् यथा।

इंगिणिमरणविहाणं, आएवज्जं तु विअडणं दाओ
संलेहणं च काओ, जहासमाही जहाकालं॥

इंगितमरणविधानमेतदाप्रव्रज्यमेव प्रव्रज्याकालादारभ्य विकटनां कृत्वा संलेखनां च कृत्वा यथासमाधि द्रव्यतो भाव तश्च यथा कालमिति गाथार्थः।

पच्चक्खइ आहारं, चउव्विहं णियमओ गुरुसमीवे।
इंगिअदेसंमि तहा, चिट्ठं पि हु इंगिअं कणइ॥

प्रत्याख्यात्याहारमशनादिचतुर्विधं नियमात्तान् त्रिविधं गुरु समीपे इंगितदेशे तथा परिमिते चेष्टामपींगितं करोतीति गाथार्थः।

उव्वत्तइ परिअत्तइ, काइअमाईसु होइ विमासाउ।
किंचंपि अप्प णचि, अज्जं जइ नियमेण धिइबले उ॥

उद्वर्तते परावर्तते कायिकादिषु भवति विभाषा प्रकृतिमा त्मसात्करोति वा न वा कृत्यमप्यात्मनैव युक्ते। उपाधि-प्रत्युपेक्षणादिनियमेन धृतिबली स भगवानिति गाथार्थः। पं० व० २ द्वा०।

(इङ्गितमरणवक्तव्यता मरणशब्दे वक्ष्यते)

इंगियागारसंपण्ण–पुं०(इंगिताकारसंप्रज्ञ) इंगितं निपुणमतिगम्य प्रवृत्तिनिवृत्तिसूचक मिषद् भ्रूशिरःकंपादि आकारः स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थानादिभावाभिव्यंजको दिगवलोकनादिः अनयोर्द्वन्द्वे इंगिताकारौ सम्यक् प्रकर्षेण जानातीति इङ्गिता कारसंप्रज्ञः। इङ्गिताकारयोः प्रकर्षेण ज्ञातरि,। उत्त० १ अ०।

इंगिताकारसंपन्न–पुं० (इंगिताकाराभ्यां) संपन्नो युक्तः इंगिता-कारसंपन्नः। इंगिताकारभ्यां युक्ते, उत्त० १ अ०।

इंगियागारसपण्णो, से वीणीए त्ति वुच्चइ" इंगिताकारौता-वदर्थात् गुरुगतौ सम्यक् प्रकर्षेणजानाति इंगिताकारसंप्रज्ञः। यद्वा इंगिताकाराभ्यां गुरुभावपरिज्ञानमेव कारणे कार्योपचारा-दिंगिताकारशब्देनोक्तं तेन संपन्नो युक्तः स इत्युक्तविशेषणान्वितो विनीतो विनयान्वित इति सूत्रपरामर्शनोच्यते। तीर्थकृद्गणधरादिभिरिति गम्यते। उत्त० १ अ०।

इंगुई–स्त्री०(इंगुदी) वनस्पतिविशेषे, तत्फलेन तैलविधानं भवतीति। आचा० अ० उ०॥

इंत–त्रि०(यत्) आगच्छति, (इंतस्स पच्चुगच्छणया) आगच्छतो गौरस्याऽभिमुखं गमनमिति भ०। श० १४ उ० ३॥

इंद–पुं०(इन्द्र) इन्दतीतीन्द्रः। अनु०। इदि परमैश्वर्य्ये इति धात्वनुसारादिन्दनादिन्द्र आत्मा। संर्वद्रव्योपलब्धिसर्वोपभोग-रूपपरमैश्वर्य्ययोगात्। आत्मनि, (जीवे) नं० १ द्वा०। आ० म०। स्था०।

इन्दो जीवो सव्वोवलद्धिभोगपरमेसरत्तएओ।

इदिपरमैश्वर्य्ये इन्दनात्परमैश्वर्य्ययोगादि जीवः। परमैश्वर्यमस्य कुत इत्याह (सव्वो) इत्यादि आवरणाभावे सर्व स्यापि वस्तुन उपलंभान्नानाभावेषु सर्वस्यापि त्रिजगद्वतस्य वस्तुनः परिभोगाच्च परमेश्वरो जीव इति तस्य परमैश्वर्य्यम्। विशे०।

इन्दनादिन्द्रः परमैश्वर्य्ययुक्त इत्यर्थः एवं भूतेन चार्थेन युक्तमिदं नाम। परमार्थतस्त्रिदशाधिपे एव वर्तते तस्य तात्विक-परमैश्वर्य्ययुक्तत्वात्। आ० म० प्र०। अनु०॥ इन्द्रः शक्रः पुरन्द-रः। सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। अष्ट०। राज०। सहस्राक्षः। प्रति०। इति पर्यायाः। परमैश्वर्ययोगादिन्द्रः प्रभौ, (परमेश्वरे,) स्था० ठा० ४। महति, च। स्था० ४ ठा०। ऐश्वर्य्यान्विते त्रि० नृपमात्रे, उपमितसमासे उत्तरपदस्थः श्रेष्ठत्वद्योतकमनुजेन्द्रः वारणेन्द्र इत्यादि। वाच०।

इन्द्रशब्दस्य निक्षेपः स्थानाङ्गे दर्शितो यथा०

तओ इन्दा पण्णत्ता तंजहा नामिन्दे ठवणिंदे दविंदे॥

(तओ इन्देत्यादि) व्याख्या सा च सुकरैव न वरं।

नामेन्द्रः।

इन्दनादैश्वर्य्यादिन्द्रः नाम संज्ञा तदेव यथार्थ-मिन्द्रेत्यक्षरात्मकमिन्द्रो नामेन्द्रः। अथवा सचेतनस्याचेतनस्य वा यस्येन्द्र इत्ययथार्थं नाम क्रियते स नामनामवतोर-भेदोपचारात् नाम चासाविन्द्रश्चेति नामेन्द्रः। अथवा नाम्नैवेन्द्र इति इन्द्रार्थ शून्यत्वान्नामेन्द्र इति।

नामलक्षणं पुनरिदम्।

"यद्वस्तुनोऽभिधानं, स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षं॥
पर्यायानभिधेयं, च नाम यादृच्छिकं च तथा" ॥१॥ इति

अथमर्थः यद्वस्त्वित्यादिना यथार्थमिन्द्रइत्याद्युक्तं स्थित-मिथ्यादिना त्वयथार्थं गोपालादाविन्द्रेत्यादि यादृच्छिकमनर्थकं डित्यादीति। अथवा यदिन्दनाद्यर्थनिरपेक्षं गोपालादि वस्तुन इन्द्र इत्यादिकमभिधानम-यथार्थतया शक्रादावन्यत्रार्थे स्थितं तन्नामेति। इन्द्रादिवस्तुनोवाऽ-भिधानमिन्दनाद्यर्थनिरपेक्षं सद्गोपालादावन्यत्रार्थे स्थितं तन्नामेति। स्था० ३ ठा०।

अत्ताभिप्पायकया, सत्ता चेयणमचेयणे वावि।
ठवणादीनिरविक्खा, केवलसत्ताउ नामिंदो॥

चेतनेऽचेतने वा द्रव्ये या आत्माभिप्रायेण स्वेच्छया इन्द्र-प्रभृतिसंज्ञा कृता साऽपि स्थापनादिसापेक्षा स्यादत आह। स्थापनादीनां स्थापनाद्रव्यभावादीनां निरपेक्षा। किमुक्तं

भवति । यत्र स्थापनादीनामेकमपि नास्ति किन्तु केवला एका संज्ञा तदर्थनिरपेक्षा स नामेन्द्रः । उक्तं नामेन्द्रलक्षणम् । वृ० १ उ० ॥

स्थापनेन्द्रमाह ॥

तथा इन्द्राद्यभिप्रायेण स्थाप्यत इति स्थापना लेष्यादिकर्म्म सैवेन्द्रः स्थापनेन्द्रः । इन्द्रप्रतिमा साकारस्थापनेन्द्रः अक्षा-दिन्यासस्त्वितर इति । स्थापनालक्षणमिदम् । यत्तु तदर्थवियुक्तं, तदभिप्रायेण यच्च तत्करणम् । लेष्यादिकर्म्म तत्स्थापनेति क्रियतेऽल्पकालञ्चेति ॥१॥ तथा ''लेपगहत्थी हत्थित्ति एस, सब्भाविआ भवे ठवणा। होइ असब्भावो पुण, हत्थित्ति निरागिई अक्खोत्ति'' ॥२॥ स्था० ३ ठा० ।

अधुना स्थापनेन्द्रलक्षणमाह–

सब्भावमसब्भावे, ठवणा पुण इंदकेउ माईया ।
इत्तरमणित्तरा वा, ठवणा नामं तु आवकहं ॥

स्थापना स्थापनेन्द्रः पुनस्सद्भावेऽसद्भावे च इन्द्रकेत्वादि का इन्द्रकेतुप्रभृतिको द्रष्टव्यः । अत्रादिशब्दादिन्द्रप्रतिमा क्षवराटका-दिपरिग्रहः । इयमत्र भावना । या इन्द्र इति स्थापना अक्षव-राटकादिष्वसद्भावेन या चेन्द्रकेत्विन्द्रप्रति मादिषु सद्भावतः स स्थापनेन्द्रः । इह नामस्थापनयोः कः प्रति विशेष उच्यते (इतर इत्यादि) स्थापना इत्वरा च भवति यावद्द्रव्यभाविनी अथावद्द्रव्यभाविनी चेत्यर्थः । नाम पुन र्नियमात् यावत्कथिकं यावद्द्रव्य भावी एष प्रतिविशेषः । वृ० १ उ० ॥

संप्रति नामेन्द्रस्थापनेन्द्रयोः प्रकारान्तरेण
प्रतिविशेष–मभिधित्सुराह ।

जह ठवणिंदो वुच्चइ, अणुग्गहत्थी हि तह न नामिन्दो ।
एसे व दव्वभावे, पूथाथुतिलद्धिनाणत्तं ॥१॥

यथा स्थापनेन्द्रः अनुग्रह एवार्थोऽनुग्रहार्थः स येषामस्ति अनुग्रहार्थिनस्तैर्वाग्भिः स्तूयते पुष्पादिभिरुर्च्यते च न तथा नामे-न्द्रो माणवकस्ततो महान् नामेन्द्रस्थापनेन्द्रयोः प्रतिविशेषः । एवमेव अनेनैव प्रकारेण द्रव्येन्द्रे भावेन्द्रे च पूजास्तुति-लब्धिभिर्नानात्वमवसातव्यम् तद्यथा । द्रव्येन्द्रोऽपि नामेन्द्र इवानुग्रहार्थिभिः न स्तूयते नापि पूज्यते यस्तु भावेन्द्रः स स्थापनेन्द्र इव स्तूयते पूज्यते च ततो द्रव्येन्द्रभावेन्द्रयोरपि महान् प्रतिविशेषः । अन्यच्च द्रव्येन्द्र इन्द्रलब्धिहीनो यस्तु भावेन्द्रः स तल्लब्धिसंपन्नस्तथाहि स सामानिकत्राय-स्त्रिंशकादिपरिवृतो विशिष्टद्युतिमान् स्फीतं राज्यमनुभवति उपयोगचिन्तायामपि भावेन्द्र उपयोगलब्धिमान् द्रव्येन्द्र उपयोगलब्ध्या परित्यक्त इति वृ० १ उ० ॥

द्रव्येन्द्रमाह–

तथा द्रवति गच्छति तांस्तानपर्य्यायान्दूयते वा तैस्तैः पर्य्यायैर्द्रोर्वा सत्ताया अवयवो विकारो वा वर्णादिगुणानां द्रावस्समूह इति द्रव्यम् । तच्च भूतभावं भाविभावं चेति आह च ''दवए दूयते दोरव, यवो विगारो गुणाणसंदावो ॥

दव्वं भव्वं भावस्स भूयभावं च जं जोग्गंति ॥ तथा ''भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके। तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं गदितम्'' ॥१॥ तथा अनुपयोगो द्रव्यमप्रधानश्चेति तत्र द्रव्यं चासाविन्द्रश्चेति द्रव्येन्द्रः ॥ स्था० ३ ठा० ॥

स च द्विधा । आगमतो नो आगमतश्च । तत्रागमतः खल्वागमम-धिकृत्य ज्ञानापेक्षयेत्यर्थः । ना आगमतस्तु तद्विपर्य्ययमाश्रित्य तत्रागमत इन्द्रशब्दोऽध्येताऽनुपयुक्तो द्रव्येन्द्रोऽनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात् । अयमेवार्थो मङ्गलमाश्रित्य भाष्ये उक्तस्तथाहि ''आगमओणुवउत्तो, मंगलसद्दाणुवासिओवत्ता । तन्नाणलद्धि-जुत्तो, विणोव उत्तोत्ति नो दव्वंति'' तथा नो आगमतस्त्रिविधो द्रव्येन्द्रस्तद्यथा ज्ञशरीरद्रव्येन्द्रो भव्यशरीरद्रव्येन्द्रो ज्ञशरीरभव्य-शरीरव्यतिरिक्तो द्रव्येन्द्रश्चेति ॥ तत्र ज्ञस्य शरीरं ज्ञशरीरं ज्ञशरीर-मेव द्रव्येन्द्रः ज्ञशरीरद्रव्येन्द्रः एतदुक्तं भवति । इन्द्रपदार्थज्ञस्य यच्छरीरमात्मरहितं तदतीतकालानुभूतद्रव्या-वानुवृत्त्या सिद्ध-शिलातलादिगतमपि घृतघटादिन्यायेन नो आगमतो द्रव्येन्द्र इति । इन्द्रज्ञानशून्यत्वाच्च तस्येह सर्वनिषेध एव नोशब्दार्थः । तथा भव्यो योग्य इन्द्रशब्दार्थं ज्ञास्यति यो न तावद्विजानाति सभव्यः इति तस्य शरीरम्भव्यशरीरं तदेव भव्येन्द्रोभव्यशरीर-द्रव्येन्द्रः अथमत्र भावार्थो भाविनीं वृत्तिमङ्गीकृत्येन्द्रोपयोगा-धारत्वान्मधुघटादिन्यायेन-नैवतद्बालादिशरीरं भव्यशरीरद्रव्येन्द्र इति नो शब्दः पूर्ववत् । उ क्तञ्च मङ्गलमधिकृत्य ''मंगलपथ-त्थजाणय, देहोभव्वस्स वा स जीवो वि। नो आगमओ दव्वं, आगमरहिओत्ति जं भणियं ति'' ज्ञशरीरभव्यशरीर-व्यतिरिक्त द्रव्येन्द्रो भावेन्द्रकार्येष्वव्यापृत आगमतोऽनुपयुक्तद्रव्येन्द्रवत् । तथा यच्छरीरमात्मद्रव्यं वातीतभावेन्द्रपरिणामन्तच्चोभयातिरिक्त-द्रव्येन्द्रो ज्ञशरीरद्रव्येन्द्रवत् । तथा यो भावेन्द्रपर्य्यायशरीरयोग्यः पुद्गलराशिर्यच्च भावीन्द्रपर्यायमात्मद्रव्यं तदप्युभयातिरिक्तो द्रव्येन्द्रः भव्यशरीरद्रव्येन्द्रवत् । सचावस्थाभेदेन त्रिविधस्तद्यथा एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति । तत्रैकस्मिन् भवे तस्मिन्नेवातिक्रान्ते भावी एकभविको योऽनन्तर एव भावेन्द्रतयो-त्पत्स्यते इति स चोत्कर्षतस्त्रीणिपल्योपमानि भवन्ति देवकुर्वादि-मिथुनकस्य भवनपत्यादीन्द्रतयोत्पत्ति संभवादिति । तथा स एवेन्द्रायुर्बन्धानन्तरं बद्धमायुरनेनेति बद्धायुरुच्यते । स चोत्कर्षतः पूर्वकोटित्रिभागं यावदस्मा त्परतःआयुष्कबन्धाभावात् । तथा अ भिमुखे सम्मुखे जघन्योत्कर्षाभ्यां समयांतर्मुहूर्तानन्तर भावितया नामगोत्रे इन्द्रसम्बन्धिनी यस्य स तथा । तथा भावैश्वर्ययुक्ततीर्थकरादिभावेन्द्रापेक्षयाऽप्रधानत्वाच्छक्रादिरपि द्रव्येन्द्र एव द्रव्यशब्दस्याप्रधानार्थेऽपि प्रवृत्तेः ॥ स्था० ठा० ३ ॥

॥ द्रव्येन्द्रलक्षणमाह ॥

दव्वं पुण तल्लद्धी, जस्सातीता भविस्सते वा वि ।
जीवो वि अणुवउत्तो, इंदस्स गुणो परिकहेइ ॥

द्रव्यं द्रव्यविषयः पुनरिन्द्रोयस्स तल्लब्धिरिन्द्रलब्धिरतीता भविष्यति स च प्रतिपत्तव्यः । किमुक्तं भवति । यस्सर्व्वमिन्द्रत्वं प्राप्तो यश्च प्राप्स्यति स यथाक्रमं भूतभावत्वाद्भाविभावत्वाच्च द्रव्येन्द्रः । उक्तं च । ''भूतस्य भाविनो वा, भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः, सचेतनाचेतनं कथितम्'' यो वापि इन्द्रस्य गुणान् परस्मै परिकथयति परमनुपयुक्तः सोऽपि द्रव्येन्द्रः अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात् वृ० १ उ० ॥ उक्तोद्रव्येन्द्रः ॥

भावेन्द्रमाह ।

भावेन्द्रस्त्विह त्रिस्थानकानुरोधान्नोक्तस्तल्लक्षणं चेदम्भाव-मिन्दनक्रि यानुभवनलक्षणपरिणाममाश्रित्येन्द्रः इन्दनपरिणा-मेन भवतीति वा स चासाविन्द्रश्चेति भावेन्द्रो यदाह ''भावो विवक्षितक्रिया–नुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः । सर्वज्ञैरिन्द्रादिव–दिहैं दनादिक्रि यानुभवात् ॥१॥ सच द्विधा आगमतो नो आगमतश्च तत्रगमत इन्द्रज्ञानोपयुक्तो जीवोभावेन्द्रः कथ-

मिहेन्द्रोपयोगमात्रात्तन्मयतावगम्यते। नह्यग्निज्ञानोपयुक्तो माणवकोऽग्निरेव दहनपचनप्रकाशनाद्यर्थक्रियाप्रसाधकत्वा भावादिति चेन्नाभिप्रायापरिज्ञानात्। संविद्ज्ञानमवगमो भाव इत्यनर्थान्तरं। तत्रार्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनाधेया इति सर्ववा-दिनामविसंवादस्थानं यथा कोऽयंघटः किमयमाह घटशब्दं किमस्य ज्ञानं घट इति अग्निरिति च यजज्ञानं तद्व्यतिरिक्तो ज्ञाता तल्लक्षणो गृह्यते। अन्यथा तज्ज्ञानेसत्यपि नोपलभ्येता-ऽतन्मयत्वात् प्रदीपहस्तान्धवत् पुरुषान्तरवद्वा। न वानाकारं तत्पदार्थान्तरवद्विवक्षितं पदार्थापरिच्छेदप्रसंगात् बन्धाद्यभावश्च ज्ञानाऽज्ञानसुखदुःखपरिणामान्यत्वादाकाशवन्नचानलः सर्वएव दहनाद्यर्थक्रियाप्रसाधको भस्मच्छन्नाग्निना व्यभिचारादिति कृतं प्रसंगेन। नो आगमतो भावेन्द्र इन्द्रनामगोत्रे कर्मणी वेदयन् परमैश्वर्य्यभाजनं सर्वनिषेधवचनत्वान्नोशब्दस्य यतस्तत्र नेन्द्रपदार्थज्ञानमिन्द्रव्यपदेशनिबन्धनतया विवक्षितमिन्दन-क्रियाया एव च विवक्षितत्वात्। अथवा तथाविधज्ञान-क्रियारूपो यः परिणामः स नागम एव केवलो न चानागम इत्यतो मिश्रवचनत्वान्नोशब्दस्य नो आगमत इत्याख्यायत इति। ननु नामस्थापनाद्रव्येष्विन्द्राभिधानं विवक्षितभावशून्यत्वात् द्रव्यत्वं च समानं वर्तते अतश्च क एषां विशेषः आहच "अभिहाणं दव्वत्तं, तदत्थसुत्तत्तणं च तुल्लाइं। को भाववज्जियाणं नामाईणं पइविसेसोत्ति" ॥१॥ अत्रोच्यते यथा हि स्थापनेन्द्रः खलु इन्द्राकारो लक्ष्यते तथा कर्तुः सद् भूतेन्द्राभिप्रायो भवति तथा द्रष्टुस्तदाकारदर्शना दिन्द्रप्रत्ययस्तथा प्रणतिकृतधियश्च फलार्थिनः स्तोतुं प्रवर्तन्ते, फलं च प्राप्नुवन्ति। केचिद्देवता-नुग्रहान्न तथा नामद्रव्येन्द्रयोरिति तस्मात्स्थापनायास्तावदित्थं भेद इति। आह च "आगारभिप्पाओ, बुद्धिक्कीया फलं च पाएण। जह दीसइ ठवणिन्दे, न तहा नामिन्द दव्विन्दे त्ति,,। यथा च द्रव्येन्द्रोभावेन्द्रकारणतां प्रतिपद्यते तथोपयोगापेक्षायामपि तदुपयोगतामादयत्यवाप्तवांश्च न तथा नामस्थापनेन्द्रावित्ययं विशेष इति। आह च "भावस्स कारणं जह, दव्वं भावो य तस्स पज्जाओ। उवओगपरिणमइओ, न तहा नामं न वा ठवणंति" ॥ स्था० ३ ठा० ॥

अत्र पर आह ॥

न हि जो घडं वियाणइ, सो उ घडी भवइ नो य वा अग्गी ॥
नाणत्तिय भावोत्ति य, एगट्ठमतो अदोसोत्ति ॥१॥

न हि यो घटं विजानाति स घटी भवति यस्य वा-ग्निविज्ञानं सोऽग्निः प्रत्यक्षे विरोधात् ततो यदुक्त 'मिन्दस्स वाहिगारं विजाणमाणो तदुवउत्तो इति, तन्मिथ्या। अत्र सूरिराह। ज्ञान मिति भाव इति वा च शब्दादध्यवसाय इति उपयोग इति वा एकार्थमतोऽदोषः। इयमत्र भावना। अर्थाभिधानप्रत्यया-स्तुल्यनामधेयास्तथाहि घटोऽपि बाह्यो घट इत्युच्यते घटशब्दो-ऽपि घट इति घटज्ञानमपि घट इति। ज्ञानं च ज्ञानिनोऽपृथक् घटज्ञान्यपि घट इत्युच्यते अग्निज्ञान्यपि अग्निरित्यदोषः॥

एतदेव भावयति --

जमिदं नाणं इन्दो, तव्वतिरिच्चति ततोय तन्नाणी ॥
तम्हा खलु तब्भावं, वयंति जो जत्थ उवउत्तो ॥१॥

यदिदमिन्द्र इति ज्ञानं तस्मात्तज्ज्ञानी इन्द्रज्ञानी व्यतिरिच्यते तस्माद्यो यत्रेन्द्रादावुपयुक्तः तस्य तद्भावमिन्द्रादिभावंतत्त्व-विदस्सूरयो वदन्ति। ज्ञानज्ञानिनोरभेद एव कथं सिद्ध इति चेदुच्यते विपक्षेऽनेकदोषप्रसंगात्॥

तमेवाह--

चेयणस्स उ जीवा, जीवस्स उ चेयणा उ अन्नत्ति।
दवियं अलक्खणं खलु, हविज्ज न य बन्धमोक्खाउ ॥

चैतन्यस्य जीवा जीवस्य चेतनाया अन्यत्वे द्रव्यं जीवद्रव्य मलक्षणं चेतनालक्षणो जीव इति लक्षणरहितं भवेत्। चेतनाया घटादिवज्जीवादप्येकान्तव्यतिरिक्तत्वाल्लक्षणाभावे च लक्ष्यस्याऽन्प्यभाव इति खरशृंगवदत्यन्तमसन् जीवोऽप्यत्यन्तमसन् स न बध्यते बन्धस्य वस्तुधर्मत्वान्नापि मुच्यते बन्धाभावादिति बन्धमोक्षावपि न स्यातामथ मन्येथा अचेतनोऽपि संबध्यते मुच्यते चेति तदप्ययुक्तमचेतनानामप्येवंधर्मास्तिकायादीनां बन्धमोक्षप्रसक्ते स्तस्मात्साधूक्तमिन्द्रशब्दार्थं जानन् तदुपयुक्तोभावेन्द्र इति। वृ० १ उ० ॥ उक्ता नामस्थापिनाद्रव्येन्द्राः।

इदानीं भावेन्द्रं त्रिस्थानकावतारेणाह --

तओ इंदा पण्णत्ता तंजहा णाणिन्दे दंसणिंदे चरित्तेन्दे।

(तओइंदेत्यादि) कंठ्यं नवरं ज्ञानेन ज्ञानस्य ज्ञाने वा इन्द्रः परमेश्वरो ज्ञानेन्द्रोऽतिशयवत् श्रुता द्यन्यतरज्ञानवशविवेचित-वस्तुविशरः केवली वा एवं दर्शनेन्द्रः क्षायिकसम्यग्दर्शनी चारित्रेन्द्रो यथाख्यातचारित्रः एतेषां च भावेन सकलभावप्रधान-क्षायिकलक्षणेन विवक्षितक्षायोपशमिकलक्षणेन वा भावतः परमार्थतो वेन्द्रत्वात् सकलसंसार्यप्राप्तपूर्वगुणलक्ष्मीलक्षण-परमैश्वर्य्ययुक्तत्वात् भावेन्द्रतावसेयेति।

भावेन्द्रलक्षणमाह --

जो पुण जहत्थ जुत्तो, सुद्धणयाणं तु एस भाविन्दो।
इन्दस्स व अहिगारं, वियाणमाणो तदुवउत्तो ॥१॥

यः पुनर्यथार्थेन यथावस्थितेन अर्थेन परमैश्वर्य्यलक्षणेन इदि परमैश्वर्य्य इति वचनात् साक्षादिन्द्रना गोत्राणि कर्माणि वेदयमान इत्यर्थः स भावेन्द्रः। एष शुद्धनयानां शब्दादीनां यथावस्थिता-र्थग्राहकाणां वर्तमानविषयिकाणां संमतो न शेषोनामेन्द्रादिः। अथवा इन्द्रस्य इन्द्रशब्दस्याधिकारमर्थं जानन् तदुपयुक्तस्त-स्मिन्निन्द्रशब्दार्थ उपयुक्तो भावेन्द्रः उपयोगो भावनिक्षेप इति वचनात्॥ उक्तमाध्यात्मिकैश्वर्य्यापेक्षया भावेन्द्रत्रैविध्यम्।

अथवा ह्यैश्वर्य्यापेक्षया तदेवाह --

तओ इन्दा पण्णत्ता तं जहा--देविंदे असुरिंदे मणुस्सिंदे।

तओ इंदेत्यादि भावितार्थंनवरं देवा वैमानिका ज्योतिष्क-वैमानिका वा रूढेः। असुरा भवनपतिविशेषा भवनपतिव्यंन्तरा वा सुरपर्युदासात् मनुजेन्द्रश्चक्रवर्त्यादिरिति॥ स्था० ३ ठा०।

तेचेन्द्रा स्थानाङ्गे चतुःषष्टिर्दर्शितास्तत्र देवेन्द्रा यथा।

दो असुरकुमारिंदा पन्नत्तातंजहा चमरे चेव बली चेव। दो नागकुमारिंदा पन्नत्ता तंजहा धरणे चेव भूयाणंदे चेव। दो सुवण्णकुमारिंदा पन्नत्ता तंजहा वेणुदेवे चेव वेणुदाली चेव। दो विज्जुकुमारिंदा पं० तं० हरिचेव हरिस्सहे चेव। दो अग्गिकुमारिंदा पं० तं० अग्गिसिहे चेव अग्गिमाणवे चेव। दो दीवकुमारिंदा पं० तं० पुन्ने चेव वसि-

ड्डे चेव। दो उदधिकुमारिंदा पं० तं० जलकंते चेव जलप्पभे चेव। दो दिसाकुमारिंदा पं० तं० अमियगई चेव अमियवाहणे चेव। दो वाउकुमारिंदा पं० तं० वेलंबे चेव पभंजणे चेव। दो थणियकुमारिंदा पं० तं० घोसे चेव महाघोसे चेव।

(दोअसुरेत्यादि) अच्चुएचेवेत्येतदन्तं सूत्रं सुगमम्। नवरं असुरादीनां दशानां भवनपतिनिकायानां मेर्वपेक्षया दक्षिणोत्तरदिग्द्वयाश्रितत्वेन द्विविधत्वाद्विंशतिरिन्द्रास्तत्र चमरो दाक्षिणात्यो बली त्वौदीच्य इत्येवं सर्वत्र स्था० ॥ २ ठा० ॥

एतेषां सङ्ग्रहो यथा ॥

''चमरे १ धरणे २ तह वेणुदेव ३ हरिकंत ४ अग्गिसीहे य ५। पुण्णे ६ जलकंते वि य, ७ अमिय ८ विलंबे य ९ घोसेय'' ॥१०॥ एते दक्षिणनिकायेन्द्र इतरे तु ''बलि १ भूयाणंदे २ वेणुदालि ३ हरिस्सहे ४ अग्गिमाणव ५ वसिट्ठे ६ जलप्पभे ७ अमियवाहणे ८ पहंजणे ९ महाघोसे'' ॥ भ० टी० । ३ श० १ उ० ।

व्यंतरेन्द्रा यथा।

दो पिसायइंदा पं० तं० काले चेव महाकाले चेव। दो भूयइंदा पं० तं० सूरूवे चेव पडिरूवे चेव। दो जक्खिंदा पं० तं० पुण्णभद्दे चेव माणिभद्दे चेव। दो रक्खसिंदा पं० तं० भीमे चेव महाभीमे चेव। दो किन्नरिंदा पं० तं० किन्नरे चेव किंपुरिसे चेव। दो किंपुरिसिंदा पं० तं० सप्पुरिसे चेव महापुरिसे चेव। दो महोरगिंदा पं० तं० अइकाये चेव महाकाये चेव। दो गंधव्विंदा पं० तं०। गीयरई चेव गीयजसे चेव। स्था० ॥

एवं व्यंतराणामष्टनिकायानां द्विगुणत्वात् षोडशेन्द्राः। स्था०। २ ठा० ॥ एतेषु च प्रतिनिकायं दक्षिणोत्तरभेदेन द्वौ द्वाविन्द्रौ स्याताम्।

अणपन्निकायादीनां व्यंतरविशेष वाणव्यन्तरनिकायाना मिन्द्र यथा।

दो अणपन्निंदा पं० तं० संनिहिए चेव समाणेचेव। दोपणपन्निंदा पं० तं० धाए चेव विधाये चेव। दो इसिवा इंदा पं० तं० इसिच्चवे इसिवाले चेव। दो भूयवाय इंदा पं० तं० ईसरे चेव महेसरे चेव। दो कंदिंदा पं० तं० सुवत्थे चेव विसाले चेव दो महाकंदिदा पं० तं० हासे चेव हासरई चेव। दो कुंभइंदा पं० तं० सेए चेव महासेए चेव॥ दो पयगिंदा पं० तं० पए चेव पयगवई चेव॥

अणपन्निकायादीनामप्यष्टानामेवव्यंतरविशेषनिकायानांद्वि-गुणत्वात् षोडशेति। स्था० २ ठा० ॥

ज्योतिष्कदेवानामिन्द्रा यथा ॥

जोइसियाणं देवाणं दो इंदा पं० तं० चंदे चेव सूरे चेव॥

ज्योतिष्काणां त्वसंख्यातचन्द्र सूर्य्यत्वे ऽपि जातिमात्रा-श्रयणाद्वावेव चन्द्रसूर्य्याख्याविन्द्रावुक्तौ ॥ स्था० २ ठा० ॥

सौधर्मादिकल्पेन्द्रा यथा ॥

सोहम्मीसाणेसु णं कप्पेसु दो इंदा पं० तं० सक्के चेव ईसाणे चेव एवं सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु दो इंदा पं० तं० सणंकुमारे चेव माहिंदे चेव। बंभलो य लंतगे दो इंदा पं० तं० बंभे चेव लंतए चेव महासुक्क सहस्सारेसु णं कप्पेसु दो इंदा पं० तं० महासुक्के चेव सहस्सारे चेव आणय-पाणया-रण-चुतेसु णं कप्पेसु दो इंदा पं० तं० पाणए चेव अच्चुए चेव॥

सौधर्मादिकल्पानान्तु दशेन्द्राः स्था० २ ठा० ॥ अंतिम देवलोक चतुष्टय इन्द्रद्वय सद्भावादिति भ० ३ श० ६ उ० ॥ इत्येवं सर्वेऽपिचतुः षष्ठिरिति 'देवेन्द्रस्तव' प्रकीर्णकेच सर्वे इन्द्रा गाथया प्रदर्शिता स्तद्यथा॥

बत्तीसा देविंदा, जस्स गुणेहिं उवहम्मिया छायं।
नो तस्स वि यच्छेयं, पायच्छायं नु वेहामो ॥६॥

बत्तीसं देविंदत्ति, भणियमित्तं निसापि यं भणइ।
अंतरमासं ताहे, को होमा को वहल्लेणं ॥७॥

कयरे ते बत्तीसं, देविंदा को व कत्थ परिवसइ।
केवइया कस्स ठिई, को भवणपरिग्गहो तस्स ॥८॥

केवइया च विमाणा, भवणा नगरा च हुंति केवइया।
पुढवीण य बाहुल्लं, उच्चत्तविमाणवन्नो वा ॥९॥

कारंति व कालेण, उक्कोसं मज्झिमजहन्नं।
उस्सासो निस्सासो, ओही विसओ व को केसिं ॥१०॥

विणय उवयार उवहंमि, या इहा स व समुव्वहंतीए।
पडिपुच्छि उ पियाए, भणसु अणु तं निसामेह ॥११॥

सुअणाणसागराओ, सुविणं उ पडिपुच्छणाइं यं लद्धं।
पुण वागरणावलिअं, नामा वलियाइ इंदाणं ॥१२॥

सुणु वागरणावलिअं, रयणं वयणं सियं च वीरेहिं।
तारावलिव्व धवलं, हियएण पसन्नचित्तेणं ॥१३॥

रयणप्पभाइं कुड निकुड, वासीसु तणु तेउलेसागा।
वीसं विकसियणयणा, भवणवई मे निसामेह ॥१४॥

दो भवणवई इंदा, चमरे वइरोअण असुराणं।
दो नाग कुमारिंदा, भूयाणंदे य धरणे य ॥१५॥

दो सुयणु सुवणिंदा, वेणुदेवेय वेणुदालिंदा।
दो दीवकुमारिंदा, पुन्ने य तहा वसिट्ठे य ॥१६॥

दो उदहिकुमारिंदा, जलकंते जलप्पभे य नामेणं।
अमियगइ अमियवाहण, दिसाकुमाराण दो इंदा ॥१७॥

दो वा उ कुमारिंदा, वेलबं पभंजणा य नामेणं।
दो थणिय कुमारिंदा, घोसे य तहा महाघोसे ॥१८॥

दो विज्जुकुमारिंदा, हरिकंत हरिस्सहे य नामेणं।
अग्गिसिह अग्गिमाणव, हूयासणवइ वि दो इंदा ॥१९॥

एए विकसियनयणे दस, दिसीविय सिय जसा मए कहिया।

सुण वाणमंतराणं भवणवई आणुपुव्वीए ॥६७॥
पिसाय भूअ जक्खा य, रक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा।
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमंतरा ॥६८॥
एए द्विउ समासेणं, कडिया भे वाणमंतरा देवा।
पत्तेयं पियवुच्छं सोलस इंदे महिड्ढिए ॥६९॥
काले य महाकाले, सूरूव पडिरूव पुन्न भद्देय।
अमरवई माणभद्दे, भीमे य तहा महाभीमे ॥७०॥
किन्नर किंपुरिसे खलु, सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे।
अईकाय महाकाए, गीयरई चेव गीयजसे ॥७१॥
सन्निहि ए सामाणे, धाए विधाये इसीए इसिवाए।
इस्सर महिस्सरेया हवइ सुवत्थे विसालेय ॥७२॥
हासे हासरई वि अ सेए अ तहा भवे महासेए।
पयए पययवई, वि य नेयव्वा आणुपुव्विए ॥७३॥
अप्पड्ढिया उ तारा, नरकत्ता खलु तओ महड्ढिए।
नक्खते हिं तु गहा गहेहिं सूरा तउ चंदा ॥९६॥
कप्पवई विय वुच्छं, बारस इंदे महिड्ढिए ॥६४॥
पढमो सोहम्मवई, ईसाणवइए सवण्णिओ बीओ।
तत्तो सणंकुमारो, हवइ चउत्थोउ माहिंदो ॥६५॥
पंचमए बहिंदो, छट्ठो पुण लंत उड्ढदेविंदो।
सत्तम ओ महसुक्को, अट्ठमउ भवे सहस्सारो ॥६६॥
नवमो अ आणतिंदो, दसमो पुणपाणतें ददे विंदो।
आरण इक्कारसमो, बारसमो अच्चुए इंदो ॥६७॥
एए बारस इंदा, कप्पवई कप्पसामिया भणिया।
आणाईसरियं, वा तेण परं नत्थि देवाणं ॥६८॥ दे० पं०।

इन्द्राणां भवनस्थित्यादिवक्तव्यता तत्तच्छब्दे ॥
अनीकानि तदधिपतश्चाऽनीक शब्दे ॥
अग्रमहिष्यो ऽग्गमहिसी शब्दे ॥
उत्पातपर्वता उप्पायपव्वय शब्दे कल्पेन्द्रा कप्प शब्देऽपि ॥
परिषदः परिच्छद–शब्दे विमानानि विमाण शब्दे ॥
लोकपाला लोकपाल शब्दे ॥
सामानिकाः सामाणिय शब्दे ॥

इंद्राणामेकाऽवतारित्वान्नैकावतारित्वादि–प्रश्नोत्तरमुखेन प्रतिपादितं यथा। सम्प्रति ये इन्द्राः संति ते सर्व्वेऽप्येकावतारिणो नवेति प्रश्नः। संप्रति ये इन्द्राः संति तेषां मध्ये केचनैकावतारिणो न सर्वे इत्युत्तरमिति। हीर०। इन्द्रायतने, च

इंदस्स वा जावकोदृकिरियाए वा उवलेवण संमज्जणआवरिस्सणधूवपुप्फगंधमल्लादिआइं दव्वावस्सयाइं करेंति ॥

अत्रोपचारादिन्द्रादिशब्देन तदायतनमप्युच्यत इति–अनु० टी० इन्द्र देवताके ज्येष्ठा नक्षत्रे, अधिष्ठातरि अधिष्ठेयस्योपचारात्। जं ७ व०। स्था० २ ठा०। अनु०। जेट्ठा इंददेवयाए। इति ज्यो०। विष्कुम्भादिषु योगेषु षड्विंशे योगे, वाच०॥

कृष्णस्य शुक्लस्य च पक्षस्य पञ्चदशदिवसेषु स्वनामख्याते सप्तमे दिवसे, कल्प०। सूर०। जीर्णपुरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिदारके, (तत्कथा सामाइय शब्दे) अष्टव्याकरणान्तर्गते व्याकरण विशेषे, आव० २ अ०॥ कुटजवृक्षे रात्रौ, च धरणिः। भारतवर्षीय द्वीपभेदे, शब्द मा०। छंदो ग्रथं प्रसिद्धे, षण्मात्रा प्रस्तावे, आद्यन्तगुरुद्वयेन लघुद्वयमध्येन युते चतुर्थे भेदे, इन्द्रवारुण्याम् स्त्री० टाप्॥ वाच०॥

***ऐन्द्र**–त्रि० इन्द्रस्येदम् इन्द्रसम्बन्धिनि, (ऐन्द्र धामहीदिस्मृत्वा) ऐन्द्र मिति। इदिपरमैश्वर्य्ये इति धात्वनुसारादिन्द्रा आत्मा तस्य सम्बन्धि ऐन्द्रं धामेति। नयो०।

इंदकंत–न०(इन्द्रकान्त) विमानविशेषे सम० १६ स०॥

इंदका(गा)इय–पुं०(इन्द्रकायिक) त्रीन्द्रियसंसारसमापन्न-जीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद०। जी०। (बोधव्वा इंदगाईका) उत्त० ३६ अ०। कायिका इत्यपिकुत्रचिल्लोकप्रसिद्धा स्त्रीन्द्रियाः। उत्त० टी०॥

इंदकील–पुं०(इन्द्रकील) गोपुरावयवविशेषे। औप०। (गोमेज्झमयाइंदकीला) संपाटितकपाटद्वयाधारभूतः प्रवेशमध्यभाग इति। राज०। गोपुरकपाटयुगसंनिवेशस्थानमिति भ० ३ श० २ उ०। जं०। इन्द्रस्य कील इव अत्युच्चत्वात् मन्दरपर्व्वते इन्द्रस्य कील इव इन्द्रध्वजे। न०। वाच०॥

इंदकुंजर–पु०(इन्द्रकुञ्जर) ६ त०। ऐरावते, तस्याऽमृतमन्थन काले इन्द्रेण गृहीतत्वात् तथात्वम् यथाह "श्वेतैर्दन्तैश्चतुर्भिस्तु, महाकायस्ततः परम्। ऐरावतो महानागोऽभवद्वज्रभृताधृतः॥ भा० आ०। इन्द्रगजशक्रगजादयोऽप्यत्र०। वाच०॥

इंदकुंभ–पु० (इन्द्रकुम्भ) कुम्भानामिन्द्रः इन्द्रकुम्भो राजदन्ता दिदर्शनादिन्द्रशब्दस्य पूर्वनिपातः। महाकलशे, राज०। महिंदकुंभसवाणा) कुम्भाना मिन्द्र इन्द्रकुभो महाँश्चासाविन्द्रकुंभश्च तस्य समाना महेन्द्रकुंभसमाना महाकलशप्रमाणा इति जं० १ प्र०। जी० राज०। वीतशोकाया राजधान्या उत्तर पूर्व दिग्भागस्थिते उद्याने, (तीसेण वीयसोगाए रायहाणीए उत्तर पुरच्छिमं दिसीभाए इंदकुभणामं उज्जाणे इति, ज्ञा० ६ अ०। नेमिजिनस्य प्रथम शिष्ये, च। सम० २४ स०।

इंदकुमारिया–स्त्री०(इन्द्रकुमारिका) स्वनाम ख्यातायां योषि ति। आ० म० १ अ०।

इंदकेउ–पु०(इन्द्रकेतु) इन्द्रयष्ट्याम, प्रश्न० ४ द्वा० (सोइंदकेउं पासेत्ति लोकेण महिज्जंतं) इति आ० चू०॥

इंदगोवग–पुं०(इन्द्रगोपक) इन्द्रं गोपायतीति। नि० चू०। गोपोरक्षकोऽस्य वर्षाभवत्वात्तस्य। वाच०। प्रथमप्रावृट्कालभाविति। राज०। आ–म–प्र०। प्रज्ञा०। ज्ञा०। आचा०। जी०। (इंदगोवगसमप्पभेसु॥) इन्द्रगोपको वर्षासु कीटकविशेषस्तेन च समाप्रभा येषां ते तथा तेषु रक्तेष्वित्यर्थः। ज्ञा०। अयश्च विकलेन्द्रियजीवविशेष इति–अनु०। स च संसारसमापन्नत्रीन्द्रियजीवविशेष इति–प्रज्ञा० पद० १। जी०। (इंदगोवमाइया णेगहा एवमाइओ) इन्द्रगोपालिकाःइन्द्रगोपको (ममोला) इति प्रसिद्ध एवमादिकास्त्रीन्द्रिया अनेकधा जीवा इति, उत्त० ३ अ०। चउरिंदिय इंदगोवादि। नि० चू० १ अ०।

इंदग्गह–पुं० (इन्द्रग्रह) ग्रहविशेषे,। जी० ३ प्र०।

इंदग्गि–पुं०(इन्द्राग्नि) द्वि० व० इन्द्रश्चाग्निश्च देवताद्वन्द्व०। शक्राग्न्योर्मिलितयोर्देवतयोः। वाच०। विशाखानक्षत्राधिष्ठातरि

देवे, अनु० । ''दो इंदग्गी'' अष्टाशीतिमहाग्रहान्तर्गते सप्तत्रिंशत्तमे महाग्रहे च। स्था० २ ठा० । विसाहा इंदग्गिदेवयाए इति। ज्यो०। तदधिष्ठातृके विशाखानक्षत्रे च । अधिष्ठातर्य्यधिष्ठे यस्योपचारादिति। जं० ७ वक्ष० । कल्प० ।

इंदचंदण–न०(इन्द्रचन्दन) इन्द्रप्रियं चंदनम् शा० त० हरिचन्दने, वाच०।

इंदचिब्भिडी–स्त्री०(इन्द्रचिर्भिटी) इन्द्रस्यात्मनः प्रिया चिर्भिटी शा० त० लताभेदे, सा च इन्द्रतुल्यवर्णकुसुमा पुष्पान्वितमञ्जरीका दीर्घवृन्ता युग्मफलान्विता कट्वी शीतवीर्य्या पित्त श्लेष्मकासव्रणदोषकृमिनाशिनी चक्षुष्या च। राजनिघं० । वाच० ।

इंदजव–न०–पु०(इन्द्रयव) इन्द्रस्य कुटजवृक्षस्य यवा-कृतिबीजत्वात् यव इव बीजम् । कुटजवृक्षस्य यवाकारे तिक्तरसे स्वनामख्याते बीजे, ''ऐन्द्रो यवस्त्रिदोषघ्नः, संग्राही कटुशीतलः । ज्वरातिसाररक्तार्शः–क्रमिवीसर्पकुष्ठनुत्॥ दीपनो गुदकी लास्रवातास्रश्लेष्मशूलजित्। भाव० प्र० । वाच० ।

इंदजसा–स्त्री०(इन्द्रयशस्) पांश्चालदेशस्थकांपिल्यनगरस्य ब्रह्मनामकराज्ञो भार्यायाम्, तस्य च चतस्रो भार्याः। ''इंदवसु १ इंदजसा २ इंदसिरी ३ चुल्लणीदेवी ४ य''। उत्त० १३ अ०॥

इंदजाल–न०(इन्द्रजाल) द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाविशेषे, कल्प० । इन्द्रेण कौशल्याद्यैश्वर्येण जालं द्रष्टुर्नेत्रावरणं यथास्थितवस्तुदर्शनाक्षमत्वासाधनात् । इन्द्रस्य परमेश्वरस्य जालं मायेव वा मन्त्रौषधादिना अन्यथास्थितस्य वस्तुनोऽन्यथात्वेन दर्शनसाधने (कुहक) (वाजी) १ पदार्थे, २ मायारूपे जाले च । इन्द्रेण इन्द्रकृतेन योगविशेषेण जालं क्षुद्रोपायभेदे च। इन्द्रजालं च द्रव्यविशेषसंयोगेन अद्भुतवस्तुदर्शकव्यापारः (क्यामेष्टरि) इति आंगलभाषाप्रसिद्धः । मन्त्रद्रव्य विशेषेण वस्तुनोऽन्यथाकरणञ्च। वाच०।

इंदजालि(न्)–त्रि०(इन्द्रजालिन्) वेषरचनादिस्वपरहा सोत्पादके विस्मापके, स्था० ४ ठा०॥

इंदजालिय–त्रि०(इन्द्रजालिक) इन्द्रजालं शिल्पतयास्त्यस्य ठन् । इन्द्रजालकारके, । इन्द्रजालिकीत्यप्यत्र स्त्रियां ङीप् वाच० । आ० म० । विशे०।

इंदज्झय–पु०(इन्द्रध्वज) इन्द्रत्वसूचको वा ध्वज इन्द्रध्वज इति । अतिमहति ध्वजे, । प्रव० ४० द्वा०॥

''आगासगओ कुडिभी सहस्स परिमंडियाभिरामो इंदज्झओ पुरओ गच्छइ'' ॥

(आगासग ओत्ति) आकाशगतोऽत्यर्थं तुङ्ग इत्यर्थः (कुडि-भित्ति) लघुपताकः संभाव्यते । तत्सहस्रैः परिमण्डितश्चासावभिरामश्चातिरमणीय इति विग्रहः । (इंदज्झओत्ति) शेषध्वजापेक्षयाऽतिमहत्वात् इन्द्रश्चासौ ध्वजश्च इन्द्रध्वज इति। (पुरओत्ति) जिनस्याग्रतो गच्छतीति दशमोऽतिशयः। सम० ३४ स०॥

इंदज्झया–स्त्री०(इन्द्रध्वजा) इन्द्रसम्बन्धिन्यां तत्संतोषाय स्थापितायां ध्वजायाम्, वाच० । तदुत्पत्तिरावश्यकचूर्णौ भरतकथामधिकृत्योक्ता यथा–

ताहे सो सक्कं भणति तुज्झेहिं केरिसेण रूवेण तत्थ अत्थ हति ताहे सक्को भणति ण सक्का तं माणुसेणं दट्ठुं । ताहे सो भणति । तस्स आकितिं पेच्छामि । ताहे सक्को भणति जेण तुमं उत्तमपुरिसो तेण ते अहं दामि एग पदेसं ताहे एगं अंगुलिं सव्वालंकारविभूसितं काऊण दाएति सो तं दट्ठूणं अतीव हरिसं गतो । ताहे तस्स अट्ठाहियं महिमं करेति ताए अंगुलीए आकितिं काऊण पच्छा स इंदज्झया एवं वरिसे वरिसे इंदमहो पव्वत्तो । पढम उस्सवो भरहो भणति तुमं सि देविंदो अहं मणुस्सिंदो मित्तामो एवं होउत्ति । आ० चू० २० अ०॥

इंदट्ठाण–न०(इन्द्रस्थान) भवननगरविमानरूपे चमरादि-सम्बन्ध्याश्रये, स्था० ६ ठा०॥ तत्रेन्द्रोपपातविरहितकालो यथा–

इंदट्ठाणे णं भंते ! केवतियं कालं विरहिते उववाते णं पण्णते ? गो० ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं छम्मासा

(इंदट्ठाणेणमित्यादि) इन्द्रस्थानं भदन्त ! कियन्तं कालमुपपातेन विरहितं प्रज्ञप्तम्। भगवानाह गौतम ! जघन्येनैकं समयं यावत् उत्कर्षतः षण्मासान्। जी० ३ प्र०॥ भ०॥

स्थानाङ्गेऽपि।

एगमेगे णं इंदट्ठाणे उक्कोसेणं छम्मासे विरहिए उववाएणं

(एगेत्यादि) एकैकमिन्द्रस्थानं चमरादिसम्बन्ध्याश्रयो भवननगरविमानरूपस्तदुत्कर्षेण षण्मासान् यावद्विरहितमुपपाते नेन्द्रापेक्षयेति। स्था० ६ ठा०॥ इन्द्रोपपातविरहिते इन्द्रस्थाने किं भवतीति जीवाभिगमे प्रतिपादितम्। तद्यथा–

तेसिं णं भंते ! जया देवाणं इंदे चयति से कहमिदाणीं पकरेंति ? गो० ! चत्तारि पंच सामाणिया तट्ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति जाव तत्थ अण्णे इंदे उववण्णे भवति॥

पुनः प्रश्नयति (तेसिणं भंते इत्यादि) तेषां भदन्त ! ज्योतिष्कदेवानां यदा इन्द्रश्च्यवते तदा ते देवा इदानीं इन्द्रविरह काले कथं प्रकुर्वंति। भगवानाह। गौतम ! यावच्चत्वारः पंच वा सामानिका देवाः समुदितीभूय तत्स्थानमुपसंपद्य विहरंति तदिन्द्रस्थानं परिपालयन्तीति चेदतआह यावदन्यस्तत्र इन्द्र उपपन्नो भवति। जी० ३ प्र०॥

एवं बाह्यज्योतिष्कदेवेन्द्रस्थानेऽपि तथाच सूर्यप्रज्ञप्तौ।

ता तेसिणं देवाणं जाव इंदे चयति से कथमिदाणिं पकरेंति ता चत्तारि पंच सामाणियदेवा तट्ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति जाविंदा तत्थोववण्णगा इत्थं इंदे उववण्णे भवति ता इंदट्ठाणे केवतियं कालं विरहिते उववाते पण्णत्ते ता जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं छम्मासे ॥

(ता तेसिणत्ति) ता इतिपूर्ववत् तेषां ज्योतिष्काणां देवानां यदा इन्द्रश्च्यवते तदा ते देवा इदानीं इन्द्रविरहकाले कथं प्रकुर्वन्ति भगवानाह ता इत्यादि पूर्ववत् चत्वारि पंच वा सामानिका देवाः समुदितीभूय तच्छुन्यमिन्द्रमुपसम्पद्य विहरंति तदिन्द्रस्थानं परिपालयन्तीति चेदत आह। यावदिन्द्रः तत्रेन्द्र उपपन्नो भवति (ता इंदट्ठाणेणेत्ति) ता इति पूर्ववत् इन्द्रस्थानं कियत्कालमुपपातेन विरहितं प्रज्ञप्तं ? भगवानाह (ता इत्यादि) जघन्येन एकं समयं यावत् उत्कर्षेण षण्मासान्॥ सूर्य० १६ पा०॥ इन्द्राणां प्रत्येकंस्थानानि तत्तद्देवस्थाननिरूप

णावसरे (ठाण) शब्दे। इन्द्रयष्टिस्थापनाय कृते स्थाने च॥

जेणेव इन्दट्ठाणे तेणेव उवागए।

(इंदट्ठाणेत्ति) यत्रेन्द्रयष्टिरूर्ध्वी क्रियत इति। अन्त०।

इंदणक्खत्त–न०(इन्द्रनक्षत्र) इन्द्रस्वामिकं नक्षत्रम्। ज्येष्ठानक्षत्रे, तस्य तत्स्वामिकत्वात्तथात्वम्। इन्द्रनामकं नक्षत्रम्। फाल्गुनीनक्षत्रे च। वाच०।

इंदणाग–पुं०(इन्द्रनाग) वसंतपुरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिकुमारे, तेन च बालतपसा सामायिकं लब्धमिति (सामाइय) शब्दे। आ० म० द्वि०॥

इंदणील–पु०(इन्द्रनील) इन्द्र इव नीलः श्यामः। वाच०। खरबादरपृथिवीकायात्मके नीलरत्नविशेषरूपे मणिविशेषे, उत्त० सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। राज०। जी०। प्रज्ञा०। कल्प०। औप०। (नीलम) इति ख्याते मरकतमणौ, तल्लक्षणमुक्तं रत्नपरीक्षायाम्। ''क्षीरमध्ये क्षिपेन्नीलं क्षीरश्चेन्नीलतां व्रजेत्। इन्द्रनील इति ख्यातं सर्व्वरत्नोत्तमोत्तमम्'' वाच०।

इंदतोया–स्त्री०(इन्द्रतोया) इन्द्रमैश्वर्यान्वितं तोयमस्याः, इन्द्रेण पूरितं तोयमस्या वा। गन्धमादनसमीपस्थे नदीभेदे॥ इन्द्रतोयां समासाद्य गंधमादनसन्निधौ। भा० प० २४ वाच०॥

इंददत्त–पु०(इन्द्रदत्त) स्वनामख्यातेऽभिनंदनजिनस्य प्रथमभिक्षादातरि, सम० २४ स०। आ० म०। वासुपूज्यजिनस्य पूर्वभवके एतन्नामधेये च। सम० २४ स०॥ इन्द्रपुरनगरस्थे स्वनामख्याते नृपे, तत्कथा मानुष्यदुर्लभत्वे। तितिक्षायाम् शीले च सम्भवति आ० म०। आ० क०। आ० चू०। उत्त०। पं० व०। आव०। व्य०। विपा०। नि० चू०। इन्द्रपुरं नगरं इंददत्तो राया। इति। आ० चू० २ अ०। इन्द्रपुरे इंददत्ते य। व्य० २ खं० ६ उ०।

इंद पुरइंददत्ते, वावीससुआ सुरिंददत्ते अ।
महुराए जिअसत्तू सयंवरो निव्वुई एव॥६०॥

अस्य व्याख्या॥ कथानकादवसेया! तच्चेदं। इदंपुरं नगरं इंददत्तो राया तस्स इट्ठाणं देवी से वावीसं पुत्ता अन्ने भणंति एगाए देवीए ते सव्वे रन्नो पाणसमा अन्ना एक्का धूया अमच्चस्स सा जं परिणय तेण दिट्ठा सा अन्नया कयाइ न्हाया स माणी अत्थइ ताहे रायाए दिट्ठा का एसा तेहिं भणियं तुज्झं देवी ताहे सो ताए समं एकं रत्तिपुत्तो वेला जं च रायाए उल्लवियं सत्तंकारो तेण तं पत्तए लिहियं सो य सारवेइ नवन्हं मासाणं दारओ जाओ तस्स दारचेडाणि तद्दिवस जायाणि तं अग्गियओ पव्वयओ वहुलिया सागरग ताणि सह जायाणि तेण कलायरियस्स उवणीओ तेण लेहाइयाओ बावत्तरिकलाओ गहियाउ जाहे ताओ गाहेइ आयरिओ ताहे ताणि कट्ठंति किं ठिय पुव्वपरिचएण ताणि रोडेंति सो वि ताणि न गणेइ गहियाओ कलाओ ते अन्ने गाहिज्जंति बावीसं पि कुमारा जस्स ते अप्पिज्जंति आयरियस्स तं पिट्ठंति मत्थएहिं य हणंति अह उवज्झाओ ते पिट्ठेइ अपढंते ताहे सहेंति माइमिस्सिगाणं ताहे ताओ भणंति। किं सुलभाणि पुत्तजम्माणि ताहे न सिक्खियाइ उय महुराय जितसत्तुराया तस्स सुया निव्वुइनाम कन्नगा सा अलंकियपन्नाउवणीया राया भणइ जो ते रोयइ सो ते भत्ता ताहे ताए नायं जो सूरो वीरो वक्कंतो सा पुण रज्जं देज्जा ताहे सा तं बलवाहणं गहाय गया इंदपुरं नगरं रायसपुत्ता बहवे अहवा दूओ पयट्ठिउ ताहे आवाहिया सव्वे रायाणो ताहे तेण रायाणएण सुयं जहासाए हट्ठतुट्ठा उसियपडागं नगरं कयं रंगो कओ तत्थ चक्कं तत्थ एगंमि अक्खे अट्ठं वक्काणि तेसिं पुरउ धूया ठविया सा पुण पुच्छिमि विंधेयव्वा राया सन्नद्धो निग्गतो सहपुत्तेहिं ता हे सा कन्ना सव्वालंकारभूसियाए मंडिया से अत्थए सो रंगो रायाणय ते पत्तेयदंडभटभोयणा जारिसो दोवती ए ए तत्थ रन्नो जेट्ठपुत्तो सिरिमालीनामकुमारो भणिओ एस दारिया रज्जं च भोत्तव्वं सो वि तुट्ठो अहं नूणं अन्नेहिंतो रातिहिं अब्भहिओ ताहे सो भणति विदेहित्ति ताहे सो अकयकरणो तस्स समूहस्स मज्झे तं धणु घेत्तुं चेव न वातेइ किहविणेण गहियं तेण जंतो वव्वइत्तो वच्चउत्ति कडं मुंडं तं भग्गं एवं कासइणा अरयंवो लीणं कासइ दो तिन्नि अन्नेसिं वाहिरेण चेवणिंति तेण वि अमच्चेण सो णत्तगो ण साविओ तद्दिवसमाणिओ तत्थ अत्थइ ताहे राया ओहयमणसंकप्पो करयलपल्लत्थमुहो अहो अयं लोयमज्झे पुत्तेहिं धरिसिओत्ति अत्थइ ताहे सो अमच्चो पुच्छइ किं तुज्झ देवाणुप्पिया ओहया जाव ज्झायइ ताहे सो भणइ एएहिं अप्पहाणो कओ ताहे भणइ अत्थि पुत्तो अन्नो वि तुद्यं कहिं कहिं सुरिंददत्तो नाम कुमारो तं सो वि ताव विन्नासेउ ताहे तं राया पुच्छइ कहं मम एरिसो पुत्तो ताहे ताणि सिट्ठाणि रहस्साणि ताहे राया तुट्ठो भणइ सेयं तवपुत्ता एते अट्ठवक्को भेत्तूण रज्जसोक्खं निवुत्तिदारियं पावित्तए ताहे सो कुमारो ठाणं आलीढं ठाउऊण गेण्हइ धनु लक्खाभिमुहं सरं संधेइ ताणि तस्स रूवाणि ते य कुमारा सव्व ओरोडावेंति अन्ने यदोन्नि पुरिसा असिव्वग्गहत्थो ताहे सो पणामं रन्नो उवज्झायस्स य करेइ सो वि से उवज्झाओ भयं दाएइ एए दोन्नि पुरिसा जइ फिडसि सीसं ते फिडइ तेसिं दोन्नवि पुरिसाणं तेण चत्तारि ते य वावीसं अगणेंतो ताणं अट्ठन्ह रहचक्काणं छिंदाणि जाणिऊण एगम्मि छिंदे नाऊण अप्फिडयाए दिट्ठिए तंमि लक्खत्तेण अन्नमियमणं आऊणमाणेण साधीतीया अच्छिमि विद्धा तत्थ उक्कट्ठसीहनादसाधुक्कारो दिन्नो एसा दवतितिक्खा एस चेव विभासाभावे वि उपसंहारो। जहा कुमारो तहा साहू, जहा ते चत्तारि तहा चत्तारि कसाया, जहा ते वा वीसं कुमारा तहा वावीसं परीसहा, जहा ते रूवे मणूसा तहा रागदोसा, जहा पुत्तलिगा विंधेयव्वा तहा आराहणा, जहा निव्वु त्तिदारिया तहा सिद्धितितिक्खत्ति गयं॥ आव० ४ अ०।

''आसीदिन्द्रपुरं नाम, नगरं गुरुकं गुणैः।
तत्राभवच्छ्रियामिन्द्र, इन्द्रदत्तो महीपतिः॥१॥
प्रीतिपात्रः कलत्राणां, तस्य द्वाविंशतिः सुताः॥
बभूवुर्भूमिपालस्य, प्राणेभ्योऽप्यतिवल्लभाः॥२॥
अन्या भार्या भवत्तस्य, भूपस्यामात्यपुत्रिका॥
सा च तेन परं दृष्टा, पाणिग्राहं प्रकुर्वता॥३॥
अथान्यदा कदाचित्सा, ऋतौ स्नाता विलोकिताः॥
राज्ञा पृष्टाश्च पार्श्वस्था, यथैषा कस्य का च भोः॥४॥
ते ऊचुर्देव देवी ते, ततो राजा तया सह॥
रात्रिमेकामुवासाथ, तस्या गर्भोऽभवत्तदा॥५॥
सा च पूर्वममात्येन, भणिताऽऽसीद्यदा तव॥
गर्भो भूतो भवेद्भद्रे, तदा त्वं मे निवेदयेः॥६॥
ततः सा गर्भसंभूतिं, राजसंवासवासरं॥
मुहूर्तं राजजल्पं च पितुः सर्वं न्यवेदयत्॥७॥
सत्यंकाराय तत्सर्वं, व्यलिखत्सोऽपि पत्रके॥
सम्यक् तां पालयामास, काले चाजनि दारकः॥८॥
तद्दिने दासरूपाणि, ययुश्चत्वारि तद्गृहे॥

अग्निकः पर्वतश्चाथ, बहुलीसागरस्तथा ॥९॥
सुरेन्द्रदत्त इत्येषा, राजसूनोः कृताभिधा ॥
कलासूरेरसौ पार्श्वे, कलाः काले गृहीतवान् ॥१०॥
गृह्णतश्च कलास्तस्य, चक्रिरे तानुपद्रवान् ॥
न चासौ भाविभद्रत्वान्नृपस्तत्तु व्यजीगणत् ॥११॥
ते च द्वाविंशतिः पुत्रा ग्राह्यमाणाः कलाः किल ॥
निघ्नन्तिस्म कलाचार्यं , गालीस्तस्य तथा ददुः ॥१२॥
सूरिणा ताडितास्ते तु, स्वमातृभ्यो न्यवेदयन् ॥
तं च ताः कुपिताः शापै—श्चक्रुरुद्वेगभाजनम् ॥१३॥
एवं ते ययुरज्ञाना, सूरिणा समुपेक्षिताः ॥
इतश्च मथुरानाथ, आसीत्पर्वतको नृपः ॥१४॥
तत्सुता निर्वृतिर्नाम, यौवनोद्भेद सुन्दरा ॥
वरार्थं तेन सावाचि, भर्त्तारं वृणु वाञ्छितम् ॥१५॥
सा पुनस्तमनुज्ञाप्या चलदिन्द्रपुरं प्रति ॥
राजपुत्र यतस्तत्र भूयांसः सन्तिसद्गुणाः ॥१६॥
ततः सेन्द्रपुरं प्राप—दाप्रलोकसमन्विता ॥
तुष्टेन चेन्द्रदत्तेन राज्ञाऽकारि पुरे महः ॥१७॥
निर्वृत्या भणितं राज्ञो, राधावेधं करिष्यति ॥
यः कुमारः स मे भर्ता भविष्यत्यपरो न तु ॥१८॥
तदाकर्ण्य नृपो रंगं कारयमास तत्र च ॥
एकत्राक्षेऽष्ट चक्राणि तत्पुरः पुत्रिका तथा ॥१९॥
सा च चक्षुषि वाणेन, भेत्तव्याधो विवर्तिना ॥
ततः सैन्ययुतो राजा, रंगे तस्थौ सपुत्रकः ॥२०॥
निर्वृतिश्चैकदेशेऽस्य, स्थितालङ्कृतविग्रहा ॥
यथास्वं च निविष्टेषु, सामंतनागरादिषु ॥२१॥
आदिष्टो ज्येष्ठपुत्रोऽथ, राज्ञा श्रीमालिनामकः ॥
भित्वा राधां गृहाणेमां, कन्यां राज्यं च पुत्रक ॥२२॥
ततः सोऽशिक्षितत्वेन, साध्वसोत्कंपिविग्रहः ॥
शशाक नैव तां भेत्तु—मेवं ते शेषका अपि ॥२३॥
ततो राजा स्वपुत्राणां, मूर्खतां वीक्ष्य तत्क्षणात् ।
शुशोच हस्तविन्यस्तगंडो भून्यस्तदृष्टिकः ॥२४॥
ततोऽमात्यस्तमापृच्छत्, देवः किं दैन्यवान् भवान् ॥
सोऽवोचत्दुःसुतैरेतैरहं भो धर्षितो जने ॥२५॥
ततोऽमात्योऽवदद्भूपं यथान्योपि च ते सुतः ॥
विद्यते सोऽपि देवेन राधावेधे नियुज्यतां ॥२६॥
राजाऽवोचत्कुतो मेऽन्यः, सुतोऽमात्योऽप्युवाच तम् ॥
मद्दौहित्रस्ततः पत्रं दर्शयामास तस्य तत् ॥२७॥
संजातप्रत्ययो राजा संतुष्टस्तं बभाण च ॥
आनयाऽमात्य तत्पुत्रं, तस्य तं सोऽप्यदर्शयत् ॥२८॥
आलिङ्ग्य मूर्ध्नि चाघ्राय, तं बभाषे सुतोत्तमम् ॥
कन्यां गृहाण राज्यञ्च भित्वा राधां त्वमद्भुतां ॥२९॥
यदादिशति तातस्तत्करोमीत्यभिधाय सः ॥
धनुर्वेदोपदेशेन राधां भेत्तुमुपस्थितः ॥३०॥
तान्यस्य चेटरूपाणि ते च द्वाविंशतिः सुताः ॥
उद्धृतासीनरौ द्वौ च नाना चक्रुरुपद्रवान् ॥३१॥
कलाचार्योऽप्यऽवोचत्तं न चेद्राधां विभेत्स्यति ॥
तदेतौ च शिरो वत्स छेत्सयेते दारुणौ नरौ ॥३२॥
ततोसाववगण्यैतान् लब्धलक्षोऽप्रमादवान् ॥
चक्राणामंतरं ज्ञात्वा राधां द्रागिति विद्धवान् ॥३३॥
ततश्चास्फालितं तूर्यं साधुकारः कृतो जनैः ॥
राजादिस्तोषितो लोक ऊढाकन्या च तेन सा ॥३४॥ पंचा० ।

श्रावस्तीवास्तव्ये कपिलपितुः काश्यपस्य मित्रे, कपिलस्योपाध्याये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, उत्त० ७ अ० । तथा च कपिलकथायाम् ''सावत्थीए णयरीए पिइमित्तो इन्ददत्तो नाम माहणो इति'' उत्त० । तत्कथा कपिलशब्दे। मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते पुरोहिते चे। तत्कथा यथा—मथुरायां इन्द्रदत्तः पुरोहितोऽस्ति स जिनशासनप्रत्यनीकः स्वगवाक्षस्थः सन् अधोनिर्गच्छतो जैनयतेर्मस्तकोपरि निजचरणं विततं करोति । एवं निरन्तरं कुर्वाणं तं दृष्ट्वा साधुर्न कोपि कुप्यति परमेकः श्रावकः कुपितः तत्पादच्छेदप्रतिज्ञामकरोत् अन्यानि तच्छिद्राणि अलभमानेन, तेन श्रावकेण तत्स्वरूपं गुरोः पुरः कथितम् । गुरुणोक्तं सह्यते सत्कारपुरस्कारपरीषहः साधुनेति । तेन स्वप्रतिज्ञा कथिता । गुरुभिरुक्तम् । अस्य गृहे किं जायमानमस्ति तेनोक्तं नवीनप्रासादे राजा निमन्त्र्यमाणोऽस्ति पुरोहितेन । गुरुभिरुक्तं तर्हि त्वं तत्प्रासादे प्रविशन्तं राजानं करे धृत्वा प्रासादोऽयं पतिष्यतीति कथय। अहं च प्रासादं विद्यया पातयिष्यामि । ततस्तेन तथाकृते । प्रासादः पतितो राज्ञोक्तं किमिदञ्जातं । श्रेष्ठिनोक्तं महाराज ! अनेन तव मारणाय कपटं मण्डितमभूत् ततो रुष्टेन राज्ञा स पुरोहितस्तस्य श्रेष्ठिनोऽर्पितः स च श्रेष्ठी इन्द्रकीलके तस्य पादं क्षिप्त्वा प्रतिज्ञापूरणार्थं च पिष्टमयं पादं कृत्वा च्छिन्नवान् उक्तवांश्च सर्वं तत्स्वरूपं पुरोहितेनोक्तमतः परं नैवेदृशं करिष्यामीति । जानुकंपेन श्रावकेण स मुक्तः । उत्त० २ अ० ॥

इत्थमिंददत्तो पुरोहिओ गवक्खट्ठिओ मिच्छदिट्ठी अहोवयं तस्स साहुस्स मत्थए उवरि पायं कुणंतो सेट्ठिणं गुरुभत्तिए पायहीणो कओ'' ती० ॥

इंददारु—पुं०(इन्द्रदारु) इन्द्रस्य तद्ध्वजस्य साधनं दारु देवदारु वृक्षे इन्द्रदुमादयोप्यत्र । वाच० ॥

इंददिण्ण—पुं०(इन्द्रदिन्न) कौटिकगच्छस्थे सुस्थितसुप्रसिबुद्धा परनामधेययोः कौटिककाकन्दकयोः शिष्ये स्वनामख्याते आचार्य्ये, ''सुट्ठियसुप्पडिबुद्धाणं कोडियकाकंदगाणं वग्घावच्च सगुत्ताणं अंन्तेवासी थेरे अज्जइंददिण्णे कोसियगुत्ते ॥ इति''— कल्प० । ''तदनु च सुहस्तिशिष्यौ, कौटिककाकंद कावजायेताम् । सुस्थितसुप्रतिबुद्धौ, कौटिकगच्छस्ततः सम भूत् ॥ तत्रेन्द्रदिन्नसूरि—र्भगवान् श्रीदिण्णसंज्ञ-सूरीन्द्रः ॥ इति गच्छा० ॥

अयं च खरतरगच्छपट्टावल्ल्यनुसारेण वीरजिनात्त्रयोदशः ॥ तपोगच्छपट्टावलीप्रमाणतो दशमः ।

इंदपव्वय—पुं०(इन्द्रपर्वत) इन्द्रनामकपर्वतः । महेन्द्रपर्वते, इन्द्रवर्णः पर्वतः । नीलवर्णे गिरिभेदे, वाच० ॥

इंदपाडिवया—स्त्री०(इन्द्रप्रतिपत्) अश्वयुक्पूर्णिमायां अनन्तरभावि-न्याम्महाप्रतिपदि तस्यां चास्वाध्याय इति— । स्था०४ ठा० ।

इंदपुर—न०(इन्द्रपुर) इन्द्रदत्तनृपस्य भारतवर्षस्ये स्वनामख्याते नगरे, आव० ४ अ० ६ ठा० ॥ आ० चू० । आ० म० । स्था० । इहेव जंबूदीवे भारहेवासे इंदपुरणामणयरे, ॥ इति विपा० १० अ० । व्य० । ''पुरमिन्द्रपुरं नाम साक्षादिन्द्रपुरं किल'' ॥ आ० क० । माणीपुरस्थे स्वनामख्याते नगरे च ॥ ''माणी पुरं णयरं णागदत्ते गाहावई इंदपुरे अणगारे पडिलाभिए जाव सिद्धे इति'' विपा० ७ अ० ॥

इंदपुरग–न०(इन्द्रपुरक) (वेसवाडिय) गणस्य चतुर्षु कुलेषु चतुर्थे कुले,। तह होइ इंदपुरगं च। कल्प०–

इंदपुरोहित–पुं०(इंद्रपुरोहित) ६ त०। सुराचार्य्यबृहस्पतौ–वाच०।

इंदभूइ–पु०(इन्द्रभूति) स्वनामख्याते महावीरस्य प्रथमगणधरे प्रथमगणनायके प्रथमशिष्ये, प्रव० ८ द्वा०। सम०। सूत्र०। ''समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई अणगारे गोयमसगोत्तेणं इति। कल्प०। अन्त०। विपा०। ''जिणवीरस्सेक्कारस पढमो से इंदभूइयत्ति णामेण इंदभूइत्ति गोयमो वंदिऊण विविहेण''। चं० प्र० १ पा०॥

तत्कथाच– ''इंदभूईणामो पंचखंडियसयपरिवारो सव्व प्पहाणो मगहा विसए सो य जन्नदीक्खितो मक्खितो य मज्झिमा य अच्छति इय अज्ञाणो देवुज्ञावं पासित्ता हरि सियमणो चिंतेऊणं भासति तेसिं पुरओ अहो मया मंतेहिं सुरा आहूया जे जन्ने समुवट्ठिया एवं वोत्तूणं खंडिगेहिसह निग्गतो उज्ञाणे अ पासमाणो उत्तरपुरच्छिमे दिसि भाए देवसन्निवायं पासति भासति किमेतंति। अन्नेहिं से कहितं जहा एस सिद्धत्थरायपुत्तो महावीरवद्धमाणो तवं काउं केवली जाओ किल सवण्णू सव्वभावदरिसी तं वयणं सो ओ भासति अमरसिओ को अन्नो ममाहिंतो अब्महितो जस्स देवा एति ताहे वच्चामो जण्णं पराजिणंमि किं सो जाणति एति ण पणिहाणेण पहावितो पंचखंडियसतपरिवारो वेदप दाणय अत्थो भगवता से कहिंतो एत्थ समंतो संबुद्धो य भणइ पंचखंडियसते एस सव्वण्णु अहं पव्वयामि तुब्भे जहि च्छितं करेहि ते भणंति जदि तुब्भे एरिसगा होंता पव्वयह तो अहं का अन्ना गमित्ति एवं सो पंचसयपरिवारो पव्वत्ति तो। आ० चू० १ अ०॥

ते हि देवाः स्वं यज्ञवाटं परिहृत्य समवसरणभुवि निपति तवन्तः तांश्च तथा दृष्ट्वा लोकोऽपि तत्रैव जगाम भगवन्तं त्रिद शलोकेने पूज्यमानं दृष्ट्वा अतीव हर्षं चक्रे प्रवादश्च सञ्जातः। सर्वज्ञो ऽत्र समवसृतस्तं देवाः पूजयन्तीति। अत्रान्तरे खल्वाक र्णितसर्वज्ञप्रवादो ऽमर्षाध्नातइन्द्र भूतिर्भगवन्तं प्रतिप्रस्थितः

''सोउण कीरमाणिं, महिमं देवेहिं जिणवरिंदस्स॥
अद्द अहं माणीय, अमरिसिओ इंदभूइत्ति'' ॥१॥

श्रुत्वा जनपरंपरात् आकर्ण्य पाठान्तरतो दृष्ट्वा वा महिमां पूजां देवैः क्रियमाणां जिनवीरेन्द्रस्य भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः अथास्मिन् प्रस्तावे एति आगच्छति भगवत्समीपं अहमेव विद्वानिति मानोऽस्येति अहं मानी अमर्षो मत्सरविशेषः स संजातोस्य सोऽमर्षितः मयि सति कोऽन्यः सर्वज्ञ इत्यपनयाम्यद्य सर्वज्ञवादमित्यादिसंकल्पकलुषितान्तरात्मा कोऽसावित्याह। इंद्रभूतिरितिनाम्ना प्रथितः स च भगवत्समीपं प्राप्य भगवन्तञ्च चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितं देवासुरनरेश्वरपरिवृतं दृष्ट्वा माशङ्कत्तदग्रतस्तस्थौ॥

एतदेव सविस्तरं भाष्यकार आह–

मोत्तूण ममं लोगा, किं वच्चइ तस्स पायमूलंमि।
अन्नो वि जाणइ मए, ठियंमि कत्तो च्चियं एयं॥

मां सकलशास्त्रपारगं मुक्त्वा किमेष लोकस्तस्य पादमूलं व्रजति नचासौ मदपेक्षया किमपि जानाति तथाहि मयि प्रतिवादिनि स्थिते अन्योऽपि किमपि जानातीति कौतस्त्यमे-तत्। नैवतै त् संभवतीति भावः॥

पुनरप्याह–

वच्चेज्ज च मुक्खजणो, देवा उ कहमणेण विम्हयं नीया।
वंदंति संथुणंति य, जेण सव्वण्णुबुद्धीए॥

वृजेद्वा तत्पादमूलं मूर्खजनो मूर्खतया युक्तायुक्तविवेक विकल-त्वात् देवास्तु कथमनेन विस्मयं नीता येन विस्मय नयनेन सर्वज्ञबुद्ध्या तं वन्दन्ते संस्तुवन्ति च।

अहवा जारिसतोच्चिय, सो नाणी तारिसा सुरा ते वि।
अणुसरिसो संजोगो, गामनडाणं च मुक्खाणं॥

अथवा यादृश एव स ज्ञानी तेऽपि सुरास्तादृशा एव मूर्खा इत्य-र्थः। ततोऽनुसदृशोऽनुरूपः संयोगस्तस्य ज्ञानिनः एतेषां च देवानाम्। कयोरिवेत्याह– ग्रामनटयोरिव मूर्खयोर्यथा ग्रामे मूर्खो नटोऽपि तथाविधविद्याविकलत्वात् मूर्ख इति परस्परं तयोः संयोगोऽनुरूप-मेवमेषोऽपीति॥

काउं हयप्पयावं, पुरतो देवाण दाणवाणं च।
नासे हं नीसेसं, खणेण सव्वन्नुवायं से॥

देवानां च दानवानां च पुरतोऽग्रे तथाविधप्रश्नजालैर्हतप्रताप कृत्वा क्षणमात्रेण (से) तस्य सर्वज्ञवादं निःशेषमहं नाशयामि॥

इय वोत्तूणं पत्तो, दट्ठूणतिलोक्कपरिवुडं वीरं।
चोत्तिसातिसएहिं, स संकितो वड्ढितो पुरतो॥

इति पुर्वोक्तमुक्त्वा प्राप्तो भगवत्समीपं दृष्ट्वा च भगवन्तं वीरं त्रैलोक्यपरिवृतं चतुस्त्रिंशदतिशयनिधिं स शङ्कितः पुरतोऽवस्थितः॥

अत्रान्तरे–

आभट्ठो य जिणेणं, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गुत्तेण य, सव्वन्न सव्वदरिसीणं॥

आभाषितः संलपितो जिनेन भगवता महावीरेण जातिः प्रसूतिर्जरावयोहानिलक्षणा मरणञ्च दशविधप्राणविप्रयोग रूपमेभिर्विप्रमुक्तस्तेन कथमाभाषित इत्याह नाम्ना हेइन्द्रभूते! न इत्येवंरूपेण तथा गोत्रेण च यथा हेगौतमगोत्र! किं विशिष्टेन जिनेनेत्याह। सर्वज्ञेन सर्व्वदर्शिना, आह–यो जरामरणविप्रमुक्तः स सर्वज्ञ एवेति गतार्थमिदं विशेषणमितिचेन्न नयवाद-परिकल्पितजात्यादिविप्रमुक्तनिरासार्थत्वात्। तथाहि– कैश्चित् गुणविप्रमुक्तमोक्षवादिभिरचेतना मुक्त इष्यते ततस्तन्निरासार्थमूचे। सर्व्वज्ञेन सर्व्वदर्शिनेति इत्थं नामगोत्राभ्यां संलपितस्य तस्य चिन्ताऽभवत् तथा चाह–

हे इंदभूइ गोयमा! सागयमुत्ते जिणेण चिंतेइ।
सो मं पि मे वियाणइ अहवा को मं न याणाई॥

हे इंद्र भूते! गोतम! स्वागतमिति जिनेनोक्ते स चिन्तयति अहो नामापि मे विजानाति अथवा सर्वत्र प्रसिद्धोऽहं को मां न जानाति।

जइ वा हिययगयं मे, संसय मन्नेज्ज अहव च्छिंदेज्जा।
ततो होज्ज विम्हतो मे, इय चिंतंतो पुणो भणिओ॥

यदि मे हृद्गतं संशयं मन्येत जानीयात् अथवा छिन्द्यादप नयेत् ततो मे विस्मयो भवेत् भविष्यति इति चिन्तयन् पुन रपि भगवता भणितः। किं भणित इत्याह–

किंमन्ने अत्थि जीवो, उयाहु नत्थित्ति संसओ तुज्झा।
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो ॥

हे गौतम ! किं मन्यसे अस्ति जीव उत नास्तीति नन्व यमनुचित एव संशयो यतोऽयं संशयस्तव विरुद्धवेदपद श्रुतिनिबंधन इति। तान्यमूनि वेदपदानि ''विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्तीत्यादि'' तथा स वै अयमात्मा ज्ञानमय इत्यादीनि च एतेषां च वेदपदानामयमर्थो भवतश्चेतसि विपरिवर्त्तते। विज्ञानमेव घनानन्दादिरूपत्वात् विज्ञानघनः स एव एतेभ्योऽध्यक्षतः परिच्छिद्यमानस्वरूपेभ्यः पृथिव्यादि लक्षणेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय उत्पद्य पुनस्ता-न्येवानुविनश्य ति तान्येव भूतानि अनुसृत्य विनश्यति तत्रैवाव्यक्तरूपतया संलीनां भवतीति भावः न प्रेत्यसंज्ञास्ति मृत्वा पुनर्जन्म प्रेत्येत्युच्यते तत्संज्ञास्ति न परलोकसंज्ञाऽस्तीति भावः। ततः कुतो जीवः युक्त्युपपन्नश्चायमर्थ इति ते मतिः यतो नासौ प्रत्यक्षेण परिगृह्यते अतीन्द्रियत्वात् नाप्यनुमानेन यतस्तल्लिङ्ग लिङ्गि-सम्बन्धपूर्वकञ्च। न चात्र लिङ्गि ना सह सम्बन्धः प्रत्यक्षगम्यो लिङ्गि नोऽतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानगम्यो ऽनवस्थाप्रसक्तेस्तदपि हि लिङ्ग लिङ्गि संम्बन्धग्रहणपूर्वकं तत्रा पि चेयमेव वार्ता, इत्यनवस्थानुषङ्गः। नाप्यागमगम्यः परस्पर-विरुद्धार्थतया तथागमानां प्रमाणत्वाभावात्। तथाहि केचिदेव-माहुः ''एतावानेव लोकोऽयं, यावदिन्द्रियगोचरः। भद्रेवृकपदं पश्य यद्वदन्त्य बहुश्रुताः'' इत्यादि। अपरे प्राहुर्नरूप मीक्षवः पुद्गला इत्यादि पुद्गले रूपं निषेधयन्ति अन्तर्भूत आत्मे त्यर्थः अन्ये पुनरेवम् ''अकर्ता निर्गुणो भोक्ता'' इत्यादि। अपरे एवम् ''स वै अयमात्मा ज्ञानमय इत्यादि, नचैते सर्व एव प्रमाणम् परस्परविरोधात् व्यर्थाभिधायकपरस्परविरुद्धवाक्यपुरुषव्रातवत् आत्मानं विद्मः किमस्ति नास्तीत्ययं तवाभिप्रायः। तत्र वेदपदानां चार्थ न जानासि च शब्दात् युक्ति द्वयं च। तथाहि वेदपदानामयमर्थः विज्ञानघन एवेति ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगरूपं विज्ञानं ततोऽनन्तयत्वात् आत्मा विज्ञानघनः प्रतिप्रदेशमनन्त विज्ञानपर्यायः संपातात्मकत्वात् वा विज्ञानघन एव शब्दोऽवधारणे विज्ञानघनादनन्यधनत्वात् विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः क्षित्युदकादिभ्यः समुत्थाय कथंचिदुत्पद्येति घटविज्ञानपरिणतो हि आत्मा घटाद्भवति तद्विज्ञानक्षयोपशमनस्य तत्राक्षेपत्वात् अन्यथा निरालम्बनतया तस्य मिथ्यात्वप्रसक्तेरेवं सर्वत्र भावनीयम्। तत उक्तं तेभ्यः समुत्थाय कथंचिदुत्पद्येति पुनस्तानेव भूतानि अनु विनश्यति ते विवक्षितेषु भूतेषु व्यवहितेषु वा आत्मापि तद्विज्ञानघनात्मना उपरमते अन्यविज्ञानात्मना उत्पद्यते यदि वा सामान्यचैतन्यरूपतयाऽवतिष्ठत इति न प्रेत्यसंज्ञास्ति न प्राकृति-कघटा दिविज्ञानसंज्ञाऽवतिष्ठते। सांप्रतविज्ञानोपयोगनिघ्नितत्वात् अथवा एवं व्याख्या विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवानुविनश्यतीत्येतन्न यतः प्रेत्यसंज्ञास्ति परलोक संज्ञास्ति। यदप्युक्तं नासौ प्रत्यक्षेण परिगृह्यते इति तदप्य-समीचीनमात्मनः प्रत्यक्षसिद्धात्तद्गुणस्य ज्ञानस्य स्वसंवेदन प्रमाणसिद्धत्वात्तथाहि स्वसंविहिता एवावग्रहेहापायादय उदयन्ते लीयन्ते वा ततस्तद्गुणस्य स्वसंविदितत्वात् सिद्धमात्मनः प्रत्यक्षत्वम्। अथ ब्रवीष्व भूतगुणाश्चैतन्यं तथा वेदेप्युक्तम् ''एतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थायेत्यादि'' ततः कथं ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे ते आत्मनः प्रत्यक्षत्वं ज्ञानस्यात्मत्राणत्वा भावात्–तदयुक्तम् भूतगुणत्वे सति पृथिव्याः काठिन्यस्यैव सर्वत्र सर्वदा चोपलंभप्रसंगात्। न च सर्वत्र सर्वदा चोपलभ्यते चैत्यन्यं लोष्ठादौ मृतावस्थायां चानुपलम्भात्। अथ तत्रापि चैतन्यमस्ति केवलं शक्तिरूपेण ततो नोपलभ्यते तदसम्यग्विकल्प-द्वयानतिक्रमात् सा–हि शक्तिश्चैतन्याद्विलक्षणा उत चैतन्यमेव यदि विलक्षणा ततः कथमुच्यते शक्तिरूपेण चैतन्यमस्ति न हि पटे विद्यमाने पटरूपेण घटस्तिष्ठतीति वक्तुंशक्यं तथाचाहान्योऽपि ''रूपान्तरेण यदि तत्तदेवास्तीति मा रटीः। चैतन्यादन्यरूपस्य भावे तद्विद्यते कथम्। अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि चैतन्यमेव तत्कथमनुपलभ्यः आवृतत्वादनुपलम्भ इतिचेत्तत्त्वावृत्तिरावरणं तच्चावरणं किं भूतानां विवक्षितपरिणामाना–मुत परिणामान्तर–माहोस्विदन्यदेव भूतातिरिक्तं किञ्चित्। तत्र न तावद्विवक्षितपरिणामाभावः एकान्ततु च्छरूपतया तस्यावारकत्वा-योगात् अन्यथा तस्याप्य-तुच्छरूप तया भावरूपतापत्तिर्भावत्वे पृथिव्यादीनामन्यतमो भावो भवेत् ''पृथिव्यादीन्येव भूतानि तत्त्वमिति वचनात्'' पृथिव्यादीनि च भूतानि चैतन्यस्य व्यञ्जकानि नावारकाणीति कथमावारकत्वं तस्योपपत्तिमत्–अथपरिणामान्तरं तदयुक्तं परिणामान्तरस्यापि भूतस्वभावतया भूतवद्व्यञ्जकत्वस्योपपत्तेर्ना-वारकत्वस्य, अथान्यदेव भूतातिरिक्तं किञ्चित्–तदतीवासमीचीनम्। भूतातिरिक्ताऽभ्युपगमे चत्वार्य्येव पृथिव्यादीनि भूतानि तत्त्वमिति तत्त्वसंख्याव्याघातप्रसंगात् अपि चेदं चैतन्यं प्रत्येकं वा भूतानां धर्म्मः समुदायस्य वा न तावत्प्रत्येकमनुपलम्भात् नहि प्रति-परमाणुसंवेदनमुपलभ्यते। अपि च यदि प्रतिपरमाणुसंवेदनं भवेत्तर्हि पुरुष सहस्रचैतन्यवृन्दमिव परस्परं भिन्नस्वभावमिति नैकरूपं भवेत्। अथ चैकरूपमुपलभ्यते अहं पश्यामि अहं करोमीत्येवं सकलशरीराधिष्ठि-तानेकस्वरूपतयानुभवात् अथ समुदायस्य धर्म्मस्तदप्यसत्प्रत्येक-मसत्समुदायेऽपि न भवति यथा रेणुषु तैलं स्यादेतन्मद्याङ्गेषु प्रत्येकं मदशक्तिरदृष्टापि समुदा येऽपि भवन्ती दृश्यते तद्वच्चैतन्यमपि भविष्यति को दोषः तद् सम्यक् प्रत्येकमपि मद्याङ्गेषु मदशक्त्यनुयायिमाधुर्या-दिगुणदर्शनात् तथाहि दृश्यते माधुर्यमिक्षुरसे धातकीपुष्पे च मनाक् विकलतोत्पादि, न चैवं चैतन्यं सामान्यतोऽपि भूतेषु प्रत्येकमुप लभ्यते ततः कथं समुदाये तद्भवितुमर्हति मा प्रापत्सर्वस्य सर्वत्राभावप्रसक्ताति-प्रसङ्गात्। किंच यदि चैतन्यं भूतधर्म्मत्वेन प्रतिपन्नं ततोऽवंश्यमस्यानुरूपो धर्म्मः प्रतिपत्तव्यः आनुरूप्याभावे जलकाठिन्ययोरिव परस्परधर्मधर्म्मिभावोऽनुपात्तः नच भूतानामनुरूपो धर्म्मी वैलक्षण्यात् तथाहि चैतन्यं बोधस्वरूप-ममूर्तं च भूतानि तद्विलक्षणानि ततः कथमेषां परस्परं धर्मधर्मिभावः। नापि चैतन्यमिदं भूतानां कार्यमत्यंत विलक्षणतया कारणभावस्याप्ययोगात् तथा चोक्तम् ''काठिन्या-बोधरूपाणि, भूतान्यध्यक्षसिद्धितः। चेतनाभगतद्रूपासा कथं तत्फलं भवेत्'' अपिच यदि भूतकार्यं चैतन्यं तर्हि किं न सकलमपि जगत् प्राणिमयं भवति परिणतिविशेषसद्भावा भावादिति चेन्ननु सोऽपि परिणतिविशेषसद्भावः सर्वत्रापि कस्मान्न भवति सोऽपि हि भूतमात्रनिमित्तक एव ततः कथं तस्यापि क्वचित् कदाचिद्भावः। अन्यच्च स किंरूपः परिणतिविशेष इति वाच्यं कठिनत्वादिरूप इति चेत्तथाहि काष्ठादिषु दृश्यन्ते घूणादिजन्तवो जायमानास्ततो यत्र कठिनत्वा-

दिविशेषस्तत्प्राणिमयं न शेषमिति तदप्यसत् व्यभिचारदर्शनात्तथाह्यविशिष्टेऽपि कठिनत्वादिविशेष क्वचिद्भवन्ति क्वचिच्च कठिनत्वादिविशेषमन्तरेणापि संस्वेदजा नभसि च मूर्च्छिता जायन्ते किंच समानयोनिका अपि विचित्रवर्णसंस्थानाः प्राणिनो दृश्यन्त । तथाहि– गोमयाद्येकयोनिसंभविनोऽपि केचिन्नीलजन्तवोऽपरे पीतकायाः अन्ये विचित्रवर्णाः संस्थानमप्येतेषां परस्परं विभिन्नंतद्यदि भूतमात्रनिमित्तं चैतन्यं ततएकयोनिकाः सर्वेप्येक-वर्णसंस्थाना भवेयुर्नभवन्ति तस्मादात्मन एव तत्तत्कर्म्मवशात्तथा तथोत्पद्यन्ते इति । स्यादेतत् आगच्छन् गच्छन् वा आत्मा नोपलभ्यते केवलं देहे सति संवेदनमुपलभामहे देहाभावे च तस्यामेवावस्थायां न, तस्मान्नात्मा किंतु संवेदनमात्रमेवैकं तच्च देहकार्यं देहे एव च समाश्रितं कुड्यचित्रवत् नहि चित्रं कुड्यविरहितमवतिष्ठते नापि कुड्यांतरं संक्रामति आगमनं वा कुड्यांतरात् किंतु कुड्य एवोत्पन्नं कुड्य एव च विलीयते एवं संवेदनमपि तदप्यसत् आत्मा हि स्वरूपेणामूर्त आन्तरमपि शरीरमतिसूक्ष्मत्वान्न चक्षुर्विषयस्तदुक्तमन्यैरपि ''अन्तरा भवदेहे पि सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते । निष्क्रामन् प्रविशन्वात्मानाभावो नीक्षणादपि'' ततआन्तरशरीर-युक्तोप्यात्मा आगच्छन् गच्छन्वा नोपलभ्यते लिंगतस्तूपलभ्यते। तथाहि कृमेरपि जन्तोस्त-त्कालोत्पन्नस्याप्यस्ति निजशरीरविषयः प्रतिबन्धः उपघातमुप-लभ्य पलायनदर्शनात् यश्च यद्विषयप्रतिबन्धः स तद्विषयपरिशीलनाभ्यासपूर्वकस्तथादर्शनात् न खल्वत्यन्तापरिज्ञात-गुणदोषवस्तुविषये कस्याप्याग्रह उपजायते ततो जन्मादौ शरीराग्रहः शरीरपरिशीलनाभ्यासजनितसंस्कारनिबन्धन इति । सिद्धमात्मनो जन्मान्तरादागमनं तथा च केचित्पठन्ति ''शरीराग्रहरूपस्य नभसः संभवो यदा। जन्मादौ देहिनो दृष्टः किं न जन्मान्तरा गतिः, ॥ अथागतिः प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते ततः । कथमनुमानादवसीयते नैष दोषः अनुमेयविषये प्रत्यक्षवृत्त-रेनभ्युपगमात् परस्परविषयपरिहारेण हि प्रत्यक्षानुमानयोः प्रवृत्तिरिष्यते ततः कथं स एव दोषः । आह च ''अनुमेयेऽस्ति नाध्यक्षमिति कैवात्र दुष्टता। अध्यक्षस्यानुमानस्य विषयो विषयो न हि'' अथ तज्जातीयेऽपि प्रत्यक्षवृत्तिमन्तरेण कथमनु-मानमुदयितुमुत्सहते न खलु यस्याग्निविषया प्रत्यक्षवृत्ति-र्महानसेऽपि नासीत्तस्यायत्र क्षितिधरादौ धूमाद्धूमध्यवजानुमानं भवति तदन्यसम्यक् अत्रापि तज्जातीये प्रत्यक्षवृत्तिभावात् तथा ह्याग्रहोन्यत्र परिशीलना-भ्यासप्रवृत्तः प्रत्यक्षत एवोपलब्धस्तत-स्तदुपष्टम्भेनेहान्यनुमानं प्रवर्तते उक्तंच ''आग्रहस्तावदभ्यासात् प्रवृत्त मुपलभ्यते । अन्यत्राध्यक्षतः साक्षात्ततो देहेऽनुमा न किम्'' यो पि च दृष्टान्तः। प्रागुपन्यस्तः सोप्ययुक्तो वैषम्यात् तथाहि चित्रमचेतनं गमनस्वभावरहितञ्च आत्मा च चेतनः कर्म्मवशाद्गत्यागती च कुरुते ततः कथं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यं ततो यथा कश्चिद्देवदत्तो विवक्षिते ग्रामे कतिपयदिनानि गृहारंभं कृत्वा ग्रामान्तरे गृहान्तरमास्थायावतिष्ठते तद्वदात्मापि विवक्षिते भवेदेहं परिहाय भवान्तरे देहान्तरमारचय्यावतिष्ठते । यच्चो क्तम् तच्च संवेदनं देहकार्यमिति चाक्षुषादिकं संवेदनं देहाश्रितमपि कथंचित् भवतु चक्षुरादीन्द्रियद्वारेण तस्योत्पत्तिसंभवात् यत्तु मानसं तत्कथं न हि तद्देहकार्यमुपपत्ति मत् युक्त्ययोगात् । तथाहि तन्मानसं ज्ञानं देहादुत्पद्यमान मिन्द्रियरूपाद्वा समुद्घातानीन्द्रियरूपाद्वा केशनखादिलक्षणा तत्र न तावदाद्यः पक्ष इन्द्रियरूपादुत्पत्ताविन्द्रियबुद्धि वद्वर्तमानार्थ-ग्रहणमसक्तेः इन्द्रियं हि वार्तमानिक एवार्थे व्याप्रियते तत्सामर्थ्या-दुपजायमानं मानसमपि ज्ञानं इन्द्रिय ज्ञानमिव वर्त्तमानार्थ-ग्रहणपर्यवसितसत्ताकमेव भवेत् अथ यदा चक्षूरूपविषये व्याप्रियते तदा रूपे विज्ञानमुत्पादयति न शेषकालं ततस्तदपिविज्ञानं वर्त्तमानार्थाविषयं वर्त्तमाने एवार्थे चक्षुषो व्यापारात्। रूप विषयव्याप्रीयभावे, च मनोज्ञानं ततो न तत्प्रतिनियतकालविषयम् एवं शेषेष्वपि इन्द्रियेषु वाच्यम् ततः कथमिव मनोज्ञानस्य वर्त्तमानार्थग्रहण प्रसक्तिस्तदसाधीयो यत इन्द्रियाश्रितं तदुच्यते यदीन्द्रियव्यापारम-नुसृत्योपजायते इन्द्रियाणां च व्यापारः प्रतिनियते एव वार्तमानिके स्वस्वविषये मनोज्ञानमपि यदान्द्रिय व्यापराश्रितं तत इन्द्रियज्ञानमिव वार्तमानिकार्थग्राहकमेव भवेत् अन्यथा इन्द्रियाश्रितमेव तत्र स्यात् तथा च केचित्पठन्ति ''अक्षव्यापारमाश्रित्य भवदक्षजमिप्यते। तद् व्यापारो न तत्रेति कथ मक्षभवं भवेत् ।'' अथानीन्द्रिय रूपादिति पक्षस्त-दप्ययुक्तस्तस्याचेतनत्वात् नन्वचेतनत्वादिति कोर्थः यदीन्द्रिय-विज्ञान रहितत्वादिति तदिप्यते एव यदि नामोन्द्रिय विज्ञानं ततो न भवति मनोविज्ञानं तु कस्मान्न भवति। अथ मनोविज्ञानं नोत्पादयतीत्यचेतनत्वं तदा तदेव विचार्यमाणमिति प्रति-ज्ञार्थकदेशासिद्धो हेतुः तदप्यसत् अचेतनत्वादिति किमुक्तं भवति स्वनिमित्तविज्ञानैः स्फुरच्चिद्रूपतया-नुपलब्धेः स्पर्शादयो हि स्वस्वनिमित्तविज्ञानैः स्फुरच्चिद्रूपानुपलभ्यन्ते ततस्तेभ्यो ज्ञानमुत्पद्यते इति युक्तं केशनखादयस्तु न मनोज्ञानेन तथा स्फुरच्चिद्रूपा उपलभ्यन्ते कथं तेभ्यो मनोज्ञानं भवतीति प्रति ध्यायन्तु सुधियः आह च ''चेतयन्तो न दृश्यन्ते केशस्मश्रुनखादयः। ततस्तेभ्यो मनोज्ञानं भवतीत्थतिसाहसम्'' अपि च यदि केशनखादिप्रतिबद्धं मनोज्ञानं ततस्तदुच्छेदे मूलत एव न स्यात् तदुपघाते चोपहतं भवेन्न च भवति तस्मान्नायं पक्षः क्षोदक्षमः । किंच मनोज्ञानस्य सूक्ष्मार्थनेतृत्वस्मृतिपाटवादयो विशेषा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यत्यासपूर्वका दृष्टाः तथाहि तदेव शास्त्रमीहापोहादिप्रकारेण यदि पुनः पुनः परिभाव्यते ततः सूक्ष्मसूक्ष्मतरार्थविबोधे उल्लसति स्मृतिपाटवं चापूर्वमुज्जृम्भते एवं चैकशास्त्रे अभ्यासतः सुक्ष्मार्थनेतृत्वशक्तौ पाटवशक्तौ चोपजातायामन्येष्वपि शास्त्रांतरेषु अनायासेनैव सूक्ष्मार्थावि-बोधः स्मृतिपाटवं चोल्लसति तदेवमभ्यासहेतुकाः सूक्ष्मार्थनेतृत्वादयो मनोज्ञानस्य विशेषदृष्टाः। अथ च कस्यचिदिह जन्माभ्यासव्यतिरेकेणापि दृश्यन्ते ततोऽवश्यं पारलौकिकाभ्यास हेतुका इति प्रतिपत्तव्यं कारणेन सह कार्यस्यान्यथानुप-पन्नत्वप्रतिबन्धेन दृष्टतत्कारणस्यापि तत्कार्यत्वविनिश्चितेः । ततः सिद्धः परलोकयाथी जीवः । सिद्धे च तस्मिन् परलोकयायिनि यदि कथांचिदुपकारी चाक्षुषादेर्विज्ञानस्य देहो भवेत् न कश्चिद्दोषः क्षयोपशमहेतुतया देहस्यापि कथंचिदुपकारित्वाभ्युपगमात्, नचैतावता तन्निवृत्तौ सर्वथा तन्निवृत्तिः नहि वह्निरासादित-विशेषो घटो वह्निनिवृत्तौ समूलोच्छेदं निवर्त्तते केवलं विशेष एव कश्चनापि यथा सुवर्णस्य द्रवता एवमिहापि देहनिवृत्तौ ज्ञानविशेष एव कोऽपि तत्प्रतिबद्धो निवर्त्तते न पुनः समूलं ज्ञानमपि यदि पुनर्देहमात्रनिमित्तकमेव विज्ञानमिष्यते देहनिवृत्तौ च निवृत्तिमत् तर्हि देहस्य तस्य भस्मावस्थायां मा भूत्तद्देहे तु तथाभूते एवावति-छमाने मृतावस्थायां कस्मान्न भवति प्राणापानयोरपि हेतुत्वात्तद

भावेन भवतीति चेन्नप्राणापानयोर्ज्ञानिहेतुत्वायोगात् ज्ञानादेव च तरोरपि प्रवृत्तिस्थताहि यदि मन्दौ प्राणापानौ विस्रष्टुमिष्यते ततो मन्दौ भवतः दीर्घौ चेत्तर्हि दीर्घाविति यदि पुनर्देह मात्रनिमित्तौ प्राणापानौ प्राणापाननिमित्तं च विज्ञानं तर्हि नेत्थमिच्छावशात् प्राणापानप्रवर्त्तमाना दृष्टप्राणापाननिमित्तं च यदि विज्ञानं ततः प्राणापाननिहासातिशय-संभविज्ञानस्यापि निहासातिशयौ स्याताम् अवश्यं हि कारणे परिहीयमाने अभिवर्द्धमाने च कार्यस्यापि हानिरुपचयश्च भवति यथामहति मृत्पिण्डे महान् घटोऽल्पे चाल्पीयान् अन्यथा कारणमेव तत्र स्यात् भवतः प्राणापाननिहासातिशयसंभवे विज्ञानस्यापि विनिहासाविशयौ, विपर्ययस्यापि भावात् मरणावस्थायां प्राणापाना-तिशयसंभवेऽपि विज्ञानस्य ह्रासदर्शनात्। स्यादेतत् तत्तदानीं वातपित्ता-दिभिर्दोषैर्दैहस्यविगुणीकृतत्वात् प्राणापानातिशयसंभवेऽपि चैतन्य स्यातिशयसंभवोऽत एव मृतावस्थायामपि चैतन्यदेहस्य विगुणीकृत्वात् तदसमीचीनतरमेवंसति मृतस्यापि पुनरु-ज्जीवनप्रसक्तेः । तथाहि मृतस्य दोषाः समीभवन्ति समीभ वंन च दोषाणभवसीयते ज्वरादिविकारादर्शनात् समत्वं चा रोग्यं तथाचाहुर्वृद्धाः ''तेषां समत्वमारोग्यं क्षयवृद्धी विपर्यय'' इति । आरोग्यलाभत्वाद्देहस्य पुनरुज्जीवनं भवेत् अन्यथा चेह कारणमेव चेतसो न स्यात् तद्विकाराभावनाभावान्तु विधानात् एवं हि देहकारणता विकारस्याश्रद्धेया स्यात् यदि पुनरुज्जीवनं भवेत स्यादेतदयुक्तमिदं पुनरुज्जीवनप्र संगोपादानं यतो यद्यपि दोषा देहस्यावैगुण्यमाधाय निवृत्तास्तथापि न तत्कृतस्य वैगुण्यस्य निवृत्तिः न हि दहनकृतो विकारः काष्ठे दहनविवृत्तो निवर्त्तमानो दृष्टः तदयुक्तमिह हि क्वचित्किंचिदनिवर्त्य विकाराम्भकम् । यथा वह्निः काष्ठे श्यामतामात्रमपि वह्निना कृतं काष्ठे वह्निनिवृत्तौ निवर्त्तते किंत्विपुनः क्वचिन्निवर्त्त्यविकारारम्भकं यथा स एवाग्निः सुवर्णे तथाहि अग्निना क्रमात्सुवर्णं भवति अग्निनिवृत्तौ निवर्त्तते तत्र वाता दयो दोषा निवृत्य विकारारम्भ-काश्चिकित्साप्रयोगदर्शनात् । यदि पुननिवर्त्य विकारारम्भका भवेयुस्तर्हिनतद्वि कारनिवर्त्तनाय चिकित्सा विधीयेत वैफल्यप्रसंगता न च वाच्यं मरणात् प्राग्दोषा अनिव र्त्यवि-कारारम्भका मरणकाले च निवर्त्यविकारा इति एकस्य एकत्रैव निवर्त्यानिवर्त्यविकारा रम्भकत्वायोगात् । न ह्येकमेव तत्रैव निवर्त्यविकारारम्भकं चानुभवितुमर्हति तथा दर्शनात्। ननु द्विविधो हि व्याधिः साध्योऽसाध्यश्च। तत्र साध्यो निवर्त्यस्वभावस्तमेव चाधि कृत्य चिकित्सा फलवती असाध्यो ऽनिवर्त्तनीयः नच साध्या साध्यभेदो न वा व्य धिद्वैविध्यमप्रतीतं सकललोकप्रसिद्धत्वात् व्याधिश्च । तत्र साध्यो निवर्त्य-स्वभावस्तमेव चाधि कृत्य चिकित्सा फलवती असा-ध्योद्धनिवर्त्तनीयः नच साध्या साध्यभेदो न वाव्याधि-द्वैविध्यमप्रतीतं सकललोकप्रसिद्धत्वात् व्याधिश्च दोषेण कृतस्ततः कथं दोषाणां निवर्त्यानिवर्त्यविकारा रम्भकत्वमनुपपन्नामिति तदप्यसत् भवन्मते साध्यासाध्यव्याध्य नुपपत्तस्तथाह्यसाध्यता व्याधेः क्वचिदायुःक्षया च तथाहि तस्मि न्नव्याधौ समानेऽप्यौपधवैद्यसंपर्के कश्चिन्म्रियते कश्चिन्नक्वचि त् पुनः प्रतिकूलकर्मो दयात् प्रतकिूलकर्मोदयजनितो हि श्वित्रादि व्याधिरौषधसहस्रैरपि कश्चिदसाध्यो भवति एतच्च द्विविधमपि व्याधेरसाध्यत्वमर्हतामेव मते संगच्छते न भवतो भूतमात्र तत्त्ववादिनः क्वचित्पुनरसाध्यो व्याधिर्दोषकृतविकारनिवर्त्तन समर्थोनिषेधस्या-भावात् वैद्यस्य वा वैद्यौषधसंपर्काभावे हि व्याधिः प्रसर्प्पन् सकलमप्यायुरुपक्रमते न तु वैद्यौपधसंपर्का-भावादे वास्माकमपि पुनरुज्जीवनं भविष्यति न हि तदस्ति किञ्चिदौषधं वैद्यो वा यत्पुनरुज्जीवयति तदप्ययुक्तं वैद्यौषधौ हि दोषविकारनिवर्त्ततार्थमिष्येते न पुनरत्यन्तासत श्चैतन्य-स्येतित्पादनार्थं तथाभ्युपगमात् दोषकृता श्च विकारा मृतावस्थाया स्वयमेव निवृत्ता ज्वरादेरदर्शनात्ततः किं वैद्यौषधान्वेषणेनेति तदवस्थ एव पुनरुज्जीवनप्रसंगः। अपि कश्चिद्दोषामा-मुपशमेप्यकस्मान्म्रियते कश्चिच्चातिदोषदुष्टत्वेऽपि जीवति तदेतद्भवन्मते कथमुपपत्तिमर्हति तथा च केचि दूचुवते ''दोष स्योपशमेप्यस्ति मरणं कस्यचित्पु--नर्जीवनं दोषदुष्टत्वेप्येतन्न स्याद्भवन्मते'' अर्हतां तु शासने यावदायुः कर्म्मविजृम्भते तावद्दोषैरतिपीडितोऽपि जीविति आयुःकर्म्मक्षये च दोषा णामधिकृता वपि म्रियते तन्नदेहमात्रकारणं संवेदनम्। अन्यच्च देहः कारणं संवेदनस्य सहकारिभूतं वा भवेदुपादानभूतं वा यदि सहकारिभूतं तदिष्यत एव देहस्यापि क्षयोपशमहेतु तथा कथंचिद्विज्ञानहेतुत्वाब्युपगमात्। अथोपादानभूतं तद युक्तमुपादानं हि तत्तस्य यद्विकारेणैव यस्य विकारो यथा मृद्घटस्य नच देहविकारेणैव विकारः संवेदस्य देहविकाराभावेऽपि भयशोकादिना तद्विकारदर्शनात् तत्र देहउपादानं संवेदनस्य तथा च पठन्त्युपादानलक्षणपरे अधिकृत हि यद्वस्तुना यः पदार्थो विकार्यते उपादानं तत्तस्य युक्तं गोगवयादिवत् एतेन यदुच्यते मातापितृचैतन्यमेतच्चेतनस्योपादानमिति तदपि प्रतिक्षिप्तं तत्रापि तद्विकारे विकारित्वं तदविकारे वा विकारित्वमिति नियमादर्श-नात् । अन्यच्च यत् यस्योपादानं तत्तस्मादभेदेन व्यवस्थितं यथा मृदो घटः मातापितृचैतन्यं सुत चैतन्यस्योपादानं ततःसुतचैतन्यं मातापितृचैतन्यादभेदेन व्यवतिष्ठेत न व्यवतिष्ठते तस्माद्यत्किञ्चिदेतत् तत्र भूतधर्मो भूतकार्यं वा चैतन्यं किंचा त्मनो गुण इति तद्गुणस्य प्रत्यक्षसिद्ध आत्मा अनुमानसिद्धश्च तच्चानुमानमिदं रूपादीन्द्रियाणि विद्यमानप्रयोजकानि कर्म्मकरणत्वे सति ग्राह्यग्राह करूपत्वात् यः कर्म्मकरणे सति ग्राह्यग्राह करूपस्सद्विद्यमानप्रयोजको यथा शंदंशोयः पिण्डेकर्मकरणरूपाणि च सन्ति ग्राह्यग्राहकरूपाणि रूपादीन्द्रियाणि ततो विद्यमानप्रयोजकानीति नचेन्द्रियाणां स्वत उपलम्भकत्वं येन रूपादिग्रहणं प्रति तेषां कर्तृत्वमेवोपगम्येत न करणत्वमचेतनत्वेन स्वत उपलम्भकत्वायोजनात् तथा चात्र प्रयोगः यदचेतनं तन्नोपलब्धं यथा घटोऽचेतनानि च द्रव्येन्द्रियाणि न चायमसिद्धो हेतुः यतः खलु द्रव्येन्द्रियाणि निर्वृत्त्युपकरणरूपाणि निर्वृत्त्युपकरणे च पुद्गलमयं पुद्गलमयं च सर्वमचेतनं पुद्गलानां काठिन्यावबोधरूपतया चैतन्यं प्रति धर्म्मित्वायोगात् धर्म्मानुरूपो हि सर्वत्रापि धर्म्मी यथा काठिन्यं प्रति पृथिवी यदि पुनरनुरूपत्वाभावेपि धर्म्मधर्मिभावो भवेत् ततः काठिन्य-जलयोरपि संभवेत् तन्न भवति तस्मादचेतनाः पुद्गलाः तथाचोक्तं ''वाहसनावमसुत्तं, विसयपरिच्छेयगं च चेयन्नं । विवरीयसहावाणि य, वूयणि जगप्पसिद्धाणि ॥१॥ ता धम्मधम्मिभावो, कहमेएसिं अणुब्भवगामेय । अणुरूपत्ताभावे, काठिन्नजलाण किं न भवे ॥२॥ ततः स्वत उपलम्भकत्वाभावात् रूपादिग्रहणं प्रतीन्द्रियाणां करणभाव एव न कर्तृभाव इति स्तिम् । अथ चेदमनुमानं स भोक्तृकमिदं शरीरं भोग्यत्वात् स्थालस्थितौदनवत् भोग्यता च शरीरस्य जीवेन तथा निवसता भुज्यमानत्वात् द्वयोरपि च प्रयो-गयोः साध्यसाधनप्रतिबन्धसिद्धदृष्टान्ते प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धेति नोक्तलिङ्ग-लिङ्गी संबन्धाग्रहरूपदोषावकाशः । आगमगम्योप्येष जीवः तथा चागमः ''अणिंदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंसचक्खुणा । सिद्धं पस्संति

सव्वन्नू, नाणसिद्धा य साहुणो'' अत्र ज्ञानसिद्धाः साधवो भवस्थकेवलिनः शेषं सुगमम् नचागमानां परस्परविरुद्धार्थं तथा सर्वेषामप्यप्रामाण्यमभ्युपेयं सर्वज्ञमूलस्यावश्यं प्रमाणत्वेनाभ्युपगमार्हत्वादथाप्यसम्यक् प्रमाणाप्रमाणविभागा परिणतेः प्रेक्षावतां क्षितिप्रसंगात्। अथ कथमेतत् प्रत्येतं यथायमागमः सर्वज्ञमूल इति उच्यते–यदुक्तोऽर्थः प्रत्यक्षेणा नुमानेन वा न बाध्यते नापि पूर्वापरव्याहतः सोवसीय सर्वज्ञ प्रणीतोऽन्यस्य तथारूपत्वासंम्भवात् ततस्तस्माद्यन्निसद्धं तत्सर्वं सुसिद्धम्। उक्तञ्च ''दिट्ठेणं इट्ठेण य, जंमि विरोहो न हुज्जइ कहिं वि। सो० आगमतत्तो जं, नाणं तं सम्मनाणं ति॥ ततः प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणसिद्धत्वाद्वेदपदप्रतिष्ठित त्वाच्च सौम्य! अस्ति जीव इति प्रतिपत्तव्यम्॥ आ०म० द्वि०॥ (इह वेद पदोपन्यासस्तेन वेदानां प्रमाणत्वेनाङ्गीकृतत्वात्) आहच–

छिन्नंमि समयंमि, जाइजरामरण विप्पमुक्केणं।
सो समणो पव्वइओ पंचहिं सह खंडियसएहिं॥

उक्त प्रमाणेन जिनेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना जरामरणाभ्यामुक्तलक्षणाभ्यां विप्रमुक्त इ व विप्रमुक्तः तेन छिन्ने निराकृते शंशये स इन्द्रभूतिः पंचभिः खण्डिकशतैः छात्रशतैः सह श्रमणः प्रव्रजितः सन् साधुः संवृत्त इत्यर्थः। आ० म० द्वि०। आव०॥ आ० चू०।

कल्पसुबोधिन्यामिन्द्रभूतेः कया विस्तरेण एवं प्रतिपादिता यदा भगवान् महावीरो विहरन् अपापापूर्यां महसेनवने जगाम तत्र च यज्ञं कारयतः सोमिलविप्रस्य गृहे बहवो ब्राह्मणाः मिलिताः (कल्प०) अन्येऽपि उपाध्याय शङ्कर ईश्वर शिवजी जानी गङ्गाधर महीधर भूधर लक्ष्मीधर श्रीधर पिंड्या विष्णु मुकुन्द गोविन्द पुरुषोत्तम नारायण दुवे श्रीपति उमापति विद्यापति गणपति जयदेव व्यास महादेव शिवदेव गङ्गापति गौरीपति त्रिवाडी श्रीकण्ठ नीलकण्ठ हरिहर रामजी रावल मधुसूदन नरसिंह कमलाकर जोसी पूनो रामजी शिवराम इत्यादयो मिलिताः सन्ति अत्रान्तेर च भगवन्नमस्यार्थं मागच्छतः सुरासुरान् विलोक्य ते अचिन्तयन् अहो यज्ञस्य महिमा यदेते सुराः साक्षात्समागताः अथ तान् यज्ञमण्डपं विहाय प्रभुपार्श्वं गच्छतो विज्ञाय द्विजाः विषे दुस्ततोऽमी सर्वज्ञं वन्दितुं यान्ति इति जनश्रुत्या श्रुत्वा इन्द्र भूतिः सामर्षश्चिन्तयामास। अहो मयि सर्वज्ञे सत्यपि अपरोऽपि स्वं सर्वज्ञं ख्यापयति दुःश्रवमेतत् कर्णकटु कथं नाम श्रूयते। किं च कदाचित्कोऽपि मूर्खः केनचिद्धूर्तेन वञ्च्यते अनेन सुरा अपि वञ्चिताः यदेवं यज्ञमण्डपं विहाय तत्समीपं गच्छन्ति। अथवा यादृशोऽयं सर्वज्ञस्तादृशा एवैते सुरा अनुरूप एवं संयोगः यतः –

''पश्यानुरूपमिन्दि–न्दिरेण माकन्दशेखरो मुखरः।
अपि च पिचुमन्दमुकुल–मौकुलिकुलमाकुलं मिलति'' ॥१॥

(तथापि नाहमेतस्य सर्वज्ञाटोपं सहे)

यतः। व्योम्नि सूर्यद्वयं किं स्या–द्गुहायां केसरिद्वयम्।
प्रत्याकारे च खड्गौ द्वौ, किं सर्वज्ञावहं स च ॥२॥

ततो भगवन्तं वन्दित्वा प्रतिनिवर्तमानान् सोपहासं जनान् पप्रच्छ भो भो दृष्टः स सर्वज्ञः कीदृशः किंस्वरूप इति जनैस्तु ''यदि त्रिलोकी गणनापरः स्या–त्तस्यासमार्हियदि नायुषः स्यात्॥ पारेपरार्ध्यं गणितं यदि स्यात्, गुणेयनिश्शेषगुणोपि स स्यात् ॥१॥

इत्याद्युक्ते स ति स दध्यौ॥

नूनमेष महाधूर्तो मायायाः कुलमंदिरम्॥
कथं लोकसमस्तोऽपि, विभ्रमे पातितोऽमुना'' ॥२॥

न क्षमे क्षणमात्रं तु तं सर्वज्ञं कदाचन॥
तमस्तोममपाकर्तुं, सूर्यो नैव प्रतीक्षते ॥३॥
वैश्वानरः करस्पर्श केशरोल्लुञ्चने हरिः॥
क्षत्रियश्च रिपुक्षेत्रं न सहन्ते कदाचन॥४॥

गता गौडदेशोद्भवा दूरदेशं भयाज्जर्जरा गौर्जरास्त्रासमीयुः। मृता मालवीयास्तिलाङ्गास्तिलंगो–द्भवा जज्ञिरे पण्डिता मद्भयेन,,॥५॥ अरे लाटजाताः क्व याताः प्रणष्टाः प्रदिष्टा अपि द्राविडा व्रीडवार्ता॥अहो वादिलिप्सातुरे मय्यमुस्मिन्, जगत्युत्कटे वादिदुर्भिक्षमेतत्॥६॥ ''तस्य ममाग्रे कोऽसौ, वादी सर्वज्ञमानमुद्वहति॥ इति तत्र गन्तुमुक्तं, तमग्निभूतिर्ज गादेवम्,,॥७॥ ''किं तत्र वादिकीटे, तव प्रयासेन यामि बन्धोऽहम्॥ कमलोन्मूलनहेतो–र्नेतव्यः किं सु रेन्द्रगजः,,॥८॥ अकथयदथेन्द्रभूतिर्यद्यपि मद्भ्रातृजय्य एवासौ। तदपि प्रवादिनाम श्रुत्वा स्थातुं न शक्नोमि॥९॥ चित्रं चैव त्रिजगति सहस्रशो निर्जिते मया वादैः॥ क्षिप्रचटस्थाल्या मिव ककुंदु कोऽसौ स्थितो वादी॥१०॥

अस्मिन्नजिते सर्व्वं जगज्जयोद्भूतमपि यशो नश्यते।
अल्पमपि शरीरस्थं शल्यं प्राणान् वियोजयति॥११॥
छिद्रे स्वल्पेऽपि पोतः किं, पाथोधौ न निमज्जति।
एकस्मिन्निष्टके कृष्टे, दुर्गः सर्वोऽपि पात्यते॥१२॥

इत्यादि विचिन्त्य विरचितद्वादशतिलकः स्वर्णयज्ञोपवीत-भूषितः स्फारपीताम्बराडम्बरः कैश्चित्पुस्तकपाणिभिः कैश्चित् कमण्डलुपाणिभिः कैश्चिद्दर्भपाणिभिः सरस्वतीकण्ठाभरण वादिविजयलक्ष्मीशरण-वादिमदगञ्जनवादिमुख भञ्जन–वादिगजसिंह-वादीश्वरलिह-वादिसिंहाष्टापद-वादिविजयविशद-वादिवृन्दभूमिपाल-वादिशिरिकालवादिक दलीकृपाणवादितमभाण-वादिगोधूमघर-दृमर्दित-वादिमरट्ट वादिघटमुद्गर-वादिघूकभास्कर-वादिसमुद्रागस्ति-वादि तरून्मुलनहस्ति-वादिसुरेन्द्र-वादिगरुडगोविन्द-वादिजन राज-वादिकंसकृष्ण-वादिहरिणहरि-वादियूथमल्ल-वादि हृदयशल्य-वादिगणजीक्क-वादिशलभप्रदीपक-वादिचक्र चूडामणि-पंण्डित-शिरोमणि-विजितानेकवादिसरस्वती लब्धप्रसाद इत्यादिविरुदवृन्द-मुखरितदिक् चक्रैः पंचभिश्छात्र शतैः परिवृत इन्द्रभूतिर्वीरसमीपं गच्छंश्चिन्तयामास। अहो धृष्टेनानेन किमेतत् कृतम्। यदहं सर्वज्ञाटोपेन प्रकोपितः।

यतः ''समीराभिमुखस्थेन, दवाग्निर्ज्वालितोऽमुना॥
कपिकच्छूलता देह-सौख्यायालिङ्गिता ननु॥१॥''

(कि मेतेन अधुना नित्तरीकरोमि यतः)

तावद्गर्जति खद्योतस्तावद्गर्जति चन्द्रमाः।
उदिते तु सहस्रांशौ न, खद्योतो न चन्द्रमाः॥२॥
सारङ्गमातङ्गतुरङ्गपूगाः पलाय्यतामाशु वनादमुष्मात्॥
साटोपकोपस्फुट केशरश्रीर्मृगाधिराजोऽयमुपेतवान् यत्॥३॥
मम भाग्यभराद्यद्वा, वाद्ययं समुपस्थितः॥
अद्य तां रशनाकण्डू–मपनेष्ये विनिश्चितम्॥४॥
लक्षणे मम दक्षत्वं साहित्ये संहिता मतिः॥
तर्के कर्कशतात्यर्थं क्व शास्त्रे नास्ति मे श्रमः॥५॥
अभेद्यं किमु वज्रस्य, किमसाध्यं महात्मनां॥
क्षुधितस्य न किं खाद्यं किं न वाच्यं खलस्य च॥६॥

तथा ममापि त्रैलोक्य-जित्वरस्य महौजसः ॥
अजेयं किमिवास्तीह तद्गच्छामि जयाम्यमुम् ॥७॥
इत्यादि चिन्तयन् प्रभुमवेक्ष्य सोपानसंस्थितो दध्यौ।
किं ब्रह्मा किं विष्णुः सदाशिवः शङ्करः किं वा ॥८॥
चन्द्रः किं स न यत्कलङ्ककलितः सूर्योऽपि नो तीव्ररुक्।
मेरुः किं न स यन्नितान्तकठिनो विष्णुर्न यत् सोऽशितः ॥
ब्रह्मा किं न जरातुरः स च जराभीरुर्न यत्सोऽतनु-
र्ज्ञातं दोषविवर्जिताखिलगुणाकीर्णो न्तिमस्तीर्थकृत् ॥९॥
हेमसिंहासनासीनां सुरराजनिषेवितम् ॥
दृष्ट्वा वीरं जगतत्पूज्यं चिन्तयामास चेतसि ॥१०॥
कथं मया महत्त्वं हा, रक्षणीयं पुार्जितम् ॥
प्रासादं कीलिकोहेतो-र्भुङ्क्तु को नाम वाञ्छति ॥४॥
एकेन चाजितेनापि मानहानिस्तु का मम ॥
जगज्जैत्रस्य किं नाम करिष्यामि च सांप्रतम् ॥५॥
अविचारितकारित्व महो मे मददुर्धियः ॥
जगदीशावतारं य-ज्ञेतुमेनं समागतः ॥६॥
अस्याग्रेऽहं कथं वक्ष्ये पार्श्वे यास्यामि वा कथम् ॥
संकटे पतितोऽस्मीति शिवा रक्षतु मे यशः ॥७॥
कथञ्चिदपि भाग्येन चेद्भवेदत्र मे जयः ॥
तदा पण्डितमूर्द्धन्यो भवामि भुवनत्रये ॥८॥
इत्यादि चिन्तयन्नेष सुधा मधुरया गिरा ॥
आभाषितो जिनेन्द्रेण नामगोत्रोक्तिपूर्वकम् ॥९॥
हे गोतमेन्द्रभूते त्वं सुखेनागतवानसि ॥
इत्युक्तेऽचिन्तयद्वेत्ति नामापि किमसौ मम ॥१०॥
जगत्त्रितयविख्यातं को वा नाम न वेत्ति माम् ॥
जनस्याबालगोपालं प्रच्छन्नः किं दिवाकरः ॥११॥
प्रकाशयति गुप्तं चेत्संदेहं मे मनःस्थितम् ॥
तदा जानामि सर्वज्ञ-मन्यथा तु न किंचन ॥१२॥
चिन्तयन्तमिति प्रोचे प्रभुः को जीवसंशयः ॥
विभावयसि नो वेद पदार्थं शृणु तान्यथ ॥१३॥
समुद्रो मथ्यमानः किं गङ्गापरोऽथवा किमु ॥
आदिब्रह्मध्वनिः किं वा वीरे वेदध्वनिर्बभौ ॥१४॥

वेद पदानि च ''विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्तीति'' त्वं तावदेतेषां पदानामर्थमेवं करोषि यत् विज्ञानघनो गमनागमनादिचेष्टावान् आत्मा एतेभ्यो भूतेभ्यः पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशेभ्यः समुत्थाय प्रकटीभूय मद्यांगेभ्यो मदशक्तिरिव ततस्तानि भूतान्येव अनुविनश्यति तत्रैव विलयं याति जले बुद्बुद इव ततो भूतातिरिक्तस्य आत्मनो-ऽभावात् न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीति मृत्वा पुनर्जन्म नास्तीति। परमयुक्तोऽयमर्थः शृणु तावदेतोषामर्थम्। विज्ञानघन इति को ऽर्थः विज्ञानघनोज्ञान दर्शनोपयोगात्मकं विज्ञानं तन्मयत्वादात्माऽपि विज्ञानघनः प्रति देशं प्रदेशमन्तनज्ञानपर्याया-त्मकत्वात् स च विज्ञानघन उपयोगात्मक आत्मा कथंचिद्भूतेभ्य-स्तद्विकारेभ्यो वा घटा दिभ्यः समुत्तिष्ठते उत्पद्यत इत्यर्थः। घटादिज्ञानपरिणतो हि जीवो घटादिभ्य एव हेतुभूतेभ्यः भवति घटादिज्ञानपरि णामस्य घटादिवस्तुसापेक्षत्वात्। एवं च एतेभ्यो भूतेभ्यो घटादिवस्तुभ्यस्तत्तदुपयोगरूपतया जीवः समुत्थाय समुत्पद्य तान्येव अनुविनश्यति कोऽर्थःतस्मिन् घटादौ वस्तुनि नष्टे च्यवते वा जीवोऽपि तदुपयोगरूपतथा नश्यति अन्योपयो गरूपतया उत्पद्यते सामान्यरूपतया अवतिष्ठते ततश्च न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति कोर्यः न प्राक्तनी घटाद्युपयोगरूपा संज्ञा अवतिष्ठते वर्तमानोपयोगेन तस्या नाशितत्वादिति। अपरं च स वै अयमात्मा ज्ञानमय इत्यादि, तथा दददकोर्थः दमो दानं दया इति दकारत्रयं योवेत्ति स जीवः किंच विद्यमानभोक्तृक मिदं शरीरं भोग्यत्वात् ओदनादिवत् इत्याद्यनुमानेनापि तथा ''क्षीरे घृतं तिले तैलं काष्ठे ऽग्निः सौरभं सुमे। चन्द्र कान्ते सुधा यद्व-त्तथात्माप्यङ्गतः पृथक्'' ॥ एवं च प्र भुवचनैश्छिन्नसंदेहः श्रीइन्द्रभूतिः पंचशतपरिवारैः प्रव्रजितः। तत्क्षणाच्च'' उत्पन्नेइ वा १ विगमेइ वा २ धुवेइ वा ३ इति'' प्रभुव दनात्त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गी रचितवान्। कल्प०॥

इन्द्रभूतिवर्णको यथा-

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतोवासी इंदभूती णामं अणगारे गोयम गोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कणग-पुलगणिघसपन्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सि घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे। संखित्तविउल्लतेउलेस्से चउद्दसपुव्वी चउणाणोवगए सव्व-क्खरसण्णिवाती। समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढजाणू अहोसिरे ज्झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ॥

(तेणमित्यादि) तेन कालेन तेन समयेन श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य (जेट्ठेत्ति) प्रथमः (अन्तेवासित्ति) शिष्यः अनेन पदद्वयेन तस्य सकलसंघनायकत्वमाह (इंदभूएत्ति) इन्द्रभूतिरिति मातृपितृकृतं नामधेयं (नामंति) विभक्तिविपरिणामात् नाम्नेत्यर्थः अन्तेवासी किल विवक्षया श्रावकोऽपि स्यादित्यत आह। (अणगारत्ति) नास्त्यगारं विद्यत इत्यन गारः अयश्चावगीतगोत्रोऽपि स्यादित्यत आह (गोतम गोत्तेणंति) गौतमसगोत्र इत्यर्थः। अयश्च तत्कालोचितदेह मानापेक्षया न्यूनाधिकदेहोऽपि स्यादित्यत आह (सत्तुस्सेहेत्ति) सप्तहस्तोच्छ्रयः अयंच लक्षणहीनोऽपि स्यादित्य आह (समचउरंससंठाणसंठिएत्ति) समं नाभेरुपरि अधश्च सकलपुरुषलक्षणोपेतावयवतया तुल्यं तच्च तच्चतुरस्रं च प्रधानं समचतुरस्रमथवा समाः शरीरलक्षणोक्तप्रमाणा विसंवादिन्य-श्चतस्रोऽश्रयो यस्य तत्समचतुरस्रम। अश्रयस्त्विह चतुर्दिग-भागोपलक्षिताः शरीरावयवा इति। अन्ये त्वाहुः-समा-अन्यूनाधिकाश्चतस्रोऽप्यश्रयो यत्र तत् समचतुरस्रम् अश्रयश्च पर्यंकासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम् आसनस्य ललाटो-परिभागस्य चान्तरं दक्षिणस्कन्धस्य वामजानुनश्चान्तरं वाम-स्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति अन्ये त्वाहुर्विस्तारोत्सेधयोः सम त्वात् समं चतुरश्रं तच्च तत्संस्थानं चाकारः सम-चतुरश्रसंस्थानं तेन संस्थितो व्यवस्थितो यः स तथा। अयं च हीनसंहननोऽपि स्यादित्य आह (वज्जरिसहणारायसंघयणेत्ति) इह संहननमस्थिसंचयविशेषः वज्रादीनां लक्षणमिदम् – ''रिसहो य होई पट्टो, वज्जं पुण कीलियं विजाणाहि। उभ ओमक्कडबंधो णारायं तं, वियाणाहि त्ति'' तत्र वज्रं च तत्कीलिका-कीलितकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्य युक्तत्वात्। ऋषभश्च लोहा-दिमयपट्टवद्धकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्यान्वितत्वात्। वज्रर्षभः स चासौ नाराचं च उभयतो मर्कटबन्धनिबद्धकाष्ठसम्पुटोपम

सामर्थ्यो पेतत्वात् वज्रर्षभनाराचं तत्संहननमस्थिसंचयविशेषोऽनुत्तमसामर्थ्ययोगाद्यस्यासौ वज्रर्षभनाराचसंहननः । अन्ये तु कीलिकादिमत्त्वमस्थ्नामेव वर्णयन्ति अयश्च निन्द्यवर्णोऽपि स्यादित्यत आह (कणयपुलयनिघसपम्हगोरे) कनकस्य सुवर्णस्य (पुलगत्ति) यः पुलको लवस्तस्य यो निकषः कषपट्ट के रेखालक्षणः तथा (पम्हत्ति) पद्मपक्ष्माणि केसराणि तद्व द्गौरो यःस तथा । वृद्धव्याख्या तु-कनकस्य न लोहादेर्यःपुलकः सारो वर्णतिशयस्तत्प्रधानो यो निकषो रेखा तस्य यत्पक्ष्म बहुलत्वं तद्वद्गौरो यः स तथा अथवा कनकस्य यःपुलकोद्भूतत्वे सति बिन्दुस्तस्य निकषो वर्णतः सदृशो यः स तथा (पम्ह त्ति) पद्मं तस्य चेह प्रस्तावात्केसराणि गृह्यन्ते ततः पद्मवद्गौ रो यः स तथा । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः अयश्च विशिष्ट चरणरहितोऽपि स्यादित्यत आह (उग्गतवेत्ति) अग्रमप्रधृष्यं तपोऽनशनादि यस्य स उग्रतपाः यदन्येन प्राकृतपुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि तद्विधेन तपसा युक्त इत्यर्थः (दित्त तवेत्ति) दीप्तं जाज्वल्यमानदहन इव कर्मवनगहनदहनसमर्थतथा ज्वलिंत तपो धर्मध्यानंनादि यस्य स तथा (तत्ततवेत्ति) तप्तं तपो थेनासौ तप्ततपाः एवं हिन तेन तत्तपस्तप्तं येन कर्माणि सन्ताप्यन्ते न तपसा स्वात्माऽपि तपोरूपः सन्तापितो यतोऽन्यस्यास्पृश्यमिव जातमिति (महातवेत्ति) आसं-शादोषरहितत्वात् प्र शस्ततपाः (उरालेत्ति) भीम उग्रादिविशेषण विशिष्टतपःकरणात्पार्श्वस्था नामल्पसत्त्वानां भयानक इत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः ॥ (उरालेत्ति) उदारः प्रधानः (घोरेति) घोरो निर्घृणः परिषहेन्द्रियादिरिपुणविनाशमाश्रित्य निर्दय इत्यर्थः ॥ अन्ये त्वात्मनिरपेक्षं घोरमाहुः (घोरगुणेत्ति) घोरा अन्यैर्दुरनुचरा गुणा मूलगुणादयो यस्य स तथा (घोरतवस्सित्ति) घोरैस्तपोभिः स्तपस्वीत्यर्थः (घोरबंभचेरवासित्ति) घोरं दारुणमल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वाद्यद्ब्रह्मचर्यं तत्र वस्तुं शीलं यस्य स तथा (उच्छूढसरीरेत्ति) उच्छूढं उज्झितमिवोज्झितं शरीरं येन तत्संस्कारत्यागात्स तथा (संखित्तविउलतेय लेसेत्ति) संक्षिप्त शरीरान्तर्लीनत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात्तो जोलेश्या विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा । मूलटीकाकृता तु (उच्छूढसरीरसंखित्तविउलतेयलेसेत्ति) कर्म्मधारयं कृत्वा व्याख्यातमिति (चउद्दसपुव्वित्ति) चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य तेनैव तेषां रचितत्वादसौ चतुदर्शपूर्वी अनेन तस्य श्रुतकेवलितामाह स चावधिज्ञानादिविकलोपि स्यादत आह (चउनाणोवगएत्ति) केवलज्ञानवर्जन-ज्ञानचतुष्कसमन्वित इत्यर्थः उक्तविवेषणद्वययुक्तोऽपि कश्चिन्न समयश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानकपतितत्वेन श्रवणादित्यत आह (सव्वक्खरसन्निवाइत्ति) सर्वे च ते अक्षरसन्निपाताश्च तत्संयोगाः सर्वेषां चाक्षराणां सन्निपाताः सर्वाक्षरसन्निपातास्ते यस्य जेयतया सन्ति स सर्वाक्षरसन्निपाती । श्राव्याणि वा श्रवणसुखकारीणि अक्षराणि साङ्गत्येन नितरां वदितुं शीलमस्येति श्राव्याक्षरसन्निवादी स च एवं गुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव साक्षादिति कृत्वा शिष्याचारत्वाच्च (समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते विरहतीति) योग स्तत्र दूरं च विप्रकर्षः सामन्तश्च सन्निकृष्टं तन्निषेधाददूरसामन्तं तत्र नातिदूरे नातिनिकट इत्यर्थः । किंविधः संस्तत्र विहरीतत्यह आह (उड्ढंजाणुत्ति) ऊर्ध्वं जानुनी यस्यासावूर्ध्वजानुः शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्याया अभावाच्चोत्कुटुकासन इत्यर्थः (अहोसिरेत्ति) अधोमुखो नोर्द्धं तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टिः किंतु नियतभूभागनियमितदृष्टिरिति भावः ॥ (झाणकोट्ठोवगएत्ति) ध्यानं धर्म्यं शुक्लं वा तदेव कोष्ठः कुसूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपगतस्तत्र प्रविष्टो ध्यानकोष्ठोपगतो यथाहि कोष्ठके ध्यानं प्रक्षिप्तमविप्रसृतं भवत्येवं स भगवान् ध्यानतो विप्रकीर्णेन्द्रियान्तःकरणवृत्तिरिति (संजमेणंति) संचरेण (तवसत्ति) अनशनादिन चशब्दः समुच्चयार्थो लुप्तोऽत्र द्रष्टव्यः संयमतपोग्रहणं चानयोः प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनार्थं प्रधानत्वं च संयमस्य नवकर्मानुपादानहेतुत्वेन तप सश्च पुराण-कर्मनिर्जरणहेतुत्वेन भवति चाभिनवकर्मानुपादा नात् पुराणकर्म्मक्षपणाच्च सकलकर्म्मक्षयलक्षणो मोक्ष इति ॥ (अप्पाणं भावेमाणे विहरइ इति) आत्मनां वासयं स्तिष्ठतीत्यर्थः । भ० १ श० १ उ० । चंद्र ॥ पद्मग्रहणेन पद्मकेसराण्युच्यन्ते अवयवे समुदायोपचारात् यथा देवदत्तस्य हस्तो ग्रस्तोऽवयवोऽपि देवदत्तः तथा च देवदत्तस्य हस्ताग्रं स्पृष्ट्वा लोको वदति देवदत्तो मया स्पृष्ट इति० । सू० प्र० पा० चन्द्र० (गणधर शब्देऽस्य मातापितृपुरादीनि)

इंदभेसज्ज–न० (इन्द्रभेषज) इन्द्रेण प्रकाशितं भेसजम् । शुण्ठ्याम् । शब्दरत्न० । वाच० ।

इंदमह–पु० (इन्द्रमह) इन्द्रः शक्रस्तस्य महःप्रतिनियतदिवसभावी उत्सव इन्द्रमहः । प्रतिनियतदिवसभाविनि इन्द्रसन्तोषार्थे महोत्सवरूपे महामहभेदे, । जी० ३ प्र० । जं० । ज्ञा० आचा० । रा० । ''इंदमहेश्वा'' । भ० श० ६ उ० ३३ ॥ विपा० । इंदमहो आसोयपुण्णिमाए भवतीति । आ० चू० अ० ४ ॥ आव० । स्था० । प्रव० । नि० चू० । ''इंदाइमहापायं पइनियता ऊसवा होंति'' ॥ उत्सवाः प्रायः प्रतिनियता वर्षमध्ये प्रतिनियतभाविन इन्द्रादिमहा इति । आ० म० प्र० । अयंच भरतकालादेव प्रवृत्त इति । आ०म०प्र० (प्रवृत्तिकारणमिंदज्झया शब्दे) ।

इंदमहकामुग–पु० (इन्द्रमहकामुक) इन्द्रमहे वर्षादिकाले कामुकः कामयिता । कुक्कुरे , वर्षादावेव तेषां व्यवायधर्म्मो लोकप्रसिद्धः । वाच० ॥

इंदमुद्धाभिसित्त–पु० (इन्द्रमूर्च्छाभिषिक्त) एकैकपक्षस्य पञ्चदशदिवसेषु स्वनामख्याते सप्तमे दिवसे, ''इंदमुद्धा-भिसित्तेय'' चं० १० पाहु० । ज्यो० । जं० ॥

इंदय–पु० (इन्द्रक) इन्द्रशब्दार्थे, स्था० ६ ठा० ।

इंदयणिरय–पु० (इंद्रकनिरय) निरयेन्द्रकमहानिरये, स्था० ६ ठा० ।

इंदराय–पुं० (इन्द्रराज) इन्द्रे, । ''घणसमए इंदरायस्स'' ति० ॥

इंदलट्ठि–स्त्री (इन्द्रयष्टि) इन्द्रकेतौ, निव्वत्तमहेव्व इंदलट्ठी विमुक्कसंधिबंधणा ॥ ज्ञा० १ अ० ॥

इंदवइरा–स्त्री० (इन्द्रवज्रा) स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः उक्ते द्वादशाक्षरपादके वर्णवृत्तभेदे, वाच० । वृत्त० ॥

इंदवंसा–स्त्री (इन्द्रवंशा) स्यादिन्द्रवंशा ततजैरसंयुतैः वृत्त र० उक्ते द्वादशाक्षरपादके वर्णवृत्तभेदे, वाच० ॥

इंदवसु–स्त्री० (इन्द्रवसु) पांचालदेशस्थकांपिल्यनगरनिवासि-ब्रह्मदत्तस्य भार्यायाम् । उत्त० १३ अ० ॥

इंदवागरण–न० (इन्द्रव्याकरण) शब्दशास्त्रभेदे, कल्प०।

तच्च भगवत ऋषभदेवस्य समये संजातम्॥

अह तं अम्मा पियरो, जाणित्ता अहियअट्ठवासं तु।
कयकोउयलंकारं, लेहायरियस्स उवणेंति॥

अथ भीषणानन्तरं कियत्कालातिक्रमे भगवन्तमधिकाष्टवर्षं मातापितरौ ज्ञात्वा कृतानि कौतुकानि रक्षादीनि अलङ्काराश्च केयूरादयो यस्य स तथा तं प्रवरहस्तिस्कन्धगतं तु परितो-मुक्ताजालमाल्यदाम्ना छत्रेण ध्रियमाणेन चामराभ्यां वीज्यमानं मित्रज्ञातिपरिजनसमेतं लेखाचार्याय उपाध्यायाय उपनयतः। पाठान्तरं वा ''उवणीसु'' उपनीतवन्तौ उपाध्यायस्य महा-सिंहासनं रचितं अत्रान्तरे देवराजस्य खल्वासनकम्पो बभूव। अथावधिना च प्रयोजनविधिं विज्ञाय अहो खल्व-पत्यस्नेहविलिति बुवनत्रयगुरुं प्रति मातापित्रोर्येन भगवन्मपि लेखाचार्यायापनेतुमभ्युद्यताविति संप्रधार्यागत्य च उ पाध्या-यपरिकल्पिते वृहदासने भगवन्तं निवेश्य शब्दलक्षणं पृष्टवान्। कल्प०॥

अमुमेवार्थं प्रतिपादयति।

सक्को य तस्समक्खं, भयवंतं आसणे निवेसित्ता।
सद्दस्स लक्खणं पुच्छे, वागरणं अवयवा इंदं॥

शक्रो देवराजस्तत्समक्षं लेखाचार्यसमक्षं भगवन्तं तीर्थंकरमासने निवेश्य शब्दलक्षणं पृच्छति भगवता च व्याकरण मभ्यधायि। ''व्याक्रियन्ते लौकिका सामयिकाश्च शब्दा अनेनेति व्याकरणं'' शब्दशास्त्रं तदवयवाः केचन उपाध्यानेय गृहीतास्ते च संदर्भितास्ततः ऐन्द्रं व्याकरणं संजातम्। आ० म० द्वि०। आच० चू०॥

इंदसत्तु–पुं० (इन्द्रशत्रु) इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य। वृत्रासुरे, वाच०॥

इंदसम्म (न्)–पुं० (इन्द्रशर्म्मन्) आस्थिकग्रामस्थस्य शूल-पाणियक्षस्यार्चके ब्राह्मणे, ''इन्द्रशर्मा भूतिन्दत्वा ग्राम्यैस्त-स्यार्चकः कृतः'' इति॥ आ० क०। आच०चू०। ''तत्थ इंदसम्मो नाम पडियारगो कओ'' ॥आ०म० द्वि०। मोराकसन्निवेशस्थे स्वनामख्याते गृहपतौ च (तत्कथा महावीरस्य मोराकसन्निवेशं गतस्य विहारसमयेमहावीरशब्दे वक्ष्यते)

इंदसलह-पुं० (इन्द्रशलभ) इन्द्रजातः वर्षाकालजातशलभः। इन्द्रगोपे, वाच०॥

इंदसिरि–स्त्री० (इन्द्रश्री) पंचालदेशस्यथकाम्पिल्यनगरनिवासिनो ब्रह्म (राज) दत्तस्य भार्यायाम्, उत्त० १३ अ०।

***ऐन्द्रश्री**–स्त्री० इन्द्रोजीवस्तस्येयमैन्द्री सा चासौ श्रीश्चैन्द्रश्रीः॥ आत्मगुणलक्ष्म्याम्, 'ऐन्द्रश्रीसुखमग्नेन, लीलालग्नमिवाखिलम् सच्चिदानन्दमग्नेन, पूर्णं जगदवेक्ष्यते।१।'' अष्ट० १ प्र०।

इंदसेढि–स्त्री० (ऐन्द्रश्रेणि) इन्द्राणामियमैन्द्री सा चासौ श्रेणि श्चेति ऐन्द्रश्रेणी। इन्द्रपंक्तौ, ''ऐन्द्रश्रेणिनता प्रतापभवनं भव्याङ्गिनेत्रामृतं सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरैः प्रीत्या प्रणामी कृता। मूर्तिः स्फूर्त्तिमती सदा विजयते जैनेश्वरी विस्फुरन्मो होन्मा-दघनप्र मादमदिरामत्तैर-नालोकिता'' ॥१॥ प्रति०।

इंदसेणा–स्त्री० (इन्द्रसेना) ६ त०। इन्द्रस्थ कटके, ''गंधव्वनट्ट हयगय-रहभडअपिवाप्पसव्वइंदाणं। वेमाणियाणि वसहा, महिसा य अहोनिवासीणंट' ॥४५॥ संघ०सू०। (स्वरूपमधिपतयश्च अणिय शब्दे) जंबूमंदरोत्तर वर्तिन्यां रक्तवतीम्महानदीं समुपया-न्त्याम्महानद्याम्। स्था० १० ठा०।

इंदा–स्त्री० (इन्द्रा) इदि रन् इन्द्रवारुण्याम्,। राजनि० शच्याम्, शब्दर०। वाच०॥ जम्बूमन्दरोत्तरवर्त्तिन्यां रक्तवतीं महानदीं समुपयान्त्याम्म-हानद्याम्, स्था० १० ठा०। धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य स्वनामख्याता-यामग्रमहिष्याम्, स्था० ६ ठा०।

***ऐन्द्री**–स्त्री० इन्द्रो देवता यस्याः सा ऐन्द्री। पूर्वस्यान्दिशि स्था। १०० ठा०। भ०। विशे०। ''इंदा विजयदाराणुसारतो'' ॥ ऐन्द्री दिक् विजयद्वारानुसारतः प्रतिपत्तव्या यत्र विजयद्वारं सा ऐन्द्रीति भावार्थः। आ०म०द्वि०॥ यारुचकात् विजयद्वारानुसारेण विनिर्गता दिक् सा ऐन्द्री। एन्द्री नामप् र्वेत्यर्थः॥ आ० म० द्वि०॥

इंदाणी–स्त्री० (इन्द्राणी) इन्द्रस्य पत्नी। ङीप् आनुक् च। इन्द्र स्याग्रमहिष्याम्,। स्था० ४ ठा०।

इंदायरिय–पु० (इन्द्राचार्य) योगविधिकारके स्वनामख्यातेआचार्ये, जैन१०॥

इंदासण–पु० (इन्द्रासन) इन्द्र आत्मा अस्यते विक्षिप्यतेऽनेन असु क्षेपे करणे ल्युट्। (सिद्धि) संविदावृक्षे तत्सेवने हि आत्मनो विक्षिप्तत्वात्तस्य तथात्वम्। पञ्चमात्रिकस्य प्रस्तावे आदिलघुके शे षगुरुद्वयात्मके प्रथमे भेदे, वाच०॥

इंदाहिट्ठिय–त्रि० (इन्द्राधिष्ठित) इन्द्रयुते, ''इंदाहिट्ठिया'' इति। इन्द्राधिष्ठिता तद्युक्तत्वादिति। भ० ३ श० १ उ०। ''दशकप्पा इंदहिट्ठिया पण्णत्ता''। सौधर्मादीनामिन्द्राधिष्ठितत्वमेते-ष्विन्द्राणां निवासादिति वृत्तिः। स्था० १० ठा०।

इंदाहीण–त्रि० (इन्द्राधीन) इन्द्रवश्ये, भ० ३ श० १ उ०।

इंदाहीणकज्ज–त्रि० (इन्द्राधीनकार्य्य) इन्द्रवश्यकार्ये, भ० ३ श० १ उ०।

इंदिय–न० (इन्द्रिय) इदि परमैश्वर्ये इदितो नुम् इन्दनादिन्द्र आत्मा (जीव) सर्व विषयोपलब्धि (ज्ञान) भोगलक्षणपरमैश्वर्ययोगात् तस्य लिङ्गं चिन्हमविनाभाविलिङ्गं सत्तासूचनात् प्रदर्शना-दुपलम्भाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिङ्गमिन्द्रियलिङ्गमिन्द्रिय-विषयोपलम्भात् ज्ञापकत्वसिद्धिः तत्सिद्धौ उपयोगलक्षणो जीव इति जीवत्वसिद्धिः। अष्ट०। आ० म० द्वि०। तेन दृष्टं सृष्टं जुष्टं दत्तमिति वा इन्द्रियम्। स्था० ५ ठा०। इन्द्रियमिति निपातनसूत्राद्रूपनिष्पत्तिः नं०। जी०। विशे०। पा०। पं०सं०। इन्द्रशब्दादियप्रत्यय इति। प्रज्ञा० १५ पद। आ० चू०॥ श्रोत्रादौ,। उत्त० १६ अ०। सूत्र०। नयनवदनजघनवक्षःस्थ लनाभिकज्ञादौ, उत्त० १६ अ० ''नो निग्गंथे इत्थीणं इंदिआइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवति'' उत्त०।

इंदो जीवो सव्वो–वलद्धिभोगपरमेसरत्तणउ।
सोत्ताइभेयमिंदिय–मिह तल्लिंगाइ भावाउ॥

इदि परमैश्वर्ये इन्दनात्परमैश्वर्ययोगादिन्द्रो जीवः परमैश्वर्यमस्य कुत्त इत्याह (सव्वो इत्यादि) आवरणाभावे सर्वस्यापि वस्तुन उपलम्भान्नाभावेषु सर्वस्यापि त्रिजगद्गतस्य वस्तुनः परिभोगाच्च परमश्वरो जीव इति तस्य परमैश्वर्यं तस्येन्द्र स्य जीवलिङ्गं चिन्हं तेन दृष्टं वा निपातनादिहेन्द्रियमुच्यते

तल्लिङ्गादिभावादिति। तच्च श्रोत्रादिभेदं
श्रोत्रनयनघ्राणरसनस्पर्शनभेदात्पञ्चविधमित्यर्थः। विशे०॥

स्था० । प्रव० । सूत्र० । पञ्च स्पर्शादीनि बुद्धीन्द्रियाणि वाक् पाणिपादपायूपस्थरूपाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादशं मन इति सांख्याः। सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

तस्य च नोइन्द्रियत्वं स्थानाङ्गे उक्तम्। तद्यथा–

छहिं इन्द्रियत्था पण्णत्ता तंजहा सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे नो इंदियत्थे।

तत्र श्रोत्रेन्द्रियादीनामर्था विषयाः शब्दादयः मनस आन्तर करणत्वेन करणत्वात्करणस्य चेन्द्रियत्वात्तत्रान्तररूढ्या वा मनस इन्द्रियत्वात्तद्विषयस्येन्द्रियार्थत्वेन षडिन्द्रियार्था इत्युक्तम्। औदारिकादित्वार्यपरिच्छेदकत्वलक्षणधर्मं द्वयोपेतमिन्द्रियं तस्यौदारिकादित्वधर्मलक्षणदेशनिषेधा-न्नोइन्द्रियमनः सादृश्यार्यत्वाद्वा नोशब्दस्यार्थपरिच्छेदकत्वे नेन्द्रियाणां सदृशमिति तत्सहचरमिति वा नोइन्द्रियं मनस्तस्यार्थो विषयो जीवादि नो इन्द्रियार्थ इति। स्था० ६ ठा०।

१. इन्द्रियाणां पञ्चत्वेऽपि नामादितश्चातुर्विध्यं द्रव्यादितो द्वैविध्यं तत्संस्यानञ्च।
२. इन्द्रियाणां बाहुल्यपृथ्वत्वप्रदेशावगाहनास्तद्घात वेदना च।
३. इन्द्रियाणां पृथुत्वं तदवगाहना च।
४. इन्द्रियाणामल्पबहुत्वं तद्गुणाश्च।
५. नैरयिकादिषु संस्थानाद्यल्पबहुत्वचिन्तनम्।
६. इन्द्रियाणां वर्त्तमानार्थग्राहकत्वम्।
७. इन्द्रियाणां स्पृष्टास्पृष्टविषयता तद्ग्रहणप्रकारश्च।
८. इन्द्रियाणां प्रविष्टाप्रविष्टविषयचिन्तनम्।
९. श्रोत्रलक्षणादीन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वं नयनमनसोरप्राप्यकारित्वम्।
१०. इन्द्रियाणां विषयनिरूपणम्।
११. इन्द्रियासंभृतत्वस्वरूपस्येन्द्रियासम्बरदोषस्य चाभिधानम्।
१२. इन्द्रियाणां गुप्तागुप्तदोषाभिधानम्।
१३. अनामितानि चेन्द्रियाणि दुःखाय भवन्ति इत्यत्रोदाहरणानि।
१४. इन्द्रियाश्रितत्वे जीवानां भेदाः।

(१) इन्द्रियाणां पञ्चत्वेऽपि नामादितश्चातुर्विध्यं द्रव्या-दितोद्वैविध्यं तत्संस्थानञ्च।

कइणं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचिंदिया पण्णत्ता तंजहा सोइंदिए चक्खिंदिए घाणिंदिए जिब्भिंदिए फासिं-दिए।

कति कियत्संख्याकानि णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! इन्द्रियाणि प्राग्निपतितशब्दार्थानि वक्तव्यानि भगवानाह। गौतम ! पञ्चेन्द्रियाणि प्रज्ञप्तानि तान्येव नामत आह "सोइं दियए" इत्यादि। प्रज्ञा० १५ पद।

एतानि च पञ्चापि इन्द्रियाणि नामादिभेदाच्चतुर्विधानि

तं नामाइ चउद्धा, दव्वं निव्वित्ति उवगरणं च।
आगासे निवित्ति, चिंतावज्झाय माउन्नो॥

तन्नामेन्द्रियस्थापनेन्द्रियमित्यादि भेदाच्चतुर्द्धा तत्र ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यं द्रव्येन्द्रियं निर्वृत्तिरुपकरणं चेति द्विभेदम्। विशे०।

भावतो लब्ध्युपयोगात्मकानि आह च तत्त्वार्थसूत्रकृत् निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियलब्ध्युपयोगो भावेन्द्रियमिमि। तत्र निर्वृत्तिर्न्म प्रतिविशिष्टः संस्थानविशेषः साऽपि द्विविधाः बाह्याभ्यन्तरा च तत्र बाह्या पर्पटिकादिरूपा सा च विचित्रा न प्रतिरूप नियतरूपतयोपदेष्टुं, शक्यते॥ तथाहि मनुष्यश्रोत्रे नेत्रयोरुभयपार्श्वतो भाविनी भ्रुवौ चोपरितन-श्रवणबन्धापेक्षया समे वाजिनीनेत्रयोरुपरि तीक्ष्णे चाग्रभागे इत्यादि जातिभेदान्नानाविधा आभ्यन्तरा तु निर्वृत्तिः सर्वेषामपि जन्तूनां समानता मेववाधिकृत्य वक्ष्यमाणानि संस्थानादिविषयाणि सूत्राणि केवलं स्पर्श-नेन्द्रि यस्य निर्वृत्तेर्बाह्याभ्यन्तरभेदा न प्रतिपत्तव्याः पूर्वसूरिभि-र्निषेधात्। प्रज्ञा० १५ पद। आ०म०द्वि०। तत्वार्थमू लटीकायामनभ्युपगमात्। जी० १ प्र०।

इन्द्रियाणां संस्थानान्याह।

पुप्फं कलंबुयार, धन्न–मसूरादिमुत्तचंदो य।
होई खुरुप्पनाणा, किई य सोइंदियाईणं॥

श्रोत्रस्यान्तर्निर्वृत्तिः कदम्बपुष्पाकारमांसगोलकरूपा दृष्टव्या। चक्षुषस्तु धान्यमसूराकारा, घ्राणस्य अतिमुक्तककुसुमचन्द्रका-कारा, रसनस्यक्षुरप्राकारा, स्पर्शनं तु नानाकृतिर्द्रष्टव्यमित्येष श्रोत्रादीनां तन्निर्वृत्तेराकार इति। विशे०।

तथाच प्रज्ञापनाया पञ्चदशे पदे।

सोइंदिए णं भन्ते ! किं संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! कलंबुयापुप्फसंठाणसंठिए पण्णत्ते चक्खिंदिएणं पुच्छा गोयमा ! मसूरा चंदसंठाणसंठिये पण्णत्ते, घाणिंदिएणं पुच्छा गोयमा ! अइमुत्तगचंदसंठाणसंठिए पण्णत्ते, जिब्भिंदिएणं पुच्छा गोयमा ! खुरुप्पसंठाणसंठिए पण्णत्ते फासिंदिएणं पुच्छा गोयमा ! नाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते,

तत्रान्तः श्रोत्रेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये नेत्रगोचरोऽतीता केवलिदृष्टा अतिमुक्तककुसुमाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति शब्दग्रहणोपकारे वर्तते चक्षुरिन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिगम्या धान्यमसूराकारा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या रूपग्रहणोपकारे वर्तते। घ्राणेंद्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिदृष्टा अतिमुक्तककुसुमाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या गन्धग्रहणापेकारे वर्त्तते। रसेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये जिनगम्या क्षुरप्रहरणाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या रसग्रहणोपकारे वर्तते। स्पर्शनेन्द्रियस्यान्तः केवलिदृष्टा देहाकार काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या स्पर्शग्रहणोपकारे वर्त्तते॥ तंदु०॥

उपकरणं खड्गस्थानीया बाह्या निर्वृतिर्या खड्गधारासमाना - स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिका अभ्यन्तरा निर्वत्तिस्तस्याः शक्तिविशेषः इदञ्चोपकरणरूं द्रव्येन्द्रियमन्तरेनिर्वृत्तेः कथं चिदर्थान्तरं शक्तिशक्तिमतोः कथंचिदं भेदात्कथञ्चिद्भेदश्च सत्यामपि तस्यामान्तरनिर्वत्तौ द्रव्यादिनापकरणस्य विघातसम्भवात् तथाहि–सत्यामपि कदम्बपुष्पाद्याकृतिरूपायामान्तरनिर्वृत्ता वतिकटेरतरघनगर्जितादिना शक्त्युपघाते सति नपरिच्छे त्तुमीशते जन्तवः शब्दादिकमिति। प्रज्ञा० १५ पद।

विसयग्गहणसमत्थं, उवगरणिंदियं तरं तं पि।
जंते ह तदुवघाए गिण्हए निव्वत्तिभावे वि॥

तस्य एव कदम्बपुष्पकृतिमांसगोलकरूपायाः श्रोवाद्यन्तर्नि-

र्वृत्तेर्यद्विषयग्र हणसमर्थं शक्तिरूपमुपकरणं द्रव्येन्द्रियमुच्यते इति शेषः। यथा खड्गस्य छेत्री शक्तिर्वह्नेर्वा दाहादिकासक्तिस्थतेदमपि श्रोत्राद्यन्तर्निर्वृत्तेर्विषयग्रहणसमर्थशक्तिरूपं द्रष्टव्यम्। तर्ह्यन्त-र्निर्वृत्तिरेव तत्तच्छक्तिरूपत्वान्न पुनर्भेदान्तरमित्याशंक्याह। तदपीन्द्रियान्तरं द्रव्येन्द्रियस्य भेदान्तरमित्यर्थः कुत इत्याह (जमित्यादि) यस्मादिह कदम्बपुष्पाद्याकृतेर्मांसगोलकाकारायाः श्रोत्राद्यंतर्निर्वृत्तेर्या शब्दादेर्विषयच्छेत्री शक्तिस्तस्या वातपित्ता-दिना उपघाते विनाशे सति यथोक्तांतर्निर्वृत्तिसद्भावेति न शब्दादिविषयं गृह्णाति जीवन इत्यतो ज्ञायते अस्त्यन्तर्निर्वृत्ति-शक्तिरूपमुपकरणेन्द्रियं द्रव्येन्द्रियस्य द्वितीयो भेद इति। विशे० ''इंदियाणि दुविहाणि दव्विंदियाणि भावेदियाणि अ दव्विंदियं दुविहं णिव्वत्तणाए उवकारणे य णि त्तव्वणाएजहा लोहकारो भणितो एतेण लोहेण परसुं वासिं थोभणयं च णिवत्तेहिंति तेण णं गहाय ततेहिं पमाणेहिं खंडियाणि जाव कम्मस्स समत्थाणि सा णिव्वत्तणा कज्जसमत्थाणि जायाणि उवगरणाइं'' ॥ आ०चू० २ अ० ॥ भावेन्द्रियमपिद्विधा लब्धिरुपयोगश्च तत्र लिब्धः श्रोत्रेन्द्रियादि विषयस्तदावरणक्षयोपशमः उपयोगः स्वस्वविषये लब्ध्यनुसारेणात्मनः परिच्छेदव्यापारः। जी० १ प्र०। ''भावेंदियं दुविहं लद्धिए उवओगत्तो य जाणि जेण जीवेण लद्धाइं इंदियाणि सा लद्धा एगिंदियाणं एगा फासिंदियलद्धि वेंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचेंदियाणं पंचविहो उवओगोजाहे जेण इंदिएण उवजुञ्जत्ति सव्वजीवाय किर उवओगं पडुच्चइ एगिंदिया'' आ० – चू० २ अ०।

तदाह ॥

लद्धुवओगो भाविंदियं तु लद्धित्ति जो खउवसमो।
होइ तदावरणाणं, तल्लाभे चे सेसं पि ॥१॥

लब्ध्युपयोगो भावेंद्रियं तत्र यदावरणानां तेषामिन्द्रियाणा-मावारककर्म्मणां क्षयोपशमो भवति जीवस्य सा लब्धिः शेषमपि द्रव्येन्द्रियं तल्लाभ एव लब्धिप्राप्तावेव भवतीति द्रष्टव्यमिति ॥

उपयोगः क इत्याह ॥

जो सविसयवावारो, सो उवओगो स चेगकालम्मि ॥
एगेण होइ तम्हा, उवओगाओ उ सव्वो वि ॥१॥

यः श्रोत्रादीन्द्रियस्य स्वविषये शब्दादौ परिच्छेद्य व्यापारः स उपयोगः स चैकस्मिन्काले एकेनैव श्रोत्राद्यनन्तरेण इन्द्रियेण भवति न बुद्ध्यादिभिः तस्मादुपयोगमाश्रित्य सर्वो पि जीव एकेन्द्रि य एव सर्वस्मिन्काले देवादीनामप्येकस्यै व श्रोत्राद्यनन्तरेन्द्रियोपयोगस्य सद्भावादिति। यद्युपयोगतः सर्वोपि जीव एकेंद्रियस्तर्ह्येकेंद्रियो द्वींद्रिय इत्यादिर्भेदः कथमागमनिर्दिष्ट इत्याह –

एगेंदियाइभेया, पडुच्च सेसेंदियाणि जीवाणं ॥
अहवा पडुच्च लद्धिंदियं पि पंचेदिंया सव्वे ॥१॥

अतो जीवानामेकेन्द्रियादयो भेदाः शेषाणि निर्वृत्त्युपकरण लब्धीन्द्रियाणि प्रतीत्य द्रष्टव्यं तानि यस्य यावन्ति तावद्विर्व्यपदेश इति न तूपयोगतः अथवा लब्धीन्द्रियमप्याश्रित्य वक्ष्यमाण-युक्तितः सर्वे पृथिव्यापदयोऽपि जीवाः पञ्चेंद्रिया ए वेति कुतः सर्वे पञ्चेंद्रिया इत्याह ॥

जं किर वउलाईणं, दीसइ सेसेंदिओवलंभो वि ॥
तेण त्थि तदावरण-क्खओवसमसंभवो तेसिं ॥१॥

यस्मात् किल बकुलचंपकतिलकविरहकादीनां वनस्पति विशेषाणां स्पर्शनाच्छेषाणि यानि रसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणा नीन्द्रियाणि तत्संबन्ध्युपलम्भो दृश्यते तेन ज्ञायते तेषामपि बकुलादीनां तदावरणक्षयोपशमसंभवो रसनादीन्द्रियावार ककर्म्मक्षयोपशमस्य या च यावती मात्रा अस्तीति अन्यथा हि बकुलस्य शृंगारितकामिनी-वदनार्प्पितचारुमदिरागण्डूषेण चंपकस्यातिसुरभिगन्धोदकसेचनेन तिलकस्य कामिनीकटाक्षविक्षेपेण विरहकस्य पञ्चमोद्गारश्रवणेन पुष्पपल्लवादि संभवो न घटेत। विशे० ॥ यद्यपि द्रव्यरूपं भावरूपं चेत्थमिन्द्रियमनेकप्रकारं तथापीह बाह्यनिर्वृत्तिरूपमिन्द्रियं षष्टमव गन्तव्यं तदेवाधित्य व्यवहारप्रवृत्तेः तथाहि बकुलादयः पञ्चेन्द्रिया इव भावेन्द्रि-यपञ्चकविज्ञानसमन्विता अनुमानतः प्रतीयन्ते तथापि न ते पञ्चेन्द्रिया इति व्यवह्रियंते बाह्येन्द्रि यपञ्चकासंभवात्। जी० १ प्र०।

पंचिंदियव्व बउलो, नरोव्व सव्वविसयोवलंभाउ ॥
तह वि न भण्णइ पंचें-दिओत्ति वज्जिंदियाभावा ॥१॥

पंचेंद्रिय इव बकुल इति प्रतिज्ञा सर्वेषामपि शब्दरूपादिवि शेषाणामुपलम्भादिति हेतुः नरवदिति दृष्टान्तः। ननु बकुलस्य रसनेन्द्रि योपलम्भ एवोक्तस्तत्कथमस्य सर्वविषयोपलम्भसंभव इति सत्यम् मुख्यस्तावत्स एव संभवति गौणवृत्त्या तु शेषेन्द्रियविषयोप-लम्भोऽप्यस्य संभाव्ते शृङ्गारितस्वरूप तरुणीमदिरागंडूषार्पणात् तस्यां च तनुलतास्पर्शाधररस चंदनादिगन्धशोभनरूपमधुरोल्लापलक्षणानां पञ्चानामपीन्द्रि यविषयाणां संभवादिति अन्यथा वा पञ्चेन्द्रियत्वमस्य सुधिया भावनीयं तर्ह्येकेन्द्रियो बकुलः कथं प्रसद्धिः पञ्चेन्द्रियोऽपि कस्मान्न व्यपदिश्यत इत्याह॥ तथापि पञ्चेन्द्रियोऽसौ न भण्यते बाह्यानां निर्वृत्त्यादि द्रव्येन्द्रियाणामभावादिति ॥

अमुमेवार्थं कुंभकार व्यपदेशदृष्टांतेन समर्थयन्नाह॥

सुत्तो वि कुंभनिव्वत्ति, सत्तिजुत्तोत्ति जह सघडकारो।
लद्धें दिएण पंचें-दिओ तहाबज्झिरहिओ वि ॥

सुबोधार्थमिन्द्रियाणां लाभक्रम उच्यते। तत्र यदा द्रव्येन्द्रियसामान्यं भावेन्द्रियसामान्यं वाश्रित्य पृच्छ्यते तदा तल्ला भे चैव ''सेसं-पित्ति'' प्रागुक्तवचनाल्लब्धिमाश्रित्य प्रथमं भावेन्द्रियलाभस्ततो द्रव्येन्द्रियलाभ इति द्रष्टव्यम्। यत्तु द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रिय-सामान्याद्विन्नः कृतो लाभः पृच्छ्यते विशेषरूपतया पृच्छ्यते इत्यर्थः तदित्थं द्रष्टव्यं प्रथममिन्द्रियावरणक्षयोपशमरूपा लब्धिर्भवति ततो बाह्यान्तरभेद भिन्नं निर्वृत्तेः शक्तिरूपमुपकरणं तदनन्तरं चेन्द्रियार्थोप योग इत्येतदेवाह॥

लाभकम्मे उ लद्धी, निव्वउवगरणउवओगो।
या दव्वेंदिय भावें–दिय सामन्नओ कओ भिन्नो ॥

व्याख्यातार्था तदेव व्याख्यातमिंद्रियस्वरूपम्। विशे० नं०। तं०। आ० म० द्वि०। प्रज्ञा०। जी०। स्था०। पा०। अष्ट०। आचा०।

द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियभेदाः यथा–

कतिविहा णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा दव्विंदिया य भाविंदिया य। कइणं भंते !

दव्विंदिया पण्णत्ते ? गोयमा ! अट्ठदव्विंदिया पण्णत्ते, तंजहा दो सोत्ता दो नेत्ता दो घाणा जीहा फासे । नेरइ याणं भंते ! कइ दव्विंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! अट्ठाएते चेव एवं असुरकुमाराणं जाव थणियकुमाराण वि । पुढविक्काइयाणं भंते ! कइ दव्विंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! एगे फासिंदिए पण्णत्ते । एवं जाव वणस्सइकाइयाणं । बेइं दियाणं भंते ! कइ दव्विंदिए पण्णत्ते ? गोयमा ! दो दव्विंदिया पण्णत्ता, तं जहा फासिंदिए य जिब्भिंदिए य । तेइंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! चत्तारि दव्विंदिया पण्णत्ता दो घाणा जीहा फासिं-दिए । चउरिंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! छदव्विंदिया पण्णत्ता, तं जहा – दो नेत्ता दो घाणा जीहा फासे सेसाणं जहा नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवइ या दव्विंदिया अईया ? गोयमा ! अणंता । केवइया वद्धेल्लगा ? गोयमा ! अट्ठ । केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! अट्ठ वा सोलस वा सत्तरस वा संखेज्ज वा असंखेज्ज वा अणंता वा । एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? अट्ठ । केवइया पुरक्खडा ? अट्ठ वा नव वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । एवं जाव थणियकुमाराणं ताव भाणि यव्वं । एवं पुढविक्काइयआउक्काइयवणस्सइकाइयस्स वि नवरं केवइया बद्धेल्लगत्ति पुच्छा, एवं उत्तरं एके फासिंदिए दव्विंदिए एवं तेउक्काइय । वाउक्काइयस्स वि नवरं पुरक्खडा नव वा दस वा । एवं वेइंदियाण वि नवरं बद्धेल्लगपुच्छाए, दोण्णि । एवं तेइंदियस्स वि बद्धे ल्लगा चत्तारि । एवं चउरिंदियस्स वि नवरं बद्धेल्लगा । पंचिंदियति-रिक्खजोणियमणुस्सवाणमंतरजोइसिय सोहम्मीसाण-गदेवस्स जहा असुरकुमारस्स । नवरं मणु स्सस्स पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा नव वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । सणंकु मारमाहिंदबंभ-लंतगसुक्कसहस्सार आ णयपाणयआरणअच्चुयगेविज्जग-देवस्स जहा नेरइय स्स । एगमेगस्स णं भंते ! विजय-वेजयंत-जयंत ---अप राजियदेवस्स केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता, केवइया बद्धेल्लगा ? अट्ठ । केवइया पुरक्खडा ? अट्ठ वा सोलस वा चउवीसा वा संखेज्जा वा । सव्वट्ठसिद्धगदेवस्स अतीता अणंता बद्धेल्लगा अट्ठ पुरक्खडा अट्ठ । नेरइया णं भंते ! केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! असंखि-ज्जा । केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! अणंता । एवं जाव गेवेज्जगदेवाणं नवरं मणुस्साणं बद्धेल्लगा सिय संखिज्जा सिय असंखिज्ज । विजयवे जयंतजयंत अपराजियदेवाणं पुच्छा, गोयमा ! अतीता अणंता बद्धेल्लगा असंखिज्जा पुरक्खडा असंखिज्जा सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं पुच्छा, गोयमा ! अतीता अणंता वा बद्धेल्लगा संखिज्जा पुरक्खडा संखेज्जा ।

(कइविहाणं भंते इंदिया पण्णत्ता इति) द्रव्येन्द्रियं सुगमं प्राग् भावितत्वात् । (कइविहेणं भंते ! दव्विंदिया पन्नत्ता इति) द्रव्येन्द्रियसंख्याविषयं दण्डकसूत्रञ्च पाठसिद्धम् । एकैक जीवविषयातीतबद्धपुरस्कृतद्रव्येन्द्रियचिन्तायाम्–यो नैरयि-कोऽनन्तरमनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्य मानुषभवसम्ब-धन्धीन्यष्टौ, यः पुनरन्यतरभवे तिर्यक् पञ्चेन्द्रियत्वमवाप्य तत उद्वृत्तो मनुष्येषु गत्वा सेत्स्यति तस्याष्टौ तिर्यक्-पञ्चेन्द्रियभवसम्बन्धीन्यष्टौ मनुष्यभव-सम्बन्धीनीति षोडश । यः पुनरनन्तरं नरकादुद्वृत्तस्तिर्यक् पञ्चेन्द्रियत्व मवाप्यतदनन्तर मेकभवे पृथिवीकायादिको भूत्वा मनुष्येषु समागत्य सेत्स्यति तस्याष्टौ तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवसम्बन्धीनि एकं पृथिवीकायादि भवसम्बन्धि अष्टौ च मनुष्यभवसम्बन्धीनि इति सप्तदश संख्ये यकालं संसारावस्थाविनःसंख्येयानि असंख्येयकालमसंख्येया नि अनन्तकालमनन्तानि, असुरकुमारारसूत्रे–पुरक्खडा अट्ठ वा नव वा इत्यादि । तत्रासुरभवादुद्वृत्यानन्तरभवे मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यत्यतोऽष्टौ, असुरकु मारादयस्त्वीशानपर्यन्ताः पृथि-व्यब्वनस्पतिषूत्पद्यन्ते ततो योऽनन्तरभवे पृथिव्यादिषु गत्वा तदनन्तरं मनुष्यत्वमेवाप्य सेत्स्यति तस्य नव संख्येयादिभावना प्राग्वत् पृथिव्यद्वनस्पतिसूत्रे पुरक्खडा अट्ठ वा नव वेति ॥ पृथिव्यादयो ह्यनन्तरमृद्धृत्य मनुष्येषूत्पद्यन्ते सिद्धयंति च तत्र योऽनन्तरभवे मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्य मनुष्य भव सम्बन्धीन्यष्टौ यस्त्वनन्तरमेकं पृथिव्या भवमवाप्य तदनन्तरं मनुष्यो भूत्वा सेत्स्यति तस्य नव तेजोवायवोऽनन्तरमुद्वृत्ता मनुष्यत्वमेव न प्राप्नुवन्ति द्वित्रिनतुरिन्द्रि यात्स्वनन्तरं मनुष्यत्वमवाप्नुवन्ति परं न सिद्धयन्ति, ततस्तेषां सूत्रेषु जघन्यपदे नवनवेति वक्तव्यं शेषभावना प्रागुक्तानु सारेण कर्त्तव्या, मनुष्यसूत्रे पुरस्कृतानि द्रव्येन्द्रियाणि कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्तीति तद्भव एवसिद्धयतो न सन्ति शेषस्य सन्तीतिभावः यस्यापि सन्ति सोऽपि यद्यनन्तरभवे भूयोऽपि मनुष्यो भूत्वा सेत्स्यति तस्याष्टौ याः पुनः पृथिव्याद्येकभवान्तरितो भूत्वा सिद्धिगामी तस्यनव शेषभावना प्राग्वत् । सनत्कुमारादयो देवा अनन्तरमुद्वृत्ताः न पृथिव्यादिष्वायान्ति किन्तु पञ्चेन्द्रियेषु ततस्ते नैरयिकवद्भवक्तव्याः तथाचाह – ''सणंकुमारमाहिंद बंभलोयलं तगसुक्कसहस्सार आणय पाणय आरण अच्चुय गेवेज्जगदेवस्सय जहा नेरइयस्स'' विजयादिदेवचतुष्टयसूत्रेषु योऽनन्त रभवे मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्याष्टौ यः पुनरेकवारं मनुष्यो भूत्वा भूयोपि मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्य षोडश यस्त्वपान्तराले देवत्वमनुभूय मनुष्यो भूत्वा सिद्धिगामी तस्य चतुर्विंश-तिर्मनुष्यभवेऽष्टौ देवभवेऽष्टौ भूयोपि मनुष्यभवे अष्टाविति संख्येयानि संख्येयं कालं संरारावस्थायिन इह विजयादिषु चतुर्षुगताः प्रभूतमसंख्येयमननन्तं वा कालं संसारे नावतिष्ठन्ते ततः संखेज्जा वा इत्येवोक्तं ''मा संखेज्जा अणंता वा'' अति सर्वार्थ सिद्धस्त्वनन्तरभवे नियमतः सिद्धयति तत स्तस्याऽजघन्योत्कृष्टपुरस्कृता अष्टाविति । बहुवचनचिन्तायां नैरयिकसूत्रे बद्धानि द्रव्येन्द्रियाणि असंख्येययानि नैरयिका

णामसंख्यातत्वात् एवं शेषसूत्रेभ्वप्युपयुज्य वक्तव्यं नवरं मनुष्यसूत्रे ''सियसंखेज्जा'' इह सम्मूर्च्छिममनुष्याः कदाचित्सर्वथा न सन्ति तदन्तरस्य चतुर्विंशतिमुहूर्त्तप्रमाणस्य प्रागभिधानात्, तत्र यदा पृच्छासमये सर्वथा न सन्ति तदा संख्येयानि गर्भजमनुष्याणां संख्येयत्वात्। यदा तु संमूर्च्छिमाअपि सन्ति तदा असंख्ये-यानि। सर्वार्थसिद्धमहाविमानदेवाः संख्येया बादरत्वे महाशरीरत्वे च सन्ति परिमितक्षेत्रवर्तित्वात् ततो बद्धानि पुरस्कृतानि वा तेषां द्रव्येन्द्रियाणि संख्येयानि॥

एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया दव्वि दिया अतीता ? गोयमा ! अणंता। केवइया वद्धेल्लगा ? अट्ठ। केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि। जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा। एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया दव्विदिंया अतीता ? गोयमा ! अणंता। केवइया वद्धेल्लगा ? गोयमा ! नत्थि। केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि। जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा। एवं जाव थणियकुमारत्ते। एगमेगस्सणं भंते ! नेरइगस्स पुढविकाइयस्स केवइवा दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता। केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! णत्थि केवइ या पुरक्खडा ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि जस्स अत्थि एक्कोवा दो वा तिन्निवा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा। एवं जाव वणस्सइकाइयत्ते। एगमेगस्सणं भंते ! नेरइयस्स वेइंदियत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता ? केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! णत्थि, केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! कस्स अत्थि कस्स नत्थि। जस्स अत्थि दो वा चत्तारि वा छ वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा। एवं तेइंदियत्तेवि नवरं पुरक्खडा चत्तारि वा अट्ठ वा वारस वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा। एवं चउरिंदियत्तेवि नवरं पुरक्खडा छ वा वारस वा अट्ठारस वा संखिज्जा वा असं खिज्जा वा अणंता वा। पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ते जहा असुरकुमारत्ते। मणुस्सत्ते वि एवं चेव नवरं केवइया पुरक्खडा अट्ठवा सोलस वा चउवीसं वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, सव्वेसिं मणुस्सवज्जाणं पुर क्खडा मणुस्सत्ते कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थित्ति एवं न वुच्चइ। वाणमंतरजोइसियसोहम्मग जाव गेवेज्जगदे वत्ते अतीता अणंता। बद्धेल्लगा नत्थि। पुरक्खडा कस्स अत्थि कस्स नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा चउवीसं वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा। एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स विजयवे जयंतजयंतअपराजितदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? नत्थि केवइया बद्धेल्लगा ? नत्थि। केवइया पुरक्खडा ? कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा। सव्वट्ठ सिद्धदेवत्ते अतीता नत्थि, बद्धेल्लगा नत्थि, पुरक्खडा कस्स अत्थि कस्स नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ। एवं जहा नेरइए दंडओ नीतो तहा असुरकुमारेणवि नेयव्वो जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं नवरं जस्स सट्ठाणे जइ बद्धिल्लगा तस्स तइ भाणियव्वा। एगमेगस्सणं भंते ! मणुस्सस्स नेरइयत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता केवयि बद्धेल्लगा नत्थि केवइया पुरक्खडा ? कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा चउवीसं वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा। जाव एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ते नवरं एगिंदिय बिगलिंदियएसु जस्स जत्ति पुरक्खडा तस्स तत्तिया भाणियव्वा। एगमेगस्स णं भंते ! मणुस्सस्स मणुस्सत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता। केवलइया बद्धेल्लगा ! गोयमा ! अट्ठ, केवइया पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा चउवीसं वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा। वाणमंतरजोइसिय जाव गेवेज्जगदजेवत्ते जहा नेरइयत्ते। एगमेगस्स णं भंते ! मणुस्स विजय-वेजयतजयंतअपरजियदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा। केवइया बद्धेल्लगा णत्थि। केवइया पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा। एगमेगस्स णं भंते ! मणुस्सस्स सव्वट्ठ सिद्धगदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ, केववइया बद्धेल्लगा णत्थि, केवइया पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ। वाणमंतरजोइ सिया जहा नेरइए। सोहम्मगदेवेवि जहा नेरइए नवरं सोहम्मगदेवस्स विजयवेजयंतजयंतअपराजियदेवत्ते केवइया अतीता ? कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ केवतिया बद्धेल्लगा णत्थि, केवतिया पुरक्खडा कस्स अत्थि कस्सइ णत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा। सव्वट्ठ सिद्धदेवत्ते जहा नेरइयस्स एवं जाव गेवेज्जगदेवस्य सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते ताव नेयव्वं। एगमेगस्सणं भंते ! विजयवेजयंतजयंतअपराजियदेवस्स नेर इयत्ते केवइया दव्विया अतीता ? गोयमा ! अणंता, केवइया बद्धेल्लगा ? णत्थि, केवतिया पुरक्खडा ? नत्थि। एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ते। मणुस्सत्ते अणंता

अतीता बद्धल्लेगा णत्थि, पुरक्खडा अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखेज्जा वा । वाणमंतरजोइसियत्ते जहा ने रइयत्ते । सोहम्मदेवत्ते अतीता अणंता बद्धेल्लगा अत्थि पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखेज्जा वा । एवं जाव गेवेज्जगदेवत्ते विजयवेजयंतजयंत अपराजितत्ते अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ । केव तिया बद्धेल्लगा अट्ठ, केवतिया पुरक्खडा कस्स अत्थि कस्स नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ । एगमेस्स णं भंते ! विजयवेजयंतजयंत-अपराजियदेवस्स सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते । केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! णत्थि । केवतिया बद्धेल्लगा णत्थि, केवतिया पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि जस्स अत्थि अट्ठ । एगमेगस्स णं भंते । सव्वट्ठसिद्धदेवस्स नेरइयत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा नत्थि, पुरक्खडा नत्थि । एवं मणुस्सवज्जं जाव गेवेज्जगदेवत्ते मणुस्सत्ते अतीता अणंता, केवइया बद्धेल्लगा नत्थि । केवइया पुरक्खडा अट्ठ । विजयवेजयंतापराजिय देवेत्ते अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि अट्ठ । केवइया बद्धेल्लगा ? णत्थि । केवइया पुरक्खडा ? णत्थि एगेमगस्स णं भंते ! सव्वट्ठसिद्ध देवस्स सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता? गोयमा ! अत्थि केवइया बद्धेल्लगा ? अट्ठ । केवइया पुरक्खडा, नत्थि । नेरइयाणं भंते ? नेरइयत्ते केवइया दव्विंदिया-अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? असंखेज्जा । केवइया पुरक्खडा ? अणंता । नेरइयाणं भंते ! असुरकुमारत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? नत्थि, केवइया पुरक्खडा ? अणंता । एवं जाव गेविज्जगदेवत्ते । नेरइयाणं भंते ! विजयवेजयंत जंयतापराजियदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? नत्थि । केवतिया बद्धेल्लगा ? नत्थि, केवइया पुरक्खडा ? असंखेज्जा । एवं सव्वट्ठसिद्धदेवत्तेवि एवं जाव पंचिंदियतिरिक्ख जोणियाणं सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते भाणियव्वं । नवरं वणस्सइ काइयाणं विजयवेजयंतजयंतापराजियदेवत्ते सव्वट्ठसि द्धदेवत्ते य पुरक्खडा अणंता । सव्वेसिं मणुस्ससव्वट्ठसिद्धगवज्जाणं सट्ठाणं बद्धेलगा असंखेज्जा परट्ठाणे बद्धेल्लगा नत्थि । मणुस्सा णं भंते ! नेरइयत्ते अतीता अणंता । बद्धेल्लगा नत्थि । पुरक्खडा अणंता । एवं जाव गेविज्जदेवत्ते नवरं सट्ठाणे अतीता अणंता । बद्धेल्लगा सिय संखिज्जा सिय असंखिज्जा । पुरक्खडा अणंता । मणुस्सा णं भंते ! विजयवेजयंतजयंतापराजितयदेवत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! संखिज्जा दव्विंदिया अतीता केववतिया बद्धेल्लगा नत्थि, केवतिया पुरक्खडा सिय संखिज्जा सिय असंखिज्जा । एवं सव्वट्ठसिद्धेवत्ते वि वाणमंतरजोइसियाणं देवाणं एवं चेव सोहम्मदेवाणं एवं चेव नवरं विजयवेजयंतजयंता पराजियदेवत्ते अतीता असंखेज्जा बद्धल्लेगा नत्थि, पुरक्खडा असंखिज्जा । सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते अतीता नत्थि बद्धेल्लगा नत्थि पुरस्खडा असंखिज्जा । एवं जाव गेविज्जदेवाणं । विजयवेजयंतजयंतापराजियाणं देवाणं भंते ! नेरइयत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ! गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा नत्थि । केवइया पुरक्खडाणत्थि । एवं जाव जोइसियत्ते नवरं एसिं मणुस्सत्ते अतीता अणंता केवइया बद्धेल्लगा नत्थि, पुरक्खडा असंखेज्जा । एवं जाव गेवेज्जगदेवत्ते सट्ठाणे अतीता असंखेज्जा । केवइया बद्धेल्लगा असंखेज्जा । केवइया पुरक्खडा असंखेज्जा । सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते अतीता णत्थि, बद्धेल्लगा णत्थि, पुरक्खडा असंखेज्जा । सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते । नेरइयत्ते केवइया अतीता ? गोयमा ! अणंता, केवइया बद्धेल्लगा णत्थि । केवइया पुरक्खडा नत्थि । दारं कतिणं भंते ! भाविंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचभाविंदिया पण्णत्ता तंजहा–सोइंदिए जाव फासिंदिए । नेरइयाणं भंते ! कइ भाविंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंच भाविंदिया पण्णत्ता, तुंजहा-सोइंदिए जाव फासिंदिए । एवं जस्स इंदिया तस्स तत्तिया भाणियव्वा । जाव वेमाणियाणं ।। एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवइया भाविंदिया असीता गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा पंच । केवइया पुरक्खडा पंच वा दस वा एकारस वा संखेजजा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं असुरकुमारस्स वि नवरं पुरक्खडा पंच वा दस वा छ वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा अणंता वा । एवं जाव थणियकुमारस्स । एवं पुढविक्काइया आउक्काइया वणस्सइ-काइस्स वि । वेइंदिया-तेइंदिय चउरिंदियस्सवि । तेउक्काइय-वाउक्काइयस्स वि । एवं चेव नवरं पुरक्खडा छ वा सत्त वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स जाव ईसाणस्स जहा असुरकुमारस्स । नवरं मणुस्सस्स पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि त्ति भाणियव्वं । सणंकुमार जाव गेवेज्जगस्स जहा नेरइयस्स । विजय-वेजयं त-जयंत-अपराजियदेवस्स अतीता । अणंता बद्धेल्लगा पंच, पुरक्खडा पंच वा दस वा पन्नरस वा संखिज्जा वा । सव्वट्ठसिद्धग-देवस्स अतीता, अणंता, बद्धेल्लगा पंच, केवइया पुरक्खडा पंच । नरेइयाणं भंते ! केवइया भाविंदिया अतीता ?

गोयमा ! अणंता, केवइया बद्धेल्लगा असंखेज्जा, केवइया पुरक्खडा अणंता । एवं जहा दव्विंदियासु पोहत्तेणं दंडओ भणिओ तहा भाविंदिएसु पोहत्तेण दंडओ भाणियव्वो । नवरं वणस्सइकाइयाणं बद्धेल्लगावि अणंता ॥ एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया भाविंदिया अतीता ? गोयमा ! अंणता, बद्धेल्लगा पंच, पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि पंच वा दस वा पन्नरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं असुरकुमाराणं जाव थणियकुमाराणं । नवरं बद्धेल्लगा नत्थि । पुढविकाइयत्ते जाव बेइंदियत्ते जहा दव्विंदिया, तेइंदियत्ते तहेव नवरं पुरक्खडा तिण्णिवा छवा नव वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं चउरिंदियत्ते वि नवरं पुरक्खडा चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं ते चेव गमो चत्तारि नेयव्वो, जे चेव दव्विंदिएसु नवरं ततिय-गमो जाणियव्वो, जस्स जइ जे इंदिया ते पुरक्खडेसु मुणेयव्वा, चउत्थगमो जहेव दव्विंदिया जाव । सव्वट्ठ सिद्धगदेवाणं सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते केवतिया भाविंदिया अतीता । नत्थि । बद्धेल्लगा संखेज्जा पुरक्खडा नत्थित्ति ।

(एगमेगस्स णं भंते नेरइयस्स नेरइयत्ते इत्यादि कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थित्ति) यो नरकादुद्वृत्तो भूयोऽपि नैरयिकत्वं नावाप्स्यति तस्य न भवन्ति यस्त्ववाप्स्यति तस्य सन्ति सोपि यद्येकवारमागामी ततोऽष्टौ *द्वौ वारौ वेत्तर्हि षोडश यदि वा त्रींश् वारान् ततश्चतुर्विंशतिसंख्येयानि* वारान् आगामी न संख्येयानीत्यादि मनुष्यत्वचिन्तायां कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि इति न वक्तव्यं मनुष्यागमनस्यावश्यंभावित्वात् ततो जघन्यपदेऽष्टौ । उत्कर्षतोऽनन्तानीति वक्तव्यं विजयवेजयंत जयंतापराजितचिन्तायामी तानि द्रव्येन्द्रियाणि न सन्ति कस्मादिति चेदुच्यते इह विजयादिषु चतुर्षु गतो जीवो नियमात्तत उद्वृत्तो न जातुचिदपि नैरयिकादिपञ्चेन्द्रियतिर्यक् पर्यवसानेषु तथा व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु मध्ये समागमिष्यति तथा स्वाभाव्यान्मनुष्येषु सौधर्मादिषु वा गमिष्यति तत्रापि जघन्यत एकं द्वौ वा भवानुत्कर्षतः संख्ये यान् न पुनरसंख्येयाननन्तान्वा ततो नैरयिकस्य विजयादित्वे अतीतानि द्रव्येन्द्रियाणि न सन्तीत्युक्तं पुरस्कृतान्यष्टौ षोडश वा विजयादिषु द्विरुत्पन्नस्यानन्तरभवे नियमतो मोक्ष गमनात् । एवं यथा नैरयिकत्वादिषु चतुर्विंशतौ स्थानेषु चिन्ता कृता तथा असुरकुमारादीनामपि प्रत्येकं कर्त्तव्या । पूर्वोक्तभावनानुसारेण स्वयमुपयुज्य परिभावनीया भावेन्द्रिय-सूत्राण्यपि सुगमान्येव केवलं द्रव्येन्द्रियगतभावनानुसारेण तत्र भावना भावयितव्या इति । प्रज्ञा० १५ पद।

तत्र यानि द्रव्येन्द्रियाणि तानि जीवानां पर्य्याप्तौ सत्यां भवन्ति यानि च भावेन्द्रियाणि तानि संसारिणां सर्वावस्थाभावीनीति– तं०

(२) इन्द्रियाणां बाहुल्य–पृथक्तप्रदेशावगाहना–स्तद्घा तवेदना च॥

तत्र बाहुल्यादि यथा–

सोइंदिए णं भंते ! केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! अंगुलस्स असंखेज्जइभागे बाहल्लेणं पण्णत्ते एवं फार्सिदिए

(सो इंदिए णं भंते ! केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते इत्यादि) इदमपि पाठसिद्धं उक्तश्चायमर्थोऽन्यत्रापि ''बाहल्लतो य सव्वाइं अंगुलअसंखेज्जभागमिति'' अत्राह–यद्यङ्गुलस्यासंख्येयभागो बाहुल्यं स्पर्शनेन्द्रियस्य ततः कथं खड्गक्षुरिकाद्यभिघाते अन्तःशरीरस्य वेदनानुभवः तदेतदसमीचीनं सम्यग् वस्तुतत्त्वा परिज्ञानात्त्वगिन्द्रियस्य विषयः शीतादयः स्पर्शाः यथा चक्षुषो रूपं गन्धो घ्राणस्य स्पर्दनं च खड्गक्षुरिकाद्यभिघाते अन्तः शरीरस्य शीतादिस्पर्शवेदनमस्ति किन्तु केवलं दुःख वेदनं तच्च दुःख-रूपवेदनामात्मा सकलेनापि शरीरेणानुभवति न केवले न त्वगिन्द्रियेण ज्वरादिवेदनावत् ततो न कश्चिद्दोषः अथ शीतल-पानकादिपाने अन्तः स्पर्शवेदनाप्यनुभूयते ततः कथंसा घटा-मटाट्यते इति उच्यते–इहत्वगिन्द्रियं सर्वत्रापि प्रदेशपर्यन्तवर्त्ति विद्यते तथा पूर्वसूरिभिः व्याख्यानात्तथा चाह मूलटीकाकारः सर्वप्रदेशपर्यन्तवर्त्तित्वाच्च त्वचोभ्यंतरोऽपि शुषिरस्योपरि त्वगिन्द्रियस्य भावादुपपद्यते ततः शीतस्पर्शवेदनानुभवः ॥ प्रज्ञा० १५ पद (तदुघातवेदनापिलेशतोव्याख्याता)

(३) इन्द्रियाणां पृथुत्वं तदवगाहना च।

पृथुत्वविषयं सूत्रमाह॥

सोइंदिए णं भंते ! केवइयं पोहत्तेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! अंगुलस्स असंखेज्जइभागे पोहत्तेणं पण्णत्ते एवं चक्खिंदिए घाणिंदिए वि जिब्भिंदिएणं पुछा, गोयमा ! अंगुलपुहत्तेणं पण्णत्ते ***फार्सिदिएणं पुच्छा, गोयमा ! सरीरप्पमाण मेत्तेणं पण्णत्ते ।***

(पोहत्तेणं पण्णत्ते इत्यादि) इह पृथुत्वं स्पर्शनिन्द्रियव्यति रेकेण शेषाणामिन्द्रियाणामात्माङ्गुलेन प्रतिपत्तव्यं स्पर्शनेन्द्रियस्य उच्छ्रयांगुलेन। ननु देहाश्रितानीन्द्रियाणि देहश्चोच्छ्रयाङ्गुलेन प्रमीयते ''उस्सेहपमाणतो मिणसु देहमितिवचनात्'' ततः इन्द्रियाण्यप्युच्छ्रयाङ्गुलेन मातुं युज्यन्ते । नात्माङ्गुलेनेति । तदयुक्तम् जिह्वादीनामुच्छ्रयांगुलेन पृथुत्वं प्रमिताभ्युपगमे त्रिगव्यूतीनां मनुष्यानां रसाभ्यवहारोच्छेद प्रसक्ते स्तथाहि–त्रिगव्यूतादीनां मनुष्यानां षड्गव्यूतादीनां च हस्त्यादीनां स्वस्वशरीरानुसारितया अतिविशालानि मुखानि जिह्वाश्च ततो यद्युच्छ्रयाङ्गुलेन तेषां क्षुरप्राकारतयोक्तस्याभ्यन्तरनिर्वृत्त्यात्मकस्य जिह्वेन्द्रियस्याङ्गुलपृथुत्वलक्षणो विस्तारः परिगृह्यते तदा अल्पतथा न तत्सर्वं जिह्वां व्याप्नुयात् सर्व-व्यापित्वाभावे च योऽसौ बाहुल्येन सर्वात्मना जिह्वाया रस-वेदनलक्षणप्रतिप्राणप्रसिद्धो व्यवहारः स व्यवच्छेदमाप्नुयादेवं घ्राणादिविषयेपि यथायोगं गन्धादिव्यवहारोच्छेदो भावनीयः तस्मादात्माङ्गुलेन जिह्वादीनां पृथुत्वमवसेयं नोच्छ्रयांगुलेनेति। आह च भाष्यकृत्: ''इन्द्रियमाणे विणय, भणियङ्गं जंति गाउयाईणं । जिब्भिंदियाइमाणं, संववहारं विरुज्झेज्जा'' अस्या अक्षरगमनिका तत उच्छ्रयांगुलमिन्द्रियमानोपि आस्ता मि-न्द्रियविषयपरिणाम चिन्तायामित्यपिशब्दार्थः। भजनीयं विकल्पनीयं क्वापि गृह्यते इत्यर्थः किमुक्तं भवति स्पर्शनेन्द्रिय पृथुत्वपरिणामचिन्तायां ग्राह्यमन्येन्द्रियपृथुत्वपरिणामचिन्तायां न ग्रह्यं तेषामात्माङ्गुलेन परिणामकारणादिति कथ

मेतदवसेयमिति चेदत आह यद्यस्मात्सर्वेषामपीन्द्रियाणा मुच्छ्र्याङ्गुलेन परिणामकारणम् त्रिगव्यूतादीनामादिशब्दात् द्विगव्यूतादि परिग्रहो जिह्वे न्द्रियादिमानं सूत्रोक्तसंव्यवहारं विरुध्येत । यथानन्तरमेव भावितमिति ।

सम्प्रति कतिप्रदेशावगाहनोते प्रतिपादयति ।

सोइंदिए णं भंते ! कइ पदेसिए पण्णते ? गोयमा ! अणंतपदेसिए पण्णत्ते एवं जाव फासिंदिए सोइंदिए णं भंते ! कइ पदेसोगाढे पण्णत्ते ? गोयमा ! असंखेज्ज पदेसोगाढे एवं जाव फासिंदिए। (टीका न गृहीता)

(४) इन्द्रियाणामल्पबहुत्वं तद्गुणाश्च ।

एतेसि णं भंते ! सोइंदिय चक्खुइंदियघाणें दिय-जिब्भिंदियफासिंदियाणं ओगाहणट्ठयाए पदेसट्ठयाए ओगा हणपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा४ गोयमा ! सव्वत्थोवे चक्खिंदिए ओगाहणट्ठयाए । सोइंदिय ओगाहणट्ठयाए संखिज्जगुणे । घाणिंदिय ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे । जिब्भिंदियओगाहणट्ठयाए संखिज्जगुणे । फासिंदिय ओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे । पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे । चक्खिंदिएपदेसट्ठयाए सोइंदिए पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे । घाणिंदिए पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे । जिब्भिंदिएपदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे । फासिंदियपदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणे । ओगाहण-पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे । चक्खिंदिए ओगाहणपदेसट्ठयाए सोइंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे । घाणिंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे । जिब्भिंदिए ओगाहण-ट्ठयाए संखेज्जगुणे फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए अ-संखेज्जगुणे । फासिंदियस्स ओगाहणट्ठ-याएहिंतो चक्खिंदिएपदेसट्ठया ए अणंतगुणे । सोइंदिए पदेसट्ठयाए संक्खिज्जगुणे । घाणिंदिए पदेसट्ठयाए संखिज्जगुणे । जिब्भिंदिए पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे फासिंदिए पदेसट्ठयाए असंखिज्जगुणे ।

(एएसि णं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोकं चक्षुरिन्द्रियमवगाहनार्थतथा किमुक्तं भवति सर्वस्तोकप्रदेशावगाढं चक्षुरिन्द्रियं ततः श्रोत्रेन्द्रियमवगाहनार्थतथा संक्षेपगुणमतिप्रभूतेषु प्रदेशेषु तस्यऽवगाह-नाभावात् ततोऽपि घ्राणेन्द्रियमवगाहनार्थतया संख्येयगुणमतिप्रभूतेषु प्रदेशेषु तस्यावगाहनोपपत्तेस्ततोऽपि जिह्वे न्द्रियमवगाहनार्थतया असंख्येयगुणं तस्याङ्गुल-पृथक्त्वपरिमाणविस्तारात्मकत्वात् यस्तु दृश्यते पुस्तकेषु पाठः संख्येयगुण इति सोऽपि पाठो युक्त्युपपन्नत्वात्तथाहिचक्षुरादीनित्रीण्यपीन्द्रियाणि प्रत्येकमङ्गुला-संख्येयभागविस्ता-रात्मकानि जिह्वे न्द्रियं त्वङ्गुलासंख्येयपृथक्त्व-विस्तार-मतोऽसंख्येयगुणमेव तदुपपद्यते नतु संख्येयगुणमिति ततः स्पर्शनेन्द्रियमसंख्येयगुणम् । तथा ह्यङ् गुलपृथक्त्वप्रमाणविस्तारं जिह्वे न्द्रियंप्रथक्त्वं द्विप्रभृत्या नवभ्यः स्पर्शनेन्द्रियं तु शरीर-प्रमाणमिति सुमहदपि तदुपपद्यते संख्येयगुणमिति । यस्तु बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते पाठोऽसंख्येयगुणमिति सोऽपपाठो युक्ति-विकलत्वात् । तथा ह्यात्माङ्गुलप्रथक्त्वपरिणामं जिह्वे न्द्रियं शरीरपरिमाणं तु स्पर्शनेन्द्रियशरीरमुत्कर्षतोऽपिलक्षयोजनप्रमाणं ततः कथमसंख्येय-गुणमुपपद्यत इति । अनेनैव क्रमेण प्रदेशा-र्थतयापि सूत्रम् भावनीयम् । उक्तप्रकारेणैव चोभयसूत्रमपि ।

इदानीं भिन्द्रियगुणविषयकं सूत्रमाह ।

सोइंदियस्सणं भंते ! केवतिया कक्खडगरुयगुणा पण्णत्ता ? गोयमा ! अणंता कक्खडगरुयगुणा प०एवं जाव फासिंदियस्स सोइंदियस्स णं भंते ! केवइया मउयलहुयगुणा पण्णत्ता ? गोयमा ! अणंता । एवं जाव फासिंदियस्स, एतेसि णं भंते ! सोइंदियचक्खिंदियघाणिंदिय जिब्भिंदिय फासिंदियाणं कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाणं कक्ख-डगरुयगुणमउ-यलहुगुणाणय कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा४ ? गोयमा ! सव्वत्थो वा चक्खिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा । सोइंदियस्स कक्खड-गरुयगुणा अणंतगुणा । घाणिंदियस्स- कक्खडगुरुयगुणा अणंतगुणा । जिब्भिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । फासिंदियस्स कक्ख-डगरुयगुणा अणंतगुणा । मउयलहुयगुणाणं सव्वत्थो वा फासिंदियस्स मउयलहुयगुणा जब्भि-दियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । घाणिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । सोइंदियस्स मउय-लहुयगुणा अणंतगुणा । चक्खिंदियस्स मउयलहुय-गुणाअणंत गुणा । कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुय गुणाण य सव्वत्थो वा चक्खिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा । सोइंदियस्स कक्ख-डगरुयगुणा अणंतगुणा । घाणिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । जिब्भिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । फासिंदि-यस्स कक्खडगरुयहिंतो तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । जिब्भिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । घाणिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । सो-इंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । चक्खिंदियस्स महुयलहुयगुणा अणंत गुणा ।

यानि कर्कशगुरुगुणादि सूत्राणि तानि पाठसिद्धानि नवर मल्पबहुत्वे चक्षुःश्रोत्रघ्रायणजिह्वास्पर्शनेन्द्रियाणां यथोत्तरं कर्कशगुरुगुणा अमीषामेव च पश्चानुपूर्व्या यथापूर्वं मृदुलघुगुणा अनन्तगुणास्तथैव यथोत्तरं कर्कशतथा यथापूर्वं चातिकोमलतयोपलभ्यमानत्वात् युगपदुभयाल्प-बहुत्वसूत्रे फासिंदिय–कक्खडगरुयगुणेहिंतो तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा इति सरीरेहिं कति पया एव, प्रदेशा उपरि वर्तिनः शीतातपादिसम्पर्कतः कर्कशा वर्तन्ते । अन्ये तु बहवः तदन्त र्गता अपि मृदव इति घटन्ते । स्पर्शनेन्द्रियस्य कर्कशगुणेभ्यो मृदुलघुगुणा अनन्तगुणा इति । प्रज्ञा० १५ पद० ॥

(५) अमून्येव संस्थानादीन्यल्पबहुत्वपर्यन्तानि द्वाराणि नैरयिकादिकेषु चिन्तयति ॥

नेरइयाणं भंते ! कइ इंदिया पण्णत्ता ! गोयमा ! पंच इंदिया पण्णत्ता तंजहा सोइंदिए जाव फासिंदिए । नेरइया-

णं भंते ! सोइंदिए किं संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! कलं बुयासंठाणसंठिए पण्णत्ते । एवं जहा ओहिया वत्तव्वयो भणिया तहेव नेरइयाणं पि अप्पा वा बहुया वा दोण्णिवि नवरंनरइयाणं भंते ! फासिंदियस्स किं संठिए पण्णत्ते गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तंजहा भवधारिणिज्जे य उत्तर वेउव्विए य तत्थ णं जेसे भवधारिणिज्जे सेणं हुंडगसंठाण संठिए तत्थ णं जे से उत्तर विउव्विए ते चेव सेसं तं चेव। असुरकुमाराणं भंते ! कइ इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचिंदिया पण्णत्ता एवं जहा ओहियाणं जाव अप्पाबहुगाणि दोण्णि वि नवरं फासिंदिए दुविहे पण्णत्ते तं जहा भव धारिणिज्जे उत्तरवेउव्विए य तत्थणं जे ते भवधारिणिज्जे से णं समचउरससंठाणसंठिए पण्णत्ते तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विए से णं नाणासंठाणसंठिए सेसं तं चेव एवं जाव थणियकुमाराणं। पुढविकाइयाणं भंते ! कइ इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! एगे फासिंदिए पण्णत्ते पुढविकाइयाणं भंते ! फासिंदिए किं संठाणसंठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! मसूरचंदसंठाणसंठिए पण्णत्ते पुढविकाइयाणं फासिंदिए केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! अंगुलस्स असंखेज्जइभागं बाहल्लेणं पण्णत्ते पुढविकाइयाणं फासिंदिए केवइयं पोहत्तेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्तेणं पण्णत्ते पुढविकाइयाणं फासिंदिए कतिपदेसे पण्णत्ते ? गोयमा ! अणंतपदेसिए पण्णत्ते पुढविकाइयाणं भंते ! फासिंदिए कइ पदेसोगाढे पण्णत्ते ? गोयमा ! असंखेज्जपदेसोगाढे पण्णत्ते एतेसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं फासिंदियस्स ओगाहणट्ठयाए पदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थो वा पुढविकाइयाणं फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए ते चेव पदेसट्ठयाए अणन्तगुणे। पुढविकायियाणं भंते ! फासिंदियस्स केवइया कक्खडगरुयगुणा पण्णत्ता ? गोयमा ! अणंता एवं मउयलहुयगुणा वि एतेसि णं भंते ? पुढविकाइयाणं फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थो वा पुढविकाइयाणं फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा एवं आउक्काइयाणं वि जाव वणस्सइकाइयाणं नवरं संठाणे इमो विसेसो दट्ठव्वो आउक्काइयाणं वि वुगविंदुसंठाणसंठिए पण्णत्ते । तेउकाइयाणं सूइकला-पसंठाणसंठिए पण्णत्ते। वाउक्काइयाणं पडागारसंठाण संठिए पण्णत्ते । वणस्सइकाइयाणं णाणासंठाण संठिए पण्णत्ते बेइंदियाणं भंते ! कइइंदियां पण्णत्ता ! गोयमा ! दो इंदिया पण्णत्ता तंजहा जिब्भिंदिए य फासिंदिए य दोण्हं पि इंदियाणं संठाणं बाहल्लं पोहत्तं पदेस ओगाहणा य जहा ओहियाणं भणिया तहा भाणियव्वा नवरं फासिंदिए हुंडसंठाण-संठिए पण्णत्ते इमो विसेसो एतेसि णं भंते ! बेइंदियाणं जिब्भिंदियफासिंदियाणं ओगाहणट्ठयाए पदेसट्ठयाए उगाहणपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा। सव्वत्थोवे बेइंदियाणं जिब्भिंदिए ओगाहणट्ठयाए फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे बेइंदियाणं जिब्भिंदिए पदेसट्ठयाए फासिंदियपदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणे ओगाहणपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे बेइंदियस्स जिब्भिंदिए ओगाहणट्ठयाए फासिंदिय ओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे फासिंदियस्स ओगाहणट्ठयाएहिंतो जिब्भिंदियपदेसट्ठयाए अणंतगुणे फासिंदिएपदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणे बेइंदियाणं भंते ! जिब्भिंदियस्स केवइया कक्खडगरुयगुणा प०? गोयमा ! अणंता एवं फासिंदियस्स वि एवं मउयलहुयगुणा वि एतेसि णं बेइंदियाणं जिब्भिंदियफासिंदियाणं कक्खडगरुय-गुणाणं मउयलहुयगुणाणं कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाण य कयरे कयरे हिंतो अप्पा वा ४? गोयमा ! सव्वत्थो वा बेइंदियाणं जिब्भिंदियस कक्खडगरुयगुणा फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा फासिंदियस्स कक्खडगरुय-गुणेहिंतो तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा जिब्भिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा एवं जाव चउरिंदियत्ति नवरं इंदियपरिवुड्ढि कायव्वा तेइंदियाणं घाणिंदिए थोवे चउरिंदियाणं चक्खिदिए थोवे सेसं तं चेव । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साण य जहा नेरइयाणं नवरं फासिंदिए छव्विहसंठाण-संठिए पण्णत्ते तंजहा समचउरंसोणिग्गोहपरिमंडले सादिखुज्जे वामणे हुंडे वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा असुर कुमाराणं ॥

नेरइयाणं भंते ! इत्यादि। सुगमं नवरं नेरइयाणं भंते फासिंदिए किंसंठिए पन्नत्त इत्यादि । द्विविधं हि नैरयिकाणां शरीरं भवधारणीयमुत्तरवैक्रियं च तत्र भवधारणीयं तेषां भवस्वभावत् एव निर्मूलं विलुप्तपक्षोत्पादितस-कलग्रीवादिरोमपक्षशरीर-वदतिबीभत्ससंस्थानोपेतं यदप्युत्तरवैक्रियं तदपि हुण्डसंस्थानमेव तथाहि यद्यपि ते वयमतिसुन्दर शरीरं विकुर्विष्याम इत्यभिसन्धिना वैक्रियशरीरमारभन्ते तथापि तेषां अत्यन्ताशुभं तथाविध-नामकर्मोदयादतीवाशुभतरमेवोपजायते इति असुरकुमारसूत्रे, भवधारणीयं समचतुरस्रसंस्थानं तथा स्वाभाव्यात् उत्तरवैक्रियन्तु नानासंस्थितं स्वेच्छया तस्य निष्पत्तिभावात् प्रथिव्यादिविषयाणि तु सूत्राणि सुप्रतीतान्येव प्रज्ञा०१५ पद०॥

(६) इन्द्रियाणां च वर्तमानार्थग्राहकत्वम्

अत्थे य पडुप्पण्णे, विणियोगे इंदियं लहइ ॥

इन्द्रिय पुनश्चक्षुरादिकं विनियोगं व्यापारं लभते प्रत्युत्पन्ने वर्तमानार्थविषयं नातीतानागतार्थविषयमिति भावः ॥ वृ०१ उ०। इन्द्रियं हि वार्त्तमानिक एवार्थे व्याप्रियते तत स्तत्सामर्थ्या-दुपजायमानं मानसमपि ज्ञानमिन्द्रियज्ञानमिव वर्त्तमानार्थग्रहण-पर्यवसितसत्ताकमेव भवेत्। अथ यदा चक्षूरूपविषये व्याप्रियते तदा रूपविज्ञानमुत्पादयति न शेष कालं ततस्तद्रूपविज्ञानं वर्त्तमानार्थविषयं वर्तमान एवार्थे चक्षुषो व्यापारात् स्वरूप-विषयव्यावृत्त्यभावे च मनोज्ञानं ततो न तत् प्रतिनियतकालविषय-मेवं शेषेष्वपीन्द्रियेषु वाच्यमानं०॥

(७) श्रोत्रेद्रियादीनां प्राप्ताप्राप्तविषयतां प्रतिपादयिषुरादौ विषयांस्तद्ग्रहणप्रकारश्चाह ॥

दोहिं ठाणेहिं आया सद्दाइं सुणेइ तं देसेण वि आया सद्दाइं सुणेइ सव्वेण वि आया सद्दाइं सुणेइ एवं रूवाइं पासइ गंधाइं आघायइ रसाइं आसाएइ फासाइं पडि संवेएइ ॥

(देशेणवित्ति) देशेन शृणोत्येकेन श्रोत्रेणैकश्रोत्रोपघाते सति सर्वेण वा ऽनुपहतश्रोत्रेन्द्रियो यो वा संभिन्नश्रोत्राभिधानलब्धियुक्तः स सर्वैरिन्द्रियैः शृणोतीति सर्वेणेति व्यपदिश्यते एवमिति यथा शब्दान् देशसर्वाभ्यां एवं रूपादी नपि नवरं जिह्वादेशस्य प्रसुप्त्या-दिनोपघाताद्देशेनास्वाद यतीत्यवसेयमिति। देशसर्वाभ्यां सामान्यतः श्रवणाद्युक्तं विशेषविवक्षायां प्रधानत्वात् देवानां तानाश्रित्य तदाह।

दोहिं ठाणेहिं देवे सद्दाइं सुणेइ तंजहा देसेण वि देवे। सद्दाइं सुणेइ सव्वेण वि सद्दाइं सुणेइ जाव णिज्झरेइ ॥

(दोहीत्यादि) एतदपि विवक्षितशब्दादिविशेषापेक्षया सूत्रचतुर्दशकं नेयमिति देशतः सर्वतो वेति अनन्तरोक्ता भावाः शरीर एव सति सम्भवन्तीति देवानां च प्रधानत्वात्तेषा मेव। स्था०२ ठा०।

पुट्ठाइं भंते ! सद्दाइं सुणेह अपुट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ ? गोयमा ! पुट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ नो अपुट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ पुट्ठाइं भंते ! रूवाइं पासंति अपुट्ठाइं रूवाइं पासंति ? गोयमा ! नो पुट्ठाइं रूवाइं पासंति अपुट्ठाइं रूवाइं पासंति पुट्ठाइं भंते ! गंधाइं अग्घाति अपुट्ठाइं गंधाइं अग्घाति ? गोयमा ! पुट्ठाइं अग्घाइ नो अपुट्ठाइं अग्घाइ। एवं रसाण वि फासाण वि नवरं रसाइं आस्साइ फासाइं पडिसंवेदेति अभिलाओ कायव्वो ॥

(सद्दाइं सुणेइ इत्यादि) प्राकृतत्वात्सूत्रे शब्दशब्दस्य न पुंसकत्वमन्यथा पुंस्त्वं प्रतिपत्तव्यं। स्पृष्टान् भदन्त ! श्रोत्रेन्द्रि-यमिति कर्तृपदं सामर्थ्याल्लभ्यते। शब्दान् शृणोति तत्र स्पृश्यन्ते इति स्पृष्टास्तान् तनौ रेणुमिवालिङ्गितमात्रानि त्यर्थः "पुट्ठं रेणुं व तणुंमि" इति वचनात् शब्द्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते अर्था एभिरिति शब्दाः तान् शृणोति गृण्हाति उपलभ्यते इति यावत्। विमुक्तं भवति। स्पृष्टमात्राण्यत्र च शब्द द्रव्याणि श्रोत्रेन्द्रियमुपलभन्ते। न तु घ्राणेन्द्रियादिवत् बद्धस्पृष्टानीति कस्मादिति चेदुच्यते इह शब्दद्रव्याणि घ्राणेन्द्रियादिविषयभूतेभ्यो द्रव्येभ्यः सूक्ष्माणि। तथा नि तथा तत्क्षेत्रभाविशब्दयोग्यद्रव्यवासकानि च ततः सूक्ष्मत्वादतिप्रभूतत्वात् तदाऽन्यद्रव्यवासकत्वाच्चात्मप्रदेशैः स्पृष्टमात्राण्यपि निर्वृत्तेन्द्रियमध्ये प्रविश्य झटित्युप-करणेन्द्रियमभिव्यञ्जयन्ति। श्रोत्रेन्द्रियं च घ्राणेन्द्रियाद्यपेक्षया स्वविषयपरिच्छेदे पटुतरं ततः स्पृष्टमात्राण्यपि तानि श्रोत्रे-न्द्रियमुपलभंते नास्पृष्टान् सर्वथात्मप्रदेशैः संबन्धमप्राप्तान् श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्तविषयपरिच्छेदस्वभावात् यथा च श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्तकारितातथा नन्द्यध्ययनटीकादौ चर्चितमिति ततोऽवधार्यम् (पुट्ठाइं भंते ! रूवाइं इत्यादि) ॥ सुगमं निर्वचनमाह। गौतम ! न स्पृष्टानि रूपाणि पश्यति चक्षुः किन्त्वस्पृष्टानि चक्षुषोऽ-प्राप्तिकारित्वाच्च तच्चाप्राप्तिकारित्वं तत्त्वार्थटीकादौ सविस्तरेण प्रसाधितमिति ततोवधारणार्थं गन्धादि विषयाणि सूत्राणि सुप्रसिद्धानि नवरं स्पृष्टान् गन्धानाजिघ्रतीत्या-दियद्यप्युक्तं तथापि बद्धस्पृष्टानीति द्रष्टव्यम् यत उक्तमावश्यकनिर्युक्तौ (पुट्ठं सुणेईत्यादि) तत्र स्पृष्टानीतिपूर्ववत् बद्धानितिआत्मप्रदेशै रात्मीकृतान् "बद्धमप्पीकथं एएसेहिं" इति वचनात्–विशेषणसमासश्च बद्धाश्च ते स्पृष्टाश्च बद्धस्पृष्टास्तान् इहस्प-ृष्टास्पर्शमात्रेणापि भवन्ति। यथा शब्दस्ततः स्पर्शमात्रव्यवच्छेदेन स्पर्शविशेषप्रतिपत्तिरव्याहता स्यादिति बद्धग्रहणं बद्धरूपा ये स्पृष्टास्तान् परिच्छिनत्ति नान्यानि कस्मादेवमितिचेदुच्यते गन्धादि द्रव्याणां बादरत्वादल्पत्वाद-भावकत्वाच्चघ्राणादीन्द्रियाणामपि श्रोत्रेन्द्रियापेक्षया मन्दशक्तिकत्वा-दिति। प्रज्ञा० पद०१५।

इन्द्रियाणां प्राप्याऽप्राप्यकारित्वम्।

चत्तारि इंदियत्था पुट्ठा वेदेंति। तंजहा। सोइंदियत्थे १ घाणिंदियत्थे २ जिब्भिंदियत्थे ३ फासिंदियत्थे ४

(पुट्ठत्ति) स्पष्टा इन्द्रियसंबद्धा (वेएतित्ति) वेद्यन्ते आत्मना ज्ञायन्ते नयनमनोवर्जानां श्रोत्रादीनां प्राप्तार्थपरिच्छेदस्वभावत्वादिति ॥ स्था०४ ठा०॥

आह च ॥

पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु ॥
गंध रसं च फासं च, बद्धपुट्ठं वियागरे ॥१॥

श्रोत्रेन्द्रियां कर्तृशब्दं कर्मतापन्नं शृणोति। कथंभूतमित्याह ॥ स्पृशत इति स्पृष्टस्तं स्पृष्टं तनौ रेणुवदालिङ्गितमात्रमित्यर्थः। इदमुक्तं भवति स्पृष्टमात्राण्येव शब्दद्रव्याणि श्रोत्रमुपलभन्ते यतो घ्राणादीन्द्रियविषय-भूतद्रव्येभ्यस्तानि सूक्ष्माणि बहूनि भावुकानि च पटुतरं च श्रोत्रेन्द्रियं–विषयपरिच्छेदे घ्राणेन्द्रियादिगणादिति श्रोत्रेन्द्रियस्य च कर्तृव्यं शब्दश्रवणा न्यथानुपपत्तेर्लभ्यते। एवं घ्राणेन्द्रियादिष्वपि वाच्यम् तानि पुनः कथं गन्धादिकं गृ-ण्हन्तीत्याह। गन्ध्यत इति गन्धस्तमुपलभते घ्राणेन्द्रियम्। रस्यत इति रसस्तं च गृण्हाति रसनेन्द्रियम् स्पृशतं इति स्पर्शस्तं च जानाति स्पर्शनेन्द्रियम्। कथंभूतं गन्धादिकमित्याह। बद्धस्पृष्टं तत्र स्पृष्टमितिपूर्ववदेव बद्धं तु गाढतरमाश्लिष्टमात्मप्रदेशै-स्तोयवदात्मीकृतमित्यर्थः। ततश्च गंधादिद्रव्यसमूहं स्पृष्टमा-लिङ्गितं ततश्च स्पर्शनानन्तरं बद्धमात्मप्रदेशैर्गाढतर-मागृहीतमेवोपलभते घ्राणेन्द्रियादिकमित्येवं व्यागृणीयात् प्ररूपयेत् प्रज्ञापकः। यतो घ्राणेन्द्रियादिविषयभूतानिं गन्धादि द्रव्याणि शब्दद्रव्यापेक्षया स्तोकानि बादराण्यभावुकानि च विषयपरिच्छेदे श्रोत्रापेक्षया पटूनि च घ्राणादीन्यतो बद्धस्पृष्ट मेव गन्धादिद्रव्यसमूहं गृह्णन्ति न पुनः स्पृष्टमात्रमितिभावः ननु यदि स्पर्शनान्तरं बद्धं गृण्हन्ति तर्हि 'पुट्ठबद्ध' मिति

पाठे युक्त इति चेदुच्यते। विचित्रत्वात्सूत्रगतेरित्थं निर्देशोऽर्थतस्तु यथा त्वयोक्तं तथैव द्रष्टव्यम्। अपरस्त्वाह। यद्बद्धं तत्स्पृष्टं भवत्येव विशेषबन्धे सामान्यबन्धस्यान्तर्भावात् ततः किं स्पृष्टग्रहणेनेति तदयुक्तं सकलश्रोतृसाधारणत्वाच्छास्त्रारम्भस्य प्रपञ्चितज्ञानग्रहार्थमर्थापत्तिगम्यार्थाभिधानेऽप्यदोषादिति चतुरिन्द्रियं त्वप्राप्त-मेव विषयं गृह्णातीत्याह ''रूवं पुण पासइ अपुट्ठं त्विति'' रूपं कर्मतापन्नं च चक्षुरस्पृष्टमप्राप्तमेव पश्यति पुनः शब्दस्य विशेषणार्थत्वाद स्पृष्टमपि योग्यदेशस्थमेव पश्यति नायोग्य-देशस्थसौधर्मादिकटकुड्यादिव्यवहितं वा घटादीति निर्युक्तिगाथार्थः॥

अर्थे तद्व्याख्यानाय भाष्यम्॥

पुट्ठं रेणुं व तणुम्मि, बद्धमप्पीकयं पएसेहिं।
छिक्काइं चिय गिण्हइ, सद्ददव्वाइजुत्ताइं॥

बहुसुहुमभावुगाई, जं पडुयरयं व सोत्तविण्णाणं।
गंधाइं दव्वाइं, विवरीयाइ जओ ताइं॥

फरिसाणत्तरमत्तर, मत्तप्पए समीसीकयाइं।
घेप्पंति पटुयरविणाइं जं च न घाणाइकरणाइं।

स्पृष्टमित्यस्य व्याख्यानम्।

(पुट्ठरेणुं व तणुम्मित्ति) यथा रेणोस्तनौ संबन्धः इत्येतावन्मात्रेण यद्वस्तु संबद्धं तदिह स्पृष्टमुच्यत इति भावः॥ (बद्धमित्यादि) यदात्मीकृतमात्मना गाढतरमागृहीतमात्मप्रदेशैस्तनुलग्नतोयवन्मिश्रीभूतं तद्बद्धमुच्यते इत्यर्थः॥ तत्र (छिक्काइं चि) अतिस्पृष्टान्येव शब्दद्रव्याणि गृह्णाति श्रोतं यतस्तानि बहूनि सूक्ष्माणि भावुकानि च वासकानि चेत्यर्थः। पटुतरं च श्रोत्रविज्ञानं गन्धादिद्रव्याणि तु विषरीतानि स्तोकबादराभावुकानि यतोऽतस्तानि स्पर्शानन्तरमात्मप्रदेशैर्मिश्रीकृतानि स्पृष्टबद्धानि गृह्णान्ते। घ्राणादिभिः पटुतरविज्ञानानि च न भवन्ति यतो घ्राणादिकारणानीति गाथात्रयार्थः। अथ रूवं पुण पासइ अप्पुट्ठंत्वित्यत्रोपपत्तिमाह।

''अप्पत्तकारिनयणं, णेयं नयणस्स विसयपरिमाणं। आयंगुलेण लक्खं, अइरित्तं जो अणाणंतु'' प्रागुक्तयुक्त्या अप्राप्तकारि अप्राप्तस्यैव वस्तुनः परिच्छेदकारि यतो नयनं मनश्च ततोऽस्पृष्टमेव रूपं पश्यति नयनेन्द्रियम्। विशे०(अधिकं तु विस्तरभयान्न प्रपञ्च्यते तत्तुतत्रैव दृष्टव्यम्)

(८) सम्प्रतीन्द्रियाणाम्प्रविष्टाप्रविष्टविषयचिन्तां कुर्वन्नाह॥

पविट्ठाइं भंते ! सद्दाइं सुणेइ अपविट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ ? गोयमा ! पविट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ नो अपविट्ठाइं सुणेइ एवं जहा पुट्ठाणि तहा पविट्ठाणि॥

(सद्दाइं इत्यादि) पाठसिद्धं नवरं स्पर्शस्तनौ रेणोरिवाऽपि भवति। प्रवेशो मुखे कवलस्येवेति शब्दार्थस्य भिन्नत्वा त् भिन्नविषयता स्पृष्टप्रविष्टसूत्राणामिति-प्रज्ञा०१५ पद०।

(९) श्रोत्रलक्षणादिचतुरिन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वं नयन-मनसोस्त्वप्राप्यकारित्वम्।

प्राप्तकारीणिन्द्रियाण्यप्राप्तकारीणिवेति तत्र प्राप्तकारीण्ये वेति कणभक्षाक्षपादमीमांसकसाङ्ख्याः समाख्यान्ति। चक्षुः श्रोत्रेतराणि तानि तथेति ताथागताः। चक्षुर्वर्जानीति तु तथा स्याद्वादावदातहृदयाः। तत्र प्रथमे प्रमाणयन्ति।

चक्षुःप्राप्तं मर्तिं करोति विषये बाह्येन्द्रियत्वादितो।
यद्बाह्येन्द्रियतादिना परिगतं तत्प्राप्तकारीक्षितं॥

जिह्वावत् प्रकृतं तथा च विदितं तस्मात्तथा स्थीयतां।
नाऽत्रासिद्धिमुखश्च दूषणकणस्तल्लक्षणानीक्षणात्॥१॥

अद्रिचन्द्रकलनेषु या पुनर्त्यागपद्यधिषणा मनीषिणाम्।
पद्मपत्रपटलीविलोपव–त्सत्वरोदयनिबन्धनैव सा॥२॥

प्रथमतः परिसृत्य शिलोच्चयं निकटतः क्षणमीक्षणमीक्षते।
तदनु दूरतराम्बरमण्डली तिलककान्तमुपेत्य सितत्विषम्॥३॥

कुर्म्महेऽत्र वयमुत्तरकेलीं कीदृशी दृगिह धर्मिमतयोक्ता।
किन्तु मांसमयगोलकरूपा सूक्ष्मताभृदपरा किमु काऽपि॥४॥

आदिमा यदि तदापि किमर्थो लोचनानुसरणव्यसनी स्यात्।
लोचनं किमुत वस्तुनि गत्वा संसृजोत्प्रिय इव प्रणयिन्याम्॥५॥

प्रत्यक्षबाधः प्रथमप्रकारे प्राकारपृथ्वीधरसिन्धुरादिः।
संलक्ष्यते पक्ष्मपुटोपटंकी प्रत्यक्षकाले कलयाऽपि नो यत्॥६॥

पक्षेऽपरत्राऽपि स एव दोषः सर्प्पन्न वस्तु प्रतिवीक्ष्यतेऽक्षि।
संसर्प्पणे वाऽस्य सकोटरत्वप्राप्त्यापुमान् किंन
जरद्द्रुमःस्यात्॥७॥

चक्षुषः सूक्ष्मतापक्षे सूक्ष्मता स्यादमूर्तता।
यद्वाल्पपरिणात्व–मित्येषा कल्पनोभयी॥८॥

स्याद्व्योमवद्व्यापकता प्रसक्त्या सर्वोपलम्भः प्रथमप्रकारे। प्राकारकान्तारविहारहार मुख्योपलम्भो न भवेद् द्वितीये॥९॥

न खलु न खलु शास्त्रं स्वप्रमाणात्प्रथिष्ठे षटकटशकटादौ भेदकारि प्रसिद्धम्। अथ निगदसि तस्मिन् रस्मिचक्रं, क्रमेण, प्रसरति तत एतत्स्यादनल्पप्रकाशम्॥१०॥ तथाहि-प्रोद्दाममाणिक्य-कणानुकारी दीपाङ्कुरस्त्विट्पटली प्रभावात्। किं नैव कश्मीरजकज्जलादीन् प्रथीयसोऽपि प्रथयत्यशेषान्॥११॥ नन्वेवमध्यक्षनिराक्रिया स्यात्पक्षे पुरस्तादुपलक्षितेऽस्मिन्। प्रौढप्रभामण्डलमण्डितोऽर्थो नाभासते यत्प्रतिभा समानः॥१२॥ अथाप्यनुद्भततया प्रभायाः पदार्थसंपर्कजुषोप्यनीक्षा सि-द्धिस्तदानीं कथमस्तु तस्या ब्रवीषि चेत्तैजसताख्य हेतोः॥१३॥ रूपादिमध्ये नियमेन रूपप्रकाशकत्वेन च तैजसत्वम्। प्रभाससे चक्षुसि संप्रसिद्धं यथा प्रदीपाङ्कुरविद्युदादौ॥१४॥ तदिदं घुसृणविमिश्रणमंधपुरन्ध्रीकपोलपालीनाम्। अनुहरते व्यभिचाराद्रूपक्षणसंनिकर्षेण॥१५॥ द्रव्यत्वरूपेऽपि विशेषणे स्याद्धेतोरनैकान्तिकताऽञ्जनेन। तस्यापि चैत्तेजसतां तनोषि, तन्वादिना किन्तु तदाऽपराद्धम्॥१६॥ सौवीरसौवर्चलसैंधवादि निश्चिन्वते पार्थिवमेव धीराः कृशानुभावोपगमोऽस्य तस्मा–दयुक्त एव प्रतिभात्यमीषाम्॥१७॥ तथाच–सौवीरसौवर्चलसैन्धवादिकं स्यादाक रोद्भूतिवशेन पार्थिवम्। मृदादिवन्न व्यभिचारचेतनं चामीकरेणानुगुणं निरीक्ष्यते॥१८॥ चामीकरादेरपि पार्थिवत्वं लिंगेन तेनैव निवेदनीयम्। शाब्दप्रमाणेन न चाऽत्रबाधा पक्षस्य यन्नास्ति तदत्र सिद्धम्॥१९॥ अञ्जनं मरिचरोचनादिकं पार्थिवं ननु तवापि सम्मतम्। अञ्जनेऽपि तदसौ प्रवृत्तिमानप्रयोजकविडम्बडम्बरी॥२०॥ हनूमल्लोललांगूललम्बात्ते साधनादतः। न सिद्धिस्तैजसत्वस्य दृष्ट सुस्पष्टदूषणात्॥२१॥ चक्षुर्न तैजसमभास्वरतिग्मभावादम्भोवदित्यनुमितिप्रतिषेधनाच्च। सिद्धिं दधाति नयनस्य न तैजसत्वं तस्मादमुष्य घटते किमु रश्मिवत्ता॥२२॥ अपिच। प्रत्यक्षबाधःसम्यलक्षि पक्षे न रश्मयो यद्दृशि दृष्टपूर्वाः। तथा च शास्त्रेण तवैव कालातीतत्वदोषोऽप्युदपादि हेतोः॥२३॥ अनुद्भवद्रूपजुषो भवेयुश्चेद्रश्मयस्तत्र ततो न दोषः। नन्वेवमेत स्य पदार्थसार्थप्रकाशकत्वं न सुवर्णवत् स्यात्॥२४॥ आलोकसाचिव्यवशादथास्य प्रकाशकत्वं घटनामियर्ति। नन्वेवमेतत्सचिवस्य किं स्यात्प्रकाशकत्वं न कुटीकुटादेः॥२५॥

अथास्तु कामं ननु तैजसत्वमुत्तेजितं किं न भवेत्त्वयास्य । तथा च नव्यस्त्वदुज्ञ एषोऽद्वैतप्रवादोऽजनि तैजसत्वे २६ उत्पद्यन्ते तरणिकिरणश्रेणिसंपर्कतश्चेत्तत्रोद्भूताः सपदि रुचयो लोचने रोचमानाः । यद्गृह्यन्ते न खलु तपनालोकसं पत्प्रतानस्तस्मिन् हेतुर्भवति हि दिवा दीपभासामभासः ॥२७॥ अत्रेयं प्रतिक्रियामुष्टिग्राह्यो कुवलयदल-श्यामलिम्नाऽविलिप्ते स्फीते ध्वान्ते स्फुरति चरतो घूककाकोदरादेः । किं लक्ष्यंते क्षणमपि रुचो लोचनेनैव यस्मादालोकस्य प्रसरणकथा काचिदप्यत्र नास्ति ॥२८॥ उत्पत्तिरुद्भूततयाथ तासां तत्रैव यत्रास्ति रवि प्रकाशः । काकोदरादेरपि तर्हि नैताः कीटप्रकाशे कुशला भवेयुः ॥२९॥ अविवरतिमिरव्यतिकरपरिकरितापवर कोदरे क्वचन । वृषदंश दृशि न दृष्टा मरीचयः किमु कदाचिदथ ॥३०॥ अत एव विलोकयन्ति सम्य-क्तिमिराङ्कूरकरंबितेऽपि कोणे । मूषकपरिपन्थिनः पदार्थान् ज्वलनालोकविजृम्भणं विनैव ॥३१॥ अत्रोत्तरम्-चाकचिक्यप्रतीभास-मात्रमत्रास्ति वज्रवत् । नांशवःप्रसरन्त स्तु, प्रेक्ष्यन्ते सूक्ष्मका अपि ॥३२॥ मार्जारस्य यदीक्षण प्रणथिनः केचिन्मयूखाः सखे विद्योरन् न तदा कथं निशि भृशं त्वच्चक्षुषा प्रेक्षिते । प्रोन्मीलत्करपुञ्जपिञ्जरतनौ संजा तवत्युन्दरे प्रोज्जृम्भेत तवापि हन्त धिषणा दीपप्रदीपाद्यथा ॥३३॥ कृशतरतथा तेषां नोचेदुदेति मतिस्तव प्रभवति कथं तस्याप्यस्मिन्नसौ निरुपप्लवा । घटनविपुणा साक्षा त्प्रेक्षाविधौ हि ततिस्त्विषां न खलु न समा धीमन् ! सा चोभयत्र विभाव्यते ॥३४॥ अमूदृग्मूषिकारीषां तस्मादस्ति स्वयोग्यता । यया तमस्यपीक्षन्ते, न चक्षूरश्मिवत्पुनः ॥३५॥ इत्थं न चक्षुषि कथंचिदपि प्रयाति, संसिद्धिपद्धतिमियं खलु रश्मिवत्ता । तस्मात्कथं कथय तार्किकचक्षुषः स्यात् प्राप्यैव वस्तुनि मतिः प्रतिबोधकत्वम् ॥३६॥ बहिरर्थग्रहोन्मुख्यं बहिः कारणजन्यता । स्थायित्वं वा बहिर्देशे किं बाह्येन्द्रियता भवेत् ॥३७॥ तत्रादिमायां भिदि चेतसा स्थादेतस्य हे तोर्व्यभिचारचिह्नम् अप्राप्यकारि प्रकरोति यस्मान्मन्दा किनी मन्दरबुद्धिमेतत् ॥३८॥ दोषः स एवोत्तरकल्पनायां यदात्मनः पुद्गल एष बाह्यः । चेतश्च तस्मादुपजायमान मेतद्बहिःकारणजन्यताभृत् ॥३९॥ चेतः सनातनतया कलितस्वरूपं सर्वापकृष्टपरिमाणपवित्रितं च । प्रायः प्रिय प्रणयिनीप्रणयातिरेका-देतत्करोति हृदये ननु तर्कतज्ज्ञाः ॥४०॥ एतदत्र वितर्तीक्रियमाणं प्रस्तुतेतरदिव प्रतिभाति । विस्तराय च भवेदिति चिन्त्यं तद्विलोक्य गुरुगुम्फितवृत्तिम् ॥४१॥ पक्षे तृतीये विषयप्रदेशः शरीरदेशो यदि वा बहिः स्यात् । स्थायित्वमाद्ये विषयाश्रितत्वं यद्वा प्रवृत्तिर्विषयोमुखी स्यात् ॥४२॥ प्राचीनपक्षे प्रतिवाद्यसिद्धिः कलङ्कपङ्कः समुपैति हेतोः । स्याद्वादिना यत्प्रतिवादिनास्य नाङ्गीकृतं मेयसमाश्रितत्वम् ॥४३॥ पक्षे तथा साधनशून्यतास्मिन् दृष्टान्तदोषः प्रकटः पटूनाम् । जिह्वेन्द्रियं नार्थ समाश्रितं यद्विलोकयामासुरमी कदाचित् ॥४४॥ द्वितीयकल्पे किमसौ प्रवृत्तिरर्थाभिमुख्येन विसर्षणं स्थात् ॥ आश्रित्थ किं वा विषयप्रपञ्चप्रतीतिसंपत्प्रतिबोधकत्वम् ॥४५॥ पक्षे पुरश्चारिणि सिद्धिबन्ध्यं स्यात्साधनं जैनमतानुगानाम् । यस्मान्न तैलो-चनरश्मिचक्रमङ्गीकृतं वस्तुमुखं प्रसर्षत् ॥४६॥ निदर्शनस्य स्फुटमेव दृष्टं वैकल्यमत्रैव हि साधनेन । पदार्थसार्थं प्रति यन्नसर्प्पज्जिह्वेन्द्रियं केनचिदिष्टपूर्व्वम् ॥४७॥ पक्षान्तरे तु व्यभिचारमुद्रा किं चेतसा नैव समुज्जृम्भे । यस्मात्तद-प्राप्तसुपर्वशैलस्वर्गे समुत्पादयति प्रतीतिम् ॥४८॥ शरीरस्य बहिर्देशे स्थायित्वं यदि जल्प्यते । बाह्येन्द्रियत्वमत्र स्या-त्संदिग्धव्यभिचारिता ॥४९॥ अप्राप्तार्थपरिच्छेदे नापि सार्द्धं न विद्यते । हेतोर्बा ह्येन्द्रियत्वस्य विरोधो वत कश्चन ॥५०॥ क्वचित्साध्यनिवृत्त्या तु हेतुव्यावृत्तिदर्शनात् प्रतिबन्ध-प्रसिद्धिश्चेत्तदात्रापि कथं न सा ॥५१॥ रसन-स्पर्शन-घ्राण-श्रोत्रान्येन्द्रियता बलात् । चक्षुरप्राप्तविज्ञातृ-मनोवत् प्रतिपाद्यताम् ॥५२॥ साध्यव्यावृत्तितोऽत्रापि हेतुव्यावृत्तिरीक्षता । नच कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येनैकत्रैव सा मता ॥५३॥ बाह्येन्द्रियत्वं सकलङ्कमेव न तार्किकान् प्रीणयितुं तदीष्टे । भ्रूविभ्रमो दुर्भगभामिनीनां वैदग्धभाजो भजते न चेतः ॥५४॥ किंचात्र संसूचितमादिशब्दात् वृत्ते पुरश्चारिणि कारकत्वं । यत्प्राप्य-कारित्वसमर्थनाय नेत्रस्य तत्काणदृगञ्जनाभम् ॥५५॥ यस्मादिदं मन्त्रजपोपसर्प्प-त्प्रोद्दामरामाव्यभिचारदोषात् । उत्तालवेताल-करालकेलि-कलंकितश्रीकमिवावभाति ॥५६॥ तथाहि । कनकनिकषस्निग्धां मुग्धां मुहुर्म्मधुरस्मितां चटुलकुटिल-भ्रूविभ्रान्तिं कटाक्षपटुच्छटाम् । त्रिजगति गतां कश्चिन्मंत्री समानयति क्षणात् तरुणरमणीमारान्मन्त्रान्मनोभुवि संस्मरन् ॥५७॥ कश्चिदत्र गदति स्म यत्पुनर्मन्त्रमन्त्रणगवी समानयेत् । युक्तमेव मदिरेक्षणादिकं तेन नाभिहितदूषणोदयः ॥५८॥ मन्त्रस्य साक्षाद् घटना प्रियादिना परंपरातो यदि वा निगद्यते । साक्षान्न तावद्यदयं विहायसो ध्वनिस्वरूपस्तव सम्मतो गुणः ॥५९॥ ततोऽस्य तेनैव समं समस्ति संसक्तिवार्ता न तु पक्ष्मलाक्ष्या । अथाक्षरालम्बनवेदनं स्यान्मन्त्रस्तथाप्यस्त्वियमात्मनैव ॥६०॥ अथापि मन्त्रस्य निवेद्यते त्वया संसक्तिरेतत्पतिदेवतात्मना । संतोषपोषप्रगुणा च सा प्रियां प्रियं प्रति प्रेरयति स्वयोगिनीम् ॥६१॥ ब्रूमहेऽत्र ननु देवतात्मनां मन्त्रवर्णविसरस्य का घटा । अम्बरस्य गुण एव तत्कथं देवतात्मनि भजेत संगतिम् ॥६२॥ आश्रयद्वार-तोऽप्यस्य संसर्गो नास्ति सर्वथा । व्यापकद्रव्ययोर्यस्मात्संसर्गो नामुना मतः ॥६३॥ व्यापकेषु वदति व्यतिषङ्गं यस्तु तेन मनसा ध्वनिना वाऽतीतवस्तुविषयेण विमृश्य स्पष्ट एव विलसन् व्यभिचारः ॥६४॥ अयस्कान्तादनेकान्तस्तथाऽत्र परिभाव्यताम् । आक्षेपश्च समाधिश्च ज्ञेयो रत्नाकरादिह ॥६५॥ कारकत्वमपि तन्न शोभते प्राप्यकारिणी यदीक्षणे मतम् । प्राप्य वस्तु वितनोति तन्मतिं नैव चक्षुरिति तत्त्वनिर्णयः ॥६६॥ अद्रिचन्द्रकलनेषु येत्यदःप्राक् प्ररूपितमुपैति नो घटाम् । रश्मिसंचयविषञ्चितं हि तत्ते च तत्र नितरां व्यपाकृताः ॥६७॥ किंच । चक्षुरप्राप्यधीकृत्, व्यवधिम-तोऽपि प्रकाशकं यस्मात् । अन्तःकरणं यद्वक्ष्यतिरेकं स्यात् पुना रसना ॥६८॥ अथ द्रुमादिव्यवधानभाजः प्रकाशकत्वं ददृशे न दृष्टौ । ततोऽप्य यं हेतुरसिद्धतायां धौरेयभावं बिभरांबभूव ॥६९॥ एतत्र युक्तं शतकोटिकाचस्वच्छोदकस्फाटिकभित्तिमुख्यैः । पदार्थपुञ्जे व्यवधानभाजि संजायते किं नयनान्न संवित् ॥७०॥ दम्भोलिप्रभृतिप्रभि-द्यभिदुराश्चेद्रोचिषश्चक्षुषः संसर्गोप-गताः पदार्थपटलीं पश्यन्ति तत्र स्थिताम् । एवं तर्हि समुच्छलन्मलभरं भित्वा जलं तत्क्षणात्तेनाप्य-न्तरितस्थितीननिमिषा नालोकयेयुर्न किम् ॥७१॥ विध्याता-

स्तेन तेचेद्विमलजलभरार्त्तिं भजन्ते न शान्तिं, किं चाम्भः काचकूपोदरविवरगतं निष्पतेत्तत्तदानीम्। दोषश्चैन्नैष तूर्णं यदयमुदयते नूतनव्यूहरूपः सर्पेयुस्तर्हि नैताः कथमपि रुचयो लोचनस्यापि तस्मिन् ॥७२॥ भवति परिगमश्चे द्वेगवत्त्वादमीषां कतिपयकलयास्तु क्षीरपातस्तदानीम्। न च भवति कदाचि-द्बुदुदस्यापि तस्मात्प्रपतनमिति युक्तस्तस्य नाशः किमाशु ॥७३॥ किंच ॥ कलशकुलिशप्राकाराद्य-त्रिविष्टपकन्दराकुहरकलितं विश्वं वस्तु प्रतीक्षणभंगुरम्। ज्वलनकलिकावल्किल्व-स्मिन्निरन्तरताभ्रमः प्रभवति वदन्नित्थं शाक्यः कथं प्रतिहन्यते ॥७४॥ तस्थौ स्थेमा तदस्मिन् व्यवधिमद मुना प्रेक्ष्यते येन सर्वम् तत्सिद्धा नेत्रबुद्धिर्व्यवधिपरिगतस्यापि भावस्य सम्य-क्। कुड्याद्यष्टब्धबुद्धिर्भवति किमु न चेन्नेदृशी योग्यतास्य प्राप्तस्यापि प्रकाशे प्रभवति न कथं लोचनाद्गन्धबुद्धिः ॥७५॥ किं वा न प्रतिभासते शशधरे कर्मापि तद्रूपवत् दूराच्चेद्विलसत्तदस्य उदये लक्ष्येत किं लाच्छनम्। तस्माच्चक्षुषि योग्यतैव शरणं साक्षी च नः प्रत्ययस्तत्तर्कप्रगुण प्रतीहि नयनेष्वप्राप्यधीः कर्तृताम् ॥७६॥ रत्ना०२ परि०१ सूत्रे। तथा। च विशेषावश्यकेऽपि नन्विन्द्रियत्वे तुल्येऽपि केयम्मुख परीक्षिका यच्चतुर्ष स्पर्शनोदीन्द्रियेषु प्राप्यकारिताऽभ्युपगम्य नतु नत्रमवसोरित्याह।

उवघाया णुग्गहओ, जंताइं पत्तकारीणि।

तत्र विषयभूतं शब्दादिकं वस्तुप्राप्तं संश्लेषद्वारेणासादितं कुर्वन्ति परिच्छिन्दन्तीति प्राप्तकारीणि प्राप्तकारीणि स्पृष्टार्थग्राही-णीत्यर्थः। कुतः पुनरेतान्येव प्राप्यकारीणीत्याह। उपघातश्चानुग्रहश्चोपघातानुग्रहौ तयोर्दर्शनात्कर्कशकंबलादिस्पर्शने, त्रिकटुकाद्यास्वादने, अशुच्यादि-पुद्गलाघ्राणे, भेर्यादिशब्दश्रवणे, त्वक् क्षणनाद्युपघातदर्शना-च्चंदनादिस्पर्शने, क्षीरशर्कराद्यास्वादने, कप् र्पुद्गलाघ्राणे, मृदुमन्दशब्दाद्याकर्णने तु शैत्याद्यनु-ग्रहदर्शनादित्यर्थः। नयनस्य तु निशितकरपत्रप्रोल्लसद्भल्ला-दिवीक्षणेऽपि पाटनाद्युपघातानवलोक-नाच्चन्दनागरुकर्पूरा-द्यवलोकनेऽपि शैत्याद्यनुग्राहाननुभवात्। मनसस्तु वक्ष्या-दिचिन्तनेपि दाहाद्युपघातादर्शनाज्जलचन्दनादिचिन्तायामपि च पिपासोपशमानुग्रहाऽसंभवाच्चेति।

अत्र परः प्राह।

जुज्जइ पत्तविसयया, फरिसणरसणेन सोत्तघाणेसु।
गिण्हंति सविसयं चिउ, जुत्ताई भिन्नदेशंपि ॥२०५॥

प्राप्तः स्पृष्टो विषयो ग्राह्यवस्तुरूपो यथोस्ते प्राप्तविषये तयो र्भावः प्राप्तविषयता सा युज्यते घटते। कस्मिन्नित्याह। स्पर्शनं रसनं चेति समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् स्पर्शनरसनेन्द्रिय इत्यर्थः। अनभिमत-प्रतिषेधमाह। न श्रोत्राघ्राणयोः प्राप्तविषयता युज्यते। यद्यस्मात्कारणादितो विवक्षितात्स्वदेशाद्भिन्नदेशमपि स्वविषयमेव गृह्णीतोस्यार्थस्यानुभवसिद्धत्वात् न हि शब्दः कश्चिच्छ्रोत्रेन्द्रिये प्रविशन्मुपलभ्यते नापि श्रोत्रेन्द्रियं शब्ददेशे गच्छन् समीक्ष्यते न चाभ्यामन्येनापि प्रकारेण विषयस्पर्शनं घटते। दूरे एष कस्यापि शब्दः श्रूयत इत्यादि जनोक्तिश्च श्रूयते कर्पूरकुंकुमकुसुमादीनां दूरस्थानामपि गन्धो निर्विवादमनुभूयते च तस्मात् श्रोत्रघ्राणयोः प्राप्तविषयता न युज्यत एवेति गाथार्थः। अत्रोच्यते—

पावंति सद्दगंधा, ताइं गंतुं सयं न गिण्हंति।
जं ते पोग्गलमइया, सक्किरिया वाउवहणाउ ॥२०६॥
धूमोव्व संहरण उ, दाराणु विहाणओ विसेसेणं।
तोयव्व नियंबाइसु, पडिघायाओ यवाउव्व ॥२०७॥

(पावंति सद्दगंधा ताइंति) शब्दगन्धौ कर्तृभूतौ ते श्रोत्र घ्राणेन्द्रिये कर्मतापन्ने अन्यत आगत्य प्राप्नुतः स्पृशत इति प्रतिज्ञा। अनभिमतप्रकारप्रतिषेधमाह। गंतुं सयं न गिण्हंतित्ति) ताइंति—संबध्यते अत्रापि। ततश्च ते श्रोत्रघ्राणे कर्तृभूते पुनः स्वयं शब्दगन्धदेशं गत्वा न गृह्णीतः शब्दगन्धाविति विभक्तिव्यत्ययेन संबध्यते आत्मनोऽबाह्यकरण-त्वाच्छ्रोत्रघ्राणयोः स्पर्शनरसनवदिति। ननु शब्दगन्धावपि श्रोत्रघ्राणे कुतः प्राप्नुत इत्याह (जं ते पोग्गलमइया सक्किरियत्ति) यस्मात्कारणात्तौ शब्दगन्धौ सक्रियौ गत्यादिक्रियावन्तौ तस्मादन्यत आगत्य श्रोत्रघ्राणे प्राप्नुतः कथंभूतौ सन्तौ सक्रियौ तावित्याह। पुनः पुद्गलमयौ यदि पुनरपौद्गलिकत्वादमूर्तौ स्यातां तदा यथा जैनमतेन सक्रिये-ष्वाकाशादिषु गतिक्रिया नास्ति तथैव तयोरपि न स्यादित्यालोच्य पुद्गलमयत्वविशेषणमकारि पुद्गलमयत्वे सति सक्रियाविति भावः॥ यद्येवंभूतं तत्र गतिक्रियास्त्येव यथा पुद्गस्कन्धेष्वित्याह—ननु पुद्गमयत्वेऽपि सति शब्दगन्धयोर्गतिक्रियाऽस्तीति कुतो निश्चीयत इत्याह(वा उवहणाउ धूमोव्वत्ति) वायुना वहनं नयनं वायुवहनं तस्मादिदमुक्तं भवति यथा पवनाद् धूम इव गति-क्रियाभाजौ तौ तथा-विशेषण द्वारानुविधानतस्तोयवत्तद्वन्तावेतौ तथा पर्वतनितम्बादिषु प्रतिघातात्प्रतिस्खलनाद्वायुवदेतौ गतिक्रियाश्रयाविति गाथाद्वयार्थः। हेत्वन्तरेणापि शब्दगन्धयोः सुयुक्तिकं गति क्रियावत्त्वं समर्थयन्नाह—

गेण्हंति पत्तमत्थं, उवघायाणुग्गहोवलद्धीओ॥
वाहिज्जपूइनासा—रिसादओ कहमसंबद्धे ॥२०८॥

प्राप्तमन्यत आगत्यात्मना सह संबद्धं शब्दगन्धलक्षणमर्थं गृह्णीतः श्रोत्रघाणेन्द्रिये इति गम्यते। एतेन शब्दगन्धयारोगमनक्रिया प्रतिज्ञाता भवति कुतः प्राप्तमेव गृह्णीत इत्याह उपघात-श्चानुग्रहश्चोपघातानुग्रहौ तयोरुपलब्धेः तथाहि भेर्यादिमहाशब्द प्रदेशे श्रोत्रस्य बाधिर्यरूप उपघातो दृश्यते कोमलशब्दश्रवणे त्वनुग्रहः घ्राणस्याप्यशुच्यादिगन्धप्रवेशे पूतिरोगाऽर्शोव्याधिरूप उपघातोऽवलोक्यते कर्पूरादिगन्धप्रवेशे त्वनुग्रहः शब्दगन्धा-संबन्धेऽपि श्रोत्रघ्राणयोरेतावनुग्रहोपघातौ भविष्यत इति चेदित्याह (वाहिज्जेत्यादि) बाधिर्यंच पूतिश्च नासाकोयलक्षणो रोगविशेषः नासार्शांसि च तानि आदिर्येषां शेषोपघाताऽनुग्रहाणां ते यथा भूताः कथमुपगच्छेयु: क्व सति इत्याह (असंबद्धेति) स्वहेतुभूते शब्दगन्धलक्षणवस्तुनीति गम्यते। इदमुक्तं भवति। श्रोत्रघ्राणाभ्यां सह संबद्धा एव शब्दगन्धाः स्वकार्यभूतं बाधिर्योपघातमनुग्रहं वा जनयितुमलं नान्यधा सर्वस्यापि तज्जननप्राप्तेरतिप्रसङ्गादिति गाथार्थः। तदेवं स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्राणां प्राप्यकारित्वं समर्थितम्॥ विशे०॥ आ०चू०॥

साम्प्रतं नयनमनसोरप्राप्यकारित्वसमर्थनायाह।

कथमप्राप्यकारित्वं तथोरवसीयते उच्यते विषयकृतानुग्रहो पघाताभावात् तथाहि यदि प्राप्तमर्थं चक्षुर्मनो वा गृह्णीयात् तर्हि यथा स्पर्शनेन्द्रियं स्वक् चन्दनादिकमङ्गारादिकं च प्राप्तमर्थं

परिछिन्दत्तत्कृतानुग्रहोपघातभाग् भवति तथा चक्षुर्मनसी अपि भवेतां विशेषाभावात् न च भवतस्तस्मादप्राप्तकारिणी तेन तु दृश्यते एवं चक्षुषो विषयकृतावग्रहोपघातौ । तथाहि घनपटलविनिर्मुक्ते नभसि सर्वतो निबिडतरतमोऽपेतकरप्रसरमपि सर्प्पयन्तमंशुमालिनमनवरतम-वलोकमानस्य भवति चक्षुषो विघातः शशाङ्ककरकदम्बकं यदि वा तर ङ्गमालोपशोभितं जलं तरुमण्डलं च शाडवलं निरन्तरं निरीक्ष्यमाणस्य चानुग्रहः । तदेतदप-रिभावितभाषितं यतो न ब्रूमः सर्वथा विषयकृतावनुग्रहोपघातौ न भवतः किं त्वेतावदेव वदामो यदा विषयं विषयतया चक्षुरवलम्बते तदा तत्कृतावनुग्रहोपघातौ तस्य न भवत इति तदप्राप्यकारि । शेषकालं तु प्राप्तेनोप वातकेनोपघातो भविष्यत्यनुग्राहकेण वानुग्रहस्तत्रांशुमालिनो रश्मयः सर्वत्रापि प्रसरमुपाददाना यदांशुमालिनः सन्मुखमीक्ष्यते तदा ते चक्षुर्देशमपि प्राप्नुवन्ति ततश्चक्षुः संप्राप्तास्ते स्पर्शनेन्द्रियमिव चक्षुरुपघ्नन्ति शीतां-शुरश्मयश्च स्वभावत एव शीतलत्वादनुग्राहकास्ततस्ते चक्षुः संप्राप्तास्सन्तस्तत्स्पर्शनेन्द्रियमिव चक्षुरनु गृह्णंति तरङ्गमाला-संकुलजलावलोकने च जलकणसंपृक्तसमीरावयवसंस्पर्शतोऽनुग्रहो भवति शाड्वलतरुमंडलावलोकनेपि शाड्वलतरुच्छायासंपर्क-शीतभूतसमीरणसंस्पर्शात् शेषकालं तु जलाद्यवलोकने अनुग्राहाभिमान उपघाताभावादवसेयो भवति । चोपघाताभावेऽनुग्राहाभिमानो यथातिसूक्ष्माक्षरनिरीक्षणाद्विनिवर्त्य यथा सुखं नीलरत्नवस्त्राद्यवलोकने इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमन्यथा समासेन संपर्के यथा सूर्यमीक्षमाणस्य सूर्येणोपघातो भवति तथा हुतवहजलशूलाद्यालोकने दाहक्लेदपाटना-दयोपि कस्मान्न भवन्ति अपिच यदि चक्षुः प्राप्यकारि तर्हि स्वदेशगतरजोमलाञ्जनशलाकादिकं किं न पश्यति तस्मादप्राप्यकार्येव चक्षुः । ननु यदि चक्षुरप्राप्तकारि तर्हि मनोवत् कस्मादविशेषेण सर्वानपि दूरं व्यवहितानर्थान्न गृह्णाति यदि हि प्राप्तं परिच्छिन्द्यात्तर्हि यदेवानावृतमदूरदेशं वा तदेव गृह्णीयात् नावृतं दूरदेशं वा तत्र चक्षूरश्मीनां गमनासंभवे संपर्कासंभवात् ततो युज्यते चक्षुतो ग्रहणाग्रहणेनान्यथा तथाचोक्तम् ''प्राप्यकारि चक्षुरुपलब्ध्यनुपलब्ध्योरनावरणे-तरापेक्षणाच्च''। यदि हि चक्षुरप्राप्तकारि भवेत् तदावरणभावादनुपलब्धि-रन्यथोपलब्धिरिति न स्यात् । नहि तदावरणमुपघातकरणसमर्थं प्राप्यकारित्वे तु मूर्तद्रव्य-प्रतिघातादुपपत्तिमानव्याघातात् अतिदूरे च गमनाभावादिति प्रयोगश्चात्र न चक्षुषो विषयपरिमाणमप्राप्यका-रित्वान्मनोवत् तदेतदयुक्ततरं दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् न खलु मनो प्यशेषान् विषयान् गृह्णाति तस्यापि सूक्ष्मेष्वागमगमादि प्यर्थेषु मोहदर्शनात् तस्माद्यथा मनो प्राप्यकार्यपि स्वावरण क्षयोपशमापेक्षत्वा-न्नियतविषयं तथा चक्षुरपि स्वावरणक्षयो पशमसापेक्षत्वाद प्राप्यकार्यपि योग्यदेशावस्थितनियतविषयमिति न व्य-वहितानुपलम्भ प्रसंगो नापि दूरदेशस्थितानामिति । अपिच दृष्टमप्राप्यकारित्वेऽपि तथा स्वभावविशेषाद्योग्यदेशापेक्षणं यथा ऽयस्कान्तस्य न खल्वयस्का-न्तोऽयसो ऽप्राप्यकर्षणे प्रवर्तमानः सर्वस्याप्ययसो जगद्वर्तिन आकर्षको भवति किंतु प्रतिनियतस्यैव । शङ्करस्वामी प्राह अयस्कान्तोऽपि प्राप्यकारी अयस्कान्तश्छायाणुभिः समाकृष्यमाण वस्तुनः संबन्धभावात् केवलं ते छायाणवः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते इति तदेतदुन्मत्त प्रलपितं तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् नहि तत्र छायाणु संभवग्राहकं प्रमाणमस्ति न चाप्रमाणकं प्रतिपत्तुं शक्नुमः अथास्ति तद्ग्राहकं प्रमाणमनुमानम्–इह यदाकर्षणं तत्संसर्गपूर्वकं यथाऽयोगोलकस्य संदंशेनाकर्षणं चायसोऽयस्कान्तेन तत्र साक्षादयस्कान्ते संसर्गः प्रत्यक्षबाधित इति अर्थात् छायाणुभिः सह दृष्टव्य इति तदपि बालिशजल्पितं हेतोरनैकांतिकत्वात् मन्त्रेण व्यभिचारात् । तथाहि–मन्त्रः स्मर्यमाणोऽपि विवक्षितं वस्तु आकर्षति न च कोऽपि तत्र संसर्ग इति । अपिच यथा छायाणवः प्राप्तमयः समाकर्षन्ति तथा काष्ठादिकमपि प्राप्तं कस्मान्न कर्षन्ति शक्ति प्रतिनियमादिति चेन्मनसः शक्तिप्रतिनियमोऽ-प्राप्तावपि तुल्य एवेति व्यर्थं छायाणुपरिकल्पनम् अन्यस्त्वाह अस्ति चक्षुषः प्राप्यकारित्वे व्यवहितार्थानुपलब्धेरनुमानं प्रमाणं तदयुक्तम त्रापि हेतोरनैकान्तिकत्वात्। काचाभ्रपटलस्फटिकैरन्तरित-स्याप्युपलब्धेः अथैवमाचक्षीथाः नयनरश्मयो निर्गत्य तमर्थं गृह्णन्ति नायनाश्च रश्मयस्तैजसत्वान्न तेजोद्रव्यैः प्रतिस्खल्यन्ते ततो न कश्चिद्दोषः तदपि न मनोरमं महाज्वलादौ स्खलनो-पलब्धेस्तस्मादप्राप्यकारि चक्षुरिति स्थितम् नं०आ०म०(मनसो ऽप्राप्यकारिता मनः शब्देपि)

तथाच विशेषावश्यके –

नयनमनसोरप्राप्यकारित्वमभिधित्सुर्नयनस्य तावदाह–

लोयणमपत्तविसयं, मणो व्व जमणुग्गहाइ सुण्णंति।
जलसूरालोयाइसु, दीसंति अणुग्गहोवघाया॥

अप्राप्तोऽसंबद्धोऽसंश्लिष्टो विषयो ग्राह्यवस्तुरूपो यस्य तद प्राप्तविषयं लोचनमप्राप्यकारीत्यर्थः इति प्रतिज्ञा । कुत इत्याह–यद्यस्मादनुग्रहादिशून्यमादिशब्दादुपघातपरिग्रहः बाह्यवस्तुकृतानुग्रहो-पघातशून्यत्वादित्यर्थः अय च हेतुः मना वदिति दृष्टान्तः । यदि हि लोचनं ग्राह्यवस्तुना सह संबध्य तत्परिच्छेदं कुर्यात् तदाग्न्यादिदर्शने स्पर्शनस्येव दाहाद्युप घातः स्यात् कोमलतल्पाद्यवलोकने त्वनुग्रहो भवेत् व चैवं तस्माद प्राप्यकारि लोचनमिति भावः मनस्यप्राप्यकारित्वं परस्यासिद्धमिति कथं तस्य दृष्टान्तत्वेनोन्यास इति चेत्सत्यं किन्तु वक्ष्यमाणयुक्तिभिस्तत्र तत्सिद्धमिति निश्चित्य तस्येह दृष्टान्तत्वेन प्रदर्शनमित्यदोषः। अथ परो हेतोरसिद्धतामुद्भावयन्नाह (जलसूरेत्यादि) आदिशब्द आलोकशब्दश्च प्रत्येकमभिसम्बध्यते ततश्च जलादीनामालोके लोचनस्याऽनुग्रहो दृश्यते सूरादीनां त्वालोके उपघात इत्य-तोऽनुग्रहादिशून्य त्वादित्यसिद्धो हेतुरित्यर्थः । इदमुक्तं भवति जलघृतनीलवसनवनस्पतीन्दुमण्डलाद्यवलोक ने नयनस्य परमाश्वासलक्षणोनुग्रहः समीक्ष्यते सूरसितभित्त्यादिदर्शने तु जलविगलना दिरूप उपघातः संदृश्यत इत्यतः किमुच्यते (जमणुग्गहाइसुण्णंतीति) गाथार्थः॥ अत्रोत्तरमाह–

डज्झेज्ज पाविउं रवि–कराइणा फरसणं व को दोसो॥
मणिआणुग्गहं पि व उवघायाभावओ सोम्मे॥२१०॥

अथमत्रभावार्थः अस्मदभिप्रायानभिज्ञोऽप्रस्तुताभिधायी परो न हि वयमेतद्ब्रूमो यच्चक्षुषः कुतोऽपि वस्तुनः सकाशात्कदापि सर्वथैवानुग्रहोपघातौ न भवतस्ततो रविकरादिना दाहात्मकतो-पघातवस्तुना परिच्छेदानन्तरं पश्चाच्चिरमवलोकयतः प्रतिपत्तुश्चक्षुः प्राप्य समासाद्य स्पर्शनेन्द्रियमिव दह्येत दाहादिलक्षणस्तस्योपघातः क्रियत इत्यर्थः एतावता चाप्राप्यकारिचक्षुर्वादिनामस्माकं को दोषो न कश्चिद् दृष्टस्य बाधितुमशक्य-

त्वादितिभावः । तथा यत्स्वरूपेणैव सौम्यं शीतलं शीतरश्मि-जलघृतचन्द्रादिकं वस्तु तस्मिंश्चिरमवलोकिते उपघाता-भावादनुग्रहमिव मन्येत चक्षुः को दोषः इत्यत्रापि संबध्यते न कश्चिदित्यर्थः इति गाथार्थः आह यद्युक्तन्यायेनोपघातका-नुग्राहकवस्तुभ्य उपघातानुग्रहाभावं चक्षुषो न ब्रूषे तर्हि यद् ब्रूषे तत्कथय इत्यासङ्क्याह॥

गंतुं न रूवदेसं, पासइ पत्तं सयं च नियमो यं।
एत्तेण उ मुत्तिमया उवघायाणुग्गहो होज्जा॥

अथं नियमः इदमेवाऽस्माभिर्नियम्यत इत्यर्थः किं तदित्याह रूपस्य देशो रूपदेशः आदित्यमण्डलादिसमाक्रान्तप्रदेशरूपस्तं गत्वा उत्प्लवनृतस्तं समालिख्य चक्षुर्न पश्यति न परिच्छि-नत्त्यन्यस्याश्रुतत्वादूपमिति गम्यते (पत्तंसयंचत्ति) स्वयं वा अन्यत आगत्थ चक्षुर्देशं प्राप्तं समागतं रूप चक्षुर्न पश्यति किंत्वप्राप्तमेव योग्यदेशस्थं विषयं तत्पश्यति अत्राह परो नन्वनेन नियमेना-प्राप्यकारित्वं चक्षुषः प्रतिज्ञातं भवति नच प्रतिज्ञामात्रेणैव हेतुपन्या समन्तरेण समीहितवस्तु सिद्धिरतोहेतुरिहवक्तव्यः (जमणुग्गहाइ सुण्णंती) त्यनेन पुर्वोक्ता गाथावयवेन विषयकृतानुग्र होप वातशून्यत्वलक्षणोयमभिहित एवेति चदेहो जराविधुरितस्येव सूरेर्विस्मरणशीलता यतो (जमाणुग्गहाइसुण्णंतीत्यनेन) विषयादनुग्रहोपघातौ चक्षुषो निषेधयति (डज्झेज्ज पाविउं रविकराइणा फरिसणंचे) त्यादिना तु पुनरपि ततस्तौ तस्य समनुजानीत अतो न विद्मः कोप्येष वचन क्रम इति नैतदेव-मभिप्रायापरिज्ञानाद्यतः प्रथमत एव विषय परिच्छेदमात्र-कालेऽनुग्रहोपघातशून्यताहेतुत्वेनोक्ता पश्चात्तु चिरमवलोकयतः प्रतिपत्तुः प्राप्तेन रविकिरणादिना चन्द्रमरी चिनीलादिना वा मूर्तिमता सर्गत एव केनाप्युपघातकेनानुग्राहकेन च विषयेणोपघातानुग्रहौ भवेताम्। अपीत्येतदे वाह। (एतेण उ मुत्तिमया इत्यादि) अनेनाभिप्रायेण तौ पुनरपि समनुज्ञायेते न विस्मरणशीलतया यदि पुनर्विषयपरिच्छित्तिमात्रमपि तमप्राप्तचक्षुर्न करोतीति नियम्यते तदा वह्निविषजलधिकण्टक-करवालकरपत्र-सौवीराञ्जनादि परिच्छित्तावपि तस्य दाहस्फोटक्लेदपाटननीरोगतादि लक्षणो पघातानुग्रहप्रसङ्गः नहि समानायामपि प्राप्तौ रविकरादिना तस्य भवन्ति दाहादयो न वन्ह्यादिभिः। तस्माद्व्यवस्थितमिदं विषयमप्राप्तौवं चक्षूः परिच्छिनत्ति अंजनदनादिकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वान्मनोवत्। परिच्छेदानन्तरं तु पश्चात्प्राप्तेन केनाप्युपघातकेन अनुग्राहकेण वा मूर्तिमता द्रव्येण तस्यो पघातानुग्रहौ न निषिध्येते विषशर्करादिभक्षणे मूर्छास्वास्थ्यादय इव मनस इति। अत्राऽपरः प्राह—नयनान्नायना रश्मयो निर्गत्य प्राप्य च रविबिम्बरश्मय इव वस्तुप्रकाशयन्तीति नयनस्यं प्राप्यकारिता प्रोच्यते सूक्ष्मत्वेन च तेषां वन्ह्यादिभिर्दाहादयो न भवन्ति रविरश्मिषु तथा दर्शनात्तदेतदयुक्ततरं तेषां प्रत्यक्षादिप्रमा-णाग्राह्यत्वेन श्रद्धातुमशक्यत्वात्तथाविधानाम-प्यस्तित्वकल्पनेऽति प्रसङ्गाद्वस्तुपरिच्छेदान्ययानुपपत्तेस्ते सन्तीति कल्प्यत इति चेन्न तानन्तरेणापि तत्परिच्छेदोपपत्तेः नहि मनसोरश्मयः सन्ति न च तदप्राप्तं। वस्तु परिच्छिनत्ति वक्ष्यमाणयुक्तिभ्यस्तस्य तत्सिद्धेः न च रविरश्म्युदाहरणमात्रेणाचेतनानां नयनरश्मीनां वस्तुपरिच्छेदो युज्यते नखदन्त-भालतलादिगतशरीररश्मीनामपि स्पर्शविषयवस्तुपरिच्छेद-प्रसङ्गादित्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः। तदेव मञ्जनज्वलना-दिविषयविहितानुग्रहोपघातशून्यत्वलक्षहणहे तोर प्राप्यकारितां चक्षुषः प्रसाध्य हेत्वन्तरेणापि तस्य तां प्र-साधयितुमाह—

जइ पत्तं गिण्हिज्जउ तग्गयमंजणरओमलाइयं॥
पिच्छेज्ज यं न पासइ अपत्तकारि तओ चक्खु॥१२॥

यदि तु प्राप्तं विषयं चक्षुर्गृह्णीयादित्युच्यते तदा तद्गतमा-त्मसंबद्धमञ्जनरजोमलशलाकादिकं पश्येदवगच्छेत् तस्य निर्विवादमेव तत्प्राप्तत्वेनोपलब्धेः यस्माच्च न पश्यति ततो-ऽप्राप्तकारि चक्षुरिति स्थितम्। यद्यप्राप्यकारि चक्षुस्तर्ह्यप्राप्तं त्वाविशेषात्सर्वस्याऽ-प्यर्थस्याविशेषेणग्राहकं स्यान्न प्रतिनियत स्येति चेन्न ज्ञानदर्शनावरणादेस्तत्प्रतिबन्धकस्य सद्भावान्मनसा व्यभिचाराच्च तथा ह्यप्राप्यकारित्वे सत्यपि नाविशेषेण सर्वार्थेषु मनः प्रवर्तते इन्द्रियाद्यप्रकाशितेषु सर्वथा अदृष्टा श्रुतार्थेषु तत्प्रवृत्यदर्शनादित्यलं प्रसंगेनेति गाथार्थः। तदेवं व्यवस्थापिता चक्षुषोऽप्राप्यकारिता—विशे०॥

तदेवं नयनमनासोर्विस्तरेणाप्राप्यकारितायां साधितायां नयन पक्षेऽद्यापि दूषणशेषमुत्पश्यन् परः प्राह—

जइ नयणिंदि य पत्तकारि सव्वन्न गिण्हए कम्हा॥
गहणागहणं किंकयमपत्त विसयत्त सामन्ने॥१॥

यद्युक्तं युक्तिभ्यो नयनेन्द्रियमप्राप्तकारि तर्हि सर्वमपि त्रिभुवनान्तर्वर्ति वस्तुनि कुरम्बं कस्मान्न गृह्णाति अप्राप्ति-त्वाविशेषादेतत्प्रतीकरोति अप्राप्तो विषयो यस्य तदप्राप्तिविषयं तद्भावोऽप्राप्तविषयत्वं तस्मिन् सामान्येऽविशिष्टेऽपि सति यदिदं कस्यचिदर्थस्य ग्रहणं कस्यचिदग्रहणं तत्किंकृतं किं निबन्धनं नेह किंचिन्निबन्धनमुत्पश्याम इतिभावः इतिगाथार्थः। तस्माद्वो आचार्य ? तस्य चक्षुषो विषयपरिमाणोऽनैयत्य-माप्नोतीत्येतदेवाह—

विसयपरिमाणमनियमपत्त विसयति तस्स मणसोव्व।
मणसो वि विसय नियमो नक्कमइ जओ समवत्थ।

विषयस्य ग्राहकस्य परिमाणमनियतमपरिमितं प्राप्नोति तस्य चक्षुष इति ज्ञानहेतुमाह अप्राप्तविषय इति कृत्वा मनसहावेति दृष्टान्तप्रयोगः यदप्राप्तमपि विषयं परिच्छिनत्ति न तस्य तत्परिमाणं युक्तं यथा मनसः। अप्राप्तं विषयमनुगच्छति चक्षुस्तस्मान्न तस्य तत्परिणामं युक्तमिति। अथेह प्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्ये सूरिरूपदर्शयति मनसो दृष्टान्तीकृतस्याप्राप्यकारिणो विषयनियमोऽस्त्येवेति शेषः। कुत इत्याह। (मन सत्ति) तदपिमनः सर्वेष्वर्थेषु न क्रामति न प्रसरति इति गाथार्थः। तथाहि—

अत्थगहणेसु मुज्झइ सत्तेसु वि केवलाई गम्मेसु।
तं किं कयमग्गहणं अपत्तकारित्तसामण्णो॥

अर्था एव मतेर्दुः प्रवेशत्वाद्गहनानि तेष्वनन्तेषु सत्स्वपि विद्य मानेष्वपि कथंभूतेष्वित्याह। केवलं केवलज्ञानमादिर्ये-षामवधिज्ञानागमादीनां तानि केवलादीनि तैर्गम्यन्ते ज्ञायन्ते केवलादिगम्यानि तेष्वेवं भूतेष्वर्थगहनेषु सत्स्वपि कस्य-चिन्मन्दमतेर्जन्तोर्मनो मुह्यति कुण्ठी भवति। तदवगमनाय न प्रभवति तान् गहनभूतान् केवलादिगम्यान् सतोऽप्यर्थान्न गृह्णाति तात्पर्यं तत्र तदत्राहमपि भवन्तं पृच्छामि तदेतन्मनसोऽगृहणमर्थानां किं कृतं किं निबन्धनमप्राप्तकारित्वसामान्येऽप्राप्तकारित्वे

तुल्येहीत्यर्थः । तस्मान्मनसोऽपि विषयपरिमाणसद्भावादनन्तरगाथोक्तसाध्यविकलो दृष्टान्त इति स्थितमिति गाथार्थः ॥ तर्किकृतमग्रहणमर्यानामपीत्यत्रपराऽभिप्रायं आशङ्कमानः प्राह

कम्मोदय उवसाहा चउव्व णणु लोयणे वि तं तुल्लं ।
तुल्लो व उवालंभो एसो संपन्न विसए वि ॥

यत्केषांचिदर्थानां मनसो ग्रहणं तत्तदावरणकर्मोदयाद्वा स्वभावाद्वा इति परो ब्रूयान्नत्वेतल्लोचनेपि तुल्यं यतस्त-दप्यप्राप्यकारित्वे तुल्योऽपि कर्मोदयात् तत्स्वभावाद्वा कां-श्चिदेवार्थान् गृह्णाति न सर्वानिति तदेवं नयनस्य प्राप्तकारि-त्वेऽतिप्रसङ्गलक्षणं प्राप्तकारिवादिना यदूषणमुक्तं तत्परिहृतम् अथवा यो नयनमनसोः प्राप्यकारित्वमभ्युपगच्छति तस्याप्येतंदूषणमापतत्येव यच्च द्वयोर्दूषणं न तदेकस्य दातुमुचित-मित्येतच्चेतसि निधाय प्राह 'तुल्लोवेत्यादि' वा इत्ययवा एषोऽतिप्रसंगलक्षण-उपालम्भस्तुल्यः समानः क्लेत्याह संप्राप्तविषयत्वेपि नयनमनसोरभ्युपगम्यमाने तथाह्यत्रापि शक्यते वक्तुं यदि प्राप्तमर्थं गृह्णाति चक्षुस्तर्ह्यतिसंप्राप्तनयनाञ्जन-रजोमलशलाकादीन् कस्मान्नगृह्णाति । मनोऽपि प्राप्तान् सर्वानपि किमिति न गृह्णाति घटप्राप्तिकाले पटादयो न प्राप्ता एवेति चेन्न तदप्राप्तौ हेत्वभावात्तथाहि न तावत्कटकुटपादयस्तेषामाचारकास्तैरन्तरितानामपि मेर्वादीनां मनसोऽपरिच्छेदानुभवा-त्कर्मोदयात्स्वभावाद्वा प्रतिनियतमेव मनः प्राप्नोतीति चेन्नन्वेतदप्राप्यकारिणो नयनस्यापि समान मिति गाथार्थः । तस्मात्किमिह स्थितमित्याह ॥

सामत्थाभावाओ मणोव्व विसवपरउ पगिण्हेइ ॥
कम्मक्खओवसमओ साणुग्गहओ य सामत्थं ॥१॥

चक्षुः सिद्धान्तनिर्दिष्टं नियतविषयपरिणामात्परतो न गृह्णातीति प्रतिज्ञा चक्षुषश्चेह कर्तृत्वं प्रक्रमाद्गम्यते सामर्थ्याभावादिति हेतुर्मनोवदिति दृष्टान्तः सामर्थ्यभावो नयनस्य कुत इत्याह (कम्मक्खओ इत्यादि) तदावरणकर्मक्षयोपशमात् स्वानुग्रहतश्चाऽप्राप्तेष्वपि केषुचिद्योग्यदेशावस्थितेष्वर्थेषु परिच्छेदे कर्त्तव्ये लोचनस्य सामर्थ्यं भवति इदमुक्तं भवति अप्राप्तत्वे समानेऽपि येष्वर्थेषु ग्रहणविषये कर्मक्षयोपशमो भवति तथा स्वस्यात्मनो रूपालोके नमस्कारादिसामग्र्याः । सकाशादनुग्रहो भवति तेष्वर्थेषु कर्मक्षयोपशमवसद्भावाच्छेषसामग्र्यनुग्रहाच्चक्षुषो ग्रहणसामर्थ्यं भवति येषु त्वर्थेषु ग्रहणविषये कर्म-क्षयोपशमः शेषसामग्र्यनुग्रहश्च नास्ति तेषु तस्य सामर्थ्या भाव इत्यर्थापत्तित एव गम्यते तस्मादव्यवस्थितमप्राप्यकारित्वं नयनस्य । विशे०॥

इहसुगतमतानुसारिणःश्रोत्रमप्राप्यकारि प्रतिपद्यन्ते तथाच तद्ग्रन्थाः चक्षुः श्रोत्रं मनोऽप्राप्यकारीति तदयुक्तमिहाप्राप्यकारि तत्प्रतिपत्तुं शक्यते यस्य विषयकृतानुग्रहोपघाताभावो यथा चक्षुर्मनसोः । श्रोत्रेन्द्रियस्य च शब्दकृत उपघातो दृश्यते सद्यो जातबालकस्य समीपे महाप्रयत्नताडितझल्लरीरणत्कार श्रवणतो यद्वा विद्युत्प्रपाते तत्प्रत्यासन्नदेशवर्तिनां निर्घोषश्रवणतो व धिरीभावदर्शनात् । शब्दपरमाणवो हि उत्पत्तिदेशादारभ्य सर्वतो जलतरंगन्यायेन प्रसरमभिगृह्णानां श्रोत्रेन्द्रियदेशमागच्छन्ति ततः संभवत्युपपातः । ननु यदि श्रोत्रेन्द्रियं प्राप्तमेव शब्दं गृह्णाति नाप्राप्तं तर्हि यथा गन्धादौ गृह्यमाणेन तत्र दूरा सन्नादिभेदप्रतीतिरेवं शब्दोऽपि न स्यात् प्राप्तो हि विषयः परिच्छिद्यमानः सर्वोषि सन्निहित एव तत्कथं तत्र दूरासन्नादिभेदप्रतीतिर्भवितुमर्हति अथ च प्रतीयते शब्दो दूरासन्नादि तथा तथा च लोके वक्तारः श्रूयते कस्यापि दूरे शब्द इति । अन्यच्च यदि प्राप्तः शब्दो गृह्यते श्रोत्रेन्द्रियेण तर्हि चाण्डालोक्तोऽपिशब्दः श्रोत्रेन्द्रियेण श्रोत्रेन्द्रियसंस्पृष्टो गृह्यते इति श्रोत्रेन्द्रियस्य चाण्डालस्पर्शदोषप्रसंगः तन्न श्रेयः पदवीप्रतिष्ठाममितिष्ठति श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्यकारित्वं तदेतदिति महामोह मलीमसभाषितं यतो यद्यपि शब्दोऽप्राप्तो गृह्यते श्रोत्रेन्द्रियेण तथाऽपि यत उत्थितः शब्दस्तस्य दूरासन्नत्वे शब्देऽपि स्वभाववैचित्र्यसंभवात् दूरासन्नादिभेदप्रतीतिर्भवति । तथाहि—दूरोदात्तः शब्दः क्षीणशक्तित्वात् खिन्न उपलक्ष्यते स्पष्टरूपो वा ततो लोके लोको वदति दूरे शब्दः श्रूयते यस्य च वाक्यस्यायं भावार्थो दूरादागतः शब्द श्रूयते इति स्यादेत देवमतिप्रसंगः प्राप्नोति तथाह्येतदपि वक्तुं शक्यते दूरे रूप मुपलभ्यते किमुक्तं भवति दूरादागतं रूपमुपलभ्यते ततश्चक्षुरापे प्राप्यकारि प्राप्नोति न चेष्यते तस्मान्नैतत्समीचीनमिति तदयुक्तं यत इह चक्षुषो रूपकृतावनुग्रहोपघातौ नोपलभ्येते श्रोत्रेन्द्रियस्य तु शब्दकृत उपघातोऽस्ति एतच्च प्रागेवोक्तं ततो नातिप्रसंगादानमुपपत्तिमत् । अन्यच्च प्रत्यासन्नोऽपि जनः पवनस्य प्रतिकूलमवतिष्ठमानः शब्दं न शृणोति पवनवर्त्मनि तु वर्तमानो दूरदेशस्थितोऽपि शृणोति तथाच लोके वक्तारो न वयं प्रत्यासन्ना अपि त्वदीयं वचः श्रुणुमः पवनस्य प्रतिकूलमवस्थानात् यदि पुनरप्राप्तमेव शब्दं रूपमिव जनाः प्रमिणुयुस्तर्हि वातस्य प्रतिकूलमप्यवतिष्ठमाना रूपमिव शब्दं यथावस्थितं प्रत्यासन्नाः प्रमिणुयुर्न च प्रमिण्वन्ति तस्मात्प्राप्ता एव परमाणवः श्रोत्रेन्द्रियेण परिगृह्यन्ते इत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यं तथा च सति पवनस्य प्रतिकूलमप्यवतिष्ठमानानां श्रोत्रेन्द्रियं न शब्द परिमाणवो वैपुल्येन पाप्नुवन्ति तेषामन्यथा वातेन नीयमानत्वात् ततो न ते शृण्वन्तीति न काचित् क्षितिः । यदपि चोक्तं चाण्डालस्पर्शदोषः प्राप्नोतीति तदपि चेतनाविकलपुरुषभाषितमिवासमीचीनं स्पर्शास्पर्शव्यवस्था या लोके काल्पनिकत्वात् तथाहि न स्पर्शस्य व्यवस्था लोके पारमार्थिकी तथाहि यामेव भुवमग्रे चाण्डालः स्पृशन् प्रयाति तामेवपृष्ठतः श्रोत्रियोऽपि, तथा यामेव नावमधिरोहतिस्म चाण्डालस्तामेवारोहति श्रोत्रियोऽपि, तथा स एव मारुतश्चाण्डालमपि स्पृष्ट्वा श्रोत्रियमपि स्पृशति, न च तत्र लोके स्पर्शदोषव्यवस्था तथा शब्दपुद्गलसंस्पर्शेऽपि न भवतीति न कश्चिद्दोषः । अपि च यदा लोके केतकीदलनिचयं शतपत्रा-दिपुष्पनिचयं वा शिरसि निबध्य वपुषि वा मृगमदचन्दनाद्यवलेपन मारचय्य विपणिं वीथ्यामागत्य चाण्डालोऽवतिष्ठते तदा तद्गतकेतकीदलादिगन्धपुद्गलाः श्रोत्रियादिनासिकास्वपि प्रविशन्ति ततस्तत्रापि चाण्डालस्पर्शदोषः प्राप्नोतीति तद्दोषभयानासिकेन्द्रियमप्राप्यकारि प्रतिपत्तव्यं नचैतद्भवतोऽप्यागमे प्रतिपाद्यते ततो बालिशजल्पितमेतदितिकृतं प्रसंगेनेति । नं० । आ०म० । तथाचरत्नावतारिकायाम् ''बौद्धाः पुनरिदमाहुः श्रोत्रं न प्राप्य बुद्धिमाद्धत्ते । दिग्देशत्यपदेशान् करोति शब्दे यतो दृग्वत् ॥७७॥ तथाहि । प्राच्यामत्रविजृम्भते जलमुचा मत्यूर्जितं गर्जितं प्रोन्मीलत्यलमेव चातकरवो क्षामक्षण दक्षिणः । केकाः केकिकुटुम्बकस्य विकसन्त्येताः कलाः काननाद्दिग्देश-व्यपदेशवानिति न किं शब्देस्ति संप्रत्ययः ॥७८॥ प्राप्यकारि यदि तु श्रवणं स्यात्तर्हि तत्र न कथंन न सैषः । प्रस्तुतः समुदयाद्व्यपदेशः शर्करास्पृशि यथा रसनायाम् ॥७९॥ वेश्यानुरागप्रतिमं तदेतत् सुस्पृष्टदृष्टव्यभिचारदोषात् । घ्राणं यदेतद्

व्यपदेशभाजं प्राप्तप्रकाशं कुरुते मनीषाम् ॥९०॥ तथाच "मन्दंमन्दमुदेत्ययं परिमलप्राग्भाधवीमण्डपाद्भूयः सौरभ-मुद्वमन्त्युपवने फुल्लाःस्फुटं मल्लिकाः । गन्धो बन्धुर एष दक्षिणदिक्षाः श्रीचन्दात्प्राप्तवानित्येतन्ननु विद्यते तनुभृतां घ्राणात्तथा प्रत्ययः ॥८१॥ अस्ति त्वगिंद्रियेणापि व्यभिचारविनिश्चयः । शेमुषीमादधानेन दिग्देशव्यपदेशिनी ॥८२॥ तथाहि । सेयं समीरल हरीहरिचन्दनेन्दु-संवादिनी वनभुवः प्रसभं प्रवृत्ता । स्फीतस्फुरत्पुलकपल्ल-वितांगयष्टिमामातनोति तरुणी करपल्लवश्च ८३ अयानुमा-नादधिगम्य तेषां हेतूंस्ततस्त-द्व्यपदेशिनीधीः । न घ्राणतः स्पर्शनतश्च तादृक् प्रत्यक्षरूपा प्रथते मनीषा ॥८४॥ श्रोत्रेपि सर्वं तदिदं समानमालोकमानोऽपि न मन्यसे किम् । दृष्टव्यलीकाम-पिकामीनीं यत्संमन्यते कामुक एव साध्वीम् ८५ स्मृत्वा यथैव प्रतिबन्धमाशु शंखादिशब्दोऽयमिति प्रतीतिः । प्राच्यादिदूरादिगतेऽपि शब्दे तथैव युक्ता प्रतिपत्तिरेषा ॥८६॥ दिग्देशानां श्रुतिविषयता किंच नो युक्तियुक्ता युक्तत्वे वा भवति न कथं ध्यानरूपत्वमेषाम् । तस्माद्भिन्नप्रमिति विषयास्ते विशिंषन्ति शब्द सिद्धे चैवं भवतु सुतरां साधने साध्य सिद्धिः ॥७८॥ अपिच । गृह्यते यदि विनैव संगतिं किं तदानुगुणमारुते ध्वनौ । दूरतोपि धिषणा समुन्मिषेदन्यथा तु निकटेऽपि नैव सा ॥८८॥ मुहुर्मरुति मन्यरं स्फुरति सानुलोमागमे समुल्लसितवल्लकीक्वणकला-कलापप्लुता । सकामतनकामिनी कलितयोजनाडम्बरा न किं निशि निशम्यते सपदि दूरतः काकली ॥८९॥ पटुघटित-कपटसंपुटौघे भवति कथं सदनेऽपि शब्दबुद्धिः । पटुघटित-कपाटसंपुटौघे भवति कथं सदनेऽपि गन्धबुद्धिः ॥९०॥ तथाहि । कर्पूरपारीपरिरंभभाजी श्रीखण्डखण्डे मृगनाभिमिश्रे । धूमायमाने पिहितेप्यगारे गन्धप्रबन्धो बहिरभ्युपैति ॥९१॥ द्वारावृतेऽपि सदने प्रणयप्रकर्षा-देवं प्रिये स्फुरदपत्रपया स्खलंती । द्वारि स्थितस्य सर साकुल-बालिकायाः कर्णातिथीभवति मन्मथसूक्तिमुद्रा ॥९२॥ एवं च प्राप्त एवैष शब्दः श्रोत्रेणगृह्यते । श्रोत्रस्यापि ततः सिद्धानिर्बाधा प्राप्यकारिता, ॥९३॥ रत्ना० २ प० ॥

(१०) संप्रति इन्द्रियाणां विषयपरिमाणनिरूपणार्थमाह

सोइंदियस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागे उक्कोसेणं बारसहिं जोयणेहिंतो छिन्ने पुग्गले पुट्ठे पविट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ । चक्खिंदियस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागो उक्कोसेणं सातिरेगाओ जोयणसयसहस्साओ अच्छिन्ने पुग्गले अपुट्ठे अपविट्ठाइं रूवाइं पासति । घाणिंदियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागो उक्कोसेणं नवहिं जोयणेहिं छिन्ने पोग्गले पुट्ठे पविट्ठाइं गंधाइं अग्घाइं । एवं जिब्भिंदियस्स वि । फासिंदियस्स वि ॥

इह श्रोत्रादीनि प्राप्तविषयपरिच्छेदत्वात् अङ्गुलासंख्येय-भागादप्यागतं शब्दादिद्रव्यं परिछिन्दन्ति नयनं वा प्राप्यकारीति तज्जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागादव्यवहितं परिच्छिनत्ति किमुक्तम्भवति जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागमात्रे व्यवस्थितं पश्यन्ति नतु ततोप्यतिरिक्तमिति प्राणिप्रसिद्धश्चायमर्थः । तथाच नातिसन्निकृष्ट-मञ्जनरजोमलादिकं चक्षुः पश्यति । उक्तञ्च -- "अचरमसंखेज्जगुणं भागातो नयणवज्जाणं । संखेज्जंगुलभागा नयणस्सइत्ति" उत्कर्षतस्तु श्रोत्रेन्द्रियं द्वादशभ्यो योजनेभ्य आगतान् अच्छिन्नान् अव्यवहितान् नान्यैः शब्दान्तरैर्वातादिकैर्वा प्रतिहतशक्तिकानित्यर्थः पुद्गलान् अनेन पौद्गलिकशब्दो नाम्बरगुण इति प्रतिपादितम् । यथाच शब्दस्य पौद्गलिकता तथा तत्वार्थटीकायाम् प्रपञ्चितमिति न भूयः प्रपञ्च्यते स्पृष्टान् स्पृष्टमात्रान् शब्दान् प्रविष्टान् निर्वृतीन्द्रियमध्यप्रविष्टान् शृणोति न परतोऽप्यागतान् कस्मादिति चेदुच्यते परत आगतानां तेषां मन्दपरिणामत्वभावात् तथाहि परतः आगताः खलु ते शब्दपुद्गलास्तथा स्वाभाव्यात् मन्दपरिणामास्तथो पजायन्ते येन स्वविषयं श्रोत्रविज्ञानं नोत्पादयितुमीश्वराः । श्रोत्रेन्द्रियस्यापि तत्तथाविधमद्भुततरं बलं न विद्यते येन परतोऽपि आगतान् शब्दान् शृणुयादिति चक्षुरिन्द्रियमुत्कर्षतः सातिरेकान् योजनशत-सहस्रादारभ्याछिन्नान् कटकुड्यादि भिरव्यवाहितान् पुद्गलान् अस्पृष्टान् दूरस्थितान् अत एवाप्रविष्टान् (रूवाइत्ति) रूपत्मकान् पश्यति परतोऽव्यवहितस्यापि परिच्छेदे चक्षुषः शक्त्यभावात् नन्वङ्गुलमिह त्रिधा तद्यथा आत्माङ्गुलमुच्छ्रयाङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलञ्च तत्र "जेणं जयामणा सा तेसिं जं होइ माणरूवं तं । तं भणियमिहायांगुलभणियपमाणं पुण इमन्तु" इत्येवं रूपमात्माङ्गुलं "परमाणु तसरेणु रहरेणू अग्गयं च वालस्स। लिक्खा जूया य जवा अट्ठगुणा विवड्ढि या कमसो । तत्रेन्द्रिय-विषयपरिमाणं किमात्माङ्गुलेनाहोश्वित् उच्छ्रयांगुलेन उच्यते आत्माङ्गुलेन तथा चाह चक्षुरिन्द्रियविषयपरिमाणचिंतायां भाष्यकृत् "अप्पत्तकारि नयणं मणो य नयणस्स विसयपरिमाणं। आयांगुलेण लक्खं अयरित्तं जोयणाणं तु" प्रज्ञा० १५ पद।

अंगुलजोयणलक्खो समहिओ नव वार मुक्कसो विसओ ।
चक्खू तिय-सोयाणं अंगुल अस्संखभागियंते ॥

अस्या व्याख्या-स्वं च तदंगुलं च स्वांगुलं भगवदृषभादेरारभ्य यस्ययद्भवति तेनांगुलेन योजनलक्षः समधिकः किंचिद्विषयो-त्थपरिच्छित्तेश्चक्षुषः नव द्वादशयोजनानि सांगुलेनेत्यत्रापि द्रष्ट-व्यः । उत्कर्षत उत्कृष्ट ततस्त्रिश्रोत्राणां यथाक्रमं योज्यंतत्र त्रायाणां स्पर्शनरसनघ्राणानां नव योजनानि श्रोत्रेन्द्रियस्य पुनर्द्वादश जघन्यतः पुनरंगुलासंख्येयभागिति गाथार्थः । दर्श० । ननु देहप्रमाणमुच्छ्रयांगुलेन क्रियते देहाश्रितानि चेन्द्रियाणि ततस्तेषां विषयपरिमाणमपि उच्छ्रयांगुलेन कर्तुमुचितं कथमुच्यते आत्मांगुलेनेति नैष दोषः यद्यपि हि नाम देहाश्रितानीन्द्रियाणि तथापि तेषां विषयपरिमाणमात्मांगुलेनैक-देहानन्यत्वा-द्विषयपरिमाणस्य तथा चामुमेवार्थमाक्षेपपुरस्सरं भाष्य कृदप्या। "नणु भणियमुस्सयंगुल, पमाणतो जीवदेहमाणाइं। देहपमाणं तं चिय न उ इंदियविसयपरिमाणं" ॥१॥ अत्र देहपमाणन्तं चिय इति यत्र उच्छ्रयांगुलमेयत्वं नोक्तं तद्देहप्रमाणमात्रमेव नत्वि-न्द्रियविषयपरिमाणं तस्यात्माङ्गुलप्रमेयत्वादिति अथ यदि विषयपरिमाणमिन्द्रिया-णामुच्छ्रयाङ्गुलेन स्यात्ततः को दोष आपद्येत पञ्चधनुःशतानि मनुष्याणां विषयव्यवहाराविच्छे-दस्तथाहि यद्भरतस्यात्माङ्गुलं तत्किल प्रमाणाङ्गुलं तच्च प्रमाणाङ्गुल मुच्छ्रयाङ्गुलसहस्रेण भवति- "उस्सेहंगुलमेगं हवइ पमाणांगुलसहसगुणमितिवचनात्" । ततो भरतसगरादिचक्रवर्तिनां या अयोध्यादयो नगर्यो ये तु स्कन्धावारा आत्माङ्गुलेन द्वादशयोजनायामतया सिद्धान्ते प्रसिद्धास्तेउच्छ्रयाङ्गुलप्रमित्या अनेकानि योजनसहस्राणि स्युः तथा च सति तत्रायुधशालादिषु ताडितभेर्यादिशब्दश्रवणेनसर्वेषामा

पद्येत ''बारसहिंजोयणेहिं आभिगिण्हएसद्दं'' इतिवचनात् । अथ च समग्रनगरव्यापी समस्तस्कन्धावारव्यापी च विजयढक्कादि शब्द आगमे च प्रतिपाद्यते तथैवं च जनव्यवहारस्तत एवमा गमे प्रसिद्धः पञ्चधनुःशतादिमनुष्याणां विषयव्यवहारो व्यवच्छेदं माप्रापदित्यात्माङ्गुलेनेन्द्रियाणां विषयपरिमाणमवसातव्यं नोच्छ्रयांगुलेन तथाभाष्यकृत्–''जं तेण पंचधणुसय, नरादि विसय-विवहारवोच्छेओ । पावइ सहस्सगुणियं० जेण पमाणंगुलंतत्तो'' ॥१॥ अत्र तस्मादात्माङ्गुलेनैवेन्द्रियाणां विषयपरिमा णं नोच्छ्रेधाङ्गुलेनेति । उपसंहारवाक्यं स्वतः परिभावनी यम् ॥ प्रज्ञा० १५ पद ॥ अपिच यानि देहस्यात्मभूतान्येवेन्द्रियाणि तान्यपि तावत्सर्वाण्युच्छ्रयांगुलेन मीयन्ते किंपुनरिन्द्रियविषयपरिमाणमिति दर्शयति ॥

इंदियमाणे वि तयं, मयणिज्झं जंति गाउआइणि ।
जिब्भिंदियाइमाणं, संववहारे वि डज्झेज्जा ॥

इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि तानि चेह ''कायव्व पुप्फुगोल य मसूरअइमुत्तयस्स कुसुमं'' चेत्यादिना प्रोक्तानि द्रव्येन्द्रियाणि गृह्यन्ते तेषां मानं प्रमाणमङ्गुलासंख्येयभागादिकं तत्रापि- कर्तव्ये गृहीतव्ये बोधव्य वा तदुच्छ्रयांगुलं भजनीयं क्वापि व्यापार्यते क्वापि नेत्यर्थः स्पर्शनेन्द्रियमेकं तेन मीयते शेषाणि त्वात्मांगुलेनैवेति भावः कुत इत्याह (जमित्यादि) यद्यस्मात्त्रिगव्यूतीत्यादिमानानां युगलधर्मिणां जिह्वेन्द्रियादिमानं यद्युच्छ्रयांगुलेन गृह्यते तदा संव्यवहारे कल्पद्रुमरसादिपरिज्ञान लक्षणे विरुद्ध्येत न घटेतेत्य-र्थः । इदमुक्तं भवति ''बाहल्लओ य सव्वाइं अंगुल असंखभागं एमेव पुहुत्तओ नवरं अंगुल पुहत्तस्स णं इत्यादि वचनात् अंगुलप्रथक्त्वविस्तरं जिह्वेन्द्रियं निर्णीतं त्रिगव्यूतादिमानानां च जन्तूनां च तदनुसारितया विशालानि तुषानि जिह्वां च ततो यद्युच्छ्रयांगुलेन तेषां क्षुरप्राकारतयोक्तस्य जिह्वेन्द्रियस्यांगुलपृ--थक्त्वलक्षणो विस्तरो गृह्यते तदाऽत्यल्पतया सर्वामपि जिह्वां न व्याप्नुयात् ततश्च सर्वव्यापितया रसवेदनलक्षणो व्यवहारो न घटते तस्मा-दात्मांगुलेनैव जिह्वादिमानं घटते ततश्च देहात्मभूतानीन्द्रियाण्यति सर्वाण्युच्छ्रयांगुलेन यदा न मीयन्ते तदा इन्द्रिय विषयपरिमाणस्य दूरे वार्ता इति गाथार्थः । तदेवं ''उस्सेहपमाणओ भिणे देहं'' इत्यत्र पारिशेष्याद्देहशब्देन यल्लभ्यते तद्दर्शयन्नाह–

तणुमाणं चिय तेणं, हविज्ज भणियं सुए वि तं चेव ।
एएण देहमाणाइ, नारयाईण भिज्जति ॥

तस्मादिन्द्रियपरिमाणे इन्द्रियविषयपरिमाणे चैकान्तेनो-च्छ्रयांगुलेनेष्यमाणे दोषस्य दर्शितत्वात्पारिशेष्यात्त्वनुमानमेव तेनोत्सेधांगुलेन भवेन्न पुनरिन्द्रियपरिमाणं विषयपरिमाणं वेति भावः ॥ युगलधर्मिणां रसवेदनव्यवहारस्य चक्रवर्तिभरतनगर्या-दिषु भेर्यादिशब्दश्रवणव्यवहारस्य चाऽभावप्रसङ्गस्य दर्शितत्वादिति । किं चेन्द्रियपरिमाणं तद्विषय परिमाणं चोच्छ्-यांगुलेन परः स्वमनीषिकयाऽर्था पत्त्यैव ब्रूतेन पुनः श्रुते साक्षादेतत् क्वाप्यऽभिहितं किं पुनस्तर्हि साक्षात्तत्राऽभिहितमित्याह (भणिअं सुए वि तं चेवेत्यादि) श्रुतेपि तदेव देहमानमेवोच्छ्रयांगुलेन भणितं नान्यदिति केन पुनर्निर्ग्रन्थे नैत्च्छुते ऽभिहितमित्याह (एएणेत्यादि) अर्थनिर्देश एवायं सूत्रालापकस्त्वेष द्रष्टव्यस्तद्यथा ''इच्चएणं उस्सेहंगुलपमाणेणं नेरइय तिरिक्खजोणिय मणुस्सदेवाणं सरीरोवगाहणा उ भिज्जति'' ॥ तदस्मिन् सूत्रे शरीरावगा-हनैवोच्छ्रयांगुलमेयत्वेनोक्तो नत्विंन्द्रियपरिमाणोद्य-तस्तदात्मांगुलेनैव द्रष्टव्य मिति गाथार्थः ॥ विशे० ॥

तस्मात्सर्वमिन्द्रियविषयपरिमाणमात्माङ्गुलेनैवेति स्थितं ननुभवत्वात्मांगुलेन विषयपरिमाणं तथाधिकृतसूत्रोक्तं चक्षुरिन्द्रिय विषयपरिमाणं न घटते अधिकस्यापि तद्विषय परिमाणस्यागमान्तरे प्रतिपादनात् तथाहि-पुष्करद्वीपार्द्धमानुषोत्तर पर्वतसमीपवर्तिनो मनुष्याः कर्कसंक्रान्तौ प्रमाणांगुलनिष्पन्नैः सातिरेकैः एकाविंशति योजनलक्षैर्व्यवस्थित मादित्यमवलोकमानाः प्रतिपाद्यन्ते ॥ शास्त्रान्तरे च तथा तद्ग्रन्थाः ''इगवीसं खलु लक्खा, चउतीसं चेव तह सहस्साइं तह पंचसया भणिया, सत्ततीसाए अतिरित्ता ॥१॥ इइ नयण विसयमाणं, पुक्खरवरदीवद्धवासमणुयाणं । पुव्वेण य अवरेण य० पिहिं पिहिं होइ मणुयाणं ॥२॥ इत्यादि ॥ ततः कथमधिकृत सूत्रात्मांगुलेनापि घटते प्रमाणांगुलेनापि व्यभिचारिभावात् । उक्तश्च – ''लक्खेहिं एक्कवीसाए, सायरं गेहिं पुवखरद्धमि ॥ उदए पेच्छन्ति नरा, सूरं उक्कोसए दिवसं ॥३॥ ण य णिंदियस्स तम्हा, विसयप्पमाणं जहा सुए भणियं ॥ आउस्सेह-पमाणं गुलाणएक्केण वि न जुत्तं ॥४॥'' प्रज्ञा० १५ पद ।

ननु पुष्करवरद्वीपस्य मानुषोत्तरपर्वतद्विधाकृतस्यार्व्वाग्भा-गवर्तिन्यर्द्धे मानुषोत्तरसन्निधावुत्कृष्टे दिवसे कर्कटकसंका-न्त्यामुदये उपलक्षणत्वादस्तसमये च नरा मनुष्याः सूरमा दित्यं पश्यन्ति अवलोकयंति, कियद्दूरं व्यवस्थितमित्याह सातिरे-कैरेकविंशतिल-क्षैर्योजनानां । एतदुक्तं भवति'' सिया लीससहस्सा, दोयसया जोयणाण ते वङ्गा । एगवीससट्ठिभागाकक्कडमा-इम्मिपेच्छन्नरा'' इति वचनाद्यथादित्र कर्कसंक्रातावुत्कृष्टे दिवसे एतावति दूरे व्यवस्थितं सूर्यं मनुष्याः पश्यन्ति यथा–पुष्करा-र्द्धमानुषोत्तरसमीपे प्रमाणंगुलनिष्पन्नैः सातिरेकैरेकविंशतियो-जनलक्षैर्व्यवस्थितमादित्यं तत्र दिने तन्नि वासिनो लोकाः समवलोकयन्ति तत्र भ्रमति बाहुल्यात्सूर्याणां च शीघ्रतर-गतित्वादुक्तं च ''इगवीसमित्यादि'' तस्मान्नयनेन्द्रियस्य सातिरेकयो-जनलक्षणस्वरूपं विषयपरिमाणं यथा श्रुते प्रज्ञा-पनादिकेऽभिहितं तथा तेन प्रकारेणात्मांगु लोत्सेधांगुल-प्रमाणांगुलानामेकेनापि गृह्यमाणं न युक्तं प्रमाणां गुले निष्पन्नस्यापि योजनलक्षस्य च निष्पन्नसातिरेकैक विंशतियोजनलक्षेभ्यः एकविंशतितमभागवर्तित्वेन वृहदन्तरत्वात्तस्मा-देकत्र सातिरेकं लक्षमन्यत्र सातिरेकैकविंशतिलक्षाणि योजनानां नयनस्य विषयप्रमाणंब्रुवतः श्रुतस्य पूर्वापरविरोध इति परस्योक्तमिति गाथाद्वयार्थः ॥ विशे० ॥ तथा-नयनस्य विषयोऽप्रकाशकवस्तु-पर्वताद्याश्रित्यात्मांगुलेन सातिरेकं योजनलक्षणं स्यात् प्र-काशकेत्वादित्यचन्द्रादिवदधिकमपिविषयपरिमाणं स्यात् नात्र विषये नियमः कोपि निर्दिष्टोऽस्ति सिद्धान्ते यतः पुष्करवरद्वीपादि मानुषोत्तरपर्वतसमीपे कर्कसंक्रान्तौ मनुष्याः प्रमाणांगुलभवैः सातिरेकैरेकविंशति योजनलक्षैर्व्यवस्थितं रविं पश्यन्तः प्रोच्यन्ते शास्त्रान्तरे इति । तंदु० ।

सत्यमेतत् । केवलमिदं सूत्रं प्रकाश्यविषयं द्रष्टव्यं न तु प्रकाशकविषयं ततः- प्रकाशकोधिकरणमपि विषयपरिमाणं न विरुध्यते-इति न कश्चिद्दोषः । कथमेव विधोऽर्थोऽवसीयत

इति चेदुच्यते पूर्वसूरिकृतव्याख्यानात् सकलमपि हि कालिकश्रुतं पूर्वसूरिकृतव्याख्यानानुसारेणैव व्याख्यानयन्ति महाधियो न यथाक्षरमात्रसन्निवेशं पूर्वगतसूत्रार्थसङ्ग्रहपरतया, कालिकस्तु तस्य क्वचित्सङ्क्षिप्तस्यार्थस्य महता विस्तारेण क्वचिद्विस्तारवतोऽतिसंक्षेपेणाभिधाने अर्वाक्तनैः स्वमति यथा वस्थितार्थतया ज्ञातुमशक्यत्वादत एवोक्तमिदमन्यत्र – ''जं जह भणियमित्यादि'' तस्मात् पूर्वसूरिकृतव्याख्यानान्नाधिकृत ग्रन्थविरोधः ॥ आहच भाष्यकृत् ''सुत्ताभिप्पाओ यं पयासयणिज्जे तयं न उ पयासए। वक्खाणओ विसेसो न हि संदेहादिलक्खणया। प्रज्ञा० १५ पद ॥

सातिरेकयोजनलक्षं नयनविषयप्रमाणं ब्रुवतः सूत्रस्यायमभि प्रायः इयं विवक्षा यदुत स्वयं तेजोरूपप्रकाशरहितत्वात्पर-प्रकाशनीयं यद्वस्तु पर्वतगर्तादिकं तत्रैव तत्सातिरेकयोजन-लक्षंनयनविषयप्रमाणतया द्रष्टव्यं। नतु स्वयमेव तेजोयुक्तत्वेन प्रकाशे चन्द्रार्कादिकं प्रकाशके वस्तुनि, एतदुक्तं भवति कश्चिन्निर्मलचक्षुर्जीवः सातिरेकयोजनलक्षे स्थितं पर्वतादिकं वीक्ष्य त इति प्रकाशनीयपर्वतगर्तादिके वस्तुनि नयनस्य तद्विषयप्रमाणमुक्तं प्रकाशकत्वादित्यादिकेऽनियमः। कुतः पुनरयं सूत्राभिप्रायो गम्यत, इत्याह–व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः कर्तव्या नतु संदेहादुभयपक्षोक्तिलक्षणत्वात्सूत्रस्य सर्वज्ञप्रणीतस्यालक्षताऽसमञ्जसाभिधायिता व्यवस्थापनीया व्याख्यानात्सूत्रं विषयविभागेन धारणीयं न तूभयपक्षोक्ति-मानभ्रमितैस्तद्विरोध उद्भावनीय इत्यर्थः। उक्तंच। ''जं जह सुत्ते भणियं तहेव जइ तं वियालणा नत्थि। किं कालियाऽणुओगो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ॥'' तदेवमप्राप्तकारिता विचारप्रक्रमेण नयनस्य विषयप्रमाणुक्तम् ॥ विशे० ॥

तथा घ्राणेन्द्रियजिह्वेन्द्रियस्पर्शनेन्द्रियाणि गन्धादीनुत्कर्षतो नवयोजनेभ्यः आगतान् अच्छिन्नान् द्रव्यान्तरैरप्रतिहतशक्तिकान् परिच्छिन्दति न परत आगतान् परत आगतानां मन्दपरिणाम-त्वाभावात् घ्राणादीन्द्रियाणां च तथारूपाणामपि तेषां परिच्छेदं कर्तुमवशक्यत्वात् – आह च भाष्यकृत्। ''बारसहिंतो सुत्तं, सेसाणं नवहि जोयणेहिंतो। गिण्हंति पत्तमत्थं एतो परतो न गिण्हंति'' (प्रज्ञा० १५ पद) मेघगर्जिताद्यशब्दमुत्कृष्टतो द्वादशयोजनेभ्यः समायातं गृह्णाति श्रोत्रम्, उक्तशेषाणि त्विन्द्रियाणि घ्राणरसनस्पर्शनलक्षणानि गन्ध रसस्पर्शलक्षणमर्थमुत्कर्षतो नवयोजनेभ्यः प्राप्तं गृह्णन्ति ॥ इतः परतोऽप्यायातं शब्दादिकमेतानि न गृह्णन्ति। ननु मेघगर्जितादि विषयः शब्दः प्रथमप्रावृषि दूरे प्रथममेघवृष्टौ सत्यां मृत्तिकादिगन्धश्च दूरादप्यायातो गृह्यमाणः समनुभूयते रसस्पर्शौ तु कथमिति चेदुच्यते– दूरादागतानां गन्धद्रव्याणां रसोपि तावत्कश्चिद्भवत्येव स च तेषां जिह्वासंबन्धे सति यथासंभवं कदाचित् केनचित् गृह्यात् एव। तथा च वक्तारो भवन्ति ''कटुकस्य तीक्ष्णादेर्वा वस्तुनः संबंधी अयं गन्ध'' इति। यदिह कटुकत्वं तीक्ष्णादित्वं चोच्यते तद्रसस्यैव धर्म्मस्तताश्च ज्ञायते जिह्वासंबन्धि तेषां कटुकादिरसोऽपि गृह्णीत इति स्पर्शोऽपि शीतादिदूरादपि शिशिरः पद्मसरः सरित्समुद्रादेर्मध्येनाया तस्य वातादेरनुभूयत एवेति। यद्येवं तर्हि द्वादशनवयोजनेभ्यः परतोप्यायाताः शब्दगन्धादयः किमिति न गृह्यन्त इत्याह –

दव्वाणं मंदपरिणा–मत्ता परओ न इंदियबलं पि।
अवरमसंखिज्जंगुल–भागओ नयणवज्जाणं ॥

द्वादशनवयोजनेभ्यः परतः समायातानां शब्दादिगन्धादि द्रव्याणां मन्दपरिणामत्वान्न खलु परतः समायातानां तेषां तथाविधपरिणामो भवति येन श्रोत्राघ्राणादि विज्ञानं जनयेयुः। श्रोत्रादीन्द्रियाणामपि च तथाविधं बलं न भवति येन परतः समायातानि शब्दादिद्रव्याणि गृहीत्वा स्वविज्ञानं जनयन्तु तदेवमुक्तमिन्द्रियाणां उत्कृष्टं विषयपरिमाणम्। अथ जघन्यं तद्विभणिषुराह (अवरमित्यादि) अवरं जघन्यं विषयप्रमाण मुच्यते किमित्याह। असंख्यात-तमादङ्गुलादसंख्येयभागादागतं गन्धादिकं घ्राणादीनि गृह्णन्ति किमेतत्सर्वेषामपीन्द्रियाणां जघन्यविषयप्रमाणं नेत्याह नयनवर्जानां नयनस्य तर्हि का वार्ता इत्याह –

संखिज्जइ भागाओ, नयणस्स मज्झस्स न विसयपमाणं।
पोग्गलमित्तनिबंधा, भावाओ केवलस्सेवा ॥

अङ्गुलासंख्येभागाद ङ्गुलसंख्येयभागमवधौ कृत्वा नयनस्य जघन्यं विषयपरिमाणमतिसंनिकृष्टस्याञ्जनशलाकारजो मलादेस्तेनानुपलम्भादिति भावः। मनसस्तु क्षेत्रतो नास्त्येव विषय-प्रमाणं नियमेन दूरे आसन्ने च तत्प्रवर्तत इत्यर्थः कुत इत्याह। पुद्गलमात्रस्य निबन्धो नियमस्तस्याः भावान्मूर्तामूर्तसम-स्तवस्तुविषयत्वेन पुद्गलेष्वेवेदं प्रवर्तत इत्येवं भूतस्य नियम-स्याभावात्केवलस्येवेत्यर्थः। इह यत्पुद्गलमात्रनिबन्धं नियतं न भवति न तस्य विषयपरिमाणमस्ति यथा केवलस्य, पुद्गलमात्रनिबंधाऽनियतं च मनस्ततो नास्य विषयपरिमाणं यस्य तु विषयपरिमाणं तत्पुद्गलमात्रनिबंधरहितमपि न भवति यथा-ऽवधिमनःपर्यायज्ञाने इति। अत्राह–नन्वऽनैकान्तिकोऽयं हेतुर्मतिश्रुतज्ञानाभ्यां व्यभिचारात्तथाहि मूर्तामूर्तसमस्तवस्तु-विषयत्वेन तावन्नैते पुद्गलमात्रनिबन्धनियताऽथ च दृश्यते श्रोत्रादीन्द्रियप्रभवेयोस्तयोर्द्वादशयोजनादिकं क्षेत्रतो विषयप्रमाणमिति तदेतदसमीक्षिताभिधानमेव यतः इन्द्रिय-प्रभवयोरेवतयोरिदं विषयपरिमाणं इन्द्रियाणि च पुद्गलमात्र-निबन्धनियतान्येवेति कुतो व्यभिचारः। मनः प्रभवयोस्तु तयोरस्ति पुद्गलमात्रनिबन्धाभावः केवलं तयोः क्षेत्रतो विषयपरिमाणपि नास्त्यतः कुतोऽनैकान्तिकतेत्यलंविस्तरेणेति। विशे०। आ० म० प्र०। तंदु०। आ० चू०। इन्द्रियाणि च रक्षणीयानि। उक्तंच ''इन्द्रियाणि न गुप्तानि लालितानि न चेच्छया। मानुष्यं दुर्लभम्प्राप्य न भुक्तन्न विशेषितम्'' इति। आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

(११) अथेन्द्रियासम्भृतानां स्वरूपस्येन्द्रियासंवरदोषस्य चाभिधायकं गाथाकदंबकं ज्ञाताधर्मकथायाः सप्तदशेऽध्ययने यथा–

करलरिमिय महुरतंती–ताल ताल वंसककुदामिरामेसु।
सेहसु रज्जमाणा रमंति सोइंदियवसट्टा ॥१॥
सोइंदियदुद्दंत-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो॥
दिविगरूवमसहंतो, बहवंधं तित्तिरो पत्तो ॥२॥
थण-जहण-वयण-कर-चरण-णयण-गव्विय विलसियंगइसु।
रूवेसु रज्जमाणा, रमंति चक्खिंदियवसट्टा ॥३॥
चक्खिंदियदुद्दंत-त्तणस्स अह एइओ हवइ दोसो॥
जं जलणंमि जलंते, पयइ पयंगो अबुद्धीओ ॥४॥
अगुरुवरपवरधूवण–उयमल्लाणुलेवण विहीसु॥

गंधेसु रज्जमाणा, रमंति वाणिंदियवसट्टा ॥५॥
घाणिंदियदुद्दंत-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ॥
जं ओसहिगंधेणं, विलओ णिद्धावई उरगो ॥६॥
तित्त-कडुय-कसायं, महुरं-बहु खज्ज-पेज्ज-लेज्जेसु ॥
आसायंमि उ गिद्धा, रमंति जिब्भिंदियवसट्टा ॥७॥
जिब्भिंदियदुद्दंत-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ॥
जं गललग्गक्खित्तो, फुरइ थलविरेल्लिओ मच्छो ॥८॥
उउभयमाणसुहे सु य, सविभवहिययगमणणिव्वुइकरेसु।
फासेसु रज्जमाणा, रमंति फासिंदियवसट्टा ॥९॥
फासिंदियदुद्दंत–त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ॥
जं खणइ मत्थयं कुं-जरस्स लोहंकुसो तिक्खो ॥१०॥
कलरिभियमहुरतंती-तलताल वंसककुहाभिरामेसु ॥
सद्देसु जेण गिद्धा, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥११॥
थणजहण वयण कर चरण गव्विय विलासियगइसु ॥
रूवेसु जेण रत्ता, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥१२॥
अगुरुवर पवर धूवण, उउयमल्लाणु सेवणविहीसु ॥
गंधेसु जेण गिद्धा, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥१३॥
तित्तं कडुयकसायं, महुरं बहु खज्ज पेज्ज लेज्जेसु ॥
सादेसु जे ण गिद्धा, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥१४॥
उउभयमाणसुहेसु य, सविभवहिययमाणणिव्वुइकरेसु।
फासेसु जे ण गिद्धा, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥१५॥
सद्देसु य भद्देसु य, पावएसु सोय विसयमुवगएसु ॥
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥१६॥
रूवेसु य भद्दगेसु, पावएसु चक्खुविसयमुवगएसु ॥
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥१७॥
गंधेसु य भद्देसुय, पावएसु घाणविसयमुवगएसु ॥
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥१८॥
रसेसु य भद्दएसु य, पावएसु जिब्भविसयमुवगएसु ॥
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सयाम होयव्वं ॥१९॥
फासेसु य भद्देसुय, पावएसु कायविसयमुवगएसु ॥
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥२०॥

(कलरिभियमहुरतंतीत्ति) कला अत्यन्तश्रवणहृदयहरा अव्यक्तध्वनिरूपाः अथवा कलावन्तः परिमाणवन्त इत्यर्थः। रिभिता स्वरघोलना प्रकारवन्तः मधुराः श्रवणसुखकरा ये तन्त्रीतलतालवंशास्ते तथा। तत्र तन्त्री वीणा तलताला हस्तताला अथवा तला हस्तास्तालाः कंसिकाः वंशा वेणवः इह च तन्त्र्यादयः कलादिभिःशब्दधर्मैर्विशेषिताः शब्दकारणत्वात्ते च ते ककुदाः प्रधानाः स्वरूपेणाभिरामाश्च मनोज्ञा इति कर्म-धारयोऽतस्तेषुरमन्ते रतिं कुर्वन्तीति योगः। (सद्देसु रज्जमाणा रमंति सोयंदियवसद्देत्ति) शब्देषु मनोज्ञध्वनिषु श्रोत्रविषयेषु रज्यमाना रागवन्तः श्रोत्रेन्द्रियस्य वशेन बलेन ऋताः पीडिता इति विग्रहः ये शब्देषु रज्यन्ते तत्कारणेषु तन्त्र्यादिषु श्रोत्रेन्द्रियवशाद्रमन्ते इति वाक्यार्थः। अनेन च कार्यतः श्रोत्रेन्द्रियस्वरूपमुक्तम् ॥१॥ (सोइंदियदुद्दंतेत्ति) कण्ठ्या॥ नवरं शाकुनिकपुरुषसंबन्धी पंजरस्थतित्तिरिर्द्वीपिक उच्यते ॥ तस्य यो रवस्तमसहमानः स्वनिलयान्निर्गतो बन्धममरणं बन्धं च पंजरबंधनं प्राप्त इति ॥२॥ (थणजघणवयणेत्ति) स्तनादिषु तथा गर्वितानां सौभाग्यमानवतीनां स्त्रीणां या विलासिता जातविलासाः सविकारा गतयः तासु चेत्यर्थः (रूवेसु रज्जमाणा रमंति) ॥ प्रतीतमेव ॥३॥ (चक्खिंदियत्ति) ॥४॥ कंठ्या ॥ (अगरुवरपवणेत्ति) कंठ्या नवरम् अगरुवरः कृष्णागरुः प्रवरधूपनानि गन्धयुक्त्युपदेशविरचिता धूपविशेषाः (उउयत्ति) ऋतौ २ यान्युचितानि तानि आर्तवानि माल्यानि जात्यादिकुसुमानि अनुलेपनानि च श्रीखण्डकुंकुमादीनि विधय एतत्प्रकारा इति ॥५॥ (घाणिं-दियदुद्देत्ति ॥६॥ कंठ्या। (तित्तकडुयत्ति) पुर्व्ववन्नवरं तिक्तानि निम्बवटकादीनि कटुकानि शृंगवेरादीनि कषायाणि मुद्गादीनि अम्लानि तक्रादिसंस्कृतानि मधुराणि खंडादीनि खाद्यानि कूरमोद कादीनि पेयानि जलमद्युदधादीनि लेह्यानि मधुशिखरिणी प्रभृतीनि आस्वादे रसे ॥७॥ (जिब्भिंदियत्ति) कण्ठ्या। नवरं गलं बडिशं तत्र लग्नः कण्ठे विद्धत्वात् उत्क्षिप्तो जलादुद्धृतस्ततः कर्मधारयः स्फुरति स्पन्दते स्थले भूतले (विरल्लिओत्ति) प्रसारितः क्षिप्त इत्यर्थः यः स तथा। उउभयमाणेकंठ्या ॥ नवरं ऋतुषु हेमंतादिषु भजमानानि सेव्यमानानि यानि सुखानि सुखकराणि तानि तथा तेषु सविभवानि समृद्धियुक्तानि महावचनानीत्यर्थः। हितकानि प्रकृत्यनुकूलानि सविभावानां वा श्रीमतां हितकानि यानि तानि तथा मनसो निर्वृत्तिकराणि यानि तानि तथा ततः पदत्रयस्य तद्द्वयस्य वा कर्म धारयस्तत्ते स्रक्चन्दनाङ्गनावसनतुल्यादिषु द्रव्येष्विति गम्यते ॥९॥ फासिंदियदुद्दंतेत्ति–भावनाप्रतीतैव ॥१०॥ अथेन्द्रियाणां संवरे गुणमाह – (कलरिभियमुहुरेत्ति) पूर्ववन्नवरमिह तन्त्रादयः शब्दकारणत्वेनोपचाराच्छब्दा एव व्यवस्थिताः अतः शब्देष्वित्येव तस्य विशेषणतया व्याख्येयास्तथावशेनेन्द्रियपारतन्त्र्येणऋताः पीडिता वशार्ताः वशं वा विषयपारतन्त्र्यंऋताः प्राप्ताः वशार्ताः तेषां मरणं वशार्तमरणं वशार्त्तमरणं (वा नतेमरएत्ति) म्रियन्ते छान्दसत्वादेकवचनप्रयोगेपि बहुवचनं व्याख्यातमिति ॥११॥ (थणजघणेत्ति) ॥१२॥ एवमन्यास्तिस्रोगाथा पूर्वोक्ता वाच्या ॥१५॥ उपदेशमिन्द्रियाश्रितमाह (सद्देसुयभदत्ति) कंठ्यम्। नवरं। भद्रकेषु मनोज्ञेषु पापकेष्वमनोज्ञेषु क्रमेण तुष्टेन रागवता रुष्टेन रोषवतेति ॥१६॥ एवमन्या अपि चतस्रोऽध्येतव्याः। इहविशेषोपनयमेवमाचक्षते "जह सो कालियदीवो, अणुवमसोक्खो तहेव जाइधम्मो य। जह आसा तह साहु, वणियव्वणुकूलकारि जणो ॥१॥ जह सद्दाइअगिद्धो, पत्ता नो पासबंधणं आसा। तह विसएसु अगिद्धा, वब्भंति न कम्मणो साहू ॥२॥ तह सच्छंदविहारो, आसाणं तह इहं वरमुणीणं। जरामरणाइवज्जिय-सायत्ताणंदनिव्वाणं ॥३॥ जह सद्दाइसु गिद्धा, बद्धा आसा तहेह विसयरया। पावेंति कम्मबंधं परमा सुहकारणं घोरं ॥४॥ जह ते कालियदीवा णीया अण्णत्थ दुहगणं पत्ता। तह धम्मपरिब्भट्ठा, अधम्मपत्ता इहं जीव ॥५॥ पावंति कम्म-नरवइवसया संसार बाहियालीए। आसप्पमद्दएहि व नेरइ-याइहिंपिदुःक्खाइंति। ज्ञा० १७ अ०।

(१२) पञ्चेन्द्रियेषु गुणागुणयोर्गुणदोषौ ज्ञाताधर्मकथायां कूर्माभिधाने चतुर्थेऽध्ययने यथा –

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नाम नयरी होत्था वण्णओ तीसेणं वाणारसीए नयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए गंगाए महानईए मयगंतीरद्दहे णामं द्दहे होत्था अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयजले अच्छविमलस-लिलप-लिछिन्ने संछन्नपत्तपुप्फपलासे बहुउप्पलापउमकुसु मनलिन-सुमगसो गंधियपुं डरियमहापुं डरीयसयपत्तसहस्स-पत्तकेसरपुप्फोवचिए पासादिए ॥४॥ तत्थ णं बहूणं मच्छाण य कच्छत्ताण य गाहाण य मगराण य सुसुमाराण य सयाणि य साहस्सियाणि य जूहा य निब्भयाइं णिरुव्विगाइं सुहं सुहेणं अभिरममाणाइं विहरंति तस्स णं मयंगतीरद्दहस्स अदूरसामंते एत्थणमहं एगेमालुया कच्छए होत्था वण्णओ तत्थणं दुवे पावसियालगा परिवसंति पावा चंडालरुद्दा तलिच्छा साहस्सिया लोहितपाणिआमिसत्थी आमिसाहाए आमिसप्पिया आमिसलोला आमिसं गवेसमाणा रत्तिवेयालचारिणो दिया पच्छिणया वि चिट्ठंति तएण ताओ मयंगतीरद्दहातो अन्नया कयाइं सूरियंसि चिरत्थमयंसि लिलयासज्झाए य विरलमाणुसं सिणिसंतं पडिनिसंतंसि दुवे कुम्मगा आहारत्थी आहारंति गवेसमाणा सणियं २ उत्तरंति तस्स मयंगतीरद्दहस्स परिपरे तेणं सव्वतो सम्मंता परिघोलेमाणे २ वित्तिं कप्पेमाणे विहरंति तयाणंतरं च णं ते पावसिया लगा आहारत्थी आहारं जाव गवेसमाणा मालूया कच्छयातो पडिणिक्खमंति जेणेव मयंगतीरद्दहे तेणेव उवागच्छंति तस्सेव मयंगतीरद्दहस्स परिपरे तेणं सव्वओ समंता परिघोलेमाणा २ वित्तिं कप्पेमाणे विहरंति तएणं ते पावसियाला ते कुम्मए पासंति जेणेव कुम्मए तेणेव पहारेत्थगमणा ते तएणं ते कुम्मगा ते पावसियाले एज्जमाणे २ पासंति २ त्ता भीया तत्था तसिया उव्विग्गा संजायभया हत्थे य पाए य गीवाओ सएहिं काएहिं संहरत्ति २ त्ताणिच्चला णिप्फंदा तुसणिया संचिट्ठंति तएणं ते पाव सियाला जेणेव ते कुम्मगा तेणेव उवागच्छंति २ त्ता ते कुम्मगा सव्वतो सम्मंता उच्चत्तेत्ति आसारेत्ति चालेत्ति घट्टेत्ति फंदेत्ति खोभेंति नेहेहिं आलुपंति दंतेहि य आखोडेंति नो चेव णं संचाएत्ति तेसिं कुम्मगाणं सरीरस्स अवा वाहं वा उप्पात्तित्तए छविच्छेयं वा करित्तए तए णं ते पावसियालगा ते कुम्मए दोच्चं पि तच्चं पि सव्वतो समंता उव्वत्तेत्ति जाव नो चेव णं संचाएत्ति करित्तए ताहे संता तंता परितंता णिव्विणा समाणा सणियं २ पच्चोरुहत्ति एगंतमवक्कमंति णिच्चला णिप्फंदा तुसिणिया संचिट्ठंति तए णं एगे कुम्मए ते पावसियालए चिरगते दूरं गए जाणेत्ता सणियं २ एगं पायं निक्खुभंति तत्थ णं ते पाव सियाला तेणं कुम्मएणं सणियं २ एगं पायं तिणियं पासति२त्ता सिग्घं चवलं तुरियं चंडं जइणवेगसियं जेणेव से कुम्मए तेणेव उवागच्छइ२त्ता तस्स णं कुम्मस्स तं पायं नखेहिं आलुपंति दंतेहिं आखाडेंति ततो पच्छा मंसं च सोणियं च आहारेत्ति२त्ता ते कुम्मगं सव्वतो सम्मं उव्वत्ते त्ति नो चेव णं संचाएत्ति करेत्तए ताए दोच्चं पि तच्चं पि अवक्कमंति एवं चत्तारिपाया जाव सणीयं २ गीवं णिणेइं२त्ता तएणं ते पावसियालगा तेणं कुम्मएणं गीवंता य पासंति २ त्ता सिग्घं चवलं नहेहिं दंतेहिं कवालं विहाडेंति२त्ता तं कुम्मगं जीवियाउ ववरोवेंति मंसं च सोणियं च आहारेंति एवामेव समणाउसो जो अम्ह णिग्गंथो वा निग्गंथीवा आयरियउवज्झायाणं वा अंतिते पव्वए समाणे पंच य से इन्दिया अगुत्ता भवंति सेणं इह भवे चेव बहूणं समणाणं समणीणं सावयाणं सावियाणं हीलणीज्जे परलोगे वि य णं आगच्छइं बहूणं दंडणाणि य जाव अणुपरियट्टइ जहा व से कुम्मए अगुत्तिंदिए तएणं ते पापसियालगा जेणेव से दोच्चे कुम्मए तेणेव उवा गच्छइ२त्ता तं कुम्मए सव्वतो संमंता उवत्तिंति जाव दंतेहिं निखोडेंत्ति जाव करित्तए तएणं ते पावसियालगा दोच्चं पि जाव नो संचाए त्ति तस्स कुम्मस्स किंचि अवा वाहं वा जाव छविच्छेयं वा करित्तए ताहे तंता परितंता णिव्विणा समाणा जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया तएणं से कुम्मए तेणेव पावसियालए चिरए दूरगए जाणित्ता सणियं २ गीवंतिणेत्ति २ दिण्णलोयं करेंति जमगसमगं चत्तारि पाए नीणेइ२त्ता ताए उकिट्ठाए तुरियाए कुम्मगतीए वतीवयमाणे२ जेणेव मयंगतीरद्दहे तेणेव उवागच्छइ २त्ता मित्तणाइनियगसयण संबंधि परियणेणं सद्धिं अभिसमण्णागए यावि होत्था ए वामेव समणाउसो जो अम्हं समणो वा २ पंच य से इंदिया तिगुत्ताइं भवति जाव जहा से कुम्मए गुत्तिंदिए।

(टीका सुगमत्वाद्व्याख्यातापि न गृहीता) नवरं ''विसएसु इंदियाइं, रुब्भंता रागदोसनिम्मुक्का। पावंति निव्वुइ सुहंकुम्मुव्व मयंगदहसोक्खं ॥१॥ इयरे उ अणत्थ, परंपराउ पावंति पावकम्म-वसा। संसारसागरगया, गोमाउ गसियकुम्मो व्व। ज्ञा० १ अ०॥

(१३) तानि चानामितानि दुःखाय भवन्तीत्यत्र घ्राणेन्द्रिये उदाहरण्—

कुमारो गंधप्पिओ सो अणवरयं नागकडएण खेल्लइ। माइ सवतीए एयस्स मंजूसाए विसं छोढूण नदीए पवाहियं तेणं हिट्ठा उत्तारिया उग्घाडेऊण पलोइउ पवत्तो पडिमंजूसाइए हि ओ समुग्गको दिट्ठो सो अण्णेण उग्घाडिऊण जंघित्तो मत्तो य एवं दुक्खायगाणिंदियं। आ० म० द्वि०॥

फासिंदिए उदाहरणम्—

वसंतपुरे नयरे जियसत्तूराया कुसुमालिया से भज्जा तासे

अतीव सुकुमालो फासो राया रत्तिंदिनं चिंतेइ सो ताए निच्च मेव परिभुज्जमाणो अत्थई एवं कालोबव्वई निच्चेहिं समं मति ऊण तीए सह निच्छूढो पुत्तो जेट्ठरवितो ते अडवीए वच्चंति सातिसाइया जलं मग्गई। अच्छीणि से वद्धाणि माबीहेहित्ति। सिरारुहिरं पज्जिया रुहिरे मूलिया बूड्ढा जेण न थिज्जइ। छुहाइया उरूमंसं दिन्नं उरूग सो रोहिणीए रोहियांजणवयं पत्ताणि आभरणगाणि सावविायाणि एत्थ वाणियत्तं करेइ पंगुय से वीहाए सो वग्गो घटितो सो भणई न सक्कुणोमि एगागिणी गिहे वि चिट्ठउं विइज्जयं लाभाहिं चिंतियं वणेण निव्वाकपंगू सोभणो य ततो नेणसो नेडुवालो निउत्तो तेण गीयच्छलियकहाइहिं आवज्जिया पच्छा सा तत्थेव लग्गा भत्तारस्स छिद्दाणि मग्गई जाहे न लहइ ताहे उज्झाणिया एगतो सुविछवो वहुमज्झं पाएत्ता गंगाए पक्खित्तो सा वि तं दव्वखाइऊण तं वहइ गायंति घरेघरे पुच्छिया भणइ मायापिईहिं एरिसो दिन्नो किं करेमि सो य रायाए कच्छनगरे उच्छलितो रुक्खच्छायाए पमुत्तो न परावत्तइछाया तत्थ राया अपुत्तो मतो आसो अहिवासितो तत्थ गतो जयजयसद्देण परिवोहितो राया जातो ताणि वितत्थगयाणि रण्णो कहियं अण्णो वि याणि सा पुच्छियासाकहइ। अम्मापिईहिं दिन्नो राया भणइ ''बाहुभ्यां शोणितं पीतं उरुमांसं च भक्षितम्। गंगायां वाहिता भर्ता साधु साधु पतिव्रते'' निव्विसयाणि आणत्ताणि एवं फासिंदिय दोण्हं वि दुक्खाय विसेसिता सुकुमालियाए किं च ''शब्दाःसङ्गे यतो दोषा मृगादीनां शरीरजाः। सुखार्थी सततं विद्वान् शब्दे किमिव संगवान् १ पतंगानां क्षयं दृष्ट्वा सद्यो रूप प्रसंगतः। स्वच्छ चित्तस्य रूपेषु किं व्यर्थः संगसंभवः ॥२॥ उरगान् गंधदोषेण परतन्त्रान् समीक्ष्य कः। गंधासक्तो भवेत्कोयं स्वभावं वा न चिन्तयेत्॥३॥ रसास्वादप्रसंगेन मत्स्या उत्सादिता यतः। ततो दुःखादिजनने रसे कः संगमाप्नुयात् ॥४॥ स्पर्शातिरिक्तचित्तानां हस्त्यादीनां समैक्षत अस्वातंत्र्यं समीक्ष्यापि कःस्यात्स्पर्शनसंगतः ॥५॥ एवं विधानीन्द्रियाणि संसारवृद्धकानि विषयलालसानि दुर्जयानि दुरन्तानि। आ० म० द्वि०। आ० चू०। (अथान्यान्युदाहरणानि 'सोइंदियादि' शब्दे)

(१४) इन्द्रियमाश्रित्य जीवानां भेदा यथा-

दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा सेंदिया चेव अणिंदिया चेव॥

दुविहेत्यादि। कंठ्या चेयं नवरं सेन्द्रियाः संसारिणोऽनिन्द्रिया अपर्याप्तकेवलीसिद्धाः। स्था० २ ठा०।

अहवा छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा एगिंदिया जाव पंचिंदिया अणिंदिया। स्था० ६ ठा०।

एकेन्द्रियाः द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः असंज्ञिसंज्ञि-भेदभिन्नाश्च पंचेन्द्रियाः एते च सर्वोपि प्रत्येकमपर्याप्ताश्च। तत्र एकं स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः पृथिव्य-प्तेजोवायुवनस्पतयः ते प्रत्येकं द्विधा सूक्ष्मा बादराश्च तत्र सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्माः सकललोकव्यापिनः बादरनामकर्मोदयात् बादरा लोकप्रतिनियत-देशवर्तिनः। तथा द्वे स्पर्शनरसनलक्षणे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः शंखश्च सूक्तिका-चंदनक कपर्दक जलूकी क्रमि गंडोलक पूत्तरकादयः। तथा त्रीणि स्पर्शन-रसन-घ्राणलक्षणानि इन्द्रियाणि येषां-तेत्रीन्द्रियाः यूका-मत्कुण-गर्दभेन्द्रगोप-कुंथु-मक्कोट-पिपीलि-उदेहिका कर्पा-सास्थिक-त्रपुस-वीजक-तुस्थुरुकादयः। चत्वारि स्पर्शनरसन-घ्राणचक्षुर्लक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः। भ्रमरमक्षिका दंश-मशक-वृश्चिक-कीट-पतंगादयः। पंच स्पर्शनरसन घ्राणचक्षुः श्रोत्रलक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते पंचेन्द्रियाः। मत्स्य-मकर मनुजादयः ते च। द्विभेदाः। संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च तत्र संज्ञानं संज्ञा चेतनवद्भाविनावश्यंभावपर्यालोचनं सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाज इत्यर्थः। यथोक्तं। मनो विज्ञान विकला असंज्ञिनः एते च सर्वोपि प्रत्येकं सपर्याप्ताश्च। पं० सं० १ द्वा०। अनिन्द्रिया अपर्याप्ताः केवलिनः सिद्धश्चेति। स्था० ६ ठा०। एकेन्द्रियादीनाम्बहवो भेदास्तत्तच्छब्देऽपि दृष्टव्याः (इन्द्रियमाश्रित्य बन्धोदयसत्तासंबन्धानां विचारः 'कम्म' शब्दे) रेतसि, वीर्ये, च। वाच०।

***ऐन्द्रिय**-त्रि० इन्द्रियेण प्रकाश्यते अण्। इन्द्रियप्रकाश्ये प्रत्यक्षात्मके ज्ञानभेदे, तस्येदं अण् इन्द्रियसंबंधिनि, वाच०।

इंदियअवाय-पु० (इन्द्रियापाय) इन्द्रियैरपाय ईहितस्य निर्णयरूपोऽध्यवसायः इन्द्रियापायः। ईहितं शार्ङ्गएवायम्। शार्ङ्गएवायमित्यादिरूपेन्द्रियैः कृतेऽवधारणात्मके निर्णये,। ''कइविहेणं भंते! इंदियअवाए पण्णत्ते सोइंदिए अवाए जाव फासिंदिय अवाए एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं जस्स जइ इंदिया अत्थि''। प्रज्ञा० १५ पद०।

इंदियउग्गहणा-स्त्री० (इन्द्रियावग्रहणा) इन्द्रियैः परिच्छेदे, स च परिच्छेदोऽपायादिभेदादनेकधेति। तद्भेदादि प्रज्ञापना याम् यथा-

कइविहाणं भंते! इंदियओगाहणा पण्णत्ता? गोयमा! पंचविहा इंदियओगाहणा पण्णत्ता तंजहा-सोइंदिय ओगाहणा जाव फासिंदिय ओगाहमा एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया तस्सतइ अत्थि।

(कतिविहेत्ति)। कतिविधं कतिप्रकारं भदन्त! इन्द्रियैरवग्रहणं परिच्छेदे प्रज्ञप्तः। प्रज्ञा १५ पद। (अपायेहा वग्रहा दयस्तत्तच्छब्दे द्रष्टव्याः)।

इंदियउवओगद्धा-स्त्री० (इन्द्रियोपयोगाद्धा) इन्द्रियोपयोगस्याद्धाकाले, स च यावन्तं कालमिन्द्रियैरुपयुक्तं आस्ते तावत् काल इति। प्रज्ञा० १५ पद।

कति विहाणं भंते! इन्दियउवओगद्धा पण्णत्ता? गोयमा! पंचविहा इंदियउवओगद्धा पण्णत्ता तंजहा सोइंदियउवओगद्धा जाव फासिंदियउवओगद्धा एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया अत्थि। एतेसि णं भंते! सोइंदिय चक्खिंदियघाणिंदिय जिब्भिंदिय फासिंदियाणं जहन्नियाए उवओगद्धाए उक्कोसियाए उवओद्धाए जहन्नुक्कोसियाए उव ओगद्धाए कयरे कंयरेहिंतो अप्पा वा ४ गोयमा! सव्वत्थो वा चक्खिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा सोइं दियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदि यस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदि यस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स

जहन्निया उप्पओगद्धा विसेसाहिया, उक्कोसियाए, उवओ गद्धाए सव्वत्थो वा चक्खिंदियस्स उक्कोसिया उवओ गद्धा, सोइंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसा हिया, घाणिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जहन्नु क्कोसियाए उवओगद्धाए सव्वत्थो वा । चक्खिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा सोइंदियस्स जहन्निया उवओ गद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स जहन्नियाहिंतो उवओगद्धा हिंतो, चक्खिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसा हिया, सोइंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया । प्रज्ञा० १५ पद । (टीका सुगमत्वान्न व्याख्यातेति न गृहीता०)

इंदियउवचय–पुं० (इन्द्रियोपचय) उपचीयते उपचयन्नीयते इन्द्रियमनेनेत्युपचयः प्रायोग्यपुद्गलसंग्रहणसम्पत् इन्द्रियाणा मुपचयः इन्द्रियापेचयः इन्द्रियोपचयलक्षणः परिणामः (भ० २० श० ३ उ०) इन्द्रियपर्याप्तौ, प्रज्ञा० । तद्भेदाः यथा–

कइविहे णं भंते ! इंदियउवचए पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे इंदियउवचए पण्णत्ते तंजहा–सोइंदियउवचए चक्खिंदियउवचए घाणिंदियउवचए जिब्भिंदियउवचए फासिंदियउवचए नेरइयामं भंते ! कतिविहे इंदियउवचए पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे इंदियउवचए पण्णत्ते तं जहा सोइंदियउवचए जाव फासिंदियउवचए एवं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया तस्स तइ विहो चेव इंदियउवचओ भणियव्वो ॥

(इंदियोपचए पण्णत्ते इत्यादि) सुगमं (जस्स जइ इंदिया इत्यादि) यस्य नैरयिकादेर्यति यावन्ति इन्द्रियाणि सम्भवन्ति तस्य ततिविधस्तावत्प्रकार इन्द्रियोपचयो वक्तव्यः तत्र नैरयि कादीनां स्तनितकु मारपर्यवसानानां पञ्चविधः पृथिव्यप्तेजोवायु वन-स्पतीनामेकविधो द्वीन्द्रियाणां द्विविधः त्रीन्द्रियाणां त्रिविध-श्चतुरिन्द्रियाणां चतुर्विधः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरजोति-ष्कवैमानिकानां पञ्चविधः । क्रमश्चैवं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः-श्रोत्राणीति ॥ प्रज्ञा० १५ पद ॥

इंदियगोयर–पुं० (इन्द्रियगोचर) इन्द्रियस्य गोचरः विषयः । शब्दादिषु विषयेषु, ते हि प्रतिनियतमेकैकस्येन्द्रियस्य ग्राह्या यथा श्रोत्रस्य ग्राह्यः शब्दः, त्वगिन्द्रियस्य स्पर्शस्तद्विशिष्टद्रव्यञ्च, चक्षुषो रूपं तदाश्रयद्रव्यञ्च, रसनाया रसः घ्राणस्य गन्ध इत्यादि । एवमन्यान्यपि न्यायादिमते तत्तदिन्द्रियग्राह्याण्युक्तानि यथा ''घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः । तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः'' । आदिपदात् सुरभित्वासु रभित्वयोर्ग्रहणं तथा रसत्वं माधुर्यादिसहितः एवं शब्दत्व तारत्व मन्दित्वादि सहितः ''उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये । विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाण-युक्तम्'' वाच ॥

इंदियग्गाम–पु० (इन्द्रियग्राम) ६ त० इन्द्रियसमुदाये, ''बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति'' आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

इंदियचोर–इन्द्रियचौर–इन्द्रियरूपे चोरे, ''जिणवयण अणु गया मे, होउ मईज्झामजोगमल्लीणा ! ताहे इंदिय चोरा, करिंति तवसंजमविलोमं ॥८७॥'' महा० प० ॥

इंदियजय–पुं० (इन्द्रियजय) इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां जयः । इन्द्रियजयः । इन्द्रियाणामत्यन्ताशक्तिपरिहारेण स्वस्व-विकारनिरोधे, ध० १ अधि० । ''अजिइंदिएहि चरणं, कट्ठं व घुणेहिं कीरइ असारं । तो धम्मत्थिहिदट्ठं, जइअव्वं इंदियजयम्मि ॥४॥

इन्द्रियपराजयग्रन्थे, तत्स्वरूपपञ्चाष्टके यथा –

विभेषि यदि संसारान्मोक्षप्राप्तिञ्च कांक्षसि ।
तदैन्द्रियजयं कर्तुं स्फोरय स्फारपौरुषम् ॥१॥

वृद्धास्तृष्णाजलापूर्णैरालबालैः किलेन्द्रियैः ।
मूर्च्छामतुच्छां यच्छन्ति विकारविषपादपाः ॥२॥

सरित्सहस्रदुष्पूरस्समुद्रोदरसोदरः ।
तृप्तिमानिन्द्रियग्रामो ऽभवत्तृप्तोऽन्तरात्मा ॥३॥

आत्मानं विषयैः पाशैर्भववासपराङ्मुखैः ।
इन्द्रियाणि निबध्नन्ति मोहराजस्य किङ्कराः ॥४॥

गिरिमृत्स्नां धनं पश्यन्धावतीन्द्रियमोहितः ।
अनादिनिधनं पार्श्वे ज्ञानधनं न पश्यति ॥५॥

पुरस्पुरस्स्मरन् तृष्णा मृगतृष्णानुकारिषु ।
इन्द्रियार्थेषु धावन्ति त्यक्त्वा ज्ञानामृतं जडाः ॥६॥

पतङ्गमीनेभभृङ्ग–सारङ्गा यान्ति दुर्दशाम् ।
एकैकेन्द्रियदोषाच्च दुष्टैस्तेषां न पञ्चभिः ॥७॥

विवेकद्विपदैर्यक्षैस्समाधिधनतस्करैः ।
इन्द्रियैर्न जितो योऽसौ धीराणां धुरि गण्यते ॥८॥ अष्ट०॥

''संयमाद् ग्रहणादीनामीन्द्रियाणां जयस्ततः'' ।

टी०–संयमादिग्रहणादयो ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वानि तत्र ग्रहणमिन्द्रियाणां विषयाभिमुखीवृत्तिः, स्वरूपं सामान्येन प्रकाशकत्वम्, अस्मिता अहंकारानुगमः, अन्वयार्थवत्त्वे प्रागुक्तलक्षणे । तेषां यथाक्रमं संयमादिन्द्रियाणां जयो भवति । तदुक्तं ग्रहणस्वरूपास्मितान्व-यार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजय इति । द्वा० २६ द्वा० । ''आपदां कथितः पन्था इन्द्रिया णामसंयमः । तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥१॥ इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ । निगृहीतानि सृष्टा नि स्वर्गाय नरकाय चेति'' सर्वथेन्द्रियजयस्तु यतीनामेव इह तु सामान्यतो गृहस्थधर्म एवाधिकृतस्तेनैवमुक्तं युक्त मिति । ध० १ अ० । पंचानामपि स्पर्शादीनामिन्द्रियाणां जयो दमनं यस्मादसाविन्द्रियजयः इन्द्रियजयहेतुत्वादिन्द्रियजयः । तपोविशेषे, – तल्लक्षणादि यथा ''पुरिमड्ढेकासणं निव्विगई अआयंविलोववासेहिं । एगलयाइ य पंचहिं होइ तवो इंदिये जओत्ति'' तपति निर्दहति दुष्कर्माणीति तपः तत्तु नानाविधो पाधिनिबन्धनत्वादनेकप्रकारं तत्त्वेन्द्रियजयमूलत्वाज्जिन-धर्मस्य प्रथममिन्द्रियजयाङ्गं यत्तपः तत्प्राह प्रथमदिने पूर्वार्द्धं

द्वितीयदिने एकाशनकं तृतीयदिने विकृतिकं चतुर्थदिने आचाम्लं पञ्चमदिने उपवासः इत्येवं पञ्चभिस्तपोदिनैरेकालताश्रोणिः परिपाटी चेत्येकार्थाः। एकैकं चेन्द्रियमाश्रित्यैवं स्व रूपा एकैका लता क्रियते ततः पञ्चभिर्लताभिः पञ्चविंशत्या दिवसैरिन्द्रियजयाख्यस्तपोविशेषो भवति इन्द्रियाणां स्पर्श नादीनां पञ्चानामपि जयो दमनं यस्मादसाविन्द्रियजयः। इन्द्रियजयहेतुत्वादिन्द्रियजयः। यद्यपि सर्व्वाण्यपि तपांसी न्द्रियजये प्रभूविष्णुनि तथापीन्द्रियजयमालम्ब्य क्रियमाणत्वा दस्यैव तपसस्तद्धेतुत्वं पूर्वसूरिभिरभिहितमेवमुत्तरत्रापि वाच्यम्। प्रव० २७० द्वा०॥

इंदियट्ठाण–न० (इन्द्रियस्थान) स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राख्यानीन्द्रियाणि तेषां स्थानान्यवकाशाः। श्रोत्रादीन्द्रियाणामुपादानकारणेषु आकाशादिषु, । (पंचिंदियट्ठाणाणि) इन्द्रियाणां चामूनि स्थानानि तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रियस्याकाशं सुषिरात्मकत्वात्। घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवी तदात्मकत्वात्। चक्षुरिन्द्रियस्य तेजस्तद्रूपत्वात्। रसनेन्द्रियस्यापः। स्पर्शनेन्द्रियस्य वायुरिति। सूत्र० १ श्रु० १ अ०॥

इंदियणिग्गह–पु० (इन्द्रियनिग्रह) इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां निग्रहो नियन्त्रणं स्पर्शादिविषयेषु लाम्पट्यपरिहारेण वर्त्तनम्। तदात्मके संयमभेदे, ध० ३ अधि०। इष्टेतरेषु शब्दादिषु रागद्वेषाकरणे च। ''इंदियाणं च निग्गहो'' इन्द्रियाणां च श्रोत्रादीनां निग्रह इष्टेतरेषु शब्दादिषु रागद्वेषाकरणमनगारगुणः। आव० ४ अ०॥

इंदियाणिरोह–पु० (इन्द्रियनिरोध) इन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणां निरोधः स्वस्वविषयेभ्यो निवर्त्तनम्। इष्टानिष्टविषयेषु रागद्वेषाभावे,। ध० ३ अधि०॥ चक्षुरादिकरणपञ्चकसंयमे, सम्म०। तदात्मके करणभेदे च। ध० ३ अधि०। ओघ०।

इंदियणिव्वत्तणा–स्त्री (इन्द्रियनिर्वर्त्तना) इन्द्रियाणां निर्वर्त्तना बाह्याभ्यन्तररूपा या निर्वृत्तिराकारमात्रस्य निष्पादनम्। इन्द्रियाकारमात्रस्य निष्पादने, तद्भेदादि यथा–

कतिविहे णं भंते ! इंदियनिव्वत्तणा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इंदियनिव्वत्तणा पण्णत्ता तंजहा सोइंदियनिव्वत्तणा जाव फासिंदिय निव्वत्तणा एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया अत्थि तस्स तइया चेव सोइंदियनिव्वत्तणा णं भंते ! कइ समइया पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा समया अंतो मुहुत्तिया पण्णत्ता। एवं जाव फासिंदियनिव्वत्तणा। एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

निर्वर्तना नाम बाह्याभ्यन्तररूपा या निर्वृत्तिराकारमात्रस्य निष्पादनं तदनन्तरं सा निर्वर्तना कति समया भवतीति प्रश्नेऽसंख्येयाः समयास्तस्या भवेयुरिति निर्वचनं वाच्यम्। प्रज्ञा० १५ पद।

इंदियणाण–न० (इन्द्रियज्ञान) इन्द्रियेण जनितं ज्ञानम्। प्रत्यक्षे ज्ञाने, वाच०।

इंदियणाणावरण–न० (इन्द्रियज्ञानावरण) इन्द्रियशब्दा-दिसामान्योपयोगावरणे, व्य० १०० उ०। (एतद्भेदादिदृष्टान्ताः परिमामय–शब्दे)

इंदियणाणावरण–न० (इन्द्रियज्ञानावरण) इन्द्रियशब्दादिसामान्योपयोगावरणे, व्य० १०० उ०। (एतद्भेदादिदृष्टान्ताः परिणामय–शब्दे)

इंदियत्थ–पु० (इन्द्रियार्थ) इन्द्रियैरर्थ्यन्ते अधिगम्यन्त इतीन्द्रिया-र्थाः। ठा० ४। अर्थ्यन्तेऽभिलष्यन्ते क्रियार्थिभिरित्यर्थाः इन्द्रियाणामर्था इन्द्रियार्थाः। स्था० ५ ठा०। प्रव०। नि० चू०। ''चत्तारि इंदियत्था पुट्ठावेदेंति तंजहा सोइंदियत्थे, घाणिंदियत्थे, जिब्भिदियत्थे, फासिंदियत्थे'' टी० (पुट्ठत्ति) इन्द्रियसम्बद्धा वेद्यन्ते आत्मना ज्ञायन्ते नयनमनोवर्जानां श्रोत्रादीनां प्राप्तार्थ परिच्छेदस्वभावादिति। उक्तञ्च। ''पुट्ठंसुणेइसद्दमित्यादि'' ॥ स्था० ४। ''पंच इंदियत्था पण्णत्ता तंजहा सोइंदियत्थे जाव फा-सिंदियत्थे'' श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रं तच्च तदिन्द्रियं श्रोत्रेन्द्रियं तस्यार्थो ग्राह्यः श्रोत्रेन्द्रियार्थः शब्दः एवं क्रमेण रूपरस गन्धे स्पर्शाश्चक्षुराद्यर्था इति। स्था० ५ ठा०। अस्य षड्विधत्वमपि ''छइंदियत्था पण्णत्ता तंजहा सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे नो इंदियत्थे'' स्था० ६ ठा०॥

इन्द्रियार्थानामतीतप्रत्युत्पन्नानागतभेदा यथा–

दस इंदियत्थातीता पण्णत्ता तंजहा देसेण वि एगे सद्दाइं सुणिंसु सव्वेण वि एगे सद्दाइं सुणिंसु। देसेण वि एगे रूवाइं पासिंसु सव्वेण वि एगे रूवाइं पासिंसु। एवं गंधाइं रसाइं फासाइं जाव सव्वेण वि एगे फासाइं पडिसंवे-देसु। दस इंदियत्था पडुप्पन्ना पण्णत्ता तंजहा देसेण वि एगे सद्दाइं सुणेंति सव्वेण वि एगे सद्दाइं सुणेंति। एवं जाव फासाइं। दस इंदियत्था अणागया पण्णत्ता तंजहा देसेण वि एगे सद्दाइं सुणिस्सइ सव्वेण वि एगे सद्दाइं सुणिस्सइ। एवं जाव सव्वेणवि एगे फा साइं पडि-संवेदिस्सइ।

(दस इंदियेत्यादि) कंठ्या नवरं (देशेणवित्ति) विवक्षितशब्दसमूहापेक्षया देशेन देशतः कांश्चिदित्यर्थः एकः कश्चित् श्रुतवानिनि (सव्वेणवित्ति) सर्वतया सर्वानित्यर्थः। इन्द्रियापेक्षया वा श्रोत्रे-न्द्रियेण देशतः संभिन्नश्रोतो लब्धियुक्तावस्थायां सर्वेन्द्रियैः सर्व-तोऽथवैकवर्णेन देशत उभाभ्यां सर्वत एवं सर्वत्र। स्था० १० ठा०।

तुल्ले वि इंदियत्थे, एगो सज्जइ विरज्जई एगो।
अब्भत्थं तु पमाणं, न इंदियत्था जिणावेंति॥

तुल्येऽपि समानेऽपि इन्द्रियार्थे इन्द्रियविषये रूपादौ रागहेतावेको रज्यते रागमुपगच्छति। द्वितीयो विरज्यते विषयपरिणामस्य दारुणसां परिभावयम् विरक्तो भवति। तस्मात्प्रायश्चि-त्तापत्त्यनापत्तिविषये अध्यात्मनान्तरपरिणामस्य प्रमाणं न इन्द्रियार्था इति जिना भगवन्तः सर्वज्ञा ब्रुवते। व्य० प्र० २ उ०॥

(इन्द्रियार्थेषु रागकरणे प्रायश्चित्तं–विसय–शब्दे) (इन्द्रियार्थसंवेदनप्रकार–इंदिय–शब्दे)

इंदियत्थ(वि) कोवण–न० (इन्द्रियार्थ (वि) कोपन) इन्द्रियार्थानां शब्दादिविषयाणां विकोपनं विकोप इन्द्रियार्थविकोपनम्। कामविकारे, स्था० ९ ठा०। (एतस्य रोगोत्पत्ति कारणता रागुप्पत्ति–शब्दे)॥

इंदियपज्जत्ति–स्त्री० (इन्द्रियपर्य्याप्ति) यथा धातुरूपतया परिणमित-माहारमिन्द्रियरूपतया परिणामयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः। तथा चायमर्थोऽन्यत्रापि भंग्यन्तरेणोक्तः पञ्चानामिन्द्रियाणां प्रायोग्यान्पुद्गलान् गृहीत्वाऽनाभोगनिर्वर्त्तितेन वीर्येण

तद्भा-वनयनशक्तिरिन्द्रियपर्याप्तिरिति, पर्याप्तिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। प्रव०। कर्म०। नं०। पं० सं०॥

इंदियपय–न० (इन्द्रियपद) इन्द्रियवक्तव्यता प्रतिबद्धे प्रज्ञापनायाःपञ्चदशेपदे, । भ० २ श० ४ उ०। अत्र च द्वावुद्देशकौ तत्र च प्रथमोद्देशके ये ऽर्थाधिकारास्तत्सङ्ग्रहकमिदं गाथाद्वयम्।

संठाणं बाहल्लं, पोहत्तं कइ पदेस ओगाढे।
अप्पा बहुपुट्ठपीठ्ठ वि, विसय परिमाण अणगारे ॥१॥
अट्ठाय असियमणी, पुट्ठपणे तेल्लफाणियवसा य।
कंबलथूणाथिग्गल, दीवोदहि लोगलोगे य ॥२॥

(संट्ठाणं बाहल्लइत्यादि) प्रथममिन्द्रियाणां संस्थानं वक्तव्यम्। सस्थानं नाम आकारविशेषः ततो बाहुल्यं वक्तव्यं बाहुल्यं नाम बहुलता पिण्डत्वमिति भावः। तदनन्तरं पुथुत्वं विस्तारः। तदनन्तरं (कति पदेशत्ति) कतिप्रदेशमिन्द्रियमिति वक्तव्यम्। ततः (ओगाढमिति) कति प्रदेशावगाढ मिन्द्रियमिति वाच्यम्। तदनन्तरमवगाहनादिविषयं कर्कशादिगुणविषये चाल्पबहुत्वं ततः (पुट्ठत्ति) स्पृष्टग्रहणमुपलक्षणं तेन स्पृष्टास्पृष्टविषयं सुत्रं वक्तव्यं तदनन्तरं (पविट्ठत्ति) प्रविष्टाप्रविष्टविषयचिन्ताविषयं ततो विषय-परिमाणं ततोऽनगारविषयं तदनन्तरं वशाविषयं ततः कम्बलविषयं ततः स्थूणाविषयं तदनन्तरं (थिग्गलत्ति) आगासथिग्गलविषयं ततो द्वीपोदधिविषयं ततो लोकविषयं तदनन्तरमेवालोक-विषयमिति। प्रज्ञा० १५ पद १ उ०।

भवद्वितीये त्वर्थाधिकारसंग्राहकं गाथाद्वयम्।

इंदिय उवचयनिव्व–त्तणाय़समया भवे असंखेज्जा।
लद्धी उवओगद्धा, अप्पा बहुए विसेसहिया ॥१॥
ओगाहणा अवाए, ईहा तह वंजणा वग्गहे य।
दव्विंदिय भाविंदिय, तीया बद्धा पुरेक्खडाया य ॥२॥

(इंदिय उवचय इत्यादि) प्रथमत इन्द्रियाणामुपचयो वक्तव्यः उपचीयते उपचयन्नीयते इन्द्रियमनेनेत्युपचयः प्रायोग्यपुद्गल-संग्रहणसम्पत् इन्द्रियपर्याप्तिरित्यर्थः। तदनन्तरं निर्वर्तना वक्तव्या। निर्वर्तना नाम बाह्याभ्यन्तररूपाया निर्वृत्तिराकारमात्रस्य निष्पादनं तदनन्तरं सा निर्वर्त्तना कति समया भवतीति प्रश्नेऽसंख्येयाः समयास्तस्या भवेयु रिति निर्वचनं वाच्यं तत इन्द्रियाणां लब्धिस्तदावरणकर्म क्षयोपशमरूपा वक्तव्या। तत उपयोगाद्धा तदनन्तरमल्प बहुत्वे चिन्त्यमाने पूर्वस्याः २ उत्तरोत्तरा उपयोगाद्धा विशेषाधिका वक्तव्या ततः (ओगाहणा इति) अवग्रहणं परिच्छेदो वक्तव्यः स च परिच्छेदोऽपायादि-भेदादनेकधेति तदनन्तरमपायो वक्तव्यस्तत ईहा तदनन्तरं व्यञ्जनावग्रहश्च-शब्दस्यानुक्तार्थसमुदायकत्वादर्थावग्रहश्च वक्तव्यः। तदनन्तरं द्रव्योन्द्रियभावेन्द्रियसूत्रं ततोऽतीतबद्धपुर स्कृतानि द्रव्येन्द्रियाणि तदनन्तरं भावेन्द्रियाणि विचिन्तनी यानि। प्रज्ञा १५ पद० २ उ०।

इंदियपरिणाम–पु० (इन्द्रियपरिणाम) इन्दनादिन्द्रः आत्मज्ञान लक्षणपरमैश्वर्ययोगात्तस्येदमिन्द्रियमिति । निपातनादिन्द्र शब्दादियप्रत्ययः। इन्द्रियाण्येव परिणामः इन्द्रियपरिणामः। इन्द्रियरूपे जीवस्य परिणामभेदे, पन्ना० १२ पद।

इंदियबल–न० (इन्द्रियबल) इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां बलं स्वस्व विषयग्रहणपाटवमिन्द्रियबलम्। इन्द्रियाणां स्वविषय गहणपाटवे, (इंदियबलपुट्ठि बद्धाणं) इन्द्रियबलस्य पुष्टिरतिशायी पोषः इन्द्रियबलपुष्टिस्तां वर्द्धयन्ति नन्द्यादित्वादन। इन्द्रियबलपुष्टिवर्द्धनाः। जी० ३ प्रति० (अस्य बहु भेदा वीरियशब्दे द्रष्टव्याः)

इंदियमोहिय–त्रि० (इन्द्रियमोहित) विषयासक्ते, अष्ट०॥

इंदियलद्धि–स्त्री० (इन्द्रियलब्धि) इन्दियाणां लब्धिः। तदावरण कर्मक्षयोपशमरूपायां पञ्चेन्द्रियत्वप्राप्तौ, । प्रज्ञा० १५ पद। तद्भेदा यथा ''कति विहा णं भंते! इंदियलद्धि पण्णत्ता? गोयमा! पंचविहा इंदियलद्धि पण्णत्ता तंजहा-सोइंदियलद्धी जाव फासिंदियलद्धी। एवं नेरइयाणं नवरं जस्स जइ इंदिया अत्थि तस्स तावइया भाणियव्वा'' प्रज्ञा० १५ पद॥

इंदियवसट्ट–त्रि० (इन्द्रियवशार्त्त) इन्द्रियवशेन तत्पारतन्त्र्येण ऋतः। पीडितः-इन्द्रियवशार्तः इन्द्रियवशं वा ऋतो गतः इन्द्रियवशार्तः। इन्द्रियपारतन्त्र्येण पीडिते, इन्द्रियपारतन्त्र्यं गते च। भ० १२ श० २ उ०।

इंदियविजय–पु० (इन्द्रियविजय) तपोविशेषे, पंचा० १८ वि०। (एतद्वक्तव्यता इंदियजय शब्दे)॥

इंदियविभत्ति–स्त्री० (इन्द्रियविभक्ति) इन्द्रियविभागे, सा च पञ्चथा-एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात्। सूत्र० १ श्रु० ५ अ०

इंदियविसय–पु० (इन्द्रियविषय) इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां विषया मनोज्ञरूपादय इन्द्रियविषयाः। चक्षुरादीनां विषयेषु रूपादिषु, उत्त० ५ अ०। इन्द्रियविषयभेदा इन्द्रियविषयपुद्गलपरिणामभेदाश्च भगवत्यास्तृतीयशतकदशमोद्देशके जीवाभिगमस्य ज्यौतिष्को-द्देशके च प्रतिपादिता (विसय शब्दे द्रष्टव्या)

इंदियविसयवसगय–त्रि० (इन्द्रियविषयवशगत) इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां विषया मनोज्ञरूपादयस्तद्वश गताः प्राप्ता इन्द्रियवशगताः। रूपादिविषयवशगते, । उत्त० ५ अ०॥

इंदियवीरिय–न० (इन्द्रियवीर्य्य) श्रोत्रेन्द्रियादीनां स्वस्वविषय-ग्रहणसामर्थ्ये, सूत्र १ श्रु० ८ अ०। (तद्भेदा निक्षेपावसरेवीरिय-शब्दे, बलशब्दे च)॥

इंदियसंवरण–न० (इन्द्रियसंवरण) पञ्चेन्द्रियाणि तेषां संवरणं इष्टानिष्टविषयेषु रागद्वेषाभ्यां प्रवर्तमानानां निग्रहणमिन्द्रिय-संवरणम्' इन्द्रियाणां निग्रहणे, । पा० सू०॥

इंदियससण्णिगरिस–पु० (इन्द्रियसन्निकर्ष) इन्द्रियस्य स्वस्वविषयैः सह सन्निकर्षः सम्बन्धभेदः। प्रत्यक्षसाधने इन्द्रियस्य स्वस्व-विषयैः संबन्धभेदरूपे-प्रत्यक्षजनकव्यापारे, । वाच०।

इंदियावरण–न० (इन्द्रियावरण) इन्द्रियविषयेष्वेव शब्दादिषु विशेषोपयोगावरणे, व्य० द्वि० १० उ०। (एतद्भेदादिवक्तव्यता दृष्टान्त-परिणामक शब्दे)

इंदीवर–न० (इन्द्रीवर) हरितभेदे वनस्पतिविशेषे, । प्रज्ञा० १ पद नीलोत्पले उत्पलमात्रे च। वाच० निलुप्पलं वियाणहकुवलय-मिंदीवरं च॥ प्रा० ना०॥

इंदु–पु० (इन्दु) उन्दति चन्द्रिकया भुवं क्लिन्नां करोति उन्द्-उ आदेरिच्च। चन्द्रे, प्रा० ना०॥

इंदुत्तरवडिंसग–न० (इन्द्रोत्तरावतंसक) विमानविशेषे, सम १९ स०।

इंधण–न० (इन्धन) इध्यतेऽनेन इन्ध्करणेल्युट्। काष्ठतृणकरी

षादौ, ''जह चिरसंचियमिंधण मन लोयवण सहिओ दुहं डहइ'' इन्धनं काष्ठादीनि। आव० ५ अ०। कोद्दवपलालमादी इंधणेण फलाइ पचंति। नि० चू० १५ उ०। दाह्ये, काष्ठादौ च। ''ओसारिए धणभरो जह परिहाइ कमसो दुआसो वा''

अपसारितेंधनभरोऽपनीतदाह्यसंघात इति। आव० ५ अ०।

इन्धयति इन्धन णिच-ल्यु० दीपनकर्त्तरि, त्रि० भावे ल्युट्। उज्वालने, न। वाच०। उद्दीपने, उत्त० १४ अध्य०।

इंधणधूम–पु० (इन्धनधूम) दारुधूमे, नि० चू० १ उ० इंधणपलियाम–न० (इन्धनपर्य्याम) इन्धनपक्वे आम्रफले, कोद्दव पलालमादी इंधणेण फलाइ पचंति॥ जहा कोद्दव पलालेणं अंवगादि फलाणि चेटे ता पाविज्जं आदिग्रहणेण सालिपलालेण वि तत्थ जेण पक्का पला ते इंधण पलियामं भणति। नि० चू० १५ उ०।

इंधणसाला–स्त्री० (इन्धनशाला) यत्र तृणकरीषकचवरास्तिष्ठन्त्ये वम्भूते गृहे, वृ० २ उ०। इंधणसाला जत्थ तणा करिसताराअ त्यत्ति''। नि० चू० १६ उ०।

इंधिय–त्रि० (इन्धित) प्रज्वालिते, ''सद्देहिं रूवेहि य गंधिते तु मो हगि सदिप्पत्ति हिणसत्ते'' स्त्रियाः शब्दे यैश्च इन्धितः प्रज्वलितो मोहाग्निः कस्यापि हीनसत्त्वस्य भुक्तभोगिनो ऽभूत् भोगिनो वा संदीप्पत इति। वृ० ४ उ०।

इक–न० (इक) देशी-क्वापि प्रवेशने, तथा च विशेषावश्यके सामयिकनिरुक्तिमधिकृत्योक्तम् ''इकमप्पए पवेसण मेयं सा सामाइयं नेयं'' इकशब्दो देशीवचनः क्वापि प्रवेशार्थे प्रवर्तते इति। विशे०॥

इक्कड–न० (इक्कड) ढंढणसदृशे तृणविशेषे, । प्रश्न० ३ सं० द्वा० पर्व्व क (ग) जातीये वनस्पतिविशेषे, । प्रज्ञा० १ पद सूत्र०। वणस्सइ भेआ इक्कडा लाडाणं पसिद्धा इति। नि० चू० २ उ०। आचा०। वृ०।

इक्कडमय–त्रि० (इक्कडमय) इक्कडो वनस्पतिभेदः (नि०चू० २ उ०) तन्मये संस्तारकादौ, वृ० ३उ०।

इक्खण–न० (ईक्षण) ईक्ष् भावे ल्युट्। पर्यालोचने, ''तम्हादवि इक्खपंडिए'' ईक्षस्व तद्विपाकं आलोचयेति सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। दर्शने, करणे, नेत्रे, वाच०॥

इक्खाग (गु)–न० (इक्ष्वाकु) आर्यकुलभेदे, अनु०। प्रज्ञा०। तच्च प्रथमप्रजापतेर्नाभेयस्य भगवत ऋषभदेवस्य कुलमिति। स्था० ६ ठा०। कुलार्येषु ऋषभदेवस्वामिवंशोद्भवेषु, । औप० कल्प०। भ०। आचा०। केशल जनपदे च। यत्रायोध्या नगरीति, ज्ञा० ८ अ०।

***ऐक्ष्वाक**–पु० इक्ष्वाकुवंशोद्भवे, आ० क०। ऋषभदेवस्वा मिनो वंशस्य तद्वंशजानां चैक्ष्वाकुनामकरणं यथा ''देसूणगं च वरिसं सक्कागमणं च वंसठवणा य'' आ० म० प्र०। सक्को वंसट्ठवणे इक्खू अगू तेण होंति इक्खागा'' ति०। कथानकशेषं ''जीयमेदं तीय पच्चुप्पण्णमणागयाणं देवाणं पढमत्थियराणं वंसट्ठवणं करेत्तए ततो तियसगण संपरिवुडो सक्को आगतो पच्छा किहरिक्क हत्थतो पविसामित्ति महंतं इक्खु लट्ठिं गहाय आगतो इतो य नाभिकुलगरो उसभसामिणा अंकगएण अत्थए सक्केण य उवागएण इक्खुलट्ठिहच्छ गएणं जएणं विजएणं भयवं बद्धाविओ। भयवया लट्ठीसु दिट्ठी पाडिया ताहे सक्केणं भणियं भयवं इक्खू अगू अकू भक्षणे भक्षयसि ताहे सामिणा पसत्थ लक्षणधरो अलंकियविभूसिओ दाहिणहत्थो पसारितो अतीव भगवयस्स तासु हरिसो जातो तएणं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अयमेयारूवे संकप्पे समुप्पज्जित्था जम्हा भयवं तित्थयरो इक्खुं अभिलसइ तम्हा इक्खागुवंसो भवउ। आ० म० प्र०। गाथाक्षरगमनिका अथ सञ्जातकिञ्चिदूनवर्षे भगवति प्रथमजिनवंश-स्थापनं। शक्रः स्वजातमिति विचिन्त्य कथं रिक्तपाणिः स्वामिस मीपं यस्यामीति महतीमिक्षुयष्टिमादाय नाभिकुलकराङ्कस्थस्य प्रभोरग्रे तस्थौ दृष्ट्वा चेक्षुयष्टिं दृष्टवदनेन स्वामिना करे प्रसारिते इक्षुं भक्षयसीति भणित्वा तां दत्वा इक्ष्वभिलाषात्स्वामिनो वंश इक्ष्वाकुनामा भवतु। कल्प०। आ० चू०। शक्रः सौधर्मेन्द्रो वंशस्थापने प्रस्तुते इक्षं गृहीत्वा आगतः अक अग कुटिलायां गतौ अनेकार्थत्वाद्धातूनां अक् धातो रौणदिके उण् प्रत्ययः अकुशब्दोऽभिलाषार्थः ततः स्वामी इक्षोः आकुनाभिलाषेण करं प्रासारयत् शक्रः आर्पयत् तेन कार णेन भवति। इक्ष्वाकुवंशभवाः ऐक्ष्वाकाः। आ० क०। ''आसी य इक्खु भोई इक्खागा तेण खत्तिया होंति'' क्षत्रिया येन कारणेन बाहुल्येनेक्षुभोजिन आसन् तेन कारणेन ते क्षत्रिया इक्ष्वाकवो लोको ख्याताः। आ० म० प्र०। आ० चू०।

इक्खाग (गु)कुल–न० (इक्ष्वाकुकुल) इक्ष्वाकूणां कुलं इक्ष्वाकुकुलम्। ऋषभेदवस्वामिवंशे, । आ० म० प्र०।

इक्खाग(गु)भूमि–स्त्री० (इक्ष्वाकु भूमि) अयोध्यायाम्, तीर्थ० ''इक्खागभूमिउज्झा, सावत्थि विणीय कोसलपुरं च'' आव० २ अ०।

इक्खाग (गु)राय–पु० (इक्ष्वाकुराज) इक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकुवंशजानामथवा इक्ष्वाकुजनपदस्य राजा। इक्ष्वाकुंवशीयानां कोशलजनपदस्य वा नृपे, । ज्ञा० ८ अ०। उत्त०। पडिबुद्धी इक्खागराया'' स्था० ७ ठा०।

इक्खाग(गु)वंश–पु० (इक्ष्वाकुवंश) ऋषभेदवस्य वंशे, ''आसीइक्खाग वंस संभूओ नाभिनामकुलागरो'' इति० ति०। (वक्तव्यता इक्खाग (गु) शब्दे)

इक्खु(उच्छु)–पु० (इक्षु) इष्यते ऽसौ माधुर्यात् ''इक्सु प्रवासीक्षौ'' इति प्राकृत सूत्रेणादेरत उत्वम् प्रा० व्या० १ पाद ८ अध्या० आर्षे इक्खु इति च भवति प्रा० व्या०। मधुररसो पेते असिपत्रे स्वनामख्याते, वाच०। पर्वकवनस्पतिकाय भेदे, उत्त०। प्रज्ञा०। चतुर्विंशतिधान्यान्तर्गते धान्यभेदे, प्रव० १५६ द्वा०। इक्षुवरट्टिका सम्भाव्यत इति। धर्म० १ अधि० ''उच्छु जवसालिकालिया इति'' औप० इक्षुग्रहणाग्रहणे यथा– ''से भिक्खु वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा उच्छवणं उवागच्छि त्तए जे तत्थ इसरे जाव उग्गहंसि अह भिक्खू इच्छेज्जा उच्छुभोत्तए वा पायए वा सेज्जं उच्छू जाणेज्जा स खंडं जाव णो पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिण्णं तहेव तिरि-च्छच्छिण्णं तहेव से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण अभिकंखेज्जा अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा स अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छूयं वा जाव डालगं वा अप्पंडं जाव पडिगाहेज्जा अतिरिच्छाच्छिण्णं तहेव पडिगाहेज्जा। इक्षुसूत्रत्रयमप्या-ग्रवन्नेयमिति नवरं अंतरुच्छूयंति पर्वमध्यमिति आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०।

जे भिक्खू वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा उच्छुं वा काणं अंगारियं संमिस्सं विगदूसितं वा वेत्तगंवा कंदलित्तइउसुयगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणयं जाव। आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०।

सचित्ताचित्तेक्षुभक्षणाभक्षणे प्रायश्चित्तम् यथा–

जे भिक्खू वा सचितं उच्छुं भुंजइ भुंजतं वा साइज्जइ ।४। जे भिक्खू सचित्तं उच्छुं विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ।५। जे भिक्खु सचित्तं उच्छुं वा, उच्छुपेसियं वा, उच्छुभित्तिं वा, उच्छुसालगं वा, उच्छुडालगंवा उच्छु चोयगंवा विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ।६। जे भि० सचित्तं उच्छुं वा उच्छु पे० वा० उच्छुभित्तिंवा उच्छु चोयगवा विडंसइ० ७ जे भिक्खू सचित्तं पइट्ठियं उच्छुं भुंजइ भुंजंतंवा साइज्जइ ।८। जे भिक्खू सचित्तं पइट्ठियं उच्छुं विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ।९। जे भिक्खू सचित्तं पइट्ठियं उच्छुं वा उच्छुपेसियं वा उच्छुत्तिभिं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा उच्छुचोयगं वा भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ।१०। जे भिक्खू सचित्तं पइट्ठियं उच्छुं वा उच्छपेसियं वा उच्छुभित्तिं वा उच्छुसालगं वा उच्छुचोयगं वा विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ।११।

अण्णे दो सचित्तपइट्ठिते सुत्ता।

भुंजंति जे भिक्खू तो सिला पुण विडंसति णायव्वा जीवजुअं सचित्तं अचित्तं सवेयणपतिट्ठं।

एतेसिं चेव चउण्हं सुत्ताणं इमो अतिदेशो।

सचित्तं च फलेहिं, पण्णरसे जोग मो समक्खातो।
सो चेव णिक्खमेसो, सोलसमे होति उक्खंमि ॥३१८।

कंठ्या अणादियाय दोसा चउलहुं पच्छित्तं इमे तत्थ विभा गसुत्ता जे भिक्खू सचित्तं अंतरुच्छगं वा भुंजति इत्यादि जे सचित्तं अंतरुच्छगं वा विडंसइ इत्यादि अण्णे सचित्त पइट्ठिते दो सुत्तं।

पव्वसहितं तु खंडं, तत्थ वि य अंतरुच्छुयं होइ।
डगमलवक्किलछेदो, मा य पुण बल्लिपल्लिपरिहीणं ।३१९।

परं उभयो पव्वदेससहितं खंडं पुव्वं उभयो पेरुरहियं अंत रुच्छियं चक्कडिच्छेदछिण्णं डगले भण्णति सोयं अब्भंतरो गिरा।

चोयं तु होइ हीरो, सगले पुण तस्स बाहिरा छल्ली।
कोणं पुण सक्कं मा, इतरजुतं तप्पइट्ठं तु ।३२०।

वंसहीरसंठितो चोपयं भण्णति सालगं वा हरिच्छली भण्णति पुण कामियं अंगारइयं वा वुभयं सियालादीहिं वा खइयं उवरि सुक्कं इयरंति सचित्तत्तं अहो सचित्तत्तमि सचि त्तविभागे पतिट्ठियं भण्णति। नि० चू० १६ उ०।

(गोचरचर्य्यायां सचित्तेक्षुग्रहणाग्रहणे–गोयरचरिय–शब्दे)

इक्खु (उच्छु)करण–न० (इक्षुकरण) क्षेत्रकरणभेदे, तच्च लाङ्गलादिना संस्कारयति। सूत्र० १ श्रु० १ अ०। इक्षवः क्रियन्ते यत्र तदिक्षुकरणम्। इक्षुवाटे, वृ० १ उ०।

इक्खु(उच्छु)खंड–न० (इक्षुखण्ड) पर्वसहितेक्षुच्छेदे, । नि० चू० १६ उ०। इक्षुखण्डं चापरिणतं तद्धि पर्वतो यद्वर्तते तदनाचरित-मिति। दश० ३ अ०।

इक्खु(उच्छु)गंडिया–स्त्री० (इक्षुगण्डिका) सपर्वेक्षुशकले, । आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ०।

इक्खु(उच्छु)घर–न० (इक्षुगृह) दशपुरनगरस्थे उद्याने, यत्रार्य्यरक्षितस्तोशलिपुत्रादाचार्य्याद्दीक्षां जग्राहेति। विशे०। आ० म०। आ० चू०।

इक्खु(उच्छु)चोयग–न० (इक्षुचोदक) पीलितेक्षुक्षोदिकायाम्, । आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ०।

इक्खु(उच्छु)जंत–न० (इक्षुयंत्र) इक्षोर्निष्पीडनं यन्त्रं शा० त०। इक्षुनिष्पीडके यन्त्रे, वाच०।

इक्खु (उच्छु)डालग–न० (इक्षुडालक) इक्षुशाखैकदेशे, आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ०। अवल्कले इक्षुच्छेदे च। डालगम वक्किलच्छेदो इति। नि० चू० १ उ०।

इक्खु(उच्छु)पेसिया–स्त्री० (इक्षुपेशिका) इक्षुगण्किायाम् नि० चू० १६ उ०।

इक्खु(उच्छु)भित्ति–स्त्री० इक्षुभित्ति इक्षुखण्डे, नि० चू० १६।

इक्खु(उच्छु)मेरग–न० (इक्षुमेरक) अपनीतत्वचीक्षुगण्डि- कायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ०।

इक्खु (उच्छु)लट्ठि–स्त्री (इक्षुयष्टि) इक्षुदण्डे, आ० चू० २ अ०। आ० म० प्र०। प्रा० व्या०।

इक्खु(उच्छु)वण–न० (इक्षुवन) इक्षोः पर्व (ग) कवनस्पति विशेषस्य वने, आचा० १ श्रु अ० १० उ०।

इखु(उच्छु)वाड–पु० (इक्षुवाट) इक्षोः पर्वगवनस्पतिविशेषस्य वाटे, ''सुचिरं पियत्थमाणो नलथंभो उच्छुवाडमज्झंमि'' आव० ३ अ०।

इखु (उच्छु) वाडिया–स्त्री० (इक्षुवाटिका) पर्वगवनस्पतिका यभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

इक्खु (उच्छु)सालग–न० (इक्षुसालग) इक्षोर्दीर्घशाखायाम्, । आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ०। बाह्यछल्यां च ''सालगं पुण तस्स वाहिरा बल्ली'' नि० चू० १६ उ०।

इच्चा–अ० (इत्त्वा) ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

इच्चेवं–अ० (इत्येवम्) पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शे, ''इच्चेवं पडिलेहंति'' सू० १ श्रु० ३ अ०। ''इच्चेवमाहु से वीरे'' सूत्र० १ श्रु० ४ अ०।

*इच्छ–इष्–धा० वाञ्छायाम्, तुदा० पर० सेट् वेट् क्तः ''गमि-ष्यमासां छः'' इति प्राकृतसूत्रेण छकारः इच्छइ–इच्छति। प्रा० व्या० ८ अध्या० ४ पाद। ''इच्छामि खमासमणो वंदि उं'' इषु इच्छायामित्यस्योत्तमपुरुषैकवचनम्। आव० ३ अ०। अनु+अन्वेषणे, प्रति×प्रतिग्रहे, प्राप्तौ च। परि×अन्वेषणे च। अभि+सम्यगिच्छायाम्। वाच०॥

इच्छं झाण–न० (इच्छाध्यान) इच्छा संभाव्यमानलाभस्यार्यस्याभिलाषातिरेकस्तस्या ध्यानमिच्छाध्यानम्। द्विमाषार्थिनः कोटिसुवर्णलाभेऽपि प्रवर्द्धमानलोभस्य कपिलस्येव सम्भाव्यमानलाभार्याभिलाषातिरेकध्याने, । आतुर० ॥

इच्छंत–त्रि० (इच्छत्) वाञ्छति, ''इच्छंतो हियमप्पणो'' उत्त० १ अ०।

इच्छक्का (च्छाका)र–पु० (इच्छाकार) एषणमिच्छा स्वाभिप्राय स्तया करणं तत्कार्यनिर्वर्त्तनमिच्छाकारः। गच्छा० २ अधि०। विवक्षितक्रियाप्रवृत्त्यभ्युपगमः। अनु०। इच्छया बलाभियोगमन्तरेण

कारः इच्छाकारः इच्छाक्रियेत्यर्थ इति । स्था० १० ठा० । प्रव० । आ० म०प्र० । इच्छायाः करणमिच्छाकार इति । वृ० १ उ० । स्वकीयाभिलाषे, । ''इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसिअं आलोएमि'' इच्छाकारेण निजेच्छयेति । आत्मीयेच्छयेति । स्वकीयाभिलाषेण न पुनर्बलाभियोगेनेति च । ध० २ अधि० । तदात्मके पष्ठे सामाचारीभेदे च । इच्छाकारो अ छट्ठओ इति । उत्त० २६ अ० । इच्छाकारेण ममेदं कुरु इच्छाप्रधानया क्रियया न बलाभियोगपूर्विकयेति । स्था० । १० ठा० । इच्छाकारेण ममेदं कुरु तत्र चाहं करोमीति निर्देशोऽभ्युपगमो वा इच्छाकार इति । ध० ३ अधि० । प्रव० । आ० म० प्र० । वृ० । ''इच्छाकारो य सारेण'' इति । उत्त० २६ अ० । सारेण इति औचित्येनात्मनः परस्य वा कृत्यं प्रतिप्रवर्तते । तत्रात्मसारेण यथेच्छाकारेण युष्मच्चिकीर्षितं कार्यमिदमहंकरोमीति । अन्यसारेण च मम पात्रलेपनादि इच्छाकारेण कुरुतेति ग० २ अधि० । अस्य च प्रयोगः स्वार्थम्परार्थं वा चिकीर्षन् यदा परमभ्यर्थयते इति । स्था० १० ठा० ''इच्छाकारपओगो णाम जं इच्छया करणं तं बलाभियोगादिणा इच्चेयस्स अत्थस्स संपयत्थं इच्छकार सद्दं पउञ्जंति । आ० चू० २ अ० । उत्सर्गतः साधूनां सति सामर्थ्ये कार्यार्थपरो नाभ्यर्थयितव्यः अभिगूहितबलवीर्येण भाव्यं तत्कार्यस्य असामर्त्थे अप्रावीण्ये वा रत्नाधिकं विहायान्येषाभ्यर्थनाविषयमिच्छाकारं करोति । यदि वा नाभ्यर्थितोऽपि कोऽप्यन्यस्तत्प्रयोजनकरणशक्तो निर्जरार्थी साधुः कंचन साधुं चिकीर्षितकार्यं विनाशयन्तं गुरुतर-कार्यकरणासमर्थमविनाशयन्तमप्यभ्यर्थयन्तं वाभिलषित-कार्यकरणायान्यतरं साधुं दृष्ट्वा तत्कार्यं कर्तुकामस्तत्रापि इच्छाकारं प्रयुञ्जीत । इच्छाकारेण युष्मदी यमिदं कार्यं करोमीति युष्माकमिच्छाक्रियया करोमि न बलादित्यर्थः । ध० ३ अधि० ।

तत्रेच्छाकारो येष्वर्थेषु क्रियते तत्प्रदर्शनार्थमाह ।

जइ अब्भत्थेअ परं, कारणजाते करेज्ज सो को वि ।
तत्थ वि इच्छाकारो, न कप्पइ बलाभिओगो उ ॥

यदि इत्यभ्युपगमे अन्यथा साधूनामकारणे अभ्यर्थना नैव कल्पते । ततश्च यदि अभ्यर्थयेत् परमन्यं साधुं ग्लानादौ कारणजाते समुत्पन्ने सति ततस्तेनाभ्यर्थयमानेन इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः । यदि वा अनभ्यर्थितोऽपि कोऽप्यन्यः साधुः (से) तस्य कर्तुकामस्य कस्यचित् साधोः कारणजातं कुर्यात् । तत्रापि तेनानभ्यर्थितेन साधुना तस्य चिकीर्षितं कर्तुकामेन इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः । इह विरलाः केचिदनभ्यर्थिता एव परकार्यकर्तार इति कोपातिग्रहणम् । अथ कस्मादिच्छाकार प्रयोगः क्रियते । उच्यते-- बलाभियोगो मा भूदिति हेतोस्तथा चाह अतो न कल्पते बलाभियोगः साधूनाम् तत इच्छाकार प्रयोगः कर्तव्यः । तु शब्दः क्वचिद्बलाभियोगो मा भूदिति कल्पते इति सूचनार्थः ।

उक्तगाथावयवार्थप्रतिपादनार्थमाह ।

अब्भुवगमंमि निज्झइ, अब्भत्थेउं न वट्टइ परो उ ।
अणिगूहियबलविरिएण, साहुणा ताव होयव्वं ॥

यदि अभ्यर्थयेत्परमित्यस्मिन् यदि शब्दप्रदर्शिते अभ्युपगमे सति ज्ञायते किमित्याह । अभ्यर्थयितुं न वर्तते न युज्यते परः । किमित्यत आह--न निगूहिते बलवीर्ये येनासावनिगूहितबलवीर्यस्तेन । बलं शारीरं, वीर्यं मानसशक्तिविशेषः तावच्छब्दः प्रस्तुतार्थप्रदर्शकः । एवमनिगूहित-बलवीर्येण तावत्साधुना भवितव्यम् । पाठान्तरं वा ''अणिगूहिय-बलवीरिएण जेण साहुणा होयव्वं'' अस्यायमर्थो येन कारणेन अनिगूहितबलवीर्येण साधुना भवितव्यमिति युक्तिः अतोऽभ्यर्थयितुं न युज्यते पर इति आहेत्थं तर्ह्यभ्यर्थना-विषयेच्छाकारोपन्यासोऽनर्थकः । उच्यते--

जइ होज्ज तस्स अनलो, कज्जस्स वियाणाइ न तं वाणं ।
गिलाणाइ विहिपहोज्जा, वावडो कारणेहिं सो ॥

यदि भवेत्तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्यानलो समर्थः यदि वा न विजानाति तत्कार्यं कर्तुं वाणमिति निपातः पादपूरणार्थः ग्लानादिर्वा भवेत् व्यापृतः कारणैरसौ तदा संजातद्वितीय-पदाभ्यर्थनागोचरमिच्छाकारं रत्नाधिक विहायान्येषां करोति । तथा चाह

रत्ताणि य वज्जेत्ता, इच्छाकारं करेइ सेसाणं ।
एयं मज्झं कज्जं, तुब्भेह करेह इच्छाणं ॥

रत्नानि द्विविधानि द्रव्यरत्नानि भावरत्नानि च । तत्र मर-कतवज्रेन्द्रनीलवैडूर्यादीनि द्रव्यरत्नानि सुखमधिकृत्य तेषामनैका-न्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च । भावरत्नानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि सुखनिबन्धनतामङ्गीकृत्य तेषामैकान्तिकत्वात् आत्यन्तिकत्वाच्च भावरत्नमधिको रत्नाधिकस्तं वर्जयित्वा इच्छाकारं करोति । शेषाणां कथमित्-याह । एतन्मम कार्यं वस्त्रसीवनिकादिरूपं कुरुत इच्छया न बलाभियोगे नेति । तत्र यदुक्तम् । (जइ अब्भत्थेज्ज परं कारण जाते इति) तत्र प्रथमगाथया यदीत्यस्य भावार्थ उपदर्शितः । द्वितीयगाथया कारणजातानि कथितानि । अनया तु पूर्वार्द्धेना-भ्यर्थनाविषयो दर्शितः । उत्तरार्द्धेन त्वभ्यर्थनायाः स्वरूपम् । संप्रति ''करेज्जवासे कोई'' इति अस्य गाथावयस्यावयवार्थः प्रति पादनीयस्तत्रान्यकरणसंभवकार-प्रतिपादनायाह ॥

अहवा वि विणासंतं, अब्भत्थं तं च अण्णदट्ठूणं ।
अन्नो कोइ भणिज्जा, तं साहुनिज्झरट्ठाउ ॥

अथवेति ''जइ अब्भत्तेज्ज परं कारणजाए'' इत्यपेक्षया प्रकाशं ततो द्योतनार्थं विनाशयन्तं चिकीर्षितं कार्यमपिशब्दात् सोऽन्यस्मिन् गुरुतरे कार्ये समर्थस्ततो यदि स तत्र व्यापृतो भवति तर्हि तेन गुरुतरप्रयोजनं सीदतीति परिभाव्य विनाशयन्तमपि, यदि वा स्वयमसमर्थतथा अभिलाषितकार्यकरणाय साधुमन्यमभ्यर्थयन्तं दृष्ट्वा निर्जरार्थी कोऽप्यन्यः साधुः साधुं भणेत् । किं भणेदित्याह --

अह यं तुज्झेमेयं, करेमि कज्जं तु इच्छकारेण ।
तत्थ वि से इच्छइ से, करेइ मज्झायमूलीयं ॥

अहमित्यात्मनिर्देशे युष्माकमेतत् कर्तुमभीष्टं कार्यं करोमि इच्छाकारेण युष्माकमिच्छाक्रियया न बलादित्यर्थः तत्रापि स कारापकः साधुः इच्छति इच्छाकारं (से) तस्य स्वयमिच्छाकारेण कर्तुमभ्युद्यतस्य करोति नत्वसौ तेनेच्छाकारेण याचितस्ततः किमर्तमिच्छाकारं करोतीत्यत आह-मर्यादामूलीयम् । मर्यादा साधूनां व्यवस्था तस्या मूलं मर्यादामूलं तत्रभवो मर्यादामूलीय इच्छाकारस्तं निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति हेतौ द्वितीया । ततोऽयमर्थः मर्यादामूलभूत इच्छा-कारस्तयाहि--साधूनामियं मर्यादा न किंचिदवस्याव्यतिरेकेण कश्चित्कारयितव्यः । तदेवं व्याख्यातोऽधिकृतो गाथावयवः ॥

संप्रति तत्थवि इच्छाकार इत्यत्र योऽपिशब्दस्तस्य विषयं प्रद-र्शति –

अहवा सगं करेतं, किं वा अन्नस्य वा वि दट्ठूणं ।
तस्स वि करेइ इत्थं, मज्झं पि इमं करेहेत्ति ॥

अथवा स्वकमात्मीयं पात्रलेपनादि किं कुर्वते अन्यस्य वा किंचित् कुर्वन्तं दृष्ट्वा तस्यापि आस्तां प्रायुक्तस्येत्यपि शब्दार्थः आपन्नप्रयोजनः सन् इच्छाकारं कुर्यात्–कथमित्याह–ममापीदं पात्रलेपनादि इच्छाकारेण कुरुतेति ॥

इदानीमभ्यर्थितसाधुविषयं विधिं प्रदर्शयति ॥

तत्थ वि सो इच्छं से, करेइ दीवेइ कारणं वा वि ।
इहरो अणुग्गहत्थं, कायव्वं साहुणा किच्चं ॥

तत्रापि एवमभ्यर्थनेऽपि साधोरभ्यर्थितसाधुरिच्छाकारं करोति इच्छाम्यहं तव करोमि । अथ तेन गुर्वादिसत्कं कार्यान्तरं कर्तव्यं तर्हि दीपयतिकारणं वापि इतरथा गुर्वादिकार्यकर्तव्याभावे सत्यनुग्रहार्थमवश्यं साधोः कृत्यं कर्तव्यमिति । अपिशब्दात् क्षिप्तेच्छाकारविषयविशेष-प्रदर्शनायैवाह –

अहवा नाणाईणं, अट्ठाइ जइ करेज्ज किच्चाणं ॥
वेयावच्चं किंची, तत्थवि तेसिं भवे इच्छा ॥१॥

अथवा ज्ञानादीनामादिशब्दाद्दर्शनचारित्रपरिग्रहः । अर्थाय यदि कुर्यात् कृत्यानामाचार्यादीनां वैयावृत्त्यं कश्चित्साधु पाठान्तरं च किंचीति किंचिद्धि श्रावणादि तत्रापि तेषां कृत्यानां–तं साधुं वैयावृत्त्ये नियोजयतां भाव इच्छति भवेदिच्छाकार इच्छाकारपुरस्सरं योजनीय इत्यर्थः किमित्यत आह यस्मात्–

आणा बलाभियोगो, निग्गंथाणं न कप्पए काउं ।
इच्छा पउंजियव्वा, सेहए रयणिए तह ॥

आज्ञापि ममाज्ञा भवतेदं कार्यमेवंरूपा तथा विवक्षितं कार्य-माज्ञापितस्याप्यकुर्वतो बलात्कारेण नियोजनं बलाभियोग एतैर्द्वावपि निर्ग्रन्थानांन कल्पते कर्तुं किन्तु इच्छेति इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः प्रयोजनेऽनुत्पन्ने सति शैक्षके तथा रत्नाधिके च आलापादिप्रष्टुकामेन आद्यन्तग्रहणान्मध्यस्यापि ग्रहणमिति व्याख्यायान्येषु च एषु तावत्स उक्तः । अपवादतस्त्वाज्ञाबलाभियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ तेन चेहोत्सर्गतः संवास एव न कल्पते बहुजनादिकारणप्रतिबद्धतया त्वपरित्याज्यः अयं विधिः प्रथममिच्छाकारेण योज्यते कुर्वन्नाज्ञया पुन र्बलाभियोगेनेति आहच ॥

जह जच्चवाहलाणं, आसाणं जणवएसु जायाणं ।
सयमेव खलिणगहमं, अहवावी बलाभियोगेणं ॥
पुरिसज्जाए वि तहा, विणीय विणयंमि नत्थि अभियोगो ।
सेसंमि उ अभिओगो, जणवयजाए जहा आसो ॥

यथा जात्यवाह्लिकानामश्वानां जनपदेषु मगधादिषु जातानां च शब्दलोपात्र द्रष्टव्यः स्वयमेव खलीनग्रहणं भवति । अथवाऽपि बलाभियोगेन खलीनं कविकं किमुक्तं भवति । यथा जात्य-वाह्लीकानामश्वानां स्वयमेव खलीनग्रहणं भवति जनपदजातानां च बलाभियोगेन एवं पुरुषज्ञातेपि ज्ञातशब्दाः प्रकारवचनः पुरुष प्रकारेऽपि कथंभूते इत्याह (विणीय विणय इति) विविधप्रकारं नीतः प्रापितो विनयो येन स विनीतविनयस्तस्मिन्नास्याभियोगः स्वयमेव विनये प्रवर्तनात् खलीनग्रहणे जात्यवाह्लीकस्येवातः (सेसंमि उ अभियोगोत्ति) शेषे विनयरहिते अभियोगो बलाभियोगः प्रवर्तते कथानकाजनपदजाते यथा चैष गाथा-द्वयसमुदायार्थः । अवयवार्थस्तुदवसेयस्तच्चेदं । ''वाहलविसए एगो आसकिसोरो सो दमिज्जिउकामो वेयालियवेलाए' अहियासऊणि ए माए ! अत्थेऊण वाहियालीए नीओ खलिणं से ढोइयं सयमेव तेणगहियं विणीय इत्ति राया सयमेवारूढो मोयहिय इच्छियं वूढो रन्ना उयरिउण आहारलयणादिणा सम्मं पडियारेउ पइदियंह च मुद्धत्तणं तो एवं वहति न तस्स बलाभिओगो पवत्तइ । अवरोपुण मगहा-दिजणवयजाओ आसो सो दमिज्जिउकामो वियालवेलाए हिअ वासित्तो मायरं पुच्छत्ति किमेयंति ताए भणियं पुत्त ! विणयगुणफलं ते एयं कल्लं पुण मा खलीणं पडिच्छिहसि मा वा वहिसि तेण तहेव कयं रन्ना चिरं कोरकरेण पिदितो बलाविकवियं दाऊण वाहिओ पुणा जवससे निरुद्धे तेण माऊए कहिए सा भणइ पुत्त ! दुव्वे दिट्ठियपलमिणं तं दिट्ठो भयमग्गो जो मग्गो ते रुच्चइ तं करेहिसि एस दिट्ठंतो अयमुवणतो जो सयं न करेइ वेयावच्चादि तत्थ बलाभि-ओगो विपयट्ठा विज्जइ जणवयजाए जहा आसो इति'' तस्माद्बलाभियोगमन्तरेणैव मोक्षार्थिना स्वमेव प्रत्युतेच्छाकारं दत्वा अनभ्यर्थितेनैव वैयावृत्त्यादिकर्तव्यम् । तथापि अनभ्यर्थि तस्य स्वयमिच्छाकारकरणं न युक्तमित्याशङ्क्याह –

अब्भत्थणाए मरुओ, वानरओ चेव होइ दिट्ठंतो ।
गुरुकरणे सयमेव य, वाणियगा दोन्नि दिट्ठंता ॥

अभ्यर्थनायां मरुको दृष्टान्तः पुनः शिष्यनोदनायां वानरकश्चैव भवति दृष्टान्तः गुरुकरणे स्वयमेव तु द्वौ वणिजौदृष्टान्तः एष गाथा समासार्थो व्यासार्थः कथानकेभ्योऽवसातव्यस्तानि चामूनि ''एगस्स साहुस्स लद्धी अत्थि सो न करेइ वेयावच्चं बालबुड्ढाणं आयरिएण चोइओ भणइ को मं अब्भत्थेइ आयरिएण भणितो तुमं अब्भत्थणं मग्गंतो चुक्किहिसि जहा सो मरुगो नाणमयमत्तो कत्तियपुन्निमाए नरिंदजणवएसु दाणं देउमब्भुट्ठिएसु न तत्थ वच्चई भज्जाए भणितो जाहे सो भणइ एगं ताव सुद्दाणं परिग्गहं करेमि विषयं घरं तेसिं गच्छामि जस्स आसत्तमस्स कुलस्स कज्जं सो मम अणेत्ता देउ एवं सो जाव जीवाए दरिद्दो जातो एवं तुमं पि अत्थणं मग्गमाणो चुक्किहिसि निंघए एतेसिं वालबुड्ढाणं झाणे चेव अहं अप्पणो वेयावच्चं करेमि अन्ने अत्थिवरंतगा तुज्झ चिए सलिद्ध एवं चेव विराहिति ततो से एवं भणिओ एवं सुंदरं जाणंता अप्पणा कीस न करेह । आयरिया भणंति सरिसो तुमं तस्स वानरस्स जहा एगो वानरो रुक्खे अत्थइ वासासु सीतवातेहिं झडिज्जंतो ताहे सुधराए सउणिगाए भणिओ वानर ! पुरसोसि तुमं निच्छयं वहसि बाहुदंडाइंजो पायवस्स सिहरेणं करेसि कुडिपडालिं वासो एवं विभणिओ तुन्नि को अत्थइ ताहे सो दोच्चंपि तच्चंपि भणइ ततो सो रुट्ठो तं रुक्खं दुरिहिउ माढत्तो सा नट्ठा तेण तीसे तं घरं सुवं विक्खिन्नं भणइ न विसिसमं महतरिआ न विसिसमं सोहि वावणिट्ठा वा सुधरे अत्थसु विघरा जा वड्ढसि लोग तित्तिसु सुहं इदाणिं अत्थ एवं तुमं पि ममं चेव उवरिएण जाओ किंच मम अन्नं पि निज-दारं अत्थि तेण मम बहुतरियाणि घरा तं लाहं चुक्किहामि जहा सो वाणियगो दो वाणिं जाव ववहरंति एगो पढमपाउसो मल्लं दायव्वं होहितित्ति सयमेव आसाढपुण्णिमा

ए घरं पुच्छा इतो वीराणं अट्ठं वा तिभागं वा दाऊण वा विससयं ववहरइ तेण तद्दिवसं विकुणो लाहलद्धो इयरो चुक्को एवं तो अचिंतणेण सुत्तत्था नासंति ते हियते नट्ठेहिं गच्छसारवणा भावेण गच्छस्स अपडियप्पणो बहुतरं में नासइ इति तथाचाह सुत्तत्थेसु अचिंतण, आदेसे वुड्ढसेहगेलन्ने। वाले खमगे चाइ, इड्ढीमायी अणिड्ढिया १ एएहिं कारणेहिं – तु बभूतो न होइ आयरिओ। वेयावच्चे करणं, कायव्वं तस्स सेहेहिं २ जेण कुलं आयत्तं, तं पुरिसं आयरेण रक्खेज्जा। नहि तुंबंमि विणट्ठे, अरया साहरया होंति ३ आदेशे प्राघूर्णके वृद्धे शैक्षके ग्लाने तथा बाले लघुवयसि क्षपके च यद्याचार्यः स्वयं वैयावृत्त्यं करोति तर्हि सूत्रार्थयोरचिन्तनं भवति तथा वादिनि आगते ऋद्धिमति च नगरश्रेष्ठ्यादौ आदिशब्दाद्राजादिपरिग्रहः। आचार्ये वैयावृत्त्याय पानकादिगते प्रवचनलाघवं भवति अनर्द्धिका एते अनीश्वरप्रव्रजिता एते इत्यर्थः। तत एतैः कारणैराचार्य शेषसाधूनामरक-प्रायाणां तुम्बभूतो भवति ततो वैयावृत्त्यविषये यत् करणं करणीयं तत्तस्य शेषैः कर्त्तव्यं न पुनः स स्वविषये परविषये वा वैयावृत्त्ये प्रवर्तमान उपेक्षणीय एतदेवाह (जेणेत्यादि) येन पुरुषेण कुलमायत्तं तं पुरुषमादरेण रक्षेत् यतो नहु नैव तुम्बे विनष्टे अरकाः साधारकाः साधारा भवन्ति आह इच्छाकारेणाहं तत्र प्रथमालिकादिकमानयामीत्याद्यभिधाय यदा लब्ध्याभावान्न संपादयति तदा निर्जरालाभविकलस्तरस्येच्छाकार-स्ततः किं तेनेत्याशङ्क्याह वेयावच्चे अब्भुट्ठियस्स सद्धाए काउकामस्स। लाभो चेव तवस्सिस्स होइ यद्दीणमणस्स वैयावृत्त्ये संयमव्यापारे अभ्युत्थितस्य, तथा श्रद्धया प्रसन्नेन मनसा इह लोकपरलोका-शंसाविप्रमुक्तेन कर्तुकामस्य (लाभो चेव तवस्सिस्सत्ति) प्रकारणान्निर्जराया लाभ एव तपस्विने भवति अलब्ध्यादौ अदीनं मनो यस्यासावदीनमनास्तस्यादीनमनसः॥ आ० म० द्वि०। पंचा०। आ० चू०।

इच्छमाण–त्रि० (इच्छत्) अभिलष्यति, पंचा ५ विव०॥

इच्छा–स्त्री० (इच्छा) एषमणिच्छा–इषु इच्छायाम्। इष–भावेश प्रत्ययः स्था० १० ठा०। आ० म० प्र०। मायाकषायभेदे, सम० ५२ स०। अभिलाषे, प्रश्न ५ द्वा०। पंचा०। आव०। सूत्र०। दश०। स्था०। वृ०। ''इच्छामि ठामि (इउं) का उस्सग्गं'' इषु इच्छा-यामित्यस्योत्तमपुरुषैकवचनस्य ''इषुगमयमां छ'' इति छत्वे इच्छामीति भवति इच्छाम्यभिलषामि स्थातुमिति। आव० ५ अ०। सम्भाव्यमानलाभस्यार्थस्याभिलाषातिरेके, आतु०। आगता-नागतान्यतरार्थप्रार्थनायाम्, ध० ३ अधि०। अभिप्राये, न०। ग०। विशे०। चेतःप्रवृत्तौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। अभ्युपगमे, ध० २ अधि० प्रीतौ, द्वा० २० द्वा०। प्रीतिसाधकभावाभिलाषे, अष्ट २७। स्पृहायाम्, अष्ट० ११। परिग्राह्यवस्तुविषयकवाञ्छाकरणे, संथा०। पंचा०। अन्तःकरणप्रवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। इन्द्रियमनोनुकूलायाम्प्रवृत्तौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। विवक्षितक्रियाप्रवृत्त्यभ्युपगमे, अनु०॥

एतस्य निक्षेपो यथा–

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे अ।
एसो खलु इच्छाए, निक्खेवो छव्विहो होइ॥१॥

नामस्थापने गतार्थे द्रव्येच्छा सचित्तादिद्रव्याभिलाषः। अनुप-युक्तस्य वेच्छामीत्येवं भणतः क्षेत्रेच्छामगधादिक्षेत्राभिलाषः।

कालेच्छा रजन्यादिकालाभिलाषः ''रयणिमहिसारियाउ, चोरा परदारिया य इच्छंति। तालायरा सुभिक्खं, बहुधन्ना केइ दुब्भिक्खं'' भावेच्छा प्रशस्तेतरभेदा प्रशस्तज्ञानाद्यभिलाषः। आव० ३ अ०। आ० चू०॥

विस्तरेणेच्छानिक्षेपमाह॥

जाइं इच्छइ अत्थं, नामादि तस्स सा हवई इच्छा।
नामंमि जंतु नामं, इच्छसि नामं व जं जस्सि॥२॥

यो नाम समर्थं नामादिलक्षणमिच्छति तस्य सा भवति इच्छा यो नामेच्छसि तस्या नामेच्छा। स्थापनामिच्छतः स्थापनेच्छा। एवं द्रव्येच्छादिकमपि भावनीयम्। इच्छायाश्च निक्षेपः षोढा। तद्यथा–नामेच्छा स्थापनेच्छा द्रव्येच्छा क्षेत्रेच्छा कालेच्छा भावेच्छा। तत्र नामेच्छामभिधित्सुराहनाममित्यादिना तु नामविषया इच्छा इयं नाम देवदत्तादिकस्य नाम इच्छा नामेच्छेति भावः। अथवा यस्येति नाम स नामनामवतोरभेदोपचारात् नाम चासौ इच्छा च नामेच्छा।

स्थापनेच्छामाह।

एमेव होइ ठवणा, निक्खिप्पइ इच्छ एव जं ठवणं।
सो मित्ताई जह सं–भवतु दव्वादिसुं भणसु॥३॥

एवमेवानेनैव नामगतेन प्रकारेण भवति स्थापनेच्छा अति-देशोक्तमेव यदिच्छेति निक्षिप्यते सा स्थापना चासाविच्छा च स्थापनेच्छेति व्युत्पत्तेः। अथवा यतः स्थापनामिच्छति सा स्थापनेच्छा स्थापनीया इच्छा स्थापनेच्छेति व्युत्पत्तेः। द्रव्येच्छा द्विधा आगमतो नोआगमतश्च। तत्र आगमत इच्छा पदार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तो नोआगमतस्त्रिधा–ज्ञशरीर–भव्यशरीरे प्राग्वत् तद्व्यतिरिक्ता च यद्व्यभिति सा च त्रिधा सचित्तद्रव्येच्छा अचित्तद्रव्येच्छा मिश्रद्रयेच्छा। तत्र सचित्तद्रव्येच्छा त्रिधा-द्विपदचतुष्पदापदभेदात्। तत्र द्विपदा सचित्त द्रव्येच्छा यत् स्त्रियमिच्छति पुरुषमिच्छति इत्येवमादि। चतुष्पदसचित्तद्रव्येच्छा यदश्वमिच्छति गावमिच्छतीति। अपदसचित्तद्रव्येच्छा आम्रस्येच्छा मातुलिङ्गस्येच्छे-त्यादि। अचित्तद्रव्येच्छा सुवर्णद्रव्येच्छा हिरण्येच्छादि। मिश्रद्रव्येच्छा सुवर्णाद्यलंकारविभूषितस्य द्विपदादेरिच्छा अथवा द्रव्यादिषु क्षेत्रकालेषु यथासंभवं स्वामित्वादि। स्वामित्वं त्वकरणा करणानि भणतः स्वामित्वादिभिः प्रकारैः द्रव्यक्षेत्रकालेच्छा वक्तव्येति भावः। तत्र स्वामित्वेन द्रव्येच्छा यथा आत्मनः पुत्रमिच्छति इत्यादि करणेन यथा मद्याद्यभ्यवहृतेन तैरिच्छा कामेच्छा वा जायते इत्यादि। अधिकरणे यथा सुप्रतारितायां शय्यायां स्थितस्य कामेच्छा समुत्पद्यते क्षेत्रकालावचेतनौ ततो न तयोः स्वयं स्वामित्वेनेच्छा भवति ततः करणाधिकरणाभ्यां तत्र योजना तत्र क्षेत्रेण लब्धेन क्रीडनेच्छा वपनेच्छा जायते। अधिकरणेन यथा गृहे स्थितस्य भोगेच्छा कामेच्छा वा, सद्गुरुकुलवासे सम्यगनुष्ठानेच्छा वा समुपजायते इत्यादि। काले करणे यथा यौवनकालेन धनेच्छा कामेच्छा वा जायते इत्यादि। अधिकरणे यथा हेमन्ते रात्रौ शीतेन पीडितः सूरोद्गमकालमिच्छति। भावत इच्छा द्विधा–आगमतो नो आगमतश्च तत्रागमतः इच्छेति पदार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्त ''उपयोगो भावनिक्षेपः'' इति वचनात् नो आगमत आह–

भावे पसत्थमपस–त्थिया य अपसत्थियंत इच्छामो।
इच्छामो य पसत्थं, नाणादीयं तिविहमित्थं॥४॥

आगमतो भावत इच्छा द्विधा प्रशस्ताऽप्रशस्ता च । मकारो लाक्षणिकः । तत्राज्ञानादिविषया इच्छा अप्रशस्ता, प्रशस्ता ज्ञानादिविषया । व्य० प्र० ३ उ० ।

इच्छाविनिवृत्तेः फलं यथा–

कंखिज्जइ जो अत्थो, संपत्तीए न तं सुहं तस्स ॥
इच्छाविणिवित्तीए, जं खलु बुद्धप्पवाओ अं ॥९६॥

कांक्ष्यतेऽभिलष्यते योऽर्थः आदिसंप्राप्त्या न तत्सुखं तस्या–र्थस्य इच्छाविनिवृत्त्या यत्खलु सुबुद्धप्रावादोऽयमाप्तप्रवादोय मिति गाथार्थः ।

मुत्तीए वभिचारो, तत्तो जं सा जिणेहि पन्नत्ता ।
इच्छा विणिवत्तीए, चेव फलं पगरिसं पत्तं ॥९७॥

मुक्त्या व्यभिचारस्तत्काङ्क्षणे तत्प्राप्त्यैव सुखभावादेत-दाशङ्क्याह । तत्र यद्यस्मादसौ मुक्तिर्ज्जिनैः प्रज्ञप्ता तीर्थकरैरुक्ता इच्छाविनिवृत्तेरेव फलं न पुनरीच्छापूर्वकमिति प्रकर्ष-प्राप्तसामायिकं संयतादेरारभ्यो-त्कर्षेण निष्ठाप्राप्तमिति गाथार्थः । किंच–

जस्सिच्छाए जायइ, संपत्ती तं पडुच्चिमं भणिअं ।
मुत्ती पुण तदभावे, जमणिच्छा केवली भणिया ॥९८॥

यस्यार्थस्येच्छया प्रवृत्तिनिमित्तभूतं यज्जायते संप्राप्तिस्त मंर्थ विलयादिकं प्रतीत्येदं भणितं काङ्क्ष्यते इति । मुक्तिः पुन स्तदभावे इच्छाऽभावे जायते । कुत इत्याह-यद्यस्मादनिच्छाः केवलिनो भणिताः ''अमनस्काः केवलिन'' इति वचनादिति गाथार्थः । पं० व० १ द्वा० । पक्षस्य पञ्चदशसु रात्रिषु स्वनाम-ख्यातायामेकादश्यां रात्रौ च । ज्यो० ४ पा० । जं० ॥ चं० ॥

ईप्सा–स्त्री० आप्तुमिच्छा आप्–सन्–अ । आप्तुमिच्छायाम् इच्छायां च । वाच० ।

इच्छाकाम–पु० (इच्छाकाम) एषणमिच्छा सैव चित्ताभिलाष-रूपत्वात्काम इच्छाकामः । इच्छारूपे कामे, ''इच्छा पसत्थमपसत्थिगा य'' । इच्छा प्रसस्ताऽप्रशस्ता च । अनुस्वारो ऽलाक्षणिकः सुखमुखोच्चारणार्थः । तत्र प्रशस्ता धर्मेच्छा मोक्षेच्छा । अप्रशस्ता युद्धेच्छा राज्येच्छा । व्यक्ता इच्छाकामा इति । दश० २ अ० ।

इच्छागहण–न० (इच्छाग्रहण) अभिप्रायपरीक्षणे, वृ० १ उ० ।

इच्छाछंद–पु० (इच्छाछन्द) यथाछन्दे, ''एसो उ अहा छंदो इछाछंदुत्ति एगट्ठा'' २८ इति । आव० ३ अ० ।

इच्छाजम–पु० (इच्छायम) यमभेदे, – ''इच्छायमो यमेष्विच्छा, युता तद्वत्कथामुदा'' – इच्छेति तद्वता यमवता कथातो या मुत् प्रीतिस्तया युता सहिता यमेष्विच्छा इच्छायम उच्यते इति । द्वा० २० द्वा० ।

इच्छाजोय–पु० (इच्छायोग) इच्छाप्रधानो योगो व्यापारः इच्छा-योगः । योगभेदे, तल्लक्षणं यथा–

चिकीर्षोः श्रुतशास्त्रस्य, ज्ञानिनोऽपि प्रमादिनः ।
कालादिविकलो योग इच्छायोग उदाहृतः ॥२॥

चिकीर्षोः तथाविधक्षयोपशमाभावेऽपि निर्व्याजमेव कर्तु-मिच्छोः श्रुतार्थस्य श्रुतागमस्य अर्थ्यतेऽनेन तत्त्वमिति कृत्वार्थशब्दस्यागम-वचनत्वात् । ज्ञानिनोऽपि अवगतानुष्ठेयतत्त्वार्थस्यापि प्रमादिनो विकथादिप्रमादवतः कालादिन विकलोऽसम्पूर्णो योगश्चैत्यवन्दनादिव्या-पार इच्छायोग उदाहृतः प्रतिपादितः ।

प्रधानस्येच्छायोगत्वे तदङ्गस्यापि तथात्वामिति दर्शयन्नाह ।

साङ्गमप्येककं कर्म्म, प्रतिपन्ने प्रमादिनः ॥
न त्वेच्छायोगत इति श्रवणादत्र मज्जति ॥३॥

साङ्गमपि अङ्गसाकल्येनाविकलमपि एककं स्वल्पं किंचित्कर्म प्रतिपन्ने बहुकालव्यापिनि प्रधाने कर्म्मण्यादृते प्रमादिनः प्रमादवतः नत्वेच्छायोगत इति श्रवणादत्र इछायोगे निमज्जति निमग्नं भवति । अन्यथा हीच्छायोगाधिकारी भगवान् हरिभद्रसूरिर्योगदृष्टि-समुच्चयप्रकरणप्रारम्भे मृषावादपरिहारेण सर्वतौचित्यारम्भप्रदर्शनार्थं न त्विच्छायोगतोयोगमित्या-दिनाविवक्षत् । वाङ्नमस्कारमात्रस्याल्पस्य विधिशुद्धस्यापि संभवात् । प्रतिपत्तस्वपर्यायान्तर्भूतत्वेन च प्रकृतनमस्कार-स्यापीच्छायोगप्रभवत्वमदुष्टमीति विभावनीयम् । द्वा० १९ द्वा० ।

इच्छाणुलोम–त्रि० (इच्छानुलोम) इच्छाऽनुकूले, प्रतिपादयितुर्या इच्छा तदनुलोमा तदनुकूला इच्छा इच्छानुलोमा । भाषाभेदे, स्त्री० । भ० १० श० ३ उ० । इच्छानुलोमा नाम यता कश्चित् किंचित् कार्यमारभ्यमाणः कंचन पृच्छति स प्राह–करोतु भवान् ममाप्येतदभिप्रेतमिति । प्रज्ञा० ११ पद ॥

इच्छाणुलोमिय–त्रि० (ऐच्छानुलोमिक) इच्छा चेतःप्रवृत्तेर-भिप्रायस्तस्यानुलोममनुकूलम् तत्र भवमैच्छानुलोमिकम् । इच्छाभावानुकूल्यताभाजि, । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ॥

इच्छापणीय–त्रि० (इच्छाप्रणीत) इन्द्रियमनोविषयानुकूला प्रवृत्तिरिहेच्छा तथा विषयाभिमुखमभिकर्मबन्धसंसाराभिमुखं वा प्रकर्षेण नीतः इच्छाप्रणीतः । इच्छया विषयाभिमुखं कर्म-बन्धाभिमुखं संसाराभिमुखं वा नीते, ''इच्छापणीता वंका णिकेया'' ये चैवंभूतास्ते वङ्का निकेता वङ्कस्यासंयमस्याऽऽमर्यादया संयमावधिभूतया निकेतभूता आश्रया इति । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

इच्छापरिमाण–न० (इच्छापरिमाण) इच्छाया धनादि-विषयस्याभिलाषस्य परिमाणं नियमनमिच्छापरिमाणम् । देशतः परिग्रहविरतिरित्यर्थः । स्था० ५ ठा० । इच्छा परिग्रह्यवस्तुविषया वाञ्छा तस्यास्तया परिग्राह्यवस्तूनाम्परिमाणमियत्ता इच्छापरिमाणम् । पंचा० १ विव० । धनधान्यादिनवविधपरिग्रह प्रमाणलक्षणलक्षणे पञ्चमे अणुव्रते, । तल्लक्षणं यथा–

परिग्रहस्य कृत्स्नस्याऽमितस्यं परिवर्जनात् ॥
इच्छापरिमाणकृतिं जगदुः पञ्चमं व्रतम् ॥२९॥

परिगृह्यत इति परिग्रहस्तस्य कीदृशस्य कृत्स्नस्य नवविधस्येत्यर्थः चतुःषष्टिभेदोप्येष नवविधपरिग्रहे अन्तर्भवतीति न कोपि विरोधः । पुनः कीदृशस्य तस्य अमितस्य परिमामरहितस्य परिवर्जनात्त्यागात् त्यागनिमित्तभूतेनेत्यर्थः इच्छाया अभिलाषस्य यत्परिमाणमियत्ता तस्य कृतिःकरणं तां पञ्चमं व्रतं अधि-कारादणुव्रतं जगद्गुरुव ऊचुर्जिना इति संटङ्कः । इदमत्र तात्पर्यम् परिग्रहविरतिर्द्विधा सर्वतो देशतश्च । तत्र सर्वथा सर्वभावेषु मूर्छात्यागः सर्वतः तदेव देशतस्तत्र श्रावकाणां सर्वतः तत्प्रतिप्लुतेरशक्तौ देशतस्तामिच्छापरिमाण-रूपां प्रतिपद्यते यतः ''अपरिमिअपरिग्गहं समणोवासओ पचक्खाइ । इच्छापरिमाणं उवसंपज्जइ से अ परिग्गहे दुविहे पण्णत्ते तंजहा सचित्त परिग्गहे अचित्तपरिग्गहे अ त्ति । ध० २ अधि० । परिग्रहणं परिग्रहः अपरिमितश्चासौ परिग्रहश्चेति समासः अपरिमितप-

रिमाणस्तत्र श्रमणोपासकः प्रत्याख्याति सचित्तादेः परिमाणात् परिग्रहाद्विरमतीति भावना। इच्छायाः परिमाणं तदुपसंपद्यते सचित्तादिगोचरेच्छापरिमाणं करोतीत्यर्थः। स च परिग्रहः द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथेति प्राग्वत्। सहचित्तेन सचित्तं द्विपदचतुष्पदादि तदेव परिग्रहस्सचित्तपरिग्रहः। अचित्तं वस्तु रत्नकुप्यादि तदेवा-चित्तपरिग्रहः। आव० ६ अ०॥

ननु गृहे स्वल्पद्रव्येऽपि सति परिग्रहपरिमाणे तु द्रव्य-सहस्रलक्षादिप्रतिपत्त्या इच्छावृद्धिसंभवात् को नाम गुण इति चेन्मैवम् इच्छावृद्धिस्तु संसारिणां सर्वदा विद्यमानैव यतोनमिराजर्षिवचनमिन्द्रं प्रति–''सुवण्ण रुप्पस्स य पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया। नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतया'' एवं चेच्छाया अनन्तत्वे तदियत्ताकरणं महते गुणाय यतः ''जह २ अप्पो लेहो, जह २ अप्पो परिग्गहारंभो। तह २ सुहं पवड्ढइ, धम्मस्स य होइ संसिद्धी'' तस्मादिच्छाप्रसरं निरुध्य सन्तोषे यतितव्यं सुखस्य संतोषमूल-त्वात्। यदाह-आरोगासारिअं माणुत्तणं सच्चसारिओ धम्मो। विज्जा निच्चयसारा, सुहाइँ संतोससाराइं'' तदेवमेतद्वतस्याऽत्रापि संतोषसौख्यलक्ष्मीस्थैर्यजनप्रसंसादिफलं परत्र तु नरामर-समृद्धिसिद्ध्यादि। अतिलोभाभिभूततया चैतद्वतस्यास्वीकृतौ विराधनायां दारिद्र्यदास्यदौर्भाग्यदौर्गत्यादि। यतः ''महारंभयाए महापरिग्गहाए कुणिमाहारेणं पंचिंदिअवहेणं जीवा नरयाउअं अज्जोइत्ति''। मूर्छावान् हि उत्तरोत्तराशाकदर्थितो दुःखमेवानुभ-वति। यदाह–''उक्खणइ खणइ निहणइ, रत्तिं न सुअइ दिआ विअ ससंको। लिंपइ ठएइ सययं, लंछिअ पडिलंछिअं कुणइ''।१। परिग्रहत्वमपि मूर्छयैव मूर्छामन्तरेण धनधान्यादेरपरिग्रहत्वात्। यदाह ''अपरिग्रह एव भवेद्वस्त्राभरणाद्यलंकृतो पि पुमान्। ममकारविरहिते सति, ममकारे सङ्गवान्नग्नः''॥१॥ तथा ''जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं। तंपि संजमलज्जट्ठा, धारिंती परिहरंती अ १ न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा। मुच्छापरिग्गहो वुत्तो, इइवुत्तं महेसिणत्ति'' तेन मूर्छानियमनार्थं सर्वमूर्छात्यागाशक्तस्यैतत् पञ्चममणुव्रतम्॥ ध० २ अधि०। तथाच पञ्चाशके–

इच्छापरिमाणं खलु, असयारंभविणिवित्तिसंजणगं।
खेत्ताइवत्थुविसयं, चित्तादविरोहओ चित्तं॥१७॥

इच्छा परिग्राह्यवस्तुविषया वाञ्छा तस्यास्तया परिग्राह्यवस्तुनः परिमाणमियत्ता इच्छापरिमाणं खलु वाक्यालंकारे पञ्चमाणुव्रतं भवतीति प्रक्रमः। तच्चेच्छापरिमाणं किंफलमित्याह। असदारम्भविनिवृत्तिसंजन-कमसुन्दरारम्भप्रवृत्तिनिबन्धनम्। भवति हीच्छापरिमाणे कृते इच्छाविषयीकृतकतिपयपदार्थानां किंचिन्न शुभव्यापारैरपि प्राप्तेरसुन्दरतरव्यापारेभ्यो विनिवृत्तिर्यतः – प्रभूतार्थप्राप्त्यभेव भूतघाताद्यसुन्दरव्यापारेषु प्रायः प्राणिनः प्रवर्तन्ते इति। तच्च क्षेत्रादिवस्तुविषयं क्षेत्रादीनि भूविशेषप्रभृतीनि वस्त्वन्यर्थो विषयो गोचरोऽस्तेति विग्रहस्तदुक्तम्॥ ''धणं धन्नं खेत्तं वत्थु रूप्पं सुवण्णं कुवयं दुपयं चउप्पयं चेत्यादि'' अत्रचादिशब्दः प्रकारवचने क्षेत्रादयः क्षेत्रप्रकारा धनादय इत्यर्थः। चित्तं मन आदिर्येषा चित्तदेशवंशादीनां ते तया तेषामविरोध आनुकूल्यमनुरूपं चित्ताद्यविरोधस्तस्याः चित्ताद्यविरोधतः (वित्तादविरोहओत्ति) पाठान्तरं तत्र च वित्ताद्यविरोधतो वृत्ताद्यविरोधतो वेति व्याख्येयम्। किमित्याह॥ वित्तं बहुप्रकारमेतत्तथाहि कश्चिन्निः स्वोऽपि विपुलवित्तो भवति अन्यस्त्वन्यथा। तथा कस्यचिद्भूरिवित्तमन्यस्य स्तोकम्। तथा क्वचिद्देशेऽत्यन्तं धान्यचतुष्पदादिसंग्रहो विधीयते अन्यत्र तु न तथा। कोऽपि राजवंश्योऽन्यो ब्राह्मणवणिग्वंश्यादिस्तस्य च प्रायो राज्यादिसंभवा संभवौ स्त इत्येवं स्वचित्त वित्तादीनामविरोधेनानेकविधपुंभि स्तद्विधीयमानमनेकधा भवतीति गाथार्थः॥ पंचा १ विव०। (इच्छापरिमाणव्रतस्योदाहरणम्, विस्तरतः स्वरूपपश्चानन्द कथायामाणंदशब्दे) ''तत्थय पंचमाणुव्वए अनियतस्स दोसाणि य तस्स गुणा तत्थोदाहरणं। ''लुद्धनंदो कुसीमूलियं लुद्धनंदो विणट्ठो सावगो पुइओ भंडागारवई थवि-ओ॥ आव० ६ अ०। परिग्गहे असंतुट्ठस्स दोसा संतुट्ठस्स गुणा तत्थ उदाहरणम्। लुद्धणंदो कुसीसा तो उड्ढीहिं विक्कियातो णमंतणए गमणं। पुत्तेहिं णिच्छियातो अदुक्खिअजती भग्गा लोएण दिट्ठा णो कहितं लुद्धणंदेणं पाया भग्गा सावगो पूजितो। एवं जधा णामो-क्कारे। आ० चू० ६ अ०।

अहवा वाणिगिणी रयणाणि विकिणइ छुहाए मरंति सेट्ठिणा भणिया एतिओ पडिक्कओ नत्थि अन्नस्स नियाणि ताए भणइ जं जोगं तं देहिं सो तत्थ देइ सुभिक्खे तीए भत्तारो आगओ पुच्छइ रयमाणि केहिं भणई वत्तियाणि मे कहिं दिन्नाणि सा भणइ गोहुम सेइयाए एक्केक्कं दिन्नं अमुगस्स वाणियगस्स सो वाणियगो तेण भणिओ रयणाणि अप्पेहि पूरं वा मोल्लं देहि सो नेच्छइ तओ रन्नो मूलं ठाओ ए रिसे अग्घे वट्टमाणे एयस्स मणिरयणस्स एएण पत्तियं दिन्नं सो विण्णसिओ पढमं पुण ताणि रयताणि रयणाणि सावगस्स विक्केण याणि ठाइयाणि तेण परिग्गह पयाणातिरित्ता इति काऊं न गहियाणि सावगेण नेच्छइ सो पुइओ,। आव० ६ अ०। एवमादिद्दिट्ठणा पुणो इमा भावेज्ज संतोसं गहियमादीणि आया मणमाणेण एवं गेण्हिस्सामो णं चित्तेंजा। आव० चू० ६ अ०।

इदं चातिचाररहितमनुपालनीयं तथाचाह।

इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइआरा जाणिअव्वा न समायरिअव्वा तंजहा खित्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे।१। हिरन्नसुवन्नप्पमा-णाइक्कमे।२। धणधन्नप्पमाणाइक्कमे।३। दुपयचउप्पयप्पमाणाइक्कमे।४। कुविअप्पमाणाइमक्के।५।

इच्छापरिमाणस्य श्रम णोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः। तद्यथा। क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः तत्र सस्योत्पत्तिभूमिः क्षेत्रं तच्च सेतुकेतुभेदाद्द्विविधं तत्र सेतु-क्षेत्रम-रघट्टादिसेक्यं केतुक्षेत्रं पुनराकाशपतितोदकनिष्पाद्यं वास्त्वगारं तदपि त्रिविधं खातमुत्सृतं खातोत्सृतं तत्र खातं भूमिगृहकादि उत्सृतं प्रासादादि खातोत्सृतं भूमिगृहकस्योपरि प्रासादादि एतेषां क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः। प्रत्याख्यानकालं गृहीतप्रमाणो-ल्लङ्घनमित्यर्थ इति। तथा हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रमस्तत्र हिरण्यं रजतमघटितं घटितं वानेकप्रकारं द्रव्यादि सुवर्णंप्रतीतमेव तदपि घटिताघटितमे तद्ग्रहणाच्चेन्द्रनीलमरकता-द्युपलग्रहः अक्षरगम-निका पूर्ववत्। तथा धनधान्यप्रमाणातिक्रमः तत्र धनं गुडखण्ड-शर्करादिगो महिष्य-जाविकारं प्रतुगादि, धान्यं व्रीहिकोद्रवमुद्ग-माषतिलगोधूमयवादि अक्षरगमनिका प्राग्वदेव। तथा द्विपद-चतुष्पदप्रमाणातिक्रमः। तत्र द्विपदानि दासीदासमयूरहंसादीनि

चतुष्पदादि हस्त्यश्वमहिष्यादीनि अक्षरगमनिका प्राग्वदेव । तथा द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रमः । तत्र कुप्यमासनशयनभंडकरोट्टकलोहाद्युपस्करजातमुच्यते एतद्ग्रहणाच्च वस्त्र कंबलपरिग्रहः । अक्षरगमनिकापूर्ववत् । एतान् क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमादीन् समाचरन्नतिचरति पञ्चमाणुव्रतमिति । ''एत्थदोसा जीवघायाइया भाणियव्वा'' । आव० ६ अ० । श्राव० ।

तत्थ खेत्तवत्थुपमाणादिसु जं पमाणं गहितं त णातिकमिज्जव्वं । अहवा जं पणं गीहतं तो अहीतं चारेणिओ अदुवेज्जा पेडिमूल्ले वा देज्जा असमत्थो तं धणादिकाउ ताहे खेत्तं वत्थुं वा देज्जा एवं पविरला विरलवित्थरो विभासियव्वो सो य सा वगो चिंतेज्जा जहा मए दव्वप्पमाणं जं गहितं तं अज्जावि न पूरेति । एसो य धारणितो तस्स ट्ठाणे इमं देति तिमिसापि किल दव्वलेक्खगो चेव इमं देति ते ममापि किल दव्वलेक्खगे चेव इमं । एवं खेत्तवत्थुप्पमाणातिक्कमणं कुणंतो अतियरति । एवमादिविभासा सव्वत्थ एसो विभागे उवसंपुणो सयसह स्से वा कोडिए वा सव्वंगणिज्जमाणं । तस्स एसेव एक्को अतियारो विभागे पदे पदे अतियारो विभासियव्वो एयाणं थूलप्पमाणे गहिते संववहारेंतेपि वा सया ण कयविक्कयस्स दिवे २ परिमाणं करेंति जं धरत्तिण न करेंति । तस्स य पव क्खातित्ति आरंभपरिग्गहदमणवाहणादि एएसु पदेसु विभाग सियव्वं । जधा-विहं एत्थ भावणा ''जह २ अप्पो लोभो, जध जध ४ अप्पो परिग्गहारंभो । तह २ सुहं पवड्ढति, धम्मस्स य होति संसिद्धी'' धन्ना परिग्गहं उज्झि-ऊण मूलमिह सव्व पावाणं । धम्मचरणंपवन्नो, मणेण एवमविचिंतेज्जा'' आ० चू० ६ अ० ।

धनधान्यक्षेत्रवास्तु, रूप्यं स्वर्णं च पञ्चमे ॥
गोमनुष्यादिकुप्यं चे, त्येषां संख्या व्यतिक्रमः ॥४७॥

धनं धान्यं क्षेत्रं वास्तु रूप्यं सुवर्णं गोमहिष्यादिकुप्यं चेति पञ्चानां संख्या यावज्जीवं चतुर्मासादिकालावधियत्परिमाणं गृहीतं तस्य ये अतिक्रमा उल्लंघनानि ते पञ्चमे पञ्चमाणुव्रतेऽतिचारा ज्ञेयास्तत्र धनं गणिमधरिममेयपरिच्छेद्यभेदाच्चतुर्धा यदाह ''गणिमं पुगंफलाइ, धरिमं तु कुंकुमगुडाइ । मेज्जं चोप डलोणाइ, रयणवत्थाइपरिच्छेज्जं ॥१॥ धान्यं चतुर्विंशतिधा व्रताधिकार एवोक्तं सप्तदशधापि यतः ''सालि १ जव २ वीहि ३ कुद्दव, ४ रालय ५ तिल ६ मुग्ग ७ मास ८ चवल ९ चणा १० । तुवरि ११ मसूर १२ कुलत्था, १३ गोधूम १४ निप्पाव १५ अयसि १६ सिणा । १७। धनं च धान्यं चेति समाहारः । अत्राग्रे च समाहारनिर्देशात्परिग्रहस्य पञ्चधात्वेनातिचारपञ्चकं सुयोज्यं भवति । क्षेत्रं च वास्तुचेति समाहारद्वन्द्वः तथा रूप्यं रजतं घटितमघटितं चानेकप्रकारमेवं सुवर्णमपि रूप्यं च स्वर्णं चेति समाहारः गावश्च मनुश्याश्चेति गोमनुष्यं तदादि र्यस्येति समासः गवादिमनुष्यादि चेत्यर्थः । तत्र गवादि गोमहिषमेषाविककरभसरभहस्त्यश्वादि मनुष्यादि पुत्रकलत्र-दासदासीकर्मकरशुकसारिकादि, तथा कुप्यं रूप्य स्वर्णव्यतिरिक्तं कांस्यलोहताम्रसीसकत्रपुमृद्भाण्डत्वाविसार विकारोदंकिकाण्ठमञ्चकमञ्चिकामसूरकरयशकटहलादिगृहोपस्काररूपमिति यच्चात्र क्षेत्रादिपरिग्रहस्य नवविधत्वेन नव संख्यातिचारप्राप्तौ पञ्चसंख्यात्वमुक्तं तत्सजातीयत्वेन शेष भेदानामत्रैवान्तर्भावात् । शिष्यहितत्वेन च प्रायः सर्वत्र मध्य मगतोर्विवक्षितत्वात् पञ्चक- संख्ययैवातिचारपरिगणनमनुचितमतो धनधान्यादिसंख्यातिचाराणां गुणनमुपन्नमिति धर्मबिन्दुवृत्तौ । ननु प्रतिपन्नसंख्यातिक्रमाभङ्गा एव स्युः कथम तिचारा इत्यत आह ॥

बन्धनाद्योजनात् दाना–द्गर्भतो भावतस्तथा ॥
कृतेच्छापरिमाणस्य, न्याय्याः पञ्चापि न ह्यमी ।

बन्धनात् योजनात् दानात् गर्भतो भावत इत्यमी गृहीत-संख्यातिक्रमाः पञ्चामि पञ्चसंख्याका अपि कृतेच्छापरिमाणस्य प्रतिपन्नपञ्चमव्रतस्य श्रावकस्य न्याय्या न घटमाना व्रत-मालिन्यहेतुत्वात् । अयं भावः । न साक्षात्संख्यातिक्रमः किन्तु व्रतसापेक्षस्य बन्धनादिभिः पञ्चभिर्हेतुभिः स्वबुद्ध्या व्रत-भङ्गमकुर्वत एवातिचारा भवन्ति बन्धनादयश्च यथासंख्येन धनधान्यादीनां परिग्रहविषयाणां संबन्ध्यन्ते तत्र धनधान्य-स्यबन्धनात् संख्यातिक्रमो यथा कृतधनधान्यपरिमाणस्य कोऽपि लभ्यमन्यद्वा धनं धान्यं च ददाति तच्च व्रतभङ्गभया-च्चतुर्मासादिपरतो गृहगतधनादिविक्रये वा कृते ग्रहीष्यामीति भावनया बन्धनात् नियन्त्रणात् रज्जवादिसंयमनात्सत्यं-कारदानादिरूपाद्वा स्वीकृत्य तद्गृहे एव स्थापयतोऽतिचारः ॥१॥ तथा क्षेत्र वास्तुनो योजनात् क्षेत्रवास्त्वन्तरमीलनात् गृहीत-संख्यातिक्रमोऽति चारो भवति तथाहि किलैकमेव क्षेत्रं वास्तु चेत्यभिग्रहवतोऽधितकरतदभिलाषे सति व्रत भङ्ग भयात् प्राक्तनक्षेत्रादिप्रत्यासन्नं तद् गृहीत्वा पूर्वेण सह तस्यैकत्वकरणा-र्थं वृत्तिभीत्याद्यपनयने च तत्तत्र योजयतो व्रतसापेक्षत्वा-त्कथंचिद्विरतिबाधनाद्यातिचारः ॥२॥ तथा रूप्यस्वर्णस्य दानाद्वितरणाद्गृही तसंख्यायाः अतिक्रमः । यथा केनापि चतुर्मासाद्यवधिना रूप्या दिसंख्या विहिता तेन च तुष्टराजादेः सकाशादधिकं तल्लब्धं तद्यान्यस्मै व्रतभङ्ग भयात् ददाति पूर्णेऽवधौ ग्रहीष्यामीति भावनयेति व्रतसापेक्षत्वात्कथंचिद्विरतिबाधाद्यातिचार इति ॥३॥ गोमनुष्यादेर्गर्भतः संख्या-तिक्रमो यथा किल केनापि संवत्सराद्यवधिना द्विपदचतुष्पदानां परिमाणं कृतं तेषां च संवत्सराद्यवधिमध्य व प्रसवेऽधिक-द्विपदादिभावाद्व्रतभङ्ग स्यादिति तद्भयात्कियत्यपि काले गते गर्भग्रहणं कारयतो गर्भस्यद्विपदादिभावेन बहिर्गततदभावेन च कथंचिद् व्रतभङ्गादतिचारः ॥४॥ कुप्यस्य भावतः संख्यातिक्रमो यथा कुप्यस्य या संख्या कृता तस्याः कथंचिद् द्विगुणत्वे भूते सति व्रतभङ्ग भयात्तेषां द्वयेनैकेकं महत्तरं कारयतः पर्यायान्तरकरणेन संख्यापूरणात् स्वाभाविकसंख्याबाधनाच्चातिचारः । अन्ये त्वाहुः तदर्थित्वेन विवक्षितकालावधेः परतोहमेतत् करोटिका दिकुप्यं ग्रहीष्याम्यतो नान्यस्मै देयमिति पराप्रदेयतया व्यय स्थाप-यतोऽतिचारः । नामत उक्ताः पञ्चातिचाराः ॥ ध० २ अधि ।

इच्छापरिमाणाकिइ–स्त्री० (इच्छापरिमाणकृति) इच्छाया अभिलाषस्य यत्परिमाणमियत्ता तस्य कृतिः करणं इच्छापरिमाणकृतिः । पञ्चमेऽणुव्रते, ध० २ अधि० । (तद्वक्तव्यता इच्छापरिमाण शब्दे)

इच्छामि(मे)त्त–न० (इच्छामात्र) अभिप्रायमात्रे, सूत्र १ श्रु० ७ अ० ।

इच्छामुच्छा–स्त्री० (इच्छामूर्छा) इच्छा च परधनं प्रत्यभिलाषः मूर्छा तत्रैव गाढभिष्वङ्गरूपा तद्धेतुकत्वाददत्तग्रहणस्येति । इच्छामूर्छात्रिंशत्स्वधर्मेषु सप्तविंशेऽधर्मद्वारभेदे, प्रश्न० ५ द्वा० ।

इच्छालोभ–पु० (इच्छालोभ) इच्छा अभिलाषः सा चासौ लोभश्च इच्छालोभः । शुक्लशुक्लोऽतिशुक्लो यथा । महालोभे,

''इच्छालोभो उ उवहिमइरेगोत्ति'' स्था० ६ ठा०। ''इच्छा लोभं न सेवेज्जा''। इच्छारूपो लोभः इच्छालोभश्चक्रवर्तिद्रव्या भिलाषादिको निदानविशेषस्तमसौ निर्जरापेक्षी न सेवेत सुरर्द्धिदर्शनमोहितो ब्रह्मदत्तवन्निदानं न कुर्यादित्यर्थः। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। ''इच्छालोभे मोत्तिमग्गस्स पलिमंथू आहा-रोवहिदेहेसु इच्छालोभे उ सज्जई''। स्था० ६ ठा०।

इच्छालोभिय–त्रि० (इच्छालोभिक) इच्छालोभो यस्यास्ति स इच्छालोभिकः। महेच्छे, अधिकोपधौ, स्था० ६ठा० (अस्य मुक्तिमार्गपरिमन्थत्वं पलिमंथशब्दे)

इच्छालोल–पु० (इच्छालोल) इच्छा अभिलाषः सा चासौ लोलश्चेच्छालोलो महालोभ इत्यर्थः यथा निद्रानिद्रामहानिद्रेति। अधिकोपकरणादिमेलनलक्षणे महालोभे, ''इच्छालोलेय उवहि मतिरागात्'' इच्छालोलस्तु स उच्यते यल्लोभाभिभूतत्वे-नोपधिमतिरिक्तं गृह्णाति इति। ''इच्छालोले मोक्खमग्गस्स पलिमन्थू'' इच्छालोलौ मोक्षमार्गस्य प्रतिमन्थुः स च ''इच्छालोलेयउवहिमतिरेगा लहुओ तिवि हं च तहिं अतिरेगे जे भणिय दोसा'' वृ० ६ उ०।

इच्छिय–त्रि० (इच्छित) इच्छा संजाताऽस्येति इच्छितः तारकादित्वादितच्। स्पृहायुक्ते,। वाच०

ईप्सित–त्रि० आप् सन् क्त०। मनोवाञ्छिते, तं०। पं० चू०। जं०। पं० भा०। ज्यो०। ज्ञा०। ''इच्छियमेयं देवाणुप्पिया'' इति–कल्प०। क्रियापलेन प्राप्तुमिष्टे, कर्तुरीप्सिततमं कर्म्म। पा०।'' निर्वर्त्त्यश्च विकार्यं च प्राप्यश्चेति त्रिधा मतम्। तच्चोप्सिततमं कर्म्म, चतुर्द्धान्यत्तु कल्पितम्'' भर्तृ० इच्छाविषये, – वाच०

इच्छियकामकामि(न्)–त्रि० (ईप्सितकामकामिन्) ईप्सितान् मनोवाञ्छितान् कामान् शब्दादीन् कामयन्ते अर्थात् भुञ्यन्ते इत्येवं शीला ये ते तथा ईप्सितकामकामिनः। मनोवाञ्छितशब्दादि विषयभोक्तरि,। ''इच्छित कामकामिणो इति''। जं०। २ वक्ष

इच्छियत्थ–पु० (ईप्सितार्थ) मनोवाञ्छितेऽर्थे, पं० भा०। सुत्तत्थ णिज्जराओ मोक्खो वा इच्छियत्थोत्तु–पं०भा०। एवं गुणजुत्तो विशेष्यः ईप्सितानर्थाननुप्राप्नोति लभत इत्यर्थः। पं० चू०।

इच्छियपडिच्छिय–त्रि० (इच्छितप्रतीच्छित) इच्छासञ्जाताऽस्येति इच्छितं प्रतीच्छा संजाताऽस्येति प्रतीच्छितम् इच्छितं च तत् प्रतीच्छितं च इच्छितप्रतीच्छितम्। इच्छाप्रतीच्छोभयधर्म्मे,। ''इच्छियपडि-च्छियाएण'' इच्छाया अवग्रह इच्छितप्रतीच्छितेन इच्छितप्रतीच्छितम् आभवनव्यवहारस्थापना यथा यत्पथि तन्यते तदस्माकं यद्ग्रामे तत् युष्माकम् यदिवा यत्सचित्तं तदस्माकं यदचित्तं तद्युष्माकम्। अथ वा या स्त्रीव्रतग्रहणार्थमुपतिष्ठति सा अस्माकं पुरुषो युष्मा कम्। यद्वा बालो युष्माकं वृद्धोऽस्माकम्। अथवा यः सार्थेन सह व्रजतां लाभः सोऽस्माकं अस्माकं सार्थे -युष्माकम्। यदि वा-यो यल्लभते तत्तस्यैव एवं भूतेनेच्छितप्रतीच्छितेन य आभ वनव्यवहारः स इच्छाया अव-ग्रहः। व्य० द्वि० ४ उ०।

ईप्सितप्रतीप्सित–त्रि० (ईप्साप्रतीप्सोभयधर्मोपेते,। ज्ञा० १ अ०

***इष्टप्रतीष्ट**–त्रि० इच्छाप्रतीच्छोभयधर्मोपेते, ''इच्छियमेयं पडिच्छियमेयं इच्छियपडिच्छियमेयं'' इच्छियंति–इष्टां ईप्सितं वा पडिच्छियंति प्रतीष्टं प्रतीप्सितं वा अभ्युपगतमित्यर्थः इष्टप्रतीष्टमीप्सितप्रतीपप्सितं वा। धर्मद्वययोगात्–अत्यन्ता दरख्यापनाय चैवं निर्देशः। ज्ञा० १ अ०। ''इच्छियमेयं देवाणुप्पिया पडिच्छियमेयं देवाणुप्पिया इच्छियपडिच्छियमेयं देवाणुप्पिया'' इच्छियमेयंति ईप्सितं तत् पडिच्छियमेयंति प्रतीष्टं युष्मन्मुखाद्यत्तदेव गृहीतमिच्छियपडिच्छियंति उभयधर्मोपेतम्। कल्प०।

इच्छियव्व–त्रि० (ईप्सितव्य) सर्वैरपि मुमुक्षुभिरीप्स्यते प्राप्तुमर्थ्यत इतीप्सितव्यः। व्यवहारे,। ''तत्तो य इच्छियव्वे, आयारे चेव ववहारे'' व्यवहारस्यैतान्येकार्थिकानि। व्य० १ उ०।

***एष्टव्य**–त्रि० इषुवाञ्छायाम् तव्य। प्रार्थनीये,। आव० ४ अ०।

इज्जंजलि–पु० (इज्याञ्जलि) यजनामिज्या इत्यर्थः तद्विषयो जलस्याञ्जलिः इज्याञ्जलिः यागदेवतापूजावसरभावीति हृदय-म्। अथवा यजनमिज्या पूजा गायत्र्यादिपाठपूर्वकं विप्राणां सन्ध्यार्चनमित्यर्थस्तत्राञ्जलिः इत्याञ्जलिः अथवा देशीय-भाषया इज्येति माता तस्या नमस्कारविधौ तद्भक्तेः क्रियमाणः करकुड्मलमीलनलक्षणोऽञ्जलिरिज्याञ्जलिः। यागदेवतापूजा-वसरभाविनि जलाञ्जलौ, विप्राणां गायत्र्यादिपाठपूर्वक-सन्ध्यार्चनविषयके जलाञ्जलौ, – मातुर्नमस्कारार्थन्छद्मक्तेः क्रियमाणे करकुड्मलमीलने च। अनु० (कुप्रावचनिकभावावश्यक मधिकृत्य व्याख्यातम्)

इज्जंति–स्त्री० (इयन्ती) आगच्छन्त्याम्– ''दिव्वंसो सिरिमिज्जंति, दंडेन पडिसेहए'' दश० ८ अ० २ उ०।

इज्जा–स्त्री० (इज्या) यजनमीज्या यज्-भावे क्यप् स्त्रीत्वादाप्। यागे, (देवपूजायाम्) अनु० पूजायाम्, स्था० १० ठा०। भ०। औप०। यजनमिज्या पूजा गायत्र्यादिपाठपूर्वके विप्राणां सन्ध्यार्चने, देशीभाषया मातरि च। अनु०। यजेर्दानार्थत्वात् २ दाने, संग्रामे च। कर्मणि क्यप् ४ प्रतिमायाम्, ५ कुट्टिमन्याञ्च। जूके, अमर०। वाच०।

इज्जिस–त्रि० (इज्यैष) इज्यां पूजामिच्छत्येषयति वा यः स इज्यैषः। पूजाभिलाषिणि, भ० ९ श० ३३ उ०। इज्यां पूजां इछन्त्येषयन्ति वा ये ते इज्यैषास्त एव। स्वार्थे इकप्रत्ययविधानादिज्यैषिकाः। पूजाभिलाषिकः, – भ०।

इज्झ–इन्ध–दीप्तौ–रुधा० आ० अक० – सेट्–निष्ठायामनिट् वर्तमाने चातो निष्ठा। वाच० इन्धौ झा–इति–प्रा–सूत्रेण संयुक्तस्य झा इत्यादेशः। इज्झइ–इन्धे–प्रा० व्या० २ पा० ८ अ०।

इज्झमाण–त्रि० (इध्यमान) दीप्यमाने, *पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं वा एहिं मंदायं मंदा इमे इज्झमाणा*, इति। राज०॥

इट्टगा–स्त्री० (इष्टका) इष तकन् टाप्। इष्टिका पितृदैवत्ये इति नियमान्नेत्वम्। (ईट) मृदादिनिर्मिते मृतखण्डभेदे, – दारत्तिदुवारं भण्णति तं पुव्वकयमिट्टगाहिं ठइय मुग्घाडेति। नि० चू० १ उ०। पिं०। ''पयावेह इट्टकाओ ममघरट्ठयाए'' पाचयत चेष्टका गृहार्थ-मिति। प्रश्न० २ द्वा०॥

इट्टगापाग–पु० (इष्टकापाक) इष्टकापचने, पिंड०॥

इट्टा–स्त्री० (इष्टा) इष्स्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे ८ अ० २ पा०। इति प्रा० सूत्रेण इष्टा शब्दस्य निषेधान्न ठः। प्रा०। इष्टकायाम्, स्था० ८ ठा०॥

इट्टाल–न० (इट्टाल) इष्टकायाम्, ''होज्ज कट्ठसिलं वा विव इट्टालं वा वि एगया ठवियंसं कमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं ६५''

भवेत् काष्ठं शिला वापि इट्टालं वाप्येकदा एकस्मिन् काले प्रावृडादौ स्थापितं संक्रमार्थं तच्च भवेच्चलाचलमप्रतिष्ठितं नतु स्थिरमेवेति सूत्रार्थः। दश० ५ अ०॥

इट्टावाय–पु० (इष्टापाक) इष्टकायाः पचनस्थाने, – ''इट्टा वाएइ वा'। स्था० ८ ठा०॥

इट्ठ–त्रि० (इष्ट) इष्यते स्म प्रयोजनवशात् अर्थं क्रियार्थिभिरितीष्टः। स्था० २ ठा। विपा०। औप०। भ०। जं०। इष् कर्मणि क्तः। इष्टस्यानुष्ठेष्टासंदेष्ट ८ अ० २ पा०। इति–प्रा० सूत्रेण ठः प्रा० व्या०। अभिप्रेते, ''आरंभ मिट्ठोज्झति आसवाय'' ० यथाऽऽ-रम्भस्तथाऽऽस्रवाय कर्मोपादानायेष्टोऽभिप्रेत इति। वृ० ३ उ०। अभिमते, । प्रश्न ३ द्वा०। विशे०। पंचा०। षो०। अभिलाषणीये, आव० ४ अ०। अभिलाषाविषयेभूते, ज्ञा० ८ अ०। अभीप्सिते, जी० ३ प्रति०। अविरोधिनि, – ल०। इच्छाविषये, तं०। राज०। मनस इच्छामापन्ने, जी० १ प्र०। इन्द्रियमनःप्रमोददायिनि, – द्वा० १८ द्वा०। ईप्सिते, पंचा० १२ विव०। योग्ये, । विशे०। वल्लभे, प्रिये, औप०। अष्ट०। ज्ञा०। नि०। पंचा०। ''इट्ठेहिं कंतेहि य विप्पहूणा–'' सूत्र० १ श्रु ५ अ० १ उ०। विहिते, – उत्त० १६ अ०। इष्टश्च इच्छाविषयः तच्च द्विविधं गौणं मुख्यं च। तत्र इतरेच्छानधीनेच्छाविषयो मुख्यं त द्वाधनं गौणम्। तत्र मुख्यमिष्टं सुख दुःखाभावश्च। तदिच्छाया इतरेच्छानधीनत्वात्। तत्साधनं पाकभोजनादि गौणं सुखं दुःखाभावेच्छयैव तदिच्छायः समुन्मेषात्। अनिष्टमिष्टमिश्रश्च त्रिविधं कर्म चोच्यते। इच्छया कल्पिते, – ''इष्टकृतिरष्टगुणिता व्येकालिता विभाजितेष्टेन'' लीला–। वाच०। यज् भावे क्तयज्ञादौ, – न० आव० १ अ०। आ० म० प्र०। कर्मणिक्त–पूजिते, – औप०। एरण्डवृक्षे० पु० संस्कारे, न०। वाच०। ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारै– ब्राह्मणानां समक्षतः। अन्तर्वेधां हि यद्दत्तमिष्टं तदभिधीयते।१। द्वा० १ द्वा०। प्रति०। ''एकाग्निकर्महवनं त्रेतायां यच्च दूयते। अन्तर्वेद्याश्च यद्दत्तमिष्टं तदभिधीयते'' जातुकर्णोक्ते धर्मकार्ये, न। ''इष्टं दत्तमधीतं वा विमृश्यतेत्यनुकीर्तनात्'' – देवलः। ज्ञानतोषिते, । वाच०।

इट्ठगंध–पु० (इष्टगंध) कर्मधारय०। सुगन्धौ, इष्टो गन्धोऽस्य। सुगन्धिद्रव्ये, त्रि० वालुकायाम्, न० मेदि०। ज्ञा०। पंचा०। ओ०। वाञ्छिते, । पंचा० १२ विव०। औ०।

इट्ठतत्तदंसणवाइ(न्)–पु० (इष्टतत्त्वदर्शनवादिन्) बौद्ध भेदे, ल०।

इट्ठतर–त्रि० (इष्टतर) अभीप्सिततरे, । ''तेणं किण्हमणी एत्तो इट्ठयएए चेव''। ते कृष्णमण्य इति जीमूतादेरिष्टतरका एवं कृष्णेन वर्णेन अभीप्सिततरका एवेति। राज०। जी०।

इट्ठपुर–न० (इष्टपुर) इष्टं पुरं पत्तनमिष्टपुरम्॥ इष्टपत्तने, – ''अडविंसपच्चवायं, वोलेत्ता देस ओवदेसेण। पावंति जहिट्ठपुरं भवाडविं पि तहा जीवा'' अटवी प्रतीता सप्रत्यपायां व्याघ्रा-दिप्रत्यपायबहुलाम् (बोलता) उल्लङ्घ्य देशकोपदेशेन निपुण-मार्गज्ञोपदेशेन प्राप्नुवन्ति यथा इष्टपुरमिष्टपत्तनम्। आ० म० द्वि०।

इट्ठफल–त्रि० (इष्टफल) इष्टं वाञ्छितं फलं साध्यं यस्य तदिष्ट-फलम्। वाञ्छितसाधके, अभिमतेऽर्थे, ईप्सितेऽर्थे च। पंचा विव०। ४ अविरोधिनि फले, ल०।

इट्ठफलसाहग–त्रि० (इष्टफलसाधक) ईप्सितार्थनिष्पादके, पंचा० ४ विव०।

इट्ठफलसिद्धि–स्त्री० (इष्टफलसिद्धि) अभिमतार्थनिष्पत्तौ, पंचा० ४ विव०। अविरोधिफलनिष्पत्तौ, ल०॥

इट्ठरूव–त्रि० (इष्टरूप) इष्टस्वरूपे, ''सुबाहुकुमारे इट्ठे इट्ठरूवे''। विपा० २ अ० १ श्रु०॥

इट्ठवं–त्रि० (इष्टवत्) यज्–इष् क्त–वतु स्त्रीयांङीप्। यजनकर्तरि, इच्छायुक्ते च। इष्टकर्मकर्तरि, त्रि० स्त्रियां ङीप्। वाच०॥

इट्ठसद्द–पु० (इष्टशब्द) वीणादिसंबन्धिनि शब्दे, वीणादिसं-बन्धाद्बन्तीष्टाः शब्दादयः इति। प्रज्ञा० २३ पद॥

इट्ठसिद्धि–स्त्री० (इष्टसिद्धि) अभिमतार्थनिष्पत्तौ, ''सो उ मंगलसद्दं सुणंमि जहा उ इट्ठसिद्धित्ति'' श्रुत्वा आकर्ण्य मङ्गलमित्येवंरूपो मङ्गलभूतो वा विजयसिद्ध्यादिशब्दो मङ्गलशब्दस्तं शकुने शकुनविषये यथा यु यद्वदेव इष्टसिद्धिरभिमतार्थनिष्पत्तिर्भवति। पंचा० ४ विव०॥

इट्ठसुय–पु० (इष्टसुत) वल्लभे पुत्रे, ''इट्ठसुयं पेच्छिऊण कीलंतं'' पंचा० ७ विव०॥

इट्ठस्सर–पु० (इष्टस्वर) वल्लभस्वरे, प्रज्ञा० २३ पद॥

इट्ठापुत्त–न० (इष्टापूर्त) इष्टं च पूर्तं च द्वयोः समाहारद्वन्द्वः। पृषोदरादित्वात् पूर्वपदस्य दीर्घः। इष्टसब्दोक्ते ऋत्विग्भिरिति लक्षिते दाने, ''वापीकूपतडागादि–देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमाराम–पूर्तमित्यभिधीयते'' इति। पूर्ते च। प्रति० वाच०। इष्टापूर्तैर्दा-क्षिणपुरुषत्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बद्ध्यते–इति ''इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदिनन्दन्ति मूढाः। ''नाकस्य पृष्ठे तेन सुकृतेन भूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्तीति वचनात्, स्या० १५ श्लो०। ''स्तोकानामुपकारः स्यादारम्भाद्यत्र भूयसां तत्रानुकम्पा न मता यथेष्टापूर्तकर्मसु।'' द्वा० १ द्वा०। इष्टापूर्तं न मोक्षाङ्गं सकामस्योपवर्णितम्। प्रति०।

इट्ठावत्ति–स्त्री० (इष्टापत्ति) ६ त० कर्मधा० वा। इष्टस्यापत्तौ, इष्टायामापत्तौ च। वादिना दर्शितापत्तेः प्रतिवादिन इष्टत्वे हि सा भवति इष्टापत्तौ दोषान्तरमाह। वाच०।

इडिक–पु० (इडिक) वनभवे छागे, हेम०। अप्वृषे, चालनी-छादितशिर इडिक्केऽथाधिरूढवान्।आ० क०।

इड्ढि(द्धि)(रिद्धि)–स्त्री० (ऋद्धि) ऋध् भावे-क्तिन्। इत्कृपादौ ८ अ० २ पा०। इति प्राकृतसूत्रेणेत्वम्–प्रा०॥ रिः केव लस्य ८ अ० १ पा०। इति सूत्रेण रि इत्यादेशः प्रा०। श्रद्धार्द्धिमुर्द्धार्द्धेऽन्ते वा। ८ अ० २ पा०। इति सूत्रेण वा ढः। तपोमाहात्म्यरूपायामामर्षौष-ध्यादिकायां लब्धौ, (सम्पदि) उत्त० ३ अ० दश०। स्था०। नं०। विशे०। आचा०। आ०चू०। षो० (ऋद्धिभेदाः लब्धिशब्दे व्याख्यास्यन्ते–अस्य विस्तरतः सर्वे भेदाः लद्धिशब्दे ऋद्धेर्बहुवक्तता समिद्धि शब्देऽपि) ''नात्थनूणं परे लोए, इड्ढिवा वि तवस्सिणो। अदुवा वंचिओ मित्ति, इइ भिक्खू न चिंतए''॥ उत्त० ३ अ०।

ऋद्धिर्वा तपो माहात्म्यरूपा अपिः पूरणे कस्य तपस्विनः सा च आमर्षौषध्यादिः पादरजसा प्रशमनं सर्वरुजां साधवः क्षणात्कुर्युः त्रिभुवनविस्मयं जनान् दद्युः कामांस्तृणाग्राद्वा ''धर्मा द्रव्यो-न्मिश्रित–काञ्चनवर्षादिसर्गसामर्थ्यम्। अद्भुतभीमोरुशिलास-हस्रसंपातशक्ति'' श्वेत्यादिका च तस्या अप्युनुपलभ्यमान-त्वादिति भावः। उत्त० ३ अ०। ईश्वरत्वे, ''णेगविहाइड्ढीओ

णेगविहत्ति णाणप्पगारा का ता इड्ढीओ इड्ढित्ति इस्सरियत्तं तं पुण विज्जामंतं तवोमंतं वा विउव्वणागासगमथविभंगणा णादि ऐश्वर्य-मिति नि० चू० १ उ०। स्था०॥ नरेन्द्रपूजाचार्यत्वादिके, स्था० ३ ठा०। शक्तौ०। भ० १० श० ३ उ०। आत्मशक्तौ प्रव० २१४ द्वा०। चक्रवर्तिमप्यधो नयेदित्यादिकायां विकरणशक्तौ, ''अप्प-रएमहड्ढिए'' ऋद्धिर्विकुर्वाणा तथा सहित इति। उत्त० १ अ०॥ सम्पत्तौ, पंचा० ८। ''इड्ढीण मूलमेसो'' ऋद्धीनां सम्पदां मूलमिव मूलं कारणमेष धर्म इति। पंचा० ०८ विव०। परिवारादिके, प्रज्ञा० ०२ पद०। तं०। ओ० स्था०। वस्त्रसुवर्णादिसम्पत्तौ,। विपा० ३ अ०। दशा०। सम०। स्था०। प्रभूतवस्त्रपात्रादिके, स्था० ५ ठा०। राज्यैश्वर्यादिके आतु०। विभूतौ, आव० ४ अ०। स्था०। विमानवस्त्रभूषणादिकायां समृद्धौ, स्था० ३ ठा०। उप०। तृणाग्रादपि हिरण्यकोटिरित्यादिरूपायां समृद्धौ, उत्त० १ अ०। ऋद्धेर्भेदा यथा– धम्मिड्ढी भोगिड्ढी इअ तिहा भवे इड्ढी ध० २ अधि॥

तिविहा इड्ढी पन्नता तंजहा देविड्ढी राइ इड्ढी गणिड्ढी। देविड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा विमणिड्ढी विगुव्विणिड्ढी परियारा-णिड्ढी। अहवा देविड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा सचित्ता अचित्ता मीसिया। राइड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा रण्णो अइयाणिड्ढी रण्णो णिज्जाणिड्ढी रण्णो बलवाहणकोस कोट्ठागारिड्ढी। अहवा राइड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा सचित्ता अचित्ता मीसिया। गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा णाणिड्ढी दंसणिड्ढी चरित्तिड्ढी अहवा गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा सचित्ता अचित्ता मीसिया॥

(तिविहा इड्ढीत्यादि) सूत्राणि सप्त सुगमानि नवरं देवस्येन्द्रादेः ऋद्धिरैश्वर्यं देवद्धिरेवं राज्ञश्चक्रवर्त्यादेर्गणिनो गणाधिपतेरा-चार्यस्येति विमानानां विमानलक्षणा वा ऋद्धिः समृद्धिर्द्वात्रिंश-ल्लक्षादिकं बाहुल्यं महत्वं रत्नादिरमणीयत्वं चेति – विमानर्द्धिर्भवति च द्वात्रिंशल्लक्षादिकं सौधर्मादिषु विमानबाहुल्यं यथोक्तम्। बत्तीसट्ठावीसा, बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा। आरणे बंभलोगे, विमाणसंखाभवे एसा॥१॥ पंचासचत्तछच्चेव, सहस्सालंतसुक्क सहस्सारे॥ सय चउरो आणय, पाणएसु तिन्नारणच्चुयए॥२॥ एक्कारसुत्तरं हेट्ठी–मेसु सत्तुत्तरं चमज्झिमए। सयमेगं उवरिमए, पंचेव अणुत्तर विमाणत्ति॥३॥ उपलक्षणं चैतत् भवननगराणामिति वैक्रियकरणलक्षणा शद्धिर्वैक्रियऋद्धिः। वैक्रियशरीरैर्हि जम्बूद्वीपद्वयमसंख्यातान्वा द्वीपसमुद्रान पूरयन्तीत्युक्तञ्च भगवत्यां चमरेणं भंते! के महिड्ढिए इत्यादि। परिचारण कामसेवा त दृष्टिः अन्यान् देवान् अन्यसत्का देवी स्वकीया देवीरभियुज्यात्मानं च विकृत्य परिचारयति इ-त्येवमुक्तलक्षणेति॥१॥ सचित्ता स्वशरीराग्रमहिष्यादिविषया सचेतनवस्तुसंपद चेतना वस्त्राभरणादि-विषया। मिश्रा अलंकृतदेव्यादिरूपा॥२॥ अतियानं नगरप्रवेशस्तत्र ऋद्धि-स्तोरणहदृशोभाजनसंमर्दादिलक्षणा निर्याणं नगरान्निर्गमस्त-त्रऋद्धिःहस्तिकल्पनसा मन्तपरिवारादिका॥३॥ बलश्चतुरङ्ग-बाहनानि वेगसरादीनि कोशो भाण्डागारं कोष्ठा धान्यभाजनानि तेषामगारं गृहं गेहं कोष्ठागारं धान्यगृहमित्यर्थः तेषां तान्येव वा ऋद्धिर्या सा तथा॥४॥ सचित्तादिका पूर्ववद्भावनीयेति॥५॥ ज्ञानर्द्धिर्विशिष्टश्रुतसंपत्–दर्शनर्द्धिः प्रवचने निश्शङ्कितादित्वं प्रवचनप्रभावकशास्त्रसम्पद्वा। चारित्रर्द्धिः निरतिचारता॥६॥ सचित्ता शिष्यादिका अचित्ता वस्त्रादिका मिश्रा तथैवेति इहच विकुर्व्वाणादि ऋद्धयोऽन्येषामपि भवन्ति केवलं देवादीनां विशेषवत्यस्ता इति तेषामेवोक्त इति। स्था० ३ ठा०।

देवानामृद्धयो यथा॥

सोधम्मीसाणं देवाणं केरिसगा इड्ढी पण्णत्ता ? गोयमा ! महिड्ढिया महज्जुईया जाव महाणुभागा इड्ढी पण्णत्ता जाव अच्चुओ गेवेज्जअणुत्तरा या सव्वे महिड्ढिया जाव सव्वे महाणुभावा अणिद्वा जाव अहमिंदाणामं ते देवगणा पण्णत्ता समणाउसो॥

(सोहम्मीत्यादि) सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवाः कीदृशा ऋद्धया प्रज्ञप्ता भगवानाह – गौतम! महर्द्धिका यावन्महानुभागा अमीषां पदानां व्याख्यानं पूर्ववत् एवं तावद्वक्तव्यं याव-दनुत्तरोपपातिका देवाः। जीवा० ४ प्र० २ उ०॥

सर्वजीवानां येषु यथा शक्तिर्नास्ति तथा आह॥

छहिं ठाणेहिं सव्वजीवाणं णत्थि इड्ढीति वा जाव परक्कमेति वा – तं० जीवं वा अजीवं करणयाए अजीवं वा जीवं करणयाए एगसमएणं वा दो भासाओ भासित्तए सयं कडं वा कम्मं वेएमि वा मा वा वेएमि। परमाणु पोग्गलं वा छिंदित्तए वा भिंदित्तए वा अगणिकाएण समोदहित्तए वहिया वा लोगंता गमणयाए।

(छहीत्यादि)। षट्सु स्थानेषु सर्वजीवानां संसारिमुक्तस्व रूपाणां नास्ति ऋद्धिर्विभूतिरिति इत्येवं प्रकारा यथा जीवादिरजीवादिः क्रियते वा विकल्पे एवं द्युतिः प्रेमा माहात्म्यमित्यर्थः। याव-त्कारणात्। ''जसेइ वा बलेइ वा वीरिए वा पुरिसक्कारपरक्कमेइ वत्ति'' इदंच व्याख्यातमनेकश इति न व्याख्यायते तद्यथा–॥ जीवं वेत्यादि–जीवस्याजीवस्य करणतायां जीवमजीवं कुर्तमित्यर्थः १ अजीवस्य वा जीवस्य करणतायां २ (एगसमएणंवत्ति) युगपद्वा द्वे भाषे सत्यासत्यादिके भाषितुमिति ३ त्वयं कृतं वा कर्मवेदयामि वा मा वा वेदयामि इत्य-त्रेच्छावशेवेदनेऽछेदने वा नास्ति बलमिति प्रक्रमोऽयं अभिप्रायो नही च्छावशतःप्राणिनां कर्मणाःक्षपाक्षपणौस्तो बाहुबलिन इवापि त्वनाभोगनिवर्तिते ते भवतोऽन्यत्र केवलिसमुद्घातादिति ४ परमाणुपुद्गलं वा छेत्तुं खड्गादिनाद्विधीकृत्य भेत्तुवा सूच्यादिना विदूध्वा छेदादौ परमाणुत्वहानेरग्निकायेन वा समवदग्धुम-तिसूक्ष्मत्वेनादाह्यत्वात्तस्येति ५ बहिस्ताद्वा लोकाद्गमनतायाम् ६ अलो कस्यापि लोकतापत्तेरिति-जीवमजीवं कर्तुमित्युक्तम्। स्था० ६ ठा०। गोचरचर्या भूमिभेदे, यस्यामेकां दिशमभिगृ-ह्योपाश्रयान्निर्गतः प्राञ्जलेनैव यथा समश्रेणिव्यवस्थितगृह-पङ्क्तौ भिक्षां परिभ्रमन् तावद्याति यावत्पङ्क्तौ चरमगृहं ततो भिक्षां गृण्हन्नेवा पर्यासेऽपि प्राञ्जलेयैव गत्या प्रतिनिवर्तते सा ऋद्धि-रिति। वृ० १ उ०। वृद्धौ, सम्पत्तौ, सिद्धौ च। (ऋद्धिदर्शनेन सामायिकंलभ्यते तत्कथाच दसारणभद्दशब्दे)

इड्ढि(द्धि)–न० (अप्पवट्टण) ऋध्दयप्रवर्तन ऋद्धीनामामर्षौषध्या-दीनामनुपजीवनेनाप्रवर्तनमव्यापारणम्। आमर्षौषध्यादीनामप्रवर्तने, द्वा० १८ द्वा०।

इड्ढीगारव–न०(ऋद्धिगौरव) ऋद्ध्या नरेन्द्रादिपूजालक्षणया आचार्यत्वादिलक्षणया वाऽभिमानादिद्वारेण गौरवम् । ऋद्धं वा गौरवमृद्धिगौरवम् । भावगौरवभेदे,–तच्च ऋद्धिप्रत्यभिमान-प्राप्तिप्रार्थनाद्वारेणात्मनोऽशुभो भावो भावगौरवमित्यर्थः । स्था०३ ठा०॥

इड्ढिगारवज्झाव–न०(ऋद्धिगौरवध्यान) राज्यैश्वर्यादिरूपा ऋद्धिस्तया गौरवमात्मोत्कर्षरूपं तस्य ध्यानं दशार्णभद्रस्येव ऋद्धिगौरवध्यानम् । दुर्ध्यानभेदे, आतु०॥

इड्ढिपत्त–पुं०(ऋद्धिप्राप्त) ऋद्धिरामर्षौषध्यादिलक्षणां तां प्राप्तः ऋद्धिप्राप्तः आमर्षौषध्यादिलक्षणामृद्धिम्प्राप्ते, । न० ऋद्धिञ्च प्राप्नोति प्रथमतो विशिष्टमुत्तरोत्तरमपूर्वार्थप्रतिपादकं श्रुत-मवगाहमानः श्रुतसामर्थ्यत-स्तीव्रतीव्रतर शुभभावनामधिरोहन्न प्रमत्तः सन्। उक्तञ्च ''अवगाहते च स श्रुतजलधिं प्राप्नोति चावधिज्ञानम् । मनसः पर्यायं वा ज्ञानं कोष्ठादिबुद्धिर्वा'' इति । प्रज्ञा०२१ पद ॥

***प्राप्तद्धि**–पुं आमर्षौ षध्यादिका ऋद्धिः प्राप्ता यैस्ते प्राप्तर्द्धयः प्राप्तामर्षौषध्यादिके, ''इड्ढीपत्ते य वोच्छामि'' इह गाथाभङ्ग-भयाद्व्यत्ययोऽन्यथा निष्ठान्तस्य बहुव्रीहौ पूर्वनिपात एव भव-तीति । विशे०॥

इड्ढिपत्ताणुओग–पुं०(ऋद्धिप्राप्त्यनुयोग) प्राप्तामर्षौ षध्या-दिकस्य व्याख्याने, विशे०। (तच्च विस्तरतो लद्धिशब्दे दृश्यम्)

इड्ढिपत्तारिय–पुं०(ऋद्धिप्राप्तार्य्य) आर्यभेदे,– ''से किंतं इड्ढिपत्तारिया छव्विहा पण्णत्ता तंजहा अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा चारणा विज्जाहरा'' प्रज्ञा०१ पद । स्था०॥

इड्ढिमं(त)–त्रि०(ऋद्धिमत्) ऋद्धिरामर्षौषध्यादि सम्पत् तदेवं रूपा प्रचुरा प्रशस्ताऽतिशायिनी वा ऋद्धिर्विद्यते येषान्ते ऋद्धिमन्तः । प्राप्तामर्षौषध्यादिऋद्धिके, । स्था०५ ठा० ''इड्ढिमं णाम ईसरोत्ति'' नि०चू०१५ उ० । महर्द्धिके, ''एगेणं इड्ढिमंतेण वाणि-एणं'' ऋद्धिमत्त्वे महर्द्धिकतायामिति, । वृ०३ उ०॥ सम्पदुपेते, । दश०७ अ० तद्भेदा यथा । ''पंचविहा इड्ढिमंता मणुस्सा पण्णत्ता तंजहा अरहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा भावियप्पाणो अणगारा'' । भावितः सद्वासनथावासित आत्मा यैस्ते भावितात्मानोऽनगारा इति एतेषां च ऋद्धिमत्त्वमामर्षौषध्यादिभिः अर्हदादीनां तु चतुर्णां यथा-संभवमामर्षौषध्यादिनाऽर्हत्त्वादिना चेति । स्था०५ ठा०२ उ०॥ ''इड्ढिमंतं नरिंदस्स, इड्ढिमंतं तु आलवे'' । ऋद्धिमन्तं सम्पदुपेतं नरं दृष्ट्वा किमित्याह । ऋद्धिमन्तमिति ऋद्धिमानय-मित्येवमालपेत् । व्यवहारतो मृषावादादिदोषपरिहारार्थमिति सूत्रार्थः । दश०७ अ०॥

इड्ढिमपुत्त–पुं०(ऋद्धिमत्पुत्र) राजादौ,–इड्ढिमपुत्तो वा राजादीत्यर्थ इति ॥ नि०चू०१ उ०॥

इड्ढिरससायगारवपर–त्रि०(ऋद्धिरससातगौरवपर) ऋद्ध्यादिषु गौरवमादरस्तत्प्रधाना ऋद्धिरससातगौरवपरा । ऋद्धिरस-सातादरप्रधाने, ऋद्धिरससायगारवपरा बहवे करणालसा पूरूवें-ति । प्रश्न०२ द्वा०॥

इड्ढिरससायगुरुय–त्रि०(ऋद्धिरससातगुरुक) ऋद्धिराचार्यत्वादौ नरेन्द्रादिपूजा रसा मधुरादयो मनोज्ञाः सातं सुखमेतानि गुरूण्यादरविषया यस्य सोऽयमृद्धिरससातगुरुकः । अथवा एभिर्गुरुकस्तेषां प्राप्तावभिमानतोऽप्राप्तौ च प्रार्थनातोऽशुभ भावोपात्त-कर्म्मभारतया लघुः । ऋद्धिरससातानामादरकारके,–ऋद्धिरससातैर-लघौ च । स्था०३ ठा०॥

इड्ढिरससायगुरुया छज्जीवनिकायघायनिरयाए।
जे उवदिसंति मग्गं कुमग्गमग्गस्सिता ते उ ॥१५॥

(इड्ढिरसेत्यादि) ये केचन अपुष्टधर्माणः शीतलविहारिणः ऋद्धिरससातगौरवेण गुरुका गुरुकर्माणि आधाकर्माद्युपभोगेन षड्जीवनिकायव्यापादरताश्चापरे तेभ्यो मार्गं मोक्षमार्ग-मात्मानुचीर्णमुपदिशन्ति तथाहि शरीरमिदमाद्यं धर्मसाधनमिति मत्वा कालसंहननादिनेश्चाधाकर्माद्युपभोगोषि न दोषाये त्येवं प्रतिपादयन्ति । तच्चैवं प्रतिपादयन्तः कुत्सितमार्गा-स्तीर्थकरास्तन्मार्गाश्रिता भवन्ति तु शब्दादेतेऽपि स्वयूथ्या एतदुपदिशन्तः कुमार्गाश्रिता भवन्तीति किं पुनस्तीर्थिका इति । सूत्र० नि०१ श्रु०११ अ०॥

इड्ढिविभूसा–स्त्री०(ऋद्धिविभूषा) ऋद्ध्या सत्कारेण निर्यामितायां विभूषायाम्, ''इड्ढिविभूसा य परिकम्मे'' इड्ढिसत्कारेण निज्जामिया विभूसेति । आव०५ अ०॥

इड्ढिसंजुत्त–त्रि०(ऋद्धिसंयुक्त) ऋद्धयो नानाप्रकारा आम-र्षौषध्यादयो लब्धयस्ताभिः संयुक्तः समन्वितः । आमर्षौष-ध्यादिलब्धिसमन्विते, । षो०१५ विव०॥

इड्ढिसक्कारसमुदय–पुं०(ऋद्धिसत्कारसमुदय) ऋद्धिस-त्कारसमुदाये, ''इड्ढीसक्कारसमुदएणं ममं सरीरगस्स णीहरणं करेह'' ऋद्ध्या ये सत्काराः पूजाविशेषास्तेषां यः समुदायः स तथा तेन अथवा ऋद्धिसत्कारसमुदायैरित्यर्थः । समुदयश्च जनानां सङ्ग इति । भ०१५ श०१ उ० शद्ध्या, वस्त्रसुवर्णादिसम्पदा सत्कारः पूजाविशेषस्तस्य समुदायो यः स तथेति । विपा०३ अ०॥

इड्ढिसिय–(इड्ढिसिय) इड्ढिसियत्ति रूढिगम्या इति भ०९ श०३३ उ०॥

इणं–त्रि०(एतत्) विप्रकृष्टवर्तिनि, दे०ना०॥

इणमो–त्रि०(एतत्) अदूरवर्तिनि, दे०ना०॥

इण्हिं–अ०(इदानीम्) एतत्कालेऽर्थे, दे० ना०॥

इत्त–मत्–प्र० अस्त्यर्थे, आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणामतोः ५९ इति मतोरित्तेत्यादेशः यथा–कव्वइत्तो माणइत्तो'' प्रा०८ अ०२ पा०॥

इत्तर–त्रि०(इत्वर) इण क्वरप् १ पथिके २ नीचे ३ क्रूरकर्मणि च ४ खण्डे–पु० स्त्रियां क्वरबन्तत्वान् ङीप सा चाभिसारिकायां स्त्रिया-श्च । वाच० । स्तोके (अल्पे) अनु० उत्त० नि०चू० अल्पकाले, अल्पकालीने, ध०२ अधि० पंचा० । परिमित काले, । प्रव०६ द्वा० । दश० अल्पावस्थायिनि, । ''इयमित्तरा णिवित्ती'' विषयोपभोगकाल-पर्यन्तभाविनी इत्वराऽल्पावस्थायिनी निवृत्तिरिति । श्रा० इत्वरमल्पकालं यावच्चतुर्मासादिकालाबधित्वेनेत्यर्थ इति । पंचा । (इत्वरानशनस्य वक्तव्य ता 'असणण' शब्द । चित्राक्षादिगत-स्थापनाया इत्वरत्वं 'छवणा' शब्दे । इत्वरं व्रतानि 'वय' शब्दे । इत्वरचारित्राणि 'चरित्त' शब्दे । स्थविर-कल्पस्येत्वत्वं 'कल्प' शब्दे) प्रति क्रमण विशेषे च । तच्च स्वल्पकालिकं दैवसिकरात्रिकादि । स्था०

६ ठा०। पडिक्कमणं देवसिअं राइअं च इत्तरिअं'' इत्वरं स्वल्पकालिकं दैवसिकादि इति। आव०४ अ०।

इत्तरकाल–त्रि०(इत्वरकाल) स्वल्पकाले, अनु०।

इत्तरपरिग्गहा–स्त्री०(इत्वरपरिग्रहा) इत्वरमल्पमुच्यते तत इत्वरमल्पं परिग्रहो यस्याः सा इत्वरपरिग्रहा इत्वरकालं परिग्रहो यस्याः सा तथा कालशब्दलोपोऽत्र दृष्टव्यः। अथवा इत्वरीप्रतिपुरुषमय-नशीला वेश्येत्यर्थः परिगृह्यत इति परिग्रहा कंचित्कालं भाटीप्रदानादिना संगृहीता इत्वरी चाऽसौ परिग्रहा च सा तथा पुंवद्भावश्चात्र कार्यः। प्रव०७ द्वा०। भाटीप्रदानेन कियन्तमपि कालं दिवसमासादिकं स्ववशीकृतायां वेश्यायाम्, आव०६ अ०। (तां चासेवमानरूपस्य चतुर्थाणुव्रतस्य स्वदारसन्तोषस्यातिचार इति 'सदारसंतोस' शब्दे)

इत्तरपरिग्गहिया–स्त्री०(इत्वरपरिगृहीता) इत्वरकालं परिगृहीता कालशब्दलोपादित्वरपरिगृहीता, कियन्तमपि कालं दिवसमा-सादिकं भाटीप्रदानेन स्ववशीकृतायाम् वेश्यायाम् आव०६ अ०। ध०।

इत्तरपरिग्गहियागमण–न०(इत्वरपरिगृहीतागमन) इत्तरमल्पकालं भाटीप्रदानतः केनचित्स्ववशीकृता वेश्या तस्यां गमनम्। ध०२ अधि०। भाटीप्रदानेन कियन्तमपि कालं दिवसमासादिकं स्ववशीकृतायां मैथुनासेवने,। आव०६ अ०॥ (चतुर्थाणुव्रतरूपस्वदारसंतोषस्थायमतिचार इति 'सदार संतोस' शब्दे)

इत्तरवास–पुं०(इत्वरवास) स्तोकनिवासे, 'इह जीवियमेव पासहा, तरूणे एव वाससयस्स तुट्टत्ती। इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया'' ॥८॥ साम्प्रतं सुबह्वप्यायुर्वर्षशतं तच्च तदन्ते त्रुट्यति। तच्च सागरोपमापेक्षया कतिपयनिमेष प्रायत्वात् इत्वरं वासकल्पं वर्त्तते स्तोकनिवासकल्पमित्येव बुध्यध्वं यूयमिति। सूत्र०१ श्रु०२ अ०॥

इत्तरिय–त्रि०(इत्वरिक) इत्वरे स्तोके काले भवमित्वरिकम् नियतकालावधिके, उत्त०३० अ०। इत्वरः स्तोकः कालो यत्रास्ति तदित्वरिकम्। मुहूर्त्तादिप्रमाण। पंचा०१० विव०। इत्वरोऽल्पः कालो वत्सरादिर्थस्यास्ति वैयावृत्यादेरसावित्वरिकः। पंचा०१२ विव०। स्वल्पकालीने, इत्तरियं णाम थोवं इति'' नि०चू०२ उ०। (इत्वरिकाऽनशनस्य वक्तव्यता ''अणसण'' शब्दे। इत्व-रिकमरणवक्तव्यता 'मरण' शब्दे। इत्वरिकोपधिप्रतिलेखना 'पडिलेहणा' शब्दे। इत्वरिक-सामायिक वक्तव्यता 'सामाइय' शब्दे इत्वरिक वैयावृत्यवक्तव्यता वेयावच्च शब्दे)॥

इत्तरी–स्त्री०(इत्वरी) इत्वरी प्रतिपुरुषमथनशीला। भाटीप्रदानेन स्तोककालं परिगृहीतायां वेश्यायाम्। पंचा०१ विव०॥

इत्तिअ–त्रि०(एतावत्) एतत्परिमाणे,। एतदः परिमाणे डावत् प्रत्ययः। **'यत्तदेतदोऽतोरित्तिअ एतल्लुक् च'** ।८।२।१५६। इति प्राकृत-सूत्रेण–एतदं भङ्क्त्वा डावत् स्थाने इत्तिअ आदेशः। प्रा० व्या०।

इत्तो(इदो)–(इओ) अव्य०(इतस्) इदम्–तसिल् अस्मादित्यर्थे **'त्तो दो तसो वा'** ।८।२।१६०। इति प्राकृतसूत्रेण तसः स्थाने त्तो दो इत्यादेशौ वा। प्रा०व्या०। अस्मिन्नित्यर्थे च। वाच०॥

इत्थम्–अव्य०(इत्थम्) इदम्–थमु–इदं प्रकारेण इत्थं भावः इत्थं भूतः। वाच०। इदं प्रकारमापन्ने,। प्रज्ञा०२ पद। अनेन प्रकारेणेत्यर्थे च। विशे०। उक्तप्रकारेणेत्यर्थे,। द्वा०२१ द्वा०॥ पूर्वोक्तप्रकारेणेत्यर्थे,। द्व०॥

इत्थंथ–त्रि०(इत्थंस्थ) इत्थं तिष्ठतीति इत्थंस्थः। आ०म०द्वि०। प्रज्ञा०। अनेन प्रकारेण स्थिते, विशे०। ''इत्थंथं च वयइ सव्वसो सिद्धे वा हवइ सासए'' दश०९ अ०४ उ०॥

इत्थि(त्थी) आणमणी–स्त्री०(स्त्र्याज्ञापनी) आज्ञाप्यतेऽआ ज्ञासम्पादने प्रयुज्यतेऽनया सा आज्ञापनी। स्त्रिया आज्ञापनी स्त्रयाज्ञापनी। स्त्रिया आदेशदायिन्याम्भाषायाम्। प्रज्ञा०२ पद।

इत्थि(त्थी) कम्म–न०(स्त्रीकर्मन्) स्त्रियो नरतिरश्च स्तासां कर्म वशीकरणादिकर्म। स्त्रीणां वशीकरणादिकर्मणि, ''परि-ग्गहित्थिकम्मं च तं विज्जं परिजाणिया'' सूत्र०१ श्रु०८ अ०॥

इत्थि(त्थी)कला–स्त्री०(स्त्रीकला) महिलागुणे, ते च चतु-ष्षष्टिसंख्याकाः। ''चोसट्ठिं महिलागुणे'' जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ तु चतुष्षष्टिः स्त्रीकलाश्चेमाः। नृत्यम् १ औचित्यं २ चित्रं ३ वादित्रं ४ मन्त्रम् ५ ज्ञानं ६ विज्ञानं ७ दण्डः ८ जलस्तम्भः ९ गीतगानं १० तालमानं ११ मेघवृष्टिः १२ फलाकृष्टिः १३ तन्त्रम् १४ आरामगोपनम् १५ आकारगोपनं १६ धर्मविचारः १७ शकुनसारः १८ क्रियाकल्पः १९ संस्कृतजल्पः २० प्रासादनीतिः २१ धर्मरीतिः २२ वर्णिकावृद्धिः २३ स्वर्णसिद्धिः २४ सुरभितैलकरणं २५ लीलासंचरणं २६ हयगजपरीक्षणं २७ पुरुषस्त्रीलक्षणं २८ हेमरत्नभेदः २९ अष्टादशलिपिपरिच्छेदः ३० तत्कालबुद्धिः ३१ वस्तुसिद्धिः ३२ कामविक्रिया ३३ वैद्यकक्रिया ३४ कुम्भभ्रमः ३५ सारिभ्रमः ३६ अञ्जनयोगः ३७ चूर्णयोगः ३८ हस्तलाघवं ३९ वचनपाटवम् ४० भोज्यविधिः ४१ वाणिज्यविधिः ४२ मुखमण्डलं ४३ शालिखण्डनं ४४ कथाकथनं ४५ पुष्पग्रन्थनं ४६ वक्रोक्तिः ४७ काव्यशक्तिः ४८ सर्वभाषाविशेषः ४९ अभिधानज्ञानं ५० भूषणपरिधानं ५१ भृत्योपचारः ५२ गृहाचारः ५३ वेशरचनं ५४ व्याकरणं ५५ परनिकारणं ५६ रन्धनं ५७ केशबन्धनं ५८ वीणानादः ५९ वितण्डावादः ६० अंकविचारः ६१ लोकव्यवहारः ६२ अन्त्याक्षरिका ६३ प्रश्न प्रहेलिका ६४ इति। अत्रोपलक्षणादुक्तातिरिक्ताः स्त्रीपुरुष कला ग्रन्थान्तरे लोके च प्रसिद्धा ज्ञेयाः। अत्र च पुरुषकलासु स्त्रीकलानां स्त्रीकलासु च पुरुषकलानां सङ्ख्यै तदुभयोपयोगित्वात्। ननु तर्हि 'चोसट्ठिं महिलागुणे इति' ग्रन्थ विरोध उच्यते न ह्ययं ग्रन्थः स्त्री-मात्रगुणख्यापनपरः किंतु स्त्रीस्वरूपप्रतिपादकस्तेन क्वचित् पुरुषगुणत्वेऽपि न विरोधः। कलाद्वयस्योक्त संख्याकत्वं तु प्रायो बहूपयोगित्वादित्यऽलंविस्तरेण। जं०२ वक्ष०।

इत्थि(त्थी)–कलेवर–न०(स्त्रीकलेवर) योषिच्छरीरे,

अव्वंभे पुण विरई, मोहदुगछां स तत्तचित्ता य।
इत्थीकलेवराणं, तव्विरएसुं च बहुमाणो ॥४६॥

अब्रह्मणि स्त्रीपरिभोगलक्षणे पुनःशब्दे विशेषणे तद्भावना चैवं गुर्वादिषु स्मरणं कर्त्तव्यमब्रह्मणि पुनर्विरतिर्निवृत्तिः कार्या तथा मोहजुगुप्सा स्त्रीपरिभोगहेतुवेदादिमोहनीयनिन्दा यथा यल्लज्जनीथमति-गोप्यमदर्शनीयं बीभत्समुल्वणं मलाविल-पूतिगन्धि तद्याचते कामिकृमिस्तदेवम्। किंवा दुनोति न मनोभवं वा मनसा इत्यादि। तथा स्वतत्त्वचिन्तास्वरूपचिन्तनं केषां स्त्रीकलेवराणां योषिद्देहानां यथा शुक्रशोणितसम्भूतं नवच्छिद्रं मलोल्वणमस्थिशृङ्खलिकामात्रं हन्त योषिच्छरीरकं तद्विर-

तेष्वब्रह्मनिवृत्तेषु मुनिषु। चशब्दः समुच्चये बहुमानोत्तरङ्गप्रीतिरूपो विधेयो यथा–धन्यास्ते वन्दनीयास्ते तैस्त्रैलोक्यं पवित्रितं। यैरेष भुवनक्लेशी काममल्लो निपातितः। पंचा०१ विव०॥

इत्थि(त्थी)कहा–स्त्री०(स्त्रीकथा) स्त्रीणां स्त्रीषु वा कथा स्त्रीकथा। स्त्रीकथाविकथाभेदे, इथं च कथेत्युक्तापि स्त्रीविषयत्वेन संयमविरुद्धत्वाद्विकथेति भावनीयेति। स्त्रीकथाया भेदा यथा–

इत्थी कहा चउविहा पण्णत्ता तंजहा इत्थीणं जाइकहा। इत्थीणं कुलकहा इत्थीणं रूवकहा इत्थीणं नेवत्थकहा।

ब्रह्मणी प्रभृतीनामन्यतमाया या प्रशंसा निन्दा वा सा जात्या जातेर्वा कथेति जातिकथा। यथा–धिक् ब्राह्मणी धर्वाभावे, या जीवन्ति मृता इव। धन्या मन्ये जनैः शूद्रीः पतिलक्षेप्यनिन्दिता ॥१॥ एव मुग्रादिकुलोत्पन्नानामन्यतमायाः यत्प्रशंसादि सा कुलकथा। यथा–अहो चौलुक्यपुत्रीणां, साहसं जगतोधिकं। पत्युर्मृत्यौ विशत्यग्नौ, या प्रेमरहिता अपि ॥२॥ आन्ध्रीप्रभृतीनामन्यतमायाः रूपस्य यत् प्रशंसादि सा रूपकथा। यथा–चन्द्रवक्त्रा सरोजाक्षी, सद्वीः पीनघनस्तनी। किं लाटी नामतः सा स्या–द्देवानामपि दुर्लभा ॥३॥ तासामेवान्यतमायाः कच्छबन्धादि नेपथ्यस्य यत्प्रशंसादि सा नेपथ्यकथेति। यथा–धिङ्नारीरौदीच्या, बहुवसनाच्छादिताङ्गलतिकत्वात्। यद्यौवनं न यूनां, चक्षुर्मोदाय भवति सदा॥ स्था०४ ठा०॥

तत्र जातिकथा–ब्राह्मणी प्रभृतीनामन्यतमां प्रशंसति द्वेष्टि वा कुलप्रसूतानामन्यतमां, रूपकथा आन्ध्री प्रभृतीनामन्यतमाया रूपं प्रशंसति ''आन्ध्रीणां च ध्रुवं लीला चलितं भूतले मुखे। आसज्य राज्यभारं स्वं,सुखं स्वपिति मन्मथ–इत्यादिना द्वेष्टि वा तथा नेपथ्यकथान्ध्री प्रभृतीनामेवान्यतमायाः कथादिनेपथ्यं प्रशंसति द्वेष्टि वा। आव०४ अ०। जाति कथायां ब्राह्मणी प्रभृतीनामन्यतमां प्रशंसति द्वेष्टि वा, कुलकथानां पुनरुग्रादिकुलप्रसूतां वा। रूपकथा या रूपोद्देशेन विधीयते यथा। ''आन्ध्रीणां रूपसौन्दर्यं, कालिङ्ग्या जघनं वरम्। लाट्या विलसितं चारुकर्णाट्यास्तुरतिप्रदा'' ॥ अथवा निन्दति। मालविकी त्वनाला प्या, वराकी रूपवर्जिता। सौराष्ट्री कच्छजातापि, त्याज्या दुर्भगशेखरा ॥ नेपथ्यं केशचीवरसमारचनरूपं तद्रूपकथा नेपथ्यकथा–यथा। लाट्यास्तु कञ्चुकश्चरुरांध्र्यासीमन्तको नघः। वेणिबन्धस्तु सौराष्ट्र्याः कालिङ्ग्या नीविबन्धनम्। दर्श०॥ इत्थिकहा–पसंसा निंदा सरूवा जहा सा तणुय तणू सुभगा सोममुही पउमपत्तनयणिल्ला गुरुयनियंबा उन्नयप ओहरा ललियगयगमणा ॥ तहा करहगई कागसरा य दुब्भगा लंबजठरा पिगच्छी दुःसीला दुप्भासा धिद्धीकोनिय इति ग०१ अधि०। आ०चू०। स्त्रीकथा दूरतस्त्याज्या तथा च ''सा तन्वी सुभगा मनोहररुचिः कान्तेक्षणा भोगिनी, तस्याहारि नितम्बबिम्बमथवा विप्रेक्षितं सुभ्रुवः। धिक्तामुष्ट्रगतिं मलीमसतनुं काकस्वरां दुर्भगा–मित्थं स्त्रीजनवर्णनिन्दन कथा दूरेस्तु धर्मार्थिनाम्'' ॥ इति॥ ध०र०। (स्त्रीकथापरित्यागस्य ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानत्वं 'बंभचेरस-माहिट्ठाण' शब्दे 'बंभचेरगुत्ति' शब्दे च)

आयपरमोहुदीरण उड्डाहो सुत्तमाइपरिहाणी। बंभवए य अगुत्ती, पसंगदोसा य गमणाइ ॥१२१॥

इत्थिकहं करें तस्स अप्पणो मोहोदीरणं भवति–जस्स वा करेंति परस्स तस्स मोहोदीरणं भवति–इत्थिकहं करेंतो सुओ लोएणं उड्डाहो अहो ज्झाणोवउत्ता तवस्सिणो जाव इत्थिकहं करेंति ताव सुत्तपरिहाणी आदिसद्दातो अत्थस्स अण्णेसिं चउ संजमो गाणं बंभव्वए अगुत्ती भवति भणियं च ''वसहि कहणि सेज्झिंदिय, कुड्डंतर पुव्वकीलियपणीते। अतिमायाहारविभू–सणा यणं च बंभगुत्तीओ'' ॥ एवं अगुत्ती भवति पसंग एव दोसो पसंग दोसो कहापसंगाओ वा दोसा भवंति ते य गमणादी गमणं उ णिक्खमई आदिसद्दाओ वा कुलिंगी भवति स लिंगठितो वा आगारिं पडिसेवति संजतिं वा हत्थकम्मं वा करेति स्त्रीकथायां प्रायश्चि-त्तम्। इत्थीणं कहा–इत्थिकहा सा चउव्विहा इमा–

जातीकधं कुलकधं, रूवकधं बहुविहं च सिंगारं। एता कधा कधिंते, चतुजमला कालगा चतुरो ॥११९॥

जातिमादिया उ (चउजमलत्ति) चत्तारि जमला मासदविज्जंति मासस्सामण्णे किं गुरुगा लहुगा भण्णति (कालगा) कालगतिगुरुगा मासा तेहिं चउहिं मासेहिं चउगुरुगत्ति भणियं भवति एरिसगा चउगुरुगा चउरो भण्णत्ति भवंति जाइकहाए चउगुरुं, कुलकहाए चउगुरुं, रूवकहाए चउगुरुं, सिंगारकहाए चउगुरुं एवं चउरो जातिए तवकालेहिं लहुगं कुले कालगुरुं तवे लहुगं रूवे तवगुरुगं काललहुं सिंगारे दोहिं वि गुरुं अहवा चत्तारि जमला जातिमातिसु भवंति के ते कालगा चउरो चउगुरुगंति भणियं भवति तवकालविसेसो तहेव अहवा चउरोत्ति संखा जमलं दो ते य तवकाला ताणि तव काला जुयलाणि चउरत्ति भणियं भवति कालगा इति बहुवयणा चउगुय ताणि चउगुरुगाणि चउरो अग्गद्धस्स वक्खाणगाहा इमा॥

माति समुत्थातिपिति, वंसकुलं अहव ओग्गादी॥ बण्णाकित्तियरूवं, गतिपेहिति भास सिंगारे ॥१२०॥

माउप्पसादा रूवं भवति जहा सोमलेएणं एवं जा कहा सा जाइकहा। पिउपसादा रूवं भवति जहा एगो सुवण्णगारो अव्वत्थं रूवस्सी गणिगाहिं भाडिदाउं णिज्जति रिउकाले जातेण जाया सा रूवस्सिणी भवति एवं कुलकहा सेसं कंठं। नि०चू०१ उ०॥

इत्थि(त्थी)काम पुं०(स्त्रीकाम) स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः। स्त्रियोपलक्षिता वा काम्यन्त इति कामाः स्त्रीकामाः स्त्र्यादिवि–षयेषु मदनकामविषयभूतासु स्त्रीषु कामेषु, शब्दादिषु च। स्त्रीकामेषु प्रसक्तानान्नरकयातना भवतीति यथा–

एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइ वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पविसुत्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उसन्नाइं संभारकडेण कम्मणा से जहा णामए अयगोलइ वा सेलगोलइ वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ताइ अहे धरणितलपइट्ठाणे भवइ एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले धूतबहुले पंकबहुले वेरबहुले आपत्तियबहुले दंभबहुले णियडिबहुले साइबहुले अथसबहुले उसन्नतसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा

धरणितलमइवत्ताइ अहे णरगतलपइट्ठाणे भवइ ॥६५॥

ते च विषयासक्ततथा एतत्कुर्वन्तीत्येतद्दर्शयितुमाह (एवमेव इत्यादि) एवमेव पूर्वोक्तस्वभाव एवं ते निष्कृपा निरनुक्रोशा बाह्याभ्यन्तरपर्षदोरपि कर्णनासाविकर्त्तनादिना दण्डपात-नस्वभावाः । स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः यदि वा स्त्रीषु मदनकामविषयभूतासु कामेषु च शब्दादिषु इच्छाकामेषु मूर्छिता गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्नाः एते च शक्रपुरंदरादिवत् पर्यायाः कथञ्चिद्भेदं वाश्रित्य व्याख्येयाः । ते च भोगासक्ता व्यपगतपरलोकाध्यवसाया यावद्वर्षाणि चतुः पञ्च षट् सप्त वा दश वाल्पतरं वा कालं भुक्त्वा भोगासक्ततया च परपीडोत्पादनतो वैरायतनानि वैरानुबन्धाननुप्रसूयोत्पाद्य विधाय तथा सञ्चयित्वा सञ्चिन्त्योपचित्य बहूनि प्रभूततरकालस्थितिकानि क्रूराणि क्रूरविपाकानि नरकादिषु यातनास्थानेषु क्रकचपाटन-शाल्मल्यवहारोहणतप्ततपुपानात्मकानि कर्माण्यष्ट प्रकाराणि बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थानि विधाय तेन च संभारकृतेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तत्कर्मगुरवो वा नरकतलप्रतिष्ठानां भवन्तीत्युत्तरक्रिययापादितबहुवचनरूपयेति संबन्धः । अस्मिन्नेवार्थे सर्वलोकप्रतीतं दृष्टान्तमाह (से जहा णामएत्ति) तद्यथा नामायोगोलकोऽयस्पिण्डः शिलागोलको वृत्ताश्मशकलं वाउदके प्रक्षिप्तः समानसलिलतलमति वर्त्यातिलङ्घ्याऽधो धरणीतले प्रतिष्ठानो भवति । अधुना दार्ष्टान्तिकमाह (एवमेवेत्यादि) यथासावयोगोलको वृत्तत्वाच्छीघ्रमेवाधो यात्येवमेव तथा प्रकारः पुरुषजातः तमेव लेशतो दर्शयति । वज्रवद्वज्रं गुरुत्वात्कर्म तद्बहुलस्तत्करणप्रचुरस्तथा बध्यमानकर्म गुरुरित्यर्थः । तथा धूयत इति धूतं प्राग्बद्धं कर्म तत्प्रचुरः । पुनः सामान्येनाह पङ्क्यतीति पङ्कं पापं तद्बहुलस्तथा । तदेव कारणतो दर्शयितुमाह । वैरबहुलो वैरानुबन्धप्रचुरस्तथा (पत्तियंति) मनसो दुष्प्रणिधानं तत्प्रधानस्तथा दम्भो मायया परवञ्चनं तदुत्कटस्तथा निकृतिर्मायावेष भाषापरावृत्तिछद्मना परद्रोहबुद्धिस्तन्मयस्तथा सातिबहुल इति सातिशयेन द्रव्येणापरस्य हीनगुणस्य द्रव्यस्य संयोगः सातिस्तद्बहुलस्तत्करणप्रचुरस्तथाऽयशोऽश्लाघा सहृत्ततया निन्दा यानि यानि परापकारभूतानि कर्मानुष्ठानानि विधत्ते तेषु तेषु कर्मसु करचरणच्छेदनादिषु अयंशोभाग्भवतीति स एवंभूतः पुरुषः कालमासे स्वायुषः क्षये कालं कृत्वा पृथिव्या रत्नप्रभादिका-यास्तलमतिवर्त्य योजनसहस्रपरिमाणमतिलङ्घ्यनरकतल-प्रतिष्ठानोऽसौ भवति ॥६५॥

एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया गरहि या अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जाइ मूयत्ताए पच्चायंति ॥२१॥

एवमेव पूर्वोक्तेनैव कारणत्वेनातिमूढत्वादिना परमार्थ-मजानानास्ते तीर्थिकाः स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः । यदि वा स्त्रीषु कामेषु च शब्दादिषु मूर्च्छिता गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्नाः । अत्र चोत्यादरख्यापनार्थं प्रभूतपर्यायग्रहणं एतच्च स्त्रीषु शब्दादिषु च प्रवर्त्तनं प्रायः प्राणिनं प्रधानं संसारकारणं तथाचोक्तं "मूलमेय महम्मस्स महादोससमुस्सय-मित्यादि" स्त्रीसङ्गासक्त-स्यावश्यंभाविनी शब्दादिविषयासक्तिरित्यतः स्त्रीकाम ग्रहणं तत्र चासक्ताः यावन्तं कालमासते तत्सूत्रेणैव दर्शयति । यावद्वार्षाणि चतुः पञ्चषड्दशकानि । अथं च मध्यमकालो गृहीतः । एतावत्कालोपादानं च साभिप्रायं प्रायस्तीर्थिका अतिक्रान्तवयसएव प्रव्रजन्ति तेषां चैतावानेव कालः संभाव्यते यदि वा मध्यग्रहणात्तत ऊर्ध्वमधश्च गृह्यते इति दर्शयति । तस्माच्चोपात्तादल्पतरप्रभूततरो वापि कालो भवति । तत्र च ते त्यक्त्वापि गृहवासं भुक्त्वा भोगभोगान् इति स्त्रीभोगे सति अवश्यं शब्दादयो भोगा भोगभोगास्तान् भुक्त्वा ते च किल वयं प्रव्रजिता इति न च भोगेभ्यो विनिवृत्ताः यतो मिथ्यादृष्टि तथा ज्ञानान्धत्वात्सम्यग्विर-तिपरिणामरहितास्ते चैवंभूतपरिणामाः स्वायुषः कालमासे कालं कृत्वा निकृष्टतपसोपि सन्तोऽन्यतरेष्वासुरिकेषु किल्विषिकेषु स्थानेषूत्पादयितारो भवन्ति । ते ह्यज्ञानतपसा मृता अपि किल्विषिकेषु स्थानेषूत्पत्स्यन्ते तस्मादपि स्थानादायुषक्षयाद्विप्रमुच्यमानाश्च्युताः किल्विषिकबहुलास्तत्कर्मशेषैल-वन्मूका एलमूकास्तद्भावेनोत्पद्यन्ते । किल्विषिकस्थानाच्च्युतः सन्ननन्तरभवे वा मानुषत्वमवाप्य यथैलमूकोऽव्यक्तवाक् समु-त्पद्यत इति । तथा (तमूयत्तायेत्ति) तमस्त्वेन जात्यन्धतया अत्यन्ताऽज्ञानावृततया वा तथा जातिमूकत्वेनापगतवाच इह प्रत्यागच्छन्तीति । सूत्र०२ श्रु०२ अ० दश०॥

इत्थि(त्थी)कामभोग–पुं०(स्त्रीकामभोग) स्त्रीप्रधाना स्त्रि-योपलक्षिता वा काम्यन्त इति कामा भुज्यन्त इति भोगाः स्त्रीकामभोगाः । स्त्र्यादिकामभोगेषु, स्त्रीकामभोगासक्तानां परिणाममाह–

एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्टा ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति, ते णो परं समुच्छेदेंति, णो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति, पहीणा पुव्वसंजोगं आयरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसन्ना ॥१९॥

एवमेव पूर्वोक्तप्रकारेण स्त्रीप्रधानाः स्त्रियोपलक्षिता वा काम्यन्त इति कामा भुज्यन्त इति भोगास्तेषु सातबहुलतयाऽजितेन्द्रियाः सन्तस्तेषु कामभोगेषु मुर्च्छिता एकीभावतामापन्ना गृद्धाः काङ्क्षावन्तो ग्रथिता अवबद्धा अध्युपपन्ना आधिक्येन भोगेषु लुब्धा रागद्वेषार्त्ता रागद्वेषवशगा कामभोगान्धा वा त एवं कामभोगेषु आश्रवबद्धा सन्तो नात्मानं संसारात्कर्मपाशाद्वा समुच्छेदयन्ति मोचयन्ति नापि परं सदुपदेशदानतः कर्मपाशावपाशितं समुच्छेदयन्ति कर्मबंधांस्त्रोटयन्ति नाप्यन्यान् दशविधप्राणवर्तिनः प्राणान् प्राणिनस्तथा वाभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च भूतानि तथा वा आयुष्कधारणाज्जीवास्तांस्तथा सत्वास्तथाविधवीर्यान्तरायक्षयोपशमापादितवीर्यगुणोपेतास्तान्न समुच्छेदय-न्ति । असदभिप्रायप्रवृत्तत्वात् । ते चैवंविधास्तज्जीवत-च्छरीरवादिनो लोकायतिका अजितेन्द्रियतया कामभोगावसक्ताः पूर्वसंयोगात्पुत्रदारादिकात्प्रहीणाः प्रभ्रष्टा आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्यः इत्यार्थो मार्गः सदनुष्ठानरूपस्तमसंप्राप्ता इत्येवं पूर्वोक्तयानीत्या ऐहिकामुष्मिकलोकद्वयसदनुष्ठानभ्रष्टा अन्तराल एव भोगेषु विषण्णास्तिष्ठन्ति । सूत्र०२ श्रु०१ अ०।

इत्थि(त्थी)गण–पुं०(स्त्रीगण) स्त्रीसमूहे, । "नो इत्थिगणाणं सेविता भवइ" नो स्त्रीगणानां पर्य्युपासको भवेदिति । स्था०९ ठा०।

इत्थि(त्थी)गब्भ–पुं०(स्त्रीगर्भ) स्त्रियाः सम्बन्धी गर्भः स-

जीवपुद्गलपिण्डकः स्त्रीगर्भः। स्त्रीसम्बन्धिनि सजीव-पुद्गलपिण्डके, भ०५ श०४ उ०। (तद्वक्तव्यता 'गब्भ' शब्दे)

इत्थि(त्थी) गुम्म–न०(स्त्रीगुल्म) युवतिजने, । ''इत्थिगुम्मं परिनिब्बुडे''–॥ स्त्रीगुल्मेन युवतिजनेन सार्द्धमपरपरिवारेण स परिवृतो वेष्टित इति। दशा०१० अ०॥

इत्थि(त्थी)चिंध–न०(स्त्रीचिन्ह) स्त्रिया असाधारणं चिह्नम्। योनौ, स्त्रिया असाधारणे चिह्ने, स्तनादौ,–स्त्रीलक्षणे, वाच०।

इत्थि(त्थी)चोर–पुं०(स्त्रीचौर) स्त्रियाः सकाशात् स्त्रीमेव चोरयन्ति स्त्रीरूपा वा ये चौरास्ते स्त्रीचौराः। चौरविशेषे, प्रश्न०३ द्वा०॥

इत्थि(त्थी)जण–पुं०(स्त्रीजन) योषिज्जने आचा०१ श्रु०४ अ०।

इत्थि(त्थी)जिय–त्रि०(स्त्रीजित) स्त्रिया जितः जिक्त स्त्रीवश्ये, स्त्रीजितस्पर्शमात्रेण सर्वं पुण्यं प्रणश्यति। न भूमौ पातकी पापात् पापिनां स्त्रीजितात्परः। वाच०।

इत्थि(त्थी)ट्ठाण–न०(स्त्रीस्थान) स्त्रियः तिष्ठन्ति येषु तानि स्थानानि निषद्याः स्त्रीस्थानानि। स्त्रीणां निषद्यायाम्, ''नो इत्थिट्ठाणाइं सेवित्ता भवइ'' स्था०९ ठा०॥

इत्थि(त्थी)णपुंसग–न०(स्त्रीनपुंसक) नपुंसकभेदे, ''इत्थिण-पुंसगा अपच्चावणिज्जत्ति'' नि०चू०१ उ०॥

इत्थि(त्थी)णाम–न०(स्त्रीनामन्) कर्म्मविशेषे, स्त्रीपरिणामः स्त्रीत्वं यदुदयाद् भवति। ज्ञा०८ अ०॥

इत्थि(त्थी)णामगोमकम्म–न०(स्त्रीनामगोत्रकर्म्मन्) स्त्री नाम-स्त्रीपरिणामः स्त्रीत्वं यदुदयाद्भवति तत्स्त्रीनामेति गोत्रमभिधानं यस्य तत् स्त्रीनामगोत्रम्। अथवा यत्स्त्रीप्रायोग्यं नाम कर्मगोत्रं च तत् स्त्रीनामगोत्रकर्म्म। स्त्रीप्रायोग्ये नाम कर्म्मणि, गोत्रकर्मणि च। ज्ञा०८ अ०।

इत्थि(त्थी)तित्थ–न०(स्त्रीतीर्थ) स्त्री योषित्तस्यास्तीर्थ-करत्वेनोत्पन्नायास्तीर्थं द्वादशाङ्गं संघो वा स्त्रीतीर्थम्। मल्लि-तीर्थकरप्रणीते द्वादशाङ्गे, तत्सम्बन्धिनि संघे च। स्था०१० ठा० (स्त्रीतीर्थस्थाश्चर्य्यत्वम् 'अच्छेर' शब्दे)

इत्थि(त्थी)दोस–पुं०(स्त्रीदोष) स्त्रीणां दोषे, ''इत्थिदोषं संकिणो होंति'' स्त्रिया सह जल्पन्तं दृष्ट्वा स्त्रीदोषाशङ्किनश्च ते भवन्तीति। सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०(ते च स्त्रीदोषा 'इत्थी' शब्दे द्रष्टव्याः)

इत्थि(त्थी)पच्छाकड–पुं०(स्त्रीपश्चात्कृत) पश्चात्कृत-स्त्रीत्वे,(इत्थिपच्छा कडो बंधइ) भावप्रधानत्वान्निर्द्देशस्य स्त्रीत्वं पश्चात्कृतं भूततां नीतं येनावेदकेनासौ स्त्रीपश्चात्कृत इति। भ०८ श०८ उ०॥

इत्थि–(त्थी)पण्णवणी–स्त्री०(स्त्रीप्रज्ञापनी) स्त्रीलक्षण-प्रतिपादि-कायाम् योगिर्मृदुत्वमस्थैर्य्यं मुग्धतेत्यादिरूपायाम्भा पायाम्, प्रज्ञा०११ पद। (तद्वक्तव्यता 'भासा' शब्दे)

इत्थि(त्थी)परिण्णज्झयण–न०(स्त्रीपरिज्ञाध्ययन) सूत्रकृताङ्गस्य चतुर्थेऽध्ययने, तत्र द्वाबुद्देशकौ तदर्थसङ्ग्रहसूत्रकृताङ्ग निर्युक्तौ यथा–

पढमे संथवसंलव, माइहि खलणाउ होति सीलस्स ॥
वितिए इहेव खलिय–स्स अवत्था कम्मबंधोयं ॥५८॥

प्रथमे उद्देशके अध्ययनार्थाधिकारः तद्यथा स्त्रीभिः सार्धं संस्तवेन परिचयेन यथा संलापेन भिन्नकथाद्यालापेनादिग्रहणा-दङ्गप्रत्यङ्ग-निरीक्षणादिना कामोत्काचकारिणो भवेदल्पसत्वस्य शीलस्य चारित्रस्य स्खलनात्तुशब्दात्तत्परित्यागो वेति। द्वितीये त्वयमर्थाधिकारस्तद्यथा शीलस्खलितस्य साधोरिहैवास्मिन्नेव जन्मनि स्वपक्षपरपक्षकृता तिरस्कारादिका विडम्बवना तत्प्रत्ययश्च कर्मबन्धस्ततश्च संसारसागरपर्यटनमिति किंस्त्रीभिः कश्चित् शीलात् प्रच्याव्यात्मवशकृतो येनैव मुच्यते कृत इति दर्शयितुमाह–

सूरा मो मन्नंता, कति वविया हि उवहिप्पहाणाहिं।
गहियाहुं अभय पज्जोय–कूलबालादिणो बहवे ॥५९॥

बहवः पुरुषा अभयप्रद्योतकूलवालादयः शूरा वयमित्येवं मन्यमानाः मो इति निपातो वाक्यालंकारार्थः कृत्रिमाभिः सद्भावरहिताभिः स्त्रीभिस्तयोपधिर्माया तत्प्रधानाभिः कृतकपटशताभिर्गृहीत्वा आत्मवशतां नीताः केचन राज्यादपरे शीलात् प्रच्याव्यैव विडम्बनां प्रापिताः। अभयकुमारा-दिकथानकानि च मूलादावश्यकादवगन्तव्यानि कथान-कत्रयोपन्यासस्तु यथा क्रमंमर्त्त्यबुद्धिविक्रमात्यन्तबुद्धि-विक्रमतपस्वित्वख्यापनार्थ इति।

यत एवं ततो यत्कर्तव्यं तदाह॥

तम्हा ण उ वीसंभो, गंतव्वो णिच्चमेव इत्थीसु ॥
पढमुद्देसे भणिया, ते दोसा ते गणंतेणं ॥७०॥

(तम्हेत्ति) यस्मात् स्त्रियः सुगतिमार्गार्गला माया प्रधाना वञ्चना निपुणास्तस्मादेतदवगम्य नैव विश्रम्भो विश्वासस्ता सां विवेकिना नित्यं सदा गन्तव्यो यातव्यः कर्तव्य इत्यर्थः। ये दोषाः प्रथमोद्देशके अस्योपलक्षणार्थत्वात् द्वितीये च तान् गणयता पर्यालोचयता तासां मूर्त्तिमत्कपटराशिभूतानामात्महितमिच्छता न विश्वसनीयमिति। सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०। (विस्तरतः एतदध्ययनार्थाः 'इत्थी' शब्दे)

इत्थि(त्थी)परिण्णा–स्त्री०(स्त्रीपरिज्ञा) सूत्रकृताङ्गस्य चतुर्थेऽध्ययने, सम०२३ सं०।

इत्थि–(त्थी)परिसह–पुं०(स्त्रीपरिषह) स्त्रीयाः परिषहणं च तन्निरपेक्षत्वम् ब्रह्मचर्य्यमित्यर्थः। भ०८ श०८ उ०।

स्त्र्यायतेः स्तृणातेर्वा ड्रटि टित्वान् ङीपि स्त्री सैव तद्गतरागहेतु गतिविभ्रमेङ्गिताकारविलोकनेऽपि ''त्वग् रुधिरमांसमेदस्नाय्व स्थिशिराव्रणैः सुदुर्गन्धः। कुचनयनजघनवदनोरुमूर्च्छितो मन्यते रूपम् ॥१॥ तथा ''निष्ठीवनं जुगुप्सत्यधरस्थं पिपति मोहितः प्रस-भम्। कु चजघनपरिश्रावं नेच्छति तन्मोहितो भजते ॥२॥ इत्यादि भावनातोऽभिधास्यमाननीतितश्च परिषह्यमाणत्वात्परिषहः स्त्री-परिषहः। उत्त०२ अ० प्रव० परिषहभेदे, अस्यायमर्थो न स्त्री तस्यामङ्ग प्रत्यङ्ग स्थानहसितललितविभ्रमाद्याश्चित्ताक्षेपकारिणी-श्चेष्टाश्चिन्तयेन्न जातुचिच्चक्षुरपि निक्षिपेन्मोक्षमार्गार्गलासु ललनासु कामबुद्ध्येति। प्रव०८६ द्वा० आव०। उक्तं च ''दुद्धविसङ्ग पङ्का हि मोक्षाद्वारार्गलाः स्त्रियः। चिन्तिया धर्म्मनाशाय चिन्तयेदिति नैव ताः'' ।ध०।

संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगंमि इत्थिओ ॥
जस्स एया परिन्नाया, सुकडं तस्स सामणं ॥१६॥
एवमादाय मेहावी, पंकभूया उ इत्थिओ ॥
नो ताहिं विहन्नेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए ॥१७॥

सज्जन्ति आसक्तिमनुभवन्तिरागादिवसगा जन्तवोऽत्रेति सङ्ग एषोऽनन्तरं वक्ष्यमाणो मनुष्याणां पुरुषाणाम्। तमेवाह। जा-

ओतीत्थविशेषाभिधानं ततो याः काश्चन मानुष्यो देव्य-स्तिरश्च्यो वा (लोगंमित्ति) लोके तिर्यग्लोकादौ स्त्रियो नार्याएताश्च हावभावादिभि-रत्यन्तमासक्तिहेतवो मनुष्याणामित्येवमुक्तमन्य-था हि गीतादिष्वपि सञ्जति एव मनुष्याः मनुष्योपादानं च तेषामेव मैथुनसंज्ञातिरेकः प्रज्ञापनादौ प्ररूपित इति अतः किमित्याह। (जस्सेत्ति) यस्य यतेः एताः स्त्रियः (परिन्नायेत्ति) सर्व्वप्रकारं ज्ञाताः परिज्ञातास्तत्र ज्ञपरिज्ञयेह परत्र च महानर्थहेतुतया विदिताः तथाचागमः ''विभूसा इच्छि संसग्गी, पणीयं रसभोयणं। णरस्स-त्तगवेसिस्स, विसंतालओडं जहा'' ॥१॥ प्रत्याख्यानकपरिज्ञया च तत एव च प्रत्याख्याताः (सुकडंति) सुकृतं सुष्ठवनुतष्ठितं पाठान्तरः सुकरं वा सुखेनैवानुष्ठातुं शक्यं (तस्सत्ति) सुष्व्य-त्ययात्तेन (सामणंति) श्रामण्यं व्रतं किमुक्तं भवत्यवद्यहेतुत्यागो हि व्रतरागद्वेषावेव तत्त्वतस्तद्धेतू उक्तनीतिताश्च न स्त्रीभ्यः परं तन्मूलमिति तत्प्रत्याख्यानत्वसुकृतत्वं श्रामण्यस्य यद्वोक्तनीतितः स्त्रिय एव दुस्त्यजास्ततस्तत्त्यागे सक्तमेवापरमिति तत्प्र-त्याख्यानतः सुकृतत्वं श्रामण्यस्योच्यते। वक्ष्यति हि ''एए उ संगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा ॥ जहा महासागरमुत्त-रित्ता, णई भवेज्जा वियगा समाणा'' ॥१॥ अतः किंविधेयमित्याह। (एवमादाय) एवमित्य-न्तरोक्तप्रकारेणात्यन्तासक्तिहेतुत्व-लक्षणेनाज्ञाय स्वरूपाभिव्याख्या अवगम्य मेधाव्यवधारणशक्तिमान् पङ्कः कर्द्दमस्तद्भूता मुक्तिपथप्रवृत्तानां वि-बन्धकत्वेन मालिन्यहेतुत्वेन च तदुपमास्तुरवधारणार्थः। ततः पङ्कभूता एव स्त्रियः। पठ्यते च ''एवमादाय मेहावी जहा एया लहुस्सिगत्ति''। एवमन्तरमेव वक्ष्यमाणमर्थमादाय बुद्ध्या गृहीत्वा मेधावी तमेवाह यथेत्युपदर्शने एताः स्त्रियः (लहुस्सिगत्ति) तुच्छाशयत्वादिना लब्धास्ततः किमित्याह। नो नैव ताभिः स्त्रीभिर्विनिहन्यात् विशेषणसंजमजीवितव्यव्यपरोषणा-त्मके नातिशयेन च सामस्त्यतदुच्छेदरूपेणातिपातयेदात्मानमिति गम्यते। कृत्यमाह चरेत् धर्म्मानुष्ठानमासेवेत। आत्मानं गवेषयेत् कथं मयात्मा भवान्निस्तारणीय इत्यन्वेषयेत ''आत्मगवेषकः सिद्धिस्वरूपापत्ति'' रिति वचनात्। सिद्धिर्वात्मा ततः कथं ममासौ स्यादित्यन्वेषकः आत्मगवेषको यद्वात्मानमेव गवेषयते इत्या-त्मगवेषकः किमुक्तं भवति चित्रालंकारशालिनीरपि स्त्रियोऽवलोक्य तद् दृष्टिन्यासस्य दुष्टतावगमात् झगिति ताभ्यो दृगुपसंहारत आत्मान्वेष्टैव भवति उक्तंहि ''चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं। भक्खरं पिव दट्ठुणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे''॥

संप्रति प्रतिमाद्वारं विवृण्वन् यस्यैताः परिज्ञाता इत्यादि सूत्रसूचितं चैदंयुगीनजनदार्ढ्योत्पादकं दृष्टान्तमाह॥

उसभ पुरं रायगिहं, पाडलिपुत्तस्स होइ उप्पत्ती।
णंदे सगडालथूल–भद्दसिरीयेगा बररुई य॥३६॥
तिण्हं अणगाराणं, अभिग्गहो आसि चउण्हमासाणं।
वसहीमेत्तनिमित्तं, को हिं उसिओ णिसामेह॥३७॥
गणियाघरम्मि एक्को, वितियो उसितो उ वग्घवसहीए।
ततितो सप्पवसहिए, को दुक्करकारओ एच्छ॥३८॥
वग्घो वा सप्पो वा, सरीरपीलाकरो उ वत्तव्वो।
णाणं च दंसणं वा, चारित्तं वा ण पच्चलो भेत्तुं॥३९॥
भगवं पि थूलभद्दो, तिक्खेचंकमि ओ ण पुण छिण्णो।
अग्गिसिहाए वत्थो, चाउम्मासे ण पुण दड्ढो॥४०॥
अन्नो वि य अणगारो, भणमाणो हंपि थूलभद्दसमो।
कंबलओ य चंदणियाए मईलितो एगराईए॥४१॥

(उभस गाथांषट्कं) वृषभपुरं राजगृहं पाटलिपुत्रस्य भवत्यु-त्पत्तिः नन्दः शगडालः स्थूलभद्रश्रीयकौ वररुचिस्त्रयाणा-मनगाराणामभिग्रह आसीत् (चउण्हमासाणं) सुवृवयत्याद्यचतुर्षु मासेषु वसमिमात्रनिमित्तं कः कुत्रोषितो निशामयत। गणिकागृहे एको, द्वितीय उषितस्तु व्याघ्रवसतौ, सर्प्पवसतौ तृतीयः, को दुष्करकारकोऽत्र तेषु मध्ये व्याघ्रो वा सर्प्पो वा शरीरपीडाकरस्तु वक्तव्यो ज्ञानं वा दर्शनं वा चारित्रं वा न प्रत्यलो भेत्तुं भगवानपि स्थूलभद्रस्तीक्ष्णे निशितासिधारादौचङ्क्रमितो न पुनः छिन्ने अग्निशिखायामुषितश्चातुर्मास्यां न पुनः दग्धः अन्यो पि चानगारो भणन्नहमपि स्थूलभद्रसमः कम्बलकश्चंदनिकायामुच्चारभूमौ मलिनित इति निर्युक्ति गाथाषट्काक्षरार्थः। एतदर्थस्तु वृद्ध-संप्रदायादवसेयः। उत्त०३ अ०॥ स च थूलभद्द–शब्दे) ''जहा थूलभद्दे णित्थिपरिसहो अहियासितो तहाहियासियव्वा ण उण तेण णाहियासिओत्ति'' उत्त०३ अ०(स्थूलभद्रकथा 'थूलभद्द शब्दे)

स्त्रीपरिषहोपपत्तौ किंविदध्यादित्याह –

से पभूतदंसी प भूतपरिण्णाणे उवसंते समिते सहिते सया जए दट्ठु विप्पडिवेदेति अप्पाणं किमेस जणो करिस्सति एस से परमारामो जाओ लोगंमि इत्थिओ मुणिणा हु एयं पवेदितं उवाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवेणीव्व लासए अविओमोदरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगामं दूइज्जा अवि आहारं वोच्छिंदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा पच्छा दंडा इच्चे ते कलहा संगकरा भवंति पडिलेहाए आगमेत्ता आणविज्जा अणासेवणाएत्ति बेमि।

(सेइत्यादि) स साधुः प्रभूतं प्रमादविपाकादिकमतीता-नागतर्वमानं वा कर्म्म विषाकं द्रष्टुं शीलमस्येति प्रभूतदर्शी सांप्रतेक्षितया न यत्किञ्चनकारीत्यर्थः। तथा प्रभूतं सत्व-रक्षणोपायपरिज्ञानं संसारमोक्षकारणं परिज्ञानं वा यस्य स प्रभूतपरिज्ञानः यथावस्थित-संसारस्वरूपदर्शीत्यर्थः। किञ्च उपशान्तः कषायानुदयादिन्द्रियनो-इन्द्रियोपशमाद्वा तथा पञ्चभिः समितिभिः समितः सम्यग् वा मोक्षमार्गमितस्स मितस्तथा ज्ञाना-दिभिः सहितः समन्वितः सह हितेन वा सहितः। सदा सर्वकालं यतः सदायतः। स एवंभूतो ऽप्रमत्तो गुरोरन्तिकमावसत् प्रमाद-जनितस्य कर्म्मणोन्तं विधत्ते स च स्त्र्याद्यनुकूलपरीषहोपपत्तौ किं विदध्यादित्याह (दट्ठूइत्यादि) दृष्ट्वा अवलोक्य स्त्रीजनमुप-सर्गकरणायोद्यतमात्मानं विप्रतिवेदयति पर्य्यालोचयति तद्यथा सम्यग्दृष्टिरस्मि तथोक्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारश-रच्छशांक-निर्म्मलकुललब्धजन्माकार्याकारणतयोत्थित इत्येवमात्मानं पर्य्यालोचयति तं च स्त्रीजनं किमेष स्त्रीजनो मम त्यक्तजीविताशस्यो-ज्झितैहिकसुखाभिलाषस्योपसर्गादिकं कुर्यादथवा वैषयिकसुखस्य दुःखप्रतीकाररूपत्वात्किमेष स्त्रीजनः सुखं विदध्यादन्यो वा पुत्रकलत्रादिको जनो मम मृत्युना जिघृक्षितस्य व्याधिना वा दित्सितस्य

किं तत् प्रतीकारादिकं कुर्यादिति यदिवैनं स्त्रीजनस्य स्वभावं चिन्तयेदिति सूत्रेणैव दर्शयति (एससे इत्यादि) स एष स्त्रीजन आरामयतीत्थारामः परमश्चासावारामश्च परमारामः ज्ञात तत्त्वमपि जनं हासविलासोपाङ्ग निरीक्षणादिभिर्विव्वोकैर्म्मो-हयतीत्यर्थः याः काश्चनास्मिँल्लोके स्त्रियस्ता मोहरूपाः विज्ञाय यावन्न परित्यजन्ति तावत् स्वत एष परित्यजेत् एतच्च तीर्थकरेण प्रवेदितमिति दर्शयितुमाह (मुणिणा इत्यादि) मुनिना श्रीवर्द्धमानस्वामिना उत्पन्नज्ञाननैतत् पूर्वोक्तं यथा स्त्रियो भावबन्धनरूपाः प्रवेदितं प्रकर्षणादौ व्याख्यातमिति एतच्च वक्ष्यमाणं प्रवेदितमित्याह (उव्वाहिज्ज इत्यादि) उत्प्राबल्येन मोहोदयाद्बाध्यमानः पीड्यमानः कैर्ग्रामधर्म्मैर्ग्रामाइन्द्रियग्रामा-स्तेषां धर्म्माः स्वभावा यथा स्वविषयेषु वर्त्तनं तैरुद्बाध्यमानो गच्छान्तर्गतः सन् गुर्वादिनानुशाश्यते कथमनुशाश्यत इत्यत आह (अवि इत्यादि) अपि संभावनायां निर्बलं निस्सारमन्तः प्रान्तादिकं यद्वव्यं तदाशक्तस्तद्भोजी स्याद्यदि वा निर्गतं बलं सामर्थ्यमस्येति निर्बलं एवंभूतः सन्नाशीतबलाभावे च ग्रामधर्म्मोपशमदर्शनाद्बल-हानिश्चाहारहान्या स्यादिति दर्शयति अप्पवमौदर्थं कुर्याद्यदि ह्यन्तप्रान्तासिनोपि न मोहोपशमः स्यात्ततस्तदपि वल्लचनकादिना द्वात्रिंशत् कवलमात्रं गृह्णीयात्तेनाप्यनुपशमे कायोत्सर्गादिना कायक्लेशं कुर्यादित्येतद्दर्शयति अप्पूर्व्वस्थानं तिष्ठेच्छीतोष्णादौ कायोत्सर्गेणातापनां कुर्यात्तेनाप्यनुपशमे ग्रामानुग्राममपि विहरेन्निष्कारणे विहारो निषिद्धो मोहोपशमनार्थन्तु कुर्यात् किम्बहुना येन येनोपायेन विषयेच्छा निवर्तते तत्तत्कुर्यात्पर्यन्ते आहारमपि व्यवच्छिन्द्यादपि पातमपि विदध्यात् अप्युदून्धनं कुर्यान्न च स्त्रीषु मनःकुर्यादित्याह (अवी इत्यादि) अपिः समुच्चये स्त्रीषु यन्मनःप्रवृत्तं तत्परित्यजेत तत्परित्यागे हि कामाद्विरूपा अपि दूरत एव परित्यक्ता भवन्त्युक्तञ्च ''कामा ! जानामि ते रूपं, सङ्कल्पात्किल जायसे। न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि'' किं पुनः कारणं स्त्रीषु मनो न विधेयमित्याह (पुव्वं इत्यादि) स्त्रीसङ्ग प्रसक्तानामपरमार्थदृशां पूर्वं प्रथममेव तत्सङ्गाविच्छेदार्थमर्थोपार्जनप्रवृत्तस्य कृषिवाणिज्यादिक्रियाः कुर्व्वतोऽगणितक्षुत्पिपासाशीतोष्णादिपरीषहस्यैहिकरूपाश्च दुःखे दण्डास्ते च स्त्रीसंभोगात्प्रथममेव क्रियन्त इति पूर्वमित्युक्तं पश्चाच्च विषयनिमित्तजनितकर्म्मविपाकापादितनरकादि दुःखविशेषाः स्पर्शा भवन्ति यदि वा स्त्र्याद्यकार्यप्रवृत्तस्य पूर्वं दण्डपाताः पश्चाद्धस्तपादच्छेदादिकाः स्पर्शा भवन्ति यदि वा पूर्वं स्पर्शाः पश्चाद्दण्डपाता इति अथवा पूर्वं दण्डास्ताडनादिकाः पश्चात् स्पर्शाः संबाधनालिङ्गनचुम्बनादिकास्तद्यथा बन्धानीतावरुद्धराजकुमारीगवाक्षक्षिप्तपतदाचीलग्रहणाद्राजपुरुषाव-लोकनताडनेन मूर्च्छिता राजकुमारी, तद्दर्शनतो वणिगिन्द्रदत्त स्थाग्रतो दण्डाः पश्चात् स्पर्शा इति। पूर्वं वा सुखादिस्पर्शाः पश्चाद्दण्डो ललिताङ्गकस्येवान्येषाञ्चोपपतीनामिति। किञ्च (इच्चेए इत्यादि) इत्येते स्त्रीसंबन्धाः कलहः संग्रामस्तत्रासङ्गः सबन्धः कलहासङ्ग स्तत्करा भवन्ति यदि वा कलहः क्रोध आसङ्गोराग इत्यतो रागद्वेषकारिणो भवन्ति यद्येवं ततः किं कुर्यादित्याह (पडिलेहाए इत्यादि) ऐहिका मुष्मिकापायतः स्त्रीसङ्ग प्रत्युपेक्षया (आगमितेत्ति) ज्ञात्वा आज्ञापयेदात्मानमनासेवनयेति इति अधिकार परिसमाप्तौ ब्रवीम्यहं तीर्थकरवचनानुसारेण।

दुःखं च ताः परिहर्त्तुमिति पुनरपि तत्परिहणोपायमाह –से णो काहिए णो पासणीए णो संपसारए णो ममाए णो कयकिरिए वयगुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जए सदा पावं एयं मोणं समणुवासेज्जासि त्ति वेमि॥

(से णो काहिएत्ति) स स्त्रीसङ्ग परित्यागी स्त्रीनेपथ्यकथां शृङ्गारकथां वा न कुर्यादेव च तास्त्यक्ता भवन्ति तथा (णो पासणीए) तासां नरकवीथीनां स्वर्गापवर्गमार्गार्गलानामङ्ग प्रत्यङ्गादिकेन पश्येद्यतस्तन्निरीक्ष्यमाणं महतेऽनर्थाय भवती त्युक्तं च ''सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां, लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव। भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते, यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति''। तथा (णो संपसारए) ताभि-र्नरकविश्रम्भूमिभिः सार्द्धं न संप्रसारणं पर्यालोचनमेकान्ते निजस्वस्त्रादिभिरपि कुर्यादित्युक्तञ्च ''मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोप्यत्र मुह्यती'' त्येवमादि। तथा (णो ममाए) न तासु स्वार्थपरासु ममत्वं कुर्यात्तथा (णो कयकिरिए) कृतानुष्ठिता तदुपकारिणी मण्डनादिका क्रिया येन सकृतक्रिय इत्येवंभूतो न भूयान्न स्त्रीणां वैयावृत्त्यं कुर्यात्काययोग निरोध इति भावस्तथा (वयगुत्ते) तथैताः शुभानुष्ठानपरिपन्थिनीर्न वाग्मात्रेणाप्यालापयेदिति वाग्योग-निरोधस्तथा (अज्झप्पसंवुडे) आत्मन्यध्यध्यात्म मनस्तेन संवृतोऽध्यात्मसंवृतः स्त्रीभोगादत्तमनाः सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्ध-मनोयोग एवं भूतश्चकिमपरं कुर्यादित्याह (परि इत्यादि) परिः समन्ताद्वर्जयेत् परिहरेत् सदा सर्वकालं पापं किल्विषं तदुपादानं वा कर्म्म उपसंहरणार्थमाह (एयं इत्यादि) एतद्यदुद्देशकादेरारभ्योक्तं मुनेरिदं मौनं मुनिभावो वा तदात्मनि समनुवास-येदात्मनि विदध्यात्। आचा०१ श्रु० अ०४ उ०२।

इत्थि(त्थी)परिसहविजय–पुं०(स्त्रीपरिषहविजय) एकान्तेष्वाराम-भवनादिप्रदेशेषु नवयौवनमदप्रमत्तासु शुभमनः– सङ्कल्पमपहरन्तीषु प्रमदास्वत्यन्तसंवृतेन्द्रियान्तःकरणस्याशुचि-कुणपपिण्ड एष इत्येवमशुभभावनावशतो यत्त द्गतललितहसितमृदुभाषणसविलास-निरीक्षणचङ्क्रमणादिरूपाणां मन्मथशराणां विफलताकरणमेष स्त्रीपरिषहविजयः। स्त्री-परिषहविफलताकरणे,। पं०सं०४ द्वा०॥

इत्थि(त्थी)पोसय–पुं०(स्त्रीपोषक) स्त्रियं पोषयन्तीति स्त्री-पोषकः। स्त्रीपोषकेऽनुष्ठानविशेषे, ''ओसियाओ वि इत्थि पोसे'' स्त्रियं पोषयन्तीति स्त्रीपोषकाः अनुष्ठानविशेषास्तेषूषिता अपि व्यवस्थिता अपि पुरुषा मनुष्या भुक्तभोगिनोऽपि स्त्रीणां वशं व्रजन्तीति। सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०॥

इत्थि(त्थी)पुंसलक्खणा–स्त्री०(स्त्रीपुंसलक्षणा) स्त्रीपुंसयोः लक्षणमस्याम्। स्तनश्मश्रुप्रभृतिस्त्रीपुरुषचिह्नधारिण्यां स्त्रीयाम् पोटायाम्,। अमरः॥

इत्थि(त्थी)भाव–पुं०(स्त्रीभाव) कटाक्षसंदर्शनादिके भावे, ''सिंगारियाइं इत्थिभावाइं उवदंसेमाणि'' शृङ्गाररसवत् स्त्रीस्वभावान् कटाक्षसन्दर्शनादीनीति। उपा०८ अ०।

इत्थि(त्थी)भोग–पुं०(स्त्रीभोग) स्त्रिया सहहास्यादिकरणे, तच्च जिनमन्दिरस्यान्तर्निषिद्धमिति। दर्श०॥

इत्थि(त्थी)मज्झगय–त्रि०(स्त्रीमध्यगत) ऊ ''इत्थीसु उभ-

योड्डियासु मज्झं भवति'' तत्र गते, मज्झं दोण्हंतगत इति। नि०चू०८ उ०॥

इत्थि(त्थी)रज्ज–न०(स्त्रीराज्य) स्त्रीस्वातन्त्र्ये, तच्चनिषिद्धमेव, स्त्रीराज्यस्थातिनिन्दनीयत्वमाह ॥

घणगज्जियहयकुहए, विज्जुदुग्गिज्ज गूढहिययाओ।
अज्जा अवारियाओ, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥९५॥

यत्र गच्छे आर्या (अवारिआओत्ति) अनिवारिताः अकृत्यं कुर्वन्तः तत्परिवर्तकेनानिषिद्धा निरङ्कुशा इत्यर्थः वर्तन्ते। कथंभूताः आर्या (घण गज्जिए इत्यादि) अत्र कुहकशब्देन धावतोऽश्वस्य उदरप्रदेशसमीपे संमूर्च्छिवायुविशेष उत्पद्यते स प्रोच्यते यत उक्तं परिशिष्टपर्वणि श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः। ''दध्यौ न स्वर्गकारोपि, चरितं योषितामहो। अश्वानां कुहकारावमिव को वेत्तुमीश्वरः ॥१॥ तथैकारोव्यत्यय-निर्देशश्चार्षत्वात्ततोऽयमर्थः। घनगर्हितहयकुहकवद्विद्युद्वच्चक्रमेण गूढं मायाकरण्ड-त्वेनाऽकलनीयाशयं दुर्ग्राह्यं चास्थिरत्वेन गृहीतुमशक्य-माशयं हृदयं यासां तास्तथा संभवति चार्याणामपि कासांचित् स्त्रीजातित्वेन एवंविधत्वे यत उच्यते स्त्रीमधिकृत्य लोकेपि– ''अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च स्त्रीणां चरित्रं भवितव्यतां च। अव-र्षणञ्चाप्यतिवर्षणं च देवो न जा नाति कुतो मनुष्यः ॥१॥ तथा'' जलमज्झे मच्छपयं, आगासे पक्खियाण पयपंती। महिलाण हिययमग्गो, तिन्नवि लोए न दीसंति ॥२॥ तथा। यदि स्थिरा भवेत् विद्युत्, तिष्ठन्ति यदि वाथवः। दैवात्तथापि नारीणां, न स्थेम्ना स्थीयते मनः ॥३॥ तत्स्त्रीराज्यमुच्यते न स गच्छ आर्याणां हि स्त्रीजातित्वेन सर्वकालं तथाविधपरिवर्तकपारतन्त्र्येणै-वावस्थानं समुचितं नतु स्वातन्त्र्येण कदाचिदपि यतो लोकेऽप्युच्यते– पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तु स्थविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति। ग०२ अधि०। (आर्य्याणां स्वातन्त्र्यनिषेधः अज्जा शब्दे विस्तरेण द्रष्टव्यः)॥

इत्थि(त्थी)रयण–न०(स्त्रीरत्न) पञ्चेन्द्रियरत्नाविशेषे, स्था०७ ठा०। स्त्रीरत्नमत्यद्भुतकाम सुखनिधानमिति। प्रव० २१४ द्वा० स्त्रीरत्नस्पर्शे लोकपुरुषस्य गलनं यदा स्त्रीरत्नं लोहपुरुषं स्पृशति तदा स गलति तत्कथमिति प्रश्नः। स्त्रीरत्नस्पर्शाल्लोह-पुरुषगलनमुत्कृष्टातिशयित-कामविकारजनित प्रबलोष्ण-तापविशेषादित्युत्तरम्। ही०।

इत्थि(त्थी)राग–पुं०(स्त्रीराग) भामिन्यभिलाषे,। द्वा०२६ द्वा०।

इत्थि(त्थी)रूव– स्त्रीरूप–स्त्र्याकारे,। तं०।

इत्थि(त्थ) लक्खण–न०(स्त्रीलक्षण) सामुद्रिकप्रसिद्धे (जं०) द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाविशेषे,। ज्ञा०१ अ०। ओघ०। कल्प०। स्त्रीलक्षणं रक्तकरचरणादिकम्। इति। तत्प्रतिपादके पापश्रुताध्ययने च। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

इत्थि(त्थी)लिंग–न०(स्त्रीलिङ्ग) स्त्रीया लिङ्गं स्त्रीलिङ्गम्। स्त्रीत्वे, तच्च त्रिधा वेदः शरीरनिर्वृत्तिः नेपथ्यं च। प्रज्ञा०१ पद। आ०म०प्र०। नं०। स्त्रिया इव लिङ्गं तत्कार्य्यं यस्य तत् स्त्रीलिङ्ग विहित-व्याकरणोक्तसंस्कारयुक्ते शब्दभेदे, पु०६ त० स्त्री० स च नदी महीत्यादिरिति–अनु०। चिह्नेन स्तनादौ न०। वाच०।

इत्थि(त्थी)लिंगसिद्ध पुं०(स्त्रीलिङ्गसिद्ध) स्त्रिया लिङ्गं स्त्रीलिङ्गं स्त्रीत्वस्योपलक्षणमित्यर्थः। तच्च त्रिधा। वेदः शरीरनिर्वृत्तिर्नेपथ्यं च। तत इह शरीरनिर्वृत्त्या प्रयोजनं न वेदनेपथ्याभ्यां वेदे सति सिद्धत्वाभावात् नेपथ्यस्य चा प्रमाणत्वात्। आह च नन्द्यध्ययनचूर्णिकृत ''इत्थीए लिंगं इत्थिलिंगं इत्थि उवलक्खणं ति वुत्तं भवइ तं च तिविहं वेदो सरीरनिव्वत्तीए नेवत्थे च इह सरीरनिव्वतीए अहिगारो न वेयनेवत्थे हिं ति''। ततस्तस्मिन् लिङ्गे वर्तमानाः सन्तो ये सिद्धास्ते स्त्रीलिङ्गसिद्धाः। प्रज्ञा०१ पद०। आ०म०प्र०। न०। सिद्धभेदे, तथा च ललितविस्तरायाम् (तीर्थसिद्धावतीर्थसिद्धतीर्थकरसिद्धा ऽतीर्थकरसिद्धाः स्वयं-बुद्धसिद्धप्रत्येकबुद्धसिद्ध बुद्धबोधितसिद्धान्प्रतिपाद्योक्तम्) एते च सर्वेपि स्त्रीलिङ्गसिद्धाः केचित्२ पुँल्लिङ्गसिद्धाः केचि-न्नपुंसकलिङ्गसिद्धाः इति आह तीर्थकरा अपि लिङ्गसिद्धा भवन्तीत्याह यत उक्तं सिद्धप्राभृते ''सव्वत्थो वा तित्थयरी सिद्धा तित्थगरितित्थणो तित्थगरसिद्धा संखेज्जगुणा इति'' ल०॥

स्त्रीणां सिद्धिर्यथा।

एगोवि णमुक्कारो, वीरवरवसहस्स वद्धमाणस्स।
संसारसागराओ, तारइ नरं व नारिं वा ॥

इति महावीरस्तुतिम्प्रतिपाद्योक्तम्। स्त्रीग्रहणं तासामपि तद्भव एव संसारक्षयो भवतीति ज्ञापनार्थं वचः। यथोक्तं यापनीतंत्रेण ''णो खलु इत्थि अजीवो, ण यासु अभव्वाणया वि दंस णविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिउप्पत्ती, णो असं खेज्जाउया, णो अइकूरमई, णोण उवसंतमोहा, णो ण सुद्धाचारा णो असुद्धबोंदि ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णोऽणवगुण-ट्ठाणरहिया, णो अजोग्गा लद्धिए, णो अकल्लाणभायणं ति, कहं न उत्तमधम्मसाहिगत्ति'' तत्र न खल्विति। नैव स्त्री अजीवो वर्तते। किन्तु जीव एव जीवस्य चोक्तमधर्म्मसाधकत्वाविरोधस्तथादर्शनात्। न जीवोऽपि सर्वउत्तम-धर्मसाधको भवत्य भव्येन व्यभिचारात्। तद्व्यपोहायाह न चास्वभव्यजातिप्रतिषेधोऽयं। यद्यपि काचिदभव्या तथापि सर्वे वाभव्या न भवति संसारनिर्वेदनिर्बाधधर्म्माद्वेषशुश्रूषादिदर्शनात्। भव्योऽपि कश्चिद्दर्शनविरोधी यो न सेत्स्यति तन्निरासायाह। नो दर्शनविरोधिनी। दर्शनमिह सम्यग्दर्शनं परिगृह्यते तत्वार्थ-श्रद्धानरूपं न तद्विरोधिन्येवास्तिक्यादिदर्शनात्। दर्शनाविरोधिन्यपि अमानुषी नेष्यत एव तत्प्रतिषेधायाह। नो अमानुषी। मानुष्यजातौ भावात्। विशिष्टकरचरणोरुग्रीवाद्यवयवसन्निवेशदर्शनात्। मानुष्यप्यनार्योत्प-त्तिरनिष्टा तदपनोदायाह॥ नो अनार्योत्पत्तिः अनार्येष्वप्युत्पत्तेः तथा तास्वदर्शनात्। आर्योत्पत्तिरप्यसंख्येययायुर्नाधिकृतसाधनायेत्येत-दधिकृत्याह। नो असंख्येयायुः। सर्वेव संख्येययायुर्युक्ताया अपि भावात् तथा दर्श-नात्। संख्येयायुरपि क्रूरमतिः प्रतिषिद्धा तन्निराचिकीर्षयाह। नातिक्रूरमतिः सप्तमनरकायुर्निबन्धनरौ द्रध्यनाभावात्॥ तद्व-त्प्रकृष्टशुभध्यानाभाव इतिवत्। न तेन तस्य प्रतिबन्धाभावात् तत्फलवदितरफलभावेनानिष्टप्रसङ्गात्। अक्रूरमतिरपि रति-लालसाऽसुन्दरैव तदपोहायाह। नो न उपशान्तमोहा काचिदुप-शान्तमोहापि संभवति तथा दर्शनात्। उपशान्तमोहाप्यशुद्धा-चारा गर्हिता तत्प्रतिक्षेपायाह। नो नशुद्धाचारा काचित् शुद्धाचारापि भवत्यौचित्येन पराकरणवर्जनाद्याचारदर्शनात्। शुद्धाचारापि शुद्धवो-

दिरसाध्वी तदपनोदायाह । नो अशुद्धबोदिः । काचित् शुद्धा तनुरपि भवति। प्राक्कर्म्मा तु वेद्यतः संसर्जनाद्यशुध्य दर्शनात्। कक्षास्तनादिदेशेषु शुद्धबोदिरपि व्यवसायावर्जिता निन्दितैव तन्निरासायाह । नो व्यवसायवर्जिता काचित्पर लोक व्यवसायिनी शास्त्रात्तत्प्रवृत्तिदर्शनात् सव्यवसायाप्य पूर्वकरणविरोधिन्येव तत्प्रतिषेधमाह । नो अपूर्वकरणविरोधिनी । अपूर्वकरणासंभव-स्य । स्त्रीजातावपि प्रतिपादितत्वात् । अपूर्वकरणवत्यपि नवगुणस्थानरहिता नेष्टसिद्धये इष्टसिध्यर्थमाह । नो नवगुणस्थानरहिता तत्संभवस्य तस्याः प्रतिपादितत्वान् । नवगुण स्थानसंगतापि लब्धयोग्या अकारणमधि-कृतविधिरित्येत्प्रतिक्षेपायाह। नायोग्या लब्धेः। आमर्षौषध्यादिरूपायाः कालौचित्येनेदानीमपि दर्शनात् कथं द्वादशाङ्ग प्रतिषेधः तथाविधविग्रहे ततो दोषात् । श्रेणिपरिणतौ तु कालगम्यवद्भावतो भावो विरुद्ध एव । लब्धियोग्याप्यकल्याणभाजनोपघातान्नाभिलषितार्थसाधना-यालमित्यत आह नाकल्याण भाजनं तीर्थकरजननात् नातः परं कल्याणमस्ति यतएवमतः कथं नोत्त मवर्म्मसाधिकेत्युत्तमधर्म्मसाधिकेव अनेनतत्तत्कालापेक्षयैता-वद्गुणसंयमान्वितैर्वोत्तमधर्म्मसाधिकेति विद्वांसः। केवल-साधकश्चायं सति च केवले नियमान्मोक्ष इति। ल०।

एतेन यदाहुराशाम्बराः— न स्त्रीयां निर्वाणमिति तदपास्तं द्रष्ट-व्यम्। स्त्रीनिर्वाणस्य साक्षादनेन सूत्रेणाभिधानात् । तत्प्रतिषेधस्य युक्त्यनुपपन्नत्वात् । तथाहि—मुक्तिपथो ज्ञानदर्शनचारित्राणि । ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति वचनात्'' सम्य-ग्दर्शनादीनि पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यविकलानि दृश्यन्ते। तथाहि दृश्यन्ते स्त्रियोऽपि सकलमपि प्रवचनार्थमभिरोचयमानाः जानते च षडावश्यककालि-कोत्कालिकादिभेदभिन्नं श्रुतं, परिपालयन्ति सप्तदशप्रकारमकल-ङ्कसंयमं, धारयन्ति च देवासुराणामपि दुर्द्धरं ब्रह्मचर्यं, तप्यन्ते च तपांसि मासक्षपणादीनि, ततः कथमिव न तासां मोक्षसंभवः।

(नग्रः)—एतदस्ति स्त्रीणां सम्यग्दर्शनं ज्ञानं वा न पुनश्चारित्रं संयमाभावात् तथाहि स्त्रीणामवश्यं वस्त्र परिभोगेन भवितव्यमन्यथा विवृताङ्ग्यस्ता-स्तिर्यक् स्त्रिय इव पुरुषाणामभिभावनीया भवेयुः। लोके च गर्होपजायेत ततोऽवश्यं ताभिर्वस्त्रं परिभोक्त-व्यम् । वस्त्रपरिभोगे च सपरिग्रहता सपरिग्रहत्वे च संयमाभाव इति ॥

(सैद्धान्तिकः) तदसमीचीनं सम्यक् सिद्धान्तापरिज्ञानात्परिग्रहो हि परमार्थतो मूर्च्छाभिधीयते ''मुच्छा परिग्गहो वुत्तो'' इति वच-नात्। तथाहि मूर्च्छा रहितो भरतश्चक्रवर्ती सान्तः पुरोप्या दर्शकग्रहेऽवतिष्ठमानो निष्परिग्रहो गीयते। अन्यथा केवलोत्पादो न संभवेत्। अपिच—यदि मूर्च्छाया अभावेऽपि वस्त्र संसर्गमात्रं परिग्रहो भवेत्ततो जिनकल्पप्रतिपन्नस्य कस्य चित्साधोस्तुषारकणानुषक्के प्रपतति शीते केनाप्यविषह्योपनिपातमद्यशीतमिति विभाव्य धर्मार्थिना शिरसि वस्त्रे प्रक्षिप्ते तस्य सपरिग्रहता भवेत्। नचैतदिष्टं तस्मान्न वस्त्रसंसर्गमात्रं परिग्रहः किन्तु मूर्च्छा । सा च स्त्रीणां वस्त्रादिषु न विद्यते धर्मोपकरणमात्रतया तस्योपादानात्। न खलु ता वस्त्रमन्तरेणात्मानं रक्षयितुमीशते नापि शीतकालादिषु वाग्दशायां स्वाध्यायादिकं कर्तुं ततो दीर्घतरसंयमपरिपालनाय यतनया वस्त्रं परिभुञ्जाना न ताः परिग्रहवत्यः। अथोच्येत संभवविनाम स्त्रीणामपि सम्यग् दर्शनादिकं रत्नत्रयं परं न तत्संभवमात्रेण मुक्तिपदप्रापकं भवति किन्तु प्रकर्षप्राप्तमन्यथा दीक्षानन्तरमेव सर्वेषामप्यविशेषेण मुक्तिपद-प्राप्तिप्रसक्तिः सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयप्रकर्षश्च स्त्रीणामसम्भवी ततो न निर्वाण-मिति। तदप्य युक्तं स्त्रीषु रत्नत्रयप्रकर्षस्सम्भवति सम्भवग्राहकं प्रमाणं विजृम्भते देशकालविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्तौ चानुमानस्याप्यसम्भवात्। नापि तासु रत्नत्रयप्रकर्षा-सम्भवप्रतिपादकः कोप्यागमो विद्यते प्रत्युत सम्भवप्रतिपादकः स्थाने २ ऽस्ति यथा इदमेव प्रस्तुतं सूत्रं ततो न तासां रत्न-त्रयप्रकर्षासम्भवोऽथ मन्येथाः स्वभावत एवातपनेवेच्छया विरुध्यते स्त्रीत्वेन सह रत्नत्रयप्रकर्षस्ततस्तद संभवोनुमीयते तदयुक्तमुक्तं युक्तिविरोधात् तथाहि रत्नत्रयप्रकर्षः स उच्यते ततोऽनन्तरमुक्तिपदप्राप्तिः स चायोग्यवस्था चरमसमयभावी अयोग्यवस्थाचास्मादृगप्रत्यक्षा ततः कथं विरोधगतिः नहि अदृष्टेन सह विरोधःप्रतिपत्तुं शक्यते मा प्रापत पुरुषेष्वपि प्रसङ्गः ॥

(नग्रः) ननु जगति सर्वोत्कृष्टपदप्राप्तिः सर्वोत्कृष्टेनाध्यवसाये नावाप्यते नान्यथा एतचोभयोरप्यावयोरागमप्रामाण्यबलतः सिद्धम् । सर्वोत्कृष्टदुःखस्थानं सर्वोत्कृष्टसुखस्थानं च। तत्र सर्वोत्कृष्टदुःखस्थानं सप्तमनरकपृथ्वी अतः परं परमदुःखस्थानस्याभावात् । सर्वोत्कृष्टसुखस्थानं तु निःश्रेयसम्। तत्र स्त्रीणां सप्तमनरकपृथिवीगम-नमागमे निषिद्धं निषेधस्य च कारणं तद्गमनयोग्यतथाविधसर्वोत्कृष्ट-मनोवीर्यपरिणत्यभावः । ततः सप्तमपृथिवीगमनवत्त्वाभावात् संमूर्च्छिमादिवत् । अपिच यासां वादलब्धौ विकुर्वणत्वादिलब्धौ पूर्वगतश्रुताधिगतौ च न सामर्थ्यगतिस्तासां मोक्षगमन सामर्थ्यमित्यति दुःश्रद्धेयम्॥

(सैद्धन्तिकः) तदेतदयुक्तं यतो यदि नाम स्त्रीणां सप्तमनरकपृथिवीगमनं प्रति सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावस्तत एतावता कथमवसीयते नि श्रेयसमपि प्रति तासां सर्वो-त्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावो ? नहि यो भूमिकर्षणादिकं कर्म कर्तुं न शक्नोति स शास्त्राण्यप्यवगाढं न शक्नोतीति प्रत्येतुं शक्यं प्रत्यक्षविरोधात् । अथ संमूर्च्छिमादिषूभयत्रापि सर्वोत्कृ ष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावो दृष्टस्ततोत्रावसीयते। ननु यदि तत्र दृष्टस्तर्हि कथमात्रावसीयते न खलु बहिर्व्याप्तिमात्रेण हेतुर्गमको भवति किंत्वन्तर्व्याप्तया, अन्तर्व्याप्तिश्च प्रतिबन्धबलेन। नचात्र प्रतिबन्धो विद्यते न खलु सप्तमप्रथिवीगमनं निर्वाणगमनस्य कारणम् नापि सप्तमपृथिवीगमनाविनाभाविनिर्वाणगमनम् चर मशरीरिणां सप्तमपृथि-वीगमनमन्तरेणैव निर्वाणगमनाभावात्। न च प्रतिबन्धमन्तरेण एकस्याभावेऽन्यस्यावश्यमभावो मा प्रापत् यस्य तस्य वा कस्यचिदभावे सर्वस्याभावप्रसङ्गः। यद्येवं तर्हि कथं सम्मूर्च्छिमादिषु निर्वाणगमनाभाव इति। उच्यते—तथा भवस्वाभाव्यात्। तथाहि संमूर्च्छिमादयो भवस्वभावत एव न सम्यग्दर्शनादिकं यथावत्प्रतिपत्तुं शक्यन्ते ततो न तेषां निर्वाण संभवः। स्त्रियस्तु प्रागुक्तप्रकारेण यथा वत्सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयसम्प-द्योग्या-स्ततस्तासां न निर्वाणगमनाभावः । अपिच भुजपरिसर्प्पाः द्वितीयामेव पृथिवीं यावद्गच्छन्ति न परतः परपृथिवीगमनहेतुस्तथारू-पमनोवीर्यपरिणत्यभावात् तृतीयां यावत् पक्षिणश्चतुर्थीं चतुष्पदाः पञ्चमीमुरगाः। अथ च सर्वेष्यूर्द्धमुत्कर्षतः सहस्रारं यावद्गच्छन्ति तत्राधोगतिविषयं मनोवीर्यपरिणमिवैषम्यादर्शना-दूर्ध्वगतावपि च न तद्वैषम्यम् । आह च ''विषमगतयोप्यधस्ता—दुपरिष्टात्तुल्यमा-

सहस्रारम् । गच्छन्ति च तिर्यञ्च-स्तदधोगत्थूनता हेतुः ॥१॥ तथाच सति सिद्धं स्त्रीपुंसामधोगतिवैषम्येऽपि निर्वाणं समम् । यदप्युक्तमपि च यासां वादलब्धावित्यादि तदप्यश्लीलं वादविकुर्वणत्वादिल-ब्धिविरहेपि विशिष्टपूर्वगतश्रुताभावेऽपि मानुषादीनां निःश्रेयसपदाधिगमश्रवणादाहच वादविकुर्वण-त्वादिलब्धि-विरहश्रुते कनीयसि च जिनकल्पमनः पर्यवविर-हेऽपि न सिद्धिविरहोऽस्ति । अपिच यदि वादादिलब्धिभाववत् निःश्रेयसाभावोऽपि स्त्रीणामभविष्यत् ततस्तथैव सिद्धान्ते प्रत्यपादयिष्यत् यथा जंबुयुगद्वारात् केवलज्ञानाभावो, न च प्रतिपाद्यते तस्मादुपपद्यते स्त्रीणां निर्वाणमिति कृतं प्रसङ्गेन । प्रज्ञा०१ पद० नं०॥

रत्नावतारिकायामपि अथ दिक्पटाः प्रकटयन्ति भवत्वेता-दृशस्वरूपो मोक्षः स उपात्तस्त्रीशरीरस्यात्मनः इति न मृष्यामहे । न खलु स्त्रीयो मुक्तिभाजो भवन्ति । तथाच प्रभाचन्द्रः । स्त्रीणां न मोक्षः पुरुषेभ्यो हीनत्वान्नपुंसकादिवदिति । अत्र ब्रूमः सामान्येनात्र धर्मित्वेनोपात्ताः स्त्रियो विवादास्पदीभूता वा प्राचि पक्षे पक्षैकदेशसिद्धसाध्यता असंख्यातवर्षायुष्कदुःषमादिकालो-त्पन्नतिरश्चीदेव्यभव्यादिस्त्रीणां भूयसीनामस्माभिरपि मोक्षा-भावस्याभिधानात्, द्वितीये तु न्यूनता पक्षस्य विवादास्पदीभूतेति विशेषणं विना नियतस्त्रीलाभाभावात् । प्रकरणादेव तल्लाभे पक्षोपादनमपि तत एव कार्यं न स्यात् तथाप्युपादाने नियतस्यैव तस्योपादानमवदातं यथा धानुष्कस्य नियतस्यैव लक्षस्यो-पदर्शनमिति हेतूकृतः पुरुषादकर्षोऽपि योषितां कुतस्त्यः किं सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयाभावेन विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वेन पुरु-षानभिवन्द्यत्वेन स्मारणाद्यकर्तृत्वेनामहर्द्धिकत्वेन माया-दिप्रकर्षकत्वेन वा । प्राचि प्रकारे कुतः स्त्रीणां रत्नत्रयाभावः सचीवरपरिग्रहत्वेन चारित्राभावादिति चेत्तदचतुरस्रम् । यतः परिग्रहरूपता चीवरस्य शरीरसंपर्कमात्रेण परिभुज्यमानत्वेन मूर्च्छाहेतुत्वेन वा भवेत् । प्रथमपक्षे क्षित्यादिना शरीरसंपर्किणाप्य परिग्रहेण व्यभिचारः । द्वितीयप्रकारे चीवरपरिभोगस्तासाम-शक्यत्यागतया गुरूदेशशाद्वाः । नाद्यः पक्षो यतः संप्रत्यपि प्राणानपि त्यजन्त्यो याः संदृश्यन्ते तासामेकान्तिकात्यन्तिका नन्दसंपदर्थिनीनां बाह्यचीवरं प्रति का नामाशक्यत्यागता । नग्नयोगिन्यश्च काश्चिदिदानीमपि प्रेक्ष्यन्त एव द्वितीयपक्षोऽपि न सूक्ष्मः यतो विश्वजनीनेन विश्वदर्शिना परमगुरुणा भगवता मुमुक्षुपक्ष्मलाक्षीणां यदेव संयमोपकारि तदेव चीवरोपकरणं ''नो कप्पइ निग्गंथीए अवेलाए होत्तएत्यादिनो पदिष्टं प्रतिलेखनकमण्डलूप्रमुखवदिति कथं तस्य परिभोगात्परिग्रहरूपता प्रतिलेखनादिधर्मोपकरणस्यापि तत्प्रसङ्गात । तथा च यत्संयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमेतदुपकरणं धर्म्मस्य हि तत्साधनमोऽन्यदधिकरणं महार्हन् उपकारकं हि करणमुपकरणम् अधिक्रियन्ते घाताय प्राणिनोऽस्मिन्नि-तित्वधिकरणम् अथ प्रतिलेखनं तावत्संयमप्रतिपालनार्थं भगवतोपदिष्टं वस्त्रं तु किमर्थमिति तदपि संयमप्रतिपालनार्थमेवेति ब्रूमः । अभिभूयन्ते हि प्रायेणाल्पसत्वतया विवृताङ्गोपाङ्गसंदर्शनजनितचित्तभेदैः पुरुषैरङ्गना अकृतप्रावरणा घोटिका इव घोटकैः । ननु यासामतितुच्छसत्वानां प्राणिमात्रेणाप्यभिभवस्ताः कथं सकलत्रैलोक्याभिभावककर्मरा-शिप्रक्षयलक्षणं मोक्षं महासत्वप्रसाध्यं प्रसाधयन्तीति चेत्तदयुक्तम् यतो नात्र शरीरसामर्थ्यमतिरिक्तं यस्य भवति तस्यैव निर्वाणोपार्यजनगोचरेण सत्वेन भवितव्यमिति नियमः समस्त्यन्यथा षड्गुवामनात्यन्तरोगिणः पुमांसोपि स्त्रीभिरभिभूयमाना दृश्यन्त इति तेऽपि तुच्छशरीरसत्वाः कथं तथाविध सिद्धिनि बन्धनसत्वकभाजो भवेयुः । यथा तु तेषां शरीरसामर्थ्यासत्वेऽपि मोक्षसाधनसामर्थ्यमविरुद्धं तथा स्त्रीणामपि । सत्यपि वस्त्रे मोक्षाभ्युपगमे गृहिणः कुतो न मोक्ष इति चेन्ममत्वसद्भावान्नहि गृही वस्त्रे ममत्वरहितो, ममत्वमेव परिग्रहः । सति हि ममत्वे नग्नोऽपि परिग्रहवान् भवति शरीरेपि तद्भावात् । आर्यिकायाश्च ममत्वाभावादुपसर्गाद्यासक्तमिवाम्बरमपरिग्रहः । न हि यतेरपि ग्रामं गृहं वनं वा प्रतिवसतो ममत्वादन्यच्छरणमस्ति नच निगृहीतात्मनां महात्मनां कासां चित्कचिदपि मूर्च्छास्ति । तथाहि ''निर्वाण-स्त्रीप्रभवपरप्रीतिती व्रस्पृहाणां, मूर्च्छा तासां कथमिव भवेत्कापि संसारभागे । भोगे रागे रहसि सजने सङ्गने दुर्जने वा, यासां स्वान्तं किमपि भजते नैव वैषम्यमुद्राम् । उक्तञ्च ''अवि अप्पणो विदेहंमि, नायरंति ममाइयंति'' एतेन मूर्च्छा हेतुत्वेनेत्यपि पक्षः प्रतिक्षितः शरीरवचीवरस्यापि काश्चित्प्रति-मूर्च्छाहेतुत्वाभावेन परिग्रहरूपत्वाभावात् । तन्न सम्यग् रत्नत्रयाभावेन स्त्रीणां पुरुषेभ्योपकर्षः नापि विशिष्टसामर्थ्या-सत्वेन, यतस्तदपि तासां किं सप्तमपृथ्वीगमनाभावेन वादा-दिलब्धिरहितत्वेनाल्पश्रुतत्वेनानु-पस्थाप्यता पाराञ्चित-शून्यत्वेन वा भवेत् । न तावदाद्यः पक्षो यतोऽत्र सप्तम-पृथ्वीगमनाभावो यत्रैव जन्मनि तासां मुक्तिगामित्वं तत्रैवोच्यते सामान्येन वा प्राचि पक्षे चरमशरीरिभिरनेकान्तः । द्वितीयेत्वयमाशयो यथैव स्त्रीणां सप्तमपृथ्वीगमनसमर्थतीव्रतराशुभपरिणामे सामर्थ्या-भावादपकर्षस्तथा मुक्तिगमनयोग्योत्कृष्टशुभपरिणामेऽपि चरमशरीरि-णान्तु प्रसन्नचन्द्रप्रानर्षिप्रमुखाणामुभयत्रापि सामर्थ्यान्नैकत्राप्यपकर्ष-स्तदयुक्तं यतो नायमविनाभावः प्रामाणिको यदुत्कृष्टा-शुभगत्युपार्जनसामर्थ्याभावे सत्यु त्कृष्टशुभगत्युपार्जनसामर्थ्येनापि न भवितव्यम् । अन्यथा प्रकृष्टशुभगत्युपार्जनसामर्थ्याभावे प्रकृष्टाशुभ-गत्युपार्जनसामर्थ्यं नास्ती-त्यपि किं न स्यात्तथा चाभव्यानां सप्तमपृथिवीगमनं न भवेत् । अथ वादादिलब्धिरहितत्वेन स्त्रीणां विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वं यत्र खल्वैहिकवादिविक्रिया चारणादिलब्धीनामपि हेतुः संयमविशेषरूपं सामर्थ्यं नास्ति तत्र मोक्षहेतुस्तद्भविष्यतीति कः सुधीः श्रद्दधीत तदचारु व्यभिचारात् । मासतुषादीनां तदभावेपि विशिष्टसामर्थ्योपलब्धेः । नच लब्धीनां संयमविशेषहेतुक-त्वमागमिकं कर्मोदयक्षयक्षयोपशमोपशमहेतुकतया तासां तत्रोदितत्वात्तथा चावाचि ''उदयखयखउवसमोवसमस-मुत्थाबहुप्पगाराउ । एवं परिणामवसा, लद्धीओ हवंति जीवाणं'' चक्रवर्त्तिबलदेववासुदेवत्वादिप्राप्तयोऽपि लब्धयो नच संयम सद्भावनिबन्धनात्तत्प्राप्तिः सन्तु वा तन्निबन्धना-ल्लब्धयस्तयापि स्त्रीषु तासां सर्वासामभावोऽभिधीयते नियतानामेव वा । नाद्यः पक्षश्चक्रवर्त्यादिलब्धीनां कासांचिदेव तासु प्रतिषेधादाम-र्षौषध्यादीनां तु भूयसीनां भावात् । द्वितीयपक्षे तु व्यभिचारः पुरुषाणां सर्ववादादिलब्धयभावेऽपि विशिष्टसामर्थ्यस्वीकारात् । अकेशवानामेवा-तीर्थकरचक्रवर्त्यादीनामपि च मोक्षसंभवात् अल्पश्रुतत्वमपि मुक्त्यवाप्त्यानुमितविशिष्टसामर्थ्यामसतुषादिभिरेवानैकान्तिक-मित्यनुद्घोष्यमेव । अनुपस्थाप्यता पाराञ्चितकशून्यत्वेनेत्यप्ययुक्तं, यतो न तन्निषेधाद्विशिष्टसामार्थ्याभावः प्रतीयते योग्यतापेक्षो हि चित्रः शास्त्रे वि-

शुध्युपदेः उक्तंच । संवरनिर्जररूपो बहुप्रकारस्तोविधिः शास्त्रो रोगचिकित्साविधिवत्कस्यापि कथं चिदुपकारी'' पुरुषान भिवन्द्यत्वमति योषितां नापकर्षाय । यतस्तदपि सामान्येन गुणाधिकपुरुषापेक्षं वा । आद्ये असिद्धतादोषः तीर्थकरजनन्यादयो दि पुरंदरादिभिरपि प्रणताः किमङ्ग ! शेषपुरुषैः । द्वितीये तु शिष्या अपि आचार्यैर्नाभिवन्द्यन्त एवेति ते ति ततोऽपकृष्यमाणत्वेन निर्वृत्तिभाजो न भवेयुः । नैचवं चण्डरुद्रादिशिष्याणां शास्त्रे तच्श्रवणादिति मूलहेतोर्व्यभिचारः । एतेन स्मरणाद्यकर्तृत्वमत्र विवक्षितं नतु स्मारणाद्यकर्तृत्वमात्रम् । न च स्त्रियः कदाचन पुंसां स्मारणादीन् कुर्वन्तीति न व्यभिचार इति चेत्तर्हि पुरुषेति विशे-षणं करणीयं करणेप्यसिद्धतादोषः स्त्रीणामपि कासां-चित्पारगतागमरहस्यवासितसमधातूनां क्षपितथाविधावसरे समुच्छृं खलप्रवृत्तिपराधीनसाधुस्मारणादेरविरोधात् । अथा-महर्द्धिकत्वेन स्त्रीणां पुरुषेभ्योऽपकर्षः सोऽपि किमाध्यात्मिकी समृद्धिमाश्रित्य बाह्यां वा । नाध्यात्मिकीं सम्यग्दर्शना-दिरत्नत्रयादेस्ता-सामपि सद्भावात् । नापि बाह्या मेवं हि महत्वायस्तीर्थकरलक्ष्म्या गणधारदयश्चक्र धरादिलक्ष्म्याश्चेतरक्षत्रियादयो न भाजनमिति तेषामप्यमहर्द्धिकत्वेनाप-कृष्यमाणत्वान्मुक्त्यभावो भवेत् । अथ यासौ पुरुषवर्गस्यमहती समृद्धिस्तीर्थकरत्वलक्षणा सा स्त्रीषु नास्तीत्यमहर्द्धिकत्वमासां विवक्ष्यते तदानीमप्यसिद्धता स्त्रीणामपि परमपुण्यपात्रभूतानां कासांचित्तीर्थकृत्त्वाविरोधात्तद्विरोधसाधक-प्रमाणस्य कस्याप्यभावादेतस्याद्यापि विवादास्पदत्वादनुमानान्तरस्य चाभावात् । मायादिप्रकर्षवर्त्त्वनत्यप्यप्रशस्यं तस्य स्त्रीपुंसयोस्तुल्यत्व-दर्शनादागमे च श्रवणात् श्रूयते हि चरमशरीरिणामपि नारदादीनां मायादिप्रकर्षवत्त्वं तत्र पुरुषेभ्यो हीनत्वं स्त्री निर्वाणनिषेधे साधीयान् हेतुः यत्पुनर्निर्वाणकारणं ज्ञाना-दिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्सप्तमपृथ्वी-गमनकारणापुण्यपरमप्रकर्षवदिति तेनैवोक्तं तत्र मोहनीय-स्थितिपरमप्रकर्षेण स्त्रीवेदादिपरमप्रकर्षेण च व्यविभाचर : नास्ति स्त्रीणां मोक्षः परिग्रहवत्त्वात् गृस्थवदित्यपि न पेशलं धर्मो-पकरणचीवरस्यापरिग्रहत्वेन प्रसाधितत्वादिति स्त्रीनिर्वाणे संक्षेपेण बाधकोद्धारः । साधकोपन्यासस्तु मनुष्यस्त्री काचिन्निर्वात्य-विकलतत्कारणत्वात्पुरुषवत् । निर्वाणस्य हि कारणमविकलं सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयं तच्च तासु विद्यत एवेत्यादि एवोक्तमि ति ।नासिद्धमेताद्विपक्षान्नपुंसकादेरत्यन्तव्यावृत्तत्वान्न विरुद्ध-मनैकान्तिकं वा तथा मनुष्यस्त्रीजातिः कयाचिद्व्यक्तया मुक्तयविकलकारणवत्या तद्वती प्रव्रज्याधिकारित्वात्पुरुषवत् । न चैतदसिद्धं साधनं ''गुव्वणी बालवच्छा य पव्वावेउं न कप्पइ इति'' सिद्धान्तेन तासां तदधिकारित्वप्रतिपादनाद्विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानान्तरीयकत्वात् दृश्यन्ते च सांप्रातमप्येताः-कृतशिरोलुञ्चना उपात्तपिच्छिका कमण्डलुप्रमुखयतिलिङ्गाश्चेति कुतो नैतासां प्रव्रज्याधिकरित्वसिद्धिर्यतो न मुक्तिः स्यादिति । रत्ना० । ७ परि० ॥

इत्थि(त्थी)लिंगसिद्धकेवलनाण–स्त्रीलिंगसिद्धकेवलज्ञान न० स्त्रीलिंगे वर्तमाना ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं स्त्रीलिंगसिद्ध-केवलज्ञानम् । केवलज्ञानभेदे, । आ०म०प्र० । इत्थिलिंगेण सिद्धाणं जं नाणं तं इत्थिलिंगसिद्धकेवलनाणिंति । आ० चू० १ आ० ॥

इत्थि(त्थी)वउ–स्त्री (स्त्रीवाक्) खट् वालतेत्यादिलक्षणायां स्त्रीलिंङ्गप्रतिपादिकायाम्भाषायाम्, – प्रज्ञा० ११ पद० ॥

इत्थि(त्थी)वयण–न० (स्त्रीवचन) वचनभेदे, स्त्रीवचनं वीणा कन्यादीति । आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० । प्रज्ञा० ॥

इत्थि(त्थी)वस–पु० (स्त्रीवश) ६ त० स्त्रीवशीभूते, ख्यायत्त तायां च । वाच० । व्य० । ''इत्थी वसंगथा बाला'' स्त्रीय शङ्क ता यतो युवतीनामाज्ञायां वर्तन्ते बाला अज्ञा रागद्वेषोपहतचेतस इति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

स्त्रीवसङ्गतानासधमत्वञ्च यथा–

सडंगुलि वगुड्डावे, किंकरे तित्थण्हायए चेव ।
गद्धावरं खिहद्दण्ण, एएपुरिसाधमाछत्त ॥

जदा इत्थी भणितो रधेहिं तदा भणंति अहं उट्ठेमि ताव तुमं अधिकरणीति त्थारं अवणेहित्ति तस्स त्थारे अवणीते सडंगुलीतो भणति इत्थीवयणाओ दग माणेति सो य लोगसं कितो अप्पभाए व सुहसुत्ते पगे रोडेंतो आणेतित्ति वग्गु डावो किंकरो पभाते उत्थितो इत्थी भणति किंकरेमि त्ति जं भणति तं करेतित्ति तित्थण्हाय तो जयासि णं मग्गति च तदा इत्थी भणति गच्छा तडागं तत्थ ण्हातो कल सं भरेतुमा गच्छाहित्ति गद्धावरंखी भोयणकाले परिवेसणाए इतो वाहित्ति भणिताहे गिद्धो इवरिक्खंतो भोयणं उट्ठेत्ति इत्थी भणितो कम्मं करेहित्ति ताहे पडिभणति हंद अण्णयं हंदत्ति गेण्ह अत्तयं पुत्तभडं एयं गेण्ह जा कम्मं करेमीत्यर्थः । एतेत्थ पुरिसा अधमा । नि० चू० १५ उ० ।

धिं तेसिं गामनगराणं, जेसिं इत्थी पणायिगा ।
ते य धिक्कया परिसा, जे इत्थीण बसंगया ॥

धिग्गिन्दायां तेषां ग्रामनगराणां येषां स्त्रीप्रणायिका प्रकर्षेण स्वतन्त्रतया नायिका अत्र धिग्योगे द्वितीयाप्राप्तावपि षष्ठी प्राकृतत्वात्तथा तेऽपि पुरुषा धिक्कृता धिक्कारं प्राप्तवन्तो ये स्त्रीणां वशमायत्ततां गताः । तथा ।

इत्थीओ बलवं जत्थ, गामेसु नगरेसु वा ।
सो गामो नगरं वादी, खिप्पमेव विणिस्सई ॥

यत्र ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रीयो बलवत्यः स ग्रामो नगरं वा क्षिप्रमेव विनश्यति । बहुवचनेनोपसंहारो जातौ बहुवचनमेकवचनं भवतीतिः ज्ञापनार्थः ॥ व्य० प्र० १ उ० ।

इत्थि(त्थी)विग्गह–पु० (स्त्रीविग्रह) स्त्रीशरीरे, । व्य०–प्र० २ उ० । आचा० ।

इत्थि(त्थी)विण्णवणा–स्त्री० (स्त्रीविज्ञापना) युवतिप्रार्थनायाम्, (रमणीसम्बन्धे) सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० (अत्र दोषादोषविचारः इत्थी शब्दे)

इत्थि(त्थी)विप्पजह–पु० (स्त्रीविप्रजह) त्रियो विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण च जहाति त्यजतीति स्त्रीविप्रजहः उणादयो बहुलमिति बहुलवचनाच्छः । स्त्रीपरित्यागवति, ''नारीसु नो पगिज्झिज्जा इत्थीविप्पजहे अणगारे'' इति–उत्त० ८ अ० ।

इत्थि(त्थी)विप्परियासिया–स्त्री० (स्त्रीविपर्य्यासिका) स्वाप्रान्ति-कक्रियाविशेषे, ''इत्थिए विप्परियासो इत्थी-विपरियासो । स्वप्ने स्त्रिया ब्रह्मचर्य्यविनाश इत्यर्थः विपर्य्यासो नाम अबंभचरेमिति'' आ० चू० ४ अ० ॥

इत्थि(त्थी)विलोयण–न० (स्त्रीविलोचन) तैतिलापरनामधेये चलसंज्ञके करणभेदे, विशे० (तदानयनादिकरणशब्दे वक्ष्यते)

इत्थि(त्थी)वेय–पु० (स्त्रीवेद) स्त्रियं यथावस्थितस्वभावतस्तत्सम्बन्धविपाकतश्च वेदयति ज्ञापयतीति स्त्रीवेदः। वैषयि कादिके स्त्रीस्वभावाविर्भावके कामशास्त्रे, । ''सुपुरिसा इत्थिवेय खेयण्णा'' स्त्रीवेदे खेदज्ञाः स्त्रीवेदो मायाबहुल इति निपुणा अपि स्त्रीणंवशं व्रजन्तीति। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। वेद्यत इति वेदः स्त्रियाः वेदः स्त्रीवेदः स्त्रियाः पुमांसं प्रत्यभिलाष। तद्विपाकवेद्यं कर्म्माऽपि स्त्रीवेदः स्त्रियाः पुमांसं प्रत्यभिलाषः। तद्विपाकवेद्ये नोकषा यवेदनीयकर्म्मविशेषे च। प्रज्ञा० २३ पद०। यद्वशात्स्त्रियाः पुरुषं प्रत्याभिलाषो भवति। यथा रिपित्तवशान्मधुरद्रव्यं प्रति स फुंफमदि हसंमः यथा २ ज्वाल्यते तथा २ ज्वलति दहति च एवमबलापि यथा २ संस्पृश्यते पुरुषेण तथा २ अस्या अधिकतरोऽभि लाषो जायते भुज्यमानायान्तु छन्नकारीषदाहतुल्योऽभि लाषो मन्द इति स्त्रीवेदोदयः। कर्म्म०। स्था०। पं० सं०। सम्प्राप्तः स्त्रीवेदकर्मोदयजनितो यः स्त्रीवेद सकिंस्वरूप इत्यावेदयन्नाह।

इत्थिवेदेणं भंते ! किंपकारे पं० गो० फुंफअग्गिसमाणे पण्णत्ते सेत्तं इत्थियाओ ॥

(इत्थीवेदे णं भंते इत्यादि) स्त्री वेदणमिति पूर्ववत् भदन्त-किंप्रकारः किंस्वरूपः प्रज्ञप्तः। भगवानाह गौतम ? फुंफुकाग्नि समानः फुंफुका शब्दो देशीरूपत्वात् कारिषवाचकस्ततः कारिषा-ग्निसमानः परिमलनमदनदाहरूप इत्यर्थः प्रज्ञप्तः। जी० २ प्रति०॥ (स्त्रीवेदस्य स्थितिः ठिई शब्दे। स्त्रीणां स्वभावादि इत्थी शब्दे)॥

इत्थि(त्थी)वेयण्ण–पुं० (स्त्रीवेदज्ञ) स्त्रीवेदो मायाप्रधान इत्येवं निंपुणे, । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०॥

इत्थि(त्थी)संकिलिट्ठ–त्रि० (स्त्रीसंक्लिष्ट) स्त्रीप्रतिषेविनि, प्रव०।

इत्थि(त्थी) संग–पु० (स्त्रीसङ्ग) स्त्रीषु प्रवर्तने, सूत्र २ श्रु २ अ०॥ (तच्च प्रधानं संसारकारणमिति इत्थी शब्दे)

इत्थि(त्थी) संपक्क–पु० (स्त्रीसम्पर्क) स्त्रीभिः सह संवासे, सूत्र १ श्रु० ४ अ० १ उ०। (सच साधुभिर्न विधेय इति इत्थी शब्दे)

इत्थि(त्थी) संपरिवुड–त्रि० (स्त्रीसंपरिवृत) स्त्रीभिःसमन्तात्परिवेष्टि, समंता परिवेट्ठिओ परिवुडो भण्णति परिमाण जाव तिण्णि चउरो पंच वा वागरणाणि परतो छट्ठादि अपरिमाणं कहं कहेतस्स चउगुरुगं आणादिया य दोसा एस सुत्तत्थो इमा णिज्जुत्तीगाहा–

मज्झं दोण्हंती गतो, ससंति ऊसगादि वड्ढंतो ॥
चउदि सिठिताहिंतुवडो, पास गताहिव अप्फुसंतो ॥

अहवा एगदिसि वियाहिं वि अफुसंतीहि परिवुडो भण्णति। नि० चू० २ उ०॥

इत्थि(त्थी)संवास–पु० (स्त्रीसंवास) स्त्रीभिः सार्द्ध परिभोगे,

जतुकुंभे जोइउवगूढे, आसुमि तत्तेणासमुवयाइ।
एवि त्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ॥२७॥

(जतुकुंभेत्यादि) यथा जातुषः कुम्भो ज्योतिषाग्निनोपगूढः समालिङ्गितोऽभितप्तोग्निनाभिमुख्येन सन्तापितः क्षिप्रंनाशमुपैति द्रवीभूय विनश्यत्येवं स्त्रीभिः सार्धं संवसनेन परिभोगेनानगारा नाशमुपयान्ति सर्वथा जातुषु कुम्भवत् व्रत काठिन्यं परित्यज्य संयमशरीराद्भ्रश्यन्ति। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। स्त्रीभिः सार्द्धमेकत्र वसतौ,॥

एवं विवेगमादाय, संवासो न विकप्पए दविए॥

तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या विपाकं स्वानुष्ठानमादाय प्राप्य विवेकमिति वा क्वचित्पाठस्तद्विपाकं विवेकञ्चादाय गृहीत्वा स्त्रीभिश्चारित्रपरिपन्थिनीभिः सार्धं संवासो वसतिरेकत्र न कल्पते न नुद्यते कस्मिन्द्रव्यभूते मुक्तिगमनयोग्ये रागद्वेषरहिते वा साधौ यतस्ताभिः सार्धं संवासोऽवश्यं विवेकिनामपि सदनुष्ठान-विघातकारीति। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

इत्थि(त्थी) संसत्त–त्रि० (स्त्रीसंसक्त) स्त्रीभिः संगते, ''ऊरुकोप्परमादीहिं स घट्टंतो संसत्तो भवति दिट्ठीए वा परोप्परं संसत्तो संगतो इति'' तथा चा निर्युक्तिः संसत्ते ऊरुगादि घट्टंतो इति॥

दुविधं च होति मज्झं, संसत्ता दिट्ठिदिट्ठिअंतो वा॥
भावो व तासु णिहितो, एमे वि त्थीण पुरिसेसु ॥९१॥

च सद्दाओ संसत्तं पि दुविधं ऊरुगादि घट्टेत्तो संसत्तो दिट्ठि ए वा इत्थीण वा मज्झे अहवा संसत्तस्स इमं वक्खाणं तेण तासु भावो णिहितो णिवेसितो ताहिं वा तमिणि सेवितो परस्पर गृद्धानीत्य-र्थः। नि०चू०। स्त्रीभिः समाकीर्णे (सेविते) स्थानादौ च। स्था० १० ठा० (तच्च साधुभिर्वर्जनीयमिति बंभचेरगुत्ति शब्दे)

इत्थि(त्थी) सद्धा–स्त्री० (स्त्रीश्रद्धा) स्त्रीश्रद्धाने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। (तत्कथादिकं इत्थी शब्दे)

इत्थि(त्थी)सहाव–पु० (स्त्रीस्वभाव) स्त्रीया इव स्वभावो यस्य। अन्तःपुररक्षके महल्लके, ६ त० स्त्रीणां शीले च। वाच०। सूत्र०। (स्त्रीस्वभावपरिज्ञाने कथनाकं इत्थी शब्दे)

इत्थि(त्थी)सेवा–स्त्री० (स्त्रीसेवा) ६ त० स्त्रीसम्भोगे, व्यवाय सधर्मेण नारीसेवने,। वाच०। स्त्रीसेवादय इह परत्र वा अक-ल्याणकारिण इति। व्य०। ''अन्नपानैर्हरेद्बालां यौवनस्थां विभू-षया। वेश्यां स्त्रीमुपचारेण वृद्धां कर्कशसेवया'' इति– आ० म० द्वि०। आ० चू०।

इत्थी–स्त्री (स्त्री) स्त्र्यायतेस्तृणातेर्वा कटि टित्वाद्ङीपि स्त्रीति प्रव० ८६ द्वा०। उत्त०। ''स्त्रिया इत्थी'' १३० इति सूत्रेण स्त्रीशब्दस्य इत्थी इत्यादेशो वा–पक्षे–थीति। प्रा० ८ अ० २ पा० योषिति– अनु०। पंचा०। तं०।

(१) स्त्रीलक्षणं तच्छब्दनिक्षेपश्च।
(२) स्त्रीवक्तव्यता तद्भेदवर्णनश्च।
(३) स्त्रीणां स्वभावादिपरिज्ञानस्यावश्यकता। तत्कृत्यवर्णनश्च।
(४) स्त्रीसम्बन्धे दोषाः।
(५) कतमाभिः स्त्रिभिस्सार्द्धं न विहर्त्तव्यम्।
(६) इह लोके एव स्त्रीसम्बन्धविपाकः।
(७) स्त्री संस्पर्शे दोषाः।
(८) भोगीनां विडम्बना।
(९) स्त्रियो विश्वास्याकार्यं कुर्वन्ति।
(१०) स्त्रीणां स्वरूपस्य शरीरस्य चातिनिन्दनीयत्वम्।
(११) स्त्रीचरित्रं वैराग्योत्पादनाय द्रष्टव्यम्।
(१२) स्त्रीणामशुचित्त्वं सर्वस्वापकर्षकत्वञ्च।
(१३) स्त्रीणां बन्धनकारणत्वं तत्स्नेहानुगतस्य दुःखानि च।
(१४) स्त्रीसंसर्गस्य सर्वथा परित्याज्यत्त्वं तत्त्यागेकारणानि च।

(१५) स्त्रीपुशक्तस्य परिग्रहित्वं तासु सर्वेन्द्रियगुप्तेन भाव्यम्।

(१६) स्त्रीकरस्पर्शादिनिषेधः।

(१७) स्त्रिया सार्द्धं विहारस्वाध्यायाहारोचारप्रस्रवणपरिष्ठा-पनिका धर्मकथादिनिषेधः।

(१८) स्त्रीणां निर्ध्यानादिनिषेधः।

(१९) स्त्रीस्थानदूषणं तत्प्रसङ्गत्यागस्तत्सङ्गातिक्रमे गुणाश्च।

(२०) मतान्तरीयपूर्वपक्षदूषणानि।

(१) स्त्रीलक्षणं तच्छब्दनिक्षेपो यथा।

''योनेर्मृदुत्वमस्थैर्य्य–म्मुग्धता क्लीबता तनौ। पुंस्कामितेति लिङ्गानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते इति। तथान्यत्राप्युक्तम्। ''स्तनकेशवती स्त्री स्यादिति''। स्था० ३ ठा०। जी०। स्त्रीशब्दस्य निक्षेपो यथा–तत्र नाम स्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य स्त्रीशब्दस्य द्रव्यादिनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकार आह–

दव्वाभिलाव चिंधे, दव्वे भावे य इत्थिणिक्खेवो।
अहिलावे तह सिद्धी, भावे वेयंमि उवउत्तो ॥५६॥

तत्र द्रव्यस्त्री द्वेधा। आगमतो नो आगमतश्च। आगमतः स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तो ऽनुपयोगो द्रव्यमिति कृत्वा नो आगमतो ज्ञशरीरभव्य-शरीरव्यतिरिक्ता त्रिधा। एकभविका बद्धाऽयुष्काभिमुखनामगोत्रा वेति। चिह्नयते ज्ञायतेऽनेनेति चिह्नं स्तननेपथ्यादिकं चिह्न मात्रेण स्त्रीचिह्न स्त्री। अपगतस्त्रीवेदछद्मस्थः केवली वा अन्यो वा स्त्रीवेषधारी यः कश्चिदिति। वेद स्त्री तु पुरुषाभिलाषरूपः स्त्रीवेदोदयः। अभिलाषभावौ तु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चार्द्धेनाह। अभिलाष्यते इत्यभिलाषः स्त्रीलिङ्गाभिधान-शब्दः। तद्यथा। शाला माला सिद्धिरिति। भावस्त्री तु द्वेधा। आग-मतो नो आगमतश्च। आगमतः स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्त उपयोगो भाव इति कृत्वा नो आगमतस्तु भावविषये निक्षेपे वेदे स्त्रीवेदरूपे वस्तुन्युपयुक्ता तदुपयोगानन्यत्वाद्भावस्त्री भवति। यथा अग्नावुपयुक्तो माणवकोऽग्निरेव भवत्येवमत्रापि। यदि वा स्त्रीवेद निवर्तकान्युदयप्राप्तानि यानि कर्माणि तेषूपयुक्तेति तान्यनुभवन्ति भावस्त्रीति एतावानेव स्त्रियो निक्षेप इति। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

(२) स्त्रीवक्तव्यता तद्भेदवर्णनश्च।

से किं तं इत्थीओ २ तिविहाओ पण्णत्ताओ तंजहा तिरिक्खजोणित्थीओ मणुस्सत्थीओ देवित्थीओ से किं तं तिरिक्खजोणित्थीओ २ तिविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा जलयरीओ थलयरीओ खहयरीओ। से किं तं जलयरीओ २ पंचविधाउ पण्णत्ताउ तंजहा मच्छीउ जाव सुसुमारीउ से त्तं जलयरीउ। से किं तं थलयरीउ२ दुविहाउ पण्णत्ताओ तंजहा चउप्पदीउ य परिसप्पिणीउ य। से किं तं चउप्पदीउ २ चउव्विहाउं पण्णत्ता तंजहा एगखुरीउ जाव सणप्पईउ। से किं तं परिसप्पिणीउ२दुविहा पण्णत्ता तंज हा उरगपरिसप्पिणीउ य भुयगपरिसप्पिणीओ य। से किं तं उरगपरिसप्पिणीओ २ तिविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा अहीओ अयगरीओ महोरगीओ सेत्तं उरगपरिसप्पिणी। से किं तं भुयपरिसप्पिणी २ अणेग विधाओ पण्णत्ताओ तंजहा गोहीओ णउलीओ सेधाओ सेल्ला ओ सेरडीओ सेरिंधीओ सावाओ खराओ पंचलोइया ओ चउप्पइयाओ मूसियाओ सुसुंसियाओ घरोलियाओ गोहियाओ जोहियाओ थिरावलियाओ सेत्तं भुय परिसप्पिणीओ। से किं तं खहयरीओ२चउव्विहा पण्णत्ताओ तंजहा चम्मपंखीओ जाव सेत्तं खहयरीओ सेत्तं तिरिक्खजोणित्थियाओ। से किं तं मणुस्सित्थियाओ २ तिविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा कम्मभूमियाओ अकम्म भूमियाओ अंतरदीवियाओ। से किं तं अंतरदीवियाओ २ अट्ठावीसतिविधाओ पण्णत्ता तंजहा एगुरुईओ आभीसाओ जाव सुद्धदंताओ सेत्तं अंतरदीवे। से किं तं अकम्मभूमियाओ २ तीसतिविधाओ पण्णत्ता तंजहा पंचसु हेमवएसु पंचसु एरण्णवएसु पंचसु हरिवासेसु पंचसु रम्मगवासेसु पंचसु देवकुरुसु पंचसु उत्तरकुरुसु सेत्तं अकम्मभूमगमणुस्सीओ। से किं तं कम्मभूमियाओ २ पण्णरसविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा पंचसु भरहेसु पंचसु एरवएसु पंचसु महाविदेहेसु सेत्तं कम्मभूमगमणुस्सीओ ३।

(सेकिंतमित्यादि) अथ कास्ता स्त्रियः सूरिराह स्त्रियस्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तिर्यग्योनिस्त्रियो मनुष्यस्त्रियो देवस्त्रियश्च (सेकिंत-मित्यादि) तिर्यग्योनिस्त्रियो मनुष्यस्त्रियो देवस्त्रियश्च (सेकिंत- मित्यादि) तिर्यग्योनिस्त्रियस्त्रिविधास्तद्यथा जलचर्यः स्थलचर्यः खचर्यश्च (सेकिंतमित्यादि) मनुष्यस्त्रियोऽपि त्रिविधास्तद्यथा कर्मभूमिका अकर्मभूमिका अन्तरद्वीपिकाश्च। कृष्यादिकर्मप्रधाना भूमिः कर्मभूमिः भरतादिका पञ्चदशधा तत्र जाताः कर्मभूमिजा एवमकर्म्मभूमिजा नवरमकर्म्मभूमिर्भोगभूमिरित्यर्थः। देवकुर्व्वादिका त्रिंशद्विधा अन्तरे मध्ये समुद्रस्य द्वीपा ये ते तथा तेषु जाता आन्तरद्वीपास्त एवान्तरद्वीपिकाः। स्था० ३ ठा०॥

से किं तं देवित्थियाओ २ चउव्विहाओ पण्णत्ताओ तंजहा भवनवासिदेवित्थियाओ वाणमंतरदेवित्थियाओ जोतिसियदेवित्थियाओ वेमाणियदेवित्थियाओ से किंतं भवणवासिदेत्थियाओ २ दसविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा असुरकुमारभवणवासिदेवित्थियाओ जाव थणितकुमार भवणवासिदेवित्थियाओ सेत्तं भवणवा सिदेवित्थियाओ। से किं तं वाणमंतरदेवित्थियाओ २अट्ठविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा पिसायवाणमंतरदेवित्थियाओ जाव सेत्तं वाणमंत-रदेवित्थियाओ। से किं जोतिसियदेवित्थियाओ २ पंचविहाओ पण्णत्ताओ तंजहा चंदविमाणजोति सियदेवित्थियाओ सूरविमाणदेवित्थियाओ गहविमाण देवित्थियाओ णखत्त-विमाणदेवित्थियाओ ताराविमाणजोतिसियदेवित्थियाओ सेत्तं जोतिसियदेवित्थियाओ। से किं तं वेमा-णियदेवित्थियाओ २ दुविहाओ पण्णत्ताओ तंजहा सोहम्मकप्पवेमाणियदेवित्थियाओ ईसाणकप्पवेमा-णियदेवित्थियाओ सेत्तं वेमाणित्थियाओ। जी० २ प्रति०। (सुगमत्वाट्टीका न व्याख्याता)

स्त्रियो देवमानुषभेदाद्द्विविधा एताश्च सचित्ताःअचित्तास्तु प्रस्तरलेप्याचित्रादिनिर्मिताः। ध० २ अधि०। शब्देन वयसा च स्त्री त्रिविधा मन्दशब्दा मध्यमशब्दा तीव्रशब्दा चेति। वय-

सा तु स्थविरा मध्यमा तरुणी चेति। पुनरेकैका त्रिविधा अपद्रावणभर्तृका प्रोषितभर्तृका स्वाधीनभर्तृका चेति। वृ० १ उ०। मुग्धा मध्या प्रौढा चेति। उत्त० १६ अ०। ''इत्थीओ दुविधा अदुगुंछिता य बंभणखत्तियवेसि-सुद्दियदुगंछिता संभोईय अक्खरिया ओ अहवा णडवरुडादियाओ असंभोइअइत्थियाओ एताओ वि दुविधा सपंगिहा अपरिग्गहाओ य। नि० चू० १६ अ०॥

चत्तारि धूमसिहाओ पण्णत्ताओ तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता ॥४॥ एवामेव चत्तारित्थियाओ पण्णत्ता तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता ।४। चत्तारि अग्गिसिहाओ पण्णत्ताओ तंजहा वामाणाममेगा वामावत्ता ।४। एवामेव चत्तारि त्थियाओ पण्णत्ताओ तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता ।४। चत्तारि वायमंडलिया पण्णत्ताओ तंजहा वामाणाममेगा वामावत्ता ।४। एवामेव चत्तारि त्थियाओ पण्णत्ताओ तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता ।४।

धूमशिखा वामा वामपार्श्ववर्त्तितयाऽनुकूलस्वभावतया वा वामत एवावर्तते या तथा चलनात्सा वामावर्त्ता १० स्त्रीपुरुषवद् व्याख्येया कम्बुदृष्टान्ते सत्यपि धूमशिखादिदृष्टान्तानां स्त्रीदार्ष्टान्तिके शब्दासाधर्म्येणोपपन्नतरत्वाद्भेदेनोपादानमिति ११ एवम-ग्निशिखापि १२ वातमण्डालिका मण्डलेनोर्ध्वप्रवृत्तो वायुरिति इह च स्त्रियो मालिन्योपतापचापल्यस्वभा वा भवन्तीत्याभिप्रायेण तासु धूमशिखा-दृष्टान्ततयोपन्यास इति। उक्तञ्च ''चवला मइलणसीला, सिणेहपरिपूरिया वियावेइ। दीवयसिहि व्व महिला, लद्धप्पसरा भयं देइ त्ति'' ॥

चत्तारि कूडागारसालाओ पण्णत्ताओ तंजहा गुत्ता णा मेगा गुत्तदुवारा, गुत्ता णामेगा अगुत्तदुवारा, अगुत्ता णा मेगा गुत्तदुवारा, अगुत्ता णामेगा अगुत्तदुवारा। एवामेव चत्तारि त्थीओ पण्णत्ताओ तंजहा गुत्ता णामेगा गुत्तिं दिया गुत्ताणामेगा अगुत्तिंदिया ।४।

तथा कूटस्येव आकारो यस्याः शालायाः गृहविशेषस्य सा तथा। अय च स्त्रीलिङ्गदृष्टान्तः स्त्रीलक्षणदार्ष्टकार्थसा धर्म्यवशात्तत्र गुप्ता परिवारा वृता गहान्तर्गता वस्त्राच्छादिताङ्गा गूढस्वभावा वा। गुप्तेन्द्रिया तु निगृहीतानौचित्यप्रवृत्तेन्द्रिया एवं शेषा भङ्गा ऊह्याः। स्था० ४ ठा०। पद्मिनी चित्रिणी हस्तिनी शङ्खिनीति चतुर्विधाः स्त्रिय इति। उत्त०। १६ अ०।

एतासां लक्षाणादिकम्—''पद्मिनी चित्रिणी चैव शङ्खिनी हस्तिनी तथा। शशो मृगो वृषोऽश्वश्च स्त्री पुंसोर्जाति लक्षणम्। भवति कमलनेत्रा नासिकाऽतिद्रगन्धा आवरलकुचयुग्मा चारुकेशी कृशाङ्गी। मृदुवचनसुशीला गीतवाद्यानुरक्ता सकलतनुसुवेशा पद्मनी पद्मगन्धा १ भवति रतिरसज्ञा नातिखर्वा न दीर्घा तिलकुसुमनासा स्निग्धनीलोत्पलाक्षी। घनकठिनकुचाढ्या सुन्दरी वल्गुलीला सकलगुणसमेता चित्रिणी चित्रवक्त्रा २। दीर्घातिदीर्घनया वरसुन्दरी या कामोपभोगरसिका गुणशीलयुक्ता। रेखात्रयेण च विभूषितकण्ठदेशा सम्भोगकेलिरसिका किल शङ्खिनी सा।३। स्थूलाधरा स्थूल नितम्बभागा स्थूलाङ्गुली स्थूलकुचा सुशीला। कामोत्सुका गाढरतिप्रिया या नितम्बखर्वा करिणी मता सा ४ शशके पद्मिनी तुष्टा चित्रिणी रमते मृगे। वृषभे शङ्खिनी तुष्टा हिस्तनी रमते हये। ५ पद्मिनी पद्मगन्धा च मीनगन्धा च चित्रिणी। शाङ्खिनी क्षारगन्धा च मदगन्धा च हस्तिनी। ६ वाच० स्त्रीणामुष्णस्वभावत्वं ''गिमहो इत्थित्ति'' ग्रीष्मास्त्री भवतीति। औप०॥

(३) स्त्रीणां स्वभावादि परिज्ञानस्यावश्यकता तत्कृत्यवर्णश्च तत्र स्वभावपरिज्ञानं यथा॥

जस्सित्थिओ परिण्णाया सव्वकम्मावहाओ से दक्खू॥

यस्य स्त्रियः स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाता भवन्ति। सर्वं कर्म्मावहन्तीति सर्वकर्म्मावहाः सर्वपापोपादानभूताः स एवा द्राक्षीत्स एव यथावस्थितं संसारस्वभावं ज्ञातवानिति। एतदुक्तं भवति स्त्रीस्वभावपरिज्ञानेन तत्परिहारेण च स भगवान् पर-मार्थदर्श्यभूदिति। आचा०१ श्रु० ३ अ० १ उ०।

स्त्रीणां स्वभावादिपरिज्ञानञ्च निर्युक्तौ यथा।

सुसमत्थावमच्छा, कीरंति अप्पसत्तिया पुरिसा॥
दीसंती सूरवादी, णारीवसगा ण ते सूरा॥६१॥

परानीकविजयादौ सुष्ठु समर्था अपि सन्तः पुरुषाः स्त्रीभिरा-त्मवर्शकृता असमर्था भूक्षेपमात्रभीरवः क्रियन्तेऽल्पसात्विकाः स्त्रीणामपि पादपतनादिचाटुकरणेन निःसाराः क्रियन्ते। तथा दृश्यन्ते प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते। शूरमात्मानं वदितुं शीलं येषां ते शूर-वादिनोऽपि नारीवशगाःसन्तो दीनतां गताः एवंभूताश्च न ते शूरा इति। तस्मात् स्थितमेतदविश्वास्याः स्त्रिय इति। उक्तंच। को वीससेज्ज तासिं, कतिवय भरियाण दुच्चियट्ठाणे। खणरत्त विरत्तेणं, धिरत्थु इत्थीण हिययाणं ॥१॥ अण्णं भणंति पुरओ, अण्णं पासेइ विज्जमाणीओ। अन्नं च तासिं हियए, जं च खमं तं करिंति पुणो ॥२॥ को एयाणं णाहिए, वेत्तलया गुम्मगुविलहिययाणं। भावं भग्गासाणं, तत्थुप्पन्नं भणंतीणं ॥३॥ महिलायरत्तमेत्ता, उच्छुखंडं च सक्करा चेव। सा पुण विरत्तमित्ता, णिंबं कूरे विसेसेति ॥४॥ महिला दिज्ज करेज्ज व, मारिज्ज वसं ठविज्जवमणुस्सांतुट्ठा जीवाविज्जा, अहवरणर कं च पावेज्जा ॥५॥ ण वि रक्खं तेसु कयं, ण वि णेहं ण वि य दाण सम्माणं ॥ णं कुलं ण पुच्चयं आय–तं च शीलं महिलियाओ। ६ मा वी संभह ताणं, महिलाहिययाण कवडमरियाणं। णिण्णेह निद्दयाणं, अलियवयणजंपणरयाणं ॥७॥ मारेइ जियंतं पि हु मयं पि अणुमरइ काइ भत्तारं ॥ विसहरगइवच्चरियं, वंकविवंकं महेलाणं ।८॥ गंगाए वालुयं सा–गरे जलं हिमवओ य परिमाणं ॥ जाणंति बुद्धिमंता, महिला हिययं ण जाणंति ॥९॥ रोवावंति रुवंति य, अलियं जंपंति पत्तियावंति ॥ कावडेणय खंति विसं, मरंति ण य जंति सब्भावं ॥१०॥ चिंतिंति कज्जमण्णं, अण्णं संठवइ भासई अण्णं ॥ आढवइ कुणइ अण्णं, माइणग्गूणियडि सारो ॥११॥ असयारंभाण तहा, सव्वेसिं लोगगरहणिज्जाणं ॥ परलोगवैरियाणं, कारणयं चेव इत्थीओ ।१२। अहवा को जुवईणं, जाणइ चरियं सहावकुडिलाण। दोसाण आगरो चिय, जप्पे सरीरे वसइ का सा ॥१३॥ मूलं दुच्चरियाणं, हवइ उ णरयस्स वत्तिणी विवुला। मोक्खस्स महाविग्घं, वज्जेयव्वा सया नारी ॥१४॥ धण्णा ते वरपुरिसा, जे चिय मोत्तूम णिययजुवईओ। पव्वइया कयनियमा, सिवमयलमणुत्तरं पत्ता ॥१५॥''

अधुना यादृक्षःशूरो भवति तादृशं दर्शयितुमाह॥

धम्मम्मि जो दढमई, सोःसूरो सत्तिओ य वीरो य॥
णहु धम्मणिरुस्साहो, पुरिसो सूरो सुबलिओ य ॥६२॥

धर्म्मे श्रुतचारित्राख्ये दृढा निश्चला मतिर्यस्य स तथा एवंभूतः स इन्द्रियनोइन्द्रियारिजयाच्छूरस्तथा सात्विको महासत्वो-पेतोऽसावेव वीरः स्वकर्मदारुणसमर्थोऽसावेवेति किमिति यतो नैव धर्मनिरुत्साहः सदनुष्ठाननिरुद्यमः सत्पुरुषाचीर्णमार्गपरिभ्रष्टः पुरुषः सुष्ठु बलवानपि शूरो भवतीति ॥

एतानेव दोषान् पुरुषसंबन्धेन स्त्रीणामपि दर्शयितुमाह।

एते चेव य दोसा, पुरिससमाए विइत्थियाणं पि।
तम्हाण अप्पमाओ, विरागमग्गंमि तासिं तु ॥६३॥

ये प्राक् शीलप्रध्वंसादयः स्त्रीपरिचयादिभ्यः पुरुषाणामभिहिता एत एव न न्यूनाधिकाः पुरुषेण सह यः समयः संबन्धस्तस्मिन् स्त्रीणामपि यस्माद्दोषा भवन्ति तस्मात्तासामपि विरागमार्गे प्रवृत्तानां पुरुषपरिचयादिपरिहारलक्षणोऽप्रमाद एव श्रेयानिति। स्त्रीपरिज्ञाध्ययने च विस्तरेण स्वापरिज्ञानम्प्रतिपादितम् तद्यथा–

जे मायरं च पियरं च, विप्पजहा य पुव्वसंजोगं।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणो विवित्तेसु ॥१॥

यः कश्चिदुत्तमसत्त्वो मातरं पितरं जननीं जनयितारमेत-द्ग्रहणादन्यदपि भ्रातृपुत्रादिकं पूर्वसंयोगं तथा श्वश्रूश्वशुरादिकं पश्चात्संयोगश्च विप्रहाय त्यक्त्वा चकारौ समुच्चयार्थौ एको मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वा तथा सहितो ज्ञानदर्शनचारित्रैः स्वस्मै वा हितः स्वहितः परमार्थानुष्ठानविधायी चरिष्यामि संयमं करिष्यामीत्येवं कृतप्रतिज्ञः। तामेव प्रतिज्ञां सर्वप्रधानभूतां लेशतो दर्शयति आरतमुपरतं मैथुनं कामाभिलाषो यस्यासावारतमैथुनस्तदेवंभूतो विविक्तेषु स्त्रीपशुपण्डकवर्जितेषु स्थानेषु चरिष्यामीत्येवं सम्यगुत्थानेनोत्थाय विहरतीति क्वचित्पाठे (विवित्तेसित्ति) विविक्तं स्त्रीपण्डकाद्विरहितं स्थानं संयमा-नुपरोध्येषितुं शीलमस्य तथेति। तस्यैवं कृतप्रतिज्ञस्य साधयद्भवत्यविवेकिस्त्रीजनात्तद्दर्शयितुमाह –

सुहुमे णं तं परक्कम्म, छन्नपएण इत्थिओ मंदा।
उवायं पि ता उ जाणंसु, जहा लिस्संति भिक्खुणो एगे ॥२॥

तं महापुरुषं साधुं सुक्ष्मेणापरकार्यव्यपदेशभूतेन छन्नपदेनेति छद्मना कपटजालेन पराक्रम्य तत्समीपमागत्य यदि वा पराक्रम्येति शीलस्खलनयोग्यतापत्त्या अभिभूय काः स्त्रियः कूलवा-लकादीनामिव मागधगणिकाद्या नानाविधकपटशतकरणदक्षा विविधविब्बोकवत्यो भावमन्दाः कामोद्रेकविधायितया सदस-द्विवेकविकलाः समीपमागत्य शीलात् ध्वंसयन्ति। एतदुक्तं भवति भ्रातृपुत्रव्यपदेशेन साधुसमीपमागत्य संयमाद्भ्रंशयन्ति तथा चोक्तम्। ''पियसुत्ते भाइकिडगा, णत्तू च किडगा य सयणकिडगा य॥ एते जोव्वणकिडगा, पच्छन्नपइमहिलियाणं'' यदि वा छन्नपदेनेति गुप्ताभिमानेन। तद्यथा। ''काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषुमिथ्या न भाषामि विशालिनेत्रे, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु'' इत्यादि ॥ ताः स्त्रियो मायाप्रधानाः प्रताणोपायमपि जानन्त्युत्पन्नप्रतिभतया विदन्ति। पाठान्तरं वा ज्ञातव्यः यथा श्लिष्यन्ते विवेकिनोऽपि साधव एके तथाविधकर्मोदयात्तासु सङ्गमुपयान्ति॥

तानेव सुक्ष्मप्रतारणोपायान् दर्शयितुमाह–

पासे भिसं णिसीयंति, अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति।
कायं अहेवि दंसंति, बाहू उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे ॥३॥

पार्श्वे समीपे भृशमत्यर्थमुरः पीडमतिस्नेहमाविष्कुर्वत्यो निषीदन्ति विश्रम्भमापादयितुमुपविशन्तीति। तथा कामं पुष्णातीति पोषं कामोत्काचकारि शोभनमित्यर्थः। तच्च तद्वस्त्रं तदभीक्ष्णमनवरतं तेन शिथिलादिव्यपदेशेन परिदधति स्वाभिलाषमावेदयन्त्यः साधुप्रतार-णार्थं परिधानं शिथिलीकृत्य पुनर्निबध्नन्तीति। तथाऽधःकायमूर्वादिक-मनङ्गोद्दीपनाय दर्शयन्ति प्रकटयन्ति तथा बाहुमुद्धृत्य कक्षामादर्श्याऽनुकूलं साध्वभिमुखं व्रजेत् गच्छेत् संभावनायां लिङ् संभाव्यते एतदनङ्गप्रत्यङ्गसंदर्शकत्वं स्त्रीणामिति॥३॥ अपिच–

सयणासणेहिं जोगेहिं, इत्थिओ एगता णिमंतंति॥
एयाणि चेव से जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि ॥४॥

शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं पर्यङ्कादि तथाऽऽस्यतेऽस्मिन्नित्यास-नमासन्दकादीत्येवमादिना योग्येनोपभोगार्हेण कालोचितेन स्त्रियो योषित एकदेति विविक्तदेशकालादौ निमन्त्रयन्त्यभ्युपगमं ग्राहयन्ति। इदमुक्तं भवति। शयनासना-द्युपभोगं प्रति साधुं प्रार्थयन्ति। एतानेव शयनासननिमन्त्रणरूपान् स साधुर्विदितवेद्यः परमार्थदर्शी जानीयादवबुध्येत। स्त्री-संबन्धिकारिणः पाशयन्ति बध्नन्तीति पाशा स्तान्विरूपरूपान् नानाप्रकारानिति। इदमुक्तं भवति। स्त्रियो ह्यासन्नगामिन्यो भवन्ति। तथाचोक्तं। ''अंबं वा निंबं वा, अज्झासगुणेन आरुहाइ वल्ली। एवं इत्थी तो वि, जं आसन्नं तमिच्छंति'' ।१। तदेवं भूताः स्त्रियो ज्ञात्वा न ताभिः सार्धं साधुः सङ्गं कुर्याद्यतस्तदुपचारादिकः सङ्गो दुष्पहिार्यो भवति। तदुक्तं। ''जं इच्छसि घेत्तुं जे, पुव्विं तं आमिसेण गिण्हाहि। आमिसपासनिबद्धो, काहिए कज्जं अकज्जं वा॥२॥ ४॥ किञ्च –

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे॥
णो सहियं पि विहरेज्जा, एवमप्पासु रक्खिओ होइ ॥५॥

नो नैव तासु शयनासनोपमन्त्रणपाशावपाशिकासु स्त्रीषु चक्षुर्नेत्रं संदध्यात्संधयेद्वा न तद्दृष्टौ स्वदृष्टिं निवेशयेत्। सति च प्रयोजने ईषदवज्ञया निरीक्षेत। तथाचोक्तं। ''कार्ये पीषन्मतिमान्निरीक्षते योषिदङ्गमस्थिरया। अस्निग्धया दशाऽवज्ञया ह्याकुपितोपि कुपित इव ॥१॥ तथा नापि च साहसमकार्यकरणं तत्प्रार्थनया समनुजानीया-त्प्रतिपद्येत। तथा ह्यसति साहसमेतत्संग्रामावतरणवद्यन्नरकपा-तादिविपाकवेदिनोपि साधोर्योषिदासञ्जनमिति। तथा नैव स्त्रीभिः सार्धं ग्रामादौ विहरेत् गच्छेत्। अपि शब्दान्न ताभिः सार्धं विविक्तासनो भवेद्यतो महापापस्थानमेतद्यतीनां यत् स्त्रीभिः सहसाङ्गत्यमिति॥ तथाचोक्तम् ''मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्॥ बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोप्यत्र मुह्यति ॥१॥ एवमनेन स्त्रीसङ्गवर्जनेनात्मा समस्तापायस्थानेभ्यो रक्षितो भवति। यतः सर्वापायानां स्त्रीसंबन्धः कारणमतः स्वहितार्थी तत्सङ्गं दूरतः परिहरेदिति॥५॥

कथं चैताः पाशा इव पाशिका इत्याह।

आमंतिय उस्सविय, भिक्खुआयसा निमंतंति॥
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥६॥

स्त्रियो हि स्वभावेनैवाकर्तव्यप्रवणाः साधुमामन्त्र्य यथा-हममुकस्यां वेलायां भवदन्तिकमागमिष्यामीत्येवं संकेतं ग्राहयित्वा तथा (उस्सवियत्ति) संस्थाप्योच्चावचैर्विश्रम्भजनकैरालापैर्विश्रम्भे पातयित्वा पुनरकार्यकरणायात्मना निमन्त्रयन्त्या-

त्मनोपभोगेन साधुमभ्युपगमं कारयन्ति। यदि वा साधोर्भयाप-हरणार्थं ता एव योषितः प्रोचुस्तद्यथा भर्तारमामन्त्र्यापृच्छ-चाहमिहायाता तथा संस्थाप्य भोजनपदधावनशयनादिकया क्रिययोपचर्य ततस्तवान्तिक-मागतेत्यतो भवता सर्वा मद्भर्तृज-नितामाशङ्कां परित्यज्य निर्भयेन भाव्य-मित्येवमादिकैर्वचो-भिर्विश्रम्भमुत्पाद्य भिक्षुमात्मना निमन्त्रयन्ते। युष्मदीयमिदं शरीरकं यादृक्षस्य क्षोदीयसो गरीयसो वा कार्यस्य क्षमं तत्रैव निमज्जतामित्येवमुपप्रलोभयन्ति। स च भिक्षुरवगतपरमार्थ एतानेव विरूपरूपान्नानाप्रकारान् शब्दादीन् विषयान् तत्स्वरूप-पनिरूपणतो ज्ञपरिज्ञया जानीयाद्यथैते स्त्रीसंसर्गापादिताः शब्दादयो विषयादुर्गतिगमनैकहेतवः सन्मार्गार्गलारूपा इत्येवमवबुध्येत। यथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तद्विपाकागमने परिहरेदिति ॥६॥

(४) स्त्रीसम्बन्धे दोषा यथा–

मणबंधणेहिं णेगेहि, कलुण विणीय मुवगसिताणं ॥
अदु मंजुलाइं भासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं ॥७॥

मनो बध्येत यैस्तानि मनोबन्धनानि मञ्जुलालापस्निग्धा-वलोकनाङ्गप्रत्यङ्गप्रत्यङ्गप्रकटनादीनि। तथाचोक्तं। ''णाहपियकं तसामियदतियजियाओ तुमं मह पिओ त्ति। जीए जीयामि अहं पहवसितं मे शरीरस्य ॥१॥ इत्यादिभिरनेकैः प्रपञ्चैः करुणालापविनयपूर्वकम् (उवगसिताणंति) उपसंश्लिष्य समीपमागत्याऽथ तदनन्तरं मञ्जुलानि पेशलानि विश्रम्भ-जनकानि कामोत्काचकानि वा भाषन्ते। तदुक्तं ''मितमहुररिभय जंपुल्ल एहि इसीकडक्खहसिएहिं। सवि गारेहि व रागं हिययं पि हियं मयत्थीए ॥१॥ तथा भिन्नकथाभी रहस्याला-पैर्मैथुनसंबद्धैर्वचोभिः साधोश्चित्तमादाय तमकार्यकरणं प्रत्याज्ञाप-यन्ति प्रवर्तयन्ति स्ववशं वा ज्ञात्वा कर्मकरवदाज्ञां कारयन्तीति ॥७॥ अपिच–

सीहं जहा च कुणिमेणं, निब्भयमेगचरंति पासेणं ॥
एवं थियाउ बंधंति, संवुडं एगतियमणगारं ॥८॥

यथेति दृष्टान्तोपदर्शनार्थे। यथा बन्धनविधिज्ञा सिंहं पिशि तादिना मिषेणोपप्रलोभ्य निर्भयं गतभीकं निर्भयत्वादेवैकचरं पाशेन गलयन्त्रादिना बध्नन्ति बध्वा त्त बहुप्रकारं कदर्थयन्त्येवं स्त्रियो नानाविधैरुपायैः पेशलभाषणादिभिः (एगतियंति) कंचन तथाविधमनगारं साधुं संवृतमपि मनोवाक्कायगुप्तमपि बध्नन्ति स्ववशं कुर्वन्तीति। संवृतग्रहणं च स्त्रीणां सामर्थ्योपदर्शनार्थम् यथाहि। संवृतोपि ताभि र्बध्यते किंपुनरपरोऽसंवृत इति ॥८॥ किञ्च।

अह तत्थ पुणो णमयंती, रहकारो व णेमि अणुपुव्वी ॥
बद्धे मिए व पासेणं, फंदेते वि ण मुच्चए ताहो ॥९॥

अथेति स्ववशीकरणादनन्तरं पुनस्तत्र स्वाभिप्रेते वस्तुनि नमयन्ति प्रह्वं कुर्वन्ति। यथा रथकारो वार्धकिर्नेमिकाष्ठं चक्रबाह्यभ्रमिरूपमानुपूर्व्या नमयत्येवं ता अपि साधुं स्वकार्यानुकूल्ये प्रवर्तयन्ति। स च साधुर्मृगवत् पाशेन बद्धो मोक्षार्थं स्पन्दमानोपि ततः पाशान्न मुच्यत इति ॥९॥ किञ्च।

अह सेणु तप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं च विसमिस्सं ॥
एवं विवेगमादाय, संवासो न विकप्पए दविए ॥१०॥

अथासौ साधुः स्त्रीपाशावबद्धो मृगवत् कूटके पतितः सन् कुटुम्बकृते अहर्निशं क्लिश्यमानः पश्चादनुतप्यते। तथाहि गृहान्तर्गतानामेतदवश्यं संभाव्यते। तद्यथा। ''कोधाय ओको समवित्तु कोहो वणाहिं काहो विज्जउ वित्तको उग्घाकउ पहियउ परिणीयउ कोवकुमारओ पडियतो जीवखडप्पकेहि परबंधइ पवेह भारओ'' ॥ तथा ''यन्मया परिजन स्यार्थेकृतं कर्म सुदारुणम् ॥ एकाकी तेन दह्येहं गतास्ते फलभागिनः'' ॥१॥ इत्येवं बहुप्रकारं महामोहात्मके कुटुम्बकूटके पतिता अनुतप्यन्ते। अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति। यथा कश्चिद्विषमिश्रं भोजनं भुक्त्वा पश्चात्तत्र कृतावेगाकुलितोऽनुतप्यते। तद्यथा। किमेतन्मया पापेन साम्प्र-तेक्षिणा सुखरसिकतया विपाककटुकमेवंभूतं भोजनमास्वादितमिति। एवमसावपि पुत्रपौत्रदुहितृजामातृस्वसृभ्रातृव्य भागिनेयादीनां भोजनपरिधानपरिणयनालङ्कारजातमृतकर्मतद्व्याधिचिकित्सा-चिन्ताकुलोपगतस्वशरीरकर्तव्यः प्रनष्टैहिकामुष्मिकानुष्ठानोऽहर्निशं। तद्व्यापारव्याकुलितमतिः। परितप्यते। तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या विपाकं स्वानुष्ठानस्यादाय प्राप्य विवेकमिति वा क्वचित्पाठस्तद्विपाकं विवेकं चादाय गृहीत्वा स्त्रीभिश्चारित्रपरिपन्थिनीभिः सार्धं संवासो वसतिरेकत्र न कल्प्यते न नुद्यते कस्मिन्द्रव्यभूते मुक्तिगमनयोग्ये रागद्वेषरहिते वा साधौ। यतस्ताभिः सार्धं संवासोऽवश्यं विवेकिनामपि सदनुष्ठान-विघातकारीति ॥१०॥

स्त्रीसंबन्धदोषानुपदर्श्योपसंहरन्नाह।

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं च कंटगं नच्चा ॥
उए कुलाणि वसवत्ती, आघाते ण से वि णिग्गंथे ॥११॥

यस्माद्विपाककटुः स्त्रीभिः सह संपर्कस्तस्मात्कारणात् स्त्रियो वर्जयेत्। तुशब्दात्तदालापमपि न कुर्यात्। किंतदित्याह। विषोपलिप्तं कण्टकमिव ज्ञात्वाऽवगम्य स्त्रियं वर्जयेदिति। अपिच। विषदिग्धकण्टकः शरीरावयवे भग्नः सन्ननर्थमापादयेत् स्त्रियस्तु स्मरणादपि। तदुक्तं। ''विषस्य विषयाणां च दूरम-त्यन्तमन्तरम्। उपयुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि'' ॥१॥ तथा 'वरिविसखट्टुमं विसय, सुहुइक्क सुविसिण्णमरंति ॥ विसयामिसपुणघाहिया, णरणरएहिं पडंति'' ॥१॥ तथौज एकोऽसहायः सन् कुलानि गृहस्थानां गृहाणि गत्वा स्त्रीणां वशवर्ती तन्नि-र्दिष्टवेलागमनेन तदानुकूल्यं भजमानो धर्माख्याति योऽसावपि न निर्ग्रन्थो न सम्यक् प्रव्रजितो निषिद्धाचरणसेवनादवश्यं तत्रापायसंभवादिति। यदा पुनः कांचित्कुतश्चिन्निमित्तादागन्तुमसमर्था वृद्धा वा भवेत्तदा परिसहायः साध्वभावे एकाक्यापि गत्वाऽपरस्त्रीवृन्द-मध्यगतायाः पुरुषसमन्वितायाः वा स्त्रीनिन्दा विषयजुगुप्साप्रधानं वैराग्यजननं विधिना धर्मं कथयेदपीति ॥११॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोर्थः सुगमो भवतीत्यभिप्रायवानाह।

जे एय उंछमणुगिद्धा, अन्नयरा हुंति कुसीलाणं ॥
सुतवस्सिए वि से भिक्खू नो विहरे सहाणमित्थीसु ॥१२॥

ये मन्दमतयः पश्चात्कृतसदनुष्ठानाः सांप्रतेक्षिण एतदनन्तरोक्तम् (उंछंति) जुगुप्सनीयं गर्ह्यं तदत्र स्त्रीसंबन्धादिकमेकाकी स्त्रीधर्मकथनादिकं वा द्रष्टव्यं। तदनु तत्प्रति ये गृद्धा अध्युपपन्ना मूर्च्छिताःस्तेहि कुशीलानां पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्त-यथाच्छंदरूपाणामन्यतरा भवन्ति यदि वा काथिकप्पस्यक संप्रसार कमार्मकरूपाणां वा कुशीलानामन्यतरा भवन्ति तन्मध्यवर्तिनस्तेपि कुशीला भवन्तीत्यर्थः। यत एवमतः सुत-पस्त्रियपि विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहोपि भिक्षुः साधुरात्महितमिच्छ-

न् स्त्रीभिः समाधिपरिपन्थिनीभिः सह न विहरेन्न क्वचिद्गच्छेन्नापि संतिष्ठेत तृतीयार्थे सप्तमी। णमिति वाक्यालंकारे। ज्वलिता-ङ्गापुञ्जवद्दूरतः स्त्रियो वर्जयेदिति भावः ॥१॥

(५) कतमाभिः पुनः स्त्रीभिः सार्धं न विहर्तव्य– मित्येतदाशङ्क्याह ॥

अविधूयराहि सुण्हाहिं, धातीहिं अदुव दासीहिं ॥
महतीहि वा कुमारीहिं, संथवं से न कुज्जा अणगारे ॥१३॥

अपिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। (धूयराहिति) दुहितृभिरपि सार्धं न विहरेत्तथा स्नुषाः सुतभार्यास्ताभिरपि सार्धं न विविक्तास नादौ स्थातव्यम्। तथा धात्र्यः पञ्चप्रकाराः स्तन्यदायिन्यो जननीकल्पास्ताभिश्च साकं न स्थेयम्। अथवा सतां तावदपरा योषितो या अप्येता दास्यो घटयोषितः सर्वापसदास्ताभिरपि सह संपर्कं परिहरेत्। तथा महतीभिः कुमारीभिर्वाशब्दाल्लघ्वीभिश्च सार्धं संस्तवं परिचयं प्रत्यासत्तिरूपंसोऽनगारो न कुर्यादिति। यद्यपि तस्यानगारस्य तस्यां दुहितरि स्नुषादौ वा न चित्तान्यथात्वमुत्पद्यते तथापि च तत्र विविक्तासनादावपरस्य शङ्कोत्पद्यते अतस्त-च्छङ्कानिरासार्थं स्त्री संपर्कः परिहर्तव्य इति ॥१३॥

अपरस्य शङ्का यथोत्पद्यते तथा दर्शयितुमाह ॥

अदुणा इणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एगता होंति ॥
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खण पोसणे मणुस्सोसि ॥१४॥

विविक्तयोषिता सार्धमनगारमयैकदा दृष्ट्वा योषिज्जातीनां सुहृदां वा अप्रियं चित्तदुःखासिका भवत्येवं च ते समाशङ्केरन् यथा सत्त्वाः प्राणिन इच्छामदनकामैर्गृद्धा अध्युपपन्नास्तथाह्येवंभूतोऽप्ययं श्रमणः स्त्रीवदनावलोकनासक्तचेताः परित्यक्तनिजव्यापारोऽनया सार्धं निर्हीकस्तिष्ठति। तदुक्तम्। मुण्डं शिरो वदनमेतदनिष्टगन्धि, भिक्षाटनेन भरणं वहतोदरस्य। गात्रं मलेन मलिनं गतसर्वशोभं, चित्रं तथापि मनसो मदनेऽस्ति वाञ्छा ॥१॥ तथातिक्रोधा-ध्मातमानसाश्चैवमूचुर्यथा रक्षणं पोषणं चेति विगृह्य समाहारद्वन्द्वः तस्मिन् रक्षणपोषणे सदादरं कुरु। यतस्त्वमस्या मनुष्योऽसि मनुष्यो वर्तसे यदि वा परंवयमस्या रक्षणपोषणव्यापृतास्त्वमेव मनुष्यो वर्तसे यतस्त्वयैव सार्द्धमियमेकाकिन्य हर्निशंपरित्यक्तनिजव्यापारा तिष्ठतीति ॥१४॥

किंचान्यत् ॥

समणं पि दट्ठु दासी-णं तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति ॥
अदु भोयणेहि णत्थेहि, इत्थिदोससंकिणो होंति ॥१५॥

श्राम्यतीति श्रमणः साधुः अपिशब्दो भिन्नक्रमः। तमुदासीनमपि रागद्वेषविरहान्मध्यस्थमपि दृष्ट्वा श्रमणग्रहणं तपःखिन्नदे-होपलक्षणार्थं तत्रैवंभूतेऽपि विषयद्वेषिण्यपि साधौ तावदेके केचन रहस्यस्त्रीजल्पनकृतदोषत्वात्कुप्यन्ति। यदि वा पाठान्तरं ''समणं दट्ठूणुदासीणं'' श्रमणं प्रव्रजन्तं उदासीनं परित्यक्तनिजव्यापारां स्त्रिया सह जल्पन्तं दृष्ट्वोपलभ्य तत्राप्येके केचन तावत् कुप्यन्ति किंपुनः कृतविकारमिति भावः। अथवा स्त्रीदोषाशङ्किनश्च ते भवन्ति ते चामी स्त्रीदोषाः भोजनैर्नानाविधैराहारैर्न्यस्तैः साध्वर्थमुप-कल्पितैरेतदर्थमेव संस्कृतैरियमेनमुपचरति तेनायमहर्निशमिहागच्छतीति। यदि वा भोजनैः श्वशुरादीनां न्यस्तैरर्धदत्तैः सद्भिः सा वधूः साध्वागमनेन समाकुलीभूता सत्यन्यास्मिन् दातव्येऽन्य-द्दद्यात्ततस्ते स्त्रीदोषाशङ्किनो भवेयुर्यथेयं दुःशीलाऽनेनैव सहास्त इति। निदर्शनमत्र यथा कथाचिद्भिक्षा ग्राममध्यप्रारब्धनटप्रेक्षणैकगतचित्तया पतिश्वशुरयोर्भोजनार्थमुपविष्टयोस्तण्डुला इति कृत्वा राइकाः संस्कृत्य दत्तास्ततोऽसौ श्वशुरेणोपलक्षिता निजपतिना क्रुद्धेन ताडिता अन्यपुरुषगतचित्तेत्याशङ्क्य स्वगृहान्निर्घाटितेति ॥१५॥

कुव्वंति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ॥
तम्हा समणा ण समें–ति आयहियाएसण्णिसेज्जाओ ॥१६॥

ताभिः स्त्रीभिः सन्मार्गाद्गलाभिः सह संस्तवं तद्गृहगमनालापदानसंप्रेक्षणादिरूपं परिचयं तथाविधमोहोदयात्कुर्वन्ति विदधति। किंभूताः प्रकर्षेण भ्रष्टाः स्खलिताः समाधि योगेभ्यः समाधिर्धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधाना वा योगाः मनोवाक्का-यव्यापारास्तेभ्यः प्रच्युताः शीतलविहारिण इति। यस्मात् स्त्रीसंस्तवात्समाधियोगपरिभ्रंशो भवति तस्मात्कारणात् श्रमणाः सस्साधवो (णसमैंति) न गच्छन्ति। सच्छोभनाः सुखो त्पादकतयाऽनुकूलत्वान्निषद्या इव निषधा स्त्रीभिः कृता माया यदि वा स्त्रीवसतिरिति आत्महिताय स्वहितं मन्यमानाः एतच्च स्त्रीसंबन्धपरिहरणं तासामप्यैहिकामुष्मिकापायपरिहाराद्धित-मिति। क्वचित्पश्चार्द्धमेवं पठ्यते ॥ तत्प्राह ''समणाउ जहाहि अहिताओ सन्निसेज्जाओ'' अयमस्यार्थः यस्मात्स्त्रीसंबन्धो-ऽनर्थाय भवति तस्मात् हे श्रमण साधो तु शब्दो विशेषणार्थः विशेषेण सन्निषद्या स्त्रीवसतिस्तत्कृतोपचाररूपा वा माया आत्महितोद्धेतोर्जहाहि परित्यजेति ॥१६॥

किं केचनाभ्युपगम्यापि प्रवज्यायां स्त्रीसम्बन्धं।

कुर्य्युर्यैनैवमुच्यते ओमित्याह ॥

बहवे गिहाइं अवहट्टु, मिस्सीभावं पत्थुया य एगे।
धुवमग्गमेव पवयं–ति वाया वीरियं कुसीलाणं ॥१७॥

बहवः केचन गृहाण्यपहृत्य परित्यज्य पुनस्तथा-विधमोहोदयान्मिश्रीभाव इति द्रव्यलिङ्गमात्रसद्भावाद्भावतस्तु गृहस्थसमकल्पा इत्येवंभूता मिश्रीभावं प्रस्तुताः समनुप्राप्ता न गृहस्था एकान्ततो नापि प्रव्रजितास्तदेवंभूता अपि सन्तो ध्रुवो मोक्षः संयमो वा तन्मार्गमेव प्रवदन्ति तथाहि ते वक्तारो भवन्ति ययाऽयमेवा-स्मदारब्धो मध्यमः पन्थाः श्रेयान् तथा ह्यनेन प्रवृत्तानां प्रव्र-ज्यानिर्वहणं भवतीति तदेतत्कुशीलानां वाचाकृतं वीर्यं नानुष्ठानकृतम्। तथाहि–ते द्रव्यलिङ्गधारिणो वाङ्मात्रेणैव वयं प्रव्रजिता इति ब्रुवते नतु तेषां सातगौरवविषयसुखप्रतिबद्धानां शीतलविहारिणां सदनुष्ठानकृतं वीर्यमस्तीति ॥१७॥ अपिच ॥

सुद्धं रवति परिसाए, अह रहस्सम्मि दुक्कडं करेंति।
जाणंति य णं तहाविया, माइल्ले महासडेयं ति ॥१८॥

स कुशीलो वाङ्मात्रेणाविष्कृतीवर्यः पर्षदि व्यवस्थितो धर्मदेशनावसरे सत्यात्मानं शुद्धमपगतदोषमात्मानमात्मीया-नुष्ठानं वा रौति भाषते। अथाऽनन्तरं रहस्येकान्ते दुष्कृतं पापं तत्कारणं वा ऽसदनुष्ठानं करोति विदधाति तच्च तस्यासदनुष्ठानं गोपायतोपि जानन्ति विदन्ति के तथारूपमनुष्ठानं विदन्ती-ति तथाविदः इङ्गिताकारकुशला निपुणास्तद्विद इत्यर्थः। यदि वा सर्वज्ञाः एतदुक्तं भवति। यद्यप्यपरः कश्चिदकर्त्तव्यं तेषां न वेत्ति तथापि सर्वज्ञा विदन्ति तत्परिज्ञाननैव

किं न पर्याप्तं यदि वा मायावी महासठश्चायमित्येवं तथाविदस्ताद्विदो जानन्ति। तथाहि प्रच्छन्नकार्यकारी न मां कश्चिज्जानातीत्येवं रागान्धो मन्यते अथ च तं तद्विदो वदन्ति। तथाचोक्तं। ''न य लोणं लोणिज्जइ णय ओपिज्जइ वयं च तेल्लं वा। किहसक्का वंचेउअत्ता अणहूय कल्लाणो'' ॥१॥ १८॥

किंचान्यत्॥

सयं दुक्कडं च न वदति, आइट्ठो वि पकत्थति बाले।
वेयाणु वीइमाकासी, चोइज्जंतो गिलाइसे भुज्जो ॥१९॥

स्वयमात्मना प्रच्छन्नं य दुष्कृतं कृतं तदपरेणाचार्यादिना पृष्टो न वदति न कथयति यथाहमस्याऽकार्यस्य कारीति स च प्रच्छन्नपापो मायावी स्वयमवदन् यदा परेणादिष्टश्चोदितोपि सन् बालोऽज्ञो रागद्वेषकलितो वा प्रकत्थते आत्मानं श्लाघमानोऽकार्यमपलपति वदति च यथाहमेवंभूतमकार्यं कथं करिष्ये इत्येवं धाष्ट्यात्प्रक-त्थते। तथा वेदः पुंवेदोदयस्तस्यानुवीच्याऽनुकूल्यं मैथुनाभिलाषं तन्माकार्षीरित्येवं भूयः पुनश्चोद्यमानोऽसौ ग्लायति ग्लानि-मुपयात्यकर्णश्रुतं विधत्ते मर्मविद्धो वा सखेदमिव भाषते। तथा चोक्तम्। ''संभाव्यमानपापोह-मपापेनापि किं मया। निर्विष-स्यापि सर्पस्य, भृशमुद्विजते जन'' इति अपिच।

उसिया वि इत्थिपोसे सुपुरिसा इत्थिवेयखेदन्ना।
पण्णा समन्नितावेगे, नारीण वसं उवकसंति ॥२०॥

स्त्रियं पोषयन्तीति स्त्रीपोषका अनुष्ठानविशेषास्तेषूषिता व्यवस्थिता अपि पुरुषा मनुष्या भुक्तभोगिनोपीत्यर्थः स्त्रीवेदज्ञाः स्त्रीवेदोमायाप्रधान इत्येवं निपुणा अपि तथा प्रज्ञया औत्पत्ति-क्यादिबुध्या समन्विता युक्ता अप्येके महामोहान्धचेतसो नारीणां सम्यक् स्त्रीणां संसारावतरणवीथीनां वशं तदायत्ततामुपसामीप्येन कषन्ति व्रजन्ति यद्यत्ताः स्वप्रायमाना अपि कार्यमकार्यं वा ब्रुवते तत्तत्कुर्वते न पुनरेतज्जानन्ति यथैता एवं भूता भवन्तीति। तद्यथा ''एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतो-र्विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति। तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्यः श्म-शानघटिका इव वर्जनीया ॥१॥ तथा ''समुद्रवीचीव चलस्वभावाः संध्याभ्ररेखेव मुहुर्त्तरागाः। स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥२॥'' अत्र च स्त्रीस्वभावपरिज्ञाने कथानकमिदम्। तद्यथैको युवा स्वगृहान्निर्गत्य वैशिकं कामशास्त्रमध्येतुं पाटलिपुत्रं प्रस्थितः। तदन्तरालेऽन्यतरग्रामवर्तिन्यैकयायोषिता-ऽभिहितस्तद्यथा सुकुमारपाणिपा-दशोभनाकृतिस्त्वंक्व प्र ोऽसि तेनापि यथास्थितमेव तस्य कथितम्। तया चोक्तं वैशिकं प. त्वा मम मध्येनागन्तव्यं तेनापि तथैवाभ्युपगतम्। अधीत्य चासौ मध्येनायातस्तया च स्नानभोजनादिना सम्यगुपचरितो विविधहाव-भावैश्चापहृतहृदयः संस्तां हस्तेन गृह्णाति ततस्तया महता शब्देन फूत्कृत्य जनागमनावसरे मस्तके वारिवर्द्धनिका प्रक्षिप्ता। ततो लोकस्य समाकुले एवमाचष्टे यथायं गले लग्नेनोदकेन मनाक् मृतःततो मयोदकेन सिक्त इति गते च लोके किं त्वया वैशिकशास्त्रोपदेशेन स्त्रीस्वभावानां किं परिज्ञातमित्येवं स्त्रीचरित्रं दुर्विज्ञेयमिति नात्रास्था कर्तव्येति तथाचोक्तम्। ''हृद्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यत्पुरोध पृष्ठेऽन्यत्॥ अन्यत्तव मम चान्यत् स्त्रीणां सर्वं किमप्यन्यत्'' ॥२०॥

साम्प्रतमिहलोक एव स्त्रीसम्बन्धविपाकं दर्शयितुमाह॥

अवि हत्थपादच्छेदाए, अदुवा बद्धमंस उक्कंते।
अवि ते य सामितावणानि, निब्भत्थिय खारसिंचणाइं च॥

स्त्रीसंपर्को हि संसर्गिणां हस्तपादच्छेदनाय भवति। अपि संभावने संभाव्यत एतन्मोहातुराणां संबन्धाद्धस्तपादच्छेदादिकम्। अथवा बध्नमांसोत्कर्तनमपि तेजसाग्निनाऽभितापनानि स्त्रीसंबन्धि-भिरुत्तेजितैराजपुरुषैर्भटित्रकाण्यपि क्रियन्ते या दारिकास्तथा वास्यादिना तक्षयित्वा क्षारोदकसेचनानि च प्रापयन्तीति॥२१॥ अपिच–

अदु कण्णणासछेदं, कंठच्छेदणं तितिक्खंति॥
इत्थ पावसंतत्ता, न य विंति पुणो न काहिंति॥२२॥

अथ कर्णनासिकाच्छेदं तथा कण्ठच्छेदनं च तितिक्षन्ते स्वकृतदोषान्सहन्ते इत्येवं बहुविधां विडम्बनामस्मिन्नेव मानुषे च जन्मनि पापेन पापकर्मणा संतप्ता नरकातिरिक्तां वेदनामनुभवन्ती-ति। न च पुनरेतदेवं भूतमनुष्ठानं करिष्याम इति ब्रुवत इत्यवधारयन्तीति यावत्। तदेवमैहिकामुष्मिका दुःखविडम्बना अप्यङ्गीकुर्वन्ति न पुनस्तदकरणतया निवृत्तिं प्रतिपद्यन्त इति भावः॥२२॥ किंचान्यत्–

सुतमेतमेवमेगेसिं, इत्थि वेदेति हु सुयक्खायं॥
एवं पि तावदित्ताणं, अदु वा कम्मणा अवकरेंति॥२३॥

श्रुतमुपलब्धं गुर्वादेः सकाशाल्लोकतो वा एतदिति यत्-पूर्वमाख्यातम्। तद्यथा। दुर्विज्ञेयं स्त्रीणां चित्तं दारुणः स्त्रीसंबन्ध विपाकस्तथा चलस्वभावाः। स्त्रियो दुष्परिचारा अदीर्घप्रेक्षिण्यः प्रकृत्या लघ्व्य भवन्त्यात्मगर्हिताश्चेत्येवमेकेषां स्वा ख्यातं भवति लोकश्रुतिपरंपरया चिरंतनाख्यासु वा परिज्ञातंभवति। तथा स्त्रियं यथावस्थित-स्वभावतस्तत्सबंन्धविपाकतश्च वेदयति ज्ञापयतीति स्त्रीवेदो वैशिकादिकं स्त्रीस्वभावाविर्भावकं शास्त्रमिति। तदुक्तम्। ''दुर्ग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्वर्णपान्तर्गतं, भावः पर्वतमार्ग-दुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते॥ चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं नैकत्र संतिष्ठते नार्यो नाम विषाङ्कुरैरिव लता दोषैः समं वर्धिता ॥१॥ अपिच। 'सुट्ठु विजयासु सुट्ठु वि, पियासु सुट्ठु लद्धपसरासु। अडईसु माहि लियासु य, वीसंभो नेव कायव्वो ॥१॥ उज्झेउ अंगुलीसो, पुरिसो सयलंमि जीवलोयम्मि। कामे त एण नारी, जेण न पत्ताइ दुःखाइं॥२॥ अह एयाणं पगई सव्वस्त करेंति वेमणस्साइं। तस्स ण करेंति णवरं, जस्स अलं चेव कामेहिं॥३॥ किंच कार्यमहं न करिष्यामीत्येवमुक्त्वापि वाचा (अदुवति) तथा पि कर्मणापि क्रिययाऽप कुर्वन्तीति विरूपमाचरन्ति। यदिवा ऽग्रतः प्रतिपाद्यापि शास्तुरेवापकुर्वन्तीति॥२३॥

सूत्रकार एवं तत्स्वरूपाविष्करणायाह॥

अन्नं मणेण चिंतेति वाया अन्नं च कम्मणा अन्नं॥
तम्हाणसद्दहिं भिक्खू बहुमायाओ इत्थिओ ण च्चा॥२४॥

पातालोदरगम्भीरेण मनसाऽन्यच्चिन्तयन्ति तथा श्रुतमात्र-पेशलया विपाकदारुणया वाचा अन्यद्भाषन्ते। तथा कर्मणानुष्ठाने नान्यन्निष्पादयन्ति यत एवं बहुमायाः स्त्रिय इति एवं ज्ञात्वा तस्मात्तासां भिक्षुः साधुर्न श्रद्दधीत तत्कृतया मायया ऽऽत्मानं न प्रतारयेत्। दत्तावैशिकवत्। अत्र चैतत्कथानम्। दत्तावैशिक एकया गणिकया तैस्तैः प्रकारैः प्रतार्यमाणोपि तां नेष्टवान् ततस्तयोक्तं मया किं दौर्भाग्यकलङ्काङ्कितया जीवन्त्या

प्रयोजनमहं त्वत्परित्यक्ताऽग्निं विशामि ततोसाववोचत् मायया इदमप्यस्ति वैशिके तदाऽसौ पूर्वं सुरङ्गामुखे काष्ठसमुदायं कृत्वा तं प्रज्वाल्य तत्रानुप्रविश्य सुरङ्गया गृहमागता। दत्तकोपि इदमपि चास्ति वैशिके इत्येवमसौ विलपन्नपि वात्तिकैश्चिता-यांप्रक्षिप्तस्तथापि नासौ तासुश्रद्धानं कृतवानेवमन्येनापि न श्रद्धातव्यमिति ॥२४॥ किंचान्यत्॥

जुवती समणं बूया विचित्तलंकारवत्थगाणि परिहिता ॥
विरता चरिस्सहं रुक्खं धम्ममाइक्खणे भयंतारो ॥२५॥

युवतिरभिनवयौवना स्त्री विचित्रवस्त्रालंकारविभूषितशरीरा मायया श्रमणं ब्रूयात्। तद्यथा। विरताहं गृहपासान्न ममानुकूलो भर्त्ता मह्यं चासौ न रोचते परित्यक्ता चाहं तेनेत्थतश्चरिष्यामि धर्ममाचक्षाणेति अस्माकं हे भयत्रातर्यथाहमेवं दुःखानां भाजनं न भवामि तथा धर्ममावेदयति॥

किंचान्यत्–

अदु साविया पवाएणं, अहमासि साहाम्मिणी य समणाणं।
जतुकुंभे जह उपज्जोइ, संवासे वि दु विसीएज्जा ॥२६॥

अथवा ऽनेन प्रवादेन व्याजेन साध्वन्तिकं योषिदुपसर्पेत। यथाहं श्राविकेति कृत्वा युष्माकं श्रमणानां साधर्मिणीत्येवं प्रपञ्चेन नेदीयसी भूत्वा कूलवालुकमिव साधुं धर्माद्भ्रंशयति एतदुक्तं भवति योषित्सान्निध्यं ब्रह्मचारिणां महते ऽनर्थाय तथाचोक्तम् ''तज्ज्ञानं तच्च विज्ञानं तत्तपः स च संयमः। सर्वमेकपदे भ्रष्टं सर्वथा किमपि स्त्रियः १'' अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह यथा जातुषः कुम्भो ज्योतिषोग्नेः समीपे व्यवस्थित उपज्योतिर्वर्ती विलीयते द्रवत्येवं योषितां संवासे सान्निध्ये विद्वानप्यास्तां तावदितरो योऽपि विदितवेद्योऽसावपि धर्मानुष्ठान प्रति विषीदेत शीतलविहारी भवेदिति।२६।

(७) एवं तावत्स्त्री सान्निध्ये विपाकान् प्रदर्श्य तत्संस्पर्शजं दोषं दर्शयितुमाह–

जतुकुंभे जोइ उवगूढे, आसुभितत्तेण समुवयाइ।
एवि त्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ॥२७॥

यथा जातुषः कुम्भो ज्योतिषग्निनोपगूढः समालिङ्गितोऽभितोऽग्निनाभिमुख्येन संतापितः क्षिप्रं नाशमुपैति द्रवीभूय विनश्यत्येवं स्त्रीभिः सार्धं संवसनेन परिभोगेनानगारा नाशमुपयान्ति सर्वथा जातुषकुम्भवत्। व्रतकाठिन्यं परित्यज्य संयमशरीराद्भ्रश्यन्ति।२७।

कुव्वंति पावगं कम्मं, पुट्ठा वेगे व माहिसु ॥
नोहं करेमि पावंति, अंके साइणी ममे त्ति ॥२८॥

तासु संसाराभिष्वङ्गिणीष्वभिसक्ता अवधीरितैहिका-मुष्मिकापायाः पापं कर्म मैथुनासेवनादिकं कुर्वन्ति विदधति। परिभ्रष्टाः सदनुष्ठानादेके केचनोत्कटमोहा आचार्यादिनां चोद्यमाना एवमाहुर्वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः। तद्यथा नाहमेवंभूतकुलप्रसूतः एतदकार्यं पापोपादानभूतं करिष्यामि ममैषा दुहितृकल्पा पूर्वमङ्के शायिनी आसीत् तदेषा पूर्वाभ्यासेनैव मय्येवमाचरति न पुनरहं विदितसंसारस्वभावः प्राणात्ययेऽपि व्रतभङ्गं विधास्य इति। किंच–

बालस्स मंदयं बीजं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो ॥
दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामो विसन्नेसी ॥२९॥

बालस्याज्ञस्य रागद्वेषाकुलितस्यापरमार्थदृश एतद्द्वितीय माद्यम-ज्ञत्वमेकं तावदकार्यकरणेन चतुर्थव्रतभङ्गो द्वितीयं तदपलपनेन मृषावादः। तदेव दर्शयति यत्कृतमसदाचरणं भूयः पुनरपरेण वोद्यमानोऽपजानीतेऽपलपति नैतन्मया कृतमिति स एवं भूतोऽसदनुष्ठानेन तदपलपनेन च द्विगुणं पापं करोति। किमर्थम-पलपतीत्याह। पूजनं सत्कारपुरस्कारस्तत्कामस्तदभिलाषी न मे लोके अवर्णवादः स्यादित्यकार्यं प्रच्छादयति। विषण्णो-ऽसंयमस्तमेषितुं शीलमस्येति विषण्णेषी। किंचान्यत्॥

संलोकणिज्जमणगारं, आयगयं निमंतणेणाहंसु ॥
वत्थं च ताय पायं वा, अन्नं पाणगं पडिग्गहे ॥३०॥

संलोकनीयं संदर्शनीयमाकृतिमन्तं कंचनानगारं साधुमात्मनि गतमात्मगतमात्मज्ञमित्यर्थः। तदेवं भूतं काश्चन स्वैरिण्यो निमन्त्र-णेन निमन्त्रणपुरःसरमाहुरुक्तवत्यः। तद्यथा हेशयिन्। साधो वस्त्रं पात्रमन्य द्वा पानादिकं येन केनचिद्व्रतः प्रयोजनं तद हं भवते सर्वं ददामीति मद्गृहमागत्य प्रतिगृहाण त्वमिति उपसंहारार्थमाह॥

णीवारमेवं बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागंतुं ॥
बद्धे विसयपासेहिं, मोहमावज्जइ पुणो मंदि ॥३१॥

एतद्योषितां वस्त्रादिकमामन्त्रणं नीवारकल्पं बुध्येत जनीयात् यथाहि नीवारेण केनचिद्भक्ष्यविशेषेण सूकरादिर्वशमानीयते एवमसावपि तेनामन्त्रणेन वशमानीयते अतस्तं नेच्छे दगारं गृहं गन्तुम्। यदिव गृहमेवावर्त्तो गृहावर्त्तो गृहं भ्रमस्तं नेच्छेत् नाभिलष्येत्। किमिति यतो बद्धो वशीकृतो विषया एव शब्दादयः पाशा रज्जुबन्धनानि तैर्बद्धः परवशीकृतः स्नेहपाशानपत्रोटयितुमसमर्थः सन्मोहं चित्तव्याकुलत्व-मागच्छति। किं कर्तव्यमूढो भवति पौनःपुन्येन मन्दोऽज्ञो जडइति। उक्तः प्रथमोद्देशकः। सांप्रतं द्वितीयः समारभ्यते। अस्य चायमभिसंबन्धः इहानन्तरोद्देशके स्त्री संस्तवाचारित्रस्खलनमुक्तं स्खलितशीलस्य या अवस्था इहैव प्रादुर्भवति तत्कृतकर्मबन्धश्च तदिह प्रतिपाद्यते इत्यनेन संब-न्धेनायातस्योद्देशकस्यादिमसूत्रम्॥

ओए सया ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा ॥
भोगे समणाण सुणेह, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥१॥

अस्य चानन्तरं परस्परसूत्रसंबन्धो वक्तव्यः। स चायं संबन्धो विषयपाशैर्माहमागच्छति। यतोऽत ओज एको रागद्वेषवियुतः स्त्रीषु रागं न कुर्यात्। परस्परसूत्रसंबन्धस्तु संलोकनीयमनगारं दृष्ट्वा च यदि काचिद्योषित् साधुमशनादिन नीवारकल्पेन प्रतारयेत्तत्रौजः सन्न रज्येतेति तत्रौजो द्रव्यतः परमाणुर्भावतस्तु रागद्वेषवियुतः स्त्रीषु रागादिहैव वक्ष्यमाणनीत्था नानाविध विडम्बना भवन्ति तत्कृतश्च कर्म बन्धस्तद्विपाकाच्चामुत्र नरकादो तीव्रा वेदना भवन्ति यतोऽत एतन्मत्वा भावौजः सन् सदा सर्वकालं वाऽनर्थखनिषु स्त्रीषु न रज्येत। तथा यद्यपि मोहोदयात् भोगाभिलाषी भवेत्तथाप्यै-हिकामुष्मिकापायान् परिगणय्य पुनस्ताभ्यो विरज्येत। एतदुक्तं भवति कर्मोदयात्प्रवृत्तमपि चित्तं हेयोपादेयपर्यालोचनया ज्ञानाङ्कुशेन निवर्तयेदिति। तथा श्राम्यन्ति तपसा खिद्यन्तीति श्रमणास्तेषामपि भोग इत्येतच्छृणुत यूयम्। एतदुक्तं भवति गृह स्थानामपि भोगा विडम्बनाप्राया यतीनां तु भोगा इत्येतदेव विडम्बनाप्रायं किं पुनस्तत्कृतावस्था। तथाचोक्तं मुण्डं शिर इत्यादि पूर्ववत्। यथा यथा च भोगानेकेऽपुष्टधर्माणो भिक्ष-

वो यतयो विडम्बनाप्रायान् भुञ्जते तथोद्देशकसूत्रेणैव वक्ष्यमाणेनोत्तरत्र महता प्रबन्धेन दर्शयिष्यामि । अन्यैरप्युक्तम् । ''कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः क्षुधा क्षामोजीर्णः पिठरककपालार्दितगलः । वृणैः पूयक्लिन्नैः कृमिकुलश-तैराविलतनुः शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥''

(८) भोगिनां विडम्बनां दर्शयितुमाह ॥

अह तं तु भेदमावन्न–मुच्छितं भिक्खु काममतिवट्टं ॥
पलिभिंदियाणं तो पच्छा, पादु द्धट्टमुद्धिपहाणंति ॥२॥

अथेत्यानन्तर्यार्थः । तुशब्दो विशेषणार्थः स्त्रीसंस्तवादनन्तरं भिक्षुं साधुं भेदं शीलभेदं चारित्रस्खलनमापन्नं प्राप्तं सन्तं स्त्रीषु मूर्च्छितं गृद्धमध्युपपन्नं तमेव विशिनष्टि । कामेष्विच्छामदनरूपेषु मतेर्बुद्धेर्मनसो सा वर्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्तः कामाभिलाषुक इत्यर्थः । तमेवंभूतं परिभिद्य मदभ्युपगतः श्वेतकृष्णप्रतिपन्नो मद्वशक इत्येवं परिज्ञान यदि वा परिभिद्य परिसार्यात्मसात्कृतं चोच्चार्येति । तद्यथा मया तव लुञ्चितशिरसो जल्लमलाविलतया दुर्गन्धस्य जुगुप्सनीयकक्षाव-क्षोवस्ति-स्थानस्य कुलशीलमर्यादालज्जाधर्मादीन् परित्यज्यात्मादत्त-स्त्वं पुनरकिंचित्कर इत्यादि भणित्वा प्रकुपितायास्तस्या असौ विषयमूर्च्छितस्तत्प्रत्यापनार्थं पादयोर्निपतितः । तथा चोक्तम् । ''व्याभिन्नकेसरबृहच्छिरसश्च सिंहा नागाश्च दानमदराजिकृशैः कपोलैः । मेधाविनश्च पुरुषाः समरे च शूराः स्त्रीसन्निधौ परम-कापुरुषा भवन्ति'' ॥१॥ ततो विषयेष्वेकान्तेन मूर्च्छिते इति परिज्ञानात्पश्चात्पादं निजवामचरणमुद्धृत्योत्क्षिप्य मूर्ध्नि शिरसि प्रघ्नन्ति ताडयन्त्येवं विडम्बनां प्रायन्तीति'' ॥२॥ अन्यच्च–

जइ केसिआणं मए भिक्खु, णो विहरे सह णमित्थिए ।
केसाण वि ह लुंचिस्सं, नन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥३॥

केशाः विद्यन्ते यस्याः सा केशिका णमिति वाक्यालंकारे । हे भिक्षो ! यदि मया स्त्रिया भार्यया केशवत्या सह नो विहरेस्त्वं सकेशया स्त्रिया भोगान् भुञ्जानो व्रीडां यदि वहसि ततः केशानप्यहं त्वत्सङ्गमाकाङ्क्षिणी लुञ्चिष्याम्यपनेष्यामि । आस्तां तावदलंकारादिकमित्यपि शब्दार्थः अस्य चोपलक्षणार्थ-त्वादन्यदपि दुष्करं विदेशगमनादिकं तत्सर्वमहं करिष्ये त्वं पुनर्नमया रहितो नान्यत्र चरेः । इदमुक्तं भवति मयारहितेन भवता क्षणमपि न स्थातव्यमेतावदेवाहं भवन्तं प्रार्थयामि अहमपि यद्भवानादिशति तत्सर्वं विधास्य इति ॥३॥

(९) इत्येवमतिपेशलैर्विश्रम्भजननैरापातभद्रकैरालापै-र्विश्रम्भयित्वा यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह ॥

अह णं स होई उवलद्धो, तो पेसंति तहा भूएहिं ।
अलाउच्छेदं पेहेहिं, वग्गुफलाइं आहराहित्ति ॥४॥

अथेत्यानन्तर्यार्थः णमिति वाक्यालंकारे विश्रम्भालापानन्तरं यदासौ साधुर्मदनुरक्त इत्येवमुपलब्धो भवत्याकारैरिङ्गितैश्चेष्टया वा मद्वश ग इत्येवं परिज्ञातो भवति ताभिः कपटनाटकनायिकाभिः स्त्रीभिस्ततस्तदभि-प्रायपरिज्ञानादुत्तरकालं तथाभूतैः कर्म-करव्यापारैरपशब्दैः प्रेषयन्ति नियोजयन्ति । यदि वा तथाभूतैरिति लिङ्गस्थयोग्यैर्व्यापारैः प्रेषयन्ति तानेव दर्शयितुमाह । अलाबुतुम्बुं छिद्यते येन तदलाबुच्छेदं पिप्पलकादिशास्त्रं (पेहाहित्ति) प्रेक्षस्व निरूपय लभस्वेति येन पिप्पलकादिना लब्धेन पात्रादेर्मुखादि क्रियत इति तथा वल्गूनि शोभ नानि फलानि नारीकेरादीनि अलाबुकानि वा त्वमाहरानयेति । यदि वा वाक्फलानि च धर्मकथारूपाया व्याकरणादिव्याख्यानरूपाया वाचो यानि फलानि वस्त्रादिलाभरूपाणि तान्याहरेति ॥४॥ अपिच ॥

दारूणि साग पागाए, पज्जोउ वा भविस्सती राओ ।
पाताणि य मेरयावेहि, एहि तामेपिट्ठओ मद्दे ॥५॥

यथा दारूणि काष्ठानि शाकं पक्कवस्तुलादिकं त्रपशाकं तत्पाकार्थं क्वचिदन्नपाकायेतिपाठस्तत्रान्नमोदकादिकमिति रात्रौ रजन्यां प्रद्योतो वा भविष्यतीति कृत्वा अतो अटवी तस्तमाहरेति । तथा पात्राणि पतद्गृहादीनि रञ्जयलेपय येन सुखेनैव भिक्षा-टनमहंकरोमि । यदि वा पादावलक्तकादिना रञ्जयेति । तथा परित्यज्यापरं कर्म तावदेह्यागच्छ मे मम पृष्ठमुत्प्राबल्येन मर्दय बाधते ममाङ्गमुपविष्टाया अतः संहारयपुनरपरं कार्यशेषं करिष्यसीति ॥५॥ किंच–

वत्थाणि य मे पडिलेहेहिं, अन्नं पाणं च आहरा हित्ति ।
गंधं च रओहरणं च, कासवगं मे समणु जाणाहि ॥६॥

वस्त्राणि च अम्बराणि मे मम जीर्णानि वर्तन्तेऽतः प्रत्यु-पेक्षस्वान्यानि निरूपय यदि वा मलिनानि रजकस्य समर्पय मदुपधिं वा मूषिकादिभयात्प्रत्युपेक्षस्वेति । तथा अन्नपानादिकमाहरानयेति तथा गन्धं कोष्ठपुटादिकग्रन्थि वा हिरण्यं तथा शोभनं रजोहरणं तथा लोचं कारयितु महमशक्तेत्यतः काश्यपं नापितं मच्छिरो मुण्डनाय श्रमणानुजानीहि येनाहं वृहत्केशानपनयामीति ॥६॥

किंचान्यत्–

अदु अंजणिं अलंकारं, कुक्कुडयं मे पयच्छाहि ॥
लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च गुलियं च ॥७॥
कुट्ठं तगरं च आगरुं, संपिट्ठं सम्म उसिरेणं ।
तेल्लं मुहमिंजाए, वेणुपलाइं सन्निधानाए ॥८॥

अथ शब्दोधिकारान्तरप्रदर्शनार्थः पूर्वलिङ्गस्थोपकरणा-न्यधिकृत्याभिहितमधुना गृहस्थोपकरणान्यत्याभिधीयते तद्यथा (अंजणीमिति) अञ्जणिकां कज्जलाधारभूतां नलिकां मम प्रयच्छस्वेत्युतरत्र क्रिया । तथा कटककेयूरादिकमलंकारं वा तथा (कुक्कुडयंति) खुंखुणकं मे मम प्रयच्छ येनाहं सर्वालङ्कारविभूषिता वीणाविनोदेन भवन्तं विनोदयामि । तथा लोध्रं च लोध्रकुसुमं च । तथा (वेणुफलासियंति) वंशात्मिका श्लक्षणत्वक् काष्ठिका सा दन्तैर्वामहस्तेन प्रगृह्य दक्षिणहस्तेन वीणावद्वाद्यते । तथौषधगुटिकां तथाभूतामानय येनाहमविनष्यौवना भवामीति ॥७॥ तथा (कुट्ठमित्यादि) कुष्ठमुत्पलकुष्ठं तथाऽगरं तगरं च एते द्वे अपि गन्धिकद्रव्ये एतत्कुष्ठादिकमुशीरेण वीरणीमूलेन संपिष्टं सुगन्धि भवति यतस्तत्तथा कुरु तथा तैलं लोध्रकुङ्कुमादिना संस्कृतं मुखमाश्रित्य (भिंजएत्ति) अभ्यङ्गाय ढौकयस्व । एतदुक्तं भवति । मुखाभ्यङ्गार्थं तथाविधं संस्कृतं तैलमुपाहरेति येन कान्त्युपेतं मे मुखं जायेत (वेणुफलाइंति) वेणुकार्याणि करण्डकपेटिकादीनि सन्निधिः सन्निधानं वस्त्रादेर्व्यवस्थानं तदर्थमानयेति ॥८॥

किंच–

नंदी चुण्णगाइं पाहराहिं, छत्तोवाणहं च जाणाहिं ॥
सत्थं च सूवच्छेज्जाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि ॥९॥

सुफणिं च सागपागाए आमलगा इंदगाहणं च।
तिलगकरणिमंजणसलागं धिंसु मे विहूणयं विजाणेहिं ।१०

(नंदी चुण्णगाइंति) द्रव्यसंयोगनिष्पादितोष्टमृक्षणचूर्णो-ऽभिधीयते। तेमवंभूतं चूर्णं प्रकर्षेण येन केनचित्प्रकारेणाहरान-येति। तथाऽऽतपस्य वृष्टेर्वा संरक्षणाय छत्रं तथोपानहौ च ममानुजानीहि। न मे शरीरमेभिर्विना वर्तते ततो ददस्वेति। तथा शस्त्रं दात्रादिकं सूपच्छेदनाय पत्रशाकच्छेदनार्थं ढौकयस्व। तथा वस्त्रमम्बरं परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय यथा नीलमीषन्नीलं सामस्त्येन वा नीलं भवत्युपलक्षणार्थत्त्वाद्रक्तं यथा भवतीति ॥९॥ तथा (सुफणिं चेत्यादि) सुष्ठु सुखेन वा फण्यते क्वाथ्यते तक्रादिकं यत्र तत्सुफणिस्थालिपिठरादिकं भाजनमभिधीयते तच्छा-कपाकार्थमानय। तथा आमलकानि धात्रीफलानि स्नानार्थं पित्तोपशमनायाभ्यवहारार्थं वा। तथोदकमान्हियते येन तदुदकाहरणं कुटवर्धनिकादि अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद् घृततैलाद्याहरणं सर्वं वा गृहोपस्करं ढौकस्वेति। तिलकः क्रियते यया सा तिलककर्णी दन्तमयी सुवर्णात्मिका वा शलाका यया गोरोचनादियुक्तया तिलकः क्रियते इति। यदि वा गोरोचनया तिलकः क्रियते सा च तिलककर्णीत्युच्यते। तिलकाः क्रियन्ते पिष्यन्ते वा यत्र सा तिलककर्णीत्युच्यते तथाञ्जनं सौवीरकादि शलाका अक्ष्णोरञ्जनार्थं शलाका अञ्जनशलाका तामाहरेति। तथा ग्रीष्मे उष्णाभितापे सति मे मम विधूनकं व्यजनकं विजा-नीहि॥

संडासगं च फणिहं च, सीहलि पासगं च आणाहि।
आदसगं च पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसाहि ॥११॥
पूयफणं तंबोलयं, सूई सुत्तगं च जाणाहि।
कोसंयमो च मेहाए, सुप्पु खलगं च खारगालणं च ॥१२॥

एवं संडासिकं नासिकाकेशोत्पाटनं फणिहं केशसंयम नार्थं कङ्कतकं तया (सीहलिपासगंति) वीणासंयमनार्थमूर्णामयं कङ्कणं चानय ढौकयेति। एवमासमन्तादृश्यते आत्मायस्मिन् स आदर्शः स एव आदर्शकस्तं प्रयच्छ ददस्वेति। तथा दन्ताः प्रक्षाल्यन्ते अपगतमलाः क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनं दन्तकाष्ठं तन्मदन्तिके प्रवेशयेति ॥११॥ (पूयफलं चेत्यादि) पूगफलं प्रतीतं ताम्बूलं नागवल्लीदलं तथा सूचीं च सूत्रं च सूच्यर्थं वा सूत्रं जानीहि ददस्वेति। तथा कोशमिति वारकादिभाजनं तन्मोचमेहाय समाहर तत्र मोचः प्रस्रवणं कायिकेत्यर्थः। तेन मेहः सेचनं तदर्थं भाजनं ढौकय। एतदुक्तं भवति बहिर्गमनं कर्तुमहमसमर्था रात्रौ भयादतो मम यथा रात्रौ बहिर्गमनं न भवति तथा कुरु। एतच्चान्यस्या-प्यधमतमकर्तव्यस्योपलक्षणं द्रष्टव्यम्। तथा शूर्प तण्डु-लादिशोधनार्थं तथोलूखलं तथा किंचन क्षारस्य सर्जिकादेर्गा-लनकमित्येवमादिकमुपकरणं सर्वमप्यानयेति ॥१२॥

किंचान्यत्॥

चंदालगं च करगं च, वद्धघरं च आउसो खणइ।
सरपायं च जयाए, गोरहगं च सामणए य ॥१३॥
घडियं च सडिंडिमयं च, चेलगोलं कुमार भूयाए।
वासं समभि आवण्ण, आव सहं च जाण भत्तं च ॥१४॥

चंदालकमिति देवतार्चनिकाद्यर्थं ताम्रमयं भाजनमेतच्च मथुरायां चन्दालकत्वेन प्रतीतमिति। तथा करको जलाधारो महिराभाजनं वा तदानयेति क्रिया। तथा वर्चोगृहं पुरीषोत्सर्गस्थानं तदायुष्मन् मदर्थं खन संस्कुरु। तथा शरा इषवः पात्यन्ते क्षिप्यन्ते येन तच्छरपारं धनुस्तज्ञाताय मत्पुत्राय कृते ढौकय। तथा (गोरहगंति) त्र्यहायणं बलीवर्दं ढौकयेति (सामणएत्ति) श्रमणस्थापत्यं श्रामणिस्तस्मै श्रामणये त्वत्पुत्राय गन्त्र्यादिकृते भविष्यतीति ॥१३॥ तथा (घडिगंचेत्यादि) घटिकां मृन्मयकुल्लुडिकां डिण्डिमेन पटहकादिवादित्रवि शेषेण सह तथा (चेलगोलंति) वस्त्रात्मकं कंदुकं कुमारभूताय क्षुल्लकभूताय राजकुमाररूपाय वा मत्पुत्राम् क्रीडनार्थमुपानयेति। तथा वर्षमिति। प्रावृट्कालोऽय-मभ्यापन्नोऽभिमुखं समापन्नोऽत आवसथं गृहं प्रावृट्कालनि-वासयोग्यं तथा भक्तं च तन्दुलादिकं तत्कालयोग्यं जानीहि निरूपय निष्पादय येन सुखेनैवाऽनागतपरिकल्पितावसथादिना प्रावृ-ट्कालोऽतिवाह्यत इति। तदुक्तं ''मासैरष्टभिरह्ना च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा। तत्कर्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते'' ॥१४॥ एवं च।

आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए।
अदुपुत्तदोहलट्ठाए—आणप्पा हवंति दासा वा ॥१५॥

मौञ्जे काष्ठपादुके वा संक्रमणार्थं पर्यटनार्थं निरूपय यतो नाहं निरावरणपादा भूमौ पदमपि दातुं समर्थेति। अथवा पुत्रे गर्भस्थे दौहृदः पुत्रदौहृदः अन्तर्वत्नी फलादावभिलाषविशेषस्तस्मै तत्संपादनार्थं स्त्रीणां पुरुषाः स्ववशीकृता दासा इव क्रयक्रीता इवाज्ञाप्या आज्ञापनीया भवन्ति। यथा दासा अलज्जितैर्योग्यत्वादाज्ञाप्यन्ते एवं तेऽपि वराकाः स्नेहपाशावपाशिता विषयार्थिनः स्त्रीभिः संसारावतरणवीथी-भिरादिश्यन्त इति ॥१५॥

अन्यच्च--

जाए फले समुप्पन्ने, गेण्हं सुबाणं अहवा जहाहि।
अह पुत्तपोसिणो एगे, भारवहे हवंति उट्टावा ॥१६॥

जातपुत्रः स एव फलं गृहस्थानाम्, तथाहि पुरुषाणां कामभोगफलं तेषामपि फलं प्रधानं कार्यं पुत्रजन्मेति। तदुक्तम्। ''इदं तत्स्नेहसर्वस्वं, सममाढ्यदरिद्रयोः। अचन्दनमनौशीरं, ददयस्यानुलेपनम् ॥१॥ यत्तच्छपनिकेत्युक्तं, बालेनाव्यक्त-भाषिणाहित्वा सौख्यं च योगं च, तन्मे मनसि वर्तते--'' ॥२॥ यथा लोके पुत्रसुखं नाम द्वितीयं सुखमात्मन इत्यादि। तदेवं पुत्रः पुरुषाणां परमाभ्युदयकारणं तस्मिन्समुत्पन्ने जाते तदुद्देशेन याः विडम्बनाः पुरुषाणां भवन्ति। अमुं दारकं गृहाण त्वमहन्तु कर्मासक्ता न मे ग्रहणावसरोऽस्ति। अथ चैनं जहाहि परित्यज नाहमस्य वार्तामपि पृच्छाम्येवं कुपिता सती ब्रूते मयाऽयं नव मासानुद-रेणोढस्त्वं पुनरुत्सङ्गे नाप्युद्वहने स्तोकमपि कालमुद्विजस इति। दासदृष्टान्त-स्त्वादेशदानेनैव साम्यं भजते नादेशनिष्पादनेनैव तथाहि दासभयात्रु-दन्नोदशं विधत्ते स तु स्त्रीवशगोऽनुग्रहं मन्यमानो मुदितश्च तथा देशं विधत्ते ''यदेव रोचते मह्यं, तदेव कुरुते प्रिया। इति वेत्ति न जानाति, तत्प्रियं यत्करोत्यसौ ॥१॥ ददाति प्रार्थितप्राणान् मातरं हन्ति तत्कृते॥ किन्नदद्यात्किन्न कुर्यात्स्त्री-भिरभ्यर्थितो नरः ॥२॥ ददाति शौचं पानीयं, पादौ प्रक्षालयत्यपि श्लेष्माणमपि गृण्हाति, स्त्रीणां वशगतो नरः ॥३॥ तदेवं पुत्रनिमि-त्तमन्यद्वायत्किंचिन्निमित्तमुद्दिश्य दासमिवादिशन्ति। अथ तेऽपि पुत्रान्

पोषितुं शीलं येषां ते पुत्रपोषिण उपलक्षणार्थत्वादस्य सर्वादेश-कारिण एके केचन मोहोदये वर्तमानाः स्त्रीणां निदेशवर्तिनो-ऽपहस्तितैहिका-मूष्मिकापाया उष्ट्रा इव परवशा भारवाहा भवन्तीति ॥१६॥

किंचान्यात् ॥

राओ वि उट्ठिया संता, दारगं च संठवंति धाई वा।
सुहिरामणा वि ते संता, वत्थधोवा हवंति हंसा वा ॥१७॥

रात्रावप्युत्थिताः सन्तो, रुदन्तं दारकं धात्रीवत् संस्थापयन्त्य-नेकप्रकारैरुल्लापैः। तद्यथा ॥ ''सामिउसणीगरस्स यणक्कउरस्स य हत्थकप्पगिरिपट्टणसीहपुरस्स चउणयस्स भिन्नस्स य कुच्छिपुरस्स य कणकुज्जआयामुहसोरियपुरस्स य'' इत्येवमादिभिरसंबद्धैः क्रीडनकलापैः स्त्रीचित्तानुवर्तिनः पुरुषास्तत्कुर्वन्ति येनोपहास्यतां सर्वस्य व्रजन्ति सुष्ठु-हीलज्जा तस्यां मनोन्तःकरणं येषां ते सु-हीमनसो लज्जालवोऽपि ते सन्तो विहाय लज्जां स्त्रीवचनात्सर्वजघन्यान्यपि कर्माणि कुर्वते तान्येव सूत्रावयवेन दर्शयति। वस्त्रधावका वस्त्रप्रक्षालका हंसा इव रजका इव भवन्ति अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्यदपि उदकवाहनादिकं कुर्वन्ति ॥१७॥

किमेतत् केचन कुर्वन्तीति येनैवमभिधीयते।

वाढं कुर्वन्तीत्याह ॥

एवं बहुहिकए पुव्वं, भोगत्थाए जो भियावन्ना।
दासेमिव पेसे वा, पसुभूतेव सेण वा केई ॥१८॥

एवमिति पूर्वोक्तं स्त्रीणामादेशकारणं पुत्रपोषणवस्त्रधावनादिकं तद्बहुभिः संसाराभिष्वङ्गिभिः पूर्वं तथापरे कुर्वन्ति करिष्यन्ति च ये भोगकृते कामभोगार्थमैहिकामुष्मिकापायमपर्यालोच्याभिमु-ख्येन भोगानुकूल्येनापन्ना व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानेषु प्रतिपन्ना इति यावत्। तथा यो रागान्धः स्त्रीवशीकृतः स दासवदशङ्किता-भिस्ताभिः प्रत्यपरेऽपि कर्मणि नियोज्यते। तथा वागुरापतित-परवशो मृग इव धार्यते नात्मवशो भोजनादिक्रियाऽपि कर्तुं लभते। तथा प्रेष्य इव कर्मकर इव क्रीत इव वर्चःशोधनादावपि नियोज्यते। तथा कर्तव्याकर्तव्य-विवेकरहिततया हिताहितप्राप्तिपरिहार-शून्यत्वात् पशुभूत इव यथाहि पशुराहारभयमैथुनपरिग्रहाभिज्ञ एवं केवलमसावपि सदनुष्ठानरहितत्वा-त्पशुकल्पः। यदि वा स स्त्रीवशगो दासमृगप्रेष्यपशुभ्यो प्यधमत्वान्न कश्चित्, एतदुक्तं भवति सर्वाधमत्वात्तस्य तत्तुल्यं नास्त्येव येनासावुपमीयेत। अथवा न स कश्चिदित्युभयभ्रष्टत्वात्। तथाहि न तावत्प्रव्रजितोऽसौ सदनुष्ठानरहितत्वान्नापि गृहस्थस्ताम्बूलादिप-रिभोगरहितत्वा-ल्लोचिकामात्रधारित्वाच्च। यदि वा ऐहिकामुष्मिकानु-ष्ठायिनां मध्ये न कश्चिदिति ॥१८॥

सांप्रतमुपसंहारद्वारेण स्त्रीसङ्गपरिहारमाह ॥

एवं खु तासु विन्नप्पं, संथवं संवासं च वज्जेज्जा।
तज्जातिआइ मे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाए ॥१९॥

एतत्पूर्वोक्तं खु शब्दो वाक्यालंकारे तासु यत्स्थितं तासां वा स्त्रीणां संबन्धि यद्विज्ञप्तमुक्तं। तद्यथा। यदि सकेशया सह न रमसे ततोहं केशानप्यप नयामि इत्येवमादिकम्। तथा स्त्रीभिः सार्धं संस्तवं परिचयं तत्संवासं च स्त्रीभिः सहकैत्र निवासं चात्महितमनुवर्तमानः सर्वापायभीरुस्त्यजेज्जह्यात्। यतस्ताभ्यो जातिरुत्पत्तिर्येषां ते कामास्तज्जातिकामा रमणीसंपर्क्कोत्थास्तथाऽवद्यं पापं वज्रं वा गुरुत्वादधः पातकत्वेन पापमेव तत्करणशीला अवद्यकरा वज्रकरा वेत्येवमाख्या-तास्तीर्थकरगणधरादिभिः प्रतिपादिता इति ॥१९॥

सर्वोपसंहारार्थमाह ॥

एवं भयं ण से याय इइ, से अप्पणं निरुंभित्ता।
णो इत्थिणो पसुभिक्खुणो सयं पाणिणा णलज्जेज्जा ॥२०॥

एवमनन्तरनीत्या भयहेतुत्वात्स्त्रीभिर्विज्ञप्तं तथा संस्त-वस्तत्संवासश्च भयमित्यतः स्त्रीभिःसार्धं संपर्को न श्रेयसे असदनुष्ठानहेतुत्वात्तस्येत्येवं परिज्ञाय स भिक्षुरवगत-कामभोगविपाक आत्मानं स्त्रीसंपर्काभिन्नरुध्य सन्मार्गेप्यव-स्थाप्य यत्कुर्यात्तद्दर्शयति। न स्त्रियं नरकवीथिप्रायां नापि पशुं लीयेताश्रयेत स्त्रीपशुभ्यां सह संवासं परित्यजेत्। ''स्त्रीपशु-पण्डकवर्जिता शय्येति'' वचनात्तथा स्वकीयेन पाणिना हस्तेना -वाच्यस्य (णलिज्जेज्जति) न संबाधनं कुर्यात्। यतस्तदपि हस्तसंवाधनं चारित्रं शवली करोति। यदि वा स्त्रीपश्वादिकं स्वेन पणिना न स्पृशेदिति ॥२०॥ अपिच।

सुविसुद्ध लेसे मेहावी, परकिरिअं च वज्जए नाणी ॥
मणसा वयसा कायेण, सव्वफाससहे अणगारे ॥२१॥

सुष्ठु विशेषेण शुद्धा स्त्रीसंपर्कपरिसंहाररूपतया निष्कलङ्का लेश्यान्तः करणवृत्तिर्यस्य स तथा स एवंभूतो मेधावी मर्यादावर्ती परस्मैस्त्र्यादिपदार्था क्रिया परक्रिया तां च ज्ञानी विदितवेद्यो वर्जयेत्परिहरेत्। एतदुक्तं भवति। विषयोपभोगोपाधिना नान्यस्य किमपि कुर्यात् नाप्यात्मनः स्त्रिया पादधावनादिकमपि कारयेत्। एतच्च परक्रियावर्जनं मनसा वचसा कायेन वर्जयेत्तथा ह्यौदारिक-कामभोगार्थं मनसा न गच्छति नान्यं गमयति गच्छन्तमपरं नानु-जानीते एवं वाचा कायेन च सर्वेप्यौदारिके नव भेद एवं दिव्वे ऽपि नव भेदास्ततश्चाष्टा-दशभेदभिन्नमपि ब्रह्म विभृयात्। यथाच स्त्री-स्पर्शपरिषहः सोढव्य एवं सर्वानपि शीतोष्णदंशमशकतृणादिस्पर्शानपि सहेत। एवे च सर्वस्पर्श सहोऽनगारः साधुर्भवतीति ॥२१॥

क एवमाहेति दर्शयति।

इच्चेव माहु से वीरे, धुअरए धुअमोहे से भिक्खू।
तम्हा अज्झत्थ विसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाएपरिव्वएज्जासि ॥

(पाठान्तरं विहरे आमुक्खाए त्तिबेमि) इच्चेवमाहुरित्यादि (इत्येवं यत्पूर्वमुक्तं तत्सर्वं स वीरो भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः परहितैकरत आह उक्तवान्। यत एवमतो धूतमपनीतं रजः स्त्रीसंपर्कादिकृतं कर्म येन स धूतराजाः। तथा धूतो मोहो रागद्वेषरूपो येन स तथा। पाठान्तरं वा धूतोऽपनीतो रागमार्गो रागपन्था यस्मिन् स्त्रीसंस्त-वादिपरिहारात्तत्तथा तत्सर्वभगवान् वीर एवाह। यत एवं तस्मात्सभिक्षुरध्यात्मविशुद्धः सुविशुद्धान्तःकरणः सुष्ठु रागद्वेषा-त्मकेन स्त्रीसंपर्केण मुक्तः सन्मोक्षायाशेषकर्मक्षयं यावत् परि समन्तात्संयमेऽनुष्ठाने व्रजेद्गच्छेत्संयमोद्योगवान् भवेदिति॥ सूत्र०॥ २ श्रु० ४ अ०।

(१०) स्त्रीस्वरूपस्य स्त्रीचरित्रस्य चातिनिन्दनीयत्वम्।

तत्र स्वरूपनिन्दा यथा–

हा असुइसमुप्पनिया, निग्गया जेण चेव दारेणं।
सत्ता मोहपसत्था, रमंति तत्थेव असुइदारम्मि ॥३॥

हा इति खेदे अशुचिसमुत्पन्ना अपवित्रोत्पन्ना येनैव द्वारेण निर्गताः चशब्दाद्योगत्वमापन्नाः सत्वा जीवाः मोहप्रसक्ता विषमरक्ताः रमन्ते क्रीडयन्ति। तत्रैवाशुचिद्वारे छेदोक्तं-

समुद्रप्रसूतकुमारवदिति। एवं शरीराशुचित्वे सति शिष्यः प्रश्न-यति।

किह ताव घरकुडीरी, कइसहस्सेहिं अपरितं तेहिं।
वन्निज्जइ असुइविलं, जघणंति सकज्जमूढेहिं ॥४॥

हे पुज्याः! कथं तावद् गृहकुड्याः स्त्रीदेहस्येत्यर्थः अपरितः तैरश्रान्तैः परिश्रममगणद्भिः स्वकार्यमूढैः स्वस्वार्थमौढ्यगतैः कविसहस्रैः (जघणंति) स्त्रीकट्यग्रभागं भगरूपमित्यर्थः वर्ण्यते वचनविस्तारेण विस्तार्यते। किंभूतं जघनम् अशुचिविलं परमापवित्रविवरम् उक्तं च "चर्म्मखण्डं सदाभिन्नमपानोद्वा-रवासितम्। तत्र मूढाः क्षयं यन्ति प्राणैरपि धनैरपि" ॥४॥ (तत्र प्राणैः शाक्यादयः क्षयङ्गताः धनैर्धम्मिल्लादय इति)

रागेण न जाणंति, वराया कलमलस्स निद्धमणं।
ताणं परिणंदंती, फुल्लं नीलुप्पलवणं च ॥५॥

हे शिष्य! तीव्रकामरागेण न जानन्ति हृदये, च शब्दादन्येषां न कथयन्ति वरकास्तपस्विन् कलमलस्यापवित्रमलस्य निर्द्धमनं खालु इति (ताणंति) णं वाक्यालङ्कारे तज्जघनं (परिणंदंतीत्ति) परमविषयासक्ता वर्णयन्ति कथं वक्तार इवार्थ इव उत्प्रेक्षते फुल्लं प्रफुल्लं विकसितमित्यर्थः नीलोत्पलवनमिन्दीवरकाननम् ॥५॥

कित्तियमित्तं वन्ने, अमिज्झमइयंमि वच्चसंघारो।
रागो हु न कायव्वो, विरागमूले सरीरम्मि ॥६॥

कियन्मात्रं कियत्प्रमाणं (वन्नेत्ति) वर्णयामि शरीरे वपुषि हु यस्मादेवं तस्माद्रागो न कर्त्तव्यः। स्थूलभद्रवज्रस्वामिजम्बूस्वा-म्यादिवत्। किंभुते अमेध्यं प्रचुरमस्मिन्निति अमेध्यमये गूथात्मके इत्यर्थः। वर्चस्कसंघाते परमापवित्रविष्ठासमूहे (विरागमुलेत्ति) विशिष्टो रागो विरागः मनोज्ञराग इत्यर्थः। तस्य मूलं कारणं कामासक्तानामङ्गारवतीरूपदर्शने चण्डप्रद्योतस्येव। यद्वा विगतो रागो मन्मथभावो यस्मात्स विरागो वैराग्यमित्यर्थः तस्य मूलं कारणं काष्ठश्रेष्ठरिव तस्मिन्विरागमूले ॥६॥

किमिकुलसयसंकिण्णे, असुइयमचुक्खे असास यमसारे।
सेयमलपुच्चडम्मी, निच्चेयं वच्चहसरीरे ॥७॥

कृमिकुलशतसंकीर्णे (असुइयमचुक्खत्ति) अशुचिके अपवित्र-मलव्याप्ते (अचुक्खे) अशुद्धे सर्वथा धौतुमशक्यत्वात्। अशास्वते क्षणं क्षणं प्रतिविनश्वरत्वात्। असारे सारवर्जिते (सेयमल-पुच्चडम्मित्ति) दुर्गन्धिस्वेदमलचिगचिगायमाने एवंविधे शरीरे जीवा यूयं निर्वेदवैराग्यं व्रजत गच्छत विक्रमयशोनृपस्येवेति ॥७॥

दंतमलकन्नगुहग, सिंहाणमले य लालमलबहुले।
एयारिसबीभत्थे, दुगुच्छणिज्जम्मि कोराओ ॥८॥

दन्तमल-कर्णमल-गूथकसिंधाणमले चशब्दः शरीरगता-नेकमलग्रहणसूचनार्थः। लालामलबहुले एतादृशबीभत्से जुगुप्सनीये सर्वथा निन्द्ये वपुषि को रागः॥

को सडणपडणविकिरण-विद्धंसणचयणमरणधम्मम्मि।
देहम्मी अहिलास, कुहियकडणकट्ठभूयम्मि ॥८॥

देहे शरीरे कोऽभिलाषो वाञ्छा किंभूते शटनपतनविकिरण विध्वंसनच्यवनमरणधर्मे। तत्र शटनं कुष्ठादिनाङ्गुल्यादे पतनं बाह्वादेः खड्गच्छेदाहिना विकिरणत्वं विनश्वरत्वं, विध्वंशनं रोगज्वरादिना जर्जरीकरणम्, च्यवनं हस्तपादादेर्देशक्षयः मरणं सर्वथा क्षयः। पुनः किंभुते कुथितकठिनकाष्ठभूते। विनष्ट-कर्कशदारुतुल्ये ॥८॥

कागसुणगाण भक्खे, किमिकुलभत्ते य वाहिभत्ते य।
देहम्मि मत्थभत्ते, सुसारभत्तम्मि को रागे ॥१०॥

देहे को रागः। किंभूते काकश्वानयोः घूकारीभषणयोर्भक्ष्ये खाद्ये कृमिकुलभक्ते च व्याधिभक्ते च मत्स्यभक्ते स्मशान भक्ते च ॥१०॥

असुई अमिज्झपुन्नं, कुणिमकलेवरकुडियपरिसवंति।
आगंतुथसंठवियं, नवछिद्दमसासयं जाणे ॥११॥

अशुचि सदाऽविशुद्धममेध्यपूर्वं विष्ठाभृतम् (कुणिमकलेवर कुडीति) मांसशरीरहड्डयोर्गृहम् (परिसवंतीत्ति) परिस्रवत् सर्वतो गलत् आगन्तुकसंस्थापितं मातापित्रोः शोणितशुक्रपुद्गलैर्निष्पादितं नवच्छिद्रं नवरन्ध्रोपेतम्। अशाश्वतमस्थिरम्। एवंविधं वपुस्त्वं जानीहीति ॥११॥

पिच्छसि मुहं सतिलयं, सविसेसं राएण अहरेणं ॥
सकडक्खं सवियारं, तरलच्छि जुव्वणत्थीए ॥१२॥

(जुव्वणत्थीएत्ति) यौवनस्त्रियास्तरुण्या मुखं तुण्डं नरकतुण्डं साधुसंयमनृपविषखण्डं त्वं पश्यसि नन्दिषेण शिष्यार्हन्न-कस्थूलभद्रसतीर्थ्यकवत् किंभूतं सतिलकं सपुण्ड्रम् सविशेषं कुङ्कुमकज्जलादिविशेषसहितं केन सह रागेण ताम्बूला-दिरागवता अधरेणोष्ठेन सह सकटाक्षमर्द्धवीक्षणसहितम् सविकारं भ्रूचेष्टा-सहितं यथा तपस्विनामपि मन्मथविकारजनकं तरले चपले काकलोचनवत् अक्षिणी यत्र तत्तरलाक्षि इति।

पिच्छसि बाहिरमट्ठं, न पिच्छसी उज्जरं कलिमलस्स ॥
मोहेण न चयतो, सीसघडिकं जियं पियसि ॥१३॥

एवं त्वं बहिर्मृष्टं बहिर्भागे मठारितं पश्यसि सरागदृष्ट्या वि लोकयसि न पश्यसि अन्धवन्न विलोकयसि (उज्जरंति) मध्यगतं कुचेष्टां कुर्वन् (सीसघडी कंजियपियसित्ति) मस्त कघ-टीरसमपवित्रं पिबसि पानं करोषि चुम्बनादिप्रकारेणेति ॥१३॥

सीसघडी निग्गालं, जं निट्ठहसी दुगुंच्छसी जं च।
तं चेव रागरत्तो, मूढो अइमुच्छिउं पियसि ॥१४॥

मस्तकोद्भवापवित्ररसं यन्निष्ठे नयसि मूत्कृतयसि जुगुप्ससे कुत्सां करोषीत्यर्थः। यच्च त्वं तदेवरागरक्तो विषयासक्तो मूढो महामोहं गतः अतिमूर्च्छितः तीव्रगृद्धिं गतः पिबसि ॥१४॥

पूइयसीसकवालं, पूइयनासं च पूइदेहं च।
पूइयछिद्दविछिद्दं पुइयचम्मेण यं पिणद्धं ॥१५॥

पूतिकशीर्षकपालं दुर्गन्धिमस्तककर्प्परं पूतिकनासमपवित्र-नासिकं पूतिदेहं दुर्गन्धिमात्रं पूतिकछिद्रविछिद्रम् अपवित्रलघु-विवरवृद्धविवरं पूतिकचर्मणा अशुभाजिनेन पिनद्धं नियन्त्रितम्।१५।

अंजणगुणसुविशुद्धं, न्हाणुव्वट्टणगुणेहि सुकुमालं।
पुप्फुमीसियकेशं, जणई बालस्स तं रागं ॥१६॥

अञ्जनगुणसुविशुद्धं तत्राञ्जनं लोचनकज्जलं गुणा नाडक-गोफणकराखडिकादयस्तैः सुष्ठु विशुद्धमत्यर्थशोभायमानं-

स्नानोद्वर्तनगुणैः सुकुमारम् । तत्र स्नानमनेकधा क्षालन मुद्वर्तनं पिष्टिकादिना मलोत्तारणं गुणा धूपनादिप्रकाराः यद्वा स्नानो-द्वर्तनाभ्यां गुणास्तैर्मृदुत्वं गतं पुष्पमिश्रितं केशमनेककुसुमवासितकुन्तलमेवंविधं तन्मुखं मस्तकं शरीरं वा बालस्य मन्मथकर्मशबाणविद्धत्वेन तदसद्विवेकविकलस्य जनयति उत्पादयति रागं मन्मथपारवश्यं येन गुर्वादिकमपि न गणयति नन्दिसेणाषाढभूतिमुन्यादिवत् ॥१६॥

जं सीसपूरओ त्ति य, पुप्फाइँ भणंति मंदविन्नाणा ।
पुप्फाइं चिय ताइं, सीसस्स य पूरयं सुणह ॥१७॥

मन्दविज्ञाना मन्मथग्रहग्रथिलीकृताः (जंति) यानि पुष्पाणि कुसुमानि शीर्षपूरको मस्तकाभरणमिति भणन्ति कथयन्ति पुष्पाण्येव तानि शीर्षस्य पूरकं शृणुत यूयमिति ॥

मेओवसायरसिया, खेले सिंघाणए य छुभए यं ।
अह सीसपूरओ भे नियगसरीरम्मि साहीणो ॥१८॥

मेदोऽस्थिकृत् बसावस्नसा चशब्दोऽनेकशरीरान्तर्गतावयवग्रहणार्थः । रसिका व्रणाद्युत्पन्नाः (खेलेत्ति) कण्ठमुखश्लेष्मा (सिंघाणेत्ति) नासिकाश्लेष्मा (एयंति) वर्चस्कमेतन्मेदादिकं (छुभएयं) क्षपध्वं मस्तके प्रक्षेपयत । अथ शीर्षपूरको (भे) भवतां निजकशरीरे स्वाधीनः स्वायत्तो वर्तते ॥१८॥

सा किर दुप्पडिपूरा, वच्चकुडी दुप्पया नवच्छिद्दा ।
उक्कडगंधविलित्ता, बालजणो अइमुच्छियं गिद्धो ॥१९॥

सा वर्चस्ककुटी विष्ठाकुटीरिका (किरत्ति) निश्चये दुष्प्रतिपूरा पुरयितुमशक्येत्यर्थः । किंभूता द्विपदा नवच्छिद्रा उत्कटगन्ध-विलिप्ता तीव्रदुर्गन्धव्याप्ता एवंविधा शरीरकुटी वर्तते । तां च बालजनो मूर्खलोकः अतिमूर्छितं यथा स्यात्तथा गृद्धो लम्पटत्वं गतः ॥१९॥

कथं गृद्ध इत्याह—

जं पेमरागरत्तो, अवयासेऊण गूढमुत्तोलिं ।
दंतमलचिक्कणंगं, सीसघडिकंजियं पियसि ॥२०॥

यस्मात्प्रेमरागरक्तः कामरागग्रथिलीकृतो लोकः (अवयासे-ऊणत्ति) अवकाश्य प्रकाश्य प्रकटीकृत्येत्यर्थः (गूढ-मुत्तोलिंति) अपवित्रं रामाभगं पुश्चिह्नं वा जुगुप्सनीयं दन्तानां मलः पिप्पिका दन्तमलस्तेन सह चिक्कणाङ्गं चिगचिगायमानमङ्गं शरीरमालिङ्ग्य च शीर्षघटीकाञ्जिकं कपालकर्पररखट्टरसं चुम्बनादिप्रकारेण (पियसीत्ति) पिवसि अतृप्तवत् घुण्टयस्यतः ॥२०॥

दंतमुशलेसु गहणं, गयाणमंसे य ससयमीयाणं ।
बालेसु य चमरीणं, चम्मनहे दीवियाणं च ॥२१॥

गजानां दन्तमुसलेषु (गहणंतीति) ग्रहणमादानं लोकानां वर्तते । मांसे चशब्दाद्वसासृक्प्रभृतौ शशकमृगाणां ग्रहणं वर्तते । चमरीणां बालेषु ग्रहणं द्वीपिकानां चित्रकव्याघ्रादीनां चर्म्मनखे ग्रहणं चशब्दादनेकतिरश्चामनेकावयवग्रहणं वर्तते । को भावः यथा गजादीनां तिरश्चां दन्तादिकं सर्वेषां भोगाय भवति तथा मनुष्यावयवो न भोगाय भवति पश्चादतः कथ्यतेऽनेनादौ जिनधर्मो विधेय इति ॥२१॥

पूइयकाए य इहं, चवणमुहे निच्चकालवीसत्थो ॥
आइक्खसु सब्भावं, किम्हिसि गिद्धो तुमं मूढ ॥२२॥

इह पूतिकाये अपवित्रवपुषि च्यवनमुखे मरणसन्मुखे नित्यकालविश्वस्तः सदा विश्वासं गतः (आइक्खसुत्ति) आख्याहि कथय सद्भावं हार्दं (किम्हिसित्ति) कस्मादऽसि गृद्धस्त्वं मूढो मूर्खः यद्वा हे मूर्ख यद्वा हे मूढ ब्रह्मद त्तदशमुखादिवत् ॥२२॥

दंता वि अकज्जकरा, बाला वि विवड्ढमाणबीभत्था ।
चम्मं पि य बीभत्थं, भय किं तसितं गओ रागं ॥२३॥

दन्ता अपि अकार्यकरा बाला अपि विवर्द्धमानाः सर्पवत् बीभत्सा भयंकराः चर्म्मापि च बीभत्सं भण कथय किं (तसित्ति) तस्मिन् शरीरे (तमित्ति) त्वं रागं गतः ॥२३॥

सिंभे पित्ते मुत्ते, गूहम्मि य वसाइ दंत कुडीसु ।
भणसु किमत्थं तुज्झं, असुइमिवि वड्ढिओ रागो ॥२४॥

(सिंभेत्ति) कफे पित्तमायुषि मूत्रे प्रस्रवणे गूथे विष्ठायां (वसाइत्ति) वसायाः (दन्तकुडीसुत्ति) हड्डभाजने यद्वा मकारोऽलाक्षणिकः दन्तकुड्यां यद्वा (दंतकुडीसुत्ति) दंष्ट्रासु भण कथय किमर्थं तवाशुचावपि वर्द्धिते रागः ॥२४॥

जंघट्ठियासु ऊरू, पइट्ठिया तट्ठिया कडीपिट्ठी ।
कडियट्ठिवेट्ठियाइं, अट्ठारसपिट्ठिअट्ठीणी ॥२५॥

(जङ्घट्ठियासुऊरुत्ति) जंङ्घास्थिकथोरू रुप्रतिष्ठितौ स्थापितौ यद्वा जङ्घास्थितयोरूरू भवतः (पइट्ठियत्ति) अत्रायं पदसम्बन्धः तथोरूर्वोः स्थिता तत्स्थिता कटिः श्रोणिर्भवति कट्यां प्रतिष्ठिता स्थापिता (पिट्ठित्ति) पृष्ठिर्भवति कट्यास्थिवेष्टितानि अष्टादश १८ पष्ठ्यस्थीनि भवन्ति शरीर इति ॥२५॥

दो अच्छि अट्ठियाइं, सोलस गीवट्ठियामुणेयव्वा ।
पिट्ठिप्पइट्ठियाओ, बारस किल पंसुली हुंति ॥२६॥

द्वे अक्ष्यस्थिनी भवतः षोडश ग्रीवास्थीनि ज्ञातव्यानि पृष्ठि प्रतिष्ठिताः द्वादश किलेति प्रसिद्धे पंशुल्यो भवन्ति ॥२६॥

अट्ठिय कठिये सिरन्हा, रूबंधणे मंसचम्मलेवम्मि ।
विट्ठा कोट्ठागारे, को वच्चघरो व मे रागो ॥

अस्थिभिः (कठिणे) कठिने यद्वा कठिनानि अस्थिकानि यत्र तत्तथास्मिन् सिराश्रसानां लध्वीतराणां बन्धनं यत्र तत्तथा तस्मिन्, मांसचर्म्मलेपे विष्ठाकोष्ठाकारे वर्चस्कग्रहोपमे कलेवरे रे जीव तव को रागः ॥२७॥

जह नाम वच्चकूवो, निच्चं भिणि भिणि भणंतकायकली ।
किमिएहिं सुलसुलायइ, सो एहिं य पूइयं वहइ ॥२८॥

यथेति दृष्टान्तोपदर्शने नामेति कोमलामन्त्रणे संभावने वा (वच्चकूवोत्ति) वर्चस्ककूपो विष्ठाभृतकूपो भवति किंभूतः भिणिभिणीशब्दं (भणंतत्ति) भणन् भृशं कथयन् काककलिर्वायससंग्रामो यत्र स भिणिभिणित्यभणत्काककलिः क्रमिकैर्विष्ठानीलड्गुभिः सुलुसुलेत्येवं शब्दं करोतीति सुलुसुलायते श्रोतोभिश्च रेल्लकैः पूतिकं परमदुर्गन्धं वहति स्रवति इत्यर्थः यथा विष्ठाकूपः तथेदमपि शरीरं ज्ञातव्यं मृतावस्थायां रोगाद्यवस्थायां वेति ॥२८॥

अथ शरीरस्य शवावस्थां दर्शयति गाथात्रयेण ।

उद्धियनयणं खगमुह, विकट्ठियं विप्पइन्नबाहुलयं ।
अंतविकट्ठियमालं, सीसघडी पागडीघोरं ॥

मिणि मिणि भणंत सद्दं, विसप्पियं सुबुसलिंतमंसाडं ।
मिसि मिसि मिसंत किमियं, थिवि थिवि थिवि अंतबीभच्छं ॥

पागडिएणं पसुलियं, विगरालं सुक्क संधिसंघायं ।
पडियं निच्चेणयं, सरीरमेयारिसं जाण ॥३१॥

उद्धृते निष्कासिते काकादिभिर्नयेन लोचने यस्य शवस्य यस्मिन् यस्माद्वा तदुद्धृतनयनं खगमुखैर्विहङ्गतुण्डैः (विकदियत्ति) विकर्तितं विशेषेण कर्तितं पाटितं खगमुखविकर्तितम् विप्रकीर्णो अवकीर्णोविरलावित्यर्थः। (बाहुलयंति) बाहू प्रविष्टौ यस्य शवस्य तत् प्रकीर्णबाहुः (अंतविकदियमालंति) विकर्षितान्त्रमालं शृगालादिभिरिति (सीस घडियाघडित्ति) प्रगटया शीर्षघटिकया तुम्बलिकया घोरं रौद्रम् ॥२९॥ (भिणिभिणीति भणंतत्ति) धातूनामनेकार्थत्वादुत्पद्यमानः भिणिभिणीति शब्दो यत्र तत् भिणिभिणिभणच्छब्दं मक्षिकादिभिर्गण-गणायमानमित्यर्थः। अङ्गादिशिथिलत्वेन विस्तारं व्रजन् (सुलुसुलंत-मंसपोडंति) सुलुसुलायमानमांसपुटम् (मिसिमिसिमिसंतकिमियंति) मिसिमिसीति मिसन्तः शब्दं कुर्वन्तः कृमयो यत्र तन्मिसिमि-सिमिसत्कृमिकं (थिविथिविथिविअंतबीभच्छंति) छवछबायमानैरन्त्रै-बीभत्सं रौद्रमित्यर्थः ॥३०॥ प्रकटिताः प्रकटत्वं प्राप्ताः पांशुलिका यत्र तत्प्रकटितपांशुलिकं विकरालं भयोत्पादकम्। शुष्काश्च ततः संधयश्च शुष्कसंधयस्तासां संघातः समुदायो यत्र तच्छुष्कसंघातं पतितं गर्तादौ निश्चेतनकं चैतनयवर्जितं शरीरं वपुः एतादृशं पूर्वोक्तधर्मयुक्तं त्वं (जाणत्ति) जानीहि 'जाण' इति पाठे तु निश्चेतनकं शरीरमहमीदृशं जानामीति ॥३१॥

वच्चाओ असुइतरं, नवहिं सोएहिं परिलगंतेहिं ।
आममम्मल्लगरूवे, निव्वेयं वच्चहशरीरे ॥३२॥

नवभिः श्रोतोभिः परिगलद्भिः वर्चस्कादगूथात् अशु-चितरमपवित्रतमम् (आममम्मल्लगरूवेत्ति) अपक्वशरावतुल्ये शरीरे निर्वेदं वैराग्यं व्रजत-विष्णुश्रीशरीरे विक्रमयशोराजस्येव ॥३२॥

दो हत्था दो पाया, सीसं उच्चं पियं कबंधम्मि ।
कलमलकोट्ठागारं, परिवहसि दुयादुयं वच्चं ॥३३॥

द्विहस्ते द्विपादे (सीसं उच्चपियंति) शीर्षमुत्प्राबल्येन चम्पितं यत्र तच्छीर्षोच्चम्पितं तस्मिन् यद्वा शीर्षे उत्प्रावल्येन चम्पितमाक्रमितं यत्तत्तथा तस्मिन्। प्राकृतत्वात् अनुस्वारः शीर्षोच्चम्पिरे कलमलकोष्ठागारे एवंविधेकबन्धे (दुयादुयंति) शीघ्रं शीघ्रं किं वर्चस्कं परिवहसि त्वमिति अत्र यथोयोगं विभक्तिविपरिणामो ज्ञेय इति ॥३३॥

तं च किर रूववंतं, वच्चंतरायमग्गमाइण्णं ।
परगंधेहिं सुगंधयं, मन्नंतो अप्पणो गंधं ॥३४॥

चपुनस्तच्छरीरं (किरत्ति) संभावनायां रूपवत् व्रजत् राजमार्गं (आइण्णंति) प्राप्तं तत्र परगन्धैः पाटलचम्पकादिभिः सुगन्धकं जातं तत्र च त्वमात्मनो गन्धं (मन्नंतोत्ति) जानन् हर्षयसीति ॥३४॥

परगन्धं दर्शयति-

पाडलचंपयमल्लिय-अगरूयचंदणतुरुक्ख मीसं वा ।
गंधं समोयरंतो, मन्नंतो अप्पणो गंधं ॥३५॥

पाटलचम्पकमल्लिकागुरुकचन्दनतुरुष्कमिश्रं वा अथवा मिश्रं संयोगोत्पन्नं यक्षकर्दमादिकं गन्धकस्तूर्यादिकं किंभूतं (समोयरंतोति) सर्वतो विस्तरत् एवंविधं परगन्धमात्मगन्धमिति (मन्नंतोत्ति) जानन् हर्षयसीति ॥३५॥

सुहवाससुरहिगंधं, वायसुहं अगरुगंधियं अंगं ।
केसा न्हाणसुगंधा, कयरो ते अप्पणो गंधो ॥३६॥

शुभवासैः सुन्दरचूर्णैःसुरभिगन्धं सुष्ठु गन्धं शुभवाससुरभि गन्धं वातैः शीतलादिभिः सुखं शुभं वा यत्र तत् वातसुखम् अगरुगन्धो धूपनादिप्रकारेण जातोऽस्येति अगरुगन्धि तमेवंविधमङ्गं गात्रं वर्तते (केसान्हाणसुगंधत्ति) ये च केशाः कचाः ते स्नानेन सवनेन सुगन्धा वर्तन्ते अथ कथन त्वं कतरः कतमः ते तवात्मनो गन्ध इति ॥३६॥

अच्छिमलो कन्नमलो, खलो सिंघावओ य पूओ य ।
असुई मुत्तपुरिसो, एसो ए अप्पणो गंधो ॥३७॥

अक्षिमलो दूषिकादिः कर्णमलः श्लेष्मा कण्ठमुखश्लेष्मा (सिंघाणओत्ति) नासिका श्लेष्मा चशब्दादन्योऽपि दन्तमल-जिह्वामलगुह्यमलकक्षामलादिः किंभूतः (पूओयत्ति) पूतिको दुर्गन्धः तथा अशुचि सर्वप्रकारैरशुभं मूत्रपुरीषं प्रश्राव-गूथमेषोऽनन्तरोक्तस्ते तवात्मनो गन्धः ॥३७॥

(११) अथ वैराग्योत्पादनार्थं स्त्रीचरित्रं दर्शयति यथा-

जाओ चिय इमाओ इत्थियाओ अणेगेहिं कइवर-सहस्सेहिं विविपासपडिबद्धेहिं कामरागमोहेहिं वन्नियाओ ताओ वि एरिसाओ-तंजहा पगइविसमाओ १ पियवयणवल्लरीओ २ कइयवपेमगिरितडिओ ३ अवराहसहस्सघरणीओ ४ पभवो सोगस्स ५ विणा सो बलस्स ६ सूणा पुरिसाणं ७ नासो लज्जाए ८ संकरो अविणयस्स ९ निलओ नियडीणं १० खणी वइरस्स ११ सरीरं सोगस्स १२ भेओ मज्झायाणं १३ आसाओ रागस्स १४ निलओ दुच्चरियाणं १५ माइए संमोहो १६ खलणा नाणस्स १७ चलणं शीलस्स १८ विग्घो धम्मस्स १९ अरी साहूणं २० दूसणं आयारपत्ताणं २१ आरामो कम्मरयस्स २२ फलिहो मुक्खमग्गस्स २३ भवणं दरिद्दस्स २४ अवि याओ इमाओ आसीविसो विव कुवियाओ २५ मत्तगओ विव मयणपरवसाओ २६ वग्घी विव दुट्ठहियायाओ २७ तणच्छन्नकूवो विव अप्पगासहिययाओ २८ मायाकारओ विव उवयारसयबंधणपओत्ताओ २९ आय-रियसदिसं पिव बहुगिज्झ सब्भावाओ ३० फुं फुया विव अंतोदहणसीलाओ ३१ नग्गयमग्गे विव अणवट्ठियचित्ताओ ३२ अंतो दुट्ठवणो विव कुहियहिययाओ ३३ किण्हसप्पो विव अविसस्सणिज्जाओ ३४ संघारो विव छन्नमायाओ ३५ संज्झ-ब्भरागो विव मुहुत्तरागाओ ३६ समुद्दवीची विव चलस्सभावाओ ३७ मच्छो विव दुप्परियत्तणसीलाओ ३८ वानरो विव चलचित्ताओ ३९ मच्चु विव निव्विसेसाओ ४० कालो विव निरणुकंपाओ ४१ वरुणो विव पासहत्थाओ ४२ सलिलमिव निम्म-गामिणीओ ४३ किवणो विव उत्ताणहत्थाओ ४४ नरओ विव

त्तासणिज्जाओ ४५ खरो विव दुःसीलाओ ४६ दुट्ठा सो विव दुट्ठमाओ ४७ वालो इव मुहुत्तहिययाओ ४८ अंधयारमिव दुप्पवेसाओ ४९ विसवल्ली अणल्लीय णिज्जाओ ५० दुट्ठग्गहा इव वापी अणवगाहाओ ५१ ठाणभट्ठो विव इस्सरो अप्पसंसणिज्जाओ ५२ किंपागफलमिव मुहमहुराओ ५३ रित्तमुट्ठी विव बाललोभणिज्जाओ ५४ मंसपेसीगहणमिव सोवट्टवाओ ५५ जलियचुडली विव अमुच्चमाणडहणसीलाओ ५६ अरिट्ठमिव दुल्लंघणिज्जाओ ५७ कूडकरिसावणो विव कालविसंवायणसीलाओ ५८ चंडसीलो विव दुक्खरक्खियाओ ५९ अइविसाओ ६० दुग्गंछियाओ ६१ दुरुवचाराओ ६२ अगंभीराओ ६३ अविस्ससणिज्जाओ ६४ अणवत्थियाओ ६५ दुक्खरक्खियाओ ६६ दुक्खपालियाओ ६७ अरइकराओ ६८ कक्कसाओ ६९ दढवेराओ ७० रूवसोहग्गमउमत्ताओ ७१ भुयगगइकुटिलहिययाओ ७२ कंतारगईठाणभूयाओ ७३ कुलसयणमित्तभयेण कारिकाओ ७४ परदोसपगासियाओ ७५ कयग्घाओ ७६ बलसोहियाओ ७७एगंतहरणलोकाओ ७८ चंचलाओ ७९ जोईभंडोवरागो विवमुहरागविरागाओ ८० अवि याइं ताओ अंतरंगभंगसयं ८१ अरज्जुओ पासो ८२ अदारुया अडवी ८३ अणालयस्स निलओ ८४ अइक्खेवयरणी ८५ अणामियावाहि ८६ अवि ओगो विप्पलावो ८७ अरु उवसग्गो ८८ रइवतो ८९ चित्त विब्भमो ९० सव्वंगओ दाहो ९१ अणब्भयावज्जासणी ९२ असलीलप्पवाहो ९३ समुद्दरओ ९४॥

(जाओ चिय इमाओ) इत आरभ्य (समुद्दरओ) इति पर्यन्तं गद्यं या इव इमा वक्ष्यमाणाः स्त्रियः अनेकैः कविवरसहस्रैः विवि-धपाशप्रतिबद्धैः कामरागमोहैर्मन्मथरागमूढैः (वन्नियाओत्ति) वर्णिताः शृङ्गारादिवर्णन-प्रकारेणेति (ताओ वित्ति) ता अपि ईदृशा वक्ष्यमाणस्वरूपा ज्ञातव्याः तद्यथा (पगइतिसमाओत्ति) प्रकृत्या स्वभावेन विषमा वक्रभावयुक्ता आवश्यकोक्तपतिमारिकावत् १ (पिय०) प्रियवचनवल्लर्यो मिष्टवाणीमञ्जर्यो ज्ञातासूत्रोक्त-जिनपालजिनरक्षितोपसर्गकारिणी रत्नद्वीपदेवीवत् २ (कइय०) कैतवप्रेमगिरितव्यः कुशिष्यकूलबालक-पातिका मागधिका-गणिकावत् ३ (अवरा०) अपराधसहस्रगृहरूपाः ब्रह्मदत्त-मातृचुलनीवत् ४ (पभवो०) अथं स्त्रीरूपो वस्तुस्वभावप्रभव उत्पत्तिस्थानं कस्य शोकस्य सीतागते रामस्येव ५ (विणा०) विनाशो बलस्य पुरुषबलस्य क्षयहेतुत्वात्। उक्तंच। ''दर्शन हरते चित्तं, स्पर्शने हरते बलम्। सङ्गमे हरते वीर्यं, नारी प्रत्य-क्षराक्षसी'' ॥ इति यद्वा विनाशःक्षयः कस्य बलस्य शैन्यस्य कोणिकस्त्रीपद्मावतीवत् ६ (सूणा०) पुरुषाणां शूना बधस्थानं शूरिकन्तारात्रीवत् ७ नाशो लज्जाया लज्जाभावरहितत्वात् लक्ष्मणप्रार्थनकारिकासूर्पणखावत्। यद्वा लज्जानाशः अस्याः सङ्गे पुरुषस्य लज्जानाशो भवति गोविन्दद्विजपुत्रवत्। यद्वा नाशः क्षयः लज्जायाः पतिलज्जायां संघस्याऽऽषाढभूतियतिचारित्र-लुण्टिकानटपुत्रीवत् ८ (संक०) संकरउत्करुटकऊकरडउ इति जनोक्तिः कस्य अविनयस्य श्वेताङ्गुल्यादिपुरुषाणां भार्यावत् ९ (निल०) निलयो गृहं कासां प्रकृत्यान्तरदम्भानामित्यर्थः चण्डप्रद्योतप्रेषिता अभयकुमारवञ्चिकावेश्यावत् १० (खणीति) खानिराकरः कस्य वैरस्य जमदग्नितापसस्त्रीरेणुकावत् ११ शरीरं शोकस्य वीककादम्बिकस्त्रीवन-मालावत् १२ भेदो नाशः मर्य्यादायाः कुलरूपायाः श्रीपतिश्रेष्ठिपुत्रीवत् यथा मर्यादायाः संयमलक्षणाया विनाशः आर्द्रकुमारसंयम-स्यार्द्रकुमारपूर्व-भवस्त्रीवत् १३ (आसाओत्ति) आशा वाञ्छा रागस्य कामरागस्य तद्धेतुकत्वात्। यद्वा आश्रयः स्थानं रागस्य उपलक्षणत्वाद् द्वेषस्यापि आर्षत्वादाकारः। यद्वा आईषदपि अ इति स्वादः आ अस्वादः कस्य (रागस्सत्ति) धर्म्मरागस्य १४ (निल०) निलयो गेहं केषां दुश्चरित्राणां भूयंगमचौरभगिनीवीरमतीवत् १५ (माई०) मातृकायाः समूहः कमलश्रेष्ठिसुतापद्मिनीवत् १६ (खल०) स्खलनाः खण्डनाः ज्ञानस्य श्रुतज्ञानादेः उपलक्षणाच्चारित्रादे रण्डाकुरण्डामुण्डिकादिबहुप्रसङ्गे तदभावत्वात्। अर्हन्नक-क्षुल्लकवत् १७ (चल०) चलनं शीलस्य ब्रह्मव्रतस्य ब्रह्मचारिणां तस्याः सङ्गे तन्न तिष्ठतीति भावः १८ (विग्घो०) विघ्नमन्तरायं धर्मस्य श्रुतचारित्रादेः १९ (अरी०) अरिर्निर्दयो रिपुः केषां साधूनां मोक्षपथसाधकानां चारित्रप्राणविनाशकहेतुत्वात् महानरककारागृह प्रक्षेपकत्वाच्चकूलवालुकस्य मागधिकावेश्यावत् २० (दूस०) दूषणं कलङ्कः केषां (आया०) ब्रह्मवताद्याचारापन्नानाम् २१ आरामः कृत्रिमवनं कस्य कर्मरजसः कर्मपरागस्य। यद्वा कर्म च निविडमोहनीयादि, रश्चकामः, चश्च चौरः,रचं तस्यारामं वाटिका २२ (फलिहोत्ति०) अर्गला यद्वा झम्पकः मोक्षमार्गस्य शिवपथस्य २३ भवनं गृहं दरिद्रस्य २४ (अवियाउइमाउत्ति) अपि च या इमा वक्ष्यमाणाः स्त्रियः एवंविधा भवन्ति (आसिवि०) विव शब्द इवार्थे आशीविषवत् दंष्ट्राविषभुजंगमवत् कुपिताः कोपङ्कता भवन्ति २५ (मत्त०) मतंगज उन्मत्तमतंगज इव मदनपरवशा मन्मथविह्वला भवन्ति अभयाराज्ञीवत् २६ (वग्घी०) व्याघ्रीवत् दुष्टहृदयाः दुष्टचित्ताः पालगो मात्रपरमातृमहा-लक्ष्मीवत् २७ (तण०) तृणच्छन्नकूप इव तृणसमूहाच्छादितान्धवत् अप्रकाशहृदयाः शतकश्रावकभार्यारेवतीवत् २८ (माया०) मायाकारक इव परवञ्चकमृगाधिबन्धक इव उपचारशतबन्धनशतप्रयुक्ताः प्रयोकृत्र्यो वा तत्रोपचारशतानि उपचारिकवचनचेष्टादि शतानि बन्धनानि रज्जुस्नेहानि बन्धनशतानि च तेषां (पओत्ताओत्ति) प्रयोगकर्त्र्यः २९ (आयरि०) अत्रापि च इवार्थे आचार्यसविध-मिवानुयोगकृतसमीपमिव बहुभिरनेकप्रकारैरनेकपुरुषैर्वा ग्राह्यो ग्रहीतुं शक्यः। यद्वा आर्षत्वात् (अगिज्झत्ति) अग्राह्याः सर्वथाग्रहीतुमशक्यः सद्भाव आन्तरचित्ताभिप्रायो यासां ता बह्वग्राह्यसद्भावाः। बह्वग्राह्यसद्भावा वा ३० (फुंफु०) फुंफुकः करीषाग्निः कोउकस्तद्वत् अन्तर्दहनशीलाः पुरुषाणामन्तर्दुः-खाग्निज्वालनत्वात्। उक्तंच- ''पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या, शठं च मित्रं चपलं कलत्रम्। विलासकालेपि दरिद्रता च विनाग्निना पञ्च दहन्ति देहम्'' ३१ (नग्गय०) विषमपर्वतमार्गवत् अनवस्थित-चित्ता नैकत्रस्थापितान्तः करणा इत्यर्थः अनङ्गसेन सुवर्णकारजीवस्त्रीवत् यद्वा नग्नकमार्गवत् जिनकल्पिकपथ वत्। नैकत्रचित्ताः यद्वा नग्नकमार्गवत् भूतावेष्टिताचारवत्

नैकत्र स्थानचित्ताः ३२ (अंतोदु०) अन्तर्दुष्टव्रणवत् कुथितहृदयाः तिलभट्टोन्मत्तरामावत् ३३ (किण्ह०) कृष्णसर्पवत् (अवि०) विश्वासंकर्तुमयोग्या इत्यर्थः ३४ (संघा०) संहारवत् बहुजन्तुक्षयवच्छन्नमायाः प्रच्छन्नमातृकाः ३५ (संज्झ०) सन्ध्याभ्ररागवत् मुहूर्तरागाः । तथाविधदुष्टवेश्यावत्–३६ (समुद्द०) समुद्रवीचिवत्सागरतरङ्गवच्चलस्वभावाः चञ्चलस्वाभिप्रायाः ३७ (मच्छो०) मत्स्यवहदुष्परिवर्तनशीलाः महता कष्टेन परिवर्तनं पश्चाद्वालयितुं शीलं स्वभावो यासां तास्तथा ३८ (वानर०) वानरवत् चलचित्ताः ३९ (मच्चु विव) मृत्युवत् मरणवत् निर्विशेषाः विशेषबर्जिताः ४० (कालोत्ति०) दुर्भिक्षकाल एकान्त-दुःषमाकालो वा यद्वा लोकोक्तो दुष्टसर्प्पस्तद्वत् निरनुकम्पा दयांशवर्जिजता कीर्तिधरराजभार्यासुकोसलजननीवत्। ४१ (वरु०) वरुणवत् पाशहस्ताः पुरुषाणामालिङ्गनादिभिः कामपाशबन्धनहेतुहस्तत्वात् ४२ (सलि०) सलिलमिव जलमिव प्रायो नीचगामिन्यः स्वकान्तनृपनदीप्रक्षेपिका अध-मपङ्गुकामिका राज्ञीवत् ४३ (किव०) कृपणवत् उत्तानहस्ताः सर्वेभ्यो मातृपितृबन्धुकुटुम्बादिभ्यो विवाहादावादानहेतुत्वात् ४४ (नरओ०) नरकवत् त्रासनीया दुष्टकर्मकारित्वात् महाभयङ्कराः लक्ष्मणासाध्वीजीववेश्यादांसीघातिका कुलपुत्रभार्यावत् ४५ (खरो०) खरवत् विष्ठाभक्षकगर्दभवत् दुःशीलाः दुष्टाचाराः निर्लज्जत्वेन यत्र तत्र ग्रामनगरारण्यमार्गक्षेत्रग्रहोपाश्रयचैत्यगृहगर्तवाटिकादौ पुरुषाणां वाञ्छाकारित्वात् । तथा-विधवेश्या दुष्टदासीरण्डिकामुण्डिकादीनामिव ४६ (दुट्ठस्सो०) दुष्टाश्ववत् कुलक्षणघोटकवत् दुर्दमाः सर्वप्रकारैर्निलज्जीकृता अपि पुनः पुरुषसंयोगे स्वकामाभिप्रायकर्षण हेतुत्वात् ४७ (बालो) बालवत् शिशुवत् मुहूर्तहृदयाः मुहूर्तानन्तरं प्रायोऽन्यत्र रागधारकवत् कपिलब्राह्मणासक्तदासीवत् ४८ (अंधकार०) कृष्णभूतेष्टादिभवमन्धकारमरुणवरसमुद्रोद्भवतमस्कायं वा तद्वत् दुष्प्रवेशाः मायामहान्धकारगहनं येन देवानामपि दुष्प्रवेशत्वात् ४९ (विस०) विषवल्लीवत् हालाहलविषलतावत् (अणा०) अनाश्रयणीयाः सर्वथा सङ्गादिकर्तुमयोग्यास्तात्कालप्राणप्रयाण हेतुत्वात् पर्व्वतकराजस्य नन्दपुत्रीविषकन्यावत् ५०[दुट्ठगाहा इव०] दुष्टग्राहा निर्हृयमहामकरादिजलजन्तुसेवितावापीवत् । अनवग्राह्या महता कष्टेनापि अप्रवेशयोग्याः सुदर्शनश्रेष्ठिवत् ५१ [ठाणभ०] स्थानभ्रष्टः ईश्वरो ग्रामनगरादिनायकस्तद्वत् । यद्वा स्थानं चारित्रगुरुकुलवासादिकं तस्माद्भ्रष्टः ईश्वरश्चारित्रनायकः साधुरित्यर्थस्तद्वत् । यद्वा स्थानं सिद्धान्तव्याख्यानरूपं तस्माद्भ्रष्टः उत्सूत्रप्ररूपणेन ईश्वरो गणनायक आचार्य इत्यर्थः तद्वत्। यद्वा स्थानभ्रष्टो दुष्टाचारे रक्त इत्यर्थः ईश्वरः सत्यकीविद्या धरस्तद्वत् अप्रशंसनीयाः साधुजनैः प्रशंसांकर्तुं योग्या नेत्यर्थः ५२ (किंपाग०) किंपाकफलमिव मुखे आदौ मधुरा महाकाम-रसोत्पादिका परं पश्चाद्विपाकदारुणाः ब्रह्मदत्तचक्रिवत् ५३ (रित्तमु०) रिक्तमुष्टिवत् पोल्लकमुष्टिकवत् बाललोभनीयाः अव्यक्तजनलोभनयोग्या वल्कलचीरीतापसवत् ५४ [मंस०] मांसपेसीग्रहणमिव सोपद्रवा यथा केनापि सामान्यपक्षिणा कुतश्चित् स्थानान्मांसापेशीप्राप्तौ तस्य अन्यदुष्ट पंक्षिकृतानेकशरीरपीडाकरिण उपद्रवा भवन्ति तथा रामाग्रहणेऽनेके इह भवे परभवे दारुणा उपद्रवा जायन्ते । यद्वा यथा मत्स्थानां मांसपेशीग्रहणं सोपद्रवं तथा नराणामपीति ५५[जलि०] अमुञ्चन्ति अत्यजमानाः [जलियचुडिलीविवत्ति] प्रदीप्ततृणपूलिकेव दहनशीलाः ज्वालनस्वभावाः ५६ [अरि०] अरिष्टमिव दुर्ल्लङ्घनीयाः ५७ [कूड०] कूटकार्षापण इवासत्यनाणकविशेष इव कालविसंवादनशीला काल विघातस्वभाव अकालचारिण्य इत्यर्थः ५८ [चंड०] चण्डशील इव तीव्रकोपीव दुःखरक्षिता ५९ [अतिविसाओत्ति०] अतिविषादा दारुणविषाद हेतुत्वात् यद्वा [अतीति] अति क्रान्तो गतोऽकार्यकरणे विषादः खेदो यासां तास्तथा यद्वा अतीति विषं अतिविषम् आ समन्तात् ददति पुरुषाणां सूरिकान्तावत् यास्ता अतिविषादाः यद्वा अतीति भृशं दीति नानाविधः स्वादो विषयलाम्पट्यो यासां ता अतिविषादाः अथ वा अतिविषयात् प्रबलपञ्चेन्द्रियलाम्पट्यात् षष्ठीं नरकभूमिं यावत् सुसढमातृवत् गच्छन्ति यास्ता अतिविषयगाः प्राकृतत्वात् यकारलोपे सन्धिः । यद्वा स्वेन्द्रियविषयाप्राप्तौ अति विषादा इति। यद्वा अतिवृषं तीव्रं पुण्यं येषान्ते अतिवृषाः सुनयस्तेषामासमन्तात् वसत्यन्तो बहिश्च कायन्ति यमयन्ति यम इवाचरन्ति चारित्रप्राणकर्षणत्वेन यास्ताः अति वृषाकाः यद्वा कायन्ति अग्नयन्ति समितिगृहज्वालनत्वेन यास्ताः अतिवृषाकाः यद्वा लोकानामतिवृषे तीव्रपुण्यधने आभृशं चायन्ति चोरयन्ति यास्ताः अतिवृषाचाः ६० (दुगुंछि) जुगुप्सिकाः जुगुप्सां कर्तुं योग्याः मुनीनाम् ६१ (दुरु०) दुरुपचाराः दुष्टोपचारान्वितो वचनादिविस्तारो यासां तास्तथा ६२ अगम्भीरा गम्भीरगुणरहिताः ६३ (अवि०) अविश्वसनीया विश्रम्भं कर्तुमयोग्याः ६४ (अण०) अनवस्थिताः नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठन्तीत्यर्थः ६५ (दुक्ख०) दुःखरक्षिता कष्टेन रक्षणयोग्याः यौवनावस्थायाम् ६६ (दुक्खपा०) दुःखपालिता दुःखेन पालयितुं शक्या बालावस्थायाम् ६७ (अरइ०) अरतिकराः उद्वेगजनिकाः ६८ (कक्क०) कर्कशा इह परत्र कर्कशदुःखोत्पादकत्वात् ६९ दृढवैरा इह परत्रदारुणवैरकारणत्वात् ७० [रूव०] रूपसौभाग्यमदमत्ताः तत्र रूपं चार्वाकृतिः सौभाग्यं स्वकीर्तिश्रवणादिरूपं मदोमन्मयजगर्वः ७१ (भुय०) भुजगगतिवत् कुटिलहृदयाः ७२ [कंता०] कान्तार गतिस्थानभूताः कान्तारे दुष्टश्वापदाकुले महारण्ये गतिश्चैकाकित्वेन गमनं स्थानं चैकाकित्वेन वसनं तथोर्भूतास्तुल्याः दारुणमहाभयोत्पादकत्वात् ७३ (कुलस०) कुलस्वजनमित्रभेदनकारिकाः वंशज्ञातिसुहृद्विनाशजनिकाः ७४ [पर०] परदोषप्रकाशिकाः अन्यदोषप्रकटकारिकाः ७५ (कय०) कृतं वस्त्राभरणपात्रादिप्रदत्तं घ्नन्ति सर्वथा नाशयन्तीमेवं शीलाःकृतघ्नाः ७६ [बलसो०] बलं पुरुषवीर्यं प्रतिसङ्गमसङ्गं वा शोधयन्ति गालयन्तीत्येवं शीला बलशोधिकाः । यद्वा बलेन स्वसामर्थ्यलक्षणेन च निशादौ जारपुरुषादीनां शोधिकास्तच्छुद्धिकारिका बलशोधिकाः । यद्वा बलयोरलयोरैक्याद्वरशोधिकाः स्वेच्छया पाणिग्रहणकरणत्वात् धम्मिलस्त्रीवृन्दवत् ७७ (एगं०) एकान्ते विजने हरणं नेतव्यं पुरुषाणां विषयार्थमेकान्तहरणम् यद्वा एकान्ते दूरग्रामनगरदेशादौ स्वकुटुम्बादिजनरहिते हरणं तत्र पुरुषाणां विषयार्थं लात्वा गमनमित्यर्थः तत्र कौलाः वनसूकरतुल्याः यथा सूकरः किमपि सारं कन्दादिकं भक्ष्यं प्राप्त विजने गत्वा भक्षयति तथेमाः ७८ [चंच०] चञ्चलाश्चपलाः ७९ [जोइभंडो०] ज्योतिर्भाण्डोपरागवत् अग्निभाजनसमीपरागवत् [मुहरा०] मुखरागविरागा यथाग्नि-भाजनसमीपे मुखं रागवद्भवति अन्ते विरागं तथेमाः । यद्वा (जोहभंडोवरागाओत्ति) पाठे तु ज्योति र्भाण्डस्येवो -

परागाः यथा ज्योतिर्भाण्डमग्निभाजनमुपसमीपे रागवद्भवति तथेमाः वस्त्रा-दिभिरुप समीपे रागवत्यो भवन्तीत्यर्थः ८० [अवियाइंति) अपि चेति अभ्युच्चये आ इति वाक्यालंकारे [तओत्ति] ताः स्त्रियः [अंतर०] अन्तरङ्गसङ्गशतमभ्यन्तरविघटनशतम् अस्या-पेक्षयायात पुरुषस्य परस्परं मैत्र्यादिवि नाशहेतुत्वात्। यद्वा अन्तर्मध्ये [रंगत्ति] पुरुषाणां ब्रह्मव्रतचारित्रदिरागस्तस्य भङ्गशतं तस्य विघ्नहेतुत्वात् ८१ (अरज्जु) अरज्जुकाः पाशः रज्जुकं विना बन्धनामित्यर्थः ८२ [अदा] अदारु काष्ठादिरहिता अटवी कान्तारं यथा दारुका अटवी मृगतृष्णाहेतुर्भवति तथेमाः यथा काष्ठादिरहिता अटवी कदापि न ज्वलति यथेयमपि पापं कृत्वा न ज्वलति न पश्चात्तापं करोतीत्यर्थः वृषभकलङ्कदात्री-श्रावकभार्यावत्। ८३ [अणाल०] न आलस्यमनुत्साहो ऽनालस्यं तस्य निलयः अकार्यादौ सादरं प्रवृत्ति हेतुत्वात् ८४ [अइक्खेवयरणीत्ति०] ईक्षदर्शनाङ्कनयोरिति वचनात् अनैक्षवैतरणी अदृक्ष्यवैतरणी परमा धार्मिकविकुर्वितनरकनदी तस्सङ्गे तदवाप्तिहेतुत्वात् अतीक्ष्णवैतरणी वा ८५ [अणा०] अनामिको नामरहितो व्याधिरसाध्यरोग इह परत्र तत्कारणत्वात् ८६ [अविओ०] न वि योगः पुत्रमित्रादिविरहः अवियोगः विप्रलापः तीव्रखेदः ८७ अरुक् रोगरहित उपसर्गः [अरु०) यद्वा आर्षत्वाद्रकारलोपे अरूपो रूपरहित उपसर्ग उत्पातः ८८ [रइ०] रतिः कामप्रिया विद्यतेऽस्येति रतिमान् कन्दर्पोऽयमिति ८९ (चित्त विब्भम) चित्रभ्रमकारणम् यद्वा रतिमान् सुखदायी मनोभ्रमो मनोविकारः ९० [सव्वंग०] सर्वाङ्गगः सर्वशरीर व्यापीदाहः ९१ [अणब्भया वज्जासणीति] अनभ्रका अभ्ररहिता वज्राशनिर्विद्युत्। यद्वा इयं स्त्री० [असणीत्ति] अशनिर्विद्युत् किंभूता अनभ्रका मेघरहिता वा पुनः किंभूता वज्रा वज्रतुल्या इत्यर्थः दारुणविपाका [अप्पसूया वज्जासणीत्ति] पाठे अग्रसूता अपत्यजन्मरहिता [वज्जेत्ति] वर्ज्या सुन्दराकारा एवंविधा रामा [असणि०] अशनिर्विद्युद्वालानां नरकादौ दारुणदहन हेतुत्वात् ''अप्पसुथा-वज्जासुणीति'' पाठे तु अप्रसूता नवयौवना परिणीता अपरिणीता वा सालङ्कारा अनलङ्कारा वा मुण्डा अमुण्डा वा एवंविधा रामा (सुणीति) हडक्किकाशुनीवत् मण्डलीवत् (वज्जेति) वर्ज्या सर्वथा साधुभिर्मोक्षं काङ्क्षद्भिः ब्रह्मचारिभिश्चतुर्थव्रतरक्षां काङ्क्षद्भिर्वर्जनीयेत्यर्थः। कायवाङ्मनोभिरिति ९२ [असलिलप्पवाहोत्ति०] अजलप्रवाहः ''असलिलप्पलावोत्ति'' पाठान्तम्। अजलप्लावः जलं विनारेल्लि-रित्यर्थः ९३ [समुद्दरओत्ति] समुद्रवेगः केनापि धर्तुमशक्यत्वात् 'समद्धरओत्ति' पाठे तु सम्यगर्द्ध यस्मात्स समर्द्धः एवंविधाः (रओत्ति) वेगः परमस्नेहवतां बान्धवानां परस्परं स्त्रीकलहे सति गृहार्द्धकरण हेतुत्वात् भद्रातिभद्राख्यौ श्रेष्ठिपुत्राविव ९४॥

अवि याइं तासिं इत्थियाणं अणेगाणी नाम निरुत्ताणि पुरिसे कामरागपडिबद्धं नाणाविहेहिं उवायसयसहस्सेहिं वहबंधण-माणयंति पुरिसाणं नो अन्नो एरिसो अरीअत्थि ओत्ति नारिओ तंजहा नारी समाननराणं अरिओ नारिओ १ नाणा विहेहिं कम्मेहिं सिप्पयाइहिं पुरिसे मोहंतित्ति महिलाओ २ पुरिसे मत्ते करेतित्ति पमयाओ ३ महंतं कलिजणयंतित्ति महिलियाओ ४ पुरिसे हावभावमाईहिं रमंतित्ति रामाओ ५ पुरिसे अंगाणुराए करंतित्ति अंगणाओ ६ नाणाविहेसु जुद्धभंडणसंगामाडविसु मुहाण-गिन्हणसीउन्हदुक्खकिलेसमा ईसु पुरिसे लालयंतित्ति ललणाओ ७ पुरिसे जोगनिओ एहिं वसे ठावंतित्ते जोसियाओ ८ पुरिसे नाणाविहेहिं भावेहिं वण्णंतित्ति वण्णियाओ ९ काई पमत्तभावं काई पयणं सविब्भमं काई सभद्दंसासिव्व ववहरंति काई सत्तुवरोरो इव काई पयएसु पणमंति काई उवणएसु उवणमंति काई कोउय नमंतिओ काओ सुकडक्ख-निरिक्खिएहिं सविलासमहुरेहिं उवहसिएहिं उवग्गाहिएहिं उवसट्ठेहिं गुरुगदरिसणेहिं भूमिलि-हणविलिहणेहिं च आरुहणन दृणेहिं च वालयउवगुहणेहिं च अंगुलिफोडणघणपीलण-कडितडजायणाहिं तज्जणाहिं च अवि याइं ताओ पासोववसिउं पंकुव्वखुप्पिउं जे मच्चुव्व मरिउं जे अगणिव्व डहिउं जे असिव्व छिज्जिउं जे॥

(अवियाइंति) पूर्ववत् (तासिं इति) तासामुक्तवक्ष्यमाणानां स्त्रीणामधमाधमानां दासीकुरण्डादीनामनेकानि विविधप्रकाराणि नामनिरुक्तानि नामपदभञ्जनानि भवन्ति पुरिसे इत्यादि यावत् [नारीओत्ति] खण्डयति कथं ना–आ–अरि–इति ना इति नानाविधैरुपायशतसहस्रैः कामरागप्रतिबद्धे पुरुषे बधबन्धनं प्रति० आ–इति आणयन्ति प्रापयन्ति [अरीत्ति] पुरुषाणा च नान्यदृशः अरिः शत्रुरस्तीति नार्य्यः [तंजहत्ति] तत्पूर्वोक्तं यथेति दर्शयति नारीति [तन्दु०] [नार्यादिशब्दानां व्युत्पत्तयस्तत्तच्छब्दे द्रष्टव्याः] [काइपमत्तभावंति] काश्चित् कामिन्यः प्रकर्षण मत्त-भावमुन्मत्तभाव व्यवहरन्ति स्वचेष्टा दर्शयन्तीत्यर्थः। क इव स्वासीव स्वासरोगीवत्। पुरुषाणां स्नेह भावोत्पादनार्थं [काईस०] काश्चित् शत्रुवेत् प्रवर्तयन्ति मारणार्थं मर्मस्थानग्रहणेन। यद्वा स्वभर्त्रादीनां भयोत्पादनार्थं रिपुवत्प्रवर्तयन्ति [रोरो] काश्चित् कामतृष्णातृषिताः रोर इव रङ्क इव रङ्कपुरुषाणामपि पादयोः पादान् वा प्रणमन्ति लगन्तीत्यर्थः। [काईउव०] काश्चित् उपनयनैर्नृत्यप्रकारैरुप नमन्ति स्वसकलाङ्गादिदर्शनार्थम् (काईकोउत्ति०) काश्चित् कौतुकं वचननयनादिभवं कृत्वा विधाय नमन्ति नराणां हास्याद्युत्पादनार्थम्। काओ इति पदमग्रे पियोग्यम् (सुकडविखनिरक्खिएहिंति) काश्चित् सुकटाक्षनिरीक्षिकैः सुष्ठु नैत्रविकारनिरीक्षणैर्बालानापातयन्तीति विशेषः तैः काश्चित् पुरुषानामोहयन्ति इति (उपहसिएहिंति) उपहसितैः काश्चित् हास्यचेष्टाकरणैः कामिनां हास्यमुत्पादयन्तीति (उवग्गहिएहिंति) उपग्रहीतानि पुरुषस्यालिङ्गनैः कान्तनयनालिङ्गग्रहणकर ग्रहणादीनि तैः काश्चित् नराणां स्वप्रेमभावं दर्शयन्तीति (उवसट्ठिएहिंति) उपशब्दानि सुरतावस्थायां बलबलायमानादीनि शब्दकरणानि प्रच्छन्नसमीप-शब्दकरणानि वा तैः काश्चित् कामिनां कामरागं प्रकटयन्तीति (गुरुगदरिसणेहिंति) गुरुकाणि च प्रौढानि पयोधरनितम्बादीनि स्थूलोच्चत्वात्सुन्दराणि वा यानि दर्शनानि च आकृत्यः तानि गुरुकदर्शनानि तैर्दूरस्था एव काश्चित् कामिनां स्ववशं कुर्वन्तीति। यद्वा (गु) इति गुह्यप्रकाशनेन पुरुषं पातयन्ति। यद्वा गु इति गुरुं स्वजनकभर्त्रादिकम-

पि विप्रतार्याकार्ये प्रवर्तयन्तीति (१) रु इति रोदनकरणेन पुरुषं सस्नेहं कुर्वन्ति (२) ग इति स्वपितु गृहगमनादिप्रस्तावे पुरुषमत्यन्तरागवन्तं कुर्वन्तीति (३) द इति दर्शनेन रक्तकृष्णा-दिदन्तदर्शनेन कामिनो मोहयन्तीति (४) रि इति संभाषणे रे मां मुञ्च रे मां मा कदर्थयेत्यादिकथनेन कुरामाः पुरुषं सकामं कुर्वन्तीति आर्षत्वात् रि इति। यद्वा अरि इति रतिकलहे अरे मया सहमा कुरु उपहासमित्यादि रति-कलहकरणेन पुरुषं क्रीडयन्तीति आर्षत्वात् अरि इति (५) स इति अन्योक्तशृङ्गारगीतादिक शब्दकरणेन साधूनपि सकामान्कुर्वन्तीति (६) ण इति सकज्जलकवि-कारसजलाभ्यां नेत्राभ्यां पुरुषं सकामं स्ववशंगद्रदं स्वकार्य-कर्तारमपराधभोक्तारं कुर्वन्तीति (७) गुरुगदरिशनैरिति। (भूमिलिहणविलिणेहिं चेति) भूमिलिखनानि भूमौ पदादिनाऽक्षर-लेखनानि विलिखनानि विशेषतो रेखास्वस्तिकादिकरणानि तैः स्वगृहं पुरुषान् ज्ञापयन्तीति भूमि-लिखनविलिखनैरिति चकारोऽत्र समुच्चयार्थः (आरुहणनट्टणेहिंचेत्ति) आरोहणानि वंशाग्रादिचटनानि नर्तनानि भूमौ नृत्यकरणानि तैरारोहणनर्तनैः पुरुषादिकमाश्चर्यवन्तं कुर्थन्तीति (बालय उवगूहणेहिंचेति) बालकाः मूर्खाः कामिन इत्यर्थः तेषामुपगूहनानि प्रच्छन्नरक्षणादीनि तैर्बालकोपगूहनैः कुरण्डाः स्वकामेच्छां पूरयन्तीति। यद्वा बालकाः केश-कलापास्तैरुपगूहनानि रचनाः स्वच्छवस्त्राच्छा-दितादीनि तैर्मन्मथग्रस्तानधमाधमान् स्ववशं कृत्वा बलीवर्द्दवत् वाहयन्ती-ति। च शब्दात्कपिवद्रामयन्ति अश्ववारयन्ति श्रेणिकभार्याधन-श्रीराज्ञीवत्। स्वार्थाप्राप्तौ प्राणत्यागमपि कुर्वन्तीति (अंगुलि०) अङ्गुलीस्फोटनानि क्रीडिकाकरणानि। यद्वा अङ्गुलीनां परस्परं ताडनानि। स्तनपीडनानि कराभ्यां पयोधर चापनानि हस्ताभ्यां कुचमर्दनानि वा कटितटयातनानि श्रोणिभागपीडनानि कराभ्यां वक्रगत्या वा तैः कामिनां चित्तान्यान्दोलयन्तीति (तज्जणहिं चेति) तर्जनानि अङ्गुलिमस्तकतृणादिचालनानि तैर्मन्यथपीडा-मुत्पादयन्ति कामिनां च शब्दा दुद्भटनेपथ्यकरणैराभरण-शब्दोत्पादनैः सविलासगत्या चतुष्पयादौ प्रवर्तनैरित्याद्यनेक-प्रकारैर्नरान् वृषभतुल्यान् कुर्वन्त्यतः संयमार्थिभिः साधुभिरासां सङ्गस्त्याज्य इति। तथा (अवियाइंति) पूर्ववत् ''ता-ओपासोववसिउंजे'' इति प्राकृतत्वालिङ्ग व्यत्ययः। या कुरण्डादयः स्त्रियः सन्ति जगति [ताओत्ति] ताः पुरुषान् पाशवत् नागपाशवागुरादिबन्धनवत् वसितु धातूनामनेकार्थत्वात् बन्धितुं वर्तन्ते इह परभवे नराणां बन्धनकारणत्वात् [पंकुव्वखुप्पि उंपेत्ति] ताओत्ति अग्रेपि अनुवर्तते याः कुटिलादयः सन्ति ताः नराणां पङ्ग-वत्। अगाधा इव बहुलसमुद्रादिकर्दमवत् क्षपितुं वर्तन्ते। [मचुव्वमरि उंजेत्ति] याः स्वैरिण्यादयः सन्ति ताः नराणां मृत्युवत् कृतान्तवत् मारयितुं मारणार्थमित्यर्थः प्रवर्तन्ते। [अगणिव्वहिं उंजेत्ति] या जगति गणिकादयः सन्ति ताः कामिनामग्निवद्दग्धं ज्वालयितुं परिभ्रमन्ति [असिव्वच्छिज्जि उंजेत्ति] या मृगाक्षवामाक्षतरुणी परिव्राजिकादयः सन्ति ताः कौटिल्यकरण्डाः साधूनपि असिवत्खड्गवच्छेत्तुं द्विधाकर्तुमुत्सहन्ते।

अथ स्त्रीवर्णनं पद्येन वर्णयति यथा-

असिमसिमारित्थीणं, कंतारकवाडचारयसमाणं।
घोरनिउरंबकंदर, चलंतवीभत्थभावाणं ॥१॥

नारीणां सर्वथा विश्वासो न विधेयः। किंभूतानाम् असिम सीसदृशीनां करांवालकज्जलतुल्यानाम्। अयमाशयः यथा खड्गः पण्डितरागरात्रि-र्दयतया छेदयति तथा अनार्या नार्योऽपि नरानिह परत्र दारुणदुःखोत्पादनेन छेदयन्ति। यथ न कज्जलं स्वभावेन कृष्णमस्य श्वेतपत्रादिसंगमे सति तस्य कृष्णत्वं जनयति, तथोन्मत्तनारी स्वभावेन कृष्णा दुःष्टान्तःकरणत्वात्तत्संगमे उत्तमकुलोत्पन्नानामुत्तमानामपि कृष्णत्वमुत्पादयति यशोधनक्षयराजविडम्बनादिहेतुत्वात्। पुनः किंभूतानां कान्तारकपाटचारकसमानाम् अरण्यकपाटकारागृह-तुल्यानाम्। अयमाशयः। यथा गहनं वनं व्याघ्राद्याकुलं जीवानां भयोत्पादकं भवति तथा नराणांनार्योपिभयं जनयन्ति धनजीवितादिविना शहेतुत्वेनेति यथा प्रतोल्यां कपाटे दत्ते केनापि गन्तुं न शक्यते तथा नरे नारीकपाटहृदये दत्ते सति केनापि कुत्रापि धर्मवनादौ गन्तुं न शक्यते। यथा च जीवानां कारागृहं दुःखोत्पादकं भवति तथा नराणां नार्थोपीति। पुनः किंभूतानां (घोरनि०) घोरा रौद्राः प्राणनाश हेतुत्वात्। निकुरम्बं घनं अगाधमित्यर्थः यत्कमिति जलं तस्य दरो भयं यस्माद्भावात्साङ्के तपुराधिपदेवरतिराजस्येव स निकुरम्बकन्दरः। कमिति अव्य यशब्दं उपकवाचक्रः। चलन् पुरुष २ प्रति भ्रमन् बीभत्सो भयङ्करः इह परत्र महा-भयोत्पादकत्वादेवंविधो भाव आन्तरमायावक्र-स्वभावो यासां ता घोरनिरकुम्बकन्दर चलद्बीभत्सभावास्तासां घोरभावानाम् ॥१॥

दोससयगग्गरीणं, अजससयविसप्पमाणहिययाणं।
कइयवपन्नत्तीणं, ताणं अन्नायसीलाणं ॥२॥

दोष शतगर्गरिकाणां दोषाः परस्परकलहमत्सरगालिप्रदान मर्मोद्घाटन-कलङ्कप्रदानजल्पनशापप्रदानस्वपरप्राणघात-चिन्तनादयस्तेषां शतानि तेषाम्। गर्गरीका भाजनविशेषास्तासां दोषशतगर्गरिकाणाम् [अजस०] न यशः शतानि अयशः शतानि तेषु विसर्प्पद्विस्तारं गच्छद्धृदयं मानसं यासां ताः अयशः शतविसर्पद्धृदयास्तासाम्। तथा [कइयवत्ति] कैतवानि कपटानि नेपथ्यभाषामार्गगृहपरावर्त्तादीनि [पन्नत्तीत्ति] प्राज्ञाप्यन्ते याभिस्ताः कैतवप्रज्ञप्तयः यद्वा कैतवानां दम्भानां प्रकृष्टाः ज्ञप्तयो ज्ञानानि कमलश्रेष्ठिसुतापाद्मिनीवद्यासु ताः कैतवप्रज्ञप्तयः। यद्वा कैतवेषु प्रज्ञाया बुद्धेरातिशयादानं यासां तास्तासां कैतवप्रज्ञप्तीनाम्। तथा [ताणंति] तासां नारीणां अज्ञातशीलानां पण्डि-तैरप्यज्ञातस्वभावानाम्। यदुक्तं- ''देवाणदाणवाणं, मंतं निमंतनिउणा जे। इत्थीचरियम्मि पुणो, ताण वि मंता कहं नट्ठा १ जालंधरेहिं भूमिहरेहिं विविहेहिं अंगरक्खेहिं। निवरक्खियावि लोए, रमणी यब्भमग्गाय २ मच्छपंय जलमज्झे आगासे पंखियाण पयपंती। महिलाण हिययमग्गो, तिन्नि वि लोए न दीसंति ३'' इति यद्वा न ज्ञातं नाङ्कीकृतं शीलं ब्रह्मस्वरूपं याभिस्ता अज्ञात-शीलास्तासाम्। यद्वा नञः कुत्सार्थत्वात्कुत्सितं ज्ञातं शीलं साध्वीनां याभिः परिव्राजिकायोगिन्यादिभिस्ता अज्ञात-शीलास्तासां मुनिवरैः प्रसङ्गै कान्तजल्पनैकत्रवासविश्वास-सहचलनादिव्यापारो वर्जनीय इति ॥२॥

अन्नं रयंति अन्नं, रमंति अन्नस्स दिंति उल्लावं।
अन्नो कज्जंतरिओ, अन्नो पडयंतरे ठविओ ॥३॥

द्वित्र्यादिपुरुषसंभवे अन्यं स्वभावसमीपस्थं नरं रञ्जयन्ति अर्द्धवीक्षणादिना कामरागवन्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। पल्ली-

पतिलघुभ्रातरं प्रति अगडदत्तस्त्रमिदनिमज्जरवित। यद्वा स्वकुशीलत्वं केनापि ज्ञाते सति (अन्नं रयतिति) अन्याद्विष भक्षणकाष्ठभक्षणादिकं रचयन्ति कपटेन निष्पादयन्ति। यद्वा जारस्य स्वान्तःकरणाज्ञापनाय (अन्नंरयंतित्ति) अन्यदात्म-व्यतिरिक्तं तृणतन्तुदण्डादिकं रदन्ति उत्पादकं कुर्वन्तीत्यर्थः। रद विलेखने इति विलेखनमुत्पाटनमिति। यद्वा अन्यं रयन्तीति अन्यं स्वकान्तव्यतिरिक्तं पुत्रभ्रातृकान्तमित्रादिकं प्रति रामा अधमकामाः रथ गतौ रबु गतौ वा रयन्ते रबंति वा गच्छन्ति। तथा [अन्नं रमंतित्ति] अन्यं स्वकान्तव्यतिरिक्तं नरं रमन्ते मैथुनतत्पराः क्रीडयन्तीत्यर्थः पातालसुन्दरीवत्। द्यूतादि प्रकारेण क्रीडयन्ति वा [अन्नस्सदिंति उलावंति] अन्यस्योक्तव्यतिरिक्तस्य ददति प्रयच्छन्ति उल्लापं वचनं बोलरूपम्। यद्वा अनेक नरपरिवृता अपि अन्यस्य नरस्य मार्गादिगच्छतः स्थितस्य वा उत्प्राबल्येन लापं मन्मथोद्दीपनशब्दं ददतीति। उल्लापयन्ति पाठे तु कामिनरद्वित्र्यादि संभवे सति उन्मत्ताकुरामाः अन्यस्मै ददति उल्लातं प्रबल-पादप्रहारमित्यर्थः। तथा अन्यः कश्चिद्वलीवर्दरूपः कटान्तरितः कटान्तर्वर्ती प्रछन्नरहितो भवतीति। तथा अन्यस्त-त्कटाक्षबाणसमूहेन ग्लानीकृतः। पटकान्तरे वस्त्रविशेषान्तरे स्थापितो भवेत् ग्लानवत् इति ॥३॥

गंगाए वालूयाए, सागरजलं हिमवओय परिमाणं।
उग्गस्स तवस्स गइ, गब्भुप्पत्तिं च विलयाए ॥४॥
सिंहे कुंडबुयारस्स, पुट्ठलकुकुहाइयं अस्से।
जाणंति बुद्धिमंता, महिलाहिययं न याणंति ॥५॥

गङ्गायां वालुकां वालुकणान्सागरे समुद्रे जलं जल-परिमाणमित्यर्थः। हिमवतो महाहिमवन्नगस्य परिमाणमुर्ध्वाधस्तिर्यक्परिधिप्रत-रघनमानम्। उग्रस्य तीव्रस्य तपसो गतिं फल प्राप्तिरूपां गर्भोत्पत्तिं च (वियाएत्ति) वनिताया नार्याः सिंहे कुडंबुयारमिति रूढि गम्यं (पुट्ठलंति) जठरोद्भवं (कुकुहाइयंति) गतिकाले शब्दाविशेषमश्वघोटके जानन्ति अवगच्छन्ति बुद्धिमन्तः प्रज्ञावन्तः महिलायाः कटकपटद्रोह परवञ्चन परायाः प्रबलमन्मथाग्निधगधगायमानायाः अतर्कितातुच्छो च्छलि-तकलकण्ठोद्गच्छद्गीयमानमधुरगेयध्वनिमृगीकृतमुनि वरायाः ललाटे पट्टतटघटितघनश्रीखण्डतिलक चन्द्रचकोरीकृतचतुरायाः पीनपयोधरपीठलुठन्निर्मलामलक स्थूलमुक्ताफलहारश्वेतदृग् विषभुजगमगतविवेकचैतन्यकृतानेकपाण्डितायाः हृदयं गूढान्तः करणं न जानन्ति न सम्यगवगच्छन्तीति। उक्तंच-''स्त्रीजातौ दाम्भिकता, भीरुकता भूयसी वणिरजातौ। रोषः क्षत्रियजातौ, द्विजातिजातौ पुनर्लोभः ॥१॥ न स्नेहेन न विद्यया न च धिया रूपेण शौर्येण वा, नेर्ष्यावाद भयार्थदानविनयक्रोधक्षमामार्दवैः। लज्जायौवनभोगसत्य करुणास-त्वादिभिर्वा गुणै गृह्यन्ते न विभूतिभिश्चललना दुःशील चित्ता यतः'' ॥२॥

एरिसगुणजुत्ताणं, ताणं कइयव्व संठियमणाणं।
न हु मे वीससियव्वं, महिलाणं जीवलोगम्मि ॥

ईदृशगुणयुक्तानामुक्तवक्ष्यमाणलक्षणान्वितानां तासां नारीणां कपिवद्वानरवत्संस्थितमनसां नैव भवद्भिः विश्वसितव्य महिलानां जीवलोके इति ॥६॥

निद्धन्नयं च खलयं, पुप्फेहिं विवज्जियं च आरामं।
निद्दुद्धियं च धेणुं, लोए वि अतिल्लिय पिंडं ॥७॥

यादृशमिति गम्यते निर्द्धान्यकं धान्यकणविवर्जितं चारामं ता दृशं तरुणी मण्डलं शुभभावनाकुसुमरहितत्वात्। यादृशा निर्दुग्धिका दुग्धरहिता धेनुर्गौस्तादृशाभ्रष्टव्रतिनीधर्मध्यानदुग्धाभावात्तथा लोके अपि शब्दः पूरणार्थे यादृशं (अतिल्लियंति) सर्वथा तैलांशरहितं पिण्डं खलखण्डं तादृशं महिलाव्याघ्रीमण्डलं परमार्थेन स्नेहतैलविवर्जितत्वात् ॥७॥

जेणंतेरणलोय-णाणि निमिसंति तेण य वियसंति।
तेणंतरे वि हिययं, चित्तसहस्साउलं होइ ॥८॥

स्त्रीणां येन परमवल्लभेन सर्वार्थसंप्राप्तिकारकेणान्तरेण विना लोचनानि प्रफु ल्लनेत्राणि तत्क्षणे निमिषन्ति संकुचितभावं गच्छन्तीत्यर्थः च पुनस्तेनैव परमवल्लभेन स्वार्थप्राप्त्यकारकेणान्तरेण विना विकसन्ति प्रफुल्लनेत्राणि भवन्तीत्यर्थः। तेणं तरे इति प्राकृतत्वात्तृतीयार्थे सप्तमी अपि शब्द एवार्थे तथा कुलस्त्रीणां हृदयं कदाचित्स्ववल्लभे प्रवर्तते स्ववल्लने सत्यपि कदाचित्तासां चित्तं स्वमानसं सहस्राकुलं स्वकान्तव्यतिरिक्त-पुरुषान्तरसहस्रेषु आकुलं मन्मथभावेन परिभ्रममाणं भवतीत्यर्थः। शाकिनीवत्। अतो मुनिवरैरत्न-त्रयरक्षणपरैर्मुक्तगृहारम्भभरैरासां कुरण्ड-मुण्डीदासीयोगिन्यादीनां यथा कथंचित्परिचयो न कार्य इति। अस्या अन्यदपि व्याख्यान्तरं सद्गुरुप्रसादात्कार्यमिति ॥८॥ तन्दु०॥

(१२) स्त्रीणामशुचित्वं यथा-

''मंसं इमं मुत्तपुरीसमीसं, सिंहाणखेलाण य निज्झरंतं। एवं अणिचं किमिआण वासं, पासं नराणं मइबाहिराणं'' इत्यादि-धर्म०।

सर्वस्वापकर्षवत्वं यथा-

नो रक्खसीसु गिज्झि-ज्जा गंडवत्थासुणेगचित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेलंति जहाव दासेहिं ॥१८॥

नो नै वराक्षस्य इव राक्षस्यः स्त्रियस्तास्तु यथा हि राक्षस्यो रक्तसर्वस्वमपकर्षन्ति जीवितं च प्राणिनामपहरन्त्येवमेता अपि तत्त्वतो हि ज्ञानादीन्येवं जीवितं स्वार्थं च तानि चताभिरपन्हियन्त एव तथा च हारिलः ''वातोद्भूतो दहति हुतभुग्देहमेकं नराणां, मत्तो नागः कुपितभुजगश्चैकदेहं तथैव। ज्ञानं शीलं विनय विभ-वौदार्यविज्ञानदेहान्सर्वानर्यान् दहति वनिता मुष्मिकानैहिकांश्च'' (गिब्भिज्झति) गृद्ध्येदभिकाङ्क्षावान् भवेत् कीदृशीषु (गंडवत्थासुत्ति) गण्ड गण्ड इह चोपचितपिशितपिण्डरूपतथा गलत्पूतिरुधिरार्द्रता-संभवाच्च तदुपमत्वाद्गण्डे कुचावुक्तौ। ते वक्षसि यासां तास्तथाभूतास्तासु वैराग्योत्पादनार्थं चैवमुक्तम्। तथा अनेकान्यनेकसङ्ख्यानि चञ्चलतथा चित्तानि मनांसि यासां तास्तासु अनेकचित्तासु आहच ''अन्यस्याङ्के ललति विशदं चान्यमालिङ्ग्य शेते, अन्यं वाचा वपति हसयत्यन्यमन्यं च रौति। अन्यं द्वेष्टि स्पृशतिकशति प्रोर्णुते चान्यमिष्टं, नार्यो नृत्यत्तडित इव धिक् चञ्चलावालिकाश्च'' तथा (जाउत्ति) याः पुरुषं मनुष्यं कुली-नमपीति गम्यते प्रलोभ्यत्वमेव शरणत्वमेव च प्रीतिकृदि-त्यादिकाभिर्वाग्भिर्विप्रतार्य क्रीडन्ति (जहावत्ति) वा शब्द-स्यैवकारार्थत्वाद्यथैव दासैः एह्यागच्छ मा वद त्वं मायासीरित्या-दिविवक्षितप्रभृतिक्रीडाभिर्विलसन्तीति सूत्रार्थः ॥१८॥

पुनस्तासामेवातिहेयतां दर्शयन्नाह।

नारीसु नो पगिज्झिज्जा, इत्थिविप्पयहे अणगारं।

धम्मं च पेसलं नच्चा, तत्थ ट्ठविज्ज भिक्खुमप्पाणं ॥१९॥

नारीषु नो नैव प्रगृद्ध्येत्प्रशब्द आदिकर्मणि ततो गृद्धिमारभेतापि न। किं पुनः कुर्यादिति भावः (इत्थीविप्पहियत्ति) स्त्रियो विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण च जहाति त्यजति इति स्त्रीविप्रजह उणादयो बहुलमिति बहुलवचनाच्च। यद्वा (इत्थित्ति) स्त्रियो (विप्पजहेत्ति) विप्रजह्यात्पूर्ववत्र नारीग्रहणान्मनुष्यस्त्रिय एवोक्त इह च देवतिर्यक् -संबन्धिन्योपि त्याज्यतयोच्यन्ते इति न पौनरुक्त्यमुपदेशत्वाद्वा। अणगारः प्राग्वत्। उत्त०८ अ०॥

(स्त्रीणां दुर्ग्राह्यहृदयत्वम् 'इत्थिरज्ज' शब्दे)

(१३) स्त्रीणां बन्धकारणत्वं—यथा—

वाउव्वं जलमच्चेति पिया लोगंति इत्थिओ ॥८॥
इत्थिओ जे ण सेवंति आइमोक्खा हु ते जणा ॥
जे जणा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥९॥

वायुर्यथा सततगतिरस्खलितयाऽग्निज्वालां दहनात्मिकामप्येति अतिक्रामति पराभवति न तया पराभूयते एवं लोके मनुष्यलोके हावभावप्रधानत्वात्प्रिया दयितास्तत्प्रियत्वाच्च दुरतिक्रमणीया अत्येत्यतिक्रामति न ताभिर्जीयते तत्स्वरूपा वशमा-त्तज्जयविपाकदर्शनाच्चेति। तथा चोक्तम्॥ स्मितेन भावेन मदेन लज्जया, पराङ्मुखैरर्द्धकटाक्षवीक्षितैः। वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया, समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥१॥ स्त्रीणां कृते भ्रातृयुगस्य भेदः संबन्धिभेदे स्त्रिय एव मूलम्। अप्राप्तकामा बहवो नरेन्द्रा, नारीभिरुत्सादितराजवंशाः ॥२॥ इत्येवं तत्स्वरूपं परिज्ञाय तज्जयं विधत्ते नैताभिर्जीर्यत इति स्थितम्। अथ किं पुनः कारणं स्त्रीप्रसङ्गाश्रवद्वारेण शेषाश्रवद्वारोपलक्षणं क्रियते न प्राणातिपातादिनेति। अत्रोच्यते केषां चिद्दर्शनिनामङ्गनोपभोग आश्रवद्वारमेव न भवति। तथा चोचुः। "न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला" ॥ इत्यादि तन्मतव्युदासार्थमेव मुपन्यस्तमिति। यदि वा। मध्यमतीर्थकृतां चतुर्याम एव धर्म इह तु पञ्चयामो धर्म इत्यस्यार्थस्याविर्भावनायानेनोपलक्षणमकारि। अथवा। पराणि व्रतानि सापवादानीदं तु निरपवादमित्यस्यार्थस्याविर्भावनाय प्रकटनायैव-मकारि। अथवा। सर्वाण्यपि व्रतानि तुल्यानि एकखण्डेन सर्वविराधनमिति कृत्वा येन केनचिन्निर्देशो न दोषायेति। [इत्थिओ इत्यादि] ये महासत्त्वाः कटुविपाकोऽयं स्त्रीप्रसङ्ग इत्येवमवधारणतया स्त्रियः सुगतिमार्गार्गलाः संसारवीथीभूताः सर्वाविनयराजधान्यः कपटजालशताकुला महामोहनशक्तयो न सेवन्ते न तत्प्रसङ्गमभिलषन्ति ते एवंभूता जना इतरजनातीताः साधवः आदौ प्रथमं मोक्षोऽशेषद्वन्द्वो परमरूपो येषान्ते आदिमोक्षाः। हुरवधारणे। आदिमोक्षा एव तेऽवगन्तव्यः। इदमुक्तं भवति सर्वाविनयोस्पदभूतः स्त्रीप्रसङो यैः परित्यक्तस्य एवादिमोक्षाः प्रधानभूतमोक्षाख्यपुरुषार्थोद्यताः। आदिशब्दस्य प्रधानवाचित्वान्न केवलमुद्यतास्ते जनाः स्त्रीपाशबन्ध-नोन्मुक्ततयाऽशेषकर्मबन्धनोन्मुक्ताः सन्तो नावकङ्क्षन्ति नाभिलषन्ति असंयमजीवितम परमपि परिग्रहानिकं नाभिलषन्ति। यदि वा परित्यक्तविषयेच्छाः सदनुष्ठानपरायणा मोक्षैकताना जीवितं दीर्घकालजीवितं नाभिकांक्षन्ति इति ॥९॥ सूत्र०२ श्रु०१५ अ०।

नारीस्नेहे दुःखं यथा "नारीनेहाणुगया, गणइ न सीलं कुलं धणं धन्नं। दाणं पाणेन गुणे, गुरुवयणं कुगइगमणंपि" दर्श०।

(१४) स्त्रीसंसर्गश्चावश्यम्परित्याज्यस्तथा च।

वशीकुर्वन्ति ये लोके, मृगान् दर्शनतन्तुना। संसर्गवागुराभिस्ते, स्त्रीव्याधाः किन्न कूर्वते" पंचा०१० विव०।

स्त्रीसंसर्गपरित्यागे कारणमाह।

जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥५४॥

यथा कुक्कुटपोतस्य कुक्कुटचेल्लकस्य नित्यं सर्वकालं कुल-लतो मार्जाराद्भयमेवमेव ब्रह्मचारिणः साधोः स्त्रीविग्रहात् स्त्रीशरी-रात् विग्रहग्रहणं मृतविग्रहादपि भयख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः। यतश्चैव मतः—

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥५५॥

चित्रभित्तिं चित्रगतां स्त्रियं न निरीक्षेत न पश्येत् नारीं वा सचेतनामेवं स्वलंकृतामुपलक्षणमेतदनलंकृतां वा न निरीक्षेत कथंचि-द्दर्शनयोगेऽपि भास्करमिवादित्यमिव दृष्टवा दृष्टिं प्रतिसमाहरेत् द्रागेव विनिवर्तयेदिति सूत्रार्थः। किंबहुनाह—

हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्नं नासं विगप्पियं।
अवि वाससयं नारीं, बंभयारी विवज्जए ॥५६॥

हस्तपादप्रतिच्छिन्नामिति प्रतिच्छिन्नहस्तपादां करण-नासावि-कृतामिति विकृतकर्णनासामपि वर्षशतिकां नारी मेवंविधामपि किमङ्ग पुनस्तरुणी तान्तु सुतरामेव ब्रह्मचारी चारित्रधनो महाधन इव तस्करान् विवर्जयेदिति। अपिच।

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥५७॥

विभूषा वस्त्रादिराढा स्त्रीसंसर्गः येन केनचित्प्रकारेण संबन्धः प्रणितं रस भोजनं गलत्स्नेहरसाभ्यवहारः एतत्सर्वमेव विभूषादि नरस्यात्मगवेषिणः आत्महितान्वेषणपरस्य विषं तालपुटं यथा तालमात्रव्यापत्तिकरविषकल्पमहितमिति सूत्रार्थः।

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपीहियं।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥५८॥

अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानमित्यङ्गानि शिरःप्रभृतीनि प्रत्यङ्गाः निनयनादीनि एतेषां संस्थानं विन्यासविशेषस्तथा चारु शोभनं लपितं जल्पितं प्रेक्षितं निरीक्षितं स्त्रीणां संबन्धि तदङ्ग-प्रत्यङ्गसंस्थानादि न निरीक्षेत न पश्येत्। किमित्यत आह। कामरागविवर्द्धनमिति एतद्धि निरीक्ष्यमाणं मोहदोषान् मैथुना-भिलाषं वर्द्धयति अत एवास्य प्राक् स्त्रीणां निरीक्षणप्रतिषे-धाद्गतार्थतायामपि प्राधान्यख्यापनार्थो भेदेनोपन्यास इति सूत्रार्थः। दश०८ अ०॥ तथा चान्यत्रापि—

"आवर्तः संशयानमविनयभवनं पत्तनं साहसानां, दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम्। स्वर्गद्वारस्य विघ्नं नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं, स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषमविषमयं सर्वलोकस्य पाशः ॥१॥ नो सत्येन मृगाङ्क एव वदनीभूतो न चेन्दीवर—द्वन्द्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यङ्गयष्टिः कृता। किन्त्वेवं कविभिः प्रतारितमनास्तत्त्व विजानन्नपि, त्वङ्मांसास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मत्वा जनः सेवते ॥२॥ यदेतत्पूर्णेन्दुद्युतिहर-मुदाराकृतिधरं, मुखाब्जं तन्वङ्ग्याः किल वसति पत्राऽधरमधुः। इदं तप्तिं पाक द्रुमफलमिवातीव वि-

रसं, व्यतीतेऽस्मिन् काले विषमिव भविष्यत्यसुखदम् ॥३॥

दीर्घेणाक्षिचलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना,
नीलाब्जद्युतिनाऽहिना वरमहं दष्टो न तच्चक्षुषा ॥

दष्टे सन्ति चिकित्सका दिशि दिशि प्रायेण पुण्यार्थिनो,
मुग्धाक्षीक्षणवीक्षितस्य न हि मे वैद्यो न वाप्यौषधम् ॥४॥

संसार ! तव निस्तर–पदवी न दवीयसी।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः ॥५॥

नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा,
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम्।
याभिर्विलोलतरलांशुकदृष्टिपातैः,
शक्रादयोपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः ॥६॥

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन, पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यं, प्रियः को नाम योषिताम् ॥७॥

सव्वत्थे इत्थिवग्गम्मि, अप्पमत्तो सया अविस्सत्थो।
नित्थरइ बंभचेरं, तव्विवरीओ न नित्थरइ ॥६७॥

सर्वत्र सर्वस्मिन् प्रव्रजिता प्रव्रजितरूपे स्त्रीवर्गे अप्रमत्तः निद्राविकथादिप्रमादरहितः सदा सर्वकालमविश्वस्तो विश्वा-सरहितः श्वसन् निस्तरति पालयतीत्यर्थः ब्रह्मचर्यं मैथुनत्यागरूपं तद्विपरीतः उक्तविशेषणरहितो न निस्तरतिन निर्वहति ब्रह्मचर्यमिति गाथार्थः। ग०२ अधि०। [साध्वीसंसर्गो दोषायेति 'अज्जिया' शब्दे ॥ स्त्रीसंसर्गादि परित्यागो बंभचेरगुत्ति शब्दे]

(१५) स्त्रीषु सक्तस्य परिग्रहोऽवश्यं भवतीति यथा–

इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले, परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥

स्त्रीषु रमणीष्वासक्तो ऽध्युपपन्नः पृथक् पृथक् तद्भाषितहसित बिब्बोकशरीरावयवेष्विति बालबद्बालोऽज्ञः सदसद्विवेकविकलस्त-दवसक्ततया च नान्यथा द्रव्यमन्तरेण तत्सं-प्राप्तिर्भवतीत्यतो येन केनचिदुपायेन तदुपायभूतं परिग्रहमेव प्रकर्षेण कुर्वाणः पापं कर्म्म समुचिनोतीति। सूत्र०१ श्रु०१० अ०। [स्त्रीषु कामेषु चासक्तानामवश्यं नरकयातना भवतीति 'इत्थिकाम' शब्दे] स्त्रीषु च सर्वेन्द्रियगुप्तेन भाव्यम् तथा च ॥

सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के।

सर्वाणि च तानीन्द्रियाणि च स्पर्शनादीनि तैरभिनिर्वृतः संवृते-न्द्रियो जितेन्द्रिय इत्यर्थः। क्व प्रजासु स्त्रीषु तासु हि पञ्च प्रकारा अपि शब्दादयो विषया विद्यन्ते तथा चोक्तम्। ''कलानि वाक्यानि विलासिनीनां, गतानि रम्याण्यवलोकितानि। रतानि चित्राणि च सुन्दरीणां, रसोपि गन्धोऽपि च चुम्बनादेः ॥१॥ तदेवं स्त्रीषु पञ्चेन्द्रियविषयसम्भवात्तद्विषये संवृतसर्वेन्द्रियेण भाव्यमेतदेव दर्शयति चरेत्संयमानुष्ठानमनुतिष्ठेन्मुनिः साधुः सर्वतः सबाह्याभ्यन्तरात्सङ्गाद्विशेषेण प्रमुक्तो निःसङ्गो निष्किञ्चनश्चेत्यर्थः। सूत्र०१ श्रु०१ अ०। स्त्रीणां दर्शननिषधो यथा– ''स्त्रीरम्याङ्गे-क्षणतरलितविलोचनो हि दीपशिखायां शलभ इव विनाशमुप-याति। ध०३ अधि०। [अत्र प्रायश्चित्तं रायपिंड शब्दे]

[१६] स्त्रीकरस्पर्शादिनिषेधो यथा–

जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने।
दिट्ठी विसदित्तग्गी, विसं व मुणिवज्जए गच्छे ॥८३॥

यत्र गणे स्त्रीकरस्पर्शः अथवा स्त्रियाः करेण स्पर्शःस्त्रीकरस्पर्श-स्तमुपलक्षणत्वात् स्त्रीपादादिस्पर्शं च कथंभूतम् [अंतरियंति] अपि शब्दस्येहापि सम्बन्धादन्तरितमपि वस्त्रादिना जातान्तरमपि किं पुनरनन्तरितं कारणेऽपि कण्टकरोगोन्मत्तत्वादि उत्पन्ने सञ्जाते सति किं पुनः अकारणे दृष्टिविषश्च सर्पविशेषः दीप्ताग्निश्च ज्वलितवह्निर्विषं च हालाहलादीनि समाहरद्वन्द्वः तदिव वर्जयेत् उत्सर्गमार्गेण दूरतः त्यजेन्मुनिः समुदायः [गच्छति] स गच्छः स्यादिति शेषगाथा छन्दः।

बालाए बुड्ढाए, नत्तु अ दुहिआइ अह य भइणीए।
न य कीरइ तणुफरिसं, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥८४॥

इहाङ्गस्पर्शस्य सर्वत्र सम्बन्धात् बालाया अपि अप्राप्तयौवनाया अपि किं पुनः प्राप्तयौवनायाः वृद्धाया अपि अतिक्रान्त यौवनाया अपि किंपुनरनतिक्रान्तयौवनायाः एवंविधायाः कस्या इत्याह। नप्तृका पौत्री तस्या अपि दुहिता पुत्री तस्या अपि अथवा भगिनी स्वसा तस्या अपि नालबद्धोपलक्षणत्वादस्य दौहित्रीभ्रातृ-जातामातुलीपितृष्वसृमा-तृष्वसृजननीमातामही ग्रहः। कोर्थः नप्तृकादिकानामेकादशानां नालबद्धानामपि स्त्रीणां किं पुनरनालबद्धानां तनुस्पर्शः उपलक्षणत्वात्सविलासशब्दश्रवणादि च यत्र गच्छे न च नैव क्रियते हे गौतम ! स गच्छो भणित इति इह हि सम्बधिन्या अपि स्त्रिया अङ्गस्पर्शादि वर्जनं स्त्रीस्पर्शस्यो-त्कटमोहोदय हेतुत्वात्॥

जत्थ त्थीकरफरिसं, लिंगी अरिहो वि सयमवि करिज्जा।
तं निच्छयओ गोयम ! जाणिज्जा मूलगुणभट्ठं ॥८५॥

यत्र गणे स्त्रीकरस्पर्शम् लिङ्गं विद्यते अस्याऽसौ लिङ्गी साधु वेषवान् अर्होऽपि पदव्यादिप्राप्त्यादियोग्योऽपि स्वयमपि अपेरेवकारार्थत्वात् स्वयमेव कुर्यात्तं गच्छं निश्चयतो हे गौतम ! जानीयान्मूलगुणभ्रष्टं चारित्ररहितमिति ॥८५॥ स्त्रीकरस्पर्शादिकमुत्सर्गपदेन निषिध्याथा-पवादपदेनापि निषिध्यति॥

कीरइ बीयपएणं, सुत्तमभणियं न जत्थ विहिणाओ॥
उप्पन्ने पुण कज्जे, दिक्खा आयंकमाईए ॥८६॥

अपेर्गम्यमानत्वादुत्सर्गपदापेक्षया द्वितीयपदेनापि अपवाद-पेदनापीत्यर्थः [सुत्तम भणियंति] मकारस्यालाक्षणिक-त्वात्सूत्राभणितं सूत्राननुज्ञातं सर्वथागमनिषिद्धं स्त्रीकरस्पर्शा-दिकमित्यर्थः। ग०२ अधि०। [कण्टकोद्धरणवक्तव्यता विस्तरेण कण्टकुद्धरण शब्दे]

(१७) स्त्रियाः सार्द्धं विहारस्वाध्यायाहारोच्चारप्रस्रवणपरिष्ठा-पनिकाधर्मकथादिनिषेधो यथा–

जे भिक्खू आगंतागारेसु वा आरामागारेसु वा गहावइसुगहा वइकुलेसु वा परियागसहेसु वा एगो एगइत्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४ आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणरियं मेहणं अस्सणं पाओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥१॥ नि०चू०७ उ०।

कहिता खलु आगारो, ते उ कहिं कतिविधा उ विण्णेया।
आगंतागारादिसु, सविगारविहारमादीया॥

सत्तमस्स अंतसुत्ते त्थीपुरिसागारा कहिता ते कहिं हवेज्ज आगंतागारादिसु ते आरामादिसु ते आगंतरादि इह समाणं कतिविहा ते आगारा विण्णेया। इह अपुव्वरूवियाणि

एगो साहू एगाए इत्थियाए सद्धिं समाणं गामाओ गामंतरो अहवा गतागतं चंकमणं सज्झायं करेति असणादियं वा आहारेति उच्चारं पासव णं परिट्ठवेति एगो एगित्थीए सद्धिंवियारभूमिं गच्छति अणारिया कामकहा णिरतरं वा अप्पियं कहं कहेति काम-निट्ठुरकहाओ एता चेव असमणपाउग्गं अथवा देसभत्त-कहादिसंजमोवकारिका ण भवति सा सव्वा असमणपाउग्गा।

आगंतारे आरा–मा गारमिह कुलावसहे य।
पुरिसित्थिएगणेगं, चउक्कभयणा दुपक्खे वि ॥२॥

एगे एगित्थिए सद्धिं, एगे अणेगित्थिए सद्धिं, अणेगा एगित्थी ए, आणेगा अणेगित्थिए ॥

जा कामकहा साहो, तणारिया लोकिकी च उत्तरिया।
णिट्ठुरभल्ली कहणं, भागवतपदोसखामणया ॥३॥

तत्थ लोइया णरवाहणरधकधा लोगुत्तरिया तरंगवती मलयवती मगधसेणादि णिट्ठुरं णामवल्ली घरकहणं एगो साधू भरू-दखिण्णयहं सच्छेहेणयामो य भागवएण पुच्छितोकिमेयं भल्ली घरंति तेण साहुणा वारवतिदाहतो आरब्भ जहा वासुदेवे य पयाओ जहा य कूरवागा भंजणं कोसंवीरण्णपवेसो जहा जरकुमारागमो जहा य जरकुमारेण भल्लिणा हओ मओ य एवं भल्लिघरुप्पत्ति सव्वा कहिया ताहे सो भागवतो यदुट्ठो चिंतेति। जइ एयं न भविस्सति तो एस समणो घातेयव्वो सो गहिओ दिट्ठो यणेण पादे भल्लिए विद्धो ताहे आगंतूण तं साहुं खामेति भणति य मए एवं चिंतियमासी तं खमेज्जसि एवमादी णिट्ठुरा एवमादिपुरिसाणं वित्ताणं जुज्जेति कहिओ किमु वा एगित्थियाणं ॥

अवि मायरं पि सद्धिं, कधा तु एगागियस्स पडिसिद्धा।
किं पुण अणारयादी, तरुणत्थीहिं सहगतस्स ॥४॥

माइभगिणीमादीहिं अगम्मित्थिहिं सद्धिं एगाणियस्स धम्मकहावि ण वट्टति किं पुण अण्णाहिं तरुणित्थिहि सद्धिं ॥

अण्णावि अप्पसत्थीसु, कधा किमु अणारिय असज्झा।
चंकमणसज्झायभोयण–उच्चारेसुं तु सविसेसा ॥५॥

अणाइ वि धम्मकहा अवि सद्दाओ सवेरग्गं सावित्थीएसु एगा-गिथासु विरुद्धा किंपुण अणारिया जोग्गा अणारिया सा य कामकहा असब्भा जोग्गा असज्झा। अहवा असब्भा जत्थ उल्लविज्जंति चंकमणे सति विज्झमग्गतितागारं दट्ठुं मोहुब्भवो भवति सज्झाए मणहरसद्देण भोयणदाणग्गहणातो विसंभे उच्चारे ऊण गादित्थणंगदरिसणं ॥

भयणपदा चउण्हं, अण्णतरजुते तु संजते संते।
जे भिक्खू विहरेज्जा, अहवा विकरेज्ज सज्झायं ॥६॥

भयणपदा चउत्थगो पुव्वुत्तो ॥

असणादी वीहारे, उच्चारादि व आतरेज्जा।
हिट्ठुरमसावुजुत्तं, अण्णतरकधं व जो कधए ॥७॥
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविगाहणं दुविधं।
पाविति जम्हा तेणं, एते तु पदे विवज्जेज्जा ॥८॥

दिट्ठे संभोइगापि जम्हा एते दोसा तम्हा ण कप्पति विहारादि काउं कारणे पुण करेज्जा ॥८॥

वितिय पदमणप्पज्झे, गेलण्णुवसग्गरोट्ठगट्ठाणे।
संभमभयवासासु य, खत्तियमादीसु विण्णायं ॥९॥
अण्णवज्झो सो सव्वाणि विहारादीणि करेज्ज। इदाणिं गेलण्णे ॥९॥
खमण सद्देसम्मि वओत्थे, गेलण्णे जा विधी समक्खाता।
सा चेव य वितियपदे, गेलण्णे अट्ठमुद्देसे ॥१०॥

कंठ्या ॥ नि०चू०८ उ०॥

इदाणिं सत्तमयवासं तिण्णिवि दाराए एगगहापदेसत्ति आकुयय गाहा। आउमादिया संभमाबोहिएमच्छादिभय गोयरं–अडता वासेण अब्भवहतो एगणिलए वि होज्जा–

जलसंभमे थलादिसु, चिट्ठंताणं भवेज्ज चउभंगो।
एगतरुवएसए वा, वूढगलं ते व सव्वत्तो ॥६५॥
एग तरज्झामिए उ, वसयमिडज्झेज्ज वावि भावसदी।
एमेवय वा तम्मिवि, तेण भयावाणि लुक्कारं ॥६६॥
भोइतमाइं विरुद्धे, रोधेरद्धादिणं तु संभमो होज्जा।
वोहियमित्थ भएत्ता, गुत्तिणिमित्तं च एगत्था ॥६७॥

एगो एगत्थीए समं हवेज्ज आउक्कायसंभमेण उदगवाहमे एगं उण्णयं थलं पव्वयं डोग्गरं वा तत्थ चिट्ठंताणं चउभंगसंभवे वा खेत्ताओ खेत्तं संकमेज्जा इत्थ वि चउभंगसंभवो। एगतर वसहीए वा खेत्ताउ खेत्तं कमिज्जंति। एवं चउभंग संभवो हवेज्जा एवं वा तो वि चउभंगसंभवो तेणगभएण वा गुत्ते चउभंगसंभवेण णिलुक्का अच्छंति। भोइस्स भोतियस्स विरोहा एवं गामस्स य रट्ठस्स य परिसंभमे चउभंगसंभवो तेणगभएण वा गुत्ते हवेज्जा। बोहियमच्छभएण पलायाणं चउभंगसंभवेण विहारसज्झायं असणादिया उच्चारादिया वा एकत्थ णिलुक्कारसंभवो हवेज्जा गुत्ती वा रक्खणं करेत्ताणं संभवेज्जा ॥

पुव्वपविट्ठेगतरे, वासभएणं विसेज्ज अण्णतरा।
तत्थ रहिते परमुहो, णयसुं णेसु जतीट्ठंति ॥

वासासु वासावासे पडंते संजतो संजती वा किंचि णिरोवणरि संठाणपविट्ठं हवेज्ज पच्छा इयरं पविसिज्जा विच्छऊण विरहिये दोवि परोप्परं मुहा अच्छंति। सज्झायहाय सुट्ठुविवासे पडंते संजती सुण्णट्ठाणे णो पविसंति। नि०चू०८ उ०।

जे भिक्खू उज्जाणंसि वा उज्जाणगिहंसि वा। उज्जा णसालंसि वा णिज्जासिणंसि वा णिज्जाणगिहंसि वा सिज्जाणसालंसि वा एको एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४ आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अ-ण्णारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ।

उज्जाणं जत्थ लोगो उज्जाणियाए वच्चति जं वाइसिणगारस्स उवकंठे ठियं तं उज्जाणं। रायादियाण णिग्गमणठाणं णिज्जाणिया नगरागमे वा जं पियं वियं तं णिज्जाणं एतेसु चेव गिहा किरिया उज्जाणणिज्जाणगिहणगरेपा-गारो तस्सेव देसे अट्ठालगं पागारस्स अहो अट्ठोहत्थो रहमग्गो वरिया बलाणगंदार दा बलाणगा पागार-पडिनिबद्धा तण अंतरं गोपुरं जेण जणो दगस्स वच्चति सो दगपदो दगवाहो दगमग्गो दज्झासं दगतीरं सुण्णं गिहं सुण्णागारं देसे पहिय सढियं भिन्नागारं अधोविसालं च उवरिं संवट्टि तं कूडागारं धन्ना-

गारं कोट्ठागारं दज्झादितणट्ठाणं अवोपगासं तणसलोसालिमादि तुसट्ठाण तुससालो मुग्गादियाणं तुसा गोकरिसो गोमयं गोणादि जत्थ चिट्ठंति सा गोसालो गिहं च जुगादिजाणा अकुड्डासाला सकुड्डं गिहं अस्सादिअ वाहणा ताणं सालगिहं वा विक्केयं भंडं जत्थ छूढंति सा सालागिहं वा पासंडिणो परियागा तेसिं आवासथो सालागिहं वा छूहादिया जत्थ कमविज्जंति सा कम्मं तं सालागिहं वा महंतं पाहुण्णे बहुते वा महंतं गिहं महागिहं बहूसु वा उच्चारएसु महागिहं महाकुलपिइज्झकुलादी पाहुण्णे बहुजणो अणाइ बहुत्ते इमा संगहगाहा ॥

उज्झाणट्ठाण दगे, सुण्णाकूडावतुसतुसे गोमे ।
गोमग्गाणापणिगा, परियागमहाकुले सेव ॥८५॥

एवंति जहा पच्छिमसुत्ते एवं एतेसु उस्सग्गाववातेण चउभंगसंभवो वत्तव्वो इमं उज्झाणंवक्खाणं ।

संभमदुज्झाणगिहा–णिग्गमणगिहा विणियमाईणं ।
इतरे णगरादिणिग्गमे, सुयसभादिणिज्झाणगेहा उ ॥८६॥

उज्झाण संभमादिया गाहा इयवेत्ति णिज्झाणे वणियमादिया णिग्गमगहियं कथं णिज्झाणगिहं अहवा पच्छद्धेणं वित्तियं वक्खाणं सालगिहाण इमो विसेसो ॥

सालातुअरे पविट्ठा, गेहं कुड्डसहितं तु णेगविधं ।
वणिभंडसालपरिमि–च्छुगादिमहबहुगवाहण्णे ॥८७॥

जे भिक्खू अट्टंसि वा अट्टालियंसि वा चरियंसि वा पागारंसि वा दारंसि वा गोपुरंसि वा एक्को एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥३॥ जे भिक्खूदगंसि वा दगमग्गंसि वा दगपहंसि वा दगतिरंसि वा एगो एत्थिीए सद्धिं विहारं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवे इ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥४॥ जे भिक्खू सुण्णगिहंसि वा सुण्णसालंसि वा जिण्णगिहंसि वा जिण्णसालंसि वा भिण्णगिहंसि वा भिण्णसालंसि वा कूडागारंसि वा कोट्ठागारंसि वा एगो एगित्थीए सिद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवे इ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्पवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥५॥ जे भिक्खू तणगिहंसि वा तणसालंसि वा तुसगिहंसि वा तुससालंसि वा भुसगिहंसि वा भुससालंसि वा एक्को एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥६॥ जे भिक्खू जाणगिहंसि वा जाणसालंसि वा जुग्गगिहंसि वा जुग्गसालंसि वा भुसगिहंसि वा भुससालंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥७॥ जे भिक्खू पणियसालंसि वा पणियगिहंसि वा कुवियसालंसि वा कुवियगिहंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहार वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, अहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवे इ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहतं वा साइज्जइ ॥८॥ जे भिक्खू गोणसालंसि वा गोणगिहंसि वा महाकुलंसि वा महागिहं वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परि ट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥९॥ जे भिक्खू राओ वा वियाले वा इत्थीमज्झगए इत्थीसंसत्ते इत्थिपरिवुडे अपरिमाणाए कहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥१०॥

संझाराती भणिता, संझाएतु विगतो वियालो उ ।
केसिवीवोव्वत्थं, एछण्णतरे दुविधकाले ॥८८॥

रातीति रातिसंझातीए विगमो वियालो अथवा जेसिं काले चोरादिया रंजति सा राती संझावगमेत्यर्थः । तेव्वियम्मिकाले वि गच्छंति सो वियालो संझेत्यर्थः ॥

इत्थीणं मज्झम्मि, इत्थी संसत्तपरिवुडे ताहि ।
चतुपरिमाणं तेण, परं कहं तस्स आणादि ॥८९॥

इत्थीसु भयो वियासु मज्झं भवति उरूकोप्परमादीहिं संघट्टंतो संसत्तो भवति दिट्ठीए वा परोप्परं संसत्तो संद्धत्तो समंता परिवेट्ठिओ परिवुढो भण्णति परिमाणं जाव तिण्णि चउरो पंच वा वागरणाणि परतो छट्ठादि अपरिमाणकहं कहें तस्स चउगुरुगं आणादिया पक्षे सा एसा सुत्तत्था इमा णिज्जुत्ती ॥

मज्झं दोण्हंतगतो, संसत्ते ऊसगादिवट्टंतो ।
चतुदिसि ठिताहिं तुवडो, पासगताहि व अप्फुसंतो ॥९०॥

अहवा एगदिसि वियाहिं वि अप्फुसंतीहिं परिवुडो भण्णति

दुविधं च होति मज्झं, संसत्ता दिट्ठिदि ट्ठिअंतो वा ।
भावो व तासु णिहितो, एमेवित्थीअ पुरिसेसु ॥९१॥

चसद्दाओ संसत्तंपि दुविधमुरुगादि घट्टंतो संसत्तो दिट्ठीए वा इत्थीए वा मज्झे अथवा संसत्तस्स इमं वक्खाणं तेण तासु भावो णिहितो णिवेसितो परस्परगृद्धानीत्यर्थः इमे दोसा ॥

इत्थीणातिसुहीणं, अवियत्तं असि यावणा छेदो ।
आतपरतदुभए वा, दोसा संकादिगा चेव ॥९२॥

इत्थीणं जेण ततो भाया पिया पुत्तभवयमादी ताणवा जेसुही मित्ता एतेसिं अवियत्तं हवेज्ज अवियत्ते वा उप्पण्णे दिया असिया वेंति क्व रातो क्व तेसिं अण्णेसिं वा वसहिमादियाणं वोच्छेदं करेज्जा आय-परआ भयसमुत्थाण एक्कतो मिलिया ण दोसा होज्ज अहवा संकतिए ते रातो मिलिता किं पुण अणायारं करेज्ज संकिते चउगुरु णिर संकिते मूलं

गेण्हणादिया दोसा तम्हा णो रातो इत्थीणं धम्मो कहेयव्वो भवे कारणे॥

वितियपदमणप्पज्झे, णातीवग्गो य संणिसेज्जासु।
णाती वा रुवसग्गे, रण्णो अंतेपुरादीसु ॥९३॥

अणवज्जो वा णातिवग्गं वा सो विरस्स गतो ताहे भणेज्जा रत्तिधम्मं कहेह ताहे सो कहेज्ज वरं कोइ धम्मपव्वज्जं वा पडिवज्जेज्ज सावगसेज्जातरकुलेसु वा असंकणिज्जेसु अदुट्ठसीले वा णाणायारेसु उवसग्गा वा जहा अंतेपुरे अभिजुत्तो अहवा राया भणेज्ज अंतेपुरस्स धम्मं कहेह ताहे कहेज्जा तत्थिम विधाणं ॥९३॥

णो सण्णम्मि ठिओदि–ट्ठि मियसंवतो इसेसि विकिठीसु।
वेरग्ग पुरिसविमिस्स, तासु किढिगा जुताणं वा ॥९४॥

णो सण्णं ठितो भणइ य दूरं ठायह मा याम संघट्टेह तासु दिट्ठिं असंवतो इसवुड्ढासु दिट्ठिबंधे तो वेरग्गकहं कहेति पुरु सविमिस्साणं वा कहेति अहवा सव्वा इत्थीओ ताहे थेरविमिस्साणं कहेंति।

जे भिक्खू सगणिव्वियाए वा णिग्गंथिए सद्धं गामाणुगामं दुइज्जमाणे पुरओ गच्छमाणे पिट्ठउरियमाणीये ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागरं संविविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए विहारं वा करेइ जाव कहंतं वा साइज्जइ ॥११॥

सगणेच्चियाससिस्सिणि, अथवा वि सगच्छवासिणी भणितो।
परसिस्सिणि परगच्छे, णातव्वा परिगणिच्चाओ ॥९५॥

सगणेच्चिया ससिस्सिणी वा सगच्छवासिणी वा परगणेच्चिगा।

पुरतोवग्गमतो वा, सपव्ववाते य पिट्ठतो।
वच्चंताणं तेसिं, चउक्कभयणा अ वोच्चत्थं ॥९६॥

तो अग्गतो अग्गतो ठितो साहू वच्चति अथवा पिट्ठितो साधु वच्चति एत्थ चउभंगो॥

पुरतो वच्चति साधू, अथवा पिट्ठेण एत्थ चउभंगो।
अथव ण पुरतो वा उ, पिट्ठे वा एत्थ वा चउरो ॥९७॥

पुरतो साधू वचति णो मग्गतो पुरतो मग्गओ वच्चति बहूसु पुरतो वि मग्गतो भणो पुरतो णो मग्गतो पक्खापक्खीसु णो वा अहवा इमो चउभंगो। पुरतो सा वायणो पिट्ठतो णो पुरतो पिट्ठओ सावायं, पुरतो वि सावातं पिट्ठतो वि, सावातं णो पुरतो णो पिट्ठतो, सावातं णिज्झए अवोच्चत्थं गंतव्वं पुरओ साधू पिट्ठतो स तीतो॥

भयणयदोण चतुण्हं, अणंतरा तेण संजती सहिते।
ओहतमणसंकप्पे, जे कुज्जविहारमादीणि ॥९८॥

संजतिसहिओ जइ ओइयमणसंकप्पो विहरति।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणा तहा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, एते तु पदे विवज्जेज्जा ॥९९॥

सो पुण किं ओहयमणसंकप्पो विहरति भण्णति॥

अतित्ति करणे पुच्छा, किं कहितेणं अणिग्गह समत्थे।
दुक्खमणाए किरिया, सिट्ठे सत्तिं ण हावेस्स ॥१००॥

ताओ ओहयमणसंकप्पं दट्ठुं पुच्छति जेट्ठतो किं अधिइं करेइ ताहे संजतो भणेज्जा जो णिग्गहमसत्थो ण भवति तस्स किं कहिएणं ताहे संजतीओ भणति दुक्खे आणा ते किरिया ण कज्जति णाए पुण दुक्खापडिआरो सो अप्पणो सत्तिं ण हावेस्स एवं भणिते तहवि गारवेण अकहंते संजतीताइं भणंति॥

अम्हं करेति अरती, सुइतद्दुक्खं इमं असीसंतं।
इति अणुरत्तं भावं, णातु भावं पदंसेंति ॥१०१॥

असीसंतं अकहिज्जंतं ताओ अणुगतभावाओ णाउं अज्झुट्ठधम्मो अप्पणो भावं दंसेति आकारविकारा य करेज्ज एवं सपरोभयसमुत्था दोसा भवंति किं–चान्यत्॥

पंथे तिण वरिणेम्मं, उवस्सगादीसु एस चेव गमो।
णिस्संकिता हु पंथे, इत्थमणिच्छे य वा ताहे ॥१०२॥

णिज्झमे तं णेमंता ण पुरतो उवस्सए वि ओहियमणसंकप्पेण अत्थियव्वं संजती जइ इच्छेति ताहे परिहरिहामो अह णो इच्छति ताहे संजयस्स आयविराहणाति ताए वेहाण संकरेज्ज। कारणे–

वितियपदमणप्पज्झे, गेलण्णुनिसग्ग दुविधमद्धाण।
उवधासरीरतेणग– संभमतयखेत्तसंकमणे ॥१०३॥

अणपज्झो ओहयमणसंकप्पो भवे गेलण्णे इमं।

पाउग्गस्स अलंभे, एगागिगिलाणखत्तिआदिसु वा।
डंडिगमादि उसग्गा, मुच्चेज्ज कथं व इति चिंता ॥१०४॥

गिलाण पाउग्गं वा लब्भति ताहे अट्ठितिं करेज्ज खत्ति आदि सु बा गिलाणिसु अट्ठितिं करेज्ज उवसग्गे इमं मंडिएण उवसग्गिज्जंतो उवस्सग्गिज्जंतिसु वा चिंतं करेज्ज उवसग्गे डंडिएणं अप्पणो संजतीणं वा उवसग्गे करिंति कहं मुंचेज्जामो त्तिचिंतं करेज्ज उवही-सरीरतेणएत्ति– अस्य व्याख्या–

उवधिसरीरचरित्ता, भावमुच्चेज्ज किण्हु आवाय।
ववसाय सहायस्स वि, सीतति चित्तंधितिमतो वि ॥१०५॥

उवधि तेण सरीरतेणगा य संजती वा चारि तगेण वा कहिं एतेहिंतो अबिग्घेण णित्थरेज्ज एरिसे कज्जे समत्थस्सवि चित्तं सीदति। अद्धाणेति–

परिसंतो अद्धाणे, दगग्गिभयसंभमे वरोतण्हा।
वोहियमेत्थ भए वा, तिविताए होति एगस्स ॥१०६॥

अद्धाणपरिसंतो तण्हा खुहंतो वा अद्धाणं कहं णित्थरेज्ज दगवाहसंभमे अग्गिसंभमे भयादिसंभमे वा चिंता भवे वोहियमेत्थ भयेणा वा चिंताए परो भवेज्ज। नि०चू०८ उ०।

(१८) स्त्रीणां निर्ध्यानादि निषेधो यथा–

एवइयं वइयरं सोच्चा, दुक्खस्संतग वेसिणा इत्थी-परिग्गहारंभो, वच्चाघोरं तवं चरे ॥१॥ वियासणत्था सयिया परं मुही, अलंकिया वा अनलंकिया वा, निरिक्खमाणोप-मयाहि दुब्बलं, मणुस्समालेहगयावि किस्सइ ॥२॥ चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सु-अलंकियं। भक्खरं पिव दट्ठुणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥३॥ हत्थपायपलिच्छिन्नं, कण्णनासोट्ठ कत्तियं। यप्पयं सडमाणीय, कुट्ठवाहोदरोरुयं ॥४॥ तमवित्थियं दुर-यणेणं, बंभयारी विवज्जए। थेरभज्जए जा इत्थी, पव्वंगुब्भड जोव्वणा ॥५॥ जुन्नकु मारी पउत्थ–वइबालविहवं तहेव य। अंतेउरवासिणी चेव,

परपासंडसंसियं ॥६॥ दिक्खियं साहुणी वा वि, वेसं तहय नपुंसगं। कण्हिं गोणिं खरिं चेव, वडविं अविल अवि तहा ॥७॥ सप्पित्थिं पसुलिं वा वि, जमरोगमहिलं तहा। विरिसं सट्ठमचेलिक्खं, एवमादी य वित्थिओ ॥८॥ गमंति जत्थ रयणीए, अह परिक्खे दिणस्स वा। तं वसहिं सन्निवेसंवा, सव्वोवाएहि सव्वहा ॥९॥ दूरउसुदूरदूरेणं, बंभयारी विवज्जए। एएसिं सद्धिं संलावं, अट्ठाणं वा वि गोयमा ! ॥१०॥ अन्नासु वा वि इत्थीसु, खणद्धं पि विवज्जए ॥ से भयवं ! किमत्थीयं, णोणं णिज्झाएज्जा गोयमा ! णो णंणिज्झाएज्जा। से भयवं ! किंसुणियच्छवत्थालंकस्थिविहूसियं इत्थीयं नो णं निज्झाए उयाहु ण विणियं स णं ? गोयमा ! उभे पहाविणं णो णं णिज्झाए। से भयवं ! किमित्थियं नो आलावेज्जा गोयमा ! नो णं आलावेज्जा। से भयवं ! किमित्थीसु सद्धिं खणद्धमवि नो वसेज्जा, गोयमा ! णो णं संवसे-ज्जा। से भयवं ! किमित्थीसु सद्धिं नो अट्ठायं पडिवज्जे-ज्जा। गोयमा ! एगो बंभयारी एगत्थीए सद्धिं नो पडिवज्जेज्जा। से भयवं ! केणट्ठेण एवंवुच्चइ जहा णं नो इत्थीण निज्झाएज्जा नो ण मालवेज्जा नोणं तिए सद्धिं परिवसेज्जा नो णं अद्धाणं पडिवज्जेज्जा गोयमा ! सव्वएयारोहि णं सव्वित्थिओ अव्वत्थमओक्कडत्ताए ओगेणं संबंधु किज्जमाणी कामग्गीए संपलित्ता सहावओ चेव विसएहिं वाहिज्जमाणी अणुसमयं छद्दिसिं विदिसासु णं सव्वत्थ विसए पच्छिज्जा जाव णं सव्वत्थ विसए पछिज्जा ताव णं सव्वत्थ पयारेहि णं सव्वत्थ सव्वहापुरिसे संकप्पेज्जा। ताव णं सोइंदिओवओगत्ताए चक्खुइंदि ओवओगत्ताए रसणिंदिओवओगत्ताए घाणिदिंओवओगत्ताए फासिंदि ओवओगत्ताए जत्थ णं केइपुरिसे कंत रूवेइ वा अकंतरूवेइ वा पडुप्पन्न-जोव्वणेइ वा अपडुपन्नजोव्वणेइ वा गययोव्वणेइ वा दिट्ठपुव्वेइ वा इट्ठिमंतेइ वा अणिट्ठिमंतेइ वा इट्ठिपत्तेइ वा अणिट्ठिपत्तेइ वा विसया उरेइ वा निविन्नकामभोगेइ वा उद्धयावों दिएइ वा अणुद्धपवोंदिएइ वा। महासत्तेइ वा हीणसत्तेइ वा माहापुरिसेइ वा कापुरिसेइ वा समणेइ वा माहणेइ वा अन्नयरेइ वा निंदियाहिं महीणं जाइएहिं वा तत्थणं ईहापोहवीमंसं पउंजित्ताणं जाव णं संयोगसंपत्तिं परिकप्पे ताव णं से चित्ते संखुद्धे भवेंज्जा। जाव णं से चित्ते संखुद्धे भवेज्जा तावणं से चित्ते विसंवएज्जा जावणं से चित्ते विसंवएज्जा तावणं से देहेमए णं अद्धासेज्जा। जाव णं से देहेमए अद्धासेज्जा ताव णं से दरविदरे इहपरलोगावाए पम्हसेज्जा। जाव णं से दरविदरे इहपरलोगावाए पम्हसेज्जाताव णं वेचालज्जं भयं अयसं अकित्तिमेरं उच्चठाणाओ नियट्टायं ठाएज्जा। जाव णं उच्चट्ठाणाओ नियट्टायं ठाएज्जा ताव णं [चणेज्जा] वच्चेज्जा असंखेयाओ समयावलिया जाव णं नीयंति असंखेज्जाओ समयावलिओ [ताव णं जं पढमसमयाउ] ताव णं जं पढमसमयाओ कम्मट्ठिइयं तं वीयसमयं पडुच्चावइया दिणाणं समयाणं संखेज्जं असंखेज्जं अणंतं वा अणुक्कमसो कम्मट्ठिइं संचणिज्जा जाव णं अणुक्कमसो अणंतं कम्मट्ठिइं संचिणइ ताव णं असंखेज्जाइं अवसप्पिणी कोडिलक्खाइं जाव णं काले णं परिवत्तंति तावइयं कालं दोसुं चेव नरयतिरिच्छासु गतीसु उक्कोसट्ठिइयं कम्मं आसंकलेज्जा जाव णं उक्कोसट्ठितीयं कम्ममासं कलेज्जा ताव णं सेविण्णजुत्ति विवण्णकंतिं विवलियलावण्णसरीयं निन्नट्ठदित्तेया वोंदी भवेज्जा। जाव चुयकंति लावण्णसिरियं दित्तेया वोंदी भवेज्जा जावणं से सिइज्जा फरिंसिंदिए ताव णं सव्वहा विवट्टेज्जा सव्वत्थ चक्खुरागे जावणं सव्वत्थ विवट्टेज्जा चक्खुरागे ताव णं रागारुणे नयणजुयले भवेज्जा। जावणं रागारुणे नयणजुयले य भवेज्जा ताव णं रागंधत्ताए ण गणेज्जा सुमहंतगुरुदोसे वयभंगे न गणेज्जा सुमहंत गुरुदोसे नियम भंगे न गणेज्जा। सुमहंतघोरपावकम्मसमायरणं सील खंडणं न गणेज्जा सुमहंतसव्वगुरुपावकम्मं समायरणं संजमं विराहंण न गणेज्जा घोरंधयारं परलोगदुक्खभयं न गणेज्जा। आइयं न गणेज्जा। सकम्मगुण-ट्ठाणगं न मणेज्जा। स सुरासुरस्स वि णं जगस्स अलं गणिज्ज आणं न गणेज्जा अणंतहुतो चुल-सीइजोणिलक्खपरिवत्तगब्भयरं परं अलद्धणिमिसिद्ध-सोक्खं चउगइसंसारदुक्खं ण पासिज्जा जं पासिणिज्जं पासेज्जाणं अपासणिज्जणं सव्वजासमूहज्झसन्निविट्ठट्ठियाणि वन्नवक्कमिय-निरक्खिखज्जमाणी वा दिप्पंतकिरणजालं दसदिसी पयासयत्त-वंततेय यसी सूरिए वि तहावि ण पासेज्जा। सुन्नंधयारे सव्वे दिसाभाएजाव णं एगधत्ताए ण गणेज्जा। सुमहल्लगुरु दोसे वयभंगे नियमभंगे सीलखंडणे संजमविराहणे परलोगभए आणाभंगाइक्कमो अणंतसंसार भए पासेज्जा। अपासणिज्जे सव्वजणपयडदिणयरे वि ण मन्नेज्जा सुन्नंधयारे सव्वेदिसाभाए जाव णंन गणेज्जा सुमहल्लगुरुदोसे वयभंगे नियमभंगे सीलखंडणीया अच्चंतनिब्भट्ठसोहग्गाइसाए वित्थीए रागारुणपंडुए दुद्दंसणिज्जे अणिरिक्खणिज्जे वयणकमले भवेज्जा। जाव णं अच्चंतनिब्भट्ठ जाव भवेज्जा ताव णं फुरफुरेज्जा सणियं सणियं पोंडफुडिनियंव बत्थोरुहत्थ बाहुलइय-उरकंठपएसे जाव णं फुरफुरेति पोंड-

फुड नियंवबत्थोरुहत्थबाहुलइयउरु कंठप्पएसे तावणं । मोढायमाणी अंगपाडियाहिं निरुबलक्खे वा सोवलक्खे वा भंजेज्जा सव्वंगोवंगे जाव णं मोढायमाणी अंगपालियाहिं भंजेज्जा सव्वंगोवंगे ताव णं मयणसरसन्निवाएणं जज्जरियसंभिन्ने सव्वरोमकूवे तणू भवेज्जा । जाव णं मयणसरसन्निवाएणं विद्धसिए वोंदी भवेज्जा ताव णं तहा परिणमेज्जा । तणू जहा णं मणगं पयलंति धातूवो जाव णं मणगं पयलंति धातूओ ताव णं अच्चत्थं वाहिज्जंति पोग्गलनियं बोरुबाहुलइयाओ जाव णं अच्चत्थं बाहुं बाहिज्जइ नियंवं ताव णं दुक्खेहिं धरेज्जा गत्तयट्ठिं जाव णं दुक्खेणं धरेज्जा गत्तयट्ठिं तावणं से णो बलक्खेज्जा तियंसरीरावत्थं जाव णं णोवलक्खेज्जा । अतीयं सारीरवत्थं ताव णं दुवालसेहिं समएहिं दरनिव्वट्टंभवे बोंदी जाव णं दरनिव्वट्टं भवे वोंदी ताव णं पडिक्खलेज्जा । से ऊसासे नीसासे ताव णं मंदं मंदं ऊसासेज्जा मंदं मंदं नीसासेज्जा जाव णं एयाइं इतियाइ भावंतर अवत्थेतराइं विहारज्जा ताव णं जहा गहद्धत्थे केइ पुरीसेइ वा इत्थिए वा विसंठुलाए पिसायाए भार तिए असंबद्धं संबलियं विसंखुलं तं अच्चत्थं उल्लविज्जा एवं सिया णं इत्थीयं विसमावन्नमोहणमम्मणुल्लावे णं पुरिसे दिट्ठपुव्वेइ वा अदिट्ठपुव्वेइ वा कंतरूवेइ वा अकंतरूवेइ वा गइजोव्वणेइ वा पडुपन्नजोव्वणेइ वा महा सत्तेइ वा हीणसत्तेइ वा सप्पुरिसेइ वा कापुरिसेइ वा इड्ढिमंतेइ वा अणिड्ढिमंतेइ वा विसउद्धेइ वा निव्विन्न कामभोगेइ वा समणेइ वा माहणेइ वा जाव णंअन्न यरे वा केई निंदिया हमहीण जावइए वा अब्भत्थेणं समज्जसे णं आमंतेमाणि उल्लावेज्जा जाव णं संखेज्ज भेदमिन्नेणं सरागेणं सरेणं दिट्ठिएइ वा पुरिसोल्लावेज्जा निज्जाएज्ज वा ताव णं जं न असंखेज्जाइं अवसप्पिणीए सप्पिणीको डिलक्खाइं दोसुं नरयतिरिच्छासु गतिसु उक्कोसट्ठितीयं कम्मं आसंकलिउं आसिउं तं निबंधिज्जा नो णं बद्धफुट्ठं करेज्जा । सेवि णं जं समयं पुरिसस्स णं सरीरावय-वफरिसिणाभिमुहं भणिज्जा णोणं फरिसेज्जातं समयं चेव तं कम्मट्ठिइं बद्ध पुट्ठं करेज्जा ? नो णं बद्धपुट्ठनिकायंतिए याव सरिम्हिओ गोयम ! संजोगेणं संजुज्जेज्जा से वि णं संजोए पुरिसाय ते पुरिसो वि णं जेणं णं संजुज्जे से घण्णे जेणं संयुज्जे से अघण्णे । से भयवं ! केणट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा पुरिसे वि णं ण संजुब्जे से धन्ने जे णं संजुज्जे से णं अधन्ने गोयम ! जेणं सत्तीए इत्थीए पावए बद्धपुट्ठकम्मट्ठिई चिट्ठइ सेणं पुरिससंगेणं निकाइज्जइ । तेणं तु बद्धपुट्ठनिकाइएणं कमेणं सा वराई तं तारिसं अज्झवसायं पडुच्चा एगिंदियत्ताए पुढवादिसु गया समाणी अणंतकालपरियट्टेण विणं णोणं पावेज्जा वेइंदियत्तणं एवं कहवि बहुके सेणं अणंतकालाओ एगिंदियत्ताणं खविय बेइंदियत्तणं तेइंदियत्तणं चउरिंदियत्तमविसेय णं वेइयत्ता पंचिंदियत्तेणं आगया समाणि दुब्भगित्थिस पंडतेरिच्छा वेयमाणी हाहाभूयकट्ठसरणासिविणेवि अदिट्ठसोक्खा निच्चं संतावुव्वेसिया सुहिसयणबंधवविज्जिया । आजम्मं कुच्छणिज्जं गेहणिज्जं निंदाणिज्जं खंस णिज्जं बहुकम्मं तेहिं अणेगबाहुसएहिं लद्धोदरमरण सव्वलोगपरिभूया चउगइए संसारेज्जा अन्नं च णं गोयम ! जाव इयतीए पायइत्थीए । बद्धपुट्ठनिकाइककम्मट्ठिइं समज्झियं इत्थियं अभिलसिउकामे पुरिसा उक्किट्ठ उक्किट्ठ यरं अणंतकम्मट्ठिइं बद्धपुट्ठनिकाइयं समज्झिणेज्जा (समुच्चिणेज्जा) तेणं अट्ठेणं गोयम ! एवं वुच्चइ जहा णं पुरिसेवि णं जेणं नो संजुज्जे सेणं धन्ने जेणं संजुज्जे सेणं अधन्ने । भयवं ! पुरिसेवं पुच्छा जाव णं च णं वयासि, गोयम ! छ विहे पुरिसे नेयं तंजहा अहमाहते १ अहमे २ वि मज्झिमे ३ उत्तमे ४ उत्तमुत्तमे ५ सव्वुत्तमुत्तमे ६ तत्थ णं जे सव्वुत्तमुत्तमे पुरिसे सेणं पुव्वंगुब्भडयोव्वणं सव्वुत्तमरूबलावन्नकंतिकलियाए वि इत्थए नियं वा रूढो वा स सयं पि चिट्ठिज्जा णो णं मणसा वि तं इत्थियं अभिलसेज्जा । जे णं से उत्तमुत्तमे से णं जइ कहवितुडितिहाएणं मणसा सममेकं अभिलसेज्जा तहवि वीयसमए मणसं निरुं भिय अत्ताणं अन्नाणं निंदेज्जा गरहेज्जा न पुणो वीएणं तत्थ मे इत्थियं मणसा वि उ अभिलसेज्जा । जेणं से उत्तमे सेणं जइ कहवि खणमुहुत्तं वा इत्थियं कामेज्जमाणे पक्खेज्जा तओ मणसा अभिलसेज्जा जाव णं जामद्धजामं वा णो णं इत्थीए संकप्पं विकप्पं समायरेज्जा । जइ णं बंभयारिकियपच्चक्खाणाग्गहे अहाणं तो बंभयारी नो कयपच्चक्खाणाभिग्गहे तो णं नियकलत्ते भयणाण उण तिव्वे कामेसु अभिलासे भविज्जा तस्स एयस्स णं गोयम ! अत्थि बंधे किंतु अणंतसंसारइत्तणं नो निबंधेज्जा । जे णं सेज्जा जे णं से वि मज्झिमेणं से णं नियकलत्तेणं सद्धिं नियमं समायरिज्जा णो णं परकलत्तेणं एसे य णं जइ पच्छा उग्गबंभयारी नो भवेज्जा नो णं अज्झवसायविसेसं तं तारिसमंगीकाऊण अणंतसंसारियत्तणे भयणा जओ णं जे केइ अभिगयजीवाइप-यत्थो सव्वभव्वसत्ते आगमाणुसारेणं सुसाहुणं धम्मोवट्टं भदाणाइदाणसीलतव-भावणामई स चउव्विहे धम्मखंधे समणुट्ठेज्जा । सेणं जइ कहइ निय-

मवयभंगं न करेज्जा तओ णं सायपरंपरएणं सुभाणु सत्तंसुदेव-त्ताए। जाव णं अपरिवडियसम्मत्ते निसग्गेण अभिगमणे वा जाव अट्ठारससीलंगसहस्सधारी भवित्ताणं निरुद्धा सव्वदारे विहूयरयमले पावकम्मं खवेत्ताणं सिज्झेज्जा। जे य णं से अहमे सेणं सपरिदारासत्तमाणा से अणुसमयं कूरज्झ-वसायज्झवसियचित्तेहिं सारंभपरिग्गहाइसु अभिरइ भवेज्जा तहा णं जे य से अहमाहमे सेणं महापावं कम्मं सव्वाओ इत्थीओ वाया मणसा य कम्मुणा तिविहं तिविहेणं। अणुसमयामिलसेज्जा तहा अच्चंतकूरव-ज्झवसाय अज्झवसिएहिं सारंभपरिसत्ते कालगमेज्जा एसिं दोण्हंपि णं गोयम ! अणंतसंसारयत्तणं णेयं। भवयं ! जेणं से अहमे जे विणं से अहमा माहमे पुरिसे तेसिं च दोण्हं पियं अणंतसंसारियत्तणं समक्खायं तो य णं एगे अहमे एगे अहमाहमे एतेसिं दोण्हंपि पुरिसावत्था णं को पइ विसेसो गोयम ! जेणं से अहम पुरिसे सेणं जइवि उ सपरदारासत्तमाणसे कूरज्झवसायअज्झवसिएहिं सारंभपरिग्गहासत्तविते तहवि णं दिक्खियाहिं साहुणीहिं अन्नयरासुं च सीलसंरक्खण-पोसहोववासनियराहिं दुक्खियाहिं गारत्थीहिं वा सद्धिं आबडिअ पिल्लि-यामंतिए वि समाणे णो वियमं समायरेज्ज। जे य णं से अहमाहमे पुरिसे से णं नियजणणिपभई जाव णं दिक्खियाइहिं साहुणीहिंपि समं वियमं समारिज्जा तेणं चेव से महापावकम्मे सव्वहमाहमे समक्खा एसेणं गोयमा ! पइविसेसे तहा य जेणं से अहमपुरिसे सेणं अणंतेणं कालेणं बोहिणं पावेज्जा। जओ णं से अहमाहमे महापावकारी दिक्खियाहिं पि साहुणीहिं पि समं वियमं समायरिज्जा सेणं अणंतहुतोवि अणंतसंसार माहिंडिऊणंपि बोहिं नो पावेज्जा। एसे य णं गोयम ! वितिए पइविसेसे तत्थ णं जे से सव्वुत्तमे सेणं छउमत्थ वीयरागेण य जेणं तु से उत्तमुत्तमे सेणं अणिड्डिपभित्तीए जाव णं उवसमायरेज्जा ताव णं निउणीए जेणं च से उत्तमे सेणं अप्पमत्तसंजए णो एवमेएसिं निरूवणाकुज्जा जे उणं मिच्छदिट्ठी भवित्ताणं उग्गबंभयारी भवेज्जा हिंसा-रंभपरिग्गहाइणं वीरइ सेणं मिच्छदिट्ठी चेव णेए णोणं सम्मदिट्ठी तेसिं च णं अविइयजीवाइपयत्थ सब्भावाणं गोयम ! नो णं उत्तमुत्तमे अभिनंदणिज्जे वा संसणिज्जेवा भवइ जे उत्तमेणं ते अणंतरभविए दिव्वोएलए विसए पच्छेज्जा अच्छंवकथादिइ ते दिव्वित्थियादओ संविक्खियत्तउणं बंभव्वयाओ परिहरिज्जा णियाण कडे वा हवेज्जा जे य णं से वि मज्झिमे सेणं तं तारि-समज्झवसायमंगीकिच्चा ण विहरिज्जा विरयाविरए दट्ठव्वे तदा णं जे अहमे जे य णं से अहमाहमे तेसिं तु णं एगंतेणं जहा इत्थीसु तहा णं नेइजोवणं कमेइ ठिई समज्जेज्जा णवरं पुरिसस्स णं संचिक्खणंगे संबेत्थरुहो वरतलपक्खएसु लिंगे य अहिययरंरागमुप्पज्जे एवं एते चेव छ पुरिसविभागे कासिं च इत्थीणं गोयमा ! भव्वसत्तं सम्मत्तदढत्तं च अंगीकाऊणं जावणं सव्वुत्तमे पुरिसविभागे ताव णं चिंतणिज्जे नोणं सव्वे-सिमित्थीणं। एवं तु गोयमा ! जीए इत्थीए तिक्कालं पुरिससंजोगसंपत्तीण संजया अहाणं पुरिससंजोगसंपत्तीए वि साहुणीए जाव णं तेरसमे चोद्दसमे पन्नरसमे णं च समयेणं पुरिसेण सद्धिं ण संजुत्ता णो वि यं संसमायरियं सेणं जहा घणकट्ठतणदारुसमिद्धे केइ गामेइ वा नगरेइ वा रण्णेइ वा संपलित्ते चंडानिलसुधुक्किए य पलित्ताणं णिडज्झिय णिडज्झिय, चिरेणं उवसमेज्जा एवं तु णं गोयमा ! से इत्थी कामग्गीसंपलित्ता समाणिणिडज्झिय णिडज्झिय समयचउक्केणं उवसमेज्जा एवं इगवीसइमे वावीसइमे जाव णं सत्ततीसइमे समए जहाणं पदीवसिहा वावन्ना पुणरवि उसयं वा तहा विहेणं चुन्नयोगेणं वा पयलेज्जा एवं सा इत्थी पुरिसदंसणेण वा पुरिसालावगदंसणेण वा मदेणं कंदप्पेणं कामग्गीए पुणरविउ पयलेज्जा एत्थं च गोयमा ! जत्थियं भएण वा लज्जाए वा कुलंकुसेण वा जाव णं धम्मसद्धाएणं वा तवे य णं अहियासेज्जा नोणं वियमं समायरिज्जा से णं धन्ना से पुण पुण्णा, से य णं बंदा, से णं पुज्जा, से णं दट्ठव्वा, से णं सव्वलक्खणा, से णं सव्वकल्लाणं कारया, से णं सव्वुत्तममंगलनिही, से णं सुयदेवया, से णं सरस्सती, से णं अंबुहुंडी, से णं अच्चुया, से णं इंदाणि, से णं परमवित्तुतमसिद्धी मुत्तीसासयासिवगइत्ति। जे इत्थियं ते चेवणं नो अहियासेज्जा वियमं वा समायरेज्जा से णं अधन्ना, से णं अवंदा, से णं अपुज्जा, से णं अदट्ठवा, से णं अलक्खणा, से णं भग्गलक्खणा सेणं सव्व-अमंगलअकल्ला-णभायणा, से णं भट्ठसीला, से णं भट्ठायारा, से णं परिभट्ठचारित्ता, से णं निंदणिया, से णं गरहिणिया, से णं खिंसणिज्जा, से णं कुच्छिणिज्जा, से णं पावा, से णं पावपावा, से णं महापावा, से णं उपवित्तत्ति एवं तु गोयमा ! वपुलणत्ताए, भीरुत्ताए, कायरत्ताए, लोलत्ताए, उम्मायओ वादप्पओ वा कंदप्पओ वा अणप्पवसओ वा। आउट्टियए वा जमित्थियं संजमाओ परिभस्सिय दूरट्ठाणे वा गामे वा नगरे वा रायहाणीए वा वेसग्गहणं अच्छडिय पुरिसे णं सद्धिं वियमं समायरेज्जा भूओ भूओ पुरिसं कामेज्जा वा रामेज्ज वा अहाणं तमेवा दोयत्थियं कज्जमई परिकप्पेताणं तमा

इवेज्जा तं चेव आई व माणीय सिया णं उम्मायओ वा दप्पओ वा कंदप्पओ वा अणवस्सओ वा आउट्टियाए वा कइया परिए वा सामन्नं संजप्पइ वा रायसंसिए वा वामयलद्धिजुत्तेइ वा तवोलद्धिजुत्तेइ वा जोगचुन्नलद्धिजुत्तेइ वा विन्नाणलद्धिजुत्तेइ वा जुगुप्पहाणेइ वा पवयणप्पभावगेइ वा तमित्थियं अन्नं वा रामेज्ज वा कामेज्ज वा अभिलसेज्ज वा भुंजेज्ज वा परिभुंजेज्ज वा जाव णं वियमं वा समायरेज्जा। से णं दुरंतपंवलक्खणे, अहन्ने, अवंदे, अदट्ठव्वे अपवित्ते, अपसत्थे, अकल्लाणे, अमंगल्ले, निंदणिज्जे, गरहणिज्जे, खिंसणिज्जे,कुच्छिणिज्जे, से णं पावे, से णं पावपावे, से णं महापावे, से णं महापावपावे, से णं भट्ठसीले से णं भट्ठायारे, से णं निब्भट्ठचारित्ते महापावकम्मकारिजयणं पायणिं पायछित्तमब्भट्ठिज्जा तओगं मंदतुरगेणं, वइरेणं सरीरेणं, उत्तमेणं संघयणेणं, उत्तमेणं पोरुसेणं उत्तमेणं सत्तेणं उत्तमेणं तत्तपरिमाणेणं, उत्तमेणं वीरियसामत्थेणं, उत्तमेणं संवेगेणं, उत्तमाए धम्मसद्धाए, उत्तमेणं आउक्खएणं तपायच्छे तमणुचरेज्जा। तेणं तु गोयमा ! साहूणं महाणुभागाणं अट्ठारसपरिहारट्ठाणाई णंवबंभचेरगुत्तिउवागरिज्जत्ति। से भयवं ! किं पच्छित्तेणं सुज्झेज्जा गोयम ! अत्थेगे जेणं सुज्झेज्जा अत्थेगे जेणं नो सुज्झेज्जा। से भयवं ! केणट्ठेणं एवं वुच्चई जहा णं गोयम ! अत्थेगे जेणं सुज्झेज्जा अत्थेगे जेणं नो सुज्झेज्जा। गोयम ! अत्थेगेजेणं नियडिप्पहाणे सङ्कसीले वंकसमायरे से णं असल्लेया लोइत्ताणं ससल्ले चेव पायच्छित्तमणुचरेज्जा सेणं अविसुद्धसकलुसं से णं णो सुज्झेज्जा अत्थेगे जेणं उज्जु पद्धरसरलसहावे जहावत्तं णीसल्लं णीसंकं सुपरिफुडं आलोइत्ताणं जहोवइट्ठं चेव पायच्छित्तमणुचेट्ठिज्जा से णं निम्मलनिकलुसविसुद्धासए विसज्जेज्जा। एतेणं एवं वुच्चइ जहा णं गोयम ! अत्थेगे जेणं सुज्झेज्जा अत्थेगे जेणं नो सुज्झेज्जा तहा णं गोयम ! इत्थीण णामं पुरिसाणं महंमाणं सव्वपावकम्माणं वसुहारातमरय पंकखाणी सोग्गईमग्गसणं अग्गला नारयावयारस्स अंसमोयरन्नवेन्नणी अभूमयं विसकं दलिं अणग्गिणियं चटुलिं अभीयणं विसूइयं अणामियं वाहिं अवे यणं मुच्छं अणोवसग्गं मारिं अणियलं गुत्तिं अरुज्झए पासे आहओ मच्चू तहा य णं गोयम ! इत्थी संभोगे पुरिसाणं मणसावेणं अचिंतिणिज्जे अवण्णज्झवसणिज्जे अप्पसत्थणिज्जे अपसत्थाणिज्जे अहीणिज्जे अवियप्पणिज्जे असंकप्पणिज्जे अण-मिलसणिज्जे असंभरणिज्जे तिविहं जओणं इत्थीणं नाम पुरिस्स णं गोयम ! सव्वप्पगारेसु पि दुस्साहियं विज्जंपि वा दोसुप्पायणं सरंभसंजगं पि वा अपुट्ठधम्मं अलिय-चारित्तं पि व अणालोइयं अणिंदियं अगरहियं अकय-पायच्छत्तज्झवसायं पडुच्च अणंतसंसारपरियट्टण दुक्खसंदोहं कयपायच्छित्तं विसोहिं पि व पुणो असंजमायर णं महंत पावकम्मसंचयहिंसं पि व सयलतेलोक्कनिंदियं अदिट्ठं परलोगपच्चवायघोरंधयारणरयवासो इव णिरंतराणेग दुक्खनिहिंति अंग-पच्चंगसंठाणं चारुल्लवियपेहियं अच्छी णं तं न णिज्झाए कामरागविवड्ढणं तहा य इत्थीओ नाम गोयम ! पलय-कालरयणीमिव सव्वकालं तणो वलित्ताओ भवंति विज्जु इव खणदिट्ठनट्ठपेमाओ भवंति सरणागयवायगा इव एक्कजमियाओ तक्खणपसूयजीवंतमुद्धनियसि-सुभक्खओ इव महापावकम्माओ भवंति। खरपवणुहच्चा-लियलवणोदहिवेला इव बहुविहविकप्पकल्लोलमालाहिं ण खणंपि एगत्थ असंठियमाणुसाओ भवंति सयंभुरमणोवहीमिव दुक्खगाहकइतवाओ भवंति पवणो इव चटुलसहावाओ भवंति अग्गी इव सव्वभक्खाओ। वाओ इव सव्वफरिसाओ तक्करो इव परत्थलोलाओ साणो इव दाणमेत्तमत्तिओ मच्छो इव हत्थपरिचत्तनेहाओ एव माई अणेगदोसलक्खपडिपुन्न-सव्वंगोवंगसब्भिंतरबाहिराणं महापावकम्माणं अवि-णयविसमंजरीणं तत्थुप्पन्नअणत्थगत्थ पसूईणं इत्थी य णं अणावरयनिब्भरंतदुग्गंधा सुइविलीण कुच्छणिज्ज निंदणिज्ज खिंसणिज्ज सव्वंगोवं गाणं सब्भिंतरवाहिएणं परमत्थओ महासत्ताणं निविन्नकामभोगाणं गोयम ! सव्वुत्तमुत्तमपुरिसाणं के नाम सुइत्तेसु विन्नाया धम्माहम्मेखणमवि अभिलासं गच्छिज्जा जासिं च णं अभिलसिऊणं कामे पुरिसे तज्जेणिसंमुच्छिमं पंचि-दियाणं एक्कपसंगेणं चेव णवण्हं सयसहस्सेणं णियमाओ उद्दवगे भवेज्जा ते य अचंतसुहमुत्ताओ मंसचक्खुणो ण पासिया एएणं अट्ठेणं एवं वुच्चई जहा णं गोयमा ! णो ईत्थी णं आलवेज्जा नो असंलवेज्जा नो उल्लवेज्जा नो इत्थी णं अंगोवंगाई संणिरिखेज्जा जाव णं नो इत्थीए सद्धिं रागे बंभयारि अद्धाणं पडिवज्जेज्जा। महा०२ अ०।२।

(२०) स्त्रीस्थानदूषणमाह।

जहा विरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था। एमेव इत्थी नियलस्स मज्झे, न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥१३॥

यथा विडालावसथस्य मूले विडालस्य आवसथं गृहं विडालावसथं तस्य मूले समीपे मूषकाणां उन्दुराणां वसतिः स्थितिःन प्रशस्ता न समीचीना भवति विडालगृहसमीपे मूषकस्थितिर्मरणायैव एवममुना दृष्टान्तेन स्त्रीनिलयस्य स्त्रिया

सहितो निलयो गृहं स्त्रीनिलयस्तस्य स्त्रीनिलयस्य मध्ये ब्रह्मचारिणो निवासः क्षमो युक्तो नास्ति। तत्र वसमानस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्यस्य नाश एव स्यादिति भावः ॥१३॥

स्त्र्यादिरहिते स्थाने वसमानेनापि स्त्रीसम्पाते किं कर्तव्यं तदाह।

न रूपलावण्णविलासहावं, न जंपियं इंगियपेहियं वा।
इत्थीणचित्तं सिनिवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥१४॥

तपस्वी श्रमणः स्त्रीणामेतत्सर्वमेतच्चेष्टितं चित्ते स्वकीये मनसि सन्निवेश्य सम्यगवधार्य द्रष्टुं न व्यवस्येत दर्शनायसोद्यमो न भवेत्। कोर्थः साधुः स्त्रीणामेतच्चेष्टितं स्वहृदि धृत्वा एतच्चेष्टितं द्रष्टुं व्यवसायं न कुर्यात्। यतो हि। पूर्वं मनसः इच्छायाः प्रवृत्तिस्ततश्चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्रवृत्तिरिति। तत्स्त्रीणां किंकिच्चेष्टितं तदाह रूपं स्त्रीणां गौरा दिवर्णो लावण्यं नयनाह्लादकः कश्चिद्गुणविशेषः विलासो विशिष्टनयनचेष्टाविशेषः, अथवा मन्थरगतिकरणादिको, हास्यं स्मितमीषद्धसितानां जल्पितं मन्मनोल्लापादिकम् इङ्गितमङ्गोपाङ्गादिमोटनं स्वचित्तविकारसूचकं, वीक्षितं वक्रावलोकनम् रूपञ्च लावण्यं च विलासश्च हास्यं च रूपलावण्यविलासहास्यानि तेषां समाहारो रूपलावण्यविलासहास्यमेतत्सर्वं स्त्रीणां साधुना रागेन न द्रष्टव्यमिति भावः।

अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं, हियं सयावम्मवए रयाणं ॥१५॥

ब्रह्मव्रते ब्रह्मचर्ये रतानां सावधानानां साधूनामेतदार्यध्यानं योग्यं हितं वर्तते। आर्यं च तद्ध्यानं च आर्यध्यानं सम्यग्ध्यानं धर्मशुक्लादिकं तस्य योग्यंहितं पथ्यं धर्मध्यानस्य स्थैर्यकारको भवति कोर्थः यदा हि ब्रह्मचर्यधारिणः एतत् कर्वन्ति तदा तेषां धर्मध्यानं स्थिरं स्यादित्यर्थः। तत्किं किमार्यध्यानयोग्यं तदाह। स्त्रीणामदर्शनं रागेण अनवलोकनं च पादपूरणे एव निश्चये। पुनः किं स्त्रीणामप्रार्थनमभिलाषस्याकरणं पुनः स्त्रीणामचिन्तनं यत् कदाचित् रूपादिकं दृष्टं तस्य चेतसि न स्मरणमपरिभावनमित्-यर्थः। पुनः स्त्रीणामकीर्तनं यत्कदाचिद्रूषेण नाम्ना गुणेन वा न कीर्त्तनमकीर्त्तनं नाम गुणोच्चारणस्य अकरणम् यदि ब्रह्मचारी स्त्रीणां दर्शनं प्रार्थनं चिन्तनं कीर्तनं करोति तदा तस्य आर्यध्यानस्य उत्तमध्यानस्य स्थैर्यं न स्यात् एतद्धर्मध्यानस्य योग्यं हितं नास्ति। ननु कश्चिद्वक्ष्यति "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः" तत् किं विविक्तशयनासनसेवनेन इति चेत्तत्राह।

कामं देवेहिं विभूसियाहिं, न चाइया खोभइउं तिउत्ता।
तहा वि एगं तहियंति नच्चा, विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥१६॥

हे शिष्य! तथापि मुनीनां विविक्तभाव एकान्तस्थाननिवासः प्रशस्तः। किं कृत्वा विविक्तभावमेकान्तहितं मत्वा तथा इति कथं यद्यपि त्रिगुप्तास्तिसृभिर्गुप्तः मुनयः काममत्यर्थं देवीभिः क्षोभयितुं ध्यानाच्चालयितुं न 'चाइया' इति न शक्किताः कीदृशीभिर्देवीभिः आभूषणयुक्ताभिः। यदि देवाङ्गनाभिराभरणालङ्कृताभिरपि साधवो ध्यानान्न चालितास्तदा मानुषीभिस्तु क्षोभं प्रापयितुमशक्या एव तथापि स्त्रीप्रसङ्गत्यागं मुनीनामेकान्तहितं ज्ञात्वा स्त्र्यादिरहितोपाश्रये स्थितिः श्रेयसीति भावः ॥१६॥

स्त्रीप्रसङ्गत्यागं पुनरपि दृढयति।

मोक्खाभिकंखिस्स विमाणवस्स, संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
न तारिसं दुत्तरमत्थि लोए, जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१७॥

मोक्षाभिकाङ्क्षस्य मोक्षाभिलाषुकस्य मानवस्य संसारभीरोरपि तथा धर्मे स्थितस्य श्रुतधर्मे स्थितस्य अत्र संसारे तादृशं दुस्तरमन्यत् किमपि नास्ति यथा लोके संसारे स्त्री दुस्तरास्ति। कीदृशी स्त्री बालमनोहरा बालानामविवेकिनां मनांसि हरतीति बालमनोहरा। तुशब्दः पादपूरणे विशेषार्थे च।

स्त्रीसङ्गातिक्रमे गुणमाह।

एएयसंगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरिता, नई भवे अविगंगा समाणा ॥१८॥

मनुष्याणामेतान् स्त्रीसंबन्धिसङ्गान् समतिक्रम्य शेषाः धनधान्यादिसंबन्धाः सुखोत्तराश्चैव भवन्ति। सुखेनोत्तीर्यन्ते इति सुखोत्तराः यथा महासागरं स्वयंभूरमणसदृशं समुद्रमुल्लङ्घ्य गङ्गा नदी अपि सुखोत्तरा सुखोल्लङ्घ्या एव तथा येन स्त्रीसङ्गस्त्यक्तस्तस्य अन्यसङ्गो धनधान्यादिसंयोगः सुत्यज एव (अत्र गाथायां चतुर्थपादे छन्दोनुरोधात् "गंगा भवेज्जा विणई समाणा" इति पाठो युक्तः) १८॥ उत्त० ३२। अ० स्त्रीस्थानदर्शनादि-परिहारस्य ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानत्वे श्लोकाः प्रतिपादिताः।

जं वि वित्तमणाइण्णं, रहियं इत्थिजणेणय।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तुनिसेवए ॥१॥

साधुर्ब्रह्मचारी तमालयं तमुपाश्रयं निषेवते। तुः पादपूरणे तं कंय आलयो विविक्त एकान्तभूतः तत्रत्यवास्तव्यस्त्रीजनेन चशब्दात् पशुपण्डकैरपि रहितः पण्डकशब्देन नपुंसक उच्यते कालाकालविभागागतसाध्वीजनं श्राद्धीजनं चाश्रित्य विविक्तत्वं ज्ञेयं यदुक्तम्– "अट्ठमी पक्खिये मोत्तुं वयणा कालमेव य। सेसकालम्मि इंतीओ, नेया उ अकालचारीओ" ॥१॥ तस्मात् य आलयस्त्र्यादिभिरसेवितस्तमालयं ब्रह्मचारी साधुश्च निषेवते इत्यर्थः। पुनर्यश्चालयः अनाकीर्णो गृहस्थानां गृहाद्दूरवर्ती किमर्थं ब्रह्मचर्यस्य रक्षार्थं यो हि स्वब्रह्मचर्यं रक्षितुमिच्छति स एतादृशमुपाश्रयं निषेवते अत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राकृतत्वात् ॥१॥

मणपण्हाय जणवी, कामरागविवड्ढवी।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥१२॥

अथ द्वितीयं ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः स्त्रीकथां विवर्जयेत् स्त्रीणां कथा स्त्रीकथा तां त्यजेत् कीदृशीं कथां मनःप्रह्लादजननीमन्तःकरणस्य हर्षोत्पादिकां पुनः कीदृशीं कामरागविवर्द्धनीं विषयरागस्य अतिशयेन वृद्धिकर्त्रीम् ॥१२॥

समं च संथवंथीहिं, संकहं च अभिक्खणं।
बम्भचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥३॥

ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुर्नित्यशो निरन्तरं सर्वदा स्त्रीभिः समं सं स्तवं अर्थात् एकाशने स्थित्वा परिचयं च पुनः अभीक्षणं वारं वारं संकथां स्त्रीजातिभिः सह स्थित्वा वार्त्तां परिवर्जयेत् सर्वथा त्यजेत् ॥३॥

अंगपच्चगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं।
बमचेररओ त्थीणं, चक्खू गिज्झं विवज्जए ॥४॥

ब्रह्मचर्यरतः साधुः स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं चक्षुर्ग्राह्यं विवर्जयेत्। अङ्गं मुखं प्रत्यङ्गं स्तनजघननाभिकक्षादिकं संस्थानकं कटिविषये हस्तं दत्वा ऊर्ध्वस्थायित्वं पुनः स्त्रीणां चारुल्लपित प्रेक्षितं चक्षुग्राह्यं विशेषेण वर्जयेत्। चारु मनोहरं यदुल्लपितं मन्मानांदि जल्पनं प्रकृष्टमीक्षितं वक्रावलोकमेतत्सर्वं परित्यजेत् कोऽर्थः ब्रह्मचारी हि स्त्रीणामङ्गं प्रत्यङ्गं संस्थानंचारुभणितं कटाक्षैरवलोकनमेतत्सर्वं दृष्टिविषयमागतमपि ततः स्वकीय-ञ्चक्षुरिन्द्रिय, बलान्निवारयेदित्यर्थः ॥४॥

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकंदियं।
बंभचेररओ त्थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥५॥

ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां कूजितं रुदितं गीतं हसितं स्तनितं क्रन्दितं श्रोत्रग्राह्यं कर्णाभ्यां गृहीतुं योग्यं विशेषेण वर्ज्जयेत् न शृणुयादि-त्यर्थः ॥५॥

हासं कीडं रयं दप्पं, सह भुत्तासणणि य।
बंभचेर रओ थीणं, नाणुचिंते कयाइ वि ॥७॥

ब्रह्मचर्यरतो ब्रह्मचारी स्त्रीणां हास्यं पुनः क्रीडां तथा रतं मैथुनप्रीतिं दर्प्पं स्त्रीणां मानमर्दनादुत्पन्नं गर्वं पुनः सहसा अपत्रासितानि सहसा कारेण आगत्य पश्चात्पराङ्मुखस्थितानां स्त्रीणां नेत्रे हस्ताभ्यां निरुध्य भयोत्पादनहास्योत्पादनानि सहसा वित्रासितानि उच्यन्ते एतानि पूर्वानुभुतानि कदापि न अनुचिन्तयेत् न स्मरेत् (अत्र सहसाद वित्तासणाणिय'' इति क्वचित्पाठस्तदनुसारेण व्याख्यातम्)। अथ च सह भुक्तासनानि न अनुचिन्तयेत् सह इति स्त्रिया सार्द्धं भुक्तमेकासने उपविशन् पूर्वं भोजनानि कृतान्यति न स्मरेत् सहासनभुक्तानि इति वक्तव्ये सह भुक्तासनानि इति प्राकृतत्वात्॥७॥ उत्त०१६ अ०। (स्त्रीप्रसङ्गे दोषस्तत्र दोषा दोषविचारश्च मेहुण शब्दे)।

सांप्रतं मतान्तरं दूषणाय पूर्वपक्षयितुमाह।

एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया।
इत्थी वसंगया बाला, जिणसासण परम्मुहा ॥९॥
जहा गंडं पिलागं वा, परि पीलेज्ज मुहुत्तगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ॥१०॥

तु शब्दः पूर्वस्माद्विशेषणार्थः। एवमिति वक्ष्यमाणया नीत्या यदि वा प्राक्तन एव श्लोकोत्रापि संबन्धनीयः (एवमिति) प्राणातिपातादिषु वर्तमाना एक इत्या दि बौद्धविशेषानीलपटादयो नाथवादिकमण्डल-प्रविष्टा वा शैवविशेषाः सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः स्वपूथ्यावापार्श्वस्थावसन्नकुशीलादयः स्त्रीपरीषहपराजितास्त एव प्रज्ञापयन्ति प्ररूपयन्ति अनार्याः अनार्यकर्मकारित्वात्। तथाहि। ते वदन्ति। ''प्रियादर्शनमेवास्तु किमन्यैर्दर्शनान्तरैः। प्राप्यते येन निर्वाणं सरागेणापि चेतसा''। किमित्येवं तेऽभिदधतीत्याह। स्त्रीवशंगताः यतो युवतीनामाज्ञायां वर्तन्ते बाला अज्ञा रागद्वेषोपहतचेतस इति रागद्वेषजितो जिनास्तेषां शासनमाज्ञाकषायमोहोपशमहेतुभूता तत्पराङ्मुखाः संसारा-भिष्वङ्गिणो जैनमार्गाविद्वेषिण एतद्वक्ष्यमाणमूचुरिति ॥९॥ यदूचुस्तदाह (जहा गंडमित्यादि) यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः। यथा येन प्रकारेण कश्चित् गण्डी पुरुषो गण्डं समुत्थितं पिटकं वा तज्जातीयकमेव तदाकृतोपशमनार्थं परिपीड्य पूयरुधिरादिकं निर्गाल्य मुहुर्तमात्रं सुखितो भवति न च दोषेणानुषज्यते। एवम-त्रापि स्त्रीविज्ञापनायां युवतिप्रार्थनायां रमणीसंबन्धे गण्डपरिपीडनकल्पे दोषस्तत्र कुतः स्यात्। न ह्येतावता क्लेदापगममात्रेण दोषो भवेदिति। स्यात्तत्र दोषो यदि काचित्पीडा भवेत् ॥१०॥

दृष्टान्तेन दर्शयति॥

जहामंधादए नाम, थिमिअं भुंजतीदगं।
एवं विन्नवोणत्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ॥११॥
जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअं भुंजतीदगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ॥१२॥
एवमेगे उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी, अणारिआ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणे व्वतरुण्णए ॥१३॥

यथेत्थमुदाहरणोपन्यासार्थः। मन्धादन इति मेष नामशब्दः संभावनायाम् यथा मेषस्तिमितमनालोडयन्नुदकं पिबत्यात्मानं प्रीणयति न च तथान्येषां किंचनोपघातं विधत्ते। एवमत्रापि स्त्रीसंबन्धे न कश्चिदन्यस्य पीडा आत्मनश्च प्रीणनमतः कुतस्तत्र दोषः स्यादिति ॥११॥ अस्मिन्नेवानुपघातार्थं दृष्टान्तबहुत्व-ख्यापनार्थं दृष्टान्तान्तरमाह। (जहाविहं गमा इत्यादि) यथा येन प्रकारेण विहासया गच्छतीति विहं गमा पक्षिणी (पिंगेति) कपिञ्जला साकाश एव वर्त्तमाना स्तिमितं निभृतमुदकमा-पिबत्येवमत्रापि गर्भप्रधानपूर्विकया क्रियता अरक्ता द्विष्टस्य पुत्राद्यर्थं स्त्रीसंबन्धं कुर्वतोपि कपिञ्जलाया इव न तस्य दोष इति। सांप्रतमेतेषां गण्ड पीडनतुल्यं स्त्रीपरिभोगं मन्यमानायां तथैडकोदकपानसदृशं परपीडाऽनुत्पादकत्वेन परात्मनोश्च सुखोत्पादकत्वेन किल मैथुनं जायत इत्यध्यवसायिनां तथा कपिञ्जलोदकपानं यथा तडागोदकासंस्पर्शेन किल भव-त्येवमरक्तद्विष्टतथा दर्भाद्युत्तारणात् स्त्रीगात्रस्पर्शेन पुत्रार्थं न कामार्थं ऋतुकालाभिगामितया शास्त्रोक्तविधानेन मैथुनेपि न दोषानुषङ्गस्त-थोचुस्ते ''धर्मार्थं पुत्रकामस्य स्वदारेष्वधिकारिणः। ऋतुकाले विधानेन दोषस्तत्र न विद्यते'' इति

एव मुदासीनत्वेन व्यवस्थितानां दृष्टान्तेनैव निर्युक्तिकारो गाथात्रयेणोत्तरदानायाह।

[जह णाममडलग्गे ण, सीसंछित्तूण कस्सइ मणसो॥
चिट्ठेज्ज पराहुत्तो, किं नाम ततो ण घेप्पेज्जा ॥५३॥
जह णाविसगंडूसं, कोतीघेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अण्णेण अदीसंतो, किं नाम ततो नबमरेज्जा ॥५४॥
जह नाम सिरिघराउ, कोइरयणेण णामघेत्तूणं।
अत्थेज्ज पराहुत्तो, किं णाम ततो नघेप्पेज्जा ॥५५॥)

यथा नाम कश्चिन्मण्डलाग्रेण कस्याविच्छिरश्छित्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत्। किमेतावतोदासीनभावावलम्बनेन न गृह्येत नापराधी भवेत्। तथा यथा कश्चिद्विषगण्डूषं गृहीत्वा पीत्वा नाम तूष्णीं भावं भजेदन्येन वाप्यदृश्यमानोसौ किं नाम ततो सावन्यादर्शनात् न म्रियेत। तथा यथा कश्चिच्छ्रागृहाद्भाण्डा गारादत्नानि महाध्र्याणि गृहीत्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत् किमेतावता सौ न गृह्येतेति। अत्र च यथा कश्चित् शठतया अज्ञतया वा

शिरश्छेदे विषगण्डूषरत्नापहाराख्ये सत्यपि दोषत्रये माध्यस्थ्यमवलम्बेत न च तस्य तदवलम्बनेपि निर्दोषतेति। एवमाप्यवश्यं भाविरागकार्यमैथुने सर्वदोषास्पदे संसारवर्द्धके कुतो निर्दोषतेति। तथाचोक्तम् ''प्राणिनां वाधकं चैतच्छास्त्रैर्गीतं महर्षिभिः। नलिकातप्तकणक प्रवेशज्ञानतस्तथा ॥१॥ मूलं चैतदधर्मस्य भवभावप्रर्धनम् ॥ तस्माद्विषान्नवत्त्याज्यमिदं पापमनिच्छतेति'' निर्युक्तिगाथात्रयतात्पर्यार्थः ॥१२॥

साम्प्रतं सूत्रकार उपहारव्याजेन गण्डपीडनादिदृष्टान्तवादिनां दोषोद्भिभावयिषयाह। (एवमेगे इत्यादि) एवमिति गण्डपीडनादिदृष्टान्तबलेन निर्दोषं मैथुनमिति मन्यमाना एके स्त्रीपरीषहपराजिताः सदनुष्ठानात्पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था-नाथवादिकमण्डलचारिणः तुशब्दात् स्वपूथ्या वा तथा विपरीता तत्त्वाग्राहिणी दृष्टिर्दर्शनं येषां ते। तथा आराद्दूरे याता गता सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्था न आर्या अनार्याः। धर्म विरुद्धानुष्ठानात्त एवंविधा अध्युपपन्ना गृध्नव इच्छामदनरूपेपु कामेषु कामैर्वा करणभूतैः सावद्यानुष्ठानेष्विति। अत्र लौकिकं दृष्टान्तमाह। यथा वा पूतनाडाकिनी तरुणके स्तनन्धये ऽध्युपपन्ना एवं तेप्यनार्याः कामेष्विति। यदिवा (पूयणत्ति) गडुरिका आत्मीये ऽपत्येऽध्युपपन्ना एवं ते ऽपीति कथानकं चात्र। यथा किल सर्वपशूनामपत्यानि निरुदके कूपेऽपत्यस्नेहपरीक्षार्थं क्षिप्तानि तत्र चापरा मातरः स्वकीयस्तनंधयशब्दाकर्णनेपि कूपतटस्था रुदन्त्यस्तिष्ठन्ति। उरभ्री त्वपत्यातिस्नेहेनान्धा अपायमनपेक्ष्य तत्रैवात्मानं क्षिप्त-वतीत्यतो ऽपरपशुभ्यः स्वापत्ये ऽध्युपपन्नेति।

एवं ते ऽपि कामाभिष्वङ्गिणां दोषमाविष्कुर्वन्नाह।

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा।
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥१४॥
जेहिं काले परिक्कंतं, न पच्छा परितप्पए ॥
ते धीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीविअं ॥१५॥

अनागतमेष्यत् कालमनिवृत्ता नरकादियातनास्थानेषु महा दुःखमपश्यन्तो ऽपर्यालोचयन्तस्तथा प्रत्युत्पन्नं वर्तमानमेव वैषयिकं सुखाभासमन्वेषयन्तो मृगयमाणा नानाविधैरुपायैर्भोगान् प्रार्थयन्तस्ते पश्चात् क्षीणे स्वायुषि जातसंवेगा यौवने वा अपगते परितप्यन्ते शोचयन्ते पश्चात्तापं विदधति। उक्तंच। ''हतं मुष्टिभिराकाशं तुषाणां कण्डनं कृतम्। यन्मया प्राप्य मानुष्यं सदर्थे नादरः कृतः ॥१॥ तथा। ''विहवा वलेवनडिएहिं जाइं कीरंति जोव्वणमएण॥ वयपरिणामे सरियाइं ताइहिं अपक्खुडुक्कंति ॥१॥ १४॥ ये तूत्तमसत्वतया अनागतमेव तपश्चरणादावुद्यमं विदधति न ते पश्चाच्छोचन्तीति तद्दर्शयितुमाह (जेहिंकालेइत्यादि) यैरात्महितकर्तृभिः काले धर्मार्जनावसरे पराक्रान्तमिन्द्रियकषायपराजयाद्युद्यमो विहितो न ते पश्चान्मरणकाले वृद्धावस्थायां वा परितप्यन्ते न शोकाकुला भवन्ति। एकवचनानिर्देशस्तु सौत्रच्छान्दसत्वादिति। धर्मार्जनकालस्तु विवेकिनां प्रायशः सर्व एव। तस्मात्स एव प्रधानपुरुषार्थः प्रधान एव च प्रायशः क्रियमाणो घटां प्राञ्चति। ततश्चायं बालात्प्रभृत्यकृतविषयासङ्गतया कृततपश्चरणास्ते धीराः कर्मविदारणसहिष्णवो बन्धनेन स्नेहात्मकेन कर्मणा चोत्प्राबल्येन मुक्ता नावकाङ्क्षन्ति असंयमजीवितम्। यदि वा जीविते मरणे वा निस्पृहाः संयमोद्यममतयो भवन्तीति ॥१५॥ अन्यच्च-

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमता।
एवं लोगांसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया ॥१६॥
जेहिं नारीणं संजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता ॥
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ट्ठिया सुसमाहिए ॥१७॥

य थेत्युदाहरणोपन्यासार्थः यथा वैतरणी नदीनां मध्येऽत्यन्तवेगवाहित्वात् विषमतटत्वाच्च दुस्तरा दुर्लङ्घ्या एवमस्मिन्नपि लोके नार्यो ऽमतिमता निर्विवेकेन हीनसत्त्वेन दुःखेनोत्तीर्यन्ते। तथाहि। ता हावभावैः कृतविद्यानपि स्वीकुर्वन्ति। तथाचोक्तं ''सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्ताव-देवेन्द्रियाणां, लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ॥ भ्रुचापाक्षेपमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते यावल्लीलावतीनां न दृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति,। तदे वंवैतरणी नदीवत् दुस्तरा नार्यो भवन्तीति ॥१६॥ अपिच (जंहीत्यादि) यैरुत्तमसत्त्वैः स्त्रीसङ्गविपाकवेदिभिः पर्यन्तकटवो नारीसंयोगाः परित्यक्तास्तथा तत्सङ्गार्थमेव वस्त्रालंकारमाल्यादिभिरात्मनः पूजनाकामविभूषा पृष्ठतः कृता परित्यक्तेत्यर्थः। सर्वमेतत्स्त्रीप्रसङ्गादिकं क्षुत्पिपासादि प्रतिकूलोपसर्गकदम्बकं च निराकृत्य ये महापुरुषसेवितपथं प्रति प्रवृत्तास्ते सुसमाधिना स्वस्थचित्तवृत्तिरूपेण व्यवस्थिता नोप सर्गैरनुकूलप्रतिकूलरूपैः प्रक्षोभ्यन्ते। अन्ये तु विषयाभिष्वङ्गिणः स्त्र्यादिपरीषहपराजिता अङ्गारोपरिपतितमीनवद्रागग्निना दह्यमाना असमाधिना तिष्ठन्तीति ॥१७॥

स्त्र्यादिपरीषहपराजयस्य फलं दर्शयितुमाह।

एते ओघं तरिस्संति, समुद्दं ववहारिणो।
जत्थपाणा विसन्नासि, किच्चंति सयकम्मणा ॥१८॥
तं च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे ॥
मुसावायं च वज्झिज्जा-दिन्नादाणं च वोसिरे ॥१९॥

य एते अनन्तरोक्तानुकूलप्रतिकूलोपसर्गजेतार एते सर्वे ओघं संसारं दुस्तरमपि तरिष्यन्ति। द्रव्यौघदृष्टान्तमाह। समुद्रं लवणसागरमिव व्यवहारिणः सांयात्रिका यानपात्रेण तरन्त्येवं भवौघमपि संसारसंयमयानपात्रेण यतयस्तरिष्यन्ति। तथा तीर्णास्तरन्ति चेति। भवौघमेव विशिनष्टि। भवौघे संसारसागरे प्राणाः प्राणिनः स्त्रीविषयसङ्गद्विषण्णाः सन्तः कृत्यन्ते पीड्यन्ते स्वकृतेनानुष्ठितेन पापेन कर्मणा असद्वेदनीयोदयरूपेणेति ॥१८॥ सांप्रतमुपसंहारव्याजेनोपदेशान्तरविधित्सयाह। (तंचभिक्खूइत्यादि) तदे तद्यथा प्रागुक्तं यथा वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो यैः परित्यक्तास्ते समाधिस्थाः संसारं तरन्ति स्त्रीसङ्गिनश्च संसारान्तर्गताः स्वकृतकर्मणा कृत्यन्त इति तदेतत्सर्वं भिक्षणशीलो भिक्षुः परिज्ञाय हेयोपादेयतया बुध्वा शोभनानि व्रतान्यस्य सुव्रतः पञ्चभिः समितिभिः समित इत्यनेनोत्तरगुणवेदनं कृतमित्ये-वम्भूतश्चरेत्संयमानुष्ठानं विदध्यात्। तथा मृषावादमसद्भूतार्थभाषणं विशेषेण वर्जयेत्तथा अदत्तादानञ्च व्युत्सृजेद्दन्तशोधनमात्रमप्यदत्तं न गृह्णीयात्। आदिग्रहणात् मैथुनादेः परिग्रह इति। तच्च मैथुनादिकं यावज्जीवमात्महितं मन्यमानः परिहरेत्। सूत्र०१ श्रु०३ अ०॥

(स्त्रियां जातमपत्यं पुरुषस्यैवेति-अपच्च-शब्दे। स्त्रीपुरुषयोरन्तरं 'अणतंर' शब्दे। स्त्रीगर्भवक्तव्यता 'गब्भ' शब्दे। स्त्रीभ्यो दृष्टिवादो न दीयत इति 'दिट्ठिवाय' शब्दे। स्त्रीणां

मोक्षसिद्धिः 'इत्थिलिंगसिद्ध' शब्दे। स्त्रीवसङ्गतस्य निन्दा 'इत्थिवस' शब्दे । स्त्रीशब्दयुक्ते स्थाने न स्थातव्यमिति 'वसही' शब्दे । स्त्रीसंसक्तस्थानादिनिषेधो 'बंभचेरसमाहिट्ठाण' शब्दे 'बंभचेर गुत्ति' शब्दे च। स्त्रीणां स्वातन्त्र्यनिषेधः 'इत्थिरज्ज शब्दे')

इदं–त्रि०(इदम्) 'इति कमि नलोपश्च । पुरोवर्त्तिनि, । सूत्र०१ श्रु०३ अ० प्रत्यक्षे, । नि०चू०१ उ० प्रत्यक्षासन्ने च । आ०चू०४ अ० इण्णमेव खणंविजाणिया'' । इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिति । सूत्र०१ श्रु०२ अ० ''आरंभं जं दुक्खमिणंति णच्चा'' इदमिति प्रत्यक्षगोचरापन्नमिति । आचा०१ श्रु०३ अ०१ उ० सूत्र० प्रश्न०। ''दुहावेदं सुयक्खायं'' ॥ प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदम इति । सूत्र०१ श्रु०८ अ० अस्य च सर्वस्याम् विभक्तौ ॥ **'इदम इमः ८।३।७२।** इति प्राकृतसूत्रेण इमादेशः इमो–इमे–इमं । इमेण–स्त्रीयामपि–इमासौ **''पुंस्त्रियोर्नवाऽयमिमिआ सौ'' ८।३।७३।** इति प्राकृत सूत्रेण अयमिति पुँल्लिङ्गे इमिआ इति स्त्रीलिङ्गे वैकल्पिक आ-देशः । अहवा अंक अकञ्जो–इमिआ बाणिअधुआ । पक्षे **इमो इमा '' षष्ठीसप्तम्योः स्सिस्स्सयोरत्'' ८।३।७४।** इति प्राकृतसूत्रेणेदमः स्सिं स्स इत्येतयोः परयोर्वा अद्भवति अस्सिं अस्स । पक्षे इमादेशोपि । इमस्सिं इमस्स–बहुलाधिकारादन्यत्रापि अद् भवति। एहि–एसु–आहि एभिः एषु आभिरित्यर्थः **'ङेर्मे न हः, ।८।३।७५।** इति प्राकृतसूत्रेण कृतेमादेशात्परस्य ङेःस्थाने मेन सह वैकल्पिके हादेशे,इह पक्षे इमस्सिं इमम्मि । **नन्थः ।८।३।७६।** इति प्राकृतसूत्रेण इदमः परस्य ङेः स्सिम्मित्था इतिप्राप्तस्थो निषिध्यते। **इह इमस्सिं इमम्मि। णोऽम् शस्टाभिसि ।८।३।७७।** इति प्राकृतसूत्रेणाम् शस्टाभिस्सु इदमो वा ण इत्यादेशो भवति णं पेच्छ। णे पेच्छ। णेण–णेहिं कअं। पक्षे इमं इमे इमेण इमेहिं । द्वितीयैकवचनेऽमि । **अमेणम् ।८।३।७८।** इति प्राकृतसूत्रेणामा सहितस्येदम स्थाने इणम् इत्यादेशो वा भवति इणं पेच्छ पक्षे इमं सौ–अमि च नपुंसके। '' क्लीबे स्यमेदमिणमौ च'' ८।३।७९। इति प्राकृतसूत्रेण स्यम्भयां सहितस्थ इदम इणमो इणम् च नित्यमादेशो भवति। इदं इणमो इणं। धणं चिट्ठइ पेच्छ वा। प्रा०व्या०।

इदा(या)णि–इयण्हिं–अव्य०(इदानीम्) इदमीदानीम्। सम्प्रत्यर्थे,–वाच० इआणिं कोणो कं वत्तव्वयं इच्छइ–। अनु०। 'इयहिए गच्छं' ॥ इदानीं गच्छामीति। स्था०३ ठा०। 'कामं खलु आउसो इदाणिं ति'–आचा०२ श्रु०१ अ०१० उ०। ''मांसादेर्वा । इति प्राकृतसूत्रेणानुस्वारस्य विकल्पेन लोपे इयाणि इयाणिं। दाणिं दाणि। प्रा०व्या०।

इदुर–न०(इदुर) कोष्टिकामुखगन्ध्या उपरि दीयमाने सुंवादिव्यूते ढंचनकादिके, अनु०। महति पिठके, येन समस्तापि रसवतीस्थग्यते –राज०।

इद्दं–पुं०(इद्दण्ड) भ्रमरे, दे०ना०॥

इद्ध–न०(इद्ध) इन्ध भावे क्त–आतपे, दीप्तौ, आश्चर्य्ये च । कर्त्तरिक्त । दीप्ते, गन्धे च । त्रि० वाच०।

इध–अव्य०(इह) 'इहहचोर्हस्य' इति प्राकृतसूत्रेण शौरसैन्यां धः । प्रा०व्या०। इदं हइशादेशः । अस्मिन्काले देशे दिशि वा इत्यर्थे, वाच०॥

इंध–(चिण्ह)–न०(चिह्न) चिह्नेन्धो वा' । इति वान्धादेशः । एहा पवादः पक्षे सोपि । 'कगचजतदपयवां प्रायो लुक्' ॥ इति प्राकृतसूत्रेण वा चस्य लुक् । लक्षणे, प्रा० व्या०।

इब्भ–पुं०(इभ्य) इभो हस्ती तत्प्रमाणं द्रव्यमर्हतीति इभ्यः । अनु०। दण्डादित्वाद् यत् । वाच०। हस्तिप्रमाणद्रविणराशिपतौ, । औप०। यद्द्रव्यस्तूपान्तरित उच्छ्रितकदलिका दण्डो हस्ती न दृश्यते ते इभ्या इति जनश्रुतिरिति । स्था०६ ठा० जं०। महाधनपतौ, भ०९ श०३३ उ० आ०म०। अधिकतरद्रव्यो वा इभ्य इति । अनु०। ''अड्ढा इब्भा धणिणो । इति। प्रा० को०। नृपे, हस्तिपके च। पुं० वाच०। स्वनामख्याते वसन्तपुरस्थे श्रेष्ठिनि च । ''वसन्तपुरनामास्ति, वसन्तर्त्तु समं पुरम् । श्रेष्ठी तत्रेभ्यनामाऽभूत्प्रेयसी तस्य धारिणीति'' । आ०क०। वणिजि, दे०ना०।

इब्भग(य)–त्रि०(इभ्यक) स्वार्थे कन् इभ्यशब्दार्थे, । आ०म०प्र०। स्त्रियां तु टापि वा अत इत्वम् । इभ्यका इभ्यिकाइभाढ्यायां स्त्रि-याम् । वाच०।

इब्भगडिं भ–पुं०(इभ्यकडिम्भ) इभ्यबालके, इब्भगडिंभाणि नाणाविहभक्खहत्थगयाणि स गिहेहिंतो निग्गयाणि। आ०म०प्र०।

इब्भजाइ–स्त्री०(इभ्यजाति) आर्यजातौ,

छव्विहा जाइ आरिया मणुस्सा पण्णत्ता तंजहा अंबट्ठा य कलंदा य, वेदेहा वेदिगाइया । हरिया चुंचुणा चेव, छब्भेया इब्भजाइओ ॥१॥

जातिर्मातृकः पक्षस्तथा आर्या अपाया निर्दोषा जात्यार्या विशुद्धमातृका इत्यर्थः । अम्बष्ठेत्याद्यनुष्टुप्प्रतिकृतिः षडप्येता इभ्यजातय इति । इभमर्हन्तीतीभ्या यद्द्रव्यस्तूपान्तरित उ-च्छ्रितकदलिका दण्डो हस्ती न दृश्यते ते इभ्या इति श्रुति स्तेषां जातय इभ्यजातयस्ता एता इति । स्था०६ ठा०।

इब्भदास–पुं०(इभ्यदास) स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, । ती०।

इभ–पुं०(इभ) इण्–भ–किच्च । हस्तिनि, । जं०२ व० अनु०।

इमही–स्त्री०(इमही) इः कामस्तस्य मह्यः कामिन्यः स्त्रियाम्, गा।

इ(मा)(मिआ)मी –स्त्री०(इयम्) प्रत्यक्षायाम् **''पुंस्त्रीयोर्नवाय-मिमिआ सौ– ८।४।७३।** इति प्राकृतसूत्रेण स्त्रीलिङ्गे इमि आदेशः। **आजातेः पुंसः ।८।३।३२।** इति जाति वाचिनः पुलिङ्गाद्वा आत्वम्। इमिए, इमाए, इमिणं इमाणं । प्रा०व्या०।

इय–देशी (इक) क्वापि प्रवेशार्थे, –इकमिति देशीपदं क्वापि प्रवेशार्थे वर्तते इति आ०म०द्वि० एतस्य निक्षेपो यथा इकमपि चतुर्द्धा तद्यथा नामेकं स्थापनेकं द्रव्येकं भावेकं च । तत्र नामस्थापने प्रतीते । द्रव्येकं ''दोहारस्सठिईठाइमेयाइं तु दव्वाइं'' दारे इति सूत्रे दवरके मौक्तिकान्यधिकृत्य भाविपर्य्यायापेक्षया हारस्य मुक्ताफलकलापस्य विनिवेशनं प्रवेशनम् ''ए आ अंतुदव्वम्मि'' एतान्युदाहरणानि द्रव्ये द्रव्यविषयाणि ''नाणाइतियं तस्साया पोयणं भावसामाई'' तस्येति सामादि सम्बन्धे । तस्य सामादेरात्मनि प्रोतनमात्मनि प्रवेशनं भावेकमिति । आ०म०द्वि० । आ०चू०।

इत–त्रि० गते, समियं उदाहु सम्यक् इतं गतमिति। सूत्र०१ श्रु०६ अ० आचा०। स्था० ज्ञाते, परिच्छिन्ने, । आचा०१ श्रु०८ अ०७ उ० प्राप्ते, विशे० इतो इतः स्थित इत्यनर्थान्तरम्। नं० विशे० भावे क्तः । गतौ, ज्ञाने च । वाच०।

'इतो तो वाक्यादौ' । इति प्राकृतसूत्रेण वाक्यादौ इति शब्देकारस्याकारः । 'इअ जं पिआ वसाणे' इअविअसिअ कुसुम-सरो इति । प्रा०व्या०। इति एवमर्थे, ''इय सिद्धाणं सोक्खं'' इति एवं सिद्धानां सौख्यमिति । औप०। ''इय सव्वगुणाहाणं'' एवमुक्तेन प्रकारेण सर्वगुणाधानम् इति । आव०। नि०चू०।

इयर–त्रि०(इतर) कामेन तीर्य्यते तृ अप् । तरति पचाद्यच्वा । नीचे, पामरे, । वाच०।

इत्तरिए अय अहमंसिपुण विसिट्ठे जाइकुल बलाइगुणोववेए एवं अप्पाणं समुक्कस्से ॥

इतरोयं जघन्यो हीनजातिकः कुलबलादिभिर्दूरमपभ्रष्टः सर्वजनावगीतोयमिति । अहं पुनर्विशिष्टजातिकुलबलादिगुणोपेत एवमात्मानं समुत्कर्षयेदिति। सूत्र०२ श्रु०२ अ०॥ ''इयराइयरहिं कुलेहिं'' इतरे सामान्यसाधुभ्यो विशिष्टतराः साधव इति। आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ०॥

इयरकुल– न०(इतरकुल) अन्तप्रान्तकुले, आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ०॥

इयरेयर–त्रि०(इतरेतर) इतरद्वित्वं समासवद्भावश्च। अन्योन्य शब्दार्थे, । उत्त०१ अ०॥

इयरेयरसंजोग–पुं०(इतेरतरसंजोग) इतरेतरस्य परस्परस्य संयोगो घटना । परस्परघटनायाम्, तदात्मसंयोगभेदे च उत्त०१ अ०। (तद्वक्तव्यतासंजोगशब्दे)

इयरेयरसावेक्ख–त्रि०(इतरेतरसापेक्ष्य) परस्पराविरोधिनि, इतरेतरसापेक्षात्वेषां पुनरासवचनपरिणत्या इतरेतरसापेक्षा परस्पराविरोधिनीति । षो०।

इयरेयरस्सय–पुं०(इतरेतराश्रय) इतरेतर आश्रयति आ–श्रि–अच् अन्योन्याश्रये तर्कदोषभेदे, वाच०।

इयरेयराभाव–पुं०(इतरेतराभाव) इतरेतरस्मिन्नभावः । अभाव-विशेषे, इतरेतराभावं वर्णयन्ति स्वरूपान्तरात्स्वरूपव्यावृत्ति रितरेतराभाव इति । स्वभावान्तरान्न पुनः स्वस्वरूपादेव तथाऽसत्त्वप्रसक्तेः स्वरूपव्यावृत्तिः स्वस्वभावव्यवच्छेद इतरे तराभावो ऽव्यापोहनमानिगद्यते । उदाहरणमाहुर्यथास्तम्भ-स्वभावात्कुम्भस्वभावव्यावृत्तिरिति । रत्ना०।

इर–ध(इर) ईर्षायाम्, कण्ड्वादित्वाद् यक् । उभ०। इर्यति इर्य्यते वाच०। **'कियेरे रहिर किलार्थे वा' ८।२।८६।** इति सूत्रेण किलार्थे तस्य प्रयोगबोधनात्। तस्स इर किलार्थे, प्रा०व्या०। पाद पूरणे च। अव्य० व्य०। **ईजे इराः पादपूरणे । ८।२।१७।** इति सूत्रात् 'गेण्हइर कलमागोवि' । इति । प्रा०।

इरमंदिर–पुं०(इरमन्दिर) करभे, दे०ना०।

इराव–देशी(इराव) गजे, दे०ना०।

इरिआ–स्त्री०(ईर्या) कुट्याम्, दे०ना०।

इरिण–देशी(इरिण) कनके, दे०ना०।

इरियज्झयण–न०(ईर्याध्ययन) आचाराङ्ग श्रुतस्कन्धस्य प्रथम चूलिकान्तर्गते तृतीयेऽध्ययने, तच्चाचाराङ्ग पञ्चमाध्ययनावन्त्याख्यस्य चतुर्थोद्देशकसूत्रम्। गामाणुगामं दुइज्जमाणस्स दुज्झायं दुपरक्खमित्यादिनेर्यासंक्षेपेण व्यावर्णितेत्यत इर्याध्ययनं निर्व्यूढमिति। अत्र त्रय उद्देशा उद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह निर्युक्तिकारः

सव्वेवि यदवि इरिय विसोहि–कारगा तहवि अत्थिपविसेसो ।
उद्देसे उद्देसे, वोच्छामि समासओ किंपि ॥२८॥

पढमे य उवागमणि–गमो य अद्धाज्झीण च जयणा ।
वितिए आरूढ छलणं, जंघा संतारपुच्छाया ॥२९॥

तइयम्मि अदंसणया–अप्पडिबंधो य होइ उवहिम्मि ।
वज्जेयव्वं च सया, संसारियरायगिहगमणं ॥३०॥

(सव्वेत्यादि) सर्वेपि त्रयोपि यद्यपीर्याविशुद्धि कारकास्तथापि प्रत्युद्देशकमस्ति विशेषस्तं च यथाक्रमं किञ्चिद्वक्ष्यामि इति यथाप्रतिज्ञातमाह (पढगाहा) प्रथमोद्देशके वर्षाकालादावुपागमनं स्थानं तथा निर्गमश्च शरत्कालादौ यथा भवति तदत्र प्रति-पाद्यमध्वनि यतना चेति द्वितीयोद्देशकेन वादावारूढस्य छलनं प्रक्षेपणं व्यवर्ण्यते जंघा संतारे च पानीये यतना तथा नानाप्रकारे च प्रश्ने साधुनां यद्विधेयमेतच्च प्रतिपाद्यमिति (तइयम्मि गाहा) तृतीयोद्देशके यदि कश्चिदुदकादीनि पृच्छति तस्य जानताप्यदर्शनता विधेयेत्ययमधिकारः तथोपधावप्रतिबन्धो विधेयस्तदपहरणे च स्वजनराजगृहगमनञ्च वर्जनीयं न च तेषामाख्येयमिति। आचा०२ श्रु०३ अ०१ उ०॥

इरियट्ठ–त्रि०(ईर्य्यार्थ) ईर्य्याविशुद्ध्यर्थे, तदर्थमाहरकरणीहे नातिक्रमः 'इरियट्ठाए य' ईर्यागमनं तस्या विशुद्धिर्युगमात्रनिहितदृष्टित्वमीर्य्या-विशुद्धिस्तस्यै इदमीर्याविशुद्ध्यर्थम्। इह च विशुद्धिशब्दलोपादीर्य्यार्थ-मित्युक्तम् बुभुक्षितो हीर्य्या शुद्धावशक्तः स्यादिति । स्था०६ ठा०। (तदर्थमाहरकरणे नातिक्रम इति 'आहार' शब्दे)

इरिया–स्त्री०(ईर्य्या) ईरणमीर्य्या ईरगतिप्रेरणयोरस्माद्भावे ण्यत्। गमने, आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०। आ०चू०। स्था०। आव०। उत्त०। सूत्र०। ईर्य्यानिक्षेपणार्थं निर्युक्तिकृदाह।

णामं ठवणा इरिया, दव्वे खेत्ते य कालभावे य ।
एसो खलु इरियाए, णिक्खेवोछव्विहो होइ ॥२३॥

दव्वइरिया उ तिविहा, सचित्ताचित्तमीसगा चेव ।
खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते, काले कालो जहिं जोए ॥२४॥

तत्र द्रव्येर्या सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिविधा ईरणमीर्य्या गमनमित्यर्थः । तत्र सचित्तस्य वापुरुषादेर्द्रव्यस्य यद्गमनं सा सचित्तद्रव्येर्या एवं परमाण्वादिद्रव्यस्य गमनमचित्तद्रव्येर्य्या । तथा मिश्रद्रव्येर्या रथादिगमनमिति । क्षेत्रेर्या यस्मिन् क्षेत्रे गमनं क्रियते ईर्या वा वर्ण्यते। एवं कालेर्य्यापि द्रष्टव्येति। आचा०। भावेर्य्याप्रतिपादनायाह –

भावइरिया उ दुविहा, चरणगई संजमगई य ।
समणस्स कहं गमणं, दोसं होइ परिसुद्धं ॥२५॥

भावविषयेर्या द्विविधा चरणेर्य्या संयमेर्य्या च । तत्र संयमेर्या सप्तदशाविधसयमानुष्ठानं यदि वा असंख्ययेषु संयम-स्थानेष्वेकस्मात्संयमस्थानाद परं संयमस्थानं गच्छतः संयमेर्या भवति । चरणेर्या तु अभूवभूमभूचरगत्यर्थाः चरतेर्भावे ल्युट् चरणं तद्रूपेर्य्या चरणेर्य्याः चरणं गतिः गमनमित्यर्थः तच्च श्रमणस्य कथं केन प्रकारेण भावरूपगमनं निर्दोषं भवतीत्याह–

आलंवणे य काले, मग्गे जयणा य चेव परिसुद्धं ।
भंगेहिं सोलसविधं, उपरिसुद्धं पसत्थं तु ॥२६॥

तं प्रवचनसंघगच्छाचार्यादिप्रयोजनं कालः साधूनां विहर-णयोग्योवसरे मार्गो जनैः पद्भ्यां क्षुण्णः पन्था यतना उपयुक्तस्य युगमात्रदृष्टित्वं तदेवमालम्बनकालो मार्गयतना पदैरेकैकपद-व्यभिचाराद्ये भङ्गास्तैः षोडशविधं गमन भवति तस्य च यत्परिशुद्धम्। तदेव प्रशस्तं भवतीति दर्शयितुमाह--

चउकारण परिसुद्धं, अहवा वि होज्ज कारणाज्जाइ ।
आलंवण जयणाए, काले मग्गेय जइयव्वं ॥२७॥

चतुर्भिः कारणैः साधोर्गमनं परिशुद्धं भवति तद्यथा आलम्बनेन दिवा मार्गेण यतनया गच्छत इति अथवा अकालेऽपि ग्लानाद्यालम्बनेन यतनया गच्छतः शुद्धमेव गमनं भवत्येवं भूते च मार्गे साधुना यतितव्यमिति। आचा०२ श्रु०३ अ०१ उ०। (गमनं च यथा कर्तव्यन्तथेर्य्याध्ययने आचाराङ्गे प्रतिपादितं विहार-शब्दे द्रष्टव्यम्) ''इरियं च पच्चक्खायेज्जा'' ईरणमीर्य्यां तां च सूक्ष्मां कायवाग्गतां मनोगतां वा प्रशस्तां प्रत्याचक्षीत इति। आचा०१ श्रु०८ अ०। ७ उ०। ईरणमीर्या गमनम्। तत्कार्य्ये कर्म्मणि च। एगेगस्स पसंतस्स, न होंति इरियादयो गुणा'' ईरणमीर्य्यागमनमित्यर्थः इह इर्य्याकार्य्यं कर्म ईर्य्याशब्देन गृह्यते कारणे कार्योपचारादिति। आ०म०द्वि०। इर्य्यासमितौ, ''धणुपरक्कमं किच्चा जीवं च इरियं सया'' जीव प्रत्यक्षाश्चर्य्येर्य्यामीर्य्यासमितिमिति। उत्त० ईरणमीर्य्या तत्सूत्राद्योरणपुरस्सरकायात्सेगात्मर्क सामाचारिभेदे च। ग०२ अधि०।

इरियापचय--न०(इर्य्याप्रत्यय) ईरणमीर्य्या गमनं तेन जनितमीर्य्या प्रत्ययम्। कर्मभेदे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०। (एतद्वक्तता इरियावहिय शब्दे)

इरियावह--पुं०(इर्य्यार्पथ) ईरगतिप्रेरणयोरस्माद् भावे ण्यत्। ईरणमीर्य्या तस्याः (तयावा) पन्था 'ईर्य्यापथः। सूत्र०२ श्रु०२ अ०। स्था०। ईरणमीर्य्या गमनं तद्विशिष्टः पन्था ईर्य्यापथः। प्रव०३ द्वार। ईर्य्या गमनं तद्विषयः पन्था इर्य्यापथः। भ०११ श०१० उ०। आव०। गमनमार्गे, भ०३ श०३ उ०। कश्चेर्य्यायाः पन्था भवति यदाश्रिता सा भवतीति। आचा०२ अ०१ उ०। ईरणमीर्य्या तत्सम्बद्धः पन्था इर्य्यापथस्तत्प्रत्ययं कर्मेर्य्यापथम्। सूत्र० १ श्रु० १ अ०। ईर्य्यापथप्रत्ययमीर्य्यापथम्। प्रति०। कर्मभेदे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०। एतदुक्तं भवति पथि च्छतो यथा कथंचिदनभिसन्धेर्य-त्प्राणिव्यापादनं भवतीति। सूत्र०१ श्रु०२ अ०। (अस्य बन्धनकारण-त्वविचारः कर्म्मबंध शब्दे)।

इरियावहकिरिया--स्त्री०(ईर्य्यापथक्रिया) क्रियाभेदे, सा च यदुपशान्तमोहादेरेकविधकर्मबन्धनमिति। स्था०५ ठा०। ईर्य्यापथ क्रिया तूपशान्तमोहादारभ्यसयोगिकेवलिनं यावदिति। सूत्र०२ श्रु०२ अ०(एतस्था विस्तरेण वक्तव्यता इरियावहिया शब्दे)

इरियावहिय--न०(ईर्य्यापथिक) ईरगतिप्रेरणयोरस्माद्भावेण्यत् ईरणमीर्य्या तस्याः पन्था ईर्य्यापथस्तत्र भवमीर्य्यापथिकम्। आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०। ईरणमीर्य्या तस्यास्तया वा पन्था इर्य्यापथः स विद्यते यस्य तदीर्य्यापथिकम्। एतच्च शब्दव्युत्पत्तिमात्रम् प्रवृत्तिनिमित्तं तु इदम् सर्वत्रोपयुक्तस्य निकषायस्य समीक्षितमनोवाक्कायक्रियस्य या क्रिया तया यत्कर्म तदीर्य्यापथिकम्। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

***ऐर्य्यापथिक**--न ईरणमीर्य्या गमनन्तत्प्रधानः पन्था मार्गः ईर्य्यापथस्तत्र भवमैर्य्यापथिकम्। केवलयोगप्रत्यये कर्मभेदे, भ०८ श०८ उ०। कश्चेर्यायाः पन्था भवति यदाश्रिता सा भवत्येतच्च व्युत्पत्तिनिमित्तं यतस्तिष्ठतोपि तद्भवति प्रवृत्तिनिमित्तं तु स्थि-त्यभावस्तच्चोपशान्त-क्षीणमोहसयोगिकेवलिनां भवति। सयोगिकेवलिनोऽपि हि तिष्ठतोपि सूक्ष्मगात्र सञ्चारो भवत्युक्तश्च ''केवलीणं भंते ! अस्सिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा ओगाहित्ताणं पडिसाहरेज्जा पभूण भंते ! केवलीतेसु चेवागासपदेसेसु पडिसाहरित्तए णो इणट्ठे समट्ठे। कहं केवलिस्सणं बलाइं सरीरोवगरणाइं भवंति वलोवगरणाइं भवंति रणत्ताए केवलिणो संचाएत्ति तेसु चेवागासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा पडिसाहरित्तए'' तदेवं सूक्ष्मेतरगानुसञ्चाररूपेण योगेन यत्कर्म्म बध्यते तदीर्य्यापथिकमीर्याहेतुकमित्यर्थः। तच्च द्विस-मयस्थितिकमेकस्मिन् समये वेदितं तृतीयसमये तदपेक्षया चाकर्म्मतेति कथमित्युच्यते यतस्तत्प्रकृतितः सातावेदनीयम-कषायत्वात् स्थित्यभावेन बध्यमानमेवं परिशटति असुभावतो नुत्तरोपपातिकसुखाति-शायिप्रदेशतः स्थूलसूक्ष्म-शुक्लादिबहुप्रदेशमिति उक्तच--

अप्पं बायरमउयं, बहुं च लुक्खं च सुक्किलं चेव ।
मंदं महव्वतंतिय साताबहुलं च तं कम्मं ॥

अल्पं स्थितितः स्थितेरेवाभावात् बादरं परिणामतोनुभावतो मृद्वनुभावं बहु प्रदेशे सूक्ष्मं स्पर्शतो वर्णेन शुक्लमन्दं लोपतः स्थूलचूर्णं मुष्टिमुक्तं कुड्यापतित लेपवत् महाव्ययमेकसमयेनैव सर्वापगमात्सतो बहुलमनुत्तरोपपातिकसुखातिशा (श) या यान्ति उक्तमीर्यापथिकम्। आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ० (एतस्य बन्धविचारः कम्मबंध शब्दे) त्रयोदशे स्थाने च। आव०। ऐर्य्यापथिकः केवलयोगप्रत्ययः कर्मबन्ध उपशान्तमोहादीनां सातवेदनीयबन्ध इति। सम०१३ सं० (विस्तरेणैतस्य वक्तव्यता इरियावहिया शब्दे)

इरियावहियबंध--पुं०(ऐर्य्यापथिकबन्ध) ईर्य्या गमनम् तत्प्रधानः पन्था ईर्य्यापथस्तत्र भवमैर्य्यापथिकम्। केवलयोग प्रत्ययं कर्म तस्य यो बन्धस्स तथा। ऐर्य्यापथिककर्मणो बन्धे,।

तद्वक्तव्यता यथा।

इरियावहियाणं भंते ! कम्मं किं णेरइओ बंधइ, तिरिक्ख जोणिओ बंधइ, तिरिक्खजोणिणी बंधइ, मनुस्सो बंधइ, मणुस्सी बंधइ, देवो बंधइ देवी बंधइ ? गो० ! णो णेरइओ बंधइ, णो तिरिक्खजोणिओ बंधइ, णो तिरिक्खजोणिणी बंधइ, णो देवो बंधइ, णो देवी बंधइ, पुव्वपडिवण्णए पडुच्च मणुस्सा य मणुस्सीओ य बंधंति। पडिवज्जमाणए पडुच्च मणुस्सो वा बंधइ मणुस्सी वा बंधइ मणुस्सा य वा बंधंति मणुस्सीओ य वा बंधंति अहवामणुस्सो य मणुस्सी य बंधइ। अहवा मणुस्सो य मणुस्सीआ ये बंधंति। अहवा मणुस्सा य मणुस्सी य बंधइ

अहवा मणुस्सा य मणुससीओ य बंधंति । तं भंते ! किं इत्थी बंधंइ, पुरिसो बंधइ, णपुंसगो बंधइ, इत्थीओ बंधंति पुरिसा बंधंति णपुंसगा बंधंति । णो इत्थी णो पुरिसो णो णपुंसगो बंधइ ? गोयमा ! णो इत्थी बंधइ णो पुरिसो बंधइ, जाव णो णपुंसगा बंधंति । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च अवगयवेदा बंधंति, पडिवज्जमाणए पडुच्च अवगयवेदो वा बंधइ अवगयवेदा वा बंधति । जइ भंते ! अवगयवेदो वा बंधइ अवगयवेदा वा बंधंति तं भंते ! किं इत्थी पच्छाकडो बंधइ १ पुरिसपच्छाकडो बंधइ २ णपुंसगपच्छाकडो बंधइ ३ इत्थी पच्छाकडा बंधंति ४ पुरिसपच्छाकडा बंधंति ५ णपुंसगपच्छाकडा बंधंति ६ । उदाहु इत्थीपच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य बंधइ १ उदाहु इत्थी पच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य बंधंति २ उदाहु इत्थी पच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडो य बंधइ ३ उदाहु इत्थी पच्छाकडाय पुरिसपच्छाकडा य बंधंति ४ उदाहु इत्थीपच्छाकडो य णपुंसगपच्छाकडो य बंधइ ४ उदाहु पुरिसपच्छाकडो य णपुंसगपच्छाकडो य बंधइ ४ उदाहु इत्थी पच्छाकडो य पुरिपच्छाकडो य णपुंसगपच्छाकडो य बंधइ ८ एवं एए छव्वीसं भंगा । जाव उदाहु इत्थी पच्छाकडा च पुरिसपच्छाकडा य णपुंसगपच्छाकडा य बंधंति । गोयमा ! इत्थी पच्छाकडो पि बंधइ, पुरिसपच्छाकडो वि बंधइ, णपुंसगपच्छाकडो वि बंधइ । इत्थी पच्छाकडा वि बंधंति, पुरिसपच्छाकडा वि बंधंति, णपुंसग-पच्छाकडा वि बंधंति ॥६॥ अहवा इत्थीपच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य बंधइ १२ एवं एए छव्वीसं भंगा भाणियव्वा जाव । अहवा इत्थी पच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडा यणपुंसगपच्छाकडा य बंधंति, । तं भंते ! किं बंधी बंधइ, बंधिस्सइ १ बंधी बंधइ न बंधिस्सइ २ बंधी न बंधइ बंधिस्सइ ३ बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ ४ न बंधी बंधइ बंधिस्सइ ५ न बंधी बंधइ न बंधिस्सइ ६ न बंधी न बंधइ बंधिस्सइ ७ न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ ८ गोयमा ! भवागरिसं पडुच्च अत्थेगइए बंधी बंधइ बंधिस्सइ, अत्थेगइए बंधी बंधइ न बंधिस्सइ, एवं तं चेव सव्वं जाव । अत्थगेइए न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ । गहणागरिसं पडुच्च अत्थेगइए बंधी बंधइ बंधिस्सइ एवं जाव अत्थेगइए न बंधी बंधइ बंधिस्सइ णो चे व णं न बंधी बंधइ न बंधिस्सइ । अत्थेगइए न बंधी न बंधइ बंधिस्सइ । अत्थेगइए न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ । तं भंते ! किं साइयं सपज्जवसियं बंधइ, साइयं अपज्जवसियं, बंधइ अणाइयं सपज्जवसियं बंधइ अणाइयं अपज्जवसियं बंधइ ? गोयमा ! साइयं सपज्जवसियं बंधइ, णो साइयं अपज्जवसियं बंधइ, णो अणाइयं सपज्जवसियं बंधइ णो अणाइयं अपज्जवसियं बंधइ ।

(नो नेरइओ इत्यादि) मनुष्यस्यैव तद्बन्धो यस्माद्बन्धा-दुपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनामेव तद्बन्धनमिति (पुव्वपडि-वण्णए इत्यादि) पूर्वं प्राक्काले प्रतिपन्नमैर्यापथिक बन्धकत्वं यैस्ते पूर्वप्रतिपन्नकास्तान् तद्बन्धकत्वद्वितीया-दिसमयवर्तिन इत्यर्थः । ते च सदैव बहवः पुरुषा स्त्रियश्च सन्ति उभयेषां केवलिनां सदैव भावादत उक्तम् ''मणुस्साय मणुस्सीओ य बंधंतित्ति'' (पडिवज्जमाणयेत्ति) प्रतिपद्य-मानकानैर्यापथिक-कर्मबन्धनप्रथमसमयवर्तिन इत्यर्थः । एषां च विरहसम्भवादेकदा मनुष्यस्य स्त्रियाश्च एकयोगे एकत्वबहुत्वाभ्यां चत्वारो विकल्पाः, द्विकयोगे तथैव चत्वारः एवमेते सर्वेऽप्यष्टावेतदेवाह (मणुस्सो वा इत्यादि) एषां च पुंस्त्वादि तत्तल्लिङ्गापेक्षया न तु वेदापेक्षया क्षीणोपशान्तवेदत्वात् । अथ वेदपिक्षस्त्रीत्वाद्यधिकृत्याह ''तं भंते ! किमित्यादि नो इत्थी इत्यादिना'' च पदत्रयनिषेधेनावेदकः प्रश्नितः उत्तरे तु षण्णां पदानां निषेधः सप्तमपदोक्तस्तु व्यपगतवेदस्तत्र च पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपाद्यमानकाश्च भवन्ति तत्र पूर्वप्रतिपन्नकानां विगतवेदानां सदाबहुत्वभावादाह (पुव्वपडीत्यादि) प्रतिपद्यमानकानान्तु सामयिकत्वात् विरहभावेनैकादिसम्भवाद्विकल्पद्वयमत एवाह । (पडिवज्जमाणेत्यादि) अपगतवेदमेवैर्यापथिकबन्धमाश्रित्य स्त्रीत्वादि-भूतभावापेक्षया विकल्पयन्नाह । ''जह इत्यादि तं भंते ! तदा भदन्त ! तद्वा कर्म इत्थी पच्छाकडेति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य स्त्रीत्वं पश्चात्कृतं भूततां नीतं येनावेदकेनासौ स्त्रीपश्चात्कृत एवमन्यावपि इहैकेकयोगे एकत्वबहुत्वाभ्यां षड्विकल्पाः द्विकयोगे तु त्रिषु द्विकयोगेषु तथैव द्वादश, त्रिकयोगे पुनस्तथैवाष्टावेते च सर्वे षड्विंशतिः । सूत्रे च चर्तुभङ्गचष्टभङ्गीनां प्रथमं विकल्पा दर्शिताः सर्वान्तिमश्चेति । अथैर्यापथिककर्मबन्धनमेव कालत्रयेण विकल्पयन्नाह (तं भंते इत्यादि) तदैर्यापथिककर्मबन्धी बद्धवान् बध्नाति भन्त्स्यति चेत्येको विकल्पः । एवमन्ये ऽपि सप्त भङ्गा एषां च स्थापना उत्तरन्तु (भवेत्यादि) भवे अनेकत्रोपशमादिश्रेणिप्राप्तया आकर्षऐर्यापथिककर्मानुग्रहणं भवाकर्षस्तं प्रतीत्य अस्त्येको भवत्येकः कश्चिज्जीवः प्रथम-वैकल्पिकः । तथाहि पूर्वभवे उपशान्तमोहसत्वे सत्वैर्यापथिकं कर्म बद्धवान् वर्तमानभवे चोपशान्तमोहत्वे बध्नाति अनागतं च उपशान्तमोहावस्थायां भन्त्स्यति ।१। द्वितीयस्तु यः पूर्वस्मिन् भवे उपशान्तमोहत्वं लब्धवान् वर्तमाने च क्षीणमोहत्व प्राप्तः स पूर्वं बद्धवान् वर्तमाने च बध्नाति शैलेश्यवस्थायां पुनर्भन्त्स्यति ।२। तृतीयः पूर्वजन्मनि उपशान्तमोहत्वे बद्धवान् तत्प्रतिपतितो न बध्नाति अनागते च मोहावस्थायां भन्त्स्यति ।३। चतुर्थस्तु शैलेशीपूर्वकाले बद्धवान् शैलेश्यां च न बध्नाति न च पुनर्भन्त्स्यति ।४। पञ्चमस्तु पूर्वजन्मनि नोपशान्तमोहत्वं लब्धवानिति न बद्धवान् अधुना लब्धमिति बध्नाति पुनरप्येष्यत्काले उपशान्तमोहाद्य-वस्थायां भन्त्स्यतीति ।५। षष्ठः पुनः क्षीणमोहत्वादि न लब्धवान् न पूर्वं बद्धवान् । अधुना तु क्षीणमोहत्वं लब्धमिति बध्नाति शैलेश्यवस्थायां पुनर्न भन्त्स्यतीति ।६। सप्तमः पुनर्भव्यस्य, स हि अनादौ काले न बद्धवान्

अधुनापि कश्चिन्न बध्नाति कालान्तरे तु भन्त्स्यतीति ।७। अष्टमस्त्वभव्यस्य स तु प्रतीत एव। (गहणागरिसमित्यादि) एकस्मिन्नेव भवे ऐर्यापथिककर्मपुद्गलानां ग्रहणरूपो य आकर्षोऽसौ ग्रहणाकर्षस्तं प्रतीत्यास्त्येकः कश्चिज्जीवः प्रथमवैकल्पिकः । तथाहि–उपशान्तमोहादिर्यदैर्यापथिकं कर्म बध्नाति तदातीतसमयोपेक्षया बद्धवान् वर्तमानसमयापेक्षया च बध्नाति अनागतसमयापेक्षया तु भन्त्स्यतीति ।१। द्वितीयस्तु केवली स ह्यतीतकाले बद्धवान् वर्तमाने च बध्नाति शैलेश्यवस्थायां पुनर्न भन्त्स्यतीति ।२। तृतीयस्तु उपशान्तमोहत्वे बद्धवांस्तत्प्रतिपतितस्तु न बध्नाति पुनस्तत्रैव भवे उपशमश्रेणिप्रतिपन्नो भन्त्स्यतीति एकभवे चोपशमश्रेणी द्विः प्राप्यत एवेति ।३। चतुर्थः पुनः सयोगित्वे बद्धवान् शैलेश्यवस्थायां न बध्नाति न च भन्त्स्यतीति ।४। पञ्चमः पुनरायुषः पूर्वभागे उपशान्तमोहत्वादि न लब्धमिति न बद्धवान् अधुना तु लब्धमिति बध्नाति । तदद्धाया एव चैष्यत्समये तु पूर्वं पुनर्भन्त्स्यतीति ।५। षष्ठस्तु नास्त्येव तत्र न बद्धवान् बध्नातीत्यनयोरुपपद्यमानत्वेऽपि न भन्त्स्तीत्यस्यानुपपद्यमानत्वात्, तथाह्यायुषः पूर्वभागे उपशानतमोहत्वादि न लब्धमिति न बद्धवांस्तल्लाभसमये च बध्नाति ततोऽनन्तर समयेषु च भन्त्स्यत्येव न तु न भन्त्स्यति समयमात्रस्य बन्धस्येहाभावात्, यस्तु मोहोपशमनिर्ग्रन्थस्य समयानन्तरमरणेनैर्यापथिककर्मबन्धः समयमात्रो भवति नासौ षष्ठविकल्पहेतुस्तदनन्तरमैर्यापथिककर्मबन्धाभावस्य भवान्तरवर्तित्वात् ग्रहणाकर्षणस्य चेह प्रक्रान्तत्वात् । यदि पुनः सयोगिचरमसमये बध्नाति ततोऽनन्तरं न भन्त्स्यतीति विवक्ष्येत तदा यत्सयोगिचरमसयमे बध्नातीति तद्बन्धपूर्वकमेव स्यान्नाबन्धपूर्वकं तत्पूर्वसमयेषु तस्य बन्धकत्वात्। एवं च द्वितीय एव भङ्गः स्यान्न पुनः षष्ठ इति ।६। सप्तमः पुनर्भव्यविशेषस्य, अष्टमस्त्वभव्यस्येति। इह च भवाकर्षापेक्षेषु अष्टासु भङ्गकेषु ''बंधी बंधइ बंधिस्सइ'' इत्यत्र प्रथमे भङ्गे उपशान्तमोहः। 'बंधी बंधन न बंधिस्सइ' इत्यत्र द्वितीये क्षीणमोहः । 'बंधी न बंधइ बंधिस्सइ' इत्यत्र तृतीये उपशान्तमोहः। बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ इत्यत्र चतुर्थे शैलेशीगतः। 'न बंधी बंधइ बंधिस्सइ, इत्यत्र पञ्चमे उपशान्तमोहः । 'न बंधी बंधइ न बंधिस्सइ' इत्यत्र षष्ठे क्षीण-मोहः । 'न बंधी न बंधइ बंधिस्सइ' इत्यत्र सप्तमे भव्यः । 'न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ' इत्यत्राष्टमे ऽभव्यः । ग्रहणापेक्षेषु पुनरेतेषु एव प्रथमे उपशान्तमोहः क्षीणामोहो वा, द्वितीये तु केवली, तृतीये उपशान्तमोहः, चतुर्थे शैलेशी गतः पञ्चमे उपशान्तमेवः क्षीणमोहो वा, षष्ठे शून्यः, सप्तमे भव्या भाविमोहोपशमो भविमोहक्षयो वा, अष्टमे त्वभव्य इति अथैर्यापथिकबन्धमेव निरूपयन्नाह ''तमित्यादि'' तदैर्यापथिकं कर्म साइयं सपज्जवसियमित्यादि चतुर्भङ्गी, तत्र चैर्यापथिककर्मणः प्रथम एव भङ्गे बन्धोन्येषु तदसम्भवादिति, भ०८ श०८ उ०।

इरियावहिया–स्त्री०(ईर्य्यापथिका) ईरणमीर्य्यागमनमित्यर्थः पथिजाता पथिका ईर्य्या चासौ पथिका च ईर्यापथिकेति । गमनप्रधानमार्गोत्पन्ने, आ०चू०४ अ०।

***ऐर्य्यापथिकी**–स्त्री० ईरणमीर्य्या गमनं तद्विशिष्टस्तत्प्रधानो वा पन्था ईर्य्यापथस्तत्र भवा ऐर्य्यापथिकी । स्था०२ ठा०। आव०४ अ०।

व्युत्पत्तिमात्रमिदं प्रवृत्तिनिमित्तं तु यः केवलयोगप्रत्यय उपशान्तमोहादित्रयस्य सातवेदनीयकर्मबन्धः सा ईर्यापथिकी। प्रव०१२१ द्वा०। क्रियाभेदे,

अजीवकिरिया दुविहा पण्णत्ता तंजहा इरिआवहिआ चेव संपराइया चेव।

यत्केवलयोगप्रत्ययमुपशान्तमोहादित्रयस्य सातवेदनी-यकर्म्मतया जीवस्य पुद्गलराशेर्भवनं सा ऐर्यापथिकी। क्रिया। इह जीवव्यापारेप्य-जीवप्रधानत्वविवक्षया जीवक्रियेमुक्ता कर्म्मविशेषावेर्यापथिकी क्रियोच्यते यतोभिहितम् ''इरियावहिया किरिया दुविहा वज्झमाणा वेइज्जमाणा य जा पढमसमये बद्धा, वीयसमये वेइया सा बद्धा पुट्ठा वेइया णिज्जिता से य काले अकम्मं वा वि भवइत्ति। स्था०२ ठा०।

तत्स्वरूपं यथा–

एसाउ लोभवत्ती, इरिआवहिअं अओ पचक्खामि।
इह खलु अणगारस्स, समिई गुत्तीसु गुत्तस्स ।।६०।।
सययं तु अप्पमत्तस्स, भावओ जाव चक्खुपम्हंपि।
निवयइ ता सुहुमा हु, इरिआवहिआ किरिअएसा ।।६१।।

इह खल्वनगारस्य साधोः समितिषु ईर्यासमित्यादिषु मनो-गुप्त्यादिषु गुप्तस्य संवृतस्य सततमेवाप्रमत्तस्य उपशान्तमाह क्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणस्थानकत्रयवर्तिनः । अन्येषां तु अप्रमत्तानामपि कषायप्रत्ययकर्मबन्धसद्भावेन केवलयोगनिमित्तकर्मबन्धोदयसंभवान्नाप्रमत्तशब्देनात्रग्रहणं भगवतः पूज्यस्य यावच्चक्षुः पक्ष्मापि निपतति स्यन्दते इदं च योग-स्योपलक्षणं ततोऽयमर्थो यावच्चक्षुर्निमेषोन्मेषमात्रोपि योगः संभवति तावत्सूक्ष्मा एकसामयिकबन्धत्वेनात्यल्पा सात-बन्धलक्षणा क्रिया भवति। एषा हु स्फुटमैर्यापथिकी क्रिया त्रयोदशीति। प्रव०१२१ द्वा०। आव०।

विस्तरेण तस्याः स्वरूपं सा कस्य भवति किंभूता वा क्लिष्टकर्मफला वा इत्येतद्दर्शतितुमाह–

अहावरे तेरसमे किरियाट्ठाणे इरियावहिएति आहिज्जइ इह खलु अत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमियस्स उच्चारपासवणखेलसिं घाणजल्लपारिट्ठावणियासमियस्स मणसमियस्स वयसमियस्स कायसमियस्स मणगुत्तस्स वयगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तिंदियस्स गुत्तबंभयारिस्स आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं णि-सियमाणस्स आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुञ्जमाणस्स आउत्तं भासमाणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गिण्हमाणस्स वा णिक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हणि वा यमवि अत्थि-विमाया सुहुमा किरिया इरियावहिया नाम कज्जइ सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा वितीयसमए वेइया तइय समए णिज्जिन्ना सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेइया णिज्जिन्ना सेयं काले अकम्मयावि भवंति एवं खलु तस्स तप्पतियं सा वज्जंति आहिज्जइ तेरसमे किरियाट्ठाणे इरियावहिएति आहिज्जइ। से वेमि जे य अतीता जे य पडुपन्ना जे य अगिमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एयाइ-

चेव तेरसकिरियाट्ठाणाइं भासिंसु वा भासेंति वा भासिस्संति वा पन्नविंसु वा पन्नविंति वा पन्नविंस्संति वा एवं चेव तेरसमं किरियाट्ठाणं सेविंसु वा सेविंति वा सेविस्संति वा ॥२३॥

इह जगति प्रवचने संयमे वा वर्तमानस्य। खलु शब्दो ऽवधारणे ऽलंकारे वा। आत्मनो भावः आत्मत्वं तदर्थमात्मत्वार्थं संवृतस्य मनोवाक्कायैः परमार्थत एवंभूतस्यैवात्म भावोऽपरस्य त्वसंवृतस्यात्मतत्वमेव नास्ति सद्भूतात्मकार्यकारणात्। तदेवमात्मार्थं संवृतस्यानगारस्येर्य्या-पथिकादिभिः पञ्चभिः समितिभिर्मनोवाक्कायैः समितस्य तथा तिसृभिर्गुप्तस्य पुनर्गुप्तिग्रहणमेताभिरेव गुप्तिभिर्गुप्तो भवतीत्यस्यार्थस्या-विर्भावनायात्यादरख्यापनार्थं वेति। तथा गुप्तेन्द्रियस्य नवब्रह्मचर्यगुप्त्यु पेतब्रह्मचारिणश्च सतस्तथोपयुक्तं गच्छतस्तिष्ठतो निषीदतो मुनेस्त्वग्वर्त्तनां कुर्वाणस्य तथोपयुक्तमेव वस्त्रं पतद् गृहं कम्बलं वा पादपुञ्छनकं वा गृह्णतो निक्षिपतो वा यावच्चक्षुः पक्ष्मनिपातमप्युपयुक्तं कुर्वतः सतोऽत्यन्तमुपयुक्तस्याप्यस्तिविद्यते। विविधामात्रविमात्रा तदेवं विधा सूक्ष्माक्षिपक्ष्मसंच-लनरूपादिकेर्यापथिका नाम क्रिया केवलिनापि क्रियते। तथाहि। सयोगिजीवो न शक्नोति क्षणमप्येकं निश्चलः स्थातुमग्निना ताप्यमानोदकवत्कार्मणशरीरानुगतः सदा परिवर्तयन्नेवास्ते। यथाचोक्तं ''केवलीणं भंते ! अस्सि समयंसि जेसु आगासपएसेसु' इत्यादि तदेवं केवलिनोपि सूक्ष्मगात्रसंचारा भवन्तीह च कारणे कार्योपचारात्तया क्रियया यद्बध्यते कर्म तस्य कर्मणो या अवस्थास्ताः क्रियाः ता एव दर्शयितुमाह। (सापढमसमये इत्यादि) या सावकाषायिणः क्रिया तथा यद्बध्यते कर्म तत्प्रथमसयम एव बद्धं स्पृष्टं चेति कृत्वा तत्क्रियैव बद्धस्पृष्टेत्युक्ता तथा द्वितीयसमये वेदितेत्यनुभूता तृतीयसमयेऽतिजीर्णा। एतदुक्तं भवति। कर्मयोगनिमित्तं बध्यते तत्स्थितिश्च कषायायत्ता तदभावाच्च न तस्य सांपरायिकस्येव स्थितिः किंतु योगसद्भावाद्बध्यमानमेव स्पृष्टतां संश्लेषं याति। द्वितीयसमये त्वनुभूयते तच्च प्रकृतितः सातावेनीयं स्थितितो द्विसमयस्थिति-कमनुभावतः शुभानुभावनुत्तरोपपातिकदेवसुखातिशायि देशतो बहुप्रदेशमस्थिरबन्धं बहुव्ययं च। तदेवं सेर्यापथिका क्रिया। प्रथमसमये बद्धस्पृष्टा द्वितीयसमये उदिता वेदिताऽतिजीर्णा भवति (सेयंकालेत्ति) आगामिनि तृतीयसमये तत्कर्मापेक्षया कर्मतापि च भवति। एवं तावद्वीतरागस्येर्याप्रत्ययिकं कर्माधीयते संबध्यते। तदेतत्रयोदशं क्रियास्थानं व्याख्यातम्। ये पुनस्तेभ्योऽन्ये प्राणिनस्तेषां सांपरायिको बन्धस्ते तु यानि प्रागुक्तानीर्यापथवर्ज्यानि द्वादश क्रियास्थानानि तेषु वर्त्तन्ते तेषां तद्वर्तिनामसुमतां मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगनिमित्तः सांपरायिको बन्धो भवति। तत्र च प्रमादस्तत्र कषाययोगाश्च नियमाद्भवन्ति। कषायिणश्च योगा योगिनस्त्वेते भाज्याः। तत्र प्रमाद-कषायप्रत्ययिको बन्धोऽनेकप्रकारा स्थितिः। तद्रहितस्तु केवलयोगप्रत्ययिको द्विसमयस्थितिरेवेर्याप्रत्ययिक इति स्थि-तम्॥ सूत्र०२ श्रु०२ अ० भ० आव० आ०चू०। (चतुर्विंशतिदण्ड-केऽस्या वक्तव्यता किरिय शब्दे) ऐर्य्यापथिक्याः प्रति-क्रमणावश्यकता यथा ईर्य्यापथ प्रथमप्रतिक्रमणं कृत्वा न किंचिदन्यत् कुर्य्यात्तदशुद्धतापत्तेरिति। दश०चूलि०२।

तथा च महानिशीथे–

गोयमा णं अप्पडिक्कंताए इरियावहियाए न कप्पइ चेव काउं किंचि चिइवंदणा झायाइयं फलासायमभिकंखुगाणं एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुचइ जहाणं गोयमा ! समुत्तत्थोभ-यपंचमंगला थिरपरिचयं काऊणं तओ इरियावहियं अब्भीए से भयवं कय एए विहिए तमिरियावहीए महीए गोयमा ! जहा णं पंचमंगलमहसुयं खंधे से भयवमिरियावहियमहिज्झित्ताणं। महा०१ अ०।

एतस्याः प्रतिक्रमणं स्वरूपञ्च यथा–

इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए। विराहणाए गमणागमणे। पाणक्कमणे बीयक्कमणे हरियक्कमणे। ओसा-उत्तिंगपणगदग-मट्टीमक्कडासंताणासंकमणे जेमे जीवा विराहिया एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया अभिहया वत्तिया लेसिया। संघाइया संघट्टिया परियाविया किलामिया उद्दविया ठाणओ ठाणं संकामिया जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

इच्छाम्यभिलषामि प्रतिक्रमितुं निवर्त्तयितुमीर्यापथिकायां विराधनायां योऽतिचार इति गम्यते। तस्येति योगः अनेन क्रियाकालमाह 'मिच्छामि दुक्कडंति' अनेन तु निष्ठाकालमिति तत्रेरणमीर्य्या गमनमित्यर्थः तत्प्रधानः पन्था ईर्यापथः तत्र भवा ईर्यापथिका तथा किंविशिष्टायामित्यत इति आह। विराध्यन्ते दुखं स्थाप्यन्ते प्राणिनोऽनयेति विराधना क्रिया तस्यां विराधनायां तस्या योऽतिचार इति वाक्यशेषस्तस्येति योगः विषयमुपदर्शयन्नाह गमनं चागमनं चेत्येकवद्भावस्तस्मिंस्तत्र गमनं स्वाध्यायादिनिमित्तं वसतिरिति आगमनं प्रयोजनपरिसमाप्तौ पुनर्वसतिमेवेति तत्रापि यः कथं जातोतिचार इत्यत आह। 'पाणक्कमणे, प्राणिनो द्वीन्द्रियादयस्त्रयो गृह्यन्ते तेषामाक्रमणं पादेन क्रीडनं प्राण्याक्रमणं तस्मिन्निति तथा बीजाक्रमणे अनेन बीजानां जीवत्वमाह–हरिताक्रमणे अनेन तु सकलवनस्पतिरेव तथा अवश्या-योत्तिङ्गपनकदगमृत्तिकामर्कटसंतानसंक्रमणे सति तत्राव-श्यायोजलविशेषः इह चावश्यायग्रहणमिति स यतः शेषजल संभोगपरिहरणार्थं मित्येवमन्यत्रापि भावनीयम् उत्तिंगा गर्द्द-भाकृतयो ये जीवाः कीटिका नगराणि वा पनक इल्लिदगमृत्तिका विखल्लः अथवा दगग्रहणादप्कायः मृत्तिकाग्रहणात्पृथिवीकायः मर्कटसंतानं कोलिकाजालमुच्यते ततश्चावश्या-यश्चोत्तिङ्गा श्चेत्यादिद्वन्द्वः अवश्यायो-त्तिङ्गपनकदगमृत्तिकामर्कट-संतानास्तेषां संक्रमणमाक्रमणं तस्मिन्किबहुना कियन्तो भेदेनाख्यास्यन्ते सर्वे ये मया जीवा विराधिता दुःखेन स्थापिताः एकेन्द्रियाः पृथिव्यादयः द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः त्रीन्द्रियाः पिपीलिकादयश्चतुरिन्द्रिया भ्रमरादयः पञ्चेन्द्रिया मूषिकादयः अभिहता अभिमुख्येन हताश्चरणेन घट्टिताः उत्क्षिप्य विक्षिप्ता वा वर्त्तिताः पुञ्जीकृताः धूल्या वा स्थिता इति श्लेषिताः श्लिष्टा भूरित्यादिषु वा लगिताः संघातिताः अन्योन्यं गात्रैरेकत्र लगिताः संघट्टिताः मनाक् स्पृष्टाः परितापिताः समन्ततः पीडिताः क्रामिताः समुद्घातं नीताः ग्लानिमापादिता इत्यर्थः। अपद्राविताः उत्त्रासिताः स्थानात्स्थानं संक्रामिताः स्वस्थानात्परस्थानं नीताः जीविताद्व्यपरोपिता मारिता इत्यर्थः एवं यो जातोतिचारः तस्येत्येतावता क्रियाकालमाह। तस्स मिच्छामि दुक्कडमनेन निष्ठाकालमाह मिथ्यादुष्कृतं पूर्ववदेवं तस्येत्युभयत्र

योजना सर्वत्र कार्य्या। आव०४ अ०। इच्छामि पडिक्कमितु तिपुव्वभणितं एस संखेवत्थो इरियावहियाए'' विस्तरस्तु गमणेत्यादि। आ०चू०४ अ०।

ननु द्वयोः श्राद्धयोः प्रतिक्रमणकरणसमयेऽथवा सामायिके कृते सति एकस्य हस्तादपरेण चरवलके पातिते उभयोर्मध्ये कस्येर्यापथिकी समायाति किमुभावपि प्रतिक्रामतः एको वेति। (उत्तरम्) अत्र द्वयोः श्राद्धयोः प्रतिक्रमणकरणादौ सावधान-तयैकेन चरवलको गृहितो भवति अथ यदि द्वितीयहस्तलगनेन हेतुना पतति तदा तस्येर्य्यापथिकी समायाति यदि च गृहीतो प्यसावधानतयेव तदोभयोरपीर्य्यापथिकी समायातीति ॥१॥ तथा यः शुद्धक्रियां कुर्वाणः शुद्धाचारं च पालयन् ईर्यापथिकी मागतां न जानाति सकियद्भिर्मुहूर्तैस्तां प्रतिक्रामतीति (उत्तरम्) अत्र शुद्धक्रियायां क्रियमाणायां सोपयोगतया प्रमार्जनादिविधि-नोपवेशनादिषु ईर्यापथिकी नायाति यतस्तामाश्रित्य कालमानमुक्तं ज्ञातं नास्ति तथापि क्रियान्तरे क्रियमाणे ईर्यापथिकी प्रतिक्राम्यते यतो महत्थां वेलायां मनोवचः कायोपयोगानां सम्यगवबोधो न भवतीति ॥२॥ ईर्य्या गमनं तस्याः पन्था मार्ग ईर्य्यापथ स्तत्र भवा या समितिः ईर्य्यासमितिलक्षणा सा ऐर्य्यापथिकी। समितिभेदे, स्था०६ ठा०। (तद्वक्तव्यता इरियासमिइ शब्दे। ऐर्य्यापथि-क्याप्परिमन्थुः कप्प शब्दे। उच्चारादौ ईर्याप्रतिक्रान्तव्या इति पडिक्कमण शब्दे)

इरियासमिइ–स्त्री०(ईर्य्यासमिति) सम्यगितिः प्रवृत्तिः समितिः ईर्य्यायां गमने, समितिश्चक्षुर्व्यापारपूर्वतयेतीर्य्यासमितिः समिति-भेदे। स्था०८ ठा०। आव०। पा०। सम०। प्रव०। तत्स्वरूपं धर्मसंग्रहे यथा–

त्रसस्थावरजन्तुजाताभयदानदीक्षितस्य मुनेरावश्यके प्रयोजने गच्छतो जन्तुरक्षानिमित्तं स्वशरीररक्षानिमित्तं च पादाग्रादारभ्य युगमात्रक्षेत्रं यावन्निरीक्ष्य ईरणं ईर्या गतिस्तस्यां समितिरीर्यासमितिर्यदाहुः ''पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे। वज्जंतो वीअहरिआइं, पाणे अ दगमट्टिअं ॥१॥ उवायं विसमं खाणु, विज्जलं परिवज्जए। संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे'' २ एवंविधोपयोगेन गच्छतो यतेः कथंचित्प्राणिवधोऽपि प्राणिवधपापं न भवति यदाह ''उच्चालिअम्मि पाए, इरिआस-मिअस्स संकमट्ठाए। वा वज्जिकुलिंगी मारेज्ज तज्जोगपासज्ज ॥१॥ नय तस्स तत्तिमित्तो, बंसुद्दमो विदेसिओ समए। जम्हा २ तथा ''जिअदुवमरदुवजीवो, अजदारस्स निच्छओ हिंसा। पयदस्सणत्थिबंधो, हिंसा मित्तेण समिदस्स''। ध०३ अधि०। प्रव०। जीवसंरक्खण जुगमेत्तंतरदिट्ठस्स अप्पमादिणो संजमो व करणुप्पायणाणिमित्तं जा गमणकिरिया सा इरियास-मिती। नि०चू०१ उ०। ईर्य्यासमितिर्नाम रथशकटयानं वाहनाक्रान्तेषु सूर्यरश्मिप्रताषितेषु प्रासुकविविक्तेषु पथिषु युगमात्रदृष्टिना भूत्वा गमनागमनं कर्त्तव्यमिति। आव०४ अ०। ईर्य्यासमितेर्विस्तरेण स्वरूपमाह।

आलंबणेण काले, मग्गेण जयणाए य।
चउकारणपरिसुद्धं, संजए इरियं रिए।

आलम्बनेन कालेन मार्गेण यतनया च चतुः कारणैरेभिरेव आलम्बनादिभिः परिशुद्धा निर्दोषा चतुः कारणपरिशुद्धा तां संयतो यतिरीर्यागति (रिएत्ति) रीयेतानुष्ठानंविषयतया प्राप्नुयात् यद्वा सुब्व्यत्ययाच्चतुः कारणपरिशुद्धया ईर्य्यारीयेत गच्छेत् आलम्बनादीन्येव व्याख्यातुमाह।

तत्थालंबणं णाण–दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गाउप्पहविवज्जए॥

वज्जए तत्र तेष्वालम्बनादिषु मध्ये आलम्बनं यदालम्ब्य गमनमनुज्ञायते निरालम्बनस्य हिनानुज्ञातमेव गमनं ततः किमित्याह–ज्ञानं सूत्रार्थोभयात्मकागमरूपं दर्शनं दर्शनप्रयोजनं चरणं चारित्रं तथा शब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थत्वेन द्वित्वादि-भङ्गसूचकस्ततोयमर्थः प्रत्येकं ज्ञानादीन्याश्रित्य द्विकादिसंयोगेन वा गमनमनुज्ञातमालम्बनेति व्याचष्टे कालश्च प्रस्तावादीर्यया दिवस उक्तस्तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते रात्रौ द्व्यचक्षुर्विषयत्वेन पुष्टतरालम्बनं विना नानुज्ञातमेवं गमनं मार्गेणेति द्वार व्याख्यातुमाह मार्ग इह सामान्येन पन्थाः स उत्पथेनोन्मार्गेण वर्जितो रहितः उत्पथवर्जितः उक्तसबन्धः उत्पथेहि व्रजत आत्मसंयमविराधना-दयो दोषाः। यतनेति द्वारं वुवूर्षुराह।

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मेवि तयओ सुण।

(दव्वओ इत्यादि) सुगममेव नवरं तामिति चतुर्विधयतनां मे कीर्तयतः सम्यक् प्ररूपाभिधानद्वारेण संशब्दयतः शृण्वा कर्णय शिष्येति गम्यते। यथा प्रतिज्ञातमेवाह–

दव्वओ चक्खुणा पेहे, जुगमेत्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीएज्जा, उवउत्ते व भावओ॥

द्रव्यत इति जीवादिकद्रव्यमाश्रित्येयं यतना यच्चक्षुषा दृष्टया प्रेक्षेतावलोकयेत्प्रक्रमात् जीवादिकं द्रव्यमवलोक्यं च संयमात्मविराधना परिहारेण गच्छेदिति भावो युगमात्रं च चतुर्हस्तप्रमाणं प्रस्तावात्क्षेत्रं प्रेक्षेत इयं क्षेत्रतो यतना कालतो यतना यावत् (रीएज्जत्ति) रीयते यावन्तं कालं पर्यटति तावत् कालमिति गम्यते उपउक्तश्च भावतो दत्तावधानो यद्रीयते इयं भावभङ्गीकृत्य यतना। उपयुक्तत्वमेव स्पष्टयितुमाह।

इंदियत्थे विवज्जत्ता, सज्झायं च पंचहा।
तस्सुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्तो रियं रए॥

इन्द्रियार्थान् शब्दादीन् विवर्ज्य तदनाध्यवसानतः परिहृत्थ स्वाध्यायं चैव चः समुच्चये एवकारोऽपि शब्दार्थस्ततो यमर्थान् केवलमिन्द्रियार्थान् विवर्ज्य किंतु स्वाध्यायं चापि पञ्चधेति वाचनादिभेदतः पञ्चप्रकारं गत्युपयोगापधातित्वात्ततश्च तस्यामेव ईर्यायां मूर्तिः शरीरमर्थाद् व्याप्रियमाणा यस्याऽसौ तन्मूर्त्तिस्तथा तामेव पुरष्करोति तत्रैवोपयुक्ततया प्राधान्येनाङ्गीकुरुते इति तत्पुरस्कारोऽनेन कायमनसोस्तत्परतोक्ता वचसो हि तत्र व्यापार एव न समस्ति एवमुपयुक्तः सन्नीर्यां रीयेत यतिरिति शेषः। सर्वत्र च संयमात्मविराधनैव विपक्षे दोष इति सूत्रपञ्चकार्थः। उत्त०४ अ०।

ईर्य्यासमितौ उदाहरणं यथा–एको साहू समणगुणभाविओ इरियासमिइए जुत्तो विहरइ। एत्थंतरे सक्कआसणं चलियं। पउत्तावही साहुं दट्ठुं परमभत्तीए वंदइ पसंसइ य देवसभामज्झगओ तओ मिच्छदिट्ठी एगो देवो असद्दहंतो समागओ साहुस्स, वियारभूमिं पइट्ठियस्स पुरओ मच्छियप्पमाणाओ मंदुक्कलियाओ विउव्वइ। पच्छओ य मत्तहत्थिं तहा वि गइं न भिंदइ। तओ हत्थिणा उक्खिविऊण भूमिए पाडियो न य सो भयं च न य सरीर गणेइ। किं तु सत्ता मे मारियत्ति। जी वदयापरिणओ अत्थइ। स देवोवि अचलियं तं साहुं पेहत्त इंदव्वुत्तं तं निवेयत्ता देवलोगं गओत्ति'' पा०। ''अहवाअर-

हणओ समितो असमितो देवताए पादो छिण्णो अण्णए संधितो इत्यधिकम्'' आ०चू०४ अ०। (अस्याः प्रवचनमात्रत्वम् पवयणमायाशब्दे) (इर्य्यासमितौ अनाभोगप्रतिषेवणं भवतीति पडिसेवणाशब्दे) (ईर्य्यासमितेः परिमन्थवः कप्प शब्दे)

इरियासमिइजोग–पुं०(ईर्य्यासमितियोग) ईर्य्यासमितिव्यापारे, ''जे एवं इरियासमिइजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पाइति'' प्रश्न०१ द्वा०।

इरियासमिय–पुं०(ईर्य्यासमित) ईरणं गमनमीर्य्या तस्यां समितः (सम्यक् प्रवृत्तः भ०२ श०१ उ०) (उपयुक्तः। प्रव०७२ द्वि०। दत्तावधान ईर्य्यासमितः। पुरतो युगमात्रभूभागन्यस्तदृष्टिगामिनि, आचा०२ श्रु०६ अ०। आव० ''इरियासमिए सया जये'' ईरणमीर्य्या गमनं तस्यां समितः सम्यक् प्राप्तः ईर्य्या समितः ईर्य्यासमितता प्रथमभावना यतोऽसमितः प्राणिनोहिंस्यात् सदाऽतो यत्तः सर्वकालमुपयुक्त इति। आव०४ अ० प्रव०। (इर्य्यासमितस्य विस्तरेण वक्तव्यता इरियासमिइ शब्दे) (ईर्य्यासमितस्य प्राणातिपातविरमणव्रतस्य प्रथम भावना भवतीति प्राणा-इवायवेरमण शब्दे भावनाशब्दे च द्रष्टव्यम्)

इला–स्त्री०(इला) इल् –क–भूमौ, वाच०। जम्बूद्वीपान्तर्गते वर्षभेदे, आ०क०। इलावर्धनगरस्थायां स्वनामख्यातायां देवतायाम्। आ०म०द्वि०। आ०चू(तत्कथा इलापुत्त शब्दे) पश्चिमरुचकवास्तव्ये दिक्कुमारीभेदे च। ति०।

इलाकूड–न० (इलाकूट) क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतस्थे इलादेव्यधिष्ठिते कूटभेदे, । स्था०४ ठा०।

इलादेवी–स्त्री०(इलादेवी) पश्चिमरुचकवास्तव्ये दिक्कुमारी भेदे० आ०क०। जं०। आ०म०प्र०। स्था०।

इलादेवीकूड–न०(इलादेवीकूट) क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतस्थे इलादेव्यधिष्ठिते कूटभेदे, जं०२ वक्ष०।

इलापुत्त–पुं०(इलापुत्र) इलावर्द्धनपुरस्थे इलादेवी प्रसादाज्जाते स्वनामख्याते श्रेष्ठिसुते, तत्कथा यथा।

एकस्मिन् कुत्रचिद्ग्रामे श्रुत्वा धर्मं गुरोः पुरः।
द्विज एकः सपत्नीकः परिव्रज्यामुपाददे ॥१॥

तप्यते स्म तपस्तीव्रं प्रीतिर्नागात्परं मिथः।
धिग्जेति स्त्रीशूद्रसङ्गविचिकित्सा व्यधात्पुनः ॥२॥

मृत्वा तौ जग्मतुः स्वर्गं तत्र सौख्येन तिष्ठतः।
इतश्च भरतेऽमुष्मिन्निलामण्डलमण्डनम् ॥३॥

इलावर्धननाम्नास्ति पुरं प्रस्पर्द्धितं परैः।
सत्योपयाचिता तस्मिन्निलानाम्न्यस्ति देवता ॥४॥

एका च श्रेष्ठिनी तत्र सिषेवे तां सुतार्थिनी।
स च द्विजामरः स्वर्गाच्च्युत्वा तस्याः सुतोऽभवत् ॥५॥

तस्येलापुत्र इत्याख्या चक्रे त्युत्सवपूर्वकम्।
स्त्रीजीवो विचिकित्सातः संजज्ञे मंखपुत्रिका ॥६॥

प्राप्तौ स्मरकरिक्रीडा–वनं द्वावपि यौवनम्।
नृत्यन्तीं मंखपुत्रीं ता–मिलापुत्रोन्यदैक्षत ॥७॥

अभवत्प्राग्भवे प्रेम्णानुरागस्तस्य तां प्रति।
नैव तस्य ददुस्ते तां सुवर्णेनापि तोलिताम् ॥८॥

अक्षयो निधिरस्माकमियं नेमां ददामहे।
यदि नः सहचारी स्यादस्मद्विधा च शिक्षते ॥९॥

तदेनामेव लभते भूयमापि धने न च।
मुक्त्वा कुटुम्बं तत्कामस्तेषां सोथानुगोऽभवत् ॥१०॥

शिक्षितः सोथ तद्विद्यां विवाहायार्जितुं धनम्।
वेन्नातटपुरे गत्वा ययाचेऽवसरं नृपः ॥११॥

इलापुत्रस्य नाट्यस्था ऽवसरोऽदायि भूभुजा।
स्वयं शान्तःपुरः सोथ पौराः सर्वेपि चाविशन् ॥१२॥

न्यस्तस्तत्र महान् वंशः फलकं तस्य चोपरि।
न्यस्तौ द्वौ द्वौ तथा लोहकीलकौ फलकान्तयोः ॥१३॥

तस्योपरि ननर्ताऽरिलापुत्रो धनाशया।
धनिनां द्वारि सौवर्ण–यष्ट्यां क्रीडां मयूरवत् ॥१४॥

अधस्तान्मंखपुत्र्या च गायकीवृन्दयुक्तया।
गीतं गीतं रसस्फीतं प्रीतं सामानिकैर्थतः ॥१५॥

सच्छिद्रपादुकापादः करोपात्तासिखेटकः।
उत्पत्योत्पत्य गगने ददानः किरणानि सः ॥१६॥

अप्रमत्तः सप्तसप्तपुरः पश्चान्मुखानि च।
फलकप्रान्तकीलेषु प्रवेशयति पादुके ॥१७॥

एवं कृते भवल्लोकः सर्वः सर्वस्वदानधीः।
राज्ञा दत्ते परं त्यागे प्राक् पश्चाद्ददते परे ॥१८॥

नट्यां रक्तो नृपस्तानि भूयो भूयोऽप्यदापयत्।
तन्मृत्युमीहते राजा स पुनर्धनमीहते ॥१९॥

ज्ञातं तेनाप्यथ यथा नट्यां राजापि रागवान्।
स च तत्र स्थितो दृष्ट्वा निकटे श्रेष्ठिनो गृहे ॥२०॥

युवतीः सादरं साधु प्रतिलाभनतत्पराः।
साधुदृष्टिः पुनर्भक्त–शुद्धौ तासां न वीक्षणे ॥२१॥

दध्यौ निविषया ह्येते धिलां विषयरागिणम्।
तदेवं भावयन् प्राप ज्ञानं तत्रैव केवलम् ॥२२॥

राज्ञोदुश्चिन्तितध्यानात्तल्लेभे मङ्क्षु पुत्र्यपि।
पट्टराज्ञ्यपि तत्तद्भावयन्ती समासदत् ॥२३॥

श्रुत्वापरागं स्वं लोकाद् ध्यात्वा दुश्चिन्तितं च तत्।
विरक्तो भावनासक्तः प्राप भूपोऽपि केवलम् ॥२४॥

चतुर्णां केवलोत्पत्तौ तत्रेयुर्व्यन्तरामराः।
साधुवेषं ददुस्तेषां वंशं स्वर्णोत्पलं व्यधुः ॥२५॥

आख्यद्धर्ममिलापुत्रः प्रत्यबुध्यत्ततो जनः।
सम्यक्त्वाभिग्रहादीनां कोपि किंचित्प्रपन्नवान् ॥२६॥

आ०क०। आ०चू०। आ०म०द्वि०। विशे०।

इलावह–पुं०(इलापति) ऐलापत्यगोत्रस्य प्रकाशके आद्यपुरुषे, नं०।

इलवच्चा–स्त्री०(इलापत्या) स्वनामख्यातायां तृतीयरात्रौ, कल्प०।

इलावद्धण–न०(इलावर्द्धन) इलापुत्रस्य निवासस्थाने पुरभेदे, इतश्च भरतेऽमुष्मिन्निलामण्डलमण्डनम्। इलावर्द्धननामास्ति पुरं प्रस्पर्द्धितम्परैः। इति०। आ०क०। आ०म०। आ०चू०।

इलिया–स्त्री०(इलिका) तृणपत्रनिसृते द्वीन्द्रियजीवविशेषे, । आचा०। द्वीन्द्रियेलिकायाश्चतुरिन्द्रियत्वे हीरप्रश्ने पण्डित-विरावर्षिगणिकृत-प्रश्नेषु प्रश्नो यथा–द्वीन्द्रियेलिका स्फुटित्वा चतुरिन्द्रियभ्रमरी कथं भवति। उत्तरम्। इलिकाकलेवरमध्ये इलिकाजीवोऽपरो वा भ्रमरीत्वेनागत्योत्पद्यत इति। ही०।

इलियागइ–स्त्री०(इलिकागति) इलिकाया इव गतिरिलि कागतिः परलोकगमनार्थं गतिविशेषे, तस्याः स्वरूपं यथा–''इलिका पुच्छदेशमपरित्यज्य स्वमुखेनाग्रेतनं स्थानं शरीरप्रसारणेन संस्पृश्य ततः तथा पुच्छे संहरति एवं जीवोपि कश्चित्स्वभवान्तकाले स्वप्रदेशैरुत्पत्तिस्थानं संस्पृश्य परभवायुः प्रथमसमये शरीरं परित्यजति। पं०सं०२ द्वा०।

इल्ल–इल्ल–मतुवर्थके प्रत्यये, ''मतुवत्थं च मुणेज्जह आले इल्लचणं च मतुवं च इति'' पं०सं०३ द्वा०। आव०।

इल्ली–देशी० शार्दूले, सिंहे, वर्षत्राणे च। दे०ना०।

इल्लीर–देशी० वृष्ट्याम्, वृष्टिवारणे गृहद्वारे च, दे०ना०।

इल्लो–देशी० दरिद्रे, कोमले, प्रतीहारे, लवित्रे, कृष्णवर्णे च दे० ना०।

इव–अव्य०(इब) सादृश्ये, उत्प्रेक्षायाम्, तं०। ईषदर्थे वाक्यालंकारद्योतकता चास्य तत्र उपमायामिवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्चेति वार्तिकेन नित्यसमासः। विभक्तेर्लोपाभावश्च। वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। रघुः अस्य च **''मिवपिव विव व्व व विउ इवार्थे वा ८।२।८२।** इति प्राकृतसूत्रेणेवार्थे एतेषामेव प्रायः प्रयोगो भवति। कुमुअं मिव–चंदणं पिव हंसो विव० साअरोव्व खारोओ, सेसस्सव निम्मोओ (फुल्लंनीलुप्पलवणं व। तं०) कमलंविअ पक्षे निलुप्पलमाल इवेति। प्रा०व्या०।

इस–इष गतौ, सर्पणे च। दिवा० पर० सक० सेट् इष्यति ऐष्यत् –ऐषीत्–इषित एषित्वा। अनु–अन्वेषणे, गवेषणे। वाच०।

इ(रि)सि–पुं०(ऋषि–) पश्यन्तीति ऋषयः। औप०। उपा०। **ऋणर्ज्वृषमर्त्वृषौ वा ८।१।४१।** इति सूत्रेण वैकल्पिको 'रि' इत्यादेशः। रिसी पक्षे। **इत् कृपादौ ।८।१।२८।** इति सूत्रेणेकारा-देशः। इसी। अतिशयज्ञानिनि साधौ, औ०। अवध्यादिज्ञानवति, उपा०। ज्ञानिनि। भ०९ श०३२ उ०। प्रत्येकबुद्धसाधौ, । पा०। ऋषीणामुत्तमं ह्येतन्निर्दिष्टं परमर्षिभिः। हिंसादोषनिवृत्तानां वृतशीलविवर्धनम् ॥७॥ पश्यन्ति यथा वद्वस्त्विति ऋषयो मुनय इति। हा०। मूलोत्तरगुणयुते साधौ, ध०३० अधि०। मुनौ, उत्त०१२ अ०। गणधरव्यतिरिक्ताः शेषाः जिनशिष्या ऋषयः इति। सम०। २४ स०। पं०चू०। जे णामिवं ''ता इसिणा स एसो, । स एष ऋषिर्वर्तते येन ऋषिणाहं वान्यात्यक्तेति। उत्त०१२ अ०।

ऋषेर्लक्षणं यथा ॥

अनिए अवासो समुआणचरिआ, अण्णाय उंछं पयरिक्कया य। अप्पोवहीकलवविवज्जणा य, विहार चरिआ इसिणं पसत्था ॥५॥

अनियतवासो मासकल्पादिना अनिकेतवासो वा अगृहे उद्यानादौ वासः तथा समुदानचर्या अनेकत्र याचितभिक्षाचरणम् अज्ञातोञ्छं विशुद्धोपकरणग्रहणविषयं (पइरिक्कया य) विजनैकान्तसेविता च अल्पोपधित्वमनुल्वण युक्तस्तोकोपधिसेवि त्वे कलहविवर्ज्जना च तथा तद्वासिना भण्डनविवर्जना विवर्जनं विवर्जना श्रवणकथादिना परिवर्जनमित्यर्थः। विहारचर्या विहरणस्थितिर्विहरणमर्यादा इयमेवंभूता ऋषीणां साधूनां प्रशस्ता व्याक्षेपाभावात्। आज्ञापालनेन भावचरणसाधनात्पवित्रेति सूत्रार्थः। दश०२ चूलि०। कपिलादीनामृषीणामिति। द्वा०२३ द्वा०। स्वनामख्याते ऋषिवादीन्द्रभेदे च। स्था०२ ठा०।

इसिगुत्त–पुं०(ऋषिगुप्त) वशिष्ठसगोत्रस्यार्य्यसुहस्तिनः शिष्ये, वशिष्ठसगोत्रे स्वनामख्याते स्थविरे, । तस्मान् माणवगणो निर्गतः तथाच ''थेरेहिंतो णं इसिगुत्तेहिंतो वासिट्ठ सगोत्तेहिं तो एत्थ णं माणवगणे णामं गणे णिग्गए इति।

स्वनामख्यांते माणवगणस्य प्रथमे कुले च ॥ कल्प०।

इसिण–पुं०(इसिन) अनार्यदेशभेदे, ज्ञा०१ अ०।

इसिणिया–स्त्री०(इसिनिका) इसिनामकानार्यदेशोद्भवायां नार्याम्, प्रज्ञा०१ पद।

इसितडाग–पुं०(ऋषितडाग) तोशलिदेशस्थे शैलपुरनगरस्थे स्वनामख्याते सरसि, ''सेलपुरेइसि तडागम्मि होति अट्ठाहिया। महिमा तोसलिदेशे शैलपुरे नगरे ऋषितडागे सरसि प्रतिवर्षं महता विच्छर्देनाष्टाहिका महती महिमा भवतीति। वृ०१ उ०। तोश-लिनगरस्थे स्वनामख्याते सरसि च। ''तोसलीनगरम्मि इसि-वालो,, तोशलिनगरवास्तव्येन वणिज्ञा ऋषिपालो नाम वाणमन्तर उज्जयनी कुत्रिकापणात्क्रीत्वान्ते बुद्धिमाहात्म्येन सम्यगारा-धितस्ततस्तेन ऋषितडागनाम सरः कृतमिति वृ०३ उ०।

इसिदास–पुं०(ऋषिदास) राजगृहस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, अणु०३ व०३ अ०। (तद्वक्तव्यता धनश्रेष्ठिवत् अणुत्तरो ववाइय शब्दे)

इसिदासज्झयण–न०(ऋषिदासाध्ययन) ऋषिदासवक्तव्यता प्रतिबद्धेऽनुत्तरोपपातिकदशायास्तृतीयवर्गस्य तृतीयेऽध्ययने, अणु०। वाचनान्तरापेक्षया प्रथमेऽध्ययने च। स्था०१० ठा०।

इसिदिण्ण(दत्त)–पुं०(ऋषिदत्त) भरतवर्षवासिसुमतिजिन समानकालिके ऐरावतवर्षवासिनी जिनभेदे, – ''सुमई य भरहवासे इसिदिण्णजिणो य एरवणयवासे य'' ति०। सम०। सुस्थि-तसुप्रतिबुद्धानां कौटिककाकन्दकानां शिष्ये, काश्यपगोत्रोत्पन्ने स्वनामख्याते स्थविरे च॥ कल्प०।

इसिदत्तय–पुं०(ऋषिदत्तक) स्थविरात् रिसिगुप्तान्मानवगणस्य द्वितीये कुले, कल्प०।

इसिपरिसा–स्त्री०(ऋषिपरिषत्)पश्यन्तीति ऋषयोऽवध्यादि ज्ञानवन्तः (उपा०२ अ०) त एव परिषत्परिवारः ऋषिपरिषत् अतिशयज्ञानि-साधूनाम्परिवारे, औ०। महइमहालियाए परि-साए''। पश्यन्तीति ऋषियो ज्ञानिनस्तद्रूपा पर्षत्परिवारः ऋषिपर्षत्तस्यै। भ०९ श०३३ उ०।

इसिवाल–पुं०(ऋषिपाल) स्वनामख्याते ऋषिवादिव्यन्तरनिकाये इन्द्रभेदे, स्था०२ ठा०। स्वनामख्याते वाणव्यन्तरे च। स च तोशलिनगरवास्तव्येन वणिजा ऋषिपालो नाम वाणव्यन्तर उज्जयनीकुत्रिकापणात् क्रीत्वा तेन बुद्धिमहात्म्येन सम्यगाराधित इति। वृ०३ उ०।

इसिवालिय–पुं०(ऋषिपालित) ऋषिवादिव्यन्तरनिकायेन्द्रभेदे, इसिवालियमयमहिया इति–इसिवालियस्स भद्दसुरघरकारयस्स वीरस्स जेहिंसया पुवंता सव्वे इंदा पवरकित्तिया ३। दे०७ प०। आर्यशान्तिसैनिकस्य माठरसगोत्रस्य शिष्ये, स्वनामख्याते स्थविरे च। तन्निर्गतायां स्वनामख्यातायां शाखायाम् स्त्री०टाप्० ''थेरेहिंतो अज्जुइसिवालिएहिंतो इत्थणं अज्जुइसिवालिया साहा णिग्गया इति'' कल्प०।

इसिभद्दपुत्त–पुं०(ऋषिभद्रपुत्र) स्वनामख्याते श्रावके, ऋषि-भद्रपुत्रवत्संविग्नगीतार्थगुरुसमीपश्रवणसमुत्पन्नप्रवचनार्थ कोशलेन भावश्रावकेण भाव्यमिति। ध०र०।

ऋषिभद्रपुत्र कथाचैवं–

तेणं कालेणं तेणं समएणं आलंभियाणामं णयरी होत्था वण्णओ संखवणे चेइण वण्णओ तत्थणं आलंभियाए णयरीए बहवे इसिभद्दपुत्तप्पमोक्खा समणोवासगा परि-

वसंति अड्ढे जाव अपरिभूए अभिगयजीवा जीवा जाव विहरंति तएणं तेसिं समणोवासयाणं अण्णदा कया-विएगयओ समुवागयाणं सहियाणं समुविट्ठाणं सण्णि सण्णाणं अयमेयारूवे मिहाकेहा समुल्लावे अब्भत्थिए समुप्पज्जित्था देवलोएसु णं अज्जो देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? तएणं से इसिभद्दपुत्ते समणोवासए देवट्ठिइगहियट्ठे ते समणोवासए एवं वयासि देव लोएसु णं अज्जो देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता तेण परं समाहिया दुसमयाहिया जाव दससमयाहिया संखेज्जसमयाहिया असंखेज्जसमयाहिया उक्कोसेणं तेतीसं सागरोवमट्ठिई पणत्ता तेण परं बोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य तएणं ते समणोवासगा इसिभद्दपुत्तस्स समणोवासगस्स एवमाइक्खमाणस्स जाव एवं परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहंति णो पत्तियंति णो रोयंति एयमट्ठं असद्दहमाणा अपत्तियमाणा अरोएमाणा जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेवदिसं पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव समोसड्ढे जाव परिसापज्जुवासइ तएणं ते समणोवासगा इमी से कहाए लद्धट्ठा समाणा हट्ठतुट्ठा एवं जहा तुंगियोद्देसए जाव णमंसंति। तएणं समणे भगवं महावीरे तेसिं समणो-वासगाणं तीसेय महई धम्मकहा जाव आणाए आराहइ भवई। तएणं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा उट्ठाए उट्ठेंति उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वदित्ता णमंसित्ता एवं वयासि एवं खलु भंते ! इसिभद्दपुत्ते समणोवासए अम्हं एवमाइक्खइ जाव एवं परूवेइ देवलोएसु णं अज्जो ! देवाणं जहण्णेणं दस-वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता तेण परं समयाहिया जाव तेण परं वोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य। से कहमेयं भंते ! एवं अज्जो ! त्ति समणं भगवं महावीरे ते सम-णोवासए एवं वयासी जेणं अज्जो ! इसिभद्दपुत्ते समणोवासए तुज्झं एवमाइक्खई जाव परूवेइ देवलोगे सुणं अज्जो देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता तं चेव समयाहिया जाव तेण परं वोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य सच्चेणं एसमट्ठे अहं पुण अज्जो ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि देवलोगेसुणं अज्जो ! देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं तं चेव जाव तेणपरं वोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य सच्चेणं एसमट्ठे। तएणं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव इसिभद्दपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छंति उवागच्छइत्ता इसिभद्दपुत्तं समणोवासगं वंदंति णमंसंति एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेंति। तएणं ते समणोवासगा पसिणाइं पुच्छंति पुच्छिंति त्ता अट्ठाइं परियादियंति परियादियंति त्ता समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वंदइत्ता णमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया भंतेति ? भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ २ त्ताएवं वयासी पभूणं भंते ! इसिभद्दपुत्ते समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंजे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे गोयमा ! इसि भद्दपुत्तेणं समणोवासए बहुहिं सीलव्वय गुणव्वय वेरमण पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं अहापरिग्गएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूहिं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणिहिति २ त्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं ज्झुसेहिति २ त्ता सट्ठिभत्ताइं अणसणाइ छेदेइ छेदेइत्ता आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्ची सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववज्झिहित्ति। तत्थणं अत्थे गइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता तत्थणं इसिभद्दपुत्तस्स देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई भविस्सई। सेणं भंते ! इसिभद्दपुत्ते देवत्ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव कहिं उवज्झिहिइ ? गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ जाव अंतं काहिति सेवंभंते भंतेत्ति। भगवं गोयमे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ तएणं समणे भगवं महावीरे अण्ण या कयावि आलंभियाओ ण-यरीओ संखवणाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ पडि-णिक्खमइत्ता बाहिरिया जणवयविहारं विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं आलंभिया णामं णयरी होत्था। वण्णओ संखवणे चेइए वण्णओ तत्थणं संखवणस्स चेइयस्स अदूरसामंते पोग्गले णामं परिव्वाए परिवसइ। रिउव्वेय जउव्वेय जाव नएसु सुपरिनिट्ठि ए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खि-त्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं वाहाओ जाव आया-वेमाणे विहरइ। तएणं तस्स पोग्गलस्स छट्ठं छट्ठेणं जाव आयावेमाणस्स पगइभद्दयाए जहा सिवस्स जाव विभंगे णामं अण्णाणे समुप्पण्णे सेणं तेणं विभंगे णामं अण्णाणेणं समुप्पण्णेणं बंभलोए कप्पे देवाणं ठिई जाणइ पासइ। तएणं तस्स पोग्गलस्स परिव्वागयस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुप्पज्जित्था। अत्थिणं मम अतिसेसे णाणदंसणे समुप्पण्णे देवलोएसु णं देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता तेण परं समयाहिआ दुसमयाहिया जाव असंखेज्ज-

समयाहिया उक्कोसेणं दससागरविमाइं ठिई पण्णत्ता तेण परं वोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ पच्चोरुभइत्ता तिदंड-कुंडिआ जाव धाउरत्तवत्थाओ य गेण्हंति गेण्हंति त्ता जेणे व आलंभिया णयरी जेणेव परिव्वायगावसहे तेणेव उवागए भंडगणिक्खेवं करेइ करेइत्ता आलंभियाए णयरीए सिंगाडग जाव पहेसु अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ जाव परूवेइ अत्थिणं देवाणुप्पिया ! मम अतिसेसे णाणदंसणे समुप्पण्णे देवलोएसु णं देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्से तहेव जाव वोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य तएणं आलंभियाए णयरीए एवं एएणं अभिलावेणं जहा सिवस्स तं चेव जाव से कहमेय मण्णेय एवं ? सामी समोसड्ढे जाव परिसापडिगया भगवं गोयमे तहेव भिक्खापरियाए तहेव बहुजणसद्दं निसामेइ तहेव सव्वं भाणियव्वं जाण अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि एवं भासामि जाव परूवेमि देवलोएसु णं देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता तेण परं समयाहिया दुसमयाहिया जाव उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता तेण परं वोच्छिण्णा देवा यं देवलोगा य। अत्थिणं भंते ! सोहम्मे कप्पे दव्वाइं सव्वण्णाइंपि अवण्णाइपि तहेव जाव हंता अत्थि। एवं ईसाणे वि एवं जाव अच्चुए वि एवं गेविज्जविमाणेसु अणुत्तरविमाणेसु वि ईसिप्पभाराए वि जाव हंता अत्थि। तएणं सा महइं महालिया जाव पडिगया। तएणं आलंभियाए णयरीए सिंगाडगतिगअवसेसं जहा सिवस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणे णवरं तिदंडकुंडियं जाव धाउरत्तवत्थ-परिहिए परिवडियविभंगे आलंभियं णयरं मज्झं णिगच्छइ जाव उत्तरपुरच्छिमंदिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता तिदंडकुंडियं च जहो खंदओ जाव पव्वइओ सेसं जहा सिवस्स जाव अव्वाबाहं सोक्खमणुभवंति सासयं सिद्धा सेवं भंते भंतेति। भ०११ श०१२ उ०।

इसिभासिय–न०(ऋषिभाषित) ऋषयः प्रत्येकबुद्धसाधवस्तेचात्र नेमिनाथतीर्थवर्तिनो नारदादयो विंशतिः। पार्श्वनाथतीर्थवर्तिनः पञ्चदश वर्द्धमानस्वामितीर्थवर्तिनो दश ग्राह्यास्तैर्भाषितानि पञ्चचत्वारिंशत्संख्यान्यध्ययनानि श्रवणाद्यधिकारवति ऋषिभाषितानि अङ्गबाह्येषु उत्कालिकाश्रुतविशेषेषु,

अत्रवृद्धसंप्रदायः। ''सौरियपुरे नयरे सुरंबरो नाम जक्खो धणंजओ सेट्ठी सुभद्दा भज्जा तेहिं अन्नया सुरंवरो विन्नाओ जहा ॥ जइ अम्हाणं पुत्तो होहिइतो तुब्भे महिससयं दोमाति। एवं ताणं संजाओ पुत्तो एत्थंतरे भगवं बद्धमाणसामी ताणि संबुज्झिहितित्ति सोरियपुरमागओ तओ सेट्ठी सज्झानिग्गओ संबुद्धो अणुव्वयाणि गहियाणि सो जक्खा सुविणए महिसे मग्गइ तेण विसेट्ठिणापिट्ठमया दिन्नति। सामिणो दुन्निसीसा धम्मघोसो धम्मजसो य एगस्स असोगवरपायवस्स हेट्ठा परियट्टंति। ते पुव्वण्णेट्ठिया अवरण्हेवि छाया न परियत्तइ तओ एक्को भणइ तुब्भे एसा लद्धावीओ भणइ तुब्भंति। तउ एक्को काइयभूमिं गउं जाव छाया तहेव अत्थइ तउ वि इउ वि गउं तत्थवि तहेव अत्थइ तेहिं नायं जहा न एक्कस्स विलद्धी। तउ समीपुच्छिओ भयवया भणियं जहा इहेव सोरियपुरे समुद्दविजउं राया आसि जन्नदत्तो तावसो। सोमजसा तावसी ताण पुत्तो नारउं ताणिउं छवित्तीणि एक्क दिवसं जिमंति एक्कदिवसं उववासं करेंति। अन्नया ताणि तं नारथं पुव्वाण्हे असोगपायवस्स हेट्ठा छवे ठवेऊणं उच्छंति इउ यव्वे यङ्घाउ वेसमणकाइया तिरियं जं भगादेवा तेणं तेणं वीइवयं ता पेच्छंति तं दारयं उहिणा आभोइंति। सो ताउ चेव देवनिकायाउ तउ ते तस्साणुकंपाए तं छायां थभंतित्ति। एवं सो उस्सुक्कबालभावो अन्नया तेहिं जं भगदेवेहिं पन्नति पाउयाउं विज्जाउ पाढिउ तउ कंचणकुंडियाए मणियाओ याहिं आगासें हिंडइ अन्नया बारवइं गओ वासुदेवेण पुच्छिओ किं सोयंति सो न मरति कहेउं तओ अन्नकहा एवं खेवं काऊण अहिट्ठिओ गओ पुव्वविदेहं तत्थ य सीमंधरं तित्थयरं जुगबाहुवासुदेवो पुच्छइ। किं सोयंति तित्थगरेण भणियं सव्वं सोयंति जुगबाहुणा एक्कवयणेणं वि सव्वं उवलद्धं नारओ वि तं निसुणित्ता उप्पइऊणं अवरविदेहे गओ तत्थ वि जुगंधरं तित्थयरं महाबाहु वासुदेवा तं चेव पुच्छइ। भगवया वि तं चेव वारियं महाबाहुस्स वि तं सव्वमुवगय नारओ वि तं सुणित्ता बारवइ गओ वासुदेवं भणइ किं ते तदा पुच्छिय वासुदेवो भणइ किं सोयंति नारओ भणइ सव्वं सोयंति। वासुदेवो भणइकिं सव्वंति तओ नारओ खुभिओन किंचि उत्तरं देइ। तओ कण्ह वासुदेवेण भणियं। जत्थ ते तं पच्छियं तत्थ एयंपि पुच्छियव्वं जुत्तं तिखिसिओ ताहे नारओ भणइ सव्वं भट्टारओ न पुछिउत्ति चिंतेउमारद्धो जा ईसरिया संबुद्धो पढममज्झयणं सोयव्वमेव इच्चइयं वदति एवं सोणिवि दट्ठवाणित्ति ॥ पा०। उत्तराध्यनादिके (देवेन्द्रस्तवादिके) श्रुतविशेषे, आ०म०प्र०। 'इसिभासिए य जहा' ऋषिभाषितेषूतराध्ययनादिषु। सूत्र०।

इसिभासियज्झयण–न०(ऋषिभाषिताध्ययन) प्रश्नव्याकरण-दशायास्तृतीयेऽध्ययने,। स्था०१० ठा०।

इसिया–स्त्री०(इषिका) मुञ्जागर्भभूतायां शलाकायाम्, 'से जहाणामइ केइ पुरिसे भुंजाओ इसियं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा इसियंति' तद्गर्भभूतां शलाकां प्रथक्कृत्य दर्शयेदिति। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

इसिवंस–पुं०(ऋषिवंश) गणधरव्यतिरिक्ताः शेषा जिनशिष्या ऋषयस्तेषां वंशे, तद्वंशप्रतिपादके समवायाङ्गादिश्रुते च। 'इसिवंसे इय' गणधरवंश इति च गणधरव्यतिरिक्ताः शेषा जिनशिष्या ऋषयस्तद्वंशप्रतिपादकत्वाद्दृषिवंश इति च। तत्प्रतिपादनं चात्र पर्यूषणाकल्पस्य समस्तस्य ऋषिवंशपर्यवसानस्य सम-वसरणप्रतिक्रमेण भणितत्वात्। सम०२ स०।

इसिवाइ(न्)–पुं०(ऋषिवादिन्) पिशाचादिव्यन्तरनिकायानामुपरिवर्तिनि व्यन्तरनिकायविशेषे, औ०।

इसिवाइय–पुं०(ऋषिवादिक) पिशाचादिव्यन्तरनिकायानामु-परिवर्तिनि व्यन्तरजातिविशेषे, प्रश्न०४ द्वा०। प्रव०।

***ऋषिवादित**–पुं० पिशाचादिव्यन्तरनिकायानामुपरि वर्तिनि व्यन्तरनिकायभेदे, प्रव०१२ द्वा०।

इसिसत्त–पुं०(ऋषिसप्त) ऋषिता सप्त ऋषिसप्तः मदीयतषः प्रभावान्नपुंसको भव त्वमिति ऋषिशापाज्जाते नपुंसकभेदे, ग०१ अधि० (अस्य प्रव्रज्याया युक्तायुक्तत्वविचारो णपुंसग शब्दे)

इसिसेट्ठ–पुं०(ऋषिश्रेष्ठ) मुनिश्रेष्ठे,

जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु।
खत्तीणसेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे॥

योधेषु मध्ये ज्ञातो विदितो दृष्टान्तभूतो वा विश्वा हस्त्यश्वरथपदातिचतुरङ्गबलसमेता सेना यस्य स विश्वसेनश्चक्रवर्ती यथाऽसौ प्रधानपुष्पेषु च मध्ये यथाऽरविंदप्रधानमाहुः तथा क्षतात्त्रायन्त इति क्षत्रियास्तेषां मध्ये दान्ता उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवः स दान्तवाक्यश्चक्रवर्ती। यथा ऽसौ श्रेष्ठः तदेवं बहून् दृष्टान्तान् प्रशस्तान् प्रदर्श्याऽधुना भगवन्तं दार्ष्टान्तिकं स्वनामग्राहमाह। तथा ऋषीणां मध्ये श्रीमान् वर्द्धमानस्वामी श्रेष्ठ इति॥२२॥ सूत्र०। १ श्रु०६ अ०।

इसु–पुं०(इषु) शरे, सूचकत्वात् इषूपमया भिक्षा ग्रहणविध्यर्थके द्रुमपुष्पिकाध्ययने, ''जह रहितो अणुवउत्तो इसुणा लक्खं न विंधइ तहेव। साधू गोयरपत्तो संजमलक्खंपि णायव्वो'' दश०१ अ०।

इस्स(ईस) र–पुं०(ईश्वर) ईश्–वरच्–ईश् ऐश्वर्ये ऐश्वर्येण युक्त ईश्वरः। नि०चू०९ अ०। ईश्वरश्च अणिमाद्यष्टविधैश्वर्य्ययुक्ते क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टे सर्वजगत्कारके पुरुष विशेषे, '' अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वर इत्येक''। जीवा०३ प्रति०। स्था०। आचा०। अनु०। ''तथा च पतञ्जलिः। क्लेशकर्मविपाकाशयैर- परामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इति। सम्म०। द्वा०।

ईश्वरवादिनश्च सर्वं जगदीश्वरकृतं मन्यन्ते ईश्वरं च सह सिद्धं ज्ञानवैराग्यधर्म्मैश्वर्य्यरूपं चतुष्टयं प्राणिनां च स्वर्गापवर्गयोः प्रेरकमिति तदुक्तं ''ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्'' ॥१॥ अज्ञो जन्तुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥२॥ तदसमीचीनम्। ईश्वरग्राहकप्रमाणाभावात्। अथास्ति तद्ग्राहकप्रमाणमनुमानम्। तथाहि यत् स्थित्वाऽभिमतफल संपादनाय प्रवर्त्तते तद्बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं यथा वास्या द्वैधीकरणादौ प्रवर्तते च स्थित्वा सकलमपि विश्वं स्वफलसाधनायेति न खलु वास्यादयः स्वत एव प्रवर्तन्ते तेषामचेतनत्वान् स्वभावत् एव चेत् प्रवर्तन्ते तर्हि सदैव तेषां प्रवर्तनं भवेत् न च भवति तस्य स्थित्वा स्थित्वा प्रवर्तनं केनचित्प्रेक्षावता प्रवर्तकेन भवितव्य सकलस्यापि च जगतः स्थित्वा स्थित्वा स्वफलं साधयतः प्रवर्तक ईश्वर एवोपपद्यते नान्यः इतश्चेश्वरसिद्धिः। तथा अपरमनुमानं यत्पारिमाण्डल्यादिलक्षणसन्निवेशाविशेषभाक् तच्चेतनावता कृतं यथा घटादिपारिमाण्डल्यादिस-न्निवेशविशषभाक् भूभूधरादिकमपि तदेतदयुक्तं सिद्धसाधनेन पक्षस्य प्रसिद्धसंबन्धत्वात् तथाहि सकलमपीदं विश्ववैचित्र्यं कर्मनिबन्धनमिच्छाओ यतो ऽमी वैताढ्यहिमवदादयः पर्वता भरतैरावतविदेहान्तरद्वीपादीनि च क्षेत्राणि तथा तथा प्राणिनां सुखदुःखादिहेतुतया यत्परिणमन्ते तत्र तथा तथा परिणामने तत्तन्निवासिनामेव तेषां जन्तूनां कर्मकारणमवसेयं नान्यत्तथाच दृश्यते एव पुण्यवति राज्यमनु शासति भूपतौ तत्कर्मप्रभावतः सुभिक्षादयः प्रवर्तमाना कर्म च जीवाश्रितं जीवाश्च बुद्धिमन्तश्चेतनात्त्वात् ततो बुद्धिमत्का रणाधिष्ठितत्वे चेतनावत्कृतत्वे च साध्यमाने सिद्धसाधनम्। अथ बुद्धिमान् चेतनावान् वा विशिष्ट एवेश्वरः कश्चित्साध्यते तेन न सिद्धसाधनं तर्हि दृष्टान्तस्य साध्यविकलता वास्यादौ घटादौ चेश्वरस्याधिष्ठायकत्वेन कारणत्वेन वा व्याप्रियमाणस्यानुपलभ्यमानत्वात् वर्द्धकिकुम्भकारादीनामेव तत्र तत्रान्व-यव्यतिरेकता व्याप्रियमाणानां निश्चीयमानत्वात्। अथ वार्द्ध-क्यादयोपीश्वरप्रेरिता एव तत्र तत्र कर्मणि प्रवर्तन्ते न स्वतस्ततो न दृष्टान्तस्य साध्यविकलता। नन्वेवं तर्हि ईश्वरोप्यन्येनेश्वरेण प्रेरितः स्वकर्मणि प्रवर्तते न स्वतो विशेषाभावात् सोऽप्यन्येनेश्वरेण प्रेरित इति विकालसंध्यायां तमः संततिरिवादृष्टपर्यन्तान्ध्यान्ध्यमापादयन्ती प्रसरत्यनवस्था। अथमन्येथा वर्द्धक्यादिको जन्तुः सर्वोपि स्वरूपेणाज्ञस्ततः सप्रेरित एव स्वकर्मणि प्रवर्तते भगवांस्त्वीश्वरःसकलपदार्थज्ञाता ततो नासौ स्वकर्मण्यन्यं स्वप्रेरकमपेक्षते तेन नानवस्था, तदप्यसत् इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् तथाहि सकलपदार्थ यथावस्थितस्वरूपज्ञातृत्वे सिद्धे सत्यन्याप्रेरितत्वसिद्धिः अन्याप्रेरितत्वसिद्धौ च सकलजगत्कारणयः सर्वज्ञत्वसिद्धि रित्येकासिद्धावन्यतरस्याप्यसिद्धिः। अपिच यद्यसौ सर्वज्ञोवीतरागश्च तत्किमर्थमन्थं जनमसद्व्यवहारे प्रवर्तयति मध्यस्था हि विवेकिनः सद्व्यवहार एव प्रवर्तयन्ति नासद्व्यवहारे, स तु विपर्ययमपि करोति ततः कथमसौ सर्वज्ञोवीतरागो वा। अथोच्यते सद्व्यवहारविषयमेव भगवानुपदेशं ददाति तेन सर्वज्ञो वीतरागश्च यश्चाधर्मकारिजनसमूहः तं फलमसदनुभावयति येन स तस्मादधर्माद्व्यावर्तते तत उचि तफलदायित्वाद्विवेकवानेव भगवानिति न कश्चिद्दोषः तपप्यसमीक्षिताभिधानं यतः पापेपि प्रथमं स एव वर्तयति नान्यो न च स्वयं प्रवर्त्तते तस्याज्ञत्वेन पापे धर्मे वा स्वयं प्रवृत्तेरयोगात्ततः पुर्वं पापे प्रवर्तयते तत्फलमनुभाव्य पश्चाद्धर्म्मे प्रवर्तयतीति केयमीश्वरस्य प्रेक्षापूर्वकारिता। अथ पापे ऽपि प्रथमं प्रवर्तयति तत्कर्माधिष्ठित एव तथाहि तदेवं तेन जन्तुना कृतं कर्म्म यद्वशात्पाप एव प्रवर्त्यत ईश्वरोपि च भगवान् सर्वज्ञः तथा रूपं तत्कर्म साक्षात् ज्ञात्वा तं पाप एव प्रवर्त्त यति तत उचितफलदायित्वान्नाप्रेक्षा-पूर्वकारीति। ननु तदपि कर्म तेनैव कारितं ततस्तदपि कस्मात्प्रथमं कारयतीति स एवाप्रेक्षापूर्वकारिताप्रसङ्गः अथाधर्म्मसौ न कारयति किंतु स्वत एव सोऽधर्म्ममाचरति। अधर्मकारिणं तु तत्तत्फलमसदनुभावयति तदन्येश्वरवत्। यथाहि तदन्येश्वरराजादयो नाम धर्मे जनं प्रवर्तयन्ति अधर्मफलं तु प्रेक्षादिकमनुभावयन्ति तद्वद्भगवानीश्वरोपि, तदप्युयक्तमन्येहीश्वराः पापप्रतिषेधं कारयितुमीशाः नहि नाम राजानोपि उग्रशासनाः पापे मनोवाक्कायनिमित्ते सर्वथा प्रतिषेधयितुं प्रभविष्णवः स तु भगवान् धर्माधर्मविधिप्रतिषेधविधापनसमर्थ इष्यते तत्कथं पापे प्रवृत्तं न प्रतिषेधयति अप्रतिषेधश्च परमार्थतः स एव कारयति तत्फलस्य पश्चादनुभावनादिति तदवस्थ एव दोषः। अथ पापे प्रवर्तमानं प्रतिषेधितुमशक्त इष्यते तर्हि नैवोक्तकैरिदमभिधातव्यं सर्व-

मीश्वरेण कृतमिति। अपिच यद्यसौ स्वयमधर्मं करोति तथा धर्ममपि करिष्यति फलं च स्वयमेव भोक्ष्यन्ते ततः किमीश्वर कल्पनया विधेयमिति। उक्तचं ''अशक्त्याऽन्येश्वराः पाप--प्रतिषेधं न कुर्वते। स त्वत्यन्तमशक्तेभ्यो, व्यावृत्तमतिरिष्यते १ अथाप्यशक्त एवासौ, तथा सति परिस्फुटम्। नेश्वरेण कृतं सर्वमिति वक्तव्यमुचकैः ॥२॥ पापवत्स्वार्थकारित्वात् धर्मादिरपि किं तत'' इति। अथ ब्रुवीथाः स्वयमसौ धर्माधर्मौ करोति तत्फलं त्वीश्वर एव भोजयति तस्य धर्माधर्मफलभोगे स्वयमशक्तत्वादिति, तदप्यसत् यतो यो नाम स्वयं धर्माधर्मौ विधातुमलं स कथं तत्फलं स्वयमेव न भोक्तुमीशो नहि पक्तुमोदनं समर्थो नहि भोक्तुमिति लोके प्रतीतम्। अथवा भवत्वेतदपि तथापि धर्मफलमुन्मत्त-देवाङ्गनासंस्पर्शादिरूपमनुभावयतु तस्येष्टत्वादधर्मफलं तु नरकप्रयातादिरूपं कस्मादनुभावयति नहि मध्यस्थभाव-मषलम्बमानाः परमकरुणापरीतचेतसः प्रेक्षावन्तो निरर्थके परपीडाहेतौ कर्म्मणि प्रवर्तन्ते क्रीडार्था भगवतः तथा प्रवृत्तिरिति चेत् यद्येवं तर्हि कथमसौ प्रेक्षावान् तस्य हि प्रवर्तने क्रीडामात्रमेव फलं ते पुनः प्राणिनः स्थाने स्थाने प्राणैर्वियुज्यन्ते। उक्तचं ''क्रीडार्था तस्य वृत्तिश्चेत्प्रेक्षापूर्वक्रिया कुतः। एकस्य क्षणिका तृप्तिः, अन्यः प्राणैर्वियुज्यते ॥१॥'' अपिच क्रीडा लोके सरागस्योपलभ्यते भगवांश्च वीतरागस्ततः कथं तस्य क्रीडा सङ्गतिमङ्गति। अथ सोपि सराग इष्यते तर्हि शेष-जन्तुरिवावीतरागत्वान्न सर्वज्ञो नापि सर्वस्य कर्तेत्यापतितम्। अथ रागादिकृतोऽपि स सर्वज्ञः सर्वस्य कर्ता च भवति तथा स्वभावत्वात् ततो न कश्चिद्दोषो नहि स्वभावे पर्यनुयोगो घटनामुपपद्यते। उक्तचं। ''इदमेवं नवेत्येतत्, कस्य पर्यनुयोज्यताम्। अग्निर्दहति नाकाशं, कोऽत्र पर्यनुयोज्यताम्''॥ तदेतदसम्यक् यतः प्रत्यक्षतः तथारूपे स्वभावे च गते यदि पर्यनुयोगो विधीयते तत्रेदमुत्तरं विजृम्भते। यथा स्वभावे पर्यनुयोगो भवतीति यथा प्रत्यक्षेणोपलभ्यमाने वह्नेर्दाह्यं दहतो दाहकत्वरूपे स्वभावे, तथाहि यदि तत्र कोपि पर्य्यनुयोगमाधत्ते यथा कथमेष वह्निर्दाहकस्वभावो जातो यदि वस्तुत्वेन तर्हि व्योमादिकं न दाहकस्वभावं भवति वस्तुत्वादविशेषादिति तत्रेदमुत्तरं विधीयते दाहकत्वरूपो हि स्वभावो वह्नेः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यते ततः कथमेष पर्यनुयोगमर्हति न हि दृष्टेऽनुपपन्नता नाम तथा चोक्तम्। स्वभावोऽध्यक्षतः सिद्धेर्यदि पर्यनुयुज्यते। तत्रेदमुत्तरं वाच्यं, न दृष्टेनुपपन्नता ॥१॥ ईश्वरस्तु सर्वजगत्कर्तृत्वेन सर्वज्ञत्वेन च नोपलब्धस्ततस्तत्र तथास्वभावत्वकल्पनादवश्यं पर्यनुयोगमाश्रयते। यदि पुनरदृष्टेपि तथा स्वभावत्वकल्पनापर्यनुयोगानाश्रयोभ्युपगम्यते तर्हिसर्वोपि वादी तं तं पक्षमाश्रयन् परेण विक्षोभितस्तत्र तत्र तथा तथा स्वभावताकल्पनेन परं निरुत्तरीकृत्य लब्धजयपताक एव भवेत्॥ उक्तंच ॥ अन्यथा ''यत्किंचिदात्माभिमतं विधाय, निरुत्तरस्तत्र कृतः परेण॥ वस्तुस्वभावैरिति वाच्यमित्थं, तदुत्तरः स्थाद्विजयी समस्तः॥ किंच॥ सर्वं यदि जगदीश्वरकृतं मन्यते तर्हि सर्वाण्यपि शास्त्राणि सकलदर्शनगतानि तेन प्रवर्तितानीति प्राप्तं तानि च शास्त्राणि परस्परं विरुद्धार्थानि ततो वश्यं कानिचित्सत्यानि कानि-चिदसत्यानि ततः सत्यासत्योपदेशदानात्कथमसौ प्रमाणम्। उक्तंच। ''शास्त्रान्तराणि सर्वाणि यदीश्वरविकल्पतः॥ सत्यासत्योपदेशस्य, प्रमाणंदानतः कथम् ॥१॥ अथ सकलानि शास्त्राणि ईश्वरकारितानि किंतु सत्यान्येव ततो न कश्चि-द्दोषावकाशस्तर्हि शास्त्रान्तरवदेव नरेश्वरेणान्यदपि व्यधायीति हता तव पक्षसिद्धिरिति। अन्यच्च यादृग्भूतं संस्थानादि बुद्धि-मत्कारणपूर्वकत्वेनोपलब्धं तादृग्भूतमेवान्यत्रापि बुद्धिमन्तमात्मनो हेतुमनुमापयति यथा जीर्णदेवकुलकूपादिगतं न शेषं नहि सन्ध्याभ्रारागवल्मीकादिगतं संस्थानाद्यात्मनो बुद्धिमन्तं कर्ता-रमनुमापयति तथा प्रतीतेरभावात् तद्वतस्य संस्थानादेर्बुद्धि-मत्कारणत्वेन निश्चया भावात् तथा भूभूधरादिगतमपि संस्थानादिकं न बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन निश्चितमिति कथं तद्वशाद्बुद्धिमतः कर्तुरनुमानम्। अथ मन्येथास्तदपि संस्थानादि तादृग्भूतमेव संस्थानादिशब्दवाच्यत्वात् नचैवं तत्कर्तुर्बुद्धि-मतोऽनुमाने काञ्चिदपि बाधामुपलभामहे ततः सर्वं सुस्थितमिति तदयुक्तं शब्दादिरूढवशा-ज्ज्ञात्यन्तरेपि प्रवर्तन्ते ततः शब्दसाम्यात्। यदि तथारूपवस्त्वनुमानं तर्हि गोत्वाच्छागादीनामपि विषाणितामनुमीयतां विशेषाभावात्। अथ तत्र प्रत्यक्षेण बाधोपलभ्यते ईश्वरानुमानेन ततो न कश्चिद्दोष इति तदेतदतीव प्रमाणमार्गानभिज्ञातासूचकं यतो यत एवं तत्र प्रत्यक्षेण बाधोपलम्भोऽत एव नान्यत्रापि शब्दसाम्यात्तथारूपवस्त्वनुमानं कर्तव्यं प्रत्यक्षत एव शब्दसाम्यस्य वस्तुतथारूप्येण सहाविनाभावित्व-स्याभावावगमात्। न च बाधकमत्र नोपलभ्यते इत्येवानुमानं प्रवर्तते किंतु वस्तुसंबन्धबलात् तथाचोक्तम् ''ननु बाध्यत इत्येव-मनुमानं प्रवर्तते॥ संबन्धदर्शनात् तस्य प्रवर्तन मिहेष्यते'' इति स च संबन्धोऽत्र न विद्यते तद् ग्राहक प्रमाणाभावात् ततोऽनैकान्तकता हेतोरित्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमन्यथा यो यो मृद्विकारः स स कुम्भकृतो यथा घटादिर्मृद्विकारश्चायं वल्मी-कस्तस्मात्कुम्भकारकृत इत्यप्यनुमानं समीचीनतामाचनीस्कद्येत बाधकमात्रादर्शनात्। तथाहि यदि तत्र कुम्भकारः कर्ता भवेत्तर्हि कदाचिदुपलभ्येत न चोपलभ्यते तस्मादेव तदयुक्तमिति तदेतदीश्वरानुमानेपि समानम्॥ यदि हि सर्वस्यापि वस्तु-जातस्येश्वरः कर्ता क्वचित्कदाचिदुपलभ्येत न चोपलभ्यते तस्मादप्यलीकमिति कृतं प्रसङ्गेन। नं०॥

अथ तदभिमतमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगम-
मिथ्याभिनिवेशरूपं निरूपयन्नाह॥

कर्तास्ति कश्चिज्जगतः सचैकः, स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः। इमाः कुहेवाकविडम्बनाःस्यु-स्तेषां न येषा-मनुशासकस्त्वम् ॥६॥

जगतः प्रत्यक्षादि प्रमाणोपलक्ष्यमाणचराचररूपस्य विश्वत्रयस्य कश्चिदनिर्वचनीयस्वरूपः पुरुषविशेषः कर्ता स्रष्टाऽस्ति विद्यते। तेहीत्थं प्रमाणयन्ति उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं बुद्धिमत्कर्तृकं कार्यत्वाद्यद्यत्कार्यं तत्तत्सर्वं बुद्धिमत्कर्तृकं यथा घटस्तथाचेदं तस्मात्तथा। व्यतिरेके व्योमादि। यश्च बुद्धिमांस्तत्कर्ता स भगवानीश्वर एवेति। नचायमसिद्धो हेतुर्यतो भूभूधरादेः स्वस्व-कारणकलापजन्यतया अवयवितया वा कार्यत्वं सर्ववादिनां प्रतीतमेव। नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा विपक्षादत्यन्त-व्यावृत्तत्वात्। नापि कालात्ययापदिष्ट प्रत्यक्षानुमानागमाबाधित धर्मधर्म्यनन्तरप्रतिपा-दितत्वात्। नापि प्रकरणसमः तत्प्रतिपन्थिधर्मोपपादनसमर्थ प्रत्यनुमानाभावात्। न च वाच्यमीश्वरः पृथ्वीपृथ्वीधरादेर्विधातो न भवति अशरीरित्वान्निर्वृत्तान्मवदिति प्रत्यनुमानं तद्बाधकामिति

यतोऽवेश्वररूपो धर्मी प्रतीतोऽप्रतीतो वा प्ररूपितः। न तावदप्रतीतो हेतोराश्रयासिद्धिप्रसङ्गात। प्रतीतश्चेद्येन प्रमाणेन स प्रतीतस्तेनैव किं स्वयमुत्पादितं स्वतनुर्न प्रतीयते इत्यतः कथमशरीरत्वं तस्मान्निरवद्य एवायं हेतुरिति। सचैक इति चः पुनरर्थे स पुनः पुरुषविशेष एकोऽद्वितीयः बहूनां हि विश्व-विधातृत्वस्वीकारे परस्परविमतसंभावनाया अनिवार्यत्वादेकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया निर्माणे सर्वमसमसञ्जसमापद्येतेति। तथा (स सर्वग इति) सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः सर्वव्यापि तस्य हि प्रतिनियतदेशवर्त्तित्वेऽनियतदेशवृत्तीनां विश्वत्रयान्तर्वर्तिपदार्थसार्थानां यथावन्निर्माणानुपपत्तिः कुम्भकारादिषु तथा दर्शनात्। अथवा सर्वं गच्छति जानातीति सर्वगः सर्वज्ञः सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात् सर्वज्ञत्वाभावे हि यथोचितोपादानकारणाद्यनभिज्ञत्वादनुरूपकार्योत्पत्तिर्न स्यात्। तथा स स्ववशः स्वतन्त्रः सकलप्राणिनां स्वेच्छया सुखदुःखयोनुभावनसमर्थत्वात्तथा चोक्तम् ''ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेववा, अज्ञो जन्तुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोरिति'' पारतन्त्र्ये तु तस्य परमुखप्रेक्षितया मुख्यकर्तृत्वव्याघा-तादनीश्वरत्वापत्तिः। तथा (स नित्य इति) अप्रच्युतानु-त्पन्नस्थिरैकरूपस्तस्य ह्यनित्यत्वे परोत्पाद्यतया कृतकत्व प्राप्तिः। अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इत्युच्यते यश्चापरस्तत्कर्ता कल्प्यते स नित्योऽनित्यो वा स्थान्नित्यश्चदेधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम्। अनित्यश्चेत्तस्या प्युत्पादकान्तरेण भाव्यं तस्यापि नित्यानित्यत्वविकल्पकल्पनायामनवस्थादौस्थ्यमिति तदेवमेकत्वादिविशेषणविशिष्टो भगवानीश्वरस्त्रिजगत्कर्त्तेति पराभ्युपगममुपदर्श्योत्तरार्द्धेन तस्य दुष्टत्वमाचष्टे। इमा एता अनन्तरोक्ताः कुहेवाकविडम्बनाः कुत्सिताः हेवाका आग्रहविशेषाः कुहेवाकाः कदाग्रहा इत्यर्थः त एव विडम्बना विचारचातुरीबाह्यत्वेन तिरस्काररूपत्वाद्विगोप-कप्रकारा स्युर्वेयुस्तेषां प्रामाणिकापसदानां येषां हे स्वामिन्! त्वं नानुशासको न शिक्षादाता तदभिनिवेशानां विडम्बनारूपत्वज्ञापनार्थमेव पराभिप्रेतपुरुषविशेषणेषु प्रत्येकं तत्तच्छब्दप्रयोगमसूयागर्भमाविर्भावयांचकार स्तुतिकारः। तथाचैवमेव निन्दनीयं प्रति वक्तारो वदन्ति ''स मूर्खः स पापीयान् स दरिद्रः इत्यादि'' त्वमित्येकवचनसंयुक्तयुष्मच्छब्दप्रयोगेण परेशितुः परमकारुणिकतयाऽनपेक्षितस्वपर पक्षविभागमितरशास्त्रिणामसाधारणमद्वितीयं हितोपदेशकत्वं ध्वन्यते। अतोऽत्रायमाशयो यद्यपि भगवान् विशेषेण सकलजगज्जन्तुजाते हितावहां सर्वेभ्य एव देशनावाचमाचष्टे तथापि सैव केषांचिन्निचितनिकाचितपापकर्मकलुषितात्मनां रुचिरूपतया न परिणमते अपुनर्बन्धकादिव्यतिरिक्तत्वेनायोग्यत्वात्तथा च कादम्बर्यां बाणोपि बभाण ''अपगतमले हि मनसि स्फटि-कमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखमुपदेशगणा गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति। श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्येति'' यतो वस्तुवृत्त्या न तेषां भगवाननुशासक इति। नचैतावता जगद्गुरोरसामर्थ्यसंभावना, नहि कालदष्टमनुज्जीवयन् समुज्जीवितेतरदष्टको विषभिषगुपालम्भनीयोऽतिप्रसङ्गात्। स हि तेषामेव दोषः। न खलु निखिलभुवनाभोगमवभासयन्तोपि भानवीया भानवः कौशिकलोकस्यालोकहेतुतामभजमाना उपालम्भसंभावनास्पदम् तथा च श्रीसिद्धसेनः ''सद्धर्मबीज-वपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव! तवापि खिलान्यभून्। तन्नाद्भूतंखगकुलेष्विह तामसेषु सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥१॥ अथ कथमिव तत्कुहेवाकानां विडम्बनारूपत्वमिति ब्रूमः यत्तावदुक्तं परैः ''क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः कार्यत्वात् घटवदिति तदयुक्तं व्याप्तेरग्रहणात्। साधानं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेदिति सर्ववादिसंवादः। स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात् सशरीरोपि किमस्मदादिवदृश्यशरीरविशिष्ट उत पिशाचादिवददृश्य-शरीरविशिष्टः। प्रथमपक्षे पत्यक्षबाधस्तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात्। प्रमेयत्वादिवत्साधारणानैकान्तिको हेतुः। द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणमाहोस्विदस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यम्! प्रथमप्रकारः कोशपानप्रत्यायनीयः तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात्। इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च। सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्या-दृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यं तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति। द्वैतीयीकस्तु प्रकारो न संवरत्येव विचारगोचरे संशयाऽनिवृत्तेः। किं तस्यासत्वाददृश्यशरीरत्वं बान्ध्येयादिवतृ किंवाऽस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यात्पिशाचादिवदिति निश्चयाभावात्। अशरीरश्चेत्तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्याद्विरुद्धो हेतुः। घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टा अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यमाकाशादिवत्। तस्मात्सशरीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्त्यसिद्धिः। किंच त्वन्मतेन् कालात्ययापदिष्टोष्ययं हेतुः धर्म्येकदेशस्य तरुविद्युदभ्रादेरिदा-नीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन प्रत्यक्षबाधितधर्म्यनन्तरहेतुभणनात्तदेवं न कश्चिज्जगतः कर्ता। एकत्वादीनि तु जगत्कर्तृत्वव्यवस्थापनायानीयमानानि तद्विशेषणानि षण्ढं प्रति कामिन्या रूपसंपन्निरूपणप्रायाण्येव तथापि तेषां विचारासहत्वख्यापनार्थं किंचिदुच्य तेत्रैकत्वचर्चस्तावत् बहूनामेक-कार्यकरणे वैमत्यसंभावनेति नायमेकान्तः। अनेककीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेपि शक्रमूर्ध्नोऽनेकशिल्पिकल्पितत्वेपि प्रासादादीनां नैकसरघानिर्वर्तितत्वेपि मधुच्छत्रादीनां चैकरूपताया अविगानेनोपलम्भात्। अथैतेष्वप्येक एवेश्वरः कर्त्तेति ब्रूषे एवं चेद्भवतो भवानीपतिं प्रति निष्प्रतिभा वासना तर्हि कविन्द्र-कुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एव किं न कल्प्यते। अथ तेषां प्रत्यक्षसिद्धं कर्तृत्वं कथमपह्नोतुं शक्यं तर्हि कीटिकादिभिः किं तव विराद्धं यत्तेषामसदृशतादृशप्रयाससाध्यं कर्तृत्वमेकहेलयैवापलप्यते तस्माद्वैमत्येभयान्म-हेशितुरेकत्वकल्पनाभोजनादिव्ययभयात्कृपणस्यात्यन्तवल्लभपुत्रकलत्रादिपरित्यजनेन शुन्यारण्यानी सेवनमिव। तथा सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नं तद्धि शरीरात्मना ज्ञानात्मना वां स्यात्। प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्रयस्य व्याप्तत्वादितर-निर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यताऽस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्रयक्रोडी-करणाभ्युपगमात्। यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः। तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम्। ''विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पादिति श्रुतेः'' यच्चोक्तम्। तस्य प्रतिनियतदेशवर्तित्वंत्रिभुवनगतपदार्थानामनियतदेशवृत्तीनां यथावन्निर्माणानुपपत्तिरिति। तत्रेदं पृच्छ्यते स जगत्रयं निर्मिमाणस्तक्षादिवत्साक्षाद्धेहव्यापारेण निर्मिमीते यदि वा संकल्पमात्रेण। आद्ये पक्षे एकस्यैवभूभूधरादेर्विधानेऽक्षोदीयसः कालक्षेपस्य संभवाद्धहीयसाप्यनेहसा न परिसमाप्तिः। द्वितीयपक्षे तु सकल्पमात्रेणैव

उचितकार्यकल्पनायां नियतदेशस्थायित्वेपि न किंचिद्दषण-मुत्पश्यामः नियमदेशस्थायिनां सामान्यदेवानामपि संकल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसंपादनप्रतिपत्तेः ॥

किंच तस्य सर्वगतत्वेङ्गीक्रियमाणेऽशुचिषु निरन्तरसन्तमसेषु नरकादिस्थानेष्वपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यते तथाचानिष्टापत्तिः । अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदाज्ञानात्मना सर्वजगत्रयं व्याप्नोतीत्युच्यते । तदाऽशुचिरसास्वादादीनामप्युपलम्भसंभावनान्नारकादिदुःखस्वरूपसंवेदनात्मकतया दुःखानुभवप्रसङ्गाच्चानिष्टा-पत्तिस्तुल्यैवेति चेत्तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्तस्य धूलिभिरेवावकरणं यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थलस्थमेव विषयं परिच्छिनत्ति न पुनस्तत्र गत्वा तत्कुतो भवदुपालम्भः समीचीनः । तर्हि भवतोप्यशुचिज्ञानमात्रेण तद्रसास्वादानुभूतिस्तद्भावे हि स्रक्चन्दनाङ्गनारसवत्यादिचिन्तनमात्रेणैव तृप्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति । यत्तु ज्ञानात्मना सर्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रागुक्तं तच्छक्ति मात्रमपेक्ष्य मन्तव्यं तथाच वक्तारो भवन्ति । ''अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति इति'' । न च ज्ञानं प्राप्यकारि तस्यात्मधर्मत्वेन बहिर्निर्गमाभावाद्बहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतन्यापत्त्याऽजीवत्वप्रसङ्गान्नाहि धर्मो धर्मिणमतिरिच्य क्वचन केवलो विलोकितः । यच्च परे दृष्टान्तयन्ति ''यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्यान्निष्क्रम्य भुवनं भासयन्त्येवं ज्ञानमप्यात्मनः सकाशाद्बहिर्निर्गत्य प्रमेयं परिच्छिनत्तीति'' तत्रेदमुत्तरं किरणानां गुणत्वमसिद्धं तेषां तैजसपुद्गलमयत्वेन द्रव्यत्वात् । यश्च तेषां प्रकाशात्मा गुणः स तेभ्यो न जातु पृथग्भवतीति । तथाच धर्मसंग्रहण्यां श्रीहरिभद्राचार्यपादाः ''किरणा गुणा न दव्वं, तेसिं पयासो गुणो न वा दव्वं । जं नाणं आयगुणो, कहमदव्वो स अन्नत्थ १'' गंतूण न परिछिंदइ, नाणं नेयं तयम्मि देसम्मि । आयत्थम्मि य नवरं, अचिंतसत्तीउ विन्नेयं ॥२॥ लोहोवलस्स सत्ती, आयत्था चेव भिन्नदेसम्मि । लोहं आगरिसंती दीसइ इह कज्जपच्चक्खा ॥३॥ एवमिह नाणसत्ती, आयत्था चेव हंदिलोगं तं । जइ परिछिंदइ सव्वं, को णु विरोहो भवे तत्थ' ॥४॥ इत्यादि अथ सर्वगः सर्वज्ञः इति व्याख्यानं तत्रापि प्रतिविधियते । ननु तस्य सार्वज्ञ्यं केन प्रमाणेन गृहीतं प्रत्यक्षेण परोक्षेण वा । न तावत्प्रत्यक्षेण तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतयाऽतीन्द्रियग्रहणासामर्थ्यात् । नापि परोक्षेण तद्धि अनुमानं शाब्दं वा स्यात् । न तावदनुमानं तस्य लिङ्गग्रहणं लिङ्गि लिङ्गसंबन्ध-स्मरणपुर्वकत्वान्न च तस्य सर्वज्ञत्वेऽनुमेयं किंचिदव्यभिचारि-लिङ्गं पश्यामस्तस्याऽत्यन्ताविप्रकृष्टत्वेन तत्प्रतिबद्धलिङ्गसंबन्ध-ग्रहणाभावात् । अथ तस्य सर्वज्ञत्वं विना जगद्वैचित्र्यमनुपपद्यमानं सर्वज्ञत्वमर्थादापाययतीति चेन्न अविनाभावा ऽभावात् । न हि जगद्वैचित्री तत्सार्वज्ञ्यं विनाऽन्यथा नोपपन्ना । द्विविधं हि जगत् स्थावरजङ्गमभेदात् तत्र जङ्गमानां वैचित्र्यं स्वोपात्तशुभा शुभ-कर्मपरिपाकवशेनैव । स्थावराणां तु सचेतनानामियमेव गतिः अचेतनानां तु तदुपभोगयोग्यतासाधनत्वेनानादिकालसिद्धमेव वैचित्र्यमिति । नाप्यागमस्तत्साधकः । सहि तत्कृतोऽन्यकृतो वा स्यात् । तत्कृत एव चेत्तस्य सर्वज्ञतां साधयति । तदा तस्य महत्त्वक्षतिः स्वयमेव स्वगुणोत्कीर्त्तनस्य महतामनधिकृतत्वात् । अन्यच्च तस्य शास्त्रकर्तृत्वमेव न युज्यते । शास्त्रं हि वर्णात्मकम् । ते च तालादिव्यापारजन्याः । स च शरीर एव सम्भवी । शरीराऽन्युपगमे च तस्य पूर्वोक्ता एष दोषाः । अन्यकृतश्चेत्सोऽन्यः सर्वज्ञोऽसर्वज्ञो वा । सर्वज्ञत्वे तस्य द्वैतापत्त्या प्रागुक्त-तदेकत्वाभ्युपगमबाधः । तत्साधकप्रमाणचर्चायामनवस्थापातश्च । असर्वज्ञश्चेत् कस्तस्य वचसि विश्वासः अपरं च भवदभीष्ट आगमः प्रत्युत तत्प्रणेतुरसर्वज्ञत्वमेव साधयति पूर्वाऽपर-विरुद्धाऽर्थवचनोपेतत्वात् । तथाहि ''न हिंस्यात्सर्वभूतानि'' इति प्रथममुक्त्वा पश्चात्तत्रैव पठितम् ''षट्शतानि नियुज्यन्ते पशुनां मध्यमे ऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ।'' तथा ''अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'' सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत'' इत्यादिवचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते । तथा ''नानृतं ब्रूयात्'' इत्यादिनाऽनृतभाषणं प्रथमं निषिध्य पश्चाद् ''ब्राह्मणा-र्थेऽनृतं ब्रूयादित्यादि'' तथा ''न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले । प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चाऽनृ-तान्याहुरपातकानि ॥१॥ तथा ''परद्रव्याणि लोष्ठवत्'' इत्यादिना अदत्तादानमनेकधा निरस्य पश्चादुक्तं ''यद्यपि ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते छलेन वा, तथापि तस्य नाऽदत्तादानम् । यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् । ब्राह्मणानां तु दौर्बल्याद्वृषलाः परिभुञ्जते तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते वस्ते स्वं ददातीति । तथा ''अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'' इति लपित्वाऽनेकानि सहस्राणि कुमारा ब्रह्मचारिणां दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुल संतति, मित्यादि कियन्तो वा दधिमाषभोजनात्कृपणा विवेच्य-न्ते । तदेवमागमोपि न तस्य सर्वज्ञतां वक्ति । किंच सर्वज्ञः सन्नसौ चराचरं चेद्विरचयति तदा जगदुपप्लवकरणस्वैरिणः पश्चादपि कर्त्तव्यनिग्रहान् सुरवैरिण एतदधिक्षेपकारिणश्चास्मदादीन् किमर्थं सृजतीति तन्नायं सर्वज्ञः । तथा स्ववशत्वं स्वातन्त्र्यं तदपि तस्य न क्षोदक्षमम् । स हि यदि नाम स्वाधीनः सन् विश्वं विधत्ते परमकारुणिकश्च त्वयावर्ण्यते तत्कथं सुखितदुःखिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनमेकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव तु किं न निर्मिमीते । अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तदीयशुभाशुभकर्मप्रेरितः संस्तथा करोतीति दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलाञ्जलिः । कर्मजन्ये च त्रिभुवनवैचित्र्ये विशिष्टहेतुकविष्ठपसृष्टिकल्पनायाः कष्टैकफलत्वादस्मन्मतमेवाङ्गीकृतं प्रेक्षा-वता । तथा चायातोऽयं ''घटकुट्यां प्रभातमिति'' न्यायः । किंच प्राणिनां धर्माधर्मावपेक्षमाणश्चेदयं सृजति प्राप्तं तर्हि यदयमपेक्षते तन्न करोति इति । नहि कुलालो दण्डादि करोति एवं कर्मा-पेक्षश्चेदीश्वरो जगत्कारणं स्यान्नहि कर्मणीश्वरोऽनीश्वरः स्यादिति । तथा नित्यत्वमपि तस्य स्वगृह एव प्रणिगद्यमानं हृद्यम् । स खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन् त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽतत्स्वभावो वा प्रथमविधायां जगन्निर्म्माणात् कदाचिदपि नोपरमेत । तदुपरमे तत्स्वभावत्वहानिः । एवं च सर्गक्रियायाः अपर्यवसानादेकस्या-पि कार्यस्य न सृष्टिः । घटो हि स्वारम्भक्षणादारभ्यापरिसमाप्तेरुपान्त्यक्षणं यावन्निश्चयनयाभिप्रायेण न घटव्यपदेश-मासादयति जलाहरणाद्यर्थ क्रियायामसाधकतमत्वात् । अत-स्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत्तत्स्वभावायोगाद्गगनवत् । अपिच तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिरिव संहारोपि न घटते नानारूपकार्यकारणे नित्यत्वापत्तेः । स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेत्तेनैव तानि संहरेत्स्वभावान्तरेण वा तेनैव चेत् सृष्टि-संहारयोर्योगपद्यप्रसङ्गः स्वभाषाभेदात् । एकस्वभावात्कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात् । स्वभावान्तरेण चेन्नित्यत्वहानिः । स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः । यथा

पार्थिवशरीरस्याहारपरमाणुसहकृतस्य प्रत्यहमपूर्वापूर्वोत्पादेन स्वभावभेदादनित्यत्वम् । इष्टश्च भावानां सृष्टिसंहारयोः शम्भौ स्वभावभेदः । रजोगुणात्मकतया सृष्टौ, तमोगुणात्मकतया संहरणे, सात्विकतया च स्थितौ, तस्य व्यापारस्वीकारात् एवं चावस्थाभेदस्तद्भेदे चावस्थावतोऽपि भेदान्नित्यत्वक्षतिः । अथास्तु नित्यस्तथापि स कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते । इच्छावशाच्चेन्ननु ता अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्धनात्मलाभाः सदैव किं न प्रवर्तयतीति स एवोपालम्भः । तथा शम्भोरष्टगुणाधिकरणत्वे कार्यभेदोऽनुमेयानां तदिच्छानामपि विषमरूपत्वान्नित्यत्वहानिः केन निवार्यते इति । किंच प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्ता ततश्चायां जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्कारुण्याद्वा न तावत्स्वार्थात्तस्य कृतकृत्यत्वात् । न च कारुण्यात्पर दुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यं ततः प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छाकारुण्यम् । सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयम् । कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति । नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिध्यति तदेवमेवंविधदोषकलुषिते पुरुषविशेषे यस्तेषां सेवाहेवाकः स खलु केवलं बलवन्मोह विडम्बनापरिपाक इति । अत्र च यद्यपि मध्यवर्तिनो नकारस्य घण्टालोलान्यायेन योजनादर्थान्तरमपि स्फुरति यथा 'इमाः कुहेवाकविडम्बनास्तेषां न स्युर्येषां त्वमनुशासक इति' तथापि सोऽर्थः सहृदयैर्न हृदये धारणीयोऽन्ययोगव्यवच्छेदस्याधि-कृतत्वादिति काव्यार्थः । स्था०६ श्लोक।

ईश्वरस्य जगदकर्तृत्वं यथा।

उवगरणाभावाउ मिच्चेट्ठामुत्तयाइ उ वावि ।
ईसरदेहारंभे वि तुल्लया वा णवत्था वा ।।

नायमीश्वरःजीवादिरकर्माशरीरादिकार्याण्यारभते उपकरणाभावाद्घण्डाद्युपकरणरहितकुलालवत् । न च कर्म विना शरीराद्यारम्भिजीवादी नामन्यदुपकरणं घटते । गर्भाद्यवस्थास्वन्योपकरणासंभवाच्छुक्रशोणितादिग्रहणस्याप्यकर्मणोऽनुपपत्तेः । अथवाऽन्यथा प्रयोगः क्रियते निश्चेष्टेत्यादिना कर्मशरीराद्यारभते निश्चेष्टत्वादाकाशवत्तथा ऽमूर्तत्वादादिशब्दादशरीर-त्वान्निष्क्रियत्वात्सर्वगतत्वादाकाशवदेव तथा एकत्वादेकपरमाणु व दित्यादि। अत्रोच्यते शरीरवानीश्वरः सर्वाण्यपि देहादिकार्याण्यारभते। नन्वीश्वरदेहारम्भोपि तर्हि तुल्यता पर्यनुयोगस्य तथाह्यकर्मा नारभते निजशरीरमीश्वरो निरुप-करणत्वाद्घण्डादिरहितकुलालवदिति । अथान्यः कोपीश्वरस्तच्छरीराम्भाय प्रवर्तते ततः सोपि शरीरवानशरीरो वा यद्यशरीरस्तर्हि नारभते निरुपकरणत्वादित्यादि सैव वक्तव्यता अथशरीरवान् तर्हि तच्छरीराम्भेपि तुल्यता सोप्यकर्म्मा निजशरीरं नारभते निरुपकरणत्वादित्यादि। अथ तच्छरीरमन्यः शरीर-वांस्तर्हि तच्छरीराम्भेपि तुल्यता नारभते ऽतस्तस्याप्यन्त इत्येवमनवस्था । अनिष्टं च सर्वमेतत्तस्मान्नेश्वरो देहादीनां कर्ता किंतु कर्म सद्वितीयो जीव एव निष्प्रयोजनश्चेश्वरो देहादीन् कुर्वन्नुन्मत्तकल्प एव स्यात् । सप्रयोजनकर्तृत्वे पुनरनीश्वरप्रसङ्गः । न चानादिशुद्धस्य देहादिकारणेच्छा युज्यते तस्यारागविकल्परूपत्वात्॥ विशे०॥ तथाच 'इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसि-आहियं । ईसरेण कडेलोए' इत्युपक्रम्य 'असोत्तत्तमकासीयं अयाणंतामुसंवहे' इत्युपसंजहार। सूत्र०१ श्रु०१ अ०

"ईश्वरकर्तृके सुखदुःखे अपि न भवतः यथासावीश्वरो मूर्तोऽमूर्तो वा । यदि मूर्तस्ततः प्राकृतपुरुषस्येव सर्वकर्तृत्वाभावः । अथाऽमूर्तस्तथा सत्याकाशस्येव सुतरां निष्क्रियत्वम् । अपिच यद्यसौ रागादिमात्रस्ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकाद्विश्वस्याकर्तैव । यथासौ विगतरागस्तत स्तत्कृतं सुभगदुर्भगेश्वरदरिद्रादि जगद्वैचित्र्यम् न घटां प्राञ्चति ततो नेश्वरः कर्तेति। सूत्र०॥

यथा कथंचिदीश्वरस्य कर्तृत्वं सूत्रकृताङ्गे प्रतिपादितम्।

तथेश्वरोपि कर्ता आत्मैवहि तत्र तत्रोत्पत्तिद्वारेण सकलजगद्व्यापनादीश्वरः । तस्य सुखदुःखोत्पत्तिकर्तृत्वं सर्ववादिनामविगानेन सिद्धमेव। यच्चात्र मूर्तादि दूषणमुपन्यस्तं तदेवंभूतेश्वरसमाश्रयेण दूरोच्छेदितमेवेति॥ सूत्र०१ श्रु०१ अ०२ उ०। ऐश्वर्येण ज्ञानाद्यतिशयलक्षणेन युक्त ईश्वरः परमब्रह्मवादीनां मुक्ते—बौद्धानाम्बुद्धे अर्हतां जिने च। द्वा०१६ द्वा० यो० वि०।

तेषामीश्वरत्वं यथा—

महेशानुग्रहात्केचि—द्योगसिद्धिं प्रचक्षते ।
क्लेशाद्यैरपरामृष्टः पुंविशेषः स चेष्यते ।१।

के चित्पातञ्जला महेशानुग्रहात् योगस्योक्तलक्षणस्य सिद्धिमयोगक्षेमलक्षणां प्रचक्षते प्रकथयन्ति स च महेशः पुंविशेषः पुरुषविशेषः इष्यते। कीदृश इत्याह क्लेशाद्यैः क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टोऽस्पृष्टस्त्रिष्वपि कालेषु तथाच सूत्रं "क्लेश-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष इष्यते। कीदृश इत्याहई-श्वर इति अत्र क्लेशा अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशा वक्ष्य-माणलक्षणाः क्लेशमूलाः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः अस्मिन्नेव जन्मन्यनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयो जन्मान्तरानु-भवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयस्तीव्रसंवेगेन हि कृतानि पुण्यानि देवताराधनादीनि कर्माणि इहैव जन्मनि फलं जात्यायुर्भोगलक्षणं प्रयच्छन्ति । यथा नन्दीश्वरस्य भगवन्महेश्वराराधनबलादिहैव जन्मनि जात्यादयो विशिष्टाः प्रादुर्भूता न चैतदनुपपत्तिः स दनुष्ठानेन प्रतिबन्धकापनयने केदारान्तरे जलापूरणवत्पाक्षा-त्यप्रकृत्या-पूरणेनैव सिद्धिविशेषोपपत्तेस्तदुक्तम्। "जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः सिद्धिश्चोत्कर्षविशेषः कायकारणस्य जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्या पूरान्निमित्तप्रयोजकं प्रकृतीनां चरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवदिति । सति मूले तद्विपाको जा-त्यायुर्भोगः सति मूले क्लेशरूपबीजे तेषां कुशलाकुशलं कर्मणां विपाकः फलं जात्यायुर्भोगा भवन्ति जातिर्मनुष्यादिरायुश्चिरकाले शरीरसंबन्धो भोगा विषयाः इन्द्रियाणि सुखदुःखसंविच्च कर्मकरणभावसाधनव्युत्पत्त्या भोगशब्दस्य, इदमत्र तात्पर्यम्। चित्तंहि द्विविधं साशयमनाशयं च। तत्र योगिनामनाशयं तदाह। ध्यानजननाशयम् अत एव तेषाम-शुक्लाकृष्णं कर्म तदाह कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषां शुभफलदं कर्म यागादिशुक्लम् अशुभफलदं ब्रह्महत्यादिकृष्णम् उभयसंकीर्णं शुक्लकृष्णम्। तत्र शुक्लं दानतपःस्वाध्यायादिमतां पुरुषाणां कृष्णं नारकिणां, शुक्लकृष्णं मनुष्याणां योगिनां तु विलक्षणमिति साशयंचित्तमयोगिनाम् तत्र फलत्यागानुसंधानाभावात्फलजनकं कर्माशयस्ततस्तद्विपाकानुगुणाना-मेवाभिव्यक्तिर्वासनानां द्विविधा हि कर्मवासनाः स्मृतिमात्रफलाजा त्यायुर्भोगफलाश्च तत्राद्या येन कर्मणा यादृक् शरीरमारब्धं देवमानुषतिर्यगादिभेदेन जात्यन्तरशतव्यवधानेन पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्यारम्भे तदनुरूपामेव स्मृतिं जनयन्ति,

अन्यादृशीं च न्यग्भावयन्ति देवादिभवे नारकादि शरीरोपभोगस्मृतिवत्। न चातिव्यवहितयोःस्मृतिसंस्कारयोर्जन्यजनकभावानुपपत्तिर्दूरानुभूतस्याप्यविचलितचित्ते वासनात्मना स्थितस्योद्बोधविशेषसहकारेण स्मृतिविशेष-परिणामे व्यवधानाभावात्तदुक्तम्। जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ताश्च सुखसाधनावियोगाध्यवसायसङ्कल्प स्य मोहलक्षणस्य बीजस्यानादित्वादादिरहितास्तदुक्तं तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात् द्वितीयाया अपि चित्तभूमावेवानादिकालं संचिता यथा यथा पाकमुपयान्ति तथा तथा गुणप्रधानभावेन स्थिता जात्यायुर्भोगिलक्षणं कार्यमारभन्त इति। तदेतत्कर्माशयफलं जात्यादिविपाक इति। यद्यपि सर्वेषामात्मनां क्लेशादिस्पर्शो नास्ति तथापि ते चित्तगतास्तेषां व्यपदिश्यन्ते यथा योधगतौ जयपराजयौ स्वामिनः, अस्य तु त्रिष्वपि कालेषु तथाविधोपि क्लेशादिपरामर्शो नास्तीति विलक्षणोयमन्येभ्यः ॥१॥

ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥२॥
सात्विकः परिणामोत्र, काष्ठा प्राप्ततयेष्यते।
नाक्षप्रणालिकाप्राप्त, इति सर्वज्ञतास्थितिः ॥३॥
ऋषीणां कापिलादीना—मप्ययं परमो गुरुः।
तदिच्छया जगत्सर्वं, यथाकर्म विवर्त्तते ॥४॥

ज्ञानादयोह्यत्राप्रतिपक्षाः सहजाश्च शुद्धसत्वस्यानादि संबन्धात् यथा हीतरेषां सुखदुःखमोहतया विपरिणतं चित्तं निर्मले सात्विके धर्मात्मपक्षे प्रतिसंक्रान्तंचिच्छायासंक्रान्तं संवेद्यं भवति नैवमीश्वरस्य किन्तु तस्य केवल एव सत्विकः परिणामो भोग्यतया व्यवस्थित इति। किंच प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्छाव्यतिरेकेणानुपपत्तेरनादिज्ञानादिमत्त्वमस्य सिद्धम् ॥२॥ अत्रेश्वरे सात्विकपरिणामः काष्ठाप्राप्ततयाऽत्यन्तोत्कृष्टत्वेनेप्यते तारतम्यवतां सातिशयानां धर्माणां परमाणावल्पत्वस्येवाकाशे परममहत्त्वस्येव काष्ठा प्राप्तिदर्शनात्। ज्ञानादीनामपि चित्तधर्माणं तारतम्येन परिदृश्यमानानां क्वचिन्निरतिशयत्वे सिद्धे न पुनरक्षप्रमाणालिकयेन्द्रियद्वाराप्राप्तमुपनीतमिति हेतोः सर्वविषयत्वादेतच्चित्तस्य सर्वज्ञतया स्थितिः प्रसिद्धिस्तदुक्तम् 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' ॥३॥ अयमीश्वरः कपिलादीनामपि ऋषीणां परम उत्कृष्टो गुरुस्तदुक्तं 'स पूर्वेषामपि गुरुः का-लेनानवच्छेदादिति तस्येश्वरस्येच्छया सर्वं जगत् यथाकर्म कर्मानतिक्रम्य विवर्त्तते उच्चावचफलभाग्भवति न च कर्म-गैवान्यथासिद्धिरेककारकेण कारकान्तरानुपक्षयादिति भावः ॥४॥ एतद्दूषयति—

नैतद्युक्तमनुग्राह्य— तत्स्वभावत्वमन्तरा।
नाणुः कदाचिदात्मा स्या—द्दैवतानुग्रहादपि ॥५॥
उभयोस्तत्स्वभावत्व—भेदे च परिणामिनि।
अत्युत्कर्षश्च धर्माणा—मन्यत्राति प्रसञ्जकः ॥६॥

एतदीश्वरानुग्रहजन्यत्वं योगस्य न युक्तमनुग्राह्ये तत्स्वभावत्वमनुग्राह्यस्वभावत्वमन्तरा विना यतः देवतायाअनुग्रहादपि अणुतरात्माभवत्वितीच्छालक्षणो कदाचिदपि अणुरात्मा न स्यात् स्वभावापरावृत्तेः ॥५॥ उभयोरीश्वरात्मनोस्तत्स्वभावभेदे च व्यक्तिकालफलादिभेदेन विचित्रानुग्राह्यानुग्राह्यकस्वभावभाजनत्वे च परिणामिता स्यात् स्वभावभेदस्यैव परिणामभेदार्थत्वात्तथाचायं सिद्धान्तः। ज्ञानादिधर्माणामप्युत्कर्षेणेश्वर सिद्धिरित्यपि च नास्ति यतो धर्माणामप्युत्कर्षः साध्यमानो ज्ञानादाविवान्यत्राज्ञानादावति-प्रसञ्जकोऽनिष्टसिद्धिकृत् अत्युत्कृष्टज्ञानादिमत्तया श्वरस्वेव तादृशाज्ञानादिमत्तया तत्प्रतिपक्षस्यापि सिद्ध्यापत्तेरित्थं च ज्ञानत्वमुत्कर्षापकर्षाऽऽश्रयवृत्ति उत्कर्षापकर्षाश्रयवृत्तित्वान्महत्त्ववदित्यत्र ज्ञानत्वं न तथा चित्तधर्ममात्रवृत्तित्वाद-ज्ञानत्ववदिति प्रतिरोधो द्रष्टव्यः। प्रकृतिपुरुषसंयोगावियोगौ च यदि तात्विकौ तदात्मनोऽपरिणामित्वं न स्यात् तयोर्द्विष्टत्वेन तस्य जन्यधर्मानाश्रयत्वक्षतेः। नो चेत्कयोः कारणमीश्वरेच्छा। किंच प्रयोजनाभावादपि नेश्वरो जगत् कुरुते। न च परमकारुणिकत्वाद्-भूतानुग्रह एवास्यप्रयोजनमिति भोजस्य वचनं साम्प्रतम्। इत्थं हि सर्वस्यायमिष्टमेव संपादयेदित्यधिकं शास्त्रवार्तासमुच्चयविव-रणः।

आर्थं व्यापारमाश्रित्य, तदाज्ञापालनात्मकम्।
युज्यते परमीशस्या—नुग्रहस्तत्र नीतितः ॥७॥
एवं च प्रणवेनैत—ज्जपात्प्रत्यूहसंक्षयः।
प्रत्यक् चैतन्यलाभश्चे—त्युक्तं युक्तं पतञ्जलेः ॥८॥
प्रत्यूहा व्याधयः स्थानं, प्रमादालस्यविभ्रमाः।
संदेहा विरती भूम्य—लाभश्चाप्यनवस्थितिः ॥९॥
धातुवैषम्यजो व्याधि— स्थानं चाकर्मनिष्ठता।
प्रमादो यत्न आलस्य—मौदासीन्यं च हेतुषु ॥१०॥

आर्थं ततः सामर्थ्यप्राप्तं न तु प्रसह्य तेनैव कृतं तदाज्ञापालना-त्मकं व्यापारमाश्रित्य परं केवलं तत्र नीतितोऽस्मत्सिद्धान्तनीत्या ईशस्यानुग्रहो युज्यते तदुक्तम्। आर्थं व्यापारमाश्रित्य तत्र दोषोपि विद्यत इति ॥७॥ एवं चार्थव्यापारेणोशानुग्रहादरे च प्रण-वेनोंकारेणैतस्येश्वरस्य जपात्प्रत्यूहानां विघ्नानां संक्षयः विषयप्राप्तिकूल्येनान्तः करणाभिमुखमञ्चति यत्तत्प्रत्यक् चैतन्यं ज्ञानं तस्य लाभश्चेति पतञ्जलेरुक्तं युक्तं तस्य वाचकः प्रण-वस्तज्जपस्तदर्थभावनं ततः प्रत्यक्चैतन्याधिगमोन्तरायाभावा-श्चेति सूत्रप्रसिद्धेर्गुणविशेषवतः पुरुषस्य प्रणिधानस्य महाफलत्वात् ॥८॥ व्याधिस्थानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति-दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानिचित्तविक्षेपास्तेन्तराया इति ॥९॥ धातुवैषम्यजो धातूद्रेकादिजनितो व्याधिर्ज्वरातीसारादिः स्थानं चाकर्मनिष्ठतादित एव कर्मप्रारम्भः प्रमादो यत्नः आरब्धेऽप्यनुत्थानशीलता आलस्यं च हेतुषु समाधिसाधनेष्वौदासीन्यं माध्यस्थ्यं न तु पक्षपातः ॥१०॥

विभ्रमो व्यत्ययज्ञानं, संदेहः स्यान्नवेत्ययम्।
अखेदो विषयावेशा—द्भवेदविरतिः किल ॥११
भुम्यलाभः समाधीनां, भुवःप्राप्तिः कथंचन।
लाभेपि तत्र चित्तस्या—प्रतिष्ठात्वनवस्थितिः ॥१२॥
रजस्तमोमयाद्दोषा—द्विक्षेपाच्चेतसो ह्यमी।
सोपक्रमाजपपान्नाशं, यन्ति शक्तिं हतिं परे ॥१३॥
प्रत्यक् चैतन्यमप्यस्मा दन्तर्ज्योतिः प्रथामयम्।
बहिर्व्यापाररोधेन, जायमानं मतं हि नः ॥१४॥
योगातिशयतश्चायं, स्तोत्रकोटिगुणः स्मृतम्।
योगदृष्ट्या बुधैर्दृष्टो, ध्यानविश्रामभूमिका ॥१५॥

विभ्रमो व्यत्ययज्ञानं रजते रङ्गबुद्धिवदिष्टसाधनेपि योगः इष्टसाधनत्वं निश्चयः संदेहोयं योगः स्याद्वा नचेत्याकारविषयावेशाद्वाह्येन्द्रियार्थव्याक्षेपलक्षणादखेदोनुपरमलक्षणः किलाविरतिर्भवेत् ११ (भूम्यलाभइति) कुतोपि हेतोः समाधीनां भुवः स्थानस्याप्राप्तिर्भूम्यलाभः लाभेपि समाधिभूप्राप्तावपि तत्र समाधिभुवि चित्तस्याप्रातिष्ठानिवेशस्त्वनवस्थितिः ॥१२॥ अमी हि रजस्तमोमयाद्दोषाच्चेतसोविक्षेपे एकाग्रताविरोधिनः परिणामाः सोपक्रमा अपवर्तनीयकर्मजनिताः सन्तो जपाद्भगवत्प्रणिधानान्नाशं यान्ति परिनिरुपक्रमा शक्तिं हतिं दोषानुबन्धशक्तिभङ्गमुभयथापि योगप्रतिबन्धसामर्थ्यमेवापगच्छन्तीति भावः ॥१३॥ अस्माद्भगवज्जपाद्बहिर्व्यापाररोधेन शब्दादिबहिरर्थग्रहत्यागेनान्तर्ज्योतिः प्रथाज्ञाना दिविशुद्धिविस्तारस्तन्मयं प्रत्यक् चैतन्यमपि हि जायमानं मतं नोस्माकं तथैव भक्तिश्रद्धाद्यतिशयोपपत्तेः ॥१४॥

योगातिशयतश्चाभ्यन्तरपरिणामोत्कर्षाच्चायं जपः स्तोत्रकोटिगुणः स्मृतश्चिरंतनाचार्यैः वाग्योगापेक्षया मनोयोगस्याधिकत्वादत एव मौनविशेषेणैव जपः प्रशस्यते तथा बुधैर्विशारदैर्योगदृष्ट्या योगजप्रातिभज्ञानेन ध्यानस्य विश्रामभूमिका पुनरोरोहस्थानं दृष्टः ॥१५॥

ननु यदि यादृश ईश्वरोभ्युपगतस्तादृशस्य भवद्भिरनभ्युपगमात्कथमार्थव्यापारेणापि तदनुग्रहसिद्धिरित्याशङ्कायां विषयविशेषपक्षपातेनैव समाधानाभिप्रायवानाह ॥

माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैव, देवता तिशयस्य च ।
सेवा सर्वै र्बुधैरिष्टा, कालातीतोऽपि यज्जगौ ॥१६॥

माध्यस्थ्यमनिर्णीतविशेषकलहाभिनिवेशाभावलक्षणमवलम्ब्य देवतातिशयस्य च विशिष्टदेवताख्यस्य च सेवा स्तवनध्यानपूजनादिरूपा सर्वैर्बुधैरिष्टा तन्निमित्तकफलार्थत्वेनाभिमता स्तवनादिक्रियायाः स्वकर्तृकायाः फलदानसमर्थत्वेपि स्तवनीयाद्यालम्बनत्वे ततस्तस्यास्तोत्रादेः फललाभस्य स्तोतव्यादिनिमित्तकत्वव्यवहारादयस्मात्कालातीतोपि शास्त्र-कृद्विशेषो जगौ ॥१६॥

अन्येषामप्ययं मार्गो, मुक्ताविद्यादिवादिनाम् ।
अभिधानादिभेदेन, तत्त्वनीत्या व्यवस्थितः ॥१७॥

मुक्तो बुद्धोऽर्हन् वापि य– दैश्वर्येण समन्वितः ।
तदीश्वरः स एव स्या–त्संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥१८॥

अन्येषामपि तीर्थान्तरीयाणां किं पुनरस्माकमयमस्मदुक्तो मार्गो देवतादिगोचरो मुक्तादिवादिनामविद्यादिवादिनां च मतेनाभिधानादीनां नामविशेषणादीनां भेदेपि तत्त्वनीत्या-परमार्थत एकविषयतया व्यवस्थितः प्रतिष्ठितः ॥१७॥

मुक्तः परमब्रह्मवादिनां बुद्धा बौद्धानाम् अर्हन् जैनानां वापीति समुच्चते यद्यस्मादैश्वर्येण ज्ञानाद्यतिशयलक्षणेन समन्वितो युक्ता वर्तते तत्तस्मादीश्वरोऽस्मदुक्तः स एव मुक्तादिः स्यात् संज्ञाभेदो नामनानात्वमत्र मुक्तादिप्रज्ञापनायां केवलम् ॥१८॥

अनादिशुद्ध इत्यादि–र्यो भेदो यस्य कल्प्यते ।
तत्र तन्त्रानुसारेण॰ मन्ये सोऽपि निरर्थकः ॥१९॥

विशेषस्यापरिज्ञाना–द्युक्तानां जातिवादतः ।
प्रायो विराधतश्चैव, फलाभेदाच्च भावतः ॥२०॥

अविद्या क्लेशकर्मादि, यतश्च भवकारणम् ।
ततः प्रधानमेवैतत्, संज्ञाभेदमुपागतम् ॥२१॥

अनादि शुद्ध इत्येवंरूप आदिर्यस्य स तथा । तत्रानादि शुद्धः सर्वगतश्चशैवानां सोर्हन्न सर्वगतश्च जिनानां स एवप्रतिक्षणभङ्गुरः सौगतानां यः पुनर्भेदो विशेषो यस्येश्वरस्य कल्प्यते तस्य तस्य तन्त्रस्य दर्शनस्यानुसारेणानुवृत्यामन्ये प्रतिपद्ये सोपि विशेषः किंपुनः प्रागभिहितः संज्ञाभेद इत्यपि शब्दार्थः निरर्थको निष्प्रयोजनः ॥१९॥ विशेषस्य मुक्तादेर्वतविशेषगत-स्यापरिज्ञानादवाग्दर्शितप्रत्यक्षेण तथा युक्तानामनुमानरूपाणां जाति वादतोऽसिद्ध्यादि हेतुदोषोपपातेनानुमानाभासत्वात्प्रायो बाहुल्येन विरोधतश्चैव वेदान्तिबौद्धादियुक्तीनामेकेषां हि नित्य एवात्मा प्रपञ्चाधिष्ठातृत्वादपरेषां चार्थक्रियाकारित्वस्य स्वभावभेदनियतत्वेना नित्य एवेति फलस्य क्लेशक्षयलक्षणस्य गुण प्रकर्षविशेषवत्पुरुषाराधनासाध्यस्य क्वचिन्नित्यानित्यत्वादौ विशेषे आराध्यगते सत्यभेदादविशेषाच्च भावतः परमार्थतः गुणप्रकर्षविषयस्य बहुमानस्यैव फलदायकत्वात्तस्य सर्वज्ञमुक्तादावविशेषादिति ॥२०॥ अविद्या वेदान्तिनां, क्लेशः सांख्यानां, कर्म जैनानाम्, आदिशब्दाद्वासना सौगतानां पाशः शैवानां यतो यस्माच्चकारो वक्तव्यान्तर सूचनार्थः भवकारणं संसार हेतु-स्ततस्तस्मादविद्यादीनां भवकारणत्वाद्धेतोः प्रधान मेवैतदस्म-दभ्युपगतं भवकारणं सत्संज्ञाभेदं नामनानात्वमुपागतम् ॥२१॥

अत्रापि परपरिकल्पितविशेषनिराकरणायाह ।

अस्यापि योऽपरो भेद– श्चित्रोपाधिस्तथा तथा ।
गीयतेऽतीतहेतुभ्यो, धीमतां सोप्यपार्थकः ॥२२॥

अस्यापि प्रधानस्यापि योऽपरो भवकारणत्वात्सर्वाभ्युपग-तादन्यो भेदोविशेषश्चित्रोपाधिर्नानारूपमूर्तत्वामूर्तत्त्वा-दिलक्षणस्तथा तथा तत्तद्दर्शनभेदेन गीयते वर्ण्यत अतीतहेतुभ्योनन्तरमेव विशेषस्यापरिज्ञानादित्यादिश्लोकोक्तेभ्यो धीमता बुद्धिमता सोपि किंपुनर्देवतागत इत्यपि शब्दार्थः । अपार्थकोऽपगतपरमार्थप्रयोजनः सर्वैरपि भवकारणत्वेन योगापनेयस्यास्यापगमादन्यस्य विशेषस्य सतोऽप्यकिंचित्करत्वात् ॥२२॥

ततोऽस्थानप्रयासोयं, यत्तद्भेदनिरूपणम् ।
सामान्यमनुमानस्य, यतश्च विषयो मतः ॥२३॥

यत एवं ततः सतो विशेषस्यापार्थकत्वाद्धेतोरस्थानप्रयासोयं तत्त्वचिन्तकानां यत्तद्भेदस्य देवादिविशेषस्य निरूपणं गवेषणं यतश्चानुमानस्य देवताविशेषादिग्राह कत्वेनाभिमतस्य सामान्यं विषयो मतोऽतोपि सर्वविशेषानुगतस्य तस्याप्रतीते-रस्थानप्रायासोऽयम् इत्थं च भवकारणमात्रज्ञानात्तदपनयनार्थं गुणवत्पुरुषविशेषाराधनं कर्तव्यं विशेषविमर्शस्तु निष्प्रयोजन इति कालातीतमतं व्यवस्थितम् । एतस्माच्चास्माकमपि । विशेषविमर्शाक्षमस्य स्वाग्रहच्छेदाय सामान्ययोग-प्रवृत्यर्थमनुमतम् अन्यस्य तु निरभिनिवेषस्य शास्त्रानुसारेण विशेषविमर्शोपि भगवद्विशिष्टोपासनारूपतया श्रद्धामलक्षालनेन तत्त्वज्ञानगर्भवैराग्यजीवानुभूतत्वाद्विशिष्टनिर्जराहेतुरिति न सवथा तद्वैफल्यमित्वभिप्रायः ॥२३॥

आस्थितं चैतदाचार्यै– स्त्याजये कुचितिकाग्रहे ।
शास्त्रानुसारिणस्तर्का– न्नामभेदानुपग्रहात् ॥२४॥

एतच्च कालातीतमतमाचार्यैः श्रीहरिभद्रसूरिभिरास्थितमङ्गीकृतं कुचितिकाग्रहे कौटिल्यावेशे त्याज्ये परिहार्ये कुचितिकात्यागार्थमित्यर्थः । शास्त्रानुसारिणस्तर्कादर्थसिद्धौ सत्यामिति

गम्यं नाभेदस्य संज्ञाविशेषस्यानुपग्रहादनभिवेशात्तत्वार्थसिद्धौ नाममात्रक्लेशो हि योगप्रतिपन्थी न तु धर्मवादेन विशेष-विमर्शोपीति भावस्तदिदमुक्तम् । ''साधुचैतद्यतो नीत्या, शास्त्रमन्त्रप्रवर्तकम् । तथाभिधानभेदानुभेदः कुचितिकाग्रहः ॥ विपश्चितां न युक्तोय-मैदंपर्यप्रियाहिते । यथोक्तास्तत्पुनश्चारु, हन्तात्रापि निरूप्यताम् । उभयोः परिणामित्वं, तथाभ्युपगमाद् ध्रुवम् । अनुग्रहात्प्रवृत्तेश्च, तथाद्धा भेदतः स्थितम् ॥ आत्मनां तत्स्वभावत्वे, प्रधानस्यापि संस्थिते । ईश्वरस्यापि सन्न्या-याद्विशेषोधिकृतो भवेत् ॥४॥ इति ॥

अथ विशेषविमर्शे शास्त्रतर्कयोर्द्वयोरुपयोगप्रस्थानमाह ।

अस्थानं रूपमन्धस्य, यथा सन्निश्चयं प्रति ।
तथैवातीन्द्रियं वस्तु, छद्मस्थस्यापि तत्वतः ॥२५॥

अस्थानमविषयो रूपं नीलकृष्णादिलक्षणमन्धस्य लोचन-व्यापारविकलस्य यथा सन्निश्चयं विशदालोचनं प्रत्याश्रित्य तथैवोक्तन्यायेनैवातीन्द्रियं वस्त्वात्मादिविशेषरूपं छद्मस्थस्या वीदृशः परमार्थतत्वतः परमार्थनीत्या ॥२५॥

हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं, तत एव कथञ्चन ।
अत्र तन्निश्चयोपि स्या-त्तथा चन्द्रोपरागवत् ॥२६॥

हस्तस्पर्शसमं तद्वस्तूपलब्धिहेतुहस्तस्पर्शसदृशं शास्त्रम-तीन्द्रियार्थगोचरं तत एव शास्त्रादेव कथञ्चन केनापि प्रकारेणात्र छद्मस्थे प्रमातरि तन्निश्चयोऽप्यतीन्द्रियवस्तुनिर्णयोऽपि स्यात्तथा वर्द्धमानत्वा-दिविशेषेण चन्द्रोपरागवच्चन्द्रराहुस्पर्शवत् । यथा शास्त्रात्सर्वविशेषा-न्निश्चयेऽपि चन्द्रोपरागः केनापि विशेषेण निश्चीयते एव तथान्यदपि अतीन्द्रियं वस्तु तत्तच्छद्मस्थेन निश्चीयत इति भावः ॥२६॥

इत्थं ह्यस्पष्टता शाब्दे, प्रोक्ता तत्र विचारणम् ।
माध्यस्थ्यनीतितो युक्तं, व्यासोपि यददो जगौ ॥२७॥

इत्थमुक्तदृष्टान्तेन हि शाब्दे ज्ञानस्पष्टता प्रोक्ता तत्र स्पष्टे शाब्द ज्ञाने माध्यस्थ्यनीतितो विचारणं युक्तं तर्कस्य प्रमाणा-नुग्राहकत्वात्तेनैवेदं-पर्यशुद्धेस्तस्याश्च स्पष्टताप्रायत्वात् यद्यस्मा-ददो वक्ष्यमाणं व्यासोऽपि जगौ ॥२७॥

आर्षधर्मोपदेशं च, वेदशास्त्रविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते, स धर्मं वेद नेतरः ॥२८॥
शास्त्रादौ चरणं सम्यक्, स्याद्वादन्यायसंगतम् ।
ईशस्यानुग्रहस्तस्मा-दृष्टेष्टार्थाविरोधिनः ॥२९॥
यद्दातव्यं जिनैः सर्वं-दत्तमेव तदेकदा ।
दर्शनज्ञानचारित्र-मयो मोक्षपथः सताम् ॥३०॥
जिनेभ्यो याचमानेभ्यो, लब्धं धर्ममनालयं ।
तं विङ्कलं विना भाग्यं, केन मूल्येन लप्स्यते ॥३१॥
अनुष्ठानं ततः स्वामि-गुणरागपुरःसरम् ।
परमानन्दतः कार्यं, मन्यमानैरनुग्रहम् ॥३२॥

आर्षमित्यारभ्य स्पष्टम् । द्वा०१६ द्वा० यो० बिं०।

विशेषस्यापरिज्ञानात्, युक्तीनां जातिवादतः ।
प्रायो विरोधतश्चैव, फलाभेदाच्च भावतः ॥

विशेषस्य मुक्तादिदेवता विशेषगतस्याऽपरिज्ञानाद संवेदना-दर्वाङ्नर्शि प्रत्यक्षेण तथा युक्तीनामनुमानरूपाणां जातिवादतो-ऽसिद्धादिहेतुदोषो-पघातेनानुमानाभासत्वात् । प्रायो बाहुल्येन चैवेति पूर्ववत् । तथाहि साङ्ख्यः शैवश्च सर्वक्षणिकवादिनं सौगतं प्रत्याह । तु यथा भवदाराध्यो बुद्धोऽर्थक्रियां देशनादिकां स्वक्षणे पूर्वं पश्चाद्वा कुर्यादिति त्रयी गतिः । तत्र न तावदाद्यः पक्षः कक्षीकरणीयः समकालभाविनि व्यापाराभावात् । इतरथैकक्षणवर्तिनां समर्थार्थक्षणानामितरेतरकार्यकरणभावः प्रसज्यते । न चैतद्दृष्टमिष्टं वा अथ स्वक्षणात् ऊर्ध्वकायं विधत्ते इति मन्येथा एतदप्यसाधीयो विनष्टस्य कार्यकरणाक्षमत्वात् अन्यथा मृतस्य शिखिनः केकायितं स्यात् । एवं च क्षणिकादर्थाद्व्यावर्तमानाऽर्थक्रिया-वीरादर्शशकुनिन्यायेन नित्यानेव भावनाश्रयतया प्रतिपद्यते इति नित्यरूपोऽत एवानादिशुद्ध ईश्वरनामा आप्तविशेषोऽभ्युपगन्तुं मुधोपचित इति । बौद्धः पुनः आह । ईश्वरोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावो भवद्भिरभ्युपगम्यते । नच नित्यस्यकथंचिदप्यर्थक्रिया युज्यते । नित्यो ह्यर्थक्रमेण यौगपद्येन वार्थक्रियां कुर्वीत । न तावक्रमेण सन्निहित-सर्वशक्तेः सहकारिभिश्चानाधेयातिशयस्य युगपदेव त्रैकालिकसर्वकार्य-करणप्रसङ्गात् । नापि यौगपद्येन यतस्तत्र युगपदेव सर्वकार्यकरणेन कृतस्य पुनः करणाभावेन च द्वितीय-क्षणेऽर्थक्रियाविरहलक्षणं बलादसत्वमाढौकमानं न केनापि निरोद्धुं पार्यते इति प्रतिक्षणं परिवर्तमानाऽपरापररूपः सर्वार्थ-क्रियाऽक्षमोऽभ्युपगन्तुं युक्तोऽसाविति । फलाभेदाच्च फलस्य भेदक्लेशक्षणस्य गुणप्रकर्षरूपपुरुषाराधनासा-ध्यस्य क्वचिन्नित्यानित्यत्वादौ विशेषे आराध्यगते सत्यप्यभेदाद-विशेषात् । भावत् परमार्थतः गुणप्रकर्षविषयस्य बहुमानस्यैव फलदाय-कत्वात् तस्य सर्वत्र मुक्तादावविशेषादिति । यो० बिं०।

परतीर्थिकाभिमतेश्वरस्य निराकरणम् ।

नन्वियं त्रिभुवनभवनान्तर्वर्त्तमानान्तरितानन्तरितपदार्थप्रया त्वत्तीर्थनाथवृत्तिर्न भवति यतो भूभूधरप्रभृतिपदार्थ प्रबन्धविधानद्वारा प्रमथपतेरेवेयमुपपद्यते यदेतदनुमानमत्र प्ररूप्यते न्यायताप्यर्यावबोध-प्रधानमनोवृत्तिविद्वद्वृन्देन विवादपदभूतं भूभूधरादिबुद्धिमद्विधेयं यतो निमित्ताधीनात्मलाभं यन्निमित्ता-धीनात्मलाभं तद्बुद्धिमद्विधेयं यथा मन्दिरं तथा पुनरेतत्तेन तथा न तावन्निमित्ताधीनात्मलाभत्वं वादिनः प्रतिवादिनो वा प्रतीतं यतो भूभूधरादेरात्मीयात्मीयनिमित्तव्रात-निर्वर्तनीयता भुवनभाविभवभृत्प्रतीतैव । नापि दोलायमानवेदननिमित्तं मतिमन्निवर्तनीयेतराम्बरादि पदार्थतोत्यन्तव्यावृत्तत्वेन । नापि विरुद्धतावरोधदुर्धरमम्बरादितोऽत्यन्तव्यावृत्तत्वेनैव नापि तुरीयव्या-प्यामता प्रतिबद्धमिन्द्रियवेदनेनानुमाननाम्ना राद्धान्ताभिधानेन वा मानेनाबाधिताभि प्रेतधर्मधर्म्यनन्तरप्रतिपादितत्वेन । नापि प्रत्यनुमानापमानता निबन्धनमेतत्परिपन्थिधर्मोपपादनप्रत्यलानु-मानाभावेन । ननु भवतीदं तावदनुमानं परिपन्थिधर्मोपपादनप्रत्यलम् । यथा भूताधिभूर्भूभूधरादिविधाता न भवति वपुर्बन्ध्यत्वेन निर्वृत्थात्मवत्तदनवदातं यतोऽत्र त्रिनेत्ररूपो धर्मी धर्मधनेन प्रतिपन्नोऽप्रतिपन्नो वा प्ररूपितः । न तावद प्रतिपन्नो यदेव-माधारद्वारा प्रतीतत्वोपद्रवो वपुर्बन्ध्यताव्याप्योपनिपाती भवन-निरोद्धुं न पार्यते । यदि पुनः प्रतिपन्नोंय धर्मी तदा येन मानेनप्रति-पत्तिर्म्मन्मथप्रत्यर्थिनोऽभिधीयते तेन तत्त्वादि विधानव्युत्पन्नमते-रेवेयमिति तत्रोपादीयमाना वपुर्बन्ध्यता बाधितवर्त्मेवेति न नाम प्रव-

र्तितुं पर्याप्नोति। तदेवं निमित्ताधीनात्मलाभताव्याप्यमत्यन्त- पूतरूपं पर्वतादेर्धीमद्धेतुताप्रतिपादनावदातमेवेति तत्राभिधीयते यदिदं तावन्निमित्ताधीनात्मलाभत्वं व्याप्यमालपितं तद्द्वयद्वारा पर्यायद्वारा वेति भेदोभयी। यद्याद्यः पन्थाः प्रथ्यते तदानीमप्रतीतिर्नाम व्याप्योपतापः। यतो द्रव्यरूपतया पृथ्वीपर्वतादेर्नित्यत्वमेव प्रतिवादिनाऽभ्युपेयते। ननु भूभूधराद्यमुत्पादवदवयवित्वेन यदेवं तदेवं यथेन्दीवरमवयविरूपं पुनरिदं तदुत्पादं वेत्यनुमानेन तन्नित्यता निर्मूलोन्मूलितैवेति तैतद्धीमद्वृत्ति-विधानप्रधानं यतो भूभूधरादेरवयवित्वमवयवारभ्यत्वेन। यद्वावयवव्रात-वर्तमानतया मन्यते न प्रथमविधा विबुधावधानधाम यतो न नामैतत्पृथ्वीपृथ्वीधरप्रभृतिद्रव्यमभूतपूर्वमवयववृन्देन निर्वर्तितमिति प्रतिवादिनः प्रतीतिर्विद्यते। यदि पुनरवयववृत्तिभेदोभिधीयते तदानीमवयवत्वेन दोलायमानमतेः यतोऽवयवोयमवयवोयमितीत्थं बुद्धिवेद्यमवयवत्वमवयवितानवृत्ति भवति न पुनरुत्पादपराधीनं नित्यत्वेन। ननु नार्थोनेन दुर्भेदप्रतिपादनेन प्रतीतोयमवयवी तावद्वादि वितत्तरेविवादेन पद्मपत्रपात्रदात्रादिरिति न नाम न प्रतीतोऽपि त्वात्मापि तथा नियमेन प्रतीतो वर्तते न पुनरुत्पादवानित्यनुमेयतत्तुल्यतद्विरुद्ध-वृत्तितोपद्रवः। यदि तु पर्यायद्वारा निमित्ताधीनात्मलाभत्वं भूभूधरादेरभिधीयते तदा नरामरादिपर्यायद्वारोत्पद्यमानात्मनोपि बुद्धिमदुत्पाद्यत्वमापद्यते। ननु नरामराद्युत्पादनप्रत्यलधर्मधर्मो-त्पाद्यानुभवायतनभूता तथाविधा तनुरेवोत्पद्यते न पुनरात्मा लवमात्रतोप्यना-दिनिधनत्वेन यदि पुनरात्माप्युत्पत्तिविपत्तिधर्मो भवति तदानीं भूतमात्रतत्त्ववादिमत्तापत्तिरात्मनः पूर्वोत्तरभवानुयायिनो भेदिनोऽनभ्युपेतत्वेनेति, तन्न वन्धुरं यतो यद्यात्मनोऽभिन्नरूपतैवावेद्यते तदान्यतरनरामरादिभववर्त्यवायमपरिमेयानुभवनी यतत्तद्भव पर्यायं प्रबन्धानुभवनेन द्वितीयादिभवानुभवबान्न भवितुमुपपद्यते, वेद्यते त्वनेनेयं भवपर्यायपरंपरेति। तद्रूपतया यमुत्पत्तिमानिति नियम्यते। नाप्येवंभूतमात्रतत्त्ववादितापत्तिरात्मनो द्रव्यरूपतया नित्यताभ्युपायेन पूर्वोत्तरभवप्रतीतितः। तन्मतेन तु न नाम द्रव्यतया नित्यं वेदनं वर्त्तते यतो भूतधर्म्मतयानेन प्रतिपादितमेतत्। तथैतदनुमानधर्मीन्द्रियोद्-भूतबोधेनार्द्धतो बाध्यते रूपं ध्वनिरपि नयनोत्थप्रथाप्रत्येयमित्यादिवत्। यतोत्र दोलायमानविधानतत्परनरव्यापारः पृथ्वी पृथ्वी धराभ्रतरु-पुरंदरधनुरादिर्भावव्रातो धर्मीप्ररूपितः। तत्र त्वभ्रतरुविद्युदादेरिदानी-मप्युत्पद्यमानतया वेद्यमानतनोर्विधातानोप लभ्यते। ननु भवत्वेव बाधेयं यद्येत-द्विधानावधानप्रधानः पुमानिन्द्रियप्रभवप्रभालम्बनीभूतोभ्यु-पेतो भवति यावताऽतीन्द्रियोयमिति नायमुपद्रवः प्रभवति तदनभिधानीयम्। यतो व्याप्तिप्रतिपादनप्रत्यलं मानमत्रेन्द्रिय-द्वारोद्भूतं वेदनं तवाभिमतम्। धूमानुमानवत् धूमानुमितेरपि न पारावारोद्भवौ दर्यतनूनपात्तादितरतनूनपात्तुल्यत्वेन व्याप्ति-प्रतीतेतीन्द्रियोद्भववेदनवेद्यभावालम्बनेनेवानेनानुमानेन भवित-व्यमन्यथा तु तेन व्याप्तिप्रतीतिर्दुरुपपादैव। ततोऽपि तत्र व्य-प्त्यनालम्बनीभूतेन तेन बुद्धिमन्निमित्तेनानुमेयतापि नाद्रियते। तथात्वेन प्रतिपादितत्वे तत्तदतीन्द्रियबोधावबोध्यतया नियमेनाभ्युपेतव्यम् यदि तु तथाभ्युपेयते तदा नैतन्निमित्तं तरुविद्युदादेरुप लभ्यते। ततोऽनेन वेदनेनात्र बाधो भवत्येव। ननु धूमान प्रत्याय्य तनुनपातोप्येवमनेन वेदनेन बाधो भवति यतो न तत्रापि विधीयमानानुमानेन प्रमात्रा तनूनपादिन्द्रियवेदनेन वेद्यते। तदमनोरमं यतोऽत्रानुमातुर्व्यवधिर्विद्यते व्यवधिमान् पुनः पदार्थोनेन्द्रियालम्बनी भवतीति तदनालम्बनीभूतः पर्वततनूनपान्न तेन बाधितुं पार्यते। यदा पुनः प्रमाता तत्र प्रवृत्तो भवति तदानी-मव्यवधानवानयं तनूनपात्तेनोपलभ्यते। तरुविद्युल्लता-भ्रादिबुद्धिमन्निमित्तं तु तत्र प्रवर्तमानेनापि नितरामवधानवतापि नोपलभ्यते ततो भवति तत्रेन्द्रियोद्भवबोधबाधेति ततोपि तथाविधयधर्म्यनन्तरनिमित्ताधीनात्मलाभत्वरूपव्याप्यप्रतिपादनेन त्वन्मतेन तुरीयव्याप्त्यामत्वोपनिपातः मन्मतेन त्वन्तर्व्या-प्तेरभावेनानियतप्रतिपत्तिनिमित्तताऽत्र व्याप्यपराभूतिः तथेदं निमित्ताधीनात्मलाभत्वम्। यदि तन्मात्रमेव व्याप्यत्वेन प्रतिपाद्यते तर्ह्यनभिप्रेतपदार्थप्रतीतिनिवर्तनपर्याप्तमनुपलब्धपूर्वोत्पत्तिव्या-पारेन्द्र मूर्धो मर्त्यपूर्वत्वप्रतीत्यर्थोपात्तमृन्मयत्ववत्। न नाम निपेन्द्रमूर्ध्नो-मृन्मयत्वमपि विद्यते। ननु यद्यपि मृन्मयत्वं तुल्यमेवोभयत्रापि तथापि नेन्द्रमूर्द्धान्यो मानवपूर्वत्वेन प्रतीतो विद्यते। ततो विवादपदापन्नोप्ययं तत्तुल्यत्वेन न मर्त्यनिर्वर्त्यो भवति तन्नावदातं यतोऽत्रापि न भूभूधरभुवनादि प्रायः पदार्थोऽन्यो बुद्धिमन्निमित्तोपेतः परिभावितो वर्तते। ततो विवादपद्धति प्रतिबद्धोप्ययं न तथा भवितुं लभते। ननु निपादिर्विद्यते बुद्धिमन्निमित्तोपेतः परिभावितोऽतो विवादापन्नोपि तथाऽ-नुमातुमनुरूपः। तदवद्यं यतोऽन्यत्रापि निपादिरेवमानवनिर्वर्त्यो विभावि वोविद्यते। ततः पुरंदरमूर्धापि तन्निर्वर्त्येन नितरां भवित-व्यम्। ननु नरनिर्मितनिपादितः पुरंदरमूर्ध्नो वैरूप्यमुपलभ्यते तत्तो न तत्र मर्त्यनिर्वर्त्यतानुमानमुपपन्नं यद्येवं तदानीमेतद्वैरूप्यं निपादितो भूभूधरभुवनादेरपि परिभाव्यते यतो निपादिनाऽनुपलब्धबुद्धिमद्व्या-पारात्मनाप्युपलब्धेन नियमतो निर्वर्तितोयं मतिमतेति बुद्धिरुत्पाद्यते, न पुनर्भुवनादिना। ततो न निमित्ताधीनात्मलाभत्वमात्रं बुद्धिमद्धेतुत्व-प्रतीतिविधानबन्धुरं यदा तु धरित्री धरित्रीधर त्रिभुवनादिविधानं न प्रतीतं तदानीं त्रिनयनो भुवनभवनान्तर्भावि भावव्रातप्रद्योतनप्रबल-वेदनप्रदीपवानिति निर्धनदानमनोरथप्रथैवेयमितीत्या-दिवचनद्वयेन स्यादिकवचनत्रयेण वर्णैस्तुत्रिभिरधिकैर्दशभिरयं व्यधायि शिवसिद्धि-विध्वंसः ऽतिते, सि, टा, ङस्, इयत्या एव विभक्तयः तथदधन, पवभम यरलव एते एवात्रवर्णाः। १ रत्ना०। (जिनानामीश्वरत्वं जिनमहत्व-द्वात्रिंशिकायामपि सा च 'जिण' शब्दे)

आढये, वाच०। प्रभौ,। दशा०९ अ०। सम०। दर्श०। ग्रामनगरादिनायके, तं०। ईश ऐश्वर्ये ऐश्वर्येण युक्तः ईश्वरः ग्रामभोगिकादिके, अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्ते च। जी०३ प्रति०नि०चू०। ''ईसर भोइय माई'' ईश्वरो भोगिका-दिर्ग्रामस्वामिप्रभृतिक उच्यते, वृ०६ उ०। पंचा०। नियुक्ते, आचा०। युवराजादिके, भ०९ श०३३ उ०। राज०। माण्डलिके, अमात्ये च। ईश्वरो युवराजो माण्डलिकोऽमात्यो वेति। अनु०। स्था०। ईश्वरो युवराजस्तदन्ये च महर्द्धिका इति। भ०२ श०१ उ०। ऐश्वर्यान्वितस्त्रियां टाप्०। प्रभवादि मध्ये एकादशे वत्सरे च॥ तत्फलम्। सुभिक्षं क्षेममारोग्यं, कार्पासस्य महर्घता। लवणं मधुगव्यं च, ईश्वरे दुर्लभप्रिये। वाच०। स्वनामख्याते भूतवादिव्यन्तरविशेषनिकायेन्द्रे, स्था०२ ठा० जम्बूद्वीपस्य बाह्यवेदिकाया उत्तरदिशि स्थिते स्वनामख्याते महापातालभेदे। स्था०४ ठा०। (तद्वक्तव्यता 'महापाताल' शब्दे) मेरोरुत्तरस्यां दिशि वर्तमाने स्वनामख्याते महापातालकलशे च। जी०३ प्रति०। (तद्वक्तव्यता 'महापातलकलस' शब्दे)

(राजपुरीनगरस्थे स्वनामख्याते नृपे, तत्कथा कुक्कुडेस्सरशब्दे) स्वनामख्याते मुनिवरे च, स चागीतार्थदोषेण दुःखमवाप्य गोशालको जातस्तथा च महानिशीथे।

से भयवं णो वि याणाहिं, ईसरो कोवि मुणिवरो।
किंवा अगियत्थ दोसेणं, पत्तं तेणं कहाहिणो॥
चउवीसिगाए अन्नेवि, एत्थ भरहम्मि गोयमा।
पढमे तित्थंकरे जइया, विहीपुव्वेण निव्वुडे॥
तइया निव्वाणमहिमा ए–गंतरूवे सुरासुरे।
निवयंते उप्पयंते, दट्ठुय एवं तवासिओ॥
अहो अच्छेरयं अज्ज–मलोयम्मि य पच्छिमो।
ण इंदजालसुमिणं वा, विदिट्ठे कत्थइ पुणो॥
एवं विविहापोहाए, पुव्वीं जाइं सरित्तुमो।
मोहं गंतूण खणमेक्कं, मारुयासासिओ पुणो॥
थरथरस्स य कपंतो निंदिउं गरहिउं चिरं।
अत्तारं गोयमा! धणियं, सामत्तं गहिय मुज्झओ॥
अह पंचमुट्ठियं लोयं, जा वा ढवइ महायसो।
से विणयं देवया तस्स, रयहरणं ताव ढोयई॥
उग्गं कंठं तवचरणं, तस्स दट्ठूण ईसरो।
लोओ पूयकरेमाणा, जाव उ गंतूण पुच्छइ॥
केणं तं दिक्खिओ कत्थ, उप्पन्ने को कुले तव।
सुत्तत्थं कस्स वा मूले, साइसयं हेसमज्झिय॥
सो पच्चरागबुढे जाव, सव्वं तस्स विवागरे।
जाईकुलं दिक्खा सुत्तं, अत्थं जह य समज्झियं॥
तं सोऊण अहन्नो सो, इमं चिंतेइ गोयमा।
अलिया अणारिओ एस, लोगट्ठे तेण परिसुसे॥
ता जारिसमे सभासेइ, तारिसं सो वि जिणवरो।
णं किंचेत्थ वियारेणं, मुम्हिकेई वरं ठिए॥
अहवा णाहिहि सो भयवं, देवदाणवपणमिओ।
मणासायं पि जं मज्झं, तं पि छिन्निज्ज संसयं॥
तावे स जो हो उ सो होउ, किं वियारेण एत्थ मे।
अभिणंदामीह पव्वज्जं, सव्वदोसविमोक्खणिं॥
ता पडिगओ जिणंदस्स, सया से जातणक्खई।
भुवणेसं जिणवरं, तो वि गणहरमासियं॥
ठिओ परिनिव्वुयम्मि, भगवंते धम्मतित्थयरे।
जिणाभिहियं सुत्तत्थं, गणहरो जाय रूवई॥
तावमालावगं एयं, वक्खाणम्मि समागयं।
पुढवीकाइगमे एगो, वावा एसो असंजओ॥
ता ईसरो वि चिंतेइ, सुहुमे पुढविकाइए।
सव्वत्थउद्दविज्जत्ति, को ताइं रक्खि उं तरले॥
हुई करेइ अत्ताणं, एत्थं एस महायसो।
असद्धेयं जणे सयले, किमट्ठयप व्वइक्खइ॥
अच्चंतकडयडं एवं, वक्खाणं तस्स वीफुडं।
कंठं सोसोयरं लाभे, एरिसं कोणुचिट्ठए॥
ता एयं विप्पएत्तूणं सामग्गं किंचिमज्झिमं।
जं वा तं वा कहे धम्मं, तालोउन्हाण उट्ठइ॥
अह वा हाहा अहं मूढो, पावकम्मा णराहमो।
णवरं जइ णाणुचिट्ठामि, अन्नो न चिट्ठंती जणे॥
जेणायमणंतनाणीहिं, सव्वन्नूहिं पवेदियं।
जो एहिं अन्नहा वाए, तस्स आट्ठो ण वज्जई॥
ताहमेयस्स पच्छित्तं, घोरमइदुक्करं चिरं।
लहुं सिग्घमुसिग्घयरं, जाव मत्थूण मे भवे॥
आसायणाकयं पावं, आसंजेण विहुव्वती।
दिव्वं वाससयं पुन्नं, अह सो पच्छित्तमणुचरे॥
तं तारिसं महाघोरं, पायच्छित्तं सयं मई।
काउं पच्छियबुद्धस्स, सया मे पुण वीगओ॥
तत्थावि जा मुणेवक्खा, ता वहिगारमिमागयं।
पुढवादीणं समारंभं, साहू तिविहेण वज्जए॥
दढमूढो हुओ जोई, ताईसरो मुक्कमूलको।
बिंबं तेवं जहिच्छजए, को ण ताईसमारभे॥
पुढवीए नावए सेव, समासीणो विचिट्ठई।
अग्गीए रद्धमक्खाइ, असणखाइमसाइम॥
अन्नं व विणा पाणेणं, खणमेक्कं जीवए कहं।
ता किं पि तं पत्थवक्खेज्ज, संपवुयमच्छंतियं॥
इमस्सेव समागच्छे, ण उ णायं कोइ सद्दहे।
ता चिट्ठंतु ताव एसेत्थं वरं सो चेव गणहरो॥
अहवा एसो उणमज्झं, एकोवि भणियं करे।
अलिया एवंविहं धम्म, किंचुद्वेसे य तं पिओ॥
साहिज्जइ जो स वि किंचि, ण तु सामच्चंतकडयडं।
अहवा चिट्ठंतु तावेव, अहयं सयमेव वागरं॥
सुहं सुहेण जं धम्मं, सव्वोवि अणुट्ठए जणो।
न कालं कडयडस्सज्ज, धम्मस्सिति जा विचिंतइ॥
घडं डिंतो सणीताव, निवडिउ तस्सोवरि।
गोयम! निहणं गओ ताहे, उववन्ना सत्तमा एसो॥
सासण सुयनाणसंसग्ग, पीडणीयत्ताइ ईसरो।
तत्थं तं दारुणं दुक्खं, नरए अणुभविउ चिरं॥
इहा गओ समुद्दम्मि महामच्छो भवे उण।
पुणोवि सत्तमाएय, तित्तीसं सागरोवमे॥
दुव्विसहं दारुणं दुक्खं, अणुचिट्ठिऊण इहागओ।
तिरियपक्खीसु उववन्नो, कागत्ताए स ईसरो॥
तओ वि पढमियं गंतु, उवट्टित्ता इहागओ।
दुट्ठसाणो भवेत्ताण, पुणरवि पढमियं गओ॥
उव्वट्टित्ता तओ इहइं, खरो होहं पुणो मओ।

उववण्णा रासहत्ताए, छब्भवगहणे निरंतरं ॥
ताहे माणुस्स जाईए, एसिमुप्पन्नो मओ ।
उव्वन्नो वयणरत्ताए, माणुसत्तसमागओ ॥
तओ वि मरिउ समुप्पन्नो, मज्जारत्ता स ईसरो ।
पुणो वि नरयं गंतु (इह) सीहत्तेण पुणो मओ ॥
उववज्जियं चउत्थीए, सीहत्तेण पुणोविहं ।
मरिऊणं चउत्थीए, गंतुं इह समागओ ॥
तओ वि नरयं गंतुं, चक्कियत्तेण ईसरो ।
तओ वि कुट्ठिहोऊणं, बहुदुक्खट्ठिओ मओ ॥
किमिएहिं खज्जमाणस्स, पन्नासं सहिवच्छरे ।
जा काम निज्जरा जाया, तीए देवेसु वज्जिओ ॥
तओ इहईनरिस्सत्तं, लद्धूणं सत्तमिं गओ ।
एवं नरगतिरिच्छेसु, कुच्छिय मणुएसु ईसरो ॥
गोयमा ! सुइपरिब्भमिउं, घोरदुक्खसुदुक्खिओ ।
संपइ गोसालओ जाओ, एससउ वीसरज्जिओ ॥
तम्हा एहि वियाणित्ता, अचिरागीयत्थेमुणी ।
भवेज्जा विदियपरमत्थे, सारासारपरत्तुए । इति ॥

महा०६ अ०॥ स्वनामख्यातेऽभिनन्दनजिनस्य यक्षे च । तथा च प्रवचनसारे श्रीअभिनन्दनस्येश्वरो यक्षः श्यामकान्तिर्गजवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षः सूत्रयुक्तदक्षिणकरकमलद्वयो नकुलाङ्कुशान्वितो वामपणिद्वयश्चेति। प्रव०२७ द्वा०।

इस्स(ईस) रकड–त्रि०(ईश्वरकृत) ईश्वरविरचिते, ''ईसरेण कडेलोए''। सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ०। (जगत ईश्वर कृतत्वनिराकरणम् 'इस्सर' शब्दे–)

इस्स(ईस)रकडवाइ [न्]–पुं०(ईश्वरकृतवादिन्) जगदीश्वरकृतत्ववादिनि वादिविशेषे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ (तन्मतनिराकरणमिस्सरशब्दे)

इस्स(ईस)रकारय–पुं०(ईश्वरकारक) जगदीश्वरकृतत्ववादिनि वादिविशेषे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२ उ०। (तन्मतनिराकरण 'मिस्सर' शब्दे)॥

इस्स(इसर)रवाई (न्)–पुं०(ईश्वरवादिन्) ईश्वरस्य जगत्कारणतद्वादिनि प्रधानादिविशेषे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२ उ०। तन्मतमाचाराङ्गे दर्शितम् –तद्यथा वैशेषिकास्तनुभवनकरणादिक-मीश्वरकर्तृकमिति प्रतिपन्नास्तदुक्तम् ''अन्यो जन्तुरनीशः स्या–दात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा स्वभ्रमेव वे'' त्यादिकं प्रवादमात्मीय प्रवाहेन पर्यालोचयेत्तद्यथा इन्द्रधनुरादीनां विश्रसा परिणामलब्धात्मलाभानां तदतिरिक्ते श्वरादिकारण-परिकल्पनायामतिप्रसङ्गः स्थात्तथा घटपटादीनां दण्डचक्रचीवरसलिलकुलालतुरीवेमसलाकाकुविन्दादिव्यापारा-नन्तरावाप्तात्मलाभानां तदनुपलब्धव्यापारेश्वरस्य करण-परिकल्पनायां रासभादेरपि किं न स्यान्नतु करणादीनामप्यबन्ध्यं स्वकृतकर्मापादितं वैचित्र्यं कर्मणोनुपलब्धेः कुत एतदिह चेत्समानः पर्यनुयोगोऽपि च तुल्ये मातापित्रादिके कारणे अपत्य-वैचित्र्यदर्शनात्तदधिकेन निमित्तेन भाव्यं तच्चेश्वराभ्युपग-मेप्यदृष्टमेवेति दृष्टव्यं नान्यथा सुखदुःखसुभगदुर्भगादिजगद्वैचित्र्यं स्यादिति। आचा०१ श्रु०। भ०।
(विस्तरेणैतन्मतनिराकरणमिस्सरशब्दे)

इस्स(ईस)रविभूइ–स्त्री०(ईश्वरविभूति) ६ तत्पुरुष० ईश्वरस्य विभूतौ, नृपे च। वाच०।

इस्स(ईस)रसरिस–त्रि०(ईश्वरसदृश) ईश्वरस्थानीये, (ईसरसरिसो गुरु) ईश्वरसदृश ईश्वरस्थानीय इति। व्य०१ उ०। वाच०॥

इस्स(ईस)रिय(या)मय–पुं०(ऐश्वर्यमद) ऐश्वर्येण मदः ऐश्वर्यमदः। मदस्थानभेदेः, स्था०८ ठा०। सम०। प्रश्न०।

इस्स(ईस)रिय(प्र)सिद्ध–स्त्री०(ऐश्वर्यसिद्धि) ईश्वरत्वसिद्धौ, साचाष्टगुणा तद्यथा– ''अणिमा लघिमा गरिमा प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं प्रतिघातित्वं यत्र कामावसायित्वम् इति। सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ०।

इस्स(ईस)रीकय–त्रि०(ईश्वरीकृत) अनीश्वरे,–ईश्वरीकृते, (ईसरेण अदुवा गामेणं अणिस्सरे ईसरीकए) ईश्वरेण प्रभुणा अथवा ग्रामेण जनसमूहेनानीश्वर ईश्वरीकृत इति। सम०२९ स०। दशा०।

इस्सास–पुं०(इष्वास) इषवोऽस्यन्तेऽनेन। असु क्षेप्रे करणे घञ् षष्ठी तत्पु०। धनुषि, शरक्षेपके, त्रि० (तीरन्दाज) मेदि०। वाच०।

इह–अव्य०(इह) **''इदम इमः ८।३।७२।** इति प्राकृतसूत्रेणेदम इमादेशः। **डेर्मे न हः ८।३।७५।** इति प्राकृतसूत्रेण इदमः कृते मादेशात्परस्य डेःस्थाने मे सह ह आदेशो वा। प्रा०। **डे स्सिम्मित्था ८।३।५९।** इति प्राकृतसूत्रेण त्थादेशः प्राप्त **'नत्थः' ८।३।७३।** इति प्राकृतसूत्रेण निषिद्धः। इह इमस्मिन् इमस्मि। प्रा०; अस्मिन् काले देशे दिशि वा इत्यर्थे, तद खिलमिहभूतं भूतगत्या जगत्या। नैष०। अनुभूयमाने लोके च। वाच०। (इह सावसेसकम्मा) इह तिर्यग्लोके किंभूताः सावशेषकर्माणः। ''जं वि य इह माणुसत्तणं आगया'' येऽपि चेह मर्त्यलोके मनुष्यत्वमागता इति। ''अबुहा इह हिंसंति तसे पाणे'' इह जीवलोके हिंसन्ति घ्नन्ति त्रसान् प्राणान्। प्रश्न०१ द्वा०। ''इह खलु छज्जीवणिकायाणामज्झयणं'' इहेति लोके प्रवचने वेति। दश०४ अ०। ''इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु'' (इहं वित्ति) बिन्दुलोपात् इह वास्मिन् वाऽनुभूयमाने भवे मनुष्यजन्मनीति। पा०। इह खलु अणादिजीवे इहलोक इति– पं०सू०। जेणेह णिव्वहे भिक्खू इहास्मिन् लोके इति –सूत्र०१ श्रु०९ अ०। 'इहेव माणुस्सए भवे' इहैव प्रत्यक्षे मानुष्यके भवे इति। स्था०८ ठा०। 'के वा इओ चुयो इहपेच्चा भविस्सामि' कोवादेवादिरितो मनुष्यादेर्जन्मनश्च्युतो विनष्ट इह संसारे प्रेत्य जन्मान्तरे भविष्याम्युत्पत्स्यामीति। वाक्योपन्यासे, ''इह खलु पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा'' इहेति वाक्योपन्यासे प्रज्ञापकक्षेत्रे वेति। आ०चा०१ श्रु०१ अ०।

इहगय–त्रि०(इहगत) इह व्यवस्थिते, ''से भंते किं इह गए पोग्गले परियाइत्ता विकुव्वइ'' इह पृच्छको गौतमस्तदपेक्षया इहशब्दवाच्ये मनुष्यलोकस्तत्तश्च इह गतान् नरकलोक-व्यवस्थितानिति। भ०७ श०। उ०।

इहत्थ–त्रि०(इहार्थ) इहैव जन्मन्यर्थं प्रयोजनम्भोगसुखादिर्यस्य सः। भोगपुरुषे, । स्था०४ ठा०।

इहत्थ–त्रि० इहैव जन्मन्यास्था वा इदमेव साध्विति बुद्धि-

र्यस्य स इहास्थः । भोगपुरुषे, इह लोकपरिबद्धे च । स्था०४ ठा० इहस्थइहैव विवक्षिते ग्रामादौ तिष्ठतीति इहस्थस्तत्प्रतिबन्धात् । विवक्षिते ग्रामादौ प्रतिबद्धे, –स्था०४ ठा०

इहपरलोयविरुद्ध–त्रि०(इहपरलोकविरुद्ध) इह लोकविरुद्धे निन्दादिके, परलोकविरुद्धे खर कर्मादिके, इहलोकपर-लोकविरुद्धे गर्दभादिके च। ध०र०। इह लोके विरुद्धकारिणो वधबन्धादयो दोषाः परलोके च नरकगमनादय इति तथाचाह–

इह परलोयविरुद्धं, न सेवए दाणविणयसीलड्ढो ।
लोयप्पिओ जणाणं, जणेइ धम्मम्मि बहुमाणं ॥

इह लोकविरुद्धं परनिन्दादि यदुक्तं । ''सव्वस्स चेव निंदा विसेसओ तहय गुणसमिद्धाणं । उजुधम्म करण हसणं रीढा जण पूयणिज्जाणं'' ॥१॥ बहुजण विरुद्धसंगो, देसादावार लंघणं तह य । उच्चण भोगो य तहा दाणाइवियड मन्नेसिं ॥२॥ साहु वसणम्मि तो सो सइसामत्थम्मि अपडियारो य । एमाइयाइं इत्थं लोगविरुद्धाइं नेयाणित्ति'' ॥३॥ परलोकविरुद्धं खरकर्मादि तद्यथा । ''बहुधा खरकर्मित्वं सीरपतित्वं च शुक्लपालत्वम् । विरतिं विनापि सुकृति करोति नैवं प्रकाराद्यम्'' । उभयलोकविरुद्धं द्यूतादि ॥ तद्यथा ''द्यूतं च १ मांसं च २ सुरा च ३ वेश्या ४ पापर्द्धि ५ चौर्यं ६ परदार सेवा ७ । इतानिसप्त व्यसनानि लोकेपापाधिके पुंसि सदा भवन्ति ॥ इहैव निन्द्यते शिष्टैर्व्यसनासक्तमानसः । मृतस्तु दुर्गति याति, गतत्राणे नराधम्'' इति । ध०र०।

इहपरलोयावाय–पुं०(इहपरलोकापाय) ऐहिकामुष्मिकविरोधिनि – तथाचावश्यके–

रागद्दोसकसाया, सवाइ किरियासु वट्टमाणाणं ।
इहपरलोगावाए, झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥

रागद्वेषकषायाश्रवादिक्रियासु वर्तमानानामिह परलोकापायान्ध्यायेत् । यथा रागादिक्रियैहि कामुष्मिकविरोधिनी । उक्तंच ''रागसंपद्यमानोपि, दुःखदो दुष्टगोचरः । महाव्याध्यभिभूतस्य, अपथ्यान्नाभिलाषवत् ।१। द्वेषः संपद्यमानोऽपि, तापयत्येव देहिनम् । कोटरस्थोचलन्नाशु, दावानल इव द्रुमम् ।२। दृष्टवा तद्भेदमिन्नस्य, रागस्यामुष्मिकं फलम् । दीर्घः संसार एवोक्तः, सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभि रित्यादि ।३। दोसाऽनलसंतत्तो, इहलोगे चेव दुक्खिओ जीवो । परलोगम्मि य पावो, पावपनियानलं तत्तो ॥४॥ इत्यादि तथा कषायाप्रायाः क्रोधादयस्तदपायाः पुनः । ''कोहो पीइं विणासेइ माणो विणयनासणो । माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ५ कोहा य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा । चत्तारि एए कसिणो कसाया, सिंचंति मूलाइँ पुणब्भवस्स'' ।६। तथा आश्रवाः कर्मबन्धहेतवो मिथ्यात्वादयस्तदपायाः पुनः । मिच्छत्तमोहियमती, जीवो इह लोग एव दुःखाइं । निस्सोवमाइयादो, पावति य समाइगुणहीणे ।७। ''अज्ञानं खलु कष्टं क्रोधादिभ्योपि सर्वदोषेभ्यः । अर्थं हितमहितं वा न वेत्ति येनावृतो लोकः ।८। जीवा पावंतिण्हं पाणवधादविरतियपावेए । नियसु य घायणमादी, दोसे जणगरहिय पावे ।९। परलोगम्मिवि एवं, आसव किरियाहि अज्जिए कम्मे । जीवाणचिरंगवायणि –रयादिगतिगमंताणं १० इत्यादिआदिशब्दः स्वगतानेकभेदज्ञापकः प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धः भेदग्राहक इत्यन्ये । क्रियासु कायिक्यादिभेदाः पञ्चैताः पुनरुत्तरत्र संक्षेपेण वक्ष्यामः । विपाकः पुनः ''किरि, यासु वट्टमाण, काइगमाईणु दुक्खिया जीवा । इह चेव यपरलोगे संसारपवड्ढगा भणिया'' ततश्चैवं रागादि क्रियासु वर्तमानानामपायान्ध्यायेत् । किं विशिष्टः सन्नित्याह । वर्ज्यपरिवर्जी तत्र वर्जनीयं वर्ज्यमकृत्यं परिगृह्यते तत्परिवर्जी अप्रमत्त इति गाथार्थः । आव०४ अ०।

इहभव–पुं०(इहभव) अत्र भवे, –दशा०१ अ०।

इहभवेएगेभवे तस्स विप्पनाससि सव्वनासोत्ति एवं जप्पति मुसावायी।

इह भवे एव प्रत्यक्षजन्मैव एको भव एकं जन्म नान्यः परलोकोऽस्तिप्रमाणाविषयत्वात् तस्य शरीरस्य विविधैः प्रकारैः प्रकृष्टो नाशः प्रणाशस्तस्मिन् सति सर्वनाश इति नात्मा शुभाशुभरूपं वा कर्मावशिष्यते । एतमेवोक्तप्रकारेण (जंपति) जल्पन्ति मृषावादिनः मृषावादिनां चैषां जातिस्मरणादिना जीवपरलोकसिद्धेरिति । प्रश्न०२ द्वा०। (परलोकसिद्धेर्बहुवक्तव्यता परलोगशब्दे) यो यादृगिह भवे परत्र भवे स तादृशोऽन्यादृशो वेति निर्णीतं यथा० अणंते निइए लोए। नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः न निरन्वयनाशेन नश्यति इत्युक्तं भवतीति । तथाहि यो यादृगिह भवे स तादृगेव परभवेप्युपपद्यत पुरुषः पुरुष एवाङ्गनाङ्गनैवेत्यादि–सूत्र०१ श्रु०१ अ०।

विस्तरेणैतद्वक्तता सुधर्मगणधरसंवादे यथा–

किं मन्ने जारिसो इह, भवम्मि सो परभवे वि ।
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसि मो अत्थो ॥

त्वमेवं मन्यसे यो मनुष्यादिर्यादृश इहभवे स तादृशः परभवेपि नन्वयमनुचितस्ये संशयो यतो धर्मो विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनो वर्तते । तानि चामूनि ''पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते, पशवः पशुत्वमित्यादि । तथा ''शृगालो वै एष जायते यः सुपुरीषो दह्यते इत्यादि–एषां च वेदपदानाममुमेवार्थं मन्यसे त्वं पुरुषो मृतः सन् परभवे पुरुषत्वमेवाश्नुते प्राप्नोति । यथा पशवो गवादयः पशुत्वमेवेत्यादि । अमूनि किल भवान्तर गतजन्तुसादृश्य प्रतिपादकानि । तथा शृगालो वैत्यादीनिवैशदृशाख्यापकानीत्यतस्तव संशयः । अथं चायुक्त एव यतो अमीषां वेदपदानां नायमर्थः किन्तु वक्ष्यमाणलक्षण इति । अत्र भाष्यम् ।

कारणसरिसं कज्जं, वीयस्सेवंकुरोत्ति मण्णंतो ।
इहभवसरिसं सव्वं, जमवेसि परेसि तमजुत्तं ॥

सुधर्माणं प्रति भगवानुवाच । इह कारणानुरूपमेव कार्यं भवति यथा यवबीजानुरूपो यवाङ्कुरः इह भवकारणं चान्यजन्म ततस्तेनापि इहभवसदृशेन भवितव्यमित्येवं मन्यमानस्त्वं यदिह भवसदृशं सर्वं पुरुषादिकं परभावेष्यवैषि तदयुक्तमेवेति कुत इत्याह ।

जाइ सरोसिंगाउ, भूतणओ सासवाणुलित्ताउ ।
संजायइ गोलोमा–विलोमसंजोगउ दुव्वाइ ॥
रुक्खायुवेदेजोणि–विहाणेयविसरसेहिंसो ।
दीसइ जम्हा जम्मं, सुहम्मतो नायमेगत्तो ॥

ततः कारणानुरूपं कार्यमिति । सुधर्मन्नायमेकान्ततो यतः शृङ्गादपि शरो जायते तस्मादेव च सर्षपानुलिप्तादभूतृणकः इष्पसंघातो जायते । तथा गोलोमाविलोमाभ्यां दूर्वा प्रभवति

इत्येवं वृक्षायुर्वेदे विलक्षणानेकद्रव्यसंयोगजन्मानो वनस्पतयो दृश्यन्ते। तथा योनिविधाने च योनिप्राभृते विसदृशानेक- द्रव्यसंयोगयोनयः सर्व्वहिंसादिप्राणिनो मणयो हेमादयश्च पदार्था नानारूपाः समुपलभ्यन्ते अतः केयं कार्यस्य कारणानुरूपतेति। अथवा यत एव कारणानुरूपं कार्यमत एव भवान्तरे विचित्ररूपता जन्तूनामिति दर्शयति।

अहव जउव्वियविया- णुरूविजम्मं मयं तओ चेव।
जीवं गिण्णभवाओ, भवंतरे चित्तपरिणामं॥
जेण भवंतरबीयं, कम्मविचित्तं तओभिहियं।
हेउविचित्तणउ, भवंकुरविचित्तया तेणं॥
जइ पडिवन्नं कम्मं, हेउ विचित्तत्तउ विचित्तं च।
नो तप्फलं विचित्तं, पज्जवसंसारिणो सोम्म॥

अथवा यत एव बीजानुरूपं कारणानुगुणं कार्याणां जन्म मतं तत एवेह भवाद्भवान्तरे जीवं गृहाण प्रतिपद्यस्व। कथंभूतं जातिकुलबलैश्वर्यरूपादि विचित्रपरिणामम्। यदि नाम बीजानुरूपं जन्म तथापि कथं भवान्तरे विचित्रता जीवानामित्याह। जेण भवंकुरेत्यादि येन यस्मान्नारकतिर्यगादिरूपेण भवनं भवः स एवाङ्कुरस्तस्याश्रीजमिह कर्म्मैवावसेयं तच्च मिथ्यात्वाविरत्यादि हेतुवैचित्र्याद्विचित्रं तस्मान्मयाभिहितं तस्मात्तज्जन्यस्य भवाङ्कुरस्यापि जात्यादिभेदेन विचित्रता। ततो यदि त्वया कर्म प्रतिपन्नं हेतुवैचित्र्याच्च यदिच तद्वैचित्र्यमभ्युपगतं ततः ससारिणो जीवस्य तत्फलमपि नारकतिर्यङ्मनुष्यामररूपेण भवनरूपं सौम्य! विचित्ररूपं प्रतिपद्यस्वेति।

अत्र प्रमाणमुपचरयन्नाह।

चित्तं संसारित्तं, विचित्तकम्मफलभावओ हेऊ।
इहचित्तं चित्ताणं, कम्माणफलं च लोगम्मि॥

चित्रं संसारिजीवानां नारकादिरूपेण संसारित्वमिति प्रतिज्ञा विचित्रस्य कर्म्मणः फलरूपत्वादिति हेतुः। इह यद्विचित्रहेतुकं तद्विचित्रमुपलभ्यते यथेह विचित्राणां कृषिवाणिज्यादि कर्मणां लोक इति। तदेवं कर्मवैचित्र्ये प्रमाणमाह।

चित्ता कम्मपरिणई, पोग्गलपरिणामउ जहा बज्झा।
कम्माण चित्तया पुण, तद्धेउ विचित्तभावाउ॥

इह चित्रा कर्म्मपरिणतिः पुद्गलपरिणामात्मकत्वादिह यत्पुद्गलपरिणामात्मकं तद्विचित्रपरिणतिरूपं दृश्यते। यथा बाह्यो भ्रादिविकारो वा पृथिव्यादिविकारो वा यत्तु विचित्रपरिणतिरूपं न भवति तत्पुद्गलपरिणामात्मकमपि न भवति यथा आकाशम्। यः पुनः पुद्गलपरिणामसाम्येपि कर्म्मणामावर्णादिभेदेन विशेषतो विचित्रता सा तद्धेतुवैचित्र्याद वगन्तव्या विचित्राश्च मिथ्यात्वादयः प्रद्वेष मनिह्नवादयश्च कर्महेतव इति। अथ पराभ्युपगमेनैव परभवे जीवानां वैसदृश्यं साधयन्नाह।

अहवा इहभवसरिसा, परलोगो वि जइ सम्मओ तेणं।
कम्मफलं पि इहभव-सरिसं पडिवज्ज परलोए॥
किं भणियमिहं मणुया, नाणागइकम्म कारिणो संति।
जइ ते तप्फलभाजो, परे वि तो सरिसया जुत्ता॥

अथवा यदि इह भवसदृशः परलोकसंमतो भवतः ततः कर्मफलमपि परलोके इह भवसदृशं इहत्थ विचित्र-शुभाशुभक्रियानुरूपं विचित्रं प्रतिपद्यस्वेति। एवं मुकुलितं प्रतिपद्यैतदेव भावयति (किंभणियमित्यादि) किमेतावता प्रतिपादितं भवति इह तावन्मनुष्याः नानागतिहेतुभूत-विचित्रक्रियानुष्ठायिनः सन्तीति प्रत्यक्षत एव लभ्यन्ते ततो यदि ते परलोके तक्रियाफलभाज इष्यन्ते ततो यथैहत्यक्रियाणां स सदृशता तथा परलोकगतजन्तूनामपि सैव युक्ता। ननु योत्र यादृशः स परत्रापि तादृश एवेति अत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह।

अह इहसफलं कम्मं, न परेत्तो सव्वहा न सरिसत्तं।
अकयागमकयनासा, कम्माभावो ह वा पत्तो।
कम्माभावेह कओ, भवंतरं सरिसया व तदभावे।
निक्कारणउव्वन्ना, जइ तो नासो वि तह चेव।

अथैवं ब्रूषे इह सफलं कर्मेति इह भव संबन्धे तत्कृष्यादि क्रियारूपं कर्म सफलं नतु परभविकदानादिक्रियारूपं कर्म। ततश्च तत्फलं भवान्नपरलोके जन्तुवैसदृश्यम्। अत्रोत्तरमाह। (तोसव्वहेत्ति) तत एवं सति यत्तवाभिप्रेतं तत्सर्वथा परभवे जीवानां सदृशत्वं न स्यात्तद्धि कर्मणा जन्यते॥ तच्च नास्ति पारभविक क्रियाणां त्वया निष्फलत्वाभ्युपगमत्वान्निष्फलत्वे च कर्माभावादय कर्माभावेपि भवेत्सादृश्यं तर्ह्यकृतस्यैव तस्यनिर्हेतुकस्यागमः प्राप्नोति कृतस्य च दानहिंसादिक्रियाफलरूपस्य कर्म्मणो नाशः प्रसज्जति। अथवा मूलत एव कर्मणा मभावः प्राप्तः दानहिंसादिक्रियाणां निष्फलत्वाभ्युपगमान्मूलत एव कर्मणो बन्धोपि न स्यादिति भावः। ततः किमित्याह। कर्माभावेच कारणभावात्कुतो भवान्तरं तदभावे च दूरोत्सारितमेव सादृश्यम्। अथ कर्माभावेपि भव इष्यते तर्हि निष्कारण एवासौ स्याद्यदि चैवमयमिष्यते ततो नाशोपि तस्य भवस्य निष्कारण एव स्यादतो व्यर्थस्तपोनियमाद्यनुष्ठान-प्रयासः। निष्कारणे च भवे ऽभ्युपगम्यमाने वैसादृश्यमपि जीवानां निष्कारणं किं नेष्यते विशेषाभावादिति।

अथ प्रेरकमाशङ्क्य परिहरन्नाह।

कम्माभावे वि मई, को दोसो होज्ज जइ सभावोयं।
जह कारणाणुरूवं, घडाइकज्जं सहावेणं॥

अथ परस्यैवंभूता मतिः स्याद्यदुत कर्माभावेऽपि यदि सद्भावरूपः स्वभाव एवायं स चेत्तर्हि को दोषः स्याद्विनापि कर्म यदि स्वभावादेव भवः स्यात्तर्हि किं दूषणं भवेन्न किंचिदित्यर्थः। दृष्टान्तमाह। यथा कर्म विनापि मृत्पिण्डादिकारणानुरूपंघटादिकार्यं स्वभावेनैवोत्पद्यमानं दृश्यते तथा सदृशप्राणिजन्मपरंपरारूपो भवोपि स्वभावादेव भविष्यति। अत्रोच्यते। ननु घटोऽपि स्वभावत एव जायते कर्तृकरणाद्यपेक्षित्वात्तस्य, ततश्चेहापि कर्तुरात्मनः पारभविकस्य च शरीरादिकार्यस्य करणं संभाव्यते। तच्च कर्तृकार्याभ्यां भिन्नं लोकेपि दृश्यते। कुलाल घटाभ्यां चक्रादिवद्यच्चेहात्मनः शरीरादि कार्यं कुर्वतः करणं तत्कर्म्मेति प्रतिपद्यस्वेति। स्यादेतद्घटादेः प्रत्यक्षसिद्धत्वाद्भवन्तु कुलालादयः कर्तारः, शरीरादिकार्यं त्वभ्रादिविकारवत्स्व-भावतोपि भविष्यति ततो न कर्मसिद्धिस्तदयुक्तम्। यतो न स्वाभाविकं शरीरादि आदिमत्प्रतिनियताकारत्वाद्घटवदिति। किंचि कारणानुरूपमेव कार्यमित्येवं परभवे सादृश्यं त्वया ऽभ्युपगम्यते तदपि स्वभाव-वादिनस्तवाभ्रादिविकारदृष्टान्ते परिहीयते। अभ्रादिविकारस्य स्वकारणभूतपुद्गलद्रव्यादतिविलक्षणत्वादिति। अपिच।

होज्ज सहावो वस्सुं, निक्कारणया च वत्थुधम्मो वा।

जइ वत्थुं नत्थि तओ, णुवलद्धीओ खपुप्फं च ॥
अचंतमणुवलद्धो, विअ अह तउ अत्थि नत्थि तो कम्मं ।
हेऊ वि तदत्थित्तो, जो णणुकम्मस्स विसयव्व ॥
कम्मस्स वामिहाणं, होज्ज सभावो त्ति होउ को दोसो ।
निच्चं च सो सभावो, सरिसो पत्थं च को हेऊ ॥

एतद्गाथात्रयमपि प्रायः पाठेनैव व्याख्यातार्थं नवरं निच्चमित्याह तृतीयगाथोत्तरार्द्धम् । इदमत्र हृदयं स स्वभावो नित्यंसदृश एव त्वयाभ्युपगन्तव्यो भवान्तरे सदृशस्यैव मनुष्यादिभवस्य जननात्तस्य च स्वभावस्य नित्यसदृशत्वे को हेतुर्न कश्चिदित्य-भिप्रायः । स्वभावतः यद्ययं स्वभावः सदृश इति चेन्ननु भवविस-दृशतायामप्येतद्वक्तुं शक्यत एवेति । किंच

मुत्तो वा मुत्तो वा, जइ मुत्तो तो न सव्वदा सरिसो ।
परिणामो पयं पिव, न देहहेऊ जइ अमुत्तो ॥
उवगरणाभावाओ, न य हवइ सुहम्म सो अमुत्तो वि ।
कज्जंसु मुत्तिमत्ता, सुहसंवित्तादिओ होंति ॥

सस्वभावो मूर्तोऽमूर्तो वा यदि मूर्तस्तर्हि कर्मणा सह तस्य को विशेषः संज्ञान्तरमात्रविशिष्टकर्म्मैवेत्थमुक्तं स्यादिति । न चासौ सर्वदैव सर्वथा सदृशो युज्यते परिणामित्वाद्दुग्धादिवदथवा मूर्त्तत्वादेवाभ्रादि-विकारवदिति । अमूर्तोऽसौ स्वभावस्तर्हि नैष देहादीनामारम्भको ऽनुपकरणत्वाद्दण्डादिविकलकुलालवद-मूर्तत्वादाकाशवत् (नय हवइ सुहम्मसो अमुत्तो वित्ति) किंच सुधर्मन्नितोऽपि स स्वभावो ऽमूर्तो न युक्तः शरीरादेस्तत्कार्यस्य मूर्तिमत्त्वान्नह्यमूर्त्तस्य नभस इव मूर्त्तं कार्यमुपपद्यते । तथा सुखसंवित्त्यादेश्च नायं मूर्त्तः । इदमुक्तं भवति । कर्म्म तावद्भवता नेष्यते स्वभाववादित्वात्ततश्च शरीरादीनि सुखदुःखसंवि-त्त्यादीनि च स्वभावस्यैव कार्याण्येष्टव्यानि न तस्य वा मूर्त्तत्वेनैतान्युपप-द्यन्ते । ततो यथा द्वितीयगणधरवादे कार्यस्य मूर्तत्वात्सुख-संवित्त्यादेश्च कर्मणोमूर्त्तत्वं साधितं तथेह स्वभावस्यापि साधनी-यम् । तथाच प्रागुक्तम् आह । ''णणु मोत्तमेयमुत्तं, चिय कज्जमुत्ति मत्ताउ । इहजह मुत्तित्तणओ, घडस्स परमाणओ मुत्ता । तह सुह संवित्तीउ, संविधिवेयणुब्भवाओ य । वब्भवलाहाणीउ, परिणामा माउयविण्णेयमिति''

अथनिष्कारणता स्वभावमिति द्वितीयविकल्पमधिकृत्याह

अहवा कारणउ च्चिय, सभावउत्तो वि सरिसया कत्तो ।
किमकारणाउ न भवे, विसरिसया किंच विच्छित्ती ॥

अथ स्वभावत एव भवोत्पत्तिरित्यत्र अकारणत एवेत्य-यमर्थोभिप्रेतः (तावित्ति) तथापि हन्त ! परभवे सदृशता कुतः कोऽभिप्राय इत्याह । यथा कारणतः सदृशता भवंति तथा किमित्यकारणत एव विसदृशता न स्यादकस्माच्चाकारणतो भवविच्छित्तिः कस्मान्न स्यादकस्माच्च भवेत्खरविषाणादिरपि भवेच्छशरीरादीनां च कारणत्वात्तेन चाभ्रादीनामिव प्रतिनियता कारणत्वादिरूपता न स्यात्तस्मान्नाकारणता स्वभावत इति ।

अथ वस्तुधर्म्मोसाविति तृतीयविकल्पमाश्रित्याह ।

अहव सहावो धम्मो, वत्थुस्स न सो वि सरिसओ निच्चं ।
उप्पायट्ठिइभंगा, चित्ता जं वत्थुपज्जाया ॥

अथ वस्तुनो धर्मस्वभावः सोपि सर्वदैव सदृशो न घटत इति । किं कथं सर्वदैव शरीरादीनां सदृशतां जनयेत्कथं पुनरस्य सदैव सदृ-शता न घटत इत्याह ॥ (उप्पायेत्यादि) यद्यस्मादुत्पादस्थिति-भङ्गादयश्चित्रा वस्तुपर्याया न च ते सदैवावस्थितसादृश्याः नीलादीनां वस्तुधर्माणां प्रत्यक्षत एवान्यान्यरूपतया परिणतिदर्शनात् । किंच वस्तुधर्मोसौ भवत्स्वभाव आत्मधर्मो -वासौ स्यात्पुद्गलधर्मो वा । यद्यात्मधर्मस्तर्हि नासौ शरीरादीनां कारणम् अमूर्तत्वादाकाशादिवदथ पुद्गलधर्मस्तर्हि कर्म्मैवासौ कर्मणोपि हि पुद्गलास्तिकायधर्मत्वेनास्माभिरभ्युपग-तत्वादिति । किंच ॥

कम्मस्स वि परिणामो, सुह धम्मधम्मो सपोग्गलमयस्स ।
हेऊ चित्तो जगओ, होइ सहावोत्ति को दोसो ॥

सुधर्मन्नसौ वस्तुधर्मो भवत्स्वभावो धर्मो भवति को दोषो न कश्चित् युक्तियुक्तत्वात्किविशिष्टो धर्म इत्याह । परिणामकस्य कर्मणः कथंभूतस्य पुद्गमयस्य कथंभूतो यः कर्म्मपरिणाम इत्या-ह । हेतुः कस्य जगतो जगद्वैचित्र्यस्य तदेवं कर्मलक्षणस्य वस्तुनः परिणामरूपो धर्मो भवति स्वभावो नात्र काचिद्दोषापत्ति रस्माकमपि सम्मतो ऽयमर्थः केवलं सर्वदा सदृशोसौ न भवति किन्तु चित्रो मिथ्यात्वादिहेतुः वैचित्र्याद्विचित्रो विविक्षितस्वभावः । अतो न तस्मात्परभवे सादृश्यमेव किन्तु विचित्ररूपतेति यदिवा किमनेनाव्यापकेन मिथ्यारूपेण चैकान्तवादेन, सर्वव्यापकम-वितथरूपं चानेकान्तवादमेव दर्शयन्नाह ॥

अहवा सव्वं वत्थु, पइक्खणं चिय सुहम्म धम्मेहिं ।
संभवइ चेइ केहि वि, केहि वि तदवत्थमच्चंतं ॥
तं अप्पणो विसरिसं, न पुव्वधम्मेहिं पच्छिमिल्लाणं ।
सयलस्स तिहुयणस्स व, सरिसं सामण्ण धम्मेहिं ॥

अथवा सुधर्मन्किमेक एव परभवः सर्वमेव हि घटपटादिकं भुवनान्तर्गतं वस्तु कैश्चित्पूर्वपर्यायैः समानासमानपर्यायैः प्रतिक्षणमुपपद्यते । कैश्चित्पुनरुत्तरपर्यायैः समानासमानपर्यायै-र्व्येति व्युपरमति । कैश्चित्तदवस्थमेवास्ते । ततश्चैवं सति तद्वत्यात्मनो पूर्वं धर्म्मैरुत्तरोत्तर-धर्माणां न सदृशं किं पुनरन्यवस्तूनाम् । सामान्यधर्मैस्तु सर्वस्यापि त्रिभुवनस्य समानं किंपुनरकस्यैव निजपूर्वजन्मन इति ।

ततः किं स्थितमित्याह ।

सो सव्वहेव सरिसो, सरिसो वा इहभवे परभवे वा ।
सरिसासरिसं सव्वं, निच्चानिच्चाइरूवं च ॥

को ह्यथोऽर्थान्तरैरात्मना वा स इहभवेपि सर्वथा सदृशोऽसदृशो वा किंपुनः परभवे । तस्मात्सर्वमपि वस्तु स्वधर्म्मेणापि सह समानासमानरूपमेवेहभवेपीति कुतः परभवे सादृश्यमेव प्रतिज्ञायते । इति भवत इति भावः । तथा सर्वमपि नित्यानित्याद्यनन्त धर्म्मात्मकमिति ।

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन प्रतिपादयितुमाह ।

जह नियएहिं वि सरिसो, न जुवा भुवि बालबुड्ढ धम्मेहिं ।
जगओ विसमो सत्ताइ, एहिं तह परभवे जीवो ॥

यथेह युवा निजैरप्यतीतानागतैर्बालवृद्धत्वादिपर्यायैरात्मनोपि सर्वथा न समानः सत्तादिभिस्तु समान्यपर्यायैर्जगति न केनचिन्न समानस्तथायमपि जीवः परलोकं गतः सर्वेणापि सह समा-नासमानरूप एवेति । कुतः सर्वथा सादृश्यमिति ।

एतदेव दृष्टान्तेन भावयति ॥

मणुओ देवीभूओ, सरिसो सत्ताइएहि जगओ वि ।

देवीईहिं वि सरिसो, निच्चानिच्चो वि एमेव ॥

मनुष्यो मृत्वा देवत्वमापन्नो जगत्त्रयस्यापि सत्तादिभिः पर्यायैः सदृशो देवत्वादिभिस्तु विसदृशः इति नैकान्तेन क्वापि सदृशता । तथा द्रव्यतयासौ नित्यः पर्यायतया त्वनित्य इत्याद्यपि वक्तव्यमित्याह । नन्वस्माभिरपि नैकान्तेन परभवे सादृश्यमभ्युपगम्यते किंतु समानजात्यन्वयमात्रमेवेष्यते पुरुषादिर्मृतः पुरुषादिरेव भवतीति । एतदप्ययुक्तं कर्मजनितो हि परभव इति साधितम् । तच्च मिथ्यात्वादि विचित्रहेतुजन्यत्वा-द्विचित्रमेवेत्यतस्तज्जन्यः परभवो विचित्र एव युज्यते नतु समानजात्यन्वयः सिध्यतीति । किंच ॥

उक्करिसा वक्करिसा, न समाणाए वि जेण जाईए ।
सरिसग्गाहे जम्हा, दाणाइ फलं विही तम्हा ॥

सदृशग्रहे समानजातीयताग्रहे सति येन यस्मादीश्वरदरिद्र-कुलीनाकुलीनारूपेणोत्कर्षापकर्षौ न घटां प्राञ्चतः । यो हि यादृशः इहभवे स यदि परभवेपि तादृश एव तर्हि य इहभवे ईश्वरः स परभवेपि तादृश एव एवं दरिद्रेष्वपि वाच्यं ततश्चेह भवात्परभवे सर्वप्रकारैरप्युत्कर्षापकर्षौ न स्यातां किंत्वे कान्तसदृशतैव भवेत् (तम्हत्ति) तस्मान्मोक्तव्योयं सादृश्यग्रह इति प्रक्रमाद्द्रष्टव्यम् । अथेत्थमाचक्षीथाः मा भूतामुत्कर्षापकर्षौ का नो हानिरित्याह (जम्हा दाणाइ फलं विहित्ति) चकारस्य गम्यमानत्वाद्यस्माच्चेत्थं परत्रोत्कर्षापकर्षयोरभावे दानादिफलं वृथा संपद्यते लोको हि परत्र देवादिसमृद्धिप्राप्त्या आत्मन उत्कर्षार्थं दानादि प्रवृत्तिं विदधाति यदिचोक्तं युक्तया उत्कर्षाद्यभावाद्दरिद्रो दानतपस्तीर्था-वगाहनाद्यपि कृत्वाऽमुत्र दरिद्र एव स्यात्तर्हि क्व तद्दानादि-फलमित्यपार्थिका दानादौ प्रवृत्तिस्तस्मान्न विधेयः सादृश्यग्रह इति । अपिचैतस्मिन् सादृश्यग्रहे वेदपदानामप्यप्रमाण्यमापद्यत इति दर्शयन्नाह ।

जं च सिलोगो वइए, स जायए वेयविहियमिच्चाइ ।
सग्गीयं जं च फलं, तमसंबद्धं सरिसयाए ॥

यच्च शृगालो वै एष जायते यः स पुरीषो दह्यत इत्यादि वेद विहितं तदपि परभवसदृशताग्रहे संबद्ध एव स्यात्पुरुषादेरमुत्र शृगालताद्यनुपपत्तेः तथा यद्यप्यग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः स त्वन्यथाऽग्निष्टोमेन यमराज्यम-भिजायत इत्यादिकं स्वर्गाय फलसूचकत्वात्स्वर्गीयं फलं तदप्यसंबद्धं भवेन्मनुष्यस्य त्वदभिप्रायेण देवत्वानुपपत्तेरिति पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वमित्यादीनां च वेदानामयमर्थः । कोपि पुरुषः खल्विह जन्मनि प्रकृत्या भद्रको विनीतः सानुक्रोशोऽमत्सरश्च मनुष्यनामगोत्रे कर्मणि च मृतः सन् पुरुषत्वमश्नुते नतु नियमेन सर्व एव अन्यस्यान्यकर्मवश-गस्यान्यथाप्युत्पत्तेः । एवं पशवोपि केचिन्मायादिदोषवशात्पशुनामगोत्रे कर्मणि बद्धा परभवे पशवो जायन्ते नतु सर्वेपि नियमेन कर्मापेक्षित्वार्थे जीवगतेरिति । विशे० । (च्युतिसमये इहभवः परभवोवेति करणशब्दे चिन्तयिष्यामि)

इहभवियाउय–पुं०(इहभविकायुष्) वर्तमानभवायुषि, । भ०६ श०३ उ०।

इहय–त्रि०(इहक) **''स्वार्थे कश्च वा ८।२।६४।''** इति प्राकृत सूत्रेण स्वार्थे कः । प्रा० अस्मिन्नित्यर्थे, –वाच०।

इहरा–अव्य०(इतरथा) ''इहरा इतरथा'' पा०२।२२। इति प्राकृत सूत्रेण इहरा इति इतरथार्थे वा प्रयोक्तव्यं । पक्षे यथा प्राप्तम् अन्यथार्थे, ''इहरा नीसासन्नेहिं'' पक्षे इअरहा । प्रा० नि०चू० । ''इहरा सपरूवधाओ'' इतरथा अन्यथेति । दर्श० । ''इहरा समूहसिद्धो'' इतरथोक्तप्रकारादन्यथा समूहो रत्नानां सिद्धो निष्पन्न इति–सम्म० इहरा वि य वीयमेयस्स'' इतरथान्यथा भाव-व्यतिरेकेणेत्यर्थः इति । पंचा०२ विव० । ''इहरा अणत्थगंतं'' पंचा०६ विव० ।

इहलोइय–त्रि०(ऐहलौकिक) इहलोके भवः ठञ् द्विपदवृद्धिः वाच० । ऐहिके,– 'अन्नस्स पाणस्सिह लोइयस्स' अन्नस्स पानस्य वा कृते ऽन्यस्य वैहिकार्थस्य वस्त्रादेः कृते इति । सूत्र०१ श्रु०७ अ० । इहलोकप्रयोजने, 'इहलोइया वि किं पुण' ऐहलौकिकी इहलोकप्रयोजनापि कृष्यादिकापीत्यर्थः । पंचा०४ विव० इहलोगते, ''इहलोइया विहाणित्ति'' ऐहलौकिक्यपि इह लोकगताऽपि न केवलं परलोकगता हानिरिति । पंचा०३ विव० । इहलोककृते, इहजन्मभवे च ''इयलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणुगरूवाइं अविसुद्धिमदुब्भिगंधाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं'' इहलोके भवा ऐहलौकिका मनुष्यकृताः के ते स्पर्शा दुःखवि-शेषाः । यदिवा इहैव जन्मनि ये दुःखयन्ति दण्डप्रहारादयः प्रतिकूलोपसर्गास्त इहलौकिका इति । आचा०१ श्रु०९ अ०३ उ० । इहलोके भव ऐहलौकिकः । व्यवसायभेदे, य इह भवे वर्तमानस्य निश्चयोऽनुष्ठानं वा स ऐहलौकिको व्यवसाय इति स्था०३ ठा० ।

इहलोय–पुं०(इहलोक) इदम् प्रथमार्थे ह । कर्म० इहलोकः समानलोकः सदृशलोको यथा मनुजो मनुष्यस्य तिर्यङ्तिरश्च इति । दर्श० । अस्मिन् लोके, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ० ''इहलोगदुहावहंविऊ'' इहास्मिन्नेव लोके हिरण्यस्वजनादिकं दुःखमावहतीति । सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ० । मनुष्यलोके, स्था०३ ठा० । आव० । ''इहलोगपडिणीए'' इहलोकस्य प्रत्यक्षस्य मानुष्यत्वलक्षणपर्य्यास्य प्रत्यनीक इति । भ०८ श० ८ उ० इहलोगो मणुस्सस्स लोगो इति । आ०चू० । अस्मिन् जन्मनि, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ० । मनुष्यजन्मनि, स्था०४ ठा० ।

इहलोगगवेसग–त्रि०(इहलोकगवेषक) अन्योन्यभक्त-पाना-द्युपभोगेन केवलस्येहलोकस्यैवान्वेषके, वृ०१ उ० ।

इहलोगपडिणीय–त्रि०(इहलोकप्रत्यनीक) इहलोकस्य प्रत्यक्षमानुष्य-त्वलक्षणपर्यायस्य प्रत्यनीकः इन्द्रियार्थप्रति-कूलकारित्वात्पञ्चाग्नि-तपस्विवदिह लोकप्रत्यनीकः । इन्द्रियार्थ-प्रतिकूलकारिणि, गतिम्प्रतीत्य मनुष्यलोकप्रत्यनीकरूपे प्रत्यनीकभेदे, –इहलोकोप-कारिणां भोगः साधनादीनामुपद्रवकारिणि, इहलोको मनुष्यलोकस्तस्य प्रत्यनीकता तद्धि-तथप्ररूपणेति इहलोकप्रत्यनीकः । मनुष्यलोकस्य वितथ-प्ररूपणाकर्तरि च । स्था०३ ठा० ।

इहलोकपडिबद्ध–त्रि०(इहलोकप्रतिबद्ध) निर्वाहादिमात्रार्थिनि प्रव्रज्याभेदे, स्त्री–टाप् इहलोकप्रतिबद्धा निर्वाहादिमात्रार्थिनामिति – स्था०४ ठा०(विशेषार्थस्तु पवज्जा शब्दे)

इहलोइयपरलोइय–त्रि०(ऐहलौकिकपरलौकिक) इह परत्र च भव ऐहलौकिकपारलौकिकः । इह परत्र च भवे तदात्मके व्यवसायभेदे च । यस्त्विह परत्र च स ऐहलौकिकपारलौकिक इति । स्था०३ ठा० ।

इहलोइयपरलोइयकज्ज–न०(ऐहलौकिकपारलौकिककार्य) वर्तमान भवपरभवप्रयोजन साध्ये,–

इहलोइयपारलोइय–कज्जाणं पारलोइयं अहिगं ।
तं पि हु भावपहाणं, सो विय इयकज्जगम्मोत्ति ।।

ऐहलौकिकपारलौकिककार्ययोर्वर्तमानभवपरभव प्रयोजनयोः साध्ययोर्मध्ये पारलौकिकं पारभविकं प्रधानतरं विशेषतस्तस्य साधनीयत्वात्तदसाधने बहुतमानर्थसंभवात्पारलोकिककृत्यं च जिनपूजेत्यतो नान्यदुपयोगस्थानं लष्टतरं प्रवरसाधनानामिति । तत्र च यत्प्रधानं तद्दर्शयितुमाह । (तं पि हुत्ति) तत्पुनः पारलौकिककार्यं भाव आत्मपरिणामः प्रधानः साधकतयोत्तमो यस्मिंस्तद्भावप्रधानं शुभभावसाध्यमतोसौ भावविशेषो विशिष्टपारलौकिककार्यार्थिनां समाश्रयणीय इति हृदयम् । यदि भावप्रधानं ततः किमित्याह (सोवियत्ति) स पुनः पारलौकिककार्यहेतुभूतो भाव इति कार्यगम्य इत्येवंविध-मनन्तरोक्तं यत्कार्यं भावस्य कृत्यं पूजार्थप्रवरपुष्पा-द्युपादानरूपं तेन यो गम्यो निश्चेतव्यः स इति कार्यगम्यः । इति शब्दः समाप्तिविदमुक्तं भवति । परलोकसाधन हेतुभूतशुभ-भावकार्यत्वात्प्रवरसाधनोपादानस्य शुभभावं सफलयद्भिस्त-द्विधेयं भवतीति गाथार्थः । पंचा०४ विव०।

इहलोगभय–न०(इहलोकभय) इहलोकः समानलोकः सदृश-लोको यथा मनुजो मनुष्यस्य तिर्य्यङ् तिरश्चस्तस्माद्भयमिहलो-कभम् । दर्श०। मनुष्यादिकस्य सजातीयादन्यस्मान्मनुष्यादेरेव सकाशाद्यद्भयं भवति तदिहलोकभयम् । इहाधिकृतभीतिमतो जातौ लोकस्ततो भयमिति व्युत्पत्तिः । स्था०७ ठा०। आव०। सम०। भयभेदे–तच्च यथा राजामात्य-रक्षकादेरकार्यकरणं प्रति प्रजादीनां सिंहादेर्वा मृगादीनामिति –दर्श०।

इहलोगवेयण–न०(इहलोकवेदन) इहास्मिन् लोके जन्मनि वेदनमनु-भवनमिहलोकवेदनम् । इहलोकानुभवने, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ०।

इहलोगवेयणवेज्ज–त्री०(इहलोकवेदनवेद्य) इहास्मिन् लोके वेदन–मनुभवनमिहलोकवेदनं तेन वेद्यमनुभवनीयमिहलोक वेदनवेद्यम् । इहलोकानुभवेनानुभवनीये, आचा०१ श्रु० ५ अ०४ उ०।

इहलोगवेयणवेज्जावडिय–त्रि०(इहलोकवेदनवेद्यापतित) ऐहिकभवानुबन्धिनि, ''इह लोगवेयणवेज्जावडियं । जं आउट्टीकम्मं तं परिण्णाय विवेगमेति'' इहास्मिन् लोके जन्मनि वेदनमनुभवनमिह लोकवेदनं तेन वेद्यमनुभवनीयमिहलोकवेदन-वेद्यं तत्रापतितमिह लोकवेदनवेद्यापतितम् । इहमुक्तं भवति–प्रमत्तयतिना ऽपि यदकामतः कृतं कर्म कायसंघट्टादिना तदैहिकभवानुबन्धि तेनैव भवेन क्षप्यमाणत्वादिति । आचा०१ श्रु०५ अ०।

इहलोग संवेगिणी–स्त्री०(इहलोकसंवेगिनी) इहलोको मनुष्यजन्म तत्स्वरूपकथनेन संवेगिनी इहलोकसंवेगिनी सर्वमिदं मानुषत्वमसारमध्रुवं कदलीस्तम्भसमानमित्यादिरूपे संवेगिन्याः कथायाः प्रथमे भेदे, स्था०४ ठा०।

इहलोगावेक्खा–स्त्री०(इहलोकापेक्षा) इहलोकालम्बन,

विहियाणुट्ठाण मिणंति –एवमेयं सयाकरेत्ताण ।
होइ चरणस्स हेऊ, णो इह लोगादवेक्खाए ।।४।।

विहितमाप्तागमे विधेयतयानुमतं यदनुष्ठानं क्रिया तद्विहिता-नुष्ठानमिदं जिनभवनादिकरणलक्षणमिति । अनेनोल्लेखेन एवमनेन भावस्तवा-नुरागलक्षणेन सूत्रविधिलक्षणेन वा प्रकारेण एतज्जिनभवनादिविधानं सदा सर्वकालं कुर्वतां विदधतां भवति जायते । चरणस्य सर्वविरतिरूपचारित्र-स्य हेतुर्निमित्तम् । तदेव जिनभवनादि । उक्तविपर्यये यद्भवति तदाह नो नैव इह लोकाद्यपेक्षया ऐहभविककीर्त्यादिपारभविकदेवत्वराज्या-दिपदार्थालम्बनेन । चरणस्य हेतुर्भवति एतज्जिनभवनादिविधानं निदानदूषितत्वादिति गाथार्थः । पंचा० ६ विव०।

इहलोगासंसप्पओग–पुं०(इहलोकाशंसाप्रयोग) इहलोकोनरलोक-स्तत्राशंसा राजा स्थामित्याद्यभिलाषस्तस्याः प्रयोगोः व्यापार इह लोकाशंसाप्रयोगः । धर्म०२ अधि०। अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोष-णाराधनाया अतिचार-विशेषे, उपा०। स च श्रेष्ठी स्यां जन्मान्तरे ऽमात्यो वेत्येवं रूपा प्रार्थनेति । उपा०१ अ०। श्राव०आव०।

ईकार

ई–अव्य०(ई) क्विप् विषादे, दुःखभावनायाम्, क्रोधे, अनुकम्पायां, प्रत्यक्षे, सन्निधौ, सम्बोधने, वाच० ''ईः कुत्सार्थे पिपापेपि निषेधे, नयनभ्रमे ।६। एका०। पादपूरणे च । **''ई जेरा पादपूरणे'' ८।२।१७।** इति । प्रा०मेदिन्यामयं सान्ततया पठितः । पृषोदरादित्वात्साधुः । वाच०।

***ई**–स्त्री०लक्ष्म्याम्, वाच०। ई रमा मदिरा मोहे, महानन्दे शिरोभ्रमे । स्त्रीलिङ्गोयमुणाद्यन्तो, नातोस्माल्लोपनं सुपः ।७। ई र्यौ योत्र जसो रूपं, स्यादमारूपमीः शसि । ई शब्दो द्रव्यपर्याये व्ययं वृद्धैः प्रदर्शितम् ।८। एका०।

ईति–पुं०(ईति) ईयते ई–क्तिच् (१) डिम्बे, २ उत्पादिते, त्रि०।

३ प्रवासे, ।''अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभाः मूषिकाः खगाः । प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः 'इत्युक्ते ४ कृषेरुपद्रवभेदे च । स्त्री० निरातङ्का निरीतयः' रघुः । वाच० ईतिर्धान्याद्युपद्रवकारी प्रचुरमूषिकादिप्राणिगण इति । सम० ३४ स० । जं० । प्रचुरशलभशुकमुषिकाद्या धान्यादिविनाशका इति । प्रव०४० द्वा०। प्रायो वर्षासु शस्योपद्रवकारिणो मूषिकादय इति । दर्श०।

ईरण–न०(ईरण) ईर् –भावे ल्युट् प्रेरणे, आव०४ अ०। ''इन्द्रि-याणि समीरए'' इन्द्रियाणीष्टानिष्टविषयेभ्यः सकाशाद्राग-द्वेषाकरणतया सम्यगीरयेदिति । आचा०१ श्रु०९ अ० उ०। गतौ, आ०म०द्वि०। स्था०। आचा०। कथने, 'घोर धम्मे उदीरए'' उत्प्राबल्येन ईरितः कथितः प्रतिपादित-स्तीर्थकरगणधरादिभिरिति । आचा०१ श्रु०८ अ०७ उ०। युच्

ईरणा तत्रैव स्त्री०। नन्द्या-ल्यु प्रेरके, त्रि० समीरणः प्रेरयिता भवेति-कुमा०। वाच०।

ईरिय-त्रि० (ईरित) प्रेरिते, -- आव ४ अ०। दर्श०। चोदिते 'समीरिया कोट्टवलिं करिंति'' समीरिताः पापेन कर्मणा चोदितास्तान्नारकान् कुट्टयित्वा खण्डशः कृत्वा नगरबलिवनिन्दतश्चेतश्चाक्षिपन्तीत्यर्थः इति। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० कथिते, प्रतिपादिते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। ''संक्षेपान्निरपेक्षाणां यतीनां धर्म ईरित०'' ईरितः प्रोक्त इति-धर्म० ४ अधि०। जनिते,- कृते च। ''ससद्दफासाफरुसा उदीरिया'' उत्प्राबल्येनेरिता जनिता कृता इत्यर्थ इति। आचा०।

ईसओ-देशी, रोझाख्ये मृगे, दे० ना०।

ईसक्ख-त्रि० (ईशाख्य) ईश ईश्वर इत्याख्या प्रसिद्धिर्येषां ते ईशाख्याप्रसिद्धे ईश्वरे, ईशनमीशो भावे घञ् प्रत्ययः। ऐश्वर्य्यमित्यर्थः। ईश ऐश्वर्य्ये इति वचनात्। तत ईशमैश्वर्य्यमात्मनः ख्यान्ति अन्तर्भूतण्यर्थतयाऽऽख्यापयन्ति प्रथमयन्तीति ईशा-ख्याः। आत्मन ऐश्वर्य्यस्य प्रसिद्धिकारके, जी० ३ प्रति०। प्रज्ञा०।

ईसत्त-न० (ईशत्व) सर्वत्र प्रभविष्णुतारूपे सिद्धिविशेषे, द्वा० २६ द्वा०।

ईसत्थ-न० (इषुशास्त्र) चतुष्षष्ठिकलान्तर्गते कलाभेदे, ज्ञा० १ अ०। सच धनुर्वेदः- प्रश्न० ५ द्वा०। ईसत्थंति प्राकृतशैल्या इषु शास्त्रं नागबाणादिदिव्यास्त्रादिसूचकं शास्त्रम् इति जं० २ वक्ष०। सम० तथाचावश्यके भगवत ऋषभदेवस्य वर्णनमुपक्रम्योक्तम् ''ईसत्थं धणुवेयो'' इषु शास्त्रं नाम धनुर्वेदः स च तदैव राजधर्मे सति प्रावर्त्ततेति-आ० म० प्र०।

ईस-पु० (ईश) ईश-क- ईश्वरे, प्रज्ञा० २ पद। जी०। परमेश्वरेषु, महादेवे, रुद्रसङ्ख्यातुल्यसङ्ख्याकत्वात् एकादशसंख्यायाम्, आद्रानक्षत्रे च। वाच०। ईशानमीशो भावे घञ० ऐश्वर्ये, ईश ऐश्वर्ये इति वचनात् प्रज्ञा० २ पद।

ईस-देशी० कीलके, दे० ना०।

ईसमित्त-न० (ईशमित्र) कुबेरे, - प्रा० को०।

ईसर-देशी० मन्मथे, दे० ना०।

ईस सह-पुं० (ईशसख) षष्ठीतत्पु० टच-समा० कुबेरे-बहु० न टच् ईशसखा इत्येव ईशमित्रादयोप्यत्र-वाच०।

ईसा-स्त्री० (ईर्ष्या) परगुणासहने, उत्त० ३४ अ०।

ईस्सा-स्त्री० (ईर्ष्य) भावे स्त्रीत्वात् टाप्। अक्षमायाम्परवृद्ध्यसहिष्णुतायाम्, । वाच०। प्रतिपक्षाभ्युदयोपलम्भजनितो मत्सरविशेष ईर्ष्येति। आव० ४ अ०। सम०। आ० म० द्वि०। पैशून्यं साहसं द्रोहमीर्ष्यां सूयाऽथ दूषणम्। वाग्दण्डजञ्चपारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः। मनुः। एतेषाञ्च। क्रोधप्रवर्तकत्वात् क्रोधजत्वम्। अत एव। ''क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः - पा० दुहादयोऽपि कोपप्रभावा एव गृह्यन्तेऽतो विशेषणं सामान्येन यं प्रति कोप इति सि० कौ०। धरणेन्द्रभव नपतीनामग्रमहिषीनां प्रथमपर्षदि - स्था० ३ ठा०।

ईसा-स्त्री० (ईश)-क-शकटस्य दोषकाष्ठे, हलयुगयोर्मस्थकाष्ठे, लाङ्गलदण्डे च। वाच०।

ईसाण-पुं० (ईशान) सकलविमानप्रधानेशानावतंसकविमान-विशेषे, अनु०। सकलविमानप्रधानेशानावतंसकविमान-विशेषोपलक्षिते स्वनामख्याते ऊर्ध्वलोकविशेषे, - अनु०। कल्पभेदे, -स्था० १० ठा०। विशे०। आ० चू०। देवलोकभेदे, । तल्लोकवासिनि कल्पोपन्नके वैमानिकदेवभेदे, प्रव० द्वा०। विशे० ईशानकल्पस्थे ईशानदेवेन्द्रे च। स्था० १० ठा० विशे०। सम०। ईशानस्थानशब्दे वक्तव्यता- (इशानेन्द्रवक्तव्यता ठाणशब्दे ईसाणिंदशब्देऽपि-)। प्रभौ, । ''उतामृतत्वस्येशानः'' अमृतत्वस्यामरणभावस्य मोक्षस्येशानः प्रभुरिति। विशे०। आ० म० द्वि०। ईश-ताच्छील्ये चानश-ऐश्वर्य्यशीले, - रुद्रमूर्तिभेदे, पुं०। ''अहोरात्रभवेषु त्रिंशन्मुहूर्तेषु स्वनामख्याते एकादशे मुहूर्ते, - जं० ७ वक्ष०। दश० प०। कल्प०। ज्यो०। समवायांगे तु षोडशो मुहूर्त इति। सम० ३ स०।

ईसाणकप्प-पु० (ईशानकल्प) मेरोरुत्तरवर्त्तिनि परिपूर्णचन्द्रमण्डलसंस्थानसंस्थिते कल्पविशेषे, राज०। तद्वक्तव्यताठिइ-शब्दे-)

ईसाणवडिंसय-पुं० (ईशानावतंसकः) ईशानकल्पस्थसकलविमानप्रधाने स्वनामख्याते विमाने,- अनु०। तथाच-प्रज्ञापनायाम्पञ्चविमानावतंसकान्प्रतिपाद्योक्तम् ''मज्झइत्थे ईसाण वडिंसए'' मध्ये ईशानावतंसक इति-प्रज्ञा० २ पद०॥

ईसाणिंद-पुं० (ईशानेन्द्र) ईशानकल्पस्थवैमानिकदेवानामिन्द्रे, तद्वर्णको यथा-

तेणं कालेणं तेणँ समएणं ईसाणे देविंदे देवराया सूल पाणी वसहवाहणे उत्तरड्ढलोगा हिवई अट्ठावीसविमाण वाससयसहस्साहिवई अरयंवर वत्थधरे अलइयमालमउडे नवहेमचारुचित्तचलचंचलकुं डलविलिहिज्जमाणगंडे जाव दसदिसाओ उज्जोवेमाणे उज्जोवेमाणे ईसाणकप्पे ईसाणवडिंसए विमाणे जहेव रायप्पसेणइज्जे जाव दिव्वं देविड्ढि॥

(जहेव रायप्पसेणइज्जेत्ति) यथैव राजप्रश्नीयाख्ये अध्ययने सूरिकाभदेवस्य वक्तव्यता तथैवचेहेशानेन्द्रस्य किमन्तेत्याह (जावदिव्वे देवड्ढिमिति) सा चेयमर्थसंक्षेपतः सभायां सुध-र्मायामीशाने सिंहासने अशीत्या सामानिकसहस्रै श्च-तुर्भिर्लोकपालैरष्टाभिः सपरिवाराभिरग्रमहिषीभिः सप्तभिरनीकैः सप्तभिरनीकाधिपतिभिश्चसृभिश्चाशीतिभिरात्मरक्षकदेवसहस्राणामन्यैश्च बहुभिर्देवैर्देवीभिश्च परिवृतो महता नृत्तनाट्यादिरवेण दिव्यान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति स्म।

जाव जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए भंते ! त्ति भगवं ! गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदई नमंसइ २ त्ता एवं बयासी अहो णं भंते ! ईसाणे देविंदे देव राया महिड्ढिए ईसाणस्स णं भंते ! सा दिव्वा देविड्ढी कहिं गते कहिं अणुपविट्ठे ? गोयमा ! सरीरं गए से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुचई सरीरं गए ? गोयम ! से जहा नामए कूडागार सालासिया दुहओ लित्ता गुत्तागुत्त दुवारा णिवाया णिवायगंभीरा तीसेणं कूडागारं जाव कूडागारसालादिट्ठंतो भाणियव्वा इसाणेणं भंते ! देविंदे देवरन्नो सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुत्ती दिव्वे देवाणुभावे किन्नालद्धे किन्नापत्ते किन्ना अभीसमण्णागए

केवा एस आसी पुव्व भवे किन्नामए वा किंगोत्तेवाकयरेसि गामंसि वा नयरंसि वा जाव सन्निवेसंसि वा किं वा दच्चा किं वा भोच्चा किं वा किच्चा किं वा समयारित्ता कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म जेणं ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णं सा दिव्वा देविड्ढि जाव अभिसमणागया एवं खलु गोयमा !

इतश्च जम्बूद्वीपमवधिनाऽऽलोकयन् भगवन्तं महावीरं राजगृहे ददर्श दृष्टवा च ससम्भ्रममासनादुत्तस्थौ उत्थाय च सप्ताष्टानि पदानि तीर्थकराभिमुखमाजगाम । ततो ललाटतटघटितकरकुड्मलो ववन्दे वन्दित्वा चाभियोगिकदेवान् शब्दयाञ्चकार । एवं च तानवादीत् गच्छत भो राजगृहं नगरं महावीरं भगवन्तं वन्दध्वं योजन-परिमण्डलञ्च क्षेत्रं शोधयत कृत्वा चैवं मम निवेदयत । तेपि तथैव चक्रुः । ततोसौ पदात्यनीकाधिपतिं देवमेवमवादीत् भो २ देवानु-प्रिय ! ईशानावतंसके विमाने घण्टामास्फालयन् घोषणां कुरु यदुत गच्छति भो ईशानेन्द्रो महावीरस्य वन्दनाय ततो यूयं शीघ्रं महद्ध्या तस्यान्तिकमागच्छत । कृतायां च तेन तस्यां बहवा देवाः कुतूहलादिभिस्तत्समीपमुपागतास्तैश्च परिवृतोसौ योजन-लक्षप्रमाणयानविमानारूढो ऽनेकदेवगणपरिवृता नन्दीश्वरद्वीपे कृतविमानसंक्षेपो राजग्रहनगरमाजगाम । ततो भगवन्तं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य चतुर्भिरङ्गुलैर्भुवमप्राप्तं विमानं विमुच्य भगवत्समीपमागत्य भगवन्तं वन्दित्वा पर्युपास्ते स्म । ततो धर्मं श्रुत्वैवमवादीत् । भगदन्त ! यूयं सर्वं जानीथ पश्यथ केवलं गौतमादीनां महर्षीणां दिव्यं नाट्यविधिमुपदर्शयितुमिच्छा-मीत्यभिधाय दिव्य मण्डपं विकुर्वितवान् । तन्मध्ये मणिपीठिकां तत्र च सिंहासनं ततश्च भवन्तं प्रणम्य तत्रोपविवेश । ततश्च तस्य दक्षिणाद् भुजादष्टोत्तरं शतं देवकुमाराणां वामाच्च देवकुमारीणां निर्गच्छतिस्म । ततश्च विविधातोद्यरवगीतध्वनि-रञ्जितजनमानसं द्वात्रिंशद्विधं नाट्यविधिमुपदर्शयामासेति (तएणं से दिसाणे देविंदे २ तं दिव्वं देवड्ढी) यावत्करणादिदमपरं वाच्यं यदुत ''दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं पडिसाहरइ पडिसाहरइत्ता खणेण जाए एगभूए तएणं इसाणो ३ समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता नियगपरियालसंपरिवुडेत्ति'' (परियालत्ति) परिवारः । (कूडागार सालादिङ्नंतोत्ति) कूटाकारेण शिखराकृत्योपलक्षिता शाला या सा तथा तया दृष्टान्तो यः स तथा । सचैवं भगवन्तं गौतम एवमवादीत् ईशानेन्द्रस्य सा दिव्या देवर्द्धिः क्व गता । गौतम ! शरीरकमनुप्रव-विष्टा । अथ केनार्थेनैवमुच्यते ? गौतम ! यथा नाम कूटाकारशाला स्यात् तस्याश्चादूरे महान् जनसमूहस्तिष्ठति सच महाभ्रादिकमाग-च्छन्तं पश्यति दृष्टवा च तां कूटाकारशालामनुप्रविशति एवमीशानेन्द्रस्य सा दिव्या देवर्द्धिः शरीरकमनुप्रविष्टेति । भ०३ श०१ उ० (शक्रेशानयार्विवादः विवायशब्दे) शक्र स्येशानसमीपे प्रादुर्भावः प्राउब्भाव शब्दे) (इशानेन्द्रस्य पूर्वभवकथानामलि शब्दे वक्ष्यामि यावत्तस्य तत्र स्थितिः)

ईसालु–त्रि०(ईर्ष्यालु) ईर्ष्यां लाति–ला–वा–डु–ईर्ष्यायुक्ते, वाच० ईर्ष्यालवो हि अन्तरुपतापपरा एव भवन्ति निष्कारणमेवेति यतः ''यद्यपि का नो हानिः परकीयां चरति रासभो द्राक्षाम् । असमञ्जसं तु दृष्टवा तथापि परिखिद्यते चैतः'' इति । द्रव्य० नपुंसकभेदे, । सच यस्य प्रतिसेव्यमानां वनितां विलोक्य प्रकाममीर्ष्याऽभिलाषो जायते स ईर्ष्यालुरिति । ग०१ अधि० ध० प्रव० ईर्ष्यालुर्नाम यस्य प्रतिसेव्यमानं दृष्टवा ईर्ष्या मैथुनाभिलाष उत्पद्यते सोऽपि निरुद्धवेदः कालान्तरेण त्रैराशिको भवतीति–वृ४ उ०

ईसालु–त्रि०(ईर्ष्यावत्) ''**आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेन्तेरमणा-मतोः**'' ८।२।२।५९। इति प्राकृतसूत्रेण मतोः स्थानेआलुरादेशः । ईर्ष्यायुते । प्रा०

ईसि(ईसिं)(ईसी)–अव्य०(ईषत्) ईष प्रति–१ः स्वभादौ ८।२। इतिप्राकृतसूत्रेणेत्वम् । **वा स्वरेमश्च** ।८।१।२४। इतिप्राकृतसूत्रेण बाहुलकाधिकारान्मकारादन्यस्यापि व्यञ्जनस्य मकारः ''**अन्त्यव्यञ्जनस्य**'' ८।२।११। इति प्राकृतसूत्रेण वा लुक् प्रा० अल्पे, सम०३४ स० स्तोके, प्रज्ञा०३६ पद० अल्पभावे, नि०चू०१ उ० मनागित्यर्थे, प्रज्ञा०१७ पद जी० औप० आ०म०प्र० जं० ''ईसिं असोगवरयायवे'' ईषत् मनागिति –राज० ''ईसिं पाडेई'' मनागनगारं भूम्यां पातयति – इति – भ०१६ श०३ उ० ''इसिं खंध समल्लीणे'' । इह स्कन्धस्युडमित्युच्यते तस्याशोकवरपादपस्य ईषन्मनाक् सम्यग्लीनस्तदासन्न इत्यर्थः । राज० किञ्चिदर्थे चसूः मार्थे च । ईषत्प्राग् भारख्ये लोकाग्रस्ते पृथिवीविशेषे चस्या०९ ठा० औप० (तद्वक्तव्यता ईसिपब्भारा शब्दे)

ईसिअं–देशी० शवरशिरः पत्रपुटे वशायिते च । दे०ना०

ईसिं(ईसि)(ईसी)उट्ठावलंबि(न्)–त्रि०(ईषदाष्ठावलम्बिन्) ईषत् मनाक् ततः परमास्वादतया झटित्येवाग्रतो गच्छति ओष्ठे अवलम्बते लगतीत्येवं शील ईषदोष्ठावलम्बी । मनागोष्ठावलम्बिनि । ''ईसिं उट्ठावलम्बिणी'' । प्रज्ञा०१७ पद०

ईसि(ईसिं) (इसी) तंवच्छिकरणी–स्त्री०(ईषत्ताम्राक्षिकरणी) ईषन्मनाक् ताम्रे अक्षिणी क्रियेते अनया इति ईषत्ताम्राक्षिकरणी । मदिराम् –मद्यस्य प्रायः सर्वस्यापि तथा स्वभावत्वादिति –प्रज्ञा०१७ पद०

ईसि(ईसिं–इसी) तुंग–त्रि०(इषत्तुङ्ग) मनागुणे, जं०६ वक्ष०

ईसिदंत–पुं०(ईषद्दन्त) मनाग्दन्ते, औप०

ईषद्धान्त–त्रि० मनागाहिलशिक्ष्ये गजादौ, जं०३ वक्ष०

ईसि(ईसिं–ईसी) पण्णवणिज्ज–त्रि०(ईषत् प्रज्ञापनीय) मनाक् प्रज्ञापयितुं शक्ये, पंचा०१२ विव०

ईसि(इसिं–इसी) पब्भार–त्रि०(ईषत्प्राग्भार) ईषत्कुब्जे पंचा०१८ विव०

ईसि(ईसिं,–ईसी) पब्भारगय–त्रि०(ईषत्प्राग्भारगत) ईषदवनते, अत ९ अ० ईषत्कुब्जे, नद्यादिदुस्तटीस्थिते च । (ईसीपब्भारगओ) ईषत्प्राग्भारगत ईषत्कुब्जो नद्यादिदुस्तटी-स्थितो वासौ स्यादिति । पंचा०१८ विव०

ईसि(इसिं–ईसी) पब्भारा–स्त्री०(ईषत्प्राग्भारा) इष-दल्पारत्नप्रभादिपृथिव्या इव महान् प्राग्भारो महत्त्व यस्याः साईषत्प्राग्भारा । औप० ईषदल्पो रत्नप्रभाद्यपक्षया प्राग्भार-उच्छ्रयादिलक्षणो यस्याः सा ईषत्प्राग्भारा । ऊर्ध्वलोका-ग्रस्थे सिद्धानां निवासभूते प्रथीवीभेदे, (इसिपब्भारापुढवी) ईषत्प्राग्भारा ऊर्ध्वलोके भवतीति । स्था०४ ठा० (ईसीप-

ब्भाराणामा य) (इसित्ति) अल्पभावे प्र इति प्रायो वृत्त्या भार इति भारक्रांतस्स पुरिसस्स पायं पायसो ईसेणयं भवति जाए वट्टिता सा पुढवी ईसीपब्भारा णाम इति एतमभिहणंतस्स सायदव्व-ट्ठसिद्धविमाणाओ उवरिं वा रसेहिं जोयणेहिं भवति तेण सा ऊर्ध्वलोगचूला भवतीति। नि०चू०१ उ०।

अस्या अयं स्वरूपो ह्यौपपातिके यथा।

बहुसमरमणिज्जओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदम्मि सूरियग्गहगणणक्खत्तारारूवाणं बहुइं जोयणसहस्साइं बहुइं जोयणसयसहस्साइं बहुइं जोयणकोडीओ बहुजोयणकोडाकोडीओ उड्ढंतरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाणं कुमारमाहिंदवंभलंतगमहासुक्कसहस्सारआणत-पाणतआरणच्चुयतिन्नि य अट्ठारे गेविज्जविमाणवासते विती वइत्ताविजयवेजयंतजयंतअपराजियसव्वट्ठसिद्धस्स य हाविमाणस्स सव्वउपरिल्लातो थूमियग्गतो दुवालसजोयणाइं अवाहाए एत्थ णं इसीपब्भारा णाम पुढवी पण्णत्ते पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं एगाजोयणकोडी बयालीसं सयसहस्साइं तीसं च सहस्साईं दोण्णि य अउणापण्णे जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिरएणं इसियपब्भाएणं पुढवीए बहमज्झूदेसभाए अट्ठजोयणणक्खत्ते अट्ठजोयणाई बाहुल्लेणं तयाणंतरं च णं माताए २ पडिहायमाणी २ सव्वेसु चरिमपेरंतेसु मच्छियपत्तातो तणुय-तरा अंगुलस्स असंखेज्जइभागबाहुल्लेणं पण्णत्ता।

(बहुसमेत्यादि) बहुसत्वेन रमणीयो यः स तथा स्यात् (अवाहेत्ति) अबाधयान्तरेण। औप०। ईषत्प्राग् भारायाः पृथिव्या बहुमध्यदेशभागे अष्टयोजनिकमायाम-विष्कम्भाभ्यामष्टयोज-नप्रमाणं क्षेत्रं चाष्टौ योजनानि बाहुल्येन चोच्चत्वेनोच्चैस्त्वेनेति भावः प्रज्ञप्ता तदनन्तरं सर्वासुदिक्षु विदिक्षु च मात्रयास्तोकया २ प्रदेशप्रहाण्या परिहीयमाना सर्वेषु चरमान्तेषु मक्षिकापत्रतो-ऽप्यतितन्वी अङ्गुलासंख्येयभागं बाहुल्येन प्रज्ञप्ता स्थापना। प्रज्ञा०२ पद।

ईसीपब्भाराए, सायाए जोयणस्स लोगंतो।
बारसहिं जोयणेहिं, सिद्धीसव्वट्ठसिद्धातो॥

ईषत्प्राग्भारा सिद्धभूमिस्तस्या सीताया इति द्वितीयं नाम ऊर्ध्वं योजने इति कान्ते लोकान्तः सापि च ईषत्प्राग्भाराख्या सिद्धिः सर्वार्थसिद्धा द्वारविमानादूर्ध्वं द्वादशभिर्योजनैर्भवति। अन्ये तु व्याचक्षते सर्वार्थसिद्धाद्विमानाद् द्वादशभिर्योजनैर्लोका-न्तक्षेत्रलक्षणेपि तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति तस्मिन् लोकान्ते ईषत्प्राग्भारोपलक्षिते मनुष्यक्षेत्रपरिमाणे सिद्धाः प्रतिस्थिताः। उक्तञ्च 'अत्थीसीपब्भारोव-लक्खियं मणुयलोय परिमाणं। लोगग्ग-नभोभागो सिद्धक्खेत्तं जिणक्खाय, सम्प्रति परिधिप्रतिपादनेस्या एवोपायतः प्रमाणमभिधित्सुराह।

एगा जोयणकोडी, बायालीसं च सहस्साइं।
तीसं चेव सहस्सा, दो चेव सया अउव्वन्ना॥

इह ईषत्प्राग्भारो य आयामविष्कम्भाभ्यां पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षाणि प्रमाणम्। अंतो विक्खंभवग्गह, गुणकरणी वट्टस्स परिरओ होइ। इति परिधिगणितेन परिधिपरिमाणमेका योजनानां कोटी द्वाचत्वारिंशल्लक्षाणि त्रिंशत्सहस्राणि द्वे शते एकोनपञ्चाशदधिके १४२३०२४९ शेषं त्वधिकमल्पत्वान्न विवक्षितं प्रज्ञापनातो वाऽवसेयमिति।

सम्प्रति तस्या एव बाहुल्यं प्रतिपादयति।

बहु मज्झ देशभागे, अट्ठे व य जोयणाणि बाहुल्लं।
चरिमंते सुय तणुई, अंगुल संखेज्जई भागं॥

मध्यदेशभाग एव बहुमध्यदेशभागो बहुशब्दस्य स्तोक-परिहारार्थमात्रत्वात्। स च बहुमध्यदेशभाग आयामविष्कम्भा-भ्यामष्टयोजनप्रमाणस्तत्र बाहुल्यमुच्चैस्त्वमष्टैवायोजनानि ततो यथोक्तप्रमाणान् बहुमध्यदेशभागान् चरमेषु सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च योजनं गत्वा अङ्गुलपृथक्त्वं तथाङ्गुलप्रमाणं (परिहाइत्ति) परिहीयते एवमनेन प्रकारेण हानिभावे सति तस्यास्तावत्प्र-माणमहत्याः पृथिव्याः। अपि शब्दो भिन्नक्रमो मक्षिकापत्रादपि तनुतराः किमुक्तं भवति। घृतपूर्णतथाविधकरोटिकाकारेति भावस्थापना। आ०म०द्वि०।

अस्याः स्वरूपमौपपातिके यथा–

ईसीपब्भाराणं पुढवीसेया संखतलविमल सोल्लियमुणालदगरयतुसार गोक्खीरहारवण्णा उत्ताणयछत्तसंठाणसंठिया सव्वज्जुण सुवण्णमई अच्छासण्हालण्हा घट्ठामट्ठा णीयरा णिम्मला णिप्पंका णिक्कंकडच्छाया-समरीचियासुप्पभा पासादिया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा इसीपब्भारा। औप०।

सा च ईषत्प्राग्भारा पृथिवी श्वेता श्वेतत्वमेवोपमया प्रकटयति (संखदलविमलेत्यादि) शङ्खदलस्य शङ्खदलचूर्णस्यविमलो निर्मलः स्वस्तिकः शङ्खदलविमलस्वस्तिकः स च मृणालं चन्द्रकरजश्च तुषारं च हिमं च गोक्षीरं च हारश्च तेषामिव वर्णो यस्याः सा। तथा उत्तानकमुत्तानीकृतं यच्छत्रं तस्य यत्संस्थान येन संस्थिता उत्तानच्छत्रसंस्थानसंस्थितत्वं च प्रागुपदर्शितस्थापनातो भावनीयम्। (सव्वज्जुणसुवण्णमयी) सर्वात्मना श्वेतसुवर्णमयी। प्रज्ञा०२ पद। आ०म०द्वि०।

सव्वट्ठविमाणाउ, सव्वु परिसाउथुब्भिय।
बारसहिं जोयणेहिं, ईसिपब्भार पुढवीउ॥१६॥
निम्मलदगरयवन्ना, तुसार गोक्खीरहारसरिवंना।
उत्ताणगछत्त संठाणा, भणिया जिणवरिंदेहिं॥१७॥
ईसी पब्भाराए, सायाए जोयणम्मि लोगंते।
वारसहिं जोयणेहिं, सिद्धा सव्वट्ठसिद्धाओ॥१८॥
पणयालीसं आयाम, वित्थडा होइ सत्तसहस्साइं।
तं पि तिगुणं विसेसं, परिरओ होइ बोधव्वो॥१९॥
एगा जोयणकोडी, वायालीसं च सयसहस्साइं।
तीसं च सहस्साइं, दो य सया अउणवीसाउ॥२०॥
खेत्तसमयविधिना अ–ट्ठेवजोयणाइं बाहल्लं।
परिहाइयचरिमंते, मच्छियपत्ता तणुययरा॥२१॥
गंतूण जोयणं जोय, णंतु परिदाइ अंगुलपहत्तं।
संखतलसंनिगासा, पेरंता हों ति पत्तणूसा॥२२॥

अक्कण सुनगमया, नामेण सुदंसणा पभासा य।
संखतल संनिगासा, वत्तागारा य सा पुढवी ।२३। ती० द०प०।

उत्तराऽध्ययनेऽपि यत्संस्थाना यत्प्रमाणा यद्वर्णा च तदभिधानायाह।

बारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्ठस्सुवरिंभवे।
ईसीपब्भारनामा, पुढवी छत्तसंठिया॥

द्वादशभिर्योजनैः प्रकृत्यादित्वात्तृतीया सर्वार्थस्य सर्व्वार्थनाम्नो विमानस्योपर्यूर्ध्वं भवेत्तस्मादीषत्प्राग्भारेतिनाम यस्याः सा ईषत्प्राग्भारनामा। अनो बहुव्रीहेरिति निषेधान्नान्तत्वेपि डीप् न भवति। ईषदादिनामोपलक्षणं चैतदनेकनामयाभिधेयत्वात्तस्या उक्तंहि ''ईसीती वा ईसीपब्भारा वा तणुतणुत्तीति वा सिद्धीति वा सिद्धालएति वा सुत्तीइ वा सुत्तालएइ वा लोयगोइ वा लोयगाथूभइ वा लोयपडिबुज्झणाइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहाइ- वेत्यादि'' पृथिवी भूमिः छत्रमातपत्रं तत्संस्थितमिव संस्थितं संठानमस्या इति छत्रसंस्थिता। इह च विशेषानभिधानेपि उत्तानमेव छत्रं गृह्यते यत आह। भगवान् भद्रबाहुः। उत्ताणयछत्तय संठियाओ भणिया जिणवरेहिंति,–

पणयालीस सय सहस्सा, जोयणाणं तु आयया।
ताबइयं विच्छिन्ना, तिगुणा तस्सेव साहिय परिरया॥
अट्ठजोयण बाहल्ला, सामज्झम्मि आहिया।
परिहायमाणपरं, तामच्छीय पत्ताओ तणुयरी॥

पञ्चचत्वारिंशत्सहस्राणि योजनानां तु पूरणे आयतता दीर्घता (तावइयं चेवत्ति) तावतश्चैव प्रमाणत्सहस्राद्विस्तरतोपि च पञ्चचत्वारिंशच्छतसहस्रप्रमाणेति भावस्त्रिगुणाः (तस्सेवत्ति) प्राग्वत्। तस्मादुक्तरूपादयो याः परिधयः परिधिरिह च त्रिगुण इत्थभिधानेऽपि विशेषाधिकं द्रष्टव्यं ''सव्वंवट्टंति गुणं सवि-सेसमिति'' वचनादन्यथाहि पञ्चत्रिंशल्लक्षाधिकयोजन-कोटिरेवैतत् परिमाणं स्यात्तथा च सूत्रान्तरविरोधो यत्सूत्रोक्तं ''एगा जोयणकोडी बायालीसं भवे शय सहस्सा। तीसं चेव सहस्सा दो चेव सया अउणवन्नत्ति''। पठन्ति च ''तिओणसाहियपरिरयत्ति'' अष्टौ अष्टसंख्यानि योजनानि बाहुल्यं स्थौल्यमस्या इत्यष्ट-योजनत्वाद्बाहुल्या (से) तस्येषत्प्राग्भारा किं सर्वत्राप्येवमाह। आदिमध्ये मध्यप्रदेशा व्याख्याता किमित्येवमत आह। परिसमन्ताद्धीयमाना (परिहियमानी चरिमंतेत्ति) चरिमान्तेषु सकलदिग्भागवर्तिषु पर्यन्तप्रदेशेषु मक्षिकायाः पत्रं पक्षो मक्षिकापत्रमपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् तस्मादपि तनुतरी अतिपरिकृशेति यावत्। हानिश्चात्र विशेषानविधानेपि प्रतियोजनमण्डलपृथुत्वं द्रष्टव्या तथाचान्यत्रावाचि ''गंतूण जोयणं तु परिहोइ अंगुलपुहत्तति'' अत्र केचित्पठन्ति।

अज्जुण सुवण्णगमई, सा पुढवी निम्मला सभावेण।
उत्ताणगछत्तगसं–ठिया य भणिया जिणवरेहिं॥
संखककुंदसंकासा पंडरा निमला सुसुभा॥

तत्र च अर्जुनं शुक्लं तच्च तत्सुवर्णकं तेन निर्वृताऽर्जुनसुवर्ण कमयी सतीषत् प्राग्भारा (निम्मला) स्वच्छा। किमुपाधिवशत इत्याह। स्वभावेन स्वरूपेण उत्तानकमूर्ध्वमुखं यच्छत्रमेव छत्रकं तंत्संस्थिताच भणितोक्ता जिनवरैः प्राक् सामान्यतः छत्रसंस्थितेव भणितोक्ता जिनवरैः। प्रागित्युक्तामिह तत्तानत्वं तद्विशेष उच्यत इति न पौनरुक्त्यम्। संखाककुंदानि प्रतीतानि तत्संकाशा वर्णतस्तत्सदृशी अत एव (पंडुरत्ति) पाण्डुरा श्वेता निर्म्मला निष्कलङ्का शुभा अत्यन्तकल्याणवहा सुखावहा सुखहेतुत्वेन इति सार्द्धसूत्रयार्थः। उत्त०३६ अ०। ईषत्प्राग्भाराया अष्टौ नामधेयानि यथा।

इसिप्पभाराएणं पुढवीए अट्ठनामधेज्जा पण्णत्तां तं जहा ईसीह वा ईसिप्पभाराइ वा तणुइ वा तणुतणुइ वा सिद्धिइ वा सिद्धालएइ वा मुत्तीइ वा मुत्तालएइ वा स्था०८ ठा०।

प्रज्ञापनायां द्वादश नामधेयानि यथा–

ईसीपब्भाराएणं पुढवीए दुवालस नामधेज्जा पण्णत्ता तंजहा– ईसीति वा, ईसीपब्भाराइ वा, तणुत्ति वा, तणुतणुयरीति वा, सिद्धित्ति वा, सिद्धालएत्ति वा, मुत्तिइ वा, मुत्तालएइ वा, लोयग्गेति वा लोयग्गथुभियाति वा, लोयपडिबुज्झणाइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहाइ वा। प्रज्ञा०२ पद०।

ईसीइवत्ति–पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् (तणुत्तिवा) तन्वी वा शेषपृथिव्यपेक्षयाऽतितनुत्वात्। तनुभ्योऽपि जगत्प्रसिद्धेभ्यस्तन्वी मक्षिकापत्रतोऽपि पर्यन्तप्रदेशेऽतितनुत्वात्तनुतन्वी। सिद्धिरिति वा–सिद्धिक्षेत्रस्य प्रत्यासन्नत्वात्। सिद्धिक्षेत्रस्य प्रत्यासन्नतयोपचारात्सिद्धा नामालयः सिद्धालयः एवं मुक्तिरिति वा मुक्त्यालय इतिवेत्यपि परिभावनीयम्। तथा लोकाग्रे वर्त्त-मानत्वाल्लोकाग्रमिति लोकाग्रस्य स्तूपिकेव लोकाग्रस्तूपिका तथा लोकाग्रेण प्रत्यूह्यते इति लोकाग्रप्रतिवाहिनी (लोय-गपडिबुज्झत्ति) लोकाग्रमिति प्रतिबुध्यते अवसीयते या लोकाग्रं वा प्रतिबुध्यते यया सा तथेति (सव्वपाणेत्ति) प्राणा द्वि-त्रिचतुरिन्द्रिया इति भूतास्तरवो जीवाः पञ्चेन्द्रियाः शेषाः प्राणिनः सत्त्वा उक्तञ्च–''प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता भूताश्च तरवः स्मृताः। जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेया श्शेषा सत्त्वा उदीरिताः'' सर्वेषां प्राणभूतजीवसत्त्वानां सुखावहा उपद्रवकारित्वाभावात्सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावहाः। प्रज्ञा०२ पद॥ एतेषाञ्च पृथिव्यादितया तत्रोत्पन्नानां सा सुखावहा शीतादिदुःखहेतूनामभावादिति। औप०। ईषदिति वा नामरत्नप्रभाद्यपेक्षया ऱ्हस्वत्वात्तस्य एवं प्राग्भारस्य-ह्रस्वत्वात्तस्या ईषत्प्राग्भारेति वा अत एव तनुरिति वा तन्वीत्यर्थः। अतितनुत्वात्तनुतनुरिति वा। सिद्ध्यन्ति तस्यामिति सिद्धिरिति वा। सिद्धानामाश्रयत्वासिद्धालय इति वा। मुच्यन्ते सकलकर्मभिस्तस्यामिति मुक्तिरिति वा मुक्तानामाश्रय-त्वान्मुक्तालय इति वेति। स्था०८ ठा०। ईसीति वा ईषदल्पा पृथिव्यन्तरापेक्षया इति–शब्द उपदर्शने वा शब्दो विकल्पने। औप०।

ईसि(ईसिं)(ईसी) पुरेवाय–त्रि०(ईषत्पुरोवात) मनाक् सस्नेहवाते,– भ०५ श०१ उ०।

ईसि(ईसिं) (ईसी)मत्त–त्रि०(ईषन्मत्त) यौवनारम्भवर्तित्वान्म-नाग्मत्ते गजादौ, जं०३ वक्ष०। औप०।

ईसि(ईसिं)(इसी)रहस्स–त्रि०(ईषद्ध्रस्व) ईषत्स्पृष्टे-ह स्वे ''ईसिं रहस्स पंचक्खर उच्चारणद्धाए'' (ईसिंति) ईषत्स्पृष्टानि-

ह्स्वानि च यानि पञ्चाक्षराणि तेषां यदुच्चारण तस्य योऽद्धा कालस्तस्य तथेति। औप०।

ईसि(ईसिं)(ईसी)विच्छेयकडुआ–स्त्री०(ईषद्विच्छेदकटुका) ईषद् मनाक् व्यवच्छेदे सति तत ऊर्ध्वं कटुका एलादिद्रव्यसम्पर्कत उपलक्ष्यमाणत्यक्तवीर्य्येति। मनाव्यवच्छेदे सति उपलक्ष्यमाण-त्यक्तवीर्य्यायाम्मदिरायाम्। प्रज्ञा०१७ पद।

ईसिं(ईसि) (ईसी) सिलिंद(ध)पुप्फप्पगास–स्त्री० (ईषच्छिलीन्द्र(सिलीन्ध्र) पुष्पप्रकाश ईषन्मनाक् शिलीन्द्र-पुष्पप्रकाशानि शिलीन्द्रपुष्पसदृशवर्णानि–ईषच्छिलीन्द्र-पुप्पसदृशवर्णे, जी०३ प्रति। ईषच्श्वेते ''ईसिं सिलिंध-पुष्फप्पगासाइति मनाक् सिलीन्ध्रकुसुमप्रभानि ईषत्सितानि इत्यर्थः। सिलीन्ध्रं भूमिस्फोटकं छत्रकम्। औप०।

ईसित्त–न०(ईशित्व)अष्टसिद्ध्यन्तर्गते–सूत्र०२ श्रु०१ उ०।

ईहण न०(ईक्षण) ईक्ष भावे ल्युट् दर्शने, करणे ल्युट् २ नेत्रे, तत्र दर्शने, । वाच०।

ईहणिय–त्रि०(ईक्षणिक) ईक्षणं हस्तरेखादीक्षणेन शुभाशुभ दर्शनं शिल्पमस्य ठन् शुभाशुभफलकथनेनोपजीविनि सामुद्रिके, स्त्रियां टाप् मङ्गला देशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह। मनु। वाच०।

ईहा–स्त्री०(ईहा) ईह–अ–चेष्टायाम्, उद्यमे, वाञ्छायाञ्च। वाच०। वितर्के–सम०। ईह चेष्टायाम् ईहनमीहा (आभिनिबोधिकज्ञान) मीतज्ञानविशेषे, विशे०। आ०चू०। आ०म०प्र०। ओघ०। प्रव०। प्रज्ञा०। सा च सतामन्वयिनां व्यतिरेकिणां चार्थानां पर्य्यालोचना। विशे०। तथाच भाष्यम्। ''ईसासेसासव्वं'' शेषाभिधानानि त्वीहा विमर्षणमार्गणगवेषणा संज्ञालक्षणानि सर्वाण्यपि ईहान्तर्भावीनि द्रष्टव्यानीति। विशे०। प्रज्ञा०। वियालणंति वा मग्गणंति वा ईहणंति वा एगट्ठंति। आ०चू०१ अ०। अन्वयव्यतिरेकधर्मपर्य्यालोचनरूपा ईहेति विशे०। ईहा दीर्घपर्य्यालोचनमिति। नं०। ''तहवियारणेईहा'' तथेत्यानन्तर्य्ये विचारणं पर्यालोचनमर्थानामिति वर्तते। ईहनमीहा तां ब्रुवत इति योगः। आ०म०प्र०। नं०। ईहा स्थाणुरयं पुरुषो वेत्येवं सदर्थालोचनाभिमुखा मतिश्चेष्टेति ज्ञा०३ अ०। दश०। नं०। ''थाणुमनुसाणुगया, जह ईहादेवदत्तस्स'' ईहा सदर्थपर्य्या-लोचनात्मिका स्थाणु मनुष्याऽनुगता किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इत्येवंरूपा यथेहा देवदत्तस्यजीवतो धर्म इति। ग०२ अ०। पूर्वपरपर्य्यालोचनमीहेति दर्श०। ''ईहएवावि'' पूर्वापराविरोधनं पर्य्यालोचयति अपिशब्दः पर्य्यालोचने किंचित्स्वबुद्ध्या-प्युत्प्रेक्ष्यत इति सूचनार्थः नं०। आ०म०प्र०। सदर्थाभिमुखो वितर्क इति०। ज्ञा०१ अ०। शुद्धवस्त्वन्वेषणरूपा चेष्टा ईहेत्युच्यत इति। ओघ०। अवगृहीतविषयाकाङ्क्षणमीहेति। सम्म०। तदर्थगत-सद्भूतविशेषालोचनमीहेति। राज०। ईहा किमिदमित्यभुता-न्यथेत्येवं सहार्थालोचनाभिमुखा मतिचेष्टा इति। औप०। ''ईहायाः स्वरूपं यथा। ईह चेष्टायामीहनमीहा सद्भूतार्थपर्यालोचनरूपा चेष्टा इत्यर्थः किमुक्तं भवति। अवग्रहादुत्तरकालमवायात्पूर्वं सद्भूतार्थ-विशेषेपादानाभिमुखा असद्भूतार्थविशेषपरित्यागाभिमुखाः प्रायोऽत्र मधुरत्वादयः शङ्खादिशब्दधर्मा दृश्यन्ते न कर्क-शनिष्ठुरतादयः शार्ङ्गादि शब्दधर्मा इत्येवंरूपो मतिविशेष ईहा। आहच भाष्यकृत् ''भूयाभूयविशेषा दाणच्चायाभिमुहमीहा'' प्रज्ञा०१५ पद। नं०। आ०म०प्र०। अवगृहीतार्थविशेषाकाङ्क्षणमीहेति अवगृहीतोऽवग्रहेण विषयीकृतो योऽर्थोऽवान्तर मनुष्यत्वा-दिजातिविशेषलक्षणस्तस्य विशेषः। कर्णाटलाटादिभेद-स्तस्याकाङ्क्षणं भवितव्यता प्रत्ययरूपतया ग्रहणाभिमुख्य-मीहेत्यभिधीयते। रत्ना०१ परि०।

तथाच–ईहां व्याचिख्यासुराह।

इथ समाण्णग्गहणा, णंतरमीहा सदत्थमीमंसा।
किमिदं सद्दो सद्दो, को होज्जव संखसंगाणं॥

इति शब्द उपदर्शने इत्येवं प्रागुक्तेन प्रकारेण नैश्चयिकार्थावग्रहे यत्सामान्यग्रहणं रूपाद्यव्यावृत्त्या व्यक्तवस्तुमात्रग्रहणमुक्तं तथा व्यवहारार्थावग्रहेपि यदुत्तरविशेषापेक्षया शब्दादिसामान्यस्य ग्रहणमभिहितं तस्मादनन्तरम्मीहा प्रवर्तते कथंभूतेयमित्याह सतस्तत्र विद्यमानस्य गृहीतार्थस्य विशेषविमर्शद्वारेण मीमांसा विचारणा केनोल्लेखेनेत्याह। किमिदं वस्तु मया गृहीतं शब्दोऽशब्दो वा रूपरसस्पर्शरूपः इदं च निश्चयार्थावग्रहानन्तरभाविन्या ईहायाः स्वरूपमुक्तम्। अथ व्यवहारार्थावग्रहानन्तरभाविन्याः स्वरूपमाह। (को होज्जवेत्यादि) वा इत्यथवा व्यवहारावग्रहेण शब्दे गृहीते इत्थमीहा प्रवर्तते शाङ्गशार्ङ्गित्योर्मध्ये। कोऽयं भवेच्छब्दः शाङ्गः शार्ङ्गो वेति। ननु किं शब्दोऽशब्दोवेत्यादि किं संशय ज्ञानमेव कथमीहा भवितुम-र्हति सत्यं किन्तु दिग्मात्रमेवेदमिह दर्शितं परमार्थतस्तु व्यतिरेकधर्मानिरा-करणपरोऽन्वयधर्मघटनप्रवृत्तश्चापायाभिमुख एव बोध ईहा दृष्टव्या। तद्यथा 'अरण्यमतत्सवितास्तमागतो, न चाऽधुना संभवतीह मानवः। प्रायस्तदेतन्नखगादिभाजा, भाव्यं रतिप्रियतमारिसमाननाम्नेति' एतच्च प्रागुक्तमपि मन्दमति-स्मरणार्थं पुनरप्युक्तमिति गाथार्थः। विशे०। प्रव०।

ईहा पञ्चविधा यथा–

कति विहाणं भंते ! ईहा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता तंजहा सोइंदियईहा जाव फासिंदियईहा एवं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया॥

प्रज्ञा०१५ पद। ईहापि मनः सहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात् षोढैव– प्रव०२१ द्वा०। तथाचाह॥

से किं तं ईहा ईहा छव्विहा पण्णत्ता तंजहा सोइंदिय ईहा चक्खिंदियईहा घाणिंदियईहा जिब्भिंदियईहा फासिंदियईहा नो इंदियईहा तीसेणं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति तंजहा आभोगणया मग्गणया गवेसणया चिंता वीमंसा सेत्तं ईहा।

अथ केयमीहा। ईहा षड्विधा प्रज्ञप्ता तद्यथा। श्रोत्रेन्द्रियेहा इत्यादि। तत्र श्रोत्रेन्द्रियेणेहा श्रोत्रेन्द्रियेहा। श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रहमधिकृत्य या प्रवृत्ता ईहा सा श्रोत्रेन्द्रियेहा इत्यर्थः। एवं शेषा अपि भावनीयाः (तीसेणमित्यादि) सुगमं नवरं सामान्यत एकार्थिकानि विशेषचिन्तायां पुनर्भिन्नार्थानि तत्र (आभोगण-यत्ति) आभोग्यतेऽनेनेति आभोगनम् अर्थावग्रहसमयमनन्तमेव सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमालोचनं तस्य भाव आभोगनता। तथा मार्ग्यते अनेनेति मार्गणं सद्भूतार्थविशेषा-भिमुखमेव तदूर्ध्वमन्वयव्यतिरेकधर्मान्वेषणं तद्भावो-

मार्गणता तथा गवेष्यते ऽनेनेति गवेषणं तत ऊर्ध्वं सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव व्यतिरेक-धर्मपरित्यागतोन्वयधर्माध्या-सालोचनं तद्भावो गवेषणता। ततो मुहुर्मुहुः क्षयोपशमविशेषतः स्वधर्मानुगतसद्भूतार्थविशेषचिन्तनं चिन्ता तत ऊर्ध्वं क्षयोपशमविशेषात्स्पष्टतरं सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव व्यतिरेक-धर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्म्मापरित्यागतो ऽन्वयधर्म्मविमर्शनं विमर्शः। सेत्तमीहेति निगमनम्। नं०टी०। अत्र केचिदीहां संशयमात्रं मन्वन्तेतदयुक्तम्। संशयो हि नामाज्ञानमिति ज्ञानांशरूपा चेहा ततस्सा कथमज्ञानरूपा भवितुमर्हतीति नं०। उक्तंच। ईहा संसयमेत्तं केइ मत्तयं जओ तम-न्नाणं। मइनाणं सो नेहा कहमन्नाणतई जुत्तं''। आ०म०। नन्वीहापि किमयं शाङ्गः किंवा शार्ङ्ग इति एवंरूपतया प्रवर्तते संशयोपि चैवमेव ततः कोऽतयोः प्रतिविशेषः। उच्यते इह यद् ज्ञानं शाङ्ग शार्ङ्गादिविशेषाननेकालम्बनेन चासद्भूतं विशेषमपासितुं शक्नोति किन्तु सर्वात्मना संशयानमिव वर्तते कुण्ठीभूतं तिष्ठतीत्यर्थः। सदसद्भूतविशेषापर्युदासपरिकुण्ठितं संशयज्ञान-मुच्यते, यत्पुनः सद्भूतार्थविशेषविषये हेतूपपत्तिव्यापारपरतया सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखमसद् भूतविशेषत्यागाभिमुखंच तदीहा। आहच भाष्यकृत् ''जमणेगत्थालंबण-मपज्जुदास-परिकुंठियं चित्तं। सइइव सव्वप्पणओ, तं संसयरूवमन्नाणं॥१॥ जं पुण सयत्थहेऊ, वयंति वावारतप्परममोहं। भूयाभूयविसेसो, पादाणाभिमुहमीहा'' नं०। बुद्धिभेदे, –अवग्रहे बुद्धिः अपावधारणे मतिरिति–नं०। बुद्धिगुणभेदे, पंचा०७ विव०। मतिसम्पद्भेदे, स्था०८ ठा०। सा च तदर्थ विशेषालोचनमिति–दशा०४ अ०। अवगृहीतस्यार्थस्यास-द्भूतविशेषपरित्यागेन सद्भूतविशेषादानाभिमुखो बोधविशेष ईहेति–व्य०द्वि०१० उ०॥

ईहामई–स्त्री०(ईहामति) ईहैव मतिः। तदर्थविशेषालोचनरूपे मतिभेदे,–भेयग्गहणमिहेहो' स्था०५ ठा० तस्याश्च षड्विधत्वं। तथा–''छव्विहा ईहामई पण्णत्ता तंजहा खिप्पमीहईवञ्जुमीहइ जाव आसिंदिद्धमीहइ'' स्था०६ ठा०। (टीका अवग्गहमइ शब्दे)

ईहामिय–पुं०(ईहामृग) ईहां मृगयते अण् ईहाप्रधानो मृगः। पशुभेदे वृके,–औप०। राज०। ज्ञा०। आ०म०प्र०। जी०। कल्प०। इहामृगा वृका वरगडा जीवा इति लोके। कल्प०। इहामिय उसभ तुरग मकर विहग वालग किंनर रूरू सरभकुंजर वणलय पउमलय भत्तिचित्तं तत्र ईहामृगा वृका–भ०११ श०११ उ०। कल्प०। दिव्ये नाट्य-विधिविशेषे, तथाच राज प्रश्नीये सूर्याभस्याज्ञया श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके समागतैर्देवकुमारैर्देवकुमारीभिश्च दर्शितं द्वात्रिंशद्भेदं नाट्यविधिमुपक्रम्योक्तम्–तत्तेणं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीय ता य समणस्स भगवओ महावीरस्स ईहामिय उसभ तुरगणरमगर विहग वालग किण्णर रुरु सरभ चर कुंजर वणलय पउमलय भत्तिचित्तं णाम दिव्वं णट्टविहं उवदंसेइ -ईहया समिया ईहासाध्यो मृगः। कृत्रिममृगे, अलंकारशास्त्रलक्षिते नाटकभेदे, राज०।

ईहिय–त्रि०(ईक्षित) ज्ञाते ''जस्सिमाओ सव्वओ सुप्पडिलेहि आओ भवन्ति सुष्ठु शङ्कादिव्युदासेन प्रत्युपेक्षिताः प्रति उप सामीप्येन ईक्षिता ज्ञाता भवन्तीति। आचा०।

ईहित–त्रि० ईह क्त चेष्टिते, निष्पादिते,। ''सद्धीमा गंतुमीहियं'' श्रद्धावतान्येन भक्तिमताऽपरानागन्तुकानुद्दिश्येहितं चेष्टितं निष्पादितमिति–सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ०। ''नज्जई नाणीहियं, नचानीहितमविचारितं ज्ञायतेऽपायविषयं तायातीति॥ विशे०॥

इति श्री–वृहत्सौधर्मतपागच्छीय– कलिकालसर्वज्ञ
श्रीमद्भट्टारक–जैन श्वेताम्बराचार्य श्री १००८
श्रीविजयराजेन्द्रसूरि–विरचिते अभि-
धानराजेन्द्रे इकारेकारादि शब्द
सङ्कलनं समाप्तम्।

अभिधानराजेन्द्रः ।

(उकार)

उ–अव्य०(उ) उ–क्विप् न तुक् सम्बोधने, कोपवचने, अनुकम्पायाम्, नियोगे, अङ्गीकारे, प्रश्ने च। हेमचन्द्रः। अवधारणे, आ०म०द्वि० चकारार्थे, न०। अन्तिके, विशे० भृशार्थे, (भ्रश शब्दस्यार्थे) आ०म०द्वि० (उपयोगकरणे) ''उत्ति उवओगकरणी उ इत्येतदक्षरमुपयोगकरणे, ''उ त्ति य उस्सक्कणाकम्मे'' उ इति अष्वष्कणाकर्मणि वर्तते। आ०म०द्वि० अतति सातत्येन तिष्ठति अत–डु–शिवे, वाच० ब्रह्माणि, गा० तोये, तोयधौ, धरणिधरे, अवसाने, वितर्के, वञ्चनायाम्, व्यसने, अव्य० हरमौलौ, श्रुचौ, हरौ, तपसि, द्रुमाङ्गे, चन्द्राभायां, गिरौ, भूमौ विलोकने, एका०। उपाध्याये, तस्या ऽऽद्याक्षरेण ग्रहणात्। गा० उ शब्दात् स्वरूपार्थे कारः उकारः पञ्चमस्वरे, स च उदात्तानुदात्तस्वरितभेदात् प्रथमं त्रिधा। पुनः अनुनासिकाननुनासिकभेदेन प्रत्येकं द्विधेति षड्-विधः। कारतकारानुत्तरस्तु-ह्रस्वंदीर्घप्लुतभेदेन प्रत्येकं त्रिविधोऽपिप्रत्येकं प्रागुक्तभेदषट्कात् अष्टादशविधः। चन्द्रमण्डले च। तत्र मकारान्तस्यैव तन्नामतेति बहवः। उ इत्येतदक्षरस्य निपातत्वात् प्रगृह्यसंज्ञेति। अच्परत्वेन सन्धिः उ उमेशः। सच चादिगणीयः। वाच०।

उअत्तत–त्रि०(उद्वर्तमान) उद्धृत्य वर्तमाने, उअत्तंतम्मि बहो पाणाणं तेण पुव्व उसित्तं। उअत्तंतम्मि इति प्राकृतत्वात्पुंस्त्वनिर्देशः। वृ०१ उ०।

उअविय–त्रि०(उद्वपित) उच्छिष्टे, ''इहरा भेणिसिभत्तं उअविअं चेव गुरुमादी'' वृ०१ उ०।

उइ(दि)ओइ(दि)अ–त्रि०(उदितोदित) उदितश्चासावुन्न-तकुलबल-समृद्धिनिरवद्यकर्मनिरत्युदयवान्। उदितश्च परमसुखसंदोहोदयेनेत्युदितोदितः। सर्वथोदयवति पुरुषे, यथा भरतः। उदितोदितत्वं चास्य सुप्रसिद्धम्। स्था०४ ठा०। पुरिमता लाऽधिपतौ राजभेदे, उदितोदितस्य राज्ञः श्रीकान्तपतेः पुरिमतालपुरे राज्यमनुशासतः श्रीकन्तपतेर्निमित्तं वाणारसी वास्तव्येन धर्मरुचिना राज्ञा सर्वबलेन समागतम्। नं०। आ०चू०।

उइ(दि)ण्ण–त्रि०(उदीर्ण) उदयप्राप्ते, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। प्रश्न०। उत्त०। प्रज्ञा०। उदिते, स्था०५ ठा०। उत्त०। भ०। विपाकोदयमागते, । प्रज्ञा०१९ पद। आचा०। उदीरणाकरणेनोदिते, भ०१ श०७ उ०। उत्कटे, स्था०५ ठा०।

***उदीच्य**–त्रि० उत्तरे, उत्तरदिग्भवे, आ०म०द्वि०।

उइ(दि)ण्णकम्म–त्रि०(उदीर्णकर्मन्) उदीर्णमुदयप्राप्तं कटुविपाकं कर्म येषां ते तथा। मिथ्यात्वहास्यरत्यादीनामुदये वर्तमानेषु, ''उदीण्णकम्माण उदिण्णकम्मा पुणो पुणो ते सरहं दुहेति'' सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०।

उद[दि]ण्ण बलवाहण–पुं०स्त्री०(उदीर्णबलवाहन) उदी-र्णमुदयप्राप्तं बलं येषां तानि उदीर्णबलानि। उदीर्णबलानि वाहनानि यस्य स उदीर्णबलवाहनः। उदयप्राप्तबलयुग्वाहने, बलं चतुरङ्गं गजाश्वरथ-सुभटरूपं वाहनं शिविकावेसरप्रमुखम्, बलं च वाहनं च बलवाहने, उदीर्णे उदयप्राप्ते बलवाहने यस्य स उदीर्णबलवाहनः। उत्त०१८ अ०। उदीर्णमुदयप्राप्तं बलं चतुरङ्गं वाहनं च गिल्लिथिल्ल्यादिरूपं यस्य सोथमुदीर्णबलवाहनः। बलं शारीरं सामर्थ्यं वाहनं गजाश्वादि, पदात्युपलक्षणं चैतत्। उदय-प्राप्तबलवाहनविशिष्टे, ''कंपिल्लेणयरे राया उदिण्णबलवाहणे णामेव संजओ णाममिगवउवणिग्गए'' उत्त०१ अ०।

उइ[दि]ण्णमोह–त्रि०(उदीर्णमोह) ६ ब०। उत्कट (वेद) मोहनीये ''अणुत्तरोववाइयाणं भंते ! देवा कि उदिण्णमोहा उवसंतमोह खीणमोहा'' भ०५ श०४ उ०।

उद[दि]ण्णवेय–त्रि०(उदीर्णवेद) उदीर्णो विपाकापन्नो वेदो यस्य स तथा ॥ वेदानां विपाकमप्राप्ते, उदीर्णवेदो हि पुमान् स्त्रियं कामयते, साऽपीतरं, नपुंसकस्तूभयमिति ॥ आचा०१ श्रु०१ अ०। ०।

उद[दि] य–त्रि०(उदित) वद–क्त० संप्र० गदिते, निष्पन्नस्यैवं खलु जिनबिम्बस्योदिता प्रतिष्ठा –। षो०। उद्गते, ज्ञा०१ अ० ''उग्गयति वा उइउत्ति वा एगट्ठमिति। नि०चू०१० उ०।

उइ[दि]यत्थमिय–त्रि०(उदितास्तमित) उदितश्चासौ तथैव अस्तमितश्च भास्कर इव सर्वसमृद्धिभ्रष्टत्वाद्दुर्गतिगतत्वाच्चेति उदितास्तमितः। पूर्वमुदिते पश्चादस्तमिते, यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्ती। स हि पूर्वमुदित उन्नतकुलोत्पन्नत्वादिना स्वभुजोपार्जित-साम्राज्यत्वेन च पश्चादस्तमितः। अतथाविधकारणकुपित-ब्राह्मणप्रयुक्त पशु पालधनुर्गोलिकाप्रक्षेपणोपायप्रस्फोटिताक्षि-गोलकतया मरणानन्तराप्रतिष्ठानमहानरकवेदनाप्राप्ततया वेति, स्था०४ ठा०।

उई(दी)ण–त्रि०(उदीचीन) उत्तरे, स्था०५ ठा०।

उई(दी)णा–स्त्री०(उदीचीना) उत्तरस्यां दिशि, ''दो दिसाउ कप्पइ पाईणं चेव उदीणं चेव'' स्था०२ ठा०। उई (दी) णदाहिण विच्छिण्णे अद्धचंदसंठाणसंठिए उदग्दक्षिणविस्तीर्णोर्द्धचन्द्रसंस्थान-संस्थितः। राज०।

उई(दी)णपाईण–स्त्री०(उदीचीनप्राचीन) उदगेव उदीचीनं प्रागेव च प्राचीनमुदीचीनं च तदुदीच्या आसन्नत्वात् प्राचीनं च तत्प्राच्याः प्रत्यासन्नत्वादुदीचीनप्राचीनं दिगन्तरम्। क्षेत्रदिगपेक्षया पूर्वोत्तरदिशि, (जम्बूदीवे णं दीवे सूरिया उदीणपाईणमुग्गच्छइ) भ०५ श०१ उ०।

उई(दी)णवाय–पुं०(उदीचीनवात) उदीचीन उत्तरः वातः उदीचीनवातः। उदीच्या दिशः समागच्छति वादरवायुकादिकभेदे, प्रज्ञा०१ पद०। स्था०।

उई(दी)त्ता–अव्य०(उदीरयित्वा) उत्प्राबल्येन ईरयित्वा कथयित्वेत्यर्थे, ''अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता''। सूत्र०१ श्रु०६ अ०।

उई(दी)रण–न०(उदीरण) उद–ईर–ल्युट् उच्चारणे –वाच०।

अनुदयप्राप्तस्य (दलिकस्य) करणेनकृष्योदये प्रक्षेपणे, स्था०४ ठा०।

उई(दी)रणा–स्त्री०(उदीरणा) अनुदयप्राप्तं कर्म दलिकमुदीर्यत उदयावलिकायां प्रवेश्यते यथा सा उदीरणा। उदयावलिकातो बहिर्वर्तनीनां स्थितीनां दलिकं कषायैः सहितेन वा योगसंज्ञितेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदये प्रवेशनरूपे करणभेदे, पं०सं०। तेषामेव कर्मपुद्गलानामकालप्राप्तानां जीवसामर्थ्यं विशेषादुद्वलिकायां प्रदेशनमुदीरणा तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्धसंक्रमाभ्यां लब्ध्वाऽत्मलाभानां निर्जरणसंक्रमणकृत्प्राप्तस्वरूपप्रच्युत्यभावे सद्भावः सत्ता। कर्म०। आन्तरशक्तिविशेषे, । द्वा०। ''जीवाणं दोहिं ठाणेहिं पावकम्मं उदीरेई तंजहा। अज्झोवगमिया चेव वेयणाए उवक्कमियाए चेव वेदणाए एवं वेदेति एवं णिज्जरेंति अज्झो० वे० उव० वेय०'' (व्याख्या स्व स्व शब्दे) स्था०२ ठा०। सूत्र०। अस्या निश्शेषा वक्तव्यता यथा तत्र चैते अर्थाधिकारास्तद्यथा लक्षणं, भेदः, साद्यनादि प्ररूपणा, स्वामित्वम्, उदीरणा, प्रकृतिस्थानानि तत्स्वामित्वं चेति॥

तत्र पुरतो लक्षणभेदयोः प्ररूपणार्थमाह।

जं करणे णो कड्ढिय, उदए दिज्जए उदीरणा एसा।
पगइट्ठिइ अणुभाग–प्पएसमूलुत्तरविभागा॥२२५॥

अत्र पूर्वार्द्धेन लक्षणं ततस्तत्प्ररूपणार्थमाह। यत्र यत्परमाण्वात्मकं दलिकं करणेन योगसंज्ञिकेन वीर्यविशेषेण कषाय सहितेन असहितेन वा उदयावलिका बहिर्वर्तिनीभ्यः स्थिति भ्योऽप्याकृत्य उदये दीयते उदयावलिकायां प्रक्षिप्यते एषा उदीरणा च वक्तव्या ''उदयावलिया बाहिरल्लट्ठिईहिंतो कसायसहिएण वा जोगसन्नेणं करणेणं दलियमाकड्ढिय उदयावलियाए पवेसयाणं'' उदीरणत्ति सा च किंभूतेत्यत आह। प्रकृतिस्थित्यनुभाग-प्रदेशमूलोत्ता विभागा। प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशैर्मूल-प्रकृतिभिरुत्तरप्रकृतिभिश्च कृत्वा विभागो भेदो यस्याः सा तथा। इदमुक्तं भवति। सा उदीरणा चतुर्विधा तद्यथा प्रकृत्युदीरणा स्थित्युदीरणा अनुभागोदीरणा प्रदेशोदीरणा च। एकैकापि द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च। तत्र मूलप्रकृतिविषया अष्टधा उत्तरप्रकृतिविषया चाष्टपञ्चाशदधिकशतभेदा तदेवमुक्तौ लक्षणभेदौ। सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणा कर्तव्याः। सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च॥

तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयामाह॥

मूलप्पगईसु पंचण्हं, तिहा दोण्हं चउव्विहा होइ॥
आउस्स साइ अधुना, दसुत्तरसयउत्तरासिं पि॥२२६॥

मूलप्रकृतिषु मध्ये पञ्चानां, मूलप्रकृतीनां ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तरायाणां यावन्मोहगुणस्थानं यस्य समया-वलिकाशेषो न भवति तावत्सर्वजीवानामुदीरणाऽवश्यं भाविनी नामगोत्रयोस्तु यावत्सयोगिचरमसमयस्तावत्। ततः एषामनादिरुदीरणा ध्रुवा अभव्यानां अध्रुवा, भव्यानां तु धर्यार्वेदनीयमोहनीययोरुदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाऽध्रुवा च। तत्र वेदनीयस्य प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् उदीरणा न परतः। मोहनीयस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत् न परतः। ततो-ऽप्रमत्तादिगुणस्थानकेभ्यः प्रतिपतितो वेदनीयस्य उपशान्त-मोहगुणस्थानकभ्येः श्च प्रतिपतितमोहनीयस्योदीरणा सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः। ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। आयुषः पुनरुदीरणो सादिरध्रुवा च। तथा ह्यायुषः पर्यन्तावलिकायां नियमादुदीरणान भवन्ति। ततो ऽध्रुवा पुनरपि परभवोत्प-त्तिप्रथमसमये प्रवर्तते ततः सादिरिति तदेवं मूलप्रकृतिषु साद्यनादिप्ररूपणा। सप्रत्युत्तरप्रकृतिषु तांचिकीर्षुराह (दसुत्तरेत्यादि) सादिरध्रुवा चेत्यनुवर्त्यते। उत्तरासामपि उत्तरप्रकृतीनामपि। दशोत्तरशतसंख्यानां पञ्चविधज्ञानावरण दर्शनावरणचतुष्टयमिथ्यात्वतैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरा-स्थिरशुभाशुभगुरुघुनिर्माणान्तराय। पञ्चकरूपाष्टाचत्वारिंशद्ध-र्जानां सर्वशेषप्रकृतीनां मित्यर्थः। उदीरणा द्विधा तद्यथा। सादिरध्रुवा चासाच साद्यध्रुवता अध्रुवोदयत्वादेव सिद्धा।

मिच्छत्तस्स चउद्धा, तिहा य आवरण विग्घ चउद्धसगे।
थिरसुभ शेयर उवग्घा, यवज्झधुव बंधिनामेय॥२२७॥

मिथात्वस्योदीरणा चतुर्धा। तद्यथा सादिरनादिः ध्रुवा अध्रुवा च तत्र सम्यक्त्वं गतस्य पुनरनादिर्भवति। ततो ऽसौ सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य त्वनादिः। अभव्यानां ध्रुवा, भव्यानामध्रुवा। तथा ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनामुदीरणा त्रिःप्रकारा। तद्यथा अनादि ध्रुवा अध्रुवा च। तथा ह्येतासां प्रकृतीनां ध्रुवोदयत्वेनानादिरुदीरणा। अभव्यानां ध्रुवा। भव्यानां तु क्षीणमोहगुणस्थानके आवलिकाशेषे व्यव-च्छेदे भवा ध्रुवा। तथा स्थिरशुभे सेतरे। अस्थिराशुभसहितयो-स्तयोरुपघातं वर्जयित्वा शेषाणामध्रुवबन्धिनीनां च तैजससप्तकागुरुलघुवर्णादिविंशति-निर्माणलक्षणानां सर्वसंख्यया त्रयस्त्रिंशत्संख्यानामुदीरणा त्रिधा। तद्यथा अनादिध्रुवा अध्रुवा च। तत्रानादित्वं ध्रुवोदयत्वात् ध्रुवा अभव्यानाम्। अध्रुवा भव्यानां सयोगिकेवलचरमसमये व्यवच्छेदाभावात्। शेषाणां चाध्रुवोदयानां दशोत्तरशतसख्यानामध्रुवोदयत्वात् उदीरणा सादिरध्रुवा च प्रागेवोक्ता। तदेवं कृता साद्यनादिप्ररूपणा।

सम्प्रति मूलप्रकृत्युदीरणास्वामिनमाह।

घाईणं छउमत्था, उदीरगा रागिणो य मोहस्स।
तइया उणप्पमत्ता, जोगंता उ त्ति दोण्हं च॥२२८॥

घातिप्रकृतीनां ज्ञानावरणीयान्तरायदर्शनावरणीयान्तराय-रूपाणां सर्वेपि छद्मस्था क्षीणमोहपर्यवसाना उदीरकाः मोहनीयस्य तु रागिणः सरागास्सूक्ष्मसंपरायपर्यवसाना उदीरकाः तृतीयवेदनीयस्य आयुषश्च प्रमत्ताः प्रमत्तगुणस्थानकपर्यन्ताः सर्वेप्युदीर-काः। केवलमायुषः पर्यन्तावलिकायां नोदीरका भवन्ति। तथा द्वयोरप्यनामगोत्रयोर्योग्यता सयोगिकेवलपर्यवसानाः सर्वे-प्युदीरकाः। इतिशब्दो भिन्नक्रमो गाथापर्यन्ते योजनीयः। स च मूलप्रकृत्युदीरणापरिसमाप्तिद्योतको वेदितव्यस्तदेवं मूल-प्रकृत्युदीरणास्वाम्युक्तः।

साम्प्रतमुत्तरप्रकृत्युदीरणास्वामिनमाह।

विग्घा वरण धुवाणं, छउमत्थो जोगिणो उ धुवा।
उवघायस्स तणुत्था, तणुकिट्टीणं तणुयरागा॥२२९॥

विघ्न इति अन्तरायं ततोऽन्तरायपञ्चकं ज्ञानावरणपञ्च-कदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशानां ध्रुवोदयप्रकृतीनां सार्थच्छद्मस्था उदीरकाः। तथा (धुवाणंति) नाम ध्रुवोदयानां

त्रयस्त्रिंशत्संख्यानां तैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरशुभाशुभ-गुरुलघुनिर्माणरूपाणां योगिनः सयोगिकेवलिपर्यन्ता उदीरकाः। उपघातिनाम्नस्तु तनुस्थाः शरीरस्थाः शरीरपर्याप्त्यपर्याप्त्युदीरकाः तनुकिट्टीकृतां सूक्ष्मकिट्टीकृताम् अर्थात् लोभसत्कानां तनुकरागाः सूक्ष्मसंपराया यावच्चरमसमयावलिका न भवति तावदुदीरकाः।

तसबायरपज्जत्ते, सेयरगइजाइ दिट्ठिवेयाणं।
आऊणं तन्नामा पत्तेयसरीरस्स उ तणुत्था ॥२३०॥

त्रसवादरपर्याप्तानां सेतराणां संप्रति ज्ञापना स्थावरसूक्ष्मपर्याप्त-सहितानामित्यर्थः। तथा चतसृणां गतीनां, पञ्चानां च जातीनां, तिसृणां दृष्टीनां दर्शनानां मिथ्यादर्शनादीनां, त्रयाणां वेदानां नपुंसकवेदादीनां, चतुर्णां चायुषां सर्वसंख्यया पञ्च-विंशतिप्रकृतीनां यथास्वं तन्नामास्तन्नामप्रकृतिनामान उदी-रणास्तद्यथा त्रसनाम्नस्त्रसास्ते च शरीरे अपान्तराले गतौ च वर्तमाना उदीरकाः। एवं सर्वेषामपि भावनीयम् तथा प्रत्येकनामानः शरीरस्य तनुस्था देहस्थाः तुरेवार्थे देह स्था एव भवन्तीति गाथार्थः ॥२३०॥

आहरयओ णिच्चा, सरीर दुगवेयप्पामोत्तूणं।
ओरालाए एवं, तदुवंगाए तसज्जियाओ व्व ॥२३१॥

ये नरा मनुष्यास्तिर्यञ्च आहारका ओजोलोमप्रक्षेपाहारकारणा-मन्यतममाहारं गृह्णन्ति तत औदारिक उपलक्षणमेतत् औदा-रिकबन्धनचतुष्टयस्यौदारिकसंघातस्य। औदारिकाः किं सर्वेपि नित्याः शरीरद्विकवेदकान् प्रमुच्य शरीरद्विकं आहार-कवैक्रियलक्षणानां तत्स्थानात्परित्यज्यन्ते हीनौदारिकसङ्घातस्य औदरिकाः किं सर्वेपि नेत्याह। शरीरद्विकवेदकान् प्रमुच्य शरीरद्विकमाहारकवैक्रियलक्षणं तत्स्थावरा एवमुक्तेन प्रकारेण (तदुवगाएत्ति) तदङ्गोपाङ्गनाम्नः औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्न उदीरका वेदितव्याः। केवलं ते त्रसकायिका एव न स्थावरास्तेषां तदुदयाभावात्।

वेउव्विगाय सुरने–रइया आहारगा नरो तिरिओ।
सन्नी बायरपवणो, लद्धिपज्जत्तगो होज्जा ॥२३२॥

वैक्रियशरीरनाम्नः उपलक्षणमेतत् वैक्रियसंघातस्य सुरा नैरयिका वा गृह्णन्तो यश्च नरस्तिर्यङ् वा सञ्ज्ञी वैक्रियलब्धिवान् यश्च वादरपवनो दुर्भगनामोदयी लब्धिपर्याप्तको वैक्रियशरीर-लक्षणलब्ध्या पर्याप्तस्ते सर्वेप्युदीरकाः।

वेउव्वियंग उवंगतणु –तुल्ला पवणबायरं हिच्चा।
आहरगा य विरओ, विउव्वंतो पमत्तेय ॥२३३॥

वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्न उदीरकास्तनुतुल्या वैक्रियशरीरनाम्न उदीरकाः प्रागुपदिष्टास्त एव वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽपि वेदितव्या इत्यर्थः। किं सर्वेऽपि नेत्याह। बादरापवनं बादरवायुकायिकं हित्वा परित्यज्य शेषा द्रष्टव्याः। आहारक शरीरनाम्नोपि विरतसंयतस्तत् आहारकशरीरं कुर्वन् प्रमत्तः प्रमादमुपगतस्सन् उदीरको भवति।

छण्णं ठाणं संघय–णाणं सगला तिरिय नरा।
देहत्था पज्जत्ता, उत्तमसंघयणाणो सेढी ॥२३४॥

सकलाः पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च देहस्थाः शरीरनामो दये वर्तमाना लब्ध्या पर्याप्ताः षण्णां संहननानामुदीरका भवन्ति। इहोदयप्राप्तानामेवोदीरणा प्रवर्तते नान्येषां ततो यत्स्थानं यत्संस्थानं संहननं वा उदयप्राप्तं वा भवति तत्तदा उदीयते। नान्यदा चेति द्रष्टव्यम्। तथा उत्तमसंहननो वज्रर्षभनाराचसंहननः श्रेणीः क्षपकश्रेणीर्भवति न शेषसंहननः। तेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्ना वज्रर्षभनाराचसंहननमेवो-दीरयन्ति न शेषसंहननानि उदया-भावादित्यवसेयम्।

चतुरंसस्स तणुत्था, उत्तरतणु सगलभोगभूमिगया।
देवा इयरे हुंडा, तस तिरिय नरा य सेवट्टा ॥२३५॥

चतुरस्रस्य समचतुरस्रसंस्थानस्य तनुस्थाः शरीरस्थाः उत्तरतनव आहारकोत्तरवैक्रियशरीरिणो मनुष्यास्तिर्यञ्चः सकलाः सकलेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रिया इत्यर्थः। तथा भोगभूमिगता देवाश्च उदीरका भवन्ति (इयरेहुंडत्ति) इतरे उक्तशेषाः एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियनैरयिका अपर्याप्तकाश्च पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्या एते सर्वेऽपि शरीरस्थाः हुंडसंस्थानस्योदीरका भवन्ति (तस तिरियनरा यसेवट्टित्ति) अत्र इतरे इत्यनुवर्तते उक्तशेषास्त्रसा द्वीन्द्रियादयः। पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याश्च सेवार्ताः सेवार्तसंहननोपेताः सेवार्तसंहननस्योदीरकाः।

संघयणाणि न उत्तरे, तणुसु तन्नामगा भवंतरगे।
अणुपुव्वीणं परघा–इस्स उ देहीण पज्जत्ता ॥२३६॥

उत्तरतनुषु वैक्रियाहारकशरीरेषु संहनना न भवन्तीति षण्णां संहननानामेकतरमपि संहननं न भवति तेन एकस्यापि संहनन स्योदीरका न भवन्ति। तथा आनुपूर्वीणां नारकानुपूर्व्यादीनां चतसृणां तन्नामिका तत्तदानुपूर्व्यापि नारकादिनामानो भवापान्तरालगतौ वर्तमाना उदीरका वेदितव्याः। तद्यथा-नारकानुपूर्व्या नारको भवापान्तररालगतौ वर्तमान उदीरकस्तिर्यगानुपूर्व्यास्तिर्यक् इत्यादि। तथा पराघातनाम्नः शरीरपर्याप्ता-पर्याप्ताः सर्वेप्युदीरकाः।

बायर पुढवी आयव, णामवज्जियत्तु सुहुमतसा।
उज्जोयणामतिरिए, उत्तरदेहे य देवजई ॥२३७॥

आतपनामा बादरप्रथ्वीकायिक उदीरकः चशब्दस्यानुक्तार्थ समुच्चायकत्वात् बादरपृथ्वीकायिको पर्याप्तो द्रष्टव्यः। तथा सूक्ष्मान् सूक्ष्मैकेन्द्रियान् सूक्ष्मत्रसांश्च तेजोवायुकायिकान् वर्जयित्वा शेषास्तिर्यञ्चः पृथिव्यम्बुवनस्पतयो विकलेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः लब्धिपर्याप्ता उद्योतनामानो यथासंभवमुदीरकाः भवन्ति। तथा उत्तरदेहे उत्तरशरीरे यथासंभवं वैक्रिये आहारके च वर्तमानो देवोयतिश्च उद्योतनामा उदीरको भवति ॥२३७॥

सगलो पइट्ठगई, उत्तरतणुदेवभोगभूमिगया।
इट्ठसराय तसो वि य, इतरांसि सनेरइया ॥२३८॥

सकलः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यो वा शरीरपर्याप्तापर्याप्तः प्रशस्तविहायोगतिः उदये वर्तमानस्तथा उत्तरस्यां तनौ वैक्रिय शरीररूपायां वर्तमानाः सर्वे तिर्यञ्चो मनुष्याश्च तथा सर्वे देव भोगभूमिकागता द्रष्टव्याः। इष्टगते प्रशस्तविहायोपगतेरुदीरकः। तथा इष्टस्वराः सुस्वरनामानस्त्रसा द्वीन्द्रियादयोऽपि शब्दा-त्प्रागुक्ताश्च पञ्चेन्द्रियतिर्यगादयो भाषापर्याप्त्यापर्याप्ता यथा-संभवमुदीरकाः। तथा इतरस्यामप्रशस्तविहायोगतिदुःस्व-रनामनस्त्रसा विकलेन्द्रियाः सनैरयिका नैरयिकसहितास्तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याः केचन यथासभवमुदीरका वेदितव्याः।

उस्सासस्स सराण य, पज्जत्ता आणपाणभासासु।
सव्वण्णूणुस्सासो, भासा वि य जानुरुज्जति ॥२३९॥

उच्छ्वाससस्वरशब्दयोः एतत्प्राणभाषाशब्दाभ्यां सह यथा-संख्येन योजना । सा चैव उच्छ्वासनाम्नः प्रायः पान-पर्याप्तापर्याप्ताः सर्वेप्युदीरकाः (सराणयत्ति) द्वित्वेपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्। ततः स्वरयोः सुस्वरदुःस्वरयोः प्रागुक्ता उदीरकाः सर्वेपि भाषा-पर्याप्तापर्याप्ता द्रष्टव्याः । यद्यपि स्वरयोः प्रागेवोदीरका उक्तास्तथापि ते भाषापर्याप्तापर्याप्ता एवोदीरका वेदितव्या इति विशेषोपदर्शनार्थं पुनरुपादानम् । तथा सर्वज्ञानां केवलिनामुच्छ्वासभाषे यावन्नाद्यापि निरोधमुपगच्छतस्तावदुदीरितेऽत्र निरोधानन्तरमुदयाभावान्नोदीरणा भवति ।

देवोसुभगाएय, णामगब्भवक्कंति उदयकित्तीए ।
पज्जत्तो वज्जियास, सुहुमे नेरइया सुहुमतेसु तसे ॥२४०॥

देवो इत्यादौ जातावेकवचनं केचिद्देवाः केचित्तिर्यङ् मनुष्या-गर्भव्युत्क्रान्ताः सुभगादेयनामान उदीरकोपेतास्तदुदये वर्तन्ते । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियसहितान् नैरयिकान् सूक्ष्मत्रसांश्चवर्जयित्वा शेषाः पर्याप्तकनामोदये वर्तमाना यशः कीर्तेरुदीरकाः ॥

गोउत्तमस्स देवा, नरा य वयणो चउण्हमियराइ ।
तव्वइरित्ता त्तित्थ–गरस्स सव्वसायापभवे ॥२४१॥

सर्वे देवा मनुष्या अपि केचिदुच्चैःकुलसमुत्पन्नास्तथा प्रकृतिनो नीचैर्गोत्रिणोऽपि पञ्चमहाव्रतसमलङ्कृतगात्रत्रयष्टयः उच्चैर्गो-त्रस्योदीरकास्तथा इतरासां चतसृणां प्रकृतीनां दुर्भगानादेयायशः कीर्त्तिनीचैर्गोत्राणां तद्व्यतिरिक्तानामुक्तव्यतिरिक्ता नांवेदित-व्यास्तत्र दुर्भगानादेययोरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियसंमूर्च्छिम-तिर्यङ्मनुष्यनैर-यिकाः । अयशः कीर्तेःसर्वे सूक्ष्माः सर्वे च नैरयिकाः सर्वे सूक्ष्मास्त्रसाः सर्वेप्यपर्याप्तकनामोदये वर्तमानाः । नीचैर्गोत्रस्य पुनः सर्वे नैरयिकाः सर्वे तिर्यञ्चो मनुष्या अपि विशिष्टकुलोत्पन्नान् व्रतिनश्च मुक्त्वा शेषाः सर्वेप्युदीरका द्रष्टव्याः । तथा तीर्थकरनाम्नः सर्वज्ञतायां सत्यां भवेदुदीरणा नान्यदा उदयाभावात् ।

इंदिअपज्जत्तीए, दुसमयपज्जत्तगा य पाउग्गा ।
निद्दा पयलाणंखी–णराग खवगेय परिवज्जिय ॥२४२॥

इन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तास्ततो द्वितीयसमयादारभ्य इन्द्रियप-र्याप्तनन्तरसमयादारभ्य इत्यर्थः । निद्राप्रचलप्रायोग्या भवन्ति । किं सर्वं नेत्याह । क्षीणरागान् क्षपकांश्च परित्यज्य उदीरणाहि उदये सति नान्यथा न च क्षीणक्षपकयोर्निद्राप्रचलयोरुदयः संभवति ''निद्दादुगस्स उदओ खीणखवगे परिवज्जति'' प्रामाण्यात् ततस्तान् वर्जयित्वा शेषा निद्राप्रचलयोरुदीरका वेदितव्याः ॥

निद्दानिद्दाईण वि, असंखवासा य मणुयतिरिया य ॥
वेउव्वियाहारतणू, वज्जित्ता अप्पमत्ते य ॥२४३॥

असंख्येयवर्षायुषो मनुष्यतिर्यञ्चो वैक्रियशरीरिणो प्रमत्तसंयताश्च मुक्त्वा शेषाः सर्वेपि निद्रानिद्राप्रचलस्त्यानर्द्धीनामुदीरकाः वेदितव्याः ।

वेयणीयणप्पमत्ता, ते ते बंधगा कसायाणं ।
हासाई छक्कसयं, अपुव्वकरणस्स चरमंते ॥२४४॥

वेदनीययोः सातासातरूपयोः प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानकपर्यन्ताः सर्वेऽप्युदीरकाः तथा ये जीवो येषां कषायाणां बन्धकास्ते तेषां कषायाणामुदीरका वेदितव्याः । यतो यानेव कषायान् वेदयते तानेव बध्नाति । ''जे वेयइ संबंधे'' इति वचनात् । उदये च सत्युदीरणा ततो युक्तमुक्तं ''ते ते बंधंतगा कसायाणमिति'' तत्र मिथ्यादृष्टिसास्वादना अनन्तानुबन्धिनामुदीरकास्तेषां तद्भेदकत्वात् । अप्रत्याख्या-नावरणानां देशविरतिपर्यन्ताः संज्वलन-क्रोधमानमायालोभानां स्वस्वबन्धव्यवच्छेदादर्वाक् उदीरकाः हास्यादिषट्कस्यापूर्वगुण-स्थानका उदीरकाः ।

जावूण खणो पढमो, संहरइ हासाणमेव मियरासिं ।
देवा नेरइया भव–द्विई केइ नेरइया ॥२४५॥

यावत् प्रथमः क्षणः किञ्चिदूनो भवति प्रथममन्तर्मुहूर्त्तं यावदित्यर्थः तावन्नियमोद्देवाः सुस्वररतिहास्यानामुदीरका वेदितव्याः । परस्त्वनियम एवं किंचिदूनं प्रथमक्षणं यावन्नैरयिका इतरासामसाता-वेदनीयारतिशोकप्रभृतीनां नियमादुदीरकाः । परस्तु तीर्थकरकेवल-ज्ञानलाभादौ विनिर्यासोपि भवति । केचित्पुनर्नैरयिकाः सकलामपि भवस्थितिं यावत् असात-वेदनीयारतिशोकानामुदीरका भवन्ति । एवमेकैकप्रवृत्त्युदीरणास्वामित्वमुक्तम् । संप्रति प्रकृत्युदीरणास्थानमाह ।

पंचण्हं च चउण्हं च एकाईजा दसण्हं तु ।
तिगहीणाए मोहे, मिच्छे सत्ताए जाव दसए ॥२४६॥

द्वितीयकर्मणि दर्शनावरणीयलक्षणे पञ्चानां चतसृणां प्रकृतीनां युगपदुदीरणा भवति । तत्र चतसृणां चक्षुरचक्षुरवधिदर्शना-वरणरूपाणां ध्रुवा छद्मस्थानामुदीरणा । एतासां मध्ये निद्रापञ्चकमध्यादन्यतम-प्रकृतिप्रक्षेपे पञ्चानामुदीरणा । तथा मोहे मोहनीये एकादित्रिकहीना तावत् द्रष्टव्या यावद्दशानामेतदुक्तं भवति मोहनीये कर्मणि उदीरणामधिकृत्य एकादीनि त्रिकहीनानिद शपर्यन्तानि नव प्रकृत्या स्थानानि भवन्ति । तद्यथा

१	२	४	५	६	७	८	९	१०

संप्रत्येषामुदीरणास्थानानां स्वामिनमाह ॥ 'मिच्छे सत्ताइ जाव' दश मिथ्या दृष्टेः सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वारि उदीरणास्थानानि भवन्ति । तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र मिथ्यात्वमप्रत्याख्यान प्रत्याख्याना-वरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यमे त्रयः क्रोधादिकाः । यत एकस्मिन् क्रोधे उदीयमाने सर्वे क्रोधा उदीर्यन्ते । एवं मानमायालोभेषु द्रष्टव्याः । न च युगपदुदीरणेत्यन्यतमे त्रयो गृह्यन्ते तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । तथा हास्यरत्यरतियुगले रतिशोकयुगलयोरन्यतरद्युगलम् । एतासां सप्तप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टौ उदीरणा ध्रुवा । अत्र च भङ्गाश्चतुर्विंशतिस्तद्यथा हास्यरत्यरतियुगले अरतिशोकयुगले च प्रत्येकमेकैको भङ्गः प्राप्यते इति द्वौ भङ्गौ तौ च प्रत्येकं त्रिष्वपि देवेषु प्राप्येते इति । द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाताः षट् । ते च प्रत्येकं क्रोधादिषु चतुर्षु प्राप्यन्ते इति षट् चतुर्भिर्गुणिताश्चतुर्विंशतिरिति । एतस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायामनन्तानुबन्धिना वा क्षिप्ते अष्टानामुदीरणानां भयादौ प्रत्येकमेकैकाभङ्गकानां चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्र-श्चतुर्विंशतयोत्र द्रष्टव्याः । ननु च मिथ्यादृष्टेरवश्यमनन्तानुबन्धिनामुदयः संभवति उदये च सत्यवश्यमुदीरणा तत्कथं मिथ्यादृष्टिरनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्राप्यते सप्तानामष्टानां वा अनन्तानुबन्धरहितानामुदीरणा संभवेत् । उच्येत् इह सम्यग्दृष्टीनां सतां केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुषबन्ध्युदय-रहितः प्रयोजता तत्रैव च स विश्रान्तो न मिथ्यात्वादिक्षयाय उक्तस्तथाविध-सामर्थ्यभावात् । ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रकृतयो भूयोप्यनन्तानुबन्धिनो । ततो बन्धा-

वलिकाया यावन्नाद्या-प्यतिक्रामति तावत्तेषामुदयो न भवति-उदयाभावाच्च उदीरणाया अप्यभावः । बन्धावलिकायां पुनरतीताथामुदयसंभवाद्भवत्येवोदीरणा । ननु कथं संबन्धसमयादारभ्य आवलिकायामतीतायामुदयोपि । संभवति ततोऽबाधाकलक्षये सति उदयः । अबाधाकालश्चानन्तानुबन्धिनां जघन्य-तोन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः चत्वारि वर्षसहस्राणि इति । नैष दोषः यतो बन्धसमयादारभ्य तेषां तावत्सत्ता भवति । सत्तायां च सत्यां पतद्ग्रहता तस्यां च सत्यां शेषप्रकृतिदलिकं संक्रामति सक्रम्य तस्य च स संक्रमावलिकायाममतीतायामुदयः उदये च सत्युदीरणा । ततो बन्धसमयादनन्तरमावलिकायामतीता-यामुदीरणाभिधीयमाना न विरुध्यते । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सानन्तानुबन्धिनां बन्धिषु प्रक्षिप्तेषु दशानामुदीरणा। अत्रत्यैव भङ्गकानां चतुर्विंशतिस्तदेवं मिथ्यादृष्टेर्मोहनीयस्योदीरणास्थानान्युक्तानि ।

साम्प्रतं सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामाह।

सासायणम्मि सत्ताइ, नव अविरइए छाइ परम्मि पंचाइ ।
अट्ठविरए चउराइ, सत्त छच्चोवरिल्लिम्मि ॥२४७॥

सासादने सम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यादृष्टौ च सप्तादीनि नव पर्यन्तानि त्रीणि त्रीण्युदीरणास्थानानि भवन्ति तद्यथा सप्त अष्टौ नव । तत्र सासादनसम्यग्दृष्टौ अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिकाः । त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमिति । सप्तमिति सप्तनामुदीरणा ध्रुवा । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः । सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टित्वानन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयो-ऽन्यतमे क्रोधादयः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । द्वयोर्युगल-योरन्यतरद्युगलं सम्यग् मिथ्यात्वं चेति सप्तानामुदीरणा । अत्र च द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानां भयजुगुप्सयोस्तु युगपत्प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदीरणा । अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयोऽत्र चैका चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव षट् के भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वानामन्यत-रक्षिते सप्तानामुदीरणास्थानानि भवन्ति । तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा अविरतस्य अनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोन्यतमक्रोधादिकाः । त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति षण्णामुदीरणा । अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां ''परम्मि पंचाइ अट्ठत्ति'' विरतसम्यग्दृष्टिपरस्मिन् देशविरते पञ्चादीनि अष्टपर्यन्तानि चत्वारि उदीरणास्थानानि । तद्यथा पञ्च षट् सप्त अष्टौ तत्र प्रत्या-ख्यानावरणसंज्वलनसंज्ञौ क्रोधादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ । त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलम् । एतासां पञ्चानां प्रकृतीनां देशविरतस्योदीरणा ध्रुवा। एषा चौपशमिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा अवगन्तव्या । अत्र च प्रागुक्तक्रमेण चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । संप्रति प्रमत्ता-प्रमत्तभेदयोर्भावात् युगपत् उदीरणा स्थानान्याह ''विरइए चउराइ सत्तत्ति'' विरते प्रमत्ते अप्रमत्ते च चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि उदीरणास्थानानि भवन्ति। तद्यथा चत्वारि पञ्च षट् सप्त । तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः । त्रयाणां वेदाना-मन्यतमो वेदः । द्वयोरन्यतरद्युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनां विरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वाउदीरणा ध्रुवा अत्रैका भङ्गकानां तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वानामन्यतमस्मिन् प्रक्षिपते पञ्चा-नामुदीरणा । अत्र भङ्गकानां भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदीरणा अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां भयजुगुप्सानाम् । संप्रत्यपूर्वकरणस्योदीरणास्थानान्याह (छच्चोवरिल्लिम्मित्ति) वरिता उपरितेन अपूर्वकरणेन चतुरादीनि षट्पर्यन्तानि त्रीण्युदीरणास्थानानि आह। तद्यथा चतस्रः पञ्चषट्। तत्र चतुर्णां संज्वलनक्रोधादीनामेकतमः । क्रोधादित्रयाणां वेदानामन्यमतो वेदः । द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनां विरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वा उदीरणाऽत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानामेताश्चोपूर्वकरणसत्का भयजुगुप्सयोस्तु युगपत्प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदीरणा । अत्र चैका चतुर्विंशति-र्भङ्गकानाम् एताश्चापूर्वकरणसत्काश्चतुर्विंशतयः अस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सायां वा क्षिप्तानां पञ्चानामुदीरणा । अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानां भयजुगुप्सयोस्तु युगपत्प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदीरणा । अत्रैका चतुर्विंशतिः । चतुर्विंशतयः परमार्थतः प्रमत्ता-प्रमत्तचतुर्विंशतिका भिन्नस्वरूपा इति न प्रथक् गणयिष्यन्ते ।

सम्प्रत्यनिवृत्तिबादरस्योदीरणास्थानान्याह ।

अनियट्टम्मि दुगेगं, लोभो तणुगजोग्ग चउवीसा ।
एक्कग छक्कक्कार–दससत्तचउक्क एक्काउ ॥२४८॥

(अनियट्टत्ति) अनिवृत्तिबादरे द्वे उदीरणास्थाने । तद्यथा द्वे प्रकृती एका च तत्र चतुर्णां संज्वलनक्रोधादीनामेकतमे क्रोधादित्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुभिः संज्वलनैर्द्वादश भङ्गाः । वेदेषु क्षीणेषूपशान्तेषु वा संज्वलनक्रोधादीनामेकतमं क्रोधादित्रयाणां वेदानामन्यतममुदीरयन्ति । तत्र चत्वारो भङ्गाः (लोभोतणुएजोग्गत्ति) तनुरागयोग्यस्य सूक्ष्मसंपरायस्य सूक्ष्मलोभकिट्टीर्वेदयमानस्य लोभ एवैको मोहनीयमध्ये उदीरणायोग्यो भवति। संप्रतिचतुरादिषु दशपर्यन्तेषु उदीरणास्थानेषु विरतायां यावत्यश्चतुर्विंशतयो भवन्ति तावतीर्निरूपयति –(चउवीसेत्ति) दशोदीरणायामेका चतुर्वि-शतिः नवोदीरणायां षट् अष्टोदीरणायामेकादश सप्तोदीरणायां दश षडुदीरणायां सप्त पञ्चकोदीरणायां चतस्रः चतुरु-दीरणायामे-केति। एताश्चतुर्विंशतयः प्रागेव भवन्ति। केवलं संज्ञिनाममात्रमिहैकं स्वधिया परिभावनीयम् । तदेवमुक्तानि मोहनीयस्योदीरणास्थानानि दश। तद्यथा एकचत्वारिंशद् द्विचत्वारिंशत्पञ्चाशत एकपञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट् पञ्चाशद्येति । तत्र तैजससप्तकं वर्णादिविंशतिरगुरुलघु-स्थिरास्थिरे शुभाशुभे निर्माणमित्येतासां त्रयस्त्रिंशत् प्रकृतीनामुदीरणा ध्रुवा । तत्र मनुष्यगतिप-ञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययश कीर्तिरूपे अष्टके प्रक्षिप्ते सति एकचत्वारिंशद्भवति एतासां चैकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां केवलिसमुद्घातागतः कार्मणकाययोगे वर्तमानः केवली उदीरको भवति । एषैव चैकचत्वारिंशत्तीर्थकरना-मसहिता द्विचत्वारिंशद्भवति । तस्याश्च तीर्थकरकेवली समुद्घातगतः कार्मणकाययोगे वर्तमान उदीरकः । तस्यामेवैकचत्वारिंशति औदारिकसप्तकं षण्णां संस्थानानामेकैकमेतत्संस्थानं वज्रऋषभनाराचसंहननम्। उपघातप्रत्येकमित्येकादशके प्रक्षिप्ते सति द्विपञ्चाशद्भवति । अत्र षड्भिः संस्थानैः षड् भङ्गास्ते च वक्ष्यमाणाः सामान्यमनुष्यभङ्ग ग्रहणेन गृहीता द्रष्टव्याः ।

एवमुत्तरत्रापि । एतस्याश्च द्विपञ्चाशत्सयोगिकेवलिसमुद्घातगतौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमाने उदीरकः एषैव च द्विपञ्चाशत्तीर्थंकरनामसहिता त्रिपञ्चाशत्किवलमिह संस्थानं समचतुरस्रमेव वक्तव्यम् । अस्या अप्युदीरकाः सयोगकवेलतीर्थं करौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमाना वेदितव्याः । तथा सैव द्विपञ्चाशत् पराघातः उच्छ्वासनामप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिरन्यतरा विहायोगतिः सुस्वरदुःस्वरयोरन्यतरनामेति प्रक्षेपात्त्रिपञ्चाशत् षट्पञ्चाशद्भवति । एवं च सयोगिकेवल्यौदारिककाययोगे वर्तमानं उदीरकः सप्तपञ्चाशद्वेद-वाग्योगनिरोधे षट्पञ्चाशत् उच्छ्वासेपि च निरुद्धे चतुः पञ्चाशत् अत्र द्विपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशद्भङ्ग्यर्ज्येषु शेषेषु तु पञ्चसु तीर्थकृताम् । तदेवमुक्तानि केवलिनामुदीरणास्थानानि । संप्रत्येकन्द्रियाणा-मभिधीयन्ते । एकेन्द्रियाणामुदीरणास्थानानि पञ्च । तद्यथा द्विचत्वारिंशत्पञ्चाशत् एकपञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चेति तत्र तिर्य्यग्गतिर्य्यग्गानुपूर्व्यौ । स्थावरनाम एकेन्द्रियजातिः बादर सूक्ष्मयोरेकतरयोः पर्याप्तापर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगमनादेयंयशः कीर्त्ययशः कीर्त्योरेकतरमित्येता नवप्रकृतयः । प्रागुक्ता-भिर्धुवोदीरणाभिस्त्रयस्त्रिंशत्संख्याकाभिः सह सम्मिश्रा द्विचत्वारिंशद् भवन्ति । अत्र च भङ्गाः पञ्च । तद्यथा बादर-सूक्ष्माभ्यां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्ताभ्यामयशः कीर्त्या सह चत्वारि, बादरपर्याप्तयशः कीर्तिभिश्चैकः । सूक्ष्मापर्याप्ताभ्यां सह यशः कीर्तेरुदयो न भवति, तदभावाच्च नोदीरणेति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति । एषा द्विचत्वारिंशदपान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या । ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीरौदारिकसंघातौदा-रिकबन्धनचतुष्टयहुंडसंस्थानोपघातप्रत्येकसाधारणाभ्या-मयशःकीर्त्या सह द्वौ सूक्ष्मस्य पर्याप्तापर्याप्तकप्रत्येकसाधार-णैरयशः कीर्त्या सह चत्वारि इति दश बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः औदारिकषट्कस्थाने वैक्रियषट्कमवगन्तव्यम् । ततश्च तस्यापि पञ्चाशदेवोदीरणा योग्या भवन्ति केवलमिह बादरपर्याप्तप्रत्येकायशः कीर्तिपदैः एष एव भङ्गः तैजसकायिक वायुकायिकयोर्हि साधारणपशःकीर्त्योरुदयो न भवति तदभावाच्च नाप्युदीरणा ततस्तदाश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते । तदेव सर्वसंख्यया पञ्चाशदेकादश भङ्गास्ततः शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य पराघात उच्छ्वासक्षिप्ते एकपञ्चाशद्भवति । अत्र भङ्गाः षट् । तद्यथा--बादरस्य प्रत्येकसाधारणयशः कीर्त्ययशः कीर्तिपदैश्चत्वारः । सूक्ष्मप्रत्येकसाधारणाभ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ बादरवायु-कायिकस्य च वैक्रियं कुर्वतः शरीरपर्याप्तापर्याप्तपराघाते क्षिप्ते एका प्रागुक्ता पञ्चाशत् भवति पञ्चाशदत्र च प्रागवदेक एव भङ्गः । सर्वसंख्यया चैकपञ्चाशदतः सप्त भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वास क्षिप्ते द्विपञ्चाशद्भवति । अत्रापि भङ्गाः षट् । तद्यथा बादरस्योद्योतेन सहितस्य प्रत्येक-साधारणयशः कीर्त्ययशः कीर्तिपदैश्चत्वारः । आतपसहितस्य प्रत्येकयशः कीर्त्ययशः कीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ । बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते प्रागुक्ता एकपञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् भवति । तत्र च प्राग्वदेक एव भङ्गः । तैजसकायिक-वायुकायिकयोर्हि आतपोद्योतयशः कीर्तिनामुदयाभावात् उदीरणा न भवति । ततस्तदाश्रिता भङ्गाः अत्र न प्राप्यन्ते । सर्वसंख्यया द्विपञ्चाशद्भङ्गास्त्रयोदश तथा प्राणापानपर्याप्ता-पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां द्विपञ्चाशत् । आतपोद्योतयोर-न्यतरस्मिन् क्षिप्ते त्रिपञ्चाशद्भवति अत्र भङ्गाः षट् । अत्र भङ्गाः ये प्रागातपोद्योतत्वान्यतरसहितायां द्विपञ्चाशदभिहिताः सर्वसंख्यया चैकेन्द्रियाणां भङ्गा द्विचत्वारिंशत् द्वीन्द्रिया-णामुदीरणास्थानानि षट् । तद्यथा द्विचत्वारिंशदपान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेयाः । अत्र च भङ्गास्त्रय तद्यथा अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्यायशः कीर्त्या सह एको भङ्गः पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य यशः कीर्त्ययशः कीर्तिभ्यां द्वाविंशतिः । ततः शरीरस्थस्यौदारिकसप्तकं हुंडकसंस्थानसे वार्तसंहननमुपघातनामप्रत्येकनामेत्येकादशकं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते । ततो जाता द्विपञ्चाशत् । अत्र च भङ्गास्त्रयस्ते च प्रागिव द्रष्टव्याः । ततः शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य विहायोग-तिपराघातयोः प्रक्षिप्तयोः चतुःपञ्चाशत् भवति । अत्र यशः कीर्त्ययशः कीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ ततः प्राणापानपर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते पञ्चाशत् सुस्वरदुःस्वरयोरेकतरस्मिन् पञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ । अथवा शरीरपर्याप्तौ उच्छ्वासे अनुदिते तदुद्योतनाम्नि तूदिते पञ्चापञ्चाशद्भवति । अत्र दुःस्वरसुस्वरयशः कीर्त्ययशः कीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ सर्वेऽपि षट्पञ्चाशति षट् भङ्गाः ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य स्वरसहितायां षट्पञ्चाशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते सप्त पञ्चाशद् भवति अत्र सुस्वरदुःस्वर-योर्यशःकीर्त्ययशः कीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः सर्वे द्वीन्द्रियाणां भङ्गा द्वाविंशति । एवं त्रीन्द्रियजातिश्चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजातिर-भिधातव्या । प्रत्येकं भङ्गा द्वाविंशतिरवसेया । सर्वसंख्यया विकलेन्द्रियाणा भङ्गाः षट्षष्टिः । तिर्यक् पञ्चेन्द्रियाणां वैक्रियलब्धिरहितानामुदीरणास्थानानि षट् । तद्यथा द्विचत्वारिंशत् द्विपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्चेति । तत्र तिर्यग्-तितिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनामबादरनामपर्याप्ता पर्याप्तयोरेकतरं सुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलयोरेकतरं युगलं यशः कीर्त्ययशः कीर्त्योरेकतरोऽन्ये तावन्नव प्रकृतयः प्रागुक्ता-स्त्रयस्त्रिंशत्संख्यका-भिर्धुवोदीरणाभिः सह चत्वारिंशत् अपान्त-रालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्याः । अत्रच भङ्गाः पञ्च । तत्र पर्याप्त-कनामोदये वर्तमानस्य सुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगला-कीर्त्ययशः कीर्तिभिश्चत्वारो भङ्गाः । अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य दुर्भगानादेयायशः कीर्तिभिः एक एव भङ्गः । इह सुभगादेये दुर्भगानादेये वा युगपदुदयमायातस्तत उदीरणापि युगपदेवेति पञ्चैव भङ्गाः । अपरे पुनराहुः । सुभगादेय-योर्दुर्भगानादेययोर्वा नैरयिका वा तेन युगपदेका उभयोर्भावनिय-मोऽन्यादर्शनात् । ततः पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य सुभगदुर्भगादेयानादेययशः कीर्त्ययशः कीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः । अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य तु दुर्भगानादेययशः कीर्तिभिरेक इति । सर्वसंख्यया द्विचत्वा-रिंशत् नव ततः शरीरस्थस्यौदारिकसप्तकं षण्णां संस्थानानामेकतमसंहननमुपघातं प्रत्येकनामेत्येकादशकं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततो द्विपञ्चाशद्भवति अत्र भङ्गानां पञ्चचत्वारिंशत् तद्यथा पर्याप्तकस्य षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुभगादेयानादेययशःकीर्तिभिरेक इति । तत्र पर्याप्तकस्य षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुभ-गदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशः कीर्त्ययशः कीर्तिभ्यां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके । अपर्याप्तकस्य तु प्रागुक्तस्वरूप एक एवेति । तस्यामेव द्विपञ्चाशति शरीरपर्याप्तापर्याप्तपराघातप्रश-

स्ताप्रशस्तान्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां चतुःपञ्चाशद्भवति । त्र पर्याप्तानां प्राक् चतुश्चत्वारिंशतं भङ्गकानामुक्तम् । तदेवमुक्तविहायोग-तिद्विकगुणितमवगन्तव्यम् तथाच सत्यत्र भङ्गानां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके भवतः मतान्तरेण पुनः पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्-वासक्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति॥ अत्रापि प्रागिव भङ्गानां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके मतान्तरेण पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकानि ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासक्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति अत्रापि प्रागिव सर्वसंख्यया पञ्चाशति स्वमतेन भङ्गकानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्याधिकानि । मतान्तरेण तु द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि । ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य सुस्वर-दुःस्वरयोरन्यतरस्मिन् क्षिप्ते षट्पञ्चाशद्भवति । तत्र स्व-मतचिन्तायां उच्छ्वासेन द्वे शते अष्टाशीत्यधिके भङ्गकानां प्राक् लब्धे ते इह स्वरद्विके तु गण्यते ततो लब्धानि पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । मतान्तरेण पुनरिह द्विपञ्चाशद्भवति । अत्र स्वमतचिन्तायां प्रागिव द्वे शते अष्टाशीत्यधिके भङ्गकानां मतान्तरेण पञ्च शतानि षट्सपतत्यधिकानि सर्वसंख्यया स्वमतेन षट्पञ्चाशति भङ्गा अष्टशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि । मतान्तरेण सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि ततः स्वरसहितायां षट् पञ्चाशत्शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । मतान्तरेण द्विप-ञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि त एवात्राऽपि द्रष्टव्याः । तथा तेषामेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां वैक्रियं कुर्वतामुदीरणास्थानानि पञ्च भवन्ति तद्यथा एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्र वैक्रिय सप्तकं समचतुरस्रसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिदशकं प्रागुक्तायां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां प्रायोग्या द्विचत्वारिंशत्प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते तत एक-पञ्चाशद्भवति । अत्र सुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलयशः कीर्त्ययशः कीर्तिपर्याप्ति-पदैश्चत्वारो भङ्गाः । मतान्तरेण पुनः सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशः कीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां च पर्याप्तकेन सहाष्टौ भङ्गाः ततः शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां पञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव चत्वारो भङ्गाः । मतान्तरेण पुनरष्टौ ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासनाम्नि प्रक्षिप्ते चतुःपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव स्वमतेन भङ्गाश्चत्वारो मन्तान्तरेणाष्टौ सर्वसंख्यया चतुःपञ्चा-शत् । स्वमतेनाष्टौ भङ्गाः । मतान्तरेण षोडश । ततो भाषा-पर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां पञ्चपञ्चाशति उद्योते क्षिप्ते षट्पञ्चाशद्भवति अत्रापि भङ्गाः स्वमतेन चत्वारो मतान्तरेणा-ष्टौ । सर्वस्वसंख्यया वैक्रियं कुर्वतां तिर्यक्यञ्चेन्द्रियाणां भङ्गाः ऽष्टाविंशतिः मतान्तरेण षट्पञ्चाशत् । समान्येन तिर्यक् पञ्चेन्द्रियाणां स्वमतेन भङ्गाश्चतुर्विंशतिशतानि द्वादशाधिकानि, मतानतरेण एकोनपञ्चाशच्छ-तानि द्विषष्ट्यधिकानि ।

सम्प्रतिमनुष्याणामुदीरणास्थानानि प्रतिपाद्यन्ते । तत्र केवलिनां प्रागेवोक्तानि अन्येषां तु पञ्च । तद्यथा द्विचत्वारिंशद्-द्विपञ्चाशच्चतुः पञ्चाशत्पञ्चपञ्चाशत् षट् पञ्चाशच्चेति । एतानि सर्वाण्यपि यथाप्राक् तिर्यक् पञ्चेन्द्रियाणामुक्तानि तथैवात्रापि वक्तव्यानि नवरं तिर्य्यगतितिर्यगानुपूर्व्योःस्थाने मनुष्~~य~~गतिमनुष्यानुपूर्व्यौ वक्तव्ये पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्च उद्योतरहिता वक्तव्या वैक्रियाहारकसंय-तान्मुक्त्वा स्वमतेन द्विचत्वारिंशति पञ्च द्विपञ्चाशति पञ्चशतानि षट् सप्त-त्यधिकानि परमतेन तु य याक्र मम् ९२८९५७६५६१४५२

वैक्रियमपि कुर्वतां मनुष्याणामुदीरणास्थानानि पञ्च भवन्ति । तद्यथा एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुः पञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चे-ति । तत्र एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्च तथा प्राग्वैक्रियं मुक्त्वा तथात्रापि दृष्टव्या चतुःपञ्चाशत् उच्छ्वाससहितायां प्रागिव स्वमतेन चत्वारो भङ्गाः मतान्तरेणाष्टौ । उत्तरवैक्रियं कुर्वतां संयतानामुद्योतनामोदयं गच्छति नान्येषां ततस्तेन सह चतुः-पञ्चाशदुच्छ्वासप्रशस्त गच्छति नान्येषां ततस्तेन सह चतुः-पञ्चाशदुच्छ्वासप्रशस्त एवैको भङ्गो भवति संयतानां दुर्भगानादेयायशः कीर्त्युदयाभावात् । सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत् । स्वमतेन भङ्गाश्चत्वारो मतान्तरेणाष्टौ । अथवा संयतानां स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते पञ्चपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव एक एव भङ्गः सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशति स्वमतेन पञ्च भङ्गाः मतान्तरेण नव पञ्चपञ्चाशति सुस्वरसहितायामुद्योते क्षिप्ते षट्पञ्चाशद् भवति तस्याञ्चैक एव प्रशस्तो भङ्गः । सर्वसंख्यया वैक्रियमनुष्याणामन्यम-तेनैकोनविंशतिभङ्गा मतान्तरेण पञ्च-त्रिंशत् ।

संप्रत्याहारकं कुर्वतामुदीरणास्थानान्युच्यन्ते आहारकसंयता-नामुदीरणास्थानानि पञ्च । तद्यथा एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुः पञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्राहारकसप्तकं समचतुरस्रसंस्थान-मुपघातं प्रत्येकमिति । प्रकृतिदशकं प्रागुक्तायां मनुष्यगतिप्रायोग्यातां द्विचत्वारिंशति प्रक्षिप्यते मनुष्यानुपूर्वी चापनीयते । ततः एकपञ्चाशद्भवति केवलमिह सर्वाण्यपि प्रदानि प्रसत्तानि एवेति कृत्वा एक एव भङ्गः । शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य प्रशस्तविहायोगतिपराघातरोः प्रक्षिप्तयोस्त्रिपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः शरीरपर्याप्तः । ततः प्राणापानपर्याप्ता-पर्याप्तस्य उच्छ्वासेक्षिप्ते चतुःपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशतिर्द्वौ भङ्गौ ततो भाषापर्याप्ता-पर्याप्त उच्छ्वाससहितायां चतुःपञ्चाशति सुस्वरे क्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्राग्वदेक एव भङ्गः । अथवा प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि उदिते पञ्चपञ्चाशति भवति अत्राप्येक एव भङ्गः सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशतिर्द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य स्वरसहितायां पञ्चपञ्चाशति उद्योते क्षिप्ते षट्पञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः आहारिकशरीरिणोः सर्वसंख्यया सप्त भङ्गाः । तदेवं मनुष्याणां सामान्य-वैक्रियशरीराहारकशरीरकेवलिनां भङ्गाः सर्वसंख्यया त्रयोदश शतानि चतुस्त्रिंशत्यधिकानि भवन्ति । परमतेन षड्ढि शतिशतानि पञ्चाशदधिकानि ।

देवानामुदीरणास्थानानि षट् । तद्यथा द्विचत्वारिंशत् एक-पञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्-पञ्चाशच्चेति । तत्र देवगतिदेवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः । त्रसनामवादरनामपर्याप्तनाम-शुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलयोरेकतरं युगलं यशः कीर्त्ययशः कीर्त्योरेकतरेभ्यो नवप्रकृतयो नवोदीरणाभिस्त्रयस्त्रिंशत्संख्या-काभिः सह संमिश्राद्विचत्वा-रिंशद्भवति । अत्र शुभगादेयदुर्भगाना-देययुगलयशः कीर्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गाः ततश्शरीरस्थस्य वैक्रियसप्तकं समचतुरस्रसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमित्येता दश प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते देवानुपूर्वी चापनीयते । ततः एकपञ्चाशत् भवति । अत्रापि प्रागिव स्वमतेन चत्वारो भङ्गाः मतान्तेरणाष्टौ । ततः शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य पराघातप्रशस्तविहायोगत्योः

प्रक्षिप्तयोः त्रिपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव स्वमतेन चत्वारो भङ्गा मतान्तरेणाष्टौ देवानां प्रशस्तविहायोगतेरुदया भावात् तदाश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते । ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते चतुःपञ्चाशद्भवति । अत्रापि स्वमतेन चत्वारो भङ्गाः मतान्तरेणाष्टौ । अथवा शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते चतुःपञ्चाशद्भवति अत्रापि प्रागिव स्वमतेन भङ्गाश्चत्वारो, मतान्तरेणाष्टौ । अथवा शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदितेउद्योतनाम्नि तूदिते च सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत् स्वमतेनाष्टौ भङ्गा मतान्तरेण षोडश ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां चतुःपञ्चाशति सुस्वरे क्षिप्ते पञ्चाशद्भवति अत्रापि स्वमतेन भङ्गाश्चत्वारो मतान्तरेणाष्टौ सर्व संख्यया पञ्चपञ्चाशत् । स्वमतेनाष्टौ भङ्गा मतान्तरेणापि तु षोडश भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य सुस्वरसहितायां पञ्चपञ्चाशति उद्योते क्षिप्ते षट्पञ्चाशद्भवति । अत्रापि स्वमतेनैव चत्वारो भङ्गा मतान्तरेणाष्टौ सर्वसंख्यया देवानां स्वमतेन द्वात्रिंश द्भङ्गाः मतान्तरेण चतुःषष्टिः । नैरयिकाणामुदीरणास्थानानि पञ्च । तद्यथा—द्विचत्वारिंशदेकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुः पञ्चा-शत्पञ्चपञ्चाशच्चेति । तत्र नरकगतिनरकानुपूर्व्योः पञ्चेन्द्रिय-जातित्रसबादरपर्याप्तदुर्भगानादेययशः कीर्तिशय इत्येता नव प्रकृतयो ध्रुवोदीरणाभिस्त्रयस्त्रिंशत्सख्यकाभिः सह सम्मिश्रा द्विचत्वारिंशद्भवति । अत्र च सर्वाण्यपि पदानि अप्रशस्तान्येवेति कृत्वा एक एव भङ्गः । ततश्शरीरस्थस्य वैक्रियसप्तक हुंडक-संस्थानमुप-घातप्रत्येकमिति दश प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते । नरकानुपूर्वी चापनीयते । तत एकपञ्चाशद् भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः शरीरपर्याप्ता-पर्याप्तस्य पराघातप्रशस्तविहायोगत्योः प्रक्षिप्तयोः तिपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः प्राणापान-पर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते चतुःपञ्चाद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य दुःस्वरे क्षिप्ते पञ्च-पञ्चाशद्भ-वति । अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसंख्यया नैरयिकाणां पञ्च भङ्गाः । तदेवमुक्तानि नामकर्मणोरुदीरणास्थानानि ।

संप्रत्येतान्येव गुणस्थानकेषु दर्शयति।

गुणिस्सु नामस्स तव, सत्त तिण्णि अट्ठ च छप्पं च ।
अप्पमत्ते दो एक, पंचसु एक्कम्मि अट्ठ ॥२४९॥

नाम्नोनामकर्मणोर्गुणिषु गुणस्थानेषु मिथ्यादृष्टिप्रभृतिषु सयोगिकेवलि-पर्यन्तेषु यथासंख्यया नवादिषु सख्यान्युदीरणा स्थानानि भवन्ति । तत्र मिथ्यादृष्टिषु नवोदीरणास्थानानि । तद्यथा द्विचत्वारिंशत् पञ्चाशद् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशदेकपञ्चाशद् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । अमूनि च सर्वाण्यपि मिथ्यादृष्टीन्येकेन्द्रि-यादीन्यधिकृत्यं स्वयं परिभावनीयानि । सास्वादनसम्यग्दृष्टेरुदी-रणास्थानानि सप्त । तद्यथा द्विचत्वारिंशत् पञ्चाशत् एकपञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत्सप्तपञ्चाशच्चेति । तत्र द्विचत्वारिंशत् बादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिय तिर्यक्-पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानां सास्वादनसम्यदृष्टीनामपान्तरालगतौ वर्तमानानामवसेयाः । तथा एकेन्द्रियाणां शरीरस्थानां पञ्चाशत् देवानां शरीरस्थानामेकपञ्चाशद्विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां शरीरस्थानां द्विपञ्चाशत् एवं नैरयिकाणां पर्याप्तानां सासादनसम्यक्त्वे वर्तमानानां पञ्चपञ्चाशत् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानां पर्याप्तानां षट्पञ्चाशत् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुद्योतवेदकानां पर्याप्तानां सप्त-पञ्चाशत् । सम्यग्मिथ्या-दृष्टे स्त्रीण्युदीरणास्थानानि । तद्यथा पञ्चपञ्चाशत्सप्तपञ्चाशच्चेति । तत्र देवनैरयिकाणामेव पञ्चपञ्चाश-दविरतसम्यग्दृष्टेरष्टाबुदीरणास्थानानि तद्यथा द्विचत्वारिंशदेकपञ्चाश-च्चेति । तत्र नैरयिकदेवतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां द्विचत्वारिंशद् देवनैरयिकाणामेकपञ्चाशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां द्विपञ्चाशत् देवनैरयिकतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिपञ्चाशत् देवनै-रयिकाणामेकपञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्चेति । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियवैक्रियतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिपञ्चा-शच्चतुःपञ्चाशदेतेषामेव पञ्चपञ्चाशदपि तदेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां षट् पञ्चाशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुद्योतवेदिकायां सप्तपञ्चाशत्, देशविरतस्योदीरणास्थानानि षट् । तद्यथा एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्चेति। तत्र एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशच्चेति । तिर्यग्मनुष्याणां वैक्रियशरीरे वर्तमानानामवगन्तव्या । तिर्यग्मनुष्याणामेव स्वभावस्थानां वर्तमानामवगन्तव्या । तिर्यग्मनुष्याणामेव स्वभावस्थानां वैक्रियशरीरिणां षट्पञ्चाशत् तेषामेव तिर्यक् पञ्चेन्द्रियाणा-मुद्योतसहितानां सप्तपञ्चाशत् प्रमत्तसंयतानामुदीरणास्थानानि पञ्च तद्यथा एकपञ्चाशद् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुः-पञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट् पञ्चाशच्चेति । तत्र पञ्चाप्येतानि वैक्रियशरीरिणा-माहारकशरीरिणां वा द्रष्टव्यानि षट् पञ्चाशत् पुनरौदारिकस्थान-मवगन्तव्यम्। अप्रमत्तसंयतानां द्वे उदीरणा-स्थानेतद्यथा पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्र षट् पञ्चा-शदौदारिके स्थाने इह केषांचित् वैक्रियशरीरस्थानामाहारक- शरीरस्थानां वा संयतानां वा सर्वपर्याप्तापर्याप्तानां कियत्का-लप्रमत्तभावो पि लभ्यते इति ये तेषां द्वे अप्युक्तरूपे उदीरणास्थाने । एकः पञ्च मुहर्ताः पञ्चसु गुणस्थानिकेषु अपूर्वकरणानि वृत्तबादरसूक्ष्म संपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहरूपेषु एकमुदीरणास्थानं भवति । षट् पञ्चाशत् सा च औदारिकशरीर-स्थानमिति (एक्कम्मिअट्ठत्ति) एकस्मिन् सयोगिकेवलगुणस्थानिके अष्टाकुदीरणास्थानानि तद्यथा एकचत्वारिंशत् द्विचत्वारिंशत् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्चेति । एतानि च प्रागेव सप्रपञ्चं भावितानि इति नेह भूयो भाव्यन्ते । तदेवं चिन्तितानि गुणस्थानकेषु उदीरणा स्था-नानि।

संप्रति कस्मिन्नुदीरणास्थाने कति भङ्गाः प्राप्यन्ते इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह ।

ठाणक्कमेण भंगा, वि एक्कतीसेक्कारस ।
इगवीस वा वारस—सए य इगबीसछ चसया ॥२५०॥
छह अहिया नव सया य, एगहिया य अऊणुत्तारि ।
णाओ चउदस सयाणि, गुण नउइसया पंच ॥२५१॥

स्थानक्रमेण एकचत्वारिंशत्येको भङ्गाः । स च तीर्थंकरकेवलिनः द्विचत्वारिंशति त्रिंशद्भङ्गाः । तत्र नैरयिकानधिकृत्य एकः एकेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकंत्रिकंत्रिकंप्राप्यतेइति नव । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च, मनुष्यानप्यधिकृत्य पञ्च, तीर्थकरमधि-

कृत्य एकः। देवानधिकृत्य चत्वारः। ये पुनः सुभगा-देययोर्दुर्भगानादेययोश्च केवलकेवलयोरप्युदयमिच्छन्ति तन्मतेन द्विचत्वारिंशति त्रिचत्वारिंशद्भङ्गाः । यतस्तन्मतेन तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य नव, मनुष्यानधिकृत्य नव, देवानधित्याष्टौभङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैव । पञ्चाशत्येकादश भङ्गास्ते चैकन्द्रियान्देवानधिकृत्य शेषं तथैव । पञ्चाशत्येकादश भङ्गास्ते चैकन्द्रियान्देवानधिकृत्य प्राप्यन्ते। अन्यत्र पञ्चाशतः प्राप्यमाणत्वात् । एकपञ्चाशत्येकविंशति भङ्गा । तत्र नैरयिकानधिकृत्य चत्वारो वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य चत्वारः आहारकशरीरिणः संयतानधिकृत्य नव देवानाश्रित्य चत्वार इत्येकविंशतिः । मतान्तरेण पुनर्वैक्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवा-नधिकृत्य प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इत्येकपञ्चाशति तद-पेक्षया तयस्त्रिंशद्भङ्गाः । (सवारसतिंसययत्ति) त्रिंशद्द्वादशाधिका त्रिंशतिं भङ्गानां द्विपञ्चाशतिरवगन्तव्याः । तत्र एकेन्द्रियानश्रित्य त्रयोदश द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं त्रिकं प्राप्यते इति नव। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्चत्वारिंशतं मनु-ष्यानप्यधिकृत्य पञ्चचत्वारिंशतम् । अत्रापि मतान्तरेण तियक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य प्रत्येकं द्वे द्वे शते भङ्गा-नामेकोनवत्यधिके प्राप्येते इति तदपेक्षया द्विपञ्चाशद्भङ्गाना शतानि षट् प्राप्यन्ते। त्रिपञ्चाशति भङ्गानामेकविंशतिः तद्यथा मनुष्यांश्चाधिकृत्य प्रत्येकं द्वे द्वे शते भङ्गानाकेकोननवत्याधिके प्राप्येते तदपेक्षया मनुष्यदेवानधिकृत्य प्रत्येकमष्टाष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इति तदपेक्षया त्रिपञ्चाशति त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः चतुःपञ्चाशति भङ्गानां षट् शतानि षडुत्तराणि तद्यथा नैरयिकाणां प्रत्येकमष्टाष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इति तदपक्षया त्रिपञ्चाशति त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः चतुःपञ्चाशति भङ्गानां षट्तिर्यक्यपञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीयतधिके वैक्रियतिर्यक् पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ स्वभावस्थान्मनुष्यानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके चत्वारः संहतान् वैक्रियशरीरिणः संयतानधिकृत्य द्वौ देवानधिकृत्योद्योतेन सहैकः। आहारिकशरीरिणः संयतानधिकृत्य पञ्चशतानि षट् सप्तत्यधिकानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यानधिकृत्य पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमुनष्यानधि-कृत्य नव देवानधिकृत्य षोडश भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैवेति तदपेक्षया चतुःपञ्चाशदधिकानि द्वादश शतानि पञ्चशतानि भङ्गानां नव शतानि एकाधिकानि । तद्यथा नैरयिकानधिकृत्यैकः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरि-न्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः २ प्राप्यन्ते इति द्वादश । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः प्राप्यन्ते इति द्वादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियशरीरिणोधिकृत्य चत्वारः वैक्रियसंयतानधिकृत्योद्यो-तेन सहैकः आहारकशरीरिणोऽधिकृत्य चत्वारः तीर्थ-करमधिकृत्यैकः देवानधिकृत्याष्टाविति । मतान्तरेण तिर्यक्-पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि। वैक्रियतिर्यक् पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यान् स्वभावस्थानधिकृत्य पञ्च शतानि षट् सप्तत्यधिकानि वैक्रि-यमनुष्यानधिकृत्य नव देवानधिकृत्य षोडश भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैवेति । तदपेक्षया पञ्चपञ्चाशतिं पञ्चाशीत्यधिकसप्तदश शतानि षट्पञ्चाशति भङ्गानामेकोनसप्तत्यधिकानि चतुर्दश शतानि तद्यथा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं षट् प्राप्यन्ते इति अष्टादश। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान स्वभा-वस्थानधिकृत्याष्टौ शतानि चतुर्दशशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि वैक्रियशरीरिणोऽधिकृत्य चत्वारः मनुष्यानधिकृत्य पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकानि, वैक्रियशरीरिणः संयतानधिकृत्यो-द्योतेन सहैकः । आहारकशरीरिणः संहतानधिकृत्यैकः तीर्थकरमा-श्रित्यैकः देवानधिकृत्य चत्वारः । अत्र मतान्तरेण तिर्यक् पञ्चे-न्द्रियानधिकृत्य सप्तदश शतानि भङ्गानां भवति सप्तपञ्चाशद् भङ्गानां पञ्चाशति एकोननवत्यधिकानि प्रत्येकं चत्वारः २ प्राप्यन्ते इति द्वादश। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि एकादश शतानि भङ्गानां प्राप्यन्ते षट्सप्तत्यधिकानि तीर्थकरमाश्रित्यैक इति। अत्रापि मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विप-ञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि भङ्गानां प्राप्यन्ते शेषं तथैवेति । तदपेक्षया सप्तपञ्चाशत् पञ्चषष्ट्यधिकान्येकादश शतानि भङ्गानां भवन्ति।

(अनयोर्व्याख्या पुस्तकान्तरे एवं दृश्यते। तद्यथा)

''स्थानक्रमेण एकचत्वारिंशत्येको भङ्गः । स च तीर्थ-करकेवलिनः द्विचत्वारिंशति त्रिंशद्भङ्गाः । तत्र नैरयिकानधि-कृत्य एकः एकेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतु-रिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं त्रिकं त्रिकं प्राप्यते इति नव । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाधिकृत्य पञ्च, मनुष्यानष्यधिकृत्य पञ्च, तीर्थकरमधिकृत्य एकः देवानधिकृत्य चत्वारः । ये पुनः सुभगादेययोर्दुर्भगानादेययोश्च केवलकेवलयोरप्यु-दयमिच्छन्ति तन्मतेन द्विचत्वारिंशति द्विचत्वारिंशद्भङ्गाः यतस्तन्मतेन तिर्यक् पञ्चेन्द्रियाण्यधिकृत्य नव, मनुष्यानधिकृत्य नव, देवा-नधिकृत्याष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैव । पञ्चाशत्वेकादश भङ्गास्ते चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य प्राप्यन्ते अन्यत्र पञ्चाशतो ऽप्राप्यमाणत्वात् एकपञ्चाशत्येकविंशति भङ्गाः तत्र नैर-यिकानधिकृत्य चत्वारो वैक्रियमनुष्यानप्यधिकृत्य चत्वारः आहारिकशरीरिणः संयतानधिकृत्य एकः देवानाश्रित्य चत्वारः इत्येकविंशतिः। मतान्तरेण पुनवैक्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवानधिकृत्य प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इत्येकपञ्चाशति तदपेक्षया त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः (सवारसतिसययत्ति) स द्वादशाधिका त्रिंशतिभङ्गानां द्विपञ्चाशत्यवगन्तव्या । तत्र एकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयोदश द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं त्रिकं प्राप्यते इति नव, तियक् पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्चचत्वारिंशतं मनुष्यान्नष्यधिकृत्य पञ्चचत्वारिंशतमिति । अत्रापि मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य प्रत्येकं द्वे द्वे शते भङ्गा-नामेकोननवत्यधिके प्राप्येते इति तदपेक्षया द्विपञ्चाशति भङ्गानां शतानि षट् प्राप्यन्ते । त्रिपञ्चाशति भङ्गानामेवविंशतिः । तद्यथा नैरयिकानधिकृत्य एकः एकेन्द्रियानधिकृत्य षट् वैक्रियतिर्यक् पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य चत्वारः वैक्रियमनुष्यानप्यधिकृत्य चत्वारः आहारिकशरीरिणोधिकृत्य पुनरेकस्तीर्थकरमप्याश्रित्यैकः देवानप्यधिकृत्य चत्वारः अत्रापि मतान्तरेण वैक्रियतिर्यक् पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानधिकृत्य प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इति तदपेक्षया त्रिपञ्चाशति त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः चतुःपञ्चाशति भङ्गानां षट् शतानि षडुत्तराणि। तद्यथा नैरयिकानधिकृत्यैकः द्वीन्द्रियांस्त्रीन्द्रियांश्चतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येक द्वौ द्वौ प्राप्येते इति षट् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियतिर्यक् पञ्चेन्द्रियानाधिकृत्याष्टौ स्वभावस्थान्मनुष्यानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रिय-

मनुष्यानधिकृत्य चत्वारःसंयतान् वैक्रियशरीरिणोधिकृत्य चत्वारः। संयतानधिकृत्य द्वौ, देवाधिकृत्योद्योतेन सहैकः,आहारिकशरीरिणः संयतानधिकृत्य द्वौ,देवानाधिकृत्य षोडश मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि चाष्टाविति। अत्रापि मतान्तरेण प्रकृतिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्याधिकृत्य नव,देवानधिकृत्य षोडश भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैवेति। तदपेक्षया चतुःपञ्चाशति द्व्यधिकानि द्वादश शतानि पञ्च शतानि भङ्गानां नव शतानि एकाधिकानि तद्यया नैरयिकानधिकृत्यैकः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः प्राप्यन्ते इति द्वादश। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्यानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः प्राप्यन्ते इति द्वादश। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सतत्यधिकानि वैक्रियशरीरिणोधिकृत्याष्टा, मनुष्यान् स्वभावस्थानविकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके,वैक्रियशरीरिणोधिकृत्य चत्वारः, वैक्रियसयतानधि-कृत्योद्योतेन सहैकः,आहारिकशरीरिणोधिकृत्य द्वौ, तीर्थकरमधिकृत्यैकः,देवानधिकृत्याष्टाविति। मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यान् स्वभावस्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यविकानि, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, देवानधिकृत्य षोडश भङ्गाः प्राप्यन्ते। शेषं तथैवेति तदपेक्षया पञ्चपञ्चाशति पञ्चाशीत्यधिकानि सप्तदश शतानि षट् पञ्चाशति भङ्गानामकोनसप्तत्यधिकानि चतुर्दश शतानि तद्यया द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं षट् प्राप्यन्ते इति अष्टादश,तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान्,स्वभावस्थानधिकृत्याष्टौ शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि,वैक्रियशरीरिणोधिकृत्य चत्वारः मनुष्यानधिकृत्य पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियशरीरिणः संयतानधिकृत्य उद्योतेन सह एकः, आहारकशरीरिणः संयतानधिकृत्यैकः तीर्थकरमाश्रित्यैकः, देवानाश्रित्य चत्वारः। अत्र मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चकन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकानि भङ्गानां भवन्ति। सप्तपञ्चाशति भङ्गानां पञ्चशती एकोननवत्यधिका। तद्यथा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः २ प्राप्यन्ते इति द्वादश,तिर्यक् पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्चाश (तानि) ति एकादश शतानि भङ्गानां प्राप्यन्ते षट्सप्तत्यधिकानि। तीर्थकरमाश्रित्यैक इति। अत्रापि मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि भङ्गानां प्राप्यन्ते। शेषं तथैवेति। तदपेक्षया सप्तपञ्चाशति पञ्चषष्ट्यधिकान्येकादश शतानि भङ्गानां भवन्ति"।

संप्रति गतिमाश्रित्य स्थानप्ररूपणां करोति।

पणनवगछक्काणि,गइसुट्ठाणि सेसकम्माणं।
एगेगमेव मेने य,साहित्तिगे य पगईओ ॥२५२॥

नरकगतावुदीरणास्थानानि पञ्च तद्यथा द्विचत्वारिंशत् एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशचेति। तिर्यग्गतावेकवत्वारिंशत् वर्ज्यानि शेषाणि नवोदिरणास्थानानि मनुष्यगतावपि सयोगिकेवल्यादीनधिकृत्य पञ्चाशत्वर्ज्यानि शेषाणि नवोदीरणास्थानानि देवगतौ षडुदीरणास्थानानि मनुष्यगतिसयोगिकेवली तद्यथा द्विचत्वारिंशदेकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशचेति। एतानि च सर्वाण्यपि प्राक् सप्तपञ्चं भावितानीति नेह भूयो भाव्यन्ते। तदेवमुक्तानि नामकर्म्मणः सप्तपञ्चमुदीरणास्थानानि। संप्रति शेषकर्मणामुदी-रणास्थानप्रतिपादनार्थमाह (सेसकम्माणत्ति) शेषकर्मणां ज्ञानावरणवेदनीययायुर्गोत्रान्तरायलक्षणानामुदीरणास्थानमेकैकमवगन्तव्यं तद्यथा ज्ञानावरणान्तरायदोः पञ्चप्रकृत्यात्मकमेकैकमुदीरणास्थानं वेदनीययायुर्गोत्राणान्तु वेद्यमानैकप्रकृत्यात्मकं नह्यमीषां द्वित्र्यादिकाः प्रकृतयो युगपदुदीर्यन्ते युगपदुदयाभावात् एतच्च ज्ञानावरणीयवेदनीयानामेकैकमुदीरणास्थानं प्रागुक्तैकैकप्रकृत्युदीरणायां स्वामित्वं साधयित्वा निश्चित्य गुणस्थानेषु नारकादिषु गतिषु स्वयमेव ज्ञेयं ज्ञातव्यम्। तदेवमुक्ताः प्रकृत्युदीरणाः। सम्प्रति स्थित्युदीरणाभिधानावासरस्तत्र चेति अर्थाधिकारास्तद्यथा लक्षणं भेदः साद्यनादिप्ररूपणा अद्धाच्छेदः स्वामित्वं चेति॥

तत्र लक्षणभेदयोः प्रतिपादनार्थमाह।

संपत्तिए य उदये, पओगओ दिस्सए उईरणा सा।
सेचिकाठिईहिं जाही, दुविहा मूलोत्तगाए य ॥२५३॥

इह द्विविध उदयः संप्राप्त्युदयोऽसप्राप्त्युउदयश्च। तत्र यत्कर्म दलिकं कालप्राप्तं सदनुभूयते स संप्राप्त्युदयः। तथाहि कालक्रमणे कर्मदलिकस्योदये हेतुद्रव्यक्षेत्रादिसामग्रीसंप्राप्तौ सत्यामुदयः संप्राप्त्युदयः। यत्पुनरकालप्राप्तं कर्म तद्दलिकमुदिरणा तथा चाह या स्थितिरकालप्राप्तापि सती प्रयोगेणउदीरणाप्रयोगेण संप्राप्त्युउदये पूर्वोक्ते स्वरूप प्रक्षिप्ता सती दृश्यते केवलचक्षुषा सा स्थित्युदीरणा। एष लक्षणनिर्देशः। अधुना भेद उच्यते (सेचिकेत्यादि) इह यासां स्थितीनां भेदः परिकल्पना संभवतिताः पुरुषपरिभाषया सेचिका इत्युच्यन्ते ताश्च द्विधा उदीरणायाः प्रायोग्याः अप्रायोग्याश्च काश्चाप्रायोग्या इति चे दुच्यतेबन्धावलिका गताः संक्रमावलिकागताश्च उदयावलिकागताश्च प्रायोग्याः "सकम्मबंध उदयवट्टणालिइईणा करणाइ" इति वचनप्रामाण्यात् शेषाश्च सर्वा अपि प्रायः प्रायोग्याः तत्रोदये सति यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टबन्धः संभवति तासामुत्कर्षत आवलिका द्विकहीना सर्वाप्युत्कृष्टा स्थितिरुदीरणाप्रायोग्या तथाहि उदयोत्कृष्टबन्धानां तु यथासंभवमुदीरणा प्रायोग्याः। आवलिकाद्विकहीनायाश्चोत्कृष्टा स्थितेर्यावन्तः समयास्तावन्त उदीरणायाः प्रभेदाः तथाहि उदयावलिकाया उपरिवर्तिनी समयमात्रा स्थितिः कस्याप्युदी-रणाप्रायोग्यस्य तावत्यवशेषीभूता तिष्ठति एवं कस्यापि द्विसमयमात्रा कस्यापि त्रिसमयमात्रा एव। तावद्वाच्यम् आवलिका द्विकहीना कस्यापि सर्वाप्युत्कृष्टा स्थितिरिति। अक्षरयोजना त्वियम् सचि-कास्थितिभ्य उदीरणाप्रायोग्याभ्यो यकाभ्यो यावतीभ्य आवलि-काद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमयप्रमाणाभ्य इत्यर्थः उदीरणाप्रायोगेण समाकृष्य स्थितिः संप्राप्युदये दीयते तावती तावद्भेद-प्रमाणा सा एषा उदीरणा। तदेवं कृता भेदप्ररूपणा। संप्रति साद्यनादिप्ररूपणा संकर्त्तव्या। सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च।

तत्र मूलप्रकृतिविषयां साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह।

मूलट्ठिइ अजहन्ना, मोहस्स चउव्विहा तिहा सिया।
वेउणिया उण दुहासे, सविगप्पा उ उज्जासिं ॥२५४॥

मूलस्थितशब्दात्प्राकृतत्वात् प्रत्येकं षष्ठीविभक्तिलोपः ततो ऽयमर्थः मूलप्रकृतीनां मध्ये मोहस्य मोहनीयस्थितेरुदीरणा अजघन्या चतुर्विधा चतुःप्रकारा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाऽध्रुवा च। तथामोहनीयस्य जघन्या स्थित्युदीरणा सूक्ष्मसंपराय क्षेपकस्य स्वगुणस्थानकसमयादिकावलिका शेषे वर्तमानस्य भवति शेषकालं त्वजघन्या नामाशेषे वर्तमानस्य भवति। ततोऽन्यत्र सर्वत्राप्यजघन्या सा चोपशान्तमोहगुणस्थानकेषु न भवति ततः प्रतिपाते च भवति ततोसौ सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः। ध्रुवा अभव्यानाम्, अध्रुवा भव्यानां, शेषा ज्ञानावरणदर्शनावरणनामनोगोत्रान्तरायाणां स्थित्युदीरणा। अजघन्या त्रिधा त्रिप्रकारा तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च तथाहि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां जघन्या स्थित्युदीरणा क्षीणकषायस्य स्वगुणस्थानसमयाधिकावलिकाशेषे वर्तमानस्य भवति शेषकालं त्वजघन्या सा चानादिसदैव भावात् ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। नामगोत्रयोस्तु जघन्या स्थित्युदीरणा सयोगिकेवलचरमसमये सा चानादिरध्रुवा च ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सा चानादिः ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। वेदनीयायुरजघन्या स्थित्युदीरणा द्विधा तद्यथा सादिरध्रुवा च तया सर्वा हि वेदनीयस्य जघन्या स्थित्युदीरणो एकेन्द्रियस्य सर्वस्तोकस्थितिसत्कर्मणो लभ्यते ततस्तस्यैव समयान्तरे प्रवर्द्धमानसत्कर्मणो ऽजघन्या ततः पुनरपि जघन्येति जघन्या। अजघन्या च सादिरध्रुवा च आयुषः पर्यन्तावलिकायां न भवति परभवोत्पत्तिसमये च भवति साच सादि रध्रुवा च। तया सर्वासां प्रकृतीनां शेषविकल्पा उत्कृष्टा उत्कृष्टजघन्यलक्षणः द्विधा द्विप्रकारा यथा सादयो ध्रुवाश्च तथाहि सर्वेषामपि कर्मणामायुर्वर्जानामुत्कृष्टा स्थित्युदीरणा मिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टः संक्लेशे वर्तमानस्य कियत्कालं प्राप्यते। ततः समयान्तरे तस्याप्यनुत्कृष्टा ततः पुनरपि समयान्तरे उत्कृष्टा संक्लेशे विशुद्धा प्रायः प्रतिसमयमन्यथाभावात् ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे। जघन्या च द्विधा प्रागेव भाविता अयुषां तु विकल्पत्रये युक्तिः प्राक्तन्येव प्रायोऽवसेया। तदेवं कृता मूलप्रकृति-विषया साद्यनादिप्ररूपणा।

संप्रत्युत्तरविषयां तां चिकीर्षुराह।

मिच्छत्तस्सचउद्धा, अजहण्णा ध्रुवं उदीरणाण तिहा।
सेसविगप्पा दुविहा, सव्वविगप्पाय सेसाणं ॥२५५॥

मिथ्यात्वस्य अजघन्या स्थित्युदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाध्रुवा च। तत्र मिथ्यादृष्टेः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतो मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थितौ समयाधिकावलिका शेषायां जघन्या स्थित्युदीरणा सादिरध्रुवा च सम्यक्त्वाच्च प्रतिपतितो जघन्या सा च सादिस्तत्स्थानप्राप्तस्य पुनरनादिः ध्रुवाध्रुवे अभव्यभवयापेक्षया। तथा ध्रुवोदीरणानां पञ्चविधज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणपञ्चविधान्तरायतैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरशुभाशुभगुरुलघुनिर्माणाख्यानामजघन्या स्थित्युदीरणा त्रिधा। तत्र प्रथमानादिर्ध्रुवाध्रुवा च तथाहि ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणकषायस्य स्वगुणस्थानकसमयाधिकावलिका शेषे वर्तमानस्यास्थित्युदीरणा। सा च सादिरध्रुवा च। शेषा सर्वाप्य-जघन्या सा चानादिः सदैव भावात् ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। तैजससप्तका-दीनां च त्रयस्त्रिंशत्संख्याकानां नाम च प्रकृतीसनां जघन्या स्थित्यु-दीरणा सयोगिकेवलिचरमसमये सा च सादिरध्रुवा च ततोन्या सर्वा प्यजघन्या सा चानादिः। ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। एतासामेव मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामष्टचत्वारिंशत्संख्याकानां शेषविकल्पाउत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यलक्षणा द्विप्रकारास्तद्यथा सादयो ध्रुवाश्च। तया ह्येतासामुत्कृष्टा स्थित्युदीरणा मिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्य कियत्कालं लभ्यते ततः समयान्तरे तस्याप्यनुत्कृष्टा ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे जघन्या च प्रागेव भाविता (सव्वविकप्पा य सेणाणं ति) शेषाणां शेषप्रकृतीनां दशोत्तरशसख्यानां सर्वे विकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यरूपा विकल्पास्तद्यथा सादयो ध्रुवाश्च साद्यध्रुवत्वं चा ध्रुवोदयत्वोद्भावनीयम् कृता साद्यनादिप्ररूपणा॥

संप्रत्युद्धाछेदस्य स्वामित्वस्य च प्रतिपादनार्थमाह॥

अद्धाओ सामित्तं, पिठइ संकमे जहा नवरि॥
तच्चेइसु निरइयगई, एवा विनिसुहिट्ठिम्मखीईसु ॥२५६॥

अद्धाच्छेदः स्वामित्वं च यथा स्थितिसंक्रमेऽभिहितं तथैवात्राप्यवगन्तव्यं नवरमयं विशेषसंक्रमकरणे तदावेदेष्वपि स्थितिसंक्रम उक्तः। उदयाभावेऽपि संक्रमस्य भावात्। उदीरणा पुनरियं तदुदयेष्वेव वेदितव्या। उदयाभावे उदीरणया अभावात्। इदमपि संक्षिप्तमुक्तमिति किंचिद्विशेषतोभाव्यते। तत्र येषां कर्मणामुदये सति बन्धोत्कृष्टा स्थितिस्तेषां ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कतैजससप्तकवर्णादिविंशतिनिर्माणस्थिराशुभागुरु लघुमिथ्यात्वषोडशकषायत्रसनादरपर्याप्तप्रत्येकदुःस्वरदुर्भगानादेययायशः कीर्ति वैक्रियसप्तकपञ्चेन्द्रियजातिहुंडोपघातपराघातोच्छ्वासतपोद्योताशुभविहायोगतिनीचैर्गोत्ररूपाणां षडशीतिसंख्यानां बन्धावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनी सर्वापिस्थितिः उदीरणाप्रायोग्या केवलं तानि कर्माणिवेदयमानानां वेदितव्या। उदयसत्तेवोदीरणाया अभावात्। बन्धावलिकारहिता च सर्वास्थितिः। इह आवलिकाद्विकरूपोऽद्धाच्छेदतदुभयवतस्तूदीरणा स्वामिनः येषां तु कर्मणां मनुजगतिसातवेदनीयस्थिरादिषट्कहास्यादिषट्कवेदत्रय-शुभविहायोगतिप्रथमसंस्थानपञ्चकप्रथमसंहनन पञ्चकोच्चैर्गोत्ररूपाणामेकोनत्रिंशत्संख्याकानामुदये सति संक्रमेणोत्कृष्टा स्थितिः। तेषामावलिकात्रिकहीना सर्वास्थिति-रुदीरणा प्रायोग्या केवलं तानि कर्माणि वेदयमाना वेदितव्या अत्र बन्धावलिका संक्रमावलिरहिता च सर्वा स्थितिर्यत्स्थितिरिह आवलिकात्रिकरूपोद्धाच्छेदस्तदुदयवन्तस्तदीरणास्वामिनः। एवमुत्तरत्रापि यावत् यावानुदीरणाया अयोग्यः कालस्तावानद्धाच्छेद-स्तदुदयवन्तस्तूदीरणास्वामिनो वेदितव्याः। तथा सप्ततिसागरोपमकोटीप्रमाणमिथ्यात्वस्य स्थितिर्मिथ्यादृष्टिना सताद्धा च ततोऽन्तर्मुहूर्तकालं यावन्मिथ्यात्वमनुभूय सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ततः सम्यक्त्वे सम्यङ् मिथ्यात्वे चान्तर्मुहूर्तोना मिथ्यात्वस्थितिः सकलामपि संक्रमयति संक्रमावलिकायां चातीतायामुदीरणा योग्या तत्र संक्रमावलिकातिक्रमेऽपि सान्तर्मुहूर्तो नैव ततः सम्यक्त्वमनुभवतः सम्यक्त्वस्यान्तर्मुहूर्तोना सप्ततिसागरोप-मकोटा-कोटिप्रमाणा उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणा योग्या ततः कश्चित् सम्यक्त्वेप्यन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते ततः सम्यग्मिथ्यात्वमनुभवतः सम्यङ् मिथ्यात्व-

स्यान्तर्मुहूर्तं द्विकोना सप्ततिसागरोपमकोटाकोटिप्रमाणा उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या भवति । तथा आहारकसप्तमप्रमत्तेन सता तद्योग्योत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टस्थितिकं बद्धतत्कालोत्कृष्टस्थितिकं मूलप्रकृत्यभिन्नप्रकृत्यन्तरदलिकं च तत्र संक्रमितमतस्तत्सर्वोत्कृष्टा तत्तत्सागरोपमकोटाकोटीस्थितिकं जातं बन्धानन्तर चान्तर्मुहूर्त्तमतिक्रम्य आहारकशरीरमारभते । तच्चारभमाणा लब्ध्युपजीवनेनौत्सुक्यभावतः प्रमादभाग्भवति ततस्तस्य प्रमत्तस्य सत आहारकशरीरमुत्पादयतः आहारकसप्तस्यान्तर्मुहूर्त्तोना उत्कृष्टास्थितिरुदीरणायोग्या । अत्र प्रमत्तस्य सत आहारकशरीरारम्भत्वात् उत्कृष्टस्थित्युदीरणा स्वामित्वप्रमत्तसंयत एव वेदितव्या । शेषप्रकृतीनां सूत्रकृदेव विशेषमाचष्टे (निरयगएवावित्ति) नरकगतेरपिशब्दात् नरकानुपूर्व्याश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा उत्कृष्टां स्थितिं बध्वा उत्कृष्टस्थितिबन्धानन्तरं चान्तर्मुहूर्त्ते व्यतिक्रान्ते सति तिसृषु अधस्तनपृथवीषु मध्ये अन्यतरस्यां समुत्पन्नस्तस्य प्रथमसमये नरकगतेरन्तर्मुहूर्त्तहीने सर्वापि स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा उदीरणा योग्या भवति नरकानुपूर्वी चापान्तरालगतौ समयत्रयं यावदुत्कृष्टास्थितिरुदीरणायोग्या भवति । अधस्तनपृथिवीत्रयग्रहणे किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते । इह नरकगत्यादीनामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् अवश्यं कृष्णलेश्यापरिणामोपेतो भवति कृष्णलेश्यापरिणामः पञ्चमपृथिव्यामुत्पद्यते । मध्यमकृष्णलेश्यापरिणामः षष्ठपृथिव्यामुत्कृष्टकृष्णलेश्या परिणामः सप्तमपृथिव्यामित्यधस्तनपृथिवीत्रयग्रहणं कृतम् ॥

देवगतिदेवमणुआ–णुपुव्वि आयावविगलसुहमतिगे ।
अंतोमुहुत्तभागा, ताव ए गूणंतदुक्कस्स ॥२५७॥

देवगतिर्देवानुपूर्वीमनुष्यानुपूर्वीणामातपस्य विकलपत्रिकस्य द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिरूपस्य सूक्ष्मत्रिकस्य सूक्ष्मसाधारणापर्याप्तकलक्षणस्य स्वस्वोदये वर्त्तमाना अन्तर्मुहूर्त्तभागा उत्कृष्टा स्थितिबन्धाध्यवसायानन्तमुहूर्त्तं कालं यावत्परिभ्रष्टाः सन्तस्तावदूनामन्तर्मुहूर्त्तोनां तत्तदुत्कृष्टां देवगत्यादिना उत्कृष्टां स्थितिमुदीरयन्ति । इयमत्र भावना । इह कश्चित् तथाविधपरिणामविशेषभावतो नरकगतेरुत्कृष्टां स्थितिं दशसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणां बद्धुमारभते ततस्तस्यां देवगतिस्थितौ बध्यमानायामावलिका उपरि बन्धावलिकाहीना आवलिकामात्रहीना जाता देवगतिं च बध्नन् जघन्यैषाप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् बध्नाति बन्धानन्तर च कालं कृत्वा अनन्तरसमये देवो जातस्ततस्तस्य देवत्वमनुभवतो देवगतिरन्तर्मुहूर्तोना विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा उत्कृष्टा स्थित्युदीरणायोग्या भवति । ननूक्तयुक्त्यनुसारेणावलिकाधिकान्तर्मुहूर्तोना प्राप्नोति कथमुच्यते अन्तर्मुहूर्त्तोनेति नैष दोषः यत आवलिका प्रक्षेप्येति तदन्तर्मुहूर्त्तमेव केवलं गृहान्तरमवगन्तव्यमित्येवं देवानुपूर्व्या अपि वाच्यम् । तथा कश्चिन्नरकानुपूर्व्या उत्कृष्टां स्थितिं विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणं बध्वा ततः शुभपरिणामविशेषतो मनुष्यानुपूर्व्या उत्कृष्टां स्थितिं पञ्चदशसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणं बद्धुमारभते ततस्तस्यां मनुष्यानुपूर्व्यां स्थितौ बध्यमानायामावलिकायामुपरि बन्धावलिकाहीनामावलिकामुपरितनीं सकलामपि नारकानुपूर्वीं स्थितिं संशमयति ततो मनुष्यानुपूर्व्या अपि विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा स्थितिरावलिकामात्रहीना जाता मनुष्यानुपूर्वीं च बध्नन् जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावद्भवति तच्चान्तर्मुहूर्त्तमावलिकोनविंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा उदीरणा योग्या । ननु मनुष्यगतेरपि पञ्चदश सागरोपमकोटाकोट्योर्बन्धेनोत्कृष्टा स्थितिः प्राप्यते तथा मनुष्यानुपूर्व्या अपि नत्वेकस्या अपि विंशतिस्तत उभयोरपि संक्रमोत्कृष्टे संक्रमोत्कृष्टत्वात् विशेषे च कथं मनुष्यगतेरिव मनुष्यानुपूर्व्या अपि आवलिकात्रिकहीनोत्कृष्टा स्थितिरुदिरणायोग्या न भवति तन्न युक्तं मनुष्यानुपूर्व्या अनुदयसक्रमोत्कृष्टत्वात् तदुक्तं ''मणुयाणुपुव्विमीसग, आहारग देवजुअलविगलाणि । सुहुमा तिगं तिव्व अणूदय संकमणं उक्कोसा, अनुदयः संक्रमोत्कृष्टानां च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तोनाया एवोत्कृष्टस्थितेरुदीरणायोग्यत्वात् मनुष्यगतिस्तूदयसंक्रमोत्कृष्टा तदुक्तं ''मणुयगई साईयं सम्मं विरहा सइय छवेय सुभ । खगई रिसभ चउरंगइ पणुच्च उदसंकमुक्कोसा'' ततस्तस्या आवलिकात्रिकहीने चोत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या भवति एवमातपादीनामप्यन्तर्मुहूर्तोना उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणा योग्या भवतु आतपानामनुबन्धोत्कृष्टं ततस्तस्य स्थितीनां प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्त्तोना उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या भवतु आतपानामनुबन्धोत्कृष्टा ततस्तस्य बन्धोदयावलिकाद्विकरहिते चोत्कृष्टस्थितिरुदीरणा प्रायोग्या भावनीया । ननु अनुदयसक्रमोत्कृष्टा स्थितीनां प्रकृतानामन्तर्मुहूर्तोना उत्कृष्टास्थितिरुदीरणा योग्या भवतु कथमुच्यते अन्तर्मुहूतोनेति उच्यते इह देव एवोत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमान एकेन्द्रियाणामेकोन्द्रियप्रायोग्याणामातपस्थावरैकेन्द्रियजातीनामुत्कृष्टां स्थिति बध्नाति नाऽन्यः च तां बध्वा तत्रैव देवभवे अन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् अवतिष्ठते ततः कालं कृत्वा बादरपृथ्वीकायिकेषु मध्ये समुत्पद्यते समुत्पन्नस्सन् शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तः आतपनामोदये वर्त्तमानस्तदुदीरयति तत एवं सति तस्यान्तर्मुहूर्त्तं । नैवोत्कृष्टा स्थितिरुदीरणा योग्या न भवति आतपग्रहणं चोपलक्षणं तेनान्यासामपि स्थावरैकेन्द्रियजातिनरकाद्विकतिर्यग्द्विकौदारिकसप्तकान्त्यसंहननिद्रापञ्चकरूपाणामकोनविंशतिसंख्याकानामनुदयबन्धोत्कृष्टानामन्तर्मुहूर्तोना उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्यावेदितव्या । तत्र स्थावरैकेन्द्रियजातिनरकद्विकानां भावना कृता शेषाणां क्रियते । तत्र नारकस्तिर्यग्द्विकौदारिकसप्तकान्त्यसंहननामुत्कृष्टां स्थितिं बध्वा ततो मध्यमपरिणामस्तत्र तत्र चान्तर्मुहूर्त्ते गते सति निद्रोदये उत्कृष्टोदीरणां करोति ।

तित्थयरस्स पल्लासं, खिज्जइमे जहन्नगे इत्तो ।
थावर जहन्नसंते, ण समं अहिगं व बंधंतो ॥२५८॥
गंतूणावलिमित्तं, कसाय बारसगभय दुगंठाणं ।
निद्दा य पंचगस्स य, आया उज्जो य नामस्स ॥२५९॥

इह पूर्वं तीर्थकरनाम्नः स्थितिशुभैरध्यवसायैरपवर्त्यापवर्त्यपल्योपमासंख्येयभागमात्रा शेषीकृता ततोऽनन्तरसमये उत्पन्नकेवलज्ञानः स तामुदीरयति उदीरयतश्च प्रथमसमये उत्कृष्टा उदीरणा सर्वदैव च इयन्मात्रैव स्थितिरुत्कृष्टा तीर्थकरनामतः उदीरणायोग्या प्राप्यते नाधिकेति । तदेवमुत्कृष्टस्थित्युदीरणास्वामित्वमुक्तम् । संप्रति जघन्यस्थित्युदीरणास्वामित्वमाह । (जहन्नगेइत्तोत्ति) इत ऊर्ध्वं जघन्ये जघन्यस्थित्युदीरणायाः स्वामित्वमभिधीयते प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति । (जावसजहन्नेत्यादि) स्थावरस्य सतोऽसज्जघन्यस्थित्युदीरणा सर्वस्तोकं स्थितिसत्कर्म तेन समधिकं वा मनाग् मात्रे–

णाभिनवकर्मा स एव जघन्यस्थितिकर्मा स्थावर एकेन्द्रियो बध्नन् बन्धावलिकायामतीतायामित्यर्थः । आद्य द्वादशकषायभयजुगुप्सा-निद्रापञ्चकातपोद्योतनाम्नामेकविंशतिप्रकृतीनां जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति इहातपोद्योतवर्जानामेकोनविंशतिप्रकृतीनां ध्रुवबन्धित्वादातपोद्योतयोस्तु प्रतिपक्षाभावात् अन्यत्र जघन्यतरा स्थितिर्न प्राप्यते ततः एकेन्द्रिय एव यथोक्तस्वरूपम् । आसां प्रकृतीनां *जघन्यस्थित्युदीरणास्वामी* ।

एगिंदिय जोग्गाणं, इयरा बंधंत आलिगं गंतु ।
एगिंदियागए तद्धिय जाईणमवि एव्वं ॥२६०॥

एकेन्द्रियाणामेव उदीरणा संप्रति या योग्याः प्रकृतयस्ता एकेन्द्रिययोग्याः । एकेन्द्रिया जातिस्थावराः सूक्ष्मसाधारणनामानस्तासामेकेन्द्रियो जघन्यास्मिन् स्थितिः सत्सत्कर्मा इतरा एकेन्द्रियजात्यादिप्रतिपक्षभूता द्वीन्द्रियजात्यादिकाः प्रकृतीर्बध्नाति । तद्यथा एकेन्द्रियजातिद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रिय जातिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरसूक्ष्मसाधारणानां त्रसबादरप्रत्येकनामानि ततः एकेन्द्रियजात्यादीर्न बध्नाति ततो बन्धावलिकां गत्वा अतिक्रम्य बन्धावलिकायाश्चरमसमये एकेन्द्रियजात्यादीनां जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति । इयमत्र भावना एकेन्द्रियः सर्वजघन्यस्थितिसत्कर्मा द्वीन्द्रियजातीः सर्वा अपि परिपाट्या बध्नाति ततस्तावद्बन्धानन्तरमेकेन्द्रियजातिर्बद् धुमारभते ततो बन्धावलिकायाश्चरम समये पूर्वबद्धायास्तस्या एकेन्द्रियजाति-र्जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति। इह बन्धावलिकाया अनन्तरसमये बन्धावलिका प्रथमसमयबद्धा । अपि च ता उदीरणामायान्ति ततो जघन्या स्थित्युदीरणा न प्राप्यते इति कृत्वा बन्धावलिकायाश्चरम-समये इत्युक्तं यावता कालेन प्रतिपक्षभूताः प्रकृतीर्बध्नाति तावता कालेनान्यूना एकेन्द्रियजातिस्थितिर्भवति ततस्तोकतरा प्राप्यते, इति प्रतिपक्षभूतप्रकृतिबन्धोपादानम् । एवं स्थावरसूक्ष्मसाधारणानामपि भावना कर्त्तव्या केवलमेतेषां प्रतिपक्षभूताः प्रकृतयः त्रसबादरप्रत्येकनामानो वेदितव्याः । (एगेंदियागएत्ति) जातीनामपि द्वीन्द्रियादिजातीनामपि एवं पूर्वोक्तप्रकारेण एकेन्द्रियादागतस्तत्स्थितिक एकेन्द्रिययोग्यतया जघन्यस्थितिका जघन्या स्थित्युदीरणां करोति । अत्रापीयं भावना । एकेन्द्रियो जघन्यस्थितिः सत्कर्मा एकेन्द्रियभवादुद्वृत्य द्वीन्द्रीयेषु मध्ये समुत्पन्नस्ततः पूर्वबद्धां द्वीन्द्रियजातिमनुभवितुमारभते । अनुभवप्रथमसमयादारभ्य च एकेन्द्रियजातिर्दीर्घं कालं बद्धुं लग्नस्ततस्तयैव त्रीन्द्रियजातिर्बद्धुमारभते ततो बन्धावलिकायाश्चरमसमये तस्या । द्वीन्द्रियजातिरेकेन्द्रियजातिभवोपार्जितस्थितिसत्कर्मापेक्षया , अन्तर्मुहूर्त्त चतुष्टयबन्धावलिकाचरमसमये ग्रहणे च कारणं प्रागेवोक्तम् । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजात्योरपि भावना कार्या ।

वेयणियनो कसाया, सम्मत्तस्संघयणपंचनीयाण ।
तिरिय दुगअयसदुभगणा, पुन्नाणं च संतिगए ॥२६१॥

सातासातवेदनीयहास्यरत्यरतिशोकपर्याप्तकान्तिमपञ्चसंहनननीचैर्गोत्रतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्ययशः कीर्त्तिदुर्भगानादेयऽपाणामष्टादशप्रकृतीनां संज्ञिपञ्चेन्द्रियगते जघन्या स्थित्युदीरणा। भावना त्वियम् । एकेन्द्रिया जघन्यस्थितिसत्कर्मा एकेन्द्रियभवादुद्वृत्य पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नः उत्पत्तिप्रथमसमयादारभ्य च सातवेदनीयमनुभवन् असातवेदनीयं वृहत्तर मन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् बध्नाति ततः पुनरपि सातं बद्धुमारभते ततो बन्धावलिकायाश्चरमसमये पूर्वबद्ध-स्य सातवेदनीयस्य जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति एवमसातवेदनी-यस्यापि द्रष्टव्यं केवलं सातवेदनीयस्थाने असातवेदनीयमुच्चारणीयम्। *असातवेदनीयस्य सातवेदनीयमिति हास्यरत्यरतिशोकासातवद्भावना कार्या* आसमाप्तम् । अपर्याप्तकम् नाम एकेन्द्रियो जघन्यस्थितिसत्कर्मा *एकेन्द्रियभवादुद् वृत्य पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमध्ये* समुत्पन्न उत्पत्तिप्रथमसमयादारभ्य च पर्याप्तकनाम वृहत्तरमन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावद् बध्नाति ततः पुनरपि अपर्याप्तकनाम बद्धुमारभते बन्धावलिकायाश्चरमसमये पूर्वबद्धस्यापर्याप्तकनाम्नो जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति संहनन-पञ्चकस्य तु मध्ये वेद्यमानं संहननं मुक्त्वा शेषसंहनन प्रत्येकं बन्धकालोऽतिदीर्घो वक्तव्यः । ततो वेद्यमानसंहननस्य बन्धे बन्धावलिकाचरमसमये स्थित्युदीरण नीचैर्गोत्रमसातवद्वेदितव्यम् । तथा तैजस्कायिको वायुकायिको बादरसर्वजघन्यस्थितिसत्कर्मा पर्याप्तसंज्ञितिर्यक्पञ्चेनिद्रयेषु मध्ये समुत्पन्नस्ततो वृहत्तरमन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावन्मनुजगतिं बध्नाति तद्बन्धानन्तरं च तिर्यग्गतिं बद्धुमारभते । तत आवलिकायाश्चरमसमये तस्यास्तिर्यग्गतिर्जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति एवं तिर्यगानुपूर्व्या अपि वक्तव्यं नवरमपान्तरालगतौ तृतीय-समये जघन्या स्थित्युदीरणा वाच्या अयशःकीर्त्तिदुर्भगानादेयानां चासातस्यैव भावना कार्या केवलमिह प्रतिपक्षप्रकृतीनां यशः कीर्तिसुभगादेयानां बन्धो वाच्यः ।

अमणागयस्स विरइअंत, सुरनरयगइउवंगाणं ।
अणुपुव्वीति समइगे, नराण एगें दिआ गयगे ॥२६२॥

अमनस्कादसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादुद्वृत्य देवेषु वा मध्ये समागतस्य सुरगतिनरकगतिवैक्रियाङ्गोपाङ्ग नाम्ना स्वस्वायुर्दैर्घ्यस्थित्यन्तरे जघन्या स्थित्युदीरणा । एतदुक्तं भवति असंज्ञिपञ्चेन्द्रियः सर्वजघन्यां सुरगतिस्थितिं बध्वा बन्धानन्तरं च दीर्घकालं तत्रैव स्थित्वा देवेषु नारकेषु वा मध्ये पल्योपमासंख्येयभागमात्रायुः स्थितिकः समुत्पन्न--स्ततस्तस्य देवस्य नारकस्य वा स्वस्वायुषश्चिरस्थित्यन्ते चरमसमये वर्त्तमानस्य यथायोगं देवगतिनरकगतिवैक्रियाङ्गोपाङ्ग नाम्नां जघन्या स्थित्युदीरणा स एवासंज्ञिपञ्चेन्द्रियो देवस्य नरकस्य वा भवस्या--पान्तरालगतौ वर्त्तमानो यथासंख्यं देवानुपूर्वी नारकानुपूर्व्योश्च तृतीयसमये जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति । (नराण एगेंदिआगयगेत्ति) एकेन्द्रियः सर्वजघन्यमनुष्यानुपूर्वीस्थितिः सत्कर्मा एकेन्द्रियभवादु--द्वृत्य मनुष्येषु मध्ये उत्पद्यमानो ऽपान्तरालगतौ वर्त्तमानो मनुष्यानुपूर्व्यास्तृतीयसमये जघन्यस्थित्युदीरणास्वामी भवति ।

समया हिगलगाए, पढमट्ठिइओ सेसवेलाए ।
मिच्छत्ते वेरासु य, संजलनासु वि य सम्मत्ते ॥२६३॥

इह अन्तरकरणे कृते अधस्तनी स्थितिः प्रथमा स्थितिरित्युच्यते । उपरितनी तु द्वितीयेति । तत्र प्रथमस्थितेः शेषवेलायां समयाधिकावलिकाप्रमाणायां मिथ्यात्ववेदत्रिकं संज्वलनचतुष्टयं सम्यक्त्वानां जघन्यस्थित्युदीरणा भवति नवरं सम्यक्त्वसंज्वलनलोभयोः क्षये उपशमे वा जघन्या स्थित्युदीरणा द्रष्टव्या ।

पल्लासंखियभागणुदए, एगिंदिआगए मिस्से।
वेसत्तभागवेउ–छिआए पवेणस्स तस्स ॥२६४॥

पल्योपमासंख्येयभागानभ्युदये एकं सागरोपमं तावन्मात्रं सम्यग्मिथ्यात्वस्थितिसत्कर्मा एकेन्द्रियभवादुद्वृत्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियमध्ये समयतस्तस्य यतः समयादारभ्य अन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं सम्यङ्मिथ्यात्वस्योदीरणापगमिष्यति तस्मिन्सम्यङ् मिथ्यात्वप्रतिपन्नस्य चरमसमये सम्यङ् मिथ्यात्वस्य जघन्या स्थित्युदीरणा एकेन्द्रियस्तत्कर्मणो जघन्यस्थितिसत्कर्मणश्च सकाशादधो–वर्त्तमानं सम्यङ्मिथ्यात्वमुदीरणायोग्यं न भवति तावन्मात्रस्थितिके तस्मिन्नवश्यं मिथ्यात्वोदयसम्भवस्तद्वलनसंभवात्। तथा यैः सप्तभिर्भागैस्सागरोपम भवति तौ द्वौ सप्तभागौ यस्य वैक्रिय–षट्कस्य वैक्रियशरीरवैक्रियसंघातवैक्रियबन्धनचतुष्टयरूपस्य तद्द्विसप्तभागैर्वैक्रियं ततो विशेषणसमासः प्राकृतत्वात् स्त्रीत्वनिर्देशः। इहापि च ''पल्लासंखियभागेण'' इत्यनुवर्त्तते ततश्च द्विसप्तभागैर्वैक्रियषट् कस्य पल्योपमासंख्येयभागहीनस्य पवनस्य बादरवायुकायिकस्य तस्य वैक्रियपर्यन्तसमये जघन्या स्थित्युदीरणा। एतदुक्तं भवति बादरवायुकायिकः पल्योपमासंख्येयभागहीनसागरोपमद्विसप्तभागप्रमाणैर्वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितिसत्कर्म बहुशो वैक्रियमारभ्य चरमसमये वैक्रियारम्भे चरमसमये वर्त्तमानो जघन्यस्थित्युदीरणां करोति अनन्तरसमये च वैक्रियषट् कमेकेन्द्रियसत्कर्मजघन्यषट्कर्मापेक्षया स्तोकतरमिति कृत्वा उदीर–णायोग्यं न भवति। किंतूद्वलनायोग्यम्।

चउरुवसमत्तपेम्मं, पच्छामिच्छं खवेत्तु तेत्तीसा।
उक्कोससंजमद्धा, अंते सुतणुउवंगाणं ॥२६५॥

संसारपरिभ्रमेणन चतुरो वारान् प्रेम मोहनीयमुपशमय्य ततो मिथ्यात्वमुपलक्षणमेतत् सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं क्षपितं क्षपयित्वा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिको देवो जातः। ततो देवभवाच्च्युत्वा मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नस्ततो वर्षाष्टकानन्तरं तत्समयसंयमप्रतिपन्नेऽप्रमत्तभावे चाहारकसप्तकं बद्ध्वांस्ततो देशानां पूर्वकोटिं यावत्संयमं परिपालितवांस्ततो देशोनपूर्वकोटिपर्यन्ते आहारकशरीरं कृत्वा (सुतणुत्ति) आहारकशरीरम् (उवंगत्ति) आहारकाङ्गोपाङ्गं बहुवचनादाहारकबन्धनचतुष्टयाहारकसंघातपरिग्रहः तेषां जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति इह मोहोपशमं कुर्वन् शेषनामकर्मप्रकृतीनां घातादिभिः प्रभूतं स्थितिसत्कर्म घातयति। देवभवे चापवर्त्तनाकरणेनापवर्तयति ततः आहारकसप्तकं बन्धकाले स्तोकमेव स्थितिसत्कर्म संक्रमयति ततो देशोनपूर्वकोट्युपादानम्।

छउमत्थ खीणरागे, चउदससमयाहि गालिगट्ठिइए।
सेसाणुदीरणंते, भिन्नमुहुत्तो ठिईकालो ॥२६६॥

छद्मस्थक्षीणरागस्य पञ्चविधज्ञानावरणचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणपञ्चविधान्तरायलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ जघन्या स्थित्युदीरणा शेषाणां च प्रकृतीनां मनुजगतिपञ्चेन्द्रियजातिप्रथमसंहननौदारिकसप्तकसंस्थानषट्कोपघातप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगति त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकशुभभगसुस्वरादेय–यशःकीर्त्तितीर्थकरोच्चैर्गोत्रलक्षणानां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां पूर्वोक्तानां च नाम ध्रुवोदीरणायां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां सर्वसंख्यया पञ्चषष्टिसंख्या–कानां सयोगिकेवलचरमसमये जघन्या स्थित्युदीरणा तस्याश्च जघन्यायाः कालो भिन्नमुहूर्तोऽन्तर्मुहूर्त्तमित्यर्थः। आयुषामप्युदीरणा–न्ते जघन्या स्थित्युदीरणा। संप्रति भागोदीरणावसरस्तत्र च इमे अर्थाधिकारास्तद्यथा संज्ञाशुभाशुभविपाकसूचनार्थमाह।

अणुभागुदीरणाए, सन्ना य शुभाशुभविभागो य।
अणुभागबंधमणिआ, ताणत्तं पच्चया चेमे ॥२६७॥

अनुभागोदीरणायां संज्ञाशुभाशुभविपाकश्चय यथा शतकाख्ये ग्रन्थे अनुभागा बन्धाश्चाभिधानावसरे भणितास्तथाऽत्रापि द्रष्टव्याः। तत्र संज्ञासंज्ञिद्विभेदात् स्थानसंज्ञा घाति संज्ञा च। संज्ञा चतुर्विधा एकस्थानको द्विस्थानकस्त्रिस्थानकश्चतुःस्थानकश्च। घातिसंज्ञा त्रिप्रकारा तद्यथा सर्वघाती देशघाती अघाती च। तथा शुभकर्मणामनुभागः क्षीरखण्डोपमः। अशुभकर्मणां त्वशुभघाति घोषातकीनिस्वरसोपमः। एषा च स्थानसंज्ञा घातिसंज्ञा शुभाशुभप्ररूपणा च प्रागनुभाग–संक्रमाभिधानावसरे सप्रपञ्चं कृतेति न भूयोविज्ञायते। विपाकश्चतुर्विधः पुद्गलविपाकः क्षेत्रविपाको भवविपाको जीवविपाकश्च। तत्र पुद्गलानधिकृत्य यस्य रसस्य विपाकोदयः स पुद्गलविपाकः। स च संस्थानषट्कसंहननषट्कातपशरीरपञ्चकाङ्गोपाङ्गत्रयोद्योतनिर्माणस्थिरास्थिरवर्णादिचतुष्कागुरुलघुशुभाशुभपराघातोपघातप्रत्येक साधा–रणनाम्ना षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामवगन्तव्यः। तथाहि संस्थाने गामादीनि औदारिकादिपुद्गलानेवाधिकृत्य स्वविपाकमुपदर्शयन्ति तत आसां रसः पुद्गलविपाक एव। नन्वनया युक्त्याऽरत्योरत्योरपि रसः पुद्गलविपाक एषा प्राप्नोति। तथाहि कण्टकादिसंस्पर्शादरतिविपाकोदयो भवति स्रक् चन्दनादिसंस्पर्शात्तु रतेः तत्कथं स नोक्तः। उच्यते रत्यरतिविपा–कस्य पुद्गलव्यभिचारात्। तथाहि कण्टकादिसंस्पर्शव्यतिरेकेऽपि प्रियस्मरणादिना कदाचिदुपरत्योर्विपाकादयोदृश्यन्ते ततोऽनयोरनुभागजीवविपाक एव युक्तो न पुद्गलविपाक एवं क्रोधादिविपाको भावनीयाः। उक्तं च।

अरइ रईणं उदयो किन्न भवे पोग्गलानि संपप्पा।
अप्पुट्ठेहि विकन्नो एवं कोहाइयाणं पि ॥

अस्याश्चाक्षरगमिनिका। अरतिरत्योरुदयो विपाकोदयः पुद्गलान् प्राप्य किन्न भवति भवत्यवेति भावः। ततः कथं तयोः रसपुद्गलविपाको नोच्यन्ते अत्राचार्यः काक्वा प्रत्युत्तामाह (अप्पुट्ठेहिं वि कन्नो) अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया ततो ऽयमर्थः। अस्पृष्टेष्वपि पुद्गलेषु किं न तयोरत्यरत्योर्विपा–कोदयो भवति भवत्येवेति भावः। ततः पुद्गलव्यभिचारात् तयो रसपुद्गलविपाको न भवति किं तु जीवविपाक एव एवं क्रोधादीनामपि वाच्यम्। तथा क्षेत्रविपाकः। स च चतसृणामानुपूर्वी णामवगन्तव्यः। तथा भवमधिकृत्य यस्य रसस्य विपाकोदयः स रसो भवविपाकः स च चतुर्णामायुषामवसेयः। अथोच्यते ततः कथं तासां रसो भवविपाको नाभिधीयते तदयुक्तं व्यभिचारात्। तथाहि आयुषां स्वभवमन्तरेण परभवे संक्रमेणाप्युदयो भवति ततः सर्वथा स्वभवाव्यभिचारात्तानि भवविपाकान्युच्यन्ते गतीनां पुनः परभवेऽपि संक्रमणोदयो भवति ततः स्वभवव्यभिचारात् न ता भव–

विपाकशुन्याः । उक्तं च ''आउव्वभवविवागाई गईत आउस्स परभवे जम्हा । नो सव्वहा वि उदओ गईण पुण संकमेणट्ठि'' सुगमा शेषाणां त्वष्टसप्ततिसख्यानां प्रकृतीनां जीवविपाको रसः जीवमधिकृत्य विपाको यस्यासौ जीवविपाकः (नाणत्तं पच्चयामेत्ति) नानात्वं विशेषो यत्तत्र शतकाख्ये ग्रन्थे अनुभागबन्धेनोक्तं तदिह वक्ष्ये उक्तस्य च विशेषमित्यर्थस्तथा तत्र बन्धमाश्रित्य अन्ये एवं मिथ्यात्वादयः प्रत्ययाः उक्ताः । इह उदीरणामाश्रित्य अन्ये एवं वक्ष्यमाणा ज्ञातव्याः तत्र नानात्वप्ररूपणार्थमाह ।

मीसुदुट्ठाणे सव्वघाइ, दुट्ठाण एगट्ठाणे य ।
सम्मत्तमंतरायं च, देसघाई अचक्खूअ ॥२६८॥

सम्यङ् मिथ्यात्वं स्थानसंज्ञामधिकृत्य द्विस्थानकं द्विस्थानकरसोपेतं घातिसंज्ञामधिकृत्य सर्वघातिसम्यक्त्वं पुनरुत्कृष्टोदीरणामधिकृत्य द्विस्थानकरसोपेतं जघन्योदीरणां त्वधिकृत्य एकस्थानकं घातिसंज्ञामधिकृत्य च देशघाति वेदितव्यम् । एतच्च तत्र सर्वथा नोक्तं किंत्विहैव यत्र तत्राऽनुसारेण भागबन्धमाश्रित्य शुभाशुभप्ररूपणा कृता । नच सम्यक्त्वसम्यङ् मिथ्यात्वयोर्बन्धः संभवति तत एतद्वर्जा एव तत्राशुभप्रकृतयो निर्दिष्टाः उदीरणा त्वेतयोरपि भवति तत इह विशेषेणैव तयोरुपादानम् । तथान्तरायपञ्चकप्रकारम् । उत्कृष्टामनुभागोदीरणामधिकृत्य द्विस्थानके एकस्थानके च घातिसंज्ञामधिकृत्यदेशघाति वेदितव्यम् । बन्धं प्रतीत्य पुनश्चतुः प्रकारेऽपि रसस्तद्यथाचतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके एकस्थानके च । अचक्षुर्दर्शन घातिसंज्ञामधिकृत्य देशघाति ।

ठाणेसु चउसु अपुमं, हुंठाणे कक्खडचगुरुकंच ।
अणुपुव्वीओ तीसं, नरतिरियगंत जोग्गा य ॥२६९॥

नपुंसकवेदो बन्धं प्रतीत्य त्रिप्रकारे रसे । तद्यथा चतुः स्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके च । अत्र तूत्कृष्टामनुभागोदीरणामधिकृत्य चतुःस्थानके अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य चतुःस्थानके त्रिस्थानके एकस्थानके च । ननु बन्धाभावे कथमुदीरणायामेकस्थानको रसो नपुंसकवेदस्य प्राप्यते उच्यते क्षेपणाकाले रसघातं कुर्वतः तस्य एक-स्थानकस्यापि रससंभवात् । तथा कर्कशनाम गुरुनाम च बन्धं प्रतीत्य चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके च । इह त्वनुभागोदीरणामधिकृत्य द्विस्थानके तथा चतस्र आनुपूर्व्यो यावच्चरतिरश्चामुदयं प्रति एकान्त-योग्यास्त्रिंशत् प्रकृतयस्तद्यथा-मनुष्यायुस्तिर्यगायुर्गतिर्मनुष्यगतिरेकेन्द्रियजातिद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिश्चौदारिकसप्तकम् । आद्यन्तवर्जसंस्थानचतुष्टयसंहननषट् कमातपस्थावरसूक्ष्मपर्याप्तसाधारणं चेति । ता अपि बन्धं प्रतीत्य चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके च । इह त्वनुभागोदीरणामुत्कृष्टानुत्कृष्टां चाधिकृत्य द्विस्थानके रसे वेदितव्याः ।

वेया एगट्ठाणे, दुट्ठाणे वा अचक्खुचक्खू अवेदा ।
जस्सत्थि एगमवि, अक्खरं तु तस्सेगठाणाणि ॥२७०॥

स्त्रीवेदः पुरुषवेदोऽनुभागोदीरणामुत्कृष्टामधिकृत्य द्विस्थानके अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य द्विस्थानके एकस्थानके वा ऽवगन्तव्यौ । एवमचक्षुश्चक्षुर्दर्शनावरणे च बन्धं प्रतीत्य पुनः स्त्रीवेदश्चतुः स्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके वा पुरुषवेदो ऽचक्षुर्दर्शनावरणे चक्षुर्दर्शनावरणे च चतुःप्रकारेऽपि । तद्यथा चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके एकस्थानके च । ननु ''देसघाई अचक्खुयत्ति'' प्रागेवोक्तं तत्किमर्थं पुनरिहाचक्षुर्दर्शनावरणोपादानमुच्यते स्थाननियमार्थम् । पूर्वं हि देशघातित्वमेवाचक्षुर्दर्शनावरणस्योक्तमत्र तु रसस्थाननियमः । (जस्सत्थिएत्ति) यस्य जीवस्य एकमप्यक्षरं सर्वपर्यायैः परिज्ञातं वर्त्तते तस्य श्रुतकेवलिनो मतिश्रुतावधिदर्शनावरणप्रकृतीनामनुभागोदीरणायामेकस्थानको रसः प्राप्यते संज्वलनानां तु बन्धे अनुभागोदीरणायां च चतुःप्रकारेऽपि रसः । तद्यथा । चतुःस्थानकः त्रिस्थानको द्विस्थानक एकस्थानकश्च ।

मणनाणं सेससमं, मीसगसम्मत्तमविय पावेसु ।
छट्ठाणवडियहीणा, उक्कोसाणुभागुदीरणा कुणइ ॥२७१॥

मनः पर्यायज्ञानं शैषैः कर्मभिः समं वेदितव्यम् । इयमत्र भावना । यथा शेषकर्मणामनुभागोदीरणा चतुःस्थानकस्य त्रिस्थानकस्य द्विस्थानकस्य चरमस्य भवति तथा मनः पर्यायज्ञानावरणकर्मणामनुभागोदीरणा वरणस्यापि द्रष्टव्या एवं पुनर्मनःपर्यायज्ञानावरणस्य चतुःप्रकारोऽपि रसो भवति शेषकर्मणां तु बन्धे त्रिप्रकारास्तद्यथा चतुःस्थानकस्त्रिस्थानका द्विस्थानकश्च । तानि च शेषकर्माण्यमूनि । तद्यथा केवलज्ञानावरणं निद्रापञ्चकं केवलदर्शनावरणं च सातासातवेदनीये, मिथ्यात्वं द्वादश कषायाः षट् नोकषायाः नरकायुर्देवायुः नरकगतिर्देवगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्तैजससप्तकं वैक्रियसप्तकमाहारकसप्तकं समचतुरस्रसंस्थानंहुंडकसस्थानं वरणपञ्चकं गन्धादिकं रसपञ्चकं स्निग्धरूक्षमृदुलघुशीतोष्णरूपं षट्कम् अगुरुलघूपघात पराघात मुच्छ्वासोद्योतप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रस बादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भग दुःस्वरसुस्वरानादेययशःकीर्त्तिनिर्माणतीर्थंकराच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्राणि च । एतेषां च एकोत्तरशतं संख्यानां शेषकर्मणामुत्कृष्टामनुभागोदीरणामधिकृत्य चतुःस्थानको रसः । अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य चतुः स्थानकस्त्रिस्थानको द्विस्थानकश्च मतिश्रुतावधिमनः पर्यायज्ञानावरण चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणानामुत्कृष्टामनुभागोदीरणामधिकृत्य रसः । स च घाती अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य सर्वघाती देशघाती वा । केवलज्ञानावरणनिद्रापञ्चकमिथ्यात्वद्वादशकषायाणामुत्कृष्टामनुष्कृष्टां वा अनुभागोदीरणामधिकृत्य रसघाती सर्वघाती सातासातवेदनीयायुश्चतुष्टयसकलनामप्रकृतिगोत्रद्विकानामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा उदीरणामधिकृत्य रसः सर्वघाती अनुत्कृष्टांत्वधिकृत्य सर्वघाती वा प्रतिपत्तव्यः । इदानी मशुभप्रकृतिविषयविशेषमाह (मीसगसम्मत्तेत्ति) अपि च सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं चानुभागोदीरणामधिकृत्य पापेषु पापकर्मसु मध्येऽवगन्तव्यम् । घातिस्वभावतया तयो रसस्य अशुभत्वात् शेषप्रकृतयस्तु यथाशतकग्रन्थे अनुभागबन्धे शुभाशुभाश्चोक्तास्तथात्राप्यवगन्तव्याः । कीदृशे अनुभागसत्कर्मणि वर्त्तमान उत्कृष्टामनुभागोदीरणां करोति उच्यते-(छट्ठाणवडियहीणेत्ति) अनुभागसत्कर्मणि षट्स्थापनाः पतितहीनादपि उत्कृष्टामनुभागोदीरणां करोति उच्यते प्रवर्त्तते एतदुक्तं भवति यत्सर्वोत्कृष्टमनुभागं सत्कर्म तस्मिन् अनन्तभागहीने वा संख्यातभागहीने वा असंख्येयगुणहीने वा अनन्तगुणहीने वा उत्कृष्टा अनुभागोदीरणा प्रवर्त्तते यतोऽनन्तानन्तस्पर्द्धकानामनुभागे

क्षपते अनन्तानि स्पर्द्धकानि उत्कृष्टरसान्यद्यापि तिष्ठन्ति । ततोऽनन्तभागेऽपि शेषे मूलानुभागसत्कर्मापेक्षयाऽनन्तगुणहीना उत्कृष्टानुभागोदीरणा लभ्यते किं पुनरसंख्येयगुणहीनादावनुभागकर्मणीति ।

संप्रति विपाके विशेषमाह ।

विरियंतरायकेवल–दंसणमोहणीयणाणवरणाणं ।
असमत्थपत्तएसु, सव्वदव्वेसु वि विवागो ॥ २७२ ॥

वीर्यान्तरायकेवलदर्शनावरणाष्टाविंशतिविधमोहनीयपञ्चविधज्ञानावरणानां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां समस्तपर्यायेषु सर्वद्रव्येषु सर्वजीवद्रव्येषु विपाकः । तथाहि इमा वीर्यान्तरायाः पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयो द्रव्यतः सकलमपि जीवद्रव्यमुपघ्नन्ति पर्यायतस्तु न सर्वानपि यथा मेघैरतिनिचिततरैरपि सर्वात्मनान्तरितयोरपि सूर्याचन्द्रमसोर्न तत्प्रभा सर्वथाऽपनेतुं शक्यते उक्तं च " सुट्ठु वि मेहसमुदिए, होइ पहा चंदसुराणं पि " तथा अत्रापि भावनीयम् ।

गुरुलघुगाणंतपए, सिएसु चक्खुस्स रूवदव्वेसु ।
ओहिस्स गहणधारण,जो गइससंतरायाणं ॥ २७३ ॥

चक्षुषश्चक्षुर्दर्शनावरणगुरुलघुकाः अनन्तप्रादेशकाः स्कन्धास्तेषु विपाकः अवधिदर्शनावरणस्य रूपिद्रव्येषु शेषान्तरायाणां दानलाभोभोगान्तरायाणां ग्रहणधारणयोग्येषु पुद्गलद्रव्येषु विपाको न शेषेषु यावत्येव हि विषये चक्षुर्दर्शनादीनि व्याप्रियन्ते तावत्येव विषये चक्षुर्दर्शनावरणादीन्यपि तत उक्तरूपो विषयनियमो न विरुद्ध्यते । शेषप्रकृतीनां तु तथा प्राग्विपाकोऽभिहितः पुद्गलविपाकादिस्तथैवात्रावगन्तव्यः । संप्रति प्रत्ययप्ररूपणा कर्त्तव्या प्रत्ययोऽपि द्विधा परिणामप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च । तत्र परिणामप्रत्ययमधिकृत्याह ।

वेउव्वीय तेयग, कम्मवन्नरसगंधनिद्धलुक्खाउ ।
सीउण्हथिरसुभेयर, अगुरुलघुगा य नरतिरिय ॥ २७४ ॥

वैक्रियसप्तकं तैजसकार्मणग्रहणात्तैजससप्तकं गृहीतम् । तथा वर्णपञ्चकं गन्धद्विकरसपञ्चकं स्निग्धरूक्षशीतोष्णस्थिरास्थिरशुभाशुभगुरुलघूनि चानुभागोदीरणामधिकृत्य तिर्यग्मनुष्याणां परिणामप्रत्ययानि वैक्रियसप्तकं तिर्यङ्मनुष्यगतिमनुष्याणां गुणविशेषसमुत्थलब्धिप्रत्ययं ततस्तदुदीरणापि तेषां गुणपरिणामप्रत्यया तैजससप्तकादयस्तु तिर्यङ्मनुष्यैरन्यथाऽन्यथा विपरिणमय्य उदीर्यन्ते ततस्तासामपि प्रकृतीनामनुभागोदीरणा तिर्यग्मनुष्याणां परिणामप्रत्यया ।

चतुरंस मउय लहुगा, परघाउज्जुप्पइट्ठखगइसरा ।
पत्तेगतणू उत्तरतणू, सो दोसोवि य तणुतईया ॥ २७५॥

समचतुरस्रसंस्थानमृदुलघुपराघातोद्योतप्रशस्तविहायोगतिसुस्वरप्रत्येकनामानोऽष्टौ प्रकृतयः । उत्तरतन्वर्थं वैक्रियाहारकलक्षणयोरनुभागोदीरणामधिकृत्य परिणाममधिकृत्य परिणामप्रत्यया वेदितव्या यत उत्तरवैक्रिये आहारके वा शरीरे सति समचतुरस्रसंस्थानामनुभागोदीरणां प्रवर्तमाना उत्तरवैक्रियादिशरीरपरिणामापेक्षा । ततः एषापि परिणामप्रत्यया वेदितव्या तथा तृतीया तनुराहारकशरीरमाहारकशरीरग्रहणाच्चाहारकसप्तकं गृहीतं द्रष्टव्यम् । तत अनुभागोदीरणामधिकृत्य परिणामप्रत्ययं वेदितव्यम् । आहारकसप्तकं हि मनुष्याणां गुणपरिणाम प्रत्ययं भवति । ततस्तदनुभागोदीरणामधिकृत्य परिणामप्रत्ययं वेदितव्यम् । आहरकसप्तकं हि मनुष्याणां गुणपरिणामप्रत्ययं भवति ततस्तदनुभागोदीरणापि गुणपरिणामप्रत्ययवेति ।

देसविरयविरयाणं, सुभगाएज्जसकित्तिउव्वाणं ।
पुव्वाणुपुव्वगाए, असंखभागो तिथयाईणं ॥ २७६ ॥

देशविरतानां विरतानां च सुभगादेययशः कीर्त्युच्चैर्गोत्राणामनुभागोदीरणा परिणामकृता तथाहि सुभगादिप्रत्यक्षभूतदुर्भगादिप्रकृत्युदये युतेऽपि यो देशे विरतिं वा प्रतिपद्यते तस्यापि देशविरत्यादिगुणप्रभावतः सुभगादीनामेव प्रकृतीनामुदयकोटिपूर्वकमुदीरणायोग्या गुणपरिणामे च प्रत्ययतो वेदितव्या । इदमुक्तं भवति । स्त्रीवेदादीनामतिजघन्यानुभागस्पर्द्धकादारभ्य क्रमेण संख्येयो भागो देशविरतादीनामुदीरणा योग्यो गुणप्रत्ययतो भवति । परस्त्वनुभागोदीरणामिति ।

तित्थंकरघाईण य, परिणामप्पच्चयाणि सेसाओ ।
भवपच्चया उ पुत्ता, वियपुव्वत्तसेसाणं ॥ २७७ ॥

तीर्थंकरघातिकर्माणि च पञ्चविधज्ञानावरणनवविधदर्शनावरणनवनोकषायवर्ज्या मोहनीयपञ्चविधान्तरायरूपाणि सर्वसंख्यया एकोनचत्वारिंशत्प्रकृतयोऽनुभागोदीरणामधिकृत्य तिर्यङ्मनुष्याणां परिणामप्रत्ययाः । एतदुक्तं भवति । आसां प्रकृतीनामनुभागोदीरणा तिर्यङ्मनुष्याणां परिणामप्रत्यया भवति परिणामो ह्यन्यथाभावेन नयनम् । तत्र तिर्यञ्चो मनुष्या वा गुणप्रत्ययेन अन्यथा बद्धानामन्यथा परिणामप्य एतामुदीरणां कुर्वन्ति । (सेसाओभवपच्चयाउत्ति) शेषाः प्रकृतयः सातासातवेदनीयआयुश्चतुष्टयं पञ्चकौदारिकसप्तकं संहननषट्कं प्रथमवर्ज्यं स्वस्थानपञ्चककर्कशगुरुस्पर्शानुपूर्वीचतुष्टयोपघाततपोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसस्थावरबादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्तसाधारणदुर्भगदुःस्वरानादेययशःकीर्तिनिर्माणनीचैर्गोत्ररूपाः षट्पञ्चाशत्संख्या अनुभागोदीरणामधिकृत्य भवप्रत्यया वेदितव्याः । एतासामनुभागोदीरणा भवप्रत्ययतो भवतीत्यर्थः । (पुव्वत्ताविति) पूर्वोक्ता अपि प्रत्ययाः पूर्वोक्तशेषाणां प्रागुक्ततिर्यङ्मनुष्यव्यतिरिक्तानां भवप्रत्यया अनुभागोदीरणा वेदितव्या । तथाहि देवनारकैर्व्रतरहितैश्च तिर्यङ्मनुष्यैर्नवानां नोकषायाणां पश्चानुपूर्व्या उत्कृष्टानुभागस्पर्द्धकादारभ्येत्यर्थः । असंख्येया अनुभागा भवप्रत्ययादेवोदीर्यन्ते । तथा वैक्रियसप्तकं तैजससप्तकवर्णपञ्चकगन्धद्विकरसपञ्चकस्निग्धरुक्षशीतोष्णस्पर्शस्थिरास्थिरशुभाशुभगुरुलघुप्रकृतीनां देवा नैरयिकाश्च भवप्रत्ययतोऽनुभागोदीरणां कुर्वन्ति । तथा समचतुरस्रसंस्थानस्य भवधारणीये शरीरे वर्त्तमाना भवप्रत्ययादनुभागोदीरणां देवाः कुर्वन्ति । मृदुलघुस्पर्शपराघातोद्योतप्रशस्तविहायोगतिसुस्वर-प्रत्येकनाम्नामुत्तरवैक्रियशरीरिणामुक्ताःशेषाणां भवप्रत्ययतोऽनुभागोदीरणा प्रवर्त्तते । सुभगादेययशः कीर्त्युच्चैर्गोत्राणामनुभागोदीरणा गुणहीनास्य भवप्रत्ययतोऽवसेया । गुणवतां तु गुणप्रत्यया । तथा सर्वेषां पराघातिकर्मणामनुभागोदीरणा भवप्रत्यया देवनारकानां तदेव प्रत्ययप्ररूपणा । संप्रति साद्यनादिप्ररूपणा कर्तव्या सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च । तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयां तां कुर्वन्नाह ।

घाईणं अजघन्ना, दोण्हमणुयक्कोसिया तिविहाओ ।
वेयणिएणुक्कोसो, अनुजहन्ना मोहणीये ॥ २७८ ॥

सादिअणाईधुव, अधुवा य तस्सेसिगाय दुविगप्पा।
आउस्स साइअधुवा, सव्वविगप्पाउ विन्नेया ॥ २७९ ॥

मोहनीयवर्ज्यानां त्रयाणां घातिकर्मणामजघन्या अनुभागोदीरणा त्रिधा त्रिप्रकारा तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च तथा येषां क्षीणकषायस्य समयाधिकावलिकायां शेषायां स्थितौ जघन्या अनुभागोदीरणा च सादिरध्रुवा च । शेषकालं त्वजघन्या सा चानादिर्ध्रुवोदीरणात्वात् । ध्रुवाध्रुवे अभव्यभव्यापेक्षया तथा द्वयोर्नामगोत्रयोरनुत्कृष्टानुभागोदीरणा त्रिधा तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च तथा ह्यनयोरनुत्कृष्टानुभागोदीरणा सयोगिकेवलिनि सा च सादिरध्रुवा च । शेषकालं त्वनुत्कृष्टा सा चानादिर्ध्रुवोदीरणात्वात् । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा वेदनीये अनुत्कृष्टा मोहनीये वा जघन्यानुभागोदीरणा चतुःप्रकारा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाध्रुवा च । तथाहि उपशान्तश्रेण्यां सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने यद्बन्धसातवेदनीयं तस्य सर्वार्थसिद्धि संप्राप्तौ प्रथमसमये या उदीरणा प्रवर्त्तते सा उत्कृष्टा । सा च सादिरध्रुवा च ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा चाप्रमत्तगुणस्थानकादौ न भवति ततः प्रतिपाते च भवति ततोऽसौ सादिःतत्र स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिःध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा मोहनीयस्य जघन्यानुभागोदीरणा सूक्ष्मसंपरायस्य क्षपकस्य समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ भवति सा च सादिस्तदनन्तरसमये वा भावादध्रुवा शेषकालं त्वजघन्या सा चोपशान्तमोहगुणस्थानके न भवति । ततः प्रतिपाते च भवति ततोऽसौ सादिः । तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । (तस्सेसियदुविगप्पत्ति) तच्छेषा रीतिः उक्तरीतिव्यतिरिक्ता विकल्पा द्विप्रकारा ज्ञातव्या तद्यथा सादयो ध्रुवाश्च । तथाहि चतुर्णां घातिकर्मणामुत्कृष्टा अनुत्कृष्टा च अनुभागोदीरणा मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते । ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता । तथा नामगोत्रवेदनीया जघन्या अजघन्या वानुभागोदीरणा मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता । आयुषां तु सर्वे विकल्पाः साद्यध्रुवाः सा च साद्यध्रुवता अध्रुवोदीरणात्वादवसेया । तदेवं कृता मूलप्रकृतिविषया साद्यनादिप्ररूपणा ।

संप्रत्युत्तरप्रकृतिविषयां तां चिकीर्षुराह ।

मउलहुगाणुक्कोसा, चउव्विहा तिण्हमवि य जहण्णा।
इगधुवा य अधुवा, वीसाए होय णुक्कोसा ॥ २८० ॥
तेवीसाए अजहण्णा, तिया पयासिसेसविगप्पा।
सव्वविगप्पा सेसा, णवावि अधुवा य साई य ॥ २८१ ॥

मृदुलघुस्पर्शयोरनुत्कृष्टा अनुभागोदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च तथा ह्यनयोरुत्कृष्टानुभागोदीरणा आहारकशरीरस्य संयतस्य भवति । सा च सादिरध्रुवा च ततोऽन्यासर्वाप्यनुत्कृष्टा सापि चाहारकशरीरमुपसंहरतः सादि स्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा त्रयाणां मिथ्यात्वगुरुकर्कशानामजघन्यानु--भागोदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाऽध्रुवा च । तत्र सम्यक्त्वं संयमं च युगपत्प्रतिपत्तुकामस्य जन्तोर्मिथ्यात्वस्य जघन्यानुभागोदीरणा सा चानादिरध्रुवा च । ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सा च समयक्त्वात्प्रतिपतितसादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । कर्कशगुरुस्पर्शयोर्जघन्यानुभागोदीरणा आहारकशरीरसंयतस्य केवलिसमुद्घातान्निवर्तमानस्य षष्ठसमये भवति सा च सादिरध्रुवा च । समयमात्रत्वात्ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सापि केवलिसमुद्घातान्निवर्तमानस्य सप्तमे समये भवतीत्यादि सादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा तैजससप्तकमृदुलघुवदशुभवर्णाद्येकादशगुरुलघुस्थिरशुभनिर्माणनाम्नां विंशतिप्रकृतीनामनुत्कृष्टाऽनुभागोदीरणा त्रिधा तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च । तथा ह्येतासामुत्कृष्टानुभागोदीरणा सयोगिकेवलिचरमसमये ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा चानादिर्ध्रुवोदीरणत्वात् । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा पञ्चविधज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणकृष्णनीलदुरभिसुरभिगन्धतिक्तकटुरूक्षशीतास्थिराशुभपञ्चविधान्तरायरूपाणां त्रयोविंशतिप्रकृतीनामजघन्या अनुभागोदीरणा त्रिधा तद्यथा अनादिर्ध्रुवाध्रुवा च । तथा ह्येतासां स्वस्वोदीरणापर्यवसाने जघन्यानुभागोदीरणा सा च सादिरध्रुवा च । ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सा चानादिर्ध्रुवोदीरणत्वात् ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् (एयाणसेसविगप्पत्ति) एतासां पूर्वोक्तानां शेषप्रकृतीनां शेषविकल्पा मृदुलघुविंशतीनां जघन्या जघन्योत्कृष्टा मिथ्या-- त्वगुरुकर्कशत्रयोविंशतीनां चोत्कृष्टजघन्याः सादयोऽध्रुवाश्च भवन्ति । तथाहि मृदुलघुविंशतीनां जघन्या अजघन्या चानुभागोदीरणा मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता । तथा कर्कशगुरुमिथ्यात्वत्रयोविंशतीनां चोत्कृष्टजघन्या सादयो ध्रुवाश्च भवति । तथाहि मृदुलघुविंशतीनामुत्कृष्टा अनुत्कृष्टा चानुभागोदीरणा मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते अशुभप्रकृतित्वात् ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे जघन्या च प्रागेव भाविता । शेषाणामुक्तव्यतिरिक्तानां प्रकृतीनां दशोत्तरशतसङ्ख्यानां सर्वे विकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यरूपाः सादयोऽध्रुवाश्चावगन्तव्याः । सा च साद्यध्रुवता अध्रुवोदीरणत्वादवसेया । कृता साद्यनादिप्ररूपणा । संप्रति स्वामित्वमभिधातव्यं तच्च द्विधा उत्कृष्टोदीरणाविषयं जघन्योदीरणाविषयं च तत्र प्रथमत उत्कृष्टोदीरणाविषयं स्वामित्वमाह ।

दाणाइ अचक्खूणं, जेट्ठा आयविहीण लद्धिस्स ।
सुहुमस्स चक्खुणो पुण, तेइंदियसव्वपज्जत्ते ॥ २८२ ॥

सूक्ष्मस्स सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य हीनलब्धिकस्य सर्वस्तोकदानाद्यचक्षुर्दर्शनविज्ञानलब्धियुक्तस्यादौ प्रथमसमये वर्तमानस्य पञ्चविधान्तरायाश्चक्षुर्दर्शनावरणरूपाणां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति । तथा त्रीन्द्रियस्य सर्वाभिः पर्याप्तस्य पर्याप्तिचरमसमये चक्षुर्दर्शनावरणस्योत्कृष्टा अनुभागोदीरणा ।

निज्जयपंचगस्स य, मज्झिमपरिणामसंकिलिट्ठस्स ।
अपुमादि असायाणं, निरये जेट्ठट्ठिई सम्मत्तो ॥ २८३ ॥

मध्यमपरिणामस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्तस्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तस्य निद्रापञ्चकस्योत्कृष्टानुभागोदीरणा अत्यन्तविशुद्धस्य अत्यन्तसंक्लिष्टस्य वा निद्रापञ्चकस्योदये एव भवतीति कृत्वा मध्यमपरिणामग्रहणम् । तथा अपुमादीनां नपुंसकवेदादीनां रतिशोकभयजुगुप्सानामसातस्य चोत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी नैरयिको ज्येष्ठस्थितिक उत्कृष्ट--

स्थितिकः समाप्तःसर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टो वेदितव्यः।

पंचेंदियतसवायर–पज्ज त्तगसायसुसुरगईणं ।
वेउव्वियसासाणं, देवो जेट्ठट्ठिई सम्मत्तो ॥ २८४ ॥

देवो ज्येष्ठस्थितिकः उत्कृष्टस्थितिक–स्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकः समाप्तः सर्वाभिःपर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वविशुद्धःपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादर–पर्याप्तसातवेदनीय–सुस्वरदेवगतिवैक्रियसप्तकोच्छ्वासरूपाणां दशप्रकृ–तीनामुत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी ।

सम्मत्तमीसगाणं, से काले गहिहि तित्थमिच्छत्तं ।
हस्सरईणसहस्सा–रगस्सपज्जत्तदेवस्स ॥ २८५ ॥

योऽनन्तरे समये मिथ्यात्वं ग्रहीष्यते तस्य सर्वसंक्लिष्टस्य सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्यथासंख्यं संभवमुदये सत्युत्कृष्टानुभा–गोदीरणा । तथा सहस्रारकदेवस्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तस्य हास्यरत्योरुत्कृष्टानुभागोदीरणा ।

गहहुंडवघायाणि–ट्ठखगइवीयाण दुहचउक्कस्स ।
निरउक्कस्सम्मत्ते, असमत्ता पन्नरसंते ॥ २८६ ॥

नैरयिक उत्कृष्टस्थितौ वर्त्तमानः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तो नरकगति हुंडसंस्थानोपघातोऽप्रसस्तविहायोग–तिनीचैर्गोत्राणां (दुहचउक्कस्सत्ति)दुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिरूपस्य सर्वसंख्यया नवानां प्रकृतीनां हुंडसंस्थानमुत्कृष्टानुभागोदीरणा–स्वामी । तथा अपर्याप्तकनाम्नो मनुष्योऽपर्याप्तश्चरमसमये वर्तमानः सर्वसंक्लिष्ट उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी । संज्ञितिर्यक्पञ्चे–न्द्रियादपर्याप्तान्मनुष्योऽपर्याप्तसंक्लिष्टतर इति तिर्यग्मनुष्यग्रहणम् ।

कक्खडगुरुसंघयणा, पुच्छी पुमसंठाणतिरियनामाणं ।
पंचिंदियतिरिक्खो, अट्ठमवासट्ठवासाउ ॥ २८७ ॥

कर्कशगुरुस्पर्शयोरादिवर्ज्यानाञ्च पञ्चानां संहननानां स्त्रीवेदपुरुष–वेदयोःआद्यन्तवर्ज्यानां चतुर्णां संस्थानानां तिर्यग्गतेश्च सर्वसंख्यया चतुर्दशप्रकृतीनां तिर्यक्संज्ञिपञ्चेन्द्रियोष्टवर्षायुरष्टमे वर्तमाने सर्वसंक्लिष्ट उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी ।

मणुओदालियसत्तग–वज्जरिसहनारायसंघयण ।
मणुओतिपल्लपज्ज–त्तो आउग्गं पि संकिट्ठो ॥ २८८ ॥

मनुष्यःपल्योपमायुःस्थितिकः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वविशुद्धौ मनुष्यगतौदारिकसप्तकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां नवानां प्रकृती–नामुत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी । तथासर्वोत्कृष्टस्वस्वस्थितौ वर्तमानः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तश्च स्वकीयानामायुषां सर्वविशुद्धौ नारकायुषस्तुसर्वसंक्लिष्ट उत्कृष्टानुभागोदी–रको भवति ।

हस्सट्ठिइपज्जत्ता, तन्नामविगलजाइसुहुमाणं ।
थावर निगोयएगिं–दियाणमवि बायरो नवरि ॥२८९॥

ह्रस्वस्थितिकाः पर्याप्तकास्तन्नामानो द्वीन्द्रिया जातिसूक्ष्मकर्मा–नुसारिनाम्नो विकलेन्द्रियजातीनां सूक्ष्मनाम्नश्चोत्कृष्टानुभागोदी–रणास्वामिनः । एतदुक्तं भवति द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः सूक्ष्माश्च सर्व–जघन्यस्थितौ वर्तमाना/ सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः सर्वसंक्लि–ष्टया यथासंख्य द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिनाम्नां सूक्ष्मना–म्नोश्चोत्कृष्टानुभागोदीरणस्वामिनः ह्रस्वस्थितौ वर्तमाना/ सर्व–संक्लिष्टा भवन्ति इति कृत्वा तदुपादानम् । तथा स्थावरसाधा–रणैकेन्द्रियजातिनाम्नां जघन्यस्थितौ वर्तमानो बादरैकेन्द्रियः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टः स्थावरनाम्नः स्थावरसाधारण–नाम्नः साधारण एकेन्द्रियजातेर्द्वावपि उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामिनौ भवतः । बादरस्य महान् सर्वसंक्लेशो भवतीति कृत्वा तदुपादानम् ।

आहारतणूपज्जत्त, गोउचरं समयओ य लहुगाणं ।
पत्तयखगइपराघा–याहारतणूण य विसुद्धो ॥ २९० ॥

समचतुरस्रसंस्थानमृदुलघुस्पर्शप्रत्येकप्रशस्तविहायोगतिपराघाता–हारकसप्तकरुपाणां त्रयोदशप्रकृतीनामाहारकशरीरी संयतस्य सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वविशुद्ध उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी ।

उत्तरवेउव्विजो–यणामघाइखरपुढवी ।
निरयगईणं भणिआ, तइए समयाणुपुव्वीणं ॥ २९१ ॥

उत्तरवैक्रिये वर्तमानो धातिः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वविशुद्ध उद्योतनाम्न उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी तथा खरपृथिवीकायिक उत्कृष्टायां स्थितौ वर्तमानः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तः सर्वविशुद्ध आतपनाम्नः उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी तथा मनुष्यदेवतानुपूर्व्यौर्विशुद्धा नरकतिर्यगानुपूर्व्योः संक्लिष्टा निजकगतीनां तृतीयेसमये वर्तमाना उत्कृष्टानुभागोदीरकाश्च भवन्ति ।

लोगंते सेसाणं, सुभाणमियरासि चउसु वि गईसु ।
पज्जत्तकडमिच्छस्सो, हीणमणोकिलट्ठस्स ॥ २९२ ॥

योगिनः सयोगिकेवलिनस्ते सर्वापवर्तमानस्य शेषाणामुक्तव्यतिरिक्तानां शुभप्रकृतीनां तैजससप्तकमृदुलघुवर्ज्यशुभवर्णाद्येकादशकागुरु–लघुस्थिरशुभ–शुभगादेययशःकीर्तिनिर्माणोच्चैर्गोत्रतीर्थंकरनाम्नां पञ्चविंशतिसंख्यानामुत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति इतरासां च शुभप्रकृतीनां मतिश्रुतमनः पर्यायकेवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरण–मिथ्यात्वषोडश–कषायकर्कशगुरुवर्ज्यशेषकुवर्णादिसप्तकास्थिराशु–भरूपाणामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां चतसृष्वपि गतिषु मिथ्यादृष्टेः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तस्य उत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्योत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति तथा अवधिज्ञानावरणदर्शनावरणयोस्तस्यैव चतुर्गतिकस्य मिथ्यादृष्टेरनवधिकस्य वधिलब्धिरहितस्योत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति अवधिलब्धियुक्तस्य हि प्रभूतोऽनुभागः क्षयं याति तत उत्कृष्टो न लभ्यते इति न लब्धिकस्येत्युक्तम् । तदेवमुक्तमुत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामित्वम् ।

सम्प्रति जघन्यानुभागोदीरणास्वामित्वं प्रतिपादयन्नाह ।

सुयकेवलिणो मइसुय–अचक्खुचक्खुणुदीरणा मंदा ।
विपुलपरमोहिणाणं, मणणाणेहि दुगसावि ॥ २९३ ॥

मतिश्रुतज्ञानावरणचक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणानां श्रुतकेवलिनश्च तुर्दशपूर्व–धरस्य क्षीणकषायस्य समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ वर्तमानस्य मन्दा जघन्यानुभागोदीरणा वर्तते । तथा क्षीणकषायस्य विपुलमतिमनः पर्यायज्ञानस्य समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ वर्तमानस्यावधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोर्जघन्यानुभा–गोदीरणा ।

खवणाएविग्घकेवल, संजलणाण य नो कसायाणं ।
सयसयउदीरणंते, निद्दापयलाणमुवस्संते ॥ २९४ ॥

क्षपणायोत्थितस्य पञ्चविधान्तरायके वलज्ञानावरणके वल–दर्शनावरणसंज्वलनचतुष्टयनवनोकषायरूपाणां विंशतिप्रकृ–

तीनां स्वस्वौदीरणापर्यवसाने जघन्यानुभागोदीरणा । तथा निद्राप्रचलयोरुपशान्तमोहे जघन्यानुभागोदीरणा लभ्यते तस्य सर्वविशुद्धत्वात्।

निद्दानिद्दाईणं, पमत्तविरये विसुज्झमाणम्मि।
वेयगसम्मत्तस्स, सगखवणोदीरणा चरमे ॥ २९५ ॥

निद्रानिद्रादीनां निद्रा निद्रा प्रचला प्रचला स्त्यानर्द्धीनां प्रमत्तस्य संयतस्य विशुध्यमानस्य अप्रमत्तभावाभिमुख्यजघन्यानुभागोदीरणा प्रवर्तते । तथा क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयतो मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोः क्षपति । तयोर्वेदकसम्यक्त्वस्य क्षयोपशमिकस्य क्षपणकाले चरमोदीरणायां समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ सत्यां प्रवर्तमानायां जघन्यानुभागोदीरणा भवति सा च चतुर्गतिकानामन्यतरस्य वेदितव्या।

से काले सम्मत्तं, संसंजमगिण्हओ य तेरसगं।
सम्मत्तमेव मीसे, आऊग जहन्नट्ठिईसु ॥ २९६ ॥

अनन्तरे काले द्वितीयसमये यः सम्यक्त्वं संयमसहितं ग्रहीष्यति तस्य त्रयोदशानां मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्टयाप्रत्याख्यानावरणरूपाणां प्रकृतीनां जघन्यानुभागोदीरणा । अयमिह संप्रदायः । योऽनन्तरसमये सम्यक्त्वं संयमसहितं ग्रहीष्यति तस्य मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वेनानन्तानुबन्धिनाम्, तथा यो विरतिसमये संयमं ग्रहीष्यति तस्याप्रत्या–ख्यानावरणकषायाणां जघन्यानुभागोदीरणा मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया हि अविरति सम्यग्दृष्टिरनन्तगुणविशुद्धस्ततोऽपि देशविरतोऽनन्तरगुणाविशुद्ध इत्युक्तक्रमेणैव जघन्यानुभागोदीरणासंभवः । तथा सम्यक्त्वमवसीयते इति यः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्रतिपत्स्यते तस्य सम्यग्मिथ्यात्वस्य जघन्यानुभागोदीरणा सम्यङ्मिथ्यादृष्टिर्युगपत सम्यक्त्वं सयमं च न प्रतिपाद्यते तथा विशुद्धेरभावात् किन्तु केवलं सम्यक्त्वमेवेतिकृत्वतदेवं केवलमुक्तम् । तथा चतुर्णामायुषामात्मीयामात्मीयजघन्यस्थितौ वर्तमाना जघन्यमनुभागमुदीरयन्ति । तत्र त्रयाणामायुषां संक्लेशादेव जघन्यस्थितिबन्धो भवतीति कृत्वा जघन्यानुभागोऽपि तत्रैव लभ्यते । तथा नरकायुषो विशुद्धिवशाज्जघन्यः स्थितिबन्धः ततो जघन्यानुभागोऽपि नरकायुषस्तत्रैव लभ्यते। तथा च सतित्रया–णामायुषामतिसंक्लिष्टो जघन्यायुभागोदीरकः नरकायुषस्त्वति–विशुद्ध इति॥

पोग्गलविवागियाणं, भवाइसमये विसेसमवि चासिं।
आइतणूणं दोण्हं, सुहुमो वाउअप्पाउ ॥२९७॥

पुद्गलविपाकिन्यः प्रकृतयः तासां सर्वासामपि भवादपि समये भव–प्रथमसमये जघन्यानुभगोदीरणा एतच्च सामान्योक्तं ततः अमुकस्यामुक उदीरक इत्येवंरूपं विशेषमपि चासां प्रकृतीनां वक्ष्यामि। प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति । (आइ इत्यादि) आद्यौद्वि–योस्तन्वोश्शरीरयोरौदारिकवैक्रियरूपयोर्यथासंख्यं सूक्ष्मो वायुकायिकश्चाल्पायुर्जघन्यानुभागोदीरकः । इह शरीरग्रहणेनवाता अपि गृहीता द्रष्टव्याः । तत एतदुक्तं भवति औदारिकशरीरौदारिकसंघातौदारिकबन्धनचतुष्टयरूपस्यौदारिकषट्स्थाप्यपर्याप्तकसूक्ष्मैकेन्द्रियो वायुकायिकवैक्रियषट्कस्य च पर्याप्तौ बादरवायुकायिकोऽल्पायुर्जघन्यानुभागोदीरको भवति।

बेइंदिअप्पाउग, तिरयचिरट्ठिई असण्णिणो वावि।
अंगोवंगाण हारग, जइ णो अप्पाकालम्मि ॥२९८॥

द्वयोरङ्गोपाङ्गयोरौदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नायेर्थासंख्यमल्पायुर्द्वीन्द्रियस्तथा असंज्ञी सन् जातो नारकश्चिरस्थितिकः *स च जघन्यानुभागोदीरको भवति इयमत्र भावना द्वीन्द्रियोल्पायुरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्न उदयप्रथमसमये जघन्यमनुभागमुदीरयति* तथा संज्ञिपञ्चेन्द्रियः पूर्वोद्वलितेवैक्रिङ्गोपाङ्गस्तोककालं बध्वा स्वभूमिकानुसारेण चिरस्थितिको नैरयिको जातस्तस्य वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्न उदयप्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यानुभागोदीरणा । तथाऽऽहारकस्य प्राकृतत्वात् अत्र स्त्रीत्वनिर्देशः शरीरग्रहणेन च बन्धनसंघाता अपि गृह्यन्ते तत आहारकसप्तकस्य यतेराहारकशरीरमुत्पादयतः संक्लिष्टस्य अल्पे काले प्रथम–समये इत्यर्थः जघन्यानुभागोदीरणा।

अमणो समचउरंसु, रिसभएय ओसगचिरट्ठिई सेसे।
संघयणाणयमाणु, ओहुंडुवगघायाणमवि सुहुमो ॥ २९९ ॥

असंज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽल्पायुरिति संक्लिष्टप्रथमसमये तद्भवस्थ आहारकः समचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहनन–योर्जघन्यमनुभागमुदीरति अल्पायुर्ग्रहणं संक्लेशार्थम् । तथा असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय एवात्मीयायामुत्कृष्टस्थितौ वर्तमान आहारको भवप्रथमसमये शेषे इति। तथा शेषाणां संहननानां सेवार्तवज्रर्षभनाराचवर्जानां पूर्वकोट्यायुर्मनुष्या आहारकस्वभवप्रथमप्रसमये वर्तमाना जघन्यानुभागोदीरकाः इह दीर्घायुर्ग्रहणं विशुद्धतिर्यक् पञ्चेन्द्रियापेक्षया च प्रायोग्या मनुष्या अल्पबला इति मनुष्योपादानम् । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियः सुदीर्घायुः स्थितिकः आहारकप्रथमसमये हुंडोपघातिनाम्नोर्जघन्यानुभागोदीरकः।

सेवट्टस्स बेइंदिय, बारसवासस्स मउयलहुगाणं।
सन्निविसुद्धाणुणा–हारगस्स बीसा अइकिलट्ठे ॥ ३०० ॥

द्वीन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य स्वभूमिकानुसारेणाऽतिविशुद्धस्यानाहारकस्य जघन्यानुभागोदीरणा । तथा तैजससप्तकमृदुलघुवर्जशुभवर्णाद्येकादशकागुरुलघुस्थिरशुभनिर्माणरूपाणां विंशतिप्रकृतीनां संक्लिष्टोऽपान्तरालगतौ वर्तमानोऽनाहारकोमिथ्यादृष्टिर्जघन्यानुभागोदीरणास्वामी वेदितव्यः ।

पत्तेगमुरालसमं, इयरं हुडेण तस्स परघाओ।
अप्पाउस्स य आया, उज्जोयाणमवि तज्जोगो ॥ ३०१ ॥

प्रत्येकनाम औदारिकेण समं वक्तव्यम् । औदारिकस्येव प्रत्येकनाम्नोऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रियसमये वर्तमानो जघन्यानुभागोदीरको वेदितव्य इत्यर्थः । तथा हुंडेन समानमेतत् साधारणनाम्नो वक्तव्यम् । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियस्याहारकस्य प्रथमसमये हुंडनाम्नोर्जघन्यानुभागोदीरणा प्रागभिहिता तथा साधारणनाम्नोऽपि वक्तव्येत्यर्थः । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रिय सूक्ष्मपर्याप्तस्याल्पायुष इति संक्लिष्टस्यापर्याप्तचरमसमये वर्तमानस्य पराघातनाम्नो जघन्यानुभागोदीरणा । तथा आतपोद्योतनाम्नोस्तद्योगः प्रथिवीकायिकः शरीरपर्याप्तापर्याप्तः प्रथमसमये वर्तमानः संक्लिष्टो जघन्यानुभागोदीरकः ।

जानाउज्जोयकरणं, तित्थगरस्स नवगस्स जोगंते।
करकडगुरूणमंते, नियत्तमाणस्स केवलिणो ॥ ३०२ ॥

आयोजिकाकरण नाम केवलिसमुद्घातादर्वाक् भवति तत्राङ्मर्यादायाम् आमर्यादया केवलदृष्ट्या योजनव्यापारणमा योजनं च तद्यातिशुभयोगानामवसेयमायोजनमायोजिका तस्याः करणमायोजिकाकरणं केचिदाचार्या वर्जितकरणमित्याहुस्तत्रायं शब्दार्थः आवर्जितनामाभिमुखीकृतस्तथा च

लोके वक्तारः आवर्जितोऽयं मया संमुखीकृत इत्यर्थः । ततश्च तथा भवत्वेनावर्जितस्य मोक्षगमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य करणं शुभयोगव्यापाराणामावर्जितकरणम् । अपरे "जानाउस्सियकरण" मिति पठन्ति तत्रायं शब्दसंस्कारेऽवश्यंकरणम् तथाहि समुद्घांत केचित्कुर्वन्ति केचिन्न कुर्वन्ति । इदं त्वावश्यकरणं सर्वेपि केवलिनः कुर्वन्तीति तच्चायोजिकाकरणमवश्यंकरणम् तथाहि समुद्घातं केचित्कुर्वन्ति च । करणमसङ्ख्येयसमयात्मकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम् । यत उक्तम् । प्रज्ञापनायाम् "कइ समए णं भंते ! आउञ्जियाकरणे पण्णत्ते गोयमा ! असंखिङ् समईए अंतोमुहूत्तए पन्नत्ते । इति तज्ञा " तत्राद्या प्रारभ्यते । तावत्तीर्थंकरकेवलिनः तीर्थकरनाम्नो जघन्यानुभागोदीरणा आयोजिकाकरणो हि प्रभूतानुभागोदीरणा प्रवर्तते इत्यर्वाग् ग्रहणम् तथा नीलकृष्णदुरभिगन्धतिक्तकटुशीतरूक्षस्थिरा शुभरूपस्य प्रकृतिनवकस्य सयोगिकेवलिचरमसमये जघन्यानुभागादीरणा तस्यैव सर्वविशुद्धत्वात् । कर्कशगुरुस्पर्शयोस्तु केवलिसमु–द्घातिनि वर्तमानस्य केवलिनः प्रथमसंहारसमये जघन्यानुभागोदीरणा ।

सेसाण य गइवेइम–मज्झिमपरिणामपरिणयउ होज्जा ।
पञ्चयशुभाशुभविय, चियट्ठए नउ विहागे य ॥ ३०३ ॥

शेषाणां सातवेदनीय गतिचतुष्टयजातिपञ्चकानुपूर्वी चतुष्टयोच्छ्–वासावहायोगतिद्विकत्रसस्थावरबादरसूमपर्याप्तापर्याप्तसुभगसुस्वरदुः–स्वरानादेयायशःकीर्त्ययशः कीर्त्युच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्राख्यानां चतुस्त्रिंशत–संख्यानां प्रकृतीनां तत्प्रकृतीनां सादेयवर्तमानाः सर्वेऽपि जीवा मध्यमपरिणामपरिणता जघन्यानुभागोदीरणामपरिसाता जघन्यानुभा–गोदीरणास्वामिनो भवन्ति । सा च सर्वासां प्रकृतीनां सामान्येन जघन्योत्कृष्टानुभागोदीरणा । स्वामित्वपरिज्ञानार्थमुपायोपदेशमाह (पञ्चत्यादि) प्रत्ययपरिणामप्रत्ययो भवत्यप्रत्ययश्च प्रकृतीनां शुभत्वमशुभत्वं च विपाकादि एतान् सम्यक् चिन्तयित्वा परिभाव्य जघन्योत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी यथावज्ज्ञेयोऽवगन्तव्यः । तथाहि । परिणामप्रत्ययानुभा–गोदीरणा प्राय उत्कृष्टा भवति भवप्रत्यया तु जघन्या शुभानाञ्च संक्लेशप्रयोजनं जघन्यानुभागोदीरणा अशुभानां च विशुद्धौ विपर्यासे तूष्कृष्टा इत्यादि परिभाव्य तत्तत्प्रकृत्युदयवतां जघन्योत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामित्वमवगन्तव्यम् । इति तदेवमुक्ता अनुभागोदीरणा । संप्रति प्रदेशोदीरणाभिधानावसरस्तत्र च द्वावर्थाधिकारौ । तद्यथा साद्यनादि प्ररूपणार्थमाह सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च तत्र मूलप्रकृतिविषयां साद्यनादिप्ररूपणां चिकीर्षुराह ।

पंचण्हमणुक्कोसा, तिहा पएसे चउव्विहा दोण्हं ।
सेसविगप्पा दुविहा, सव्वविगप्पा य आउस्स ॥ ३०४ ॥

ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायरूपाणां पञ्चानां मूलप्रकृती–नामनुत्कृष्टा प्रदेशविषया उदीरणा त्रिधा त्रिप्रकारा तद्यथा अनादि–र्ध्रुवाध्रुवा च । तथाह्येतासामुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा गुणितकर्मांशस्वस्वोदीर–णापर्यवसाने लभ्यते सा च सादिरध्रुवा च । ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा चानादिर्ध्रुवोदीरणत्वात् ध्रुवाध्रुवे अभव्यभव्यापेक्षया तथा द्वयोर्वेदनीयमोहनीययोरनुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाध्रुवा च । तथाहि वेदनीयस्योत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा प्रमत्त भावाभिमुखस्य सर्व–विशुद्धय मोहनीयस्य पुनः स्वोदीरणा पर्यवसाने सूक्ष्मसंपरायस्य ततो द्वयोरपि एषा साद्यनादीअध्रुवा ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सापि चाप्रमत्तगुणस्थानकात्प्रतिपतितो वेदनीयस्याप–शान्तमोहगुणस्थानकाश्च प्रतिपतितो मोहनीयस्य सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य द्वयोरप्यनादिः ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् (सेसविगप्पति) एतासां सप्तानामपि मूलप्रकृतीनां शेषा उक्तव्यतिरिक्ता विकल्पा जघन्योत्कृष्टा द्विध द्विप्रकारास्तद्यथा सादयोऽध्रुवाश्च । तथाह्येतासां सप्तानामतिसंक्लिष्टा मिथ्यादृष्टौ जघन्या प्रदेशोदीरणा सा च सादिरध्रुवा च । संक्लेशपरिणामाच्च च्युतस्वमिथ्यादृष्टिरप्यजघन्यतः सापि सादिरध्रुवा च । उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता आयुषः सर्वेपि विकल्पा जघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टा द्विविधास्तद्यथा सादयोऽध्रुवाश्च । सा च साद्यध्रुवता अध्रुवोदीरणत्वादवसेया । सप्रत्युत्तरप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणामाह ।

पिच्छत्तस्स चउद्धा, सगयालाएहि तिहा अणुक्कोसा ।
सेसविगप्पा दुविहा, सव्वविगप्पा य सेसाणं ॥ ३०५ ॥

मिथ्यात्वस्यानुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा चतुर्विधा । तद्यथासादिर–नादिर्ध्रुवाध्रुवा च तथाहि योऽनन्तरसमये सम्यक्त्वं संयमसहित प्रतिपत्स्यते तस्य मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा सा च सादिरध्रुवा च समयमात्रत्वात् ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सापि च सम्यक्त्वात्प्रतिपतिपतिता भवति सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा त्रिधा । तद्यथा । अनादिर्ध्रुवा ध्रुवत्वात् । तथाहि । पञ्चविधज्ञा–नावरणपञ्चविधान्तरायचतुर्विधदर्शनावरणरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणकषायस्य गुणितकर्मांशस्य स्वस्वोदीरणापर्यवसाने उत्कृष्टप्रदेशो–दीरणा । सा च सादिरध्रुवा च ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा च अनादिः ध्रुवोदीरणत्वाद ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा तैजससप्तकवर्णादि–विंशतिस्थिरास्थिरशुभाशुभ–गुरुलघुनिर्माणनाम्नां त्रयस्त्रिंशत्संख्या–कानां प्रकृतीनां गुणितकर्मांशोऽस्य सयोगिकेवलिनश्चरमसमये उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा । सा च सादिरध्रुवा च । ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा चानादिर्ध्रुवोदीरणत्वादासां ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् (सेसविगप्पादुविहत्ति) उक्तशेषा विकल्पा जघन्याजघन्योत्कृष्टरूपा द्विविधास्तद्यथा सादयो ध्रुवाश्च । तथाहि सर्वासामप्युक्तप्रकृतीना–मतिसंक्लिष्टपरिणामेति मिथ्यादृष्टौ जघन्या प्रदेशोदीरणा लभ्यते अतिसंक्लिष्टस्य परिणामप्रच्यवने वा जघन्या ततो द्वे अपि साद्यध्रुव उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता शेषाणां चोक्तव्यतिरिक्तानां प्रकृतीनां दशोत्तरशतसंख्यानां सर्वेऽपि विकल्पा जघन्याजघन्योत्कृष्टा द्विविधास्तद्यथा सादयो ध्रुवाश्च साद्यध्रुवता च ध्रुवोदीरणत्वादवसेया । कृता साद्यनादिप्ररूपणा । संप्रति स्वामित्वमभिधातव्यं तच्च द्विधा उत्कृष्टजघन्याप्रदेशोदीरणास्वामित्वात् । तत्र प्रथमत उत्कृष्टोदीरणास्वामित्वमाह ।

अणुभागुदीरणा ए, जहण्णसामीव एस जेट्ठाए ।
घाईणं अन्नयरो, ओहीण वि णोहिलंभेण ॥ ३०६ ॥

घातिकर्मणां सर्वेषामपि अनुभागोदीरणायां यो यो जघन्यानुभागोदी–रणास्वामी प्राक्प्रतिपादितः स एवोत्कृष्टप्रदेशोदीरणायाः स्वामी गुणितकर्मांशो वेदितव्यः नवरमन्यत इति श्रुतकेवली इतरो वा अवधि–ज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोरवधिलब्धिहीनोत्कृष्टप्रदेशोदीरकोवसेयः । (असीति) वेदमतिसंक्षिप्तमुक्तमिति विशेषता विभाव्यते अवधिज्ञाना–वरणवर्ज्यानां चतुर्णां ज्ञानावरणानां चक्षुरचक्षुः केवलदर्शनावरणानां

क्षीणकषायश्रुतिकेवलिन इतरस्य वा गुणितकर्मांशस्य समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा अवधिज्ञानावरणयोः पुनरवधिलब्धिरहितस्य क्षीणकषायस्य समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा निद्राप्रचलयोरुपशान्तकषायस्य प्रमत्तसंयते अप्रमत्तभावाभिमुखे स्त्यानर्द्धित्रिकस्य मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिकषायाणामनन्तरसमये सम्यक्त्वं सयमसहितं प्रतिपत्तुकामस्य मिथ्यादृष्टेश्चरमसमये सम्यग्मिथ्यात्वस्य सम्यक्त्वप्रतिपत्त्युपान्त्यसमये अप्रत्याख्यानावरणकषायाणां प्रदेशविरतस्यानन्तरसमयाधिकावलिका शेषायां चरमसमये क्षपकस्य हानिः हानादिषट्कस्यापूर्वकरणगुणस्थानकचरमसमये सर्वत्र गुणितककर्मांशस्योत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा वेदितव्या।

वेयाणियाणं गहिहि, से कालिअप्पमाईमिय विरओ ।
संघयणपगतणुदुग, उज्जो वा अप्पमत्तस्स ॥ ३०७ ॥

यः प्रमत्तो द्वितीये समये अप्रमादं ग्रहीष्यति सोऽप्रमत्तो भविष्यति प्रमत्तो न पञ्चकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकोद्योतनाम्नामुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा।

देवनिरयाउ गाणं, जहन्नजेट्ठट्ठिई गुरुअ साए ।
इयराउण वि अट्ठम वासे, णेयो अट्ठवासाउ ॥ ३०८ ॥

देवनारकायुषोर्यथाक्रमं देवनारकौ जघन्योत्कृष्टस्थितिकौ गुरुदुःखयोरुदये वर्तमानौ उत्कृष्टप्रदेशोदीरकौ वेदितव्यौ। एतदुक्तं भवति। देवो दशवर्षसहस्रायुस्थितिको गुरुदुःखोदये वर्तमानो देवायुष उत्कृष्टप्रदेशो–दीरकस्तथा नैरयिकस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुःस्थितिको गुरुदुःखोदये वर्तमानो नारकायुष उत्कृष्टप्रदेशोदीरकः प्रभूतं हि दुःखमनुभवन् प्रभूतान् पुद्गलान् परिसाटयति इति तदुपादानम्। इतरायुषोस्तिर्यग्मनुष्यायु–षोर्यथासंख्यं तिर्यग्मनुष्योष्टवर्षायुवोऽष्टमे वर्षे वर्तमानो गुरुदुःखोदये युक्त उत्कृष्टप्रदेशोदीरको भवति।

एगंततिरिगजोग्गा, नियग विसिट्ठे तसु तह अपज्जत्तो ।
संमुच्छिममणुअंते, तिरियगई देसविरयस्स ॥ ३०९ ॥

एकान्तेन तिरश्चामेवोदयं प्रति प्रायोग्याः प्रकृतयस्तासामेकेन्द्रियजातिद्वीन्द्रिय जातित्रीन्द्रियजातिचतु-रिन्द्रियजात्यातपस्थावरसूक्ष्मासाधारणनाम्नामष्टानां निजकविशिष्टेषु निजनिज प्रकृतिविशिष्टेषु यथा एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नो बादर प्रथिवीकायिके सर्वविशुद्धे आतपनाम्नः खरबादरपृथिवीकायिके सूक्ष्मस्य पर्याप्तसाधारण विकलेन्द्रियनाम्नां तन्नामसु पर्याप्तेषु सर्वविशुद्धेषु उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणां देशविरतस्य तस्य सर्वविशुद्धत्वात्।

अणुपुव्वीगइदुगाणं, सम्मदिट्ठीउ दुभगईणं ।
नीयस्स य से काले, गहियविरयत्ति सो चेव ॥ ३१० ॥

चतसृणामानुपूर्वीणां तस्यां तस्यां गतौ वर्तमान तृतीये समये सर्वविशुद्धसम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशोदीरकः केवलं नरकतिर्यगानुपूर्व्योः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वक्तव्या देवनारकगत्योरपि स एव क्षायिकसम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशोदीरकः तथा,योऽनन्तरसमये संयमं प्रतिपत्स्यते स एवाविरतसम्यग्दृष्टिर्दुर्भगादीनां दुर्भगदुःस्वरानादेययशः कीर्त्तीनां नीचैर्गोत्रस्योत्कृष्टप्रदेशोदीरकः।

जागं उदीरगाणं, जोगंते सरदुगाणुपाणूणं ।
नियगंते केवलिणो, सव्वविशुद्धीए सव्वासिं ॥ ३११ ॥

योग्यन्तदीरणायोगी सयोगी केवली अन्ते चरमसमये उदीरको यासां ता गोग्यन्तोदीरकास्तासां मनुजगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकसप्तकतैजससप्तकसंस्थानषट्कप्रथमसंहननवर्णादिविंशत्यगुरुलघूपघातपराघातविहायोगतिद्विकत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभनादेययशःकिर्तिनिर्माणतीर्थकरोच्चैर्गोत्राणां द्विषष्टिसङ्ख्यानां प्रकृतीनां संयोगिकेवली चरमसमये उत्कृष्टप्रदेशोदीरकः। तथा केवलिनः स्वरद्विकप्राणापाननयोर्निजकान्ते स्वस्वनिरोधकाले उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा तथाहि स्वरनिरोधकाले सुस्वरदुःस्वरयोःप्राणापाननिरोधकाले च प्राणापाननाम्न उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा इह सर्वकर्मणामुत्कृष्टप्रदेशोदीरणायामेषा परिभाषा "यो यः स्वस्वोदीरणाधिकारी स स तस्य कर्मणः स्वामी वेदितव्यः"। आयुर्व्यतिरेकेण चान्यत्र सर्वत्रापि गुणितकर्मांशत्वेन दानान्तरायादीनामपि पञ्चानां प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशोदीरणास्वामित्वं चेति।

संप्रति जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामित्वमाह।

तप्पगइ उदीरगत्ति, संकिलिट्ठभावे असव्वपगईण ।
णेयो जहण्णसामी, अणुभागो य तित्थयरे ॥ ३१२ ॥

यस्तासां प्रकृतीनामुदीरकः सोऽतिसंक्लिष्टभावोऽति संक्लिष्टपरिणामः क्षपितकर्मांशः सर्वप्रकृतीनां स्वस्वयोग्यानां त्रयाणां दर्शनावरणीयानां सातासातवेदनीययोर्मिथ्यात्वस्य षोडशानां कषायाणां नोकषायाणां सर्वसंख्यया पञ्चत्रिंशत्संख्यानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टो निद्रापञ्चकतत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्तो जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी। तथा योऽनन्तरसमये मिथ्यात्वं यास्यति सोऽतिसंक्लिष्टः सम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोर्जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी भवति। तथा गतिचतुष्टयपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकसप्तकवैक्रियसप्तकतैजससप्तकसंस्थानषट्कवर्णादिविंशतौपराघातोपघातागुरुलघूच्छ्वासोद्योतविहायोगतिद्विकत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगसुस्वरदुःस्वरादेयानादेययशःकीर्तिनिर्माणोच्चैर्गोत्रपञ्चविधान्तरायरूपाणां एकोननवतिसंख्यानां प्रकृतीनां संज्ञिपर्याप्तसर्वोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तो जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी आहारकस्य वाऽऽहारशरीरी तत्प्रयोगसंक्लेशयुक्त आनुपूर्वीणामपि आतपस्य खरबादरपृथिवीकायिकः सर्वसंक्लिष्टएकेन्द्रिजातिस्थावरसाधारण-नाम्नामेकेन्द्रियः-सर्वोत्कृष्ट संक्लेशयुक्तः सूक्ष्मनाम्नः सूक्ष्मैकेन्द्रियसर्वसंक्लिष्टो जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी अपर्याप्तकनाम्नः पुनरपर्याप्तमनुष्यसर्वसंक्लिष्टश्चरमसमये वर्तमानो जघन्यप्रदेशोदीरको भवति। तथा द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातीनां यथाक्रमं द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः सर्वाः संक्लिष्टा जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामिनः (अणुभागोयतित्थयरत्ति) तीर्थकरनाम्न एव जघन्यानुभागोदीरणास्वामी। प्राक् प्रतिपादितः स एव जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी अपि वेदितव्यः तीर्थकरकेवली यावदद्यापि योजिकाकरणमारभते तावत्तीर्थकरनाम्नो जघन्यप्रदेशोदीरको वेदितव्य इत्यर्थः।

ओहि ओहिजुए अइ–सुहवेयआउगाणं तु ।
पढमस्स जहन्नट्ठिइ, सेसाणुक्कोसगट्ठिईउ ॥ ३१३ ॥

अवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोरवधिलब्धियुक्तः सर्वसंक्लिष्टो जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी। अवधिद्विक क्षेत्रादितो बहवः पुद्गलाः परिक्षीणा इत्यवधिलब्धिग्रहणम्। तथा चतु–

र्णामप्यायुषां स्वभूमिकानुसारेणातीव सुखमनुभवन् जघन्यप्रदेशोदीरको भवति । तत्र प्रथमस्य नरकायुषो दशवर्षसहस्रप्रमाणं जघन्यस्थितौ वर्तमानो नैरयिकः स हि शेषनारकापेक्षया अतिशयेन सुखी शेषाणां च तिर्यग्मनुष्यदेवायुषामुत्कृष्टस्थितौ वर्तमानो नैरयिकः । स हि शेषनारकः स्वस्वयोग्यतानुसारेण परमसुखिनो यथासंख्यंतिर्यङ्मनुष्यदेवा जघन्याप्रदेशोदीरणास्वामिनो वेदितव्याः । इति उदयोदीरणयोः स्वामित्वेन भेदो नास्ति ।

उईं (दी) रिज्जमाण त्रि० (उदीर्यमाण) उद्–ईर–य–शानच् । उदीरणानामनुदये प्राप्तं चिरेणागामिना कालेन यद्वेदितव्यं कर्म दलिकं तस्य विशिष्टाऽध्यवसायलक्षणेन करणेनाकृष्योदये प्रक्षेपणं सा चाऽसंख्येयसमयवर्तिनी तया च पुनरुदीरणया उदीरणाप्रथमसमय एव । भ० १ श० उ० । उदयमुपनीयमाने, प्रज्ञा० २३ पद । " उदीरिज्जमाणो उदीरए" भ० १ श० १ उ० ।

उईं (दी) रिय त्रि० (उदीरित) उत्प्राबल्येनेरितो जनितः । कृते, "ससद्दफासाफरुसाउदीरिया " अकिंकृते, आचा० । " महागुरूणिस्स यराउदीरिता " उत्प्राबल्येनेरितः कथितः । प्रतिपादिते, ' धीरे धम्मे उदीरिए ' आचा० ७ अ० ३ चू० । उत्प्राबल्येन प्रेरिते, राइयाणं वेइयाणं चालियाणं घट्टियाणं खोभियाणं उदीरियाणं केरिसए सद्दे भवति । राज० । जी० । उदयमुपनीते, प्रज्ञा० २३ पद । भ० । उदीरितास्तु स्वभावतोऽनुदितान् पुद्गलान् उदयप्राप्ते कर्मदलिके करणविशेषेण प्रक्षिप्य यान् वेदयते इति तत्त्वम् । भ० १ श० १ उ० ।

उईं (दी)रेंत त्रि० (उदीरयत्) वस्त्वन्तरं प्रेरयति, स्था० ७ ठा० ।

उउ पुं० (ऋतु) ऋ तु किच्च । **" उदृत्वादौ ८ । १ । ३ । "** ऋतु इत्यादिषु शब्देष्वादेर्ऋत उद् भवति प्रा० । ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः इति मनूक्ते स्त्रीणां शोणितदर्शनयोग्यगर्भ-धारणसमर्थे काले, । वाच० । नि० चू० । लोकरूढ्या षष्ट्यहोरात्रप्रमा-णद्विमासात्मके कालविशेषे, व्य० १ उ० । जी० । स्था० । भ० । जी० । "दो मासा उऊ" । भ० ६ श० ७ उ० । अनु० । स्था० । ज्ञा० । औ० । जं० । ते च षट् " तत्थ खलु इमे छ उऊपण्णत्ता तंजहा पाउसे १ वरिसारत्ते २ सरहे ३ हेमन्ते ४ वसन्ते ५ गिम्हे ६ । ता सव्वे वि णं पडिचंदे उऊदुवे दुवे मासानि च उप्पण्णेणं आदाएणं गणिज्जमाणसातिरेगाइं एगूणसट्ठि एगूणसट्ठि रातिंदिनाइं रातिंदियग्गेणं आहितेत्ति" । तत्राऽस्मिन् मनुष्य–लोके प्रतिसूर्यायनं प्रतिचन्द्रायनं च खल्विमे षट् ऋतवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा–प्रावृट्, वर्षारात्रः शरदो, हेमन्तो, वसन्तो, ग्रीष्मः । इह लोके अन्यथाभिधाना ऋतवः प्रसिद्धास्तद्यथा प्रावृट् शरद्, हेमन्तः शिशिरो, वसन्तो ग्रीष्मश्चेति । जिनमते तु यथोक्ताभिधाना एव ऋतवः । तथाचोक्तम् " पाउस वासारत्तो, सरओ हेमंत वसंत गिम्हो य । एए खलु छ प्पि उऊ, जिणवरदिट्ठा मए सिट्ठा " चं० प्र० १२ पाहु । सू० प्र० । स्था० । जं० ।

ऋतुपरिमाणविचारः ।

एतो उउपरिमाणं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ।

एतो मण्डलेषु नक्षत्रसूर्यशशिनां प्रतिमुहूर्तं गतिपरिमाणप्रतिपादितानामनन्तरमृतुपरिमाणं सूर्यर्तुपरिमाणं चन्द्रर्तुपरिमाणं च यथानुपूर्व्या क्रमेण वक्ष्यामि । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुकामः प्रथमतः सूर्यर्तुपरिमाणं प्रतिपादयति ।

वे याइच्चा मासा, एकसट्ठिते भवंतहोरत्ता ।
एयं उउपरिमाणं, अवगयमाणो जिणा विंति ॥

यौ द्वावादित्यौ मासौ सूर्यमासौ यावदहोरात्रिपरिगणनया एकषष्टिरहोरात्रा भवन्ति । तथाहि सूर्यमासस्त्रिंशदहोरात्र एकस्य चाहोरात्रस्य चार्द्धं ततो द्वौ सूर्यमासावेकषष्टिरहोरात्रा भवन्ति । एतत् एतावत् क्रमतः सूर्यर्तोः परिमाणमपगतमानाः । मानग्रहणमुपलक्षणमपगतसकलक्रोधमानादिवर्गाः जिनास्तीर्थकृतो भवति ।

सांप्रतमीप्सितसूर्यर्त्वानयने करणमभिधित्सुराह ।

सूरउउस्साणयणे, पव्वपंचरसगुणं नियमा ।
तिहि संक्खित्तं संतं, बावट्ठिभागपरिहीणं ॥
दुगुणे गट्ठीए जुयं, बावीससएण भाइए नियमा ।
जं लंद्धं तस्स पुणो, छहिहिय सेस उऊहोइ ॥
सेसाणं अंसाणं, वेहि उ भागाहि तेसि जं लंद्धं ।
ते दिवसा नायव्वा, हों ति सचत्तस्स अयणस्स ॥

सूर्यस्य सूर्यसंबन्धेन ऋतोरानयने पर्वपर्वसंस्थानं नियमात्पञ्चदशगुणं कर्त्तव्यम् । पर्वणां पञ्चदशतिथ्यात्मकत्वात् । इयमत्र भावना । इह ऋतव आषाढादिप्रभवाः युगं च प्रवर्तते श्रावणबहुलपक्षे प्रतिपद आरभ्यते । ता युगादितः प्रवृत्तानि यानि पर्वाणि तत्संख्या पञ्चदशगुणा क्रियते कृत्वा च पर्वणामुपरि या विवक्षितदिनमभिव्याप्य तिथयस्तास्त्वत्रसंक्षिप्यन्ते इत्यर्थः । ततो "बावट्ठीभागपरिहीणंति" प्रत्यहोरात्रमेकैकेन द्वाषष्टिभागेन परिहीयमाने ये निष्पन्ना अवमरात्रास्तेऽप्युपचारात् द्वाषष्टिभागास्ते परिहीनपर्वसंख्यानं कर्त्तव्यं ततो (दुगुणत्ति) द्वाभ्यां गुण्यते गुणयित्वा च एकषष्ट्यायुतं क्रियते । ततो द्वाविंशेन शतेन भाजितं यल्लब्धं तस्य षड्भिर्भागे हृते यच्छेषं स ऋतुरनन्तरातीतो भवति । येऽपि अंशा शेषा उद्धरिताः तेषां द्वाभ्यां भागे हृते यल्लब्धं ते दिवसाः प्रवर्तमानस्य ऋतोर्ज्ञातव्याः । एष करणगाथाक्षरार्थः । संप्रति करणभावना क्रियते । तत्र युगे प्रथमे दीपोत्सवे केनापि पृष्टः कः सूर्यर्तुरनन्तरमतीतः को वा संप्रति वर्तते । तत्र युगादितः सप्तपर्वाण्यतिक्रान्तानीति संप्रक्षिप्यन्ते । तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते । जातं पञ्चोत्तरशतम् । एतावति विकाले द्वावव्मरात्रावभूतामिति द्वौ ततः पात्येते स्थितं पश्चात् त्र्युत्तरं शतं (१०३) ततो द्वाभ्यां गुण्यते जाते द्वे षडुत्तरे (२०६) तत्रैकषष्टिः प्रक्षिप्यते द्वेशते सप्तषष्ट्यधिके (२६७) तयोर्द्वाविंशतेन भागो ह्रियते लब्धौ द्वौ तौ षड्भिर्भागं न सहेते इति न तयोः षड्भिर्भागहारः । शेषास्त्रयंशा उद्धरन्ति त्रयोविंशतिः । तथा समर्द्धिजाता एकादश अर्द्धं च सूर्यर्तुश्चाषाढादिस्तत आगतं द्वावृतू अतिक्रान्तौ तृतीयश्च ऋतुः संप्रति प्रवर्तते । तस्य च प्रवर्तमानस्यैकादश दिवसा अतिक्रान्ता द्वादशो वर्तते इति । तथा युगे प्रथमायामक्षयतृतीयायां केनापि पृष्टं के ऋतवः पूर्वमतिक्रान्ताः को वा संप्रति वर्तते तत्राक्षयतृतीयायां प्रथमायाः प्राङ्मयुगस्यादितः पर्वाण्यतिक्रान्तान्येकोनविंशतिः ततः एकोनविंशतिः पञ्चदशभिर्गुण्यते जाते द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके (२८५) अक्षयतृतीयायां किल पृष्टमिति पर्वणामुपरितन्यस्तिययः प्रक्षिप्यन्ते जाते द्वे शेते अष्टाशीत्यधिके (२८८) तावति काले अवमरात्राः पञ्च भवन्ति । पञ्च ततः पात्यन्ते

जाते द्वे शते त्र्यशीत्यधिके (२८३) ते द्वाभ्यां गुण्यते जातानि पञ्च शतानि षट्षष्ट्यधिकानि (५६६) तान्येकषष्टिसहितानि क्रियन्ते जातानि षट् शतानि सप्तविंशत्यधिकानि (६२७) तेषां द्वाविंशेन शतेन भागो ह्रियते लब्धाः पञ्च पश्चाद शादुद्वरन्ति सप्तदश तेषामर्द्धे लब्धाः साद्धा अष्टौ । आगतं पञ्च ऋतवोऽतिक्रान्ताः षष्ठस्य च ऋतोः प्रवर्तमानस्याष्टौ दिवसा गताः नवमो वर्तते । तथा युगे द्वितीये दीवोत्सवे केनापि पृष्टं कियन्त ऋतवोऽतिक्रान्ताः को वा संप्रति वर्तते । तत्रैतावति काले पर्वाण्यतिक्रान्तानि एकत्रिंशत्पञ्चदशभिर्गुण्यते जातानि चत्वारि शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि (४६५) अवमरात्राश्चैतावति काले व्यतिक्रामत्यष्टौ ततोऽष्टौ पात्यानि शेषाणि चत्वारि शतानि सप्तपञ्चाशताधिकानि (४५७) तानि द्विगुण । क्रियन्ते जातानि नवशतानि नवशतानि चतुर्दशोत्तराणि (९१४) तथैकषष्टिप्रक्षेपे जातानि नवशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि (९७५) एतेषां द्वाविंशत्यधि–कशतेन भागहरणं, लब्धाः सप्त उपरिष्टादंशादुद्वरन्ति एकविंशतिशतं (१२१) तस्य द्वाभ्यां भागे हृत लब्धाः षष्टिसार्द्धाः सतानां च ऋतूनां षड्भिर्भागे हृते लब्ध एकः । एक उपरिष्टान्न तिष्ठन्ति आगतमेकसंवत्सरोऽतिक्रान्तः । एकस्य च संवत्सरस्योपरि प्रथम ऋतुः प्रावृड्नाम निगतो द्वितीयस्य च षष्टिर्दिनान्यतिक्रान्तान्येकषष्टितम वर्तते इति एवमन्यत्रापि भावना कार्या।

सांप्रतममूनामृतूनां नामान्याह ।

पाउस वासारत्ता, सरओ हेमंत वसंत गिम्हो य ।
एए खलु छप्पि उउ, जिणवरदिट्ठा मए सिट्ठा ॥

प्रथम ऋतुः प्रावृड्नामा द्वितीया वर्षारात्रा तृतीया शरश्चतुर्थो हेमन्तः, पञ्चमो वसन्तः, षष्ठो ग्रीष्मः । एते षडपि ऋतवः एवं नामतो जिनवरदृष्टाः सर्वज्ञदृष्टा मया शिष्टाः कथिताः । साम्प्रतमेतेषामृतूनां मध्ये क ऋतुः कस्यां तिथौ समाप्तिमुपयातीति परस्य प्रश्नमाशङ्क्य तत्परिज्ञानाय करणमाह ।

इच्छा उऊदुगुणितो, रुवोणगुणिओ उ पव्वाणि ।
तस्सद्धं होइ तिही, जत्तसमत्ता उऊतीसं ॥

यस्मिन् ऋतौ ज्ञातुमिच्छा स ऋतुः ध्रियते तत्संख्या ध्रियते इत्यर्थः ततः स द्विगुणितः सन् रूपोन्: क्रियते । ततः पुनरपि स द्वाभ्यां गुण्यते गुणयित्वा च प्रतिराश्य तद्द्विगुणितश्च सन् भवन्ति तावन्ति पर्वाणि द्रष्टव्यानि तस्य च प्रतिराशि तस्यार्द्धं क्रियते । ततश्चार्धं यावत् भवति तावत्यस्तिथयः प्रतिपत्तव्याः । यासु युगभाविनीस्त्रिंशदपि ऋतवः समाप्ताः समाप्तिमैयरुरिति करणगाथाक्षरार्थः । सम्प्रति करणभावना विधीयते । किल प्रथम ऋतुर्ज्ञातुमिष्टो यथा युगे कस्यां तिथौ प्रथमतः प्रावृड्लक्षण ऋतुः समाप्तिमुपयातीति । तत्र एकका ध्रियते स द्वाभ्यां गुण्यत जाते द्वे स्वरूपोनः क्रियते । जात एकक एवं स भूयोपि द्वि र्गुण्यते द्वे रूप प्रतिराश्यते तयोरर्द्धे जातमेकं रूपमागतं । युगादौ द्वे पर्वणी अतिक्रम्य प्रथमायां तिथौ प्रतिपदि प्रथमः प्रावृड्नामा ऋतुः समापत् । तथा द्वितीये ऋतौ ज्ञातुमिच्छति द्वौ स्थापितो तथा द्वाभ्यां गुणने जाताश्चत्वारस्ते रूपोनाः क्रियन्ते । जातास्त्रयस्ते भूयो द्विर्गुण्यन्ते जाताः षट् ते प्रतिराश्यन्ते प्रतिराशीनां चार्द्धः क्रियते जातास्त्रय आगतं युगादितः षट् पर्वाण्यतिक्रम्य तृतीयायां तिथौ द्वितीय ऋतुः समाप्तिमुपा–गमत् । तथा तृतीये ऋतौ ज्ञातुमिच्छति त्रयो ध्रियन्ते । द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाताः षट् ते रूपोनाः कृताः सन्तो जाताः पञ्च ते भूयो द्विर्गुण्यन्ते जाता दश ते प्रतिराशीनां चार्द्धे लब्धाः पञ्च । आगतं युगादित आरभ्य दश पर्वाण्यतिक्रम्य पञ्चम्यां तिथौ तृतीय ऋतुः समाप्तिमियाय । तथा षष्ठे ऋतौ ज्ञातुमिच्छति षट् स्थाप्यन्ते । ते द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाता द्वादश रूपोनाः सन्तो जाता एकादश ते द्विर्गुण्यन्ते । जाता द्वाविंशतिः । सा प्रतिराशि तयोश्चार्द्धं क्रियते । जाता एकादश । आगतं युगादितो द्वाविंश–तिपर्वाण्यतिक्रम्य एकादश्यां तिथौ षष्ठ ऋतुः समाप्नोति । तथा युगे नवमे ऋतौ ज्ञातुमिच्छता नव स्थाप्यन्ते ते द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाता अष्टादश ते रुपोनाः क्रियन्ते । जाताः सप्तदश ते भूयो द्विर्गुण्यन्ते जाताश्चतुस्त्रिंशत् । संप्रतिराश्यते तस्या अर्द्धं क्रियते जाताः सप्तदश आगतं युगादितश्चतुस्त्रिंशत्पर्वाण्यतिक्रम्य द्वितीये संवत्सरे पौषमासे शुक्लपक्षे द्वितीयस्यां तिथौ नवम ऋतुः परिसमाप्तिं गच्छति । तथा त्रिंशत्तमे ऋतौ जिज्ञासति त्रिंशद् ध्रियते सार्द्धिर्गुण्यते जाता षष्टिः सा रूपोना क्रियते जाता एकोनषष्टिः सा भूयो द्वाभ्यां गुण्यते जातमष्टादशोत्तरं शतं तत् प्रतिराश्यते तस्यार्द्धं क्रियते जाता एकोनषष्टिः । आगतं युगादितोऽष्टादशोत्तरपर्वाण्यतिक्रम्य एकोनषष्टितमायां तिथौ । किमुक्तं भवति । पञ्चमे संवत्सरे प्रथमे आषाढमासे शुक्लपक्षे चतुर्दश्यां त्रिंशत्तम ऋतुः समाप्तिमुपायासीत् व्यवहारतः प्रथमाषाढपर्य्यन्त इत्यर्थः संप्रति वर्षाकाले शीतकाले ग्रीष्मकालेषु चतुर्मासप्रमाणेषु यस्मिन् पर्वणि कर्ममासापेक्षयाऽधि कोहोरात्रः सूर्यर्तुपरिसमाप्तौ भवति तत्प्रतिपादयन्नाह ।

वइयम्मि उ कायत्त, अतिरत्तं सत्तम पव्वम्मि ।
वासहिमागम्हकाले, चाउम्मासे विहीयत्ते ॥

वर्षाहिमग्रीष्मकालेषु प्रत्येकं चतुर्मासेषु चतुर्मासप्रमाणेषु पृथक् अति–रात्रा अधिका अहोरात्रा विधीयन्ते तद्यथा एकातृतीयपर्वण्यपरा सहिमपर्वणि । इयमत्र भावना । सूर्यर्तुचिन्तायां कर्ममासापेक्षया वर्षाकाले श्रावणादौ तृतीये पर्वणि गते कोऽधिकोऽहोरात्रो द्वितीयः सप्तमे पर्वणि हेमन्तकालेपि एकस्तृतीये पर्वणि द्वितीयः सप्तमे ग्रीष्मकालेपि एकस्तृतीये पर्वणि द्वितीयः सप्तमे । अत्राह पूर्वपूर्वावमरात्रसहितमुक्तम् । इदानीं त्वधिकरात्रोपेतमिति किमत्र पर्वकरणमत आहे ।

उउसहियं अतिरत्तं, जुगसहियं होइ अउमरत्तं तु ।
रविसहियं अइरत्तं, सहितहियं अमरत्तं तु ॥

इह पर्वऋतुसहितं विवक्षते तदा विवक्षितं तृतीयादिकवर्षाकाला-दिसम्बन्धि अतिरात्रमधिकारात्रम् । सूर्यर्तुपरिसमाप्तिचिन्तायां तस्मिन् विवक्षिते तृतीयादौ पर्वणि कर्ममासापेक्षयाधिकोऽहोरात्रो भवति । तथाहि कर्ममासस्त्रिंशता दिनै : सूर्यमासस्त्रिंशता मासद्वयात्मकश्च ऋतुः । ततः सूर्यर्तुपरिसमाप्तौ कर्ममासापेक्षयैकोधिकोहोरात्रो भवतीति । तथा युगं चन्द्राभिवर्द्धितरूपं संवत्सरपञ्चकान्ते च पञ्चापि संवत्सराश्चन्द्रमा-सापेक्षया ततो यदि पर्वयुगसहितं चन्द्रमासोपेतं विवक्ष्यत तदा विवक्षितं पर्वतृतीयादिकं वर्षाकालादिसम्बन्धे अवमरात्रोपेतं भवति कर्ममासापेक्षया तस्मिन् तृतीयादौ पर्वणि नियमादेकोऽहोरात्रः पततीति भावः । एतदेवाह

(रविसहियमित्यादि) रविसहितमिति रात्रं किमुक्तं भवति । रविमासनिपाद्यमानर्तुचिन्तायां तस्मिन् तृतीयादौ वर्षाकालादिसंबन्धिनि पर्वणि तत्र सूर्यर्तुपरिसमाप्तौ कर्ममासापेक्षया एकैकोऽधिकोहोरात्रः प्राप्यते इति शशिसहितमवमरात्रं चन्द्रनिपादितास्तिथीरधिकृत्य कर्ममासापेक्षया विवक्षितं तृतीयादि पर्वहीनरात्रं भवतीत्यर्थः । सम्प्रति येषु मासेषु सूर्यर्तुपरिसमाप्तिचिन्तायां पूर्वपूर्वसूर्यर्तुगततिथ्यपेक्षयाधिकोहोरात्रः परिवर्द्धते तान् प्रतिपादयति । आसाढ बहुलपक्षे तथा भाद्रपदमासे बहुलपक्षे एवं कार्तिके पौषे फाल्गुने वैशाखे चातिरात्रं बोद्धव्यम् । पूर्वपूर्वसूर्यर्तुगतितिथ्यपेक्षया एतेषु षट् सु मासेषु *अधिकोऽहोरात्रो ज्ञातव्यो न शेषेषु मासेषु । एतदेव सविशेषमाह ।*

एक्कंतरिया मासा, तिही य जासु ता उऊसमप्पंति ।
असाढाई मासा, मद्दवयाइ तिहि सव्वा ॥

इह सूर्यर्तुचिन्तायां मासा आषाढादयो द्रष्टव्याः आषाढमासादारभ्य. ऋतूनां प्रथमतः प्रवर्तमानत्वात् तिथयः सर्वा अपि भाद्रपदादिषु मासेषु प्रथमादीनामृतूनां परिसमाप्तत्वात् । तत्र येषु मासेषु यासु वा तिथिषु ऋतवः प्रावृडादयः परिसमाप्नुवन्ति ते आषाढादयो मासास्ताश्च तिथयो भद्रपदादिमासानुगताः सर्वा अपि एकान्तरिता वेदितव्याः । तथा हि प्रथम ऋतुः भाद्रपदे मासि समाप्तिमुपैति तत एको मासश्च युगलक्षणमपान्तराले उक्तः । कार्तिके मासे द्वितीय ऋतुः परिसमाप्तिमिम्रर्ति । एवं तृतीयः पौषमासे, चतुर्थः फाल्गुने, पञ्चमो वैशाखे, षष्ठः आषाढे, एवं शेषा अपि *ऋतवः षट्सु मासेष्वेकान्तरेषु परिसमाप्तिमाप्नुवन्ति नाशेषेषु मासेषु । तथा* प्रथम ऋतुः प्रतिपदि समाप्तिमेति द्वितीयःतृतीयस्यां, तृतीयःपञ्चम्यां, चतुर्थःसप्तम्यां पञ्चमो नवम्यां, षष्ठःएकादश्यां, सप्तम–स्त्रयोदश्यामष्टमः पञ्चदश्याम् एते सर्वेऽपि ऋतवो बहुलपक्षे ततो नवम ऋतुः शुक्लपक्षे द्वितीयायां, दशमश्चतुर्थ्यां मेकादशःषष्ठ्यां, द्वादशोऽष्टम्यां, त्रयोदशो दशम्यां, चतुर्दशो द्वादश्यां पञ्चदशश्चतुर्दश्याम् एते सप्त ऋतवः शुक्लपक्षे । एते ऋतवः शुक्लपक्षे भाविनः । पञ्चदशापि ऋतवो युगस्पार्द्धे भवन्ति । तत उक्तक्रमेणैव शेषा अपि पञ्चदश ऋतवो द्वितीये युगस्पार्द्धे भवन्ति । तद्यथाषोडशः ऋतुर्बहुलपक्षे प्रतिपदि, सप्तदशः तृतीयायामष्टादशः पञ्चम्यामेकोनविंशतितमः सप्तम्यां, विंशतितमो, नवम्या,मेकविंशतितम एकादश्यां, द्वाविंशतितमः त्रयोदश्यां त्रयोविंश–तितमः पञ्चदश्यामेते षोडशादयस्त्रयोविंशतिपर्यन्ताः । अष्टौ बहुलपक्षे ऋतवः शुक्लपक्षे द्वितीयायां चतुर्विंशतितमः पञ्चविंशतितमश्चतुर्थ्यां, षट्त्रिंशत्तमः षष्ठ्यां, सप्तविंशतितमोऽष्टम्याम् अष्टाविंशतितमो दशम्या, मेकोनत्रिंशत्तमो द्वादश्यां त्रिंशत्तमश्चतुर्दश्यामेवमेते सर्वेऽपि ऋतवो मासेष्वेकान्तरितेषु तिथिष्वपि चैकान्तरितासु भवन्ति । सांप्रतमेतेषु ऋतुषु चन्द्रनक्षत्रयोगं च प्रतिपादयिषुस्तद्विषयं करणमाह ।

तित्तिसया पंचहिगा, अंसा छेओ सयं च चोत्तीसं ।
एगाइ वि उत्तरगुणा, धुवरासीए स बोधव्वा ॥

त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि अंशा विभागाः किंरूपच्छेदकृता एते इत्याह च्छेदशतं चतुस्त्रिंशं किमुक्तं भवति चतुस्त्रिंशद्रधिकशतच्छेदेन छिन्नं यदहोरात्रं तस्य सक्तानि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराण्यंशोनामिति अयं ध्रुवराशिर्बोद्धव्यः । एष च ध्रुवराशिरेकादिद्युत्तरगुण ईप्सितेन ऋतुना एकादिना त्रिंशत्पर्यन्तेनाद्युत्तरेण एकस्मादारभ्य तत ऊर्ध्वमुत्तरवृद्धेन गुण्यतेति गुणो गुणितः कर्तव्यस्ततोऽस्मात् शोधकानि शोधयितव्यानीति प्रतिपादनार्थमाह ।

सत्तट्ठि अ ङ्खेत्ते, दुगतिगगुणियासमेदिवङ्खित्ते ।
अट्ठासीई पुस्से–सोज्झा अभिइम्मि बायाला ॥

इह यत्र अर्द्धक्षेत्रं तत्र सप्तषष्टि शोध्यानि च सप्तषष्टिः समे समक्षेत्रे द्विगुणिता सती शोध्या एकोत्तरे द्वे शते तत्र शोध्ये इति भावः । इह सूर्यस्य पुष्यादीनि नक्षत्राणि शोध्यानि चन्द्रस्याभिजिदादीनि तत्र सूर्यनक्षत्रयोगचिन्तायां पुष्ये पुष्यविषया अष्टाशीतिः शोध्यानि *चन्द्रनक्षत्रयोगचिन्तायामभिजिति द्विचत्वारिंशत् ।*

एयाणि सोहइत्ता, जं संतं तु होइ नक्खत्तं ।
रविसोमाणं नियमा, तीसाए उउसमत्तीसु ॥

एतानि अनन्तरोदितानि अर्धक्षेत्रद्व्यर्धक्षेत्रविषयाणि शोधकानि शोधयित्वा यदुक्तप्रकारेण नक्षत्रं शेषं भवति सर्वात्मना शुद्धिमश्नुते तत्र क्षेत्रं रविसोमयोः सूर्यस्य चन्द्रमसश्च नियमाद् ज्ञातव्यम् । क्व इत्याह त्रिंशत्यपि ऋतुसमाप्तिषु एवं करणगाथात्रयाक्षरार्थः । संप्रति करणभावना क्रियते तत्र प्रथम ऋतुः कस्मिंश्चन्द्रनक्षत्रे समाप्तिमुपैतीति जिज्ञासायामनन्तरोदितः पञ्चोत्तरत्रिंशत्प्रमाणो ध्रुवराशिर्धियते स एकोनगुणितस्तदेव भवतीति ततोऽनेनध्रुवराशिर्जातस्तत्राभिजितो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा स्थिते पश्चाद् द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके (२६३) ततश्चतुस्त्रिंशेन शतेन श्रवणः शुद्धः । शेषजातमेकोनत्रिंशच्छतं (१२९) तेन च धनिष्ठा शुद्ध्यति तत आगतमेकोनत्रिंशं शतं चतुस्त्रिंशदधिकशतं भागानाम् धनिष्ठासक्तमवगाह्य चन्द्रःप्रथमे सूर्यर्तुं समापयति । यदि द्वितीयसूर्यर्तुजिज्ञासा तदा स ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणस्त्रिभिर्गुण्यते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) तत्राभिजितो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा स्थितानि शेषाण्यष्टौ शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि (८७३) ततश्चतुस्त्रिंशेन शतेन श्रवणशुद्धिमुपगत स्थितानि शेषाणि सप्त शतानि एकोनचत्वारिंशदधिकानि (७३९) ततोपि चतुस्त्रिंशेन शतेन धनिष्ठा शुद्धा जातानि षट्शतानि पञ्चोत्तराणि (६०५) ततोपि सप्तषष्ट्या शतभिषक् शुद्धा स्थितानि पश्चात्पञ्च शतानि अष्टत्रिंशदधिकानि (५३८) तेभ्योपि चतुस्त्रिंशेन शतेन पूर्वभद्रपदा शुद्धा स्थितानि चत्वारि शतानि चतुरधिकानि (४०४) ततो द्वाभ्यां शताभ्यामेकोत्तराभ्यामुत्तरभद्रपदा शुद्धा स्थिते शेषे त्रिकोनसप्ततिचतुस्त्रिंशदधिकं शतं भागानामवगाह्य द्वितीयं सूर्यर्तुं चन्द्रः परिसमापयति । एवं शेषेष्वपि ऋतुषु भावनीयम् । संप्रति सूर्यनक्षत्रयोगभावना क्रियते स एव पञ्चोत्तरशतप्रमाणो ध्रुवराशिः प्रथमसूर्यर्तुजिज्ञासायामेकेन गुण्यते एकेन च गुणने तावानेव जातस्तत्र पुष्यसत्कावष्टासीती शुद्धा स्थिते शेषे द्वे शते सप्तदशोत्तरे (२१७) ततः सप्तषष्ट्या अश्लेषा शुद्धा स्थितं शेषं सार्द्धशतं (१५०) ततोऽपि चतुस्त्रिंशच्छतेन मघा शुद्धा स्थिताः षोडश आगतं पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रस्य षोडश चतुस्त्रिंशदधिकानि शतभागानवगाह्य सूर्यः प्रथमर्तुं समापयति । तथा द्वितीयसूर्यर्तुजिज्ञासायांध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशत–

त्रयप्रमाणस्त्रिभिर्गुण्यते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) ततोऽष्टाशीत्या पुष्यः शुद्धिमगमत् स्थितानि पञ्चादष्टौ शतानि सप्तविंशत्यधिकानि (८२७) तेभ्यः सप्तषष्ट्या अश्लेषा शुद्धा स्थितानि शेषाणि षट् शतानि षड्विंशत्यधिकानि (६२६) तेभ्यश्चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन पूर्वफाल्गुनी शुद्धा स्थितानि पञ्चाचत्वारि शतानि द्विनवत्यधिकानि (४९२) ततोऽपि द्वाभ्यां शताभ्यामेकोत्तराभ्यामुत्तरफाल्गुनी शुद्धा स्थिते द्वे शते एकोनवत्यधिके (२८९) ततोऽपि चतुस्त्रिंशेन शतन हस्तः शुद्धं स्थितं पश्चात्सप्तपञ्चाशदधिकं शतं (१५७) ततोऽपि चतुस्त्रिंशेन शतेन चित्रा शुद्धा स्थिता पश्चात्त्रयोविंशतिः आगतं स्वातेस्त्रि–योविंशति चतुस्त्रिंशदधिकशतं भागानामवगाह्य सूर्यो द्वितीयं ऋतुं परिसमापयति। एवं शेषेष्वपि ऋतुषु भावनीयम् तदेवमुक्ताः सूर्यर्त्तवः ।

संप्रति चन्द्रर्तुप्रतिपादनार्थमाह।

चत्तारि उ सयाइं वि, उत्तराइं जुगम्मि चंदस्स ।
तेसिं पि य करणविहिं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

इह एकस्मिन् नक्षत्रपर्याये षट् ऋतवो भवन्ति यथा सूर्यस्य चन्द्रस्यापि च नक्षत्रपर्याया युगसप्तषष्टिसंख्यास्ततः सप्तषष्टिः षड्भिर्गुण्यते जातानि चत्वारि शतानि द्व्युत्तराणि एतावन्तो युग चन्द्रस्य ऋतवा भवन्ति तेषामपि चन्द्रर्तूनां परिज्ञानाय करणविधिं यथानुपुर्व्या क्रमेण वक्ष्यामि । तत्र प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुकामः प्रथमतश्चन्द्रर्तुपरिमाणमाह।

चंदस्स उ परिमाणं, चत्तारि य केवलं अहोरत्ता ।
सत्ततीसं अंसा, सत्तसट्ठिकरणछेएण ॥

चन्द्रस्य चन्द्रसंबन्धिन ऋतोः परिमाणं चत्वारः केवलाः परिपूर्णा अहोरात्राः सप्तषष्टिच्छेदकृतेन च च्छेदेन सप्तत्रिंशदंशाः। किमुक्तं भवति सप्तविंशतिसप्तषष्टिभागा दिनस्य तथा ह्येकस्मिन् नक्षत्रपर्याये षट् ऋतव इति प्रागेव भावितम् । नक्षत्रपर्यायचन्द्रविषयस्य परिमाणं सप्तविंशतिरहोरात्र एकस्य चाहोरात्रस्य एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः तत्राहोरात्राणां षड्भिर्भागे हृते लब्धानि चत्वारि दिनानि, त्रीणि शेषाणि तिष्ठन्ति तानि सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते जाते द्वे शते एकोत्तरे (२०१) तत उपरितना एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते जाते द्वे शते द्वाविंशे (२२२) तेषां षड्भिर्भागे हृते लब्धाः सप्तत्रिंशत्सप्तषष्टिभागा इति।

संप्रति चन्द्रऋतोराननयनार्थं करणमाह।

चंदं उउ आणयणे, पन्नरस संगुणं नियमा ।
तिहि संखित्तं संतं, वावट्ठी भागपरिहीणं ॥
चोत्तीससयाभिहियं, पंचुत्तरतिसयं संजयं वि भए।
छहि उदसूतारहियं, सएहि लद्धा उऊहोति ॥

विवक्षितास्य चन्द्रर्त्तोरानयने कर्तव्ये युगादितोऽयनपर्वसंख्या नमतिक्रान्तं तत्पञ्चदशगुणं नियमात् कर्तव्यं ततस्तिथिसंक्षिप्तमिति यास्तिथयः पर्वणामुपरि विवक्षितान् दिनान् प्रागनिष्क्रान्तास्तास्तत्र संक्षिप्यन्ते ततो द्वाषष्टिभागे द्वाषष्टि भागनिष्पन्नेऽवमरात्रे परिहीनं विधेयं तत एवं भूतं सच्चतुस्त्रिंशेन शतेनाभिहितं कर्तव्यं तदनन्तरं च पञ्चोत्तरैस्त्रिभिः शतैः संयुक्तं सत् षड्भिदेशोत्तरैः शतैर्विभजेत् विभक्ते च सति ये लब्धा अङ्कास्ते ऋतवो भवन्ति ज्ञातव्याः । एष करणगाथात्रयाक्षरार्थः । संप्रति करणभावना क्रियते । कोपि पृच्छति युगादितः प्रथमे पर्वणि पञ्चम्यां कश्चन्द्रर्तुर्वर्तते तत्रैकमपि पर्व परिपूर्णमत्र नाद्याप्यभूदिति युगादितो दिवसाद्रूपोना ध्रियन्ते ते चात्र चत्वारस्ते चतुस्त्रिंशेन शतेन गुण्यन्ते जातानि पञ्च शतानि षट् त्रिंशदधिकानि (५३६) तत्र भूयस्त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि प्रक्षिप्यन्ते जातान्यष्टौ शतान्येकचत्वा–रिंशदधिकानि (८४१) तेषां षड्भिः शतैर्दशोतरैर्भागो ह्रियते लब्धः प्रथम ऋतुः अंशा उद्वरन्ति द्वे शते एकत्रिंशदधिके (२३१) तेषां चतुस्त्रिंशेन शतेन भागहरणं लब्धु एकः अंशानां चतुस्त्रिंशेन शतेन भागे हृते यल्लभ्यते ते दिवसा ज्ञातव्याः शेषास्त्वंशा उद्वरन्ति सप्तनवतिस्तेषां द्विकेनापवर्तनायां लब्धाः सार्द्धा अष्टाचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा आगतं युगादितः पञ्चम्यां प्रथमः प्रावृड्लक्षण ऋतुरतिक्रान्तो द्वितीयस्य एको दिवसौ गतो द्वितीयस्य च सार्द्धा अष्टचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः । तथा कोपि पृच्छति युगादितो द्वितीये पर्वणि एकादश्यां कश्चन्द्रर्तुरिति तत्रैकं पर्वातिक्रान्तमिति एको ध्रियते स पञ्चदशभिर्गुण्यतै जाताः पञ्चदश एकादश्यां किल पृष्टमिति तस्याः पाश्चातया दश ये दिवसास्ते प्रक्षिप्यन्ते जाता पञ्चविंशतिः सा चतुस्त्रिंशेत शतेन गुण्यते जातानि त्रयस्त्रिंशत् शतानि पञ्चाशदधिकानि (३३५०) तेषु त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि प्रक्षिप्यन्ते जातानि षट्त्रिंशत् शतानि पञ्चपञ्चाशदधिकानि (३६५५) तेषां षड्भिः शतैर्दशोतरैर्भागो ह्रियते लब्धाः पञ्च अंशा अवतिष्ठन्ते षट् शतानि पञ्चोत्तराणि (६०५) तेषां चतुस्त्रिंशेन शतेन भागे हृते लब्धाश्चत्वारो दिवसाः (४) शेषास्त्वं शा उद्वरन्ति एकोनसप्ततिः (६९) तस्या द्विकोनापवर्तनायां लब्धाः सार्द्धाश्चतुस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः आगतं पञ्च ऋतवोऽतिक्रान्ताः षष्ठस्य य ऋतोश्चत्वारो दिवसाः पञ्चमस्य च दिवसस्य सार्द्धाश्चतुश्चत्वारिंशत्सप्त-षष्टिभागाः। एवमन्यस्मिन्नपि दिवसे चन्द्रर्तुरवगन्तव्यः।

संप्रति चन्द्रर्तुपरिसमाप्ति दिवसानयनाय करणमाह।

रविधुवरासी पुव्वंच, गुणिय भयएसणेण छेएण ।
जं लद्धं सो दिवसो, सोमस्स उऊसमत्तीए ॥

इह यः पूर्वसूर्यर्तुप्रतिपादने ध्रुवराशिरभिहतः पञ्चोत्तराणि त्रीणि शतानि चतुस्त्रिंशद्भागाःतस्मिन् पूर्वगुणिते ईप्सितेन एकादिना द्व्युत्तरचतुःशततमपर्यन्तं न द्व्युत्तरवृद्धेन एकस्मादारभ्य तत ऊर्ध्वं स्वन्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमानेन गुणितस्वकेनात्मीयेन च्छेदेन चतुस्त्रिंशदधिकशतरूपेण भक्ते सति यल्लब्धं सोमस्य ऋतुसमाप्तौ दिवसो ज्ञातव्याः । यथा केनापि पृष्टं चन्द्रस्य ऋतुः प्रथमः कस्यां तिथौ परिसमाप्तिं गत इति तत्र ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणो ध्रियते (३०५) स एकेन गुण्यते जातस्तावानेव ध्रुवराशिस्ततःस्वकीयेन च्छेदेन चतुस्त्रिंशदधिकशतप्रमाणेन भागो ह्रियते लब्धौ द्वौ शेषस्तिष्ठति सप्तत्रिंशद् द्विकेनापवर्तना क्रियते जाताः सार्द्धा अष्टादश । आगतं युगादितो द्वौ दिवसावतिक्रम्य तृतीये दिवसेऽष्टादशसु सप्तषष्टिभागेषु प्रथमश्चन्द्रर्तुः परिसमाप्तिं गच्छति द्वितीयचन्द्रर्तुपरिस-माप्तिजिज्ञासायां स ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणस्त्रिभिर्गुण्यते जातानि पञ्चदशोत्तराणि नव शतानि (९१५) तेषां चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन भागो ह्रियते लब्धाः षट्शेषमुद्वरति एकादशोत्तरशतं तस्य द्विके–

नापवर्तनायां लब्धाः सार्द्धाः पञ्चपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागाः आगतं युगादितः षट्षु दिवसेष्वतिक्रान्तेषु सप्तमस्य च दिवसस्य सार्द्धेषु पञ्चपञ्चाशत्संख्येषु भागेषु द्वितीयश्चन्द्रर्तुः परिसमाप्तिं गच्छति द्व्युत्तरचतुः–शततमजिज्ञायां स ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणोऽष्टभिः शतैस्त्र्युत्तरैर्गुण्यते द्व्युत्तरवृद्ध्याहि द्व्युत्तरचतुःशततमस्य व्युत्तराष्टशतप्रमाण एव राशिर्भवति । तथाहि यस्य एकस्मादूर्ध्वद्व्युत्तरवृद्ध्या राशिर्लभ्यते तस्य स द्विगुणो रूपोनो भवति तथा द्विकस्य त्रीणि त्रिकस्य पञ्च चतुष्कस्य सप्त अत्रापि च द्व्युत्तरचतुः शततमप्रमाणस्य राशेर्द्व्युत्तरवृद्ध्या राशिश्चि–न्त्यते ततोऽष्टौ शतानि द्व्युत्तराणि भवन्ति एवं भूतेन च राशिना गुणने जातेद्वे लक्षे चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (२४४९१५) तेषां चतुस्त्रिंशच्छतेन भागो ह्रियते लब्धानि अष्टादश शतानि सप्तविंशत्यधिकानि (१८२७) अंशाश्चोद्धरन्ति सप्तनवतिस्तस्या द्विकेनापवर्तना लब्धाः सार्द्धा अष्टाचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः आगतं युगादितोऽष्टादशसु दिवसशतेषु सप्तविंशत्यधिकेष्वतिक्रान्तेषु ततः परस्परसार्द्धेष्वष्टाचत्वारिंशत्संख्यासु सप्तषष्टिभागेषु द्व्युत्तरचतुः शततमस्य चन्द्रर्तोः परिसमाप्तिरिति।

संप्रति चन्द्रर्तुषु नक्षत्रयोगपरिज्ञानाय करणमाह।

सो चेव धुवो रासी, गुणरासी वि य हवंति चेव।
नक्खत्तं सोहणणिय, परिजाण पुव्वभणियाणि॥

युगे चन्द्रर्तोर्नक्षत्रयोगपरिज्ञानार्थं स एव पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणो ध्रुवराशिर्वेदितव्यः गुणराशयोऽपि गुणकारराशयोऽपि एकाद्युत्तरवृद्ध्या त एव भवन्ति ज्ञातव्या ये पूर्वमुद्दिष्टाः नक्षत्रशोधनान्यपि च परिजानीहि। तान्येव यानि पूर्वं भणितानि द्विचत्वारिंशत्प्रभृतीनि ततः पूर्वकरणे विवक्षिते चन्द्रर्तौ नक्षत्रयोग इति जिज्ञासायां स एव पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणो ध्रुवराशिः ध्रियते (३०५) स एकेन गुण्यते एकेन गुणितः सन् स तावेनेव भवति ततो जातो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा शेषे तिष्ठतो द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके (२६३) ततश्चतुस्त्रिंशेन शतेन श्रवणः शुद्धः स्थिते पश्चादेकोनत्रिंशच्छतं (१२९) तस्य द्विकेनापवर्तना क्रियते जाताः सार्द्धाश्चतुःषष्टिभागाः आगतं धनिष्ठायाः सार्द्धमेकेन चतुःषष्टिभागानावगाह्य चन्द्रः प्रथमं स्वऋतुं परिसमापयति द्वितीयश्चन्द्रर्तुजिज्ञासायां स एव ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणस्त्रिर्गुण्यते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) तत्राभिजितो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा स्थितानि शेषाण्यष्टौ शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि (८७३) ततश्चतुस्त्रिंशेन शतेन श्रवणः शुद्धमुपगतः स्थितानि शेषाणि सप्तशतानि एकोनचत्वारिंशदधिकानि (७३९) ततो पि चतुस्त्रिंशेन शतानि धनिष्ठा शुद्धा जातानि षट्शतानि पञ्चोत्तराणि (६०५) ततोपि सप्तषष्ट्या शतभिषक् शुद्धा स्थितानि पश्चात्पञ्च शतानि अष्टत्रिंशदधिकानि (५३८) एतेभ्योऽपि चतुस्त्रिंशेन शतेन पूर्वभद्रपदा शुद्धा स्थितानि चत्वारि शतानि चतुरधिकानि (४०४) तेभ्योपि द्वाभ्यां शताभ्यामेकोत्तराभ्यामुत्तरभद्रपदा शुद्धा स्थिते शेषे द्वे शते त्र्युतरे (२०३) ताभ्यामपि भागानवगाह्य द्वितीयं स्वं ऋतुं चन्द्रः परिष्ठापयति । तथा ह्युत्तरचतुःशततमचन्द्रर्तुजिज्ञासायां ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणोऽष्टभिः शतैस्त्र्युत्तरैर्गुण्यते जाते द्वे लक्षे चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (२४४९१५) तत्रार्द्धक्षेत्रेषु षट्सु नक्षत्रेषु प्रत्येकं सप्तषष्टिरंशाद्व्यर्द्धक्षेत्रेषु षट् सु नक्षत्रेषु प्रत्येकं चतुस्त्रिंशच्छतमिति षट्सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि द्व्युत्तराणि (४०२) तथा षट् पञ्चोत्तरेण शतद्वयेन गुण्यन्ते जातानि द्वादश शतानि दशोत्तराणि । (१२१०) एते च त्रयोपि राशय एकत्र मील्यन्ते मीलयित्वाऽवतिष्ठन्तेऽभिजितो द्वाचत्वारिंशत् प्रक्षिप्यन्ते जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि (३६६०) एतावानेको नक्षत्रपर्यायस्तत एतत्पूर्वस्य राशेर्भागो ह्रियते लब्धाः षष्टिर्नक्षत्राणि पर्यायाः पश्चादवतिष्ठन्ते पञ्चपञ्चाशदधिकानि त्रयस्त्रिंशच्छतानि (३३५५) तत्राभिजितो द्वाचत्वारिंशच्छुद्धाः स्थितानि शेषाणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि त्रयोदशाधिकानि (३३१३) तेषां त्रिभिः सहस्रैर्द्व्यशीत्यधिकैरनुराधान्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि शेषं ते द्वे शते एकत्रिंशदधिके (२३१) ततः सप्तषष्ट्या ज्येष्ठा शुद्धा स्थित चतुःषष्ट्यधिकं षोडशशतं (१६६४) ततोऽपि चतुस्त्रिंशेन शतेन मुलं शुद्धं स्थिता पश्चात् त्रिंशत् (३०) आगतं पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रस्य त्रिंशतं चतुस्त्रिंशदधिकशतं भागानामवगाह्योत्तरचतुःशततमं स्वऋतुं चन्द्रः परिसमापयति। ज्यो० १४ पाहु० । चं० प्र० ।

उउंबर पुं० [(उंबर) /उ (डु) दुंबर] उं शम्भु वृणोति खउम्बरः पृषो० दस्य वा डत्वम्। वाच० "दुर्गादेव्युदुम्बरपादपतनपादपीठेऽन्तर्दः। ८।२।२७०।" इति उदुम्बरशब्दमध्यवर्तिनः वा लुक्। प्रा०। (गूलर) इति प्रसिद्धे बहुबीजके वृक्षविशेषे, जी० १ प्रति०। आचा०। देहल्याम्, आ० म० द्वि०। गृहेलुके, गृहावयवविशेषे, आचा०। ताम्रे, नपुंसके, कुष्ठभेदे च। वाच०। प्रज्ञा०।

उउंब (उंब) रदत्त पुं० (उदुम्बरदत्त) पाटलीखण्डनगरवास्तव्ये सागरदत्तसार्थवाहसुते, । तद्वक्तव्यता यथापाटलीखण्डे नगरे सागरदत्तसार्थवाहसुत उदुम्बरदत्ता नाम्नाऽभूत् स च षोडशभी रोगैरेकदाऽभिभूतो महाकष्टमनुभूय मृतः । स च जन्मान्तरे विजयपुरराजस्य कनकरथनाम्नो धन्वन्तरिनामा वैद्य आसीत् मांसप्रियो मांसोपदेष्टा चेति कृत्वा नरकङ्गतवानिति। स्था० १० ठा०।

जइ णं भंते उक्खेवो सत्तमस्स एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं पाडलिसंडे णयरे वणसंडे उज्जाणे उंबरदत्ते यक्खे तत्थ णं पाडलिसंडे णयरे सिद्धत्थ राया तत्थ णं पाडलिसंडे णयरे सागरदत्तसत्थवाहे होत्था। अड्ढे गंगदत्ता भारिया तस्स णं सागरदत्तस्स पुत्ते गंगदत्ताए भारियाए अत्तए उंबरदत्ते णामं दारए होत्था। अहीणं तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव परिसागया तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं गोयमं तहेवए जेणेव पाडलिसंडे णयरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता पाडलिसंडे णयरे पुरच्छिमेण दुवारेणं अणुप्पविसत्ति तत्थ णं पासइ एगं पुरिसं कच्छूलं कोडियं दो उपरियं भगंदलियं अरिसिल्लं कासिल्लं सासिल्लं सूय मुहं सूयहत्थं सूयपायं सडियहत्थंगुलियं सडियपायं

गुलियं सडियकण्णणासियं रसियए य पूएण य थिवि थिवित्तं वणमुहं किमिउण्णुयतपगलंतपूयरुहिरं लालापगलंतकण्णणासं अभिक्खणं अभिक्खणं पूयकवले य रुहिरकवले य किमियकवले य वममाइ कट्ठाइं कलुणाइं वीसराइं कूवमाणं मच्छिया चडगरपहगरेण अणिज्जमाणमग्गं फ- ट्टहडाहडसीसं दंडं खंडवसणं खंडमल्लखंडहत्थगयं गिहे गिहे देहं बलियाए वितिं कप्पेमाणे पासइ पासइत्ता तदा भगवं गोयमे उच्चणियजाव अडइ अहापज्जत्तं गिण्हइ गिरहइत्ता पाडलीसंडाओ णयराओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता जेणेव समणे भगवं तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता भत्तपाणं पडिदंसेइ समणेणं अब्भणुण्णाए जाव विलमिव पण्णगभूए अप्पाणेणं आहारमाहारेइ संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ तएणं से भगवं गोयमे दोच्चंपि छट्ठखमणपारणगंमि पढमाए पोरसीए सज्झाइं जाव पाडलिसंडं णयरं दाहिणिल्लेणं दुवारेणं अणुप्पविस्सइ । तं चेव पुरिसं पासइ पासइत्ता कच्छूल्लं तहेव जाव संजमेणं विहरइ तएणं से गोयमे तच्चं छट्ठं तहेव जाव पच्चच्छिमिल्लेणं दुवारेणं अणुप्पविसमाणे तं चेव पुरिसं कच्छूल्लं पासइ पासइत्ता चउत्थं छट्ठं उत्तरेणं इमे अज्झत्थिए समुप्पण्णे । अहो णं इमे पुरिसे पुरा पोराणाणं जाव एवं वयासी एवं खलु अहं भंते ! छट्ठस्स जाव रियंते जेणेव पाडलिसंडे णयरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता पाडलिपुरे पुरच्छिमिल्लेणं दुवारेणं अणुप्पविट्ठे तत्थ णं एगं पुरिसं पासइ कच्छूल्लं जाव कप्पेमाणे । तंजहा अहं दोच्चं छट्ठपारणए दाहिणिल्ले दारए तहेव तच्चं छट्ठं पच्चच्छिमेणं तहेव ते अहं चउत्थं छट्ठपारणए पाडलि उत्तरदारे अणुप्पविट्ठे तं चेव पुरिसं पासामि कच्छूल्लं जाव वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ चिंता मम पुव्वभवे पुच्छा वागरेइ । एवं खलु गोयमा तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूद्दीवे जंबूद्दीवे भारहे वासे विजयपुरे णामं णयरे होत्था रिद्धइ तत्थ णं विजयपुरे णयरे कणगरहे णामं राया होत्था । तस्स णं कणगरहस्स रण्णे धणंतरिणामे वेज्जे होत्था अट्ठंगाउवेदे पाढए तंजहा कोमार भिच्चं १ सालागे २ सल्लकहत्ते ३ कायतिगिच्छा ४ जंगोले ५ भूयवेज्जे ६ रसायणे ७ जाजीकरणे ८ सिव हत्थे ९ सुहत्थे १० लहुहत्थे ११ तएणं धणंतरीवेज्जे विजयपुरे णयरे कणगरहस्स रण्णे अंतेउरे अण्णेसिं च बहुणं राईसर जाव सत्थवाहण आण्णेसिं च बहूणं दुव्व लाण य गिलाणाण य बाहियाण य रोगियाण य राणा हाण य अणाहाण य समणाण य माहणाण य भिक्खु णाण य करोडियाण य कप्पडियाण य आउराण य अप्पेगइयाणं मच्छमंसाइं उवदिसाइ अप्पेकच्छभमंसाइंअप्पेगाहमंसाइं अप्पेमगरमंसाइं अप्पेसुसमारमंसाइं अयसंमाइं एवं एलोरोज्झ सूयरमिगससयगोमंसा महिसमं सा अप्पेतित्तिरमंसा अप्पेवटकलावककवोतकुक्कुडमयूरमं सा अण्णेसिं च बहूणं जलयरथलयरखहयरामाईणं मंसा अप्पाणं वीयसंसे धन्नंतरि– यवेज्जे तेहिं मच्छमंसेहिय जाव मयूरमंसेहिय अण्णेहिय बहूहिं जलयरथलयरखहयरमंसेहि य जाव मयूरसएहि य सोल्लहि य तिलिएहिय भज्जिएहि य सुरं च ५ आसाएमाणे ४ विहरइ तएणं से धणंतरी वेज्जे एए कम्मे ४ सुबहु पावं समज्जिणित्ता वत्तीससयाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसं वावीसं सागरोवमाइं उववण्णे तएणं णरगा उवट्टित्ता इहेव पाडलिसंडे णयरे सागरदत्ते सत्थवाहे गंगदत्ता भारिया जायणिंदूया वि होत्था । जा जा जाया दारगा विणिघायमावज्जंति तएणं तीसं गंगदत्ताए सत्थवाहिए अण्णया कयावि पुव्वरत्तावरत्तकाल समयंसि कुटुंबजागरियं जागरमाणे जागरमाणे अयं अज्झत्थि ए ४ समुप्पण्णे एवं खलु अहं सागरदत्ते णं सत्थवाहे णं सद्धिं बहुहिं वासाइ उरालाइ माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ णो चेव णं अहं दारगं वा दारियं वा या यामिहितं धणाउणं ताओ अम्मआयो संपुण्णाओ कयत्थाओ कयपुण्णाओ कयलक्खणाओ सुलद्धेणं तासिं अम्मयाणं माणुस्सए जम्मजीवियफले जासिं मण्णो णियगकुच्छिं संभूयगाइं थणदुद्धलुद्धगाइं मम ण पयंपि याति थणमूलक्खदेसभागं अतिसरमाणगइं मुद्धगाइं पुणो य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिरिहऊण उच्छंगं णिवेसियाइं दिंति समुल्लावए सुमहुरे पुणो मंजुलप्पभ णिए अहण्णा अपुण्णा अकयपुण्णा एत्तो एकतरम विणपत्ता तं सेयं खलु ममं कल्लं जाव जलंते सागरदत्तं सत्थवाहं आपुच्छित्ता सुबहु पुप्फवत्थ– गंधमल्लालंकारे गहाय बहुहिं मित्तणाइ णियगसयणसंबंधि परिजणरहियाइं सद्धिं पाडलिसंडाओ णयराओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता बहिया जेणेव उंबरदत्तस्स जक्खस्स जक्खायतणेतेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तत्थ णं उंबरद– त्तस्स जक्खस्स महरिहं पुप्फच्चणं करेइ करेइत्ता जाणुपायव–डियाए उवाएत्तए जइणं अहं देवाणुप्पिया दारगं वा दारियं वा पथामि तो णं अहं जावं च दायं च भायं च अक्खयणिहिं च अणुवेहू सा समित्तिकट्टउववाय उवाइणित्तए एवं संपहइत्ता संपहइत्ता कल्लं जाव जलंते जेणेव सागरदत्ते सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सागरदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी एवं खलु अहं देवाणुप्पिया तुब्भेहिं सद्धिं जाव

णं पत्ता तं इच्छामि णं तं देवाणुप्पिया तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया जाव उवाइणित्तए तएणं से सागरदत्ते सत्थवाहे गंगदत्तं भारियं एवं वयासी ममंपि णं देवाणुप्पियाए सद्धेव मणोरहे कहणं तुमं दारगं वा दारियं वा पयाएज्जामि गंगदत्तं भारियं एवमट्ठं अणुजाणीइ । तए णं सा गंगदत्ता भारिया एय मट्ठं अब्भणुण्णाया समाणी सुबहु जाव मित्तणाइं सद्धिं ताओ गिहाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता पाडलिसंडं णयरं मज्झं मज्झेणं णिगच्छइ णिगच्छइत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहुपुप्फगंधमल्लाउकारं ठवेइ ठवेइत्ता पुक्खरिणीओ गाहेइ गाहेइत्ता जलमज्जणं करेइ जलकीडं करेइ करेइत्ता ण्हाया कयकोउयमंगल्ला उल्लपडिसाडिया पुक्खरिणी पच्चुत्तरइ पच्चुत्तरइत्ता तं पुप्फुगिण्हइ गिण्हइत्ता जेणेव उंबरदत्तस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता उंबरदत्तस्स जक्खस्स आलोए पणामं करेइ करेइत्ता लोमहत्थं परामुसइ परामुसइत्ता उंबरदत्तं जक्खं लोमहत्थएणं पमज्जइ पमज्जइत्ता दगधाराए अभुक्खेइ अभुक्खेइत्ता पम्हलगाइलद्धीओ लूहेइ सेयाइं वत्थाइं परिहेइ महरिहं पुप्फारुहाणं वत्थारुहाणं मल्ला गंधा चुण्णारुहाणं करेइ करेइत्ता धूवं डहइ डहइत्ता जाणुपायपडिया एवं वयासी जइ णं अहं देवाणुप्पिया दारगं दारियं पयामि तोणं जाव उवाइणइ उवाइणइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया तएणं से धणंतरी वेज्जे ताओ णरगाओ अणंतरं उवट्टित्ता इहेव जंबूद्दीवे जंबूद्दीवे भारहे वा से पाडलीसंडे णयरे गंगदत्ताए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववण्णे तएणं तीसे गंगदत्ताए भारिया तिण्हं मासाणं बहु पडिपुण्णाणं अयमेवारूवे दोहले पाउब्भूए धण्णाउणं ताओ अम्मयाओ जाव फलं जाओणं विपुलं असणं ४ उवक्खडावेइ उवक्खडावेइत्ता बहुहिं जाव मित्तपरिबुडाओ तं विपुलं असणं ४ सुरं च ६ पुप्फ जाव गहाइ पाडलिसंडं णयरं मज्झं मज्झेणं पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता पुक्खरिणीउ गाहेइ गाहेइत्ता ण्हाया जाव पायच्छित्ताओ तं विपुलं असणं ४ बहुहिं मित्तण्हाई जाव सद्धिं आसाएइ ४ दोहलं विणेइ एवं संपेहेइ कल्लं जाव जलंते जेणेव सागरदत्तसत्थवाहे गंगदत्ता भारिया एयमट्ठं अणुजाणइ तएणं सा गंगदत्तेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाया समाण विपुलं असणं ४ उक्खडावेइ तं विउलं असणं ४ सुरं च सुबहु पुप्फंपरिगिण्हावेइ परिगिण्हावेइत्ता बहुहिं जाव ण्हाया कयवलिकम्मा जेणेव उंबरदत्तजक्खस्स जक्खायतणे जाव धूवं डहेइ डहेइत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तएणं ताओ मित्त जाव महिलाओ गंगदत्ता सत्थवाहिं सव्वालंकारविभूसियं करेइ तं सा गंगदत्ताहिं मित्त अण्णेहिं बहुहिं णयरमहिलाहिं सद्धिं तं विपुलं असणं ४ सुरं च ६ आसाएमाणी ४ दोहलं विणेइ विणेइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ते एवं सा गंगदत्ता भारिया पसत्थ दोहला तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवसइ तएणं सा गंगदत्ता णवण्हं मासाणं जाव दारयं पयाया ठिया जाव णामे जम्हाणं अम्हं इमे दारए उंबरदत्तस्स जक्खस्स उवाइय लद्धत्ते दारए पंचधाइं परिगाहिए परिवड्ढइ तएणं तस्स उंबरदत्तस्स दारगस्स अण्णया कयावि सरीरगंसि जमगसमगमेव सोलसरोगायंका पाउब्भूया तंजहा सासे १ खासे २ जाव कोढे तएणं से उंबरदत्ते दारए सोलसरोगाइं कहिं अभिभूए समाणे सडियहत्थं जाव विहरइ एवं खलु गोयमा उंबरदत्ते दारए पोरा पुराणाणं जाव विहरइ तएणं उंबरदत्ते दारए कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिंति कहिं उववज्जिहिंति गोयमा उंबरदत्ते दारए वावत्तारिं वासाइं परमाउसं पालइ पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमी से रयणाए णेरइयत्ताए उववज्जिहित्ति संसारो तहेव पुढवीए तओ हत्थिणाउरे णयरे कुकुडुत्ताए पच्चायाहिंति जायामित्ते चेव गोद्दिल्लवहिंति तत्थेव हत्थिणाउरे णयरे सेट्ठी कुलंसि बोही सोहम्मे महाविदेहे सिज्झिहिंति निक्खेवो सत्तगं अज्झयणं सम्मत्तं । वि० ७ अ० ।

पाटलिखण्डस्य नगरस्य नवखण्डे उद्याने पूज्यमाने यक्षे च । वि० ७ अ० ।

उउंब (उंब) रपणग न० (उदुम्बरपञ्चक) उदुम्बरकेणोपलक्षितं पञ्चकमुदुम्बरपञ्चकम् । वट १ पिप्पलो २ दुम्बर ३ प्लक्ष ४ काकोदुम्बरी ५ फललक्षणे फलविशेषपञ्चके, मशका कारसूक्ष्मबहुजीवनिचितत्वाद्वर्जनीयं ततो योगशास्त्रे उदुम्बरवटप्लक्षकाकोदुम्बरशाखिनाम् । पिप्पलस्य च नाश्नीयात्फलं कृमिकुलाकुलम् । १ । लोकेपि "कोपि क्वापि कुतोपि कस्यचिदहो चेतस्यकस्माज्जनः । केनापि प्रविशत्युदुम्बरफ – लप्राणिक्रमेण क्षणात् । येनास्मिन्नपि पाटिते विघटिते विस्फोटिते त्रोटिते निष्पिष्टे परिगालिते विदलिते निर्यान्त्यसौ वा न वा " । ध० २ अ० । द्वाविंशत्यभक्ष्ये, पञ्चा भक्ष्याणीति भ० ६ श० ३३ उ० ।

उउंब (उंब) रपुप्फु (प्फ) न० (उदुम्बरपुष्प) (गूलरफूल) उदुम्बरवृक्षकुसुमे, " उंबरपुप्फुंपिव दुल्लहे " उदुम्बरपुष्पं ह्यलभ्यंभवति अतस्तनोपमानम् । भ० ६ श० ३३ उ० ।

उउंब (उंब) रवच्च न० (उदुम्बरवर्च्चस्) उदुम्बरफलसमाकीर्णे, "उंबरस्स फला जत्थ किरिवडे उच्चविज्जंति तं उंबरवच्चं भण्णति " । नि० चू० ३ उ० ।

उउंब (उंब) रीय पुं० (उदुम्बरीय) प्रत्युदुम्बरं रूपको दातव्य इत्येवं लक्षणे करे, " जोयंत उंबरीयस्स " बृ० ३ उ०।

उउ(ऊ) परियट्ट पुं० (ऋतुपरिवर्त) ऋत्वन्तरे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०।

उउदेवी स्त्री० (ऋतुदेवी) वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिरोभिधानदेवतासु, पंचा० २ विव०।

उउबद्ध पुं० (ऋतुबद्ध) शीतकाले, उष्णकाले च। औ०। अष्टौ मासा ऋतुबद्धसंज्ञकाः। आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०। आ० म०।

उउमास पुं० (ऋतुमास) ऋतुः किल लोकरूढ्या षष्ट्यहोरात्रप्रमाणो द्विमासात्मकस्तस्यार्द्धमपि मासोऽवयवः समुदायोपचारात् ऋतुरेवार्थात्परिपूर्णत्रिंशदहोरात्रप्रमाणो मासःऋतुमासः । कर्ममासापरपर्याये मासभेदे, एष एव ऋतुमासः। कर्ममास इति वा व्यवह्रियते। उक्तं च " एसो चेव उउमासो कम्ममासो सावणमासो भण्णइ " इति। व्य० १ खं० १ उ०। " उदुमासो तीसदिणो, आइच्चो तीस होइ अट्ठं च " ५ व्य० प्र० १ उ०। नि० चू०।

पंच संवच्छरियस्स णं जुगुस्स रिउमासेणं मिज्जमाणस्स इगसट्ठिं उउमासा पण्णत्ता।

अथैकषष्टिस्थानकं तत्र पञ्चेत्यादि पञ्चभिः संवत्सरैर्निर्वृत्तमिति पञ्चसांवत्सरिकम् । तस्य णमिति वाक्यालङ्कारे युगस्य कालमानविशेषस्य ऋतुमासेन चन्द्रादिमासेन मीयमानस्य एकषष्टिः ऋतुमासा प्रज्ञप्ताः। इह चायं भावार्थः युगं हि पञ्चसंवत्सरात्मि–ष्पादयति तद्यथा चन्द्रश्चन्द्रोभिवर्द्धितश्चेति। तत्र एकोनत्रिंशदहोरात्राणि द्वात्रिंशच्च द्विषष्टिभागा अहोरात्रस्येत्येवं प्रमाणेन २९ । ३२ । ६२ । कृष्णप्रतिपदामारभ्य पौर्णमासीनिष्ठितेन चन्द्रमासेन द्वादश मासपरिमाणश्चन्द्रसंवत्सरस्तस्य च प्रमाणमिदम्। त्रीणि शतान्यहां चतुःपञ्चाशदुत्तराणि द्वादश च द्विषष्टिभागा दिवस्य ३५४। १२। ६२। तथा एकत्रिंशदहामेकविंशत्युत्तरं च शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतं भागानां दिवसस्येत्येवंप्रमाणोऽभिवर्द्धितमास इति। एतेन ३१। १२१। १२४। च मासेन द्वादशमास–प्रमाणोऽभिवर्द्धितसंवत्सरो भवति स च प्रमाणेन त्रीणि शतानि अहां त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्विषष्टिभागा दिवसस्य ३८३ । ४४ । ६२ । तदेवं त्रयाणां चन्द्रसंवत्सराणं द्वयोश्चाभिवर्द्धितसंवत्सरयोरेकीकरणे जातानि दिनानां त्रिंशदुत्तराणि अष्टादश शतानि अहोरात्राणाम् १८३० ऋतु मासश्च त्रिंशताहोरात्रैर्भवतीति त्रिंशता भागहारे लब्धा एकषष्टिः ऋतुमासा इति। स० ६१ स०।

उउय त्रि० (ऋतुज) कालोचिते, "उउयपिंडम-निहारिसगंधिएसु" प्रश्न० ५ द्वा०।

उउलच्छि स्त्री० (ऋतुलक्ष्मी) ऋतुसंपदि, ज्ञा० ६ अ०।

उउलच्छिसमत्थजायसोह त्रि० (ऋतुलक्ष्मीसमस्तजातशोभ) ऋतुलक्ष्म्येव सर्वर्तुककुसुमसंपदा समस्ता सर्वा समस्तस्य वा जाता शोभा यस्य स तथा। सर्वर्तुषु कुसुमसम्पदा सामस्त्येन शोभमाने," उउलच्छिसमत्थजाय सोहोप इट्ठगंधधूया-भिरामो " ज्ञा० ६ अ०।

उउवास पुं० (ऋतुवर्ष) द्व० स०। ऋतुबद्धकालवर्षाकालयोः "उउवासे पणगचउमासे" प्रव० ७० द्वा०।

उउ (ऊ) संधि–पुं० (ऋतुसन्धि) ऋतोः पर्यवसाने, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०।

उउसंवच्छर–पुं० (ऋतुसंवत्सर) ऋतवो लोकप्रसिद्धा वसन्तादयस्तत्प्रधानः संवत्सरः ऋतुसंवत्सरः। चन्द्र० १ पा०। त्रिंशदहोरात्रप्रमा–णैर्द्वादशभिर्ऋतुमासैः श्रावणमासकर्ममास-पर्यायैर्निष्पन्नेषष्ट्यहोरात्र-शतत्रयमाने, । स्था० ५ ठा०। सावन संवत्सरपर्याये संवत्सरभेदे, तत्वं च यथा।

विसमं पवालिणो परि–णमंति अणदुसुदेंति पुष्फफलं।
वासं ण सम्मवासइ, तमाहु संवच्छरं कम्मं ॥

विषमेण वैषम्येण प्रवालं पल्लवाङ्कुरस्तद्विद्यते येषां ते प्रवालिनो वृक्षा इति गम्यते। परिणमन्ति प्रवालवत्तालक्षणया अवस्थया जायन्ते। अथवा प्रवालिनो वृक्षाः परिणमन्ति अङ्कुरोद्भेदाद्यवस्थां यान्ति। तथा अनृतुषु अस्वकाले ददति प्रयच्छन्ति पुष्पफलं यथा चैत्रादिषु कुसुमादिदायिनोपि स्वरूपेण चूताः माघादिषु पुष्पादि प्रयच्छन्तीति यथा वर्षं वृष्टिं मेघो न सम्यग्वर्षति यत्रेति गम्यते तमाहुर्लक्षणतः संवत्सरं कार्मणं यस्य स ऋतुसंवत्सरः सावनसंवत्सरश्चेति पर्यायौ। स्था० ५ ठा०। जो०।

ता एएसिणं पंचण्हं संवच्छराणं तच्च उउसंवच्छरस्स उउमासेति स तिमुहुत्तेणं अहोरत्तेणं गणिज्जमाणे केवतिए रातिंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा। ता तीसेणं राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा। ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेपुच्छा ता णवमुहुत्तसताइं णवमुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा। ता एस णं अद्धादुवालस-खुत्तकडा उउसंवच्छरे ता सेणं केवतिते राइंदियग्गेणं आहितेति। ता तिण्णि सट्ठे रातिंदियसते राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा। ता से णं केवतिते मुहुत्तग्गेणं आहिते ता दसमुहुत्तसहस्सातिं अट्ठ य मुहुत्तसताइं मुहुत्तग्गेणं आहिता।

तृतीयं ऋतुसंवत्सरविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह । (तातीसेणमित्यादि) ता इति पूर्ववत् त्रिंशद्रात्रिंदिनानि (३०) रात्रिंदिवाग्रेण ऋतुमास आख्यात इति वदेत। तथाहि ऋतुमासयुगे एकषष्टिस्ततो युगसत्कानां त्रिंशदधिकानामहोरात्राणामेकषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धाः त्रिंशदहोरात्राः (३०) (तासेणमित्यादि) मुहूर्तविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् भगवानाह "ता नव मुहुत्तसयाइं " इत्यादि। नव मुहुर्त्तशतानि मुहूर्ताग्रेणाख्यात इति वदेत्। तथाहि त्रिंशद्रात्रिंदिनानि ऋतुमासपरिमाणमेकैकस्मिंश्च रात्रिंदिवे त्रिंशन्मुहूर्तास्ततः त्रिंशत्त्रिंशता गुण्यते नव शतानि भवन्तीति। (ता एएसिणमित्यादि) प्राग्वद्भावनीयम्। चं० १२ पा०।

उउसुह–त्रि० (ऋतुसुख) ऋतौ कालविशेषे सुखः सुखहेतुःऋतुसुखः। कालोचितसुखप्रदे, "उउसुहसिवच्छायसमणु वद्धेण" ऋतौ कालविशेषे सुखा सुखहेतुः ऋतुसुखा शिवा निरुपद्रया छाया आतपवा–रणलक्षणा तथा समनुबद्धमनवच्छिन्नं यत्त तथा। तेन छत्रेण। औ०।

***ऋतुशुभ**–पुं० कालोचिते, प्रश्न० ४ द्वा०।

उंछ–न० (उञ्छ) उञ्छ्यते अल्पाल्पतया गृह्यते इत्युञ्छः। भक्तपानादौ, स्था० ४ ठा०। जुगुप्सनीये भैक्ष्ये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ०।

तन्निक्षेपो तथा " अण्णा उंछं दुविहं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं । दव्वुंछणेगविहं लोगरिसीणं मुणेयव्वं " व्य० द्वि० १० उ० । (एतद्व्याख्या अण्णायउंछअभिग्गह शब्दे) उञ्छमिवोञ्छम् । अल्पाल्पगृहीते भैक्ष्ये, प्र० १ द्वा० । अज्ञातपिण्डोञ्छसूत्रकत्वादेतत्पदस्य " उञ्छमिति द्रुमपुष्पिकाऽध्ययने, द० १ अ० ।

उंछजीविया स्त्री० (उञ्छजीविका) एषणायाम्, स्था० ४ ठा० ।

उंछजीवियासंपण्ण त्रि० (उञ्छजीविकासम्पन्न) एषणानिरते, स्था० ४ ठा० ।

उंछवित्ति त्रि० (उञ्छवृत्ति) कणश आदानरूपेण उञ्छेन जीविकावति, तत्पुत्रो नारदस्तेषामुञ्छवृत्त्या च भोजनम् । तदप्येकान्तरं ते चाऽशोकाधो नारदं सुतम् । आ० क० । आव० ।

उंजण न० (उञ्जन) उत्सेचने, " ण उंजिज्जा ण घट्टिज्जा, णो णं णिव्वावए मुणी " द० ८ अ० ।

उंजायण पुं० (उञ्जायन) वाशिष्ठगोत्रे ऋषिभेदे, तत्प्रवर्तितेगोत्रजे च । स्था० ७ ठा० ।

उंडिया स्त्री० (उण्डिका) अभिनवनगरादेर्निवेश्यमानस्य योगभूमियोग्यनार्थयामक्षरसहितमुद्रायाम्, बृ० १ उ० ।

उंडी स्त्री० (उण्डी) पिण्ड्याम् , ज्ञा० ३ अ० । बृ० ।

उंडेरिय न० (उण्डेरिक) तिलकुट्टिकया अर्चनीये स्वादिमभेदे, यदीप्सितं लप्स्यामहे तदा तवोंडेरकादि दास्यामः । स्था० ४ ठा० । आ० म० द्वि० ।

उंदुर (रू) पुं० [उन्दर (रू)] स्त्री उन्द उरु मूषके, आ० म० प्र० । उंदुरो वा लालं सुत्तमुक्कं वा मुंचइ । नि० चू० ११ उ० ।

उंदुरक्क न० (उन्दुरक्क) देवतादि पुरतो वृषभगर्जितादिकरणे, ग० २ अधि० ।

उंदर (रू) माला स्त्री० [उन्दुर (रू) माला] मूषकस्रजि, उपा० १ अ० ।

उंदुरमालापरिणद्धसुकयचिण्ह त्रि० (उन्दरमालापरिणद्धसुकृ– चिह्न) उन्दुरमालया मूषकस्रजा परिणद्धं परिणतं सुकृतं सुष्ठु रचितं चिह्नं स्वकीयलाञ्छनं येन तत्तथा तस्मिन् । उपा० १ अ० ।

उंबर पुं० (उम्बर) उमित्यव्यक्तशब्दं वृणाति वृ० अच्–द्वारोर्ध्वकाष्ठे, वाच० । देहल्याम्, २ आ० म० द्वि० । आव० । गन्धर्वभेदे च । वाच० ।

उंभ प० (उम्भ–धा–भ्वा) पूरणे, आ० म० द्वि० । विशे० ।

उकुक्कुर धा० (उत् स्था) (उठना) स्थित्याधारादुर्ध्वपतने **उदष्ठुक्कुरौ ८ । ४ । १७** । इति उत्पूर्वस्य स्थाधातोः कुक्कर इत्यादेशः । उकुक्कुरइ उत्तिष्ठति । प्रा० ।

उक्क त्रि० (उत्क) उद्गतं मनोऽस्य उद्० नि० क० वाच० । उत्कण्ठिते, "अणुक्कसाई अप्पिच्छे अण्णाएसी अलोलुए' उत्त० ।

उक्कंचण न० (उत्कञ्चन) शूलाद्यारोपणार्थमूर्ध्वकुञ्चने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ज्ञा० । उत्कोचायां च । दशा० २ अ० । तच्च हीनगुणस्य गुणोत्कर्षप्रतिपादनम् । ज्ञा० २ अ० । दीनानूर्ध्वं दण्डयतः भ० ११ श० ११ उ० । मुग्धवञ्चनप्रवृत्तस्य समीपवर्तिविदग्धरक्षणार्थं क्षणंक्षणमव्यापारतयाऽवस्थानम् । उपा० १ अ० । औ० । मूर्खं प्रति तत्प्रतिरूपदानादिकमसद्व्यवहारं कर्तुं प्रवृत्तस्य पार्श्ववर्तिविचक्षणमयात् क्षणे यत्तदकरणमुत्कुञ्चनमित्यन्ये । ज्ञा० १८ अ० " उक्कंचणं बज्झातिणा "वसतेर्बान्ध्यादिना कचवरनिष्काशनमिति संभाव्यते । नि० चू० ५ उ० ।

उक्कंछण न० (उत्कञ्छन) दण्डकोपरिकम्बीनां बन्धनरूपे वसतिपरिकर्मणि, ग० १ अधि० ।

उक्कंठा स्त्री० (उत्कण्ठा) " **ङञणनो व्यञ्जनो** " ८ । १ । २५ । इत्यनेन णकारस्यानुस्वारो वा । प्रा० । **वर्गेऽन्त्यो वा** ८ । १ । ३० । इत्येनानुस्वारस्य णकारो वा । प्रा० । इष्टलाभाय कालासहनरूपे औत्सुक्ये, २ वाच० ।

उक्कंपिय त्रि० (उत्कम्पित) चञ्चलीकृते, कल्प० ।

उक्कंबण न० (उत्कम्बन) दण्डकोपरि कम्बीनां बन्धनरूपे वसतिपरिकर्मणि, बृ० १ उ० । ग० । नि० चू० ।

उक्कंबिय त्रि० (उत्कम्बित) वंशादिकम्बाभिरवबद्धे, आचा० १ श्रु० ।

उक्कच्छिया स्त्री० (औपकच्छिकी) कक्षायाः समीपमुपकक्षं तत्र भवा औपकक्षिकी । अध्यात्मादित्वादिकण प्रत्ययः । साध्व्युपकरणभेदे । वृ० ३ उ० । साप्येवंविधा स्यूता समचतुरस्रा सार्द्धहस्तमाना चतुरोभागं दक्षिणपार्श्वं पृष्टं चाच्छादयति । वामस्कन्धे वामपार्श्वे च वीटकप्रतिबद्धा परिधीयते । यदुक्तम् " छाए ३ अणुकुइए उरोरूहे कंचुओ असीविअओ । एमेव य उक्कच्छिअ सा नवरं दाहिणे पासे त्ति । ध० ३ अधि० । वेगछिया उपज्झे कंवुकमुत्कट्टियं च छादोति । संघाडओ उचउरो तत्थ दुहत्थाउ वसधीयदुत्ति । वृ० ३ उ० ।

उक्कट्ठि अव्य० (उत्कृष्टतस्) उत्कर्षवशेनेत्यर्थे, सू० प्र० १९ पा० ।

उक्कड त्रि० (उत्कट) प्रकर्षपर्य्यन्तवर्तिनि, प्रश्न० १ द्वा० । तीव्रे, आचा० । उद्धते, कल्प० । प्रचुरे, आव० ५ अ० । कलुषत्वे, व्य० २ खं० २ उ० । उक्कडफुडकुडिल जडुलकक्खडवियडफडा डोयकरणदच्छं । उत्कटो बलवतान्येनाध्वंसनीयत्वात् स्फुटो व्यक्तप्रयत्नविहितत्वात् कुटिलो वक्रस्तत्स्वरूपत्वाज्जटिलः स्कंन्धदेशे केसरिणामिवाहीनां केसरसद्भावात् कर्कशो निष्ठुरोबलवत्त्वात् विकटो विस्तीर्णो यः स्फटाटोपः फणासंरम्भः तत्करणे दक्षो यः स तथा तम् । भ० १५ श० १ उ० । रक्तेक्षौ, शरे च । पुं० विषमे, त्रि० सैंहीलतायां च स्त्री० । वाच० ।

उक्कडगंधविलित्त त्रि० (उत्कटगन्धविलिप्त) तीव्रदुर्गन्धव्याप्ते, नं० ।

उक्कत्त त्रि० (उत्कृत्त) शरीराद्दूरीकृतचर्मणि, " कप्पिओ फालिओ छिण्णो उक्कत्तो य अणेगसो " उत्त० १९ अ० ।

उक्कड्ढग पुं० (उत्कर्तक) चौरभेदे, ये गेहाद् ग्रहणं निष्काशयन्ति प्रश्न० ३ द्वा० ।

उक्कत्तिअ त्रि० (मुत्कर्तित) धूर्तादित्वात् र्तभागस्य नटः । उच्छिन्ने, प्रा० ।

उक्कप्प पुं० (उत्कल्प) ऊर्ध्वं कल्प उत्कल्पः उद्गमैषणोत्पादनाशुद्धसमाचारे, । पं० भा० । उक्कप्पो उ इदाणिं, उद्धं कप्पादि होति ओकप्पो । अहवा विच्छिण्णकप्पो, उक्कप्पो अहवण अवेत्तो ॥ उग्गमउप्पामउप्पायणए–सणेसुणिक्खो कंदमूलफले गिहिवे पावडियासु य, ओकप्पं तं वियाणाहि । णामणिथंभणि लेसणि, वेताली चेव अद्धवेताली । आदाणपाउणेसु य, अण्हेसु य एवमादीसु । तसएगिंदियमुच्छणसंसेइमच्छणामअ भिओगोरोहाइ थव्वण तहबंभ, दंडथंभेय अगिणस्स । णामाणि रुक्खफलाणं, पडिमाणं देउलाणथूभादि । थंभणिपदम मि ण चलति, लेसणिलेसेत्ति अंगाइं । विद्दिट्ठाणं य आणणि अहवण अवेत्तो । उग्गमउप्पायणएसणेसुणिक्खो कंदमूलफले गिहिवे पावडियासु य, ओकप्पं तं वियाणाहि । णामणिथंभणि लेसणि, वेताली चेव अद्धवेताली । आदाणपाउणेसु य, अण्हेसु य एवमादीसु । तसएगिंदियमुच्छणसंसेइमच्छणामअ भिओगोरोहाइ थव्वण तहबंभ, दंडथंडेय अगिणस्स । णामाणि रुक्खफलाणं, पडिमाणं देउलाणथूभादि । थंभणिपदममिण चलति, लेसणिलेसेत्ति अंगाइं । विद्दिट्ठाणं य आणणि

अहव णिलुक्कावणम्मि वेताली । उट्ठविऊण णिवातो, तक्खणए सुद्धवेताली । गम्भाणं आदाणं, करेति तह साडणं च गब्भाणं । अभिओगवसीकरणे, विज्जा जोगादिहिं कुणति । विच्छिगमच्छिगममरे, मंडुक्के मच्छए तहा पक्खी । सम्मुच्छा वेमादी, जो जोणी पाहुडेणं च । पसुउद्दवियं जागं, आहव्व णं संतरोद्दकम्मेयं । कोहादिवंभदंडो, थंभणिअगणिस्स मंतेणं एमादि अकरणिज्जं, निक्कारणे जे करेति तु भिक्खू । सव्वो सो उक्कप्पो,दारं पं० भा० । पं० चू० ।

उक्कम पुं० (उत्क्रम) उत्–क्रम–घञ्–अवृद्धिः । पश्चादानुपूर्वीभवने, वि० ७ अ० । विशे० । उत्क्रान्तौ ऊर्ध्वेगतौ च । वाच० ।

उक्कमंत त्रि० (उत्क्रममाण) ऊर्ध्वं क्रामति, " उक्कमंतेसु पाणेसु " आ० म० प्र० ।

उक्कमवोच्छिज्जमाणबंधोदया स्त्री० (उत्क्रमव्युच्छिद्यमानबन्धोदया) उत्क्रमेण पूर्वमुदयः पश्चाद्बन्ध इत्येवं लक्षणेन व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ता उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः । बन्धव्यवच्छित्तिपूर्वकोदयव्यवच्छित्तिमतीषु प्रकृतिषु, पं० सं० ।

उक्कमसेली स्त्री० (उत्क्रमशैली) विपरीतपरिभाषायाम्, द्व० ।

उक्कमित्त त्रि० (उपक्रान्त) उपक्रमकारणैरुपक्रान्ते क्षीणे, "अहवा उक्कमित्तेभवंतिए" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

उक्कर पुं० (उत्कर) समूहे, कल्प० । संधाते, आव० ४ अ० । उन्मुक्तकरे, करस्तु गवादीन् प्रतिवर्ष राजदेयं द्रव्यम् । भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । जं० ।

उक्करड पुं० (उत्करट) करटस्य सहाऽध्यायिनि, आ० म० द्वि० । (तत्कथा वद्धकरण शुद्धे)

उक्करिज्जमाण त्रि० (उत्कीर्यमाण) छुरिकादिभिरुत्करिकया– भिद्यमाने, आ० म० प्र० ।

उक्कयाभेय पुं० (उत्कारिकाभेद) एरण्डवीजानामिव वीजभेदे भ० ५ श० ४ उ० ।

उक्करिस पुं० (उत्कर्ष) उत्कर्षणे, उत्सेके, " अतसमुक्करिसत्थं " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

उक्कल त्रि० (उत्कट) प्रकृष्टे, स्था० ५ ठा० ।

***उत्कल** त्रि० वृद्धिमति ।

पंच उक्कला पण्णत्ता तंजहा दंडुक्कले रज्जुक्कले तणुक्कले देसुक्कले सव्वुक्कले ।

उत्कटा उत्कला वा तत्र दण्ड आज्ञापराधिदण्डनं वा सैन्यं वा उत्कटः । प्रकृष्टो यस्य तेन वोत्कटो यः स दण्डोत्कटो दण्डेन वोत्कलति वृद्धिं याति यः स दण्डोत्कल इत्येवं सर्वत्र । नवरं राज्यं प्रभूता स्तेनाश्चौरा देशो मण्डलं सर्वमेतत्समुदयति । स्था० ५ ठा० ।

*** औत्कल** उत्कलाऽभिजनोऽस्य अण् औत्कलः । तद्देशानां राजनि, वाच० फाल्गुमत्या भ्रातरि कलिङ्गस्य सहोदरे पत्नी वास्तव्ये, २ आचा० २ श्रु० २ अ० ११ उ० । (सज्ञानिक्षेपेकथा)

उक्कलिअंड न० (उत्कालिकाण्ड) लूतापुटाण्डे अण्डसूक्ष्मे, कल्प० ।

उक्कलिआ स्त्री० (उत्कालिका) लघुतरे समुदाये, औ० । भ० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, (लूतेति संभाव्यते) प्रज्ञा० १ पद । जी० । ज्ञा० । लहरौ, देवोत्कलिकादेव लहरिः इति लहरिपरत्वेन उत्कलिकाशब्दस्य व्याख्यानात् स्था० ४ ठा० । अन्यत्र देवोत्कलिका तत्समवायविशेषः । स्था० ३ ठा० । उत्कण्ठायाम, का मादिजातायां स्मृतौ, कोरके, हेलायां च । हेम० ।

उक्कलियावाय पुं० (उत्कलिकावात) वायुकायविशेषे, स्थित्वा स्थित्वोत्कलिकाभिर्यो वाति स उत्कालिकावातः । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । उत्कलिकाभिः प्रचुरतराभिः सम्मिश्रोयो वातः स उत्कलिकावातः । जीवा० १ प्रति० । उत्त० ।

उक्कस पुं० (उत्कर्ष) उत्कृष्यते आत्मा दर्पाध्मातो विधीयतेऽनेनेत्युत्कर्षः । माने, "उक्कसं जलणं णूनं मज्झत्थं च विगिंचए" सूत्र० १ श्रु० २ अ० । भावे घञ् । प्राशस्त्ये, अतिशये, उत्कर्षान्विते, उत्पाट्यकर्षणे, उद्धरणे, वाच० ।

उक्कसण न० (उत्कर्षण) उत्क्रमणे, निवर्तने, उद्गतेन प्रेरणमुक्त सणम् । नि० चू० १८ उ० । गर्वकरणे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

उक्कस्स त्रि० (उत्कर्षवत्) अष्टमदस्थानानामन्यतमेनोत्सेकं कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

उक्कस्समाण त्रि० (अपक (र्ष) सत्) हसति, स्था० ५ ठा० ।

उक्कस्समाणी त्रि० [अपक(र्ष)सन्ती] पङ्क्षपनकयोः परिहसत्याम्, णिग्गंथे णिग्गंथी सेसंसि वा पंकंसि वा पणगंसि वा उदगंसि वा उक्कस्समाणिं वा । स्था० ५ ठा० । वृ० ।

उक्कसावंत त्रि० (उत्कर्षयत्) उत्क्रामयति, स्थानान्तरं नयति णावं उक्कसावेइ उक्कसावंतं वा साइज्जइ उक्कसावेइ स्थल स्थाश्चले कारयति जलस्थान्स्थले कारयति । नि० चू० १० उ० ।

उक्का स्त्री० (उल्का) उष् दाहे, क नि षस्य लः । **सर्वत्र लवरामचन्द्रे ।८ । २ । ७९ ।** इति ललुक् । प्रा० । **" अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम् । ८ ।२। ८९ ।** इत्यनेन ककारस्य द्वित्वम् । प्रा० । चुडुल्याम्, जी० १ प्रति० । सा च सरेखा प्रकाशयुक्ता उल्का व्य० द्वि० ८ उ० । प्रव० । आव० । प्रज्ञा० । नं० । उपरि प्रकाशमधस्तादन्धकार ईदृक् छिन्नमूलो दिग्दाह उल्का आ० चू० । नि० चू० । " उक्कामहत्तरारेहा पगासकारिणी य श्रहवा रेहा । विरहितो विप्फुलिंगो, ··· गासकरो " आ० चू० ४ अ० । निपततो ज्योतिः पिण्डस्य रेखायुक्तस्योल्केत्याख्या । ओ० । ये मूलाग्रितो विद्युत्य विद्युत्याग्निकणाः प्रसर्पन्ति ते उल्का उच्यन्ते । जी० २ प्रति । उल्का गगनाग्निः । दश० ४ अ० । उल्का अग्निपिण्डः । स्था० ८ ठा० । उद्योतो भूमावप्रतिष्ठितो गगनतलवर्ती दिग्दाह इति प्रसिद्ध उल्का । स्था० आव० । उत्त० । शुष्कतृणवस्त्रादिवेष्टिते (मशाल इति प्रसिद्धे) दीपभेदे, ज्योतिषोक्ते नाक्षत्रिकदशाभेदे च । वाच० ।

उक्कामुह पुं० (उल्कामुख) अश्वकर्णनाम्नोऽन्तर्द्वीपस्य पूर्वोत्तरस्यां विदिशि अष्टौ योजनशतानि अतिक्रम्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भे एकोनत्रिंशदधिक–पञ्चविंशतियोजनशतपरिक्षेपे पद्मवरवेदिकाबन–खण्डमण्डितपरिसरे जम्बूद्वीपवेदिकातो ऽष्टयोजनशतप्रमाणान्तरे अन्तरद्वीपे, तद्वास्तव्ये मनुष्ये च । स्था० २ ठा० । (अंतरदीप शब्दे वर्णक उक्तः) उल्केव मुखमस्य । प्रेतभेदे, जन्तुभेदे, स्त्री० ङीप् वाच० ।

उक्कारियाभेय पुं० (उत्कारिकाभेद) एरण्डबीजानामिष पुद्गलभेदे, स्वरूपं च ।

सेकितं उक्कारियाभेदे उक्कारियाभेदे जाणंमूसया ण वा तिल–सिंगाण वा मंडूसाण वा मुग्गसिंगाण वा माणसिंगाण वा एरंडवी–याण वा फडिया उक्करियाए भवति सेत्तं उक्कारियाभेदे । प्रज्ञा० ११ पद । स्था० ।

उक्कालिय न० (उत्कालिक) उर्ध्वं कालात्पठ्यत इत्युत्कालिकम् । दशवैकालिकादीनि । स्था० । कालवेला (पञ्चविधस्वाध्यायिक) मात्रवर्ज्यशेषकालानियमेन पठ्यमाने श्रुतविशेषे, अनु० । पा० । "जं पुण कालबेलावज्जं पढिज्जइ तं उक्कालियंति नं० ।"

सेकिंतं उक्कालिअं उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्ता तंजहा दसवेयालियं कप्पिया कप्पियं चुल्लकप्पसुयं महाकप्पसुयं उववाइयं रायपसेणियं जीवाभिगमो पण्णवणा महापण्णवणा पमायप्पमायं नंदी अणुओगदाराइं देविंदत्थओ तंदुलवेयालियं चंदाविज्झयं सूरपण्णत्ति पोरिसिमंडलं मंडलप्पवेसो विज्जाचरणविणिच्छिओ गणिविज्जा झा णविवत्ती मरणविवत्ती आयविसोही वियरागसुयं संलेहणासुयं विहारकप्पो चरणविही आउरपच्चक्खाणं महापच्चक्खाणं एवमाइ सेत्तं उक्कालियं । नं० । पा० । अनु० । आ० म० द्वि० ।

उक्कावाय पुं० (उल्कापात) ६ त० । उल्का आकाशजातस्यापात उल्कापातः । स्था० । व्योम्नि सम्मूर्च्छितज्वलनपतनरूपे लोकप्रसिद्धे सादिपारिणामिकेऽर्थे, अनु० । जी० । सरेखे सोद्योते वा तारकस्यैव पाते, भ० ३ श० ६ उ० । उल्कापातादिदोषाश्च वायव्यादिमण्डलेषु भवन्तः शस्त्राग्निक्षुत्पीडाभिधायिनो भवन्ति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उक्कास–पुं० (उत्कास) अभिमानात्स्वकीयसमृद्ध्यादेः प्रकाशनरूपे मोहनीयकर्मभेदे, भ० १२ श० ५ उ० ।

उक्कासहस्स न० (उल्कासहस्र) अग्निपिण्डसहस्रे, स्था० ८ ठा० ।

उक्कि(क्क)ट्ठ त्रि० (उत्कृष्ट) कृषि विलेखने इत्यस्य धातोरुत्पूर्वस्य निष्ठान्तस्येदं रूपम् । उत्–कृष–क्त दश १ अ० । **इत्कृपादौ ।८ । १ । १२८ ।** इति ऋत इत्वम् । प्रा० । आर्षे तु " तदा संवरमुक्कट्ठंति " प्राकृतशैल्या उत्कृष्टम् । दश० ४ अ० । प्रधाने, " धम्मो मंगलमुक्कट्ठमहिंसा संजमो तवो " । दश० १ अ० । भ० । प्रशस्ते, जी० ३ प्रति० । प्रव० । कर्षणयुक्ते क्षेत्रादौ च । वाच० । उन्मुक्तकृष्टे, कृष्टं कर्षणं लभ्यग्रहणायाः कर्षणम् जं० ३ वक्ष० । उत्कर्षवति, वि० ३ अ० । हर्षवशाज्जायमाने उत्कर्षे, आ० म० प्र० । कल्प० । गेरुयवण्णियसेढिय, सोरट्ठि पिट्ठकुक्कसकए य । उक्किट्ठम–संसट्ठ, संसट्ठे चेव बोधव्वे " उत्कृष्टशब्देन कालिङ्गालाबुत्रपुषफलादीनां शस्त्रकृतानि श्लक्ष्णखण्डानि भण्यन्ते । दश० १ अ० ।

उक्किट्ठवण्णग पुं० (उत्कृष्टवर्णक) प्रधानचन्दनके, उक्किट्ठवण्ण–गोपरि, समवसरणबिंबरूपस्स " पंचा० २ विव० ।

उक्किट्ठसंकिलेस पुं० (उत्कृष्टसंक्लेश) इह सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकानि चरमपङ्क्तिनि दर्शितानि यानि स्थिति बन्धाध्यवसाय स्थानानि तेषां मध्ये यच्चरममध्यवसायस्थानं तदुत्कृष्टसक्लेश उच्यते । अथवा चरम–स्थितिबन्धाध्यवसाय-स्थानमुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते । इति परिभाषितेऽर्थे, कर्म० ।

उक्किट्ठसरीर त्रि० (उत्कृष्टा) उत्कर्षवच्छरीरे," उक्किट्ठे उक्किट्ठसरीरे भविस्सइ " वि० ७ अ० । आ० म० ।

उक्किट्ठा स्त्री० (उत्कृष्टशरीर) प्रशस्तायां गतौ, जी० ३ प्रति० । मनोहरायां गतौ, कल्प० । " उक्किट्ठाए तुरियाए चंडाए चवलाए जयणाए उद्धयाए दिव्वाए देवगईए " राय० ।

उक्किट्ठि स्त्री० (उत्कृष्टि) हर्षविशेषप्रेरिते ध्वनिविशेषे, आ० म० द्वि० । आनन्दमहाध्वनौ, औ० । वि० । वकारपूर्वके कलकले, अत्र चतुर्थप्रायश्चित्तेन शुद्धिः । जीत० ।

उक्किण्ण त्रि० (उत्कीर्ण) उत् कृ क्त–नष्टे, आ० चू० २ अ० । अतीव व्यक्ते, प्रज्ञा० । शिलादिषु उत्कीर्य्यकृते नामकादिरूपे पदभेदे, दश० २ अ० । उद–कृ–कर्तरि श उल्लिखिते, कृतभेदे, उर्ध्वक्षिप्ते लिखिते च । वाच० ।

उक्किण्णंतर त्रि० (उत्कीर्णान्तर) व० अतीव व्यक्तान्तरे, प्रज्ञा० । जी० । उक्किण्णंतरविउलगंभीरखायफलिहा (असुरकुमारावासाः) उत्कीर्णभुवनमुत्कीर्य्य पालीरूपं कृतमन्तरालं ययोस्ते उत्कीर्णान्तरे ते विपुलगम्भीरे खातपरिखे येषां तानि उत्कीर्णान्तरविपुलगम्भीर-खातमध उपरि च समम्परिखा उपरि विशाला अधः संकुचिता तयोरन्तरेषु पाली अस्तीति भावः । स० ।

उक्कित्तण न० (उत्कीर्तन) उत् कृत् ल्युट् संशब्दने, विशे० । आव० । आ० म० द्वि० । व्य० । अनु० । नत्त्वा जिनं प्रवक्ष्यामि पर्य्यायोत्कीर्त्तनं मुदा० द्र० । देवनामादेरुच्चैः कीर्तने च । वाच० ।

उक्कित्तणाणुपुव्वी स्त्री० (उत्कीर्त्तनानुपूर्वी) उत्कीर्तनं संशब्दन मभिधानोच्चारणं तस्यानुपूर्वी अनुपरिपाटिः । आनुपूर्वीभेदे, अनु० ।

उक्कित्तिय त्रि० (उत्कीर्तित) कथिते, चं० २ पाहु० ।

उक्किरिज्जमाण त्रि० (उत्कीर्य्यमाण) क्षुरिकादिभिरुत्कारिकया भिद्यमाने, जं० १ वक्ष० । कोट्ठपुडाण वा उक्किरिज्जमाणा ण व विक्किरिज्जमाणाण वा । आ० म० प्र० । जी० ।

उक्कीरमाण त्रि० (उत्कीरत्) वेधनकेन विकिरति, लेखन्यादिना मृष्टं कुर्वाणे, तं च केइ उक्कीरमाणं पासित्ता वएज्जा किं भवं उक्कीरसि, अनु० । कर्म० ॥

उक्कुज्जिय न० (उत्कूजित) उत्–कूज्–भावे क्त उपरि हुमिति करणे, उवरिहुत्ति करणं उक्कुज्जियं । नि० चू० । कर्तरि क्तः कृ-ताव्यक्तमहाध्वनौ, प्रश्न० १ द्वा० ।

***उक्कुब्ज्य** अव्य० ऊर्ध्वं कायमुन्नम्य ततः कुब्जीभूयेत्यर्थे, " असंजए भिक्खू पडियाए उक्कुज्जिया आवउकुज्जिया " आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

उक्कुट्ठ न० (उत्कृष्ट) पीलुपर्णिकादेरुदूखलचूर्णिते आर्द्रपर्णचूर्णे आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० । सचित्तवणस्स ३ चुण्णा उक्कुट्ठो भणइ । नि० चू० ४ उ० । उक्कुट्ठो णाम सचित्तवणस्स इपत्तकुरुफलाणि वा उक्खले बुज्झंति । नि० चू० १ उ० ।

उक्कुडुग न० (उत्कुटुक) यथास्थानमनवस्थिते, जं० २ वक्ष० । यथास्थानमनिविष्टे, भ० ७ श० ६ उ० । आसने, पुतालगने ज्ञा० १ अ० । भूमावन्यस्तपुततयोपविष्टे, प्रव० ६७ द्वा० पंचा० । " आगम्मु–कुक्कुडओ संतो पुच्छेज्जा यंजलिउडो " गुरोः समीपमागत्य उत्कुटकोन्मु–क्तासनः कारणतः पादपुञ्छनादिस्थः सन् शान्तो वा । उत्त० १ अ० । आ० म० । यथा कुकुडिया पादं पसारी तु लहुं चेव । झटिति एवं साहु जाहे परितंतो ताहे भूमिं अच्छिवंतो पसारेति लहुं वा उट्ठेतं संथारपट्टए ठवेति । आ० चू० ४ अ० । " उक्कडेवा जाव पलाले वा तस्स लाभे संवसेज्जा तस्स अलाभे उक्कुडुए वाणे सज्जिए व विहरेज्जा छट्ठा उग्गहपडिमा " आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० । जिनकल्पं प्रतिपन्नः पुनर्नियमादुत्कुटुकः । बृ० १ उ० ।

उक्कुडुया स्त्री० (उत्कुटुका) आसनालग्नपुतः पादाभ्यामवस्थितः उत्कुटुकस्तस्य या सा उत्कुटुका । निषद्याभेदे, स्था० ५ ठा० आ० म० द्वि० ।

उक्कुडुयासण न० (उत्कुटुकासन) पीठादौपुतालगनेनोपवेशने, स्था० ५ ठा० वृ० ।

उक्कुडुयासणिय पुं० (उत्कुटुकासनिक) उत्कुटुकासनं पीठादौ पुतालगनेनोपवेशनरूपमभिग्रहतो यस्यास्ति स उत्कुटुकासनिकः । उत्कुटुकासनेनैवोपविशामीत्यभिग्रहधारिणि साधौ उत्कुटुकासनिकत्वमभ्यनुज्ञातं तीर्थकृता कायक्लेशाख्यतपोभेदे एषः । स्था० ५ ठा० ।

उक्कुरुड पुं० (उत्कुरुट) इष्टकाकाष्ठादिराशिरूपेऽर्थे कचवरपुञ्जे, "छिंडीइ पच्चवाया तणपुंजपलालगुम्मउक्कुरडे" वृ० १ उ० । आ० म० द्वि० ।

उक्कुस धा० (गम) गतौ, भ्वादि **"गमेरइ अइच्छाणु वज्जावसज्जोकुसे ८ । ४ । १६२ ।** इति सूत्रेण गम्धातोरुक्कुसादेशः उक्कुसइ गच्छति । प्रा० ।

उक्केर पुं० (उत्केर) उप्पको उप्पीलो उक्केरो पहयरोगणो पयरो प्रा० को० ७ । उत्पीडने, उत्कारिकाभेदेन भित्रे, " दुंदुंभिसमारोहे भेए उक्कारिया य उक्केरे " सूत्र० १ श्रु० १ अ० उ० ।

उक्कोडभंग पुं० (उत्कोटभङ्ग) खोटभङ्गशब्दार्थे, " खोडभंगो त्ति वा एगट्ठं " व्य० प्र० १ उ० ।

उक्कोडा स्त्री० (उत्कोटा) उत्कोचायां लञ्चायाम्, औप० । ज्ञा० । "उक्कोडाहि य पराभवेहि य दिज्जेहि य" वि० १ अ० ।

उक्कोडालंचणपसमग्गणपरायण त्रि० (उत्कोटालञ्चयोर्द्रव्यबहुत्वेत-रत्वादिभिर्लोके प्रतीतभेदयोः पार्श्वात् गुप्तिगतनरसमीपादुन्मार्गणं याचनं तत्परायणस्तन्निष्ठाः । चौर्यविशेषतत्परेषु, "उक्कोडालंचणपास मग्गणपरायणेह गोम्मिगभंडेहिं" प्रश्न० ३ द्वा० ।

उक्कोडिय त्रि० (उत्कोटिक) उत्कोटा उत्कोचा लञ्चेत्यर्थः । तया ये व्यवहारन्ति औत्कोटिकाः । लञ्चया ऽसद्व्यवहारिषु, औ० । ज्ञा० ।

उक्कोया स्त्री० (उत्कोचा) लञ्चायाम्, मूर्ख प्रति तत्प्रतिरूपदानादिकमसद्व्यवहारं कर्तुं प्रवृत्तस्य पार्श्ववर्तिविचक्षणभयात् विचक्षेण यत्तदकरणम् । ज्ञा० १८ अ० ।

उक्कोस पुं० (उत्कर्ष) उत्कृष्यत इत्युत्कर्षः । उत्कृष्टे, "एसा खलु गुरुभत्ती उक्कोसो एस वा ण धम्मो उ" पञ्चा २ विव० । चं० प्रव० । गुणाभिमाने, स्था० ४ ठा० । सूत्र० । आत्मनः परस्य वा मानात्क्रियो–त्कृष्टताकरणे, भ० १२ श० ५ उ० । तत्स्वरूपे मोहनीयकमर्णि, । स० ५२ स० । प्रकर्षे, तद्योगात्कर्षतीति वा व्युत्पत्तेः । उत्कृष्टे, "तओ वियडदत्तीओ पडिगाहित्तए तंजहा उक्कोसा मज्झिमा जहण्णा" स्था० ३ ठा० ।

*** उत्कृष्ट** त्रि० उत् कृष् क्त **क्तेनाष्कुण्णादयः ।८ । ४ । २५६।** इति उत्पूर्वस्य कृष् धातोः क्तसहितस्य उक्कोसादेशः । उत्कर्षवति, प्रा० ।

*** उत्क्रोश** पुं० कुररे, प्रश्न० १ द्वा० । ऊर्ध्वैःक्रन्दिनि, त्रि० । तत चतुरर्थ्याम् उत्करा उत्क्रोशीयः तत्सन्निहिते देशादौ, वाच० ।

उक्कोसंत त्रि० (उक्रोशत्) क्रन्दति, प्रश्न० १ द्वा० ।

उक्कोसग पुं० (उत्कर्षक) उत्कर्षतीत्युत्कर्षः । उत्कर्ष एवोत्क–र्षकः "उत्कृष्टे, तताणं च उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ" चंद्र १ पाहु० । सु० प्र० । आव० ।

उक्कोसट्ठिइय पुं० (उत्कर्षस्थितिक) उत्कर्षा उत्कर्षवत्संख्यासमयापेक्षया स्थितिर्येषां ते तथा । तेषामसंख्यातसमयस्थितिकानामित्यर्थः । तेषु, स्था० ११ ठा० ।

उक्कोसपएसिय पुं० (उत्कर्षप्रदेशिक) उत्कर्षन्तीत्युत्कर्षाः उत्कर्षवन्तः उत्कृष्टसंख्याः परमान्ताः प्रदेशा अणवस्ते सन्ति येषान्ते उत्कर्षप्रदेशिकाः । तेषु, स्था० १ ठा० ।

उक्कोसपद न० (उत्कृष्टपद) उत्कृष्टत्वे, " उक्कोसपदे अट्ठ अरिहंता " उत्कृष्टतोऽष्टावर्हन्तो भवन्ति स्था० ८ ठा० ।

उक्कोसमयपत्त त्रि० (उत्कर्षमदप्राप्त) उत्कर्षेण मदं प्राप्त उत्कर्षमदप्राप्तः । उत्कर्षतो मत्ते, जी० ३ प्रति० ।

उक्कोसिय पुं० (उत्कौशिक) गोत्रविशेषप्रवर्त्तके ऋषिभेदे, " थेरस्स णं अज्जवइरसेणस्स उक्कोसियगोत्तस्स " कल्प० ।

उक्कोसिया स्त्री० (उत्कर्षिका) उकर्षवत्याम्, पञ्चा० ८ विव० । उत्कृष्टायाम्, सू० प्र० १ पाहु० ।

उक्ख पुं० (उक्ष) सम्बन्धे, नं० । आ० म० प्र० । परिधानवस्त्र स्यैकदेशे, आह च निशीथचूर्णिकृत् । परिधानवत्थस्स अब्भितरचुसाए उवरिकण्णेणाभिहेडा उक्खो भणइ एस संयतीनां भवति बृ० १ उ० । नि० चू० । अवसेक्तरि, सिक्ते, वाच० ।

उक्ख (क्खा)अ न० (उत्खात) उत्–खन् क्त, आत्वम् । वा **यव्योत्खातादावातः ।८ । १ । ६७ ।** इत्यनेनादेरकारस्यात्वविकल्पः । ऊर्ध्वमवदीर्णे, प्रा० ।

उक्खंभ पुं० (उत्तम्भ) उत्–स्तम्भ–घञ् उत्प्राबल्येन स्तम्भने, संथा० ।

उक्खंभिय त्रि० (उत्तम्भिक) उत् प्राबल्येन स्तम्भनमुत्तम्भः उत्तम्भ एव उत्तम्भिकः स्वार्थे इकण प्रत्ययः । अवष्टम्भनकेः प्रतिस्तम्भवहकादौ, उत्तम्भ्यते स्थिरीक्रियते जीवो मुक्तिकारणेषु यनोति पर्यन्ताराधने, " भणकेरिसस्स भणिओ संथारो केरिसे वओ गासे " संथा० ।

उक्खडमडु (देशी) पुनः पुनः शब्दार्थे, उक्तं " च उक्खडमडुत्ति वा भुज्जो भुज्जोत्ति वा पुणो पुणो त्ति वा एगट्ठं " व्य० द्वि० १ उ० ।

उक्खणण न० (उत्खनन) उत्पाटने, प्रश्न० १ द्वा० ।

उक्खणिऊण अव्य० (उत्खाय) उत्खन्–ल्यप् उत्पाट्येत्यर्थे, अप्पणो अच्छी भल्लीए उक्खणिऊण सिवगस्स लाएति " नि० चू० १ उ० ।

उक्खलंपिय अव्य० (उत्खर्ज्य) कण्डूयनं कृत्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

उक्खलग न० (उदूखल) (ओखली) इति प्रसिद्धे कण्डनोपकारिणि गृहोपकरणे, " को संयमो चमेहाए सुथ्युक्खलगं च खारं गालणं च " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

उक्खलिया स्त्री० (उत्खलिका) स्थाल्याम, उवखलिया थाली जा साधुणिमित्तं सा अहाकम्मिया " नि० चू० १ उ० ।

उक्खवित्तु अव्य० (उत्क्षिप्य) उत् क्षिप् ल्यप् उर्ध्वक्षिप्त्वेत्यर्थे, तं उक्खवित्तु न णिक्खेवे आसणउच्छुइ " दश० ५ अ० ।

उक्खा स्त्री० (ऊखा) स्वाल्याम्, पिंड० । एगाओ उक्खातो परिए सिज्जमाणे पहाए एकस्मात्पिठरकात् गृहीत्वा कूरादिकम् आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

उक्खित–त्रि० (उत्क्षित) सिक्ते, "चंदणोक्खित्तगा य सरीरे" सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

*** उक्खित्त** त्रि० उत्। क्षिप्–क्त ऊर्ध्वमाकाशे क्षिप्ते, ज्ञा० १० अ०। जलादुद्धृते, ज्ञा० १७ अ०। उत्पाटिते, आवा० १ अ०। प्रथमतः समारभ्यमाणे गेयभेदे, रा०। जं०। उच्चाटिते च धुस्तूरे पुं० वाच०।

उक्खित्तकण्णणास त्रि० (उत्क्षिप्तकर्णनास) ब० उत्पाटितकर्ण नासिके, वि० १ अ०।

उक्खित्तचरग पुं० (उत्क्षिप्तचरक) स्वप्रयोजनाय पाकभाजनादुद्वृतं तदर्थमभिग्रहविशेषाच्चरतितद्गवेषणाय गच्छतीत्युत्क्षिप्तचरकः। स्था० ५ठा०। दायकेन पूर्वमेव भाजनादुद्धृतस्य गवेषके, प्रतिग्रहविशेषाधारिणि, ध० ३ अधि०। भिक्षाचरकभेदे, औप०। पं० व०।

उक्खित्तणाय न०(उत्क्षिप्तज्ञात) मेघकुमारजीवेन हस्तिभवे वर्त्तमानेन *यः पाद उत्क्षिप्तस्तेनोपलक्षितं मेघकुमारचरित– मुत्क्षिप्तमेवोच्यते । उत्क्षिप्तमेव ज्ञातमुदाहरणं विवक्षितार्थसाधन– मुक्षिप्तज्ञातम् ।* मेघकुमारचरितरूपे ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमाऽध्ययनोक्ते मेघकुमारचरिते, ज्ञातभावोऽस्येवं भावनीयोदयादिगुणवन्तः सहन्त एव देहकष्टमुत्क्षिप्तैकपादो मेघकुमारजीवो हस्ती वेति। एतदर्थाभिधायके ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमेऽध्ययने च। ज्ञा०१ अ०। स० आव०। प्रश्न०।

उक्खित्तणिक्खित्तचरय पुं० (उत्क्षिप्तनिक्षिप्तचरक) पाकभाजनादुत्क्षिप्य निक्षिप्तं तत्रैवान्यत्र च स्थाने यत्तदुत्क्षिप्तनिक्षिप्तम् । अथवा उत्क्षिप्त च निक्षिप्तं च यश्चरति स तथोच्यते अभिग्रह विशेषधारिणि भिक्षाचरके, औ०। सूत्र०।

उक्खित्तपसिणवागरण त्रि० (उत्क्षिप्तप्रश्नव्याकरण) उत्क्षिप्तानीवोत्क्षिप्तानि अविस्तारिरूपाणि प्रच्छनीयत्वात्प्रश्नाव्याक्रियमाणत्वाच्च व्याकरणानि यानि तानि तथा। संक्षिप्तप्रश्नोत्तरेषु। भ० १६ श० ५ उ०।

उक्खित्तपुव्ववसहि पुं० (उत्क्षिप्तपूर्ववसति) पुं० क० स० अस्यां वसत यूयमिति साधूनामादौ दर्शितायां वसतौ, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ०।

उक्खित्तभत्त न० (उत्क्षिप्तभक्त) न० पूज्यभक्ते, पूज्यभक्तमुत्क्षिप्तभक्तं पट्टकभक्तमेतान्येकार्थिकानि। वृ० २ उ०।

उक्खित्तविवेग पुं० (उत्क्षिप्तविवेक) उत्क्षिप्तस्य शुष्कौदनादिभक्ते निक्षिप्तपूर्वस्याचामाम्लप्रत्याख्यानवतामयोग्यस्याद्रवविकृत्यादिद्रव्यस्य विवेको निःशेषतया पृथकरणमुद्धरणमुत्क्षिप्तविवेकः। आचामाम्लादिप्रत्याचक्षाणानां भोक्तव्यद्रव्यास्याऽ कल्पनीयद्रव्येण संस्पर्शे तदुद्धरणरूपे प्रत्याख्यानाकारे,। "आयंविलं पच्चक्खाइ अण्णत्थणा भोगे णं सहसागारेणं लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं" पंचा ५ विव०। ध०। आ० चू०।

उक्खित्ताय न० (उत्क्षिप्तक) उत् क्षिप्–क्त–ककारात्पूर्वं दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्। प्रथमतः समारभ्यमाणे गेयादौ, ज० १ वक्ष० जी०। रा०। स्था०।

उक्खिप्प अव्य०(उत्क्षिप्य) उत् क्षिप् ल्यप् " ऊर्ध्वं क्षिप्त्वेत्यर्थे उक्खिप्पपादं रीएज्जा" आचा० २ श्रु ०२ अ० ३ उ०।

उक्खिप्पमाण त्रि० (उत्क्षिप्यमाण) ऊर्ध्वं क्षिप्यमाणे, (उक्खिप्पमाणेहिं" प्रकीर्णकैरुत्क्षिप्यमाणैरित्यर्थः। प्रश्न० ७४ द्वा)।

उक्खिवंत त्रि० (उत्क्षिपत्) उत् क्षिप्–शतृ। **उत्क्षिपेर्गुलु गुञ्छोत्थंघाल्लर्त्थे, ८ । ४ । १४४** इत्यादिसूत्रस्य वेकल्पिकत्वाद् गुलुगुञ्छादयः प्रेरणे, प्रा०।

उक्खिवणा स्त्री० (उत्क्षेपणा) उद्घाटनायां साधूनां संघाद्बहिः करणे, "अच्छिंदओ य उक्खवणा" वृ० १ उ०।

उक्खुड धा० (तुड्) भेदे, तुदा० कुटा० पर. सक. सेट्. **(तुडेस्तोटतुदखुडोक्खुडोल्लुक्कणिल्लुक्कलुक्कोच्छूराः ८ । ४ । १६ ।** इति तुडेरुक्खुडादेशः उक्खुडइतुडति प्रा०।

उक्खेव पुं० (उत्क्षेप) उत्–क्षिप्– घञ् उत्पाटने, ओ० कर्तरि अच् उत्क्षेपकारके, त्रि० वाच० प्रारम्भ वाक्ये, निर०।

उपक्षेप–पुं० उपोद्घाते "उक्खेवो तइयस्स" उपा० १ अ. *हस्ता दुत्पाटने, (उक्खेवेणं देतिणिवावि उवणाति) व्य. ३ उ०।*

उक्खेवग त्रि० (उत्क्षेपक) उद्–क्षिप् ण्वुल् ऊर्ध्वप्रक्षेपे, उत्क्षिप्याहारके चौरे च । वाच० वंशदलादिमये मुष्टिग्राह्यदण्डमध्यभागे, वायूदीरणके वस्तुनि, भ० ६ श० ३३ उ०। ज्ञा० १ प्रश्न० ८।

उक्खेवण न० (उत्क्षेपण) उत्–क्षिप् ल्युट् उत्खनने, समुद्धरणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। न्यायवैशेषिकप्रसिद्धे, पञ्चानां कर्मणामन्यतमस्मिन् तच्च यदूर्ध्वाधः प्रदेशाभ्यां संयोगविभागकारणं कर्मोत्पद्यते। यथा शरीरावयवे तत्सम्बन्धे वा मूर्तिमति मुसलादौ द्रव्ये ऊर्ध्वभाग्भिराकाश– प्रदेशोद्यैः संयोगकरणमधोदिग्भागोवच्छिन्नैश्च तैर्विभागकारणं प्रयत्नवशाद्यत्कर्म तदुत्क्षेपणमुच्यते। सम्म०।

उग्गलफणग न० (उग्गालफलक) आर्यकप्रभृतीनांवेल्या समागते चम्पकपट्टादिफलके, व्य० ४ उ०।

उग्गूहिया त्रि० (उद्गूहिता) पञ्चम्यामनेषणायाम्, आचा० २ श्रु० १ अ० १० उ०।

उग्ग धा० (उद्–घट) उद् घट चेष्टायाम्, णि. **उद् घटेरुग्गः ।८ । ४ । ३३ ।** उत्पूर्वस्य घटेर्ण्यन्तस्य उग्ग इत्यादेशः। उग्गइ उद्घटयति। प्रा०।

***उग्ग** पुं० उच्. रक् गश्चान्तादेशः। क्षत्रियादूढायां शुद्रायामुत्पन्ने संकीर्णवर्णे, वाच० उग्रदण्डकारित्वादुग्रः कल्प०। आ० म० प्र०। आदिदेवावस्थापिते आरक्षवंशजे क्षत्रियभेदे, ज्ञा० १ आ०। स्थ०। आचा०। वृ०। कल्प०। अनु०। औ० भ०। दुष्टे, अतिउग्ग दंडणिद्धम्मे आयरिया उग्गा दुट्ठत्ति वुत्तं भवति नि० चू०। स्वभावत उदात्ते, भ० १०४ उ०। प्रज्ञा० तीव्रे, तं०। अप्रधृष्ये, ज्ञा० १ अ०। रा०। चं०। संस्था। उत्कटे, उत० २० अ०।

उग्गकुल न० (उग्रकुल) ६ त० आरक्षिकाणां कुले, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०।

उग्गच्छ अव्य० (उद्गत्य) क्रमेण तत्रोद्गमनं कृत्वेत्यर्थे , भ० ५ श० १ उ०।

उग्गगंध पुं० (उग्रगन्ध) उग्रः गन्धः पुष्पादावस्य चम्पके, कट्फले, अर्जकवृक्षे, लशुने, च। हिङ्गुनि, न०। उत्कटगन्धाढ्ये त्रि०। यवान्याम्, वचायाम्, अजमोदायां, च। स्त्री० टाप् मेदिनी०।

उग्गतव त्रि० (उग्रतपस्) उग्रमप्रधृष्यं तपोऽनशनादि यस्य स तथा । रा० । वि० । भ० । तीव्रतपसि, संथा० । यदन्येन प्राकृतेन पुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि मनसा (तेन) विविधेन तपसा युक्ते, रा० । उत्त० । स्था० । ज्ञा० । नि० ।

उग्गतेय त्रि० (उग्रतेजस्) ६ ब० । तीव्रप्रभावे, तीव्रविषे, "आसीविस उग्गतेयकप्पा" प्रश्न० १ सं० द्वा० ।

उग्गपव्वइय पुं० (उग्रप्रव्रजित) उग्राः सन्तः प्रव्रजिताः । दीक्षा माश्रितेषु, आदिदेवेनारक्षकत्वेन नियुक्तानां वंशजेषु, औ० ।

उग्गपुत्त पुं० (उग्रपुत्र) ६ त० उग्राणां पुत्राः । उग्राणां कुमारेषु, क्षत्रियजातिविशेषेषु, सूत्र० २ श्रु० १३ अ० भ० ।

उग्गपुरिस पुं० (उग्रपुरुष) उग्रपुरुषविशेषे, स्था० । (व्याख्या पुरिसशब्दे)

उग्गम पुं० (उद्गम) उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभवे,

तत्थुग्गमोपसूई, पभओ एमादि होंति एगट्ठा ।
सो पिंडस्सिह पगओ, तस्स य दोसा इमे होंति ॥

तत्रेत्युद्गमोत्पादनैषणासु मध्ये उद्गमनमुद्गमः । प्रसवनं प्रसूतिः । प्रभवनं प्रभवः (एमाइत्ति) एवामदयः आदिशब्दादुद्भवादिपरिग्रहः भवन्ति स्युरेकार्थाः । अनन्याभिधेयाः शब्दा इति गम्यम् (सोत्ति) स चोद्गमः सचेतनाचेतनमिश्रद्विपदादिद्रव्यविषयत्वेन बहुविषयोपि सन् पिण्डस्य भैक्ष्यस्याधिकृतः प्रस्तुतः । इह पिण्डाधिकारे दोषा दूषणानि तस्य पिण्डोद्गमस्य इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति वर्तन्ते । ये हि साध्वर्थं पाकस्थापनप्रकाशनादयो भक्तादिवस्तुनो भक्तस्थापितत्वप्रकटत्वादिरूपेण भवनलक्षणमुद्गमं दूषयन्ति ते उद्गमदोषा इति गाथार्थः । पंचा० १३ विव० । तत्र प्रथमत उद्गमस्य एकार्थिकानि नामानि नामादिकांश्च भेदान् प्रतिपादयति ।

उग्गम उग्गोवण मग्गणाय एगट्ठियाणि एयाणि ।
नामां ठवणा दविए भायम्मि य उग्गमो होइ ॥

उद्गम उद्गोपना मार्गणा च एकार्थिकान्येतानि नामानि स च उद्गमश्चतुर्द्धा भवति तद्यथा (नामंति) नामोद्गमः यत् उद्गम इति नाम अथवा जीवस्य अजीवस्य वा यदुद्गम इति नाम स नामनामवतोरभेदोपचारात् । यद्वा नाम्ना उद्गमो नामोद्गम इति व्युत्पत्तेर्नामोद्गमः । स्थापनोद्गम उद्गमः स्थाप्यमानो द्रव्ये द्रव्यविषयो भावेभाव विषयः । तत्र द्रव्योद्गमो द्विधा आगमतो नो आगमतश्च । नो आगमतोपि त्रिधा । ज्ञशरीर भव्यशरीर तद्व्यतिरिक्तभेदात् । तत्र आगमतो नो आगमतश्च ज्ञशरीरभव्यशरीररूपौ द्रव्यगवेषणावत् भावनीयौ । ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्योद्गमम् ।

तथा नो आगमतो भावोद्गवं च प्रतिपादयति ।

दव्वम्मि लड्डुगाई, भावे तिविहोग्गमो मुणेयव्वो ।
दंसणनाणचरित्ते, चरितुग्गमेणेत्थ अहिगारो ॥ ८३ ॥

द्रव्ये द्रव्यविषये उद्गमो लड्डुकादौ लड्डुकादिविषयो लड्डुकादेः संबन्धी वेदितव्यः । अत्रादिशब्दाज्ज्योतिरादिपरिग्रहः । तथा भावे भावविषये त्रिविधात्रप्रकारो ज्ञातव्यः । तद्यथा दर्शने दर्शनविषयो ज्ञाने ज्ञानविषयश्चारित्रे चारित्रविषयः । अत्र तु चारित्रोद्गमेनाधिकारप्रयोजनम् चारित्रस्य प्रधानमोक्षाङ्गत्वात् । तथाहि ज्ञानदर्शने सती अपि न चारित्रमन्तरेण कर्ममलापगमाय प्रभवतः श्रेणिकादौ तथोपलम्भात् चारित्रपुनरवश्यं ज्ञानदर्शनाविनाभाविस्वरूपेणापि वाभिनवकर्म्मोपादाननि--षेधपूर्वोपार्जितकर्म्मापगमकरणस्वरूपम् ततस्तत्प्रधानंमोक्षस्याङ्गं तत्प्रधानानुयायिन्यश्च प्रेक्षावतां प्रवृत्तयः । ततोत्र चारित्राद्गमेन प्रयोजनम् । लड्डुकादेरित्यत्रादिशब्देन लब्धं ज्योतिरुद्गमादिरूपं द्रव्योद्गमं विवरीतुमाह ।

जोइसतणोसहीणं, मेहरिणकराणमुग्गमो दव्वे ।
सो पुण जत्तो य जया, जहा य दव्वुग्गमो दव्वो ॥ ८३ ॥

ज्योतिषां चन्द्रसूर्यादीनां तृणानां दर्भाणामौषधीनां शाल्यादीनां जीमूतानां ऋणस्य उत्तमर्ण्यां यदा तद्व्यस्य कराणां राजदेयभागानाम् । उपलक्षणमेतत् । अन्येषामपि द्रव्याणां य उद्गमः स द्रव्यसंबन्धी वेदितव्यः । स पुनर्द्रव्योद्गमो यतो यस्मात्सकाशात्स यदा यस्मिन् काले यथा च येन प्रकारेण भवति तथा वाच्यः । तत्र ज्योतिषां मेघानां च आकाशदेशात् तृणानामौषधीनां च भूमेर्ऋणस्य व्यवहारादेः कराणां नृपतिनियुक्तपुरुषादेः तथा यदि ज्योतिषां मध्ये सूर्यस्य प्रभाते शेषाणां तु कस्यापि कस्यांचिद्वेलायां तृणादीनां प्रायः श्रावणादौ तथा यथेति ज्योतिषां मेघानां चाकोशे प्रसरणेन तृणानामौषधीनां च भूमीं स्फोटयित्वा ऊर्ध्वं निस्सरणेन ऋणस्य पञ्चकशतादिवर्द्धनरूपेण कराणां प्रतिवर्षं गृहस्य द्रम्मद्वयादिग्राह्यमित्येवंरूपेण । एवं शेषाणामपि द्रव्याणां यतो यदा यथा च यथासंभवमुद्गमो भावनीयः । इह प्राक् "दव्वम्मिलड्डुगाइ" इत्युक्तं तेन च लड्डुकप्रियकुमारकथानकं सूचितमतस्तदेवेदानीं गाथात्रयेणोपदर्शयति ।

वासहरा अणुजत्ता, अत्थाणी जोग्गकिडुकाले य ।
घडगसरावेसु कया उ, मोयगा लड्डुगपियस्स ॥ ८४ ॥
जोग्गा अजिण्णमारुय, निसमुब्भवो सुइसमुत्थो ।
आहारुग्गामचिंता, असुइ त्ति दुहा मलप्पभवो ॥ ८५ ॥
तस्सेवं वेरुग्ग--ग्गमेण सम्मत्तनाणचरणाणं ।
जुगवंकमुग्गमो वा, केवलनाणुग्गमो जाउ ॥ ८६ ॥

वासगृहात् वासभवनात् अनुयात्रानिर्गमः । तत आस्थान्य योग्या क्रीडा सा व्यधीयत । ततः काले भोजनवेलायां तस्य लड्डुकप्रियस्य मोदकप्रियस्य कुमारस्य योग्या घटेषु सरावेषु च कृत्वा मोदका जनन्या प्रेषिताः । ते च परिजनेन सह स्वेच्छं तेन भुक्तास्ततो भूयोपि योग्यक्रीडानिरीक्षणासक्तचित्ततया तस्य रात्रौ जागरणभावतस्ते मोदका न जीर्णास्ततोऽजीर्णदोषप्रभावतोऽतीव पूतिगन्धिमारुतनिसर्गोऽभवत् । तत आहारोद्गमचिन्ता जाता । यथा त्रिसमुत्था घृतगुडकणिक्कासमुद्भवा एते मोदकास्ततः शुचिसमुत्थाः । सूत्रे च जातावेकवचनम् । केवलं द्विधा मलप्रभवोऽयं देहस्ततस्तत्संपर्कतोऽशुचयो जाता इत्येवं तस्य वैराग्योद्गमेन ज्ञानदर्शन चारित्राणां युगपक्रमेण वा उद्गमो जातस्ततः केवलज्ञानोद्गम इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तुकथानकादवसेयस्तच्चेदम् । श्रीस्थलकं नाम नगरं तत्र राजा भानुस्तस्य भार्या रुविमणी तयोः सरूपनामा तनयः स च यथासुखं पञ्चभिर्धात्रीभिः परिपाल्यमानः प्रथमसुरकुमार इवानेकसुजनहृदयाभिनन्दिनं कुमारभावमधिरुरोह । ततः शुक्लपक्षचन्द्रबिम्बमिव प्रतिदिवसं कलाभिरभिवर्द्धमानः क्रमेण कमनीयकामिनीजनमनः प्रह्लादकारिणी यौवनिकामधिजगाम । तस्मै च स्वभावत एव

रोचन्ते मोदकास्ततो लोके तस्य मोदकप्रिय इति नाम प्रसिद्धिमगमत्। स च कुमारोऽन्यदा वसन्तसमये वासभवनात्प्रातरूत्थाय आस्थानमण्डपिकायामाजगाम । तत्र च निजशरीररूपलावण्यिमापात्कृतसुरसुन्दरीरूपाहंकारमनोहरविलासिनीजनगीतनृत्यादिकं परिभावयितुं प्रावर्त्तत । तत्र च स्थितस्य भोजनवेलायामागतायां भोजननिमित्तं जननी प्रधानसरावसंपुटेषु शेषपरिजननिमित्तं च घटेषु कृत्वा मोदकान् प्रेषितवती । ततस्तेन परिजनेन सह मोदका यथेच्छं बुभुजिरे । ते च रात्रावपि गीतनृत्यादिव्याक्षिप्तचित्ततया जागरणभावतो न जीर्णास्ततो ऽजीर्णदोषप्रभावतोऽधोवतोऽतीव पूतिगन्धिर्निर्जगाम । तद्गन्धपुद्गलाश्च सर्वतः परिभ्रमन्तस्तन्नासिकां प्रविविशुः । ततस्तथारूपं पूतिगन्धमाघ्राय चिन्तयामास । यथामी मोदका घृतगुडकणिक्कादिनिष्पन्नास्ततः शुचिद्रव्यसमुत्था एवैते । केवलमयं यो देहो जननीशोणितजनकशुक्ररूपो द्विधा मलप्रभवत्वादशुचिरूपस्तत्संपर्क्कवशतोऽशुचिरूपो जातः । दृश्यन्ते च कर्पूरादयोऽपि पदार्थाः स्वरूपतः सुरभिगन्धयोऽपि देहसंपर्क्कतःक्षणमात्रेण दुरभिगन्धयो जायमानाः । क्षणान्तरे शरीरगन्धस्यैव पूत्यात्मकस्योपलम्भात्तत इत्थमशुचिरूपस्यानेकापायशतसंकुलस्य शरीरस्यापि कृते ये गृहमासाद्य नरकादिकुगतिविनिपातकारीणि पापकर्माणि सेवन्ते ते सचेतना अपि मोहमयनिद्रोपहतविवेकचेतनत्वादचेतना एव परमार्थतो वेदितव्याः । यदपि च तेषां शास्त्रादिपरिज्ञानं तदपि परमार्थतः शरीरायासफलम् । यद्वा तदपि पापानुबन्धिकर्मोदयतस्तथाविधक्षायोपशमनिबन्धनत्वादशुभकर्मकार्यवेति तत्त्ववेदिनामुपेक्षास्पदम् । विद्वता हि सा तत्त्ववेदिनां प्रशंसार्हा या यथावस्थितवस्तुविविधहेयोपादेयहा- नोपादानप्रवृत्तिफला यां तु सकलजन्माभ्यासप्रवृत्या कथमपि परिपाकमागतापि सती सदैव तथाविधपापकर्मोदयवशत एकान्ताशुचिरूपेष्वपि युवतिजनवदनजघनवक्षोरुहा-दिशरीरावयवेषु रामणियकव्यावर्णनफला सा इह लोकेपि शरीरायासफला परलोके च कुगतिविनिपातहेतुरित्युपेक्षणीया ये पुनः परमर्षयः सर्वदैव सर्वज्ञमतानुसारितकर्मशास्त्राभ्यासतो विदितयथावस्थितहेयोपादेयवास्तव इत्थं शरीरस्याशुचिरूपतां परिभाव्य युवतिकलेवरेषु नाभिरज्यन्ते नापि कर्माणि स्वशरीरकृते पापानि समाचरन्ति किंतु शरीरादिनिस्पृहतया निरन्तरं सम्यक्शास्त्राभ्यासतो ज्ञानामृताम्भोधिनिमग्नाः सममित्रशत्रवः परीषहादिभी रञ्जिताः सकलकर्मनिर्मूलनाय यतन्ते धन्यास्ते तत्त्ववेदिनस्तानहं नमस्करोमि । तदनुष्ठितं च सर्वमिदानीमनुतिष्ठामि इत्येवं तस्य मोदकप्रियस्य कुमारस्य वैराग्योद्गमेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामुद्गमो बभूव । ततः केवलज्ञानोद्गम इति तदेवमुक्तं मोदकप्रियकुमारकथानकम् । संप्रति यदुक्तं चारित्रोद्गमेनाधिकार इति तत्र चारित्रोद्गमेनाधिकारः शुद्धस्य द्रष्टव्यो नाशुद्धस्य । अशुद्धस्य मोक्षलक्षणकार्यसंपादकत्वायोगात् न खलु बीजमुपहतमङ्कुरं जनयति । सर्वत्राप्यनुपहतस्यैव कारणस्य कार्यजनकत्वात् चारित्रस्य च शुद्धौ कारणं द्विधा तद्यथा । आन्तरं बाह्यं च । ते द्वे अपि प्रतिपादयति ।

दंसणनाणप्पभवं, चरणं सुद्धेसु तेसु तस्सुद्धी ।
चरणेण कम्मसुद्धी, उग्गमसुद्धी चरणसुद्धी य ॥

इह यतो ज्ञानदर्शनप्रभवं चारित्रं ततस्तयोः सुद्धयोस्तस्य चारित्रस्य शुद्धेर्भवति नान्यथा । तस्मादवश्यं चारित्रशुद्धिनिमित्तंचारित्राणां सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शने च यतितव्यम् । यतश्चनिरन्तरं सद्गुरुचरणकमलपर्युपासनापुरस्सरं सर्वज्ञमतानुसारितकर्मशास्त्राभ्यासकरणम् । एतेन चारित्रशुद्धेरान्तरं कारणमुक्तम् । अथ चारित्रशुद्ध्यापि किं प्रयोजनं येनेत्थं तच्छुद्धिरन्वेष्यते । अत आह । "चरणेणकम्मसुद्धी" चरणेन विशुद्धेन कर्म्मणा ज्ञानावर-णीयादिकस्य शुद्धिरपगमो भवति । तदपगमे चात्मनो यथावस्थितस्वरूपलाभात्मको मोक्षस्ततो मोक्षार्थिना चरणशुद्धिरपेक्ष्यते तथा न केवलयोरेव ज्ञानदर्शनयोः शुद्धौ चारित्रशुद्धिः किन्तूद्गमशुद्धौ च चारित्रशुद्धिरेतेन बाह्यं कारणमुक्तम् । ततश्चरणशुद्धिनिमित्तं सम्यदर्शनज्ञानवतापि नियमत उद्गमदोषपरिशुद्ध आहारो ग्राह्यः । ते च उद्गमदोषाः षोडश । तानेव नामतो निर्दिशति ।

आहाकम्मुद्देसिय, पूइकम्मे य मीसजाए य ।
ठवणा पाहुडियाए, पाओअरकीयपामिच्चे ॥
परियट्टिए अभिहडे, अभिन्ने मालोहडेई य ।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे, अज्झोयरए य सोलसमे ॥

(एतद्व्याख्या अहाकम्म शब्दे) दर्श० । पं० चू० । ध० । केचित्पञ्चदश मन्यन्ते ते चैवं व्याख्यानयन्ति नतु चामी षोडश उच्यन्ते "अज्झोयरओमीसजायंचदोहिं पि एक्को चेव" भेदआधाकर्मादीनां व्याख्या अन्यत्र अहाकम्मादिशब्देषु विशोधिकोट्यविशोधिकोटिविभागः ।

संप्रत्येतेषामेव विभागमाह ।

एसो सोलस भेओ, दुहा कीरइ उग्गमो ।
एगा विसोहिकोडी, अविसेही उ बावए ॥

षोडशभेद उद्गमः सामान्येन द्विधा तद्यथा एकाविशोधिकोटिः एको भेदोविशोधिकोटिरूपः । अपरा चाविशोधिकोटि-रविशोधिकोटिरूपः । द्वितीयो भेद इत्यर्थः । तत्र यद्वा दोषदुष्टे भक्ते तावन्मात्रे अपनीते सति शेषं कल्प्यते स दोषो विशोधिकोटिः शेषस्त्वविशोधिकोटिः ।

तत्र प्रथमतोऽविशो धिकोटिमाह ।

आहाकम्मुद्देसिय, चरमतिगं पूइमीसजाए य ।
वायरपाहुडिया वि य, अज्झोयरए चरिमदुगं ॥

आधाकर्म्मप्रभेदमौद्देशिकस्य विभागौद्देशिकस्यान्त्यभेदत्रयं तथा पूतिभक्तं पानरूपं मिश्रजातं पाषण्डिगृहमिश्ररूपं साधु गृहमिश्ररूपम् । बादराप्राभृतिका अध्यवपूरकस्य च चरमद्विकं स्वगृहपाषण्डिमिश्रस्वगृहसाधुरुपम् । एते उद्गमदोषा अविशोधिकोटिरूपाः अनया चाविशोधिकोट्या स्पृष्टं शुद्धं भक्तम् ।

यद्दोषदुष्टं भवति तद्दोषमाह ।

उद्गमकोडीअवयव-लेवालेवे य अकयए कप्पे-
कंजिय अयामगवाउ, लोयसंसट्ठपूईओ

उद्गमकोट्या उद्गमदोषरूपया अविशोधिकोट्या अवयवेन शुष्कसिक्तादिना तथा लेपेन तक्रादिना अलेपेन वल्लचनकादिना संसृष्टं तद्भक्तं तस्मिन्नुज्झितेपि कृते अकृते कल्प्ये । अकृतकल्प्यत्रये इत्यर्थः पात्रे यत्पश्चात्परिगृह्यते तत्पूरितमव गन्तव्यम् । इह कश्चित् मतिदौर्बल्यादित्थं विकल्पते । यथा तदेव साधूनाधाय निर्वर्तितं तदेवैकमोदनमाधाकर्म भवति न शेषमवश्रावणकाञ्जिकादि तत्संसृष्टं पूति न भवतीति ततस्तदभिप्रायनिराकरणार्थमाह (कंजिएत्यादि) इह

साध्वर्थमोदने निर्वर्त्यमाने यत्तत्सकाञ्जिकादि तदप्याधा कर्मादि तदवयवरूपत्वात्। ततः काञ्जिकेन आयामेन अवरणेन वा उष्णोदकेन च यत्संसृष्टं तदपि पूतिर्भवति । एतदेव रूपकत्रयेण भाष्यकृत् व्याख्यानयति।

शुक्केणं वि जं छिक्कं तु, असुइणा धावए जहा लोए ।
इह सुक्केण वि छिक्कं, धोवइ कम्मेण भाणं तु ।
लेबालेवत्ति जं वृत्तं, जं पि दव्वमलेवुडं ।
तं पि घेत्तूण कप्पंति, तक्काकिइमलेवडं ।
आहाइ जं कीरइ तंतु कम्मं, वज्जेहि उप्पण्णममग्गणं व ।
सौवीर विस्सामणतंदुलोया, कम्मंति तो तग्गहणं करेति ।

सुगमं नवरम्। आद्यरूपकेणावयव इति पदं व्याख्यातं द्वितीयरूपकेण लेवालेवईत्ति तत्रायं भावार्थः यदपि वल्लचनकादि द्रव्यमलेपकृत् तदपि प्रथममनाभोगादिकरणतः पात्रे गृहीत्वा पश्चात्कथमपि परिज्ञाते परित्यज्य पात्रं कल्पयति। कल्पत्रयेण प्रक्षालयति। किं पुनस्तक्रादिकं लेपकृद् गृहीत्वा तत्र सुतरां कल्पत्रयेण प्रक्षालनं कर्त्तव्यमिति परिज्ञापनार्थं। लेपालेप इत्युक्तम्। तथा यदेव मुख्यवृत्त्या साधूनाधाय क्रियते तदेवाधाकर्मनान्यदिति बुद्ध्या शिष्या वर्जयिष्यन्ति ओदनमेकैकं केवलं न शेषं तन्दुलोदकादिकं ततो गुरवो भद्रबाहुस्वामिनः सौबीरां विश्रामणतन्दुलोदकान्यप्याधाकर्मेति परिज्ञापनार्थं तद्ग्रहणं सौवीरादिग्रहणं विशेषतः कुर्व्वन्ति। तदेवं शोधिकोटिरुक्ता।

संप्रति विशोधिकोटिमाह।

सेसा विसोहिकोडी, भत्तं पाणं विगिंच जहसत्तिं ।
अणलक्खिय मीसदव्वे, सव्वविवेगे य वा सुद्धो ॥

शेषा औद्देशिकं नवविधमपि च विभागौद्देशिकमुपकरणं पूतिर्मिश्रस्याद्यो भेदः स्थापना सूक्ष्मप्राकृतिका प्रादुष्करणं कृतं प्रामित्यकं परिवर्त्तितमभ्याहृतमुद्भिन्नं मालापहृतमाच्छेद्यमनिसृष्ट- मध्यवपूरक-स्याद्यो भेदश्चेत्येवंरूपाणि विशोधिकोटिः विशुध्यति शेषं शुद्धं भक्तम् यस्मिंस्तूद्धृत्ते यद्वा विशुद्ध्यति पात्रमकृतकल्पत्रयमपि यस्मिन्नुज्झिते सा विशोधिः सा चासौ कोटिश्च भेदश्च विशोधिकोटिः। उक्तं च "उद्देसियम्मि नवगं, उवगरणं जं च पूइयं होइ, । जावंति य मीसगयं च, अज्झोयरए पढमपयं। परियट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालोहडेई य अच्छिज्जे अणिसट्ठे, पाउयरकीयपामिच्चे । सुहमा पाहुडिया वि य, ठवियगपिंडो य जो भवे दुविहो। सव्वोविएसिरासी, विसोहिकोडी मुणेवव्वो । अत्र विधिमाह (विगिंच जह सत्ति) अनया विशोधिकोट्या यत्संसृष्टमन्नं पानं वा तद्यथाशक्ति विगिंच परित्यज। इयमत्र भावना। भिक्षामटता पूर्वं पात्रे शुद्धं भक्तं यस्मिन्नेव तत्रैवानाभोगादिकरणवशतो विशोधिकोटिदोषं गृहीतं पश्चाच्च कथमपि ज्ञातं यथैतद्विवक्षितं विशोधिकोटिदोषदुष्टं मया गृहीतमिति ततो यदि तेन विनापि निर्वहति तर्हि सकलमपि तद्विधिना परिस्थापयति। अथ न निर्वहति तर्हि यदेव विशोधिकोटिदोषदुष्टं तदेव तावन्मात्रं सम्यक् परिज्ञाय त्यजति। पुनरलक्षितेन सदृशवर्णगन्धादितया पृथक् परिज्ञातुमशक्येन मिश्रितं भवति। यद्वा द्रव्येण भक्तादिना अन्यत् भक्तादि तदा सर्वस्यापि तस्याविवेकः कृते च सर्वात्मना विवेके यद्यपि केचित्सूक्ष्मा अवयवा लयिता भवन्ति यथापि तत्र पात्रे ऽकृतेकल्पे ऽन्यत्परिगृह्णन् शुद्धो यतिस्त्यक्तभक्तादेर्विशोधि कोटित्वात्। विवेकश्चतुर्द्धा भवति। तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च। तथाचाह।

दव्वाइओ विवेगो, दव्वे जं जं जहिं खित्ते ।
काले अकालहीणं, असढो जं पस्सई भावो ॥

द्रव्यादिको द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयो विवेकः तत्र यद्द्रव्यं परित्यजति स द्रव्यविवेकः। तथा परित्याज्यं यत्र परित्यज्यते स क्षेत्रविवेकः क्षेत्रेविकः क्षेत्रविवेकः इति व्युत्पत्तेः। तथा यद्विशोधिकोटिदोषदुष्टमकालहीनं शीघ्रं परित्यजति एष कालतो विवेकः। इह यदेव दोषदुष्टं भक्तादिपरिज्ञातं तदेव तत्कालविलम्बाभावेन परित्यक्तव्यम्। परित्यागबुद्ध्या वा पृथक् भिन्ने स्थाने कर्तव्यमन्यथा भावतस्तत्परिग्रहात्संयमहानिप्रसक्तेः। तत उक्तमकालहीनमिति तथा यः असठोऽरक्तद्विष्टः सन् दोषदुष्टं पश्यति दृष्ट्वा कालहीनं शीघ्रं परित्यजति स भावे भावतो विवेकः। इह निर्वाहे सति विशोधिकोटिदोवसन्मिश्रं सकलमपि परित्यक्तम्। अनिर्वाहे तु तावन्मात्रं तत्र विधिमुपदर्शयितुकामः प्रथमतश्चतुर्भङ्गिकामाह।

सुक्कोल्लसरिसपाए, असरिसपाए य एत्थ चउभंगो ।
तुल्ले तुल्लनिवाए, तत्थ दुवे दुन्नतुल्लाउ ॥

अत्र शुष्कस्य आर्द्रस्य च सदृशे समाने ऽन्यस्मिन् वस्तुनि मध्ये पाते सति तथा ऽसदृशे असमाने ऽन्यस्मिन् वस्तुनि मध्ये पाते सति चतुर्भङ्गी भवति। सूत्रे च पुंस्त्वनिर्द्देश आर्षत्वात्। चत्वारो भङ्गा भवन्तीत्यर्थः ते चामी। शुष्के शुष्क पतितं, शुष्के आर्द्रम्, आर्द्रे शुष्कम्, आर्द्रे , आर्द्रमिति। तत्र येन येन पदेन यौ यौ भङ्गौ लब्धौ तौ तौ तथा दर्शयति (तत्थत्ति) तत्र तुल्ये समाने सति अन्यस्मिन् वस्तुनि मध्ये तुल्यनिपाते सति चतुर्भङ्गी सदृशस्य वस्तुनः प्रक्षेपे द्वौ प्रथमचतुर्थरूपौ भङ्गौ लब्धौ तौ च " सुक्कोल्लसरिसपाए " इत्यनेन पदेन सूचितौ। तथा द्वौ भङ्गौ द्वितीयतृतीय रूपौ। अतुल्यात् विसदृशत्वात् प्रक्षिप्यमाणौ लब्धौ। तौ च " असरिसपाए य " इत्यनेन पदेनोक्तौ तदेवं चतुर्भङ्गिकामभिधाय सप्रत्यनेनैवोद्धरण-विधिमाह।

सुक्के सुक्कं पडियं, विगिंचिउ होइ तं सुहं पढमे ।
बीयंमि दव्वं छोढुं, गालंति दव्वं करं दाउं ॥
तइयंमि करं छोढुं, उल्लिंचइ उयणाइ जं तरइ ।
दुल्लहदव्वं चरिमे, तल्लियमेत्तं विगिंचंति ।

शुष्के वल्लचनकादौ मध्ये यत् शुष्कं वल्लचनकादि पतितं तत्सुखं जलादिकमनन्तरेण " विगिंचिउं होइ "। परित्युक्तं भवति। परित्याज्यं भवतीत्यर्थः। एष प्रथमो भङ्गः। तथा द्वितीयो भङ्ग तथा द्वितीये भङ्गे शुष्के वल्लचनकादौ मध्ये आर्द्रं तीमनादिविशोधिकोटिदोषवत्पतित-मित्येवंरूपे द्रवं काञ्जिकादि तत्र मध्ये ऽपसृतं प्रक्षिप्य पश्चात्पात्रमवनम्य पात्रकर्णकदेशे च शुद्धभक्तपानरक्षणार्थं करं च दत्वा सर्वं द्रवं गालयन्ति। तथा तृतीये शुद्धम्। आर्द्रे तीमनादौ मध्ये पतितं शुष्कतरं वल्लचनकादि-रूपमोदनमित्येवंरूपे तत्र तीमनादौ मध्ये करं हस्तं प्रक्षिप्य ओदनादि यद् यावन्मात्रं शक्नोति तावन्मात्रमशठः सन् उल्लिञ्चति आकर्षति ततः शेषं तीमनादिकलभते। तथा चरमे आर्द्रे आर्द्रं पतितमित्येवंरूपे यदि तद्द्रव्यं दुर्लभमन्यत्र न प्राप्यते तत्र उद्देशतस्तावन्मात्रं परित्यज्यन्ति। तथाचाह।

संथरे सव्वमुज्झंति, चउभंगो असंथरे ।
असाढा सुज्झई जेसु, मायावी जेसु वज्झई ॥

संस्तरे निर्वाहे सति सर्वमपि पात्रे स्थितं विशोधिकोटिसंसृष्टमुज्झति। असंस्तरे अनिर्वाहे पुनश्चतुर्भङ्गी चत्वारोऽन्तरो क्ता भङ्गा । सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात् । कथंभूतास्ते भङ्गा इत्याह । येषु भङ्गेषु असठोऽरक्तद्विष्टः सन् वर्तमानः शुद्ध्यति शुद्धमापद्यते । मायावी च येषु बध्यते तदेवं विशोधिरूपं कोटिद्वयं सप्रपञ्चमुक्तमिदानीं तदेवोपसंहार-व्याजेन संक्षेपत आह ।

कोडीकरणं दुविहं, उग्गमकोडी विसोहिकोडी य ।
उग्गमकोडीछक्कं, विसोहिकोडी अणेगविहा ॥

कोडीकरणं दुविहं द्विप्रकारं द्विधा कोटिरित्यर्थः तद्यथा उद्गमकोटिर्विशोधिकोटिश्च । तत्रोद्गमकोटिषट्कमाधाकर्म्मिकोद्देशिकान्त्यतो दातृकादिषड्भेदा । विशोधिकोटिः पुनरनेकविधा । औद्देशिकादिरूपा । संप्रत्यन्यथाकोटीः प्रतिपादयति ।

नव चेव अट्ठारसगं, सत्तावीसा तहेव चउपन्ना ।
नउइ दो चेव सयाउ, सत्तरा होइ कोडीणं ॥

प्रथमतः कोट्यो नव भवन्ति । तद्यथा स्वयं हननमन्येन घातनमपरेण हन्यमानस्यानुमोदनम् । तथा स्वयं पचनमन्येन पाचनं तत्परेण पच्यमानस्थानुमोदनं तथा स्वयं करणम् अन्येन कारणं करणपरेण क्रियमाणस्यानुमोदनम् । इहाद्याः षट् विशोधिकोटयोऽनियमास्तु तिस्रो विशोधिकोटयः । एता अपि नवकोटीः कोपि रागेण सेवते कोपि द्वेषेण ततो द्विकेन गुणिता अष्टादश भवन्ति । अथवा एवं ताः कोऽपि मिथ्यादृष्टिः कुशास्त्रसंपर्कसमुत्थवासनावसतो निःशङ्कंसेवते । कोपि सम्यग्दृष्टिः सन् विरतोऽप्यनाभोगादिकारणतोऽपरिज्ञानतः कोपि पुनः सम्यग्दृष्टिरपि सन् अविरतत्वेन गार्हस्थ्यमवलम्बमानः ततो मिथ्या- त्वादिरूपेण त्रिकेण नवगुणितां शतविंशतिर्भवति । रागद्वेषौ त्वत्र पृथग्विवक्ष्येते यदा पृथग्विक्ष्येते तदा ताभ्यां सप्तविंशतिर्गुणिता चतुः पञ्चाशद्भवति । तथा तथैव नव कोटयः कदाचित् पुष्टमालम्बनमधिकृत्य दशविधकान्त्या-दिधर्मपरिपालनार्थं सेव्यन्ते । यथा दुर्भिक्षे । यदा तु पृथक् विवक्ष्येते तदा ताभ्यां सप्तविंशतिर्गुणिता कान्तारे वान्येन फलादिना ऽभ्यवहृते नाहं देहं धृत्वा क्षान्तिमार्दवार्जवं यत्र ब्राह्म पालयिष्यामीति (हंतीति) एवमन्येन घातनाद्यपि भावनीयम् । ततो नव दशभिर्गुणिता जाता नवतिः । इयं च सामावृत्तेः चारित्रनिमित्ता केचित्पुनश्चारित्रनिमित्ता विशिष्टज्ञानलाभ-संभवनिमित्ता च यथास्मिन् कान्तारादावनेन फलादिना ऽभ्यवहृतेन देहमहं धृत्वा क्षान्त्यादिकं पालयिष्यामि प्रभूतानि च शास्त्राण्यधिष्ये इति (हंतीत्यादि) एषा च ज्ञानस्य प्रधान्यविवक्षणात् ज्ञाननिमित्ता भण्यते । केचित् पुनश्चारित्रनिमित्ता दर्शनस्थिरीकरणहेतु-शास्त्रपरिज्ञाननिमित्तां च यथाऽस्मिन् कान्तारादावनेन फ लादिनाभ्यवहृतेन देहं परिपाल्य क्षान्त्यादिकं पालयिष्यामि दर्शनं च निर्मलं विधास्ये इति (हंतीत्यादि) एषा च दर्शनस्य प्राधान्यविवक्षणाद्दर्शननिमित्ताभिधीयते । तत एवंप्रकारा नवतिरिति त्रिभिर्नवतिर्गुण्यते ततो द्वे शते सप्तत्यधिके कोटीनां भवति । उक्तंच " रागाइमिच्छाइरागाई समणधम्म नाणाई । नव नव सत्तावीसा, नवन उईए उ गुणेकारा " या तु दर्शनस्थिरीकरणार्थं प्रभूतशेषशास्त्रावगाहनार्थं चारित्रार्थं च सेव्यते सा सामान्यतश्चारित्रनिमित्तायामन्तर्भाव्यते ततोतस्तत्रोक्तभेद संख्यानियमव्याघातः । संप्रत्युद्गमद्वारदोषाणां वक्ष्यमाणोत्पादनाद्वारदोषणां च यतः संभवस्तदुत्थितान् वैवक्षयेनाह ।

सोलस उग्गमदोसे, गिहिणेउ समुट्ठिए वियाणाहि ।
उप्पायणा य दोसे साहू उ समुट्ठिओ जाण ॥

एतान् अनन्तरोक्तान् षोडशसंख्यान् उद्गमदोषान् गृहिणः सकाशादुत्थितान् विजानीहि । तथा ह्याधाकर्मादिदोषदुष्ट भक्तादिगृहस्थैरेव क्रियते ये तु उत्पादनाया दोषा वक्ष्यमाणास्तान् साधुतः साधोः सकाशादुत्थितान् जानीहि । धात्रीत्वादीनां साधुभिरेव क्रियमाणत्वात् । तदेवमुक्तमुद्गमद्वारम् । पिं० । पञ्चा० । इहाधाकर्म्म औद्देसिकचरमभेदत्रयम् । आहारादतिमिश्रजातान्त्यभेदद्वयं बादर-प्रभृतिका अध्यवपूर्विकान्त्यभेदद्वयं चाविशोध्यन्ते कोटिं पुरीषलवेनेव तदवयवेनापि स्पृष्टं सर्व्वमाहरतोप्यविशुद्धकोटयः । तत्संपृक्तं चान्नादिसंस्तरे साधवः सर्वं त्यजन्ति । असंस्तरे तु विविच्य तदेव त्यजन्ति घृतादिकमपि तावन्मात्रमेव त्यजन्ति शेषं यद्यपि तदवयवयोगस्तथापि शुद्धत्वमिति । जीत० । प्रव० । स्था० ।

उग्गमं से य पुच्छेज्जा, कस्सट्ठा केण वा कडं ।
सोच्चा निस्संकियं सुद्धं, पडिगाहिज्ज संजए ॥

उद्गमं तत्प्रसूतिरूपं (से) तस्य शङ्कितस्याशनादेः पृच्छेत् तत्स्वामिनं कर्मकरं वा यथा कस्यार्थमेतत्केन वा कृतमिति श्रुत्वा तद्वचनं न भवदर्थं किंत्वन्यार्थमित्येवंभूतं निःशङ्कितं शुद्धं सत् ऋजुत्वादिभावगत्या प्रतिगृह्णीयात्संयतः विपर्ययग्रहणे दोषादिति सूत्रार्थः । तथा " असणं पाणगं वावि खाइमं साइमं तहा । पुप्फेसु होज्जउम्मीसं बीएसु हरिएसु वा " दश० ५ अ० ध० ।

षोडशानामुद्गमदोषाणां प्रायश्चित्तमभिधित्सुराह ।

गुरुगा आह य चरमतिग, मीसवायरसपव्ववायहडे ।
कडपूइए य गुरुगो, अज्झायरए य चरमदुगे ॥

आधाकर्म्म गृह्णतः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः (चरमंतियत्ति) औद्देशिकं द्विविधमोघेन विभागेन च । तत्र विभागतो द्वादश विधं तद्यथा उद्दिष्टं कृतं कर्म्म च । उद्दिष्टं चतुर्विधमौद्देशिकं समुद्देशिकमादेशिकं समादेशिकम् । कृतमपि चतुर्विधं तद्यथा उद्देशकृतं समुद्देशकृतमादेशकृतं समादेशकृतं च । कर्मापि चतुःप्रकारं तद्यथा उद्देशकर्म समुद्देशकर्म आदेशकर्म समादेशकर्म च । त्रयचतुष्कका द्वादश इह यावन्तः केचन भिक्षाचराः समागच्छन्ति तावतः सर्वान् उद्दिश्य यत् क्रियते तदौद्देशिकमुच्यते । पाषण्डिन उद्दिश्य क्रियमाणं समुद्देशं श्रमणानुद्दिश्यादेशं निर्ग्रन्थानधिकृत्य समादेशम् । उक्तंच " जावंति य उद्देसो, पासंडीणं भवे समुद्देसो । समणाणं आदेसो, निग्गंथाणं समादेसो " एतस्मिन् द्वादशविधे विभागोद्देशके यच्चरमं त्रिकं समुद्देशकर्म आदेशकर्म समादेशकर्म च तत्र गृह्यमाणे प्रत्येकं चत्वारो गुरुकास्तपःकालविशेषिताः (मीसंति) मिश्रजातं त्रिविधं यावन्तिकमिश्रे पाषण्डिकमिश्रं स्वगृहमिश्रं च । तत्र पाषण्डिकमिश्रे स्वगृहमिश्रे च प्रत्येकं चत्वारो गुरुकास्तपः कालगुरुवः (बायरत्ति) द्विविधा प्राभृतिका सूक्ष्मा बादराच तत्र बादरायां गृह्यमाणायां चत्वारो गुरुकाः (सपच्चवायाहडेत्ति) यत्र यत्र ग्रामादौ सप्रत्यपाय-

मभ्याहृतं तत्र तत्र चत्वारो गुरुकाः । तदेव येषूद्गम भेदेषु गुरुकास्ते उक्ताः। संप्रति येषु मासगुरु तान् प्रतिपादयति (कडयइएय इत्यादि) कृते औद्देशिके चतुः प्रकारोपि प्रत्येकं मासगुरुकं तपः काल-विशेषितम् । तद्यथा यावन्तिके मासगुरु समुद्देशकृते तपोगुरुकं मासगुरु, आदेशकृते कालगुरुकं मासगुरु समा देश कृते मासगुरु द्वाभ्यां गुरुकं तपोगुरुकं कालगुरुकं च (पूतिएत्ति) भावपूतिकं द्विविधं सूक्ष्मं बादरं च। तत्र सूक्ष्मे नास्ति प्रायश्चितं बादरं द्विविधम् उपकरणे भक्तपाने च । अत्र भक्तपानपूतिकं मासगुरु (अज्झोयरएय चरम दुगत्ति) अध्यवपूरकं त्रिविधं तद्यथा यावन्तिकमध्यवपूरकं पाषण्डाध्यवपूरकं स्वगृहाध्यवपूरकं च। तत्र पाषण्डाध्ववपूरकेस्वगृहाध्यवपूरके च प्रत्येकं मासगुरु उक्तानि गुरुकप्रायश्चित्तान्यधुना लघुकप्रायश्चित्ताण्यभिधित्सुराह ।

ओहविभागुद्देसे, चिरठविए पागडे य उवगरणे ।
लोउत्तरपामिच्चे, परियट्टियकाय पर भावे ॥
सग्गाममिहडिग विजहन्न, जावंति आयरे लहुओ ।
इत्तरठविए सुहुमा, पणगं लहुगा य सेसेसु ॥

ओघौद्देशिके मासलघु, विभागौद्देशिके उद्देसे मासलघु, समुद्देशे मासलघु तपो गुरु आदेशे मासलघु कालगुरु, समा देशं मासलघु । द्वाभ्यां गुरु। स्थापितं द्विविधं चिरस्थापित मित्वरस्थापितं च । तत्र चिरस्थापिते मासलघु , प्रादुष्करणं प्रकाशकरणम् । तत्र प्रगटकरणे मासलघु, उपकरणपूतिके मासलघु, प्रामित्यं द्विविधं, लौकिकं लोकोत्तरिकं च। लोकोत्तरिके मासलघु। परिवर्त्तितमपि द्विधा लौकिकं लोकोत्तरि कं च। तत्र लोकोत्तरिके परिवर्तिते मासलघु । क्रीतं द्विविधम् । द्रव्यक्रीतं भावक्रीतं च । तत्र द्रव्यक्रीतं द्विविधम् आत्मद्रव्यक्रीतं परद्रव्यक्रीतं च। भावक्रीतमपि द्विधा आत्मभावक्रीतं परभावक्रीतं च तत्र परभावक्रीते मासलघु स्वग्रामाभ्याहृते मासलघु (गंठित्ति) ग्रन्थिपिहितमुच्यते। यत्र गुडघृतादिभाजनमुखे पोतेन चमर्णा वा स्थगयित्वा दवरकेणोप रिग्रन्थिर्दीयते ग्रन्थिसहिता मुद्रा वा तदुपचाराद ग्रन्थिरित्यर्थ तस्मिन्नुद्भिद्यमाने मासलघु मालापहृतं द्विविधं जघन्यमुत्कृष्टं च तत्र मालापहृते मासलघु तथा यावन्तिकेऽध्यवपूरके मासलघु तदेवं यत्र मासलघुत्वात्स्थानमुक्तमिदानीं ययोः पञ्चरात्रिंदिवानि ते उच्यते (इत्तरठविय इत्यादि) इत्वरस्थापिते पञ्चरा त्रिदिवानि सूक्ष्मप्राभृतिकायामपि पञ्चरात्रिंदिवानि (लघुकाय सेसेसुत्ति) येन्ये उद्गमदोषास्तेषु सर्वेष्वपि प्रत्येकं चत्वारो लघुकास्तद्यथा । औद्देशिक कर्मणि यावन्तिके १ मिश्रजात २ प्रकाशकरणे ३ आत्मद्रव्यक्रीते ४ परद्रव्यक्रीते ५ आत्मभावक्रीते लौकिके प्रामित्ये ७ लौकिके परिवर्तिते ८ परगामाभ्याहृतनिःप्रत्यपाये ९ पिहितोद्भिन्ने १० कपाटोद्भिन्ने ११ उत्कृष्टमालापहृते १२ अच्छेद्ये १३ अनिसृष्टे १४ एतेषु चतुर्दशसु स्थानेषु चत्वारो लघुकाः बृ० १ उ० । जीतकल्पे तु यथायथमाचाम्लं पुरिमार्द्धनिर्विकृतिकं वा प्रायश्चित्तम् ।

उद्देसियचरिमतिगे, कम्मेपासंडसुघरमीसे य ।
वायरपाहुडियाए, सपच्चवयाहडे लोभे ॥
अयरं अणंत निक्खित्तं, पिहिय साहय मीसियाईसु ।
संयोग सयंगाले, दुविहनिमित्ते य खमणं तु ॥

औद्देशिकचरमत्रिके कर्माद्देशकर्मसमादेशलक्षणे कर्मणि आधाकर्माख्य-पाषण्डामिश्रेषु गृहामिश्रे च सुष्ठुतिशयेन गृहाः सुगृहा अनगारास्तैःसह मिश्रजाते इत्यर्थः । बादरप्रभृतिकायां सप्रत्यपाये परग्रामात् हृते लोभपिण्डे अदूरतिरोव्यवधाने नितरां तिरोव्यवहितमनन्तरितमित्यर्थः तच्चानन्तररितमनन्तर काये निक्षिप्तम् । तथा संहृतमनन्तरकायेन पिहितम् तथा मिश्रितम् आदिग्रहणादनन्तरकायापरिणतमन-न्तरकायछर्दितंच । तेषु अन्तरेन्तरनिक्षिप्तसंहृतपिहितमिश्रितादिषु संयोगसागरयोः सर्वप्रकारयोः संयोगसागारान्वितभाजने च द्विविधनिमित्ते च वर्तमाननिमित्तं भविष्यति। निमित्तकथने क्षपणं तु इह सूत्रे धिक् पदमधिकमक्षरंकाधिकार्यं संसूचकं भवति । अत्र च तुःशब्दोऽधिकस्तेन गुर्वचित्तापिहते गुरुसंहृते गुरुणि शिलापुत्रकादिके दर्वाकरोटिकादेरुपरिभोगासंहृते उत्क्षेपोत्सारिते गलत्कुष्टपादुकारूढयो-श्चेति सूच्यते एतेषु सर्वेषु क्षपणं प्रायश्चित्तमित्यर्थः । अध्ववपूरकादिदोष-प्रायश्चित्त माह ।

अज्झोयरकडपूइय, मायाणं ते परंपरगए ।
मीसाणं ताणंतर गयाइं एगमासणयं ॥

सूचकत्वात् सूत्रस्य (अज्झोयरत्ति) अध्यवपूरकान्त्यभेद द्वये (कडत्ति) कृतोद्देशकृतसमुद्देसकृतदेशाख्ये विभागोद्देशिकद्वितीय-भेदचतुष्टये (पूइयत्ति) भक्तपानपूतिकर्मणि मायायां मायापिण्डे (अंणतेत्ति) एकारो लाक्षणिकः (परंपगयत्ति) गतशब्दो निक्षिप्तवाची चकारात्पिहितादिग्रहः। ततश्च सचित्तोनन्तकायपरंपरनिक्षिप्तपिहित-संहृतछर्दितं चेत्यर्थः। तथा मिश्रानन्तानन्तरगतादिके च अत्रापि गतशब्दो निक्षिप्तार्थः आदिशब्दात्पिहितादिग्रहस्तेन सचित्ताचित्त-रूपानन्तकायादिविहितनिक्षिप्तपिहितसंहृतोन्मिश्रापरिणछर्दिते इत्यर्थः (एगमासणयति) एष्वेकाशनं प्रायश्चित्तम्। इदानीं येषु पुरिमार्द्धप्रायश्चित्तं तान् गाथात्रयेणाह ॥

ओहविभागुद्देसो–वगरणपूइय ठवियपागडिए ॥
लोगुत्तरपरियट्टिय, पमेय परभावकीए व ॥
सग्गामाहडदद्दर–जहन्नमालोहज्झरेपढमे ॥
सुहुमितिगिच्छासंथव, तिगम विवयदायमोवहए ॥
पत्तय परंपरठविय–पिहियं मीसे अणंतराईसु ॥
पुरिमंढं संकाए, जं संकइ तं समावज्जे ॥

सामान्यौद्देशिकं विभागोद्देशोद्दिष्टोद्देशसमुद्देशोउद्दिष्टसमादेशाख्यं विभागोद्देशिकप्रथमभेदचतुष्टयम् । उपकरणं पूतिकाचिरस्थापना-कपट करणम् । एषां द्वन्द्वस्तस्मिन् लोकोत्तरपरिवर्तते प्रामित्थयोः परभावक्रीते अत्रापि द्वन्द्वः ॥ ४१ ॥ स्वग्रामाहृते दर्दरोद्भिन्ने जघन्यमालापहृते (हज्झरे पढमेत्ति) चकारोत्रलाक्षणिकत्वाद् यावदर्धिकः मिश्राख्ये ऽध्यवपूरकप्रथमभेदे इहापि द्वन्द्वःसूक्ष्मचिकित्सा-वचनसंप्राप्तिका पूर्वं पश्चात्संस्तवमुदका–र्द्रम्रक्षितमिश्रकर्द्दमम्रक्षितरूपं प्रथ्वीमुक्षितमुद-कार्द्रम्रक्षितंमिश्रमक्षितोत्कृष्ट्याख्यत्रिविधप्रत्येक म्रक्षितं चेति त्रिकंमक्षितं पिञ्जनं लोचयन्ती कर्त्तयन्ती दायका य दत्ते तत्तद्दायकोपहृतम्। एषामपि द्वन्द्वः तस्मिन् यथोक्तम्। "वाले वुड्ढे मत्ते उम्मत्तेवएयजरिए याएएति से वसवज्जा एसिं दायगोवहय ॥ १ ॥" तदत्र पुरिमार्द्धप्रस्तावनाज्ज्ञेयम। एतेभ्यो दायकेभ्यो ग्राहकाणामाचामाम्लप्रायश्चित्तस्योक्तत्वात् ।

(पत्तेयपरंपरठवियपिहिबत्ति) सुब्लोपः प्राकृतत्वादेकशब्दस्य चोपलक्षणत्वात् सचित्तपृथिव्यादिषट्कायपरस्थापितः पिहितेष्विति ज्ञेयम्। स्थापितं निक्षिप्तमुच्यते। बहुवचनात्संहृतच्छर्दितत्तोच (मीसयणंतराईसुत्ति) सूचकत्वात्सूत्रस्य मिश्रपृथिव्यादिषटकायानन्तर निक्षिप्तसंहृतोन्मिश्रापरिणतच्छर्दितेष्वित्यर्थः। उन्मिश्रापरिणतयोश्चानन्तरे विशोधने योज्यम्। किं तर्हि मिश्रषट्कायोन्मिश्रं मिश्रषट्कायापरिणतं चेत्येव योज्यम् एषु सर्वेषु मासार्द्धप्रायश्चित्तशङ्कायां दोषमाशङ्कते तस्यामप्येकान्तदोषश्च प्रायश्चित्तमापद्यते। जीत०। नि०। चू०। आव० (नावादिविषय उद्गमदोषो णावादिशब्दे)

उग्गमउप्पायणेसणासुपरिसुद्ध त्रि० (उद्गमोत्पादनैषणासु-परिशुद्ध) उद्गमश्च आधाकर्मादिः षोडशविधः उत्पादना च धापीदूत्यादिका षोडशविधैव उद्गमोत्पादने एतद्विषया या एषणा पिण्डविशुद्धिस्तया सुष्ठुपरिशुद्धो यः स उद्गमोत्पादनैषणासुपरिशुद्धः। दाचत्वारिंशत्पिण्डदोषरहिते, *भ० श० १ उ०।*

उग्गमदोस पुं० (उद्गमदोष) उद्गमनमुद्गमः पण्डादेः प्रभव इत्यर्थः। तस्य दोषः। स्था० ३ ठा०। उद्गमविषयो दोषः। आधाकर्मादिषु पिण्डप्रभवदोषेषु, आचा०। उत्त०। (ते च उग्गमशब्देदर्शिताः)

उग्गममाण *त्रि० (उद्गच्छत्) प्रवृद्धिंगच्छति, ''सव्वो वि किसलजोखलु, उग्गमाणे अणंतओ भणिओ''।* प्रज्ञा० १ पद।

उग्गमविसोहि स्त्री० (उद्गमविशोधि) भक्तनिरवद्यतारूपे उद्गमोपाधिके, विशोधिभेदे च। स्था० १० ठा०।

उग्गमित त्रि० (उद्गमित) उपार्जिते, ''वत्थपादातिउन्नेणउग्गमिया। नि० चू०२ उ०।

उग्गमोवघाय पुं० (उद्गमोपघात) उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभव इत्यर्थः। इह चाभेदविवक्षया उद्गमदोष एवोद्गमोऽतस्तेन (स्था० ३ ठा०) आधाकर्मादिना षोडशविधेनोपहननं विरानधं चारित्रास्याकल्प्यता भक्तादेः स उद्गमोपघातः। स्था० १० ठा०। पिण्डादेरकल्पनीयताकरणे उपघातभेदे,। स्था० ३ ठा०॥

उग्गय त्रि० (उद्गत) उद्–गम्–क्त–। अग्रिमभागे। मनागुन्नते, राय.। ऊर्ध्वगते, व्यवस्थिते च। ज्ञा० १ अ०। संभूते, आव० ३ अ०। उदिते,। उग्गय इति वा उइउत्ति वा एगट्ठमिति। नि० चू०१० उ०। भावे क्तः। उद्गतौ,। 'कंदुग्गएणगंधारं'। कण्ठाद्वा यदुद्गतमुद्गतिः। स्वरोद्गमलक्षणा क्रियातेन। स्था० ६ ठा०।

***उग्गक** त्रि० (उत्कटे) स्था० ६ ठा०।

उग्गयमुत्ति पुं०स्त्री० (उद्गतमूर्ति) मूर्तिः शरीरमुद्गते रवौ प्रतिश्रयाद् बहिः प्रवादवती मूर्तिरस्येत्युद्गममूर्तिकोमध्यम- पदलोपीसमासः। सूराद्गतावेव आहारग्राहके, वृ० २ उ०। नि०चू०।

उग्गयवित्ति पुं०स्त्री० (उद्गतवृत्ति) उद्गते आदित्ये वृत्ति र्जीवनोपायो यस्य स उद्गतवृत्तिकः। सूर्योद्गमने सति भिक्षयित्वा भोक्तरि, ''उग्गयवित्तीसुत्ती मणसंकप्पे य होंति आण ता'' उद्गते रवौ वृत्तिर्वर्तनं यस्य स उद्गतवृत्तिः। पाठान्तरेणोद्गत मूर्तिरिति वा। उद्गते सूर्ये वृत्तिः शरीर वृत्तिनिमित्तं बहिः प्रचारो यस्य स उद्गगतवृत्तिः। वृ० २ उ०। नि०चू०१ उ० ''भिक्खू य उग्गयवित्तिए आणत्थमिय संकप्पे संघडिए'' वृ० २ उ०। (व्याख्या राइभोयणशब्दे)

उग्गवई स्त्री० (उग्रवती) लोकात्तररीत्या नन्दानाम्न्यां प्रथमतिथिरात्रौ, जं० ७ वक्ष०। सू०प्र०। चं० प्र०।।

उग्गविस पुं० (उग्रविष) उग्रं दुर्जरत्वाद्विषं यस्य स उग्रविषः।दुर्जरविषे सर्पे, ज्ञा०६ अ०। जी०। उपा०। प्रज्ञा०।।

उग्गविहार पुं० (उग्रविहार) उत्कृष्टे विहरणे, ''अस्युग्रकर्मदहनो दहनोग्रविहारसः''। ध०४ अधि०।

उग्गविहारि त्रि० (उग्रविहारिन्) सदनुष्ठानल्वादुदात्ताचारे, भ० १० श०४ उ०।

उग्गसेण पुं० (उग्रसेन) उग्रा सेना यस्य। धृतराष्ट्रपुत्रभेदे, कुरुवंश्ये नृपभेदे, यदुवंश्ये नृपभेदे, वाच०। ''वसुदेवहिण्ड्या मस्य वक्तव्यता तत एवाऽवसेया। उग्गसेणपामोक्खाणं सोडएहं राइसहस्साणं'' आ०म० द्वि०। अन्त०। ''अहं च भोगरायस्स तं च सिअंधगवण्हिणो'' दश० २ अ०। ग०।

उग्गसेणगढ न० (उग्रसेनगढ़) जीर्णगढे, ''उग्गसेणगढं ति वा खंगारगढं ति वा, जुण्णगढं ति वा, जुण्णगढस्स णामाइं'' ती०।

उग्गह *पु० (अवग्रह) अवग्रहः अनिर्देश्यसामान्यमात्र–रूपार्थग्रहणरूपे* श्रुतनिश्रित मतिज्ञानभेदे, तं आह च चूर्णिकृत् ''सामण्णस्स रूवादि विससणरहियस्स अणिद्दसस्स अबग्गहेणमवगेह–इति''। नं०। विशे०। रूपरसादिभेदैरनिर्देश्यस्याप्यु क्तस्वरूपस्य सामान्यर्थस्यावग्रहणं *परिच्छेदनमवग्रहः। ''अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं इति'' निर्युक्तिगाथां* व्याख्यानयन् भाष्यकृदाह'' सामण्णत्थावग्गहण्मुग्गहो'' विशे०। (व्याख्या आभिणिवोहिय शब्दे) सम्म०। आ०म०प्र०। तत्र विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहो विषयस्य द्रव्यपर्य्यायात्मनोऽर्थस्य विषयिणश्च निवृत्त्युपकरणलक्षणस्य द्रव्येन्द्रियस्येत्युपलब्ध्युपयोगस्वभावोन्द्रियस्य विशिष्टपुद्गलपरिणतिरूपस्यार्थग्रहणयोग्यतास्वभावस्य च यथाक्रमेण सन्निपातो योग्यदेशावस्थानं तदनन्तरोद्भूतं सत्तामात्रदर्शन स्वभावदर्शनमनुत्तरपरिणामस्वविषयव्यवस्थापनविकार–रूपप्रतिपाद्यमवग्रहः। व्य० द्वि० १० उ०।

(१) अवग्रहभेदाः।
(२) अवग्रहे दण्डकः।
(३) अवग्रहनिक्षेपः।
(४) द्रव्यादित्श्चातुर्विध्यं देवेन्द्रादितः पञ्चविधत्वं तत्र बलीययत्वे तारतम्यनिरूपणम्।
(५) अदत्तादानदोषनिवृत्तयर्थमवग्रहानुज्ञापनम्।
(६) विधवाप्यनुज्ञापनीया।
(७) साधर्मिकावग्रहे उपनिमन्त्रणम्।
(८) अवग्रहयोग्यं क्षेत्रमवग्रहप्रतिषेधश्च।
(९) ब्राह्मणाद्यवगृहीते अवग्रहः।
(१०) पथ्यवग्रहः।
(११) आमेक्षुवनादाववग्रहे आम्रफलादिभोजनं लशुनवनादाववग्रहश्च।
(१२) स्वामिना त्यक्ते अत्यक्ते वावग्रहः।
(१३) राजावग्रहो देवेन्द्रावग्रहश्च।
(१४) राजपरिवर्त ऽवग्रहः।
(१५) अवग्रहक्षेत्रामानम्।
(१६) क्षेत्रात्यामसमवागतेषु तपरेप्यवग्रह परिवृत्तिः।
(१७) अवग्रहे सप्त प्रतिमा।

(१) अवग्रहभेदानाह–

से किं तं उग्गहे२ दुविहे पण्णत्ते तंजहा अत्थोग्गहे य वंजणुग्गहे य। से किं तं वंजणुग्गहे? वंजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा सोइंदियवंजणुग्गहे घाणिंदिय वंजणुग्गहे जिब्भिंदियवं-जणुग्गहे फासिंदियवंजणुग्गहे सेत्तं वंजणुग्गहे । से किं तं अत्थुग्गहे २ छव्विहे पण्णुत्ते तंजहा सोइंदियअत्थुग्गहे चक्खिंदियअत्थुग्गहे घाणिंदियअत्थुग्गहे जिब्भिंदियअत्थुग्गहे फासिंदियअत्थुग्गहे नोइंदियअत्थुग्गहे। तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंचनामधिज्जा भवंति । तंजहा उग्गिण्हणया उग्गिण्हओ अवधारणया सवणया अवलंबणया मेहा सेत्तं उग्गहे ।।

अथकोऽयमवग्रहः सूरिराह । अवग्रहो द्विविधस्तद्यथा अर्थावग्रहश्च व्यञ्जनावग्रहश्च ॥ नं० । (तस्सणमित्यादि) तस्य सामान्येनावग्रहस्य णमिति वाक्याऽलंकारे अमूनि वक्ष्यमाणनि एकार्थिकानि (नाना घोसाणित्ति) घोषा उदात्तादयः स्वरविशेषाः । आह चूर्णिकृत् ''घोसाउ उदत्ताओ सरविसेसा'' नाना घोषा येषां तानि नानाघोषाणि । तथा नाना व्यञ्जनानि कादीनि येषां तानि नानाव्यञ्जनानि । पञ्चनामान्येव नामधेयानि भवन्ति तद्यथेति तेषामेवोपदर्शने (उग्गिण्हणया इत्यादि) यदा पुनरवग्रहविशेषाननपेक्ष्यामूनि पञ्चापि नामधेयानि चिन्त्यन्ते तदा परस्परं भिन्नार्थानि वेदितव्यानि । तथाहि इहावग्रह स्त्रिधा तद्यथा व्यञ्जनावग्रहः सामान्यार्थवग्रहः विशेषसामान्यार्थावग्रहश्च । तत्र विशेषसामान्यार्थावग्रहः औपचारिकः स चानन्तरमेवाग्रे दर्शयिष्यते । नं० । कर्म० । विशे० ।

तत्थुग्गहो दुरूवो, गहणं जहोग्गवंजणत्थाएं ।
वंजणओ य जमत्थो, तेणाई एतयं वोच्छं ॥

तत्रावग्रहणमवग्रहो द्विरूपो यथा भवति तथा प्रोच्यते । कथमित्याह यद्यस्माद्ग्रहणं व्यञ्जनार्थयोरेव भवेदन्यस्य ग्राह्यस्याभावत्तत्श्च विषयद्वैविध्यादवग्रहो द्विविध इति भावः । अपरं यद्यस्मात्कारणा-द्वक्ष्यमाणन्यायन प्राप्यकारिष्विन्द्रियेषु व्यञ्जनावग्रहादनन्तरमेवार्थो ऽर्थावग्रहो भवति तेनादौ प्रथमतस्तकं व्यञ्जनावग्रहमेव वक्ष्ये इति गाथार्थाः । विशे० । नं० । आ०चू० । प्रव० । भ० । (व्यञ्जनावग्रहादीनां व्याख्याऽन्यत्र व्यञ्जनावग्रहे मल्लकप्रतिबोधकदृष्टान्तश्च आभिणिबोहिय शब्दे) ।

(२) अवग्रहे दण्डकः ।

नेरइयाणं भंते! कतिविहे उग्गहे पण्णत्ते? दुविहे उग्गह पण्णत्ते तंजहा अत्थोवग्गहे वंजणोवग्गहे एवं असुरकुमाराणं जाव वेमाणियाणं पुढविकाइयाणं भंते! कतिहिवे उग्गहे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे उग्गहे पण्णत्ते तंजहा अत्थोग्गहेय वंजणोग्गहे य पुढविकाइयाणं भंते! वंजणोग्गहे कइविहे पण्णत्ते? गोयमा! एगे फासिंदियवंज णोग्गहे पण्णत्ते । पुढविकाइयाणं भंते! कइविहे अत्थोग्गहे पण्णत्ते । एगे फासिंदिय अत्थोग्गहे पण्णत्ते एवं जाव वणस्सइकाइयाणं एवं वेइंदियाणवि । नवरं बेइंदियाणं वंजणोग्गहे दुविहे पण्णत्ते एवं तेइंदिय चउरिंदियाण वि नवरं इंदियपरिबड्ढी कायव्वा। चउरिंदियाणं वंजणोग्गहे तिविहे पण्णत्ते अत्थोवग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते सेसाणं जहा नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ।

टीका सुगमत्वान्न गृहीता अवधारणमवग्रहः । सुन्दरा एत इत्यवधारणम् । उत्त० । लम्भे,० । आ०चू० । अयं गृह्णातीत्यवग्रहः । उपधौ,–ओघ० । पतद्रहे, ''खुरमुंडो लोएणं उग्गहं च घेत्तूणं–'' पंचा० ३ विव० । ''भगद्वारे अवग्रह इति योनिद्वारस्य सामायिकी संज्ञा'' बृ० ३ उ० । प्रव० । अवगृह्यते स्वामिना स्वीक्रियते यः सोऽवग्रहः । राजावग्रहादौ, प्रति० । अवग्रहणीये वस्तुनि,–प्रश्न० ३ द्वा० । आश्रये, ''उग्गहं च अजाइत्ता, अविदिन्ने उ उग्गहे'' ध० ३ अधि० ।

(३) अवग्रहनिक्षेपो यथा ।

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य ।
एसो अवग्गहस्स, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥

सचित्तादिद्रव्यग्रहणं द्रव्यावग्रहः क्षेत्रावग्रहो यो यं क्षेत्रमवगृह्णाति तत्र वसामः । ततः सक्रोशं योजनं कालावग्रहो यो यं कालमवगृह्णाति वर्षासु चतुरो मासान् ऋतुबद्धे मासे भावावग्रहः । प्रशस्तेतरभेदः । प्रशस्तो ज्ञानाद्यवग्रह इतरस्तु क्रोधाद्यवग्रह इति । अथवावग्रहः पञ्चधा ।

द्रव्यादितश्चातुर्विध्यमाह ।

(४) द्रव्यादितश्चातुर्विध्यं देवेन्द्रादितः पञ्चविधत्वं तद्वलीयस्त्वे तारतम्यनिरूपणं च । तत्र ।

दव्वे खेत्ते काले, भावे विय उग्गहो चउद्धाउ ।
देविंदराय उग्गहो, गिहवइसागरियसाहम्मी ।।३४।।
दव्वुग्गहोउ तिविहो, सचित्ता चित्तमीसिओ चेव ।
खेत्तुग्गहो वि तिविहो, दुविहो कालग्गहो होइ ।।३५।।

द्रव्यावग्रहः क्षेत्रावग्रहः कालावग्रहो भावावग्रहश्चेति । एवं चतुर्विधोऽवग्रहः । यदिवा सामान्येन पञ्चविधोऽवग्रहस्तद्यथा देवेन्द्रस्य लोकमध्यवर्त्ती रुचकदक्षिणार्द्धमवग्रहः राज्ञश्चक्र-वर्त्यादेर्भरतादिक्षेत्रं गृहपतेर्ग्रामिमहत्तरा देर्ग्रामिपाठकादिकमवग्रहः । तथा सागारिकस्य शय्यातरस्य पाठशालादिकसाधर्म्मिकाः साधवो । ये मासकल्पेन तत्रावस्थितास्तेषां व सत्यादिरवग्रहः । सपादयोजनमिति तदेवं पञ्चविधोऽवग्रहः । वसत्यादि परिग्रहं च कुर्वता सर्वार्थतेति यथावसरमनुज्ञाप्या इति । आ०म०प्र० । आचा० । प्रव० । भ० ।

तेणं कालेणं तेणं समयेणं सक्केदेविंदे देवराया वज्जायाणी पुरंदरे जाव भुजमाणे विहरइ इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवे २ विउले ओहिणाणे आभोएमाणे २ पासइ समणं भगवं महावीरं जंबूदीवे दीवे जहा ईसाणे तईयसए तहेव सक्केणवि णवरं आभिओगेणं सद्दावेइपायत्ताणियाहिवई हरीसुघोसघंटापालओ विमाणकारी पालगं विमाणं उत्तरिल्ले णिज्जाणमग्गे दाहिण्णपुरच्छि–

मिल्ले रत्तिकरपव्वए सेसं तं चेव णामगं सावेत्ता पज्जुवासइ धम्मकहा जाव पडिगया तएणं से सक्के देविंदे देवराया समणस्स भगवओमहावीरस्स अंतियं धम्मं सोचाणिसम्म हट्ठतुट्ठसमणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी कइणं भंते? उग्गहेपण्णत्ते सक्क! पंचविहे उग्गहे पण्णत्ते तंजहा देविंदोग्गहे रायोग्गहे गहवइउग्गहे सागारियउग्गहे साहम्मियउग्गहे जे इमे अज्जत्ताए समणा णिग्गंथा विहरंति एसिणं अहं उग्गहं अणुजाणामी तिकट्टु भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदइत्ता णमंसइत्ता तमेव दिव्वं जाणविमाणं दुरूहइ दुरूहइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए भंतेत्ति । भगवं गोयम! समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदइ २ त्ता एवं वयासी जं णं भंते! सक्के देविंदे देवराया तुब्भे एवं वन्दति सच्चेणं एसमट्ठे हंता सच्चेणं । भ० १६ श०२ उ० ।

अथ कतिऽविधोऽयमवग्रह उच्यते

देविंदरायगहवइ, उग्गहो सागारिए अ साहम्मि ।
पंचविहम्मि परूविए, नायव्वा जो जहिं कमइ ।।

देवेन्द्रः शक ईशानो वा स यावतः क्षेत्रस्य प्रभवति तावान् देवेन्द्रावग्रहः राजा चक्रवर्तिप्रभृतिको महर्द्धिकः पृथ्वीपतिः स यावतः षट्खण्डभरतादेः क्षेत्रस्य प्रभुत्वमनुभवति तावान् राजावग्रहः । गृहपतिः सामान्यमण्डलाधिपतिस्तरस्याऽप्या ऽधिपत्यविषयभूतं यद्भूभिखण्डं स गृहपत्यवग्रहः । सागारिकः शय्यातरस्तस्य सत्तायां यगृहपाटकादिकं स सागारिकावग्रहः । साधर्मिकाः समानधर्माणाः साधवस्तेषां संबन्धि सक्रोशयोजनादिकं यदा भव्यं क्षेत्रं स साधर्म्मिकावग्रहः । एष पञ्चविधोऽवग्रहः । एतस्मिन् पञ्चविधेऽवग्रहे वक्ष्यमाणभेदे प्ररूपिते सति ज्ञातव्यो विधिरित्युपस्कारो यो यत्र देवेन्द्रादौ क्रमतेऽवतरति स तत्रावतारणीय इति संग्रहगाथा समासार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुरमीषां पञ्चानांमध्ये कः कस्माद्बलीयानिति जिज्ञासायां तावदिदमाह ।

हेट्ठिल्ला उवरिल्लेहिं, वाहिया नउ लहंति पाहन्नं ।
पुव्वाणुन्ना मिनवं, चउसुभयपच्छिमेमिनवा ।।

अधस्तना देवेन्द्रावग्रहादय उपरितनै राजवग्रहादिभिर्यथा क्रमं बाधिता द्रष्टव्याः । अत एव नतु नैव लभन्ते प्राधान्यमुत्त मत्वम् । किमुक्तं भवति । राजावग्रहे राजैव प्रभवति न देवेन्द्रस्ततो देवेन्द्रानुज्ञातेप्यवग्रहे यदि राजा नानुजानीते तदा न कल्प्यते तदवग्रहे स्थातुम । अथानुज्ञातो राज्ञा स्वविषयावग्रहः परं न गृहपतिना ततस्तद्ग्रहे पि न युज्य तेऽवस्थातुम् । अथानुमतं गृहपतिना स्व भूमिखण्डेऽवस्थानं परं न सागारिकेण स्वावग्रहे ततोऽपि न कल्प्यते वस्तुम् । अथानुज्ञातः सागरिकेण स्वावग्रहः परं न साधर्मिकैस्तथापि न कल्प्यते इत्येवमुपरितनैरधस्तना बाध्यन्ते तथानुपूर्वामनुज्ञामभिनवां चतुर्षु भजनां विकल्प्य केषांचित्साधूनां पूर्वानुज्ञा तदपरेषाम भिनवेति भजना कार्येत्यर्थः । अथ केयं पूर्वानुज्ञा काऽभिनवानु ज्ञेत्युच्यते । ईहाया अवग्रहः पुरातनसाधुभिरनुज्ञापितः स यत्पाश्चात्यैरेवमेव परिभुज्यते न भूयोऽनुज्ञाप्यते सा पूर्वानुज्ञा यथा चिरंतनकालवर्तिभिः साधुभिर्देवेन्द्र यदवग्रहमनुज्ञापितः सैव पूर्वानुज्ञा । सांप्रतकालीनसाधुना मप्यनुवर्तते न पुनर्भूयोप्यनुज्ञाप्यते अभिनवानुज्ञानामभावाद् । यदा किलान्यो देवेन्द्रः समुत्पद्यते तदा तत्कालवर्त्तिभिः साधुभिर्यदसाव भिनवोत्पन्नतयाऽग्रहोऽनुज्ञाप्यते सा तेषामनभिवाऽनुज्ञा तदपरेषां पूर्वानुज्ञा एवं शेषनृपतिगृहपतीनामपि पूर्वाभिनवानुज्ञे भावनीये । सागारिकोपि प्रथमत उपागतैः साधुभिर्यदुपाश्रयमनुज्ञाप्यते सा तेषामभिनवानुज्ञा तेषु साधुषु तत्र स्थितेषु यदन्ये साधवः समागत्य तदनुज्ञापितवग्रहं परिभुञ्जते सा पूर्वानुज्ञा तदेवं चतुर्ष्ववग्रहेषु पूर्वाभिनवानुज्ञयो र्भजना भाविता । तथा पश्चिमे साधर्मिकावग्रहेभिनवानुज्ञैव भवति न पुर्वानुज्ञा । तथाहि यो यदावग्रहार्थं साधर्मिकमुपसंपद्यते स सर्वोपि तदानीं तमनुज्ञाप्यैवावतिष्ठते नान्यथेत्यभिनवानुज्ञैवैका ।

अथामीषां पञ्चानामपि भेदानाह ।

दव्वाई एक्केक्के, चउहा खित्तं तु तत्थ पाहन्ने ।
तत्थेव य जे दव्वा, कालो भावो असामित्ते ।।

एकैकोऽवग्रहश्चतुर्द्धा द्रव्यतः क्षेत्रातः कालतो भावतश्च । तत्र प्रथमतः क्षेत्रावग्रहः प्ररूप्यते कुतोहेतोरिति चेदुच्यते क्षेत्रं पुनः स्वतन्त्रेषु द्रव्यादिषु मध्ये प्राधान्येन वर्तते इहावग्रहस्य प्ररूप्यमाणत्वात्तस्य च तत्वतः शक्रादिक्षेत्ररूपतयाभिधीय-मानत्वादिति भावः । यतश्च तत्रैव क्षेत्रे यानि द्रव्याणि यश्च कालो भावश्च एतेषां क्षेत्रमध्ये भूतत्स्वामित्वे वर्तते क्षेत्रस्यैव संबन्धित्वादन्येषां तस्मिंश्च प्रथमं प्ररूपिते द्रव्यादयस्त-दन्तर्गताः प्ररूपिता एव भवन्तीति प्रथमतः क्षेत्रवग्रहं प्ररूपयति०

पुव्वावरायया खलु, सेढीलोगस्स मज्झयारम्मि ।
जो कुणइ दुहा लोगं, दाहिण तह उत्तरद्धं च ।।

इह सर्वस्यापि लोकस्य मध्यकारे मध्यभागे मन्दरस्य पर्वतस्योपरि श्रेणिराकाशप्रदेशपङ्क्तिरेकप्रादेशिकी पूर्वापरयो -र्दिशोरायता प्रदीर्घा समस्ति या श्रेणिर्लोकमेकरूपमपि द्विधा करोति । तद्यथा दक्षिणालोकार्द्धमुत्तरलोकार्द्धं च । तत्र दक्षिणलोकर्द्धस्य शक्रः प्रभुत्वमनुभवति उत्तरलोकार्द्धस्य पुनरीशानकल्पनायकस्तथा-दक्षिणलोकार्द्धे यान्यावलिका -प्रतिष्टानि पुष्पावकीर्णानिवा विमानानि शक्रस्यैव भाव्यानि यानि पुनरुत्तरार्द्धे तानि सर्वाण्यपि द्वितीयकल्पाधिपतेः । अथ यानि मध्यमश्रेण्यां तानि कस्याभवन्तीत्याह ।

साधारण आवलिया, मज्झम्मि अबद्धचंदकप्पाणं ।
अद्धं च परिक्खेत्ते, तेसिं अद्धं च सक्खित्ते ।।

अपार्द्धचन्द्रकल्पयो रर्द्धचन्द्राकारयोः सौधर्मेशानकल्पयोः पूर्वापरायतायां मध्यमश्रेण्यां या विमाननामावलिकासा साधारणा शक्रेशानयोः । किमुक्तं भवति । तस्यां मध्यमश्रेण्यां पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि त्रयोदशस्वपि प्रस्तटेषु यानि विमानानि तानि कानिचित् शक्रस्य कानिचिदी शानस्याभाव्यानि । तत्र यानि वृत्ताकाराणि तानि सर्वाण्यपि शक्रस्यैव, यानि पुनस्त्र्यत्राणि चतुरस्राणि वा तान्येकं शक्रस्य एकमी शानस्येत्येवमुभयोरपि साधारणानि तथाचोक्तम् "दक्खिणेन इंदा दाहिणओ आवली भवे तेसिं । जे पुण उत्तरइंदा, उत्तरओ

आवली तेसिं । पुव्वेण पच्छिमेण य जे वट्टा ते विदाहिणल्लस्स । तंसचउरसंगा पुण, सामन्ना हुंति दुण्हंपि'' तेषां च मध्यमश्रेणिगतानां विमानानामर्द्धं स्वस्वक्षेत्रे कल्पसीमनि प्रतिष्ठितं तदपरमर्द्धं परक्षेत्रे परकल्पसीमनीति ।

अथ शक्रमुद्दिश्य क्षेत्रावग्रह प्रमाणमाह ।

सेढीइ दाहिणेणं, जो लोगा उडुमासकविमाणा ।
हेट्ठावि अ लोगंते, खित्तं सोहम्मरायस्स ।।

सौधर्मराजस्य सौधर्म्मकल्पाधिपतेरेतावत्क्षेत्रमाधिपत्य विषयभूतं तिर्यग्दिशमाधिकृत्य श्रेण्याः पूर्वोक्ताया दक्षिणे दक्षिणस्यां दिशि यावल्लोक इति तीर्यग्लोकपर्यन्त ऊर्ध्वदिशमाश्रित्य आ पादपूरणे यानि स्वामिनी विमानानि स्तूपध्वजकलितानी अधोदिशमुद्दिश्य यावदधस्ततो लोकान्त इति भावितो देवेन्द्रक्षेत्राऽवग्रहः ।

सम्प्रति चक्रिणः क्षेत्रावग्रहमाह ।

सरगोयरो अ तिरियं, वावत्तरिजोयणाइं उड्ढं तु ।
अह लोगगामगत्ताइ, हेट्ठओ चक्किणो खित्तं ।।

यावच्छरस्य वाणस्य गोचरो विषयस्तावच्चक्रिण स्तिर्यक्क्षेत्राम् । इदमुक्तं भवति । चक्रवर्ती दिग्विजययात्रां कुर्वन् मागधादिषु तीर्थेषु यन्नामाङ्कितं बाणं निसृजति स पूर्वदक्षिणापरसमुद्रेषु द्वादशयोजनान्त यावद्गच्छति एतावदन्तश्चक्रि णस्तिर्यगवग्रहः । स एव बाणः क्षुल्लहिमवत्कुमारदेव साधनार्थं चक्रिणैव निसृष्ट ऊर्ध्वं द्वासप्ततियोजनानि यावद्गच्छति तावानूर्ध्वमवग्रहः । अधःपुनरधोलोक-ग्रामास्तथा गर्ता आदि शब्दाद्वापीकूप-भूमिगृहादिपरिग्रहः । इयमत्र भावना । जम्बूद्वीपा परविदेहवर्तिनलिनावती वप्राभिधानविजयुगल समुद्भवा योजनसहस्रा द्वेधा समयप्रसिद्धा । ये अधोलोकग्रामास्तेषु ये चक्रवर्तिनः समुत्पद्यन्ते तेषां त एवाधः क्षेत्रावग्रहास्तदपरेषां तुगर्ता कूपभूमिग्रहादिकमिति प्ररूपितो राज्ञःक्षेत्रावग्रहः ।

अथगृहपतिसागारिकयोस्तमाह ।

गहवइणो आहारो, चउदिसि सागरियस्स घरवगडा ।
हेट्ठा अवागडाई, उड्ढं गिरिगहधयरुक्खा ।।

गृहपतेमण्डलेश्वरस्य यावानाधारो विषयः प्रभुत्वविषयभूतश्चतसृषु दिक्षु तावानस्योत्कृष्टतिर्यगवग्रहः । सागारिकस्य शय्यातरस्य गृहवगडागृहवृत्तिपरिक्षेप उत्कृष्टतिर्यग वग्रहः द्वयोरपि चाधस्तादपागर्तागडादयः अपागर्तो ह्रदो वा अगडः कूपः आदिशब्दाद् वाप्यादय ऊर्ध्वंगिरिगेह ध्वजवृक्षाः गिरयः पर्वता गृहध्वजा गृहोपरिवर्तिन्यः पताका वृक्षाः सहकारादयः । साधर्मिकाणां तु क्षेत्रावग्रहः कुतोपि हेतोरत्र नोक्तः परं वृहद्भाष्ये इत्थमभिहितः ''खित्तोग्गहो सकोसं जोयण साहम्मियाण बोधव्यं । छद्दिसिजा एगदिसि उज्जाणं वा मडंवाई'' मडम्बादौ उद्यानं यावदुत्कृष्टः क्षेत्रावग्रहः शेषं सुगमम् ।

अथ जघन्यक्षेत्रावग्रहअभिधातुकाम आह ।

अजहन्नमणुक्कोसो, पढमो जो आविचक्कवट्टीणं ।
सेसनिव रोहगाइ, सुजहन्नओगहवईणं च ।।

प्रथमो देवेन्द्रावग्रहोऽजघन्योत्कृष्टो न जघन्यो नचोत्कृष्टः किन्तूभयविवक्षारहितः सर्वदैवैकरूपत्वा् यश्चाप्यवग्रहः चक्रवर्तिना संबंधी सोऽप्यजघन्योत्कृष्टः चक्रवर्तिनामाधिपत्य स्यैकरूपत्वात् । शेषनृपाणां चक्रवर्तिव्यतिरिक्तानां नृपतीनां ग्रहपतीनां च रोधकादिषु जघन्यः क्षेत्रावग्रहो द्रष्टव्यः । रोधनं रोधकः परचक्रेण नगरादेर्वेष्टनम् आदि शब्दादन्यस्याप्येवंविधस्य परिग्रहः । इयमत्र भावना । कोऽपि बलवान् राजा मण्डलेश्वरो वा कस्याप्यल्पबलस्य नरपतेर्ग्रह-पतेर्बाह्यनिर्वृतमात्मसात्कृत्य यदा तदीयं नगरादि निरुध्यावतिष्ठते तदा तस्य तावान्नगरादिमात्रको जघन्यः ।

नगराइ निरुद्धघरे, रायाणुन्नाउ दुचरिमजहन्नो ।
उक्कोसे उ अनियओ, अचक्किमाई चउण्हंपि ।।

द्वौ चरमो सागारिकसाधर्मिकौ तयोरयं जघन्यः क्षेत्रावग्रहो नगरादौ केनचिद्राज्ञा निरुद्धे बहिर्वास्तव्यजनैरभ्यन्तरत प्रविशद्भिःशय्यातरगृहं साधर्म्मिकोपाश्रयो वा यदा प्रेर्यत तदा या काचित्तषामनुज्ञा यथैतावति प्रदेशे युष्माभिः स्थातव्यमेतावत्यस्माभिरिति स जघन्यक्षेत्रावग्रहः । उत्कृष्टः पुनरवग्रहोनियतः कस्याप्यल्पीयान् कस्यापि भूयानिति भावः । केषामित्याह अचक्र्यादीनां चतुर्णामपि यश्चक्रवर्ती न भवति किं तु सामान्यपार्थिवः स नञः पर्युदासप्रतिषेधात्तत्सदृशग्रा हकत्वादचक्री भण्यते । आदिशब्दाद्गृहपत्यादयो गृह्यन्ते ।

अथसागारिकावग्रहस्य विशेषत उपयोगित्वा द्विधिमाह ।

अणुन्नाए वि सव्वम्मि, उग्गह घरसामिणा ।
तहावि न सीमं छिंदंति, साहू तप्पियकारिणो ।।

गृहस्वामिनी शय्यातरेण भाजनधावनकायिक्यादिव्युत्सर्जनस्वाध्यायादिकं यत्र यत्रा भावनां रोचते तत्र तत्र कुरुते ते च यद्यप्यसावप्यवग्रहेऽनुज्ञातस्तथापि साधवस्तस्य सागारिकस्य प्रियकारिणः समाधिविधित्सवः सीमां मर्यादां न छिन्दन्ति निर्धारयन्ति व्यवस्थां पालयन्तीत्यर्थः । तामेव सीमामभिधत्ते ।

झणट्ठया भायण धावणाई, वोहट्ठया अत्थण हेउगम्मि ।
अभिग्गहं चेव अहिट्ठियंते, मासो वअन्नो व करेज्जमंतुं ।।

ध्यानार्थं भाजनधावनबोधनाद्यर्थं द्वयोरुच्चारप्रश्रवणयोरर्थाय (अत्थाणत्ति) उपविश्यावस्थानं तद्धेतुकं च तन्निमित्तकं मितावग्रहमेव परिमितमेवावग्रहमधितिष्ठन्ति । किमुक्तंभवति । साधवो व्यवस्थां स्थाययन्तः शय्यातरमामन्त्र्य ब्रुवते श्रावक! वयमियति प्रदेशेऽध्याशिष्यामहे नेतः परम् । अत्र भाजनानि धाविष्यामो नान्यत्र यदि नाम ग्लानादेरात्रावुच्चारसंभवो भवेत्तताऽत्र परिष्ठापयिष्यते । अत्र पुनः कायिकी व्युत्सृज्यते इह पुनः साधवो भाजनरञ्जनादि कं कुर्वन्तः किय तीमपि वेलामासिष्यन्ते एवं व्यवस्थाप्य मितमेवावग्रह मधितिष्ठन्ति । कुत इत्याह अमात्यो वा सागरिकोऽन्यो वा तदीयो वयस्यस्वजनादिः स बालवृद्धाकुलेन गच्छेन नातिप्राचुर्येणाक्रान्ते कायिक्यादिना वा विनाशितेऽवग्रहे मन्युमप्रीतिक कुर्यात् । अपि च तथा साधुभिरप्रमत्तैस्तत्र स्थातव्ये तथा शय्यातरश्चिन्तयेत् अहो निभृतस्वभावा अमी मुनयो यदेतावन्तोऽपि सन्तः स्वसमयोदितमाचारमाचरन्तोऽपि परस्परं विकथादिकमकु र्वन्तो निर्व्यापारा इव लक्ष्यन्ते तत्सर्वथा कृतार्थास्म्यहममीषां भगवतां शय्यायाः प्रदानेन तीर्णप्रायो मयायमपारोऽपि संसारपारावार इति प्ररूपितः क्षेत्रावग्रहः ।।

संप्रति द्रव्यावग्रहमाह ।।

वयण मचित्तमीसग, दव्वा खलु उग्गहेसु ए एसु ।
जो जेण परिग्गहिओ, सो दव्वे उग्गहो होइ ।।

एतेषु देवेन्द्राद्यवग्रहेषु यानि चेतनानि स्त्रीपुरुषादीनि अचि–

त्तानि वस्त्रपादीनि मिश्राणि सभाण्डोपकरणस्त्री पुरुषादीनि यानि द्रव्याणि स द्रव्ये द्रव्यविषयऽवग्रहः । कथभूत इत्याह । यो येन शक्रादिना परिगृहीतः स तस्य संबंधी द्रव्यावग्रहः । किमुक्तं भवति । देवेन्द्रावग्रहेऽत्र यानि स चित्तासचित्त मिश्राणि द्रव्याणि तानि सर्वाण्यपि देवेन्द्र द्रव्यावग्रहः । एवं राजावग्रहादिष्वऽपि भावना कार्या ।

अथ कालावग्रहमाह

दोसागराउ पढमो, चक्की सत्तसय पुव्वचुलसीई ।
सेसनिवंसि मुहुत्तं, जहन्नमुक्कोसए भयणा ।।

प्रथमो देवेन्द्रावग्रहः स द्वे सागरोपमे यावद्भवति शक्रस्य द्विसागरोपमस्थितिकत्वात् चक्री चक्रवर्त्यवग्रहे जघन्यतः सप्तवर्षशतानि ब्रह्मदत्तवत् । उत्कर्षतः पुनश्चतुरशीतिपूर्वशतसहस्राणि भरतचक्रवर्तिवत् । तथा च चूर्णिः '' चक्कवट्टि उग्गहो जहन्नेणं सत्तवाससया बंभदत्तस्स उक्कोसेणं चुरासीइ पुव्वसय सहस्साइं भरहस्स'' अत्र परः माह । तत्र ब्रह्मदत्तः कुमारतायामष्टाविंशतिमाण्डलिकत्वे षट्पञ्चाशतं दिग्विजये षोडशवर्षाण्यतिक्रम्य षट्वर्षशतान्येव चक्रवर्तिपदवी-मनुबभूव । भरतोऽपि सप्तसप्ततिपूर्वलक्षाणि कुमारभावमनुभूय वर्षसहस्रं माण्डलिकत्वमनुपाल्य षष्टिवर्षसहस्राणि विजययात्रायां व्यतीत्य ततः किं चिन्न्यूनानि षट्पूर्वलक्षाणि सर्वं भूमिश्रियं बुभुजे ततः कथमनयोः सप्तवर्षशतानि चतुरशीतिपूर्वलक्षाणि च यथाक्रमं चक्रवर्त्यवग्रहः प्रतिपाद्यमानो न विरुध्यत । नैष दोषः यतो योग्यतामङ्गीकृत्य भरतादयो जन्मन एव चक्रवर्तिनो मन्तव्याः । यत उत्पन्नमात्र एव चक्रवर्तिनि तदीयतथाविधाद्भुतभाग्यसंभारसमावर्जितास्त दाभाव्यक्षेत्रनिवासिदेवता उत्पन्नोऽयं सकलमही-वलयस्वामीति प्रमादभाजस्तदानुकूल्यवृत्तयस्तथा-विधाभिलाषिणस्तत्प्रत्यनीकयुक्तप्रत्यूहापहाराय प्रवर्तन्त इति समीचीनमेव यथोक्तमवग्रहकालमानम् । अन्यथा वा बहुश्रुतैरुपयुज्य निर्वचनीयमिति (सेस निवंसिमुहुत्तंति) चक्रवर्तिनं मुक्त्वाषः शेषो नृपस्तस्य जघन्यतो मुहुर्त्तं कालावग्रहः । कृतराज्याभिषेकस्यान्तमुहूर्त्तादूर्ध्वं मरणाद्राज्यपदपरिभ्रंशाद्वा शेषनृपतीनामुत्कृष्टे कालावग्रहे भजना कार्या । किमुक्तं भवति । अन्तर्मुहूर्त्तादारभ्य समयवृद्ध्या वर्द्धमानानि चतुरशीतिपूर्वलक्षाणि यावद्यान्यायुः स्थानानि तेषां मध्ये यद्येषां नृपतीनामायुस्थानं निर्वर्तितं यो वा यावन्तं कालं राज्यैश्वर्यमनुभवति तस्य स उत्कृष्ट : कालावग्रहः ।

एवं गहवइसागारिए वि चरिमे जहन्नओ मासा ।
उक्कोसो चउमासा, दोसुवि भयणा उ कज्जम्मि ।।

एवं गृहपतिसागारिकयोरपि शेषनृपतिवज्जघन्योत्कृष्टश्च कालावग्रहो द्रष्टव्यः । इह च यद्यपि शेषनृपतिगृहपतिसा-गारिकाणामायूंषि पूर्वकोटिपर्यवसितान्यपि संभाव्यन्ते तथा पि चूर्णिकृता किमपि बाहुल्यादिकारणमुद्दिश्य चतुरशीति पूर्वलक्षपर्यन्तान्येवाभिहिता-नित्यत्रापि तदनुरोधेन तथैव व्याख्यातानि । तथा चरमे साधर्मिकावग्रहे ऋतुबद्धे मासकल्पविहारिणां जघन्यो मासमेकमुत्कृष्टो वर्षासु चतुरो मासान् कालावगृहः (दोसु वि भयणाउ कज्जम्मित्ति) द्वयोरपि जघन्योत्कृष्टयोः कार्ये समापतिते भजना । किमुक्तं भवति ग्लानादिभिः कारणैः कदाचिदृतुबद्धौ मासौ वर्षासु चत्वारो मासा न प्रतिपूर्येरन्नतिरिक्ता वा भवेयुः । गतः कालावग्रहः ।

अथ भावावग्रहमाह ।

चत्तारो दइअम्मि, खओवसमियम्मि पच्छिमो होइ ।
मणसीकरणमणुन्नं च, जाण जं जत्थ कम्मइ ।।

चत्वारो देवेन्द्रराजगृहसागारिकाणामवग्रहा औदयिके भावे वर्त्तन्ते ममेदं क्षेत्रमित्यादि मूर्छायास्तेषु सद्भावात्स्याश्च कषायमोह-नीयोदयजन्यत्वात् । पश्चिमः साधर्मिकावग्रहः स क्षायोपशमिके भावे वर्तते कषायमोहनी यक्षायोपशमयुक्त तया ममेदं क्षेत्रं ममायमुपाश्रय इत्यादिमूर्छायाः साधूनामभावात् । एष भावावग्रहः । तदेवं प्ररूपितः पञ्चविधोऽप्यवग्रहः । अथ यदुक्तं द्वारगाथायां ''पंचविहम्मि परूवियनायव्वो जो जहिं कमइत्ति'' तदिदानीं भाव्यते '' मणसीकरणमणुन्नं चेत्यादि '' मनसि करणमनुज्ञां च जानीहि । यद्यत्र देवेन्द्रवग्रहादौ क्रामति अवतरति तत्र मनसि चेतसि करणमनुजानीताम् । यस्यावग्रह इति मनस्येवानुज्ञापनमिति हृदयं यत्पुनर्वचसानुज्ञाप्यते साऽनुज्ञाऽन्तर्भूतण यर्थत्वादनुज्ञापनोति भावः तत्र देवेन्द्रे राजावग्रहयोर्मनसैवानुज्ञापनं करोति गृहपत्यव -र्नियमाद्वचासऽनुज्ञापना । यथानुज्ञापना यथानुजानीतारमाकं शय्यां वस्त्रपात्रशैक्षादिकं चेत्यादि ।

अथ भावावग्रहं प्रकारान्तरेणाह ।।

भावावग्गहो अहव दुहा, मइगहण अत्थ वंजणे उ मई ।
गहणे जत्थ उ गिण्ह, मणसीकरण अकरणतिविहं ।।

अथवा भावावग्रहो द्विधा मतिभावावग्रहो ग्रहणभावावग्र हश्च । तत्र मतिर्मतिज्ञानरुपो भावावग्रहो भूयोपि द्विधा व्यञ्जना वग्रहोऽर्थावग्रहश्च गाथायां बन्धानुलोम्येन पूर्वमर्थशब्दस्य निर्दे शः ग्रहणे ग्रहणविषये भावावग्रहः । यत्र तु यस्मिन पुनर्देवन्द्रावग्रहादौ यदा साधुः किं चिद्वस्तुजातं गृह्णाति सचित्तमचित्तं मिश्रं वा तस्य तदाग्रहणं भावावग्रहः (मणसिकरणत्ति) मनसि करणस्योप -लक्षणत्वादनुज्ञापनायाश्चाकरणे त्रिविधं प्रायश्चितम् । एतदेव सविशेषमाह ।

पंचविह परूविए स, उग्गहो जाणएण घेत्तव्वो ।
अन्नाएउग्गहिए, पायच्छित्तं भवे तिविहं ।।

पञ्चविधेऽवग्रहे प्ररूपितेसतीदं तात्पर्यमभिधीयते स एवं विधोवग्रहो ज्ञापकेनपञ्चप्रकारोवग्रहः स्वरूपवेदितो गृहीतव्यो नाज्ञापकेनकुत इत्याह अज्ञातेऽनिधिगमे सति यद्यवग्रहमवगृह्णाति ततस्तस्मिन्नवगृहीते त्रिविधं प्रायश्चितं भवेति तदेवाह ।

इक्कडकठिणे मासो, चाउम्मासो अपीडफलएसु ।
कट्ठकलिंचे पणगं, छारे तह मल्लगाईसु ।।

इक्कमःढंढणी कठिनः शररस्तम्बस्तयोः संस्तारकेमासलघु -काष्ठमयेषु पीठेषु फलेषु च प्रत्येकं चत्वारो मासलघवः काष्ठं च काष्ठशफलं कलिञ्चं च वंशदलं काष्ठकलिञ्चं तत्र तथा क्षारे भस्मनि मल्लकादिषु मल्लकं शरावमादि शब्दात्तृणडगलादिपरिग्रहः । एतेषु सर्वेष्वपि पञ्चकं पञ्चारात्रिंदिवानि इति त्रिविधं प्रायश्चित्त-मज्ञातावग्रह रूपस्यावग्रहणे द्रष्टव्यम् । उक्तोऽवग्रहकल्पिकः । व्य० १ उ० ।

साम्प्रतं द्रव्याद्यवग्रहप्रतिपादनायाह ।

दव्वुग्गहो उ तिविहो, सच्चित्ताचित्तमीसिओ चेव ।
खेत्तुग्गहो वि तिविहो, दुविहे कालग्गहो होइ ।।

द्रव्यावग्रह स्त्रिविधः शिष्यादेः सचित्तो रजोहरणदेरचित्तः शिष्यरजोहरणादेर्मिश्रः । क्षेत्रावग्रहोऽपि सचित्तादिस्त्रिविधि एव । यदिवा ग्रामनगरारण्यभेदादिति। कालावग्रहस्तु ऋतु वद्वर्षाकालभेदाद्द्विधेति । भावाऽवग्रहप्रतिपादनार्थमाह ।।

मइउग्गहो य गहणोग्गहो य भावग्गहो दुहा होइ ।
इंदियणोइंदिअत्थवंजणोग्गहोहोइ दसहा य ।।

भावावग्रहो द्वेधा तद्यथा मत्यवग्रहो ग्रहणावग्रहश्च । तत्र मत्यवग्रहो द्विधा अर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्च तत्रार्थावग्रह इन्द्रियनो इन्द्रियभेदात्षोढा व्यञ्जनावग्रहस्तु चक्षुरिन्द्रियमनोवर्जश्चतुर्द्धा स एष सर्वोऽपि मतिभावावग्रहो दशधेति।

ग्रहणावग्रहार्थमाह ।।

गहणोग्गहम्मि अपरिग्गहस्स गहणस्सगहणपरिणामो ।
कह पडिहरियापाडिहारियं व होइ जइयव्वं ।।

अपरिग्रहस्य साधोर्यदा पिण्डवसति वस्त्रपात्रग्रहणपरिणामो भवति तदा स ग्रहणभावावग्रहो भवति तस्मिंश्च सति कथं केन प्रकारेण ममेदं वसत्यादिकं प्रतिहारिकमप्रतिहारिकं वा भवत्येवं यतितव्यमिति । प्रागुक्तश्च देवेन्द्राद्यवग्रहः पञ्चविधोऽप्यस्ति स ग्रहणावग्रहे द्रष्टव्य इति। आचा० ७ अ०।

एमेव बहूणंपि, पिंडे नवरोग्गहस्स उ विभागो ।
किं कतिविहो कस्स कम्मिव, केवइयं वा भवे काले ।।

अत्र प्रथमपदव्याख्याऽनुपयुक्तत्वान्न गृहीता अत्रावग्रहस्य विभागो वक्तव्यस्तमेवाह । किं कतिविधः कस्य वा कस्मिन्वा कियन्तं कालं भवत्यवग्रहः । तत्र किमित्याद्यद्वारव्याख्यानार्थमाह

किं उग्गहोत्ति भणिए, तिविहो उ होति चित्तादी ।
एक्कोक्को पंचविहो, देविंदादी मुणेयव्वा ।।

किमवग्रह इति भणिते पृष्टे सूरिराह । त्रिविधो भवत्यवग्रहश्चित्तादिः सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च । पुनरेकैकः कतिविधः इति प्रश्नमुपजीव्याह एकैकः । पञ्चविधः पञ्चप्रकारो ज्ञातव्यः कोऽसावित्याह देवेन्द्रादि देवेन्द्रावग्रहो: राजावग्रहो माण्डलिकावग्रहः शय्यातरावग्रहः साधर्म्मिकावग्रहश्च।

गतं कतिविधद्वारमिदानीं कस्य न भवतीति प्रतिपादयति।

कस्स पुण उग्गहोति, परपासंडीण उग्गहो नत्थि ।
निण्हे सेते संयति, अगीते गीतणक्के वा ।।

कस्य पुनरवग्रहो भवतीति शिष्यप्रश्नमाशङ्क्य प्रोच्यते परपाषण्डिनामवग्रहो नास्ति ये च निह्नवा ये च सन्नायाश्च संयत्यो गीतार्थैरपरिग्रहीता ये चागीतार्था गीतार्थनिश्रामनु पपन्ना यश्च निष्कास्णमेकाकी गीतार्थ एतेषां सर्वेषामप्यवग्रहो नास्ति (अस्य बहुवक्तव्यता उवंसंपयाशब्दे)

बुड्ढावासातीते, कालातीतेन उग्गहो तिविहो ।
आलंबणे विशुद्धो, उग्गहो उ कज्जवुच्छेओ ।

वृद्धावासातीते मरणेन प्रतिभग्नतया वा आरोगीभूतेन वा ऋणेन वा वृद्धावासे वा अतीते काले अतीते ऋतुबद्धे काले मासाधिके अवग्रहस्त्रिविधोऽपि न भवति। सचित्तस्याचित्तस्य मिश्रस्य च ग्रहणं न कल्पयते इति भावः । कुत इत्याह । आलम्बने वृद्धावासलक्षणे विशुद्धे परिसमाप्ते यस्तत्कार्यभूतो ऽवग्रहस्तस्यापि व्यवच्छेदो भवति कारण भावे कार्यस्याभावात् वस्तु मन्यते। कालातीते विनावग्रहस्य व्यवच्छेदस्तं प्रति दृष्टान्तमाह ।

आगासकुच्छिपूरो, उग्गहपडिसेहियम्मि कालम्मि ।
न हु होति उग्गहो सो, काले दुगे वा अणुण्णातो ।।

यथा कोऽपि पुरुषो बुभुक्षया पीडितः सन् चिन्तयति पूरयाम्युदरमाकाशेन मे बुभुक्षापगच्छति। स यथा आकाशस्य एवमेवावग्रहे प्रतिषेधितो यः कालो वर्त्तते तस्मिन्नुत्पादितः सोऽवगृहो ऽवग्रहोन भवति प्रतिषिद्धकालाचीर्णत्वात् । अथवा प्रकारान्तरेण कालद्विकेनानुज्ञातोऽवग्रहः कथमिति चेदाह।

गिण्हाणं चरिमासो, जहि कत्तो तत्थ जति पुणो वासं ।
वायंति अन्नखेत्तो, संती दोसुं पि तो लाभो ।।

यत्र ग्रीष्माणामुष्णकालस्य चरमः पश्चादाषाढनामा मासःकृतस्तत्र यदि पुनरन्यक्षेत्रेऽसति तथाविधान्यक्षेत्राभावतो वर्षं च वर्षाकालं तिष्ठित ततो द्वयोरपि कालयोर्ग्रीष्मचरमसयोर्वर्षा चेत्यर्थता लाभो भवति। एवं करणवतो द्वयोरपि कालयोः सचित्तादिलाभो ऽनुज्ञात इत्यर्थः ।

एमेव य समतीते, वसे तिण्णि दसगा उ उक्कोसो ।
वासनिमित्त वियाणं, उग्गहो मासउक्कोसे ।।

एवमेव अनेनैव प्रकारेण वर्षे वर्षाकाले समतीते यदि मेघो वर्षति ततो ऽन्यद्दिवसदशकं स्थीयते तस्मिन्नपि समाप्तिमुपगते यदि पुनर्वर्षति ततो द्वितीयं दिवसदशकं स्थातव्यं तस्मिन्नप्यतीते पुनर्वृष्टौ तृतीयमपि दशकं तिष्ठित। एवमुत्कर्षतस्त्रीणि दिवसदशकानि वर्षानिमित्तस्थितानामुत्कृष्टो ऽवग्रहः षण्मासप्रमाणो भवति । तद्यथा एको ग्रीष्मचरममासश्चत्वारो वर्षाकालमासाः षष्ठो मार्गशीर्षो दिवसदशकत्रयलक्षण इति । व्य० ४ उ०। नि० चू० ५ ।।

अदत्तादानदोषनिवृत्त्यर्थमवग्रहोऽनुज्ञापनीयः ।।

समणेभविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसुपरदत्तभोगी पावं कम्मं णो करिस्सामीति समुट्ठाए सव्वं भंते! अदिण्णादाणं पच्चक्खामि से अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा णेवा सयं अदिन्नं गिण्हेज्जा णेवण्णेणं अदिन्नं गिण्हावेज्जा णेवण्णेणं अदिण्णं गिण्हंतं पि समणुजाणेज्जा। जेहिं वि सद्धिं पव्वइए तेसिं पियाइं भिक्खू छत्तयं वा मत्तयं वा डंडगं वा जाव चम्मच्छेदणगं वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णविया अपडिलेहिया अपमज्जिया णो गिण्हेज्जवा पगिहेज्ज वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय पडिलेहिय पमज्जिय तओ संजयमेव उगिण्हेज्ज वा पगिण्हेज्ज वा से आगंतारेसु वा ४ अणुवीइउग्गहं जाएज्जा। जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समाहिट्ठाए ते उग्गहं अणुण्णवेज्जा कामं खलु आउसो अहालंदं अहापरिणातं वसामो कामं खलु आउसो अहालंदं अहापरिण्णातं वसामो जाव आउसो जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव माहम्मियाए जाव उग्गहं उगिण्हिस्सामो तेण परं विहरिस्सामो ।।

श्राम्यतीति श्रमणस्तपस्वी यतोऽहमत एवंभूतो भविष्यामीति दर्शयति। अनगारोऽगा वृक्षास्तैर्निष्पन्नमगारं तन्न विद्यत इति अनगारस्त्यक्तगृहपाश इत्यर्थस्तथा अकिंचनो न

विद्यते किमप्यस्येत्यकिंचनः निष्परिग्रह इत्यर्थः। तथा अपुत्रः स्वजनबन्धुरहितो निर्मम इत्यर्थः। एवमपशुः द्विपदचतुष्पदादिरहितः यत एवमतः परदत्तभोजी सन् पपं कर्म्म न करिष्यामीत्येवं समुत्थायैतत्प्रतिज्ञो भवामीति दर्शयति। यथा सर्वं भदन्तादत्तादानं प्रत्याख्यामि दन्तशोधनमात्रमपि परकीयमदत्तं न गृह्णामीत्यर्थः तदनेन विशेषणकदम्बकेनापरेषां शाक्यसरजस्कादीनां सम्यक् श्रवणत्वं निराकृतं भवति। स चैवं भूतोऽकिंचनः श्रमणोऽनुप्रविश्य ग्रामं वा यावद्राजधानीं वा नैव स्वयमदत्तं गृह्णीयान्नैवापरेण ग्राहयेन्नाप्यपरं गृह्णन्तं समनुज्ञानीयाद्यैर्वा साधुभिः सह सम्यक्प्रव्रजितस्तिष्ठति वा तेषामपि संबन्ध्युपकरणमननुज्ञाप्य न गृह्णीयादिति दर्शयति। तद्यथा छत्रकमिति छद्अपवारणे छादयतीति छत्रं वर्षाकल्पादि। यदि वा कारणिकः कचित् कुंकणदेशादावतिवृष्टिसंभवाच्छत्रकमपि गृह्णीयाद्यावच्चर्म्मच्छेदनकमप्याननुज्ञाय प्रत्युप्रेक्ष्य च नावगृह्णीयात् सकृत्प्रगृह्णीयादनेकशः तेषां च संबंधि यथा गह्णीयात्तथा दर्शयति। पूर्वमेव तानननुज्ञाप्य प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य रजोहरणादिना सकृदनेकशो वा गृह्णीयादिति किञ्च (सेइत्यादि) स भिक्षुरागन्तागारादौ प्रविश्यानुविचिन्त्य च पर्यालोचयति विहारयोग्यं क्षेत्रं ततोऽवग्रहं वसत्यादिकं याचेत। यश्च याच्यस्तं दर्शयति। यस्तत्रेश्वरो गृहस्वामी तथा यस्तत्राधिष्ठाता गृहपतिना निक्षिप्तभरः कृ तस्तानवग्रहं क्षेत्रावग्रहमनुज्ञापयेद्याचेत कथमिति दर्शयति (काममिति) तवेच्छाया खल्विति वाक्यालंकारे। आयुष्मान्! गृहपते (अहालंदमिति) यावन्मात्रं कालं भवाननुजानीते (अहारपरिण्णयंति) यावन्मात्रं क्षेत्रमनुजानीषे तावन्मात्रं कालं तावन्मात्रं च क्षेत्रमाश्रित्य वयं वसाम इति यावदिहायुष्मन् यावन्मात्रं कालमिहायुष्मतोऽवग्रहो यावन्तश्च साधर्म्मिकाः साधवः समागमिष्यन्ति तावन्मात्रमवग्रहं ग्रहीष्यामस्तत ऊर्ध्वं विहरिष्याम इति। आचा० ५ श्रु० ७ अ० १ उ०।।

(६) विधवाप्यनुज्ञापनीया।

सागारियअहिगारे,अणुवत्तं तम्मि का विसो होति।
संदिट्ठो वपनू वा, विहवा सूत्तस्स संबंधो।।

इह पूर्वसूत्रात्सागारिकाधिकारः शय्यातराधिकारोऽनुवर्त्तते तस्मिन् अनुवर्त्तमाने सूत्रे कोऽपि स सागारिकः कोऽपि प्रभुरिति प्रतिपाद्यमित्येष विधवा सूत्रस्य संबंधः। अस्य व्याख्या। न विद्यते धवो भर्ता यस्याः सा विधवा ततो दुहिता जातिकुलवासिनी पितृगृहवासिनी वा इत्यादि। अथवा समासकरणादिदं द्रष्टव्यम् या दुहिता विधवा या च ज्ञातिकुल वासिनी दुहिता। ज्ञातिकुलवासिनी नाम या गृहजामातुर्दत्ता साप्यवग्रहमनुज्ञापयितव्या किमङ्ग! पुनः पिता वा भ्राता वा पुत्रो वा स सुतरामनुज्ञापयितव्यः। तथा चाह (से यावतीत्यादि) ततो द्वावप्यवग्रहमवग्रहीतव्याविति सूत्राक्षरार्थः।।

संप्रति भाष्यकारो व्याख्यानमाह।

विगयधवा खलु विधवा, धवं तु भत्तारमहु नेरुत्ता।
धारयति धीयते वा, दधाति वा तेण उ धवोत्ति।।

विगतधवा खलु विधवा। विगतो धवोऽस्या इति व्युत्पत्तेः धवं तु भर्त्तारमाहुर्नैरुक्ता निरुक्तिशास्त्रविदः। कया व्युत्पत्त्येत्याह। धारयति तां स्त्रियं धीयते वा तेन पुंसा सा स्त्री दधाति सर्वात्मना पुष्णाति तेन कारणेन निरुक्तिवशात् धवइत्युच्यते।।

विधवा वा णुण्णविज्जइ, किं पुण पिय माइभायपुत्तादी।
सो पुण पभुवाऽपभुवा, अपभू पुण तत्थिमो होइ।।

विधवाऽप्यनुज्ञाप्यते किं पुनः पिता माता भ्राता पुत्रादिर्वा स सुतरामनुज्ञाप्यः केवलं पुनः पुत्रभ्रातृप्रभृतिको द्विधा। प्रभुर्वा भवेदप्रभुर्वा। तत्र पुनरप्रभव इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति तानेव निर्युक्तिकृदाह।

आदेसदासभइए, विरिक्कजामाइए उ दिण्णा य।
अस्सामिमासो लहुतो, सेसपभुणुग्गहेणं वा।।

आदेशः प्राघूर्ण को दासो ऽकिंचनो भृतकः कर्म्मकरो विरिक्तो गृहीतरिक्तादिभागः पुत्रो भ्राता अन्यो वा तथाऽन्यत्र पृथग्गृहे जामातरि एतेऽस्वामिनोऽप्रभव एतान् यदि अनुज्ञापयति तदा प्रायश्चितं मासलघु शेषाः प्रभवः स्वामिनस्तान् अनुज्ञापयेत (अणुग्गहेणंवंति) अप्रभूणामपि येषां प्रभुणानुग्रहः कृतो यथा त्वया कृतं दत्तं वा तत्प्रमाणमिति तेन वा अनुग्रहेणाप्रभूनपि अनुज्ञापयेत नान्यथा।

अप्रभूणामनुज्ञापने दोषमाह।

दियरातो निच्छुहणा, अप्पहुदोसा आदिन्नदाणं च।
तम्हा उ अणुण्णवए, पभुं च पभुणा च संदिट्ठं।।
गहपतिगहवतिणिं वा, अविभत्तसुतो अदिण्णकण्णा वा।।

अप्रभूणामनुज्ञापने दोषा दिवा रात्रौ वा निष्काशनं तत्रा जनगर्हाविनाशादयो दोषा न केवलं निष्काशनमदत्तादानं च। यस्मादप्रभूणामनुज्ञापने एते दोषास्तस्मात्प्रभुं प्रभुसंदिष्टंवा ऽनुज्ञापयेत्। तमेव दर्शयति (गहपतित्ति) वाशब्दादवि भक्तभ्रातृपितृव्यादिर्वा प्रभवति। अथवा या दुहिता विधवा निसृष्टा गृहे प्रमाणीकृता सापि प्रभवति। यदि वा यः स्वय दातुं प्रभुणा आदिष्टः सोऽपि प्रभवति। एताननुज्ञापयेत्। व्य० ७ उ०।

(७) अवगृहीते चावग्रहे उत्तरकालविधिः साधर्मिकागमने उपनिमन्त्रणम्।

से किं पुण तत्थोग्गहंसि पवोग्गहियंसि जे तत्थ साहम्मिया संभोतिय समणुण्णा उवागच्छिज्जा जे तेण सयमेसियाए असणो वा ४ तेण ते साहम्मिया संभोइया समणुण्णा उवणिमंतेज्जा णो चेव णं परवडियाए उगिज्झिय उगिण्हिय उवणिमंतेज्जा से आगंतारेसु वा ४ जाव से किं पुण तत्थोग्गहं सि पवोग्गहियंसि जे तत्थ साहम्मिया अण्णसंभोइया समणुण्णा उवागच्छेज्जा। जे तेणं संयमसियए पीढे वा फलए वा सेज्जासंथारए वा तेण ते साहम्मिए अण्णसंभोइए समणुण्णे उवणिमंतेज्जा णो चेव णं परिवडियाए उगिज्झिय उगिण्हिय उवाणिमंतेज्जा ते आगंतारेसु वा ४ जाव।

(से इत्यादि) तदेवमवगृहीतेऽवग्रहे स साधुः किंपुनः कुर्यादिति दर्शयति। ये तत्र केचन प्राघूर्णकाः साधर्म्मिकाः साधवः संभोगिका एकसामाचारीप्रविष्टाः समनोज्ञा उद्युक्तविहारिण उपागच्छेयुरतिवयसो भवेयुस्ते चैवंभूता ये तेनैव साधुना परलोकार्थिना स्वयमेषितव्यास्ते च स्वयमेवागता भवेयुस्तांश्चाशनादिना स्वयमाहृतेन स साधुरुपनिमन्त्रयेद्यथा गृह्णीत चूयमेतन्मयानीतमशनादिकं क्रियतां ममानुग्रह इत्येवमुपनिमन्त्र-

येन्नचैवं (परवडियाएत्ति) परानीतं यदशनादि तत् भृशमवगृह्याश्रित्य नोपनिमन्त्रयेत् । किं तर्हि स्वयमेवानीतेन निमन्त्रयेदिति । तथा (सेइत्यादि) पूर्वसूत्रावत्सर्वं नवरमसांभोगिकान् पीठफलकादिनोपनिमन्त्रयेद्यस्तेषां तदैव पीठकादि संभोग्यं नाशनादीति।

(सूत्रम्) अत्थि या इत्था केइ उदस्स य परियावन्नए यअचित्ते परिहरणे रिह सव्वे व उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहो ।।

अस्य संबन्धमाह।

असहीणेसु वि साहम्मि, तेसुइतिएसु उग्गहो वुत्तो ।
अयमपरो आरंभो, गिहीवि जढे उग्गहे होइ ।।

अत्राधीनेष्वपि क्षेत्रान्तरं गतेषु साधर्मिकेषु इत्येषोऽवग्रहः प्रोक्तः । अयं पुनरपरः प्रकृतसूत्रास्यारम्भो गृहिभिर्विजढः परित्यक्तो यः प्रतिश्रयस्तद्विषयेऽवग्रहो भवति । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । अस्ति वात्रानन्तरस्तत्र प्रस्तुते प्रतिश्रये किंचिदाहारार्थं भक्तादिकं गृहस्थसत्कमुपाश्रये पर्यापन्नं विस्मृतं परित्यक्तमुपाश्रयपर्यापन्नम् अचित्तं प्राशुकं परिहरणार्थं साधूनां परिभोक्तुं योग्यं तत्र सैवावग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति तत्रोपाश्रये तिष्ठद्भिः पूर्वमेवानुजानीत प्रायोग्यमित्येव यदवग्रहोऽनुज्ञापितः सैवानुज्ञापना पश्चादुपाश्रयं पर्यापन्नग्रहणेऽप्यवतिष्ठते न पुनरभिनवमनुज्ञापनं कर्त्तव्यमिति भावः । कियन्तं कालमित्याह । यथालन्दमपि मध्यमलन्दमात्रमपि कालं यावदवग्रह इति सूत्रार्थः।

अथामुमेव सूत्रार्थं भाष्यकृत्प्रतिपादयति ।

आहारो उवही वा, आहारो भुंजणारिहे कज्जा ।
दुविहपरिहार अरिहो, उवही विय कोयि णवि कोयि ।।

इह सूत्रे किंचिद्ग्रहणे न आहार उपधिर्वा गृहीतः परिहरणार्हग्रहणेन तु संप्रवरपरिभोगार्हाः । तत्राहारः कश्चिद्भोजनार्हो भवति कश्चित्तु न भवतीति । उपधिरपि कश्चिद्द्विविध परिहारसाधारणार्ह परिभोगरूपस्यार्हो भवति कश्चिद्य न भवति । तथाहि ।

संसत्तावपिसियं, आहारो अणुवभोज्ज इत्यादि ।
सुसिरतिणवंकलइयो, परिहारे अणरिहो उवही ।।

संसक्तं द्वीन्द्रियादिजन्तुमिश्रं भक्तपानम् । आसवो मद्यम् पिशितं पुद्गलम् । इत्यादिक आहारो अनुपभोज्यः । साधूनामुप भोक्तुनयोग्यः शुषिरतृणवल्कलादिक उपधिरपि परिहारस्यानर्हा मन्तव्या । अर्थादापन्न ओदनादिक आहारो वस्त्रादि कश्चापधिः परिभोगार्ड इति ।

वायंते अणुण्णवणा, पायेग्गे होइ तप्पढमयाए ।
सो चेव उग्गहो खलु, चिट्ठइ कालो उ लंदक्खा ।।

साधुभिः प्रतिश्रये तिष्ठद्भिस्तत्प्रथमतया या प्रायोग्यस्यानुज्ञापना कृता भवति सा एवोपाश्रयपर्यापन्नस्यापि ग्रहणे अवगृहस्तिष्ठति । न पुनर्भूयाऽनुज्ञाप्यते । या तु सूत्रे लन्दाख्या लन्द इत्यानिधानं स कालः प्रतिपत्तव्यः इति कृता सूत्रव्याख्या भाष्यकृता ।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ।

पुव्वंसहा दुविहे, दव्वे आहार जाव अवरण्हे ।
उवहिस्स ततियदिवसे, इतरे गाहियम्मि जयणाए ।।

पूर्व प्रथमं तिष्ठत एव वृषभाः समन्तादुपाश्रयमेवावलोकयन्तो द्विविधे द्रव्ये उपयोग प्रयच्छन्ति । द्विविधं द्रव्यं नाम आहार उपधिश्च । तत्प्राघूर्णकादयो गृहिणो विस्मृत्य परित्यज्य वा गता भवेयुः । तेषु गतेषु यावदपराहो भवति तावदाहारं न गृहन्ति परतस्तु गृह्णन्ति उपधेस्तु तृतीये दिवसे गते ग्रहणं कुर्वन्ति इतरन्नाम अर्थजातं तत्कदाचिदगारिणां विस्मृतं भवेत् तदेकान्तं निक्षेपणीयम् (गहियं-तित्ति) यदि धनिकादिभिर्गृहीतं तथा प्रतिवासिकैर्नष्टो भवेत्तथा तत्रापि यत्तेषां विस्मृतं तद्यथोक्तविधिना गृह्णन्ति । एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः । सांप्रतमेनामेव विवृणोति ।।

पायं सायं मज्झं–न्ने यउसभा उवस्सयसमंता ।
एहिं ति अपिहाए, लहुगो वेसाइमे तत्थ ।।

प्रातः प्रभाते सायं संध्यायां मध्याह्ने च कालत्राये वृषभा उपाश्रयं समन्तात् प्रत्युपेक्षन्ते अप्रत्युपेक्षमाणानां लघुको मासम् । दोषाश्चेमे । तत्राप्रत्युपेक्षणे भवन्ति ।।

साहम्मियण्णधम्मिय, गारच्छिण्णिखिवणवोसिरणज्जु ।
गिण्हणकट्टणववहार, पच्छकड्ढुड्ढाहणिव्विसए ।।

सधर्मिणी संयमी अन्यधर्मिणी परतीर्थिका अगारस्थी अविरतिका एता प्रद्विष्टाः सत्यः साधुप्रतिश्रयसमीपे अर्थजातस्य निक्षेपणं कुर्युः । यद्वा बालकं व्युत्सृज्य गच्छेयुः । परिषहपराजितो वा कोऽपि संयतो रज्जुबन्धनेन म्रियते । तत्र राजपुरुषैर्जाते सति ग्रहणाकर्षलव्यवहारः पश्चात्कृतोड्डानिर्विष याज्ञापनादयो दोषा भवन्ति । इदमेव भावयति ।।

नो दणकु विय साहम्मिणि, परतित्थिणिगीउदिट्ठिरागेण अणुकंपजहिच्छदा–रिज्जवालं अगारी वा ।।

सधर्मिणी काचिच्च खण्डितशीला गर्भवती उड्डाहोऽयमिति मन्यमानैः साधुभिर्गाढं नितरां रजोहरणादिलिङ्गं बहिः कृत्वा भवेत् ततः सा मदीयलिङ्गमपहृतमिति मन्यमाना तयानोदनया कुपिता सती स्वयमपत्यजातं तदाश्रयसमीपे परित्यजेत् परतीर्थिनी तु दृष्टिरागेण अस्माकमपयश प्रवाहो भविष्यतीति कृत्वा संयतानामुपाश्रयसंनिधौ बालकं व्युत्सृजेत परं लोकश्चिन्तयिष्यति एतैरेवैतज्जनितमिति । अथवा अगारी काचिदनुकम्पया यदृच्छया बालकं तत्र प्रक्षिपत् तत्रानुकम्पया नाम दुष्कालादौ काचिददुस्था योषिज्जीवानाय स्वापत्यं तदाश्रयान्तिके त्यजति वरमेते अनुकम्पापरायणा अमुं बालकं शय्यातरस्यापरस्य वा ईश्वरस्य गृहे निक्षेप्स्यन्तीति यदृच्छया अभिसंधिमन्तरेणैवमेव व्युत्सृजति ।।

हाउं व तरेउं वा, अचयंता तेणगा भिवत्थादी ।
एएहिं वि य जणियं, तहिं व दोसा उजुणदिट्ठा ।।

स्तेनकादयो वस्त्रादिकं हर्तुं वा तरीतुं वा (अचयता) अशक्नुवन्तः साधूनां प्रतिश्रयसन्निधौ परित्यजेयुः । उपलक्षणमिद तेनान्यतीर्थिकादयः प्रत्यनी कतया हिरण्यसुवर्णादिकमपहृत्य तत्र निक्षिपेयुः ततो यदि वृषभाः त्रिसंध्यं च सति प्रत्युपेक्षन्ते तदा लोको ब्रूयात एतैरेवैतदपत्यभाण्डं जनित सुवर्णार्थमत्र प्रक्षिप्तमिति । यस्तु देहे द्रोही द्रव्यार्थवैरादिक रणव्यपरोपितस्य पुरुषादेः शरीरमित्यर्थस्तत्र प्रतिचरणा कर्तव्या । सम्यक् प्रतिचर्य यदि कोऽपि न पश्यति तदा परिष्ठापनीयमिति हृदयम् । तच्च परावग्राहपरकीयनिवेशनादौ (निवोज्झंति) परित्यजन्ति । किंतु परैरपि गृहीते तश्च नाग इति

अप्पडिचरपडिचराणं, दोसा य गुणा य वण्णिया एए।
एत्तेण सुत्तं न कतं, सुत्त निवातो इमो तत्थ।।

अप्रतिचरणप्रतिचरणयोः प्रतिश्रयस्याप्रत्युपेक्षणाप्रत्युपेक्षणयोर्यथाक्रममेते दोषा गुणाश्च वर्णिताः। परमेतेन पर्यन्त सूत्रं न कृतं न विहितं किंतु समाचारीप्रकाशनार्थ सर्वमेत- दव्याख्यातमिति। सूत्रनिपातः पुनरयं तत्रेति सूत्रनिपातस्यैवोपदर्शनार्थः।।

आगंतुगागारट्ठियाणं, कज्जे आदेसमादिणा कोइ।
वसिउं विस्समिउं वा, छड्डित्तुगया अणाभोगा।।

इह यत्रागारिण आगत्यागत्य तिष्ठन्ति तदागन्तुकागारम्। तत्र कार्ये कारणविशेषतः स्थितानां प्रकृतसूत्रमवतरित कथमित्याह। आदेशप्राघूर्णकास्तत्र केचित्पथिका आगन्तुकागारे रजन्यां वासमुपगता दिवा वा भोजनार्थं विश्रामं कृतवन्तस्तत उषित्वा विश्रम्य वा किंचित् द्रव्यजातमनाभोगमनिच्छन्तो गताः। किंतु स त्यजेदित्याह।

समिइसत्तुसागरस--सिणेहगुललोणमादि आहारो।
ओहे अवग्गहम्मि य, होउवही अट्ठजातं वा।।

इहाहार उपधिश्चेति द्विविधं द्रव्यं भवति। तत्राहारः समितिसक्तुशाकरसस्नेहगुडलवणादिकः। समितिः कणिक्का शेषं प्रतीतम्। उपधिस्तु द्विधा भवति ओघ उपधिः उपग्रहे वा। ओघोपधिरुपग्रहोपधिश्चेत्यर्थः। अर्थजातं द्रव्यं यद्वा। परित्यक्तुं भवेत् तत्राहारोपधिविषयं तावद्विधिमाह।

काऊण स सागरिए, पडियरणा हारजात अवरण्हे।
एमेव य उवहिस्सवि, सुण्णे दोसा य गहणाइ।।

आहारसागरिके प्रदेशे कृत्वा तावत्प्रतिचरणं कुर्वन्ति यावदपराह्णः संजायते। एवमेवोपधेरपि शून्ये भूभागे स स्थापनीयः अन्तिकं वा अपहृतमेव तत्र जनदृष्टे मतिदोषा ग्रहणकर्षणादयो भवेयः।।

अहवा छुभेज्ज कोयि, उग्गामगवेरियं च हंतूणं।
देहाण मइत्थी वा, परिसहपराजितो वा वि।।

अथवा कश्चिदुद्ग्रामकं पारदारिकं वैरिणं वा हत्वा प्रत्यनीकतया तत्र प्रक्षिपेत्। स्त्री वा काचिदत्यन्तदुःखिता वैहायसमरणमुपाश्रयसमीपे कुर्यात्। परीषहपराजितो वा संयत एव कोऽपि रज्जुबन्धनेन म्रियेत् ''वरं प्रदग्धुं ज्वलितं हुताशनं नवापि भग्नं चिरसंचितं व्रत'' मिति कृत्वा।

दवियट्ठ संखडे वा, पुरिसत्था मेहुणो विसेसो वि।
एमेय समागम्मि, चित्तं काए गिण्हणादीणि।।

कोऽपि कंचित्पुरुषं द्रव्यार्थं जातनिमित्तं यद्वा असंखडं कलहो वैरमित्यर्थः तेन वा कंचिद् व्यपरोप्य संयतोपाश्रयसमीपे परित्यजेत् एवं स्त्रियमपि कांचिद्विनाशय प्रक्षिपेत्। नवरं मैथुने विशेषः। किमुक्तं भवति सपत्नीं चतुर्थव्रतविघ्नकारिणी मत्वा अपरोऽप्यत्र तत्रा व्युत्सृजेन अनायास प्रयासा भूयादिति कृत्वा। एवमेव श्रमणेऽपि गन्तव्यम्। तमपि कश्चिदुपकरणदुव्यार्थं वैरेण वा मारयेदित्यर्थः। तत्र साधून् शङ्केरन् ततो ग्रहणाकर्षणादीनि पदानि प्राप्नुवन्ति यत एवमतः।

कालम्मि पहुप्पंते, वच्चरमादी ठवित्तु पडिरयणं।
रक्खंति साणमादी, छ ण्णजादिट्ठमणोहिं।।

त्रिसंध्य वृषभैः समं ततो वसतिः प्रत्युपेक्षणीया। प्रत्युपेक्षितायां च यदि किञ्चित् कल्पस्थकादिकं पश्यति कालश्च पूर्यते ततश्चत्वरादिषु स्थापयित्वा प्रतिचरणं कुर्वाणः प्रच्छन्नावकाशस्थिताः श्वानमार्जारादिना विनाशयमामाङ्क्षत रक्षकृतिं यावत्कल्पस्थकादिकमन्यैर्दृष्टमिति।

बोलं पभायकाले, करिंति जणजाणदयावसमा।
पडियरणा पुण देहे, परग्गहेणेव उब्भंति।।

यत्तत्रा हिरण्यसुवर्णादि केनचित्परित्यक्तं भवति तत्प्रभात काल एव प्रत्युपेक्षमाणाः सम्यक्निरीक्ष्य वृषभा जनज्ञापनार्थं बोलं कुर्वन्ति। यथा केनचित्पापिनेदं हिरण्यादिकमस्मदपयशोऽर्थं निहितम् पूर्वाशैक्षादयश्च द्विविधस्यापि द्व्यस्य द्वार कर्तव्यः। किं कारणमाहरे तेपराह्णं यावत्प्रतिचरन्तीत्युच्यते।

वोच्छिज्जई ममत्तं, परेण तेसिं च तेण जति कज्जं।
गिण्हंता वि विसुद्धा, जतिवि ण वोच्छिज्जती भावो।।

अपराह्णात्परतस्तेषां पथिकानामाहारममत्वं व्यवच्छिद्यते। तेषां साधूनां च यदि तेनाहारेण कार्यं भवति ततो गृह्णतोऽपि विशुद्धाः। यद्यपि च भावस्तेषां तदुपरि न व्यवच्छिद्यते तथाप्यपसभयादूर्ध्वं गृह्णतां न कश्चिद दोषः। उपधिं तु तृतीयदि वसे पूर्णे गृह्णन्ति एतावता तद्विषयममत्वस्य व्यवच्छेदात्।

अव्वोच्छिन्ने भावे, विरागयाणं पि तं पयंसिंति।
पण्णवणमणिच्छंते, कप्पं तु करें ति परिभुत्ते।।

अथ तेषामद्यापि भावो न व्यवच्छिद्यते ततोऽव्यवच्छिन्ने भावे तेषां स्ववस्त्राणि गवेषयतां चिरादायातानामपि तमुपधिं तु दर्शयन्ति। एवं च तेषां प्रज्ञापनां कुर्वन्ति। अस्माभिरेतानि वस्त्राणि स्वीकृतानि ततोऽनुग्रहं मन्यमानाः साधूनामनुजानीथ एवमुक्ते यद्यनुजानते ततः सुन्दरम्। अथ नेच्छन्त्यनुज्ञातुं तानि वस्त्राणि परिभुक्तानि तत आत्मव्रतरक्षणार्थं कल्पं कुर्वन्ति।

अथार्थजात विषयविधिमाह।

पत्तो नियत्तपुट्ठा, करीदि दापंति पत्थणं एधे।
दरिसिंति अपिच्छंतो, को पुच्छति केण ठवियं च।।

इहोपाश्रये यद्यर्थजातं पतितमुपलभ्यते तदा तदप्यल्पसागारिके स्थाप्यते। शैकतादयश्च दूरे कर्तव्याः। प्रत्यवनिवृत्तैश्च भूयस्तत्रैव समायातैर्गृहिभिः पृष्टाः कुत्रास्माकं तदर्थजातमिति ततः करादिना हस्ताङ्गुल्या दिसंज्ञया दर्शयन्ति। अत्र प्रदेशे एनं प्रेक्षध्वम्। अथ ते न पश्यन्ति ततः स्वयमेव तदर्थजातं दर्शयन्ति। यदि ते पृच्छेयुः केनेदमत्र स्थापितं ततो वक्तव्यं के पृच्छन्ति केन स्थापितं चेति। एवं तावदुपाश्रय पर्यापन्ने आहारादौ विधिरुक्तः।

अथ शय्यातरादिगृहपर्यापन्नो विधिमाह।

भडमाहइभयणट्ठे, गहियागहिएसु सिज्झादी।
गेण्हंति असंचइओ, संचइयं वा असंथरणे।।

भटा राजपुरुषास्तदादिभयात् नष्टे शय्यातरादौ अथवा शय्यिकाः प्रातिवेस्मिकास्तैर्गृहीतृभिर्धनकैरागृहीता ऋणं दापयितुमारब्धास्ततस्तेषु शय्यिकादिषु नष्टेषु तत्रा य आहारोऽसंचयिको दधिघृतादिस्तं गृह्णन्ति। अथ असंस्तरणे तत्रा संचयिकमप्युपध्यादिकं गृह्णन्ति।

सो विक्खेतरणट्ठे, एमेव य होइ उवहिगहणं पि।
पुव्वागएसु कहणं, भुजंति दिण्णो व मट्ठेवि।।

प्रातिवेश्मिकादिसापेक्षो वा नष्टो भवेत् इतरो वा निरपेक्षः। सापेक्षो नाम भूयस्तत्रौवागन्तुकास्तद्विपरीतो निरपेक्षस्त त्रोभयस्मिन्नपि नष्टे एवमेवाहारवदुपधेरपि ग्रहणं कुर्वन्ति।

सापेक्षतष्टेषु च प्रत्यागतेषु कथयन्ति कथिते च दत्तमनुज्ञातं सत्परिभजन्ति । ये तु निरपेक्षनष्टास्तेषु निर्विवादमेव परिभुञ्जते । एवं (अट्ठेवित्ति) अर्थजातेऽपि ग्रहणं मन्तव्यम्।

अत्रैवाक्षेपपरिहारावाह ।

पाउग्गमणुण्णवियं, जति मण्णसि एवमतिपसंगोत्ति ।
आउरभेसज्जवमा, तह संजमसाहगं जं तु ।।

यद्येवं मन्यसे प्रायोग्यं साधूनामुचितं यत्तदेव साधुनामनुज्ञापितं नेतरत्प्रायोग्यमर्थजातादि तत एवमननुज्ञापितमप्यर्थजातं गृह्णतामतिप्रसङ्गो भवति तत्राप्यभिधीयते नेकान्तेमार्थ जातमप्रायाग्यं यत आतुरो रोगी तस्य भेषजोपमा कर्त्तव्या । यथा पुनरस्याभिनवोदीर्णे ज्वरादौ यदौषधं प्रतिषिध्यते तदेवान्यस्यामवस्थायां तस्यैवानुज्ञाप्यते एवमर्थजातमपि पुष्टकारणाभावे प्रतिषिदुम् । यत्तु दुर्भिक्षादौ संयमस्य साधकं तदनुज्ञातमेव । वृ० ३ उ० ।

किंच ।

से किं पुण तत्थोग्गंहसि पवोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा सूती वा पिप्पलए वा कण्णसोहणए वा णहच्छेदणए वा तं अप्पणो एगस्स अट्ठाए पडिहारियं जाइत्ता णो अण्णमण्णस्स देज्ज वा अणुपदेज्ज वा सयं कर-णिज्जं तिकट्टु सेत्तमादाए तत्थ गच्छेज्जा २ पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे कट्टु भूमीए वा ठवेत्ता इमं खलु इमं खलु इमं खलु त्ति आलोएज्जा णो चेव णं सयं पाणिणा परपाणिंसि पच्चप्पिणेज्जा ।।

(८) स सागरिकानुदकस्त्री कमुपाश्रयमवग्रहं नानुज्ञापयेत् यत्र कर्मकरा आक्रोशन्ति यावत्स्नान्ति तत्रापि नावग्रहः ।

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा अणंतरहियाए पुढवीए ससणिद्धाए पुढवीए जाव संताणए तहप्पगारं उग्गहं णो उगिण्हेज्जा २ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा थूणंसि वा ४ तहप्पगारे अंतलिक्खजाए दुब्बद्धे जाव णो उग्गहं उगिण्हेज्जा २ से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा कुलियंसि वा जाव णो उगिण्हेज्ज वा से भिक्खू वा २ खंधंसि वा अण्णयरे वा तहप्पगारे जाव णो उगिण्हेज्ज वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा ससागरिय सगणियं सउदयं सइत्थि सक्खुडुं सपसु समत्तपाणं णो अण्णस्स णिक्खमणपवेस जाव धम्माणु जोगचिंताए सेवं णच्चा तहप्पगारे उवस्सए ससागारिए जाव सक्खुडुपसुभत्तपाणे णो उग्गहं उगिण्हेज्ज वा २ से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा गाहावइ कुलस्स मज्झं मज्झेण गंतुं पंथे पडिबद्धं वा णो अण्ण स्स जाव से एवं णच्चा तहप्पगारे उवस्सए णो उग्गहं उग्गिण्हेज्ज वा २ से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा । इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णं अक्कोसं ते वा तहेव तेल्लादि-सिणाणदिसीओ दगवियडादि ण गिण्हवियजहा सेज्जाए आलावगा । णवरं उग्गहवत्ताव्वता । स भिक्खू वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा आहण्णं संलेक्खाणो अण्णस्स जाव चिन्ताए तहप्पगारे उवस्सए णो उग्गहं उगिण्हे जाव एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा २ ससगियं उग्गहपडिमाए । पढमो उद्देसओ सम्मत्तो ।

(९) ब्राह्मणाद्यवगृहीतेऽवग्रहः ।

से आगंतारेसु वा ३ अणुवीयि उग्गहं जाएज्जा जे तत्थ ईसरे समाहिट्ठाए ते उग्गहं अणुण्णवित्ता कामं खलु आउसो अहालंदं अहापरिण्णायं वसामो जाव आउसो जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मियाए ताव उग्गहं उगिण्हेस्सामो तेण परं विहरिस्सामो । से किं पुण तत्थ उग्गहंसि पवोग्गहियंसि जे तत्थ समणाण वा माहणाण वा दंडए वा छत्तए वा जाव चम्मच्छेदणए वा तण्णो अंतोहिंतो वाहिणीणेज्जा बाहिया वा णो अंतोपवेसेज्जा णो सुत्तं वाणं पडिवोहेज्जा णो तेसिं किंचि वि अप्पतियं पडिणीयं करेज्जा ।

सभिक्षुरागन्तागारादावपरब्राह्मणाद्युपभोगसामान्ये कारणिकः सन्नीश्वरादिकं पूर्वक्रमेणावग्रहं याचेत । तस्मिंश्चाव गृहीते अवग्रहे यत्तत्र श्रमणब्राह्मणादीनां छत्राद्युकरणजातं भवेत्तत्रौवाभ्यन्तरतो बहिर्निष्कामयेन्नापि ततोऽभ्यन्तरं प्रवेशयेन्नापि ब्राह्मणदिकं सुप्तं प्रतिबोधयेन्नच तेषां (अप्पतियंति) मनसः पीडां कुर्यात्तथा प्रत्यनीकतां प्रतिकूलतां न विदध्यादिति । आचा० २ श्रु० ७ अ० २ उ० ।

(१०) पथ्यऽवग्रहोऽनुज्ञापायतव्यः ।

अणुन्नवेयन्तो अस्य संबन्धमाह ।

उग्गहहुम्मि दिट्ठे, कहियं पुण सो अणुण्णवेयव्वो ।
अट्ठाणादीएसु वि, संभावणसुत्तसंबंधो ।।

अवग्रहस्य प्रभोर्दृष्टेऽक्त पुनः सोऽवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः इति चिन्तायामाधिकृतसूत्रेणोच्यते पथ्यप्यवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः । अपि शब्दः संभावनायामास्तां ग्रामे नगरे वा किंतु संभावनायामध्वन्यपि । तथा चाह अध्वादिकेष्वप्यनुज्ञापयितव्यः । एष संभावनासूत्रस्य संबंधः । संप्रति भाष्यविस्तरः ।

अद्धाण पुव्वभणियं, सागारियमग्गणा इइं सुत्ते ।
मग्गए परिग्गहिए सा, गारियसेसभयणा य ।।

अध्वनि यद्वक्तव्धे तत्सर्वं कल्पाध्ययने भणितमितीह पुनः सूत्रेऽध्वानं व्रजतां सागारिकमार्गणा शय्यतरमार्गणा क्रियते तथा केनाचित्परिगृहीते वृक्षादौ सति शेषसागरिके भजनाय विस्तारन्ति तर्हि यावद्भिस्तद्गृहीतं-वृक्षादि तावतः शय्यातरान् करोति असंस्तरणे एकमपि शय्यातरामीति भावार्थः ।

संप्रति पूवार्द्धव्याख्यानमाह ।

दिणे दिणे जस्स उवल्लियंती, भंडी हवंते व पडालियं वा ।
सागरिये होंति स एगए व, रीडागए सुत्थु जहिं वसंति ।।

दिने दिने यस्य भंडी गन्त्रीं वहन्तीमु प्लीयन्ते आश्रयन्ति साधवो यदि वा पडालिका नाम यत्रा मध्याहे साधर्मिकास्तिष्ठान्ति यत्रा वा वसन्ति तत्रा वस्त्रादिमयं कुवलयनं कुर्वन्ति तां वा यस्य दिने उपजीयन्ते तदा स एवैकः सागारिक

शय्यातरो भवति। रीढागतेषु तु अवज्ञया यत्र तत्र गतेषु साधुसु यत्र रात्रौ वसन्ति तद्दिवसं स शय्यातरः। इयमत्र भावना। यस्य न नियमन भडीं वा पडालिकां वा प्रतिदिनमुपलीयन्ते किंतु यदृच्छया कस्मिन् दिने कस्यापि तदा यां यां रात्रिं यस्य भण्ड्यादिकमुप–लीयन्ते तस्मिन् २ दिने स शय्यातरः

वीसमंता वि छायाए, जे तहिं पढमंतिया।
पुच्छिउं तेवि चिट्ठेय, पंतिए किंमु जहिं वसो॥

विश्राम्यन्तोऽपि छायायां ये तत्र पथिकाः प्रथमं स्थितास्तिष्ठन्ति तानपि दृष्ट्वा तत्र तिष्ठते नान्यथा किं पुनर्यत्र च साधुस्तत्र सुतरां ते अनुज्ञापयितव्यास्ततो भवन्ति ते शय्यातराः संप्रति एगए परिग्ग–हिए सागारिय सेसए भयणा'' इति व्याख्यानयन्नाह

वसतिं वा जहिं रत्तिं, एगेणेगपरिग्गहे।
तत्तिए उत्तरे कुज्जा, वा वंते गमसंथरे॥

यत्र वृक्षस्याधस्तादन्यत्र वा एकस्य वा परिग्रहे अनेकस्य वा परिग्रहे अनेकस्य वा पथिकस्य संघस्तस्य परिग्रहे साधवो रात्रौ वसन्ति तर्हि सर्वानपि तान् शय्यातरान् कुर्युः। अथ न संस्तरन्ति तदा–त्समध्ये एक शय्यातरं स्थापयति। शेषान् निर्विशन्ति। एषा शेषे सागारिके भजना। व्य० द्वि० ७ उ०।

आम्रेक्षुवनादाववग्रहं आम्रफलादिभोजनं लशुनवनादाववग्रहश्च।

तत्र आम्रवनादौ अवग्रहे आम्रफलभोजनम्।

से भिक्ख वा भिक्खुणीवा अभिकंखेज्जा अंबवणं उवागच्छि–त्तए जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समाहिट्ठाए ते उग्गहं अणुजाणा–वेज्जा कामं खलु जाव विहरिस्सामो से किं पुण तत्थोग्गहंसि वा पवोग्गहियंसिवा भिक्खू वा भिक्खुणीवा इच्छेज्जा अंबंभोत्तए वा सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा स अडं जाव संसताणं तहप्पगारं अंबं अफासुयं जाण णो पडिगाहेज्जा। से भिक्खू वा२ सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पडं जाव संताणगं अतिरिच्छाच्छिण्णं अवो–च्छिण्णं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। सो भिक्खू वा २ सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छच्छिण्णं वोच्छिण्णं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा अंबभित्तगं वा, अंबपेसियं वा, अंबचोयतं वा, अंबसालगं वा, अंबदालगं वा, भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं जाव अंबदालगं वा स अंडं जाव संताणगं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा अप्पंडं वा जाव संताणगं अतिरिच्छच्छिण्णं वा अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तिगं वा अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छच्छिण्णं वोच्छिण्णं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा॥

स भिक्षुः कदाचिदाम्रवनेऽवग्रहमीश्वरादिकं याचेत तत्रस्थश्च सति कारणे आम्रं भोक्तुमिच्छेत्तदाम्रं साण्डं ससन्तानकमप्रासुकमिति च मत्वा न प्रतिगृह्णीयादिति। किंच (सेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनरा–म्रमल्पाण्डमल्प-सन्तानकं वा जानीयात्किंत्वतिरश्चीनच्छिन्नं तिर–श्चीनमपाटितम्। तथा व्यवच्छिन्नं न खण्डितं यावदप्रासुकं न प्रति–गृह्णीयादिति। तथा (सेइत्यादि) स भिक्षुरल्पाण्डमल्पसंतानकं तिरश्चीनच्छिन्नं तथा वयवच्छिन्नं यावत्प्रासुकं कारणे सति गृह्णीया–दिति। एवमाम्रावयव एव संबन्धिसूत्रत्रयमपि नयमिति। नवरम् (अंबभित्तयं) आम्रार्द्धमाम्रपेसी आम्रफली (अंबचोयगंति) आम्रच्छल्ली सालगं रसं (डालगत्ति) आम्रशूक्ष्मखण्डानीति॥

इक्षुवनादाववग्रहः

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा उच्छुवणं उवागच्छित्तए जे तत्थ ईसरे जाव उग्गहंसि अह भिक्खू इच्छेज्जा उच्छुभोत्तए वा पायए वा सेज्जं उच्छुं जाणेज्जा से अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिण्णंतहेव तिरिच्छच्छिण्णं तहेव से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण अभिकंक्खेज्जा अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुसालणं वा उच्छुडालगं वा। भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा। अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा स अडं जाव णो पडिगाहेज्जा वा से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा अप्पंडं जाव पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिण्णं तिरिच्छच्छिण्णं तहेव पडिगाहेज्जा।

लशुनवनादाववग्रहः

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंक्खेज्जा ल्हसणवणं उवा–गच्छित्तए तहेव तिण्णिवि आलावगा णवरं ल्हसुणं से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंक्खेज्जाल्हसुणं वा ल्हसुणकंदं वा ल्हसुणचोयगं वा ल्हसुणडालगं वा भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा ल्हसुणं वा जाव ल्हसुणवीयं वा स अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा। एवं अतिरिच्छच्छिण्णे वि तिरिच्छच्छिण्णे पडिगाहेज्जा॥ आचा० २ श्रु० ७ अ० ३ उ०।

सागारिकेण भाटक प्रदानेन स्वीकृतेऽवग्रहः। (सागारियशब्दे)

(१२) स्वामिना त्यक्ते अत्यक्ते वाऽवग्रहः।

(सूत्रम्) से वत्थुसु अव्वावडेसु अव्वोगडेसु अपरपरिग्गहेसु अमरपरिग्गहिण्सु सव्वे व उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ। अहालंदमवि उग्गहे॥

अस्य संबन्धमाह।

गिहिउग्गह सामिजढे, इति एसो उग्गहो समक्खातो।
सामिजढे अजढे वा, अयमण्णो होइ आरंभो॥

स्वामिना जढः परित्यक्तो यो गृहिणां संबन्धी अवग्रहस्तद्विषय इत्येषोऽवग्रहोऽवग्रहविधिः समाख्यातः। अयं पुनरन्यः प्रस्तुत–सूत्रस्यारम्भः स्वामिना त्यक्ते अत्यक्ते वा अवग्रहो भवति अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या (से) तस्य निर्ग्रन्थस्य वास्तुषु गृहेषु कथभूतेषु अव्यापृतेषु शटितपंततया व्यापारविरहितेषु अव्याकृतेषु दायादिभिरविभक्तेषु।

अथवा पुनीताले केनाप्यनुज्ञातमिति न ज्ञायते यत्तदव्याकृतं तेषु। तथा अपरपरिगृहितेषु परैरन्यैरनधिष्ठितेषु अमरपरिगृहीतेषु देवैः स्वीकृतेषु सैवावग्रहः नअपूर्वानुज्ञापना तिष्ठति। यथा लंदमप्यव-ग्रहे किमुक्तं भवति यावन्तं कालं तानि वस्तूनि तेषां पूर्वस्वामिनामवग्रहे वर्तन्ते तावन्तं कालं सैव पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति न पुनर्भूयो ऽप्यवहोऽनुज्ञापनीय इति सूत्रार्थः।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ॥

खित्तं वत्थुं सेतुं, केतुं साहारणं च पत्तेयं।
अव्वोवडमव्वोअड-अपरममरपरिग्गहं चेव॥

इह वास्तु सामान्यतो द्विधा क्षेत्रं वास्तु गृहं वास्तु च। क्षेत्रं द्विधा सेतु केतुगृहं च तत्र अरघट्टजलेन यत्सिच्यते तत्सेतु। वृष्टिजलेन तु यन्निष्पद्यते तत्केतु। गृहं पुनः खातोत्थितोभयभेदात्त्रिधा वक्ष्यते। क्षेत्रं गृहं चोभयमपि द्विधा। साधारणं प्रत्येकं च। साधारणे बहूनाम्, सामान्यं प्रत्येकम् एकस्वामिनस्तत्र पदानि पश्चार्द्धेन संग्रहीतुमाह। अव्यापृतमव्याकृत-मपरपरि गृहीतममरपरिगृहीतं चेति। अथ साधारणपदं विवृणोति।

होइ य गणगोट्ठीणं, सेणिसाधारणं च दुगमाई।
वत्थुम्मि एत्थ यप यं, उत्थितखाते तदुभयम्मि॥

गणगोष्ठीनां श्रेणीनां वा (दुगमाइत्ति) द्वित्रिप्रभृतिसंख्यकानां द्वित्र्यादिजनप्रतिबद्धानां वा यत्क्षेत्रं वास्तु वा सामान्यं तत्साधार-णमुच्यते। अत्र तु वास्तुना अधिकारो न क्षेत्रेण तच्च वास्तु त्रिधा। उत्थितं खातं तदुभयं च उत्थितं प्रासादः। खातं भूमिगृहं तदुभयमधो भूमिगृहयुक्तः प्रासादः।

अव्यापृतादिपदानि व्याचष्टे।

सडियपडियं न कीरइ, जहिगं अव्वावडं तयं वत्थू।
अव्वोगडमविमत्तं, अणहिट्ठियमण्णपक्खेणं।

यत् शटितं पतितं यत्र व्यापारः केनापि न क्रियते यत्तद्वास्तु अव्या-पृतमुच्यते। अव्याकृतं नाम यद्दायादैरविभक्तम् अपर परिगृहीतं नाम यदन्यपक्षेणान्यदीयवशंनेनाधिष्ठितं नास्य परिगृहीतं स्वयमेव तस्य शय्यातर इति भावः। इदानीमेव भावयति।

अवरो सुव्वियसामी, जेण विदिण्णं तु तप्पढमताए।
अमरपरिग्गहियं पुण, इउलिया रुक्खमादी य॥

अपरो नाम तत्प्रथमतया साधूनां यद्दत्तं स एव तस्य स्वामी नान्यः कश्चित्। न परोऽपर इति समासाश्रयणात्। अमरपरिगृहीतं पुन-र्देवकूलिका वा वृक्षादिकं वा वानमन्तरधिष्ठितं मन्तव्यम्। अथा-व्याकृतादिषु दृष्टान्तानुपदर्शयति।

अव्वावडे कुडुंबी, काणिक्कावोगडे य रायगिहे।
अपरपरोसादेवउ, अमरसक्खे पि सायघरे॥

अव्यापृते गृहे कुटुम्बिदृष्टान्तः। अव्याकृते तु राजगृहे (काणिक्कति) पाषाणमधः पक्वेष्टका वा वलिकामहत्यश्च काणिक्का उच्यन्ते तन्मध्ये गृहकारापको वणिग् दृष्टान्तः। परपरिगृहीते ऽपि स एव दृष्टान्तः। अंपरपरिगृहीते वृक्षपिशाचगृहं वा निदर्शनं भवतीति निर्युक्तिगाथा-समासार्थः।

अथैनामेव विवरीषुः कुटुम्बिदृष्टान्तमाह।

नम्मवणं पासाए, संखडिजक्खेसु मिणायकंदी य।
अण्णं वावोरणं, कुणंति अंवावडं तेणं॥

कुडुंबिएणं सुंदरं घरं कारियं समत्तं तंमि संखइं काउं कल्ले पवि-मामिति चिन्तेइ नवरं वाणमंतरेण रत्तिं भण्णति। जइ पविसिहिसि तो ते कुलं उत्थाएमि तेणं कंटियाहि फलिहिऊण मुक्कं वावारं वासेन करेइ। अन्नया साहुहिं आगएहिं सो कुटुंबीअणुन्नविउ तेण भणइ दिवयाए परिग्गहियं। ततो से अवाओ भविस्सइ। साहूहिं भणितो अणुजाणसु तुमं लंभिस्सामो वयं देवयाए तओ तेण अणुन्नाए तेहिं काउस्सग्गेण जक्खो आकंपिओ भण्णइ। उवरिल्लभुमियं मोत्तुं वासत्था अत्थ हते ट्ठिया तेसु गतेसु जे अन्ने साहुणो इति ते तत्थेव ठायंति। सव्वेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा। अथ गाथाक्षरार्थः। कुटुम्बिना प्रासादस्य निर्मापणं कृतं ततः संखडिः कर्तुमारब्धो यक्षेण च स्वप्ने निवेदितं यदि प्रासादं प्रवेक्ष्यसि ततः सकुटुम्बं भवन्तं व्यपरोपयिष्यामिति तेन कण्टिकाभिः परिक्षिप्तं तद् गृहम् अन्यमपि च व्यापारं तत्र न करोति तेनाव्यापृतमुच्यते। अव्याकृते दृष्टान्तावाह।

दत्तू असीयंवधरं महल्लं, कालेण तं खीणधणं च जायं।
ते उंवरीयस्स मयाउ कुट्ठी, दाउं य मोलंवधरं जईणं॥

समेणं इद्धिमंतेण वाणिएण रायगिहे नयरे स जालमाला वा धालपंकट्ठगाहिं गिहं कारियं सोयं तम्मि निम्मावियं पंच तीहुओ पुत्ती सो पुल्ली जाओ। क्षीणविभव इत्यर्थः। तत्थयं उंबरीउकरो घिप्पइ ते तं दाउं अवयंता एगपासे कुट्टियं काउं ठिया तं च तेहिं संजयाण दित्तं अथाक्षरगमनिका। ऋद्धिमत्वेमहर्द्धिकतायां कस्यापि वणिजो गृहं महल्लं महाजनाकुलमासितं कालेन तत् क्षीणधनं च शब्दादल्पमानुषं च संजातं ते च तदीयाः पुत्रा उंबरीयस्य प्रत्युदुम्बरं रूपको दातव्य इत्येवंलक्षणस्य करस्य भयादेकस्मिन् पार्श्वे कुटीं कृत्वा मोलं च गृहपतीनां दत्वा कुटीरके स्वयं स्थिताः। एतदव्याकृतमुच्यते। अथ पूर्वानुज्ञापनां व्याख्याति।

पुव्विट्ठियणुण्णविय-ट्ठायं तण्णेवि तत्थ ते य गता।
एवं सुण्णवसुण्णे, सो चेव य उग्गहे होइ॥

अव्यापृते अव्याकृते वा पूर्वं साधवोऽनुज्ञाप्य स्थिताः तेषां मास-कल्पे वर्षावासे वा पूर्णे शून्यभूते तत्र प्रतिश्रये अपूर्णे वा कल्पे अशून्यपदोपाश्रये अन्ये साधवस्तिष्ठन्ति ततः पूर्वसाधवः कल्पं समाप्यान्यत्र गताः परं शून्ये अशून्ये वा तत्र तिष्ठतां तेषां स एवावग्रहो भवति न पुनर्भूयोऽनुज्ञापयन्ति।

अपरपरिगृहीतं व्याचष्टे।

अपरपरिग्गहितं पुण, अपरे जत्ती जइ उ चिंति।
अव्वोकडं पि तं चिय, दोण्णि वि अच्छी अ परसद्दो॥

पुनः शब्दो विशेषणार्थः स चैतद्विशिनष्टि अपरिगृहीतं नाम येन साधूनां तद्दत्तं स एव स्वामी नान्य इति तावदपरिगृहीतस्यैकाऽर्थः प्रयुक्तः। यद्वा न परे अपरा यतयस्तत्रोपयन्ति तेन तदपरपरिगृहीतमव्याकृतमपि तदेव मन्तव्यम्। सर्वेषामपि साधूनां साधारणमिति कृत्वा तदेव द्वावप्यर्थावपरशब्दे भवतः। एको न परोऽपरस्तेन परिगृहीतमपर-परिगृहीतम् द्वितीयोऽपरैः साधुभिः परिगृहीतमपरपरिगृहीतमिति। अमरपरिगृहीतं तु वृक्षे वृक्षस्याधस्ताद्वा गृहं मन्तव्यम्। तत्र गृहे यदि पूर्वं साधवो ऽनुज्ञाप्य स्थितास्तदा शेषाणां स एवावग्रहो भवति।

अथ वृक्षविषयं विधिमाह।

भूयाइपरिग्गहिते, दुगम्मि तमणुण्णवित्तु सज्झायं।

एगेण अणुण्णविए, सो चेव य उग्गहो होइ ॥

भूतादिना व्यन्तरेण परिगृहीतो यो द्रुमस्तत्र स्वाध्यायार्थं कदाचिद्गन्तव्यं भवति । तं च व्यन्तरमनुज्ञाप्य स्वाध्यायं करोति । एवमेकेना पि तस्मिन्ननुज्ञापिते शेषाणां साधूनां स वृक्षादाववग्रहो भवति। अथासौ वृक्षः परपरिगृहीतोऽप्यस्ति ततः

सामी अणुण्णविज्जइ, दुमस्स जस्सोग्गहो व्व असहीण ।
कूरसुरपरिग्गहिते, दूमम्मि कणिट्ठगाण गमो ॥

यस्तस्य द्रुमस्य स्वामी सोऽनुज्ञाप्यते । अथासौ न स्वाधीनस्तोऽस्वाधीने तस्मिन् यस्यायमवग्रहः सोऽनुजानीतामित वक्तव्यम्। अथासौ द्रुमः क्रूरसुरपरिगृहीतस्ततो येषामगारिणां सत्कस्तेषामागन्तुमसौ न ददात तत्र कणेष्टका गृहगमो मन्तव्यः । तं सुरं कायोत्सर्गेणानुकम्प्य स्वाध्यायादि कुर्वन्तीति भावः। तत्र चायं विधिः।

निच्छंतेण व अण्णे, ईसालुसुरेण जं अणुण्णायं ।
तत्थ वि सो चेव गमो, सागारपिंडम्मि मग्गणता ॥

ईर्ष्यालुसुरेण अन्येन गृहिणा आगच्छता वृक्षमूलादिकं साधूना–मनुज्ञातं तत्रापि स एव गमः पूर्वानुज्ञापनावस्थानलक्षणे विज्ञेयो नवरं तत्र स्थितानां सागारिकपिण्डस्यमार्गणा कर्तव्या। तामेवाह।

जक्खो वि य होइ तरो, वलिमादी गिण्हणा भवे दोसा ।
सुविणा उवरिं एवा, संखडिकारोवणाभिक्खं ॥

येन यक्षेण स द्रुमः परिगृहीतः स एव तत्र स्थितीनां तरूणां शय्या–तरो भवति। ततो यस्तस्य बलिकूरादि निवेद्यते स शय्यातरपिण्ड इति कृत्वा परिह्रियते। बृ०३ उ०।

राजावग्रहो देवेन्द्राऽवग्रहश्च।

(सूत्रम्) से अणुकड्ढेसु वा अणुभित्तिसु वा कुणरियासु वा अणुफरियासु वा अणुपंथेसु वा अणुमग्गेसु वा संघेवग्गहर पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमविग्गहे ।

अस्य संबन्धमाह।

जे चेव दोण्णि य गता, सागारियरायउग्गहो होति ।
तेसिं इह परिमाणं, णिवोग्गहम्मी विसेसेणं ॥

यावेव द्वौ सागारिकराजावग्रहौ पूर्वसूत्रयोः प्रकृतौ तयोरेवेह सत्रे परिमाणमुच्यते तथापि नृपावग्रहपरिमाणं विशेषेणाभिधीयते अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या (से) तस्य नर्ग्रन्थस्य अनुकुड्येषु वा कुड्यसमीपवर्तिषु प्रदशेषु एवमनुवृत्तिषु वा अनुपरिखासु वा अनुपथेषु वा अनुमर्यादासु वा इह परिखानगरप्राकारयोरपाल्त-राले हस्ताष्टकप्रमाणो मार्गः। परिखा खातिका मर्यादा सीमा शेषं प्रतीतम्। एतेषु सैवावग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति यथालन्दमपि कालमवग्रह इति सूत्रार्थः।

अथ निर्युक्तिविस्तरः।

अणुकुड्डे भित्तीसुं, वरियाण गारपंथफरिहासु ।
अणुमग्गे सीमाए, णायव्वं जं जहिं कमति ॥

अनुशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते अनुकुड्यानुभित्त्योः अनुवरिका–प्राकारपथपरिखासु च (अणुमग्गसीमाए) मर्यादा सीमातोऽनु–मर्यादायामनुसीमायामित्येकोऽर्थः । पथ्यनुज्ञातव्यम् । यपात्र सागारिकराजाद्यवग्रहानुज्ञापनम्।

एनां निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयति।

उवकुड्डं अणुकुड्डं, कुड्डसमीवं व होइ एगट्ठं ।
एमेवाससएसु वि, तेसि पमाणं इमं होइ ॥

अनुशब्दस्य समीपार्थद्योतित्वादनुकुड्यमुपकुड्यं कुड्यंसमीप–मिति चैकार्थम् । एवमेव शेषेष्वपि अनुभित्त्यादिषु पदेषु मन्तव्यम् । तेषामनुकुड्यादीनामवग्रहविषयमिदं प्रमाणं भवति।

वतिभित्तिकडगकुड्डे, पंथेपगएउग्गहो रयणी ।
अणुवरियाए अट्ठउ, चउरो रयणी उ परिहाए ॥

वृत्तौ वर्तुलादिपरिक्षेपरूपायां भित्ताविष्टकादिनिर्मितायां कटके वलये च कुड्ये पथि धर्म्ममर्यादायां (वरंपणित्ति) एकहस्तमाना–वग्रहो भवति । *अनुवरिकायामष्टौ हस्ताः परिखायां चत्वारो रत्नयः। इदमेव भावयति।*

वतिसामिणोवतीतो, हत्थो सोवग्गहो ण खंतिस्स ।
तहि ममकारो जति विय, पणणिम्मग्गभूमीए ॥

गृहपतिविवक्षिताया वृत्तेः स्वामी तस्य वृत्ते परतो हस्तमात्रमवग्रहो भवति शेषस्तु सर्वोऽपि नरपतेरवग्रहो मन्तव्यः। अथ किंकारणं वृत्तिस्वामिनो वृत्तेः परतोऽप्यवग्रहो भवति इत्याह तस्य गृहपतेः परतो हस्तप्रमाणे भूभागे ममकारो भवति । अतो यद्यपि (निम्मा–णित्ति) मूलपादान्ते च तावद्विवक्षितगृहसत्का भूमिस्तथापि वृत्तेः परतो हस्तमेकं तस्यावग्रहः एवं भित्तिकुड्यादिष्वपि भावनीयम्।

हत्थ हत्थं मोत्तुं, कुड्डादीणं तु मज्झिमो रण्णो ।
जत्थ न पूरइ हत्थो, मज्झे तिभागो वही रन्नो ॥

तेषामेव कुड्यादिनां हस्तं हस्तमुभयोरपि गृहयोर्मुक्त्वा मध्यमः सर्वोऽपि राज्ञोऽवग्रहः। यत्र तु गृहस्यापान्तरालस्यातिस्तोकतया हस्तो न पूर्यते तत्र मध्यमत्रिभागो राज्ञः शेषौ द्वौ गृहस्वामिनोः । एतदवग्रहपरिमाणमुक्तम्। अत्र चोच्चरादीनि स्थाननिषदनादीनि वा कुर्वन् यदि कुड्यादीनां हस्ताभ्यन्तरे करोति ततो गृहपत्थवग्रहो मनसि क्रियते हस्ताद्बहिश्चरिकाप्राकारपरिखादिषु च राजावग्रहो–ऽनुज्ञाप्यते । अटव्यामपि यद्यसौ राजा प्रभवति तदा तस्यैवावग्रहः स्मर्यते। अथासौ तत्र न प्रभवति ततो देवेन्द्रावग्रहो मनसि क्रियते। बृ०३ उ०।

(१४) राजपरिवर्तेऽवग्रहः।

''सेरज्जपरियट्टेसु'' इत्यादिसूत्रद्वयस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह।

सागरियसाहम्मिय–उग्गहगहणउत्तमाणम्मि।
सुत्तमअंतिमसुत्तं, ठवंति राउग्गहे थेरा ॥

पूर्वसूत्रेभ्यः सागारिकावग्रहग्रहणमनुवर्तते ततोऽपि परतरेभ्यः साधर्म्मिकावग्रहणं तस्मिन् अनुवर्तमाने अवग्रहग्रहणप्रस्तावात् सप्तमोद्देशकस्यान्तिमं सूत्रम् । सूत्रद्वयं राजावग्रहे स्थविराः कर्त्तारः स्थापयन्ति एषोऽधिकृतसूत्रद्वयसंबन्धोऽनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या(से) तस्य भिक्षो राजपरावर्तेषु राजपरावर्तो नामाग्रेतनो राजा कालगतो नवोऽभिषिक्तस्तेषु। पुनः कथंभूतेषु इत्याह संस्तृतेषु न कोऽपि तद्राज्यं विलुम्पतीति भावः । तथा अव्याकृतेषु येषां दायादानां सामान्यं तद्राज्यं तैरविभक्तेषु। अनवच्छिन्नेषु तस्मिन्नेव वंशे अनुवर्तमानेषु अत एवापरपरिगृहीतेषु सैवावग्रहस्य पूर्वा अनुज्ञापना तिष्ठति या तस्य वंशस्यादावनुज्ञापना कृता कियन्तं कालं पुनः सैव पूर्वानुज्ञा तिष्ठति तत आह यथालन्दमप्यवग्रहः । किमुक्तं भवति यावन्तं कालं स वंशोऽनुवर्तते तावन्तमपि कालमवग्रहे

राजावग्रहे सैव पूर्वानुज्ञापना वर्तते न पुनरन्यस्मिन् राज्ञि उपविष्टे स भूयोऽवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः। एष प्रथमसूत्रस्यार्थः। द्वितीय–स्योच्यते (से) तस्य भिक्षो राजपरावर्तेषु अन्येषु राज्यं प्रतिपन्नेषु असंस्तृतेषु त्रुटितपूर्वराज्यसंस्थितिषु व्याकृतेषु अन्यवंशीयैर्दायादैर्वा विभज्य समीकृतेषु व्यवस्थितेषु पूर्ववंशेषु अत एव परपरिगृहीतेषु भिक्षुभावस्यार्थाय भिक्षुभावो नाम ज्ञानदर्शनचारित्राणि तेषामेव भिक्षुशब्दप्रवृत्तिनिमित्त-वादेतदेव प्रथमोद्देशके सप्रपञ्च भावितं तस्यार्थाय स भिक्षुभावः परिपूर्णो भूयादित्येवमर्थमित्यर्थः। अन्यथा सचित्तादीनामनुज्ञापनेऽदत्तादानं स्यात्। द्वितीयेऽपि वारमवग्रहो ऽनुज्ञापयितव्यः एष द्वितीयस्यापि सूत्रार्थः।

सांप्रतमेनामेव व्याख्यां भाष्यकृदप्याह।

संथडमो अविलुत्तं, पडिवक्खो वा न विज्जती जस्स।
अणहिट्ठियमत्तेण व, अववोगडदाइसामन्नं॥

संस्तृतं नाम राज्यं यदविलुप्तं मो इति पादपूरणे यस्य वा प्रतिपक्षो न विद्यते नाप्यन्येन केनाप्यधिष्ठितम्। अव्याकृतं नाम दायिनां सामान्यं न पुनस्तैर्विभक्तम्।

अव्वोगडं अविगडं, संदिट्ठं वा वि जं हवेज्जाहि।
अव्वो च्छिन्नपरंपर–मागयतस्सेव वंसस्स॥

अव्याकृतं नाम यदविकृतं न केनापि विकारमापादितम् यदि वा यद्भवेत् पूर्वराजेन संदिष्टं यथा एतस्मै राज्यं देयमिति तत अव्या–कृतम्। अव्यच्छिन्नं नाम यत्तस्यैव वंशस्य परंपरया समागतमिति।

पुव्वाणुन्ना जा पुव्व–एहिं राईहिं इह अणुन्नाया।
लंदंतु होइ कालो, चिट्ठइ जा उग्गहो तेसिं॥

पूर्वानुज्ञा नाम या पूर्वकै राजभिरनुज्ञाता। ''जहालंदमवीत्यत्र लंदो नाम भवति कालस्ततोऽयमर्थो यावन्तं कालं तेषामवग्रहस्तावन्तमपि कालं सैवावग्रहे पूर्वानुज्ञा। तदेवं प्रथमसूत्रव्याख्या कृता। संप्रति द्वितीयसूत्रव्याख्यानार्थमाह।

जं पुण असंथडं वा, सगडं मह वोगडं व वोच्छिन्नं।
नंदमुरियाण व जहा, वोच्छिन्नो जत्थ वंसो उ॥

यत्पुनरसंस्तृतं शकटमिव शरारुतया संवरीतुमशक्नुवत् तथा व्याकृतं दायादैरन्यवंजैर्वा विभज्य अङ्गीकृतम्। व्यवच्छिन्नं यत्र नन्दमौर्याणामिव वंशो व्यवच्छिन्नः।

तत्थ उ अणुन्नविज्जइ, भिक्खुभावट्ठमग्गहो निययं।
दिक्खा भिक्खूभावो, अहवा तइयव्वयादीउ॥

तत्र नियतमवश्यंभावेन भिक्षुभावार्थी यथावस्थितभिक्षु भावः तत्रैव भिक्षुभाव इत्याह। दीक्षादिरादिशब्दात्सम्यग् ज्ञानादिपरिग्रहः। भिक्षुभावो ऽथवा तृतीयव्रतादिकं भिक्षुभावः। तत्रैव भिक्षु–शब्दस्य परमार्थत्वात्तदेवं कृता सूत्रव्याख्या। संप्रति निर्युक्तिविस्तरः।

रण्णा कालगयम्मि, अथिरगुरुगा अणुण्णवे तम्मि।
आणादिणो य दोसा, विराहणा इमेसु गणासु॥

राज्ञि कालगते ये द्वौ वा त्रयो वा दायिनस्तेषां मध्ये यः स्थिरः सोऽनुज्ञापयितवयः। यदि पुनरस्थिरमनुज्ञापयन्ति तदा तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः आज्ञादयश्च देषास्तथाविराधना आत्मविराधना संयमविराधना वा। एषु वक्ष्यमाणेषु स्थानेषु तान्येवाह।

धुवमण्णे तस्स मज्झे, वसथेरेथेरमज्झ संताहे।
दोसो गयपरदोसो, अणणुण्णवणेथिरे गुरुगा।

ध्रुवमन्यस्मिन्नन्यवंशजे अस्थिरे तस्य वा पूर्वराजस्य संबन्धिनां दायिनामेकस्मिन् अस्थिरे संयतिरनुज्ञापितः सन् चिन्तयति स तथा विचिन्तनास्ति। तथा भावस्यान्यथाभाव इति स एको मुक्तसन्नाहो वर्तते। तं च विश्वस्तं ज्ञात्वाऽन्यदा सोऽन्येन दायादिना मारितो राज्यमधिष्ठितम् ततः स राजा चिन्तयति। संयतैर्ममामित्रपरिगृहीतैर्येन कारणेनासाव-वग्रहमनुज्ञापितस्ततः स प्रसिद्धो द्वयोरेकतरस्य प्रद्वेषं कुर्यात्। किमुक्तभवति निर्विषयत्वादि कुर्यात्। जीवचारित्रयोर्वा भेदं कुर्यात्तस्मात् यः स्थिरः सोऽनुज्ञापयितव्योऽननुज्ञापने प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः।

अणणुण्णविए दोसा, पच्छा वा अप्पितो अवण्णे वा।
पत्तेपुव्वममंगल, निच्छुभणे य दोसपत्थारो॥

यदि स्थिरो नानुज्ञाप्यते तदा एतस्मिन्ननुज्ञापिते दोषाः सर्वे सामान्यपाखण्डाः समीपमागता निर्ग्रन्थानां पुनरवज्ञां कृत्वा स्थितास्ततः प्रद्वेषितो निष्काशनादि कुर्यात् तस्माद्व्यवच्छिन्नवंशे सोऽवश्यमवग्रह-मनुज्ञापयितव्यः। किं पूर्वं पश्चान् मध्ये वा तत्र यदि सर्वेरन्यैः पाखण्डैरनुज्ञापिते स पश्चादनुज्ञाप्यते ततः स चिन्तयति अहमेतेषामप्रियोऽवज्ञा यतो ममैतैः क्रियते तेन पश्चादागताः। अथ प्राप्ते राज्ये पूर्वमनुज्ञाप्यते तदा कदाचिदमङ्गलं मन्येत ततो (निच्छुभणंति) निष्काशनं कुर्यात्प्रद्वेषतः प्रस्तारो जीवनात् व्यपरोपणं क्रियेत तस्मान्मध्येऽनुज्ञापयितव्यः। यदि पुनर्भद्रक इति ज्ञातो भवति चानुज्ञाप्यमाना मङ्गलमिति मन्यते तदा पूर्वमपयनुज्ञापनीयः। अथ कथमस्थिरा ज्ञातव्यः कथं वा भद्रकः कथं वा पूर्वकमनुज्ञाप्यमानो मङ्गलं मन्यते इति तत आह।

ओहादी आभोगण निमित्तविसएण वा वि नाऊण।
भद्दगपुव्वमणुण्णा, वपंतमण्णाय मज्झम्मि॥

अवध्यादीनामतिशयेनादिशब्दान्मनः पर्यवज्ञानश्रुतातिशयवि–शेषपरिग्रहोऽथवा निमित्तविशेषेण। अथात्मनोऽवध्याद्यतिशयो निमित्तविशेषो वा न विद्यते तदा अन्यानवध्याद्यतिशयिनो निमित्तविशेषं ज्ञात्वा दृष्ट्वा भद्रकमनुज्ञापयेत। प्रान्तमनुज्ञातं वा मध्ये।

एएणं विहिणाउ, सो णुण्णवितो जहेव रज्जेहिं।
राया किं देमित्ति य, जं दिण्णं अण्णरादीहिं॥

एतेनानन्तरोदितेन विधिना सोऽनुज्ञापितो राजा यदा वदेत किं ददामीति तदा वक्तव्यं यद्दत्तमन्यै राजभिस्तद्देहीति।

जाणंतो अणुजाणइ, अजाणओ बूति तेहिं किं दिण्णं।
पायोग्गंति य भणिए, किं पाउग्गं इमं सुणसु॥

एवमुक्ते जानानः सर्वमनुजानाति अज्ञायको ब्रूते तैरन्यै राजादिभिः किं दत्तं तत्र प्रायोग्यमिति भणितव्यम्। तस्मिन् भणितेषु न ब्रूते किं प्रायोग्यमिति ततो वक्तव्यं शृणुत इदं प्रायोग्यं तदेवाह।

आहर उवहिसेज्जा, ठाणनिसीयणतुयट्टगमणादी।
थीपुरिसाण य दिक्खा, दिण्णा णो पुव्वराईहिं॥

नोऽस्माकं पूर्वराजैराहार उपधिः शय्या स्थानमूर्ध्वस्थानं निषदनं त्वग्वर्त्तो गमनमादिशब्दादागमनपरिग्रहस्तथा स्त्रीपुरुषाणां दीक्षा अनुज्ञाद्वारेण दत्ता।

भद्दो एव्वं विरइ–प्पंते पुण दिक्खवज्जमियराणि ।।
इम सिट्ठा इम काउं, निग्गं ते गुरुगा य आणादी ।।

एवं कथिते सति यो भद्रकः स सर्वविरतिप्रान्तः पुनर्दीक्षावर्ज–मितराणि सर्वाण्यप्याहारादीनि अनुजानाति प्रव्रज्यां पुनर्नाज्ञापयति तत्र यदि तस्य राज्ञोऽनुशिष्टमकृत्वा आदिशब्दात् विद्यादि वा प्रभुकरणं वा अकृत्वा यदि तद्विषयात् निर्गच्छन्ति तदा तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका आज्ञादयश्च दोषाः।

चेइय सावगपव्वइउ– काम अंतरंतबालवुड्ढा य।
जत्ता अजंगमा वि य, अभत्ति तित्थस्स परिहाणी ।।

अन्यच्च चैत्यानि तेन परित्यक्तानि श्रावका ये च प्रव्रजितु - कामास्तथा ।अतरन्तो ग्लाना बाला वृद्धा अजङ्गमाश्चैते सर्वे परित्यक्ता अभक्तितस्तीर्थकराज्ञाखण्डनात्। तीर्थस्य च परिहा–णिरापादिता। तथा हि ये तत्र विषये प्रव्रजितुकामास्ते न प्रव्रजिष्यन्ति श्रावका अपि सम्यक्त्वमणुव्रतानि च गृह्णन्तो न ग्रहीष्यन्ति ततो भवति तीर्थस्य व्यवच्छेदः। यद्येवं तर्हि तत्रैव तिष्ठन्तु। तत्राप्याह ।।

अत्थंताण वि गुरुगा, अभत्ति तित्थस्स हाणि जा वुत्ता।
भणमाण भाण चेत्ता, अत्थंति अणेत्थ वच्चंति ।।

तत्र तिष्ठतामपि प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका मासाः देशान्तरे भव्य–पोण्डरीकस्याप्रतिबोधेन लोभ्जातो भ्रष्टत्वात्। तथा तीर्थकरा–णामभक्तिं तिष्ठद्भिः कृत्वा तदाज्ञाखण्डनात्तीर्थस्य हानिरापादिता तथा स्वयमेव तेन राज्ञोक्ते स्त्रीपुरुषा न दीक्षितव्या इति। यद्येवं तर्हि किं कर्तव्यमत आह। स्वयं भणन्तः प्रज्ञापयन्तोऽन्यैर्भाणयन्तस्तिष्ठन्ति। तथापि चेत्स नेच्छेत्तर्हि ततो देशात् व्रजन्ति।

अह पुण हवेज्ज दोन्नी, रज्जाइं तस्स नरवरिंदस्स।
तहियं अणुजाणंतो , दोसुवि रज्जेसु अप्पवहुं ।।

अथ पुनस्तस्य नरवरेन्द्रस्य स्वयमन्यैर्वा प्रज्ञाप्यमाणस्य कदाचिद्दे राज्ये भवतस्तत्र तयोर्द्वयोराज्ययोर्मध्ये एकत्रैकाप्यनुजानाति। यथा मम द्वे राज्ये तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये यत्रैकत्र भवद्भ्यो रोचते तत्र प्रव्राजयत द्वितीये नानुजानामि। एवमुक्ते अल्पबहु परिभाव्ययत्र भूयान् तीर्थप्रव्रज्यादिलाभस्तत्र स्थातव्यमेतदेव स्पष्टतरमाह ।।

एक्काहि विदिन्नं रज्जे, रज्जे एगत्थ होइ अवि दण्णं।
एगत्थ इत्थियत्तो, पुरिसव्वायाय एगत्थ ।।

एकत्र एकस्मिन् राज्ये वितीर्णमनुज्ञातं भवति। एकस्मिन् राज्ये वितीर्णे यत्रानुज्ञातं तत्र स्त्रियाः पुरुषा वा अनुज्ञाताः। अथवा एकत्र राज्ये स्त्रियोऽनुजानीत एकत्र पुरुषाननु जानीते।

थेरा तरुणा य तहा, दुग्गया अद्दया य कुलपुत्ता।
जाणवयानागुरुया, अब्भंतरयो कुमारा य।

अथवा एकत्र राज्ये स्थवरानानुजानात्येकत्र तरुणान्। अथवा एकत्र दुर्गतिकान् परत्र आढ्यान्। यदि वैकत्र कुलपुत्रानपरत्राभीरान् एवमेकत्र जानपदानन्यत्र नागरकान्। एकत्राभ्यन्तरकान् अभ्य–न्तरका नाम ये राजानमतिप्रत्यासन्नीभूयावलगन्ति कुमारा राज्ञो दायादाः। एवमनुज्ञातेर्किं कर्तव्यमित्याह।

ओहीमादीउ जत्थ, बहुतरया उ पव्वयंति तहिं।
ते विति समणुजाणसु, असती पुरिसेव जे बहुगा ।।

अवध्यादिनादिशब्दात् श्रुतातिशयविशेषण निमित्तविशेषेण वा ज्ञात्वा यत्र बहुतरकाः अनुज्ञाताः सन्ति अवध्यादेर्निमित्तविशेषस्य वा अभावे ये बहवः पुरुषास्तानेवानुज्ञापयति न शेषान् स्तोकानष्टप्रभृतीनिति ।।

एयाण वि धरति तहिं, कम्मघणो पुण भणेज्ज तत्थ।
इम दिट्ठा उ अमंगल्ल, मा वा दिक्खेज्ज अत्थत्ता ।।

एतानि अनन्तरोदितानि प्रान्तोऽपि मनाग् भद्रकः सन् तत्रात्मीये राज्ये वितरति। यः पुनः कर्मधनो निवडपापकर्म्मा तत्रानुज्ञापनायां क्रियमाणायामिदं ब्रूयात् दृष्टा अपि सन्तो यूयममङ्गलास्तस्माद–प्रतिष्ठन्तो मा कंचनदीक्षयेयुरिति। वा शददो व्यपेक्षया विकल्पने।

मा वा दच्छामि पुणो, अभिक्खणं वेंति कुणति निव्विसए
पभवंतो भणति ततो, भरहाहिवति सति तुमंति ।।

यदि वा मा पुनर्भूयो द्रक्ष्याम्येतान्। अभीक्ष्णं वा ब्रुवन्ति स्वयमन्यैर्वा पुनः पुनर्विज्ञपन्तीति कृत्वा निर्विषयान्करोति ततो यः प्रभवन् वक्ष्यमाणगुणोपेतो ब्रूते नासि त्वं सकलस्य भरतस्यापि पतिर्येन निर्विषयत्वाज्ञापनेऽस्माकं भयं स्यात्त्र स्थातु न दास्यसि ततो ऽन्यत्र यास्यामः। तथा इदमपि ब्रूते।

केवइयं वा एयं, गोपयमेत्तं इमं तुहं रज्जं।
जं पेल्लिउ नासिपगं, मंतिय मुहुत्तमित्तेण ।।

किय्द्वा एतद्गोष्पदमात्रमिदं च राज्यं यत् प्रेयं मुहूर्तमात्रेण तं दृष्ट्वा गम्यते। एवमुक्ते स राजा प्राह।

जं होउ तं होउ, पभवामि अहं तु अप्पणो रज्जे।
सो भणइ नीहमिज्जं, रज्जा तो किं बहुं णाउं ।।

स राजा ब्रूते यत् यावन्मात्रं तावन्मात्रं वा भवतु आत्मनो राज्ये तावदहं प्रभवामि। तस्मात्किमत्र बहुना मम राज्याद्यूयं निर्गच्छतेति। एवमुक्ते यत्कर्तव्यं तदाह।

अणुसट्ठी धम्मकहा , वज्जनिमित्तादिएहिं आउट्टो।
अट्ठिए य सुण्णकरणं, जहा कथं विण्हुणा पुव्वि ।।

अनुशिक्षया अनुशासनेन धर्म्मकथया विद्यया निमित्तेन आदिशब्दान्मन्त्रेण चूर्णयोगैर्वा तं राजानमावर्तयेत् अनुकूलयेत्। अत्रैवमपि न तिष्ठति तर्हि तस्मिन् अस्थिते प्रभोरन्यस्य करण कर्तव्यम्। यथा कृतं विष्णुना विष्णुकुमारेण। अथ कीदृशस्तं राजानमन्यप्रभुकारणे प्रेरयन्तीत्यत आह।

वेउव्वियलद्धी वा, ईसत्थे विज्जतो रसवली वा।
तवलद्धिपुलातो वा, पेल्लेति तमेतरे गुरुगा ।।

यो वैक्रियलब्धिमान् यो वा इषुशास्त्रे निर्म्मातोऽनेकैरपि पुरु–षमहास्त्रैर्दुर्जयः। अथवा विद्यावलवान् यदि वौरसवली साधर्मिको–ऽथवा तपोलब्धिपुलाकः स तमन्यप्रभुकरणेन प्रेरयति। यस्तु सत्यामपि शक्तौ प्रभुमन्यं न करोति तस्मिन्नितरस्मिन्प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। कथमन्यं प्रभुं करोतीत्यत आह।

तं घेत्तु बंधिऊण, पुव्वरज्जं ठवेंति उ समत्थो।
असती अणुवसमंते, निग्गंतव्वं ततो ताहे ।।

तं राजानं गृहीत्वा बन्धनेन च बध्वा समर्थस्तस्य पुत्रं राज्ये स्था–पयति। असति सामर्थ्ये अनुशिष्यादिभिरुपशमयति। स च तथो–पशम्यमानोऽपि नोपशाम्यति तर्हि ततो देशान्निर्गन्तव्यम्। तथाध्वनि यतनामाह।

भत्तादिफासुएणं, अलब्भमाणे य पणगहाणीए।
अद्धाणे कायव्वा, जयणा उग्गा जहिं भणिया॥

अध्वनि मार्गे प्राशुके भक्तादावलभ्यमाने पञ्चकहान्या यतना कर्त्तव्या। यत्र ग्रामे नगरे अरण्ये वा पूर्वं कल्पाध्ययने भणिता। व्य० द्वि० ७ उ०।

(१५) अवग्रहक्षेत्रमानम्।

(सूत्रम्) सगामंसि वा जाव संनिवेसं वा कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथीण वा सव्वउसमंता सकोसं जाणणं उग्गहं तु गिण्हित्ताणं चिट्ठित्तए॥

अस्य संबन्धमाह।

गामाइयाण वेसिं, उग्गहपरिमाणजाणणासुत्तं।
कालस्स वा परिमाणं, वुत्तं इहइं तु खेत्तस्स॥

तेषामनन्तरसूत्रोक्तानां ग्रामादीनां कियानवग्रहो भवतीति शङ्कायामवग्रहपरिमाणज्ञापनार्थमिदं सूत्रमारभ्यते। यद्वा पूर्वसूत्रेषु "अहालिंदमवि उग्गहे इत्यादि" भणता अवग्रहविषयकालस्य परिमाणमुक्तमिहं तु क्षेत्रस्य तदेवोच्यते। एतेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या अथ ग्रामे वा नगरे वा यावत्संनिवेशे वा कल्प्यते निर्ग्रन्थानां चावग्रहः सर्वः सर्वासु दिक्षु समन्तात् चतसृष्वपि विदिक्षु सक्रोशं योजनमवग्रहमवगृह्य स्थातुमिति सूत्रार्थः। अथ भाष्य-विस्तरः।

उड्ढमहे तिरियं पि य, सक्कोसं होइ सव्वतो खित्तं।
इंदपदमाइएसुं, विदिसिं सेसेसु चउ पंच॥

ऊर्ध्वदिगधो दिग् (तिरियंपियंति) तिर्यक्पूर्वदक्षिणापरात्तराल-क्षणाश्चतस्रो दिशः एतासुपदिक्षु गिरिमार्गस्थितानां सर्वतः सक्रोश-योजनं क्षेत्रं भवति तच्च इन्द्रपदादिषु संभवति इन्द्रपदो नाम गजाग्रपदगिरिस्तत्र ह्युपरिष्टात् ग्रामो विद्यते। अधोऽपि ग्रामो मध्यमश्रेण्यामपि ग्रामस्तस्य चतसृष्वपि दिक्षु ग्रामाः सन्ति ततो मध्यमश्रेणिग्रामे स्थितानां षट्सु दिक्षु क्षेत्रं भवति। आदिशब्दादन्योऽपि य ईदृशः पर्वतस्तस्य परिग्रहः शेषेषु चतसृषु पञ्चसु वा क्षेत्रं सक्रोशं योजनक्षेत्रं भवति समभूमिकायां व्याघाताभावे दिक् चतुष्टयक्षेत्रं व्याघातं प्रतीत्य पुनरित्थम्।

एगं व दो व तिण्णि व, दिसा अकामं तु सव्वतो वा वि।
सव्वत्तो तं अकोसे, अगुज्झणोउ जा खेत्तं॥

एकदिग्भाविना पर्वतादिव्याघातेन किंचिद् ग्रामादिकमेकस्यां दिशि अक्रोशं भवति सक्रोशयोजनावग्रहरहितमित्यर्थः। एवं दिग्द्वयभाविना व्याघातेन द्वयोर्दिशोरक्रोशं त्रिदिग्भाविना तिसृषु दिक्षुदिक्चतुष्टयभाविना तु सर्वतोऽप्यक्रोशं भवति। तत्र च सर्वतोऽक्रोशे ग्रामादौ बाह्यान् यावत्क्षेत्रं ततः परमक्षेत्रमिति। किं च।

संजमआयविराहण, जत्थ भवे देहउवधितेणावि।
तं खलु ण होइ खेत्तं, उग्घेयव्वं च किं तत्थ॥

यत्र ग्रामादौ प्राप्तानां संयमात्मविराधना भवति यत्र च देहोपधिस्तेना भवन्ति तत् खमु क्षेत्रं न भवति। किंवा तत्रावग्रहीतव्यं येन क्षेत्रमुच्यते। अथ किं पुनः क्षेत्रमित्याह।

खेत्तं चलमचलं वा, इंदमणिंदं सकोसमक्कोसं।
वाघतम्मि अकोसं, अडविजले सावए तेणे॥

यत्रावग्रहो विचारयितुमुपक्रान्तस्तत् क्षेत्रं चलमचलं वा भवेत्। चलं व्रजिकादिः अचलं ग्रामादिः। पुनरेकैकं द्विधा इन्द्रमिन्द्रकीलादियुक्तमिनिन्द्रं वा तद्विपरीतम्। तत्र यदचलमनिन्द्रं वा तस्मात्सक्रोशमक्रोशं वा पश्चानुपूर्व्या। अथ तानेव भेदान् व्याचिख्यासुरिदमाह। (वाघायम्मीत्यादि) यत्र यस्यां दिशि व्याघातस्तत्रस्थमक्रोशं भवति। कः पुनर्व्याघात इति चेदत आह। अटवी तस्यां दिशि वर्त्तते (जलेत्ति) समुद्रो नदी वा ये श्वापदा वा सिंहव्याघ्रादयस्तत्र सन्ति। स्तना वा उपधिशरीरहरा विद्यन्ते एतैः कारणैः ग्रामादिकनिरुद्धा ग्रामा गोकुलाद्यभावादवग्रहीतव्यं किमपि तत्र नास्ति। अथ सक्रोशमाह।

सेसे सकोसमंडल, मूलनिबंधणअणुमयंताणं।
पुव्वट्ठिताण उग्गहो, सममंतरपल्लिगा दोण्हं॥

शेषं नाम यदनन्तरोक्तव्याघातरहितं तत्र मूलनिबन्धनं मण्डलम्-सुमतां सर्वतः सक्रोशं योजनमवग्रहो भवति। कथमिति चेदुच्यते। मूलग्रामादेकैकस्यां दिशि योजनार्द्धमर्द्धक्रोशेन समधिकं तावदवग्रहो भवति। स च पूर्वापराभ्यां दक्षिणोत्ताराभ्यां वा कृत्वा सक्रोशं योजनं भवति। यद्वा गतिप्रत्यागतिभ्यामेकस्यामपि दिशि योजनं मन्तव्यं तत्र सक्रोशे अक्रोशे वा ये पूर्वस्थितास्तेषामवग्रहो भवति। यत्र समकमनुज्ञापितं तत् क्षेत्रं साधारणम्। अथ संवट्टेषु क्षेत्रेषु समकमेवाप्रज्ञापितं ततो यदि द्वे अन्तरपल्लिके तत एकेषामेका अपरेषामप्येका। अथैकैवान्तरपल्लिका ततो द्वयोरपि साधारणः। अथ बहवस्तत्रान्तरपल्लिकास्ततः को विधिरित्याह।

खेत्तरसंतो दूरे, आसण्णं वा ठिताण समगंतुं।
अद्धद्धं वा दुगाई, गच्छाण साहारणा होई॥

द्वित्रिप्रभृतिषु संबन्धेषु क्षेत्रेषु समकमनुज्ञाप्य स्थितानां काश्चिदन्तरपल्लिकाः क्षेत्रान्तः क्षेत्रस्याभ्यन्तरे भवन्ति (दूरेत्ति) काश्चित्तु दूरे याभ्यः समुदानमूलग्रामानीयमानं क्षेत्रातिक्रान्तं भवतीति कृत्वा प्रथममालिकायां तन्निषीदार्हते (आसन्नेत्ति) काश्चित्पुनरासन्ने याभ्यः समुदानं मूलग्राममानीयमानं क्षेत्रातिक्रान्तं न भवति ततो यावत्यस्ता अन्तर पल्लिकास्तासां सर्वासामपि अर्द्धं वा अर्द्धार्द्धं वा चतुर्भाग इत्यर्थः। वा शब्दात्त्रिभागादिकं चादिद्विकादीनां द्वित्रिप्रभृतीनां गच्छानां साधारणं भवति अथात्रैव भाव्यनोभाव्य-विधिमाह।

तणडगलच्छारमल्लग, संथारगभत्तपाणमादीणं।
सलिलं ते अस्सामी, खेत्तिय ते मोत्तु णुण्णवणा।

तृणडगलक्षारमल्लकसंस्थारकभक्तपानादीनां सति विद्यमाने प्राघूर्णे लाभे क्षेत्रिका अस्वामिनः अक्षेत्रिकाणामप्येतान्यभवन्तीत्यर्थः। (ते मोत्तु णुण्णवणत्ति) येषां तृणादीनां क्षेत्रिकैरनुज्ञापना कृता तानि मुक्त्वा तान्यक्षेत्रिकाणां नो भवन्तीति भावः। किं पुनः क्षेत्रिकाणां भवतीत्युच्यते।

ओहो उवग्गहो विय, सचित्तं वा वि खेत्तियस्सेते।
मोत्तूणं पडिहारिय, संथरंतेवणुण्णवणा॥

ओघोपधिरुपग्रहोपधिश्च। सचित्तं वा शैक्षादिकम्। एतानि क्षेत्रिकस्याभवन्ति। यद्यक्षेत्रिका एतेषमिकतर गृह्णन्ति तदा प्रायश्चित्तं परं मुक्त्वा प्रातिहारिकं द्विविधमप्युपधिं तं गृहस्थेभ्यो मार्गयन्तो न प्रायश्चित्तभाज इति हृदयम्। यः पुनर प्रातिहारिकस्तं न लभन्ते। अथ शीतादिना परिताप्यन्ते तत

एवमसंस्तरद्भिर्वस्त्रादेरनुज्ञापना कर्त्तव्या क्षेत्रिकैरपि संस्तरद्भि तेषामनुज्ञाकर्तव्या।

जइ पुण संथरमाणा, ण दिंति इतरे व तेसिं गण्हंति ।
तिविधं आदेसो वा, तेण वि ण जाय परिहणी ।।

यदि पुनः संस्तरन्तः क्षेत्रिकाः असंस्तरन्तः सक्षेत्रिकाणां वस्त्रादिकं न प्रयच्छन्ति इतरे वा अक्षेत्रिका असंस्तरन्तोऽपि तेषां क्षेत्रिकाणामनापृच्छ्य वस्त्रमोटिका वा गृण्हन्ति ततस्त्रिविधं जघन्यमध्यमोत्कृष्टनिष्पन्नं पञ्चकमासलघुचतुर्लघुलक्षणं प्रायश्चितम्। सूत्रस्यादेशाद्वा नवमं तेन व स्त्रादिना जायते परिहाणिस्तन्निष्पन्नमपि तेषां प्रायश्चित्तम्।

इदमेव व्यक्तीकरोति।।

जे खेतिया मोत्तिण दैंति थागं, लंभेवि जागंतु वयं तहाणं ।
पेल्लंतिवागंतु असंथरम्मि, चिरं व दोण्हंपि विराहणाओ ।

ये क्षेत्रिका वयमिति कृत्वा भक्तपानादेः प्राचुर्येण लाभेऽपि अन्येषां (थागं) अवकाशं न प्रयच्छन्ति तत आगन्तुकानां व्रजतां या परिहाणिर्भवति ततस्तेषां प्रायश्चितम्। अथ क्षेत्रिणामसंस्तरणेऽप्यागन्तुकाः प्रेरयन्ति प्रेष्यं विना तिष्ठन्ति ते चागन्तुकाः आदेशिकाः प्राघूर्णकाश्च ततश्चिरं वा प्रभूतं कालं वा- शब्दादल्पं वा कालं न संस्तरणं तेषां भवेत् ततो द्वयेषाम- प्यागन्तुकानां वास्तव्यानां च या विराधना तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। यत एवमतः।

अत्थि हु वसभग्गामा, कुदेसणगरोवमासुहविहारा ।
बहुवत्युवग्गहकरी, सामच्छेदेण वसियव्वं ।

सन्ति विद्यन्ते वृषभग्रामा इहाचार्य आत्मद्वितीयो गणावच्छेदकश्चात्मतृतीय एष पञ्चको गच्छो भवति। ईदृशास्त्रयो गच्छाः पञ्चदश जनाः एते यत्र ऋतुबद्धे निर्वहन्ति वर्षासु पुनः सप्तको गच्छस्तद्यथा आचार्य आत्मतृतीयो गणावच्छेदक आत्मचतुर्थः। ईदृशास्त्रयो गच्छाः पञ्चविंशतिजना भवन्ति। एते यत्र वर्षावासे जघन्येन निर्वहन्ति ते वृषभग्रामा उच्यन्ते ते च कीदृशा इत्याह। कुदेशस्य यन्नगरं तेनोपमा येषां ते कुदेशनगरोपमास्ते च सुखविहाराः सुलभभक्तपाना निरुपद्रवाश्च। अत एव बहूनामन्थतरोक्तप्रमाणानां त्रिप्रभृतीनां गच्छानामुपग्रहकरस्तत्तस्तेषु सीमाच्छेदेन बहुभिरपि गच्छैर्वस्तव्यम्। न कैरपि परस्परं मत्सरो विधेय इति भावः। सीमाच्छेदो नाम साहिका ग्रामार्द्धवाटकादिविभजनम्। यथा अस्यां साहिकायां भवद्भि पर्यटनीयम् अस्यां पुनरस्माभिरित्यादि। यद्वा ये तत्र क्षेत्रे समकं प्राप्तास्तैः समच्छेदेन वस्तव्यं यथा युष्माकं सचित्तमस्माकम- चित्तम्। अथवा युष्माकमन्तः अस्माकं बहिः युष्माकं स्त्रियोऽस्माकं पुरुषाः युष्माकं श्राद्धाः अस्माकमश्राद्धाः। अथवा यो यल्लप्स्यते तत्तस्यैव न दातव्यम्। इदमेव व्याख्यानयति।।

एकवीस जहण्णेणं, पुव्वट्ठिते उग्गहो इतरे ।
पल्लीपडिवसभे वा, सीमाए अंतरागासे ।।

पूर्वोक्तनीत्या वर्षासु एकविंशतिजना उपलक्षणत्वादृतुबद्धे पञ्चदश जना यत्र जघन्येन संस्तरन्ति स वृषभग्राम उच्यते। उत्कर्षतस्तु द्वयोरपि कालयोर्द्वात्रिंशत्सहस्रसंख्याको गच्छो यत्र सस्तरति स वृषभग्रामः। यत्र ये सीमाच्छेदो विधातव्यः। कथमित्याह (पल्लीइत्यादि) युष्माभिरन्तरपल्लयां पर्यटनीयमस्माभिः प्रतिवृषभग्रामेप्रतिवृषभो नाम मूलग्रामाद द्धयोजने महान्ग्रामः। अथवा अन्तरपल्ल्याः प्रतिवृषभस्य वा अर्द्धं युष्माकमर्द्धमस्माकमेवं सीमायां मूलग्रामस्य प्रतिवृषभग्रामस्य चान्तरा योग्रामस्तस्याप्यर्द्धं युष्माकमर्द्धमस्माकमेत चलमनिन्द्रं च क्षेत्रं मन्तव्यम्।

अथाचलसैन्द्रक्षेत्रमाह।।

इंदरकीलमणोग्गहो, जत्थ य राया जहिं च पंच इमो ।
सत्थसन्तपुरोहिया, सेणाव तिसत्थवाहे य ।।

इन्द्रकीलको नाम इन्द्रस्थूणा सा यत्रोत्तिष्ठति इदं मातृकायास्तत्रायमवग्रहो न भवति। अनिन्द्र कीलकोऽपि यत्र राजा मूर्द्धाभिषिक्तः परिवसति (रायाजहिंपंचत्ति) यत्र पञ्चवसन्ति। श्रेष्ठी अमात्यः पुरोहितः सेनापतिः सार्थवाहश्चेति।

अहण सीए व समोसरे वा विराहण अणुयाणे ।
एतेसु णत्थि उग्गहो, वसहीए य मग्गणं अखेत्ते ।।

अथ शीर्षकं नाम यतः परं समुदायेन गन्तव्यं सम्यग्मार्ग वहना तत्र मिलितानाम् समवसरणं नाम कुलसमवायो गण समवायः संघसमवायो वा एतेषु वसता तदवग्रहस्य मार्गणा कर्तव्या। अथ किमर्थमेतेष्वग्रहो न भवतीत्युच्यते।

बहुजणसमागते तेसु, होति बहुगच्छमणिवातो य ।
मो पुव्वं तु तदट्ठा--पेल्ले व अकोविया खेत्तं ।।

तेष्विन्द्रकीलकादिषु बहु प्रभूतस्य जनस्य समागमो भवति अध्वशीर्षकादिषु च बहूनां गच्छानां सन्निपातो मीलको भवति। अतः केचिदकोविदस्तदर्थं क्षेत्रमदिमस्माकमेवाभाव्यं भवत्विति कृत्वा पूर्वमन्ये इह प्रथमं समागत्य मा क्षेत्रं प्रेरयेयुरित्येतेषु भावावग्रहो ऽधिक्रियते। इदमेव भावयति।

सद्धादलं ता उवहिम्मि सिद्धा,
सिद्धे रहस्सम्पि करेज्ज गंतुं ।
एमावयंते यणमच्छरेणं,
तित्थस्स सद्धी दुहतो वि हाणी ।।

तथेन्द्रकीलादौ श्राद्धा केषांचिदाचार्याणामुपधिं वस्त्राद्युपकरणं दातुं लग्नास्ते च न वर्तन्ते अस्माकमिदं गृहीतुमिति भणित्वा ते निषिद्धाः ततः श्राद्धाः पृच्छेयु प्रेषणीयान्यप्यन्नानि वस्त्राणि किमिति न कल्प्यन्ते ततो दूरत्वान्नास्माकममूनि आभवन्तीति लक्षणं तेषां पुरतः कथयितव्यम्। तदेव विशिनष्टि कथिते सति ते श्राद्धाः मन्युमग्रीतिं वा कुर्वीरन्। ये च सलब्धयो धर्मकथादिलब्धिसंपन्नास्ते मत्सरिणः वयं किमपि तावन्न लप्स्यामहे अतः किमर्थमेवं प्रयासं कुर्म इत्यनुशयेन तीर्थं धर्मकथादिना न प्रभावयन्ति। ततो (दुहतो विहाणित्ति) द्वयोरपि सचित्ताचित्तलाभयोः परिहाणिर्भवति। तत्र सचित्तहानिः कोऽपि देश-विरतिं वा न प्रतिपद्यते। अचित्त हानिराहार वस्त्रादि तथाविधं न प्राप्यते अत एव तेषु नावग्रहो भवति। वसतिं प्रतीत्य पुनरेतेष्वपि भवति कथमित्याह।

एगालद्वियाणं, तुमग्गणा दूरिमग्गणा नत्थि ।
आसण्णे तुट्ठियाणं, तत्थ इमा मग्गणा होइ ।।

एकालय एकस्यां वसतौ स्थितानामवग्रहस्य मार्गणा भवति तत्रा यः पूर्वं तस्यां वसतौ स्थितस्तस्य सचित्तमचित्तं वा आभवति असमकं द्वौ बहवः स्थितास्तदा साधारण सा वसतिः। ये तु तस्या वसतेर्दूरे स्थितास्तेषामवग्रह-

स्य मार्गणा नास्ति । ये पुनरासन्ने स्थितास्तेषामियमवग्रहस्य मार्गणा भवति ।

सज्झायकालकाइय–निल्लेवण अत्थणा असति अंतो ।
वसहिगमो पेल्लंते, वसहा पुण जसेसु पुण ।।

अन्तः प्रतिश्रयस्याभ्यन्तरे यदि स्वाध्यायभूमेः कायिकभूमेः पात्रनिर्लेपनभूमेरासनं ध्यानादिनिमित्तमुपवेशनं तद्भूमेश्चाभावस्ततो या बहिः स्वाध्यायभूमिप्रभृतयस्ताः समकमनुज्ञापिताः साधारणाः । अथैके पूर्वस्थिता अपरे च पश्चात्तत्रः पूर्वस्थितानामवग्रहः पश्चादागतास्तु पूर्व- स्थिताननुज्ञापयन्ति यदि ते प्रेर्यमाणा अवकाशेन जानन्ति इतरे च तै तमप्रेर्यमाणं प्रेषयन्ति ततो वसतिविषयेऽपि स एव प्रायश्चित्तादिगमो भवति । यः पूर्व क्षेत्रं प्रेरयतामुपलक्षणत्वादनुज्ञापियतुं चोक्तः वसतिः पुनरिह या समापूर्णा श्रमणराजकुला तस्याः प्रेरणायां दोषाः मन्तव्याः । उक्तमचलक्षेत्रम् ।

अथ चलमाह ।

वइगामत्थो सेणा, संवट्टे चउविहं चलं खेत्तं ।
एतेसिं णाएत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ।।

व्रजिकार्थसेनासंवर्त्त इति चतुर्विधं चलक्षेत्रम् । एतेषां चतुर्णामपि नानात्वं वक्ष्यामि यथानुपुर्व्या प्रतिज्ञातमेव करोति ।

जेणोग्गहिता वइगा, मागंतह दूहभंडिपरिभोगा ।
समवइगपुव्वउग्गह साहारण जं व णीसाए ।।

येन साधुना सा व्रजिका पूर्वभवगृहीता स व्रजिकावग्रहस्य स्वामी भवति । तस्य व्रजिकावग्रहस्य किं प्रमाणमिति चिन्तायां नैगमपक्षाश्चिता इमे आदेशाः । तत्रैक आचार्यदेशीयो भणति यावत्प्रमाणं भूभागं गावश्चत्वारश्चरितुं व्रजन्ति तावान् व्रजिकाया अवग्रहः । अपरो ब्रवीति । (तहत्ति) तीर्थं जलपानस्थानमित्येकोऽर्थस्तत्र जलपानार्थं गावो यावद्गच्छन्ति अन्यः प्राह (दुहत्ति) यत्रोपस्थाने गावो दुह्यन्ति । आचार्यः प्राहत्रयोऽप्येते अनादेशाः अयन्तु समीचीन आदेशः (भंडिपरिभोगेत्ति) यावति भूभागेभण्डिका गन्त्र्य स्तिष्ठन्ति यावच्च व्रजिकायाः समीपे गोभिःपरिभुक्तं एतावद्व्रजिकावग्रहस्य प्रमाणं मन्तव्यम् । तत्र च यदि समकं द्वौ साधुवर्गावेकस्यांव्रजिकायां स्थितां तदा साधारणा सा व्रजिका । अथैकः पूर्वं स्थितो द्वितीयस्तु व्रजिकान्तरेण समं पश्चादायातस्ततः पूर्वस्यावग्रहो भवति । अथ परस्परनिश्रया स्थिस्ततः साधारणं तत् क्षेत्रम् । यस्याश्च व्रजिकाया निश्रया द्वितीया व्रजिका स्थिता तस्यां ये साधवस्तेषामवग्रह आभवतीति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुरगादेशत्रयं निरस्याचार्यो न तं तावद्विभावयति ।

णिगोयरे णोबणगोणियाणं, णोबद्धदुब्भेति व जत्थ गावे ।
अन्नत्थगेणेदिसु जत्थ खुण्णं, सउग्गहो सेसमणुग्गहो तु ।।

न गोचरो गवां चारिस्थानं नैव च गवां यत्र पानं नैव यत्रोपस्थाने गावो दुह्यन्ते किंतु व्रजिकाया अटव्यामेव गवादिभिर्यावत्क्षुण्णम् । आदि शब्दाद्वन्त्रीभिश्चयावदाकान्तं तावानवग्रहः शेषं तु गोचरदिस्थानं सर्वमप्यनवग्रहः ।

जइ समगं दो वइगा–ट्ठितानुसाधारणं ततो खेत्तं ।
अणवइगापसहिता, तत्थेवण्णेट्ठित्ता अप्पत्ता ।।

यदि समकमेकस्यां व्रजिकायां द्वौ गच्छौ स्थितौ ततः साधारणं तत्क्षेत्रम् । अथ काचिद्व्रजिका पूर्वं साधुभिरवगृहीता तत्रान्ये साधवोऽन्यया व्रजिकाया सहिताः पश्चादागतास्तत्र च व्रजिकायां स्थितास्तदा ते पश्चादागता अप्रभवः पूर्वस्थिता एव स्वामिन इति ।

अन्नोन्नं णीसाए, ठिताण साधारणं तु दोण्हं पि ।
णीसट्ठिताए अपत्ते, तत्थ वत्थण्णत्थववसंता ।

अथ पूर्वस्थिताः पश्चादागता अन्योन्यं परस्परं निश्रया स्थितास्तेषां द्वयेषामपि साधारणं क्षेत्रम् । अथ पूर्वस्या व्रजिकाया निश्रया स्थितायाः आगन्तुकव्रजिकायां ये साधवो वर्तन्स ते ऽत्र तव अन्यत्र ये वसन्तोऽवग्रहस्याप्रभवो न स्वामिनः किमर्थमन्यस्या व्रजिकाया निश्रां सा व्रजिका प्रतिपद्यते । उच्यते ।

दुग्गाट्ठिआवीरअहिट्ठिए वा, करेण वाणेव ठिएहिं पुव्वं ।
भएणा तेयस्सव कारणेणं, वपंतगाणं खलु होइ णिस्सा ॥

दुर्गं स्तेनपरचक्राद्यगम्यस्थाने स्थिता साऽन्या व्रजिका । यद्वा वीरेण स्वामिना अधिष्ठिता अथवा तैः प्रथमव्रजिकासबंन्धिभिर्गोकुलिकैस्तत्र निपानं जलपानस्थानं कृतस्त्यमस्ति ततो यस्य वा कारणेनं तस्यां व्रजिकायां तिष्ठतामपरेषां गोकुलिकानां निश्रा भवति एवमादिका व्रजिका येन कारणेन पूर्वस्या निश्रा प्रतिपद्यते तदमिहितम् । अथ गन्तुकायाः मिश्रा यथा पूर्वं प्रतिपद्यते तथा दर्शयति ।

भयेण उत्थेउ मणा, वइगा अण्णाय तत्थ जइ पज्जा ।
पच्छापत्ते निस्सा, जे पुव्वट्ठियाण ते पभुणे ।।

काचिद् व्रजिका भयेनोत्थातुमना प्रचलितुकामा अन्या च नवा व्रजिका यदि तत्रागच्छेसा च बलवता परिग्रहीता ततः पश्चात्यात्राप्ताया अपि तस्या निश्रा पूर्वं प्रतिपद्यते ततो ये पूर्वस्थिताः साधवस्ते अवग्रहस्य न प्रभवः किंतु पश्चात्प्राप्ता इति । अथ व्रजिकाया एव प्रकारान्तरमाह ।

वइयाए उ ट्ठियाए, अत्थंते अहव होज्ज गेल्लन्नं ।
अण्णे तत्थ पविट्ठा तम्मिव अण्णम्मि वा होतु ।।

यस्यां व्रजिकायां साधवः स्थिताः । अन्या च तत्रागन्तुकामा तैः श्रुता तत उत्थितायामपि व्रजिकायां तिष्ठताम् । अथवा ग्लानत्वं कस्यापि साधोर्भवेत् ततस्तत्रैव स्थितानामन्ये गोकुलिकाः साधुनिः सहितास्तत्र व्रजिकास्थाने प्रविष्टास्ते च तत्र अन्यत्र तीर्थे गाः पानीयं पातुं ययुरन्यत्र वा ततोऽत्रावग्रहमार्गणा क्रियते ।

जइ वा कुडीपडालिसु, पुव्विल्लकतासु ते ठिता संता ।
आणम्मिवि पज्जेत्ता, तुहे अस्सामिणो होंति ।।

वा शब्दः प्रकारान्तरद्योतकः यदि ते आगन्तुका पूर्वगोकुलि ककृतासु कुटीपडालिकासु स्थितास्ततो ऽन्यस्मिन्नापि तीर्थे गाः पाययन्तोऽस्वामिनो भवन्ति ततो यदि ते पूर्वस्थिताः साधवो निष्करणिकास्तदा न प्रभवः । अथ ग्लानादिकारणे स्थितास्तदा ते स्वामिनो नागन्तुकास्तत्रावग्रहस्य प्रभव

अन्नत्थ वावि काउं, पाइंति कइल्ल पज्जइ निव्वाणो ।
ते खलु न हुंति पहुणो, स भवे तहे पहू हुंति ।।

यद्वा पूर्वकताः कुटीपडालिका वर्जयित्वा अन्यत्र स्थाने स्थिता आगान्तुका गोकुलिका यदि पूर्वैः कृते निपाते गाः पाययन्ति तदा ते आगन्तुकाः साधवो न प्रभवो भवन्ति । यदि तु स्वभवे तीर्थे स्वाभाविके निपाते पाययन्ति तदा आगन्तुकाः साधवः प्रभव इति

एमेव मासकप्पे, अतीरिए उट्ठिया य पत्तियरा।
पुव्विल्ला हुंति पइ–पुण्णे हठिए न लहंति।।

एवमेव अतिरिक्ते असंपूर्णे मासकल्पे उत्थिता या पूर्वव्रजिका तच्च प्राप्ता ततः पूर्वसाधव एव प्रभवः। अथ मासकल्पः पूर्णस्ते च दृष्ट्वा अग्लाना अपि तत्रैव स्थितास्ततो नावग्रहं लभन्ते पश्चात्प्राप्ता एव तत्र प्रभव इति।

फासुगगोयरभूमी, उच्चारे चेव वण्णवसहीए।
इड्ढावि लभंते व, तदभावे पच्छ जे पत्ता।।

अथ तत्र प्रासुका गोचरभूमिः उच्चारभूमिश्च विद्यते वसतिश्च छन्ना प्राप्यते। अन्यत्र तत्र तथाविधमाप्ति ततो दृष्ट्वा अथैव ममन्तरोक्तयुक्तया लभन्ते तद्भावे अनन्तरोक्तकारणाभावे ये पश्चात्प्राप्तास्त एव लभन्ते। गतं व्रजिकाद्वारम्।

अथ सार्थद्वारमाह।

जेण गहिओ सत्थो, जेण य सत्थ होइ समदोण्हंति।
जा वइया पडिसत्था, पुव्व द्वियसाहारणं जं च।।

येन साधुना सार्थः पूर्वं गृहीतो येन वा सार्थवाहः पूर्वमनुज्ञापितस्तस्यावग्रह आभवति। अथ समकमनुज्ञापितस्ततोद्वयोर प्यवग्रहः यावन्तश्च प्रति सार्था मीलनार्थमर्थाल्लघुतरास्तत्र समागत्य मिलन्ति तेषु ये साधवस्ते पूर्वस्थितानामुपसंपन्ना भवन्ति। यत्र परस्परंनिश्रया द्वौ सार्थौ तिष्ठतस्ततः साधारणं मन्तव्यमिति। एतदेव स्पष्टयति।

सत्थे सहप्पघाणा, एक्केणक्केण सत्थवाहेउ।
ओपुच्छियावि दिण्णो, दोण्हवि मिलिया व एगट्ठा।

सार्थे येकेऽपि अथवा प्रधानाः पुरुषास्ते एकेनानुज्ञापिता एकेन साधुना सार्थवाह आदिष्टस्ताभ्यां चोभयोरपि वितीर्णमनुज्ञापितं ततो येन कृतं नातिक्रम्यते तेन यस्मै प्रदत्तं तस्यावग्रहः।। अथ द्वावप्यन तिक्रमणीयौ ततो द्वयोरपि साधारणं क्षेत्रम्। अथ द्वावप्येकत्र मिलितौ अनुज्ञापितौ ततो येन पूर्वमनुज्ञापितस्तस्यावग्रह इति।

इंतं महल्लसत्थं, डहरा गोपडिच्छएण तो पभुणो।
तुरियं वा आघावति, मएण एमेव अस्सामी।।

महल्लं वृहत्तरं कमपि सार्थमागच्छन्तं डहरको लघुतरः। सार्थप्रतिकृते ततो ये लघुतरसार्थवासिनः साधवस्ते नावग्रहस्य प्रभवः। यो वा सार्थो भयेन त्वरितं वृहत्तरसार्थं मिलनाय धावति तत्रापि ये साधवस्ते एवमेव स्वामिनः। वृहत्तरवासिन एवावग्रहस्य स्वामिन इति भावः।

अह वीमज्झंगिणादी, दुग्गं वा एत्थ दोवि वसिऊणं।
वाले हामो पभाए, णिस्सा साधारणं कुणइ।।

द्वौ सार्थमेकत्र मिलितौ परस्परमित्थं निश्रां कुरुते यथा यदिदमटवीमध्ये नदी दुर्गं वा विद्यते अत्र द्वयेऽपि जना रात्रा वुषित्वा प्रभाते चलयिष्यामः। पुरतो गमिष्यामः इति परस्पर साधारणां निश्रां यत्र कुरुतस्तत्र सचित्तादिकं सर्वमपि साधारणम्। गतं सार्थद्वारम्। अथ सेनाद्वारमाह।

सेणाए जत्थ राया, अरणे अहो जत्थ पविट्ठो।
सो सेसम्मि उग्गहो, जो उ वइगा य सो इहइं।।

यत्र यस्यां सेनायां राजा भवति तत्रावग्रहो न भवति यत्र वा ग्रामादौ क्षेत्रे स राजा प्रविष्टस्तत्र यद्यप्यन्ये साधवः पूर्वं स्थिताः सन्ति तथापि यावन्तं कालं स तत्रास्ते तावन्नावग्रहः।।

शेषं नाम यत्र ग्रामादौ राजा न प्रविष्टो यो वा शून्यसेनो राजक इत्यर्थस्तत्रावग्रहो भवति परं तत्र यो व्रजिकायां गम उक्तः स इहापिमन्तव्यः। गतं सेनाद्वारम्।

अथ संवर्तद्वारमाह।

नागर गो संवट्टो, अणोग्गहो जत्थ वा य विहो सो।
सेसम्मि उग्गहो जो, गामाउ सत्थम्मि सो इहइं।।

नागरको नगरसंबंधी संवर्त्तोऽनवग्रहो न तत्रावग्रहो भवति। यत्र वा ग्रामादौ स नागरकः संवर्तः प्रविष्टस्तत्रापि नावग्रहः। शेषो ग्रामेयकसंवर्त्तस्तत्रावग्रहो भवति परं य एव सार्थे ग्राम उक्तः स एवेह द्रष्टव्यः।। वृ० ३ उ०।

(१६) क्षेत्रात्यागसमय एवागता अपरे तर्हि स एवावग्रहः।

(सूत्रम्) जद्दिवसं समणे निग्गंथा सिज्जासंथारयं विप्पजहंति। तद्दिवसं अवरे समणा निग्गंथा हव्वमागच्छिज्जा सव्वे व उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमविग्गहो।।

अस्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह।

उग्गहए व उवगतो, सागरिय उज्झहा उ साधम्मी।
रहितं व होइ खित्तं, केवतिकाले स संबंधो।।

पूर्वसूत्रे तावदवग्रह एव प्रकृतः प्रस्तुतो वर्त्तते। "दोवंपि अप्पुण्णवित्ता" इति वचनात्। इदमपि प्रकृतसूत्रमवग्रहविषयम्। यद्वा पूर्वसूत्राद्वये सागारिकावग्रह उक्तः इह तु सागरिकावग्रहादनन्तरं साधर्मिकावग्रहः प्रतिपाद्यते। अथवा पूर्वसूत्रेषु संस्तारकं प्रत्यर्प्यविहारः कर्तव्य इत्युक्तमत्र तु विहारे कृत तैः साधुभिर्विह -रितमपि तत्क्षेत्रं कियन्तं कालमवग्रहयतं भवतीति निरूप्यते एष संबन्धः। अनेनायातस्यास्य व्याख्या (जद्दिवसंति) प्राकृतत्वात्सप्तम्यर्थे द्वितीया ततो यस्मिन्दिवसे श्रमणा निर्ग्रन्थाः शय्या च वसतिः संस्तारकश्च। तृणफलकात्मकं शय्यासंस्तारकम् अत्र शय्याग्रहणेन ऋतुबद्धकालः सूचितः संस्तारक-ग्रहणेन तु वर्षाकालः। अथ कारणजाते ऋतुबद्धो यः संस्तारको गृहाते इति कृत्वा संस्तारकग्रहणेन द्वावपि गृहीतौ ततः मासकल्पे वर्षावासे वा पूर्णे शय्या संस्तारकं वा यस्मिन् दिवसे पूर्वस्थिताः साधवो विप्रजहति परित्यजन्ति तद्दिवस एवापरे श्रमणा निर्ग्रन्थास्तत्र क्षेत्रे हव्वं शीघ्रमागच्छेयुः ततः क्षेत्रेवग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति। किमुक्तं भवति। य एव ततः क्षेत्रान्निर्गतास्तेषमेवावग्रहेण ततक्षेत्रं यत्तु तद्दिवसमन्ये आगतास्ते क्षेत्रोपसंपन्ना इति कृत्वा यत्तत्र सचित्तादिकं तत्पूर्वस्थिता-नामाभाव्यं कियन्तं कालं यावदित्याह (अहालंदमविग्गहे) इह यस्यां वेलायां ते साधवो निर्गतास्तावतीं वेलां यावद् द्वितीयेऽप्यहि तेषामेवावग्रहो भवतीति वक्ष्यते। यतो यथालन्दमिहाष्टपौरुषीप्रमाणं मध्यमं गृह्यते एतावन्तमपि कालं तदीय एवावग्रहे तत्क्षेत्रम् अतो यद्यागन्तुकास्तत्र सचित्तादिग्रहणं कुर्वन्ति तदा साधर्मिकाः स्तैन्यप्रत्ययं प्रायश्चित्तमा पद्यन्ते। अत्र तु सचित्तनोधिकार इति सूत्रार्थः। अथ निर्युक्तिविस्तरः। तत्र सचित्तावग्रहशैक्षविषय इति कृत्वा प्रथमतस्त दुत्पत्तिं दर्शयति।

सुत्तत्थतदुभयोवि–सारए य धम्मकहिवाई।
कालदुअम्मि व संते, उवसंतो स अण्णगामजणो।।

कालधर्मे ऋतुबद्धवर्षावासलक्षणे क्वचित्क्षेत्रे वसतां स्वग्रामजनस-कोशयोजनाभ्यन्तर वर्त्यन्यग्रामजनश्चोपशान्त प्रतिबद्धः

कथमित्याह । सूत्रमर्थस्तदु भयविशारद आचार्यः सातिशयं प्रवचनव्याख्यानं करोति । क्षपको मासक्षपणादितपस्तप्यतो धर्मकथाक्षीराश्रवादिलब्धिसंपन्नतया वैराग्यजननीं धर्मकथां विदधाति । वादी परवादिनं निरुत्तरी करोति । एवमादिभिः प्रभावकैः स्वग्रामीणोऽन्यग्रामीणश्च भूयान् जातः प्रव्रज्यायां परिणतः कृतः ॥

नीरोगेण सिवेण य, वासो वासासु णिग्गया साहू।
अण्णे वि य विहरंता, तं चेवय आगता खित्तं ॥

नीरोगेण ग्लान्यभावेन शठेन च राजादौ स्थाय्युपल्लवाभावेन वर्षावासं कृत्वा ते साधवो निर्गताः। इह वर्षावासे भूयान्काल एकत्र स्थीयते ततः प्रभूतलोकस्योपशमो भवतीत्यभिप्रायेण वर्षावासग्रहणं कृतम्। अन्यथा ऋतुबद्धेऽपि मासकल्पा नन्तरमेव विहारः संभवति एवं ते ततः क्षेत्रान्निर्गताः अन्ये च साधवो विहरन्तस्तदेव क्षेत्रमागतास्तत्रावग्रह चिन्तां चिकीर्षुराह।

खित्तोग्गहप्पमाणं, तद्दिवसं केति के तहोरत्तं।
जं वेला णिग्गयाणं, तं वेलं अण्णदिवसम्मि।।

इह केचिदाचार्याः क्षेत्रावग्रहस्य कालप्रमाणं ब्रुवते यस्मिन्दिवसे ते निर्गतास्तमेवैकं दिवसमवग्रहस्तत ऊर्ध्वं रात्रावधग्रहो व्यवच्छिद्यते। केचित्तु भणन्ति अहोरात्रमवग्रहः । द्वितीये ऽह्नि सूर्योदयेऽवग्रहो व्यवच्छिद्यत इति भावः । सूरिराह द्वावप्येतावनादेशौ अयं पुनरादेशो यस्यां वेलायां निर्गतास्त स्यामेव वेलायां यावदन्यस्मिन् दिवसे अवग्रहो भवति ततः परं व्यवच्छिद्यते इत्थं कालतः प्रमाणमुक्तम् । क्षेत्रतस्तु सर्वतः क्रोशयोजनमवग्रहस्तत ऊर्ध्वमनवग्रह इति।

खित्तम्मि य वसहीयय, उग्गहो तहिं सिक्खमग्गणा होइ।
ते वि य पुरिसा दुविहा, रूवं जाणं अजाणं व।।

इहावग्रहः क्षेत्रे या भावे वा वसतौ वा यदिन्द्रकीलादिवर्जितं ग्रामनगरादि तदिह क्षेत्रं मन्तव्यं तत्रावग्रहं प्रतीत्य शैक्षमार्गणा कर्त्तव्या। कस्य भवति कस्य वा नेति विचारयितव्यमित्यर्थः । यत्पुनरिन्द्रकीलकादियुक्तं तदवग्रहयोग्यं क्षेत्रंन भवतीत्य क्षेत्रमभिधीयते तत्र वसतिविषया शैक्षमार्गणा भवति । सा चोपरिष्टात्करिष्यते । क्षेत्रविषयां तावत्करोति (ते वि य इत्यादि) ये पुरुषास्तत्र क्षेत्रे प्रव्रज्यां ग्रहीतुमाया तास्ते द्विविधाः एके रूपं जानन्तो परे अजानन्तः । इदमेव व्यक्तीकरोति।

जाणंता जानंता, चउव्विहा तत्थ होंति जाणंता।
उभयं रूपं सद्दं, चउत्थओ होइ जसकित्ती।।

जानन्तोऽजानन्तश्चेति शैक्षा द्विविधाः । तत्र जानन्तस्तावश्च-तुर्विधास्तद्यथा एकः शैक्षो विवक्षितक्षेत्रस्थितस्याचार्यादिरुभयं रूपं शब्दं च जानाति । धर्मकथाश्रवणार्थं शिष्यः समागतो रूपेण च तमुपलक्षयतीत्यर्थः । द्वितीयो रूपं जानाति न शब्दम् तृतीयः शब्दं न तद्रुपं चतुर्थश्च पुनर्यशः कीर्तिं जानाति यशः सर्वदिग्गामिनी प्रसिद्धिः सैवैकादिग्गामिनी कीर्त्तिः यश उपलक्षिता कीर्तिर्यशः कीर्तिरिति समासः । यस्तु रूपशब्दयशःकीर्तीनामेकमपि न जानाति सोऽजानान उच्यते अथ द्वितीयभङ्गमादौकृत्वा यथाक्रममूनेव भङ्गान् व्याचष्टे।

उच्चारचेतिमाति सु, पासति रूपं विणिग्गयस्सागो।
रत्तिं उ चिंतणिंतो, कासगमाढ ी मुणति सव्वं।।

चाउत्थो जसकित्तिं, सुणइ सगेमेव सगिहवासी वा।
उभयं रूवं सद्दं, कित्तिं व ण जाणते चरिमो।।

उच्चारभूमिचैत्यवन्दनादिषु कार्येषु विनिर्गतस्याचार्यादि रूपं पश्यति चैको द्वितीयः शैक्षः पश्यति न पुनः स्वरेण जानीते उपाश्रये तस्यानागमनात्। तृतीयस्तु शैक्षः कर्षणादिकर्षकः कृषीवलस्तत्प्रभृतिकः सकलमपि दिवसं क्षेत्रादौ स्थित्वा रात्रौ प्रदोषे गृहमुपागच्छन् प्रभाते च भूयोऽपि निर्गच्छेत् । धर्मकथायांप्रवर्तते न तु रूपमवलोकते चतुर्थस्तु शैक्षः स्वग्रामवासी वा दूरस्थः सन् तद्रूपं पश्यति न च धर्मकथा दिशब्दं शृणोति किन्तु लोकमुखेन तेषामाचार्यदीनां यशः कीर्तिं शृणोति । यस्तु चरमोऽजानानः शैक्षः स रूपशब्दात्मकमुभयं कीर्तिं च न जानाति परं गृहवासनिर्विण्णतया प्रव्रज्रयां ग्रहीतुमायातः । वास्तव्यशैक्षः पञ्चविध उक्तः।

वायादुओति एवं, पंचविहो आणुपुव्वीए।
एएसिं संहाणं, पत्तेयं मग्गणा इणमो।।

वाचादूतो नाम आगन्तुकः शैक्षः सोऽप्येवमेव तस्य शैक्षवत्पञ्चविध आनुपूर्व्या यथोक्तपरिपाट्या वक्तव्यः । अथैतेषां दशानामपि शैक्षाणां प्रत्येकं पृथक्–पृथक् इयमेतेषु द्वारेषु मार्गणादि वारणा भवति तान्येव द्वाराण्यभिधित्सुः श्लोकचतुष्टयमाह।

अव्वाघाए पुणो होइ, जावज्जीवपराजिए।
वाघाओ संपए वावि, उट्ठिओ विहरंतिते।।
पढमे विय दिवसे तु, कहकप्पो उ जाणते।
जाणाविए कहं कप्पो, पच्छच्चे तहडेविया।।
उत्ताअणुक्कए यावि, कहं कप्पो भिधारणे।
एगगामे अभिच्छंते, कहं कप्पो विहिज्जते।।
दुविहा मग्गणा सीसे, एगपिहा य पडिच्छए।
पडिसे हियवच्चंते, कहं कप्पो विहण्णइ।।

न विद्यते व्याघातः प्रवज्यविघ्नो यस्यासा अव्याघातः शैक्षपूर्वसाधुषु क्षेत्रान्निर्गतेष्वपि प्रव्रज्यां गृह्णाति न पुनः कालक्षेपं करोतीतिभावः (पुणेहोइत्ति) पुनभूयोऽपि यदा किलते साधवः समायास्यन्ति तदा प्रव्रजिष्यामीति कश्चित् शैक्षोब्रूयात (जावज्जीवपराजिणत्ति) यदा यदा अहं प्रव्रजितुमभिलषामि तदा–तदा भवैर्विघ्नैरुत्तिष्ठमानैर्यावज्जीवमइं पराजितः अत एवं मे सांप्रतमपि व्याघात उत्थितो यदेवं साधवो विहारं कृतवन्त इति कश्चिद ब्रूयात। एषां शैक्षाणामेकतरे प्रथम द्वितीयदिवसयोः प्रव्रजितुमुपस्थिते ज्ञायके कथचन प्रकारेण कल्पः पूर्वसाधुसमीपे प्रेषणादिको विधिर्विधीयते तथा वास्तव्ये वाचनाहृते वा त्वमस्माकं न भवसीति ज्ञापिते कथं कल्पो भवेत् । ऋजुर्नाम य आचार्यादिरेतान् शैक्षान् पूर्वसाधुसमीपे प्रहिणोति तद्विपरीतो अनृजुः । एतयोश्चिन्ता कर्त्तव्या। अभिधारणमेकमेनकान् वा साधून सम्यगाधाय शैक्षस्य गमनं तत्र कथमाभाव्यानाभाव्यता क्रियते (एगगामेत्ति) यत्र ग्रामे क्षेत्रिका स्थितास्तत्रैव केनापि धर्मकविना कोऽपि मिथ्यादृष्टिरुपशमितः स कस्याभवति (अइच्छंतेत्ति) कमप्याचार्यमभिधार्यातिक्रामति विवक्षितक्षेत्रमतीत्याग्रतो गच्छति शैक्षे कथं कल्पो विधीयते । तथा शिष्ये शिष्यविषया द्विधा अज्ञातके शैक्षके द्विप्रकारा मार्गणा भवति प्रतीच्छके च एकविधा केवलमज्ञातक विषया मार्गण (पडिसेहियव)

चंतेत्ति) भगवता प्रतिषिद्धग्लानप्रतिचारणव्यापृतैः शैक्षो न प्रव्राजनीयो ये तु तं प्रव्राज्यान्यत्र प्रेषयन्ति तैः प्रेषिते तस्मिन् गच्छान्तरं प्रव्रजति कथं कल्पो विधीयते। इत्येतत्सर्वं निरूपणीयम्। तत्र संगारः संकेतः स दत्तो यस्य शैक्षस्यस संगारदत्तः। अहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वातक्तान्तस्य परनिपातः । तस्मिन्नपि कथं कल्पो विधीयते । इत्येतत्सर्वं निरूपणीयमिति द्वारश्लोकचतुष्टयसमासार्थः। अथ विस्तरार्थं विभणिषुः प्रथमतो ये पूर्वमुभयज्ञादयः पुरुषा उक्तास्तद्विषयवक्ष्यमाणः प्रेषणभेदसंग्रहायाह।

चत्तारि णवगजाणं–तगम्मि जाणादिए वि चत्तारि।
अभिधारणम्मि एए, खित्तम्मि विपरिणया वा वि।।

यः पूर्वमुभयज्ञरूपज्ञादिभेदाच्चतुर्द्धा ज्ञापक उक्तस्तत्र प्रत्येकं चत्वारो नवकाः प्रेषणनवप्रकाररूपा भवन्ति तथा यो ऽजानानः सन् साधुभिस्त्वमस्माकं न भवसि किंतु पूर्वसाधूनामित्येवं ज्ञापितः तत्रापि चत्वारो नवकाः। अभिधारणं नाम मनसि करणं ततः क्षैत्रिकं मनसिकृत्य यद्येते अव्याघातदय आगताः तदा विपरिणता अपि क्षेत्रस्वामिन एव भोग्या इति संग्रहगाथासमासार्थः । अथैनामेव विवरीषुरव्याघातद्वारमङ्गीकृत्य तावदाह।

पियमप्पियसभावे, दट्ठुं पुच्छंति भावसाहंति।
कुत्थगता ते भगवं, पुट्ठव्वे भणंति किं तेहिं।।

क्षैत्रिकेषु निर्गतेषु यः साधुरुभयज्ञः शैक्षः सन् प्रव्रजामीत्यभिप्रायेणागतो यावदागन्तुकान् साधून पश्यति ततस्ते साधवस्तस्य प्रियमप्रियं वा भावं प्रहसितमुखतया दीनमुखतया वा दृष्ट्वा पृच्छन्ति किमेवं प्रहृष्टवदनश्चिन्तापरो वा पश्यसि एवं दृष्ट्वा तेन स्वरूपे कथिते सति (साहंति) सद्भावं कथयन्ति यथागतास्ते अन्यविहारेणेति समास्वस्य यानेवं पृच्छेत् कुत्र गतास्ते भगवन्तः एवं पृष्टाः सन्तो भणन्ति किं तैर्भवतः प्रयाजनम् स प्राह–

पव्वइहिंतिय–पणेते, अनुगच्छगया वयंति दिक्खेओ।
तेसि समीवं णमो, णयवाहण ते नयं सोयं।।

प्रव्रजिष्याम्यहमिति तेन भणिते साधवो वदन्ति ते क्षैत्रिका अमुकऽत्र ग्रामादौ गताः वयं भवन्तं दीक्षयित्वा प्रव्राज्य तेषां समीपे नयामः। सच तकमनन्तरोक्तं वचनं तव नैव व्याहन्ति न विकुट्टयति तथेति प्रतिपद्यते इत्यर्थः एषोऽव्याघात उच्यते।

संघाडग एगेणं, पंडवपसेव मुंडिए तिण्णि।
तरुणेमज्झेथेरे, एक्केक्के तिण्णि नव एते।।

ततः साधवस्तं प्रव्राज्य संघाटकेन सह क्षैत्रिकाणामन्तिकं प्रेषयन्ति। अथ संघाटको न पूर्यते तत एकं साधुं सहायं दत्त्वा चालयन्ति तस्याप्यभावे एकाकिनमपि विसर्जयन्ति परं पन्थानमुपदिशेयुः। यतः तरुणस्य त्रयः प्रकाराः मध्यम- स्थविरयोरप्येवमेव प्रत्येकं त्रयः एते नव भवन्ति एष प्रथमो नवकः।

पढमदिणेसग्गामे, एको णवगो वितिज्जए वितिओ।
एमेव परग्गामे, पढमे वितिए य जे णवगा।।

एष एकः प्रथमो नवकः प्रथमदिने स्वग्रामे प्रव्राज्य प्रेषयतां मन्तव्यः। द्वितीये दिवसे एवमेव द्वितीयो नवकः एवं ग्रामे द्वौ नवकौ उक्तौ परग्रामेऽप्येवमेव प्रथमद्वितीयदिवसयोर्द्वौ नवकौ एवमेते चत्वारो नवकाः मुण्डितं प्रेषयतां भवन्ति।

एमेव य मुंडिस्स वि, चउरो नवगा हवंति कायव्वा।
एमेव य इत्थीणवि, णावगाण चउक्कगा दुण्णि।।

एवमेव वा मुण्डितस्यापि प्रेष्यमाणस्य चत्वारो नवकाः कर्तव्या भवन्ति एवमेते द्वे नवकचतुष्टये पुरुषाणामुक्ते स्त्रीणामप्येवमेव द्वौ नवकानां चतुष्कौ संघाटकात्मद्वितीयादिभिः प्रकारैः कर्तव्यौ। अथ क्षैत्रिकाणामन्तिके न प्रेषयन्ति किंतु स्वयमेव स्वीकुर्वन्ति ततश्चत्वारो गुरुकाः।

अय किमर्थममुण्डितं प्रेषयन्तीत्युच्यते।

सागारियसंकाए, णिच्छति धिच्छंति वा सयं मासे।
तत्थ अदु पुणरवि, पच्छिह ममुंडितो एवं।।

सागारिकाः संज्ञातकास्तेषां शङ्कया माममी उपव्राजयेयुरिति बुद्ध्या स्वग्रामे नेच्छति स शैक्षः प्रव्रजितुम्। यद्वा अमी साधवः प्रव्रजितं न मां ग्रहीष्यन्ति यदि च तान् साधून् न द्रक्ष्यामि ततः पुनरपि अत्रैव प्रत्येष्यामि प्रत्यागमनं करिष्ये इति बुद्धवा नागन्तुकैरात्मानं मुण्डापयति एवममुण्डितं प्रेषयन्ति एतं तावदुभयज्ञविषयो विधिरुक्तः।

अथ रूपज्ञादिविषयं तमेवातिदिशन्नाह।

एमेव य णवगकमो, सद्दं रूवं च होइ जाणंतो।
जो पुण कित्तिं जाणति, ण ते वयं सिस्सते तस्स।।

एष एव नवकक्रमः शब्दं रूपं च जानाति शैक्षे वक्तव्यः शब्दमेव रूपक्षेत्रे इत्यर्थः। यः पुनः शैक्षः कीर्तिमेव जानाति न रूपं न वा शब्दं तस्य शिष्यत्वे निवेद्यते ते वयं न भवामो येषां सकाशे भवान् प्रव्रजितुमायात इति ततो ब्रूयात।

किं न व कप्पइ तुब्भे, दिक्खेउं तेसि तो न अम्हाणं।
तत्थ वि सो चेव गमो, णावगाणं जो पुरा भणितो।।

किंवा युष्माकंदी क्षयितुं न कल्प्यते ततः साधु भिर्वक्तव्यं तेष-मेव त्वमाभवसि नास्माकमेवमुक्ते यद्यसौ भणति यद्येवं तर्हि मां प्रव्राज्य तत्र प्रेषयत अमुण्डितं वा विसर्जयत ततस्तत्रापि स एव गमः प्रकारो यं संघाटकात्मद्वितीयादिभिर्भेदैर्निष्पन्नानां नवकानां पुरा भणितः।। अथ ''अभिधारणम्मि एए, खित्तमि वि परिणया वावि'' इति पश्चार्द्धं व्याचष्टे।

विपरिणया निज्जतिते, अम्हे तुब्भ भणंत लंतेहिं।
तह वि य ण वि ते तेसिं, अव्वाहयमादिया होंति।।

ये अव्याघातादयो वाताः शैक्षा अत्र प्रस्तुतास्ते क्षैत्रिकमभिधार्य प्रथममागता अपि कुतोऽपि हेतोस्तं प्रति विपरिणता स्ततो यद्यागन्तुकान् भणन्ति वयं युष्माकं सकाशे प्रव्रजिष्यामोऽलं प्रयासं तैः पूर्वसाधुभिरिति तथा ऽप्येवं ब्रुवाणे अपि ते अव्याघातादयस्ते चागन्तुकानां न भवन्ति किंतु क्षैत्रिकस्यैव भवन्ति। गतमव्याघातद्वारम्। अथ पुणो दाइं ति द्वारमाह।

एहिंति पुणो दाइं, पुट्ठे सिद्धम्मिई य मणसाणा।
बहुदोसे माणुस्से, अणुसासणणवग तह चेव।।

आगन्तुकसाधूनां समीपे कुत्र गता इति पृष्टे ततस्तैः शिष्टाः अमुकत्र गता इति कथिते स शैक्षौ ब्रूयात (एहिंतिपुणो हाइंति) यदा ते पुनरप्यत्रागमिष्यन्ति तदा प्रव्रजिष्यामि य एवं भणति स वक्तव्यः। सौम्य! बहुदोषे बह्वन्तराये मानुष्ये मा प्रमादं कुरु एवमनुशासनं कृत्वा तथैव नवकगमेन प्रेषणं कर्त्तव्यम्। अनुशासनमेव विशेषत उपदर्शयति।

जं कल्ले कायव्वं, णरेण आजेव तं वरं काउं।

मच्चू अकल्लुणाहियओ, न हु दीसति आवयंतो वि।।

यदा दीक्षाग्रहणादिकार्यं कल्ये द्वितीयदिने नरेण कर्त्तव्यं तदद्यैव कर्त्तुं वरं प्रशस्यं यतो मृत्युरकरुणहृदयः स्वभावादेव कठोराशयस्तथा कथमप्यापतित। यथा आपतन्नपि न दृश्यते उक्तं "स्वकार्यमथ कुर्वीत पूर्वाह्णे यत्पराह्णिकम्। को हितद्वेत्ति कस्याद्य, मृत्युसेना पतिष्यति।" तथा।

तुरहा धम्मं काउं, मा हु पमायं खणं पि कुव्वीथ।
बहुविग्घो हु त्तो मा, अवरण्णं पडिच्छावि।।

भव्यास्त्वरध्वं धर्मं कर्तुं मा क्षणमपि प्रमादं कुरुध्वं कुत इत्याह।। बहवश्चलविषविश्वविकाशमुपघातग्निदाहादिभेदादनेके विघ्ना जीवितान्तरायाः। यस्मादसौ बहुविघ्नो हुशब्दो यस्मादर्थे अपिशब्दस्य वानुक्तस्यापि गम्यमानत्वात्। यस्मान्मुहूर्त्तोऽपि बहुविघ्नः आस्तां प्रहरदिवसादिरतो महाभाग मा प्रव्रज्याग्रहणे अपराह्णमपि प्रतीक्षिष्ठाः। एवमेव कृत्वा चतुर्भिर्नवकैस्तथैव प्रेषणीयम्। गतं पुणो दाइंति द्वारम्।

अथ यावज्जीवपराजितद्वारमाह।।

बहुसो उवट्ठियस्सा, विग्घा उट्ठिंति जज्जियति भोमि।
अणुसासणपच्चवणा, णवगा य भावसमुयरे।।

क्षेत्रिकाणां गमनवृत्तान्तं ज्ञात्वा कोऽपि शैक्षो ब्रूयाद्बहुशोऽनेकशः प्रव्रज्याग्रहणोपायस्थितोऽहं वारं वारं विघ्ना नवनवा उत्तिष्ठन्ति अतो यदयं जावज्जीवमहं तैर्विघ्नैर्जितोऽस्मि यदेते साधवो विहृतवन्तः अतः परं तेषु समागतेषु प्रव्रजिष्यामि। एवं ब्रुवाणस्यानुशासनं कर्त्तव्यम्। भद्र! साप्रतं तव चारित्रावारकाणामनुदयो वर्त्तते अतो मा प्रमादीः को जानाति भूयोऽपि तेषामुदयो भवेत्। आवश्यकादिनिहितश्च कूर्मवर्त्म-दृष्टान्तस्तत्पुरतः प्ररूपणीयः। एवमनुशिष्य प्रस्थापनं कर्तव्यं तत्र च तथैव मुण्डितेन तयोः प्रत्येकं चत्वारो नवका भवन्ति। एवं प्रथमद्वितीयदिवसयोरव्याहतादीनां कल्पो विधीयते। अथ ज्ञापिते कथं कल्पो वास्तव्ये वाताहृतेऽपि वेति द्वारमाह।

वाताहते वि णवगा, ता हव जाणाविए अइयरे य।
एमेवय वत्थव्वे, णवगाण गमो अजाणंते।।

वाताहृतो द्विधा ज्ञापित इतरश्च। यः क्षेत्रिकाणां यशःकीर्तिमपि न जानाति स आगन्तुकसाधुभिस्त्वमस्माकं न भवसि ये गतास्तेषामेवा-भवसीति सद्भावावगमं कारितो ज्ञापित उच्यते। इतरो नाम यशःकीर्तिज्ञस्तत्र ज्ञापिते इतरस्मिन् वाताहृते प्रव्रजितुमायाते तथैव चत्वारो नवका भवन्ति। वास्तव्योऽपि शैक्षोऽयं क्षेत्रिकाणां यशः कीर्तिमपि न जानाति तत्रापि नवकानां गम एवमेव मन्तव्यः। अथ वास्तव्यो वाताहृतो वा यः कीर्तिमपि न जानाति स कीदृशो भवेदुच्यते।

वत्थव्वे वायाहड, सेवगपरतित्थिवणियएए य।
सव्वे ते उज्जुगाअ–प्पिणाइलेलाइ वा जत्थ।।

वास्तव्यो वा वाताहृतो वा यो राजकुलसेवको यो वा परतीर्थिको यश्च वणिक् एते असन्निहितत्वेन यशःकीर्तिमपि गुरूणां न जानीयुः परं प्रथमद्वितीयदिवसयोः प्रव्रजितुमायातास्तेऽपि क्षेत्रिकाणामाभाव्याः। अथ ऋजुअनृजुद्वारचिन्ता क्रियते। य आचार्य ऋजुर्भवतिस सर्वानप्येतान् क्षेत्रिकाणामर्पयति। यत्र वा क्षेत्रिका भवन्ति तत्र संघाटकादिभिः प्रकारैः प्रेषयित्वा तौ सह मीलयति।

माइल्ले वारसगं, जाणगजाणं वि एय चत्तारि।
पच्छव्वे वायहडे, ण लभति चउरो अणुग्घाया।।

यस्तु मायावी अनृजुः सन् प्रेषयति तत्र च प्रकाराणां द्वादशकं भवति। तानेवाग्रे वक्ष्यति। तथा ज्ञापके ज्ञापिते च समुदिताश्चत्वारः प्रकारा भवन्ति। तद्यथा ज्ञापकं प्रथमदिववसे न प्रेषयति। १ द्वितीये तमेव न प्रेषयति। एवं ज्ञापितस्यापि द्वौ प्रकारौ एतैर्वक्ष्यमाणैश्च प्रकारैर्वास्तव्यं वाताहृतं वा अप्रेषयतश्चत्वारोऽनुद्घाता मासाः नच तान् शिक्षान् लभते कुलस्थविरादिभिवेलात्क्षेत्रिकाणां दाप्यते इत्यर्थः।।

अथात्रैव प्रायश्चित्तवृद्धिमाह

सत्तरत्तं तवो होति, ततो च्छेदो पहावई।
छेदेण छिण्णपरियाण, ततो मूलं ततो दुगं।।

प्रागिव द्रष्टव्यम् प्रकारद्वादशकमाह।

तरुणे मज्झिमथेरे, तद्दिणवितिए य छक्कगं इक्कं।
एमेव परगामे, छक्कं एमेव इत्थीसु।।
पुरिसित्ति गाण एते, दो वारसगा उ मुंडिण होंति।
एमेव व ससिहम्मि य, जाणगजाणविए भयणे।।

तरुणमध्यमस्थविरान्प्रत्येकं तद्दिवसे द्वितीयदिनो वा प्रेषयत् एकं प्रकारषट्कं भवति एतश्च स्वग्रामविषयं परग्राम एवमेव प्रकारषट्कं सर्वेऽप्येते द्वादश प्रकाराः पुरुषेषु भणिता एवमेव च स्त्रीस्वपि प्रकारद्वादशकं भवति। एते द्वे द्वादशके पुरुषस्त्रीणां मुण्डितविषये भवतः। एवमेव च शैक्षकेऽपि शैक्षद्वादशद्वयं तदेवं ज्ञापिते च प्रत्येकं (भयणत्ति) भङ्गक विकल्पास्तेषां चत्वारि द्वादशकानि भवन्ति। अथवा।।

अव्वाहायपुणोघात, जावज्जीवपराजिया।
तद्दिणेपेसणीया–सग्गामे पकारवारसहा।।

अव्याघातपुनरागत प्रव्रजितयावज्जी पराजिताश्चेति त्रयः शैक्षाः। एतान् तद्दिने वा प्रेषयन् प्रकारषट्कम्। एतश्च स्वग्रामे इतरस्मिन् वा परग्रामे भवतीति कृत्वा द्वाभ्यां गुणितं द्वादशधा भवति। अथ ऋजु अनृजुलक्षणमाह।

जाणंतमजाणंते, णाइवायसेवाअमाइल्लो।
सो चेव उजुओ खलु, अणुजुओ जाणअप्पेति।।

जानतोऽजानतो वा शैक्षान् योऽमायावी सक्षेत्रिकाणां समीपे स्वयं याति परहस्तेन वा प्रेषयति स एवं ऋजुक उच्यते। अनृजुस्त्वसौ अभिधीयते यो न समर्पयति न वा प्रेषयति। अथैते वास्तव्यवाताहृता जानन्तोऽजानन्तो वा अनृजुभिः प्रव्राजितास्ते स्वयं पश्चात्परिज्ञायन्ते। उच्यते ततोऽनुयानादिषु यत्र मिलितास्तत्र क्षेत्रिकैः कश्चिदनृजुः प्रव्रजितो वाताहृतः पृष्टः कथं भवान्प्रव्रजितः स भणति।

तुज्झे वि य नीसाए, अहमागतो दिक्खिणो बलेहिं।
अम्हे किं न पवइया, पुट्ठावणते परिकहेसुं।

युष्माकमेव निश्रया अहमागतः। अमीभिः स्ववलाद्दीक्षितःमया भृशममी पृष्टास्तत एभिराख्यातं वयं किं प्रव्रजिता न भवामो यदेव तान् मार्गयसि। यद्वा न पृष्टाः सन्तः किमपि व्याख्यातवन्तः। एवं रूपशब्दे यशः कीर्तिज्ञो वक्ति। यस्तुकीर्तिमपि न जानाति स ब्रूयात।

वायाहडो तु पुट्ठो, भणाइ अमुगदिण अमुगकालम्मि।

एतेहिं दिक्खितो हं, तुम्हे वि सुणासि तत्थासि ।।

तुशब्दस्य विशेषणर्यतया यो वाताहृतो यशःकीर्त्योरपि अज्ञायकः स पृष्टो भणति । अमुकदिने प्रतिपदादौ अमुष्मिन्काले मार्गशीर्षादौ मासे दीक्षितोऽहमेतैः दीक्षानन्तरं च शृणोमि । यथा स्वयमपि तत्रासीरन्निति ।

एमेव य जसकीत्तिं, जाणंते जदा तदा जाणाति ।
तस्स वि तहेव पुच्छा, पावयणिओ वा जहा जातो ।।

एवमेव वास्तव्यो ऽपि यो यशःकीर्तिं जानाति तस्यापि तथैव स्नानादौ यदा पृच्छा कृता भवति तदा जायते । यदा वा असौ प्रावचनिको बहुश्रुतो जातस्तदा स्वयमेव जानाति नाह -ममीषामाभाव्यः । एवं तावत् सचित्तविषयो विधिरुक्तः ।

अथाचित्तादिविषयं तमेव निर्दिशन्नाह ।

एमेव य अचित्ते, दुविहे उवहिम्मि मीसते चेव ।
पुच्छा अपुव्वमुवहिं, दुट्ठूण अणुज्जु पूयाणं ।

एवमेते अचित्ते द्विविधे ओघोपग्रहोपधिभेदाद् द्विप्रकारे उपधौ मिश्रके च सोपधिकशैक्षे विधिर्मन्तव्यः । कंथं पुनरसावा भाव्यो वा ज्ञायते इत्याह । अपूर्वं सारतरमुपधिं दृष्ट्वा अनृजुभूतानां तेषामन्तिके पृच्छा भवति । क्षेत्रिकैरयं कदा कुत्र वा गृहीत इत्येवं ते प्रष्टव्या इति भावः ।

एवं वासावासे, उदुबद्धे पंथे जत्थ वा ठाति ।
सव्वत्थ वा होति उग्गहो, केसिं वि पदीवदिट्ठंतो ।।

एवं वर्षावासे ऋतुबद्धे वा मासद्वयं दिवसपञ्चकं पूर्वावग्रह इति । पथि वा व्रजतो यत्र क्वापि आचार्यस्तिष्ठति तत्र सर्वतः सक्रोशं योजनमवग्रहो भवति तत्राप्येवमेव सचित्तादीना माभाव्याना नाभाव्य विधिरवसातव्यः । केषांचिदाचार्याणामयमऽभिप्रायः मार्ग गच्छतां पृष्ठतो नास्त्यवग्रहः ।। अयं वा नादेशः कुत इत्याह प्रदीपदृष्टान्तोऽत्र भवति । यथाहि प्रदीपः सर्वतः प्रकाशयति नैकामपि दिशं प्रकाशशून्यां करोति एवमवग्रहोऽपि सर्वतो भवति न कुत्रचिन्न भवत्यपीति । एवं तावत् क्षेत्रे सचित्तादिविषयो विधिरुक्तः ।

अधाक्षेत्रे तमेव निर्दिशति ।

अक्खित्ते वसधीए, जाणविए वि एमेव ।
उज्जुगमणुज्जुगे या, सो चेव गमो हवइ तत्थ ।।

अक्षेत्रे इह कालादियुक्ते, नगरादौ सक्रोशं योजनमवग्रहो भवति किं तु तत्र यस्यां वसतौ यः पूर्वस्थितस्तस्यां सचित्तादिकं यदुपतिष्ठते तत्तस्याभवति न पश्चादागतानां तत्रापि य एव क्षेत्रे गम उक्तः स एव सर्वोऽपि ज्ञापके ज्ञापिते च ऋजुके अनृजुके च वक्तव्य इति । अथ कथं कल्पोऽभिधारणीय इति निर्वचनाह ।

अणिदिट्ठ सण्ण सण्णि, गहितागहिए य सच्छंदो ।
णिद्दिट्ठलिंगसहितो, सण्णी तस्सेव णस्सस्स ।।

अभिधारणं प्रव्रज्यार्थमाचार्यादेर्मनसा संकल्पनम् तच्च द्विधा अनिर्दिष्टं निर्दिष्टं च अनिर्दिष्टं नाम धारयन् कमप्याचार्यं विशेषतो न निर्दिशति सच अभिधारको द्विधा संज्ञी असंज्ञी च पुनरेकैको द्विधा गृहीतलिङ्गोऽगृहीत-लिङ्गश्च एष सर्वोऽप्योघतः सामान्येनाचार्यविशेषनिर्दिश्य प्रव्रजन स्वच्छन्द आभाव्यो भवति यस्यान्तिके प्रव्रजति तस्यैवासौ शिष्य इत्यर्थः । निर्दिष्टं पुनरभिधारणं तदुच्यते यत्रामुकस्याचार्यस्य समीपे प्रव्रजिष्यामीति निर्देशं करोति एषोऽपि द्विधा संज्ञी असंज्ञी च । भूय एकैको द्विधा लिङ्गसहितो लिङ्गरहितश्च । तत्र लिङ्गरहितश्च । तत्र लिङ्गसहितः संज्ञी यमाचार्यमभिचार्य गच्छति । विपरिणतोऽपि तस्यैवासौ भवति नान्यस्य ।

निद्दिट्ठेव असण्णी, गहियागहिए य अगहिए सण्णी ।
तस्सेव अविपरिणतेवि, परिणते जस्स इच्छाया ।।

असंज्ञी नाम गृहीतलिङ्गोऽगृहीतलिङ्गो वा भवतु । यस्तु संज्ञी श्रावकः सोऽगृहीतलिङ्ग एते त्रयोऽप्यपरिणते भावे यं निर्दिष्टमाचार्यमभिधार्य गच्छन्ति तस्यैव भवन्ति । अथ तं प्रति भावो विपरिणतस्ततो यस्य सकाशे तेषां प्रव्रजितुमिच्छा तस्यैव ते शिष्याः ।।

अथ किंकारणं लिङ्गसहितो व्रजतीत्याह ।।

वारियसमुदाणट्ठा, तेण व गिहभन्ति धम्मसड्ढा वा ।
एएहि लिंगसहितो, सण्णी व सिया असण्णी व ।।

वारिको हरिकस्तद्विषया शङ्का मा भूदिति बुद्ध्या लिङ्गं गृहीत्वा व्रजति तथा समुदानं भैक्षं तदर्थं लिङ्गं गृह्णाति गृहीतलिङ्गो हि सुखेनैव भिक्षामाप्नोति । स्वभावापान्तराले गृहिभ्रान्त्या धर्मश्रद्धालवो वा तिष्ठन्ति एतैः कारणैः संज्ञी वा असंज्ञी साधुसमाचारीनिपुणो लिङ्गसहितः स्यादिति । इह यो निर्दिशन् प्रव्रजति एकमनेकान् वा निर्दिशेत तत्र योऽनेकान् निर्दिशति स एवं संकल्पयति यो मे प्रतिभाषिष्यते तस्य सकाशे प्रव्रजिष्यामि । तद्विषयं विधिमाह ।

णेगा उदिस्स गतो, लिंगेणं फालितो तु एक्केणं ।
दट्ठुं च अचक्खुस्स, णिद्दिट्ठणं गतो तस्स ।।

अनेकानाचार्यानुद्दिश्य लिङ्गेन सहितानां बहूनां निर्दिष्टानामन्तिके गतस्तत्र चैकेनास्फालितः सादरमाभाषितो यदि तमभ्युपगतस्तदा तस्यैवासौ शिष्यः । अथाभाषितोऽपि तमचक्षुष्यमनिर्दिष्टं दृष्ट्वा निर्दिष्टमेव कमप्यन्यमुपगतस्तदा तस्या भवति । इदमेव सविशेषमाह ।

णिद्दिट्ठमनिद्दिट्ठं, अब्भुवगयलिंगिनो लभइ अण्णो ।
लिंगी व अलिंगी वा, सच्छंदेण य अणि द्दिट्ठो ।।

निर्दिष्टमनिर्दिष्टं वा आचार्यमभिधार्य गच्छन् लिङ्गी लिङ्गसहितः शैक्षो यमाचार्यमभ्युपगतस्तस्यैवाभयति नैवान्यस्तं लभते । यस्त्वनिर्दिष्टो नाद्यापि कमप्यभ्युपगतः स लिङ्गी वा भवतु अलिङ्गी वा स्वच्छन्देन यमभिलषति तस्याभवति ।

एमेव असिह सण्णी, णिदिट्ठस्सुवगतो ण अण्णस्स ।
अब्भुवगतो वि ससिहो, जस्सिच्छति दो असण्णीव ।।

लिङ्गसहितः संज्ञी निर्दिष्टानां बहूनां मध्ये यमेवाभ्युगतस्तस्यैवाभवति एवमेव शिखाकोऽपि संज्ञी बहून् निर्दिश्यागतो वा यस्यैव निर्दिष्टस्यान्तिके उपगतः प्रव्रजितुं परिणतस्तस्यैवासौ शिष्यो भवति नान्यस्य यस्तु सशिखाकः संज्ञी सकप्यभ्युपगतोऽपि यदि पश्चाद्विपरितस्तदा यस्यान्तिके प्रव्रजितुमिच्छति तस्याभवति (दोहअसन्नत्ति) द्वौ वा शिखाकसशिखाकलक्षणौ यौ असंज्ञिनौ तावपि पूर्वं कंचनाभ्युपगतौ पश्चाद्विपरिणतौ स्वच्छन्देन यदुपकण्ठे प्रव्रजतस्तस्या भाव्यौ । अस्यैवार्थस्य सुखावबोधाय भङ्गकानाह ।

णिद्दिट्ठस्ससस्सन्नि, अब्भुवगतेतरअट्ठ लिंगिणो भंगा ।
एवमसिहे वि ससिहे वि, अट्ठ सव्वे चउव्वीसं ।।

कमप्याचार्यं निर्दिश्य गच्छत्त निर्दिष्टः संज्ञी श्रावकः अभ्य

पगतः प्रव्रजितुं परिणतः । एतैस्त्रिभिः पदैः (इयरत्ति) प्रतिपक्षपदसहितैरष्टौ भङ्गा लिङ्गिनो लिङ्गसहितस्य गच्छतो भवन्ति। तथाहि निर्दिष्टः संज्ञी अभ्युपगतः १ निर्दिष्टः संज्ञी अनभ्युपगतः ।२। निर्दिष्टो ऽसंज्ञी अभ्युपगतः ३ निर्दिष्टो ऽसंज्ञी अनभ्युपगतः ४ अनिर्दिष्टपदेनाप्येवं चत्वारो भङ्गा लभ्यन्ते एते अष्टौ भङ्गा लिङ्गिन उक्ताः। अशिखाके चैवमेव प्रत्येकमष्टौ भङ्गा भवन्ति सर्वे ऽप्येते मीलिताश्चतुर्विंशतिभङ्गा जायन्ते एतेषु विधिमाह।

पढम विति ततिय पंच, सत्तम नवम तेरसेसु भंगेसु।
विपरिणतो वि तस्सेव, होइ सेसेसु सच्छंदो।।

प्रथमद्वितीयतृतीयपञ्चमसप्तमनवमत्रयोदशेषु विपरिणतोऽपि यं निर्दिश्यागतो यं वा अभ्युपगतस्तस्यैवाभवति शेषेषु चतुर्थषष्ठाष्टमदशमैकादशद्वादशचतुर्दशादिषु चतुर्विंशतिषु सप्तदशसु भङ्गेषु स्वच्छन्दः स्वेच्छः यः प्रतिभावी तस्यैवाभवतीत्यर्थः। इदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह।

सव्वो लिंगी असिहो य, भावतो जस्स अब्भुवगतो सो।
णिद्दिट्ठमणण्णलिंगी, तस्सेवाणब्भुवगतो त्ति।।

सर्वो लिङ्गी अशिखाकश्च श्रावको यस्यान्तिके ऽभ्युपगतः स एव तं लभते। किमुक्तं भवति यो लिङ्गसहितो ऽभ्युपगतः स निर्दिष्टोऽनिर्दिष्टो वा संज्ञी असंज्ञी वा भवतु यश्चाशिखाकः श्रावको ऽभ्युपगतः सोऽपि निर्दिष्टो वा भवतु एष सर्वो ऽपि यमेवाभ्युपगतो विपरिणतोऽपि तस्यैवाभवति एतेन प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमनवमत्रयोदशभङ्गा-स्सूचिताः। तथा यो लिङ्गी निर्दिष्टः संज्ञी च स यद्यप्यनभ्युपगतस्तथापि यमेव निर्दिश्यागतस्तस्यैवाभवति न पुनर्विपरिणतोऽप्यन्यस्यानेन द्वितीयो भङ्गो गृहीतः। शेषेषु तु सप्तदशस्वपि गतेषु यत्राभ्युपगतस्तत्रा विपरिणतस्तस्यैव विपरिणततस्तु स्वेच्छायां यत्र तु नाभ्युपगतस्तत्र विपरिणतोऽविपरिणतो वा यथा स्वच्छन्दमाभाव्य इति गतं कथं कल्पो ऽभिधारण इति द्वारम्।

अथैकग्रामे इति द्वारमाह।

असन्नी उवसमितो अ–पण्णो इच्छीइ अण्णहिं तस्स।
दट्ठूणं च परिणए, उवसमिते जस्स वा खेत्तं।।

केनचिद्धर्मकथिना कश्चिदसंज्ञी मिथ्यादृष्टिरुपशमितः प्रव्रज्याभिमुखीकृतः स यावन्नाद्यापि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते तावत्प्रव्रजन् क्षेत्रिकस्याभवति। अथ सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्तस्य क्षेत्रमन्यस्याचार्यस्य सत्कं ततो ऽसावात्मन इच्छया आभवति यदि क्षेत्रिकस्योपविष्टस्तत स्तस्यैव अथोपशामयत उपस्थित स्तत्रोपशमेयत् एव एतौ द्वौ मुक्त्वा अन्यस्य नाभवति (अन्नहित्ति) अथान्य क्षेत्राद्बहिरुपशमितस्तदा तस्योपशमकस्या भवति। अथ केनापि नो कथितः परमन्यं कमप्याचार्यादिकं दृष्ट्वा स्वयमेव प्रव्रज्यायां परिणतस्ततोऽसौ क्षेत्राद्बहिरुपशान्त उपशामत आभवति। मूर्तिर्दर्शनद्वारेणोपशम-नकारिण इत्यर्थः। अथ क्षेत्रान्तरुपशान्तस्ततो यस्य सत्कं क्षेत्रं तस्याभव्यः। अमुमेवार्थं सविशेषमाह।

परखित्ते वसमाणो, अइक्कमंतो व ण लभति असण्णत्थिं।
दट्ठूण पुव्वसण्णी, गाहितस्सांति सा लभति।।

परक्षेत्रे मासकल्पे वर्षावासे वा वसन् अतिक्रामन् वा पर क्षेत्रमग्रतो गन्तुमनास्तत्रावस्थितो ऽसंज्ञिनमप्रतिपन्नसम्यक्त्वं स्वयमुपशमितमपि न लभते। अथ कंचिन्मिथ्यादृष्टिं सम्यक्त्वमादिशब्दादणुव्रतानि वा ग्राहयित्वा क्षेत्रान्तरं गतः भूयोऽप्यन्यदा। तदैव क्षेत्रमायातः स च प्रागुपशमित इदानीं पूर्वं संज्ञी लभ्यते ततस्तं पूर्वसंज्ञिनं सम्यक्त्वादिग्राहितं स उपशमच्छदेन लभते। किमुक्तं भवति। उपशमिकं क्षेत्रिकं वा यमभिरोचयति तस्याभवति। एवं त्रयाणां वर्षाणामागतो मन्तव्यः। त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु स पूर्वसंज्ञी क्षेत्रिकस्यैवाभाव्यो नोपशमयतः। आहच चूर्णिकृत '' तिसु वरिसेसु पुण्णेसु खेत्तियस्स वा भवति। तो उवसामितस्सत्ति'' गतमेकग्रामद्वारम्।।

अथातिक्रामन् द्वारमाह।

मग्गंतो अण्णखित्ते, अभिधारितो उ भावतो तस्स।
खित्तिम्मि खित्तियस्स, वाहिं वा परिणतो तस्स।।

शैक्षः कंचिदाचार्यं मार्गयन् व्रजति तस्य चान्यक्षेत्रे परकीयक्षेत्राभ्यन्तरे पथि गच्छतः कश्चिद्धर्मकथी मिलितः स यद्याकर्षणहेतोस्तस्य धर्मं कथयति तदा यमाचार्यमभिधारयन व्रजति तस्याभवति। अथ भावतः स्वभावादेव कथयति ततस्तस्य धर्मकथिकस्याभवति। तुशब्दो विशेषणे सचैतद्विशिनष्टि यदि क्षेत्राभ्यन्तरे स्वभावतः कथयति ततः क्षेत्रिपरिणतः प्रव्रयाभिमुखीभूतः क्षेत्रिकस्य भवति बहिस्तु परिणतस्तस्य कथयत आभाव्य इति। इदमेव व्याचष्टे।।

अभिधारत्तो वच्चति, पुच्छित्तो साहुवच्चतो तस्स।
परिसगतो व कहइ, कट्ठण हेउं न तं लभति।।

कंचिदाचार्यमभिधारयन् शैक्षो व्रजति तस्य कोऽपि साधुः पथि गच्छन् मिलितस्तेन च पृष्टोऽमुक आचार्यः कुत्रास्ते साधुराह किं तेन भवतः प्रयोजनम्। स प्राह। तस्यान्तिके प्रव्रजितुकामोऽहं परं दृष्ट्वा तस्य व्रजत एवाकर्षणहेतोः (साहत्ति) धर्मं कथयति यद्वा ग्रामे क्वापि पर्षदन्तर्गतस्य धर्मं कथयते उपस्थितस्ततो वन्दित्वा तथैव स्वाभिप्राये कथि ते स आकर्षण हेतोर्विशेषतो धर्म्मं कथयति कथिते च यद्यसौ प्रव्रजितुमभिलषति ततो न तं शैक्षं लभते। अभिधारिता चार्यस्यैव स आभवति।।

उज्जुकहए परिणतं, अंतोखित्तस्स खित्तिओ लभइ।
खित्तबहिं तु परिणयं, लभउज्जुकहीण खलु माई।।

अथासौ कथको धर्मकथी ऋजुकः सद्भावतः कथयति नाकर्षण हेतोः स च प्रव्रज्यायां परिणतः क्षेत्रान्तः परिणतेक्षेत्रिको लभते क्षेत्राद्बहिः परिणंत तु ऋजुको धर्मकथी लभते न खलु मायी मायावान्।

परिणमइ अंतरा अंतरा य भावोणियत्ति तत्तो से।
खित्तम्मि खित्तियस्स, वहिं तु परिणतो तस्स।।

अथअन्तरान्तरा तस्य भावः प्रव्रज्यायां परिणमते निवर्त्तते वा ततः क्षेत्रे परिणतः क्षेत्रिकस्याभवति बहिस्तु परिणतस्तस्य धर्मकथिकस्या-भवतीति। गतमतिकामन् द्वारम्। अथ द्विधा मार्गणा शिष्यै एकविधा च प्रतिच्छके इति यदुक्तं तत्र प्रतीच्छकविषयां तावदेकविधां केवलसज्ञातीय विषयां मार्गणामाह।

माया पिया य भाया, भगिणी पुत्तो तहेव धुत्ता य।
छप्पेते नालबद्धा, सेसेए भवंति आयरिया।।

माता पिता भ्राता भगिनी पुत्रास्तथैव दुहिता वा षडप्येते अनन्तरवल्लीमधिकृत्य नालबद्धा मन्तव्याः। एते च अभिधारयन्तः प्रतीच्छकस्याभवन्ति। उपलक्षणमिदं तेन परावल्लीबद्धा अपि वक्ष्यमाणाः षोडश जना अभिधारयन्तस्तस्यै वाभवन्ति। शेषास्तु ये नालबद्धा भवन्ति तेषु आचार्याः

प्रभवन्ति न प्रतीच्छकः इदमेव व्यक्तीकुर्वन् परंपरावल्लीं प्रतिपादयति ।

माओ माया पिया भाया, भगिणी य एव पिउणा वि ।
मायादिपुत्तधूता, सोलसगं छच्च वावीसं ।
वावीस लसति एए, पडिच्छओ जति य तमभिधारंति ।
अभिधारमणभिधार, णायमणाते तरेण लभे ॥

मातुः संबन्धिनो माता पिता भ्राता भगिनी चेति चत्वारो जनाः पितुः संबन्धिनोऽप्येवमेव चत्वारो जनाः (मायादिपुत्तधूयति) भ्रातुः संबन्धिनः पुत्रो दुहिता चेति जनद्वयम् आदिशब्दात् भगिन्या अप्यपत्यं भागिनेयः भागिनेयी चेति द्वयम् । पुत्रस्यापत्यं पौत्रः पौत्री चेति द्वयम् । दुहितुरपत्यं दौहित्रो दौहित्री चेति । सर्वसंख्यया षोडशकं भवति । षटवाऽनन्तर वल्लीजना अत्र प्रक्षिप्यन्ते ततो द्वाविंशतिर्भवति द्वाविंशतिमप्येतान जनान् प्रतीच्छको लभते । यदि च तं प्रतीच्छकमभिधारयन्तस्ततरतेऽप्याचार्यस्यैवाभाव्या इति नव इतरे उक्ताः ये व्यतिरिक्तास्तानभिधारयतो वा ज्ञातकान् व अज्ञातकान् वा प्रतीच्छको लभते । अथ शिष्यविषयां द्विविधां मार्गणामाह ।

नायगमणायगा पुण, मीसे अभिधारमणभिधारे य ।
दो क्खरदिट्ठंता सव्वे वि भवति आयरिए ।।

द्विविधा मार्गणा तत्र ये शिष्यस्य ज्ञातकाः स्वजना ये चाज्ञातका अस्वजनास्ते तमभिधारयन्तो वा अनभिधारयन्तो वा सर्वेऽप्याचार्यस्याभवन्ति न शिष्यस्य कुत इत्याह द्व्यअक्षरस्वरदृष्टान्तात'' दासेणसेस्वरो किओ दासो वि सेस्वरोविमे इति'' निदर्शनात् । अथ पडिसेहय कहं कप्पो विहज्जइ इति द्वारं निरुपयन्नाह ।

दुव्वुप्पन्नह गिलाणे, असंथरं ते य चउगुरुच्छेहं ।
वयमाणइमे संघा–पच्छप्पेतण लभंति ।।

एकत्र ग्रामे गच्छः स्थितस्तेषां च ग्लान उत्पन्नस्तत्प्रतिचरणे साधवो व्यापृताः सन्तः सर्वेऽपि भिक्षामटितुं न प्रभवन्ति ततश्च संस्तरणं संज्ञानमेव ग्लानोऽपूर्वोत्पत्तेरसंस्तरणं शैक्ष उपस्थितस्ते च ग्लानकार्यभृत्यतया शैक्षं दापयितुं नं पारयन्ति । अतो भगवद्भिः प्रतिषिद्धं न तैः शैक्षो दीक्षणीयः । यदि दीक्षयन्ति कृत्वा प्रेषयन्ति (वयमाण इत्यादि) तं शैक्षं मुण्डयित्वा व्रज त्वमेकाक्येवामुकाचार्यसन्निधाविति वदन्तो विसर्जयन्ति । यद्वा तस्यैकं कमपि सहायं संघाटकं वा समर्पयन्ति एते त्रयः प्रकारा मुण्डितस्य भवन्ति । अमुण्डितस्याप्येते त्रयः एते षडपि तं शैक्षं न लभन्ते । षड्भिः प्रकारैः प्रेषयन्त इत्यर्थः । येषां समीपे प्रेषयन्ति तेषामेवासौ शिष्यः । अथात्मसमीपे स्थापयन्ति तत इमे दोषाः ।

आयरिय गिलाण गुरुगा, सहस्सा अकरणम्मि ।
चउलहुगा परितावण, णिप्फणदुहतो भंगे य मूलं तु ।।

शैक्षं प्रव्राज्य तद्वैया वृत्यव्याकुलाः सन्तो यद्याचार्याणां ग्लानस्य वा वैयावृत्तिं न कुर्वन्ति ततश्चतुर्गुरुकः । अथ शैक्षस्य न कुर्वन्ति ततश्चतुर्लघुकः । अथ ग्लानादीनामनागाढमागाढं वा परितापना भवति तत आम्लनिष्पन्नम् (दुहतो भंगेयत्ति) शैक्षस्य यन्निष्क्रमणं ग्लानस्य च यन्मरणमेष द्विधा भङ्गः उच्यते तत्र मूलं भवति । अथ द्वितीयपदमाह ।

संथरमाणे पच्छा, जायं गहिते व पच्छगेलन्नं ।
अप्पव्वइते पव्वइए, संघाडगे व वयमाणे ।।

इह गच्छे विद्यते परं नागाढं ग्लानत्वं ततः संस्तरति ते शैक्षमपि वर्तापयितुमाचार्याणामपि कर्तुमेवं प्रव्राजिताः । शैक्षः पश्चात्त्वग्लानत्वमागाढं समजनि ततो वर्तनपरिवर्तना दिव्यापृताय चेलावद्भिक्षां न हिण्डते येऽपि हिण्डन्ति ते ऽपि न शक्नुवन्ति सर्वेषामपि पर्याप्तमानेतुमेवमसंस्तरणं जातम यद्वा मूलत एव ग्लानत्वं पूर्वं नासीत् किंतु पाश्चात् शैक्षे गृहीते प्रव्रजिते सति ग्लानत्वमुत्पन्नं ततो ऽसौ षड्भिः प्रकारैः प्रेषणीयः । तद्यथा अप्रव्रजितो ऽमुण्डितः प्रव्रजितो मुण्डितः एष द्विविधोऽपि त्रिधा संघाटकेन एकसाधुना (वयमाणत्ति) एकाकी व्रजते व्रजमानैरेकाकित्वेनेत्यर्थः । अथ संथरमाणे पच्छा जायंति पदं विशेषतो व्याचष्टे ।

नागाढं पउणिस्सइ, अचिरेणं तं च जायमागाढं ।
सेहं वट्ठा वेओ, ण भवति गिलाणकित्तं वा ।।

पूर्वमनागाढं ग्लानत्वं भवेत् ततः शैक्षे उपस्थिते चिन्तितम् । अचिरेणैवायं ग्लानः प्रगुणीभविष्यति । ततः शैक्षे प्रव्रजिते तद्ग्लानत्वमागाढं जातं ततस्ते शैक्षं वर्तापयितुं ग्लानकृत्यं च कर्तुं समकमेव च चरन्ति न शक्नुवन्ति । अतो ऽन्येषां समीपे प्रेषयन्तः शुद्धाः ।

अपडिच्छाण तरेसि जं, सेहविया वडाउ पावेंति ।
तं चेव पुव्वभणियं, परितावणसेहमंगाइ ।

इतरे नाम येषां समीपे प्रेष्यते । यदि ते न प्रतीच्छन्ति तदा चतुर्गुरुकः । यच्च ते शैक्षव्यापृताः प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं तेषामप्रतीच्छतां प्रायश्चित्तम् । किं पुनस्ते प्राप्नुवन्तीत्याह । तदैव पूर्वभणितं परितापनशैक्षभङ्गादिकमत्रा दोषजातं मन्तव्यम् । किमुक्तं भवति ग्लानो ऽप्रतिचर्यमाणः परिताप्येत शैक्षो वैयावृत्त्येऽभिधीयमाने प्रतिभज्येत । आदिशब्दाद् ग्लानस्य मरणं वा भवेत् ।

संखडिए वा अट्ठा, अमुंडियं वा य पेसंती ।
वयमाणे एगेण य, संघाउएण ण लभंति ।।

संखडिकरणंतस्या वा अर्थाय मनोज्ञाहारलम्पट-शैक्षममुण्डितं वा प्रेषयन्ति तत्रापि (वयमाणित्ति) एकाकितया प्रेषणेन एकसाधुना संघाटकेन च षट् प्रकारा भवन्ति । एतैः षड्भिरपि प्रेषयन्तो न लभन्ते । इदमेव व्याख्यानयति ।

होहिं ति ण मग्गाइं, आवाह विवाह पव्वयमहादी ।
सेहस्स व सागारियं, विद्दाविस्सइविनेसिंति ।।

इह शैक्षः केषांचिदुपस्थितस्तत्र चावाहविवाहपर्वतमहादीनि प्रकारिणी नवाग्राणि प्रत्यासन्नाणि भविष्यन्ति । आवाहो बह्वादरगृहानयनं विवाहः पाणिग्रहणं पर्वतमहः प्रतीतः । आदिशब्दात् तडागनदी ह्रदादिपरिग्रहः । शैक्षस्य च तत्र सागरिकस्तत्प्रव्राजनभयम् । यद्वा यद्येष शैक्षोऽत्र स्थास्यति तदा संखडिभोजनगृहमाविद्रास्यति । स विनश्यति । यदि च वयमनेनैव सह गच्छामस्ततः संखडेः स्फिटामः अत एवमन्यत्र प्रेषयाम इति विचिन्त्य षड्भिः प्रकारैस्तं प्रेषयन्ति । ते च लभन्ते येषामन्तिके प्रेषयन्ति तेषामेव स चाभवतीति । गतं प्रतिषिद्धे व्रजति कथं कल्पो विधीयत इति द्वारम् । संप्रति संगारदत्ते कथं कल्पो विधीयते इति द्वारमाह ।

गिहियाणं संगारो, संगारं संगिते करेमाणे ।
अणुमोयति सोहिंसं, पव्वावितो जेण तस्सेव ।।

गृहिणां संबन्धी यः संगारो युष्मदन्तिके अस्माभिरसंयतः कालादूर्ध्वं प्रव्रज्या ग्रहीतव्येति संकेतस्तं प्रतीच्छन् संयतः स्वयं च तैः सार्द्धं संगारममुष्मिन् दिनेऽमुष्मान् प्रव्राजयिष्यामीति लक्षणं कुर्वन् हिंसा यावदसौ न प्रव्रजति तावते कालं षट्काय- विराधनालक्षणामनुमोदयति स च शैक्षस्तं प्रति विपरिणतो येन प्राव्रजितस्तस्यैवाभवति न संकेतदायिन इति। किंच।

विप्परिणमइ सव्वं व, परओ असण्णअण्ण तित्थीव।
मोत्तुं वासावासं, ण होइ संगारतो इहरा।।

संकेतकरणनन्तरं शैक्षः स्वयं वा विपरिणमति परतो वा परेण स्वजनादिना स विपरिणम्येत आसन्नविहारिषु वा प्रव्रजेत् अयन्तीर्थिको भवेत्। अतो वर्षावासं मुक्त्वा इतरथा पुष्टालम्बनं विना संगारो न प्रतीच्छनीयो न वा कर्त्तव्यः किमर्थं पुनः संगारमसौ करोतीत्याह।

संखडिसण्णयावी, खित्तं मोत्तव्वयं व मा होज्जा।
एएहिं कारणेहिं, संगारकरंति चउगुरुगा।।

संखडिस्तत्र ग्रामे उपस्थितानां परिहर्तुं न शक्नोति संज्ञातका वा तस्य तत्र भूयांसस्तेषामाग्रहात् शक्नोति गन्तुं क्षेत्रं वा तदतीव सस्निग्धमधुराहारादिलाभापन्नं शैक्षस्य च तत्र सागारिकं ततस्तन्मोक्तव्यं माभूत। एतैरेवामदिभिः कारणैः। शैक्षस्य संगारं यः करोति तस्य चतुर्गुरु।

अथ गृहस्थाः किमर्थं संगारं कुर्वन्तीत्याह।

रिणवाहिं मोक्खेउं, कुडुंबवित्तिं वतित्थि ते गिण्हे।
एमादि अणाउत्ते, करिंति गिहिणो उ संगारं।।

ऋणं वा व्याधिं वा मोक्षयितुं अपनेतुं कुटुम्बस्य वा पश्चान्निर्वहणायोग्यां वृत्तिं संपादयितुं यद्वा ग्रीष्मस्तदानीमतिक्रान्तो वर्षावास आयातः एवमादिभिः कारणैः शैक्षस्यानायुक्ते अक्षणिकतायां गृहिणः संगारं कुर्वन्ति। अथ द्वितीयपदेन संगारे प्रतीष्यमाणे आभाव्यविधिमाह।

अगविट्ठोमित्ति अहं, लब्भति असढेहिं विपरिणतो वि।
वोयं तप्पाहिंति व, ते वियणं अंतरा गंतु।।

संगारे कृते यश्च शठैर्ग्लानादिकार्याव्यापृतैः स शैक्षो न गवेषितस्तदाऽसावगवेषितो नैकमपि वारमहममी भिर्गवेषित इति बुद्ध्या विपरिणतोऽपि लभ्यते तेषामेवाभवतीत्यर्थः। परं तेऽपि साधवस्तमन्तरा गन्तुं वा नोदयेयुरिति संकेतस्मारणपुरस्सरं शिक्षयन्ते अथ स्वयं गन्तुं न प्रभवन्ति ततः (तप्पाहिंति) संदेशं तस्य प्रेषयन्ति।

एवं खलु अच्छिन्ने, वेला तहेव दिवसेहिं।
वेला पुण्णमपुण्णे, वाघाए होइ चउभंगो।।

एवं तावदच्छिन्ने अनियते संगारे विधिरुक्तः यस्तु छिन्नः संगारस्तत्र विधिराभधीयते छिन्नो नाम क्षेत्रतः कालतश्च प्रति नियतः। क्षेत्रतो ग्रामवनखण्डादौ प्रव्रज्यादानार्थं भवद्भिः समागन्तव्यं कालतो वेलया दिवसैर्मासैश्च प्रतिनियतैस्तत्र च वेलाया उपलक्षणत्वाद्दिवसैश्च (पुण्णमपुण्णत्ति) पूर्णे अपूर्णे वा संगारे काले व्याघातो भवेत्। तत्र चेयं चतुर्भङ्गी। कालपूर्णो निर्घातं प्राप्तः, १ कालः पूर्णः संघातः, २ संजातकालोऽव्याघातपूर्णपरं निर्व्याघातं तत्र प्राप्तः, ३ कालोऽप्यपूर्णो व्याघातोऽपि जात, इति ४ अथवा अन्यथा चतुर्भङ्गी संयतस्य व्याघातो न गृहस्थस्य, गृहस्थस्य व्याघातो न संयतस्य। द्वयोरपि व्याघातः। द्वयोरप्यव्याघातः।

तत्र संयतस्य व्याघाते विधिमाह।

मंदट्ठिगा ते तहियं वि पत्ते, जे तिंमणा ते य सढा ण होंति।
स लब्भतीअण्णगतो तहेव, दप्पट्ठिया जे ण उ ते लभंति।।

यत्र ग्रामादौ संकेतः कृत आसीत् तत्र स शैक्षः प्राप्तः साधवस्तु न प्राप्तास्ततो यद्येवं मन्यते मन्दार्थिनस्ते सद्विषये मन्द प्रयोजना अत एव नायाता इति बुद्ध्या विपरिणतः। ते च साधवो यदि शठप्रव्रजिकादिप्रतिबन्धयुक्ता न भवन्ति ग्लानादिकार्यव्यापृता यतो याता इति भावः ततः स शैक्षोऽन्यगतोऽप्यन्यमाचार्यमभ्युपगतोऽपि तैः साधुभिर्लभ्यते। ये तु दर्प्पतः स्थितास्ते नैव तं लभन्ते येन प्रव्राजितस्तस्यैवासौ शिष्य इति।

पंथेधम्मकहिस्सा, उवसंतो अंतरा उ अण्णस्स।
अभिधारितो न तस्स उ, इयरे पुण जो उ पव्वावे।।

यद्यसौ येन साधुना संकेतो दत्तस्तदभिमुखं प्रस्थितः पथि गच्छन् अन्तरा अन्यस्य धर्मकथिनः समीपे धर्माकार्ण्योपशान्तः स च स्वयमभिधारयन् गच्छति तदा तस्यैवाभिधारित स्याभवति। इतरः पुनरनभिधारयिता ततो धर्मकथी प्रव्राजयति। इदमेव व्याचष्टे।

पुण्णेहिं पि दिणेहिं, उवसंतो अंतरा उ अण्णस्स।
अभिधारित्तो तस्स उ, इयरं पुण जो उ पच्छावे।।

पूर्णैरपिशब्दादपूर्णैरपि दिवसैरन्तरा पथि वर्त्तमानो ऽन्यस्य सकाशे उपशान्तः सन् अभिधारयति प्रव्रजामि तावदह समीषां समीपे परं पूर्वेषामेवाहं शिष्यः एवमभिधारयन् तस्यैव पूर्वाचार्यस्याभवति इतरो नाम यः पूर्वेषां विपरिणतस्तं प्रव्राजयति तस्यैव स शिष्यः। नियमप्रदर्शनार्थमिदमाह।

णूणादिसमोसरणे, दट्ठूण वित्तं तु परिणतो अण्णं।
तस्सेव से ण पुरिसे, एमेव पहम्मि दव्वं ते।।

न्यूनादौ समवसरणे तं पूर्वाचार्य दृष्ट्वाऽपि यद्यन्यमेव परिणतः प्रतिपन्नस्तदा तस्यैवासौ शिष्यो न पूर्वस्य एवमेव पथि व्रजतामप्यनाघातानाभाव्यविधिरवगन्तव्यः। अथ कः संयतस्य गृहस्थस्य वा व्याघातो न भवतीत्याह।

गेलण्णतेणग नदी, सावयपइण्णीयवालमहिया वा।
इइ समणे वाघातो, महिगा वज्जा उ सेहस्स॥

ग्लानत्वं तस्य साधोरुत्पन्ना स्तेनका वा अन्तराले द्विविधा नदी वा पूर्णा स्वापदा वा व्याघ्रादयः। पथि तिष्ठन्ति प्रत्यनीको वा तं प्रतिचरन्नास्ते व्यालाः सर्प्पास्ते वा पथि गच्छन्तं दशन्ति महिका वा पतितुमारब्धा य एवं श्रमणे व्याघातः संभवति शैक्षस्यापि महिकावर्जः सर्वोऽप्येष एव व्याघातो वक्तव्यः। पूर्वं स्वयं विपरिणतमाश्रित्य विधिरुक्तः। अथान्येन विपरिणामितस्य विधिमाह।

विप्परिणामियभावो, ण लब्भते तं च णो वियाणामो।
विप्परिणामियकहणा, तम्हा खलु होति कायव्वा।।

विपरिणामितो विवक्षिताचार्यादुत्तारितो विपरिणामकस्यविपरिणामितभावः एवंविधः शैक्षो लभ्यते भावो यस्य स विपरिणामकस्य भवतीति भावः। शिष्यः प्राह तमेव विपरिणमनं तावद्वयं न विजानीमः। सूरिराह। यत एवं भवतो जिज्ञासा तस्माद्वि परिणामनं विपरिणामितं तस्य कथना प्ररूपणा कर्त्तव्या भवति। तामेवाह।

दिट्ठमदिट्ठविदेसत्थ, वि गिलाणे मंद धम्म अपसुत्ते।

णिप्पत्ति णत्थि तस्स, तिविहं गरहं व सा वजति ॥

शैक्षः कमप्याचार्यमभिधार्य गच्छन् मार्गे कमपि साधुं दृष्ट्वा पच्छति अमुक आचार्यो भवद्भिः कदाचित् दृष्ट उताहो न दृष्टः एवं दृष्टे स साधुर्विपरिणामनं बुद्धा भणति । किं तैः करिष्यसि शैक्षः प्राह । प्रव्रजितुकामोऽहं तेषां समीपे एवं श्रुत्वा साधुर्दृष्टानपि तान् न मया दृष्टा इति अथवा स्वदेशस्थानपि भणति विदेशस्थास्ते एवमग्लानानपि ग्लानास्ते व्रज त्वमपि तस्य द्वितीयः । अथवा ब्रवीति यस्तस्य पार्श्वे प्रव्रजति सोऽवश्यं ग्लानो ग्लानवैयावृत्त्ये वा नित्यं व्यापृतो भवति। अथवा मन्दधर्मिणस्ते ततः किं तव मन्दधर्मता रोचते । यद्वाऽसौ अल्पश्रुतस्त्वं च ग्रहणधारणासमर्थस्तस्य पार्श्वे गतः किं करिष्यसि त्वमेव वा तं पाठयिष्यसीति । अथवा तस्य शिष्याणां निष्पत्तिरेव नास्ति यं प्रव्राजयति स सर्वोऽपि व्रती भज्यते म्रियते वेति भावः । त्रिविधां वा नामवाक्कायभेदात् ज्ञानदर्शनचारित्रभेदाद्वा त्रिप्रकारां गर्हां वक्ष्यमाणरीत्या यदाऽसौ करोति सा विपरिणामता मन्तव्या । एनां कुर्वन्तश्चतुर्गुरुकम् न च तं शैक्षं लभते अतो नैवं कथनीयम्। किंतु दृष्टादिपेदषु सद्भावः कथनीयः । कथमित्याह ।

जइ पुण तेण ण दिट्ठा, णेव सुया पुच्छितो भणति ।
अण्णे गया विदेसं, तो साहइ जत्थ ते विसए ॥

योऽसौ शैक्षेण पृष्टस्ततो यदि ते सूरयो न दृष्टा नैव श्रुतास्ततः पृष्टः सन् भणति अहं न जानामि । अन्यान् अपरान् साधून्पृच्छ। अथ जानाति ततो यथा वस्थितं कलनीयं यदि विदेशगतास्ततो यत्र विषये देशे ते वर्त्तन्ते तं कथयति । अथ नाख्याति हीनाधिकं वा आख्याति ततोऽपरिणामेना-भवति ।

सेसेसु असब्भावं, णातिक्खमंदधम्मवज्जेसु ।
गूहयते सब्भावं, विप्परिणति हीणकहणे वा ॥

शेषेषु ग्लानादिषु पदेषु मन्दधर्मवर्जेषु सद्भावं व्याख्याति यद्यप्यसौ ग्लानो ऽल्पश्रुतो वा शिष्यनिप्पत्तिर्वा तस्य नास्ति तथापि तत्र कथनीयम्। यस्तु मन्दधर्मपार्श्वस्थादिस्तत्र सद्भावः कथनीयो मा संसारं पारं गन्तुकामः सुतरां संसारे पतिष्यतीति कृत्वा यस्तु ज्ञानदर्शनचारित्रतपःसंपन्नो वादी धर्मकथी संग्रहोपग्रहकारी तद्विषयं सद्भावं यदि गूहयति अपलपति हीनकथनं वा करोति अधिकमप्यान्याचार्येभ्यो हीनं कृत्वा कथयतीत्यर्थः । एषा विपरिणामता मन्तव्या । अथ त्रिविधां गर्हां व्याचिख्यासुस्तत्स्वरूपं तावदाह।

सीसो कंपणगरिहा, हत्थविलंवि य अहो य हक्कारो ।
वेलाकरणाय दिसा, चिट्ठतिणामं ण घेत्तव्वं ॥

गर्हा नाम शैक्षेण पृष्टस्सन् शीर्षाकम्पनं करोति हस्तौ वा धुनीते विलम्बितानि वा करोति हस्तावोष्ठौ वा विलम्बयतीत्यर्थः । यद्वा ब्रवीति। अहो प्रव्रज्यां हाकारं वा करोति हाहा कष्टं यदेवं नष्टो लोकः (वेलत्ति) नामापि न वर्त्तते । अस्यां वेलायां गृहीतुमिति । कर्णौ वा तदीयनामग्रहणे स्थगयति यस्यां वा दिशि स तिष्ठति तस्यां न स्थातव्यमिति ब्रवीति । उपलक्षणत्वादक्षिणी वा निमीलयति यद्वा तामपि तस्यातिरात्रेर्न ग्रहीतव्यमतः आस्तामेतद्विषयं पृच्छादिकमिति।

नाणे दंसणचरणे, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
अह होति तिहा गरहा, कायो वाया मणो वावि ॥

ज्ञाने दर्शने चारित्रे चेति त्रिविधा गर्हा भवति । तत्र ज्ञानगर्हा नाम न उपस्थितेनैव किंतु तदीयेन ज्ञानेन । दर्शनगर्हा तु मिथ्यादृष्टिर्नास्ति-कप्रायोऽसौ । चारित्रगर्हा सातिचारं चारित्रो ऽचारित्री वासौ । अथवा सूत्रे अर्थे तदुभये चेति त्रिविधा गर्हा । तत्र सूत्रं तस्य शङ्कितं स्खलितमर्थं पुनरवबुध्यते १ यद्वा अर्थं नावबुध्यते सूत्रं पुनर्जानाति २ उभयमपि वा तस्याविशुद्धं जानाति वा किमपीति ३ अथवा कायवाग्मनोभेदात् त्रिधा गर्हा । तत्र कायगर्हा तेषामाचार्याणां शरीरं हुण्डादिसंस्थानं विरूपं वा । वाग्गर्हा मन्मनं काहलं वा ते जल्पन्ति । मनो गर्हा न तेषां तथाविधोहापोहपाटवं भवाग्रहणसामर्थ्यमिति । अथैषा त्रिविधा गर्हा भवति ।

प्रकारान्तरेण गर्हामेवाह ।

पव्वयसि ओम कस्स सकासे अमुगस्स निद्दिट्ठो ।
आयपराधिगसंसी, उवहणति परं इमेहिं तु ॥

कोऽपि शैक्षः केनापि साधुना पृष्टः प्रव्रजसि त्वं स प्राह ओम् कस्य सकाशे इति पृष्टः सन् भूयोऽप्याह अमुकस्य समीपे । एवं निर्दिष्टे उक्ते स *साधुः आत्मानं परस्मादधिकं शंसितुमाख्यातुं शीलमस्येत्यात्मपराधि-*कशंसी परममीभिः वचनैरुपहन्मि । तद्यथा ।

अबहुस्सुतो वि एव्वं, जहच्छंदा तेसु वा संसग्गी ।
ओसण्णा संसग्गी व, तेसु एक्केक्कए दुन्नि ॥

अहं बहुश्रुतः सोऽबहुश्रुतः । अहं विशुद्धपाठकः स पुनरविशुद्धपाठी। यद्वा यथाच्छन्दास्ते आचार्यास्तैर्वा यथाच्छन्दैः सह ते गाढतरं संसर्गिणः । गाथायां तृतीयार्थे सप्तमी । अव सन्ना वा तैः सार्द्धं संसर्गिणो वा एवं पार्श्वस्थादावप्येकैकस्मिन् भेदौ द्वौ द्वौ दोषवेवमेव वक्तव्यौ ।

अथ कायवाङ्मनोगर्हामेव प्रकारान्तरेणाह ।

सीसोकंपणहत्थे, कण्णदिसा अत्थि काइगी गरहा ।
वेला अहो य हात्तिय, णामत्ति काइगी गरहा ॥

शीर्षकम्पनं हस्तविलम्बनं कर्णस्य अन्यस्यां दिशि स्थापनम् । अक्षिनिमीलनमनिमिषलोचनस्य वा क्षणमवस्थानम् । एषा सर्वाऽपि कायिकी गर्हा यत्तु यस्यां वेलायां नाम न ग्रहीतव्यम् अहो कष्टं हाहाकारकरणं नाम च तस्य कदापि न ग्रहीतव्यमित्यादिभाषणं सा कायिकी गर्हा ।

अह माणसिगी गरहा, निज्जाति णित्तवत्तरागेहिं ।
धीरत्ताण ण यं पुण, अभिणंदइ य तं वयणं ॥

अथानन्तरं मानसिकी गर्हा मनसि तमाचार्यं जुगुप्सते कथमेतत् ज्ञायते इत्याह नेत्रवत्क्रयोः संबन्धिनोर्ये रागा मुकुलनविच्छायभवनादयो विकारास्तैः सूच्यते मानसिकी गर्हेति भणिता साध्विदं कृत्यमेतद्व्यानामित्यादिवचोभिर्न तदीयं वचनमभिनन्दतिधीरतया वा तूष्णीकमास्ते । एवमन्यतरस्मिन् गर्हाप्रकारे कृते तस्य शङ्का भवति अवश्यमकार्यकारी स आचार्यादिः संभाव्ते । नचामी साधवोऽलीक भाषन्ते । अहमपि तत्र गत आत्मानं नाशयिष्यामीति ।

एताणि य अण्णाणि य, विपरिणमणपदाणि सेहस्स ।
उवहिणियइप्पहाणो, कुव्वति अणज्जया केइ ॥

एतानि चानन्तरोक्तानि अन्यानि च द्रव्यक्षेत्रकालभावाः शैक्षस्य विपरिणमनपदानि भवन्ति । तत्र द्रव्यतो मनोज्ञाहरादि ददाति । क्षेत्रतः प्रवातनिवाते मनोनुकूले प्रदेशे तं स्थाप-

यति । कालतो वेलायामेव भोजयति । भावतस्तस्यार्क्ष–णार्थं हितयुतमपदेशं ददाति । एवं केचिदनृजुकाः शठा उपधिः परवञ्चनाभिप्रायो निकृतिः कैतवार्थं प्रयुक्तवचनाकाराच्छादनं ते प्रधाने येषां ते तथाविधविपरिणामनपदानि कुर्वन्ति।

उपसंहरन्नाह।

एए सामण्णयरं, कप्पं जो अतिचरेअ लोभेण।
थेरे कुलगुणसंधे ,चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥

एतेषामव्याहतादिद्वारकलापप्रतिपादितानां कल्पानामन्यतरकल्पं विधाय आचार्यादिर्लोभदोषतो ऽतिचरेत् अतिक्रामेत् तं सम्यक् ज्ञात्वा कुलगणस्थविरं कुलादिसमवायेन वा तस्य पार्श्वात्तं शैक्षमाकृष्य चत्वारो मासा गुरुकास्तस्य प्रायश्चित्तं दातव्यम् । अथ स्थविरैः समवायेन वा भणितोऽपि तं शैक्षं न समर्पयति ततः कुलगणसंघबाह्यः क्रियते ॥ वृ० ३ उ० ॥ (साधारणवग्रहस्थितानां कस्य क्षेत्रमिति खेत्तशब्दे) वर्षास्ववग्रहः पज्जुसणा शब्दे) (अवग्रहस्य ऊर्ध्वतो मानं सागारिय शब्दे)।

(१७) अवग्रहे सप्त प्रतिमाः।

साम्प्रतमवग्रहविशेषानधिकृत्याह।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा आगंतारेसु वा ४ जावोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिक्कम्म अह भिक्खू जाणेज्जा इमाहिं सत्तहिं पडिमाहिं उग्गहं उगिण्हित्तए तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा । से आगंतारेसु वा अणुवी ति उग्गहं जाएज्जा जाव विहरिस्सामो पढमा पडिमा । अहावरा दोच्चा पडिमा जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं गिण्हिस्सामि अण्णेसिं भिक्खूणं उग्गहिए उग्गहे उवल्लिस्सामि दोच्चा पडिमा। अहावरा तच्चा पडिमा जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं गिण्हिस्सामि अण्णेसिं च उग्गहिए उग्गहे णो उवल्लिस्सामि तच्चा पडिमा। अहावरा चउत्था पडिमा जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं णो उगिण्हिस्सामि अण्णेसिं च उग्गहे उग्गहिए उवल्लिस्सामि चउत्था पडिमा। अहावरा पंचमा पडिमा जस्सं णं भिक्खुस्स एवं भवति अहं च खलु अप्पणो अट्ठाए उग्गहं उगिण्हिस्सामि णो दोण्हं णो तिण्णं णो चउण्हं पंचण्हं पंचमा पडिमा। अहावरा छट्ठा पडिमा से भिक्खू वा से भिक्खुणी वा जस्सेव उग्गहे उवल्लिएज्जा जे अहासमणागते तंजहा। उक्कडे वा जाव पलाले वा तस्स लाभे संवसेज्जा तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिए वा विहरेज्जा छट्ठा पडिमा। अहावरा सत्तमा पडिमा से भिक्खू वा से भिक्खुणी वा अहासंथडमेव उग्गहं जाएज्जा तंजहा पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव तस्स लाभे संवस्सेज्जा तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिउ वा विहरेज्जा सत्तमा पडिमा इच्चेतासिं सत्तण्हं पडिमाणं अण्णयरं जहा पिंडेसणाए सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं । इह खलु थेरेहिं भगवंतेहि पंचविहे उग्गहे पण्णत्ते तंजहा देविंदोग्गहे रायोग्गहे गाहावइउग्गहे सागारियउग्गहे साहम्मियउग्गहे एयं खलु तस्स भिक्खू वा भिक्खुणी वा सामग्गियं उग्गहपडिमा समत्ता ॥

स भिक्षुरागन्तागारादावग्रहे गृहीते ये तत्र गृहपत्यादयस्तेषां संबंधीन्यायतनानि पूर्वं प्रतिपादितान्यतिक्रम्येत्येतानि च वक्ष्यमाणानि कर्मोपादानानि परिहृत्यावग्रहं ग्रहीतुं जानीयाः । अथ भिक्षुः सप्तभिः प्रतिमाभिरभिग्रहविशेषैरवग्रहं गृहीयात्तत्रेयं प्रथमा प्रतिमा । तद्यथा स भिक्षुरागन्तागारादौ पूर्वमेव विचिन्त्यैवंभूतः प्रतिश्रयो मया ग्राह्यः नान्यथाभूत इति प्रथमा। तथास्य च भिक्षोरेवंभूतोऽभिग्रहो भवति तद्यथा अहं च खल्वन्येषां साधूनां कृते ऽवग्रहं ग्रहीष्यामि याचिष्ये अन्येषां चावग्रहे गृहीते तरितुं पालयिष्ये वत्स्यामीति द्वितीया प्रतिमा। सामान्येन इयं तु गच्छान्तर्गतानां संभोगिकानामसंभोगिकानां चोद्युक्तविहारिणां यतस्तेऽन्योन्यार्थं याचन्त इति। तृतीया त्वियं अन्यार्थमवग्रहं याचिष्ये ऽन्यावगृहीते तु न स्थास्यामीति एषा त्वाहालंदिकानां यतस्ते सूत्रार्थविशेषमाचार्यादभिकाङ्क्षन्ते आचार्यार्थं याचन्ते । चतुर्थी पुनरहमन्येषां कृते ऽवग्रहं न याचिष्ये अन्यावगृहीते च वत्स्यामीतीयं तु गच्छ एवाभ्युद्यतविहारिणं जिनकल्पाद्यर्थं परिकर्म्म कुर्व्वताम्। अथापरा पञ्चमी अहमात्मकृते ऽवग्रहमवग्रहीष्यामि न चापरेषां द्वित्रिचतुःपञ्चा-नामिति। इयं तु जिनकल्पिकस्य। अथापरा षष्ठी यदीयमवग्रहं ग्रहीष्यामि तदीयमवक्कडादि संस्तारकं ग्रहीष्यामीतरथोत्कुटुको वा निषण्ण उपविष्टो वा रजनीं गमयिष्यामित्येषापि जिनकल्पिकादेरिति । अथापरा सप्तमी एषैव पूर्वोक्ता नवरं यथा संस्कृतमेव शिलादिकं ग्रहीष्यामि नेतरदिति शेषमात्मोत्कर्षवर्जनादिपिण्डैषणावन्नेय– मिति । किञ्च (सुयमित्यादि) श्रुतं मया आयुष्मता भगवतैवमाख्यातम् । इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिः पञ्चविधो ऽवग्रहो व्याख्यातस्तद्यथा देवेन्द्रावग्रह इत्यादि सुगमं यावदुद्देशकसमाप्ते रिति। आचा० २ श्रु० ७ अ० १ चू०।

तिहिंउत्तराहिं तिहिं रोहिणीहिं कुज्जा उग्गहवसहिद्वाणं द० प०। आभवनव्यापारे, व्य० द्वि० ४ उ०। अवष्टम्भे, ओ०। गृहस्थण्डिले, उपाश्रयान्तर्वर्तिनि अवगाह्ये वस्तुनि च। प्रश्न०। वृष्टिजलप्रतिबन्धे, अनावृष्टौ, च निग्रहे, गजसमूहे। अवग्राहस्तु शापे, वाच०।

***उद्ग्रह** पुं० विधिग्रहणे द्वा०।

उग्गहजायण न० (अवग्रहयाचन) अनुज्ञापितपानान्नाशने, आलोच्याऽवग्र-हयाञ्चाऽभीक्ष्णाऽवग्रहयाचनम्। ध० २ अधि०। **उग्गहणंतग** न० (अवग्रहानन्तक) अवग्रह इति योनिद्वारस्य सामयिकी संज्ञा तस्याऽनन्तकं वस्त्रमवग्रहानन्तकम् । पुस्त्वं प्राकृते । नौनिभे मध्यभागविशाले पर्य्यन्तभागस्योस्तु तनुके गुह्यरक्षार्थं क्रियमाणे उपकरणभेदे, वृ० ३ उ०। तच्च निर्ग्रन्थैर्न ग्राह्यं निर्ग्रन्थीभिस्तु ग्राह्यम्॥

(सूत्रम्) नो कप्पइ निग्गंथाणं उग्गहणंतगं वा उग्गह

पट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह।

उभयम्मि विय विसिट्ठं, वत्थग्गहणं तु वण्णियं एयं।
जं जस्स होति जोग्गं, इदाणि तं तं परिकहइ॥

उभयं भिन्नाभिन्ने सूत्रद्वयमेतस्मिन्नविशिष्टमिदं साधूनां कल्पते न कल्पते वा इत्यादि। विशेषरहितमिदमनन्तरोक्तं वस्त्रग्रहणं वर्णितमिदानीं तु यद्यस्य संयत्या वा योग्यं तत्तत्सूत्रेणैव साक्षात्परिकथयतीत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। नो कल्पते निर्ग्रन्थानामवग्रहानन्तकं वा गुह्यदेशविधानवस्त्रं तस्यैवाच्छादकं पट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वा इति सूत्र संक्षेपार्थः। अथ निर्युक्तिविस्तारः।

निग्गंथोग्गहधरणे, चउरो लहुगा य दोस आणादी।
अतिरेगओवहित्ता, लिंगभेदवितियं अरिसमादी॥

निर्ग्रन्थानामवग्रहानन्तकपट्टयोर्धारणे चत्वारो लघुमासाः। आज्ञादयश्च दोषाः। अतिरिक्तोपधित्वादधिकरणं भवेत्। तथा लिङ्गभेदः कृतो भवति। साधूनां लिङ्गं निश्चितं न भवतीत्यर्थः। द्वितीयपदविषयमर्शो रोगादिकं तत्रावग्रहानन्तकं पट्टकं वा धारयेत् द्वितीयपदमेव भावयति।

भगंदलं जस्सरिसा व णिच्चं, गालेंति पूयं वि ससोणियं वा।
उड्डाह सज्झायदयाणिमित्तं,सो उग्गहं बंधति पट्टगं च॥

भगंदरः गुह्यसंधौ व्रणविशेषो ऽर्शांसि वा यस्य नित्यं पूयं वा रसिकां वा शोणितं वा गलति स उड्डाहः स्वाध्यायदयानिमित्तम् अहो अमी ईदृश एव धाव्यन्ते यो भगन्दरादिरोगवान् बहिर्गन्तुमसहिष्णुस्तस्य पट्टो रुधिरं चोपाश्रये क्वचिन्मात्रे धाव्यते ततस्तद्धावनं हस्तशताद्बहिः। अथासौ बहिर्गन्तुमसहिष्णुस्ततो विचारभूमौ गतः स्वयमेवावग्रहपट्टकं रुधिरं च धावति। पट्टबन्धने विधिमाह।

ते पुण होंति दुगादी, दिवसंतरिएहिं वज्झए तेहिं।
अरुगं इहरा कुत्थइ, तेवि य कुव्वंति णिच्चोला॥

ते पुनरवग्रहानन्तकपट्टा द्विकादयो द्वित्रिप्रभृतिसंख्याकाः कर्तव्याः। तैर्दिवसान्तरितैर्व्रणो बध्यते। किमुक्तं भवति येनावग्रहा नन्तकेन पट्टकेन यो ऽद्य व्रणो बद्धः द्वितीयदिवसे स उन्मोच्य प्रक्षाल्य वा परिभोग्यो विधेयः। यः पुनराद्यदिनेन परिभुक्तः तेन तस्मिन् दिने व्रणो बन्धनीयः। इतरथा प्रतिदिनं तेनैव पट्टेन बन्धे दीयमाने अरुकं व्रणः कुथ्यति प्रतिभावमुपगच्छति। तेऽपि च पट्टाः प्रतिदिनं बध्यमानतया नित्यं सदैवार्द्राः सन्तः कुथ्यन्ति। अतो द्व्यादयः पट्टाः कर्तव्याः॥

(सूत्रम्) कप्पइ निग्गंथा उग्गहणंतगं वा उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

अस्य व्याख्या प्राग्वत्। अथ भाष्यविस्तारः।

निग्गंथीण अगिण्हे, चउरो गुरुगा य आयरियमादी।
तच्चतिणिय ओगाहण, णिवारणे निउहसण्णं॥

निर्ग्रन्थीनामवग्रहानन्तकस्य पट्टकस्य वा अग्रहणे चतुर्गुरुकाः। इदं सूत्रमाचार्यः प्रवर्तिनीं न कथयति चत्वारोगुरवः। प्रवर्तिनी संयतीं न कथयति चत्वारो गुरवः। आर्यिका न प्रतिशृण्वन्ति मासलघु भिक्षादौ गच्छन्ती यद्यवग्रहानन्तकं वा न गृह्णाति तत एते दोषाः। तच्च त्रिकस्य भिक्षां गच्छन्त्या अवगाहनं प्रसरणमन्येषु दिवसेषु अवग्रहानन्तकपट्टाभ्यां निवारितमासीत् परं तद्विसमग्रहीतयोरुधिरमवगाढं ततो लोकस्तद् दृष्ट्वा उपहसनं कुर्यात्। कथमिति चेदुच्यते॥

खाइगयाए निग्गयं, रुहिरं दट्ठुमसंजतो वदे।
विगहेवत केणयं जणो, दोसमिणं असमिक्खदिक्खिओ॥

भिक्षायां गतायास्तस्या रुधिरं निर्गतं दृष्ट्वा असंयता वदेयुः बत इत्यामन्त्रणे भो भो लोका धिगहो केनायं स्त्रीलक्षणो जनोऽमुं दोषमसमीच्य दीक्षितः। अपिच।

छक्कायाण विराहणा, पडिगमणादीणि जाणि ठाणाणि।
तब्भाव पिच्छिऊणं, वितियं असती अहव जुण्णा॥

शोणिते परिगलिते षट्कायानां विराधना भवति सा च द्रष्टव्यमिति कृत्वा प्रतिगमनान्यन्यतीर्थिकगमनादीनि यानि स्थानानि कुर्यात् तन्निष्पन्नं प्रवर्त्तिन्याः प्रायश्चित्तम्। सचासौ शोणितपरिगलनलक्षणो भावश्च तद्भावस्तं प्रेक्ष्य विलोक्य तरुणा उपसर्गयेयुरिति वाक्यशेषः। द्वितीयपदमात्राभिधीयते (असइत्ति) नास्त्यवग्रहान्तकमथवा जीर्णा स्थविरा सा संयती अतो विद्यमानमपि न गृह्णीयादपि।

अथेदमेव भावयति।

दिट्ठं तदिट्ठव्वमहं जणेण,
लज्जाए कुज्जा गमणाइगाइं।
लज्जाइभंगो वहविज्जती से,
लज्जाविणासे य स किं न कुज्जा॥

यत्पुनर्द्रष्टव्यं तत् दृष्टं तावज्जनेन अतो नाहमत्र स्थातुं शक्नोमीति कृत्वा लज्जया गमनादीनि गृहवासे यानादीनि कुर्यात्। यद्वा तस्याः संयत्या लज्जाया भङ्गो भवेत् लज्जाविनाशे च सा किं नामाकृत्यं न कुर्यात्। तथा।

तं पासिउं भावमुदिण्णकम्मा,
दल्लेज्ज वा सा वि य तत्थ भज्जे।
तं लोहियं वा विसरक्खमादी,
विज्जा समालब्भति जोययंति॥

तं रुधिरपरिगलनरूपं भावं दृष्ट्वा केचित्तरुणा उदीर्णकर्माणश्चतुर्थ-प्रतिसेवनार्थं प्रेरयेयुः। साऽपि च संयति तत्र भजेत् सङ्गं कुर्यात् यद्वा तल्लोहितं सरजस्कादयः कापालिकप्रभृतयः समालभ्य गृहीत्वा विद्याप्रयोगेणाभियोजयन्ति वशीकुर्वन्ति यत एवमतः।

अंतो धरस्सिं वय तं करेति, जहा णडी रंगमुवेउकामा।
लज्जापहीणा अह सा जणोघं, संपप्पते ते य करोति हावे॥

यथा नटी नर्तकीरङ्गं नाट्यस्थानमुपैतुकामा गृहस्यैवान्तर्मध्ये जयं लज्जाया अभिभवं करोति। अथानन्तरं सा लज्जाप्रहीणा सती जनौघं जनसमुदायं संप्राप्य तान् भावानङ्गविक्षेपादीन् करोति। एवं संयत्यपि भिक्षां गन्तुमनाः प्रतिश्रयमध्य एवावग्रहानन्तका– दिभिरुपकरणैरात्मानं प्रावृतं करोति ततो भिक्षां पर्यटन्ती त्वरणादिष्वनवलोकमानेष्वपि सुखेनैव लज्जां पराजयते। अथ द्वितीयपदमाह।

असईया णंतगस्स उ, पणतिणिगा वण्णओ गेण्हे।
निग्गमणं पुण दुविहं, विधि अपही तत्थिमा अविही॥

अवग्रहानन्तकस्याभावे पञ्चपञ्चाशद्वर्षेभ्य उत्तीर्णा वा संयती

ग्लानयोनिकतया न गृह्णीयादपि। इह च भिक्षाया निर्गमनं द्विविधं विधिना अविधिना च। तत्र तावदयमविधिः।

उग्गहमादीहि विणा, दुण्णिवसिया वा विउक्खुलणवत्था।
एक्का दुएय अविहा, चउगुरु आणा य अणवत्था॥

अवग्रहानन्तकादिभिर्विना भिक्षां निर्गच्छति। दुर्निवसिता वा भिक्षां पर्यटति। एका वा द्वे वा भिक्षायां गच्छतः एष सर्वोऽप्यविधिरुच्यते। अत्र चतुर्गुरुकाः। आज्ञा च भगवतां विराधिता स्यात्। अनवस्था च एकामविधिना निर्गच्छन्तीं दृष्ट्वा अन्याऽपि निर्गच्छतीत्येवंलक्षणा भवति। तथा।

मिच्छत्तपवडियाए, वायण चउव्वयम्मियाउवरो।
गोयरगयावगहिया, धरिसणदोसे इमे लहति॥

अवग्रहानन्तकादिभिर्विना भिक्षां गता सहसा मूर्च्छादिना प्रपतेत् ततः प्रपतिताया वातेन वा प्रावरणे समुद्धूते अप्रावृतत्वं दृष्ट्वा लोको मिथ्यात्वं गच्छेत्। यथा नास्त्यमीषाममुष्य दोषस्य प्रतिषेधः कथमन्यथेयमित्थं निर्गच्छेत्। गोचरगता वा काचिदविधिनिर्गता केनचिद्विटेन गृहीता धर्षणदोषानमून् वक्ष्यमाणान् लभते। ते चोपरि दर्शयिष्यन्ति।

अथ विधिनिर्गमे गुणमाह।

अद्धोरुगादीहमिया सणादी, सा रक्खिया होति पदेवि जाव।
तिण्हंपि चेलण जणोभिजातो, एक्कं वराविप्पमुचेति णासं॥

या अर्द्धोरुकदीर्घनिवसनादिभिः सुप्रावृता निर्गता सा केनचिद्धर्षितुमारब्धाऽपि पटादावपि यावत् संरक्षिता भवति तिसृणां च संयतीनां बोलेनाभिजातः शिष्टो जनो भूयान् मिलती ति शेषः। या पुनरेकाम्बरा निर्गच्छति सा क्षिप्रं शीघ्रं विनाशं संयमपरिभ्रंशमुपैति।

उव्वेल्लिए गुज्झम पस्सतो सा, हाहक्कितस्सेव महाजणेणं।
धिधित्ति उच्छुक्कितताडियस्स, पत्तो समं रण्णदवो व वेदो॥

विधिनिर्गतयोः केचित्प्रत्यनीकेनोद्वेल्लिते उत्सारितेऽपि बाह्योपकरणे यादवसौ गुह्यं न पश्यति तावन्महाजनेन हाहाकृतो धिग्धिगिति भणनपूर्वकं च छुक्कितो गाढं जुगुप्सितस्ताडितश्चासौ ततस्तस्यैवंविधां विडम्बनां प्रापितस्य वेदो मोहोदयोऽरण्यदव इव सद्यः शमं प्राप्तः।

अथ विधिनिर्गमने दोषामाह।

तत्थे व य पडिबंधो, पडिगमणादीणी ठाणाणि।
हिंडी य बंभचेरे, विधिणिग्गमणे पुणो वोच्छं॥

येन सा अविधिनिर्गता धर्षिता तथैव प्रतिबन्धोऽनुरागो भवेत् तदनुरक्ता वसतिप्रतिगमनादीनि स्थानानि करोति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तं प्रवर्तिन्या ऋतुसमयगृहितायाश्च कस्याश्चित् हिंडिमबन्धो भवेत् ततश्च महती प्रवचनापभ्राजना ब्रह्मचर्यविराधना च परिस्फुटैव तस्याः संजायते। विधिनिर्गमने पुनर्भूयोऽपि गुणान् वक्ष्ये। एतच्च सांन्यासिकीकृत्य प्रथमं विधिनिर्गमने दोषशेषमाह।

न केवलं जा उविहम्मिआ सती,
सवच्चतामेति मधूमुहे जणा।
उवेति अन्ना वि उ वच्चपत्ततं,
अपाउता जा अणियस्सिया य।

न केवलमेव सती साध्वी विधर्म्मिता शीलधर्माद्भाविता सैव मधुसरे च जने दुर्जनलोके सवाच्यतां सकलङ्कतामुपगच्छति। अन्याऽप्येतद्व्यतिरिक्ताऽपि वाच्यपात्रं वचनीययोग्यतामुपैति। याऽप्रावृत्ता औपक्षिकाद्युपरितनोपकरणरहिता अभिवसिता च। अथावग्रहानन्तकाद्यधस्तनोपकरणवर्जिता भवति। किं च "ण भूसणं भूसयते सरीरं", भूषणंशरीरं न भूषयति किंतु शीलं ब्रह्मचर्यं ह्रीश्च लज्जा एतदेव द्वयं स्त्रिया विभूषणम्। अमुमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया दृढयति। गीर्वाणी संस्कारयुक्ताऽपि संसदि सभायां यद्यसाधुवादिनी जकारमकराद्यसभ्यप्रलापिता तदा अपेशला। शिष्टजनजुगुप्सनीयतया न शोभना भवति एवमियमपि स्त्री हारादिविभूषिताऽपि यदि विशाललज्जाविकला तदा शिष्टजनस्य जुगुप्सनीया भवति। अतः स्त्रियाः शीलं लज्जा च विभूषणम्। एतच्च शील लज्जाद्वयं संयत्या विधिप्रावरणे अतस्तदेवाभिधित्सुराह।

पट्टद्धो रग चलणी, अंतोवहरादिराणियं सणिया।
संजामिक्खुज्जकरणी, अणेगतो वसतिकाले॥

पट्टकोऽर्धोरुकश्च चालनिका अन्तर्निवसति बहिर्निवसति संघट्टिका कुब्जकरणी उपलक्षणत्वादवग्रहानन्तकं कम्बुक औपक्षिकी वानागत एव वसतिकाले भिक्षासमये दृढतराण्युपकरणानि साध्व्या प्रावरणीयानि इदमेव विभावयिषुराह।

उग्गहणंतगविएहिं, अव्वाओ अतुरिया उभिक्खस्स।
जोहोव्वलंखिया वा, अगिण्हणे गुरुग आणादी॥

अथावग्रहानन्तकादिभिरुपकरणैरार्यायाः संयत्या भिक्षात्वरिता आत्मानं भावयन्ति क इवेत्याह। योध इव लंखिकेव वा यथा योधः संग्रामशिरसि प्रवेष्टमानः सन्नाहं पिनह्यति यथा च लंखिका रङ्गभुवं प्रविशन्ती पूर्वं चलनकादिना गूढाऽपि नष्टमिवात्मनं करोति एवमार्याऽप्यवग्रहानन्तकादिषु प्रावृता निर्गच्छति। अथैतान्युपकरणानि न गृह्णाति ततश्चतुर्गुरुकाः आज्ञाभङ्गादयश्च दोषाः। अथ विशेषज्ञापनार्थमिदमाह।

जोहोमरुंडजड्डो, णाइणी लंखिया व यलिखंभो।
अज्जाभिक्खग्गहणा, आहरणा होंति णायव्वा॥

आर्याया भिक्षाग्रहणे यदुपकरणप्रावरणं तत्रैतानि उदाहरणानि ज्ञातव्यानि। तद्यथा योधः प्रतीतः मरुण्डजड्डो मरुण्डस्य रजोहस्ती २ नाटकिनी नर्तकी ३ लङ्घिका वंशाग्रनर्त्तकी ४ कदलीस्तम्भः प्रतीतः। तत्र योधदृष्टान्तमाह।

विणिओ पराजितो मारिओ य संखे अवमितो जोहो।
सावरणो पडिपक्खो, भयं च कुरुते विवक्खस्स॥

योधः संख्ये संग्रामे अवमितः प्रविशन् व्रणितः पराजितो मारितो वा जायते। व्रणितो नाम परैः प्रहारजर्जरीकृतः पराजितः पराभग्नः मारितः पञ्चत्वं प्रापितः। यस्तु सावरणस्तस्य प्रतिपक्षो वक्तव्यः। किमुक्तं भवति यः सन्नाहं पिनह्य रणशिरशि प्रविशति स न प्रहारैर्जर्जरीभवति न वा पराजयते न वा मरणमासादयति। प्रत्युत विपक्षभयं कुरुते। एव मायाऽपि यथोक्तोपकरणप्रावरणमन्तरेण भिक्षां प्रविष्टा तरुणैरुपद्रूयते सुप्रावृता तु सर्वथैव तेषामगम्या भवति। उक्तो योधदृष्टान्तः। संप्रति मरुण्डजड्डदृष्टान्तं गाथाचतुष्टयेनाह।

विहिवसता उ मुरुंडं, आपुच्छति पव्वया महं कत्थ।
पासंडे य परिक्खति, वेसग्गहणेण सो राया।
डों वेहिं व धरिसणा, माउग्गामस्स होइ कुसुमपुरे।
उज्जावणा पययणे, णिवारणे पावकम्माणं॥
उज्झसु चीरे सा या, विणिवयहेसु यति जे जहा चायं।

उच्छूरिया णडा विव, दीसति कुप्पस्सगादीहिं ॥
धिधिक्कतो वहेक्का, तो य लोएण तज्जितो मिंठे ।
उल्लोट्ठिते णयणि वारितो ततो रायसीहेण ॥ १४ ॥

कुसुमपुरे नगरे मुरुंडो राया तस्स भगिणी विहवा सा अन्नया रायं पुच्छइ अहं पव्वइउकामा तो आइसह कत्थ पव्वयामित्ति। तओ राया पासंडीणं वेसग्गहणेण परिक्खं करेइ। हत्थिमिंछ संदिट्ठा जहा पासंडिगाओ गामेसु हत्थिं सन्निज्जाह भणिज्जाह या पोत्तं सुयाहि अन्नहा इमिणे उवट्ठवेस्सामित्ति। एकम्मि य मुक्केमा वादिह तो वग्गहा देह जीवसत्थे सुक्का तओ एगेण मिंठेण चाए रायपहे तहाकयं जाव नग्गीभूया रन्ना सव्वं दिट्ठं नवरं अज्जा वि हीए पविट्ठा रायपहोत्ति णाए हत्थिसन्निओ सुयसुपुन्नंति तए पढमं मुहपोत्तिया मुक्का ततो निसिज्जा एवं जाणि वाहरिल्लाणि त्रीवराणि ताणि पढमं मुयइ जाव बहूंहिं ताहं वि मुक्केहिं नडी वि व कंवुकादीहिं सुप्पाउया दीसइ ताहे लोगेण अकंदो कओ हा पाव किमेवं महासई तवस्सिणं अभिद्दवेसित्ति रन्नावि ओलोयणवारिओ वितियं व एस धम्मो सव्वन्नुदिट्ठो अन्नेण य बहुजणेण कया सासणस्स पसंसा ॥

अथाक्षरार्थो विधवा स्वसा मुरुण्डं राजानमापृच्छति कुत्राहं प्रव्रजामिति। ततः स राजा वेषग्रहणेन पाखण्डिनः परीक्षते परीक्षार्थमेवं चक्रे हस्तिमिंठैः कुसुमपुरे मातृग्रामस्य पाखण्डिस्त्रीजनस्य धर्षणा भवति वर्तमाननिर्देशस्तत्कालापेक्षया तदानीं प्रवचनस्योद्भावना प्रभावना समजनि। येच पापकर्माणः संयतीरभिद्रवितुमिच्छन्ति ते निवारणाय न शक्यन्ते। अतस्तदेवं विधेन एषा धनच्छलयितुमिति कृत्वा कथं पुनरेतत् संवृतमित्याह (उज्झचीवरेइत्यादि) विधिनिर्गता संयति अभिहिता उज्झ परित्यज चीवराणि साऽप्येवमभिहितवती नृपपथे राजमार्गे यानि यथा बहिरुपकरणानि तानि मुञ्चति एवं बहुषु वस्त्रेषु मुक्तेष्वपि यदा सा नटीवत् कार्यासिकादिभिः काञ्चुकादिभिर्वस्त्रैरुच्छुरिता सुप्रावृत्ता दृश्यते तदा लोकेन स मिंठो धिग्धिक्कृतो हा हा कृतश्च तथा तर्जितो गाढं निर्भर्त्सितः ततश्चावलोकन स्थितेन गवाक्षोपविष्टेन राजसिंहेनासौ निवारितः सर्वज्ञ दृष्टश्चायं धर्म इति कृत्वा साधूनां समीपे भगिनीप्रव्रज्याग्रहणार्थं विसर्जितेति उक्तो मुरुण्डजडदृष्टान्तः।

अथ नर्तकीलंखिकादृष्टान्तद्वयमाह।

पाए वि उक्खिवंती, न लज्जती णट्टिया सुणेवत्था।
उच्छुरिया वा रंगम्मि, लंखिया उप्पयंतीति ॥

यथा नर्तकी सुनेपथ्या सती पादावप्युत्क्षिपन्ती न लज्जते। लंखिका वा रङ्गचत्वारे उत्पतन्ति परिकरणशतान्यपि कुर्वती यथा उच्छुरिता सुप्रावृता सती न लज्जते। एवं संयत्यपि सुप्रावृता न लज्जत इति उपनयः। अथ कदलीस्तम्भदृष्टान्तमाह।

कयलीखंभो व जाह , उवविलेउं सुदुक्करं होति।
इय अज्जा उवसग्गे, सीलस्स विराहणा दुक्खं ॥

कदलीस्तम्भो यथा पटलबहलत्वादुद्वेल्लयितुमुद्वेष्टयितुं सु दुस्करं भवति एवमार्यिकाऽपि बहूपकरणप्रावृता नोद्विष्टयितुं शक्या इत्येवं योधादिभिर्दृष्टान्तैर्विधिनिर्गताया आर्यायाःकेनचिदुपसर्गे क्रियमाणेऽपि शीलस्य विराधना दुस्करा मन्तव्या। किंच।

एक्का मुक्का य धरिसिया, णिवेदणजतणा य होति कायव्वा।
वाहडिता जहि तथा, सज्जातरादी सयं वावि ॥

एका काचिद्विधिनिर्गताऽपि मुक्ता एका परैर्धर्षिता ततो यतनया यथा शेषसंयतसंयतीजनो न जानाति तथा गुरूणां निवेदना कर्त्तव्या। अथ सा वाहाडिता ततो न परित्यक्तव्या किंतु शय्यातरादिना स्वयं वा तस्य वार्तापनं विधेयमिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः। अथैनामेव विवृणोति।

विहिणिग्गताउ एक्का, सायरियाए गहिता गिहत्थेहिं।
संवरिए भावेण य, फिडिया अविराहियचरित्ता ॥

एका काचिद्विधिनिर्गता गोचरचार्यायां पर्यटन्ती गृहस्थैर्गृहीता परं संवृतप्रभावेण सुप्रावरणमाहात्म्येन सा अविराधितचारित्रा स्फिटिता ॥

लोएणा वारितो वा, दट्ठूण सयं च तं सुणेवत्थं।
सुद्दिट्ठं तु वसंतो, सविण्ह उरमामयतीय ॥

येन सा धर्षितुमारब्धा स लोकेन धिक्कारपुरस्सरं वारितः। स्वयं वा तां संयतिं सुनेपथ्यां सुप्रावृतां दृष्ट्वा सुदृष्टममीषां धर्मरहस्यमिति कृत्वा उपशान्तः सन् सविस्मयः पश्चात्तां संयति क्षामयति।

अणाभोगपमादेण व, असती पट्टस्सणि अवग्गहणे।
विहिणिग्गतमाहव्व, वाहाडितधाडणे गुरुगा ॥

सा कदाचिदनाभोगेनात्यन्तस्मृत्या प्रमादेन वा विकथानिद्रादि प्रमत्ततया अवग्रहपट्टस्य वा अभावे एवमेव भिक्षार्थं निर्गता एवमविधिनिर्गता वा (आहव्व) कदाचित्प्रच्छन्ने अवकाशे गृहीता ततो गुरूणां यतनया निवेदनीयम्। अथ सा कदाचिद्वाहाडिता ततो यस्तां वाहडयति निष्काशयतीत्यर्थः तस्य चतुर्गुरुकाः ॥ कुत इत्याह।

निव्वूढपदुट्ठा सा, भणेइ तेहिं कत्तमेत्तं च।
राएगिहीहि सयं वा, तंच सासंति मा वितियं ॥

सानिर्व्यूढा निष्काशिता सती साधूनामुपरि प्रद्वेषं यायात् प्रद्विष्य च भणति। एतैरेव श्रमणैरित्थं ममैतत् क्षतमिति ततो न परित्यक्तव्या येन च धर्षिता तमनवस्थाप्रङ्गवारणार्थं राज्ञा प्रशासयन्ति गृहिभिर्वा शिक्षयन्ति यदि प्रभवस्ततः स्वयमपि शासन्ते मा द्वितीयं वारमित्थं प्रवर्तयेयमिति कृत्वा। अथ तस्याः सारणविधिमाह ॥

दुविहा णायमणाया, अगीयअन्नायसण्णिमादी तु।
सब्भावेसिं कहिते, सारिता जाव णं पि यती ॥

या वाहाडिता सा द्विधा ज्ञाता अज्ञाता च ज्ञातगर्भा अज्ञातगर्भा चेत्यर्थः। तत्र या अज्ञाता सा अगीतार्था यथा न जानन्ति तथा संज्ञी श्रावकस्तदादिकुलेषु स्थाप्यते। तेषां संज्ञिप्रभृतीनां सद्भावः प्रथममेव कथनीयः कथिते च सद्भावे ते मातापितृसमानतया तां तावत् सारयन्ति प्राशुकेन प्रत्यवतारेण पालयन्ति यावत्तदीयस्तनयः स्वभाण्डस्तन्यं पिवति स्तन्यपानान् निवर्त्तत इत्यर्थः ॥

जत्थ उ जणेण णातं, उवस्सया तत्थ णय निक्खं।
किं सक्का छड्डेउं, बेंति अगीते असति सद्दे ॥

यत्र तु जनेन ज्ञातव्यं यैषा वाहाडिता तत्रोपाश्रय एव स्थाप्यते न श्रावकादिकुलेषु। नच सा भिक्षायां हिंडापयितव्या किंतु शेषसाध्वीभिः साधुभिर्वा तस्याः प्रायोग्यं भक्तपानमानीय दातव्यम्। यद्यगीतार्था भणन्ति किमेवं कीदृश्याः सं–

ग्रहः क्रियते ततः सूरयो ब्रुवते यदि नाम न संगृह्यते ततः कथयत किं सांप्रतमेषा शक्या परित्यक्तुम्। अथैवं प्रज्ञापिता अपि न प्रतिषेधन्ते ततः श्राद्धान् प्रज्ञापयन्ति। यथा।

दुरतिक्कमं खु विधियं, अवि य अकामा तवस्सिणी गहिता।
को जीणति अण्णस्स वि, वित्तंतं सारवो तेणं॥

खुरवधारणे दुरतिक्रममेव प्रतिकर्तुमशक्यमेव केनाप्यकार्यकारिणेदमकार्यं विहितं ततः किं क्रियते। अपि च अकामा अनिच्छन्ति बलादेव तेन पापात्मना तपस्विनी गृहीता। ततः को जानाति अन्यस्या अप्येवंविधो वृत्तांतः परवशतया भवेत्। तदेनां संप्रति सारयामः परिपालयाम इत्यर्थः।

मा य अवण्णकाहिह, किं ण सुतं केसि सच्चईणं ते।
जंमणे णय वयमंगो, संजातो तेसि अज्जाणं॥

हुं हुं विध्वस्तशीलेयमित्येवमस्यास्त्ववर्णमवज्ञां वा मा कार्षुः। किं न श्रुतं भवद्भिः कसिसत्यकिनोर्जन्म। यथा तावार्यिकाभ्यां पुरुषसंवासमन्तरेणापि कथंचिदुपात्तवीर्यपुद्गलाभ्यां प्रमुखवातेन च तयोरार्यिकयोर्न व्रतभङ्गः संजायते विशुद्धपरिणामत्वात्। अनयो कथाक्रमः पञ्चकल्पावश्यकटीकाभ्यामवसातव्यः।

अवि य हु इमेहिं पंचहिं, ठाणेहि त्थीअ संवसंतीवि।
पुरिसेण लभति गब्भं, लोएण वि गीइयं एयं॥

अपिचेत्यभ्युच्चये हु निश्चितं तदेतैः पञ्चभिः स्थानैः स्त्री पुरुषेण सममवसन्त्यपि गर्भं लभते न केवलमस्माभिरेतदुच्यते। किंतु लोकेनापि गीतं संशब्दितमेतत्। तान्येवोपदर्शयति।

दुव्वियडदुण्णिसण्णा, रायं परो वासि पोग्गले बुभति।
वत्थे वा संसट्ठे, दगआयमणेण वा पविसे॥

विवृता अनावृता सा चोत्तरीयापेक्षयाऽपि स्यादतो दुःशब्देन विशेष्यते। दुष्ठु विवृता दुर्विवृता परिधानवर्जितेत्यर्थः। एवं दुर्विवृता सती दुर्निषण्णा दुष्ठु विरूपतयोपविष्टा सा चासौ दुर्विवृता दुर्विवृतदुर्निषण्णा सा शुक्रपुद्गलान् कथं चित्पुरुषनिःसृतान् संगृह्णीयात् स्वयं वा पुत्रार्थितया शीलरक्षिकतया च शुक्रपुद्गलान् योनावनुप्रवेशयेत्। परो वा श्वश्रूप्रभृतिकः पुत्रार्थमेव (से) तस्या योनौ प्रक्षिपेत् वस्त्रं वा शुक्रपुद्गलसंसृष्टमुपलक्षणत्वात्तथाविधमन्यदपि केशत्वक् कण्डूयनार्थं रक्त निरोधार्थं वा तया प्रयुक्तं तदनुप्रविशेत्। अनाभोगेन वा तथाविधं वस्त्रं परिहितं सद्योनिमनुप्रविशेत्। के जानते न वा तस्या आचम्यन्त्याः पूर्वपतिता उदकमध्यवर्तिनश्च शुक्रपुद्गलाः अनुप्रविशेयुः। एवं पुरुषसंवासमन्तरेणापि गर्भसंभवे भवन्तो नास्या अवज्ञां कर्तुमर्हन्ति। एवं प्रज्ञाप्य तेषां श्राद्धानां गृहे तां स्थापयन्ति। गता ज्ञातविषया यतना।

अथाज्ञातविषयां तामाह॥

अविदियजणगब्भम्मिय, सण्णिगादीसु तत्थ वण्णत्था।
लाढेंति फासुएणं, लिंगविवेगो य जा पिवति॥

जनेनाविदितो यो गर्भस्तत्र ये मातापितृसमानाः संज्ञिन आदिशब्दाद्यथाभद्रका वा तेषां गृहेषु तत्र वा अन्यत्र वा ग्रामे स्थापयन्ति ते च संज्ञिप्रभृतयस्तां प्राशुकेन प्रत्यवतारेण लाढयन्ति यापयन्तीत्यर्थः। यावच्चापत्यं भाण्डस्तन्यं पिबति। तावत्तया लिङ्ग- विवेकः कर्तव्यः॥

एएसिं असतीए, सण्णायगणालबद्धकिढफासुं।
अण्णो वि जो परिणतो, सिट्ठवेसइतरागारीए॥

तेषां संज्ञिप्रभृतीनामभावे ये तस्याः संयत्याः संज्ञातकास्तेषां गृहेषु स्थाप्यन्ते अभावे यः संयतो नालबद्धः सोऽपि यदि किढो वृद्धस्तदाऽसौ श्रेष्ठिवेषं कार्यते ततस्ते पुत्रकाद्वारेण यापयन्तौ तिष्ठतः। नालबद्धस्याभावे अन्योऽपि यो वयसा परिणतः स श्रेष्ठिपुत्रवेषं कार्यते इतरा अगारीवेषं करोति इतराऽपि गृहिलिङ्गं करोति। अत्रेयं प्रायश्चित्तमार्गणा॥

मुलं वा जाव सणो, छेदो छगुरुगं जं जहा लहुअं।
वितियपदे असतीए, उवस्सए व अहव जुण्णा॥

यदि तया प्रतिसेन्यमानया स्वादितं ततो मुलम्। वाशब्द उत्तरापेक्षया विकल्पार्थः (जाव यणत्ति) पश्चा द्व्याख्यासयते। गर्भमाहृतं दृष्ट्वा स्वादयति छेदः। अपत्यं जातं दृष्ट्वा सहायकं मे भविष्यातीति स्वदयन्त्याः षड्गुरवः। यया पुनरस्वादितं तस्याः परप्रत्ययनिमित्तं यत्किमपि यथा लघु प्रायश्चित्तं दातुं युज्यते तद्दातव्यं (जावत्ति) यावत्तस्या अपत्यं स्तन्यपानोपजीवि भवति तावत्तपार्हं प्रायश्चित्तं न दातव्यम्। द्वितीयपदे अवग्रहानन्तकस्याभावे उपाश्रये वा तिष्ठन्ति। अथवा जीर्णाः स्थाविराः शासयन्ति अतो ऽवग्रहानन्तकं न गृह्णात्यपि। अस्या एव पूर्वार्द्धं व्याख्याति॥

सेविज्जंते अणुमए मूलं छेओ डिंडिमं दिस्स।
होहिति सहागतं मे, जातं दट्ठूण छग्गुरुगा॥

सेव्यमानया यद्यनुमतं ततो मूलम्। अथ डिण्डिमंगर्भं दृष्ट्वा हर्षमुद्वहति ततश्छेदः। पुत्रभाण्डं दृष्ट्वा सहायकं मे भविष्यतीत्यत्रानुमन्यते षट् गुरवः।

तेण परं चउगुरुगा, छम्मासा जा ण ताव पूरिंति।
जातु तवारिहसोही, अणुवत्थणिए तण्णतं देंति॥

ततः परं जन्मान्तरं यावत्षण्मासा न पूर्यन्ते तावद्यत्र यत्र स्वादयति तत्र २ चतुर्गुरवः। यावत्तस्या अर्हा सेधिरुक्ता तामनपगतस्तन्ये स्तन्यपानादनपगते अपत्यभाण्डे न ददाति मा शून्यं भविष्यतीति कृत्वा।

मेहुण्णे गब्भेआहिते य सा निज्जियं जति णतीए।
परपच्चया लहुसग्गं, तहावि सेउ दिंति पच्छित्तं॥

मैथुने प्रतिसेव्यमाने गर्भे च आहृते यद्यपि तया न स्वादितं तथापि परप्रत्ययार्थं मा भूदीतार्थानामप्रत्यय इत्यर्थः यथा लघुकं प्रायश्चित्तं तस्याः सूरयः प्रयच्छन्ति। अथ यस्तस्याः खिंसां करोति प्रायश्चित्तमाह।

खिंसाए होति गुरुगा, लज्जाणिच्छक्कतो य गमणादी।
दप्पकते वाउट्टे, जति खिंसति तत्थ वि तहेव॥

यस्तस्याः खिंसां विध्वस्तशीलत्वान्मलिनेयमित्वेयं करोति तस्य संयतस्य संयत्या वा चतुर्गुरुकाः प्रायश्चित्तम्। सा च खिंसिता सती लज्जया प्रतिगमनादीनि कुर्यात् निच्छाक्का वा निर्लज्जा भवेत् तत एव सर्वजनप्रकटमात्मानं प्रतिसवयेत्। अथ दर्प्पतस्तया मैथुनं प्रतिसेवितं परं पश्चादावृत्ता आलोचनाप्रयश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना प्रतिनिवृत्ता तामपि यः खिंसति तस्यापि तथैव चतुर्गुरुः। किं कारणमिति चेदत आह।

उम्मग्गेण वि गंतुं, ण होति किं सा तवाहिणीसलिला।
कालेण फुंफुगा वि य, विलयं वह सहे सेऊणं॥

उन्मार्गेणापि गत्वा सलिला नदी पश्चात्किं श्रोतोवाहिनी मार्गगामिनी न भवति भवत्येवेति भावः। फुंफुंकारीषाग्निः सोऽपि (वहसहेसेऊणंति) जाज्वलित्वा भृशमुद्दीप्तो भूत्वेत्यर्थः कालेन गच्छति विलीयते विलयं याति उपनययोजना सुगमा। वृ० ३ उ०। ध०। प्रव०।

उग्गहपट्ट पुं० (अवग्रहपट्ट) अवग्रहस्य योनिद्वारस्य पट्टः। गुह्यदेशपिधानवस्त्रे, स च बीर्यपातसंरक्षणार्थं च घनं घनवस्त्रेण पुरुषसमानकर्कशस्पर्शपरिहरणार्थं च मसृणं मसृणवस्त्रेण क्रियते प्रमाणेन च देहं स्त्रीशरीरमासाद्य तद्विधीयते। देहो हि कस्याश्चित्तनुः कस्याश्चित्तु स्थूलः ततस्तदनुसारेण विधेयमित्यर्थः।

पट्टो वि होइ एक्को, देहपमाणेण सो उ भइयव्वो।
छादंतोग्गहणंतं, कडिबद्धो मल्लकच्छो वा॥

पट्टोऽपि गणनयैको भवति स च पर्यन्तभागवर्तिवाटकबन्धबद्धः प्रथुत्वेन चतुरङ्गुलप्रमाणः समतिरिक्तो वा दीर्घेण तु स्त्रीकटीप्रमाणः स च देहप्रमाणेन भक्तव्यः। पृथुलघुकटीभागयोर्दीर्घः। संकीर्णकटीभागयोस्तु ह्रस्व इत्यर्थः। वृ० ३ उ०। (स च निर्ग्रन्थीभिरेव ग्राह्यो न निर्ग्रन्थैरिति उग्गहणंतग शब्दे)।

उग्गहपडिमा स्त्री० (अवग्रहप्रतिमा) अवगृह्यत इत्यवग्रहो वसतिस्तत्प्रतिमा अभिग्रहः अवग्रहप्रतिमा। वसतिविषयकाभिग्रहेषु, (ताः सप्त उग्गह शब्दे दर्शिताः) तत्प्रतिपादके आचाराङ्गस्य षोडशे अध्ययने च। आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० प्रश्न०। स०। आव०। स्था०।

उग्गहमइसंपया स्त्री० (अवग्रहमतिसम्पद्) सामान्यार्थस्य अशेषविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यरूपादेरवग्रहणमवग्रहः स चासौ मतिसंपच्चावग्रहमतिसम्यद्। मतिसंपद्भेदे, दशा० ४ अ०। (मइसंपया शब्देऽस्या भेदाः)

उग्गहसमिइजोग पुं० (अवग्रहसमितियोग) अवग्रहणीय–तृणादिविषयसम्यक् प्रवृत्तिसंबंधिनि, प्रश्न० ३ द्वा०॥

उ(ओ)ग्गहाइकहणा स्त्री० (अवग्रहादिकथना) अवग्रहस्य, देविंदरायगहवइसागारसाहम्मिउग्गहो चेवेत्येवंविधस्यादिशब्दाद्राजरक्षितास्तपस्विनो भवंतीत्यादेश्च यदाह, "क्षुद्रलोकाकुले लोके, धर्मं कुर्य्युः कथं हि ते। क्षान्तदान्तार्यहन्तार, स्तांश्चेद्राजा न रक्षतीति, कथना प्ररूपणा अवग्रहादिकथना। देवेन्द्राद्यवग्रहस्य राजवर्णनस्य प्ररूपणायाम्", विसयपवेस रण्णे, उदंसणं उग्गहाइ कहणा य, पंचा० ६ विव०।

उग्गहिय न० (अवग्रहीत) परिवेषणार्थमुत्पाटिते, स्था० १ ठ०।

***अवग्रहिक** न० अवग्रहोऽस्याऽस्तीति। वसतिपीठफलकादौ औपग्रहिकदण्डकादिके उपधिजाते, स्था० १० ठा०। तद्भेदाः॥

(सूत्रम्) तिविहे उग्गहिए पण्णत्ते जं च साहरइ जं च आसगम्मि पक्खिवति॥

अस्य सम्बन्धमाह॥

पगया अभिग्गहा खलु, सुद्धपरा ते य जोगबुद्धीए।
इति उवहडसुत्तत्तो, तिविहं च अवग्गहिय एए॥

प्रकृताः खल्वनन्तरसूत्रे शुद्धोपहृतादिष्वभिग्रहास्ते चाभिग्रहाः शुद्धतरा भवन्ति। योगवृद्ध्या उत्तरोत्तरयोगवृद्धिकरणेन इति अस्मात् कारणात् उपहृतस्तत्रानन्तरं त्रिविधं द्विविधं वा प्रगृहीतमुक्तमनेन संबंधेनायातस्यास्य व्याख्या। त्रिविधमवगृहीतं प्रज्ञप्तं यदवगृह्णाति यच्च संहरति यच्च आस्यके प्रक्षिपति। एके एवमाहुर्द्विविधमवगृहीतं प्रज्ञप्तं यदवगृह्णाति यच्च संहृतं। एष सूत्राक्षरसंस्कारः। संप्रति भाष्यविस्तारः।

पग्गहियं साहरियं, पक्खियंतं च आसए तह य।
तिविहं दुविहं पुण,पग्गहियं चेव साहरियं॥

यत्प्रगृहीतं यच्च संहृतं यच्चास्ये प्रक्षिप्यमाणमेतत्त्रिविधमवगृहीतं। द्विविधं पुनरवगृहीतमादेशानन्तरेणेदं प्रगृहीतं संहृतं च। अथादेशस्य किं लक्षणमत आह।

बहुसुतमाइण्णंतु, नयाहयण्णेहिं जुगपहाणेहिं।
आदासो सो उ भवे, अहवा वि नयंतरविगप्पो॥

यद्बहुश्रुतैराचीर्णं नचान्यैर्युगप्रधानैर्वाधितं स भवति नाम आदेशः। अथवा नयान्तरविकल्प आदेशः। तद्भशातसूत्रमेव– मुपन्यस्तमिति॥

सांप्रतमवगृहीतादिपदव्याख्यानार्थमाह।

साहीरमाण गहियं, दिज्जंतं जं च होइ पाउग्गं।
पक्खेवए दुगुंछा, आदेसो कुडमहादीसु॥

इह अनानुपूर्व्या ग्रहणं बन्धानुलोमतस्तत एवं द्रष्टव्यं। गृहीतं नाम यद्दीयमानं यच्च भवति प्रायोग्यं संहृतं नाम संह्रियमाणं। आस्ये प्रक्षिप्यमाणं प्रतीतं। अत्राह ननु, "जं च आसगम्मि पक्खिवइ" इत्यस्यायमर्थ यत् आस्ये मुखे प्रक्षिपति तच्चोच्छिष्टमिति लोके जुगुप्सा ततः कथं तद् गृह्यते सूरिराह (आदेसो कुडमहादीसु) कुटो घटस्तस्य यन्मुख तदादिष्वादिशब्दात् पिठरमुखादिपरिग्रहस्तत्र आदेशव्याख्यानं। किमुक्तं भवति पिठरमुखादीन्यधिकृत्य, ''जं च आसगम्मि पक्खिवति'', इति सूत्रं व्याख्यातमतो न कश्चिद्दोषाः। अथापहृतसूत्रस्यावगृहीतसूत्रस्य च परस्परं कः प्रतिविशेषस्त–माह।

उग्गहियम्मि विसेसो, पंचमपिंडेसणाउ छट्ठीए।
तं पि हु अलेवकडं, नियमा पुव्वद्धडं चेव॥

उपहृतसूत्रे पञ्चमी पिण्डैषणा उक्ता अवगृहीतसूत्रे पुनरस्मिन् अयं विशेषो यत्पञ्चपिण्डैषणातः परा या षष्ठी पिण्डैषणा तस्या अभिधानमिति। तदपि च हु निश्चितं यल्लेपकृतं नियमाच्च पूर्वोद्धृतमिति।

संप्रति दिज्जंतं जं च होति पाउग्गमित्यस्य व्याख्या।

भुंजमाणस्स उक्खित्तं, पडिसिद्धं च तेण उ।
जहण्णोवहडं तं तु, हत्थस्स परियत्तणे॥

परिवेषकः पट्टिकायां क्रूरं गृहीत्वा दक्षिणहस्तेन तलं प्रायोग्यस्य दातुकामस्तस्य भाजने क्षिपामीति व्यवसितं तच्च तथा भुञ्जानस्याक्षिप्तं न भुञ्जानेन प्रतिषिद्धं पर्याप्तं मा मह्यं देहि। अस्मिन् देशकाले साधुना तत्र प्राप्तेन धर्म्मलाभितं ततः परिवेषको ब्रूते साधो ! धारय पात्रमेतद्गृहाण ततः साधुना पात्रं धारितं तत्रानेन प्रक्षिप्तमिदं हस्तस्य हस्तमात्रस्य परिवर्त्तनात्, गाथायां सप्तमी पञ्चम्यर्थे जघन्यमुपहृतं भवति। एतेन दीयमानमपिव्याख्यातं। यच्च भवति प्रायोग्यमित्यनेन शुद्धसंसृष्टयोः प्रागुक्तयोरन्यतरद् गृहीतम्। तदेवं, "जं च उगिण्हइ इति व्याख्यातं। संप्रति, जं च साहरियमिति व्याख्यानाय तत्साहरिएति गाथाशकलमुक्तं तद्भावयति।

अहसाहरिमाणं तु, वड्ढेउं जो उ दावए।
ठाणादचलित्तो तत्तो, छट्ठा एसा वि एसणा॥

अथ वर्द्धापयितुं संहियमाणं यो दापयेत् तस्य वचनतः स परिवेषकस्तस्मात्स्थानतो मनागप्यचलितो दद्यात् एतत्संहियमाणमुच्यते। एषाऽपि षष्ठी एषणा द्रष्टव्या। व्य० द्वि०। ८ उ०। आचा०।

उग्गहिया स्त्री० (अवगृहीता) भोजनकाले भोक्तुकामस्य शरावादिषूपहृतमेव भोजनजातं यत्नतो गृह्णतः पञ्चम्यां पिण्डैषणायाम्, स्था० ७ ठा०। पंचा०। ध०। सूत्र०। (पिंडेसणाशब्देऽस्याः स्वरूपं)

उग्गाह न० (उद्गाढ) उद् गाह क्त०। अतिशये, अत्यन्ते, अतिशययुक्ते, त्रि० वाच०। प्रगुणी भूते च। "इयाणिं किं भणिहामो जं तुज्झ ह पजुत्तं तं उग्गाढम्मि काहामो" वृ० १ उ०।

उग्गाल पुं० (उद्गार) उद्-गृ ऋदोरपं वाधित्वा, "उन्न्योर्ग्रः इति घञ्। उद्गमने, वाच०। आचीले, प्रव० ३८ द्वा०। उद्गारश्चाजीर्णरोगलिङ्गं नागवायुकार्य्यम्", वाच० (रात्रावुद्गारे आगते तस्य प्रत्युद्गिरणे दोषस्तं च राइभोयण शब्दे दर्शयिष्यामि)

(सूत्रं) जे भिक्खू राओ वा वियाले वा सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्जं तं विगिंचमाणे वर विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ तं उगिलेत्ता पचोगिलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते जो तं पच्चागिलंतं वी साइज्जइ॥ ३४१॥

रातिवियालाण पुव्वकतवक्खाण सह पाणेण सपाणं सहभोयणेण सभोयणं उडिरणं रलयोरेकत्वात्स एव उग्गालो भण्णति। सित्थ विरहियं केवलं उद्वोएण सह गच्छती त्यर्थः भत्तं वा उद्वोएण सह आगच्छति उभयं वा तं जो उगिभत्ता पचोगिलति अण्णं वा सातिज्जति कहं पुण सातिज्जति कस्सवि उग्गालो आगतो तेण अण्णस्स सट्ठिं उग्गालो मे आगती पचुंगिलिउत्तए तेण भणियं सुंदरं कयं एसा सातिज्जणा तस्स पायच्छित्तं चउगुरु आणादिया य दोसाओ सुत्तत्थो। नि० चू० १० उ०।

उग्गिण्ण त्रि० (उद्गीर्ण) वान्ते, ज्ञा० १ अ०।

उग्गोवणा स्त्री० (उद्गोपना) विवक्षितस्य पदार्थस्य जनप्रकाशचिकीर्षारूपायामेषणायाम्, पिं०।

उग्गोवेमाण त्रि० (उद्गोपयत्) विमोहयति, उग्गोवेमाणे उग्गोवेइ। भ० १६ श० ६ उ०।

उग्घव–पूरि धा० पूर् पूर्त्तौ, णिच्, **"पूरेरग्घाडोग्घवोद्धुमांगुमांगुमाहिरे", ।८। ४। ६८।** इति पूरेरुग्घवादेशः। उग्घवइ। पूरयति। प्रा०।

उग्घाइम न० (उद्घातिम) उद्घातो भागपातस्तेन निर्वृतमुद्घातिमम्। लघुनि, स्था० ३ ठ०।

उग्घाइय त्रि० (उद्घातित) उद्घातो भागपातो यत्रास्ति तदुद्घातिकम्। लघुनि प्रायश्चित्ते, स्था० ५ ठ०। (अणुग्घाइय शब्देऽस्य निक्षेपः) विनाशिते, स्था० १० ठ०।

यत उक्तम्, "अद्धेण छिन्नसेसं पुव्वद्धेणं तु संजुयं काउं। दिज्जाइ लहुयदाणं गुरुदाणं तत्तियं चेवत्ति ॥१॥ भावना मासार्द्धेन छिन्ने जातानि पञ्चदश दिनानि ततो मासापेक्षया पूर्वतपःपञ्चविंशतितमं तदर्द्धं सार्द्धद्वादशकं ते न संयुतं मासार्द्धञ्जातानि सप्तविंशतिदिनानि सार्द्धानीत्येवं कृत्वाय यद्दीयते तल्लघुमासदानमेवमयान्यपि। स्था० ३ ठ०।

उग्घाड पुं०(उद्घाट) उद् घट्० घञ्०। वाच०। अदत्तार्गले, ईषत्स्थगिते च। आव०४ अ०।

उग्घाडकवाड त्रि० (उद्घाटकपाट) निरर्गलितकपाटे, ओ०।

उग्घाडकवाडउग्घाडणा स्त्री० (उद्घाटकपाटोद्घाटना) उद्घामदत्तार्गलतीषत्स्थगितं वा किं तत्कपाटं तस्योत्पाटनं सुतरां प्रेरणमुद्घाटकपाटोद्घाटनमिदमेवोद्घाटकपाटोद्घाटना। कपाटमुद्घाट्य भिक्षणरूपे भिक्षातिचारे, "पडिक्कमामि गोयरचरियाए उग्घाडकवाडउग्घाडणाए", आव० ४ अ०।

उग्घाडण न० (उद्घाटन) कपाटस्य सुतरां प्रेरणे, आव० ४ अ०।

उग्घाडिय त्रि० (उद्घाटित) उद् घट् णिच्०। किञ्चितत्स्थगिते, आ० चू० ४ अ०। अनावृते, "तस्स उ अणंतभागो, णिच्चुग्घाभो य सव्वजीवाणं" विशे०। "ते वि तेण उग्घिडिया", आ० म० द्वि०। आच्छादनरहिते प्रकाशिते, आवरणरहिते प्रकाशिते, आवरण रहिते कृतोद्घाटने, वाच०।

उग्घाडियण्ण त्रि० (उद्घाटितज्ञ) उद्घाटितं प्रकाशितं यथा तथा जानाति। विज्ञे, वाच०। कथितमात्रज्ञे विनेये, नं०।

उग्घाय पुं० (उद्घात) उद् हत् घञ्। (ठोकर लगना) प्रतिघाते आरम्भे, उत्तुङ्गे, मुद्गरे, शास्त्रे, ग्रन्थपरिच्छेदे, वाच० लघूकरणलक्षणे, प्रायश्चित्तदानायाभागपाते, स्था० ३ ठा०। आचारप्रकल्पाऽध्ययने च। आव० ४ अ०।

उग्घायण न० (उग्घायतन) प्रवाहत एव पूज्यस्थाने, तडागजलप्रवेशाय मार्गे च। "उग्घायणेसु वा सेयणवहंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि" २ आचा० २ श्रु० ३अ०।

उग्घुस धा० (मृज्) शुद्धौ, भूषणे च। **"मृजेरुग्घृस" ।८। ४।१०५।** इति मृजेरुग्घुसादेशः। उग्घुसइ मार्जयति। प्रा०।

उग्घोसिय त्रि० (उद्घृष्ट) संमार्जिते, "उग्घोसिय सुणिम्मलंव" प्रश्न० ५। द्वा०।

उग्घोसेमाण त्रि० (उद्घोषयत्) उद्घोषणां कुर्वति, "सद्देणं उग्घोसेमाणे" रा०॥

उचिअ त्रि० (उचित) शस्ते, परिचिते, युक्ते, वाच०। योग्ये, ज्ञा० १ अ०। सङ्गते, पंचा० १ विव०। अनुरुपे, आव० ३ अ०।

उचिअ(य)करण न० (उचितकरण) आज्ञाराधनायाम्, पंचा० ६ विव०।

उचिअ(य)करणिज्ज त्रि० (उचितकणीय) विहितकर्त्तव्ये, पंचा० १ विव०।

उचिअ(य) किच्च त्रि० (उचितकृत्य) यथार्हदानादौ ध० २ अधि०।

उचिअ(य)जोग पुं० (उचितयोग) उचितः स्वभूमिकायोग्यो योगो व्यापारः। स्वाध्यायाध्ययनादिके संगतव्यापारे, पंचा० ५ विव०।

उचिअ(य) ट्ठिइ स्त्री० (उचितस्थिति) अनुरुपप्रतिपत्तौ, ध० १ अधि० पंचा०।

उचिअ(य)त्त न० (उचितत्व) योग्यतायाम्, पंचा० १० विव०।

उचिअ(य)त्थपायण न० (उचितार्थापादन) अनुरूपवस्तुसंपादने, पंचा०६ विव०।

उचिअ(य)पवित्तिप्पहाण न० (उचितप्रवृत्तिप्रधान) सच्चेष्टसारे, पंचा० ११ विव०।

उचिआ(या)चरण न० (उचिताचरण) ६ त० उचितकार्यस्या चरणे, तच्च पित्रादिविषयं नवविधमिहापि स्नेहवृद्धि कीर्त्यादिहेतुर्हितोपदेशमाला-गाथाभिः प्रदर्श्यते।

सामन्ने मणुअत्ते, जं केई पाउणंति इह कित्तिं।
तं सुणह निप्पिअप्पं, उचिआचरणस्स माहप्पं ॥१॥
तं पुण पिइ १ माइ २ सहो–
अरेसु ३ पणयिणी ४ अवच्च ५ सयणेसु ६।
गुरुजण ७ नयर ८ परति–
त्थिएसु ९ पुरिसेण कायव्वं ॥२॥

तत्र पितृविषयं कायवाग्मनांसि प्रतीत्य त्रिविधमौचित्यं क्रमेणाह।

पिउणो तणु सुस्सूसं, विणएणं किं करुव्व कुणइ सयं।
वयणं पि से पडिच्छइ, वयणाओ अपडिअं चेव ॥३॥

तनुशुश्रूषां चरणक्षालनसंवाहनोत्थापननिवेशनादिरूपां देशकालसात्म्यौचित्येन भोजनशयनीयवसनाङ्गरागादिसंपादन–रूपां च विनयेन नतूपरोधावज्ञादिभिः स्वयं करोति नतु भृत्यादिभ्यः कारयति। यतः "गुरोः" पुरो निष्पन्नस्य, या शोभा जायेत सुते। उच्चैः सिंहासनस्थस्य शतांशेनापि सा कुतः १ (अपडियंत्ति) वदनादपतितमुच्चार्य्यमाणमेवादेशं प्रमाणमेष करोमीति सादरं प्रतीच्छति न पुनरनाकर्णितशिरोधूनकालक्षेपार्द्ध-विधानादिभिरवजानाति।

चित्तं पि हु अणुअत्तइ, सव्वपयत्तेण सव्वकज्जेसु।
उवजीवइ बुद्धिगुणे, निअसब्भावं पयासेइ ॥३४॥

स्वबुद्धिविचारितमवश्यविधेयमपि कार्यं तदेवारभते यत्पितुर्मनो–ऽनुकूलमिति भावः। बुद्धिगुणान् शुश्रूषादीन् सकलव्यवहार-गोचरांश्चोपजीवति। अभ्यस्यति बहुदृश्वानो हि पितृप्रभृतयः सम्यगाराधिताः प्रकाशयन्त्येव कार्यरहस्यानि निजसद्भावं चित्ताभिप्रायं प्रकाशयंति।

आपुच्छिउं पयट्टइ, करीणज्जेसु निसेहिओ ठाइ।
खलिए खरंपि भणिओ, विणीअ यं न हु विलंघेइ ॥५॥
सविसेसं परिपूरइ, धम्माणुगए मणोरहे तस्स।
एमाइउचिअकरणं, पिउणो जणणीइ वि तहेव ॥६॥

तस्य पितुरितरानपि मनोरथान् पूरयति श्रेणिकचिल्लणादेरभयकुमारवत्। धर्मानुगतांस्तु देवपूजागुरु पर्युपास्तिधर्मश्रवण-विरतिप्रतिपत्त्यावश्यकप्रवृत्तिसप्तक्षेत्री वित्तव्ययतीर्थयात्रादीननाथोद्धरणादीन्मनोरथान् सविशेषं बह्वादरेणेत्यर्थः कर्त्तव्यमेव चैतत् सदपत्यतिह लोकगुरुषु पितृषु नचार्हद्धर्म्मसंयोजनमन्तरेणत्यन्तं दुष्प्रतिकारेषु तेषु अन्योऽस्ति प्रत्युपकारप्रकारः। तथाच स्थानाङ्गसूत्रम्, "तिण्हे दुप्पडिआरं समणाउसो! तंजहा अम्मापिउणो १ भट्टिस्स २ धम्मायरिअस्स ३ इत्यादि" समग्रोप्यालापको वाच्यः॥

अथ मातृवियय्यौचित्ये विशेषमाह॥

नवरं सेसविसेसं, पयडइभावाणुवित्तिमप्पडिमं।
इत्थिसहावसुलहं, पराभवं वहइ न दु जेणं ॥७॥

(सविसेसंति) जनकान्मातुः पुज्यत्वादपि यदाह मनुः उपाध्यायाद्दशाचार्या आचार्ये भ्यः शतं पिता। सहस्रं तु पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते"।

उचिअं एअंपि सहो अरम्मिजं निअइ अप्पसममेअं।
जिट्ठं च कणिट्ठं पि हु, बहु मन्नइ सव्वकज्जेसु ॥८॥
दंसइ न पुढो भावं, सब्भावं कइ पुच्छइ अ तस्स।
ववहारम्मि पयट्टइ, न निगूहइ थेवमाविहविणं ॥९॥
अविणीअं अणुअत्तइ, मित्तेहिं तो रहो उवालभइ।
सयणजणाओ सिक्खं, दावइ अन्नावए सेणं ॥१०॥
हिअए ससिणेहो वि हु, पयडइ कुविअं व तस्स अप्पाणं।
पडिवन्नविणयमग्गं, आलवइ अ धम्मपिम्मपरो ॥११॥
तप्पणइणिपुत्ताइसु, समदिट्ठी होइ दाणसम्माणे।
सावक्कम्मि उ इत्तो, सविसेसं कुणइ सव्वं पि ॥१२॥

(पयट्टइत्ति) व्यवहारे प्रवर्तते नत्वव्यवहारे इति॥

(समादिट्ठित्ति) स्वपत्न्यपत्यादिष्विव समदृष्टिः (सावक्कमिति) सापत्न्येऽपरमातृके भ्रातरि तत्र हि स्तोकेऽप्यन्तरे व्यक्तिकृते तस्य वैचित्यं जनापवादश्च स्यात्। एवं पितृमातृभ्रातृतुल्येष्वपि यथाहमौचित्यं चिन्त्यं। यतः "जनकश्चोपपकर्त्ता च यस्तु विद्याप्रयच्छकः। अन्नदः प्राणदश्चैव पञ्चैते पितरः स्मृताः १ राज्ञः पत्नी गुरोः पत्नी पत्नीमाता तथैव च। स्वमाता चोपमाता च पञ्चैता मातरः स्मृताः २ सहोदरः सहाध्यायी, मित्रं वा रोगपालकः। मार्गे वाक्यसखा यस्तु पञ्चैते भ्रातरः स्मृताः ३, भ्रातृभिश्च मिथो धर्मकार्यविषये स्मरणादि सम्यक्कार्यम्। यतः, "भवगिहमज्झम्मि पमायजलण जलिअम्मि मोहनिद्दाए। उट्ठवइ जोसुअंतं, सो तरस जणो परमबंधू १, भ्रातृवन्मित्रेष्येवमनुसर्तव्यं।

इअभाइगयं उचिअं, पणइणिविसयंपि किं पि जं पेमो।
सप्पणयवयणसम्माण, णे ण तं अभिमुहं कुणइ ॥१३॥
सुस्सूसाइपयट्टइ, वत्थाभरणाइसमुचिअं देइ।
नाडयपित्थणयाइसु, जणसंमद्देसु वारेइ ॥१४॥
रुंभइ रयणिपयारं, कुसीलपासंडिसंगमवणेइ।
गिहकज्जेसु निओअइ, न विओअइ अप्पणा सद्धिं ॥१५॥

रजन्यां प्रचारं राजमार्गवेश्मगमनादिकं निरुणद्धि धर्मावश्यकादिप्रवृत्तिनिमित्तं च जननीभगिन्यादिसुशीललालितावृन्दमध्यगतामनुमन्यत एव (नविओइत्ति) न वियोजयति यतो दिनसाराणि प्रायः प्रेमाणि यथोक्तम्। "अवलोअणेण आलावणेण गुणकित्तणेण दाणेणं। छंदेण वट्टमाणस्स, निब्भरं जायए पिम्मं १ अद्दंसणेण अइदं सणेण दिट्ठं अणलवंतेणं। माणेण पवासेण य, पंचविहं जिज्झए पिम्मं २।

अवमाणं न पयासइ, खलिए सिक्खेइ कुविअमणुणेइ।
धणहाणिवुड्ढिधम्मं, न वइअरं पयडइ न तीसे ॥१६॥

अपमानं निर्हेतुकं नास्यै प्रदर्शयति स्खलिते किंचिदपराधे निभृतं शिक्षायति। कुपितां चानुनयति। अन्यथा सहसाकारितया कूपपातद्यप्यनर्थं कुर्यात् (पयडइत्ति) धनहानिव्यतिकरं न प्रकटयति प्रकटिते तु धनहानिव्यतिकरे तुच्छतया सर्वत्र तद्वृत्तान्तं व्यञ्जयति। धनवृद्धिव्यतिकरे च व्यक्तीकृते निरर्गलव्यये प्रवर्तते तत एव गृहे स्त्रियाः प्राधान्यं न कार्यम्।

सुकुलग्गयाहिं परिणय–वयाहिं निद्धम्म धम्मनिरयाहिं ।
सयणे रमणीहिं पि, पाउणइ समाणधम्माहिं ॥१७॥
रोगाइसु नो विक्खिइ, सुसहाओ होइ धम्मकज्जेसु ।
एमाइपणइणिगायं, उचिअं पाएण पुरिसस्स ॥१८॥
पुत्तं यइ पुण उचिअं, पिउणो लोलेइ बालभावम्मि ।
उम्मीलिअबुद्धिगुणं, कलासु कुसलं कुणइ कमसो ॥१९॥
गुरुदेवधम्मसुहिसयण, परिचयं कारवइ निच्चंपि ।
उत्तमलोएहिं समं, मित्तीभावं रयावेइ ॥ २० ॥
गिह्मावेइ अ पाणिं, समाणकुल जम्मरूव कन्नाणं ।
गिहभारम्मि निजुंजइ, पहुत्तणं वि अ रइक्कमेण ॥२१॥
पच्चखं न पसंसइ, वसणोवहयाण कहइ पुरवत्थं ।
आयं वयमवसेसं च, सोहए सयमिमेहिं जो ॥२२॥

प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः परोक्षे मित्रबान्धवाः । कर्म्मान्ते दासभृत्याश्च पुत्र नैव मृताः स्त्रियः १ इति वचनात्पुत्रप्रशंसा नैव युक्ता । अन्यानिर्वाहादर्शनादिहेतुना चेत्कुर्यात् तदाऽपि न प्रत्यक्षं गुणवृद्ध्यभावाभिमानादिदोषापत्तेः । द्यूतादिव्यसनिनां निर्द्धनत्वन्यक्कारतर्जनताडनादिदुरवस्थाश्रवणे तेऽपि नैव व्यसने प्रवर्तन्ते आयं व्ययं व्यायादुत्कलितशेषं च पूत्रेभ्यः शोधयति । एवं च पत्न्याः प्रभुत्वं पुत्राणां स्वच्छन्दत्वमपास्तमं।

दंसेइ नरिंदसमं, देसंतरभावपयडणं कुणइ ।
इच्चाइअवच्चगयं, उचिअं पिउणो मुणेअव्वं ॥२३॥
सयणेसु समुचिअमिणं, जं तेनिअगेहबुद्धिकज्जेसु ।
सम्माणिज्जसया वि हु, करिज्जहाणीसु वि समीवे ॥२४॥
सयमवि तेसिं वसणू, सव्वे सुहो अव्वंमति अम्मिसया ।
खीणविहवाणरोगा, उराणकायव्वमुद्धरणं ॥ २५ ॥
खाइज्ज पिट्ठिमंसं, न तेसि कुज्जा न सुक्ककलहं च ।
नदमित्तेहिं, न करिज्ज करिज्ज मित्तेहिं । । २६ । ।
तयभावे तग्गेहे, न वइज्ज वइज्ज अत्थ संबंधं ।
गुरुदेवधम्मकज्जेसु, एगचित्तेहिं होअव्वं ॥२७॥
एमाइसयणोचिअ, मह धम्मायरिअ समुचिअं भणिमो ।
भत्तिबहुमाणपुव्वं, तेसितिसं जं पि पणिवाओ ॥२८॥
तद्दंसिअनीईए, आवस्सयपमुहकिच्चकरणं च ।
धम्मोवएससवणं, तदंतिए सुद्धसद्धाए ॥२९॥
आएसं बहुमन्नइ, इमेसि मणसा वि कुणइ नावन्नं ।
रुभइ अवन्नवायं, थुइवायं पयडइ सया वि ॥३०॥
न हवइ छिद्दप्पेही, सुहिव्व अणुअत्तए सुहदुहेसु ।
पडिणीअपच्चवायं, सव्वपत्तेण वारेइ ॥ ३१ ॥
खलिअम्मि चोइओ गुरुजणेण मन्नइ तहत्ति सव्वं पि ।
चोएइ गुरुजणं पि हु, पमायखलिएसु एगंते ॥३२॥
कुणइ विणओवयारं, भत्तीए समयसमुचिअं सव्वं ।
गाढं गुणानुरायं, निम्मायं वहइ आयम्मि ॥ ३३ ॥
भावोवयारमेसिं, देसंतरिओ वि सुमिरई सया वि ।
इअ एवमाइगुरुजण, समुचिअमुचिअं मुणेअव्वं ॥ ३४ ॥

जत्थं सयं निवसिज्जइ, नयरे तत्थेव जे रि वसंति ।
सप्तमाणवित्तिणो ते, नायरया नाम वुच्चंति ॥३५॥
सममुचिअमिणमो तेसिं, जमेगचित्तेहिं समसुहदुहेहिं ।
वसणूसवतुल्लगमा– गमेहिं निच्चं पि होअव्वं ॥३६॥
कायव्वं कज्जे वि हु, नइक्कमिक्केण दंसणं पहुणो ।
कज्जो न मंतभेओ, पेसुन्नं परिहरेअव्वं ॥३७॥
समुवड्ढिए विवाए, उलासमाणेहिं चेव ठायव्वं ।
कारणसाविक्खेहिं, विहुणे अव्वो न नयमग्गो ॥३८॥
बलिएहिं दुब्बलजणो, सुंककराईहिं नाभिभवेिअव्वो ।
थोवावरोहदोसे, विदंडभूमिं न नेअव्वो ॥३९॥
कारणिएहिं समं, कायव्वो जो न अत्थसंबंधो ।
किं पुण पहुणा सद्धिं, अप्पहियं अहिलसंतेहिं ॥४०॥
एअं परुप्परं ना – यराण पाएणं समुचिआचरणं ।
परतित्थिआण समुचिअ, मह किं पि भणामि लसेणं ॥४१॥
एएसिं तित्थिआणं, भिक्खट्ठमुवट्ठिआण निअगेहे ।
कायव्वमुचिअकिच्चं, विसेस ओ रायमहि आणं ॥४२॥
जइ विमणम्मि न भत्तिं, न पक्खवाओ अभग्गयगुणेसु ।
उचिअं गिहागएसु, तहवि हु धम्मो गिहीण इमो ॥४३॥
गेहागयाणमुचिअं, वसणावडिआण तह समुद्धरणं ।
दुहिआण दया एसो, सव्वेसिं सम्मओ धम्मे ॥४४॥
मुंचंति न मज्जायं , जलनिहिणो नाचलाविहु चलंति ।
न कयावि उत्तमनरा, उचिआचरणं विलंघंति ॥४५॥
तेणं चिअ जगगुरुणो, तित्थयरा वि हु गिहत्थवासम्मि ।
अम्मापिऊणमुचिअं, अब्भुट्ठाणइ कुव्वंति ॥४६॥

इत्थं नवधौचित्यम् । इत्थं च व्यवहारशुद्ध्यादिभिरर्थोपार्जनं विशेषतो गृहिधर्म इति निष्कर्षः ॥ टीका सुगमत्वान्न गृहीता धर्म्म २ अधि० ।

उचिआ(या)णुट्ठाण न०(उचितानुष्ठान) आप्तोपदिष्टवेन विहितक्रियारूपत्वे, "उचियाणुट्ठाणओ विचित्त जइ जोगतुल्लमोएसं", पंचा० ६ विव० ।

उच्च त्रि०(उच्च) उत्क्षिप्य बाहु चीयते उपर्य्युपरि निविष्टैरवय–वैश्चीयतेऽसौ वा उद्० चि० ड० वाच० । समुच्छ्रिते, उपा० २ अ० । उच्चं द्रव्यभावभेदाद् द्विधा । द्रव्योच्चं धवलगृहवासि, भावोच्चं जात्यादियुक्तं । द० ५ अ० । उत्कृष्ट, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । उच्चस्थानस्थितत्वेन ऊर्ध्वीकृतकन्धरतया वा द्रव्यतो, भावतस्त्वहो अहं लब्धिमानिति मदाध्मातमानसः उत्त० १ अ० । "उच्चं अगोत्तं च गतिं उवें ति", उच्चां मोक्षाख्यां सर्वोत्तमां वा गतिं व्रजन्ति । सूत्र० १ श्रु०१३ अ० ।

उच्च (अ) अव्व० (उच्चैस्) उद्० चि डैसि० । **"उच्चैर्नीचैरायः अ० ८ ।१।१५४।** इति उच्चैः शब्द घटकस्यैतोऽत्वम् प्रा० । उच्चशब्दात् सिद्धमिति केचित् उच्चैः शब्दस्य रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वचनम् । प्रा० तृङ्गत्वे, महति, उच्चदेशजाते, वाच० ॥

उच्चंतय–पुं०(उच्चन्तग) दन्तरोगे, जी० ३ प्रति० । जं० । रा० ।

उच्चट्ठाण–न०(उच्चस्थान) ग्रहाणामादित्यादीनां मेषादिषु

अनीचस्थानेषु तीनि च दशादिषु त्र्यंशांशकेष्वेवमवसेयानि । अजवृषभमृगाङ्गनाकर्कमीनवणिजांशकेष्विनाद्युच्चाः । दश० १० शिख्य ३ष्टाविंशति २८ तिथी १५ न्द्रिय ५ त्रिधन २७ विशेषु । ज्ञा०।" उच्चट्ठाणाट्ठिएसुगहेसु" अर्काद्युच्चान्यज १ वृष २ मृग ३ कन्या४ कर्क५ मीन वर्णिजोंऽशैः । दिग्दहनाष्टाविंशति २८ तिथी १५ षु ५ नक्षत्र २७ विंशतिभिः । २०। अयं भावः मेषादिराशिस्था सूर्यादय उच्चास्तत्रोऽपि दशादीनंशान् यावत्परमोच्चाः । एषां फलं तु । सुखी १ भोगी २ धनी ३ नेता ४ जायते मण्डलाधिपः ।५। नृपतिश्चक्रवर्ती च क्रमादुच्चग्रहे फलम् ॥ १ ॥ "तिहिं उच्चेहिं नरिंदो, पंचहिं तह होइ अद्धचक्कीअ । छहिं होइ चक्कवट्टी सत्तहिं तित्थंकरो होइ, कल्प०।

उच्चत्त–न०(उच्चत्व) उच्चत्व । उच्छ्रये स्था० २ ठा० । वस्तुनो–ह्यनेकधोच्चत्वमूर्ध्वस्थितस्यैकमपरं तिर्य्यक् स्थितस्याऽन्यत् गुणोन्नतिरूपम्। स्था० १ ठा० (ज्यौतिषिकाणामुच्चत्वं जोइसिय शब्दे)

उच्चत्तभयग–पुं०(उच्चत्वभृतक) भृतकभेदे, मूल्यकालनियमं कृत्वा यो नियतं यथावसरं कर्म कार्य्यते स उच्चत्वभृतकः। स्था० ४ ठा०।

उच्चत्तरिया–स्त्री०(उच्चत्तारिका) बाह्यलिपेर्भे द, स०।

उच्चंपिय– त्रि०(उच्चम्पित) प्राबल्येनाक्रमिते, ''सीसं उच्चं पियं कबंधम्मि य, तं०।

उच्चफल–त्रि०(उच्चफल) उच्चं चिरकालभावि फलं यस्मात्स उच्चफलः । चिरकालेनोपकारिणी, उच्चफलो अह खुड्डो, स उणित्थो, व्य० प्र० ३ उ० ॥

उच्चक्खित्त– त्रि०(उच्चक्षिप्त) यद्दृष्टेरुपरि बाहुं प्रसार्य्य देयवस्तु ग्रहणाय पात्रं ध्रियते तत्र व्याप्रियमाणे, पिं०।

उच्चय–पुं०(उच्चय) उद्० चि० अच्०। ऊर्ध्वचयने, भ० ८ श० ६ उ०। पुष्पादेरुत्तोलने, नारीत्यं शुकग्रन्थौ, ''नीविः स्यादुच्चयोऽथ यम्०'', उत्कृष्टाश्रये। वृहत्समुदाये, च। कर्मणि अच्० हस्ताभ्यामुद्धृत्यावचिते, निवारे, वाच० ॥

उच्चयबंध–पुं०(उच्चयबन्ध)उच्चय ऊर्ध्वं चयनं राशीकरणं तद्रूपो बन्ध उच्चयबन्धः। अल्लियाबणबन्धभेदे, भ० ८ श० ६ उ०।

उच्चवेउं– अव्य०(उच्चयित्वा) उच्चैः कृत्येयर्थे, वृ० १ उ०।

उच्चसद्द–पुं०(उच्चशब्द) वृहति शब्दे, व्य० द्वि० ७ उ०।

उच्चाकुइय–पुं०(उच्चाकुचिक) अनीचाऽपरिष्यच् शय्याके, "आणापाणमेयं अभिग्गहियसिज्जासणियस्स उच्चाकुइयस्स" उच्चाऽकुचशय्यावत्त्वं सप्रयोजनं पक्षमध्ये सकृच्च शय्याबन्धकत्वं। कल्प०।

उच्चाकुया– स्त्री०(उच्चाकुचा) उच्चा हस्तादि यावत् येन पिपीलिकादेर्बधो न स्यात् सर्पादेर्वा दंशो न स्यात् अकुचा कुच् परिस्पन्द इति वचनात् परिस्पन्दरहिता निश्चलेति यावत् ततः कर्मधारये उच्चाकुचा । अनीचाऽपरिस्पन्दायां कम्बादिमय्यां शय्यायाम् कल्प० ॥

उच्चागय– त्रि०(उच्चागज) उच्चो योऽगः पर्वतो हिमवान् तत्र जातमुच्चागजम् । हिमाचलोद्भवे, उच्चागयट्ठाणलट्ठसंट्ठिअं। कल्प०॥

उच्चागोय– न०(उच्चैर्गोत्र) गोत्रकर्मभेदे, यदुदयात्पुनर्निधर्नः कुरूपो बुद्ध्यादिपरिहीणोऽपि पुरुषः सुकुलजन्ममात्रादेव लोकात्पूजां लभते तदुच्चर्गोत्रम् । यदुदयादुत्तमजातिकुलप्राप्तिसत्काराभ्युत्थानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपपूजालाभश्च तदुच्चैर्गोत्रम्। कर्म०। इक्ष्वाकुवंशादिके, उच्चैर्गोत्रमेषामित्युच्चैर्गोत्राः । उच्चैर्गोत्रोद्भवेषु इक्षाकुहरिवंशादिकुलोद्भवेषु, उच्चागोयावेगे णीयागोयावेगे। सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

उच्चणागरी–स्त्री०(उच्चनागरी) सुस्थितसुप्रतिबुद्धस्थविरान्निर्ग–तस्य कौटिकगणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प ॥

उच्चागोयणिबंध–पुं०(उच्चैर्गो त्रनिबन्ध) लोकपूज्यता निबन्धनोच्चैर्गोत्राभिधानकर्मबन्धने, "उच्चागोयणिबंधो सासणवण्णो य लोगम्मि" पंचा १५ विव०।

उच्चाडण–न०(उच्चाटन) उद् चट् णिच् ल्युट्। उत्पाटने, स्वस्थानाद् विश्लेषणे, "उच्चाटनं स्वदेशादेर्भ्रंशनं परिकीर्तितम्" इत्युक्ते षट् कर्मान्तर्गतेऽभिचारभेदे च। वाच०।

उच्चायप्पमाण–त्रि०(उच्चात्मप्रमाण) उच्चमात्मप्रमाणं येषां ते तथा । स्वप्रमाणात उच्चे, कल्प०।

उच्चार–पुं०(उच्चार) उद्० चर्०–णिच् घञ् । उच्चारणे, उल्लङ्घा चारो गतिः । गृहादीनां राशिनक्षत्रान्तरसञ्चारे, वाच० । शरीरादुत्प्राबल्येन च्यवतेऽपयाति उच्चरतीति चोच्चारः। विष्ठायाम्, आचा० २ श्रु० ३ अ० १३ उ० । स० । आव० । ज्ञा० । कल्प० । तं० । दशा० । स्था० । (अस्य परिष्ठापनं पारिट्ठावणिया शब्दे वक्ष्यते) वृहच्छरीरचिन्तायाम् दर्श० । विड्विसर्जने, ध० २ अधि० । जं० (पुरीषोत्सर्गप्रक्रिया–थंडिल शब्दे) (आचार्य्यस्य वसतावेव विड्विसर्जनमतिसय शब्दे)।

उच्चारणिरोह– पुं०(उच्चारनिरोध) विसिसृक्षायां सत्यामपि बलात्पुरीषरोधे एष च रोगकारणम्। स्था० ६ ठा०।

उच्चारपडिक्कमण–न०(उच्चारप्रतिक्रमण) उच्चारोत्सर्गं विधाय ईर्यापथिकप्रतिक्रमणरूपे प्रतिक्रमणभेदे, स्था० ६ ठा०।

उच्चारपासवण–(उच्चारप्रस्रवण) उच्चारः प्रस्रवणं च द्वन्द्वः पूरिषमूत्रयोः तद्विसर्गप्रतिपादके आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य तृतीये ऽध्ययने च। आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०।

उच्चारपासवणकिरिया–स्त्री०(उच्चारप्रस्रवणक्रिया) उच्चारप्रस्रवणकर्त्तव्यतायाम्, उच्चारपासवणकिरियाएउव्वाहिज्जमाणे आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०।

उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमइ–उच्चारप्रस्रवणखेलश्लेष्माणजल्लपारिष्ठापनिकसमितिं–स्त्री० उच्चारादीनां पारिष्ठापनिकारूपा समितिः । समितिभेदे, "इत्थ इमं आहारणं एगेणं खुड्डगेण वि वसंते किहव्व विनयेहि य थंडिलं काइय लोयतो राया थंडिलं नापेहयंती न वोसिरो देवयाए श्लेष्मा जल्लो मलः सामउज्झोओ अणुकंपाए य कउ दिट्ठा भूमित्ति वासरियंति, । पा० । सूत्र० स्था० । उच्चारपासवणखेलसिंघाण–गपारिट्ठावणियासमितीए । एत्थ वि सत्त भंगा । तत्थ उदाहरणं । धम्मरुई पारिट्ठावणिया समितो समाहिपरिट्ठावणे अभिग्गहणं सक्कासणचलणं मिच्छदिट्ठि आगमणं किं बिल्लिया विउव्वणं काइया ससंजता। वाहाडिउ पमत्तउ निग्गतो पेच्छति। ताहे सरंतो साहू जं किलामिज्जति त्ति । एवंणातो देवेण वारितो वंदित्ता गतो । वितियं दिट्ठवागए चेल्लओ तेण थंडिल न पडिलेहिता वियाले सा-

रत्ति काइयाडो । जातो न पेहितंति न वोसिरंति । देवताए उग्गहो कतो अणुकंपाए दिट्ठा भूमित्ति वोसिरियं । एस समित्तो । वितिओ असमितो चउव्वीसं उच्चारपासवणभूमीसु । तिण्णि कालभूमीओ न पडिलेहेति भणति । किमेत्थ उट्ठो उवविसेज्ज देवता उड्ढरूवेण तत्थ ठिता ठितियाएगतो तत्थ वि एवं ततियाए ताहे तेण उट्ठवितो तत्थ देवताए पडिचोदितो कीस सत्तवीसं न पडिलेहेसि समं पडिवण्णो । एस पारिट्ठावणियासमिती ॥ आ० चू० ।

उच्चारपासवणभूमि–स्त्री०(उच्चारप्रस्रवणभूमि) पुरीषमुत्रोत्सर्ग–स्थण्डिले, पंचा० १ अ० । उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ भ २ श० १ उ० । (अत्रोत्सर्गोऽस्याः प्रत्युपेक्षणं च थंडिल शब्दे)।

उच्चारपासवणविहिसत्तिकय–पुं०(उच्चारप्रस्रवणविधिसप्तैकक) पुरीषमूत्रोत्सर्ग प्रतिपादके आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य द्वितीयचूडाया श्चतुर्थे ऽध्ययने, स्था० ७ ठा० । आचा० ॥

उच्चारभूमिसंपण्ण–त्रि०(उच्चारभूमिसंपन्न) उच्चारप्रस्रवणा-दिभूमियुक्ते, ''उच्चारभूमिसंपण्ण इत्थिपसुविवज्जियं'', दश० ।

उच्चारिय–त्रि०(उच्चारित) उच्चार–तारका–इतच् । कृतविष्ठोत्सर्गे, उद् चर् णिच् कर्मणि क्त । यस्योच्चारणं कृतं तादृशवर्णादौ, उद्– अन्तर्भूतण्यर्थे , चर क्त । उच्चारितोऽप्युक्तार्थे, वाच० ॥ ''उच्चारिय सरिसाइं–सेसाइं वि कोवणट्ठाए ।'' वृ० । दश० ।

उच्चाइय–अव्य०(उच्चाल्य) उद्० चल्० ल्यप् । ऊर्ध्वमुत्क्षिप्येत्यर्थ, उच्चालिय णिहाणीसु । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

उच्चलिय– त्रि०(उच्चालयितृ) अपनेतरि, ''उच्चालइ यं तं जाणेज्जा दुरालइयं''॥ आचा० १ श्रु० ३ अ० ।

***उच्चालित**–त्रि० उद्, चल्, णिच्, क्त० । उत्पाटिते, ''उच्चालियम्मि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए'', ओ० । नि० चू० ।

उच्चावइत्ता–अव्य०(उच्चैःकृत्वा) उत्पाट्येत्यर्थ, ''दो वि पाए, उच्चावइत्ता सव्वओ समंता समभिलोएज्ज, द्वावपि पादौ उच्चैःकृत्व । द्वावपि पार्ष्णी उत्पाट्येत्यर्थं, प्रज्ञा० १७ पद० ।

उच्चावय–त्रि०(उच्चावच)उच्चं च अवचं च उच्चावचम् । उत्त० । अनुकूलप्रतिकूले, भ० १ श० ६ उ० । अधमोत्तमेषु नानाप्रकारे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । ''हसंतो नाभिगच्छेज्जा कुलं उच्चावए सया'', उच्चं द्रव्यभावभेदाद् द्विधा द्रव्योच्चं धवलगृहवासि भावोच्चं जात्यादियुक्तमेवमपि द्रव्यतः कुटीरकवासी भावतो जात्यादिहीनमिती, दश० ५ अ० । ''उच्चावयावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खू थामवं ऊर्ध्वचित्ता'', उच्चा उपलिप्ततलाद्युपलक्षणमेतत् यद्वा शीतातपनिवारकत्वादिगुणैः शय्यान्तरोपरिस्थितत्वेनोच्चास्तद्वि–परीतास्त्ववचा अनयोर्द्वन्द्वे उच्चावचाः । नानाप्रकारा वोच्चावचास्ताभिः शय्याभिर्वसतिभिः । उत्त० ८ अ० । सूत्र० । ''अह भिक्खू उच्चावयं मणं णियच्छेज्जा, उच्चावचं शोभनादौ मनः कुर्य्यादिति । तत्रोच्चं नाम मैवं कुर्व्वन्तु अवचं नाम एवं कुर्व्वन्त्विति । आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० । उत्कृष्टतरे, औ० । असमञ्जसे, ''उच्चावयाहिं आउसणाहिं'', भ० १५ श० १ उ० । स्था० ।

***उच्चव्रत**– न० उच्चानि महान्ति व्रतानि येषां तानि उच्चव्रतानि आकारः प्राकृतत्वात् । महाव्रतधरेषु, उच्चावयाइं मुणिणो चरंति, ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं, उत्त० १५ अ० । क० । स० शेषव्रतापेक्षया महाव्रतेषु, उत्त० १ अ० ।

उच्चासण– न०(उच्चासन)उन्नतासने, जी० ३ प्रति० । गुरोरासना–दुच्चैरासने, ध० २ अ० । अलावे संलावे उच्चसेणा समासणे अंतरभासाए उवरिभासाए जं किंचि मज्झं ममविणयपरिहीणं सेहे राइणियस्स उच्चासणम्मि संचिट्ठित्ता णिसीइत्ता वा तुयट्टित्ता भवति आसायणासेहस्स । आव० ४ अ० ।

उच्चिय–न०(उचित)उच्चताकरणे, उत्पाटने च । औ० ।

उच्चुप्– धा० (चट) भेदे० भ्वा० पर० सक० सेट्– **धातवोऽर्थान्तरेऽपि ।८ । ४ । ५८** । इत्यनेन चटतेरुच्चुप् । उच्चुपइ चटति प्रा० ।

उच्चूर–त्रि०(उच्चूर) नानाविधे, व्य० प्र० ३ उ० ।

उच्चे–अव्य०(उच्चैस्)उद् चि० डैसि० । तुङ्गत्वे, उन्नते, महति, ऊर्ध्वदेशजाते, वाच०, नाइ उच्चेव नीए वा णासण्णे नाइदूरओ, उच्चैः स्थाने मालादौ, उत्त० १ अ० । तत्राऽस्य विषयतृष्णा प्रभवत्युच्चैर्न दृष्टिसम्मोहः, उच्चैरत्यर्थं, न० । षो० । प्रति० । उच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु । उच्चैरतीव कल्पितेषु इष्टानिष्टेषु, द्वा० १८ द्वा० ।

उच्छ (क्षाण) पुं०(उक्षन्)उक्ष् कनिन् । **छोऽक्षादौ । ८ । २ । १७** । इति संयुक्तस्य च्छः । प्रा०, **पुंस्यन आणो राजवच्च । ८ । ३ । ५६** । इति अनः स्थाने आण इत्यादेशः । वृषभे, प्र० ।

उच्छंग–पुं०(उत्सङ्ग)सञ्ज् आधारे घञ् । मध्यभागे, वाच० । ''उच्छंगे णिवसेत्ता'', आ०म० द्वि० वि० । उत्सङ्ग इव उत्सङ्गः । पृष्ठदेशे, औ० । ज्ञा० । उत्क्रान्तः सङ्गम् अत्या० स० । सन्यासिनि, सङ्ग रहिते तत्त्वज्ञे, प्रा० । स० । ऊर्ध्वतः संसर्गे च । वाच० ।

उच्छंघ–धा०(उन्नमि)उद् नम् णिच्० ''**उन्नमेरुत्थङ् घोल्लाल-गुलुगुच्छोप्पेला**'' । ८ । ४ । ३६ । इति उत्पूर्वस्य नमेर्ण्यन्तस्य उच्छंघ आदेशः । उच्छंघइ उन्नमयति । प्रा० ।

उच्छत्त– न०(अपच्छत्र)अपशब्दं विरूपं छत्रं स्वदोषाणां परगुणानां चावरणमपच्छत्रम् चतुर्दशे गौणालीके, प्रश्न० १ द्वा० ।

***उच्छत्र**– न० उच्छत्रं वा न्यूनत्वम् । चतुर्दशे गौणालीके, प्रश्न० १ द्वा० ।

उच्छरंत–त्रि०(आस्तृण्वत्) आच्छादयति, ''अणिएहिं उच्छरंता अभिभूय हरंति परधणाइं, प्रश्न० द्वा० ।

उच्छलणा–स्त्री०(उच्छलना) अपवर्तनायाम्, अपप्रेरणायाम्, प्रश्न० ३ द्वा० ।

उच्छलिय–त्रि०(उच्छलित) ऊर्ध्वं गते, प्रश्न० ३ द्वा० ।

उच्छल्ल–धा०(उच्छल)उद् शल भ्वा० ऊर्ध्वपतने, **उच्छल उत्थल्लः । ८ । ४ । १७४** । उच्छलतेरुच्छल्लादेशः । उच्छल्लइ उच्छलति प्रा० ।

उच्छल्ल–पुं०(उच्छलत्) ग्रहणे, ''तज्जणगलुच्छल्ल उच्छल्लणाहिं,'' गलुच्छल्लंति गलग्रहणम् । प्रश्न० ३ द्वा० ।

उच्छल्लिय– अव्य०(उच्छल्य)एकपार्श्वेन स्थित्वेत्यर्थं, ''पत्तगबंधे, पइरित्तुच्छल्लिय पुणो पहे उरणिया'', नि० चु० १ उ० ।

उच्छव– पुं०(उत्सव)उद्० सू० अप् ''**सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा**'', । ८ । २ । २२ । एषु संयुक्तस्य छो वा भवति । प्रा० । आनन्दजनक व्यापारे, विवाहादौ, वाच० । इन्द्रोत्सवादौ, ज्ञा० १ अ० ।

उच्छादणया–स्त्री०(उच्छादनता) सचित्ताऽचित्ततदुभयनस्तू

च्छेदने, अंगाणं संभुत्तराणं घाताए वाहाए उच्छादणयाए'', भ० १५ ध० १ उ०।

उच्छायणा–स्त्री ०(उच्छादना) जातेरपि व्यवच्छेदने, ज्ञा० १८ अ०। **उच्छाय**– पुं०(उच्छ्राय) उद् श्रि करणे अच् घञ् वा। उत्सेधे, स्था० ७ ठा०।

उच्छार–धा०(आक्रम) भ्वा० आत्म० आक्रमणे, ''**आक्रमेरोहावोच्छारच्छुन्दाः**''। ८। ४। ५८। आक्रमेरेते आदेशा भवन्ति। उच्छारइ आक्रामति (ते) (केवलस्तु परस्मैपदी) प्रा०।

उच्छाह–पुं०(उत्साह) उद् सह घञ्। ''**वोत्साहे थो हश्च रः**''।८।२।४८। उत्साह शब्दे संयुक्तस्य थो वा भवति, ''तत्सन्नियोगे च हस्य रः। उत्थारो उच्छाहो,'' थाऽभावे। ''**हस्वात् थ्यश्चत्सप्सामनिश्चले**''।८।२।२१। इति त्सभागस्य च्छः। ''**अनुत्साहोत्सन्ने त्स च्छे**''।८।१।११४। इत्यत्र उत्साहपर्य्युदासात् च्छपरस्यादेरुत ऊत्वं न। प्रा०। पराक्रमे, जोगोति वा विरियं ति वा सामत्थं ति वा परक्कमंति वा उच्छाहोति वा एगट्ठा॥ आ० चू०१ अ०। पं० सं०। आ० म०। वीर्य्ये, सम०। श्रवणादिविषये उत्कलिकाविशेषे, चं० २० पा० उद्यमे, सू० प्र० २० पा०। अध्यवसाये, कर्त्तव्यकृत्ये, स्थिरतरे प्रयत्ने, कल्याणे, श० रत्ना०। सूत्रे, मेदि० कार्य्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते सा० द० उक्तलक्षणे वीररस्य स्थायिभावे च। वाच०।

उच्छाहिय–त्रि०(उत्साहित) त्वमेवाऽस्य कार्य्यस्य करणे समर्थ इत्येवमुत्कर्षिते, पिं०।

उच्छिंपग–पुं०(अवच्छिम्पक) चौरविशेषे, प्रश्न०। ३ द्वा०।

उच्छिप्पण–न०(उत्क्षेपण) जलमध्यान्मत्स्यादीनामाकर्षणे, प्रश्न०२ द्वा०।

उच्छिण्ण–त्रि०(उच्छिन्न) उद् छिद् निर्नष्टसत्ताके, स्था० ५ ठा०।

उच्छिण्णसामिय–त्रि०(उच्छिन्नस्वामिक) निःसत्तीभूतप्रभुषु, *उच्छिण्णसामियाइं वा उच्छिण्णसेउपाइं वा उच्छिण्णगोत्तागाराइं वा* धनानि। भ० ३ श० ७ उ०।

उच्छिय–त्रि०(उच्छ्रित) उद् श्रि कर्तरि क्त। उन्नते, संजाते, समुन्नद्धे, प्रवृद्धे। मेदि० वाच० ऊर्ध्वीकृते, औ०।

इच्छु–पुं०(इक्षु) इष्यते ऽसौ माधुर्य्यात् इष् कसु। **प्रवासीक्षौ**।८।१।६५। इति आदेरिति उत्वम् वा। प्रा०। मधुररसयुक्ते असिपत्रे, वाच० (इक्षुशब्दस्य व्याख्या इक्खु प्रकरणे उक्ता)

उच्छुअ–त्रि०(उत्सुक) उत्सुकवति, प्रेरणे, ''**मितद्वादित्वात्डुकन् सामर्थ्यात्सुकोत्सवे वा**''।८।२।२२। इति संयुक्तस्य त्सभागस्य वा छः। उच्छुओ ऊसुओ प्रा०। इष्टावाप्तये कालक्षेपासहिष्णौ, इष्टार्थोद्युक्ते च। वाच०।

इच्छुभइत्ता–अव्य०(अवक्षिप्य) अपसदं किञ्चित् क्षिप्त्वेत्यर्थे, उच्छुभइत्ता सावत्थीए, णयरीए, भ० १५ श० १ उ०।

उच्छूढ–त्रि०(उच्छूढ) मुषित, ''उच्छूढेवि तदुभये सपक्खपरपक्खतदुभयं होइ'', वृ० १ उ०। त्यक्ते, संस्था०। स्वस्थानादवक्षिप्ते, निष्काशिते, आयाणफलियउच्छूढदीहबाहू। तं०। औ०।

उच्छूढसरीर–पुं०(उच्छूढशरीर) उच्छूढमुज्झितमुज्झितमिव उज्झितं संस्कार परित्यागाच्छरीरं येन स उच्छूढशरीरः। चं० प्र० १ पाहु०। सू० प्र०। शरीरसंस्कारं प्रति निस्पृहत्वात्त्यक्तशरीरकल्पे तादृशे मुनौ, ज्ञा० १ अ०। औ०। भ०। नि०। ''घोरतवस्सी घोरबंभयारी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेयलेस्से।'' वि० १ अ०।

उच्छूढसरीरगि (घ) र–त्रि०(उच्छूढशरीरगृह) उच्छूढंत्यक्तं शरीरगृहं यैस्ते उच्छूढशरीरगृहाः। शरीरगृहयोर्निःस्पृहत्वात्त्यक्तपरिकर्मसु, संस्था०।

उच्छूर–धा० तुट भेदे तुदा० कुटा० पर० सेट्। **तुडेस्तोड तुट्ट खुट्ट खुडोक्खुडोल्लुक्कणिल्लुक्कल्लुकोच्छूराः**।८।४।१६। इत्येनन सूत्रेण तुडेरुच्छूरादेशः। उच्छूरइ तुटति। प्रा०।

उच्छेइ (ण्) त्रि०(उच्छेदिन्) नाशके, द्वा० २१ द्वा०।

उच्छेद (य) पुं०(उच्छेद) उद् छिद् भावे घञ्। उत्प्राबल्येन छेदो विनाशः। एकान्तोच्छेदे, निरन्वये नाशे, दश० १ अ०। आ० म० द्वि०। ''उच्छेओ सुत्तत्था णं ववच्छेउत्ति वुत्त भवति। नि० चू० १ उ०।

उच्छेव–पुं०(उत्क्षेप) यत्र पतितुमारब्धं तत्राऽन्यस्येष्टकादेः संस्थापने, व्य० द्वि० ४ उ०।

उच्छोभ–न०(उत्क्षोभ)उत्प्राबल्येन गता शोभा सौभाग्यं सर्वजनवल्लभता यस्मात्तदुच्छोभम्॥ पैशुन्ये कर्णजपत्वे, ''इहरा सयरुवघाओ उच्छोभाइहिं अंतणो लहुया। दर्श०॥

उच्छोलंत–त्रि०(उच्छोलत्) उन्मूलयति, रा० सकृत्पादादेः प्रक्षालनं कुर्वति च। ''उच्छोलंतं वी पधावंतं वा साइज्जइ''। नि० चू० १७ उ०।

उच्छोलण–न०(उच्छोलन) सकृदुदकेन क्षालने आचा०, एक्कसिं उच्छोलणा, नि० चू० २ उ०। मुखनयनकक्षाहस्तपादानां प्रक्षालने, व्य० द्वि० ७ उ०। अयतनया शीतोदकादीनां हस्तपादादिप्रक्षालने, ''उच्छोणं च कक्कं च तं विज्जं परियाणिया''। सूत्र १ श्रु० ६ अ०। (उच्छोलनाऽप्यत्र)।

उच्छोलणापहोय–त्रि०(उच्छोलनाप्रधौत) उच्छोलनेन प्रभूतजलक्षालनक्रियया धौता धौतगात्रा ये ते तथा। प्रचुरजलेन धौतशरीरेषु, औ०।

उच्छोलनापहोइ–त्रि०(उच्छोलनाप्रधाविन्)उच्छोलनयोद कायतनया प्रकर्षेण धावति पादादिशुद्धिं करोति यःस तथा। अयतनया प्रभूतजलेन पादादिप्रक्षालके, दश० ४ अ०।

उच्छोलावंत–त्रि०(उच्छोलयत्) अन्येन सकृज्जलेन क्षालनं कारयितरि ''उच्छोलावंतं वी पधोवावंतं वा साइज्जइ'', नि० चू० १६ उ०।

उज्जम–पुं०(उद्यम) उद् यम् घञ्। न वृद्धिः। प्रयासे, प्रयत्नभेदे, उद्योगे, उत्तोलने च। वाच० अनालस्ये, ग० १ अधि० ज्ञानतपो ऽनुष्ठानादिषूत्साहे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। औ.।

उज्जमंत–त्रि०(उद्यच्छत्) उद्यमं कुर्वति, प्रति०। अत्यर्थमपि प्रयतमाने, अप्पचंतकायसुट्ठवि उज्जमंता तद्दिवसुज्जुत्तकम्म कयदुक्खसंठवियसित्थपिंडसंचयपरा''। प्रश्न० ३ द्वा०। त्रिविधायामपि सामाचर्य्यां यथाशक्ति उद्यमं कुर्वति, व्य० प्र० १ उ०।

उज्जमन–न०(उद्यमन) उद्यमकरणे,। व्य० प्र० १ उ०। उत्क्षेपणे उत्तोलने, वाच०॥

उज्जममाण–त्रि०(उद्यच्छत्) उद्यमं कुर्वति, ''ण करोति दुक्खमोक्खं उज्जममाणावि संजमतवेसु''। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

उज्झममाणस्स गुणा, जह हुंति ससत्तिओ तवसु।
एमेव जहासत्ती, संजममाणे कहं न गुणा २''

उद्यच्छत उद्यमं कुर्वतः तपःश्रुतयोरिति योगः गुणास्तपो ज्ञानाव्याप्तिनिर्जरादयो यथा भवन्ति स्वशक्तितः स्वशक्त्युद्यमवत एवमेव यथाशक्ति शक्त्यनुरूपमित्यर्थः (संजममाणे) कहं ण गुणत्ति) संयममाने संयमं पृथिव्यादिसंरक्षणादिलक्षणं कुर्व्वति सति साधौ कथं न गुणाः गुणा एवेत्यर्थः। अथ वा कथं गुणा येनाविकल संयमानुष्ठानरहितो विराधकः प्रतिपाद्यत इत्यत्रोच्यते॥ आव० ३ अ०।

उज्झय त्रि०(उद्यत)उद् यम् कर्तरि क्त। उद्यमयुक्ते, कृतोद्यमे, भावे क्तः उद्यमेन यमेन यमेर्नियमनार्थत्वे कर्माणि क्तः। उत्तोलिते, वाच०। उद्यतविहारिणि, व्य० प्र० १ उ०॥

उज्जयंत–उज्जयन्त–पुं० रैवतकगिरौ, हेम०। वाच०। यत्राऽरिष्टनेमिः सिद्धः। आ० म० प्र०। तद्वक्तव्यता यथा॥

नामभिः श्रीरैवतको, जयन्ताद्यैःप्रथामि तम्।
श्रीनेमिपाठितं स्तौमि, गिरनारगिरीश्वरम्॥१॥
स्थाने देशः सुराष्ट्राख्यं, विभर्ति भुवनेष्वसौ।
यद्भूमिकामिनीभाले, गिरिरेष विशेषकः॥२॥
शृङ्गारयन्ति खड्गाराः दुर्गं श्रीऋषभादयः।
श्री पार्श्वस्तोजलपुरं, भूषितैतदुपत्यकम्॥३॥
योजनद्वयतुङ्गेऽस्य, शृङ्गे जिनगृहावलिः।
पुण्यराशिरिवाभाति, शरद्वन्ध्वंशुनिर्म्मला॥४॥
सौवर्ण्णदण्डकलशामलशारकशोभितम्।
चारु चैत्यं चकास्त्यस्यो–परि श्रीनेमिनः प्रभोः॥५॥
श्रीशिवासूनुदेवस्य, पादुकात्र निरीक्षता।
स्पृष्टार्चिताऽवशिष्टानां, पापव्यूहं व्यपोहति॥६॥
प्राज्यं राज्यं परित्यज्य, जरत्तृणमिव प्रभुः।
बन्धून विधूय च स्निग्धान् प्रपेदेऽत्र महाव्रतम्॥७॥
अत्रैव केवलं देवः, स एव प्रतिलब्धवान्।
जगज्जनहितैषि स, पर्यणैषीच्च निर्वृतिम्॥८॥
अत्र एवात्र कल्याण, त्रयमन्दिरमादधे।
श्रीवस्तुपालो मन्त्रीशश्चमत्कारितभव्यकृत्॥९॥
जिनेन्द्रबिम्बपूर्णेन्दु–मण्डपस्था जना इह।
श्रीनेमिर्मज्जन कर्तुमिन्द्रा इव चकासति॥१०॥
गजेन्द्रपदनामास्य, कुण्डं मण्डयते शिरः।
सुधाविधैर्जलैः पूर्णं, स्नानार्हं तत्स्वनक्षमैः॥११॥
शत्रुंजयावतारे च, वस्तुपालेन कारिते।
ऋषभः पुण्डरीकोऽत्र–पदानन्दीश्वरास्तथा॥१२॥
सिंहयाना हेमवर्णाः, सिद्धबुद्धसितान्वयाः।
कम्राम्रलुम्बभृत्यानि,रत्नं वा संघविघ्नहृत्॥१३॥
श्रीनेमिपत्पद्मसूत – मवलोकननामकम्।
विलोकयन्तः शिखरं, यान्ति भव्याः कृतार्थताम्॥१४॥
शाम्बोजाम्बवतीजातस्तुङ्गे शृङ्गेऽस्य कृष्णजः।
प्रद्युम्नश्च महाद्युम्नस्तेपाते दुस्तपं तपः॥१५॥
नानाविधौषधिगणा, जाज्वल्यन्त्यत्र रात्रिषु।
किंच घण्टाक्षरच्छत्र–शिलाशालन्त उच्चकैः॥१६॥
सहस्राम्रवणं लक्षा–रामोन्येऽपि वनव्रजाः।
मयूरकोकिलाभृङ्गी–संगीतशुभगा इह॥१७॥
न स वृक्षो न सा वल्ली, न तत्पुष्पं न तत्फलम्।
नश्यतेऽत्राभियुक्तैर्यदित्यैतिह्याविदो विदुः॥१८॥
राजीमती गृहागर्भे, कैन नामात्र वन्द्यते।
रथनेमिर्यथोन्मार्गात्सन्मार्गमवतारितः॥१९॥
पूजास्तवनदानादि, तपश्चात्र कृतानि वै।
संपद्यन्ते मोक्षसौख्य- हेतवो भव्यजन्मनाम्॥२०॥
दिग्भ्रमावपि योत्राद्रौ, क्राप्यमार्गेऽपि संचरेत्।
सोऽपि पश्यति चैत्यस्था, जिनार्चास्तेपितार्चिताः॥२१॥
काश्मीरगतरत्नेन, कूष्माण्डसदृशेन च।
लेप्यबिम्बास्पदे न्यस्ता, श्रीनेमेर्मूर्तिराश्मनी॥२२॥
नदीनिर्झरकुण्डानां, खनीनां वीरुधामपि।
विदांकरोद्यात्र संख्यां, संख्यावानपि कः खलु॥२३॥
आसेवनकरूपाय, महातीर्थाय तायिने।
चैत्यालंकृतशीर्षाय, नमः श्रीरैवताद्रये॥२४॥
स्तुतु मयेति सूरीन्द्र, वर्णितो वृजिनप्रभ!।
गिरिनारस्तु रैहेम–सिद्धभुमिमुदेस्तु वः॥२५॥

—*—

अत्थि सुरट्ठिविमाणं उज्जिंतो नाम पव्वओ रम्मो।
तस्सिहरे आरुहिओ, भत्तीए नमह नेमिजिणं॥१॥
अंबाइअंबदेविं, ण्हवणच्चणगंधधूवदीवेहिं।
पूइयकयप्पणामा, ता जोअह जेण अत्थत्थि॥२॥
गिरिसिहरकुहरकंदर, निज्झरणकवाडविअडकूवेहिं।
जोएह खत्तवायं, जह भणियं पुव्वसुरीहिं॥३॥
कंदप्पकप्परांग, कुंकुमविद्दवणनमिनाहस्स।
निव्वाणसिलानामेण, अत्थि भुवणम्मि विण्णेया॥४॥
तस्स य उत्तरपासे, दसधणुहेहि अहो मुहविवरं।
दारम्मि तस्स लिंगं, अवयाणे धणुह चत्तारि॥५॥
तस्स पसुमुत्तगंधो, अत्थि रसो पलसएण स य तंब।
विंधेवि कुणइ तारं, ससिकुंदसमुज्जलं सहसा॥६॥
पुव्वदिसाए धणुहं, तरैसु तस्सेव अत्थि जागवई।
पाहणमाया दाहिण, दिसागए वारस धणूहिं॥७॥
दिस्सइ अ तस्स पयडो, हिंगुलवण्णो अदिव्वरसो।
बिंधेइ सव्वलोहे, फरिसेणं अग्गिसंगेणं॥८॥
उज्जिंते अत्थि नई, विहलानामेण पव्वई पडिमं।
दावेइ अंगुलीए, फरिसरसो पव्वई दारं॥९॥
सक्कावयार ऊज्जिंत, गिरिवरे मस्स उत्तरे पासे।
सोवाणं पंतिआए, पारेवय वण्णिआ पुढवी॥१०॥
पंचगवण्णे बद्धा, पिंडी धमिया करेइ वरतार।
फेढइ दारिद्दवाहि, उत्तराइदुक्खकंतारं॥११॥
सिहरे विसालसिंगे, विसंत पाय कुट्टिमा जत्थ।
तस्सासन्ने सिहरे, कव्वडहडपाम होतारं॥१२॥
उन्नतरे वयवाण, तत्थ य सुद्दारवानरो अत्थि।
सोवामकण्णछिन्नो, उग्घाडइ विवरवरदारं॥१३॥
हत्थसएण पविट्ठो, दिक्खइ सोवण्णवण्णिआ सक्खो।
नीलराणंसवता, सहस्सवे हीर सो नूणं॥१४॥
तग्गहिऊण निउत्तो, हणुवतं छिवइ वामपाएण।
सो ढक्क्इ वारदारं, जेण न जाणइ जणा को वि॥१५॥
उज्जिंतसिहर उवरिं, कोहि डहरं खु नात विक्खायं।
अवरेण तस्स य सिला, तदुभयपासे मुओ संतु॥१६॥
तं अयसि तिल्लमीसं, थंभइ पडिवायबंगिअं वंगं।
दोगच्च वाहिहरणं, परितुट्ठा अंबिआ जस्स॥१७॥
वेगवई नामवई, मणसिजवण्णाइ तत्थ पाहाणा।
तो पिंडधम असंते, समसुद्धा होइ वरतारं॥१८॥
उज्जंते नाणसिला, तस्स अहोकण य वण्णिआ पुढवी।
छक्केडयमुत्तपिंडी, खइरंगारे भवे हेमं॥१९॥

नाणसिला कयपुढवी, पिडिबद्धाय पच्चगव्वेण।
दढपाए वसइ रसो, सहस्सवेही हवइ हेमं ॥२०॥
गिरिवरमासन्नठिअं, अण्णायं तित्तविसारणं नाम।
सिलबद्धगाढपीडे, वेला का तत्थ धम्माणं ॥२१॥
सण्ण नामेण नई, सुवण्णातित्थम्मि लद्धु अपहाणा।
पडिवाएण य सुचं, करेति हेमं न संदेहो ॥२२॥
चिल्लक्खयम्मि नयरे, मअहरं अत्थि सेलगं दिव्वं।
तस्स य मज्झम्मि ठिओ, गणवइरसकुंड उवरिंव ॥२३॥
उववासी कयपूओ, गणवइओ वल्लिऊण एवरक्खा।
मा खेवी अत्थि अत्थं, भइवं गंतव्व संदेहो ॥२४॥
सहसा सवंति तित्थंकरं च रुक्खेण मणहरं सम्मं।
तत्थ य तु रयावारा, पाहाणा तेसि दो भाया ॥२५॥
इक्के पारयभाओ, पिट्ठो सुत्तेण अंधमूसाए।
धमिओ करेइ तारं, उत्तारइ दुक्खकंतारं ॥२६॥
अवलोअणसिहरसिला, अवरेणं तत्थ वररसो सवईसु।
अपरो केसरिवण्णो, करेइ सुचं वरं हेमं ॥२७॥
गिरिपज्जुन्नवयारे, अंबिअ आरत्तमए पंच।
नामेण तत्थ वियआ, पुढवी हिमवाय होइ वरहेमं ॥२८॥
नाणसिला उज्जंते, तस्स य मूलम्मि मट्टिआ पीआ।
साहामि अलोवेणं, छायामुक्कं कुणइ हेमं ॥२९॥
उज्जंतपढमसिहरे, आउहिओ दाहिणेण अवयरिओ।
तिण्णि धणूसयमित्ते, पूइकरजंविलं नाम ॥३०॥
उग्घाडिअं विलं दिक्खिऊण निउणेण तत्थ गंतव्वं।
दंडंतराणि वारस, दिव्वुरसो जंबुफलसरिसो ॥३१॥
जउ घोलिअम्मि भंडे, सहस्सभाएण विंधए तारं।
हेमं करइ अवस्सं, हदृंतं सुंदरं सहसा ॥३२॥
को हंडिभवण पुव्वेण, उत्तरे जाव ताव सा भूमी।
दीसइ अ तत्थ पडिमा, सेलमया वासुदेवस्स ॥३३॥
तस्सुत्तरेण दीसइ, हत्थेसु अदससुपव्वई पडिमा।
अवराह मुहर अंगुट्ठि, आइ सा दावए विवरं ॥३४॥
नवधणुहाइपविट्ठो, दिक्खइ तुडाइं दाहिणुत्तरओ।
हरियाललक्खवण्णो, सहस्सवेहीरसो नूणं ॥३५॥
उज्जिंते नाणसिलो, विक्खाया तत्थ अत्थि पाहाणं।
ताणं उत्तरपासे, दाहि ण य अहोमुहो विवरो ॥३६॥
तस्स य दाहिणभाए, देसधणुभुमी इहिंगुलुयवण्णो।
अत्थि रसो सयवेही, विंधइ सुचं न संदेहो ॥३७॥
उसहरिसहाइवूढे, पाहाणा ठाणसंगतो अत्थि।
गयवरलिंडा किण्णा, मज्झिमफरिसेण ते वेही ॥३८॥
जिनभवणदाहिणेणं, नउई धणुहेहिं भूमिजलु अयरी।
तिरिमणु अरत्तरविद्धा, पडिवाए बंवए हेमं ॥३९॥
वेगवई नामनई, मणसिलवण्णा य तत्थ पाहाणा।
सव्वस्स पंचवेहं सवंति धमिआतयं सिग्घं ॥४०॥
इयउज्जयंतकप्पं, अविअप्पं जो करेइ जिणभत्तो।
कोहंडिकयपणामो, सो पावइ इत्थियं सुक्खिं ॥४१॥ ती०।

उज्जयग न०(उद्यतक) प्रामित्याऽपरनामके उद्गमदोषके ॥ आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

उज्जयमइ त्रि०(उद्यतमति) ६ व०। प्रवृत्तचित्ते, संजममिउ उज्जयमइस्स। दश० ५ अ०।

उज्जयमरण न०(उद्यतमरण) इङ्गिनीमरणादिके पण्डितमरणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ०। (वर्णनमिंगिनीमरणशब्दे उक्तम्)

उज्जयल त्रि० (उज्ज्वल) उद् ज्वल अच्। दीप्ते, विशदे, वाच०। निर्मले, औ०। रा०। जी०। प्रशस्ते, तं०। भास्वरे, रा०। स०। शुद्धे, रा०। विपक्षलेशेनाप्यकलङ्किते, प्रश्न० १ द्वा०। भ०। स्था०। ज्ञा०। "उज्जलचलंतकिसकुसुमालपबालसीहिपवरकुरग्गसिहए", औ०। "तेणं तत्थ उज्जलं विउलं विउलंपगाढं वेयणं पच्चणुभवमाणा विरहरंति", तामुज्ज्वलां तीव्रानुभावेनोत्कटामित्यादि। सूत्र २ श्रु० २ अ०। उज्ज्वलां दुःखरूपतया जाज्वल्यमानां सुखलेशेनाप्यकल–ङ्कितामिति भावः। जी० २ प्रति०। शृङ्गारे रसे, स्वर्णे, न० वाच०।

उज्जलंत–त्रि०(उज्ज्वलत्) भासमाने, नं०।

उज्जलणेवत्थ–न०(उज्ज्वलनेपथ्य) निर्मलवेषे, भ० ७ श० ८ उ०।

उज्जलणेवत्थहव्वपरिवच्छिय त्रि० [उज्ज्वलनेपथ्यशीघ्र(हव्य) परिक्षिप्त] उज्ज्वलनेपथ्येन निर्मलवेषेण (हव्वंति) शीघ्रं परिक्षिप्तः परिगृहीतः परिवृतो यः स तथा। कृतसत्वरसुवेषे, भ० ७ श० ८ उ०।

उज्जलिय–त्रि०(उज्ज्वलित)उद्गता ज्वाला यस्य स तथा ऊर्ध्वगत-ज्वालायुक्तेऽग्नौ, जी० ३ प्रति०। उद् ज्वल क्त उद्दीप्ते, औ०। उद्दीपने, ज्ञा० १ अ०।

उज्जल्ल–त्रि०(उज्जल्ल) उद्गतो जल्लः शुष्कप्रस्वेदो यस्य सः। उद्गशुष्कप्रस्वेदवति, "मुंडा कंडूविणट्ठंगा उज्जल्ला असमाहिता", सूत्र १ श्रु० ३ अ०।

उज्जवण–न०(उद्यापन) या० णिच् पुक् ल्युट। व्रतसमाप्तिकृत्ये, तस्य कर्त्तव्यता। तथा नमस्कारावश्यकसूत्रोपदेशमालादिज्ञान-दर्शनविविधतपःसंबन्धिषूद्यापने जघन्यतोऽप्येकैकं तत्प्रतिवर्षं - विधिवत्कार्यं नमस्कारस्योपधानोद्वहनादि विधिपूर्वकमालारोपणे-नावश्यकादिसूत्राणामेवं गाथासंख्यचतुश्चत्वारिंशदधिकपञ्चशत्या-दिमोदकनालिकेरादिढौकनादिना उपदेशमालादीनां सौवर्णादिगर्भ-दर्शनतोदकलम्भनादिना दर्शनादिना शुक्लपञ्चम्यादिविहवधतपसामपि तत्तदुपवासादि संख्यानाणक चर्त्तुलिकानालिकेरमोदकादिना-नाविधवस्तुढौकना–दिनोद्यापनानि कर्याणि ॥९॥ ध० २ अधि।

उज्जाण–न०(उद्यान) वस्त्राभरणादिसमलंकृतविग्रहाः सन्निहितास-नाद्याहारा मदनोत्सवादिषु क्रीडार्थं लोका उद्यन्ति यत्र तच्चम्पका-दितरुखण्डमण्डितमुद्यानम्। अनु०ऊर्ध्वं यानम–स्मिन्नित्युद्यानम्। आव० ४ अ०। ऊर्ध्वं विलम्बितानि प्रयोजनाभावाद्यानानि यत्र तदुद्यानम्। नगरात्प्रत्यासन्नवर्तिनि यानवाहनक्रीडागृहाद्याश्रये, रा०। पुष्फलोपेतवृक्षशोभिते बहुजनभोग्ये उद्यानिकस्थाने, कल्प०। भ०। पुष्पादिमद् वृक्षसंकुले उत्सवादौ, बहुजनभोग्ये कानने, प्रश्न० ५ द्वा० रा०। जी०। द०। दशा०। भ०। अनु०। ज्ञा०। स्था०। जं०। "उज्जाणाइ वा वणाइ वा वणसंडाइ वा वावीइ वा पुक्खरणीइ वा", उद्यानानि पत्रपुष्पफलच्छायोपशोभितानि बहुजनस्य विविधवेष–स्योन्नतमानसस्य भोजनार्थं यानं येष्विति। स्था० २ ठा०। स०। सामान्यवृक्षवृन्दयुक्ते नगरासन्ने, ज्ञा० १ अ० जनक्रीडास्थाने, दश० ५ अ०। "उज्जाणं जत्थ लोगो उज्जाणियाए वचति जं वा इसिं णगरस्स उवकंठे ठियंतं उज्जाणं नि० चू० ८ उ०। प्रतिलोमगामिनि, त्रि०। चू० १ उ०। ऊर्ध्वं यानमस्मिन्नि-त्युद्यानम्। ऊर्ध्वं यानमुद्यानम्। मार्गस्योन्नते भागे, उदके तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसिव दुब्बला।" सूत्र० १ श्रु० ३ अ०। आव०।

उज्जाणजत्ता–स्त्री०(उद्यानयात्रा) उद्यानगमने, ज्ञा० १ अ०।

उज्जाणसठिय–त्रि०(उद्यानसंस्थित) उद्यानाकृतौ, ता उज्जाणसंसंठिताणं ताव क्खेत्ते, चन्द्र० २ पाहु०।

उज्जाणसिर–न०(उद्यानशिरस्) उट्टंकमस्तके, ''तत्थ मंदा विसीयंति उज्जाणंसि जरग्गवा, सूत्र० १ श्रु० २ अ०।

उज्जाणियलेण–न०(औद्यानिकलयन) उद्यानजगतजनानामुपकारकगृहे, नगरप्रवेशगृहे च। भ० १४ श० १ उ०।

उज्जाणिया–स्त्री०(उद्यानिका) वस्त्राभरणादिखमलंकृतविग्रहाणां सन्निहितासनाद्याहारमदनोत्सवादिषु कीडार्थमुद्याने गमने, अनु०। ''उज्जाणे उज्जाणियाए गया'' आ० म० द्वि०।

उज्जाबल–न०(ऊर्ज्जाबिल) प्रभूततरभाषणेऽपि प्रवर्धमानबले, १ व्य०

उज्जालण–न०(उज्ज्वालन) उद् ज्वल् ल्युट्। 'अर्द्धविध्मातस्याग्नेः सकृदिन्धनक्षेपेण ज्वालने', दश० ५ अ०।

उज्जालिय–अव्य०(उज्ज्वाल्य) अर्धं विध्मातं सकृदिन्धनप्रक्षेपे ण ज्वालयित्वेत्यर्थे, दश०५ अ०।

उज्जालेत्ता अव्य०(उज्ज्वाल्य) उज्ज्वालनं कृत्वेत्यर्थे, "उज्जालेत्ता पज्जालेत्ता कायं आयावेज्जा" आचा०१ श्रु०७ अ०३ उ०।

उज्जिंत–पुं०(उज्जयन्त) गिरिनाराननामके पर्वतविशेषे, पंचा० २० विव०। ''उज्जिंतए चेव पवंदिया उ सुरट्ठं, आव० ४ अ० यत्र, उज्जिंतसेलसिहरे पंचहिं छत्तीसेहिं अणगारसएहिं सद्धिं अरिष्टनेमिः सिद्धः'', कल्प। आ० म० प्र०। (तद्वर्णनं उज्जयंत शब्दे उक्तम्)

उज्जिंभ–पुं०(उज्जृम्भ) उद् जृभि घञ्। विकाशे, स्फुटने, उद्गता जृम्भा यस्मात् प्रा० व० मुखविकाशनभेदे, कर्तरि अच्। प्रकाशान्विते उज्जृम्भावति, वाच०।

उज्जु–त्रि०(ऋजु) अर्जयति गुणान् अर्ज्ज कु नि० ऋजादेशः। ''**उदृत्वादौ**'' । ८ ।१।६। अनेनादेर्ऋत उत्वम् प्रा। प्रगुणे, सूत्र० २ श्रु०। अवक्रे, औ०। सूत्र०। स्था०। ''तं मग्गं उज्जुपावित्ता ओहं तरति दुत्तरं'', ऋजु प्रगुणं यथाऽवस्थितपदार्थस्वरूपनिरूपणद्वारेणावक्रम्। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। रागद्वेषवक्रत्ववर्जिते, स्था० ४ ठा०। अविपरीतस्वभावे, स्था० २ ठा०। कौटिल्यरहिते, आचा० १ श्रु० १ अ०। प्रज्ञा०। सरले, जं० २ वक्ष०। औ०। अव्युत्पन्नबुद्धौ, पंचा०। संयमे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। मायारहिते संयमवति, दश० ५ अ०। अमायाविनि, नि० चू० १ उ०। ''धम्मविदुति उज्जु आवट्टे'', ऋजोर्ज्ञानिदर्शनचारित्राख्यस्य मोक्षमार्गस्यानुष्ठानादकुटिलः यथावस्थितपदार्थस्वरूपपरिच्छेदाद्वा ऋजुः सर्वो पाधिशुद्धोऽवक्र इति। आचा० १ श्रु० २ अ०। ''उवेहमाणो सद्दरूवेसु उज्जुमाराभिसंकी, शब्दरूपादिषु यौ रागद्वेषौ तावुपेक्षमाणः अकुर्वन् ऋजुर्भवति यतिर्भवति यतिरेव परमार्थात ऋजुःपरस्त्वन्यथाभूतस्त्र्यादिपदार्थान्यथाग्रहणाद्वक्रः। आचा० १ श्रु० २ अ०। पियधम्मो दढधम्मो संविग्गो जिइंदिओ उज्जू'' ।आ० म० द्वि०। मार्गभेदे, ऋजुरादावन्तेऽपि ऋजुः प्रतिभाति तत्वतोऽपि ऋजुरेवेति तत्कल्पे पुरुषभेदे यः पूर्वापरकालापेक्षया अन्तस्तत्वबहिस्तत्वापेक्षया वेति। स्था० ३ ठा० वसुदेवपुत्रभेदे, पुं० वाच०।

***उद्योत**–पुं० उद्योतयतीत्युद्योतः पचाद्यित्वाद् च। आर्षत्वादुज्जति प्रकाशे, ''भज्जापइ सीउण्हं तसुउज्जुच्छायातवे चेव। उत्त १ अ०।

उज्जुआयया–स्त्री०(ऋज्वायता) ऋज्वी सरला सा चासावायता च दीर्घा ऋज्वायता। श्रेणि (प्रदेशपंक्ति) भेदे, स्था० ७ ठा०। यया जीवदया ऊर्ध्वलोकादेरधोलोकादौ ऋजुतया यान्तीति। भ० २५ श० ३ उ०।

उज्जुकड–त्रि०(ऋजुकृत) ऋजु मायाविरहितं कृतमनुष्ठितमस्यनिर्मायितपोधर्मयुक्ते, ''अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा परिग्गहारंभनियतदोसा।'' उत्त०१४ अ०।

***ऋजुकृत्**– त्रि०ऋजुरकुटिलसंयमदुष्प्रणिहितमनोवाक्कायनिरोधः सर्वसत्वसंरक्षणप्रवृत्तत्वाद्यैकरूपः सर्वत्राकुटिलगतिरिति। यावत्। यदि वा मोक्षस्थानगमनर्जुश्रेणिप्रतिपत्तिः सर्वसञ्चारसंयमात्कारणे कार्योपचारं कृत्वा संयम एव सप्तदशप्रकार ऋजुस्तकरोतीति ऋजुकृत् ऋजुकारिणी, अशेषसंयमानुष्ठायिनि संपूर्णानगारे, ''जहा अणगारे उज्जुकडे णिपायपडिवण्णे'' आचा० १ श्रु० १ अ० उ०।

उज्जुग (य) न०(ऋजुक) दृष्टिवादस्य अष्टाशीतिसूत्रेषु प्रथमसूत्रे, सम०।

***ऋजुग**– त्रि० ऋजु यथा तथा गच्छति गम् ड०। सरलव्यवहारिणि, वाणे, पुं० वाच०। मायारहिते, पिं। सरले, उपा० १ अ०। सूत्र०। ज्ञा०। आचा०। अवक्रे, तं०। ''उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।'' आचा० १ श्रु० १ अ०। ''से हु समणे सुयधारए उज्जुए संजए।'' प्रश्न० ५ द्वा०। संस्फुटे, तिविहे ते गच्छम्मि उज्जुयवाउलणसाहणा चेव०। ऋजुसंस्फुटमेव व्यावृतसाधना व्यावृतक्रिया कथनं कर्तव्यम् १ व्य० प्र०१ उ०। जी०। उज्जुयसमसंहियजचतणुकसिणनिद्धआए अलडहरोमराई'', ऋजुका न वक्रा समाना न क्वाप्युद्वन्तुरा संहिता संतता नत्वपान्तराले व्यवच्छिन्ना सुजाता सुजन्मा न तु कालादिवैगुण्यतो दुर्जन्मा अत एव जात्या प्रधाना तन्वी न तु स्थूरा कृष्णा न तु मर्कटवर्णा कृष्णमपि किंचित् निर्दीप्तिकं भवति तत आह स्निग्धा आदेया दर्शनपथमुपगता सती उपदेया सुभगा इति भावः। एतदेव विशेषणद्वारेण समर्थयते। लटहा सलवणिमा अत आदेया तथा सुकुमारा अकठिना। तत्राकठिनमपि किञ्चित् कर्कशस्पर्श भवति तत आह मृद्वी अत एव रमणीया रम्या रोमराजिस्तनूरुहपङ्क्तिर्येषां ते ऋजुकसमसंहितजात्यतनुकृष्णा सुगन्धादेयलटह -सुकुमारमृदुरमणीयरोमराजयः॥ जी० ३ प्रति।

उज्जुग(य) भूय–त्रि०(ऋजुकभूत) सरलीभूते, सो हि उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ॥ उत्त० विलरूपे लयनसूक्ष्म भेदे॥ कल्प०॥

उज्जुग (य) या–स्त्री०(ऋजुकता) ऋजुकभावे, कर्मणि–वा–तल०। अमायिनो भावे कर्मणि च। स्था० ३ ठा०।

उज्जुगा (या) स्त्री०(ऋज्वी) ऋजु स्त्रियां वा डीप्। आर्जववत्यां स्त्रियाम्, वाच०॥ माया भगिणी धूया मेहावी उज्जुयाय आणती य, ऋजुकामकुटिलामाज्ञप्ताम्। व्य० द्वि० ७ उ०। अष्टसु गोचरभूमिषु प्रथमगोचरभूमौ, उज्जुगआदिओ चेवबहिरंतो उज्जुगं जातितो राउ स णिदृइ॥ पं० व०। ऋज्वी स्ववसतेर्ऋजुमार्गेण समश्रेणिव्यवस्थितगृहपङ्क्तौ भिक्षाग्रहणेन पङ्क्ति समापनेततो द्वितीयपंक्तौ पर्यासेऽपि भिक्षाग्रहणेन ऋ-

जुगत्यैव निवर्तने च भवन्ति । ध० २ अधि० ॥ यस्मामेकं दिशमभिगृह्योपाश्रयान्निर्गतः प्राञ्जलिनैव यथासमश्रेणिव्यवस्थितः गृहपङ्क्तौ भिक्षां परिभ्रमन तावद्याति यावत्पंक्तौ च रमगृहं ततो भिक्षामगृण्हन्नेव अपर्याप्तेऽपि प्राञ्जलिर्यवगत्या प्रतिनिवर्तते सा ऋज्वी । ग० १ अधि० ।

उज्जुजड्ड–पुं०(ऋजुजड) ऋतवोऽशठास्ते च तेजडाश्च विशिष्टो–हावैकल्येनोक्तमात्रग्राहिण ऋजुजडाः । पंचा०१६ अ० शिक्षाग्रहण–तत्परतया ऋजुषुदुष्प्रतिपाद्यतया मूर्खेषु प्रथमतीर्थकृत्साधुषु, पुरिमा उज्जुजडाओ वक्क जड्डा य पच्छिमा, उत्त०२६ अ० । (एषां स्वरूपं नटदृष्टान्तेन कप्प शब्दे दर्शयिष्यते)।

उज्जुत्त–त्रि०(उद्युक्त) उद् युज् क्त । उद्यमवति, संस्था० । उद्यते, आव० ३ अ० । सावधाने, ''तम्हा चंदगविज्झं सकारणं उज्जुएण पुरिसेण'', आतु० । उद्यमपरे, विशे०।अप्रमादिनि, नं० । ग० । सूत्रार्थतदुभयग्रहणे अपरितान्ते, पं० चू० । उपयुक्ते, व्य० प्र० १ उ० ।

उज्जुदंसि (ण्) पुं०(ऋजुदर्शिन्) ऋजुर्मोक्षं प्रति ऋजुत्वात् संयमस्तं पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः । संयमप्रतिबुद्धे, ''णिग्गंथा उज्जुदंसिणो'', दश० ३ अ० ।

उज्जुधम्मकरणहसण– न०(ऋजुधर्मकरणहसन) ऋजूनामव्युत्पन्नबुद्धिनां धर्मकरणे स्वबुध्र्यनुसारेण कुशलानुष्ठानासेवने हसनमुपहासः ऋजुधर्म्मकरणहसनम् ।अव्युत्पन्नमतीनां धर्मानुष्ठाने प्रवृत्तानाम् धूर्तविडम्बिनः खल्वेत इत्यादि रूपे उपहासे, एतल्लोकविरुद्धत्वात्त्याज्यम् । बहवो ह्यव्युत्पन्ना एव लोकस्ते च तद्धर्माचारहसने सति विरुद्धा एवं भवन्ति । पंचा० २ विव० ।

उज्जुपण्ण– पुं०(ऋजुप्राज्ञ) ऋजुवश्च प्राज्ञाश्च ऋजुप्राज्ञाः शिक्षाग्रहणतत्परेषु, प्रकृष्टबुद्धिषु च, ! मध्यमतीर्थकृत्साधुषु, ''मज्झिमा उज्जुपण्णाओ, तेण धम्मे दुहा कए'', उत्त० २६ अ० (नटप्रेक्षादर्शने तेषां स्वरूपविवेकः कप्प शब्दे) अकुटिलमतौ, ति० । उज्जुपण्णे मणुव्विग्गे, अवक्खित्तेण चेयसा, दश० ५ अ० ।

उज्जुभाव–पुं०(ऋजुभाव) सरलत्वे, से उज्जुभावं पडिवज्जसंजए, णिव्वाणमग्गं विरए उवेइ, ॥ उत्त०२१ अ० ॥

उज्जुभावासेवण–न०(ऋजुभावासेवन) ६ त० । कौटिल्पत्यागरूपस्य ऋजुभावस्यानुष्ठाने, तच्च ऋजुभावासेवनमिति । ऋजुभावस्य कौटिल्यत्यागरूपस्यासेवनमनुष्ठानं देशकेनैव कार्य्यमेवं हि तस्मिन् । अविप्रतारणकारिणि, संभावित । स हि शिष्यस्तदुपदेशान्न कुतोऽपि दूरवार्तः स्यादिति । ध० १ अधि० ।

उज्जु (रिउ) मइ–स्त्री०(ऋजुमति) ''रिजुसामन्नं तम्मतगाहिणी रिजुमइ मणोनाणं । पायं विसेसविमुहं घडमित्तं चिंतियं सुणइ'', पा० । आ० चू० । मननं मतिः संवेदन मित्यर्थः ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिर्ऋजुमतिः । भ० । आ० म० प्र० । सामान्यग्राहिण्यां मतौ, नं० । सा च घटोऽनेन चिन्तित इत्यध्यसायनिबन्धना मनोद्रव्यपरिच्छित्तिरिति । भ० । कर्म० । अर्द्धतृतीयोच्छ्रयाङ्गुलन्यूनमनुष्यक्षेत्र–वर्तिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमनोद्रव्यप्रत्यक्षीकरणहेतुमनः पर्य्याय ज्ञानभेदे । ग० १ अधि० । सामानयघटादिवस्तुमात्रचिन्तनप्रवृत्तं मनः परिणामग्राहि किञ्चितदविशुद्धतरमर्द्धतृतीयाङ्गुलहीन मनुष्यक्षेत्र विषयं ज्ञानमृजुमतिः लब्धिभेदः । प्रव० ॥

***ऋजुमति**– त्रि० ऋज्वी मतिर्यस्यासावृजुमतितिः ऋजुमतिलब्धिप्राप्ते भ० । उज्जुमती नाम मणोगतं भावं पडुच्च सामत्थतेमग्गाहिणी मती जस्स सो उज्जुमति भन्नति । आ० चू० १ अ० । ऋजुतयस्तु सर्वतः सार्द्धद्व्यङ्गुलाधिके मनुष्यक्षेत्रे स्थितानां सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मनोगतं जानन्ति । कल्प० । प्रव० । (अस्य ज्ञेयविषयमानं मणपज्जव शब्दे) मार्गप्रवृत्तबुद्धौ च । ''तवोगुण पहाणस्स उज्जुमइखंति संजमारस्स'', दश० ४ अ० ।

उज्जुमउयपीवरपुट्ठसंहयंगुलि–त्रि० (ऋजुमृदुकपीवरपुष्ट-संहताङ्गुलि) ऋजवोऽवक्रा मृदवोऽकठिनाः पीवराः अकृशाः पुष्टा मांसलसः संहताः सुश्लिष्टाः अङ्गुलयो यस्स स तथा । स्वलक्षणयुक्ताङ्गुलिके, जी० ३ प्रति ।

उज्जुया–स्त्री०(ऋजुता) निकृतिपरेऽपि मायापरित्यागे, द्वा ।

उज्जुयार–त्रि०(ऋजुचार) अकौटिल्येन प्रवर्तमाने यथोपदेशं यः प्रवर्तते न तु पुनर्वक्रतयाऽऽचार्यादिवचनं विलोमयति प्रतिकूलयति, ''जद्यण्णिए चेव सुउज्जुयारे'', सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

उज्जुवालिया–स्त्री०(ऋजुपालिका) स्वनामख्याते नदी विशेषे, सा जृम्भिकग्रामनगरस्य बहिर्वहति यस्यास्तीरे भगवतो वीरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । कल्प० ॥

उज्जुववहार– पुं०(ऋजुव्यवहार) ऋजु प्रगुणं व्यवहरणमृजु व्यवहारः । एकविंशतिभावश्रावकगुणानां चतुर्थे गुणे ॥ अधुना ऋजुव्यवहारीति चतुर्थभावकलक्षणं यथा ।

उज्जुववहारो चउहा, जहत्थभणणं अवंचगाकिरिआ ।
हुंतावायपगासण, मित्तीभावो असब्भावो ॥

ऋजु प्रगुणं व्यवहरणं ऋजुव्यवहारः । स चतुर्द्धा यथार्थभणनमविसंवादिवादिवचनम् १ अवञ्चका पराव्यसनहेतु क्रियामनोवाक्कायव्यापाररूपा २ (हूंतावायपगासण्णत्ति) हुंतत्ति प्राकृतशैल्या भाविनोशुद्धव्यवहारकृतो येऽपायास्तेषां प्रकाशनं प्रकटनं करोति भद्र ! मा कृथाः पापानि चौर्यादीनि इह परत्र चानर्थकारिणीत्याश्रितं शिक्षयति ३ मैत्रीभावः सद्भावो निष्कपटतायाः ४ । ध० २ अधि० । इत्युक्त ऋजुव्यवहारे यथार्थभणनस्वरूपः प्रथमो भेदः। संप्रति द्वितीयं भेदमाह । (अवंचिगाकिरियत्ति) ''अवञ्चिका पराव्यसनहेतुः क्रिया मनोवाक्कायव्यापाररूपा तत्र द्वितीय-मृजुव्यवहारलक्षणम् उक्तं च तप्पडिरूव गविहिणा, उलापलाई हिऊण सब्भहियं । दिंतो लिंतो वि परं, नववए सुद्धधम्मत्थी'' ॥१॥ वंचणकिरियाइ इहं पि केवलं पावमेव पिच्छतो । तत्तो हरिनन्दी इव, नियत्तए सव्वहासु मई २, इति कः पुनरयं हरिनन्दी तत्कथोच्यते ।

उद्योणिपुरवरीए, वहिया वणवीहिया इ ववहरइ ।
हरिनंदि वणी दारिह–रुद्दददोलि दुम विहगो ॥१॥
आसन्नसंनिवेसा उ, अन्नया आगया वणे तस्स ।
आहीरी ववहरिउं, एगा घयमाइ घित्तूण ॥२॥
विक्किणिउं किणिउं वा, लोणतिल्लाइसापयं पेइ ।
सिद्धिविसिट्ठं रूवग, दुग्गस्स कप्पासमप्पेसु ॥३॥
सो य समग्घो समए, तम्मि य तो तोलिउं दुवे वारे ।
इगरूवगस्स अप्पइ, सा मुद्धा बंधए गिंठि ॥४॥
तं तह दट्ठुं सिट्ठी, विचिंतए परपवंचणानिउणो ।
अज्ज मए अज्झिणिओ, अकिलेसं रूवगो एगो ॥ ५॥
इय चिंतिउं विसज्जइ, इमा अणुद्युतमुज्जयं सव्वो ।
इत्तो नवणिनिमित्तं, पत्तो सगेहिणी तत्थ ॥६॥
सा चवणिं उवणेउं, भणिया घयखंडसामिय मईणि ।
एयाइं गिण्ह सिग्घं, करेसु तं घेउरे पउरे ॥७॥

सा ताइं गहिय सगिहे, गंतुं तुट्ठा करइ घयपुन्ने ।
सिट्ठी उट्ठियहट्ठाउ ह्लाउं पत्तो नईं इत्तो ॥८॥
कत्तो य आगओ त–गिहम्मि जामाउओ वयस्सजुओ ।
अइओ सगुत्तिभुत्ते, ते घयपुन्ने गओ तुरियं ॥९॥
अहह्लाउ गिहे पत्तो, सिट्ठी साहावियं चिय कुभत्तं ।
परिविट्ठिं दट्ठुं सुट्ठु रुट्ठओ भणइ इय भज्जे ! ॥१०॥
किं अलसे धयपुन्ना, न कया सा भणइ ते कया किंतु ।
अणुताव तावियमण्णो, इय अप्पं निंदए सिट्ठी ॥१५॥
हा वंचिया मुहाए, धण तव लुद्धेण सा मए सुद्धा ।
अन्नेहिं तयं भुत्तं, पावं मह चेव संजायं ॥ १३ ॥
हट्ठी इचिरकालं, परवंचणपवणमाणसेण मए ।
दुसहदुहनरयदामग्गिइं धण कह कओ अप्पा ॥१४॥
इय झूरंतो जाजइ, किं पि भूभागमग्गओ ताव ।
मग्गम्मि मुणी एगं, गच्छंतं दट्ठुमिय भणइ ॥१५॥
भयवं ! पडिक्खसु खणं, भणइ इमो गच्छिमो सकज्जेण ।
सिट्ठी वि आह किं को वि, नाह परिभमइ परकज्जे ॥१६॥
अइसयनाणी साहू, भणेइ तं चिय भमेसि परकज्जे ।
सामं मे इव पुट्ठो, बुद्धो तेणेव वयणेण ॥१७॥
हरिनंदी आणंदिय–हियओ वंदिय मुणिं भणइ कत्थ ।
चिट्ठह तुब्भे भयवं ! भणइ मुणी इत्थउज्जाणे ॥१८॥
तो मुणीकहियं धम्मं, सोउं विन्नवइपहु तुह समीवे ।
गिण्हिस्महं दिक्खं, नवरं पुच्छियससयणग्गं ॥१९॥
पणमित्तु मुणिं गेहे, पत्तो मेलित्तु जं पए सयणे ।
इह तारिसो न लाभो, ता दिसि जत्ताइ गच्छामि ॥२०॥
इत्थ दुवे सत्थाहा, एगो नियरयणपणगमप्पेइ ।
तह नेइ इच्छिय पुरं, पुव्व वि ढत्तं न मग्गेइ ॥२१॥
बीओ न देइ किं चि वि, इच्छिय नयरं च नहु पराणेइ ।
पुव्वज्जियं पि गिण्हइ, वयमित्तो भणह केण समं ॥२२॥
ते विंति पढमएणं, सिट्ठी वज्जरइनियह आगंतु ।
तो ते पमोय कलिया, चलिया सह तेण मग्गम्मि ॥२३॥
हयवसहाइं अदट्ठं, भणंति ते कत्थ सत्थवाहो सो ।
नियहनिसन्नमसोग – हिट्ठओ संसए सिट्ठी ॥२४॥
तो तिविम्हइयमणा, सयणा नमिउं मुणिं समासीणा ।
पणमिय पुच्छइ सिट्ठी, को इत्थ पसत्थ सत्थाहो ॥२५॥
साहू साहइ इह सव्वभावभेया दुहा उ सत्थाहो ।
तत्थ य पढमो नियओ, सगुज्जुओ सयणुवग्गुत्ति ॥२६॥
सो दुहियस्स वि जीवस्स, देइ न य कहवि किंपि सुकयधणं ।
परभवपहे पयट्टस्स, तस्स न पयं पि सह चलइ ॥ २७ ॥
कलहाइएहिं एसो, लुंपइ पुव्वज्जियं पि सुकयलवं ।
बीओ पुण सत्थाहो, सुगरू गुणरयणगणकलिओ ॥२८॥
जिणसासणसुद्धागर, संभूए निम्मले य सत्थाए ।
सो संमं देइ निए, पंचमहव्वयमहारयणे ॥२९॥
जं तेहि पंचरयणेहिं, अज्जियं सुहकरं सुकयदव्वं ।
नय त कयावि गिण्हइ, कमेण पावेइ सियनयरं ॥३०॥
इय सोउं संविग्गो, हरिनंदी गिण्हए समणधम्मं ।
सयणा वि ससत्तीए, धम्मं गहिउं गया सगिहे ॥३१॥
हरिनंदीपरवचणकिरिया सक्किरियाइं सो सणिक्करवि ।
कयसक्किरिओ अकिरिय ठाणम्मि कमेण संपत्तो ॥३२
इत्यवेत्य हरिनन्दिवञ्चनाः पापसंतमसदर्शयामिनीम् ।
तां विमुच्य परवञ्चिकां क्रियां,सक्रियाःस्त यदिवा क्रियेच्छवः
इति हरिनन्दिकथा ॥

इत्युक्तऋजुव्यवहारेऽवञ्चिकाक्रियेति द्वितीयो भेदः ।
संप्रति भाव्यपायप्रकाशनस्वरूपं तृतीयं भेदमाह-
(हुंतावायपगासणहुंतत्ति) प्राकृतशैल्या भाविनोऽशुद्धव्यवहारकृतो येऽपायास्तेषां प्रकाशनं प्रकटनं करोति भद्र ! मा कृथाः पापानि चौर्यादीनि इह परत्र चानर्थकारीणीत्याश्रितं शिक्षयति । भद्रश्रेष्ठीव निजपुत्रं धनं न पुनरन्यायप्रवृत्तमभ्युपेक्षत इति भावः ।

भद्र श्रेष्ठिकथा चैवम् ॥

हरिदेहं पि व भद्दिल, पुरमत्थि सुवन्नसंगयं सुगयं ।
तत्थ सुपसत्थनयकुंज–केसरी केसरी राया ॥ १ ॥
सिट्ठी भद्दो भद्दो , दंतीव दाणपसरदुल्ललिओ ।
तस्स य वंचणपवणो धणलुद्धमणो धणो तणओ॥२॥
मुणिचित्तं च सकरुणं, सअज्जुणं पंडवाण सित्रं च ।
ते कीलिउं कया वि हु, दुवे वि उज्जाणमणुपत्ता ॥३॥
उच्छूढसभा भारं, निवूढदयं परूढगुरुवंसं ।
से लंपि वसुपइट्ठं, सुपइट्ठमुणिं नियतं तहिं ॥४॥
ते तं समणुत्तम्ममुत्तमंगसुनिविट्ठकरयला नमिओ ।
निसियंति उवियठाणे , तो धम्मं कहइ इय सुमुणी ॥५॥
कमलसरं पिव मरुमं– डलम्मि तमसम्मि रयणदीवं च ।
नरभवमिह दुलहं लहिय, कुणह सत्तीइ जिणधम्मं ॥६॥
इय सुणिउं पियपुत्ता, पहिट्ठचित्ता गहिंतु गिहधम्मं ।
मुणिचरणे जयसरणे, नमिओ पत्तानिए सरणे ॥७॥
भाविबहुभद्द सहोद्द, सुंदरो भद्दमाणसो भद्दो ।
ववहारसुद्धिनिरओ, गिहिधम्मं पालयइ विसुद्धं ॥८॥
हट्ठम्मि ठिओ निच्चं, धणो पुणो लुद्धओ धणे धणियं ।
कूडक्कयतुल्लमणो, कुडाईहिंच ववहरइणिच्चं ॥९॥
अणविक्खिउं अपाए, तेणाणीयं पि लेइ पच्छन्नं ।
तं नाउ सो उ पिउणा, भिउणा वयणेण इय भणियो ॥१०॥
वच्छ अवत्थ पच्छा–अपत्थभत्तं व दोसपडिहत्थं ।
अन्नाएण दविण्णस्स, ण अज्जणं सज्जणा विंति ॥११॥
अन्नाएण वि ढत्तं, दव्वमसुद्धं असुद्धदव्वेण ।
आहारो वि असद्धो, तेण अशुद्धं सरीरं पि ॥१२॥
देहेण असुद्धेण, जं जं किज्जइ कयावि सुहकिच्च ।
तं तं न होइ सफलं, बीयं पिव चऊसरनिहत्तं ॥१३॥
किंचि भविअवाय अन्ना नयपहपहियाणंपराण चिंतेसु ।
निज्जियकज्जलपसरो, अजसभरो फुरइ भवणम्मि ॥१४॥
इह य पिवि हुंति कारा, पवासवहबंधहत्थछेयाई ।
परलोए पुण दारुण, नरगाईसु दुक्खरिं छोली ॥१५॥
संपासंपायवलं, जलजलण नरिंदमाइसाहीणं ।
विहविलवं नाउ अनाय, उज्जुओ काह विज्ज इहं ॥१६॥
वच्छ वियाणसु अन्नाय, अज्जियं पि विहवभरं ।
पज्जंते अइविरसं, सुज्जय भवथूलभावं च ॥१७॥
अइलोहनेहपूरिय, अन्नायपईवभाविणा इमिणा ।
नियवयभरभंजण खंजणेण कोमलइलए अप्पं ॥१८॥
इय जं पिओ वि पिउणा, सो गुरुणा लोह कम्मणा मलिणो ।
न हु किंपि तं पवज्जइ, चिट्ठइ पुव्वं व अनयपरो ।। १९
अह चोरे णिक्केणं, वरकुंडलजुयलसंजुयं हारं ।
उवणीयं जत्ति धणो, धणेण थोवेण गिण्हेइ ॥२०॥
चोरकराओ कइया, वि जाव रयणावलिं स गिण्हेइ ।
निवसिरिहरिओ विमलो, तो पत्तो मस्स हट्टम्मि ॥२१॥
तेण य भणिओ वरसि य, संचए दंसए धणो जाव ।

ताव घण उदियाए, पडियारणावलीज्झत्ति ॥२२॥
तं गहिउं उवलक्खिय, विमलो चुच्छेइ सिट्ठि किं एयं।
जा किं पि न सो जंपइ, खुहिओ ता जंपए विमलो ॥२३॥
अन्नं पि इमीइ समं, नट्ठवरहारकुंडलाईयं।
तुह पासे तं पि अहं, मन्ने ता लहु महप्पेसु ॥२४॥
अन्नह निवेण नाणे, धणेण देहेण वा न छुट्टिहिसि।
अह हण हणित्ति भणिओ , संपत्तो तलवरो तत्थ ॥२५॥
बद्धो तेण धणो विमलपुच्छिओ सो भणइ जहा अज्ज।
लद्धो इक्को चोरो, से हिज्जंतेण इमो ॥ २६ ॥
कहिओ मो सट्ठाणं, नरवरआहरणमाइसव्वाणं।
तो रयणावलिसहिओ, स तेण नीओ निवसमीवे ॥२७॥
तो भिउडिभासुरेण निवेण से हाविओ धणो अहियं।
रयणावलिकुं ड लहा -- रमाइसव्वं समप्पेइ ॥२८॥
इय सोऊण अखुद्धो, भद्दो गंतूण निवइपासम्मि।
दाउं पभूयविह वं कह कहमवि मोयए पुत्तं ॥२९॥
तो नाउ बहुअवायं, चइऊण पुहावि दुज्जणं वधणं।
दिक्खं गिण्हिय जाओ भद्दो भद्दाण आभागी ॥३०॥
मुक्कववहारसुद्धी, सुमहंतसमुल्लसंतधणगद्धी।
परिचत्त विमलभावो, नरए पत्तो धणो पावो ॥३१॥
इत्येमाकर्ण्यसकर्णलोका , भद्रस्य भद्रंकरणं चरित्रं।
तद्भाव्यपायापसरेण मुक्तां, श्रयन्तु नित्ये व्यवहारशुद्धिं ॥३२॥

इति भद्रश्रेष्ठिकथा।

इत्युक्तऋजुव्यवहारे भाव्यपाय प्रकाशनमिति तृतीयो भेदः।
संप्रति सद्भावतो मैत्रीभाव इति चतुर्थ भेदमाह ॥
(मित्तीभावो य सब्भवत्ति) मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री तस्या भावो भवनं सत्ता सद्भावान्निष्कपटतया सुमित्रवन्निष्कपटमैत्रीं करोतीत्यर्थः। मित्रकपटभावयोश्छायातपयोरिव विरोधात्। उक्तंच, शाठ्येन मैत्रीं कलुषेण धर्मं, परोपतापेन समृद्धिभावम्। सुखेन विद्यां पुरुषेण नारीं वाच्छन्ति ये व्यक्तमपडितास्ते। इति चतुर्थ ऋजुव्यवहार भेदः।

सुमित्रकथा चैवं।

सुपुरिस पुरइवसुकरे, वरवत्थे सिरिपुरम्मि नयरम्मि।
सिट्ठी आसिनदीणो, समुद्दत्तो समुद्दव्व ॥ १ ॥
सब्भावसारामित्ती, महंतदिप्पंतकंति कयसोहो।
पुत्तो तस्स सुमित्तो, मित्तुव्व परं असत्तासो ॥२॥
निद्धम्मो चत्त पुणो,लोहमओ मग्गुव्व पीइहरो।
परमम्मवहेणपरो, मित्तो तस्स त्थि वसुमित्तो ॥३॥
णुन्नविय कहसि पिउणो, ववहरणत्थं सुमित्त वसुमित्तो।
संगहिय पउरपणिया, वणिया देसंतरे चलिया ॥४॥
मित्तपओसी दो सु--क्करिसपरो कोसिउव्व वसुमित्तो।
उद्धमणो मित्तधणे, कुणइ विवायं इय पहम्मि ॥५॥
जीवाण जओ धम्माओ, किं व पावाउ कहसु मह मित्त।
भणइ सुमित्तो धम्मओ, नाणुजओ न उण पावाउ ॥६॥
(यतः)दविणमलं कुलममलं, आणस्सरियं अभंपुरं विरियं।
सुरसंपयं सिवपयं, धम्मा उच्चियजियाण धुवं ॥७॥
जइ पुण पावेण बुद्धि, रिद्धिसंसिद्धिमाइयो हुज्जा।
तो हुज्ज न को वि इहं, जडो दरिद्दो असिद्धो य ॥८॥
रक्खियमिगे वि मयलं--छणो ससी हयमिगो वि मिगनाहो।
सीहो तउ पावा जइति इय भणइ वसुमित्तो ॥९॥
इय वियवंता दुन्नि वि, सव्वस्स पणम्मि निम्मयपइन्ना।
अन्नायधम्मनामे, कमेण कमिवि गया गामे ॥१०॥
तत्थ य वसुमित्तेणं, मच्छरभरपूरिएण नियपक्खं।
पुट्ठा गामीणजणा, पावा उ जउ त्ति जंपंति ॥११॥
जे परवंचणपउणा, विगलियकरुणा सया असच्चधणा।
तप्पक्खं पिच्छह, अतुच्छलच्छीइसंपन्ना ॥१२॥
अन्यैरप्युक्तम् नातीव सरलैर्भाव्यं, गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
सरलास्तत्र छिद्यन्ते कुब्जास्तिष्ठान्ति पादपाः ॥१३॥
गुणानामेव दौरात्म्याद् धुरि धूर्यो निकल्पते।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं जीवति गौर्गलिः ॥१४॥
उत्तरदाणअसत्तो तस्स सुमित्तो मुरुक्खसत्थस्स।
वसुमित्तेणं सत्था, उद्याडिओ गहियसव्वस्सं ॥१५॥
सो एगागी अडवी--इनिवडिओ आहिदुक्खतत्तो वि।
पगईइमित्तभावेण, परिगउ चिंतए एवं ॥१६॥
भुज्जंतो रेजियपुव्व, जम्म कडुकम्मरुक्खफलमेयं।
काऊणं संतोसं, वसुमित्ते वज्जिसुपओसं ॥१७॥
इय चिंतिउं सुमित्तो, निसाइसावयगणाण वीहंतो।
इक्कस्स निलुक्को गरु--यविडवविडविस्स कुहरम्मि ॥१८॥
इत्तो निसुणइ दीवं--तरो उवत्ताण रुक्खसिहरम्मि।
सो पक्खीणुल्लवियं, महल्लविहगेण पुट्ठाणं ॥१९॥
भो विहगा कहह मह, कत्तो को इत्थ आगओ इण्हिं।
दीवंतरमिक्खेणं, किंकिरदट्ठं व निसुयं वा ॥२०॥
तेहि वि जं जह दिट्ठं, सुय व दीवंतरेसु वा सव्वं।
तह चेव तस्स कहियं एगो पुण भणइ तत्थ इमं ॥२१॥
ताय अह पज्जपत्तो, सिंहलदीवा उ तत्थ नरवइणो।
अत्थि जियमयणधूरिणि, धूया धूयामयरणेहा ॥२२॥
तीसे य अत्थि वियणइ--पिडियाए तइज्जओ मासो।
विज्जेहि विपडिसिद्धा, तो पिउण दाविओ पडहो ॥२३॥
जो मह धूयं पउणेइ, तस्स वि य रेमि रज्ज अद्धमहं।
सीइसमं विय नय को वि, पडहंपछिवइ पुण तथा ॥२४॥
अज्ज दिणं छट्ठीपढ--हयस्स तातीनयणरोगस्स।
किं नत्थि ओसहमिह, किंवा अत्थत्ति मह कहसु ॥२५॥
अह भणइ बुड्ढपक्खी, जाणंतेहिं वि जह तहा एयं।
दिवसम्मि वि न कहिज्जइ, कि पुण रयणीइ हेपुत्तो ॥२६॥
तेणुत्तं महगरुयं, कुंटुं न य कोइ सुणइ इह ताय।
ता कहसु आह सो वि हु, सुयपुव्वं वत्थमह एयं ॥२७॥
अद्धाणं पवभमेहिं, इह निसि वसिएहिं जइणसाहूहिं।
संलक्खणुत्ति कहिओ, एस तरु नयणरोगहरो ॥२८॥
जइ कोइ एइ तरुणो, पत्तरसेतीइ अत्थि सुखिविज्जा।
तो सा पउणिज्जइ लहु, इयं सा उचिंतइ सुमित्तो ॥२९॥
छज्जीवहियामित्तीइ, मंदिरं दुइय दहणजलवाहा।
सन्नाणरयणजलही, न अन्नहा बिंति जइणमुणी ॥३०॥
इय नत्थि य तरुणं सर--जदलाइं गहित्तु सो अप्पं।
वंधइ सिंहलदीवा, गयभारुंडस्स चरणरम्मि ॥३१॥
नीओ तेण तहिं सो, छिविउं पडहं गओ निवइ पासे।
विहिओ वि य पडिवत्ती,रन्ना पुट्ठो कुसलवत्तं ॥३२॥
वाहरिय मयणरेहं, वलिमडलमाइकाउनिवइ पासे।
लोयणवेयणरहियं, करेइ तेणं दलरसेणं ॥३३॥
परिणाविय निवकन्न, दिन्नं रज्ज य तस्स रज्जद्धं।
सो तत्थच्छइ सुत्थिय, हियओ सव्वेसि हियनिरओ ॥३४॥
वसुमित्तो वहणेणं, कया वि तत्थागयो विणिज्जेण।
निवदंसरणाइपत्तो, गहिउं कोसल्लियं बहुयं ॥३५॥
तत्थ सुमित्तं सुमहं--तराय लच्छीइ दट्ठु दिप्पंतं।
सो चत्तमित्रभावो, धसक्किओ चिंतए एवं ॥३६॥

एसो पयउपउंसो, जइ कहमवि मज्झ वइयरं रन्नो।
पायडइ तओ अहुणा, हिय सव्वस्सो विणस्सामि ॥३७॥
केणावि उ वाएणं, ताएयं मारिमुत्तिचिंतेउं।
पाहुडमप्पितुनिवइ–रायपासम्मि आसीणो ॥३८॥
विजणं जाणित्तु इमो, सुमित्तभवणम्मि जाइ मायाए।
पुच्छियकुसलोदंता, परुप्परं जाव अच्छंति ॥३९॥
ताव सुमित्तणुत्तं, सुमित्तवरमित्त कइवयदिणाणि।
मा मं जाणा विज्झसु, रन्नो तेणावि पडिवन्नं ॥४०
अण्णदिणे वसुमित्तो, रहम्मि विन्नवइनरवयं एवं।
परदोसग्गहणं जइ वि देवक्षुत्ततसुपुरिसाणं ॥४१॥
तहवि हु गुरुअववाओ, पहुणो मा होउ इय पयंपेमि।
एसो उह जामाऊ, अम्ह पुरे विज्झडुंबसुओ ॥४२॥
तं सोऊण विसन्नो, करालकुलिसाहओ व्व नरनाहो।
तं वुत्तंतं सव्वं, सुबुद्धिसचिवस्स साहेइ ॥४३॥
सो पडिभणेइ जइ देव, एवमेयं तओ गुरुअयसो।
ववहारयारट्ठाणं, जमिमादिवेसु तुह नयरी ॥४४॥
सहसा निवो वि जंपइ, जा पडहवइ न हु इमं लाए।
तो पच्छन्नं एयं वा वायसुमंति तम्हत्ति ॥४५॥
आमंति मंति णुत्ते, रहम्मि पुट्ठा निवेए नियधूया।
किं अकुलीणवियारो सव्वविओ को विते पइणा ॥४६॥
साभणइ अविकलंको, ससिणो किर अत्थि न उण मह पइणो।
केवलगुणमयसुत्ती, पडुच्चपरगुज्झरक्खट्ठा ॥४७॥
नियपच्चइ नरेहिं इत्तो पिच्छणय पिच्छणमिसेण।
सचिवेण लहु सुमित्तो, संझासमयम्मि बाहिरओ ॥४८॥
पुन्नभरपेरिएणं, तेण वि नियवेसमप्पउं तइया।
पट्ठविओ वसुमित्तो, सुबुद्धिपुरिसेहि सो निहिओ ॥४९॥
तं नाउं ति निवो कह, मह दुहिया होहि जाव झूरेइ।
सा ताव तत्थ आगंतु पुच्छिए किं इमं ताय ॥५०॥
तुह वेहव्वकरोह, वच्छे पावुत्ति जंपिए रन्ना।
सा भणइ तुज्झ जामा–उगो गिहे चिट्ठए ताय ॥५१॥
तं आयन्नियरन्ना, रहम्मि पुट्ठो पयंपइ सुमित्तो।
मब्भत्थमणो सव्वं, तं वसुमित्तस्स बुत्तंतं ॥५२॥
ता चिंतई नरिंदो, मित्तीभावत्तणं इमस्स अहो।
गम्मच्छरभीरुत्त, महो अहो धम्मसुथिरत्तं ॥५३॥
इय चिंतिओ चमक्किय–मणो निवो कहइ मंतिपउराण।
सब्भावरुइरमित्ति, जुत्तं वित्तं सुमित्तस्स ॥५४॥
तयणु सुमित्तेणं तहिं, पियरो आणाविया पहिट्ठेण।
नयरिपवेसो रन्ना, कराविओ गुरु विभूईए ॥५५॥
जायायवं ससुद्धी, स परेसि सुहाणकारको जाओ।
पडिवज्जियपव्वज्जो, कमासुमित्तो गओ सुगइं ॥५६॥
मित्ती भावविरहिओ, अहिओ सपरेसि सयवसुमित्तो।
मरिऊण गओ नरए, भमिही संसारमइघोरं ॥५७॥
एवं सुमित्रस्य समस्त सर्व–संदेहमित्रस्य निशम्य वृत्तम्।
भव्या जना दुस्कलनालवित्र्या सद् भावमैत्र्यां भृशमाद्रियध्वम् ॥५८॥
इति सुमित्र कथा ॥

इत्युक्त ऋ जुव्यवहारे सद्भाव मैत्रीलक्षणश्चतुर्थो भेदस्तदुक्तो निरुदितं चतुर्विधमप्यृजुव्यवहारस्वरूपम्।

सांप्रतमस्यैव विपर्यये दोषदर्शनपूर्वकं विधेयतामाह–

अन्नह भणणाईसु, अबोहिवीयं परस्स नियमेण।
तत्तो भवपरिवड्ढी, तं होज्जा उज्जुववहारं ॥ ४९॥

अन्यथा भणनयथार्थजल्पनमादिशब्दाद्वञ्चक क्रियादोषापेया सद्भावमैत्रीपरिग्रहस्तेषु सत्सु श्रावकस्येति भावः। अबोधेर्धर्माप्राप्तेर्बीजं मूलकारणं परस्य मिथ्यादृष्टेर्नियमेन निश्चयेन भवतीति शेषः। तथाहि श्रावकमेतेषु वर्त्तमानमालोक्य वक्तारः संभवन्ति धिगस्तु जैनं शासनं यत् श्रावकस्य शिष्टजननिन्दितेऽलीकभाषाणादौ कुकर्मणि निवृत्तिर्नापि दृश्यते इति निन्दाकरणादमी प्राणिनो जन्म कोटिष्वपि बोधिं न प्राप्नुवंतीत्यबोधिबीजमिदमुच्यते। ततश्चाबोधिबीजाद्भवपरिवृद्धिर्भवति तन्निन्दाकारिणस्तन्निमित्तभूतस्य श्रावकस्यापि यदवाचि। शासनस्योपघातो योऽनाभोगेनापि वर्त्तते। स तन्मिथ्यात्वहेतुत्वादन्येषां प्राणिनामिति ॥१॥ बध्नात्यपि तदेवालं, परं संसारकारणम्। विपाक दारुणं घोरं, सर्वानर्थविवर्द्धनमिति। ततस्तस्मात्कारणादुदयाद्भावे ऋजु व्यवहारी प्रगुणव्यवहारवान् प्रकृतो भावश्रावक इति। उक्तमृजुव्यवहार इति चतुर्थं भावश्रावककलक्षणम्। ध० २०॥

उज्जसंधिसंखेडय–पुं०(ऋजुसन्धिसंखेटक) सरले गन्तव्य दिग्विभागे, ''मग्गाउ उज्जुसंधि, संखेडयं पवेदेइ। उज्जुसंधिसंखेडया वा सगडमग्गं पवेदेइ, नि० चू०१३ उ०।

उज्जुसुत्त (य)–पुं०(ऋजुसूत्र) अतीतानागताभ्युपगमकुटिलता–परिहारेण ऋज्वकुटिलं वर्त्तमानकालभावि वस्तु सूत्रयति गमयति अभ्युपगच्छतीति ऋजुसूत्रः। अतीतानागतयोर्विनाशानुत्पत्ति–भ्यामभ्युपगमश्च कुटिल इति भावः। ऋज्वक्रं श्रुतमस्येमि ऋजुश्रुतः। शेषज्ञानैर्मुख्यतया तथाविधपरोपकारसाधनश्रुतज्ञानमेवैकमित्यर्थः। उक्तं च, सुयनाणे अणिउत्तं, केवले वयणंतरं॥ अप्पणो य परेसिं च, जम्हा तं परिभावग'', मिति स्वनामख्याते सप्तानां मूलनयानां चतुर्थे नये, अनु०। प्र०। द्र०।ग०। स्थ०। सूत्र०। अष्ट०॥ अयं हि द्रव्यं सदपि गुणीभावान्नार्पयति पर्यायास्तु क्षणध्वंसिनः प्रधानतया दर्शयतीति। उदाहरन्ति– यथा सुखविवर्तः संप्रत्यस्तीत्यादिरिति। अनेन हि वाक्येन क्षणस्थायि सुखाख्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येनापि दर्श्यते। तदधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्पयति। आदिशब्दाद् दुःखपर्यायोऽधुनास्तीत्यादिकं प्रकृतनयनिदर्शनम-भ्यूहनीयम्।

अस्य निरुक्तिगर्भमतम्।

पच्चुप्पन्नग्गाही, उज्जुसुओ णयविही मुणेअव्वो।

अयं च नयो वर्त्तमानमपीच्छन् स्वकीयमेवेच्छति परकीयस्य स्वाभिमतकार्यासाधकत्वेन वस्तुतोऽसत्वादिति। अपरं च भिन्न-लिङ्गैर्भिन्नवचनैश्चशब्दैरेकमपि वस्त्वभिधीयत इति प्रतिजानीते यथा तटः तटी तटमित्यादि। यथा गुरुर्गुरव इत्यादि तथा इन्द्रा-देर्नामस्थापनादिभेदात्प्रतिपद्यते वक्ष्यमाणनयस्त्वतिविशुद्धात्वा लिङ्ग वचनभेदाद्वस्तुभेदं प्रतिपत्स्यते। नामस्थापना द्रव्याणि च नाभ्युपगमिष्यतीति भावः। इत्युक्त ऋजुसूत्रः अनु०।

एतदेव विस्तरेणाह

उज्जुसुयं नाणमुज्जु– सुयमस्स सो यमुज्जुसुओ।
सूचयइ वा जमुज्जुं, वत्थुं तेणु त्ति सुत्तेत्ति ॥

ऋजुश्रुतं ज्ञानं बोधरूपं ततश्च ऋज्ववक्रं श्रुतमस्य सोऽयमृजुश्रुतः। वा अथवा ऋज्ववक्रं वस्तु सूचयतीति ऋजुसूत्र इति। कथं पुनरेतदभ्युपगतस्य वस्तुनोऽवक्रत्वमित्याह–

पच्चुप्पन्नं संयम–मुप्पन्नं जं च जस्स पत्तेयं।
तं ऋजुतदेव तस्स, त्थि उ वक्कमन्नं निजमसंतं ॥

यत्सांप्रतमुत्पन्नं वर्त्तमानकालीनं वस्तु यच्च यस्य प्रत्येकमात्मीयं तदेतदुभयस्वरूपं वस्तु प्रत्युत्पन्नमुच्यते तदेवासौ नयः प्रतिपद्यते तदेव वर्त्तमानमात्मीयं च वस्तु तस्य ऋजुसूत्रनय–

स्याऽस्ति अन्यत्तु शेषमतीतानागतं परकीयं च यद्यस्मादसदवि–द्यमानं ततोऽसत्वादेव तद्वक्तुमिच्छत्यसाविति अत एवोक्तं निर्युक्तिकृता ''पच्चुप्पन्नग्गाही, उज्जुसुउनयविही मुणेयव्वेत्ति''

एतन्मतमेव प्रमाणतः समर्थयन्नाह।

न वि गयमणागयं वा, भावो णुवलंभओ खपुप्फं च।
न य निप्पओयणाउ, परकीयं परधणमिवत्थि ॥

विगतं विनष्टमतीतमनागतं त्वनुत्पन्नम्। एतदुभयरूपमपि न भावे न वस्त्वनुपलम्भात्खपुष्पवदिति। न च परकीय वस्त्वति निष्प्र–योजनत्वात्प्रयोजनाकर्तृत्वात्परधनवदिति।

अथ व्यवहारनयं युक्तितः स्वपक्षं ग्राहयन्नाह।

जइ न मयं सामन्नं, संववहारोवलद्धिरहियंति।
नाणुगयमस्स व तहा, परक्कमवि निप्फलतणओ ॥

हेव्यवहारनयवदिन्! यदि तव व्यवहारानुपयोगादनुपलम्भाच्च सामान्यं न मतं संग्रहस्य सम्मतमपि नेष्टमित्यर्थः। ननु तथा तेनैव प्रकारेणैव व्यवहारानुपयोगादनुपलम्भाच्च गतमतिक्रान्तमेष्यच्चा–नागतं वस्तु नाभ्युपगतस्त्वं युक्तेः समानत्वात् तथा परकमपि परकीयमपि वस्तु मैषीः स्वप्रयोजनासाधकत्वेन निष्फलत्वात्पर–धनवदिति। अथ यदसौ नयोऽभ्युपगच्छति तत्सर्वमुपसंहृत्य दर्शयति।

तम्हा निययं संपय–कालीणं लिंगवयणभिन्नं पि।
नामाइभेयविहियं, पडिवज्जइ वत्थुमुज्जुसुओ ॥

तस्मादृजुसूत्रनयः प्रतिपादितयुक्तितो वस्तु प्रतिपद्यते। कथं भूतं निजकमात्मीयं न परकीयं तदपि सांप्रतकालीनं वर्तमानं न त्वती–तानागतरूपम् तच्च निजं वर्तमानं च वस्तु लिङ्गवचनभिन्नमपि प्रतिपद्यते। तत्रैकमपि त्रिलिङ्गं यथा तटस्तटी तटमित्यादि। तथैकमप्येकवचनं बहुवचनवाच्यं यथा गुरुर्गुरवः आपो जलं दाराः कलत्रमित्यादि। तथा नामादिभेदविहितमप्यसौ वस्तु अभ्युपगच्छति। नामस्थापना–द्रव्यभावरूपांश्चतुरोऽपि निक्षेपान् सामान्यत इत्यर्थः तदिह लिंगवयणेत्यादिना अभ्युपगमद्वयोपन्यासेन वक्ष्यमाणशब्दनयेन सहास्याभ्युपगमभेदो दर्शितः शब्दनयो हि लिङ्गभेदाद्वचनभेदाच्च वस्तुनो भेदमेव प्रतिपत्स्यते न पुनरेकत्वम्। तथा नामादिनिक्षेपेऽप्येकमेव भावनिक्षेपं मंस्यते न तु शेषनिक्षेपत्रयमिति तदेवमुक्तः ऋजुसूत्रनयः विशे०। (एतन्मतदूषणं सद्दनय शब्दे)।

भावत्वे वर्तमानत्व–व्याप्तिधीरविशेषिता।
ऋजुसूत्रश्रुतः सूत्रे, शब्दार्थस्तु विशेषितः ॥२६॥

भावत्वे वर्तमानत्वव्याप्तिधीरतीतानागतसंबन्धाभावव्याप्यत्वो–पगन्तृता अविशेषिता शब्दाद्यभिमतविशेषा पक्षपातिनी सूत्रे ऋजुसूत्रनयः श्रुतः सूत्रं च ''पच्चुप्पण्णग्गाही, उज्जुसूओ य ण विहि मुणेयव्वोत्ति'' अत्र प्रत्युत्पन्नमेव गृण्हातीत्येवं शीलः इत्यत्रार्थे तात्पर्यादुक्तार्थलाभः। अविशेषितपदकृत्यमाह शब्दार्थस्तु विशेषित इति। तथाच विशेषितार्थग्राहिणि शब्दादिनये नातिव्याप्तिरिति भावः। सतां सांप्रतनामाद्यर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्र इति तत्वार्थभाष्यम्। व्यवहारातिशायित्वलक्षणमभिप्रेत्य तदतिशयप्रतिपादनीयमेतदुक्तं व्यवहारो हि सामान्यं व्यवहारानङ्गत्वान्न सहते कथं तद्यर्थमपि परकीयमतीतमनागतं चाभिधानमपि तथाविधार्थवाचकं ज्ञानमपि तथाविधार्थविषयमविचार्य सहेतेत्यस्याभिमानो न चायं वृथाभिमानः स्वदेशकालयोरेव सत्ताविश्रामात्। यथा कथंचित्संबन्धस्य सत्ताव्यवहाराङ्गत्वे प्रतिप्रसङ्गात्। नच देशकालयोः सत्त्वं विहायान्यदतिरिक्तं सत्वमस्ति तद्योग्यता प्रकृते स्यादसत्ताबोधोऽपि चात्र तत्र खरशृङ्गादाविव सत्ताप्रतिक्षेपी। विकल्पसिद्धेऽपि धर्मिणि निषेध प्रवृत्ते–स्तत्र तत्र व्यवस्थापितत्वादिति दिग् ॥२६॥

अन्यमप्यत्र विशेषमाह।

इष्यतेऽनेने नैकत्रा–वस्थान्तरसमागमः।
क्रियानिष्ठाभिदाधार–द्रव्यभावाद् यथोच्यते ॥३०॥

अनेनर्जुसूत्रनयेनैकधर्मिणि अवस्थान्तरसमागमः भिन्नावस्था–वाचकपदार्थान्वयो नेष्यते न स्वीक्रियते कुतः क्रिया साध्यावस्थाऽनिष्ठा च सिद्धावस्था तयोर्या भिदा भिन्नकालसंबन्धस्तदाऽऽधारस्यैकद्रव्य–स्याभावादत्रार्थेऽभियुक्तसंमतिमाह यथोच्यतेऽभियुक्तैः

पलालं न दहत्यग्नि– र्भिद्यते न घटः क्वचित्।
नासंयतः प्रव्रजति, भव्यासिद्धो न सिध्यति ॥३१॥

अत्र दहनादिक्रियाकाल एव तन्निष्ठाकाल इति, दह्यमानादेर्दग्ध–त्वाद्यव्यभिचारात्तदवस्थाविलक्षणपलालाद् व्यवस्थावच्छिन्नेन समं दहनादिक्रियान्वयस्यायोग्यत्वात्पलालं न दहत्यग्निरित्यादयो व्यवहारा निषेधमुखा उपपद्यन्ते। विधिमुखस्तु व्यवहारोऽत्रापलालं दह्यतेऽघटो भिद्यते संयतः प्रव्रजति सिद्धः सिध्यतीत्येवमाकार एव दृष्टव्यः। अत एव ''सो समणे पव्वइओइ'' चेति नये कृतकरणपरिसमाप्तिः सिद्धस्याऽपि साधने करणव्यापारानुपरमादिति ॥ नयो०॥

अथ ऋजुसूत्रनयस्य भेदमाह॥

स्वानुकूलं वर्त्तमान–मृजुसूत्रो हि भाषते।
तत्र क्षणिकपर्यायं, सूक्ष्मः स्थूलो नरादिकम् ॥१३॥

हि निश्चितं ऋजुसूत्रो नयः। वर्तमानं केवलमतीतानागतकाल–रहितं भाषते मनुते। तदपि कीदृशं स्वानुकूलं स्वस्यात्मनोऽनुकूलं कार्यप्रत्ययं मनुते परं तु परप्रत्ययं न मनुते। सोऽपि ऋजुसूत्रो द्विभेदो द्विप्रकारः। एकः सूक्ष्म ऋजुसूत्रः।१। अपरः स्थूल ऋजुसूत्रः।२। तत्र सूक्ष्मस्तु क्षणिकपर्यायं मनुते क्षणिकाः पर्यायाः परतोऽव–स्थान्तरभेदात् पर्यायाणां स्ववर्त्तमानतायां क्षणावस्थायित्वमेवो–चितमिति। स्थूलस्तु मनुष्यादिपर्यायं वर्त्तमानं मनुते अतीताना–गतादिनारकादिपर्यायं न मनुते यो हि व्यवहारनयः कालत्रयवर्ति–पर्यायग्राहकस्तस्मात् स्थूल ऋजुसूत्रव्यवहारनयेन शंकरत्वं न लभते। अथ च ऋजुवर्त्तमानक्षण–स्थायिपर्यायमात्रप्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रनय इति अतीतानागतकाललक्षणकौटिल्यवैकल्यात्प्राञ्जलमिति॥ द्र० ६ अ०। पर्यायनयभेदाः। ऋजुसूत्रादयः। ''तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्याच्छुद्धपर्याय–संश्रिता। नश्वरस्यैव भावस्य, भावास्थितिवियोगतः॥ देशकालान्तर–संबन्धस्वभावरहितं वस्तुतत्वं सांप्रतिकमेकस्वाभावमकुटिलमृजु–सूत्रयतीति। ऋजुसूत्रः न ह्येकस्वभावस्य नानादिकालसंबन्धित्व–स्वभावमनेकत्वं युक्तमेकस्यानेकत्वविरोधात्। न हि स्वरूपभेदादन्यो वस्तुभेदः स्वरूपस्यैव वस्तुत्वापत्तेः। तथाहि विद्यमानेऽपि स्वरूपे किमपरमभिन्नं वस्तु यद्रूपनानात्वेऽप्येकं स्यादिति। यद्वस्तुरूपं येन स्वभावेनोपलभ्यते तत्तेन सर्वात्मना विनश्यति न पुनः क्षणान्तरसंस्पर्शीति क्षणिकं क्षणकान्तरसम्बन्धे तत् क्षणकान्तरस्य क्षणान्तराकारविशेषाप्रसङ्गात् अतो जातस्य यदि द्वितीयक्षणसंबन्धः प्रथमक्षणस्वभावं नापनयति तदा कल्पान्तरावस्थानसंबन्धोऽपि तत्रापनयन् स्वभावभेदे वा कथं न वस्तुभेदः अन्यथा सर्वत्र सर्वदा भेदा भावप्रसक्तिः। अक्षणिकस्यक्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपप–

त्तेरसत्त्वं सह कार्युपढौकितातिशयमनङ्गीकुर्वतस्तदपेक्षायोगाद–क्षेपेण कार्यकारिणस्सर्वकार्यमेकदैव विदध्यादिति न क्रमकर्तृत्वम् न वा कदाचनापि स्वं कार्यमुत्पादयेत् निरपेक्षस्य निरतिशयत्वान्न हि निरपेक्षस्य कदाचित्करणमकरणं वा विरोधात् तत्कृतानुकारं स्वभावभूतमङ्गीकुर्वतः क्षणिकत्वमेव । व्यतिरिक्तत्वे वा संबन्धा–सिद्धिरपरोपकारकल्पनेऽनवस्थाप्रसक्तिः । युगपदपि न नित्यस्य कार्यकारित्वं द्वितीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावात् । ततस्तदुत्पत्तितः तत्क्रमप्रसक्तेः क्रमाक्रमव्यतिरिक्तप्रकारान्तरभावाच्च न नित्यस्य सत्वमर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात्तस्य प्रध्वंसस्य च निर्हेतुकत्वेन स्वभावतो भावात् स्वरसभङ्गुरा एव सर्वे भावाः इति पर्यायाश्रित–र्जुसूत्राभिप्रायस्तदुक्तम् । अतीतानागता देव, कालसंस्पर्शिव-र्जिजम् । वर्तमानतया सर्व–मृजुसूत्रेण सूत्र्यते ॥ सम्म० । स्था० (अयं च नयो मूलनयत्वेनानुयोगद्वारादिषूक्तः संमतिकृता पुनः पर्यायनयभेदत्वेना–भ्युपगतः पञ्जायणय शब्देऽस्य विस्तरतो वर्णनं करिष्यते) (क्षणिकवादः खणियवायशब्दे) एकत्वानेकत्वसमस्तधर्मकलापविकलतायास्तदपि विज्ञानवादिपरिकल्पितम् विज्ञानशून्यरूपेण ऋजुसूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । माध्यमिकदर्शनाऽवलम्बिनि सर्वभावानां नैरात्म्यं प्रतिपादयति पर्यायास्तिकनयभेदे, (तन्मतं सुण्णवाय शब्दे)

उज्जुसुत्त(य)वयणविच्छेद पुं०(ऋजुसूत्रवचनविच्छेद) ऋजुवर्त–मानसमयं वस्तुस्वरूपावच्छिन्नत्वात्तदेव सूत्रयति परिच्छिनत्ति नाजीतानागतं तस्यासत्त्वेन कुटिलत्वात् तस्य वचनं पदं वाक्यं वा तस्य विच्छेदोऽन्तःसीमेति यावत् ऋजुसूत्रवचनस्येति कर्मणि षष्ठी । ऋजुसूत्रस्यैवायमर्थो नान्यस्येति प्ररूपयतो विच्छिद्यमाने वचने, ''मूलणिमेणं पज्जव–णयस्स उज्जुसुयवयणविच्छेदो, तस्स उ सद्दाई आसाहपसाहासुहुमभेआ'' सम०

उज्जुसुत्ता(या)भास पुं०(ऋजुसूत्राभास) ऋजुसूत्रवदाभासते ऋजुसूत्राभासः । सर्वथा द्रव्यापलापिनि, ऋजुसूत्रवदाभासमाने नयाभासे, र० ॥

उज्जुसेढि स्त्री०(ऋजुश्रेणि) ऋजुः सरला चासौ श्रेणी च । सरला–काशप्रदेशपङ्क्तौ, । (उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई अङ्कं एगसमइएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ) उत्त० २९ अ०।

उज्जेणी स्त्री०(उज्जयिनी) अवन्तीजनपदराजधान्याम् ''उज्जेणीए नयरीए अवंति नामेण य विस्सुओ'' संस्था०(उज्जेणि अदृणे खलु०) आव० ४ अ० ॥

उज्जेणग पुं०(उज्जयनक) स्वनामख्याते श्रावकभेदे, उज्जेणगस्स सावगस्स तत्थ णियलिंगेणं कालगयस्स मिच्छत्तं जायं, आव०४ अ० ॥

उज्जोइय त्रि०(उद्योतित) उत् द्युत्० क्त० रत्नप्रदीपादिभिः प्रकाशिते, ग०१अधि० । ध० । तं० । औ० ॥

उज्जोएमाण त्रि०(उद्योतयत्) प्रकाशयति, ''दसदिसाउ उज्जोएमाणा पभासेमाणा'' जीवा०३ प्रति० । स्थूलवस्तूपदर्शनतः प्रकाशयति, स्था०८ ठा० । सूत्र० । औ० । उपा० ॥

उज्जोय पुं०(उद्योत) उद० द्युत्– अच् ० । वर्तितृणचुडाकाष्ठादिभिः अग्निप्रकाशने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । वस्तुप्रभासने, स्था० ४ ठा० । वस्तुविषये प्रकाशे, नं० । आ० म० प्र० । औ० । ''देवुज्जोयं करेंति'' रा० । ''उज्जोओ तह य अंधकारो पएसो दुसालाभं परिणामो'' सूत्र०१ अ० । अस्य निक्षेपः ।

सांप्रतमुद्योत उच्यते तत्राह–

दुविहो खलु उज्जोओ, नायव्वो दव्वभावसंजुत्तो ।
अग्गी दव्वुज्जोओ, चंदो सूरो मणी विज्जू ॥

द्विविधो द्विप्रकारः खलुशब्दो मूलभेदापेक्षया न वक्त्रपेक्षयेति विशेषणार्थः । उद्योत्यते प्रकाश्यते अनेनेति उद्योतो ज्ञातव्यो वि–ज्ञेयो द्रव्यभावसंयुक्तः । द्रव्योद्योतो भावोद्योतश्चेति भावः । तत्र द्रव्योद्योतोऽग्निश्चन्द्रः सूर्यो मणिश्चन्द्रकान्तादिलक्षणो विद्युत् प्रतीता। एते द्रव्योद्योताः । एतैर्घटादीनामुद्योतनेऽपि तद्गतायाः सम्यक्–प्रतीतेरभावात् सकलवस्तुधर्म्मानुद्योतना च न ह्यग्न्यादिभिः सद–सन्नित्याद्यनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः सर्व एव धर्माधर्म्मास्तिका–यादयो वा द्योत्यन्ते तस्मादन्यादयो द्रव्योद्योता इति ।

अधुना भावोद्योतमाह ।

नाणं भावुज्जोओ, जह भणियं सव्वभावदंसीहिं ।
जस्स उवओगकरणे, भावुज्जोयं वियाणाहि ॥

ज्ञायते यथावस्थितं वस्त्वनेनेति ज्ञानम् । सतो भावोद्योतः तेन घटादीनामुद्योतने तद्गतायाः सम्यक् प्रतिपत्तेः स्वभावात्तस्य तदात्मकत्वात् । एतावता वा विशेषेणैव ज्ञानं भावोद्योत इति प्राप्तमत आह यथा भणितं यथावस्थितं सर्वभावदर्शिभिस्तथा यद् ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति भावः । तत्रापि विशेषेणोद्योतः किं तु तस्य ज्ञान–स्योपयोगकरणे सति भावोद्योतं विजानीहि नान्यदा तदेव तस्य वस्तुनोऽतत्वसिद्धेः । इत्थमुद्योतस्वरूपमभिधाय सांप्रतं येनोद्योतेन लोकस्योद्योतकरा जना भवन्ति किंतु तीर्थकरनाम–कर्मोदयतोऽनु सत्वार्थसंपादनेन भावोद्योतकराः पुनर्भवन्ति जिनवराश्चतुर्विंशतिरिति। अत्र पुनःशब्दो विशेषणार्थः । स चैतत् विशिनष्टि । आत्मानमधिकृत्य केवलज्ञानेनोद्योतकरा लोकप्रकाशकवचनप्रदीपोपेक्षया तु शेषकतिपयभव्यविशेषादधिकृत्योद्योतकरा अत एवोक्तं भवन्ति कोऽर्थः न भवन्ति न तु भवन्त्येवं कांश्चनप्राणिनोऽधिकृत्योद्योतकरत्वस्या–संभवात् । चतुर्विंशतिग्रहणमधिकृतावसर्पिणीगततीर्थकर–संख्याप्रतिपादनार्थमुद्योतनाधिकारे एव द्रव्योद्योतः । द्रव्योद्योतोद्योत–भावोद्योतोद्योतयोर्विशेषप्रतिपादनार्थमाह ।

दव्वुज्जोओजोओ, पभासई परमियम्मि खित्तम्मि ।
भावुज्जोओजोओ, लोगालोगं पगासेइ ॥

द्रव्योद्योतोद्योतो द्रव्योद्योतप्रकाशः पुद्गलात्मकत्वात्तथाविधपरि–णामयुक्तत्वाच्च प्रकाशयति । पाठान्तरं प्रभासते परिमिते क्षेत्रे अत्र यदा प्रकाशयति तदा प्रकाश्यं वस्तु अध्याह्रियते यदा तु प्रभासते तदा स एव दीप्यते इति गृह्यते भावोद्योताद्योतो लोकं प्रकाशयति प्रकटार्थम् । उक्तः उद्योतः । आ०म०द्वि० ॥ आ०चू० । उद्योतो यद्यपि लोके भेदेन प्रसिद्धो यथा सूर्यगत आतपः चन्द्रगतः प्रकाश इति तथाप्यातपशब्दश्चन्द्रप्रभा–यामपि वर्त्तते इति । सूत्रकृदाह ''उज्जोवेंति तवंति पगासेंति आहितेति वदेज्जा'' चं०३ पाहु० । दिवा उद्योतो रात्रावन्धकार इति दण्डकश्च अंधयार शब्दे उक्तः ।

ऊर्ध्वलोके तिर्यग्लोके च उद्योतः ॥

उड्ढलोगेणं चत्तारि उज्जोयं करेंति तंजहा देवा देवीओविमाण आभरणा तिरिक्खलोगेणं चत्तारि उज्जोयं करेंति चंदा सूरा मणी जोती । स्था० ४ ठा० ॥

उज्जोयकरण न०(उद्योतकरण) प्रकाशकरणे, आचा०१ श्रु०१ अ०४ उ० ॥

उज्जोयग त्रि०(उद्योतक) उद्योतयति प्रकाशयति केवलिज्ञानदर्शनाभ्यामिति। अवयवतः स्फुटप्रकाशके, ''सव्वजगुज्जोयगस्स'' नं०॥

उज्जोयगर त्रि०(उद्योतकर) उद्योतकरणशीला उद्योतकरास्तान् लोकस्य केवलालोकेन तत्पूर्वकवचनदीपेन वा सर्वलोकप्रकाशकरणशीलानित्यर्थः। उद्योतकरणशीले तीर्थकृदादौ, आ०म० द्वि०। प्रकाशकारिणि, प्रश्न० २ सं० द्वा०।

लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली॥१॥
उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणंच चंदप्पहं वंदे॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअलसिज्जंस वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमि जिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च॥४॥
एवं मए अभिथुआ, रयमलापहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु॥५॥
कित्तियवंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु॥६॥
चंदे सुनिम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥७॥

अस्य व्याख्या तल्लक्षणं चेदम्। ''संहिता च पदं चैव पदार्थः पदविग्रहः। चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या सूत्रस्य षड्विधाः तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता सा च प्रतीता अधुना पदानि लो-कस्योद्योतकरात् धर्मतीर्थकरान् जिनान् अर्हतः कीर्तयिष्यामि चतुर्विंशतिमपि केवलिन इति। अधुना पदार्थः लोक्यते प्रणिना दृश्यते इति लोकः। अयं चेह तावत्पञ्चास्तिकायात्मको गृह्यते। तस्य लोकस्य उद्योतकरणशीला उद्योतकरास्तान् केवलालोकेन तत्पूर्वकवचनदीपेन वा सर्वलोकप्रकाशकरणशीलानित्यर्थः। तस्माद् दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्म्मः। उक्तंच। ''दुर्गतिप्रसृतान् जन्तूनस्माद्धारयते ततः। धत्ते वै तान् शुभस्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः॥'' तीर्यते संसारसागरोऽनेनेति तीर्थं धर्म्म एव धर्म्मप्रधानं वा तीर्थं धर्म्मतीर्थं तत्करणशीला धर्म्मतीर्थकरास्तान्। तथा रागद्वेषकषायोदयपरीषहोपसर्गाऽष्टप्रकारकर्म्मजेतृत्वाज्जिनास्तान् तथा अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तान् अर्हतः कीर्त्तयिष्यामि स्वनामभि स्तोष्ये चतुर्विंशतिरितिसंख्या। अपिशब्दो भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थः केवलज्ञानमेषां विद्यते इति केवलिनः तान् केवलिन इति पदार्थः। पदवि-ग्रहोऽपि यानि समासभाञ्जि पदानि तेषु दर्शित एव। संप्रति चालनावसरस्तत्र तिष्ठतु तावत्सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिरेवोच्यते। स्व-स्थानत्वात्। उक्तं च '' अक्खलियसंहियाइ-वक्खाणचउक्कए दरिसियम्मि। मुत्तप्फासियनिज्जुत्ति, वित्थरत्थो इमो होई'' आ० म०द्वि०। ध०। ईश्वरसिद्धिविषये कृतबहुश्रमे विद्वद्भेदे, उद्योतकरस्तु प्रमाणयति। भुवनहेतवः। प्रधानपरमाणवोऽदृष्टाः स्वकार्योत्पत्तावतिशयवद्बुद्धिमन्तमधिष्ठातारमपेक्षन्ते स्थित्वा प्रवृत्तेस्तन्तुतुर्य्यादिवदिति॥ सम्म०॥

उज्जोयणसूरि पुं०(उद्योतनसूरि) देवसूरिशिष्यनेमिचन्द्रशिष्येवर्द्धमानसूरिगुरौ वटगच्छस्य प्रथमाचार्य्ये, 'तस्माच्च विमलचन्द्रः, सहेमसिद्धिर्वभूव सूरिवरः। उद्योतनश्च सूरिः, शोषितदुरि ताङ्कुरव्यूहः। अथ युगनवनन्द(९९२) मिते, वर्षे विक्रमनृपादतिक्रान्ते। पूर्वावनितो विहरन्, सोऽर्बुदसुगिरेः सविधमागात्। तत्र वटेलीखेटक-सीमावनिसंस्थवरवटाधः। सुमुहुर्त्ते सूपदेष्टान् सूरीन् संस्थापयामास। ख्यातस्ततो गणोऽयं वटगच्छाह्वोऽपि वृद्धगच्छ इति। ग०। पं०ब०। अयं च विक्रमसंवत्(९९४) मालवदेशाच्छ-त्रुञ्जयं गच्छन् मार्ग एव देवलोकं गतः। जै०इ०॥

उज्जोयणाम न०(उद्योतनामन्) उद्योतनिबन्धनं नाम नामकर्मभेदे,

अणुसिणपयासरूवं, जियंगमुज्जोयएइ हुज्जोया।
जइ देवुत्तरविक्किय, जोइसखज्जोयमाइव्व॥४५॥

इहोद्योतादुद्योतनामोदयेन जीवाङ्गं जन्तुशरीरमुद्योतत्वे उद्योतं करोति कथमित्याह। अनुष्णप्रकाशरूपमुष्णप्रकाशरूप हि वन्हिरप्युद्योतत इति तद्व्यवच्छेदार्थमनुष्णप्रकाशरूपमित्युक्तम्। आह क इवोद्योतोदयाज्जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतं कुर्वन्तीत्याह। यतिदेवोत्तरवैक्रिय-ज्योतिष्कखद्योतादय इव। तत्र यतयश्च साधवो देवाश्च शूरा यतिदेवाः यतिदेवैर्मूलशरीरापेक्षयोत्तरकालं क्रियमाणं वैक्रियं यतिदेवोत्तरवैक्रियं ज्योतिष्काश्चन्द्रग्रहनक्षत्रताराःखद्योताः प्रतीताः ततो यतिदेवोत्तरवैक्रियं च ज्योति-ष्काश्च खद्योताश्च ते आदिर्येषां रत्नौषधी प्रभृतीनां ते यतिदेवोत्तरवैक्रियज्योतिष्कखद्योतादयस्त इव। अत्र मकारो लाक्षणिकः। अयमर्थः यया यतिदेवोत्तरवैक्रियं चन्द्रग्रहादिज्योतिष्काः एव खद्योतरत्नौषधीप्रभृतयश्चानुष्णप्रकाशात्मकमुद्योतं विदधति तथा यदुदयाज्जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमातपमातन्वन्ति तदुद्योतनामेत्यर्थः। कर्म०। पं०सं०। प्रव०। श्रा०॥

उज्जोयदुग न०(उद्योतद्विक) उद्योतातपलक्षणे नामकर्मप्रकृति युग्मे, कर्म०॥

उज्जोयफुड त्रि०(उद्योतस्पृष्ट) प्रकाशसंयुते, उज्जोयफुडम्मि तु दप्पणम्मि संजुज्जते जया देहो हेति ततो पडिबिंबं छायावए भाससंजोगा, । नि०चू० १३ उ०॥

उज्जोवित त्रि०(उद्योतित) उद्-द्युत्-णिच्-। क्त-। रत्नप्रदीपादिभिर्दीप्ते, नि० चू० ५ उ०॥

उज्झअ त्रि०(उज्झक) सद्विवेकशून्ये, ''लित्ता तिव्वाभितावेणं उज्झआ असमाहिआ'' सद्विवेकशून्या भिक्षा पात्रादित्यागात्परगृहभोजितयोद्देशकादिभोजित्वात्। सूत्र०१ श्रु० ३ अ०।

उज्झण न०(उज्झन) उज्झ्-ल्युट्-। बहिर्नयने, विशे०। परित्यागे, ओ०।

उज्झणविहि पुं०(उज्झनविधि) परिष्ठापनविधौ, व्य० द्वि० ७ उ०।

उज्झणा स्त्री०(उज्झना) उज्झ० णि० युच्। उत्सर्गे अवकिरणे, आव०४ अ०॥

उज्झर पुं०(अवझर) पर्वततटादुदकस्याऽधःपतने, भ० ५श, ७ उ०। निर्ज्झरविशेषे, ज्ञा० ५ अ०। प्रवाहे च,। नं०। जं०।

उज्झररव पुं०(अवझररव) निर्झरशब्दे, ज्ञा०६ अ०॥

उज्झरवण्णी स्त्री०(अवझरपर्णी) उदकपाते, दगवाते सीतभारा साय उज्झरवण्णी भण्णति, नि०चू० ५ उ०।

उज्झाअ पुं०(उपाध्याय) उप,अधि०इ० अण०। **''ऊचोपे'' ॥८।१।३७॥**

उपशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ऊत् ओचादेशौ वा भवतः। इति ऊत्वे संयोगादित्वाद्धस्वः। पाठके,प्रा०॥

उज्झिउं अव्य०(उज्झित्वा) परित्यज्येत्यर्थे, ''उज्झिउं वाले वेरस्स आभागी भवन्ति'' सूत्र०२ श्रु० २ अ०।

उज्झिऊण अव्य०(उज्झित्वा) उज्झ त्वा इट्। परित्यज्येत्यर्थे, 'अपसत्थं पणिहाणं उज्झिऊण समणेणं। द०८अ०।

उज्झित्तए अव्य०(उज्झितुम्) सर्वस्यादेशविरतेस्त्यागतः परित्यक्तुमित्यर्थे, उपा ०२ अ०॥ ''सीलवयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं चालित्तए वा खोभित्तए खंभित्तए भंजित्तए वा उज्झित्तए'' ज्ञा०८अ०।

उज्झिय न०(उज्झित) परित्यागे,अनु०॥ उज्झ, कर्मणि० क्त०। रहिते, अष्ट०। भिन्ने, भिणंति वा उज्झियंति वा एगट्ठमिति। आव० ४ अ०।

चतुर्थ्यां वस्त्रपात्रादि प्रतिमायाम्॥

दव्वाइदव्वहीणा–हियं तु अमुगं च मे न घेत्तव्वं।
दोहि विभावनिसिट्ठं, तमुज्झिउभट्ठणो भट्ठं॥

उज्झितं चतुर्द्धा। द्रव्यक्षेत्रकालभावोज्झितभेदात्तत्र द्रव्योज्झितं यथा केनचिदगारिणा प्रतिज्ञातमियत्प्रमाणात् हीनाधिकं पात्रममुकं वा कमठकप्रतिग्रहादिकं पात्रं मया न गृहीतव्यं तदेव केनचिदुपनीतं ततः प्रागुक्तयुक्त्या द्वाभ्यामपि भावतो निसृष्टं तदेव भाषितमन–वभाषितं वा दीयमानं द्रव्योज्झितम्।

क्षेत्रोज्झितमाह।

अमुगुब्भवं णघारे,उवणीयं तं च केणई तस्स।
जं तुज्झेतरहाई, सदेस बहुपत्तदेसे वा॥

अमुकदेशोद्भवं पात्रं न धारयामि तदेव च केनचिदुपनीतं तदुभा–भ्यामपि पूर्वोक्तहेतोः परित्यक्तं क्षेत्रोज्झितम् यद्वा पात्रमुज्झेयु–र्भरतादयो भरतो नटः आदिशब्दाच्चारणादिपरिग्रहः स्वदेशं गताः सन्तो बहुपात्रदेशे वा तदपि क्षेत्रोज्झितम्।

कालोज्झितमाह।

दगदोद्धिगाइ पुव्वे–काले जुग्गं तदन्नहिं उज्झे।
होहिइ वएस्स काले, अजोग्गयमणागयं उज्झे॥

दोग्धिकं तुम्बकं दकस्य जलस्य यद्ग्रियते तुम्बकं तदादिशब्दा–त्तत्र तुम्बकादिकं च यत्पूर्वस्मिन् ग्रीष्मादौ काले योग्यं तदन्यस्मिन् वर्षाकालादावुज्झेत् भविष्यति वा एष्यति काले ऽयोग्यमतोऽना–गतमेव यदुज्झेत् तदेतदुभयथापि कालोज्झितं ज्ञातव्यम्।

भावोज्झितमाह।

लद्धूण अण्णमण्णे, पत्ते दो देइ अन्नस्स।
सो वि अनिच्छइ ताइं, भावुज्झिय एवमाईयं॥

लब्ध्वा अन्यान्यभिनवानि पात्राणि पुराणानि स गृही अन्यस्य कस्यचिद्ददाति अपि च तानि दीयमानानि अपि यदा नेच्छति तदा एवमादिकं भावोज्झितं द्रष्टव्यम्॥ बृ०१ उ०। नि०चू०। स्था०।

उज्झियकप्प पुं०(उज्झितकल्प) उज्झितरूपे कल्पनीयेऽर्थे, अंडगमुज्झियकप्पे, नयभूमिं खणंति इहरहातिण्णि असज्झाइ–यप्पमाणं अंडयं भिण्णंति वा उज्झियंति वा एगट्ठं तं च कप्पे वा उज्झियं भूमीए जइ कप्पे ता कप्पं॥ आव० ४ अ०।

उज्झियथोवमाहार पुं०(उज्झितस्तोकाहार) उज्झितधर्मो स्तोकः स्वल्प आहारो यस्य स उज्झितस्तोकाहारः। सप्तमपिण्डै–षणाविषयकाभिग्रहधारके,॥ आव० ३ अ०।

उज्झियधम्मग त्रि०(उज्झितधर्मक) परित्यक्तजनधर्मके, 'अप्पेसिया भोयणजाए बहु उज्झियधम्मए' आचा० १ श्रु० १अ० ६उ०।

उज्झियधम्मा स्त्री०(उज्झितधर्म्मा) यत्परित्यागार्हं भोजन–जातमन्ये च द्विपदादयो नावकाङ्क्षन्ति तदर्द्धत्यक्तं वा गृह्णतः सप्तम्यां पिण्डैषणायाम्, पंचा० १८ विव०। स्था०। ध०। सूत्र०। आ०चू०

उज्झियधम्मिय त्रि०(उज्झितधर्मिक) उज्झितं परित्यागः स एव धर्मः पर्यायो यस्यास्ति तदुज्झितधर्मिकम्। सप्तमपिण्डैषणापरि–शुद्धे,। अणु०॥ अह उज्झियधम्मिया पुव्वदेशे किर पुव्वण्ह रञ्ञं जं तं अवरण्हे परिट्ठविज्जति साधुआगमणं च तंपि भक्ष्यणगतं वा देज्जा हत्थगं वा देज्जा कप्पति जिणकप्पितस्स पंचविहिग्गहणं थेराणं सत्तविहिं एतासिं सत्तण्हं पिंडेसणाणं केइ पढंति सत्तण्हं पाणेसणाणं एवं पणेए वि चउत्थी अप्पलेवा तिलोदगादी। आ०चू० ४ अ०।

उज्झियय पुं०(उज्झितक) विजयमित्रसार्थवाहस्य सुभद्रायां भार्य्यायामुत्पन्ने सुते, तद्वक्तव्यता दुःखविपाकानां द्वितीये ऽध्य–यने दर्शिता तद्यथा–

जइणं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते दोच्चस्सणं भंते ! अज्झयणस्स दुहविवागाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते तएणं सुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी। एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णाम णयरे होत्था रिद्ध ३ तस्स णं वाणियगामस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए दुईप्पलासे णाणं उज्जाणे होत्था। तत्थ णं दुईपलासे सुहम्मस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था। वण्णओ तत्थ णं वाणियगामे मित्ते णामं राया होत्था। तत्थ णं मित्तस्स रण्णो सिरीणामं देवी होत्था। वण्णओ तत्थ णं वाणियगामे कामज्झया णामं गणिया होत्था। अहीण जाव सुरूवा बावत्तरिकलापंडिया चउसट्ठिगणिया–गुणोववेया एकूणतीसे विसेसे रममाणी एक्कतीसरइगुणप्पहाणा वत्तीसपुरिसोवयारकुसला णवंगसुत्तपडिबोहिया अट्ठारसदे–सीभासाविसारया सिंगारागारचारुवेसाइगीयरइगंधव्वणट्टकु–सलासंगयगयभणियविहियविलासललियसंलावनिउणजुत्तो–वयारकुसला सुंदरथणजहणवयणकरचरणलावण्णविला–सकलिया उसियधयासहस्सलंभा विदिण्णछत्तचामरबालवे–यणियकयाकणीरहप्पयाया होत्था। बहुणं गणियासहस्साणं आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं करेमाणी पालेमाणी विहरइ। तत्थ णं वाणियग्गामे विजयमित्ते णामं सत्थवाहे परिवसइ। अड्ढे तस्स णं विजयस्स मित्तसुभ–द्दाणामं भारिया होत्था। अहीण तस्स णं विजयमित्तस्स पुत्ते सुभद्दाए भारियाए अत्तए उज्झिए णामं दारए होत्था। अहीण जाव सुरूवा तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं जाव समोसड्ढे परिसा निग्गया राया विनिग्गया जहा कूणिओ निग्गओ धम्मो कहिओ परिसा राया पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूइ जाव तेयलेसे छट्ठं छट्ठेणं

जहा पण्णत्तीए पढमं जाव जेणेव वाणियगामे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता वाणियउच्चनीयकुलाइं अडमाणे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तत्थणं बहवे हत्थी पासई सण्णद्धबद्धवम्मियगुडिए उप्पीलियकयत्थे उदामिय घंटे णाणामणिरयणविविहगेवेज्जे उत्तरंकचुइज्जे पडिकप्पिएझयपडागवरपंचामेला आरूढे हत्थारोहे गहिया उहपहरणेए अण्णे य तत्थ बहवे आसे पासई सण्णद्धबद्धवम्मियगुडिए आविद्धगुडे उसारियपक्खरे उत्तरकंचुइयओचूलमुहचंडाघरचामरथासकपरिमंडियकडिए आरूढस्सारोहे महियाओहप्पहरणे तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगयं एगं पुरिसं पासइ अवउडगबंधणं उक्कतकण्णणासं णेहतुप्पियगयं बज्झकरकडिंजुयणियत्थं कंठेप्प गुणरत्तमल्लदामं चुण्णगुडियगायं चुण्णयं वम्मपाणीपीयं तिलं २ चेव छिज्जमाणं काकणिमंसाइं खावियंतं णवीखक्खरसएहिं हम्ममाणं अणेगणरणारिसंपरिबुडे चच्चरे चच्चरे खंडपडहएणं उग्घोसिज्जमाणं इमं च णं पयारूवं उग्घोसणं सुणेइ णो खलु देवाणुप्पिया उज्झियगस्स दारगस्स केई राया रायपुत्तो वा अवरज्झइ। अप्पणो से सयाइं कम्माइं अवरज्झइ तएणं से भगवं, गोयमस्स तं पुरिसं पासित्ता इमे अज्झत्थिए ४ अहोणं इमे पुरिसे जाव णिरयपडिरूवयं वेयणं वेएसि त्ति कट्टु वाणियगामे णयरे उच्चणीयकुले २ जाव अडमाणे अहापज्जत्तं समुदाणं गेण्हइ वा णियगामं णयरं मज्झं मज्झेणं जाव पडिदंसेइ समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ एवं वयासी एवं खलु अहं भंते तुब्भेहि अब्भणुण्णाए समाणे वाणियगामं जाव तहेव निवेएइ सेणं भंते पुरिसे पुव्वभवे केआसि जाव पच्चणुब्भवमाणे विहरइ। एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे णामं णयरे होत्था। रिद्ध तत्थ णं हत्थिणाउरे णयरे सुणंदे णामं राया होत्था। महियाहिमवंतमलयमंदरतत्थ णं हत्थिणाउरे णयरे बहुमज्झदेसभाए तत्थ णं महं एगे गोमंडवे होत्था। अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे पासाईए ४ तत्थ णं बहवे णयरे गोरुवासणाहा य अणाहा य णयरगावीओ य णयरवलीवद्दा य णयरपडियाओ य णयरमहिसओ य णयरवसभा य पउरतणपाणी य णिब्भया णिरुव्विया सुहं सुहेणं परिवसइ। तत्थ णं हत्थिणाउरे भीम–णामे कूडग्गाहे होत्था। अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे तस्स णं भीमस्स कूडग्गाहस्स उप्पला णामं भारिया होत्था। अहीणं तएणं साउप्पला कूडग्गाहिणी अण्णया कयाइ आवण्णसत्ता जाया वि होत्था। तएणं तीसे उप्पलाए कूडग्गाहिणीए तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अयमेया रूवे दोहले पाउब्भूए धण्णाउणं ताओ अम्मयाओ ४ जाव सुलद्धे जाऊण बहुणं बहुणं णयरगोरूवाणं सण्णहाण य जाव वसभाण य ऊहेहि य थणेहि य वसणेहि य छिप्पाहि य कुकुहेहि य वहहि य कण्णेहि य अक्खिहि य णासाहि य जिब्भाहि य ओट्ठेहि य कंवलेहि य सोलेहि य तलंतेहि य भज्जिएहि य परिसुकेहि य लामण्णेहि य सुरं च महुं च मेगरं च जाइं च सिधुं च पसण्णं च आसाए माणीओ विसाएमाणीओ परिभाएमाणीओ परिभुंजमाणीओ दोहलं विणज्जंति तं जईणं अहमवि बहुणं णयरं जाव विणिज्जामि तिकट्टु तंसि दोहलसिअविणिज्जमाणंसि सुक्का भुक्खा निम्मंसा उलग्गाउलग्गसरीरा नित्तेयादीणं च मणवयणा पंडुल्लुइयमुही इमं च णं भीमे कूडग्गाहे जेणेव उप्पला कूड–ग्गाहणीए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता उहय जाव पासइ पासइत्ता एवं बयासी। किण्णं तुमं देवाओ हयज्झिया हिंसि तएणं सा उप्पला भारिया भीमकूडग्गाहं एवं बयासी। एवं खलु देवा ममं तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दोहलं पाउब्भूए धण्णाणं ४ जाउणं बहुणं गोरूवाणं ऊहेहि य जाव लावण्णएहि य सुरं च ६ आसाएमाणीओ ४ दोहलंविणिंति तए णं अहं देवा–णुप्पिया तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि जाव ज्झियामि। तएणं से भीमकूडग्गाहे उप्पलं भारियं एवं बया० माणं तुमं देवाणुप्पिया उहज्झियासि अहण्णं तं तहा करिस्सामि जहा णं तव दोहलस्स संपत्ती भविस्सइ ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं जाव समासासेइ तएणं से भीमे कूडग्गाहे अद्धरत्तकालसमयंसि एगे अबीए सण्णद्धजावपहरणे साओ गेहाओ णिगच्छइ णिगच्छइत्ता हत्थिणाउरं मज्झं मज्झेणं जेणेव गोमंडवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता बहुणं णयरगोरूवाणं जाव वसभाण य अप्पेग–इयाणं ऊहोच्छिंदइ अप्पेगइयाणं कंबलए छिंदइ अप्पेगइयाणं अण्णमण्णाणं अंगोवंगाइ विइंगेइ विइंगेइत्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता उप्पलाए कूडग्गाहणीए ववण्णेइ तएणं सा उप्पला भारिया तेहिं बहुहिं गोमंसेहिं सोल्लेहिं सुरंच आसाएमाणीए ४ तं दोहलं विणेइ तएणं सा उप्पला कूडग्गा–हणी संपुण्णदोहला समाणीयदोहला विच्छिण्णदोहला संपण्णदोहला तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवसइ। तए णं सा उप्पला कूडग्गाही अण्णया कयाई नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारगं पयाया। तए णं तेणं दारएणं जायमित्तेणं चेव महया २ सद्देण विघुट्ठे विसरे आरसिए तएणं तस्स दारगस्स आरोयसद्दं सोच्चा णिसम्म हत्थिणाउरे णयरे बहवे णयरगोरूवा जाव वसभाण य भीया ४ उव्विग्गा सव्वओ संभंता विप्पलाइत्ता तएणं तस्स दारगस्स अम्मापियरो अयमेया रूवे णामधेज्जं करेइ जम्हा णं अम्हं इमेणं दारएणं जायामेत्तेणं चेव महया २ सद्देणं विघुट्ठे विस्तरे आरस्सिए तएणं

एयस्स दारगस्स आरसियसद्दे सोच्चा णिसम्म हत्थिणाउरे वहवे णयरे गोरूवा जाव भीया ४ सव्वओ समंता विप्पलाइत्ता तह्माणं होउं अह्मे दारए गोत्तासे णामे णामेणं तए णं से गोत्तासे दारए उम्मुक्कबालभावे जाव जाएयावि होत्था। तए णं से भीमे कूडग्गाहे अण्णया कयाइं कालधम्मुणा संजुत्ते तएणं से गोत्तासे दारए बहुणं मित्तणाइं णियगसयणसबंधिपरिजणेणं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे कंदमाणे वियवमाणे भीमस्स कूडग्गाहस्स णीहणं करेइ करेइत्ता बहुइलोइयमयकिच्चाइ करेइ करेइत्ता तएणं से सुणंदेराया गोत्तासं दारयं अण्णयाकयावि सयमेव कूडग्गा-हेत्ताए ठवेइ। तए णं से गोत्तासे दारए कुडग्गाहे जाएयावि होत्था। अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे तए णं से गोत्ता से दारए कूडग्गाहे कल्लाकल्लिं अद्धरत्तकालसमयंसि एगे अबीए सण्णद्धबद्धकवए जाव गहिया उहपहरणे साओगिहाओ णिज्जइ जेणेव गोमंडवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता बहु णं णयरमोरूवाणं सणाहा य जाव वियंगत्तेइ वियंगत्तेइत्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तएणं से गोत्तासे कूडग्गाहे तेसिं बहुहिं गोमंसेहिं सोल्लेहिं सुरं च ६ आसाएमाणे ४ विहरइ तए णं से गोत्तासे कूडग्गाहे एयकम्मे एयपहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुपावं कम्मं समज्जिणित्ता पंचवाससयाइं परमाउं पालइत्ता अट्टदुह-ट्टोवगए कालमासे कालं किच्चा दोच्चाए पुढवीए उक्कोसं तिसागरो णेरइयत्ताए उववण्णे। तएणं सा विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दा भारिया जाइ णिंदुया वि होत्था। जाया दारगाविणी हायमावज्जंति तएणं से गोत्तासे कूडग्गाहे दोच्चाओ पुढवीओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव वाणियग्गामे णयरे विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दा भारिया कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववण्णे। तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही अण्णया कयावि णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारयं पयाया। तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही तं दारगं जायमेवयं चेव एगंते उकुरुडियाए उज्झावेइ उज्झावेइत्ता दोच्चं पि गिण्हावेइ गिण्हावेइत्ता आणुपुव्वेणं सा रक्खमाणी गोवेमाणी संवड्ढेइ तओ णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो एक्का-रसमे दिवसे णिवत्ते संपत्ते बारसाहे अयमेवारूवे गोणं गुणणि-प्पण्णं णामधेज्जं करेइ जह्मा णं अह्मे इमं दारए जायमेत्ताए चेव एगंते उक्कुरुडियाए उज्झिए तह्माणं होउं अह्मं दारए उज्झिय-णामेणं तए णं से उज्झिए दारए पंचधाई परिग्गहिए तंजहा खीरधाई १ मज्जणधाई २ मंडणधाई ३ कीलामणधाई ४ अंकधाई ५ जहा दढ्ढपइण्णे जाव णिव्वाय णिव्वाघायगिरि-कंदरमल्ली णेव चंपगपायवे सुहं सुहेणं विहरइ। तए णं से विजयमित्ते सत्थवाहं अण्णया गणिमं च धरिमं च मेज्जं च पारिच्छेज्जं च चउव्विहं भंडगं गहाय लवणसमुद्दं पोयवहणेणं उवगए। तएणं से विजयमित्ते तत्थ लवणसमुद्दे पोत्ते विवत्तए णिबुडं भंडस्सारे अत्ताणे असरणे कालधम्मुणा संजुत्ते तएणं तं विजयसत्थ वाहं जे जहा बहवे ईसरतलवर-कोडुं बियइब्भसिट्ठिसत्थवाहा लवणसमुद्दो पोयविवत्तियं निव्वुडभंडसारं कालधम्मुणा संजुत्तं सुणेइ ते तहा हत्थणिक्खेवं च बाहिरभंडसारं च गहाइ एगं तं अवक्कमइ। तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही विजयमित्तं सत्थवाहं लवणसमुद्दे पोएविवित्तिं णिव्वुडं कालधम्मुणा संजुत्तं सुणेइ सुणेइत्ता महया पइसोएणं आपण्णा ममाणीपरसुनियत्ता विव चंपगलया धसइ धरणीतलंसि सव्वं गेहिं सण्णिपडिया तएणं सा सुभद्दा मुहुत्तंतरेणं आसत्था समाणी बहुहिं मित्त जाव परिवुडा रोयमाणी कंदमाणी विलवमाणी विजयमित्तं सत्थवाहं लोइयाइं मयं किच्चाइं करेइ करेइत्ता तएणं सा सुभद्दा अण्णया कयावि लवणसमुद्दोतरं च लच्छिविणासं च पोतविणासं च पतिमरणं च अणुचिंतेमाणी २ कालधम्मुणा संजुत्ता। तएणं णायरगुत्तिया सुभद्दं सत्थवाहिं कालगयं जाणित्ता उज्झियगं दारगं सओ गिहाओ णिच्छुभंति उच्छुभंतित्ता तं गिहंअण्णस्स दलयंति। तएणं से उज्झियदारए सयाओ गिहाओ निच्छुढे समाणे वाणियग्गामे णयरे सिंघाडगजावपहेसुजूयखलएसु वेसियाघरएसु पाणागारेसु य सुहं सुहेणं परिवड्ढइ। तएणं से उवज्झिए दारए अणोहट्टए अणिवारए सच्छंदमइसयरप्पयारे मज्जप्पसंगी चोरजूयवेसदारप्पसंगी जाएयावि होत्था। तए णं से उज्झिए अण्णया कामज्झियाए गणियाए सद्धिं संपलिग्गे जाएयावि होत्था कामज्झियाए गणियाए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ तएणं तस्स मित्तस्स रण्णो अण्णया कयावि सिरीए देवीए जोणीसूलपाउब्भूए या वि होत्था। णो संचाएइ मित्ते राया सिरीए देवीए सद्धिं उरालाइं माणुसगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहइ विहरित्तए तए णं से मित्ते राया अण्णया कयावि उज्झियए दारए कामज्झियाए गणियाए गिहाओ णिच्छुभावेइ णिच्छुभावेइत्ता कामज्झियं गणियं अब्भिंतरयं वेइ। कामज्झियाए गणियाए सद्धिं उरालाइं जाव विहरइ तएणं से उज्झियदारए कामज्झियाए गणियाए गिहाओ णिच्छुभविसमाणे कामज्झियाए गणियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अण्णत्थ कत्थइ सुयं च रतिं च धितं च अविंदमाणे तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तयप्पियकरणे तब्भावणाभाविए कामज्झियाए गणियाए बहूणि अंतराणि य छिद्दाणि य विवराणि य पडिजागरमाणे २ विहरइ। तए णं से उज्झिए य दारए अण्णया कामज्झियं गणियं अंतरं

लभेइ कामज्झियं गणियं गेहिं रहस्सइगं अणुप्पविसइ अणुप्पविसइत्ता कामज्झियाए गणियाए सद्धिं उरालाइं जाव विहरइ। इमं च णं मित्ते रायाए हाए जाव कयवलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसियमाणस्स वागुराए परिक्खित्ते जेणेव कामगणियाए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तत्थ णं उज्झियए दारए कामज्झयाए गणियाए सद्धिं उरालाइं जाव विहरमाणं पासइ पासइत्ता आसुरुत्ते ४ तिवलिं भिउडिं लिलाडे साहट्टु उज्झियं दारयं पुरिसेहिं गिण्हावेइ गिण्हावेइत्ता अट्ठिमुट्ठिजाणुकोप्परप्पहाणं संभग्गमहियमत्तं करेइ करेइत्ता अवउडगबंधणं करेइ करेइत्ता एएणं विहारेणं बज्झं आणावेइ। एवं खलु गोयमा ! उज्झियए दारए पुरा पोराणाणं जाव पच्चणुप्पन्नं विहरइ। उज्झएणं भंते दारए पणवीसं वासाइं परमाउं पालइत्ता अज्जेवइभागावसेसे दिवसे सूलभिण्णे कए समाणे कालमासे कालं किच्चा कहिं गमिहिंति कहिं उववज्जिहिंति? गोयमा ! उज्झियए दारए पणवीसं वासाइं पर० अज्जेवइ भागावसेसे दिवसे सूलभिण्णे कए समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववज्जिहिंति सेणं तओ अणंतरं उवज्झित्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरिपायमूले वाणरकुलंसि वाणरत्ताए उववज्जिहिंति सेणं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तिरियभोए समुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे जाए वाणरपल्लेएवहेइ। एय कम्मे ४ कालमासे कालं किंच्चा इहेव जंबूदीवे भारहे वासे इंदपुरे णयरे गणियाकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिंति तएणं तं दारगं अम्मापियरो जायमेत्तं कं बद्धेहिंति। तएणं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णिव्वत्तवा-रसाहे दिवसे इमं एयारूवं णामधेज्जं करेहिंति। होउणं पियसेणे णपुंसए तएणं से पियसेणे णपुंसए उम्मुक्कबालभावे जोव्वणु-गमसुपत्ते विणयपरिणयमित्ते रूवेण य जोवणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठे उक्किट्ठसरीरा भविस्सइ। ताएणं से पियसेणे णपुंसए इंदपुरे णयरे बहवे राइंसर जाव पभियओ बहुहि य विज्जापओ-गेहि य मंतचुण्णेहि य उड्डावणेहि य णिन्हवणेहि य पण्हवणेहि य वसीकरणेहि य अभिओगेहि य आभियोगित्ता उरालाइ माणुस्सए भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सइ। तए णं से पियसेणे णपुंसए एयकम्मे ४ सुबहुपावकम्मं समज्जिणित्ता इकवीसं वाससयं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववज्जिहिंति। तओ सिरिसिवे सुसंसारो तहेव जाव पढमो जाव पुढविसेणं तओ अणंतरं उवट्टित्ता इहेव जंबुद्दीवे भारहे वासे चंपाए णयरीए महिसत्ताए पच्चायाहिं ति सेणं तत्थ अण्णया कयावि गोट्ठेल्लएहिंजीवि-याओ विवरोविसमाणे तत्थेव चंपाए णयरीए सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिं ति सेणं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तहा रूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहियअणगारे सोहम्मे कप्पे जहापढमो जाव अंतं करेहिंति णिक्खेवोविइयं अज्झयणं सम्मत्तं। वि०२ अ० ॥ (टीका शब्दार्थमात्रदर्शिनीत्युपेक्षिता)

उज्झिया स्त्री०(उज्झिका) धनसार्थवाहसुतस्य धनपालस्य भार्यायाम्। ज्ञा० ७ अ०।

उज्झे (यूयम्) युष्मान्- **मे तुब्भे उज्झे तुम्ह तुरहे उरहे जसा ॥८।३।९१॥ वो तुब्भे उज्झे तुरहे उरहे भे शसा ॥८।३।९३॥** इति च युष्मच्छब्दस्य जसा सह शसा सह च उज्झे इत्यादेशः। यूयं पदस्य युष्मान् पदस्य चार्थे, प्रा०॥

उट्ठ पुं०,स्त्री(उष्ट्र) उष्० ष्ट्रन् किच्च० **ष्ट्रस्यानुष्ट्रे ष्टा संदष्टे। ॥८।२।३४॥** इति उष्ट्रपर्य्युदासात् ष्ट्र भागस्य न ठः। प्रा०। (ऊंट) इति प्रसिद्धे करभपर्य्याये चतुष्पदभेदे, अणु०। प्र०। 'अह भंते उट्टे गोणे खरे घोडए' प्रज्ञा० ११ पद। स्त्रियां जातित्वान् ङीष् वाच०। कर्म०। जलचरविशेषे च०। मग्गु उट्टा दगरक्खसो सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

उट्टपाय पुं०(उष्ट्रपाद) ६ त० करभचरणे,। धण्णस्स कडिय ट्ठस्स इमेयारूवे वे जमणामए उट्टपाएति वा'' उष्ट्रपाद इति वा करभ-चरणो हि भागद्वयरूपोन्नतश्चाधस्तात् भवतीति तेन युक्तप्रदेशस्य साम्यम्। अणु०॥

उट्टलिंड न०(उष्ट्रलिण्ड) क्रमेलकपुरीषपिण्डे, दश०। (उष्ट्रलिण्ड-संसूचितकथा जावग शब्दे)

उट्टिय त्रि०(औष्ट्रिक) उष्ट्राणामिदमौष्ट्रिकम्। (उष्ट्रसम्बन्धिनि,) उष्ट्रलोममये सूत्रभेदे, अनु०। स्था०। उण्णियं कंबलं उट्टियं कंवलं वा पायपुच्छणं भवति, नि०चू० १६ उ०॥ ''उचितप्रमाणे, पण्णत्थ'' अट्ठहिं उट्टिएहिं उदगस्स घडएहिं'' उष्ट्रिका वृहन्मृण्मयभाण्डं तत्पूरणप्रयोजना ये घटास्ते उष्ट्रिका उचितप्रमाणा नातिलघवो महान्तो वेत्यर्थः। उपा०१ अ०।

उट्टिया स्त्री०(उष्ट्रिका) उष्ट्रस्याकारः पृष्ठावयव इव आकारोऽस्याः ठन्। मृण्मये मद्यभाण्डभेदे, सुरातेलादिभाजनविशेषे, उपा० ७ अ०। 'उट्टियाकभल्ल संठाणसंट्ठियं' उष्ट्रिकाभाजन विवेषस्तस्या-कभल्लं कपालं तत्संस्थानं तत्संस्थितम्। उपा०२ अ०।

उट्टियासमणा पुं०(उष्ट्रिकाश्रमण) उष्ट्रिका महामृन्मयीभाजनवि-शेषस्तत्र प्रविष्टा ये श्राम्यन्ति तपस्यान्तीत्युष्ट्रिकाश्रमणाः। आजी-वकश्रमणभेदेषु, औ०॥

उट्टी स्त्री०(उष्ट्री) उष्ट्रजातिस्त्रियाम्, ''उट्टीणं ताणि णो हुंति'' उष्ट्रीणां तानि दध्यादीनिन भवन्ति माहुटभावादिति। पं० व०। ध०।

उट्ठ धा०(उद्स्था) उदः परस्य तिष्ठतेः ठक्कुक्कुरइत्यादेशौ वा भवतः। उत्थाने, उट्ठइ उक्कुक्कुरइ। प्रा०॥

उट्ठ पुं०(ओष्ठ) उष्यते उष्णाहारेण उष् कर्मणि थल्। दशनच्छदे, निरुपपदोष्ठशब्दश्च प्रायेण उत्तरोष्ठ एव कविभिः प्रयुज्यते ताम्रौष्ठ-पर्य्यस्तरुचः स्मितस्य,कुमा० उपपदे तूभयतः उमामुखे विम्बफ-लाधरोष्ठे। वाच०। उपचियसिलप्पवाल बिंवफलसण्णिहाहरोट्ठा। प्रज्ञा०२ पद०।

उट्ठंत त्रि०(उत्तिष्ठत्) उत्थानं कुर्वति। प्रा०॥

उट्ठच्छिण्णग त्रि०(ओष्ठच्छिन्नक) ६ब० खण्डितोष्ठे, औ०।

उट्ठा स्त्री०(उत्था) उत्थानमुत्था ऊर्ध्ववर्तने, ''उट्ठाए उट्ठेइ'' नि०। रा०। वि०॥ उत्थानमुत्था ऊर्ध्ववर्त्तनं तया उत्तिष्ठति ऊर्ध्वीभव–ति। इह उट्ठे इत्युक्ते क्रियारम्भमात्रमपि प्रतीयेत तथा वक्तुमुत्तिष्ठत इति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमुक्तमुत्थायेति उपागच्छतीत्युत्तरक्रिया–पेक्षया उत्थानक्रियायाः पूर्वकालताभिधानायोत्थायोत्थायेति क्त्वाप्रत्ययेन निर्दिशति। यद्यपि द्वयोः क्रिययोः। पूर्वोत्तरनिर्देशाभ्यां पूर्वकाल आक्षेपलभ्य एव तथापि भुञ्जानो व्रजत इत्यादौ द्वयोः क्रिययोर्योग–पद्यदर्शनादानन्तर्य्यसूचनार्थमित्थमुपन्यासः उत्थानक्रियासव्यपेक्षत्वा–दुपागमनक्रियाया इति जं० १वक्ष०।

उट्ठाण न०(उत्थान) उद्० स्था० ल्युट्। ऊर्ध्वीभवने, भ०। ७ श० ७ उ०। श्रवणाय गुरुं प्रत्यभिमुखगमने, चं०प्र० २० पाहु०। सू०प्र०। गुरुमागच्छन्तं दृष्ट्वा ऊर्ध्वभवने, वृ० ३ उ०। उत्थानमुप–विष्टः सन् यदुर्ध्वीभवति, उपा० ६ अ०। औ०। देहचेष्टा विशेषे, प्रज्ञा० २३ पदा स्था०। उत्पत्तौ, ज्ञा० १४ अ०। उद्वसने, नं०। प्रथममुद्गमने, उत्त० ११ अ०। चित्तदोषे, उत्त्थाने निर्वेदात् करण–मकरणोदयं सदैवास्थाः षो० १ विव०। करणे ल्युट्। रणे, उत्साहे, पौरुषे, हर्षे च। अधिकरणे ल्युट्। राज्यचिन्तरूपे तन्त्रे, प्राङ्गणे चैत्ये प्रबोधे च। वाच०। उट्ठाणकम्मबलवीरियपुरिसक्कारपरक्कमउत्थानकर्मबलवीर्य्यपुरुष–कारपराक्रम–उत्थानं चेष्टाविशेषः कर्म च भ्रमणादिक्रिया बलं च शरीरसामर्थ्यं वीर्यं च जीवभवं पुरुष–कारश्चाभिमानविशेषः पराक्रमश्च पुरुषकार एव निष्पादितस्वविषय इति विग्रहे द्वन्द्वैकवद्भावः। वीर्य्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थजीवपरिणामविशेषाणा–मुत्थानादीनां समूहे, न०। एतेषु प्रत्येक–शब्दो योजनीयो वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमवैचित्र्यतः प्रत्येकं जघन्यादिभेदैरनेकत्वेऽप्ये–षामेकजीवस्यैकदा क्षयक्षयोपशममात्राया एकविधत्वादेक एव जघन्यादिरेतद्विशेषो भवति कारणमात्राधीनत्वात्कार्यमात्राया इति सूत्रभावार्थः। शेषं प्राग्वदिति। स्था०१ ठा०॥

उट्ठाणपारियावणिय न०(उत्थानपारियापनिक) परियानं विविधव्यतिकरपरिगमनं तदेव पारियापनिकश्चरितमुत्थानाच्च–न्मन आरभ्य पारियापनिकमुत्थानपारियापनिकम्। भ० १५ श० १ उ०। उत्थानं चोत्पत्तिः पारियापनिका च कालान्तरं यावत्स्थि–तिरिति उत्थानपारियापनिकम्। आजन्मचरित्रे जीवनचरित्रे, ''सव्वं च स उट्ठाणपारियावणियं परिकरेह'' ज्ञा० १७ अ०। गोसा–लस्स मंखलिपुत्तस्स उट्ठाणपारियावणियं परिकहियं'। भ० १५ श० १ उ०।

उट्ठाणसुय न०(उत्थानश्रुत) उत्थानमुद्गसनं तद्धेतुः श्रुतमुत्थान–श्रुतम्। कालिकश्रुतभेदे, नं०। ''परियट्टिज्जइ अहियं उट्ठाणसुयं तु तत्थ उट्ठेइ''॥ यत्र प्रणिधाय उत्थानश्रुतं परावर्त्यते तत्र कुलग्राम–देशादिउत्तिष्ठति उव्वसीभवतीत्यर्थः ''तच्च त्रयोदशवर्षपर्य्यायस्य दीयते व्य० द्वि० १ उ०। तच्च शृङ्गनादिते कार्ये उपयुज्यते अत्र चूर्णिकारकृता भावना सज्झेस्सेगस्स कुलस्स वा गामस्स वा नगरस्स वा रायहाणीए वा समणे कयसंकप्पे आसुरुत्ते चंडक्किए अप्पासत्ते अप्पसत्तलेसे वि समासुहाणत्थे उवउत्ते समाणेउट्ठाणसुयमज्झ–यणं परियट्टेइ तं च एक्कं दो वा तिण्णि वा वारे ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणी वा ओहयमणसंकप्पे विलबंते दुयं दुयं पहावेंति। ते उट्ठेइ उव्वसइत्ति भणियं होत्ति। नं०। पा०।

उट्ठाय अव्य०(उत्थाय) उद्० स्था० ल्यप्०। उद्यतविहारं प्रति–पद्येत्यर्थ,। ''अहासुयं वंदिस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठायसंखाए'' आचा०१ श्रु० ८ अ० १उ०।

उट्ठिअ(य) त्रि०(उत्थित) उद्० स्था० क्त०। उदयप्राप्ते, रा०। अभ्युद्गते, ''उट्ठियं पि सूरे'' अभ्युद्गते आदित्ये,। अनु०। सो उट्ठितो चिंतेइ'' आ०म०द्वि०। समुपजाते, प्रश्न० ३ द्वा०। औ० भावोत्थानेन संयमानुष्ठानरूपेण उत्प्रावल्येन स्थित उत्थितः। आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। धर्मचरणायोद्यतेषु ज्ञानदर्शनचारि–त्रोद्योगवत्सु, आचा०१ श्रु० ४ अ०१उ०। ''अह पासविवेगमुट्ठिए अवि तिन्ने इह भासई धुवं'' सूत्र०१ श्रु० २ अ०। नि० चू०। उद्गसिते, वृ० ३ उ०। ओ०। वृद्धियुक्ते, उत्थानयुक्ते, अनुपविष्टे उत्पन्ने च। वाच०॥ ''एओ वि उट्ठिआ संता दारगं च संठवंति धाई वा'' सूत्र०१ श्रु० ४ अ०॥

उट्ठित्ता स्था०(उत्थाय) उद्–ल्यप्–उत्थानं कृत्वेत्यर्थे, ''संकाभीओ न गच्छेज्जा–उट्ठित्ता–अण्णमासणं''॥ उत्त० २६ अ०।

उट्ठिअ(य)दंड पुं०(उत्स्थितदण्ड) ६ त०। कृतप्रायश्चित्त शुद्धौ, उट्ठियदंडो साहू अचिरेण उवेति सासयं ठाणं। पच्छित्तेण जया उट्ठितं पावं भवति तदा। विसुद्धचरणो मुक्खं पावत्ति०। नि०चू० २० उ०।

उट्ठित्तु अव्य०(उत्थाय) उद्– स्था० ल्यप्०। उत्थानं कृत्वेत्य–र्थे, उट्ठित्तु सपरिवारो'' पं० व०।

उट्ठभहइत्ता (अवष्ठीव्य) अव् ष्ठीव् ल्यप्। निष्ठीवनं कृत्वेत्यर्थे, उट्ठभहइत्ता सावत्थीए णयरीए सिंघाडग जाव पहेसु आकड्ढवि कड्ढि करेमाणे० भ० १५ श० ७उ०।

उडंक पुं०(उडुंक) आयोदधैम्यशिष्यवेदनामकस्य मुनेः शिष्यभेदे, भार्गवे गौतमस्य शिष्यभेदे च। वाच०। ''इंदेण उडकरिसिपत्तीरूव–वती दिट्ठाए समं अधिगमं गतो सो तओ णिग्गच्छंतो उडंकेण दिट्ठो, नि०चू० १२ उ०।

उडय पुं०न०(उटज) उटेभ्यो जायते जन० ड। पत्रादिनिर्मितशा–लायाम्, वाच०॥ तापसाश्रमे, नि०। जी०। स्था०। ''जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छति किढिणसंकाइयं ठवेति'' नि० ''जमहं दियाय राओ य, हुणामि महुसप्पिसं। तेण मे उडओ दड्ढो, जायं सरणओ भयं'' नि०चू० १उ०।

उडु स्त्री०(उडु) न० उड्–वा० कु०। नक्षत्रे, उत्त० ११ अ०। जले च। स्त्रीत्वे वा ऊङ्। कौ०। वाच०।

***ऋतु** पुं० प्रावृडादौ, चं०प्र०। (उउ प्रकरणे सर्वेऽर्था दर्शिताः)

उडुज्झमाण त्रि०(अपोह्यमान) नियमने, पंकंसि वा पणगंसि वा उक्कसमाणिं वा उडुज्झमाणि वा अपोह्यमानां वा पङ्केन उदकेन वा नीयमानाम्। वृ० ६ उ०।

उडुवइ पुं०उडु(डु)पति उडूनां नक्षत्राणां पतिः प्रभुरुडुपतिः चन्द्रे, उत्त० ११ अ०। प्रश्न०। जं०। तं० औ०। ''चन्द्रः शशी निशाकरो रजनिकर उडुपतिरित्येवमादयः चन्द्रपर्य्यायाः। आ०म०द्वि०।

जहा से उडुवई चंदे, नक्खत्तपरिवारिए।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए, एवं हवइ बहुस्सए॥२५॥

यथा स उडूनां नक्षत्राणां पतिः प्रभुरुडुपतिः। कइत्याह चन्द्रः शशी नक्षत्रैरश्विन्यादिभिरुपलक्षणत्वाद् ग्रहैस्तारा–भिश्च परिवारः परिकरः संजातोऽस्येति परिवारितो नक्षत्रपरिवारितः प्रतिपूर्णसमस्तकालोपेतः। स चेदृक् कदा भवत्यत

आह। पौर्णमास्यामिह च चन्द्र इत्युक्ते मा भूत् रामचन्द्रादावपि संप्रत्यय इत्युडुपतिग्रहणम्। उडुपतिरपि च कश्चिदेकाक्ष्येव भवति मृगपतिवदत उक्तं नक्षत्रपरिवारितः। सोऽप्यपरिपूर्णोऽपि द्वितीयादिषु संभवतीति परिपूर्णः पौर्णमास्यामित्युक्तमेवं भवति बहुश्रुतोऽसावपि हि नक्षत्राणामिवानेकसाधूनामधिपतिस्तथा तत्परिकरितः सकलकलोपेतत्वेन प्रतिपूर्णश्च भवतीति सूत्रार्थः। उत्त० ११ अ०। चन्द्रमण्डले, ज्यो० जलशे, वरुण च०। वाच०॥

उडुवर पुं०(उडुवर) सूर्य्ये, ''तिण्णि सहस्से सगले छच्च सए उडुवरो हरइ,'' तं०।

उडुवाडियगण पुं०(उडुपाटितगण) भद्रजशनिर्गते गणे, ''थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उडुवाडियणामं गणे णिग्गए'' कल्प०।

उडुविमाण न०(उडुविमाण) सौधर्मेशानयोः प्रथमप्रस्तटवर्तिनि चतसृणां विमानावलिकानां मध्यभागवर्तिनि वृत्ते स्वनामख्याते विमानकेन्द्रे, ''उडुविमाणे णं विमाणे पणयालीसं जोयणसय-सहस्साइं आयामविक्खंभेणं'' पं०सं०। सौधर्म्मकल्पे प्रथमे विमाने, स्था० ४ ठा०।

उड्ड पुं०उ(ओ)ड्र प्राच्यदेशभेदे, स च मिथिलादेशात्पूर्वस्यां दिशीति प्रतीयते। वाच०॥ तद्देशजे मनुष्ये च। स च देशोऽनार्य्यक्षेत्रम्। तद्वासी जनश्च म्लेच्छजातीयः। प्रव० २७ अधि०। सूत्र०। प्रश्न०। वाच०। सर्वत्र उडशब्दश्रवणात् उकारादित्वम्। रघुनन्दनेन तु ओडश ''देशव्यवस्थितमित्युक्तत्वात्'' ओकारादित्वमपि अस्य देशवाचित्वात् तस्य राजा तदस्याभिजन इत्यर्थे च। अण् ओड। तद्राजे, तद्वासिनि च। बहुषु तस्य लुक्। उड तद्राजेषु तन्निवासिषु च। वाच०।

उड्डंचग पुं०(उड्डञ्चक) व्याकुष्टौ, उड्डंचगा वाउट्टी, नि०चू० १ उ० उड्डंचका उद्घटकास्तान् कुर्वन्ति'' वृ० १ उ०॥

उड्ड(ड्ढं)मग पुं०(उद्दण्डक) वानप्रस्थतापसभेदेषु, ऊर्ध्वी कृतदण्डा ये सञ्चरन्ति। ओ०। भ०॥

उड्डय न० उद्गारित(डकार) इति प्रसिद्धे उद्गारे, ''जंभाइएणं उड्डएणं वायणिसग्गेणं'' आव०५ अ०। ल०।

उड्डावण न०(उड्डापन) आकर्षणे, ''हियउड्डावणे का उडावणहेउ'' हृदयोड्डापनं चित्ताकर्षणहेतुः। ज्ञा० १४ अ०।

उड्डाह पुं०(उड्डाह) उपघाते, ''गेलण्णं दिट्ठ उड्डाहो, उड्डाह उपघातः प्रवचनस्य भवति। ओ०। प्रवचनलाघवे, उड्डाहो नाम अहो अमीषामनुकम्पा ये विविक्तानामपि अस्माकं चीवराणि न प्रयच्छन्ति। वृ० १ उ०। उड्डाहो नाम एते मायावन्तः पापा वा परोपघातकारिणश्च। वृ० ३ उ०। मालिन्ये, व्य० प्र० २ उ०। खिंसायां च।'' ''वोच्छेय पओसाई उड्डाहमनाणि वाओ य'' प्रवचनस्य उड्डाहः खिंसा। पिं०। नि० चू०॥

उड्डीत त्रि०(उड्डीयमान) प्रत्यासन्नमाकाशे परिभ्रमति, रा०।

उड्डोय पुं० देशी०(डकार) इति प्रसिद्धे उद्गारे, उड्डोए वा वातणिसग्गे वा करेमाणे आचा० २ श्रु०।

उड्ढ त्रि०(ऊर्ध्व) उद्–हाङ्–ड–पृषो० ऊरादेशः। उच्चे, उपरि उपरितने च। वाच०। उड्ढं दूरं वीइवइत्ता। स०। ऊर्ध्वमुपरि, अनु०। ऊर्ध्वलोके, प्रश्न० अध० ३ द्वा०। स्था०। सर्वोपरिस्थिते मोक्षे, ''बहिया उड्ढमाया य णावकंखे कयाइ वि'' ऊर्ध्वलोकाग्रस्थानं मोक्षम्। उत्त० ६ अ० ''तम्हा उड्ढंति पासहा अद्दक्खु कामाइ रोगवं'' ऊर्ध्वं मोक्षं योषित्परित्यागादूर्ध्वं यद् भवति सूत्र०१ श्रु० २ अ०। उत्पाटिते, हेम०। अनुपविष्टे, दण्डायमाने, उत्क्षिप्ते, वाच०। शुभे च। अनु०। वमने, न०। वृ० १ उ०।

उड्ढंक न०(उड्ढंक) मार्गस्योन्नते भूभागे, सूत्र० १ श्रु० २ अ०।

उड्ढं(ड्ढ)जाणु- त्रि०ऊर्ध्व(र्द्ध)जामु ऊर्ध्वं जानुनी यस्यासावूर्ध्व–जानुः शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्याया अभावाच्चोत्कु–टुकासने, ''उड्ढं जाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए'' भ० १ श० १ उ०। जं०। सू० प्र०। औ०। वि०। चन्द्र०। ज्ञा०। सो उड्ढंजाणू अहोसिरो चिंततो चिट्ठइ आव० ४ अ०।

उड्ढकंडूयग त्रि०(ऊर्ध्वकण्डूयक) तापसभेदेषु, ये नाभेरुपर्येव कण्डूयन्ति नाधः। भ० ११ श० ६ उ०।

उड्ढकाय पुं०न०(ऊर्ध्वकाय) ऊर्ध्वं कायस्य एकदे० ३ त०। देह–स्योर्ध्वभागे, काके च ''ते ऊड्ढकाएहिं पखज्झमाणा अवरेहिं। खज्जंति सणप्फएहिं'' द्रोणैः काकैः वैक्रियैः प्रखाद्यमानाः। सूत्र० १ श्रु० ५ अ०७ श्रु०।

उड्ढगारवपरिणाम पुं०(ऊर्ध्वगौरवपरिणाम) आयुःपरिणामभेदे, येन आयुः स्वभावेन जीवस्योर्ध्वदिशि गमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति स ऊर्ध्वगौरवगमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति स ऊर्ध्वगौरवपरिणामः। इह गौरवशब्दो गमनपर्य्यायः। स्था० १० ठा०।

उड्ढचर त्रि०(ऊर्ध्वचर) उपरिचरे गृद्धादौ, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।

उड्ढणिरोह पुं०(ऊर्ध्वनिरोध) वमननिरोधे, ''उड्ढणिरोहे कुट्ठं, ऊर्ध्वं वमनं तन्निरोधे कुष्ठं भवति। वृ० ३ उ०।

उड्ढत्ता स्त्री०उर्ध्व(र्द्ध)ता मुख्यतायाम्, अहत्ताए नो उड्ढत्ताए दुक्खत्ताए नोसुहत्ताए भुज्जो परिणमंति, भ० ६ श० ३ उ०।

उड्ढत्तासामण्ण न०ऊर्ध्व (र्द्ध)तासामान्य ऊर्ध्वमुल्लेखिताऽनुगताकारव्यत्ययेन परिच्छिद्यमानमूर्द्धतासामान्यम्। सामान्यभेदे, तत्स्वरूपं यथा पूर्वापरपरिणामसाधारणद्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं कटककङ्कणाद्यनुगमिकाश्चनवदिति पूर्वापरपर्याययोरनुगतमेकं द्रव्यं द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छतीति व्युत्पत्त्या त्रिकालानुयायी यो वस्त्वंशस्तदूर्ध्वतासामान्यमित्यभिधीयते निदर्शनमुत्तानमेव। र०॥ (अत्रक्षणिकवादिबौद्धपूर्वपक्ष उत्तरं च खणियशब्दे)

अथ सामान्यं द्विप्रकारं दर्शयन्नाह।

ऊर्ध्वतादिमसामान्यं, पूर्वापरगुणोदयम्।
पिण्डाश्रितादिसंस्थाना–नुगेका मृद्यथा स्थिता॥४॥

पूर्वः प्रथमोऽपरोऽग्रेतनो यो गुणो विशेषस्तयोरुदयकरणं पूर्वापरगुणोदयं पूर्वापरपर्याययोरनुगतमेकं द्रव्यं त्रिकाली यो वस्त्वंशस्तदूर्ध्वतासामान्यमित्यभिधीयते। निदर्शनमुत्तानमेव। यथा पिण्डो मृत्पिण्डः आश्रितः कुसूल इत्यादयोऽनेके संस्थाना आकृतयस्तासु अनुगता पूर्वापरसाधारणपरिणामद्रव्यरूपा मृत्तिका तथाकारा स्थिता एतदूर्ध्वतासामान्यं कथ्यते यदि च पिण्डकुसूलादिपर्यायेषु अनुगतमेकं मृद्द्रव्यं न कथ्यते तर्हि घटादिपर्यायेषु अनुगतं घटादिद्रव्यमपि न कथ्यते तदा च सर्वं विशेषरूपं भवतः क्षणिकवादिबौद्धमतमायाति अथवा सर्वद्रव्येषु एकमेव द्रव्याणां गच्छतीति ततः घटादिद्रव्ये अथवा तदन्तर्वर्तिसामान्यमृदादिद्रव्ये वानुभवानुसारेण परोर्ध्वतासामान्यमवश्यमङ्गीकर्त्तव्यम्। घटादिद्रव्याणि स्तोकपर्यायव्यापीनि पुनर्मृदादिद्रव्याणि बहुपर्यायव्यापीनि सन्ति इत्थं नरनारकादिद्रव्याणां विशेषो ज्ञातव्यः।

तत्सर्वमपि नैगमनयमतम्। तथा शुद्धसंग्रहनयमते तु सदद्वैतवादेन एकमेव द्रव्यमापद्यते इति ज्ञेयम्। द्र०॥

उड्ढदिसाइक्कम पुं०(ऊर्ध्वदिगतिक्रम) दिग्व्रतस्यातिचारभेदे, उपा० १अ०।

उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कम पुं० ऊर्ध्व(र्द्ध)दिक्प्रमाणातिक्रम दिग्व्रतग्रहणे, ऊर्ध्वदिशि यावत्प्रमाणं परिगृहीतं तस्यातिलङ्घनरूपे, दिग्व्रतातिचारे, आव० ६ अ०॥ उपा०।

उड्ढदिसिव्वय न०(ऊर्ध्वदिग्व्रत) ऊर्द्धं दिक् तत्सम्बन्धि तस्या व्रतम्। एतावती दिगूर्ध्वपर्वताधोरोहणादवगाहनीया न परत इत्येवंभूते दिग्व्रतभेदे, आव० ६ अ०।

उड्ढदेह पुं० न०(ऊर्ध्वदेह) ऊर्ध्वं देहस्य शरीरस्योर्द्धदेहे ''खाणु व्व उड्ढदेहो, काउस्सग्गं तु ठाइज्जा'' स्थाणुरिवोर्ध्वदेहो निष्प्रकम्पः। आव०। ६ अ०॥

उड्ढपाअ त्रि०(ऊर्ध्वपाद) ६ त० ऊर्ध्वचरणे, ''कंदतो कंदुकुंभीसु उड्ढपाओ अहोसिरो'' उत्त० १९ अ०॥ ''उड्ढपाया सुवइ तहा तुमं मरणं करहोहित्ति'' आ०म०प्र०॥

उड्ढबद्ध पुं०(ऊर्ध्वबद्ध) वृक्षशाखादौ बद्धे ''रसंतो कंदुकुंभीसु, उड्ढबद्धो अबंधवो''॥ उत्त० १९ अ०।

उड्ढभागि(ण्) त्रि०(ऊर्ध्वभागिन्) गगनतलभागिनि, उड्ढवाएसु उड्ढभागी भवति ऊर्ध्वं गतेषु वातेषूर्ध्वभागी भवत्यप्कायो गगनगत वातवशाद्विवि सम्मूर्च्छते जलम्। सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।

उड्ढमुइंग पुं०(ऊर्ध्वमृदङ्ग) ऊर्द्धमुखे मृदङ्गभेदे, भ०११श० १० उ०।

उड्ढमुइंगाकारसंठिय त्रि०(ऊर्ध्वमृदङ्गाकारसंस्थित) ऊर्ध्वमूर्ध्व–मुखो यो मृदङ्गस्तदाकारेण संस्थितो यः स तथा। सरावसम्पुटा–कारे, भ०११ श०११ उ०।

उड्ढमुह त्रि०(ऊर्द्धमुख) ऊर्द्धं मुखमस्य। ऊर्द्धंगतप्रथमप्रसरे, ऊर्द्धस्थिताग्रभागे, उन्नमितवदने च। स्वाङ्गत्वात् स्त्रियां ङीष्। ऊर्द्धं मुखस्य एकदेशी० तत्पुरुषः। मुखस्योर्ध्वभागे, न० वाच०। ''उड्ढमुहलोमजालसुकुमालणिद्धमउअआवत्तपसत्थलाभविरइं असरिवच्छछण्णविउलवत्थे''॥ ऊर्ध्वं मुखं भूमेरुद्गच्छताम्डुरा–णामिव येषां तानि ऊर्ध्वमुखानि यानि लोमानि तेषां जालं समुहो यत्र स तथा। अनेन च श्रीवत्साकारव्यक्तिर्दर्शिता। अन्यथाऽधोमुखैस्तैः श्रीवन्साकारानुद्भवः स्यात्। सुकुमालस्निग्धानि नवनीतपिण्डा-दिद्रव्याणि तानीव मृदुकानि आवर्तैश्चिकुरसंस्थान–विशेषैः प्रशस्तानि माङ्गल्यानि दक्षिणावर्त्ता नीत्यर्थः। यानि लोमानि तैर्विरचितो यः श्रीवत्सो महापुरुषाणां वक्षान्तर्वर्ती अभ्यु–न्नतोऽवयवस्ततः पूर्वपदेन कर्मधारयस्तेन छन्नमाच्छादितं विपुल–वक्षो यस्य स तथा॥ जं० ३ वक्ष०॥

उड्ढरहिय पुं०(और्ध्वरथिक) द्रमके, और्द्धरथिकशब्दोऽस्ति कष्टेनेष्टविशिष्टार्था महापुरीमिव मनुजगतिमनुप्रविशन्ति जन्तवो–ऽनुप्रविश्यापि चास्यामौर्ध्वरथिका इवाकृतसुकृतसंभारा निरीक्षितुमपि नैनं क्षमन्ते। उत्त० १ अ०। उत्तराध्ययनबृहद्वृत्तिप्रथमपत्रे स कस्य वाचकः इति हीरविजयसूरिं प्रति कल्याणविजयगणिकृत–प्रश्नो यथा अस्योत्तरं हीरविजयसूरिकृतम्॥ तथा च ऊर्ध्वरथिकशब्दमाश्रित्य सिद्धान्त-विषमपदपार्यायान्तर्गतोत्तराध्ययनविषमपर्याये द्रमकवाचकत्वमुक्तमस्ति ॥३॥ ही०

उड्ढरेणु स्त्री०(ऊर्ध्वरेणु) जालप्रभाभिव्यङ्ग्यः स्वतः परतो वा ऊर्ध्वाधस्तिर्य्यक्चलनधर्म्मा रेणुरूर्ध्वरेणुः। प्रव० २५४ द्वा०॥ ऊर्ध्वाधस्तिर्य्यक्चलनधर्म्मोपलभ्ये रेणौ, तद्रूपेऽष्टश्लक्ष्णश्लक्ष्णीकालक्षणे प्रमाणभेदे, भ०६ श० ७ उ०। ज्यो०॥

उड्ढलोम पुं०(ऊर्ध्वरोमन्) ऊर्द्धानि रामाण्यस्य। ऊर्द्धमुखतया–विकटरोम्णि यमदूतादौ, कुशद्वीपसीमापर्वते च। ऊर्द्धमुखरोमयुक्ते, त्रि० वाच०। ''घोडयपुच्छं व तस्स कविलफरुसाउ उड्ढलोमाओ, परुषे कर्कशस्पर्शे ऊर्द्धरोमिकेन तिर्य्यगवनतेनेत्यर्थः दंष्ट्रिके उत्तरोष्ठरोमणि, उपा०। २ अ०॥

उड्ढलोग(य) पुं०(ऊर्ध्वलोक) ऊर्ध्वमुपरि व्यवस्थितो लोक ऊर्ध्वलोकः अथवा ऊर्द्धशब्दः शुभपर्य्यायस्तत्र च क्षेत्रस्य शुभ–त्वात्तदनुभावाद् द्रव्याणां प्रायः शुभा एव परिणामा भवन्त्यतः शुभपरिणामद्रव्यायोगादूर्द्धं शुभो लोक ऊर्द्धलोकः। उक्तंच ''उड्ढंति उवरि जं चिय, सुभखेत्तं खेत्तओ य दव्वगुणा। उप्पज्जंति सुभावा, तेण तओ उड्ढलोगोत्ति'' रुचकप्रतरद्वयस्य मध्ये एकस्मादुपरितनप्रतरादारभ्योर्द्धं नवयोजन-शतानि परिहृत्य परतः किञ्चिन्न्यूनसप्तरज्ज्वायते क्षेत्रलोकभेदे, अनु०। आ०म०द्वि०।

उड्ढलोगचूला स्त्री०(ऊर्ध्वलोकचूला) ''उड्ढलोगस्य चूला सिहा'' ऊर्ध्वलोकस्य चूडा शिखा। ऊर्ध्वलोकचूडा। ईषत्प्राग्भाराख्ये क्षेत्रचूडाभेदे, नि०चू०१उ०। ''ईसीपब्भारा णामा य ईसित्ति'' अप्पभावे य इति प्रायोवृत्त्या। भारइत्तिभारक्कंतस्स पुरिसस्स गयं पायसो ईसेणयं भवति जाव एवं ठिता सा पुढवी ईसीपब्भारा णाम इति एतमभिहाणंतस्स सायदव्वट्ठसिद्धिविणाउ उवरिं वारसेहिं जोयणेहिं भवति तेण सा उड्ढलोगचूला भवति। नि०चू०१उ०॥

उड्ढलोगवत्थव्व त्रि०(ऊर्द्धलोकवास्तव्य) ऊर्ध्वलोकवासिनि, ''उड्ढलोगवत्थव्वाओ अट्ठदिसाकुमारीओ'' ऊर्ध्वलोकवास्तव्या नन्दनकूटनिवासिन्य इत्यर्थः। ज्ञा० ८ अ०।

उड्ढलोग(य)विभत्ति स्त्री०(ऊर्ध्वलोकविभक्ति) स्थानाश्रयणा–त्क्षेत्रविभक्तिभेदे,। सा च ऊर्ध्वलोकविभक्तिः सौधर्माद्या उपर्य्युपरि व्यवस्थिता द्वादश देवलोकाः नवग्रैवेयकानि पञ्चमहाविमानानि तत्रापि विमानकेन्द्रकावलिप्रविष्टपुष्पावकीर्णकवृत्तत्र्यस्रचतुरस्र–विमानस्वरूपनिरूपणमिति॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ०।

उड्ढवाइयगण पुं०(ऊर्ध्ववातिकगण) श्रमणस्य भगवतो महावीर–स्य नवगणानां पञ्चमे गणे, स्था० ९ ठा०। ''थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उड्ढवाडिय णामं गणे णिग्गए'' कल्प०॥

उड्ढवाय पुं०(ऊर्ध्ववात) ऊर्ध्वमुद्गच्छन् यो वाति वातः स ऊर्ध्व–वातः। वादरवायुकायभेदे, जीवा०१ प्रति०। स्था०। प्रज्ञा०। ऊर्द्धगतो वातः सुश्रुतोक्ते स्वाभाविकगतिरोधेन ऊर्द्धगते वायौ, स च मूत्रादिवेगधारणाद् भवति। वाच०॥

उड्ढा अव्य०(ऊर्द्धम्) दिग्भेदे, स्था० ६ ठा०।

उड्ढइक्कम पुं०(ऊर्ध्वादिक्रम) ऊर्ध्वादिषु ऊर्द्धाधस्तिरश्चीषु दिक्षु क्रमः क्रमणं विवक्षितक्षेत्रात्परत इति गम्यते अध ऊर्द्धादिक्रमः। ऊर्द्धदिक्प्रमाणातिक्रमाधोदिक्प्रमाणातिक्रमतिर्यग्दिक्प्रमाति–क्रमलक्षणे दिग्व्रतातिचारत्रये, पंचा० १ विव०।

उड्ढोववण्णग पुं०(ऊर्ध्वोपपन्नक) सौधर्म्मादिभ्यो द्वादशेभ्यः कल्पेभ्यः ऊर्ध्वं ग्रैवेयकानुत्तरविमानेषूपपन्ना उत्पन्नाः। कल्पा–तीतेषु देवेषु, जं० ७ वक्ष०। जी०। ऊर्ध्वलोकेषूपपन्नेषु, स्था० २ ठा०।

जे देवा उड्ढोववन्नगा ते दुविहा पन्नत्ता । कप्पोववन्नगा विमाणोववन्नगा ।

ऊर्ध्वलोकस्तत्रोपपन्नका उत्पन्ना ऊर्ध्वोपपन्नकास्ते च द्विधा कल्पोपपन्नकाः सौधर्म्मादिदेवलोकोत्पन्नकास्तथा विमानोपपन्नकाः ग्रैवेयकानुत्तरलक्षणविमानोत्पन्नाः कल्पातीता इत्यर्थः । स्था० २ ठा० ।

उण अव्य०(पुनर्) पनस्तुतौ वा अरि पृषो० प्राकृते स्वरादसंयुक्तस्यानादेः इत्यनुवृत्तिसहितस्य । कगचजतदपयवां प्रायो लुगि'' ति सूत्रस्य क्वचिदादेरपि लुग्विधानात्पकारस्य वा लुक् स उण स पुनः । प्रा० । द्वितीयवारे, प्रथमे भेदे च । अमरः (पुणशब्दे सर्वेऽर्थाः प्रदर्शयिष्यन्ते)

उण्ण(उरण) त्रि०(ऊर्ण) ऊर्णा अस्त्यस्य कारणत्वेन अर्श० अच् । मेषलोमरचिते वस्त्रादौ, मेषलोम्नि, स्त्री० ललाटस्या चिन्हभेदे, वाच० । शब्दे, स च वर्णात्मकोऽर्थः स्थानोर्णार्थालम्बनं तदन्ययो–गपरिभवनम्, षो० । ३ विव० ।

उण्णइज्जमाण त्रि०(उन्नीयमान) उन्नतिं क्रियमाणे, उन्नतिं प्राप्यमाणे, औ० ॥

उण्णकप्पास पुं०(ऊर्णकार्पाश) कर्म० स० । मेषलोम्नि, उण्णत्तिला डाणगट्ठए भवंति तस्स रोमा कव्वणिज्जा कप्पासो भण्णत्ति अहवा उण्णए कप्पासो । जे भिक्खू साणकप्पासा उ वा उण्णकप्पासाउ वा । नि०चू० १उ० ।

उण्णणाभ पुं०(ऊर्णनाभ) ऊर्णेव सूत्रं नाभौ गर्भेऽस्य अच् समा० । लूतायात्, दीर्घादिरयमिति केचित् । वाच० ''ऊर्णनाभ इवांशून्या, चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्'' उर्णनाभोऽत्र कर्मठको व्याख्यातः । सम० ।

उण्णमणी स्त्री०(उन्नमनी) उण्णामिय जसियं वि, उण्णमणी इति निरुक्ते द्वितीयगौणानुज्ञायाम्, पं०भा० । नं० ॥

उण्णमिय अव्य०(उन्नम्य) उद्० नम् ल्यप् । उन्नतीकृत्येर्थे , । ''उद्दिसिय २ उण्णमिय २ णिज्झाएज्जा'' आचा०२ श्रु०१ अ० ५ उ० ।

उण्णय त्रि० उन्नत(य) उद्० नम्० क्त० । उच्चे, रा० । अभ्युन्नते, जं० २ वक्ष० । तुङ्गे , तं० । प्रश्न० । गुणवति, औ० ''उज्जलय चरियदारगोपुरतोरणउण्णयसुविभत्तरायमग्गा''। उन्नतानि गुणव–न्ति उच्चानि च । ज्ञा०१ अ० । स्था० । उन्नतः द्रव्यतः शरीरेणोच्छ्रितः भावतस्त्वभिमानग्रहग्रस्तः । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । स्था० (पुरिसजाय शब्दे विवरणम्) उच्छिन्नं नतं पूर्वप्रवृत्तं नमनमभिमा–नादुन्नतमुच्छिन्नो वा नयो नीतिरभिमानादेव उन्नयो नयाभाव इत्यर्थः । मानविशेषे, पुं० तत्परिणामजनके कर्मणि च नपुं० । भ० १२ श० ५ उ० । मोहनीये, स० । उण्णयरइयतलिणतंबसुइणिद्ध–क्ख–उन्नतरति दतलिनताम्रशुचिस्निग्धनखउन्नता ऊर्ध्वं नता रतिदा रमणीया स्तलिनाः प्रतलास्ताम्रा ईषद्रक्ताः शुचयः पवित्राः स्निग्धाः स्निग्धच्छाया नखा यस्य । सुलक्षणयुक्पादाङ्गुलीके, त्रि० जी०३प्रति० ।

उण्णयतणुतंवणिद्धनख त्रि०(उन्नततनुताम्रस्निग्धनख) उन्नता अनिम्नास्तनवः प्रतलास्ताम्रा अरुणाः स्निग्धाः कान्ताः नखाः पादाङ्गुल्यवयवा यस्य स तथा । सुलक्षणयुक्तपादाङ्गुलीके, औ० । जी० तं० ।

उण्णयमण त्रि०(उन्नतमनस्) प्रकृत्या औदार्य्यादियुक्तमनसि, स्था० ४ ठा० ।

उण्णयमण्ण त्रि०(उन्नतंमन्य) उन्नतमात्मानं मन्यते यः स तथा आत्मानमुन्नतिमन्तं मन्यमाने, आचा० १ श्रु० ५ अ०४ उ० ।

उण्णयमाण त्रि०(उन्नतमान) उन्नतो मानोऽस्येत्युन्नतमानः । गर्वाध्माते, ''उण्णयमाणे य णरे महंतमोहेण मुज्झसि'' उन्नतो मानोऽस्येति उन्नतमानः । उन्नतं चात्मानं मन्यते स चैवंभूतो नरो मनुष्यो महता मोहेन प्रबलमोहनीयोदयेनाज्ञानोदयेन वा मुह्यति कार्य्याकार्य्यविकलो भवति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

उण्णयावट्ट पुं०(उन्नतावर्त) उन्नत उच्छ्रितः स चासावावर्तश्चेति उन्नतावर्तः । आवर्तभेदे, स च पर्वतशिखरारोहणमार्गस्यवातोत्कलिकाया वा । स्था० ४ ठा० ।

उण्णयासण न०(उन्नतासन) उच्चासने, रा० । जं० । जी० ॥

उण्णा स्त्री० उ(ऊ)र्णा ऊर्णूयते आच्छाद्यते, ऊर्णु डा ह्रस्वः मेषादिलोम्नि, ललाटस्थलोमसमूहात्मके चिह्नभेदे, वाच० । दीर्घादिरयमिति बहवः वाच० । स्था० आ०म०प्र० ।

उण्णाग पुं०(उन्नाक) स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र महावीरस्वामिना विहृतम् । ''ततो सामी उन्नागं वच्चति तत्थंतए बहूवरं सपडिहुत्तं पईताणि पुण दोवि विरूवाणि दंतुराणि य तत्थ गोसालो भण्णई अहो इमो मुसंजोगे'' आ०म० द्वि० ।

उण्णाम पुं०(उन्नाम) प्रणतस्य मदानुप्रवेशादुन्नमनमुन्नामः मानवि–शेषे, तत्परिणामजनके मोहनीयकर्मणि च । नं० । भ० १२ श० ५ उ० । स० ॥

उण्णिद्ध त्रि०(उन्निद्र) उद्गता निद्रा मुद्रा यस्य । विकसिते, निद्रा–शब्दस्य मुद्रामुकुलीभावरूपनेत्रनिमीलनार्थकत्वेन तथात्वम् निद्रारहिते च । वाच० उन्निद्रं विजृम्भितं हसितं उद्बुद्धमित्यादि पर्य्यायाः । विशे० ।

उण्णिय त्रि०(और्णिक) ऊर्णाया निमित्तं संयोग उपपातो वा ठञ् । तन्निमित्तादौ, स्त्रियां ङीप् । वाच० । ऊर्णामये सूत्रादौ , आ० म०प्र० । ऊर्णरोमनिष्पन्ने वस्त्रे, वृ० २ उ० । नि० चू० ॥ उष्ट्रलोममये रजोहरणे, स्था० ५ ठा० । जीत० ॥

***उन्नीत** त्रि० उद्– नी क्त–ऊर्ध्वं नीते, वितर्किते च । वाच० । पृथग्व्यवस्थापिते, ''द्वाभ्यां नयाभ्यामुन्नीतमपि शास्त्रं कणाशिना''। नयो० ।

उण्णु(न्नु)इतो पुं०(उन्नुइतो) देशीपदमेतत् । गर्वे वर्तते इत्यस्मि–न्नर्थे, एवं भणितो संतो उण्णुइतो सो कहेइ सव्वं तु । व्य० द्वि० १० उ० ।

उण्ह पुं०(उष्ण) उषति दहति जन्तूनित्युष्णःउष् नक् उत्त० १ अ० । सूर्यादिपरितापे, पिं० । आहारपाकादिकारणे, ज्वलनाद्यनुगते स्पर्शभेदे, कर्म० । ग्रीष्मर्तौ, पलाण्डौ च । अर्श० अच् । तद्वति, आलस्यरहिते, दक्षे च । वाच० । सीएण उण्हेण सिद्धेण लुक्खेण काऊण रूहेण सगेण'' आचा० १ श्रु० ५ अ० ६उ० । (उष्णशब्द–निक्षेपः सीउण्ह शब्दे)

उण्ह(उसिण)परि(री)सह पुं० उष्णपरि(री)षह उष दाहे इत्य–स्यौणादिकनक्प्रत्ययान्तस्य उष्णं निदाघादितापात्मकम्– तदेव परीषह उष्णपरीषहः । उत्त० १ अ० । प्र० । स च 'उष्णेन तप्तो नैवोष्णं निन्देच्छायां च न स्मरेत् । वीजनं व्यजनं गात्राभिषेकादि च वर्जयेत् '। ध० ३ अधि० ॥ पाठान्तरेण । ''उष्णतप्तो न तं निन्दे–च्छायामपि न संस्मरेत् । स्नानगात्राभिषेकादि–वर्जनं वाऽपि वर्जयेत् ''। आ०म०द्वि० ।

पुट्ठे गिम्हाहि तावेणं, विमणेसुप्पिवासिए ॥
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥५॥

ग्रीष्मे ज्येष्ठाषाढाख्ये अभितापस्तेन स्पृष्टश्छुप्तो व्याप्तः सन्। विमना विमनस्कः सुष्ठु वा अतिशयेन पातुमिच्छा पिपासा तां प्राप्तो नितरां तृडभिभूतो बाहुल्येन दैन्यमुपयातीति दर्शयति ॥ तत्र तस्मिन्नुष्णपरीषहोदये मन्दा जडा अशक्ता विषीदन्ति। पराभङ्ग–मुपयान्ति। दृष्टान्तमाह। यथा मत्स्या अल्पोदके विषीदन्ति। गमनाभावान्मरणमुपयान्त्येवं सम्वाभावात्संयमात् भ्रश्यन्त इति। इदमुक्तं भवति। यथा मत्स्या अल्पत्वादुदकस्य ग्रीष्माभितापेन तप्ता अवसीदन्त्येवमल्पसत्वाश्चारित्रप्रतिपत्तावपि जलमलक्लेदक्लिन्नगात्रा बहिरुष्णाभितप्ताः शीतलान् जलाश्रयान् जलाधारगृहचन्दनादीनुष्ण-प्रतीकारहेतूननुस्मरन्त आकुलितचेतसः संयमानुष्ठानं प्रति विषीदन्ति ॥५॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ०।

उसिणपरियावेणं, परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परियावेणं, सायं नो परिदेवए ॥८॥

उष्णमुष्णस्पर्शवद्भूशिलादि तेन परितापः तेन तथा परिदाहेन बहिः स्वेदमलाभ्यां वह्निना वान्तश्च तृष्णया जनितनिदाघस्वरूपेण तर्जितो भर्त्सितोऽत्यन्तपीडित इति यावत्। तथा ग्रीष्मे वाशब्दात् शरदि वा परितापेन रविकिरणादिजनितेन तर्जित इति संबन्धः। किमित्याह। सातं सुखं प्रतीति शेषं न परिदेवेत किमुक्तं भवति। नारीकुचोरुकरपल्लवोपगूढैः क्वचित्सुखं प्राप्ताः क्वचिदङ्गारैर्ज्वलि-तैस्तीक्ष्णैः पक्वाः स्म नरकेष्वित्यादि परिभावयन् हा कथं मम मन्दभाग्यस्य सुखं स्यादिति न प्रलपेत। यद्वा सातमिति सातहेतुं प्रति यथा हा कथं कदा वा शीतकालः शीतांशुकरकलापादयो वा मम सुखोत्पादकाः संपश्यन्त इति न परिदेवेत इति सूत्रार्थः॥

उपदेशान्तरमाह।

उन्हाहितत्तो मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए।
गायं नो परिसिंचिज्जा, न वीएज्जा य अप्पयं ॥९॥

मेधावी मर्यादानतिवर्त्ती स्नानं शौचं देशसर्वभेदभिन्नं नाभिप्रा–र्थयेत नैवाभिलषेत् पतन्ति च (नो वि पत्थइत्ति) अपिर्भिन्नक्रमत्वा–त्प्रार्थयेदपि न किन्तु पुनः कुर्यात्तथागात्रं शरीरं नो परिसिञ्चेन्न सूक्ष्मादेकबिन्दु-भिरार्द्रीकुर्यात् न वीजयेच्च तालवृन्तादिना (अप्पयंति) आत्मालमथ वाऽल्पमेवाल्पकं किं पुनर्बहिति सूत्रार्थः।

साम्प्रतं शिलाद्वारमनुस्मरन् उवरितावेणेत्यादिसूत्रावयवसूचि–
तमुदाहरणं निर्युक्तिकृदाह–

तगराए अरिहमित्तो, अरिहण्ण तोयभद्दा य।
वणियमहिलं चइत्ता, तत्तम्मि सिलायले विहरे ॥

तगरायामर्हन्मित्रो दत्तोर्हन्नकश्च भद्रा च। वणिग्महिलां त्यक्त्वा *शिलातले विहरेत्ति व्यहार्षीदिति गाथाक्षरार्थो भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदा यादवसेयः*। सचायं तगरा नयरी तत्थ अरहमित्तो नाम आयरिओ तस्स समीवे दत्तो नाम वाणियओ भद्दाए भारियाए पुत्तेण य अरहत्तएण सद्धिं पव्वइत्तो। सो तं खुड्डगं कयाइं भिक्खाएनहिं–डावेइ पढमालियाईहिं किं मिच्छिएहिं पोसेत्ति सो सुकुमालो साहूण अप्पत्तियणतरंति किं चि भणिउं। अन्नया सो खंतो कालगतो साहूहिं दो तिन्नि वा दिवसे दाउं भिक्खस्स उपरितो सो सुकुमालसरीरो गिम्हे उवरिहेट्ठाए डज्झिओ पस्सेयतण्हाभिभूतो छायाए वीसमंतो पोसियवइयाए वणियमहिलाए दिट्ठो उरालसुकुमालसरीरोत्ति काउं तीसे तहिं अज्झोववाओ जाओ। चेडीए सद्दावितो किं मग्गसि। भिक्खं दिन्ना से मोयगा पुच्छिओ कीस तुमं धम्मं करेसि। भणति सुहनिमित्तं। सा भणति तो मए चेव समाणं भोगे भुंजाहि। सो य उण्हेण तज्जिओ उवसग्गज्जितो य पडिभग्गो भोगे भुंजति। सो साहूहिं सव्वेहिं मग्गिओ नो दिट्ठो अप्पसागारिअं पविट्ठो पच्छा से माया उम्मतिया जाया पुत्तसोगेण णयरं परिभमंती अरहन्नयं विलवंती जं जहिं पासति तं तहिं सव्वं भणति अत्थि ते कोवि अरहन्नको दिट्ठो एवं विलवमाणा भमति जाव अण्णया तेण पुत्तेण ओलोचणगएण दिट्ठा पच्चभिन्नाया तहेव उत्तरिता पाएसु पडिओ तं पेच्छिऊण तहेव सत्थचित्ता जाया ताए भण्णति पुत्त पव्वयाहि मा दोग्गइं जाहि। सिस्सो भण्णति न तरामि काउं संजमं यदि परं अणसणं करेमि एयं करेहि मा असंयतो भवाहि मा संसारं भमिहिसि। पच्छा सो तहेव तत्ताए सिलाए पाओवगमणं करेति मुहुत्तेण सुकुमालसरीरो उण्हेण विलावो पुव्विं तेण णाहियासिओ पच्छा तेण अहियासितो एवं अहियासियव्वं उण्हे उत्त० पा० तगरानगर्यामर्हन्मित्राचार्यपार्श्वे दत्तनामा वणिक् भद्रा भार्याऽर्हन्नकपुत्रेण समं प्रवजितः। पित्रा सर्ववैयावृत्त्यकरणेन इतस्ततः परिभ्रम्य भव्यभिक्षाभोजनसम्पा–दनेन स बालोऽत्यन्तं सुखीकृतःउपविष्ट एव भुङ्क्ते कदापि भिक्षायै न भ्रमति। तद्भिक्षार्थं स्वभिक्षार्थञ्च पितुरेव भ्रमणात्। अन्यदा पितरि मृते साधुभिः प्रेरितः स बालो ग्रीष्मे मासे भिक्षार्थङ्गतः। तापाभिभूतः प्रोत्तुङ्गगृहच्छायायामुपविशति पुनस्तत उत्तिष्ठति शनैः शनैर्याति एवं कुर्वन्तमतिसुकुमारं तमर्हन्नककुमारं रूपेण कन्दर्पा–वतारं दृष्ट्वा काचित्प्रोषितवणिग्भार्या आकार्य गृहे स्थापितवती तथा सह स विषयासक्तोऽभूत्। अथ तन्माता साध्वी पुत्रमोहेन गृथिली–भूता अरे अर्हन्नक ! इति निर्घोषयन्ती चतुष्पथादिषु भ्रमति। एकदा गवाक्षस्थेन अर्हन्नकेन तादृशावस्था माता दृष्टा संजातात्यन्तसंवेगः स गवाक्षादुतीर्य पादयोः पतित्वा मातरमेवमाह। हेमातः सोऽहम–र्हन्नक इति तद्वचः श्रवणात् स्वस्थचित्ता माता तमेवमाह। वत्स भव्यकुलजातस्य तव केयमवस्था। स प्राह। मातश्चारित्रं पालयितुमहं न शक्नोमि। सो प्राह तर्हि अनशनं कुरु मातृवचसा स तप्तशिलाया सुप्त्वा पादौ पगमनञ्चकार सम्यगुष्णपरीषहं विषह्यं समाधिभाग देवत्वं प्राप्तवान्। एवं अन्यैरपि साधुभिरुष्णपरीषहः सोढव्यः। उत्त २ अ०। (परीसहशब्देऽन्यत्)

उण्ह(उसिण)परियाव पुं०(उष्णपरिताप) उषमुष्णस्पर्शवद्भूशि–लादि तेन परितापः। उत्त०२ अ०। आतापसनादौ, भूशिलाद्यौष्ण्यहेतुके दाहे, उत्त० १ अ०।

उण्हफासणाम न०(उष्णस्पर्शनामन्) नामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं हुतभुजादिवद् भवति तदुष्णस्पर्शनाम। कर्म०।

उण्हयर न०(उष्णतर) कषायः शोकवेदोदययोश्च दाहकत्वादुष्णः सर्व वा मोहनीयमष्टप्रकारं वा कर्मोष्णं ततोऽपि तद्दाहकत्वादुष्ण–तरम्। तपसि, ''डज्झइ तिव्वकसाओ, सोगभिभूओ उइण्णवेओ य। उण्हयरो होइ तवो, *कसायमाइं वि जं डहइ*'' आचा० नि० २ अ०। (सीउण्ह शब्दे विवृतिः)

उण्हवण न०(ऊष्णापन) ऊष्णीकरणे, पिं०॥

उण्हाभि(हि)तत्त त्रि०(उष्णाभितप्त) उष्णनात्यन्तपीडिते, ''उण्हाहितत्तो मेहावी सिणाणं नो विपत्थए'' उत्त०२ अ०।

उण्हाभिहय त्रि०(उष्णाभिहत) सूर्यखप्रतापाभिभूते ''उण्हा भिहए तण्हाभिहए दवग्गिजालाभिहए''जी०३प्रति०।

उण्हीस पुं० न०(उष्णीष) उष्णमीषते हि नास्ति उष्णम् ईषशक० पररूपम्। **''सूक्ष्मश्नष्णस्नह्णक्षणां णहः ॥८।२।७५॥** सूत्रेण ष्ण भागस्य णकाराक्रान्तो हकारः। प्रा०। शिरोवेष्टनवस्त्रे, (पागडी)

किरीटे च। ''पवित्रं केश्यमुष्णीषं, वातातरपरजोऽपहम्। वर्षानिलरजोघर्म हिमादीनां निवारणम्'' वाच०॥

उण्हादेग न० (उष्णोदक) क०स० अग्निना तप्तजले, क्वथ्यमानपादशेषार्द्धावशेषपादहीनके जले, ''अष्टमेनांशशेषेण, चतुर्थेनार्धकेन वा। अथवा क्वथनेनैव, सिद्धमुष्णोदकं वदेदिति। वाच० पुप्फोदएहि य गंधोदएहि य उण्होदएहि य सुभोदएहि य कल्प०।

उण्होला स्त्री० (उष्णोपला) तैलपयिकानामके कीटभेदे, सङ्गमकः सौधर्मकल्पवासी देवः वीरमुसर्गयन् ''उण्होला विउव्वइ उण्होला णाम तेल्लपाइया तो तातो तिक्खेहिं तुंडेहिं अतीव दंसति'' आ०म०द्वि०।

उत्त त्रि० (उक्त) वच. दुहा. गौणे कर्मणि क्त.। यस्य ज्ञानाय कथ्यते तादृशे, अनुक्तेनापि वक्तव्यं, सुहृदा हितमिच्छता। गौणकर्म समभिव्याहारे तु मुख्ये कर्मणि क्तः। वाच०। अभिहिते, ''तत्थुत्तो तं जिणभवणाइ'' पंचा० ६ विव०। भणिते, आशुरुक्ते, नि०। वुत्तं उक्तं भणितमिति वुत्तशब्दस्योक्तेत्यनुवादः। आव० ५ अ०॥ उत्तराध्ययने तु व्युक्तेत्यनुवादः। उत्त० १ अ०॥

***उत्त** त्रि० उन्द क्लेदने क्त–वा तस्य नः। क्लिन्ने आर्द्रवस्तुनि, वाच०। स्वनामख्याते वनस्पतिभेदे, पुं०। अनु०।

***उप्त**– त्रि० वप्–क्त निक्षिप्ते, ध० १ अधि०। कृतवापे धान्या–दौ क्षेत्रे, वाच०। कर्षक इव बीजवपनं कृत्वा निष्पादिते, ''देव उत्ते अएलोए बंभउत्तेत्तियावरे''। सूत्र० १ श्रु० १ अ०३ उ०।

उत्ताण न० (उत्तृण) उद्गतं तृणमुत्तृणम्। ऊर्द्धगते तृणे, ''खित्तखिलभूमिवल्लराइं उत्ताणघणसंकडाइं डज्झंतु'' उत्तृणैस्तृणैर्घनमत्यर्थं संकटानि सङ्कीर्णानि यानि तानि तथा। प्रश्न० १ द्वा० उद्गतानि तृणानि यत्र उद्गततृणके, ''उत्ताणाणि वणाणि णिप्पण्णसव्वं वा मेइणिं'' उद्गतानि तृणानि येषु वनेषु तानि तथा। अनु०।

उत्तात्थ त्रि० (उत्त्रास्त) उद्गतत्राशे, प्रश्न० अध० ३ द्वा०। भयाज्ञातोत्कम्पादिभयभावे, ''उत्तत्था तसिया उव्विग्गा संजायभया'' भ०३ श०१ उ०। उत्तत्थसुण्णभयसंतत्था'' प्रश्न० अध० ३ द्वा०।

उत्तप्पसरीर त्रि० (उत्तप्तशरीर) देदिप्यमानशरीरे, रा०।

उत्तम त्रि० (उत्तम) उद्–तमस्०। स्वरूपतः सुन्दरे, कल्प०। भ०। प्रशंसास्पदीभूते, जं० २ वक्ष०। औ०। सर्वोत्कृष्टे, आव० २ अ०। महति, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। प्रधाने, पंचा० ६ विव० प्रश्न०। संस्था। '' अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे'' आचा० १ श्रु० ८ अ०। ''बंभचेरं उत्तमतवनियमनाण- दंसणचरित्तविणयमूलं'' प्रश्न० ३ द्वा०। प्रज्ञा०। संयमे, पुं० दशा० ५ अ०। गिरीणामुत्तमत्वादुत्तमः। मेरौ, ''ता उत्तमांसि पव्वयंसि'' चं० प्र० १ पाहु०। सू०प्र०। अन्त्ये, त्रि० उत्तमैकाभ्यां च० पा० उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थः उत्तानपादस्य पुत्रभेदे, ध्रुवस्य भ्रातरि पुं० वाच०॥

***उत्तमस्** त्रि० ऊर्द्ध तमसोऽज्ञानाद्यत्तत्तथा अज्ञानरहिते, ज्ञा० १ अ०।

कित्तियवंदियमहिया, जे लोगस्सुत्तमा सिद्धा॥

कीर्तिताः स्वनामभिः प्रोक्ता वंदितास्त्रिविधयोगेन सम्यक् स्तुता महिताः पुष्पादिभिः पूजिताः। क एते इत्यत आह ये एते लोकस्य प्राणिलोकस्य मिथ्यात्वादिकर्ममलकलङ्कभावेनोत्तमाः प्रधानाः ऊर्ध्वं वा तमसः इत्युत्तमसः। उत्प्राबल्येनो- र्ध्वगमनोच्छेदनेष्विति वचनात्। प्राकृतशैल्या पुनरुत्तमा उच्यन्ते। (सिद्धा इति) सितं ध्मातं बन्धमेषामिति सिद्धाः कृतकृत्या इत्यर्थः। ल०।

अस्यैव व्याख्यां निर्युक्तिकृदाह-

मिच्छत्तमोहणिज्जा, नाणावरणाचरित्तमोहाउ।
तिविहत्तमा उम्मुक्का, तम्हा ते उत्तमा हुंति॥ ५५॥

मिथ्यात्वमोहनीयास्तथा ज्ञानावरणास्तथा चारित्रमोहादित्यत्र मिथ्यात्वमोहनीयग्रहणेन दर्शनसप्तकं गृह्यते। तत्रानन्तानुबन्धिन श्चत्वारः कषायास्तथा मिथ्यात्वादित्रयं च ज्ञानावरणं मतिज्ञानाद्यावरणभेदात्पञ्चविधं चारित्रमोहनीयं पुनरेकविंशतिभेदं तच्चानन्तानुबन्धिरहिताः द्वादशकषायास्तथा नव नोकषया इति अस्मादेव यतस्त्रिविधतमसः किमुन्मुक्ताः प्राबल्येन मुक्ताः पृथग्भूता इत्यर्थः। तस्मात्ते भगवंतः किमुत्तमा भवंति ऊर्द्धं तमोवृत्तेरिति गाथार्थः॥ आव० २ अ०। आ० चू०।

उत्तमंग न० (उत्तमाङ्ग) क० स० सर्वावयवानां प्रधानावयवे, स०। शिरसि च। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। उत्त०। नं०। मस्तकस्य अङ्गेषूत्तमत्वं चक्षुरादीन्द्रियाधारत्वात्, वाच०। तात्स्थ्यात्केशेषु, ''लोयविरलुत्तमंगं'' अत्र उत्तमाङ्गशब्देन उत्तमाङ्गस्थाः केशा उच्यन्ते। पिं॥

उत्तमकट्ठपत्त त्रि० (उत्तमकष्टप्राप्त) परमकष्टावाप्ते, भ० ७ श० ६ उ०।

***उत्तमकाष्ठाप्राप्त** त्रि० उत्तमावस्थांगते परमकाष्ठाप्राप्ते, ''दुसमदुसमाए स माए उत्तमकट्ठ पत्ताए भरहस्स केरिसए आगार भावपडोयारे पण्णत्ते'' भ० ७ श० ६ उ०। परमप्रकर्षप्राप्ते, प्रकृष्टावस्थां गते, सू० प्र० १ पाहु०।

उत्तमकट्ठा स्त्री० (उत्तमकाष्ठा) प्रकृष्टावस्थायाम्, जं० २ वक्ष०।

उत्तमकुल न० (उत्तमकुल) उग्रभोगादिके चान्द्रादिके वा कुले, ''उत्तमकुले वि जायं णिद्धाडिज्जइ तपंगच्छं'' ग० २ अधि०।

उत्तमगुण पुं० (उत्तमगुण) प्रधानगुणे, पंचा० ४ विव०।

उत्तमगुणबहुमाण पु० (उत्तमगुणबहुमान) उत्तमगुणेषु प्रधानगुणेषु जिनेषु वीतरागत्वादिषु वा जिनगुणेषु, बहुमानः पक्षपातः उत्तमगुणबहुमानः उत्तमगुणपक्षपाते, ''उत्तमगुणबहुमाणो पयमुत्तमसत्तमज्झयारम्मि'' पंचा० ४ विव०।

उत्तमगुणोघ पु० (उत्तमगुणौघ) अनहंकारिणि, ''ण करोति अहंकारं एरिसओ उत्तमगुणो य'' पं० भा०॥

उत्तमजणसेविय त्रि० (उत्तमजनसेवित) गणधरसेविते, गणधराणामुत्तमत्वात्। ''उत्तममियं पयं जिणबोहिं लोगुत्तमेहिं पण्णत्तं। उत्तमकलसंजणयं, उत्तमजणसेविता लोए'' पंचा० ११ विव०।

उत्तमजत्ता स्त्री० (उत्तमयात्रा) प्रधानयात्रायां, पंचा० ६ विव०

उत्तमजोगित्त न० (उत्तमयोगित्व) न० अयोगित्वलक्षणे संवरद्वारे, स्था० ५ ठ०॥

उत्तमट्ठ पुं० (उत्तमार्थ) उत्तमश्चासावर्थश्च उत्तमार्थः। प्रकृष्टपदार्थे, ''इच्चेयं महव्वयउच्चारणा उवत्तया जुत्तपायनाणे परमट्ठे उत्तमट्ठे'' उत्तमश्चासवर्थश्चोत्तमार्थः। प्रकृष्टपदार्थे, मोक्षफलसाधकत्वेन महाव्रतानां सर्ववस्तुप्रदानत्वादिति। पा०॥ उत्तमः प्रधानोऽर्थो मोक्षो यस्मात्स उत्तमार्थः। पर्यन्तसमयाराधवरूपे जिनाज्ञाराधने, ''निरट्ठिया णिप्परुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठे विवज्जा समेइ'' उत्त० २ अ०। अनशने, ''इच्छामि भंते उत्तमट्ठं पडिक्कमामि'' (अणसणशब्दे विवरणमुक्तम्) कालधर्मे, आव० ४ अ०।

उत्तमट्ठगवेसय त्रि० (उत्तमार्थगवेषक) मोक्षाभिलाषिणि, ''ण विरुद्धो ण वि तु तुट्ठो, उत्तमट्ठगवेसओ'' उत्त० २५ अ०।

उत्तमट्ठपत्त त्रि०(उत्तमार्थप्राप्त) उत्कृष्टानर्थान्प्राप्ते, ''सुसुमाए समाए उत्तमट्ठपत्ताए भरहस्स केरिसए आयारभावपडोयारे पण्णत्ते'' उत्तमांस्तत्कालापेक्षयोत्कृष्टानर्थानायुष्कादीन्प्राप्ता उत्तमार्थप्राप्ताः। भ०६ श० ७ उ०॥

उत्तमट्ठाण न० (उत्तमस्थान) मोक्षस्थाने, ''धीरो अमूढसण्णीसो गच्छइ उत्तमट्ठाणं''। आतु०॥

उत्तमड्ढि (रिद्धि)स्त्री०(उत्तमर्द्धि) प्रधानविभवे, ''सेया य उत्तमा खलु, उत्तमरिद्धिए कायव्वा'' पंचा० ६ विव०॥

उत्तमणिदंसण न० (उत्तमनिदर्शन) इन्द्रादिलक्षणेषु, प्रधानसत्वज्ञानेषु, पंचा० १६ विव०॥

उत्तमणिदंसणजुय त्रि० (उत्तमनिदर्शनयुत) अहीनोदाहरणवति, ''उत्तमणिदंसणजुअं विचित्तणयगब्भणरं चेव'' पं० व०॥

उत्तमधम्मपसिद्धि स्त्री०(उत्तमधर्मप्रसिद्धि) प्रधानधर्म्मस्य पूजाकाले, प्रकृष्टपुण्यकर्मबन्धरूपस्य अशुभकर्मक्षयरूपस्य च कालान्तरक्रमेण यथाख्यातचारित्ररूपस्य निष्पत्तौ, जिनशासनप्रकाशे च। ''उत्तमधम्मपसिद्धि–पूयाए जिणवरिंदाणं'' पंचा० ४ विव०।

उत्तमपसत्थज्झाण न०(उत्तमप्रशस्तध्यान) प्रवृद्धशुभयोगे, ''उत्तम पवसत्थज्झाणो हयएणं इमं विचिंतेइ'' पं० व०॥

उत्तमपुरिस पुं० (उत्तमपुरुष) तीर्थकृच्चक्रवर्तिवलदेववासुदेव-लक्षणेषु, प्रधानपुरुषेषु ''अरहन्नचक्कवट्टी, वलदेवा चेव वासुदेवाय। एए उत्तमपुरिसा. नहु तुच्छकुलेसु जायंति. आ० म० द्वि०। ''णव दसारमंडलाहोत्था तंजहा उत्तमपुरिसा मज्झिमपुरिसा. उत्तमपुरुषास्तीर्थकरादीनां चतुःपञ्चाशदुत्तमपुरुषाणा मध्यवर्तित्वात्०। स०। कुम्मुण्णया जोणी उत्तमपुरिसमाऊणं'' स्था० ३ ठा०।

उत्तमपोग्गल पुं० (उत्तमपुद्गल) आत्मनि, प्रधानवाची वा पुद्गल-शब्दस्तत्तश्चायमर्थः उत्तमोत्तमे महतोऽपि महीयसी, ''से पडिए उत्तमपोग्गले'' सूत्र० १ श्रु० १३ अ०॥

उत्तमफलसंजयण त्रि० (उत्तमफलसंजनक) मोक्षजनके,पं०व०।

उत्तमबलविरियसत्तजुत्त त्रि० (उत्तमबलवीर्य्यसत्वयुक्त) उत्तमैर्बलवीर्य्यसत्वैर्युक्ते, उत्तमयोर्बलवीर्य्ययोः सत्वेन (सत्तया) युक्ते च। भ० ६ श० ३३ उ०।

उत्तममग्ग पुं० (उत्तममार्ग) ज्ञानस्य प्राधान्यं व्यवहारस्य च गौणता-यत्र तस्मिन्, द्र०॥

उत्तमविउव्वि(ण्) त्रि० (उत्तमविकुर्विन्) उत्तमं विकुर्व- तित्येवंशीलाः। उत्तमविकुर्वणशीलेषु, जी० ४ प्रति०।

उत्तमसुत्त न० (उत्तमशूत्र) कर्म० स०। छेदश्रुते, दृष्टिवादे च। किंपु ण तं उत्तमसुत्तं उच्चते ''छेयसुत्तमुत्तमसुयं, अहवा दिट्ठिवा ओ भण्णई। छेयसुयं कम्हा, उत्तमसुत्तं भणति जम्हा० तत्थ स पायच्छित्तो विधी भण्णति. जम्हा य तेण चरणविसुद्धी करेति तम्हा तं उत्तमसुत्तं दिट्ठिवाओ वा'' नि० चू० १६ उ०।

उत्तमसुयण्णिय त्रि० (उत्तमश्रुतवर्णित) प्रधानागमाभिहिते, पंचा० ६ विव०।

उत्तमा स्त्री० (उत्तमा) पूर्णभद्रस्य यक्षेन्द्रस्य तृतीया यामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा०। भ०। (अग्गमहीसीशब्दे सा उक्ता) लोकोक्तरीत्या प्रतिपद्रात्रौ, चं० १ पाहु०। कल्प०। जं०। ज्यो०॥

उत्तमागार पुं० (उत्तमाकार) उत्तरङ्गादिरूपे उपरितनेष्वाकारेषु, तेसिणं दाराणं उत्तमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया, रा०॥

उत्तमोत्तम त्रि० (उत्तमोत्तम) महतोऽपि महीयसि, सू० १ श्रु० १३ अ०।

उत्तर न० (उत्तर) उत्तीर्यते प्रकृताभियोगोऽनेन उद्० तृ० अच्० उद् तरप् वा। राजसमीपे वादिकृताभियोगापनसदे के उत्तराख्ये व्यवहाराङ्गे, द्वितीयपादे, प्रश्नश्चोद्यधिया प्रश्नस्तस्य खण्डनमुत्तरम्. इत्युक्ते दोषभञ्जनवाक्ये, जिज्ञासितविषया वेदके वाक्ये, अनन्तरे, वाच०॥

अस्य निक्षेपः॥

णामं ठवणा दविए, खेत्तदिसा ताव खेत्तपण्णवए।
पइकालं संचयपहा–णायणकमगणणतो भावे॥
जहण्णरुत्तरं खलु, उक्कोसं वा अणुत्तरं होइ।
सेसाइं अणुत्तराइं, अणुत्तराइं च णायाइं॥

इह च सुपो यत्रादर्शनं तत्र सूत्रत्वेन छान्दसत्वाल्लुक् तथोत्तरनिक्षेप प्रस्तावात्सूचकत्वात्सूत्रस्य 'कमउत्तरेण य गय' मित्युत्तरत्र श्रवणाच्च (नामंति) नातोत्तरं (ठवणत्ति) स्थापनोत्तरमित्याद्यभिलापः कार्यस्तत्र नामोत्तरमिति नामेव यस्य वा जीवादेरुत्तरमिति नाम क्रियते। स्थापनोत्तरमक्षरादि उत्तरमिति वर्णविन्यासो वा द्रव्योत्तरमागतो ज्ञानानुपयुक्तो नोआगमतो ज्ञशरीर भव्यशरीरे तद्व्यतिरिक्तं चातद्व्यतिरिक्तं त्रिधा सचित्त मिश्रभेदेन तत्र च सचित्तं पितुः पुत्रः अचित्तं क्षीराद्दधि, मिश्रं जननी शरीरतो रोमादिमदपत्यम्। इहच द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वेऽपि वस्तुनो द्रव्यप्राधान्यविवक्षया पित्रादीनां द्रव्योत्तरत्वं भावनीयम्। क्षेत्रोत्तरं मेर्वाद्यपेक्षया यदुत्तरं यथोत्तराः कुरवः यद्वा पूर्वं शालिक्षेत्रं तदेव पश्चादिक्षुक्षेत्रं दिगुत्तरमुत्तरा दिग्दक्षिणदिगपेक्षत्वादस्य। तापक्षेत्रोत्तरं यत्तापदिगपेक्षयोत्तरमित्युच्यते यथा सर्वेषामुत्तरो मन्दराद्रिः प्रज्ञापकस्य वामं प्रत्युत्तरमेकदिगवस्थित योर्देवदत्तयज्ञदत्तयोर्देवदत्तात्परो यज्ञदत्तः उत्तरः। कालोत्तरं समयादावलिका आवलीकातो मुहूर्त्तमित्यादि। सञ्चयोत्तरं यत्सञ्चयस्योपरि यथा धान्यराशेः काष्ठम्। प्रधानोत्तरं त्रिविधं सचिताचित्तमिश्रभेदात्। सचित्तप्रधानोत्तरमपि त्रिविधमेव तद्यथा द्विपदं चतुष्पदमपदं च। तत्र द्विपदमनुत्तरपुण्यप्रकृतितीर्थकर नामाद्यनुभवनस्तीर्थकरश्चतुष्पदमनन्य साधारणशौर्यधैर्यादियोगतः सिंहः, अपदं रम्यत्वसुरसेव्यत्वादिभिर्जात्यजाम्बून दादिमयी जम्बूद्वीपं मध्यस्थिता सुदर्शना ज्म्बूः अचित्तमचिन्त्यमहात्म्य- श्चिन्तामणिः मिश्रं तीर्थकर एव गृस्थावस्थायां सर्वालङ्कारालंकृतः। ज्ञानोत्तरं केवलज्ञानं विलीनसकलावरणत्वेन समस्तवस्तु -स्वभावावभासितया च। यद्वा श्रुतज्ञानं तस्य स्वपरप्रकाश कत्वेन केवलादपि महर्द्धिकत्वात्। उक्तं च ''सुयनाणं महीड्ढीयं, केवलं तयणंतरं। अप्पणो य परेसिं च जम्हा तं परिभावणत्ति'' क्रमोत्तरं क्रममाश्रित्य यद्भवति तच्चतुर्विधिं द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च। तत्र द्रव्यतः परमाणोर्द्विप्रदेशिकस्ततोऽपि त्रिप्रदेशिक एवं यावदन्त्योऽनन्त प्रदेशिकः स्कन्धः क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाढाद् द्विप्रदेशावगाढः ततोऽपि त्रिप्रदेशावगाढ एवं यावदवसानवर्त्य संख्येयप्रदेशाव गाढः। कालतः एकसमयस्थितेर्द्विसमयस्थिति स्ततोऽपि त्रिसमयस्थितिरेवं यावद संख्येयसमयस्थितिः। भावत एकगुणकृष्णाद्द्विगुणकृष्णस्ततोऽपि त्रिगुणकृष्ण एवं यावदनन्तगुणकृष्णो यतो वा क्षायोपशमिकादिभावादनन्तरं यः क्षायिकादिर्भवति (गणनुत्तरत्ति) गणना उत्तरमेककाद् द्विकस्ततोऽपि त्रिक एवं यावच्छीर्षप्रहेलिका। भावोत्तरं क्षायिको भावस्तस्य केवलज्ञानदर्शनाद्यात्मकत्वेन सकलौदयिकादिभावप्रधानत्वादा हैवमस्य प्रधानोत्तर एवान्तर्भावादयुक्तं भेदेनाभिधानम्। यदेवमन्योन्यमिदमुच्यते एवं हि नामादिचतुष्टय एव सर्वनिक्षेपाणामन्तर्भावात्तदेवाभिधेयं तत इहान्यत्र यन्नादिचुष्टयाद्धिकनिपक्षेपा भिधानं तच्छिष्यमतिव्युत्पादनार्थं

सामान्यविशेषोभयात्मकत्वख्यापनार्थं च सर्ववस्तूनामिति भावनीयमिति गाथार्थः ॥ इहानेकधोत्तराभिधानेऽपि क्रमोत्तरमेवाधिकरिष्यते विषयज्ञाने च विषयी सुज्ञातो भवतीति मन्वानो यत्रास्य संभवो यत्र चासंभवो यत्र चोभयं तदाह । (जहण्णत्ति) जघन्यं सोत्तरं खलुरवधारणे सोत्तरमेव (उक्कोसंति) उत्कृष्टं वाशब्दस्यैवकारार्थस्य भिन्नक्रमत्वादनुत्तरमेव भवति शेषाणि मध्यमान्युत्तराणीति । अर्शआदित्वेनाजन्तत्वान्मतुब्लोपाद्वोत्तरवन्त्यनुत्तराणि च ज्ञेयानि द्रव्यक्रमोत्तरादीनि हि जघन्यान्येकप्रदेशिकादीन्युपरि द्विप्रदेशिकादिवस्त्वन्तरभावात्सोत्तराण्येव तदपेक्षयैव तेषां जघन्यत्वात्। उत्कृष्टानि त्वन्त्यान्यनन्तप्रदेशिकादीन्यनुत्तराण्येव तदुपरि वस्त्वन्तराभावादन्यथोत्कृष्टत्वायोगात्। मध्यमानि तु द्विप्रदेशिकादीनि त्रिप्रदेशिकाद्यपेक्षया सोत्तराण्येकप्रदेशिकाद्यपेक्षया त्वनुत्तराण्युपरितनवस्त्वपेक्षयैव सोत्तरत्वादिति गाथार्थः ॥ उत्त० १ अ० । (शेषग्रन्थ उत्तरज्झयणशब्दे) अधिके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । उत्कृष्टे, उत्त० ३ अ० । प्रधाने, सूत्र० १ श्रु०६ अ० । स्था० । तं० । अनु० ''उत्तरा महुरुल्लाव पुत्ता ते ताव खुड्डया'' उत्तराः प्रधानाः उत्तरोत्तरजाता वा सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । वृद्धौ, ''कइपएसुत्तरा'' कति प्रदेशा उत्तरे वृद्धौ यस्या सा तथा भ० १३ श० ४ उ० . उपरि वर्तिनि, अनुत्तरविमानाख्येषु देवेषु, सर्वोपरिवर्तित्वात्तेषाम्। उत्त० २ अ० । ऐरावते भविष्यति द्वाविंशे तीर्थकरे, स० । ति० । प्रव०

पक्कुलावमया वा, कज्जं पि न सेसया उदीरेंति ।
पाएण अहो तोन्निव, उत्तरि सोवाहणेणं ति ॥

पादेन सोपानहा आहत इत्युत्तरसदृशोत्तरकारी उत्तरः । इयमत्र भावना । केनापि कश्चित्सोपानहा पदेनोपहतः तेन च गत्वा राजकुले निवेदिते कारणिकैश्च स आकारितः । किंत्वयैष आहतः न मूया किं तु सोपानहा पादेन एवं सोऽपि दुर्व्यवहारं कुर्वन् गीर्तोथन सूत्रोपदेशतः उपालब्धः सन्नेतादृशैश्छलवचनैरुत्तरं ददाति । ततः कटूत्तरकरणात्स उत्तर इत्युक्तलक्षणे अप्रशंसनीये व्यवहारिणि, व्य० प्र० १ उ० । स्थविरस्यार्य्यमहागिरेः प्रथमशिष्ये, व्य० द्वि० १ उ० । ''तणविणणसंजयट्ठा मूलगुणा उत्तरा पञ्जणया'' उत्तराः उत्तरगुणरूपाः'' वृ० १ उ० ।

उत्तरंग न० (उत्तराङ्ग) द्वारस्योपरि तीर्यग्व्यवस्थितमतङ्गमुत्तराङ्गम् द्वारस्योपरि तीर्यग्व्यवस्थिते काष्ठे, जं० १ वक्ष० ''जोई सामए उत्तरंगे'' जी० २ प्रति० ।

उत्तरकंचुय पुं० (उत्तरकञ्चुक) तनुत्राणविशेषे, विपा० २ अ० ।

उत्तरकट्ठोदगय त्रि० (उत्तरकाष्ठोपगत) उत्तरां दिशमुपगते, स० ।

उत्तरकरण न० (उत्तरकरण) उत्तरत्र करणमुत्तरकरणम्। द्रव्यकरणभेदे, तच्च ''उत्तरकरणं वंजणं अत्थो उ उवक्खरो सव्वे'' उत्तरत्र करणमुत्तरकरणम् कर्णबेधादि । यदि वा तन्मूलकरणं घटादिकं येनोपस्कारेण दण्डचक्रादिना औभव्यज्यते स्वरूपतः प्रकाश्यते तदुत्तरकरणं कर्तुरूपकारकः सर्वोऽप्युपस्कारार्थ इत्यर्थः (प्रपञ्चतः करणशब्दे) भावकरणभेदे, ''उत्तरकमसु य जोयव्वणवण्णादी भोअणादीसु'' सूत्र०१ श्रु० १ अ० (उत्तरकरणं क्रमश्रुतयौवनवर्णादिचतूरूपम् करणशब्दे दर्शयिष्यते) मूलतः स्वहेतुत उत्पन्नस्य पुनरुत्तरकालं विशेषाधानात्मके करणे ''उत्तरकरणेण कयं जं किंचि संखयं तु णायव्वं'' उत्त० नि० । जे भिक्खू सूचीए उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति कारेंतं वा साइज्जइ नि० चू० १ उ० । (सूच्या उत्तरकरणं सूई शब्दे)

(सूत्रम्) तस्स उत्तरि (री) करणेणं पायच्छित्तकरणेणं

अत्रस्त्योत्तरकरणेति सूत्रावयवं विवृण्वन्नाह-

खंडिअविराहिआणं, मूलगुणाणं स उत्तरगुणाणं ॥
उत्तरकरणं कीरइ, जह सगडरहंगगेहाणं ॥ ९९ ॥

खंण्डितविराधितानां खण्डिताः सर्वथा भग्ना विराधिता देशतो भग्ना मूलगुणानां प्राणानां प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपाणां सह उत्तरगुणैः पिण्ड्यशुद्ध्यादिनिवर्त्तन्त इति सोत्तरगुणास्तेषामुत्तरकरणं क्रियते आलोचनादीनां पुनः संस्करणमित्यर्थः । दृष्टांतमाह यथा शकटरथाङ्गगेहानां बहिश्चक्रगृहाणामित्यर्थः । तथाच शकटादीनां खण्डितविराधितानामक्षरावलिकादिनोत्तरकरणं क्रियत इति गाथार्थः । आव० ५ अ० ।

उत्तरकिरिय न० (उत्तरक्रिय) उत्तरा उत्तरवैक्रियशरीराश्रया गतिलक्षणा क्रिया यत्र गमने तदुत्तरक्रियम् । उत्तरवैक्रिय शरीराश्रयगत्या गमने, ''जयाणं वाउयाए, उत्तरकिरियं रीयइ'' अनु० ॥

उत्तरकुरा(रु) पुं, स्त्री० (उत्तरकुरु) प्राकृते चैकवचनमाकारान्तता च। जी० ३ प्रति० ॥ जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्व्वतस्य उत्तरेण गन्धमादनमाल्यवद्भ्यामावृत्तेऽर्द्धचन्द्राकारे उत्तरतो विस्तृते स्वनामख्याते कुरुभेदे स्था० २ ठा० ॥ एते चाकर्मभूमिभेदाः । स्था० ६ ठा० । प्रव० १ तेषां प्रमाणादिव्यवस्था चेत्थम्।

कहिणं भंते महाविदेहे वासे उत्तरकुराणामंकुरा पण्णत्ता गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणेणं गंधमायणस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चच्छिमेणं एत्थणमुत्तरकुरा णामं कुरा पण्णत्ता । पाईणपडी णा य या उदीणदाहिणविच्छिण्णा अद्धचंदसंठाणसंठिआ इक्कारसजोयणसहस्साइं अट्ठयबायाले जोअणसए दोण्णि अ एगूणवीसइभाए जोयणस्स विक्खंभेणं तीसे जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणा य या दुहा वक्खारपव्वयं पुट्ठा तंजहा पुरच्छिमिल्लाए कोडिए पुरच्छिमिल्लं वक्खारपव्वयं पुट्ठा एवं पच्चच्छिमिल्लाए जाव पच्चच्छिमिल्लं वक्खारपव्वयं पुट्ठा ते व णं जोयणसहस्साइं आयामेणं तीसेणं धणुं दाहिणेणं सट्ठिं जोअणसहस्साइं चत्तारि अ अट्ठारसे जोअणसए दुवालसए एगूणवीसइभाए जोयणस्स परिक्खेवेणं ॥

क्व भदन्त ! महाविदेहे वर्षे उत्तरकुरवो नाम्ना कुरवः प्रज्ञप्ताः गौतम ! मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरतो नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणतो गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्य पूर्वतो वक्ष्यमाणस्वरूपस्य माल्यवतः पश्चिमतः । अत्रान्तरे उत्तरकुरवो नाम्ना कुरवः प्रज्ञप्ताः प्राक् पश्चिमायता उत्तरदक्षिणविस्तीर्णा अर्द्धचन्द्राकारा एकादशयोजनसहस्राण्यष्टौ शतानि द्वाचत्वारिंशदधिकानि द्वौ चैकोनविंशतिभागौ योजनस्य विष्कम्भेन । अत्रोपपत्तिर्यथा महाविदेहविष्कम्भात् (३३६८४) कला (४) इत्येवंरूपान्मेरुविष्कम्भेऽपनीते शेषस्यार्द्धे कृते उक्ताङ्कराशिः स्यात् नतु वर्षवर्षधरादीनां क्रमव्यवस्था प्रज्ञापकापेक्षया अस्ति । यथा प्ररूपकासन्नं भरतं ततो हिमवानित्यादि ततो विदेहकथनानन्तरं क्रमप्राप्ता देवकुरूर्विमुच्य कथमुत्तरकुरूणां निरूपणमुच्यते चतुर्दिग्मुखे विदेहे प्रायः सर्वं प्रादक्षिण्येन व्यवस्थाप्यमानं समये श्रूयते तत प्रथमत उत्तरकु-

रुकथनं ततः पार्श्वस्थौ विद्युत्प्रभसौमनसौ विहाय गन्धमादनमाल्यवद्वक्षस्कारप्ररूपणं भरतासन्नविजयान् विहाय कच्छमहाकच्छादिविजयकथनं चेति। अथैतासां जीवानाह (तीसेइत्यादि)तासामुत्तरकुरूणां सूत्रे एकवचनं प्राकृतत्वाज्जीवा उत्तरतो नीलवद्वर्षधरासन्ना *कुरुचरमप्रदेशश्रेणिः पूर्वापरायता द्विधा पूर्वपश्चिमभागाभ्यां* वक्षस्कारपर्वतं स्पृष्टा एतदेव विवृणोति। तद्यथा पौरस्त्यया कोट्या पौरस्त्यं वक्षस्कारपर्वतं माल्यवंतं स्पृष्टा पाश्चात्यया पाश्चात्यं गंधमादननामानं वक्षस्कारपर्वतं स्पृष्टा त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि आयामेन तत्कथमित्युच्यते। मेरोःपूर्वस्यां दिशि भद्रशालवनमायामतो द्वाविंशतियोजन- सहस्राणि एवं पश्चिमायामपि उभयोर्मीलने जातं चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि मेरुविष्कम्भे दशसहस्रयोजनात्मके प्रक्षिप्ते जातं चतुःपञ्चाशत्योजनसहस्राणि एकैकस्य वक्षस्कारगिरेः वर्षधरसमीपे पृथुत्वं पञ्चयोजनशतानि ततो द्वयोर्वक्षस्कारगिर्योः पृथुत्वपरिमाणं योजनसहस्रं ततः पूर्वराशिरपनीयते जातः पूर्वराशिस्त्रिपञ्चाशद्योजन-सहस्राणीति। अथैतासां धनुः पृष्ठमाह (तीसेणं धणुं दाहिणेणमित्यादि) तासां धनुः पृष्ठं दक्षिणतो मेरोर्वासन्न इत्यर्थः। षष्टियोजनसहस्राणि चत्वारि च योजनशतानि अष्टादशानि अष्टादशाधिकानि द्वादश चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य परिक्षेपेण। तथाहि एकैकवक्षस्कार गिरेरायामस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि द्वे च नवोत्तरे षटं च कलाः। ततो द्वयोर्वक्षस्कारयोरायाममीलने यथोक्तं मानमिति॥ जं० ४ वक्ष०।

अथैतासां स्वरूपप्ररूपणायाह॥

उत्तरकुराएणं भंते! कुराए केरिसए आगारभावपाडोयारे पण्णत्ते! गोयमा! बहुसमरमणिज्जभूमिभागे पण्णत्ते से जहाणामए आलिंगपुक्खरेति वा जाव एवं एगोरुगदीव वत्तव्वया जाव देवलोगपरिग्गहाणं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो॥

(उत्तरकुराएणं भंते इत्यादि) उत्तरकुरूणां सूत्रे एकवचनं प्राकृतत्वात् कीदृश आकारभावस्य स्वरूपस्य प्रत्यवतारसंभवः प्रज्ञप्तः! भगवानाह गौतम! बहुसमरमणीयो भूमिभाग उत्तरकुरूणां प्रज्ञप्तः (सेजहानामाए इत्यादि) जगत्युपरि वनखण्डवर्णकवत् तावद्वक्तव्यं यावत्तृणानां मणीनां च वर्णो गन्धः स्पर्शः शब्दश्च सवर्णकः परिपूर्ण उक्तो भवति॥ पर्यंतसूत्रं चेदं दिव्वं नट्टसज्जं गेयं पगीयाणं भवे एयारूवे सिया हंता सिया इति'' जी० ३ प्रति॥ अत्रेदमवधेयम्॥ (सूत्रपाठे जाव एवं एगोरुगदीववत्तव्वया इति। एकोरुकद्वीपवर्णक एव स्मारितः वृत्तिकृता तु एतादृशं पाठममन्यमानेन एकोरुकवक्तव्यतायाम किञ्चिदुक्त्वा इहैव व्याख्यातमित्यस्माभिरपि अन्तरद्वीपशब्दे एकोरुकवक्तव्यता मूलसूत्रैरेव प्रदर्शिता इह तु तादृशानि सूत्राणि परिकल्प्य टीका संयोजिता) उत्तरकुरुषु आकारप्रत्यवतारस्य वर्णकः सुषमसुषमाभरतवर्षस्येव भावनीया सा ओसप्पिणीशब्दे व्याख्यास्ते नवरम्॥

उत्तरकुराणं कुराए छव्विधा मणुस्सा अणुसज्जंति। तंजहा पम्हगंधा १ मियकांधा २ अममा ३ सहा ४ तेयली ५ सणिचारी ६

(उत्तरकुराएणं भंते इत्यादि) उत्तरकुरूषु कुरुषु भदन्त! कतिविधा जातिभेदेन कतिप्रकारा मनुष्या अनुसज्जति संतानेनानुवर्त्तन्ते भगवानाह-- गौतम! षड्विधा मनुजा अनुसज्जंति तद्यथा पद्मगंधा इत्यादि जातिवाचका इमे शब्दाः अत्र विनेयजनानुग्रहाय उत्तरकुरुविषयसूत्र-संकलनार्थं संग्रहणीगाथात्रयमाह--

इसुजीवा धणुपट्ठं, भूमी गुम्मा य हेरुउद्दाला।
तिलगलयावणराई, लुक्खामणुया य आहारे॥
गेहा गामाय असी, हिरण्णरायाय दासमाया य।
आरक्खणा मत्तवि, वाहमहनट्ठसगडा य॥
आसागावो सीहा, सालीथाणुयगड्डदंसाही।
गहजद्धरोगट्ठिइ, उव्वट्टणा य अणुवट्टणा चेव॥

अस्य व्याख्या प्रथममुत्तरकुरुविषयमिषुजीवाः धनुःपृष्टप्रतिपादनेकं सूत्रं तदनंतरं (भूमिरित्त) भूमिविषयं सूत्रं ततो (गुम्मा इति) गुल्मविषयं सूत्रं तदनंतरं हेरुतालवनविषयं सूत्रं ततः। (उद्दाला इति) उद्दालाविषयं तदनंतरं (तिलग इति) तिलकपदोपलक्षितं ततो लताविषयं तदनंतरं वनराजिविषयं ततो (रुक्खाइति) दशविधकल्पपादपविषया दश सूत्रदण्डका (मणुया य इति) त्रयो मनुष्यविषयाः सूत्रदण्डकास्तद्यया आद्यः पुरुषविषयो द्वितीयः स्त्रीविषस्तृतीयः सामान्यतः उभयविषयः। तत (आहारे इति) आहारविषयस्तदनंतरं (गेहा इति) गृहविषयौ दण्डकौ आद्यो गृहकारवृक्षाभिधायी अपरो गेहाद्यभावविषय इति ततो (गामा इति) ग्रामाद्यभावस्तदनंतरम् (असीति) अस्याद्यभावविषयस्ततो हिरण्याद्यभावविषयस्तदनंतरं राजाद्यभावविषयस्ततो दासाद्यभाव-विषयस्ततो मात्रादिविषय स्तदनंतरमरिवैरिप्रभृतिविषयस्तदनंतरं मित्राद्यभावविषय- स्तदनंतरं विवाहपदोपलक्षितस्तत्प्रतिषेधविषयः तदनंतरं महप्रतिषेधविषयः ततो नृत्तपदोपलक्षितप्रेक्षाप्रतिषेधः तदनंतरं शकटादिप्रतिषेधविषयः ततो ऽश्वादिपरिभोगप्रतिषेधविषयः तदनंतरं स्त्रीगत्यादिपरिभोगप्रतिषेधविषयः। ततः सिंहादिश्वापदविषयः तदनंतरं शाल्याद्युपभोगप्रतिषेध विषयस्ततः स्थाण्वादिप्रतिषेधविषयस्तदनंतरं गर्तादिप्रतिषेधविषय स्ततो दंशाद्यभावविषयस्ततोऽह्यादिवि-षयस्तदनंतरं ग्रह इतिग्रहदण्डादिविषयस्ततो युद्ध इति युद्धपदोपलक्षितो डिम्बादिप्रतिषेधविषयः सूत्रदण्डकस्ततो रोगइति रोगपदोपलक्षितो दुर्भूतादिप्रतिषेधविषयस्तदनंतरं स्थितिसूत्रं ततोऽनुषञ्जनसूत्रमिति॥

संप्रति उत्तरकुरुभाविपमकपर्वतवक्तव्यतामाह--

कहिणं भंते! उत्तरकुराए जमगा नामं दुवे पव्वता पण्णता? गोयमा! नीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसं जोयणसत्ते चत्तारिय सत्तभागे जोयणसहस्स आबाधाए सीताए महाणतीए उभओ कूले एत्थ णं उत्तरकुराए जमगा णाम दुवे पव्वता पण्णता एगमेगेणं जोयणसहस्सउड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइजाइं जोयणसयाइं उवेहेणं मूले एकमेकं जोयणसहस्सं आयामविक्खंभेणं मज्झे अद्धट्ठमाइं जोयणसताइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पंचजोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं मूले तिण्णि जोयण- सहस्साइं एकं वा बहुं जोयणसयं किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं दो जोयणसहस्साइं तिण्णि य वावत्तरे जोयणसत्ते किंचि विसेसूण परिक्खेवेणं उवरिं पण्णरस एक्कासीते जोयणसते किंचि विसेसाहिया परिक्खेवेणं पण्णत्ता मूलविच्छिण्ण मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाण-संठिता सव्वकणगामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा पत्तेयं २ पउ मवरवेतिया परिक्खत्ता पत्तेयं २ वणसंडपरिक्खित्ता वण्णओ दोण्णं वि तेसिणं जमगपव्वयाणं उप्पिं बहुस

मरमणिज्ज भूमिभागे पण्णत्ते वण्णओ जाव आसयंति।

क्व भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ ? भगवानाह गौतम ! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षिणात्याच्चर- मान्ताच्चरम रूपात् पर्यन्तादष्टौ योजनशतानि चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंश दधिकानि चतुरश्च योजनस्य सप्त भागान अबाधया कृत्वा अपान्तराले मुत्तवेति भावः। अत्रांतरे शीताया महानद्याः पूर्वपश्चिमयोर्दिशोरुभयोः कूलयोरत्र एतस्मिन् प्रदेशे यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ। तद्यथा एकः पूर्वकूले एकः पश्चिमकूले प्रत्येकंयोजनसहस्रमुच्चैस्त्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि ऊर्द्धाधेन अवगाहेन मेरुव्यतिरेकेण शेषशाश्वतपर्वतानां सर्वेषामपि शेषेणोच्चैस्त्वापेक्षया चतुर्भागस्यावगाहभावात् मूले एकं योजनसहस्रं विष्कम्भः (१०००) मध्ये अर्द्धशतोनाष्ट योजनशतानि (७५०) उपरि पञ्चयोजनशतानि (५००) मूले त्रीणि योजनशतानि एकं च द्वाषष्टं द्वाषष्ट्यधिकं योजनशतं किश्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ (३१६२) मध्ये द्वे योजनसहस्रे त्रीणि योजनशतानि द्वासप्तत्यधिकानि (२३७२) किञ्चिद्विशेषाधिकानिपरिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ ! उपरि एकं योजनसहस्रं पञ्चशतानि एकाशीतीनि एकाशीत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि (१५८१) परिक्षेपेण एवं च तौ मूले विस्तीर्णौ मध्ये संक्षिप्तौ उपरि तनुकावत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितौ (सव्वकणगमया इति) सर्वात्मना कनकमयौ (अच्छा जाव पडिरूवा इति) प्राग्वत् तौ च प्रत्येकं २ पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्तौ प्रत्येकं २ वनखण्डपरिक्षिप्तौ पद्मवेदिका वर्णको वनखण्डवर्णकश्च जगत्युपरि पद्मवरवेदिकावनखण्ड- वर्णकवत् वक्तव्यः (जमकपव्वयाणमित्यादि) यमकपर्वतयोरुपरि प्रत्येकं बहुसमरणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः भूमिभागवर्णनं च ''से जहा नामए आलिंगपुक्खरेइ वा'' इत्यादि प्राग्वत् तावद्वक्तव्यं यावद्वाणमंतरा देवा देवीउ य आसयंति सयंति जाव पच्चणुब्भवमाणा विहरंति॥

तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ पासायवडेंसका पण्णता तेणं पासायवडेंसका वावट्ठि जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चतेणं एकतीसं जोयणाइं कोसं च विदखंभेणं अब्भुग्गतभूसित वण्णाओ भूमिभगाओ उल्लोत्ता दो जोयणाइं मणिपेढियाओ उवरि सीहासणा सपरिवारा जाव जमगा चिट्ठंति।

(तेसिणमित्यादि) तयोर्बहुसमरमणीययोर्भूमिभागयोर्बहु मध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः। तौ च प्रासादावतंसकौ द्वाषष्टियोजनानि अर्द्धयोजनं चोर्द्धमुच्चैस्त्वेन एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं चैकं विष्कम्भेन ''अब्भुग्गयं भूसिय पहसियाइवे'' त्यादि यावत् पडिरूवा इति प्रासादावतं-सकवर्णनमुल्लोचवर्णनं भूमिभागवर्णनं मणिपीठिकावर्णनं सिंहासनवर्णनं विजयदूष्यवर्णनमङ्कुशवर्णनं दामवर्णनं च निरवशेषं प्राग्वद्वक्तव्यं नवरमत्र मणिपीठिकायाः प्रमाणमायामविष्कम्भाभ्यां द्वे योजने बाहल्येन एकं योजनं शेषं तथैव (तेसिणं सिंहासणाणमित्यादि) तयोः सिंहासनयोः प्रत्येकं (अवरुत्तरेणंति) अपरोत्तरस्यां वायव्यामित्यर्थः उत्तरपूर्वस्यां च दिशि अत्र एतासु तिसृषु दिक्षु यमकयोर्यमकनाम्नो र्यमकपर्वतस्वामिनोर्देवयोः प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्णां सामानिक- सहस्राणां योग्यानि चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। एवमेतेन क्रमेण सिंहासनपरिवारो वक्तव्यो यथा प्राक् विजयदेवस्य (तेसिणमित्यादि) तयोः प्रासादावतंसकयोः प्रत्येकमुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानि इत्याद्यपि प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावत् सयसहस्सपत्तगा इतिपदम्।

सम्प्रति नामनिबन्धनं पिपृच्छिषुरिदमाह-

से केणट्ठे णं भंते एवं वुच्चंति जगमा पव्वया २ गोयमा ! जमगेसु णं पव्वतेसु तत्थ २ देसे २ तहिं २ बहूउ खुड्डियाउ वावीउ जाव विलवंतियाउ तासुणं खुड्डा खुड्डिया जाव पिलवंतियासु बहूइं उप्पलाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं जमगप्पभाइं जमगवण्णाइं जमगा एत्थ णं दो देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति तेणं तत्थ पत्तेयं २ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव जमगाणं पव्वयाणं जमिगाण य रायहाणीणं अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव पालेमाणा विहरंति। से तेणट्ठेणं गोयमा एवं वुच्चइ जमगपव्वया २ अदुत्तरं चेणं गोयमा। जाव णिच्चा।

अथ केनार्थेन केन कारणेन एवमुच्यते यमकपर्वतो यमकपर्वता- विति भगवानाह गौतम ! यमकपर्व्वतयोःणमिति वाक्यालंकारे क्षुल्लिकासु वापीषु पुष्करिणीषु यावद्विलपंक्तिषु बहूनि उत्पलानि यावत्सहस्रपत्राणि यमकप्रभाणि यमका नाम शकुनिविशेषास्तत्प्रभाणि तदाकाराणि एतदेव व्याचष्टे यमकवर्ण्णभानि यमकसदृशवर्ण्णानीत्यर्थः यमकौ च यमकनामानौ च तत्र तयोर्यमकपर्वतयोः स्वामित्वेन द्वौ देवौ महर्द्धकौ यावन्महाभागौ पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तौ च तत्र प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणा- मग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणामभ्यन्तरमध्य बाह्यरूपाणां यथासंख्यमप्यादश द्वादशदेव-सहस्रसंख्याकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षक-देवसहस्राणां (जमगपव्व- याणां जमगाण य रायहाणीयमिति) स्वस्य स्वस्य यमकपर्वतस्य स्वस्या यमिकाभिधाया राजधान्या अन्येषां च बहूनां वानमन्तराणां देवानां देवीनां च स्वस्वयामिकाभिध राजधानी-वास्तव्यानामाधिपत्यं यावद्विहरतः यावत्करणात् ''पारेवच्चं सामित्तं भट्टित्तमित्यादि'' परिग्रहस्ततो यमकाकारय-मवर्णोत्पलादियोगात् यमकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च तौ यमकपर्वतावित्युच्यते। यथा चाह (सेएणट्ठेणमित्यादि)।

संप्रति यमकाभिधराजधानीस्थानम्।

कहिणं भंते जमगाणं देवाणं जमगाओ नाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ। गोयमा ! जमगाणं पव्वयाणं उत्तारणंति तिरि यमसंखेज्जदीवसमुद्दे वितिकमित्ता अण्णम्मि जंबूद्दीवे २ वार सजोयणसहस्साइं उगाहित्ता एत्थ णं जमगाणं देवाणं जमिगाओ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ वारसजोयणसहस्साइं जहा विजयस्स जाव महिड्ढिया।

जमगा देवाः क्व भदन्त। यमकयोर्देवयोः संबन्धिन्यौ यमिके नामराजधान्यौ प्रज्ञप्ते भगवानाह गौतम। यमकपर्वतयोरुत्तरतोऽन्यस्मिन् असंख्येयतमे जम्बूद्वीपे २ द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य अत्रांतरे यमकदेवयोः संबंधिन्यौः यमकराजधान्यौः प्रज्ञप्ते ते चाविशेषेण विजयराजधानीसदृश्यौ वक्तव्ये जी० ३ प्रति०॥

संप्रति ह्रदवक्तव्यतामभिधित्सुराह-

जंबूमंदरउत्तरेणं उत्तरकुराए कुराए पंचमहद्दहा पण्णत्ता तंजहा नीलवंतदहे एरावणदहे उत्तरकुरुदहे चंददहे माल वंतदहे।

नीलवंतमहाह्रदो विचित्रचित्रकूटपर्वतसमवक्तव्यताभ्यां यम-

काभिधानाभ्यां स्वसामाननामदेवावासाभ्यां पर्व्वताभ्यामनन्तरं द्रष्टव्यस्ततो दक्षिणतः शेषाश्चत्वार इति एते च सर्वेऽपि प्रत्येकं दशभिर्दशभिः काञ्चनकाभिधानैर्योजनशतोच्छ्रितैर्योजन शतमूल-विष्कम्भै, पञ्चाशद्योजनमानमस्तकविस्तारैः स्वसमान नामदेवाधि-वासैः प्रत्येकं दशयोजनान्तरैः पूर्वापरव्यव स्थितैर्गिरिभिरुपेता एतेषां च विचित्रकू टादिपर्वतह्रदनिवासिदेवानामसंख्येयतमजम्बूद्वीपे द्वादशयोजन- सहस्रप्रमाणास्तन्नामिका नगर्यो भवन्तीति ॥

नीलवद्ह्रदादीनां विशेषवर्णकः ।

कहि णं भंते । उत्तरकुराए २ नीलवंतद्दहे नाम दहे पण्णत्ते । गोयमा ? जमगाणं पव्वयाणं दाहिणेणं अट्ठाचोत्तीसे जोयणसये चत्तारि सत्तभागे जोयणस्स अबाधाए सीताए महाणतीये बहुमज्झदेसभाए एत्थणं उत्तरकुराए २ नलवंतद्दहे नामं दहे पण्णत्ते उत्तरदक्खिणाए पाईपडीणवित्थिण्णे एगं जोयणसहस्सं आयामेणं पंचजोयणसयाइं विक्खंभेणं दसजोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे रयत्तामत्तकूले चउक्कोणे समतीरे जाव पडिरूवे उभओपासिं दोहि य पउमवरवेतियाहिं दोहिं वणसंडेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते दोण्हविण्णओ नीलवंतद्दहस्स णं तत्थ २ जाव बहवेत्ति सोमाणपडिरूवका पण्णत्ता वण्णओ भाणियव्वो तोरणेत्ति ॥

क्व भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु नीलवन्तह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः? भगवानाह गौतम ! यमकपर्वतयोर्दक्षिणत्याच्चरमान्तादर्वाक् दक्षिणाभिमुखमष्टौ चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि चतुरश्च सप्त भागान् योजनस्य अबाधया कृत्वेति गीयते प्रपान्तराले मुक्त्वेति भावः । अत्रान्तरे शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे (एत्थणंति) एतस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु नीलवत् ह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः स च किं विशिष्ट इत्याह उत्तरदक्षिणायतः प्राचीनापाचीनविस्तीर्णः उत्तरदक्षिणाभ्यामवयवाभ्यामायतः उत्तरदक्षिणायतः प्राचीनापाचीना-भ्यामवयवाभ्यां विस्तीर्णः प्राचीनापाचीनविस्तीर्णः । एकं योजनसहस्रमायामेन पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भतः दशयोजनान्युद्वेधेन उण्डत्वेन अच्छस्फाटिकवद्बहिर्निर्मलप्रदेशः श्लक्ष्ण, श्लक्ष्णपुद्गल-निर्मापितबहिःप्रदेशः । तथा रजतमयं रूप्यमयं कूलं यस्यासौ रजतमयकूल इत्यादि विशेषणकदम्बकं जगत्युपरि वाप्यादिवत्। तावद्वक्तव्यं यावदिदं पर्यन्तपदं ''पडिहत्थभमंतमच्छकच्छ - पअणेगसउणमिहुणपरिपरिए इति '' (उभयेपासेत्यादि) स च नीलवन्नामह्रदः शीताया महानद्या उभयोः पार्श्वयोः बहिर्विनिर्गतः स तथाभूतः सन् उभयोः पार्श्वयोर्द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां द्वितीये पार्श्वे *द्वितीयया पद्मवरवेदिकया इत्यर्थः । एवं द्वाभ्यां वनखण्डाभ्यां सर्वतः* सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः पद्मवरवेदिका-वनखण्डवर्णकश्च प्राग्वत् । (नीलवंत दहस्स णं तत्थ तत्थेत्यादि) नीलवद्ह्रस्य णमिति वाक्यालंकारे तत्र देशे तस्य २ देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहूनि त्रिसोपसनप्रतिरूपकाणि प्रतिशिष्टरूपकाणि त्रिसोपानानि प्रज्ञप्तानि वर्णकस्तेषां प्राग्वद्वक्तव्यः । (तेसिणमित्यादि) तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतः प्रत्येकं २ तोरणं प्रज्ञप्तं (तेणंतोरणाइत्यादि) तोरणवर्णनं पूर्ववत्तावद्वक्तव्यम् यावद्गहवो ''सयसहस्सपत्तगा'' इति पदम् ॥

तस्सणं नीलवंतद्दहस्सणं दहस्स बहुमज्झिदेसभाए एत्थ णं एगे महं पउमे पण्णत्तेजोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं दसजोयणाइं उव्वहेणं दो कोसे उसिते जलंतीतो सातिरेगाइं दसजोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते तस्सणं पउमस्स अयमेतारूपे वण्णावासे पण्णत्ते तंजहा वइरामता मूलारिट्ठामते कंदे वेरुलिया मएणालेवेरुलियामता बाहिरपत्ता जंबूणयमया अब्भंतरपत्ता तव णिज्जमया केसरा कणगामई कण्णिया नाणामणिमया पुक्खलत्थिरया साणं कण्णिया अर्द्धजोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेस परिक्खेवेणं कोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामई अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा तीसेणं कण्णियाए उवरिं बहुसमरमणिज्जदेसभाए पण्णत्ते जाव मणीहिं तस्सणं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं एगे महं भवणे पण्णत्ते कोसं च आयामेणं अद्धकोसं च विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगक्खंभसतस ण्णिविट्ठं समावण्णओ । तस्स णं भवणस्स तिदिसं ततो दारा पण्णत्ता तं जहा पुरच्छिमेणं दाहिणेणं उत्तरेणं तेणं दारा पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं से ताव कणगथूमियागा जाव वणमालाउत्ति तस्सणं भवणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जभूमिभागं पण्णत्ते से जहानामए आलिंगपुक्खरेति वा जाव मणीणं वण्णओ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं मणिपेढिया पण्णत्ता पंचधणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसताइं बाहल्लेण सव्वमणामणिमती ।

(तस्सणमित्यादि) तस्स नीलवन्नाम्नो ह्रदस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महदेकं पद्मं प्रज्ञप्तं योजनमायामतो विष्कम्भतश्च अर्द्धं योजनं बाहुल्येन दशयोजनानि उद्वेधेन उण्डत्वेन जलपर्यंतात् द्वौ क्रोशावुच्छ्रितं सर्वाग्रेण सातिरेकाणि दशयोजनानि प्रज्ञप्तानि । तस्य पद्मस्य अयं वक्ष्यमाण एतद्रूपोऽनन्तरमेव वक्ष्यमाण स्वरूपो वर्णावासो वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तस्तद्यथा वज्रमयं मूलं रिष्टरत्नमयः कन्दो वैडूर्यरत्नमयो तालः वैडूर्यरत्नमयानि बाह्यपत्राणि जम्बूनदमयानि अभ्यन्तरपत्राणि तपनीयमयानि केसराणि कनकमयी पुष्करकर्णिका नानामणिमयी पुष्करस्थिबुका (साणंकण्णिकाअद्धमित्यादि) सा कर्णिका अर्द्धयोजनमायामविष्कम्भाभ्यां क्रोशमेकं बाहुल्यतः सर्वात्मना कनकमयी अच्छा यावत्प्रतिरूपा यावत् करणात् ''सण्हा घट्ठामट्ठा *नरिया इत्यादि परिग्रहः '' (तीसेण कन्नियाए इत्यादि) तस्याः* कर्णिकाया उपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तस्तद्वर्णनं च ''सेजहानामएआलिंगपक्खरेइवा'' इत्यादिनी ग्रन्थेन विजयराजधान्या उपकारिकालयनस्येव तावद्वक्तव्यं यावन्मणीनां स्पर्शवक्तव्यता परिसमाप्तिः (तस्सणमित्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महदेकं भवनं प्रज्ञप्तं क्रोशमायामतोऽर्द्धक्रोशं विष्कम्भतो देशोनं क्रोशमूर्द्धमुच्चैस्त्वे अनेकस्तम्भशतसन्नि विष्टमित्यादि तद्वर्णनं विजयराजधानीगतसुधर्मासभाया इव तावद्वक्तव्यं यावदिदं सूत्रं (दिव्वतुडियसद्दसंपण्णदितेइति) तदनन्तरं सूत्रमाह (सव्वरयणामए इत्यादि) सर्वात्मना रत्नमयं अच्छं यावत्

प्रतिरूपं यावम् करणात् 'सण्हे जण्हे घट्ठे मट्ठे इत्यादि परिग्रहः ॥ (तस्सणमित्यादि) तस्य भवनस्य त्रिदिशि त्रिसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकद्वारभावेन त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा पूर्वस्यामुत्तरस्यां दक्षिणस्यां (तेणं दारा इत्यादि) तानि द्वाराणि पञ्चधनुःशतानि ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि विष्कम्भेन तावदेव अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानीति बावः प्रदेशेन (सेयावरकणगयूभियागा इत्यादि) द्वारवर्णनं विजयद्वारस्येव तावदे विशेषेणावसातव्यं यावत् 'वण्णमालाओ' इति वनमालावक्तव्यता परिसमाप्तिः (तस्सणमित्यादि) तस्य भवनस्य उल्लोचान्तर्बहुसमरमणीये भूमिभागे मणीनां वर्णगन्धरसस्पर्शवर्णनं प्राग्वत् (तस्सेत्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे मणिपीठिका प्रज्ञप्ता पञ्चधनुःशतानि आयामविष्कम्भाभ्यामर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि बाहुल्येन सर्वात्मना मणिमयी अच्छा यावत् प्रतिरूपा इति प्राग्वत् ॥

तीसेणं मणिपेढियाए उवरिं एत्थणं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते देवसयणिज्जस्स वण्णओ से णं पउमे अण्णे णं अट्ठसत्तेणं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेणं पउमाणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते तेणं पउमा अद्धजोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं कोसं बाहल्लेणं दसजोएणाइं उव्वेहेणं कोसं ऊसिया। जलं ताओ सातिरेगतिं दसजोयणातिं सव्वग्गेणं पण्णत्ताइं पउमाणं अयमेतारूवे वण्णोवासे पण्णत्ते तंजहा वतिरामयामूला जाव णाणामणिमया पुक्खलत्थिगया ता उणं कण्णिया उक्कोसं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणसपरिक्खेवेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामईउ अच्छउ जाव पडिरूवाउ तासि णं कण्णिया उप्पिं बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा जव मणीणं वण्ण गंधो फासो तस्सणं पउमस्स अवरुत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थणं नीलवंत दहकुमारस्स देवस्स चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तारि पउम साहस्सीउ पण्णत्ताउ एवं सव्वो परिवारो नवरिपउमाणं भाणियव्वो । सेणं पउमे अण्णेहिं तेहिं पउमपरिक्खेवेणं सव्वो समंता संपरिक्खित्ते तंजहा अब्भिंतरएणं मज्झिमएणं बाहिरएणं अब्भिंतरएणं पउमपरिक्खेवे बत्तीसं पडमसयसाहस्सीउ पण्णत्ताउ मज्झिमएणं पउमपरिक्खेवो चत्तालीसं उपउमसयसाहस्सी ओपण्णत्ताओ बाहिरएणं पउमपरिक्खेवे अडयालीसं पउमसयसाहस्सीउपण्णत्ताओ एवोमव स पुव्वावरेणं एगा पउमकोडीउ वीसं च पउमसतसहस्सा भवंती तिमक्खाया। से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चति नीलवंतद्दहे ? गोयमा ! णीलवंतद्दहेणं तत्थ २ जाव उप्पलेति जाव सयसहपत्ताइं नीलवंतप्पभातिं नीलवंतवण्णाभातिं नीलवंतद्दहकुमारेय एत्थ सो चेव गमो जाव णीलवंतद्दहे २ ॥

(तीसेणमित्यादि) तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं देवशयनीयं प्रज्ञप्तम्। शयनीयवर्णकः प्राग्वत्। (तस्सणमित्यादि) तस्य भवनस्योपरि अष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि इत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यम् यावत् बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति मूलत इदमधिकं दृश्यते'' (सेणमित्यादि) तत् पद्मम्न्येन अष्टशतेन पद्मानां तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्राणां तस्य मूलपद्मप्रमाणास्यार्द्धं तदर्द्धं तच्च तदुच्चत्वप्रमाणं च तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणं तदर्द्धोच्चप्रमाणं मात्रा येषां तानि तथा तेषां सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येवन संपरिक्षिप्तं तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव तेषां भावयति (पउमा इति) तानि पद्मानि प्रत्येकमर्द्धयोजनमायामविष्कम्भाभ्यां क्रोशमेकं बाहुल्येन दशयोजनानि उद्वेधेन क्रोशमेकं जलपर्यन्तादुच्छ्रितं सातिरेकाणि दशयोजनानि सर्वाग्रेण (तेसिणमित्यादि) तेषां पद्मानामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः वज्रमयानि मूलानि रिष्टरत्नमयाः कन्दा वैडूर्यरत्नमया नालाः तपनीयमयानि बाह्यपत्राणि जाम्बूनदमयानि बाह्यपत्राणि तपनीयमयानि केसराणि कनकमय्यः कर्णिका नानामणिमयाः पुष्करास्थिभागाः (ताउणं कन्नियाउ इत्यादि) ताः कर्णिकाः क्रोशमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धं क्रोशं बासुल्येन सर्वात्मना कनकमय्यः अच्छाउ जाव पडिरूव इति प्राग्वत् । (तेसिणं कन्नियाणमित्यादि) तासां कर्णिकानामुपरि बहुसमरणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः तस्य वर्णकः पूर्ववत्तावद्वक्तव्यो यावन्मणीनां स्पर्शः (तस्सणमित्यादि) तस्य मूलभूतस्य पद्मस्य अपरोत्तरेण अपरोत्तरस्यामेवमुत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां सर्वसंकलनया तिसृषु दिक्षु अत्र नीलवतो नागकुमारेन्द्रस्य नागनुमारराजस्य चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि पद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि (एतेणमित्यादि) एतेनानन्तरोदितेनाभिलापेन यथा विजयस्य सिंहासनपरिवारोऽभिहितस्तथा इहापि पद्मपरिवारो वक्तव्यस्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि चतसृणामग्रमहिषीणां योग्यानि चत्वारि महापद्मानि दक्षिणपूर्वस्याम भ्यन्तरपर्षदोऽष्टानां देवसहस्राणां योग्यान्यष्टौ पद्मसहस्राणि दक्षिणस्यां मध्यपर्षदो दशानां देवसहस्राणां योग्यानि दशपद्मसहस्राणि दक्षिणापरस्यां बाह्यपर्षदो द्वादशानां देवसहस्राणं द्वादश पद्मसहस्राणि पश्चिमायां सप्तानामनीकाधिपतनां योग्यानि सप्तमहापद्मानि प्रज्ञप्तानि तदनन्तरं तस्य द्वितीयस्य पद्मपरिवेषस्य पृष्ठतश्चतसृषु दिक्षु षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां योग्यानि षोडशपद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । तद्यया चत्वारि पद्मसहस्राणि पूर्वस्यां दिशि चत्वारि पद्मसहस्राणि पश्चिमायां चत्वारि पद्मसहस्राणि उत्तरस्यामिति। तदेवं मूलपत्रस्य त्रयः पद्मपरिवेषा अभूवन् अन्येऽपि च त्रयो विद्यन्ते इति तत्प्रनिपादनार्थमाह । (सेणंपउमे इत्यादि) तत्पद्ममन्यैरनन्तरोक्तपरिक्षेपत्रिकव्यतिरिक्तैस्त्रिभिः पद्मपरिवेषैः सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्तम् । तद्यथा अभ्यन्तरेण मध्यमेन बाह्येन च । तत्राभ्यन्तरपद्मपरिक्षेपे सर्वसंख्यया द्वात्रिंशत् पद्मशतसस्राणि प्रज्ञप्तानि (३२०००००) मध्यमे परिक्षेपे चत्वारिंशत् पद्मशतसस्राणि (४००००००) बाह्य पद्मपरिक्षेपे अष्टाचत्वारिंशत्पद्मशत सस्राणि प्रज्ञप्तानि (४८०००००) एवमेव अनेनैव प्रकारेण (सव्वावरेणंति) सह पूर्वं यश्च येन वा सपूर्वं तत् अपरं च सपूर्व्वापरं तेन सपूर्वापरेण पूर्वापरसमुदायेनेत्यर्थः एका पद्मकोटि विंशतिश्च पद्मशतसस्राणि भवतीत्याख्यातं मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिरेतेन सर्वतीर्थकृतामविसं वादिवचनतामाह । कोट्यादिका च संख्या स्वमीलितायां द्वात्रिंशतादिशतसस्राणामेकत्र मीलने यथोक्तसंख्याया अवश्यं भावात् संप्रति नामान्वर्थं पिपृच्छिषुराह। अथ केनार्थेन एवमुच्यते नीलवद्ध्रदो नीलवद्ध्रद इति भगवानाह । गौतम। नीलवद्ध्रदे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहूनि उत्पलानि पद्मानि यावत् सहस्रपत्राणि नीलवद्ध्रदप्रभाणि नीलवन्नाम ह्रदाकाराणि नीलवद्वर्णानि नलिवन्नाम वर्षधरपर्वतस्तद्वर्णानीति भावः । नीलवन्नामा च नागकुमारेन्द्रो नागकुमार-

राजो महर्द्धिक इत्यादि यमकदेववन्निरवशेषं वक्तव्यं यावद्विहरति। ततो यस्मात्तद्रतानि पद्मानि नीलवद्वर्णानि नीलवन्नामा च तदधिपतिर्देवस्तत्तस्त द्योगादसौ नलिवन्नामा ह्रदः। तथाचाह (से एएणट्ठेणमित्यादि) कहिणं भंते। नीलवंतहस्सेत्यादि राजधानीविषयं सूत्रं समस्तमपि प्रसग्वत्॥

नीलवद्ह्रदे काञ्चनपर्वताः।

नीलवंतेणं पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं दस दस जोयणातिं अबाहाए एत्थणं दस दस कंचणगपव्वता पण्णत्ता तेणं कंचणगपव्वता एगमेगं जोयणसतं उड्ढं उच्चत्तेणं पणवीसं २ जोयणातिं उवेहेणं मूले एगमेगं जोयणसतं विक्खंभेणं मज्झे पण्णत्तरिं जोयणाइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं मूले तिण्णि सोले जोयणसते किंचिविसेसाहिता। परिक्खेवेणं मज्झे दोण्णि सत्ततीसे जोयण सतं किंचि विसेसाहिया। परिक्खिवेण्णं मूले विच्छिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणं संठिया सव्वकंचणमया अच्छा पत्तेयं २ पउमवउतिइं पत्तेयं २ वणखंडपरिक्खित्ता तेसिणं कंचणगपव्वताणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे आसयत्ति पत्तेयं २ पासायवडेंसगा सद्धा बावट्ठिं जोयणिया उड्ढं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खिंभेणं मणिपेढिया दो जोयणिया सिंहासणा सपरिवारा। से केट्ठणे णं भंते एवं वुच्चइ कंचणगपव्वया गोयमा। कंचणगेसूणं पव्वतेसु तत्थ २ वाविउ उप्पलाइं जाव कंचणवण्णा भातिं कंचणगा जाव देवा महिड्ढिया जाव विहरंति उत्तरेणं कंचणगाणं कंचणित्ताउ रायहाणीओ अण्णम्मि जंबू तहेव सव्वं भाणियव्वं।

(नीलवंतदहस्सणमिति) नीलवतोह्रदस्य (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं) पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि प्रत्येकं दशयोजनान्य बाधया कृत्वेति गम्यते ऽपान्तराले मुक्त्वेतिभावः। दश दश काञ्चनपर्वता दक्षिणोत्तर श्रेण्योः प्रज्ञप्ताःते काञ्चनपर्वताः प्रत्येकमेकं योजनशतमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन पंञ्चविंशति र्योजनान्युद्वेधेन मूले एकं योजनशतं विष्कम्भेन मध्येपञ्चसप्ततिर्योजनानि विष्कम्भेन उपरि पञ्चाशद्योजनानि विष्कम्भेन मूले त्रीणि षोडशोत्तराणि योजनशतानि (३१६) किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण मध्ये द्वे सप्तविंशे योजनशते (२२७) किंचिद्विशेषोने परिक्षेपेण उपरि एकमष्टापञ्चाश तद्योजनशतं (१५८) किञ्चिद्विशेषोनं परिक्षेपेण अत एव मूले विस्तीर्णा मध्ये संक्षिप्ता उपरि तनुका अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थिताः सर्वात्मना कनकमयाः (अच्छा जावपडिरूवाइति) प्राग्वत्। तथा प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः। प्रत्येकं वनखण्डपरिक्षिप्ताश्च पद्मवरवेदिका वनखण्डवर्णनं प्राग्वत्। (तेसिणमित्यादि) तेषां काञ्चनपर्वतानामुपरि बहुसमरमणीया भूमिभागाः प्रज्ञप्ताः तेषां च वर्णनं प्राग्वत् तावद्वक्तव्यं यावत्तृणानां मणीनां च शब्दवर्णनमिति (तेसिणमित्यादि) तेषां च बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः प्रासादवक्तव्यता सर्वा यमकपर्वतोपरि प्रासादावतंसकयोरिव निरवशेषा वक्तव्या यावत्परिवारसिंहासन वक्तव्यता परिसमाप्तिः संप्रति नामान्वर्थं पिपृच्छिषुराहसेकेणट्ठेणमित्यादि प्राग्वन्नवरं यस्मादुत्पलादीनि काञ्चननामानश्च देवास्तत्र परिवसन्ति तत्काञ्चनप्रभोत्पलादियोगात् काञ्चनकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च ते काञ्चनका इति तथाचाह। सेएणट्ठेणमित्यादि काञ्चनिकाश्च राजधान्यो यामिका राजधानीवद्वक्तवया॥

उत्तरकुरुह्रदाः॥

कहि णं भंते उत्तरकुराए उत्तरकुरुद्दहे नाम दहे पण्णत्ते? गोयमा! नीलवंतद्दहस्स २ दाहिणेणं अट्ठाचोत्तीसे जोयणसए एवं चेव गमोणेयव्वो जो णीलवंतद्दहस्स सव्वेसिं सरिसके दहसरिसनामा य देवा सव्वेसिं पुरच्छिमपच्चच्छिमे णं कंचणपव्वता दस २ पकप्पमाणा उत्तरेणं रायहाणी अण्णम्मि जंबूद्दीवे चंददहे एरावणद्दहे मालवंतद्दहे एवं एक्केक्को णेयव्वो॥

क्व भदन्त! जम्बूद्वीपे उत्तरद्वीपे उत्तरकुरूषु कुरूषु उत्तरकुरुह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः। भगवानाह। गौतम! नीलवतो ह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमपर्यन्तादष्टौ चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि चतुरश्च योजनस्य सप्त भागा अबाधया कृत्वेति गम्यते शीताया महानद्या बहुदेशभागे अत्र उत्तरकुरुर्नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः यथैव प्राक् नीलवतो ह्रदस्य आयामविष्कम्भोद्वेध पद्मवरवेदिका वनखण्डत्रिसोपान-प्रतिरूपक-तोरणमहामूलभूतपद्माष्टशतपद्मपरिवारपद्माशेष परिधि-परिक्षेपत्रय वक्तव्यतोक्ता तथा अन्यूनानतिरिक्ता वक्तवया। (मूलटीकयोः पाठभेदः) नामकारणं पिपृच्छिषुरिदमाह ''से केट्ठेणं भंते इत्यादि प्राग्वत्'' नवरमुत्पलादीनि यस्मात् उत्तरकुरूह्रदप्रभाणि उत्तरकुरुह्रदाकाराणि तेन तानि तदाकारयोगात् उत्तरकुरुनामाऽत्र तत्र देवः परिवसति तेन तद्योगात् ह्रदोऽप्युत्तरकुरुः नचैवमितरेतराश्रयदोषप्रसङ्ग उभयेषामपि नाम्नादिकालं तथाप्रवृत्तेः। एवमन्यत्रापि निर्दोषता भावनीया। उत्तरकुरुनामा च तत्र देवः परिवसति तद्वक्तव्यता च नीलवन्नागकुमारवद्वक्तव्या ततोऽप्यसावुत्तरकुरूरिति। राजधानीवक्तव्यता काञ्चनपर्वतवक्तव्यता च राजधानीपर्यवसाना प्राग्वत्। चन्द्रह्रहवक्तव्यतामाह। (कहिणं भंते इत्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह–गौतम! उत्तरकुरुह्रदस्य दाक्षिणत्याच्चरमान्तादर्वाक् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशानि योजनशतानि चतुरश्च सप्तभागान् योजनस्य अबाधया कृत्वेति शेषः। शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे अत्र अस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु चन्द्रह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः। अस्यापि नीलव द्ध्रदस्येव आयाम - विष्कम्भो द्वेधपद्मवरवेदिकावनखण्डत्रिसोपानप्रतिरूपक - तोरणमूलभूतमहापद्माष्टशतपद्मपरिवारपद्माशेषपद्मपरिक्षेपत्रय वक्तव्यता वक्तव्या। नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव नवरं यस्मात् उत्पलादीनि चन्द्रह्रदप्रभाणि चन्द्रह्रदाकाराणि चन्द्रवर्णानि चन्द्रनामा च देवस्तत्र परिवसति तस्माच्चन्द्रह्रदाम्भो त्पलादियोगात् चन्द्रदेवस्वामिकत्वा-च्चन्द्रह्रद इति। चन्द्रारराजधानीं वक्तव्यता काञ्चनकपर्वतवक्तव्यता च राजधानीपर्यवसाना प्राग्वत्। सांप्रतमैरावतह्रदवक्तव्यतामाह। कहिणं भंते इत्यादि प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धं निर्वचनमाह। गौतम! चन्द्रह्रदस्य दाक्षिणात्या- चरमान्तादर्वाक् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशादियोजनशतानि चतुरश्च सप्त भागान् योजनस्याबाधया कृत्वेति शेषः। शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे अत्र एतस्मिन्नवकाशे ऐरावतह्रदो नाम ह्रद प्रज्ञप्तः। अस्यापि नीलवन्नाम्नो ह्रदस्येवायामविष्कम्भादि- वक्तव्यता पर्यवसाना वक्तव्या। अन्वर्थसूत्रमपि तथैव नवरं यस्मादुत्पलादीनि ऐरावणह्रदप्रभाणि ऐरावतो नाम हस्ती तद्वर्णानि च ऐरावतश्च नामा तत्र देव

परिवसति तेन ऐरावत ह्रद इति ऐरावतराजधानीवत् काञ्चनक–पर्वतवक्तव्यताऽपि राजधानीवक्तव्यता पर्यवसाना तथैव अधुना माल्यवन्नामह्रदवक्तव्यतामाह (कहिणं भंते इत्यादि) सुगमं भगवानाह गौतम ! ऐरावतह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाक् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशानि योजनशतानि चतुरश्च सप्त–भागान् योजनस्य अबाधया कृत्वेति शेषः। शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे अत्र एतस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु माल्य–वन्नामा ह्रदः प्रज्ञप्तः। स च नीलवद्ध्रदवत् आयामविष्कम्भादिना तावद्वक्तव्यो यावत् पद्मवक्तव्यतापरिसमाप्तिः। नामान्वर्यसूत्रमपि तथैव यस्मादुत्पलादीनि माल्यवद्ध्रदप्रभाणि माल्यवद्ध्रदाकाराणि माल्यवन्नामा वक्षस्कारपर्वतस्तद्वर्णानि तद्वर्णाभानि माल्यवन्नामा च तत्र देवः परिवसति तेन माल्यवद्ध्रद इति। माल्यवती राजधानी विजयाराजधानी वद्वक्तव्या काञ्चतकपर्वत–वक्तव्यतापर्यवसाना प्राग्वत्। जी० ३ प्रति०। (उत्तरकुरुगतजम्बू–सुदर्शनवर्णकोऽन्यत्र) उत्तरकुर्वधिपतौ देवे, पुं०।

अथोत्तरकुरुनामार्थं पिपृच्छिषुरिदमाह।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ उत्तरकुरा २ गोयमा ! उत्तरकुराए उत्तरकुरुणामं देवे परिवसइ महिड्ढिए जाव पलिओमट्ठिइए से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ उत्तरा २ उत्तरकुराए उत्तरकुरुणामं देवे परिवसइ महिड्ढिए जाव पलिओवमट्ठिई से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ उत्तरकुराए अदुत्तरं च णं जाव सासए।

से केणट्ठेणमित्यादि प्रतीतं नवरम् उत्तरकुरुनामाऽत्र देवः परिव–सति तेनेमा उत्तरकुरव इत्यर्थः। ज०२ वक्ष०। द्वाविंशतीर्थकृतो निष्क्रमणशिविकायाम्, स्त्री०। स०।

उत्तरकुरुकूड न०(उत्तरकुरुकूट) माल्यवद्वक्षस्कारपर्वतस्य तृतीये कूटे, स्था० ६ ठा०। मेरोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि, माल्यवद्वर्षधरपर्वत–स्य तृतीयं कूटं हिमवत्कूटप्रमाणं कूटसदृग्नामकश्चात्र। देवः। जं० ४ वक्ष०। महाविदेहे, गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्य चतुर्थे कूटे, स्था० १० ठा०। जं०।

उत्तरकुरुदह पुं०(उत्तरकुरुह्रद) उत्तरकुरुषु तृतीये ह्रदे, स्था० ६ ठा०। (तन्मानादिउत्तरकुरुशब्दे उक्तम्)॥

उत्तरकुरुमाणुसच्छरा स्त्री०(उत्तरकुरुमानुषाप्सरस्) उत्तरकुरुषु मानुषरूपासु अप्सरस्सु, प्रश्न० अध० ४ द्वा०।

उत्तरकूलग पुं०(उत्तरकूलग) वानप्रस्थतापसभेदेषु, यैर्गङ्गायामु–त्तरकूले एव वस्तव्यम्। नि०। भ०॥

उत्तरकोडि स्त्री०(उत्तरकोटि) गान्धारग्रामस्य सप्तम्यां मूर्छना–याम्, स्था० ७ ठा०।

उत्तरगंधारा स्त्री०(उत्तरगान्धारा) गान्धारग्रामस्य पञ्चम्यां मूर्च्छ–नायाम्, ॥ स्था० ७ ठा०॥

उत्तरगुण पुं०(उत्तरगुण) मूलगुणापेक्षया उत्तरभूता गुणा वृक्षशाखा इवोत्तरगुणाः। भ० ७ श० २ उ०। सर्वतः पिण्डविशुद्ध्यादिषु, देशतो दिग्व्रतादिषु, पंचा० ५ विव०।

शेषाः पिण्डविशुद्ध्याद्याः, स्युरुत्तरगुणाः स्फुटम्।
एषां चानतिचाराणां , पालनं ते त्वमी मताः ॥४७॥

शेषा उक्तमूलगुणेभ्योऽवशिष्टास्ते के इत्याह। पिण्डविशुध्द्याद्या इति पिण्डविशुद्धिराहारादिनिर्दोषता सा आदौ येषां भेदानां ते पिण्डविशुद्ध्याद्याः सप्ततिभेदा इत्यर्थः। उत्तरगुणा उत्तरगुणसंज्ञकाः स्फुटं प्रकटं स्युर्भवेयुरिति संबन्धस्तत्रादिशब्दगृहीता भेदास्त्विमे ''पिंडविसोही समिई, भावणपडिमा य इंदियनिरोहो। पडिलेहण–गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणंतु'' धर्म० ३ अधि० (पाठान्तरेण) ''पिंडस्स जा विसोही, समिईओ भावणा तवो दुविहा। पडिमा अभिग्गहा वि य, उत्तरगुण मो वियाणाहि'' १ सूत्र० श्रु० १४ अ०। (एतद्व्याख्या पायच्छित्तशब्दे) पिण्ड विशुद्ध्यादयः सार्थाः स्व–स्वस्थाने) महाव्रताव्रतेषु, सूत्र०। व्य० नि०चू०। पंचा०। जीत०। आव०। (मूलगुणानामिवोत्तरगुणानामपि भङ्गो नेष्ट इत्यतिचार–शब्दे उक्तम्)

उत्तरगुणकप्पिय पुं०(उत्तरगुणकल्पिक)

आहारउवहिसेज्जा, उग्गमउप्पादणेसणा सुद्धा।
जो परिगिण्हति णियतं, उत्तरगुणकप्पिओ स खलु ॥

य आहारोपधिशय्या उद्गमोत्पादनैषणा। शुद्धा नियतं निश्चितं परिगृह्णाति स खलु उत्तरगुणकल्पिको मन्तव्यः। इत्युक्तरूपे उत्त–रगुणयुक्तसामाचारीभेदे, वृ० ६ उ०।

उत्तरगुणपच्चक्खाण न०(उत्तरगुणप्रत्याख्यान) मूलगुणापेक्षया उत्तरभूता गुणा वृक्षशाखा इवोत्तरगुणास्तेषु प्रत्याख्यानमुत्तरगुण–प्रत्याख्यानम्। प्रत्याख्यानभेदे, ॥ तद्भेदा यथा–

उत्तरगुणपच्चक्खाणे णं कइविहे पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ता तंजहा सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे य देसुत्तरगुणपच्चक्खाणे य। सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा! दसविहे पण्णत्ते तंजहा अणागयमइक्कंतं, कोडिसहीयं नियंठियं चेव। सागारमणागारं परिमाणकडं निरवसेसं ॥

अनागतादीनां च व्याख्याऽन्यत्र ॥ भ० ७ श० २ उ०। ''मूलगुण–उत्तरगुणा, जे मे णाराहिया पमाएणं। तमहं सव्वं णिंदे, पडिक्कमे आगामिस्साणं'' इति रूपम्। आतु०। पंचा०। आ०क०।

उत्तरगुणपडिसेवणा स्त्री०(उत्तरगुणप्रतिसेवना) उत्तरगुणविषये प्रतिसेवनायाम्, ''इदाणिं उत्तरगुणपडिसेवणा भण्णति ते उत्तरगुणापिंडविसोहाइ अणेगविहा तत्थ पिंडे ताव दप्पियं कप्पियं च पडिसेवणं भण्णत्ति'' ॥ नि० चू० १उ०(सर्वं पडिसेवणाशब्दे वक्ष्यते)

उत्तरगुणलद्धि स्त्री०(उत्तरगुणलब्धि) उत्तरगुणाः पिण्डविशुद्ध्या–दयस्तेषु चेह प्रक्रमात्तपो गृह्यते तस्य लब्धिः। तपोलब्धौ, ''उत्तरगुणलद्धिंखममाणस्स विज्जाचारणलद्धिणाम लद्धि समुपज्जइ''। भ० २० श० ६ उ०॥

उत्तरगुणसद्धा स्त्री०(उत्तरगुणश्रद्धा) प्रधानतरगुणाभिलाषे, पंचा०।

उत्तरगुणासेवणासिक्खग त्रि०(उत्तरगुणासेवनाशिक्षक) उत्तर–गुणविषये सम्यक् पिण्डविशुद्ध्यादिकान् गुणान् आसेवमाने, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

उत्तरचावाला स्त्री०(उत्तरचावाला) नगरभिदे, ताहे सामी उत्तर–चावालं उच्चती तत्थ अंतरा कणखलं नाम उत्तमपदम्।'' आ०चू०२ अ०। ततः स्वामी उत्तरचावालां गतः तत्र पक्षेक्षपणपारणे नागसेन–गृहे क्षीरभोजनेन प्रतिभानानि प्रादुर्भूतानि। आ०क०। आ०म० द्वि०॥

उत्तरचूल न०(उत्तरचूड) वन्दनकं दत्वा शब्देन मस्तकेन वन्दे इत्यभिधानरूपे एकोनविंशत्तमे बन्दनकदोषे, ध०२ अधि०। आव०।

उत्तरचूलिया स्त्री०(उत्तचूलिका) ''दाऊणं वंदणगं मत्थए वंदामि

चूलियाए सा'' यद्वन्दनकं दत्वा पश्चान्महता शब्देन मस्तकेन वन्दे इति यत्र ब्रूते तदुत्तरचूलिका मन्तव्या। वृ०३ उ०। आव० चू०।

उत्तरज्झयण न०(उत्तराध्ययन) बहुव० उत्तराणि प्रधानानि अध्ययनानि रूढिवशाद्विनयश्रुतादीनि षट्त्रिंशदुत्तराध्ययनानि सर्वाण्यपि चाध्ययनानि प्रधानान्येव तथापि अमून्येव रूढ्या उत्तराध्ययनशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धानि। नं०। अङ्गबाह्यकालिक–श्रुतभेदे, पा०।

उत्तराध्ययनशब्दनिरुक्तिं निर्युक्तिकृद्विस्तरेणाह।

णामं ठवणा दविए, खेत्तदिसा ताव खेत्तपण्णवए।
पइकालं संचयपहा–णणाणयकमगणणतो भावे॥
जहण्णं उत्तरं खलु, उक्कोसं वा अणुत्तरं होइ।
सेसाइं अणुत्तराइं अणुत्तराइं च णामाइं॥

(नामोत्तरव्याख्या उत्तरशब्दे दर्शिता) उत्तरस्थानैकविधत्वेन यदत्र प्रकृतं तदाह।

कम उत्तरेण पगयं,आयारस्से व उवरिमाइं तु।
तम्हाउ उत्तरा खलु, अज्झयणा होंति णायव्वा॥

क्रमापेक्षमुत्तरं क्रमोत्तरं शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासस्तेन प्रकृतमधिकृतमिह च क्रमोत्तरेणेति भावः क्रमोत्तरेणै–तानि हि श्रुतात्मकत्वेन क्षायोपशमिकभावरूपाणि तद्रूपस्यैवाचाराङ्गस्योपरिपाठ्यमानत्वेनोत्तराणीत्युच्यन्ते अत आह (आयारस्से व उवरिमाइं तु) एवकारो भिन्नक्रमस्ततश्चाचारस्यो–पर्यवोत्तरकालमेवेमानीति हृदि विपरिवर्तमानतया प्रत्यक्षाणि पठितवन्त इति गम्यते। तुर्विशेषणे विशेषश्चायं यथा शय्यंभवं या–वदेष क्रमस्तदाचारतस्तु दशवैकालिकोत्तरकालं पठ्यन्त इति (तम्हाउत्ति) तुः पूरणे यत्तदोश्च नित्यमभिसंबन्धस्ततो यस्मादाचा–रस्योपर्येवमानि पठितवन्तस्तस्मादुत्तराण्युत्तरशब्दवाच्यानि खलुर्वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा तत उत्तराण्येषाध्ययनानि विनय–श्रुतादीनि भवन्ति ज्ञातव्यानि अन्यच्च बोद्धव्यानि प्राकृतत्वाच्च लिङ्गव्यत्यय इति गाथार्थः। आह यद्याचारस्योपरि पठ्यमानत्वेनोत्तराण्यमूनि तत्किमन्त एवाचारस्य प्रसूतिरेषामपि तत एवाभिधेयमपि यदेव तस्य तदेवान्यथेति–संशयापनोदायाह।

अंगप्पभवा जिणभा–सिया य पत्तेयबुद्धसंवाया।
बंधे मोक्खे य कथा, छत्तीसं उत्तरज्झयणा॥

अङ्गाद् दृष्टिवादादेः प्रभव उत्पत्तिरेषामित्यङ्गप्रभवानि यथा परीषहाध्ययनम्। वक्ष्यति हि ''कम्मप्पवायपुव्वे, सत्तरसे पाहुड–प्मि जं सुत्तं। सणयं सोदाहरणं, ते चेव इहंपि नायव्वं'' जिन– भाषितानि यथाद्रुमपत्रकाध्ययनं तद्धि समुत्पन्नकेवलेन भगवता महावीरेण प्रणीतं यद्वक्ष्यति ''*तन्निस्साए भगवं, सीसाणं देइ अणुसट्ठिं ति*'' चः समुच्चये प्रत्येकबुद्धाश्च संवादश्च प्रत्येकबुद्धसंवा–दस्तस्मादुत्पन्नानीति शेषः। तत्र *प्रत्येकबुद्धाः कपिलादयस्तेभ्य* उत्पन्नानीति। यथा कापिलायाध्ययनम् वक्ष्यति हि ''धम्मट्ठयागीअं'' तत्र कपिलेनेति क्रमः संवादसंगतः प्रश्नोत्तर–वचनरूपस्तत उत्पन्नानि यथा कैशीगौतमीये वक्ष्यति च ''गोतम–केसीओ या, संवाय समुट्ठियं तु जम्हेयमित्यादि'' ननु स्थविरैरेव–रचितान्येवैतानि यत आह चूर्णिकृत्। ''*सुत्तं थेराण अत्तागमोत्ति*'' नन्वध्ययनेऽप्युक्तम् ''जस्स जे तिया सिस्सा उप्पतिया एवेणइयाए कम्मयाए पारिणामिया चउव्विहाए बुद्धीए उववेया तस्स तत्तियाइं पइन्नगसहस्साइं'' प्रकीर्णकानि चामूनि तत्कथं जिनदेशितत्वादि न विरुध्यते। उच्यते तथा स्थितानामेव जिनादिवचसामिह दृष्टत्वेन तद्देशितत्वाद्युक्तमिति न विरोधः। बन्धः आत्मकर्मणोरत्यन्तं संश्लेषस्तस्मिन् मोक्षस्तयोरेवात्यन्तिकः पृथग्भावस्तस्मिंश्च कृतानि कोऽभिप्रायो यथा बन्धो भवति यथा च मोक्षस्तथा प्रदर्शकानि। तत्र बन्धे यथा ''आणाअणिद्देसकरेत्ति'' मोक्षे यथा ''आणानिद्देसकरेत्ति'' आभ्यां यथाक्रमञ्चाविनयो मिथ्यात्वाद्यविनाभूतत्वेन बन्धस्य विनयश्चान्तरतपोरूपत्वेन मोक्षस्य कारणमिति तत्वतस्तौ यथा भवतस्तदेवोक्तं भवति मोक्षप्राधान्येऽपि बन्धस्य प्रागुपादानमनादित्वोपदर्शनार्थम्। यद्वा ''बंधे मोक्खेयत्ति'' च शब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च। ततो बन्ध एव सति यो मोक्षस्तस्मिन् कृतान्यनेनानादिमुक्तमन्तव्यवच्छेदश्च कृतस्तत्र हि मोक्षशब्दार्थानुपपत्तिः सकलानुष्ठानवैकल्यापत्तिश्च किमेवं कतिचिदेव नेत्याह। षट्त्रिंशत्संख्यानि कोऽर्थः सर्वाण्येतदुत्तरध्ययनानीति गाथार्थः। उत्त० १अ०।

। तानि च षट्त्रिंशदमूनि॥

छत्तीसउत्तरज्झयणा पण्णत्ता तंजहा। विणयसुयं १ परीसहा २ चाउरंगीज्जं ३ असंखयं ४ अकामसकाममरणीज्जं ५ पुरिस–विज्जा ६ उरभिज्जं ७ काविलियं ८ नमिपव्वज्जा ९ दुमपत्तयं १० बहुसुयपुज्जा ११ हरिएसज्जिं १२ चित्तसंभूयं १३ उसुयारिज्जं १४ सभिक्खुगं १५ समाहिट्ठाणाइं १६ पायसमणिज्जं १७ संजइज्जं १८ मियाचारिया १९ अणाहपव्वज्जा २० समुद्दपालि–ज्जं २१ रहनेमिज्ज २२ गोयमकेसीज्जं २३ समितीओ २४ जन्नतिज्जं २५ सामायारी२६ खलुकेज्जं २७ मोक्खमग्गगई २८ अप्पमाओ २९ तवोमग्गी ३० चरणविही ३१ पमायट्ठाणाइं ३२ कम्मपयडी ३३ लेसज्झयणं ३४ अणगारमग्गे ३५ जीवाजीवविभत्ती य ३६॥ छत्तीसं उत्तरज्झयणा॥

स०। व्य०। आव० ४ अ०।

उत्तरज्झाय पुं०(उत्तराध्याय) उत्तरा प्रधाना अध्याया अध्ययनानि। उत्तराश्च ते अध्यायाश्च उत्तराध्यायाः। विनयादिषु षट्त्रिंशत्युत्तराध्ययनेषु, ''छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धिए सम्मसत्तिवेत्ति'' उत्त० ३६ अ०॥

उत्तरङ्गकच्छ पुं०(उत्तरार्द्धकच्छ) कच्छविजयस्य वैताढ्यपर्वतेन विभक्तस्य उत्तरार्द्धे,॥

कहि णं भंते जंबूद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे उत्तरङ्गकच्छे णामं विजए पण्णत्ते? गोयमा! वेअड्ढस्स पव्वयस्स उत्तरेण णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेण मालवंतस्स वक्खार–पव्वयस्स पुरच्छिमेणं *चित्तकूडस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चच्छि–*मेणं एत्थ णं जंबूद्दीवे दीवे जाव सिज्झंति तहेव णेअव्वं जं० ४ वक्ष०। टीकासुगमत्वान्न गृहीता॥ (सिन्धुकूटाद्यन्यत्र) कच्छविजयविभाजकस्य वैताढ्यपर्वतस्याष्टानां कूटानामष्टमे कूटे, जं० ४ वक्ष०।

उत्तरङ्गभरह न०(उत्तरार्द्धभरत) वैताढ्यपर्वतेन द्विधा विभक्तस्य भरतवर्षस्य उत्तरार्द्धे॥

अथोत्तरार्द्धभरतवर्षं क्वास्तीति प्रश्नसूत्रमाह॥

कहि णं जंबुद्दीवे उत्तरङ्गभरहे णामं वासे पण्णत्ते ? गोयमा ! चूल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं वेअड्ढस्स पव्वयस्स उत्तरे णं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं। एत्थ णं जंबूद्दीवे दीवे उत्तरङ्गभरहे णामं वासे पण्णत्ते पाईणपडीणायए उदीणदाहि–णादिविच्छिण्णे पलिअंकसंठिए दुहा लवणसमुद्दपुट्ठे पुरच्छिमिल्लाए कोडीए पुरच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चच्छिमिल्लाए जाव पुट्ठे गंगासिंधुहिं महाणईहिं तिभागपविभत्ते दोण्णि अट्ठतीसे जोयणसए तिण्णि अ एगुणवीसइभागे जोयणस्स विक्खंभेणं तस्स वाहापुरच्छिमपच्चच्छिमेणं अट्ठारसवाणउए जोयणसए सत्तए एगुावीसइभागे जोयणस्स अट्ठभागं च आयामेणं तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणायया दुहा लवण–समुद्दं पुट्ठा तहेव जाव चोद्दसजोयणसहस्साइं चत्तारि अ एक्कहत्तरे जोयणसए छच्च एगुणवीसइभाए जोयणस्स किंचि–विसेसूणे अयामेणं पण्णत्ता। तीसे धणुपिट्ठे दाहिणेणं चोद्दसजोयणसहस्साइं पंचअट्ठावीस–जोयणसए एक्कारसयएगुणवीसइभाए जोयणस्स परिक्खेवेणं ॥

दक्षिणार्द्धभरतसमगमकत्वेन व्यक्तं नवरं (पलिअंकत्ति) पर्यङ्क–वत्संस्थितं संस्थानं यस्य तत्तथा द्वे शते अष्टात्रिंशदधिके त्रींश्चै–कोनविंशतिभागान् योजनस्य विष्कम्भेनेनि अस्य शरस्तु प्राच्य–शरसहितस्वक्षेत्रविस्तारो योजनतः [५२६] कलावतस्तु– [१००००] अथास्य वाहे आह इत्यादि तस्योत्तरार्द्धभरतश्च वाहा पूर्वोक्तरूपा पूर्वापरयोर्दिशोरैकैकाष्टादशयोजनशतानि द्विनवति–योजनाधिकानि सप्त चैकोनविंशतिभागान् [९/१९] योजनस्य अर्द्धभागं चैकोनविंशतितमभागस्य योजनस्याष्टत्रिंशत्तमभागमि–त्यर्थः ॥ अत्र करणं यथा गुरुधनुः पृष्टं कलारूपं [२७६०४३]अस्मात् [२०४१३२] कलारूपं लघुधनुः पृष्टं शोध्यते जातं [७१९११] अर्द्धे कृते जातं कला [३५९५५]कलार्द्धं च तासां योजनानि [१८९२] कलाः [७] कलार्द्धं चेति एतच्चैकैकस्मिन् पार्श्ववाहाया आयाममानम्। अथास्य जीवामाह (तस्सजीवाउत्तरेणमित्यादि) तस्य जीवा प्रागुक्तस्वरूपा उत्तरेणक्षुद्रहिमवद्गिरिदिशिप्राचीनायता द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्ट्वा तथैव दक्षिणार्द्धभरतजीवा सूत्रादेव ''जावत्ति पच्चच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठेति'' पर्यन्तं सूत्रं ज्ञेयमिति भावः (चउद्दसत्ति) चतुर्दशयोजनसहस्राणि चत्वारि चैकसप्तत्य–धिकानि योजनशतानि षट् चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य किञ्चिद्विशेषोनाः प्रज्ञप्ताः। अत्र करणं यथा कलीकृतो जम्बूद्वीप–व्यासः [१९] शून्यं [५] इषूनितः[१९५] शून्यं [४] इषुगुणः[१८९] शून्यं [८] चतुर्गुणः[७५६] शून्यं[८] एष उत्तरभरतार्द्धजीवावर्गः। अस्य वर्गमूलेलब्धाः कलाः [२७४९५४] शेषकलांशाः [२९७८९४] छेदः [५४९९०८] लब्धकलानां [१९] भागे योजनं [१४४७१] [९/१९] उद्धरितैः शेषकलांशैर्मध्ये प्रक्षिप्तैः षष्टिकलाः किञ्चिद्विशेषोना विवक्षिता इति। अथास्तु धनुः पृष्टमाह– [तीसेइत्यादि] तस्या उत्तरार्द्धभरतजीवाया दक्षिणापार्श्वे धनुः पृष्टम्। अर्थादुत्तरार्द्धभरतस्य चतुर्दशयोजनसहस्राणि पञ्चशता–न्यष्टाविंशत्यधिकानि एकादश चैकोनविंशतिभागान् योजनपरि–क्षेपेण परिधिना प्रज्ञप्तमिति शेषः। अत्र करणम्। यथा उत्तरार्धभ–रतस्य कलीकृत इषुः [१००००] अस्य वर्गः [१] शून्यं [८] स च षड्गुणः [६] शून्यं [८] सोऽप्युत्तरार्द्धभरतजीवावर्गेण [७५६-००००००००] इत्येवंरूपेण मिश्रितो जातः (७६२) शून्यम् (८) एष उत्तरार्द्धभरतस्य जीवावर्गः। अस्य मूले लब्धाः कलाः (२७६०६३) शेषकलांशाः (२६२१५१) छेदराशिः (५५२०२६) कलानामेकोनविंशत्या भागे (१४५२२८) [१/१९] अत्र शेषांशानामविवक्षितत्वान्नैकादशकलानां साधिकत्वसूचा। अत्र दक्षिणार्द्धभरतादिक्षेत्रसंबन्धिशरादिचतुष्कस्य सुखेन परिज्ञानाय यन्त्रस्थापना,।

क्षेत्रनाम	शर प्रमाणम्	वाहाप्रमाणम्	जीवाप्रमाणम्	धनुः पृष्टम्–
दक्षिणभरतार्द्धं	२३८ योजन भागः १९।१९	*	९७४८ योजन भागः १२।१९	९७६६ योजन भागः ११।१९
वैताढ्यपर्वतः	२८८ योजन भागः १३ ९	४८८ योजन भागः १६।१९	१०७२० योजन भागः १२।१९	१०४४३ योजन भागः १५।१९
उत्तरभरतार्द्धं	२५६ योजन भागः ६।१०	१८९ योजन भागः २।१९	१४४७१ योजन भागः ६।१९	१४५२८ योजन भागः ११।१९

यथा एषां च शरादीनां करणविधिप्रसङ्गतो ऽत्र दर्शितः अतः परमुत्तरत्र क्षुद्रहिमवदादिसूत्रेषु स न दर्शयिष्यते विस्तरभयात् तज्जिज्ञासुना तु क्षेत्रविचारवृत्तितोऽवसेय इति ॥

अथोत्तरार्द्धभरतस्वरूपं पृच्छति ॥

उत्तरभरहस्स णं भंते ! वासस्स केरिसए आयरभावपडोयारे पण्णत्ते गोयमा ! बहुसमरमाणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते से जहा णामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव कित्तिमेहिं चेव ।अकित्तिमेहिं चेव। उत्तरङ्गभरहे णं भंते ! वासे मणुआणं केरिसए आयारभा–वपडोयारे पण्णत्ते ? गोयमा ! तेणं मणुया बहुसंघयणा जाव अप्पेगइआ सिज्झंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ॥

उत्तरभरहस्सणमित्यादि व्यक्तम्। अत्रैव मनुष्यस्वरूपं पृच्छति ''उत्तरङ्गभरहे'' इत्यादि इदमपि प्राग्वत् यावदेके केचन सर्वदुः खानामन्तं कुर्वतीन्ति नन्वत्रत्यमनुष्याणामर्हदाद्यभावेन मुक्तयङ्ग–भूतधर्मश्रवलाद्यभावात् कथं मुक्तयवाप्तिः सूत्रस्यौचित्यमश्नुति इति चेदुच्यते चक्रवर्तिकाले अप्रावृतगृहाद्वयावस्थानेन गच्छदा–गच्छद्दक्षिणार्द्धभरतवासिसाध्वादिभ्यो वाऽन्यदापि विद्याधर–श्रमणादिभ्यो वा जातिस्मरणादिना वा मुक्तयङ्गावाप्तेर्मुक्तय–वाप्तिसूत्रमुचितमेवेति ॥ (ऋषभकूटवक्तव्यताऽन्यत्र) वैताढ्य–

पर्वतस्याष्टमकूटस्योत्तरार्द्धभरतकूटस्य स्वामिदेवे च। जं० १ वक्ष०।

उत्तरड्ढभरहकूड न०(उत्तरार्द्धभरतकूट) जम्बूद्वीपे वैताढ्यपर्वत-स्याष्टमे कूटे, उत्तरार्द्धभरतनाम्नो देवस्य वासभूतं कूटमुत्तरार्द्धभरतकूटम् मध्यमपदलोपी समासः। तदधिपे च। जं० १ वक्ष०। (अस्य मानादिवैताढ्यपर्वतवक्तव्यतायां वक्ष्यते)

उत्तरड्ढभरहा स्त्री०(उत्तरार्द्धभरता) उत्तरार्द्धभरतकूटस्य स्वा–मिन उत्तरार्द्धभरतकूटनाम्नो राजधान्याम्॥ जं० १ वक्ष०।

उत्तरड्ढमाणुस्सक्खेत्त न०(उत्तरार्द्धमानुष्यक्षेत्र) मनुष्यक्षेत्रस्या–र्द्धमर्द्धमनुष्यक्षेत्रमुत्तरं च तदर्द्धमनुष्यक्षेत्रम्। मनुष्यक्षेत्रस्योत्तरे–ऽर्द्धे, तत्र भवोऽप्युत्तरार्द्धमानुष्यक्षेत्रः उत्तरार्द्धमनुष्यक्षेत्रभवे ''उत्तरड्ढमाणुस्स-क्खेत्ताणं छावट्ठिं चंदा य भासिं तु''। स०।

उत्तरण न०(उत्तरण) बाहुजङ्घादिना सकृद् वा नद्यादेः पारागमने स्था० ५ ठा०। नावादिना संघट्टादिभिः प्रकारैर्नद्यादेः पारगमने, वृ० ६ उ०। (संयतैर्यथा नदी उत्तीर्य्यते तथा णई शब्दे वक्ष्यते) अवतरणे च॥ ''उत्तरणं चंदसूराणं'' भगवतो महावीरस्य वन्दनार्थमवतरणमाकाशात्स-मवसरणभूम्यां चन्द्रसूर्य्ययोः शाश्वतविमानोपेतयोर्वभूवेदमप्याश्च-र्य्यमेवेति॥ स्था० १० ठा०॥

उत्तरदारियणक्खत्त न०(उत्तरद्वारिकनक्षत्र) उत्तरं द्वारं येषामस्ति तानि उत्तरद्वारिकाणि तानि च नक्षत्राणि। उत्तरस्यां दिशि गम्यते येषु तादृशेषु नक्षत्रेषु, ''साइयाणं सत्तणक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता तंजहा साई विसाहा अणुराहा जिट्ठा मूलो पुव्वासाढा अत्तराआसाढा'' स्था० ७ ठा०।

उत्तरदाहिणायय त्रि०(उत्तरदक्षिणायत) उत्तरदक्षिणस्यामायते, ''उत्तरदाहिणायए पाईण वित्थिण्णे। जं० ४ वक्ष०।

उत्तरपओगकरण न०(उत्तरप्रयोगकरण) निष्पत्तेरुत्तरम्। निष्पादनरूपे जीवप्रयोगकरणभेदे, आ०चू० २अ० (तस्य स्वरूपं करणशब्दे प्रपञ्चतो वक्ष्यते)

उत्तरपगइ स्त्री०(उत्तरप्रकृति) ज्ञानावरणदर्शनावरणादीनां पञ्च–नवाद्यासु अवान्तरप्रकृतिषु भेदेषु, उत्त० ३३ अ०। यथा ज्ञानावरणीयं पञ्चधा मतिश्रुतावधिमनः पर्य्यायकेवलावरणभेदात्। तत्र केवलावारक सर्वघाति। शेषाणि देशसर्वघातीन्यपि दर्शनावरणीयं नवधा निद्रापञ्चकदर्शनचतुष्टयभेदात्। तत्र निद्रापञ्चकं प्राप्तद–र्शनलब्ध्युपयोगोपघातकारि दर्शनचतुष्टयं तु दर्शनलब्धिप्राप्तेरेवा–त्रापि केवलदर्शनावरणं सर्वघाति शेषाणि तु देशतः। वेदनीयं द्विधा सातासातभेदात्। मोहनीयं द्विधा दर्शनचारित्रभेदात् तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिधा मिथ्यात्वादिभेदात् बन्धतस्त्वेकविधम्। चारित्रमोहनीयं षोडशकषायनवनोकषायभेदात् पञ्चविंशतिविधम्। अत्रापि मिथ्यात्वं संज्वलनवर्ज्यं द्वादशकषायाश्च सर्वघातिन्यः। शेषास्तु देशघातिन्य इति। आयुष्कं चतुर्धा नारकादिभेदात्। नाम द्विचत्वारिंशद्भेदं गत्यादिभेदात् त्रिनवतिभेदं चोत्तरोत्तरप्रकृतिभे–दात्। गतिश्चतुर्द्धा। जातिरेकेन्द्रियादिभेदात्पञ्चधा। शरीराण्यौदारिकादिभेदात्पञ्चधा औदारिकवैक्रियाहारकभेदादङ्गोपाङ्गं त्रिधा। निर्म्माणनाम सर्व्वजीवशरीरावयवनिष्पादकमेकधा। बन्धननाम औदारिक-कर्म्मवर्गणैकत्वापादकं पञ्चधा। संघातनामौदारिकादि–कर्म्मवर्गणारचनाविशेषसंस्थापकं पञ्चधा। संस्थानानि चतुरस्रादि षोढा। संहननं वज्रऋषभनाराचादि षोढैव स्पर्शोऽष्ट धा। रसः पञ्चधा। गन्धो द्विधा। वर्णः पञ्चधा। आनुपूर्व्वी नारकादिचतुर्द्धा। विहायोगतिः प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् द्विधा। अगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्-वासप्रत्येकसाधारणत्रसस्थावरशुभाशुभसुभगदुर्भगसुस्वरदुः स्वरसूक्ष्म-बादरपर्याप्तकापर्याप्तकस्थिरास्थिरत्वानादेययशः कीर्त्ययशः कीर्तितीर्थकरनामानि प्रत्येकमेकविधानीति। गोत्रमुच्चनीचभेदात् द्विधा। अन्तरायं दानलाभभोगोपभो–गवीर्यभेदात्पञ्चधा। आचा०१ श्रु० २ अ० १उ०॥

उत्तरपच्चच्छिमिल्ल पुं०(उत्तरपश्चिम) वायव्यकोणे, चं० १ पाहु०॥

उत्तरपुरच्छिम पुं०(उत्तरपौरस्त्य) ईशानकोणे, जी० १ प्रति०। भ०। रा०। क०। औ०। ''तीसे णं मिहिलाए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थणं माणिभद्दे णामं चेइए होत्था'' सू०प्र०१ पाहु०। चं०प्र०॥

उत्तरपुरच्छिमा स्त्री०(उत्तरपौरस्त्या) ऐशान्यां दिशि, स्था० १० ठा०।

उत्तरपोट्ठवया स्त्री०(उत्तरप्रौष्ठपदा) उत्तरभाद्रपदा नक्षत्रे, असमासे ''उत्तरा प्रोट्ठवया–उत्तरा प्रौष्ठपदा'' सूर्य्य०४ पाहु०॥

उत्तरफग्गुणी स्त्री०(उत्तरफाल्गुनी) फलति–फलनिष्पत्तौ फले–र्गुक् च उणा० उनन् गुक् च गौरा० ङीष् – कर्म०। अभिजिदादिषु एकोनविंश नक्षत्रे, जं० ७ वक्ष०। वाच०। ''उत्तरफग्गुणी णक्खत्ते दुतारे पण्णत्ते'' स्था०२ ठा०। उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्य ''अर्यमा देवता'' ज्यो०॥

उत्तरफग्गुणीसणिच्छरसंवच्छर पुं०(उत्तरफाल्गुनीशनैश्चरसंव–त्सर) शनैश्चरसंवत्सरभेदे, यत्र उत्तरफल्गुनीनक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपयाति। जं० ७ वक्ष०।

उत्तरबलिस्सह पुं०(उत्तरबलिकसह) स्थविरमहागिरेः प्रथमे शिष्ये, ततो निर्गते स्वनामख्याते गणे च। ''थेरेहिंताणे उत्तरबलि–स्सहेहिंतो तत्थ णं उत्तरबलिस्सहे नामं गणे निग्गए'' कल्प०॥ महावीरस्य नवानां गणानां द्वितीये गणे, ''उत्तरबलियस्स य गणो उत्तरबलिस्सहगणेत्ति वा'' द्विधा रूपोपलब्धिः अनुवादानुपलम्भान्न तत्त्वनिश्चयः॥ स्था० ९ ठा०।

उत्तरभद्दवया स्त्री०(उत्तरभद्रपदा) अभिजिदादीनां नक्षत्राणां षष्ठे नक्षत्रे, ज्यो०। ''उत्तरभद्दवयाणक्खत्ते दुतारे पण्णत्ता'' स्था० ९ ठा०। जं०। (उत्तराभाद्रपदनक्षत्राणामभिवृद्धिर्देवनाविषयः सर्वो णक्खत्तशब्दे वक्ष्यते)

उत्तरभद्दवयासणिच्छरसंवच्छर पुं०(उत्तरभद्रपदाशनैश्चर-संवत्सर) शनिश्चरसंवत्सरभेदे, यत्र संवत्सरे उत्तरभाद्रपदानक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपादत्ते॥ जं० ७ वक्ष०।

उत्तरमंदा स्त्री०(उत्तरमन्दा) मध्यमग्रामस्य प्रथममूर्छनायाम्, स्था० ७ ठा०। गन्धारस्वरान्तर्गतायां सप्तम्यां मूर्छनायाम्, जी०।

उत्तरमंदामुच्छिया स्त्री०(उत्तरमन्दामूर्च्छिता) मूर्च्छन मूर्च्छा सा संजाता अस्या इति मूर्च्छिता उत्तरमन्दया मूर्च्छिता उत्तरमन्दामूर्छिता। उत्तमन्दाभिधया गन्धारस्वरान्तर्गतया सप्तम्या मूर्छनया मूर्च्छितायां वीणायाम्, ''से जहा णामए वयालियाए वीणाए उत्तरमंदामुच्छियाए अंके सुपइट्ठियाए'' इह गन्धारस्वरान्तर्गतानां च मूर्च्छनानां मध्ये सप्तमी उत्तरमन्दा मूर्च्छना किलातिप्रकर्षप्रा–प्ता ततस्तदुपादानं तया च मुख्यवृत्त्या वादयिता मूर्छितो भवति परमभेदोपचाराद्वीणापि मूर्च्छितेत्युक्ता। जं० १ वक्ष०। जी०॥

उत्तरमहुरा स्त्री०(उत्तरमथुरा) नगरीभेदे, ''तेणं कालेणं तेणं समएणं उत्तरमहुरा णामं णयरी होत्था। तत्थ य धणधन्नणा णाम–णिकणगरयणपडिपुन्नो जउणामसेट्ठी परिवसइ'' दर्श०। (व्रजान्तर्गता मथुरा नगर्यै वेयमुत्तरमथुरेति संभाव्यते)

उत्तरवाय पुं०(उत्तरवाद) उत्तरवादे, ''आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवादे इह माणवाण, वियाहिते'' आचा०१ श्रु० ६ अ०१उ०।

उत्तविउव्विय त्रि०(उत्तरवैक्रिय) भवधारणीयापेक्षयाऽन्यस्मिन्, ''उत्तरवेउव्वियं रूवं विउव्वइ'' रा०। कल्प०।

उत्तरवि(वै)कुर्विक त्रि० उत्तरमुत्तरकालभावि न स्वाभाविकमि-त्यर्थः विकुर्विकं विकुर्वणं विकुर्वणेन निर्वृत्तं वैकुर्विक विशिष्टवस्त्र-विशिष्टाभरणसुश्लिष्टतत्परिधानसमाचीनकुङ् कुमाद्युपलेपनज-नितमतिमनोहारि रामणीयकं यस्य स तथा। व्य० १ प्र० २ उ०। उत्तरकालभाविवस्त्राभरणादिविचित्राकृतभविभूषाभावित, ''दट्ठूण णडं काई उत्तरवेउव्वियं मयणखिन्ना'' वृ०६ उ०।

उत्तरवेउव्विया स्त्री०(उत्तरवैकुर्विकी) अपरभवान्तरवैरिमारक-प्रतिघातनार्थमुत्तरकालं या विचित्ररूपा वैक्रयिकी अवगाहना सा उत्तरवैकुर्विकी। शरीरावगाहनाभेदे, ॥ जी०१ प्रति०।

उत्तर(रा)सभा स्त्री०(उत्तरसभा) मध्यमग्रामस्य चतुर्थमूर्च्छना-याम्, स्था०७ ठा०॥

उत्तरसाला स्त्री०(उत्तरशाला) गृहविशेषे, ''जत्थ वा कीडापुव्वगच्छंति ण वसंति ते उत्तरसाला गिहा वत्तव्वा। जे वा पच्छा कीरंति ते उत्तरसाला गिहा अच्छा तिगादिमंडवो उत्तरसाला, हयगयाण वा साला उत्तरसाला, गिहाण इमं वक्खाणं गाहा'' ''मूल गिहमसंबद्धा'' गिहाय उत्तरा होंति। जत्थ व ण वसंति राया, पच्छा कीरंति जावण्णे'' नि०चू० ८ उ०।

उत्तरा स्त्री०(उत्तरा) नक्षत्रभेदे, तिस्र उत्तराः। उत्तरे फाल्गुन्यौ उत्तराऽऽषाढा। उत्तरा भाद्रपद् ''आषाढा उत्तरा चेव'' स्था०२ ठा०॥ ''पुव्वासाढा तहा उत्तरा चेव'' अनु०॥ (णक्खत्तशब्देव-क्तव्यता) मध्यमग्रामस्य तृतीयमूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा०। स्वनामख्याते दिग्भेदे, स्था०१० ठा०॥ रुचकपर्वतेऽष्टानां दिक्कु-मारीणां षष्ठ्यां दिक्कुमार्य्याम्, स्था० ८ ठा०॥ अहिच्छत्रास्थे वापीरूपे तीर्थभेदे, ''ससिकरणिम्मल-सलिलपडिपुण्णा उत्तराभिहाणा वावि तत्थ मज्झणे कए तवड्ढे मट्टिआले वेण कुट्ठीणं कुट्ठरोगोवसमो हवइ'' ती०॥ दिगम्बरमतप्रवर्तकस्य शिवभूतेर्भ-गित्याम्, विशे०। आ०म०द्वि०। तस्य वक्तव्यता वोडियशब्दे वक्ष्यते।

***उत्तरात्** अव्य० उत्तरदिग्देशकालविषये, । उत्तरमुत्तरस्मादुत्तर-स्मिन्नित्यर्थे, वाच०।

उत्तराणंदा स्त्री०(उत्तरानन्दा) ऊर्द्धलोकवास्तव्यानां दिक्कुमारीणां द्वितीयदिक्कुर्य्याम्, आ०क०।

उत्तरापह पुं०(उत्तरापथ) उत्तरा उत्तरस्यां पन्था अच् समा० उत्तरस्यां दिशि स्थिते पथि, देशभेदे च। उत्तरपथजन्मानः कीर्तयिष्यामि तानपि। कौलकाम्बोजगान्धारान्किरातान्बबरैः सह। वाच०। ''पूर्वदिसातो उत्तरापहं गतो'' आ०म० द्वि०। ''जहा उत्तरापह पच्छा दड्ढे तरुणं तणं उट्ठेइ'' आव० ६अ०। ''उत्तरापहे टंकणा णाम मेच्छा। आ०चू०२ अ०। आ०म०प्र०।

उत्तरायण न०(उत्तरायन) उत्तरा उत्तरस्यामयनं सूर्य्यादेः (पूर्व-पदात्संज्ञायाम्) पा० सूत्रेण णत्वम्। वाच०। सूर्य्यादेरुत्तरदिग्गमने, स्था० ३ ठा०। उत्तरं च तदयनम्। षण्मासात्मके सूर्य्यस्य सर्वा-भ्यन्तरमण्डलप्रवेशसमये, (तस्य सकरणवक्तव्यता अयणशब्दे उक्ता)।

उत्तरायणगय पुं०(उत्तरायणगत) सर्वाभ्यन्तरमण्डलप्रविष्टे कर्कसंक्रान्तिदिने, स०॥

उत्तरायणणियट्ट पुं०(उत्तरायननिवृत्त) उत्तरायणादुत्तरदिग्गमना-न्निवृत्तः। प्रारब्धदक्षिणायने, ''उत्तरायण णियट्टेण, सूरिए'' स्था० ३ ठा०। स०॥

उत्तरासंग पुं०(उत्तरासङ्ग) उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषे, भ०२ श०५ उ०''एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ'' आ०म०प्र०।

उत्तरासंगकरण न०(उत्तरासङ्गकरण) उत्तरीयस्य न्यासविशेषे, ''एगसाडिएणं उत्तरासंगकरणेणं एकत्तीकरणेणं'' ज्ञा०१ अ०।

उत्तरासाढा स्त्री०(उत्तराषाढा) क०स० अश्विन्यादिनक्षत्रेषु एक-विंशे नक्षत्रे, वाच०। अभिजिदादिषु अष्टाविंशे च नक्षत्रे, जं० ७ वक्ष०। ''उत्तरासाढाणक्खत्ते चउ तारे'' पं०सं०। स्था०। उत्तरा-षाढानक्षत्रस्य विष्वक्देवता। ज्यो०(णक्खत्तशब्देऽन्यत्)

उत्तरासाढासणिच्छरसंवच्छर पुं०(उत्तराषाढाशनैश्चरसंवत्सर) शनैश्चरसंवत्सरभेदे, यत्र उत्तराषाढानक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपादत्ते जं० ७ वक्ष०॥

उत्तराहुत्त त्रि०(उत्तराहूत) उत्तराभिमुखे, ''थोवावसेसियाए सज्झाए ठाइ उत्तराहुत्तो'' आव०४अ०।

उत्तरिज्ज(रिअ) न०(उत्तरीय) उत्तरस्मिन् देहभागे भवः। गहा-दित्वात् छः **''वोत्तरिया नीय तीय कृद्येज्ञः''** ॥८।१।४८॥ इत्युत्त-रीय शब्दे ईयभागस्य द्विरुक्तो जो वा। उत्तरिज्जं उत्तरीअं। प्रा०॥ उपरिकायाच्छादनवस्त्रे, ज्ञा० १ अ०। प्रश्न०। उत्तरासङ्गे, कल्प०। ज्ञा०। ''उत्तरिज्जयं विकड्ढमाणी''उपा०। ६ अ०। शय्याया उपर्य्याच्छादके प्रच्छदे, ''उत्तरिज्जं णामपाउरणं अहवा सेज्जाए उवरितलं प्रच्छदादि'' नि०चू०१५उ०।

उत्तरित्तए अव्य०(उत्तरीतुम्) उद्० तृ० तुमुन्। बाहुजङ्घादिना नद्यादिकं लङ्घयितुं सकृद् वा लङ्घयितुमित्यर्थे, ''दुक्खुत्तो तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा'' वृ०४ उ०।

उत्तरिय त्रि०(औत्तरिक) उत्तरःप्रधानः स एवौत्तरिकः। प्रधाने, स्था० १० ठा०।

उत्तरिल्ल त्रि०(औत्तराह) उत्तरस्मिन् कालादौ भवः उत्तरादाहञ० पा० उत्तर आहञ् ०। उत्तरकालादौ भवे, वाच०। ''उज्जुवालि-याए नइए तीरे उत्तरिल्ले कूले''आ०म०द्वि०॥ ''उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं उत्तरिल्लाणं णागकुमाराणं'' प्रज्ञा०२ पद।

उत्तरीकरण न०(उत्तरीकरण) अनुत्तरस्योत्तरस्य पुनः संस्कारद्वा-रेणोपरि करणमुत्तरीकरणम्। ध०२ अधि०। अनुत्तरमुत्तरं क्रियते इति उत्तरीकरणम् कृतिः कारणमिति, आव० ५ अ०। यस्याति-चारस्य पूर्वमालोचनादिकृतं तस्यैव पुनः सिद्धये कायोत्सर्गस्य करणे ''इच्छामि ठाउं काउस्सग्गं जो मे देवसिओ तस्सुत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं'' ध०२अधि०(उत्तरकरणशब्दे प्रपञ्चतो व्याख्यातम्)

उत्त(रु)रुट्ठ पुं०उत्तरो(रौ)ष्ठ उत्तर उपरितन ओष्ठो वा वृद्धिः। श्मश्रुणि, भमुहा अहरुट्ठा, उत्तरुट्ठा अह पुण एवं जाणिज्जा कल्प०

उत्ताड(ल)ण न०(उत्ताडन) उद् तड् णिच्० ल्युट्० आलिङ्गकु-स्तुम्बगोमुखीमर्दलानां वादने, रा०।

उत्ताडि(लि)ज्जंत त्रि०(उत्ताड्यमान) वाद्यमाने, आलिङ्गकुस्तु-म्बगोमुखीमर्दले, । उत्ताडिज्जताणं दद्दरियाणं कुडवाणं कालिसियाणं मडियाणं उत्तालिज्जताणं आलिंगणह कुतुंवीणं गोमुहीणं मद्दलाणं। रा०।

उत्ताण त्रि०(उत्तान) उद्गतस्तानो विस्तारो यस्य अभिग्रह विशेषादूर्ध्वमुखशयिते, पंचा० १८विव०। ध०। ऊर्द्धमुखे च

वाच० । तादृशे उदके, पुरुषजाते च । स्था० ४ ठा० (पुरुसजायशब्दे उत्तानसूत्रे प्रकटीभविष्यति)

उत्ताणग पुं०(उत्तानक) उत्तान एव उत्तानकः । पृष्ठतोऽर्द्धावनतादौ, आ०म०द्वि० । उच्चयवृक्षे, वाच० । ''जीवेणं भंते गब्भगहसमाणे उत्ताणए वा पासल्लए वा'' भ०१ श०७ उ०॥

उत्ताणणयणपेच्छणिज्ज त्रि०(उत्ताननयनप्रेक्षणीय) उत्तानैर्नयनैः प्रेक्षणीयम् । सौभाग्यातिशयादनिमिषैर्लोचनैः प्रेक्षणीये, ज्ञा०१ अ० नि० । उत्ताणणयणपेच्छणिज्ञा पासादीया दरसणिज्ञा अभिरूवा पडिरूवा, औ०॥

उत्ताणत्थ त्रि०(उत्तानार्थ) ६ ब०प्रगटार्थे, सूत्रादर्शेषु टीकायां तु दृष्ट इति कृत्वा लिखित उत्तानार्थश्च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ०

उत्ताणहत्थ त्रि०(उत्तानहस्त) प्रतिग्रहीतमूर्ध्वमुखहस्ते, ''किवणो विव उत्ताणहत्थाओ'' स्त्रियः कृपणवत्सर्वेभ्यो मातापितृबन्धुकु–टुम्बादिभ्यो विवाहादावादानहेतुत्वात्, तं०॥

उत्ताणिय पुं०(उत्तानिक) अभिग्रहविशेषात् उत्तानशायिनि, दशा०

उत्तार पुं०(उत्तार) उद्–तॄ–णिच्–अच्– ''उत्तरणे, अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो'' दश०२ अ०। उद्गमने, उल्लङ्घने, पारगमने च । उच्चैस्तारः प्रा० स० अत्यन्तौच्चशब्दादौ, त्रि० । वाच० ॥

उत्तारिय त्रि०(उत्तार्य्य) उद्० तॄ० णिच्० कर्मणि यत् उद्गमनीये , ल्यप् उद्गमनं कृत्वेत्यर्थे , अव्य० उद्– तॄ– कर्मणिण्यत् उद्गमनीये, त्रि०–वाच०

***उत्तारित** त्रि० अवरोहिते, ''देवाहिदेवस्स पडिमा कायव्वावीय–भए उत्तारिया'' आ०म० द्वि० ॥

उत्तारेमाण त्रि०(उत्तारयत्) अवरोहिते, स्था० ५ ठा०॥

उत्ताल त्रि०(उत्ताल) उद् चूरा० तल प्रतिष्ठायाम्, अच्– प्रतिष्ठिते, महति, वाच० । तालस्तु कंसिकादिशब्दविशेषः उत्प्राबल्येन अतीतमस्थानतालं वा उत्तालम् । गेयदोषभेदे, ''गायंतो मा पगाहि उत्तालं '' स्था० ७ ठा० अनु० जी० । जं०॥

उत्तासइत्ता(तृ) त्रि०उत्त्रासयिता(तृ) लोष्ठप्रक्षेपादिभिः उत्त्रासकारके, ''से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता ऊत्तासइत्ता अकडं करिस्सामि'' आचा० २ श्रु० २ अ०१उ०।

उत्तासणय त्रि०(उत्त्रासनक) त्रसी उद्वेगे इतिवचनात् । उत्त्रास्यतेऽनेनेति उत्त्रासनः उत्त्रासन एव उत्त्रासनकः । स्मरणेनाप्यु–द्वेगजनके, भ०३ श०२उ० भयंकरे, ज्ञा० ८ अ० प्रश्न० । उत्त्रा–सकारिणि, ज्ञा०५ अ० ''भीमा उत्तासणा परम कण्हावण्णेणं पण्णत्ता'' । प्रज्ञा० २ पद ० ।

उत्तासणिज्ज त्रि०(उत्त्रासनीय) महाभयंकरे, । 'नरओविव उत्तासणिज्ञाओ' स्त्रियः नरकवत् उत्त्रासनीयाः दुष्टकर्मकारित्वात् महाभयंकराः लक्षणा साध्वी जीववेश्यादासीघातिका कुलपुत्र–भार्य्यावत् । तं०॥

उत्तासिय त्रि०(उत्त्रासित) अपद्रावित, आव० ४ अ०॥

उत्ति स्त्री०(उक्ति) वच्– क्तिन्–संप्र० शब्दशक्तौ एकयोक्तया पुष्पदन्तौ दिवाकरनिशाकरौ, वाच० । वाचि, अनु० । विशे० । भणि–तौ, ''गंभीराहरणेहि उत्तीहि य भावसारेहिं'' पंचा० ६ विव०॥

उत्तिंग पुं०(उत्तिङ्ग) भूम्यां वृत्तविवरकारिणि गर्दभाकारे जीवे, ध०२ अधि० ''उत्तिंगो परुगद्दभो'' नि०चू० १३ उ०॥ ''उत्तिंगा भूअका गर्दभाकृतयो जीवाः'' कल्प० । आव० पिपीलिकासंतानके, दशा० ३ अ० आचा० कीटिकानगरे, वृ० ४उ० तृणाग्रे उदक–विन्दौ, आचा० २ श्रु० १ अ०१उ० सर्पच्छत्रादौ, च ''गहणे सुण्णचिट्ठिज्ञा वीएसु हरिएसु वा । उदगम्मि तहा निच्चं उत्तिंगपणगेसु वा'' दश०८ अ० छिद्रे, न०न० नि०चू० १८ उ० ''णावाएउत्तिंगं हत्थेण वा पाएण सणंवा, उत्तिङ्गं रन्ध्रम्, आचा० २ श्रु० अ०उ०॥

उत्तिंगलेण न०(उत्तिङ्गलयन) उत्तिङ्गानां लयनं भूमौ उत्कीर्ण–गृहमुत्तिङ्गलयनम् । लयनसूक्ष्मभेदे, कल्प० ॥

उत्तिण्ण त्रि०(उत्तीर्ण) उद् तॄ–कर्तरि क्त–निवृत्ते, अष्ट० । पारंगते कर्मणि क्तः कृतोत्तरणे नद्यादौ, वाच० ।

उत्तिम त्रि०(उत्तम) उद्तमप् **''इः स्वप्नादौ''॥८।१।४६॥** इत्या–देरस्य इत्वम् । उत्कृष्ट, प्रा० । वाच० । आर्षे उत्तम इत्येव बाहुल्ये–नोपलभ्यते इति तथैव उत्तप्रकरणे दर्शितम् ।

उत्तिमट्ठ पुं०(उत्तमार्थ) अनशने, नि०चू० १उ०।

उत्तिमट्ठपडिवण्ण पुं० स्त्री०(उत्तमार्थप्रतिपन्न) अनशनप्रतिपन्ने, नि०चू०१उ०।

उत्तेइय त्रि०(उत्तेजित) उद्० तेज्– णिच्० क्त० । अधिकं दीपिते, दश० ३ अ०। उत्कृष्टतो जनानीते ''संयमास्त्रं विवेकेन शास्त्रेणोत्ते जितं मुनेः''। अष्ट० । प्रेरिते, भावे० क्त० प्रेरणायाम्, उद्दीपने च । न० अश्वगतिभेदे, न० वाच० ।

उत्तेड पुं०(उत्तेड) विन्दौ, ''उत्तेडा वत्थुयायनं समत्ति''॥ पिं०

उत्थ न०(उत्थ) वच्० थक्० । अप्रगीतमन्वसाध्ये स्तोत्रे चतुर्विंश–स्तोत्रभेदे, उपचारात् तत्साध्ये उत्थयोग च । वाच० । विशे०॥

उत्थंध धा०(रुध्) आवरणे, रु० उभ० द्वि० अनिट् । रुधेरुत्थंध इत्यादेशो वा भवति । उत्थंधइ रुंधइ । प्रा० । रुणद्धि रुन्धे इरित् अरुधत् अरौत्सीत् वाच०॥

उत्थ धा०(क्षिप्) तु० ऊर्द्धक्षेपे, उत्थंधइ उक्खिवइ उत्क्षिपति । प्रा०॥

उत्थरमाण त्रि०(उत्तरत्) अभिभवति, ''उत्थरमाणे सव्वं महालओ पुव्वमेहणिग्घोसो'' आव०४अ०।

उत्थल न०(उत्स्थल) उत् उन्नतानि स्थलानि धूल्युच्छ्रयरूपाणि उत्स्थलानि धूलिपुञ्जेषु, भ० ७ श० ६उ० ।

उत्थिय त्रि०(अवस्तृत) आच्छादिते, ''सुहपुण्ण चत्तचउत्तं तु गोत्थिया होति पासेसु'' पंचा० ८ विव०।

उत्थुभण न०(अवस्तोभन) अनिष्टोपशान्तये, निष्ठीवनेन घुघुकरणे, एतच्च कौतुकभेदत्वेन साधुभिर्वर्ज्यम् वृ०१ उ० पं०वं०।

उदउल्ल त्रि०(उदकार्द्र) ३ त० । गलदुदकबिन्दुयुक्ते, दश० ५ अ० ''उदउल्लं वीयसंसत्तं'' दश० ६ अ० ''उदउल्लं अप्पणो कायं नेव पुच्छे ण संलिहे'' दश० ८ अ० ''उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससणिद्धं वा काय ससणिद्धं वा वत्थं न मुसेज्ञा न संफुसेज्ञा''। दश० । ४ अ०(अह पुण एवं जाणेज्ञा णो पुरेकम्मकरेणं इत्थेण वा असणं वा ४ अफासुयं अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहिज्ञा इत्यादि पुरक्कम्मशब्दे वक्ष्यते) आचा०२ श्रु०१ अ०५उ० उदकार्द्रं पुनर्यद्बिन्दुसहितं भाजनादि गलद्बिन्दुरित्यर्थः । ओ० । नि० चू० उदगउल्लेत्यपि रूपं क्वचित् दृश्यते ॥ कल्प०॥

उदउल्लाहड त्रि०(उदकार्द्राहृत) उदकार्द्रे हस्तेन पुरःकर्म संस्पर्शनानीते पिण्डे, ''सागारिय पिंसुद्धेसिय उदतल्लाहडे

चाउम्मासियं सागारियं पिंडुद्देसियं उदउल्लाहडे' नि०चू० २० उ०।

उदओदर न०(उदकोदर) जलोदररोगे, जं०२ वक्ष०।

उदंक पुं०(उदङ्क) उदङ्को ये नोदकमुदच्यते तस्मिन्, जं० २ वक्ष०। जी०।

उदंच त्रि०(उदञ्च) उद् अनच् विच्– उदकशब्दार्थे, प्रथमान्ता–द्यर्थे, दिग्देशादौ, वाच०।

उदंचण न०(उदञ्चन) उद् अनच् णिच् करणे ल्युट्। पिधानार्थे पात्रे, (ढक्कन) भावे ल्युट्। ऊर्द्धक्षेपणे, कर्तरि ल्युट्। उत्क्षेपके, त्रि० वाच०। अनु०।

उदंत पुं०(उदन्त) उद्गतोऽन्तो निर्णयो यस्मात्। वार्तायाम्, । ज्ञा०८ अ० ''गोसे मे वहेज्जह उदंतं'' व्य० द्वि० ४ उ०। आ०म० प्र०। साधौ, स्वार्थे कन्। तत्रैव उद्गतोऽन्तो ऽस्य पाकवशात् प्रा०व० गतलोपः। पाकवशात् प्राप्तान्ते, वाच०॥

उदंतवाहय त्रि०(उदन्तवाहक) वार्ताहरे, वाच०।

उदक पुं०(उदर्क) उद् अर्क–अच् वा घञ् उत्तरकाले, भाविफल–के शुभाशुभकर्मणि, वाच०। उदये, ''केषांचिद्विषयज्वरातुरमहो चित्तं परेषां विषा–वेगोदर्ककुतर्कमूर्च्छितमथान्येषां तु वैराग्यतः'' अष्ट०।

उदग(य) न०(उदक) उन्द ण्वुल्० नि० नलोपश्च। जले, (चत्तारि उदगा पण्णत्ता उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोदए इत्यादि पुरिसजायशब्दे उत्तानसूत्रावसरे व्याख्यास्यते) (चत्तारि उदगा पण्णत्ता तंजहा कद्दमोदए खंजणोदए बालुओदए सेलोदए इति सदृष्टान्तो भावशब्दे) उदगं च दुविहं वासु दगं च। नि०चू० १० उ०। तं०। सिरापानीये, दश० ४ अ०। ''जेणं उदएण मट्टियाएण य'' औ०। ''तिहिं उदगेहिं मज्जावेत्ता'' त्रिभिरुदकैर्गन्धोदकोष्णोदकशीतोदकैर्मज्जयित्वा (स्था० ३ ठा०) उदकात्सिद्धिरिति वादिनः।

एगे य सीओदगसेवणेण, हुएण एके पवयंति मोक्खं॥

तथैके वारिभद्रकादयो भागवतविशेषाः शीतोदकसेवनेन सचित्ताप्कायपरिभोगेन मोक्षं प्रवदन्ति। उपपत्तिं च ते अभिदधतियथो–दकं बाह्यमलमपनयति एवमान्तरमपि वस्त्रादेश्च यथोदकाच्छुद्धि–रुपजायते एवं बाह्यशुद्धिसामर्थ्यदर्शनादान्तरापि शुद्धिरुदकादेवेति मन्यन्ते।

एतेषामुत्तरं यथा॥

उदगेण ये सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पावं उदगं फुसंता।
उदगस्स फासेणसिया य सिद्धि, सिज्झंसु पाणा बहवे दगंसि

तथा ये केचन मूढा उदकेन शीतवारिणा सिद्धिं परलोकमुदाहरन्ति प्रतिपादयन्ति सायमपराह्णे विकाले वा प्रातश्च प्रत्यूषसि च आद्यन्तग्रहणात् मध्याह्ने च तदेवं संध्यात्रयेऽप्युदकं स्पृशन्तः स्नानादिकाःक्रिया जलेन कुर्वन्तः प्राणिनो विशिष्टां गतिमाप्नुवन्तीति केचनोदाहरन्ति। एतच्चासम्यक्। यतो यद्युदकस्पर्शमात्रेण सिद्धिः स्यात् तत उदकसमाश्रिता मत्स्यबन्धादयः क्रूरकर्माणो निरनुक्रोशा बहवः प्राणिनः सिद्ध्येयुरिति। यदपि तैरेवोच्यते। बाह्यमलापनयनसामर्थ्यमुदकस्य दृष्टमिति तदपि विचार्यमाणं न घटते। यतो यथोदकमनिष्टमलमपनयत्येवमभिमतमप्यङ्गरागं कुङ्कुमादिकमपनयति। ततश्च पुण्यस्याऽपनयनादिष्टविघातकृद्विरुद्धः स्यात्। किंच यतीनां ब्रह्मचारिणामुदकस्नानं दोषायैव। तथाचोक्तम्। ''स्नानं मददर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम्। तस्मात्कामं परित्यज्य, न ते स्नान्ति दमैरताः॥ अपि च। नोद–कक्लिन्नगात्रो हि, स्नात इत्यभिधीयते। स स्नातो यो व्रतैस्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥१४॥''

मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य, मग्गू य उट्टादगरक्खसा य।
अट्ठाणमेयं कुसला वयंति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति।१५।

किञ्च यदि जलसंपर्कात्सिद्धिः स्यात्ततो ये सततमुद कावगाहिनो मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च तथा मद्गवस्तथोष्ट्रा जलचरविशेषास्तथोदकरक्षसा जलमानुषाकृतयो जलचरविशेषा एते प्रथमंसिद्धेयुर्न चैतद्दृष्टमिष्टम् ततश्च ये उदकेन सिद्धिमुदाहरन्त्येतदस्थानमयुक्तमसांप्रते कुशलनिपुणा मोक्षमार्गाभिज्ञा वदन्ति।१५।

किञ्चान्यत्।

उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्तमेवं॥
अंधंवणे यारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा।१६।

यद्युदकं कर्ममलमपहरेदेवं शुभमपि पुण्यमपहरेत्। अथ पुण्यं नापहरेदेवं कर्ममलमपि नापहरेत्। अत इच्छामात्रमेवैतद्यदुच्यते जलं कर्मापरिहारीति। एवमपि व्यवस्थिते ये स्नानादिकाः क्रियाः स्मार्तमार्गमनुसरन्तः कुर्वन्ति ते यथा जात्यन्धा अपरं जात्यन्धमेव नेतारमनुसृत्य गच्छन्तः कुपथश्रुतयो भवन्ति नाभिप्रेतं स्थानमवाप्नुवन्ति। एवं स्मार्त्तमार्गानुसारिणो जलशौचपरायणा मन्दा अज्ञाः कर्त्तव्याकर्तव्यविवेकविकलाः प्राणिन एव तन्मयान् तदाश्रितांश्च पुत्रकादीन् विनिघ्नन्ति व्यापादयन्ति अवश्यं जलक्रियया प्राणव्यपरोपणस्य संभवादिति॥१६॥

अपि च

पावाइं कम्माइं पकुव्वतोहिं, सिओदगं तू जइतं हरिज्जा।
सिज्झंसु एगे दगसत्तघाति, मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु।१७।

पापानि पापोपादानभूतानि कर्माणि प्राण्युपमर्दकारीणि कुर्वतोऽसुमतो यत्कर्मापचीयते तत्कर्म यद्युदकमपहरेत्। यद्येवं स्यात् तर्हि यस्मादर्थे यस्मात्प्राण्युपमर्दकर्मोपादीयते जलावगाहनाच्च–ऽपगच्छति तस्मादुदकसत्त्वघातिनः पापभूयिष्ठा अप्येवं सिद्ध्ययुः। न चैतद्दृष्टमिष्टं वा। जलावगाहनात्सिद्धिमाहुस्ते मृषा वदन्ति॥

किंचाऽन्यत्॥

आहंसु महापुरिसा, पुव्वि तत्ततवोधणा।
उदयेण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मंदो वसीयति॥१॥

केचन अविदितपरमार्था आहुरुक्तवन्तः। किं तदित्याह। यथा महापुरुषाः प्रधानपुरुषा वल्कलचीरितारागणर्षिप्रभृतयः। पूर्वं पूर्वस्मिन् काले तप्तमनुष्ठितं तप एव धनं येषां ते तप्ततपाधनाः पञ्चाग्न्यादितपोविशेषेण निष्टप्तदेहास्त एवंभूताः शीतोदकपरिभोगेन उपलक्षणार्थत्वात् कन्दमूलफलाद्युपभोगेन च सिद्धिमापन्नाः सिद्धिं गतास्तत्रैवंभूतार्थसमाकर्णने तदर्थसद्भावावेशात् मन्दोऽज्ञः स्नानादित्याजितः प्राशुकादेकपरिभोगभग्नः संयमानुष्ठाने प्रविषीदति। यदि वा तत्रैव शीतोदकपरिभोगे विषीदति लगति निमज्जतीति यावत्। नचासौ वराक एवमवधारयति यथा तेषां तापसादिव्रतानुष्ठायिनां कुतश्चिज्जातिस्मरणादिप्रत्ययादाविर्भूतसम्यग्दर्शनानां मौनीन्द्रभावसंयमप्रतिपत्त्या अपगतज्ञानावरणादि–कर्मणां भरतादीनामिव मोक्षावाप्तिर्न तु शीतोदकपरिभोगादिति॥१॥ किंचान्यत्॥

अभुंजिया नमि विदेही, रामगुत्ते य भुंजिया॥
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा तारा गणे रिसी॥२॥

केचन कुतीर्थिकाः साधुप्रतारणार्थमेवमूचुः। यदि वा स्ववर्ग्याः शीतलविहारिण एतद्वक्ष्यमाणमुक्तवन्तस्तद्यथा नमी राजा विदेहो नाम जनपदस्तत्रभवा वैदेहास्तन्निवासिनो लोकास्तेऽस्य

सन्तीति वैदेही । स एवंभूतो नमी राजा अशनादिकमभुक्त्वा सिद्धिमुपगतस्तथा रामगुप्तश्च राजर्षिराहारादिकं भुक्त्वैव भुञ्जान एव सिद्धिं प्राप्त इति ॥ तथा बाहुकः शीतोदकादिपरिभोगं कृत्वा तथा नारायणो नाम महर्षिः परिणतोदकादिपरिभोगात्सिद्ध इति ॥२॥ अपिच–

असिले देवले चेव, दीवायणमहारिसी ।
पारासरे दगभोच्चा, बीयाणि हरियाणि य ॥३॥
एते पुव्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता ।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेयमणुस्सुअं ॥४॥

असिलो नाम महर्षिर्देवलो द्वैपायनश्च तथा पराशराख्य इत्येवमा–दयः शीतोदकबीजहरितादिपरिभोगादेव सिद्धा इति श्रूयते ॥३॥ एतदेव दर्शयितुमाह। (एते इत्यादि) एते पूर्वोक्ता नम्यादयो महर्षयः (पूर्वमिति) पूर्वस्मिन्काले त्रेताद्वापरादौ महापुरुषा इति प्रधानपुरुषा आसमन्तात् ख्याताः प्रख्याता राजर्षित्वेन प्रसिद्धिमुपगताः इहाप्याहितप्रवचने ऋषिभाषितादौ केचन संमता अभिप्रेता इत्येवं कुतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा प्रोचुस्तद्यथा एते सर्वेऽपि बीजोदकादिकं भुक्त्वा सिद्धा इत्येतन्मया भारतादौ पुराणे श्रुतम् ॥४॥

एतदुपसंहारद्वारेण परिहरन्नाह ॥

तत्थ मंदा विसीयंति, बाहच्छिन्नाव गद्दभा ।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पिट्ठसप्पी च संभमे ॥५॥
इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती ।
जे तत्थ आरिअं मग्गं, परमं च समाहिए ॥६॥

(तत्थेत्यादि) तत्र तस्मिन् कुश्रुत्युपसर्गोदये मन्दा अज्ञा नाना–विधोपसाध्यां सिद्धिगमनमवधार्य विषीदन्ति संयमानुष्ठानेन पुनरेतद्वदन्त्यज्ञाः। तद्यथा येषां सिद्धिगमनमभूत् तेषां कुतश्चिन्नि–मित्तात् जातजातिस्मरणादिप्रत्ययानामवाप्तसम्यग्ज्ञानचारित्रा–णामेव वल्कलचीरिप्रभृतीनमिव सिद्धिगमनमभूत् न पुनः कदाचि–दपि सर्वविरतिपरिणामभावलिङ्गमन्तरेण शीतोदकबीजाद्युपभोगेन जीवोपमर्दप्रायेण कर्मक्षयोऽवाप्यते । विषीदने दृष्टान्तमाह । वहनं वाहो भारोद्वहनं तेनच्छिन्नाः कर्षितास्त्रुटिता रासभा इव विषीदन्ति । यथा रासभा गमनपथ एव प्रोज्झितभारा निपतन्ति एवं ते प्रोज्झ्य संयमभारं शीतलविहारिणो भवन्ति । दृष्टान्तान्तरमाह । यथा पृष्टसर्पिणो भग्नगतयोऽग्न्यादिसंभ्रमे सत्युद्भ्रान्तनयनाः समाकुलाः प्रनष्टजनस्य पृष्टतः पश्चात्परिसर्पन्ति नाग्रगामिनो भवन्त्यपि तु तत्रैवाग्न्यादिसंभ्रमे विनश्यन्त्येवं तेऽपि शीतलविहारिणो मोक्षं प्रति प्रवृत्ता अपि तु न मोक्षगतयो भवन्त्यपि तु तस्मिन्नेव संसारे अनन्तमपि कालं यावदासत इति ॥५॥ मतान्तरं निराकर्तुं पूर्व–पक्षयितुमाह (इहमेगे इत्यादि) इहेति मोक्षगमनप्रस्तावे एके शाक्यादयः स्वयूथ्या वा लोचादिनोपतप्ताः । तुशब्दः पूर्वस्मात् शीतोदकापरिभोगाद्विशेषमाह। भाषन्ते ब्रुवते। मन्यन्ते च इति क्वचित्पाठः । किं तदित्याह सातं सुखं सातेन सुखेनैव विद्यते भवतीति । तथाच वक्तारो भवन्ति । ''सर्वाणि सत्वानि सुखे रतानि,सर्वाणि दुःखाच्च समुद्विजन्ति। तस्मात्सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि''॥१॥ युक्तिरप्येवमेव स्थिता । यतः कारणानुरूपं कार्यमुत्पद्यते। तद्यथा शालिबीजाच्छाल्य–ङ्कुरो जायते न यवाङ्कुर इत्येवं प्रीत्यात्मसुखान्मुक्तिसुखमुपजायते नतु लोचादिरूपात् दुःखादिति। तथा ह्यागमेऽप्येवमेव व्यवस्थितम्॥ मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं। मणुण्णंति अगारसि, मणुण्णं झायए मुणी ॥१॥ तथा मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भुक्त मध्ये पानकं चापराह्णे । द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥१॥ इत्यतो मनोज्ञाहारविहारादेश्चित्तस्वास्थ्यं ततः समाधिरुत्पद्यते समाधेश्च मुक्त्यवाप्तिरतः स्थितमेतत्सुखेनैव सुखावाप्तिर्न पुनः कदाचनापि लोचादिना कायक्लेशेन सुखावाप्तिरिति। स्थितम् इत्येवं व्यामूढमतयो ये केचन शाक्यादयस्तत्र तस्मिन्मोक्षमार्गप्रस्तावे समुपस्थिते आराज्ञातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो जैनेन्द्रशासनप्रतिपादितो मोक्षमार्गस्तं ये परिहरन्ति। तथाच। परमं च समाधिज्ञानदर्शन–चारित्रात्मकं ये त्यजन्ति तेऽज्ञाः संसारान्तर्वर्तिनः सदा भवन्ति । तथाहि । यत्तैरभिहितं कारणानुरूपं कार्यमिति तन्नायमेकान्तो यतः शृङ्गाच्छरो जायते गोमयाद्वृश्चिको गोलोमाविलोमादिभ्यो दूर्वेति । यदपि मनोज्ञाहारादिकमुपन्यस्तं सुखकारणत्वेन तदपि विसूचि–कादिसम्भवाद्व्यभिचारीति। अपिचेदं वैषयिकं सुखं दुःखप्रकार–हेतुत्वात् सुखाभासतया सुखमेव न भवति । तदुक्तम् । दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णवद–पंक्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयो–गात् ॥१॥ इति कुतस्तत्परमानन्दरूपमस्यात्यन्तिकैकान्तिकस्य मोक्षसुखस्य कारणं भवति यदपि लोचभूशयनभिक्षाटनपरपरि–भवक्षुत्पिपासादंशम–शकादिकं दुःखकारणत्वेन भवतोपन्यस्तं तदप्यल्पसत्वानामप–रमार्थदृशां महापुरुषाणां तु स्वार्थाभ्युपगम–प्रवृत्तानां परमार्थचिन्तकानां महासत्वतया सर्वमेवैतत्सुखायैवेति। तथा चोक्तम्। तणसंथारनिविण्णो वि, मुनिवरो भट्ठरागमयमोहो ॥ जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि ॥१॥ तथा । सख्यं दुष्कृतसंख्यया च महतां क्षान्तं पदं वैरिणः, कायस्याशुचिता विरागपदवी संवेगहेतुर्जरा ॥ सर्वत्यागमहोत्सवाय मरणं जातिः सुहृत्प्रीतये, संपद्भिः परिपूरितं जगदिदं स्थानं विपत्तेः कुत इति ॥१॥ अपिचैकान्तेन सुखेनैव सुखेऽभ्युपगम्यमाने विचित्रसंसारा–भावः स्यात्तया स्वर्गस्थानां नित्यसुखिनां पुनरपि सुखानुभूतैस्त–त्रैवोत्पत्तिः स्यात्तथा नारकाणां च पुनर्दुःखानुभवात्तत्रैवोत्पत्तेर्न नानागत्या विचित्रता संसारस्य स्यान्नचैतत् दृष्टमिष्टं चेति ॥६॥ सूत्र०१ श्रु० ८ अ० (उदकस्य विषयान्तराणि आउक्काय शब्दे उक्तानि) भविष्यति सप्तमे तीर्थकरे, स०। वनस्पतिविशेषे, यथोक्तम् ''उदए अवए पणए इत्यादि'' दश० ८ अ०। प्रज्ञा०। जलाशयमात्रे, भ० १ श०८ उ०। 'मेदार्य्यगोत्रे, स्वनामख्याते पेढालपुत्रे, पार्श्वापत्यीये निर्ग्रन्थे,

अहेणं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे णियट्ठे मेयज्जे गोत्तेणं, पासावगिच्चो पुच्छियाइओ अज्ज गोयमं उदगो सावग–पुच्छा धम्मं सोउ कहियम्मि उवसंता । सूत्र० २ श्रु० ७ अ०।

(उदकस्य गौतमस्वामिनं प्रति प्रश्नः पच्चक्खाणशब्दे वक्ष्यते) तद्विषयकत्वेन तत्रैवोपन्यसिष्यमाणत्वात् अयं सेत्स्यति ॥ सूत्र–कृतद्वितीयश्रुतस्कन्धे नालन्दीयाध्ययनाभिहित स्तद्यथा–उदक–नामानगारः पेढालपुत्रः पार्श्वजिनशिष्यो योऽसौ राजगृहनगरबा–हिरिकाया नालन्दाभिधानाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि हस्तिद्वीपवन–खण्डे व्यवस्थितस्तदेकदेशस्थं गौतम संशयविशेषमापृच्छ्य विच्छिन्न–संशयःसन् चातुर्यामं धर्मं विहाय पञ्चयाम धर्म प्रतिपेदे इति ॥ सच उत्सर्पिण्यां सप्तमस्तीर्थकरो भविष्यति, स०। कालो–दायिप्रभृतिष्वेकादशस्वन्ययूथिकेषु चतुर्थे, भ० ७ श० १० उ०।

उदग(दग)गब्भ पुं०(उदकगर्भ) (उदकस्य) दकस्यो–

दस्य वा गर्भ इव गर्भः । स्था० ४ ठा० कालान्तरेण जलप्रवर्षणहेतौ पुद्गलपरिणामे, भ० २ श० ५ उ०॥

चत्तारि उदगगब्भा पण्णत्ता तंजहा हेमगा अब्भसंघडा सीओसिणा पंचरूविया॥

दकस्योदकस्य गर्भा इव गर्भा दकगर्भाः कालान्तरे जलवर्षणस्य हेतवः तत्संसूचका इति तत्त्वमिति । अवश्यायः क्षपाजलं महिका धूमिका शीतान्यात्यन्तिकानि एवमुष्णो घर्म्म एते हि यत्र दिने उत्पन्नास्तस्मादुत्कर्षेणाव्याहताः सन्तः षड्भिर्मासैरुदकं प्रसुवते अन्यैः पुनरेवमुक्तम् । ''पवनाभ्रवृष्टिविद्यु–द्गर्जितशीतोष्णरश्मि परिवेषाः । जलमत्स्येन सहोक्तो, दशधा चाम्बुप्रजनहेतुः ॥१॥'' तथा–शीतवाताश्च बिन्दुश्च, गर्जितं परिवेषणम् । सर्वगर्भेषु शंसन्ति, निर्ग्रन्थाः साधुदर्शनाः ॥२॥ तथा–सप्तमे सप्तमे मासे, सप्तमे सप्तमेऽहनि । गर्भाः पाकं नियच्छन्ति, यादृशास्तादृशं फलम् ॥१॥'' हिमं तुहिनं तदेव हिमकं तस्यैते हैमकाः हिमपातरूपा इत्यर्थः ॥ (अब्भसंघउत्ति) अभ्रसंसृतानि मेघैराकाशाच्छादना–नीत्यर्थः आत्यन्तिके शीतोष्णे पञ्चानां रूपाणां गर्जितविद्युज्ज–लवाताभ्रलक्षणानां समाहारः पञ्चरूपं तदस्ति येषां ते पञ्चरूपिका उदकगर्भा इह मतान्तरमेवम् । ''पौषे समार्गशीर्षे , संध्यारागाम्बु–दासपरिवेषाः । नात्यर्थं मार्गशिरे, शीतं पौषेऽतिहिमपातः ॥१॥ माघे प्रवलो वायु–स्तुषारकलुषद्युती रविशशाङ्कौ । अतिशीतं सघनस्य च, भानोरस्तोदयौ धन्यौ ॥२॥ फाल्गुनमासे रूक्ष–श्चण्डः पवनोऽभ्रसंप्लवाः स्निग्धाः । परिवेषाश्च सकलाः, कपिलस्ताम्रो रविश्च शुभः ॥३॥ पवनघनवृष्टियुक्ताश्चैत्रे गर्भाः शुभाः सपरिवेषाः। घनपवनसलिलविद्युत्स्तनितैश्चहिताय वैशाख इति ॥४॥'' तानेव मासभेदेन दर्शयति ''माहे उ हेडमा गब्भा, फग्गुणे अब्भसंघडा। सीओसिणाओ य चित्ते, वइसाहे पंचरूविया ॥१॥'' स्था० ४ ठा० तस्य कालस्थितिः कायट्ठिइशब्दे)

उदगजीव पुं०(उदकजीव) उदकमेव जीवः । उदकरूपे जीवे, सचित्ताप्काये, आचा०१ श्रु०१ अ०२उ० (आउक्कायशब्दे विषय उक्तः)

उदगजोणिय पुं०(उदकयोनिक) उदकं योनिरुत्पत्तिस्थानं येषां ते, 'जलसंभवेषु जीवेषु,' ''इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा'' सूत्र०२ श्रु०३ अ०।

उदकस्य योनयः परिणामकारणभूता उदकयोनयस्त एवोदक–योनिकाः । उदकजननस्वभावेषु,''णो बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ता य वक्कमंति'' स्था० ३ ठा०३उ०।

उदगणाय न०(उदकज्ञात) उदकं नगरपरिखाजलं तदेव ज्ञातमु–दाहरणमुदकज्ञातम् । ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमश्रुतस्य द्वादशाऽध्य–यनोक्ते उदाहरणे, तत्प्रतिपादकेऽध्ययने च। ज्ञा०१ श्रु०१ अ० आ०चू० आव०। तच्चैवं।

जइ णं भंते समणे णं भगवया महावीरेणं जाव संपत्ते णं एक्कारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते । बारसमस्स णं भंते समणे णं भगवया महावीरेणं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पण्णत्ते । एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपाणामं णयरी होत्था । पुण्णभद्दे चेइए तीसेणं चंपाए णयरीए जियसत्तू णामं राया होत्था । तस्स णं जियसत्तुस्स रण्णो धारिणी णामं देवी होत्था । अहीणसुकुमाल जाव सुरूवा तस्स णं जियसत्तुस्स रण्णो पुत्ते धारिणीए अत्तए अदीणसत्तू णामं कुमारे जुवराया वि होत्था । सुबुद्धी अमच्चे जाव रज्जधूरा चिंतए समणोवासए अभिगयजी–वाजीवे तीसेणं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमेणं एगे फरिहोदए यावि होत्था । मेयवसामंसरुहियपूयपडलपोच्चडे मयगकलेवरसंछण्णे अमणुण्णे वण्णे णं जाव फासेणं जे जहा णामए अहिमडेति वा गोमडेति वा जाव मयकुहियविणिट्ठकि–मिणवा वण्णदुरभिगंधकिमिजालाउले संसत्ते असुइविगयवी–भच्छदरसणिज्जे भवेयारूवे सिया । णो इणट्ठे समट्ठे एत्तो अणि–ट्ठतराए चेव जाव गंधेणं पण्णत्ते । तए णं से जियसत्तू राया अण्णया कयाइं ण्हाए कयवलिकम्मे जाव अप्पमहग्घाभरणा–लंकियसरीरे बहुहिं राईसर जाव सत्थवाहपभिईहिं सद्धिं भोयणमंडवंसि भोयणवेलाए सुहासणणिसण्णे विपुलं असणं ४ भुंजेमाणा जाव विहरइ । जिमियभुत्तुत्तरागए जाव सुइभए तंसि विपुलंसि असणं ४ जाव विम्हए ते बहवे ईसर जाव पभिई एवं वयासी अहो णं देवाणुप्पिया इमे मणुण्णे असणं ४ वण्णेणं उववेए जाव फासेणं उववेए अस्सायणिज्जे विस्सायणिज्जे पीणणिज्जे दीवणिज्जे सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे तए णं ते बहवे राईसर जावप्पभिईओ जियसत्तूरायं एवं बयासी तहेव णं सामी जणं तुब्भे वयह अहोणं इमे मणुण्णे असणं पाणं खाइमं साइमं वण्णेणं उववेए जाव पल्हायणिज्जे तए णं जियसत्तू राया सुबुद्धी अमच्चं एवं वयासी अहो णं सुबुद्धि अमच्चे इमे मणुण्णे असणं पाणं खाइमं साइमं जाव पल्हायणिज्जे तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तू रायस्स य एयमट्ठं णो आढाहं णो परियाणाइं जाव तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं जियसत्तू राया सुबुद्धी अमच्चं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी अहो णं सुबुद्धी अमच्चे इमं मणुण्णे तं चेव जाव पल्हायणिज्जे तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तुणा दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे जियसत्तू रायं एवं वयासी । णो खलु सामी अहं एयंसि मणुण्णंसि असणं पाणं खाइमं साइमंसि केइ विम्हए एवं खलु सामि सुब्भिसद्दा वि पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा वि पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति सुरूवा वि पोग्गला दुरूवत्ताए परिणमंति । दुरूवा वि पोग्गला सुरूवत्ताए परिणमंति । सुब्भिगंधा वि पोग्गला दुब्भिगंधत्ताए परिणमंति । दुब्भिगंधा वि पोग्गला सुब्भिगंधत्ताए परिणमंति, सुरसा वि पोग्गला दुरसत्ताए परिणमंति, दुरसा वि पोग्गला सुरसत्ताए परिणमंति । सुहफासा वि पोगला दुहफासत्ताए परिणमंति, दुहफासा वि पोग्गला सुहफासाए परिणमंति । पओगवीससा परिणया वि य णं सामी पोग्गला पण्णत्ता तए णं से जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स एवमाइक्खमाणस्स ४ एयमट्ठं णो अड्ढाइ णो

परियाणइ तुसिणीए संचिट्ठइ तए णं से जियसत्तू राया अण्णया कयाइ ण्हाए जाव विभूसिए आसंखधवरगए महया भडचड–गरआसवाहणिया णिज्जायमाणे तस्स फरिहोदयस्स अदूरसा–मंते णं बीइयइ तए णं जियसत्तू राया तस्स फरिहोदगस्स अभिमूए समाणे सएणं उत्तरिज्जे णं आसगंपिहेइ एगं तं अवक्कमइ अवक्कमइत्ता ते बहवे राईसरजावपभिइओ एवं बयासी। अहो णं देवाणुप्पिया इमे फरिहोदए अमणुण्णे बण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं से जहा णामए अहिमडेइ वा जाव अणामत्तराए चेव तएणं ते राईसरप्पभिइए जाव एवं बयासी। तहेव णं सामी जणं तुब्भे एवं वयह अहो णं इमे फरिहोदए अमणुण्णे वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं से जहा णामए अहिमडेइवा जाव अमणामतराए तएणं से जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं एवं बयासी अहोणं सुबुद्धि इमे फरिहोदए अमणुण्णे वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं से जहा णामए अहिगडेति वा जाव अमणा मतराए तएणं सुबुद्धि अमच्चे जाव तुसिणीए संचिट्ठइ तएणं से जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी अहोणं तं चेव तएणं से सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तुणा रण्णा दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे एवं वयासी णो खलु सामी अम्हं एयंसि फरिहोदगंसि केइ विम्हए एवं खलु सामी सुब्भिसद्दावि पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति तं चेव पओगवीससा परिणया वि यणं सामी पोग्गला पण्णत्ता तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं एवं वयासीमाणं तुमं देवाणुप्पिया अप्पाणं च परं च तदुभयं च बहुहि य असब्भावु–ब्भावणाहि मिच्छत्ताभिणिवेसेण य बुग्गाहेमाणे वुप्पायमाणे विहराही। तएणं सुबुद्धिस्स अमच्चस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए समुप्पज्जित्था अहो णं जियसत्तू राया संते तच्चे तहिए अवितहे संभूए जिण पण्णत्ते भावे णो उवलभंते तं सेयं खलु ममजिय–सत्तुस्स रण्णो सत्ताणं तच्चाणं तहियाणं अवितहाणं संभूयाणं जिण पणत्ताणं भावाणं अभिगमणट्ठयाए एयमट्ठं उवायणा वेत्तए एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता तिपत्तिएहिं पुरिसेहि सद्धिं अंतरावणाओ णवघडए गिण्हइ २त्ता संज्झाकालसमयंसि पविरलमणुसंसि णिसंत पडिणिसत्तंसि जेणेव फरिहोदए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तं फरिहोदगं गिण्हावेइ णवएसु घडएसु परिक्खवावेइ २ त्ता सज्जक्खारं पक्खिवावेइ लंछियमुद्दिए कारावेइ सत्तरत्तं परिवसावेइ दोच्चंपि णवएसु घडएसु गालावेइ २ त्ता णवएसु घडएसु पक्खिवावेइ २त्ता सज्जक्खारं पक्खिवा–वेइ २त्ता लंछिय मुद्दिय कारोवे सत्तरत्तं परिवासावेइ २ त्ता तच्चंपि णवएसु घडएसु जाव संवसावेइ २ त्ता एवं खलु एएणं उवाएणं अंतरा गलाविमाणे अंतरापक्खिवावेमाणे अंतरा अवसावेमाणे २ सत्तसत्तए राइंदिइं परिवसावेइ २ त्ता तएणं से फरिहोदए सत्तयंसि २ परिणममाणंसि उदगरयणे जाए यावि होत्था। अच्छे पत्थे जच्चे तणुए फालियवण्णाभे वण्णेणं उववेए ४ आसायणिज्जं जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जं तएणं सुबुद्धी अमच्चे जेणेव से उदगरयणे तेणेव उवागच्छइ२त्ता करयलंसि आसादेइ तं उदगरयणं वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं उववेयं आसायणिज्जं जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जं जाणित्ता हट्ठतुट्ठे बहुहिं उदगसंभारणिज्जेहिं दव्वेहिं संभारेइ२ त्ता जियसत्तुस्स रण्णो पाणियधारियं पुरिसं सद्दावेइ २त्ता एवं वयासी तुमं णं देवाणुप्पिया इमं उदगरयणं गिण्हाहिं २ जियसत्तुस्स रण्णो भोयणवेलाए उवट्ठवेइ तएणं से जियसत्तू राया पाणियधरए पुरिसे सुबुद्धिस्स अमच्चस्स एयमट्ठं पणिसुणेइ २ त्ता तं उदगरयणं गिण्हइ २ त्ता जियसत्तुस्स रण्णो भोयणवेलाए उवट्ठवइ तए णं से जियसत्तू राया तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा विसाएमाणा जाव विहरइ जिमियभुत्तुत्तरागए वि यणं जाव परम सुइभूए तंसि उदगरयणंसि जाव विम्हए ते बहवे राईसरजांव एवं वयासी। अहो णं देवाणुप्पिया इमे उदगरयणे अच्छे जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे तए णं ते बहवे राईसर जाव एवं वयासी तहेणं सामी जण्णं तुब्भे वयह जाव तं चेव पल्हायणिज्जे तए णं जियसत्तू राया पाणियधरय पुरिसं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी एस णं देवाणुप्पियाउदगरयणे कओ आसादिए तए णं से पाणिधरए जियसत्तू रायं एवं वयासी एस णं सामी मए उदगरयणे सुबुद्धिस्स अंतियाओ आसाइए तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी। अहो णं सुबुद्धी अहं तव अणिट्ठे ५ जेणं तुमं ममं कल्लाकल्लिं भोयणवेलाए इमं उदगरयणं ण उवट्ठवेसि तए णं तुमे देवाणुप्पिया उदगरयणेकओ उवलद्धे तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तू राय एवं वयासी एस णं सामी सफरिहोदए तए णं से जियसत्तू राया सुबुद्धी अमच्चं एवं वयासी केणं कारणेणं। सुबुद्धी अमच्चे एस फरिहोदए तएणं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तू राय एवं बयासी एवं खलु सामी तुम्हे तइया मम एवमाइक्खमणस्स ४ एयमट्ठं णो सद्दह तए णं ममं इमेयारूवे अज्झत्थिएचिंत्तिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था। अहो णं जियसत्तू राया संते जाव भावे णो सद्दहइ णो पत्तियइ णो रोयइत्ति तं सेयं खलु मम जियसत्तुस्स रण्णो संताणं जाव संभूयाण जिणपण्णत्ताणं भावाण अभिगमणट्ठयाए एयमट्ठं उवायणावेत्तए एवं संपेहेइ २ त्ता एवं चेव जाव पाणियधरियं पुरिसं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी तुमं णं देवाणुप्पिया उदगरयणं जियसत्तुस्स रण्णो भोयणवेलाए उवणेहि तं एएणं कारणेणं

सामी एस से फरिहोदए तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स एवमाइक्खमाणस्स ४ एयमट्ठं णो सद्दहइ २ त्ता असद्दहमाणो ३ अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया अंतरावणाओ णवघडए गिण्हह जाव उदगसंभारणिज्जेहिं दव्वेहिं संभारे ह। ते वि तहेव संभारेइ जियसत्तुस्स रण्णो उवणेइ तए णं जियसत्तू राया तं उदगरयणं करयलंसि आसाएइ आसायणिज्जं जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जं जाणित्ता सुबुद्धिं अमच्चं सद्दावेइ २ त्ता एवं बयासी सुबुद्धिं एएणं तुमे संता तत्थ जाव संभूया भावा कओ उवलद्धा तएणं सुबुद्धी अमच्चं जियसत्तू रायं एवं वयासी एएणं सामी मए संता जाव भावा जिणवयणाओ उवलद्धा तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी तं इच्छामिणं देवाणुप्पियाणं तव अंतिए जिणवयणं णिसामित्तए। तएणं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तुस्स रण्णो विचित्तं केवलिपण्णत्तं चउज्जामं धम्मं परिकहेइ तमाइक्खेति जहा जीवा बुज्झंति जाव पंच अणुव्वयाणि। तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी सद्दहामिणं देवाणुप्पिया णिग्गंथं पावयणं ३ जाव से जहे यं तुब्भे वयह तं इच्छामिणं तव अंतियं पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह। तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं जाव दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जइ। तएणं जियसत्तू राया समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरा जेणेव चंपाणयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव समवसड्ढे जियसत्तू राया सुबुद्धियणिग्गए सुबुद्धी धम्मं सोच्चा जं णवरं देवाणुप्पिया जियसत्तू रायं आपुच्छामि जाव पव्वयामि अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह तए णं से सुबुद्धी अमच्चे जेणेव जियसत्तू राया तेणेव उवागच्छइ २ त्ता एवं वयासी एवं खलु सामी मए थेराणं अंतिए धम्मे णिसम्मे सेवियधम्मे इच्छिए पडिच्छिए तए णं अहं सामी। संसारभओव्विग्गे भीए जाव इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे जाव पव्वइत्तए तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी इच्छामि ताव देवाणुप्पिया कइ वयाइं वासाइं उरालाइं जाव भुंजमाणा तओ पच्छाए गयाओ थेराणं अंतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वइस्सामो। तए णं सुबुद्धी णामं अमच्चे जियसत्तुस्स रण्णो एयमट्ठं पडिसुणेइ तएणं तस्स जियसत्तुस्स रण्णो सुबुद्धिणा सद्धिं विपुलाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं जाव पच्चणुब्भवमाणस्स दुवालसवासाइ वीइक्कंताइं। तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरागमणं जियसत्तू राया धम्मं सोच्चा एवं जं णवरं देवाणुप्पिया सुबुद्धिं अमच्चं आमंतेमि जेट्ठपुत्तं रज्जे ठवेमि तएणं तुब्भे णं जाव पव्वयामि अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह। तए णं जियसत्तू राया जेणेव सए गिहे सुबुद्धिं अमच्चं सद्दावइ एवं वयासी एवं खलु मए थेराणं जाव पव्वयामि तुमं णं किं करेसि तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तू रायं एवं वयासी जाव केअण्णे आहारे वा जाव पव्वयामि तं जइ णं देवाणुप्पिया जाव पव्वाहि गच्छ णं देवाणुप्पिया जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेहिं सहस्सपुरिसवाहिणी सीयं दुरुहित्ताणं मम अंतिए सीयाओ जाव पाउब्भवह तएणं से सुबुद्धी अमच्चे सीया जाव पाउब्भवइ। तए णं जियसत्तू राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ २ त्ता एवं बयासी गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया अदिण्णसत्तुस्स कुमारस्स रायाभिसेयं उवट्ठवेह। तहेव कोडुंबियपुरिसा अभिसिंचइ जाव जियसत्तू राया पव्वइए। तए णं जियसत्तू रायरिसी एकारस–अंगाइं अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि परियायं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए सिद्धे। तएणं सुबुद्धी एक्कारसअंगाइं अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि जाव सिद्धे एवं खलु जंबू समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं वारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्तिबेमि। ''मिच्छत्तमोहिमणापावपसत्ता वि पाणिणो वि गुणा। फरिहोदगं च गुणणो, हवंति वरगुरुपसायाओ१'' वारसमं णायज्झयणं सम्मत्तं १२ ज्ञा०।

उदगता स्त्री०(उदकता) अप्कायरूपतायाम्, ''णो बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ता य वक्कमंति'' स्था० ३ ठा०।

उदगदोणि स्त्री०(उदकद्रोणि) जलभाजने, यत्र तप्तलोहं शीतलीकरणायाक्षिप्यते, ''उदगदोणी णिव्वतिए'' भ० १६ श०। १उ०। दश० ''फलिहगालणा वाणमलं उदगदोणिणं'' उदकद्रोण्योऽरहट्टजलधारिका इति। दश० ७ अ०।

उदगपरिणय त्रि०(उदकपरिणत) उदकदायकावस्थां प्राप्ते, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

उदगपसूय त्रि०(उदकप्रसूत) जलोत्पन्ने कन्दादौ, ''उदगपसूयाणि कंदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा'' आचा०२ श्रु०१ अ०॥

उदगपोग्गल न०(उदकपौद्गल) उदकप्रधानं पौद्गलं पुद्गलसमूहे मेघे, ''तत्थ समुट्ठियं उदगपोग्गलं परिणयं वा सिउकामं अन्न देसं साहरंति'' स्था०३ ठा० ३ उ०॥

उदगमच्छ पुं०(उदकमत्स्य) इन्द्रधनुःखण्डे, 'एष चाशुभसूचक उत्पातविशेषः, भ०३ श०६ उ०॥ अनु०।

उदगमाल पुं०,स्त्री०(उदकमाला) ६ त० उदकशिखायाम्, वेला–याम्, स्था० १० ठा०॥

लवणस्सणं समुद्दस्स केमहालए उदगमाले पण्णत्ते? गोयमा! दसजोयणसहस्साइं उदगमाले पण्णत्ते॥

भदन्त! लवणस्य समुद्रस्य किंप्रमाणा महत्या उदकमाला समपानीयोपरिभूता षोडशयोजनसहस्रोच्छ्रया प्रज्ञप्ता ? भगवानाहगौतम ! दशयोजनसहस्राणि उदकमाला प्रज्ञप्ता। जी०३ प्रति०।

उदगरयण न०(उदकरत्न) उदकमेव रत्नमुदकरत्नम्। उदक-जातौ, उत्कृष्टे, ''अम्मेहिं इमस्स वम्मियस्स पढमाए वम्मापभिण्णाए उल्ले उदगरयणे अस्सादिए'' भ० १५ श०१ उ०॥

उदगरस पुं०(उदकरस) जलरसे, तओ समुद्दा पगईए उदगरसे णं पण्णत्ता तं जहा कालोदे, पुक्खरोदे, सयंभूरमणे, स्था० ३ ठा० १ उ०। ''अप्पेगइयाउ उदगस्से णं पण्णत्ता'' जं०१ वक्ष०॥

उदग(दग)लेव पुं०(उदकलेप) नावि प्रमाणजलावगाहने, ''अंतो मासस्स तओ दगलेवे करेमाणे सबलो'' स०। दशा०। जललेपे, ''बहु परियावण्णे पाणीसु उदगलेवे तहप्पगारे असणं जाव पडिगाहेज्जा'' आचा०२ श्रु०१ अ० ११ उ०।

उदगवत्थि स्त्री०(उदकवस्ति) जलभृद्दृतौ, जलाधारचर्ममयभाजने, ''उदगवत्थिं परामुसइ'' ज्ञा० १८ अ०।

उदगवद्दलय न०(उदकवादलक) भाविरेणुसंतापोपशान्तये जलवर्षके वार्दसलके, आ०म० द्वि०।

उदगविंदु पुं०(उदकविन्दु) जललवे, पंचा० ४ विव०।

उदगवेग पुं०(उदकवेग) उदकरये ''तिक्खम्मि उदगवेगे विसमम्मि विज्जलम्मि वच्चंतो'' व्य०प्र० १ उ०।

उदगसंभारणिज्ज न०(उदकसंभारणीय) बालकमुस्तादौ, उदकवासादौ, ''हट्ठतुट्ठे बहुहिं उदगसंभारणिज्जेहिं, ज्ञा० १३ अ०।

उदगसत्थ न०(उदकशस्त्र) उदकं शस्त्रमदकमेव शस्त्रम्। अप्का यारक्षके स्वकायपरकायशस्त्रे, आचा०१ श्रु०१ अ०३उ०।

उदगसिहा स्त्री०(उदकशिखा) वेलयाम्, स्था० १० ठा०।

उदग(दग)सीमय पुं० [उदक(दक)सीम] उदक (दक)स्य शीताशीतोदपानीयस्य सीमा यत्रासौ उदक (दक) सीमः मनःशिलाकस्य वेलन्धरनागराजस्यावासपर्वते, जी०३ प्रति० (तद्वक्तव्यता वेलन्धरशब्देवक्ष्यते)

उदग(दग)हारा स्त्री०(उदकधारा) उदकविन्दुप्रवाहे, ज्ञा० ६ अ०।

उदगुप्पीला स्त्री०(उदकोत्पीला) तडागादिषु जलसमूहे, ॥भ०॥ ३श० ६ उ०॥

उदग्ग त्रि०(उदग्र) उद्गतमग्रं यस्य। उन्मेत्त, स्था० ४ ठा०॥ उन्नतपर्यवसाने, भ० २ श०१ उ०। उत्त०। उत्कटे, उत्त० १४ अ०। प्रधाने, ''जहा से तिक्ख दाढे, उदग्गे दुप्प हंसए'' सीहेमियाण पवरे एवं हवइ बहुस्सुए उत्त० १३ अ०।

उदग्गचारित्ततव पुं०,स्त्री(उदग्रचारित्रतपस्) उदग्रं प्रधाने सा-ध्वाचारं सर्वविरतिलक्षणं दशविधरूपं चारित्रतपो द्वादशविधं यस्य स उदग्रचारित्रतपाः। प्रधानचारित्रतपस्के, ''चित्तो वि कानेहिं विरत्तकामो, उदग्गचारित्ततवो महेसी, उत्त० १३ अ०॥

उदत्त पुं०(उदात्त) उद्-आ०दा०क्त, वर्णोत्पत्तिस्थानेषु उच्चैरुच्चा-रिते स्वरे, तद्युक्ते, त्रि०। ''अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महाबलः। स्थेयान् निगूढमानो, धीरो दात्तो दृढव्रतः कथितः'' सा० द, उक्ते (पूर्वपदलोपेन) नायकभेदे, वाच०। कर्तरि क्तः। उदारे अयं निजः परो वेति, गणनां लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ षो० १४ विव०। महति, समर्थे, दातरि, च त्रि०। भावे क्त, दाने, वाद्यभेदे, अलङ्कारभेदे च। वाच०।

उदत्ताभ पुं०(उदात्ताभ) गौतमगोत्रविशेषभूते पुरुषे, तत्प्रवर्त्तिते गोत्रे, तत्र जाते च। ''ते उदात्ताभा'' स्था० ७ ठा०।

उदय पुं०(उदय) उद्० इ० अच्० प्रादुर्भावे, आचा० १ श्रु० १अ० ६ उ०। उत्पत्तौ,–विशे०। ज्योतिषोक्ते राशेरुदयरूपे लग्ने,। आधारे अच्। ''यैर्यत्र दृश्यते भास्यान् स तेषामुदयःस्मृतः'' इत्युक्तलक्षणे रवेर्दृष्टियोग्यस्थाने, उदयाचले, पूर्वपर्वते, वाच०। कर्मपुद्गलानां यथास्थितिबद्धानामबाधाकालक्षयेणापवर्तनविशे–षतो वा उदयप्राप्तानामनुभवने, विपाकवेदने, क०प्र०। कर्म०। दश०। प्रव०। उदयावलिकाप्रविष्टानां कर्मपुद्गलानामुद्भूतसमर्थ–तायाम्, आ०म०प्र०। विपाके,–दश० १ अ०।

(१) प्रकृत्युदयः तत्र नानात्वं च।

(२) जघन्योत्कृष्टस्थित्युदयः।

(३) अनुभागोदयः।

(४) प्रदेशोदयनिरूपणावसरे साद्यनादिप्ररूपणास्वामित्वं।

(५) कस्मिन्गुणस्थाने कियत्यः प्रकृतयो भगवतः क्षीणाः।

(६) उदयहेतुः।

(१) तद्वक्तव्यता चैवं तत्र प्रकृत्युदयो यथा–

उदओ उदीरणाए, तुल्लो मोत्तूण एक्कचत्तालं।
आवरणविग्घसंजलण–लोभवेए य दिट्ठिदुगं॥३८८॥
आलिगमहिगं वेएति, आउगणं अप्पमत्तावि॥
वेयणियाणि दुयदुसमय–तणुपज्जत्ता दायनिद्दाउ॥३८९॥
मणुयगइजाइतसवा–यरं च पज्जत्तसुभगमापज्जं॥
जसकित्तिमुच्चगोत्तं–पंचाजोगिकेइ तित्थयारं॥३९०॥

उदय उदीरणायाः तुल्यः किमुक्तं भवति उदीरणायाः प्रकृत्यादयः प्रागुक्ता या च साद्यनादिप्ररूपणा यच्च स्वामित्वमेतत् सर्वमन्यू–नातिरिक्तमुदयेऽपि द्रष्टव्यम्। उदयोदीरणयोः सहभावित्वात्। तथाहि यत्र उदयस्तत्रोदीरणा यत्र उदीरणा तत्रोदयः किं सर्वत्रा–प्येवमिति चेत् उच्यते। अत आह। मुक्त्वा एकचत्वारिंशत् प्रकृती–नामासामुदीरणा-मन्तरेणापि कियत् कालमुदयस्य प्राप्यमाणत्वात्। तथाहि ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरचतुष्टयान्तरपञ्चकसंज्वलनलोभवेदत्रय-सम्यक्त्वसमग्रमिथ्यात्वरूपा विंशतिः प्रकृतीः स्वस्वोदयपर्यवसाने आवलिकामात्रं कालमधिकृत्य वेदयन्ति। उदीरणामन्तरेणाऽपि केवलेनोदयेनावलिकामात्रं कालमनुभवन्तीत्यर्थः॥ तच्चावलिकामात्रं त्रयाणं वेदानां मिथ्यात्वस्य चान्तरकरणस्य प्रथमस्थितौ आवलिकाशेषायाम् शेषाणां स्वस्वसत्तापर्यवसाने। तथा चतुर्णामप्यायुषां स्वस्वपर्यवसाने आवलिकामात्रं कालमुदय एव भवतीति नोदीरणा मनुष्यायुवेदनीययोर्वा प्रमत्ता–प्रमत्तसंयतप्रभृतय उदीरणामन्तरेणापि केवलेनैवोदयेन वेदयन्ते न तथा तनुपर्याप्ताः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्ताः सन्तो द्वितीयस्य समयादारभ्य शरीरपर्याप्त्यनन्तरसमयादारभ्य इन्द्रियपर्याप्ति–चरमसमयं यावत् उदीरणामन्तरेणापि केवलेनैवोदयेन निद्राः पञ्चापि वेदयन्ते। तथा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्या–प्तसुभगादेययशः कीर्त्युच्चैर्गोत्ररूपाः नवप्रकृतयोऽगिके वलिन उदीरणामन्तरेण स्वकालं यावत् केवलिनि नैवोदयेन वेदयन्ते। तथा तनुपर्याप्ताः शरीरपर्याप्तपर्याप्ताः सन्तो द्वितीयस्य समया–दारभ्य शरीरपर्याप्त्यनन्तरसमयादारभ्य इन्द्रियपर्याप्तिचरमसमयं यावत् उदीरणामन्तरेणापि। क०प्र०।

होइ अणाइअणंतो, अणिसंतो धुवोदयाणुदओ।
साइसपज्जवसाणो, अधुवाणं तदयमिच्छस्स॥

ईदृक् प्रकृतयो द्विधा तद्यथा ध्रुवोदया अध्रुवोदयाश्च। तत्र कर्मप्र–कृतिका उदयचिन्तायां मप्यष्टपञ्चादशाधिकं प्रकृतीनां शतं मन्यते अत ऊर्ध्वं वा करणाष्टकपरिसमाप्तेः कर्म्मप्रकृतिभिः प्रायो व–

क्ष्यते। ततो ध्रुवोदयाः प्रकृतयोऽष्टचत्वारिंशत्संख्या वेदितव्यास्त–द्यथा ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्टयं मिथ्यात्वं वर्णादिविंशतिस्तैजसकार्म्मणसमकस्थिरास्थिरेषु शुभाशुभे अगुरुलघुनिर्म्माणमिति। एतासामष्टचत्वारिंशत्संख्या-कानां प्रकृतीनामुदयो द्विधा। तद्यथा अनाद्यनन्तः अनादिसपर्य–वसानस्तत्र अभव्याश्रितानां च ततः कदाचिदपि व्यवच्छेदासंभवात् भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानः तेषां मोक्षं प्रतिस्थितानां–मवश्यमुदयव्यवच्छेदसंभवात्। अध्रुवाणामध्रुवोदयानां प्रकृतीनामुक्तव्यतिरिक्तानां विंशोत्तरशतसंख्यानामुदयसादिपर्यवसानः अध्रुवोदयतः परावृत्त्य २ तासामुदयभावात् न केवलमध्रुवोदया–नामुदयः सादिसपर्यवसानः किन्तु मिथ्यात्वस्य च। तथाहिसम्यक्त्वात्प्रतिपतितमधिकृत्य मिथ्यात्वस्योदयः। सादिः पुनरपि सम्यक्त्वकल्पाभव्यवच्छेदादध्रुवः। तदेवं मिथ्यात्वस्योदयस्त्रिविध आवेदितस्तद्यआ–अनाद्यनन्तानादिसपर्यवसानः। एतौ च द्वावपि भङ्गौ ध्रुवोदयत्वात्तद्ग्रहणेन गृहीतौ तृतीयस्तु भेदाः सादिपर्यवसानलक्षणस्तदयमिच्छसेइत्यनेनावयवेन साक्षादुक्तइति

पयडिठिइमाइया भेया, पुव्वुत्ता इहावि विन्नेया।
उदीरणउदयाणं, जह नाणत्तं तयं वोच्छं॥

यथा–किल पूर्वं बन्धविधौ प्रकृतिस्थित्यादयो भेदा उक्तास्तद्यथा प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धोऽनुभागबन्धः प्रदेशब–न्धश्च। तथा इहाप्युदयाधिकारे ज्ञेयास्तद्यथा प्रकृत्युदयः स्थित्यु–दयोऽनुभागोदयः प्रदेशोदयश्च। तत्राचार्यः स्वयमेवाग्रे सप्रपञ्च–मुदीरणकरणं वक्ष्यति उदयोदीरणयोश्च प्रायः स्वामित्वं प्रत्यविशेषः सहभावित्वात्। तथाहि–यत्रोदयस्तत्रोदीरणा यत्रोदीरणा तत्रोदयः। ततो यथा प्रकृत्यादयो भेदा उदीरणाधिकारे वक्ष्यन्ते यच्च स्वामित्वं प्ररूपणादिकं तदेतत्सर्वमन्यूनानतिरिक्तमत्रापि भावनीयम्। यत्पुनर्नानात्वं तदभिधित्सुराह (उदीरणेत्यादि) उदीरणोदययोः प्रकृत्यादिभेदविषये यतो नानात्वं तद्वक्ष्ये शेषं तदुदीरणावद्द्रष्टव्यमिति भावः।

तत्र प्रकृतिभेदविषये नानात्वं विदर्शयिषुर्गाथाद्वितयमाह।

चरिमोदयपुव्वाणं, अजोगिकालं उदीरणा विरहे।
देसूणं पुव्वकोडी, मनुयाउगवेयणीयाणं॥
तइयचिय पज्जत्ती, जातानिद्दाणहोइ य चउण्हं।
उदओ आवलिअंते, तेवीसाए उ सेसाणं॥

चरमोदयानां चरमे अयोगिकेवलिचरमसमये उदयो यासां नाम–प्रकृतीनां ताश्चरमोदयास्ताश्चेमा नव। तद्यथा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रिय जातित्रसनामबादरनामपर्याप्तनामसुभगनामादेययशः कीर्तिना–मतीर्थकृतां च भगवतामयोगिकेवलिनां तीर्थनाम च। एतासां नवानां प्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य च अयोगिकालस्तावत् कालः यावत् उदीरणाविरहेऽपि उदीरणाया अलाभेऽप्युदय एव केवलः प्रवर्तते। तथा मनुष्यायुः सातवेदनीयमसातवेदनीयं चेत्येवंरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां प्रमत्तसंयतगुणस्थानकात्परतः शेषेषु गुणस्थानकेषु वर्तमानानामुत्कर्षतो देशानां पूर्वकोटी यावत् उदीरणामन्तरेण केवल उदयो भवति। स चोत्कर्षत इयान् कालः सयोगिकेवलि–गुणस्थानके द्रष्टव्यः शेषस्य गुणस्थानकस्य सर्वस्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्। अथ कस्मात्सातासातवेदनीयमनुष्यायुषां प्रमत्तसंयतगुणस्थानकात्परत उदीरणा न प्रवर्तते। उच्यते अमीषां ह्युदीरणा संक्लिष्टाध्यवसायवशतः प्रवर्तते तथा स्वाभाव्यात् विशुद्धविशुद्धतराध्यवसायवर्तिनश्चाप्रमत्तसंयतादयस्ततस्तेषां–वेदनीयद्विकमनुष्यायुषोरुदीरणाया अभावः। तथा शरीरपर्याप्त्या-पर्याप्तानां सतां शरीरपर्याप्तिं पर्याप्त्यनन्तरसमयादारभ्य यावत्तृतीया पर्याप्तिरिन्द्रियपर्याप्ति परिसमाप्तिमुपैति तावत्पञ्चानामपि निद्राणां तथा स्वाभाव्यात् नोदीरणा प्रवर्तते किन्तूदय एवा केवलस्तथा शेषाणां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरण–चतुष्टयान्तरायपञ्चकसंज्वलनलोभ-वेदत्रयसम्यक्त्वमिथ्यात्वनारकायुष्स्तिर्यगायुर्देवायूरूपाणां त्रयोविंशतिप्रकृतीनामावलिकाः। ततोऽन्तर्भूतायामावलिकायामुदय एव केवलोदीरणा। तथाहिपञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां चक्षुरचक्षुरवधि-दर्शनावरणरूपस्य दर्शनावरणचतुष्टयस्य क्षीणकषायस्य पर्यावलिकायां वर्तमानस्यावलिकायां प्रविष्टत्वान्नोदीरणेत्युदय एव केवलः। एषामेव संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपरायपर्यन्तावलिकायां मिथ्यात्वस्त्रीपुंनपुंसकवेदानामन्तरकरणे कृते प्रथमस्थित्यामावलिका शेषाणां नारकायुस्तिर्यगायुर्देवायुषां स्वस्वभवपर्यन्तावलिकायामुदय एव केवलो नोदीरणा। आवलिकान्तर्गतस्य कर्म्मणः सर्वस्याप्युदीरणा तदत्वयात् इहमनुष्यायुष उदीरणाविरहेऽप्युदयकालः प्रागेव देशोनपूर्वकोटीप्रमाण-मुक्तस्ततो मनुष्यायुषो मिथ्यादृष्ट्यादीनां पर्यन्तावलिकायामुदीरणाविरहेऽपि य उदयकाल आवलिकामात्रः स तदन्तर्गत एव वेदितव्य इति पृथग्नोक्तः। पूर्वकोट्यभिधाने ह्यावलिकामात्रं तदेक देशतया भूतसामर्थ्यात् उक्तमवशेषं शेषाणां तु प्रकृतीनां यावदुदयस्तावदुदीरणा यावदुदीरणा तावदुदय इति तदेव दर्शितः प्रकृत्युदये उदीरणातो विशेषः। संप्रत्यत्रैव मायादिप्ररूपणा कर्तव्या सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च तां द्विविधामपि चिकीर्षुराह।

मोहे चउहा तिविहे, वोससत्तण्हमूलपगईण।
मिच्छत्तउदयऊहा, अधुवधुवाणं दुविहतिविहो॥

मोहो मोहनीयस्य कर्म्मण उदयश्चतुर्धा चतुःप्रकारस्तद्यथा सादिरनादिरध्रुवो ध्रुवश्च। तथाहि–उपशान्तगुणस्थानका प्रतिपातिनो भवेत् सादिस्ततस्तत्स्थानमप्राप्तस्यानादिः। ध्रुवा–ध्रुवाबभव्य-भव्यापेक्षया, अवशेषाणां सप्तानां मूलप्रकृतीनामुदय–स्त्रिविधस्त्रिप्रकारस्तद्यथाऽनादिध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि– ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामुदयः क्षीणमोहान्तसमयं यावत् वेदनीयनामगोत्रायुषा सयोगान्तसमयम्। न च क्षीणो भूयः प्रदूर्भवति ततः एतासां सप्तानामप्युदयोऽनादिर्भव्यानामध्रुवः क्षपकश्रेण्यामाहायथोक्तकाले तथा उदयव्यवच्छेभावादभव्यानां ध्रुवः कदाचिदपि व्यवच्छेदासंभवात्। कृता मूलप्रकृतिषु साद्यादिप्ररूपणा। सांप्रतमुत्तरप्रकृतिभूतां करोति। (मिच्छत्तुदउइत्यादि) मिथ्यात्वस्योदयश्चतुर्द्धा चतुष्प्रकारस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तत्र सम्यक्त्वात्प्रतिपतितस्य भवेत् सादिस्ततस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया। तथा अध्रुवाणामध्रुवादेयानां प्रकृतीनामुदयो द्विविधो द्विप्रकारस्तद्यथा। सादिरध्रुवश्च। सा च साद्यध्रुवता अध्रुवोदयवद्भावनीया। तथा ध्रुवाणां ध्रुवोदयानां प्रकृतीनां प्रागुक्तस्वरूपाणां मिथ्यात्ववर्ज्यशेषसमचत्वारिंशत्प्र–कृतीनामुदयस्त्रिप्रकारस्तद्यथाअनादिर्ध्रुवोध्रुवश्च तथाहि घातिध्रुवोदयानां प्रकृतीनां क्षीणमोहगुणस्थानकचरमसमयः यावदुदयानाम ध्रुवोदयानामयोग्यं न समयस्तत्स्तत्स्थान-मप्राप्तानां सर्वेषामपि संसारजीवाना मुदयो ध्रुवोदयो नाम नादिध्रुवाध्रुवौ प्राग्वत्। उक्तः प्रकृत्युदयः

(२) सम्प्रति स्थित्युदयमाह–

उदयो ठिइक्खएणं, संपत्तीए सभावतो पढमो।

सति तस्मिन्भाववीओ, पओगउदीरणा उदओ ॥

इह उदयो द्विधा । तद्यथा स्थितिक्षयेण प्रयोगेण वा । तत्र स्थितिरबाध्यकालरूपा तस्याः क्षयेण इत्यक्षेत्राकालभवभावरूपाणामुदयहेतूनामप्राप्तौ सत्यां यः स्वभावत उदयः स स्थितिक्षयेणोदय उच्यते। यो पुनस्तस्मिन्नुदये प्रवर्तमाने सति प्रयोगत उदीरणाकरणरूपेण प्रयोगेण दलिकमाकृष्यानुभवति स द्वितीया उदीरणोदयाभिधान उच्यते । स च उदयसामान्यतो द्विधा । तद्यथाजघन्य उत्कृष्टश्च । तत्रोत्कृष्टस्थित्युदीरणादुत्कृष्टस्थित्युदयस्थित्याभ्यधिकस्तथा चाह–

उदीरणाजोग्गाणं, अइंदिट्ठिइए य जोग्गो उ ।
हस्सुंदएगट्ठिईणं, निहण्णा सगिलाणए ॥

उदीरणायोग्यानामुत्कृष्टस्थितीनां प्रकृतीनामुदीरणायोग्येभ्यः स्थितिभ्यः उदययोग्याः स्थितय एकया उदययोग्यया स्थित्या अभ्यधिका वेदितव्याः । तथा द्युत्कृष्टायां स्थितौ बध्यमानायामवधिकालेऽपि यावद्दलिकं प्ररूपयति तथा बन्धावलिकायामतीतायामनन्तरस्थितौ विपाकोदयेन वर्तमान उदयावलिकान्त उपरिवर्तिनीः सर्वा अपि स्थितीरुदीरयति उदीर्य च वेदयते ततो बन्धावलिकाहीनयो शेषयोः सर्वस्या अपि स्थितेरुदयोदीरणे तुल्ये वेद्यमानायां च स्थितौ उदीरणा न प्रवर्तते किन्तूदय एव केवलस्ततो वेद्यमानायां समयमात्रस्थितिभ्योऽधिका उत्कृष्टस्थित्युदीरणा । तत उत्कृष्टस्थित्युदयाबन्धावलिकोदयावलिकादीनाञ्चानुत्कृष्ट–स्थित्युदय उदयोत्कृष्टप्रधानप्रकृतीः वेदितव्याः । शेषाणां तु यथायोगं तत्राप्युक्तनीत्या उदयस्थित्याऽभ्यधिकोऽवगन्तव्यः । संप्रति जघन्यस्थित्युदये विशेषमाह । (हस्सुदएइत्यादि) प्रागुक्तानां मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशः कीर्तितीर्थकरनामोच्चैर्गोत्रायुश्चतुष्टयसातासातवेदनीयनिद्रापञ्चकज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयसंज्वलनलोभवेदत्रयसम्यक्त्वमिथ्यात्वरूपाणामेकचत्वारिंशत्संख्याकानां प्रकृतीनां निद्रापञ्चकोनानां सतीनां षट्त्रिंशत्संख्यानां ह्रस्वो जघन्यः स्थित्युदय एकस्थितिरवसेया। निद्रायां पुनरेकैकस्थितीनां समये वेदितव्यः। किमुक्तं भवति । उक्तरूपाणां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यः स्थित्युदयः समयमात्रैकस्थित्युदयप्रमाणो वेदितव्य इति । समयमात्रा चैका स्थितिश्चरमा स्थितिरवसेया । निद्रापञ्चकस्य ह्युदीरणाया अभावेऽपि शरीरपर्याप्त्यनन्तरं विपाकोदयकाले अपवर्तनाऽपि प्रवर्तते । तत एका स्थितिर्न प्राप्यते इति । तद्वर्जनशेषं तु सर्वमपि साद्यादिप्ररूपणादिकं स्थित्युदीरणायामेव निरवशेषमवगन्तव्यम् । उक्तः स्थित्युदयः ॥

(३) सम्प्रत्यनुभागोदयमाह ।

अणुभागुदओ वि उदीरणाए तुल्लो जहण्णए नवरं ।
आवलिगंतेन सम्मत्तं वेयखीणंतलोभाणं ॥

अनुभागोदयोऽप्युदीरणायास्तुल्यो यथानुभागोदीरणा सप्रपञ्चमत्र वक्ष्यते तथाऽनुभागोदयोऽपि वक्तव्य इति भावः । किं सर्वथा साम्यमिति चेदत आह । नवरमयं विशेषोऽजघन्यमनुभागोदयं सम्यक्त्ववेदानां क्षीणान्तानां क्षीणमोहगुणस्थानकपर्यवसानानां ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनां संज्वलनलोभस्य च आवलिकान्ते जानीयात् । इयमत्र भावना । ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयवेदत्रयसंज्वलनलोभसम्यक्त्वरूपाणामेकोनविंशतिप्रकृतीनां स्वस्वपर्यवसानसमये उदीरणाया व्यवच्छेदे सति परत आवलिकां गत्वा आवलिकाचरमसमये जघन्यानुभागोदयस्य प्राप्यमाणत्वादिति । तदेवमुक्तोऽनुभागोदयः। पं०सं०।

(४) संप्रति प्रदेशोदयाभिधानावसरस्तत्र चेमौ अर्थाधिकारौ–तद्यवा साद्यनादिप्ररूपणास्वामित्वं । साद्यनादिप्ररूपणा द्विविधा । मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च । तत्र मूलप्रकृतिविषय साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह ।

अजहण्णाणुक्कोसा, चउव्विहा छिण्हचउव्विहा मोहे ।
आउस्स साइअधुवा, सेसविगप्पा य सव्वेवि ॥३६३॥

मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणामजघन्यः प्रदेशोऽयं चतुर्विधस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि कश्चित् क्षपितकर्म्मांशो देवलोके देवो जातः स च तत्र संक्लिष्टो भूत्वा उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशाग्रमुद्वर्त्तयति ततो बन्धावसाने कालं कृत्वा एकेन्द्रियेषु उत्पन्नस्तस्य प्रथमसमये प्रागुक्तानां षण्णां कर्मणां जघन्यप्रदेशोदयः । स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरनादिर्ध्रुवश्च । ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः सोऽपि तस्य द्वितीयसमये भवन् सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा तेषामेव षण्णां कर्मणामनुत्कृष्टः प्रदेशोदयस्त्रिधा त्रिप्रकारस्तद्यथा अनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि अमीषां षण्णां कर्मणामनुत्कृष्टः प्रदेशोदयः प्रागुक्तस्वरूपस्य गुणितकर्मांशस्य स्वस्वोदयान्तगुणश्रेणिविवर्तमानस्य प्राप्यते सचैकं सामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च । ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः स चानादिः सदैव भावात् । ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा मोहे मोहनीये अजघन्योत्कृष्टश्च प्रदेशोदयश्चतुर्विधस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि– क्षपितकर्मांशस्यान्तरकरणे कृते अन्तरकरणे पर्यन्तभाविगोपुच्छाकारसंस्थितावलिकामात्रदलिकान्तसमये मोहनीयस्य जघन्यप्रदेशोदयः । स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च । ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः सोऽपि ततो द्वितीयसमये भवन् सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा गुणितकर्मांशस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकान्तसमये उत्कृष्टप्रदेशोदयः । स चैक–सामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः स चोपशमश्रेणीतः प्रतिपतितो भवन् सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । आयुषि चत्वारोऽपि भेदा उत्कृष्टा जघन्यारूपाः साद्यध्रुवाः । चतुर्णामपि भेदानां यथायोगं नियत–कालं भावात् । तथा सर्वेषां कर्मणां प्रागुक्तानां षण्णां मोहनीयस्य उक्तशैषौ विकल्पौ उत्कृष्टजघन्यरूपौ साद्यध्रुवौ तौ च प्रागेव भावितौ कृता मूलप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणा ।

संप्रत्युत्तरप्रकृतीनां चिकीर्षुराह ।

अजहण्णाणुक्कोसो, सगयाला एगचउतिहा चउहा ।
मिच्छत्ते सेसाणं, दुविहा सव्वे य सेसाणं ॥३६४॥

तैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरनिर्माणागुरुलघुशुभाशुभज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशोदयश्चतुर्विधस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि–क्षपितकर्मांशो देव उत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमान उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशमुद्वर्तयति । ततो बन्धावसाने कालं कृत्वा एकेन्द्रियेषूत्पद्यते तस्य प्रथमसमये प्रागुक्तानां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशोदयः । नवर–मधिकृत्य ज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोर्बन्धावलिकाचरमसमये देवस्य जघन्यप्रदेशोदये वेदितव्यः । सचैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः । सच द्वितीयसमये भवन् सादिः ।

तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा अमूषा–मेव सप्तचत्वारिंशत् प्रकृतीनामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः । स चैकसामा–यिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोऽन्य सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः स चाना–दि सदैव भावात् । ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा मिथ्यात्वे मिथ्यात्वस्य जघन्योऽनुत्कृष्टश्च प्रदेशोदयश्चतुर्विधः तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रु–वश्च । तथाहि– क्षपितकर्मांशस्य प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतः कृ तान्तरकरणस्य औपशमिकस्य सम्यक्त्वात्प्रच्युतस्य मिथ्यात्वं गतस्यान्तरकरण-पर्यन्तभाविगोपुच्छाकारसंस्थितावलिकामात्र–दलिकान्त समये वर्तमानस्य जघन्यतः प्रदेशोदयः स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोन्यः सर्वोप्यजघन्यः सोपि द्वितीयसमये भवन् सादिः वेदकसम्यक्त्वाद्वा प्रतिपतितः सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा कश्चिद्गुणितकर्मांशो यदा देशविरतिगुणश्रेण्यां वर्तमानः सर्वविरतिं प्रतिपद्यते ततस्तन्निमित्तां गुणश्रेणिं करोतीति कृत्वा च तावद्गतो यावत् द्वयोर्गुणश्रेण्योर्मस्तके तदानीं च कश्चिन्मिथ्यात्वं गच्छति । ततस्तस्य मिथ्यात्वस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः स चैकसामायिक इति कृत्वासादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः सोऽपि ततोद्वितीयसमये भवन् सादिः वेदकसम्यक्त्वाद्वा प्रतिपतति सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । एतासां च सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां मिथ्यात्वस्य च उक्तशेषौ विकल्पौ जघन्योत्कृष्टरूपौ द्विधा द्विप्र–कारौ तद्यथा सादी अध्रुवौ तौ च भावितावेव शेषाणामध्रुवोदयानां प्रकृतीनां दशोत्तरशतसंख्यानां सर्वेऽपि विकल्पा जघन्याजघन्यो–त्कृष्टानुत्कृष्टरूपा द्विधा ज्ञातव्याः तद्यथा सादयोऽध्रुवाश्च सा च साद्यध्रुवता च अध्रुवोदयत्वादवसेया कृता साद्यनादिप्ररूपणा ।

सम्प्रति स्वामित्वमप्यभिधानीयं तच्च द्विधा उत्कृष्टप्रदेशोदय–स्वामित्वं जघन्यप्रदेशोदयस्वामित्वं च । तत्रोत्कृष्टप्रदेशोदयस्वा–मित्वप्रतिपादनार्थं संभवतीति गुणश्रेणिः सर्वा अपि प्ररूपयति ॥

सम्मत्तुप्पासावि य, विरए संजोयणाविणासे य ।
दंसणमोहक्खवगे, कसायओ सामगुवसंते ॥३९५॥
खवगे य खीणमोहे, जिणे य दुविहे असंखगुणसेढी ।
तदओ तव्विवरीओ, कालो संखेज्जगुणसेढी ॥३९६॥

इह एकादशगुणश्रेणयः तद्यथा सम्यक्त्वोत्पादे प्रथमा, द्वितीया श्रावके देशविरततृतीया विरते सर्वविरते, प्रमत्ते चतुर्थी , संयोजना नामनन्तानुबन्धना विसंयोजने पञ्चमी, दर्शनमोहनीयतृतीयक्षप–णे षष्ठी, चारित्रमोहनीयोपशमके सप्तमी, उपशान्तमोहनीये अष्ट–मी, मोहनीयक्षपके नवमी, क्षीणमोहे दशमी, सयोगिकेवलिनि अयोगिकेवलिनित्वेकादशीति (असंखगुणसेढी उदयओत्ति) सर्वस्तोकसम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेण्यां दलिकं ततोऽपि देशविरतिगु–णश्रेण्यामसंख्येयगुणं ततोऽपि सर्वविरतिगुणश्रेण्यामसंख्यैयगुणमेवं तावद्वाच्यं यावदयोगिकेवलि गुणश्रेण्यां दलिकमसंख्येयगुणं तस्मात् प्रदेशोदयमप्याश्रित एता गुणश्रेणयो यथाक्रममसंख्येय गुणा वक्तव्याः (तव्विवरीओत्ति) सर्वास्वपि एतासुगुणश्रेणिषु कालस्तद्विपरीत उदयविपरीतः संख्येयगुणश्रेण्या तद्यथा अयोगिकेवलिगुणश्रेणि-कालसंख्येयगुण एवं तावद्वाच्यं यावत् सम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेणिकालः संख्येयः । गुणस्थापना एषा सम्यक्त्वोत्पादगुण–श्रेणिः । पुनर्यथोत्तरमसंख्येयगुणदलिकाकालतश्च संख्येयगुणाः उपरिष्टाच्च पृथक्त्वेन यथोत्तरं विशाला विशालतराः । अथोच्यते कथं दलिकं यथोत्तरमसंख्येयगुणं प्राप्यते उच्यते । सम्यक्त्वंह्यु–त्पादयन् मिथ्यादृष्टिर्भवति ततस्तस्य स्तोकं गुणश्रेणिदलिकं सम्यक्त्वोत्पत्तौ सत्यां पुनः प्रागुक्तगुणश्रेण्यपेक्षया संख्येयगुणदलिका गुणश्रेणिः विशुद्धत्वात् ततोऽपि सर्वविरतस्य गुणश्रेणिरसंख्येयगुणदलिका तस्यातिविशुद्धत्वात् । एवमुत्तरोत्तरविशुद्धप्रकर्षवशात् यथोक्तम-संख्येयगुणदलिका भावनीया ॥

संप्रति का गुणश्रेणिः कस्यां गतौ प्राप्यते इत्येतन्निरूपणार्थमाह ।

तिन्नविमपढममल्लिओ, मिच्छत्तगए वि होज्ज अन्नभवे ॥
पगयं तु गुणियकम्मे, गुण सेढी सीसगाणुदये ॥३९७॥

आद्यास्तिस्रो गुणश्रेणयः सम्यक्त्वोत्पाददेशविरतिसर्वविरतिनि–मित्ता झटित्येव मिथ्यात्वं गतस्य अप्रशस्तेन चरममरणे झटित्येव मृतस्य अन्यभवे नारकादिरूपपराभवे किञ्चित्कालमुदयमाश्रित्य प्राप्यन्ते शेषास्तु गुणश्रेणय परभवनारकादिरूपे न प्राप्यन्ते नारकादिभवो हि अप्रशस्ते मरणे न प्राप्यते न च शेषासु गुणश्रेणिषु सतीष्वप्रशस्त-मरणसंभवः किन्तु क्षीणास्वेव । तथा चोक्तम् । ''झत्तिगुणाओ पडिए, मिच्छत्तगयम्मि आइमा तिन्नि । लब्भंति न सेसा साओ, जं हीणासु असुभमरणं'' तथा प्रकृतमत्र उत्कृष्ट–प्रदेशोदयस्वामित्वे गुणितकर्म्मांशेन गुणश्रेणिशिरसामुदये वर्तमानेन ।

आवरणविग्घमोहाणं, जिणोदइयाण वा वि नियगंते ।
लहुखवणाए ओहीणणो हि लद्धिस्स उक्कस्स ॥३९८॥

आवरणं पञ्चप्रकारं ज्ञानावरणं चतुःप्रकारं दर्शनावरणं (विग्घत्ति) पञ्चप्रकारमन्तरायमेतासां चतुर्दशप्रकृतीनां लघुक्षपणायां शीघ्र–क्षपणायामर्थमभ्युद्यतस्य । द्विविधा हि क्षपणा लघुक्षपणा चिरक्षपणा च । तत्र योऽष्टवार्षिक एव सप्तमासाभ्यधिकं संयमं प्रतिपन्नस्तत्प्र–तिपत्त्यनन्तरं चान्तर्मुहूर्त्तेन क्षपकश्रेणिमारभते तस्य या क्षपणा सा लघुक्षपणा । यत्तु प्रभूतेन कालेन संयमं प्रतिपद्यते संयमप्रतिपत्ति–रप्यूर्ध्वं प्रभूतेन कालेन क्षपकगुणश्रेणिमारभते तस्य या क्षपणा सा चिरक्षपणा तया च प्रभूताः पुद्गलाः परिसटन्ति स्तोका एव च शेषीभवन्ति ततो न तया उत्कृष्टः प्रदेशोदयो लभ्यते । उक्तं लघुक्षपणया अभ्युत्थितस्येति तस्या गुणितकर्मांशस्य क्षीणमोह–गुणस्थानकं चरमसमये गुणश्रेणिशिरसि वर्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति नवरम् । (ओहीणणोहिलद्धिस्सति) अबध्योऽवधिज्ञानमुत्पादयतो बहवः पुद्गलाः परिक्षीयन्तो ततो नावधि–युक्तस्योत्कृष्टप्रदेशोदयद्रव्यलाभ इत्यनवधिलब्धियुक्तस्येत्युक्तम्। तथा मोहानां मोहनीयानां प्रकृतीनां सम्यक्त्वसंज्वलनचतुष्टय–वेदनयाख्यातमष्टानां गुणितकर्मांशस्य क्षपकस्य स्वस्वोदयचरम–समये उत्कृष्टः प्रदेशोदयः । तथा जिने केवलिनि उदयो यासां ता जिनोदयकास्तासां मध्ये औदारि-कसप्तकतैजससप्तकसंस्थानषट्कप्रथमसंहननवर्णादिविंशतिपराघा-तोपघातादिगुरुलघुविहायोगतिद्विकपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिर-शुभाशुभनिर्माणरूपाणां द्विपञ्चाशत्प्रकृतीनां गुणितकर्मांशस्यायोगिकेव-लिगुणस्थानक–चरमसमये उत्कृष्टः प्रदेशोदयः सुस्वरदुःस्वरनिरोध-कालोच्छ्वासनाम्नः पुनरुच्छ्वासनिरोधकाले तथा अन्यतरवेदनीय-मनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशः कीर्ति–तीर्थकरोच्चैर्गोत्राणां द्वादशप्रकृतीनां गुणितकर्मांशस्यायोगिकेव–लिनश्चरमसमये उत्कृष्टः प्रदेशोदयः ।

उवसंतपढमगुणसेढीए, निद्दादुगस्स तस्सेव ।
यावइ सीसगमुवयंति, जाव देवस्स सुरनवगे ॥३९९॥

उपशान्तकषायस्यात्मीयप्रथमगुणश्रेणीशिरसि वर्तमानस्य सुर–नवकस्य वैक्रियसप्तकदेवद्विकरूपस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः । तथास्यै वोपशान्तकषायस्यात्मीयप्रथमगुणश्रेणीशीर्षकोदयानन्तरसमये–प्राप्यतीति तस्मिन् पाश्चात्यसमये जाते देवस्य ततः स्वप्रथमगु–

णश्रेणीशिरसि वर्तमानस्य वैक्रियसप्तकदेवद्विकरूपस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः ।

मिच्छत्ती मीसाणं–ताणुबंधअसमत्थीण गिद्दीण ।
तिरिउदय गंताण य, विइया तइया य गुणसेढी ॥४००॥

इह केनचित् देशविरतेन सता देशविरतिप्रत्यया गुणश्रेणिः कृता ततः संयमं प्रतिपन्नस्ततः संयमप्रत्यया गुणश्रेणिः कृता ततो यस्मिन्काले द्वयोरपि गुणश्रेण्योः शिरसि एकत्र मिलतः तस्मिन् काले वर्तमानो गुणितकर्मांशः कश्चिन्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य तदा मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः । यदि पुनः सम्य–ग्मिथ्यात्वं प्रतिपन्नस्तर्हि ३ सम्यङ्मिथ्यात्वस्य स्त्यानर्द्धित्रिकस्य पुनर्मिथ्यात्वं गतस्यागतस्य वा उत्कृष्टः प्रदेशोदयो वाच्यः । यदि स्त्यानर्द्धित्रिकस्य प्रमत्तस्य संयतेऽप्युदयः प्राप्यते तथा तिर्यक्षु इव उदय एकान्तेन यासां तास्तिर्यग्गुदयैकान्ता एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियस्थावरसूक्ष्मसाधारणनामानस्तयोः पर्याप्तनाम्नश्च तिर्यग्भवप्राप्तौ सत्यां देशविरतिसर्वविरतिगुणश्रेणिशिरसोरेकत्र योगे वर्तमानस्य मिथ्यादृष्टेः स्वस्वोदये वर्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः ।

अंतरकरणे करणं, होहित्ति जयदेवस्स तं मुहुत्तं तो ।
अट्ठण्हकसायाणं, छण्हं पि य नो कसायाणं ॥४०१॥

इह कश्चिदुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नोऽनन्तरसमये अन्तरकरणं भवि–ष्यतीति तस्मिन् पाश्चात्यसमये कालं कृत्वा देवो जातः तस्य देवस्य उत्पत्त्यर्मुहूर्तात् परतो गुणश्रेणिशिरसोरेकत्र योगे वर्तमानस्य मिथ्यादृष्टेः स्वस्वोदये वर्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः । इह कश्चित् उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नोऽनन्तरसमये अन्तरकरणं भविष्यतीति एतस्मिन् पाश्चात्यसमये कालं कृत्वा देवो जातः तस्य देवस्य उत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तात्परतो गुणश्रेणिशिरसि वर्तमानस्यप्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टके वेदत्रिकवर्जानां षण्णां नोकषायाणामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः ।

हस्सठिई बंधित्ता, अद्धा जोगाइठिइनिसग्गेणं ।
उक्कस्सपएपढमो–देयम्मि सुरनारगाऊणं ॥४०२॥

अद्धा बन्धकालयोगमनोवाक्कायनिमित्तं वीर्यम् । आदिस्थितिः प्रथमा स्थितिः तस्यां दलिकनिक्षेपः आदिस्थितिदलिकनिक्षेपः । एतेषामुत्कृष्टपदे सति किमुक्तं भवति उत्कृष्टेन बन्धेन कालेन उत्कृष्टे योगे वर्तमानो ह्रस्वां जघन्यां स्थितिं बध्वा प्रथमस्थितौ च दलिके निक्षेपस्तमुत्कृष्टं कृत्वा मृतः सन् देवो नारको जातः तस्य प्रथमोदये प्रथमस्थित्युदये वर्तमानस्य देवायुषो नारकस्य नारकायुषउत्कृष्टः प्रदेशोदयः । (अद्धाजोगुत्ति) भोगभूमिषु तीर्यक्षु मनुष्येषु वा विषये कश्चित् तीर्यगायुः कश्चित् मनुष्यायुरुत्कृष्टं पल्योपमस्थितिकं बध्वा लघु शीघ्रं च मृत्वा त्रिपल्पोपमायुष्के तीर्यक्षु परो मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नस्तत्र च सर्वाल्पजीवितमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं वर्जयित्वा अन्तर्मुहूर्तकमपवृत्त्येत्यर्थः शेषमशेषमपि स्वस्वापवर्त्तनाकरणेनापवर्त्तयतस्ततोऽपवर्तमानानन्तरप्रथमसमयस्तयोस्तिर्यङ्मनुष्ययोर्यथासंख्यं तिर्यगपिमनुष्यायुषोरुत्कृष्टः प्रदेशोदयः ।

दूभगणाएज्जसगई, दुगअणुपुव्वित्थिसगनीयाणं ।
दंसणमोहे खवणे, देसविरइए व गुणसेढी ॥४०३॥

इहाविरतसम्यग्दृष्टिर्दर्शनमोहनीयत्रितयं क्षपयितुमभ्युद्यतो गुणश्रेणिं करोति । ततः स एव देशविरतिप्रतिपन्नस्ततः सर्वविरति–निमित्तां गुणश्रेणीं करोति । तत्करणपरिसमाप्तौ सत्यां संक्लिष्टो भूत्वा पुनरप्यविरतो जातः तस्य तिसृणामपि गुणश्रेणीनां शिरसि वर्तमानस्य तस्मिन्नेव भवे स्थितस्य दुर्भगानादेयायशः कीर्तिनी–चैर्गोत्राणामुत्कृष्टप्रदेशोदयः । अथ तिर्यक्षु उत्पन्नस्तर्हि तस्य पूर्वोक्तानां तिर्यग्द्विकसहितानामुत्कृष्टप्रदेशोदयः मनुष्यो जातस्तर्हि मनुष्यानुपूर्वीसंहितानामिति ।

संघयणापंचगस्स य, वियादीतिन्नि होंति गुणसेढी ।
आहारगउज्जो वा–णुत्तरतणु अप्पमत्तस्स ॥४०४॥

इह कश्चिन्मनुष्यो देशविरतिप्रतिपन्नस्ततः सदेशविरतिप्रत्ययां गुणश्रेणिं करोति । यतः स एव विशुद्धिप्रकर्षवशतः सर्वविरतिप्रति–पन्नस्ततः सर्वविरतिप्रत्ययां गुणश्रेणिं करोति । ततः स एव तथा–विधशुद्धयशसोऽन्तानुबन्धिनां विसंयोजनायोत्थितस्ततस्तत्रि–मित्तां गुणश्रेणिं करोति । एवं द्वितीयादयस्तिस्रो गुणश्रेणयो भवन्ति ताश्च कृत्वा तासां शिरसि सुवर्तमानस्य प्रथमसंहननवर्जानां पञ्चानां संहननानां यथायोग्यमुदयप्राप्तानामुत्कृष्टप्रदेशोदयः तथा उत्तरतनौ शरीरे आहारके वर्त्तमानस्याप्रमत्तभावं गतस्य प्रथमगुणश्रेणिशिरसि वर्तमानस्याहारकसप्तकाद्योस्तयोरुत्कृष्टः प्रदेशोदयः ।

वेइंदियमावण्णो, कम्मं काऊण तस्सिमं खिप्पं ।
आयावस्स उ तच्चे, पढमसमयम्मि व वट्टंतो ॥४०५॥

गुणितकर्मांशः पञ्चेन्द्रियसमयग्दृष्टिर्जातः सम्यक्त्वनिमित्तां गुणश्रेणिं कृतवान् । ततस्तस्यां गुणश्रेणितः प्रतिपतितो मिथ्यात्वं गत्वा द्वीन्द्रियमध्ये समुत्पन्नः तत्र च द्वीन्द्रियप्रायोग्यां स्थितिं भुक्त्वा शेषं सर्वमप्यपवर्त्तयति । ततोऽपि मृत्वा एकेन्द्रियो जातः । तत्र एकेन्द्रियसमां स्थितिं करोति शीघ्रमेव च शरीरपर्याप्तस्तस्य तद्वेदिन आतपवेदिनः खरबादरपृथिवीकायिकस्य शरीरपर्याप्त्यनन्तरप्रथमसमये आतपनाम्नः उत्कृष्टप्रदेशोदयः एकेन्द्रियो द्वीन्द्रियस्थितिं झटित्येव स्वयोग्यां करोति न त्रीन्द्रियादि स्थितिमिति द्वीन्द्रियग्रहणम् तदेवमुक्त उत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामी ।

संप्रति जघन्यप्रदेशोदयस्वाम्यत्वमभिधीयते ।

पयगं तु खवियकम्मे, जहन्नदेवट्ठिईभिन्नमुहूत्ते ॥
सेसे मिच्छत्तगतो, अतिकिलट्ठो कालयं तु खविगए ॥४०६॥
एगेंदियगो पढमे, समये वमईसु पावरणे ॥
केवलदुगमणपज्जव–चक्खुअचक्खूण आवरणा ॥४०७॥

जघन्यस्वामीति भावप्रधानोऽयं निर्देशः प्राकृतत्वाच्च ततः परस्याः सप्तम्या लुक् ततोऽयमर्थः । जघन्यप्रदेशोदयस्वामित्वे प्रकृतमधिकारः क्षपितकर्मांशेन सूत्रे चात्र सप्तमी तृतीयार्थे वदितव्या । तत्र कश्चित्क्षपितकर्मांशो देवो जघन्यस्थितिर्दशवर्षसहस्रायुरुत्प–त्यनन्तरं मुहूर्ते गते सति सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते तच्च सम्यक्त्वं दशव–र्षसहस्राणि देशोनानि यावत्परिपाल्य अन्तर्मुहूर्त्तावशेषे जीविते मिथ्यात्वं गतः स चातिसंक्लिष्टपरिणामो वक्ष्यमाणकर्मणामुत्कृ–ष्टस्थितिबन्धमारभते प्रभूतं दलिकं तदानीमुद्वर्तयति तावद्यावदन्तर्मुहूर्तम् । ततः संक्लिष्टपरिणाम एव कालं कृत्वा एकेन्द्रियो जातस्तस्य प्रथमसमये मतिज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणमनः पर्यवज्ञानावरणचक्षुर्ज्ञानावरणाचक्षुर्दर्शनावरणानां जघन्या प्रदेशोदीरणा स्तोका भवति यतस्तस्यानुभागोदीरणा बह्वी प्रवर्तते । यत्र चानुभागोदीरणा बह्वी तत्र स्तोका प्रदेशोदीरणा ततो

''मिच्छत्तगतो अतिकिलट्ठो'' इत्याद्युक्तम् ॥

ओहीण संजमाउ, देवत्तगए यस्स मिच्छत्तं ॥
उक्कोसं बंधठिई बंधे, विकट्टणा आलिगं गंतु ॥४०८॥

क्षपितकर्मांशः संयमं प्रतिपन्नः समुत्पन्नावधिज्ञानदर्शनोऽप्रति–

पतितावधिज्ञानदर्शन एव देवो जातस्तत्रचान्तर्मुहूर्त्तं गते मिथ्या–त्वं प्रतिपन्नस्ततो मिथ्यात्वप्रत्ययेनोत्कृष्टां स्थितिं बद्धकुमारभते प्रभूतं दलिकं विकर्षयति उद्वर्त्तयति इत्यर्थः। तत आवलिकां गत्वा अतिक्रम्य बन्धावलिकायामतीतायामित्यर्थः अवध्योरवधिर्ज्ञानावरणाबधिर्दर्शनावरणावधिर्जघन्यः प्रदेशोदयः॥

वेयणियंतरसोगा, चउहिव्व निद्दपलायस्स॥
उक्कस्स ठिई बंधो, पडिभागा पवेइया नवरं॥४०६॥

द्वयोर्वेदनीययोः सातासातयोः पञ्चानामन्तरायाणां शोकारत्यु–च्चैर्गोत्राणां च जघन्यः प्रदेशोदयोऽवधिज्ञानावरणस्येव वेदितव्यो निद्राप्रचलयोरपि तथैव केवलमुत्कृष्टस्थिति बन्धात् प्रतिभग्नस्य प्रतिपतितस्य निद्राप्रचलयोरनुभवितुं लग्नस्य चेति द्रष्टव्यम्। उत्कृष्टस्थिति बन्धो हि अतिशयेन संक्लिष्टस्य भवति नचातिसं–क्लेशे वर्तमानस्य निद्रोदयसंभवस्तत उक्तमुत्कृष्टास्थितिबन्धा–त्प्रतिभग्नस्येति द्रष्टव्यम्॥

वरिसवरतिरियथावर, नीयंपि मइसमं नवरं।
तिन्नि निद्दानिद्दा, इंदिय पज्जुत्तिपढमसमयम्मि॥४१०॥

वर्षवरो नपुंसकवेदस्ततो नपुंसकवेदतिर्यग्गतिस्थावरनीचैर्गोत्राणां जघन्यः प्रदेशोदयो मतिज्ञानावरणस्येवास्य निद्रानिद्रादयोऽपि तिस्रःप्रकृतयो जघन्यप्रदेशोदयविषये मतिज्ञानावरणवत् भावनीयाः। नवरमिन्द्रियपर्याप्त्यापर्याप्त्यप्रदेशप्रथमसमये इति द्रष्टव्यम्। ततोऽनन्तरसमये उदीरणायाः संभवने जघन्यप्रदेशोदयासंभवात्॥

दंसणमो तिविहे, उदीरणुदए य आलिगं गंतुं॥
सत्तण्ह एवमेवं, उवसमित्तागए देवे॥४११॥

क्षपितकर्मांशे तस्य औपशमिकस्य सम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्य–क्त्वात्प्रच्यवमानस्य अन्तरकरणेन स्थितेन द्वितीयस्थितेन सका–शात्सम्यक्त्वादीनां दलिकानि समाकृष्ययान्यन्तराणि चरमसमये आवलिकामात्रभागे गोपुच्छाकारसंस्थाने रचितानि। तद्यथा– प्रथमसमयं प्रभूतं दलिकं द्वितीयसमये विशेषहीनं तेषामुदयो दीरणोदय उच्यते तस्मिन् उदीरणोदये आवलिकामात्रं गत्वा आवलिका यावच्चरमसमये विशेषहीनं तेषामुदयोदीरणा उदय उच्यते तस्मिन् उदीरणोदये आवलिकामात्रं गत्वा आवलिकामात्रं यावच्चरमसमये विशेषहीनं समये सम्यक्त्वमिश्रमिथ्यात्वानां स्वस्वोदययुक्तस्य जघन्यप्रदेशोदयः। तथानन्तानुबन्धिवर्जद्वादशकषायवेदपुरुषवेदहास्यरतिभय-जुगुप्सारूपाः सप्तदश प्रकृतीरुपमश्य्य देवलोकं गत्वा एवमेवेति उदीरणोदयचरमसमये तासां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यः प्रदेशोदयः। आसां हि सप्तदशोपशमय्य देवलोकं गतस्य एवमेवेति उदीरणानामपि प्रकृतीनामन्तरकरणं कृत्वा देवलोकं गतः सन् प्रथमसमये एव द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमाकृष्योदयसमयादारभ्य गोपुच्छाकारं विरचयति। तद्यथा उदयसमये प्रभूतं, द्वितीयसमये विशेषहीनं तृतीयसमये जघन्यप्रदेशोदयो लभ्यते॥

चउरुवसम्मित्तपच्छा, संजोई य दीहकालसम्मत्ता॥
मिच्छत्तगए आवलिगाए संयोजयणाणं तु॥४१२॥

चतुरो वारान् मोहनीयमुपशमय्य पश्चादन्तर्मुहूर्त्तं गते सति मिथ्यात्वं गतः ततोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेनासंयोजनात् अनन्तानु–बन्धिनो बध्नाति ततः सम्यक्त्वं गतस्तच्च दीर्घकालं द्वात्रिंशत्सा–गरोपमाणां शतं यावदनुपालयन् समयसम्यक्त्वप्रभावतः प्रभूतान् पुद्गलान् अनन्तानुबन्धिनां संबन्धिनः प्रदेशसंक्रमतः परिसाटयति। ततः पुनरपि मिथ्यात्वं गतः मिथ्यात्वाप्रत्ययेन च भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति तस्या आवलिकाया बन्धानवलिकायाश्चरमसमये पूर्वबद्धानामनन्ता-नुबन्धिन्यः जघन्यः प्रदेशोदय आवलिकायाश्चरमसमये इत्युक्तं संसारे चैकजीवस्य चतुष्कृत्व एव मोहनीयस्योपशमनो भवति न पञ्चकृत्वा इति चतुःकृत्वो ग्रहणम्। मोहोपशमनेन किं प्रयोजनमितिचेदुच्यते। इह मोहोपशमं कुर्वन् अप्रत्याख्यानादिकषायेण दलिकमन्यत्र गुणसंक्रमेण प्रभूते संक्रमयति ततः क्षीणमोहे शेषाणां तेषामनन्तानुबन्धिषु बन्धकाले स्तोकमेव संक्रमयति ततो मोहोपशमग्रहणम्।

इत्थीए संजमभवे, सव्वनिरुद्धम्मिगंतु मिच्छत्तं।
देवीए लहुमिच्छी, जेट्ठठिई आलिगं गंतु॥४१३॥

संयमेनोपलक्षितो भवः संयमभवस्तस्मिन् सर्वनिरुद्धे अन्तर्मु–हूर्त्तावशेषे स्त्रिया मिथ्यात्वं गतायास्ततोनन्तरभवे देवीभूतायाः शीघ्रमेव पर्याप्ताया उत्कृष्टस्थितिबन्धानन्तरमावलिकां गत्वा आवलिकाया-श्चरमसमये स्त्रीवेदस्य जघन्यः प्रदेशोदयः। इयमत्र भावना। क्षपितकर्मांशा काचित् स्त्री देशोनां पूर्वकोटिं सावत्संय–ममनुपाल्य अन्तर्मुहूर्ते आयुषोऽवशेषेमिथ्यात्वं गत्वा अन्तरभवे देवी समुत्पन्ना शीघ्रमेव पर्याप्ता ततः उत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमाना स्त्रीवेद–स्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति। पूर्वबद्धां च उद्वर्त्तयति तत उत्कृष्ट–बन्धारम्भे परतः आवलिकायाश्चर-मसमये तस्याः स्त्रीवेदस्य जघन्यः प्रदेशोदयो भवति।

अप्पद्धां जोगचियाणं चउणुक्कस्सगट्ठिईणं ते।
उवरित्थोवनिसेगे, चिरंति वासाइ वेईणं॥४१४॥

अल्पया बन्धाद्धया अल्पेन च योगेन चितानां बद्धानां चतुर्णा–मप्यायुषां ज्येष्ठस्थितीनामुत्कृष्टस्थितीनामन्ते वासी अन्तिमे उपरि सर्वोपरितने समये सर्वस्तोकदलिकनिक्षेपे चिरकालं तीव्रा–सातवेदनया ह्यभिभूतानां क्षपितकर्मांशानां तत्तदार्युवदानां जघन्यप्रदेशोदयः तीव्रासातवेदनया ह्यभिभूतानां बहवः पुद्गलाः परिसटन्तीति कृत्वा तीव्रसातवेदग्रहणम्।

संजोयणा वियोजिय, देवभवे जहन्नगे अइनिरुद्धे।
बंधियउक्कस्स ठिई, गंतूणो गेंदिया सन्नी॥४१५॥
सव्वलहुनरयगए, निरयगई तम्मि सव्वपज्जत्ते।
पुण तेअणु पुव्विउ य गई, तुल्ला नेया भवाइम्मि॥४१६॥

संयोजनात् अनन्तानुबन्धिनो विसंयोगतः विसंयोजने हि शेषा–णामपि कर्मणांभूयांसो पुद्गलाः परिसटन्ति इति तदुपादानं ततो जघन्यदेवत्वं प्राप्तः। तत्र चाभिनिरुद्धे पश्चिमे अन्तर्मुहूर्त्ते प्रति–पन्नमिथ्यात्व एकेन्द्रियप्रायोग्यां प्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं बध्वा सर्वसंक्लिष्ट एकेन्द्रियेषु उत्पन्नस्तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा असंज्ञिषु मध्ये समायातः। देवो हि मृत्वा नाऽसंज्ञिषु मध्ये समायातः गच्छतीति कृत्वा एकेन्द्रियग्रहणम्। ततो संज्ञिभवात् लघु शीघ्रं मृत्वा नारको जातः सर्वपर्याप्तिभिश्च शीघ्रं पर्याप्तस्तस्मिन् सर्वपर्याप्ति पर्याप्ते नारके नरकगतेर्जघन्यः प्रदेशोदयः। पर्याप्तस्य हि प्रभूताः प्रकृतयो विपाकोदयमायान्ति उदयमागताश्च स्तिबुकसं–क्रमेण न संक्रामन्ति तेन प्रकृत्यन्तरदलिकसंक्रमा-भावाज्जघन्य–प्रदेशोदयः प्राप्यते इति ''सव्वपज्जत्त'' इत्युक्तम्। आनुपूर्व्यश्च–तस्रोऽपि गतितुल्या भवन्ति स्वस्वगतितुल्या ज्ञेया ज्ञातव्याः केवलं भवादौ भवप्रथमसमये वेदितव्याः। तृतीयसमये अन्या अपि बन्धावलिकातीताः कर्मलता उदयमागच्छन्ति ततारे भवप्रथम–समयग्रहणम्।

देवगई ओहि समा, उवरिं उज्जो य वेयगो नाहे।
आहारजाइअचिर, संजममणुपालिऊणं ते॥४१७॥

देवगतौ अवधिसमा ज्ञानावरणसमा अवधिज्ञानावरणस्येति च देवगतेरपि जघन्यप्रदेशोदयो द्रष्टव्यः । किं कारणमिति चेदुच्यते यावदुद्योतस्योदयो न भवति तावद्देवगतौ स्तिबुकसंक्रमो न भवति तत उद्योतवेदकग्रहणम् । उद्योतवेदकत्वं च पर्याप्तस्य भवति नापर्याप्तावस्थायां देवगतिर्जघन्यप्रदेशोदयः । तथा यश्चिरं कालं देशोनपूर्वकोटिरूपं यावत्संयममनुपाल्य अन्तिमे काले आहारकशरीरी जात उद्योतं च वेदयते तस्याहारकसप्तकस्याजघन्यप्रदेशोदयः चिरकालसंमय-परिपालने हि भूयांसः कर्मपुद्गलाः परिसटिता भवन्तीति कृत्वा चिरकालं संयमग्रहणम् । उद्योतकरणग्रहणं प्रागुक्तमेवानुसर्त्तव्यम् ॥४१७॥

सेसाणं चक्खुसमं, तमिव अन्नम्मि वा भवे अचिरा ।
तज्जोगा बहुगीउ, पदेयं तस्स ता ताओ ॥४१८॥

उक्तशेषाणां प्रकृतीनां चक्षुःसमं चक्षुर्दर्शनावरणसमं वक्तव्यं तावत् यावदेकेन्द्रियो जातस्ततो येषां कर्मणां तस्मिन्नेवैकेन्द्रियभवे उदयो विद्यते तेषां तत्रैव जघन्यप्रदेशोदयो वाच्यः । येषां तु कर्मणामनुजगतिद्वीन्द्रियादिजातिचतुष्टयाद्यसंस्थानपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कविहायोगतिद्विकत्रससुभगसुस्वरदुःस्वरादिरूपाणां न तत्रोदयसंभवस्तमेकेन्द्रियभवादुद्धृत्य तत्त दुदयायोग्येषु भवेषु उत्पन्नस्य तास्तास्तद्भवयोग्या बह्वीः प्रकृतीर्वेदनीयमानस्य तद्भवयोग्यबहुप्रकृतिर्वेदनं च पर्याप्तस्योपपद्यते ततः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तस्य जघन्यप्रदेशोदयः । पर्याप्तस्याप्रभूताः बद्धाः प्रकृतयः उदयमागच्छन्ति उदयप्राप्तानां च प्रकृतीनां स्तिबुकसंक्रमो न भवति तथा च सति विवक्षितप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशोदयो ज्ञेयः परतो गुणश्रेणीदलिकं प्रभूतमवाप्यते इति स न भवति । क०प्र० । पं०सं० ।

(५) साम्प्रतमुदयस्य प्रायस्तत्समानत्वाद्धुदीरणायाश्च लक्षणकथनपूर्वकं कस्मिन् गुणस्थाने कियन्त्यः प्रकृतयस्तस्य भगवतः क्षीणा इत्येतन्निर्दिदिक्षुराह ॥

उदओ विवागवो अण-मुदीरणा अपत्ति इह दुवीससयं ।
सत्तरससएमिच्छे, मीससम्मआहारजिणणुदया ॥१३॥

इह कर्मपुद्गलानां यथा स्वस्थितिबद्धानामुदयसमयप्राप्तानां यद्विपाकेनानुभवनेन वेदनं स उदय उच्यते (उदीरणाअपत्तित्ति) कर्म्मपुद्गलानां यथा स्वस्थितिबद्धानां यदप्राप्तकाले वेदनमुदीरणा भण्यते (इहत्ति) इहोदये उदीरणायां च (दुवीससयंति) द्विर्विंशच्छतं द्वाभ्यामधिकविंशं शतं द्विविंशशतं मयूरव्यंसकादित्वात्समासस्तत्सामान्यतोऽधिक्रियते इति शेषः । सप्तदशशतमिच्छन्ति मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने उदये भवति । कथमित्याह ।(मीससम्मआहारजिणणुदयंत्ति) मिश्रं च (सम्मित्ति) सम्यक्त्वं च (आहारत्ति) इहाहारकशब्देन सर्वत्राहारकशरीर आहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमाहारकद्विकं गृह्यते ततः आहारकं च (जिणत्ति) जिननाम च मिश्रसम्यक्त्वाहारजिनास्तेषामनुदयात् । इदमत्र हृदयं मिश्रोदयस्तावत्सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान एव भवति सम्यक्त्वोदयस्त्वविरतिसम्यग्दृष्ट्यादौ आहारकद्विकोदयः प्रमत्तादौ, जिननामोदयः सयोगिकेवल्यादौ, भवति । ततइदं प्रकृतिपञ्चकं द्वाविंशतिशतादपनीयते ततो मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने सप्तदशशतं भवतीति ॥१३॥

सुहुमतिगायवमिच्छं, मिच्छंतसासणेइगारसयं ॥
निरयाणुपुव्विणुदया, उण थावरइगविगलअंतो ॥१४॥

सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपम् आतपं च मिथ्यात्वं च सूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वं मिथ्यात्वे मिथ्यादृष्टावन्तो यस्य तन्मिथ्यात्वान्त एतत्प्रकृतिपञ्चकस्य मिथ्यात्वेऽन्तो भवतीत्यर्थः । अयमत्राशयः । सूक्ष्मनाम्नः उदयसूक्ष्मैकेन्द्रियेषु, अपर्याप्तनाम्नः सर्वेष्वपि अपर्याप्तकेषु , साधारणनाम्नोऽनन्तवनस्पतिषु, आतपनामोदयेषु, बादरपृथिवीकायिकेषु एव नचैतेषु स्थितो जीवः सास्वादनादित्व लभते नापि पूर्वप्रतिपन्नस्तेषूत्पद्यते सास्वादनस्तु यद्यपि बादरपर्याप्तैकेन्द्रियेषूत्पद्यते तथापि न तस्यातपनामोदयस्तदुत्पन्नमात्रस्यासमाप्तशरीरस्यैव सासादनत्वगमनात् समाप्ते च शरीरे तत्रातपनामोदयो भवति मिथ्यात्वोदयः पुनर्मिथ्यादृष्टावेव तेनैतासां पञ्चप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टावुदयस्यान्तस्त-दिदं प्रकृतिपञ्चकं पूर्वोक्तं सप्तदशशतादपनीयते शेषं द्वादशशतं सास्वादने उदयं प्रतीत्य भवति । नरकानुपूर्व्यपनयने च एकादशशतं भवतीत्येतदेवाह । ''सासणे इगारसयं नरयाणुपुव्विणुदयत्ति'' सास्वादति एकादशशतमुदये भवति नरकानुपूर्व्यनुदयात् नरकानुपूर्व्या उदयो हि नरके वक्रेण गच्छतो जीवस्य भवति । न च सास्वादनो नरक गच्छति यदुक्तं वृहत्कर्म्मस्तवभाष्ये ''नरयाणुपु-व्वियाए, सासण सम्मम्मि होइ नहु उदओ । नरयम्मि जं न गच्छइ, अवणिज्जइ तेण सा तस्स ॥'' ततो नरकानुपूर्वी मिथ्यादृष्टिव्यवच्छिन्नसूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वलक्षणं प्रकृतिपञ्चकं च सप्तदशशतादपनीयते शेषं सास्वादने एकादशशतं भवतीति (२) (अणथावरइगविगलअंतुत्ति) (अणत्ति) अनन्तानुबन्धिनश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । स्थावरनाम (इगत्ति) एकेन्द्रियजातिर्विकलाः पञ्चेन्द्रियजात्यपेक्षया असंपूर्णद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातय इत्यर्थः । इत्येतासां नवानां प्रकृतीनां सास्वादनेऽन्त उदयमाश्रित्य भवति । इयमत्र भावना । अनन्ताऽनुबन्धिनामुदये हि सम्यक्त्वलाभ एव न भवति । यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः ''पढमिल्लुयाण उदये, नियमा संजोयणा कसायाण। सम्मद्दंसण- लंभं, भवसिद्धीया वि न लहति'' नापि सम्यग्मिथ्यात्वं कोऽप्यनन्तानुबन्ध्युदये गच्छति योऽपि पूर्वप्रतिपन्नसम्यक्त्वोऽनन्तानुबन्धिनामुदयं करोति सोऽपि सास्वादन एव भवतीत्युत्तरेष्वासामुदयाभावः । स्थावर एकेन्द्रियजातिविकलेन्द्रियजातयस्तु यथास्वमेकेन्द्रियविकलेन्द्रियवेद्या एव उत्तरगुणस्थानानि तु संज्ञिपञ्चेन्द्रिय एव प्रतिपद्यन्ते पूर्वप्रतिपन्नोऽपि पञ्चेन्द्रियेष्वेव गच्छतीत्युत्तरेष्वासामुदयाभाव इति ॥

मीसे सयमणुपुव्वी-णुदयामीसोदएण मीसंतो ।
चउसयमजए समाणु पुव्विखेवावि अकसाया ॥१५॥

मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टौ शतमुदये भवति-कथमित्याह । (अणुपुव्वीणुदयत्ति) इहानुपुर्व्वी शब्देन नरानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्व्वीदेवानुपूर्व्वीलक्षणा आनुपूर्व्वीत्रयी गृह्यते तस्या अनुदयान्मिश्रोदयेन च । अयमत्र भावः । नरकानुपूर्वी तावदुदयमाश्रित्य सास्वादने व्यवच्छिन्ना । इह सा न गृह्यते शेषमानुपूर्व्वीत्रिकं मिश्रदृष्टेर्नोदेति तस्य मरणाभावात्। ''न सम्ममीसो कुणइ कालमिति'' वचनात् मिश्रप्रकृतिः पुनरत्रोदये प्राप्यते ।ततः सास्वादनव्यवच्छिन्न प्रकृतिनवकर्मानुपूर्वीत्रिकं च पूर्वोक्तैकादशशतादपनीयते शेषातिष्ठति प्रकृतीनां नवनवतिः । तत्र मिश्रप्रकृतिप्रक्षेपं जात शतमिति (मीसंतुत्ति) मिश्रगुणस्थाने मिश्रप्रकृतेरन्तो भवति । एतदुदये हि मिश्रदृष्टिरेव भवति नान्य इति (३) (चउसयमजए समाणुपुव्विखिवत्ति) चतुर्भिरधिकं शत चतुःशतमुदये भवति क्रेत्याह । अयते अविरतिसम्यग्दृष्टौ कथमित्याह । (सम्मत्ति) सम्यक्त्वम् (अणुपुव्वित्ति) आनुपूर्व्यश्चतस्रः तासां क्षेपात्प्रक्षेपात् । इदमुक्तं भवति पूर्वोक्तशतान्मिश्रगुणस्थान-

व्यवच्छिन्नैका मिश्रप्रकृतिरपनीयते शेषा नवनवतिस्तत्र सम्यक्–त्वानुपूर्वीचतुष्कलक्षणं प्रकृतिपञ्चकं क्षिप्यते जातं चतुःशतं यतः सम्यक्त्वमत्र गुण उदयत एव तथा विरतसम्यग्दृशां यथास्वं चतस्रोऽप्यानुपूर्व्य इति (वितियकसायत्ति) द्वितीयकषाया अप्र–त्याख्यानावरणाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः ।

मणुतिरिणुपुव्विविउव्वट्ठ, दुहगअणाइज्जदुगसत्तरस छेओ ।
सत्तासीइदेसितिरिगइ, आउनिउज्जोय तिकसाया ॥१६॥

(मणुतिरिणुपुव्वित्ति) आनुपूर्व्वीशब्दस्य प्रत्येकं योजनान्म–नुजानुपूर्व्वी तिर्यगानुपूर्व्वी (विउव्वट्ठत्ति) वैक्रियाष्टकं वैक्रियश–रीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गदेवानुपूर्व्वीदेवायुर्नरकगतिर्नरकानुपूर्व्वीनर–कायुर्लक्षणं दुर्भगमनादेयद्विकम् । अनादेयायशोकीर्तिरूपमित्ये–तासां सप्तदशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टावुदयं प्रतीत्य छेदो भवति ततः इमाः सप्तदश प्रकृतयः पूर्वोक्तचतुःशतादपनीयन्ते शेषाः (सगसीइदेसित्ति) (५) सप्ताशीतिर्देशविरते उदये भवति । इदमत्र तात्पर्यम् । द्वितीयकषायोदयेहि देशविरतेर्लोभ आगमे निषिद्धः । यदागमः ''बीयकसायाणुदये, अप्पच्चक्खाणवरण । नामधिज्जाणं । सम्मद्दंसणलंभं, विरयाविरयं न उ लहंति'' नापि पूर्वप्रपन्नदेश–विरत्यादेर्जीवस्य तदुदयसंभवस्तेनोत्तरेषु तदुदयाभावः मनुजानुपूर्व्वीतिर्यगानुपूर्व्योस्तु परभवादिसमयेषु त्रिष्वपान्तरालगतावुदयसंभवः । स च यथायोगं मनुजतिरश्चां वर्षाष्टकादुपरिष्टात्संभविषु देशविरत्यादिषु गुणस्थानेषु न संभवति । देवत्रिकं नारकत्रिकं च देवनारकवेद्यमेव । न च तेषु देशविरत्यादेः संभवः वैक्रियशरीरवै–क्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोस्तु देवनारकेषूदयः । तिर्यग्मनुष्येषु तु प्राचुर्ये –णाविरतसम्यग्दृष्टयन्तेषु । यस्तूत्तरगुणस्थानेष्वपि केषांचिदागमे विष्णुकुमारस्थूलभद्रादीनां वैक्रियद्विकस्योदयः श्रूयते स प्रविरलतरत्वादिना केनापि कारणेन पूर्वाचार्यैण विवक्षित इत्य–स्माभिरपि नेह विवक्षित इति दुर्भगमनादेयद्विकमित्येतास्तु तिस्रः प्रकृतयो देशविरत्यादिषु गुणप्रत्ययान्नोदयन्त इत्येता अविरति–व्यवच्छिन्ना इति (तिरिगइआउत्ति) तिर्यक्शब्दस्य प्रत्येकं योगात् तिर्यग्गतितिर्यगायुः (निउज्जोयत्ति) नीचैर्गोत्रमुद्योतं वा (तिकसा–यत्ति) तृतीयः कषायः त्रिकषायः मयूरव्यंसकादित्वात्पूरणप्रत्य–यलोपी समासः । प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः (६)

अट्ठच्छेओ इगसी, पमत्तिआहारजुगलपक्खेवा ।
थीणतिगहारदुग, छेओछसयरिअपमत्ते ॥१७॥

पूर्वोक्ताष्टप्रकृतीनां देशविरतेः उदयमाश्रित्य छेदो भवति ततः प्रमत्त एकाशीतिर्भवति आहारकयुगलप्रक्षेपात् । इदमत्र हृदयम् । तिर्यग्गतितिर्यगायुषी तिर्यग्वेद्ये एव तेषु च देशविरतान्तान्येव गुणस्थानानि घटन्ते नोत्तराणीत्युत्तरेषु तदुदयाभावः । नीचैर्गोत्रं तु तिर्यग्गतिस्वाभाव्यात् ध्रुवोदयिकं न परावर्त्तते ततश्च देशविरतस्यापि तिरश्चो नीचैर्गोत्रोदयोस्त्येव मनुजेषु पुनः सर्वस्य देशविरतादेर्गुणिनो गुणप्रत्ययादुच्चैर्गोत्रः मेवोदेतीत्युत्र नीचैर्गोत्रोदयाभावः । उद्योतनामस्वभावतस्तिर्यग्वेद्यं तेषु च देशविरतान्तान्येव गुणस्थानानि नोत्तराणीत्युत्तरेषु तदुदयाभावः । यद्यपि यतिवैक्रियेप्युद्योतनामो देति ''उत्तरदेहि च देवजई इति वचनात्'' तथापि स्वल्पत्वादिना केनापि कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षितं तृतीयकषायोदये हि चारित्रजात एव न भवति । उक्तं च पूज्यैः ''तइयकसाया–णुदए, पच्चक्खाणा–वरणनामधिज्जाणं । देसिक्कदेसविरइं चरित्तलंभं न उ लहेंति '' न च पूर्व्वप्रतिपन्नचारित्रस्य तदुदयसंभव इत्युत्तरेषु तदुदयाभावः । इत्येता अष्टौ प्रकृतयः पूर्वोक्तसप्ताशीतेरपनीयन्ते शेषा एकोनाशीतिः । तत आहारकयुगलं क्षिप्यते यतः प्रमत्तयतिराहारकयुगलस्योदयो भवतीत्येकाशीतिः । (थीणतिगत्ति) स्त्यानर्द्धित्रिकं निद्रा २ प्रचला २ स्त्यानर्द्धिरूपमाहारकद्विक–माहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमिति (७) प्रकृतिपञ्चकस्य प्रमत्ते छेदो भवति । ततः पूर्वोक्तैकाशीतेरिदं प्रकृतिपञ्चकमपनीयते । शेषाः षट्सप्ततिरप्रमत्ते उदये भवति अत्रायमाशयः । स्त्यानर्द्धित्रिकोदयः प्रमादरूपत्वादप्रमत्ते न संभवति आहारकद्विकं च विकुर्वाणो यतिरौत्सुक्यादवश्यं प्रमादवशगो भवत्यत इदमप्यप्रमत्ते उदयमाश्रित्य न जाघटीति । यत्पुनरिदमन्यत्र श्रूयते प्रमत्तयति–राहारकं विकृत्य पश्चाद्विशुद्धिवशात्तत्रस्थ एवाप्रमत्ततां यातीति तत्केनापि स्वल्पत्वादिना कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितमिति ॥१७॥

समत्तंतिमसंघयण–तियगच्छेओ विसत्तरि अपुव्वे ।
हासाइछक्कअंतो, विसट्ठि अनियट्टि वेयतिगं ॥१८॥

सम्यक्त्वमन्तिमसंहननत्रिकमर्द्धनाराचसंहननकीलिका–संहननसेवार्त्तसंहननरूपमित्येतत्प्रकृतिचतुष्टयस्याप्रमत्ते छेदो भवति । तत इदं प्रकृतिचतुष्कं पूर्व्वोक्तषट्सप्ततेरपनीयते शेषा द्वासप्ततिः (अपुव्वित्ति) अपूर्वकरणे उदये भवतीति । अयमत्राशयः सम्यक्त्वे क्षपिते उपशमिते वा श्रेणिद्वयमारुह्यते इत्यपूर्वकरणादौ तदुदयाभावः । अन्तिमसंहननत्रयोदयेतु श्रेणिरारोढुमेव न शक्यते तथाविधशुद्धेर–भावादित्युत्तरेषु तदुदयाभावः (६) (हासाइछक्क–अंतुत्ति) हास्यमादौ यस्य षट्कस्य तत् हास्यादिषट्कं हास्यर–त्यरतिशोकभयजुगुप्साख्यं तस्यान्तोऽपूर्वकरणे भवति संक्लि–ष्टतरपरिणामत्वादेतस्य उत्तरेषां च विशुद्धतरपरिणामत्त्वात्तेषां तदुदयाभाव इति उत्तरेष्वप्ययमुदयव्य–वच्छेदहेतुरनुसरणीयः । तत इदं प्रकृतिषट्कं पूर्वोक्तद्विसप्ततेरपनीयते शेषाः । (१०) (छसट्ठि–अनियट्टित्ति) षट्षष्टिरनिवृत्तिबादरे भवति । उदयमाश्रित्येति शेषः। (वेयतिगं) वेदत्रिकं स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदाख्यम् ।

संजलणतिगं छ छेओ, सट्ठिसुहम्मि तुरियलोभंतो ।
उवसंतगुणे गुणसट्ठि, रिसहनारायदुगअंतो ॥१९॥

संज्वलनत्रिकं संज्वलनक्रोधमानमायारूपमित्येतासां षण्णां प्रकृतिनामनिवृत्तिबादरे छेदो भवति तत्र स्त्रियाः श्रेणिमारोहन्त्याः स्त्रीवेदस्य प्रथममुदयच्छेदः ततः क्रमेण पुंवेदस्य नपुंसकवेदस्य संज्वलनत्रयस्य च पुंसस्तु श्रेणिमारोहतः प्रथमं पुंवेदस्योदयच्छेद–दस्ततः क्रमेण स्त्रीवेदस्य षण्ढवेदस्य संज्वलनत्रयस्य। षण्ढस्य तु श्रेणिमारोहतः प्रथमं षण्ढवेदस्योदयच्छेदः ततः स्त्रीवेदस्य पुंवेदस्य संज्वलनत्रयस्य चैतत्प्रकृतिषट्कं पूर्वोक्तषट्षष्टेरपनीयते शेषाः (सट्ठिसुहमम्मित्ति) षष्टिः सूक्ष्मा संपराये उदये भवति (११) अत्र च तुर्यलोभान्तश्चतुर्थीलोभान्तः संज्वलनलोभव्यवच्छेद इत्यर्थः । तत इयमेका प्रकृतिः षष्टिरपनीयते शेषा उपशान्तगुणे उपशान्तमोहगुणस्थाने एकोनषष्टिरुदये भवति । (रिसहनारायदुग अंतुत्ति) ऋषभनाराचद्विकं ऋषभनाराचसंहनन–नाराचसंहननाख्यं तस्यामुपशान्तगुणे भवति प्रथमसंहननेनैव क्षपकश्रेण्यारोहणात् इति क्षीणमोहादौ तदुदयाभावः । उपशमश्रेणिस्तु प्रथमसंहननत्रयेणा–रुह्यते तत इदं प्रकृतिद्वयं पूर्वोक्तैकोनषष्टेरपनीयते शेषाः (१२)

सत्तावन्नखीणदुचरिमि, निद्ददुगंतोअचरमिपणपन्ना।
नाणंतरायदंसण, चउछेओ सजोगिबायाला॥२०॥

सप्तपञ्चाशत् (खीणत्ति) क्षीणमोहस्य (दुचरिमित्ति) द्विचरमसमये चरमसमयादर्वाक् द्वितीये समये निद्राद्विकस्य निद्राप्रचलाख्यस्य क्षीणद्विचरमसमयेऽन्त इत्येतत्प्रकृतिद्वयं पूर्वोक्तसप्तपञ्चाशतोऽप–नीयते ततः (चरमित्ति) चरमसमये क्षीणमोहस्येति शेषः (पणपन्नत्ति) पञ्चपञ्चाशदुदये भवति। इदमुक्तं भवति निद्राप्रचलयोः क्षीणमोहस्य द्विचरमसमये उदयच्छेदः अपरे पुनराहुः उपशान्तमोहे निद्राप्रचलयो–रुदयच्छेदः। पञ्चानामपि निद्राणां घोलनापरिणामे भवत्युदयः। क्षपकाणां त्वतिविशुद्धत्वान्न निद्रो–दयसंभवः। उपशमकानां पुनरनतिविशुद्धत्वात्स्यादपीति (नाणं–तरायदंसणचउत्ति) ज्ञाना-वरणपञ्चकं मतिश्रुतावधिमनः पर्यायकेवलज्ञानावरणरूपमन्त-रायपञ्चकं दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायाख्यं दर्शनचतुष्कं चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणलक्षण–मित्येतासां क्षीणमोहचरमसमये छेदो भवति।

(१३) तदनन्तरं क्षीणमोहत्वादित्येतत्प्रकृतिचतुर्दशकं पूर्वोक्त–पञ्चपञ्चाशतोऽपनीयते शेषैकचत्वारिंशत्तीर्थकरनामोदयाच्च तत्प्रक्षेपे द्वाचत्वारिंशत्सयोगिकेवलिनि भवतीत्येतदेवाह। (सजो–गिबायालत्ति) स्पष्टम्॥

तित्थुदयाउरला थिर– खगइदुगपरित्ततिगछसंठाणा॥
अगुरुलघुवण्णचउनिमिण–तेअ कम्माइसंघयण॥२१॥

ननु पञ्चपञ्चाशतो ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनच–तुष्कलक्षणप्रकृतिचतुर्दशकापनयत एकचत्वारिंशदेव भवति ततः कथमुक्तं सयोगिनि द्विचत्वारिंशदित्याशङ्क्याह (तित्थुदयत्ति) तीर्थोदयात्तीर्थकरनामोदयादित्यर्थः। यतः सयोग्यादौ तीर्थकर–नामोदयो भवति यदुक्तम् ''उदए जस्स सुरासुर–नरवइनिवहेहिं पूइओ होइ। तं तित्थयरं नामं, तसुविवागो हु केवलिणो'' ततः पूर्वोक्तैकचत्वारिंशति तीर्थकरनाम क्षिप्यते। जाता द्विचत्वारिंश–त्सा च सयोगिनि भवतीति। (उरला थिरखगइदुग त्ति) द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् औदारिकद्विकमौदारिकशरीर औदा–रिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम्। अस्थिरद्विकमस्थिराशुभाख्यम्। खगतिद्विकं शुभविहायोगत्य-शुभविहायोगतिरूपं (परित्ततिगत्ति) प्रत्येकत्रिकं प्रत्येकस्थिरशुभाख्यम्। (छसंठाणत्ति) षट्संस्थानानि समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिवा-मनकुब्जहुण्डस्व-रूपाणि संस्थानशब्दस्य च पुंस्त्वं प्राकृतलक्षणत्वात् यदाह। पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे लिङ्गं व्यभिचार्यपि (अगुरुलघुवन्न-चउत्ति) चतुः शब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् अगुरुलघुचतुष्कमगुरु–लघूपघातपराघातोच्छ्वासाख्यं वर्णचतुष्कं वर्णगन्धरसस्पर्शरूपं (निमिणत्ति) निर्माणम्। (तेयत्ति) तैजसशरीरम्। (कम्मत्ति) कार्मणशरीरम्। (आइसंहननं ति) प्रथमसंहननं वज्रऋषभनारा–चसंहननमित्यर्थः॥

दूसरसूसरसाया, साएगयरं च तीसवुच्छेओ।
बारस अजोगिसुभगा–इज्ज जसन्नयरवेयणिअं॥२१॥

दुःस्वरं सुस्वरं सातं च सुखमसातं च दुःखं सातासाते तयोरेक–तरमन्यतरत्सातं वा असातं वेत्यर्थः। ततः एतासां त्रिंशतः प्रकृतीनां सयोगिकेवलिन्युदयव्यवच्छेदः। तत्रैकतरवेदनीयं यदयोगिकेवलिनि वेदयितव्यं तत्सयोगिकेवलिचरमसमये व्युच्छि–न्नोदयं भवति (१४) पुनरुत्तरत्रोदयाभावात् दुःख रसुस्वरनाम्नोस्तु भाषापुद्गलविपाकित्वा-द्वाग्योगिनामेवोदयः शेषाणां पुनः शरीरपु–द्गलविपाकित्वात् काययोगिनामेव तेन हि योगेन पुद्गलग्रहणपरि–णामालम्बनानि ततस्तेषु गृहीतेष्वेतेषां कर्मणां स्वस्वविपाकेनोदयो भवति। तेनायोगिकेवलिनि तद्योगाभावात्तदुदयाभावः इत्यतस्त्रिंशत्प्रकृतयः पूर्वोक्तद्विचत्वारिंशतोऽ-पनीयन्ते ततः शेषा द्वादश प्रकृतयोऽयोगिकेवलिन्युदयमाश्रित्य भवन्तीत्येतदेवाह (बारस अजोगीत्यादि) द्वादश प्रकृतयो ऽयोगिकेवलिनि चरमसमयान्ताश्चरमसमये योगिकेवलिनिगुणस्थानस्यान्तो व्यवच्छेदो यासां ताश्चरमसमयान्तास्ता एवाह सुभगमादेयम् (जसत्ति) यशः कीर्तिनाम अन्यतरवेदनीयं सयोगिकेवलिचरमसमयव्यव-च्छिन्नोद्वरितं वेदनीयमित्यर्थः।

तसतिगपणिंदिमणुया–उगइजिणुच्चंति चरमसमयंता॥

(तसतिगंति) त्रसत्रिकं त्रसबादरपर्याप्ताख्यं (पणिंदित्ति) पञ्चेन्द्रियजातिः (मणुआउगइत्ति) मनुजशब्दस्य प्रत्येकं योगा–न्मनुजायुः (जिणत्ति) जिननाम (उच्चंति) उच्चैर्गोत्रमिति शब्दो द्वादशप्रकृति परिसमाप्तिद्योतक इति। कर्म०२ क०। पं० सं० एकस्मिन् गुणस्थानेषु, (उदयसत्तास्थानयोजनागुणट्ठाणशब्दे। बन्धोदयसत्ता-स्थानचिन्ता तत्संवेधश्च कम्मशब्दे। ये परिषहा यत्कर्मोदयनिमित्ताः इत्यादि परिसह शब्दे। मारणान्तिक उदयसोढव्य इति वेयणा शब्दे)

(६) उदयहेतुं प्रदर्शयति

दव्वं खेत्तं कालो, भवो य भावो य हेयदो पंच।
हेउसमासेणुदओ, जायइ सव्वाणपवईणं॥

ईदृक् सर्वासां प्रकृतीनां सामान्यतः पञ्च उदयहेतवस्तद्यथा द्रव्यं क्षेत्रं कालो भवो भावश्च। तत्र द्रव्यं कर्मपुद्गलरूपं यदि चाबाह्यं किमपि तथाविधमुदयप्रादुर्भावनिमित्तं यद्वा श्रूयमाणं दुर्भाषित–भावापुद्गलद्रव्यक्रोधोदयस्य क्षेत्रमाकाशं भावः समयादिरूपो भवो मनुष्यादिभवः। भावो जीवस्य परितापविशेषः। एते च नैकैकश उदयहेतवः किन्तु समुदितास्तथा वा हेतुसमासेन उक्तस्वरूपाणां द्रव्यादीनां हेतुना समासेन समुदायेन जायते सर्वासां प्रकृतीनामु–दयः केवलं कापि इत्यादि सामग्री कस्याश्चित्प्रकृतेरुदयहेतुरिति–नहेतुत्वव्यभिचारः। उक्ता उदयहेतवः। पं०सं०।

उदयगामिणी स्त्री०(उदयगामिनी) उदयं सूर्योदयं गच्छति मुहूर्तादिना व्याप्नोति गम्–णिनि–ङीप्–सूर्योदयावधिमुहूर्तादि–कालव्यापिन्यां तिथौ, कर्माऽनुष्ठाने उदयकाले, कियन्मानस्य ग्राह्य ता। तन्निर्णयो वैष्णवानां कालमाधवे ग्रन्थे। वाच०।

उदयजिण पुं०(उदयजिन) भविष्यति सप्तमे तीर्थकरे, स च पूर्वभवे शङ्खनामा श्रावकः। सप्तममुदयजिनं वन्दे जीवं च शङ्खनाम्नः श्रावकस्य। प्रव० ४६ द्वा०।

उदयट्ठाण न०(उदयस्थान) उदयप्रकारे,। पं० सं०। (बन्धोदयसत्ता आश्रित्य उदयस्थानेषु भङ्गाः कम्मशब्दे)

उदयट्ठि(ण्) त्रि०(उदयार्थिन्) लाभार्थिनि, ''पण्णं जहा वणिए उदयट्ठि, आयस्स हेउं पगरेंति संगं'' सूत्र०२ श्रु०६ अ०।

उदयण न०(उदयन) उद्–इ–भावे–ल्युट्–उदये, समाप्तौ च। अगस्त्यमुनौ, कुसुमाञ्जलिप्रभृतिग्रन्थकारके स्वनामख्याते आचार्ये च। वाच०। उदनोऽप्याह। नापि प्रतिपक्षसाधनमनिवर्त्य प्रथमस्य साधनत्वावस्थितिशङ्कितप्रतिपक्षत्वादिति। स०। मुमुक्षुकर्मव्यापारतन्त्रं तत्वज्ञानवृत्ति नवेति विप्रतिपत्तिर्विधिको–टिरुदयनाचार्याणाम्। न०। वीणावत्सराजे, उत्त०३अ०।

(तत्कथा चैवम्।)

जइ णं भंते ! पंचमस्स अज्झयणस्स उक्खेवओ एवं खलु

जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसंवीणामं णयरीहोत्था। रिद्ध ३ बाहिं चंदोत्तरणे उज्जाणे सेयभद्दे जक्खे तत्थ णं कोसंवी य णयरीए सयाणिए णामं राया होत्था महया हिमवंत तस्स णं सयाणीयस्स रण्णो मियावतीए देवीए अत्तए उदयणे णामं कुमारे होत्था। अहीणजुवराया तस्स णं उदयणस्स कुमारस्स पउमावई णामं देवी होत्था विपा० १ अ०।

(उदयनस्य सोमदत्तपुरोहितसुतबृहस्पतिदत्तं पद्मावत्यां स्वभार्यायामासक्तं दृष्ट्वा तद्विघातनं तच्च वहप्फइदत्त शब्दे) गन्धर्वविद्याप्रगुणे चण्डप्रद्योतभूभूजः पुत्र्या वासवदत्तायाः शिक्षके, आ०क०। आव०। आ०चू० (सेणियशब्दे तत्कथानकम्। यौगन्धरायणसेणियशब्दे तद्विवृतिः) सिन्धुसौवीराधिपतौ च। तद्वृत्तलेशोऽयम्। सिन्धुसौबीरदेशाधिपतिर्दशमुकुटबद्धभूपसेव्यउदयनराजो विद्युन्मालिसमर्पितश्रीवीरप्रतिमार्चनागतनीरोगीभूतगन्धारश्राद्धार्पितगुटिकाभक्षणतो जाताद्भुतरूपायाः सुवर्णगुलिकाया देवाधिदेवप्रतिमायुताया अपहर्तारं मालवदेशभूपसेव्यं चण्डप्रद्योतराजं देवाधिदेवप्रतिमाप्रत्यानयनोत्पन्नसंग्रामे बद्धा पश्चादागच्छन् दशपुरे वर्षासु तस्थौ। वार्षिकपर्वणि च स्वयमुपवासं चक्रे। भूपादिष्टसूपकारेण भोजनार्थं पृष्टेन चण्डप्रद्योतेन विषभिया श्राद्धस्य ममाप्यद्योपवास इति प्रोक्ते धूर्तसाधर्मिकेऽप्यस्मिन्नक्षमिते मम प्रतिक्रमणं न शुध्यतीति तत्सर्वस्वप्रदानतस्तद्बाले ममदासीपतिरित्यक्षराच्छादनाय स्वमुकुटपट्टदानतश्च श्रीउदयन–राजेन श्रीचण्डप्रद्योतः क्षमितोऽत्र श्रीउदयनराजस्यैवाराधकत्वम्। कल्प० उदयगामिनि, त्रि०। स्था० ५ ठा०।

उदयणसत्त पुं०(उदयनसत्व) उदयनमुदयगामि प्रवर्त्तमानं सत्वं यस्य स तथा। तथाविधे पुरुषजातभेदे, स्था०५ ठा०।

उदयत्थमण न०(उदयास्तमन) उदयवेलायामस्तवेलायां च। "उदयत्थमणे सुमुहुत्तसुहदंसणं" कल्प०।

उदयधम्म पुं०(उदयधर्मन्) धर्मकल्पद्रुमकारके आगमगच्छीये–आचार्ये, जै०इ०।

उदयपत्त त्रि०(उदयप्राप्त) उदिते, प्रश्न० सं० ५ द्वा०।

उदयप्पभसूरि पुं०(उदयप्रभसूरि) नागेन्द्रगच्छीये स्वनामख्याते सूरिभेदे, "प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र, यत्किञ्चिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात्। मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः, प्रसादमाधाय विशोधयन्तु। ४। उर्व्यामेष सुधाभुजां गुरुरिति त्रैलोक्यविस्तारणो, यत्रेयं प्रतिभासरादनुमितिर्निर्दम्भमुज्जृम्भते। किंचामी विबुधाः सुधेति वचनोद्गारं यदीयं मुदा, शसन्ति प्रथयन्ति तामतितमां संवादमेदं–स्विनीम्।५। नागेन्द्रगच्छगो विन्दवक्षोऽलङ्कारकौस्तुभाः। ते विश्ववन्द्यानद्यास्तुरुदयप्रभसूरयः॥ अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १२२० वर्षात् १२७७ पर्यन्तं विद्यमान आसीत्। विजयसेनसूरेरयं शिष्यः वीरधवलमहाराजाऽमात्यवस्तुपालस्य मान्य आसीत् आरम्भसिद्धिधर्म्माभ्युदयग्रन्थौ व्यरीरचत्। द्वितीयोऽप्येतन्नामा रविप्रभसूरेः शिष्यः। नेमिचन्द्रसूरिकृतप्रवचनोद्धारस्योपरिवि–षमपदव्याख्यानाम्नीं टीकां कृतवानिति। जै० इ०।

उदयबंधुक्कित्था स्त्री०(उदयबन्धोत्कृष्टा) कर्मप्रकृतिभेदे, यासां प्रकृतिविपाकोदये सति बन्धादुत्कृष्टं स्थितिकर्मावाप्यते ता उदयबन्धोत्कृष्टसंज्ञाः। पं०सं०। "उदउक्कोसापएणाऊ" अनायुष आयुश्चतुष्टयरहिताः पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकहुण्डसंस्थानपराघातोच्छ्वासोद्योतविहायोगतयो गुरुलघुतैजसकार्मणनिर्माणोपघातवर्णादिचतुष्कानि स्थिरादिषट्क त्रसादिचतुष्कमसातवेदनीयं नीचैर्गोत्रं षोडशकषायमिथ्यात्वं ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्टयमित्येताः षष्टिः प्रकृतयः उदयबन्धोत्कृष्टाः। एतासामुदयप्राप्तानां स्वबन्धनत उत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते तत एता उदयबन्धोत्कृष्टाभिधेयाः। पं० सं०॥

उदयवई स्त्री०(उदयावती) कर्मप्रकृतिभेदे, तत्स्वरूपं च "चरमसमयम्मि दलियं, जासिं अन्नत्थसंकमे ताउ। अनुदयवइ इयरीओ, उदयवइ होति पगईओ" इति अनुदयवतिकृप्रतिभ्यः इतराः प्रकृतय उदयवत्यो भवति। पं० सं०॥.

यासां दलिकं चरमसमये स्वविपाकेन वेदयते संप्रति ता एवोदय–वतीः प्रकृतीरभिधातुकाम आह।

नाणंतरायआउग–दंसणचउवेयणीयमपुमिच्छा।
चरिमुदयउच्चवेयग–उदेयवई चरिमलोभो य॥

ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकमायुश्चतुष्टयं दर्शनचतुष्टयं सातासातवेदनीये स्त्रीनपुंसकवेदौ चरमोदयान्यमन वक्रूपास्ताश्चेमाः। मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामबादरनाम पर्याप्तकनाम शुभनामसुस्वरनामादेयनाम तीर्थकरनाम तथा उच्चैर्गोत्रं वेदकसम्यक्त्वं चरमलोभः संज्वलनलोभः इत्येताश्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतय उदयवत्यस्तथाहि–ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्श–नावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणकषायान्त्यसमये चरमोदयानां च नाम वेदकलक्षणानां सातासातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्रस्य च सर्वसंख्यया द्वादशप्रकृतीनामयोगिके वलि चरमसमये संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपरायान्त्यसमये वेदकसम्यक्त्वस्य स्वक्षपणपर्यवसानसमये स्त्रीनपुंसकवेदयोः क्षपकश्रेण्यामनिवृत्ति–बादरसंपरायद्वयोः संख्येयेषु भागेष्वतिक्रान्तेषु तदुदयान्तसमये आयुषां च स्वस्वनवचरमसमये स्ववेदनमस्ति तत एता उदयवत्योऽभिधीयन्ते। यद्यपि सातासातवेदनीययोः स्त्रीनपुंसकवेदयोश्चानुदयवतीत्वमपि संभवति तथापि प्रधानमेव गुणमवलम्ब्य सत्पुरूषा व्यपदेशं प्रयच्छन्तीति उदयवत्यः पूर्वपुरूषैरुपदिष्टाः। पं०सं० ३द्वा०।

उदयवल्लभ पुं०(उदयवल्लभ) विक्रमराज्यात् अष्टाविंशत्यधिकचतुर्दशशते (१४२८) वर्षे जाते श्रीपालकयानामग्रन्थकृतो लब्धिसागरस्य गुरौ। जै०इ०।

उदयरयणगणि पुं०(उदयरत्नगणिन्) स्वनामके मुनिसिंहसूरेः शिष्ये, अनेन विक्रमराज्यात् अष्टाविंशत्यधिकचतुर्दशशते (१४२८) वर्षे रत्नशेखरसूरिकृतश्रीपालचरित्रस्य प्रथमादर्शो लिखितः। जै०इ०।

उदयवीरगणि पुं०(उदयवीरगणिन्) तपागच्छीये संघवीरगणिनोऽन्तेवासिनि,। जै०इ०।

उदयसंकमुक्कित्था स्त्री०(उदयसंक्रमोत्कृष्टा) कर्मप्रकृतिभेदे, यासां विपाकोदये प्रवर्तमाने सति संक्रमत उत्कृष्टस्थितिसत्कर्म लभ्यते न बन्धतस्ता उदयसक्रमोत्कृष्टाः। पं० सं० ३ द्वा०।

उदयसंठिइ पुं०(उदयसंस्थिति) सूर्यादेरुदयविधौ, चं०प्र० ८ पाहु०। सू०प्र०। (सूर्यस्य उदयविधौ विप्रतिपत्तिप्रदर्शनपूर्वकसिद्धान्तो यथा–

ता कधं ते उदयसंठिती आहितेति वदेज्जा तत्थ खलु इमाओ तिण्णि पडिवत्तिओ पण्णत्ताओ तत्थेगे एवमाहंसु ता जदा णं जंबूदीवे २ दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा

णं उत्तरड्ढे वि अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जता णं उ तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तता णं दाहिणड्ढे वि अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति। जदा णं जबुंद्दीवे २ दाहिणड्ढे सत्तरसमुहुत्ते दिवसे भवति तया णं उत्तरड्ढे वि सत्तरस मुहुत्ते दिवसे भवति। जया णं उत्तरड्ढे सत्तरस मुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं दाहिणड्ढे वि सत्तरस मुहुत्ते दिवसे भवति। एवं परिहावेतव्वं सोलसमुहुत्ते दिवसे पण्णरसमुहुत्ते दिवसे चोद्दस मुहुत्ते दिवसे भवति तेरसमुहुत्ते दिवसे जाव ता जता णं जंबूदीवे २ दाहिणड्ढेबारसमुहुत्ते दिवसे तया णं उत्तरड्ढेवि बारसुहुत्ते दिवसे भवति। जता णं उत्तरड्ढे वारसमुहुत्ते दिवसे भवति तताणं दाहिणड्ढे वि बारसमुहुत्ते दिवसे भवति ।तता णं जुबंद्दीवे २ मंदस्स पव्वयस्स पुरत्थिमं पच्चच्छिमेणं सत्तपण्णरसमुहुत्ते दिवसे भवति सदा पण्णरस मुहुत्ता राई भवति अवट्ठिताणं तत्थ राइंदिया पण्णत्ता समणा-उसो एगे एवमाहंसु। एगे पुण एवमाहंसु जता णं जंबूदीवे २ दाहिणड्ढे अट्ठारस मुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तया णं उत्तरड्ढे वि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ। जया णं उत्तरड्ढेअट्ठारस-मुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तता णं दाहिणड्ढे वि अट्ठारसमुहु-त्ताणंतरे दिवसे भवति। जया णं उत्तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तता णं दाहिणड्ढे वि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति एवं परिहावंतव्वं सत्तरस मुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति सोलसमुहुत्ताणंतरे पण्णरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति एवं परिहावेतव्वं चोद्दसमुहुत्ताणंतरे जाव॥

(ता कधंत इत्यादि) ता इति पूर्ववत् कथं के प्रकारेण सूर्यस्थ उदयसंस्थितिस्ते त्वया भगवन्नाख्याता इति वदेत् एवमुक्ते सति भगवानेतद्विषया यावत्यः प्रतिपत्तयः तावतीरुपदर्शयति।(तत्थे-त्यादि) तत्र तस्यामुदयसंस्थितौ विषये तिस्रः प्रतिपत्तयः परती-र्थिकाभ्युपगमरूपा प्रज्ञप्तास्तद्यथा तत्र तेषां त्रयाणां परतीर्थिकानां मध्ये एक प्रथमा परतीर्थिका एवमाहुः (ता जयाणमित्यादि) तत्र यदा णमिति वाक्यालंकारे अस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे दक्षिणार्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेपि अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसः । तदेवं दक्षिणार्द्धनियमेनोत्तरार्द्धनियम उक्तः । संप्रति उत्तरार्द्धनियमेन दक्षिणार्द्धनियमनमाह (ताजयाणमिदि) तच्च यदा उत्तरार्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धेपि अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसः (ताजयाणमित्यादि) यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे दक्षिणार्द्धे सप्त-दशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि सप्तदशमुहुर्त्तो दिवसो भवति यदा चोत्तरार्द्धे सप्तदशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा दक्षिणा-र्द्धेऽपि सप्तदश मुहुर्त्तो दिवसः (एवं इत्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण एकैकमुहूर्त्तहान्या परिहातव्यम् परिहानिमेव क्रमेण दर्शयति। प्रथमत उक्त प्रकारेण षोडशमुहूर्त्तो दिवसो वक्तव्यः तदनन्तरं पञ्चदशमुहूर्त्तस्ततश्चतुर्दशमुहूर्त्तस्ततस्त्रयोदशमुहूर्त्तः सूत्रपाठेऽपि प्रागुक्तसूत्रानुसारेण स्वयं परिभावनीयः। सचैवं ''जया णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे सोलसमुहूत्ते दिवसे भवइ तया णं उत्तरड्ढे सोलसमुहुत्ते दिवसे भवइ जयाणं उत्तरड्ढे वि सोलसमुहूत्ते दिवसे भवइ'' इत्यादि द्वादशमुहूर्त्तदि-वसप्रतिपादकसूत्रं साक्षादाह(ता जयाणमित्यादि) ता इति तत्र यदा जम्बूद्वीपे/दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि द्वादशमुहूर्त्तो दिवसः यदा उत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्त्तो दिवसस्तदा दक्षिणार्द्धेऽपि द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसः। तदा अष्टादशमुहूर्त्तादिदिवसकाले जम्बूद्वीपे २ मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि सदा सर्वकालं पञ्चदशमुहूर्त्तो दिवसो भवति सदैव पञ्चदशमुहूर्त्तो रात्रिः। कुत इत्याह। अवस्थितानि सकलकालमेकप्रमाणानि णमिति वाक्यालंकारे तत्र मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां दिशि रात्रिं दिवानि प्रज्ञप्तानि हेश्रमण! हे आयुष्मन् ! एतच्च प्रथमानां परतीर्थिकानां मूलभूतं स्वशिष्यं प्रत्यामन्त्रणं वाक्यम्। अत्रैवोपसंहारमाह। (एगे एवमाहंसु) एके पुनरेवमाहुः यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणस्मिन्नर्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरोऽष्टादशभ्योमुहूर्त्तेभ्योऽनन्तरो मनाक् हीनो हीनतरो वा यावत्सप्तदशभ्यो मुहूर्त्तेभ्यः किंचित्समधिक एव प्रमाणो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽप्यष्टादशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसो भवति यदा चोत्तरार्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धेऽपि अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसः। यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे सप्तदशमुहूर्तानन्तरो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेपि सप्तदशमुहूर्तानन्तरो दिवसः यदा उत्तरार्द्धे सप्तदशानन्तरो दिवसस्तदा दक्षिणार्द्धेऽपि सप्तदश-मुहूर्त्तानन्तरो दिवसः (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारणे एकैक-मुहूर्त्तहान्या परिहातव्यं परिहानिप्रकारमेवाह (सोलसेत्यादि) प्रथमतः षोडशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसो वक्तव्यः । ततः पञ्चदशमुहू-र्त्तानन्तरस्तदनन्तरं चतुर्दशमुहूर्त्तानन्तरस्ततस्त्रयोदशमुहूर्त्तान-न्तरः एतेषां हि मतेन न कदाचनापि परिपूर्णमुहूर्तप्रमाणो दिवसो भवति ततः सर्वत्रानन्तरशब्दप्रयोगः। द्वादशमुहूर्त्तानन्तरं सूत्रं तु साक्षाद्दर्शयति॥

ता जयाणं जंबुद्दीवे२दाहिणड्ढे बारसमुहूत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे वि बारसमुहुत्ताणंतरेदिवसे भवति जता णं उत्तरड्ढे बारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तया णं दाहिणड्ढेवि बारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वतस्स पुरत्थिमपच्चच्छिमेणं णो सदा पण्णरसमुहुत्ते दिवसे भवति णो सदा पण्णरसमुहुत्ता राई भवति अणवट्ठिताणं तत्थ राइंदिया पण्णत्ता समणाउसो एगे एवमाहंसु एगे पुण एवमाहंसु २ ता जदा णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे दुवालसमुहुत्ता राई भवति। जया णं उत्तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं दाहिणड्ढे बारसमुहुत्ता राई भवति ता जया णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे बारसमुहुत्ता राई भवइ॥ जता णं उत्तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ता-णंतरे दिवसे भवति तदा णं दाहिणड्ढे बारसमुहुत्ता राई भवति। एवं णितव्वं सगलेहि य अणंतरेहि य एक्केक्के दो दो आलावका सव्वेहिं दुवालसमुहुत्ता राई भवति जाव ता जता णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे बारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति उत्तरड्ढे दुवाल-समुहुत्तारई भवति जया णं उत्तरड्ढे दुवालसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं दाहिणड्ढे दुवालसमुहुत्ता राई भवति। तता णं

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं णेवत्थि पण्णरसमुहुत्ते दिवसे भवति। एवत्थिपण्णरसमुहुत्ता राई भवति वोच्छिण्णाणं तत्थ राइंदिया पण्णत्ता समणाउसो एगे एवमाहंसु ३ वयं पुण एवं वदामो ता जंबुद्दीवे २ सूरियाउ दीणपाईणमुवगच्छंति पाईण दाहिणमागच्छंति पाईण दाहिणमुपगच्छंति दाहिणपडिणमागच्छंति दाहीणपडीणमुग्गच्छंति पडीणमुदीणमागच्छंति पडीणउदीणमुपगच्छंति उदीणपाईणमागच्छंति। ता जता णं जंबूद्दीवे२दाहिणड्ढे दिवसे भवति ता तदा णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति। तदाणं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं राई भवति ता जदा णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं राई भवति। ता जदा णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे तदा णं उत्तरड्ढेवि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जता णं उत्तरड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति। ता जता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वतस्स पुरच्छिमेणं उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जता णं पच्चच्छिमेणं उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जता णं जंबूद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं जहण्णिया दुवालसमुत्ता राई भवति। एव एएणं गमेणं णेतव्वं। अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगदुवालसमुहुत्ता राई भवति सत्तरसमुहुत्ते दिवसे तेरसमुहुत्ता राई सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति सातिरेगतेरसमुहुत्ता राई भवति सोलसमुहुत्ते दिवसे भवति चोद्दसमुहुत्ता राई भवति। सोलसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति सातिरेगचोद्दसमुहुत्ता राई भवति। पण्णरसमुहुत्ते दिवसे पण्णरसमुहुत्ता राई पण्णरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगपण्णरसमुहुत्ता राई भवति। चोद्दसमुहुत्ते दिवसे सोलसमुहुत्ता राई चोदसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगसोलसमुहुत्ता राई तेरस मुहुत्ते दिवसे सत्तरसमुहुत्ता राई तेरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे साति रेगसत्तरसमुहुत्ता राई जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ एवं भाणितव्वं। ता जदा णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जति तता णं उत्तरड्ढेवि वासाणं पढमे समए पडिवज्जंति। जता णं उत्तरड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जति तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणंतरपुरक्खडे कालसमयंसि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ ता जया णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तता णं पच्चच्छिमेणं वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ। जया णं पच्चच्छिमे णं वासाणं पढमे समए पडिवज्जई तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं अणंतरपच्छाकयकालसमयंसि वासाणं पढमे समये पडिवण्णे भवति। जहा समओ एवं आवलियाए आणापाणू थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते पक्खे मासे उडु एवं दस आलावका जधा वासाणं एवं हेमंताणं गिम्हाणं च भाणियव्वा॥

(ता जया णमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे द्वादश मुहुर्तानन्तरो दिवसस्तदा उत्तरार्द्धेऽपि द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिव–सः। यदा चोत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसस्तदा दक्षिणार्द्धेऽपि द्वादशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसस्तदा चाष्टादशमुहूतीनन्तरादिदिवस–काले जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि नो नैव सदा सर्वकालं पञ्चदशमुहूर्तो दिवसो भवति नापि सदा पञ्चदशमुहूर्ता रात्रिः कुत इत्याह (अणवट्ठियाणमित्यादि) अनवस्थितानि अनियतप्रमाणानि णमिति खलु तत्र मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि रात्रिन्दिवानि प्रज्ञप्तानि हेश्रमण! हेआयुष्मन्! अत्रोपसंहारमाह।(एगे एवमाहसु२) एके पुनरेवमाहुः। ता इति पूर्ववत् जम्बूद्वीपे यदा दक्षिणार्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः। यदोत्तरार्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः तया यदा दक्षिणार्द्धे (अट्ठारसमुहूत्ताणं तरत्ति) अष्टादशभ्यो मुहूर्त्तेभ्योऽनन्तरो मनाक् हीनो हीनतरो यावत्सप्तदशभ्यो मुहूर्तेभ्यः किञ्चि–दधिक एवं प्रमाणो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः। तथा यदा चोत्तरार्द्धे अष्टादशमुहूर्तानन्तरो दिवसस्तदा दक्षिणार्द्धे द्वादाशमुहूर्ता रात्रिः (काल मित्यादि) एवमुक्तेन एकारेण तावद्वक्तव्यं यावत्त्रयोदशमुहूर्तानन्तरदिवसवक्तव्यता एकैकस्मिश्च सप्तदशा–दिके संख्याविशेषे सकलैर्मुहूर्तैरनन्तरैश्च किंचिदूनैर्द्वौ द्वावालापकौ वक्तव्यौ सर्वत्र च द्वादशमुहूर्ता रात्रिः तद्यथा। ''जयाणं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे सत्तरसमुहुत्ते दिवसे भवइ तयाणं उत्तरड्ढे दुवालसमु–हुत्ता राई भवति जयाणं उत्तरड्ढे सत्तरसमुहुत्ते दिवसे भवइ तया णं दाहिणड्ढे दुवालसमुहुत्ता राई भवइ जया णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिण–ड्ढे सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ तया णं उत्तरड्ढे दुबालसमुहुत्ता राई भवइ जयाणं उत्तरड्ढे सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ तया णं दाहिणड्ढे दुबालसमुहूत्ता राई भवइ '' एवं षोडशमुहूर्त्तः। षोडशमुहूर्तानन्तरं पञ्चदशमुहूर्तः पञ्चदशमुहूर्तानन्तरं चतुर्दशमुहूर्त्तः चतुर्दशमुहूर्तानन्तरं त्रयोदशमुहूर्तः त्रयोदशमुहूर्तान–न्तरं द्वादशमुहूर्तगता अपि नव आलापका वक्तव्या द्वादशमुहूर्तान–न्तरगतमालापकं साक्षादाह– (जयाणमित्यादि) यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिर्भवति यदा चोत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः तदाचाष्टा दशमुहूर्तानन्तरादिदिवसकाले जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणंति) पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि नैवास्त्येतत् यदुत पञ्चदशमुहूर्तो दिवसो भवति नाप्यस्त्येतत् यथा पञ्चदशमुहूर्ता रात्रिर्भवतीति कुत इत्याह (वोच्छिन्नाणमित्यादि) व्यवच्छिन्नानि णमिति खलु तत्र मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां पाश्चमायां च दिशि रात्रिंदिवानि रात्रिंदिवानि प्रज्ञप्तानि हेश्रमण ! हेआयुष्मन् ! अत्रैवोपसंहारमाह (एगे एवमाहंसु ३) एताश्च तिस्रोऽपि प्रतिपत्तयो मिथ्यारूपा भगवतोऽननुमतत्वाद्। अपिच ये तृतीयावादिनः सदैव रात्रिं द्वादशमुहूर्तप्रमाणामिच्छन्ति तेषां प्रत्यक्षविरोधः। प्रत्यक्ष–तोऽत्र हीनाधिकरूपा रात्रेरुपलभ्यमानत्वाद्॥

संप्रति स्वमतं भगवानुपदर्शयति । (वयंपुणइत्यादि) वयं पुनरेवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामस्तमेव प्रकारमाह (ता जंबूद्दीवेदीवे इत्यादि) ता इति पूर्ववत् जम्बूद्वीपे द्वीपे सूर्यौ यथायोगमण्डल–परिभ्रम्या भ्रमन्तौ मेरोरुदक्प्राच्यामुत्तरपूर्वस्यां दिशि उद्गच्छतः तत्र चोद्गत्य प्राग् दक्षिणपूर्वस्यामागच्छतः ततो भरतादिक्षेत्रापेक्षया प्राग् दक्षिणपूर्वस्या-मुद्गत्य दक्षिणापरस्यामागच्छतस्तत्रापि च दक्षिणापरस्यामपरविदेह-क्षेत्रापेक्षया उद्गत्यापाच्युदीच्यामपरोत्तरस्यामागच्छतस्तत्रापि चापरोत्तरस्यामैरावतादिक्षेत्रापेक्षया उद्गत्य उदक् प्राच्यामुत्तरपूर्व-स्यामागच्छतः एवं तावत्सामान्यतो द्वयोरपि सूर्ययोरुदयविधिरुपदर्शितो विशेषतः पुनरयं यदैकः सूर्यः पूर्वदक्षिणस्यामुद्गच्छति तदा अपरः उत्तरस्यां दिशि समुद्गच्छति दक्षिणपूर्वोद्गतश्च सूर्यो भरतादीनि क्षेत्राणि मेरुदक्षिणदिग्वर्तीनि मण्डलपरिभ्रम्या परिभ्रन् प्रकाशयति अपरोत्तर-स्यामुद्गतः सन् तत ऊर्ध्वमण्डलपरिभ्रम्या परिभ्रमन् ऐरावतादीनि क्षेत्राणि मेरोरुत्तरदिग्भावीनि प्रकाशयति भारतश्च सूर्यो दक्षिणापरस्या-मागतः सन्नपरविदेहक्षेत्रापेक्षया उदयमासादयति ऐरावतः सूर्यः पुनरुत्तरपूर्वस्यामागतः पूर्वविदेहापेक्षया समुद्गच्छति ततो दक्षिणापरस्यामुद्गतः सन् तत ऊर्द्धं मण्डलभ्रम्या परिभ्रमन् अपरविदेहान् प्रकाशयति । उत्तरपूर्वस्यामुद्गतः सन् तत ऊर्द्धं मण्डलगत्या चरन् पूर्वविदेहानवभासयति तत एष पूर्वविदेहप्रकाशकः सूर्यो दक्षिणपूर्वस्यां भरतादिक्षेत्रापेक्षयोदयमासादयति अपरविदेहप्रकाशकस्त्वपरोत्त-रस्यामिति। तदेवं जम्बूद्वीप सूर्ययोरुदयविधिरुक्तः संप्रतिक्षेत्रविभागेन दिवसरात्रिविभागमाह (ता जयाणमित्यादि) तत्र यदाणमिति वाक्यालंकारे जम्बूद्वीपे २ दक्षिणार्द्धे दिवसो भवति तदा उत्तरा–र्द्धेऽपि दिवसो भवति एकस्य सूर्यस्य दक्षिणदिशि परिभ्रमणसंभवे अपरस्य सूर्यस्यावश्यमुत्तरदिशि भ्रमणसंभवात् यदा चोत्तरार्द्धे दिवसस्तदा जम्बूद्वीप द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (पुरच्छिमपच्च–च्छिमेणंति) पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि रात्रिर्भवति तदानीमेकस्यापि सूर्यस्य तत्राभावात्। (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि दिवसां भवति एकस्य सूर्यस्य पूर्वदिग्भागसंभवे अपरस्य सूर्यस्यावश्यमपरस्यां दिशि भावात् । एतच्च प्रागेव भावितम् । यदा च पश्चिमायामपि दिशि दिवसो भवति तदा जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (उत्तरदाहिणेणंति) उत्तरतो दक्षिणतश्च रात्रिर्भवति (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा णमिति प्राग्वत् जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे उत्कर्षत उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तोऽष्टादशमुहूर्तप्रमाणो दिवसः उत्कृष्टो ह्यष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणा दिवसः सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारित्वे तत्र च यदैकः सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारी भवति तदा अपरोऽप्यवश्यं तत्समायातश्रेण्या सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारी भवतीतिदक्षिणार्द्धे उत्कृष्टदिवससंभवे उत्तरार्द्धेऽप्युत्कृष्टदिवससंभवः । यदा उत्तरार्द्धे उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति तदा जम्बूद्वीपे २ मन्दरस्य पर्वतस्य (पुरच्छिमपच्चच्छि–मेणंति) पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि जघन्या द्वादशमुहूर्ता रात्रि र्भवति सवाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरतोः सूर्ययोः सर्वत्रापि रात्रेर्द्वादशमुहू–र्तप्रमाणाया एव भावात् तया (ताजयाणमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्थ पर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि उत्कर्षत उत्कृष्टो–ऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति तदा मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमायामपि दिशि उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्तो दिवसः कारणं दक्षिणोत्तरार्द्धगतं प्रागुक्तमनुसर-णीयम्। यदा च मन्दरपर्वतस्य पश्चिमायामपि दिशि उत्कृष्टोऽष्टादाशमुहूर्तो दिवसो भवति तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (उत्तरदाहिणेणंति) उत्तर तो दक्षिणतश्च जघन्या द्वादशमुहूर्ता रात्रिः । अत्रापि कारणं पूर्व पश्चिमार्द्धे रात्रिगतं प्रागुक्तमनुसरणीयम् । (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण एतेनानन्तरोदितेन गमेनालापकगमेन वक्ष्यमाणमपि नेतव्यम् । किं तद्वक्ष्यमाणमित्याह । (अट्ठारसमुहुत्ताणंतरइत्यादि) यदा मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणोत्तरार्द्धयोः पूर्वपश्चिमयोर्वा अष्टादशमुहूर्तानन्तरः सप्तदशभ्या मुहूर्तेभ्य ऊर्द्धं किंचिन्त्यूनाष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसस्तदा पूर्वपश्चिमयोर्दक्षिणोत्तरार्द्धयोर्वा सातिरेका द्वादशमुहूर्ता रात्रिर्भवतीति एवं शेषाण्यपि तदानि भावनीयानि सूत्रपाठोऽपि प्रागुक्तालापकगमानुसारेण स्वयं परिभावनीयः । स चैवं ''ता जयाणं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ तया णं उत्तरड्ढेवि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ जया णं उत्तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छि–मपच्चच्छिमेणं सातिरेगदुवालसमुहुत्ता राई भवइ ता जया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ तया णं पच्चच्छिमेण वि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ । जया णं पच्चच्छिमेण वि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं साइरेगदुवालसमुहुत्ता राई भवइ'' एवं सप्तदशमुहूर्तादिवसादिप्रतिपादका अपि सूत्रालापका भावनीयाः (ता जयाणमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे वर्षाणां वर्षाकालस्य प्रथमः समयः प्रतिपद्यते भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि वर्षाणां प्रथमसमयो भवति सगकाले नैयत्थेन दक्षिणार्द्धे उत्तरार्द्धे च सूर्ययोश्चारभावात् यदा चोत्तरार्द्धे वर्षाकाल–स्य प्रथमःसमयो भवति तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणंति) पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि (अणंतरपुरक्खडेत्ति) अनन्तरमव्यवधानेन पुरष्कृतोऽग्रे कृतो यः सोऽनन्तरपुरस्कृतोऽनन्तरद्वितीय इत्यर्थः । तस्मिन् काले (समयंसित्ति) समयः संकेतादिरपि भवति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं कालग्रहणं कालश्चासौ समयश्च कालसमयस्तत्र वर्षाकालप्रथमसमयः प्रतिपद्यते भवति किमुक्तं भवति यस्मिन् समये दक्षिणार्द्धोत्तरार्द्ध–योर्वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति तस्मादूर्ध्वमनन्तरे द्वितीये समये पूर्वपश्चिमयोर्वर्षाकालस्य प्रथमसमयो भवति (ताजयाणमित्यादि) तत्र यदा णमिति प्राग्वत् । जम्बूद्वीपे २ मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति तदा मन्दस्य पर्वतस्य पश्चिमायामपि दिशि वर्षाकालप्रथमसमयो भवति सम–कालनैयत्येन पूर्वपश्चिमयोरपि सूर्ययोश्चारचरणात्। यदा च पश्चिमायामपि दिशि वर्षाकालस्य प्रथमः समयः भवति तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (उत्तरदाहिणेणंति) उत्तरतो दक्षिणतश्च अनन्तरमव्यवधानेन पश्चात्कृतोऽनन्तरपश्चात्कृतस्तस्मिन् कालसमये वर्षाकालस्य प्रथमः समयः प्रतिपन्नो भवति भूत इत्यर्थः। इह यस्मिन् समये दक्षिणार्द्धे उत्तरार्द्धे च वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति तदनन्तरेऽग्रतने द्वितीये समये पूर्वपश्चिमयोर्वर्षाणां प्रथमसमयो भवतीति । एतावन्मात्रोक्तावपि यस्मिन् समये पूर्वपश्चिमयोर्वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति ततोऽनन्तरे पश्चाद्वर्त्तिनि समये दक्षिणोत्तरार्द्धयोर्वर्षा-कालस्य प्रथमः समयो भवतीति गम्यते तत्किमर्थमस्योपादानम् उच्यते इह क्रमाभ्यामभिहितोऽर्थः प्रपञ्चितज्ञानां शिष्याणामतिसुनिश्चितो भवति ततस्तेषामनुग्रहाय

तदुक्तमित्यदोषः ॥ (जहासमयइत्यादि) यथा समय यत्तस्तथा आवलिकाद्यापाणौ स्तोकको लवो मुहुर्त्तोऽहोरात्रः पक्षोमास ऋतुश्च प्रावृडादिरूपो वक्तव्यः एवं व समयागतमालापकपादिं कृत्वा दश आलापका एते भवन्ति ते च समयगतालापकरीत्या स्वप परिभावनीयास्तद्यया'' जयाणं जंबूद्दीवे दीवे वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया णं उत्तरड्ढे वि वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ जयाणं उत्तरड्ढे वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ तयणं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं अणंतरपुर–क्खडे कालसमयंसि वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइता जयाणं जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया णं पच्चच्छिमेणं च पढमा आवलिया पडिवज्जइ जया णं पच्चच्छिमेणं वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया णं जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं अणंतरप–च्छाकडकालसमयंसि वासाणं पढमा आवलिया पडिवन्ना भवइ'' इदं च प्रागुक्ताव्याख्यानुसारेण व्याख्येयं नवरम् (आवलिया पडि–वज्जत्ति) आवलिका परिपूर्णा भवति शेषं तथैव एवं प्राणापानादिका अप्यालापका भणनीयाः (एएइत्यादि) यया वर्षाणां वर्षाकालस्य एते अनन्तरोदिताः समयादिगता अत्र आलापका भणिता एवं (हेमंताणंति) शीतकालस्य (गिम्हाणंति) ग्रीष्मकालस्योष्णका–लस्येत्यर्थः। प्रत्येकं समयादिगता दश आलापका भणितव्याः । अयनगतं त्वालापकं साक्षात्पठति ॥

ता जता णं जंबुद्दीवे२ दाहिणड्ढे पढमे अयणे पडिवज्जति तदा णं उत्तरड्ढेवि पढमे अयणे पडिवज्जइ जता णं उत्तरड्ढेपढमे अयणे पडिवज्जति तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं अणंतरपुरक्खडकालसमयंसि पढमे अयणे पडिवज्जति ता जता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं पढमे अयणे पडिवज्जति जया णं पच्चच्छिमेणं प–ढमे अयणे पडिवज्जति तता णं जंबुद्दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं अणंतरपच्छाकडकालसमयंसि पढमे अयणे पडिवन्ने भवति जहा अयणे तधा संवच्छरे जुगे वाससते एवं वाससहस्से वाससयसहस्से पुव्वंगे पुव्वे एवं जाव सीसपहे–लिया पलितोवमे सागरोवमे ता जदा णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे उस्सप्पिणी पडिवज्जति तता णं उतरड्ढेवि उस्सप्पिणी पडिवज्जति जता णं उत्तरड्ढे उस्सप्पिणी पडिवज्जति तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं णेवत्थि ओसप्पिणी णेव अत्थि उस्सप्पिणी अवट्ठितेणं तत्थ काले पण्णत्ते समणाउसो एवं उस्सप्पिणी वि ता लवणे समुद्दे दाहिणड्ढे दिवसे भवतितता णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति जता णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति तता णं लवणसमुद्दे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं राई भवति जहा जंबुद्दीवे २ तहेव जाव उस्सप्पिणी तहा धायइसंडेणं दीवे सूरिया उदीणं तधवे ता जता णं धायइसंडे दीवे दाहिणड्ढेदिवसे भवति तता णं उत्तरड्ढे वि दिवसे भवति जता णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति तता णं धायइसंड दीवे मंदराणं पव्वताणं पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं राई भवंति एवं जंबुद्दीवे २ तहा तधेव जाव उस्सप्पिणी कालो एवं जहा लवणे समुद्दे तधेव कालोदे तअब्भिंतरं पुक्खरद्धेणं सूरिया उदीणपाईण–मुग्गच्छं तधेव ता जता णं अब्भिंतरपुक्खरद्धेणं दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरद्धे वि दिवसे भवति जता णं उत्तरद्धे वि दिवसे भवति तता ण अब्भिंतरपुक्खरद्धे मंदराणं पव्वताणं पुरच्छिमे पच्चच्छिमेणं राई भवति सेसं जहा णं जंबुद्दीवे तधेव जाव उस्सप्पिणीओ सप्पिणी।

ता जताणमित्यादि सुगमम् । (जहाअयणेइत्यादि) यथा अयने आलापके भणितस्तथा संवत्सरे युगे वक्ष्यमाणस्वरूपे चन्द्रादिसंवत्सरपञ्चकात्मके वर्षसहस्रे वर्षशतसहस्रे पूर्वाङ्गे पूर्व एवं (जाव सोसपहेलियत्ति) अत्र एवं यावत्करणादमून्यापान्तराले पदानि द्रष्टव्यानि ''तुडियंगे तुडिए अडडंगे अडडे अववंगे अववे हूहूयंगे हूहूये उप्पलंगे उप्पले पउमंगे पउमे नलिणंगे नलिणे अत्थनिउरंगे अत्थनिउरे अउयंगे अउए नउयंगे नउए चूलियंगे चूलिए सीसपहेलियंगे सीसपहेलिए इति अत्र चतुरशीतिवर्षलक्षाण्येकं पूर्वाङ्गं चतुरशीतिपूर्वाङ्गलक्षाणे एकं पूर्वमेव पूर्वः पूर्वो राशिश्चतुरशीतिर्लक्षैर्गुणित उत्तरो राशिर्भवति यावच्चतुरशीतिशीर्ष-प्रहेलिकाङ्गलक्षाणि एका शीर्षप्रहेलिका एतावान् राशिर्गणितविषयोऽत ऊर्ध्वं गणनातीतः स च पल्योपमादि ''पलिउवमे सागरोवमे'' अनयोः स्वल्पं संग्रहणीटीकायामुक्तम् । आलापकास्तु स्वयं वक्तव्याः । अवसर्प्पिण्युत्सर्प्पिणीविषयमालापकं साक्षादाह (ताजयाण-मित्यादि) तत्रा यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणार्द्धे अवसर्प्पिणी प्रतिपद्यते परिपूर्णा भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि अवसर्प्पिणी प्रतिपद्यते यदा उत्तरार्द्धे अवसर्प्पिणी प्रतिपद्यते तदा जम्बूद्वीपे २ मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि नैवास्त्य–वसर्प्पिणी नाप्यस्त्युत्सर्प्पिणी कुत इत्याह अविस्थितो णमिति खजु तत्र पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि कालः प्रज्ञप्तो मया शेषैश्च तीर्थकरैः हे श्रमणायुष्मन् ! ततस्त जावसर्प्पिण्युत्सर्पिण्यभावः । (एवमुस्सप्पिणीवित्ति) एवमुक्तेन प्रकारेणोत्सर्प्पिण्यवि उत्सर्प्पि–ण्यालापकोऽपि वक्तव्यः । स चैवं ''ताजयाणं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे पढमा उस्सप्पिणी पडिवज्जइ तया णं उत्तरड्ढे वि पढमा उस्सप्पिणी पडिवज्जइ जया णं उत्तरड्ढेवि पढमा उस्सप्पिणी पडिवज्जइ तया णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं नेव अत्थि उस्सप्पिणी अवस्सप्पिणी अवट्ठिएणं तत्थ काले पन्नत्ते समणाउसो'' तदेवं जम्बूद्वीपवक्तव्योक्ता संप्रति लवणसमुद्रवक्त–व्यतामाह। (लवणेणं समुद्दे इत्यादि) (तहेवत्ति) यथा जम्बूद्वीपे उद्गमविषये आलापक उक्तस्तथा लवणसमुद्रेऽपि वक्तव्यः । सचैवं ''लवणेणं सूरिया उईणपाई णमुग्गच्छ पाईणदाहिण-मागच्छंति पाईणदाहिणमुग्गच्छदाहिणपाईणमागच्छेति दाहिणपाईणमुग्गच्छ पाईणउईणमागच्छंति पाईणउईणमुग्गच्छ उईणपाईणमागच्छंति'' इदं च सूत्रं जम्बूद्वीपगतोद्गमसूत्रवत्स्वयं परिभावनीयं नवरमत्र सूर्याश्चत्वारो वेदितव्याः ''चत्तारि य सागरे लवणे इति वचनात्'' ते च जम्बूद्वीपगतसूर्याभ्यां सह समश्रेण्या प्रति बद्धास्तद्यथा द्वौ सूर्यौ कस्य जम्बूद्वीपगतस्य सूर्यस्य श्रेण्या प्रतिबद्धौ द्वितीयस्य जम्बूद्वीपगतस्य सूर्यस्य श्रेण्या अपरौ तत्र यत्रैकः सूर्यो जम्बूद्वीपे दक्षिणापूर्वस्यामुद्गच्छति तदा

तत्समश्रेण्या प्रतिबद्धौ सूर्यौ लवणसमुद्रे तस्यामेव दक्षिणपूर्वस्या-मुदयमागच्छतस्तदेव जम्बूद्वीपगतेन सूर्येण सह तत्समश्रेण्या प्रतिबद्धौ द्वावपरौ लवणसमुद्रे अपरोत्तरस्यां दिशि उदयमासादयतः । तत उदयविधिरपि द्वयोर्दयोर्जम्बूद्वीपसूर्ययोरिव भावनीयः । तेन दिवसरात्रिविभागोऽपि क्षेत्रविभागेन तथैव द्रष्टव्यः । तथा चाह । ताजयाणमित्यादि सुगमं नवरं (जहाजंबुद्दीवेइत्यादि) यथा जंबुद्दीवे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं राई भवइ इत्यादिकं सूत्रमुक्तं यावदुत्सर्प्पि-ण्यवसर्प्पिण्यालापकस्तथा लवणसमुद्रेऽप्यन्यूनातिरिक्तं समस्तं भणितव्यं नवरं जम्बूद्वीपे द्वीप इत्यस्य स्थाने लवणसमुद्दे इति वक्तव्यमिति शेष तदेवं लवणसमुद्रगतापि वक्तव्यतोक्ता । संप्रति धातकीखण्डविषयां तामाह धायइसंडेणं सूरियाइ इत्यादि'' अत्राप्युद्गमविधिः प्राग्वद्भावनीया नवरमत्र सूर्या द्वादश ''धायइसंडे दीवे वारसचंदा य सूरा य'' इतिवचनात्। ततः षट् सूर्या दक्षिणदिक्चारिभिर्जम्बूद्वीपगतलवणसमुद्रगतैः सूर्यैः सह समश्रेण्या प्रतिबद्धाः षट् उत्तरदिक्चारिभिः । संप्रत्यत्रापि क्षेत्रविभागेन दिवसरात्रिविभागमाह (ताजयाणमित्यादि) यदा धातकीखण्डे द्वीपे दक्षिणार्द्धे दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि दिवसो भवति यदा उत्तरार्द्धेऽपि दिवसस्तदा धातकीखण्डे मन्दरयोः पूर्वतयोः पूर्वा-र्द्धपश्चिमार्द्धगतयोः प्रत्येकं पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि रात्रिर्भवति [एवमित्यादि] एवमुक्तेन प्रकारेण यथा जम्बूद्वीपे उक्तं तथैवात्रापि वक्तव्यं तत्र तावद्यावदुत्सर्प्पिण्यालापकः।[कालोएइत्यादि] कालोदे समुद्रे यथा लवणेऽभिहितं तथैवाभिधातव्यं नवरं कालोदे सूर्या द्विचत्वारिंशत् तत्रैकविंशतिर्दक्षिणदिक्चारिभिर्जम्बूद्वीपलवणस-मुद्रधातकीखण्डगतैः सह समश्रेण्या संबद्धा एकविंशतिरुत्तरदि-क्चारिभिः तत उदयविधिर्दिवस रात्रिविभागश्च क्षेत्रविभागेन तथैव वेदितव्यः ।। सांप्रतमभ्यन्तरपुष्करवरार्द्धवक्तव्यतामाह [ता अब्भिं-तरपुक्खरद्धे इत्यादि] इदमपि सूत्रं सुगमं [तहेवत्ति] तथैव जम्बूद्वीपे इव वक्तव्यं नवरमत्र सूर्या द्वासप्ततिः तत्र षट्त्रिंशद्दक्षिणदिक्चा-रिभिर्जम्बूद्वीपादिगतैः सह समश्रेण्या प्रतिबद्धाः षट्त्रिंशदुत्तरदिक्-चारिभिस्तत उदयविधिर्दिवस-रात्रिविभागश्च क्षेत्रविभागेन प्राग्वद्-वसेयस्तथाचाह [ताजयाणमित्यादि] सुगमम् । सू०प्र० ८ पाहु०।

उदयसाय(ग) पुं०(उदयसागर) अञ्चलगच्छीये विद्यासागरसूरिशिष्येन विक्रम सं० (१८०४) वर्षे पालिताणय नगरे स्नात्रपञ्चाशिका नामग्रन्थो व्यरचि। जै० इ०।

उदयसिंहमुणि पुं०(उदयसिंहमुनि) तपागच्छीये उदयवीरगणिनः शिष्ये, अनेन-वि०सं० (१६४६) वर्षे रत्नशेखरसूरि कृतश्राद्धप्रतिक्रमणवृत्ति प्रथमादर्शेलिखिता। जै० इ०।

उदयसेण पुं०(उदयसेन) वीरसेनसूरसेनयोरनयोः पितरि आचा० १ श्रु० ४ उ० १ उ०। (सम्मशब्दे कथा-)

उदयावलिया स्त्री०(उदयावलिका) षष्ठीतत्पु० उदयवतीनाम-नुदयवतीनां च प्रकृतीनामुदयसमयारभ्यावलिकामात्रायां स्थितौ, ''आवलियतिगं पमोत्तूणं'' इह उदयवतीनामनुदयवतीनां च प्रकृतीनामुदयसमयादारभ्यावलिकामात्रास्थितिरुदयावलिका वेदितव्या तथैव चिरन्तनग्रन्थेषु व्यवहारात् पं० सं०।

उद(य)र न०(उदर) ऋ-अच्० जठरे, । प्रश्न० ३ द्वा०। अङ्गान्युपाङ्गानि चेति द्विधा शरीरावयवास्तत्रेदमङ्गम् स्था० ८ ठा०। प्रज्ञा०। उत्त०। आ०चू०। तात्स्थ्यात्तदव्यपदेशः उदररोगे, । वाच०। उदराण्यष्टौ०। ''पृथक् समस्तैरपि चानिलाद्यैः (४) ल्फीहोदरं (५) बद्धगुदं तथैव (६) आगुन्तुकं (७) सप्तममष्टमं च जलोदरं चेति भवनित तानि'' । प्रश्न० सं० ५ द्वा०। विपा०। तं०। उपा०।

उदरंभरि त्रि०(उदरम्भरि) उदरं बिभर्ति-भृ-खि-मुम् च । पञ्च-यज्ञाद्यकरणेनात्मोदरमात्रपोषके, । वाच०।

उद(य)रगंठि पुं०(उदरग्रन्थि) उदरे ग्रन्थिरिव गुल्मरोगे हेम०।

उद(य)रत्ताण न०(उदरत्राण) उदरं त्रायतेऽनेन त्रै० ल्युट् (कमरबन्ध) उदरबन्धवस्त्रे। हेम०।

उदराणुगिद्ध त्रि०(उदरानुगृद्ध) उदरेऽनृगृद्ध उदरानुगृद्धः । उदरम-रणव्यग्रे तुन्दपरिभृजे, ''कुलाइँ जे धावति सा उगाइं, आघाति-धम्मं उदराणुगिद्धे''। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

उदरिय न०(उदरिक) जलोदरिके, विपा० १ श्रु० ७ अ०। नि० चू०।

उदवाह पुं०(उदवाह) उदकं वहति। वह अण् उप० स० जलवाहके मेघे, उदकवाहकमात्रे, त्रि०। वाच०। अपकृष्टेऽल्पे उदकवाहने, ''उदवाहाइ वा पवाहाइ वा'' अपकृष्टानि अल्पान्युदकवाहनानि तान्येव प्रकर्षवन्ति प्रवाहाः। भ० ३ श० ६ उ०।

उदहि पुं०(उदधि) उदकानि धीयन्तेऽत्र धा-आधारे कि-उदा-देशः समुद्रे, । ''जहा से सयंभुउदहीणसेट्ठे णागेसु धरणिंदमाहुसेट्ठे'' सूत्र०१ श्रु० ७ अ०। ''जहा से सयंभुरमणे, उदही अक्खओदए''-उत्त०१ अ०। (उदधीनां सर्वा वक्तव्यता दीव सागरशब्दे)। (''चत्तारि उदही पण्णत्ता तंजहा उन्नाणेणाममेगे'' इत्यादि पुरुषजातशब्दे उदधि सूत्रे वक्ष्यते) उदययोऽद्धा समयेन स्पृष्टा नवेति फरिसणा शब्दे) धनोदधौ, स्था० ३ ठा०२ उ० ''पुढवीइ वा उदहीइ वा'' पृथिवी रत्नप्रभादिका उदधिस्तदधीलोवनोदधिः। स्था०२ ठा०४ उ०। ''वायुपरट्ठिया उदही, उदहिपइट्ठिया पुढवी''। स्था० ४ ठा०२ उ० १ आर्य्यसमुद्रनामके आचार्य्ये, आचा०१ श्रु० ६ अ०१ उ०। नामैकदेशे नामग्रहणात् । उदधिकुमारे सप्तमभवन-वासिनि, । भ० १ श० १उ०। ''दीवदिसा उदहीणं जुवलपाणं वावत्तरिमो य सयसहस्सा'' स०। प्रश्न०। जलचये, स्था०३ ठा० ४ उ०।

उदहिकुमार पुं०(उदधिकुमार) सप्तमे भवनवासिनि, प्रज्ञा०१ पद। स्था०। ''उदहिकुमारा णं सव्वे समाहारा सेवं भंते भंतेत्ति। भ० १६ श०१३ उ०। (उदधिकुमारोद्देशवक्तव्यता वर्णादि व्यवस्था भवणवासिशब्दे। (अन्तक्रियादिदण्डकास्तु अंतकिरियादिशब्देषु)

उदहिकुमारावास पुं०(उदधिकुमारावास) उदधिकुमाराणां भवनावासे ठावत्तरि उदहिकुमारा वाससयसहस्सा पण्णत्ता'' स०।

उदहिपइट्ठिय त्रि०(उदधिप्रतिष्ठित) घनोदध्याश्रिते, ''उदहिपइ-ट्ठिया पुढवी'' भ०१ श०७ उ०।

उदहिपुहत्त न०(उदधिप्रथक्त्व) उदधिप्रथक्वप्रमाणे प्रभूतसाग-रोपमशतप्रमाणे, ''उदहिपुहुत्तुक्कस्स इयरं पत्तस्स संखतमभागो'' क०प्र०।

उदहिमंगल न०(उदधिमङ्गल) समुद्रज्वलनमङ्गले, पञ्चा० ८ विव०।

उदहिमेहला स्त्री०(उदधिमेखला) उदधिर्मेखला इव यस्याः । मध्यस्थाने, समुद्रवेष्टितायां पृथिव्याम्, वाच०।

उदाइ पुं०(उदायिन्) स्वनामख्याते कूणिकराजसत्कहस्तिनि,

उदायिहस्तिनः पूर्वापरभवौ यथा।

रायगिहे जाव एवं वयासी उदाईणं भंते ! हत्थिराया कओहिंतो अणंतरं उवट्टित्ता उदाई हत्थिरायत्ताए उववण्णे । गोयमा ! असुरकुमारेहिंतो अणंतरं उवट्टित्ता उदाई हत्थिराय–त्ताए उववण्णो । उदाईणं भंते ! हत्थिराया कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छहित्ति कहिं उववज्जिहित्ति? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसं सागरोवमट्ठितीयंसि णिरया-वासंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहि त्ति सेणं भंते ! तओहिंतो अणंतरं उवट्टित्ता कहिं गच्छिहित्ति गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहि जाव अंतं काहिंति। भ० १६ श०१ उ०।

(टीका सुगमत्वान्न गृहीता) कोण्डिकायनीये गोशालेन षष्ठप्रवृत्तसंहारे गृहीतकलेवरविशिष्टजीवे, ''अहण्णं उदाई णामं कुंडियायणिए अज्जुण्णस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि'' इति वीरं प्रति मङ्खलिपुत्रो गोशालः। भ० १५ श० १ उ० कूणिकपुत्रे, तद्वक्तव्यता चैवम् उदायि कोणिकपुत्रो यः कोणिके अपक्रान्ते पाडलिपुत्रं नगरं न्यवीविशत्। यश्च स्वभवनस्य विविक्ते देशे पर्वदिनेष्वाहूय संविग्नगीतार्थसद्गुरुं तत्पर्युपासनापरायणः परमसंवेगरसप्रकर्षमनुस्मरन् सामायिकपौषधादिकं सुश्रमणोपासकप्रायोग्यमनुष्ठानमन्यवतिष्ठत्। एकदा च निशि देशनिर्धाटितरिपुराजपुत्रेण द्वादशवार्षिकद्रव्यसाधुना कृतपौषधोपवासः सुखप्रसुप्तः कङ्कायः कर्तिकाकण्ठकर्तनेन विनाशित इति॥ स्था० ६ ठा०। आ०क० (विस्तरतोऽयमेवार्थः सेणियशब्दे) अयं च निर्वर्तिततीर्थकृन्नामकर्मा उत्सर्पिण्या, तृतीयः सुपार्श्वनामा तीर्थकरो भविष्यति। तइओ उदायिजीवो सुपासो'' ती०। आ०चू०।

उदाइंत त्रि०(उदयमान) शोभमाने, ज्ञा०१ अ०॥

उदाण पुं०(उदान) अन्–घञ्। ऊर्ध्वं मानोऽस्य कृकाटिकादेशादाशिरोवृत्तौ वायौ, । द्वा० २६ द्वा०। वाच०।

उदायण पुं०(उदायन) सिन्धुसौवीरेषु वीतिभयनगराधिपतौ स्वनामख्याते राजभेदे, । तद्वक्तव्यता चैवम्।

तेणं कालेणं तेणं समएणं सिंधुसोवीरेसु जणवएसु वीतभयणामं णयरे होत्था । वण्णओ तस्स णं वीतिभयस्स णयरस्स वहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसि भाए एत्थ णं मियवणे णामं उज्जाणे होत्था । सव्वोउयवण्णओ । एत्थ णं वीतिभए णयरे उदायणे णामं राया होत्था । महया वण्णओ, तस्स णं उदायणस्स रण्णो पउमावई णामं देवी होत्था । सुकुमालवण्ण–ओ तस्स णं उदायणस्स रण्णो पभावती णामं देवी होत्था । वण्णओ जाव विहरति । तस्स णं उदायणस्स रण्णो पुत्ते पभावतीए देवीए अत्तए अभीइणामं कुमारे होत्था । सुकुमाल जहा सिवभद्दे जाव पच्चुवेक्खमाणं विहरइ । तस्स णं उदायणस्स रण्णो णियए भायणिज्जे केसी णामं कुमारो होत्था सुकुमाल जाव सुरूवे से णं उदायणे राया सिंधुसोवीरप्पमोक्खाणं सोलसण्हं जणवयाणं वीइभयप्पमोक्खाणं तिण्हं तेसट्ठीणं णगरागरवर सयाणं महसेणप्पमोक्खाणं दसण्हं राईणं बद्धमउज्झाणं विदिण्णछत्तचामरबालवियणाणं अण्णेसिं च बहूणं राईसरतल जाव सत्थवाहप्पभिईणं आहेवच्चं पोरेवच्चं जाव कारेमाणे पाले माणे समणोवासए अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ । तए णं से उदायणे राया अण्णया कयाइं जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता जहा संखे जाव विहरइ तए णं तस्स उदायणस्स रण्णो पुव्वरत्तावरत्तकालस–मयंसि धम्मं जागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था धण्णाणं ते गामागरनगरखेडकव्वडमडं–बदोणमुहपट्टणासमसंवाहसण्णिवेसा जत्थ णं समणे भगवं महावीरे विहरइ धण्णाणं ते राईसरतलवर जाव सत्थवाहप्प–भिईओ जेणं समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति जाव पज्जु–वासंति । जईणं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणु जाव विहरमाणे इहमागच्छेज्जा । इह समोसरेज्जा इहेव वीतीभयस्स णयरस्स बहिया मियवणे उज्जाणे अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं जाव विहरेज्जा तओ णं अहं समणं भगवं महावीरं वंदेज्जा णमंसेज्जा जाव पज्जुवासेज्जा। तए णं समणे भगवं महावीरे उदायणस्स रण्णो अयमेयारूवं अज्झत्थियं जाव समुप्पण्णं विजाणित्ता। चंपाओ णयरीओ पुण्णभद्दाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं जाव विहरमाणे जेणेव सिंधुसोबीरे जणवए जेणेव वीईभये णयरे जेणेव मियवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता जाव विहरइ । तए णं वीईभए णयरे सिंघाडग जाव परिसा पज्जुवासइ । तए णं से उदायणे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठकोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी । खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! वीतिभयं णयरं सब्भिंतरबाहिरियं जहा कूणिओ उववत्तिए जाव पज्जुवासइ पउमावइपामोक्खाओ देवीओ तहेव पज्जुवासंति धम्मकहा तए णं से उदायणे राया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठउट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव णमंसित्ता एवं वयासी एवमेवं भंते ! तहमेयं भंते ! जाव से जहेयं तुब्भे वदह त्तिकट्टु जं णवरं देवाणुप्पिया ! अभिइकुमारं रज्जे ठावेमि तए णं अहं देवाणुप्पिया णं अंतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वयामिअहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं । तएणं से उदायणे राया समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता तमेव अभिसेकहत्थिं दुरुहइ दुरुहइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ मियवणाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता जेणेव वीइभए णयरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए तएणं

तस्स उदायणस्स रण्णो अयमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुप्पज्जित्था। एवं खलु अभीइकुमारे मम एगे पुत्ते इट्ठे कंते जाव किमंग पुण पासणया एतं जइ णं अहं अभीइकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिअं मुंडे भवित्ता जाव पव्वयामि तओ णं अभिइकुमारे रज्जे य रट्ठे य जाव जणवए य माणुस्सएसु य कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टिस्सत्ति तं णो खलु मे सेयं अभीइकुमारं रज्जे ट्ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए सेयं खलु मेणियगं भाइणिज्जकेसीकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता जेणेव वीइभए णयरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता वीइभयं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गेहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छई उवागच्छइत्ता अभिसेकं हत्थिं ठावेइ अभिसेकाओ हत्थीओ पच्चोरुभइ पच्चोरुभइत्ता जेणेव सिंहासणेतेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सिंहासणवरंसि पुरच्छाभिमुहे णिसीयइ णीसीयइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! वीइभयं णयरं सब्भिंतरबाहिरियं जाव पच्चप्पिणंति तएणं से उदायणे राया दोच्चपि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! केसिस्स कुमारस्स महत्थं एवं रायाभिसेओ जहा सिवभद्दस्स तहेव भाणियव्वो जाव परमाउं पालयाहिं इट्ठजणसंपरिवुडे सिंधुसोवीरप्पामोक्खाणं सोलसण्हं जणवयाणं वीइभयप्पामोक्खाणं तिण्णि तेसट्ठीणं णगरागरसयाणं महसेणप्पामोक्खाणं दसण्हं राईणं अण्णेसिं च बहूणं राईसर जाव कारे माणे पालेमाणे विहरित्तिकट्टु जयजयसद्दं पउंजंति तएणं केसीकुमारे राया जाए महया जाव विहरइ तए णं से उदायणे राया केसिं रायाणं आपुच्छइ तए णं ते केसीराया कोडुंबियपुरिसं सद्दावेइ एवं जहा जमालिस्स तहेव सब्भिंतरबाहिरियं तहेव जाव णिक्खमणाभिसेयं उवट्ठावेत्ति तएणं से केसीराया अणेगगणनायग जाव संपरिवुडे उदायणरायं सीहासणवरंसि पुरच्छाभिमुहे निसियावेइ निसियावेइत्ता अट्ठसएणं सोवण्णियाणं एवं जहा जमालिस्स एवं वयासी भण सामि किं देमो किं पयच्छामो किण्णावाते अट्ठे तएणं से उदायणे राया केसिं रायं एवं वयासी इच्छामि णं देवाणुप्पिया कुत्तियावणाओ एवं जहा जमालिस्स णवरं पउमावइ अग्गकेसे पडिच्छइ पियविप्पओगओ दूसहा तए णं से केसीराया दोच्चंपि उत्तरावक्कमणं सीहासणं रयावेइ रयावेइत्ता उदायणं रायं सीयापीतएहिं कलसेहिं सेसं जहा जमालिस्स जाव सण्णिसण्णं तहेव अम्मधाई णवरं पउमावई हंसलक्खणं पडसाडगं गहाय सेसं तं चेव जाव सिविआओ पच्चोरुहइ पच्चो रुहइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणं भगवं महवीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं जाव वंदह णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ अवक्कमइत्ता सयमेव आभरणमल्ललंकारं तं चेव जाव पउमावई पडिच्छइ जाव घडियव्वं सामी जाव णो पमादीयव्वं तिकट्टु केसीराया पउमावई य समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वंदित्ता णमंसित्ता जाव पडिगया तएणं से उदायणे राया सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं सेसं जहा उसभदत्तस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणे। भ० ३ श० ६ उ०।

इयमेव वक्तव्यता कथान्तरसंबलिता इत्थम्। भरतक्षेत्रे सौबी–रदेशे वीतभयनामनगरे उदायनो नाम राजा तस्य प्रभावती राज्ञी तयोर्ज्येष्ठपुत्रोऽभीचिनामाऽभवत् तस्य भागिनेयः केसीनामाऽभूत्। सउदायनराजा सिन्धुसौबीरप्रमुखषोडषजनपदानां वीतभय प्रमुखत्रिंशत् त्रिषष्टिनगराणां महासेनप्रमुखाणां दशराजानां बद्धमु–कुटानां छत्राणां चामराणां च ऐश्वर्यं पालयन्नस्ति। इतश्चम्पायां नगर्यां कुमारनन्दी नाम सुवर्णकारोस्ति। स चस्त्रीलम्पटो यत्र २ स्वरूपां दारिकां पश्यति जानाति वा तत्र तत्र पञ्चशत् सुवर्णानि दत्वा तां परिणयति। एवञ्च तेन पञ्चशतकन्याः परिणीताः। एकस्तम्भं प्रासादं कारयित्वा ताभिस्समं क्रीडति। तस्य च मित्रं नागिलो नाम श्रावकोऽस्ति। अन्यदा पञ्चशैलद्वीपवारतुल्यहासाप्रहासाव्यन्तर्यौ स्तः। तयोर्भर्ता विद्युन्माली नाम देवोऽगित सोऽन्यदा च्युतः ताभिश्चिन्तितं कमपि व्युद्ग्राह्यावः सोऽस्माकं भर्ता भवति स्वयोग्यपुरुषगवेषणाय इतस्ततो व्रजन्तीभ्यां ताभ्यां चम्पानगर्यां कुमारनन्दी सुवर्णकारः पञ्चशतस्त्रीपरिवृतो दृष्टः। ताभ्यां चिन्तितम्। एष स्त्रीलम्पटः सुखन व्युद्ग्राहयिष्यते। कुमारनन्दी भणति। के भवन्त्यौ। कुतः समायाते ते आहतुः। आवां हासाप्रहासादेव्यौ तद्रूपमोहितः कुमारसुवर्णकारस्ते देव्यौ भोगार्थं प्रार्थितवान्। ताभ्यां भणितं यद्यस्माद्भोगकार्यः तदा पञ्चशैलद्वीपं समागच्छेः। एवं भणिते देव्यौ उत्पतिते गते स्वस्थानम्। राज्ञः सुवर्णं दत्वा पटहं वादयति स्म। कुमारनन्दीसुवर्णकारं यः पञ्चशैलद्वीपं नयति तस्य स धनकोटिं ददाति। एकेन स्थविरेण तत्पटहः पुष्टः कुमारनन्दिना तस्य कोटिं धनं दत्तं स्थविरोऽपि तद्धनं पुत्राणां दत्वा कुमारनन्दिना सह यानपात्रमारूढः समुद्रमध्ये प्रविष्टः। यावद्दूरे गतस्तावदेकं वटं दृष्टवान्। स्थविर उवाच। तस्य वटस्याधः इदं वाहनं निर्गमिष्यति तत्र जलावर्तोऽस्तीति वाहनं भङ्क्ष्यति। त्वं तु एतद्वटशाखामाश्रयेः। वटेऽत्र पञ्चशैलद्वीपात् भारण्डपक्षिणस्समायास्यन्ति सन्ध्यायां तच्चरणेषु स्ववेषुः स्ववस्त्रेण दृढं बध्नीयाः। ते च प्रभाते इत उड्डीनाः पञ्चशैलं यास्यन्ति। त्वमपि तैः समं पञ्चशैलं गच्छेः। स्थविरेण एवमुच्यमाने तद्वाहनं वटाधो गतं कुमारनन्दिना वटशाखावलम्बनं कृतं भग्नञ्च तद्वाहनम्। कुमारनन्दी तु भाण्डपक्षिचरणावलम्बेन पञ्चशैले गतः। हासाप्र–हासाभ्यां दृष्टः उक्तश्च। तव एतेन शरीरेण नावाभ्यां भोगो विधीयते। स्वनगरे गत्वाङ्गुष्ठत आरभ्य मस्तकं यावज्ज्वलनेन स्वशरीरं दह यथा पञ्चशैलाधीशो भूत्वाऽस्मद्भोगेहां पूर्णीकुरु।

तेनोक्तं तत्राहं कथं यामि। ताभ्यां करतले समुत्पाट्य स नगरोद्याने मुक्तः। ततो लोकस्तं पृच्छति। किं त्वया तत्राश्चर्य्यं दृष्टम्। स भणति। दृष्टं श्रुतमनुभूतं पञ्चशैलद्वीपं मया यत्र प्रशस्ते हासाप्रहासाभिधे देव्यौ स्तः। अत्र कुमारनन्दिना तत्र स्वाङ्गुष्ठेऽग्निमारचयित्वा मस्तकं यावत्स्वशरीरं ज्वालयितुमारब्धः। तदा मित्रेणाऽयं वारितः भो मित्र ! तवेदं कापुरुषजनोचितं चेष्टितं न युक्तम्। महानुभाव ! दुर्लभं मनुष्यजन्म मा हारय तुच्छमिदं भोगसुखमस्ति। किं च यद्यपि त्वं भोगार्थी तथापि स्वधर्म्मानुष्ठानमेव कुरु यत उक्तं। ''धणओ धणच्छियाणं, कामत्थीणं च सत्थकामकरो। सग्गापवग्गसंगमहेऊ जिणदेसिओ धम्मो'' ।१। इत्यादि शिक्षावादैर्मित्रेण स वार्यमाणोऽपि इङ्गिनीमरणेन स मृतः। पञ्चशैलाधिपतिजीतः तन्मित्रस्य श्रावकस्य महान् खेदो जातः। अहो ! भोगकामार्थं जना इत्थं क्लिश्यन्ति जानन्तोऽपि वयं किमत्र गार्हस्थ्ये स्थिताः स्म इति स श्रावकः प्रव्रजितः। क्रमेण कालं कृत्वा अच्युतदेवलोके समुत्पन्नः। अवधिना स स्ववृत्तान्तं जानाति स्म। अन्यदा नन्दीश्वरयात्रार्थं सर्वदेवेन्द्राश्चलिताः स श्रावकदेवोऽपि अच्युतेन्द्रेण समं चलितः। तदा पञ्चशैलाधिपतेस्तस्य विद्युन्मालिनाम्नो देवस्य गले पटहो लग्नः उत्तारितो नोत्तरति। हासाप्रहासाभ्यां उक्तम्। इयं पञ्चशैलद्वीपवासिनो स्थितिः यन्नन्दीश्वरद्वीपयात्रार्थं चलितानां देवेन्द्राणां पुरः पटहं वादयन् विद्युन्मालिदेवस्तत्र याति ततस्त्वं खेदं मा कुरु गललग्नमिमं पटहं वादयन् गीतानि गायन्तीभ्यां आवाभ्यां सह नन्दीश्वरद्वीपे याहि। ततः स तथा कुर्वन् नन्दीश्वर–द्वीपोद्देशेन चलितः। श्रावकदेवस्तं सखेदं पटहं वादयन्तं दृष्ट्वा उपयोगेनोपलक्षितवान्। भणति च भोः त्वं मां जानासि स भणति। कः शक्रादिदेवान् न जानाति। ततस्तं श्रावकदेवः तस्य स्वप्राग्भवस्वरूपं दर्शयति स्म। सर्वं पूर्ववृत्तान्तमाख्याति। ततः संवेगमापन्नः स देवो भणति। तदिदानीमहं किं करोमि। श्रावकदेवो भणति श्रीवर्द्धमानस्वामिनः प्रतिमां कुरु यथा तव सम्यक्त्वं सुस्थिरं भवति। यत उक्तम्। ''जो कुव्वइ जिणपडिमं, जिणाण जियरागदोसमोहाणं। सो पावइ अन्नभवे, सुहजणणं धम्मवररयणं'' अन्यच्च ॥ ''दारिद्दं दोहग्गं, कुजाइकुसरीरकुगइकुमईओ। अवमाणरोयसोआ, न हुंति जिणबिंबकारीणं ॥२॥'' ततः स विद्युन्माली महाहिमवच्छिखराद्गोशीर्षचन्दनदारु छेदयित्वा श्रीवर्द्धमानस्वामिप्रतिमां निर्वर्तितवान्। ताश्च मञ्जूषायां क्षिप्तवान्। तस्मिन्नवसरे षण्मासान् यावदितस्ततो भ्रमन् वाहनं वायुभिरा–स्फाल्यमानं विलोकितवान्। तत्र गत्वा चासौ तमुत्पातमुपशामि–तवान्। सांयात्रिकाणां च तां मञ्जूषां दत्तवान्, भणितवांश्च। देवा–धिदेवप्रतिमा चात्रास्ति यत्र चेयं विशेषपूजामाप्नोति तत्रेयं देया देवाधिदेवनाम्नैवेयमुद्घाटयिष्यते भवद्वाहनेऽस्यां स्थितायां न कोऽप्युपद्रवो भविष्यति। ततस्तां लात्वा सांयात्रिका वीतभयपत्तनं प्राप्ताः। तत्रोदायनराजा तापसभक्तस्तस्य सा मञ्जूषा दत्ता। कथितश्च सुरवचनं मिलितश्च तत्र ब्राह्मणादिको भूरिलोकः भणति च गोविन्दाय नमः इत्युक्ते मञ्जूषा नोद्घाटिता। तत्र केचित् भणन्ति। अत्र देवाधिदेवश्चतुमुखो ब्रह्मास्ति अन्ये केचिद्वदन्ति अत्र चतुर्भुजो विष्णुरेवास्ति। केचिद्भणन्ति अत्र महेश्वरो देवाधिदेवोऽस्ति। अस्मिन्नवसरे तत्रोदायनराजपट्टराज्ञी चेटकराजपुत्री प्रभावती नाम्नी श्रमणोपासिका तत्रायाता। तया तस्या मञ्जूषायाः पूजां कृत्वा एवं भणितं ''गयरागदोसमोहो, सव्वन्नू अट्ठपाडहरेसंजुत्तो। देवाहिदेवगुरुओ, अइरामे दंसणं देउ ॥१॥'' एवमुक्त्वा तया मञ्जूषायां हस्तेन परशुप्रहारो दत्तः उद्घाटिता सा मञ्जूषा तस्यां दृष्टाऽतीव सुन्दराम्लानपुष्पमालालङ्कृता श्रीवर्द्धमानस्वामिप्रतिमा जातजिनशासनोन्नतिः अतीवानन्दिता प्रभावती एवं बभाण। ''सव्वन्नु सव्वदंसण, अपुणभवभवियजिनमणाणंद। जय चिंतामणि जय गुरु, जय जय जिणवीर अकलंको ॥१॥'' तत्र प्रभावत्या अन्तःपुरमध्ये चैत्यगृहं कारितं तत्रेयं प्रतिमा स्थापिता। तां च त्रिकालं सा पवित्रा पूजयति। अन्यदा प्रभावती राज्ञी तत्प्रतिमायाः पुरो नृत्यति राजा च वीणां वादयति तदानीं स राजा तस्यां मस्तकं न पश्यति। राज्ञोऽधृतिर्जाता हस्ताद्वीणा पतिता राइया पृष्टं किं मया दुष्टं नर्तितं राजा मौनमालम्ब्य स्थितः। राजा अतिनिर्बन्धे उक्तवान् यस्तव मस्तकमपश्यन्नहं व्याकुलीभूतो हस्ताद्वीणां पातितवान् सा भणति मया सुचिरं श्रावकधर्मः न काचिन्ममरणा–द्भीतिरस्ति अन्यदा तत्प्रतिमापूजनार्थं स्नाता सा राज्ञी स्वचेटीं प्रति वस्त्राण्यानयेत्युवाच। तया च रक्तानि वस्त्राण्यानीतानि राज्ञीक्रुद्धा प्राह। जिनगृहे प्रविशन्त्या मम रक्तानि वस्त्राणि ददासीत्युक्त्वा चेटीमादर्शन हतवती मर्मणि प्रत्याहारलग्नात्सा मृता। प्रभावत्या चिन्तितं हा ! मया निरपराधत्रसजीवबधकरणाद्व्रतं भग्नमतः परं किं मे जीवितव्येन ततस्तया राइया राज्ञे उक्तम्। अहं भक्तं प्रत्याख्यामि राज्ञा नैवेति प्रतिपादितं तथा पुनस्तथैवोच्यते तदा राज्ञा उक्तं च यदि त्वं देवी भूत्वा मां प्रतिबोधयसि तदा त्वं भक्तं प्रत्याख्याहि। राज्ञ्या तद्वचोङ्गीकृतं भक्तंप्रत्याख्याय समाधिना मृता देवलोकं गता देवोऽभूत्। तां च प्रतिमां कुब्जा देवदत्ता दासी त्रिकालं पूजयति। प्रभावती देवस्तु उदायनं राजानं प्रतिबोधयति। न च स तं बुध्यते राजातु तापसभक्तोऽतः स देव–स्तापसस्वरूपं कृत्वाऽमृतफलानि गृहीत्वा गतो राज्ञे दत्तवान्। राज्ञा तानि आस्वादितानि पृष्टश्च तापसःक्व एतानि फलानि तापसो भणति। एतन्नगराऽभ्यर्णेऽस्मदाश्रमोऽस्ति तत्रैतानि फलानि सन्ति। राजा तेन सममेकाक्येव तत्र गतः। तापसैस्समाचारैः स हन्तुमारब्धः राजा ततो नष्टः। तस्मिन्नेव वने जैनसाधून् ददर्श तेषामसौ शरणमाश्रितः। भयं मा कुर्विति राजाआश्वासितः तापसा निवृत्ताः साधुभिश्च तस्यैवं धर्म्म उक्तः। ''धम्मो चेवेत्थसत्ताणं, सरणं भव सायरे। देवं धम्मं गुरुं चेव, धम्महत्थी परिक्खए ॥१॥ दस अट्ठदोसरहिओ, देवो धम्मो वि निउणदयसहिओ। सुगुरू य बंभयारी, आरंभपरिग्गहा विरओ ॥२॥'' इत्यादिकोपदेशेन स राजा प्रतिबोधितः। प्रतिपन्नो जिनधर्मं प्रभावती देव आत्मानं दर्शयित्वा राजानं च स्थिरीकृत्वा स्वस्थाने गतः। एवमुदायनराजा श्रावको जातः। इतश्च गन्धारदेशवास्तव्यः सत्यनामा श्रावकः सर्वत्र जिनजन्मभूम्यादितीर्थानि वन्दमानो वैताढ्यं यावद्गतः तत्र शाश्वतप्रतिमावन्दनार्थमुपवासत्रयं कृतवान् तपस्तुष्ट्या तदधिष्ठातृदेव्यास्तस्य शाश्वतजिनप्रतिमा दर्शिता तेन च वन्दिता। अथ तया देव्या तस्मै श्रावकाय कामितगुटिका दत्ता ततः स निवृत्तो वीतभयपत्तने जीवितस्वामिप्रतिमां वनिदतुमायातः गोशीर्षचन्दनमयीं तां ववन्दे। दैवात्तस्याऽतिसारो रोग उत्पन्नः कुब्जया दास्या प्रतिचरितः स नीरुग् जातः तुष्टेन तेन तस्यैकामाङ्गुलिका गुटिका दत्ता कथितश्च तासां चिन्तितार्थसाधकप्र–

भावः। अन्यदा सा दासी अहं सुवर्णवर्णा सुरूपा भवामीति चिन्तयित्वा एकां गुटिकां भक्षितवती सुवर्णवर्णा सुरूपा जाता। ततस्तस्याः सुवर्णगुलिकेति नाम जातम्। अन्यदा सा चिन्तयति भोगसुखमनुभवामि एष उदायनराजा मम पिता अपरे मत्तुल्याः केऽपि राजानो न सन्तीति चण्डप्रद्योतमेव मनसि कृत्वा द्वितीयां गुटिकां भक्षितवती तदानीं तस्य चण्डप्रद्योतस्य स्वप्ने देवतया कथितं वीतभयपत्तने उदायनराज्ञो दासी सुवर्णगुलिकानाम्नी सुवर्णव–णाऽतीव रूपवती त्वद्योग्यास्ति। चण्डप्रद्योतेन सुवर्णगुलिकायाः समीपे दूतः प्रेषितः। दूतेन एकान्ते तस्या एवं कथितं चण्डप्रद्योतस्त्वामीहते। तया भणितमत्र चण्डप्रद्योतः प्रथममायातु तं पश्यामि पश्चाद्यथारुच्या तेन सह यास्यामि दूतेन गत्वा तस्या वचनं चण्ड–प्रद्योतस्योक्तं सोऽपि अनिलगिरिहस्तिनमधिरुह्य रात्रौ तत्रायातः। पृष्टस्तया रुचितश्च। सा भणति यदीमां प्रतिमां सार्द्धं नयसि तदाहमायामि नान्यथेति ततस्तेन तत्स्थानस्थापनयोग्यान्या प्रतिमा तदानीं नास्तीति तस्यां रात्रौ तत्र उषित्वा स्वनगरे पश्चाद्गतः। तत्र तादृशीं जिनप्रतिमां कारयित्वा पुनरत्रायातस्तां प्रतिमां तत्र स्थापयित्वा मूलप्रतिमां दासीं च गृहीत्वा उज्जयिनीं गतः। तत्रान–लगिरिणा मूत्रपुरीषे कृते तद्गन्धेनं वीतभयपत्तनसत्का हस्तिनो निर्मदा जाताः। उदायनराजेन तत्कारणं गवेषितम्। अनलगिरि–हस्तिनः पदं दृष्टम्। उदायनेन चिन्तितं स किमयमत्रायात्ः गृह–मानुषैरुक्तं सुवर्णगुलिका न दृश्यते राज्ञा उक्तं चेटी चण्डप्रद्योतेन गृहीता प्रतिमां विलोकयन्तु तैरुक्तं प्रतिमा दृश्यते परं पुष्पाणि म्लानानि दृश्यन्ते राज्ञा गत्वा स्वयं प्रतिमा विलोकिता पुष्पम्ला–नदर्शनेन राज्ञा ज्ञातं नेयं सा प्रतिमा किं त्वन्येति विषण्णेन राज्ञा दूतश्चण्डप्रद्योतान्तिके प्रेषितः। मम दास्या नास्ति कार्यं प्रतिमां त्वरितं प्रेषयेति दूतेन चण्डप्रद्योतस्योक्तं चण्डप्रद्योतः प्रतिमां नार्पयति तदा सैन्येन समं ज्येष्ठमास एवोदयनश्चलितः। यावन्म–रुदेशे तत्सैन्यमायातं तावज्जलाप्राप्त्या तत्सैन्यः तृषाक्रान्तं व्या–कुलीबभूव। तदानीं राज्ञा प्रभावतीदेवश्चिन्तितः तेन समागत्य त्रीणि पुष्करणि कृतानि तेषु जललाभात्सर्वं सैन्यं सुस्थं जातं क्रमेण उदायनराजा उज्जयिनीं गतः। कथितवांश्च भो चण्डप्रद्योत तव मम च साक्षाद्युद्धं भवतु लोकेन मारितेन अश्वस्थेन रथस्थेन वा त्वया मया च युद्धमङ्गीकुरु चण्डप्रद्योतनोक्तं रथस्थेनैव त्वया मया च योद्धव्यम्। प्रभाते चण्डप्रद्योतः कपटं कृतवान् स्वयं अनलगिरिहस्तिनमारुह्य सङ्ग्रामाङ्गणे समायातः उदायनस्तु स्वप्रतिज्ञानिर्वाहो रथारूढः संग्रामाङ्गणे समायातः। तदानीमुदायनेन चण्डप्रद्योतस्य उक्तं त्वमसत्यप्रतिज्ञो जातः कपटं च कृतवानसि तथापि तव मत्तो मोक्षो नास्तीति भणता उदायनेन रथो मण्डल्यां क्षिप्तः। चण्डप्रद्योतेन तत्प्रष्ठोऽनलगिरिहस्ती वेगेन क्षिप्तः। स च हस्ती यं यं पादमुत्क्षिपति तं तमुदायनः शरैर्विध्यते यावत् हस्ती भूमौ निपतितः। तत्स्कन्धादुत्तरन् प्रद्योतो बद्धः तस्य ललाटे मम दासीपतिरित्यक्षराणि लिखितानि। तत उदायनराजेन चण्डप्रद्योतदशे स्वाधिकारिणः स्थापिताः स्वयं तु चण्डप्रद्योतं काष्ठपञ्जरे क्षिप्त्वा सार्द्धं च नीत्वा स्वदेशं प्रति चलितः। सा प्रतिमा तु ततो न उत्तिष्ठतीति तत्रैव सा मुक्ता। अव्यवच्छिन्नप्रयाणैश्चलितस्य अन्तरा वर्षाकालः समायातस्तेन रुद्धो दशभीराजभिर्धूलीप्राकारं कृत्वा मध्ये स रक्षितः। सुखेन तत्र तिष्ठति यत्स्वयं भुङ्क्ते तच्चण्डप्रद्योतस्यापि भोजयति। एकदा पर्यूषणादिनमायातं तदा उदायनेन उपवासः कृतः सूपकारैः चण्डप्रद्योतः पृथग् भोजनार्थं पृच्छ्यते तैरुक्तमद्य पर्युषणादिने उदायनराजा उपोषितोऽस्तीति यद्भवतो रोचते तत्पच्यते। चण्डप्रद्योतेनोक्तं ममाप्यद्योपवासोऽस्ति न ज्ञातं मयाद्य पर्युषणा दिनं सूपकारैः चण्डप्रद्योतस्य उक्तमुदायनराजाय तेनापि चिन्तितं जानाम्यहं यथायं धूर्तसाधर्मिकोऽस्ति तथाप्यस्मिन् बद्धे मम पर्युषणा न शुध्यति चण्डप्रद्योतो मुक्तः क्षामितश्च तदक्षराच्छादननिमित्तं रत्नपट्टस्तस्य मूर्ध्नि बद्धः। स्वविषयश्च तस्य दत्तः। ततः प्रभृति पट्टबद्धा राजानो जाताः। मुकुटबद्धाश्च पूर्वमप्यासन् वर्षारात्रे व्यतिक्रान्ते उदायनराजस्ततः प्रस्थितः व्यापारार्थं योवणिग्वर्गस्तत्रायातः स तत्रैव स्थितः दशभीराजभिर्वासितत्वाद्दशपुरं नाम नगरं प्रसिद्धं जातम्। अन्यदा स उदायनराजः पौषधशालायां पौषधिकः पौषधं प्रतिपालयन् विहरति। पूर्वरात्रिसमय च तस्यैतादृशोऽभिप्रायः समुत्पन्नः धन्यानि तानि ग्रामाकरनगराणि यत्र श्रमणो भगवान् श्रीमहावीरो विरहति। धन्यास्ते राजेश्वरप्रभृतयो ये श्रमणभगवतः श्रीमहावीरस्यान्तिके केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शृण्वन्ति। पञ्चाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं श्रावकधर्मञ्च प्रतिपद्यन्ते। तथा मुण्डीभूत्वा आगारादनगारितां व्रजन्ति। ततो यदि श्रमणभगवान् श्रीमहावीरः पूर्वानुपूर्व्या चरन् यदीहागच्छेत्–तोऽहमपि भगवतोऽन्तिके प्रव्रजामि। उदायनस्यायमध्यवसायो भगवता ज्ञातः प्रातश्चम्पातःप्रतिनिष्क्रम्य वीतभयपत्तनस्य मृगवनोद्याने भगवान् समवसृतः। तत्र पर्षन्मिलिता उदायनोऽपि तत्रायातो भगवदन्तिके अहं प्रव्रजिष्यामि परं राज्यं कस्मैश्चिद्दादामीत्युक्त्वा भगवन्तं वन्दित्वास्वगृहाभिमुखं चलितः। भगवतापि प्रतिबन्धं मा कार्षीरित्युक्तम्। ततो हस्तिरत्नमारुह्य उदायनराजः स्वगृहे समायातः। तत उदानस्यैतादृशोऽध्यवसायः समुत्पन्नः यद्यहं स्वपुत्रमभीचिकुमारं राज्ये स्थापयित्वा प्रव्रजामि तदायं राज्ये जनपदे मानुष्यकेषु कामभोगेषु मूर्छितोऽनाद्यनन्तं संसारकान्तारं भ्रमष्यिति ततः श्रेयः खलु मम निजकं केसिकुमारं राज्ये स्थापयितुम्। एवं संप्रेक्ष्य शोभने तिथिकरणमुहूर्ते कौटुम्बिकपुरुषनाकार्य एवमवादीत्। क्षिप्रमेव केशिकुमारस्य राज्याभिषेकसामग्रीमुपस्थापयत तैः कृतायां सर्वसामग्र्यां केशिकुमारो राज्येऽभिषिक्तः। ततस्तत्र केशिकुमारो राजा जातः। उदायनराजश्च केशिकुमारंराजानं पृष्ट्वा तत्कृतनिष्क्रमणाभिषेकः श्रीमहावीरान्तिके प्रव्रजितः बहूनि षष्ठाष्टमदशम–द्वादशमासार्द्धमासक्षपणादीनि तपः कर्म्माणि कुर्वाणो विहरति। अन्यदा तस्य उदानयराजर्षेरन्तप्रान्ताहारकरणेन महान् व्याधिरुत्पन्नः वैद्यैरुक्तं दध्यौषधं कुरु। स च उदायनराजर्षिर्भगवदाज्ञया एकाक्येव विहरति। अन्यदा विहरन् वीतभयगतः। तत्र तस्य भागिनेयः केशिकुमारराजोमात्यैर्भणितः स्वामिन्नेष उदायनराजर्षिः परीषहादिपराभूतः प्रव्रज्यां मोक्तुकामः एकाक्येव इहायातः। तव राज्यं मार्गयिष्यति। स प्राह दास्यामि तैरुक्तं नैष राजधर्मः। पुनः स प्राह तर्हि किं करिष्यति। ते प्राहुर्विषमिश्रमस्य दीयते राज्ञोक्तं ततस्तैरेकस्याः पशुपाल्या गृहे विषमिश्रितं दधि कारितं तेषां शिक्षया तया तस्य तद्दत्तमुदायनभक्तं यावद्देवतयाऽपहृतम्। उक्तं च तस्य देवतया महर्षे! तव विषं दत्तं दध्यान्तस्तेन दध्यौषधं परिहर। तद्वाक्याद्दधि परिहृतं रोगो बर्द्धितुमारब्धः। पुनस्तेन दध्यौषधं कर्तुमारब्धं पुनरपि तदन्तर्विषं देवतयाऽपहृतम्। एवं वारत्रयं जातम्। अन्यदा देवता प्रमत्ता जाता तैश्च विषं दत्तम्। तत उदायनराजर्षिर्बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं पालयित्वा मासिक्या संलेखनया केवलज्ञानमुत्पाद्य सिद्धस्तस्य शय्यातरः कुम्भकारस्तदानी क्वचिद्ग्रामान्तरे कार्यार्थं गतोऽभूत् कुपितया च देवतया वीतभयस्योपरि पांशुवृष्टिर्मुक्ता सकलमपि पुरमाच्छादितम्। अद्यापि तथैवास्ति शय्यातरः कुम्भकारस्तु शनिपल्ल्यां मुक्तः। उत्त०१८ अ०।

१८ अ० । आ०क० । आ०म० ॥ (अभीचिकुमारस्य वक्तव्यता स्वावसरे प्रोक्ता अस्या एव महत्या उदायनवक्तव्यतायाः केचिदंशा अज्जरक्खियनिव्वडियसिक्खादिशब्देषु । उदायनस्य पितृष्वसुर्जयन्त्याः श्रमणोपासिकायाः कथा जयंतीशब्दे)

उदार(राल) त्रि०(उदार) उद्–आ–रा–क–दातरि, महति, सरले, दक्षिणे, गम्भीरे, असाधारणे, वाच० । निस्पृहत्वातिरेकादौदार्यवति, । भ० २ श०१ उ० ।

उदात्त न०(उदारत्व) अभिधेयार्थस्यातुच्छरूपे, स० । अतिशिष्टगुम्फगुणयुक्ततास्वरूपे अन्यस्वार्थप्रतिपादकतालक्षणे वा द्वात्रिंशतितमे सत्यवचनातिशये, स० ।

उदासीण त्रि०(उदासीन) उद्–आस–शानच्० । रागद्वेषरहिते मध्यस्थे, ''उदासीणे फरुसं वयंति'' उदासीना रागद्वेषरहिता मध्यस्था बहुश्रुतत्वे सत्युपशान्तास्तान् स्खलितांश्चोदनोद्यतान् कुर्वन्ति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ॥ ''समणंपि दद्धदासी णं, तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति'' सूत्र० १ श्रु० ४ अ०२ उ० । विवदमानयोरेकतरपक्षानालम्बके जिगीषोर्नृपतेः शत्रुमित्रभूमितो व्यवहिते परतरे मण्डलाद्बहिरेतस्मादुदासीनो बलाधिकः इत्युक्तलक्षणे राजभेदे, वाच० । उपेक्षमाणे च स्था० ६ ठा० ।

उदाहड त्रि०(उदाहृत) उद्–आ–हृ–क्त दृष्टान्ततयोपन्यस्ते कथिते, वाच० । उपन्यस्ते, उदाहृतं तु ''समं मईए अहाउ सो विप्परिया समेव'' सूत्र०१ श्रु०६ अ० ।

उदाहरंत त्रि०(उदाहरत्) प्रतिपादयति, 'सच्चं असच्चं इति' चिंतयंता,''असाहु साहुत्ति उदाहरंता''। सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

उदाहरण न०(उदाहरण) उदाह्रियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युदाहरणम् । दश०१ अ० । उत्पत्तिधर्मकत्वात्साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावे दृष्टान्ते, यथा घट इति वैधर्म्योदाहरणं यदनित्यं न भवति तदुत्पत्तिमदपि न भवति यथाकाशमिति । सूत्र०१ श्रु० १२ अ० । विशे० ।

मूलभेदतो द्वैविध्यं निदर्शन्नाह ।

तत्थोदाहरणं दुविहं, चउव्विहं होइ एक्कमेक्कं तु ।
हेऊ चउव्विहो खलु, तेण उ साहिज्जए अत्थ ॥

तत्र शब्दो वाक्योपन्यासार्थो निर्धारणार्थो वा । उदाहरणं पूर्व–वत्तच्च मूलभेदतो द्विविधं द्विप्रकारं चरितकल्पितभेदादुत्तरभेदतस्तु चतुर्विधं भवति तयोर्द्वयोरेकैकमुदाहरणमाहारणतद्देशतद्दोषोपन्यासभेदात्तच्च वक्ष्यामः ।

नायं आहरणं ति, दिट्ठंतोवमनिदरिसणं चेव ।
एगट्ठं तं दुविहं, चउव्विहं चेव नायव्वं ॥५२॥

ज्ञायतेऽस्मिन्सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातम् । अधिकरणे निष्ठाप्रत्ययः । तत्रोदाह्रियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युदाहरणमिति दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्तः । अतीन्द्रियप्रमाण–दृष्टं संवेदननिष्ठां नयतीत्यर्थः । उपनीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोर्थः इत्युपमानम् । तथा च निदर्शनं निश्चयेन दर्श्यते अनेन दार्ष्टान्तिक एवार्थ इति निदर्शनम् (एगट्ठंति) इदमेकार्थमेकार्थिकजातम् इह च तत्प्रागुपन्यस्तं द्विविधमुदाहरणं चतुर्विधं चैवाङ्गीकृत्य ज्ञातव्यं प्रत्येकमपि सामान्यविशेषयोः कथंचिदेकत्वादत एव सामान्यस्यापि प्राधान्यख्यापनार्थमेकवचनाभिधानमेकार्थ-मित्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयाद्गमनिकामात्रमेतदिति गाथार्थः ।

साम्प्रतं यदुक्तं तत्रोदाहरणं द्विविधमित्यादि तद्द्वैविध्यादिप्रदर्शनायाह ।

चरियं च कप्पियं वा, दुविहं तत्तो चउव्विहेक्केक्कं ।
आहरणे तद्देसे , तद्दोसे चेवुपन्नासे ॥५३॥

चरितं कल्पितं चेति द्विविधमुदाहरणम् । तत्र चरितमभिधीयते यद्वृत्तान्तेन कस्यचिद्दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपत्तिर्जन्यते । तद्यथा दुःखाय निदानं यथा ब्रह्मदत्तस्य । तथा कल्पितं स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितमुच्यते तेन कस्यचिद्दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपत्तिर्जन्यते । यथा पिप्पलपत्रैरनित्यतायामित्युक्तं च ''जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भे विय होहिय जहा अम्हे । अप्पाहेइ पडंतं, पंडुयपत्तं किसलयाणं ॥ नवि अत्थि नवि य होही, उल्लावो किसलपंडुपत्ताणं । उवमा खलु एस कता भवियजणविबोहणट्ठाए'' इत्यादि आहेदमुदाहरणं दृष्टान्त उच्यते तस्य च साध्यानुगमादिलक्षणमित्युक्तं च ''साध्ये नानुगमो हेतोः साध्याभावे च नास्तिता । ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते, स साधर्म्यतरो द्विधा'' अस्य पुनस्तल्लक्षणाभावात्कथमुदाहरणत्वमित्यत्रोच्यते तदपि कञ्चित्साध्यानुगमादिना दार्ष्टान्तिकार्थं प्रतिपत्तिजनकत्वात्फलत उदाहरण इहापि च सोऽस्त्येवेति कृत्वा किं नोदाहरणतेति साध्यानुगमादिलक्षणमपि सामान्यविशेषोभयरूपानन्तधर्मात्मके वस्तुनि सति कथंचिद्भेदवादिन एव युज्यते नान्यस्यैकान्तभेदाभेदयोस्तद्भावादिति । तथाहि सर्वथा प्रतिज्ञा दृष्टान्तार्थभेदवादिनोऽनुगमतः खलु घटादौ कृतकत्वादेरनित्यत्वा–दिप्रतिबन्धदर्शनमपि कृतानुपयोग्येव भिन्नवस्तुधर्मत्वात्सामान्यस्य च परिकल्पितत्वादसत्वादित्थमपि च तद्बलेन साध्यार्थप्रतिबन्धकल्पनायामतिप्रसङ्गादित्यत्र बहुवक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति । एवं सर्वथा अभेदवादिनोऽप्येकत्वादेव तदभावो भावनीय इति । अनेकान्तवादिनस्त्वनन्तधर्मात्मके वस्तुनि तद्धर्मसामर्थ्यात्तत्तद्वस्तुनः प्रतिबन्धबलेनैव तस्य तस्य वस्तुनो गमकं भवत्यन्यथा तस्मिन् तत्प्रतिपत्त्यसंभव इति कृतं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः । चरितं च कल्पितं चेत्यनेन विधिना द्विविधम् । पुनश्चतुर्विधं चतुःप्रकारमेकैकं कथमत आह । उदाहरणं तद्देशस्तद्दोषश्चैवमुपन्यास इति । तत्रोदाहरणशब्दार्थ उक्त एव । तस्य देशस्तद्देशः । एवं तद्दोषः । उपन्यासनमुपन्यासः स च तद्वस्त्वादिलक्षणो वक्ष्यमाण इति गाथार्थः ।

साम्प्रतमुदाहरणमभिधातुकाम आह ।

चउहा खलु आहरणं, होइ अवाओ उवायठवणा य ।
तह य पडुप्पन्नविणा–समेव मढमं चउविगप्पं ॥५४॥

चतुर्द्धा खलूदाहरणं भवति । अथ चतुर्द्धा खलूदाहरणे विचार्यमाणे भेदा भवन्ति । तद्यथाअपायः उपायः स्थापना च । तथा च प्रत्युत्पन्नविनाशमेवेति । स्वरूपमेषां प्रपञ्चेन भेदतो निर्युक्तिकार एव वक्ष्यते । दश० नि० १ अ० । आव० । (अपायादिशब्देषु अपायाद्युदाहरणादि) एकदेशप्रसिद्ध्या सकलसिद्ध्यर्थकथने, कर्म्मणिल्युट्– इष्ट–सिद्ध्यर्थमुच्यमाने दृष्टान्ते, । प्रकृतसिद्ध्यर्थं-निदर्शनरूपे उपोद्धृते च । करणे–ल्युट्– न्यायमते प्रतिवादिना प्रयुक्तप्रतिज्ञादिपञ्चकान्तर्गते व्याप्तिपक्षधर्म्मताप्रदर्शके, वाक्यभेदे कथनमात्रे, लक्षणसम्बद्धतया प्रामाणिकवाक्योपन्यासे , कथा प्रसङ्गे च । भावेल्युट् वाच० । काल्पनिकमप्युदाहरणं भवति । न चैतदनुपपन्नमार्षेरपि काल्पनिकदृष्टान्तस्याभ्यनुज्ञानाद्यदाह भगवान् भद्रबाहुस्वामी ''चरियं च कप्पियं वा, आहरणं दुविहमेव पण्णत्तं । अट्ठस्स साहणट्ठाइँ धणमिव तु पणट्ठाण'' नं०

उदाहिय त्रि०(उदाहृत) व्याख्याते, ''जा मा तिण्णि उदाहिया'' आचा० १ श्रु०७ अ०१ उ०।

उदाहु अव्य०(उताहो) विकल्पे; ''किं भवं मुणी मुणीए उदाहो जुया सेज्जायरए'' उताहो इति विकल्पार्थो निपातः। भ० १५ श० १ उ०। ''किं जाणया दिण्णं उदाहु अजाणया'' आचा०२ श्रु०। कदाचिच्छब्दार्थे, आचा०१ श्रु० ७ अ०२उ०॥

***उदाहृतवत्** त्रि० व्याकृतिवति, ''उयाहु ते आयं काफुसन्ति इति उदाहु धीरे''। आचा० १ श्रु० ७ अ० २ उ०। कथितवर्ति, ''एओ वमं तत्थ उदाहु धीरे। सूत्र० १ श्रु०१५ अ०।'' ''एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी''। उत्त० ६ अ०।

उदि पुं०(उदि) उत्–उत्कृष्ट इः कामो यस्य उदिः॥ उत्कृष्टकामयुक्ते 'भर्गो देवस्य धीमहि' गा०।

उदुम्भेय पुं०(उदकोद्भेद) गिरितटादिभ्यो जलोद्भवे,। भ० ३ श० ६ उ०॥

उदूढ त्रि०(उदूढ) वह–क्त। जढे, स्थूले, घृते, च। विवाहितस्त्रि–याम्, स्त्री०। वाच०।

उदूढ (देशी) वचनम्–मुषिते च ''उदूढ सेसवाहिं अंतोवि पंचगिण्हनदुट्ठम्'' वृ०१ उ०॥ नि० चू०।

उदूहल न०(उदूखल) ऊर्द्धं खं लाति ला० क० पृषो० नि०। तण्डुलादिखण्डनार्थं काष्ठादिरचिते द्रव्ये, गुग्गुलौ च। वाच०। ''पीढं वा फलगं वा णिस्सेणिं वा उदूहलं वा अवहट्टुउस्स वि य दुहहेज्जा'' आचा०२ श्रु०।

उद्द पुं०(उद्र) उनत्ति क्लिद्यति उन्द–रक्। जलविडाले, वाच०। सिन्धुविषये मत्स्ये, तत्सूक्ष्मचर्म निष्पन्ने वस्त्रे च। आचा० १ श्रु०।

उद्दंडग पुं०(उद्दंडक) वानप्रस्थतापसभेदे, ऊर्द्धकृतदण्डा ये सञ्च–रन्ति, नि० चू० १ उ०। औप०। भ०।

उद्दंडविहार पुं०(उद्दण्डविहार) महानगर्यामादिनाथालये, महा–नगर्यामुद्दण्डविहारे श्री आदिनाथः॥ ती०।

उद्दंस पुं०(उद्दंश) उद्दशति–उद्– दंश–अच् –मस्तकदंशके, वाच०। मधुमक्षिकायाम्, क०।

उद्दंसडं न०(उद्दंशाण्ड) षष्ठीतत्पु० मधुमक्षिकाणामण्डरूपे अण्ड–सूक्ष्मभेदे, क०।

उद्दंसग पुं०(उद्दंशक) त्रीन्द्रियजीवभेदे,–प्रज्ञा०१ पद। जी०।

उद्दड्ढ पुं०(उद्दग्ध) रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पूर्वावलिकां सीमन्त–कप्रभान्नरकाद्विंशतितमेऽपक्रान्तमहानिरये, स्था०६ ठा०।

उद्दड्ढमज्झिम पुं०(उद्दग्धमध्यम) रत्नप्रभायाः पृथिव्याः उत्तरा–वलिकासु सीमन्तकमध्यमान्तरकाद्विंशतितमेऽपक्रान्तमहानिरये, स्था० ६ ठा०।

उद्दड्ढावत्त पुं०(उद्दग्धावर्त) रत्नप्रभायाः प्रथिव्याः पश्चिमायां नरकावल्यां सीमन्तकावर्तस्यापरेण विंशतितमेऽपक्रान्तमहान–रके,–स्था० ६ ठा०।

उद्दड्ढावसिट्ठ पुं०(उद्दग्धावशिष्ट) रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पश्चिमायां रनकावल्यां सीमन्तकावर्तस्यापरेण विंशतितमेऽपक्रान्तमहानरके, स्था० ६ ठा०।

उद्दद्दर न०(उर्द्धदर) उर्ध्वं दरः पूर्यते यत्र काले तदूर्द्धदरम्। प्राकृतशैल्या ''उद्दद्दरं'' ते च दरा द्विविधा धान्यदरा उदरदराश्च। धान्यानामाधारभूता दरा धान्यदराः कटपल्यादयः। उदराण्येव दरा उदरदरास्ते उभयेऽपि यत्र पूर्य्यन्ते, वृ०१ उ०। सुभिक्षे,। नि० चू० १० उ०। दुविहाओ होंति उदरा, पेट्ठे तह धन्नभाणिया ते उदरा द्विविधास्तद्यथा पोट्टदरा धान्यभाजनदराश्च। पोट्टमुदरं तद्वयाद्दरा पोट्टदराः। धान्यभाजनानि कटपल्यादयस्तान्येव दरा धान्यभाजनदरा। ऊर्द्धं यत्र पूर्यन्ते तदूर्ध्वमुदरमुच्यते। वृ० १ उ०। नि० चू०।

उद्दरिय त्रि०(उद्दप्त) उद्–दृप–क्त–उद्धते, गर्वान्विते, वाच०। प्राबल्येन कर्मशत्रुजयं प्रति दर्पिते,। नं०।

उद्दवइत्ता त्रि०(अपद्रावयितृ) प्राणव्यवरोपणात् जीवितविनाशके, ''उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ''। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

उद्दवण न०(अपद्रावण) जीविताद् व्यपरोपणे,। आचा० २ श्रु०। अतिपालनविवर्जितपीडायाम्,। ''उद्दवणं पुण जाणासु, अइवाय–विवज्जियं पीडं'' पिं०। सर्वथा जीवविनाशने च। तच्च पृथिव्यग्न्यो–रभ्यन्तरसंमर्दनाद्यैः अप्कायस्य तु वह्नितापनदण्डाद्यभिघातपा–नपादादिक्षालनैः वनस्पतेः पत्रपुष्पाङ् कुरादित्रोटनादिभिः। अत्र प्रायश्चित्तमाम्ल इति। जीत०। ''उद्दवणं मारणं'' तत्र प्रायश्चित्तं पाराञ्चितम्। नि० चू० १ उ०।

उद्दवण पुं०(अपद्रवण) गौणहिंसायाम्, प्रश्न०–अध० १ द्वा०। विद्ययाऽन्यत्र नयने, वृ० १ उ०।

उद्दवणकर पुं०(अपद्रावणकर) मारणान्तिकभेदकारिणि, ग० १ अधि०।

***उपद्रवणकर** पुं०धनहरणाद्युपद्रवकारिणि, एषोऽप्रशस्तमनोवि–नयभेदः, ग० १ अधि०। औप०।

उद्दवणकरी स्त्री०(अपद्रावणकरी) जीवानामपद्रावणकारिण्याम्, ''परितावणकरिं उद्दवणकरिं भूतोवधाइयं अभिकंखणो भासेज्जा'' आचा०२ श्रु०।

उद्दविज्जमाण त्रि०(अपद्राव्यमाण) मार्य्यमाणे, ''किलाविज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणं मायमविहिं सासारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति। सूत्र०२ श्रु०१ अ०।

उद्दविय त्रि०(अपद्रावित) उत्रासिते, ''परिताविया किलामिया उद्दविया ठाणाओ ठाणं संकामिया''। ध०२ अधि०। मारिते, भ०२ श०१ उ०।

उद्दवेयव्व त्रि०(अपद्रावयितव्य) जीविताद्व्यपरोपयितव्ये ''अहं ण उद्दवेयव्वा अण्णे उद्दवेयव्वा एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया''। सूत्र०२ श्रु०३ अ०।

उद्दवेहिंत त्रि०(उपद्राविष्यत्) उपद्रवान् करिष्यति,–भ० १५ श०१उ०।

उद्दह पुं०(उद्रथ) उद्गतो रथो यस्मात् १ रथकीले, उद्गतरथतुल्यः पक्षो यस्य। ताम्रचूडविहगे,। मेदिनी०।

उद्दाइत्ता अव्य०(अपदूय) मृत्वेत्यर्थे, ''जण्ण जीवा उद्दाइत्ता इत्थेव भुज्जो २ पच्चायंति'' स्था० १० ठा०।

उद्दाणभत्तारा स्त्री०(उद्दानभर्तृका) भर्त्रा परिष्ठापितायां स्त्रियाम्, ''उद्दाणभत्तारा भत्तारेण परिट्ठाविता'' नि०चू० १ उ०।

उद्दाम त्रि०(उद्दाम) उद्गतं दाम्नः अच्–समा०। बन्धनरहिते, ''ताहे उद्दामं गच्छंतस्स कलिंगे ईसिं पाणिए तलाए पक्खा भग्गा''। आ०म० द्वि०। अप्रतिनियमे, स्वतन्त्रे, अत्युग्रे च। वाच०। ''एवं च कुसलजोगे उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा'' पं० चू०। उत्–उत्कृ–

ष्टं श्रेष्ठं दाम पाशाख्यमस्त्रं यस्य। वरुणे, पुं०। गम्भीरे, । त्रि०। वाच०।

उद्दाल धा०(आ–छिद्) हस्तादाकर्षणे, **''आडा ओ आन्दोद्दालौ''** ॥८।४।२५॥ उद्दालइ–आच्छिन्दइ आच्छिन्दति, प्रा०।

***अवदाल** पुं० अवदलने, पादादिन्यासेऽधोगमने, ''गंगापुलिणवालुय-उद्दालसालिसए। ज्ञा० १ अ०। चं०। क०। भ०। रा०। उद्दालयति भूमिमुद्भिनत्ति उद्–दल्–णिच्–ण्वुल्–बहुवारकवृक्षे, वनकोद्रवे, । वाच०। अवसर्पिण्याः प्रथमारके, भरतक्षेत्रे स्वनाम–ख्याते द्रुमभेदे, । जं० २ वक्ष०। भूकेदारभेदे च। वाच०।

उद्दालित्ता अव्य०(उद्दालयितुम्) चर्माणि लुम्पयितुमित्यर्थे, दशा०१ अ०। जोलेणवा वेतेण वा णेतेण वा तयाइ वा कसेण वा छियाए वा लयाए वा पासाइं उद्दालित्ता भवइ'' ॥ सूत्र० २ श्रु०२ अ०।

उद्दाव पुं०(उद्द्राव) उद्–द्रु–घञ्–पलायने, । अमरः। वाच०।

उद्दावणया स्त्री०(अपद्रावणता) उत्त्रासने, भ०३ श०६ उ०।

उद्दाह पुं०(उद्दाह) प्रकृष्टे दाहे, । स्था० १० ठा०।

उद्दिट्ठ त्रि०(उद्दिष्ट) उद्–दिश्–क्त० सामान्यतोऽभिहिते, स्था० ५ ठा०। प्रति०। प्रतिपादिते, । सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। तद्विवक्षितार्ता–यप्रणीते, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। वृ०। निर्दिष्टे, दश०। नि०चू०। दानाय परिकल्पिते भक्तपानादिके, । ''तस्स अकसिणो इसिणो णायपुत्ता उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयत्ति'' सूत्र०२ श्रु० ६ अभिलषिते च। वाच०।

उद्दिट्ठकड त्रि०(उद्दिष्टकृत) उद्दिष्टमुद्देशस्तेन कृतं विहितं तद (साध्व) र्थं संस्कृते, ''उद्दिट्ठकडं भत्तं विवज्जती किमुपसेसमारंभे''। पंचा० १० विव०। साध्वपेक्षया कृते आधाकर्म्मादौ, पंचा० १४ विव०। औद्देशिके, ''उद्दिट्ठकडं भुंजइ, छक्कायपमद्दणो घणं कुणइ। पचक्खं च जलगए, जो पियइकण्ण सो भिक्खू''। दश० १० अ०। उद्दिष्टं च कृतं च उद्दिष्टकृतम् आधाकर्मणि, दर्श०।

उद्दिट्ठपडिमा स्त्री०(उद्दिष्टप्रतिमा) दशमासानात्मर्थिनिष्पन्न–माहारं न भुङ्क्ते इत्येवं रूपायां दशम्यामुपासकप्रतिमायाम्, ध०२ अधि०।

उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाय पुं०(उद्दिष्टभक्तपरिज्ञात) उद्दिष्टं तदेव श्रावकमुद्दिस्य कृतं भक्तमोदनादि उद्दिष्टभक्तं तत्परिज्ञातं येनासा–बुद्दिष्टभक्तपरिज्ञातः। दशमीमुपासकप्रतिमां प्रतिपन्ने श्रावके, स०।

उद्दिट्ठभत्तवज्जणपडिमा स्त्री०(उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमा) दशम्या श्रावकप्रतिमायाम्, तत्स्वरूपं चैवम्। उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमां सा चैव ''उद्दिट्ठकडं भत्तं, पि वज्जए किमुय सेसमारंभं। सो होई खुरमुंडो, सिंहलिं व धारते को वि तिव्वं तुट्ठो जाणे, जाणेइ वयइ नो वेति। पुव्वोदियगुणजुत्तो, दसमासा कालमाणेणं''। उपा० १ अ०। तथा श्रमणेति निर्ग्रन्थसद्वेद्य-स्तदनुष्ठानकरणात्स श्रमणभूतः साधुकल्प इत्यर्थः। चकारः समुच्चये अपिः संभावने भवति। श्रावक इति प्रकृतं हेश्रमण! हेआयुष्मन्! इति सुधर्मस्वामिना जम्बूस्वामिनमामन्त्रयतोक्तमित्येकादशीति। इह चेयं भावना। पूर्वोक्तसमग्रगुणोपेतस्य क्षुरमुण्डस्य कृतलोचस्य वा गृहीतसाधुनेपथ्यस्य इर्यासमित्यादिकं साधुधर्ममनुपालयतो भिक्षार्थं गृहिकुलप्रवेशे सति श्रमणोपासकाय प्रतिपन्नाय भिक्षोर्देयेति भाषमाणस्य कस्त्वमिति कस्मिंश्चित्पृच्छति प्रतिपन्नश्रमणोपासकोऽ-हमिति ब्रुवाणस्यास्यैकादश मासान् यावदेकादशी प्रतिमा भवतीति। पुस्तकान्तरे त्वेवं ''वाचनादंसणसावए प्रथमा कयवयकं द्वितीया। कयसामाइए तृतीया। पोसहोववासनिरए चतुर्थी। राइभत्तपरिन्नाए पञ्चमी। सचित्तपरिण्णाए षष्ठी। दिया बंभयारी राओ परिमाणकडे सत्तमी। दिआ वि राओ वि बंभयारी असिणाणपयावि भवति वोसट्ठकेसरोमनहे अष्टमी। आरंभपरिण्णाए नवमी। उद्दिष्टभत्त–वज्जए दशमी। समणभूएया वि भवइत्ति समणाउसो एकादशीति। क्वचित्तु आरम्भपरिज्ञात इति नवमी। प्रेष्यारम्भपरिज्ञात इति दशमी। उद्दिष्टभक्तवर्जकः श्रमणभूतश्चैकादशीति॥ स०॥ प्रश्न०॥

उद्दित्त त्रि०(उद्दीप्त) प्रकाशान्विते, वाच०। ''उद्दयिते कुड्डाकलिंपणट्ठा। पुढवी दगबारगो य उद्दित्तो (उद्दित्तत्ति) अग्निकायः शीतकाले उद्दवितो भवति। वृ० १ उ०।

***उद्दिक्त** त्रि०(उद् रिच्–क्त)अतिशयिते,अधिके, स्फुटे, । वाच०।

उद्दिसावित्तए अव्य०(उद्देसयितुम्) आत्मनो गुरुतया व्यवस्था–पयितुमित्यर्थ, वृ०१ उ०।

उद्दिसिऊण अव्य०(उद्दिश्य) अनुज्ञाप्येत्यर्थे, । व्य० ७ उ०।

उद्दिसिज्जंता त्रि०(उद्दिश्यमान) वाच्यमाने, । आ०म० द्वि०।

उद्दिसित्तए अव्य०(उपदेष्टुम्) स्वयं धारयितुमित्यर्थे, ''दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए जहा तस्स गणस्स अप्पतियं सिया''। व्य० द्वि० २ उ०। योगविधिक्रमेण सम्यग्योगेनाधीष्वेदमित्येव–मुद्देष्टुमित्यर्थे, ''स जं कायं उद्दिसित्तए'' स्था०२ ठा०।

उद्दिसिय अव्य०(उद्दिश्य) उद्–दिश्–ल्युप्–प्रेक्ष्येत्यर्थे, ''से भिक्खू वा २ उद्दिसिय उद्दिसिय संथारगं जाएज्ज अंगुलियाए उद्दिसिय उद्दिसिय'' उद्दिश्य अङ्गुलीं प्रसार्य। आचा०२ श्रु०१ अ०।

***उद्दिष्ट** त्रि० प्राक् संकल्पिते, ''उद्दिसियवत्थं सयं वा ण जाएज्जा आचा० २ श्रु०॥

उद्दिस्स अव्य०(उद्दिश्य) उद्–दिश्–ल्युप्–आश्रित्येत्यर्थे, ''जतामहूसवो खलु उद्दिस्स जिणेस कीरई जो उ'' पंचा० ६ विव०॥ अङ्गीकृत्येत्यर्थे च। ''तत्थ भवे आसंका उद्दिस्स जई वि कीरए योगो। दश० १ अ०।

उद्दीविय त्रि०(उद्दीपित) उज्ज्वालिते, ''संधुक्किय मुद्दीविय मुज्जालिययं पदीवियं जाण'' को०।

उद्देस पुं०(उद्देश) उद्दिश्यते नारकादिव्यपदेशेनेति उद्देशः। लोके, । आचा० १ श्रु० १ अ०। उद्दिश्यते इत्युद्देशः। उपदेशे, सदसत्क–र्तव्यतादेशे, नारकादिव्यपदेशे, ''उद्देसोपासगस्स णत्थि'' उद्दिश्यते इत्युद्देश उपदेशः सदसत्कर्तव्यादेशः स पश्यति इति पश्यः स एव पश्यकस्तस्य स विद्यते स्वत एव विदितवेद्यत्वात्तस्य अथवा पश्यतीति पश्यकः सर्वज्ञस्तदुपदेशवर्ती वा तस्य उद्दिश्यत इत्युद्देशो नारकादिव्यपदेश उच्चावचगोत्रादिव्यपदेशो वा स तस्य न विद्यते तस्य प्रागेव मोक्षगमनादिति भावः। आचा०१ श्रु०२ अ० ३ उ०। गुरुवचने, उत्त० १ अ०। अध्ययने, तदन्तर्गताधिकारे च। 'भणिओ वि य दुच्छोव्विय छट्ठुद्देसे विसेसेणं' नं०। समस्तार्थिनां कृते कल्पिते, ध०३ अधि०॥ अस्यनिक्षेपः। तत्रौद्देशः षोढा नामोद्देशः स्थापनोद्देशो द्रव्योद्देशः क्षेत्रोद्देशः कालोद्देशो भावोद्देश–श्चेति। नामोद्देशो यस्योद्देश इति नाम क्रियते। स्थापनोद्देश उद्देशवतः पुरुषादेः। स्थापना। द्रव्योद्देशं ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तं स्वयमेव भाष्यकृदाह॥

दव्वेणं उद्देसा, उद्दिसति जाव जेण दव्वेणं।
दव्वं वा उद्दिसते, दव्वभूओ तदट्ठव्वो॥

द्रव्येण रजोहरणादिना यदुद्देशः यो वा येन सचित्तादिना द्रव्येणोद्दिश्यते तत्र सचित्तेन यथा गोभिर्गोमान् तुरगैस्तुरग-पतिः गजैर्गजपतिरिति। अचित्तेन यथा दण्डेन च दण्डी छत्रेण

छत्री कपालेन कपालीत्यादि। मिश्रेण यथा शकटेन शाकटिको रथेन रथिक इत्यादि। द्रव्यं वा व्याधिप्रशमनं यदुद्दिशति। अमुक–मौषधं द्रव्यं भवता गृहीतव्यमिति। द्रव्यभूतो वा ज्ञानानुपयुक्तः पदं। न श्रुतस्कन्धादिकमुद्दिशति द्रव्यार्थी वा द्रव्य निमित्तं धनुर्वेदा–दिकं यदुद्दिसति एष सर्वोऽपि द्रव्योद्देशः॥

खित्तम्मि जम्मि खित्ते, उद्दिसती जाव जेण खेत्तेण।
एवमेवय कालस्स वि, भावे उ पसत्थअपसत्थो॥

क्षेत्रोद्देशे चिन्त्यमाने यस्मिन् क्षेत्रे अङ्गश्रुतस्कन्धादेरुद्देशः क्रिय–ते व्याक्रियते वा यो वा येन क्षेत्रेणोद्दिश्यते यथा भरते भवो भारतः। सुराष्ट्रायां भवः सौराष्ट्रो मगधेषु भवो मागध इत्यादि। एवमेव च यस्मिन् काले अङ्गादिकमुद्दिश्यते येन वा कालेनोद्दिश्यते यथा सुषमायां भवः सौषमः शरदि जातः शारद इत्यादि एष कालोद्देशः। भावोद्देशो द्विधा प्रसस्तोऽप्रशस्तश्च। उभयमपि दर्शयति॥

कोहाइ अपसत्थो, णाणामादीय होइ उ पसत्था।
उदओ वि खलु पसत्थो, तित्थकराहार उदयादा॥

क्रोधमानादिरौदयिको भावोद्देशः। ज्ञानदर्शनादिक्षयोपशमिक औपशामिकः क्षायिकोपशमिको वा भावः प्रशस्तो भावोद्देशो भवति उदयोऽप्यौदायिको भावोऽपि तीर्थकराहारयशः कीर्त्यादिसत्क–र्मोदयरूपप्रशस्तो भवति। आदिशब्दस्य गाथायां व्यत्ययेन निर्देशो बन्धानुलोम्यात्। वृ० ३ उ०। उद्देशनमुद्देशः। सामान्याभिधाने, यथाऽध्ययनमिति। आ०म० प्र०। विशे०। अनु०॥

उद्देशनिर्देशयोः स्वरूपं भाष्यकृदाह॥

अज्झयणं उद्देसो, अभिहियं सामाइयंति निद्दसो।
सामण्णविसिट्ठाणं, अभिहाणं सत्थनामाणं॥

शास्त्रं च नाम च शास्त्रनामनी तयोः सामान्यविशिष्टयोः सामा–न्यविशेषभूतयोरोघनिष्पन्ने नामनिष्पन्ने च निक्षेपे यदभिधानमभिहितं तावुद्देशनिर्देशौ यथा संख्येन चेह योजना। तद्यथासामान्यस्य शास्त्रस्यौघनिष्पन्ननिक्षेपे यदध्ययनमित्यभिधानमभिहितं त उद्देश इत्युच्यते। नामनिष्पन्ने च निक्षेपे विशिष्टस्य नाम्नो यत्सामायिकमित्य–भिधानमभिहितं स निर्देश इत्यभिधीयत इति॥

अस्यनिक्षेपो यथा॥

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले समासउद्देसे।
उद्देसम्मि य भावे, एमाई होइ अट्ठमओ॥

नामादिभेदादुद्देशोऽष्टविधस्तद्यथा नामोद्देशः स्थापनोद्देशो द्रव्योद्देशः क्षेत्रोद्देशः कालोद्देश उद्देशोद्देशः समासोद्देशो भावोद्देशो भवत्यष्टमक इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः।

तत्र नामोद्देशं व्याख्यातुमाह भाष्यकारः॥

नामं जस्सुद्देसो, नामेणुद्देसए व जो जेण।
उद्देसो नामस्स व, नामुद्देसोभिहाणंति॥

यस्यं जीवादेर्वस्तुन उद्देश इति नाम क्रियते स नामोद्देशः। नामरूप उद्देशो नामोद्देशःयथा गोपालदारकादिरुद्देश इति नाम (नामेणुद्देसत्ति) यो वा घटपटस्तम्भादिपदार्थो येन घटपटस्तम्भादिनाम्ना उद्दिश्यते प्रतिपाद्यते सोऽपि घटपटादिपदार्थो नामोद्देश उच्यते। उद्दिश्यतेऽभिधीयते प्रतिपाद्यते निजेन नाम्ना इति कृत्वा उद्देशः (नामस्सवत्ति) नाम्नो वा वस्तु सामान्यभिधानस्योद्देश–नमुच्चारणं नामोद्देशः। किमुक्तंभवतीत्याह (अभिहाणंति) वस्तुनः सामान्यं यदभिधानं तन्नामोद्देश इत्यर्थः यथा आम्रादेः वृक्षादिनामा वा शब्दः सर्वत्र प्रकारान्तरसूचकः।

अत्र परोऽतिप्रसङ्गमुद्भावयन्नाह।

एवं नणु सव्वो चिय, नामोद्देसो जओ भिहाणंति।
दव्वाईणं तेहि व, तेसु व विकीरएगस्स॥

ननु यदि वस्तुनः सामान्याभिधानमात्रमुद्देशोऽभिधीयते एवं तर्हि सर्व एवायं स्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालाद्युद्देशो नामोद्देश एव प्राप्नोति। यतो द्रव्यादीनामपि हेमरजतादीनां हेमादिकं सामान्याभिधान-मिति तैर्वा कुसुम्भहरिद्रादिद्रव्यैर्हेतुभूतैर्वस्त्रादीनां रक्तपीतमित्यादिसामान्या-भिधानं प्रवर्तते। तेषु वा दण्डकुण्डलकिरीटादिद्रव्येषु सत्सु दण्डी कुण्डली किरीटीत्यादिकं सामान्याभिधानं प्रवर्तमानं दृश्यते। एवं स्थापनाक्षेत्रादिष्वपि वाच्यम् ततो य एव द्रव्याद्युद्देशोऽभिमतः स एव सर्वोऽपि नामोद्देशः प्राप्नोतीति उद्देशस्यैकविधत्वादष्टविधत्वं विशीर्यत इति।

अत्र पराभिहितमभ्युपगम्य परिहारमाह।

सच्चं सव्वाणुगओ, नामुद्देशोभिहाणमित्तं जं।
नाणत्तं तह वि मयं, मइकिरियावत्थभेएहिं॥

सत्यमुक्तं भवता यतो यत्सामान्याभिधानमात्रं नामोद्देशः स खलु सर्वानुगत एव तथापि नामस्थापनाद्रव्याद्युद्देशानां नानात्वं भेदरूपं गतं सम्मतमेव परमार्थवेदिना कैरित्याह। मतिक्रियावस्तुभेदैस्तथाहि–यादृशी नामेन्द्रमतिस्तादृश्येव न स्थापनेन्द्रा दिषूत्पद्यते किंतु विलक्षणैव। नच यां क्रियां नामेन्द्रः करोति तामेव स्थापनाद्रव्येन्द्रादयः किंचित्सदृशीमेव अत एव नामेन्द्रादिवस्तुनां परस्परं भेदो विज्ञेयो भिन्नमित्यादिहेतुत्वात् घटपटादिवस्तुवदिति॥ करोति तामेव स्थापनां द्रव्येन्द्रादिवस्तुवदिति। एवं प्रस्तुतनाम–स्थापनाद्रव्याद्युद्देशानामपि मत्यादिभेदाद्भेदो योजनीय इति॥

अथ स्थापनाद्युद्देशानाह।

ठवणाए उद्देसो, ठवणुद्देसत्ति तस्स वा ठवणा।
तं तेण तओ तम्मिव, दव्वाइयाणमुद्देसो।
द्दव्वुद्देसो दव्वं, दव्वपई दव्ववंसदव्वो त्ति।
एवं खेत्तं खेत्ती, खेत्तपई खेत्तजायत्ति॥

स्थापनाया उद्देशनमुच्चारणं सामान्येनाभिधानं स्थापनोद्देशः तस्य वा उद्देशस्य अक्षरादिषु स्थापना स्थापनोद्देशः। अथ द्रव्योद्देशमाह–द्रव्यादीनामुद्देशो द्रव्योद्देशः। आदिशब्दात् द्रव्यवदादिपरिग्रहः कया पुनर्व्युत्पत्त्या द्रव्यादयो वाच्या भवन्तीत्याह (तम्मित्यादि) तदेव द्रव्यमुद्दिश्यते उच्चार्यते द्रव्यमित्येवं सामान्येनाभिधीयते द्रव्योद्देशः। द्रव्यं च तदुद्देशश्चेति कर्म्मधारयसमासः। अत्र च पक्षे द्रव्यमेवोद्देशशब्दवाच्यम्। अत एव द्वितीयगाथामाह (दव्वमिति) अथवा तेन द्रव्येण हेतुभूतेन य उद्दिश्यते अभिधीयते स द्रव्योद्देशो यथा द्रव्यपतिरित्यादि यदिवा ततस्तस्तादद्रव्यादुद्देशोऽभिधानप्रवृत्तिर्द्रव्योद्देशो यथा द्रव्यवानित्यादि। अथवा तस्मिन् द्रव्ये सत्युद्देशोऽभिधानप्रवृत्तिर्द्रव्योद्देशो यथा स द्रव्य इत्यादि सिंहासने राजा चूते कोकिलः, वने मयूर, इत्यादि वा। एवमुद्दिश्यते तेन वा, इत्यादिव्युत्पत्त्या क्षेत्रं क्षेत्री क्षेत्रपतिः क्षेत्रे जातं क्षेत्रमित्यादिकः सर्वोऽपि क्षेत्रोद्देश इति।

कालो कालाईयं, कालो वेयंति कालजायंति।
संखेवो त्ति समासो, अंगाईणं तओ तिण्हं॥
अंगसुयखंधझयणाण, नियनियप्पमेयसंगहओ।

होइ समासुद्देसो, जहंगमंगी तदब्भेज्जा ॥
एमेव सुयक्खंधो, जह तस्स तयट्ठविण्णाया ।
अज्झयणं अज्झयणी, तस्स भेया तयत्थण्णो ॥

काल एवोद्दिश्यमानत्वादुद्देशकालः कालोद्देशः । तेन वा कालेनो–द्देशो यथा कालातीतं कालातिक्रान्तमिदं वस्त्विति । ततो वा कालादुद्देशः कालोद्देशो यथा कालोपेतं कालप्राप्तमिति । तस्मिन्वा काले जातं कालजातमित्यादिकः कालोद्देशः । अथ समासोद्देसं विवक्षुराह (संखेवेत्यादि) संक्षेपेणाविस्तरेण संकोचनं समास उच्यते तत्कोऽयं चेह अङ्गादीनां त्रयाणां विवक्षितः एतदेव दर्शयति (अंगेत्यादि)अङ्गश्रुत-स्कन्धोऽध्ययनमित्येष समासो भवति ॥ कुत इत्याह । निजनिजप्रभेदसंग्रहादिति । अस्याङ्गादिसमासस्योद्देशनमभिधानं समासोद्देशक इति दर्शयति। यथा अङ्गमिति तदेवो–द्दिश्यमानत्वादुद्देश इत्यर्थः । तेन वाङ्गरूपसमासेनोद्देशो यथाङ्गीति (तस्सतयट्ठेत्ति) अङ्गात्मकसमानोद्देशो यथा तदध्येता अङ्गाध्येता इत्यादि । एवं श्रुतस्कन्धात्मकसमास एवोद्दिश्यमानत्वादुद्देशो यथा तदर्थविज्ञाता श्रुतस्कन्धार्थज्ञ इत्यादि। एवमध्ययनात्मकसमास एवोद्दिश्यते इत्युद्देशो यथाऽध्ययनमिति तेन वा उद्देशो यथाऽध्ययनीति। तस्माद्वा उद्देशो यथा तस्याध्ययनयस्याध्येता । तस्मिन्वा अध्ययने सति उद्देशो यथा तदर्थज्ञोऽध्ययनार्थविदित्यादि विवक्षया सर्वं भावनीयमिति ॥

अथोद्देशोद्देशं भावोद्देशं चाह।

उद्देसो उसिउद्दे–सणो तयत्थवेत्ता वा।
उद्देसुद्देसो यं, भावो भाविति भावम्मि ॥

उद्देशः पुलाकोद्देशकादिः स एवोद्दिश्यमानत्वादुद्देशोद्देशः । स चायं विज्ञेयः क इत्याह । पुलाकोद्देशकादिक उद्देशोऽप्युद्दिश्यमानत्वे–नोद्देशोद्देश उच्यते । तेन वा उद्देशोऽभिधानं यथा उद्देशीति । तस्माद्वा उद्देशो यथा उद्देशज्ञः । तस्मिन्वा उद्देशो यथा तस्योद्देश–कस्यार्थवेत्ता इत्यादि (भावम्मित्ति) भावविषय उद्देशो भावोद्देशः । क इत्याह (भावोत्ति) औदयिको भाव उद्दिश्यतेऽभिधीयते इत्युद्देशो भावश्चासावुद्देशश्च भावोद्देश इत्यर्थः । तेन वा भावेनोद्देशो भावोद्देशो यथा भावीत्यादि पूर्वोक्तानुसारेण वाच्यमिति गाथानवकार्थः ॥ अथोद्देशव्याख्यानेन निर्देशमप्यतिदिशन्नाह।

एवमेव स णिद्देसो, अट्ठवि हो सो वि होइ नायव्वो ।
अविसेसियमुद्देसो, विसेसिओ होइ णिद्देसो ।

एवमेव यथा उद्देश उक्तस्तथा निर्देशोऽप्यष्टविध एव भवति ज्ञातव्यः । सर्वथा साम्यप्रतिषेधार्थमाह । किंत्वविशेषितसामान्य–नामस्थापनादिरूप उद्देशो विशेषितनामादिरूपस्तु स एव निर्देशो भवतीति विशेष इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥४६॥

भावार्थं तु भाष्यकारः प्राह ॥

नामं जिणदव्वाई, ठवणाविसिट्ठवत्थुनिक्खेवो ।
दव्वो गोमं दंडी, रहीति तिविहो सचित्ताइ ॥

वस्तुनः पुरुषादेर्यत्पुरुषादिकं सामान्यं नाम स नामोद्देश उक्तो यत्तु तस्यैव विशेषनामसंग्रह नाम निर्द्देश उच्यते यथा जिनदत्ता–दिसामान्यस्य चेन्द्रादेर्वस्तुनः । स्थापना स्थापनोद्देश उक्तः इह तु विशिष्टस्य सौधर्म्मादिपत्यादिवस्तुनो यः स्थापनारूपो निक्षेपः स स्थापनानिर्द्देशः । द्रव्यस्यापि त्रिविधस्य सचित्तादेर्विशिष्टस्य यो विशिष्टाभिधानरूपो निर्द्देशः तत्र सचित्तद्रव्यविशेषस्य निर्द्देशो यथा गौरित्यादि अचित्तस्य तु दण्ड इत्यादि मिश्रस्य तु रथ इत्यादि रथस्य चाश्वादियुक्तस्येह मिश्रता भावनीयेति । तेन वा सचित्तादि–द्रव्यविशेषणनिर्देशो यथा गोमानित्यादि दण्डी रथीत्यादि ॥

अथ क्षेत्रकालनिर्देशावाह ॥

खेत्ते भरहं तत्थ व, भवोत्ति मगहत्ति मागहीवत्ति ।
सरउत्ति सारउत्ति य, संवच्छरिउत्ति कालम्मि ॥

क्षेत्रं क्षेत्रीत्यादिकः क्षेत्रोद्देश उक्तः । इह तु तदेव विशिष्टं क्षेत्रं क्षेत्र–निर्द्देशो यथा भरतमित्यादि। अथवा (मगहत्ति) मगधजनपद इत्यादि तस्मिन्वा क्षेत्रविशेषे भवः क्षेत्रमित्युच्यते यथा भारत इत्यादि एतच्च स्वयमेव दृष्टव्यम् । मगधेषु भवो मागध इत्यादि एतत्तु गाथायामप्यस्तीति काली कालोऽयमित्यादिकः कालोद्देश उक्तः । इह तु तस्यैव कालस्य विशिष्टस्य यो निर्देशो विशिष्टमभिधानं स कालनिर्देशो यथा शर इत्यादि । तत्र वा कालविशेषे भवः कालनिर्देशोऽभिधीयते यथा शरदि भवः शारदः । संवच्छरे भवः सांवच्छरिक इत्यादि ॥

अथ समासनिर्देशमुद्देशं निर्देशं चाह ॥

आयारो आयारेव, आयारधरे त्ति वा समासम्मि ।
आवस्सय मावासयि, तु तत्थ धरोह वायत्ति ॥
सत्थए परिणाइ यव, अब्भेया यं समासनिद्देसा ।
उद्देसयनिद्देसो, स पएसो पोग्गलुद्देसो ॥

विस्तरवतो वस्तुनः संक्षेपः समासस्तस्य सामान्याभिधानं समासोद्देशः उक्तः । इह तु तस्यैव समासस्य विशेषाभिधानः समासनिर्देशस्तत्र चाङ्गश्रुतस्कन्धाध्ययनभेदात्त्रिविधः समासोदेशः पूर्वमुक्त इह तु तेषामेव त्रयाणामङ्गादीनां विशेषाभिधानरूपस्त्रिविध एव समासनिर्देशस्तवा चाह (आयारेत्यादि) आचारप्ररूपणाङ्ग विशेषाभिधाननिर्देश्यमानत्वा-दाचार इति समासनिर्देशस्तेन वा आचारसमासेन निर्देशो यथा आचारवानित्यादि । तस्माद्वा आचारसमासान्निर्देशो यथा आचारधर इत्यादि । श्रुतस्कन्धसमासनिर्देशो यथा आवश्यकमिति । तेन वा आवश्यकसमासेन निर्देशो यथा आवश्यकीति। अथवा तस्मादावश्यक-समासन्निर्देशो यथा आवश्यकसूत्रार्थधरोऽयमिति । अध्ययनमाश्रित्य समासनिर्देशः क इत्याह॥ आचाराङ्गे प्रथममध्ययनं शस्त्रपरिज्ञा इत्यादि तेन वा शस्त्रपरिज्ञासमासविशेषणनिर्देशो यथा (अज्झे–यायंति) शस्त्रपरिज्ञाध्येता अयमित्यर्थ इत्यादि समासनिर्देशः । उद्देशनिर्देश-स्तूच्यते क इत्याह। (पएसो त्ति) अध्ययनस्य प्रदेशोऽश इत्यर्थः । यथा भगवत्यां पुद्गलोदेशकस्तस्य निर्देशोऽभिधानमुदेशनिर्देश इत्यादीनि । विशे० । आ०ग०प्र० । आ०चू० । वाच्यामीति गुरुप्रतिज्ञारूपे, विशे० । इदमध्ययनादि त्वया पठितव्यमिति गुरुवचनविशेषे, ॥

तद्विधिश्चैवम् ॥

तत्राच।राद्यङ्गस्य उत्तराध्ययनादिकालिकश्रुतस्कन्धस्य औपपातिकाद्युत्कालिकोपाङ्गाध्ययनस्य चायमुद्देशविधिः । इहाचाराङ्गाद्य-न्तरश्रुतमध्येतुमिच्छति यो विनेयः स स्वाध्यायं प्रस्थाप्य गुरुं विज्ञपयति भगवन्नमुकं मम श्रुतमुद्दिशत । गुरुरपि भणतीच्छाम इति । ततो विनेयो वन्दनकं ददाति १ ततो गुरुरुत्थाय चैत्यवन्दनं करोति तत ऊर्ध्वस्थितो वामपार्श्वीकृतशिष्यो योगोत्क्षेपनिमित्तं पञ्चविंशत्युच्छ्वासमानं कायोत्सर्गं करोति ''चंदेसु निम्मलयरेत्ति'' यावच्चतुर्विंशतिस्तवं चिन्तयतीत्यर्थः । ततः पारित–

कायोत्सर्गः संपूर्णचतुर्विंशतिस्तवं भणित्वा तथास्थित एव पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारं वारत्रयमुच्चार्य ''नाणं पंचविहं पण्णत्तमित्यादि'' उद्देशनंदीं भणति। तदन्ते चैवं पुनः प्रस्थापनं प्रतीत्य साधोरिद–मङ्गममुं श्रुतस्कन्धं इदमध्ययनं वा उद्दिसामि क्षमाश्रमणानां हस्तेन सूत्रमर्थं तदुभयं च उद्दिष्टमित्येवं वदति। क्षमाश्रमणानामित्यादि त्वात्मनोऽहंकारवर्जनार्थमभिधत्ते ततो विनेय इच्छामीति भणित्वा वन्दनकं ददाति २ तत उत्थितो ब्रवीति संदिशत किं भणामीति। ततो गुरुर्वदति वन्दित्वा प्रवेदयत ततो विनेय इच्छामीति भणित्वा वन्दनकं ददाति ३ ततः पुनरुत्थितः प्रतिपादयति भवद्भिर्ममामुकं श्रुतमुद्दिष्टमिच्छाम्यनुशास्तिम्। ततो गुरुः प्रत्युत्तरयति योगं कुर्विति एवं संदिष्टो विनेय इच्छामीति भणित्वा वन्दनकं ददाति ४ ततोऽत्रान्तरे नमस्कारमुच्चारयन्नसौ गुरुं प्रदक्षिणयति तदन्ते च गुरोः पुरतः स्थित्वा पुनर्वदति भवद्भिर्ममामुकं श्रुतमुद्दिष्टमिच्छाम्यनुशास्तिं ततो गुरुराह योगं कुर्विति। एवं संदिष्ट इच्छामीति भणित्वा वन्दित्वा च पुनस्तथैव गुरुं प्रदक्षणयति। तदन्ते च पुन–स्तथैव गुरुशिष्ययोर्वचनप्रतिवचने तथैव च तृतीयप्रदक्षिणां विदधाति विनेयः। एतानि च चतुर्थवन्दनकादीनि त्रीण्यपि वन्दन–कान्येकमेव चतुर्थं गण्यते एकार्थप्रतिबद्धत्वादिति २ ततस्तृतीय प्रदक्षिणान्ते गुरुर्निषीदति निषण्णस्य च गुरोः पुरतोऽद्धविनतगात्रो विनेयो वक्ति युष्माकं प्रवेदितं संदिशत साधूनां प्रवेदयामि। ततो गुरुराह प्रवेदयेति। तत इच्छामीति भणित्वाविनेयो वन्दनकं ददाति। ५। प्रत्युत्थितश्चोच्चारितपञ्चपरमेष्ठिनमस्कारः पुनर्वन्दनं ददाति।६। पुनरुत्थितो वदति युष्माकं प्रवेदितं साधूनां च तं प्रवेदितं सन्दिशत करोमि कायोत्सर्गम्। ततो गुरुरनुजानीते। कुर्विति ततः पुनरपि वन्दनकं ददाति।७। एतानि सप्तच्छोभवन्दनकानि श्रुतप्रत्ययानि भवन्ति ततः प्रत्युत्थितोऽभिधत्ते अमुकस्योद्देशनिमित्तं करोमि कायोत्सर्गमन्यत्रोच्छ्वसितादित्यादियावद्व्युत्सृजामीति ततः कायोत्सर्गे स्थितः सप्तविंशतिमुच्छ्वासंश्चिन्तयति ''सागरवरगम्भीरेत्ति'' यावच्चतुर्विंशतिस्तवं चिन्तयति इत्यर्थः। ''उद्देशसमुद्देसे, सत्तावीसं अणुण्णवणियाए'' इति वचनात् ततः पारितकायोत्सर्गः संपूर्णं चतुर्विंशतिस्तवं भणित्वा परिसमाप्तोद्देशक्रियत्वाद्गुरोश्छोभवन्दनकं ददाति तच्च न श्रुतप्रत्ययं किं तर्हि श्रुतदातृत्वादिना गुरुः परमोपकारी तद्विनयप्रतिनिमित्तमिति॥ अनु०। आ०म० द्वि०। (श्रुतस्कन्धस्यैवोद्देश इति अणुओगशब्दे–उक्तम्) वाचनायां सूत्रप्रदाने, व्य० प्र० १ उ०। श्रुतस्कन्धाङ्गप–शवर्तनोत्तरकालं च सप्तविंशत्युच्छ्वासकालः कायोत्सर्गः। ''उद्देस समुद्देसे सत्तावीसं'' जी०१ प्रति०। उद्देशे मुहूर्तम् ''पुस्सोहत्थो अभिइई, अस्सिणी य तहेव य। चत्तारि खिप्पकारीणि, विज्जारंभे सुसोहणा॥२७॥ विज्जाणं धीरणं कुज्जा'' इति।

कियत्पर्यायस्य किं श्रुतं दातव्यमित्याह।

णो कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डागं वा खुड्डियाए वा अव्वंजणजायस्स आयारकप्पे णामज्झयणे उद्दिसित्तए वा कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुड्डागस्स वा खुड्डियाए वा वण्णजायस्स आयारकप्पेणामं अज्झयणे उद्दिसित्तए वि २। व्य० सू० १० उ०।

न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा क्षुल्लकस्य वा क्षुल्लिकाया वा अव्यञ्जनजातस्य व्यञ्जनान्युपस्थरोमाणि जातानि यस्य स तथा तस्य आचारप्रकल्पो नामाध्ययनं निशीथापरपर्यायमुद्देष्टुम्। अत्र कारणं भाष्यकृदाह।

अहिअट्ठस्स आयारे, अपठिते न उ कप्पति।
अव्वंजणजातस्स, वंजणाण परूवणा॥
जहा चरित्तं धारेउ, ऊणट्ठो उ अपच्चलो।
तहा वि वक्कं वुड्ढाउ, अववायस्स नो सहू॥

अधिकाष्टवर्षस्याप्यपठितेऽप्याचारे अव्यञ्जनजातस्य। अत्र व्यञ्जनानां प्ररूपणा कर्तव्या सा च सूत्रव्याख्यायां कृता न तु नैव सूरयः प्रकल्पमाचारप्रकल्पनामाध्ययनं ददति कुत इत्याह।(जहेत्यादि) यथा ऊनाष्ट–ऊनाष्टवर्षश्चारित्रं धारयितुमप्रत्यलोऽसमर्थः तथा अजातव्यञ्जनतया अपक्वबुद्धिरपवादमाधारणेन वदति तथा कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लकस्य वा क्षुल्लिकायावा व्यञ्जनजातस्य आचारप्रकल्पो नामाध्ययनमुद्देष्टुम्। अथ स्तोककालदीक्षितस्यापि ज्ञातव्यञ्जनस्य दीयते किंवा नेत्यत आह। (अतिवासपरियागस्सेत्यादि) ज्ञातव्यञ्जनस्यापि त्रिवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते आचारप्रकल्पो नामाध्ययनमुद्देष्टुम्। यदि पुनस्त्रयाणां वर्षाणां अभ्यन्तरत उद्दिशति ततस्तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः त्रिवर्षपर्यायस्याप्यपरिणामकस्यातिपरिणामकस्य चोदितस्य चतुर्गुरुकम्॥

(सूत्रम्) चउवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ सूयगडे नामं अंगे उद्दिसित्तए पंचवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति दसा कप्पववहारा उद्दिसित्तए वि अट्ठवास परियागस्स निग्गंथस्स कप्पति ठाणसमवाए उद्दिसित्तए दसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति विवहनामं अंगे उद्दिसित्तए॥

चतुर्वर्षपर्यायस्य श्रमणनिर्ग्रन्थस्य कल्पते सूत्रकृतं नामाङ्गमुद्देष्टुम्। पञ्चवर्षपर्यायस्य दशाकल्पव्यवहाराविकृष्टो नाम षड्भ्य आरभ्य नव वर्षाणि यावत् तत्पर्यायस्य स्थानं समवायस्य दशवर्षपर्यायस्य व्याख्या प्रज्ञप्तिः पञ्चमङ्गमेतदेव सहेतुकं वक्तुकामो भाष्यकृदाह।

चउवासे सूयगडं, कप्पवहारस्स पंचवासस्स।
विगट्ठट्ठाणस्स, समवरिसविवाहपण्णत्ती॥

चतुर्वर्षी पर्यायस्य सूत्रकृतः पञ्चवर्षस्य कल्पव्यवहारावुपलक्षण–मेतत् दशाश्रुतस्कन्धश्चाविकृष्टपर्यायस्य स्थानं समवायश्च दशव–र्षपर्यायस्य व्याख्या प्रज्ञप्तिरुद्दिश्यते किंकारणमेतावत्कालाति–क्रमेण तत आह॥

चउवासो गाढमती, न कुसमएहिं तु हीनपज्जाओ।
पंचवरिसओ जोग्गो, अववायस्सत्ति तो दिंति॥
पंचण्हुवरिविगिट्ठो, सुयथेरा जेण तेण उवगिट्ठो।
ठाणे महिड्ढियंति य, तेण दसवरिसपरियाए॥

सूत्रकृताङ्गे त्रयाणां त्रिषष्ट्याधिकानां पाषण्डिकशतानां दृष्टयः प्ररूप्यन्ते। ततो हीनपर्यायो मतिभेदेन मिथ्यात्वं यायात्। चतुर्वर्षपर्यायस्तु धर्मे अवगाढमतिर्भवति ततः कुसमयैर्नापह्रियते। न चतुर्वर्षपर्यायस्य तदुद्देष्टुमनुज्ञातम्। तथा पञ्चमोवर्षोऽपवादस्य योग्य इति कृत्वा पञ्चवर्षस्य दशकल्पव्यवहारान् ददति। तथा पञ्चानां वर्षाणामुपरि पर्यायो विकृष्ट उच्यते। येन कारणेन स्थाने समवाये न चाधीतेन श्रुतस्थविरा भवन्ति तेन कारणेन तदुद्देशनं प्रति विकृष्टपर्यायो गृहीतस्तथा स्थानं समवायश्च महर्द्धिकं प्रायेण द्वादशाना–

मप्यङ्गानां तेन सूचनादिति ॥ तेन तत्परिकर्म्मितमतौ दशवर्षपर्याये व्याख्या प्रज्ञप्तिरुद्दिश्यते ॥

(सूत्रम्) एक्कारसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ खुड्डियाविमाणविभत्ती । महल्लियाविमाणविभत्ती महल्लिया विमाणे पविभत्ती अंगचूलिया विवाहचूलिया नामं अज्झयणमुद्दिसित्तए ॥

अस्य व्याख्या ॥

एक्कारसवासस्सा, खुड्डिमहल्ली विमाणपविभत्ती ।
कप्पइ य अंगुवंगे, विवाह चेव चूलीयओ ॥
अंगाणमंगचूली, महकप्पसुयस्स वग्गचूली उ ।
विवाहचूलिया पुण, पण्णत्तीए मुणेयव्वा ॥

एकादशवर्षस्य क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्तिर्यत्र कल्पेषु विमानानि वर्ण्यन्ते महती विमानप्रविभक्तिर्यत्र विमानान्येव विमानविस्तरेणाभिधीयन्ते । अङ्गानामुपासकदशाप्रभृतीनां पञ्चानां चूलिका निरावलिका अङ्गचूलिका महाकल्पश्रुतस्य चूलिकावर्गचूलिका व्याख्याचूलिका पुनः प्रज्ञप्तेर्व्याख्या प्रज्ञप्तचूलिका मन्तव्या ॥

(सूत्रम्) वारसवासपरियागस्स समणस्स कप्पइ अरुणो ववाए गरुलो ववाए वरुणो ववाए वेसमणो ववाए वेलंधरो ववाए । वेलंधरोववाए नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥

अत्र भाष्यव्याख्या ॥

वारसवासे अरुणो–ववायवरुणो य गरुलवेलंधरो ।
वेसमणुववाय त हा य, ते कप्पंति उद्दिसिउं ॥

द्वादशपर्यायस्य ।

अरुणोपया लुपरिय–ट्ठंतिएतिदेवाउ ।
अंजलिमउलियहत्था, उज्जोवेत्ता दसदिसो उ ॥
नागावरुणोवासं, अरुणा गरुला य वीयगं दें ति ।
आगंतूण पवंती, संदि महा किं करेमित्ति ॥

तेषामरुणोपपातादीनामध्ययनानां ये दशनामानः खल्वरुणादयो देवास्ते यदि तीन् प्रणिधायाध्ययनानि परावर्तन्ते तदा ते अञ्जलिमुकुलितहस्ता दशापि दिश उद्योतयन्ति । समागच्छन्ति समागत्य च किंकरभूताः पर्युपासते तथा नागा धरणनामानो वरुणपार्श्व गन्धोदकादि वर्षन्ति । अरुणा गरुडाश्च बीजकं सुवर्णं ददतः प्रत्यासन्नमागत्य ब्रुवते संदिशत किं कुर्मो वयमिति ।

(सूत्रम्) तेरसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ उट्ठाणमुपसमुट्ठाणमुपदेविंदो देववाए मागए परियावणियाए ।

अस्य व्याख्या ।

तेरसवासे कप्पइ, उट्ठाणसुए तहा समुट्ठाणे ।
देविंदपरियावणिया, नागाण तहेव परिण्णाणी ॥

त्रयोदशवर्षस्य कल्पते उत्थानश्रुतं तथा समुत्थानं समुत्थान–श्रुतं देवेन्द्रपरियापनिका नागानां तथैव परियापनिका नागपरिया–पनिका इत्यर्थः ।

(सूत्रम्) चउद्दसपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति सुमिणभावणानामं अज्झयणमुद्दिसित्तए ॥

चतुर्दशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते महास्वप्नभा–वना नामाध्ययनमुद्देष्टुम् ''चोद्दसवासुद्दिसए'' इत्यादि भाष्य–गाथोत्तरार्द्ध सुप्रतीतमधुनार्थमाह ।

इत्थं तीसं सुमिणा, वायाला चेव हुंति महसुमिणो ।
बावत्तरि सव्वसुमिणा, वन्निज्जंते फलं तेसिं ॥

अत्र महास्वप्नभावनाध्ययने त्रिंशत् सामान्यस्वप्नाः द्वाचत्वारिंशन्महास्वप्ना वर्ण्यन्ते फलं चैषां स्वप्नानां वर्ण्यते ॥

(सूत्रम्) पण्णरसवासपरियागस्स समणस्स निगंत्थस्स कप्पइ । चारणभावणानाममज्झयणमुद्दिसित्तए ।

अत्र भाष्यम् ॥

पन्नरसे चारणभावणं ति उद्दिसिए उ अज्झयणं ।
चारणलद्धी तहियं, उप्पज्जंते उ अहियम्मि ॥

पञ्चदशे पञ्चदशवर्षपर्यायस्य चारणभावनेत्यध्ययनमुद्दिश्यते तस्य कोऽतिशय इत्याह चारणलब्धिस्तस्मिन्नधीते उत्पद्यते येन वा तपसा कृता चारणलब्धिरुपजायते तदुपवर्ण्यते ॥

(सूत्रम्) सोलसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ ते अनिसज्जानामंअज्झयणे उद्दिसित्तए सत्तरसवासपरियाग–स्स समणस्सणिग्गंथस्सकप्पतिआसीविसभावणा नामं अज्झयणमुद्दिसित्तए । अट्ठारस वासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति दिट्ठीविसभावणानामज्झयणमुद्दिसित्तए । एगूणवीसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठि–वायनामंगे उद्दिसित्तए वीसतिवासपरियाए समणे निग्गंथे सव्वसुधाणवाती भवति ॥

अस्य व्याख्या

तेअनिसज्जा सोलस, आसीविसभावणं च सत्तरसे ।
दिट्ठिविसमट्ठारस, एगुणवीसदिट्ठिवाओ उ ॥

षोडशवर्षे तेजोनिसर्गो नामाध्ययनमुद्दिश्यते । सप्तदशे वर्षे आशीविषभावनानामोद्दिश्यते दृष्टिविषभावनानामाष्टादशे वर्षे एकोनविंशतितमे वर्षे दृष्टिवादो नाम द्वादशमङ्गमुद्दिश्यते । सांप्रतमेतेषामध्ययनानामतिशयानाह ।

तेवस्स निसरणं खलु, आसीविसतं तहेव दिट्ठिविसं ।
लद्धीतो समुपज्जे, समहीएसु तु एएसु ॥

एतेषु तेजोनिसर्गप्रभृतिष्वध्ययनेषु यथाक्रमं तेजसो निस्सरणमाशीविषत्वं दृष्टिविषमित्येवं लब्धयः समुत्पद्यन्ते । इयमत्र भावना । तेजोनिसर्गेऽध्ययनेऽधीते तेजोनिस्सरणलब्धिरुत्पद्यते येन वा तपसाकृत्वा तेजोलब्धिर्भवति तत एवमुपवण्यते आशीविषभाव–नायां पठितायामाशीविषत्वलब्धिर्यैर्वा समावरणैराशीविषतया कर्म बध्यते तान्युपवर्ण्यन्ते । एवं दृष्टिविषभावनायामपि भावनीयम् ॥

दिट्ठिवाए पुण होई, सव्वभावाण रूवणं नियमा ।
सव्वसुयाणवाइ– वीसइवासे उ बोधव्वो ॥

दृष्टिवादे पुनर्भवति सर्वभावानां रूपणं प्ररूपणं नियमात् विंशतिवर्षः पुनः सर्वश्रुतानुपाती भवति सर्वमपि श्रुतं यथा भणितेन योगेन तस्य पठनीयं भवति । अथ कस्य तीर्थकरस्य काले कियन्ति प्रकीर्णकान्याभवन्त्यत आह ।

चउद्दसयसहस्साइं, पइण्णगाणं तु बद्धमाणस्स ।
सेसाण जत्तया खलु, सीसा पत्तेयबुद्धा उ ॥

भगवतो बर्द्धमानस्वामिनः तीर्थे चतुर्दश प्रकीर्णकसहस्राण्यभ–वन् शेषाणां च तीर्थकृतां यस्य यावन्तः शिष्यास्तस्य तावन्ति प्रकीर्णकानि प्रत्येकबुद्धा अपि तस्य तावन्तः ।

पत्तस्स पत्तकालेय, वयाणि जो उ उद्दिसे तस्स।
निज्जरलाभो विपुलो, किहमाणं पुण तं निसामेह॥

पात्रस्य योगस्य परिणामकस्येत्यर्थः। एतेनापात्रेऽपरिणामके विपरिणामके वा ददानो महतीं श्रुतासातनामेतीति प्रतिपादितम्। प्राप्ते काले यथोदिते एतानि प्रकीर्णकानि च उद्दिशति तस्य सुविपुलो निर्जरालाभः। कथं पुनः स विपुलो निर्जरालाभः। सू–रिराह तं विपुलनिर्जरालाभं कथ्यमानं निशमयतो मते कथयति।

कम्ममसंखेज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो।
अन्नयरगम्मि जोगे, सब्भायम्मी विसेसेण॥

कर्मज्ञानावरणीयादिकमसंख्येयभवोपार्जितमन्यतरकेऽपि योगप्रतिलेखनादावुक्तोऽनुसमयमेव क्षपयति विशेषतः स्वाध्याये आयुक्तः।

आयारंगादियाणं, अंगाणं जाव दिट्ठिवातो उ।
एस विही विण्णेओ, सव्वेसिं आणुपुव्वीए।

आचारादिकानामङ्गानां यावत् दृष्टिवादो दृष्टिवादपर्यन्तानां सर्वेषामानुपूर्व्या एषोऽनन्तरोदितो विधिर्विज्ञेयः। पात्रस्योचिते काले यदुचितमङ्गं तद्दातव्यं न शेषमित्यर्थः॥ व्य० १० उ०।

त्रिवर्षपर्यायो निर्ग्रन्थ आचारादिकुशल आचार्य्यादितया कल्पते उद्देशयितुम्॥

तिवासपरियाए समणे निग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पण्णत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे असबलायारे अभिण्णायारे असंकिलिट्ठायारचरित्ते बहुस्सुए बज्झागमे जहण्णेणं आयारकप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ३ सव्वे वणंसे तिवासपरियाए समणे निग्गंथे नो आयारकुशले जाव संकिलिट्ठायारचरित्ते अप्पस्सुए अबागमे नो कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ४ एवं पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे आयारकुसले जाव असंकिलिट्ठायारचरित्ते बहुस्सुए बज्झागमे जहण्णेणं दसाकप्पववहारे दारे कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ५ सच्चेवणं से पंचवासपरियाए निग्गंथे जाव अप्पसुए अप्पागमे नो कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ६ अट्ठवासपरियाए समणे निग्गंथे आयारकुसले जाव असंकिलिट्ठायारचरित्ते बहुस्सुए बज्झागमे जहण्णेणं ठाणसमवद्धरे कप्पइ से आसे आयरियत्ताए पवित्तित्ताए थेरत्ताए गणित्ताए गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए ७ सव्वे वणं अट्ठवासपरियाए समणे निग्गंथे णो आयरकुसली जाव संकिलिट्ठाणायारचरित्ते अप्पसुए अप्पागमे णो कप्पइ आयरियत्ताए जाव गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए ८। व्य०सू०॥

सूत्रषट्कम्। अथास्य पूर्वसूत्रेण सह कः सम्बन्धस्तत आह।

भावपलिच्छेयस्स उपरि, णामट्ठाए हो इमं सुत्तं।
सुयवरणे उपमाणं, सेसा उ हवंति जा लद्धी॥

द्रव्यभावपरिच्छेदोषेतः स्थविरैरनुज्ञातो गणं धारयति। तद्विपरीतो न धारयतीति उक्तम्। तत्रेदं सूत्रषट्कं भावपरिच्छेदस्य परिणामार्थं परिणामप्रतिपादनार्थं भवति वर्तते। यथा चानेन सूत्रषट्केन श्रुतेन चरणे च प्रमाणमभिधीयते शेषाश्च या लब्धय आचार्याणामुपाध्यायादीनां योग्या याभिः समन्विताः आचार्यतया उपाध्यायादितया वा उद्दिश्यन्ते। ता अपि प्रतिपाद्यन्ते तत्र श्रुतपरिमाणं ''जहन्नेणं आयारप्पकप्पधरे'' इत्यादिनाचारित्रपरिमाणं ''तिवासपरियाए'' इत्यादिना शेषपदैर्यथायोगं लब्धयः। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। त्रीणि वर्षाणि पर्यायः प्रवृज्यापर्यायो यस्य सत्रिवर्षपर्यायः। श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः। स च शाक्यादिरपि भवति। ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह। निर्गन्थः निर्गतोग्रन्थात् द्रव्यतः सुवर्णादिरूपाद् भावतो मिथ्यात्वादि-लक्षणादिति निर्ग्रन्थः। आचारकुशलः ज्ञानादिपञ्चविधाचारुकु-शलः। तत्र कुशल इति द्विधा द्रव्यतो भावतश्च। तत्र यः कुशंदर्भं दात्रेण तथा लुनाति न क्वचिदपि दात्रेण च्छिद्यते स द्रव्यकुशलः। यः पुनः पञ्चविधेनाचारेण दात्रकल्पेन कर्म्मकुशं लुनाति स भावकुशलः तत्रैवं समासः आचारेण ज्ञानाद्याचारेण कर्मकुशलः कर्मच्छेदकः आचारकुशलः आचारविषये सम्यक् परिज्ञानवान् इति तात्पर्यार्थः। अन्यथा तेन कर्मकुशच्छेदकत्वानुपपत्तेः। एवं सर्वत्र भावनीयम्। संयमं सप्तदशविधं यो जानात्येव स संयमकुशनः समासभावना सर्वत्र तथैव। अथवा यः कुशं लुनत्र क्वचिद्यात्रेणा–च्छिद्यते स लोके तत्त्वतः कुशलो नास्तिते न कुशलशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं दक्षत्वं तच्च यत्रास्ति तत्र कुशलशब्दोऽपि प्रवर्तते इति दक्षवाची कुशलशब्दस्तत एवं समासः। आचारे ज्ञातव्ये प्रयो–क्तव्ये वा कुशलो दक्ष आचारकुशलः॥ एवं संयमकुशलः प्रवचने ज्ञातव्ये कुशलः प्रवचनकुशलः। प्रज्ञप्तिर्नाम स्वसमयपरसमय–प्ररूपणा तत्र कुशलः। संग्रहणं संग्रहः। स द्विधा द्रव्यतो भावतश्च। तत्र द्रव्यत आहारोपध्यादीनाम्। भावतः सूत्रार्थौ तयोर्द्विविधेऽपि संग्रहे कुशलः। उप सामीप्येन ग्रहः सोऽपि द्विधा द्रव्यतो भावतश्च। तत्र येषामाचार्य उपाध्यायो वा न विद्यते तान् आत्मसमीपे समानीय तेषामित्वरां दिशं बुद्ध्वा तावद्धारयति यावन्निष्पाद्यन्ते एष द्रव्यतः उपसंग्रहः ग्रहउपादाने इति वचनात् यः पुनरविशेषेण सर्वेषामुपकारे वर्तते स भावतः उपग्रहः। अक्षताचारता परिपूर्णाचारता च चारित्रे सति भवति। चारित्रवता नियमतः शेषाश्चत्वारोऽप्याचाराः सेव्याः चारित्रवतः चारित्रस्यादानतेति वचनात्। ततश्चारित्रवानित्युक्तं द्रष्टव्यम्। नन्वेषोऽप्यर्थ आचारकुशल-इत्यनेनोपात्त इति किमर्थमस्योप्यादानमुच्यते चारित्रं खलु प्रधाने मोक्षाङ्गं तदपि कण्ठतो नोक्तमिति तदाशङ्क्याव्युदासार्थमित्यदोषः। तथा अशबलो यस्य सितासितवर्णोपेतवलीवर्द इव न कर्बुर आचारो विनेयशिष्यभाषा–गोचरादिको यस्यासावशवलाचारः। तथा अभिन्नेन केनचिदप्यतीचारविशेषेण खण्डित आचारो ज्ञानाचारादिको यस्यासावभिन्नाचारः। तथा असंक्लिष्ट इह परलोकांशसारूपसंक्लेश-विप्रमुक्त आचारो यस्य सोऽसंक्लिष्टाचारः। तथा बहु श्रुतं सूत्रं यस्यासौ बहुश्रुतः। तथा बहुरागमोऽर्थरूपो यस्य स बह्वागमः। जघन्येना-चारप्रकल्पधरो निशीथाध्ययनसूत्रार्थधर इत्यर्थः जघन्यत आचार प्रकल्पग्रहणादुत्कर्षतो द्वादशाङ्गं विदिति द्रष्टव्यम्। स कल्पते यो भवत्युपायतयोद्देष्टुमिति प्रथमसूत्रार्थः। (सव्वेवणंसे ति वासेत्यादि)। सेशब्दोऽथशब्दार्थः। अथ स एव त्रिवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थो नो आचारकुशल इत्यादि पूर्वव्याख्यानतसुप्रतीतम्। एवं द्वे सूत्रे पञ्चवर्षपर्यायस्याचार्योपा-ध्यायत्वोः द्वेशविषये भावनीये नवरं तत्र जघन्येन दशाकल्पव्यवहारधर इति वक्तव्यम्। ४। एवमेवाष्टवर्षपर्यायस्याप्याचार्योपाध्याय–

गणावच्छेदित्वोद्देशविषये द्वे सूत्रे व्याख्येये केवलं तत्र जघन्येन स्थानसामाचार्या गण इति वाच्यं शेषं तथैव। एष सूत्रषट्कस्य संक्षेपार्थः। अधुना निर्युक्तिविस्तरः। तत्र तावत्सर्वेषामेव सूत्रपदानां सामान्येन व्याख्यां चिकीर्षुरिदमाह। भाष्यकृत् ॥

एक्कारसंगसुत्तत्थ–धारया नवमपुव्वकडजोगी।
बहुसुय बहुआगमिया, सुत्तत्थविसारया धीरा ॥
एयगुणोववेया, सुयनिघसा णायगामहाणस्स।
आयरियउवज्झाय–पवत्तिथेरा अणुन्नाया ॥

एकादशानामङ्गानां सूत्रार्थमवधारयन्तीत्येकादशाङ्गसूत्रधारकाः (नवमपुव्वत्ति) अत्रापि सूत्रधारका इति संबध्यते नवमपूर्वग्रहणं च शेषपूर्वाणामुपलक्षणं ततोऽयमर्थः समस्तपूर्वसूत्रधारकाः तथा सूत्रोपदेशेन मोक्षाविरोधीकृतो न्यस्तो योगो मनोवाक्कायव्यापारात्मकः सकृतयोगः स येषामस्ति ते कृतयोगिनः। बहुश्रुताः प्रकीर्णकानामपि सूत्रार्थधारणात् इह पूर्वधरा अपि तुल्येऽपि च सूत्रे मतिवैचित्र्यतोऽर्थागममपेक्ष्य षट्स्थानपतितास्ततः प्रभूता–वगमप्रतिपादनार्थमाह। बह्वागमाः बहुः प्रभूतः आगमो येषां ते तथा एतदेवाह। सूत्रार्थाविशारदाः तत्कालापेक्षया सूत्रेऽर्थे च विशारदाः तथा धिया औत्पत्तिक्यादिरूपया बुद्ध्याराजन्ते इति धीरा ''एतद्गुणोपपेता इत्यादि'' येऽनन्तरगाथायामुक्ता गुणा एतैर्गुणैरुपेता एतद्गुणोपेताः। श्रुतं निघर्षयन्तीति श्रुतनिघर्षाः। किमुक्तं भवति यथा सुवर्णकारस्तापनिकषच्छेदैः। सुवर्णं परीक्षते किं सुन्दरमथवाऽसुन्दरमिति। एवं स्वसमयपरसमयान्परीक्षन्ते ते श्रुतनिघर्षा इति यथा नायकाः स्वामिनो महाजनस्य स्वगच्छवर्त्तिनां साधूनामिति भावः। अथवा नायका ज्ञानादिनां प्रापकास्तदुपदेशलाभात् महाजतस्य समस्तस्य संघस्य इत्थंभूता आचार्या उपाध्यायाः प्रवर्तितस्थविरा उपलक्षणमेतद्गणावच्छेदिनश्चानुज्ञाताः तदेवं सामान्यतः सर्वसूत्रपदानामर्थो व्याख्यातः। संप्रत्येकैकस्य सूत्रपदस्यार्थो वक्तव्यस्तत्र येषां पदानां वक्तव्यः तान्युपक्षिपन्नाह ॥

आयारकुसलसंजम–पवयणपण्णत्ति संगहोवगहे।
अक्खुय असबलभिन्न–संकिलिट्ठायारसंकिण्णे ॥

अत्र कुशलशब्दः पूर्वार्द्धे प्रत्येकं सम्बध्यते ततोऽयमर्थः आचारकुशलशब्दस्य प्रवचनकुशलशब्दस्य प्रज्ञप्तिकुशलशब्दस्य संग्रहकुशलशब्दस्य उपग्रहशब्दकुशलस्य च (अक्खुएत्यादि) अत्राचारशब्दसंपन्नः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः। अक्षताचारसंपन्नस्य अक्षताचारशब्दसंपन्नस्य अक्षताचारस्येत्यर्थः। एवमशबलाचारसंपन्नाय अभिन्नाचारसंपन्नस्य संक्लिष्टाचारसंपन्नस्य च व्याख्या कर्त्तव्या ॥ व्य० ॥ (कुशलशब्दव्याख्या स्वस्थाने)

सांप्रतमक्षताचारादिपदानां सामान्येन व्याख्यानमाह।

आहाकम्मुद्देसिय, ठविय रइय कीय कारियं छेज्जं।
उभिण्णा हडमाले, वणीमगाजीवण निकाए।
परिहरति असणं पाणं, सेज्जोवहिं पूति संकियं मीसं।
अक्खुयमभिन्नमसं–किलिट्ठ वासए जुत्तो।

आधाकर्म्मिकं यन्मूलत एव साधूनां कृते कृतम् औद्देसिकमुद्दिष्टादिभेदभिन्नं, स्थापितं यत्संयतार्थं स्वस्थाने परस्थाने वा स्थापितं, रचितं नाम संयतनिमित्तं कांस्यपात्र्यपादौ मध्ये भक्तं निवेश्य पार्श्वेषु व्यञ्जनानि बहुविधानि स्थाप्यन्ते। तथा क्रीतेन कारितमुत्पादितं क्रीतकारितम् आच्छेद्यं यत् भृतकादिलभ्यमाच्छिद्य दीयते। उद्भिन्नं यत्कुतपादिमुखं स्थगितमप्युच्छिद्य ददाति। आहृतं स्वग्रामाद्याहृतादि (मालत्ति) मालापहृतं वनीपकीभूय पिण्ड उत्पाद्यते स पिण्डोऽपि वनीपकः। आजीवनं यदाहारशय्यादिकं जात्याद्याजीवनेनोत्पादितं (निकाएत्ति) मम एतावद्द्रातव्यमिति निकाचितम् एतानि योऽशनपानादिशय्योपधीश्च परिहरति तथा पूतिकं शङ्कितं मिश्रमुपलक्षणमेतदध्यवपूरकादिकं च यश्चावश्यके युक्तः सोऽक्षताचार अभिन्नाचारः संक्लिष्टाचारः। तत्र स्थापितादिपरिहारी अक्षताचारः। अभ्याहृतादिपरिहारी अशबलाचारः जात्योपजीवनादि परिहरन् अभिन्नाचारः। सकलदोषपरिहारी असंक्लिष्टः। संप्रति लाघवाय द्वितीयसूत्रगतानि अक्षताचारादीनि पदानि व्याख्यानयति ॥

ओसन्नखुयायारो, सवलायारो य होइ पासत्थो।
भिन्नायारकुसीलो, संसत्तो संकिलिट्ठो उ।

अवसन्न आवश्यकादिष्वनुद्यमः कृताचारः। तथा पार्श्वस्थोऽन्योद्गमादिभोजी शबलाचारः। कुशीलो जात्याजीवनादिपरो भिन्नाचारः संसक्तः संसर्गवशात्स्थापितादिभोजी। संक्लिष्टः संक्लिष्टाचारः। संप्रत्याचारप्रकल्पधर इति पदं व्याख्यानयति।

तिविहो य पकप्पधरो, सुत्ते अत्थेय तदुभये चेव।
सुत्तधरवज्जियाणं, तिगदुगपरिवड्ढणा गच्छे ॥

त्रिविधः खलु प्रकल्पधरस्तथा सूत्रे सूत्रतः अर्थतः तदुभयतश्च। इयमत्र भावना। आचारप्रकल्पधारिणां चत्वारो भङ्गास्तद्यथा सूत्रधरोऽर्थधर अर्थधरो न सूत्रधरः सूत्रधरो नार्थधरः सूत्रधरो नाप्यर्थधरः ४ अत्र चतुर्थो भङ्गः शून्यः। उभयविकलतया आचारप्रकल्पधारित्वविशेषणासंभवात्। आद्यानां त्रयाणां भङ्गानां मध्ये तृतीय भङ्गवर्त्ती स गणे उद्दिश्यते। यतः स सूत्रधारितया गच्छे गच्छस्य परिवर्द्धको भवति तदभावे द्वितीयभङ्गवर्त्यपि तस्याप्यर्थधारितया सम्यक्परिवर्द्धकत्वान्न चाद्यभङ्गवर्त्ती तथाचाह। सूत्रधरवर्जितानामाचारप्रकल्पितानां गच्छे सम्यक् परिवर्द्धनात्त्रिके तृतीयभङ्गे च ततस्त एवोपाध्यायाः स्थाप्या न प्रथमभङ्गवर्तिनः। एवं दशाकल्पव्यवहारधरादिपदानामपि व्याख्या कर्तव्या ॥

अत्र पर आह ॥

पुव्वं वण्णे ऊणं, दीहं परियायसंघयणसद्धं।
दसपुव्विए य धीरे, मज्जार पडियपरूवणया ॥

ननु पूर्वमाचार्यपदयोग्यस्य दीर्घं पर्यायो वर्णितः संहननं चाति–विशिष्टं श्रद्धा च प्रवचनविषयाऽत्युत्तमा आगमतश्चाचार्यपदयोग्यो जघन्यतोऽपिदशपूर्विकास्तथा धरा बुद्धिचतुष्टयेन विराजमाना ततः एवं पूर्वं वर्णयित्वा यदेवमिदानीं प्ररूप्यते यथा त्रिवर्षपर्याय आचारप्रकल्पधरः उपाध्यायः स्थाप्यते, पञ्चवर्षपर्यायदशाकल्पव्यवहारधर इत्यादि। सैषा प्ररूपणा मार्जारादि न कल्पा। यथाहि मार्जारः पूर्वं महता शब्देनारटति पश्चादेवं शनैः शनैरारटति। यथा स्वयमपि श्रोतुं न शक्नोत्येवं त्वमपि पूर्वमुच्चैः शब्दितवान्। पश्चाच्छनैरिति सूरिराह। सत्यमेतत् केवलं यत्पूर्वमुक्तं तद्यथोक्तन्यायमङ्गीकृत्य संप्रति पुनः कालानुरूपं प्रज्ञाप्यते इत्यदोषस्तथाचात्र पुष्करिण्यादौ यौ दृष्टान्तौ तावेवाह ॥

पुक्खरिणी आयारे, आणयणा तेणगा य गीयत्थे।
आयारम्मि उ एए, आहरणा होंति नायव्वा ॥

पुष्करिणी वापी आचार आचारप्रकल्पस्य आनयनं स्तेनकाश्चौ–

रा गीतार्था एतानि चत्वार्याहणानि दृष्टान्याचार्येण ज्ञातव्यानि इमानि च॥

सत्थपरिण्णाछक्काय–अहिगमपिंडउत्तरज्झयणं।
रुक्खेयवसभगावो, गोहा सोही य पुक्खरिणी॥

शस्त्रपरिज्ञा षट्कायाधिगमः षट्जीवनिका इदमेकमुदाहरणं पिण्डः उत्तराध्ययनं उत्तराध्ययनानि वृक्षाः कल्पद्रुमादयः वृषभा वलीवर्दाः गावः गोधाः शोधिः अत्र दृष्टान्तः पुष्करिणी च सर्वसं–ख्यया त्रयोदश आहरणानि॥

एतानि व्याचिरव्यासुः प्रथमतः पुष्करिण्याहरणं भावयति।

पुक्खरिणीतो पुव्वं, जारिसया उण्ह तारिसा एहिं।
तहवि य ता पुक्खरिणी, ता हवंति कज्जइ कीरंति॥

पूर्वं सुषमसुषमाकाले यादृशः पुष्करिण्यो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ वर्ण्यन्ते इदानीं न तादृश्यस्तथापि च न ता अपि पुष्करिण्यो भवन्ति कार्याणि च ताभिः क्रियन्ते। आचारप्रकल्पानयनाहरणमाह।

आयारपकप्पो उ, नवमे पुव्वम्मि आसि सोधी य।
तत्तो व्विय निज्जूढो, इहाणि य तो किं न सुद्धि भवे॥

आचारप्रकल्पः पूर्वं नवमे पूर्वे आसीत्। शोधिश्च ततोऽभवत्। इदानीं पुनरिहाचाराङ्गे तत एव नवमान्निर्यूह्यानीतः ततः किमेष आचारप्रकल्पो न भवति किं वा तत शोधिर्नोपजायते। एषोऽप्या–चारप्रकल्पः। शोधिश्चास्मादवशिष्टा भवतीति भावः। अधुनास्तेनकदृष्टान्त-भावनार्थमाह॥

तालुग्घाडिणिं ओसो–वणादिविज्जाहिं तेणगा आसि।
इहिं ते उ न संती, तहा वि किं तेणगा न खलु॥

पूर्वं स्तेनकाश्चौरा विजयप्रभवादयस्तालोद्घाटिन्यवस्वापिन्या–दिभिरुपेता आसीरन् ताश्च विद्या इदानीं न सन्ति। तथापि किं खलु ते न भवन्ति भवन्त्येव तैरपि परद्रव्यापहरणादिति भावः। अधुना गीतार्थदृष्टान्तं भावयति।

पुव्वं चउदसपुव्वी, इण्हिं जहण्णो पकप्पधारीओ।
मज्झिमगपकप्पधारी, जह सो उ न होइ गीयत्थो॥

पूर्वं गीतार्थश्चतुर्दशपूर्वी अभवत्। इदानीं स किं गीतार्थो जघन्यः प्रकल्पधारी न भवति भवत्येवेति भावः। शस्त्रपरिज्ञादृष्टान्तमाह–

पुव्वं सत्थपरिण्णा, अधीयपढिया य होउ उद्दवणा।
इण्हिं छज्जीवणिया, किं सा उ न होउ उद्दवणा॥

पूर्वं शस्त्रपरिज्ञायामाचाराङ्गान्तर्गतायामधीतायामर्थतो ज्ञातायां पठितायां सूत्रत उपस्थापना अभूदिदानीं पुनः सा उपस्थापना षड्जीवनिकायां दशवैकालिकान्तर्गतायामधीतायां पठितायां च न भवति। भवत्येवेत्यर्थः। पिण्डदृष्टान्तभावनामाह।

वितितम्मि बंभचेरे, पंचम उद्देस आमगंधम्मि।
सुत्तम्मि पिंडकप्पि, इह पुण पिंडेसणाएओ॥

पूर्वमाचाराङ्गान्तर्गते लोकविजयनाम्निद्वितीयेऽध्ययने यो ब्रह्मच–र्याख्यः पञ्चम उद्देशकस्तस्मिन् यदामगिन्धिसूत्रम्। ''सव्वामगंधं परिण्णाय निरामगंधं परिव्वयय इति'' तस्मिन् सूत्रमोऽर्थतश्चाधीते पिण्डकल्पी आसीत्। इह इदानीं पुनर्दशवैकालिकान्तर्गतायां पिण्डैषणायामपि सूत्रोऽर्थतश्चाधीतायां पिण्डकल्पिकः क्रियते सोऽपि च भवति तादृश इति उत्तराध्ययने दृष्टान्तं भावयति।

आयारस्स उ उवरिं, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु।
दसवेयालियउवरिं, इयाणिं किं ते न होंती उ॥

पूर्वमुत्तराध्ययनानि आचारस्याचाराङ्गस्योपर्यासीरन्। इदानीं दशवैकालिकस्योपरि पठितव्यानि किं तानि तथा रूपाणि न भवन्ति भवन्त्येवेति भावः। वृक्षदृष्टान्तभावनामाह।

मत्तंगादी तरुवर, न संति इण्हिं न होंति किं रुक्खा।
महजूहाहिव दप्पिय, पुव्विं वसभाण पुण इण्हिं॥

पूर्वं सुषमसुषमादिकाले मत्तङ्गादयो दशविधास्तरुवराः कल्पद्रु–मा आसीरन् इदानीं ते न सन्ति किं त्वन्ये चूतादयस्ततः किं ते वृक्षा न भवन्ति तेऽपि वृक्षा भवन्तीति भावः। वृषभदृष्टान्तमाह। (महजूहाहिवेत्यादि) पूर्वं वृषभा महायूथाधिपा दर्पिकाः श्वेताः सुजाताः सुविभक्तशृङ्गा आसीरन् इदानीं ते तथाभूता न सन्ति किंतु पञ्चदशादि गोसंख्यातास्ततः किं ते यूथा न भवन्ति भवन्त्ये वेति भावः। अधुना गोदृष्टान्तभावनार्थमाह॥

पुव्वं कोडीबद्धा, जूहाओ नंदगोवमाईणं।
इण्हिं न संति ताइं, किं जूहाइं न हुंती उ॥

पूर्वं नन्दगोपादीनां गवां यूथाः कोटीबद्धाः कोटीसंख्याका आसीरन् इदानीं ते तथाभूता न सन्ति किं तु पञ्चदशादि गोसंख्याकास्तत्किं ते युथा न भवन्ति किंतु भवन्त्येवेति। अधुना योधदृष्टान्तभावनामाह॥

साहस्सी मल्ला खलु, महपाणा पुव्वं आसि जोहा उ।
ते तुल्ल नत्थि एण्हिं,किं ते जोहा न होंती तो॥

पूर्वं योधा महाप्राणाः सहस्रमल्ला आसीरन् इदानीं तेषां तुल्या न सन्ति किंत्वमी ततो हीनास्ततः किं ते योधा न भवन्ति भवन्त्येव कालौचित्येन तेषामपि योधकार्यकरणादिति भावः। शोधिदृष्टान्तमाह॥

पुव्विं छम्मासेहिं, स होउ परिहारेण सोही उ।
इण्हिं निव्वडियाहिं, पंचकल्लाणगाईहिं॥

पूर्वं षड्भिर्मासैः परिहारेण वा परिहारतपसा वा शोधिरासी त् इदानीं निर्विकृतिकादिभिरपि च शोधिः पञ्चकल्याणकदशकल्या–णकादिमात्रप्रायश्चित्तदानव्यवहारात् शोधिविषय एव। पुष्करिणी–दृष्टान्तमाह॥

किं व पुण एव सोही, जह पुव्विल्ला सुपच्छिमा सुं च।
पुक्खरिणीसुं वत्था, इयाणि सुज्झंति तह सोही॥

किं केन प्रकारेण पुनरत्राधुना एवं निर्विकृतिकादिमात्रेण शोधिर्भवति। सूरिराह। यथा पूर्वासु च पूर्वकालभाविनीषु (पुक्खत्ति) प्रभूतजलपरिपूर्णासु वस्त्राणि शुध्यन्तिस्म एवं पश्चिमास्वप्यधुना–तनकालभाविनीषु शुध्यन्ति तथा शोधिरपि पूर्वमिवेदानीमपि भवतीति एवं दृष्टान्तानभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनामाह॥

आयरियादि चोद्दस, पुव्वादि आसि पुव्विं तु।
एवं जुवाणरूवा, आयरिया हुंति नायव्वा॥

एवमन्तरोदितदृष्टान्तकदम्बकप्रकारेण यद्यपि पूर्वमाचार्यादयश्चतुर्दश पूर्वादयश्चतुर्दशपूर्वधरादय आसीरन् तथापीदानीमाचार्या उपलक्षणमेतत् उपाध्यायाश्च युगानुरूपा दशाकल्पव्यवहारधरादयस्तपोनियमस्वा-ध्यायादिषूद्युक्ता द्रव्यक्षेत्रकालभावोचितयतनापरायणा भवन्ति ज्ञातव्याः। संप्रति यावत्पर्यायस्य यावन्ति स्थानानि सूत्रेणानुज्ञातानि तस्य तावन्त्यसंमोहार्थमुपदर्शयिषुराह॥

तिवरिसएगट्ठाणं, दोतियट्ठाणा उ पंचवरिसस्स।
सव्वाणि विकिव्वो पुण, वोढुं वा एति ठाणाइं।

त्रिवर्षे त्रिवर्षपर्यायस्य एकमेवोपाध्यायलक्षणं स्थानमनुज्ञातं न द्वितीयमाचार्यत्वलक्षणमपि तस्याल्पपर्यायतया प्रभूतखेदसहिष्णुत्वाभावेनाचार्यपदयोग्यताया अभावात्। पञ्चवर्षस्य पञ्चवर्षपर्यायस्य द्वे स्थाने अनुज्ञाते तद्यथा उपाध्यायत्वमाचार्यत्वबहुवर्षवर्षपर्यायतया खेदसहत्वाविकृष्टेष्टवर्षपर्यायः पुनः सर्वाण्यपि स्थानानि वोढुं सक्नोति बहुतमवर्षपर्यायत्वात् ततस्तस्य सूत्रेणोपाध्यायत्वमाचार्यत्वं गणित्वं प्रवर्तित्वं स्थविरत्वं गणावच्छेदित्वं वाऽनुज्ञातम्। अथ कथं सर्वाणि यथोक्तानि स्थानानि वोढुं शक्नोति तत आह।

नो इंदियाण य कालेण, जायाणि तस्स दीहेण।
कायव्वेसु बहूसु य, अप्पा खलु भावितो तेण॥

तस्य अष्टवर्षपर्यायस्य दीर्घेणाष्टवर्षप्रमाणेन इन्द्रियनोइन्द्रियाणि जातानि भवन्ति कर्त्तव्येषु च बहूष्वात्मा खलु तेन भावितो भवति ततो योग्यत्वात्सर्वाण्यपि स्थानानि तस्यानुज्ञातानि।

निरुद्धपर्य्यायस्तद्दिवसमुद्देष्टुं कल्पते॥

(सूत्रम्) निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ तद्दिवसस्स आयरियत्ताए उद्दिसित्तए से किमाहु भंते ? अत्थि णं थेराणं तहारूवाइं कुलाइं कडाइं पत्तियाइं ठिज्जाइं वेसासियाइं समयाइं समुइकराइं अणुमयाइं बहुमयाइं भवति। तेहिं कडेहिं तेहिं पत्तिएहिं ठिज्जेहिं तेहिं विसासीएहिं समुइकरेहिं जेसे निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ आयरिय उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं॥ व्य०३ उ०।

अथास्य सूत्रस्य कः सम्बन्ध उच्यते।

उस्सग्गस्स ववादो, होति विवक्खो उ तेणिमं सुत्तं।
नियमेण विगिट्ठो पुण, तस्सासी पुव्वपरियातो॥

इहोत्सर्गस्य विपक्षप्रतिपक्षो भवत्यपवादस्तेन कारणेन ''तिवरिसपरियाए समणे निग्गंथे इत्यादि'' रूपस्योत्सर्गस्येदमपवादभूतं सूत्रमुच्यते। अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। निरुद्धो विनाशितः पर्यायोऽस्य स निरुद्धपर्यायः। श्रमणो निर्ग्रन्थः कल्पते युज्यते तद्दिवसं यस्मिन् दिवसे प्रव्रज्यार्थं प्रतिपन्नवान् तस्मिन्नेव दिवसे पूर्वपर्यायः पुनस्तस्य प्रभूततर आसीत्। तथाचाह। (नियमेणेत्यादि) नियमेन तस्य पूर्वपर्यायो विकृष्टो विंशति वर्षाण्यासीत् ततस्तद्दिवसं कल्पते। आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम्। अत्र शिष्यः प्राह। (से किमाहु? भंते!) स शब्दोऽथ शब्दार्थः। अथ किं कस्मात् कारणात् भदन्त! परमकल्याणयोगिन्! भगवन्त एवमाहुर्यथा तद्दिवसमेव कल्पते आचार्योपाध्याययोरुद्देष्टुं न खलु प्रव्रजितमात्रस्याचार्यत्वादीन्यारोप्यमाणानियुक्तान्यगीतार्थत्वात् अत्र सूरिराह। (अत्थि णमित्यादि) अस्तीति निपातो निपातत्वाच्च बहुवचनेऽप्यविरुद्धस्ततोऽयमर्थः सन्ति विद्यन्ते णमिति वाक्यालंकारे स्थविराणामाचार्याणां तथा रूपाणि आचार्यादिप्रायोग्यानि कुलानि तेन कृतानि गच्छप्रायोग्यतया निर्वर्तितानीत्यर्थः। येन यथा कालं तेभ्य आचार्यादिप्रायोग्यं भक्तमुपधिश्चोप-जायते। उपलक्षणमेतत् तेन केवलं तथा रूपाणि कुलानि कृतानि किंत्वाचार्यबालवृद्धग्लानादयोऽपि अनेकधा संग्रहोपग्रहविषयी कृता इति द्रष्टव्य न केवलं कुलानि तथारूपमात्राणि कृतानि किं तु (पत्तियाणित्ति) प्रीतिकराणि वैनयिकानि कृतानि (थेज्जाणित्ति) स्थेयानि प्रीतिकरतया गच्छचिन्तायां प्रमाणभूतानि। अथवा स्थियानीति किमुक्तं भवति। नैकं द्वौ वा वारौ प्रीतिकरणानि कृतानि किंत्वनेकश इति (वेसासियाणित्ति) आत्मनामन्येषां गच्छवासिनां मायारहितीकृततया विश्वासस्थानानि कृतानि विश्वासे भवानि योग्यानि वैश्वासिकानीति व्युत्पत्तेः अत एव सम्मतानि तेषु तेषु प्रयोजनेष्विष्टानि संमुदिकराणि अविषमत्वेन प्रयोजनकारीणि। सोपि च बहुशो विग्रहेषु समुत्पन्नेषु गणस्य संमुदितमकार्षीत्। संमुदिकृततया इष्टेषु च प्रयोजनेष्वनुकल्पेन मतान्यनुमतानि। तया बहूनां विखर्वजडवर्जानां सर्वेषामित्यर्थः। मतानि बहुमतानि भवन्ति तिष्ठन्ति शुभ्रं तस्य स्यादिदं रूपं ततो यद्यस्मात्तेषु कुलेषु तथारूपेषु कृतेषु प्रीतिकरेषु एवं तेषु स्थेयेषु तेषु वैश्वासिकेषु तेषु समुदिकरेष्वित्यपि भावनीयम् स श्रमणो निर्ग्रन्थो निरुद्धपर्यायोऽभवत् तेन कारणे न संकल्पते आचार्यतया उपाध्यायतया वा उद्देष्टुं तद्दिवसमिति। एष सूत्रसंक्षेपार्थः। व्यासार्थं तु भाष्यकृद्विवक्षुः प्रथमतः (सेकिमाहुभंतेइत्यादि) एतस्येदं व्या-ख्यानयति।

चोरएयतिवासादी, पूव्वं वन्नेउं दीहपरियागं।
तद्दिवसमेव इण्हिं, आयरियादीणि किं देह॥

चोदयति प्रश्नयति परो यथापूर्वं त्रिवर्षादिकं दीर्घं पर्यायं वर्ण-यित्वा किमिदानीं तद्दिवसमेव। आचार्यादीनि भावप्रधानोऽयं निर्देशः आचार्यत्वादीनि दत्थ। अत्र सूरिराह।

भण्णति तेहिं कायाइ, वेहियाणं तु उवहि भत्ताई।
गुरुबालासहुमादी, अणेगकारेहु वज्जिया॥

भण्यते अत्रोत्तरं दीयते तैराचार्यादिपदयोग्यैर्वैनयिकानां विनय-मर्हन्तीति वैनयिका आचार्यादयः तेषां कृताप्युत्पादितानि। उपधिभक्तानि। किमुक्तं भवति। तथारूपाणि स्थविराणां तैर्वैनयिकानि कुलानि कृतानि येन तेभ्यो यथाकालमुपधिर्भक्तं चोपजायते इति। एतेन ''अत्थिणं थेराणं तयारूपाणि कडाणीति'' व्याख्यातम्। न केवलं तैस्तथारूपाणि कुलानि कृतानि किं तु गुरुबालसहोदरादयआदिशब्दात् वृद्धग्लानादिपरिग्रहः। अनैक-प्रकारैरुपगृहीताः संग्रहोपग्रहाभ्यामुपष्टम्भे नीताः ''पत्तियाणीत्ति'' सुप्रतीतत्वान्न व्याख्यातम् तच्चेत्यत्र द्वितीयं व्याख्यानमाह।

ताइं पीतिकराइं, असई दुव्वत्ति होसि थेज्जानि।
संकियअणवेक्खाए, जिम्हजढा ईति विस्संभो॥

अथ वेति प्रतीतं प्रथमव्याख्यानापेक्षया व्याख्यानान्तरोपदर्शने स्थेयानीति किंत्वसकृदिति। तथा वैश्वासिकानीति कोऽर्थः अनपेक्षया स्वपरविशेषाकरणेन प्रभूततराणां संचिताङ्गे नेत्यर्थः। वेष्याणि विशेषत एषणीयान्यभिलषनीयानि कृतानि यतस्तानि जिह्मजढानि जिह्मं मायया रहितानि कृतानीति तेषु विश्रम्भो विश्रंभस्थानत्वास्वाद्यव्यपेक्ष्याणीति संमुइकराणीति व्याख्यानार्थमाह।

सव्वत्थ अविसमत्ते, ण कारगो होइ संमुदी नियमा।
बहुसो य विग्गहेसुं, अकासि गणसम्मुदिं सो उ॥

सर्वत्र सर्वेषु प्रयोजनेषु यो नियमादविषमत्वेनाकुटिलतया कारको भवति (सम्मुदित्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् संमुदिकरः तान्यपि कुलानि तेन तथारूपाणि कृतानि न केवलं तेन कुलानि समुदिकराणि कृतानि। किंतु सोऽपि तु शब्दोऽपिशब्दार्थः। बहुशो बहुभिः प्रकारैर्विग्रहेषु समुत्पन्नेषु तदुपशमनतो गणस्य गच्छस्य सम्मुदिमकार्षीत् शेषाणि तु पदानि सुप्रतीतत्वान्न व्याख्यातानि॥

थिरपरिचियपुव्वसुतो, सरीरयामावहारविजढो उ।

पुव्विं विणीयकरणो, करेइ सुत्तं सफलमेयं ॥

स्थिरो नाम अचपलः । परिचितं पूर्वस्मिन्पूर्वपर्याये श्रुतं यस्य स परिचितपूर्वश्रुतः । यदि वा प्रत्यागतस्यापि स्वाभिधानमिव परिचितं पूर्वपठितं यस्य स तथा। ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः। तथा शरीरस्य स्थानप्राणस्तस्यापहारोऽपलपनं तेन विजढो रहितः शरीरस्थान-पहाररहितः। किमुक्तं भवति। पूर्वतेन सारं वलं वैयावृत्यं वाचनादिषु परिहारयितमिति तथा पूर्वं पूर्वपर्याये विनीतानि विशेषतः संयमयोगेषु नीतानि करणानि मनोवाक्कायलक्षणानि येन स विनीतकरणः संयमयोगादिकं सर्वं तेन पूर्वमपरिहीनं कृतमिति भावः । य ईदृशः पूर्वमासीत् । स एतत्सूत्रं सफलं करोति । ईदृशस्य तद्दिवसमाचार्य-त्वमुपाध्यायत्वं वा उद्दिश्यते न शेषस्य ततो न कश्चित्पूर्वापरविरोध इति भावः।

कह पुण तस्स निरुद्धो, परियातो होज्ज तद्दिवसतो उ।
पुव्वा कडसावेक्खो, सण्णाईहिं बलानीतो ॥

कथं केन प्रकारेण तस्य पूर्वः पर्यायो निरुद्धः कथं तावद्दैवसिक-स्तद्दिवसभावी पर्यायोऽभवत् । अत्रोत्तरमाह (पुव्वक डेत्यादि) स्वज्ञातिभिः स्वकीयैः स्वजनैः सापेक्षो गच्छसापेक्षः सन् बलान्नीतः सोभूदतः सर्वं संपृष्टनमभूत् एतदेव प्रपञ्चयन्नाह।

पव्वज्जअप्पपंचम, कुमारगुरुमादिउवहिते णयणं।
निज्जं तस्स निकायण, पव्वतिते तद्दिवसपुच्छा ॥

राजा कोप्यमात्यपुरोहितसेनापतिश्रेष्ठिसहितो राज्यमनुशास्ति तेषामेकैकः पुत्रस्तत्र राजपुत्रो राज्ञा राजा भविष्यतीति संभावितः अमात्यपुत्रो अमात्येनामात्यत्वपुरोहितपुत्रः पुरोहितेन पुरोहितत्वे सेनापतिपुत्रः सेनापतिना सेनापतित्वे श्रेष्ठिना श्रेष्ठित्वे तेऽपि पञ्चा पि सह क्रीडन्ति । अन्यदा कुमारो राजपुत्र आत्मपञ्चमोऽमात्यपु रोहितसेनापतिश्रेष्ठिपुत्रैः सहेत्यर्थ प्रव्रज्यामगृहीत् । सर्वे च तेअतीव बहुश्रुता जाता ग्रहणशिक्षामासेवनाशिक्षां चातिशिक्षितवन्तः कुलानि च प्रीतिकरादिरूपाणि कृतानि। आचार्येण च तेगुर्वादयः संभावितः। तद्यथा राजपुत्र अचार्यपदे अमात्यपुत्रउपाध्यायत्वे पुरोहितपुत्रः स्थविरत्वे सेनापतिपुत्रो गणित्वे श्रेष्ठि पुत्रो गणावच्छेदित्वे संभावितः राजादीनां चान्ये पुत्रा न विद्यन्तेततस्ते सूरिसमीपमागत्य विज्ञापयन्ति यथा नयाम एतान् स्वस्थानं पश्चादेतैरेव सह समागत्य वयं प्रव्रजिष्यामः एवमुपधिना मातृस्थानेन विज्ञाप्य तेषां ते नयनमुपकरणं कुर्वन्ति । तस्य च राजकुमारस्यात्मपञ्चमस्य नीयमानस्याचार्यो निकाचनं करोति यथा सम्यक्त्वे नियमतोऽप्रमत्तेन भाव्यं अत्र शिष्यस्य पृच्छा भूयः। प्रव्रजिते सति राजकुमारादौ किमिति तद्दिवसं यस्मिन् दिवसे प्रव्रज्या प्रतिपन्ना तस्मिन्नेव दिने आचार्यादिपदस्थापनाम तोत्तरं वक्तव्यमिति भावार्थः। इति उपधिना तेषां नयनमुक्तं संप्रति प्रकारान्तरेणापहरणमाह।

पियरो व तावसादी, पव्वज्जिउमणा उ ते फुरावित्ति।
ठविया एयादीसुं, ठाणेसुं ते जहा कमसो ॥

पितरो वा तेषां। तापसादयः तापसादिरूपतया प्रव्रजितुम नसः। तान् राजपुत्रादीन् (फुरावित्ति त्ति) देसीपदमेतत् अपहारयन्ति। इत्थं च नीताः सन्तस्ते स्वपितृभिर्यथाक्रमं राजादिषु स्थानेषु स्थापिताः।

निया वि फासुभोजी, पोसहसालायपोरिसीकरणं।
धुवलोयं च करेंता, लक्खणपाढेय पुच्छंती ॥

जो तत्थ अमूढ लक्खा, रिउकाले तीए एक्कमेक्कं तु।
उप्पाएऊण सूयं, ह्वावियं ताहे पुणो हों ति ॥

नीता अपि ते राजकुमारादयः प्रासुकभोजिनः पौषधशालायां प्रतिदिवसं सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्याश्च करणं ध्रुवमवश्यं लोचं च ते कुर्वन्ति। ब्रह्मचर्यं च परिपालयन्ति। नवरं लक्षणपाठकान् दिने पृच्छन्ति। कस्या महिलाया ऋतुकाले गर्भो लगतीति एवं दृष्ट्वा यासां महिलानां लक्षणपाठका भवन्ति तथैतासामृतुकाले नियमनात् गर्भो लगिष्यतीति ततो या ऋतुकाले अमूढलक्षाऋतुकालस्य स्वस्य ज्ञात्री तस्यामात्मीयायामेकैकं वारं गत्वा बीजं निक्षिपन्ति। एवं चात्मीयमात्मीयं पुत्रमुत्पाद्य यदा यदायो यो स समर्थो जायते। तदा तदा तं तं स्वस्वस्थाने स्थापयीत्वा पुनरागच्छन्तीति।

अब्भुज्जयमेगपरं, पडिवज्जिउकामथेरअसति अन्ने।
तद्दिवसमागतेसुं, ठाणेसु ठवंति तस्सेव ॥

यस्मिन् दिवसे ते प्रत्यागतास्तस्मिन्नेव दिवसे स्थविरा आचार्या अभ्युद्यतमेकतरं विहारं जिनकल्पिकं यथालन्दकल्पविहारं वा प्रतिपत्तुकामाः स्थविरत्वात्। अन्यगणधारणेऽसमर्था स्तादृशो न विद्यन्ते ततस्तद्दिवसमागतान् राजकुमारादीन् तेष्वाचार्यत्वादिषु स्थानेषु स्थापयन्ति ''पुव्वयते दिवसपुव्वे'' यदुक्त तत्र तामेव पृच्छां भावयति।

कह दिज्जइ तस्स गणो,तद्दिवसं चेव पव्वइगस्स।
भण्णइ तम्मि ठविए, होंति सुबहुगुणाउ इमे ॥

कथं तस्य राजकुमारस्य प्रव्रजितस्य तद्दिवसमेव यस्मिन् दिने प्रव्रज्या प्रतिपन्ना तस्मिन्नेव दिने गणो दीयते । अत्र सूरिराह भण्यते तस्मिन् स्थापने सुष्ठु अतिशयने बहवो गुणा इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति तानेवाह।

साहु विसीयमाणो, अण्णगेलण्णभिक्खउवगरणा।
ववहारइत्थियाए, वाएय अकिंचणकरे य ॥
एते गुणा हवंती, तज्जायाणं कुटुंबपरिवड्ढी।
ओहाणं पि य तेसिं, अणुलोमुवसग्गतुल्लं तू ॥

साधुर्विषीदन् तान् तथाभूतान् दृष्ट्वा स्थिरो भवति। आर्यिका अपि तेषु स्वचेतसि स्थिरा उपजायन्ते (गेलण्णत्ति) ग्लानत्वे साधुनामौषधं सुलभं भवति । वैद्योऽपि तेषां प्रभावतोऽनुकूलां क्रियां करोति । यथा एते राजादिपुत्राः तेषां चामी शिष्या इति । तथा भिक्षा उपगरणमपि साधूनामतिसुलभम् (ववहारो इत्थिया) एते स्त्रिया अपहत्तायास्तेषां भयतो व्यवहारो लभते इयमत्र भावना। काचित् रूपवती कुमारश्रमणा केनापि राज्ञा गृहीता स्यात् ततस्तेषां गतानां भयेन सा मुच्यते इति वादे च तद्वीरवात्साधवोऽपरिभूता भवन्ति (अकिंचणकारयचि) सोऽपि कश्चित्साधूनां प्रत्यनीकः सोऽपि तेषां राजादिकुमारप्रव्रजितानां भयतो न किञ्चित्करोति अथवा किंचनानां साधूनां यदि कथमपि केनाऽप्यर्थजाते प्रयोजनमुपजायते तर्हि तत्सर्वं लोकः प्रायोऽप्रार्थित एव करोति। तदेवमेते अनन्तरोदिता गुणास्तज्ज्ञातानां राजादि जातीयानां यतोऽतस्ते निरुद्धपर्यायाः प्रत्यागताः प्रव्राजितास्तद्दिवस एवाचार्यादिपदेषु स्थाप्यन्ते । अयं च गुणः कुटुम्बपरिवृद्धिस्तथाहि यदि नामैते तथाभूतं राज्यादिकमपहाय धर्म्मं समाचरन्ति ततः किं तेषु तुच्छेषु भोगोपभोगेषु एवमन्येपि संयमे निष्क्रमन्ति ततो भवति गच्छस्थ महती वृद्धिः ।

एतेषामवधानमुत्प्रव्राजनं तदप्यनुलोमोपसर्गतुल्यम्। किमुक्तं भवति। यथा कस्याऽपि साधोः कश्चिदनुलोमान् उपसर्गान् प्रकृतवान् सचैवं चिन्तयति। यदि परमनेनोपायेनाहं मुच्ये नान्यथा ततः एवं विचिन्त्याशठभावः सपरिसेवेते स च तथाकृतपरिसेवनोऽप्यशठभाव इत्यखण्डचारित्र इति व्यवह्रियते॥ एवमेतेऽप्यखण्डचारित्रा एव तत्वतो मन्तव्याः एतदेव लेशतो व्याख्यानयन्नाह।

साहूणं अज्जाण य, विसीयमाणा ण होंति थिरकरणं।
जइ एरिसा वि धम्मं, करेंति अम्हं किमंग पुण॥

साधूनामार्यिकाणां च विषीदतां स्थिरकरणं भवति। तथा हि केचित्साधवो भोगेषु विषीदन्तस्तान् दृष्ट्वा एवं चिन्तयति। यदि तावदीदृशा अपि विपुलराज्यादिका अमी देवकुमारिकाः प्रख्या-भिरपि निजमहिलाभिरुपसर्ग्यमाणा धर्म्मं कुर्वन्ते न पुनर्निजं ब्रह्मचर्यं भ्रंशितवन्तोऽत एव ते तद्दिवसं एवाचार्यादिपदेषु स्थापिताः किमङ्ग पुनरस्माभिः सुतरां धर्म्मे समाचरणीयम्। विभवादिपरिभ्रष्टत्वादिति। आर्यिका अपि चिन्तयति। यदि तावदीदृशाः खल्वस्माकं बान्धवाः संपन्नाः कथममन्दपुण्या एतेषां सुखमपि निरीक्ष्यन्ते न सीदन्ति खल्वेतादृशधीरपुरुषपरिगृहीता आर्यिका केवलमपरिभूताः सदा वर्त्तन्ते॥

किंच तत्थ ठविएसु, लोगो भयं गौरवं करेति।
गेलण्णोसहिमाई, सुलभं उवकरण भत्तादी॥

किं च तत्र तेषु राजकुमारादिष्वाचार्यादिपदेषु स्थापितेषु लोको भयं गौरवं बहुमानं च कुर्वते। ग्लानत्वे भवत्यौषधादिकं सुलभमुपकरणभक्तादि च।

संजतिमादीगहणे, ववहारे होइ दुप्पधंसो उ।
तग्गारवा उ वादे, हवंति अपराजिया चेव॥

संजत्यादीनामादिशब्दात् तथाविधक्षुल्लकादिपरिग्रहः। ग्रहणे अपहारे भवत्यसौ राजकुमारादिदुष्प्रधृस्यः। तथा तद्गौरवात् वादे भवन्ति साधवोऽपराजिता एव।

पडिणीयाअकिंचिकरा, होंति अवत्तव्वो अहुजाए य।
तज्जायदिक्खिएणं, होइ विवड्ढी वि य गणस्स॥

प्रत्यनीकाः अकिञ्चित्करा भवन्ति अर्थजाते च समुत्पन्न कश्चिदपि वक्तव्यो न भवति। किंतु सर्वोऽप्यप्रार्थित एव यथोचित्यं करोति। तथा तेन तज्जातेन राजादिजातेन तद्दिवस एवाचार्यादिपदस्थापितेन गणस्य गच्छस्य वृद्धिर्भवति। शेषं सुप्रतीतत्वान्न व्याख्यातम्।

(सूत्रम्) निरुद्धवासपरियाए समणे निग्गंथे आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए समुत्थे य कप्पति, तस्स णं कप्पस्स देसे अमिज्जेए भवंति से आहिज्जि सामिति अहिजिज्जा एवं से कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए से य अहिज्जे सामित्ति णो अहिज्जा आ एवं से नो कप्पइ आयरियउवज्झा-यत्ताए उद्दिसित्तए १०।

निरुद्धवासपरियाए समणे निग्गंथे इत्यादि अस्य सम्बन्धमाह

अपवदिइं तु निरुद्धं, आयरियत्तं तु पुव्वपरियाए।
इमतो पुण अववातो, असमत्तसुयस्स तरुणस्स॥

निरुद्धे। विनाशिते पूर्वपर्याये सत्याचार्यत्वमपवदितुं प्रव्रज्या-दिवस एवाचार्यत्वमनुज्ञातुमनन्तरसूत्रेऽयमनेन सूत्रेणाभिधास्यमानः पुनरपवादोऽसमाप्तश्रुतस्य तरुणस्य। किमुक्तं भवत्यल्पविषयपर्यायस्यासमाप्तश्रुतस्यापि चापवादतो गणधरत्वमनुज्ञायते ततोऽनेनाप्यपवादोऽभिधानतो भवति पूर्वसूत्रेणास्य सम्बन्धः। अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या निरुद्धो विनाशितो वर्षपर्यायो यस्य स निरुद्धवर्षपर्यायः। एतदुक्तं भवति। त्रिषु वर्षेषु परिपूर्णेषु यस्य निरुद्धः पूर्वपर्यायो यदि वा पूर्णे त्रिवर्षे समाप्तश्रुतस्य निरुद्धवर्षपर्याय इति। श्रमणो निर्ग्रन्थः कल्पतेआचार्योपाध्यायतया। आचार्यतया उपाध्यायतया वा उद्देष्टुं क्रेत्याह समुच्छेदकल्पे आचार्ये कालगते अन्यस्मिंश्च बहुश्रुते लक्षणसंपूर्णेऽसति तस्य च आचार्यतया उपाध्यायतया उद्देष्टुमपि तस्य आचारप्रकल्पस्य निशीथाध्ययनस्य देशोऽधीतो भवति सूत्रमधीतमर्थोऽद्यापि नाधीयते यदि वार्थो न परिपूर्णोद्याप्यधीत इत्यर्थः। (सेयइत्यादि)स चेदमधीतवान् पाश्चात्यं स्थितं देशमध्येऽधीयते तत एवं सति कल्पते आचार्योपाध्या यतया उद्देष्टुम् यदि पुनः सोऽध्येष्ये इति चिन्तयन्नपि नाधीयते इति संभाव्यते। तत एवं सति न कल्पते। आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम् एष सूत्रसंक्षेपार्थः। तत्राल्पवर्षपर्यायस्यासमाप्तश्रुतस्यापवादतो गणधरपदानुज्ञानार्थमिदं सूत्रमित्युक्तमतोऽल्पवर्षपर्यायत्वं समाप्तकृतत्वं च भाष्यकृद्भावयति।

तिण्णी जस्स अ पुण्णा, वासापुण्णेहि वा तिहिउतं तु।
वासेहिं निरुद्धेहिं, लक्खणजुत्तं पसंसंति॥

यस्य त्रीणि वर्षाणि व्रतपर्यायतयाऽद्याप्यपरिपूर्णानि एतस्यामवस्थायां यदि वा त्रिषुपरिपूर्णेषु तस्य तन्निरुद्धवर्षपर्यायत्वमभवत्। स त्रिषु पर्णेषु अपूर्णेषु वा वर्षेषु निरुद्धेषु आचार्ये कालगते अन्यो बहुश्रुतोऽपि लक्षणसंपूर्णो न विद्यते सचासमाप्तश्रुतोऽपि लक्षणयुक्तो ग्रहणधारणासमर्थश्चेति स्थाप्यते। बहुश्रुतोप्यन्यो न स्थाप्यते किं तु सोऽसमाप्तश्रुतोऽपि लक्षणयुक्तः। किं कारणमत आह। लक्षणेत्यादि। लोके वेदे समये च विशारदा नायकत्वपदाध्यारोपे प्रशंसन्ति। लक्षणयुक्तं नेतरं बहुश्रुतमपि ततः स एव स्थाप्यते। अत्र पर आह।

किं अम्ह लक्खणेहिं, तवसंजमसुट्ठियाणसमणाणं।
गच्छविवड्ढिनिमित्तं, इच्छिज्जइ सो जह कुमारो॥

किमस्माकं श्रमणानां तपसंयमसुस्थितानां लक्षणैः केवलं लक्षणविहीनोऽपि बहुश्रुतः स्थाप्यतां येनाऽस्माकं स्वाध्यायवृद्धिर्भवति। आचार्य आह। सोऽल्पश्रुतोऽपि लक्षणयुक्ततया गणधरपदस्थापनायामिष्यते गच्छविवृद्धिनिमित्तं यथा राज्यवृद्धिनिमित्तं राज्ये कुमारः। एतदेव भावयति॥

बहुपुत्तो नरवई, सामुद्दं भणति कं ठवेमि निवं।
दोसगुणएगणेगे, सो वि य तेसिं परिकहेइ॥

कोऽपि बहुपुत्रको नरपतिः सामुद्रिकं सामुद्रलक्षणवेत्तारं भणति। तथा कमहं कुमारं नृपं स्थापयामि एवमुक्तः सोऽपि तेषां कुमाराणां यस्य दोषा गुणा वा एकेऽनेके च विद्यन्ते तत्सर्वं परिकथयति तत्र दोषा इमे॥

निद्धूमगं च डमरं, मारीदुब्भिक्खचोरपउराई।
धणधन्नकोसहाणी, बलवति पच्चंतरायाणो॥

निर्धूमकं नाम अपलक्षणं यत्प्रभावतो राज्यमनुशासति रन्धनीयमेव न भवति डमरं यद्वशाद्राज्यं डमरबहुलं भवति। प्रभूतस्वदेशोत्थोपप्लवा एवोपजायन्ते इत्यर्थः। मारिर्यद्वशान्मारिदोषोपहतं प्रचुरं दुर्भिक्षमुपयाति। चोरप्रचुरं यद्बहवश्चौरा उच्छलन्ति। धनहानिर्यतः सर्वत्र धनक्षत्रः संभवति। धान्यहानिर्य-

त्प्रभावाद्वृष्टेऽपि मेघे सस्यनिष्पत्तिस्तादृशी नोपजायते। कोशहानिर्यतः कोशक्षयः बलवत्प्रत्यन्तराजकं यतो बलवन्तः प्रत्यन्तराजाः सर्वे भवन्ति एते कस्याप्येकः कस्याप्यनेके दोषाः अधुना गुणमाह॥

खेमं सिवं सुभिक्खं, निरुवसग्गं गुणेहिं उववेयं।
अभिसिंचंति कुमारं, गच्छे वि तयाणुरूवंतु॥

क्षेमं नाम सुलक्षणं यद्वशात्सर्वत्र राज्ये नीरोगता शिवं यतः सर्वत्र कल्याणं सुभिक्षसंभवः। निरुपसर्गा यतः सकलेऽपि देशे मारिडमराद्युपसर्गासंभवः। एतेऽपि गुणाः कस्याप्येकः कस्याप्यनेके कस्याऽपि सर्वे तत्र यथा सर्वथा दोषोपेतमधिकृतैश्च गुणैः सर्वैरप्युपेतं कुमारं राजामात्यादयो राज्येऽभिषिञ्चन्ति तथा गच्छेऽपि तदनुरूपं राजकुमारानुरूपं सर्वथा दोषविनिर्मुक्तमेकान्ततो गुणैरुपेतमाचार्यादिपदे। सिञ्चन्ति एतदेव स्पष्टयति॥

जह ते रायकुमारा, सुलक्खणा जे सुहा जणवयाणं।
संतमविसुयसमिद्धं, नच वेंति गुणे गुणविहूणं॥

यथा ते राजकुमाराः सलक्षणा ये स्थापिताः सन्तो जनपदानां शुभाः। कल्याणकारिणः त एव स्थाप्यन्ते न शेषास्तथा सूरयोऽपि गच्छवृद्धिमपेक्षमाणाः सन्तमपि श्रुतसमृद्धं गुणविहीनं न गणे स्थापयिन्त॥

लक्खणजुत्तो जइ वि हु, न समिद्धसुतेण तह वि तं ववए।
तस्स पुण होति देसो, असमत्तो पकप्पनामस्स॥

लक्षणयुक्तो यद्यपि हु निश्चितं स्थापयेत्। तस्य पुनर्देशो भवत्यसमाप्तः॥ प्रकल्पनाम्नो निशीथाध्ययनस्य कथं पुनर्देशोऽसमाप्त इत्याह॥

देसो सुत्तमधीतं, न तु अत्था अत्थतो व असमत्ती।
सगणे अणरिहगीता, सतीपगिण्हेज्जमेहिंतो॥

प्रकल्पं द्विधा शरीरं सूत्रमर्थश्च। तत्र देशः सूत्रमधीतं नत्वर्थः। अथवा अर्थोऽपि कियानधिगतः केवलमर्थतः समाप्तिर्नाभूत्। ततो ये स्वगणे आचार्यलक्षणविहीनतया गीतार्था अपि सन्तोऽनर्हाः आचार्यपदायोग्यास्तेभ्यः आचार्यपदोपविष्टः सन्नर्थं गृह्णीयात्। अथ स्वगणे गीतार्था न विद्यन्ते। तर्हि तेषामसत्यभावे एभ्यो वक्ष्यमाणेभ्यो गृह्णीयात्तानेवाह।

संविग्गमसंविग्गे, सारूवियसिद्धपुत्तपच्छिन्ने।
पडिक्कंत अब्भुत्थिए, संती अन्नत्थ तत्थेव॥

स्वगणे गीतार्थानामभावे अन्येषां सांभोगिकानां समसुखदुःखानां गीतार्थानामन्तिके गत्वाऽधीते तेषामप्यभावेऽन्यसांभोगिकानां गच्छं प्रविश्य पठति। तेषामप्यभावे पार्श्वस्थादीनां संविग्नपाक्षिका–णामन्तिके केवलं तत्संयमयोगेष्वभ्युत्थाप्य एतावता संविग्नेति व्याख्यातम्। अधुना असंविग्नेत्यादि व्याख्यायते।असंविग्नान् सारूपिकान् संयतरूपधारिणः सिद्धपुत्रप्रच्छन्नान् सिद्धपुत्रान् पश्चात्कृतांश्चाश्रयेत्। कथंभूतानित्याह प्रतिक्रान्ताभ्युत्थितान् असंयमव्यापारान् प्रतिक्रान्तान् संयमं प्रत्यभ्युत्थितान् तेषामप्यसति अभावे अन्यत्र यत्र ते न ज्ञायन्ते तत्र गत्वा तेषामन्तिके अधीते नान्यत्र तेषामगमने तत्रैव पठेत् यत्र ते स्वव्यापारेण स्थिता वर्त्तन्ते। इयमत्र भावना पार्श्वस्थादीनां संविग्नपाक्षिकाणामभावे ये पूर्वं संविग्ना गीतार्था आसीरन् तेषां पश्चात्कृतानां पुनः प्रतिक्रान्ता–भ्युत्थितानामन्तिके गृह्णीयात्तेषामप्यभावे संयमयोगं प्रत्यभ्युत्थितानां सिद्धपुत्राणामन्तिके तेषामप्यभावे अन्यत्र तान् संयतरूपकान् कृत्वा तेषामन्तिके अन्यत्रागमने तत्रैव तान् तथारूपान् कृत्वा सागारिकाणा–मभावे तेषामन्तिकेऽधीते एतदेवाह।

सगणे परगणे वा, मणुण्णअण्णेसिं वा वि असतीए।
संविग्गपक्खिएसुं, सरूवि सिद्धे सु पढमं तु॥

स्वगणे गणधरपदानर्हगीतार्थानामन्तिके परगणे वा मनोज्ञे वा साम्भोगिके तदभावे अन्येषां वा असाम्भोगिकानामन्तिके तेषा–मप्यसत्यभावे संविग्नपाक्षिकेषु पार्श्वस्थादिषु प्रथममेव प्रतिक्रा–न्ताभ्युत्थितेषु तेषामप्यभावे सरूपिषु संयतरूपिषु प्रतिक्रान्ता–भ्युत्थितेषु पश्चात्कृतेषु तेषामप्यभावे प्रथममेव स्वरूपिषु सिद्धेषु सिद्धपुत्रेषु एतत्प्रतिक्रान्ताभ्युत्थितानधिकृत्योक्तं तदभावे अन्यत्र विधिमाह।

मुंडं च धरेमाणे, सिहं च फेडं च अणिच्छससिहे वि।
लिंगेण मसागारिए, वंदणगादीण हावें ति॥

ते पश्चात्कृतादयो यदि न प्रतिक्रान्ता अभ्युत्थिताः किं तु लिङ्ग–तो गृहिस्था वर्तन्ते। अन्यत्र गत्वा तान् मुण्डं च धरमाणान् धारयतः कारयति। यदि पुनः सशिरवाकाः सन्ति ततः शिखां स्फेटयति। अथ शिखास्फेटनं ते नेच्छन्ति ततः सशिखानपि स्थापयित्वा इत्वरं श्रमणलिङ्गं तेषां समर्प्पयन्ति। व्याख्यानवेलायां च चोलपट्टकं मुखपोतिकां च ग्राहयन्ति तेषामपि तथा भूतानां पार्श्वे पठता यथा प्रतिरूपश्रुतविनयः प्रयोक्तव्यः। तेषु न वारणीयः। अथ ते अन्यत्र गमनं नेच्छन्ति तर्हि तत्रैवासागारिके सागारिकसंपातरहिते प्रदेशविशेषे लिङ्गेन रजोहरणमुखपोत्तिकादिना श्रमणरूपधारिणः कारयित्वा पठनीयम्। ते च तत्रापि तथा पठन्तो न वन्दनादीनि हापयन्ति॥

आहारउवहिसेज्जाए, समणमादीसु होइ जइयव्वं।
अणुमोयणकारावण–सिक्खत्तिपदम्मि तो सुद्धो॥

तेन तेषां समीपे पठनाहारोपधिशय्यानामेषणादिषु भवति यति–तव्यम्। तदाऽनुमोदने कारापणे च न च कारणकारापणानुमोदनदोषैः स परिगृह्यते। यतः शिक्षा मयाऽस्य समीपे गृह्यते इति द्वितीये पदे वर्तते। ततः स शुद्ध इति। इयमत्र भावना। यदि स पार्श्वस्थः पश्चात्कृतादिः पाठयन्नात्मनः आहारोपध्यादिकमात्मनैवोत्पादयति ततः सुन्दरम्। आत्मना नोत्पादयति। तत आह।

चोयइ से परिवारं, अकारमाणं भणति वा सद्धे।
सव्वोच्छित्तिकरस्स हु, सुयभत्तीए कुणह पूयं॥

से तस्य परिवारं विनयमकुर्वन्तं चोदयति प्रज्ञापयति। यथा महदिदं ज्ञानपात्रमतः क्रियतामस्योत्कृष्टाहारसंपादनेन विनय इति परिवारस्याभावे श्राद्धाद्यासिद्धपुत्रपुराणेतररूपान् भणति यथा अव्यवच्छित्तिकरस्यास्य श्रुतभक्त्या कुरुत पूजामिति। एतेनानु–मोदनकारापणे व्याख्याते। संप्रति स्वयमुत्पादनमाहारादीनां भावयति॥

दुविहा सत्ती एसिं, आहारादी करेंति ते सव्वं।
पणहाणीए जयंतो, अट्टत्ताए वि एमेव॥

द्विविधस्य प्रतिपरिचारकस्य सिद्धपुत्रादेश्चेत्यर्थः। असत्यभावे तेषां पार्श्वस्थपश्चात्कृतादीनामाहारादिकं स सर्वमात्मना करोति। तत्रापि स प्रथमतः शुद्धमुत्पादलाभे पञ्चकपरिहान्या यतमानोऽशुद्धमपि पञ्चकपरिहानियतनानामशुद्धालाभे पञ्चकप्राय-श्चित्तस्थानप्रतिसेवनात् उत्पादयति तदसंभवे दशकप्रायश्चित्त

स्थानप्रतिसेवनात् एवं तावत् यावच्चतुर्गुरुकमसंप्राप्तः । तथापि से तस्योत्पादयति। एवमेवात्मार्थ पञ्चकपरिहान्या यतते। किमुक्तं भवति। उद्गमादिदोषत्रयशुद्धमलभमानः पञ्चकादियतनया त्रिभिरपि दोषैरशुद्धं गृह्णाति स तथा कुर्वन्नपि ज्ञाननिमित्तं प्रवृत्तत्वात् कृतयतनाविषय-पुरुषकारत्वात् रागद्वेषविरहितत्वाच्च शुद्ध इति (आचार्योपाध्यायादिषु मृतेषु नवडहरस्य तत्पदे स्थापना)

(सूत्रम्) निग्गंथस्स णं णवडहरतरुणगस्स आयरियउव-ज्झाए विसंभेज्जा णो से कप्पइ अणायरियउवज्झायस्स होत्तए कप्पइ से पुव्वआयरियं उद्दिसाविता ततो पच्छा उवज्झायं से किमाहु भंते दुसंगहिए समणे निग्गंथे तं जहा आयरिएणं उवज्झाएण य ॥

निग्गंथस्सेत्यादि अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह ॥

आयरियाणं सीसो, परियातो वावि अह कितो एस ।
सीसणकेरिसाण व, ठाविज्जइ सो उ आयरिओ ॥

पूर्वसूत्रे आचार्यस्थापनीय उक्तः । आचार्याणां च शिष्या भवन्तीति तद्वक्तव्यतार्थमिदं सूत्रम् अथवा पूर्वसूत्रेषु पर्यायोऽधिकृतोऽस्मिन्नपि च सूत्रे एव पर्यायस्तथा च ''नवडहरतरुणग्रहणं'' यदि वाऽनन्तरसूत्रे य आचार्यः स्थापनीयः उक्ताः स कीदृशानां शिष्याणां स्थाप्यते । इतीदमनेन सूत्रेणोच्यते। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या निर्ग्रन्थस्य णमिति वाक्यालङ्कारे नवडहरतरुणस्य नवस्य डहरस्य तरुणस्य वा आचार्यसहित उपाध्याय आचार्योपाध्यायः। आचार्य उपाध्यायश्चेत्यर्थः । विष्कम्भो यावन्म्रियते ततः से तस्य नवडहरतरुणस्थानाचार्यो-पाध्यायस्य सतो भवितुं वर्तितुं न कल्पते किं तु पूर्वमाचार्यमुद्देशाः स्थापयित्वा ततः पश्चादुपाध्यायमुद्देशा अप्येवमाचार्योपाध्यायस्य सतो भवितुं कल्पते । से किमाहुः । से शब्दोऽथशब्दार्थः । अथ भदन्त ! किं कस्मात् कारणात् भगवन्त एवमाहुः सूरिराह । द्वाभ्यामाचार्योपा-ध्यायाभ्यां संगृहीतो द्विसंगृहितः श्रमणो निर्ग्रन्थः सदा भवति । तद्यथा आचार्येणोपाध्यायेन च एष सूत्रसंक्षेपार्थः व्यासार्थं तु भाष्यकृद्विवक्षुर्नवादिशब्दार्थानामर्थमाह

तिवरिसो होइ नवो, आसोलसगं तु डहरगं वेंति ।
तरुणे चत्तासत्ततरुण, मज्झिमो थेरतो सीसो ॥

प्रव्रज्यापर्यायेण यस्य त्रीणि वर्षाणि नाधिकमित्येष त्रिवर्षो भवति नवः तन्नव पर्यायेण चत्वारि वर्षाण्यारभ्य यावदाषोडशकं वर्षम् अत्राङ् मर्यादायां यथा आपाटलिपुत्राद्वृष्टो देवः । किमुक्तं भवति । पाटलिपुत्रं मर्यादीकृत्यारतो वृष्टो देवः । इत्यत्र ततोऽयमर्थः । यावत्परिपूर्णानि पञ्चदशवर्षाणि षोडशाद्वर्षादर्वाक् तद्डहरकं ब्रुवन्ते समयविदः । ततो जन्मपर्यायेण षोडशवर्षाण्यारभ्य यावच्चत्वारिंशद्वर्षाणि तावत्तरुणः। ततः परं यावत्सप्ततिरेकेन वर्षेणोना तावन्मध्यमः । ततः परं सप्ततेरारभ्य स्थविरः शिष्यः ॥

अणवकस्स वि डहरग–तरुणगस्स नियमेण संगहं विंति ।
एमेव तरुणमज्झे, थेरम्मि य संगहो नियमे ॥

यः प्रव्रज्यापर्यायेण त्रिवर्षोत्तीर्णः सोऽनवक उच्यते। तस्यापि आस्तां नवकस्येत्यपि शब्दार्थः। डहरकः सन् तरुणकस्तस्य द्वादशवर्षाण्यारतो यावत्पञ्चदशवर्षाणि तावदित्यर्थः नियमेन संग्रहमभिस्थापिताः आचार्योपाध्यायानां संग्रहणं ब्रुवते अभिनव–स्थापिताचार्योपाध्यायाः संग्रहीतेन तेनावश्यं वर्त्तितव्यमिति भावः। तथा यः प्रव्रज्यापर्यायेण त्रीणि वर्षाणि नाद्याप्युत्तीर्णः स नवकस्तस्मिन्नवके तरुणे मध्यमे स्थविरे च शब्दाङ्डहरं च। एवं पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण संग्रहं ब्रुवते। किमुक्तं भवति। नवकस्य डहरस्य वा तरुणस्य वा मध्यमस्य वा स्थविरस्य वा नवकत्वादेव नियमाचार्योपाध्यायसंग्रहो वेदितव्य इति ॥

वा खलु मज्झिमथेर–गीयमगीए य होइ नायव्वं ।
उद्दिसिणा उ गीए, पुव्वायरिए उ गीयत्थे ॥

वा शब्दो विभाषायां खलु निश्चितं त्रिवर्षपर्यायोत्तीर्णत्वेनानवके मध्यमे स्थविरे च प्रत्येकं गीते अगीते वर्षाणां नानात्वं ज्ञातव्यम् । तदेवाह ॥ (उद्दिसणाउ अगीते) अगीतार्थे उद्देशना इयमत्र भावना । ये मध्यमाः स्थविरा वा त्रिवर्षपर्यायोत्तीर्णा अप्यगीतार्थास्ते नियमात् यः स्थापितो गणधरः तस्य शिष्या वयक्ष्यन्ते । इति गीतार्थेषु न स्थविरे मध्यमे च पूर्वाचार्यः पूर्वाचार्यसंग्रहः । ये मध्यमा स्थविराः गीतार्थाः पूर्वाचार्यादिशं धारयन्तीति ।

नवडहरतरुणगस्सा, विहीए विसुंभियम्मि आयरिए ।
पच्छन्ने अभिसे तो, नियमा पुण संगहे ठाइ ॥

नवश्च डहरकश्च तरुणश्च समाहारो द्वन्द्वः । तस्य पुनः संग्रहार्थमा–चार्ये विष्कंभिते विधिना नियमेनान्यस्य गणधरस्याभिषेकः कर्त्तव्यः । अविधिना अभिषेककरणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका मासाः । कोत्र विधिरिति चेदुच्यते। आचार्यः कालगतो न प्रकाश्यते यावदन्यो गणधरो न स्थापितः तथाचाह (पच्छन्नेत्ति) आचार्ये कालगते प्रच्छन्ने देशे अभिषेकः करणीयः । एतदेवाह।

आयरिए कालगए, न पगासेज्ज अट्ठविहे गणहरस्मि ।
रण्णेव अणभिसित्ते, रज्जक्खोभो तहा गच्छे ।

अस्थापिते अन्यस्मिन् गणधरे आचार्यःकालगतो न प्रकाश्यते । अत्र दृष्टान्तो राजा काल गतस्तावन्न प्रकाश्यते यावदन्यो नाभि–षिच्यते । अन्यथा अनभिषिक्ते राज्ञि यथा राज्यक्षोभो भवति । दायादेः परस्परविरोधतः सर्वं राज्यं विलुप्यते इत्यर्थः तथा गच्छे–ऽप्यन्यस्मिन्नस्थापिते गणधरे यद्याचार्यः कालगतः प्रकाश्यते तदा गच्छक्षोभो भवति तमेवाह ॥

अणाहोवहाणसच्छंद, खित्ततेणा सपक्खपरपक्खे ।
लयकंपणा य तरुणे–सारणमाणोवमाणे य ॥

केषांचिदनाथा वयं जाता इत्यवधानं भवेत् केषांचित् (सच्छंदत्ति) स्वच्छन्दचरिता अपरे केचित् क्षिप्ताः क्षिप्तचित्ता भवेयुः । तथा स्तेनाः स्वपक्षे परपक्षे चोत्तिष्टन्ति लताया इव साधनां कम्पनं तथा तरुणनामाचार्यपिपासयाऽन्यत्र गमनम्। तथाऽसारणा संयमयोगेषु सीदतां पुनः संयमाध्वन्यप्रवर्त्तना । तथा मानापमानं च सांप्रतमेतानेव दोषान् व्याचिख्यासुः प्रथमतोऽनाथावधानस्वछन्दचारित क्षिप्तचित्तत्वानि व्याख्यानयति ।

जायामो अणाहो त्ति, अण्णाहि गच्छंति केइ ओहावो ।
सच्छंदा व भमंति, केइ खेत्ताउ होज्जाहि ।

बाला वृद्धास्तरुणा वा केचिदगीतार्था आचार्याणां विप्रयोगे जातावयमनाथा इति विचिंत्य केचिदन्यत्र गच्छन्ति । केचिदवधावेयुः तथा केचित्मन्दधर्म्मश्रद्धाका गणादपक्रम्य स्वच्छन्दा भ्रमन्ति । अपरे केचिदाचार्यविप्रयोगतः क्षिप्ता क्षिप्तचित्ता अपगतचित्ता भवेयुः । स्वपक्षपरपक्षस्तेनानुलताकम्पनं चाह।

पासत्थगिहत्थादी, उन्निक्खावेज्ज खुड्डगादीओ ।
लया वा कंपमाणा उ, केई तरुणा उ अच्छंति ॥

स्वपक्षपार्श्वस्थादयः परपक्षे गृहस्थादयः । अत्रापि शब्दात्परती–

र्थिकग्रहणं क्षुल्लकादीन् उन्निष्क्रामयेयुः। किमुक्तं भवति पार्श्व–स्थादयः क्षुल्लकादीन् विपरिणमय्य पार्श्वस्थादीन् कुर्युः। अन्यतीर्थिकाः स्वज्ञातयो गृहस्थानिति। लतेव वातेनेव कम्पमानाः संयमै परीषहैः केचित्तरुणास्तिष्ठन्ति। इयमत्रभावना। यथा पद्मलताऽन्यस्मिन्नन-वष्टब्धासती वातेन कम्पमाना तिष्ठति। एवं केचित्तरुणा गच्छेऽपि वर्तमानाः संयमानाः संयमे परापहैः॥ कम्पमानास्तिष्टन्तीति। तरुणदोषमस्मा-रणादोषं चाह॥

आयरियपिवासाए, कालगयं तु सोउ ते वि गच्छेज्जा।
गच्छेज्ज धम्मसड्ढा, वि सारयिंतगच्छस्स असती॥

केचित्तरुणा आचार्यपिपासयाऽनाचार्यमन्तरेण ज्ञानदर्शनचारि–त्रलाभोऽनुत्तरो भवति तस्मादवश्यमाचार्यसमीपे वर्तितव्यमित्या–चार्यवाञ्छया कालगतं श्रुत्वा तेऽप्यन्यत्र गच्छेयुः। तथा धर्म्मश्रद्धा अपि केचित् सारयितुरभावे गच्छान्तरं गच्छेयुः। माना पमानदोषमाह।

माणिया वा गुरुणं तु, थेरादीत्थकेचिओ नत्थि।
माणं तु तओ अन्नो, अवमाणभयाउवगच्छेज्जा॥

तत्र केचित्स्थविरादय एवं चिन्तयेयुः यथा सर्वकालं मानिता वयं गुरुभिः। अत्र गाथायाम्।

पगासिज्जा कालगयं, एएयदोसरक्खट्ठा।
अण्णम्मि ववत्थविए, ताहे पगासेज्ज कालगयं॥

यस्मादेते दोषास्तस्मादेतद्दोषरक्षार्थमाचार्यं कालगतं न प्रकाशयेत् यदा पुनरन्या गणधरो व्यवस्थापितो भवति तदाऽन्यस्मिन् व्यवस्थापित कालगतं प्रकाशयेत् आचार्योपाध्यायादिषु मृतेषु निर्ग्रन्थ्या आचार्यादिपदोद्देशः।

(सूत्रम्) निग्गंथीएणं णवडहरतरूणियाए आयरियउवज्झाए पवित्तिणियं विसंभेज्जा णो से कप्पइ अणायारिय अणुवज्झा–इयत्ताए अपवत्तिणिए य होत्तए कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावित्ता तओ पच्छा उवज्झायं ततो पच्छा पवितिणियं से किमाहु भंतेति संगहिया समणी निग्गंथी तं तह आयरियाणं उवज्झाएणं पवितिणिएय॥१२॥

निर्ग्रन्थ्या णमिति पूर्ववत्। नवडहरतरुणाया नवाया डहराया–स्तरुण्या वा इत्यर्थः। आचार्योपाध्यायः समासोऽत्र पूर्ववत् आचार्योपाध्यायमेतत्। प्रवर्तिनी च विष्कंभ्नुयात् म्रियते ततः (से) तस्या अनाचार्योपाध्यायाया उपलक्षणमेतत् प्रवर्तिनीरहितायाश्च नो कल्पते भवितुं किंतु पूर्वमाचार्यमुद्दिश्यापि ततः पश्चादुपाध्यायं ततः पश्चात्प्रवर्तिनीकया भवितुं कल्पते से किमाहुरित्यादि। अथ भदन्त! किं कस्मात्कारणाद् भगवत एवमाहुः। सूरिराह त्रिभिः संगृहीताः श्रमणो निर्ग्रन्थी सदा भवति। तद्यथा आचार्येणोपाध्या–येन प्रवर्तिन्या च एष सूत्रसंक्षेपार्थः। अत्रायमाक्षेपः। किं कारणं ननु यत्रिभिः संगृहीता निर्ग्रन्थी भवति। तत्राचार्योपाध्यायसंग्रहे गुणा–नुपदर्शयति।

दूरत्थम्मि वि कीरइ, पुरिसे गारवभयं सबहुमाणं।
छंदेय अवट्टंती, चोएउं जे सुहं होइ॥

दूरस्थेऽपि पुरुषे स्वपरपक्षेण च क्रियते गौरवं भयं सबहुमानं चेत्यर्थः। इयमत्र भावना यद्यपि नाम आचार्य उपाध्यायो वा संयतीनां दूरे वर्तते तथापि दूरस्थस्यापि पौरुषस्य गौरवेण भयेन वा कोऽपि संयतीनामपन्यायं न करोति। किंतु स्वपक्षे परपक्षे च सुबहुमानो जायते। तथा संयती प्रवर्तिन्याच्छन्दे अवर्तमानाच्चोदयितुं जे इति पादपूरणे इति वचनात्सुखं भवति। किमुक्तं भवति आचार्योपाध्यायभयतो न काचिदपि संयती आचारक्षितिमाचरति। याऽपि काचिदाचरति। सापि प्रवर्तिन्या सावष्टम्भं शिष्यते। अथ शिष्यमाणापि न प्रतिपद्येत ततः प्रवर्तिनी ब्रूते। आचार्यस्योपाध्यायस्य चाहं कथयिष्यामि। ततः सा भीता प्रवर्तिन्या उपपाते तिष्ठति। एते आचार्योपाध्यायसंग्रहे गुणाः॥ संप्रति प्रवर्तिनीसंग्रहे गुणानाह।

मिहो कहाभट्ठरविट्ठरेहिं, कंदप्पकिड्डावउसत्तणेहिं।
पुव्वावरे ते सुयनिद्दकालं, गिण्हाइ तिणं गणिणीसहीणा।

मिथः कथापरस्परं भक्तादिविकथाकरणं भट्ठरविट्ठरं नाम तेषु गृहस्थप्रयोजनेषु कुण्डलविण्टलादिषु वा प्रवर्त्तनम्। एताभ्यां कन्दर्पक्रीडा कन्दर्पोद्रेकजननीकायबाक्चेष्टावत्कुसत्वं शरीरोपकरणविभूषाकरणम्। एताभ्यां च तथा पूर्वरात्रे अपररात्रे च गणिन्या प्रवर्तिन्यास्वधीना सती संगृह्यते। तथा तत्प्रवर्तिनीसंग्रहोऽपि साध्व्याः श्रेयान्। एतदेवविभावयिषुर्लोकेष्वपि स्त्रियास्त्रिविधं संग्रहमाह।

जायं पित्तिवसा नारी, दत्ता नारी पतिव्वसा।
विहवा पुत्तवसा नारी, नत्थि नारी सयंवसा॥

जाता सती नारी पितृवशा पितुरायत्ता भवति। दत्ता परिणीता सती नारी पतिवशा भर्तुरायत्ता विधवा मृतपतिका नारी पुत्रवशा। नास्ति एवं च सति नारी कदाचनापि स्वयंवशा। अमुमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह।

जायंपि य रक्खंती, मातापित्तिसासुदेवरादिण्णं।
पतिभायपुत्तविहवं, गुरुगणिगणिणी य अज्जंपि॥

जातामपि नारी रक्षतौ मातापितरौ। दत्तां परिणीतां रक्षन्ति श्वश्रुदेवरभर्त्रादयः। देवरग्रहणं स्वसुरभर्त्तादेरुपलक्षणम्। विधवां पुनः पिता भ्राता पुत्रो वा यदि जीवन्ति पित्रादयस्तर्हि सर्वेऽपि रक्षन्ति। एवमार्यिकामपि गुरुराचार्यो गणी उपाध्यायः गणिनी प्रवर्तिनी रक्षति॥

एगागिणि अपुरिसा, सकवाडघरपरं तु नोपविसे।
सगणे व परगणे वा, पव्वतिया पीयसंगहिया॥

यथा भर्त्राद्यधीना नारी एकाकिनी अपुरुषा भर्त्तादिपुरुषरहिता सकपाटं परगृहं न प्रविशति एवं प्रव्रजिता पित्रिसंगृहीता आचार्यो–पाध्यायप्रवर्तिनीसंगृहीता स्वगणे परगणे वा एकाकिनी न गच्छति।

आयरियउवज्झाया, सययं साहुस्स संगहो दुविहो।
आयरियउवज्झाया, अज्जाणपवत्तिणी तइयो॥

संगृह्णातीति संग्रहः। संग्राहक इत्यर्थः साध्वोः सततं सर्वकालं संग्रहः संग्राहको द्विविध आचार्योपाध्यायौ। अर्यिकाणां त्रिविधस्तद्यथा द्वावाचार्योपाध्यायौ तृतीयः प्रवर्तिनी। अत्रैवापवादपदमाह

वितियपदे सा थेरी, जुण्णा गीया य जइ खलु भवेज्जा।
आयरियादी तिण्हवि, असतीए न उ दिसा विज्जति॥

द्वितीयपदे अपवादपदे सा प्रव्रजिता स्थविरा वयसा वृद्धा जीर्णा चिरकालप्रव्रजिता गीता उत्सर्गापवादसामाचारीकुशलतया गीतार्था यदि खलु भवेत् ततः आचार्यादीनामाचार्योपाध्यायप्र–

वर्तिनीनां तिसृणामप्यभावे न संग्राहकमाचार्यमुपाध्यायं प्रवर्ति–नीं च उद्देशापयेत् दोषासंभवात् आचार्य्यादिष्ववधावितेषूद्देशः

(सूत्रम्) भिक्खू गणाओ अवक्कम्म मेहुणधम्मं पडिसेविज्जा तिण्णि संवच्छरायं तस्स तप्पतियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा उवज्झायं जाव गणावच्छेयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा तिहि संवच्छरेहिं वीतिकंतेहि चउत्थगंसिसंवच्छरंसि पट्ठियंसि उट्ठियंसि ठियंसि उवसंतस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा गणावच्छेयत्तं उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा १३ गणावच्छेइयत्तं वा अणिक्खिवित्ता मेहुणधम्म पडिसेवेज्जा जाव तस्स तप्पतियं नो से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणा–वच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ।१४। गणावच्छेयए गणावच्छेइयत्तं णिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेविज्जा तिण्णि संवच्छरायं तस्स तप्पतियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा तिहिं संवच्छरेहिं वितिकंतेहिं चउत्थयंसि संवच्छरंसि पवियंसि पट्ठियंसि उवट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ।१५। एवं आयरियउवज्झायगावि दो आलावगा ।१६।१७।

अथास्य सूत्रस्य कः सम्बन्धस्तत आह।

नवतरुणे मेहुण्हं, कोई सेवेज्ज एस संबंधो ।
अचंतमक्खणादि–व्वसंगहो एत्थ विसए वा ॥
अप्परियाए वि गणो, दिज्जइ वुत्तंति मा अतिपसंगा ।
सेवियमपुण्णपज्जय, दाहिंति गणं अतो सुत्तं ।

पूर्वसूत्रे नवतरुणादिकः साधुरुक्तस्तत्र कोऽपि नवतरुणो मोहो–दयवशात् मैथुनं सेवते कृतमैथुनसेवाकस्य च यथाऽऽचार्यत्वादि–कमुद्देष्टव्यं तथाऽनेन सूत्रेण प्रतिपाद्यते इत्येष सूत्रसम्बन्धः । अब्रह्मणादेर्हेतोरब्रह्मरक्षणादिनिमित्तं संग्रहः । आचार्यादिकोऽनन्त–रसूत्रेऽभिहितः अत्रापि स एव संग्रहोऽभिधीयते इति । अथवा पूर्वतरेषु सूत्रेषु अपर्यायेऽपि गणो दीयते इत्युक्तं तद्दिवसाचार्यादिपदानुज्ञानात् त एतत् श्रुत्वा मा अतिप्रसङ्गान्मैथुनं सेवित्वा अपूर्णे पर्याये गणं दास्यन्ति तत एतन्निवारणार्थमिदं सूत्रम् । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। भिक्षुर्गणादपक्रम्य मैथुनं प्रतिसेवते तस्य त्रीणि संवत्सराणि यावत्तत्प्रत्ययं मैथुनसेवाप्रत्ययं न कल्पते आचार्यत्वमुपाध्यायत्वं यावत्करणा–त्प्रवर्तित्वं स्थविरत्वमिति परिग्रहः । गणावच्छेदित्वं वा उद्देष्टुमनुज्ञातुमतोऽपि तस्य कल्पते स्वयं धारयितुं किन्तु त्रिषु संवत्सरेषु व्यतिक्रान्तेषु चतुर्थे संवत्सरे प्रस्थिते प्रवर्तितुमारब्धवति तच्च प्रस्थितत्त्वमभिमुखीभवनमात्रेऽपि भवति तत आह। अस्थिते अवर्त्तमाने स्थितस्य वर्तमानस्य किं विशिष्टस्य सत इत्याह । उपशान्तस्य उपशान्तवेदोदयस्य तच्चोपशान्तत्वं प्रवृत्तिनिषेधादवसीयते तत आह उपरतस्य मैथुनप्रवृत्तेः प्रतिनिवृत्तत्वं दाक्षिण्यवशादिमात्रतोऽपि भवति । तत आह मैथुनेच्छाप्रातिकूल्येन विरतः तस्य तदपि च प्रतिविरतत्वं विकारादर्शनतोऽपि मैथुनाभिलाषहेतुकविकाररहितस्तस्य कल्पते आचार्यत्वं यावत् गणावच्छेदित्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा एष सूत्रसंक्षेपार्थः ।

व्यासार्थं तु भावतो भाष्यकृदाह।

दुविहो सावेक्खियरो, निरवेक्खो उदिण्ण जाइजयणाए ।
जोगं च अकाऊणं, जाव स वेस्सादि सेवेज्जा ।

द्विविधो द्विप्रकारः खलु मैथुनप्रतिसेवकस्तद्यथा सापेक्ष इतरश्च तरो निरपेक्षः तत्र निरपेक्षो य उदीर्णे वेदोदये यो वा याति योगं यतनया योगमकृत्वा यदि वा स वेश्यादिकां सेवेत । एष त्रिविधोऽपि निरपेक्षः गुरुतीर्थकरापेक्षारहितत्वात् ॥

सावेक्खो उ उदिण्णे, आपुच्छे गुरुं तु सो जति उवेक्खे ।
ता चउगुरुगा भवति, सीसो व अणापुच्छए गच्छे ॥

यदि पुनरुदीर्णे उदयप्राप्ते मोहे उदिते वेदे इत्यर्थः । गुरुमापृच्छति समापेक्षः सह अपेक्षा यस्यास्ति स समापेक्ष इति व्युत्पत्तेः । तत्रापृच्छायां यदि स गुरुरुपेक्षां कुरुते ततस्तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुका भवन्ति । स च साधुरनापृच्छ्य गुरुं याति तर्हि तस्यापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः । सा च पृच्छा त्रीन्वारान्कर्तव्या। तथा चाह।

अहवा सइ दो वावी, आयरिए पुच्छ अकडजोगी वा ।
गुरुगा तिण्णि उ वारे, तम्हा पुच्छेज्ज आयरिए ॥

अथवा। सकृदेहं वारं यद्याचार्यान् पृच्छति तथापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः अथ द्वौ वारौ पृच्छति न तृतीयमपि वारं तदापि चतुर्गु–रुकाः । अथवा वारत्रयपृच्छायामपि कृतायां यदि अकृतयोगी यतनायोगमकृत्वा गच्छति तदानीमपि चतुर्गुरुकाः । यत एवमेकं द्वौ वा वारौ पृच्छायां प्रायश्चित्तं तस्मात्त्रीन् वारान् आचार्यान् पृच्छेत् लोकेऽपि तथा दर्शनात्तथा चाह।

बंधे य घाते य पमारणे य, दंडेसु अन्नेसु य दारुणेसु ।
पमत्तमत्ते पुण चित्तहेउं, लोए वि पुंछति उ तिण्णि वारे ॥

राज्ञा बंधे आदिष्टे यदि वा घाते प्रहारे अथवा प्रमारे कुमरणमारणे अन्येषु च दण्डेषु हस्तपादच्छेछादिषु दारुणेष्वादिष्टेषुलोके त्रीन् वारान् राजा पृच्छ्यते । किमर्थमित्यत आह प्रमत्तेनव्याक्षिप्तेन यदि वा मद्यपानेन मत्तेनादिष्टं भवेत् प्रशान्तस्य पुनश्चित्तमुपजायते । यथा मा मार्यतामिति वारत्रयमनापृच्छायां स रुष्यते किमिति स मारित इति । एवं यथा राजा केनापि त्रीन् वारान् पृच्छ्यते तथा–ऽचार्योऽपि ॥

आलोइयम्मि गुरुणा, तस्स चिकिच्छा विहीए कायव्वा ।
निव्विगितिगयादीया, नायव्वा कमेणिमेणं तु ॥

आलोचिते वारत्रयमापृच्छायां कृतायां गुरुणा आचार्येण तस्यो–दितवेदस्य साधोर्विधिना चिकित्सा कर्तव्या सा चिकित्सा निर्वि–कृतिकादिका क्रमेणानेन वक्ष्यमाणेन ज्ञातव्या तमेव क्रममाह।

निव्वायडिय अवमोदरिय, वेयावच्चे तहेव ठाणे य ।
वाहिंडणे य मंडलि–चोयगवयणं व कप्पट्ठी ॥

प्रथमतो निर्विकृतिकं कारयितव्यः तत्र यदि निर्विकृतिकं तपः कुर्वतो नोपशाम्यति वेदस्तर्हि निर्विकृतिके नावमौदर्यं कारयितव्यं तथाप्यनुपश्याम्यति ततश्चतुर्थादिकं कार्यन्ते तथाप्यतिष्ठति वैयावृत्त्यं कारणीयं वैयावृत्त्येनाप्यतिष्ठति स्थानेन ऊर्द्धस्थानेन तिष्ठति तथाप्यनुपशाम्यति आहिंडनं कार्यते । देशकाहिण्डकानां सहायो दीयते इत्यर्थः । तत्र यदि एष परिश्रमणोपशान्तो भवति वेदस्ततः सुन्दरमय नोपशाम्यति ततो यदि स बहुश्रुतस्तर्हि स सूत्रमण्डली च दाप्यते। अत्रार्थे चोदकवचनं यथा किमर्थं स मण्डलीं दाप्यते। सूरिराह। दृष्टान्तोऽत्र कप्पट्ठीति

कुलवधूः। ''एगो सेट्ठी तस्स पुत्तो धणोवज्जणनिमित्तं देसंतरं गतो। भारिया सेट्ठिसमीवे मुक्का। सा य सुहभोयणतंबोलविलेवणमंडणपसाहणरया घरवावारमकुणंती अन्नया उम्मत्तिया जाया। दासचेडिं भणइ। पुरिसं मग्गेह तीए सेट्ठिणो कहियं तेण चिंतियं। जावज्ज वि न विणस्सति ताव चिंतेमि उवायं सेट्ठिणी भणिया कलहं काऊण तुमं गच्छ जेण सा घरवावारे वुज्झुत्ति अण्णहा विणिस्सिहिति। एवं सामत्थेऊण अन्नया सेट्ठी घरमागओ आमोक्खं मग्गइ सा न देह तो सेट्ठिणा महतो कलहो कतो सा पेट्ठिऊण निस्सारिया। सा य बहू य कलहसद्दं सोऊण तत्थागया सेट्ठिणा भणिया। भत्ति बहूए तुमे अज्जप्पभिति सव्वो वावारो कायव्वो सा तहेव करितुमारद्धा। तओ तीए वावारवाउलाए भोयणमवि वियालवेलाए कुतो मंडणपसाहणं। दासचेडीए भणियं मग्गितो चिट्ठति पुरिसो कया मेलिज्जइ तीए भणियं मरणस्स वि मे अवसरो नत्थि कतो पुरिसस्स'' एवं। यथा तस्या गृहव्यापारव्यापृततया वेदोपशान्तिरभूत्तथाऽस्यापि सूत्रमण्डल्यापि व्यापारव्यापृततया कदाचिद्वेदोपशान्तिः संभाव्यते। ततः सूत्रमण्डलीमर्थमण्डलीं च दाप्यत इति व्य०।

(अत्राचार्यसाधूनामवधावनविषये बहुवक्तव्यं तच्च व्यवहारभाष्यतोऽवसेयं लेशत एव किञ्चिदत्रोक्तम्) बहुश्रुतोऽपि पापो न कल्पते आचार्यादितया उद्देष्टुम्।

(सूत्रम्) बहवे भिक्खुणो बहुस्सु तवब्भागमाबहुसो बहुसु आगाढमाढेसु कारणेसु माइमुसावाइअसुइपापजीवी जाव जीवाए तेसिं तप्पतियं नो कप्पइ जाव उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा एवं गणावच्छेइएया वि एवं आयरियउवज्झाएयावि बहवे भिक्खुणो बहवे गणावच्छेइया बहवे आयरियउवज्झाया बहुसुआ बब्भागमबहुसो बहुसु आगाढागाढेसु माइमुसावाइ-असुइपावजीवी जाव जीवाए तेसिं तप्पति णो कप्पइ आयरियत्तं वा उवज्झायत्तं वा पवत्तिं वा थेरत्तं वा गणधरत्तं वा गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा। इति ववहारस्स तइओ उद्देशो॥३॥

सूत्रसप्तकम् अथास्य पूर्वसूत्रैः सह सम्बन्धमाह॥

वयअतियारे पगते, अयमविअन्नोउस्स अइयारो।
इत्तिरियपमत्तं वा,दुत्तं इदमावकहियं तु॥

पूर्वसूत्रेषु व्रतस्य मैथुनविरत्यादेरतीचारः प्रकृतोऽधिकृतोऽयमपि चान्यस्तस्य व्रतस्यातिचार इति तत्प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रसप्तक-म्। अथवा पूर्वसूत्रेषु त्रीणि संवत्सराणि यावदाचार्यत्वादीनि न कल्पते इति वचनादित्वरमपात्रमुक्तमिदं पुनः सूत्रसप्तके नाभिधीयमानमपात्रं यावत्कथिकं बहुशो यावज्जीवमाचार्यत्वादीनि कल्पन्त इति वक्ष्यमाणात्॥

अहवा एगहिगारे, उद्देसो तइयओ उ ववहारे।
केरिसितो आयरिओ, ठविज्जइ केरिसो नेत्ति॥

अथवेति संबन्धस्य प्रकारान्तरोपदर्शने व्यवहारे तृतीयोद्देशका-धिकारे यथा कीदृशः आचार्यः स्थाप्यते कीदृशो न। तत्र यादृशः स्थाप्यो यादृशश्च न स्थाप्यस्तादृश उक्तोऽयमन्यो न स्थाप्यत इति प्रतिपादनार्थमेष सूत्रसप्तकारम्भः॥

अहवा दीवगमेयं, जह पडिसिद्धो अभिक्खमाइण्णो।
सागारियसेवि एवं, अभिक्खओहावणकरी य॥

*अथवेति पूर्ववत्। दीपकमेतत्सप्तसूत्रकं पूर्वसूत्रेष्वधिकारार्थोद्दी-*पनार्थमिदं सूत्रसप्तकमधिकमेवार्थमुपदर्शयति। यथानेन सूत्रसप्तके न अभीक्ष्णं मायी बहुशो मायावीयावज्जीवमाचार्यत्वादिषु पदेषु प्रतिषिद्धस्तथा मैथुनसूत्रपञ्चकमध्ये यो भिक्षुसूत्रे निक्षेपणसूत्रद्वये च सागारिकसेवी मैथुनप्रतिसेवी संवत्सरत्रयातिक्रमे योग्य उक्तः सोऽप्येवमभीक्ष्णं सागारिकसेवी सन् यावज्जीवं प्रतिषिद्धो द्रष्टव्यः। तस्यापि यावज्जीवमाचार्यत्वादीनि न कल्पन्ते इति भावस्तया अवधावनसूत्रकेऽपि यो भिक्षुसूत्रे निक्षेपणसूत्रद्वये वर्षत्रयातिक्रमेण योग्य उक्तः सोऽपि यदि अभीक्ष्णमवधावनकारी भवति ततस्तस्यापि यावज्जीवमाचार्यत्वादिपदप्रतिषेधः। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। भिक्षुर्बहु श्रुतं सूत्रं यस्यासौ बहुश्रुतः। बहुरागमो-ऽर्थपरिज्ञानं यस्य स बहागमः। तथा कुलप्राप्तं गणप्राप्तं यत्सचि-त्तादिकं व्यवहारेण छेत्तव्यं कार्यं वा आगाढागाढं कारणं तेषु आगा-ढागाढेषु बहुप्रभूतेषु बहुशोऽनेकप्रकारं मायी मायावान् मृषावादी अशुचिराहाद्यर्थमव्यवहारी पापजीवी कोटलाद्याजीवी तस्य यावज्जीवं तत्प्रत्ययं मायित्वमषावादिज्वादिप्रत्ययं न कल्पते आचार्यत्वं वा यावत् गणावच्छेदित्वं वा उद्देष्टुं वाऽनुज्ञातुं स्वयं वा धारयितुम्। एष प्रथमसूत्रसंक्षेपार्थः। एवं गणावच्छेदकसूत्रमाचार्यो-पाध्यायसूत्रं च भावनीयं पाठोऽपि सुप्रतीतः। यथा च त्रीणि सूत्रा-ण्येकत्वेनोक्तानि इत्येवं त्रीणि सूत्राणि बहुत्वे वक्तव्यानि। सप्तमं बहुभिक्षुबहुगणावच्छेदिबहाचार्यविषयं तदपि तथैव। अत्रभाष्यकृदाह॥

एगत्तबहुमाणं, सव्वेसिं तेसिमेगजातीणं।
सुत्ताणं पिंडेमं, वोच्छं अत्थं समासेणं॥

एकत्वबहुत्वादिसंबन्धिनां सर्वेषामेतेषां सूत्राणामेकजातीयाना-मेकप्रकाराणां पिण्डेनाप्युक्तो वैविक्त्येन प्रतीतः। तत्र प्रथममेक-त्वबहुत्वविषयावाक्षेपपरिहारावाह॥

एगत्तियसुत्तेसुं, भणिएसुं किं बहु पुणोग्गहणं।
चोयगसुणसू इणमो, जं कारणं मो बहुग्गहणं॥

एकत्वेनैकवचनेन निर्वृत्तान्यैकत्विकानि तेष्वैकत्विकेषु किं पुनर्बहुग्रहणं बहुत्वविशिष्टसूत्रचतुष्टयोपादानं सूरिराह। यत्कारणं येन कारणेन मो इति पादपूरणे बहुग्रहणं बहुत्वविशिष्टसूत्रोपादानं तत्कारणमिदं हे चोदक! शृणु तदेवाह।

लोगम्मि सयमवज्झं, होइ अदंडं सहस्स मा एवं।
होहिति उत्तरियम्मि वि, उत्ता उ कया बहुकए वि॥

लोके बहुभिरकृत्ये सेवितेऽयं न्यायः शतमवद्यं सहस्रमदण्ड्यं तत एवमौत्तरिकेऽपि लोकोत्तरिकेऽपि व्यवहारे प्रसङ्गो मा भूदिति तत्प्रतिषेधार्थं चत्वारि सूत्राणि बहुकेऽपि बहुवचने कृतानि। सां-प्रतमागाढागाढकारणादीनि पदानि व्याचिख्यासुराह॥

कुलगणसंघप्पत्तं, सचित्तादी उ कारणागाढं।
छिद्दाणि निरीहित्ता, मायी तेणेव असुतीउ॥

सचित्तनिमित्तोऽचित्तनिमित्तो वा यो व्यवहारः कुलेक्षिप्तो यथेदं सचित्तादिकं विवादास्पदीभूतं कुलेन छेत्तव्यमिति तत्कुलप्राप्तमेवं गणप्राप्तं सङ्घप्राप्तं भावनीयम्। यत्र यत्सचित्तादिकं विवादास्पदी-भूतं व्यवहारण च्छेद्यतया कुलप्राप्तं वा तत्कारणागाढं कारणम्। तथा कथमहमेनं व्यवहारमाहाराद्युपग्रहे वर्तमानं नोज्झितं छिद्रामिति बुद्ध्या परेषां छिद्राणि निरीक्ष्यमाणो मायी तेनैव मायित्वेनैव सोऽशुचिः तमेवाशुचिं द्रव्यभावभेदतः प्ररूपयति

दव्वे भावे असुती, भावे आहारवंदणादीहिं।

कप्पं कुणइ अकप्पं, विविहेहि य रागदोसेहिं ॥

अशुचिर्द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र योऽशुचिना लिप्तगात्रो यो वा पुरीषमुत्सृज्य पुतौ न निर्लेपयति स द्रव्यतोऽशुचिः । भावे भावतः पुनरशुचिराहारबन्धनादिभिर्विविधैर्वा रागद्वेषैः कल्प्यमप्यकल्प्यं करोति । किमुक्तं भवति । आहारोपधिशय्यादिनिमित्तं वन्दननीचैर्वृत्त्यादिना वा तोषितो यदि वा एष मम स्वगच्छसंबन्धी स्वकुलसंबन्धीति रागतोऽथवा न मामेष वन्दते विरूपं वा भाषितवानित्यादिद्वेषतोऽयं श्रुतोऽयं श्रुतोपदेशेनाभाव्यमनाभाव्यं करोति । अनाभाव्यमप्याभाव्यं सोऽव्यवहारी भावतोऽशुचिः । एतदेव सुव्यक्तमाह।

दव्वे भावे असुती, दिव्वम्मीचिट्ठमादिलित्तो उ।
पाणतिवायादीहि उ, भावम्मि उ होइ असुईओ ॥

अशुचिर्द्विधा द्रव्ये भावे च तत्र द्रव्ये विष्ठादिना लिप्त आदिशब्दान्मूत्रश्लेष्मादिपरिग्रहः । भावे प्राणातिपातादिभिर्भवत्यशुचिः ॥

तप्पत्तियमेतेसिं, आयरियादी न दैंति जा जीवं।
के पुण भिक्खुइमे य, बहुस्सुयमादिणो हुंति ॥

तत्प्रत्ययं मायावित्वादिप्रत्ययं येषां भिक्षुप्रभृतीनां यावज्जीवमाचार्यादीनि भावप्रधानोऽयं निर्देशः । आचार्यत्वादीनि न ददाति । के पुनस्ते आह । भिक्षुक उपलक्षणमेतत् गणावच्छेदकाचार्योपाध्यायाश्च सूत्रोक्ता न केवलमेते किंत्विमे च बहुश्रुतादयो भवत्याचार्यादिपदानामनर्हास्तानेव निर्युक्तिकृदाह ॥

अबहुस्सुते य ओमे, पडिसेवओ यतो अप्पचिंते य।
निरवेक्खपमत्तमाइ—अणरिहे जुंगिए चेव ॥

अबहुश्रुतोऽवमः प्रतिसेवको यतः आत्मचिन्तकः निरपेक्षः प्रमत्तो मायी अनर्हो जुङ्गिकश्च । एते सूरित्वादिपदानामनर्हाः । सांप्रतमेतानेव व्याचिख्यासुराह।

अबहुस्सुतो पकप्पो, अणहीओमा तिवरिसरओ।
निक्कारणे वि भिक्खू, कारणपडिसेवते जो उ।
अब्भुज्जयअप्पचिंतो, निरवेक्खो बालमादीसु।
अन्नयरपमायजुत्तो, असव्वरुची होइ माईओ।
अवलक्खणा अणरिहा, उज्जावाहादि अ जो जुवत्ता ॥
चउरो य जुंगिया खलु, अचंति य भिक्खुणा एते ॥

अबहुश्रुतो नाम येनाचारप्रकल्पो निशीथाध्ययननामकः सूत्रतोऽर्थतश्च नाधीतः अवमो नाम आत्रिवर्षरतो यस्य प्रव्रज्यापर्यायेण त्रीणि वर्षाणि नाद्यापि परिपूर्णानीत्यर्थः । प्रतिसेवको नाम यो भिक्षुः निष्कारणेऽपि कारणाभावेऽपि पञ्चकादीनि प्रायश्चित्तस्थानानि प्रतिसेवते । आत्मचिन्तको योऽभ्युद्यतमरणं वा प्रतिपत्तुं निश्चितो निश्चितवान् निरपेक्षो बालादिषु चिन्तारहितः प्रमत्तः पञ्चानां प्रमादानामन्यतरेण प्रमादेन युक्तः असत्ये मृषाभाषणे असंयमे वा रुचिर्यस्यासावसत्यरुचिर्भवति । मायी किमुक्तं भवत्यभीक्ष्णं मायाप्रतिसेवनशीलो मायीति अपलक्षणं येषामाचार्यलक्षणानि न विद्यन्ते ये च पूर्वमुक्ता अत्यवधावनादय एते सर्वेऽनर्हाः । जुङ्गिका जातिकर्म्मशीलशरीरभेदतश्चतुर्द्धा । एतेऽपि प्रागुक्ता एते सर्वेऽपि भिक्षवोऽत्यन्तमाचार्यत्वादिपदानामनर्हाः । यदि पुनर्बहुश्रुतो भवेत् अवमोऽपि त्रिवर्षपर्यायोत्तीर्णः प्रतिसेवकोऽप्यप्रतिसेवकोऽग्रतोऽन्ययतनातः प्रतिविरतो निरपेक्षः सोपेक्षाभूतः प्रमत्तोऽप्यप्रमत्तामुपगतस्तदा भवन्त्येतेऽप्याचार्यत्वादिपदानां योग्याः ।

संप्रति सप्तानामपि सूत्राणां संभवविषयमाह।

अहवा जो आगाढं, वंदणआहारमादि संगहितो।
कप्पं कुणइ अकप्पं, विविहेहि य रागदोसेहिं ॥
माई कुणइ अकज्जं, को माई जो भवे मुसावाई।
को पुण मोसावाई, असुई पावसुयजीवी ॥

अथवेति सूत्रव्याख्या प्रकारान्तरोपदर्शने यो वन्दनादिभिः वन्दनवैयावृत्त्यादिना आहारादिभिराहारोपधिशय्यादिभिरागाढमत्यर्थं संगृहीतः सन् विविधैश्च रागद्वेषैः प्रागुक्तस्वरूपैः कल्प्यमप्याभाव्यमप्यकल्प्यमनाभाव्यं करोति । सप्तानामपि सूत्राणां विषयः (माई कुणइ इत्यादि) कः पुनरेवमकार्यं कल्प्यमप्यनाभाव्यमकल्प्यमप्याभाव्यमित्यर्थः करोति एवं शिष्यस्य प्रश्नमाशङ्क्य सूत्रकृदाह । मायी मायावान् को मायी तत आह यो भवेत् मृषावादी कः पुनः मृषावादी तत आह अशुचिः कोऽशुचिः सूत्रकृदाह पापजीवी एतस्य व्याख्यानं पापश्रुतोपजीवी कोटलादिशास्त्रोपजीवीत्यर्थः।

किह पुण कज्जमकज्जं, करेज्ज आहारमादिसंगहितो।
जह कम्मिवि नगरम्मा उप्पण्णं संघकज्जं तु।

कथं पुनराहारादिसंगृहीतः सन् कार्यमुपलक्षणमेतत् आचार्यमपि कार्यं करोति । अत्र सूरिर्निदर्शनमाह । यथा कस्मिंश्चिन्नगरे किमपि सङ्घकार्यमुत्पन्नं सचित्तादिनिमित्तं वास्तव्यसङ्घस्य व्यवहारो जात इत्यर्थः ॥ स च वास्तव्यसङ्घेन छेत्तुं न शक्यते ॥ (अन्यदत्रत्यं ववहारशब्दे) एतद्गुणविप्रमुक्ते पुनर्व्यवहरति सुमहती आशातना व्रतलोपश्च तथा चाह—

आगाढमुसावादी, वितियतइए उ लोवतिवए उ।
माई य पावजीवी, असुईकिन्ने कणगदंडे ॥

आगाढे कुलकार्ये संघकार्ये वा आभाव्यस्य वाऽनाभाव्यस्य वा ज्ञानतया रागद्वेषाभ्यां वा भणनात् । मृषा वदतीत्येवं शीलः आगाढे मृषावादी द्वितीयतृतीये मृषावादादत्तादानविरतिरूपे व्रते लोपयति । तत्र द्वितीयव्रतलोपो मृषावादभणनात् तृतीयव्रतलोपो ऽनाभाव्यं ग्राहयतोऽनुमतिदोषभावात् । तुशब्दात् शेषाण्यपि व्रतानि लोपयति । एकव्रतलोपे सर्वव्रतलोप इति वचनात् । मायी सूत्रमुल्लङ्घ्य शठोत्तरैर्व्यवहारकरणात् । पापजीवी दुर्व्यवहारादिकरणात् । परदत्तापहाराण्युपजीवनात् । अत एवाशुचिर्मृषावादित्वादिदोषदुष्टत्वात् । अशुचित्वादेव यथा कनकदण्डः संज्ञालिप्तः स्प्रष्टुं न कल्पते एवमेषोऽपि न कल्पते यावज्जीवमाचार्यत्वादिषु पदेषु स्थापयितुमिति ॥ व्य०३ उ० । (गणान्तरे उद्देशना उद्देसणा शब्दे)

न व्यतिकृष्टादिशमुद्दिशेत् ॥

(सूत्रम्) णो कप्पति णिग्गंथीणं वितिकिट्ठियं दिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ८ कप्पति णिग्गंथाणं वितिगिट्ठियं दिसं वा अदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा।९।

न कल्पते निर्ग्रन्थीनां व्यतिकृष्टामतिशयेन क्षेत्रतो भावतश्च विकृतां दिशमनुदिशं वा उद्देष्टुमनुज्ञातुं नापि स्वयं धारयितुं वा इत्येष सूत्रद्वयाक्षरार्थः ।

संप्रति भाष्यम् ।

दुविहं पि य वितिगिट्ठं, णिग्गंथीणुद्दिसंति चउगुरुगा।
आणाइणो य दोसा, दिट्ठंतो होइ कोसलए ॥

द्विविधामपि विकृष्टां क्षेत्रविकृष्टां भावविकृष्टां चेत्यर्थः । निर्ग्र-

र्थीनां दिशमुद्दिशति। अस्मिन्प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः आज्ञा दयश्च दोषास्तत्र विकृष्टां दिशमुद्दिशतो ये दोषास्तत्र को भवति दृष्टान्तस्तमेव भावयति।

उवसामिया जघन्नेण, कोसलेणं गते य मातम्मि।
तं चेव दिसंती य, निक्खंता अन्नगच्छम्मि॥
वारिज्जंती वि गया, पडिवण्णा सा य तेण पावेणं।
जिणवयणबाहिरेणं, कोसलएणं अकुलएणं॥

एकः कोशलकः कोशलदेशोत्पन्न इत्यर्थः। तेनान्यदेशं गतेन यतमानेन सदनुष्ठानपरायणेन कापि श्राविका उपशामिता स च कोशलकस्तं देशं गतः तस्मिंश्च गते सा श्राविका अन्यस्मिन् गच्छे तत्रागते तस्य समीपे निष्क्रमितुमुपस्थिता यथा मां निष्क्रामयत परं मम स एव कोशलकः आचार्यः एवं सा तमेव व्यपदिशन्ती तैर्दीक्षिता। सा च दीक्षाप्रतिपत्त्यनन्तरं वार्यमाणाऽपि कोशलसमीपे गता। सा च पापेन जिनवचनबाह्येनाकुलजेन कोशलेन प्रतिपन्ना। एष दोषः क्षेत्रविकृष्टां दिशमुद्दिशतः।

अत्र पर आह॥

कोसलएहि कारण, गहणं बहुदोसलाउ कोसलगो।
तम्हा दोसुक्कडया, गहणं इह कोसले कारणमओ॥

कोशलकस्य ग्रहणं कृतम्। सूरिराह यस्मात्कोशलको देशः स्वभावात् बहून् दोषान् लाति आदत्ते अतिबहुदोषलो बहुदोषवान् तस्मात् दोषोत्कटतयाऽत्र कोशलस्य ग्रहणम् अपि च।

अंधं अकूरमयं, अवियमरहदूयं अवोगिल्लं।
कोसलयं च अपावं, सएसु एकं न पेच्छामो॥

अन्ध्रमन्ध्रदेशोत्पन्नमकूरमतकमकूराभिप्रायमपि च महाराष्ट्रक–मवोगिल्लमवाचालं कोशलकं चापापंशतेषु मध्ये एकं न प्रेक्षामहे इति प्रसिद्धिरतः कोशलग्रहणम्। पुनरपि प्राह

कोसलए जे दोसा, उद्दिस्संतुम्मि किन्न सेसाणं।
ते तेसि होज्ज व न वा, इमेहि पुण नोद्दिसे तेवि॥

ये दोषा कोशलके दिशमुद्दिशन्ति ते किं न शेषाणां दिशमुद्दिश–न्ति किं न भवन्ति भवन्त्येवेति भावः। सूरिराह। ते दोषास्तेषां भवेयुर्वा न वा कोशलके पुनर्नियमाद्भवन्ति देशविशेषजन्मनोऽपि गुणदोषहेतुत्वात्ततः कोशलोपादानम्। एते पुनर्वक्ष्यमाणास्तानपि शेषदेशोत्पन्नान् क्षेत्रविकृष्टान्नोद्दिशेत्। अन्यच्च।

अन्नं उद्दिसिऊणं, निक्खंता वा सरागधम्मम्मि।
अण्णोण्णम्मि मतं न तु,अग्गाणं पि संभवति॥

वा शब्दो दूषणान्तरसमुच्चये अद्यकालभाविनि सरागधर्म्मे अन्य–माचार्यमुद्दिश्य निष्क्रान्ता परमन्योन्यस्मिन् परस्परस्मिन् यन्ममत्व तत् व्यग्राणमापि व्यग्रचित्तानामपि न तु नैव भवति किंत्वे–कचित्तानामुपजायते सा चैकचित्तता अत्र नास्ति तथा चाह।

सुचिरं पि सारिया गच्छइत्ति ममयाइ गच्छस्स।
सीयंतचोयणासु य, परिभूयामित्ति मन्नेज्जा॥

सुचिरमपि कालं सारिता शिक्षिता सती गमिष्यतीति मन्यमानस्य गच्छस्य न तस्या विषये ममता ममत्वं मायातिसीदन्त्याः संयमयोगेषु शिथिलीभवन्त्या याश्चोदनाः शिक्षास्तासु दीयमानासु साऽन्यत्र गन्तुमनाः परिभूताऽस्मीति मन्यते ततस्तस्या अपि न गच्छस्योपरि ममता। किं च

गमणुस्सुएण चित्तेण, सिक्खातोवि न गेण्हइ।
वारिज्जंती वि गच्छिज्जा, पंथदोसे इमे लभे॥

गमनोत्सुकेन चित्ते शिक्षा अपि नानाप्रकारा ग्रहणशिक्षा आसे–वनाशिक्षाश्च न गृह्णाति। तथा वार्यमाणाऽपि तस्य क्षेत्रविकृष्टस्या–न्यस्याचार्यस्य समीपं गच्छेत् तत्र च पथि दोषानिमान् वक्ष्यमाणान् लभते। अत्र यदुक्तं प्राक् एतैर्वक्ष्यमाणैर्दोषैस्तानपि नोद्दिशेदिति तद्व्याख्यानावसरस्तानेव दोषानाह॥

मिच्छत्तसोहिसागा–रियादिपासंडतेणसच्छंदा।
खेत्तविगिट्ठे दोसा, अमंगलं भवविगिट्ठम्मि॥

मिथ्यात्वं मिथ्यात्वगमनं शोधेरभावस्तथा सागारके अगारस–हिते आदिशब्दादनागारे एकाकिन्या उपाश्रये दोषाः। तथा पाष–ण्डैर्विपरिणामनं स्तेनैरपहारस्तथा स्वच्छन्दा स्यात्। न गच्छाधीना तथा च सति भूयांसो दोषाः। एते क्षेत्रविकृष्टे उद्दिश्यमाने दोषाः। भावविकृष्टे उद्दिश्यमाने अमङ्गलं तेन संयमजीविताद्भवजीविताद्वा भ्रश्येत्तस्माद्भावविकृष्टोऽपि नोद्देष्यः। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः। सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो मिथ्यात्वद्वारं शोधिद्वारं चाह॥

उवदेसो तसिं अत्थि, जेणेगागी उ हिंडए।
इति मिच्छं जणो गच्छे, कत्थमाहिं च कुज्जउ॥

उपदेशः तासामेकाकिनीनां नास्ति येन स तादृशः स्त्रीजन एकाकी हिंडते। तत इति अस्मात्कारणादुपदेशाभावलक्षणाज्जनः स्त्रीजनो मिथ्यात्वं गच्छेत्। गतं मिथ्यात्वद्वारम्॥ शोधिद्वारमाह। क्षेत्रप्रा–यश्चित्तमापन्ना सती कुत्र शोधिं कुर्यात्। नैव कुत्रापीति भावः एका–किनीत्वान्न च प्रायश्चित्तस्थानमप्रायश्चित्तस्थानं वा सा जानाति तत इतोऽपि शोध्यभावः। सागारिकादिद्वारं पाषण्डद्वारमाह।

सागारमसागारे, एकाए वस्सुए भवे दोसा।
चरिगादिविपरिणामण–सपक्खपरपक्खनिण्हादी॥

सागारे आगारसहिते असागारे आगाररहिते उपाश्रये एकस्या एकाकिन्या दोषा भवन्ति। तत्र सागारे दीपस्पर्शनादयो दोषाः। अनागारे कुलटाजारादिप्रवेशनम्। गतं सागारिकादिद्वारम्। पाषण्डद्वारमाह (चरगादित्यादि) स्वपक्षे परपक्षे च विपरिणमनं तत्र स्वपक्षे निह्नवादिभिरादिशब्दात्पार्श्वस्थादिपरिग्रहः। परपक्षे चरकादिभिः। स्तेनद्वारं स्वच्छन्दद्वारं चाह।

तेणेहि वा विहिज्जइ, सच्छंदुट्ठाणगमणमादीया।
दोसा भवंति एए, किंच न पावेज्ज सच्छंदा॥

स्तेनैर्वा द्रव्यापहारिभिर्वा सार्धं गच्छन्ती ह्रियते तथा स्वच्छन्द–मुत्थानं स्वच्छन्दगमनमित्यादयश्चैते दोषा एकाकिन्या भवन्ति। किं वा स्वच्छन्दा सती सा किं न प्राप्नुयात्सर्वदुःखस्थानमाप्नुयादित्यर्थः। संप्रति भावविकृष्टे दोषानाह।

गोरवभयसमीकरा, अविदूरत्थे वि होइ जीवत्ते।
को दाणिसमुग्घातस्य, कुणइ न य तेण जं किंचं॥

अपि दूरस्थेऽपि जीवति सति तद्विषया गौरवभयसमीकरा भवन्ति भूयस्तन्मिलनादिप्रत्याशासंभवात्। इदानीं पुनस्तस्य समुद्घा–तस्य को गौरवं भयं समीकारं वा करोति नैव कश्चित् यत् यस्मात् न च नैव तेन सर्वप्रयोजनातीतत्वात्॥

कोसलवज्जा नत्थि य, दोसा सविसेसभवविगिट्ठम्मि।
दुविहं पी वितिगिट्ठं, तम्हा उ न उद्दिस्सेज्जाहि॥

एवं दोषा ये मिथ्यात्वगमनादयः क्षेत्रविकृष्टेऽभिहितास्त एव

सविशेषा भावविकृष्टेऽपि ज्ञातव्याः केवलं कोशलवर्जाः कोशलदोषा हि भावविकृष्टे न भवन्ति मृतत्वेनासंभवात्तस्मात् द्विविधमपि व्यतिकृष्टं क्षेत्रविकृष्टं भावविकृष्टं च नोद्दिशेत्।

अत्रैवापवादपदमाह॥

वितियं तिव्वणुरागा, संबंधी वा न ते य सीयंति।
इत्तरदिसाउ नयणं, अव्वहाए य दूरम्मि॥

द्वितीयपदमपवादमधिकृत्य क्षेत्रविकृष्टमपि उद्दिशेत्। यदि सा धर्म्मग्राहिण्याचार्ये तीव्रानुरागा भवेत् स चाचार्यस्तस्याः संबन्धि–स्वजनो न च ते आचार्याः संयमयोगेषु सीदन्ति उद्यतविहारिण इत्यर्थः केवलं तस्या इत्वरा दिशोऽनुबन्धनीयाः यावत्ते स्वक आचार्यो न मिलति तावद्वयमाचार्या एते उपाध्याया इयं प्रवर्तिनीति ततः स्वाचार्यसमीपे विधिना नयनमव्याघातं च दूरे ते आचार्यास्ततः संदेशं कथयन्ति यथा युष्मदीयधर्म्मशिष्याऽस्माकं पार्श्वे प्रतिपन्नदीक्षिका वर्तते सा प्रतिग्राह्या।

भावविगिट्ठे वि एमेव, समुज्जातोत्ति वा न वा।
तत्थ आसंकिए बंधो, निस्संक उ न बज्झति॥

भावविकृष्टेऽप्येवमेव द्वितीयपदमवगन्तव्यमिति भावः कथमित्याह। किं समुद्घातकालागतः किं वा नेत्येवं तस्मिन् भावविकृष्टे तस्या बन्धः क्रियते निःशङ्किते तु भावविकृष्टे सा न बध्यते।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह।

अहवा तस्स सीसं तु, जति सा उ समुद्दिसे।
विकप्पट्ठे तहिं खेत्ते, जयणा जा उ सा भवे॥

अथवा यदि सा तस्य शिष्यं समुद्दिशति कथयति मम ते एवाचार्या अहं तु तच्छिष्यसमीपे स्थास्यामीति तदा भावविकृष्टेऽपि तस्या बन्धः क्रियते तत्र या विकृष्टे क्षेत्रे यतनोक्ता सात्रापि भवति ज्ञातव्या तदेवं निर्ग्रन्थीसूत्रं व्याख्यातमधुना कप्पइत्ति द्वारम्।

निग्गंथाण वि विगिट्ठो, दोसा ते चेव मोत्तुकोसलयं।
सुत्तनिवातो निगए, संवग्गे य सेसइत्तरिए॥

निर्ग्रन्थानामपि विकृष्टे उद्दिश्यमाने य एव निर्ग्रन्थीनां दोषामिथ्यात्वादय उक्तास्त एव कोशलकमेकं दोषं मुक्त्वा शेषाः सर्वे निरवशेषा द्रष्टव्याः। यद्येवं तर्हि सूत्रमनर्थकमविषयत्वादत आह "सूत्रनिपातोऽभिगते संविग्ने च शेष इत्वरिकः" इयमत्र भावना। अभिगतो ज्ञाततत्वः श्राद्धः पुराणो वा संविग्नः स्वयं योऽपि तस्य धर्म्मदेशक आचार्यः सोऽपि संविग्नस्तस्मिन् सूत्रनिपातो यस्तु शेषः स्वयं न सम्यक् ज्ञाततत्वस्तस्य पथि व्रजतोमिथ्यात्वादयो दोषास्तस्य दीक्षामाधाय इत्वरिको दिग्बन्धः क्रियते पुनः प्रेष्यते एतदेव व्याचिख्यासुराह।

सड्ढो पुराणो वा जइ, लिंगं घेत्तूण वयति अन्नत्थ।
तस्स वि दिगिट्ठबंधो, जा इच्छइ ताव इत्तरिको॥

श्राद्धः श्रावकः पुराणः पश्चात्कृतो वाशब्दो विकल्पने अधिगतत–त्वः स्वयं संविग्नो योऽपि तस्य धर्म्मग्राहक आचार्यः सोऽपि संविग्नः स इत्थंभूतो यदि लिङ्गं गृहीत्वाऽन्यत्र क्षेत्रविकृष्टमूलाचार्यसमीपे व्रजति तस्य विकृष्टो दिग्बन्धः कर्तव्यो यावच्च तत्र तिष्ठति तावत्तस्यात्मीय इत्वरिको दिग्बन्धः॥

मिच्छत्तादी दोसा, जे वुत्ता ते उ गच्छतो तस्स।
एगागिस्स वि न भवे, इति दूरगते वि उद्दिसणा॥

य एव पूर्वं मिथ्यात्वादयो दोषा उक्तास्तेऽपि तस्यैकाकिनोऽपि गच्छतो न भवन्ति ज्ञाततत्वत्वात्संविग्नत्वाच्च इति हेतोस्तस्य दूरगतेऽपि क्षेत्रविकृष्टेऽपि गुरावुद्देशनं भवति।

गीयपुराणोवट्ठं, धारंतो सततमुद्दिसंतं तु।
ओसन्नं उद्दिसइ, पुव्वदिसं वा सयं धरए।
चोइज्जंतो जो पुण, उज्जमिहिति तं पि नाम बंधंति।
सो सततं उद्दिसणा, इति भयणा खेत्तवितिगिट्ठो॥

गीतो नाम सूत्रार्थनिष्पन्नः। पुराणः पश्चात्कृतश्रमणभावः स निष्क्रमितुकामोऽन्येषामाचार्याणामुपस्थितस्तस्य च पूर्वाचार्यो –ऽवसन्नो विदेशस्थश्च स तं सततमेवाभिधारयति येषां च समीपे निष्क्रामितुमुपस्थितस्तान्प्रति उद्दिशति भणतीत्यर्थः। मम स एवाचार्य इति तं गीतं पुराणमुपस्थितपूर्वमाचार्यमवसन्नमभिधारयन्तं वचसा तमेवोद्दिशन्तं च प्रति यस्य समीपे निष्क्रमितुमुपस्थितः स पूर्वाचार्यो विदेशस्थः योऽन्यस्तस्य संबन्धी संविग्नस्तमुद्दिशति यथा स तवाचार्य इति–अथवा स्वयं तेनात्मीयावसन्ना दिक् धारयितव्या न पुनः स तेन तत्रोद्देशयितव्यः तस्यावसन्नत्वा–द्यदि वा तमप्यवसन्नमुद्दिशति। केवलमनेन प्रकारेण। केनेत्यत आह (चोइज्जंतो इत्यादि) यः पुनर्ज्ञायते चोद्यमानः शिष्यमाण उद्यंस्यति संविग्नो भविष्यति तमपि नाम ते आचार्या बध्नन्ति यथा ते तवाचार्य इति॥ ये पुनर्ज्ञायन्ते न चोद्यमानाः संविग्ना भविष्यन्ति तेषु शेषेषु नोद्देशनमिति भजना। गतं क्षेत्रविकृष्टम्॥

संप्रति भावविकृष्टमाह।

एमेव य कालगते, आसन्ने तं च उद्दिसइ गीयत्थो।
पुव्वदिसधारणं वा, अगीयमुत्तूण कालगयं॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण कालगते तस्य मूलाचार्यो यदि स्वयं गीतार्थो भवति तदा तस्य येऽन्ये आसन्ने आचार्यास्ते वा उद्दिशन्ति पूर्वदिशं वा धारयन्ति। अथ स स्वयमगीतार्थस्तदा तस्य कालगतं मुक्त्वा शेषोऽन्य उद्दिश्यते इति। व्य० द्वि ७ उ०। (व्यतिकृष्टकाले स्वाध्यायो नोद्देष्टव्य इति सज्झाय शब्दे) उद्देशफलमाह परः किमत्र पुनः कारणं यदुद्देशः क्रियते। अनुद्दिष्टं कस्मान्न पठ्यते तत्राह।

बहुमाणविणयआउ–त्तताय उद्देसतो गुणा हुंति।
पढमाए सो उ सव्वो, एत्तो वुच्छं करणकालं॥

उद्देशे हि क्रियमाणे श्रुतस्य श्रुताधारस्य वाऽध्यापकस्योपरि बहुमानमान्तरः प्रीतिविशेषो भवति विनयश्च प्रयुक्तः स्यादायुक्तता च महती भवति एते उद्देशतो गुणा भवन्ति एव सर्वोप्यङ्गादिविषय उद्देशः प्रथमोद्देशः॥ व्य० ७ उ०॥

(आचार्य्येऽवसन्ने उद्देशविधिरवधावनं च ओहावण शब्दे वक्ष्यते) उद्–दिश्– घञ् – अनुसंधाने, अन्वेषणे, अभिलाषे, उपदेशे च। आधारे घञ्। उपदेशे, यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्। वाच०।

उद्देसण न० (उद्देशन) अङ्गादौ पठने ऽधिकारित्वे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

उद्देसणकप्प पुं० (उद्देशनकल्प) वाचनासामाचार्याम्,।

एसुवसंपदकप्पो, वोच्छं उद्देसकप्प महुणाओ।
उद्दिसणवायणमि य, पाठणता चेव एगट्ठा॥
सुत्तत्थ तदुभयाइं, पवायते ताव जाव संधाणं।
बहुपच्चवायपाए, विजढे भजियं तु संधाणं॥
संधाणमंतगमणं, असिवादी पच्चवादणेगविहा।

विजढे तोणिक्खित्ते, जोगे रुइओ पुणक्खेवा ॥
जदि कारणेण केण वि, णिक्खित्तो तो सउक्खिव पुणो वि।
अहदप्पाणिक्खित्तो, तो णं उक्खिप्पती भुज्जो ॥
उद्दिट्ठम्मि य अंगे, सुयखंधम्मि य तहेव अज्झयणे।
आसज्जपुरिसकरणं, तिट्ठाणे हों ति पडिसेहा ॥
अंगादि उ दिट्ठो पुरि–सं दट्ठूण अपरिणामादी।
अत्थति वसट्टरादिहि, अवणीया दीवणाऊणं ॥
ताहे णिक्खिप्पत्तीसु, तिट्ठाणे जं तु भणितपडिसेहो।
तं सुत्तमत्थतदुभए, एतेसिं तिण्ह पडिसेहो ॥पं० भा०।

इयाणिं वाहणाकप्पो गाहा।

सुत्तमत्थतदुभयं, पुण सुत्तत्थ तदुभयं वा।
ताव वाएइ जाव, संधाणं नाम जणअद्धं ॥

किं निमित्तं न समाणेइ जण अद्धं होज्जा। उच्यते बहुपच्चवायताए विजढे जोगे निक्खित्ते भणियं होइ भइया य संवणा य संवणा नाम पुरवि जो न उक्खेवो समाणणंति वुत्तं होइ जइ असिवाइ कारणेहिं निक्खित्तो जोगो तो से पुणो वि सारिज्जइ। अह दप्पेण सङ्घयाए वा निक्खवइ ताहे न उक्खिप्पइ पुणो जोगो अहाचार्यो किमर्थं भैक्षं न पर्यटति वैयावृत्त्यं वा न करोति उच्यते वाएपि ते आयरिओ जो हिंडइ उण्हकालं सीयकालंवासासु हिंडंतो वाएण घेप्पइ सो वाएसु चडंतो कवाडाइं उग्घाडेंतो सुत्तत्थतदुभयाणं परिहाणी गच्छस्स सीस–पडिच्छगाणं गिलाणा रोवणा व उण्हकाले वा पित्ताइरोइओ अइबहुयं वा पाणयं पीउ उच्चाइं उ न तरइ समुद्दिसिओ उवगरणं च पडिलेहंतो वाएण घेप्पेज्जा तत्थ वि सुत्तत्थाइपरिहाणी गणालोए जहा गोवालो गावीओ तिण्हि वेलाओ पलोएइ पुव्वण्हगब्भण्हावरणेसु तहा आयरिओ वि पुव्वण्हे ताव आवासयसुत्तत्थमंडलीए गणालोयं करेइ। मज्झण्हे समुद्देसवेलाए अवरण्हे वि पुणो सज्झायवेलाए आवासए वा को आगओ अणागओ वा परीसहपराइओ वा पिव मुच्छाए वा पडिओ तत्थ नाहिंडइ अत्थंतो सव्वाणि जाइक्कायकिलेसो य हिंडंतस्स पच्छा किलेसाभिभूओ सुत्तत्थाणि चिंति–ऊण देइ न य नासेइ मेढीपमाणं आधार इत्यर्थः। दव्वमेढीए वइच्छा परिग्गहिया सुहं भमंति भावमेढीए आयरिया मेढीभूया तम्मि य सव्वे सनियट्टंति जाणंति य अत्थंता कोस्य हिंडइ गिहिनिसेज्जं वा जो वाहेइ तं जाणंतिअत्थंता अकारए आयरिआणं हिंडंताणं जं सरीरस्स अकारयं अंवक्खलमाहनीणियं जइ गेण्हइ समुद्दिसइ य सरीरापच्छं गिलाणाइ दोसा अपडिसेहेइ अकारिकमिति ताहे लोओ उड्डहइ। आयरिओ चेव अजिइंदिओ जंपिति निच्छइ किं पव्वइयत्थ वालेण सुएण वा खज्जेज्जा गिलाणारोवणासुत्ताइपरिहाणी गच्छवि–णासो य मणचिंता गणं च चिंतेइ हिंडंता वालवुड्ढे गिलाणसेहपाहु–णयाइवालवुड्ढा य न तरंति दीहभिक्खायरियं हिंडिओ गिलाणस्स न कोइवावारिं तओ गेण्हंतओ वा अहवा वारेंति गिलाणस्स गेण्हह पाउग्गं ते य न गेण्हं ति अहवा जं वा तं वा आणेंति ताहे जइ भणंति किं एरिसं गिलाणस्स नाणीयं ताहे तेहिं भण्हइ केरिसाएहिं तुब्भे सयमेव हिंडंता किं लभह दीसंता तुब्भे पडिरूवा लाभीणं एवं सेहपाहुणाणं पि न कोइ गेण्हंतओ संदिसंतो वा जइ पुण अच्छंतो वालबुड्ढादयो सव्वे चिंतते गिलाणस्स पाहुणयाणं वा पाउग्गं गेण्हावेंतो इड्ढित्ति इड्ढिए य रायमत्तं दंडभडभोइया वा आगया धम्मं सुणेमो त्ति जाव आयरियं भिक्खं गया ते खिंसिऊण पडिगया एरिसा आयरिया भिक्खं पि से न कोइ आणेइ। अह अत्थंतो तेसिं धम्मं कहंतो ते पव्वयंता वा सावगा वा हुंता अहा भद्दया वा दाणसड्ढा वा हुंता पवयणउवग्गहकरा वा हुंता तेसिं चंदगवेज्झसरिसो आगमो "जहा एगेण रन्ना अमच्चेण य धम्मो सुओ ते य अक्खित्ता तेहिं गंतूण अंतेउरं कहियं जहा एरिसा तारिसा य आयरिया पच्छा वियदिवसे महादेवी अमच्चा य समागया धम्मं निसामेंति जाव भिक्खं गया पच्छा खिंसिउं पडिगया ताओ वि य पव्वयंताओ वि साविआओ वा हुंताओ एए दोसा। वाई वा आगओ पुच्छइ किं आयरिया केणइ सिट्ठं भिक्खाए गया पच्छा वाई भणइ किह सो अत्था ण जाणिहिइ जो दिवसं भिक्खं हिंडंतो अत्थइ अहवा परिस्संतो त्ति काऊण नीसडावेइ सो वि उव्वाओ न तरइ उत्तरं दाउं पच्छा पवयणोब्भावणया अह अच्छंदो पच्छा सत्थाणि चिंतंतो न परवाइहेउणा वा निमित्तेण वा पराइणं तो पच्छा पवयणउब्भा–वणया कया हुंता गाहा "गणहारिस्सा हारो" गाहा "सिद्धं उद्दिट्ठम्मि" उयंगसुयंगअज्झयेण उद्दिट्ठे आसज्जणाम प्राप्य पुरिसं उद्दिसावेउं ताहे अत्थइ अदूरवदूरेहिं अहवा अविणीओ वि गइपडिबद्धो वा अविओ स वि य पाहुडोत्ति एवमादी दोसा पच्छा नाया ताहे निक्खिप्पइ जोगो तिट्ठाणं णागसुत्तत्थतदुभएसु पडिसेहो कारणो वा असिवाइमतिवाएज्जा एस वायणाकप्पो। पं० चू०॥

उद्देसणकाल पुं०(उद्देशनकाल) उद्देशसमुद्देशानुज्ञानार्थं षड्वन्द–नकदानकायोत्सर्गत्रयसमयप्रसिद्धे क्रियाविशेषे, ध० ३ अधि०॥ उद्देशनकाला यत्र श्रुतस्कन्धेऽध्ययने च यावन्त्यध्ययनानि उद्देशका वा तत्र तावन्त एव उद्देशनकाला उद्देशावसराः श्रुतोप–चाररूपाः इति। "छव्वीसं दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकाला पण्णत्ता"। सम०। ते चैव दशाश्रुतस्कन्धस्य दशस्वध्ययनेषु दशसु च कल्पस्य षट्सु च व्यवहारस्योद्दशकेष्विति तैरविधिना गृहीतैः ध०३ अधि०। षड्विंशतिरुद्देशनकाला दशाकल्पव्यवहाराणं तत्र गाथा "दस उद्देसणकाला, दसाण छच्चेव हुंति कप्पस्स। दस चेव ववहारस्स, दसाकप्पस्स हुंति छव्वीसं॥ प्रश्न० सं० ५ द्वा०।

खुड्डियाएणं विमाणपविभत्तीए तइए वग्गे चत्तालीसं उद्देसण–काला पण्णत्ता महालियाएणं विमाणपविभत्तीए तइए वग्गे तेयालीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता महालियाएणं विमाणपविभ–त्तीए चउत्थे वग्गे चोयालीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता महालिया–एणं विमाणपविभत्तीए पंचमे वग्गे पणयालीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता नवण्हं बंभचेराणं एकावण्णं उद्देसणकाला पण्णत्ता॥

(बंभचेराणंति) आचाराः प्रथमश्रुतस्कन्धाध्ययनानां शस्त्रपरि–ज्ञादीनाम्। तत्र प्रथमे सप्तोद्देशका इति सप्तैवोद्देशनकाला एवं द्वितीयादिषु क्रमेण षट् चत्वारः षट्सप्तैवमेकपञ्चाशदिति।

अयारस्स णं सचूलियागस्स पंचासीइ उद्देसणकाला पण्णत्ता।

तत्राचारस्य प्रथमाङ्गस्य नवाध्ययनात्मकप्रथमश्रुतस्कन्ध–रूपस्य (सचूलियागस्स इति) द्वितीये हि तस्य श्रुतस्कन्धे पञ्च चूलिकास्तासु च पञ्चमी निशीथाख्येह न गृह्यते भिन्न–प्रस्थानरूपत्वात्तस्यास्तदन्याश्चतस्रस्तासु च प्रथमद्वितीये सप्त–सप्त्यध्ययनात्मिके तृतीयचतुर्थ्यां चैकैकाध्ययनात्मिके तदेवं

सह चूलिकाभिर्वर्त्तत इति सचूलिकाकस्तस्य पञ्चाशीतिरुद्देशनकाला भवन्तीति प्रत्यध्ययनमुद्देशनकालानामे तावत्संख्यत्वात्तथाहि प्रथमश्रुतस्कन्धे नवस्वध्ययनेषु क्रमेण सप्त षट् चत्वारश्चत्वारः षट् पञ्च अष्ट चत्वारः सप्त चेति द्वितीयश्रुतस्कन्धे तु प्रथम–चूलिकायां सप्तस्वध्ययनेषु क्रमेण एकादश त्रयस्त्रयः चतुर्षु द्वौ द्वौ द्वितीयायां सप्तैकसराणि अध्ययनान्येवं तृतीयैकाध्ययनात्मिका एवं चतुर्थ्यपीति सर्वमीलने पञ्चाशीतिरिति। सम०।

उद्देसणा स्त्री०(उद्देसना) वाचनायाम्, पाठने, पं० भा०। अन्या–चार्य्योपाध्यायोद्देशना॥

(सूत्रम्) भिक्खू य इच्छिज्जा, अन्नं आयरियउवज्झायं विहरित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिया जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय–उवज्झायं उद्दिसावित्तए ते से विपरिणा एवं से कप्पइ अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदावित्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्तं अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत्। नवरमन्यदाचार्यो पाध्यायमुद्देशयितुमा–चार्यश्चोपाध्यायश्चाचार्योपाध्यायं समाहारद्वन्द्वः। यद्वा आचार्ययुक्त उपाध्याय आचार्योपाध्यायः शाकपार्थिवत्वान्मध्यमपदलोपी समासः आचार्योपाध्यायावित्यर्थः तावन्यानुद्देशयितुमात्मन इच्छेत् ततो नो कल्पते अनापृच्छ्याचार्यं वा यावद्गणावच्छेदकं वा इत्यादि प्राग्वत् द्रष्टव्यम् तथात्वकल्पने तेषामाचार्यादीनां कारणमदापयित्वा अनिवेश्य अन्यमाचार्योपाध्यायमुद्देशयितुमात्मनो गुरुतया व्यवस्थापयितुमेष सूत्रार्थः।

अथ भाष्यम्।

सुत्तम्मि कड्ढियम्मि, आयरियउवज्झाय उद्दिसा विंति।
तिण्हव्व उद्दिसिज्झा, णाणे खलु दंसणचरित्ते।

सूत्रे सूत्रार्थे आकृष्टे उक्तम्। निर्युक्तिविस्तर उच्यते। आचार्यो–पाध्यायमभिनवमुद्देशयन् त्रयाणामर्थायोद्दिशेत्। ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं चेति॥

नाणे महकप्पसुतं, सिस्सित्ते को पि उवगए।
तस्सइ उद्दिसिज्जा, सा खलु सेच्छा ण जिणआणा॥

ज्ञाने तावदभिधीयते। केषांचिदाचार्याणां कुले गणे वा महाकल्प–श्रुतमस्ति तैश्च गणसंस्थितिः कृता योऽस्माकं शिष्यतया गच्छति तस्यैव महाकल्पश्रुते देयं नान्यस्य तत्रोत्सर्गतो नो गन्तव्यम् यद्यन्यत्र नास्ति तदा तस्य महाकल्पश्रुतस्यार्थाय तमप्याचार्यमुद्दिशेत्। उद्दिश्य वाऽधीते तस्मिन् पूर्वाचार्याणामेवान्तिके गच्छेन्न तत्र तिष्ठेत्। कुत इत्याह। सा खलु तेषामाचार्याणां स्वेच्छा न जिनाज्ञा नहि जिनैरिदं भणितं शिष्यतयोपगतस्य श्रुतं दातव्यमिति॥

अथ दर्शनार्थमाह

विज्जामंतनिमित्ते, हेऊ सत्तट्ठदंसणट्ठाए।
चरित्तट्ठ पुव्वगमो, अहव इमे हुंति आएसा॥

विद्यामन्त्रनिमित्तार्थं हेतुशास्त्राणां च गोविन्दनिर्युक्तिप्रभृतीनाम–र्थाय यद्यन्य आचार्य उद्दिश्यते तद्दर्शनार्थं गन्तव्यं चारित्रार्थं पुनरुद्देशेन पूर्वं प्रागुक्त एव गमो भवति। अथवा तत्रैते आदेशा प्रकारा भवन्ति।

आयरिओवज्झाए, ओसण्णोहाविते विकारगते।
ओसण्णे छव्विहे खलु, वत्तमवत्तस्स मग्गणया॥

आचार्य उपाध्यायो वा अवसन्नः संजातः अवधावितो वा गृहस्थी–भूतः कालं गतो वा यद्यवसन्नस्ततः षड्विधो भवेत् पार्श्वस्थोऽवसन्नः कुशीलः संसक्तो नित्यवासी यथाच्छन्दश्चेति। यश्च तस्य शिष्य आचार्यपदयोग्यः स व्यक्तोऽव्यक्तो वा भवेत् तत्रेयं मार्गणा।

वत्ते खलु गीयत्थे, अव्वत्ते वयण अहव अगीयत्थे।
वत्तिच्छसारपेच्छण, अहवा सण्णे सयं गमणं॥

अत्र चत्वारो भङ्गाः। तत्र वयसा व्यक्तः षोडशवार्षिकः श्रुतेन च व्यक्तो गीतार्थः। एष प्रथमो भङ्गः। वयसा व्यक्तः श्रुतेनाव्यक्त एषोऽर्थतो द्वितीयः। श्रुतेन व्यक्तः वयसा अव्यक्तः। अयमर्थतस्तृतीयः अव्वत्ते वयण अहव अगीयत्थत्ति चतुर्थो भङ्गो गृहीतः स चायं वयसाऽप्यव्यक्तः श्रुतेन चाव्यक्त इति ४ तत्र प्रथमभङ्गे द्विधाऽपि व्यक्तस्य इच्छा अन्यमाचार्यमुद्दिशति तावत् तमासन्नीभूतमाचार्यं सारयितुं साधुःसंघाटकं प्रेषयति। अथासन्नः स आचार्यस्ततः स्वयमेव गत्वा नोदयति नोदनायां चैवं कालपरिमाणम्॥

एगाहपणगपक्खे, चाउम्मासोवरिस जत्थ वा मिलइ।
चोयइ चोयवेइ वा, णेच्छंते सयं तु वड्ढाओ॥

एकाहं नाम दिने गच्छो नोदयति एकान्तरितं वा तथा पञ्चाहं पञ्चानां दिवसानामन्ते एवं पक्षे चातुर्म्मासे वर्षान्ते वा यत्र वा समवसरणादौ मिलति तत्र स्वयमेव नोदयति अपरैर्वा स्वगच्छीयैर्नोदनं कारयति यदि सर्वथापि नेच्छति ततः स्वयमेव तं गणं वर्त्तापयति।

उद्दिसइ व अन्नदिन्नं, पयावणट्ठा न संगहट्ठाए।
जइ णाम गारवेण वि, सुपज्जाणिच्छे सयं वाइ॥

अथवा स उभयव्यक्तोऽन्यां दिशमपरमाचार्यमुद्दिशति। तच्च तस्यावसन्नाचार्यस्य प्रतापनार्थं न पुनर्गणस्य संग्रहोपग्रहनिमित्तं स च तत्र गत्वा भणति। अहमन्यमाचार्यमुद्दिशामि यदि यूयमित–स्थानान्नोपरमध्वे ततः स चिन्तयेत् अहो अमी मयि जीवत्यप्य–परमाचार्यं प्रतिपद्यन्ते मुञ्चामि पार्श्वस्थतां यदि नामैवं गौरवेणापि पार्श्वस्थत्वं मुञ्चेत्ततः सुन्दरं अथ सर्वथा नेच्छत्युपरन्तुं ततः स्वयमेव गच्छाधिपत्ये तिष्ठति गतः प्रथमो भङ्गः। अथ द्वितीयपदमाह।

सुअवत्तो वयावत्तो, भणइ गणं तेन सारितुं सत्ता।
सारेहिं सगणमेवं, अण्णं च वयाम आयरिअं॥

यः श्रुतेन व्यक्तो वयसा पुनरव्यक्तः स स्वयं गच्छं वर्त्तापयितुमसमर्थः॥ ततः आचार्यं भणति। अहमप्राप्तवयास्तेनत्वदीयं गणं सारयितुं न शक्तः। अतःसारय स्वगणमेनं अहं पुनरन्यस्य शिष्यो भविष्यामि अथवा अहमेते चान्यमाचार्यं व्रजामः उद्दिशामीत्यर्थः।

आयरियउवज्झायं, निच्छंते अप्पणा य असमत्थे।
तिगसंवच्छरपद्धं, कुलगणसंघे दिसाबंधो॥

एवं भणित आचार्य उपाध्यायो वा यदि नेच्छति संयमे स्थातुं सचात्मना गणं वर्त्तापयितुमसमर्थः। ततः कुले सत्कमाचार्यमुपाध्यायं वा उद्दिशति। तत्र त्रीणि वर्षाणि तिष्ठति तमाचार्यं सारयति ततः त्रयाणां परमः स चिन्तादिकं कुलाचार्यो

हरतीति कृत्वा गणाचार्यमुद्दिशति तत्र संवत्सरं स्थित्वा संघाचार्य–स्य दिग्बन्धं प्रतिपद्य वर्षार्द्धं षण्मासान् तत्र तिष्ठति। कुलगणाच्च संघं सं क्रामन्नाचार्यमिदं भणति।

सचित्तादिहरंता, कुलंपि णेच्छाम जं कुलं तुज्झ।
वच्चामो अण्णगणं, संघं च तुमं जइ न वयसि॥

यत् त्वदीयं कुलं त्वदीया आचार्या अस्माकं वर्षत्रयादूर्ध्वं सचित्तादिकं हरन्ति अतः कुलमपि नेच्छामो यदि त्विदानीमपि न तिष्ठति ततो वयमन्यगणं संघं वा व्रजामः॥

एवं पि अद्धीयंते, नाहेत्तअङ्गपंचमे वरिसे।
संजमे व धारइगणं, अनुलोमेणं च सारेइ॥

एवमर्द्धपञ्चमे वर्षे पूर्वाचार्यो नोदनाभिः प्रतापितोऽपि यदि न तिष्ठति तत एतावता कालेन स श्रुतव्यक्तो वयमपि व्यक्ता जाता इति कृत्वा स्वयमेव गणं धारयति। यत्र च पूर्वाचार्य पश्यति तत्रानुलोमवचनैस्तथैव सारयति।

अहव जइ अत्थि थेरा, सत्तापरिकट्ठिऊण तं गच्छं।
दुहा वत्तसरिसस्स, तस्स उ गमो मुणेयव्वे॥

अथवा यदि तस्य श्रुतव्यक्तस्य स्थविरस्तं गच्छं परिवर्तयितुं शक्तस्ततः कुलगणसंघेषु नोपतिष्ठेत किन्तु स स्वयं सूत्रार्थौ शिष्याणां ददाति। स्थविरास्तु गच्छं परिवर्तयन्ति एवं च द्विधा व्यक्तसादृश्यस्यास्य गमो ज्ञातव्यो भवति गतो द्वितीयभङ्गः।

अथ तृतीयं भङ्गमाह।

वत्तवओ उ अगीओ, जइ थेरा तत्थ केइ गीयत्था।
ते मंतिए पढंतो, चोएइ असइ अण्णत्थ॥

यो वयसा व्यक्तः परमगीतार्थस्तस्य गच्छे च यदि केऽपि स्थविरा गीतार्थाः सन्ति ततस्तेषां स्थविराणामन्तिके पठन् गच्छमपि परिवर्तयति अवसन्नाचार्य चान्तरतो नोदयति तेषां गीतार्थस्थ–विराणामभावे गणं गृहीत्वा अन्यत्रोपसम्पद्यते गतस्तृतीयो भङ्गः। अथ चतुर्थभङ्गमाह।

जो पुण उभय अवत्तो, वङ्कावग असइ सो उद्दिसई।
सव्वे वि उद्दिसंता, मोत्तूणं उद्दिसंति इमे॥

यः पुनरुभयथा श्रुतेन वयसा वा व्यक्तस्तस्य यदि स्थविराः पाठयितारो। विद्यन्ते। अपरे च गच्छवर्त्तापकास्ततोऽसावपि नान्यमुद्दिशति। स्थविराणामभावे स नियमादन्यमुद्दिशति सर्वेऽपि भङ्गचतुष्टयवर्तिनोऽ-न्यमाचार्यमुद्दिशतोऽमून् मुक्त्वा उद्दिशन्ति तद्यथा।

संविग्गमगीयत्थं, असंविग्गं खलु तहेव गीयत्थं।
असंविग्गमगीयत्थं, उद्दिसमाणस्स चउगुरुगा॥

संविग्रमगीतार्थमसंविग्नं गीतार्थमसंविग्रमगीतार्थं चेति त्रीनप्या–चार्यत्वेनोद्दिशतश्चतुर्गुरुकाः एतेन यथाक्रमं कालेन तपसा तदुभयेन चतुर्गुरुकाः कर्तव्याः। अथैवं प्रायश्चित्तवृद्धिमाह॥

सत्तरतं तवो होइ, तओ छेओ य हावई।
तेणच्छिण्णपरीआए, तओ मूलं तओ दुगं॥

एतानयोग्यानुद्दिशतो वर्तमानस्य प्रथमं सप्तरात्रं चतुर्गुरु, द्वितीयं सप्तरात्रं षट्लघु तृतीयं षड्गुरु, चतुर्थं चतुर्गुरुकच्छेदः। पञ्चमं षट्– लघुकः षष्ठं षड्गुरुकस्तत एकदिवसे मूलं द्वितीये अनवस्थाप्यं तृतीये पाराञ्चिकम्। अथवा षट्गुरुकतपोऽनन्तरं प्रथमत एव सप्तरात्रं षड्गुरुकच्छेदस्ततो मूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकानि प्राग्वत्। यद्वा तपोऽनन्तरं पञ्चकादिच्छेदः सप्तसप्तदिनानि भवन्ति तेषां प्रायश्चित्तं विज्ञाय संविग्नो गीतार्थः उद्देष्टव्यः। तत्रापि विशेषमाह।

छट्ठाणविरहियं वा, संविग्गं वा वि वयइ गीयत्थं।
चउरो य अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

षड्भिः स्थानैर्वक्ष्यमाणैर्विरहितमपि संविग्नं गीतार्थं यदि स दोषकायिकादिसहितं न वदति आचार्यत्वेन उद्दिशति तदा चत्वा–रोऽनुद्घातास्तत्राप्याज्ञादयो दोषाः। इदमेव व्याचष्टे॥

छट्ठाणाजोणियगो, तत्थ रहियकाइयाइ ता चउरो।
तं विय उद्दिसमाणो, छट्ठाणगयाण जे दोसा॥

षट्स्थानानि नाम पार्श्वस्थः अवसन्नः कुशीलः संसक्तो यथाच्छ–न्दो नियतवासी चेति एतैः षट्भिर्विरहितो ये कथिकादयः कथि–कप्राश्निकनामाकसप्रसारकाख्याश्चत्वारस्तानप्युद्दिशतस्तएव दोषा ये षट्स्थानेषु पार्श्वस्थादिषु गतानां प्रविष्टानां भवन्ति। एष सर्वोऽप्यवसन्ने आचार्ये विधिरुक्तः। अथावधावितकालगतयोर्वि–धिमाह॥

ओहावियकालगते, जो अव्वत्तो स उद्दिसावेत्ति।
अन्नत्ते तिविहे वा, णियमा पुण संगहट्ठाए॥

अवधाविते कालगते वा गुरौ त्रिविधेऽपि प्रथमभङ्गवर्जे भङ्गत्रये–ऽपि योऽव्यक्तः स यदा इत्थं भवति तदा अन्यमाचार्यमुद्देशयति अथवा त्रिविधेऽपि कुलसत्के गणसत्के संघसत्केवा चार्योपाध्याये आत्मना उद्देश कारयति स चाव्यक्तत्वान्नियमात् संग्रहोपग्रहार्थमेवोद्दिशति आचार्यं गृहीभूतमवसन्नं वा यदा पश्यत्तदेत्थं भणति।

ओहावियओसन्ने, भणइ अणाहो वयं विणा तुज्झे।
कमसासमसागरिए, दुप्पडिएगंगतो तिण्हं॥

अवधावितस्यावसन्नस्य वा गुरोः क्रमयोः शीर्षं सागारिके प्रदेशे कृत्वा भणति भगवन् अनाथा वयं युष्मान् विना अतः प्रसीद भूयः संयमे स्थित्वा समाधीकुरु डिम्भकल्पान्नस्मान्। शिष्यः पृच्छति तस्य गृहीभूतस्याचारित्रस्य वा चरणयोः कथं शिरोविधीयते गुरुराह– दुष्प्रतिकरं दुःखेन प्रतिकर्तुं शक्यं यतस्त्रयाणां तद्यथा मातापित्रोः स्वामिनो धर्माचार्यस्य च यदुक्तं ''तिण्हं दुप्पडिआरं समणाउसो अम्मापिउस्स भट्टिस्स धम्मायरियस्स य इत्यादि''। तत एवमवसन्नेऽवधाविते वा गुरौ विनयो विधीयते। किञ्च।

जो जेण जम्मि ठाणम्मि, ठाविओ दंसणे व चरणे वा।
सो तं तओ वुत्तंत–म्मिवि, काउं भवे निरणो॥

यो येनाचार्यादिना यस्मिन् स्थापितस्तद्यथा। दर्शने वा चरणे वा स शिष्यस्तं गुरुं ततो दर्शनाद्वाच्यते तत्रैव दर्शने चरणे वा स शिष्यस्तं गुरुं कृत्वा स्थापयित्वा अनृण ऋणमुक्तो भवति। कृत–प्रत्युपकार इत्यर्थः। अथ ''कप्पइ तेसिं कारणं दीविता इत्यादि'' सूत्रावयवं व्याचष्टे।

तिस्सु वि दीवियकज्जा, विसज्जिता जइ अ तत्थ तं णत्थि।
णिक्खिवइ वयंति दुवे, भिक्खुकिंदाणि निक्खिवत॥

त्रिष्वपि ज्ञानदर्शनचारित्रेषु व्रजन्तो भिक्षुप्रभृतयो दीपितकार्याः पूर्वोक्तविधिना निवेदितवन्तः स्वप्रयोजनेन गुरुणा विसर्जिता गच्छन्ति। यदि च तत्र गच्छे तदवसन्नादिकं कारणं नास्ति तत उपसंपद्यते नान्यत्रेति।

(सूत्रम्) गणावच्छेदइए य इच्छिज्जा अन्नं आयरियउवज्झायं

उद्दिसावित्तए नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्तं अनिविक्खवित्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ से गणावच्छेइ–य त्तं णिक्खिवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा ३ अन्नं उद्दिसावित्तए कप्पइ से आपुच्छित्ता जाव उद्दिसावित्तए नो से कप्पति तेसिं कारणं अदीवित्ता अन्नं आयरिओज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता अन्नं जाव उद्दि–सावित्तए कप्पइ आयरियउवज्झाए य इच्छेज्जा। अण्णं आय–रिओवज्झायं उद्दिसावेत्तए। नो से कप्पइ आयरियउवज्झाए तं अनिक्खिवित्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ आयरियउवज्झाइत्तं निक्खिवित्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए णो से कप्पति अणापुच्छित्ता। आयरियं वा जाव गणावच्छेयं वा॥ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए कप्पति से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए य तं से वितरंति एवं से कप्पति एवं नो से कप्पइ जाव विहरित्तए तेसिं कारणं अदीवेत्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ तेसिं कारणं दीवित्ता जाव उद्दिसावित्तए॥

सूत्रद्वयव्याख्या प्राग्वत् अथ भाष्यम् ''निक्खिवयवयंति दुवे इत्यादि'' पश्चार्द्धं द्वौ गणावच्छेदकौआचार्य उपाध्यायश्च यथाक्रमं गणावच्छे-दित्वमाचार्यत्वमुपाध्यायत्वं निक्षिप्य व्रजन्तु यस्तु भिक्षुः स किमिदानीं निक्षिपतु गणाभावान्न किमपि तस्य निक्षेपणीयमस्ति तस्य निक्षेपणं नोक्तमिति भावः। अथ गणावच्छेदकाचार्ययोर्गणनिक्षेपणविधिमाह –

दुण्हट्ठाए दुण्हवि, णिक्खिवणं होइ उज्जमंतेसु।
सीयंतेसु य सगाणा, वच्चइ मा ते विणासिज्जा॥

द्वयोर्ज्ञानदर्शनयोरर्थाय गतयोर्द्वयोरपि गणावच्छेदकाचार्ययोः स्वगणस्य निक्षेपणं ये उद्यच्छन्तः संविग्ना आचार्यास्तेषु भवति अथ सीदन्तस्त ततस्तं स्वगणं गृहित्वा व्रजन्ति न पुनस्तेषामन्तिके निक्षिपन्ति। कुत इत्याह मा ते शिष्यास्तत्र मुक्ताः सन्तो विनश्येयुः। इदमेव। इदमेव भावयति॥

वत्तम्मि जो गमो खलु, गणवच्छे सो गमो उ आयरिया।
निक्खिवणे तम्मि चत्ता, जमुद्दिसे तम्मि ते पच्छा॥

यो गम उभयव्यक्ते भिक्षावुक्तः स एव गणावच्छेदके आचार्ये च मन्तव्यः। नवरं गणनिक्षेपं कृत्वा तावात्मद्वितीयावात्मतृतीयो वा वर्त्तते ततः स्वगच्छे एव यः संविग्नो गीतार्थः आचार्यादिस्तत्रात्मीयसाधून्निक्षिपति। अथासंविग्नस्य पार्श्वे निक्षिपति ततस्ते साधवः परित्यक्ता मन्तव्याः तस्मान्न निक्षेपणीयाः किन्तु येन केन प्रकारेणात्मना सह नेतव्यास्ततोऽयमाचार्यः सगणावच्छेदक आचार्यो पधिमुद्दिशति तस्मिन् तान् आत्मीयसाधून् पश्चान्निक्षिपति।

यथाहं युष्माकं शिष्यस्तथा इमेऽपि युष्मदीयाः शिष्या इति भावः। इदमेवाह।

जह अप्पगं तहा ते, ते ण य हप्पंत तेण घेत्तव्वा।
अपहुप्पंते गिण्हइ, संघाडं मुत्तु सव्वे वा॥

यथा आत्मानं तथा तानपि साधून्निवेदयति तेनाप्याचार्येण प्रमाणेषु साधुषु ते प्रतीच्छकाचार्यसाधवो न ग्रहीतव्याः तस्यैव तान् प्रत्यर्प्पयति। अथ वास्तव्याचार्यस्य साधवो न पूर्यन्ते ततः एकंसंघाटकं तस्य प्रयच्छति तं युक्त्वा शेषानात्मना गृह्णाति। अथ वास्तव्याचार्यः सर्वथैवासहायस्ततः सर्वानपि गृह्णाति॥

सुह असुहस्स वि तेण वि, वेयावच्चाइसव्वकायव्वं।
तेतेसि अणाए सा, वावारेउं न कप्पंति॥

तेनापि प्रतीच्छकाचार्यादिना तस्याचार्यस्य सहिष्णोरसहिष्णोर्वा वैयावृत्त्यादिकं सर्वमपि कर्त्तव्यं तेऽपि साधवस्तेषामाचार्याणामा–देशानन्तरेण व्यापारयितुं न कल्पन्ते। वृ० ४ उ०॥

उद्देसिय(उ) न०(औद्देशिक) उद्देशनमुद्देशः यावदर्थिकादिप्रणि–धानमित्युद्गमदोषस्तेनोद्गमेन निर्वृत्तं तत्प्रयोजनं चौद्देशिकम्। द्वितीयोद्गमदोषदुष्टे भक्तादौ, तदभेदोपचारात् द्वितीयो द्गमदोषे च। पंचा० १३ विव०। पिं०। प्रव०। द०। स्था०।

अस्य निर्युक्तिर्यथा–

उद्देसिअसाहुमाई, ओमच्चए तिक्खुविअरणं जं च।
उच्चरियं मीसेउ, तविअं उद्देसिअं तं तु॥४४॥

उद्दिश्य वाचा साध्वादीन्निर्ग्रन्थशाक्यादीनवमात्ययये दुर्भिक्षापगमे भिक्षांवितरणं प्राभृतकादीनां यत उद्दिष्टोद्देशिकम् यच्चोद्धरितमोद–नादि मिश्रयित्वा व्यञ्जनादिना वितरणं तत्कृतौद्देशिकं यच्च तप्त्वागुडादिना मोदकचूरीबन्धवितरणं तत्कर्मौद्देशिकमित्येवं चेतसि निधाय सामान्येनोपसंहरत्यौद्देशिकं तदेतत् तुशब्दः स्वगतभेदविशेषणार्थ इति गाथार्थः। पं० व०। साधुयोगे सति यदुद्दिश्य कृत्वा दीयते तदौद्देशिकम् उत्त० २४ अ०। आधकर्मिके, कल्प०। यत्पूर्वमेव सरडूचूर्णकादि साधूनुद्दिश्य पुनरपि संतप्तगुडा–दिना संस्क्रियते तदुद्देशिकम्। आचा०२ श्रु०२ अ०। ''उद्देसियं तु कम्मं एत्थं उद्दिस्स कीरए जंति'' पंचा० १७ विव०। अर्थिनः पाखण्डिनः श्रमणान्वोद्दिश्य दुर्भिक्षात्ययादौ यद्भक्तं वितीर्यते तदौद्देशिकमिति स्था० ६ ठा०

तद्भेदा यथा तच्च समासतो द्विधा भवति। द्वैविध्यमाह॥

ओहेण विभागेण, उहवप्पं तु वासयविभागे।
उद्दिट्ठकडेकम्मे, एक्केके चउक्कओ भेओ॥

द्विविधमौद्देशिकं तद्यथा ओघेन विभागेन च। तत्र ओघः सामा–न्यं विभागः पृथक् करणम्। इयं चात्र भावना नादत्तमिह किमपि लभ्यते ततः कतिपयां भिक्षां दद्म इति बुद्ध्या कतिपयाधिकतन्दु–लादिप्रक्षेपेण यन्निर्वर्तमशनादि तदोघोद्देशिकम् ओघेन सामान्येन स्वपरपृथग्विभाग-करणाभावरूपेणोद्देशिकमोघोद्देशिकमित व्युत्पत्तेस्तथा विवाहप्रकर-णादिषु यदुद्धरितं तत् पृथक् कृत्वा दानाय कल्पितं सद्विभागौद्देशिकं विभागेन स्वसत्ताया उत्तीर्य पृथक्करणेनौद्देशिकं विभागौद्देशिकमिति व्युत्पत्तेः तत्र ओघेओघविषयमौद्देशिकं तत्स्याप्यंनात्र व्याख्येयं किं त्वग्रे व्याख्यास्य इति भावः। यत्तु विभागविषयं तद् (वासत्ति) सूचनात्सूत्रमिति न्यायाद् द्वादश–प्रकारम्। द्वादशप्रकारतामेव सामान्यतः कथयति (उद्दिट्ठेत्यादि) प्रथमतस्त्रिधा विभागौद्देशिकम्। तद्यथा उद्दिष्टं कृतं कर्म्म च। तत्र स्वार्थमेव निष्पन्नमशनादिकं भिक्षाचराणादानाय पृथक् कल्पितं तदुद्दिष्टम्। यत् पुनरुद्धरितं सत्स्थाल्योदनादिकंभिक्षादानाय करम्बादिरूपतया जातं तत्कृतमित्युच्यते। यत्पुनर्विवाहप्रकरणादावुद्धरितं मोदकचूर्णादि तद् भूयोऽपि भिक्षाचराणां दानाय गुडघृतादिदानादिना मोदकादि कृतं तत्कर्मेत्यभिधीय

ते । एकैकस्मिंश्च उद्दिष्टादिकभेदे चतुष्कको वक्ष्यमाणश्चतुःसंख्यो भेदो भवति। त्रयश्चतुर्भिर्गुणिता द्वादश ततो विभागोद्देशिकं द्वादशधा। संप्रत्योघोद्देशिकस्य पूर्वस्थापिततया मुक्तस्य प्रथमतः संभवमाह॥

जीवामु कहंवि उमे, नियगं भिक्खाविता कइदमोहे।
दिहु नत्थि अदिन्नं भु-ञ्जइ अकयं न य फलेइ॥

इह भिक्षानन्तरं केचिद् गृहस्था एवं चिन्तयन्ति। कथमपि महता कष्टेन जीविता अवमदुर्भिक्षे ततो नियतं प्रतिदिवसं भिक्षां दद्मो यतो हु निश्चितं हन्दीति स्वसंबोधने नास्त्येतत् यदुत भवान्तरे अदत्तमिह जन्मनि भुज्यते नापीह भवे अकृतं शुभं कर्म्म परलोके फलति। तस्मात्परलोकाय कतिपयभिक्षाप्रदानेन शुभं कर्मोपार्जनीयमित्यर्थोद्देशिकसंभवः।

संप्रत्योघौद्देशिकस्वरूपं कथयति -

सा उ अविसेसियम्मेव, भत्तम्मि तंडुले छुहइ।
पासंडीण गिहीण व, जो एहि इयस्स भिक्खट्ठा॥

सा तु गृहनाथिका योषित्प्रतिदिवसं यावत्प्रमाणं भक्तं पच्यते तावत्प्रमाण एव भक्ते पक्तुमारभ्यमाणे पाखण्डिनां गृहिणां वा मध्ये यः कोऽपि समागमिष्यति तस्य भिक्षार्थं भिक्षादानार्थमविशेषितमेव। स्वार्थमेतावदेतावच्च भिक्षादानार्थमित्येवं विभागरहितमेव तन्दुलानधिकतरान् प्रक्षिपति एतदप्यौद्देशिकम्। अत्र परस्य पूर्वपक्षमाशङ्क्योत्तरमाह -

छउमत्थो उद्देसं, कहं वियाणाइ चोइए य भणइ।
उवउत्तो गुरु एवं, गिहत्थसद्दाइ नेट्ठाए॥

छद्मस्थः केवली कथमोघौद्देशिकं पूर्वोक्तस्वरूपं विजानाति न ह्येवं छद्मस्थेन ज्ञातुं शक्यते यथा स्वार्थमारभ्यमाणे पाके भिक्षा-दानाय कतिपयतन्दुलप्रक्षेप आसीदिति। एवं नोदिते प्रेरणे कृते गुरुर्भणति। एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण गृहस्थशब्दादिचेष्टायामुपयुक्तो दत्तावधानो जानानीति। एतदेव भावयति।

देन्ना उ ताउ पंच वि, रेहा उ करेइ देइव गणंती।
देहइ उ मा य इओ, अवणेहय एत्तिया भिक्खा॥

यदि नाम भिक्षादानसंकल्पतः प्रथमत एवाधिकतन्दुलप्रक्षेपः कृतो भवेत्तर्हि प्राय एवं गृहस्थानां चेष्टाविशेषा भवेयुः यथा दत्तास्ताः पञ्चापि भिक्षाः। इयमत्र भावना। कोऽपि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टाय साधवे तत्स्वामी निजभार्यया भिक्षां दापयति सा च साधौ शृण्वति एवेत्थं प्रत्युत्तरं ददाति। यथा ताः प्रतिदिवसं संकल्पिताः पञ्चापि भिक्षा अन्यभिक्षाचरेभ्यो दत्ता इति। यद्वा भिक्षां ददन्ती दत्तभिक्षापरिगणनाय भित्त्यादिषु रेखां करोति। अथवा प्रथमेयं भिक्षा द्वितीयेयं भिक्षेत्येवं गणनाय ददाति यदि वा काचित् कस्या अपि सन्मुखमेवं भणति यथा अस्मदुद्दिष्टभक्तसत्कपिटकादेर्मध्याद्देहि मा इत इति। अथवा प्रथमतः साधौविवक्षितगृहे भिक्षार्थं प्रविष्टे काचित् कस्याः संमुखमेवमाह अपनय पृथक् कुरु विवक्षितात्स्थानादेतावतीं भिक्षां भिक्षाचरेभ्यो दानायेति। तत एवमुल्लापश्रवणरेखाकर्षणादिदर्शनेनैव छद्मस्थेनाप्यौद्देशिकं ज्ञातुं शक्यते ज्ञात्वा च परिहियते। ततो न कश्चिद्दोषः अत्र चायं वृद्धसंप्रदायः। संकल्पि-तासु दत्तासु पृथगुद्धृतासु वा शेषमशनादिकं कल्प्यमवसेयमिति इह उपयुक्तः सन् शुद्धमशुद्धं वा आहारं ज्ञातुं शक्नोति। तानुपयुक्तस्ततो गोचरविषयां समान्यत उपयुक्ततां प्रतिपादयति॥

सद्दाइएसु साहू मुच्छं न करेज्ज गोयरगओ य।
एसणजुत्तो होज्जा, गोणीवच्छो गवत्तेव्व॥

इह साधुर्गोचरीं गतो भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् शब्दादिषु शब्दरूपर-सादिषु मूर्च्छां न कुर्यात् किंत्वेषणायुक्त उद्गमादिदोषगवेषणाभियुक्तो भवेत् यथा गोवत्सो (गव्वत्ति) गोभक्त इव। गोवत्सदृष्टान्तमेव गाथाद्वयेन भावयति।

ऊसवमंडणवग्गा, न पाणियं वच्छए न वा वारो।
वणियागमअवरद्धे, वच्छगरडणं खरंटणया॥
पंचविह विसयसोक्खे, खणी बहू समहियं गिहं तं तु।
न गणेइ गोणिवच्चा, मुच्छियगढिओगवत्तम्मि॥

गुणालयं नाम नगरं तत्र सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी तस्य भार्या श्रीमती नाम श्रेष्ठिना च पूर्वतरं जीर्णमन्दिरं भङ्क्त्वा प्रधानतरं मन्दिरं कारयामासे। तस्य चत्वारस्तनयास्तद्यथा गुणचन्द्रो गुणसेनो गुणधूडो गुणशेखरश्च। एतेषां च तनयानां क्रमेण चतस्र इमा वध्वस्तद्यथा प्रियंङ्गुलतिका प्रियंगुरुचिका प्रियंगुसुन्दरी प्रियंगुसा-रिका च। कालेन च गच्छता श्रेष्ठिनो भार्यामरणमुपजगाम। ततः श्रेष्ठिना प्रियंगुलतिकैव सर्वगृहसंभारे समारोपिता गृहे च सवत्सा गौर्विद्यते तत्र गौर्दिवसे बहिर्गत्वा चरति वत्सस्तु गृह एव बद्धोऽवतिष्ठते। तस्मै चारिं पानीयं च चतस्रोऽपि वध्वो यथायोगं प्रयच्छन्ति। अन्यदा च गुणचन्द्रप्रियंगुलतिकापुत्रस्य गुणसागरस्य विवाह दिवस उपतस्थे। ततस्ताः सर्वा अपि वध्वस्तस्मिन् दिने सविशेषमाभरणविभूषिताः स्वपरमण्डनादिकरणव्यापृता अभूवन्। ततो वत्सस्तासां विस्मृतिं गतो न काचिदपि तस्मै पानीयादि ढौकितवती। ततो मध्याह्ने श्रेष्ठी यत्र प्रदेशे वत्सो वर्तते तत्र कथमपि समायातः वत्सोऽपि च श्रेष्ठिनप्रायान्तं पश्यन्नारटितुमारब्धवान् ततो जज्ञे श्रेष्ठिना यथाद्यापि वत्सो बुभुक्षितस्तिष्ठतीति। ततः कुपितेन तेन ताः सर्वा अपि पुत्रवध्वो निर्भत्सयामासिरे ततस्त्वरितं प्रियंगुलतिका अन्या च यथायोगं चारिं पानीयं च गृहीत्वा वत्साभिमुखं चचाल वत्सश्च ताभिः सुरसुन्दरीभिरिव समलंकृतमपि तादृशं गृहं नावलोकते नापि ताः सरागदृष्ट्या परिभावयति। किं तु तामेव चारिं पानीयं वा समानीयमानं सम्यक्परिभावयति। सूत्रं सुगमं नवरं (पंच विहेत्यादि) पञ्चविधविषयसौख्यस्य खनय इव खनयो या वध्वस्ताभिः समधिकमतिशयेन रमणीयतया अधिकतरं तद्गृहं न गणयति न दृष्ट्वा परिभावयति नापि ता वधूरेवं साधुरपि भिक्षार्थमटन् रमणीं नावलोकयेत् नापि गीतादिषु चित्तं बध्नीयात्-किं तु भिक्षामात्रानयनादानाद्युपयुक्तो भवेत्। तथा च सति जानाति शुद्धमशुद्धं वा भक्तादिकम् तथाचाह।

गमणागमणुक्खेवे, भासियसोयाइइंदियाउत्तो।
एसणमणेसणे वा, तह जाणइ तम्मणो समणो॥

गमनं साधोर्भिक्षादानार्थं भिक्षानयनाय दात्र्या व्रजनम् आगमनं भिक्षा गृहीत्वा साधोरभिमुखं चलनम्। उत्क्षेपो भाजनादीनामूर्द्धमुत्पाटनमुपलक्षणमेतत्तेन निक्षेपपरिग्रहस्ततो गमनादिपदानां समाहारो द्वन्द्वस्तस्मिन्। तथा भाषितेषु जल्पितेषु देहि भिक्षामस्मै साधवे इत्यादिरूपेषु श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैरुपयुक्तस्तथा वत्स इव तन्मनाः स्वयोग्यभक्तपानाय परिभावनमनाः सन् श्रमण एषणामनेषणां वा सम्यग्जानाति ततो न कश्चिद्दोषः। उक्तमोघौद्देशिकम्। संप्रति विभागौद्देशिकं विभणिषुः प्रथमतस्तावत्तस्य संभवमाह॥

महईए संखडाए, उव्वरियं कूरवंजणाईयं।
पउरं दट्ठूण गिही, भणइ इमं देहपुन्नट्ठा॥

इह संखडि नाम विवाहादिकप्रकरणं संखण्ड्यन्ते व्यापा-

(साहणंति) कथनं करोति वाशब्दो यदि साधवो बहुप्रमाणास्तत एकस्यावस्थानमिति सूचनार्थं स सर्वेभ्यो निवेदयति यथात्रास्मिन् गृहेऽद्याजिषुरनेषणा वर्तत इति। एवमपि यैः संघाटकैः कथमपि न ज्ञातं भवति तेषां परिज्ञानायायमाह।

मा एयं देह इमं, पुट्ठे सिट्ठम्मि तं परिहरंति।
जं दिन्नं तं दिन्नं, संपइ देहि गिण्हंति॥

साधुनिमित्तं कुतोऽपि स्थानाद् भिक्षामाददती कथाचिन्निषिध्यते मा एतद्देहि किंचिदविवक्षितभाजनस्थं देहि तत एव कृते निषेधिते साधुः पृच्छति किमेतन्निषिध्यते किं वा इदं दाप्यते इति ततः सा प्राह। इदमेव दानाय कल्पितम् नेदमिति तत एवं शिष्टे कथिते साधवस्तत्परिहरन्ति। यदि पुनर्यद्दत्तं तद्दत्तं मा शेषं संप्रति दद्यादिति निषिध्यात्मार्थीकृत-मौद्देशिकं भवति तदा तत्कल्पते इति कृत्वा गृह्णन्ति तदेवमुक्तमु-द्दिष्टौद्देशिकम्।

संप्रति कृतौद्देशिकस्य संभवहेतून् स्वरूपं च प्रतिपादयति।

रसभायणहेउं वा, मा कुच्छीहिं इमा सुहं च दाहोमि।
दहिमाई आयत्तं, करेइ कूडं कडं एयं॥
मा कोहिंति अवन्नं, परिकट्ठम्मि यं व दिज्जइ सुहं तु।
वियडेण फालिएण व, मिट्ठेण समं तु वट्टंति॥

रसेन दध्यादिना रुद्धमिदं भाजनं तस्मादेतेन दध्यादिना यदुद्व-रितं शाल्योदनादि तत् करम्बीकृत्य इदं भाजनं करोमि येनान्य-त्प्रयोजनमनेन क्रियते इति। रसभाजनहेतोर्यद्वा इदं द्रव्यादिना अभिश्रितं क्वथिष्यते। न च क्वथितं पाषण्ड्यादिभ्यो दातुं शक्यते। यद्वा दध्यादि सन्मिश्रमेकेनैव प्रयासेन सुखंदीयत इत्यादिना कारणजातेन द्रव्याद्यायत्तं दध्यादिसन्मिश्रं करोति करम्बौदनम्। एतत् कृतं ज्ञातव्यम्। तथा यदि भिन्नं भिन्नं मोदकाशोकवर्त्त्यादिचूर्णं दास्यामि ततो मे पाषण्ड्यादयोऽ-वर्णमश्लाघां करिष्यन्ति यद्वा परिकट्टलितमेकत्र पिण्डीकृतं सुखेन दीयते। अन्यथा क्रमेण मोदकाशोकवर्त्त्यादिचूर्णः स्वस्वस्थानादानी-यानीय दाने भूयान् गमनागमनप्रयासो भवति। अपान्तराले साचूर्णिर्हस्तात् क्षरित्वा पतति ततो विकटेन मद्येन देशविशेषापेक्षमेतद्यद्वा फाणितेन कक्कवादिना यद्वा स्निग्धेन घृतादिना मोदकचूर्णादिसमं वर्तयति पिण्डतया बन्धन्ति। अत्र द्वयोर्गाथयोः पूर्वार्द्धाभ्यां संभवहेतव उक्ता उत्तरा-र्द्धाभ्यां तु स्वरूपम्। संप्रति कर्मौद्देशिकस्य संभवहेतून् स्वरूपं चातिदेशेनाह।

एमेव य कम्मम्मि वि, उण्हवणे तत्थ नवरि नाणत्तं।
तावियविलीणएणं, मोयगचुन्नी पुणक्करणं॥

यथा कृतस्य संभवस्वरूपं चोक्तमेवं कर्मण्यति द्रष्टव्यं नवरं तत्र कर्म्मणि उष्णापने उष्णीकरणे नानात्वं विशेषस्तथा हि तापितविलीनेन तापितेन विलीनेन च गुडादिना मोदकचूर्ण्याः पुनर्मोदकत्वेन करणं नान्यथा तथा तु वर्यादि भक्तमपि रात्र्युषितं द्वितीयदिने भूयः संस्कारापादनेन कर्मतया निष्पाद्यमानं नाग्निमन्तरेण निष्पाद्यते ततोऽवश्यं कर्म्मण्युष्णापने नानात्वम्। संप्रत्यत्रैव कल्प्यकल्प्यविधिमाह॥

असुगंति पुणो रद्धं, दाहमकप्पं तमारओ कप्प।
खेत्ते अंतो बाहिं, कालेसु इत्थं परेवं वा॥

भिक्षार्थं प्रविष्टं साधु प्रति यदि गृहस्थो भणति यथान्यस्मिन् गृहे विहृत्य व्यावर्त्तमानने त्वया भूयोऽपि मद्गृहे समागन्तव्यं यतोऽह-ममुकं मोदकचूर्णादि भूयोऽपि राद्धगुडपाकादिदानेन मोदकादि कृत्वा दास्यामि एवमुक्ते तथा कृत्वा चेद्ददाति तर्हि तत्र कल्पते कर्मौद्देशिकत्वात्। आरात् भूयः पाकारम्भादर्वाक् पुनः कल्प्यं दोषाभावात्। तथा क्षेत्रेऽन्तर्बहिर्वा काले स्वस्तनं परतरदिनभवं वा अकल्प्यमारतः कल्प्यम्। इयमत्र भावना। यद् गृहस्यान्तर्बहिर्वा मोदक चूर्णादिकं मोदकादितया उपस्करिष्यामि कालविवक्षायां यदद्य स्वः परतरे वा दिने भूयोऽपि पक्ष्यामि तत्तुभ्यं दास्यामीत्युक्ते तथैव चेत् कृत्वा ददाति ततो न कल्पते भूयोऽपि पाकादारतस्त्वसंसक्तं कल्पते॥ तथा चाह॥

जं जह व कयं दाहं, तं कप्पइ आरओ तहा अकयं।
कय पाकमणिट्ठत्त–ट्ठियं पि जावत्ति यं मोत्तुं॥

यत्सामान्यतो द्रव्यं यद्वा यथा क्षेत्रनिर्द्धारणेन वा भूयोऽपि कृतं दास्यामीत्युक्ते तथैव कृतं चेद्ददाति तदा न कल्पते तथा अकृतं तु भूयोऽपि पाकादारतः कल्पते। यत्तु निर्द्धारितक्षेत्रकालव्यतिकरेण पच्यते तन्न दातुं संकल्पितमिति कल्पते यत्तु क्षेत्रे कालनिर्द्धारणविवक्षिते च सामान्यतो भूयोऽपि पक्त्वा दास्यामीति संकल्पितं तदन्तर्बहिर्वा स्वस्तने परतरदिने वा न कल्पते। अथ कर्मौद्देशिकं कृतपाकमात्मार्थीकृतमपि यावदर्थिकं मुक्त्वा शेषमनिष्टं नानुज्ञातं तीर्थकरगणधरैर्यावदर्थिकं त्वात्मार्थीकृतं कल्पते। अथ आधाकर्मकर्मौद्देशिकयोः परस्परं प्रतिविशेष उच्यते। यत्प्रथमत एव साध्वर्थं निष्पादितं तदाधाकर्म यत् पुनाराद्धं सद् भूयोऽपि पाक–करणेन संस्क्रियते तत् कर्मौद्देशिकमिति। उक्तमौद्देशिकद्वारम्॥ पिं०। दर्श०। नि०चू०। प्रव० पंचा०। ग०। ध०। जीत०। व्य०।

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं॥४७॥

अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यम् अशनमोदनादि पानकं वारनालादि खाद्यं लड्डुकादि स्वाद्यं हरीतक्यादि यज्ञानीयादामन्त्रणादिना शृणुयाद्वा अन्यतः यथा दानार्थं प्रकृतमिदं दानार्थं प्रकृतं नाम साधुवादनिमित्तं यो ददात्यव्यापारपाषण्डिभ्यो देशान्तरादेरागतो वणिक्प्रभृतिरिति सूत्रार्थः।

तारिसं भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥४८॥

तादृशं भक्तपानं दानार्थं प्रवृत्तव्यापारं संयतानामकल्पिकं यत–श्चैवमतः ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः।

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुन्नट्ठा पगडं इमं॥४९॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥५०॥
असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, वणिमट्ठा पगडं इमं॥५१॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥५२॥
असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं॥५३॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥५४॥
उद्देसियं कीयगडं, पूइकम्मं च आहडं।

द्यन्ते प्राणिनोऽस्यामिति संखडिरिति व्युत्पत्तेस्तस्यां संखड्यां यदुद्धरितं कूरव्यञ्जनादिकं शाल्योदनदध्यादिकं प्रचुरं तद्दृष्ट्वा गृही भणति स्वकुटुम्बतृप्तिकारकमेतत् यथा इदं देहि पुण्यार्थं भिक्षाचरेभ्यः । तत्र यदा तथैव ददाति तदा तदुद्दिष्टं यदा तु तद्देयं करम्बादिकं करोति तदा तत्कृतं यदा तु मादेकादिचूर्णिप्रायोऽपि गुडपाकदानादिना मोदकादि करोति तदा तत्कर्म। एवं विभागौद्देशिकस्य संभवस्तथा चाह। भाष्यकृत् ''तसियम्मेवं संभवइ पुव्वमुद्दिट्ठं संभवति''। संप्रति तदेव विभागौद्देशिकं विना तत्रोद्धरिते प्रच्छुरे करम्बदावेवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण विभागौद्देशिकं पूर्वमुद्दिष्टं संभवति । संप्रति तदेव विभागौद्देशिकं विभागतो भेदेन शिष्यगणहितार्थं ग्रन्थकारो भणति।

उद्देसियं समुद्देसं-सियं च आएसियं समाएसं।
एवं कडे य कम्मे, एक्केक्के चउव्विहो भेओ ॥

विभागौद्देशिकं चतुर्द्धा। तद्यथा औद्देशिकं समुद्देशिकमादेशं समादेशं च। एवं कृते च कर्म्मणि एकैकस्मिन् चतुष्कश्चतुः संख्यो भेदो दृष्टः सर्वसंख्यया द्वादशधा विभागौद्देशिकम् । संप्रत्यौद्देशिकादिकं व्याचिख्यासुराह –

जावंति य मुद्देसं, पासंडीणं भवे समुद्देसं।
समणाणं आएसं, निग्गंथाणं समाएसं ॥२५०॥

इह यदुद्दिष्टं कृतं कर्म वा यावन्तः केऽपि भिक्षाचराः समागमिष्य–न्ति पाषण्डिनो गृहस्था वा तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि दातव्यमिति संकल्पितं भवति तदा तदौद्देशिकमुच्यते ॥ पाषण्डिनां देयत्वेन कल्पितं समुद्देशं श्रमणानामादेशनिर्ग्रन्थानां समादेशम्।

संप्रत्यमीषामेव द्वादशानां भेदानामवान्तरभेदानाह।

छिन्नमछिन्नं दुविहं, दव्वे खेत्ते य कालभावे य ॥
निप्पाइयनिप्पन्नं, नायव्वं जं जहिं कमइ ॥

उद्दिष्टमौद्देशादिकं प्रत्येकं द्विधा तद्यथा छिन्नमछिन्नं च। छिन्नं नियमितमच्छिन्नमनियमितम् पुनरपि छिन्नमच्छिन्नं च चतुर्द्धा तद्यथा द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च। एवं यथा उद्दिष्टमौदेशिकं प्रत्येकमष्टधा तथा निष्पादितं निष्पन्नमिति निष्पादितेन गृहिणा स्वार्थं कृतेन निष्पन्नं यत्करम्बादि मोदकादि वा तन्निष्पादितं निष्पन्नमित्युच्यते। ततो यन्निष्पादितं निष्पन्नं यत्र कृते कर्म्मणि वा क्रामति घटते यथा यदि करम्बादि तर्हि कृते, अथ मोदकादि तर्हि कर्मणि । तत्प्रत्येकमौद्देशिकादिभेदभिन्नं छिन्नमच्छिन्नं वेत्यादिनर प्रकारेणाष्टधा ज्ञातव्यम्। संप्रत्यमुमेव गाथार्थं व्याचिख्यासुः प्रथमतो द्रव्याद्यच्छिन्नं व्याख्याति ॥

भत्तुव्वरितं खलु संखडिए, तद्दिवसमन्नदिवसे वा।
अंतो बहिं च सव्वं, सव्वदिणं देइ अच्छिन्नं ॥

यत्संख्या भक्तमुद्धरितं तदिह प्रायः संखड्या भक्तमुद्धरितं प्राप्यते इति संखडिग्रहणमन्यथात्वन्यत्रापि यथासंभवं द्रष्टव्यम्। (तद्दिव–समिति) व्यत्ययोऽप्यासामिति प्राकृतलक्षणवशात्सप्तम्यर्थे प्रथमा ततोऽयमर्थः यस्मिन् दिवसे संखडिस्तस्मिन्नेव दिवसे यद्वाऽन्यस्मिन् दिवसे गृहनायको भार्यया दापयति यथा यदन्तर्गृहस्य यच्च बहिरनेन क्षेत्राच्छिन्नमुक्तं तत्सर्वं समस्तमनेन द्रव्याच्छिन्नमुक्तं सर्वदिनं सकलमपि दिनं यावदुपलक्षण-मेतत्तेन कर्मरूपं मोदकादि प्रभूतान्यपि दिनानि यावदिति दृष्टव्यम्। अनेन कालाच्छिन्नमुक्तं अच्छिन्नमनवरतं तद्देहि। भावाच्छिन्नं तु स्वयमभ्यूह्यं तच्चैवं यदि तव रोचते यदि वा न रोचते तथाऽप्यवश्य दातव्यमिति ॥ संप्रति द्रव्यांदिच्छिन्नमाह।

देह इमं मा सेसं, अंतो बाहिं गयं व एगयरं।
जाव अमुगत्ति वेला, अमुगं वेलं व आरब्भ ॥

इदं शाल्योदनादिकमुद्धरितं देहि मा शेषं कोद्रवकूरादि अनेन द्रव्यच्छिन्नमुक्तं तदपि च शाल्योदनादिकमन्तर्व्यवस्थितं वा एकतरं न शेषम्। अनेन क्षेत्रच्छिन्नमुक्तम्। तथा अमुकस्या वेलाया आरभ्य यावदमुका वेला यथा प्रहारादारभ्य यावत्प्रहरद्वयं तावद्देहि। अनेन कालच्छिन्नमुक्तम्। भावच्छिन्नं तु स्वयमभ्यूह्यम्। तच्चैवं यावत्ते रोचते तावद्देहि मा स्वरुचिमतिक्रम्यापि । संप्रत्युद्दिष्टमधि–कृत्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह ॥

दव्वाइच्छिन्नं पि हु, जइ भणइ कोवि मा देह।
नो कप्पइ छिन्नं पि हु, अच्छिन्नकडं परिहरंति ॥

इह यद्द्रव्यक्षेत्रादिभिः पृथग्निर्धारितं तदतिरिच्य शेषं समस्तमपि कल्पते। तस्य दानार्थं संकल्प्य स्थापितत्वाभावात्। केवलं द्रव्या–दिच्छिन्नमपि दृष्ट्वा द्रव्यक्षेत्रादिभिः पृथग्निर्द्धारितमपि हुर्निश्चितं यदि गृहस्वामी आरत एव देयस्य वस्तुनो नियतादवधेरर्वागपि भणति। यथा मा इत ऊर्द्धं कस्मायपि देहीति। यथा प्रहरद्वयं यावत् पूर्वं किञ्चिद्दातुं निरोपितं ततो दानपरिणामाभावादर्वागेव निषेधति। मा इत ऊर्द्धं दद्यादिति तच्छिन्नमपि कल्पते । तस्य संप्रत्यात्मसत्तापि कृतत्वाद्यत्पुनरच्छिन्नकृतमच्छिन्नमनिर्द्धारितं कृतं वर्तते तत्परिहरन्ति अकल्प्यत्वादित्थमेव भगवदाज्ञाविजृम्भणात्। यदा त्वच्छिन्नमपि पश्चाद्दानपरिणामाभावादर्वागेव आत्मार्थीकृतं भवति तदा तत्कल्पते ॥

संप्रति संप्रदानविभागमधिकृत्य कल्प्यविधिमाह ॥

अमुगाणं ति वि दिन्नउ, अमुकाणं न एत्थ उ विभासा।
जत्थ नईणविसिट्ठो, निद्देसो तं परिहरंति ॥

अमुकेभ्यो दद्यान्मा अमुकेभ्य इत्येवं संप्रदानविषये संकल्पे कृते विभाषा द्रष्टव्या कदाचित् कल्पते कदाचिन्न। तत्र यदा कल्पते तदादेयं तदाह (जत्थेत्यादि) यत्र देयवस्तुनि यतीनामप्यविशेषेण निर्देशो भवति यथा ये केचन गृहस्था अगृहस्था वा भिक्षाचरा यदि वा ये केचित्पाषण्डिनो यद्वा ये केचनं, श्रमणास्तेभ्यो दातव्यमिति तत्परिहरन्ति । यत्र तु यतीनामेव विशेषेण निर्देशो यथा यतिभ्यो दातव्यमिति तत्परिहरन्त्येव नात्र कश्चित्संदेह इति तत्र पृथग्विशेषेण नोक्तम्। यदि पुनर्गृहस्थेभ्य एव दीयतां यदि वा चरकादिभ्य एव पाषण्डिभ्यो न शेषेभ्यस्तदा कल्पते। अपिच ॥

संदिस्सते जो सुणइ, कप्पए तस्स सेसए ठवणा।
संकलियसाहणं वा, करेति असुए इ मा थेरा ॥

यन्नाद्याप्यौद्देशिकं जातं वर्तते केवलं तदानीमेवोद्दिश्यमानं वर्तते यथा इदं देहि मा शेषमित्यादिश्यमानमर्थिभ्यो दानाय वचनेन संकल्पमानं यः साधुः शृणोति तस्य तत्कल्पते तदैव दोषाभावात्तदपि च उद्दिष्टौद्देशिकादि द्रष्टव्यं न कृतं कर्म च। यत उक्तं मूलटीकायाम् अत्र चायं विधिः ''संदिस्संतं जो सुणइ, साहुद्देसुद्देसयं । पडुच्च न य कडं, कम्माइ तं कप्पए'' तदैव दोषाभावादिति यस्तु संदिश्यमानं न शृणोति तस्य न कल्पते कुत इत्याह (ठवणत्ति) स्थापनादोषात्। स च निर्गतः सन्नन्येभ्यः साधुभ्यो निवेदयति । तथा चाह (संकलितयेत्यादि) अश्रुते शेषसाधुभिरनाकर्णित इयं पूर्वपुरुषाचीर्णा मर्यादा यदुत संकलिया एकसंघाटकोऽन्यस्मै कथयति सोऽप्यन्यस्मै इत्येवंरूपया

अज्झोयरपामिच्चं, मीसजायं विवज्जए ॥५५॥

एवं पुण्यार्थं प्रकृतं नाम साधुवादानङ्गीकरणेन यत्पुण्यार्थं कृतमिति एवं वनीपकार्थं वनीपकाः कृपणाः एवं श्रमणार्थमिति श्रमणा निर्ग्रन्थाः शाक्यादयः अस्य प्रतिषेधः पूर्ववत् । अत्राह पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे शिष्टकुलेषु वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव शिष्टानां पुण्यार्थमेव पाकप्रवृत्तेः । तथाहि न पितृकर्मादिव्यपोहेनात्मार्थमेव क्षुद्रसत्ववत्प्रवर्तन्ते शिष्टा इति नैतदेवमभिप्रायापरिज्ञानात् स्वभोग्यातिरिक्तस्य देयस्यैव पुण्यार्थकृतस्य निषेधात् । स्वभृत्यभोग्यस्य पुनरुचितप्रमाणस्येत्वरयदृच्छादेयस्य कुशलप्रणिधानकृतस्याप्यनिषेधादिति एतेनादेयदानाभावः इत्युक्तं देयस्यैव यदृच्छादानोपपत्तेः कदाचिदपि वादेन यदृच्छादनोपपत्तेः तथा व्यवहारदर्शनात् अनीदृशस्यैव प्रतिषेधात् । तदारम्भदोषेण योगात् यदृच्छादाने तु तदभावेऽप्यारम्भप्रवृत्तेर्नासौ तदर्थ इत्या-रम्भदोषायोगात् । दृश्यते च कदाचित्सूतकादाविव सर्वेभ्य एव प्रदानविकला शिष्टाभिमतानामपि पाकप्रवृत्तिरिति विहितानुष्ठानत्वाच्च तथाविधग्रहणान्न दोष इत्यलं प्रसङ्गेनाक्षरगमनिकामात्रफलत्वात्प्रयासस्य॥ दश० ५ अ०। ''आहट्टु देसियं तं चेतियं सियातणो सयं भुंजइ'' सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

अत्र प्रायश्चित्तम् ।

''उद्देसिय जावंति य उद्देसिए मासलहु दोहिं वि लहुं पासंड समुद्देसिए मासलहुं कालगुरु समणाए सए मासलहुयं तवगुरु निग्गंथसमाएसिए मासलहुं दोहिम्मि गुरू जावन्ति कडे मासलहुं दोहिं वि लहुं पासंडकडे मासगुरुं कालगुरुं समणकडे मासगुरुं तवगुरुं निग्गंथसमादेसकडे मासगुरुं दोहिं वि गुरुं जावंति कम्मे चउलहु दोहिं लहु पासंडसमुद्देसकम्मे चउगुरु समणादेसकम्मे चउगुरु तवगुरु निग्गंथसमाएसकम्मे चउगुरू दोहिं गुरू ४ पं०चू०। उद्देशिके चरमत्रिके कर्मादेशकर्मसमादेशलक्षणे कर्मणि क्षपणं प्रायश्चित्तम् । जीत० । कर्मौद्देशिके विभागौद्देशिके आचामाम्लम् । उद्देशिकमाधाकर्मिकमित्यर्थः । साधुनिमित्तं कृतमशनपानखादिमवस्त्रपात्रवसतिप्रमुखम् । तच्च प्रथमचरमजिनतीर्थे एकं साधुमेकं साधुसमुदायमेकमुपाश्रयं वा आश्रित्य कृतं तत्सर्वेषां साध्वादीनां न कल्पते द्वाविंशतितिलिनतीर्थे तु यं साध्वादिकमाश्रित्य कृतं तत्तस्यैव अकल्प्यमन्येषां तु कल्पते इति द्वितीयः । कल्प० ।

आहा आधयकम्मे, आयाहम्मे य अत्तकम्मे य ।
तं पुण आहाकम्मं, कप्प वि ण व कप्पती तस्स ॥

आधाकर्म अधःकर्म आत्मनमात्मकर्म चैत्योद्देशिकस्य साधूनु-द्दिश्य कृतस्य भक्तादेश्चत्वारि नामानि । यत्पुनराधाकर्म तत्कस्य कल्पते कस्य वा न कल्पते एवं शिष्येण पृष्टे सूरिराह ॥

संघस्सोहविभाए, समणासमणीण कुलगणे संघे ।
कडमिहट्ठिय ण कप्पति, अट्ठिअकप्पे जमुद्दिस्स ॥

अस्य व्याख्या सविस्तरं तृतीयोद्देशके कृता । (यस अकप्पट्ठिय-शब्दे उक्ता अतोऽत्राक्षरार्थमात्रमुच्यते) ओघतो वा विभागतो वा सङ्घस्य श्रमणानां श्रमणीनां कुलस्य गणस्य वा संघस्य वासंकल्पेन यत् भक्तपानादिकं कृतं तत्स्थितकल्पितानां प्रथमपश्चिमसाधूनां न कल्पते ये पुनरस्थितकल्पे स्थितास्तेषां यदुद्दिश्य कृत तस्यैवैकस्य न कल्पते अन्येषां तु कल्पते द्वितीयपदे तु स्थितकल्पिकानामपि कल्पते यत आह ॥

आयरियं अभिसेए, भिक्खुम्मि गिलाणगम्मि भयणा उ ।
तिक्खुत्तडविपवेसे, चउपरियट्टे ततो गहणं ॥

आचार्ये अभिषेके भिक्षौ वा ग्लाने संजाते सति आधाकर्मणो भजना सेवनाऽपि क्रियते । तथा अटवीविप्रकृष्टोऽध्वा तस्यां प्रवेशे कृते यदि शुद्धं न लभ्यते ततस्त्रिः कृत्वा शुद्धमन्वेषितमपि यदि न लब्धं ततश्चतुर्थे परिवर्ते आधाकर्म्मणो ग्रहणं कार्यं गतमौद्देशिकद्वारम् । वृ० ६ उ० ॥

सालीघतगुलगोरसण–वेसु वल्लीफलेसु जातेसु ।
दाणट्ठकरणसड्ढा, आहाकम्मेण मंतणता ॥
आहाआहेयकम्मे, आयाहम्मेय अत्तकम्मे य ।
तं पुण आहाकम्मे, णायव्वं कप्पती कस्स ॥
संघस्स पुरिमपच्छिम–समणाणं तह य चेव समणीणं ।
चउरो उवगमगाणं, पच्छा सण्हायगा समणं ॥
संघस्स मज्झिमे पच्छिमे य समणाण तह य समणीणं ।
चतुरो पडिस्स ताणं, पुच्छा सण्हायगा गमणं ॥
उज्ज य जड्डा सव्वे, पुरिमा चरिमा य वक्कजड्डा तु ।
तम्हा तेसिं संर–क्खणट्ठ सव्वं परिक्कुट्ठ ।
अवगतजड्डा मज्झिम–साहु तह चेव ते परिणमंति ॥
कप्पाकप्पं दंसिय, तेसिं वज्जं परिक्कुट्ठं ।
परिसाण दुव्विसोब्भो, चरिमो पुण दुरणुपालओ कप्पो ।
मज्झो विसुद्धचरणो, एवं कप्पो णुगंतव्वो ॥
आयरिए अभिसेगे, भिक्खम्मि गिलाणगम्मि भयणा तु ।
तिक्खुत्तो अडविपवे–सणम्मि चउपरि यदतओ गहणं ॥
असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे विवाददुट्ठे वा ।
अद्धाणे गेलण्हे, आहाकम्मं तु जयणा य ।
जदि सव्वे गतित्था, ताहे आलोयणा गहे भणिता ॥
अह होति मीसगजणो, पायच्छित्तं तवोकम्मं ।
चउरो चउत्थभत्ते, आयामेगासणे य पुरिमड्ढे ॥
णिव्वितितं दातव्वं, सतं व पुव्वोगहं कुज्जा ।
संपस्सेह विभागे, समणा समणी य कुलगणस्सेव ॥
कडमिह ठितेण कप्पति, अट्ठितकप्पे जमुद्दिस्स ।
आयरिए अभिसेगो, भिक्खुम्मि गिलाणगम्मि भयणा तु ॥
अडविपवेसे असीते, तिय परियट्टे तवोगहणं । पं० भा० ।

इयाणिं उद्देसियं अहाअहे य कम्मो तं पुण उद्देसियं पुरिमपच्छिमयाणसंघस्स ओघेण य समणाणं वा समणीणं वा कुलगणस्स वा जइ ओहेण व करेंति तियकप्पे वि अट्ठियकप्पे वि न कप्पइ । जया पुण रिसभसामिसंतयाणं अज्जाणं अज्जियाणं वा उद्दिस्स करेइ तं रिसभसामिसंतयाणं दोण्हवि न कप्पइ अजियसामिसंतणया गेण्हंति अजियसामिसंतयाणं अज्जयाणं कयं अज्जियाणं कप्पइ अज्जियाणं वा कयं अज्जयाणं कप्पइ पडिस्सए वि जइ एक्कम्मि गामे गणे तु करेइ एगं दो वा जं तत्थ ण गणेइ पडिस्सयं तेसिं कप्पइ गणिएसु विपडिस्सएसु जे पाहुणया पच्छासन्नातके जहा कप्पेसु पं० चू० ।

उद्देसियचरिमतिग न० (औद्देशिकचरमत्रिक) कर्म्मौद्देशिकस्य

पाषण्डश्रमणनिर्ग्रन्थविषये भेदत्रये, ''कम्मुदेसियचरमतिगं पूयं मीसचरिमपाहुडिया'' दश० ५ अ०।

उद्देहगण पुं०(उद्देहगण) वीरस्य गणानां तृतीयगणे, स्था०९ ठा०। ''थेरेहिंतो णं अज्जरोहणेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो तत्थ णं उद्देहगणे नामं गणे निग्गए तस्सिमाओ चत्तारि साहाओ निग्गयाओ छच्च कुला एवमाहिज्जंति। तंजहा से किं तं साहाओ एवमाहिज्जंति तं जहा। उदुंबरिज्जिया १ मासपूरिया २ मइपत्तिया ३ पन्नपत्तिया ४ सेत्तं साहाओ से किं तं कुलाइं २ एवमाहिज्जंति तं जहा ''पढमं च नागभूअं १ वाअं पुण सोमभूइअं होइ। २। अहउल्लं गच्छतइयं, चतुत्थयंहत्थलिज्जं तु॥ पंचमगं नंदिज्जं, छट्ठं पुण पारिहासयं होइ उद्देहगणस्सेए, छच्च कुला हुंति नायव्वा''॥ कल्प०।

उद्देहलिया स्त्री०(उद्देहलिका) कुहणभेदे, आचा०१ अ० ५ उ०।

उद्देहिगा स्त्री०(उद्देहिका) उद्वतो दोहोऽस्य क० ५ अत इत्वम् त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा०१ पद। जी०। ''काष्ठनिश्रिता पुणोद्देहिका'' आचा०१ अ० ४ उ०। तेइंदियाण उद्देहिकाइ जं वा वए वेज्जो उद्देहिकया सक्तया मृत्तिकया,। ओ०। ''तओउद्देहिगं तओ वि वणप्फई'' महा०॥

उद्देही (देशी) उपदेहिकायाम्। दे० ना०।

उद्धंसण न०(उद्धर्षण) उद्–धृष् ल्युट् बधे, ओ०। दुष्कुलीनेत्या–दिभिः कुलाद्यभिमानपातनार्थे वचने, स्त्री०। ज्ञा० १६ अ०। ''उत्तावयाहिं उद्धंसणाहिं उद्धंसेइ''॥ भ० १५ श०१ उ०। उन्मूलनायामाक्रोशे, ओ०॥

उद्धंसिय त्रि०(उद्धर्षित) खरण्टिते, ''उद्धंसिया य तेणं सुट्ठु वि जाणावियाय अप्पाणं''। वृ० ३ उ०। आ०म०। अवभाषिते, उद्धंसियमो लोगंसि भागहारी व होहितीमोण, नि०चू० ४ उ०।

उद्धघणभवण न०(ऊर्ध्वघनभवन) उच्चाविरलगेहेषु, ॥भ०॥ ६ श० ३३ उ०।

उद्धचलणबंधण न०(ऊर्ध्वचरणबन्धन) ऊर्द्धचरणस्य बन्धनरूपे शरीरदण्डे, प्रश्न० अध० ३ द्वा०।

उद्धच्छरिअ (देशी) निषिद्धे, दे०ना०।

उद्धट्ठाण न०(ऊर्ध्वस्थान) कायोत्सर्गेऽवस्थाने, ध०४ अधि०।

उद्धट्टु अव्य०(उद्धृत्य) ऊर्द्धीकृत्येत्यर्थे, ''पलिभिंदियाणं तो पच्छा पादुद्धट्टुमुद्धिपहाणंति'' निजं वामचरणमुद्धृत्योत्क्षिप्य मूर्ध्नि शिरसि प्रघ्नन्ति ''वाहू उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे'' वाहुमुद्धृत्य कक्षा–मादर्श्यानुकूलं साध्वभिमुखं व्रजन्ति। सूत्र०१ श्रु०४ अ०। ''उद्धट्टुपादं रीएज्जा'' पादं संहृत्याग्रेतलेन पादं पातप्रदेशं वा तत्रातिक्रम्य गच्छेत्॥ आचा० २ श्रु०। अवकृष्येत्यर्थे च। व्य० प्र०२ उ०।

उद्धडा स्त्री०(उद्धृता) तृतीयपिण्डेषणायाम्, सा च स्वव्यापारेण मूलभाजनाद् भाजनान्तरे भक्तमुद्धृतं स्थाल्यादौ स्वयोगेन भोजनजातमुद्धृतं तच्च साधोर्गृण्हतः उद्धृता भिक्षा भवति। धर्म० ३ अधि०। स्था०। नि० चू०। (तां च सूत्रतः पिंडेसणा शब्दे वक्ष्यामि)

उद्धत(य) त्रि०(उद्धत) उद् हन्–क्त०। वाक्यादिचञ्चले, अविनीते, प्रगल्भे, उद्भटे, वाच०। उत्पाटिते च। ज्ञा० १ अ०।

उद्धततमंधकार पुं०,न०(उद्धततमोऽन्धकार) अतिशयप्रबले तमिस्रे, प्रश्न० अध० ३ द्वा०।

उद्धत्थ (देशी) विप्रलब्धे, दे०ना०।

उद्धपूरित त्रि०(ऊर्ध्वपूरित) श्वासपूरितोर्द्धकाये, ऊर्द्धस्थितेधूल्या पूरिते, शरीरदण्डदण्डिते,॥ प्रश्न० ३ द्वा०।

उद्धमंत त्रि०(उद्ध्मायमान) कृतोध्मानेषु शंखादिषु, ''उद्धमंताणं संखाणं सिंगाणं संखियाणं खरमुहीणं पिरिपिरियाणं'' रा०।

उद्धमाण न०(उद्ध्मान) शङ्ख शृङ्ग शङ्खिकाखरमुखीपेयापिरिपिरि–काणां वादने, रा०।

उद्धय त्रि०(उद्धय) उद्धृत्यर पानकर्त्तरि,। वाच० उद्धरे, ज्ञा०१ अ०।

उद्धया स्त्री०(उद्धता) दर्पातिशयेन गतौ, ''तुरियाए चवलाए चंडाए सीहाए उद्धयाए छेयाए दिव्वाए गईए'' भ०११ श०१० उ०। सदर्यायां देवगतौ च। भ० ५ श० ४ उ०।

उद्धरण न०(उद्धरण) उद्– हृ० भावे–ल्युट्– मुक्तौ, वमने, ऋणशुद्धौ, उन्मूलने,। उत्तारणे, उत्थापने, उद्धृत्य हरणे परिवेषणे, बहिर्निष्काशने, उत्पादने, वाच०। विकर्तने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० अपनयने च,। सूत्र० १ श्रु०९ अ०। उच्छिष्टे, दे०ना०।

उद्धरिउ अव्य०(उद्धृत्य) आकृष्येत्यर्थे, ''उद्धरिउ अवउज्झइ सल्लेण मल्लिज्जइ णेउ'' पंचा० १६ विव०।

उद्धरित्ता अव्य०(उद्धृत्य) उत्पाट्येत्यर्थे ''तं लयं सव्वसो छित्ता उद्धरित्ता समूलाय'' उत्त० २३ अ०।

उद्धरित्तु अव्य०(उद्धृत्य) निष्कृष्येत्यर्थे, ''अणाउत्तो उद्धरित्तु गालिंति सोणियचउत्थे'' पंचा० १६ विव०।

उद्धरिय त्रि०(उद्धृत) उद्–धृ–क्त। उत्पाटिते, ''फलेइ विसभक्खीणं साओ उद्धरिया कह''। उत्त०२३ अ० पृथगवस्था–पिते ''उद्धरियं रुदसुयसमुद्दाउ'' पं०व० ''जेणुद्धरिया विज्जा, आगासगमा महापरिण्णाउ'' आ०म०द्वि०।

उद्धरियसव्वसल्ल त्रि०(उद्धृतसर्वशल्य) कृतालोचने, पंचा० १६ विव०।

उद्धविय (देशी) आर्धिते, दे०ना०।

उद्धाउ (देशी) विषमोन्नतप्रदेशश्रांते, संघाते च। दे०ना०।

उद्धायमाणग त्रि०(उद्धावत्) उत्तिष्ठति, ''बहुचंदुदुद्दसावयसभाह–यउद्धायमाणागरपूरघोरविद्धंसणत्थबहुलं'' प्रश्न० अध० २द्वा०।

उद्धार पुं०(उद्धार) उद्धियते उद्–हृ–भावे–घञ् मुक्तौ, ऋणशुद्धौ, उद्धारणे, वाच०। अयोद्धरणे, अपहरणे, अनु०। अपवादे,। व्य०८ उ०। कर्मणि–घञ्। सर्वधनादुद्धृत्य ज्येष्ठादिभ्यो देये अंशभेदे वाच०।

उद्धारणा स्त्री०(उद्धारणा) ''पावल्लेण उवेच्च चउट्ठयपयधारणाउ द्धारो'' उत्प्रावल्येन उपेत्य वा उद्धृतानामर्थप्रदाना धारणा उद्धारणा। धारणाव्यवहारे, व्य० १० उ०।

उद्धारपलिओवम न०(उद्धारपल्योपम) वक्ष्यमाणस्वरूपवाला–ग्राणां तत्खण्डानां वा तद्द्वारेण द्वीपसमुद्राणी वा प्रतिसमयमुद्धा–रण मपोद्धरणमपहरणमुद्धारस्तद्विषयं तत्प्रधानं वा पल्योपममुद्धा–रपल्योपमम्। पल्योपमभेदे,॥

तत्स्वरूपं यथा–

से किं तं उद्धारपलिओवमे २ दुविहे पण्णत्ते तं जहा सु–

हुमे अ ववहारिए अ। तत्थ णं जे से सुहमे से ठप्पे तत्थ णं जे से ववहारिए से जहानामए पल्लेसिआ जोयणं आयामविक्खंभेण जोअणं उड्ढं उच्चत्तेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं सेणं पल्ले एगाहिअ वेआहिअ तेआहिअ उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं संसट्ठे संनिचिते भरिते वालाग्गकोडीणं तेणं वालग्गा नो अग्गी डहेज्जा नो वाऊ हरेज्जा नो कुहेज्जा नो विद्धंसिज्जा णो इ पुत्ताए हव्वमागच्छेज्जा तओ णं समए २ एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्लेक्खीणे नीरए निल्लेवे णिट्ठिए भवइ सेत्तं ववहारिए। उद्धारपलिओवमे एएसिं पल्लवाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया तं ववहारिअस्स उद्धारसागरोवमस्स एगस्स भवे परिमाणं २ एएहिं ववहारिअ उद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओअणं एएहिं ववहारिअपलिओ वमसागरोवमेहिं णत्थि किंचिप्पओअणं केवलं पण्णवणा पण्णविज्जइ सेत्तं ववहारिए उद्धारपलिओवमे। से किं तं सुहुमे उद्धारपलिओवमे २ से जहाणामए पल्ले सिआ जोअणं आयामविक्खंभेण जोअणं उच्चेहेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं से णं पल्ले एगाहिअ वेआहिअ तेआहिअ उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं संसट्ठे संनिचिते भरिते बालग्गकोडीणं तत्थ णं एगमेगे वालग्गे असंखिज्जाइ खंडाइ कज्जइ ते वालग्गदिट्ठीणं ओगाहणाउ असंखेज्जइ भागमेत्ता सुहुमस्स पण्णगजीवस्स सरीरोगाहणाउ असंखेज्ज-गुणा तेणं वालग्गा णो अग्गी डहेज्जा नो वाऊ हरेज्जा णो कुहेज्जा णो विद्धंसिज्जा नो पुइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा तओ णं समए २ एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे णिट्ठिए भवइ से त्तं सुहुमे उद्धारपलिओवमे एएसिं पल्लवाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिआ तं सुहुमस्स उद्धारसागरोवमस्स एगस्सभवे परिमाणं एएहिं सुहुमउद्धारसागरोवमेहिं किं पओअणं एएहिं सुहुमउद्धारपलिओपमसागरोवमेहिं दीवसमुद्दाणं उद्धाराणंघेप्पइ केवईआणं भंते दीवसमुद्दा उद्धारेणं पण्णत्ता गोयमा ! जावइआणं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसा० उद्धारसमयाए वइआणं दीवसमुद्दा उद्धारेणं पण्णत्ता सेत्तं सुहुमे उद्धारपलिओवमे सेत्तं उद्धारपलिओवमे॥

(सेकिंतं उद्धारपलिओवमे इत्यादि) उद्धारपल्योपमं द्विविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा वालाग्राणां सूक्ष्मखण्डकरणात् सूक्ष्मं च तेषामेव सांव्यवहारिकप्रत्यक्षव्यवहारिभिर्गृह्यमाणानामखण्डानां यथावस्थितानां ग्रहणात्प्ररूपणामात्रव्यवहारोपयोगित्वाद्व्यावहारिकं चेति। तत्र यत्सूक्ष्मं तत्स्थाप्यम्। तिष्ठतु। तावद्व्यावहारिकप्ररूपणापूर्वकत्वादेतत्प्ररूपणा पश्चात्प्ररूपयिष्यते इति भावस्तत्र यत्तद्व्यावहारिकमुद्धारपल्योपमं तदिदमिति शेषस्तदैव विवक्षुराह (से जहानामए इत्यादि) तद्यथा नाम धान्यपल्य इव पल्यः स्यात्स च वृत्तत्वादायामविष्कम्भाभ्यां दैर्घ्यविस्ताराभ्यां प्रत्येकमुत्सेधाङ्गुलकमनिष्पन्नं योजनमूर्ध्वमुच्चत्वेनापि तद्योजनं त्रिगुणं सविशेषं परिक्षेपेण भ्रमितिमङ्गीकृत्येति सर्वस्यापि वृत्तपरिधेः किंचिन्नयूनषड्भागाधिकात्त्रिगुणत्वादस्यापि पल्यस्य किञ्चिन्नयूनषड्भागाधिकानि त्रीणि योजनानि परिधिर्भवतीत्यर्थः। स पल्यः (एगाहिय वेयाहियत्ते आहियत्ति) षष्ठीवचनलोपादेकाहिकद्व्याहिकत्र्याहिकमुत्कर्षतः सप्तरात्रप्ररूढानां भृतो वालाग्रकोटीनामिति संबन्धः। तत्र मुण्डिते शिरस्येकेनाह्ना यावत्प्रमाणा वालग्रकोटय उत्तिष्ठन्ति ता एकाहिक्यः द्वाभ्यां तु या उत्तिष्ठन्ति ता द्वाहिक्यः। कथमत इत्याह संसृष्टम् आकर्णपूरितः संनिचित प्रचयविशेषान्निविडीकृतः किं बहुना एवंभूतोऽसौ भृतो येन तानि वालाग्राणि नाग्निर्दहेन्न वायुरपहरेदतीव निचितत्वादग्निपवनावपि न तत्र क्रामत इत्यर्थः (णो कुत्थेज्जत्तिग) नो कुथ्येथुः प्रचयविशेषादेव सुषिराभावात् वायोर्—संभवाच्च नासारतां गच्छेयुः अत एव च (नो परिविद्धं सेज्जत्ति) कतिपयपरिसादनमप्यङ्गीकृत्य न परिविध्वंसेयरित्यर्थः अत एव च (नो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जति) न पूतित्वेन कदाचिदप्यागच्छेयुर्न कदाचिद्दुर्गन्धितां प्राप्नेयुरित्यर्थः (तओणंति) तेभ्यो बालाग्रेभ्यः समये समये एकैक बालाग्रमपहृत्य कालो मीयते इति विशेषः। ततश्च (जावई एणमित्यादि) यावता कालेन स पल्यः क्षीणो बालाग्रकर्षणात् क्षयमुपागतः अपकृष्टधान्यकोष्ठागारवत्तया (नीरयेत्ति) निर्गतो रजः सूक्ष्मवालाग्रोऽपकृष्टधान्यरजः कोष्ठागारवत्तथा (निल्लेवि त्ति) अत्यन्तसंश्लेषात्तन्मयतां गतवालाग्रलेपापहारान्निर्लेपः अपनीतमित्यादि गतधान्यलेपकोष्ठागारवदेभिस्त्रिभिः प्रकारैर्निष्ठितो विशुद्ध इत्यर्थः। एकार्थिका वा एते शब्दाः अत्यन्तविशुद्धिप्रतिपादनपराः। वाचनान्तरदृश्यमानम् अन्यदपि पदमुक्तानुसारेण व्याख्येयम् एतावत्कालस्वरूपं बादरमुद्धारपल्योपमं भवति एतच्च पल्यान्तर्गतबालाग्राणां संख्येयत्वात्संख्येयैः समयैस्तद पहारसंभवात्संख्येयसमयमानं द्रष्टव्यम्। सेत्तमित्यादि निगमनं व्यावहारिकं पल्योमपं निरूप्याथ सागरोपममाह। (एएसिं पल्लाणगाहा) एतेषामनन्तरोक्तपल्योपमानां दशभिःकोटाकोटि—भिरेकं सागरोपमं भवतीति तात्पर्यम्। शिष्यः पृच्छति एतैर्व्यावहारिकपल्योपमसागरोपमैः किं प्रयोजनं कोऽर्थः साध्यते तत्रोत्तरं नास्ति किंचित्प्रयोजनं निरर्थकस्तर्हि तदुपन्यास इत्याशङ्क्याह केवलं प्रज्ञापना प्रज्ञाप्यते प्ररूपणामात्रं क्रियत इत्यर्थः। ननु निरर्थकस्य प्ररूपणयाऽपि किं कर्त्तव्यमतो यत्किंचिदुन्मत्तवाक्यवदेवमभिप्रायापरिज्ञाना देवं हि मन्यते वादरे प्ररूपिते सूक्ष्मं सुखावसेयं स्यादतो बादरप्ररूपणा सूक्ष्मोपयोगित्वान्नैकान्ततो नैरर्थक्यमनुभवति। तर्हि नास्ति किंचित्प्रयोजनमित्युक्तमसत्यं प्राप्नोतीति चेन्नैवमेतावत्प्रयोजनस्याल्पत्वेनाविवक्षितत्वादेव वादराद्धापल्योपमा द्वावपि वाच्यम्। (सेकिंतं सुहुमे इत्यादि) गतार्थमेव "जाव तत्थ णं एगमेगे वालागे असंखेज्जाइमित्यादि" पूर्वं वालाग्राणि सह जात्यैव गृहीतान्यत्रत्वेकैकमसंख्येयखण्डी कृतं गृह्यत इति भावः। एवं सत्येकैकखण्डस्य यन्मानं भवति तन्निरूपयितुमाह (तेणं वालग्गदिट्ठीओगहणाओ इत्यादि) तानि खण्डीकृतवालाग्राणि प्रत्येकं दृष्ट्यवगाहनात् किमसंख्येयभागमात्राणि दृष्टिश्चक्षुद्वारोत्पन्नदर्शनरूपा सावगाहते परिच्छेदद्वारेण प्रवर्तते तत्र वस्तुनि तदेव वस्तु दृष्ट्यपगाहना प्रोच्यते ततोऽसंख्येयभागवर्ती नि प्रत्येकं वालाग्रखण्डानि मन्तव्यानीदमुक्तं भवति यत् पुद्गलद्रव्यं विशुद्धचक्षुर्दर्शनः छद्मस्थः पश्यति तदसंख्येयभागमात्राण्येकैकशास्तान्येव भावतो द्रव्यतो निरूप्याथ क्षेत्रतस्तन्मानमाह (सुहुमस्सेत्यादि) अयमत्र भावार्थः सूक्ष्मपनकजीवशरीरं यावत्क्षेत्र

मवगाहते ततोऽसंख्येयगुणानि प्रत्येकं तानि भवन्ति बादरपृथिवीकायिकपर्याप्तशरीरतुल्यानीति वृद्धवादः । एषां च वालाग्रखण्डानामसंख्येयत्वात् प्रतिसमयमुद्धारे किल संख्येया वर्षकोट्योऽतिक्रामन्त्यतः संख्येयवर्षकोटिमानमिदमवसेयं शेषं तूक्तार्थप्रायं यावत् जावइया अड्ढाइज्जाणमित्यादि । यावन्तोऽर्द्धतृतीयसागरोपमेषूद्धारसमया वालाग्रोद्धारोपलक्षिताः समया उद्धारसमयाः एतावन्तो द्विगुण २ विष्कम्भाद्द्वीपसमुद्रयथोक्तेनोद्धारेण प्रज्ञप्ताः असंख्येया इत्यर्थः । उक्तमुद्धारपल्योपमम् । अनु० । कर्म० ।

उद्धारसमय पुं०(उद्धारसमय) वालाग्रोद्धारोपलक्षितेषु समयेषु, अनु० ॥

उद्धारसागरोवम न०(उद्धारसागरोपम) उद्धारविषयं तत्प्रधानं वा सागरोपममुद्धारसागरोपमम् । दशभिः कोटाकोटीभिर्गुणिते सागरोपमभेदे, स्था०१ ठा० । (तच्च सूक्ष्मव्यवहारिकभेदेन द्विधा उद्धारपल्योपमभेदे दर्शितम्)

उद्धावणा स्त्री०(उद्धावना) शीघ्रं तस्य कार्य्यस्य निष्पादने, व्य० १उ० । उत्प्रावल्येन धावना । गच्छोपग्रहार्थं दूरक्षेत्रादौ गमने, ध०३ अधि० ।

उद्धिय त्रि०(उद्धृत) उद्गूढे, कृतनिर्वाहे, ''नामनिमित्तं तत्वं यथा तथा चोद्धृतं पुरा यदिह'' ॥षो०॥

उद्धियकंटक त्रि०(उद्धृतकण्टक) उद्धृता स्वदेशत्याजनेन जीवितत्याजनेन वा कण्टका यत्र तदुद्धृतकण्टकम् । प्रतिस्पर्द्धिगोत्रज-रहिते, रा० । औ० ॥

उद्धियदंड पुं०(उद्धृतदण्ड) उद्धृत उत्पाटितो गृहीतो दण्डो येन स उद्धृतदण्डः गृहीतप्रायश्चित्ते, । व्य० १ उ० । (उद्धियदंडो गिहत्थो दंडशब्दे वक्ष्यते)

उद्धियसत्तु त्रि०(उद्धृतशत्रु) उद्धृताः शत्रवो यत्र तदुद्धृतशत्रुः देशनिर्वासितागोत्रजवैरिणि, औ० । रा० ।

उद्धीमुह त्रि०(ऊर्ध्वमुख) ऊर्द्धीकृतमुखे, ''उद्धीमुहकलंबुतापुप्फग संठाणसंठिया आहित्ति वदेज्जा''॥ चंद्र० ४ पाहु० ।

उद्धुमय त्रि०(ऊर्ध्वमात) आपूर्णे , उद्धुमायशब्द आपूर्णपर्यायः यतउक्तम् ''अभिमाचिन्हेन पडिहत्थमुद्धुमायं आहिरेइयं च जाणआउण्णे''॥ नं० ।

उद्धुम्माण त्रि०(उद्धूममान) उत्पाट्यमाने, ''उद्धुम्ममाण दगरयरयंधआरचरकेण''॥ औ० । प्रश्न० ॥

उद्धुय त्रि०(उद्धूत) उद्० धू० क्त० उद्भूते उत्क्षिते, उद्गते, ज्ञा०१अ० । इतस्ततो विप्रसृते, ''कालागरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्क-धूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे'' चं० २ पाहु० । सूर्य० । स० । औ० । रा० । प्रकटीकृते, क० । उत्कम्पिते, ''वाउद्धुयविजयवेजयंती'' औ० । ''वाउद्धुयविजयवेजयंती छत्तातिछत्तकलिया'' जी०३ प्रति० चं० । उत्कटे च । स० ।

उद्धुया स्त्री०(उद्धूता) वातोद्धूतस्य दिगन्तव्यापिनो रजस इवगतौ, रा० । जीवा० ।

उद्धुर त्रि०(उद्धुर) उद्गताधूरस्मात् प्रा०व० अच्० स० । निरक्षे, भारशून्ये, दृढे, उच्चे, वाच० । उद्वहते, आ० म० प्र० ।

उद्धुस्सिय त्रि०(ऊर्ध्वोच्छ्रित) ऊर्ध्वमुच्छ्रिते, ''से जोयणे णवणवति सहस्से उद्धुस्सितो हेट्ठसहस्समेगं'' सूत्र०१ श्रु०७ अ० ।

उन्नावंत त्रि०(उन्नमयत्) ऊर्द्धं नमयति, प्रा० ।

उप्पइय न०(उत्पतित) उद् पत्० क्त० उत्पतने, ''उवइयउप्पइयतुरियचवलजइणसिग्घवेगाहिं,'' औ० । ''अदृदृहासं काऊण उ-प्पइयं'' आ०म०प्र० । उद्भूते, ''णच्चा उप्पइयं दुक्खं वेयणाए दुहट्ठिए'' उत्त०२ अ० । ''उप्पइय पडिवयमाणे वसघ'' आचा० । १ श्रु०६ अ०४उ० । ऊर्ध्वगते च । त्रि० वाच० ।

उप्पइयपडिवयमाण त्रि०(उत्पतितप्रतिपतत्) पूर्वं संयमारोहणादुत्पतिते पश्चात्पाकोदयात्प्रतिपतति, आचा०१ श्रु० ६ अ० । ४ उ० ।

उप्पंक (देशी०) उच्छ्रये, समूहे, पङ्के, बले च । दे० ना० ।

उप्पड पुं०(उत्पट) उत्पटति, उद् पट् गतौ- अच् । वृक्षादीनां त्वचमुद्भिद्य उद्गते निर्यासे, वाच० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा०१ पद ।

उप्पण्ण त्रि०(उत्पन्न) उद्० पत्० क्त० । प्रादुर्भूते, ग० । प्रश्न० । संजाते, दर्श० । ''उप्पण्णम्मि अणंतेण, ठम्मिच्छाउमत्थिए णाणे । उत्पतितस्वभावे च । ''उप्पण्णेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा'' सत्तालक्षणम् आ०म०द्वि० । विशे० ।

उप्पण्णकोउहल्ल त्रि०(उत्पन्नकुतूहल) उत्पन्नं प्रागभूतं कुहूहलं यस्य उत्पन्नौत्सुक्ये, सू०प्र०१ पाहु० ।

उप्पण्णगारव त्रि०(उत्पन्नगौरव) उत्पन्नमभिलषणीयतया जात गौरवं यस्यस तथा । कमनयितया जातगौरवे, ''उप्पण्णगारवे एवं गणित्ति परिकंखिडं । व्य० ४ उ० ॥

उप्पण्णणाणदंसणधर पुं०(उत्पन्नज्ञानदर्शनधर) सादिकेवलज्ञानदर्शनोपयुक्ते, ''समणे भगवं महावीरे उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली'' उत्पन्नज्ञानदर्शनधरो न तु सदा संसिद्धः भ०१ श०७ उ० ।

उप्पण्णदुक्ख त्रि०(उत्पन्नदुःख) संजातदुःखे, ''इह खलु भोगपव्वइएणं उप्पण्णदुक्खेणं संजमे अरइसमावण्ण चित्तेणं'' दश०१ चूलि० ।

उप्पण्णसंसय त्रि०(उत्पन्नसंशय) उत्पन्नानवधारितार्थज्ञाने, रा० । सू०प्र० ।

उप्पण्णसड्ढ त्रि०(उत्पन्नश्रद्ध) उत्पन्ना प्रागभूता सती भूता श्रद्धा यस्यासौ उत्पन्नश्रद्धः । जातश्रद्धे, ''उप्पण्णसड्ढे संजायसड्ढे समुप्पण्णसड्ढे उट्ठाए उट्ठेइ'' जं०१ वक्ष० । रा० । सू० प्र० । ज्ञा० ।

उप्पण्णणुप्पण्ण त्रि०(उत्पन्नानुत्पन्न) उत्पन्नश्चानुत्पन्नश्च उत्पन्नानुत्पन्नः । मयूरव्यंसकादय इति समासः । यथा कृताकृतं भुक्ताभुक्तमित्यादि । एवं प्रकाराश्च समासः स्याद्वादिन एव युक्तिमियर्ति न शेषस्य एकान्तवादिन एकत्रैकदा परस्परपरिरुद्धधर्मानभ्युपगमात् । कस्यचिन्नयस्य मतेनोत्पन्ने कस्यचिदनुत्पन्ने, ''उप्पण्णाणुप्पण्णो, एत्थ णया णेगमस्सणुप्पण्णे सेसाणं उप्पण्णो, जइ कत्तो तिविहसामित्ता'' आ०म० द्वि० । (नमुक्कारशब्दे उत्पत्तिद्वारे स्पष्टीभविष्यति)

उप्पत्ति स्त्री०(उत्पत्ति) उत्पादनमुत्पत्तिः । प्रसूतौ, विशे० उत्पादने; उद्भूतौ, आ०चू० । (उत्पत्तौ नयानां मतानि नमुक्कारशब्दे उत्पत्तिरद्वारे स्पष्टी भविष्यन्ति) सा च चतुर्द्धा । उत्पत्तिश्चतुर्द्धा जीवाजीवस्योत्पत्तिर्यथा मातापितृभ्यां पुत्रस्य १ जीवादजीवस्योत्पत्तिर्यथा सजीवदेहान्नखकेशादेः । अजीवाज्जीवस्योत्पत्तिर्यथा काष्ठाद्घुणकस्य । अजीवादजीवस्य दुग्धाद्दध्नः । ग० । निदानकारणे, ''उप्पत्ती रोगाणं तस्स मणओसहयविभंगी'' नि० चू० २० उ० । उपमाने, प्रव० । ऊर्द्ध पतने, ऊर्द्धगतौ च । उत्पद्यते प्रथमतो ज्ञायतेऽनेन उद् पद् करणे क्तिन् । प्राथमिक प्रतीतिविष-यप्रवृत्तिसाधने इष्टसाधनताबोधक कर्मस्वरूपज्ञापके विधिवाक्ये, वाच० ॥

उप्पत्तिया स्त्री०(औत्पत्तिकी) उत्पत्तिरेव न शास्त्राभ्यासकर्मपरिशीलनादिकं प्रयोजनं यस्याः सा औत्पत्तिकी तदस्य प्रयोजनमिति इकण् ॥ नं॥ अदृष्टाश्रुताननुभूतविषयादकस्माद् भवनशीलायां बुद्धौ, रा०। ननु सर्वस्याः बुद्धेः कारणं क्षयोपशमः तत्कथमुच्यते उत्पत्तिरेव प्रयोजनमस्या इति उच्यते क्षायोपशमः सर्व्वबुद्धिसाधारणः ततो नासौ भेदेन प्रतिपत्तिनिबन्धनं भवति। अथ च बुद्ध्यन्तरभेदेन प्रतिपत्त्यर्थं व्यपदेशान्तरं कर्तुमारब्धं तत्र व्यपदेशान्तरनिमित्तमत्र न किमपि विनयादिकं विद्यते केवलमेवमेव तथोत्पत्तिरिति सैव साक्षान्निर्दिष्टा। नं०॥

औत्पत्तिक्या लक्षणम्।

पुव्वमदिट्ठमसुयम–वेइयतक्खणविसुद्धगहिअत्था।
अव्वाहयफलजोगा, बुद्धी ओप्पत्तिया नाम ॥२॥

पूर्वं बुद्ध्युत्पादात्प्राक् स्वयं चक्षुषा न दृष्टो नाप्यन्यतः श्रुतो मनसाऽप्यविदितोऽपर्यालोचितस्तस्मिन् क्षणेषु बुद्ध्युत्पादकाले विशुद्धो यथावस्थितो गृहीतोऽवधारितोऽर्थो यस्याः सा तथा। पुव्वमदिट्ठेत्यादौ मकारोऽलाक्षणिकः। तथा अव्याहतेन अबाधितेन फलेन परिच्छेद्येनार्थेन योगो यस्याः सा अव्याहतफलयोगा बुद्धिरौत्पत्तिकी नाम। संप्रति विनेयजनानुग्रहायास्याः स्वरूप–प्रतिपादनार्थमुदाहरणान्याह।

भरहसिलपणियरुक्खे, खुड्डगपडसरडकायउच्चारे।
गयपायणगोलखंभे, खुड्डगमग्गित्थिपइ पुत्ते ॥३॥
भरहसिलं मिढ कुक्कुड, तिलवालुयहत्थिअगडवणसंडे।
पायसअइया पत्ते, खाडहिलापंचपियरो य ॥४॥
महुसित्थमुद्दिअंकेइ, नाणए भिक्खचेडगनिहाणे।
सिक्खा य अत्थसत्थे, इच्छायमह सयसहस्से ॥५॥

आसामर्थः कथानकेभ्योऽवसेयः। तानि च कथानकानि विस्तरतोऽभिधीयमानानि ग्रन्थगौरवमापादयन्ति ततः संक्षेपेणोच्यन्ते। उज्जयिनी नाम पुरी तस्याः समीपवर्ती कश्चिन्नटानामेको ग्रामः तत्र च भरतो नाम नटः तस्य भार्या परासुरभूत् तनयश्चास्य रोहकाभिधोऽद्याप्यल्पवयास्तत्तस्तेन स्वस्य तनयस्य च शुश्रूषाकरणायान्या समानिन्ये वधूः। सा च रोहकस्य सम्यग्न वर्तते ततो रोहकेण सा प्रत्यापादि मातर्न मे त्वं सम्यक् वर्तसे ततो ज्ञास्यसीति ततः सा सेर्ष्यमाह रे रोहक! किं करिष्यसि ? रोहकोऽप्याह। तत्करिष्यामि येन त्वं मम पादयोरागत्य लगिष्यसीति ततः सातमवज्ञाय तूष्णीमतिष्ठत् रोहकोऽपि तत्कालादारभ्य गाढसंजाताभिनिवेशोऽन्यदा निशि सहसा पितरमेवमभाणीत् भो भो पितरेष पलायमानो गोहो याति तत एवं बालकवचः श्रुत्वा पितुराशङ्का समुदपादि नूनं विनष्टा मे महेलेति तत एवमाशङ्कावशात्तस्यामनुरागः शिथिली बभूव। ततो न तां सम्यक् संभाषते नापि विशेषतस्तस्यै पुष्पताम्बूलादिकं प्रयच्छति दूरतः पुनरपास्तं शयनादि ततः सा चिन्तयामास नूनमिदं बालकविचेष्टितम् अन्यथा कथमकाण्ड एवैष दोषाभावे पराङ् मुखो जातः ततो बालकमेवमवादीत् वत्स रोहक! किमिदं त्वया चेष्टितं तव पिता मे संप्रति दूरं पराङ् मुखीभूतः रोहक आह किमिति तर्हि त्वं सम्यग्न वर्तसे तयोक्तमित ऊर्द्धं सम्यग् वर्तिष्ये। ततो बालक आह भव्यं तर्हि मा खेदमाकार्षीस्तथा करिष्ये यथा मे पिता तथैव त्वयि वर्तते इति ततः सा तत्कालादारभ्य सम्यग् वर्तितुं प्रवृत्ता। रोहकोऽप्यन्यदा निशि निशाकरप्रकाशितायां प्राक्तनकदाशङ्कापनोदायबालभावं प्रगटयन् निजच्छायामङ्गुल्यग्रेण दर्शयन् पितरमेवमाह भो पितरेष गोहो याति गोहो यातीति। तत एवमुक्ते स पिता परपुरुषप्रवेशाभिमानतो निष्प्रत्याकारं कृपाणमुद्वीर्य प्राधावत रे कथय कुत्र यातीति ततः स बालको बालक्रीडां प्रकटयन्नङ्गुल्यग्रेण निजच्छायां दर्शयति पितरेष गोहो यातीति ततः स व्रीडित्वा प्रत्यावृत्तश्चिन्तयतिस्म च स्वचेतसि प्राक्तनोऽपि पुरुषो नूनमेवंविध एवासीदिति धिग्मया बालकवचनादलीकं संभाव्य विप्रियमेतावन्तं कालं कृतमस्यां भार्यायामिति पश्चात्तापाद्गाढतरमस्यामनुरक्तो बभूव। सोऽपि रोहको मया विप्रियं कृतमास्तेऽस्या इति कदाचिदेषा मा विषादिना मारयिष्यतीति विचिन्त्य सदैव पित्रा सह भुङ्क्ते न कदाचिदपि केवलः। अन्यदा च पित्रा सहोज्जयिनी पुरीमगमत् दृष्टा च तेन त्रिदशपुरीवोज्जयिनी सविस्मयचेतसा च सकलाऽपि यथावत्परि–भाविता। ततः पित्रैव सह नगर्य्यां निर्यातुमारेभे पिता च तत्र किमपि विस्मृतमिति रोहकं सिप्रातटेऽवस्थाप्य तदानयनाय भूयोऽपि नगरीं प्राविक्षत्। रोहकोऽपि च तत्र सिप्राभिधसिन्धुसैकते बाल–चापलवशात् सप्राकारां परिपूर्णामपि पुरं सिकताभिरालिखत्। इतश्च राजा अश्ववाहनिकायामश्वं वाहयन् कथंचिदेकाकीभूतस्तेन पथा समागन्तुं प्रावर्तत तं च स्वलिखितनगरीमध्येन समागच्छन्तं रोहकः अवादीत् भो राजपुत्र माऽनेन पथा समागमः। तेनोक्तं किमिति। रोहक आह। किं त्वं राजकुलमिदं न पश्यति। ततः स रजाकौतुकवशात्सकलामपि नगरीं तदालिखितामवैक्षत पप्रच्छ च तं बालकं रे अन्यदाऽपि त्वया नगरी दृष्टाऽऽसीत् न वा। रोहकः प्राह नैव कदाचित्केवलमहमद्यैव ग्रामादिहागतः। ततश्चिन्तयामास राजा अहो बालकस्य प्रज्ञातिशयः। ततः पृष्टो रोहकः वत्स किं ते नाम क्व वा ग्राम इति। तेनोक्तं रोहक इति मन्नाम प्रत्यासन्ने च पुरोग्रामे वसामीति। अत्रान्तरे समागतो रोहकस्य पिता चलितौ च स्वग्रामं प्रति द्वावपि राजा च स्वस्थानमगमत् चिन्तयतिस्म च मगैकोनानि मन्त्रिणां पञ्चशतानि विद्यन्ते तद्यदि सकलमन्त्रिमण्डलमूर्द्धाभिषिक्तो महाप्रज्ञातिशायी परमो मन्त्री संपद्यते ततो मे राज्यं सुखेनैवैधते बुद्धिबलोपेतो हि राजा प्रायः शेषबलैरल्पबलोऽपि न पराजयस्थानं भवति परांश्च राज्ञो लीलया विजयते। एवं चिन्तयित्वा कतिपयदिनानन्तरं रोहकबुद्धिपरीक्षानिमित्तं सामान्यतो ग्रामप्रधानपुरुषानुदिश्यैवमादिष्टवान् यथा युष्मद्ग्रा–मस्य बहिरतीव महती शिला वर्तते तामनुत्पाट्य राजयोग्यमण्ड–पाच्छादनं कुरुत। तत एवमादिष्टे सकलोऽपि ग्रामलोको राजादेशं कर्तुमशक्यं परिभावयन्नाकुलीभूतमानसो बहिः सभायामेकत्र मिलितवान् पृच्छति स्म परस्परं किमिदानीं कर्त्तव्यं दुष्टो राजादेशोऽस्माकमापतितो राजादेशाकरणे च महाननर्थोपनिपातः। एवं च चिन्तया व्याकुलीभूतानां तेषां मध्यदिनमागतं रोहकश्च पितरमन्तरेण न भुङ्क्ते पिता च ग्राममेलापके मिलितो वर्तते। ततः स क्षुधापीडितः पितुः समीपे समागत्य रोदितुं प्रावर्तत पीडितोहमतीव क्षुधया ततः समागच्छ गृहे भोजनायेत। भरतः प्राह वत्स! सुखितोऽसि त्वं न किमपि ग्रामकष्टं जानासि। स प्राह पितः किं तदिति। ततो भरतो राजादेशं सविस्तरमचकथत्। ततो निजबुद्धिप्रागल्भ्यवशात् झटिति कार्यस्य साध्यतां परिभाव्य तेनोक्तं मा आकुलीभवत यूयं खनत शिलाया राजोचितमण्डपनिष्पादनायाधस्तात् स्तम्भाश्च यथास्थानं निवेशयत भित्तीश्चोपलेपादिना प्रकारेणातीव रमणीयाः प्रगुणीकुरुत। तत एवमुक्ते सर्वैरपि ग्रामप्रधानपुरुषैर्भव्यमिति प्रतिपन्नम्। गतः सर्वोऽपि

ग्रामलोकः । स्वगृहे भोजनाय भुक्त्वा च समागतः शिलाप्रदेशे प्रारब्धं तत्र कर्म कतिपयदिनैश्च निष्पादितः परिपूर्णो मण्डपः । कृता च शिला तस्य आच्छादनं निवेदितं राज्ञे राजनियुक्तैः पुरुषैर्देवनिष्पादितो ग्रामेण देवादेशः । राजा प्राह कथमिति ततस्ते सर्वमपि मण्डपनिष्पादनप्रकारं कथयामासुः । राजा पप्रच्छ कस्येयं बुद्धिस्ते ऽवादिषुर्देव ! भरतपुत्रस्य एषा रोहकस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः । एवं सर्व्वेष्वपि संविधानकेषु योजनीयं ततो भूयोऽपि राजा रोहकबुद्धिपरीक्षार्थं मेढकमेकं प्रेषितवान् । एष यावत्पलप्रमाणः संप्रति वर्तते पक्षातिक्रमेऽपि तावत्पलप्रमाण एव समर्पणीयो न न्यूनो नाप्यधिक इति तत एवं राजादेशे समागते सतिसर्वोऽपि ग्रामो व्याकुलीभूतचेता बहिः सभायामेकत्र मिलितवान् सगौरवमाकारितो रोहकः आभाषितश्च ग्रामप्रधानैः पुरुषैः वत्स ! प्राचीनमपि दुष्टरा–जादेशसिन्धुं त्वयैव निजबुद्धिसेतुबन्धेन समुत्तारितः सर्वोऽपि ग्रामः। ततः संप्रत्यपि प्रगुणीकुरु निजबुद्धिसेतुबन्धेनास्यापि दुष्टराजादेशसिन्धोः पारमधिगच्छाम इति। तत उवाच रोहको वृकं प्रत्या–सन्नं धृत्वा मेण्ढकमेनं यवसदानेन पुष्टीकुरुत यवसं हि भक्षयन्नेष न दुर्बलो भविष्यति वृकं च दृष्ट्वा न वृद्धिमाप्स्यते ततस्तै तथैव कृतवन्तः पक्षातिक्रमे च तं राज्ञः समर्पयामासुः तोलने च तावत्प–लप्रमाण एव जातः । ततो भूयोऽपि कतिपयदिनानन्तरं राज्ञा कुर्कुटः प्रेषितः एष द्वितयं कुर्कुटं विना योधयितव्य इति एवं संप्राप्ते राजादेशे मिलितः सर्वोऽपि ग्रामो बहिः संभायागाकारितो रोहकः कथितश्च राजादेशः । ततो रोहकेणादर्शको महाप्रमाण आनायितो निर्मृष्टश्च भूत्या सम्यक् ततो घृतः पुरो राजकुक्कुटस्तस्य ततः स राजकुक्कुटः प्रतिविम्बमात्मीयमादर्शे दृष्ट्वा मत्प्रतिपक्षोऽयमपरः कुक्कुट इति मत्वा साहंकारं योद्धुं प्रवृत्तो जडचेतसो हि प्रायस्तिर्यञ्चो भवन्ति। एवं च परकुक्कुटमन्तरेण योधिते राजकुक्कुटे विस्मितः सर्वोऽपि ग्रामलोकः संपादितो राजादेशः निवेदितं च राज्ञो निजपुरुषैः । ततो भूयोऽपि कतिपयदिवसातिक्रमे राजा निजादेशं प्रेषितवान् युष्मद्ग्रामस्य सर्वतः समीपे रमणीया वालुका विद्यते ततः स्थूला वालुकामया कतिपया दवरकाः कृत्वा शीघ्रं प्रेषणीया इति एवं राजादेशे समागते मिलितः सर्वोऽपि बहिः सभायां ग्रामः पृष्टश्च रोहकस्ततो रोहकेण प्रत्युत्तरमदायि नटा वयं ततो नृत्यमेव वयं कर्त्तुं जानीमो न दवरकादि । ततो राजादेशश्चावश्यं कर्त्तव्यः ततो वृहद्राजकुलमिति चिरन्तना अपि कतिचिद्वालुकामया दवरका भविष्यन्तीति तन्मध्यादेकः कश्चित्प्रच्छन्दभूतः प्रेषणीयो येन तदनुसारेण वयमपि वालुकामयान् दवरकान् कुर्म इति । ततो निवेदितमेवं राज्ञो नियुक्तपुरुषैः । राजा च निरुत्तरीकृतः तूष्णीमास्त। ततः पुनरपि कतिचिद्दिनानन्तरं जीर्णहस्ती रोगग्रस्तो मुमूर्षुर्ग्रामे राज्ञा प्रेषितः यथाऽयं हस्ती मृत इति न निवेदनीयोऽथ च प्रति–दिवसमस्य वार्ता कथनीया अकथने ग्रामस्य महान् दण्डः । एवं च राजादेशे समागते तथैव मिलितः सर्वोऽपि ग्रामो बहिः सभायाम् । पृष्टश्च रोहकस्ततो रोहकेणोक्तं दीयतामस्मै यवसः पश्चाद्यद्भवष्यति तत्करिष्यामः । ततो रोहकादेशने दत्तो यवसस्तस्मै रात्रौ च स हस्ती पञ्चत्वमुपगतः । ततो रोहकवचनतो ग्रामेण गत्वा राज्ञे निवेदितम् । देवाऽद्य हस्ती न निषीदति नोत्तिष्ठति न कवलं गृह्णाति न नीहार करोति नाप्युच्छ् वासनिःश्वासौ विदधाति किं बहुना देव ! कामपि सचेतनचेष्टां न करोति। ततो राज्ञा भणितं किं रे मृतो हस्ती ततो ग्रामलोक आह देव ! देवपादा एवं ब्रुवते न वयमिति। तत एवमुक्ते राजा मौनमाधाय स्थितः। आगतो ग्रामलोकः स्वग्रामे। ततो भूयोऽपि कतिपयदिनातिक्रमे राजा समादिष्टवानस्ति यौष्माकीर्ण ग्रामे सुस्वादुजलसंपूर्णः कूपः स ईसत्वरं प्रेषणीयः । तत एवमादिष्टो ग्रामो रोहकं पृष्टवान्। रोहक प्राह। एष ग्रामेयकः कूपो, ग्रामेयकश्च स्वभावाद्वीरुर्भवति न च सजातीयमन्तरेण विश्वासमुपगच्छति ततो नागरिकः कश्चिदेकः कूपः प्रेष्यतां येन तत्रैष विश्वसय तेन सह समागमिष्यति इत्येवं निरुत्तरीकृत्य मुत्कलिताः राजनियुक्ताः पुरुषाः तैश्च राज्ञो निवेदितं राजा च स्वचेतसि रोहकस्य बुद्ध्यतिशयं परिभाव्य मौनमवलम्ब्य स्थितस्ततो भूयोऽपि कतिपयदिवसातिक्रमेऽभिहितवान् । वनखण्डो ग्रामस्य पूर्वस्यां दिशि वर्तमानः पश्चिमायां दिशि कर्तव्य इति अस्मिन्नपि राजादेशे समागते ग्रामो रोहकबुद्धिमुपजीव्य वनखण्डस्य पूर्वस्यां दिशि व्यवतिष्ठते ततो जातो ग्रामस्य पश्चिमायां दिशि वनखण्डः निवेदितं च राज्ञो राजनियुक्तैः पुरुषैः । ततःपुनरपि कालान्तरे राजा समादिष्टवान् वह्निसंपर्कमन्तरेण पायसं पक्तव्य–मिति तत्रापि सर्वो ग्राम एकत्र मिलितो रोहकमपृच्छत् रोहकश्चो–क्तवान् तन्दुलानतीव जलेन भिन्नान् कृत्वा दिनकरकरनिकरस–न्तप्तकरीषपलालादीनामुष्मणि तन्दुलपयोभृता स्थाली निवेश्यतां येन परमान्नं संपद्यते तथैव कृतं परमान्नं निवेदितं राज्ञो विस्मितं तस्य चेतः। ततो राज्ञा रोहकस्य बुद्ध्यतिशयमवगम्य तदाकारणाय समादिष्टं येन बालकेन मदादेशाः सर्वेऽपि प्रायः स्वबुद्धिवशात्संपादितास्तेन चावश्यमागन्तव्यम् परं न शुक्लपक्षे न कृष्णपक्षे न रात्रौ न दिवा न च्छायया नाप्यातपेन नाकाशेन नापि पादाभ्यां न पथा नाप्युत्पथेन न स्नातेन नास्नातेन तत एवमादिष्टे स रोहकः कण्ठस्नानं कृत्वा गन्त्रीचक्रस्य मध्यभूमिभागेन ऊरणमारूढो धृतचालनीरुपातपत्रः संध्यासमयेऽभावश्याप्रतिपत्संगमे नरेन्द्र–पार्श्वमगमत्। स च रिक्तहस्तो न पश्येच्च राजानं देवतां गुरुमिति लोकश्रुति परिभाव्य पृथिवीपिण्डमेकमादाय गतः प्रणतो राजा मुक्तश्च तत्पुरतः पृथिवीपिण्डस्ततः पृष्टो राज्ञा रोहकः। रे रोहक ! किमेतत् ? रोहकः प्राह देव ! देवपादाः पृथिवीपतयः ततो मया पृथिवी समानीता। श्रुत्वा चेदं प्रथमदर्शने मङ्गलवचः तुतोष राजा मुत्कलितः शेषग्रामलोकः रोहकः पुनरात्मपार्श्वे शायितः गते च यामिन्याः प्रथमे यामे रोहकः शब्दितो राज्ञा, रे रोहक ! जागर्षि किं वा स्वपिषि । देव ! जागर्मि रे तर्हि किं चिन्तयसि स प्राह देव अश्वत्थपत्राणां किं दण्डो महान् उत शिखेति तत एवमुक्ते राजा संशयमापन्नो वदति साधु चिन्तितं कोऽत्र निर्णयः । ततो राजा तमेव पृष्टवान् रे कथय कोऽत्र निर्णय इति तेनोक्तं यावद्यापि शिखाग्रभागो न शोषमुपयाति तावद्धे अपि समे ततो राज्ञा पार्श्ववर्ती लोकः पृष्टः तेन च सर्वेणाप्यविज्ञानतः प्रतिपन्नं ततो भूयोऽपि रोहकः सुप्तवान् पुनरपि च द्वितीययामेऽपगते राज्ञा शब्दितः पृष्टश्च रे किं जागर्षि किं वा स्वपिषि स प्राहदेव ! जागर्मि किं रे चिन्तयसि देव! छागिकोदरे कथं भ्रम्युत्तीर्णा इव वर्तुलगुलिका जायन्ते तत एवमुक्ते राजा संशयापन्नस्तमेव पृष्टवान् कथय रे रोहक ! कथमिति स प्राह देव संवर्तकाभिधानवातविशेषात् । ततः पुनरपि रोहकः सुप्तवाप तृतीययामेऽपगते भूयोऽपि राज्ञा शब्दितः रे किं जागर्षि किं वा स्वपिषि सोऽवादीत् देव ! जागर्मि किं रे चिन्तयन्वर्तसे देव खाडहि–लाजीवस्य यावन्मात्रं शरीरं तावन्मात्रं पुच्छमुत हीनाधिकमिति तत एवमुक्ते राजा निर्णयं कर्तुमशक्तः तमेवापृच्छत रेकोऽत्र

निर्णयः देव सममिति ततो रोहकः सुप्तः प्राभातिके च मङ्गलप–टहनिस्वने सर्वत्र प्रसरमधिरोहति राजा प्रबोधमुपजगाम शब्दि–तवांश्च रोहकः स च निद्राभरमुपारूढो न प्रतिवाचं दत्तवान्। ततो राजा *लीलाकङ्कतिकया मनाक् तं स्पृष्टवान् ततः सोऽपगतनिद्रो जातः सपृष्टश्च रे किं स्वपिषि स प्राह देव जागर्मि किं रे तर्हि कुर्व स्तिष्ठसि देव! चिन्तयन्। किं चिन्तयसि देव एतच्चिन्तयामि कतिभिर्जातो देव इति। तत एवमुक्ते राजा सव्रीडं मनाक् तूष्णीमतिष्ठत् तत्क्षणानन्तरं पृष्टवान् कथय रे* कतिभिरहं जात इति। स प्राह देव पञ्चभिः राजा भूयोऽपि पृष्टवान् केन केनेति रोहक आह एकेन तावद्वैश्रमणेन वैश्रमणस्येव भवतो दानशक्तेर्दर्शनात्। द्वितीयेन चाण्डालेन वैरिसमूहं प्रति चण्डालस्येव कोपदर्शनात्। तृतीयेन रजकेन यतो रजक इव वस्त्रं परिनिपील्य तस्य सर्वस्वमपहरन् दृश्यते। चतुर्थेन वृश्चिकेन यन्मामपि बालकं निद्राभरसुप्तं लीला–कङ्कतिकाग्रेण वृश्चिक इव निर्दयं तुदसि। पञ्चमेन निजपित्रा येन यथावस्थितन्यायं सम्यक्परिपालयसि। एवमुक्त राजा तूष्णीमा–स्थाय प्राभातिककृत्यमकार्षीत् जननीं च नमस्कृत्यैकान्ते पृष्टवान्। कथय मातः! कतिभिरहं जात इति सा प्राह वत्स! किमेतत् प्रष्टव्यं निजपित्रा त्वं जातः। ततो रोहकोक्तं राजा कथितवान् वदति च मातः स रोहकः प्रायोऽलीकबुद्धिर्न भवतीति। ततः कथय सम्यक् तत्त्वमिति तत एवमति *निर्बन्धीकृते सति सा कथयामास। यदा त्वद् गर्भाधानमासीत् तदाऽहं* बहिरुद्याने वैश्रवणपूजनाय गतवती वैश्रवणं च यक्षमतिशयरूपं दृष्ट्वा हस्तसंस्पर्शेन च संजातमन्मदोन्मादा भोगाय तं स्पृहितवती। अपान्तराले च समागच्छन्तो चण्डालयुवानमेकमतिरूपमपश्यं ततस्तमपि भोगाय स्पृहयामि स्म। ततोऽर्वाक्तने भागे समागच्छन्तीं तथैव रजकं दृष्ट्वाऽभिलषितवती। ततो गृहमागता सती तथाविधोत्सववशात् वृश्चिकं कणिक्कामयं भक्षणाय हस्से न्यस्तवती। ततस्तत्संस्पर्शतो जातकामोद्रेका तमपि भोगायाशंसितवती तत एवं यदि स्पृहामात्रेणापि पितरः संभवति तर्हि सन्तु परमार्थतः पुनरेक एव ते पिता सकलजगत्प्र–सिद्ध इति। तत एवमुक्ते राजा जननीं प्रणम्य रोहकबुद्धिविस्मितचेताः स्वावासप्रासादमगमत्। रोहकं च सर्वेषां मन्त्रिणां मूर्द्धाभिषिक्तं मन्त्रिणमकार्षीत् तदेवं भरहसिलेति व्याख्यातम् ॥१॥

संप्रति पणयंति व्याख्यायते। द्वौ पुरुषौ एको ग्रामेयकः अपरो नागरिकः। ततो ग्रामेयकः स्वग्रामाच्चिर्भिटिका आनयन् प्रतोलीद्वारे वर्तते तं प्रति नागरिकाः प्राह यद्येताः सर्वा अपि तव चिर्भिटिका भक्षयामि ततः किं मे प्रयच्छसीति ग्रामेयकः आह योऽनेन प्रतोलीद्वारेण मोदको न याति तं प्रयच्छामि ततो द्वाभ्यामपि बद्धं पणितं कृताः साक्षिणो जनाः ततो नागरिकेणताः सर्वा अपि चिर्भटिकाः मनाक् २ भक्षित्वा मुक्ताः उक्तं च ग्रामेयकं प्रति भक्षिताः सर्वा अपि त्वदीयाः चिर्भिटिकास्ततो मे प्रयच्छ यथा प्रतिज्ञातं मोदकमिति। ग्रामेयकः प्राह न मे चिर्भिटिका भक्षिताः ततः कथं ते प्रयच्छामि मोदकमिति नागरिकः प्राह। भक्षिता मया सर्वा *अपि चिर्भिटिका यदि न प्रत्येषि तर्हि प्रत्ययमुत्पादयामीति। तेनोक्तमु–*त्पादय प्रत्ययम् ततो द्वाभ्यामपि विपणिवीथ्यां विस्तारिता विक्रयाय चिर्भिटिकाः समागतो जनःक्रयाय ताश्च चिर्भिटिका निरीक्ष्य लोको वक्ति ननु भक्षिताः सर्वा अपि त्वदीया चिर्भिटिकाः तत्कथं वयं गृह्णीमः एवं लोकेनोक्ते साक्षिणां ग्रामेयकस्य च प्रतीतिरुदपादि क्षुभितो ग्रामयेकः हा कथं नु नाम मया तावत्प्रमाणां मोदको दातव्यः। ततः स भयेन कम्पमानो विनयनम्रो रूपकमेकं प्रयच्छति नागरिको नेच्छति ततो द्वे रूपके दातुं प्रवृत्तः तथापि नेच्छति। एवं यावच्छतमपि रूपकाणां नेच्छति ततस्तेन ग्रामेयकेण चिन्तितं हस्ती हस्तिना प्रेर्यते ततो धूर्त एष नागरिको वचनेन [illegible] कतिपयदिनानि व्यवस्थां कृत्वा नागरिकधूर्तानवलगामि तथैव कृतं दत्ता चैकेन नागरिकधूर्तेन तस्मै बुद्धिस्ततः तद्बुद्धिबलेन पूपिकापणे मोदकमेकमादाय प्रतिद्वन्द्विनं धूर्तमाकारितवान् साक्षिणश्च *सर्वेऽप्याकारिताः ततस्तेन सर्वसाक्षिसमक्षमिन्द्रकीलके मोदकोऽ-स्थाप्यते भणितश्च मोदकः याहि रे याहि मोदक! स न याति* ततस्तेन साक्षिणोऽधिकृत्योक्तं मयैवं युष्मत्समक्षं प्रतिज्ञातं यद्यहं जितो भविष्यामि तर्हि स मया मोदको यः प्रतोलीद्वारेण न निर्गच्छति एषोऽपि न याति तस्मादहं मुत्कल इति एतच्च साक्षिभिरन्यैश्च पार्श्ववर्तिभिर्नागरिकैः प्रतिपन्नमिति प्रतिजितः प्रतिद्वन्द्वी धूर्तः। द्यूतकारनागरिकधूर्त-स्यौत्पतिकी बुद्धिः ॥२॥

(रुक्खेत्ति) वृक्षोदारहणं तद्भावना क्वचित्पथि पथिकानां सह–कारफलान्यादातुं प्रवृत्तानामन्तरायं मर्कटका विदधते ततः पथि–काः सवबुद्धिवशाद्वस्तुतत्वं पर्यालोच्य मर्कटानां संमुखं लोष्टकान् प्रेष्यामासुः ततो रोषाबद्धचेतसो मर्कटाः पथिकानां संमुखं सहकारफलानि प्रचिक्षेषुः पथिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः ३ तथा (खुड्डकत्ति) अङ्गुलीयकाभरणं तदुदाहरणभावना राजगृहं नगरं तत्र प्रसेनजितः प्रसेनरिपुसमूहविजेता राजा भूयांसस्तस्य तनयाः तेषां च सर्वेषामपि मध्ये श्रेणिको राजा नृपलक्षणसंपन्न स्वचेतसि परिभावितोऽत एव च तस्मै न किञ्चिदपि ददाति नापि वचसापि संस्पृशति मा शेषैरेष परासुर्विधीयेतेति बुद्ध्या स च किञ्चिदप्यल–भमानो मन्युभरवशात्प्रस्थितो देशान्तरं जगाम। क्रमेण वेन्नातटं नगरम् तत्र च क्षीणविभवस्य श्रेष्ठिनो विपणौसमुपविष्टः तेन च श्रेष्ठिना तस्यामेव रात्रौ स्वप्ने रत्नाकरो निजदुहितरं परिणयन् दृष्ट आसीत् तस्य च श्रेणिकपुण्यप्रभावतः तस्मिन् दिने चिरसंचित-प्रभूतक्रया–णकविक्रयेण महान् लाभः समुत्पादि म्लेच्छहस्ताच्चा-ऽनर्घ्याणि महारत्नानि स्वल्पमौल्येन समपद्यन्त ततः सोऽचिन्तयत् अस्य महात्मनो मम समीपमुपविष्टस्य पुण्यप्रभाव एषः यन्मया महती भूतिः एतावती समासादिता आकृतिं च तस्यातिमनोहरामवलोक्य स्वचेतसि कल्पयामास स एष रत्नाकरो यः स्वप्ने मया रात्रौ दृष्टः ततस्तन कृतकराञ्जलिसंपुटेन विनयपुरः सरमाभाषितः श्रेणिकः। कस्य यूयं प्राघूर्णिकाः। श्रेणिक उवाच भवतामिति। ततः स एवंभूतवचनश्रवणतो धाराहतकदम्बपुष्पमिव पुलकितसमस्ततनुयष्टिः सबहुमानं स्वगृहं नीतवान् श्रेणिकं भोजनादिकं च सकलमप्यात्मनाऽधिकतरं संपादयामास पुण्यप्रभावं च तस्य प्रतिदिवसमात्मनो धनलाभवृद्धि-संभवेनासाधारणमभिसमीक्ष्यमाणः कतिपयदिनातिक्रमे तस्मै स्वदुहितरं नन्दानामानं दत्तवान् श्रेणिकोऽपि तया सह पुरंदर इव पौलोम्या मन्मथमनोरथनापूरयत्पञ्चविधभोगलालसो बभूव। कतिपयवास-रातिक्रमे च नन्दाया गर्भाधानमभूत् इतश्च प्रसेनजित्स्वान्तसमयं विभाव्य श्रेणिकस्य परंपरयावार्तामधिगम्य तदाकारणाय *सत्वरमुष्ट्रवाहनान् पुरुषान् प्रेषयामास ते च समागत्य श्रेणिकं* विज्ञप्तवन्तो देव! शीघ्रमागम्यतां देवः सत्वरमाकारयति ततो नन्दां समापन्नसत्वामापच्छ ''अम्हे रायगिहे पंडुरखुड्ड गोपाला। जइ अम्हेहिं कज्जं तो एज्जहंत्ति'' एतद्वाक्यं क्वचित् लिखित्वा श्रेणिको राजगृहं प्रति चलितवान् नन्दायाश्च देवलोकच्युतमहानुभावगर्भ-सत्वप्रभावतः एवं दौहृदमुदपादि यदहं प्रवरकुञ्जरमधिरूढा निखिलजनेभ्यो धनदान-पुरस्सरमभयप्रदानं करोमीति पिता च तदित्थंभूतदौहृदमुत्पन्नं ज्ञात्वा राजानं विज्ञप्य पूरितवान् कालक्रमेण च प्रवृत्ते

प्रसवसमये प्रातरादित्यविम्बमिव दश दिशः प्रकाशयन्नजायत परमसूनुस्तस्य च दौहृदानुसारेण अभय इति नाम चक्रे सोऽपि चाभयकुमारो नन्दनवनान्तर्गतकल्पपादप इव तत्र सुखेन परिवर्द्धते शास्त्रग्रहणादिकमपि यथाकालं कृतवान्। अन्यदा च स्वमातरं पप्रच्छ मातः ! कथं मे पिताऽभूदिति ततः सा कथयामास मूलत आरभ्य सर्व्वं यथावस्थितं वृत्तान्तं दर्शयामास च लिखितान्यक्षराणि । ततो मातृवचनतात्पर्यावगमतो लिखिताक्षरार्थावगमतश्च ज्ञातमभयकुमारेण यथा मे पिता राजगृहे राजा वर्तते इति एवं च ज्ञात्वा मातरमभाणीत् व्रजामो राजगृहे सार्थेन सह वयमिति। सा प्रत्यवादीत् वत्स ! यद्भणसि तत्करोमीति ततोऽभयकुमारः स्वमात्रा सह सार्थेन समं चलितः प्राप्तो राजगृहस्य बहिः प्रदेश ततोऽभय–कुमारस्तत्र मातरं विमुच्य किं प्रवर्तते संप्रति पुरे कथं वा राज्ञा दर्शनीय इति विचिन्त्य राजगृहं प्रविष्टः। तत्र पुरः प्रवेशे एव निर्जलकूपतटे समन्ततो लोकः समुदायेनावतिष्ठते पृष्टं चाभयकुमारेण किमित्येष लोकमेलापकः ततो लोकेनोक्तम्। अस्य मध्ये राज्ञोऽङ्गुल्याभरणमास्ते तत् यो नाम तटे स्थितः स्वहस्तेन गृह्णाति तस्मै राजा महतीं वृत्तिं प्रयच्छतीति तत एवं श्रुते पृष्टाः प्रत्यासन्न–वर्तिनो राजनियुक्ताः पुरुषाः तैरप्येवमेव कथितं ततोऽभयकुमोरणोक्तमहं तटे स्थितो गृहीष्यामि राजनियुक्तैः पुरुषैरुक्तं गृहाण त्वं यत्प्रतिज्ञातं राज्ञा तदवश्यं करिष्यते ततोऽभयकुमारेण परिभावितमङ्गुल्याभणं दृष्ट्वा सम्यक् तत आर्द्रगोमयेनाह तंसंलग्नं तत्तत्र ततस्तस्मिन् शुष्के मुक्तं कूपान्तरात्पानीयं भृतो जलेन परिपूर्णः स कूपः तरति चोपरि सोऽङ्गुल्याभरणः शुष्कगोमयस्ततस्तटस्थेन सता गृहीतमङ्गुल्याभरणमभयकुमारेण कृतश्चानन्दकोलाहलो लोकेन, निवेदितं राज्ञो राजनियुक्तैः पुरुषैराकारितोऽभयकुमारो राज्ञा, गतो राज्ञः समीपं मुमोच पुरतोऽङ्गुल्याभरणं पृष्टश्च राज्ञा वत्स !कोऽसि त्वम्। अभयकुमारेणोक्तम्। हेदेव ! युष्मदपत्यं राजा प्राह कथम्। ततः प्राक्तनवृत्तान्तं कथितवान् ततो जगाम महाप्रमोदं राजा चकारोत्सङ्गे अभयकुमार चुम्बितवान्सनेहं शिरसि पृष्टश्च श्रेणिकेनाभयकुमारो वत्स ! क्वते माता वर्तते देव ! बहिः प्रदेशे ततो राजा सपरिच्छदः तस्याः सन्मुखमुपागमात्। अभयकुमार–श्चाग्रे समागत्य कथयामास सर्व्वं नन्दायाः ततः सात्मानं मण्डयितुं प्रवृत्ता निषिद्धा च अभयकुमारेण मातर्न कल्पते कुलस्त्रीणां निज–पतिविरहितानां निजपतिदर्शनमन्तरेण भूषणं कर्तुमिति समागतो राजा पपात राज्ञःपादयोर्नन्दा सन्मानिता च भूषणादिप्रदानेनातीव राज्ञा सस्नेहं प्रवेशिता महाविभूत्या नगरं सपुत्रा स्थापितश्चाभय–कुमारोऽमात्यपदे इति अभयकुमारस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥४॥

तथा (पडित्ति) पटोदाहरणसद्भावना द्वौ पुरुषौ एकस्य आच्छा–दनपटः सौत्रिकोऽपरस्योर्णामयः तौ च सह गत्वा युगपत्स्नातुं प्रवृत्तौ तत्रोर्णामयपटस्वामी स्वपटं विमुच्य द्वितीयसत्कं सौत्रिकं पटं गृहीत्वा गन्तुं प्रस्थितो द्वितीयो याचते स्वपटं स न प्रयच्छति ततो राजकुले च व्यवहारो जातः ततः कारणिकैर्द्वयोरपि सिरसी कंकतिकयाऽवलेखिते ततोऽवलेखने कृते सति ऊर्णामयपटस्वामिनः शिरसः ऊर्णावयवाविनिर्जग्मुः ततो ज्ञातं नूनमेष न सौत्रिकपटस्य स्वामीति निगृहीतोऽपरस्य समर्पितः सौत्रिकपटः कारणिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥५॥ (सरडत्ति) सरटोदाहरणंतद्भावना कस्यचित्पुरुषस्य पुरीषमृत्सृजतः सरटो गुदस्याधस्ताद्विलं प्रविशन् पुच्छेन मुदं स्पृष्टवान् ततस्तस्यैवमजायत शङ्का नूनमुदरे मे सरटः प्रविष्टः ततो गृहं गतो महतीमधृतिं कुर्व्वन्नगऽतीव दुर्बलो बभूव वैद्यं च पप्रच्छ वैद्यश्च ज्ञातवानसंभवमेतत् केवलमस्य कथंचिदाशङ्का समुदपादि ततः सोऽवादीत् यदि मे शतं रूपकाणां प्रयच्छसि ततोऽहं त्वां निराकुलीकरोमि तेन प्रतिपन्नं ततो वैद्यो विरेचकौषधं प्रदाय तस्य लाक्षारसखरण्टितं कृत्वा सरटं घटे प्रक्षिप्य तस्मिन् घटे पुरीषोत्सर्गं कारितवान् ततो वैद्येन दर्शितः तस्य पुरीषखरण्टितो घटे सरटो व्यपगता तस्य सर्वा शङ्का जातो बलि–ष्ठशरीरो वैद्यस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥६॥

(कायत्ति) काकोदाहरणं तद्भावना बेन्नातटे नगरे केनापि सौगतेन कोऽपि खेतपटक्षुल्लकः पृष्टः भो क्षुल्लक ! सर्वज्ञाः किल तवार्हन्तस्तत्पुत्रकाश्च यूयं तत्कथय कियन्तो अत्र पुरे वसन्ति वायसाः ततः क्षुल्लकश्चिन्तयामास शठोऽयं प्रतिशठाचरणेन निर्लोठनीयः ततः स्वबुद्धिवशात् इदं पठितवान्–''सट्ठि कागसहस्सा, इह यं छिन्नायडे परिवसतिं। जइ ऊणगय वसिया, अब्भहिया पाहुणा आया'' ततः स भिक्षुः प्रत्युत्तरं दातुमशक्नुवन् लकुडाहतशिरस्क इव शिरः कण्डूयमानो मौनमाधाय गत इति क्षुल्लकस्योत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ अथवा अपरो वायसदृष्टान्तः कोऽपि क्षुल्लकः केनापि भागवतेन दुष्टबुद्ध्या पृष्टो भोः क्षुल्लक ! किमेष काको विष्ठामितस्ततो विक्षिपति क्षुल्लकोऽपि तस्य दुष्टबुद्धितामवगम्य तन्मर्म्मवित् प्रत्युत्तरं दत्तवान् युष्मत्सिद्धान्ते च जले स्थले च सर्वत्र व्यापी विष्णुरभ्युपगम्यते ततो यौष्माकीणं सिद्धान्तमुप–श्रुत्य एषोऽपि वायसोऽचिन्तयत् किमस्मिन् पुरीषे समस्ति विष्णुः किं वा नेति ततः स एवमुक्तो वाणाहतमर्मप्रदेश इव धूर्णितचेतनो मौनमवलम्ब्य रुषा धूमायमानो गतः इति क्षुल्लकस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥७-८॥

(उच्चारेति) उच्चारोदाहरणं तद्भावना क्वचित्पुरेकोऽपि धिग्जातीयः तस्य भार्या अभिनवयौवनोद्वेदरमणीया लोचनयुगलवक्रिमावलो–कनमहाभल्लीनिपातनताडितसकलकामिकुरङ्गहृदया प्रबलका–मोन्मत्तमना आसीत् सोऽन्यदा धिग्जातीयः– तया भार्यया सह देशान्तरे गन्तुं प्रवृत्तोऽपान्तराले च धूर्तः कोऽपि पथिको मिलितः। सा च धिग्जातीया भार्या तस्मिन् रतिं बद्धवती ततो धूर्तः प्राह मदीया एषा भार्या धिग्जातीयः प्राह मदीयेति ततो राजकुले व्यवहारो जातः। ततः कारणिकैर्द्वयोरपि पृथक् कृत्य ह्यस्तनदिनभुक्त आहारः पृष्टो धिग्जातीयेनोक्तं मया ह्यस्तनदिने तिला भक्षितास्तद्भार्यया च। धूर्तेनान्यैकमपि उक्तं ततो दत्तं तस्याः कारणिकैर्विरेकोषधं जातो विरेको दृष्टाः पुरीषान्तर्गतास्तिला दत्ता सा धिग्जातीयस्य निर्धाटितो धूर्तश्च। कारणिकानामौत्पत्तिकी–बुद्धिः ९

(गयत्ति) गजोदाहरणं तद्भावना वसन्तपुरे नगरे कोऽपि राजा बुद्ध्यतिशयसंपन्नं मन्त्रिणमन्वेषमाणः चतुष्पथे हस्तिनमालान–स्तम्भे बन्धयित्वा घोषणामचीकरत् योऽमुं हस्तिनं तोलयति तस्मै राजा महतीं वृत्तिं प्रयच्छतीति इमां घोषणां श्रुत्वा कश्चिदेकः पुमान् तं हस्तिनं महासरसि नावमारोपयामास तस्मिंश्चारूढे यावत्प्रमाणा नौर्जले निमग्ना तावति प्रमाणे रेखामदात् ततः समुत्तारितो हस्ती तटे प्रक्षिप्ता गण्डशैलकल्पा नावि ग्रावाणस्ते च तावत्प्रक्षिप्ताः यावत् रेखां मर्यादीकृत्य जले निमग्ना नौस्ततस्तोलिताः सर्वे ते पाषाणाः कृतमेकत्र पलपरिमाणं निवेदितं राज्ञे देव एतावत्पलपरिमाणो हस्ती वर्तते ततस्तुतोष राजा कृतो मन्त्रि मण्डलमूर्द्धाभिषिक्तः परमो मन्त्रीतस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः १० (पायणेत्ति) भण्डस्तदुदाहरणं विटो नाम कोऽपि पुरुषो राज्ञः

प्रत्यासन्नवर्तीं तं प्रति राजा निजदेवीं प्रशंसति अहो निरामया मे देवी या न कदाचिदपि वातनिसर्गं विदधाति । विटः प्राह देव ! न भवतीदं जातुचित् । राजा अवादीत् कथं विट आह देव धूर्ता देवी ततो यदा सुगन्धिपुष्पाणि चूर्णवासा त्वां समर्प्पयति नासिकाग्रे तदा ज्ञातव्यं वातं मुञ्चतीति ततोऽन्यदा राज्ञातथैव परिभावितं सम्यगवगते च हसितं ततो देवी हसननिमित्तकथनाय निर्बन्धं कृतवती ततो राजाऽतिनिर्बन्धे कृते पूर्ववृत्तान्तमचकथत्। ततश्चुकोप तस्मै विटाय देवी आज्ञप्तो देशत्यागेन । तेनापि जज्ञे नूनमकथयत् पूर्ववृत्तान्तं देवो देव्यास्तेन मे चुकोप देवी । ततो महान्तमुपानहां भरमादाय गतो देवीसकाशं विज्ञापयामास देवीम्। देवि ! यामो देशान्तराणि देवी उपानहां भरं पार्श्वे स्थितं दृष्ट्वा पृष्टवती किमेष उपानहांभरः । सोऽवादीत् देवि यावन्ति देशान्तराण्येतावतीभि रुपानद्भिर्गन्तुं शक्ष्यामि तावत्सु देव्याः कीर्तिर्विस्तारणीया तत एवमुक्ते मा मे सर्वत्राप्यपकीर्तिर्जायेतेति परिभाव्य देवी बलात् तं धारयामास । विटस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥११॥

(गोलोत्ति) गोलकोदाहरणं तद्भावना लाक्षागोलकः कस्यापि बालकस्य कथमपि नासिकामध्ये प्रविष्टः तन्मातापितरावतीव आर्तौ बभूवतुः दर्शितो बालकः सुवर्णकारस्य तेन च सुवर्णकारेण प्रतप्ताग्रभागया लोहशलाकया शनैः २ यत्नतो लाक्षागोलको मनाक् प्रताप्य सर्व्वोपि समाकृष्टः सुवर्णकारस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ।१२। (खंभत्ति) स्तम्भोदाहरणं तद्भावना। राजा मन्त्रिणमेकं गवेषयन् महाविस्तीर्णतटाकमध्ये स्तम्भमेकं निक्षेपयामास तत एवं घोषणां कारितवान् यो नाम तटस्थितोऽमुं स्तम्भं दवरकेण बध्नाति तस्मै राजा शतसहस्रं प्रयच्छति तत एवं घोषणां श्रुत्वा कोऽपि पुमान् एकस्मिन् तटप्रदेशे कोलके भूमौ प्रक्षिप्य दवरकेण बध्वा तेन दवरकेण सह सर्वतस्तटे परिभ्राम्यन् मध्यास्थितं तं स्तम्भं बद्ध-वान् लोकेन च बुद्ध्यतिशयसंपन्नतया प्रशंसितो निवेदितश्च राज्ञो राजनियुक्तैः पुरुषैः तुतोष राजा ततस्तं राजा मन्त्रिणमकार्षीत् तस्य पुरुषस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः १३(खुल्लत्ति) क्षुल्लको दाहरणं तद्भावना कस्मिंश्चित्पुरे काचित्परिव्राजिका सा यो यत्करोति तदहं कुशककर्मा सर्वं करोमीति राज्ञः समक्षं प्रतिज्ञां कृतवती राजा च तत्प्रतिज्ञासूचकं पटहमुद्घोषयामास । तत्र च कोपि क्षुल्लको भिक्षार्थमटन् पटहशब्दं श्रुतवान् श्रुतश्च प्रतिज्ञार्थः ततो धृतवान् पटहं प्रतिपन्नो राजसमक्षं व्यवहारो गतो राजकुले क्षुल्लकस्ततस्तं लघुं दृष्ट्वा सा परिव्रजिकात्मीयं मुखं विकृत्यावज्ञयाभिधत्ते कथय कुतो गिलामि तत एवमुक्ते क्षुल्लकः स्वं मेढ्रं दर्शितवान् ततो हसितं सर्वैरपि जनैरुद् घुष्टं च जिता परिव्रजिका तस्या एवं कर्तुमशक्तत्वात् ततः क्षुल्लकः कायिक्या पद्ममालिखितवान् सा कर्तुं न शक्नोति ततो जिता परिव्राजिका । क्षुल्लकस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ।१४।

(मग्गति) मार्गोदाहरणं तद्भावना कोऽपि पुरुषो निजभार्यां गृहीत्वा वाहनेन ग्रामान्तरं गच्छति अपान्तराले च क्वचित्प्रदेशे शरीरचिन्तानिमित्तं तद्भार्यावाहनादुतीर्णवती तस्यां च शरीरचिन्तानिमित्तं कियद्भूभागं गतायां तत्प्रदेशवर्तिनी काचित् व्यन्तरी पुरुषस्य रूपसौभाग्यादिकमवलोक्य कामातुरा तद्रूपेणागत्य वाहनं विलग्ना सा च तद्भार्या शरीरचिन्तां विधाय यावद्वाहनसमीपमागच्छति तावदन्यां स्त्रियमात्मसमानरूपां वाहनरूढां पश्यति सा च व्यन्तरी पुरुषं प्रत्याह एषा काचित् व्यन्तरी मदीय रूपमाचर्य्य तव सकाशमागच्छति ततः खेटय सत्वरं ततः स पुरुषः तथैव कृतवान्। सा चारटन्ती पश्चाल्लग्ना समागच्छति पुरुषोऽपि तामारटन्तीं दृष्ट्वा मूढचेता मन्दं २ खेटयामास ततः प्रावर्तत तयो स्तद्भार्याव्य-न्तर्योर्निष्ठुरभाषणादिकः परस्परं कलहः ग्रामे च प्राप्ते जातः तयो राजकुले व्यवहारः पुरुषश्च निर्णयमकुर्वन्नुदासीनो वर्तते । ततः कारणिकैः पुरुषो दूरे व्यवस्थापितो भणिते च द्वे अपि स्त्रियौ युवयोर्मध्ये या काचिदमुं प्रथमं हस्तेन संस्पृक्ष्यति तस्याः पतिरेष न शेषायाः । ततो व्यन्तरी दूरतः हस्तं प्रसार्य प्रथमं स्पृष्टवती ततो ज्ञातं कारणिकैरेषा वयन्तरीति । ततो निर्धाटिता द्वितीया च समर्पिता स्वपतेः । कारणिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः १५ (इत्थित्ति) स्त्र्युदाहरणं तद्भावना मूलदेवकण्डरीकौ सह पन्थानं गच्छतः इतश्च कोऽपि सभार्याकः पुरुष तेनैव पथा गन्तुं प्रावर्तत कण्डरीकश्च दूरस्थितः तद्भार्यागतमतिशायि रूपं दृष्ट्वा साभिलाषो जातः कथितं च तेन मूलदेवस्य यदीमां मे संपादयसि तदाहं जीवामि नान्यथेति ततो मूलदेवोऽवादीत् मात्वरीभूरहं ते नियमतः संपादयिष्यामि। ततस्तौ द्वावप्यलक्षितौ सत्वरं दूरतो गतौ ततो मूलदेवः कण्डरीक-मेकस्मिन्वनलिकुञ्जे संस्थाप्य पथि ऊर्ध्वस्थितौ वर्तते ततः पश्चादायातः सभार्यकिः स पुरुषो भणितो मूलदेवेन । भो महापुरुषः! महिलाया मेऽस्मिन्वननिकुञ्जे प्रसवो वर्तते ततः क्षणमात्रं निजमहिलां विसर्जय, विसर्जिता तेन आगता कण्डरीकपार्श्वं ततः क्षणमात्रं स्थित्वा समागता । ''आगंतूण य तत्तो, पडयं घेत्तूण मूलदेवस्स । धुत्ती भणइ हसंती, पियं खुणे दारओ जाओ '' द्वयोरपि तयोरौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥१६॥

(पइत्ति) पतिदृष्टान्तः तद्भावना द्वयोर्भ्रात्रोरेका भार्या लोके च महाकौतुकमहो द्वयोरप्येषा समानुरागेति एतच्च श्रुतिपरंपरया राज्ञाऽपि श्रुतं परं विस्मयमुपागतो राजा । मन्त्री ब्रूते देव ! न भवति कदाचिदप्येतदवश्यं विशेषः कोऽपि भविष्यति राज्ञोक्तं कथमेतद-वसेयम्। मन्त्रीब्रूते देवाचिरादेव यथा ज्ञास्यते तथा यतिष्यते । ततो मन्त्रिणा तस्याः स्त्रिया लेखः प्रेषितो यथा द्वावपि निजपती ग्रामद्वये प्रेषणीयावेकः पूर्वस्यां दिशि विवक्षिते ग्रामेऽपरोऽपरस्यां दिशि। तस्मिन्नेव च दिने द्वाभ्यामपि गृहे समागन्तव्यम् । ततस्तया या मन्दवल्लभः स पूर्वस्यां दिशि प्रेषितोऽपरोऽपरस्यां दिशि । पूर्वस्यां दिशि यो गतः तस्य गच्छतः आगच्छतश्च संमुखः सूर्यः । यः पुनरपरस्यां दिशि गतः तस्य गच्छतः आगच्छतश्च पृष्टतः एवं च कृते मन्त्रिणा ज्ञातमयं मन्दवल्लभोऽपरोऽत्यन्तबल्लभः । ततो निवेदितं राज्ञो राज्ञा च न प्रतिपन्नं यतोऽवश्यमेकः पूर्वस्यां दिशि प्रेषणीयो-ऽपरोऽपरस्यां दिशि । ततः कथमेष विशेषोऽवगम्यते ततः पुनरपि मन्त्रिणा लेखप्रदानेन सा महेलोक्ता द्वावपि निजपती तयोरेव ग्रामयोः समकं प्रेषणीयौ तया च तौ तथैव प्रेषितौ मन्त्रिणा च द्वौ पुरुषौ तस्या समीपे समकं तयोः शरीरापाटवनिवेदकौ प्रेषितौ द्वाभ्यामपि च सा समकमाकारिता ततो यो मन्दबल्लभशरीरपा-टवनिवेदकः पुरुषस्तं प्रत्याह स देवो मन्दशरीरी द्वितीयोऽत्यातुरश्च वर्तते ततस्तं प्रत्यहं गमिष्यामि । तथैव कृतं ततो निवेदितं राज्ञो मन्त्रिणा प्रतिपन्नं राज्ञा तथेति। मन्त्रिण औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥१७॥

(पुत्तत्ति) पुत्रदृष्टान्त तद्भावना कोऽपि वणिक् तस्य द्वे पत्न्यौ एकस्य पुत्रोऽपरा बन्ध्या परं सा पि तं पुत्रं सम्यक्पालयति ततः स पुत्रो विशेषं न जानीते यथेयं मे जननी इयं नेति सोऽपि वणिक् सभार्यापुत्रो देशान्तरं गतो गतमात्र एव परासुरभूत् ततोद्वयोरपि तयोः कलहोऽजायत । एका भणति ममैष पुत्रस्ततोऽहं

गृहस्वामिनी द्वितीया तु वक्ति का त्वं ममैष पुत्रः ततोऽहमेवगृहस्वामिनीति । एवं तयोः परस्परं कलहे जाते राजकुले व्यवहारो जातः । ततोऽमात्यः प्रतिपादयामास निजपुरुषान् भो पूर्वद्रव्यं समस्तं विभज्य ततो दारकं द्वौ भागौ करपत्रेण कुरुत कृत्वा चैकं खण्डमेकस्यै समर्प्ययत द्वितीयं द्वितीयस्यै । तत एतदमात्यवाक्यं शिरसि महाज्वलासहस्रावलीढवज्रोपनिपातकल्पं पुत्रमाता श्रुत्वा सोत्कम्पहृदयान्तः प्रविष्ठतिर्यक्शिलेव दुःखं वक्तुं प्रवृत्ता हे स्वामिन् ! महामात्य न ममैष पुत्रो न मे किञ्चिदर्थेन प्रयोजनमेतस्या एव पुत्रो भवत्वियं गृहस्वामिनी च अहं पुनरमुंपुत्रं दूरस्थितापि परगृहेषु दारिद्र्यमपि कुर्वती जीवन्तं द्रक्ष्यामि तावता च कृतकृत्यमात्मानं प्रपत्स्ये । पुत्रेण विना पुनरधुनापि समस्तोऽपि मे जीवलोकोऽस्तमुपयाति इतरा च न किमपि वक्ति ततोऽमात्येन तां सुदुःखां परिभाव्य उक्तमेतस्याः पुत्रो नास्याइति । सैव च सर्वस्य स्वामिनी कृता द्वितीया तु निर्घाटिता अमात्यस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः १८ भरह-सिलमेढेत्यादिका च गाथा रोहक संविधानसूचिका सा च प्रागुक्तकथानकानुसारेण स्वयमेव व्याख्येया । (मधुसिक्तेत्यादि) मधुयुक्तं सिक्थं तद्दृष्टान्तभावना कश्चित्कौलिकःतस्य भार्या स्वैरिणी सा चान्यदा केनापि पुरुषेण सह क्वचित्प्रदेशे जालिका-मध्ये मैथुनं सेवितवती मैथुनस्थितया च तया उपरि भ्रामरमुत्पन्नं दृष्टं क्षणमात्रानन्तरं च गृहे समागता । द्वितीये च दिवसे स्विभर्ता मदनं क्रीणंस्तया निवारितो मा क्रीणीहि मदनं महत् भ्रामरमुत्पन्नं दर्शयामि । ततः सक्रयणाद्विनिवृत्तो गतौ च तौ द्वावपि तां जालिं न पश्यति सा कथमपि कौलिकी भ्रामरं न दृष्टवती ततो येन संस्थानेन मैथुनं सेवितवती तेन संस्थानेन स्थिता ततो भ्रामरं दृष्टवती दर्शयामास च कौलिकाय कौलिकोऽपि च तथारूपं संस्थानमव-लोक्य ज्ञातवान्नूनमेषा दुराचारिणी ति । कौलिकस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥१६॥

(मुद्रियति) मुद्रिकोदाहरणं तद्भावना क्वचित्पुरे कोऽपि पुरोधाः सर्वत्र ख्यातसत्यवृत्तिर्यथा परकीयान्निक्षेपानादाय प्रभूतकाला-तिक्रमेऽपि तथास्थितानेव समर्प्ययतीति एतच्च ज्ञात्वा कोऽपि द्रमकः तस्मै स्वनिक्षेपं समर्प्य देशान्तरं प्रभूततरमगमत् प्रभूतकालातिक्रमे च भूयोप तत्रागतो याचते स्वं निक्षेपं पुरोधाश्च मूलत एवापलवति कस्त्वं कीदृशो वा तव निक्षेप इति । ततः स रङ्को वराकः स्वनिक्षेपमलभमानः शून्यचित्तो बभूव । अन्यदा च तेना-मात्यो गच्छन् दृष्टो याचितश्च देहि मे पुरोहित ! सुवर्णसहस्रप्रमाणं निक्षेपमिति । तत एतदाकर्ण्य अमात्यः तद्विषयकृपापरीतचेताः बभूव । ततो गत्वा निवेदितं राज्ञः कारितश्च दर्शनं द्रमकोऽपि राज्ञा भणितः पुरोधा देहि तस्मै द्रमकाय स्वं निक्षेपमिति । पुरोहितोऽवादीत् देव ! तस्याहं न किमपि गृह्णामि । ततो राजा मौनमधात् । पुरोधसि च स्वगृहं गते राजा विजने तं द्रमकं पृष्टवान् रे कथय ! सत्यमिति ततस्तेन दिवसमुहूर्तस्थानपार्श्ववर्तिमानुषादिकं कथितम् ततोऽन्यदा राजा पुरोधसा समं रन्तुं प्रावर्तत परस्परं नामुद्रा संचारिता ततो राजा यथा पुरोधा न वेत्ति तथा कस्यापि मानुषहस्ते नामुमुद्रां समर्प्य तं प्रति बभाण रे पुरोधसो गृहे गत्वा तद्भार्यामिवं ब्रूहि यथाऽहं पुरोधसा प्रेषितः इयं च नामुद्राभिज्ञानं तस्मिन् दिने तस्यां वेलायां यः सुवर्णसहस्रं नवलको द्रमकसत्कः त्वत्समक्षममुकप्रदेशे मुक्तोऽस्ति तं झटिति समर्प्य तेन पुरुषेण तथैव कृतं सापि च पुरोधसो भार्या नामुद्रां दृष्ट्वाऽभिज्ञान मिलन-तश्च सत्यमेष पुरोधसा प्रेषित इति प्रतिपन्नवती । ततः समर्प्ययामास तं द्रमकनिक्षेपं तेन पुरुषेणानीय राज्ञः समर्पितो राज्ञा चान्येषां बहूनां नवलकानां मध्ये स द्रमकनवलकः प्रक्षिप्तः । आकारितो द्रमकः । पार्श्वे चोपवेशितः पुरोधा द्रमकोऽपि तथात्मीयं नवलकं दृष्ट्वा प्रमुदितहृदयो विकसितलोचनोऽपगतचित्तसून्यताभावः सहर्षं राजानं विज्ञापयितुं प्रवृत्तो देव ! देवपदानां पुरत एवमाकारो मदीयो नवलकस्ततो राजा तस्मै समर्प्ययामास । पुरोधसो जिह्वाच्छेदमचीकरत् । राज्ञः औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥२०॥

(अंकत्ति) अङ्कदृष्टान्तभावना कोऽपि पार्श्वे रूपकसहस्रनवलकं निक्षिप्तवान् तेन च निक्षेपग्राहिणा तं नवलकमधः प्रदेशे च्छित्वा कूटरूपकाणां संभृतः तथैव च सीवितः । ततः कालान्तरे तस्य पार्श्वान्निक्षेपस्वामिना स्वनिक्षेपो गृहीतः परिभावितः सर्व्वतः तथेव दृश्यते मुद्रादिकं तत उद्घाटिता मुद्रा यावत् रूपकान् परिभावयति तावत्सर्वानपि कूटान्पश्यति ततो जातो राजकुलेन तयोर्व्यवहारः । पृष्टः कारणिकैर्निक्षेपस्वामी भोः कतिसंख्यास्तव नवलके रूपका आसीरन् स प्राह सहस्रं ततो गणयित्वा रूपकाणां सहस्रं तेन भृतः स नवलकः स च परिपूर्ण भृतः केवलं यावन्मात्रमधस्ताच्छिन्नस्तावन्नयून इति उपरि सीवितुं न शक्यन्ते ततो ज्ञातं कारणिकैः नूनमस्याऽपहृता रूपकाः ततो दापितो रूपकसहस्रमितरो नवलकस्वामिनः । कारणिकानामौत्प-त्तिकी बुद्धिः ॥२१॥

(नाणत्ति) कोऽपि कस्यापि पार्श्वे सुवर्णपणभृतं नवलकं क्षिप्तवान् ततो गतो देशान्तरं प्रभूते च कालातिक्रान्ते निक्षेपग्राहीतस्मान्नवलकाज्ज्ञात्यसुवर्णमयान् पणान् गृहीत्वा हीनवर्णकसुवर्णपणान् तावत्संख्याकान् तत्र प्रक्षिप्तवान् तथैव च स नवलकः तेन सीवितः ततः कतिपयदिनानन्तरं स नवलकस्वामी देशान्तरादागतः स्वं च नवलकं तस्य पार्श्वे याचितवान् सोऽपि समर्पयामास परिभावितं तेन मुद्रादिकं तथैव दृष्टम् । ततो मुद्रां स्फोटयित्वा यावत्पणान्प-रिभावयति तावद्धीनवर्णसुवर्णकमयान् पश्यति ततो बभूव राजकुले व्यवहारः पृष्टं च कारणिकैः कः कालः आसीत् यत्र त्वया नवलको मुक्त इति । नवलकस्वामी प्राह । अमुक, इति ततः कारणिकैरुक्तं स चिरन्तनकालोऽधुनातनकालकृताश्च दृश्यन्तेऽमी पणास्ततो मिथ्याभाषी नूनमेष निक्षेपग्राहीति दण्डितो दापिताश्च तस्य तावत्पणास्तमिति । कारणिकानामौत्पत्तिकीबुद्धिः ॥२२॥

(भिक्खुत्ति) भिक्षूदाहरणं तद्भावना कोपि कस्यापि भिक्षोः पार्श्वे सुवर्णसहस्रं निक्षिप्तवान् कालान्तरे याचते स च भिक्षुर्न प्रयच्छति-केवलमद्यकल्ये वा ददामीति विप्रतारयति ततस्ते नद्यूतकारा अवलगितास्ततस्तैः प्रतिपन्नं निश्चितं दापयिष्यामः । ततो द्यूतकारा रक्तपटवेषेण सुवर्णखोटिकां गृहीत्वा समागता वदन्ति च वयं चैत्यवन्दनाय देशान्तरं यियासवो यूयं परमसत्यतापात्रमत एताः सुवर्णखोटिका युष्मत्पार्श्वे स्थास्यन्ति एतावति चावसरे पूर्वं संकेतितः स पुरुषः आगत्य याचते स्म भिक्षो ! समर्पय स्थापनिकामिति ततो भिक्षुणाभिनवमुच्यमानसुवर्णखोटिका लम्पटतया समर्पिता तस्य स्थापनिका तस्मै । मा एतासामहमाभागी जायेयेति बुद्ध्या तेऽपि च द्यूतकाराः किमपि मिषान्तरं कृत्वा स्वसुवर्णखोटिकां गृहीत्वा गताः । द्यूतकाराणामौत्पत्तिकी बुद्धिः २३(चेडगानिहाणत्ति) चेटका बालकानिधानं प्रतीतं दृष्टान्तभावना द्वौ पुरुषौ परस्परं प्रतिपन्नसखिभावावन्यदा क्वदित्प्रदेशे ताभ्यां निधानमुपलेभे तत एको मायावी ब्रूते स्वस्तनदिने शुभे न क्षत्रे ग्रहीष्यामो द्वितीयेन च सरलमनस्कतया तथैव प्रतिपन्नम् । ततस्तेन मायाविना तस्मिन् प्रदेशे रात्रावागत्य निधानं गृहीत्वा तत्राङ्गारकाः प्रक्षिप्ताः ततो द्वितीयदिने तौ द्वावपि भूत्वा गतौ दृष्टवन्तौ तत्राङ्गारकान् । ततो मायावी मायया स्वोरस्ताडमाक्र-

न्दितुं प्रावर्तत वदति च हा हीनपुण्या वयं दैवेन चक्षुर्दत्वाऽस्माकं समुत्पाटिते यन्निधानमुपदिश्याङ्गारका दर्शिताः पुनः पुनश्च द्विती-यमुखमवलोकते ततो द्वितीयेन जज्ञे नूनमनेन हृत धनमिति तत-स्तेनाप्याकारसंवरणं कृत्वा तस्यानुशासनार्थमूचे मा वयस्य खेदं कार्षी : न खलु खेदं पुनर्विधानप्रत्यागमनहेतुः । ततो गतौ द्वावपि सवं गृहं ततो द्वितीयेन तस्य मायाविनो लेप्यमयीं सजीवेव प्रतिमा कारिता द्वौ च गृहीतौ मर्कटौ प्रतिमायाश्चोत्सङ्गे हस्ते शिरसि स्कन्धे वान्यत्र च यथायोग्यं तयोर्मर्कटयोर्भक्ष्यं मुक्तवान् तौ च मर्कटो क्षुधापीडितौ तत्रागत्य प्रतिमाया उत्सङ्गादौ भक्षं भक्षितवन्तौ एवं च प्रतिदिनं करणे तयोस्तादृश्येव शैली समजनि । ततोन्यदा किमपि पर्वाधिकृत्य मायाविनो द्वावपि पुत्रौ भोजनाय निमन्त्रितौ समागतौ च भोजनवेलायां तद्गृहे भोजितौ च तेन महागौरवेण भोजनानन्तरं च तौ महता सुखेनान्यत्र संगोपितौ । ततस्तोकदिनावसाने मायावी स्वपुत्रशोधिकरणा य तद्गृहमागतः ततो द्वितीयस्तं प्रति ब्रूते मित्र ! तौ तव पुत्रौ मर्कटावभूतां ततः सखेदं विस्मतचेता गृहमध्यं प्राविशत् ततो लेप्यमयिं प्रतिमामुत्सार्य तत्स्थाने समुपावेशितो मुक्तौ स्वस्थानात् मर्कटौ च किलकिलायमानौ तस्योत्सङ्गे शिरसि स्कन्धे वागत्य विलग्नौ । ततो मित्रमवादीत् भो वयस्य ! तावेतौ तव पुत्रौ तथा च पश्य तव स्नेहमात्मीयं दर्शयतः । ततः स मायावी प्राह वयस्य ! किं मानुषावकस्मान्मर्कटकौ जातौ वयस्य आह भवतः कर्म्मप्रातिकूल्यवशात् तथाहि किं सुवर्णमङ्गारी भवति परमावयोः कर्मप्रातिकूल्यादेतदपि जातं तथा तव पुत्रावपि मर्कटावभूतामिति। ततो मायावी चिन्तयामास नूनमहं ज्ञातोऽनेन ततो यद्युच्चैः शब्दं करिष्ये ततोऽहं राजग्राह्यो भविष्यामि पुत्रौ चात्यथा मे न भवतः ततस्तेन सर्वं यथावस्थितं निवेदितं दत्तश्च भागः इतरेण च सम-र्पितौ पुत्रौ तस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥२४॥

(सिक्खत्ति) शिक्षा धनुर्वेदे तदुदाहरणभावना कोऽपि पुमानतीव धनुर्वेदकुशलः स परिभ्रमन्नेकत्रेश्वरपुत्रान् शिक्षयितुं प्रावर्तत तेभ्य-श्चेश्वरपुत्रेभ्यः प्रभूतं द्रव्यं प्रापितवान् ततः पित्रादयस्तेषां चिन्तया-मासुः प्रभूतमेतस्मै दत्तवन्तः । ततो य दासौ यास्यति तदैनं मारयित्वा सर्वं ग्रहीष्यामः एतच्च कथमपि तेन ज्ञातं ततः स्वबन्धूनां ग्रामान्तरवासिनां कथमपि ज्ञापितं यथाहममुकस्यां रात्रौ नद्यां गोमयपिण्डान् प्रक्षेप्स्यामि भवद्भिस्ते ग्राह्या इति । ततस्तैस्तथैव प्रतिपन्नं ततो द्रव्येन संवलिता गोमयपिण्डास्तेन कृताः आतपेन शोषितास्तत ईश्वरपुत्रान् प्रत्युवाच यथैषोऽस्माकं विधिर्विवक्षितपर्व्वणि स्नानमन्त्रपुरस्सरं ते सर्वे ऽपि गोमयपिण्डा नद्यां प्रक्षिप्या-स्ततः समागतो गृहं तेऽपि गोमयपिण्डा नीता वन्धुभिः स्वग्रामे । ततः कतिपयदिनातिक्रमे तानीश्वरपुत्रान् तेषां च पित्रादीन् प्रत्येकं मुत्कलयाप्यात्मानं च वसुमात्रपरिग्रहोपेतं दर्शयन् सर्वजनसमक्षं स्वग्रामं जगाम पित्रादिभिश्च परिभाविवो नास्य पार्श्वे किमप्यस्तीति न मारितः । तस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः २५ (अत्थसत्थेति) अर्थशास्त्रमर्थविषयं नीतिशास्त्रं तद्दृष्टान्तभावना । कोऽपि वणिक् तस्य द्वे पत्न्यौ एकस्याः पुत्रोऽपरावन्ध्या परं साऽपि पुत्रं सम्यक् परिपालयति ततः पुत्रो विशेषं न बुध्यते यथेयं मे जननी नेयमिति सोऽपि वणिक् सभार्यापुत्रो देशान्तरमगमत् । यत्र सुमतिस्वामिन-स्तीर्थकृतो जन्मभूमिः तत्र गतमात्र एव च दिवं गतः सपत्न्योश्च परस्परं कलहोऽभूत् एका ब्रूते ममैष पुत्रः ततोऽहं गृहस्वामिनी द्वितीया ब्रूतेऽहमिति ततो राजकुले व्यवहारो जातः तथापि न निर्बलति एतच्च भगवति सुमतिस्वामिनि तीर्थकरे गर्भस्थिते जनन्या मङ्गलादेव्या जज्ञे तत आकारिते द्वे अपि ते सपत्न्यौ ततो देव्या प्रत्यपादि कतिपयदिनानन्तरं मे पुत्रो भविष्यति स च बृद्धिमधिरूढोऽस्याशोकपादपस्या-धस्तादुपविष्टो युष्माकं व्यवहारं छेत्स्यति । तत एतावन्तं कालं यावदविशेषण खादतां पिबतामिति ततो न यस्याः पुत्रः साऽचिन्तयत् लब्धस्तावदेतावान् कालः पश्चाद्यद्भविष्यति तन्न जानीमः । ततो हृष्टवदनयाऽनया प्रतिपन्नं ततो देव्या जज्ञे नैषा पुत्रस्य मातेति निर्भर्त्सिता द्वितीया च गृह-स्वामिनी कृता । देव्या औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥२६॥

(इत्थीसमहेत्ति) काऽपि स्त्री तस्या भर्ता पञ्चत्वमुपागतः सा च वृद्धिप्रयुक्तं लोकेभ्यो न लभते ततः पतिमित्रं भणितवन्ती मम दापय लोकेभ्यो धनमिति । ततस्तेनोक्तं यदि मम भाग प्रयच्छसि । तयोक्तं यदिच्छसि तन्मह्यं दद्या इति ततस्तेन लोकेभ्यः सर्वं द्रव्यमुद्ग्राहितं तस्यै स्तोकं प्रयच्छति सा नेच्छति ततो जातो राजकुले व्यवहारः ततः कारणिकैर्यदुद् ग्राहितं द्रव्यं तत्सर्वमानायितं कृतौ द्वौ भागौ एको महान् द्वितीयोऽल्प इति ततः पृष्टः कारणिकैः पुरुषः कं भागं त्वमिच्छसि स प्राह महान्तमिति । ततः कारणिकैरक्षरार्थो विचारितो यदिच्छसि तन्मह्यं दद्या इति त्वं चेच्छसि महान्तं भागं ततो महान् भाग एतस्या द्वितीयस्तु तवेति । कारणिकानामौत्पत्ति-की बुद्धिः ।२७।

(सयसहस्सत्ति) कोऽपि परिव्राजकः तस्य रौप्यमयं महाप्रमाणं भाजनं खोरयसंज्ञं स च यदेकवारं शृणोति तत्सर्व्वं तथैवाऽवधा-रयति ततः स निजप्रज्ञागर्वमुद्वहन् सर्वत्र प्रतिज्ञां कृतवान् यो नाम ममापूर्वं श्रावयति तस्मै ददामीदं निजभाजनमिति । न च कोऽप्यपूर्वं श्रावयितुं शक्नोति स हि यत्किमपि शृणोति तत्सर्वमस्खलितं तथैवानुवदति । वदति चाग्रेऽपीदं मया श्रुतं कथमन्यथाहमस्खलितं भणामीति एतत्सर्व्वं ख्यातिमगमत् ततः केनापि सिद्धपुत्रकेण ज्ञातप्रतिज्ञेन तं प्रत्युक्तमपूर्व्वं श्रावयिष्यामि। ततो मिलितो भूयान् लोको राजसमक्षं व्यवहारो बभूव । ततः सिद्धपुत्रोऽपाठीत् । ''तुज्झ पिया मह पिउणो, धारेइ अणूणगं सयसहस्सं । जइ सुयपुव्वं दिज्जउ, अह न सुयं खोरयं देसु'' जितः परिव्राजकः सिद्धपुत्रेण । सिद्ध-पुत्रस्यौत्पत्तिकीबुद्धिः ॥२८॥ नं० ॥ आ०म०द्वि० । आ०चू० । आ०क० ।

उप्पयंत त्रि०(उत्पतत्) ऊर्द्धं पतति, ''उप्पयंताणि पतंता भमंता पुव्वकम्मोदयोपगया'' प्रश्न०१ द्वा० ।

उप्पयण न०(उत्पतन) उत्-पत् ल्युट् ऊर्ध्वगमने, स्था०१० ठा० ।

उप्पयणिवय पुं०(उत्पातनिपात) उत्पात आकाशे उल्लङ्घनं निपातस्तस्मादवपतनम् (जं०४ वक्ष०)उत्पातपूर्वो निपातो यस्मिन् स उत्पातनिपातः । नाट्यविधिभेदे, ''उप्पयणिवयपसत्तं संकुचियं पसारियरयारइयं भंतं सभं णाम दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेत्ति'' रा० जी० ।

उप्पयणी स्त्री०(उत्पतनी) विद्याभेदे, यां जपन् स्वत एव पतत्यन्यं चोत्पातयति ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उप्पयमाण त्रि०(उत्पतत्) ऊर्द्धं पतति, स्त्रियाम् । ''उप्पयमाणी विव धरणितलाउ'' उत्पतन्ती ऊर्द्धं यान्ती । ज्ञा०६ अ० ॥

उप्परिवाडी स्त्री०(उत्परिपाटी) विपर्यासे, ''उप्परिवाडी गहणे, चाउम्मासा भवे लहुगा'' ग०१ अधि० ॥

उप्परिवाडीकरण न०(उत्परिपाटीकरण) विपर्ययकरणे, ''उप्परिवाडीकरणे, दोसा सम्मं तहा करणे'' पं०व० ।

उप्पल न०(उत्पल) उद्- पल्- अच् प्राकृते **''कगटडतदयशषस ×क× पा मूर्ध्वं लुक्''** ॥८।२।७७॥ इति संयोगादेर्लुक्। प्रा०। पद्मे विशे०। ''फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियं'' ज्ञा०१ अ०। वि०। कल्प०। औ०। गर्दभके, श्वेतकुमुदे, आ०मम० प्र०। ''पक्खंतरेसु बहूइं पउमाइं जाव सयसहस्सावत्ताइं'' जी० ३प्रति०। रा०। ईषन्नाले जलरुहे, जं० १ वक्ष०। नीलोत्पले, जी० ३ प्रति०।भ०। तं०। स०। आचा०। रक्तकमले, कल्प०। उत्पलं त्रिविधं नीलं रक्तं श्वेतञ्च। वाच०। अत एव उत्पलशब्दस्य, नीलोत्पलं रक्तकमलं गर्दभकं नीलोत्पलादीत्येवं विभिन्ना अर्था उपलभ्यते (उत्पलस्य उपपातः परिमाणमवहार उच्चत्वं यावत्समुद्घात उद्वर्तनाः द्वात्रिंशता द्वारैर्वर्णप्फइ शब्दे वक्ष्यते) कुष्ठे गन्धद्रव्यविशेषे,। ''पउमुप्पलगंधिए स०। तच्च उत्पलं कुष्ठमिति प्रसिद्धम् ॥ जं० ३ वक्ष०। जी०। तं०। चतुरशीतावुत्पलाङ्गशतसहस्रेषु, जी०। ३ प्रति०। अनु०। स्था०। दशमे कल्पे चतुर्थविमाने च। स०। स्वनामख्यामे पार्श्वापत्यीये परिव्राजके, पुं०। अस्थिकग्रामे वीर-भगवति शूलपाणियक्षेणोपसृष्टे, ''तत्थ उप्पलो नाम पुराणो पासवच्चिज्जतो परिव्वायगो अट्ठंगमहाणिमित्तजाणगो जणपासातो सोऊण मा तित्थगरो होज्जा अट्ठिइं पकरेइ। आ०म० द्वि०। आ०क०। ''तत्थ उप्पलो नाम पच्छाकडो परिव्वाओ पासावच्चिज्जो णेमित्तिओ भोमउप्पातसुमिणअंतलिक्खअंगसरलक्खणवंजण-अट्ठंगमहाणिमित्तजाणओ। आ०चू०१अ०। उत्क्रान्तं पलं मांसम्। अत्या० स०। मांसशून्ये, त्रि०। वाच० स्वनामख्याते द्वीवसमुद्रे च। प्रज्ञा० १५ पद०।

उप्पलंग न०(उत्पलाङ्ग) चतुरशीतौ हुहुकशतसहस्रेषु, जी०३ प्रति०। जं०। स्था०।

उप्पलकंद पुं०(उत्पलकन्द) मूलबीजे कन्दभेदे, स्था० ५ ठा०।

उप्पलगुम्मा स्त्री०(उत्पलगुल्मा) जम्बूसुदर्शनाया दक्षिणपूर्वस्यां पूर्वदिशि नन्दापुष्करिण्याम्, जी०३ प्रति०।

उप्पलणाल न०(उत्पलनाल) नीलोत्पलादेराधारे, आचा० २ श्रु० १ अ०।

उप्पलवेंटग पुं०(उत्पलवृन्तक) उत्पलवृन्तानि नियमविशेषाद् गृह्यतया भैक्षत्वेन येषां सन्ति ते उत्पलवृन्तिकाः। आजीविकश्रमणभेदेषु, औ०॥

उप्पलहत्थग पुं०(उत्पलहस्थक) उत्पलाख्यजलजकुसुमविशेषे,। आ०म० द्वि०। जीवा०। रा०।

उप्पला स्त्री०(उत्पला) शङ्खभार्य्यायाम्, स्था० ६ ठा०। ''तस्सणं संखस्स समणोवासगस्स उप्पला णामं भारिया होत्था सुकुमाल जाव सुरूवा समणोवासिया अभिगयजीवाजीवा जाव विहरइ'' भ० १२ श० १उ०। (संखशब्देऽन्यत्)कालस्य पिशाचेन्द्रस्य तृतीयाग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ०। (तस्याभवत्रयवक्तव्यता अग्गमहिसी शब्दे उक्ता) भीमाभिधानकूटग्राहिणो भार्यायाम्, यस्याः पुत्रो गोत्रासो मृत्वा नरकं गत्वा ततो विजयसार्थवाहस्य भद्रायामुज्झितको नाम दारकोऽभवत्। विपा० २ अ०। (वक्तव्यता उज्झितशब्दे उक्ता) जम्ब्वाः सुदर्शनाया दक्षिणपूर्वस्यां पश्चिमायां दिशि नन्दापुष्करिण्याम्, जी०३ प्रति०।

उप्पलिणीकंद पुं०(उत्पलिनीकन्द) जलजवनस्पतिविशेषे, ''पउमुप्पलिणीकंदे, अंतरकंदे तहेव झिल्ली य। एते अणंतजीवा एगो जीवोभिसमुणाले''। प्रज्ञा० १ पद०।

उप्पलुज्जला स्त्री०(उत्पलोज्वला) जम्ब्वाः सुदर्शनाया दक्षिण-पूर्वस्यामुत्तरस्यां नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति०। जं०।

उप्पव्वइय त्रि०(उत्प्रव्रजित) उत्प्रव्रज्य निर्गते, उत्प्रव्रजितस्तु द्विधा सारूपी गृहस्थश्च। ध० २ अधि०।

उप्पह पुं०(उत्पथ) उन्मार्गे, ''आवज्जे उप्पहं जंतु'' सूत्र०१ श्रु०१ अ०। ओ०। ''पंथा उउप्पहं नेति'' नि०चू० ३ उ०। कदर्थे पथि, वाच०

उप्पहज्जाइ पुं०न०(उत्पथयायिन्) उन्मार्गगामिनि युग्ये, तत्तु-ल्ये लिङ्गावशेषे, परसमयगते वा पुरुषे च। स्था० ३ ठा०।

उप्पहेड (देशी०) महाराष्ट्रादि देशविशेषप्रसिद्धेऽर्थे, प्रा०।

उप्पा पुं०(उत्पाद) प्राकृते स्त्रीत्वं तथारूपत्वं च ''एगा उप्पा'' प्राकृतत्वादुत्पादः स चैकसमये एकपर्यायापेक्षया नहि तस्य युगप-दुत्पादद्वयादिरस्ति अनपेक्षिततद्विशेषकपदार्थतया चैकोऽसाविति। स्था०१ ठा०।

उप्पाइत्ता त्रि०(उत्पादयितृ) उत्पादनशीले, स्था०७ ठा०। उत्पादके, स्था० ४ ठा०।

***उत्पादयितुम्** अव्य० संपादयितुमित्यर्थे, ''उप्पाइत्ता एगे य सप्पए पुव्वुप्पन्नाणं'' स्था० ४ ठा०।

उप्पाइय त्रि०(औत्पातिक) उत्पादने निर्वृत्तमौत्पातिकम्। पांशु-पातादौ, तन्निमित्तके अस्वाध्याये च आव० ४ अ०। रुधिरवृष्ट-यादीनामनिष्टसूचकानां हेतुष्वनर्थे षु, ''उप्पाइयावाही'' उत्पातोऽनिष्टसूचकरुधिरवृष्ट्यादयस्तद्धेतुका येऽनर्थास्ते औत्पा-तिकाः स०।

उप्पाइयपवण पुं०(औत्पातिकपवन) उत्पातजनितवायौ, प्रश्न० ३ द्वा०।

उप्पाइयपव्वय पुं०(औत्पातिकपर्वत) अस्वाभाविके, ''उप्पाइ-यपव्वयं व चंकमंतं सक्खं मत्तं गुलुगुलुंतं'' स्वाभाविकपर्वतो हि न चङ्क्रमते अत उच्यते औत्पातिकपर्वतमिव चङ्क्रम्यमाणम् पाठान्तरेण तु औत्पातिकंपर्वतमिव। औ०। ज्ञा०।

उप्पाइयाविच्छिण्णकोउहलत्त न०(उत्पादितावाविच्छिन्नकौतूहल-त्व) श्रोतृणां स्वविषये उत्पादितं जनितमविच्छिन्नं कौतूहलं कौतुकं येन तत्तथा। तद्भावस्तत्त्वम्। श्रोतृषु स्वविषयाद्भुतविस्मयका-रितारूपे षड्विंशे सत्यवचनातिशये, रा०॥

उप्पाडण न०(उत्पाटन) उद्- पट्-णिच्- ल्युट्- भूमेरुत्क्षेपे, प्रश्न० १ द्वा०। उत्खनने, ''सकृदुत्पाटनतः, शालिरपि फलावहः पुंस'' षो ०१४ विव०। नि० चू०॥

उप्पाडिय त्रि०(उत्पाटित) उन्मूलिते, ''उप्पाडियनयणदंसण-वसणासणस्स'' आ०क०॥

उप्पाय पुं०(उत्पात) उत्पतनमुत्पातः। उद्- पत्- घञ्- ऊर्द्ध-गमने, स्था० १ ठा०। प्रकृतिविकारे, तद्रूपे सहजरुधिरवृष्ट्यादौ, तत्प्रतिपादनपरे शास्त्रे च। यथा राष्ट्रोत्पातादि स्था० ६ ठा०। प्रश्न०। स०। अनु०। सूत्र०। आव०। ''साहिए वरिसाइ जम्मि जायइ भन्नइ तमुप्पायं'' सहजरुधिरवृष्ट्यादि यस्मिन् जायते तदुत्पातभिधं निमित्तम्। आदिशब्दादस्थिवृष्ट्यादिपरिग्रहः। यथा ''मज्जानि रुधिरास्थीनि, धान्यागारान् वशास्तथा मघवा वर्षते यत्र, भयं विद्याच्चतुर्विधमित्यादि। प्रव०। अभ्रादिविकारवत् विस्तरतः परिणामत उत्पातः'' पंसुयमंसरुहिरे, केस-सिलाबुट्ठितहरउग्घाए। मंससिलारुहिरे, अहोरत्तं अवसेसे जच्चिरं सुत्तं इत्येवं रूपे उत्पाते ऽस्वाध्यायिकं क्रियत इति आ०चू०। आव०॥ (विस्त-रतोवर्णनमसज्झाइय शब्दे) उत्पातविचारो-ऽङ्गविद्यासु दर्शितोवृहत्संहितासु च। शुभाशुभसूचकोत्पातश्च दिव्यान्तरीक्षभौमभेदात् त्रिविधः। स च वृहत्संहितायां यथा-

यानत्रेरुत्पातान्, गर्गः प्रोवाच तानहं वक्ष्ये । तेषां सङ्क्षेपोऽयं, प्रकृतेरन्यत्वमुत्पातः ॥ अपचारेण नराणामुपसर्गः पापसञ्चयाद्भवति । संसूचयन्ति दिव्यान्तरिक्षभौमास्तदुत्पाताः ॥ मनुजानामपचारादपरक्ता देवताः सृजन्त्येतान् । तत्प्रतिघाताय नृपः, शान्तिं राष्ट्रे प्रयुञ्जीत । दिव्यं ग्रहर्क्षवैकृतमुल्कानिर्घातपवनपरिवेषाः । गन्धर्वपुरपुरन्दरचापादि यदान्तरिक्षं तत् ॥ भौमं चरस्थिरभवं, तच्छान्तिभिराहृतं शममुपैति । आत्मसुतकोशवाहनपुरदारपुरोहितेषु लोकेषु ॥ पाकमुपयाति दैवं परिकल्पितमष्टधा नृपतेः । दैवतयात्राशकटाक्षचक्रयुगकेतुभङ्गपतनानि । संपर्यासनसादनसङ्गाश्च नृदेशपशुभेदाः । ऋषिधर्म्मपितृब्रह्मप्रोद्भूतं तद् द्विजातीनाम् ॥ यद्रुद्रलोकपालोद्भवं पशूनामनिष्टं तत् । गुरुसितशनैश्चरोत्थं पुरोधसां विष्णुजं च लोकानाम् ॥ स्कन्दविशाखसमुत्थं माण्डलिकानां नरेन्द्राणाम् । वेदव्यासे मन्त्रिणि विनायके वैकृते चमूनाथे ॥ धातरि सविश्वकर्म्मणि लोकाभावाय निर्दिष्टम् । देवकुमारकुमारीवनिताप्रेष्येषु वैकृतं यत्स्यात् ॥ तत्नरपतेः कुमारककुमारिकास्त्रीपरिजनानाम् । रक्षःपिशाचगुह्यकनागानामेतदेव निर्देश्यम् ॥ मासैश्चाप्यष्टाभिः सर्वेषामेव फलपाकः ॥ राष्ट्रेयस्यानग्निः प्रदीप्यते दीयते च नेन्धवान् । मनुजेश्वरस्य पीडा तस्य सराष्ट्रस्य विज्ञेया ॥ जलमांसार्द्रज्वलने नृपतिबधः प्रहरणेरणो रौद्रः । सैन्यग्रामपुरुषे च नाशो वह्नेर्भयं कुरुते ॥ प्रासादभवनतोरणेत्वादिष्वनलेदग्धेषु । तडितो वा षण्मामासात् परचक्रस्यागमो नियमात् ॥ धूमोऽनग्निसमुत्थो रजस्तमश्चाह्निजं महाभयदम् । व्यभ्रे निश्युडुनाशो दर्शनमपि चाह्नि दोषकरणम् । नगरचतुष्पादाण्डजमनुजानां भयकरं ज्वलनमाहुः । धूमाग्निविस्फुलिङ्गैः शय्याम्बरकेशगैर्मृत्युः ॥ आयुधज्वलनसर्पणस्वनाः कोशनिर्गमन-वेपनानि वा । वैकृतानि यदि वायुधेऽपराण्याशुरौद्ररणसंकुलं वदेत् । इत्यग्नि वैकृतम् । शाखाभङ्गेऽकस्माद् वृक्षाणां निर्दिशेद्रणोद्योगम् । हसने देश भ्रंशं रुदिते च व्याधिबाहुल्यम् । राष्ट्रविभेदस्त्वनृतौ बालबधोऽतीव कुसुमिते वाते । वृक्षात् क्षीरस्रावे सर्वद्रव्यक्षयो भवति ॥ मद्ये वाहननाशः संत्रासः शोणिते मधुनि रोगः । स्नेहे दुर्भक्षभयं महद्भयं निःसृते ससिले ॥ शुष्कविरोहे वीर्यान्नसंक्षयः शोषणे च विरुधानाम् । पतितानामुत्थाने स्वयं भयं दैवजनितं च ॥ पूजितवृक्षे ह्यनृतौ कुसुमफलं नृपबधाय निर्दिष्टम् । धूमस्तस्मिन् ज्वालायवा भवेन्नृपबधायैव ॥ सर्पत्सु तरुषुवापिजनसङ्क्षयो विनिर्दिष्टः । वृक्षाणां वैकृत्ये दशभिर्मासैः फलविपाकः ॥ इति वृक्षवैकृतम् नालेऽब्जयवादीनामेकस्मिन् द्वित्रिसम्भवो मरणम् । कथयतितदधिपतीनां यमलं जातं च कुसुमफलम् ॥ अतिवृद्धिः शस्यानां नानाफलकुसुमभवो वृक्षे । भवति हि यद्येकस्मिन् परचक्रस्यागमो नियमात् ॥ अर्धेन यदा तैलं भवति तिलानामतैलता वा स्यात् अन्नस्य च वैरस्यं तदा च विन्द्याद्भयं सुमहत् ॥ विकृतं कुसुमफलं वा ग्रामादयवा पुराद्बहिः कार्य्याम् । इति शस्यवैकृतम् ।

दुर्भिक्षमनावृष्ट्यामतिवृष्ट्यां क्षुद्भयं सपरचक्रम् । रोगो ह्यनृतुभवायां नृपबधाऽनभ्रजातायाम् ॥ शीतोष्णविपर्य्यासे नो सम्यगृतुषु च संप्रवृत्तेषु । षण्मासाद्राष्ट्रभयं रोगभयं दैवजनितं च ॥ अन्यर्तौ सप्ताहं प्रबन्धवर्षे प्रधाननृपमरणम् । रक्ते शस्त्रोद्योगो मांसा स्थिवसादिभिर्मरकः ॥ धान्यहिरण्यत्वक् फलकुसुमाद्यैर्वर्षितैर्भयं विद्यात् । अङ्गारपांशुवर्षे विनाशमायाति तन्नगरम् ॥ उपला विना जलधरैर्विकृता वा प्राणिनो यदा वृष्टाः । छिद्रं वाप्यतिवृष्टौ शस्यानामीति सञ्जननम् ॥ क्षीरभृतक्षौद्राणां दध्नो रुधिरोष्णवारिणां वर्षे । देशविनाशो ज्ञेयोऽसृग्वर्षे चापि नृपयुद्धम् ॥ यद्यमलेऽर्के छाया न दृश्यते दृश्यते प्रतीपा वा । देशस्य तदा सुमहद्भयमायातं विनिर्देश्यम् ॥ व्यभ्रे नभसीन्द्रधनुर्दिवा यदा दृश्यतेऽथवा रात्रौ । प्राच्यामपरस्यां वा तदा भवेत् क्षुद्भयं सुमहत् ॥ सूर्य्येन्दुपर्जन्यसमीरणानां योगः स्मृतोवृष्टिकारकाले ॥ इति वृष्टिवैकृतम् । अपसर्पणा नदीनां नगरादिचिरेण शून्यतां कुरुते । शोषश्चाशोप्याणामन्येषां वा ह्रदादीनाम् ॥ स्नेहा सृग्मासवहाः सङ्क्लेदकलुषा प्रतीपगाश्चापि । परचक्रस्यागमनं नद्यः कथयन्ति षण्मासात् ॥ ज्वालाधूमक्काथारुदितोत्कृष्टानि चैव कूपानाम् । गीतप्रजल्पितानि च जनमरकाय प्रदिष्टानि ॥ तोयोत्पत्तिरखाते गन्धरसविपर्यये च तोयानाम् । सलिलाशयविकृतौ वा महद्भयं तत्र शुभकृत्यम् ॥ इति जलवैकृतम् ॥ प्रसवविकारे स्त्रीणां द्वित्रिचतुः प्रभृतिसम्प्रसूतौ वा । हीनातिरिक्तकाले च देशकुलसङ्क्षयो भवति ॥ वडवोष्ट्रमहिषगोहस्तिनीषु यमलोद्भवे मरणमेषाम् ॥ इति प्रसववैकृतम् ॥ परयोनावभिगमनं भवति तिरश्चामसाधु धेनूनाम् । उक्षाणां वान्योऽन्यं पिबति श्वा वा सुरभिपुत्रम् ॥ मासत्रयेण विद्यात् तस्मिन्निःसंशयं परागमनम् ॥ इति चतुष्पादवैकृतम् ॥ यानं वाहवियुक्तं यदि गच्छेन्न व्रजेच्च न वाहयुतम् । राष्ट्रभयं भवति तदा चक्राणां सादभङ्गे च ॥ अनभिहितूर्य्यनादः शब्दो वा ताडितेषु यदि नायात् । व्युत्पत्तौ वा तेषां परागमो नृपतिमरणं वा ॥ गीतरवतूर्य्यनादा नभसि यदा वा चरस्थिरान्यत्वम् ॥ मृत्युस्तदागदा वा विस्वरतूर्य्ये पराभिभवः । गोलाङ्गलयोर्भङ्गे दर्वीशूर्पाद्युपस्करविकारे ॥ क्रोष्टुकनादे च तथा शस्त्रभयं मुनिवचश्चैदम् । इति वायव्यवैकृतम् ॥ पुरपक्षिणो वनचरा वन्या वा निर्भया विशन्ति । पुरं नक्तं वा दिवसचरा क्षपाचरा वा चरन्त्यहनि । सन्ध्या द्वयेऽपि मण्डलमाबध्नन्तो मृगा विहङ्गा वा । दीप्तायां दिश्यथवा क्रोशन्तः संहता भयदाः ॥ श्वानः प्ररुदन्त इव द्वारे वा सन्ति जम्बुका दीप्ताः । प्रविशेन्नरेन्द्रभवने कपोतकः कौशिको यदि वा ॥ कुक्कुटरुतं प्रदोषे हेमन्तादौ च कोकिलालापः । प्रतिलोममण्डलचराः श्येनाद्याश्चाम्बरे भयदाः ॥ गृहचैत्यतोरणेषु द्वारेषु च पक्षिसङ्गसंपाताः । मधुवल्मीकाम्भोरुहसमुद्रवाश्चापि नाशाय ॥ श्वभिरस्थिशवावयवप्रवेशनं मन्दिरेषु मरकाय । पशुशस्त्रव्याहारे नृपमृत्युर्मुनिवचश्चैदम् ॥ इति मृगपक्ष्यादिवैकृतम् ॥ शक्रध्वजेन्द्रकीलस्तम्भद्वारप्रपात-भङ्गेषु । तद्वत्कपाटतोरणकेतूनां नरपतेर्मरणम् ॥ सन्ध्याद्वयस्य दीप्तिर्धूमोत्पत्तिश्च काननेऽनग्नौ । छिद्राभावे भूमेर्दरणं कम्पश्च भयकारी ॥ पाषण्डानां नास्तिकानां च भक्तः साध्वाचारप्रोज्झितः क्रोधशीलः । ईर्ष्युः क्रूरो विग्रहासक्तचेता यस्मिन् राजा तस्य देशस्य नाशः ॥ प्रहर हर छिन्धि भिन्धीत्यायुधकाष्ठाश्मपाणयो बालाः । निदगन्तः प्रहरन्ते तत्रापि भयं भवत्याशु ॥ अङ्गारगैरिकायैर्विकृत-प्रेताभिलेखनं यस्मिन् । नायकचित्रितमथवा क्षये क्षयं याति न चिरेण ॥ लूतापटाङ्गशवलं न सन्ध्ययोः पूजितं कलहयुक्तम् । नित्योच्छिष्टस्त्रीकं च यद्गृहं तत्क्षयं याति ॥ दृष्टेषु यातुधानेषु निर्दिशेन्नरकमाशुसंप्राप्तम् ॥ इति शक्रध्वजेन्द्रकीलादि वैकृतम् ॥

नरपतिदेशविनाशे केतोरुदयेऽथवा गृहेऽर्केन्दोः । उत्पातानां प्रभवः स्वर्तुभवश्चाप्यदोषाय ॥ ये च न दोषान् जनयन्त्युत्पातांस्तानृतुस्वभावकृतान् । ऋषिपुत्रकृतैः श्लोकैर्विद्यादेतैः समासोक्तैः । व्रजाशनिमहीकम्पसन्ध्यानिर्घातनिःस्वनाः । परिवेषरजोधूमरक्ताकास्तिमनोदयाः ॥ द्रुमेभ्योऽन्नरसस्नेहबहुपुष्पफलोद्गमाः । गोपक्षिमदवृद्धिश्च शिवाय मधुमाधवे ॥ तारोल्कापातकलुषं कपिलार्केन्दमण्डलम् । अनग्निज्वलनस्फोटधूमरेण्वनिलाहतम् ॥

रक्तपद्मारुणं सान्ध्यं नभः क्षुब्धार्णवोपमम्। सरितां चाम्बुसंशोषं दृष्ट्वा ग्रीष्मे शुभं वदेत् ॥ शक्रायुधपरीवेषविद्युच्छुष्कविरोहणम्। कम्पोद्वर्तनवैकृत्यं रसनं दरणं क्षितेः ॥ सरोनद्युदपानानां वृद्ध्यूर्ध्वतरणप्लवाः। सरणं चाद्रिगेहाणां वर्षासु न भयावहम् ॥ दिव्यस्त्रीभूतगन्धर्वविमानाद्भुतदर्शनम्। नक्षत्राणां ग्रहाणां च दर्शनं च दिवाम्बरे ॥ गीतवादित्रनिर्घोषा वनपर्वतसानुषु। सस्यवृद्धिरपां हानिरापा शरदि स्मृताः ॥ शीतानीलतुषारत्वं नर्दनं मृगपक्षिणाम्। रक्षोयक्षादिसत्वानां दर्शनं वागमानुषी ॥ दिशो धूमान्धकाराश्च सनभोवनपर्वताः। उच्चैः सूर्योदयास्तौ च हेमन्ते शोभनाः स्मृताः। हिमपातानिलोत्पाता विरूपाद्भुतदर्शनम्। कृष्णाञ्जनाभमाकाशं तारोल्कापातपिञ्जरम् ॥ चित्रगर्भोद्भवाः स्त्रीषु गोऽजाश्च मृगपक्षिषु। पत्राङ्कुरलतानां च विकाराः शिशिरे शुभाः ॥ ऋतुस्वभावजा ह्येते दृष्टाः स्वर्तौ शुभप्रदाः। ऋतोरन्यत्र चोत्पाता दृष्टास्ते भृशदारुणाः॥ उन्मत्तानां च या गाथाः शिशूनां भाषितं च यत्। स्त्रियो यच्च प्रभाषन्ते तस्य नास्ति व्यतिक्रमः॥ पूर्वं चरति देवेषु पश्चाद्गच्छति मानुषान्। नाचोदिता वाग्वदति सत्या ह्येषा सरस्वती॥ उत्पातान् गणितविवर्जितोऽपि बुध्वा विख्यातो भवति नरेन्द्रवल्लभश्च। एतन्मुनि–वचनं रहस्यमुक्तं यज्ज्ञात्वा भवति नरस्त्रिकालदर्शी (४६ अ०) दिव्यान्तरिक्षाश्रयमुक्तमादौ मया फलं शस्तमशोभनं च। प्रायेण चारेषु समागमेषु युद्धेषु मार्गादिषु विस्तरेण॥ भूयो वराहमिहिरस्य न युक्तमेतत् कर्तुं समासकृदसाविति तस्य दोषः। तज्ज्ञैर्न वाच्यमिदमेव फलानुगीतिर्यद्बर्हिचित्रकमिति प्रथितं वराङ्गम्॥ स्वरूपमेव तस्य तत्प्रकीर्तितानुकीर्तनम्। ब्रवीम्यहं नचेदिदं तथापि मेऽत्र वाच्यता। उत्तरवीथिगता द्युतिमन्तः, क्षेमसुभिक्षशिवाय समस्ताः। दक्षिणमार्गगता द्युतिहीनाः, क्षुद्भयतस्करमृत्युकरास्ते॥ कोष्ठागारगते भृगुपुत्रे पुष्यस्थे च गिराम्प्रभविष्णौ। निर्वैराःक्षितिपाः सुखभाजः संहृष्टाश्च जना गतरोगाः ॥ पीडयन्ति यदिकृत्तिकां मघां रोहिणीं श्रवणमैन्द्रमेव वा। प्रोज्झयसूर्यमपरे ग्रहास्तदा, पश्चिमादिगयनेन पीड्यते॥ प्राच्यां चेद्ध्वजवदवस्थिता दिनान्ते, प्राच्यानां भवति हि विग्रहो नृपाणाम्। मध्ये चेद्भवति हि मध्यदेशपीडा, रूक्षैस्तैर्न तु रुचिरैर्मयुखवद्भिः॥ दक्षिणां ककुभमाश्रितैस्तुतैर्दक्षिणापयपयोमुचां क्षयः। हीनरूक्षतनुभिश्चविग्रहः स्थूलदेवकिरणान्वितैः शुभम् ॥ उत्तरमार्गेस्पष्टमयुखाः शान्तिकरास्ते तन्नृपतीनाम्। ह्रस्वशरीरा भस्मसवर्णा, दोषकराः स्युर्देशनृपाणाम्॥ नक्षत्राणां तारकाः सग्रहाणां, धूमज्वालाविस्फुलिङ्गान्विताश्चेत्। आलोकं वा निर्निमित्तं न यान्ति, याति ध्वसं सर्वलोकः स भूयः।। दिवि भाति यदा तुहिनांशुयुगं, द्विजवृद्धिरतीव तदाशु शुभा। तदनन्तरवर्णरणोऽर्कयुगे जगतः प्रलयस्त्रिचतुःप्रभृति॥ मुनीनभि–जितं ध्रुवं मघवतश्च भ्रंसं स्पृशन्। शिखी धनविनाशकृत् कुशलकर्महा शोकदः। भुजङ्गभमथ स्पृशेद्भवति वृष्टिनाशो ध्रुवंक्षयं व्रजति विद्रुतो जनपदश्च वालाकुलः॥ प्राग्द्वारेषु चरन् रविपुत्रो, नक्षत्रेषु करोति च वक्रम्। दुर्भिक्षं कुरुते भयमुग्रं मित्राणां च विरोधमवृष्टिम् ॥ रोहिणी शकटमर्कनन्दनो, यदि भिनत्ति रुधिरोऽथवा शिखी। किं वदामि यदनिष्टसागरे, जगदशेषमुपयाति संक्षयम्॥ उदयति सततं यदा शिखी, चरति भचक्रमशेषमेव वा। अनुभवति पुराकृतं तदा, फलमशुभं सचराचरं जगत्॥ धनुःस्थायी रूक्षो रुधिरसदृशः क्षुद्भयकरो, बलोद्योगं चेन्दुः कथयति जयं ज्यास्य च यतः॥ अवाक् शृङ्गो गोघ्नो, निधनमपि शस्यस्य कुरुते, ज्वलन्धूमायन् वा नृपतिमरणायैव भवति॥ स्निग्धः स्थूलः समशृङ्गो विशालस्तुङ्गश्चोदग्विचरन्नागवीथ्याम्। दृष्टः सौम्यैरशुभैर्विप्रयुक्तो लोकानन्दनं कुरुतेऽतीव चन्द्रः ॥ पित्र्यमैत्रपुरुहूतविशाखात्वाष्ट्रमेत्य च युनक्ति शशाङ्कः। दक्षिणेन न शुभोहितकृत्स्यात् यद्युदक् चरति मध्यगतो वा॥ परिघ इति मेघरेखा या तिर्यग्भास्करोदयेऽस्ते वा। परिधिस्तु प्रतिसूर्यो दण्डस्त्वृजुरिन्द्रचापनिभः ॥ उदयेऽस्ते वा भानोर्यो दीर्घा रश्मयस्तेमोघास्ते। सुरचापखण्डमृजुयद्, रोहितमैरावतं दीर्घम् ॥ अर्द्धास्तमयात्सन्ध्या व्यक्तीभूता न तारका यावत्। तेजः परिहानिमुखाद्भानोरर्द्धोदयं यावत्। तस्मिन् सन्ध्याकाले चिह्नैरे तैः शुभाशुभं वाच्यम्। सर्वैरेतैः स्निग्धैः सद्यो वर्षभयं रूक्षैः ॥ अच्छिन्नः परिघो वियच्च विमलं श्यामामयूखा रवेः, स्निग्धा दीधितयः सितं सुरधनुर्विद्युच्च पूर्वोत्तराः। स्निग्धो मेघतरुर्दिवाकरकरैरालिङ्गितो वा यदा, वृष्टिः स्याद्यदि वार्कमस्तसमये मेघो महांश्छादयेत् ॥ खण्डो वक्रः कृत्स्नो ह्रस्वः काकाद्यैर्वा चिह्नैर्विद्धः। यस्मिन् देशे रूक्षश्चार्कस्तत्र ह्यभावः प्रायो राज्ञः ॥ वाहिनी समुपयाति पृष्ठतो मांसभुक् खगगणो युयुत्सुतः। यस्य तस्य बलविद्रवो महान्, अग्रगैस्तु विजयो विहङ्गमैः ॥ भानोरुदये यदि वास्तमये, गन्धर्वपुरप्रतिमाध्वजिनी। बिम्बं निरुणद्धि तदा नृपतेः, प्राप्तं समरं सभयं प्रवदेत् ॥ शस्ताशान्तद्विजमृगघुष्टा, सन्ध्या स्निग्धा मदुपवना च। पांशुध्वस्ता जनपदनाशंधत्ते रूक्षा–रुधिरनिभा वा॥ यद्विस्तरेण कथितं मुनिभिस्तदस्मिन् सर्वं मया निगदितं पुनरुक्तवर्जम्। श्रुत्वापि कोकिलरुतं बलिभुग्विरौति यत्तत्स्वभावकृतमस्य पिकं न जेतुम्। ४७अ०। एवमन्येऽप्युत्पाताः सन्ति विस्तरभयान्नोक्ता उत्पातविशेषे मङ्गलकर्मवर्जनव्यवस्थादेशभेदेनाचारभेदेन चावगन्तव्या पीयूषधारायाम् अत्यावश्यककार्य्ये परिहारस्तत्रोक्तः ज्योतिर्निबन्धे। दिनानि पञ्चवसिष्ठस्त्रिदिनं गर्गस्तु कौशिकस्त्वेकम्। यवनाचार्य्यस्य मते पञ्चमुहूर्तांश्च दूषयति। उत्पातेन ज्ञापिते च। ज्यो०। वाच०।

✱**उत्पाद** पुं० पद्– घञ् – उत्पादनमुत्पादः। कार्यस्योत्पत्तिहेतु–भूते कार्यविशेषे, विशे०। प्रादुर्भावे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०।

अथोत्पादस्य भेदान्कथयन्नाह।

प्रयोगविश्रसाभ्यां स्या–दुत्पादो द्विविधस्तयोः।
आद्योऽधिशुद्धो नियमात्समुदायविवादजः ॥१६॥

उत्पादो द्विविधो द्विप्रकारोऽस्ति। काभ्यां द्विविधः प्रयोगविश्रसाभ्याम्। एकः प्रयोगजनित उत्पादः।१। अपरो विश्रसा जनित उत्पादः।२। पुनस्तयोर्द्वयोर्मध्ये आद्योऽविशुद्धो व्यवहारोत्पन्नत्वात्। स च निर्धारणनियमात्समुदायवादजनितो यत्नेन कृत्वा अयवयसंयोगेन सिद्धः कथितः। तथा च सम्मतितर्के।

उप्पाओ दुवियप्पो, पओगजणिओ य विस्ससा चेव।
तत्थ उ पओगजणिओ, समुदयवाओ अपरिसद्धा ॥२६॥

भेद उत्पादः पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यतया अध्यक्षानुमानाभ्यां तथा तस्य प्रतीतेः पुरुषव्यापारोऽन्वयव्यतिरेकानुव्यवधायित्वेऽपि शब्दविशेषस्य तदस्य तदजन्यत्वे घटादेरपि तदजन्यताप्रशक्तेर्विशेषाभावात्। प्रत्यभिज्ञानादेश्च विशेषस्य प्रागेव निरस्तत्वात्। तत्र प्रयोगेण यो जनित उत्पादो मूर्तिमद् द्रव्यारब्धावयवकृतत्वात् स समुदयवादः। तथा भूतारब्धस्य समुदायात्मकत्वात्तत एवासावपरिशुद्धः सावयवात्मकस्य तत्स्थस्य वाच्यत्वेनाभिप्रेतत्वात्।

विस्रसा जनितोऽप्युत्पादो द्विविध इत्याह।

साभाविओ वि समुदाय– कओवएगंति उव्वहोज्जाहि।
आगासाईयाणं, तिण्हं परपच्चओ णियमा ॥३०॥

स्वाभाविकश्च द्विविध उत्पादः । एकः समुदयकृतः प्राक् प्रतिपादितावयवारब्धो घटादिवत् । अपरश्चैकत्विकोऽनुत्पादितामूर्तिमद्द्रव्यावयवारब्ध आकाशादिवत् । आकाशादीनां च त्रयाणामवगाहो घटादिद्रव्यनिमित्तोवगाहनादिक्रियोत्पादो नियमादनेकान्ततो भवेत् । अवगाहकगन्तृस्थातृद्रव्यसन्निधानतोऽस्थिरधर्माधर्माद्यवगाहनगतिस्थितिक्रियोत्पत्ति निमित्तभावोत्पत्तिरित्यभिप्रायः ॥ सम्म० ॥ (आगासशब्दे तत्प्रादेशिकिता दर्शिता)

अथोत्पादस्य द्वितीयभेदं कथयन्नाह ॥

विश्रसा हि विना यत्नं, जायते द्विविधः स च ।
तत्राद्यचेतनस्कन्ध–जन्यः समुदयोऽग्रिमः ॥२०॥
सचित्तमिश्रजश्चान्यः, स्यादेकत्वप्रकारकः ।
शरीराणां च वर्णादि, सुनिर्धारो भवत्यतः ॥२१॥

विश्रसाख्यो द्वितीय उत्पादः । विश्रसाशब्दस्य कोऽर्थः सहजं विना यत्नमुत्पद्यते यः स विश्रसोत्पादः । सोऽपि पुनर्द्विविधो द्विप्रकारः । एकस्तत्र समुदयजनितः द्वितीय एकत्विकः । उक्तं च ''साहाविओ वि समुदय कउव्वणुण्णत्ति ओत्थ होज्जाहि'' तत्रापि तयोर्द्वयोर्मध्य आद्यः समुदयजनितो विश्रसोत्पादः अचेतनस्कन्धजन्यः समुदयः कथितः । अभ्रादीनां समुदयपुद्गलानां यथोत्पादः ॥२०॥ तथा पुनर्द्वितीयः सचित्तमिश्रजः शरीरवर्णादिकानां निर्धारो ज्ञेयः । सचित्ताः पुद्गला वर्णादीनां तथा तथाकारवर्णादिपुद्गलानां परिणत्या परिणतानामेकत्वप्रकारक एकतारूपेण परिगतः । अनेकेषां वर्णादीनां संगतानां परस्परमुत्पादधारया पिण्डीभूताना–मवयवानामवयविधर्मत्वेन देहदृश्याकारभूतानामणूनां शरीरादि सुनिर्धारो भवति । देहादिपिण्डानां (सु) अतिशयेन निर्धारो व पुरूपावस्थत्वं संपद्यते । तथा च प्रज्ञापनायां स्थानाङ्गे च ''तिविहा पुग्गला पन्नत्ता तंजहा पओगपरिणता १, मीससा परिणता २, वीससा परिणता ३, '' तत्र च प्रथमं प्रयोगपरिणताः पुद्गला ये भवन्ति ते जीवप्रयोगेण संयुक्ताः शरीरादयः सचित्ताः १ तथा मिश्रपरिणताश्च ते ये जीवेन पुद्गला मुक्ताः कलेवरादयः २ पुनश्च विश्रसा परिणता३ स्वभावेन परिणताः यथाभ्रेन्द्रधनुरादयः ३ एवं च सत्यत्र विश्रसाख्यस्य भेदस्य स्वभावजनितस्य द्वैविध्यं प्रदर्शितम् । अचेतनस्कन्धजन्यसमुदायाख्यः प्रथमस्तत्र सचित्त–मिश्रजन्यैकत्वप्रकारकशरीरादिवर्णा दिसुनिर्धारसंज्ञो द्वितीयः । अत्रायं विशेषः स्वाभाविके परिणमनेऽचित्तपुद्गलैरेवायत्नसाध्य–व्यवहार उपदिष्टः । इह तु द्वयमपि ॥२१॥

पुनर्भेदं दर्शयन्नाह ॥

यत्संयोगं विनैकत्वं, तद्द्रव्यांशेन सिद्धता ॥
यथास्कन्धविभागाणोः, सिद्धस्यावरणक्षये ॥२२॥
स्कन्धहेतुं विना योगः, परयोगेण चोद्भवः ॥
क्षणे क्षणे च पर्याया–द्यस्तदेकत्वमुच्यते ॥२३॥
उत्पादो ननु धर्मादेः, परप्रत्ययतो भवेत् ॥
निजप्रत्ययतो वापि, ज्ञात्वान्तर्नय योजनाम् ॥२४॥
नाशोऽपि द्विविधो ज्ञेयो रूपान्तरविगोचरः ॥

संयोगं विना विश्रसोत्पादो यद्भवेत्तदेकत्वं ज्ञेयम् । तदेवैकत्वं द्रव्यांशेन द्रव्यविभागेन सिद्धता नाम उत्पन्नत्वं ज्ञेयम् । यथा द्विप्रदेशादिस्कन्धविभागेनाणोः परमाणोर्द्रव्यस्योत्पादः । तथा आवरणक्षये कर्मविभागे जाते सति सिद्धस्य सिद्धपर्यायस्योत्पाद इति । अवयवसंयोगेनैव द्रव्यस्योत्पत्तिर्भवति परन्तु विभागेन द्रव्यस्योत्पतिर्न भवति इत्थमेके नैयायिकादयः कथयन्ति । तेषां मत एकतन्त्वादिविभागेन खण्डपटोत्पत्तिः कथं जाघटीति प्रतिबन्धककालभावस्यावस्थितावयवसंयोगस्य हेतुताकल्पने महागौरवात् । तस्मात् कुत्रचित्संयोगात् कुत्रचिद्विभागाद्द्रव्योत्पादकता मन्तव्या । तदा विभागजपरमाणूत्पादोऽप्यर्थतः सिद्धः स्यात् संमतिशास्त्रे इत्थं सूचितमस्ति । तदुक्तम् । ''दव्वंतरसंजोआहि, के वि दविअस्स बिं ति उप्पायं उप्पायं वा कुसला, विभागजाइं न इच्छंति ॥१॥ अणुअत्तएहिं आरद्ध–दव्वे तिअणुअंति निद्देसो । ततो अ पुण विभत्ते, अणुत्ति जाउ आओ अणू होइ ॥२॥ आभ्यां गाथाभ्यां भावार्थोऽवधार्यः । यथा परमाणोरुत्पादः एकत्वजन्यस्तथा येन संयोगेन स्कन्धो न निष्पद्यते एतादृशो धर्मास्तिकायादीनां जीव–पुद्गलयोस्संयोगस्तद् द्वारा यश्च संयुक्तद्रव्योत्पादोऽसंयुक्तावस्थ–विनाशपूर्वकः तथा ऋतुसूत्रनयाभिमतो यश्च क्षणिकपर्यायः प्रथम–द्वितीयसमयादिव्यवहारहेतुस्तद् द्वारा यश्चोत्पादश्च तत्सर्वमेकत्वं ज्ञेयम् ॥२२॥ अत्र न किंचिद्विवादस्तत्र श्लोकमाह । स्कन्धहेतुं विना यः संयोगपरयोगेन धर्मास्तिकायादीनां यश्चोत्पादः तथाच क्षणिक–पर्याये प्रथमद्वितीयादिद्रव्यव्यवहारहेतवस्तद् द्वारा य उत्पादः तत्सर्वमेकत्वं कथ्यते तत्र न कोऽपि विसंवाद इति ॥२३॥ पुनर्भेदं कथयन्नाह (उत्पादेति) ननु धर्मादेरुत्पादः परप्रत्ययो भवेत् अपि पुनर्निजप्रत्ययाद्भवेदन्तर्नययोजनां ज्ञात्वा इति । भावार्थस्त्वयम् धर्मास्तिकायादीनामुत्पादो नियमेन परप्रत्ययः स्वोपष्टभ्य गत्यादिपरिणत जीवपुद्गलादिनिमित्त उक्तः । य उभयजनितस्स चैकजनितोऽपि भवेत् । ततस्तस्य निजप्रत्ययतापि कथयितुं युक्ता निश्चयव्यवहारावधारणात् । अयमर्थः । ''आगासाईयाणं, तिण्हं परपच्चओ नियमा'' इति सम्मतिगाथायामकारप्रश्लेषतया वचना–न्तरेण कृतोऽस्ति वृत्तिकारेण तमर्थमनुस्मृत्येहापि लिखितोऽस्ति तस्माद्धर्मास्तिकायादीनामुत्पादो नियमात्परप्रत्यय एव । सोऽपि स्वोपष्टभ्य गत्यादिपरिणतजीवपुद्गलादिनिमित्तः उभयजनितो–ऽप्येकजनितोऽपि स्यात् । तस्य च निजप्रत्ययताप्यन्तर्नयवादे–नोक्तास्ति भावना चेत्थं ज्ञेया ॥ द्र० ६ अध्या०॥ ''उप्पादलक्खणं अप्पि तववहारितं अणप्पियववहारियंति वा विसिसा दिट्ठंति वा एगट्ठा तव्विवरीतमितरं । तत्थ अप्पि तंजहा पढमसमयसिद्धो सिद्धत्तणेण उप्पन्नो अणप्पितो जोजणभोवणउप्पत्ता आ०चू० १ अ० विशे० त्रीन्द्रियजीवभेदे च । प्रज्ञा०२ प० ।

***औत्पति** न० उत्पाते भवमौत्पातम् । पांशुवृष्ट्यादौ, आ०क० । कपिहसितादौ, सूत्र०२ श्रु०२ अ० ।

उप्पायग त्रि०(उत्पातक) उत्पातयति उत्पातं जनयति– उद् –पत् – णिच् – ण्वुल् उत्पातजनके, ऊर्द्धपतनशीले च । वाच० ।

***उत्पादक** त्रि० उद्– पत्– ण्वुल् उत्पादनकर्त्तरि, स्त्रियां टापि अत इत्वम् । उत्पादिका उत्पादकस्त्रियाम् हिलमोचिकायां शब्दा त्रि पुत्तिकायाम्, देहिकानामकीटे च स्त्री० । पितरि, पुं० ऊर्द्धं स्थिताः पादा अस्य कप् । अष्टापदे शरभाख्ये गजारातौ पशुभेदे, तस्य पृष्ठस्थचतुश्चरणत्वादूर्द्धपादत्वम् । वाच० । त्रीन्द्रियजीवभेदे च । ये भूमिं भित्वा समुत्तिष्ठन्ति दीर्घाः ''पाणासीयलकुंथूउप्पा–यगदीहगोम्मि सिसुणागो'' व्य०प्र० ८ उ० । नि० चू० । प्रज्ञा० ।

उप्पायच्छेयण न०(उत्पादच्छेदन) उत्पादो देवत्वादिपर्य्यायान्तरस्य तेन छेदो जीवादिद्रव्यविभागः उत्पादच्छेदनम् । छेदनभेदे, स्था०५ ठा० ।

उप्पायण न०(उत्पादन) उद्–पद्–णिच्–ल्युट्–जनने, उत्पत्तिकरणे वाच०। ''भवाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसन्निओगे'' उत्पादने एते विषयादिपदार्थाः कथं मिलिष्य–न्तीति चिन्तने, उत्त० ३४ अ०।

उप्पायणंतिरिय न०(उत्पादनान्तर्थ्य) उत्पादनस्याविरहे, यथा निरयगतौ जीवानामुत्कर्षतोऽसंख्येयाः समयाः स्था०५ ठा०।

उप्पायणा स्त्री०(उत्पादना) उत्पादनमुत्पादना। मूलतः शुद्धस्व–पिण्डस्य धात्रीत्वादिभिः प्रकारैरुपार्जने, प्रव० ६७ द्वा०। पिं०। आव०। तस्या निक्षेपो यथा–

नामं ठवणा दविए, भावे उप्पायणा मुणेयव्वा।
दव्वम्मि होइ, तिविहा, भावम्मि उ सोलसपया॥

उत्पादना चतुर्द्धा तद्यथा (नामंति) नामोत्पादना स्थपनोत्पादना द्रव्ये द्रव्यस्योत्पादना भावे भावस्योत्पादना च। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्योत्पादना च यावन्नो आगमतो भव्यशरीरद्रव्योत्पादना प्रागुक्तगवेषणादिरिव भावनीया। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता तु द्रव्योत्पादना त्रिधा सचित्तद्रव्योत्पादना अचित्तद्रव्यो–त्पादना मिश्रद्रव्योत्पादना च। भावोत्पादना द्विधा तद्यथा आगमतो नोआगमतश्च। तत्र आगत उत्पादना शब्दार्थतस्तवोपयुक्तः नोआगमतो भावोत्पादना तु द्विधा तद्यथा प्रशस्ता अप्रशस्ता च। तत्र प्रशस्ता ज्ञानाद्युत्पादना अप्रशस्ता षोडशपदा वक्ष्यमाणधात्रीदूत्यादिषोडशभेदा।

तत्र प्रथमतः सचित्तद्रव्योत्पादनां विभावयिषुराह॥

आसूयमाइएहिं वालवयितुरंगवीयमाईहिं।
सुयअसादुमाईणं, उप्पायणया उ सच्चित्ता॥

सुताश्चन्द्रमादीनां द्विपदचतुष्पदापदरूपाणामत्रादिशब्दः प्रत्येक–मभिसंबध्यते सुतादीनामश्वादिनां द्रमुदीनां च यथा संख्यमासू–चादिभिरासूयंमुपायादित्रिकमादिशब्दाद्घाटकजलादि परिग्रहः। तथा बालचित्ततुरङ्गबीजादिभिश्च तत्र बालैः केशरोमादिभेदभिन्नै–श्चितो व्याप्तो बालचितपुरुषो लोमशः पुरुष इति वचनात्। तुरङ्ग–बीजे च सुप्रसिद्धे। आदिशब्दात्तदन्यहेतुपरिग्रहः। या उत्पादना तथाहि केनचिन्निजभार्याः कथमपि पुत्रासंभवे देवताया उपयादिति केनाप्युतुकालो केन स्वसंप्रयोगेण च सुतः पुत्रिका वा उत्पाद्यते। तथा निजधोटिकायाः परस्य भाटकप्रदानेन परघोटकमारोप्य तुरङ्ग उत्पाद्यते। एवं यथायोगं वलीवर्दादिरपि तथा जलसेकेन बीजारोपणेन च द्रुमवल्ल्यादिः। तत इत्थं या द्रुमादीनामुत्पादना सा सचित्तद्रव्योत्पादना। संप्रत्यचित्तद्रव्योत्पादनां मिश्रद्रव्योत्पादनां च प्रतिपादयति।

कणगरययाइयाणं, जहिट्ठधाउविहिया उ।
सचित्तमीसाउभंडाणं, दुपयाइकया उ उत्पत्ती॥

कनकरजतादीनां सुवर्णरुप्यताम्रादीनां यथेष्टधातुविहिता यथेष्टो यो यस्येष्टोऽनुक्तोऽपि लोहादिधातुस्तस्मात् विहिता कृता या उत्पत्तिः सा अचित्ता अचित्तद्रव्योत्पादना। तथा च द्विपदादीनां दासादीनां सभाण्डानां सालंकारादीनां चेतनप्रदानेन या कृता आत्मीयत्वेनोत्पत्तिः सा मिश्रा मिश्रद्रव्योत्पादना। तदेवमुक्ता द्रव्योत्पादना। संप्रति भावोत्पादनामाह

भावे पसत्थ इयरा, कोहा उप्पायणा उ अपसत्था।
कोहाइ जहा धायई–णं च नाणाइ उ पसत्था॥

भावे भावविषया उत्पादना द्विधा तद्यथा प्रशस्ता इतरा अप्रशस्ता। तत्र या क्रोधादीनां क्रोधादियुतधात्रीत्वादीनां च उत्पादना साऽप्रशस्ता या तु ज्ञानादेर्ज्ञानिदर्शनचारित्राणामुत्पादना सा प्रशस्ता। इह वा प्रशस्तया भावोत्पादनयाधिकारः पिण्डदोषाणां वक्तुमुपक्रान्तत्वात्। सा च षोडशभेदा॥ पिं०॥

उप्पायण संपायण–णिव्वत्तण मो य होंति एगट्ठा।
आहारस्सिहपगया, तीए दोसा इमे होंति॥१०॥

उत्पादनमुत्पादना एवं संपादना निर्वर्तना च। इह च पदत्रयेऽपि ह्रस्वतामोकारश्च निपातः प्राकृतत्वाच्च शब्दः समुच्चये भवति स्युरेकार्था अनन्याभिधेयाः सर्वेषामेव एषामुत्पादनाबोधकत्वादेते शब्दा इति गम्यम्। सा च सचेतना चेतनाचेतनद्रव्यादिविषयत्वेनानेकविधेत्यत उच्यते आहारस्याशनादिरूपलक्षणत्वादस्य वस्त्रपात्रादिपरिग्रहः। इह पिण्डाधिकारे प्रकृता : प्रस्तुताः तद्दोषा धिकारात् (ता एत्ति) एतस्याः पुनरुत्पादनाया गृहस्थात्सकाशा त्साधुना स्वार्थं भक्ताद्युपार्जनरूपा ये दोषा दूषणानि इमे इति वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षभूता भवन्ति स्युरिति गाथार्थः। तानेवनामतो दर्शयन्नाह ''धातीदूतिणिमित्ते, आजीववणीमगे तिगिच्छा य। कोहे माणे माया, लोभे हवंति दस एते॥ पुव्विंपच्छासंथव–विज्जामंते य चुण्णजोगे य। उप्पायणाय दोसा, सोलसमेमूलकम्मे य''। पंचा० १३ विव०। धात्र्यादिव्याख्यान्यत्र। एतेऽनन्तरोक्ता उत्पादनाया दोषाः षोडश। मूलकर्म वशीकरणम्। इह धात्र्याः पिण्डो धात्रीपिण्डः किमुक्तं भवति धात्रीत्वस्य करणेन कारणेन च य उत्पाद्यते पिण्डः। यस्तु दूतीत्वस्य करणेनोत्पाद्यते स दूतीपिण्डः। एवं निमित्तादिष्वपि भावनीयम् पिं०। ध०। उत्त०। स्था०। ग०। आचा०। जीत०।

उत्पादनादोषेषु प्रायश्चित्तमभिधित्सुराह

दुविहनिमित्ते लोभे, गुरुगा माया य मासियं गुरुयं।
सुहुमे वयणे लहुओ, सेसे लहुगा य मूलं च॥

निमित्तं त्रिविधमतीतविषयं प्रत्युत्पन्नविषयमनागतविषयं च। तत्र द्विविधे निमित्ते प्रत्युत्पन्नविषये च तथा लोभे च प्रत्येकं चत्वारो–गुरुकाः। मायायां मासगुरु। सूक्ष्मे चैकित्स्ये वचनसंस्तवे च प्रत्येकं लघुको मासः शेषेषु तु समस्तेषूत्पादनादोषेषु प्रत्येकं चत्वारो लघवो नवरं मूलकर्मणि मूलम्। वृ०१ उ०। उप्पायणाए अइए निमित्ते चउलहुं। पडुप्पन्ने अणागए लोभए चउगुरुं। कोहे माणे चउलहुं। मायाए मासगुरुं। सुहुमतेइत्थिपंचराइंदिया। बादरतेइत्थे चउलहुं। संथवे मासलहुं। धाईहिं चउलहुं। भोइयमेहुणियासंथवे चउगुरुं मूलं वा। वयणंसंथवे मासलहुं। मूढकम्मे मूलं। सेसेसु चउलहुं उप्पाइणा पं०चू०। (जीतकल्पानुसारेणाचामाम्लं आयंबिलशब्दे चैतत्स्पष्टीकृतम्)

उप्पायणाविसोहि स्त्री०(उत्पादनाविशुद्धि) उत्पादनादोष पिण्डचरणादीनां निर्दोषतारूपे उत्पादनाया वा निर्दोषतालक्षणे विशुद्धिभेदे, स्था०३ ठा०।

उप्पायणोवघाय पुं०(उत्पादनोपघात) उत्पादनयोपघातः पिण्डादेरकल्पनीयताकरणं चरणस्य वा शबलीकरणमुत्पादनो–पघातः। उद् गमस्य वा पिण्डादिप्रसूतेरुपघातो धात्रीत्यादिभि–र्दुष्टतोत्पादनोपघातः। धात्र्यादिदोषलक्षणया उत्पादनया चारित्रस्य विराधनरूपे धात्र्यादिभिः षोडशभिरुत्पादनादोषैर्भक्तपानोपकरण–लेपानामशुद्धतालक्षणे वा उपघातभेदे, स्था० १० ठा०।

उप्पायपडिवाय पुं०(उत्पादप्रतिपात) विभागतो देशतो वा कस्यचिद्वस्तुनो वृद्धिहान्युभये, विपा० ६ अ०। यथा अवधिज्ञानस्य। ''बाहिरलंभो भज्जो,'' दव्वे खेत्ते य कालाभावे य। उ–

प्पायपडिवाओ विय, तदुभयं चेगसमएणं'' अप्पायपडिवादो णामं जेसिं दव्वखेत्तकालभावाणं काणि वि एगसमएण चेव पुव्वुद्दिट्ठाणि तं पासति काणि पुण अदिट्ठपुव्वाणि पासति एस उप्पायपडिवातो भण्णति। आ०चू० २ अ०। (एतद्विषयावधि वक्तव्यता ओहि शब्दे स्पष्टी भविष्यति)

उप्पायपव्वय पुं०(उत्पातपर्वत) उत्पतनमूर्द्धगमनमुत्पातस्तेनोपलक्षितः पर्वत उत्पातपर्वतः। स्था०१० ठा०। स्वनामख्यातेषु पर्वतेषु, तिर्य्यग्लोकगमनाय यत्रागत्योत्पतति स उत्पातपर्वत इति ति। भ० २ श०८ उ०। उत्पातपर्व्वता यत्रागत्य बहवो व्यन्तरदेवा देव्यश्च विचित्रक्रीडानिमित्तं वैक्रियशरीरमारचयन्ति। जी०। ३ प्रति०॥

सर्वेषां लोकपालानामुत्पातपर्वतमानादि यथा॥

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो तिगिच्छिकूडे उप्पायपव्वए मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पण्णत्ता। चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमारन्नो सोमस्स महारण्णो सोमप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसगाउयसयाइं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता। चमरस्स णं असुरिंदस्स जमस्स महारण्णो जमप्पभे उप्पायपव्वए एवं चेव। एवं वरुणस्स वि। एवं वेसमणस्स वि। बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो रुयगिंदे उप्पायपव्वए मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पन्नत्ते। बलिस्स णं वइरोयणरन्नो सोमस्स एवं चेव जहा चमरस्स लोगपालाणं तं चेव बलिस्स वि। धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो धरणप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसगाउपसयाइं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं। धरणस्स णं जाव नागकुमाररन्नो कालबालस्स महारन्नो कालप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एवं चेव एवं जाव संक्खवालस्स एवं भूयाणंदस्स वि एवं लोगपालाणं पि। से जहा धरणस्स एवं जाव थणियकुमाराणं सलोगपालाणं भाणियव्वं। सव्वेसिं उप्पायपव्वा भाणियव्वा सरिसनामगा। सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सक्कप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसगाउयसहस्साइं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पण्णत्ते। सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जहा सक्कस्स तहा सव्वेसिं लोगपालाणं सव्वेसिं च इंदाणं जाव अच्चुयत्ति।

चमरस्सेत्यादि सुगमं नवरं (तिगिच्छिकूडेत्ति) तिगिच्छिः किञ्जल्कस्तत्प्रधानकूटत्वात्तिगिच्छिकूटस्तत्प्रधानत्वं च कमलबहुलत्वात् संज्ञा चेयम्॥ (उप्पायपव्वएत्ति) उत्पतनमूर्द्धगमनमुत्पातस्तेनोपलक्षितः पर्वत उत्पातपर्वतः स च रुचकवराभिधानात् त्रयोदशात्समुद्रात् दक्षिणतोऽसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानतिलङ्घ्य यावदरुणवरद्वीपारुणवरसमुद्री तयोररुणवरं समुद्रं दक्षिणतो द्विचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्य भवति तत्प्रमाणं च ''सत्तरसएकवीसाइं, जोयणसयाइँ सो समुव्विद्धो। दसचेव जोयणसए, बावीसे वित्थडो हेट्ठा॥१॥ चत्तारिजोयणसए, चउवीसे वित्थडो उ मज्झम्मि। सत्तेव य तेवीसे, सिहरतले वित्थडो होइत्ति''॥२॥ स च रत्नमयः पद्मवरवेदिकया वनखण्डेन च परिक्षिप्तस्तस्य च मध्येऽशोकावतंसको देवप्रासाद इति॥ (चमरस्सेत्यादि) महारण्णोत्ति) लोकपालस्य सोमप्रभ उत्पातपर्वतोऽरुणोदसमुद्र एव भवति॥ एवं यमवरुणवैश्रमणसूत्राणि नेयानीति (बलिस्सेत्यादि) रुचकेन्द्र उत्पातपर्वतोऽरुणोदसमुद्र एव यथोक्तं भवति ''अरुणस्स उत्तरेणं, बायालीसं भवे सहस्साइं। ओगाहिऊण उदहिं, मिलणि–चयो रायहाणिओत्ति''॥१॥ (बलिस्सेत्यादि)। सूत्रसूची एवं च दृश्यम्॥ वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो सोमस्स महारण्णो एवंचेवत्ति॥ अतिदेश एतद्भावना। (जहेत्यादि) यथा यत्प्रकारं चमरस्य लोकपालानामुत्पातपर्वतप्रमाणं प्रत्येकं चतुर्भिः सूत्रैरुक्तं (तं चेवत्ति) तत्प्रकारमेव चतुर्भिः सूत्रैर्बलिनोऽपि वैरोचनेन्द्रस्यपि वक्तव्यं समानत्वादिति (वरुणस्सेत्यादि) वरुणस्योत्पातपर्वतोऽरुणोद एव समुद्रे भवति (वरुणस्सेत्यादि) प्रथमं लोकपालसूत्रे। ''एवं चेवत्ति'' करणात् ''उच्चत्तेणं दसगाउयसयाइं उव्वेहेणमित्यादि'' सूत्रमतिदिष्टं एवं जाव ''संखवालस्सत्ति''। करणाच्छेषाणां त्रयाणां लोकपालानां कोलवालसेलवालसंखवालाभिधानानामुत्पातपर्वताभिधायीनि त्रीण्यन्यानि सूत्राणि दर्शयति। (एवं भूया–णंदस्सवित्ति) भूतानन्दस्यापि औदीच्यनागराजस्यापि उत्पात–पर्वतस्तस्य नाम प्रमाणं च वाच्यं यथा धरणस्येत्यर्थः भूतानन्द–प्रभश्चोत्पातपर्वतोरुणोद एव भवति केवलमुत्तरतः एवं (लोगपाला–ण वि से ति) (से) तस्य भूतानन्दस्य लोकपालानामपि एवमु–त्पातपर्वतप्रमाणं यथा धरणलोकपालानामिति भावः। नवरं तत्रेमानि चतुःस्थानकानुसारेण ज्ञातव्यानीति। (जहा धरणस्सत्ति) यथा धरणस्य एवमिति तथा सुपर्णविद्युत्कुमारादीनां येइन्द्रास्ते–षामुत्पातपर्वतप्रमाणं भणितव्यं कियत्पर्यन्तानां तेषामित्यत आह (जाव थणियकुमाराणं ति) प्रकटं किमिन्द्राणामेव नेत्याह (सलोगपालाणंति) तल्लोकपालानपीत्यर्थः। (सव्वेसिमित्यादि) सर्वेषामिद्राणां तल्लोकपालानां चोत्पातपर्वताः सदृग्मानो भणितव्या यथा धारणस्य धरणप्रभः प्रथमतल्लोकपालस्य कालवालस्य कालवालप्रभइत्येवं सर्वत्र ते च पर्वताः स्थानमङ्गीकृत्यैव–म्भवन्ति ''असुराणं नागाणं, उदहिकुमाराण होंति आवासा। अरुणोदए समुद्दे, तत्थेव य तेसि उप्पाया॥१॥ दीवदिसा अग्गीणं थणियकुमाराण होंति आवासा। अरुणवरे दीवम्मि उ, तत्थेव य तेसि उप्पायत्ति''॥२॥ सक्कस्सेत्यादि॥ कुण्डलवरे द्वीपे कुण्डलपर्व्वतस्याभ्यन्तरे दक्षिणतः षोडश राजधान्यः सन्ति तासां चतसृणां मध्ये सोमप्रभयमप्रभवरुणप्रभवैश्रमणप्रभाख्या उत्पातपर्व्वताः सोमादीनां शक्रलोकपालानां सन्ति उत्तरपार्श्वे तु एवमेवेशानलोकपालानामिति यथा शक्रस्य तथाच्युतान्तानामिन्द्राणां लोकपालानां चोत्पातपर्वता वाच्या यतः सर्वेषामेकं प्रमाणं नवरं स्थानविशेषो विशेषसूत्रादवगन्तव्यः॥ स्था० १० ठा०।

उप्पायपुव्व न०उत्पात(द)पूर्व उत्पादप्रतिपादकं पूर्वमुत्पादपूर्वम्। प्रथमपूर्वे, तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां चोत्पादमधिकृत्य प्ररूपणा क्रियते आह चि चूर्णिकृत् ''पढमं उप्पायपुव्वं, तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जवाण य उप्पाय मंगीकाउं पण्णवणा कप्पाइति''॥ नं०॥ तस्य पदपरिमाणमेका कोटी। स०। नन्दीसमवायाङ्गवृत्त्योरेका पदकोटीत्युपलभ्यतेऽन्यत्रैकादश। यत्रोत्पादमङ्गीकृत्य सर्वद्रव्यपर्यायाणां प्ररूपणा कृता तदुत्पादपूर्वं प्रथमं तच्च

पदप्रमाणेन पदसंख्यामाश्रित्य एकादशकोटीप्रमाणम् । प्रथमपूर्वे एकादशपदानां कोट्य इत्यर्थः इह यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदमित्यादि पदलक्षणसद्भावेऽपि तथाविधसंप्रदायाभावात्तस्य प्रामाण्यं न सम्यगवगम्यत इति। प्रव० ६२ द्वा० 'उप्पायपुव्वस्सणं चत्तारि चूलिया वत्थू पण्णत्ता' उत्पादपूर्वं पूर्वाणां तस्य चूला आचारस्याग्राणीव तद्रूपाणि वस्तूनि परिच्छेद विशेषा अध्ययनवत् चूलावस्तूनि। स्था० ४ ठा०। ''उप्पायपुव्वस्स णं दसवत्थू पण्णत्ता'' उत्पातपूर्वं प्रथमं तस्य दश वस्तून्यध्यायविशेषाः। स्था० १० ठा०।

उप्पायविगमलक्खण न०(उत्पादविगमलक्षण) उत्पादविगम–योः स्वरूपपरिचायके, विशे० (लक्खण शब्दे इदं वक्ष्यामि)

उप्पावेंत त्रि०(उत्प्लावयत्) उत्– प्लव–णिच्– शतृ । उत्प्लुतिप्रयोजके, प्रा० ॥

उप्पिं अ०(उपरि) ऊर्द्ध–रिल–उपादेशश्च । प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तार्थवृत्तेरुर्द्धशब्दस्यार्थे, वाच० ''तेसिं भोमाणं उप्पिउज्जोया'' जी०३ प्रति०। स्था०। ''उप्पिं पणवीसं जोयणाइं विक्खंभेणं '' (उपरि) मस्तके, रा०।

उप्पिंजल त्रि०(उत्पिञ्जल) उद्– पि–जि–कलन् वा लस्य रः। अत्यर्थाकुले, वाच०। ''उप्पिंजलभूए कहकहभूए दिव्वे देवरमणे पव्वत्ते आवि होत्था'' उत्पिञ्जलभूते आकुलके भूते किमुक्तं भवति महर्द्धिकदेवानामप्यतिशायितया परक्षोभोत्पादकत्वेन सकलदेवासुरमनुजसमूहचित्ताक्षेपकारी। रा०।

उप्पित्थ न०उ(त्पित्त)प्पित्थ आकुले, रोषभृते आकुलता च श्वासेन द्रष्टव्या । तथा पूर्वसूरिभिर्व्याख्यानात् उक्तं च 'उप्पित्थं' श्वाससंयुक्तमिति। जी० ३ प्रति०। तृतीय एष गेयदोषः। जं०१ वक्ष०। स्था०। रा०। अनु०।

उप्पियंत त्रि०(उत्पिबत्) आस्वादयति, प्रश्न० ३ द्वा०। मुहुर्मुहुः श्वसति, ''उप्पियंतं गणिंदिस्सा अगीतो भासेइ इमं'' व्य० द्वि० ४ उ०।

उप्पियण न०(उत्पातन) मुहुर्मुहुः श्वसने, व्य० द्वि० ३उ०।

उप्पियमाण त्रि०(उत्प्लाव्यमान) जलोपरि प्लाव्यमाने, ''वुड्डमाणे णिवुड्डमाणे उप्पियमाणे, उपा० ७ अ०।

उप्पिलावंत त्रि०(उत्प्लावयत्) ऊर्द्धं प्लावयति, ''जे भिक्खू सण्णं णावं उप्पिलावेइ उप्पिलावंतं वा साइज्जइ'' नि०चू० १८ उ०। आचा०।

उप्पीलित त्रि०(उत्पीडित) गाढीकृते, ''उप्पीलियवच्छकच्छगेवेज्जबद्धगलगवरभूसणविराइयं'' उत्पीडिता वक्षसिकृता हृदयरज्जुर्यस्य स तथा, भ० ७ श० ६ उ०। ज्ञा०। औ०। वि०। ''उप्पीलियचिंधपट्टगहिया उहपहरणा'' उत्पीडितो गाढबद्ध–श्रिह्मपट्टो नेत्रादिचीवरात्मको यैस्ते तथा । प्रश्न० ३ द्वा० । ''उप्पीलियचित्तपट्टपरिपरसफेणगावतरइयसंगयपलववत्थंतचित्तविल्ललगं'' उत्पीडितोऽत्यन्तबद्धश्चित्रपट्टो विचित्रवर्णपट्टरूपः परिकरो यैस्ते तथा। रा० ''उप्पीलियसरासणपट्टिए'' उत्पीडिता गुणसारणेन कृतावपीडा शरासनपट्टिका धनुर्दण्डो येन स तथा। उत्पीडिता वा बाहौ बद्धा शरासनपट्टिका बाहुपट्टिका येन स तथा। भ० ७ श० ६ उ०। उत्पीडिता प्रत्यञ्चारोपणेन शराशनपट्टिका धनुर्यष्टिर्यै स्ते तथा। अथवा उत्पीडिता बाहौ बद्धा शराशनपट्टिका धनुर्धरप्रतीता यैस्ते तथा भ० ३ श० ७ उ०। रा०। वि०।

उप्पुय त्रि०(उत्पुत) उद्– पु–क्त । पवित्रादिना कृतोत्पवनसंस्कारे पात्रादौ, इट् पक्षे उत्पवितोऽप्यत्र। वाच०॥

***उत्प्लुत** न० गेयदोषभेदे, ज्ञा० १६ अ०॥

उप्पूर पुं०(उत्पूर) प्रकृष्टे प्रवाहे, ''पवणाहयचवललललियतरंगहत्थनच्चंतवीइपसरियखीरोदकपवरसागरुप्पूरचंचलाहिं'' औ०। प्राचुर्ये, ''उप्पूरसमरसंगामडमरकलिकलहवेहकरणं'' उत्पूरेण प्राचुर्य्येण समरो जनमरकयुक्तो यः संग्रामो रणः स उत्पूरसमर–संग्रामः। प्रश्न० ३ द्वा०।

उप्पेय (देशी) अभ्यङ्गे, । ''पुव्वं च मंगलट्ठा, उप्पेयं जइ करेइ गिहियाणं'' पूर्वं च यदि मङ्गलार्थं साधु उप्पेयं देशीपदमेतत् अभ्यङ्गं पश्चाद् गृहिकाणां गृहस्थानां करोति। व्य० ६ उ०।

उप्पेल धा०(उन्नमि) उद् नम्– णिच्– ऊर्द्धनमनकारणे, **उन्नमेरुच्छङ्गोल्लालगुलुगुञ्छोप्पेला ॥८।४।३६॥** इति उन्नमेरुप्पेलादेशः। उप्पेलइ उन्नमयति। प्रा०।

उप्पेहड (देशी) उद्भटार्थे, दे०ना०।

उप्फुण्ण (देशी) आपूर्णे, दे०ना०।

उप्फुण पुं० स्त्री०(उत्फण) उद्गच्छत्फणे, उत्फणत्वे, कुण्डलिकादिपर्य्यायसमन्वितसर्पद्रव्यवत् आ०म० द्वि०।

उप्फाल (देशी) दुर्जने, दे०ना०।

उप्फालंत त्रि०(उत्फालयत्) प्रोल्लङ्घयति ,प्रा०।

उप्फुल त्रि०(उत्फुल) उद्– फुल्– नि० विकसिते, द० ५ अ०। दलानामन्योन्यविश्लेषेण प्रकाशिते, उत्फुल्लनीलनलिनोदरतुल्यभासः माघः। उत्ताने, त्रि० स्त्रीणां गुप्तेन्द्रिये, न०। वाच०॥

उप्फुसिऊण अ०(उत्स्पृश्य) उदकेन अभ्युक्षणं दत्वेत्यर्थे ''उप्फुसिऊणं देते अत्तट्ठियसेविए गहणं'' वृ०१ उ०।

उप्फेणउप्फेणिय न०(उत्फेनोत्फेनित) फेनोद्वमनकृते, ''उप्फेण उप्फेणियसीहसेण रायं एवं वयासी उप्फेण उप्फेणियंति'' सकोपोष्मवचनं यथा भवतीत्यर्थः। विपा० ६ अ०।

उप्फेस न०पुं०(देशी) मुकुटे, औ०। प्रज्ञा०। शिरोवेष्टने, शेखरके, ''पंचरायककुहा पण्णत्ता तंजहा खग्गं छत्तं उप्फेसं वाहणा उवालवियाणी'' स्था० ५ ठा०। ''उप्फेसं वा कुज्जा'' शिरोवेष्टनं वा कुर्य्यात्, आचा०२ श्रु०। त्रासे, अपवादार्थे, दे०ना०।

उप्फोअ (देशी) उद्गमे, दे०ना०।

उप्फोस पुं०(उत्स्पृश) उत्स्पर्शने, छन्दने, वृ० १ उ०।

उब्बंधण न०(उद्बन्धन) उद्–बन्ध्–ल्युट्–उल्लम्बने, । प्रश्न०५ द्वा० ऊर्द्धं वृक्षशाखादौ बन्धने, तेन मरणे च । ''उब्बंधणाइ वेहासमित्यादि'' प्रव० १५ द्वा०।

उब्बद्धय पुं०(उद्बुद्धक) विद्यादायकादिप्रतिजागरके, स्था०३ ठा०। स च प्रव्राजयितुं न कल्पते। इति तत्प्ररूपणमित्थम् ''अइयाणिं उव्वद्धो''।

कम्मे सिप्पे विज्जा, मंते जोगेय होंति उववरआ।
उब्बंद्धउओ एसो, न कप्पए तारिसे दिक्खा ॥४२०॥

एस पंचविहो उपचरणगभावेण बद्धो उपचारकः प्रतिजागरक इत्यर्थः।

कम्मे सिप्पे विज्जा, मंतेय परूवणा व उण्हं पि।
गोवालउड्डमादी, कमउं होति उव्वट्टउ ॥४२१॥

कम्मसिप्पाणं दोण्हं भये परूवणा कज्जति तेणं चउगहरणं अणुवएसपुव्वगं गोपालादीकम्मं आयरितोवएसपुव्वगं रेहगादी सिप्पं लेहादिया सउणरूवपज्जवसाणा वावत्तरिकलातो

विज्जादेवयसमयनिबद्धो मंतो अहवा इत्थिपुरिसाभिहाणविज्जामंता अहवा स साहणा विज्जा पढणसिद्धो मंतो दुगमादि दव्वनियरा विद्वेषणवसीकरणउच्चाडणारोगावणायकरावजोगा इत्थं गोपालादीकम्मे छिन्नगा कालतो मुल्ले गहिते अगहिते वा काले असंपुन्ने ण कप्पति दिक्खिउं पुन्ने कप्पति। अछिन्नकालतो कए कम्मे गिहिते वा अगहिते वा मुल्ले कप्पति।

सिप्पाई सिक्खंतो, सिक्खावेंतस्स दत्त जा सिक्खा।
गहियम्मि वि सिक्खम्मि, जं चिरकालं तु उब्बद्धो ॥४२२॥
एमेव य विज्जाए, मंते जोगे य जाव उब्बद्धो।
तावति काले ण कप्पति, सेस कालं अणुण्णत्तो ॥४२३॥

अतिगाहणातो विज्जा मंते जोगा सिक्खंतो सिक्खावेंतस्स कवलादिदव्वं देति सो य जति तेण एवं उब्बद्धो जाव सिक्खसि ताव तुमं ममायतो तंमि असिक्खिते न कप्पति सिक्खिए कप्पति। अध एवं उब्बद्धो सिक्खिए वि उवरिए तियं कालं ममायतणे भवियव्वं तम्मि काले अपुन्ने ण कप्पति अंतरा पव्वावेंतस्स इमे दोसा॥

बंधबहो रोहा वा, हवेज्ज परितावसंकिलेसो वा।
उब्बद्धगम्मि दोसो, उव्वण्णसु ते य परिहाणा ॥४२४॥
उवउद्धगभवगाणं, एस विसेसो मुणेयव्वो।

कंठा वितियपदं सुक्कोवगाहा। कंठागतो उब्बद्धगो उब्बद्धमय–गाण इमो वि से सोऊण उवसंपदं उब्बद्धो भयउं पुण भत्तीए धेप्पंति। नि०चू० ११ उ०।

उब्बलण न०(उद्वलन) अभ्यङ्गने, विइयपवकारणम्मि चम्मुब्ब–लणं तु होंति एगट्ठा'' वृ०३ उ०। (अणायारशब्दे तन्निषेध उक्तः) प्रोद्वलने च। क०प्र०। करणे, ल्युट्। देहापलेपनविशेषेषु, यानि देहाद्धस्तामर्शनेनापनीयमानानि मालादिकमादाय उद्वलन्तीति। ज्ञा० १३अ०॥

उब्बलणसंकम पुं०(उद्वलनासंक्रम) प्रदेशे, सङ्क्रमभेदे, पं० सं० (तल्लक्षणादिसंकमशब्दे प्रदेशसंक्रमप्रस्तावे दर्शयिष्यते)

उब्बिद्ध त्रि०(उद्विद्ध) ऊर्द्धं गते, औ०। ''सुगंधवरकुसुमचुम्म वासरेणुमइलं'' भ०६ श० ३३ उ०। रा०। उच्छ्रिते,। ''तालद्ध–उब्बिद्धगहलकेउ'' स०। प्रश्न०। रा०।

***उपविद्ध** त्रि० उण्डे, ''उब्बिद्धविपुलगंभीरखायफलिहा'' ज्ञा०१ अ०। रा०।

उब्बेह पुं०(उद्वेध) उण्डत्वे, जी० ३प्रति०। ''उब्बेधं ओंडतणंति भणियं होइ'' स्था०१० ठा०। भूमिप्रविष्टत्वे, जं० ७ वक्ष०। भुवि प्रवेशे, स्था० २ ठा०। भूमावगाहे, मध्यविष्कम्भे च। स्था० १० ठा०।

उब्बोलित्ता त्रि०(अवबोलयितृ) अधोबोलयितरि, ''सीओदगवियडंसि वा कायं उब्बोलित्ता भवति'' सूत्र०२ श्रु० ३ अ०।

उब्भ त्रि०(ऊर्ध्व) उद्–हाङ्–ड–पृषो० ऊरादेशः। ''वोर्ध्वे॥८।२।५८॥ इति संयुक्तस्य वा भः। उब्भं उद्धं। प्रा०। उच्चे, उपरिउपरितने च। वाच०।

उब्भंजि (देशी) कोद्रवजालके, वृ० १ उ०।

उब्भट्ठ त्रि०(अवभाषित) याचिते, ''उब्भट्ठं अणोभट्ठं वा गेण्हंत–स्स दव्वुज्झियं भवति। नि०चू० १५ उ०।

उब्भड त्रि०(उद्भट) उद् भट् करणे– अप्। तण्डुलादेः प्रस्फोटन–हेतौ शूर्पे तदाकारत्वात्कच्छपे, श्रेष्ठाशये, महाशये, प्रवरे, ग्रन्थ–बहिर्भूतैर्लोकप्रसिद्धेऽज्ञातवक्तुके श्लोके, वाच०। असंवृतपरिधानादौ ''छिक्कावणा उब्भेडो णीया सा दारुणसभावा'' वृ० ६ उ०। विकराले, ''उब्भडघडमुहा कच्छुकसराभिभूया'' उद्भटं विकरालं घटकमुखमिव मुखं तुच्छदशनच्छदत्वाद्येषां ते तथा। स्पष्टे च। ''उब्भडघाडामुहा कच्छुकसराभिभूया'' उद्भटे स्पष्टे घाटामुखे शिरोदेशविशेषौ येषां ते तथा। भ० ७ श० ६ उ०। जं०। ज्ञा०। तं०।

उब्भडवेस पुं०(उद्भटवेष) निषिद्धजनोचितनेपथ्ये, ध०र०। दर्श०। (तदकरणीयता अणुब्भड शब्दे उक्ता)

उब्भव पुं०(उद्भव) उद्–भू–अच्। उत्पत्तौ, विशे०। सम्भवे, ज्ञा०२ अ०। कर्तरि–अच्–। उत्पत्तिमति, उद्भूतत्वे, विशेषगुणगते जातिभेदे, वाच०॥

उब्भाम पुं०(उद्भ्राम) उद्–भ्रम्–घञ्–भिक्षाभ्रमणे, स्था० ४ ठा०॥ उत्प्राबल्येन भ्रमत्युद्भ्रमाः। भिक्षाचरेषु, ''तारिय उब्भा–मणितो य दरिसणं'' व्य०१ उ०। नि० चू०।

उब्भामइल्ला स्त्री०(उद्भ्रामिला) स्वैरिण्याम्, ''जस्स महिलायति उब्भामइल्ला य तस्स'' व्य०४ उ० दुःशीलायां च। वृ० ६ उ०।

उब्भामग पुं०(उद्भ्रामक) उद्–भ्रम्–ण्वुल्। पारदारिके, बाह्य–ग्रामे भिक्षाटनं विधायापर्य्याप्ते तत्रैव भिक्षामटति, ''अद्धाणणि–गयाई उब्भामगखमग अक्खरे रिक्खा'' वृ०१उ०॥ वायुभेदे च। प्रज्ञा०।

उब्भामगणितो(यो)य पुं०(उद्भ्रामकनियोग) उद्भ्रामका भिक्षा–त्तरास्तेषां वियोगो व्यापारो यत्र स उद्भ्रामकनियोगः। भिक्षाचर–व्यापारवति ग्रामे, ''तीरिय उब्भामणितोयदरिसणं साहुसणिवप्पाहे।'' व्य०१ उ०।

उब्भामिगा स्त्री०(उद्भ्रामिका) कुलटायाम्, व्य०६ उ०। ''उब्भामिगावलिया बलिया वलवलिया'' महा०३ अ०।

उब्भालण(देशी) शूर्पादिनोत्पवने, अपूर्वे च। दे०ना०।

उब्भाव धा०(रम्) क्रीडायाम्, रमेः **संखुड्डुखेड्डोब्भावकिलिकिंचकोट्टुममोट्टायणीसरवेल्ला ॥८।४।६७॥** इति रमेरुब्भावादेशः। उब्भावइ। रमते। प्रा०।

उब्भावणा स्त्री०(उद्भावना) उत्प्रेक्षणे, ''असब्भावुब्भावणाहिं'' ज्ञा०१३ अ०। औ०। प्रकाशने, नं०। प्रभावनायाम्, ''पवयण उब्भावणया'' स्था० १० ठा०। वृ०।

उब्भाविअ (देशी) सुरते, दे०ना०।

उब्भिंदमाण त्रि०(उद्भिंदत्) उद्भेदं कुर्वति, ''मट्टिउवलित्तं असणं ४ वा उब्भिंदमाणे पुढवीकायं समारंभेज्जा'' आचा०२ श्रु० ७ अ०

उब्भिंदिउं(य) अव्य०(उद्भिद्य) उद्घाट्येत्यर्थे ''छगणाइणो–वलित्तं उब्भिंदिय जं तमुब्भिण्णं'' पंचा० १३ विव०। द०॥

उब्भिज्जमाण त्रि०(उद्भिद्यमान) उद् घाट्यमाने, जं० १ वक्ष०। रा०। जीवा०। प्रावल्येनोर्द्धं वा दार्य्यमाणे, केतइपुडाण वा अणु–वायंसि उब्भिज्जमाणाण वा'' भ० १६ श० ६ उ०॥

उब्भिण्ण न०(उद्भिन्न) उद्भेदनमुदभिन्नम्। साधुभ्यो घृतादिदान–निमित्तं कुतुपादेर्मुखस्य गोमयादिस्थगितोद्घाटने द्वादशे उद्गमदोषे, तद्योगाद्धेये घृतादौ च। पिं०। ''छगणाइणोवउत्तं उब्भिंदिय जं तमुब्भिण्णं''। उद्भिद्य उद्घाट्य यद् भक्तादि ददातीति वर्तते तद्भक्ताद्युद्भिन्नमित्युच्यते। कोष्ठकाद्युद्भिन्नं भाजनसम्बन्धादिति। पंचा० १३ विव०।

तद्भेदा यथा–

पिहिउब्भिन्नकवाडे, फासुयअफासुए य बोधव्वे।
अफासुय पुढविमाई, फासुय छगणाइ दद्दरए॥

उद्भिन्नं द्विधा तथा पिहितोद्भिन्नं कपाटोद्भिन्नं च। तत्र यत् कुतुपादेः स्थगितं मुखं साधूनां तैलघृतादि दीयते तद्दीयमानं तैलादि पिहितोद्भिन्नं पिहितमुद्भिन्नं यत्र तत् पिहितोद्भिन्नमिति व्युत्पत्तेः। तथा यत् पिहितं कपाटमुद्भिद्य उद्घाट्य साधुभ्यो दीयते तत् कपाटोद्भि–न्नम्। व्युत्पत्तिः प्रागिव। तत्र पिहितोद्भिन्नं द्विधा तद्यथा प्रासुकम्–प्रासुकं च सचेतनमचेतनं चेत्यर्थः। तत्राप्राशुकं सचित्तपृथिव्या–दिमयं प्राशुकं छगणादिदर्दरके तत्र छगणा गोमया आदिशब्दाद्भस्मादिपरिग्रहः दर्दरको मुखबन्धन-वस्त्रखण्डम्॥

अत्र पिहितोद्भिन्ने दोषानभिधित्सुराह॥

उब्भिन्ने छक्काया, दाणे कयविक्कए य अहिगरणे।
ते चेव कवाडम्मि वि, सविसेसा जंतमाईसु॥

उद्भिन्ने पिहितोद्भिन्ने च दोषस्तद्भेदकाले षट्पृथिवीकायादयो विराध्यन्ते तथा प्रथमतः साधुनिमित्तं कुतुपादिमुखे उद्भिन्ने सति पुतादिभ्यस्तैलादिप्रदाने तथा क्रये विक्रये चाधिकरणप्रवृत्तिरुप–जायते। तथा त एव षट्कायविराधनादयो दोषा कपाटेऽपि कपाटोद्भिन्नेऽपि सविशेषास्तु यन्त्ररूपकपाटादिषु द्रष्टव्याः। तत्र यान्यतीव संपुटमागतानि कुञ्चिकाया रोधाद्यान्ति यानि च दर्दरिकोपरि पिट्टणिकाया एकदेशवर्तीनि मालप्रवेशरूपद्वारे तानि यन्त्ररूपकपाटानि। आदिशब्दात्परिघादिग्रहः। संप्रत्येनामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतः ''उब्भिन्ने छक्काया'' इत्यवयवं व्याख्यानयन् गाथाद्वयमाह।

सचित्तपुढविलित्तं, लेलुसितं वा वि दाउमोलित्तं।
सचित्तपुढविलेवो, चिरम्मि उदगं अचिरलित्ते॥
एवं तु पुव्वलित्ते, जे उल्लिंपाणे य ते चेव।
ते मेउं उवलिंपइ, जउमुद्दं वा वि तावेउं॥

इह कुतुपादिमुखदर्दरकोपरि कदाचित् लेलुं लोष्टम्। शिलां पाषाणखण्डं प्रक्षिप्य जलार्द्रीकृतसचित्तकायलिप्तं भवति। तत्र सचित्तः पृथिवीलेपः सचित्तः सन् चिरकालमप्यवतिष्ठते। उदकं त्वचिरलिप्ते अचिरकाललिप्ते संभवति किमुक्तं भवति यदि चिरकालसचित्तपृथिवीकायलिप्तमुद्भिद्यते तर्हि सचित्तपृथिवीकाय–विनाशोऽचिरलिप्ते तद्भिद्यमाने अप्कायस्यापि विनाशः। अचिरलिप्तमप्यत्रान्तर्मुहूर्तकालमध्यवर्ति द्रष्टव्यमन्तर्मुहूर्ता-नन्तरं तु पृथि–वीकायशस्त्रसंपर्कत उदकमचित्तीभवति। ततो न तद्विराधनादोषः। उपलक्षणमेतत् तेन त्रसादेरपि तदाश्रितस्य विनाशसंभवो द्रष्टव्यः एवमनेन प्रकारेण पूर्वलिप्ते साध्वर्थमुद्भिद्यमाने दोषा उक्ताः। एते एव पृथिवीकायादिविराधना दोषा उपलिप्यमानेऽपि कुतुपादिमु–खात्तैलघृतादिकं साधवे दत्वा शेषस्य रक्षणार्थं भूयोऽपि कुतुपादिमुखे स्थग्यमाने द्रष्टव्याः। तथाहि भूयोऽपि कुतुपादिमुखं सचित्तपृथिवीकायेन जलार्द्रीकृतेनोपलिप्यते ततः पृथिवीकाय–विराधना। अप्कायविराधना च पृथिवीकायमध्ये च मुद्गादयः कीटिकादयश्च संभवन्ति। ततस्तेषामपि विराधना। तथा कोऽप्य–भिज्ञानार्थं कुतुपादिमुखस्योपरि जतुमुद्रां ददाति। तथा तेजस्का–यविराधनापि। यत्राग्निस्तत्र वायुरिति वायुकायविराधना च। ततः पिहितोद्भिन्नेषट्कायविराधना।

अमुमेवार्थं स्पष्टं भावयति।

जह चेव पुव्वलित्ते कायादओ पुणो वि तह चेव।
उवलिप्पंते काया, मुइंगाइं नवरि छड्डे॥

यथा चैव पूर्वलिप्ते कायाः पृथिवीकायादयो विराध्यन्ते तथा साधुभ्यस्तैलादिकं दत्वा भूयोऽपि कुतुपादेर्मुखे उपलिप्यमाने काया विराध्यन्ते। नवरं षष्ठे काये त्रसकायरूपे विराध्यमाना जन्तवः पृथिव्याश्रिताः मुइंगादयः पिपीलिकाः कुन्थ्वादयो दृष्टव्याः।

संप्रति ''दाणे कयविक्कय'' इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह॥

परस्स तं देइ स एव गेहे, तेल्लं व लोणं व घयं गुलं वा।
उग्घाडियं तम्मि करे अवस्सं, सविक्कयं तेण किणाइ अन्नं॥

तस्मिन् कुतुपादिमुखे साध्वर्थमुद्घाटिते सति प्रवर्तते इति साधोः प्रवृत्तिदोषः। तथा च 'एते एव अहिगरण' मित्यवयवं वाचिख्यासु–राह॥

दाणकयविक्कए चेव, होइ अहिगरणमजयभावस्स।
निवयंति जेय तहिं ये, जीवा मुइंगमूसाई॥

दानक्रये विक्रये चानन्तरोक्तस्वरूपं वर्तमाने साधोरयतभावस्य अयतोऽशुद्धाहारापरिहारकत्वेन जीवरक्षणरहितो भावोऽध्यवसा यो यस्य स तथा तस्याधिकरणं पापप्रवृत्तिरूपजायते। तथा तस्मिन् कुतुपादिमुखे उद्घाटिते ये जीवा मुइंगमूषकादयो निपतन्ति निपत्य च विनाशमाविशन्ति तदप्यधिकरणं साधोरेव

संप्रति 'ते चेव कवाडम्मी' त्यवयवं व्याचिख्यासुराह॥

जहेव कुंभाइसु पुव्वलित्ते, उब्भिज्जमाणे य भवंति काया।
उल्लिप्पमाणे वि तहा तहेव, काया कवाडम्मि विभाणियव्वा॥

तथैव कुम्भादौ घटादौ आदिशब्दात् कुतुपादिपरिग्रहः। पूर्वलिप्ते उद्भिद्यमाने तथा उपलिप्यमाने कपाटे तद्विराधना भवति। जलभृते करकादौ लुप्यमाने भिद्यमाने वा पानीये प्रसर्पतः प्रत्या–सन्नचुल्लादावपि प्रविशेत्। तथा च सत्यग्निविराधना यत्र चाग्निस्तत्र वायुरिति वायुविराधना च। मुइंगादिविवरप्रविष्टकीटिका–गृहगोधिकादिसर्वविनाशे त्रसकायविराधना चेति। दानक्रयविक्र–याधिकरणप्रवृत्तिभावना च पूर्ववत्कर्तव्या। संप्रति ''सविसेसण'' इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह॥

घरकोइलसंचारा, आवत्तणयदुगाइहेट्ठ तुवरिं।
निंतिट्ठिए य अंतो, डिंभाई पेल्लणे दोसा॥

कपाटस्य सञ्चारात् संचलनात् गृहगोधिका उपलक्षणमेतत्की–टिकादुरादयश्च विराध्यन्ते तथा प्रासादस्याधो भूमिरूपा पीठिके–व पीठिका भूमिका तत्र अध उपरितले च कपाटैकदेशस्याधो व–र्तते तदाश्रिताः कुन्थुपिपीलिकादयो विनाशमश्नुवते। तथा उद्घाटिते कपाटे पश्चान्मुखं नीयमाने अन्तः स्थितस्य डिम्भादेः प्रेरणदोषाः शिरः स्फोटनादयो भवन्ति॥

संप्रत्यपवादमाह॥

घेप्पइ अकिंचियागम्मि, कवाडे पइदिणं परिवहति।
अजउमुद्दिय गंठी, परिभुज्जइ दद्दरो जाव॥

अकुञ्चिकारहिते कुञ्चिकादिविरहिते इत्यर्थः। तत्र हि किल पृष्ठभागे उल्लालको न भवति। तेन न घर्षणद्वारेण सत्वविराधना। यद्वा ''अब्भुइयागत्ति'' पाठः। तत्र अकूजिकाके कूजिकारहिते अक्केक्कारारवे किमुक्तं भवति। यत् उद्घाट्यमानं कपाटं केकाररावं करोति तद्धि क्रियमाणमूर्द्धमधस्तिर्यक् च घर्षन् प्रभूतसत्वव्यापादनं करोति। तेन तद्वर्जनम्। तस्मिन्नपि किं विशिष्टे इत्याह। प्रतिदिनं प्रतिदिवसं निरन्तरं प्रतिवहति। उद्घाट्यमाने दीयमाने चेत्यर्थः तस्मिन् प्रायो न गृहगोधिकादिसत्वाश्रयसंभव-श्चिरकालमवस्थानाभावात्। इत्थं भूते कपाटे साध्वर्यमप्यु–

द्घाटिते यत् ददाति गृहस्थः तत् गृह्यते स्थविरिकल्पानामाची-र्णमेतत्। तथा यश्च दर्दरकः कुतुपादीनां मुखबन्धरूपः प्रतिदिवसं परिभुज्यते बध्यते छाद्यते च इत्यर्थः तत्र यदि जतुमुद्राव्यतिरेकेण केवलं वस्त्रमात्रग्रन्थिर्दीयते। नापि च सचित्तपृथिवीकायादिलेपस्तर्हि तस्मिन् साध्वर्यमुद्भिन्नेऽपि यद्दीयते तत्साधुभिर्गृह्यते इति। उक्तमुद्भिन्नद्वारम्। पिं० । प्रव० । ध० । पंचा० । व्य० । उत्त० दर्श० । ग० । स्था० । (तद्ग्रहणनिषेध आचाराङ्गे प्रतिपादितः स च मालोहड शब्दे व्याख्यास्यते) वृ० । (जीतकल्पानुसारेण पिहितोद्भिन्नकपाटोद्भिन्ने आचाम्लम्) जीत० । उत्पन्ने, कर्मणिक्त द्विधाकृते, दलिते च। वाच० ॥

उब्भुअंत त्रि०(उद्भवत्) उद्-भू-शतृ- **भुवेर्हो हुवहवाः ॥८।४।६०॥** इत्यत्र क्वचिदन्यदनीत्युक्तेरुब्भुअ आदेशः। उत्पद्य-माने, प्रा० ॥

उब्भुइया स्त्री०(औद्भूतिकी) उद्भूते, आगन्तुके, कस्मिंश्चित्प्र-योजने सामन्तामात्यादि लोकस्य ज्ञापनार्थं वाद्यमानायामाशीर्ष-चन्दनमय्यां देवतापरिगृहीतायां कृष्णवासुदेवभेर्य्याम्, विशे० ॥

उब्भुत्त धा०(उत्क्षिप्) ऊर्द्धक्षेपे, **उत्क्षिपेर्गुलंगुञ्छोत्थंघाल्लत्थो-ब्भुत्तोस्सिक्कहक्खुप्पाः ॥८।४।४३॥** इत्युत्क्षिपे रुब्भुत्तादेशः। उब्भुत्तइ। उक्खिवइ। प्रा० ॥

उब्भेइम न०(उद्भेदिम) उद्भेद्ये सामुद्रादौ, अप्रासुके वा लवणे, द० ६ अ०। "विलं वा लोणं उब्भेइमं वा लोणं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ उब्भेतिमं पुण सयं रुहं जहा सामुद्दं" नि० चू० ११ उ०॥

उभओ अव्य०(उभयतस्) उभाभ्यां प्रकाराभ्यामित्यर्थे, "उभाओ जोगविशुद्धा आयावणट्ठाणमाईया" उभाभ्या प्रकारा-भ्यां क्रियया भावतश्चेत्यर्थः। (जोगविसुद्धत्ति) विशुद्धयोगा निरव-द्यव्यापाराः। पञ्चा० १८ विव०। "उभओ विव्वोयणे दुहओ उण्णए" उभयतः शिरोन्तपा-दान्तावाश्रित्य (विव्वोयणत्ति) उपधानके यत्र तत्तथा। भ० ११ श०११ उ० ॥

उभय त्रि०(उभय) उभ्-अयच्-द्व्यवयवे द्वित्वविशिष्टे, अस्य द्वित्वे बोधकत्वेऽपि एकवचनबहुवचनान्ततयैव प्रयोगः न द्विवचनप्रयोगः। "सिज्जादिएसु उभयं करेज्जसे धोवधिं व ममत्तं। उभयं णाम एगदोसा" नि० चू० १ उ०।

उभयभाग न०(उभयभाग) चन्द्रस्य उभयत उभयभागाभ्यां पूर्वतः पश्चाच्चेत्यर्थौ भज्यन्ते भुज्यन्ते यानि तानि उभयभागानि चन्द्रस्य पूर्वतः पृष्टतश्च भोगमुपगच्छति नक्षत्रे,। "चंदस्स जोइसिंदस्स जोइसरन्नो छ णक्खत्ता उभयभागा उत्तरा तिण्णि विसाहा पुणव्वसू रोहिणी उभयजोगत्ति"। स्था० ६ ठा०।

उभयकाल पुं०(उभयकाल) उभयसन्ध्ये, ग० २ अधि०।

उभयगणि पुं०(उभयगणिन्) उभयः साधुसाध्वीद्वयरूपो गणो-स्यास्तीति उभयगणी। साधुसाध्वीगणद्वयाऽऽचार्ये, वृ०१ उ०।

उभयजणणसभाव त्रि०(उभयजननस्वभाव) इष्टानिष्टार्थोत्पाद-नबीजकल्पे, "जमुभयजणणसभावा एसाविहिणेयरेहिं उप्पण्णा" पंचा०३ विव०।

उभयणिसिरण न०(उभयनिसर्जन) कायिकसञ्ज्ञोभयव्युत्सर्जने, "उभयं णाम काइयसण्णणिसिरणं धोसिरण" नि० चू० १ उ०।

उभयदढ त्रि०(उभयदृढ) धृत्या संहननेन च बलवति, वृ०१ उ०।

उभयप्पियसंबंधणसंजोग पुं०(उभयार्पितसम्बन्धनसंयेग) मिश्रार्पितसम्बन्धनसंयोगरूपे संयोगभेदे, उत्त०१ अ०। (आत्म-कर्मणोरर्पितौदयिकादिभावविषयकसंयोगलक्षणस्योभयार्पितस-म्बन्धनसंयोगस्य व्याख्या संजोग शब्दे वक्ष्यते)

उभयमंडली स्त्री०(उभयमण्डली) समुद्देशनमण्डल्याम्, स्वा-ध्यायमण्डल्यां च। वृ०१ उ०।

उभयलोगहिय त्रि०(उभयलोकहित) लोकद्वयेऽप्युपकारके, "कल्लाण भायणत्तेण उभयलोगहियं" पंचा०११ विव०।

उभयसंबंधणसंजोग पुं०(उभयसम्बन्धनसंयोग) उभयेनात्मबा-ह्यलक्षणेन तदुभयस्मिन्वा संयोगे, यथा क्रोधी देवदत्तः क्रोधी कौन्तिको मानी सौराष्ट्रः क्रोधी वा सन्ति अत्र क्रोधादिभिरौदयि-कादिभावान्तर्गत-त्वेनात्मरूपैर्नामादिभिस्त्वात्मनोऽनन्यत्वेनबाह्यरूपैः संयोग इत्युभय-सम्बन्धनसंयोग उच्यते। उत्त०१ अ०। (एतदद्व्याख्या संजोग शब्दे)

उभयसमय पुं०(उभयसमय) उभय (स्वपर) मतानुगतशास्त्रस्व-भावे, उत्त०१ अ०।

उभयारिह न०(उभयार्ह) मिश्रापरपर्य्याये, दशविधप्रायश्चित्तमध्ये तृतीये, यस्मिन्प्रतिसेविते प्रायश्चित्ते यदि गुरुसमक्षमालोचयति आलोच्य च गुरुसन्दिष्टः प्रतिक्रामति पश्चाच्च मिथ्यादुष्कृतमिति ब्रूते तदा शुध्यति तत आलोचनाप्रतिक्रमणलक्षणोभयार्हत्वान्मिश्रम्। व्य० प्र० १ उ०। यच्च प्रतिसेव्य गुरोरालोचयति गुरूपदेशेन च विशुध्यर्थं मिथ्यादुष्कृतं क्रियते तदुभयार्हम्। जी०

येषु प्रतिसेवितेषु उभयार्हप्रायश्चित्तं तान्याह ॥

संभमभयाउरावइ, सहसाणाभोगणप्पवसओ वा।
सव्ववयाईयारे, तदुभयमासंकिए चेव ॥

संभ्रमः संक्षोभः करिसरित्पूरसार्दूलदावानलादेः भयः चौरवन्दि-कम्लेच्छादेः (आउरत्ति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य आतुरत्वं पीडितत्वं क्षुत्पिपासाद्यैः। आपच्चतुर्द्धा द्रव्यक्षेत्रकालभावैः। तत्र द्रव्या-पत्कल्पनीयासनादिद्रव्यदुर्लभता १ क्षेत्रापत्प्रत्यासन्नग्रामनगरा-दिरहितमल्पं च क्षेत्रम् २ कालापद्दुष्कालादि ३ भावापद् ग्लानत्वादि ४ ततः संभ्रमभयातुरापद्भिः कारणैः सहसाकारानाभोगौ प्राग् व्याख्यातौ ताभ्यां चानात्मवशकः परवशः वा शब्दाद् भृताद्यावि-ष्टश्च तस्य सर्वव्रतातिचारे सति। नन्वेवमतीचाराः हस्तिसंभ्रमाद्यैः पलायमानः पृथिवीजलानलरहितद्वित्रिचतुः पञ्चेन्द्रियांश्चरणकरणघातादिना ताडयन् पादपाद्यारोहणेन प्राणातिपातविरतिं विराधयेत्। मृषाविरतिं कूटसाक्ष्यादिना अदत्तविरतिं प्रभोः स्तैन्येनासनादिददतो ग्रहणेन मैथुनविरतिं स्त्र्यादिना परिग्रहविरतिं मध्यममूर्च्छादिना रात्रिभोजनविरतिं दिवागृहितानि भङ्गकैः अध्वकल्पौ दूरतममार्गे व्रजतां घृतमिश्रकणिक्काद्यादानरूपः तं विदध्यात्। लेपकृतं क्षीरान्नादि तदुत्सर्गतो न ग्राह्योत्क्वचिदुद् भुञ्जीतेत्यादि मूलविषया एवमुत्तरेऽरुणेष्वपि ज्ञेयाः। इत्थमतीचारजाते सति तथा आशङ्किते चैव यदतिचारस्थानं कृतमकृतं चेति निश्चेतुं न शक्नोति तस्मिंश्च दर्शनज्ञान-चारित्रतपःप्रभृति-सर्वपदविषये तदुभयार्हं प्रायश्चित्तम्। एकं गुरोरालोचना द्वितीयं गुरुसंदिष्टेन मिथ्या-दुष्कृतदानं प्रतिक्रमणार्हाख्यमित्येतदुभयं शुद्धिकरम्। किञ्च।

दुच्चिंतिय दुब्भासिय, दुच्चिट्ठिय एवमाइयं बहुसो।
उवउत्तो वि न याणइ, जं देवसियाइ अइयारा ॥

दुश्चिन्तितं कोङ्कणार्यकशब्दवदार्तचिन्तनात्। दुर्भाषित त्वसद्भूतोद्भावनं दुश्चेष्टितं च धावनादि। दुश्चिन्तितं दुर्भाषितं दुश्चेष्टितम्। एवमादिकमन्यदप्येवं प्रकारं दुष्प्रतिलेखितं दुष्प्र-

मार्जिता बहुशोऽनेकशो उपयुक्तोऽपि उपयोगवानपि यद्दैवसिकाद्यतिचारादित्यादिशब्दाद्वा त्रिकपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकादि च पूर्वकालकृतमालोचनाकाले न स्मरति तस्याप्यतिचार जातस्याशोधकः। अस्यां गाथायामनुक्तमपि प्रस्तावात्तदुभयार्हमेव ज्ञेयम्।

सव्वेसु वि वीइयपए, दंसणनाणचरणावरोहेसु।
आउत्तस्स तदुभयं, सहसाकाराइणा चेव॥

प्रथमपदमुत्सर्गस्तदपेक्षया द्वितीयपदमपवादस्मस्मिन्नुपस्थिते सत्ययुक्तस्य कारणेन यतनया गीतार्थस्यापराधपदान्यासेवमान–सहसाकारादिना चैवमादिशब्दादाभोगानाभोगाभ्यां च सर्वेष्वपि दर्शनज्ञानचरणापराधेषु तदुभयं प्रायश्चित्तम्। अत्राह शिष्यः। 'खलियस्स य सव्वत्थ वी' त्यत्र दर्शनज्ञानचरणादिपदेषु सर्वेषु सस्खलितस्य प्रतिक्रमणार्हमभिधाय तेष्वेवेह कथं तदुभयार्हमभिधीयते॥ तत्र हि सममापद्यमानस्येत्युक्तम्। इह तु हिंसाव्यापन्नसाम्ययुक्तस्य तदुभयार्हेण शुद्धिरिति न विरोधः।

इदानीं तदुभयार्हमभिधातुकाम आह॥

संकिए सहसागारे, उभयाउरे आवतीसु य॥
महव्वयातियारे य, छण्हं ठाणाण वज्झतो॥

शङ्कितः प्राणातिपातादौ यथा मया प्राणातिपातः कृतः किं वा न कृतः। तथा मृषा भणितं न वा अवग्रहोनुज्ञापितो न वा, स्नाना–दिदर्शननिमित्तं जिनभवनादिगतस्य स्त्रीस्पर्शे रागगमनमभून्न वा इष्टानिष्टेषु रागद्वेषौ गतौ न वा, तक्रादिलेपकृदवयवाः कथमपि पात्रगताः पर्युषिताः भिक्षार्थमटितुकामेन धौताः किं वा न धौता इत्यादि। तत्र षण्णां बाह्यं तदुभयलक्षणं प्रायश्चित्तमिति योगः। तथा उपयोगवतोऽपि सहसा कारे सहसा प्राणातिपातादिकरणे। तथा भये दुष्टम्लेच्छादिसमुत्थे यदि वा हस्त्यागमने मेघोदकनिपातस्पर्शने दीपादिस्पर्शने वा आकुलतया प्राणातिपातादिकरणे तथा आतुरः क्षुधा पिपासया वा पीडितः। भावप्रधानश्चायं निर्देशस्ततोऽयमर्थः आतुरतायाम्। तथा आपच्चतुर्द्धा तद्यथा। द्रव्यापत् क्षेत्रापत् कालापत् भावापत्। तत्र द्रव्यापत् दुर्लभं प्रायोग्यं द्रव्यम्। क्षेत्रापत् छिन्नमण्डपादि। कालापत् दुर्भिक्षादि। भावापत् गाढम्लानत्वादि। एतासु स हिंसादिदोषमापद्यमानस्यापि अनात्मवशगम्य तथाहि ईर्यासमितावुपयुक्तोऽप्युच्चालिते पादे सहसा समापतितं कुलिङ्गिनमपि व्यापादयेत् मृषापि कदाचित्सहसा भाषते। अवग्र–हमपि कदाचिद्राभसिकतया अननुज्ञातमपि परिभोगयति। अत्युल्वणमबलारूपमवलोक्य कदाचनापि सहसा रागमुपैति इत्यादि। तथा भयात्प्रपलायमानो भूदकज्वलनवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियानपि व्यापादयेत्। मृषापि भयात् भाषते परिग्रहमपि धर्म्मोपकरणबाह्यस्य करोति। आतुरतायामपि सम्यगीर्यापथाशोधने संभवति प्राणतिपातः। अत्यातुरतायां कदाचिन्मृषा भाषणमपि अदत्तादानमपि च एवमापत्स्वपि भावनीयम् तथा महाव्रतानां प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनां सहसाकारतः स्फुटबुद्ध्या कारणतो वा अतीचारे च शब्दादति क्रमव्यतिक्रमयोश्च। तथातिक्रमादीनां महाव्रतविषया–णामन्यतमस्याशङ्कायां वा किमित्याह (छण्हं ठाणाणवज्झतो इति) केषांचिदनवस्थितपाराञ्चिते प्रायश्चित्ते द्वे अपि एकं प्रायश्चित्तमिति प्रतिपत्तिः॥ तन्मते नवधा प्रायश्चित्तं तत्र बाह्यो द्वे प्रायश्चित्ते मुक्त्वा शेषाणि सप्त प्रायश्चित्तानि तेषां च सप्तानां प्रायश्चित्तानां यदाद्यं प्रायश्चित्तं तदुपरितनानां षण्णां बाह्यं नाभ्यन्तरमिति षण्णां स्थानानां बाह्यत इति वचनादेव प्रतिपत्तव्यम्। तच्च तदुभयं तच्चैवं भावनीयम्। शङ्कितादिषु यथोक्तस्वरूपेषु सत्सु प्रथमं गुरूणां पुरत आलोचनां तदनन्तरं गुरुसमादेशेन मिथ्यादुष्कृतदानमिति। शंकिए इत्येतद्विवृण्वन्नाह॥

हित्थो व णहित्थो मे, सत्तो भणियं च न भणियं मिसा।
उग्गहणुण्णमणुन्ना, तइए फासे चउत्थम्मि॥
इंदियरागद्दोसाउ, पंचमे किं गतोमि न गतोत्ति।
छट्ठे लेवाडादी, धोयमधोयं न वावेत्ति॥

सत्वः प्राणी (हित्थोत्ति) देशीपदमेतत्। हिंशितो मे मया न वा हिंसित इति। तथा मृषा भणितं न वा। तथा तृतीये अदत्तादानविरतिलक्षणे अवग्रहोऽनुज्ञा मया कारिता यदि वा अनुज्ञान कारिता। तथा चतुर्थे मैथुनविरतिलक्षणे जिनभवनादिषु स्नानादिदर्शनप्रयोजनतो गतः सन् (फासेइत्ति) स्त्रीस्पर्शे रागं गतो न वा। तथा पञ्चमे परिग्रहविरमणलक्षणे इन्द्रियेषु विषयिणा विषयोपयोगलक्ष–णादिन्द्रियेषु इष्टानिष्टेषु रागद्वेषौ गतोऽस्मि किं वा न गत इति। तथा षष्ठे रात्रिभोजनविरमणे लेपकृदादि तक्राद्यवयवरूपं कथमपि पात्रादिगतं पर्युषितं भिक्षाटनार्थमुत्पद्यते तद्धौतमथवा न धौतं मयेति। यद्येवं ततः किमित्याह॥

इंदियअव्वागडिया जे, अत्था अणुवधारिया।
तदुभयपायच्छित्तं, पडिवज्जइ भावतो॥

उक्तेन प्रकारेण येऽर्थाः प्राणातिपातादय इन्द्रियैश्चक्षुरादिभिरव्याकृताः प्रकटीकृता अपि येऽनुपधारिता न सम्यग् धारणाविषयीकृतास्तेषु प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते। भावतः सम्यगपुनरापतनेन तदुभयमिति। तच्च तदुभयं च पूर्वं गुरूणां पुरत आलोचना। तदनन्तरं तदादेशतो मिथ्यादुष्कृतदानमित्येवंरूपं तदुभयम्।

एतदेव सविस्तरमभिधित्सुराह।

सद्दा सुया बहुविहा, तत्थ य केसु वि गतोमि रागंति।
अमुगत्थ मे वितक्का, पडिवज्जइ तदुभयं तत्थ॥

शब्दा मया बहुविधा बहुप्रकाराः श्रवणविषयीकृतास्तत्र तेषु बहुविधेषु शब्देषु श्रुतेषु मध्ये (वितक्कत्ति) एवं मे वितर्कः संदेहो यथा केषुचिदपि (अमुगत्थत्ति) अमुकेषु रागमुपलक्षणमेतत् द्वेषं वा गतोऽस्मि। तत्र तस्मिन् शङ्काविषये तदुभयमुक्तलक्षणं प्रायश्चित्तं भावतः प्रतिपद्यते। यदिहि निश्चित्तं भवति यथा अमुकेषु शब्देषु रागं द्वेषं वा गतः इति तत्र तपोऽर्हं प्रायश्चित्तम्। तथैव निश्चयो न गतो रागं द्वेषं वा तत्र स शुद्ध एव न प्रायश्चित्तविषयः। ततो वितर्के यथोक्तलक्षणे तदुभयमेव प्रायश्चित्तमिति।

एमेव सेसए वि, विसए आसेविऊण जे पच्छा।
काऊण एगपक्खे, न तरइ तहि यं तदुभयं तु॥

एवमेव उक्तेनैव प्रकारेण यान् रूपादीन्विषयान् आसेव्योपभुज्य उपलक्षणमेतत् प्राणातिपातादीनप्यासेव्य पश्चात् एकतरस्मिन्प–क्षे अपराधलक्षणे निर्दोषतालक्षणे वा न कर्त्तुं शक्नोति यथा रूपा–दिषु विषयेषु रागं द्वेषं वा गतः। प्राणातिपातादयो वा कृता इति। यदि वा न गतौ रागद्वेषौ नापि कृताः प्राणातिपातादय इति तत्र तदुभयं तु तदुभयमेव तु शब्दस्यैवकारार्थत्वाम् यथोक्तलक्षणं प्राय–श्चित्तं शङ्कास्पदत्वाम् तदेवं शङ्किते इति व्याख्यातम्।

संप्रति सहसाकारेत्यादिव्याचिख्यासुराह

उवओगवतो सहसा, भयेण वा पल्लिए कुलिंगादी।
अच्चाउरावती सु य, अणेसिया दीहगणभोगा॥

उपयोगवतो पि ईर्यासमितौ सम्यगुपयुक्तस्यापि उच्चालिते पादे कथमपि सहसा योगतः समापतितः सन् कुलिङ्गी व्यापाद्यते भये न वा चौरसिंहादीनां भृशं पलायमाने भयग्रहणमुपलक्षणं तेन एत दपि द्रष्टव्यं परेण वा (पेल्लिए इति) परेण प्रेरिते वा तद्व्यापारमासाद्य कुलिङ्गीउपलक्षणमेतत्। पृथिव्यादिजीवनिकाया वा व्यापत्तिमाप्नुयात्। तथा अत्यातुरे क्षुधा पिपासया वा अत्यन्तं पीडिते तथा आपत्सु द्रव्यापदादिषु यदि अनेषितादिग्रहणभोगौ भवतः अनेषितमनेषणीय-मादिशब्दादकल्पनीयस्य परिग्रहः न केवलमनेषितादिग्रहणभोगौ किंतु गमनागमनादौ पृथिव्यादिजन्तुविराधनापि भवति। तथापि तत्र प्रायश्चित्तं यथोक्तलक्षणं तदुभयमिति वर्त्तते सहसाकारादिविषयत्वात्।

संप्रति महव्वयाइयारे अ इत्येतद्व्याख्यानयन्नाह॥

सहसाकारे अइक्कम-वइक्कमे चेव तह य अइयारे।
होइ व सद्दग्गहणा, पच्छित्तं तदुभयं तिसु वि।
इतिमादुवयोगे वा, एगयरे तत्थ होइ आसंका।
नवहा जस्स विसोहि, तस्सुवरिं छण्ह वज्झतु॥

सहसाकारतोऽतिक्रमे व्यतिक्रमे अतीचारे प्राग्व्यावर्णितस्वरूपे महाव्रतविषये इति सामर्थ्याद्गम्यते महव्वयाइयारे य इति पदस्य व्याख्यायमानत्वात् एतेषु त्रिष्वपि दोषेषु तदुभयमुक्तस्वरूपं प्राय-श्चित्तम्। अथ मूलगाथायां महाव्रतातीचारे चेत्येवोक्तं ततः कथ-मत्र विधृतम् अतिक्रमे चेति अत आह। चशब्दग्रहणात्किमुक्तं भवति चशब्दग्रहणात् मूलगाथायामतिक्रमव्यतिक्रमयोरपि समुच्चयः कृत इत्यदोषः। अथवा अतीचारस्य पर्यन्तग्रहणादतिक्रमव्यतिक्रमयोरपि उपयोग स्फुटबुद्ध्या करणे तदुभयप्रायश्चित्तमिति योगः। वा शब्दो भिन्नक्रमत्वाद् एगयरे इत्यत्र योजनीयः। ततो ऽयमर्थः। एकतरस्मिन्वा तत्र अतिक्रमे अतीचारे वा यदि भवत्याशङ्का यथा मयातिक्रमः कृतो न वा व्यतिक्रमः कृतो न वा अतीचारः कृतो नवेति। तत्रापि तदुभयं प्रायश्चित्तम्। ''इहसहसाकारासंके संकिय सहसाकारे'' पदद्वयेनापि गते केवलं महाव्रतानामतिक्रमादिष्वप्याशङ्कायां सहसाकारे चैतदेव प्रायश्चित्तं नान्यत्परिकल्पनीय-मिति। भाष्यकृता सहसाकारासंके अपि योजिते। छण्हं ठाणाण वज्झतो इति व्याख्यानयन्नाह (नवहेत्यादि) यस्याचार्यस्य मतेन अनवस्थितपाराञ्चितयोरैक्यविवक्षणान्नवधा नवप्रकारा विशोधिः प्रायश्चित्तं तस्य आद्यप्रायश्चित्तद्वयस्योपरि यद्वर्तते प्रायश्चित्तं तत्ष-ण्णामुपरितनानाबाह्यमेव तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्। ततः छण्हं ठाणाणवज्झत्तो इति तदुभयं प्रायश्चित्तं प्रतिपत्तव्यमिति। उक्तं तदुभयार्हं प्रायश्चित्तम्।

उमच्छ धा०(वञ्च) उपालम्भे, **वञ्चे वे हवे लवजूरवो मच्छाः॥८।१।९३॥** इति वञ्चेरुमच्छादेशः। उमच्छइ वञ्चइ वञ्चति। प्रा०।

उमा स्त्री०(उमा) शिवपत्न्याम्, को०। अवसर्प्पिण्यां द्वितीयबल-देववासुदेवमातरि, स०। आव०। उज्जयिन्यां प्रद्योतस्य राज्ञोऽन्तः पुरे गणिकायाम्, आव० ४ अ०। आ०चू०। (तया महेश्वरनामा खेचरो वृत इति सिक्खा शब्दे विकाशमेष्यति)

उमाल(लय) न०(निर्माल्य) नि-मल्-ण्यत्। **निष्प्रती उत्परी मल्यस्थोर्वा॥८।१।३८॥** इति निर इत्येष शब्दो माल्यशब्दे परे वा उद्रूपमापद्यते। देवादिदत्ते तद्विसर्जनोत्तरमुच्छिष्टे द्रव्ये, 'उमालं निम्मालं उमालयं वहइ' प्रा०।

उमासाइ पुं०(उमास्वाति) तत्वार्थसूत्राकारके स्वनामख्याते वाचकप्रवरे, अस्य च माता उमा नाम्नी पिता च स्वातिनामेति तयोर्जातत्वादयमुमास्वातिनामा प्रसिद्धिमगमत्। कौषीतकि-गोत्रोऽयं ब्राह्मण आसीत् प्रवाचकान्वयानुसारेणाऽयं घोषनन्दिक्ष-माश्रमणशिष्यशिवश्रीनाम्न आचार्यस्य शिष्य आसीत्। वाचना-चार्यान्वयानुसृत्या मुन्दपादशिष्यमूलवाचकस्य शिष्य आसीत्। अयमाचार्योऽस्मदीय इति श्वेताम्बरा दिगम्बराश्च विवदन्ते। तत्र दिगम्बरमतेन वीरमोक्षात् (१०१) वर्षेऽयं विद्यमान आसीत् न्यग्रोधिकानाम्नि ग्रामेऽयं जन्म लेभे सरस्वतीगच्छेऽयं षष्ठः कुन्दकुन्दाचार्यलोहाचार्ययोर्मध्यगो जातः अनेन तत्वार्थसूत्रं पा-टलिपुत्रनगरे विरचितम्। तदुपरि टीकाभाष्ये च स्वेनैव कृते अन्याप्येका टीका विक्रमसमकालिकेन सिद्धसेनार्केण तत्र कृता जै०इ०। तथाचाह भगवानुमास्वातिवाचकः सम्यग्दर्शनचारित्राणि मोक्षमार्ग इति। नं०। षट्स्थानयुक्तश्च श्रावको भवतीत्युमास्वाति-वाचकवचनात्। ज्ञा०१६ अ०। उक्तं चोमास्वातिवाचकेन ''हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमिति'' आव० ४ अ०। वाचकः पूर्वधरोऽभिधीयते स च श्रीमानुमास्वातिनामा महातार्किकः प्रकरणपञ्चशतीकर्ताचार्यः सुप्रसिद्धोऽभवत् पञ्चा० ६ विव०।

उम्मग्ग त्रि०(उन्मग्न) उद्-मस्ज्-क्त। ऊर्ध्वं जलगमनं कुर्वाणे, प्रश्न० ३ द्वा०।

***उन्मज्जन** न० उन्मज्यते ऽनेनेति उन्मज्जनम्। रन्ध्रे, ''उम्मग्गं सि णो लभति''। आचा० १ श्रु० ३ अ०। जलादूर्ध्वगमने, ''उम्मग्गलद्धं इह माणुसेहिं, णो पाणिणं पाणिसमारभेज्जा'' इह मिथ्यात्वादिशैवा-लाच्छादित संसारह्रदे जीवकच्छपः श्रुतिश्रद्धा-संयमवीर्य्यरूप-मुन्मज्जनमासाद्य लब्ध्वाऽन्यत्र संपूर्णमोक्षमार्ग-संभवान्मानुषेष्वित्युक्तम्। आचा।१ श्रु० ३ अ० २उ०।

***उन्मार्ग** पुं० मार्गः क्षायोपशमिको भावस्तमतिक्रान्त उन्मार्गः। क्षायोपशमिकभावत्यागेनौदयिकभावसंक्रमेः, ''जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो'' ध०२ अधि०। आव०। आ०चू०। निर्वृतिपुरीं प्रति अपथि वस्तुतत्वापेक्षया विपरीतश्रद्धानज्ञानानुष्ठाने, ''मग्गे उम्मग्गसण्णा'' स्था० १० ठा०। असन्मार्गे, ग०१ अधि०। परसमए अणट्ठे अहेऊ असब्भावे अकिरिए उम्मग्गे'' उन्मार्गत्वं परस्परविरोधानवस्थासद्व्या-कुलत्वात्तथाहि ''न हिंस्यात् सर्वभूतानि, स्थावराणि चराणि च। आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स धार्मिकः'' इत्याद्यभिधाय पुनरपि-''षट् सहस्राणि युज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनान्नयूनानि पशुभिस्त्रिभि'' रित्यादि प्रतिपादयन्तीति। अनु०। संसारावतरणे, सूत्र० १श्रु० १२अ०। आचा०। ऊर्द्धं मार्ग उन्मार्गः। रन्ध्रे, ''उम्मग्गंसि णो लभति'' आचा०१ श्रु० ६ अ०१उ०। उद्गतो मार्गादुन्मार्गः। अकार्यकरणे, आचा०१ श्रु०५ अ०१उ०।

उम्मग्गगय त्रि०(उन्मार्गगत) उन्मार्गेण संसारावतरणरूपेण गतः प्रवृत्तः उन्मार्गगतः। संसारे एव प्रवृत्ते मोक्षमार्गे उदस्ते, ''सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मती। उम्मग्गगता दुक्खं, धायमे संति तं तहा'' सूत्र०१ श्रु० १२ अ०।

उम्मग्गजला स्त्री०(उन्मग्नजला) उन्मज्जति शिलादिकमस्मादिति उन्मग्नं कृद्बहुलमिति वचनात् अपादाने क्तप्रत्ययः। उन्मग्नं जलं यस्यां सा तथा। तमिस्रगुहायां बहुमध्यदेशभागे वहन्त्यां स्वनामख्यातायां नद्याम्॥

तत्स्वरूपं यथा ॥

तीसे णं तिमिसगुहाए बहुमज्झदेसभाए एत्थाणं उम्मग्गणिमग्गजलाउ णामं दुवे महाणईओ पण्णत्ताओ जाउणं तिमिसगुहाए पुरच्छिमिल्लाओ कडगाउ पवुड्ढाओ समाणी पच्चच्छिमेणं सिंधु महाणदीं सिमप्पेंति ॥

तस्यास्तमिस्रागुहायाः बहुमध्यदेशभागे दक्षिणद्वारतस्तोड्डकसमेतैकविंशति योजनेभ्यः परतः उत्तरद्वारतस्तोड्डकसमेतैकविंशतियोजनेभ्योऽर्वाक् च उन्मग्नजलानिमग्नजलानाम्न्यौ नद्यौ प्रज्ञप्ते । ये तमिस्रागुहायाः पौरस्त्यकटकाद्विप्तिप्रदेशात् प्रव्यूढे निर्गते सत्यौ पाश्चात्येन कटकेन विभिन्नेन सिन्धुमहानदीं समाप्नुतः प्रविशत इत्यर्थः । नित्यप्रवृत्तत्वाद्वर्तमाननिर्देशः ।

अथानयोरन्वर्थं पृच्छन्नाह ॥

से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ उम्मग्गणिमग्गजलाओ महाणइओ? गोयमा ! जण्णं उमग्गजलाए गहाणईए तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा आसे वा हत्थी वा रहे वा जोहो वा मणुस्से वा पक्खिपइ ताओ णं उम्मग्गजला महाणई तिक्खुत्तो आहुणिअ २ एगंते थले पक्खिवइ जण्णं णिमग्गजलाए महाणईए तणं वा जाव मणुस्से वा पक्खिपइ तण्णं निम्मग्ग–जला महाणई तिक्खुत्तो आहुणिय २ अंतो जलंसि णिमज्जावेइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चई उम्मग्गणिम्मग्गजलाओ महाणईओ ॥

अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते उन्मग्ननिमग्नजले महानद्यौ गोतम ! यत् णमिति प्राग्वत् उन्मग्नजलायां महानद्यां तृणं वा पत्रं वा काष्ठं वा शर्करा वा दृषत्खण्डः अत्र प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः । अश्वो वा हस्ती वा रथो वा योधो वा सुभटः सेनायाः प्रकरणाच्चतुर्णां सेनाङ्गानां कथनं मनुष्यो वा प्रक्षिप्यते तत्तृणादिके उन्मग्नजलामहानदीकृतांस्त्रीन् वारान् आधूय २ भ्रमयित्वा २ जलेन सहाभ्यां–हत्येत्यर्थः एकान्ते जलप्रदेशाद्बहीयसि स्थाने निर्जलप्रदेशे (पक्खिवइत्ति) छर्दयति तीरे प्रक्षिपतीत्यर्थः । तुम्बीफलमिव शिला उन्मग्नजले उन्मज्जति अत एवोन्मज्जति शिलादिकमस्मादिति उन्मग्नं कृद्बहुमिति वचनात् अपादानेक्तप्रत्ययः । उन्मग्नं जलं यस्यां सा तथा । अथद्वितीयानामार्था । तत्पूर्वोक्तं वस्तुजातं निमग्नजला महानदी त्रिःकृत्व आधूयाधूय अन्तर्जलं निमज्जयति शिलेव तुम्बीफलं निमग्नाजले निमज्जतीत्यर्थः । अत एव निमज्जयत्यस्मिन् तृणादिकमखिलम् वस्तुजातमिति निमग्नं बहुलवचनादधिकरणे क्तप्रत्ययः निमग्नं जलं यस्यां सा तथा । अथैतन्निगमयति सेतेणट्ठेणमित्यादि सुगमम् । अन्योश्च यथाक्रममुन्मज्जलिमज्जकृत्ये वस्तुस्वभाव एव शरणं तस्य चातर्कणीयत्वात् । इमे च द्वे अपि त्रियोजनविस्तारगुहाविस्तारायामे अन्योन्यं द्वियोजनान्तरे बोध्ये अनयो–र्यथा गुहामध्यदेशवर्तित्वं तथा सुखावबोध्या स्थापना देश्यते । जं० ३ वक्ष० ।

उम्मग्गट्ठिय त्रि०(उन्मार्गस्थित) उत्सूत्रादिप्ररूपणापरे, ''भट्ठायारो सूरी, भट्ठायाराणुविग्गओ सुरी । उम्मग्गट्ठिओ सूरी, तिण्णि वि मग्गं पणासेंति'' ग०१ अधि० । (आयरियशब्दे विवृतिरुक्ता)

उम्मग्गणयण न०(उन्मार्गनयन) उन्मार्गप्रापणे, ''यद्भाषितं मुनीन्द्रैः, पापं खलु देशनापरस्थाने । उन्मार्गनयनमेतत्'' षो० १ विव० ।

उम्मग्गदेसणा स्त्री०(उन्मार्गदेशना) उन्मार्गस्य भवहेतोर्मोक्षहेतु–त्वेन देशना कथनमुन्मार्गदेशना ॥ कर्म० ॥ सम्यग्दर्शनादिरूपभावमार्गातिक्रान्तधर्मकथने, एष दर्शनमोहनीयकर्मणो हेतुः । स्था० ४ ठा० । ध० ॥

नाणाइ अदूसिंतो, तव्विवरीयं तु उवदिसइ मग्गं ।
उम्मग्गदेसओ एस, आय अहितो परेसिं च ॥

ज्ञानादीनि पारमार्थिकमार्गरूपाणि प्ररूपयन् तद्विपरीतं ज्ञानादिविपरीतमेवोपदिशतीति मार्गं धूमसंबन्धिनमेष उन्मार्गदेशकः अय चात्मनः परेषां च बोधिबीजोपघातादिना अहितः प्रतिकूल इत्येषा उन्मार्गदेशना । वृ० १उ० ।

पुच्छंताणं धम्मं, तं पिउ न परिक्खिउ समत्थाण ।
आहरमेतलुद्धा, जे उम्मग्गं वइस्संति ॥
सुगई हणंति तेसिं, धम्मियजणनिंदणं करेमाणा ।
आहारपसंसया निंति, जिणिदोग्गईबहुयं ॥

गुरुभिस्तावन्स्वत एव धर्मतत्वप्रकाशनशीलैर्भाव्यं यत्पृच्छता–मित्यत्रापि शब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्ततः पृच्छतामपि प्रच्छनशीलानामपि को धर्म्मः स्वर्गापवर्गसाधनमपि परीक्षितुमसमर्थानां मुग्धबुद्धीनामित्यर्थः । ये हि किल विशिष्टा भवन्ति ते विशेषतो मुग्धधीबन्धनं कुर्वन्ति अतोऽतिक्लिष्टताख्यापनार्थं परीक्षमाणमित्युक्तम् । ये कथं भूता आहारमात्रलुब्धाः शिवसुखाभिलाषविमुखाः। इहलोकसुखमात्रप्रतिबद्धत्वेन महामेते विवेकिनः सन्तः आधाकर्म्मादिदोषदूषितमाहारवस्त्रपात्रवसत्यादि न दास्यन्त्यत उन्मार्गमुपदिशन्ति शास्त्रोक्तसन्मार्गादुत्तार्य तथा विप्रतारयन्ति यथा जन्मान्तरमपि दासादिवद्यत्किंचित्कारिणो भवन्ति । ते किं तेषामुपकारिणो भवन्ति नेत्याह । घ्नन्ति नाशयन्ति कां सुगतिं स्वर्गापवर्गादिकां केषां सम्यगजानानानां परमगुरुरिव धर्म्मबुद्ध्याराधयतां तेषामपि सुगतिनाशो भवति । तथाहि यथा कश्चित्केषांचिदिहलोकपरलोकविरुद्धकारिणां मन्त्रयोगचूर्णादिना वशीकृतः स तस्य परमबन्धुरबुद्ध्यापि सर्वस्वं समापयन् प्राग्भवति एवमत्रापीतिभावार्थः । पुनरपि कथंभूता गुरुकर्म्मतया धार्म्मिकजनं संविग्नं गीतार्थं यथाशक्त्यानुष्ठानपरायणमपि निन्दयन्तो हीलयन्तः न केवलं तेषां स्वरुचिविरचिताचारान् विधाय देशनावशीकृतानां सुगतिं घ्नन्ति । अपिच दुर्गतिं नयन्ति प्रापयन्ति 'आहारपसंसा-सुत्ति' तृतीयार्थे सप्तमी तत आहारप्रशंसादिभिराहारादिदानप्र–शंसनैः यदुत यदि भवदीयेष्वपि गृहेषु सकलसङ्घाधारभूतेषु समस्तसंपदुपेतेषु कलिकालकवलितशक्तियतयो न प्राप्स्यन्ति आहारादि तर्हि क्व यास्यन्ति अन्वेषणीयविभागान्वेषणं कार्यलक्षम् । ये तुच्छका वराका अल्पशक्तयो भवन्ति तेऽल्पेन व्याजेनात्मानं मुनयो मोचयन्ति इत्येवमादिवोभिरुत्प्रास्योत्प्रास्यमुखमाङ्गलिका इव सकलशास्त्रविरुद्धे आधाकर्म्मादिदोषदूषिताद्याहारादिदाने प्रवर्तयन्ते बहुकं जनं लोकं श्रावकं यथा भद्रकं च । इयमत्र भावना । तेहि दुर्गतिगर्तप्रपतनाभिमुखीभूताः सन्तो यथा कथंचिदेवाहारार्थपरान् विप्रतार्य दुर्गतौ पातयन्तीति गाथाद्वयार्थः । ये तावदिहलोकस्यैवैककस्य वाञ्छावन्तः परप्रतारणप्रवणास्तेषा–मियं गतिः । ये तु सर्वशक्तिविकलतया सम्यगनुष्ठानं कर्तुमशक्ता–स्तथापि मनाक् शुद्धचित्ततया परलोकमपि वाञ्छन्ति तैः किं कर्तव्यमित्याह ॥

होज्जज्झवसाणपत्तो, सरीरदोवल्लया य असमत्था ।
चरणकरणे असुद्धे, सुद्धं मग्गं परूवेज्जा ॥

भवेद्व्यसनप्राप्तः इन्द्रियपरायत्तताक्रोडीकृतत्वेनोन्मादवान् तत्प्राप्तो व्यसनप्राप्तः । शरीरं वपुस्तस्य दौर्बल्यं दुर्बलता शरीरदौर्बल्यं तथाऽसमर्थोऽशक्तः यथावस्थितचरणकरणं कर्तुमित्यध्याहारः । अतोऽशुद्धेऽपि चरणकरणे परलोकार्थी शुद्ध एव मार्गं प्ररूपयेदिति । स हि सन्मार्गप्रकाशनात् पुनर्मार्गं प्राप्नोतीति गाथार्थः । यस्तु मनाक् संविग्नः सोऽपि नीत्था परान्वादिनो यथावस्थितं न कथयति तस्य दोषं दर्शयन्नाह ।

परिवारपूयहेऊ--पासत्थाणं च णाणुवत्तीए ।
जो न कहेइ विसुद्धं, तं दुल्लहबोहियं जाण ॥

परिवार आत्मव्यतिरिक्तस्ततः परिवारेण पूजा परिवारपूजा अथवा परिवारस्य पूजा परिवारपूजा ह्रस्वत्वं प्राकृतप्रभवं तस्या हेतुर्निमित्तिः पार्श्वः सम्यक्त्वं तस्मिन् ज्ञानादिपार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थास्तेषामनुवृत्तिरनुवर्तनं तया यो न कथयति न प्रकाशयति विशुद्धं सर्वविशुद्धं सर्वविदुपदिष्टं यथावस्थितं मुक्तिमार्गमाचार्यं साधुं वा दुर्लभबोधिकं जानीहि । अयमत्र भावार्थः । यो हि मनागसंविग्नोऽपि परिवारापेक्षया सम्यक् साध्वाचारं न कथयति नायमन्यथा प्रवृत्तः सम्यक्त्वकथनेन प्रकटो भविष्यति ततोऽसमञ्जसरोषो भविष्यति ततः शरीरादिस्थितिं न करिष्यति पूजा वा न भविष्यतीति हेतोः पार्श्वस्थानुवृत्त्या वा यदुत नामैते सम्यक् कथयतः प्रकोपं यास्यन्त्यतः वरमात्मसाक्षिसुकृतं कृतमिति । एते चानवर्तिता भवन्त्विति स्वबुद्ध्या सुन्दरमपि विदधानाः संसार--सागरे एव भवन्ति यत उक्तम् ''जिणाणाए कुणंताणं, नूणं निव्वाणकारणं । सुंदरं पि य बुद्धीए, सव्वं भवनिबंधनं ॥ जे मयआरंभरया, ते जीवा होंति अप्पदोसयरा । ते उ महापावयरा, जे आरंभं पसंसंति'' य एवमधः परमाराध्य कालिकसूरिभिरिव प्राणप्रहाणेऽपि परानुवृत्त्या नैवानुवृत्त्यापि नैवान्यथा भाषणीयमिति गाथार्थः । भगवत्कालिकसूरिकथानकं चैवम् । ''अत्थि इहेव खेत्ते तुरिमिणीए नयरीए जियसत्तू नाम राया तीए वि नयरीए अन्नो रुद्दाइमाहणीए सुओ दत्तो माहणसु उपरि वसइ सो य न याइ एसु सत्तसु महावसणेसु पसुत्तो । किं बहुणा सव्वहा विरुद्धायारसमाय--रणसीलो अहंतया भवियव्वयावसेण जाओ रायाणो संजाओ सव्वहाइ पचासन्नत्तणेण जाओ अन्नेसि पि सामंतमंडलीयए सुह--बहुमओ ततो दाणसंमाणाइणा उवलोभेऊण कओ सव्वो वि राइणो परियणोवासे । ततो गहिऊण जियसत्तुमूलरायाणं बंधित्ता कट्ठट्ठियचारगागिहे जाओ सयं चेव सयं पहोराया एवं रज्जुधरारूढ--स्स भवियव्वयावसेण तत्थ समागयकमेण विहरमाणा साइसया बहुसीससमन्निया जुगप्पहाणो अज्जकालगनामए सूरिणो नाया य दत्तमायाए भद्दाए । जहा वच्छ संपए एत्थ मे भाया तुब्भ वि य माउलओ अज्जवि कालगसूरी समागओ ता तं वंदाहि तेण वि तह त्ति पडिसुयं गतो बहुपरिवारो सूरिसयासे दिट्ठा य सूरिणो काऊण उचिओवयारउवविट्ठो जहारिहासणे भयवयी नाऊण बद्धायरं सायारो सूरीहिं सामंतेण परूविणो उ सिद्धजणसमायारो । जहा होयव्वं करणापहाणमणसा सव्वेण धम्मत्थिणा भासेयव्वमणिंदियं हियकरं सव्वं ववायं सया कायं सव्वजियाण सोक्खजणगट्ठाणेसु दायव्वयं सव्वेणावि जिएण रायसययं वेयं हि पंचप्पणोदीणाईणम--णिंदियं पइदिणं गेहाणुसारेण उदेयं दाणतहेह वेयमणहं जीवाणं सव्वेसिण अचंतं हियमेव सव्ववयणं भासंति जं जंतुणो तं जाणाहि नरीससव्वमणहं धम्मस्स संसाहगं एमाइसव्वसाहारणदेसणासवणपज्जंते भवियव्वया वसवत्तिणा दत्तेण पुच्छियं कहेहि किंजण्णाण फलं । तओ भगवया अज्जकालगसूरिणो विचिंतियं नूणं एस पउट्ठो बद्धबुद्धी जं भे सुत्ताण कमेएण विरोहिएण विग्गप्पिऊण भणियं तुमं महाराय ! धम्ममूलाइं पुच्छसि ''करुणा सव्वजीवेसु, सव्वं वायाए भासणं । परस्स दारगं चाउ, परिग्गहविवज्जणा । एमाइधम्ममूलाइं, कोहाईण य वज्जणं । सव्वपासंडियाणं पि, एयं सम्मं पयंसया'' ततो पुणो वि पुच्छियं वेयविहियविहाणेण विहियजण्णाण किं फलं? सूरीहिं भणियं किं महाराय ! विहिविहिसुहाणुबंधि पुन्नफलं साहेमि जहा--''विहिजीवदयाइजुया, जीवा स सुवज्जिऊण सुहयम्मि । पुन्नंपावत्तयरा, नरसुरविसोक्खविउलाइं '' पुणो वि पुच्छियं जन्नाण किं फलं सूरिणा भणियं पावविवायं पुच्छसि नरयपहो पावविवागो ''णरवई देहे दुहं, नरयतिरियजोणीसु हीणासु । हीणसुरनरगईसु वि ता तहेव इह दुहाण ॥ नरयाण पुणो मग्गो, सहरम्भपरिग्गहो य जियघाओ । कुणिमाहारो अविरइ, तिव्वकसाया पमाओ य'' ततो दत्तेण कुद्धेण भणियं । भो भो समणा किं तुमं सम्मं न सुणसि कन्नेसु । किं वा अकण्ण सुयं करेसि किं वा न याणसि जन्नाण फलं । जं फुडं न साहेसि ततो सूरीहिं भणियं जइ फुडं ता नरयगमणमेव फलं तओ रोसारुणलोयणेण पच्चयं किमहं नरगं गमिस्सामि अणेगजन्नकरणा वि भयवया भणियं कया इओ य सत्तमे दिणे कुम्भियाए पइज्जंतो सुणएहिं खज्जंतो मरिहिसि । पुणो वि पुच्छियं एत्थ वि को पच्चओ भयवया परंपियंतो तम्मि दिणे विट्ठा मुहं पविसिहि पुणो वि दत्तेण भणियं तुमं के चिरं अइओ दिणाओ जीविहिसि? सूरीहिं साहियं अणेगाइं वरिसाइं दिवं च गमिस्सिामि । ततो दत्तेण चिंतियं अइकोहमुवागराण किं पट्ठवेमि संपयं चेव जम्ममन्दिरं देसेमि दुव्वयणस्स फलं पइविट्ठामि ताव कालावहि जाव पच्चाअलियवाइणं भणिऊण विहिहजाइणा पुव्वं विणिवाइस्सं ततो मा एस समणगो कहिं पि गच्छहिति ततो मोत्तूण नियपुरि से रक्खा । अप्पणा समागओ सए गिहे तओ चिंतियं चेट्ठामि ताव अंतेउरे सत्तादिणाणि तओ कहं मे विट्ठा मुहं पविसइ तओ पविट्ठो अंतेउरे सोयाविया सव्वेवि रायमग्गा तओ सत्तमे दिणे भवियव्वया वसेण रायपहं पवन्नस्स जाओ वेगो न संक्केइ अ तओ गंतु ततो तत्थ काऊण वेगभंगं ढक्किउ पुप्फहिं अप्पणावि भयदुओ लहुं लहुं विणीहरिओ रायपहाओ । इओ य सो दत्तो दुम्मई विमूढमणो गया सत्तदिवसत्ति कलिऊण तम्मि चेव सो नीहारिओ महया तुरयचडयरेण जाव रायपहमागओ ताव सो चेव विट्ठा तुरयखुराहया पविट्ठा मुहे तओ नायं जहा निच्छएण मरिज्ज इतो निगिन्हामि तं चेव पडिसत्तूं जियसत्तूं अउनिकंटं मे रज्जं होहिएयं चिंतिऊण जाव नियतो तो ततो गहिओ सेससामंतेहिं मा भिन्नरहसत्ति काऊण रायाणं विणिवाइऊण अम्हे वि विणिवाइस्सइ ततो नीहारिऊण मूलरायाणं कट्ठागिहाओ अह सिंचिऊण रायपए समप्पिओ दत्तो बंधिऊण तेण वि खिवाविऊण सहसुणएहिं कुम्भियाए पज्जालिओ भसिणो जलणो खज्जंतो य सुणएहिं महावेयणाभिभूओ रुद्दज्झवसायपरिगओ मरिऊण जाओ नारओ । सूरी वि सायसउत्ति काऊण पूइओ नरवइणा जहा एएण भयवया पाणपरिव्वायसंभवे वि न अन्नहा भासियं एव अन्नेणावि सिवसुहत्थिणा जहट्ठियं जिणवयणं भणियव्वं कालगायरियं कहाणयं सम्मत्तं'' । ननु यद्येवमन्यथा कथने दण्डो भवति तर्हि किमित्यन्यथा कथ्यते इत्याह ।

मुहमहुरं परिणइमं–गुलं च गिण्हंति दिंति उवएसं ।
महुकडुयं परिणइ सुं–दरं च विरलव्वि य भणंति ॥२६॥

मुखे मधुरं मुखमधुरं यथा धार्म्मिकस्त्वमसि सङ्ग पुरुष इति वा एवंविध वचनं न हि तदुणविकलस्यापि मनः प्रह्लादयति परिणतौ मङ्गु लमसुन्दरं परिणतिमङ्गु लं चशब्दस्यापि शब्दार्थत्वात्ततोऽसुन्दरमपि भवान्तरे कर्णसुखदत्वात् गृह्णन्ति कुर्व्वन्तीत्यर्थः । ददति च परचेतोवृत्तिरञ्जन-प्रवणपुरुषाणां प्रायः प्रभूतत्वात् मुखकटुकं परिणतिसुन्दरम् । चशब्दस्य पुनः शब्दार्थत्वात्ततो विरला एव पुनर्भणन्ति प्रतिपादयन्ति । अयमत्र भावार्थः । को हि नामात्मनः कटुकभाषित्वमप्यङ्गीकृत्य यथावस्थितोभ-यलोकहितोपदेशदाने प्रवर्तते । प्रायेण हि प्रभूततराः स्वार्थाभिमता एव दृश्यन्त एवेति गाथार्थः ।

यद्येवं कर्णकटुकमुभयलोकहितमपि विरला एव गृह्णन्ति ततः किं तदुपदेशेनेत्याह–

भवगिहमज्झम्मि पमाय– जलणजलियम्मि मोहनिद्दाए ।
उद्दवइ जो सुयंतं, सो तस्स जणो परमबंधू ॥३०॥

भवः संसारःस एव गृहं भवगृहं तस्य मध्यं भवगृहमध्यं तस्मिन् प्रमादो मद्यादिरनेकधा स एव ज्वलनो वैश्वानरः तेन ज्वलितो दीप्तस्स प्रमादज्वलनज्वलितस्तस्मिन् । मोहनीयमेव निद्रा हिता–हितविवेकवैकल्यकारकत्वात् तथा स्वपन्तं स्वापं कुर्वन्तं यः कश्चि-दनुपकृतः परहितरतः उत्थापयति सदुपदेशदानेन प्रमादव्यवहि-तानुष्ठाने च प्रवर्तयति स तस्य प्रमादस्यापवर्ती जनो लोकः पर-बन्धुरात्यन्तिकैकान्तिकबन्धुरिति गाथार्थः ॥ यत एव सदुपदेश–दानतः परमबान्धवा भवन्ति अत एव भावतस्ते पूजनीया इत्याह–

जइ वि हु सकम्मदोसा, भणयं सीयंति चरणकरणेसु ।
सुद्धपरूवगा तेण, भावओ पूयणिज्जंति ॥३१॥

यद्यपि स्वकर्म्मदोषाच्चारित्रावरणोदयान्मनाक् सीदन्ति मनाग-शुद्धानुष्ठाना भवन्ति चरणकरणयोर्वक्ष्यमाणस्वभावयोः शुद्धप्ररूपकाः सम्यग्मार्गविभाषकास्तेन ते भावतोऽपि मोक्षनिमित्तमपि पूजनीया इति । अयमत्र भावार्थः । ये मिथ्यात्वावष्टब्धचेतसो मुग्धधीबन्धनपरायणा लोकरूढ्या बहुश्रुता अपि सम्यक् क्रियावादिनोऽपि परशास्त्राभिप्राय-पराङ्मुखास्ते विषान्नाहिसिंहादिवत्परित्याज्याः मार्गोच्छेदकत्वेन संसारकारणत्वात् । ये तु स्वयं कर्म्मपरतन्त्रतयापि मोक्षसुखाभिलाषितया मनाक् सीदन्तोऽपि चरणकरणयोर्भवभ्रमणभीरुतया यथावस्थितशिव-मार्गप्रकाशकाः स्वानुष्ठानापक्षपातिनस्ते तृतीयमार्गानुयायित्वाद्भावतः परमार्थतः पूज्या इति गाथार्थः । यत एवं क्रियाविकलोऽपि श्रमणमार्गप्ररूपको भावतोऽपि पूज्यते कुग्राहग्रस्ततयोन्मार्गप्ररूपकः क्रियावानपि सर्प्पादिवत्परित्यज्यते ततो विवेकवता किमुचितमित्याह ।

एवं जिया आगमदिट्ठिदिट्ठ–सुन्नायमग्गा सुहमग्गलग्गा ।
गयाणुगामीण जणाण मग्गे, लग्गंति नो गड्डरिकापवाहे ॥

एवमिति पूर्वकथितप्रकारेण अत एव शुभमार्गलग्ना जीवाः प्राणिनः सदा सदागमावदातबुद्धयः किं न लग्नन्ति न लीयन्ते क्व गड्डरिका–प्रवाहे कथंभूता आगम आप्तवचनं स एव दृष्टिर्हिताहितपदार्थप्रका-सकत्वादागमदृष्टिः । तया दृष्टमवलोकितमागमदृष्टिदृष्टं तेन शोभन-प्रकारेण ज्ञातो मार्गो ज्ञानादिको यैस्ते आगमदृष्टिदृष्टसुज्ञातमार्गाः। क्व मार्गे केषां जनानां कथंभूतानां गतानुगामिनाम् । गतं गच्छन्तीन्येवं शीला गतानुगामिनस्तेषाम् । अयमभिप्रायः । ये हि सुविहित-संपर्कात्सम्यगाप्तमोक्षमार्गा भवन्ति तान् मुक्त्वा मिथ्यात्वमोहमो-हितमतिगतानुगतप्रवर्तितमार्गे गड्डरिकाप्रवाहकृत्यं नाङ्गीकुर्वन्त्यपि तु सन्मार्ग एव व्रजन्तीतिवृत्तार्थः ॥ नन्वित्थं भूताः केचन एवावदातबुद्धयः स्वल्पा दृश्यन्ते प्रभूततराः पुनः प्रवाहानुयायिन इति किमत्र तत्त्वमित्याह ''नेगंतेणं चिय'' अथवा बहुतरतमाः शास्त्रगर्भार्थवेदिनोऽप्येवंविध-प्रवृत्तिमन्त एव दृश्यन्ते लोकेऽप्येवंविधमेव श्रूयते यथा ''महजनो येन गतः स पन्थाः'' इत्याशयवतः शिष्यस्य शिक्षार्थमाह–

नेगंतेणं चिय लो–गनायसारेण एत्थ होयव्वं ।
बहुमुंडाइवयणाउ, आणाइत्तो इह पमाणं ॥३३॥

नैकान्तेनैव लोकज्ञातसारेण भाव्यम् । अत्र धर्म्मविचारे तस्यहि विचित्राश्रयेणानेकरूपत्वात् तदप्रवृत्तौ हेतुमाह बहुमुण्डादिवचनात् यदिह बहुवचनप्रवृत्तिरेव गरीयसी तदा नेदमागमवचनमभविष्यत्त–द्यथा ''कलहकरा डमरकरा, असमाहिकरा अनिव्वुइकस य । होहिंति भरहवासे, बहुमुंडे अप्पसमणा य'' इत एतस्माद्धेतोराज्ञैवेह प्रमाणं शास्त्रमेव प्रमाणमिति गाथार्थः । यदि पुनः प्रमाणं द्रव्यपूजया मिथ्याभिमाना ज्ञानितया वा लोकप्रवृत्तिरेवाङ्गीक्रियते.ततोऽन्यदर्था-न्तरमापद्यत इत्याह –

बहुजणपवित्तिसित्तं, इत्थं तेहिं इह लोइओ चेव ।
धम्मो न उज्झियव्वो, जेण तहिं बहुजणपवित्ती ॥३४॥

बहवश्च बहुजनास्तेषां प्रवृत्तिरेकान्तेनागमनिरपेक्षितया स्वरुचि-विरचितानुष्ठानस्यैव बहुजनप्रवृत्तिमात्रं तदिच्छद्भिरिह धर्म्मविचारे लौकिक एव धर्म्मो नैव परित्याज्यः स्यात् येन कारणेन तत्र तस्मिन् लौकिके धर्मे बहुजनप्रवृत्तिप्रभृतीनां प्रवृत्तिदर्शनादिति गाथार्थः । यत एवाज्ञाप्रमाणमत एवाह ॥

ता आणाणुगया जं, तं चेव बुहेण सेवियव्वं तु ।
किमिह बहुणा जणेणं हंदिणेस अत्थि णो बहुया ॥३५॥

यस्मात्कारणात् बहुजनप्रवर्त्तमानं सेवनीयं ता तस्मात्कारणा-दाज्ञानुगतं यत्तदेव बुधेन जिनाज्ञापरिपालनफलवेदिना सेवनीय-मासेव्यमित्यर्थः । तुशब्दश्चैवकारार्थो योजित एव किमिति न किञ्चिदित्यर्थः । इहैव धर्म्मविचारे परलोकचिन्तायां वा बहुना जनेन बहुजनोन्मार्गप्रवर्तकेनेत्यर्थः । हन्दीत्युपदर्शने ततः प्रसिद्धमेतत्ते–नैव बहवः श्रेयोर्थिनो मोक्षार्थिनः । संप्रति काले बहवो मुण्डाःअल्पाश्च श्रमणा इति वचनादिति गाथार्थः । इत्यनेकथा विधिमार्गसमर्थनमाकर्ण्य मिथ्यात्वादुतसहसोद्बोधलोचना यन्मन्यन्ते तदाह । अथवा स्वयं ये सन्मार्गगमनाप्रवणाः इत्थं च सन्मार्गप्ररूपणामाकर्ण्य मुग्धबुद्धिबन्धनार्थं यद्वदन्ति तदाह–

दूसमकाले दुलहो, विहिमग्गो धम्मि चेव कीरंते ।
ता जायइ तित्थछेओ , केसिं चिय कुग्गहो एसो ॥३६॥

दुःषमारूपः कालो दुःषमाकालस्तस्मिन् तल्लाभे दुरापः स्वक-र्म्मपरिणतेरुन्मार्गप्रवृत्तलोकाद्वा विधिमार्गः शास्त्रोक्तानुष्ठानप्रवृ–त्तिरूपः तस्मिंश्च क्रियमाणे विधीयमाने जायते संपद्यते तीर्थोच्छेदः शास्त्रोक्तानुष्ठानवतामत्यल्पत्वादितरेषां चातिबहुत्वादित्यर्थः । तादृग्विधानं च क्वापि कथंचिदेव सद्भावादिति केषांचित्कुग्रह एष इति कुग्रहता चैवैषामतोऽवसीयते यतः सदनुष्ठानसाध्यमपि मोक्षमसदनुष्ठानेन प्रकल्पयन्ति । नहि नाम सुवर्णरत्नसाध्यमलङ्कारादिकं मृत्तिकया सिध्यतीति गाथार्थः । एतदपि कुतोऽवसीयत इत्याह ॥

जम्हा न मोक्खमग्गं, मोत्तूणं आगमं इह पमाणं ।
विज्जइ छउमत्थाणं, तम्हा तत्थेव जइयव्वं ॥३७॥

यस्मान्न नैव मोक्षमार्गे मोक्षे साध्ये मोक्षागमं शास्त्रं परि-त्यज्येत्यर्थः। इहेति धर्म्मविचारे प्रमाणमालम्बनमित्यर्थः। विद्यते छद्मस्थानामति-शयवतां हि यथा कथञ्चित्सेवातिशयवशात्प्रवर्तमानानामपि निर्जरालाभ एवावसीयते तत्र ईहितैः पुनः सर्वथा शास्त्रतेव प्रमाणीकर्त्तव्यम्। तस्मात्तत्रैव यतितव्यमुद्यमः कार्य इति गाथार्थः। शास्त्राभिप्रायेणैव संसारमोक्षमार्गप्ररूपणायाह॥

गिहिलिंगि कुलिंगि य दव्व–लिंगिणो छिन्नि हुंति भवमग्गा।
सुजइसुसावगसंविग्ग–पक्खिणो तिन्नि मोक्खपहा॥३८॥

तत्र गृहमेव लिङ्गं येषां ते गृहलिङ्गिनः राजामात्यप्रकृतिप्रभृतयः कुत्सितं लिङ्गं कुलिङ्गं शिवसुखासाधकं तद्विद्यते येषां ते कुलिङ्गि–नः स्वरुचिविरचिताकाराचाराः त्रिदण्डिबौद्धतापसादयः द्रव्यप्र–धानं लिङ्गं तद्विद्यते येषां ते द्रव्यलिङ्गिनः गृहलिङ्गिनश्चेत्यादि द्वन्द्वो गृहिलिङ्गिकुलिङ्गिद्रव्यलिङ्गिनः। एते त्रयोऽपि भवन्ति भवमार्गाः ससारपथाः सुयतयः साधुसमाचारचरणप्रवणाः सुश्रावकः सम्य–क्त्वाणुव्रतादिसकलालापोपेताःसंविग्नाः सुसाधवस्तेषां पक्षेण चरन्ति ये ते संविग्नपाक्षिकाः सम्यक् संयमपरिपालनासमर्था अपि सुयतिपक्ष-पातेनात्मनिस्तारका इत्यर्थः। पूर्वपदे ते त्रयोऽपि मोक्षमार्गा इति गाथार्थः। कथमेते त्रय एव मोक्षमार्गा नान्ये शेषा; किमन्यैर्मामापराद्धमित्याह॥

सम्मत्तनाणचरणा–मग्गो मोक्खस्स जिणवरुद्दिट्ठो।
विवरीओ उम्मग्गो, णायव्वो बुद्धिमंतेहिं॥३९॥

सम्यक्तवज्ञानाचरणानि मोक्षमार्गो मोक्षश्च जिनवरोद्दिष्टस्तीर्थ–कृदुपदिष्ट इत्यर्थः। स च सर्वथा सम्यक्त्वादित्रिक एव यतोऽतः शेषः सर्वोऽपि तद्व्यतिरिक्त उन्मार्गः शिवसुखासाधन इति ज्ञात–व्योऽवबोद्धव्यः बुद्धिमद्भिर्विवेकविद्भिरिति गाथार्थः। दर्श०॥

उम्मग्गदेसय पुं०(उन्मार्गदेशक) ज्ञानादीनि पारमार्थिकमार्गरूपा–ण्यप्ररूपयति। असन्मार्गप्ररूपके, वृ० १ उ०। ''उम्मग्गदेसओ मग्ग, नासओमग्गविप्पडिवत्ती। मोहेण य मोहित्ता, संमोहिं भावणं कुणइ''। ग०२ अधि०॥

उम्मग्गपइट्ठिय त्रि०(उन्मार्गप्रतिष्ठित) असन्मार्गस्थिते, ''भयवं कहिं लिंगेहिं उम्मग्गपइट्ठियं वियाणिज्जा ग०१ अधि०। (आयरि–यशब्दे उक्तम्) उन्मार्गगामिनि,'' ''अत्थेगे गोयमा पाणी, जे उम्मग्गपइट्ठिए। गच्छम्मि संवसित्ताणं, भमइ भवपरंपरं'' ग० १अधि०।

उम्मग्गपडिवण्ण त्रि०(उन्मार्गप्रतिपन्न) आश्रितकुदृष्टिशासने, ''उम्मग्गपडिप्पेसप्पहनिणट्ठे मिच्छत्तबलाभिभूए'' उपा० ७ अ०।

उम्मज्जग पुं०(उन्मार्जक) वानप्रस्थतापसभेदे, उन्मार्जनमात्रेण ये स्नान्ति। भ० ११ श० ६ उ०। नि०। ओ०। कण्ठ दघ्ने जले स्थित्वा तपः कुर्वन् प्रवर्तते। उन्मज्जकः स विज्ञेयस्तापसो लोक–पूजितः'' इत्युक्तलक्षणे तापसभेदे, जलादेरुपर्यु पर्युत्प्लावके, त्रि० वाच०।

उम्मज्जणिमज्जिया० स्त्री०(उन्मग्ननिमाग्निका) उत्पतननिपतना–याम्, उत्पतननिपतनकरणे, ''अहे उम्मज्जणिमज्जियं करेमाणे देसं पुढवीए चलेज्जा'' स्था०३ ठा०॥

उम्मत्त त्रि०(उन्मत्त) उद्–मद्–करणे–क्त। धुस्तरे, मुचुकुन्द–वृक्षे च, कर्त्तरि–क्त वाच०॥ धूर्मिते, अष्ट०। मन्मथोन्मादयुक्ते, विटे, वृ०१ उ०। यक्षादिभिः प्रबलमोहोदयेन वा परवशे, ध० ३ अधि०। दूते, ग्रहगृहीते, पिं०। अस्य दीक्षाया अयोग्यत्वमुच्यते॥

उम्माहो खलु दुविहा, जक्खावेसो य मोहणिज्जो य।
अगणीआलीवणता, आतवयविराहणुड्डाहो॥३७८॥

जक्खेण आविट्ठो मोहणिज्जकम्मोदएण वा से उड्डाहो जातो एते दोवि ण पव्वावेयव्वा। इमे दोसा अगणीए पयावणादिकरेज्ज पभावणं करेज्ज अप्पाणं वयाणि वा विराहेज्ज। खरियादिग्गहणेण वा उड्डाहं करेज्जा॥

छक्काए ण सद्दहति, सज्झायज्झाणजोगकरणं वा।
उवदिट्ठं पि ण गेण्हइ, उम्मत्ते ण कप्पती दिक्खा॥३८०॥

षट्काये णसद्दहति सज्झायज्झाणं नकरेति अप्पसत्थे मणादि–जोगे करेति पडिलेहणसंजमादिकारणजोगे ण करेति। अन्नं पि विविधं चक्कवालसामायारीए उवदिट्ठं ण करेति। एवमादिएहिं दोसेहिं उम्मत्ते न कप्पति दिक्खा॥ नि०चू० ११ उ०। पं० भा०। उत्प्रा–बल्येन मत्त उन्मत्तो दरमत्तो वा उन्मत्तः। प्रबलमत्ते, ईषन्मत्ते च। नि०चू० १० उ०। उद्धते, वाच०। भरतक्षेत्रे वैताढ्यगिरिदक्षिणश्रे–णिमण्डने शिवमन्दिरे नगरे ज्वलनशिखस्यराज्ञोऽङ्गजे उत्त० १३अ०।

उम्मत्तगभूय पुं०(उन्मत्तकभूत) उन्मत्तको मदिरादिना विप्लुत–चित्तः स इव उन्मत्तकभूतो भूतशब्दस्योपमानार्थत्वात्। उन्मत्त–ककल्पे उन्मत्तक एव वा उन्मत्तकभूतो भूतशब्दस्य प्रकृत्यर्थत्वात्। उन्मत्तके, स्था० ४ ठा०॥

उम्मत्तजला स्त्री०(उन्मत्तजला) जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वेण शीतो–दाया महानद्या दक्षिणे बहन्त्यामन्तर्नद्याम्, स्था०३ ठा०। ''रम्मए विजए उम्मत्तजला महाणई'' रम्यो विजयः पद्मावती राजपूः उन्मत्तजला महानदी। जं० ४ वक्ष०। ''दो उम्मत्तजलाओ'' स्था०२ ठा०।

उम्मत्थ धा०(अभि–आ–गम्) अभिमुखगमने, **अभ्या डोम्मत्थः'' ॥८।४।६४॥** अभ्याङ्भ्यां युक्तस्य गमेरुम्मत्थ इत्यादेशो वा भवति। उम्मत्थइ अब्भागच्छइ। अभ्यागच्छति। अभिमुखमाग–च्छतीत्यर्थः। प्रा०।

उम्माण न०(उन्मान) उन्मीयते तदित्युन्मानम्। कर्षादिके तुलामाने, ज्ञा०१ अ०। स्था०। कल्प०। भ०। तद्विषयं यत्तदपि उन्मानम्। खण्डगुडादिधरिमे, स्था० १० ठा०।

अथोन्मानमभिधित्सुराह।

से किं तं उम्माणे २ जण्णं उम्मिणिज्जइ तंजहा अद्धकरिसो करिसो पलं अद्धपलं अद्धतुला तुला अद्धभारो भारो। दो अद्धकरिसो करिसो दोकरिसो अद्धपलं दो अद्धपलाइ पलं पंचपलसइआ तुला दसतुलाओ अद्धभारो वीसं तुलाओ भारो। एएणं उम्माणपमाणेणं किं पओयणं एएणं उम्माणपमाणेणं पत्ता अगरतगरचोआकुं कु मखडं गुलमच्छडिआईणं दव्वाणं उम्माणपमाणनिव्वित्तिलक्खणं अवइ सेत्तं उम्माणपमाणेणं॥

यदुन्मीयते [illegible]निनियतस्वरूपतया व्यवस्थाप्यते तदुन्मानं तद्यथा। अर्द्धकर्ष इ[illegible]। पलस्याष्टमांशोऽर्द्धकर्षः तस्यैव चतुर्भागः कर्षः पलस्यार्द्धमर्द्धपलमित्यादि सर्वं मागधदेशप्रसिद्धं सूत्रमेव नवरं पलाशपत्रकमारीपात्रादिकं पत्रं चोय उपलविशेषः मच्छडिका शर्करावि[illegible]। अनु०। नाराचादौ, अश्वादीनां वेगादिपरीक्षायाम्, आचा०२ श्रु०। उन्मीयते ऽनेनेत्युन्मानम्। अर्द्धभारपरिमाणतायाम्, ''जलदोणमद्ध–

भारं समुहाइं समूसिओ उ जो नवओ। माणुम्माणपमाणं, तिविहं खलु लक्खणं नेयं'' उन्मानं तुलारोपितस्यार्द्धभारप्रमाणता। सा च सारपुद्गलोपचितत्वात् तुलायामारोपितः सन्नर्द्धभार यः पुरुष–स्तुलयत स उन्मानयुक्तो भवति। प्रव० २५६ द्वा०। स्था०। नि० चू०। कल्प०।

उम्माथिय त्रि०(उन्माथित) सञ्जातोन्माथे, सुतरामुन्माथितो बभूव तमुन्माथितं विज्ञाय। आ०म० प्र०।

उम्माद(य) पुं०(उन्माद) उद्– मद्– घञ् – उन्मत्ततायाम्, विविक्तचेतनाभ्रंशे ग्रहे बुद्धिविप्लवे, भ० २४ श० २उ०। चित्तविभ्रमे, स्था०३ ठा०। क्षिप्तादिके, आव०४ अ०। आ०चू०। नष्टचित्ततायाम्, आलजालजल्पने, प्रव० १६६ द्वा०। कामेन पारवश्ये, उत्त० १६अ०। अत्यन्तकामोद्रेकादालिङ्गने च। विशे०॥

तस्य भेदा यथा–

कइविहे णं भंते उम्मादे पण्णत्ते? गोयमा ! दुविहे उम्मादे पण्णत्ते, तंजहाजक्खावेसे य मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदय णं तत्थ णं जे से जक्खाएसे से णं सुहवेदणतराए चेव, सुह–विमोयणतराए चेव। तत्थ णं जे से मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं सेणं दुहवेदणतराए चेव दुहविमोयणतराए चेव।

उन्माद उन्मत्तता विविक्तचेतना भ्रंश इत्यर्थः। ''तथा उन्मादो ग्रहो बुद्धिविप्लव इत्यर्थः'' (जक्खाएसेयत्ति) यक्षो देवस्तेनावेशः प्राणिनोऽधिष्ठानं यक्षावेशः इत्येकः (मोहणिज्जस्सेत्यादि) मोहनी–यस्य दर्शनमोहनीयादेः कर्मण उदये नव्यः सोऽन्य इति। तत्र मोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीयं तस्योदयादुन्मादो भवति यतस्त–दुदयवर्ती जन्तुरतत्त्वं तत्त्वं मन्यते तत्त्वमपि चातत्त्वं चारित्रमोहनीयं वा, यतस्तदुदये जानन्नपि विषयादीनां स्परूपमजानन्निव वर्त्तते। अथवा चारित्रमोहनीयस्यैव विशेषो वेदाख्यो मोहनीयं यतस्तदु–यविशेषे अत्युन्मत्त एव भवति यदाह ''चिंतेइ १ दट्ठुमिच्छइ, २ दीहं नीससइ ३ तह जरे ४ दाहे ५। भत्तअरोयग ६ मुच्छा ७ उम्माए ८ न याणई ९ मरणंति'' १०॥१॥ एतयोश्चोन्मादत्वे समानेऽपि विशेषं दर्शयन्नाह (तत्थणमित्यादि) तत्र तयोर्मध्ये ''योऽसौ यक्षाविष्टो भवति'' (सुभवेयणतराए चेवत्ति) अतिशयतः सुखेन मोहजन्योन्मादापेक्षया अक्लेशेन वेदनमनुभवनं यस्यासौ सुखवेदनतर : स एव सुखवेदनतरकः मोहजनितग्रहापेक्षया अकृच्छ्रानुभवनीयतर एव नैकान्तिकान त्यन्तिकभ्रमरूपत्वादस्येति। चैव शब्दः स्वरूपावधारणे (सुहविमोयण–तराए चेवत्ति) अतिशयेन सुखेन विमोचनं वियोजनं यस्मादसौ सुखविमोचनतरः। कप्रत्यय–स्तथैव। अथवा अत्यन्तं सुखापेयः सुखापेयतरः तथा अत्यन्तं सुखेनैव विमुञ्चति यो देहिनं स सुखविमोचनतरक इति मोहस्तु तद्विपरीतः एकान्तिकात्यन्तिक–भ्रमस्वभावतयात्यन्तानुचितप्रवृत्तिहेतुत्वेनानन्तभावकारणत्वात् तथान्तरकारणजनितत्वेन मन्त्राद्यसाध्यत्वात् कर्म्मक्षयोपशमादिनवै साध्यत्वादित्यत एवोक्तम् (दुहवेयतराए चेव दुहविमोयतराए चेवत्ति) अतिशयेन दुःख वेद्य एव दुःख विमोच्य एव चासाविति॥ (तत्थण मित्यादि) मोहजन्योन्माद इतरापेक्षया दुःखवेदनतरो भवति अनन्तसंसारकार–णत्वात्। संसारस्य च दुःखवेदनस्वभावत्वादितरस्तु सुखवेदनतर एव एकभविकत्वादिति। तथा मोहजोन्माद इतरापेक्षया दुःखविमोचनतरो भवति विद्यामन्त्रतन्त्रदेवानुग्रहवतामपि वार्तिकानां तस्यासाध्यत्वादितरस्तु सुखविमोचनतर एव भवति। मन्त्रमात्रे–णापि तस्य निग्रहीतुं शक्यत्वादिति। आह च ''सर्वज्ञमन्त्रवाद्यापि, यस्य न सर्वस्य निग्रहे शक्तः। मिथ्यामोहोन्मादः, स केन किल कथ्यतां तुल्यः'' इदञ्च द्वयमपि चतुर्विंशतिदण्डके योजयन्नाह॥

नेरइया णं भंते ! कइविहे उन्मादे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उम्मादे पण्णत्ते तंजहा जक्खावेसे य मोहणीज्जस्स कम्मस्स उदएणं। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइयाणं दुविहे उम्मादे पण्णत्ते? जक्खावेसे य मोहणीज्जस्स कम्मस्स उदएणं गोयमा! देवे वासे असुभे पोग्गले पक्खिवेज्जा। सेणं तेसिं असुभाणं पोग्गलाणं पक्खिवणयाए जक्खावेसे णं उम्मादे पाउणेज्जा मोहणिज्जस्स वा कम्मस्स उदएणं मोहणिज्जं उम्मायं पाउणेज्जा से तेणट्ठेणं जाव उदएणं। असुरकुमाराणं भंते ! कइविहे उम्मादे पण्णत्ते? एवं जहेव णेरइयाणं णवरं देवे वासे महिड्ढियतराए चेव असुभे पोग्गले पक्खिवेज्जा सेणं तेसिं असुभाणं पोग्गला णं पक्खिवणयाए जक्खाएसं उम्मादं पाउणेज्जा। मोहणिज्जस्स वा सेसं तं चेव से तेणट्ठेणं जाव उदएणं एवं जाव थणियकुमा–राणं पुढविकाइयाणं जाव मणुस्साणं एएसिं जहा णेरइयाणं वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं।

(णेरइयाणमित्यादि) पुढविकाइयाणमित्यादौ यदुक्तं जहानेरइ–याणंति तेन देवे वासे असुभे पोग्गले पक्खिवेज्जा इत्येतद्यक्षावेशे पृथिव्यादिसूत्रेष्वध्यापितं वाणमन्तरेत्यादौ तु यदुक्तं ''जहाअसुरा णंति'' तेन यक्षावेश एव व्यन्तरादिसूत्रेषु देवे वासे महिड्ढियतराए इत्येतदध्यापितं मोहोन्मादालापकस्तु सर्वसूत्रेषु समान इति॥ भ० १४ श० २ उ०। षड्भिः प्रकारैरात्मन उन्मादस्तद्यथा॥

छहिं ठाणेहिं आया उम्मायं पाउणेज्जा तंजहा अरहंता णमवण्णं वदमाणे अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वदमाणे आयरियउवज्झायाणमवन्नं वदमाणे चाउवन्नस्स संघस्स य अवन्नं वदमाणे जक्खावेसेण चेव मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं।

अनन्तरं श्रमणस्याहारग्रहणकारणान्यभिहितानीति श्रमणादे–र्जीवस्यानुचितकारिण उन्मादस्थानान्याह (छहीत्यादि) इदं च सूत्रं पञ्चस्थानक एव व्याख्यातप्रायं नवर षड्भिः स्थानैरात्मा जीव उन्मादमुन्मत्ततां प्राप्नुयादुन्मादश्च महामिथ्यात्वलक्षणस्ती–र्थकरादीनामवर्णवादतो भवत्येवं तीर्थकराद्यवर्णवदनकुपितप्रव–चनदेवतातो वाऽसौ ग्रहणरूपो भवेदिति पाठान्तरेण। (उम्मायप–मायंति) उन्मादः सङ्ग्रहत्वं स एव प्रमादः प्रमत्तत्वमाभोगशून्यतोन्मादप्रमादः। अथवोन्मादश्च प्रमादश्चाहितप्रवृत्तिहिताप्रवृत्ती उन्मादप्रमादं प्राप्नुयादिति। (अवण्णंति) अवर्णमश्लाघामवज्ञां वा वदन् व्रजन् वा कुर्व्वन्नित्यर्थः (धम्मस्सत्ति) श्रुतस्य चारित्रस्य वा आचार्योपाध्यायानाञ्च चतुर्वर्णस्य श्रमणादिभेदेन चतुःप्रकारस्य यक्षावेशेन चैवं निमित्तान्तरकुपितदेवाधिष्ठितत्वे मोहनीयस्स मिथ्यात्ववेदशोकोद–येनेति। स्था० ६ ठा०॥

उम्माद(य) त्रि०पत्त(उन्मादप्राप्त) उन्मादमुन्मत्ततां प्राप्तः। उन्मादप्राप्तः। स्था० ५ ठा०। मोहनीयकर्मोदयेन चित्तशून्यता–

मुपागते, वृ०३ उ० । वातादिदोषादुन्मत्ततामुपागते, स्था० ५ ठा० । उन्मादप्राप्तायां निर्ग्रन्थ्याः प्रतिचर्य्या यथा–

(सूत्रम्) उम्मायपत्तिं निग्गथिं निग्गंथे गिण्हमाणे २नातिक्कमइ

अस्य व्याख्या प्राग्वत् अथोन्मादप्ररूपणार्थं भाष्यकारः प्राह ॥

उम्मत्तो खलु दुविधो, जक्खावेसो य मोहणिज्जो य ।
जक्खाएसो बुत्तो, मोहेण इमं तु वोच्छामि ॥

उन्मादः खलु निश्चितं द्विविधो द्विप्रकारस्तद्यथा यक्षावेशहेतुको यक्षावेशः कार्ये कारणोपचारात् । एवं मोहनीयकर्मोदयहेतुको मोह–नीयवशाद् द्वौ चकारौ परस्परसमुच्चयार्थौ स्वगतानेकभेदसंसूचकौ वा । तत्र यो यक्षावेशो यक्षावेशहेतुकः सोऽनन्तरसूत्रोक्तो यस्तु मोहेन मोहनीयोदयेन मोहनीयं नाम येनात्मा मुह्यति तच्च ज्ञानावरणीयं मोहनीयं वा द्रष्टव्यं द्वाभ्यामप्यात्मनो विषर्यासापादनात् । तेनोत्तरत्र अहमपि तमुत्थाय ईर्याद्युच्यमानं न विरुध्यते (इमंतुत्ति) अयमन्तरमेव वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षीभूत इव तमेवेदानीं वक्ष्यामि । प्रतिज्ञातं निर्वाहयति ॥

रूवंगं दट्ठूण, उम्मातो अहव पित्तमुच्छाए ।
नट्ठायणाणि वा ते, पित्तम्मि य सक्करादीणि ॥

रूपं विटादेराकृतिरङ्गं च गृह्याङ्गं रूपाङ्गं तद् दृष्ट्वा कस्या अप्युन्मादो भवेत् । अथवा पित्तमूर्छया पित्तोद्रेकेणोपलक्षत्वाद्वातोद्रेकवशतो वा स्यादुन्मादः । तत्र रूपाङ्गं दृष्ट्वा यस्या उन्मादः । संजातस्तस्यास्तस्य रूपाङ्गस्य विरूपावस्थां प्राप्तस्य दर्शना कर्त्तव्या । या तु घातेनोन्मादं प्राप्ता सा निवाते स्थापनीया उपलक्षणमिदं तेन तेलादिना शरीरस्याभ्यङ्गो घृतपायनं च तस्याः क्रियते । पित्तवशान्मत्तीभूतायाः शर्करा क्षीरादीनि दातव्यानि कथं पुनरसौ रूपाङ्गदर्शनेनोन्मादं गच्छेदित्याह ॥

दट्ठूणं नडं काई, उत्तरविउव्वितं मयणखित्ता ।
तेण विय रूवेण उड्डम्मिकायम्मि निव्विण्णा ॥

काचिदल्पसत्वा नटं दृष्ट्वा किंविशिष्टमित्याह । उत्तरवैकुर्विकमु–त्तरकालभाविवस्त्राभरणादिविचित्रकृत्रिमविभूषाशोभितं ततः काचिन्मदनक्षिप्ता उन्मादप्राप्ता भवेत् तत्रेयं यतना । उत्तरवैकुर्वि–कात्प्रसारणेन तेनैव स्वाभाविकेन रूपेण तस्मिन्नूर्द्धकृते सति काचिदल्पकर्मा निर्विण्णा भवति तद्विषयं विरागं गच्छतीत्यर्थः ॥

पण्णवितो उ दुरूपो, उन्मं दिज्जति अ तीए पुरतो उ ।
रूववतो पुण भत्तं, तं दिज्जति जेण छड्डेति ॥

अन्यच्च यदि नटः स्वरूपो दुरूपतो भवति । ततः स पूर्वं प्रज्ञाप्यते प्रज्ञापितश्च सन् तस्या उन्मादप्राप्तायाः पुरत उन्मण्डय यत्तस्य मण्डनं तत्सर्वमपनीयते । ततो विरूपरूपदर्शनतो विरागो भवति । अथासौ नटः स्वभावत एव रूपवान् अतिशायिनोद्भटरूपेण युक्तः ततस्तस्य भक्तं मदनफलमिश्रादिकं तद्दीयते येन भुक्तेन तस्याः पुरतः छर्दयति उद्वमति उद्वमनं च कुर्वन् किलासौ जुगुप्सनीयो भवति ततः सा तं दृष्ट्वा विरज्यते इति ।

गुज्झंगम्मि उ वियडं, पज्जावेऊण खरगमादीणं ।
तद्दरिसणे विरागो, तीसे तु हवेज्ज दट्ठूणं ॥

यदि पुनः कस्या अपि गुह्याङ्गे उन्मादो भवति रूपलावण्याद्यपेक्षस्ततः खरकादीनां द्व्यक्षरकप्रभृतीनां विकटं मद्यं पाययित्वा प्रसुप्तीकृतानां पथि मद्योद्वालखरण्टितसर्वशरीराणामत एव मक्षिकाभिर्णिभिणाय–मानानां (तद्वायणेत्ति) तस्य गुह्याङ्गस्य मद्योद्वालनादिना वीभत्सीभूतस्य दर्शना क्रियते । तच्च दृष्ट्वा तस्या आर्यिकाया विरागो भवेत् । ततः प्रगुणी भवति । वृ० ६ उ० ।

उन्मादप्राप्तस्य भिक्षोः प्रतिचर्य्या यथा ॥

उम्मायपत्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पए तस्स गणावच्छे–यस्स निव्वूहित्तए गिलाए करणियं वेयावडियं जाव ततो रोगातंकातो विप्पमुक्को ततो पच्छा लहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया इति ।

अस्य व्याख्या पूर्ववत् । उन्मादप्ररूपणा तु निर्ग्रन्थ्या इव नवरं पुरुषाभिलापः कार्यः ॥ क्षुल्लकस्य वातेन पित्तेन चोन्मादयतनामाह ।

वाते अज्झंगसिणेह, पज्जणादी तहा निवाए य ।
सक्करखीरादिहि य, पित्तचिगिच्छा उ कायव्वा ॥

वाते वातनिमित्ते उन्मादे तैलादिना शरीरस्याभ्यङ्ग क्रियते स्नेहपायनं घृतपायनमादिशब्दात्तथाविधान्यचिकित्सापरिग्रहः तत्कार्यते तथा निवाते स्थाप्यते । पित्तवशादुन्मत्तीभूतस्य शर्कराक्षीरादिभिस्तस्य चिकित्सा कर्त्तव्या ॥ व्य० २ उ० ।

उम्माद(य)पमाय पुं०(उन्मादप्रमाद) क०स० । उन्मादः सग्रहत्वं स एव प्रमादः प्रमत्तत्वमाभोगशून्यतोन्मादप्रमादः । गृहावेशादुप–योगशून्यतायाम्, उन्मादश्च प्रमादश्च समाहारद्वन्द्वः । अहितप्रवृति–हिताप्रवृत्त्योः, न० । स्था० ६ ठा० ।

उम्मि पुं० स्त्री(ऊर्मि) ऋ–मि–अर्तेरुच्च । महाकल्लोले, ज्ञा० १ अ० । भ० । स्था० । सम्बाधे, कल्लोलाकारेजनसमुदाये, भ०२ श०१उ० । ज्ञा० । प्रकाशे, वेगे वस्त्रसंकोचरेखायाम्, पीडायाम्, उत्कण्ठायाम्, बुभुक्षादिषु षट्सु देहमनः प्राणानां यथायथं धर्मेषु अश्वगतौ, स्त्री० । वाच० ॥

उम्मिमालिणी स्त्री०(ऊर्मिमालिनी) जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमतः शीतोदाया महानद्या उत्तरेण वहन्त्यामन्तर्नद्याम्, स्था० ३ ठा० । ''सुवप्पे विजए जयंती रायहाणी उम्मिमालिणी णई'' ''सुवप्रो विजयो वैजयन्ती राजधानी उर्मिमालिनी नदी'' जं० ४ वक्ष० । प्रश्न० । ''दो उम्मिमालिणीओ'' स्था० २ ।

उम्मिल्लण न०(उन्मीलन) **प्रादेर्मीलेः ॥८।४।३१॥** इति उदः परस्य मीलेरन्त्यस्य द्वित्वम् वा । प्रा० । विकाशे, चक्षुरादेः पुटविभेदे, भावे घञ् । उन्मीलोऽप्यत्र । वाच० ॥

उम्मिल्लिय न०(उन्मीलित) उद्– मील–भावे–क्तः उन्मीलने, अनु० विकसिते, अमुद्रिते च । णिच् –कर्मणि क्तः । प्रकाशिते, भेदितमुद्रणे नेत्रादौ ''ततो उम्मिल्लियाणि तस्स नयणाणि'' आ०म० द्वि० । ''पंजरुम्मिलियमणिकणगयूभियागे'' पञ्जराद् उन्मीलितमिव बहिष्कृतमिव पञ्जरोन्मीलितमिव । यथाहि किल किमपि वस्तु पञ्जरात् वंशादिमयप्रच्छादनविशेषात् बहिष्कृतम–त्यन्तमविनष्टच्छायत्वात् शोभते । तथा तदपि विमानमिति भावः। जी० ४ प्रति० । स० ॥

उम्मि(म्मी)वीइ स्त्री०(ऊर्मिवीचि) ऊर्मयश्च वीचयश्च महाकल्लो–लेषु, ह्रस्वकल्लोलेषु च ६ त० । ऊर्म्मीणां विविक्तत्वे, भ० १६ श० ६ उ० । स्था० । ''उम्मीवाई सहस्सकलियं ति'' ॥ ऊर्मयः क्लल्लोलास्तल्लक्षणा या वीचयस्ता ऊर्मिवीचयो वीचिशब्दो हि लोकेऽन्तरार्थोऽपि रूढोऽथवोर्मिवीच्योर्विशेषो गुरुत्वलघुत्वलक्षणः क्वचिद्वीचिशब्दो न पठ्यते एवेति ऊर्मिवीचीनां सहस्रैः कलितो युक्तो यः स तथा । स्था० १० ठा० ।

उम्मिसिय त्रि०(उन्मिषित) उद्– मिष्– क्त–प्रफुल्ले, किञ्चित्प्रका–

शिते, वाच० । उन्मीलिते भ० १४ श० १उ० । भावे क्तः । उत्मेषे, ''उम्मिसियणिमिसियंतरेण'' उन्मिषितनिमिषितान्तरेण यावता अन्तरेण व्यवधानेन उन्मेषनिमेषौ क्रियेते तावदन्तरप्रमाणेन । जी० ३ प्रति० ।

उम्मिस्स न०(उन्मिश्र) सचित्तसम्मिश्रे, तदभेदोपचारात्सप्तमे एषणादोषे,प्रव० ६७ द्वा० । ''बीयादि उम्मीसं'' बीजाद्युन्मिश्रं बीजकहरितादिभिर्यदुन्मिश्रमुच्यते । पंचा० १३ विव० । यदा अनाभोगेन अविचार्य्यैव शुद्धाशुद्धाहारं सम्मील्याददाति तदा सप्तम उन्मिश्रितदोषः । उत्त० २४ अ० । देवद्रव्यं खण्डादि सचित्तेन धान्यकणादिना मिश्रं ददत उन्मिश्रम् । ध० ३ अधि० ।

असण पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु होज्ज सम्मीसं, बीएसु हरीएसु वा ॥५७॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥५८॥

पानकं वापि स्वाद्यं तथा पुष्पैर्जातिपाटलादिभिर्भवेदुन्मिश्रं बीजैर्हरितैर्वेति तादृशं भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति ॥ दश० ५ अ० । (अस्य भेदादि-उन्मिश्रग्रहणनिषेधश्च एषणा शब्दे वक्ष्यते) अत्र प्रायश्चित्तम् ''उम्मीसे अणंते चउगुरुपच्छित्ते चउलहु मीसुम्मीसे अणंते मासगुरु परित्ते मासलहु लित्ते चउसु ठाणेसु जे तिण्णि तेसु सट्ठाणपच्छित्तं'' पं० चू० । ''प्राबल्येन मिश्रे वस्तुमात्रे, त्रि० । आव० । ''''कम्मुम्मीसगा सरीरा, कार्मणेन शरीरेणान्मिश्राणि । स्था० ४ ठा० ।

उम्मीलणा स्त्री०(उन्मीलना) प्रभवे, विशे० ।

उन्मीलिय त्रि०(उन्मीलित) उद्-मील-क्त-**प्रादेर्मीलेः ॥८।४।३१॥** इति उदः परस्य मीलेरन्त्यस्य द्वित्वाभावे रूपम् । प्रा० । उन्मेषे, विपा० १ श्रु० ७ अ० । ''पंजरुम्मिलियव्वमणिकण-गथूभियागा'' पञ्जरादुन्मीलित इव बहिष्कृता इव पञ्जरोन्मीलिताः । रा० । उन्मीलितमुन्मिषितं स्मितमुन्निद्रमित्यादिपर्य्यायाः । विशे० ।

उम्मुक्क त्रि०(उन्मुक्त) उद्- मुच्- क्त-ऊर्द्धक्षिप्ते, औ० । परित्यक्ते, विशे० ॥ ''उमुक्कमणुम्मुक्के, उम्मुच्चते य केसलंकारे'' आ०म० द्वि० । प्राबल्येन मुक्ते, ''ते वीरा बंधणुम्मुक्का नावकंखंति जीवियं'' सूत्र०१ श्रु० ६ अ० ।

उम्मुक्ककम्मकवय पुं०(उन्मुक्तकर्मकवच) सकलकर्मवियुक्तत्वात्सिद्धे, औ० ।

उम्मुक्कबालभाव पुं०स्त्री(उन्मुक्तबालभाव) त्यक्तबाल्ये जाताष्ट-वर्षे, सेवियणं दारए उम्मुक्कबालभावे विण्णयपरिणायमेत्ते कर्म० ।

उम्मुयणा स्त्री०(उन्मोचना) परिशातनायाम्, आव० ५ अ० ।

उम्मूलणा स्त्री०(उन्मूलना) उत्पाटने, ''उम्मूलणा सरीराओ'' वृक्षस्योन्मूलनेवोन्मूलना निष्काशनं जीवस्य शरीरादेहादिति द्वितिया गौणी हिंसा । प्रश्न० १ द्वा० ।

उम्मेस पुं०(उन्मेष) उद्- मिष् -घञ् -अक्षिव्यापारविशेषे, ''आगमणगमणभासुम्मेसमणजोगकायजोगा जेयावण्णे तहप्पगारा चलसभावा सव्वे ते'' भ० १३ श० ४ उ० ।

उम्ह(ण्) त्रि०[उ(ऊ)ष्मन्] उष्- आधारे-मनिन्-वाऽह्रस्वः । **पक्षश्मष्मस्म्हांम्हः ॥८।२।७४॥** इति ष्मभागस्य मकाराक्रान्तो हः प्रा० । गीर्ष्मर्तौ, कर्त्तरिमनिन् । आतपे, शषसहवर्णेषु, वाच० ॥ ''अणुमोदणउम्हमादिणे दोसा'' उष्मा नाम तेनाऽन्येन द्रव्येण तस्य रागिणो हस्तादौ परिताप आदिशब्दाद्यदि द्रव्यमसौ तत्र प्रक्षिपति । वृ० २ उ० ।

उम्हातिस त्रि०(युष्मादृश) युष्मद्- दृश्- कञ् - आत्वं पैशाच्याम् । **यादृशो देर्दुस्तिः ॥८।४।१६॥** इति (दृ) इति दृश इत्यस्य स्थाने तिरादेशः । भवादृशे, प्रा० ॥

उम्हासेस पुं०(ऊष्मावशेष) मनागपि ऊष्मे, ''उम्हासेसो विसिही होउं लद्धिं'' आव० ५ अ० ।

उय अव्य०(उत) अपि शब्दार्थे, विशे० ''उतामृतस्येशानो यदन्नेनातिरोहति'' आ०म०द्वि० सुतरामिति शब्दस्यार्थे, ''किमुयकुडवाडिस्स'' आव५ अ० । विकल्पे, समुच्चये, वितर्के, प्रश्ने, अत्यर्थे च । वाच० ॥

उयण्णेमाण त्रि०(प्रवर्त्तयत्) तिरश्चीन कुर्वति, ''उत्तारेमाणे वा उयण्णेमाणे वा जीवेहिं'' आचा०२ श्रु० ॥

उयत्तिय अव्य०(अपवृत्य) अपवर्त्तनं कृत्वेत्यर्थे, ''उयत्तियाणं गिण्हाहि, तहप्पगारं पाणगजातं'' आचा०२ श्रु० ॥

उयाय त्रि०(उपयात) उपगते, ''महासिलाकंटगं संगामं उयाए पुरओ य से सक्के'' भ०७श० ६ उ० ॥

उय्हे युष्मद्०(यूयम्) जस्- यूयवयौ- जसि । इति यूयादेशः । डे प्रथमयोरम् इति जसोऽमादेशः । पा० व्या० । **मे तुब्मेउज्झे तुम्हे तुय्हे उय्हे जसा ॥८।३।९१॥** इति जसा सहितस्य युष्मच्छब्दस्य उय्हे आदेशः । प्रा० । ''उय्हेचिट्ठह'' प्रश्न०

***युष्मान्** युष्मद्शस् । **वो तुब्मे उज्झे तुय्हे उय्हे मे शसा'' ॥८।३।९३॥** इति शसा सहितस्य युष्मच्छब्दस्य उय्हे आदेश 'उय्हे पेच्छामि' प्रा० ॥

उर पुं० न०(उरस) ऋ-असुन् धातोरुच्चरपरः । **स्नमदामशिरोनमः ॥८।१।३२॥** इति उरः पुँल्लिङ्गत्वम् । प्रा० । वक्षसि, स्था० १० ठा० । हृदये, प्रश्न० २ द्वा० । अष्टानामङ्गानां द्वितीयेऽङ्गे । ''सीसमुरोयरपिट्ठि'' आ०चू०२अ० । उत्त० । नि० चू० । प्रज्ञा० । ''उरे वित्थडाए'' अर्द्धमागध्या भाषया उरसि, विस्तृततया उरसो विस्तीर्णत्वात् । औ० । ''उरसि दलावेइ'' उरसि दापयति । विपा० । ''उरेणरिसभं सरं'' । स्था० ७ ठा० । शोभने, स्था० ४ ठा० ।

उरंउर न०(उरउरस्) साक्षच्छब्दार्थे ''चाउरंगिणं पि उरंउरे गिण्हित्तए'' वि० ३ अ० ।

उरकडग न०(उरःकटक) उरो हृदयं तदेव कटकमुरः कटकम् । उरोरूपे कटके, अनु० ॥

उरग पुं०स्त्री(उरग) उरसा गच्छति उरस्-गम्-ड । सलोपश्च सर्पे, अष्ट० । ''उरगगिरिजलणसागर-नहतलतरुगणसमो अ जो होइ । भमरमियधरणिजलरुह-रविपवणसमो अ सो समणो'' अनु० ।

उरगवर पुं०(उरगवर) नागवरे, ज्ञा० १६ अ० ।

उरगवीहि स्त्री०(उरगवीथी) उरगसंज्ञका वीथी उरगवीथी । सुक्रा-देरुरगसंज्ञेऽक्षभागे, स्था०१० ठा० (वीहीशब्दे स्पष्टम्)

उरच्छंद पुं०(उरश्छन्द) कवचे, हैम० ।

उरत्थ त्रि०(उरःस्थ) हृदयस्थिते,'' उरत्थदीणारमालवीरइए णं'' कल्प० ॥

उरतव न०(उरस्तपस्) क०स० इह लोकाद्याशंशारहितत्वेन सोभनेआजीवकतपोभेदे, स्था०४ ठा० ।

उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियः पुं०(उरः परि-सर्पस्थल-

चरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिक उरसा वक्षसा परिसर्पन्ति संचरन्तीति उरःपरिसर्पास्ते च ते स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च उरः परिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः । उरः परिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदे, तद्भेदा यथा।

से किं तं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया २ चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा अही अयगरा आसालिया महोरगा।

अथ केते उरःपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः । सूरिराह उरःपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा। अहयोऽजगरा आसालिगा महोरगाः प्रज्ञा०१ पद । अनु० । स्था० । जी० । एतेषामेव भेदानामवगमाय प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि तानि च अह्यादिशब्देषु द्रष्टव्यानि ''तिविहा उरपरिसप्पा पण्णत्ता तंजहा इत्थी पुरिसा णपुंसगा'' उरःपरिसर्प्पमात्रेणापि–बोधः। सं०।

उरपरिसप्पिणी स्त्री०(उरःपरिसर्पिणी) उरः परिसर्पस्त्रियाम्, ततद्भेदा यथा ''से किंतं उरगपरिसप्पिणी ओ २ तिविधाओ तंजहा अहीओ अयगरीओ महोरगीओ सेत्तं उरपरिसप्पिणी'' जी०२ प्रति०।

उरब्भ पुं०स्त्री०(उरभ्र) उरु उत्कटं भ्रमति भ्रम्० ड० पृषो० डलोपः। मेषे, प्रश्न० १ द्वा० सूत्र०। ऊरणे, रा०। उपा०।

अस्य निक्षेपः।

णिक्खेवे उ उरब्भे, चउव्विहो दुविहहोइ दव्वम्मि।
आगमणोआगमतो, णो आगमतो य सो तिविहो॥

निक्षेपो न्यासस्तुः पूरणे उरभ्रे उरभ्रविषये चतुर्विधश्चतुःप्रकारो नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे एवेति। द्रव्योरभ्रमाह–द्विविधो भवति द्रव्य इति द्रव्यविषये आगमतो नो आगमतश्च तत्रागमत उरभ्रशब्दार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तो नो आगमतः पुनश्चस्य पुनरर्थत्वात् स इति द्रव्योरभ्रस्त्रिविधस्त्रिभेदः।

तत्त्रैविध्यमाह–

जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य सो पुणो तिविहो।
एगभवियबद्धाउ य, अभिमुहतो णामगोत्ते य॥

शरीरमुरभ्रशब्दार्थज्ञस्य सिद्धशिलातलगतं शरीरमुच्यते भव्य–शरीरोरभ्रस्तु यस्तावदुरभ्रशब्दार्थं न जानाति कालान्तरे च ज्ञास्यति तस्य यच्छरीरं तद्व्यतिरिक्तश्च ताभ्यां ज्ञशरीरभव्यशरीरोरभ्राभ्यां व्यतिरिक्तो भिन्नस्तद्व्यतिरिक्तः । चः समुच्चये स तद्– व्यतिरिक्तः पुनस्त्रिविधस्त्रिभेदस्त्रैविध्यमेवाह । एकस्मिन् भवे तस्मिन्नेवातिक्रान्ते भावी एकभविको योऽनन्तर एव भवे उरभ्रत–योत्पत्स्यते तथा स एवोरभ्रायुर्बन्धानन्तरं बद्धमायुरनेनेति बद्धायुक उच्यते। तृतीयमाह–(अभिमुहओ नामगोत्तेयत्ति)आर्षत्वादभिमुखनामगोत्रश्च तत्राभिमुखे संमुखेऽन्तरर्मुहूर्तानन्तरभाविताया नामगोत्रे उरभ्रसंबन्धिनी यस्य स तथोक्तान्तरमुहूर्तानन्तर मेवोरभ्रभवभावीति गाथार्थः। भावोरभ्रमध्ययननामनिबन्धः

उरब्भाउण मेगोयं, वेदेतो भावतो उरब्भो उ।
तत्तो समुद्दियमेणं, उरभिज्जंति अज्झयणं॥
उरब्भे य कागणीअं, पएयववहारसागरे चेव।
पंचेवेते दिट्ठंता उरभिज्जम्मि अज्झयणे॥

उरभ्रः ऊरणकस्तस्यायुश्च नाम च गोत्रं च उरभ्रायुर्नामगोत्रं यदु–दयादुरभ्रो भवति वेदयन्ननुभवन् भावतो भावमाश्रित्योरभ्रस्तुशब्दः पर्यायास्तिकमतमेतदिति विशेषणार्थस्ततो भावोरभ्रदृष्टान्ततये–हाभिधेयात्समुत्थितमुत्पन्नमिदमिति प्रस्तुतं यस्मादिति गम्यते (उरभिज्जंति) उरभ्रीयं गहादित्वाच्छैषिकछप्रत्यये इति तस्माद–ध्ययनं प्रागुक्तमुच्यते इति शेष इति गाथार्थः॥ उरभ्रस्यैव चेह प्रथममुच्यमानत्वात् बहुवक्तव्यत्वाच्चेत्थमुक्तामन्यथा हि काक–ण्यादयोऽपि दृष्टान्ता इहाऽभिधीयन्त एव तथा चाह निर्युक्तिकृत् (उरब्भे गाहा) उरभ्र उक्तरूपः काकणिर्विंशतिः कपर्दिका (उर–ब्भेयत्ति) चशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात–काकणिश्च (अंबएयत्ति) आम्रकमाम्रफलं व्यवहारश्च क्रयविक्रयरूपो वणिग्धर्मश्चस्य गम्यमानत्वात् सागरश्च समुद्रः । चः सर्वत्र समुच्चये एवावधारणे भिन्नक्रमश्चैवं योज्यते पञ्चैवैते न तु न्यूनाधिका दृष्टान्ता उदाहरणानि उरभ्रीये उरभ्रनाम्न्यध्ययने इति गाथार्थः॥

संप्रति यदर्थसाधर्म्यादुरभ्रस्य दृष्टान्तता तदुपदर्शनायाह॥

आरंभो रसगेही, दुग्गमरणं च पव्ववातो य।
उवमा कया उरब्भे, उरभिज्जस्स णिज्जुत्ती॥
आउरविणाई एयाइं, जाइं वरइणंदितो।
सुज्जताणेहिं लाढाइ, एयदीहाउ लक्खणं॥

आरम्भणमारम्भः पृथिव्याद्युपमर्दो रसेषु मधुरादिषु गृद्धिरभिकाङ्क्षा रसेगृद्धिर्दुर्गतिगमनं च नरकतिर्यगादिषु पर्यटनं प्रत्यपायश्चैहैव शिरश्छेदादि वक्ष्यति हि 'शिरच्छेत्तूणभुज्जत' इति शिरश्छेदाच्चार्तरौद्रोपगतस्य दुर्गतिपाते दुःखानुभवनादिरुपमा सा दृश्यतो । दर्शनरूपा प्रक्रमादेभिरेवारम्भादिभिरर्थ : कृता विहिता उरभ्रे उरभ्रविषया। इदमुक्तं भवति । सांप्रतेक्षिणो हि विषयामिषगृध्नवः तांस्तानारम्भानारम्भन्ते आरभ्य चोपचितकर्मभिः कालसौकरिकादिवदिहैव दुःखमुपलभ्ये नरकादिकां कुगतिमाप्नुवन्तीत्युरभ्रोदाहरणत इहोपदर्श्यते। काकण्यादि साधर्म्यदृष्टान्तोपलक्षणं चैतदुरभ्रीयस्य निर्युक्तिरिति निगमनमेतदिति गाथार्थः॥२०॥ उरभ्रदृष्टान्तश्चैवम्॥ इत्यवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेपः।

संप्रति सूत्रालापकनिक्षेपस्यावसरः स च सूत्रे सति भवती–

त्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम्॥

जहा एसं समुद्दिस्सं, कोइ पोसेज्ज एलयं।
ओयणं जवसंदिज्जा, पोसेज्जावि सयं गणे॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासे आदिश्यते आज्ञाप्यते विविधव्यापारेषु परिजनोऽस्मिन्नायात इत्यादेशोऽभ्यर्हितः प्राहुणकस्तं समुद्दिश्याश्रित्य यथासौ समेष्यति समागतश्चैनं भोक्ष्यत इति कश्चित्परलोकापायनिरपेक्षः पोषयेत्पुष्टं कुर्यादेलकमूरणकं कथमित्याह ओदनं भक्तं तज्जोग्यशेषान्नोपलक्षणमेतत् यवसमुद्गमाषादि दद्यात्तदग्रतो ढौकयेत्तत एव पोषयेत् पुनर्वचनमादरख्यापनाय अपिः संभावने संभाव्यत एवं एवं विधःकोऽपि गुरुकर्म्मेति स्वकाङ्गणे स्वकीयगृहप्राङ्गणे अन्यत्र नियुर्क्तिकः कदाचिन्नोदनादि दास्यतीति स्वकाङ्गण इत्युक्तः । यदि वा (पोसिज्जाविसयंगणेत्ति) विशन्त्यस्मिन्निति विषयो गृहं तस्यांङ्गणं विषयाङ्गंण तस्मिन्नथवा विषयं रसलक्षणं वचनव्यत्ययाद्विविषयान्वा गणयन् संप्रधारयन् धर्मनिरपेक्ष इति भावः । इहोदाहरणं संप्रदायादवसेयम् ''जहेगो ऊरणगो पाहुणयनिमित्तं पोसिज्जति सो पीणियसरीरो सुण्हातो हालिद्दादिकयंगरागो कयकण्णचूलओ कुमारगायणं णाणाविहेहिं कीडाविसेसेहिं कीडावेंति तं च वच्छगो एवं लालिज्जमाणं दट्ठूण माऊए णेहेण गोचियं दोहएण य तयणुकंपाए मुक्कमवि खीरं न पिवति। रोसेण ताए पुच्छिओ भणइ

अम्मो एस णं दियगो सव्वेहिं एएहिं अम्ह सामिसालेहि इट्ठेहिं जव-जोगासणेहिं तदुवओगेहिं अलंकारविसेसेहिं अलंकारितो पुत्त इव परिपालिज्जइ अहं तु मंदभग्गो सुक्काणि तणाणि कोहे वि लभामि ताणि वि न पज्जत्तिगाणि एवं पाणियं पि ण य मे को वि भालेति। ताए भण्णत्ति पुत्त आतुरचिण्णाइं'' गाहा। जहा आतुरो मरिउं कामो जमगातिपच्छं वा अपच्छं वा तं दिज्जतिते स एवं नंदिओ मारिज्जिहित्ति ज हा तदा पेच्छेहिसि इति सूत्रार्थः ॥२९॥

ततः कीदृशो जातः किञ्च कुरुते इत्याह॥

तओ स पुट्ठ परिवूढे, जायमेए महोदरे।
पाणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए॥

तत इत्योदनादिदानाद्धेतौ पञ्चमी स इत्युरभ्रः पुष्ट उपचितमांस–तया पुष्टिभाक् परिदृढः प्रभूः समर्थ इति यावत्। जातमेद उपचि–तचतुर्थधातुरत एव महोदरो वृहज्जठरः प्राणितस्तर्प्पितो यथासम–यमुपढौकिताहारत्वादेभिरेव हेतुभिर्विपुले विशाले देहे शरीरे सति यस्य च भावेन भावलक्षणमिति सप्तमी किमित्याह। आदेशं प्रति–काङ्क्षेति पाठान्तरतः परिकाङ्क्षति वेच्छति नचास्य तत्वतः प्रतिपालनमिच्छा च संभवत्यतः प्रतिकाङ्क्षतीव प्रतिकाङ्क्षतीत्युपमार्थो ऽवगन्तव्यः एवं परिकाङ्क्षतीत्यत्रापीति सूत्रार्थः ॥३२॥ स किमेव चिरस्थायी स्यादित्याह॥

जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही।
अहपत्तम्मि आएसे, सीसं छित्तूण भुंजइ॥

यावदिति कालावधारणं नैति नायाति कोऽसावादेशस्तावन्नोत्त–रकालं जीवति प्राणान् धारयति (सेदुहित्ति) आकारप्रश्लेषात्स इत्युरभ्रो दुःखी सन्नथवा वध्यमण्डनमिवास्यौदनदानानीति तत्वतो दुःखितैवास्येति दुःखी (अहपत्तम्मि आएसे) अथानन्तरं प्राप्ते आगते आदेशे श्रिता अस्मिन् प्राणा इति शिरस्तच्छित्वा द्विधा विधाय भुज्यते तेनैव स्वामिना पाहुणसहितेनेति शेषः। संप्रति संप्रदायशेषमनुश्रियते ततोऽसौ ''वच्छगो ततो नंदियंगं पाहुणगेसु आगएसु च हिज्जमाणं दट्ठुं तिसितो वि भएण माऊए थणं णाभिल–सति। ताए भण्णति किं पुत्त भयभीतोसि णेहेण पएहुयं पि मे ण पिवसि तेण भण्णति अम्म कओ से थणभिलासो णणु सोवराओ णंदिओ अज्ज केहिं वि पाहुणएहिं आगएहिं मम अग्गतो वि गयजीहो वि लोलनयणो विस्सरं रसंतो अत्तणो असरणो मारिओ तब्भयाओ मे कओ पाउमिच्छा तओ ताए भणति पुत्त ! णणु तदा चेव कहियं जहा आउरचिण्णाइं एयाइं एस संविवागो अणुपत्तो एस दिट्ठंतो'' इति सूत्रार्थः। इत्थं दृष्टान्तमभिधाय तमेवानुवदन् दार्ष्टान्तिकमाह।

जहा खलु से उरब्भे, आएसाए समीहिए।
एवं वाले अहम्मिट्ठे, इहई नरयाउयं॥

यथा येन प्रकारेण खलु निश्चये स इति प्रागुक्तरूप उरभ्र आदे–शाय आदेशार्थं समीहितः कल्पितः सन् यथा यस्मै भविष्यत्या–देशं परिकाङ्क्षतीत्यनुवर्तते एवमनुनैव न्यायेन बालोऽज्ञोऽधर्म्मो धर्मविपक्षः पापमिति यावत् इष्टोऽभिलषितोऽस्येत्यधर्म्मिष्टः आहितादेराकृति-गणत्वादिष्टशब्दस्य परनिपातः। यद्वाऽधर्म्मगुणयागादधर्म्मोतिशयेना-धर्म्माधर्म्मिष्ठ इह ईहते वाञ्छतीव तदनुकुला चारतया किं नरकायुष्कं नरकजीवितमिति सूत्रार्थः।

उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयितुमाह।

हिंसे वाले मुसावाई, अद्धणम्मि विलोवए।
अण्णदत्तहरे तेणे, माई कन्नु हरे सढे॥
इत्थीविसयगिद्धे य, महारंभपरिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे॥
अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चिय लोहिए।
आउयं नरए कंखे, जहाएसं च एलए॥

हिनस्तीत्येवं शीलो हिंस्रः स्वभावतः प्राणव्यपरोपणकृद्बालोऽज्ञः पाठान्तरतश्च क्रुध्यति हेतुमन्तरेणापि कुप्यतीत्येवं धर्म्मा क्रोधी मृषाऽलीकं वदति प्रतिपादयतीत्येवं शीलो मृषावादी अध्वनि मार्गे विलुम्पति मुष्णातीति विलोपकः। यः पथि गच्छतो जनान् सर्वस्वहरणतो लुण्ठति (अन्नदत्तहरेति) अन्येभ्यो दत्तं राजादीनां विस्तीर्णं हरत्यापान्तराल एवाच्छिनत्त्यन्यदत्तहरः। अन्यैर्वा अदत्तमनिसृष्टं हरत्यादत्ते अन्यादत्तहरो ग्रामनगरादिषु चौर्यकृत् अत एव बालोऽज्ञो विस्मरणशीलः स्मारणार्थमेतदिति न पौनरुक्त्यं सर्वावस्थासु वा बालत्वख्यापनार्थं पाठान्तरतश्च स्तैन्येनैवोपकल्पितात्मवृत्तिः। यद्वा अन्य दत्तहरोऽन्यादत्तं ग्रनिच्छेदादिनोपायेन अपहरति स्तेनः क्षेत्रादिखननेनेति विशेषो मायी वञ्चनैकचित्तः। कण्णुहरः कण्हुकस्यार्थं हरिष्यामीत्येवमध्यवसायी शठो वक्रचारः तथा स्त्रियश्च विषयाश्च स्त्रीविषयास्तेषु गृद्धोऽभिकाङ्क्षावान् स्त्रीविषयगृद्धश्च प्राग्वन्महान्परिमितः आरम्भोऽनेकजन्मूपघातकृ–द्व्यापारः परिग्रहश्च धान्यादिसंचयो यस्य स तथोक्तो भुञ्जानोऽ–भ्यवहरन् सुरां मांसं पिशितं (परिबूढोत्ति) परिवृढः प्रभुरुपचितमां–सशोणिततया तत्तक्रियासमर्थ इति यावत्। अत एव परानन्यान् दमयति न्यत्कृत्याभिमतकृत्येषु प्रवर्तयतीति परंदमः। किञ्च अजश्छागस्तस्य कर्क्करं यच्चणकवद्भक्ष्यमाणं कर्क्करायते तच्चेह प्रस्तावान्मेदो दन्तुरमतिपक्वं वा मांसं तद्भोजी वाऽत एव तुन्दिलो जातवृहज्जठरश्चितमुपचयप्राप्तं लोहितं शोणितमस्येति चितलोहितः। शेषधातूपलक्षणमेतत् आयुर्जीवितं नरके सीमन्तकादौ काङ्क्षतीव काङ्क्षति तद्योगकर्म्मारम्भितया कमिव क इवेत्याह (जहाएस च एडएत्ति) आदेशमिव यथैडक उक्तरूप इह च हिंसे इत्यादिनासा–र्द्धश्लोकेनारम्भ उक्तो भुंजमाणे सुरमित्यादिना चार्द्धद्वयेन रसगृद्धिः आयुषमित्यादिनाचार्द्धेन दुर्गतिगमनं तत्प्रतिपादनाच्चार्थतः प्रत्यु–पायाभिधानमिति सूत्रार्थः॥ इदानीं यदुक्तमार्युनरके काङ्क्षतीति तदनन्तरमसौ किं कुरुते इत्याह। यद्वा साक्षादैहिकापाय दर्शनायाह॥

आसणं सयणं जाण, वित्तं कामे य भुंजिया।
दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहु संचिणिया रयं॥
तओ कम्मगुरूजंतू, पच्चुप्पण्णपरायणे।
अयव्वआगयाएसे, मरणं तम्मि सीयए॥

आसनं शयनं यानमिति प्राग्वन्नवरं भुक्त्वेति संबन्धनीयं वित्तं द्रव्यं कामान्मनोज्ञशब्दादीन् भुक्त्वोपभुज्य (दुस्साहडंति) दुःखेनात्मनः परेषां च दुःखकरणेन सुष्ठादरातिशयेनाहृतमुपार्जितं दुःस्वाहृतम्। यदि वा प्राकृतत्वात् दुःखेन संहियते मील्यतेस्मेति दुस्संहृतं धनं द्रव्यं हित्वा आसनाद्युपभोगेन द्यूताद्यसद्व्येन च त्यक्त्वा तथा च मिथ्यात्वादिकर्म्म-बन्धहेतुसंभवाद्बहु प्रभूतं संचि–त्योपार्ज्य रजोऽष्टप्रकारं कर्म्म। ततः किमित्याह। (ततोत्ति) ततो रजः संचयात् कोवा संचितरजाः कर्म्मणा गुरुरिव गुरुरधो नरक–गामितया कर्म्मगुरुर्जन्तुः प्राणी प्रत्युत्पन्नं वर्त्तमानं तस्मिन्परायणस्तन्निष्ठः ''एतावानेव लोकोऽयं, यावानिन्द्रियगोचर'' इति नास्तिकमतानुसारितया परलोकनिरपेक्ष इति यावत्। (आएवत्ति)

अजः पशुः स चेह प्रक्रमादुरभ्रस्तद्वत् (आगयाएसत्ति) प्राकृतत्वादागते प्राप्ते आदेशे प्राहुणके एतेन प्रपञ्चितज्ञविनेयानुग्रहायोक्तमेवोरभ्रदृष्टान्तं स्मारयति। किमित्याह। मरणान्ते प्राणपरित्यागात्मन्यवसाने शोचति। किमुक्तं भवति यथादेश आगत उरभ्र उक्त नीत्या शोचति तथाऽयमपि धिग्मां विषयव्यामोहत उपार्जितगुरुकर्म्माणं हा केदानीं मया गन्तव्यमित्यादिप्रलापतः खिद्यतेऽत्यन्तनास्तिकस्यापि प्रायस्तदा शोकसंभवादिति सूत्रद्वयार्थः। अनेनैहिकोपाय उक्तः।

संप्रतिपारभविकमाह ॥

तओ आउपरिक्खीणे, चुया देहविहिंसगा।
आसुरीयं दिसं वाला, गच्छंति अवसातमं ॥

ततः शोचनानन्तरं को वा उपार्जितगुरुकर्मा आयुषि तद्भवसंभविनि जीविते परिक्षीणे सर्वथा क्षयं गते कथंचिदायुः क्षयस्यावीचीमरणेन प्रागपि संभवादेवमुच्यते। च्युतो भ्रष्टो देहाच्छरीरात्पाठान्तरस्तु च्युतदेहोपगते हन्त्यशरीरो विहिंसको विविधप्रकारैः प्राणिघातकः (आसुरीयंति) अविद्यमानसूर्यामुपलक्षणत्वात् ग्रहनक्षत्रादिविरहितां च दिश्यते नारकादित्वेनास्यां संसारीति दिक्तामर्थाद्भवदिवामथवा रौद्रकर्माकारी सर्व्वोप्यसुर उच्यते। ततश्च—सुराणामियमासुरीया सामासुरीयां दिशं नरकगतिमित्यर्थो बालोऽज्ञो गच्छति यात्यवशः कर्मपरवशो वचनव्यत्ययाच्च सर्वत्र बहुवचननिर्द्देशो व्याप्तिख्यापनार्थो वा यथा नैक एवंविधः किंतु बहव इति (तयंति) तमोयुक्तत्वात्तमो देवगतेरप्यसूर्यत्व-संभवात्तव्यवच्छेदाय दिशो विशेषणम्। ततोऽर्थान्नरकगतिम्। उक्तंहि ''निच्चंधयारतमसा , ववगयगहचंदसूरनक्खत्ता'' इत्यादिस्वरूप-ख्यापकं वा द्वितीयं व्याख्यानमिति सूत्रार्थः।

संप्रति काकण्यान्नदृष्टान्तद्वयमाह

जहा कागणीए हेउं, राहस्सं हारए नरो।
अपच्छं अंबगं भुच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥११॥
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामा य अंतिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामाय दिव्विया ॥१२॥
अणेगवासाणउया, जा सा पण्णट्ठउट्ठई ॥
जाणि जीयंति दुम्मेहा, ऊणे वाससयाउए ॥१३॥

(जहासूत्रम्)यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः। काकन्या उक्तरुपायाः (हेउंति) हेतोः कारणात्सहस्रं दशशतात्मकं कार्षापणानामिति गम्यते हारयेन्नाशयेन्नरः पुरुषोऽत्रोदाहरणं संप्रदायादवसेयः ''एगोदसगो तेण वित्तिं करितेण सहस्सं काहावणाण अज्जियं सो तं गहाय सत्थेण समं सगिहिं पत्थितो। तेण भत्तनिमित्तं रूवगो कागिणीहिं भिन्नं ततो दिणे दिणे कागणिए भुंजति तस्स व अवसेसा एका कागिणी सा विस्सारिया सत्थे पहाविए सो चिंतेइ मा मे रूवगो भिंदिज्जव्वो होहेतित्ति नउलगं अन्नत्थं गोवेउं कागिणीनिमित्तं नियतो सावि कागिणी अण्णेण हडा सो वि नउलओ अन्नेण दिट्ठो ठविज्जंतो सो तं घेत्तूण नट्ठो पच्छा सो दारं गतो सोयइ एस दिट्ठंतो'' तथाऽपथ्यमहितमाम्रकमाम्रफलं भुक्त्वावहृत्य राजेति नृपती राज्यं पृथिवीपतित्वं तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च तेन हारयेदेव संभव—त्येव। अस्यापथ्यभोजिनो हारणमित्यक्षरार्थः। भावार्थस्तु वृद्ध-संप्रदायादवसेयः। स चायम्। ''जहा कस्सइ रण्णो अंबाजिण्णेण विसूइगा जाया सा तस्स वेज्जेहि महाजन्नेण चिगिच्छिया भणितो जदि पुणो अंबाणि खाइसि तो विणस्ससि। तस्स य अतीव पियणि अंबाणि तेण सदेसे सव्वे अंबाउ उत्थाविया। अण्णया अस्स वाहणिए निग्गतो सह अम्मचेण अस्सेण अवहरिओ अस्सो दूरं गंतूण परिस्संतो छितो एगम्मि वणसंडे चूयच्छायाए अमच्चेण वारिज्जमाणो वि णिव्विट्ठो। तस्स य हेट्ठे अंबाणि पडियाणि सो ताणि परामस्सति। पच्छा अग्घाति पच्छा चक्खिउं निट्ठुभति। अमच्चो वारेति पच्छा भक्खेउं मतो'' इति सूत्रार्थः। इत्थं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनामाह। (एवं गाहा) एवमिति काकिन्याम्रकसदृशानां मनुष्याणाममी मानुष्यका गोत्रप्रत्ययान्तत्वात्। गोत्रचरणाविति वुञ् कामा विषया देवकामानां देवसंबन्धिनां विषयाणामन्तिके समीपे अन्तिकोपादानं च दूरे अनवधारणमपि स्यादिति। किमित्येवमत आह। सहस्रगुणिताः सहस्रैस्ताडिताः भूयोऽतिशयेन बहु बहून्वारानित्यर्थः मनुष्यायुः कामापेक्षयेति प्रक्रमोऽनेनैषामतिभूयस्त्वं सूचयन्कार्षापणसहस्रराज्यतुल्यतामाह। आयुर्जीवितं कामाश्च शब्दादयो (दिव्वियत्ति) दिवि भवा दिव्याः द्युपागुदक्प्रतीचो यदिति यत्त एव दिव्यकाः इहचादौ (देवकामाण-अंतिएत्ति) काममात्रोपादानेऽपि अयुष्कामाय (दिव्वियत्ति) आयुषोऽप्युपादानम्। तत्र प्रभावयितुमाह (अणेगसूत्रं) अनेकानि बहूनि तानि चेहासंख्येयानि वर्षाणि वत्सराणि तेषां न युतानि संख्याविशेषा वर्षनुतान्यऽनेकानि च तानि वर्षनयुतानि स्वरोऽन्योन्यस्येति प्राकृतलक्षणात् सकाराकारदीर्घत्वमेवमन्यत्रापि स्वरान्यत्वं भावनीयम्। यदिवा अनेकानि वर्षनयुतानि येषु तान्यनेकवर्षनयुतान्युभयत्रार्थापल्यो-पमसागराणीति यावत्। नयुतानयनोपायस्त्व यं चतुरशीतिवर्षलक्षाः पूर्व्वाङ्गं तच्च पूर्व्वाङ्गेन गुणितं पूर्व्वं चतुरशीतिलक्षाहतं नयुताङ्गं नयुताङ्ग-मपि चतुरशीतिलक्षाभिताडितं नयुताङ्गैवमुच्यत इत्याह। या सेति प्रज्ञापकः शिष्यान् प्रत्येवमाह। या सा भवतामस्माकं च प्रतीता। प्रकर्षेण ज्ञायते वस्तुतत्वमनयेति प्रज्ञा हेयोपादेयविवेचिका बुद्धिः सा विद्यते यस्यासौ प्रज्ञावानतिशायने मतुप्। अतिशयश्चास्या हेयोपादेययोर्हानो-पादाननिबन्धनत्वमिहाभिमतं ततश्च क्रियाया अप्याक्षिप्तत्वात्। यदि वा निश्चयनयमतेन क्रियारहिता प्रज्ञाप्यप्र—ज्ञैवेति प्रत्ययेनैव क्रिया क्षिप्यते ततः प्रज्ञावान् ज्ञानक्रियावा—नित्युक्तं भवति तस्य प्रज्ञावतः। स्थीयते अनया अर्थाद्देवभवे इति स्थितिर्देवायुरधिकृतत्वात्। दिव्यकामाश्च। तानि च कीदृशानीत्याह। यान्यनेकवर्षनयुतानि दिव्यस्थितेर्दिव्यकामानां च विषयभूतानि जीयन्ते हार्यन्ते तद्धेतुभूतानुष्ठानानासेवनेनेति भावः। पाठान्तरतो हारयन्ति वा के ते दुष्टा विषयादिदोषदुष्टत्वेन मेधा वस्तुरूपावधारणशक्तिरेषां ते दुर्मेधसो विषयैर्जिता जन्तव इति गम्यते। कदापुनस्तानि दुर्मेधसो विषयैर्जीयन्त इत्याह ऊने वर्ष—शतायुष्यनेनायुषोऽल्पत्वान्मनुष्यकामानामप्यल्पतामाह। यदि वा प्रभूते ह्यायुषि प्रमादेनैकदा हारितान्यपि पुनर्जीयेरन्नस्मिंस्तु संक्षिप्तायुष्येकदा हारितानि हारितान्येव भगवतश्च वीरस्य तीर्थे प्रायोऽन्यूनवर्षशतायुष एव जन्तव इत्ययमुपन्यासः। अयं चात्र भावार्थोऽल्पं मनुष्याणामायु-र्विषयाश्चेति काकण्याम्रफलोपमा देवायुर्देवकामाश्चातिप्रभूततया कार्षापणसहस्रराज्यतुल्याः। ततो यथा द्रमको राजा च काकण्याम्र-फलकृते कार्षापणसहस्रराज्यं च हारितवानेवमेतेऽपि दुर्मेधसोऽल्पतर-मनुष्यायुः कर्मार्थं प्रभूतान्देवायुः कामान् हारयन्तीति सूत्रार्थः॥

संप्रति व्यवहारोदाहरणमाह॥

जहा य तिण्णि वणिया, मूलं घित्तूण निग्गया॥
एगो तत्थ लहइ लाभं, एगो मूलेण आगओ ॥१४॥

एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ ॥
ववहारे उवमा एसा, एवं धर्म्मे वि याणह ॥१५॥
माणुस्सत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे ॥
मूलछेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥१६॥

यथेति प्रागवत्। चः प्रतिपादितदृष्टान्तापेक्षया समुच्चये। त्रयो वणिजः प्रतीता मूलराशिं नीविमिति यावत् गृहीत्वा निर्गताः स्वस्थानात् स्थानान्तरं प्रति प्रस्थिताः प्राप्ताश्च समीहितस्थानम्। तत्र च गतानामेको वणिक्कलाकुशलोऽत्रैतेषु मध्ये लभते प्राप्नोति लाभं विशिष्टद्रव्योपचयलक्षणम्। एकस्तेष्वेवान्यतरो यस्तथा नातिनिपुणो नाप्यत्यन्तानिपुणः स (मूलेणत्ति) मूलधनेन यावद्- गृहान्नीतं तावतैवोपलक्षित आगतः स्वस्थानं प्राप्त इति सूत्रार्थः। तथा (एगो सूत्रम्) एकोऽन्यतरः प्रमादपरो द्यूतमद्यादिष्वत्यन्तमा-सक्तचेता मूलमप्युक्तरूपं हारयित्वा नाशयित्वा गतः प्राप्तः स्वस्थानमित्युपस्कारः। एवं सर्वत्रोदाहरणसूचायां सोपस्कारता द्रष्टव्या। तत्र तेषु मध्ये वणिगेव वाणिजः अत्र च संप्रदायः ''जहा एगस्स वाणियगस्स तिण्णि पुत्ता तेण तेसिं सहस्सं दिण्णं काहावणाणं भणिया य। एएण ववहरिऊण एत्तिएण कालेण एज्जह ते तं मूलं घेत्तूणं निग्गया सनयराउ विविधविधेसु पदृणेसु ठिया तत्थेगो भोयणछायणवज्जं जूयमज्जमंसवेसावसणविरहितो विहीए ववहर-माणो विपुललाभसंपुण्णो जातो। वितितो पुण मूलमवि वितो लाभगं भोयणछायणमल्लालंकारादिसु उवभुंजति णय अद्धादरेण ववहरति। तइओ न किंचि ववहरइ केवलं जूयमंसवेसगंधमल्लतंबोलसरी-रकिरियासु अप्पेणेव कालेण तं दव्वं निट्ठवियं ते य जहावहिका-तस्स सपुरआगया तत्थ जो छिण्णमूल्लो सो सव्वस्स असामी जातो पेसए व उवचरिज्जति। वितिओ घरवावारे विउत्तो भत्तपत्तिसंतुट्ठो ण दातव्वभोत्तव्वेसु च सायति। ततिओ घरवित्थरस्स सामी जातो के वि पुण कहिंति तिण्णि वि वाणियगा पत्तेयं २ ववहरंति। तत्थेगो छिण्णमूलो पसत्तणमुवगतो केण वा संववहारं करेउ अच्छिण्णमूलो पुणरवि वाणिज्जाए भवति। इयरो वंधुसहितो मोदते एस दिट्ठंतो'' संप्रति सूत्रमनुश्रियते व्यवहारे व्यवहारविषया उपमा दृष्टान्तः। एषाऽनन्तरोक्ता वक्ष्यमाणन्यायेन धर्म्मे धर्मविषयामेना-मेवोपमां विजानीत अवबुद्ध्य यूयमिति सूत्रार्थः। कथमित्याह॥ (माणुसत्तं सूत्रम्) मानुषत्वं मनुजत्वं भवेत्स्यात् मूलमिव मूलं स्वर्गापवर्गात्मकतदुत्तरोत्तरलाभहेतुतया तल्लाभ इव लाभो मनु-जगत्यपेक्षया विषयसुखादिभिर्विशिष्टत्वाद्देवगतिर्देवत्वावाप्तिर्भवेत् एवं च स्थिते किमित्याह। मूलच्छेदेन मानुषत्वगतिहान्यात्मकेन जीवानां प्राणिनां नरकतिर्यक्त्वं तिर्यक्त्वं च तद्वत्यात्मकं धुवं निश्चितम् इहापि संप्रदायः। ''तिण्णि संसारिणो सत्तमाणुसे आयाता तत्थेगे मद्दवज्जवादिगुणसंपन्नो मज्झिमारंभपरिग्गहजुत्तो कालं काऊण काहावणस्स मूलत्थाणीयं तमेव माणुसत्तं पडिलभति। वितिओ पुण सम्मद्दंसणचरित्तगुणेसु ठितो सरागसंजमेण लद्धलाभवणिय इव देवेसु उववण्णो। ततितो पुण हिंसे वाले मुसावाती इच्चेतेहिं पुव्वभणिएहिं सावज्जजोगेहिं वड्ढिओ छिण्णमूल-वणिय इव नरगेसु तिरिएसु वा उववज्जति इति सूत्रार्थः॥

यथा मूलच्छेदेन नारकतिर्यक्त्वप्राप्तिस्तथा स्वयं सूत्रकृदाह।

दुहाउ गई बालस्स, आवई वहमूलिआ।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलुया सढे ॥१७॥
तओ जिएसइं होइ, दुविहं दुग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाएसु चिरादवि ॥१८॥
एवं जीयं स पेहाए, तुलिया वालं च पंडियं।
मूलियं ते पवेसंति, माणुस्सं जो णिमंति जे ॥१९॥

द्विधा द्विप्रकारा गम्यत इति गतिः सा चेह प्रक्रमान्नरकगति-स्तिर्यग्गतिश्च। कस्येत्याह बालस्य द्वाभ्यां रागद्वेषाभ्यामाकलितस्य (आगइत्ति) आगच्छत्यापतति। बधः उपलक्षणत्वान्महारम्भ-महापरिग्रहानृतभाषणमायादयश्च मूलं करणं यस्याः सा वधमूलिका। यदि वा द्विधा गतिर्बालस्य भवतीति गम्यते। तत्र च तस्य (आवइत्ति) आपत्सा च कीदृशीत्याह।बधो विनाशस्ताडनं वा मूलमादिर्यस्याः सा बधमूलिका। मूलग्रहणाच्छेदभेदातिभारारोपणादिपरिग्रहः। लभन्ते हि प्राणिनो नरकतिर्यक्षु विविधा बधाद्यापदः। किमित्येवमत आह देवत्वं देवभवं मानुषत्वं च मनुजभवं यद्यस्माज्जितो हारितो (लोलयासत्थेत्ति) लोलता पिशितादिलाम्पट्यं तद्योगाज्जन्तुरपि तन्मयत्वख्यापनार्थं लोलतेत्युक्तः। शाठ्ययोगाच्छठः विस्वस्तानां वञ्चकस्ततो लोलता चासौ शठश्च लोलताशठः। पञ्चेन्द्रिय बधाद्युपलक्षणतया च नरकहेत्वभिधानमेतत् यदुक्तं ''महारभयाए परिग्गहयाए कुणिमाहारेणं पंचिंदियवहेणं जीवा निरयाउयं नियच्छंति'' ''शठ इत्यनेन तु शाठ्यमुक्तं तच्च तिर्यग्गतिहेतुरुक्तं च'' ''माया तैर्यग्योनस्येति'' अतश्चायमाश-यो यतोऽयं वालो लोलताशठस्ततो नरकतिर्यग्गतिनिबन्धाभ्यां लोलताशठाभ्यां देवत्वमनुजत्वे हारितस्यास्योक्तरूपाद्विधैव वतिः संभवत्येवं मूलच्छेदेन जीवानां नरकतिर्यक्त्वमुच्यते। मूलं हि मनुष्यत्वं लात्रश्च देवत्वमुभयोरपि तयोर्हारणादिति सूत्रार्थः। पूर्वमूलच्छेदमेव समर्थयितुमाह। (ततोजिएत्ति) ततो देवत्वमानुषत्वजयात् को वा बालः (जिएत्ति) व्यवच्छेदफलत्वाद्भावस्य जितएव सततं सदा भवति द्विविधा नरकतिर्यग्भेदात्तां द्विभेदां दुर्निन्दायां दुष्टा निन्दिता गतिर्दुर्गतिस्तां गतः प्राप्तः सदा जितत्वमेवा भिव्यनक्ति दुर्लभा दुष्प्रापा तस्येति देवमनुजत्वे हारितवतो बालस्य (उम्मुग्गत्ति) सूत्रत्वात् उन्मज्जनमुन्मज्जा नरकगतितिर्य-ग्गति निर्गमनात्मिका स्यादेतद्भिरतरकालेनोन्मज्जास्य भविष्यत्यतआह अद्धायां काले अर्थादागामिन्यां किंस्वल्पायामेवेत्याह। सुचिरादपीत्यद्धा शब्देनैव कालाभिधानात् सुचिराच्छब्दः प्रभूत-त्वमाह। ततोऽयमर्थोऽनागताद्धायां प्रभूतायामपि बाहुल्याच्चेत्थ-मुक्तमन्यथा हि केचिदेकभवेनैव तत उद्वृत्य मुक्तिमप्याप्नुवन्त्येवेति सूत्रार्थः॥ इत्थं पश्चानुपूर्व्यापि व्याख्याङ्गमिति पश्चादुक्तेऽपि मूलहारिण्युपनयमुपदर्श्य मूलप्रवेशिन्यभिधातुमाह। यद्वा विपक्षापायात्तज्ज्ञानत एवोपादेयप्रवृत्तिरिति पश्चादुक्तमपि मूलहारिण-मादावुपदर्श्यदमाह (एवंसूत्रम्) एवमुक्तनीत्या (जियेत्ति) सुब्व्यत्य-याज्जितं लोलतया शाठ्येन च देवमनुजत्वे हारितं बालमिति प्रथमतः (सपेहाएत्ति) संप्रेक्ष्य सम्यगालोच्य तथा तोलयित्वा गुणदोषवत्तया परिभाव्य यदि चैवं जितं सम्यगविरीता प्रेक्षा बुद्धिः संप्रेक्ष्यतया तोलयित्वा कं बालं चस्य भिन्नक्रमत्वात्पण्डितं तद्विपरीतमर्थान्मनुष्यदेवगतिगा-मिनमिह च द्वितीयायां व्याख्यायामेवं जितमिति बालस्य विशेषणम् न तु पण्डितस्यासंभवात्। तथा च सति मूलं भवं मौलिकं मूलधनं ते प्रवेशयन्ति मूलप्रवेशकवणिक्सदृशास्त इत्यभिप्रायो ये किमि-

त्याह (माणुस्सत्ति) मनुष्याणामियं मानुषी तां योनिमुत्पत्तिस्थानमायान्त्यागच्छन्ति बालत्वपरिहारेण पण्डितत्वमासेवमाना ये ते इति सूत्रार्थः ॥

यथा च मानुषीं योनिमायान्ति तथाह –

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया ॥
उवेंति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२०॥
जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियं ते अ इत्थिया ॥
सीलवंता स विसेसा, अदीणा जंति देवयं ॥२१॥
एवं अदीणयं भिक्खुं, अगारिं च वियाणिया ॥
कहण्ण जिच्च मेलिक्खं, जिच्चमाणा न संविदे ॥२२॥

त्रिविधा मात्रा परिमाणमासां विमात्रा विचित्रपरिमाणास्ताभिः परिमाणविशेषमाश्रित्य विसदृशीभिः शिक्षाभिः प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासरूपाभिरुक्तंहि ''चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुयाउयं बंधंति तंजहा पगतिभद्दयाए पगतिविणिययाए साणुक्कोसयाए अमच्छरियाएत्ति'' ये इत्यविवक्षितविशेषा नराः पुरूषा गृहिणश्च गृहस्था सुव्रताश्च धृतसत्पुरुषव्रतास्ते हि प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासानुभावत् एव न विपद्यपि विषीदन्ति सदाचारं वा अवधीरयन्तीत्यादिगुणान्विता इदमेव च सतां व्रतं लौकिका अप्याहुः । विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं हि महतां, प्रियान्याय्या वृत्तिर्म्मलिनमसुमङ्गेऽप्यसुकरम् । असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न वाच्यस्तगुधनः, ततां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ इति आगमविहितव्रतधारणं त्वनीषामसंभविदेवगतिहेतुतयैव तदभिधानात्त ईदृशाः किमित्याह (उविंतित्ति) उपयन्ति (माणुसंति) मानुषीं मानुषसंबन्धिनीं योनिमुक्तरूपां कर्म्मणा मनोवाक्कायक्रियालक्षणेन सत्या अविसंवादिनः कर्म्मसत्यः । हुरवधारणे ततः कर्म्मसत्या एव सन्तस्तदसत्यतया तिर्यग्योनिहेतुत्वेनोक्तत्वात् । तथा च वाचकः ''धूर्ता नैकृतिकाः स्तब्धा, लुब्धाः कार्पटिकाः शठाः । विविधां ते प्रपद्यन्ते, तिर्यग्योनिं दुरुत्तरा'' मित्यादि पाठान्तरतश्च कर्म्मस्वर्थान्मनुष्यगतियोग्यक्रियारूपेषु शक्ता अभिष्वङ्गवन्तः कर्म्मशक्ताः प्राणिनो जीवा इह च नरग्रहणे सति प्राणिग्रहणं देवादिपरिग्रहार्थमिति न पुनरुक्तम् यदि वा विमालाभिः शिक्षाभिर्ये नरा गृहिणः सुव्रता यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात्ते मानुषीं योनिमुपयान्ति किमित्येवमत आह (कम्मसच्चाहुपाणिणोत्ति) हु शब्दो यस्मादर्थे यस्मात्सत्यान्यबन्ध्यफलानि कर्म्माणि ज्ञानावरणादीनि येषां ते सत्यकर्म्माणः प्राणिनो निरुपक्रमकर्मापेक्षं चैतदिति सूत्रार्थः । संप्रति लब्धालाभोपनयमाह (जेसिंसूत्रं) येषां तु पुनर्विपुलानि शङ्कितत्वादिसम्यक्त्वाचाराणुव्रतमहाव्रतादिविषयत्वेन विस्तीर्णा शिक्षा ग्रहणासेवनात्मिकास्तीति गम्यते । मूले भवं मौलिकं मूलधनमिव मानुषत्वं ते य एवं विधाः (तिउट्टियत्ति अतिट्टियत्तिअतिच्छियत्ति) पाठान्त्रयेऽपि अति क्रान्ता उल्लङ्घितवन्त इत्यर्थः । यद्वा अतिक्रम्यो–ल्लङ्घ्य कीदृशाः सन्तः शीलं सदाचारोऽविरतसम्यग् दृशां विरतिमतां तु देशसर्वाविरमणात्मकं चारित्रं तद्विद्यते येषां ते शीलवन्तः । तथा सह विशेषेण उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तिलक्षणेन वर्तन्त इति सविशेषाः अत एवादीनाः कथं वयममुत्र भविष्याम इति वैक्लव्यरहिताः परीषहोपसर्गादिसंभवे वा न दैन्यभाज इति अदीना यान्ति प्राप्नुवन्ति ते । देवभावो देवता सैव दैवतं न तु तत्वतो मुक्तिगतिरेव लाभस्तत्किमिह तत्परिहारतो देवगतिरुक्तेत्युच्यते । सूत्रस्य त्रिकालविषयत्वान्मुक्तेश्चेदानीं विशिष्टसंहननाभावतोऽभावाद्देवगतेश्च ''छेव्वट्टेण उ गम्मति चत्तारि उ जाव आदिमा कप्पा'' इति वचनाच्छेदपरिवर्तिसंहननिनामिदानींतनानामपि संभवादेव मुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ प्रस्तुतमेवार्थं निगमयन्नुपदेशमाह । (एवं सूत्रम्) एवममुना न्यायेन लाभान्वितम् (अदीणवत्ति) दीङः क्तवतौ दीनवन्तं न तथा दीनवन्तमदीनं दैन्यरहितमित्यर्थो भिक्षुं यतिमगारिणं च गृहस्थं विज्ञाय विशेषेण तथाविधशिक्षावशाद्देवमनुजगति गामित्वलक्षणेन ज्ञात्वाऽवगम्य यतमान इति शेषः । कथं केन प्रकारेण न कथंचिदत्यर्थो नु वितर्के (जिच्चंति) सूत्रत्वाज्जीयेत हार्यत विवेकी तत्प्रतिकूलैः कषायो दयादिभिरिति गम्यते । ईदृक्षमनन्तरोक्तं देवगत्यात्मकं लाभं (जिच्चमाणोत्ति) वा शब्दस्य गम्यमानत्वाज्जीयमानो वा हार्यमाणस्तैरेव कषायादिभिर्न संवित्ते सूत्रत्वान्न संवेत्ति न जानीते यथाहमेभिर्जीय इति । कथं न्विताहापि योज्यते ततोऽयमर्थः कथं नु संवित्ते एव जानीते एव ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तन्निरोधं प्रति प्रवर्तते एवेत्येवं च वदन् काक्वोपदिशति यत एवं ततो यूयमप्येवं जानाना यथा न देवगतिलक्षणं लाभं जीयध्वं कषायादिभिस्तथा यतध्वं कथंचिज्जीयमानाश्च सम्यग्विज्ञाय तत्प्रतीकारायैव प्रवर्तध्वमिति । यद्वा एवमदी–नवन्तं भिक्षुमगारिणं च लब्धलाभं विज्ञाय यतमानो कथं नु जीयन्ति आर्षत्वात् जीयते हार्यते अतिरौद्रैरिन्द्रियादिभिरात्मातदिति जेयं तच्चेह प्रक्रमान्मानुष्यदेवगतिलक्षणं (पलिक्खंति) सुब्व्यत्ययादीदृक्षोऽभिहितार्थाभिज्ञः कथं नु जीयमानो न संवित्तेऽपि तु संवित्त एव संविदानश्च यथा न जीयते तथा यतेतेत्यभिप्रायोऽथ चैवमदीनवन्तं भिक्षुमगारिणं च लब्धलाभं विज्ञाय यतमान कथं नु (जिच्चंति) आर्षत्वाज्जीयते हार्यते विषयादिभिरिति गम्यते । ईदृक्षं देवगतिलक्षणं लाभमिति शेषः । अयमाशयो यदि लभमाना न विज्ञाताः स्युर्लाभो वा न तथाविधस्तदा जयनमपि स्याद्यदा तु लभमानौ भिक्ष्वगारिणौ दृश्येते लाभश्च देवत्वलक्षण स्तदा कथमयं जानानोऽपि जन्तुर्जीयते यत आह जीयमानो न संवित्ते । किमुक्तं भवति । यदासौ जीयमानो जानीयात्तदा तदुपायपरतया न जीयेत यदा त्वसौ विषयव्यामोहतो न जानीते तदा जीयत एवेति किमत्र चित्रमिति सूत्रार्थः ।

समुद्रदृष्टान्तमाह ।

जहा कुसग्गे उदयं, समुद्देण समं मिणे ।
एवं मणुस्सया कामा, देवकामाण अंतिए ॥२३॥
कुसग्गमत्ता इमे कामा, संनिरुद्धम्मि आउए ।
कस्स हेउं पूरा काउं, जोगक्खेमं न संविदे ॥२४॥
इह कामा नियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झइ ।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई ॥२६॥

यथेति दृष्टान्तोपन्यासे कुशो दर्भविशेषस्तस्याग्रं कोटिः । कुशाग्रंतस्मिन्नुदकं जलं तत् किमित्याह समुद्रेणेति तात्स्थ्यात्तद्व्यप–देश इति न्यायात्समुद्रजलेन सम तुल्यं मिनुयात्परिच्छिन्द्यात् । तथा किमित्याह–एवमुक्तनीत्या मानुष्यका मनुष्यसंबन्धिनः कामा विषया मनुष्यविशेषणं तु तेषामेवोपदर्शार्हत्वाद्विशिष्टभोगसंभवाच्च । देवकामानां दिव्यभोगानामन्तिके समीपे कृता इति शेषः । दूरस्थितानां हितं सम्यगवधारणमित्येवमाह । किमुक्तं भवति । यथाऽज्ञः कश्चित्कुशाग्रस्थितं जलविन्दुमालोक्य समुद्रवन्मन्यते एवं मूढाश्चक्रवर्त्यादिमनुष्यकामान् दिव्यं भोगोपमानध्यवस्यन्ति तत्वतस्तु कुशाग्रजलविन्दोरिव समुद्रान्मनुष्यकामानां दिव्यभागेभ्यो महदेवान्तरमिति सूत्रार्थः । उक्तमेवार्थं निगमयन्नुपदेशमाह । (कुसमेत्तत्ति) कुशाग्रशब्दन कुशाग्रस्थितो जलबिन्दुरुपलक्ष्यते–तन्मात्रस्तत्परिमाण इमे इति प्रत्यक्षाः कामाः प्रकृतत्वात् मनुष्यविषयाः कदा ये इत्याह । संनिरुद्धेऽप्यन्तसंक्षिप्ते यद्वा सममेकीभा–

वेन निरुद्धेऽध्यवसानादिभिरुपक्रमणकारणैरवष्टब्धे आयुषि जीवितेन मनुष्यायुषोऽल्पतया सोपक्रमतया वा कामानामप्यल्पत्वमुक्तं समृद्धाद्यल्पतोपलक्षणं चैतदस्मिंस्त्वर्थे उक्ते दिव्यकामास्तु–जलधिजलतुल्या इत्यर्थाद् गम्यते (कस्सहेउंति) सूत्रत्वात् कं–हेतुं कारणं (पुराकाउं ति) तत एव पुरस्कृत्याश्रित्य अलब्धस्य लाभो योगो लब्धस्य च परिपालनं क्षेमोऽनयोः समाहारे योगक्षेम् । कोऽर्थोऽप्राप्तविशिष्टधर्म्मप्राप्तिं प्राप्तस्य च परिपालने न संवित्ते न जानीते जन इति शेषस्तदसंवित्तौ हि मनुष्यविषयाभिष्वङ्ग एव हेतुस्ते च धर्म्मं प्राप्य दिव्यभोगापेक्षयैवप्रायास्तत एव तत्यागतो विषयाभिलाषिणोऽपि धर्म्म एव यतितव्यमित्याभिप्रायः । यद्वा यतः कुशाग्रमात्रा दर्भप्रान्तवदत्यल्पा इमे कामास्तेऽपि न पल्योपमा–दिपरिमितौ द्राघायस्यायुषि किंतु सन्निरुद्धे संक्षिप्ते आयुषि ततः (कस्सहेउंति) कस्माद्धेतोः पुरस्कृत्येव पुरस्कृत्य मुख्यतयाङ्गी–कृत्य असंयममिति शेषो योगक्षेममुक्तरूपं न संवित्ते । भावार्थस्त्व–भिहित एवेति सूत्रार्थः । इत्थं दृष्टान्तपञ्चकमुक्तम् – तत्र प्रथममुरभ्रदृष्टान्तेन भोगानामायता-वपायबहुलत्वमभिहितमायतौ चापायबहुलमपि यन्न तुच्छं न तत्परिहर्तुं शक्यत इति । काकण्याम्रफलदृष्टान्ततस्तुच्छत्वं तुच्छमपि च लाभच्छेदात्मकव्यवहारविज्ञतयाऽऽयव्ययतोलनाकुशल एव हातुं शक्त इति । वणिग्व्यवहारोदाह–रणमायव्ययतोलनापि च कथं कर्त्तव्येति समुद्रदृष्टान्तस्तत्र हि दिव्यकामानां समुद्रजलोपमत्वमुक्तं तथा च तदुपार्जनं महानायो–ऽनुपार्जनं तु महान्व्यय इति तत्वतो दर्शितमेव भवति। इह च योगक्षेमासंवेदने कामो निवृत्त एव भवतीति तस्य दोषमाह (इहेति सूत्रम् ।) इहेति मनुष्यत्वे जिनशासने वा प्राप्ते इति शेषः । कामेभ्योऽनिवृत्तोऽनुपरतः कामानिवृत्तः तस्य आत्मनोऽर्थः आत्मार्थोऽर्थ्यमानतया स्वर्गादिः अपराध्यत्यनेकार्थत्वाद्धातूनां नश्यति । यद्वा आत्मैवार्थ आत्मार्थः स एवापराध्यति नान्यः कश्चिदात्मव्यतिरिक्तोऽर्थः सापराधो भवति उभयत्र दुर्गतिगमनेनेति भावः । आह विषयवाञ्छाविरोधिनि जिनागमे सति कथं कामानि–वृत्तिसंभव उच्यते श्रुत्वाऽऽकर्ण्य नैयायिकं न्यायोपपन्नं मार्गं सन्यग्-दर्शनादिकं मुक्तिपथं यद्यस्माद् भूयः पुनः परिभ्रस्यति कामान्निवर्तित इति शेषः । कोऽभिप्रायोजिनागमश्रवणात् कामनिवृत्तिप्रतिपन्नोऽपि गुरुकर्म्मत्वात् प्रतिपतति ये तु श्रुत्वाऽपि न प्रतिपन्नाः श्रवणं येषां नास्ति ते कामनिवृत्ता एवेति भावः । यद्वा यदसौ कामानिवृत्तः सन् श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं भूयः परिभ्रस्यति मिथ्यात्वं गच्छति तदस्यात्मार्थ एव गुरुकर्माऽपराध्यति अनेन मा भूत्कश्चित् मूढस्य सिद्धान्तमधीत्याप्यु-त्पथप्रस्थितान् विलोक्य सिद्धान्त एव द्वेष इति तदनपराधित्वमुक्तं पठ्यते च ''पत्तो नेयाउयंति'' स्पष्ट–मिति सूत्रार्थः ॥

यस्तु कामेभ्यो निवृत्तस्तस्य गुणमाह ॥

इह कामनियत्तस्स, अत्तट्ठे नावरज्झइ ॥
पूइदेहनिरोहेणं, भवे देव त्ति मे सुयं ॥२६॥

इह कामेभ्योऽपि निवृत्तस्यात्मार्थः स्वर्गादिनापराध्यति न भ्रस्यति आत्मलक्षणो वार्थो न सापराधो भवति किं पुनरेवं यतः पूतिः कुथितो देहोऽर्थादौदारिकशरीरं तस्य निरोधोऽभावः पूतिदेहनिरोधस्तेन भवेत् स्यात् प्रकृतत्वात् कामनिवृत्तो देवः सौधर्मादिनिवासी सुरः उपलक्षणत्वात्सिद्धो वा इतीत्येतन्मया श्रुतमाकर्णितं परमगुरुभ्य इति गम्यते । अनेन स्वर्गाद्यवाप्तिरात्मार्थानवपराधे निमित्तमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥

ततश्च यदसावाप्नोति तदाह ॥

इड्ढीजुइजसोवन्नो, आउं सुहमणुत्तरं ॥
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जइ ॥२७॥

ऋद्धिः कनकादिसमुदयो , द्युतिः सरीरकान्ति, यंशः पराक्रमकृता प्रसिद्धिर्वर्णो गाम्भीर्यादिगुणैः श्लाघा गौरादिर्वा । आयुजीवितम्, सुखं यथेप्सितविषयावाप्तावाह्लादो, न विद्यते उत्तरं प्रधानमस्मा–दित्यनुत्तरमिदं च सर्व्वत्र योज्यते । भूयः पुनर्देवभवापेक्षमेतत्तत्रा–प्यनुत्तराण्येव तान्यस्य संभवति । यत्र येषु मनुष्येषु मनुजेषु तत्र तेषु (सेत्ति) सः अथशब्दार्थो वा ततोऽनन्तरमुत्पद्यते जायत इति गाथार्थः । एवं कामानिवृत्त्या यस्यात्मार्थोऽपराध्यति स बाल इतरस्तु पण्डित इत्यर्थादुक्तम् । संप्रति पुनरनयोरेव साक्षात् स्वरूपं फलं चोपदर्शयोपदेशमाह ॥

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिणो ॥
चच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरएसु उववज्जइ ॥२८॥
धीरस्स पस्स धीरत्तं,सव्वधम्माणुवत्तणो ॥
चच्चा अहम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ॥२९॥
तुलियाणबालभावं, अबालं चेव पंडिए ॥
चइऊण बालभावं, अबालं सेवए मुणे ॥३०॥

बालस्याज्ञस्य पश्यावधारय बालत्वमज्ञत्वं किं तदित्याह अध–र्म्मं धर्म्मविपक्षं विषयासक्तिरूपं प्रतिपद्याभ्युपगम्य पठ्यते च (पडिवज्जिणोत्ति) प्रतिपादिनोऽवश्यं प्रतिपद्यमानस्य त्यक्त्वाऽपहाय धर्म्मं विषयनिवृत्तिरूपं सदाचारम् । (अहम्मिट्ठत्ति) प्राग्वन्न–रके सीमन्तकादावुपलक्षणत्वादन्यत्र वा दुर्गतावुत्पद्यते। तथा धीर्बुद्धिस्तया राजत इति धीरो बुद्धिमान् परीषहाद्यक्षोभ्यो वा धीरस्तस्य पश्य प्रेक्षस्व धीरत्वं धीरभावं सर्व्वं धर्म्मं क्षान्त्यादि–रूपमनुवर्त्तते तदनुकूलाचारतया स्वीकुरुत इत्येयं शीलोयस्तस्य सर्व्वधर्म्मानुवर्त्तिनो धीरत्वमेवाह त्यक्त्वा हित्वा अधर्म्मं विषया–भिरतिरूपमसदाचारं (धम्मिट्ठित्ति) इष्टधर्म्मा यदि वाऽतिशयेन धर्म्मवानिति इष्टनिविन्यतोर्लुमिति मनुष्लोगे धर्म्मिष्ठ इति देवेषूत्पद्यते। यतश्चैवमतो यद्विधेयं तदाह तोलयित्वेति प्राग्वत्। बालभावं बालत्वम् । (अबालत्ति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्यबालधीरत्वं चः समुच्चये (एवेति) प्राकृतत्वादनुस्वारलोप एवमनन्तरोक्तप्रकारेण पण्डितो बुद्धिमान् त्यक्त्वा बालभावं बालत्वम् (अबालंति) अबालत्वं सेवते अनुतिष्ठति मुनिर्यतिरिति सूत्रत्रयार्थः । उत्त० ८ अ० । (थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता । तं लोण तेल्लेण उवक्खडेत्ता सपिप्पलीयं पगरंति मंसं '' इति शाक्यमतम् । अद्दगकुमार शब्दे व्याख्याम्) उगल्याम्, आ०म०द्वि० ।

उरब्भपुडसण्णिभा स्त्री०(उरभ्रपुटसन्निभा) उरभ्रऊरणस्तस्य पुटं नासापुटं तत्सन्निभा तत्सदृशी (मेषस्येव नासायां) ''उरब्भपुड–संण्णिभा से नासा''। उपा० १अ० ॥

उरब्भरुहिर न०(उरभ्ररुधिर) उरभ्र ऊरणस्तस्य रुधिरम् । मेषरक्ते, तद्धि अतिशोणितं भवतीति रोहितवस्तु तेनोपमीयते । जी०३प्रति० ॥

उरब्भिय न०(उरभ्रिय) उरभ्रादिपञ्चदृष्टान्तमये सप्तमे उत्तरा ध्ययने, । उत्त० । (उरब्भ शब्दे व्याख्यातम्) ।

***औरभ्रिक** पुं० उरभ्रा ऊरणकास्तैश्चरति यः स औरभ्रिकः उरभ्रस्य ऊर्णया तन्मांसादिना वात्मानं वर्त्तयति, ''उरब्भं वा अण्णतरं तसं पाणं हंता जाव'' । सूत्र०२ श्रु०२ अ० ।

उरय पुं०(उरज) गुच्छभेदे । प्रज्ञा० २ पद ।

उररी (देशी) पशौ, दे०ना० ।

उरलदुग न०(औदारिकद्विक) औदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्ग–नाम्नोः द्विकम्। औदारिकौदारिकमिश्रकाययोगयुगले, ''उरलदुगकमपढमंति मम णवइ केवलदुगम्मि'' कर्म०॥

उरलविणु अव्य०(औदारिकविना) (प्राकृ ते समात इति प्रतीपते) औदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गं च विनेत्यर्थे, ''सुरदुगपणिदिसु खगइतसनवउरलविणुतणुवंगा'' कर्म०॥

उरसिरमुहबद्धकं ठतोण त्रि०(उरःशिरोमुखबद्धकण्ठतोण) उरसा वक्षसा सह शिरोमुखा ऊर्द्धमुखा बद्धा यन्त्रिता कण्ठे गले तोणास्तोणीराः शरधयो यैस्ते उरःशिरोमुखबद्धतोणाः। बद्धतुणीरे, प्रश्न०अ० ३ द्वा०।

उरसी स्त्री०(उरसी) गुच्छभेदे, । प्रज्ञा०१ पद॥

उरसुत्तिया स्त्री०(उरःसूत्रिका) मुक्ताहारे, अमरः। जं०।

उरस्स पुं०(उरस्य) उरसैकादि० कृ यत्। वक्षसैकदेशगते, पुत्रे च। उरसि भवम्। आन्तरे, रा०।

उरस्सबल न०(उरस्यबल) उरसि भवमुरस्यं तच्च तद्बलं च उरस्य बलम्। आन्तरोत्साहे, । अनु०। शारीरबले च। सूत्र०१ श्रु०८ अ०।

उरस्सबलसमण्णागय त्रि०(उरस्यबलसमन्वागत) उरस्यबलं समन्वागतः समनुप्राप्तः। आन्तरोत्साहवीर्य्ययुक्ते, । रा० ।अनु०। आ०म० प्र०॥

उ(ओ)राल त्रि०(उदार) उत् प्राबल्येन आरो येषां ते उदाराः ऊर्द्ध गमनस्वभावेषु, प्रबलशक्तिषु च। जी० ५ प्रति०। रा०। जं०। आ० म० प्र०। दशा०। प्रधाने, भ० २ श०१उ०। ज्ञा०। नि०। शोभने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। अत्युद्भुते, चं०२० पाहु० ''तेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं'' उरालेन आशंसारहिततया प्रधानेन प्रधानं चाल्पमपि स्यादित्याह विपुलेन ''भ० २ श०१ उ०॥'' ''उग्गतवे दित्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे तवस्सी घोरबंभचेरवासी'' उदारः प्रधानोऽथवा उरालो भीषाः उग्रादिविशेषणविशिष्टतपः करणतः पार्श्वस्थानामल्पसत्वानां भयानक इत्यर्थः। सू०प्र० १ पाहु०। जं०।औ०। चं०। रा०। वि०। ''उरलाहि वग्गुहि'' उदाराभिः शब्दतोऽर्थतश्च। भ० २ श०१उ०। उदाराभिः सुन्दरध्वनिवर्णसंयुताभिः।कल्प०। उदाराभिरुदारनादवर्णाद्यारादि-मुक्ताभिः। ज्ञा०१ अ०। जं०। विस्तराले विशाले, च। स्था० ५ ठा०। शरीर–भेदे, । न०। उदारं प्रधानं प्राधान्यं च तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्यापि अनन्तगुणहीनत्वात्। यद्वा उदारं सतिरेकयोजनसहस्रमानत्वात्तेषां शरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणं बृहता चास्य वैक्रिय प्रतिभवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या इति व्युत्पत्तेः। कर्म०। अनु०।

उरालचरिय त्रि०(उदारचरित) सकलप्राणिषु समभावतया उदाराशये, ''उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्''। षो० १ विव०।

उरु त्रि०(उरु) उर्णू–नुलोपो ह्रस्वश्च। विशाले, बृहति, वाच०। विस्तीर्णे, ''भमरोए'' भ्रमरोमावर्ता उरवो विस्तीर्णा यत्रस तथा ज्ञा०१ अ०। बहुले, निरु०। उरोर्भावः पृथ्व्या० इमनिच् उरिमन् तदभाव पक्ष त्व उरुत्व न० तल् उरुता, स्त्री०। अण्, औरवम्० न तद्भावे, वाच०।

उरुपुल्ल (देशी) अपूर्वे, धान्यमिश्रे च। दे० ना०।

उरुमिल्ल (देशी) प्रेरितार्थे, दे० ना०।

उरुसोल्ल (देशी) प्रेरितार्थे, दे० ना०।

उरोवित्थडा स्त्री०(उरोविस्तृता) वक्षप्रदेश, ''उरोवित्थडाए सिरेकण्णाए'' गलविवरस्य वर्तुलत्वात्। उपा० २ अ०।

उरोविसुद्ध न०(उरोविशुद्ध) गेयशुद्धिभेदे,यदि उरसि स्वरः स्व–भूमिकानुसारेण विशुद्धं भवति तत् उरोविशुद्धम्, रा०।

उलिअ (देशी) निकूणिताक्षे, दे० ना०।

उलित्त(देशी) उच्चस्थिते कूपे, दे० ना०।

उलुउंडिअ (देशी) प्रलुठिते, दे० ना०।

उलुकसिअ (देशी) पुलकितार्थे ,दे० ना०।

उलुखंड (देशी) उल्मुके, दे० ना०।

उलु(लू)ग पुं०(उलूक) बलसमवाये उक् संप्रसारणम् ऊर्द्धकर्णः उलूकः। अनु०। सूत्र०। कौशिके,आ०म०। जातित्वात् स्त्रियां ङीष् वाच०। वैशेषिकशास्त्रप्रणेतरि कणादमुनौ च।

दोहिं विणएहिं पिणीयं,सत्थमुलूएण वहविमिच्छत्तं।
जं सव्वसि अप्पहाण–त्तणेण अणोरयणिक्खेक्खा॥

द्वाभ्यामपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां प्रणीतं शास्त्रमुलूकेन वैशेषिकशास्त्रप्रमाणेत्रा द्रव्यगुणादेः पदार्थषट्कस्य नित्यैकान्तरूपस्य तत्र प्रतिपादनात्। तदेवोक्तं भगवता परमाषणोलूक्येन गुणो भावद्रुणत्वमुक्तम्। सम्म०। आ०म०। विशे०। आचा०॥ (विसेसियशब्दे समग्रं मतम्)

उलु(लु) गच्छि पुं०(उलूकाक्ष) उलूको घूकस्तस्येवाक्षिणी यस्य स उलुकाक्षः। कौशिकसदृशलोचने, बृ०४ उ०। नि० चू० (उलू–काक्षदृष्टान्तो दुट्ठशब्दे)

उलु(लू)गपत्तलहुय त्रि० (उलूकपत्रलघुक) उलूकपत्रवल्लववः कौशिकपिच्छवल्लीघीयसि। ''उलुगपत्तलहुया पवयगुरुया ते आयरिया''। सूत्र० २ श्रु०१ अ०॥

उलु(लू)गी स्त्री०(उलूकी) पोताकी प्रतिपक्षभूतायामूलावका–प्रधानायाम् परिव्राजकमथिन्यां विद्यायाम्, विशे०। आ० म०।

उलुफुंटीअ (देशी०) विनिपाते, प्रशान्ते,दे०ना०॥

उलुहंत (देशी०) काके, दे०ना०॥

उलुहलिय (देशी) तृप्तिरहिते, दे०ना०।

उल्मुक (देशी०) निकरे, वस्त्रे, दे०ना०॥

उल्ल त्रि०(आर्द्र) अर्द–रक्– दीर्घश्च प्राकृते 'उदोद्वाऽऽर्द्रे' आर्द्रशब्दे आदेरात् उदोद्व वा भवतः। उल्लं। ओल्लं। पक्षे अल्लं अद्दं। प्रा० जलमिश्रिते, पिं०। अशुष्के, द० ५ अ०१ उ०। **बाहसलीलपवहेण उल्लेइं॥८।२।८॥** प्रा०। प्रचुरव्यञ्जने,। ''उल्लं वा जइ वा सुक्कं''। द० ५ अ० २ उ०। वर्षणे, जीत०। नि० चू०। उत्त०।

उल्लंक पुं०(उल्लङ्क) काष्ठमये ''वारके, उल्लंकओकट्ठमओ वारओ'' नि०चू० १२ उ०।

उल्लंगच्छ पुं०(आर्द्रगच्छ) स्थविरादार्य्यरोहणात्कश्यपगोत्रान्नि–र्गतस्य उद्देहगणस्य तृतीये गणे,। कल्प०।

उल्लंघण न०(उल्लङ्घन) सकृल्लङ्घने, भ० २२ श०४ उ०। सहजात्या दिविक्षेपान्मनागधिकतरे, पादविक्षेपे, प्रज्ञा०३६ पद। द्वारार्गलाबरंडकादेरूर्द्धं लङ्घने, भ० २५ श० ७ उ०। देहल्यादेरुत्प्लवने, स्था० १० ठा०। कर्दमादीनामतिक्रमणे, उल्लङ्घयति अज्ञानिनामय वा बालानां हास्याद्यावनयकर्तृणां भावयनस्वकीयमाचारमतिक्रामयतीति उल्लङ्घनः उत्त० १७ अ०। ग०। कर्त्तरि ल्युट् बालादीनामुचितप्रतिपत्त्यर्थं करणतोऽधः कर्त्तरि, वत्स–डिम्भकादीनामुल्लङ्घनकर्त्तरि, ''उल्लङ्घणे य चंडेय, पावसमणेत्ति वुच्चइ'' उत्त० ८ अ०।

उल्लंघित्तए अव्य०(उल्लङ्घितुम्) बाहुजङ्घादिना सकृल्लङ्घनेन वा पारं गन्तुमित्यर्थे, प्रति०। भ० ८ श० ३३ उ० (वीइवयणशब्दे देवस्य तिर्यगुल्लङ्घनम्)

उल्लंड धा०(विरेचि) चुरा० **विरेचेरोलुराडोल्लण्डपहुत्था ॥८।४।२६॥** इति विरेचेरुल्लण्डादेशः। उल्लण्डइ–विरेइ विरेच–यति। प्रा०।

उल्लंडग पुं०(उल्लण्डक) मृदङ्गिकायाम्, उल्लण्डका मुइगो–लकाः। वृ० ४ उ०।

उल्लंडित त्रि०(उल्लङ्घयत्) सकृल्लङ्घनं कुर्वति, ज्ञा०३ अ०॥

उल्लंबण न०(उल्लम्बन) वृक्षशाखादावुद्बन्धने, तद्रूपे शारीरदण्डे, स०।

उल्लछगण पुं०(आर्द्रच्छगण) अशुष्कगोमये, वृ० (आर्द्रछगणदृष्टान्तो जिणकप्पियशब्दे निष्पत्तिद्वारे, स्पष्टीभविष्यति)

उल्लण त्रि०(उल्वण) उल् वणति–अच्– उत्कटे, प्रकाशान्विते, नतोन्नते, व्यक्ते, स्पष्टे, । वाच०। तीक्ष्णे, । अष्ट०। अवेद्यसंवेद्यपदं यस्मादासु तथोल्वणम्। पाक्षिच्छाया जलचर–प्रवृत्ताम्रमतः परम्। द्वा०। आव०।

उल्लणग न०(उल्वणक) स्नानजलार्द्रशरीरस्य भूषणवस्त्रे, उपा०।

उल्लणभोग पुं०(उल्वणभोग) क०स०। खिङ्गजनाचरिते वस्त्र–पुष्पादिभिर्देहसत्कारे, पंचा० २ विव०॥

उल्लणियाविहि पुं०(आर्द्रनयनिकाविधि) जलार्द्रशरीरस्य जल–भूषणविधौ, ''तयाणंतरं चणं माणे उल्लाणिया विहिपरिमाणं करेइ णणत्थ रागेणं गंधकासाईए अवसेसं सव्वं उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि''। उपा० १ अ०(आणंदशब्दे सूत्रम्)

उल्लपडसाडिया स्त्री०(आर्द्रपटसाटिका) आर्द्रप्रावरणनिवस–नयोः ''उल्लपडसाडिया पुक्खरिणी पच्चुत्तरइ'' उपा०२ अ०।

उल्लभूमि स्त्री०(आर्द्रभूमि) अशुष्यन्त्यां भूमौ, ''उल्लभूमीए असुक्खमाणीए'' नि०चू०१ उ०।

उल्लयट्ठीमहुय न०(आर्द्रयष्टिमधुक) आर्द्रे मधुररसवनस्पतिविशेषे, ॥ उपा० १ अ०।

उल्लरय (देशी) कपर्दाभरणे, दे०ना०।

उल्ललिय त्रि०(उल्ललित) ''नाविंसणणिज्झिहिति उल्ललियं णवाए'' नि०चू० १ उ०॥

उल्लविय न०(उल्लपित) मन्मथादिजल्पने, ''अंगपच्चंगसंट्ठाणं, चारुल्लवियपेहियं। बंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए'' उत्त०।

उल्लस धा०(उल्लस्) उल्लासे, हर्षजनकव्यापारे **''उल्लसे रूसलो सुम्भणिल्लस पुलआअंगुज्झोलारो आः ॥८।४।१॥** '' उल्लसेरेते षडादेशा वा भवन्ति। ऊसलइ–ऊसुम्भइ णिल्लसइ पुलआअइ गुज्झोल्लइ। ह्रस्वत्वेतु गुज्झुल्लइ उल्लसति,प्रा०।

उल्लासिय त्रि०(उल्लासित) उद्– लस्–क्त–स्फुरिते, उद्धते, हृष्टे च। वाच० सुदधुल्लसिते भीते पच्चक्खाणे पडिच्छगच्छ थेरविदू उहसिएतेण वि ताव मिसेण इत्थिं पावामो हरिसितो नि०चू०१ उ०। पुलकितार्थे, दे०ना०॥

उल्लाय पुं०(उल्लात) प्रबलपादप्रहारे, ॥तं०॥

उल्लालिय त्रि०(उल्लालित) ताडिते, आ०म०प्र०। रा०।

उल्लालेमाण त्रि०(उल्लालयत्) ताडयति, ''तिक्खुत्तो उल्लालेमाणे''। रा०।

उल्लाव पुं०(उल्लाप) उद्– लप्– घञ्। काकुवर्णने यदाह। अनु–लापो मुहुर्भाषा, प्रलापोऽनर्थकं वचः। काक्वावर्णनमुल्लापः, संलापो भाषणं मिथः। भ० ६ श०३३ उ०। औ०। ज्ञा० स्था०। ''कंदप्पो अणिहिया य उल्ला वा पण्णत्ता। सूत्र०१ श्रु०१ अ० शोकरोगादिना विकृतस्वरयुक्तवाक्ये, दृष्टवाक्ये, सूचने च, ततो–सस्त्यर्थे ठन् सूचके, त्रि० वाच०॥

उल्लि पुं०(उल्लि) पनके, आव०४ अ०। स्था०। आचा०।

उल्लिहिय पुं०(उल्लिखित) उद् लिख्– क्त। घृष्टे, 'कुंड लिल्लिहियगंडलेहा' ज्ञा०१ अ०। औ०। रा०। नि०।

उल्ली (देशी०) तथेत्यर्थे, दे०ना०॥

उल्लुंटिअ (देशी०) संचूर्णिते, दे०ना०॥

उल्लुक धा०(तुड) तोडने, **तुडेस्तोड तुट्ट खुट्ट खुडो क्खुडो क्खडो–ल्लुक्कणिलुक्क लुक्को च्छराः ॥८।४।१६॥** इति तुडेरुल्लुकादेशः। उल्लुक्कइ तुडइ तुडति। प्रा०॥ त्रुटिते, दे०ना०॥

उल्लुगा स्त्री०(उल्लुका) स्वनामख्यातायां नद्याम्, तदुपलक्षिते जनपदे च। उल्लुका नाम नदी तदुपलक्षितो जनपदो प्युल्लक। विशे०। आ०म०द्वि०। आ०क०। आ०चू०। स्था०।

उल्लुयातीर न०(उल्लुकातीर) उल्लुकानदीतीर वर्तिनि नगरे, यतः प्रस्थितस्योल्लुकानदीमुत्तरतो गङ्गाचार्य्यस्य युगपच्छीतोष्णवेदनाद्वयमनुभवतो द्वैक्रियबुद्धिर्जाता ततो द्वैक्रियनिह्नवा उत्पन्नाः। उत्त०३ अ०। स्था०। आ०म०द्वि०। विशे०।

तएणं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयावि रायगिहाओ णयराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ तेणं कालेणं तेणं समएणं उल्लुयातीरे णामं णयरे होत्था। वण्णओ तस्स णं उल्लुयातीरस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थणं एगजंबुए णामं चेइए होत्था। वण्णओ तस्स णं तएणं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयावि पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव एगजंबुए समोसड्ढे जाव परिसापविगया भंतेत्ति। भ० १६ श०३ उ०।

उल्लुरुह (देशी०) लघुशङ्खे, दे०ना०।

उल्लुह धा०(निर्) सृ०धा० बहिर्गमने, **धातवोऽर्थान्तरेऽपि ॥८।४।५८॥** इति निः सरतेरुल्लुहादेशः। उल्लुहइ, निःसरति। प्रा०।

उल्लूढो (देशी०) अङ्कुरिते, दे०ना०॥

उल्लेव (देशी) हासे, दे०ना०।

उल्लेवण (देशी) घृते, दे०ना०॥

उल्लेहड (देशी०) लम्पटे, दे०ना०॥

उल्लोइय न०(उल्लोचित) कुड्यानामालस्य च सेटिकादिभिः समष्टीकरणे, धवलने 'लाइ उल्लोइय महियं' ज्ञा०१ अ०। औ०। जं०। स०। नि०। जी०। क०। प्रज्ञा०॥

उल्लोय पुं०(उल्लोक) उपरितनभागे, जी०३ प्रति०। रा०। जं०। कल्प०। चं०। मनागालोके च। जं० १ वक्ष०।

***उल्लोच** पुं० ऊर्द्धं लोच्यते उद् लोच् कर्मणि घञ्। निष्ठाया से ट्क्त्वात् नकुत्वम्। उपरितले च। भ० १४ श० ६ उ०। कल्प०। वितानें,दे०ना०॥

उल्लोयतल न०(उलोकतल) उपरितनभागे,। ज्ञा०१अ०।

उल्लोयमेत्ताग न०(उल्लोकमात्र) यावता भवतो मनाक् काल–विभागरूप आलोको भवति तावन्मात्रके, । जी० १ पाहु०॥

उल्लोयवण्णग पुं०(उल्लोकवर्णक) प्रासादस्योपरिभागवर्णके, ॥ स चैवम् ''तस्स णं पासायवडिंसगस्स इमेयारूवे उल्लोए पण्णत्ते पउमलप्पभितिचित्ते जाव सव्वतवणिज्जमए अच्छे जाव पडिरूवे'' ॥ भ० २श०८ उ०॥

उल्लोल (देशी) शत्रौ, दे०ना०।

उल्लोलंत त्रि०(उल्लोडयत्) शरीरापवर्त्तनं कुर्वाणे, ''उल्लोलंतं वा साइज्जइ''। नि०चू० १७ उ०। आचा०।

उव अव्य०(उप) वप् क०सामीप्ये, ''उवदंसिया भगवया पण्णवणा सव्वभावाणं'' उपसामीप्येन यथा श्रोतृणां झटिति यथा वस्थित–वस्तुतत्वावबोधो भवति तथा स्फुटवचनैरित्यर्थः दर्शिता श्रवणगोचरं नीता उपदिष्टा इत्यर्थः। प्रज्ञा० १ पद उत्त०। आचा०। प्रव०। सूत्र०। आ०म०प्र०। भ०। सामस्त्ये,॥ रा०। सादृश्ये, उपशब्द उपमेति वत् सादृश्येऽपि दृश्यते, उत्त०३ अ०। सकृदर्थे, अन्तरर्थे, आव० ४ अ०। अधिकार्थहीने, आसन्ने, प्रतिपन्ने, सतो गुणान्तराधाने, व्याप्तौ, पूजायाम्, शक्तौ, आरम्भे, दाने, दोषा–ख्याने, आचार्य्यकरणे, अत्यये निदर्शने, वाच०॥

उवइय त्रि०(उपचित) उप० चि क्त०। उन्नते, औ०॥ लेपनादिना वर्द्धिष्णौ, निदिग्धे, अमरः। समाहिते, हेम०। सञ्चिते, च। वाच०॥

उवइया स्त्री०(उपविता) कुड्यादौ संचरणशीले त्रीन्द्रियजीवभेदे। वृ०६ उ०। जी०॥

उवउज्ज अव्य०(उपयुज्य) उपयोगं कृत्वेत्यर्थ, दीहादिदारा उवउ–ज्ज जं जुज्जति जाएयव्वं। नि० चू० १ उ०॥

उवउत्त त्रि०(उपयुक्त) उप–युज–क्त०। दत्तावधाने, जीत०। पंचा०। सावधाने, पंचा० ५ विव० उद्यते, आतु०। अप्रमत्ते, नि०चू०१ उ०। उपयोगवति, विपा०२ अ०। ''दंसणनाणोवउत्ता'' औ०। ज्ञेयप्रत्याख्येयविषयज्ञानप्रत्याख्यानपरिणामे, आ०म०द्वि०। विशे०। न्याय्ये, रचिते, भुक्ते च। वाच०॥

उवएस पुं०(उपदेस) उप–दिश्– घञ्। उपदेशनमुपदेशः कथने, । नं०। भणने, प्ररूपणे, । विशे०। आ०म०प्र०। प्रज्ञापनायाम्,। वृ०१ उ०। सूत्रानु सारेण कथने, । आव०४ अ०। हेयोपादेयोपे–क्षणीयार्थेषु हानोपादानोपेक्षणीयभणने, । दर्श०। वर्तने, पंचा० २ विव०। अन्यतरक्रियायां प्रवर्तनेच्छाकरणे, । अनु०॥ न च हितोप देशादपरः पारमार्थिकः परार्थः तथा चार्षम्। रूसओ वा परो मा वा, विसं वा परियत्तओ। भासियव्वाहिया भासा, सपक्खगुण–कारिया॥१॥ स्या०। उवाच वाचकमुख्यः। न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्। ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्त–तो भवति॥ उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये। पयः पानं भुजङ्गानां, केवलं विषवर्द्धनमिति। पंचा०१२ विव०। (धम्मकहा शब्दे विस्तरतः उपदेशप्रकारो वक्ष्यते उचिय पवित्ति शब्दे वर्जय–देनेकोपघातकारकम् इत्याद्युक्तम्) श्राद्धकादिकुलाख्याने, आव ५ अ०। उपदिश्यत इत्युपदेशः उपदेष्टुमिष्ट वस्तुविशेषे, ॥ भूयो भूय उपदेश इति भूयो भूयः पुनः पुनरुपदिश्यत इत्युपदेश उपदेष्टु–मिष्टवस्तुविषयः कथंचिदनवगमे सति कार्यः किं न क्रियते दृढस–न्निपातरोगिणां पुनः पुनः क्रियातिक्तादिक्काथपानोपचार इति। ध०१ अधि०। गुरूणांशिक्षावाक्ये, ''तहियाणंतु भासणं सब्भावे उवएसणं'' उत्त० २८ अ०। प्रत्युपेक्षणाप्रस्फोटनाक्रियायाम्, नि०चू०१ उ०। दर्शने, शास्त्रे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०॥

उवएसग त्रि०(उपदेशक) उप–दिश्– ण्वुल्–उपदेशकर्तरि, ''हिच्चाणं पुव्वसंजोगं सिया किच्चोवएसगा'' सूत्र०१ श्रु०१अ०॥

उवए(दे)सण न०(उपदेशन) उपदिश्यत इत्युपदेशनम्। उपदे–शनक्रियया व्याप्ये, उपलक्षणत्वादस्याः क्रियायाः व्याप्ये कर्मण, ''विइया उवएसणे'' उपदेशने कर्मणि द्वितीया यथा भण इमं श्लोकं कुरु वा तं ददाति तं य ति ग्रामम्। स्था०७ ठा०॥

उवए(दे)सणा स्त्री०(उपदेशना) कथनायाम्, ''पंचविधपयत्थो–वदेसणया''। विशे०॥

उवएसमाला स्त्री०(उपदेशमाला) स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, ग०१ अधि०। तथा कश्चित्परपक्षी प्रार्थनां करोति तदर्थमुपदेशमाला–गाथावलोकने दूषणं लगति नवेति प्रश्नः यदि स निष्कपटतया प्रार्थनां करोति तदर्थमुपदेशमालागाथावलोकने सर्व्वथा दूषणं ज्ञातं नासित इति। शेन० ४ उल्ला० १३५ प्र०॥

उवएसरयणकोस पुं०(उपदेशरत्नकोश) उपदेशा हेयोपादेयोपे–क्षणीयार्थेषु हानोपादानोपेक्षणीयभणनानि त एव रत्नानि तेषां कोश एव भण्डारवदुपदेशरत्नकोशः। दर्शनशुद्धिनामके ग्रन्थे, दर्श०॥

उवएसरयणागर पुं०(उपदेशरत्नाकर) स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, यत उपदेशरत्नाकरे सम्यक्त्वाणुव्रतादि श्राद्धधर्मरहिता नमस्का–रगुणा जिनार्चनचन्दनाभिग्रहमृते। ध०२ अधि०॥

ऊवएसरुइ पुं०(उपदेशरूचि) क०स० साधूपदेशात्तत्वश्रद्धाने, ग०१ अधि०। परोपदेशप्रयुक्ते जीवाजीवादिपदार्थविषयिकश्र–द्धाने, सम्यक्त्वभेदे च। ध० २ अधि। उपदेशो गुर्वादिना वस्तु–तत्वकथनं तेन रुचिर्जिनप्रणीततत्वाभिलाषरूपा यस्य स उपदेशरुचिः। स्था०२ ठा०। यो हि जिनोक्तानेव जीवादीनर्थान् तीर्थकरतच्छिष्यांदिनोपदिष्टान् श्रद्धत्ते तस्मिन्। दर्शनार्य्यभेदे, स्था० १० ठा०। उत्त०।

तस्य स्वरूपं यथा।

एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण न सद्दहइ।
छउमत्थेण जिणेण च, उवएसरुइत्ति नायव्वा॥६६॥

एतांश्चैवानन्तरोक्तांस्तु पूरणे भावान् जीवादीनुपदिष्टान् कथितान् परेणान्येन न श्रद्दधाति न तथेति प्रतिपद्यते। कीदृशा परेण छादयतीति छद्म घातिकर्म्मचतुष्टयं तत्र तिष्ठति छद्मस्थोऽनुत्पन्नकेमलस्तेन जयति रागादीनि जिनस्तेन वोत्पन्नकेवलज्ञानेन तीर्थकृदादिना छद्मस्थस्य प्रागुपन्यासस्तत्पूर्वकत्वाज्जिनस्य प्राचुर्येण वा तथाविधोपदेष्टृणां स ईदृक्किमित्याह उपदेशरुचिरिति ज्ञातव्यः। प्रव० १७० द्वा०॥

उवएसलद्ध त्रि०(उपदेशलब्ध) लब्धाप्तोपदेशे, ''इय उवएसं लद्धा इयविण्णाणं पत्ता'' उपा०३ अ०।

उवएसिय त्रि०(उपदेशित) उपदिष्टे 'सामाइयणिज्जुत्ति, वोच्छं उ–वएसिय गुरुजणेणं। आयरियपरंपरएणं आगयं आणुपुव्वीए' विशे०

उवओग पुं०(उपयोग) उपयोजनमुपयोगः भावे घञ्। उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः। पुन्नाम्नि करणे घञ् प्रत्ययः। उपयुज्यते वस्तु परिच्छेदं प्रति व्यापार्यत इत्युपयोगः कर्मणि घञ्। बाधरूपे जीवस्य तत्वभूते व्यापारे, प्रज्ञा० २८ पद। कल्प०। प्रव०। आव०। दर्श०। स्था०। उपयोगो ज्ञानं संवेदनं प्रत्ययः इति पर्यायाः। विशे०। अनु०।

उपयोगभेदाः।

कतिविहेणं भंते उवओगे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे उवओ–

गे पण्णत्ते तं जहा सागारोवओगे य अणागारोवओगे य ॥

कतिविधः कतिप्रकारः सूत्रे एकारो मागधभाषालक्षणवशात् णमिति वाक्यालंकृतौ भदन्त परमकल्याणयोगिन् उपयोग उपयोजनमुपयोगो भावे घञ् यद्वा उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः पुन्नाम्नि करणे घञ् प्रत्ययो बोध-रूपो जीवस्य तत्त्वभूतो व्यापारः प्रज्ञप्तः प्रतिपादितः भगवानाह गोयमेत्यादि ॥ आकारप्रतिनियतो ग्रहणपरिणामः ''आगारोअविसेसो''इति वचनात् सह आकारेण वर्तत इति साकारः स चासा-वुपयोगश्च साकारोपयोगः। किमुक्तं भवति। सचेतने अचेतने वा वस्तुनि उपयुञ्जान आत्मा यदा सपर्यायमेव वस्तु परिच्छिनत्ति तदा स उपयोगः साकार उच्यते इति। स च कालतः छद्मस्थानामन्तर्मुहूर्तं कालं केवलिनामेक सामायिकः। तथा न विद्यते यथोक्तरूप आकारो यत्र सोऽनाकारः स चासावुपयोगश्चाना-कारोपयोगः। यत्तु वस्तुनः सामान्यरूपतया परिच्छेदः सोऽनाकारोपयोगः स्कन्धावारोपयोगवदित्यर्थः। असावपि छद्मस्थानामान्तर्मौ हुर्त्तिकः परमनाकारोपयोगकालात्साकारोप-योगकालः संख्येयगुणः प्रतिपत्तव्यः पर्यायपरिच्छेदकतया चिरकाललगनात् छद्मस्थानां तथास्वाभाव्यात्। केवलिनां त्वनाकारोपयोग एकसामायिकः चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ।

तत्र साकारोपयोगभेदानभिधित्सुरिदमाह ॥

सागारोवओगेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते, तंजहा आभिनिबोहियनाणसागरोवओगे सुयनाण-सागरोवओगे, ओहिनाणमणपज्जवसागरोवओगे केवलनाण-सागारोवओगे य। मतिअन्नाणसागारोवओगे सुयअन्नाणसा-गारोवओगे विभंगनाणसागारोवओगे य ॥

अर्थाभिमुखो नियतः प्रतिस्वरूपको बोधो बोधविशेषोऽभिनि-बोधः। अभिनिबोध एव आभिनिबोधिकम्। अभिनिबोधशब्दस्य विनयादि-पाठाभ्युपगमात् विनेयादिभ्य इत्यनेन स्वार्थे इकण् प्रत्ययः। अनिवर्त्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानीति वचनात्तत्र नपुंसकता यथा विनय एव वैनयिकमित्यत्र। अथवा अभिनिबुध्यते अस्मादस्मिन् वेति अभिनिबोधस्तदाचरणकर्म-क्षयोपशमस्तेन निर्वृत्तमाभिनिबोधिकं तच्च तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानम्। इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यप्रदेशावस्थित वस्तुविषयः स्फुटप्रतिलाभो बोधविशेष इत्यर्थः। सचासौ साकारोपयोगश्च आभिनिबोधिकज्ञानसाकारोपयोगः। एवं सर्वत्रापि समासः कर्तव्यः। तथा श्रवणं श्रुतं वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकरणशब्दसंस्पृष्टार्थग्र-हणहेतुरुपलब्धिविशेष एवमाकारं वस्तु घटशब्दवाच्यं जलधार-णाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतः समानपरिणाम-शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तागमविशेष इत्यर्थः। श्रुतं च तज्ज्ञानं च श्रुतज्ञानं ततो भूयः साकारोपयोगशब्देन विशे-षणसमासः तथाऽवशब्दोऽधः शब्दार्थः। अत्र अधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः। यद्वा अवधिः मर्यादारूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरुपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः। अवधिश्चासौ *ज्ञानं चावधिज्ञानम्। तथा परि सर्वतोभावे अवनं अवः तुदादिभ्योऽन्* क्वचिदित्यधिकारे अकितौ चेत्यकारप्रत्ययः अवनं गमनमिति पर्यायः। परि अवः पर्यवः मनसि मनसो वा पर्यवो मनः पर्यवः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः। पाठान्तरं पर्यय इति तत्र पर्ययणं पर्ययः मनसि मनसो वा पर्ययः मनः पर्ययः। सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः। स चासौ ज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं मनः पर्यवज्ञानं वा। अथवा मनः पर्यायेति पाठान्तरं तत्र मनांसि पर्येति सर्वात्मना परिच्छिनत्ति मनः पर्यायं कर्मण्यण्। मनःपर्याय च तत् ज्ञानं मनः पर्यायज्ञानं यदि वा मनसः पर्याया मनःपर्यायाः। पर्याया धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यनर्थान्तर तेषु तेषां वा संबंन्धिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानमिदं चार्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तवर्तिसंज्ञिमनोगत-द्रव्यालम्बनम्। तथा केवलमेकं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात् ''नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे'' इति वचनात् शुद्धं वा केवलं तदावरणं मलकलङ्कविगमात्। सकलं वा केवलं प्रथमत एवाशेषतदावरणविगमतः संपूर्णोत्पत्तेः। असाधारणं वा केवलमनन्यतः सदृशत्वात्। अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वात्। केवलं च तत् ज्ञानं तथा मतिश्रुतावधय एव यदा मिथ्यात्वकलुषिता भवन्ति तदा यथाक्रमं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानवि-भङ्गज्ञानव्यपदेशाँल्लभन्ते। उक्तंच। आद्यं त्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्याम्वसंयुक्तमिति। विभङ्ग इति विपरीतो भङ्गः परिच्छित्ति-प्रकारो यस्य तद्विभङ्गं तच्च तत् ज्ञानं च विभङ्गज्ञानं सर्वत्रापि च साकारोपयोगशब्देन विशेषणसमासः ॥

॥ अनाकारोपयोगभेदानभिधित्सुराह ॥

अणागारोवओगेणं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा चक्खुदंसण अणागारोव ओगे, अचक्खुदंसण-अणागारोवओगे, ओहिदंसणअणागारोवओगे केवलदंसणअ-णागारोवओगे।

तत्र चक्षुषा चक्षुरिन्द्रियेण दर्शनं रूपसामान्यग्रहणं च चक्षुर्दर्शनं तच्च तत् अनाकारोपयोगः। अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनं स्वस्वविषये सामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम्। ततोऽनाकारोपयोगशब्देन विशेषणसमासः। एवमुत्तरत्रापि अवधिरेव रूप दर्शनं सामान्यग्रहणमवधिदर्शनं केवलमिव सकलजगद्व्याविसमस्तवस्तुसामान्यपरिच्छेदरूपं दर्शनं केवलदर्शनम्। अथ मनः पर्यायदर्शनमपि कस्मान्न भवति येन पञ्चमोऽनाकारोपयोगो न भवतीति चेदुच्यते मनःपर्यायविषयं हि ज्ञानं मनसा पर्यायानेव विविक्तान् गृह्णन् क्वचिदुपजायते पर्यायाश्च विशेषा विशेषालम्बन च ज्ञानं ज्ञानमेव न दर्शनमिति मनःपर्यायदर्शनाभावस्तदभावाच्च पञ्चमानाकारोप-योगासम्भव इति (एवं जीवाणमित्यादि) एवं निर्विशेषणोपयोगवत् जीवानामनुपयोगो द्विविधः प्रज्ञप्तो भणितव्यस्तत्रापि साकारोप-योगोऽष्टविधोऽनाकारोपयोगश्चतुर्विधः। एतदुक्तं भवति। यथा प्राक् जीवपदरहितमुपयोगसूत्रं सामान्यत उक्तं तथा जीवपदसहितमपि भणितव्यं तद्यथा ''जीवाणं भंते ! कतिविहे उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पत्तते तंजहा सागारावओगे य अणागारोवओगे य जीवाण भंते ! कतिविहे उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे अट्ठविहे पण्णत्ते तंजहा इत्यादि'' तदेवं सामन्यतो जीवानामुपयोगश्चिन्तितः। प्रज्ञा २८ पद। भ०। प्रव०॥ उपयोगः साकारानाकारद्वयात्मकः प्रमाणमितरथाअप्रमाणम्॥ उपयोगः परस्परसव्यपेक्षसामान्यविशेष-ग्रहणप्रवृत्तदर्शज्ञानस्वरूपद्वयात्मकः प्रमाणं दर्शनाज्ञानैकान्तरूपस्व-*प्रमाणमिति दर्शयितुं प्रकरणमारभमाणो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिभिर्मतं* प्रत्येकदर्शनज्ञानस्वरूपप्रतिपादकगाथामाहाचार्यः।

जं सामण्णग्गहणं, दंसणमेयं विसेसियं णाणं।
दोण्हं वि णयाण एसो, पाडेक्कं अत्थपज्जाओ ॥

द्रव्यास्तिकस्य सामान्यमेव वस्तु तदेव गृह्यते अनेनेति ग्रहणं

दर्शनमेतदुच्यते पर्यायास्तिकस्य तु विशेष एव वस्तु स एव गृह्यते येन तज्ज्ञानमधीयते ग्रहणं विशेषितमिति विशेषग्रहणमित्यभिप्रायोरप्यनयोर्नययोरेकं प्रत्येकमर्थपर्यायोऽर्थविषयं पर्येत्यवगच्छति यः सोऽर्थपर्याय ईदृग्भूतार्थग्राहकत्वमित्यर्थः । उपयोगस्य चानाकारसाकास्ते सामान्यविशेषग्राहके एते चत्वारस्तत्राभिधीयते नविद्यमान आकारो भेदो ग्राह्यस्यास्येत्यनाकारोदर्शनमुच्यते सहाकारैर्ग्राह्यभेदैर्वर्त्तते यद्ग्राहकं तत्साकारं ज्ञानमित्युच्यते । अनाकारसाकारोपयोगौ तूपसर्जनीकृततदितराकारौ स्वविभासकत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाणं नतु निरस्तेतराकारौ तथाभूतवस्तुविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वानुपपत्तेरितरांशविकल्पैकांशरूपोपयोगसत्तानुपपत्तेश्च तेनैकान्तवाद्यभ्युपगमो बोधमात्रं प्रमाणं साकारो बोधोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वविशिष्टः स एव ज्ञातृव्यापारोऽर्थदृष्टताख्यफलानुमेयोऽसंवेदनाख्यफलानुमेयो वाऽनधिगतार्थो विगत इन्द्रियादि संपाद्यो व्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री तदेकदेशो वा बोधरूपो वा साधकत्वात्प्रमाणमित्यादिरूपोऽयुक्तः । निराकारस्य केवलबोधरूपस्य ज्ञानस्यैव प्रामाण्यमिति विज्ञानवादिनोऽन्ये च स्वस्वस्थाने स्वस्वमतमुद्भाव्य परास्ता भविष्यन्ति । सम्म० । (तदेतत्संमतितर्कत एव विज्ञेयमिहापि यथावसरं किञ्चिद्वक्ष्ये)

सामान्यविशेषात्मके च प्रमाणप्रमेयरूपे वस्तुतत्वे व्यवस्थिते द्रव्यास्तिकस्यालोचनमात्रं विशेषाकारत्यागिदर्शनं यत्तत्सत्वमितरस्य तु विशेषाकारसामान्याकाररहितं यज्ज्ञानं तदिव पारमार्थिकमभिप्रेतं प्रत्येकमेषोऽर्थपर्याय इति वचनात् प्रमाणं तु द्रव्यपर्यायौ दर्शनज्ञानस्वरूपावन्योऽन्यावनिर्भागवर्तिनाविति दर्शयन्नाह–

दव्वट्ठिओ वि होऊण, दंसणे पज्जवट्ठिओ होइ ।
उवसमिआई भावं, पडुच्च णाणे उ विवरीयं ॥

अस्यारस्तात्पर्यार्थः दर्शनेऽपि विशेषांशो न निवृत्तो नापि ज्ञाने सामान्यांश इति द्रव्यास्तिकोऽपीति आत्मा द्रव्यार्थरूपः सभूत्वा दर्शने सामान्यात्मके स ह्यात्मा चेतनालोकमात्रस्वभावो भूत्वा तदैव पर्यायास्तिको विशेषकरोऽपि भवति यदा हि विशेषरूपतयाऽऽत्मा संपद्यते तदा सामान्यस्वभावं परित्यजन्नेव विशेषाकारश्च विशेषावगमस्वभावं ज्ञानं दर्शनेसामान्यपर्यालोचने प्रवृत्तोऽप्युपात्तज्ञानाकारो न हि विशिष्टेन रूपेण विना सामान्यं संभवति एतदेवाह औपशमिकादिभावं प्रतीत्येति औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकादीन् भावान् अपेक्ष्य विशेषरूपत्वेन ज्ञानस्वभावात् वैपरीत्यं सामान्यरूपतां प्रतिपद्यते विशेषरूपः सन् स एव सामान्यरूपोऽपि भवति न ह्यस्ति सामान्यं विशेषविकलं वस्तुत्वात् शिवकादिविकलमृत्त्ववत् विशेषा वा सामान्यविकला न सन्ति असामान्यत्वात् मृत्त्वरहितशिवकादिवदत्र च सामान्यविशेषात्मके प्रमेयवस्तुनि तदग्राहि प्रमाणमपि दर्शनज्ञानरूपं तथाऽपि छद्मस्थोपयोगस्वाभाव्यात् कदाचिज्ज्ञानोपसर्जनो दर्शनोपयोगः कदाचित्तु दर्शनोपसर्जनो ज्ञानोपयोग इति क्रमेण दर्शनज्ञानोपयोगौ । क्षायिके तु ज्ञानदर्शने युगपद्वर्तिदीपमिति दर्शयन्नाह सूरिः ।

मणपज्जवणाणस्स यं, दरिसणस्स य विसेसो य ।
केवलणाणं पुण दंसणंति णाणंति य समाणं ॥

मनः पर्यायज्ञानं मनःपर्यवसानं यस्याविश्लेषस्य स तथोक्तः ज्ञानस्य च दर्शनस्य च विश्लेषः पृथग्भावः मत्यादिषु चतुर्षु ज्ञानदर्शनोपयोगौ क्रमणे भवत इति यावत् । तथाहि चक्षुरचक्षुरवधिज्ञानानि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेभ्यः पृथक् कालानि छद्मस्थोपयोगात्मकज्ञानत्वात् श्रुतमनः पर्यायज्ञानवत् वाक्यार्थविशेषविषयं श्रुतज्ञानं मनोद्रव्यविशेषालम्बनं च मनः पर्यायज्ञानमेतद् द्वयमप्यदर्शनस्वभावं मत्यवधिज्ञानदर्शनोपयोगात् भिन्नकालं सिद्धं केवलज्ञानं पुनः केवलाख्यो बोधो दर्शनमिति चाज्ञानमिति वाऽन्यत्केवलं तत्समानकालं द्वयमपि युगपदेवेति भावः ॥ सम्म० । (अत्र बहु वक्तव्यं तच्च ग्रन्थविस्तरभयन्नोच्यते किंतु विशेषजिज्ञा–सुना सम्मतितर्कत एव समवलोकनीयम्) सिद्धः साकारोपयोग एव सिध्यतीति केवलस्य साकारत्वात् यौगपद्यम् । कथं पुनरसौ साकारोपयोग एव सिध्यतीत्याह ।

सव्वाओ लद्धीओ, जं सागारोवओगतो भाओ ।
तेणेह सिद्धलद्धी, उप्पज्जइ तवउत्तस्स ॥

प्रतीतार्थैव । एतच्च साकारोपयोगवर्तमानः सिध्यतीति विशेशेणं प्रज्ञापनायां विहितम् । अनेन चात्र केवलसाकारोपयोगे ये विप्रतिपद्यन्ते साकारानाकारोपयोगयोः सिद्धस्य युगपदभ्युपगमात्ते निरस्ताः अत एवाह ।

एवं च गम्मइ ध्रुवं, तरतमजोगोवओगया तस्स ।
जुगवोवओगभावे, साकारविसेसणमुहुत्तं ॥

एवं च साकारोपयोगविशेषणाद्गम्यते किमत आह । ध्रुवं निश्चितं तरतमयोगोपयोगता सिद्धस्य अन्यस्मिन्काले तस्य साकारोपयोगोऽन्यत्र चानाकारोपयोग इति । अन्यथा बाधामाह । युगपदुपयोगभावे साकारविशेषणं प्रज्ञापनोक्तमयुक्तमेव स्यादिति । अत्र परमतमाशङ्क्यपरिहरन्नाह ।

अहव मई सव्वं वि य, सागारं से तओ अदोसो त्ति ।
नाणंति दंसणंति य, न विसेसो तं च नो जम्हा ॥
सागारमणागारं, लक्खणमेयंति भणियमिह चेव ।
तह नाणदंसणाइं, समए बीसुं पसिद्धाइं ॥

अथ मतिः परस्य सर्वमेव(से) तस्य सिद्धस्य ज्ञानं दर्शनं वा साकारं ततः साकारोपयोगविशेषणे अदोष एव स्वरूपविशेषणत्वात्तस्यः । यदपि केवलज्ञानं केवलदर्शनं च तस्योच्यते तस्यापि तयोर्निर्विशेष इत्यभिप्रायवता प्रोक्तं स्तुतिकारेण एवं कल्पितभेदमप्रतिहतं सर्वज्ञतालाञ्छनं सर्वेषां तमसां निहन्तृजगतामालोकनं शाश्वतं नित्यं पश्यति बुध्यते च युगपन्नानाविधानि प्रभास्थित्युत्पत्तिविनाशवन्ति विमलद्रव्याणि तत्केवलं तच्च न युक्तं यस्मात्साकारमनाकारं च लक्षणं सिद्धानामितीहैव पुरतो भणितं वर्तते यद्वक्ष्यति ''असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणेय नाणे य । सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाणं'' इति । तदनयोः साकारनाकारलक्षणयोर्भेदेनोक्तत्वात्कथमुच्यते सर्वमेव तस्य साकारमिति भावः । तथा समये सिद्धान्ते विष्वक्पार्थक्येन ज्ञानदर्शने सिद्धानां तेषु तेषु स्थानेषु प्रसिद्धे अतः कथं तयोरविशेषः उच्यत इति हृदयम्।

तद्विशेषे हि बहवो दोषाः के इत्याह।

पत्तेयावरणत्तं, इहरा वारसविहोवओगो य ।
नाणं पंचवियप्पं, चउव्विहं दंसणं कत्तो ॥

इतरथा केवलज्ञानदर्शनयोरेकत्वे प्रत्येकावरणत्वं केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणं चेति प्रत्येकमावरणं तयोः कुतो घटते नह्येकस्य द्वे आवरणे युज्येते ततः प्रत्येकावरणनिर्देशात्केवलज्ञानदर्शनयोर्भेद एवेति भावः । तथा साकारोऽष्टधा अनाकारस्तु च–

तुर्द्धेत्येवं यो द्वादशविधोपयोगः श्रुतेऽभिहितो यच्च ज्ञानं पञ्चविधं दर्शनं चतुर्विधं प्रोक्तं तदेतत्सर्वमपि केवलज्ञानदर्शनयोरेकत्वे कुत उपपद्यते न कुतश्चिदिति। अपिच–

भणियमिहेव य केवल–नाणुवउत्ता मुणंति सव्वंति।
पासंति सव्वओत्ति य, केवल दिट्ठीहिणंताहिं॥

इहैव पुरतो भणितं केवलज्ञानोपयुक्ताः सिद्धा सर्वे (मुणंति) जानन्ति तथा पश्यन्ति च सर्वतः केवलदर्शनदृष्टिभिरनन्ताभिर्यद्वक्ष्यति ''केवलनाणुवउत्ता, जाणंती सव्वभावगुणभावे। पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठीहिणंताहिमिति'' तस्मान्नैतयोरेकत्वमितिभावः।

पुनरपि परः प्राह।

आह परोभावम्मि, उवउत्ता दंसणे य नाणे य।
भणियंतो जुगवंतो, नणु भणियमिणं पि तं सुणसु॥

आह परो नन्वपृथग्भावेऽपि केवलज्ञानदर्शनयोर्न दोषा यतः ''असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य नाणे य'' इत्यत्र दर्शने च ज्ञाने च युगपदुपयुक्ता इति भणितं ततो युगपदेव केवलज्ञानदर्शनोपयोगः सिद्धः। सुरिराह। ननु यदि भणितेनार्थसिद्धिस्तव तर्हीदमपि भणितं वर्तत्ते तच्छृणु किंपुनस्तदित्याह॥

नाणम्मि दंसणम्मि य, वत्तेगयरम्मि उवउत्ता।
सव्वस्स केवलिस्स, जुगवदो नत्थि उवओगा॥

एतदिहैव व्यक्तं पुरस्ताद्वक्ष्यति ततोऽस्यां गाथायां भद्रबाहुस्वामिभिर्व्यक्तेऽपि युगपदुपयोगे निषिद्धे किमिति तद्यौगपद्याभिमानोऽद्यापि न त्यज्यत इति भावः। अत्र परस्य व्याख्यान्तरकल्पनामाशङ्क्य परिहरन्नाह –

अह सव्वस्सेव न केवलिस्स दो किं तु कस्सइ हवेज्ज।
सो य जिणो सिद्धो वा, तं च न सिद्धाहिगाराउ॥

अथैवं व्याख्यायते परेण सर्वस्यैव केवलिनो न युगपद्द्वावुपयोगौ किंतु कस्यापि द्वौ भवेतां कस्यचिदेकः स च केवलिजिनसिद्धो वा भवेद्भवस्थकेवली वा भवेदित्यर्थः। ततश्च भवस्थकेवलिनोऽद्यापि सकर्म्मकत्वादेकदा एक एवोपयोगः। सिद्धकेवलिनस्तु सर्वथा कर्म्ममलकलङ्कविप्रमुक्तत्वात् युगपद् द्वावुपयोगी भवत इति पर–स्याकूतं तच्च न युक्तमिह सिद्धाधिकारादिदमुक्तं भवति ''सव्वस्स केवलिस्स'' इत्यादिना सिद्धाधिकारे सिद्धस्यैव भद्रबाहुस्वामिभिर्युगपद्द्वावुपयोगौ निषिद्धावतो न किंचित्तत्कृता व्याख्यान्तरकल्पनेह भवतीति भावः। सूरिः समाधानान्तरमाह–

अह पुव्वद्धेणेव, सिद्धमेक्कोत्ति किं च विइएणं।
एत्तो वि य पच्छद्धे, निगमइ सव्वपडिसेहो॥

अथवा ''नाणम्मि दंसणम्मि य वत्तेगयरम्मि उवउत्ता'' इत्यनेन पूर्वार्द्धेनैवेकदा एक उपयोगः सिद्धस्ततः किं द्वितीयेन पश्चार्द्धेनो–क्तेन उक्तं चेदत (एत्तोवियत्ति) इत एव ''सव्वस्स केवलिस्स'' इत्यादि पश्चार्द्धोपन्यासात्सर्वप्रतिषेधो गम्यते। यथा सर्वस्य केवलिनोऽपि युगपद् द्वावुपयोगौ न स्तः किंपृच्छा केवलिन इति॥ पुनः परवचनमाशङ्क्य परिहारमाह–

तो कहमिहेव भणियं, उवउत्ता दंसणे य नाणे य।
समुदायविसयमेयं, उभयनिसेहो यपत्तेयं॥

यदि न युगपदुपयोग इष्यते तत आचार्यः कथमिहैव भणिष्यति तथापीहैव भणिष्यतीत्यर्थः। किं तदित्याह (उवउत्ता दंसणे यत्ति) दर्शने ज्ञाने च युगपदुपयुक्ता इह किल भणिता इति परस्याभिप्रायः। अयं च मिथ्याभिमानोपहृतसद्बोधत्वात्कदभिप्राय एवेति दर्शयति (समुदायवयणमेयत्ति) समुदायविषयमेवेदं नतु युगपदुपयोगप्रतिपादनपरमित्यर्थः। अनन्तास्तर्हि सिद्धास्तत्समुदायेऽत्र केऽपि ज्ञाने उपयुक्ताः केचिद्दर्शन इत्ययमर्थः। प्रत्येकविवक्षायां पुनः ''पत्ते–आवरणत्ता'' मित्याद्यभिहितयुक्तेर्युगपदुभयोपयोगनिषेध एव मन्तव्य इति पुनरपि प्रेर्यपरिहारौ प्राह–

जम्हाअपज्जत्ताइं, केवल तेणोभओवओगो त्ति।
भण्णइ नायं नियमो, संतं तेणोवओगोत्ति॥

साद्यपर्यवसितत्वाद्यस्मादपर्यन्ते अविनाशिनी सदावस्थितके–वलदर्शने तेन तस्माद्युगपदुपयोग इष्यते अस्माभिः। इदं हि यद्बो–धस्वभावसदावस्थितं च तस्योपयोगेनापि सदा भवितव्यमेव अन्यथोपलशकलकल्पत्वेन बोधस्वभावत्वानुपपत्तेः सदोपयोगे च द्वयोर्युगपदुपयोगः सिद्ध एवेति परस्याभिप्रायः। आचार्य आह। भण्यते अत्रोत्तरम्। नायं नियमः सर्वदा यल्लब्धिमारित्य स विद्यमानकेवलज्ञानं केवलदर्शनं च तेन तयोरुपयोगेनापि सर्वदा भवितव्यमिति कुतः पुनर्नायं नियम इत्याह–

ठिइकालं जह से दंसणनाणाणमणुवओगे वि।
दिट्ठमवत्थाणं तह, न होइ किं केवलाणं पि॥

यथा केवलज्ञानदर्शनाभ्यां शेषाणि यानि दर्शनज्ञानानि तेषां निज २ च्छित्तिकालं यावदनुपयोगाभावेऽपि सत्वस्यावस्थानं दृष्टं तया केवलज्ञानदर्शनयोरपि निजस्थितिकालं यावदनुपयोगे पि सर्व–स्यावस्थानं किमिति न भवति भवति चेत्तर्हि सतो ज्ञानस्य दर्शन–स्योपयोगेन भवितव्यमिति अनेकान्तिकमेव। इयमत्र भावना। शेषज्ञानदर्शनानां प्रज्ञापनायां कायस्थितौ दीर्घस्थितिकाल उक्तस्तद्यथा। ''मइनाणीणं भंते! मइनाणित्ति कालओ केच्चिरं होइ? गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिसागरोवमाइं साइरेगाइं एवं सुयनाणीवि ओहिनाणीवि एवं चेव नवरं जहन्नेणं एक्कं समयं मणपज्जवनाणी जहन्नेणं एक्कं समयं। उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं'' यदा विभङ्गज्ञानसम्यक्त्वलाभे समयमेकमवधिज्ञानं भूत्वा प्रतिपतति तदा अवधिज्ञानस्य जघन्यतः समयस्थितिकालो मन्तव्यः। मनः पर्यायज्ञानस्य तूत्पत्त्यनन्तरं तद्वतो मरणादिति ''चक्खुदंसणी जहन्नेणं अंतोमुहुर्त्त उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं साइरेगं अचक्खुदंसणी अणाइए वा अपज्जवसिए अणाइए वा पज्जवसिए ओहिदंसणी जहा ओहिनाणि त्ति'' तदेवमेतेषां निजनिजस्थितिकालं यावत्सत्वमुक्तम्। उपयोगस्त्वा–न्तर्मौहूर्तिकत्वान्नैतावन्तं कालं भवत्यतः सतोऽवश्यमुपयोगेन भवितव्यमिति कथं नानैकान्तिकम्। अथ लब्धित एवैतान्येतावन्तं कालं भवन्ति नतु बोधात्मनेति चेत्तदिदं हन्त केवलज्ञानदर्शनयोरपि समानं तयोरपि लब्धित एवापर्यन्तत्वादुपयोगतस्तु सामानिकत्वादिति पुनरप्यत्रिस्वाग्रहग्रस्तत्वात्परः प्राह–

नणु सनिधणता समयं, मिच्छावरणक्खउत्ति व जिणस्स।
इयरेयरावरणया, अहवा निक्कारणावरणं॥
एगयराणुवउत्ते, तदसव्वण्णुदरिसत्तणमेव।
भण्णइ छउमत्थस्स वि, समाणमेगंतरे सव्वं॥

ननु यदि एकस्मिन्समये केवलज्ञानोपयोगोऽन्यस्मिंस्तु समये केवलदर्शनोपयोग इष्यते तर्ह्येवं क्रमोपयोगित्वे केवलोपयोगित्वे केवलज्ञानदर्शनयोः सनिधनत्वं प्रतिसमयं सान्तत्वं प्राप्नोति।

तथाच सति तयोः समयोक्रमपर्यवसितत्वं हीयते। अथवा यः कष्टशतानि कृत्वा ज्ञानावरणादिक्षया विहितः स मिथ्या निरर्थको जिनस्य भगवतः प्राप्नोति समयात्समयादूर्ध्वं केवलज्ञानदर्शनो–पयोगयोः पुनरप्यभावान्नह्यपनीतावरणौ द्वौ प्रदीपौ क्रमेण प्रकाशं प्रकाशयतः। अथवा केवलज्ञानदर्शनयोरितरेतरावरणता नेष्यते तर्ह्यन्यतरोपयोगकाले अन्यतरस्य निष्कारणमेवावरणं स्यात्तथा च सति सत्वमसत्वं चेत्यादि प्रसज्यत इति। तथा एकतरस्मिन् ज्ञाने दर्शने वाऽनुपयुक्तस्तस्मिन्नेकतरानुपयुक्ते केवलिनीष्यमाणे ज्ञानानुपयोगकाले तस्य केवलिनोऽसर्वज्ञत्वं प्राप्नोति दर्शनानुप–योगकाले त्वसर्वदर्शित्वं प्रसजति अनुस्वारश्चेह लुप्तो दृष्टव्यः। तच्चासर्वज्ञत्वमसर्वदर्शित्वं च नेष्टं जैनानां सर्वदैव केवलिनि सर्वज्ञत्वसर्वदर्शित्वाभ्युपगमादिति। सूरिराह। भण्यते अत्रोत्तरम्। ननु छद्मस्थस्यापि दर्शनज्ञानयोरेकतरे उपयोगे सर्वमिदं दोषजालं समानमेव अत्रापि हि शक्यते एवं वक्तुं ज्ञानानुपयोगे तस्याज्ञानित्वं दर्शनानुपयोगे पुनरदर्शनत्वम् तथा मिथ्यावरणक्षयः इतरेतरावर–णता वा निष्कारणावरणत्वं चेत्यादि पुनरप्यनिर्विण्णस्य परस्या–शङ्कामाह–

सव्वक्खीणावरणो, अह मन्नसि केवली न छउमत्थो।
उभओवओगविग्घ–छउमत्थस्स व जिणस्स॥

अथैवं मन्यसे सर्वक्षीणावरणः क्षपितनिः शेषावरणः केवली न तु छद्मस्थस्ततो युगपज्ज्ञानदर्शनोभयोपयोगविघ्नं छद्मस्थस्यैव भवति सावरणत्वान्न तु जिनस्य केवलिनः सर्वथा निरावरणत्वादिति।

देसक्खए अजुत्तं, जुगवं कसिणोभओवओगित्तं।
एतावंतं मण्णे, पुण पडिसिज्झए किं से॥

इह यद्यपि छद्मस्थः क्षीणनिः शेषावरणो न भवति तथापि देशत–स्तस्याप्यावरणक्षयो लभ्यते ततस्तस्यावरणक्षये सति युगपत्कृ–त्स्नोभयोगित्वं युगपत्सर्ववस्तुविषयज्ञानदर्शनोभयोपयोगभवनम–युक्तमित्येतावन्मात्रं मन्यामहे वयं वस्तुदेशतो सर्ववस्तुविषयज्ञान–दर्शनोभयोपयोगः स हन्त (से) तस्य छद्मस्थस्य किं प्रतिषिध्यते नतु युक्तस्तत्प्रतिषेध इत्यर्थः। नचास्य युगपदुभयोपयोगो भवति ततोऽसौ केवलिनोऽपि न युक्तः इतीह भावार्थः॥ पुनरपि पराशङ्कां परिहारं चाह–

अह जम्मि नोवउत्तो, तं नत्थि तओ न दंसणाइ तिगे।
अत्थि कुगओवओगो–त्तिहोइ साहू कहं विगलो॥

अथैवं मन्यसे क्रमोपयोगित्व मभ्युपगम्यमाने केवली यस्मिन् ज्ञाने दर्शने वानुपयुक्तस्तदस्ति यस्मिंस्तु नोपयुक्तस्तत्तदा नास्त्येवानु–पलभ्यमानत्वात्खरविषाणवत्ततस्तर्हि दर्शनादेशिकदर्शनज्ञानचा–रित्रत्रये छद्मस्थस्य साधोर्युगपदुपयोगो नास्ति छद्मस्थस्य युगपदु–पयोगाभावस्य त्वयाभ्युपगतत्वात्ततो दर्शनादित्रिकेष्वन्नाप्यनुपयु–क्तस्तदपि त्वदभिप्रायेण नास्त्यतस्तद्विकल एकेनापि दर्शनादिना रहितः कथं साधुर्भवतु न प्राप्नोत्येव साधुत्वं तस्य त्वदभिप्राये–णेति भावः। भण्यते चासौ समये लोके सर्वदैव साधुस्ततो नेदमपि क्रमोपयोगे दूषणमिति यत्रानुपयुक्तस्तदसदित्यत्र दूषणान्त-राण्याह–

ठिइकालविसंवाओ, नाणाणं न वि य ते चउन्नाणी।
एवं सइ छउमत्थो, अत्थि न तिदंसणी समए॥

इह ज्ञानानां दर्शनानां चोपयोग आन्तर्मौहूर्तिक एव समये प्रोक्त–स्तस्माच्च परतस्तदभिप्रायेण किल ज्ञानं दर्शनं वा नास्ति। एवं च सति ज्ञानानामुपलक्षणत्वाद्दर्शनानां च यः सातिरेकषट्षष्टिसा–गरोपमादिका दीर्घस्थितिकालः समये प्रोक्तस्तस्य विसंवादो विघटनं प्राप्नोति यश्च चतुर्ज्ञानी केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रययुक्तत्वात्त्रिदर्शनी च छद्मस्थो गौतमादिः प्रसिद्धः सोऽपि त्वदभिप्रायेणैतद्रूपः सर्वदा न भवति एकदा एकोपयोगस्यैव संभवादनुपयोगवतश्चासत्वादिति। अथ सिद्धान्तावष्टम्भेन पुनरपि परः प्राह

आह भणियं नणु सुए, केवलिणो केवलोवओगेण।
पढमत्ति तेण गम्मत्ति, सओवओगोभयं तेसिं॥

आह ननु भणितं भगवत्यामष्टादशशतप्रथमोद्देशकलक्षणे श्रुते "केवलीणं भंते केवलोपओगेणं किं पढमा अपढमा ? गोयमा ! पढमा नोअपढमत्ति" इह च यो येन भावेन पूर्वं नासीदिदानीं च जातः स तेन भावेन प्रथम उच्यते ततश्च केवलिनः केवलोपयोगेन प्रथमः अयमर्थः केवलयोः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरुपयोगः केवलोपयोगस्तेन केवलिनः प्रथमा नत्वप्रथमास्तस्याप्राप्तपूर्वत्वात्प्राप्तस्य च पुनर्ध्वंसाभावात्तेन तस्माद्गम्यते ज्ञायते सदैवोपयोगोभयं तेषां प्रवर्तते। यदि न पुनः क्रमेणोपयोगः स्यात्तदा भूत्वा २ विनाशात्पुनः पुनरपि चोत्पादात्केवलोपयोगेनाप्रथमत्वमपि तेषां भवेदति। सूरिराह–

उवओगग्गहणाउ, इह केवलनाणदंसणं।
जइ तदणत्थंतरया, हवेज्ज सुत्तम्मि को दोसो॥

यदि केवलोवओगेणंतीत्यत्रोपयोगग्रहणात्केवलयोरुपयोगः केव–लोपयोग इति समासाश्रियणयोः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्ग्रहणमिष्यते तर्हि तदनर्थान्तरता तयोः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरेकस्मा–दुपयोगादव्यति-रिक्तत्वात्परस्परमनर्थान्तरता ज्ञानं च दर्शनं चैकमेव वस्त्वेवंरूपं भवेदिति परः प्राह (सुत्तम्मि को दोसोत्ति) भवतु तयोरनर्थान्तरता को ह्येवं सति केवलोवओगेणं सूत्रे दोषः स्यान्न कश्चिदस्माकं सिद्धिसाधनादिति। आचार्यः प्राह। यदि दोषपरिज्ञाने तव कुतूहलं तर्हि शृणु किमित्याह–

तग्गहणे किमिह फलं, नणु तदणत्थंतरोवएसत्थं।
तह वत्थुविसेसणत्थं, एयमेयसमयम्मि सुत्ताणि॥

तद्ग्रहणे सति किं फलं सिध्यति अनर्थान्तरत्वे सति किमर्थमु–भयग्रहणं पुनरुक्तदोषप्रसङ्गादितिभावः। पर आह ननु तयोः केवलज्ञानदर्शनयोः परस्परमनर्थान्तरतोपदेशार्थमेवेदं तथा वस्तुनः केवलज्ञानकेवलदर्शन-पर्यायध्वनिभ्यां विशेषणार्थमेवेदम् एकमेव हि केवलं वस्तु केवलज्ञान-केवलदर्शनपर्यायध्वनिभ्यां विशेषणार्थं चेदम्। एवमेवहि केवलवस्तुनोऽनेकपर्यायध्वनिभिर्विशेषणार्थं समये सिद्धान्ते सूत्राणि शतशोऽनेकशः सन्तीति। एतदेव पर उपदर्शयति॥

सिद्धा काइ य नो संजयाइपज्जाय उसएवेगो।
सुत्तेसु विसेसिज्जइ, जहेह तह सव्ववत्थूणि॥

(विसेसिज्जइजहत्ति) यथा तेषु २ सिद्धान्तसूत्रेषू स एवैको मुक्तात्मा सिद्धः कायिकानां संयतादिपर्यायैर्विशेष्यते प्रतिपाद्यते आदिशब्दान्नो-भव्यनोबादरनोपर्याप्तनोपरित्तानां संक्षिप्तपरिनिवृत्तादिपर्यायैरपि विशेष्यः क्वचित्प्रतिपाद्यते (इहतहत्ति) तथेहापि क्षायिकाज्ञानवस्त्वेकमेव केवल-ज्ञानकेवलदर्शनपर्यायध्वनिभ्यां विशेष्यते एवमन्यान्यपि सर्वाणि पुरंदरघटवृक्षादिवस्तूनि निजनिजपर्यायशब्दैः समये लोके च विशेष्यन्त एवेति क इह द्वेष इति। अथैवं सूरिः परं दुरभिनिवेशममुञ्चन्तमवलोक्य युगपदुपयोगद्वयमूलत एवोन्मूलयितुं क्रमोपयोगकं व्यक्तमेव सिद्धान्तोक्रमादर्शयन्नाह–

भणियंपि य पन्नत्ती, पन्नवणाईसु जह जिणो समयं।
जं जाणइ न वि पासइ, तं अणुपणप्पभाईणि॥

ननु प्रज्ञप्त्यां भगवत्यां प्राज्ञपनायां स्फुटं भणितमेवोक्तमेव। यथा जिनः केवली परमाणुरत्नप्रभादीनि वस्तून (समयं जं जाणयत्ति) यस्मिन्समये जानाति (न वि पासइत्ति) तस्मिन् समये नैव पश्यति किंत्वन्यस्मिन्समये जानाति अन्यस्मिंस्तु पश्यति। इयमत्र भावना। इह भगवत्यां तावदष्टादशशतस्याष्टमोद्देशके स्फुटमेवोक्तम्॥ तद्यथा॥ ''छउमत्थेणं भंते! मणुस्से परमाणुपोग्गलं जाणइ न पासइ उदाहु न जाणइ न पासइ। गोयमा! अत्थेगइए जाणइ न पासइ। अत्थेगइए न जाणइ न पासइ। एवं जाव असंखेज्जपएसिए खंधे'' इह छद्मस्थो निरतिशयो गृह्यते। तत्र श्रुतज्ञानी उपयुक्तः श्रुतज्ञानेन परमाणुं जानाति न तु पश्यति दर्शनाभावादपरस्तु जानाति न पश्यति ''एवं ओहीएवि परमा ओहीएणं भंते मणुस्से पर माणुपोग्गलं जं समयं जाणइ तं समयं पासइ जं समयं पासइ तं समयं जाणइ णो इणट्ठे समट्ठे से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ? गोयमा! सागारे से नाणे भवइ अणागारे से दंसणे भवइ सेकेणट्ठेणं पासइ? तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ इत्यादि'' ''केवलीणं भंते! मणुस्से परमाणु–पोग्गलं जं समयं जाणइ तं समयं पासइ जं समयं पासइ तं समयं जाणइ नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ गोयमा! सागारे से नाणे भवइ। अणागारे से दंसणे भवइ से केणट्ठेणं एवं वुच्चईत्यादि'' एवं प्रज्ञापनोक्तमपि द्रष्टव्यम्। तदेवं सिद्धान्ते स्फुटाक्षरैर्युगपदुपयोगे निषिद्धेऽपि किमिति सर्वानर्थमूलं तदभिमानमृत्सृज्य क्रमोपयोगोननिष्पद्यत इति। तदेवं बुभुक्षिता जरद्गवा जवबुसगृहे प्रविशन्तीति निबिडयुक्तिलगुडादिभिर्घातैर्निवार्यमाणा अपि परस्य दुराग्रहबुद्धिर्न निवर्त्तते ततश्चक्षुषी निमील्य धृष्टतया पुनरप्याह–

इव सद्दमनुप्पव्वय, लोवा तं केइ बिंति छउमत्थो।
अन्नपुणपरतित्थि, पवत्तव्वमिणंति जंपंति॥

यस्य केवलिनो भगवत्यां युगपदुपयोगो निषिद्धस्तं केचिच्छद्मस्थोऽसाविति ब्रुवते कथं पुनः केवली छद्मस्थो भण्यत इत्याह। कवेलीति वाक्ये इव शब्दलोपादथवा केवली शासिताऽस्येति केवलिमान् इति वाक्ये मतुत्प्रत्ययस्य लोपाच्छद्मस्थोऽसौ केवली तस्य च युगपदुपयोगनिषेधो मयापीष्यत एवेति परस्याभिप्रायः। पर एवाह अन्ये तु केचित्तु परतीर्थिकवक्तव्यताविषयमिदं केवलिनो युगपदुपयोगनिषेधसूत्रं भगवत्यां केनापि प्रसङ्गेन लिखितमिति जल्पन्त्यतो न केवलिनः क्रमोपयोगनिषेधसूत्रमिति। अथ परस्य विभ्रमापहरणार्थं समस्तभूतग्रामानुग्रहशीलः पुनरपि सूरिराह–

जं छउमत्थो होहि य, परताबहिणो विसेसिउं कमसो।
निद्दिसइ केवलिं तेण, तस्स छउमत्थया नत्थि॥

यस्माद्भगवत्यामष्टादशशताष्टमोद्देशके छद्मस्थमधोऽधिकं परमावधिकं चेत्येतांस्त्रीनपि क्रमशः प्रथमं विशेष्य विशेषतो निर्दिश्य ततः पर्यन्ते केवलिनं निर्दिशति। तेन तस्मात्तस्य केवलिनः स्वजल्पितबद्धमिथ्याबष्टम्भेन युक्तिविकलधार्ष्ट्यसामर्थ्यादिवमतुप्प्रत्ययलोपात्त्वयोपनीयमाना छद्मस्थता नास्ति किंतु निरुपचरितकेवल्येवासौ। यदि पुनरयं छद्मस्थोऽभिप्रेतः स्यात्तदा किमनेन व्याजनिर्देशेन यत्किमपि छद्मस्थस्य भणनीयं तत्प्रथमं छद्मस्थोपन्यासकाल एव सर्वमुक्तं स्यादिति। किंच–

न य पासइ अणुमन्नो, छउमत्थोकेवली कोसो।
जो पासइ परमाणुं, गहपामिणं जस्स होज्जाहि॥

''केवली णं भंते! परमाणुपोग्गलं जं स जाणईत्यादि'' भगवत्या–मुक्तं तं च परमाणुमवधिज्ञानिनं मुक्त्वा अन्यश्छद्मस्थो न पश्यति तत्रापि सर्वेऽप्यवधिज्ञानिनस्तं पश्यन्ति किं तु यः परमावधिज्ञानी तस्माच्च परमावधेर्यः किञ्चिन्नयूनावधिरधोवलिकः स एव तं पश्यति तौ चाधोवधिकपरमावधिज्ञानिनौ द्वावपि केवलिनः प्रथममेव निर्दिष्टौ ततस्तयोर्द्वयोरपि विशेषतो निर्द्धार्य निर्दिष्टत्वात्कोऽन्यो हन्त छद्मस्थकेवली योऽसौ परमाणुपुद्गलं पश्यति यस्य छद्मस्थकेवलिन इदं त्वत्कल्पनया भगवत्यां ग्रहणं भवेदिति। अपिचागमे स्थानान्तरेऽपि छद्मस्थादिभ्य उपरिछद्मातीत एव केवली निर्दिष्टो नत्विवादिलोपकल्पनया छद्मस्थ इतिदर्शयन्नाह–

तेसिं चिय छउमत्था, इयाण मग्गिज्जए जहिं सुत्ते।
केवलसंवरसंज–माईएहिं वि निव्वाणं।
तिन्निवि पडिसेहेउं, तीसुवि कालेसु केवली तत्थ।
सिज्झइ सिज्झिंसि सिज्झिस्सइ वावि विनिद्दिट्ठो॥

तेषामेव छद्मस्थादीनामादिशब्दादधोवधिकपरमावधिकेवलज्ञा–निनां यत्र यत्र भगवतिप्रथमशतकचतुर्थोद्देशकसूत्रे केवलसंवरसंयमब्रह्मचर्यादिभिर्निर्वाणं मोक्षो मृग्यते चिन्त्यते तत्रापि सूत्रेत्रीनपि छद्मस्थाधोवधिकपरमावधिज्ञानिनः प्रतिषेध्य तदुपरि केवली भूतभवद्भविष्यल्लक्षणेषु त्रिष्वपि कालेषु सिध्यति असेधीत् सेत्स्यतीति निर्दिष्टो यदि पुनरयमपि त्वत्कल्पनया छद्मस्थो भवति तदा अस्यापि प्रथमनिर्दिष्टछद्मस्थस्यैव केवलसंवरादिभिः सिद्धिर्न भवेदिति किं पुनस्तत्सूत्रमुच्यते। ''छउमत्थे णं भंते मणूसे तीयमणंतं सासयं समयं केवलेणं संवरेणं। केवलेणं संजमेणं केवलादि पवयणमायाहिं सिज्झिंसु बुज्झिंसु जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु! गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ! तं चेव जाव अंतं करिंसु गोयमा! जे केवि अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा करेंति वा करेस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ना नाणदंसणधरा अरहा जिणा केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करिंसु वा करेंति वा करेस्संति वा से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिंसु पडुप्पन्नेवि एव चेव नवरं सिज्झंति भाणियव्वं। अणागएवि एवं चेव। नवरं सिज्झिस्संति भाणियव्वं जहा छउमत्थो तहा अहोहिउ परमाहोविउवि तिन्नि२ आलावगा भाणियव्वा। केवलीणं भंते! मणूसे तीतमणंतं सासयं समयं जाव अंतं करिंसु हंता सिज्झंतु वा जाव अंतं करेंसु। एए तिन्नि आलावगा भाणियव्वा छउमत्थे जहा नवरं सिज्झंसु सिज्झंति सिज्झिस्संति'' तस्मादियमेवरीतिः। सिद्धान्ते छद्मस्थादिभ्य उपरि यः केवली भण्यते स निरुपचरित एव न पुनरिवादिलोपकल्पनया छद्मस्थोऽसौ अन्यथा अनन्तर–सूत्रोक्तसिद्धिगमनानुपपत्तेरिति। अथ यदुक्तं ''अन्ने पुण परतित्थिय वत्तव्व'' मित्यादि तेनासमञ्जस भाषितेनोद्वेजितः परानुकम्पया सखेदं सूरिराह।

एवं विसेसियम्मि, परमयमेगंतरो चउग्गेत्ति।
न पुणरुभआवेओगो, परवत्तव्वंति का बुद्धी॥
उवओगो एगयरो, पणुवीसइमे सए सणायस्स।

भणिओ वियडत्थो वि य,छद्दुद्देसे विसेसे उ ॥
एवं फुडवियडम्मि वि, सुत्ते सव्वन्नुभासिए सिद्धे ।
कह तीरइ परतित्थिय–वत्तव्वमिणंति वोत्तुं ते ॥

एवमुक्तप्रकारेण विशेषितेऽपि व्यक्तेऽपि क्रमोपयोगसाधके सिद्धान्ते सूत्रे सति योऽयमेकान्तरोपयोगः स परमतं युगपदुभयोपयोगसूत्रं तु यदसदपि भवता किमपि कल्पते तत्र परतीर्थिकवक्तव्यतेति स्वतरसि पक्षपातं परित्यज्य चिन्त्यतां केयं विपर्यासबुद्धिरिति । किंच भगवत्यां पञ्चविंशतितमे शते षष्ठोद्देशके ''सिणाएणं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा अणगारोवउत्ते होज्जा गोयमा ! सागारोव–उत्तेवि होज्जा अणगारोवउत्तेवि होज्जा''॥ इत्यनेन सूत्रेण विशेष्य नामग्राहं स्नातकस्य केवलिनो विकटार्थः प्रकटार्थ एव भणितः प्रतिपादितः । एकस्मिन्समयेः एकतरः साकारो नाकारो वा उपयोग इति ॥ एवं स्फुटे सूत्रतो विकटे प्रकटे वाऽर्थतः सर्वज्ञभाषिते सूत्रे सिद्धे कथं सकर्णविज्ञानैः परतीर्थिकवक्तव्यतेयमिति तीर्थते शक्यते वक्तुम् । (जे) इति वाक्यालंकारार्थ इति ॥ अपिच–

सव्वत्थसुत्तमत्थि य–फुडएगपरोवओगजुत्ताणं ।
उभओवउत्तसत्ता, सुतिवुत्ता न कत्थइ वि ॥
कस्सइ वि नाम कत्थइ, काले जइ होज्ज दोवि उवओगा ।
उभओवउत्तसत्ता, ण सुत्तमेगं पि तो होज्जा ॥

एकतरोपयोगोपयुक्तानां सत्वानां प्रतिपादकं सूत्रं सर्वत्र सिद्धान्ते स्फुटमस्ति । तच्च किञ्चिद्दर्शितं दर्शयिष्यते च युगपदुभयोपयोगो युक्तसत्वास्तु सूत्रं क्वचिदप्युक्ताः प्रतिपादिता दृश्यन्त इति । यदि नाम कस्यापि भवस्थकेवलिनः सिद्धकेवलिनो वा क्वचिदपि कालं युगपद् द्वावुपयोगौ भवेतां ततस्तर्हि युगपदुभयोपयोगोपयुक्तसत्वा–नां प्रतिपादकमेकमपि सूत्रे क्वचिदपि भवेन्नतु क्वापि तत्पश्याम इत्यतो निरालम्बनाग्राहमात्रभ्रमित एव भ्राम्यति भवानिति ॥ अपिच–

दुविहाणं पि य जीवाण भणियमप्पाबहुं च समयम्मि ।
सागारणगाराण य, न भणियमुभओवउत्ताणं ॥
जइ केवलीण जुगवं, उवओगो होज्ज तो एवं ।
सागारणगाराण य, मीसाण य तिण्हमप्पबहुं ॥

साकारोपयोगवतामनाकारोपयोगवतां च द्विविधानामेव जीवा–नामल्पबहुत्वं समये सिद्धान्ते प्रज्ञापनाल्पबहुत्वपदे भणितम् । तद्यथा ''एएसि णं भंते ! जीवाणं सागारोवउत्ताणं अणगारोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला विसेसाहिया वा ॥ गोयमा सव्वत्थो वा जीवा अणगारोवउत्ता सागारोवउत्ता संखेज्जगुणा'' युगपदुभयोप-योगोपयुक्तानां तु मिश्राणां तृतीयानामिहाल्पबहुत्वं न भणितं यदि पुनः केवलिना युगपदुपयोगद्वयं भवेत्तदैवं सति साकारानाकारमि-श्रोपयोगवतां त्रयाणामेव पदानामल्पबहुत्वं भवेन्न द्वयोरिति। अत्र परशङ्कां परिहारं चाह–

अह व मई छउमत्थे, पडुच्च मुत्तमिणमो न केवलिणो ।
तं पि न जुज्जइ जं सव्व सत्तसंखाहिगारो यं ॥

सुगमा नवरं व्याप्त्या सर्वजीवसंख्याधिकारे निर्दिष्टत्वान्नेदं सूत्रं छद्मस्थविषयं प्रवक्तुं युज्यत इति ॥ अथ सर्वजीवाधिकारोऽयं न भवतीत्यत्राह–

काउं सिद्धग्गहाणं, बहुवत्तव्वयपदेसु सव्वेसु ।
इह केवलमग्गहणं, जइ तो तं कारणं वच्चं ॥

यदि सर्वजीवाधिकारोऽयं न भवति तर्हि ''गइ इंदियवेए काए जोए कसायलेसास्वित्यादिष्वन्येषु अल्पबहुत्ववक्तव्यताविचारविषयभूतेषु पदेषु सिद्धिगतिकानीन्द्रियकाययोग्यकषायलेश्या नोसंयतनोपरीत्ता-दिपदैः पृथक् सिद्धग्रहणं कृत्वा केवलमिहैवोपयोगपदे पृथक्त्वग्रहणं करोति । ततस्तत्र कारणं वाच्यं यदि हि छद्मस्थाधिकारत्त्वादिह तदग्रहणमित्युच्यते तर्हि शेषपदेषु सिद्धकेवलिग्रहणमयुक्तं स्यात्तस्मात्सर्वजीवाधिकार एवायं केवलमाहारकानाहारकभाषका-दिपदद्वयेनैवानेन साकारानाकारोपयोगपदद्वयेन सिद्धकेवलिनां गृहीतत्वादिह पृथक्त्वादग्रहणमिति । आगमान्तरतोऽप्यत्र छद्मस्थाधिकारशङ्कां निवर्तयन्नाह ॥

अहवा विसेसियं चिय, जीवाभिगमम्मि एयमप्पबहुं ।
दुविहत्ति सव्वजीवा, सिद्धासिद्धाइया जत्थ ॥

अथवा छद्मस्थाधिकारशङ्कानिवर्त्तकत्वाद्विशेषितमिवैतत्साका–रानाकारोपयोगयोः पदद्वयस्याल्पबहुत्वं जीवाभिगमे प्रोक्तमिति शेषः ॥ क्व सूत्रे इत्याह । सिद्धासिद्धादिभेदेन द्विविधा एव सर्वे जीवा यत्र सूत्रे प्रतिपाद्यन्त इति तदेव सूत्रं गाथयोपनिबध्य दर्शयन्नाह ॥

सिद्धसइंदियकाए, जोए वेए कसायलेसा य ।
नाणुवओगाहारय, नासयसरीरचरमे य ॥

सिद्धा असिद्धाश्च सेन्द्रिया अनिन्द्रियाश्च सकाया अकायाश्चेत्यादि भेदेन सर्वे जीवाः संगृह्यात्रसूत्रे जीवाभिगमे प्रतिपाद्यन्ते तत्र सूत्र–विशेषितमेवेदमल्पबहुत्वप्रतिपादितमिति युगपदुपयोगद्वयपक्षं निराचिकीर्षुराह ॥

अंतोमुहुत्तमेवे य, कालो मणिओ न होवओगस्स ।
साइअपज्जवसिओत्ति, नत्थि कत्थइ वि निद्दिट्ठो ॥

तथा ज्ञानाज्ञानदर्शनानामुपयोगस्यागमे सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त्तमेव कालो भणितः साद्यपर्यवसितस्तु उपयोगकालः क्वापि नास्ति विनिर्दिष्टः यदिह साकारानाकारोपयोगरूपो मिश्रः सिद्धानामुपयोगः स्यात्तदा तेषामिव तस्यापि साद्यपर्यवसितत्वं स्यान्नचैतत्सिद्धान्ते क्वापि भणितं दृश्यते तस्मान्नास्ति युगपदुपयोगद्वयमिति ॥ एतदेवाह–

जह सिद्धाईयाणं, भणियं साईअपज्जवसियत्तं ।
तह जइ उवओगाणं, भणियं हवेज्ज तो जुगवं ॥

यथा सिद्धादीनामादिशब्दादनिन्द्रियकादीनां साद्यपर्यवसितत्वं भणितं तथा यद्युपयोगानामपि तद्भणितं भवेत्ततस्तौ साकारानाकारोपयोगौ युगपद्भवेतां न चैवं तस्मान्न युगपदुपयोगद्वयमिति तदेवं सूरिःपरस्याभिनिवेशं निराकृत्यात्मनि तदाशङ्कां निराकर्तुमाह–

कस्स व नाणुमयमिणं, जिणस्स जइ होज्ज दो वि उवओगा ।
नूणं न होत्ति जुगवं, जओ निसिद्धा सुए बहुसो ॥
नवि अभिनिवेसबुद्धी, अम्हं एगंतरोवओगम्मि ।
तदवि भणिमो न तारइ, जं जिणमयमन्नहा काउं ॥

पाठसिद्धे एव । अथ परपृच्छामुत्तरं चाह ॥ ''जइ तन्नोन्नावणत्त–मेवमित्यादि'' गाथायां यन्मया ''इयरेयरावरणया अहवा निक्कारणाचरणमित्यादि'' दूषणमुक्तं तद्यदि प्रागुक्तेन नैव प्रकारेण त्वया नेष्यते तर्हि कथ जिनस्य केवलिन एकान्तरोपयोगेऽभ्युपग–

म्यमाने तस्य युगपदुपयोगवृत्तेरावरणं तदावरणमिति कथ्यतां सूरिराह। भण्यतेऽत्रोत्तरम्। ''तंति तदावरण'' मिह स्वभावो द्रष्टव्यः ईदृश एव जीवस्वभावो येन क्रमेणैवोपयोगः प्रवर्त्तते न युगपत् न च स्वभावः पर्यनुपयोगमर्हति। अग्निर्दहति नाकाशमित्यादिष्वपि तत्प्रसङ्गादिति। एतदेव समर्थयति–

परिणामिय भावाओ, जीवत्तं पि य सभावए वायं।
एगंतरोवओगो, जीवाणमणन्नहेउत्ति॥

यथा जीवस्स जीवत्वमनन्यहेतुकं पारिणामिकभावत्वादेवमेकान्तरोपयोगोऽपि परिणामिकत्वात्तस्य स्वभाव एव ततो नास्यान्यो हेतुरन्वेषणीय इति॥ विशे०। स्था०। नं०।

संप्रति चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नैरयिकादीन् चिन्तयन्नाह–

णेरइयाणं भंते ! कइविहे उवओगे पण्णत्ते? गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते। तंजहा सागारोवओगे य अणागारोवओगे य। णेरइयाणं भंते ! सागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते गोयमा ! छव्विहे पण्णत्ते तंजहा–मतिनाण० सुयनाण० ओहिनाण० मतिअन्नाण० सुयअन्नाण० विभंगनाणसागारोवओगे। णेरइयाणं भंते ! अणायारोवओगे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते तंजहा चक्खुदंसण० अचक्खुदंसण० ओहिदंसणअणागारोवओगे। एवं जाव थणियकुमाराणं॥

नैरयिका हि द्विविधा भवन्ति सम्यग् दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च। अवधिरपि तेषां भवप्रत्ययोऽवश्यमुपजायते भवप्रत्ययो नारकदेवानामिति वचनात्। तत्र सम्यग्दृष्टीनां मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टीनां मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानीति सामान्यतो नैरयिकाणां षड्विधः साकारोपयोगः। अनाकारोपयोगस्त्रिविधस्तद्यथा चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं च। एष त्रिविधोऽप्यनाकारोपयोगः सम्यग्दृशां मिथ्यादृशां वा विशेषेण प्रतिपत्तव्यः उभयेषामप्यवधिदर्शनस्य सूत्रे प्रतिपादितत्वात्। एवमसुरकुमारादीनां स्तनितकुमारपर्यवसानानां भवनपतीनामप्यवसेयम्।

पुढविकाइयाणं पुच्छा गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते, तंजहा सागारोवओगे य अणागारोवओगे य। पुढविकाइयाणं भंते ! अणागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा मतिअन्नाणसुयअन्नाण। पुढविकाइयाणं भंते ! अणागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगे अचक्खुदंसण अणागारोवओगे पण्णत्ते एवं जाव वणस्सइकाइयाणं। वेइंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तंजहा सागारो अणागारो। वेइंदियाणं सागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा आभिनिबोहियनाण० सुयनाण० मतिअन्नाण० सुयअन्नाण०। वेइंदियाणं भंते ! अणागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते? गोयमा ! एगे अचक्खुदंसणअणागारोवओगे एवं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं वि एवं चेव नवरं अणागारोवओगे दुविहे पण्णत्ते चक्खुदंसण० अचक्खुदंसणअणागारोवओगे य। पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जहा णेरइयाणं मणुस्साणं जहा ओहिए उवओगे भणियं तहेव भाणियव्वं। वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा णेरइयाणं।

पृथिवीकायिकानां साकारोपयोगो द्विविधस्तद्यथा मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं चाऽनाकारोपयोग एकोऽचक्षुर्दर्शनरूपः शेषोपयोगानां तेषामसंभवात् समयग्दर्शनादिलब्धिविकलत्वात्। एवमप्तेजोवायुवनस्पतीनामपि वेदितव्यम्। द्वीन्द्रियाणां साकारोपयोगश्चतुर्विधस्तद्यथा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानम्। तत्रापर्याप्तावस्थायां केषांचित्सास्वादनभावमासादयितां मतिज्ञानश्रुतज्ञाने शेषाणां तु मत्यज्ञानश्रुताज्ञाने। अनाकारोपयोगस्त्वेकोऽचक्षुर्दर्शनरूपः शेषोपयोगानाम्। एवं त्रीन्द्रियाणामपि चतुरिन्द्रियाणा–मप्येवम्। नवरमनाकारोपयोगो द्विविधः चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं च। पञ्चेन्द्रियतिरिश्चां साकारोपयोगः षड्विधस्तद्यथा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानम्। अनाकारोपयोगस्त्रिविधस्तद्यथा चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिद्विकस्यापि केषुचित्तेषु सम्भवात्। मनुष्याणां यथासम्भवमष्टावपि साकारोपयोगाश्चत्वारोऽप्यनाकारोपयोगा मनुष्येषु सर्वज्ञानदर्शनलब्धिसम्भवात् व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका यथा नैरयिकास्तदेवं सामान्यतश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण जीवानामुपयोगश्चिन्तितः॥

संप्रति मन्दमतिस्पष्टावबोधाय जीवा एव तत्तदुपयोगोपयुक्ताः सामान्यतश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्त्यन्ते–

जीवा णं भंते ! किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता? गोयमा! सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि। सेकेणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवा सागारोवउत्ता वि अणागारो वउत्तवि ? गोयमा ! जेणं जीवो आभिनिबोहियनाणसुयनाणओहिनाणमणपज्जवकेवलनाण, मतिअण्णाणसुयअण्णाणविभंगनाणोवउत्ता तेणं जीवा सागारोवउत्ता जेणं जीवा चक्खुदंसणअचक्खुदंसणओहिदंसणकेवलदंसणोवउत्ता तेणं जीवा अणागारोवउत्ता से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जीवा सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि। नेरइया णं भंते ! किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ? गोयमा ! नेरइया सागारोवउत्तावि अणागारोवउत्तावि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! जेणं नेरइयाणं आभिनिबोहियनाण सुयनाण ओहिनाण मइअन्नाण सुयअन्नाण विभंगनाणो वउत्ता तेणं नेरइया सागारोवउत्ता जेणं नेरइया चक्खुदंसण अचक्खुदंसण ओहिदंसणोवउत्ता तेणं नेरइया अणागारोवउत्ता। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव अणागारो वउत्ता एवं जाव थणियकुमारा। पुढविकाइयाणं पुच्छा–गोयमा! तहेव जाव जेणं पुढविकाइया मतिअन्नाण सुयअन्नाणोवउत्ता तेणं पुढविकाइयाणं सागारोवउत्ता जेणं पुढवि० अचक्खुदंसणोवउत्ता तेणं पुढवि० अणागारोवउत्ता। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव वणस्सइकाइया वेइंदियाणं अट्ठसहिया तहेव पुच्छा जाव जेणं वेइंदिया आभिनिबोहियनाण सुयनाण मतिअन्नाण सुयअन्नाणोवउत्ता तेणं

वेइंदिया सागारोवउत्ता जेणं वेइंदिय अचक्खुदंसणोवउत्ता तेणं वेइंदिया अणागारोवउत्ता से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ? एवं जाव चउरिंदिया णवरं चक्खुदंसणं अब्भहियं चउरिंदियाणंति पंचें दियतिरिक्खजोणिया जहा णेरइया मणूसा जहा जीवा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया इति ॥

जीवाणंभन्ते इत्यादि सुगमम् । प्रज्ञा०२६ पद० । भ० । जी० (जीवेषूपयोगाः जीवद्वाणशब्दे)

गतीन्द्रियादिषु मार्गणास्थानेषु उपयोगाः

मणुयगईए बारस, मणकेवलवज्जियाउ नव मीसे ।
इगिथावरेसुतिविओ, चउविगले वारसे सगले ॥

मनुजगतौ द्वादशाप्युपयोगाः अन्यासु च नारकामरतिर्यग्गतिषु प्रत्येकं मनःपर्यायकेवलद्विकवर्ज्यचक्षुरचक्षरवधिदर्शनाख्यास्त्रय उपयोगाः भवन्ति । तुशब्दस्याधिकार्थसंसूचनान्मतिश्रुतावधिज्ञानचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनरूपाः षट् उपयोगा दृश्यन्ते अज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः षट्। मिश्रे आद्यज्ञानत्रिकाज्ञानत्रिकदर्शनविकरूपा नव प्ररूप्यन्ते । तथा चत्वारो विकलेष्वन्येषामसंभवाच्चतुरिन्द्रियेषूपयोगास्तत्र त्रयः पूर्वोक्ता एव । चतुर्थस्तु चक्षुर्दर्शनम् । उपलक्षणं चैतत्तेनैत एव चत्वारोऽसंज्ञिनि वेदितव्याः । तथा त्रसेषु (सगलित्ति) पञ्चेन्द्रियेषु द्वादश ॥

जोए वेए सण्णी, आहारगभव्वसुक्कलेसासु ।
बारस संजमसम्मे, नव दस लेसा कसाएसु ॥

योगे मनोवाक्कायरूपे वेदे स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणे, संज्ञिनि आहारक–भव्येषु शुक्ललेश्यायां च द्वादशाप्युपयोगाः । वेदश्चेह द्रव्यरूपः आकारभावो गृह्यते तेन तत्र केवलज्ञानाद्यविरोधः । तथा संयमे यथाख्यातरूपे सम्यक्त्वे ।१ क्षायिकलक्षणे नवोपयोगास्तत्राज्ञानत्रिकाभावात् । तथा लेश्यासु कृष्णनीलकापोततेजः पद्माख्यासु कषायेषु च चतुर्षु केवलज्ञानकेवलदर्शनहीनाः शेषा दशोपयोगा कृष्णादिलेश्याभावे केवलद्विकानुत्पादात्। इह ये उपयोगा यैरुपयोगैः सह न भवन्ति यैश्च सह भवन्ति तान् तथोपदर्शयन्नाह।

सम्मत्तकारणेहिं, मिच्छत्तनिमित्ता न होंति उवओगा ।
केवलदुगेण सेसा, संतेव अचक्खुचक्खुस्सु ॥

सम्यक्त्वं कारणं येषान्ते सम्यक्त्वकारणास्तैर्मतिज्ञानादिभि–रुपयोगैः सह मिथ्यात्वनिमित्ता मिथ्यात्वनिबन्धना मत्यज्ञानादयः उपयोगा न भवन्ति । तथा केवलद्विकेन केवलज्ञान केवलदर्शनरूपेण सह शेषाश्छाद्मस्थिका मतिज्ञानादय उपयोगा न भवन्ति देश–ज्ञानदर्शनव्यवच्छेदेनैव केवलज्ञानदर्शनप्रादुर्भावात्। ''उप्पत्तंसि अणंते नट्ठमियच्छाउमत्थिए नाणे'' इति वचनप्रामाण्यात्। आह ननु यदि मतिज्ञानादीनि स्वस्वावरणक्षयोपशमेऽपि प्रादुष्यन्ति तर्हि सकलस्वस्वावरणक्षये सुतरां भवेयुश्चारित्रपरिणामवत् तत्कथं केवलज्ञालदर्शनभावे मतिज्ञानाद्यभाव आदरः ''आवरणदेसविगमे, जाईविज्जति मई सुयाईणि । आवरणसव्वविगमे, कह ताइ न होंति जीवस्स'' उच्यते इह यथा सहस्रभानोरुपचितघनपटलान्तरितस्यापान्तरालावस्त्रितकटकुड्याद्यावरणविवरप्रविष्टः प्रकाशोऽस्पष्टरूपो घटपटादीन् प्रकाशयति तथा केवलज्ञानावरणावृतस्य केवलज्ञानस्यापान्तरालमतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमरूपविवरविनिर्गतः प्रकाशो जीवादीन् पदार्थान् प्रकाशयति । स च तथा प्रकाशयंस्तत्तत्क्षयोपशमानुरूपं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमित्यादिरूपमभिधानमुद्वहति । ततो यथा सकलघनपटलकटकुड्याद्यावरणापगमे स तथाविधप्रकाशसहस्रधाकारास्पष्टरूपो न भवति किं तु सर्वात्मना स्फुटरूपोऽन्य एवच तथेहापि सकलकेवलज्ञानावरणमतिज्ञानाद्यावरणविलयेन तथाविधोऽस्पष्टरूपो मतिज्ञानादिसंज्ञिनः केवलज्ञानस्य प्रकाशो भवति सर्वात्मना यथावस्थितं वस्तु परिच्छिन्दन् परिस्फुटरूपोऽन्य एवेत्यदोषः। उक्तं च । कडविरागव्वकिरणा, मेहंतरियस्स जह दिणेसस्स । उक्कडमेहावरणे, न हो ति जह तह इमाइंपि''। अन्ये पुनराहुः । सत्येव सयोगिकेवल्यादावपि मतिज्ञानादीनि केवलमफलत्वात्सन्त्यपि तदानींतनानि न विकसन्ति सूर्योदये नक्षत्रानीनि । उक्तं च । ''अत्ते आभिणिबोहियनाणाईणि वि जिणस्स विज्जंति । अफलाणि य सूरुदए, जहेव नक्खत्तमाईणि'' तथा (संतेवअचक्खुचक्खुस्सुत्ति) सन्त्येव भवन्त्येव अचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनाभ्यां बहुवचनात् अवधिदर्शनेन च सह सम्यक्त्वनिमित्ता मिथ्यात्वनिमित्ताश्चोपयोगास्तेन मतिश्रुतावधिज्ञानमनः पर्यायज्ञानसामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपरायक्षायोपशमिकौपशमिकसम्यक्त्वेषु केवलद्विकाज्ञानत्रिकहीनाः शेषाः सप्तोपयोगाः । अज्ञानत्रिकावरणसास्वादनमिथ्यात्वेषु केवलद्विकमतिज्ञानादिचतुष्टयरहिताः शेषाः षट् केवलद्विके केवलज्ञानकेवलदर्शने चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेषु केवलद्विकहीनाः शेषा दश । मनः पर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनरहिताश्च शेषा दशानाहारके सूत्रे च । अचक्खुचखुस्सुत्ति)सप्तमी तृतीयार्थे वेदितव्या भवति ॥ यदाह पाणिनिः प्राकृतलक्षणे तृतीयार्थे सप्तमी यथा तिसु तेसु अलंकियापुहई इति'' तदेवं कृता मार्गणास्थानेषु योगोपयोगमार्गणा ॥ पं० सं० १ द्वा० ।

गुणस्थानेषूपयोगाः ।

अधुनैतेष्वेवोपयोगानभिधातुकाम आह ॥

तिअनाणदुदंसाइम–दुगे अतियदेसिनाणदंसतिगं ।
ते मीसे मीससमणा, जयाइकेवलिदुयंतदुगे ॥४८॥

आदिमद्विके मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणे प्रथमद्वितीयगुणस्थानकद्वये इत्यर्थः (तियनाणदुदंसत्ति) त्रयाणामज्ञानानां समाहारस्त्र्यज्ञानं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपं दर्शनं दर्शः । द्वयोर्दर्शयोः समाहारो द्विदर्शम् । चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनरूपमित्येते पञ्चोपयोगा मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोर्भवन्ति न शेषाः सम्यक्त्वविरत्यभावात् । तथा अयतेऽविरतसम्यग् दृष्टौ देशे देशविरते षडुपयोगा भवन्ति तथा हि (नाणदंसतिगंति) त्रिकशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् ज्ञानत्रिकं मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानरूपं दर्शत्रिकं चक्षुरचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणमिति न शेषाः सर्वविरत्यभावात् । ते पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः षडुपयोगा मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके मिश्रा अज्ञानसहिता दृष्टव्याः तस्योभयदृष्टिपातित्वात् केवलं कदाचित्सम्यक्त्वबाहुल्यं कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्यम्। ततोऽज्ञानबाहुल्यसमकक्षतायां तूभयांशसमतेति । अस्मिंश्च गुणस्थानके यदवधिदर्शनमुक्तं तत्सैद्धान्तिकमतापेक्षया दृष्टव्यमित्युक्तं प्राक् । (समणाजयाइत्ति) यमस्तूपरमेयमनं यतम् । यतं विद्यते यस्य स यतः अभ्रादिभ्य इत्यप्रत्ययः प्रमत्तगुणस्थानकवर्त्ती साधुर्यत आदिर्येषां गुणस्थानकानां तानि यतादीनि प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानि सप्तगुणस्थानकानि तेषु पूर्वोक्तज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकाख्याः यदुपयोगाः (समणत्ति) मनः

पर्यायज्ञानसंहिताः सप्त भवन्तीति न शेषा मिथ्यात्वघातिकर्मक्षयाभावात्। केवलद्विकं केवलज्ञालकेवलदर्शनलक्षणोपयोगद्वय–रूपम्। अतएव द्विके सयोगिकेवलिलक्षणचरमगुणस्थानकद्वये भ–न शेषा ज्ञानदर्शनलक्षणास्तदुच्छेदेनैव केवलज्ञानकेवलदर्शनोत्पत्तेः ''नट्ठम्मि छाउमत्थिए नाणे'' इति वचनात् तदेवमभिहितां गुणस्थानकेषूपयोगाः ॥ कर्म०

अचक्खुचक्खुदंसण–सन्नाणतिगं च मिच्छसासाणो।
विरयाविरएसम्मे, नाणतिगं दंसणतिगं च।

अचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनम् अज्ञनिविकं च मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्ग–लक्षणम्। चः समुच्चये मिथ्यादृष्टौ सास्वादने चोपयोगा भवन्ति। यत्तु अवधिदर्शनं तत्कु तश्चिदभिप्रायाद्विशिष्टाः श्रुतविदो नेच्छन्ति तन्न सम्यगवगच्छामः। अथ च सूत्रे मिथ्यदृष्ट्यादीनामवधिदर्शनं प्रतिपाद्यते यतउक्तं प्रज्ञप्तौ ''ओहिदंसणअणगारोवउत्ताणं भवइ ते किं नाणी अन्नाणी गोयमा नाणी वि अन्नाणी वि। जइ नाणत्तो अत्थेगइया तिनाणी अत्थेगइया चउनाणी जे तिनाणी ते आभिणिबोहियनाणीसुयनाणी ओहिनाणी जे चउनाणी ते अभिनिबोहि–यनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी। जे अन्नाणी ते नियमा मइअन्नाणी सुयअन्नाणी विभंगनाणी इति''॥ अत्र हि ये अज्ञानिनस्ते मिथ्यादृष्टीनामप्यवधिदर्शनं साक्षादत्र सूत्रे प्रतिपा–दितम् यदा त्ववधिज्ञानी सास्वादनभावं मिश्रभावं वा गच्छ ति तदा तत्राप्यवधिदर्शनं प्राप्यते इति। तथा विरताविरते देशविरते (सम्मेति) अविरतसम्यग्दृष्टौ मतिश्रुतावधिलक्षणज्ञानत्रिकं चक्षुर–चक्षुरवधिदर्शनत्रिकमिति षट् उपयोगा भवन्ति।

मिस्सम्मि य वा मिस्सं, मणनाणजयं पमत्तपुव्वाणं।
केवलियनाणदंसण, उवओगअजोगिजोगासु॥

मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टौ तदेव ज्ञानत्रिकं दर्शनत्रिकं चानन्तरोक्त–मज्ञानव्यामिश्रं द्रष्टव्यम्। मतिज्ञानं मत्यज्ञानमिश्रमित्यादि केवलं कदाचित्सम्यक्त्वबाहुल्यतो ज्ञानबाहुल्यं कदचिच्च मिथ्यात्वबा–हुल्यतोऽज्ञानबाहुल्यं समतायां तु सम्यक्त्वमिथ्यात्वयोरुभयो-रपि समतेति तथा तदेव पूर्वोक्तमुपयोगषड्कं मनः पर्ययज्ञानयुतम्। प्रमत्तः पूर्वो येषां ते प्रमत्तपूर्वास्तेषां प्रमत्त पूर्वकरणा निवृत्तिबादर–सूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहानामवसेयम्। तथा केवलज्ञा–नकेवलदर्शनलक्षणौ द्वावुपयोगौ सयोग्ययोगिकेवलिषु द्रष्टव्यौ न शेषाः ''केवलदुगे न सेसा'' इति वचनात्॥ पं० सं०१। द्वा०।

(अवशिष्टवक्तव्योपयोगस्य मार्गणास्थानाल्पबहुत्वं संजतनिग्गंथादि शब्देषु।) अवधाने, आव० ६ अ०। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृतिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्तमात्मनो मनः साचि–व्यादर्थग्रहणं प्रति व्यापाररूपे, आचा०१ श्रु० २ अ० १उ०। स्वस्वविषये लब्ध्यनुसारेणात्मनः परिच्छेदव्यापारस्वरूपे वा भावेन्द्रियभेदे,। जी०१ प्रति०। आ०म० द्वि०। ''जो सविसयवावारो उवओगो''। यः श्रोत्रादीन्द्रियस्य स्वविषये शब्दादौ परिच्छेद्य व्यापारः स उपयोगः उपयोजनमुपयोगः। विवक्षितकर्मणि मनसोऽभिनिवेशे, विशे०। ''उवओगदिट्ठसाए कम्मप्पसंगपरिघोलणविसाला'' नं०। आ०चू०। आ० म० द्वि०। कायोत्सर्गे, महा० ७ अ०। उपयोगाकरणे प्रायश्चित्तम्। ''चेइहिं अवंदिएहिं उवओगं करेज्जा पुरिवद्दं गुरुणो अंतिए णोवओगं करेज्जा। चउत्थं अकएणं उवओगेणं जं किंचि पडिगाहेज्जा चउत्थं अविहीए उवओगं करेज्जा। व्याप्रियमाणतायाम्, आ०म०प्र०॥ लिङ्गे, चिह्ने, विशे०॥ आचरणे, भोजने, इष्टसिद्धिसाधने, व्यापारे, आनुकूल्ये च। वाच०॥

उवओगकरावणिया स्त्री०(उपयोगकाराणिका) उपयोगकरण–विधौ, सा चैवम्॥

पडिलेहिअ सुपमज्जिअ, तत्तो पत्ताणि पडलजुत्ताणि।
उग्गहियगुरुपुरओ, उवओगं कुणइ उवउत्तो॥२॥
संपइ सामायारी, दीसइ एसा य भागसमयम्मि।
जं किज्जइ उवओगो, वालाइअणुग्गहट्ठाए॥३॥

पञ्चवस्तुकेऽपि ''काइअमाइअजोगं, काउं घेत्तूण पत्तए ताहे। दंडं संजयंतो, गुरुपुरओ ठवित्तु उवउत्तो॥१॥ उपयोगकरणविधिस्त्वेवं तत्रैवम्।

संदिसह भणंति गुरुं, उवओगं करेसु ते मणुण्णाया।
उवओगकरावणियं, करेसु उस्सग्गमिच्चाइ॥१॥

संदिशतेति गुरुं भणंति किमित्याह (उवओगं करेमित्ति) इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! उपयोगकरूँ'' इति भणतीत्यर्थः। तत उपयोगकारावणियं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ इत्यादि भणति।

अह कट्टिऊण सुत्तं,अक्खलिआइगुणसंजुअं गच्छा।
चिट्ठिंति काउसग्गे, चिंतिंति अत्थमंगलयं॥२॥

सुगमा। परं (मंगलंति) पञ्चमङ्गलनमस्कारं कायोत्सर्गं चिन्तयन्ति अत्र पक्षद्वयमाह।

तप्पुव्वयं जयत्थं, अन्नेउ भणंति धम्मजोगगिणं।
गुरुबालवुड्ढसिक्खग, रेसिम्मिण अप्पणो चेव॥३॥

तत्पूर्वकं नमस्कारपूर्वकं पदार्थं तच्च चिन्तयन्ति सम्यगनालोचितस्य ग्रहणप्रतिषेधात् तस्माद्यावन्नालोचितं हृदि तावन्न किंचिद्ग्राह्यम्। अन्ये आचार्या इत्थं भणन्ति धर्मयोगमेनं चिन्तयन्तीति। किंविशिष्टं गुरुबालवृद्धशैक्षैरेष एतदर्थं नात्मार्थम्।३। ततः किमित्याह–

चिंतेतु तओ पच्छा, मंगलपुव्वं भणंति विणयणया।
संदिसहत्ति गुरू वि अ, लाभोत्ति भणेति उवउत्तो॥

चिन्तयित्वा पश्चात् (मंगलपुव्विंति) ''नमो अरिहंताणं ति'' भणनपूर्वं विनयनता भणन्ति किमित्याह (संदिसहे त्ति) सूरिरनुजानातीत्यर्थः। गुरुरपि भणति (लाभोत्ति) कालोचितानुकूलानपायित्वात् उपयुक्तो निमित्ते ऽप्यसंभ्रान्तः॥४॥ ततः किमित्याह–

कहपेच्छमोत्ति पच्छा, सविसेसणया भणंति ते सम्मं।
आह गुरूवि तहत्ति, जह गहिहं पुव्वसाहूहिं॥५॥

ततः कथं गृहीष्याम एवं पश्चात् सविशेषनतास्ते साधवः सम्यग् भणन्ति ततो गुरुरप्याह यथा गृहीतं पूर्वसाधुभिरित्यनेन गुरोरसाधुप्रायोग्येन भणनप्रतिषेधमाह–

आवस्सियाए जस्स य, जोगुत्ति भणितु ते उ णिग्गंति।
णिक्कारणेण कप्पइ, साहूणं वसहिणिग्गमणं॥

आवशिक्या साधुक्रियाभिधायिन्या हेतुभूतया (जस्सयजोगुत्ति) भणित्वा निर्गच्छन्ति वसतेः तस्यार्थस्त्वेवं यस्य वस्तुनो वस्त्रपा–त्रशैक्षादेर्यो गः संयमोपकारकः संबन्धो भविष्यति तं ग्रहीष्यामीत्यर्थः किमेतदित्याह निष्कारणे न कल्पते साधूनां वसतिनिर्गमनं तत्र दोषसंभवादिति। यस्य योगइत्यस्याऽकरणे च दोषो यदुक्तमोघनिर्युक्तौ॥

जस्स य जोगमकाऊण, निग्गओ न लभेज्ज सच्चित्तं।
नयवत्थपायमाई, तेणं गहणे कुणसु तम्हा॥

यस्य योगमित्येवमकृत्वाऽभणित्वा निर्गतेः सन्न लभते नाभाव्य–तया प्राप्नोति सचित्तं प्रव्रज्यार्थमुपस्थितं गृहस्थं नाप्यचित्तं वस्त्रपात्रादि। अथ यदि गृह्णाति ततः स्तैन्यं भवत। तस्मात्कुरु अस्य योगमिति। एवं चोपयोगकरणे चत्वारि स्थानानि तदुक्तम् ''आपुच्छणत्ति पढमा, विइय पडिपुच्छणा य कायव्वा। आवस्सिआ य तइआ, जस्स य जोगो चउत्थो उ'' ध०३अधि०।

उवओगगुण पुं०(उपयोगगुण) उपयोगः साकारानाकारभेदं चैतन्यं गुणो धर्म्मो यस्य स तथा। चैतन्यधर्मके जीवे, ''जीवे सासए गुणओ उवओगगुणे'' स्था०५ ठा०। भ०।

उवओगजुय त्रि०(उपयोगयुत) अवहितमनसि, ''तं पुण संविग्गेणं उवओगजुएण तिव्वसद्धाए'' पंचा० ४ विव०।

उवओगट्ठया स्त्री०(उपयोगार्थता) विविधविषयानुपयोगाश्रयणे, ''उवओगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए विअहं'' विविधविषयानुपयोगानाश्रित्यानेकभूतभावभविकोऽप्यहमष्यतीतानागतयोर्हि कालयोरनेकविषयबोधनात्मनः कथंचिदभिन्नानां भूतत्वाच्चेत्यनित्यपक्षोऽपि न दोषायेति। भ० १८ श०१० उ०।

उवओगदिट्ठसारा स्त्री०(उपयोगदृष्टसारा) उपयोजनमुपयोगो विवक्षितकर्मणि मनसोऽभिनिवेशः सारस्तस्येव विवक्षितकर्मणः परमार्थः उपयोगेन दृष्टः सारो यया सा उपयोगदृष्टसारा। अभिनिवेशोपलब्धकर्मपरमार्थायां बुद्धौ, ''उवओगदिट्ठसारा, कम्मपसगपरिघोलणविसाला'' नं०।

उवओगपरिणाम पुं०(उपयोगपरिणाम) उपयोग एव परिणाम उपयोगपरिणामः जीवपरिणामभेदे, प्रज्ञा०१२ पद। स च साकारानाकारभेदाद् द्विधा, स्था०१० ठा०।

उवओगवक्क न०(उपयोगवाक्य) आनन्दस्य भगवन्तं प्रतिवाक्य भेदे, दर्श०।

उवओगवीरिय पुं०(उपयोगवीर्य्य) आध्यात्मिकवीर्य्यभेदे, उपयोगवीर्यं साकारानाकारभेदात् द्विविधम्। तत्र साकारोपयोगोऽष्टधा अनाकारश्चतुर्धा तेन चोपयुक्तः स्वविषयस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपस्यं परिच्छेदं विधत्ते इति। सूत्र०१ श्रु०६ अ०।

उवओगाता स्त्री०,पुं०(उपयोगात्मन्) उपयोगः साकारानाकारभेदस्तत्प्रधानः आत्मा उपयोगात्मा। सर्वजीवानां सिद्धसंसारिस्वरूपे विवक्षितवस्तूपयोगविशिष्टे वा आत्मभेदे, भ०॥ १२ श० १० उ०॥

उवंग न०(उपाङ्ग) उपमितमङ्गेन। अङ्गावयवभूतेऽङ्गुल्यादौ, प्रज्ञा० २३ पद॥ कर्म० आ०म० द्वि०। विशे०। कर्णादिषु, च। उपाङ्गानि कर्णौ नासे अक्षिणी जङ्घे हस्तौ पादौ च। उत्त०३ अ०। आचा०। ''होंति उवंगा कण्णाणासच्छी जंघा हत्था पाया य कण्णा णासिगा अच्छि जंघ पादा य एवमादी सव्वे उवंगा भवंति॥ नि०चू०१उ०॥ कर्म०। अङ्गार्थविस्तारूपे, ॥ कल्प०॥ शिक्षाद्यङ्गोक्तप्रपञ्चनपरे प्रबन्धे, ज्ञा०५ अ०। नि०। संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हं वेयाणं'' औ०॥ लोकोत्तरिकाचाराङ्गैकदेशप्रपञ्चरूपे श्रुते तानि च द्वादश तथाहि तत्राङ्गानि द्वादश उपाङ्गान्यपि अङ्गैकदेशरूपाणि प्रायः प्रत्यङ्गमेकैकभावा भवन्त्येव। तत्राङ्गानि आचाराङ्गादीनि प्रतीतानि। तेषामुपाङ्गानि क्रमेणामूनि आचाराङ्गस्यौपपातिकम्॥१॥ सूत्रं तदङ्गस्य राजप्रश्नीयम् ॥२॥ स्थानाङ्गस्य जीवाभिगमः ॥३॥ समवायाङ्गस्य प्रज्ञापना ॥४॥ भगवत्याः सूर्यप्रज्ञप्तिः ॥५॥ ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः ॥६॥ उपासकदशाङ्गस्य चन्द्रप्रज्ञप्तिः ॥७॥ अन्तकृद्दशाङ्गादीनां दृष्टिवादपर्यन्तानां पञ्चानामप्यङ्गानां निरयावलिका। श्रुतस्कन्धगतकल्पिकादि पञ्चवर्गाः पञ्चोपाङ्गानि तथाहि अन्तकृद्दशाङ्गस्य कल्पिका ॥६॥ अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गस्य कल्पावतंसिका ६ प्रश्नव्याकरणस्य पुष्पिता ॥१०॥ विपाकश्रुतस्य पुष्पचूलिका ॥११॥ दृष्टिवादस्य वृष्णिदशा ॥१२॥ इति। जं०१ वक्ष०॥ उपाङ्गानि केन कृतानीत्यत्र प्रश्नोत्तरे तत्रोपाङ्गानि किं गणधररचितानि अन्यथा वा तथाङ्गप्रणयनकालेऽन्यदा वा तन्निर्माणमिति। सूत्रोपाङ्गानि स्थविराः कुर्वन्ति तीर्थंकरे विद्यमानेऽविद्यमाने यान्यङ्गप्रणयनकाले एवं तेषां निर्माणमिति नैकान्त इति नन्दीसूत्रवृत्तौ व्यक्तोक्तमस्ति तेन विशेषतस्ततोऽवसेयमिति ही०। (अङ्गप्पविट्ठशब्दे तथा दर्शितम्) उपाङ्गेषु केन किं विवृतम् उपाङ्गानां च मध्ये प्रथममुपाङ्गं श्रीअभयदेवसूरिभिर्विवृतम्। राजप्रश्नीयादीनि षट् श्रीमलयगिरि पादैर्विवृतानि पञ्चोपाङ्गमयी निरावलिका च श्रीचन्द्रसूरिभिर्विधृता तत्र प्रस्तुतोपाङ्गस्य वृत्तिः श्रीमलयगिरिकृताऽपि संप्रति कालदोषेण व्यवच्छिन्ना इदं च गम्भीरार्थतया अतिगहनं तेनानुयोगरहितं मुद्रितराजकीयकमनीयकोशगृहामिव न तदर्थार्थिनां हस्तानुयोगार्पितसिद्धिकं संजायत इति कल्पितार्थकल्पनकल्पद्रुमाणां युगप्रधानसमानम्। संप्रति विजयमानगच्छनायकपरमगुरुश्रीहरिविजयसूरीश्वरनिर्देशेन कोशाध्यक्षाज्ञया प्रख्येणेवोन्मुद्रणमिव मया तदनुयोगः प्रारभ्यते॥ जं० १ वक्ष०। रा०। तिलके, पुं० वाच०।

उवंगतिग न०(उपाङ्गत्रिक) औदारिकवैक्रियाहारकाङ्गोपाङ्गरूपे त्रये, कर्म०॥

उवंजण न०(उपाञ्जन) उप् अञ्ज ल्युट्, लेपने, गोमयादिनानुलेपने, संमार्जनोपार्जनेन सेकेनोल्लेखने, च। वाच०॥ अभ्यङ्गे, ''अक्खोवंजण वण्णणुलेवणभूयं'' सूत्र०२ श्रु० १अ०। आधारे ल्युट्। अञ्जनाधारे, हस्तादौ च। वाच०॥

उवंसुजव पुं०(उपांशुजप) परैरश्रूयमाणेऽन्तः संजल्पनरूपे जप–भेदे, ध०४ अधि०॥

उवकप्प पुं०(उपकल्प) उपगतः कल्पम्। अत्या०स० कल्पोपग–ते, भक्ते पाने, न०। उप सामीप्ये उपेत्य कल्पे इति उपकल्पः। आहारादिषु उपेत्योपकारे वर्तते इत्युपकल्पः। आहारादिना साधोरुपग्रहकरणे। पुं० चू०॥

एत्तो पुच्छा महंतु, उपकप्पं उवग्गहे। उवकप्पती करेति, उवणाइव होति एकट्ठा॥ भत्तेण व पाणेण व, उवग्गहं तओ कुणति। उवकप्पति गुणधारी, उवकंपंतं वियाणाहि॥ खुहिओ पिवासिओ वा, सीतभिभूतो व ण तरति। पढिंतं तस्स करेति, उवग्गहपडंतं कुडुस्स वा थूणे॥ जो उप्पाए समाहिं, चउव्विहं णाणदंसणचरित्ते। तत्तो य तवसमाहिं, तस्स खमाणिज्जइ होइ॥ भत्तेण व पाणेण व, उवगरणेण व उवग्गहितदेहो। जं कुणति सो समाहिं, तस्सावरणं हवति दाता॥ भत्तस्स व पाणस्स व, उवकरणस्स व उवग्गहकरस्स। जो कुणति अंतवायं, तस्सावरणं पवट्ठो त्ति॥ एसुवकप्पो भणितो॥ पं० भा०॥

इयाणिं उवकप्पो तत्थ गाहा ''भत्तेण व पाणेण व '' उव सामीप्ये उपेत्य कल्पते इत्युपकल्पः आहारादिसु उपेत्योपकारे वर्तते इत्युपकल्पः। साहुस्स उवग्गहं करेइ आहाराइणापढंतस्स उदुस्सेव मूला मूलगुणउत्तरगुणधारी उवकप्पंतं वियाणाहि गाहा ''भत्तेण य सो पुण भत्ताइहिं साहुस्स उवग्गहं कुणमाणो समाहिं समुप्पायइ चउव्विहं पि नाणदरिसणतवचरित्तसमाहिं सो पुण समाहिमुप्पायंतो तासिं चेव नाणदरिसण चरित्ततवसमाहीणं आवरणं हणइकमं गाहा ''भत्तस्स य पाणस्स य'' जो पुण अंतरायं करेइ आहाराइणं साहुस्स दिज्जंताणं से तासिं चेव णाणदरिसणतवसमाहीणं अंतराए पवट्टइ सो णाणाइअंतराइयं बंधइ उवकप्पो॥ पं० चू०॥

उवकप्पंत त्रि०(उपकल्पयत्) निष्पादयति, ''जेसिं तेहिं उवकप्पंति अन्नं पाणं तह वि'' उपकल्पयन्ति निष्पादयन्ति सूत्र०१ श्रु० १२ अ०॥

उवकय त्रि०(उपकृत) उप-कृ-क्त०। कृतोपकारे, यस्योपकारः कृतस्तस्मिन् वाच०। परैर्वर्तिते, ''अणुवकयपराणुग्गहपरायणा'' आव० ४ अ०॥

उवकसंत त्रि०(उपकषत्) व्रजति, ''पण्णासमणिणतावेगे। नारीणं वसमुवकसंति'' सूत्र०१ अ०४ अ०॥

उवकुल न०(उपकुल) कुलानां समीपमुपकुलम्। तत्र वर्त्तन्ते यानि नक्षत्राणि तान्युपचारादुपकुलानीति व्युत्पत्तेः कुलसंज्ञानां नक्षत्राणामधस्तनेषु नक्षत्रेषु, तानि द्वादश। श्रवणः पूर्वभाद्रपदा रेवती भरणी रोहिणी पुनर्वसू अश्लेषा पूर्वफाल्गुनी हस्तः स्वाती ज्येष्ठापूर्वाषाढाश्चेति। जं० ७ वक्ष०। चं०॥ सू०प्र० (णक्खत्त शब्दे सूत्रतः स्पष्टीभविष्यति)

उवकेसपुर न०(उपकेशपुर) स्वनामख्याते तीर्थभेदे, यत्र वीर-भगवत्प्रतिमा॥ ती०॥

उवकोसा स्त्री०(उपकोशा) पाटलिपुत्रवासिन्याः कोशागणिकायाः कनिष्ठभगिन्याय, ''पालिपुत्ते नयरे दो गणियातो कोसा उवकोसातो। आ०म०द्वि०। कोसाए डहरिकामगिणी उवकोसातीए समं वररुची वसति। आ०चू० ४ अ०। (थूलभहशब्दे कथानकम्)

उवक्कम पुं०(उपक्रम) उपक्रमणमुपक्रमः उप-क्रम घञ् वृद्ध्य भावः। उपाये, आचा०१ श्रु०७ अ०८ उ०। ''सोच्चा भगवाणुसासणं सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं'' तदुपक्रमं तत्प्राद्युपायं कुर्यात् सूत्र० १ श्रु० ३ अ०। उपायपूर्वके आरम्भे, तद्भेदाश्च यथा-

तिविहे उवक्कमे पण्णत्ते तं जहा धम्मिए उवक्कमे अहम्मिए उवक्कमे धम्मियाधम्मिए उवक्कमे॥

उपक्रमणमुपक्रम उपायपूर्वक आरम्भो धर्म्मश्रुतचारित्रात्मके भवः स वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकश्रुतचारित्रार्थ आरम्भ इत्यर्थस्तथा न धार्म्मिकोऽधार्मिकः संयमार्थस्तथा धार्मिकश्चासौ देशतः संयमरूपत्वादधार्म्मिकश्च तथैवासंयमरूपत्वाद्वा धार्मिकाधार्म्मिकौ देशविरत्यारम्भ इत्यर्थः। अथवा नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षड्विध उपक्रमस्तत्र नामस्थापने सुज्ञाते द्रव्योपक्रमस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तस्त्रिधा सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्यभेदात्। तत्र सचित्तद्रव्योपक्रमो द्विपदचतुष्पदापदभेदभिन्नः पुनरेकैको द्विविधः परिकर्म्मणि वस्तुविनाशे च। तत्र परिकर्म्मद्रव्यस्य गुणविशेषकरणं तस्मिन्सति तद्यथा घृताद्युपयोगेन पुरुषस्य वर्णादिकरणं एव शुकसारिकादीनां शिक्षागुणविशेषकरणम्। तथा चतुष्पदानां हस्त्यादीनाम् अपदानां च वृक्षादीनां वृक्षायुर्वेदोपदेशात् वार्द्धक्यादिगुणापादनमिति। तथा वस्तुविनाशे च पुरुषादीनां खड्गादिभिर्विनाश एवोपक्रम इति। एवमचित्तद्रव्योपक्रमः पद्मरागादिमणेः क्षारमृत्पुटपाकादिना वैमल्यापादनं विनाशश्चेति। मिश्रद्रव्योपक्रमस्तु कटकादिविभूषितपुरुषादिद्रव्यस्यैवेति। तथा क्षेत्रस्य शालिक्षेत्रादेः परिकर्म्मविनाशो वा क्षेत्रोपक्रमस्तथा कालस्य चन्द्रोपरागादिलक्षणस्योपक्रम उपायेन परिज्ञानं कालोपक्रमः। तथा भावस्य प्रशस्ताऽप्रशस्तरूपस्योपायतः परिज्ञानमेव भावोपक्रमः। स चाप्रशस्तो डोडिनीगणिकामात्यदृष्टान्तादवसेयः। प्रशस्तस्तु श्रुतादिनिमित्तमाचार्यादिभावोपक्रम एवं धार्म्मिकस्य संयतस्य यश्चारित्राद्यर्थं द्रव्यक्षेत्रकालभावानामुपक्रम उक्तस्वरूपः स धार्म्मिक एवोपक्रमः। तथा अधार्मिकस्याऽसंयतस्यासंयमार्थं यः सोऽधार्म्मिक एव। तथा धार्म्मिकाधार्म्मिकस्य देशविरतस्य यः स धार्म्मिकाधार्म्मिक इति। अथ स्वाम्यन्तरभेदेनोपक्रममेव त्रिधाह-

अहवा तिविहे उवक्कमे पण्णत्ते तं जहा आयोवक्कमे परोवक्कमे तदुभयोवक्कमे एवं वेयावच्चे अणुग्गहे अणुसिट्ठी उवालंभे एवमिक्किक्के तिन्नि२ आलावगा जहेव उवक्कमे॥

तत्रात्मनोऽनुकूलोपसर्गादौ शीलरक्षणनिमित्तमुपक्रमो वैहानसादिना विनाशः परिकर्म वा आत्मार्थं वा उपक्रमोऽन्यस्य वस्तु न आत्मोपक्रम इति। तथा परस्य परार्थं चोपक्रमः परोपक्रम इति तदुभयस्य आत्मपरलक्षणस्य तदुभयार्थं चोपक्रमस्त दुभयोपक्रम इति। एवमिति। उपक्रमसूत्रवत् आत्मपरोभयभेदेन वैयावृत्त्यादयो वाच्याः। स्था० ३ ठा०। प्रथमतः सर्वकृत्यविधौ, आतु०। उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमः। कर्म्मवेदनोपाये, भ०१श०४उ०। उपक्रमणमुपक्रमः। कर्मणामनुदयप्राप्तावामुदयप्रापणे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०। उपक्रम्यते क्रियतेऽनेनेति उपक्रमः। कर्मणो बद्धत्वोदीरितत्वादिना परिणमनहेतौ जीवस्य शक्तिविशेषे, वोऽन्यत्र करणमिति रूढः। तद्भेदा यथा-

चउव्विहो उवक्कमे पण्णत्ते तंजहा बंधणोवक्कमे उदरिणोद्दे वक्कमे उवसामणोवक्कमे विप्परिणामनोवक्कमे॥

उपक्रमणं चोपक्रमो बन्धनादीनामारम्भः स्यादारम्भः उपक्रम इति वचनादिति तत्र बन्धनं कर्मपुद्गलानां जीवप्रदेशानाञ्च परस्परं संबन्धनमिदञ्च सूत्रमात्रबद्धलोहशलाकासंबन्धोपममवगन्तव्यं तस्योपक्रम उक्तार्थो बन्धनोपक्रमः। आसकलितावस्थस्य वा कर्मणो बद्धावस्थीकरणं संबन्धनं तदेवोपक्रमो वस्तुपरिकर्मरूपो बन्धनोपक्रमो वस्तुपरिकर्मवस्तुविनाशरूपस्याप्युपक्रमस्याभिहितत्वा दिति। एवमन्यत्रापि। स्था० ४ ठा०२ उ०। (बन्धनोपक्रमादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) मरणे, वृ०४ उ०। व्यापादे, दूरस्थस्य सतो वस्तुनस्तैस्तैः प्रकारैः समीपानयने, ''उपक्रमण-मुपक्रान्तिर्दूरस्थनिकटक्रिया'' उत्त०१ अ०। व्याचिख्यासित-शास्त्रस्य समीपानयनलक्षणे चतुर्णामनुयोगद्वाराणां प्रथमे द्वारे, आचा०१ श्रु० १ अ०।

अथोपक्रमस्य निरुक्तिमाह-

सत्थस्सोवक्कमण, उवक्कमो तेण तम्मि य तओ वा।
सत्थसमीवीकरणं, आणयणं नासदेसम्मि॥

उप सामीप्ये क्रमु पादविक्षेपे उपक्रमणं दूरस्थस्य शास्त्रादिवस्तुनस्तैः प्रतिपादनप्रकारैः समीपीकरणं न्यासदेशानयनं निक्षेपयोग्यताकरणमित्युपक्रमः। उपक्रान्तं ह्युपक्रमान्तर्गतभेदौर्विचारितं निक्षिप्यते मान्यथेति भावः। उपक्रम्यते वा निक्षेपयोग्यं क्रियतेऽनेन गुरुवाग्योगेनेत्युपक्रमः। अथवा उपक्रम्यतेऽस्मिन् शिष्यश्रम-

णभावे सतीति अथवा उपक्रम्यतेऽस्माद्विनीतविनेयविनयादित्युपक्रमः विनेयेनाराधितो हि गुरुरुपक्रम्य निक्षेपयोग्यं शास्त्रं करोतीत्यभिप्रायः। तदेवं करणाधिकरणापादानकारकैर्गुरुवाग्योगा–दयोऽर्था विवक्षाभेदतो भेदेनोक्ताः। यदि तु विवक्षया सर्वेऽप्येककरणादिकारणवाच्यत्वेनोच्यन्ते। तथापि न दोषः। (सत्थस–तीवीकरणमिति) शास्त्रस्य समीपीकरणं शास्त्रस्यन्यासदेशानयनं निक्षेपयोग्यताकरणमुपक्रम इति सर्वत्र संबध्यत इति॥ विशे० ६ द्वा०। अनु०। उपक्रमणमुपक्रम इति भावसाधनः। शास्त्रस्य न्यासदेशसमीपीकरणलक्षणः उपक्रम्यते वाग्योगेनेत्युपक्रम इति करणसाधनः। उपक्रम्यतेऽस्मिन्निति वा शिष्यश्रवणभावे सतीत्युपक्रम इत्यधिकरणसाधनः। उपक्रम्यते अस्मादिति वा विनेयविनयादित्युपक्रम इत्यपादानसाधन इति। स्था०१ ठा०। व्य०। आ०म० प्र०। सूत्र०। जं०। उपक्रमो द्विधा। शास्त्रीय इतरश्च। शास्त्रानुगतः शास्त्रीयः (आचा०) इतरश्च लोकप्रसिद्धः। तत्रे–तरजिज्ञासयाह–

से किं तं उवक्कमेइछव्विहे पण्णत्ते तं जहा णामोवक्कमे ठवणो–वक्कमे दव्वोवक्कमे खेत्तोवक्कमे कालोवक्कमे भावोवक्कमे नाम–ठवणाओ गयाओ॥

अत्र क्वचिदेवं दृश्यते उवक्कमे दुविहे पण्णत्ते इत्यादि'' अयं च पाठः आधुनिको युक्तश्च आह वा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते इत्यादि वक्ष्यमाणग्रन्थोपन्यासस्याघटमानताप्रसङ्गात्। यदि शास्त्रीयोपक्रमोऽत्र प्रतिज्ञातः स्यात्ततः वक्ष्यमाणसूत्रमेवं स्यात् ''से किं तं सत्थोवक्कमे २ छव्विहे पण्णत्ते इत्यादि'' नचैवं तस्मान्नेह सूत्रद्वैविध्यप्रतिज्ञा किन्त्वितरोपक्रमभणनं चेतसि विकल्प्य यथा निर्दिष्टमेव सूत्रमित्यलं विस्तारेण। प्रकृतं प्रस्तुतं सूत्रम्। नामस्थापनोपक्रमव्याख्या नामस्थापनावश्यक व्याख्यानुसारेण कर्त्तव्या। अनु०। विशे०॥

द्रव्योपक्रमः।

से किं तं दव्वोवक्कमे २ दुविहे पण्णत्ते तं जहा आगमतो अ नोआगमतो अ। जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वोवक्कमे २ तिविहे पण्णत्ते तं जहा सचित्ते अचित्ते मीसए। से किं तं सचित्ते दव्वोवक्कमे २ तिविहे पण्णत्ते तं जहा दुपए चउप्पए अपए एक्किक्के पुण दुविहे पण्णत्ते तं जहा परिकम्मे अ वत्थुवि–णासे अ॥

द्रव्योपक्रमव्याख्यापि द्रव्यावश्यकवदेव यावत्दव्वोपक्कमे इत्या–दि। तत्र द्रव्यस्य नटादेरुपक्रमणं कालान्तरभविनाऽपि पर्यायेण सहेदानीमेवोपायविशेषतः सयोजनं द्रव्योपक्रमः। अथवा द्रव्येण घृतादिना भूमादौ द्रव्यतः घृतादेरेवोपक्रमो द्रव्योपक्रम इत्यादि। कारकयोजना विवक्षया कर्त्तव्येति। स च त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तथा सचित्तद्रव्यविषयः सचित्तः। अचित्तद्रव्यविषयोऽचित्तः। मिश्रद्रव्यविषयस्तु मिश्रः। द्रव्योपक्रमस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा द्विपदानां नटनर्त्तकादीनां चतुष्पदानामश्वहस्त्यादीनामपदानामाम्रादीनाम्। तत्रैकैकः पुनरपि द्विधा परिकर्मणि वस्तुनाशे च। तत्रावस्थितस्यैव वस्तुनो गुणविशेषाधानं परिकर्म्म। तत्र परिकर्म्मणि परिकर्मविषयो द्रव्योपक्रमः। यदा तु वस्तुनो विनाश एवोपायविशेषैरुपक्रम्यते तदा वस्तुनाशविषयो द्रव्योपक्रमः। सूत्रं द्विपदानां नटनर्तकादीनां घृताद्युपयोगेन बलवर्णादिकरणं वर्णस्कन्धवर्द्धनादिक्रिया वा परिकर्म्मणि सचित्तद्रव्योपक्रमः॥

द्विविधमप्येतदुपक्रमं विभणिषुराह–

से किं तं दुपए उवक्कमे नडाणं नट्टाणं जल्लाणं मल्लाणं मुट्ठियाणं वेलंवगाणं कहगाणं पवगाणं लासगाणं आइक्खगाणं लंखाणं मंखाणं तूणइल्लाणं तुंववीणियाणं कायाणं मागहाणं सेत्तं दुपए उवक्कमे॥

अत्र निर्वचनं (दुपयाणं नडाणमित्यादि) तत्र नाटकानां नाटयि–तारो नटास्तेषां (नट्टाणंति) नृत्तविधायिनो नर्तकास्तेषां (जल्लाणंति) जल्ला वरत्राः खेलकास्तेषां राजस्तोत्रपाठकानामित्यन्ये (मल्लाणंति) मल्लाः प्रतीतास्तेषां (मुट्ठियाणंति) मौष्टिका ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति मल्लविशेषा एव तेषां (वेडंवगाणंति) विटम्बका विदूषका नानावेषादिकारिण इत्यर्थः। तेषां (कहगाणंति) कथकानां प्रतीतानाम् (पवगाणंति) प्लवका ये उत्प्लवन्ति गर्तादिकं क्रपाभिर्लङ्घयन्ति नद्यादिकं वा तरन्ति तेषां (लासगाणंति) लासका ये रासकान् गायन्ति तेषां जय शब्दप्रयोक्तृणां वा भण्डानामित्यर्थः। (आयंखगाणंति) ये शुभाशुभमाख्यायन्ति ते आख्यायकास्तेषां (लंखाणंति) ये महावंशाग्रमारोहन्ति ते लंखास्तेषाम् (मंखाणंति) ये चित्रपटादिहस्ता भिक्षां चरन्ति ते मंखास्तेषाम् (तूणाभिधानवाद्यविशेषवताम् (तुंबवीणियाणंति) वीणावादकानां (कायाणंति) कावडिवाहकानाम् (मागहाणंति) मङ्गलापाठकानामेषं सर्वेषामपि यद्धाद्युपयोगेन वलवर्णादिकरणं वर्णस्कन्धवर्द्धनादिक्रियावा स परिकर्म्मणि सचित्तद्रव्योपक्रमः। यस्तु खड्गादिभिरेषां नाश एवोपक्रम्यते सम्पाद्यते स वस्तुनाशे सचित्तद्रव्योपक्रम इति वाक्यशेषः। अन्ये तु शास्त्रं गन्धर्वनृत्यादिकलासम्पादनमपि परिकर्म्मणि द्रव्योपक्रम इति व्याचक्षते एतद्ययुक्तं विज्ञानविशेषात्मकत्वाच्छास्त्रादिपरिज्ञानस्य च भावत्वादिति। अथवा यद्यात्मकद्रव्यसंस्कारमात्रापेक्षया शरीरवर्णादिकरणवदित्थमुच्यते तर्ह्येतदप्यदुष्टमेवेति। सेत्तमित्यादि–निगमनम्।

अथ चतुष्पादानां द्विविधमप्युपक्रमं विभणिषुराह–

से किं तं चउप्पए उवक्कमे, चउप्पयाणं आसाणं हत्थीणं। इच्चादि सेत्तं चउप्पयउवक्कमे, से किं तं अप्पए उवक्कमे॥ अप्पयाणं अंबाणं अंबाडगाणं इच्चाइ सेत्तं अप्पयउवक्कमे। सेत्तं सचित्ते दव्वोवक्कमे॥

से किं तमित्यादि। अत्र निर्वचनं ''चउप्पयाणं आसाणं हत्थीण–मित्यादि अश्वादयः प्रतीता एव एतेषां शिक्षा गुणविशेषकरणं परिकर्म्मणि खड्गादिस्त्वेषां नाशोपक्रमणं वस्तुनाशे सचित्तद्रव्योपक्रम इतीहापि वाक्यशेषः सेत्तमित्यादिनिगमनम्। अथापदानां द्विविधमप्युपक्रमं विभणिषुराह। अत्र निर्वचनम्। ''अपयाणं अंबाणं चारगाणमित्यादि'' इहाम्रादयो देशप्रतीता एव नवरं (चाराणंति) येषु चारकुलिका उत्पद्यन्ते ते चारवृक्षाः आम्रादिशब्दाच्च वृक्षास्तत्फलानि वा गृह्यन्ते तत्र वृक्षाणां वृक्षायुर्वेदोपदेशाद्वार्द्धक्यादिगुणानन्तनां तु गर्तप्रक्षेपकोद्रवपलालस्वगनादिलाआश्वेव पाकादिकरणं परिकर्म्मणि शस्त्रादिभिस्तु मूलत एव विनाशनं वस्तुनाशे सचित्तद्रव्योपक्रम इत्यत्रापि वाक्यशेषः सेत्तमित्यादि निगमनद्वयम्।

अथाचित्तद्रव्योपक्रमं विवक्षुराह–

से किं तं अचित्ते दव्वोवक्कमे खंडाईणं गुडाईणं मच्छंडीणं सेत्तं अचित्ते दव्वोवक्कमे॥

खण्डादयः प्रतीता एवं नवरं मच्छण्डी खण्डशर्करा एतेषां खण्डाद्यचित्तद्रव्याणामुपायविशेषतो माधुर्यादिगुणविशेषकरणं परिकर्म्मणि सर्वथाविनाशकरणं वस्तुनाशे अचित्तद्रव्योपक्रम इत्यत्रापि वाक्यशेषः। सेत्तमित्यादिनिगमनम् ॥

अथ मिश्रद्रव्योपक्रममाह–

से किं तं मीसए दव्वोवक्कमे, सा चेव थासगमंडिए आसाइ सेत्तं मीसए दव्वोवक्कमे सेत्तं जाणयसरीरभविअसरीर तव्वतिरित्ते दव्वोवक्कमे सेत्तं नो आगमतो दव्वोवक्कमे। सेत्तं दव्वोवक्कमे ॥

(सेकिंतमित्यादि) स्थासकोऽश्वाभारणविशेषः आदर्शस्तु वृषभादिग्रीवाभरणम् आदिशब्दात् कुङ्कुमादिपरिग्रहः ततश्च तेषामश्वादीनां कुङ्कुमा दिभिर्म्मण्डितानां स्थासकादिभिस्तु विभूषितानां यच्छिष्यादिगुणविशेषकरणं खड्गादिभिर्विनाशो वा समिश्रद्रव्योपक्रम इति शेषः। अश्वादीनां सचेतनत्वात् हाँसलादीनामचेतनत्वात् मिश्रद्रव्यत्वमिह भावनीयम्। अत्र च संक्षिप्ततरा अपि वाचनाविशेषा दृश्यन्ते तेऽप्युक्तानुसारेण भावनीयाः। सेत्तमित्यादिनिगमनचतुष्टयम्। उक्तो द्रव्योक्रमः।

क्षेत्रोपक्रममभिधित्सुराह–

से किं तं खेत्तोवक्कमे जण्णं हलकुलिआइहिं। खेत्ताइं उवक्कमिच्छंति सेत्तं खेत्तोवक्कमे ॥

क्षेत्रस्योपक्रमः परिकर्म विनाशकरणं क्षेत्रोपक्रमः स क इत्याह (खेत्तोवक्कमेत्ति) तत्र हलं प्रतीतम् अधोनिबद्धतिर्यक्तीक्ष्णलोह–पट्टिकं कुलिकं लघुतरं काष्ठं तृणादिच्छेदार्थं यत् क्षेत्रावस्थितं तन्मरुण्डलादि प्रसिद्धं कुलिकमुच्यते ततश्च यदत्र हलकुलिकादिभिः क्षेत्राण्युपक्रम्यन्ते बीजवपनादियोग्यतामानीयन्ते स परिकर्मणि क्षेत्रोपक्रमः। आदिशब्दाद्रज्जेन्द्रबन्धनादिभिः क्षेत्राण्युपक्रम्यन्ते विनाश्यन्ते स वस्तुनाशे क्षेत्रोपक्रमः। गजेन्द्रमूत्रपुरीषादिवदेतेषु क्षेत्रेषु बीजानामप्ररोहणाद्विनष्टानि क्षेत्राणि इति व्यपदिश्यन्ते। आह। यद्येवं क्षेत्रगतपृथिव्यादिद्रव्याणामेतौ परिकर्मवि–नाशौ इत्थं च द्रव्योपक्रम एवायं कथं क्षेत्रोपक्रम इति सत्यं किं तु क्षेत्रमाकाशं तस्य चामूर्त्तत्वात् मुख्यतयाह्युपक्रमः संभवति किं तु तदाधेयद्रव्याणां पृथिव्यादीनां यः उपक्रमः स क्षेत्रेऽपि उपचर्यते। दृश्यते च आवेयधर्मोपचारात् आधारः। उक्तंच। ''खेत्तमरूवं निच्चं, तस्स परिकम्माणं नयविणासो। आहेयगयवसेणउ, करणविणासो वयारोत्थ'' इत्यादि सेत्तमित्यादिनिगमनम् ॥

सम्प्रति क्षेत्रोपक्रममाह–

नोवाए वक्कमणं, हलकुलियाहिं वा वि खित्तस्स।
सम्मज्जभूमिकम्मं, पज्जवतलागाइसुं तु परिकम्मं ॥

यन्नावा आदिशब्दादुडुपादिभिश्च नदीं तरति। अथवा हलकुलिकादिभिर्यत्क्षेत्रस्येक्षुक्षेत्रादिरुपक्रमणम् यदि वा यत् क्रियते गृहादीनां संमार्जनं भूमिकर्म वा देवकुलादीनां यच्च वा यथोन्मार्गशोधनं तडागः व्याख्यात इत आदिग्रहणे वा तटादिषु यत्परिकर्म खननादिलक्षणमेवं समस्तोऽपि क्षेत्रोपक्रमः ॥

कालोपक्रमसूत्रम्–

से किं तं कालोवक्कमे २ जण्णं नालिआइहिं कालस्सोवक्कमणं कीरइ सेत्तं कालोवक्कमे ॥

कालो द्रव्यपर्यायः स एव द्रव्यपर्यायः चित्रकार्मणवत्सललितरूपान्वित इति द्रव्योपक्रमाभिधाने कालोपक्रम उक्त एव भवति। अथवा समयावलियमुहूत्तेत्यादि रूपस्य कालस्य स्वतन्त्रमेवोपक्रममभिधित्सुराह॥ सूत्रकारः (सेकिंतमित्यादि) कालस्योपक्रमः कालोपक्रमः स क इत्याह (जण्णं नालिआईहिं) इत्यादि णमिति वाक्यालंकारे यदिह नालिकादिभिरादिशब्दात् तृणच्छायायानक्षत्रचारादिपरिग्रहस्तैः काल उपक्रम इति शेषः। तत्र नालिका ताम्रादिमयघटिका। तृणसंकुच्छायादिना वा एतावत्योरप्यादिकालोऽतिक्रान्त इति यत्परिज्ञानं भवति परिकर्म्मणि कालोपक्रमः यथा तत्परिज्ञानमेव हि तस्येह परिकर्म्म यत्तु नक्षत्रादिचारैः कालस्य विनाशनं स वस्तुनाशे कालोपक्रमस्तथा ह्यनेन ग्रहनक्षत्रादिचारेण विनाशितः कालो न भविष्यत्यधुना धान्यादिसंपत्तय इति वक्तारो भवन्ति। अनु०॥ किञ्च–

छायाए नालियाए व, परिकम्मं से जहत्थविन्नाणं।
रिक्खाइ य चारेहि य, तस्स विणासो विवज्जासो ॥

(से) तस्य समयावलिका घटिका मुहूर्त्तादिलक्षणस्य कालस्ये–दमेव परिकर्म्म यत्किमित्याह यद्यथार्थविज्ञानं यथावत्परिज्ञानं कयेत्याह शङ्कादिप्रतिच्छाया रूपच्छाया या घटिकारूपया च नाडिकया विनाशस्तर्हि तस्य क इत्याह विपर्यासो वैपरीत्यभवनमनिष्टफलदायिकतया परिणमनमित्यर्थः। कैरित्याह ऋक्षगृहादिचारैस्तथा च वक्तारो भवन्त्यमुकेन नक्षत्रेण ग्रहेण वा इत्थमित्थं गच्छता विनाशितः काल इति। उक्तः कालोपक्रमः। विशे०। यद्वा ''सावविवोहेसु यदुमाणं'' द्रुमाणां शमीचिञ्चिनिकाप्रभृतीनां स्वापे विबोधे च ज्ञायते यथागतोऽस्तमादित्यउदितो वेति। एष कालोपक्रमः। वृ० १ उ०॥

अथ भावोपक्रममाह–

से किं तं भावोवक्कमे २ दुविहे पण्णत्ते तं जहा आगमतो अ नोआगमतो अ। जाणए उवउत्ते नो आगमतो दुविहे पण्णत्ते तं जहा पसत्थे अपसत्थे अ ॥

भावोपक्रमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तथा आगमतो नो आगमतश्च। तत्रोपक्रमशब्दार्थज्ञस्तत्रोपयुक्तश्चागमतो भावोपक्रमः (से किं तं नो आगमओ इत्यादि) अत्रोत्तरम् (नो आगमओ भावोवक्कमे दुविहेत्यादि) इहाभिधायाख्यो जीवद्रव्यपर्यायो भावशब्देनाभिप्रेतः। उक्तं च ''भावाभिख्या पञ्चस्वभावसत्तात्मयोन्यभिप्रायस्ततश्च भावस्य परकीयाभिप्रायस्योपक्रमणं यथा तत्परिज्ञानं भावोपक्रमः। स च द्विविधः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्चेति। तत्राप्रशस्ताभिधित्सया आह–

तत्थ अपसत्थे डोडिणी गणिआ अमच्चाईणं।

(तत्थअप्पसत्थेत्ति) इह तात्पर्यं ब्राह्मण्या वैश्यया अमात्येन च यत्परकीयभावस्य यथा तत्परिज्ञानलक्षणमुपक्रमणं कृतं सोऽप्रशस्तभावोपक्रमः संसारफलत्वात्। अनु०। अशुभस्य तस्य भावोपक्रमस्य ब्राह्मणीवेश्याऽमात्यादया दृष्टान्ताः प्रतिपादितास्तद्यथा–

एकस्या ब्राह्मण्यास्तिस्रः पुत्रिकाः तासां च परिणयनानन्तरं तथा करोमि यथैताः सुखिता भवन्त्विति विचिन्त्य माता ज्येष्ठदुहितरं प्रत्यवोचद्यदुत त्वया वासभवनसमागमे स्वभर्ता किंचिदपराधमुद्वाह्य मूर्ध्नि पादप्रहारेण हन्तव्यो हतश्च यदनुतिष्ठति तन्ममाख्येयं कृतं च तया तथैव सोऽप्यतिसोहतरलितमना अपि प्रियतमे पीडितस्ते सुकुमारचरणो भविष्यतीत्यभिधानपूर्वकं तस्याश्चरणोपमर्द्दनं चकार। अमुं च व्यतिकरं सा मात्रे निवेदितवती साप्युपक्रान्तजामातृकभावा दृष्टा दुहितरं प्रत्यऽवादीत्। पुत्रिके यद्रोचते

तन्नदीवगृहे कुरु त्वं न तवावचनकरो भर्ता भविष्यतीति । द्वितीयापि तथैव शिक्षिता । तथापि च तथैव स्वभर्ता शिरसि प्रहतः केवलमसौ नैतत्कुलप्रसूतानां युज्यत इत्यादि किंचित्क्षणमेकं झषित्वा व्युपरतस्तस्मिंश्च व्यतिकरे तथा मातुर्निवेदिते प्रोक्तं मात्रा वत्से ! त्वमपि यथेष्टं तद् गृहे विजृम्भस्व केवलं त्वद्भर्ता झषित्वा स्थास्यति । एवं तृतीययाऽपि मातृशिक्षिततया दुहित्रा तथैव प्रहतः स्वभर्ता केवलमेतेनोच्छलदतुच्छकोपेन नूनमकुलीना त्वं येनैवं शिष्टजना–नुचितं विचेष्टसे इत्याद्यभिधाय गाढं कुट्टयित्वा निष्काशिता गृहात् । तया च गत्वा सर्वं मात्रे निवेदितम् । ततस्तया विज्ञातजामातृभावतया तत्समीपं गत्वा वत्स ! स्वकुलस्थितिरियमस्माकं यदुतं प्रथमसमागमे बध्वा वरस्येत्थं विधातव्यमित्यादि किंचिदभिधाय कथमप्यऽनुनीतोऽसौ दुहिता च प्रोक्ता वत्से ! दुराराधस्ते भर्ता भविष्यति परमदेवतावदप्रमत्ततया समाराधनीय इति ब्राह्मणीदृष्टान्तः ।

अथ गणिकादृष्टान्त उच्यते ॥ एकस्मिन्नगरे चतुःषष्टिविज्ञान-सहिता देवदत्ताऽभिधाना रूपादिगुणवती वेश्या परिवसति तया च भुजङ्गजनाभिप्रायपरिज्ञानार्थं स्वव्यापारं कुर्वत्या स्वां अपि राजपुत्रादिजातयो रतिभवनभित्तिषु चित्रकर्म्मणि लेखितास्तत्र च यः कश्चिद्राजपुत्रादिरागच्छति स यत्र २कृता तदेव चिलिलिखितं दृष्ट्वा अत्यर्थं प्रशंसति ततोऽसौ विश्रासिंती राजपुत्रादीनामन्यतरत्वेन निश्चित्य यथौचित्येऽोपचरति । आनुकूल्येनोपचरिताश्च राजपुत्रादयस्तस्यै प्रचुरअर्थजातं प्रयच्छन्तीति गणिकादृष्टान्तः।

अथाऽमात्यदृष्टान्तोऽभिधीयते ॥ एकस्मिन्नगरे कश्चिद्राजा अमात्येन सहाश्ववाहनिकायां निर्गतस्तत्र च पथि गच्छता राजनूरङ्गमेण क्वचिच्चिक्खिल्लप्रदेशे प्रस्रवणमकारि तच्च तत्प्रदेशपृथिव्याः स्थिरत्वेन बद्धस्थिरत्वं चिरेणाप्यशुष्कं व्यावर्तमानो राजा तथैव व्यवस्थितमद्राक्षीत् - चिरावस्थायिजलः शोभगोऽत्र प्रदेशे तडागो भविष्यतीति चिन्तितं चिरमवलोकितवांस्तदिति । ततश्चेङ्गिताकारकुशलतया विहितं तदभिप्रायेणामात्येन राजादेशमन्तरेणापि खानितं तत्प्रदेशे महासरः तत्पाल्यां च रोपिताः सर्वर्तुकपुष्पफलसमृद्धयो नानाजातीयतरुनिवहाः । अन्यदा च तेनैव प्रदेशेन गच्छता भूपालेन दृष्टं पृष्टं चाहो मानससरोवरवद्रमणीयं केनेदं खानितं सरः । अमात्यो जगाद देव । भवद्भिरेव । राजा स्मितमयं प्राह कथं कश्च कदा मयैतत्कारणाय निरूपित इत्यतः सचिवो यथावृत्तं सर्वमपि कथितवानहो परचित्तोपलक्षकत्वमस्येति विचिन्त्य परितुष्टो राजा तस्य वृत्तिवर्द्धनादिना प्रसादं चकार तदेवमादिकः संसारफलोऽपरोप्यप्रशस्तभावोपक्रमः स्वयमभ्युह्य इति ॥ विशे० ॥ अथ प्रशस्तभावोपक्रममाह । ''पसत्थे गुरु माईणं'' तत्र श्रुतादिनिमित्तं गुर्वादीनां यद् भावोपक्रमणं स प्रशस्तभावोपक्रमः ॥ अनु०॥

सीसो गुरुणो भावं, जमुवक्कमइ सुहं पसत्थमणो ।
सहियत्थं सपसत्थो, इह भावोवक्कमो हि गओ ॥

इह वच्छिष्यः स्वहितार्थं श्रुतार्थं श्रुताध्ययनादिहेतोः प्रशस्तमनाः शुभहेतुत्वाच्छ्रुतं गुरुभावमुपक्रामतीङ्गिताकारादिना जानाति स मोक्षफलत्वात्प्रशस्तभावोपक्रमस्तेनैव चेहाऽधिकारो मोक्षार्थत्वादेव सर्वस्यास्य प्रारम्भस्येति । विशे० । बृ० (गुरुचित्तोपक्रमो गुरु शब्दे) साम्प्रतं तमेव शास्त्रीयोपक्रमलक्षणेन प्रकारान्तरेणाभिधित्सुराह–

अहवा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते तंजहा अणुपुव्वी १ नाम २ पमाण ३ वत्तव्वया ४ अत्थाहिगारे ५ समोआरे ६ ॥

अथवा अनन्तरं यः प्रशस्तभावोपक्रमः उक्तः लोके पूर्वादिविभागः स हि द्विविधो द्रष्टव्यो गुरुभावोपक्रमः शास्त्रभावोपक्रमश्च । शास्त्रलक्षणो भावस्तस्योपक्रमः शास्त्रभावोपक्रमस्तत्रैकेन गुरुभावोपक्रमलक्षणेन प्रकारेणोक्तोऽथ द्वितीयेन शास्त्रभावोपक्रमलक्षणेन प्रकारान्तरेण तमभिधित्सुराह (अहवा उवक्कमे इत्यादि) अथवेति पक्षान्तरसूचकः उपक्रमः प्रथमपातनापक्षे शास्त्रीयोपक्रमो द्वितीयपातनापक्षे तु शास्त्रभावोपक्रमः षड्विधः षट् प्रकारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा आनुपूर्वी १ नाम २ प्रमाण ३ वक्तव्यता ४ अर्थाधिकारः ५ समवतारः ६ अनु० (एतेषाञ्च शब्दव्युत्पत्त्यादिस्वरूपं यथावसरं स्वस्वस्थाने) (उपोद्घातादस्य भेदः स्वस्थाने) उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमः । ज्वरातिसारादौ, स्था०४ ठा० । शास्त्रे, ''भुम्माहारच्छेए उवक्कमेणं च परिणाए'' तच्च त्रिधा स्वकायपरकायतदुभयरूपम् । तत्र स्वकायशस्त्रं यथा लवणोदकं मधुरोदकस्य कृष्णभूमं वा पाण्डुभूमस्य । परकायशस्त्रं यथाऽग्निरुदकस्य उदकं चाग्नेरिति तदुभयशस्त्रं यथा उदकाः शुद्धोदकस्येत्यादि । ध०२अधि० । उपक्रमोपसंहारौ हेतुतात्पर्य्यनिर्णये, वेदान्तिमते तात्पर्य्यनिर्णायके हेतुभेदे, तत्रौपक्रमोपसंहाराभ्यां द्वाभ्यामेव तात्पर्य्यं निश्चीयते नत्वेकेकेनेति बोध्यम् । करणे घञ् । सामीप्याद्युपाये, कर्मणि घञ् आरभ्यमाणे, पुं० वाच० ।

उवक्कमकाल पुं०(उपक्रमकाल) क०स० । अभिप्रेतार्थसामीप्यानयनलक्षणे सामाचारीयथायुष्कभेदभिन्ने वा कालभेदे, आ०म० द्वि० ॥

अथोपक्रमकालं विभणिषुर्भाष्यकारस्तत्स्वरूपमाह–

जेणोवक्कमिज्जइ, समीवमाणिज्जए जओ जंतु ।
स किलोवक्कमकालो, किरियापरिणामभूइट्ठो ॥

क्रमु पादविक्षेपे विवक्षितस्य दूरस्थितस्य वस्तुनस्तैस्तैरुपायभूतैः क्रियाविशेषैरुपक्रमणं सामीप्यानयनमुपक्रमः । अथ येन क्रियाविशेषेणोपक्रम्यते दूरस्थं समीपमानीयते स उपक्रमः । यतो वा क्रियाविशेषादुपक्रम्यते । यद्वा सामाचारीप्रभृतं वस्तु उपक्रम्यते स उपक्रमस्तस्य कालोऽप्युपचारादुपक्रम एव कालः उपक्रमकालः । किलशब्द आप्तवचनोपदर्शनार्थः । अयं च बहुभिः क्रियापरिणामैर्भूयिष्ठः प्रचुरो भवति प्रभूताः क्रियापरिणामा इह भवन्ति । बहवऽस्यायुष्कादुपक्रम-हेतुभूताः क्रिया भवन्तीति यावत् । तथाच वक्ष्यति ''अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाए । फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आऊ'' इत्यादीति गाथार्थः ॥२३॥

अयं च द्विविधो भवति कथमित्याह निर्युक्तिकारः–

दुविहोवक्कमकालो, सामायारी अहाउयं चेव ।
सामायारी तिविहा, ओहे दसहा य पविभागे ॥

यथोक्त उपक्रमकालो द्विविधस्तदेव द्वैविध्यं दर्शयति सामाचार्युपक्रमकालो यथायुष्कोपक्रमकालश्च । अथ सामाचार्या उपक्रमकालत्वं समर्थयन्नाह भाष्यकारः ॥

जेणोवरियसुयाउ, सामायारिसुयमाणियं हेट्ठा ।
ओहाइतिविह एसो, उवक्कमो समयवज्जाए ॥

पूर्वनिर्दिष्टान्नवमपूर्वादेरुपरिश्रमश्रुतादुद्धृत्य येन साधुसामाचारीप्रतिपादकं श्रुतमधस्तादिदानींतनकालेऽपि समा–

नीतमस्मदादीनां समीपीकृतं स एष समस्तसाधुवर्गः प्रत्यक्षः (ओहाइत्ति) ओघनिर्युक्तिस्तथा ''इच्छामिच्छातहक्कारो इत्यादि'' दशधा सामाचारीप्रतिपादको ग्रन्थश्छेदसूत्राणि चेति त्रिविधः समयचर्यया समयपरिभाषया उपक्रमः सामाचार्युपक्रमकालो भण्यत इत्यर्थः। इदमुक्तं भवति लोके न समाचार्युपक्रमकालतया कश्चित्कालो रूढः समस्ति। आगमे पुनरसौ भण्यते कथमिति चेदुच्यते येन प्रभूतेन कालेन नवमपूर्वादिगतं सामाचारीश्रुतं शिष्योऽध्येतुमलप्स्यत स कालः सामाचारीश्रुतोपक्रमणद्वारेण स्थविरैरुपक्रम्य किलार्वागप्यानीतस्तत्काललभ्यस्य सामाचारीश्रुतस्य स्थविरैरिदानीमपि विनेयेभ्यः प्रदानात्ततश्च सामाचार्युपक्रमद्वारेणोपचारतः कालस्यापि तस्योपक्रमान्तत्वात्सामाचार्युपक्रमकालोऽसौ भण्यत इति। आयुष्कोपक्रमस्यापि यथायुष्कोपक्रमकालतां दर्शयन्नाह--

जं जीवियसंवट्टण--मज्झवसाणाइ हेउसंजणियं।
सोवक्कमाउयाणं, स जीवओवक्कमणकालो॥

स जीवितोपक्रमणालः यथाऽऽयुष्कोपक्रमकालोऽभिधीयत इत्यर्थः। तत्किमित्याह यज्जीवितस्य यद्वा बद्धस्य दीर्घकालवेद्यस्यायुष्कस्य संवर्त्तनं स्वल्पस्थितिकत्वापादनम्। केषां सोपक्रमायुषां जीवानां निरुपक्रमायुषां निकाचितावस्थस्यैकबद्धत्वादपवर्तनायोगात् किं निर्हेतुकमेव जीवितसंवर्त्तनं नेत्याह अध्यवसान--निमित्तादिहेतुसंजनितम्। अत्रायमभिप्रायो यश्चिरेण मरणकालोऽभविष्यदसौ आयुष्कर्म्मस्थित्यपवर्त्तनद्वारेणोपचारतः किलोपक्रम्यार्वागानीत इत्यसौ यथायुष्कोपक्रमकाल उच्यत इति। नन्वेवमुपक्रमः किमायुष एव भवत्याहोस्विदन्यासामपि ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामिति विनेयप्रश्नमाशङ्क्याह॥

सव्वपगईणमेवं, परिणामवसादुवक्कमे होज्जा।
पायमनिकाइयाणं, यवसा उ निकाइयाणं पि॥

न केवलमायुषः किं तु सर्वासामपि ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां शुभाशुभपरिणामवशादपवर्त्तनाकरणेन यथायोगं स्थित्यादिखण्डनद्वारेणापवर्त्यमानानामुपक्रमो भवति स च प्रायो निकाचनाकरणेनानिकाचितानां स्पृष्टबद्धतावस्थानामेव भवति प्रायो ग्रहणस्य फलमाह। तीव्रेण तपसा पुनर्निकाचिता न्यपि कर्माण्युपक्रम्यन्त एव यदि पुनर्यथा बद्धं तथैवानुपक्रान्तं सर्वमपि कर्म वेद्येत तदा मुक्तिगमनं कस्यापि न स्यात्तद्भवसिद्धिकानामपि नियमेन सत्तायामतः सागरोपमकोटीकोटीस्थितिकस्य कर्म्मणः सद्भावादेतच्च स्वत एव वक्ष्यति तर्ह्यायुषि एव किमित्यत्रोपक्रमकाल उक्तो न शेषकर्म्मणामिति चेदुच्यते लोके आयुष्कोपक्रमस्यैव प्रसिद्धत्वात्तदुपक्रमकाल एवेह प्रोक्तः उपलक्षणव्याख्यानाच्छेषकर्म्मोपक्रमकालोऽपि द्रष्टव्य इति॥ अथ प्रेरकः प्राह--

कम्मोवक्कामिज्जइ, अपत्तकालं पि जइ तओ पत्ता।
अकयागमकयनासा, मोक्खाणासासया दोसा॥

ननु यद्यप्राप्तकालमपि बहुकालवेद्यं कर्म्मत्थमुपक्रम्यते इदानीमपि क्षिप्रमेव वेद्यते ततस्तर्ह्यकृतागमकृतनाशौ मोक्षोनाश्वासादयश्चेत्येते दोषाः प्राप्ताः। तथाहि यदीदानीमेवोपक्रमाकृतालपस्थितादिरूपं कर्म्म वेद्यते तत्पूर्वमकृतमेवोपगतमित्यकृताभ्यागमः। यत्तु पूर्वं दीर्घस्थितादिरूपतया कृतं बद्धं तस्यापवर्तनाकरणोपक्रमेण नाशितत्वात्कृतनाशः ततो मोक्षोऽप्येव मनाश्वासः सिद्धानामप्येवं कृतकर्म्माभ्यागमेन प्रतिपातप्रसङ्गादिति। अत्रोत्तरमाह--

नहि दीहकालियस्स वि, नासो तस्साणुइओ खिप्पं।
बहुकालाहारस्स व, दुयमग्गिय रोगिणो भोगे॥

न कृतनाशादयो दोषा इति प्रकरणाद्गम्यते कुत इत्याह न यस्मात्तस्यायुष्कादेः कर्म्मणो दीर्घकालिकस्यापि दीर्घस्थित्यादिरूप--तया बद्धस्याप्युपक्रमेण नाशः क्रियते। कुत इत्याह क्षिप्रं शीघ्रमेव सर्वस्यापि तस्याध्यवसायवशादनुभूतेर्वेदनाद् यदि हि तद्बहुकाले वेद्यं कर्म्म अवेदितमेव नश्येद्यच्चाल्पस्थित्यादिविशिष्टं वेद्यते तत्त--तोऽन्यदेव भवेत्तदा कृतनाशाकृताभ्यागमौ भवेताम् यदा तु तदेव दीर्घकालवेद्यमध्यवसायविशेषादुपक्रम्य स्वल्पेनैव कालेन वेद्यते तदा कथं कृतनाशादिदोषः यथाहि बहुकालभोग्योग्यस्याऽऽहारस्य धान्यमूषकदस्युकादेरग्निरोगिणो भस्मकवातव्याधिमतो हृतं स्वल्पकालेनैव भोगो भवति न च तत्र कृतनाशो नाप्यकृताभ्यागम इत्येवमिहापि भावनीयमिति। अत्राह ननु यद्बद्धं तद्यदि स्वल्पकालेन सर्वमपि वेद्यते तर्हि प्रसन्न चन्द्रादिभिः सप्तमनरकपृथिवीयोग्यमसातवेदनीयादि किं कर्म्मबद्धं श्रूयते तद्यदि सर्वमपि तैर्वेदितं तर्हि सप्तमनरकपृथ्वीसंभविदुःखोदयप्रसङ्गः। अथ न सर्वमपि वेदितं तर्हि कथं न कृतनाशादिदोषः। सत्यमुक्तं किंतु प्रदेशापेक्षयैव तस्य सर्वस्यापि शीघ्रमनुभवनमुच्यते अनुभागवेदनं तु न भवत्यपीत्येतदेवाह--

सव्वं च पएसतया, भुज्जइ कम्ममणुभागओ भइयं।
तेणावस्साणुभवे, के कयनासाइओ तस्स॥

सर्वमष्टप्रकारमपि कर्म सोत्तरभेदं प्रदेशतया प्रदेशानुभवद्वारेण भुज्यते वेद्यत एवेत्येष तावन्नियमोऽनुभागस्तु सानुभवमाश्रित्येत्यर्थ। भजनीयं विकल्पनीयम् अनुभागः कोऽपि वेद्यते कोऽपि पुनरध्यवसायविशेषेण हेतुत्वान्न वेद्यत इत्यर्थः। तदुक्तमागमे ''तत्थ णं जं तं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइए यं वेयइ अत्थेगइयं नो वेयइ तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियम वेएइत्ति'' अतः प्रसन्नचन्द्रादिभिस्तस्य नरकयोग्यकर्म्मणः प्रदेशा एव नीरसा इह वेदिता नत्वनुभागस्य शुभाध्यवसायेन हतत्वादत एव न तेषां नरकसंभविदुःखोदयः कर्म्मणां विपाकानुभव एव सुखदुःखयोर्वेदनाद्येनैवं तेन बद्धस्य कर्म्मणः सर्वेषामपि प्रदेशानामवश्यं वेदनात् के किल तस्य कर्म्मोपक्रमं कर्तुं कृतनाशादयो दोषा न केचिदित्यर्थः। आह नन्चेवमप्यनुभागो यथा बद्धस्तथैव प्रसन्नचन्द्रादिभिर्न वेदित इति कथं न कृतनाशः अस्त्येव कृतनाशः। ननु काचिद्विधा यदि ह्यध्यवसायविशेषणोपहतत्वान्नश्यति रसस्वदा किमनिष्टं सर्वस्यापि ह्यष्टप्रकारकर्म्मणो मूलोच्छेदाय यतन्त एवसाधव इत्यभीष्ट एवेत्थं तेषां कृतनाशः। यदा बहुरसं बहुस्थितिकं च सत्कर्म अल्परसमल्पस्थितिकं च कृत्वा वेदयति तदा तस्याल्पस्थितिकस्य च कर्म्मणः पूर्वमकृतस्यागमतस्ततश्च मोक्षेप्यनाश्वासः सिद्धानामप्यकृतकर्म्मानुगमेन पुनरावृत्तिप्रसङ्गादिति चेत्तदयुक्तं यदि ह्यल्परसत्वमल्पस्थितिकत्वं च कर्म्मणोऽत्र निर्हेतुकं स्यात् एवं च नास्ति अल्परसत्वम् अध्यवसायविशेषकृतत्वेनाभ्यागमत्वायोगादल्पस्थितिकत्वमप्यायुष्कादीनां निर्हेतुकमेव जायते अध्यवसाननिमित्तादिहेतूनां दर्शितत्वादतस्तत्रापि कथमकृतागमत्वम्। अत एव न सिद्धानां कर्म्मसमागमस्तदागमहेतूनां तेष्वभावादित्यलं प्रसङ्गेन। भाष्यकारेणाप्यस्यार्थस्य प्रपञ्चयिष्यमाणत्वादिति युक्तियुक्तश्चोपक्रमः कर्म्मणां कुत इत्याह--

उदयखयखओवसमो–वसमा जं च कम्मणो भणियं ।
दव्वाइपंचयं पइ–जुत्तमवक्कामणमओ वि ।।

यच्च यस्मादुदयश्च क्षयश्च क्षयोपशमश्च उपशमश्च उदयक्षयक्षयोपशमोपशमास्ते कर्म्मणो द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चकं प्रतिभणिता द्रव्यादीनाश्रित्योक्ता अतोऽपि कारणाच्छस्त्रादिद्रव्याणि प्राप्यायुष्कादीनां युक्तमुपक्रमणं क्षय इति । तथाह्यसातवेदनीयस्य कर्म्मणो द्रव्यमहिविषकण्टकादिप्राप्योदयो भवति क्षेत्रं तु नरकवासादिकं कालं तीव्रनिदाघसमयादिकं भवं नारकभवादिकं भावं तु वृद्धभावादिकम् क्षयोऽप्यस्य द्रव्यं सद्गुरुचरण रविन्दादिकं प्राप्य भवति क्षेत्रं तु पुण्यतीर्थादिकं कालं सुषमदुःषमादिकं भवं सुमनुजकुलजन्मलक्षणं भावं तु सम्यग्ज्ञानावरणादिकम् क्षयोपशमोपशमौ तु वेदनीयस्य न भवतः । एवं मोहनीयेऽपि । मिथ्यात्वमोहनीयस्य द्रव्यं कुतीर्थादिकं प्राप्योदयो भवति क्षेत्रं तु कुरुक्षेत्रादिकं साध्वादिरहितदेशादिकं वा कालं दुःषमादिकं भवं तेजोवाय्वेकेन्द्रियादिकम् अनार्यमनुजकुलजन्मरूपं वा भावं कुसमदेशनादिकमिति । क्षयक्षायोपशमास्त्वस्य द्रव्यं तीर्थकरादिकं प्राप्य भवति । क्षेत्रं तु महाविदेहादिकं, कालं सुषमदुःषमादिकं भवं सुमनुजकुलजन्म भावं तु सम्यग्ज्ञानावरणादिकमिति एवं शेषेऽपि ज्ञानदर्शनावरणादिके कर्म्मणि निद्रावेदनीयकर्म्मणो माहिषदधिघृतादिकं द्रव्यमासाद्योदयो भवति क्षेत्रं तु अनूपादिकं कालं ग्रीष्मादिकं भवमेकेन्द्रियादिकं भावं तु वृद्धत्वादिकमिति । क्षयोन्यस्योक्तानुसारेण वाच्यः । क्षयोपशमोपशमौ त्वस्यापि न भवतः । एवमन्येषामपि कर्म्मणामुदयादयो यथायोगं द्रव्यादीन् प्राप्यस्वधिया भावनीया इति । अथ दृष्टान्तद्वारेण कर्म्मणां द्रव्यक्षेत्रादि सहकारिकारणापेक्षां साधयन्नाह–

पुण्णापुण कयं पि हु, सायमसायं जहोदयाई ए ।
वज्झखलाहाणा उ, देइ तह पुण्णपावं पि ।।

यथा सातं सुखमसातं तु दुःखं पुण्यापुण्यस्वरूपकर्म्मजनितमपि स्रक्चन्दनाङ्गनादिविषकण्टकादिना बाह्येन सहकारिणा यद्बलस्य सामर्थ्यस्याधानं विधानं तस्माद्देवोदयादीन् ददाति नत्वेवमेव पुण्यपापोदयमात्रात् ततश्च यथैतत्सकललोकस्यानुभवसिद्धं सुखदुःखाख्यं कार्यं बाह्यान् द्रव्यक्षेत्रादीनपेक्ष्यैवोदेति क्षीयते वा न पुनरेवमेव तथा तत्कारणं पुण्यपापात्मकं कर्मापि द्रव्यक्षेत्रादीनपेक्ष्यैवोदेति क्षीयते इति सिद्धमेव नहि कार्यं द्रव्यादीनपेक्षते तत्कारणं तु तन्निरपेक्ष्यमिति शक्यते वक्तुम् । न खलु कार्यभूतो घटश्चक्रचीवरादीनपेक्ष्यैव जायते तत्कारणभूतस्तु कुलालश्चक्राद्यनपेक्ष एव घटं जनयतीत्युच्यमानं शोभां बिभर्ति तस्मादुदयादीन् प्रति द्रव्यादिसव्यपेक्षाणां कर्मणां युक्तस्तन्निधानादुपक्रम इति । यदि पुनर्यथा बद्धं तथैव वेद्यते सर्वं कर्म्म न पुनरुपक्रम्यते तदा किं दूषणमित्याह–

जइताणुभूइओविय, खविज्जए कम्म मन्नहा न मयं ।
तेणासंखभवज्जिय, नाणागइकारणत्तणउ ।।
नाणाभवाणुभवणा, भावादेक्कम्मि पज्जएणं वा ।
अणुभवओ बंधा उ, मोक्खा भावो सचाणिट्ठो ।

यदि तावद्यथाबद्धं तथैव प्रतिसमयानुभूतितः प्रतिसमयं विपाकानुभवेनैव कर्म्म क्षप्यत इति तवानुमतं नान्यथा नोपक्रमद्वारेण तदेतत्कृपणमभिप्रेतं हन्त तेन तर्हि सर्वस्यापि जन्तोर्मोक्षाभावस्त्वदभिप्रायेण प्राप्नोति स चानिष्ट एव कस्मात्पुनर्मोक्षाभावप्राप्तिरित्याह । तद्भवसिद्धिकस्यापि सत्तायामसंख्येयभवार्जितकर्म्मणः सद्भावात्तस्य च नानाध्यवसायबद्धत्वेन नरकादिनाना–गतिकारणत्वात्ततस्तस्य विपाकत एवानुभवने एकस्मिन्नपि तत्र चरमभवे नानाभावानामनुभवनं प्राप्नोति तद्ययुक्तं कुत इत्याह । (नाणाभवाणुत्ति) तत्र चैकस्मिन्मनुष्यगतिवर्तिनि चरमभवे नारकतिर्यगादिनाना भवानां *परस्परविरुद्धत्वेनानुभवनाभावात्तर्हि तन्नानागतिकारणं कर्म्म* पर्य्यायेणापि क्रमेण नानाभवेष्वनुभूय सिध्यतु किमेतावता विनश्यति तदयुक्तं कुत इत्याह । (पज्जएणवा इति) इदमुक्तं भवति पर्यायेण वा क्रमेण तान्नानाभवान्विपाकतोऽनुभवतः पुनरपि नानागतिकारणस्य कर्म्मणो बन्धः पुनरपि च क्रमेण नानाभवभ्रमणं पुनर्नानागतिकारणं कर्म्म बन्ध इत्येवं मोक्षाभावः । एतद्यानिष्टं तस्मादेष्टव्यः कर्म्मणा मुपक्रम इति । अथ प्रकारान्तरेणोत्तरदित्सया पूर्वविहितमेव प्रेर्यं पुनः कारयन्नाह ।

नणु तन्न जहोवचियं, तदाणुभवओ कया गमाईय ।
तप्पओग्गतं चिय, तेण वि य सब्भरोगोव्व ।।

ननु यदुपक्रमाल्लघुस्थितिकं कृत्वा जीवो वेदयति तदायुष्कर्म न भवति । कथभूतमित्याह येन प्रकारेण वर्षशतभोग्यत्वलक्षणेन पूर्वमुपचितं तेन जीवेन बद्धं यथोपचितमिति । यादृशं पूर्वजन्मनि बद्धम् तादृशमेव तन्न भवतीत्यर्थः । वर्षशतभोग्यत्वं हि दीर्घकालस्थितिकं पूर्वभवे बद्धं उपक्रमानन्तरं तु यदन्तर्मुहूर्तादिलघुस्थि–तिकमनुभवत्यायुस्तदन्यदेव अन्यथा अनुभवादिति भावः । ततः को दोष इत्याह (तहाणुभवओ इत्यादि) यथा तेन प्रकारेण पूर्वबद्धविलक्षणमायुरनुभवतो जीवस्य पूर्वोक्ता अकृतागमादयो दोषा प्रसज्जन्ति अत्रोत्तरमाह । (तप्पाओग्गमित्यादि) तस्योपक्रमस्य प्रायोग्यं उपक्रमार्हमेव तदायुष्कर्म तेन सोपक्रमायुषा जीवेन चित्तं पूर्वजन्मनि बद्धं साध्यरोगवदिति । ततश्च यथोपक्रमसाध्ये रोगो व्याधिः केनापि प्रागुपार्जित इत्युपक्रम्य तं स्फोटयति न च तस्य तथा कुर्वतोऽकृतागमादयः एवमायुरप्युपक्रमसाध्यतया बद्धत्वात् । यद्युपक्रमस्यैव वेदयति तदा केन स्यात्कृतागम इति ।

ननु साध्योऽसाध्यो वा रोग इति कथं ज्ञायत इत्याह ।

अणुवक्कमओ नासइ, कालेणोवक्कमेण खिप्पंति ।
कालेण चेव सज्झा–सज्झा सज्झं तहा कम्मं ।।

साध्यो रोग इति स चानुपक्रमतः उपक्रमाभावात्कालेन निजभुक्तिच्छेदेन नश्यति । उपक्रमेण तु विहितेन क्षिप्रमवापि शीघ्रं नश्यति साध्यत्वादेव । यस्त्वसाध्यो रोगः स कालो मरणं तेनैव नश्यति नतूपक्रमशतैरपि । तथा कर्म्मापि यत्साध्यं बन्धकालेऽप्युपक्रमसव्यपेक्षमेव बद्धं तदुपक्रमसामग्र्यभावे कालेन संपूर्णवर्षशतादिलक्षणेन निजभुक्तिच्छेदेन नश्यति उपक्रमसामग्रीसन्निधाने तु शीघ्रमन्तर्मुहूर्तादिनैव कालेन नश्यति साध्यत्वादेव यत्पुनसाध्यं बन्धकाले निकाचितावस्थमनुपक्रमे च बद्धं तदनेकोपक्रमसद्भावेऽपि निजपरिपूर्त्तिकालमन्तरेण न नश्यति ।

अस्यैवार्थस्य साधनार्थमाह ।

सज्झासज्झं कम्मे, किरियाए दोसओ जहा रोगो ।
सज्झमुवक्कामिज्जइ, एत्तो चिय सज्झरोगो व्व ।।

(किरियाए त्ति) क्रियाया उपक्रमलक्षणायाः साध्यमसाध्यं च कर्म्म भवतीति प्रतिज्ञा (दोसओत्ति) दोषत्वादिति हेतुर्यो यो दोषः स स उपक्रमक्रियायाः साध्योऽसाध्यश्च भवति

यथा ज्वरादिरोगः यच्च साध्यं तदुपक्रम्यते (एत्तोचियत्ति) साध्यत्वादेव साध्यरोगवदिति। अथवा प्रकारान्तरेण प्रमाणयन्नाह ॥

सज्झामयहेऊओ, सज्झनियाणासओहवा सज्झं।
सोवक्कमणमयं पि व, देहो देहाइभावाउ ॥

अथवा सह उपक्रमेण वर्त्तते सोपक्रमणं वेदनीयादिकम्। साध्यमुपक्रमक्रियाविषयभूतं कर्म्मेति प्रतिज्ञा। उपक्रमश्च साध्यश्चासौ आमयश्च साध्यामयस्तद्धेतुत्वादिति हेतुः। यथा अयमेव प्रत्यक्षो देहः मण्डच्छेदादिद्वारेण देहोऽपि साध्यः उपक्रमक्रियाविषयः सोपक्रमश्चेति साध्यविकलत्वाभावो दृष्टान्तस्तस्य साध्यामयस्य च गण्डादिकारणत्वाद्देहस्य साधनविकलत्वस्याप्यभावः। अथवा हेतुत्वन्तरभावादन्यथा प्रमाणं सोपक्रमणं साध्यं कर्म्मेति सैव प्रतिज्ञा साध्यनिदानाश्रयत्वादिति। अत्र निदानं कारणं साध्व–कर्म्मजनकं च निदानमपि साध्यमुच्यते साध्यं च तन्निदानं च साध्यनिदानं तस्याश्रयः साध्यनिदानाश्रयस्तद्भावः साध्यनिदानाश्रयत्वं तस्मात्साध्यनिदानाश्रयत्वात्साध्यनिदानजन्यत्वादिति भावः। निदानस्य साध्यत्वं कथं ज्ञायत इति चेदुच्यते साध्यकर्म्मजनकत्वात्कर्म्मणोऽपि साध्यत्वं कथमवसीयत इति ॥ चेदुच्यते उपक्रमान्यथानुपपत्तेरिति। आह ननूपक्रम एव ह्यत्र साध्यस्तत–स्तदसिद्धौ कर्म्मणः साध्यत्वं न सिध्यति तदसिद्धौ तु कर्मजनकस्यापि साध्यत्वासिद्धिरिति साध्यनिदानजन्यत्वादिति साध्य–त्वविशेषणासिद्ध्याऽसिद्धो हेतुरिति। सत्यं किन्त्वेवं मन्यते ''जइनाणुभूइउचियख–विज्जयकम्मेत्यादि'' ग्रन्थोक्तयुक्तिभ्यः सिद्धमेव कर्म्मणः सोपक्रमत्वं ततस्तत्सिद्धौ कर्म्मणः साध्यत्वं सिध्यति तत्सिद्धौ च साध्यकर्म्मजनकतया तज्जनकनिदानस्यापि साध्यसिद्धिरिति। यद्येवं पूर्वोक्तयुक्तिभ्य एव सिद्धं कर्म्मणः सोपक्रमत्वमिह पुनरपि तत्साधनमपार्थक्यमिति चेत्सत्यं किंतु प्रपञ्चप्रियविनेयानुग्रहार्थत्वाददोषः। यदि वा कर्म्मणो निदानमध्यवसायस्थानान्येव तानि च विचित्रत्वेनासंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणान्यतस्तेषु मध्ये यथा निरुपक्रमजनकानि तथास्योपकर्म्मजनकान्यध्यवसायस्थानानि विद्यन्ते एवेति तद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्तेरित्यादि युक्तितः साध्यकर्म्म जनकनिदानस्य साध्यत्वं साधनीयं तत्सिद्धौ च तत्कार्यस्य कर्म्मणोऽपि साध्यत्वं सोपक्रमेणत्वं सिध्यतीत्यलं प्रपञ्चेन। यथा अयं देह इति स एव दृष्टान्तः अस्य च गण्डच्छेदादिद्वारेण छिद्यमानत्वात्सोपक्रमत्वमत एव साध्यनिदानजन्यता अतः साध्यसाधनधर्माभ्यासस्याविकलतेति। अथवा हेत्वन्यथात्वेनान्यथाप्रमाणं (देहादिभावाउत्ति) सोपक्रमणं साध्यमुपक्रमक्रियाविषयभूतं कर्म्मेति प्रतिज्ञा सैव देहादौ भावादादिश–ब्दाज्जीवे च भावादिति हेतुः देहे जीवे च किल वर्त्तते कर्म्म केवलं जीवे वह्न्ययः पिण्डन्यायेन तस्य वृत्तिः देहे त्वाधाराधेयभावेन जीवो वर्त्तते तद्वारेण च कर्म्मापीति यथायमेव प्रत्यक्षो देह इति स एव दृष्टान्तः। नन्वाधाराधेयभावेन देहस्यापि जीवे वृत्तिर्युक्ता देहस्य च देहे वृत्तिरिति एतत्कथम्। सत्यं सर्वे भावाः स्वात्मनि वर्त्तन्ते वस्त्वन्तरे चाधारे इति न्यायाद्देहस्यापि देहे वृत्तिर्युज्यत एव। अथवास्यौदारिकादिदेहस्य जीववत्कार्म्मणलक्षणेऽपि देहे वृत्तिः प्रतीतैवेति न देहादौ भावादिति साधनधर्मविकलतादृष्टान्तस्येति। अथ कर्म्मणः सोपक्रमत्वसिद्धावुपपत्त्यतराण्यप्याह।

किंचिदकाले वि फलो, पाइज्जइ पच्चएण कालेण।
तह कम्मं पाइज्जइ, पाएण वि पच्चए वण्णं ॥
भिण्णो जहेह कालो, तुल्ले वि पहम्मि गइविसेसा उ।
सत्थेव गहणकालो, गइमेहो भेयओ भिन्नो ॥
तह तुल्लम्मि वि कम्मे य, परिणामाइकिरिया विसेसा उ।
भिण्णोणुभवणकालो, जेट्ठो मज्झो जहन्नो य।
जह वा दीहा रज्जू, डज्झइ कालेण पुंजिए खिप्पं।
वियओ पडो व्व सुस्सइ, पिंडीभूओ य कालेण।
भागा य निरोवट्ठो, हीरइ कमसो जहा णदी खिप्पं।
किरिया विसेसओ वा, समे वि रोगे चिगिच्छाए ॥

यथा किंचिदाम्रराजादनादिफलं यावता कालेन वृक्षस्थं क्रमेण पच्यते तदपेक्षया अर्वाक् कालेऽपि गर्तप्रक्षेपपललस्थगनाद्युपाये–त्र पाच्यते–अन्यत्र वृक्षस्थमेवोपायाभावतः क्रमशः स्वपाककाले न पच्यते तथा कर्म्माप्यायुष्कादिकं किमप्यध्यवसानादिहेतुभिर्बन्धकालनिर्वर्तित–वर्षशतादिरूपस्थितिकालापेक्षया कालेनाप्यन्तर्मुहुर्त्तादिना पाच्यते वेद्यतेऽनुभूय पर्यन्तं नीयत इति तात्पर्यम् अन्यानुबन्धकालनिर्वर्तित–वर्षशतादिलक्षणस्थितिकालेनैव संपूर्णेन विपाच्यते अनुभूयत इति। अथवा यथेह तुल्येऽपि त्रियोजनादिके पथि त्रयाणां पुरुषाणां गच्छतां प्रहरो द्वित्र्यादिलक्षणो गतिविशेषाद्भिन्नो गतिकालो विशिष्यते दृश्यते एवं कर्म्मणः तुल्यस्थितिकस्यापि तीव्रमन्दमध्यमाध्यवसायविशेषाज्जघन्यमध्यमोत्कृष्टलक्षणस्त्रिविधोऽनुभवनकालो भवति। यदिवा यथा तुल्येऽपि शास्त्रेऽध्येतॄणां मतिर्ग्रहणबुद्धिर्मेधा पुनरिहावधारणस्वरूपा गृह्यते तद्भेदात्रिविधो ग्रहणस्य पठनस्य कालो भिन्नोऽनेकरूपो विलोक्यते एवमायुषोऽपि परिणामविशेषात्तुल्यस्थितिकस्याप्यनेकरूपोऽनुभवनकाल इति। पथि शास्त्रदृष्टान्तयोः प्रकृतयोजनामाह। (तहतुल्लम्मिवीत्यादि) गतार्थैव नवरं (परिणामाइ किरियाविसे–साओत्ति) परिणामोऽध्यवसानमादिशब्दादबाह्यदण्डकशस्त्रादयो गृह्यन्ते क्रिया च परिणामादिलक्षणा परिणामादयश्च क्रिया च परि–णामादिक्रियास्तद्विशेषास्तद्भेदा बहुभिस्तुल्यस्थितिके बद्धेऽपि कर्म्मणि भिन्न एवानुभवनकाल इति यथा दीर्घा प्रसारिता रज्जुरे–कस्मात्पक्षात्क्रमेण ज्वलन्ती प्रभूतेनैव कालेन दह्यते पुञ्जीकृता तु पिण्डिता तु ज्वलन्ती क्षिप्रं शीघ्रमेव भस्मी भवति। एवं कर्म्मा–प्यायुष्कादिकं दीर्घकालस्थितिकं प्रतिसमयं क्रमेण वेद्यमानं चिरकालेन वेद्यते अपवर्त्त्य पुनर्वेद्यमानमल्पेनैव कालेन वेद्यत इति। यथा वा जलार्द्रः पिण्डीभूतः। पटश्चिरकालेन शुष्यति विततः प्रसारितः पुनरल्पेनैव कालेन शुष्यत्येवं कर्म्मापीत्युपनयस्व (यथैवेति) यथा वा लक्षादिकस्य महतो राशेर्निरपवर्तनोऽपवर्तनोपवर्त्तनारहितो भागःक्रमशश्चिरेण ह्रियते अन्यथा पुनरपवर्तनायां विहितायां क्षिप्रं शीघ्रमेवापह्रियते। तथाहि किल लक्षप्रमाणस्य राशेर्दशभिर्भागो हरणीयः स च यद्यपवर्तनामन्तरेण ह्रियते तदा महती वेला लगति यदि तु गुणस्य लक्षस्य गुणकारकस्य च दश–लक्षस्य पञ्चभिरपवर्त्तना विधीयते पञ्चभिर्भागो ह्रियत इत्यर्थः तदा शीघ्रमेव ह्रियते भागो लक्षस्य हि पञ्चभिर्भागे हृते लब्धानि विंशति–सहस्राणि दशानां तु पञ्चभिर्भागे हृते लब्धौ द्वौ एताभ्यां विंशति–साहस्रिकस्य लघुराशेर्भागे हृते झटित्येव दशसहस्राण्यागच्छन्ति अनपवर्तितैस्तु दशभिरनपवर्तितस्यैव लक्षस्यैव दीर्घो भागापहारकालो भवति एवमायुषोऽप्यनपवर्तितस्य तु लघुरसाविति यथा वा समेऽपि कुष्ठादिके रोगे क्रियाविशेषाच्चिकित्साया रोगनिग्रहलक्षणायाः कालभेदो भवत्येवमायुषोऽपीति। तदेवं सप्रसङ्गो द्विविधोऽप्युक्त उपक्रमकालः ॥ विशे०॥

उवक्कमण न०(उपक्रमण) उप–क्रम्–ल्युट्। विक्षेपणे, विशे० ७ द्वा०। आरम्भे, करणे ल्युट् तत्साधने, सुश्रुतोक्ते दीर्घायुष्यादि–ज्ञानपूर्वकचिकित्सायाम्, भूमिकायाम्, स्त्री०। वाच०॥

उवक्कमिया स्त्री०(औपक्रमिकी) उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमो ज्वरातिसारादिस्तत्र भवा या सा औपक्रमिकी। स्था०। उपक्रम्यते–ऽनेनेत्युपक्रमः कर्मवेदनोपायस्तत्र भवा औपक्रमिकी (भ०१ श०४ उ०) कर्मोदीरणकारणेन निर्वृत्तायां तत्र भवायां ज्वरातिसारादि–जन्यायां वा वेदनायाम्, स्था० २ ठा०। ''अहं उवक्कमियं वेयणं णो सम्मं सहामि''॥ स्था० ४ ठा०॥

उवक्कमियुवसग्ग पुं०(औपक्रमिकोपसर्ग) दण्डकशस्त्रादिनाऽसातवेदनीयोदयापादके, सूत्र०१ श्रु०३ अ०। (उवसग्गशब्दे विवृतिः)।

उवक्केस पुं०(उपक्लेश) उपक्लिश्नाति अनेन उप क्लिश् करणे घञ् मदादिषु, वाच०। भावे घञ्। शोकादिवाधायाम्, स्था० ७ ठा०।

उवक्ख(क्खा)इत्ता त्रि०(उपख्यापयितृ) लोके ख्यापयति, ''पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइत्ति''। पापैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवति। अयं महापापकारीत्येवं लोके ख्यापयतीति। सूत्र०२ श्रु० २ अ०॥

उवक्खड त्रि०(उपस्कृत) उप–कृ–क्त–भूषणादौ सुट्। भूषिते, संहते, विकृते, अध्याहृते, वाच०। घृतहिङ्गुधान्यकमिरचलवण–जीरकादिभिः कृतोपस्कारे शाकादिके, । ''उवक्खडं भोयणमाह–णाणं अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं'' उपा०। उवक्खडाखीरदहिमादी'' नि०चू० ८ उ०। उपस्करणमुपस्कृतम्। पाके, स्था०४ ठा०।

उवक्खडसंपण्ण पुं०(उपस्कृतसंपन्न) उपस्कृतेन पाकेन संपन्नः। ओदनमण्डकादौ आहारभेदे, । स्था०४ ठा०।

उवक्खडाम न०(उपस्कृताम) कंकडुगादिउवक्खडं इत्युक्तेराम–भेदे, ''उवक्खडामं णाम जहा वणयादीणं उवक्खडियाणं जेणसिज्झंति ते कंकडुयामं उवक्खडियाम भण्णति'' नि०चू० १५ उ०।

उवक्खडिज्जमाण त्रि०(उपस्क्रियमाण) उपसंस्क्रियमाणे, ''उवक्खडिज्जमाणे पेहाए पुरा अप्पजूहिए'' आचा०२ श्रु०२ अ० नि०चू०

उवक्खडिय त्रि०(उपस्कृत) संस्कृते, ''विरूवरूवे भोयणजाए उवक्खडिए सिया'' उवक्खडियपेहाए'' उवक्खडियं पेहाए तहा वि तं णो एवं वेदज्जा'' आचा०२ श्रु०४ अ०। ''सवत्थपरमणं उवक्खडियं। आ०म०द्वि०॥

उवक्खडेत्ता अव्य०(उपस्कृत्य) संस्कृत्येत्यर्थे, ''असणं वा ४ उवकरेत्ता उवक्खडेत्ता। आचा०१ श्रु०३ अ०२ उ०।

उवक्खर पुं०(उपस्कर) उप–कृ–भावे अप्। हिंसने सुट् हिंसने, उपस्करोति उप–कृ–अच्। भूषणे, समवाये, प्रतियत्ने, विकारे, मूषके, कटकमण्डलादौ, समुदिते, संहते, व्यञ्जनसंस्कारकपिष्ट–धान्यकादिद्रव्ये, गृहसंस्कारके संमार्जन्यादौ, वाच०। सूर्यादिके, नि०चू० १० उ०॥ उपस्क्रियतेऽनेनेत्युपस्करः हिङ्ग्वादौ। स्था० ४ ठा०॥

उवक्खरणसाला स्त्री०(उपस्करणशाला) महानसे, नि०चू० ६ उ०।

उवक्खरसंपण्ण पुं०(उपस्कारसंपन्न) उपस्क्रियतेऽनेनेत्युप–स्करो हिंग्वादिस्तेन संपन्नः। हिंग्वादिभिः संस्कृते ओदनमण्डकादौ, आहारभेदे, स्था०४ ठा०।

उवक्खाइया स्त्री०(उपख्यायिका) कथाभेदे, ज्ञाताधर्मकथासु–पञ्चपञ्चाख्यायिकोपाख्यायिकाशतानि। नं०॥

उवग त्रि०(उपग) उप–गम–ड–उपगन्तरि, वाच०॥

***उवक** पुं० तिरश्चि, ''तदणुचए वावि उवगो''उपको नाम अन्यः कोऽपि तिर्य्यगापतितो मिलितः। वृ० ६उ०। गतायां च। नि०चू० ३ उ०।

उवगंतुकाम त्रि०(उपगन्तुकाम) अभ्युत्थातुकामे, ''जो संविग्गविहारं उवगंतुकामो अब्भुट्ठिउकाम इत्यर्थः''। नि०चू०१६ उ०।

उवगय त्रि०(उपगत) उप–गम्–क्त, स्वीकृते, उपस्थिते, ज्ञाते, वाच०। ढौकिते, सूत्र० १ श्रु०३ अ०। अधिगते, ''णिउणसिप्पोव–गएहिं'' औ०। प्रश्न०। युक्ते, ''सिरिए हिरिए उवगए उत्तप्पसरीरे'' रा०। ''सण्णणणाणोवगए महेसी'' उत्त०१२ अ०। औ०। उप सामीप्येन गतः। प्राप्ते, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। द०। पंचा०। अनु०। रा०। ''णिहवहयसरसजोव्वणकक्कसतरुणवयभावमुवगयाओ'' औ०। उत्त०। ''झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ'' ध्यानं धर्म्यं शुक्लं वा तदेव कोष्ठः कुसूलो ध्यानकोष्ठस्त–मुपगतस्तत्र प्रविष्टो ध्यानकोष्ठोपगतः भ०१ श०१उ०। ''लोयग्ग–मुवगयाणं'' लोकाग्रमुपगतेभ्यः लोकाग्रमीषत्प्राग्भाराख्यं तदुप सामीप्येन निरविशेषकर्मविद्युत्पातपराभिन्नप्रदेशतया गताः उपगताः। ल०। उपेति कालसामीप्येन गतानां प्राप्तानाम्। यद्वा उपेत्युपसर्गः प्रकर्षेऽप्युपलभ्यते यथा पोढारागेण तेन स्थानमनुपमसुखं प्रकर्षेण गतानामिति सम्म०॥

उवगयसलाहत्त न०(उपगतश्लाघत्व) उक्तगुणयोगात् प्राप्तश्लाघतारूपे चतुर्विंशे सत्यवचनातिशये, स०। रा०॥

उवगरण न०(उपकरण) उपक्रियतेऽनेन उप–कृ–ल्युट्–प्रधान–साधके अङ्गे, हस्त्यश्वरथासनमञ्चकादौ, आचा०१ श्रु० २अ०। अङ्गे, ''केवलिस्सणं वीरियस्स संयोगसद्दव्वयाए चत्तारि उवगरणाइं भवंति। भ० ५ श०४उ०। कामभोगाङ्गे, धनधान्यहिरण्यादिके, सूत्र०२ श्रु० १अ०। उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्। चुल्ल्यादिके दव्र्यादिके च। तन्निरुक्तिश्चैवम्।

उपकरणशब्दं व्याख्यानयति॥

सिज्झत्तस्सुवयारं, दिज्जंतस्स व कारइ य जं दव्वं।
तं उवकरणचुल्ली, उवरकादव्वीए डोयाइ॥

यत् चुल्ल्यादिकं सिद्ध्यतेऽन्नस्य यद्वा यद्दव्र्यादिकं दीयमानस्य भक्तस्योपकारं करोति तच्चुल्ल्यादिकं दव्र्यादिकं च उपकरणमित्युच्यते। उपक्रियते अनेनेत्युपकरणमिति व्युत्पत्तेः॥ पिं०॥ आचा०। स्था०। उपकरणं त्वेनकविधम् कटपिटकशूर्पादिके, अनु०। भ०। ''लोहीकटाहकडुच्छुकादौ, भ०५ श०७ उ०। उपक्रियते व्रती अनेनेत्युपकरणम् धर्मशरीरोपष्टम्भहेतौ उदधौ, उत्त० १२ अ०। दण्डकरजोहरणवस्त्रपात्रादौ, प्रश्न० १ द्वा०। प्रव०। स्था०। यज्ज्ञानादीनामुपकारकं तदुपकरणमुच्यते। तथा चाह।'' ''चं जुज्जइ उवयारे उवगरणं तेसि होइ उवगरणं। अहिगरणं अजओ अ, जयं परिहरंतो परिहरतो'' ध०३अधि०। यत्किल साधूनामुपकारे न व्याप्रियते तन्नोपकरणं किन्तु अधिकरणम्। वृ० १उ०। उप–कारिवस्तनि, प्रश्न०१ द्वा०। खड्गस्थानीयाया बाह्यनिर्वृत्तेर्या खड्गधारास्थानीया स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिका अभ्यन्तरा निर्वृत्तिः सा। शक्तिविशेषे, जी०१ प्रति०। आचा०।

उवगरणउप्पादणया स्त्री०(उपकरणोत्पादनता) उपकुर्वन्तीति शीलातपादिषु सीदन्तं स्थिरीकुर्वन्तीति उपकरणानि तेषामुत्पा–दनता उपकरणोत्पादनता वक्ष्यमाणप्रकारेण उत्पादनरूपे विनय–भेदे, अथोपकरणोत्पादनतां पृच्छति।

से किं तं उवगरणउप्पायणया २ चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा अणुप्पण्णाइं उवगरणाइं उप्पाइत्ता भवति पोराणाइं उवगरणाइं संरक्खिता भवति । संगोवित्ता भवति परित्तं जाणित्ता पच्चुद्धरित्ता भवति जधाविधिं संविभइत्ता भवति सेत्तं उवगरणउप्पायणया।

प्रश्नसूत्रं कण्ठ्यम् । गुरुराह । चतुर्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा (अणुप्पन्नाइंति) अनुत्पन्नानि पूर्वमप्राप्तानि अपेक्षमाणानि उपकरणा–नि सम्येगषणादिशुद्ध्या उत्पादयिता संपादनशीलो भवति यतः स्वयमाचार्यस्योपकरणोत्पादने वाचनाधर्मकथाद्यन्तरायो भवति अतः शिष्येणैवोपकरणाद्युत्पादनीयम् । (पोराणाइंति) पुरातना–न्युपकरणानि संरक्षयिता उपायेन चोरादिभ्यः अथवा जीर्णानि सीव्यति काले प्रावृणोति व्याख्यानकाले चोलपट्टादिकम् । संगोपयिता च अल्पसागारिककरणेन मलिनतारक्षणेन वेति २ ''परित्तं'' नाम अल्पोपधिकं देशान्तरादागतं साधर्मिकं समीपस्थं वा अन्यगणसत्कं वा सीदन्तं दृष्ट्वा उपकरणेरुद्धर्ता भवति ३ यथाविधिसंविभक्ता भवति यथाविधि नाम यथाशास्त्रिकतया दाता भवति ग्लानादिकारणे वा तथाविधवस्त्रसंग्राहको भवति ४ सेत्तमित्यादिनिगमनवचनं व्यक्तम् । दशा०४अ० ॥

उवगरणदाणं न०(उपकरणदान) उपकरणं दण्डकादि तस्य दानम् वितरणम् । ममैकान्तनिर्जरा भवत्विति बुद्ध्या दण्डकादि–वितरणे,''बहुमाणो वंदणयनिवेयणा पालणा य जातणउवगरणभेव'' दर्श० ॥

उवगरणपूतित न०(उपकरणपूतिक) राध्यमानस्य दीयमानस्य वा उपकारकारके पूतिभेदे, ''जंतं रज्झंतस्स वा दिज्जंतस्स वा उवकारं करोति तं उवकरणपूतितं तं च इमं चुल्लुक्खलियं डोएदव्वीछूढे य मासयं पूतिं डोएलोणेहिं गूसंकामणफोडसंधूमे'' नि० चू० २ उ०।

उवगरणलाघव न०(उपकरणलाघव) अल्पोपधित्वरूपे द्रव्यतो लाघवे, आचा०१ श्रु० ६ अ०३उ०।

उवगरणवडिया स्त्री०(उपकरणप्रतिज्ञा) उपकरणलाभप्रतिज्ञा–याम्, ''आमोसगा उवगरणवडियाए संपिंडिया गच्छेज्जा'' आमोष–काश्चौरा उपकरणप्रतिज्ञया उपकरणार्थिनः समागच्छेयुः । आचा०२ श्रु०।

उवगरणसंजम पुं०(उपकरणसंयम) महामूल्यवस्त्रादिपरिहार–रूपे पुस्तकवस्त्रतृणचर्मपञ्चकपरिहारलक्षणे वा संयमभेदे, स्था०४ ठा०।

उवगरणसंजोयणा स्त्री०(उपकरणसंयोजना) उपकरणविषये संयोजनादोषे, सा च बाह्याऽऽभ्यन्तरा च। तत्र बहिरुपकरणसं–योजना उपकरणं गवेषयत एव साधोश्चोलपट्टकप्राप्तौ विभूषाप्रत्ययमन्तरा कल्प्यं याचयित्वा परिभूञ्जानस्य भवति । अन्तरुपकरणसंयोजना वसतावागत्य तथैव परिभुञ्जानस्य । पञ्चा० १३ विव० । पं० व० ॥

उवगरणसंवर पुं०(उपकरणसंवर) अप्रतिनियताकल्यनीयवस्त्रा–द्यग्रहणरूपे विप्रकीर्णस्य वस्त्राद्युपकरणस्य संवरणलक्षणे वा संवरभेदे, स्था० १० ठा०।

उवगसित्ता अव्य०(उपसंश्लिष्य) समीपमागत्येत्यर्थे, ''मणबंध माणेहिं णेगेहिं कलुणविणीयमुवगसित्ताणं'' सूत्र०१ श्रु०४ अ०।

उवगाइज्झमाण त्रि०(उपगीयमान) क्रियमाणोपगाने, ''गंधव्वेहिं णाडएहिं उवतिविज्झमाणे उवगाइज्झमाणे उवलालिज्झमाणे'' रा०।

उवगार पुं०(उपकार) उप–कृ–भावे–घञ्। प्रधानस्थानुगुण्य–सम्पादने, उपकृतौ, वाच० ॥ उपकारवक्तव्यताभेदाश्च । चैत्यमु–निवन्दनप्रभृति–भाष्यविवृतेर्यथाश्रुतं किंचित्। संघस्याचारविधिं, वक्ष्ये स्वपरोपकाराय ।२। इहहि दुरन्तानन्तचतुरन्तासारविसारिसंसारापारावारे निमज्जता भव्यजन्तुना जिनप्रवचनप्रतीतचोल्लकादिदशनिदर्शनदुष्प्रायं कथमपि प्रशस्तमनुजजन्मादिसामग्रीमबाधभवजलधिसमुत्तरणप्रवहण–सधर्मसद्धर्म्मविधाने प्रयत्नो विधेयः । यदवादि ''भवकोटी दुष्प्रापामवाप्य नृभवादिसकलसामग्रीम् । भवजलधियानपात्रे, धर्मे यत्नः सदा कार्यः ।१। तत्रापि विशेषतः परोपकारकरणे प्रवर्तितव्यम्। तस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यामपि पुण्यबन्धनिबन्धनत्वात् उक्तं च'' ''संक्षेपात्कथ्यते धर्मो , जनाः किं विस्तरेणवः । परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् । १। स चोपकारो द्वेधा । द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्योपकारो भोजनशयनाच्छादनप्रदानादिलक्षणः स चाल्पीयाननात्य–न्तिकश्चैहिकार्थस्यापि साधनेनैकान्तेन साधीयानिति । भावोपकार–स्त्वध्यापनश्रावणादिस्वरूपो गरीयानित्यात्यन्तिक उभयलोकसुखा–वहश्चेत्यतो भावोपकार एव यतितव्यम्। स च परमार्थतः पारमेश्वरप्र–वचनोपदेश एव। तस्यैव भवशतोपचितदुःखलक्षक्षयक्षमत्वात्॥ आहच ॥ नोपकारो जगत्यस्मिंस्तादृशो विद्यते क्वचित्। यादृशी दुःखविच्छेदाद्देहिनां धर्मदेशना ॥३॥ संघा० । नं० । सुखानुभवे, षो०९ विव०।

उवगा(या)रण न०(उपकारण) आत्मनोऽन्यस्य वा ग्लानाद्यव–स्थायामन्येनोपकारकरणे, ''उवयारणपारणासु विणओ पडजियव्वो'' प्रश्न० ३द्वा०।

उवगाराभाव पुं०(उपकाराभाव) कृतकृत्यत्वेनानन्दाद्युपकार–स्यासंभवे, ''उवगाराभावम्मि वि, पूआणं पूजगस्स उवगारो'' पंचा०४ विव०।

उवगारि(ण्) त्रि०(उपकारिन्) उपकारके, आ०म०प्र० । विशे० । उपकारवति, षो० १० विव०।

उवगारिया स्त्री०(उपकारिका) विमानाधिपतिसत्कप्रसादावतं–सकादीन् उपकरोत्यपष्टम्भातीत्युपकारिका विमानाधिपतिसत्क–प्रसादावतंसकादीनां पीठिकायाम्, अन्यत्र त्वियमुपकार्योपकारिकेति प्रसिद्धा। उक्तं च ''गृहस्थानां स्मृतं राज्ञामुपकार्य्योपकारिका'' इति। रा०।

उवगारि(य)यालयण न०(उपकारिकालयन) उपकारिका लय–नमिव उपकारिकालयनम् । उपकार्य्योपकारिकारूपे लयने, ''एत्थणं महेगे उवयारियलयणे पण्णत्ते एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं'' रा० । जी० ॥

उवगिज्झमाण त्रि०(उपगीयमान) ''तद्गुणगानात् क्रियमाणोपगाने, मुइंगमत्थएहिं । बत्तीसइबद्धेहिं उवनिज्झमाणे उवगिज्झमाणे'' भ०९ श०३३ उ० । तथाविधवालोचितगीत विशेषैर्गीयमाने गाय्यमाने च । औ० ॥

उवगीइ स्त्री०(उपगीति) आर्य्या द्वितीयकार्द्धे यद् गदितं लक्षणं ''तत् स्यात् यद्युभयोरपि दलयोरुपगीतिं तामुनिर्ब्रूते'' वृ०२० । उक्ते मात्रावृत्तभेदे, ग० ।

उवगूढ न०(उपगूढ) गुह, भावे, क्त, । आलिङ्गने, कर्मणि क्त–आलिङ्गिते, त्रि ० । सूत्र० १ श्रु०४ अ० । वेष्टिते, ज्ञा० १८ अ० । युक्ते, ''गुंजावक्कुहरोवगूढं'' ''गुजंतं वंसकुहरोवगूढं'' रा०।

उवगूहण न०(उपगूहन) उप–गुह–ल्युट्–ओरुत् । आलिङ्गने,

वाच० । प्रच्छन्नरक्षणे, रचनायां च । ''आरुहणणट्ठणेहिं वालयउवगूहणेहिं च '' तं० ॥

उवगूहिज्जमाण त्रि०(उपगूह्यमान) आलिङ्ग्यमाने, ''उवनच्चिज्जमाणे उवगाइज्जमाणे ज्वलालिज्जमाणे उवगूहिज्जमाणे'' ज्ञा०१अ० ॥

उवगूहिय न०(उपगूहित) (उपगूढ) गाढतरपरिष्वङ्गरूपे संप्राप्तकामभेदे, प्रव० १७९ द्वा० । द० । आलिङ्गिते, त्रि० ''एस सो वइरो तुट्ठेहिं उवगूहिओ'' आ०म०द्वि० ।

उवग्ग न०(उपाग्र) अग्रस्य मुखस्य वर्षाकालसंबन्धिः समीपमुपाग्रम् । आषाढमासे, ''एसो चियकालो पुणरेव गणं उवगम्मि'' व्य०१उ० ।

उवग्गह पुं०(उपग्रह) उपगृह्णातीत्युपग्रहः । उपाधौ, ओ० नि० चू० । उपग्रहणमुपग्रहः शिष्याणां भक्तश्रुतादिदानेनोपष्टम्भने, ग०१ अधि० । वि० । ओ० । पं० चू० । पं० भा० । (तद्भेदाः परिहारशब्दे वक्ष्यन्ते) आत्मनः समीपे संयमोपष्टम्भार्थवस्तुनो ग्रहणे, प्रव० ६० द्वा० । उपकारे, विशे० । काराबन्धने वन्दीकरणे, उपयोगे, आनुकूल्ये, वाच० । परस्मैपदात्मने पदयोर्व्यत्यये, यथा तिष्ठति प्रतिष्ठते रमते उपरमतीत्यादि । सूत्र०२ श्रु०७ अ० । कर्मणि घञ् । कारारुद्धे, वन्द्याम्, वाच० ।

उवग्गहकर त्रि०(उपग्रहकर) उपकारके, ''जोग्गंपि वत्थमाइ उवग्गह करंति गच्छत्ति'' पं० व०२ द्वा० ॥

उवग्गहकुसल पुं०(उपग्रहकुशल) उपग्रहविषयके कुशले, उप सामीप्येन ग्रहः सोऽपि द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र येषामाचार्य उपाध्यायो वा न विद्यते तान् । आत्मसमीपे समानीय तेषामित्वरां दिशं बध्वा तावद्धारयति यावन्निष्पाद्यन्ते एष द्रव्यत उपग्रहः । ग्रह उपादाने इति वचनात् । यः पुनरविशेषेण सर्वेषामुपकारे वर्त्तते स भावतः उपग्रहः ॥

उपग्रहकुशलमाह ॥

बाला सहवुड्ढेसुं, संततवकिलंतवेयणातंके ।
सेज्जनिसेज्जोवहियाण, समणभेसज्जवग्गहिए ॥
दाणदवावणकारावणे य तहाकयमणुण्णाए ।
उवहितमणुविहितविही, जाणाति उवग्गहं एयं ॥

बालाः सहवृद्धेषु तथाप्रभृतिमार्गगमनतः । पवनो वा श्रान्तेषु तपःक्लान्तेषु तथा वेदनायां सामान्यतः शरीरपीडायां जातायामातङ्के च सद्यो जाते सति रोगे समुत्पन्ने शय्या वसतिर्निषद्या पीठफलकादिरूपा उपधिः कल्पादिः पानं द्रवम् अशनमोदनादि भेषजमौषधमौपग्रहिकं दण्डं प्रोञ्छनाद्युपकरणम् । एतेषां समाहारो द्वन्द्वस्तस्मिन् सप्तमी षष्ठ्यर्थे ततोऽयमर्थः । एतेषां स्वयं दानेऽन्यैर्दापने तथा वैयावृत्त्यादेः कारापणे च तथा ''कथमणुन्नाए'' इति परैः कृतस्यानुज्ञायां यत्प्रवर्त्तनं तथा य उपहितविधिर्यश्चनुपहितविधिर्नाम यत् आचार्यैर्वितीर्णं तदाचार्यमनुज्ञाप्यान्येषां साधूनां तदन्तरेण विस्तरयतां ददाति अपुपहितविधिर्यदनुत्पन्नमुत्पाद्य ददाति । अन्येतु व्याचक्षते यद्यस्य गुरुभिर्दत्तं तत्तस्योपनयतीत्येव उपहितविधिः । यत्पनुस्तस्य गुरुभिर्दत्तं तत्सोऽन्यस्य गुरून् अनुज्ञाप्य ददाति एषोऽनुपहितविधिः । एवं सर्वमुपगृह्णं जानाति । एतदेव लेशतो व्याख्यानयति ॥

बालादीणं तेसिंस, सेज्जनिसेज्जोवहिप्पयाणेहिं ।
भत्तन्नपाणभेसज्ज–मादीहिं उवग्गहिं कुणइ ॥
देइ सयं दावेइ य, करेय कारावए य अणुजाणे ।
उवहिय जं जस्स गुरूहिं, दिण्णंतं तस्स उवणेति ॥
अणुवहियं जं तस्स उ, दिन्नंतं देइ सो उ अन्नस्स ।
खमाससमणेहिं दिन्नं, तुज्झं ति उवग्गहो एसो ॥

एतेषामनन्तरगाथाभिहितानां बालादीनां बालासमर्थवृद्धमार्गगमनादिश्रान्ततपः क्लान्तवेदनार्त्तजातातङ्कानां शय्यानिषद्योपधिप्रदानैस्तथा भक्तं मोदकाशोकवर्त्यादि अन्नमोदनादि पानभैषज्ये प्रागुक्तस्वरूपे आदिशब्दादौपग्रहिकोपकरणादिपरिग्रहः । एतैरुपग्रहमुपष्टम्भं करोति कथमित्याह । स्वयं शय्यादिकं ददाति । अन्यैर्वा दापयति तथा स्वयं वैयावृत्त्यादि करोति । अन्यैः कारयति । कुर्वन्तं वा अन्यमनुजानीते । (उवहियत्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादुपहितविधिरिति द्रष्टव्यम् । यद्यस्य गुरुभिर्दत्तं तत्तस्योपनयतीत्येष उपहितविधिर्यत्पुनस्तस्य दत्तं सोऽन्यस्मै गुरून् अनुज्ञाप्य ददाति । क्षमाश्रमणैस्तुभ्यमिदं दत्तमित्येषोऽनुपहितविधिः । एष सर्वोऽप्युग्रहः । उक्तं उपग्रहकुशलः ॥ व्य० ३उ० ॥

उवग्गहट्ठया स्त्री०(उपग्रहार्थता) भक्तपानवस्त्राद्युत्पादनसमर्थतयोपष्टम्भयिता भवत्विति प्रयोजने, स्था० ५ ठा०३उ० ॥

उवग्गहिय न०(उपग्रहीत) भावे–क्त० । पुरुषस्यालिङ्गनैकान्तनयनलिङ्गग्रहणकरग्रहणादौ, ''उवहसिएहिं उवग्गहिएहिं उवसट्ठेहिं'' तं० । कर्मणि क्त– । ज्ञानादिभिर्वस्त्रादिभिश्चोपष्टम्भिते, ॥ पा० ।

उवग्घाय पुं०(उपोद्घात) समीपवर्तिनः प्रकृतस्य उद् घात उद्घननम् ज्ञानं चिन्तनं यत्र । उप–हन्–गतौ–गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थता आधारे घञ् । प्रकृतसिद्ध्यर्थमालोचनात्मके सङ्गतिप्रभेदे ''चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थ–मुपोद्घातं विदुर्बुधाः'' तदर्थवर्णने आरम्भो शास्त्रोत्पत्तौ, विशे० ॥ उपक्रमादस्य भेदः । अपरस्त्वाह । ननूप–क्रमः प्रायः शास्त्रसमुत्थापनार्थ उक्त उपोद्घातोऽप्येषशास्त्रसमु–द्घातप्रयोजन एवेति कोऽनयोर्भेदः । उच्यते उपक्रमो ह्युद्देशमात्र–नियतव्यापार उपोद्घातस्तु प्रायेण तदुद्दिष्टवस्तुप्रबोधनफलो–ऽर्थानुगमत्वादित्यलं विस्तरेण आ०म० प्र० ॥ उपोद्घननमुपोद्घातः । व्याख्येयस्य सूत्रस्य व्याख्यानविधिसमीपीकरणे ॥ विशे० ॥ उपोद्घातफलम् ॥ अनेन चापोद्घातेनाभिहितेन सूत्रादयोऽर्था व्यक्ताः भवन्ति यथा दीपेनापवरके त मसि उक्तं च ''वत्ती भवन्ति अत्था, दीवेणं अप्पगास उव्वरए । वत्ती भवति अत्था, उवघाएणं तहा सत्थे'' उपोद्घातनिधानमन्तरेण पुनः, शास्त्रं स्वलोऽपि विशिष्टमपि न तथाविधमुपादेयतया विराजते यथा नभसि मेघच्छन्नश्चन्द्रमाः । उक्तं च ''मेघच्छन्नो यथा चन्द्रो, न राजति नभस्तले । उपोद्घातं विना शास्त्रं । न राजति तथा विधं'' तत्र सूत्रभणितं '' नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गथीण वा आमेनालपलंबे इत्यादि'' सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिभणितमिदम् । वृ० १उ० ॥

उवग्घायणिज्जुत्ति स्त्री०(उपोद्घातनिर्युक्ति) उपोद्घातेन व्याख्ये–यस्य सूत्रस्य व्याख्या विधिसमीपीकरणमुपोद्घातनिर्युक्तिस्तद्रू–पस्तस्या वा अनुगम उपोद्घातनिर्य्युक्तयनुगमः । निर्युक्तयनुगमभेदे, ''से किं तं उवग्घायनिज्जुत्तिअणुगमे २ इमाहिं दोहिं मूलगाहाहिं अणुगंतव्वे तंजहा'' ''उद्देसे १ निद्देसे अ २ निग्गमे ३ खित्ते ४ काले ५ पुरिसे य ६ । कारण ७ पच्चय ८ लक्खण, ९ नए १० समोआरेणांणुमए ११ ॥ किं १२ कइविहं १३ कस्स, १४ कहिं १५ केसु १६ कहं १७ किच्चिरं हवइ कालं १८ । कइ १९ संतर २० मविरहियं , २१ भवा २२ गरिस २३ फा–

सण २४ निरुत्ता २५ ॥ सेत्तं उवग्घायनिज्जुत्ति अणुगमो''। अनु० । आ०म०प्र० । विशे० । आ०म०द्वि० (समाइय शब्दे स्पष्टी भविष्यति)

उवघाय पुं०(उपघात) उपहननमुपघातः । पिण्डशय्यादेरकल्प-नायाम् । स्था० ३ ठा० । अशबलीकरणे, ओ० । परम्पराघाते, प्रश्न०२ द्वा० । उपघातभेदः ''उवघाओ'' उपेत्य घातो उपघातः स च द्विविधः द्रव्योपघातो भावोपघातश्च तत्र द्रव्योपघातो विशुद्धद्रव्येनोपहन्यते । भावोपघातो द्विविधः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । तत्र प्रशस्तोपघातः मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायोपघातः सम्यग्दर्शनादिषु प्रशस्तः । अप्रशस्तोपघातस्तु सम्यग्दर्शनाद्युपघातः मिथ्यात्वादिषु प्रशस्तः विशोधी नानार्थातिशयेषु सुप्रशंसास्तिभावयोः शोधनं शुद्धिः विविधमनेकप्रकारा वा शुद्धिर्विशुद्धिरियं द्विविधा द्रव्यविशुद्धिर्वस्त्वादि भावविशुद्धिः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशुद्धिः । स च विशुद्ध्युपघातो वा अजीवद्रव्याणां न भवतीत्येष सिद्धान्तः कस्माद्यस्मादजीवद्रव्याणां क्रोधादयः परिणामविशेषा न भवन्ति तेनोपघातो विशुद्धता वा अजीवा नो न भवन्तीत्येष भावनानिश्चय इत्यर्थः । आह कस्योपघात इति संज्ञा । यद्यजीवानां न भवति शुद्धिरुपघातो वा उच्यते उपघातो विशुद्धिर्वा परिणाम-प्रत्यया जीवानां भवति न त्वजीवानामिति सिद्धान्तः । परिणतिः परिणामः अध्यवसायो भाव इत्येकार्थाः । पं०चू० ॥

त्रिविध उपघातः

तिविहे उवघाए पण्णत्ते तंजहा उग्गमोवघाए उप्पायणोवघाए एसणोवघाए । एवं विसोही ॥

उपहननमुपघातः पिण्डशय्यादेरकल्पतेत्यर्थः । तत्र उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभव इत्यर्थः तस्य चाधाकर्म्मादयः षोडश दोषाः । उक्तंच ''तत्थुग्गमोपसूई-पभओ एमादि होंति एगट्ठा । सो पिण्डस्सिह पगओ, तस्स य दोसा इमे होंति''।१। आहाकम्मुद्देसिय २ पूईकम्मे य ३ मीसजाए य ।४। ठवणा ५ पाहुडियाए, ६ पाओयर ७ कीअ ८ पामिच्चे ९ ॥२॥ परियट्टए १० अभिहडे, ११ उब्भिन्ने १२ मालोहडेई य १३ अच्छिज्जे १४ अणिसिट्ठे, १५ अज्झोयरए य १६ सोलसमेत्ति ॥२॥'' इह चाभेदविवक्षया उद्गमदोष एवोद्गमोऽतस्तेनोद्गमेनोपघातः पिण्डादेरकल्पनीयता करणं चरणस्य वा शबलीकरणमुद्गमोपघातः उद्गमस्य वा पिण्डादिप्रसूतेरुपघात आधाकर्म्मत्वादिभिर्दुष्टतोद्गमोपघातः ।

पञ्चविध उपघातो यथा-

पंचविहे उवघाए पण्णत्ते जंहा उग्गमोवघाए उप्पायणोवघाए एसणोवघाए परिकम्मोवघाए परिहरणोवघाए ॥

उपघातोऽशुद्धता उद्गमोपघात उद्गमदोषैराधाकर्म्मादिभिः षोडशप्रकारैर्भक्तपानोपकरणलेपानामशुद्धता एवं सर्वत्र नवरम् उत्पादनया उत्पादनादोषैः षोडशभिर्धात्र्यादि भिरेषणया तद्दोषैर्दशभिः शङ्कितादिभिरिति परिकर्म्म वस्त्रपात्रादेश्छेदनसीवनादि तेन तस्योपघातोऽकल्पता तत्र वस्त्रस्य परिकर्म्मोपघातो यथा ''तिण्हपरिफालियाणं, वत्थं जो फालियं तु संसीवे । पंचण्हं एगतरं, सो पावइ आणमाईणि''॥१॥ तथा पात्रस्य ''अवलक्खणे गबंधे, दुग्गतिगअइरेगबंधणं वावि । जो पायं परियट्टइ (परिभुक्ते) परं दिवड्ढा उ मासा उ''॥२॥ (स आज्ञादीनाप्राप्नोतीति तथा वसतेः) ''दूमिय धूमिय वासिय, उल्लोइय वलिकडा अवत्ता य । सित्ता संमट्ठा वि य, विसोहि कोडिं गया वसहित्ति'' ॥३॥ दूमित्ता धवलित्ता'' वलिकृता कूरादिना अव्यक्ता । छगणादिना लिप्ता संमृष्टा समार्जितेत्यर्थः तथा परिहरणा आसेवा तयोपध्यादेरकल्पता तत्रोपधेर्यथा एकाकिना हिण्डकसाधुना यदासेवितमुपकरणं तदुपहतं भवतीति समयव्यवस्थ ''जग्गहण-अप्पडिवज्जण, जइ वि चिरेणं न उवहम्मेति'' वचनात् । अस्य चायमर्थ एकाकी गच्छभ्रष्टो यदि जागर्ति दुग्धादिषु च न प्रतिबध्यते तदा यद्यप्यसौ गच्छे चिरेणागच्छति तथाऽप्युपधिर्नोपहन्यते अन्यथा तूपहन्यत इति । वसतेरपि मासचतुर्मासयोरुपरि कालातिक्रान्ततेति । तथा मासद्वयं चतुर्मासद्वयं वा वर्जयित्वा पुनस्तत्रैव वसतामुपस्थानेऽपि च तद्दोषाभिधानात् । उक्तञ्च ''उउ वासी समतीता, कालातीता उ सा भवे सेज्जा । से चेव उवट्ठाण-दुगुणादुगुणं च वज्जित्तत्ति'' ॥१॥ तथा भक्तस्यापरिष्ठापनिकाकारं प्रत्यकल्पता तदुक्तं ''विहिगहियं विहिभुत्तं, अइरेगं भत्तपाणमोत्तव्वं । विहिगहिए विहिभुत्ते, इत्थ य चउरो भवे भंगा ॥१॥ अहवा वि अ विहिगहियं, विहिभुत्तं तं गुरुहि स्पृण्णायं । सेसाणाणुणाया, गहणे दिन्ने वनिज्जुहणंति । स्था०३ ठा० । (व्याख्याएसणाशब्दे)

दशविध उपघातः ॥

दशविहे उववाए पण्णत्ते तंजहा उग्गमोवघाए उप्पायणोव-घाए जहा पंचट्ठाणे जाव परिहरणोवघाए णाणोवघाए दंसणो-वघाए चरित्तोवघाए अवियत्तोवघाए सारक्खणोवघाए

यदुद्गमेनाधाकर्मादिना षोडशविधेनोपहननं विराधनं चारित्र-स्याकल्प्यता वा भक्तादेः स उद्गमोपघातः एवमुत्पादनाया धात्र्या-दिदोषलक्षणाया यः स उत्पादनोपघातः । ''जहा पंचट्ठाणेति'' भणनात्तत्सूत्रमिह दृश्यं कियदत आह जाव परीत्यादि तच्चेदं (एस-णोवघाए) एषणया शङ्कितादिभेदया यः स एषणोपघातः (परिकम्मोवघाए) परिकर्म वस्त्रपात्रादि समारचनं तेनोपघातः स्वाध्यायस्य श्रमादिना शरीरस्य संयमस्य वोपघातः परिकर्मोप-घातः । (परिहरणोवघाए) परिहरणा अलाक्षणिकस्याकल्प्यस्य वोपकरणस्य सेवा तया यः स परिहरणोपघातस्तथा ज्ञानोपघात : श्रुतज्ञानापेक्षया प्रमादतो दर्शनोपघातः शङ्कादिभिश्चारित्रोपघातः समितिभङ्गादिभिः (अवियत्तोवघाएत्ति) अवियत्तमप्रीतिकं तेनोपघाते विनयादेः (सारक्खणोवघाएत्ति) संरक्षणेन शरीरादिविषये मूर्च्छयोपघातः परिग्रहविरतैरिति संरक्षणोपघात इति । स्था० १० ठा० । ''उवघायं च दशविहं, असंवरं तह य संकिलेसं च । परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच''पा० ध० । मूलतो विनाशे, कर्म० । नि०चू० । उपद्रवे, तं० । कर्मायोग्यतासम्पादने, उपकारे,वाच० ॥

उवघायकम्म न०(उपघातकर्मन्) परोपघातक्रियायाम् ''आसू-णिमक्खिरागं च, गिद्धुवघाय कम्मगं । उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया'' सूत्र०१ श्रु० ८ अ० ।

उवघायजणय न०(उपघातजनक) उपघातः सत्वघातादिस्तज्जनकम्, अनु० ॥ सत्वोपघातादिप्रर्वतके सूत्रदोषे, यथा वेदविहिता हिंसा धर्म्मायेत्यादि ॥ विशे० ॥ यथा वा ''न मांसभक्षणे दोष इत्यादि'' वृ० १उ० ।

उवघायण न०(उपहनन) हन्यतेऽनेनेति हननन् उप सामीप्येन हननमुपहननम् । करे, ''भूओवघायणमणज्ज'' आव०४ अ० ।

उवघायणाम न०(उपघातनामन्) उपघातनिबन्धनं नाम । नाम-कर्मभेदे, यदुदयवशात्स्वशरीरावयवैः स्वशरीरैरान्तः परिवर्द्धमानैः प्रतिजिह्व गलवृन्दलम्बकचोरदन्तादिभिरुपहन्यते । यद्वा

स्वयं कृतोद्बन्धनशैलवप्रपातादिभिस्तदुपघातनाम। पं०सं०। कर्म०। स०। श्रा०। प्रव०॥

उवघायणिस्सिय न०(उपघातनिश्रित) उपघाते प्राणि बधे निश्रित-माश्रितम्। दशमे मृषाभेदे, स्था०१० ठा०।

उवघायपंडग पुं०(उपघातपण्डक) उपहतवेदोपकरणे पण्डकभेदे, नि०चू० ९ उ०। अथोपघातपण्डकमाह–

पुव्विण्णाणं कम्माणं असुभफलविभागेण।
नो उवहम्मइ वेओ, जीवाणं पावकम्माणं॥

पूर्वं दुश्चीर्णानां दुराचारसमाचरणेनार्जितानां कर्मणामशुभफलो विपाक उदयो यद्भवति ततो जीवानां पापकर्मणां वेद उपहन्यते। तत्र चायं दृष्टान्तः–

जह हेमो उ कुमारे, इंदमहे तुण्णियानिमित्ताणं।
मुच्छिय गिद्धो य मओ, वेओ वि य उवहओ तस्स॥

यथा हेमो नाम कुमार इन्द्रमहे समागता यास्तुण्णिका वालिकास्तासां निमित्तेनेति मूर्च्छितो गृद्धोऽत्यन्तमासक्तः सन् मृतः पञ्चत्वमुपगतो वेदेऽपि च तस्योपहतः संजात इत्यक्षरार्थः। भावार्थः कथानकादवलेयः तच्चैवं हेमपुरे नगरे हेमक्कडो राया हेमसंभवा भारिया तस्स पुत्तो वरतवियहेमसंनिभो हेमानाम कुमारो सो य पत्तजोव्वणो अन्नया इंदमहे इन्दट्ठाणगओ वेच्छइ य। तत्थ नगरकुलबालियाणं रूववईणं पंचसए बलिपुप्फधूवं कडुच्छुयहत्थो ताओ दट्ठुं सेवगपुरिसे भणइ किमेयाउआरायाउ किं वा अभिलसंति। नेहिलहिंदियं इंदं मग्गंति वरं सोभग्गं अभिलसंति भणिया य तेण सेवगपुरिसा अहमेएसिंइदेण वरो दत्तो नेहपथाउ अंतेउरम्मि। तेहि ताओ घेत्तुं सव्वाओ अंतेउरे थूढाओ ताहे नागरजणो रायाणं उवट्ठिओ मोपहवेत्ति तओ रन्ना भणियं किं मज्झ पुत्तो न रोयति तुहं जामाओउ तओ नागरा तुण्हिक्कढिया एयं रन्नो सम्मतंति अंविण्णप्पगया नागरा कुमारेण नायव्वा परिणीया सो एसु अतीव पसतो पसत्तस्स य तस्स सव्ववीयनीगालो जाओ तओ तस्स वेओवया व जाओ य अन्ने भणंति ताहि चेव अप्पडिसे रोगोत्ति रूवियाहिं अद्धाएहिं मारिओ एयावहोपघातपंडक उच्यते। वृ०४ उ०।

उवचय पुं०(उपचय) उपचीयते उपचयं नीयते इन्द्रियमनेनेति उपचयः। प्रायोग्यपुद्गलसंग्रहणसम्पतिइन्द्रियपर्याप्तौ प्रज्ञा० १५ पद। इन्द्रियशब्दे तदुपचय उक्तः। शरीरे, आव०५ अ०। पिण्डे, निकाये, समूहे, पिं०। ओ०। वृद्धौ, भ०। अत्र दण्डकः–

जीवाणं भंते ! किं सोवचया सावचया सोवचयसावचया निरुवचया निरवचया गोयमा ! जीवा नो सोवचया नो सावचया नो सोवचयसावचया निरुवचया निरवचया। एगिंदिया तइयपदे सेसा जीवा चउहिं पएहिं भाणियव्वा। सिद्धाणं भंते पुच्छा गोयमा ! सिद्धा सोवचया नो सावचया नो सोवचयसावचया निरुवचय निरवचया। जीवाणं भंते ! केवइयं कालं निरुचयनिरवचया? गोयमा ! सबद्धं। नेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं सोवचया ? गोयमा ! जहण्णं एक्कं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं केवइयं कालं सावचया एवं चेव केवइयं कालं सोवचयसावचया एवं चेव केवइयं कालं निरुवचयनिरवचया? गोयमा ! जहण्णं एक्कं समयं उक्कोसं बारसमुहुत्ता एगिंदिया सव्वे सोवचया सावचया सव्वद्धं। सेसा सव्वे सोवचया वि सोवचयसावचया वि। जहण्णं एक्कं समयं उक्कोसं आवलियाएउ असंखेज्जइ भागं अवट्ठिएहिं वक्कंति य कालो भाणियव्वो। सिद्धाणं भंते ! केवइयं कालं सोवचया गोयमा ! जहण्णं एक्कं समयं उक्कोसं अट्ठ समया केवइयं निरुवचयनिरवचया जहण्णं एक्कं उक्कोसं छम्मासा सेवं भंते भंतेत्ति।

सोपचयाः सवृद्धयः प्राक्तनेष्वन्येषामुत्पादात्। सापचयाः प्राक्तनेभ्यः केषाञ्चिदुद्वर्त्तनात्सहानयोः सोपचयसापचया उत्पादोद्वर्त्तनाभ्यां वृद्धिहान्योर्युगपद्भावात् निरुपचयनिरपचया उत्पादोद्वर्त्तनयोरभावेन वृद्धिहान्योरभावात्। ननूपचयो वृद्धिरपचयस्तु हानिर्युगपद् द्वयमद् द्वयं चावस्थितत्वमेवं च शब्दभेदव्यतिरेकेण कोऽन्योः सूत्रयोर्भेदः ? उच्यते पूर्वत्र परिमाणमभिप्रेतमिह तु तदनपेक्षमुत्पादोद्वर्त्तनामात्रं ततश्चेह तृतीयभङ्गे पूर्वोक्तवृद्ध्यादिविकल्पानां त्रयमपि स्यात्तथाहि बहुतरोत्पादे वृद्धिर्बहुतरोद्वर्त्तने च हानिः। समोत्पादोद्वर्त्तनयोश्चावस्थितत्वमित्येवं भेद इति। (एगिंदिया तइयपएत्ति) सोपचयसापचया इत्यर्थः युगपदुत्पादोद्वर्त्तनाभ्यां वृद्धिहानिभावात् शेषभङ्गेषु ते न सम्भवन्ति प्रत्येकमुत्पादोद्वर्त्तनयोस्तद्विरहस्य चाभावादिति। (अवट्ठिएहिंति) निरु–पचयनिरपचयेषु। (वक्कंति कालो भाणियव्वोत्ति) विरहकालो वाच्यः॥

वस्त्रस्य पुद्गलोपचयो जीवानां कर्मोपचयः।

वत्थस्सणं भंते ! पोग्गलोवचये किं पयोगसा वीससा? गोयमा! पयोगसा वि वीससा वि। जहा णं भंते ! वत्थस्स णं पोग्गलोवचये पयोगसा वि वीससा वि तहाणं जीवाणं कम्मोवचए किं पयोगसा वीससा ? गोयमा ! पयोगसा नो वीससा। सेकेणट्ठेणं? गोयमा ! जीवाणं तिविहे पओगे पण्णत्ते तं जहा–मणप्पओगे वइप्पओगे कायप्पओगे इच्चेतेणं तिविहेणं पयोगेणं। जीवाणं कम्मोवचये पयोगसा नो वीससा एवं सव्वेसिं पंचिं–दियाणं तिविहे पयोगे भाणियव्वे। पुढविकाइयाणं एगविहप–ओगेणं एवं जाव वणस्सइकाइया। विगलिंदियाणं दुविहे पओगे पण्णत्ते तं जहा–वइप्पयोगे य कायप्पओगे य। इच्चेतेणं दुविहेणं पयोगेणं कम्मोवचये पयोगसा नो वीससा सेएणं अट्ठेणं जाव नो वीससा एवं जस्स जहो पओगो जाव वेमाणिया णं। वत्थस्सणं भंते ! पोग्गलोवचए किं सादीए सपज्जवसिए सादीए अपज्जवसिए अणादीए सपज्जवसिए आणादीए अपज्जवसिए? गोयमा ! वत्थस्स णं पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए नो सादीए अपज्जवसिए नो अणादीए सपज्जवसिए नो अणादीए अपज्जवसिए। जहा णं भंते ! वत्थस्स पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए नो सादीए अपज्ज-वसिए नो अणादीए सपज्जवसिए नो अणादीए अपज्जवसिए तहाणं जीवाणं कम्मोवचए पुच्छा गोयमा ! अत्थेगइयाणं जीवाणं कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए अत्थेगइए अणादीए

सपज्जवसिए अत्थेगइए अणादीए अपज्जवसिए नो चेव णं जीवाणं कम्मोवचए सादीए अपज्जवसिए । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! इरियावहिया बंधयस्स कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए भवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए सपज्जवसिए अभवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए अपज्जवसिए से तेणट्ठेणं ॥

वस्त्रेत्यादिद्वारे ॥ (पयोगसावीससायत्ति) छान्दसत्वात् प्रयोगेण पुरुषव्यापारेण विस्रसया स्वभावेनेति । (जीवाणं कम्मोवचए पओगसा णो वीससत्ति) प्रयोगेणैव अन्यथा योगस्यापि बन्धप्रसङ्गः। सादिद्वारे। (इरियावयिबंधस्सेत्यादि) ईर्या पथो गमनमार्गस्तत्र भवमैर्यापथिकं केवलयोगप्रत्ययं कर्म्मेत्यर्थः। तद्बन्धकस्योपशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य सयोगिके वलिनश्चेत्यर्थः। ऐर्यापथिककर्म्मणो हि अबन्धपूर्वस्य बन्धनात्सादित्वमयोग्यवस्थायां श्रेणिप्रतिपाते वा अबन्धनात्सपर्यवसितत्वम् (गइए गइं पडुच्चत्ति) नरकादिगतौ गमनमाश्रित्य सादयः आगमनमाश्रित्य च सपर्यवसिता इत्यर्थः । (सिद्धगइं पडुच्च साइया अपज्जवसियत्ति) इहाक्षेपपरिहारावेव ''साइ अपज्जवसिया, सिद्धानयनामइय कालम्मि । आसिकयाइविसुन्ना, सिद्धा सिद्धे वहि सिद्धंते ॥ सव्वं साइसरीरं, नयनामादिमयदेहसब्भावो । कालाणाइत्तणओ, जहा वए इंदियाईणं ॥ सव्वो साई सिद्धो नयादिमो विज्जई तहा ते च । सिद्धो सिद्धा य सया, निद्दिट्ठा रोहपुच्छा एत्ति । (तं चति) तच्च सिद्धानादित्वमिष्यते यतः सिद्रा सिद्धायेत्यादि (भवसिद्धियालद्धिमित्यादि) भवसिद्धिकानां भव्यत्वलब्धिः सिद्धत्वेऽपैतीति कृत्वाऽनादिसपर्यवसिता चेति। भ०६ श०३उ०। उन्नतौ, षष्ठत्रिदशलाभाच्च, लग्नादुपचयाः स्मृताः । इति ज्योतिषोक्ते लग्नातषष्ठादिस्थानेशु च। वाच०।

उवचयण न०(उपचयन) चितस्यावाधाकालं मुक्त्वा ज्ञानावरणी–यादितया निषेके, सचैवं प्रथमस्थितौ बहुतरकर्मदलिकं निषिञ्चति ततो द्वितीयायां विशेषहीनमेवं यावदुत्कृष्टायां विशेषहीनं निषिञ्चति। उक्तं च ''मोत्तूण सगमवाहं, पढमाए ठिइए बहुतरं दव्वं । सेसं विसेसहीणं, जावुक्कोसंति सव्वेसिंति'' चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्नए देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, नो चेव णं संचाएति हव्वमागच्छित्तए, १ देवे णं अहुणोववन्नए देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने, २ तस्स णं एवं भवति–इयाणिं गच्छं मुहुत्तेणं गच्छं, ३ तस्स णं मानुस्सगा कामभोगा खिन्ना भवंति, ४ पोरेवच्चा देवकिब्बिसिया देवा देवलोगेसु तेसिं णं आयरियउवज्झाएसु मे गिलाणेसु तेसिं णं आयरियउवज्झायाणं मे गिलाणे सुत

यो द्वादशाङ्गः स्वाध्यायः प्रथमतो जिनैरारतस्ततो (बुहेत्ति) प्राकृतत्वाद् बुधैर्गणधरादिभिः कथितः पारंपर्येणोपदिष्टः तं स्वाध्याय सूत्रतः शिष्याणामुपदिशन्ति यस्मात्तेनोपाध्याया उच्यन्ते अत एव इङ्अध्ययने उपेत्य सूत्रमधीयते येभ्यः शिष्यास्ते उपाध्याया भणन्ते इति ॥

सांप्रतमागमशैल्या अक्षरार्थमधिकृत्योपाध्यायशब्दार्थमाह ।

उत्ति उवकरणवेति, वेयज्झाणस्स होइ निद्देसे ।
एएण होइ उज्झा, एसो अण्णो विपज्जाओ ॥

(उ) इत्येतदक्षरमुपयोगकरणे वर्त्तते (व) इति वेदध्यानस्य निर्देशे ततश्च प्राकृतशैल्या एतेन कारणेन भवन्ति उज्झा उपयोगपुरः सरं ध्यानकर्तार इत्यर्थः । एसोऽनन्तरोक्त उपाध्यायशब्दापेक्षयान्योऽपि पर्याय इति । अथोपाध्यायशब्दार्थं भाष्यकारः प्राह ।

उवगम्म जओ हीयइ, जं चोवगयमग्गया वेंति ।
जं वो वायज्झाया, हियस्स तो ते उवज्झाया ॥

उवगम्योपेत्य यतो येभ्योऽधीयते पठन्ति शिष्यास्ते उपाध्यायाः यच्च यस्मादुप समीपे गतं प्राप्तं शिष्यमध्यापयन्ति तत उपाध्यायाः। यस्माच्च स्वपरहितस्योपाध्यायका उपायका उपायचिन्तकास्ततस्ते उपाध्याया इति । विशे० । आ०चू० । आ०म०द्वि०।

इदानींमुपाध्यायरवरूपमाह ।

सुत्तत्थतदुभयवि–ज्जुत्तो नाणदंसणचरित्ते ।
निष्पायगसेसाणं, एरिसया होंति उवज्झाया ॥

ये सूत्रार्थतदुभयविदो ज्ञानदर्शनचारित्रेषूद्युक्ता उपयुक्तास्तथा शिष्याणां सूत्रवाचनानिष्पादका एतादृशा भवन्त्युपाध्यायाः । उक्तं च । ''समत्तनाणदंसण, जुत्तो सुत्तत्थतदुभयविधिणा । आयरियप्पाजुग्गो, सुत्त वाएइ उवज्झातो'' अथ कस्मात्सूत्रमुपाध्यायो वाचयति । उच्यते अनेकगुणसंभवानेवाह ।

सुत्तत्थेसु थिरत्तं, ऋणमुक्खो आयती अपडिबंधो ।
पाडिच्छे मोहनयो, तम्हा वाए उवज्झातो ॥

उपाध्यायः शिष्येभ्यः सूत्रवाचनां प्रयच्छन् स्वयमर्थमपि परिभावयति । सूत्रेऽर्थे च तस्य स्थिरत्वमुपजायते । तथाऽन्यस्य सूत्रवाचनाप्रदानेन सूत्रलक्षणस्य ऋणस्य मोक्षः कृतो भवति । तथा आयत्यामागामिनि काले आचार्यपदाध्यासेऽप्रतिबन्धोऽत्यन्ताभ्यस्ततया यथावस्थतया स्वरूपस्य सूत्रस्यानुवर्तनं भवति । तथा (पाडिच्छेत्ति) येऽन्यतो गच्छान्तरादागत्य साधवस्सूत्रोपसंपदं गृह्णते ते प्रतीच्छका उच्यन्ते ते च सूत्रवाचनाप्रदानेनागृहीता भवन्तीति वाक्यशेषः । तथा मोहजयः कृतो भवति । सूत्रवाचनादानव्यग्रस्य सतः प्रायश्चित्तविश्रोतसिकाया अभावात् अत एवंगुणस्तस्मादुपाध्यायः सूत्रं वाचयेत् । पाठान्तरं (तहा अ उण वाएत्ति) अत्रापि स एवार्थो नवरं गणी उपाध्यायः उक्तमुपाध्यायस्वरूपम् । व्य०१उ० । प्रव० । स्था० ''एवमेते णामठवणादीहिं अणेगहा पन्न–विज्जंति तहा सुसंवुड़ासवदारे मणोवइकायजोगुत्तउवउत्ते विहिणा सरविंजणमता बिंदुपयक्खरविसुद्धदुवालसंगे सुयनाणसुयणज्जावण्णेणं परमप्पणोयमोक्खोवायं झायंतित्ति उवज्झाए थिरपरिचियमणंतगमपज्जवच्छेहिं दुवालसंगं सुयनाणं चिंतंति अणुसरंति एगग्गमणसा झायंतित्ति वा उवज्झाए'' महा० । (उपाध्यायस्य अतिशयादयः स्वस्थाने (नमस्कारार्हत्वं नमो उवज्झायाणंती सूत्रार्थो 'नमुक्कार' शब्दे) (उपाध्यायोद्देश 'उद्देस' शब्दे उक्तः) (उपाध्यायस्थापना 'दिसा' शब्दे)

उवज्झिय त्रि०(उपाहूय) आकारिते, व्य०१उ०।

उव(व्व)ट्टण न०(उद्वर्तन) उद्वर्त्यतेऽनेन उद्–वृत्–णिच्–कर–णे ल्युट् । शरीरनिर्मलीकरणद्रव्यादौ, भावे–ल्युट् । द्रव्यभेदैः स्नेहाद्यपहारार्थे व्यापारे, विलेपने, घर्षणे च । वाच० । पङ्कापनयने, ''गायस्सुवट्टणाणि य'' दश०३ अ० । सकृद्वर्त्तने, नि०चू०३ उ० । प०।

उव(व्व)ट्टणविहि पुं०(उद्वर्तनविधि) उद्वर्त्तनप्रकारे, ''तयाणंतरं च णं उवट्टणविहिपरिमाणं करेइ णण्णत्थ एगेणं सुरभिणा गंधद्धूएणं । अवसेसं उवट्टणविहिं पच्चक्खामि'' उवा०१ अ० । त्रि० समीप–स्थिते, वाच०।

उवट्ठ (उपस्थ) एकस्यां वसतौ सततमवस्थिते, व्य०४ उ०।

उवट्ठंभ पुं०उपष्ट(स्त)म्भ उप–स्तम्भ–घञ् । पतनप्रतिरोधने, अवलम्बने, आलम्बने, स्थितौ, सहकारे, वाच० । अनुकम्पायाम्, स्था०२ ठा० । मोहनीयेन कर्मणाऽवस्थाने, भ०१ श०४ उ० ।

उवट्ठकाल पुं०(उपस्थकाल) अभ्यागमवेलायाम्, व्य०४ उ०।

उवट्ठ(ट्ठा)वणा स्त्री०(उपस्थापना) उपस्थापनमुपस्थापना । अनुकूलशक्त्यभावे, प्रति ० । उपस्थाप्यन्ते व्रतान्यारोप्यन्ते । यस्यां सा उपस्थापना । चारित्रविशेषे, ध०२ अधि० । व्रतेषु स्था–पनायाम्, पं०चू० । 'वयट्ठवणमुवट्ठवणा' पं०भा० पंचा० । नवीन–दीक्षितस्य साधोः श्रीतातपाददीक्षाभवनानन्तर 'मचित्तरजओ–हडावणिअ' कायोत्सर्गे विस्मृते पुनर्दीक्षां दत्वाऽऽवश्यकादि–योगानुष्ठानमुपस्थापना च शुद्ध्यति नवेति ७४ प्रश्नः गच्छनायकदीक्षाभवनानन्तर 'मचित्तरजओहडावणिअ' कायोत्सर्गे विस्मृते पुनर्गच्छनायकदीक्षामन्तरेणावश्यकादियोगानुष्ठानमुपस्थापना च न शुद्ध्यतीति ॥ शेन० २ उल्ला० ॥ उपस्थापनाविधिश्चैवम् ॥ ''पढिआइ१वास२चिइ३वयति, अतिअ-वेला४खम समणरासत्त५। दिसि बंधो दुविह तिहा६तव७देसण८मंडली सत्त ९॥ पढिए अकहि–अअहिगहिअ'' इत्यादि गाथाद्वयं एवं ''सुपरिक्खियगुणसीसो तिहिनक्खत्तमुहुत्तरतिजोगाइपसत्थदिवसे विपासवणाइपहाणखित्ते गुरुं वंदित्ता भणइ, इच्छकारि भगवन् ! तुह्मे अह्मं पञ्चमहाव्रतरात्रिभोजनविरमणं षष्ठ आरोपावणिअं नंदिकरावणिअं वासनिक्खेवं करेहत्ति । ताओअं देवे वंदियवंदणं दाउ महव्वयाइं आरोवणत्थं सत्तावीसुस्सासं काउस्सग्गं दोवि करेंति । तओ सूरिओ वदंति तुन्नएहिं पिट्ठो वरिकुप्परसंठिएहिं करेहिं रयहरणं ठावित्ता मकरानामिआए मुहपुत्तिं लंवंति धरित्तुसम्मं उवओगपरो सीसं अद्धावणयकायं इक्किक्कवयं नमुक्कारपुव्वं तिण्णि वारे उच्चरावेइ । तत्थ पढमे भंते महव्वए पाणा इवायाओ वेरमणं सव्वं भंते पाणाइवायं पच्चक्खामि से सुहुमं वा वायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणे अइवाइज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवायंते वि अन्नं न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । पढमे भंते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमणं । अहावरे दुच्चे भंते महव्वए मूसावायाओ वेरमणं इत्याद्यालापकषट्कं वाच्यम् । तओपत्ताए लग्गवेलाए ''इच्चेइयाइं पंचमहव्वयाइं राईभोअणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठ

याए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि'' एवं तिन्नि वारे भणावेइ तओ वंदित्ता सीसो भणइ इच्छक्कारि भगवन् ! तुह्मं अह्मं पंचमहाव्वइतरात्रि-भोजनविरमणषष्ठआरोवओ इत्यादिक्षमाश्रमणानि प्रदक्षिणाश्च प्राग्वत्। तओ सीसस्स आयरियउवज्झायरूवो दुविहो दिसाबंधो कीरइ। यथा कोटिको गणः वइरी शाखा चान्द्रं कुलम् ! अमुका गुरवः उपाध्यायाश्च साध्वी अमुकी प्रवर्तिनी चेति तृतीयः आचाम्लनिर्विकृतिकादितपः कार्यते। देशनायां च वधूचतुष्ककथावाच्या॥

उट्ठविओ चेव सीसो, मंडलीपवेसत्थं।
सत्तआयंबिलाणि–क्कारे अचोत्तं जहा॥
सुत्ते१ अत्थे२भोअण,३काले४आवस्सए अ ५सज्झाए ६।
संथारपविट्ठेअ तहा, सत्ते आ मंडली हुंति॥

सूत्रे सूत्रविषये १एवम् अर्थे २भोजने ३कालग्रहे ४आवश्यके प्रतिक्रमणे ५ स्वाध्याये तत्र च प्रस्थापने ६ संस्तारके चैव ७ सप्तैता मण्डल्यो भवन्ति। एतासु चैकैकेनाचाम्लेन प्रवेष्टुं कल्पते नान्यथेति। तत्र च ''मुहपोत्तिं पेहिअ वंदणदुगं दाउं सुत्तमंडलीं संदिसावउं खमाए सुत्तमंडलीवासिओ खमा० इत्थं तस्स मिच्छामि दुक्कडं तिविहेणं सेसासुत्ति'' इति प्रतिपादितः सप्रपञ्चमुपस्थापनाविधिः। ध० ३ अधि०।

अप्पत्ते अकहित्ता, अणहिगयपरिच्छण्णये चउगुरुगा।
दोहिं गुरु तव गुरुगा, कालगुरुं दोहि वि लहुगा॥

सूत्रेऽसमाप्ते उपस्थाप्यमाने उपस्थापयितुः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। कथम्भूता इत्याह। द्वाभ्यां गुरवस्तद्यथा तपसापिगुरुकाः कालेनापि गुरुकाः। अथ सूत्रप्राप्तस्तथापि तस्यार्थमकथयित्वा यदि तमुपस्थापयेत् तदा तस्य चत्वारो लघुकाः। नवरं कालेनैकेन लघवः। अथ कथितोऽर्थः परं नाद्याप्यधिगतः अथवा अधिगतः परमद्यापि न सम्यक् तं श्रद्दधाति तमनधिगतार्थमश्रद्दधानं वा उपस्थापयतश्चत्वारो लघुकाः। नवरमेकेन तपसा लघवः। अथाधिगतार्थमप्यपरीक्ष्योपस्थापयति तदा चत्वारो लघुकास्तपसापि कालेनापि च लघवः न केवलं तत्प्रायश्चित्तं किं त्वाज्ञादयश्च दोषाः तथा सर्वत्र षण्णां जीवनिकायानां यद्विधास्यति तत्सर्वमुपस्थापयन् प्राप्नोति तस्मात् यत एवं प्रायश्चित्तमाज्ञादयश्च दोषास्मस्मान्नापठिते षड् जीवनिकायसूत्रे नाप्यनधिगतेऽर्थे नापि तस्मिन्नपरीक्षिते उपस्थापना कर्त्तव्या।

अथ कियन्तः षड् जीवनिकायामर्थाधिकारास्तत आह।

जीवाजीवाभिगमो, चरित्तधम्मो तहेव जयणा य।
उवएसो धम्मफलं, छज्जीवणियाए अहिगारा॥

षड् जीवनिकायामिमे पञ्चाधिकारास्तद्यथा प्रथमो जीवाजीवा-भिगमो द्वितीयो महाव्रतसूत्रादारभ्य चारित्रधर्मस्तृतीयो 'जयं चरे जयं चिट्ठे' इत्यादिना यत्नादनन्तरमुपदेशस्ततो धर्मफलमेते च विस्तरतो दशवैकालिकटीकातः परिभावनीयाः। तत्रास्तामुपस्थापना कथं स प्रव्राजयितव्य इति तदेवोच्यते। तत्र षड्विधो द्रव्यकल्पो वक्तव्य इति तमभिधित्सुराह॥

पव्वावण मुंडावण, सिक्खावणउवट्ठसंभुंजण य संवसण।
एसो उ दवियकप्पो, छव्विहतो होति नायव्वो॥

प्रव्राजना नाम यो धर्मं कथितेऽकथिते वा प्रव्राजामीत्यभ्युत्थितः प्रथमतः पृच्छ्यते कस्त्वं कुतो वा समागतः किं निमित्तं वा प्रव्रजिष्यसि। तत्र यदा पृच्छा परिशुद्धो भवति तदा प्रव्राजयितुमभ्युपगम्यते अभ्युपगम्य च प्रशस्तेषु द्रव्यादिष्वाचार्यः स्वयमेवाष्टा (स्तोककेश) ग्रहणं करोति एतावता प्रव्राजनाद्वारम्। तदनन्तरं स्थिरहस्तेन लोचे कृते रजोहरणमर्पयित्वातस्य सामायिकसूत्रं दीयते। ततः सामायिकं मे दत्तमिच्छामोनुशिष्टिमिति। सूरयो ब्रुवते निरस्तारपारगो भव क्षमाश्रमणगुणैर्वर्द्धस्व एषा मुण्डापना (सिक्खावणत्ति) तदनन्तरं द्विविधामपि शिक्षां ग्राह्यते तद्यथा ग्रहणशिक्षामासेवनशिक्षां च। ग्रहणशिक्षा नाम पाठः। आसेवनशिक्षा सामाचारीशिक्षणम्। यद्वा द्विविधामपि शिक्षां ग्राहितो भवति तदा उपस्थाप्यते प्रशस्तेषु द्रव्यक्षेत्रादिषु। द्रव्यतः शालिकरणे इक्षुकरणे चैत्यवृक्षे वा। क्षेत्रतः पद्मसरसि सानुनादे चैत्यगृहे वा कालतश्चतुर्थ्यष्टम्यादिवर्जितासु तिथिषु भावतोऽनुकूले नक्षत्रे यदि तस्य जन्मनक्षत्रं जायते तदा आचार्यस्यानुकूलनक्षत्रे सुन्दरे मुहूर्त्ते यथाजातेन लिङ्गेन। तद्यथा रजोहरणेन निषिद्याद्वयोपेतमुखपोत्तिकया चोलपट्टेन च वामपार्श्वे स्थापयित्वा एकैकं महाव्रतं त्रीन् वारान् उच्चार्यते यावत् रात्रिभोजनम्। अथ ते द्वौ त्रयो बहवो वा भवेयुस्ततो यथावयोवृद्धम् अथ ते क्षत्रिया राजपुत्रास्तत्र यः स्वत एवासन्नतर आचार्यस्य स रत्नाधिकः क्रियते इतरो लब्धे अथ द्वावप्युभयतः पार्श्वयोः समौ व्यवस्थितौ तदा तौ द्वावपि समरत्नाधिकौ व्रतेषूच्चारितेषु प्रदक्षिणां कारयित्वा पादयोः पात्येते भण्यते च महाव्रतानि मयारोपितानि इच्छामोऽनुशिष्टिं शेषाणामपि साधूनां निवेदयामि। गुरुर्भणति। निवेदय इदं च भणति निस्तारगपारगो–भव क्षमाश्रमणानां य गुणैर्वर्द्धस्व एवमुपस्थापिते द्विविधसंग्रहः साधर्येण अहं तव आचार्योऽमुकस्ते उपाध्यायः। साध्व्यास्त्रिविधसंग्रहस्तत्र तृतीयः अमुका ते प्रवर्त्तिनी एवमुपस्थाप्य केषांचित्पञ्चकल्याणकं केषांचिदभक्तार्थं केषांचिदाचाम्लं केषांचिन्नि–र्विकृतिकमपरेषां न किंचित्। किं बहुना यत् यस्य तपो कर्म आवलिकागतं तस्य तद्दत्वा तेन सहैकत्र मण्डल्यां संभुङ्क्ते संवसनं च करोति। शैक्षकमध्ये परिपालना चेयं यथा यावन्नोपस्थाप्यते तावन्न भिक्षां हिण्डापयितव्यः कथं पुनरुपस्थापनीय इत्यत आह॥

पढिएयं कहिय अहिगय,परिहर उट्ठावणा य सो कप्पो।
छक्कंतीहिं विसुद्धं,परिहरनवगेण भेएण॥

सूत्रं प्रथमतः पाठयित्वा तदनन्तरमर्थं कथयित्वा ततोऽधिगतो–ऽनेनार्थः सम्यक् श्रद्धानविषयीकृतश्चेति परीक्ष्य यदा षड्जं षड् - जीवनिकायान् त्रिभिर्मनोवाक्कायैर्विशुद्धं भावतो न परानुवृत्त्या परिहरतीत्यत आह नवकभेदेन न षट्कं मनसा स्वयं परिहरति अन्यैः परिहारयति परिहरन्तमन्यं समनुजानाति। एवं वाचाकायेन प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भेदा द्रष्टव्याः। एष उपस्थापनायाः कल्पः बृ०१ उ०॥ नि० चू०॥

उपस्थापनाविधिः।

(सूत्रम्) आयरिय उवज्झाय समिरमाणे परं चउराओ पंच–राओ कप्पागं भिक्खूणो उवट्ठावइ कप्पाइं अत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे णत्थि याइं से केइ छेए वा परिहारे वा नत्थि याइं से केइमाणणिज्जे कप्पइ सेसंतरा छेए वा परिहारे वा॥

आचार्यं उपाध्यायो वा स्मरन् अयमुपस्थापनार्हं इति जानानः परं चतूरात्रात् पञ्चरात्राद्वा कल्पाकं सूत्रतोऽर्थतश्च प्राप्तं भिक्षुर्नोपस्थापयति। तत्र यदि तस्मिन्कल्पके सत्यस्ति

(से) तस्य कल्पाकस्य कश्चित् माननीयः पिता माता भ्राता वा ज्येष्ठः स्वमी वा कल्पाको भावी पञ्चरात्रेण दशरात्रेण पञ्चदशरात्रेणि वा ततो नास्ति (से) तस्य कश्चिच्छेदः परिहारो वा अत्रादेशद्वयमेके प्राहुश्चतूरात्रात् परं यद्यन्यानि चत्वारि दिनानि नोपस्थापयति तत आचार्यस्योपाध्यायस्य च प्रत्येकं प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम्। अथ ततोऽप्यन्यानि चत्वारि दिनानि लङ्घयति ततः षड्लघुकम्। ततोऽप्यन्यानि चत्वारि दिनानि ततः षड्गुरुकम्। ततोऽप्यन्यानि यदि चत्वारि दिनानि ततश्चतुर्गुरुकश्छेदः। ततः परमन्यानि चत्वारि दिनानि यदि तर्हि षड्लघुकः षड्लघुकश्छेदः। ततोऽपि चेदन्यादि चत्वारि ततः षड्गुरुकः षड्गुरुकश्छेदः। ततः परमेकैकदिवसाति–क्रमे मूलानवस्थाप्यपाराञ्चितानि। द्वितीयादेशवादिनः प्राहुः। पञ्चरात्रात्परं यदि नोपस्थापयति ततश्चतुर्गुरुकंप्रायश्चित्तं ततोऽपि पर यदि पञ्च दिनानि लङ्घयति ततः षट्लघुकं षट्लघुकम्। ततः परमपि पञ्चरात्रातिक्रमे षड्गुरुकं षड्गुरुकम्। ततोऽपि परं यदि पञ्चदिनानि वाहयति ततश्चतुर्गुरुकश्चतुर्गुरुकश्छेदः। ततः परमन्यानि चेद्दिनानि पञ्च ततः षड्लघुकः षड्लघुकश्छेदः। ततोऽपि पञ्चरात्रातिवाहने षड्गुरुकः षड्गुरुकश्छेदस्ततःपरमेकैकदिवसातिवाहने भुज्जानवस्थाप्यपाराञ्चितानि॥ एष सूत्रसंक्षेपार्थः।

अधुना भाष्यनिर्युक्तिविस्तरः।

ससुगरणउवट्ठवण, तिण्णि उवणगा हवंति उक्कोसा।
माणणिज्जे पितादी तु, ते समतीछेदपरिहारो॥

संस्मरणमुपस्थापनाविषये यथा एष उपस्थापयितव्यो वर्त्ततइति तत्र माननीये पित्रादौ सति कल्पाकस्यातिवाहने त्रयः पञ्च वा भवन्त्युत्कर्षतः। किमुक्तं भवति। विवक्षिते भिक्षौ कल्पाके जाते सति यदि तस्य माननीयपित्रादिरुपस्थाप्योऽस्ति परमद्यापि कल्पाको नोपजायते तर्हि य जघन्यतः पञ्चरात्रं प्रतीक्षाप्यते मध्यमतो दशरात्रमुत्कर्षतः पञ्चदशरात्रं तथापि चेन्माननीयः कल्पाको नोपजायते तर्हि सचाकल्पाको भिक्षुरुपस्थापनीयो नोचेदुपस्थापयति तर्हि छेदः परिहारो वा प्रायश्चित्तम्। अथ तस्य माननीयाः पित्रादयो न सन्ति ततस्तेषामसत्वभावे यदि तं चतूरात्रमध्ये वा नोपस्थापयति तथापि तस्य प्रायश्चित्त [illegible]ः परिहारो वा छेदपरिहारग्रहणं सूचामात्रं तेनोद्देशद्वयेन प्रागुक्ताः प्रायश्चित्तविधि–द्रष्टव्यः।

चिट्ठउ ता उट्ठवणा, पुव्वं पव्वावणादि वत्तव्वा।
अडयालपुच्छसद्धे, भन्नति दुक्खं खु सामन्नं॥

तिष्ठतु तावदुपस्थापना पूर्वं प्रव्राजनादिर्वक्तव्या। तत्र यथा पञ्चकल्पे निशीथे वाष्टचत्वारिंशत्पृच्छाशुद्धोऽभिहितस्तथा अष्टचत्वारिंशत्पृच्छाशुद्धे कृते तत्संमुखमिदं भण्यते। ''दुक्खं खु श्रामण्यं परिपालयितुं'' तथाहि

गोयर अचित्त–भोयण सज्झायमण्हाणभूमिसेज्जाती।
अब्भुवगयम्मि दिक्खा, दव्वादीसुं पसत्थेसु॥

यावज्जीवं गोचरचर्यया भिक्षामटित्वा अचित्तस्यैषणादिशुद्धस्य भोजनं कर्त्तव्यं तदपि बालवृद्धशैक्षकादिसंविभागेन तथा चतुष्कालं स्वाध्यायो विधातव्यः। यावज्जीवं देशतः सर्वतश्चास्नानं ऋतुबद्धे काले भूमौ शय्या आदिशब्दाद्वर्षारात्रेः फलकादिषु शयनं दिवसे न स्वप्तव्यं रात्रौ तृतीये यामे निद्रामोक्ष एवमुक्ते यद्यभ्युपगच्छति तत एतस्मिन्नभ्युपगते तस्य दीक्षा प्रशस्तेषु द्रव्ये शाल्यादि संचयादौ प्रशस्तक्षेत्रे गम्भीरसानुनादादौ प्रशस्ते भावे प्रवर्द्धमानपरिणामादौ दातव्या।

लग्गादिं च तुरंतं, अनुकूले दिक्खिए उ अह जायं।
सयमेव तु थिरहत्थो, गुरू जहण्णेण तिण्णट्ठा॥

इहोत्सर्गतो लोचे कृते यथा जाते च रजोहरणादिके समर्पिते पश्चात्त्रिः कृत्वः सामायिकमुच्चार्यते इत्येष विधिः। यदि पुनर्लग्नादिकं त्वरमाणं स्यात्ततोऽनुकूले लग्नादावादिशब्दान्मुहूर्त्तादिपरिग्रहस्त्वरमाणः शीघ्रं समापतति यथा ज्ञातं सनिषद्यं रजोहरणमुखवस्त्रिकाग्रपूररूपं दीयते। उक्तं च। ''अह जायं नाम सनिसेज्जं रयहरणमुहपोतिया बालपज्जे य इति '' ततो यदि गुरुःस्थिरहस्तो न कम्पते अङ्गं गृह्णानस्य हस्तः तर्हि स्वयमेव जघन्येन तिस्रोऽष्ट अव्यवच्छित्वा गृह्णाति। समर्थः सर्वं चालोचं करोति॥

अण्णो वा थिरहत्थो, सामाइयतिगुणमट्ठगहणं च।
तिगुणं पादक्खिणं, नित्थारगगुरुगणविवड्ढी॥

आचार्यस्य स्थिरहस्तत्वाभावे अन्यो वा स्थिरहस्तः प्रव्राजयति समस्तं लोचं करोतीति भावः। तदनन्तरं गुरुः शोभने लग्नादौ प्राप्ते त्रिगुणं त्रीन्वारान् सामायिकमुच्चारयति॥ इयमत्र भावना। प्रथमतः। प्रव्राजनीयमात्मनो वामपार्श्वे स्थापयित्वा चैत्यानि तेन सह वन्दते ततः परिहितचोलपट्टस्य रजोहरणं मुखवस्त्रिकां च ददाति। तदनन्तरमर्थग्रहणं लोचं वा कृत्वा सामायिकारोपणनिमित्तं कायोत्सर्गं करोति। तत्र चतुर्विंशतिस्तवं चिन्तयित्वा नमस्कारेण पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तवमाकृष्य त्रिःकृत्वः सामायिकमुच्चारयति। तदनन्तरमर्थग्रहणं स कारयितव्यः। सामायिकार्थस्तस्य व्याख्यायते इति भावः। ततः सूत्रतोऽर्थतश्च गृहीतं सामायिकमिति तदनुज्ञानिमित्तं विधिना त्रिगुणं प्रादक्षिण्यं कार्यते तत्र तृतीयस्यां प्रदक्षिणायामनुज्ञा क्रियते यथा निस्तारको भव गुरुगुणैर्विवृद्धिर्भवतु वर्द्धस्वेत्यर्थः। एवं प्रव्राजनायां कृतायां यत्कर्तव्यं तदाह॥

फासुय आहारो से, अणहिंडंतो य गाहए सिक्खं।
ताहे उ उवट्ठावणा, छज्जीवणियं तु पत्तस्स॥

प्रव्रज्याप्रदानानन्तरं (से) तस्य प्रासुक आहारो दीयते स च भिक्षां हिण्डाप्यते किं त्वहिण्डमान एव भिक्षां ग्रहणभिक्षामासेवनाशिक्षां च ग्राह्यते ततः षड्जीवनिकां प्राप्तस्याधिगृह्यत षड्जीवनिकाध्ययनस्य उपस्थापना क्रियते॥

विक्षेपप्रायश्चित्तविधिमाह॥

अप्पत्ते अकहेत्ता, अणहिगए(अ) परिच्छए(अ)तिकम्मे से।
एक्केक्के चउगुरुगा, चोयगसुत्तं तु कारणियं॥

अप्राप्ते षड्जीवनिकां पर्यायं वा जघन्यतः षण्मासानुत्कर्षतो द्वादश संवत्सराणि तथा अकथयित्वा जीवादीन् तथा अनधिगते जीवाजीवादौ तथा अपरीक्षायां परीक्षाया अभावे तथा (से) तस्य उपस्थापयितोऽतिक्रमे एकैकस्य व्रतस्य वारत्रयमनुच्चारणे एतेषु सर्वेषु प्रत्येकमेकैककस्मिन्प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। अथ सूत्रे पर्यायादिकं नोपात्तमिति तत्कथने कथं न सूत्रविरोधस्तत्राह हे चोदक! सूत्रमिदं कारणिकं पुरुषविशेषपात्रापेक्षमतः पर्यायाद्यनभिधानेऽपि न दोषः। एनामेव गाथां भाष्यकृद्विवृणोति।

अप्पत्ते सुएणं परि–यागमुवट्ठावणे य चउगुरुगा।
आणादिणो य दोसा, विराहणा छण्हकायाणं॥

श्रुतेन षड्जीविनिकापर्यन्तेनाप्राप्ते पर्यायं वा जघन्यादिभेदभिन्नमप्राप्ते उपस्थाप्यमाने उपस्थापयितुः प्रायश्चित्तं प्रायश्चित्तं चत्वारो

गुरुकास्तपसा कालेन च गुरवः । न केवलमेतत् किं त्वाज्ञादयोऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनादोषास्तथा स उपस्थापितो भिक्षादौ किल कल्पिको भवति । ततस्तस्य भिक्षादिप्रेषणे षण्णां कायानां विराधना अपरिज्ञानात् । तथा ।

सुत्तत्थमकहइत्ता, जीवाजीवे य बंधमुक्खं च ।
उवठावण चउगुरुगा, विराहणा जा मणियपुव्वं ॥

सूत्रार्थं षड् जीवनिकापर्यन्तमकथयित्वा तथा जीवाजीवान् बन्धमोक्षं चाकथयित्वा एवमेवोपस्थापने क्रियमाणे उपस्थापयितुश्चत्वारो गुरुकास्तपोगुरुकं प्रायश्चितम् । तथा या विराधना पूर्वमप्राप्तद्वारे षण्णां जीवनिकायानामुक्ता साऽत्रापि द्रष्टव्या । ततस्तस्मिन्निषण्णे समितस्य प्रायश्चित्तमुपढौकते ।

अणहिगयपुण्णपावं, उवट्ठवंतस्स चउगुरू हों ति ।
आणादिणो य दोसा, मालाए होइ दिट्ठंतो ॥

अनधिगतपुण्यपापं सूत्रार्थकथनेऽप्यविज्ञातपुण्यपापमुपस्थाप–यतः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरवः । कालगुरुका मासा भवन्ति । आज्ञादयश्चानन्तराभिहिता दोषाः । अत्र मालया दृष्टान्तो यथा स्थाणौ शूलापक्षे पञ्चवर्णसुगन्धपुष्पमालामारोपयतो वदनीयतादयोदोषा एवमत्राप्यनधिगतपुण्यपापे व्रतान्यारोपयत आज्ञादय इति ।

उदउल्लादिपरिच्छा, अहिगयनाऊण तो व वंदें तो ।
एक्केक्कं तिक्खुत्तो, जो न कुणइ तस्स चउगुरुगा ॥

गोचरादिगते न उदकार्द्रादिना परीक्षा कर्त्तव्या वृषभेण तत्परीक्षानिमित्तं तेन स गोचरगतेन उदकार्द्रेण हस्तेन मात्रकेण वा भिक्षा ग्राह्या तत्र यदि स वारयति निषिद्धमेतत्कथं यूयमेवं भिक्षामभिगृह्णीथ ततो ज्ञायते एष परिणतसूत्रार्थोऽधिगतपुण्यपापः। एवं शेषपरीक्षास्वपि भावनीयम् । तत उदकार्द्रादिपरीक्षाभिरधिगतपुण्यपाप ज्ञात्वा ततोऽनन्तरं व्रतानि गुरवो ददति । कथमित्याह । एकैकं व्रतं त्रिः कृत्वस्तीन् वारान् एवं यो न करोति तस्य चत्वारो गुरुका द्वाभ्यां लघवस्तपसा कालेन च प्रायश्चित्तम् ।

अथ परीक्षामेव वैतत्येनाह–

उच्चारादि अथंडिल, वोसिरठाणाइ वावि पुढवीए ।
नदिमादिदगसमीवे, सागणिनिक्खित्ततेउम्मि ॥
वियणमिधारणवाए, हरिए जह पुढविए तसेसुं च ।
एमेव गायरगए, होइ परिच्छा उ काएहिं ॥

उच्चारादिरादिशब्दात्प्रश्रवणादिपरिग्रहः । अस्थण्डिले सचित्तपृथिवीकायात्मके व्युत्सर्जनम् । यदि वा स्थानादिस्थानमूर्द्धस्थानमादिशब्दान्निषदनादिपरिग्रहस्तत्पृथिव्यां पृथिवीकायस्योपरि कुरुते । तथा कायविषये नद्याद्युदकसमीपेऽत्रादिशब्दात्तडागादिपरिग्रहः । तथा तेजसि तेजस्कायविषये स निक्षिप्ताग्नौ प्रदेशे गाथायां तु निक्षिप्तशब्दस्यान्यथा पाठः प्राकृतत्वात् उच्चारादेर्व्युत्सर्जनमिति सर्वत्र संबध्यते । तथा वाते वातविषये व्यञ्जनस्य तालवृन्तस्या–भिधारणं वातोदीरणायाभिमुख्येन धारणं करोति । हरिते यथा पृथिव्यां तथा वक्तव्यम् । हरितकायस्योपरि स्थानादि करोति । यदिवोच्चारादिव्युत्सर्जनमिति । त्रसेष्वपि च पृथिव्यामिव वक्तव्यं कीटिकानगराद्यतिप्रत्यासन्नमुच्चारादिस्थानादि वा करोतीति भावः । तत्र यदि वारयति तदा ज्ञायते सम्यक् परिणतोऽस्य धर्म्म इति योग्य उपस्थापनायाः । एवमेव गोचरगतेऽपि तस्मिन्कायैः पृथिव्यादिभिर्भवति परीक्षा कर्तव्या । तद्यथा सरजस्केनोदकाद्रेण वा हस्तेन मात्रकेण वा भिक्षा ग्राह्यते इत्यादिपरीक्षितस्य व्रतारोपणं कर्तव्यम् । तथा चाह–

दव्वादिपसत्थवया, एक्केक्कतिगंति उवरिमं हेट्ठा ।
दुविहा तिविहा यदि सा, आयंविलनिव्विगइगावो ॥

द्रव्यादौ प्रशस्ते व्रतान्यारोपणीयानि एकैकं व्रतं त्रिकं त्रिःकृत्वा उच्चारयेत् कथमित्याह ''उवरिमं हेट्ठा'' अधस्तान्मूलादारभ्य यावदुपरितनं पर्यन्तवर्तिसूत्रम् इदमेकमुच्चारणमेवं त्रीन्वारान् दिक् निबध्यते । द्विविधां वा त्रिविधां वा तत्र साधोर्द्विविधा स्तद्यथा । आचार्यस्योपाध्यायस्य च प्रवृर्त्तिन्याश्च । तथा उत्थापनानन्तरं तपः कार्यते । अभक्तार्थमाचाम्लं निर्विकृतिकमित्यादि । उक्तं च । ''जद्दिवसं उवट्ठावितो तद्दिवसं किंचि अभितुट्ठो भवइ । केसिं वि आयंविले केसिं वि निविगइयमित्यादि'' ॥

संप्रति माननीयपित्रादिविषये विधिशेषमाह–

पियपुत्तखुड्डथेरे, खुड्डगथेरेअ पावमाणम्मि ।
सिक्खावणपन्नवणा, दिट्ठंतो दंडिमाईहिं ॥

द्वौ पितापुत्रौ प्रव्रजितौ (दिट्ठावपि) युगयत्प्राप्तौ तर्हि युगपदुप–स्थाप्येते अथ (खुड्डत्ति) क्षुल्लकः पुत्रः सूत्रादिभिरप्राप्तः (थेरत्ति) स्थविरः सूत्रादिभिः प्राप्तस्तर्हि स्थविरस्योपस्थापना विधेया (खुड्डत्ति) यदि पुनः क्षुल्लकः सूत्रादिभिः प्राप्तः स्थविरो नाद्यापि प्राप्तो भवति तर्हि तस्मिन् स्थविरे सूत्रादिकमप्राप्नुवति यावदुपस्थानादिवसः शुद्धः समागच्छति तावत्स्थविरस्य प्रयत्नेन शिक्षापना क्रियते । आदरेण शिष्यत इत्यर्थः । तत्र यदि उपस्था–पनादिवससमय एव प्राप्तो भवति ततो द्वावपि युगपदुस्थाप्येते । अथादरेण शिक्षमाणोऽपि न प्राप्तस्तदा स्थविरेणानुज्ञाते क्षुल्लक उपस्थाप्यते । अथ स्थविरो न मन्यते तदा प्रज्ञापना कर्त्तव्या तस्यां च प्रज्ञापनायां क्रियमाणायां दृष्टान्तो दण्डिकाद्यभियातव्यः । दण्डिको राजा आदिशब्दादमात्यादिपरिग्रहः स चैवम् ''एगो एय रज्जपरिट्ठो स पुत्तो अन्नरायाणमो लग्गउमाढत्तो । सो राया पुत्तस्स तुट्ठोतं से पुत्तं रज्जे ठावउमिच्छइ । किं सो पिया नाणुजाणइ एवं तव जइ पुत्रो महव्वयरज्जं पावित्ति किं न मन्नसि ।

एतदेवसविशेषमाह–

थेरेण अणुन्नाए, उवट्ठनिच्छे व ठंति पंचाहं ।
ति पण मणिच्छे उवरिं, वत्थुसहावेण जाहीयं ॥

स्थविरेणानुज्ञाते उपस्थापना क्षुल्लकस्य कर्त्तव्या । अथ स दण्डिकादिभिर्दृष्टान्तैः प्रज्ञाप्यमानो नेच्छति तदा पञ्चाहं पञ्चदिवसात् यावत्तिष्ठति ततः पुनरपि प्रज्ञाप्यते तथाप्यनिच्छायां पुनरपि पञ्चाहं तिष्ठति पुनः प्रज्ञाप्यते तथाप्यनिष्टो भूयः पञ्च हमवतिष्ठते । एवं यदि त्रिपञ्चाहकालेन स्थविरः प्राप्तो भवति तदा युगपदुपस्था–पनाऽतः परं स्थविरेऽनिच्छत्वपि क्षुल्लक उपस्थाप्यते (वत्थुस–हावेण जाहीयमिति) वस्तुनः स्वभावो वस्तुस्वभावः । अहंकारी सन् । अहं पुत्रस्यावमतरः करिष्येऽहमिति विचिन्त्य कदाचिन्निष्क्रानमेतगुरोः क्षुल्लकस्य चोपरिप्रद्वेषं गच्छेत् । एवं स्वरूपे वस्तुस्वभावे ज्ञाते त्रयाणां पञ्चाहानामुपर्यपि स क्षुल्लकः प्रतीक्षाप्यते यावत्तेनाधीतमिति ॥

अथ द्वे पितापुत्रयुगले तदाऽयं विधिः–

दो थेरे खुड्डथेरे, खुड्डगवेच्चत्थमग्गणा होइ ।
रण्णो अमच्चमाई, संजइमज्झे महादेवी ॥

द्वौ स्थविरौ सपुत्रौ समकं प्रव्रजितौ तत्र यदि द्वौ स्थविरौ प्राप्तौ न क्षुल्लकौ ततः स्थविरावुपस्थाप्येते (खुड्डत्ति) अथ द्वावपि क्षुल्लकौ प्राप्तौ न स्थविरौ तदा पूर्ववत् प्रज्ञापनोत्कर्वतः पञ्चदशदिवसान्यावत्कर्त्तव्या तथाप्यनिच्छायामुपेक्षा वस्तु–

स्वभावं ज्ञात्वा प्रतीक्षापणम्। (थेरे खुड्डुत्ति) द्वौ स्थविरावेकश्च क्षुल्लकः सूत्रादिभिः प्राप्तोऽत्रोपस्थापना (वोचत्थे इत्यादि) स्थविरस्य-क्षुल्लकस्य च विपर्ययस्ततो भवति मार्गणा कर्तव्या सा चैवं द्वौ क्षुल्लकौ प्राप्तावेकश्च स्थविरः प्राप्त एको न प्राप्तस्तत्र यो न प्राप्तः स आचार्येण वृषभैर्वा प्रज्ञाप्यते प्रज्ञापितः सन् यद्यनुजानाति तदा तत् क्षुल्लक उपस्थाप्यते। तथाप्यनिच्छायां राजदृष्टान्तेन तथैव प्रज्ञापना। अयं चात्र विशेषः। सोऽप्राप्तस्थविरो भण्यते। एव तव पुत्रः परममेधावी सूत्रादिभिः प्राप्त इत्युपस्थाप्यताम्। यदि पुनस्त्वं न मुत्कलयसि तदैतौ द्वावपि पितापुत्रौ रत्नाऽधिकौ न भविष्यतस्तस्माद्विसर्जय एनमात्मीयं पुत्रमेषोऽपि तावद्भवतु रत्नाधिक इति अतोऽपि परमनिच्छायामुपेक्षा वस्तुस्वभावं वा ज्ञात्वा तत्क्षुल्लकस्य प्रतीक्षापणमिति। (रन्नो य अमच्चाईत्यादि) पश्चार्द्धं राजा अमात्यश्च समकं प्रव्रजितौ समकमेव सूत्रादिभिः प्राप्तौ ततो युगपत्तौ मात्रप्यपस्थाप्येते। अथ राजा सूत्रादिभिः प्राप्तो नामात्यस्ततो राज्ञ उपस्थापना। अथामात्यः सूत्रादिभिः प्राप्तो न राजा ततो यावदुपस्थापनादिनमागच्छति तावदादरेण राजा शिक्ष्यते ठतो यदि प्राप्तो भवति ततो युगपदुपस्थापना। अथ तत्रापि राजा न प्राप्तस्तदा तेनानुज्ञाते अमस्थि उपस्थाप्यते। अथ नेच्छति तदा पूर्ववद्दण्डिकदृष्टान्तेन राज्ञः प्रज्ञापना। तथापि चेन्नेच्छति ततः पञ्चदिवसान्यावदमात्थस्व प्रतीक्षापणं तथापि चेन्न प्राप्तो भूयः प्रज्ञापना तत्राप्यनिच्छायां पुनः पञ्चदशाहमपि। तथाप्यनिच्छायामुपेक्षा वस्तुभावं वा ज्ञात्वामात्यस्य प्रतीक्षापणम्। यदि वा वक्ष्यमाणोऽत्र विशेषो यथा चामात्यस्य राज्ञा सहोक्तमेवमादिग्रहणसूचितयोः श्रेष्ठिसार्थवाहयोरपि वक्तव्यमिति। (संजइमज्झे महादेवीत्ति) द्वयोर्मातादुहित्रोर्द्वयोर्माता-दुहितृयुगलयोर्महादेव्यमात्थोश्च सर्वमेव निरवशेषं वक्तव्यम्।

संप्रति यदुक्तं वोचत्थमग्गणा होइत्ति तद्व्याख्यानार्थमाह।

दो पत्तापियपुत्ता, एगस्स पुत्तं न उ थेरा।
गहितोवसवं वियरइ, राइणितो होउ एस वि य॥

द्वौ पितापुत्रौ प्राप्तावेकस्य तु पिता प्राप्तो न पुत्रः युगलस्य पुत्रः प्राप्तो न स्थविरः स आचार्येण वृषभेण वा प्रज्ञापनां ग्राहितः स्वयं वितरत्यनुजानाति तदा स क्षुल्लक उपस्थाप्यते। अथ नेच्छति तदा पूर्ववद्राजदृष्टान्तेन प्रज्ञापना अन्यच्च तौ पितापुत्रौ रत्नाधिकौ भविष्यत एवोऽपि च तव पुत्रो यदि रात्निको रत्नाधिको भवति। भवतु नाम तव लाभ इति तथाप्यनिच्छायां पूर्ववदुपेक्षादि।

राया रायाणो वा, दोण्णि वि समपत्त दोसु पासेसु।
ईसरसेट्ठिअमच्चे, नियमघडाकुलदुए खुड्डे॥

एको राजा द्वितीयराजस्तौ समकं प्रव्रजितौ अत्रापि यथा पितापुत्रयो राजामात्ययोर्वा प्रागुक्तं तथा निरवशेषं वक्तव्यं केवलममात्यादिके सूत्रादिभिः प्राप्ते उपस्थाप्यमाने यदि राजादिरप्रीतिं करोति दारुणस्वभावतया ब्रूते वा किमपि पुरुषं तदा सोऽप्राप्तोऽपीतरैरमात्यादिभिः सममुपस्थाप्यते।अथवा (रायत्ति) यत्र एको राजा तत्र सोऽमात्यादीनां सर्वेषां रत्नाधिकः कर्त्तव्यः(रायाणोत्ति) यत्र पुनर्द्विप्रभृतयो राजानः समकं प्रव्रजिताः समकं च सूत्रादिभिः प्राप्तास्ते समरत्नाधिकाः कर्त्तव्या इत्युपस्थाप्यमाना द्वयोः पार्श्वयोः स्थाप्यन्ते अत्रैवार्थे विशेषमाह।

समगं तु अणेगेसुं, पत्तेसुं अणभिजोगमावलिया।
एगतो दुहतो ठविया, समएयणिया जहासन्नं॥

पूर्वं पितापुत्रादिसबन्धेनासंबन्धेष्वनेकेषु राजसु समकं सूत्रादिभिः प्राप्तेष्वत एवैककालमुपस्थाप्यमानेषु (अणभिजोगत्ति) गुरुणा अन्येन वाभियोगो न कर्त्तव्यो यथा इतस्तिष्ठथ इतस्तिष्ठथेति किंत्वेकतः पार्श्वे द्विधा वा द्वयोः पार्श्वयोर्यथैव स्थिताः स्वस्वभा—वेन तेषामावलिका तथैव तिष्ठति तत्र यो यथा गुरोः प्रत्यासन्नः स तथा ज्येष्ठो ये तूभयोः समश्रेण्या स्थितास्ते समरत्नाधिकाः। इदानीं पूर्वगाथापश्चार्द्धव्याख्या (ईसरेत्यादि) यथा द्विप्रभृतयो राजान उक्ता एवं द्विप्रभृतयः श्रेष्ठिनो द्विप्रभृतयोऽमात्या द्विप्रभृतयो निगमावणिजः (घडात्त) गोष्ठी द्विप्रभृतयो गोष्ठ्यो यदि वा द्विप्रभृतयो गोष्ठिका यदि वा द्विप्रभृतयो महाकुला द्विकग्रहणमुप—लक्षणं तेन द्विप्रभृतय इति द्रष्टव्यम्। तथैव च व्याख्यातं च (खुड्डुत्ति) क्षुल्लकाः समकं प्रव्रजिता इत्यर्थः। सूत्रादिभिः प्राप्ताः समकं रत्नाधिकाः कर्त्तव्याः। एतेषामेव मध्ये यः पूर्वं प्राप्तः सपूर्वमुपस्था—प्यते इति वृद्धसंप्रदायः।

ईसिं अण्णो पत्ता, वामपासम्मि होइ आवलिया।
अभिसरणम्मि य वड्ढी, ओसरणे सो व अण्णो वा॥

तेषामुपस्थाप्यमानानामावलिका गुरुर्वामपार्श्वे जगदन्तवत् ईष-दवनतस्य अवनतीभूय स्थिता तव यदि ते गुरुसमीपमग्रतोऽभिसरन्ति तदा गच्छस्य वृद्धिर्ज्ञातव्या यथाऽन्येऽपि बहवः प्रव्रजिष्यन्तीति अथ पश्चाद्बहिरपसरन्ति तदा स उपस्थाप्यमानोऽन्यो वा उन्निष्क्रमिष्यति अपद्रविष्यति वेति ज्ञातव्यमेव निमित्तकथनम्। व्य० द्वि० ४ उ०॥

(सूत्रम्) जे भिक्खू णागयं वा, अणागयं वा सगं वा जे।
अण्णालं उट्ठावेइ, उट्ठावंतं वा साइज्जइ॥२९२॥

सूत्रार्थः पूर्ववत् अण्णालं उवट्ठावेंतस्स आणादी दोसा चउगुरुगं च चिट्ठउ ताव उवट्ठावणाविहि पव्वावणाविहिं तावणातुमिच्छामि॥

नायगमनायगं वा, सावगमस्सावगं तु जे भिक्खू।
अणलमुवट्ठावेई, सो पावति अण्णमादीणि॥४५४॥
पच्छा सुद्धे अट्ठा, वामेसाइयं च तिक्खुत्तो।
सयमेव उ कायव्वं, सिक्खा य तहिं पयातेणं॥४५५॥

जो च उवट्ठाति पव्वज्जा एसो पुच्छिज्जति कोसि तुमं किं पव्वयसि किं च ते वेरग्गं एवं पुच्छितो जति अणलो ण भवति ता सुद्धो पव्वज्जाए कप्पणिज्जो ताहे से इमा साहुं चरिया कहिज्जति॥

गोयरमचित्तभोयण, सज्झायमण्हाणभूमिसेज्जादी।
अब्भुवगयथिरहोत्था, गुरुजहण्णेण तिण्णट्ठा॥४५६॥

गोयरेति दिणे देणे भिक्खं हिंडियव्वं जत्थ जं लब्भइ तं अचित्तं घेत्तव्वं जं पि एसणादि सुद्धं आणियंपि ताव वुड्ढसेहादिएहिं सह संविभागेण भोत्तव्वं निच्चं सज्झायज्झाणपुरेण होयव्वं सदा अण्हाणगं तु उदुबद्धे सया भूमिसयण वासासु फलगादिएसु सोतव्वं अट्ठारससीलंगसहस्सा धारेयव्वा लोयादिया य किलेसा अणेगे कायव्वा एयं सव्वं जति असुवगच्छति तो पव्वावेयव्वा एसा पव्वा—वणिज्जपरिक्खा पव्वावणा भन्नति॥ नि०चू०११उ०॥

(सूत्रम्) आयरियउवज्झायअसमरमाणे परं चउरातातो—

पंचरातातो कप्पागं भिक्खुं णो उवट्ठावेति कप्पाए अत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे नत्थि याइं से केइ छेदे वा परिहारे वा नत्थि याइ से के माणणिज्जे कप्पइ से संतराछेदे वा परिहारे वा ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं तं चेव भाणियव्व मिति वचनादेवं परिपूर्णः पाठो द्रष्टव्यः। ''कप्पाए अत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे नत्थि याइं से केइ छेदेवा परिहरे वा नत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे से संतरा छेदे वा परिहारे वा'' अस्यापि व्याख्या प्राग्वत् तत्र यैः कारणैर्न स्मरति तान्युपदर्शयन्नाह–

दप्पेण पमाएण व, वक्खेवणगिलाणतो वावि।
एएहिं असमरमाणे, चउव्विहं होइ पच्छित्तं ॥

दर्प्पो निष्कारणोऽनादरनस्तेन प्रथममादौ विकथादीनां पञ्चानां प्रथमादीनामन्यस्तेन व्याक्षेपणसीवनादिना ग्लायते एतैः कारणै–रस्मरति प्रायश्चित्तमस्मरणनिमित्तं चतुर्विधमस्मरणकारणस्य दर्प्पादिश्चतुष्प्रकारत्वात्। तदेवाभिधित्सुः प्रथमतो दर्प्पतः प्रमादेन चाह ॥

वायामगिलाणादिसु, दप्पेण अणुट्ठवें ति चउगुरुगा।
विकहादिपमाएण व, चउलहुगा होंति बोधव्वा ॥

व्यायामग्लानादिषु व्यापृततया निष्कारणोऽनादर उपस्थापनायाः स दर्प्प उच्यते तेन दर्प्पेणानुस्थापयति प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः विकथादिना अन्यतमेन प्रमादेनानुपस्थापयति चत्वारो लघुका भवन्ति बोद्धव्याः ॥

सिव्वणतुण्णणसज्झाय, झाणलेवादिदाणकज्जेसु।
विक्खेवे होइ गुरुगो, गेलण्णेणं तु मासलहू ॥

सीवनतूर्ण्णनास्वाध्यायध्यानपात्रलेपादिदानकार्यैर्गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे। यो व्याक्षेपेणाऽनुपस्थापयति प्रायश्चित्तं भवति गुरुको मासो ग्लान्येन त्वनुपस्थापयति मासलघु । संप्रति यैः कारणैः स्मरतोऽस्मरतश्चानुपस्थापयतः प्रायश्चित्तं न भवति। तान्यभिधि–त्सुराह–

धम्मकहाइट्ठ मत्तो, वादो अचुक्कडे व गेलण्णे।
विइयं चरमपएसुं, दोसु पुरिमेसु तं नत्थि ॥

ऋद्धिमतो राज्ञो युवराजस्यामात्यादेर्वा प्रतिदिवसमागच्छतो धर्म्मकथा कथ्यते परप्रवादी वा कश्चनाप्युपस्थितः स वादेन गृहीतव्यः । इति तन्निग्रहणाय विशेषतः शास्त्राभ्यासे तेन सह वादे वा दीयमाने यदि वा आचार्यस्यान्यस्य वा साधोर्यो वा उपस्थाप्यस्तस्य वा अत्युत्कटे ग्लानत्वे जाते व्याकुलीभवनतः स्मरन्नस्मरन्वा यद्यपि नोपस्थापयति तथापि न तस्य प्रायश्चित्तं कारणतो व्याकुलीभवनात् । एतच्च प्रायश्चित्ताभावलक्षणं द्वितीयपदमपवादपदं चरमपदयोर्द्वयोर्व्याक्षेपग्ला–नत्वलक्षणयोरवगन्तव्यम्। तथा हि धर्म्मकथावादाभ्यां व्याक्षेप उक्तो ग्लानत्वपदेन च ग्लानत्वमिति पूर्वयोस्त द्वयोः पदयोस्तत् अपवादपदं नास्ति। एतच्च चतुर्विधं प्रायश्चित्तमस्मरणनिमित्तमुक्तं स्मरणतस्तु चतूरात्रपञ्चरात्राद्यतिक्रमे यत्प्रायश्चित्तं तत्पूर्वसूत्रे इवात्रापि निरवशेषं द्रष्टव्यम्।

आयरियउवज्झाओ य समरमाणे वा असमरमाणे वा परं दसराय कप्पातो कप्पागमिक्खू णो उवट्ठावेति कप्पाए अत्थि आइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे नत्थि याइं से केइ छेदे वा परिहारे वा जाव कप्पाए संवच्छतरं तस्स तप्पतियं णो कप्पइ आय–रियत्तं वा जाव गणावच्छेइयं वा उद्दिसित्तए वा

आचार्य उपाध्यायो वा स्मरन् अस्मरन्वा यदा स्मरति तदा न साधकं नक्षत्रादिकं यदा तु साधकं नक्षत्रादिकं तदा बहुव्याक्षेपतो न स्मरन्वापरं दशरात्रकल्पान् दशरात्रकल्पाकं भिक्षुं नोपस्थापयति तत्र यदि तस्मिन्कल्पाके अस्ति (से) तस्य कल्पाकस्य कश्चिन्माननीयः पित्रादिभिर्भावी कल्पाकस्ततो नोपस्थापयति । तर्हि नास्ति (से) तस्यानुपस्थापयति कश्चिच्छेदः परिहारो वा। अथ नास्ति (से) तस्य कल्पाकस्य कश्चिन्माननीयः पित्रादिर्भावी कल्पाकस्तर्हि तस्यानुपस्थापयतश्छेदः परिहारो वा प्रथमादेश इति वाक्यशेषो द्वितीयादेशेन पुनश्छेदेन परिहारतपसा वा दम्यमानस्य तत्प्रथममनु–पस्थापनाप्रयतस्य संवत्सरं यावन्न कल्पत आचार्यत्वमुपदेष्टुमनुज्ञातुं संवत्सरं यावद्गणोऽभ्रियते इति भावः । एष सूत्रसंक्षेपार्थः । व्यासार्थन्तु भाष्यकृदभिधित्सुः प्रथमतो दशरात्रनिबन्धनमाह–

समरमाणेवि पंचदिय, समरमाणे वि तेत्तिया चेव।
कालोत्ति व समओत्ति व, अद्धाकप्पओत्ति व एगट्ठं ॥

स्मरत्यपि चउरायपंचरायातो इत्यनेन पञ्चदिनान्युक्तानि अस्मरत्यपि तावन्ति चैव पञ्च दिनानि चैवोक्तानि इदं च स्मरणास्मरणमिश्रकसूत्रतो दशरात्रात्कल्पादित्युक्तमत्रैव कल्पशब्दस्तद् व्याख्यानमाह । ''काल इति वा समय इति वा अद्धा इति वा कल्प इति'' एकार्थं ततो दशरात्रकल्पादिति दशरात्रकालादिति द्रष्टव्यम्।

संप्रति स्मरणास्मरणं भावयति ॥

जाहे सुमरइ ताहे, असाहगं रिक्खलग्गदिणमादी।
बहुविक्खेवम्मि य गणे, सरियं पि पुणो वि विस्सरति ॥

यदा स्मरति तदा असाधकमप्रयोजकमृक्षलग्नादि आदिशब्दात् मुहूर्त्तादिपरिग्रहः। बहुव्याक्षेपे च गणे गच्छे स्मृतमपि पुनरपि विस्म–रति तत एवं स्मरणास्मरणसंभवः। अत्रैव प्रायश्चित्तविधिं सविशे–षमाह।

दसदिवसे चउगुरुगा, दसेव छल्लहुग छग्गुरू चेव।
तत्तो छेदो मूलं, णणवट्ठप्पो य पारंची ॥

तस्मिन्नधिकृते कल्पाके जाते सति यदि स्मरणास्मरणतो दस–दिवसानतिक्रमति ततस्तस्यानुपस्थापयतः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ततः परमप्यन्यानि दशैव चेत् दिनान्यतिवाहयति ततः षड्लघुकम्। ततः परतोऽपि दिनदशकातिक्रमे षड्गुरुकं (ततोछेदोत्ति) ततः परमेवं छेदस्त्रिधा वक्तव्यः। सचैवं ततोऽपि परतो यद्यन्यानि दशदिनानि लङ्घयति तर्हि चतुर्गुरुकश्छेदस्ततोऽपि परतो दिनदशकातिक्रमे षड्लघुकश्छेदः ततोऽन्यदशदिवसस्यातिवाहने पाराञ्चिको जायते ॥

एसो देसो पढमो, वितिए तवसा अदम्ममाणम्मि।
उभयवलदुव्वले वा, संवच्छरमोदिसाहरणं ॥

एषोऽनन्तरोदित आदेशः प्रथमो द्वितीये आदेशे पुनस्तपसा उप–लक्षणमेतच्छेदेन वा अदम्यमाने यदिवा उन्नयवले कायवलेन च उपलक्षणमेतदन्यतरैकवलेन वा तपसश्छेदस्य वा दातुमशक्यतया संवत्सरं यावत् दिश आचार्यत्वस्य हरणम् ॥

एते दो आदेसा, मीसगसुत्ते हवंति नायव्वा।
पढमविईएसुं पुण, सुत्तेसु इमं तु नाणत्तं ॥

एतावनन्तरोदितौ द्वावप्यादेशौ मिश्रकसूत्रे भवतो ज्ञातव्यौ

प्रथमद्वितीययोः पुनः सूत्रयोरिदमादेशविषयं प्रत्येकं नानात्वं तदेवाह ॥

चउरो य पंचदिवसा, चउगुरू एव होंति छेदो वि।
ततो मूलं नवमं, चरमं पि य एगसरगं तु ॥

प्रथमे द्वितीये च सूत्रे प्रत्येकमिमावादेशौ प्रथम आदेशस्तस्मिन् विवक्षिते कल्पाके जाते सति यदि चतुरो दिवसानतिवाहयति तदा चतुर्गुरु एवं पञ्चपञ्चातिक्रमे षड्लघु षड्गुरुके। एवं छेदो ऽपि त्रिधा वक्तव्यः तदनन्तरं मूलं नवममनवस्याप्यं चरमं पाराञ्चितमेकसरकमेकैकदिनातिक्रमे वक्तव्यम्। द्वितीय आदेशः पञ्चदिवसातिक्रमे चतुर्गुरु एवं पञ्चपञ्चातिक्रमे षड्लघुषड्गुरुके एवं छेदोऽपि पञ्चपञ्चदिनातिक्रमेण त्रिधा वक्तव्यस्ततो मूलं नवमं चरमं च एकसरक मेकैकदिनातिक्रमेणेति भावार्थः। व्य० ४ उ०। दशा०॥

फासुय आहारो से, अणहिंडणं च गाहए सिक्खं।
ताहे उ उवट्ठवणं, छज्जीवणियं तु पत्तस्स ॥
अप्पत्ते अकहित्ता, अणभिगतपरिच्छअतिकमेया से।
एक्केके चउगुरुगा, विसेसिया आदिमा चतुरो ॥
अप्पत्तं सुत्तेणं, परियाग उवट्ठवेंत चउगुरुगा।
आणादिया य दोसा, विराहणा छण्ह कायाणं ॥
सुत्तत्थं कहइत्ता, जीवाजीवे य बंधमोक्खं च।
उवट्ठवण चउगुरुगा, विराहणा जा भणियपुव्विं ॥
अणभिगतपुन्नपावं, उवट्ठवें तस्स चउगुरू होंति।
आणादिणो य दोसा, मालाए होंति दिट्ठंते ॥
समरक्खदउल्लगणी, पतिट्ठिते हरितबीजमादीसु।
हों ति परिक्खागोयरे, किं परिहरतीण वा वि त्ति ॥
उच्चारादि अथंडिल, वोसिरठाणादि वावि पुढवीए।
णदि मादिदगसमीवे, खारादिदाह अगणिम्मि वि ॥
जण अहिधारण वा ते, हरिए अहव पुढवि ते तसेसुं च।
एमादि परिक्खित्ता, वनदाणमिमेण विहिणा सो ॥
दव्वादिपसत्थे वा, एक्केक्कं तिगुणणोवरिं हेट्ठा।
दुविहा तिविहा य दिसा, अंविलनिव्विगतिओ वा।
पियपुत्ताणं जुयला, दोण्हि तु निक्खंत तत्थ एगस्स।
पत्तो यदि ताण पुत्तो, एगस्स पुत्तो ण तु थेरो ॥
ताहे तु पन्नविज्जति, दंडियणायं तु का तु भन्नइ तु मा।
गेण्हं अस्सग्गहीए, तिण्णि उ होति एसविता ॥
एवं सो पण्हवि तो, जदि इच्छे तो उ उट्ठवें ति तु ॥
नेच्छंते यं चाह–वेति दो तिण्हि वायणगा।
वच्छसभावासज्ज व, जा धीतं ताव तं परिच्छंति।
एवं रायअगव्वेसुं–जति मज्झे महादेवी ॥
राया रायाणो वा, दोण्हि वि समपत्तदोसु पासेसु।
ईसरसेट्ठिअमच्चे, णियमघडाकुलदुवे खुड्डे ॥
समपत्तअणेगेसुं, पत्तेसुं अणभिओगमावलिया।
एगतो दुहतो ठविता, समराइणिया जहा सन्नं ॥
ईसिं अन्नो पत्ता, वामे पसाम्मि हों ति आवलिया।
आसरणम्मि य वड्ढी, सरणे सो व अण्णो वा ॥
उवट्ठवियस्स एवं, संभुंजणता तहेव संवासो।
वितियपदे संबंधी, ओमादीसु माहु पडिभावं ॥
भुंजीसु मए सद्धिं, इयाणिं णेच्छति भोतु पहिभावं।
अहिखायंति व उभे, पच्छन्ने जे ण भुंजंति।
एमादिणा तु भावं, ताहे अप्पत्तअहवपत्तं वा ॥
उवट्ठावें ति भुंजंति, परिणते चित्तरक्खट्ठा ॥ पं० भा० ॥

उवट्ठावणा कप्पो अप्पते अंकवेत्ता। गाहा जइ आवासगमाइ जाव छज्जीवणियातो सुत्ते अपडिए उवट्ठावेइ चउगुरू दोहिं वि गुरू तवेण कालेण तवगुरू अंतो अट्ठमदसमदुवालसमकालगुरू गिण्हकाले अहासुत्ते पढिए अच्छे अकहिए उवहावेइ चउगुरू तवगुरू काललहुं काललहू सीतकाले वासासु वा अह पढिए सुत्ते य अपरिच्छिओ ता मनसद्दहइ पुढविमाईणि चउगुरू तवलहू तवचउगुरू तवचउलहुगं च भन्नइ अणुग्घाइयं पडुच्च गुरुयं अणुग्घाइयं नाम छट्ठे चउत्थे आयंबिले व कए पारणए पुरिमड्ढनिव्वीइ-एगासणाइ करेइ तेण गुरुयं भवइ अह पढियसुय अभिगयं अपरिच्छिऊण उवहावेइ किं परिहरइ न उदओल्लादि चउगुरु दोहिं वि लहु तवसा कालेण अणु–ग्घाइयं पुण एवं वारसविहं वि कप्पिए। पं०चू०। ''उवगस्स वा उवट्ठावेज्ज वा सुत्तं वा अत्थं वा उभयं वा परूवेज्जा एतेसु कुलगण–संघवज्झो'' महा० ७ अ०। एतदेव भावयन्नाह –

णो उट्ठावणए ब्बिअ, निअमा चरणंति दव्वओ जेण।
सा भव्वाण विभणिआ, छउमत्थगुरूण सफला य ॥

नोपस्थापनायामेव कृतायां सत्यां नियमाच्चरणमिति कुत इत्याह। द्रव्यतो येन प्रकारेण सा अभव्यानामपि भणितोपस्थापना अङ्गा–रमर्दकादीनां छद्मस्थगुरूणांविधिकारकाणां सफला चाज्ञाराधनादिति गाथार्थः। उपस्थापना विधिफलवक्तामाह।

पायं च तेण विहिणा, होइ इमंति निअमो कओ सुत्तो।
इयरा सामाइअम्मि–त्तओ वि सिद्धिं गयाणं ता ॥१०॥

प्रायश्चित्तेन विधिना उपस्थापनागतेन भवत्येतच्छेदोपस्थाप्यं चारित्रमित नियमः कृतः सूत्रदशवैकालिकादिपाठाद्यनन्तरमुप–स्थापनायाः इतरथान्यथा सामायिकमात्रतोऽप्यबहिः प्राप्त्या सिद्धिं गताः अनन्ता प्राणिन इति गाथार्थः।

अनियममेव दर्शयति ॥

पुट्वि असंगतं पि अ, विहिणा गुरुगच्छसेवाए।
जावमणेगेसि इमं, पच्छा गोविंदमाईणं ॥११॥

पूर्वमुपस्थापना काले असदपि चैतच्चरणं विधिना गुरुगच्छादि–सेवया हेतुभूतया जातमभिव्यक्तमनेकेषामिदं पश्चाद्गोपेन्द्रादीनां गोपेन्द्रवाचक-करोटकगणिप्रभृतीनामिति गाथार्थः ॥

प्रक्रान्तसमर्थनायैवाह ॥

एअं च उत्तमं खलु, निव्वाणपसाहणं जिणा बिंति।
जं नाणदंसणाण वि, फलमे अंबं व निद्दिट्ठं ॥१२॥

एतच्चारित्रं उत्तमं खलूत्तममेव निर्व्वाणप्रसाधनं मोक्षसाधनं जिना ब्रुवते। अत् एतदुपाये यत्नः कार्य इत्यैदंपर्यमुत्तमत्त्वे युक्तिमाह। यद्यस्माज्ज्ञानदर्शनयोरेपि तत्वदृष्ट्या फलमेतदेव चारित्रं निर्दिष्टं तत्साधकत्वादिति गाथार्थः।पं०व०। बालस्योपस्थापना न कल्पते॥

(सूत्रम्) णो कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डयं वा खुड्डियं वा ऊणट्ठवासजायं उवट्ठावित्तए संभुञ्जित्तए वा कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डयं वा ३ सातिरेगट्ठवासजायाइं उवट्ठावित्तए वा संभुञ्जित्तए वा।

सूत्रस्याक्षरगमनिका न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लकं वा क्षुल्लिकां वा ऊनाष्टवर्षजातानामुपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा मण्डल्यां तथा कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लकं वा सातिरेकाष्टवर्षजातानामुपस्थापयितुं वा उपस्थाप्य मण्डल्यां संभोक्तुं वा। अथ कस्मादूनाष्टवर्षजातस्योपस्थापनादि न कल्पते तत आह॥

ऊणट्ठए चरित्तं, न चिट्ठए चालणी य उदगं वा।
वालस्स य जे दोसा, भणिया आरोवणा दोसा॥

ऊनाष्टके ऊनाष्टवर्षजाते वाले चालिन्यामुदकमिव चारित्रं न तिष्ठति। तथा ये बालस्स दोषा भणिता स्ते च बालस्योपस्थापने आरोपणाया-माप्रसजति। बालस्य दोषानाह॥

कायवयमणोजोगो, हवंति तम्हा णवट्ठिया जम्हा।
संबंधिमणाभोगे, ओमे सहसाववादे य॥

तस्य बालस्य कायवाङ्मनोयोगादस्मादनवस्थिता भवन्ति। तस्मान्नोपस्थापयेत तत्रैवापवादमाह। संबन्धिनमनाभोगे अवमे दुर्भिक्षे सहसाकारेण वा संभोजने अपवादे नोपस्थापयेदूनाष्टवर्षजातमपि। तत्र संबन्धिव्याख्यानार्थमाह॥

भुंजिस्से स मए चेवं, वितीया निच्छइ संपइ।
सो आनाहणसंबंधो, कह चिट्ठेज्ज तं विणा॥

एष बालको मया सह भोक्ष्यते इत्येवं भणित्वा नातो मण्डल्यां स च संप्रति तमाचार्यं विना भोक्तुं नेच्छति स चाचार्यस्य स्नेहेन संबन्धस्ततः कथं प्रव्रज्यायां गृहीतायां सह भोजनं विना तिष्ठेत्। नैवतिष्ठेदिति भावः॥

अणुवट्ठविओ एसो, जइयादेवेज्ज अपरिणया।
तो होउ व वारिज्जइ, तो णं संभुज्जए ताहो॥

तत्र हु निश्चितमपरिणता आवबुरेवं यद्येषोऽनुपस्थापितो मण्डल्या संभुक्तो ततः स तदा उपस्थाप्यते तदनन्तरं संभोजनं मण्डल्यामिति॥

अहव अणाभोगेणं, सहसाकारेण वा वि होज्ज संजुत्तो।
ओमम्मि विसहु तत्तो, विप्परिणामं तु गच्छेज्जा॥

अथवा अनाभोगेण सहसाकारेण वा मण्डल्यां संयुक्तो भूयात्। ततो माभूदनवस्थाप्रसङ्ग इति तमूनवर्षजातमप्युपस्थाप्य मण्डल्यां संभोजयेत्। अवमे दुर्भिक्षे जातेमाविपरिणामं गच्छेदत उपस्थाप्य मण्डल्यां संभोज्यते एतदेव भावयति॥

अदिक्खियंति एवं मां, इमे पच्छन्नभोजिणो।
परोहमिति भावेज्जा, तेणावि सह भुञ्जते॥

इमे प्रच्छन्नभोजिनो मामेवमेव दुर्भिक्षे दीक्षयन्ति। अदीक्षां कर्तु-मिच्छन्ति। तेन कारणेनाहं परः कृत इति स भावयेतन्त ततस्ते-नापि सहसंभुङ्क्ते। व्य० १० उ० (''तओ नो कप्पइ उवट्ठा वित्तए तंजहा पंडए वाइए कीवे'' व्याख्या पव्वायणा शब्दे) ''दोसा उवट्ठाविउ सियती सेसदुगस्स। अणायरण जोग्गा अहवा समायारं ते पुरिनयद निवारिया दोसा''वृ० ४ उ०॥

(सूत्रम्) जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा वासगं वा जे अणलं उट्ठावेइ उट्ठावंतं वा साइज्जइ॥२८॥

सूत्रार्थः पूर्ववत्। अणलं उवट्ठावें तस्स आणादी दोसा चउगुरुगं च। नि०चू० ११ उ०।

अनवस्थाप्यभिक्षादेः पुनरुपस्थापना-

अणवट्ठप्पं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेय-स्स उवट्ठवित्तए अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिहिभूयं तस्स गणावच्छे-दियस्स उवट्ठावित्तए इति॥

यथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध उच्यते।

अट्ठस्स कारणेणं, साहम्मि य तेणमादि जइ कुज्जा॥
इह अणवट्ठे जोगो, नियमातो यावि दसमस्स॥

साधर्म्मिकैः कारणेन प्रागुक्तेनोत्पादितो योऽर्थस्तस्य स्तैन्यमा-दिशब्दादन्यपरिग्रहः। यदि कुर्यात्ततः सोऽनवस्थाप्यो भवति एत-दर्थख्यापनार्थमर्थजातसूत्रानन्तरमनवस्थाप्यसूत्रम् इत्येषोऽनव-स्थाप्यसूत्रस्य योगः संबन्धः। पाराञ्चितसूत्रस्यापि संबन्धमाह। नवमात्प्रायश्चित्तादनवस्थाप्यादनन्तरं किल दशमं पराञ्चितनामकं प्रायश्चित्तं भवति ततो नवमान्नवमप्रायश्चित्तसूत्रस्यारम्भमाह। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। अनवस्थाप्यं भिक्षुमगृहीभूतम-गृहस्थीकृतं नो कल्पते यस्य समीपेऽवतिष्ठते तस्य गणावच्छेदिनो गणस्वामिन उपस्थापयितुम्। संप्रति पाराञ्चितसूत्रमाह।

(सूत्रम्) पारंचियं पि भिक्खुं अगिहिभूतं नो कप्पते तस्स गणावच्छेदियस्स उवट्ठावेत्तए पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेदियस्स उवट्ठावित्तए पारं चियं भिक्खुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेदियस्स उवट्ठावित्तए॥

अत्र सूत्रद्वयस्याक्षरगमनिका प्राग्वत्संप्रति भाष्यविस्तरः।

अणवट्ठो पारंचिय, पुव्वं भणिया इमं तु नाणत्तं।
गिहिभूयस्स य करणं, अकरणे गुरुगा य आणादी॥

अनवस्थाप्यपाराञ्चितौ एतौ द्वावपि पूर्वं भणितौ इदं चात्र नानात्वं गृहीभूतस्य गृहस्थरूपसदृशस्य करणं यदि पुनर्गृहीभूतमकृत्वा तमुपस्थापयतितदा गृहीभूतस्याकारणेप्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः। तथा आज्ञादयः आज्ञानवस्थामिथ्यात्वविराधना दोषाः। अन्यच्च प्रमत्तं सन्तं देवता छलयेत्। गृहीभूतस्य तु छलना न भवति। तस्माद् गृहीभूते कृत्वा तमुपस्थापयेत्। गृहस्थरूपताकरणेमेव भावयति।

वरनेवच्छं एगे, ण्हाणादिविवज्जमवरिजुगलमित्तं।
परिसामज्झे धम्मं, सुणेज्ज तो कहण दिक्खा॥

एके आचार्या एवं ब्रुवते स्नानविवर्जं वरं नेपथ्यं तस्य क्रियते। अपरे दाक्षिणात्याः पुनरेवमाहुर्वस्त्रयुगलमात्रं परिधाप्यते तद्वर्षमध्ये आचार्यसमीपमुपगम्य ब्रुवते भगवन्! धर्म्मं श्रोतुमिच्छामि। ततः (कहणति) आचार्यः धर्म्मं कथयति। कथिते च सति सकल-जलसमक्षं ब्रूवते श्रद्दधामिसम्यग् धर्म्ममेनमिति मां प्रव्राजयत एवमुक्ते तस्य दीक्षा लिङ्गसमर्प्पणानन्तरं च तत्क्षणमेवोपस्थाप्यते तत्र शिष्यः प्राह। कस्मादेष गृहस्थावस्थां प्राप्यते। सूरिराह।

ओहावितो न कुव्वइ, पुणो वि सो तारिसं अतीयारं।
होइ भयं सेसाणं, गिहिरूवे धम्मिया चेव।

किं वा तस्स न दिज्जइ, गिहिलिंगं तेण भावतो लिंगं।
अजढे वि दव्वलिंगे, सलिंगपडिसेवणावि जढं ॥

अपभ्राजितो ग्लानिमापादितः सन् पुनरपि स तादृशमतीचारं न करोति। शेषाणामपि च साधूनां भयमुत्पादितं भवति। येन तेऽप्येवं न कुर्वते। तस्मादगृहिरूपे गृहस्थता रूपस्य धर्म्मता धर्म्मादनपेतान्याच्येत तस्यापि याच्यमानागृहस्थरूपतेति भावः (किंवेत्यादि) किं वा केन वा कारणेन तस्य न दीयते गृहिलिङ्गं दातव्यमेव तस्य गृहिलिङ्गमित्यर्थः। येन कारणेनापरित्यक्तोऽपि द्रव्यलिङ्गे स्वलिङ्गे प्रतिसेवनात् भावतो लिङ्गं विजढं परित्यक्तमिति।

संप्रति सूत्रकृदेवापवादमाह।

(सूत्रम्) अणवट्ठप्पं भिक्खुं पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं वा अगिहिभूतं वा कप्पइ, तस्स गणावच्छेदितस्स उवट्ठा वेत्तए जहा तस्स गणस्स पतियं सिया इति ॥

अनवस्थाप्यं भिक्षुं पाराञ्चितं वा भूतं भिक्षुं गृहीभूतमगृहीभूतं वा कल्पते। तस्य गणावच्छेदिनः उपस्थापयितुं कथमित्याह यथा तस्य प्रतीकं प्रतिकारमुपस्थापनं स्यात्तथा कल्पते नान्यथा इह यो गृहस्थीभूतः स तावदुवस्थाप्यते एवमस्यापवादविषयं वा यस्त्वगृहीभूतः सोऽपवादविषयस्तस्योत्सर्गतः प्रति विद्धत्वात्। तत्र यैः कारणैरगृहीभूतोऽप्युपस्थाप्यते तत्र यथानुवृत्त्यास्योऽगृह-स्थीभूतोऽप्युपस्थाप्यो भवति। तथा भाव्यते इहानवस्थाप्यं पराञ्चितं वा कोऽपि प्रतिपन्नस्तस्य चायं कल्पो यावदनवस्थाप्यं पाराञ्चितं वा वहति तावद्बहिः क्षेत्रादवतिष्ठते। स च वहिर्यावत्तिष्ठति तावन्न गृहस्थः क्रियते किन्त्वागतः करिष्यते। बहिश्चावतिष्ठमानः स जिनकल्पिक इव भिक्षाचर्यामलेपकृद्भक्तादिग्रहणात्मिकां करोति तस्य च तथा बहिस्तिष्ठते। यथाचार्यः करोति तथा प्रतिपादयति।

आलोयणं गवसेण, आयरिओ कुणइ सव्वकालं पि।
उप्पण्णे कारणम्मि, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥

यस्याचार्यस्य समीपेऽनवस्थाप्यं पाराञ्चितं वा प्रतिपन्नः स आचार्यः सर्वकालमपि यावन्तं कालं तत्प्रायश्चित्तं वहति तावन्तं सकलमपि कालं यावत्प्रतिदिवसमवलोकनं करोति तत्समीपं गत्वा तद्दर्शनं करोतीत्यर्थः। तदनन्तरं गवेषणं गतोऽल्पक्लामतया तत्र दिवसे रात्रौ वेति पृच्छां करोति। उत्पन्ने पुनः कारणे ग्लानत्वलक्षणे सर्वप्रयत्नेन स्वयमाचार्येण कर्तव्यं भक्तपानहरणादि ॥

जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणइ प्पमाएण।
आरोवणा उ तस्स, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा ॥

यः पुनराचार्यः केनापि प्रमादेन जनव्याक्षेपादिना उपेक्षां कुरुते न तत्समीपं गत्वा तत्सरीरस्योदन्तं वहति तस्य आरोपणा प्रायश्चित्तप्रदानं पूर्वनिर्दिष्टा कर्तव्या। चत्वारो गुरुकास्तस्य प्रायश्चित्तमारोपयितव्यमिति भावः। यदुक्तमुत्पन्ने कारणे सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं तद्भावयति ॥

आहरति भत्तपाणं, उद्वत्तेमादियंति सो कुणति।
सयमेव गणाहिवती, अहं गिलाणो सयं कुणइ ॥

अथ सोऽनवस्थाप्यः पाराञ्चितो वा ग्लानोऽभवत्। ततस्तस्य गणाधिपतिराचार्यः स्वयमेव भक्तं पानं वा हरति आनयति उद्वर्त-नादिकमप्यादिशब्दात्परावर्तनोद्धरणोपदेशनादिपरिग्रहः स तस्य स्वयं करोति। अथ जातो ग्लानो निरोगस्ततः स आचार्यं न किमपि कारयति किं तु सर्वं स्वयमेव कुरुते। अधुना यदुक्तमालोयणं गवेसणंति तद्व्याख्यानार्थमाह-

उभयंपि दाऊण सपडिपुच्छं, वोढुं सरीरस्स पवट्टमाणिं।
आसासइत्ताण तवो किलंत, तमेव खेत्तं समुवेंति थेरा ॥

स्थविराः आचार्याः शिष्याणां प्रतीच्छकानां च उभयमपि सूत्रमर्थं चेत्यर्थः। किं विशिष्टमित्याह। स प्रतिपृच्छं पृच्छा प्रश्नः तस्याः प्रतिवचनं प्रतिपृच्छा प्रत्युक्तौ प्रतिशब्दः सह प्रतिपृच्छा यस्य तत् सप्रतिपृच्छं सूत्रविषये च यद्येन पृष्टं तत्र प्रतिवचनं चेत्यर्थः दत्वा तत्सकाशमुपगम्य तस्य शरीरस्य वर्तमानमुदन्तं वहति अल्पक्लामतां पृच्छतीति भावः। सोऽपि चाचार्यं समागतं मस्तकेन वन्दे इति फेटावन्दनकेन वन्दते शरीरस्य वोदन्तं मूर्ध्ना यदि तपसा क्लाम्यति तत आश्वासयति आश्वास्य च तदेव क्षेत्रं यत्र गच्छेऽवतिष्ठते तत्समुपगच्छन्ति। कदाचिन्न गच्छेयुरपि तत्रेमानि कारणानि ॥

गेलण्णेण वि पुट्ठो, अभिणवमुक्को ततो व रोगत्तो।
कालम्मि दुव्वले वा, कज्जे अण्णेववाघातो ॥

इहैकस्यापि कदाचिदेकवचनं सर्वस्यापि वस्तुन एकानेकरूप-ताख्यापनार्थमित्यदुष्टम्। अथवा काले दुर्वले न विद्यते बलं गमने यस्मिन् गाढतपः संभवादिना दुर्वलो ज्येष्ठाषाढादिको दुःशब्दो भाववाची तस्मिन्न गच्छेत् शरीरक्लेशसंभवात् "कज्जे अण्णेव वा घातो इति" अत्र सप्तमी तृतीयार्थे प्राकृतत्वात्ततोऽयमर्थः। अन्येन वा कार्येण राज्ञा प्रद्वेषतो निर्विषयत्वाज्ञापनादिना व्याघातो भवेत्ततो न गच्छेदिति। आगमने चोपाध्यायः प्रेषणीयो योऽन्यो वा तथा चाह ॥

पेसेइ उवज्झायं, अंगं नीयं च जो तहिं जोग्गो।
पुट्ठो व अपुट्ठो वा, तहा वि दीवेति तं कज्जं ॥

पूर्वोक्तकारणवशतः स्वयमाचार्यस्य गमनाभावे उपाध्यायं तदभावे ऽन्यो वा गीतार्थस्तत्र योग्यस्तं प्रेषयति। स च तत्र गतः सन् तेन पाराञ्चितेन किमित्यद्य क्षमाश्रमणा नायाता इति पृष्टो वा अथवा न पृष्टस्तथाऽपि तत्कारणं कार्यकारणं दीपयेत्। तथा अमुकेन कारणेन क्षमाश्रमणानामनागमनं पृष्टेनापृष्टेन वा दीपितं तदा न किमप्यन्यत्तेन वा पाराञ्चितादि तावद्वक्तव्यं किं गुर्वादेश एवोभाभ्यां यथोदितः संपादनीयः। अथ राज्ञा प्रद्वेषतो निर्विषयत्वाज्ञापनादिना व्याघातो दीपितस्तत्र यदि ते उपाध्यायाः अन्ये वा गीतार्थास्तस्य शक्तिं स्वयमवबुध्यन्ते ततो जानन्तः स्वयमेव तस्य महत्त्वं ब्रुवते। यथा अस्मिन्प्रयोजने त्वं योग्य इति क्रियतामुद्यमः। अथ न जानते तस्य शक्तिं ततः स एव तान् अजानानान् ब्रूते। यथा अस्ति ममात्र विषय इति। एतच्च स्वयमुपाध्यायादिभिर्वा भणितो वक्ति।

अत्थ उ महाणुभागो, जहासुहं गुणसयागरो संघो।
गुरुगं पि इमं कज्ज, मं पप्प भविस्सए लहुयं ॥

तिष्ठत यथासुखं महान् अनुभागोऽधि कृतप्रयोजनानुकूलाअचिन्त्या शक्तिर्यस्य स तथा गुणशतानामनेकेषां गुणानामाकरो निधानं गुणशताकरः सङ्घः यतः इदं गुरुकमपि कार्यं मां प्राप्य लघुकं भविष्यति। समर्थोऽहमस्य प्रयोजनस्य लीलयाऽपि साधने इति भावः। एवमुक्ते सोऽनुज्ञातः सन् यत्करोति तदाह ॥

अभिहाणहेउकुसलो, बहूसु नीराजितो वि उसभासु।
गंतूण रायभवणा, भणाति तं रायदारिद्धे ॥

अभिधानहेतुकुशल इति अभिधानेषु शब्देषु हेतुसाध्यगमकेषु कुशलो दक्षोऽभिधानहेतुकुशलः शब्दमार्गे चातीव क्षुण्ण इत्यर्थः। अत एव बहुषु विद्वत्सभासु नीराजितो निर्वर्तितः इत्थंभूतः सन् राजभवनं गत्वा तं राजद्वारस्थं प्रतीहारं भणति किं भणतीत्यत आह॥

पडिहाररूवी भण रायरूविं , तहड्डुए संजयरूवि दट्ठं।
निवेदइत्ता य स पत्थिवस्स, ओविट्ठए जत्थ तयं पवेसे॥

हे प्रतीहाररूपिन् मध्ये गत्वा राजरूपिणं राजानुकारिणं भण ब्रूहि यथा त्वां संयतरूपी द्रष्टुमिच्छति। एवमुक्तः सन् प्रतीहारस्तथैवास्य निवेदयति। निवेद्य च राजानुमत्या यत्र नृपोऽवतिष्ठते तत्र तकं साधुं प्रवेशयति॥

तं पूयइत्ताण सुहासणत्थं, पुव्विंसु एगागय कोउ हल्लो।
पण्हे उराले असुए कयाइ, सवा विआरुक्खइ पत्थिवस्स॥

तं साधुं प्रतिष्ठमानं राजा पूजयित्वा शुभासनस्थं शुभे आसने निषण्णमागतकुतूहलः समुत्पन्नकुतूहलोऽद्राक्षीत् कानित्याह। प्रश्नान् उदारान् गम्भीरार्थान् कदाचिप्यश्रुतान्। प्रतीहाररूपिन् तथा त्वमपि यादृशश्चक्री चक्रवर्त्ती तादृशो न भवसि रत्नाद्यभावाद् (अत्रान्तरे चक्रवर्तिसमृद्धिराख्यातव्या) किं तु प्रतापशौर्यन्यायानुपालनादिना तत्प्रतिरूपोऽस्ति तत उक्तं राजरूपिणं ब्रूहि चक्रवर्तिप्रतिरूपमित्यर्थः। एवमुक्ते राजा प्राह त्वं कथं श्रमणानां प्रतिरूपी तत आह॥

समणाणं पडिरूवी, जं पुच्छसि वा य तं कहमहंति।
निरईयाए समणा, न तहा हं तेण पडिरूवं॥

यत्त्वं राजन्पृच्छसि। अथ कथं त्वं श्रमणानां प्रतीरूपी तदहं कथयामि यथा श्रमणा भगवन्तो निरतिचारा न तथाहं ततः श्रमणानां प्रतिरूपी नतु साक्षाच्छ्रमण इति। प्रतिरूपत्वमेव भावयति।

निव्वूढोमि नरेसर, खेत्ते वि जईण अत्थिओ न लभे।
अतियारस्स विसोही, पकरेमि पमायमूलस्स॥

हेनरेश्वर! पृथिवीपते! प्रमादमूलस्यातिचारस्य संप्रति विशोधिं करोमि। तां च कुर्वन् निर्यूढोस्मि निष्काशितोऽस्मि ततः आस्तामन्यक्षेत्रेऽपि यतीनामहं स्थातुं न लभे ततः श्रमणप्रतिरूप्यहमिति। राजा प्राह। कस्त्वया कृतोऽतीचारः। का च तस्य विशोधिरेवं पृष्टे यत्कर्त्तव्यं तदाह।

कहणाउट्ठण आगमण–पुच्छणं दीवणा य कज्जस्स।
वीसज्जियंति य मया, हासुस्सितो भणइ राया॥

कथनं राज्ञा पृष्टस्य सर्वस्याप्यर्थस्य प्रवचनप्रभावना भवति। तत आवर्त्तनमाकम्पनं राज्ञो भक्तीभवनमिति भावः। तदनन्तरमागमनप्रच्छनमागमनकारणस्य प्रश्नः केन प्रयोजनेन यूयमत्रागताः स्थ। अत्रान्तरे येन कार्येण समागतस्तस्यदीपना प्रकाशना ततो राजा हासोत्कलितोऽतिहासेन उत्सृतो हृष्टोद्भासः स्मितो हसितमुखः प्रहृष्टश्च सन्नित्यर्थः। भणति यथा मया विसर्जितं मुत्कलितमित। अथ किं तत्कार्यं यस्य राज्ञो मुत्कलनं कृतमि–त्यत आह।

वायपरायणकुवितो, चेइयतद्दव्वसंजतीगहणे।
पुव्वत्तावणचउण्ह वि, कज्जाण हवेज्ज अन्नयरं॥

वादे पराजयेन कुपितः स्यात्। अथवा चैत्यं जिनायतनं किमपि तेनावष्टब्धं स्यात्। ततस्तस्मान्मोचनात्क्रुद्धो भवति। यदि वा तद्द्रव्यस्य चैत्यद्रव्यस्य ग्रहणेऽथवा संयत्या ग्रहणे ततः पूर्वोक्तानां कल्पाध्ययनोक्तानां चतुर्णां निर्विषयत्वाज्ञापनादीनामकार्याणा–मन्यतरत्कार्यं भवेत्॥

संघो न लहति कज्जं, लद्धं कज्जं महाणुभागेण।
तुब्भं तु विसज्जेमी, सो वि य संघोत्ति पूएइ॥

निर्विषयत्वाज्ञापनमुत्कलनादिलक्षणं कार्यं संघो न लभते किं तेनावस्थाप्येन पाराञ्चितेन वा महानुभागेन लब्धं न च स एव कार्यलाभेऽपि गर्वमुद्वहति यत आह तुब्भं तु इत्यादि। राजा प्राह। युष्मौ तु निश्चितं प्रभावेनाहं पूर्वग्राहं विसृजामि नान्यथा। सोऽपि च ब्रूते। राजन् कोऽहं कियन्मात्रो वा गरीयान् संघो भट्टारकस्तत्प्रभावादहं किंचिद्यास्मात्संघमाहूय क्षमयित्वा च यूयमेवं ब्रूथ मुत्कलितं मया युष्माकमिति संघं पूजयति। ततः किमित्याह॥

अब्भत्थितो व रण्णा, सयं च संघो विसज्जयति।
आदीमज्झवसाणे, स वा विदेसो धुओ होइ॥

अभ्यर्थितो वा राज्ञा संघो यदि वा संतुष्टः संघो विसर्जयति। किमुक्तं भवति। यद्व्यूढं शेषं सर्वं प्रसादेन मुक्तः सोऽग्रहस्थीभूत एवोपस्थाप्यते इति। एतदेवाह सचापि दोषो धुतः प्रकम्पितः प्रसादेन स्फेटित इत्यर्थः। आदौ मध्ये अवसाने वा भवति। राजानुवृत्तिद्वारं गतम्।

इदानीं प्रद्विष्टस्वगणद्वारमाह॥

सगणो य पदुट्ठो से, आवण्णो तं च कारणं नत्थि।
एएहिं कारणेहि य, गिहिभूते उवट्ठवणा॥

(से) तस्याचार्यस्य स्वगणप्रसिद्धः सन् ब्रूते। यथाऽमुकेन कारणेनैष पाराञ्चितप्रतिपत्त्या गृहीभूतत्वमापन्न इति तच्च कारणं तस्याचार्यस्य नास्ति। एताभ्यां स्वगणप्रद्वेषकारणाभावलक्षणाभ्यामगृहीभूते अगृहस्थीभूतस्य उपस्थापना क्रियते एष गाथाक्षरार्थः॥ भावार्थस्त्वयम्। एगा तरुणी बहुसुयणं घेत्तुं पव्वइया। अन्नया ताए संजतीए आयरितो उ भासिओ। आयरिएणं नेच्छिया। ताहे सा पदोसमापन्ना आयरियस्स तेसिं संजए पव्वयाणं कहे इमं एस आयरिओ उवसग्गेइ। ताहे ते संजतीए नियल्लग पव्वइया आयरियस्स पउट्ठा भणंति।एस आयरिओ पारंचिए गिहिभूतो आभवइ। ततो आयरिओ अन्नं गणं गंतुं सव्वं जहट्ठियं परिकहेइ तं वावन्नं अण्णत्थं कुणह गिहियंति तवेंति। ते नाऊण पउट्ठे माहोहिति। ते मिगस्स तरउत्ति मिच्छिच्छा मा सफला होहित्ति तोसितो अगिहिभूतो'' काचित् व्रतिनी बहुस्वजनान् भासते यावान् प्रतिसिद्धा सती (छोभगमिति) अभ्याख्यानं दद्यात्कालत्रयेऽपि सप्तमीति दत्तवती तथाभ्याख्यानसंपादितं प्रायश्चित्तमन्यत्र गणे स आचार्यो बहति चेत् संयतीस्वजनाः प्रद्विष्टा ब्रूवते। कुरुतैनमाचार्यं गृहिकं गृहस्थीभूतमिति। ते वरणान्तरस्थविरास्तान्प्रद्विष्टान् ज्ञात्वा मा तेषां गम्यतरः पश्चाद्भूदिति तेऽपि कैतवेन क्षेत्राद्बहिस्तत्समीपे स्थितां तथा मा तेषां मिथ्यारूपा इच्छा सफला भवेदिति सोऽगृहीभूत एवोपस्थाप्यते। गतं स्वगणप्रद्विष्टद्वारम्।

अधुना परमोचापनद्वारमाह॥

सोऊण लिंगकरणं, अणुरागेणं भणंति अगियत्थो।
मा गीयं कुणह गुरुं, अह कुणह इमं निसामेह॥
विद्धंसामो अम्हे, एवं ओहावणे जइ गुरूणं।
एएहिं कारणेहिं, अगिहिभूते उवट्ठवणा॥

''एगो बहुसिस्सो आयरिओ पडिसेवणाए गिहिभूतत्तमावण्णो सो अज्जं गणं गंतुं आलोएइ। तेहिं गिहिभूतो कज्जिउमाढत्तो। ततो तस्स सीसा भणंति मा अम्हं गुरुं गिहिभूयं कुणह। जइ पुण अम्हं गुरूणमेवं उहावणा कीरइ ततो अम्हे सव्वे निक्खमिस्सामो। ततो तेसिं अप्पत्तियं माहोतीति। अगिहिभूतो चेव सो उवट्ठाविज्जइ'' अक्षरगमनिका आचार्यस्य गृहिलिङ्गकरणं श्रुत्वा तस्य शिष्या अगीतार्था अनुरागेण भणन्ति। मागृहिकमस्मदीयं गुरुं कुरुत।अथ करिष्यथ तत इदं निशामयत आकण्णयत एवमपभ्राजना यदि गुरूणां ततो वय (विद्धसामोत्ति) उन्निष्क्रमिष्यामः एतेन खल्वनन्तरादितेन कारणेन अगृहीभूतस्य तस्योपस्थापना। गतं परमोचापनद्वारम्–

इदानीं मिथ्या गणद्वयविवादे इति द्वारमाह॥

अण्णोण्णेसु गणेसुं, वहंति तेसिं गुरू अगीयाणं।
ते विंति अण्णमण्णं, किह काहिह अम्ह थेरत्ति॥

द्वौ गणौ तयोश्च द्वयोरपि गणयोः साधवो गीतार्थास्तेषां च गुरू स्थापनार्हं प्रायश्चित्तस्थानमापन्नौ। नवरमेकोऽगृहीभूतोपस्थापनार्हस्तो च परस्परं गणयोः प्रतिपद्येते। तद्यथा एकोऽपरस्मिन् एवमन्योऽन्यस्य गणयोस्तेषामगीतार्थानां गुरू प्रायश्चित्तं बहतस्ते गणाः परस्परं ब्रुवते कथमस्माकं स्थविरान् करिष्यथ किंगृहीभू–तानगृहीभूताद्वा तत्रयो गृहीभूतापस्थापनार्हप्राप्तस्तप्रणान् प्रतीते ब्रुवते। गृहीभूतं करिष्यामः॥

गिहिभूतेत्ति य वित्ते, अम्हेवि करोत तुब्भ गिहिभूतं।
अगिहिदोन्निवि मए, भणंति घेरा इमं दो वि॥
नवि तुब्भेगो अम्हे, अगिहितया महविणिच्छेसु।
इच्छा संपूरिज्जइ, गणपत्तियकारगेहिं तु॥

गृहीभूतान् करिष्याम इत्युक्ते इतरे वदन्ति वयमपि तवाचार्यं गृहीभूतं करिष्यामः तत्रैवं परस्परं विवादे तान् द्वयानपि मृगान् अगीतार्थान् भणन्ति। द्वावप्यगृहीभूतौ वयमुपस्थापयिष्यामः। इतरौ च द्वावप्याचार्यविदं ब्रूतः न वयमगृहीभूता शुद्ध्यामः तस्माद्गृहीभूताः क्रियामहे इति एवं यद्यप्यगृहीभूतोपस्थापनां ते नेच्छन्ति तथापि तेषु तथा अनिच्छत्स्वपि गणप्रीतिकारकैर्महद्भिः स्थविरैः सद्भिस्तेषां द्वयानामपि गणसाधूनामिच्छा पूर्यते द्वावप्यप्रीतिपरिहारार्थं गृहस्थीभूताबुपस्थाप्येतेइत्यर्थः। व्य० प्र०२उ०। येषु स्थानेष्वपराधपदेषु पूर्वचरमाणां साधूनामुपस्थापना भवति तानि निरूपयितुमाह॥

सा जेसि उवट्ठवणा, जेहिट्ठाणेहिं पुरिमचरिमाणं।
पंचायामे धम्मे, आदेसतिगं च मे सुणसु॥

सा उपस्थापना येषां भवति ते वक्तव्या येषु वा स्थानेष्वपराधपदेषु पूर्वचरमाणां साधूनां पञ्च यामे धर्मे स्थितानामुपस्थापना भवति तान्यपि वक्तव्यानि तत्र येषामुपस्थापना ते तावदभिधीयन्ते तत्रादेशत्रयं दश वा षट् वा चत्वारो वा उपस्थापनायामर्हा भवन्ति। तथा आदेशत्रिकं मे इति मया यथाक्रमं वक्ष्यमाणं शृणु।

तओ पारंचिया वुत्ता, अणवट्ठा य तिण्णि उ।
दंसणम्मि य मंतम्मि, चरित्तम्मि य केवले॥१॥
अदुवा वि य त्तकिच्चे, जीवकाए समारभे।
सेहे दसमे वुत्ते, जस्स उवट्ठावणा भणिया॥२॥

ये चतुर्थोद्देशके त्रयो दुष्टप्रमत्तान्योऽन्यकुर्वाणाख्याः पाराञ्चि–का उक्ताः ३ ये च त्रयः साधर्मिकान्यधार्मिकान्यकारिहस्ततालरूपा अनवस्थाप्याः ६ येन च दर्शनं सम्यक्त्वं केवलं संपूर्णमपि वान्तं ७ येन चारित्रं केवलं संपूर्णं मूलगुणविराधनया वान्तं ८ अथवा यस्त्यक्तकृपः परित्यक्तसकल–संयमव्यापार आकुट्टिकयाकर्षेण चाजीविकावान् पृथिवीकायादीन् समारभेत ९ यश्च शैक्षोऽभिनवदीक्षितः स दशमः १० उक्तः। एतद्दशकं मन्तव्यं यस्य उपस्थापना प्रथमचरमतीर्थकरैः भणिता। द्वितीयादेशमाह॥

जे य पारंचिया वुत्ता, अणुवट्ठप्पा य जे विदु।
दंसणम्मि य वंतम्मि, चरित्तम्मि य केवले॥१॥
अदुवा वि य त्तकिच्चे, जीवकाए समारमे।
सेहे छट्ठे मे बुत्ते, जस्स उवट्ठावणा भणिया॥२॥

ये च दर्शनं पाराञ्चिकाः सामान्यत उक्ताः ३ ये च विद्वांसोऽनवस्थाप्याः ४ येन च दर्शनं केवलं वान्तं ५ येन चारित्रं केवलं वान्तम् अथवा यस्त्यक्तकृत्यो जीवकायान् समारभते यश्च शैक्षाषष्ठः ६ एते षट्कं प्रतिपत्तव्यम्। यस्य उपस्थापना द्वितीयादेशे भणिता। तृतीयादेशमाह॥

दंसणम्मि य वंतम्मि, चरित्तम्मि य केवले।
वियत्तकिच्चे सेहे य, उवट्ठप्पा य आहिया॥

दर्शने केवलं शेषे वान्ते यो वर्तते। यो वा चरित्रे केवलं वान्ते पाराञ्चिज्ञानवस्थाप्ययोरत्रैवान्तर्भावो विवक्षितो यश्च त्यक्तकृत्यः षट्कायविराधकः यश्च शैक्ष एते चत्वार उपस्थाप्या उपस्थापनायोग्या आख्याताः। अथ तेषां मध्ये उपस्थापनीयो भवतीति चिन्तायामिदमाह॥

केवलगहणकसिणं, जति वसती दंसणं चरित्तं वा।
तो तस्स उवट्ठवणा, दोसे वंतम्मि भयणा तु॥

दर्शनचारित्रपदयोर्यत्केवलं ग्रहणं कृतं ततः इदं ज्ञाप्यते यदि कृत्स्नं निःशेषमपि दर्शनं चारित्रं वा वमति ततस्तस्योपस्थापना भवति देशे देशतः पुनर्दर्शनचारित्रे वा वान्ते भजना उपस्थापना भवेद्वा न वा। भजनामेव भावयति॥

एमेव य किंचि पदं, सुयं व असुयं व अप्पदोसेणं।
अविकोवितो कहिंतो, चोदिय आउट्टसुद्धे तु॥

एवमेवाविमृश्य किञ्चिज्जीवादिकं सूत्रार्थविषयं वा पदं श्रुतं वा अश्रुतं वा अल्पदोषेण कदाग्रहाभिनिवेशादिदोषाभावे अकोविदोऽगीतार्थः कस्यापि पुरतो अन्यद्वा कथयन् आचार्यादिनामैवं वितथप्ररूपणां कार्षीरिति चोदितः सन् यदि सम्यगावर्त्तते तदा स मिथ्यादुष्कृतप्रदानमात्रेणैव शुद्ध इति। तच्च दर्शनमनाभोगेनाभोगेन वा वान्तं स्यात्॥

तत्रानाभोगेन वान्ते विधिमाह–

अणाभोएण मिच्छत्तं, सम्मत्तं पुणरागते।
तमेव तस्स पच्छित्तं, जं सम्मं पडिवज्जई॥

एकः श्राद्धो निह्नवान् साधुवेषधारिणो दृष्ट्वा यथोक्तकारिणः साधवः एते इति बुद्ध्या तेषां सकाशे प्रव्रजितः स चापरैः साधुभिर्भणितः किमेवं निह्नवानां सकाशे प्रव्रजितः स प्राह नाहमागमविशेषज्ञानवान् ततः स मिथ्यादुष्कृतं कृत्वा शुद्धदर्शनिनां समीपे उपसंपन्न एवमनाभोगेन दर्शनं वमित्वा मिथ्यात्वं गत्वा सम्यक्त्वं पुनरागत–स्य तदेव प्रायश्चित्तं यदसौ सम्यक् मार्गं प्रतिपद्यते स एव च तस्य व्रतपर्यायो न भूय उपस्थापना कर्त्तव्या॥

आभोगेन वान्ते पुनरयं विधिः–

आभोगेण य मिच्छत्तं, सम्मत्तं पुणरागते।

जिणथेराण आणाए, मूलच्छेज्जं तु कारए ॥

यः पुनराभोगेन निह्नवा एते इति जानन्नपि मिथ्यात्वं सक्रान्त इति शेषः निह्नवानामन्तिके प्रव्रजित इत्यर्थः स च सम्यक् अन्येन प्रज्ञापितः सन् पुनर्भूयोऽपि यद्यागतस्थानं तं जिनस्थविराणां तीर्थकरगणभृतामाज्ञया मूलश्छेद्यं प्रायश्चित्तं कारयेत्। मूलत एवोपस्थापनां तपः कुर्यादिति। एवं दर्शने देशतो वान्ते उपस्थापना भजना भाजिताः। संप्रति चारित्रे देश तो वान्ते तामेव भावयति ॥

छण्ह जीवणिकायाणं, अणप्पज्झो विराहओ।
आलोइय पडिक्कंते, सुद्धो हवति संजओ ॥

षण्णां जीवनिकायानां (अणप्पज्झोत्ति) अनात्मवशः क्षिप्त चित्तादिर्यदि विराधको भवति तत आलोचितप्रतिक्रान्तो गुरूणामालोच्य प्रदत्तमिथ्यादुस्कृतः स यतः सुद्धो भवति ॥

छण्हं जीविनिकायाणं, अप्पज्झो अविराहतो।
आलोइय पडिक्कंतो, मूलछेज्जं तु कारए ॥

षण्णां जीवनिकायानां (अप्पज्झोत्ति) स्ववशो यदि दर्प्पणाकु–ट्टिकया वा विराधको भवति तत आलोचितत्प्रतिक्रान्तं तं मूलश्छेद्यं प्रायश्चित्तं कारयेत् वा शब्दोपादानाद्यदि तपोऽर्हप्रायश्चितमापन्नस्ततस्तपोऽर्हमेव दद्यात् तत्रापि यन्मासलघुकादिमापन्नस्तदेव दद्यात्। अथ हीनादिकं ददाति ततो दोषाभवन्तीति दर्शयति ॥

जं जोउ समावत्तो, जं पाउग्गं व जस्स वत्थुस्स।
तं तस्स उ दायव्वं, असस्सिदाणे इमे दोसा ॥

यत्तपोर्हं छेदार्हं वा प्रायश्चित्तं यः समापन्नो यस्य वा वस्तुन आचार्यादेरसहिष्णुप्रभृतेर्वा यत्प्रायश्चित्तं प्रायोग्यमुचितं तत्तस्य दातव्यं वचसदृशमनुचितं ददाति ततः इमे दोषाः ॥

अप्पच्छित्ते पच्छित्तुं, पच्छित्ते अतिमत्तया।
धम्मस्सासायणा तिव्वा, मग्गस्स य विराहणा ॥

अप्रायश्चित्ते अनापद्यमानेऽपि प्रायश्चित्ते यः प्रायश्चित्तं ददाति प्राप्ते च प्रायश्चित्ते योऽतिमात्रमतिरिक्तप्रमाणं प्रायश्चित्तं ददाति स धर्मस्य तीव्रामाशातनां करोति मार्गस्य मुक्तिपथस्य सम्यग्दर्शनादेर्विराधनां करोति। किंच ॥

उस्सुत्तं ववहरंतो, कम्मं बंधंति चिक्कणं।
संसारं च पवड्ढंति, मोहणिज्जं च कुव्वती ॥

उत्सूत्रं सूत्रोत्तीर्णं रागद्वेषादिना व्यवहरन् प्रायश्चित्तं प्रयच्छन् चिक्कणं गाढतरं कर्म बध्नाति। संसारं च प्रवर्द्धयति। प्रकर्षेण वृद्धिमन्तं करोति। मोहनीयं च मिथ्यात्वमोहादिरूपं करोति इदमेव सविशेषमाह ॥

उम्मग्गदेसणाए, मग्गविप्पडिवातए।
परं मोहेण रंजंतो, महामोहं पकुव्वइ ॥

उन्मार्गदेशनया च सूत्रोत्तीर्णप्रायश्चित्तादिमार्गप्ररूपणया मार्ग सम्यग्दर्शनादिरूपं विविधैः प्रकारैः प्रतिपातयति व्यवच्छेदं प्रापयति तत एवं परमपि मोहेन रञ्जयन्महामोहं प्रकराति तथाव त्रिंशतिमहामोहस्थानेषु पत्त्यते "नेया जयस्स भग्गस्स, अवगारम्मि वट्टइ" यत एवमतो न हीनाधिकप्रायश्चित्तं दातव्यमिति ॥ वृ० ६ उ० ॥

उवट्ठ(ट्ठा)वणाकप्पिय पुं०(उपस्थापनाकल्पिक) उपस्थापना–विषये, कल्पिके वृ० १ उ० (यथा स तथा दर्शितमनन्तर मेव 'उवट्ठवणा' शब्दे)

उवट्ठ(ट्ठा)वणागहण न०(उपस्थापनाग्रहण) उपस्थापनायां, हस्तिदन्तोन्नताकारहस्तादिभी रजोहरणादिग्रहणे, वृ०३ उ०।

उवट्ठ(ट्ठा)वणायरिय पुं०(उपस्थापनाचार्य्य) उपस्थापनया आचार्य्यः। आचार्य्यभेदे, स्था०४ ठा०३उ०॥

उवट्ठ(ट्ठा)वणारिह पुं०(उपस्थापनार्ह) व्रतार्थपरिज्ञानादिगुणयुक्ते व्रातारोपणयोग्ये , । 'पढिएय कहिय अहिगय परिहरउवट्ठावणाइ जोगोत्ति। छक्कतीहिं विसुद्धं, परिहरणवएण भेदेण ॥ पडपासाउरमादी, दिट्ठंता होंति वयसामा। रुहणे जह मलिणाइसु, दोसा सुद्धाइ सुणेव मिहइं पीत्यादि, एतासिं लेसुद्देसेण सीसहियट्ठयाए अत्थो भन्नइ पढियाए सत्थपरिन्नाए दसकालिए छज्जीवणिकाए वा कहियाए अत्थओ अभिगयाए सम्मं परिक्खिऊण परिहरइ छज्जीव–नियाए मणवयणकाएहिं कयकाएवियाणुमतिभेदेण तओ ट्ठाविज्जइ ण अन्नहा इमे य इत्थपडादी दिट्ठंता मइलो पडो ण रंगिज्जइ सोहि उ रंगिज्जइ असोहिए मूलपासाओ ण किज्जइ सोहिए किवमणाईहिं असोहिए आउरेउसह न दिज्जइ सोहिए दिज्जइ असंठविए रयणे पडिबंधो न कज्जइ संठए किज्जति एवं पढिय कहियाईहिं असोहिए सीसोण वयारोवणं कज्जइ सोहिए कज्जइ असोहिए य करणे गुरुणो दोसो सोहिया पालणे सीसस्स दोसोत्ति"। द० ४अ०॥

उवट्ठ(ट्ठा)वणीय त्रि०(उपस्थापनीय) आरोपणीये, स्था०३ ठा०।

उवट्ठ(ट्ठा)वि(वे)त्तए अव्य०(उपस्थापयितुम्) महाव्रतेषु व्यव–स्थापयितुमित्यर्थे, वृ०४ उ०। स्था०॥

उवट्ठाण न०(उपस्थान) उप–स्था–ल्युट्–उपेत्य स्थितौ, परलोकक्रियास्वभ्युपगमे, भ०१ श०३ उ०। प्रत्यासत्तिगमने, नि०। व्रतस्थापने, "वीयाए छेयं तइयाए उवट्ठाणं अविहीए चेइयाइं वंदेता' महा० ७ अ०॥

उवट्ठाणकिरिया स्त्री०(उपस्थानक्रिया) ०वसातदोषभेदे, ये भगवन्तः आगन्तारादिषु च ऋतुबद्धं वर्षा वा अतिबाह्यान्यत्र मासमेकं स्थित्वा द्वित्रैर्मासैर्व्यवधानमकृत्वा पुनस्तत्रैव वसन्ति। अयमेवंभूतः प्रतिश्रय उपस्थानक्रियादोषदुष्टो भवत्यतस्तत्राऽवस्थातुं न कल्पते आचा० २ श्रु० ३ अ०(वसइ शब्दे सूत्रतः चैतत्स्पष्टीभविष्यति)

उवट्ठाणगिह पुं०न०(उपस्थानगृह) आस्थानमण्डपे, स्था० ५ ठा०। भ०। आस्थानसभायाम्, कल्प०।

उवट्ठाणदोस पुं०(उपस्थानदोष) नित्यवासदोषे, व्य०४ उ०।

उवट्ठाणसाला स्त्री०(उपस्थानशाला) उपवेशनमण्डपे, नि०। आस्थानमण्डपे, ज्ञा०१ अ०। उपस्थानमण्डपे, दशा०१०अ०। "वाहिरियाए ठवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइ जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह" औ०।

उवट्ठाणा स्त्री०(उपस्थाना) उप सामीप्येन सर्वदावस्थानलक्षणेन तिष्ठन्त्यस्यामिति उपस्थाना अजादिपाठाद्वाप्प्रत्ययः। उप–स्थानक्रियादोषदुष्टायां शय्यायाम्, व्य० ४ उ०। यस्यां वसतौ ऋतुबद्धे मासं वर्षाकाले चतुर्मासं च स्थिता यदि तस्यामृतुबद्धव–र्षाकाले संबन्धिकालमर्यादां द्विगुणामवर्जयित्वा भूयः समागत्य तिष्ठन्ति तदा सैव वसतिरुपस्थाना। किमुक्तं भवति ! ऋतुबद्धे कालं द्वौ मासौ वर्षास्वष्टमासान् अपहृत्य यदि पुनरागच्छन्ति तस्यां वसतौ ततः सा उपस्थाना भवति। अन्ये पुनरिदमाचक्षते। यस्यां वसतौ वर्षारात्रं स्थिता तस्यां द्वौ। वर्षारात्रौ अन्यत्र कृत्वा यदि समागच्छन्ति ततः सा उपस्थाना न भवति अर्वाक् तिष्ठतां पुनरुपस्थाना ॥ ग०१अधि०॥

उउमासं समईआ, कालाईआउ सा भवे सिज्जा।
साचे व उवट्ठाणा, दुगुणदुगुणं पवज्जित्ता॥

ऋतुबद्धे मासं समतीतानि यानि वासेन उपलक्षणाद्वर्षाकाले वा चतुष्कालातीतासु कालातीतैव सा भवेच्छय्या वसतिः। अन्ये तु पाठान्तरतः इत्थं व्याचक्षते। ऋतुवर्षयोः समतीता निजं कालं ऋतुबद्धे मासं वर्षाकाले चतुर इति शेषं मूलवत्। सैवोपस्थाना सैव मासादिकल्पोपयुक्ता उपस्थानवती भवति। कथमित्याह। तद्-द्विगुणद्विगुणमित्युभयकालसंपरिग्रहार्थं वीप्सा वर्जयित्वा प्रहृत्य मासकल्पे मासवर्जनीया वर्षावस्थाने चतुर्म्मासिकद्वयमिति। भावार्थः। ॥१३॥ पं०व०(अधिकं वसइ शब्दे वक्ष्यते)

उवट्ठिय त्रि०(उपस्थित) उप-स्था-क्त०। उप सामीप्येन स्थि-तः उपस्थितः। समाश्रिते, । सूत्र०१ श्रु०२ अ०। आश्रिते, "निम्ममत्तमुवट्ठिओ" आतु०। सूत्र०। लग्ने, "नवट्ठिया मे आयरिया विज्जामंत तिगिच्छया" उत्त० २० अ०। प्राप्ते, "जण्णवादमुवट्ठिओ" उत्त० १२ अ०। "आभिओगमुवट्ठिया" द० ४ अ०। सम्यग् नुष्ठानं कृतवति, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। प्रत्यासन्नीभूते, स०। सामीप्येन स्थिते, आव० १० अ०। प्रव्रज्यायां प्रविव्रजिषौ, स०। प्रह्वीभुते, अभ्युद्यते, पा०। "अहमवि तं उवट्ठिओ तं महव्वयउच्चारणं" ध०३ अधि०। प्राप्तकरणावलये, पंचा० २२ विव०।

उवडहित्ता त्रि०(उपदाहयितृ) उपदाहके "अगणिकायेणं कायमुवडहित्ता भवति" अग्निकायेन तप्तायसा वा कायमुपदाहयिता भवति। सूत्र०२ श्रु० २ अ०।

उवणंद पुं०(उपनन्द) ब्राह्मणग्रामवासिनि नन्दभ्रातरि, नन्दपाठके, श्रीवीरे प्रविष्टे नन्देन प्रतिलाभिते च। उपनन्दगृहे गोशालः पर्य्युषितान्नदानेन रुष्टस्तद् गृहदाहाय शशाप (वीर शब्दे चैतत्) स्थविरस्थार्यसंभूतविजयस्य द्वादश शिष्याणां द्वितीये शिष्ये। कल्प०॥

उवणगर अव्य०(उपनगर) सामीप्ये, अव्ययी भावः समासः नगरस्य समीपे, औ०॥

उवणगरग्गाम पुं०(उपनगरग्राम) नगरस्थ समीपमुपनगरं तत्र ग्राम उपनगरग्रामः। पुरोपकण्ठे ग्रामे, "चंपाए णयरीए उवणगरग्गामं उवागए" औ०। आ० चू०॥

उवणच्चिज्जमाण त्रि०(उपनर्त्यमान) नर्तनं कार्य्यमाणे, औ०॥

उवणमंत त्रि०(उपनमत्) प्राप्नुवति, प्रश्न० अ० ४ द्वा०। ढौक माने, सूत्र०१ श्रु० २ अ०॥

उवणय न०(उपनत) नृत्यारे, तं०॥

***उपनय** पुं० गुणोक्तौ, स्तुतौ, प्रव० १४१ द्वा०। उपसंहारे दृष्टा-न्तदृष्टस्यार्थस्य प्रकृते योजने, ॥ प्रव० ६६ द्वा०। तथा न तथेति वा पक्षधर्मोपसंहारे, । तद्यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादघटवत्तथा चायम् अनित्यत्वाभावे कृतकत्वमपि न भवत्याकाशवत् तथाऽय-मिति। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। उपनयं वर्णयन्ति हेतोः साध्यध-र्मिण्युपसहरणमुपनय इति यथा धूमश्चात्र प्रदेश इति। रा०। नयानां समीपे उपनयाः। सद्भूतव्यवहाराऽसद्भूतव्यवहारोपचरितसद्-भूतव्यवहाराऽख्यनयत्रिके॥

तद्भेदवक्तव्यता यथा-

ये मार्गं सरलं त्यक्त्वो-पनयात्कल्पयन्ति वै।
तत्यपञ्चविबोधाय, तेषां जल्पः प्रतापये॥७॥

नया न्यायानुसारेण, न वचोपनयास्त्रयः।
निश्चयव्यवहारौ हि, तदध्यात्ममतानुगौ॥८॥

ये च केचन कल्पकाः सरलं सममेतदुक्तलक्षणं मार्गं नयनिगम-पन्थानं त्यक्त्वा विमुच्य उपचारादिग्रहीतुमिच्छयोपनयान् नयानां समीपे उपनयास्तान् कल्पयन्ति दिगम्बरशास्त्रे हि द्रव्यार्थिकः १ पर्यायार्थिकः २ नैगमः ३ संग्रहः ४ व्यवहारः ५ ऋजुसूत्रं ६ शब्दः ७ समभिरूढः ८ एवंभूतः ९। इति नव नयाः स्मृताः। उपनयाश्च कथ्यन्ते नयानां समीपमुपनयाः सद् भूतव्यवहारः असद् भूतव्य-वहार उपचरितसद् भूतव्यवहारश्चेति उपनयास्त्रेधा इति। तत्प्रपञ्चस्तद्विस्तारः शिष्यबुद्धिद्वन्द्वनमात्रमेवास्ति तथापि विबोधाय समानतन्त्रत्वेन परिज्ञानाय तेषां नयानां जल्प उल्लापः प्रतायते स्वप्नक्रियाया उच्यते इत्यर्थः ७ (नयेति) न्यानुसारेण तन्मतीयग्रन्थगताभिप्रायेण नया नव सन्ति पूर्वोक्ताः ज्ञेयास्तथा उपनया-स्त्रय एवं सन्ति तेऽप्युपनयाः सद् भूतव्यवहारादयस्त्रय इति। तथा चाध्यात्माख्योऽपि मतभेदः कश्चिदस्ति तत्र च तदध्यात्ममतानुगौ तच्छैलीपरिशीलितौ नयौ निश्चयेन द्वावेव कथितौ तत्रैको निश्चयनयः १ अपरो व्यवहारनयश्चेति २ द्वावेव नाधिकौ। अभेदोपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः यथा "जीवः शिवः जीवो, नान्तरं शिवजीवयो" रिति। भेदोपचारतया वस्तु व्यवहियत इति व्यवहारः। यथा "कर्मबन्धौ भवेज्जीवः कर्ममुक्तस्तदा शिवः" इति॥ द्र०५ अध्या०॥

अथोपनयानां प्रकारमाह।

त्रयश्चोपनयास्तत्र, प्रथमो धर्मधर्मिणोः।
भेदाच्छुद्धस्तथाऽशुद्धः, सद् भूतव्यवहारवान्॥१॥
ज्ञानं यथात्मनो विश्वे, केवलं गुण इष्यते।
मतिज्ञानादयोऽप्येते, तथैवात्मगुणा भुवि॥२॥
गुणो गुणी च पर्यायः पर्यायी च स्वभावकः।
स्वभावी कारकस्तद्वा-नेकद्रव्यानुगाविधा॥३॥

तत्रेत्यधिकारसूचकविषयसप्तमीयम्। नयानां समीपमुपनया स्त्रयस्त्रि-संख्याकाः। तेषु त्रिषु प्रथम आद्यो धर्मश्च धर्मी च तयो र्भेदस्तस्मात्। धर्मधर्मिणोरसाधारणं कारणं धर्मः स च धर्मोऽस्यास्तीति धर्मी तयोरिति द्वन्द्वसमासेन भेदात् द्विधा द्विप्रकारः। एतावता यः प्रथमभेदो धर्मधर्मिभेदाज्जातः सोऽपि द्विविधो ज्ञेयः। एकः शुद्धोऽपरो द्वितीयोऽशुद्धः। कथंभूतः शुद्धस्तथाशुद्धश्च सद्भूतव्यवहारवान् सद् भूयतेऽनेनेति सद् भूतः व्यवहियत इति व्यवहारः सद् भूतश्च व्यवहारश्च सद् भूतव्यवहारौ शुद्धाशुद्धौ तौ विद्येतेऽस्येति सद् भुतव्यवहारवान् शुद्धयोर्धर्मधर्मिणोर्भेदाच्छुद्धसद् भूतव्यवहारः ॥१॥ अशुद्धधर्मधर्मिणो-र्भेदादशुद्धसद् भूतव्यवहारः॥२॥ सद् भूतस्त्वेकं द्रव्यमेवास्ति भिन्नद्रव्यसंयोगापेक्षा नास्ति। व्यवहारस्तु भेदापक्षयेत्येवं निरुक्तिः॥१॥ (ज्ञानेति (यथा विश्वे जगति आत्मनः केवलं ज्ञानं गुण इति षष्ठीप्रयोगः। इदमात्मद्रव्यस्य ज्ञानमिति तथा मतिज्ञानादयोऽपि आत्मद्रव्यस्य गुणाः इति व्यवहियन्ते केवलज्ञानं यद्वर्तते स एव शुद्धः आत्मास्ति १ मत्यादयो ज्ञानानि केवलावरणविशेषिता व्यवहारा अशुद्धा लक्ष्यन्ते इति॥२॥ (गुणेति) गुणो रूपादिः गुणी घटः १ पर्यायः मुद्राकुण्डलादिः पर्यायी कनकं २ स्वभावो ज्ञानं स्वभावी जीवः ३ कारकश्चक्रदण्डादिः कारकी कुलालः ४ अथवा

गुणगुणिनौ १ क्रियाक्रियावन्तौ २ जातिव्यक्ती ३ नित्यद्रव्यविशेषौ चेति ४ एवं एकद्रव्यानुगतभेदा उच्यन्ते ते सर्वेऽपि उपनयस्यार्था ज्ञातव्याः। अवयवावयविनौ इति अवयवादयो हि यथाक्रममवयव्याद्याश्रिता एव तिष्ठन्तेऽविनश्यन्तो विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एव तिष्ठन्ते इत्यादि॥

अथासद्भूतव्यवहारं निरूपयति।

असद्भूत व्यवहारो, द्रव्यादेरुपचारतः।
परपरिणतिश्लेष–जन्यो भेदो नवात्मकः ॥४॥

असद्भूतव्यवहारः स कथ्यते यः परद्रव्यस्य परिणत्या मिश्रितः अर्थात् द्रव्यादेर्द्धर्माधर्मादिरुपचारतः उपचारणात् परपरिणतिश्लेषजन्यः परस्य वस्तुनः परिणतिः परिणमनं तस्य श्लेषः संसर्गस्तेन जन्यः परपरिणतिश्लेषजन्यः। असद्भूतव्यवहारः कथ्यते। अत्र हि शुद्धस्फटिकसंकाशजीवभावस्य परशब्देन कर्म कथ्यते तस्य परिणतिः पञ्चवर्णादिरौद्रात्मिका तस्याः श्लेषोजीवप्रदेशैः कर्मप्रदेशसंसर्गस्तेन जन्यः उत्पन्नः परपरिणतिश्लोषजन्यः असद्भूतव्यवहाराख्यो द्वितीयो भेदः कथ्यते। स नवधा नवप्रकारो भवति। तथाहि द्रव्ये द्रव्योपचारः १ गुणे गुणोपचारः २ पर्याये पर्यायोपचारः ३ द्रव्ये गुणोपचारः ४ द्रव्ये पर्यायोपचारः ५ गुणे द्रव्योपचारः ६ गुणे पर्यायोपचारः ७ पर्याये द्रव्योपचारः ८ पर्याये गुणोपचारः ९ इति। सर्वोऽपि असद्भूतव्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्यः अत एवोपचारः पृथक् नयो न भवति मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते सोऽपि संबन्धाविनाभावः श्लेषः संबन्धः परिणामपरिणामिसंबन्धश्रद्धाश्रद्धेयसबन्धः ज्ञानज्ञेयसंबन्धश्चेति। भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहारः गुणगुणिनोर्द्रव्यपर्याययोः संज्ञासंज्ञिनोः स्वभावतद्वतोः कारकतद्वतोः क्रियातद्वतोर्भेदादभेदकः सद्भूतव्य–वहारः। शुद्धगुणगुणिनोः शुद्धद्रव्यपर्याययोर्भेदकथनं शुद्धसद्भूतव्यवहारः २ तत्र उपचरितसद्भूतव्यवहारः सोपाधिकगुणगुणिनोर्भेदविषयः। उपचरितसद्भूतव्यवहारो यथाजीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः। निरुपाधिकगुणगुणिनोर्भेदको ऽनुपचारिसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञानोदयो गुणाः। ४ शुद्धगुणगुणिनोरशुद्धद्रव्यपर्याययोर्भेदकथनमशुद्धसद्भूतव्यवहार ५ इत्यादिप्रयोगवशाद्ज्ञेयमिति॥

अथ नवभेदानसद्भूतव्यवहारजन्यान् विवृणोति।

द्रव्ये द्रव्योपचारो हि, यथा पुद्गलजीवयोः।
गुणे गुणोपचारश्च, भावद्रव्याख्यलेश्ययोः ॥५॥
पर्याये किल पर्यायो–पचारश्च यथा भवेत्।
स्कन्धा यथात्मद्रव्यस्य, गजवाजिमुखाः समे ॥६॥

हि निश्चितं द्रव्ये गुणपर्यायवति वस्तुनि द्रव्योपचारः द्रव्यस्य प्रस्तुतस्योपचारः उपचरणमात्रधर्मः यथेति दृष्टान्तः श्रीजिनस्यागमे पुद्गलजीवयोरैक्यं जीवः पुद्गलरूपः पुद्गलात्मकः अत्र जीवोपि द्रव्यं पुद्गलोऽपि द्रव्यम् उपचारेण जीवः पुद्गलमय एवासद्भूतव्यव–हारेण मन्यते नतु परमार्थतः यथा च क्षीरनीरयोर्न्यायात् क्षीरं हि नीरमिश्रितं क्षीरमेवोच्यते व्यवहारात्। एवमत्र जीवे जीवद्रव्ये पुद्गलद्रव्यस्योपचारः १ पुनर्गुणे गुणोपचारो गुणे रूपादिके गुणस्योपचारः यथा भावलेश्याद्रव्यलेश्ययोरुपचारः भावलेश्या हि आत्मनोऽरूपी गुणस्तस्य हि यत्कृष्णनीलादिकथनं वर्ततेतद्धि कृष्णादिपुद्गलद्रव्यजगुणस्योपचारोऽस्ति अयं हि आत्मगुणस्य पुद्गलगुणस्योपचारो ज्ञातव्यः ॥५॥ पर्याये पर्यायविषये नरत्वादिके पर्यायस्य तदादिकस्यैवोपचारः यथा आत्मा द्रव्यपर्यायस्य तदादिकस्यैवोपचारः यथा गजवाजिमुखाः पर्यायस्कन्धा उपचारादात्मद्रव्यस्य समानजातीयद्रव्यपर्यायास्तेषां स्कन्धाः कथ्यन्ते ते च आत्मपर्यायस्योपरि पुद्गलपर्यायस्य उपचरणात्स्कन्धा व्यपदिश्यन्ते व्यवहारात्।

अथ द्रव्ये गुणोपचारः।

द्रव्ये गुणोपचारश्च, गौरोऽहमिति द्रव्यके।
पर्यायस्योपचारश्च, ह्यहं देहीति निर्णयः ॥७॥

यथाहं गौर इति ब्रुवतामहमित्यात्मद्रव्यम् तत्र गौर इति पुद्गलस्योज्वलताख्यो गुण उपचरितः।४। अथवा द्रव्ये पर्यायोपचारः। अथ वा ''अहं देहीति निर्णयः'' इत्यत्र अहमिति आत्मद्रवयं तत्रात्मद्रव्यविषये देहीति देहमस्यास्तीति देही देहमिति पुद्गलद्रव्यस्य समानजातीयद्रव्यपर्याय उपचरितः ॥५॥

गुण द्रव्योपचारश्च पर्यायेऽपि तथैव च।
गौर आत्मा देहमात्मा, दृष्टान्तौ हि क्रमात्तयोः ॥८॥

गुणे द्रव्योपचारश्च तथा पर्याय गुणोपचारश्च। एवं द्वौ उपनयासद्भूतव्यवहारस्य भेदौ। अथ तयोरेवानुक्रमेण दृष्टान्तौ यथा ''अयंगौरो दृश्यते स चात्मा'' अत्र गौरमुद्दिश्यात्मनो विधानं क्रियते यत्तदिह गौरतारूपपुद्गलगुणोपरि आत्मद्रव्यस्योपचारपठनमिति। ६। पर्याये द्रव्येपचारो यथा ''देहमिति आत्मा'' अत्र हि देहमिति देहाकारपरिणतानां पुद्गलानां पर्यायेषु विषयभूतेषु च आत्मद्रव्यस्योपचारः कृतः देहमेवात्मा देहरूपपुद्गलपर्यायविषय आत्मद्रव्यस्यापौद्गलिकस्योपचारः कृत इति सप्तमो भेदः ॥७। ''अततिसातत्येन गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्यात्मा'' अत्र पर्यायाणां द्रव्यभावभेदितानां गमनप्रयोगो यद्यपीष्टस्तथापि असद्भूतव्यवहारविवक्षावलेन उपचारधर्मस्यैव प्रधान्यात् बहिः पर्यायावलम्बनेन कर्मजशुभाशुभपुद्गलपरिणतगौराख्यवर्णोपलक्षित आत्मा भासते तदा गौर आत्मेति प्रतीतिर्जायते अन्यथा आत्मनः शुद्धस्याकर्मणः कुतो गौरत्वध्वनिः। अत एव उपचारधर्मो देहमात्मेत्यत्र तु औदारिकादिपुद्गलप्रणीतं देहमौदयिकेनाश्रित आत्मा उपलभ्यते तदा देहमात्मेति उपचारध्वनिः ॥८॥

अथाष्टमभेदोत्कीर्तनमाह।

गुणे पर्यायचारश्च, मतिज्ञानं यथा तनुः।
पर्याये गुणचारोऽपि, शरीरं मतिरिष्यते ॥९॥

गुणे पर्यायोपचारः पर्यायचार इति उपचारो वाच्यो भीमो भीमसेन इतिवत्। यथा मतिज्ञानम् तदेव शरीरशरीरं शरीरजन्यं वर्तत ततः कारणात् अत्र मतिज्ञानिरूपात्मकगुणविषये शरीररूपपुद्गलपर्यायस्योपचारः कृतः।८। अथ नवमभेदोत्कीर्तनमाह। पर्याये गुणोपचारः यथा हि पूर्वप्रयोगजमन्यथा क्रियते यतः शरीरे तदेव मतिज्ञानरूपो गुणोऽस्ति अत्र हि शरीररूपपर्यायविषये मतिज्ञानरूपाख्यस्य गुणस्योपचारः क्रियते शरीरमिति पर्यायः तस्मिन् विषये मतिज्ञानाख्यो गुणस्तस्य चोपचारः कृतः अत्र च अष्टमनवमविकल्पयोः समविषमकरणेनोपचारो विहितस्तत्रापि सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाः सहभावित्वं च द्रव्येण क्रमभावित्वमपि द्रव्येणैव ज्ञेयमतो द्रव्यस्यैव गुणाः पर्याया अपि द्रव्यस्यैव गुणपर्याययोः पर्यायगुणयोश्च परस्परमुपचारोव्यवहारः कृतः। यत्रोपचारस्तत्र निदर्शनमात्रमेव विसदृशधर्मित्वेन धर्मारोपवत्। किं च मतिज्ञानमात्मनः कश्चिदुद्घटितो गुणः। शरीरं च पुद्गलद्रव्यस्य समवायिकारणं यथा मृत्पिण्डो घटस्य समवायिकारणमितिवत्। एवं सति उपचारो आ–

यते परेण परस्योपचारात् स्वस्य स्वेनोपचारासंभवः यथा मृत्पिण्डस्य घटेन, तन्तूनां पटेनेत्येवमसद्भूतव्यवहारो नवधा उपदिष्टः। उपचारबलेन नवधोपचाराः कृताः ।६।

अथ तस्यैवासद्भूतव्यवहारस्य भेदत्रयं कथ्यते।

असद्भूतव्यवहार, एवमेव त्रिधा भवेत्।
तत्राद्यो निजया जात्या–ऽप्यनुभूरिप्रदेशयुक् ॥१०॥

असद्भूतव्यवहार एवं पूर्वोक्तरीत्यैव त्रिधा त्रिप्रकारो भवेत्तत्र त्रिषु भेदेषु *आद्यो भेदो यथा परमाणुर्बहुप्रदेशी कथ्यते कथमेतत् परमाणुस्तु* निरवयवोऽतो निरवयवस्य प्रसदेशत्वं नास्ति तथापि बहुप्रदेशानां सांसर्गिकी जातिः परमाणुरस्ति यथाहि द्व्यणुकत्र्यणुकादिस्कन्धादयः ॥ अथद्वितीयो भेदश्च।

विजात्यपि स एवान्यो, यथा मूर्तिमती मतिः।
मूर्तिमद्भिरपि द्रव्यै–र्निष्पन्ना चोपचारतः ॥११॥

यथा स एव असद्भूतः विजात्या वर्तते यथा वा मूर्तिमती मतिः मतिज्ञानं मूर्तं कथितं तत्तु मूर्तविषयलोकमनस्कारादिकेभ्य उत्पन्नं तस्मान्मूर्तम्। वस्तुतस्तु मतिज्ञानमात्मगुणः तस्य चापौद्गलिकस्य मूर्तिपुद्गलगुणोपचारः कृतः स तु विजात्या असद्भूतव्यवहारः।

अथ तृतीयमाह।

स्वजात्या च विजात्याऽपि, असद्भूतस्तृतीयकः।
जीवाजीवमयं ज्ञानं, व्यवहाराद्यथोदितम् ॥१२॥

स एव पुनरसद्भूतव्यवहारः स्वजात्या विजात्या च संबन्धितः कथितः यथा जीवाजीवविषयं मतिज्ञानम् अत्र हि जीवो मतिज्ञानस्य स्वजातिरस्त्यात्मनो ज्ञानमयत्वात्। अजीवो मतिज्ञानस्य विजातिरस्ति। यद्यपि मतिज्ञानादिविषयीभूतघटोऽयमितिज्ञानं तथापि विजातिजडचेतनसंबन्धात् अनयोर्जीवाजीवयोर्विषयविषयिभावनामा उपचरितसंबन्धोऽस्ति स हि स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारोऽस्ति तद्भावनमेव ज्ञेयं स्वजात्यंशे किं नायं सद्भूत इति चेद्विजात्यंशे विषयतासंबन्धस्योपचरितस्यैवानुभवादिति गृहाणेति व्यवहाराद्यथोदितं तथा विचारयेति पद्यार्थः ॥

अथोपचरितासद्भूतस्य लक्षणमाह।

यश्चैकेनोपचारेणो–पचारो हिं विधीयते।
स स्यादुपचरिताद्य–सद्भूतव्यवहारकः ॥१३॥

यश्च पुनरेकेन उपचारेण कृत्वा द्वितीय उपचारो विधीयते स हि उपचरितोपचरितो जात उपचरितासद्भूतव्यवहार इति नाम लभत इत्यर्थः ॥

अथोदाहरणमाह।

स्वजात्या तं विजानीते, योऽहं पुत्रादिरस्मि वै।
पुत्रमित्रकलत्राद्या, मदीया निखिला इमे ॥१४॥

तमुपचरितासद्भूतं स्वजात्या निजशक्त्या उपचरितसंबन्धेन असद्भूत व्यवहारे जानीत संबन्धकल्पनं यथा अहं पुत्रादिः। अहमित्यात्मपर्यायः पुत्रादिरिति परपर्यायः अहं पुत्रादिरिति संबन्धकल्पनम्। पुनः पुत्रमित्रकलत्राद्या निखिला इमे मदीयाः संबन्धिनः। अत्र अहं मम चेत्यादिकथनं पुत्रादिषु तद्धि उपचरितेन उपचरितं तत्कथ पुत्रादयो हि आत्मनो भेदाः स्ववीर्यपरिणामत्वात् अभेदसंबन्धः परम्पराहेतुतयोपचारितः पुत्रादयस्तु शरीरात्मकपर्यायरूपेण स्वजातिः परं तु कल्पनमात्रं न चेदेवं तर्हि स्वशरीरसंबन्धयोजनया संबन्धः कथितः पुत्रादीनां तथैव मत्कुणादीनामपि पुत्रव्यवहारः कथं न कथित इति ॥

अथविजात्या असद्भूतव्यवहारः।

विजात्या किल तं वित्त, योऽहं वस्त्रादिरद्भुतः।
वस्त्रादीनि ममैतानि, वप्रदेशादयो द्विधा ॥

विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारं प्रकटयति किल इति सत्ये तं असद्भूतव्यवहारं विजात्या उपचरितं विजानीत यश्च अहं वस्त्रादि अहमिति संबन्धिवचनं वस्त्रादिरिति संबन्धवचनमहं वस्त्रादिरिति उपचरितं सर्वोऽपि व्यतिकरः असद्भूतव्यवहारः संबन्धसंबन्धिकन्पनत्वात् अथ च तानि वस्त्रादीनि मम सन्ति अत्र हि वस्त्रादिकानि पुद्गलपर्यायाणि ममेति संबन्धयोजनया भोज्यभोजकभोगभोगि*कोपचारकल्पनमात्रपराणि भवन्तीति निष्कर्षः। अन्यथा वल्कलादीनां* वा नेयानां पुद्गलानां शरीराच्छादनसमर्थानामपि मम वस्त्राणीति उपचारसंबन्धकल्पनं कथं न कथ्यते वस्त्रादीनि हि विजातिषु स्वसंबन्धोपचरितानि सन्तीति भावः। पुनः वप्रदेशादयोऽपि द्विधेति व्रप्रादिरहं वप्रदेशादयो ममेति कथयता स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो भवेत् कथं वप्रदेशादयो हि जीवाजीवात्मकोभयसमुदायरूपाः सन्ति ॥

अथ संक्षेपमाह।

इत्थं समे चोपनयाः प्रदिष्टाः, स्याद्वादमुद्रोपनिषत्स्वरूपाः।
विज्ञाय तान् शुद्धधियः श्रयन्तां, जिनक्रमाम्भोजयुगं महीयः॥

इत्थमनया दिशा समेनयाः च पुनः उपनयाः प्रदिष्टाः कथिताः। कीदृशास्ते स्याद्वादस्य श्रीजिनागमस्य या मुद्रा शैली तस्या उपनिषत्स्वरूपा रहस्यरूपाः सन्ति। तान् सर्वानपि विज्ञाय ज्ञात्वा शुद्धधियः निर्मलबुद्धयः श्रयन्तामङ्गीकुर्वतां किं जिनक्रमाम्भोजयुगं वीतरागचरणकमलं श्रयन्तामित्यर्थः। द्र० ७ अध्या०।

उवणयण न०(उपनयन) ढौकने, सूत्र०२ श्रु० २अ०। कलाग्राहणे, भ० ११ श० ११ उ०। उपनयार्थे समीपप्रापणे च॥

एवम्भूतमुपनयनं कदा प्रवृत्तमित्याह।

उपणयणं तु कलाणं, गुरुमूले साधुणो तवो कम्मं।
घेत्तुं हवंति सद्धा, केई दिक्खं पवज्जंति ॥

उपनयनं नाम तेषामेव बालानां कलानां ग्रहणाय गुरोः कलाचार्यस्य मूले समीपे नयनम्। यदि वा धर्म्मश्रवणनिमित्तं साधोः सकाशे नयनमुपनयनं तस्माच्च साधोर्द्धर्म्मं गृहीत्वा केचित् श्राद्धा भवन्त्यपरे लघुकर्म्माणो दीक्षां प्रपद्यन्ते एतद्योभयमपि तदा प्रवृत्तम्। आ०म०प्र०। आ०चू०। रा०।

उवणयाभास पुं०(उपनयाभास) हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयस्य लक्षणोल्लङ्घनेनोपनयवदाभासमाने, परिणामी शब्दः कृतकत्वात् यः कृतकः स परिणामी यथा कुम्भ इत्यत्र परिणामी च शब्द इति कृतकश्च कुम्भ इति। इति साध्यधर्मं साध्यधर्मिणि–साधनधर्मं वा दृष्टान्तधर्मिण्युपसंहरत उपनयाभासः। रत्ना०।

उवणयावणयचउक्क न०(उपनयापनयचतुष्क) षोडशवचनानां वचनचतुष्के, तथोपनयापनयवचनं चतुर्द्धा भवति। तद्यथा उपनयापनयवचनं तथा उपनयोपनयवचनं तथा अपनयोपनयवचनतथा अपनयापनयवचनमिति। तत्रोपनयो गुणोक्तिरपनयो दोषभाषणम्। तत्र स्वरूपेयं रामा परं दुःशीला इत्युपनयापनयवचनम्। तथा सुरूपेयं स्त्री सुशीलेत्युपनयोपनयवचनम्। तथा कुरूपेयं स्त्री परं सुशीला इत्यपनयोपनयवचनम्। तथा कुरूपेयं कुशीला चेत्यपनयापन-यवचनमिति॥ यद्वा उपनयः स्तुतिरपनयो निन्दा तयोर्वचनचतुष्कम्। यथा रूपवती स्त्रीत्युपनयवचनं कुरूपा स्त्रीत्युपनयवचनं रूपवती किं तु कुशीलेत्युपनयापनयवचनं कुरू–

पा स्त्री किं तु सुशीलेत्यपनयोपनयववनमिति। प्रव० १४० द्वा०।

उवणिक्खित्त त्रि०(उपनिक्षिप्त) व्यवस्थापिते, ''अंतलिक्ख-जायंसि उवणिक्खित्ते सिया''। आचा०२ श्रु०॥

उवणिक्खेव पुं०(उपनिक्षेप) उप–नि–क्षिप्–कर्मणि घञ्। रूप–संख्याप्रदर्शनेन रक्षणार्थं परस्य हस्ते निहिते द्रव्ये, स चोपनि–क्षेपो द्विधा लौकिकोलोकोत्तरिकश्च। पुनरेकैको द्विधा आत्मोप–निक्षेपः परोपनिक्षेपश्च। तत्र लौकिक आत्मनिक्षेपो ये प्रगल्भास्ते आत्मनैवात्मानं राज्ञ उपनिक्षिपन्ति तिष्ठन्ति च चरणापपातकारकाः प्रपन्नशरणा ये पुनरप्रगल्भास्ते ये राज्ञो वल्लभास्तैरात्मानमुपनिक्षेपयन्ति। एष परोपनिक्षेपः। लोकोत्तरिक आत्मनिक्षेपो गच्छवर्त्तिनां साधूनां तथा हि ये गच्छे एव वर्तन्ते साधवस्ते आत्मानमात्मानैवाभिनवाचार्यस्योप-निक्षिपन्ति परनिक्षेपः फल्गुगतानां ते हि समागताः स्पर्द्धकयतिना निक्षिप्यन्ते यथा एते अहं च युष्माकमित। ''इह मिथियाइं अस्से कइउवसंपज्जणारिहे'' इत्याद्युक्तं तत्र यद्यपि सगीतार्थस्तरुणः समर्थश्चेन्द्रिय नोइन्द्रियाणां निग्रहं कर्त्तुं तथापि तेनान्यो गणो निश्रयितव्यो निश्रयस्य च परप्रत्ययनिमित्तं तत्रापि निक्षेपः कर्त्तव्यः। व्य० द्वि०४ उ०।

उवणिग्गय त्रि०(उपनिर्गत) उप सामीप्येन निर्गतो निष्क्रान्त उपनिर्गतः। सामीप्येन निष्क्रान्ते, ''उदिण्णबलवाहणे। नामेणं संजए नाम, मिगवं उवणिग्गए''। उत्त० १४ अ०। ''उवणिग्गयणवतरुणपत्तपल्लव-कोमलउज्जलचलंतकिसलयसुकुमालपवालसोहियवरंगकुरग्गसिहरा'' उपनिर्गतैर्नवतरुणपत्रपल्लवैरत्यभिनवपत्रगुच्छैस्तथा कोमलोज्व-लैश्चलद्भिः किशलयैः पत्रविशेषैः तथा सुकुमारप्रवालैः शोभितानि वराङ्कुराणि अग्रशिखराणि येषान्ते तथा (वनखण्डः) औ०।

उवणिमंतण न०(उपनिमन्त्रण) भिक्षो! गृहाणेदं पिण्डद्वयमित्य–भिधाने, भ०८ श०६ उ०॥

उवणिय त्रि०(उपनीत) उप–नी–क्त। **पानीयादिष्वित् ॥८।१।१०१॥** इति ईत इत्। ढौकिते, प्रा०॥

उवणिविट्ठ त्रि०(उपनिविष्ट) सामीप्येन स्थिते, ''तेणं तोरणा णाणामणिमएसु खंभेसु उवणिविट्ठसण्णिविट्ठा विविहमुतंतरोवचिता'' उपनिविष्टानि सामीप्येन स्थितानि तानि च कदाचिच्चलानि। अथवा अपदपतितानीतिशङ्क्येयुरनु तत आह सम्यग् निश्चलतया अपदपरिहारेण च निविष्टानि ततो विशेषणसमासः उपनिविष्टसन्निविष्टानि। रा०। जं०॥

उवणिसया स्त्री०(उपनिषद्) वेदान्तदर्शनप्रवृत्तौ, तथाप्युपनिष–द् दृष्टि–सृष्टिवादात्मिका परा॥न०॥

उवणिहा स्त्री०(उपनिधा) उप निधानमुपनिधा धातूनामनेकार्थत्वात्। मार्गणायाम्,। क०प्र०। पं०सं०।

उवणिहि पुं०(उपनिधि) उपनिधीयत इत्युपनिधिः। प्रत्यासन्नं यथाकथञ्चिदानीते,। स्था० ५ ठा०। उप सामीप्येन निधिरुपनिधिः। एकस्मिन्विवक्षितार्थे पूर्वं व्यवस्थापिते, तत्समीप एवापरापरस्य आनुपूर्वीशब्दोक्ते पूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण निक्षेपणे, निक्षेपे, विरचने, अनु०॥

उवहिणिय त्रि०(उपनिहित) यथा कथञ्चिदासन्नीभूते, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

उपणिहियय पुं०(उपनिहितक) उपनिहितं यथाकथञ्चिदासन्नीभूतं तेन चरन्ति ये ते उपनिहितकाः। अभिग्रहविशेषोपयुक्ते भिक्षाचरके, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

उवणीय त्रि०(उपनीत) उप–नी–क्त–उपढौकिते, उत्त० ४ अ०॥ प्रश्न०। विशे०। सूत्र०। प्रापिते,स्था० १० ठा०। आचा०। ''कालोवणीए कंखेज्जा'' कालेनोपनीतः कालोपनीतो मृत्युका–लेनात्मवशतां प्रापितः। आचा० १ श्रु० ६ अ०५ उ०। उपनयं प्रापिते, व्य० १ उ०। अर्पिते, गमितं प्रदर्शितमुपनीतमर्पितमित्येकार्थाः। आ०चू० १ अ०। केनचित्कस्यचिदुपढौकिते प्रहेणकादौ, औ०। समीपं प्रापिते, उत्त० ४ अ० निकटं समागते, उत्त० अ०। आसन्ने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। उपसंहारोपनययुक्ते सूत्रगुणभेदे,। अनु०। विशे०। उप सामीप्येन नीतः प्रापितो ज्ञानादावात्मा येन स तथा। ज्ञानादावुपढौकितात्मकन, सूत्र०१ श्रु०२अ०।

उवणीयअवणीयवयण न०(उपनीतापनीतवचन) कश्चिद्गुणः प्रशस्यः कश्चिन्निन्द्यः यथा रूपवती स्त्री किन्त्वसद्वृत्तेति इति प्रशस्यनिन्द्यलक्षणे षोडशवचनानामन्यतमे, आचा०२ श्रु०।

उवणीयचरय पुं०(उपनीतचरक) केनचित्कस्यचिदुपढौकितस्य प्रहेणकादेरभिग्रहतश्चरके, औ०।

उवणीयतर त्रि०(उपनीततर) आसन्नतरे, ''इणमेव उवणीयतरागं माया मे पिया मे भाया मे'' सूत्र०२ श्रु०१ अ०।

उवणीयरागत्त न०(उपनीतरागत्व) मालवदेशिकादिग्रामरागयु–क्तारूपे सप्तमे सत्यवचनातिशये, औ०। स०। रा०॥

उवणीयवयण न०(उपनीतवचन) प्रशंसावचने, यथारूपवती स्त्री इदं षोडशवचनानामष्टमम्। प्रज्ञा० ११ पद०।

उवणीयावणीयचरय पुं०(उपनीतापनीतचरक) उपनीतं ढौकितं सत्प्रहेणकाद्यपनीतं स्थानान्तरस्थापितमथवोपनीतं चापनीतं च यश्चरति स तथा। अथवा उपनीतं गायकेन वर्णितगुणमपनीतं निराकृतगुणमुपनी-तापनीतं यदेकेन गुणेन वर्णितं गुणान्तरापेक्षया तु द्वेषितं यथा अहो शीतलं जलं दोवर्स द्वारमित्यभिग्रहविशेषयुक्ते भिक्षाचरके, औ०॥

उवण्णत्थ त्रि०(उपन्यस्त) उपकल्पिते, दश० ५ अ०॥

उवण्णास पुं०(उपन्यास) उप–नि–अस्–घञ्। उपादाने, ''उपन्यासश्च शास्त्रेऽस्याः, कृतो यत्नेन चिन्त्यताम्'' हा०। उपन्यसनमुपन्यासः। तद्वस्त्वादिलक्षणे ज्ञातभेदे,॥

चत्तारि उवन्नासे, तव्वत्थुग अन्नवत्थुगे चेव।
पडिनिभए हेउम्मि, होंति इणमो उदाहरणा॥८३॥

चत्वार उपन्यासे विचार्ये अधिकृते वा भेदा भवन्तीति शेषस्ते चामी सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा तथाऽधिकारानुवृत्तेश्च तद्वस्तूपन्यासः। तथा तदन्यवस्तूपन्यासः तथा प्रतिनिभोपन्यासस्तथा हेतूपन्यासश्च। तत्रैतेषु भवन्त्यमूनि वक्ष्यमाणलक्षणानि उदाहरणानीति गाथाक्षरार्थः। भावार्थस्तु प्रतिभेदं स्वयमेव वक्ष्यति निर्युक्तिकारः। दश०१अ०। (एतद्भेदस्वरूपनिरूपणं तत्तच्छब्दे द्रष्टव्यम्)

उवण्णासोवणय पुं०(उपन्यासोपनय) वादिना अभिमतार्थसा–धनाय कृते वस्तूपन्यासे तद्विघटनाय यः प्रतिवादिना विरुद्धार्थोपनयः क्रियते पर्यनुयोगोपन्यासो वा य उत्तरोपनयः स उपन्यासोपनयः। ज्ञातभेदे, उत्तररूपमुपपत्तिमात्रमपि ज्ञातभेदो ज्ञानहेतुत्वादिति। यथा अकर्तात्मा अमूर्तत्वादाकाशवदित्युक्ते अन्य आह आकाशवदेवाभोक्तेत्यपि प्राप्तमनिष्टं चैतदिति। यथा वा मांसभक्षणमदुष्टम्प्राण्यङ्गत्वादोदनादिवत् अत्राहान्य ओदनादिवदेव स्वपुत्रादिमांसभक्षणमप्यदुष्टमिति। यथा वा त्यक्तसङ्ग

वस्त्रपात्रादिसंग्रहं न कुर्वन्ति ऋषभादिवत् अत्राह कुण्डिकाद्यर्पिते न गृह्णन्ति तद्वदेवेति तथा कस्मात्कर्म कुरुषे यस्माद्धनार्थीति इह प्रथमं ज्ञातं समग्रसाधर्म्यं द्वितीयं देशसाधर्म्यं तृतीयं सदोषं, चतुर्थं प्रतिवाद्युत्तररूपमित्ययमेषां स्वरूपविभाग इति। इह देशतः संवादगाथा ''चरियं च कप्पियं वा, दुविहं तत्तो चउव्विहेक्केक्कं। आहरणे तद्देसे, तद्दोसे चेव वुन्नासेत्ति ॥५॥ स्था०५ ठा०।'' ''उवण्णासोवणए चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा तव्वत्थुतदन्नवत्थुए पडिणिभेदेहेउ''। स्था० ४ ठा०। (स्वस्वस्थाने व्याख्या)

उवण्णेउ अव्य०(उपनम्य) स्थगयित्वेत्यर्थे, वृ०१उ०।

उवतल न०(उपतल) हस्ततलात्समन्तात्पार्श्वेषु, ''हत्थतला उ समंता पासेसु अण्णया उवतलं भण्णत्ति''। नि०चू०१उ०।

उवताव पुं०(उपताप) उप आधिक्ये तप–आधारे– घञ् – त्वरायां, भावे–घञ् सन्तापे, ण्यन्ततपेरच्। रोगे, मेदि०। कारणे–घञ्। अशुभे, पीडने, रत्ना०। उपसर्गे, शरीरपीडनोत्पादने, ।। सूत्र० १ श्रु० ३ अ०।

उवतीर अव्य०(उपतीर) सामीप्यादौ अव्ययी०। तीरसामीप्यादौ, ''एसणं गोयमा महातवो व तीप्पभवे'' भ०५ श०५ उ०।

उवत्थम त्रि०(उपस्तीर्ण) उपशब्दः सामीप्यार्थस्तृञ् च आच्छादनार्थः। उपस्तृ उत्पतद्भिर्नपतद्भिश्चानवरतक्रीडाशकैरुपर्युपर्याच्छादिते, ''आतिणा वितिणा उवत्थडासंघडा'' भ०१ श०१ उ०

उवत्थिय त्रि०(उपस्थित) उपगते, ''दसविहा रुक्खा उवभोगत्ताए उवत्थिया''॥स०॥

उवदंसण न०(उपदर्शन) उपनयनिगमनाभ्यां निःशङ्कं शिष्यबुद्धौ स्थापने, सकलनयाभिप्रायावतारणतः पटुप्रज्ञशिष्यबुद्धिषु व्यवस्थापने, नं०। स्था०॥

उवदंसणकूड *न०(उपदर्शनकूट) जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरेण नील–वतो* वर्षधरपर्वतस्य द्वितीये कूटे, स्था०२ ठा०।

उवदंसिज्जमाण त्रि०(उपदर्श्यमान) लोकैरन्योऽन्यं दर्श्यमाने, ज्ञा० १३ अ०।

उपदंसिय त्रि०(उपदर्शित) उप सामीप्येन यथा श्रोतृणां झटिति यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधो भवति तथा स्फुटवचनैरित्यर्थः द–र्शितः श्रवणगोचरं नीतः। उपदिष्टे, ''उवदंसिया भगवया पन्नवणा सव्वभावाणं''। प्रज्ञा० १ पद। सकलनययुक्तिभिर्दर्शिते, । ग० २ अधि०। अनु०॥

***उपदर्श्य** अव्य०उपदर्शनं कृत्वेत्यर्थे ''अंगुलीए उवदंसिय २ णिज्झाएज्जा'' आचा०२ श्रु०।

उवदंसेमाण त्रि०(उपदर्शयमान) उपदर्शनं कारयति, ''पुरिसक्कारपरक्कम उवदंसेमाणे'' स्था०३ ठा०॥

उवदीव (देशी) अन्यद्वीपे, दे०ना०॥

उवद्दव पुं०(उपद्रव) उप–द्रु–भावे–घञ्। उत्पाते, रोगारम्भके, धातुवैषम्यजनिते विकारभेदे, उपसर्गे, स्था०५ ठा०। अशिवे,। वृ० ४ उ०। मारणे, भ० ८ श०७ उ०। तत्र प्रायश्चित्तं। ''उवद्दवेणं खमणं चउत्थं'' महा० ७ अ०।

उवद्दवण न०(उपद्रावण) महापीडाकारणे, ध०३अधि०।

उवद्दविय त्रि०(अपद्रावित) उत्त्रासिते, आव०४ अ०।

उवप्पयाण न०(उपप्रदान) उप–प्र–दा–ल्युट् –अभिमतार्थदान–रूपे नीतिभेदे, विपा० ३ अ०। आ०म०प्र०॥

उवप्पव पुं०(उपप्लव) उप–प्लु–अप्। भ्रमविषये, पु० ''विकल्पतल्पमारुढः, शेषः पुनरुपप्लवः। द्वा० २४द्वा०।

उवप्पुयट्ठाणविवज्जण न०(उपप्लुतस्थानविवर्जन) उपप्लुतं स्वचक्रपरचक्रविक्षोभात् दुर्भिक्षमारीतिजनविरोधादेश्चास्वस्थीभूतं यत्स्थानं ग्रामनगरादि तस्य विवर्जनं परिहरणम्। सामान्यतो गृहिधर्मभेदे, ''तत्र सामान्यतो गृहि–धर्म्मो न्यायार्जितं धनम्। इन्द्रियाणां जय उपप्लुतस्थानविवर्जनम्'' अल्पत्यज्यमाने हि तस्मिन् धर्म्मार्थकामानां पूर्वार्जितानां विनाशेन नव्यानां चानुपार्जनेनोभयलोकभ्रंश एव स्यात्॥ ध०१ अधि०।

उवभुत्त त्रि०(उपभुक्त) उप–भुज्–क्त। कृतोपभोगे वस्तुनि,। उपपादिते, आचा०१ श्रु० २अ०१उ०। उपभुक्तभोगे, व्य०३ उ०।

उवभोग पुं०(उपभोग) उप–भुज्– घञ्। उपभोजने, आचा० १ श्रु० २ अ०३ उ०। उपेत्य अधिकं पुनरुपयुज्यमानतया भुज्यते इत्युपभोगः पुनः पुनरुपभोग्यभवनाङ्गनादौ, ''सति भुञ्ज इति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईतो। उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुञ्जइ भवणवलयाइ'' उत्त ३३ अ०। उपा०। कर्म० धर्म०। आ०चू०। श्रा०।

साम्प्रतमुपभोगादिभेदमाह–

उवभोगपरिभोगवए दुविहे पण्णत्ते तंजहा भोअणओ कम्मओ अ भोअणओ समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा सचित्ताहारे १ सचित्तपडिबद्धाहारे २ अप्पोलिओसहिभक्खणया सचित्तसमिस्साहारे ३ (पाठान्तरे) दुप्पोलिओसहिभक्खणया ४ तुच्छोसहिभक्खणया ५। आव० ५ अ०॥

उप भुज्यत इत्युपभोगः उपशब्दः सकृदर्थे वर्तते सकृद्भोग उप–भोगः। अशनपानादौ, अथवा अन्तर्भोग उपभोगः। आहारादौ, *उपशब्दोऽन्तर्वचनः। ध० २ अधि०। आचा०। गन्धरूपविषये, तं०।* (पृथ्वीकायानामप्कायाना चोपभोगः पुढव्यादिशब्देषु)

उवभोगंतराय न०(उपभोगान्तराय) अन्तरायकर्मभेदे, यस्योदयात्सदपि वस्त्रालंकारादि नोपभुङ्क्ते। उत्त०३३ अ०। पं०स०। कर्म०। स०॥

उवभोगपरिभोगपरिमाण *न०(उपभोगपरिभोगपरिमाण) उपभोगः* सकृद्भोगः स चाशनपानानुलेपनादीनां परिभोगस्तु पुनः पुनर्भोगः सचाशनशयनवसनवनितादीनां तयोः परिमाणम् देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानभेदे, भ० ७श०२उ०। उपभुज्यते इत्युपभोगः। उपशब्दः सकृदर्थे वर्तते सकृद्भोग उपभोगः अशनपानादेः अथवान्तर्भोग उपभोगः आहारादिः उपशब्दोऽन्तर्वचनः परिभुज्यत इति परिभोगः परिशब्दोऽसकृद्वृत्तौ वर्तते पुनःपुनर्भोगः परिभोगो वस्त्रादेः बहिर्भोगो वा परिभोगो वसनालङ्कारादेरत्र परिशब्दो बहिर्वाचक इति एतद्विषयं व्रतमुपभोगपरिभोगव्रतम्। ध०२अधि०। एतावदिदं भोक्तव्यमुपभोक्तव्यं वाऽतोऽन्यत्रैवं रूपे द्वितीयेऽणुव्रते, श्रा०। इदंचद्विविधं भोजनतः कर्मतश्च। उपभोगपरिभोगयोरासेवाविषययोर्वस्तुविशेषयोस्तदुपार्जनोपायभूतकर्मणां चोपचारादुपभोगादिशब्दवाच्यानां व्रतमुपभोगपरिभोगव्रतमिति व्युत्पत्तिः (ध०) भोगतः कर्मतश्च। भोगोऽपि द्विधा उपभोगपरिभोगभेदात् तत्र उप इति सकृत् भोग आहारमाल्यादेरासेवनमुपभोगः। परीत्य सकृत्भोगो भवनाङ्गनादीनामासेवनं परिभोगः। तत्र गाथामाह।

मज्जम्मि य मंसम्मि य, पुप्फे य फले य गंधमल्ले य।
उवभोगपरिभोगे, बीयम्मि गुणव्वए निंदे ॥२०॥

श्रावकेण तावदुत्सर्गतः प्रासुकैषणीयाहारिणा भाव्यम् । असति सचित्तपरिहारिणा तदसति बहुसावद्यमद्यादीन् वर्जयित्वा प्रत्येक मिश्रादीनां कृतप्रमाणेन भवितव्यम् । तत्र मद्यं मदिरा मांसं पिशितं च शब्दाच्छेषाभक्ष्यद्रव्याणामनन्तकायादीनां च ग्रहः । तानि च प्रागुक्तानि पद्मोदुम्बर्यादीनि पुष्पाणि करीरमधुकादिकुसुमानि च शब्दात् त्रससक्तपत्रादिपरिग्रहः । फलानि जम्बूबिल्वादीनि एषु च मद्यादिषु राजव्यापारादिषु वर्तमानेन यत्किंचित्क्रायणादि कृतं तस्मिन् एतैरन्तर्भोगः सूचितः बहिस्त्वयं (गंधमल्लेति) गन्धा वासाः माल्यानि पुष्पस्रजः अत्रोपलक्षणत्वाच्छेषभोग्यवस्तुपरिग्रहः । तस्मिन्नुक्तरूपे उपभोगपरिभोगे भीमो भीमसेन इति न्यायादुपभोगपरिभोगपरिमाणाख्ये द्वितीये गुणव्रतेऽनाभोगादिना यदतिक्रान्तं तन्निन्दामि। (ध०)। तत्र भोजनत उत्सर्गेण निरवद्याहारभोजिना भवितव्यम् कर्मतोऽपि प्रायो निरवद्यकर्मानुष्ठानयुक्तेनेति। अत्रेयं भावना। श्रावकेण हि तावदुत्सर्गत प्राशुकैषणीयाहारभोजिना भाव्यम् तस्मिन्नसति सचित्तपरिहारः कार्यस्तस्याप्यशक्तौ बहुसावद्यान्मद्यामिषानन्तकायादीन् वर्जयता प्रत्येकमिश्रसचित्तादीनां प्रमाणं कार्यं भणितं च "निरवज्जाहारेणं, १ निज्जीवेणं २ परित्तमीसेणं ३। अत्ताणुसंधणपरा, सुसावगा एरिसा हंति १" एवमुत्सवादिविशेषं विनाऽत्यन्तचेतो गृध्न्युन्मादजनापवादादि जनकमत्युद्भटवेषवाहनालङ्कारादिकर्मापि श्रावको वर्जयेन् यतः "अइरोसो अइतोसो, अइहासो दुज्जणेहिं संवासो। अइउब्भडो य वेसो, पंच वि गुरुअंपि लहु अंपि १' अतिमलिनाः अतिस्थूलह्रस्वसच्छिद्रवस्त्रादिसामान्यवेषपरिधानेऽपि कुचेलत्वकार्पण्यादिजनापवादोपहसनीयतादि स्यादतः स्ववित्तवयो–वस्थानिवासस्थानकुलाद्यनुरूपवेषं कुर्यात् । उचितवेषादावपि प्रमाणनैयत्यं कार्यम् । एवं दन्तकाष्ठाभ्यङ्गतैलोद्वर्तनमज्जनवस्त्रविलेपनाभरणपुष्पफलधूपासनशयनभवनादिस्तथौदनसूपस्नेहशाकपेयः खण्डखाद्याद्यशनपानखादिमस्वादिमादेस्त्यक्तुमशक्यस्य व्यक्त्याप्रमाणं कार्यं शेषं च त्याज्यमानन्दादिसुश्रावकवत् । कर्मतोऽपि श्रावकेण मुख्यतो निरवद्यकर्मप्रवृत्तिमता भवितव्यं तदशक्तावप्यत्यन्तसावद्यविवकिजननिन्द्यक्रयविक्रयादि कर्म वर्जनीयं शेषकर्मणामपि प्रमाणं करणीयम् यतः "रंधणखंडणपीसणदलणं पयणं च एयमाईणं। निच्चपरिमाणकरणं, अविरइबंधो जओ गुरुओ" आवश्यकचूर्णावप्युक्तम्॥ इह चेयं सामाचारी "भोअणओ सावगो उसग्गेण फासुगं आहारं आहारेज्जा तस्सासति अफासुगमपि सचित्तवज्जं तस्स असति अणंतकायबहुबीयगाणि परिहरिअव्वाणि इमं च अण्णं भोअणओ परिहरइ असणे अणंतकायं अल्लगमूलगाइमंसं च पाणे मंसरसमज्जाइ खादिमेउ दुंबरका उंबरडपिप्पलपिलंखुमादिसादिमे मधुमक्खियादि। अचित्तं च आहारेअव्वं जदा किर ण होज्ज अचित्तो तो उस्सग्गेण भत्तंपच्चक्खाइ ण तरइ ताहे अपवाएण सचित्तं अणंतकायं बहुबीअगवज्जं कम्मओवि अकम्मा ण तरइ जीविउं ताहे अचंतसा वज्जाणि परिहरिज्जंति त्ति" इत्थं चेदं भोगोपभोगव्रतं भोक्तुं योग्येषु परिमाणकरणेन भवति इतरेषु तु वर्जनेनेति पर्यवसितमिति च श्लोकत्रयेण वर्जनीयानाह ॥

चतुर्विकृतयो निन्द्या, उदुम्बरकपञ्चकम् ।
हिमं विषं च करका, मृज्जाति रात्रिभोजनम् ॥३२॥
बहुबीजाज्ञातफले, सन्धानानन्तकायिके ।
वृन्ताकं चलितरसं, तुच्छं पुष्पफलादि च ॥३३॥
आमगोरससंपृक्तं, द्विदलं च विवर्जयेत् ।
द्वाविंशतिरभक्ष्याणि, जैनधर्माधिवासिनः ॥३४॥

त्रिभिर्विशेषकम् । जैनधर्मेणार्हतधर्मेणाधिवासितो भावितात्मा पुमान् (द्वाविंशतिः) द्वाविंशतिसंख्याकान्यभक्ष्याणि भोक्तुमनर्हाणि वर्जयेत् त्यजेदिति तृतीयश्लोकान्तेन संबन्धः। तानेवाह। (चतुर्वि–कृतय इति) चतुरवयवा विकृतयश्चतुर्विकृतयः शाकपार्थिवादित्वात्समासः कीदृश्यस्ता निन्द्याः सकलशिष्टजननिन्दाविषया मद्यमांसमधुनवनीतलक्षणा इत्यर्थः । तद्वर्णनिक जीवसम्मूर्च्छनात् । तथा चाहुः "मज्झे महुम्मि मंसम्मि, नवणीए चउत्थए। उप्पज्जंति चयंति अ तव्वण्णा तत्थ जंतुणो"१ परेऽपि "मद्ये मांसे मधूनि च, नवनीते चतुर्थके। उत्पद्यन्ते विलीयन्ते, सुसूक्ष्मा जन्तुराशय" इति । तत्र मद्यं मदिरा तच्च द्विधा काष्ठा–निष्पन्नंपिष्टनिष्पन्नं चेति। एतच्च बहुदोषाश्रयान्महानर्थहेतुत्वाच्च त्याज्यं यदाह "गुरुमोहकलहनिद्दा, परिभवउवहासरोसंभवहेऊ। मज्जं दुग्गइमूलं, हिरिसिरिमइधम्मनासकरं ॥१॥ तथा "रसोद्भवाश्च भूयांसो, भवन्ति किल जन्तवः। तस्मान्मद्यं न पातव्यं, हिंसापातकभीरुणा ॥२॥ दत्तं न दत्तमात्तं च, नात्तं कृतमथा कृतम्। मृषोद्यराज्यादिवहास्वैरं वदति मद्यपः ॥३॥ गृहे बहिर्वा मार्गे वा, परद्रव्याणि मूढधीः । वधबन्धादिनिर्भीको, गृह्णात्याच्छिद्य मद्यपः ॥४॥ बालिकां युवतीं वृद्धां, ब्राह्मणीं श्वपचामपि। भूङ्क्ते परस्त्रियं सद्यो, मद्योन्मादकदर्थितः ॥५॥ विवेकः संयमो ज्ञानं, सत्यं शौचं दया क्षमा। मद्यात्प्रलीयते सर्वं, तृण्या वह्निकणादपि ॥६॥ श्रूयते किल शाम्बेन, मद्यादन्धकविष्णुना। हृतं वृष्णिकुलं सर्वं, प्लोषिता च पुरी पितुः ॥७॥" मांसं च त्रेधा जलचरस्थलचरखचरजन्तूद्भवभेदाद्यधर्मरुधिरमांसभेदाद्वा । तद्भक्षणमपि महापापमूलत्वाद्वर्ज्यं यदाहुः "पंचिंदियबहभूअं, मंसं दुग्गंधमसुइनीमच्छं। रइसपरितुलिट्ठाभक्खग–मामयजयणं कुगइ मलं ॥१॥" आमासु अ पक्कामुअ, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु। सययं चिअ उववाओ, भणिओ अ, निगोअजीवाणं" ॥२॥ योगशास्त्रेऽपि । सद्यः सम्मू–र्च्छितानन्तजन्तुसंतानदूषितम्। नरकाध्वनि पाथेयं, कोऽश्नी–यात्पिशितं सुधीः ॥३॥" सद्योहि जन्तुविशसनकाल एव सम्मूर्च्छिता उत्पन्ना अनन्ता निवोदरूपा ये जन्तवस्तेषां सन्तानः पुनः पुनर्भवनं तेन दूषितमिति तद्वृत्तिः मांसभक्षकस्य च घातकत्वमेव। यतः "हन्ता पलस्य विक्रेता, संस्कर्ताभक्षकस्तथा। क्रेतानुमन्ता दाता च, घातका एव यन्मनुः ४ तथा भक्षकस्यैवान्यपरिहारेण बन्धकत्वं यथा "ये भक्षयन्त्यन्यपलं, स्वकीयपलपुष्टये। त एवघातका यन्न, वधको भक्षकं विना५" इति मधु च माक्षिकं १ कौत्तिकं २ भ्रामरं ३ चेति त्रिधा इदमपि बहुप्राणिविनाशसमुद्भवमिति हेयम् । यतः "अनेकजन्तुसंघात–निघातनसमुद्भवम्। जुगुप्सनीयं लालावत्कः स्वादयति भाक्षिकमिति" नवनीतमपि गोमहिष्यजाविसंबन्धेन चतुर्द्धा तदपि सुक्ष्मजन्तुराशिखानित्वात्त्याज्यमेव। यतः "अन्तर्मुहूर्तात्परतः सुसूक्ष्माजन्तुराशयः। यत्र मूर्च्छन्ति तन्नाद्यं, नवनीतं विवेकिभिरिति। ४। तथा उदम्बरकेणो–पलक्षितं पञ्चकंवट १ पिप्पलो २ दुम्बर ३ प्लक्ष ४ काकोदुम्बरी ५ फललक्षणं उदुम्बरकपञ्चकं मशकाकारसूक्ष्मबहुजीवनिचितत्वाद्वर्जनीयम् । ततो योगशास्त्रे "उदुम्बरवटप्लक्षकाकोदुम्बरशाखिनाम् । पिप्पलस्य च नाश्नीयात्फलं कृमिकुलाकुलम्। १ लोकेपि" "कोऽपि क्वापि कुतोऽपि कस्यचिदहो चेतस्यकस्माज्जनः, केनापि प्रविशत्युदुम्बरफलप्रा–

णि क्रमेण क्षणात्। येनास्मिन्नपि पाटिते विघटिते विस्फोटिते त्रोटिते, निष्पिष्टे परिगालिते विदलिते निर्यात्यसौ वा न वा ६ तथा हिमं तुहिनं तदप्यसंख्येयाप्कायरूपत्वात्त्याज्यम् १० विषमहिकेनादि मन्त्रोपहतवीर्यमप्युदरान्तर्वर्तिगण्डोलकादिजीवघातहेतुत्वान्मरणसमये महामोहोत्पादकत्वाच्च हेयम् ११ करका द्रवीभूता आपः। असंख्याप्कायित्वाद्वर्ज्याः ॥ नन्चेवमसंख्याप्का–यित्वेनाऽभक्ष्यत्वे जलस्याप्यभक्ष्यत्वापत्तिरिति चेत्सत्यम्। असंख्यजीवमयत्वेऽपि जलमन्तरा निर्वाहाभावान्न तस्य तथोक्तिः १२ तथा मृज्जातिः सर्वा अपि मृत्तिका दर्दुरादिपञ्चेन्द्रियप्राण्युत्पत्तिनिमित्तत्वादिना मरणाद्यनर्थकारित्वात् त्याज्याः। जातिग्रहणं खटिकादिसूचकं तद्भक्षणस्यामाश्रयादिदोषजनकत्वात्। मृद्ग्रहणं चोपलक्षणं तेन सुधाद्यपि वर्जनीयं तद्भक्षकस्यान्त्रशाटाद्यनर्थसंभवात् मृद्भक्षणे चासंख्येयपृथिवीकायजीवानां विराधनाद्यपि लवणमप्यसंख्यपृथिवीकायात्मकमिति सचित्तं त्याज्यं प्रासुकं ग्राह्यं प्रासुकत्वं चाग्न्यादिप्रबलशस्त्रयोगेनैव नान्यथा तत्र पृथिवीकायजीवानामसंख्येयत्वेनात्यन्तसूक्ष्मत्वात् तथा च पञ्चमाङ्गे १६ शतकतृतीयोद्देशके निर्दिष्टोऽयमर्थः वज्रमप्यां शिलायां स्वल्पपृ–थिवीकायस्य वज्रलोष्टकेनैकविंशतिवारान्पेषणे सत्येके केचन जीवा ये स्पृष्टा अपि नेति १३ तथा रात्रौ नक्तं भोजनं भुक्तिः रात्रिभोजनं तदपि हेयं बहुविधजीवसंपातसंभवेनैहिकपारलौकिकानेकदोषदुष्टत्वात् यदभिहितं ''मेहं पिपीलिआओ, हणंति वमणं च मच्छिआ कुणइ। जूआ जलोदरत्तं, कोलिअओ कोट्ठरोगं च ॥१॥ वाला सरस्स भंगं, कंटोलगाइगलम्मि दारुं च। तालुम्मि विंधइ अली, वंजणभञ्जम्मि भुञ्जंतो ॥२॥'' व्यञ्जनमिह वार्त्ताकशाकरूपमभिप्रेतं तद्भुन्तं च वृश्चिकाकारमेव स्यादिति वृश्चिकस्यासूक्ष्मस्यापि तन्मध्यपतितस्यालक्ष्यत्वाद्भोज्यता संभवतीति विशेषः। निशीथचूर्णावपि ''गिहकोइलअवयवसम्मिस्सेण भुत्तेण पोट्टे किल गिहकोइला संमुच्छंति'' एवं सर्प्पादिलालामलमूत्रादि–पातात्रापि'' तथा ''मालिंति महिअलं जामिणीसु रयणी य रायमंतेणं। ते वि च्छलंति हु फुडं, रयणीए भुंजमाणं तु ॥१॥ अपि च निशाभोजने क्रियमाणे अवश्यं पाकः संभवी। तत्र षट् जीवनिकायवधोऽवश्यंभावी भाजनधावनादौ च जलगतजन्तुनाशः जलोज्झनेन भमिगतकुन्थुपिपीलिकादिजन्तुघातश्च भवति तत्प्राणिरक्षणकाङ्क्षयाऽपि निशाभोजनं न कर्तव्यम्। यदादुः ''जीवाणकुंथुमाईण, घायणं भाणधोअणाईसुं।एमाइ रयणिभोयणदोसे को साहिउं तरइ ॥१॥'' यद्यपि च सिद्धमोदकादिखर्जूरद्राक्षादिभक्षणे नास्त्यन्नपाको नच भाजनधावनादिसंभवस्तथापि कुन्थुपनकादिसंघातसंभवात्तस्यापि त्याग एव युक्तो यदुक्तं निशीथभाष्ये ''जदवि हु फासुगदव्वं, कुंथुपणगा तहावि दुप्पस्सा। पच्चक्खणा णो वि हु, राईभत्तं परिहरंति ॥१॥ जइ वि हु पिपीलिगाई, दीसंति पइवमाईउज्जोए। तह वि खलु अणाइन्नं, मूलवयविराणाजण्णं ॥२॥'' एतत्फलं च ''उलूककाकमार्जारगृध्रशम्बरशूकराः। अहिवृश्चिकगोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात्'' परेऽपि पठन्ति ''मृते स्वजनमात्रेऽपि सूतकं जायते किल। अस्तं गते दिवानाथे, भोजनं क्रियते कथम् ॥१॥ रक्तीभवन्ति तोयानि, अन्नानि पिशितानि च। रात्रौ भोजनशक्तस्य, ग्रासे तन्मांसभक्षणम् ॥२॥ स्कन्दपुराणे रुद्रप्रणीतकपालमोचनस्तोत्रे सूर्यस्तुतिस्तोत्रेऽपि '' ''एकभक्ताशनान्नित्यमग्निहोत्रफलं लभेत्। अनस्तभोजने नित्यं, तीर्थयात्राफलं भवेत् ॥१॥'' तथ ''नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम्। दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनन्तु विशेषतः ॥२॥'' आयुर्वेदपि। ''हृन्नाभिपद्मसङ्कोच–श्चण्डरोचेरपायतः। अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥३॥'' तस्माद्विवेकिना रात्रौ चतुर्विधोऽप्याहारः परिहार्यस्तदशक्तौ त्वशनं खादिमं च त्याज्यमेव स्वादिमं पूगीफलाद्यपि दिवा सम्यक् शोधनादियतनयैव गृह्णात्यन्यथा त्रसहिंसादयोऽपि दोषाः मुख्यवृत्या च प्रातः सायं च रात्रिप्रत्यासन्नत्वाद् द्वे द्वे घटिके भोजनं त्यजेद्यतो योगशास्त्रे ''अह्नो मखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे घटिके त्यजन्। निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥१॥'' अत एवागमे सर्वजघन्यं प्रत्याख्यानं मुहूर्तप्रमाणं नमस्कारसहितमुच्यते जातु तत्तत्कार्यव्यग्रत्वादिना तथा न शक्नोति तदापि सूर्योदयास्तनिर्णयमपेक्षत एवातपदर्शनादिनाऽन्यथा रात्रिभोजनदोषः। अन्धकारभवनेऽपि व्रीडया प्रदीपाकरणादिना त्रसादिहिंसानियमभङ्ग–मायामृषावादादयोऽधिकदोषा अपि यतः ''न करेमित्ति भणित्ता, तं चेव निसेवए पुणो पावं। पच्चक्खमुसावाई, मायानियडी पसंगो अ ।१। पावं काऊण सयं, अप्पाणं सुद्धमेव वाहरइ। दुगुणं करेइ पावं, वीअं बालस्स मंदत्तं २'' तथा बहुबीजेति बहुबीजं च अज्ञातफलं चेति द्वन्द्वस्तत्र बहूनि बीजानि वर्तन्ते यस्मिन् तद्बहुबीजं पम्पोटकादिकमभ्यन्तरपुटादिरहितं केवलं बीजमयं तच्च प्रतिबीजं जीवोपमर्दसंभवाद्वर्जनीयं यच्चाभ्यन्तरपुटादिसहितबीजमयं दाडिमटिण्डूरादि तन्नाभक्षतया व्यवहरन्ति १५ अज्ञातं च तत्फलं चेति कर्मधारयः अज्ञातफलं स्वयं परेण वा यद् न ज्ञातफलमुपलक्षणत्वात्पत्रं तदभक्ष्यं निषिद्ध–फले विषफले वा अज्ञानात्प्रवृत्तिसंभवात्। अज्ञानतो हि प्रतिषिद्धे फले प्रवर्तमानस्य व्रतभङ्गः विषमफले तु जीवितविनाशः १६ तथा संधानं चानन्तकायिक चेति द्वन्द्वस्तत्र संधानं निम्बकविल्वकादी–नामनेकसंसक्तिनिमित्तत्वाद्वर्ज्यं संधानस्य च व्यवहारवृत्त्या दिनत्रयात्परतोऽभक्षत्वामाचक्षते। योगशास्त्रवृत्तावपि ''संधान–मात्रफलादी–नां यदि संसक्तं भवेत्। तदा जिनधर्मपरायणःकृपालुत्वात्त्यजेदिति ।१७। अनन्ताः कायिका जीवा यत्र तत् अनन्तकायिकम्। अनन्तजन्तुसन्ताननिपाननिमित्तत्वात् वर्ज्यम् (ध०) (अनन्तकायिकव्याख्या स्वस्थाने उक्ता) अन्यद–प्यभक्ष्यं चाचित्तीभूतमपि परिहार्यं निः शूकतालौल्यवृद्ध्यादिदो–षसंभवात् परंपरया सचित्ततद्ग्रहणप्रसङ्गाच्च यथोक्तम् ''इक्केण कयमकज्जं, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो। सायाबहुलपरंपर–वुच्छेओ संजमतवाणं ।१। '' अत एवोत्कालितसेल्लरकराद्रार्द्रकसूरण–वृन्ताकादि प्रासुकमपि सर्वं वर्ज्यं मूलकस्तु पञ्चाङ्गोऽपि त्याज्यः। शुण्ठ्यादि तु नाम स्वैदभेदादिना कल्पते इति श्राद्धविधिवृत्तौ ।१८। तथा वृन्ताकं निद्राबाहुल्यमदनोद्दीपनादिदोषपोषकत्वात्त्याज्यम्। पठन्ति च परेऽपि च ''यस्तु वृन्ताककालिङ्गमूलकानां च भक्षकः। अन्तकाले समूढात्मा, न स्मरिष्यति मां प्रिये'' इति ।१९। तथा चलितो विनष्टो रसः स्वाद उपलक्षणत्वाद्वर्णादिर्यस्य तच्चलितरसं कुथितान्नपर्युषितद्विदलपूपिकादि केवलजलराद्धपूद्यनेकजन्तुसंसक्तत्वात् पुष्पितौदनपक्वान्नादिदिनद्वयातीतदध्याद्यपि च तत्र पक्वान्नाद्याश्रित्य चैवमुक्तम्। ''वासासु पन्नरदिवसं, सीउण्हकालेसु मासदिणवीसं। उग्गाहिमं जईणं, कप्पइ आरब्भ पढम दिणे'' केचित्त्वस्या गाथाया अलभ्यमानस्थानत्वं वदन्तो यावद्गन्धरसादिना न विनश्यति तावदवगाहिमं शुद्ध्यतीत्याहुः दिनद्वयातीते दध्न्यपि जीवसंसक्तिर्यथा ''जइ मुग्गमासमाई, विदलं कच्चम्मि गोरसे पडइ। ता तसजीवुप्पत्तिं, भणंति दहिएवि दुदिणुवरिं'' १ हारिभद्रदशवैकालिकवृत्तावपि रसजास्तक्रारनालदधितेमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्तीति दध्यहर्द्वितयातीतमिति ।। हैममपि ।२०।

तथा तुच्छं असारं पुष्पं च फलं च ते आदौ यस्य तत् पुष्पफलादि। चः समुच्चये आदिशब्दान्मूलपत्रादिपरिग्रहस्तत्र तुच्छं पुष्पमरणिकरीरशिग्रूमधूकादिसंबन्धि तुच्छं फलम्। मधूकजम्बूटीवरूपीलुपक्कक्रमदेङ्गुदीफलपिचुमकुरवालओलिवृहद्बदरकच्चकुट्ठिभडस्वसखसादि २ प्रावृषि तन्दुलीयकादेश्च पत्रं बहुजीवसंमिश्रितत्वात् ३ त्याज्यम्। अन्यदप्येतादृशं मूलादि यद्वाऽर्द्धनिष्पन्नकोमलचवलकमुद्गसिम्बादिकम्। तद्भक्षणे हि न तथाविधतृप्तिर्विराधना च भूयसी २१ तथा आमेति आमं च तद्रोरसं च आमगोरसं तत्र संपृक्तमामगोरससंपृक्तम्। कच्चदुग्धदधितक्रसंमिलितम्। तद्द्विदलं केवलिगम्यसूक्ष्मजीवसंसक्तिसंभवात् हेयम्। उक्तं च संसक्तनिर्युक्तादौ ''सव्वेसु वि देसेसुं, सव्वेसु वि चेव तह य कालेसु। कुसिणेसु आमगोरसजुत्तेसु निगोअपंचिंदी'' द्विदल लक्षणं त्वेवमाहुः ''जम्मि उ पीलिज्जंते, नेहो नहु होइ बिंति तं विदलं। विदले वि हु उत्पन्नं, नेह जुअं होइ नो विदलं'' १ इह हीयं स्थितिः केचिद्भावा हेतुगम्याः केचित्त्वागमगम्याः। तत्र ये यथा हेतुगम्यास्ते स्तवप्रवचनधरैः प्रतिपादनीयाः आगमगम्येषु हेतून् हेतुगम्येषु त्वागममात्रं प्रतिपादयन्नाज्ञाविराधकः स्यात्। यतः ''जे हेउवायपक्खम्मि, हेउओ आगमे अ आगमिओ। सो समयपन्नवओ, सिद्धंतविराहओ अन्नो'' इति। आमगोरससंपृक्तद्विदले पुष्पितौदने अहर्द्वितयातीते दध्नि कुथितान्ने च न हेतुगम्यो जीवसद्भावः किंत्वागमगम्य एव तेन तेषु ये जन्तवस्ते केवलिभिर्दृष्टा इति द्वाविंशति अभक्ष्याणि वर्जयेदिति पूर्वं योजितमेवेति श्लोकत्रयार्थः। योगशास्त्रे तु षोडशवर्जनी-यानि प्रतिपादितानि यथा ''मद्यं मांसं नवनीतं, मधूदुम्बरपञ्चकम्। अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम्।१। आमगोरससंपृक्तद्विदलं पुष्पितौदनम्। दध्यहर्द्वितयातीतं, क्वथितान्नं च वर्जयेत्।२। अन्यसकलाभक्ष्यवर्जनं च। जन्तुमिश्रं फलं पुष्पं, पत्रं चान्यदपि त्यजेत्। संधानमपि संसक्तं, जिनधर्मपरायणः।३। इति संग्रहश्लो-केनोक्तम्। अत्र च सप्तमव्रते सचित्ताचित्तमिश्रव्यक्तिः श्राद्धविध्युक्ता पूर्वं सम्यक् ज्ञेया युज्यते यथा चतुर्दशादिनियमाः। सुपाल्या भवन्तीति॥ (ध०) (अचित्तव्यक्तिः स्वस्थाने) एवं सचित्ताचित्त-दिव्यक्तिं ज्ञात्वा सप्तमव्रतं नामग्राहं सचित्तादिसर्वभोग्यवस्तुनैय-त्यकरणादिना स्वीकार्यं यथानन्दकामदेवादिभिः स्वीकृतं तथा करणाशक्तौ तु सामान्यतोऽपि सचित्तादिनियमा कार्यास्ते चैवम्॥

सचित्त १ दव्व २ विगइ ३ वाणह ४ तबोल ५ वत्थ ६ कुसुमेसु ७। वाहण ८ सयण ९ विलेवण १० बंभ ११ दिसि १२ न्हाण १३ भत्तेसु १४॥

१ तत्र मुख्यवृत्त्या सुश्रावकेण सचित्तं सर्वथा त्याज्यं तदशक्तौ नामग्राहं तथाऽप्यशक्तौ सामान्यत एकद्व्यादिनियम्यं यतः ''निरवज्जाहारेणं'' इति पूर्वलिखितागाथे परं प्रतिदिनैकसचित्ताभिग्राहिणो हि पृथक् दिनेषु परावर्तनेन सर्वसचित्तग्रहणमपि स्यात्तथा च न विशेषविरतिः नामग्राहं सचित्ताभिग्रहे तु तदन्यसर्वसचित्तनिषेधरूपयावज्जीवस्पष्टमेवाधिकं फलम् उक्तं च ''पुप्फफलाणं च रसं, सुराइमंसाणमहिलिआणं च। जाणंता जे विरया, ते दुक्करकारए वंदे'' सचित्तेष्वपि नागवल्लीदलानि दुस्त्यजानि शेषसचित्तानां प्रायः प्रासुकीभवनं स्वल्पकालमध्येऽपि दृश्यते एषु तु निरन्तरं जलक्लेदादिना सचित्ततासुस्थैव कुन्थ्वादिविराधनापि भूयसी च तत एव पापभीरुणा त्याज्यानि अन्यथाऽपि रात्रौ न व्यापार्याणि रात्रिवयापारिणोऽपि दिवा संशोधनादियतनाया एव मुख्यता। ब्रह्मचारिणा तु कामाङ्गत्वात्त्याज्यान्येव सचित्तभक्षणे दोषस्तु अनेकजीवविराधनारूपः यतः प्रत्येकसचित्तेऽप्येकस्मिन् पत्रफलादावसंख्यजीवविराधनासंभवः यदागमः ''जं भणिअं पज्जत्तग, निस्साए वुक्कमंत अपज्जत्ता। जत्थेगो पज्जत्तो, तत्थ असंखा अपज्जत्ता'' बादरेष्वेकेन्द्रियेष्वेवमुक्तं सूक्ष्मेषु तु यत्रैकोऽपर्याप्तस्तत्र तन्निश्राया नियमादसंख्याः पर्याप्ताः स्युरित्याचाराङ्गवृत्त्यादौ प्रोक्तम्। एवमेकस्मिन्नपि पत्रादावसंख्यजीवविराधना तदाश्रितजलनील्यादि संभवे त्वनन्ता अपि जलवणादि वाऽसंख्यजीवात्मकमेव यदार्षम्। ''एगम्मि उदगविंदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहिं पण्णत्ता। ते जइ सरिसवमित्ता, जंबूदीवे न मायंति।१। अद्दामलप्पमाणे, पुढविकाये हवंति जे जीवा। ते पारेवयमित्ता, जंबुद्दीवे न मायंति'' सर्वसचित्तत्यागेऽम्बडपरिव्राजकसप्तशतशिष्यनिदर्शनम्। एवं सचित्तत्यागे यतनीयमिति प्रथमनियमः॥ सचित्तविकृतिवर्जं यन्मुखे क्षिप्यते तत्सर्वं द्रव्यं क्षिप्रचटीरोट्टिकानिर्विकृतिकमोदकलपनश्रीपर्पटिकाचूरिमकरम्बकक्षैरेय्यादिकं बहुधान्यादिनिष्पन्नमपि परिणामान्तराद्यापत्तेरेकैकमेव द्रव्यमेकधान्यनिष्पन्नान्यपि पूलिकास्थूलरोट्टकमण्डकपर्परकघूघरीटोक्कलथूलीबाटकणिकादीनि पृथक् २ नामा स्वादवत्त्वेन पृथक् २ द्रव्याणि फलफलिकादौ तु नामैक्ये भिन्नास्वादव्यक्तेः परिणामान्तराभावाच्च। बहुद्रव्यत्वमन्यथा वा संप्रदायादिवशाद्द्रव्याणि गणनीयानि धातुमयशिलाकाकाराङ्गुल्यादिकं द्रव्यमध्ये न गणयन्ति २ विकृतयो भक्ष्याः षट् दुग्ध १ दधि २ घृत ३ तैल ४ गुड ५ सर्वपक्वान्न ६ भेदात् ३ (वाणहत्ति) उपानद्युग्मं मोचकयुग्मं वा काष्ठपादुकादि तु बहुजीव-विराधनाहेतुत्वात्त्याज्यमेव श्रावकैः ४ ताम्बूलपत्रपूगखदिरवटिका कत्थकादिस्वादिमरूपम्।५। वस्त्रं पञ्चाङ्गादिर्वेषः धौतिकपौतिकरात्रिवस्त्रादि वेषे न गण्यते।६। कुसुमानि शिरःकण्ठक्षेपशय्योच्छीर्षकाद्यर्हाणि तन्नियमेऽपि देवशेषाः कल्पन्ते॥७। वाहनं रथाश्वादि ८ शयनं खट्वादि ९ विलेपनं भोगार्थं चन्दनाञ्जनादिचूअ कस्तूर्यादि तन्नियमे देवपूजादौ तिलकस्वहस्तकङ्कणधूपनादि कल्पते।१०। अब्रह्म दिवा रात्रौ पत्न्याद्याश्रित्य ११ दिक् परिमाण सर्वतोऽमुकदिशि वा इयदवधिगमनादिनियमनम्।१२। स्नानं तैलाभ्यङ्गादिपूर्वकं देवपूजार्थं करणेन नियमभङ्गः लौकिकका-रणे च यतना रक्ष्या।१३। भक्तं राद्धधान्यसुखभक्षिकादि सर्वं त्रिचतुः सेरादिमितं खरवूजादिग्रहणे बहवोऽपि सेराः स्युः।१४। एतदुपलक्षणत्वादन्येऽपि शाकफलधान्यादिप्रमाणारम्भनैयत्यादिनियमा यथाशक्ति ग्राह्या इत्युक्तं भोगोपभोगव्रतम्॥ ध० ३ अधि०। इदमपि चातिचाररहितमनुपालनीयमित्यतोऽस्यैवातिचारानभिधित्सुराह॥

भोअणओ समणोवासएणं इमे पंच अइआरा जाणिअव्वा न सामायरिअव्वा तं जहा सचित्ताहारे १ सचित्तपडिबद्धाहारे २ अप्पोलिओसहिभक्खणया सचित्तसम्मिस्साहारे (पाठा-न्तरम्) ३ दुप्पोलिओसहिभक्खणया ४ तुच्छौ सहि-भक्खणया॥

भोजनतो यद् व्रतमुक्तं तदाश्रित्य श्रमणोपासकेनापि पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्यास्तद्यथा सचित्ताहारः चित्तं चेतना संज्ञान उपयोगोऽवधानमिति पर्यायाः सचित्तश्चासावाहारश्च २ सचित्तो वाहारो यस्य सचित्तमाहारयतीति वा मूलकन्द कार्द्रकादिसाधारणप्रत्येकरुशरीराणि सचित्तानि सचित्तं पृथिव्याद्याहारयतीति भावना। तथा सचित्तप्रतिबद्धाहारो यथा वृक्षप्र-

तिबद्धो गोदादिपक्वफलानि वा तथा अपक्वौषधिभक्षणत्वमिदं च प्रतीतं सचित्तसन्मिश्राहार इति पाठान्तरं सचित्तेन सन्मिश्र आहारः सचित्तसन्मिश्राहारः वल्ल्यादिपुष्पादिना सन्मिश्रं तथा दुष्पक्वौषधेर्भक्षणतो दुष्पक्वा अश्विन्ना इत्यर्थः तद्भक्षणता । तथा तुच्छौषधिभक्षणता तुच्छा ह्यसारा मुद्गफलीप्रभृतयः अत्र महती विराधना अल्पा च तुष्टिर्बह्वीभिरप्यैहिकोऽप्यपायः संभाव्यते । ''एत्थ संगर–कायगो उदाहरणम्– एगो खेत्तरक्खगो से गाओ खाइ राया निग्गओ खायंतं पेच्छइ ततो पडिएइ तो खायइ रन्नो कोउग्गेण पोट्टं फालियं केतियाओ खाइयाओ होज्जति नवरि फेणं अन्नं न किंचि अत्थि एव्व भोजनत'' इति गतम् । आव० ६ अ०॥

सचित्तस्तत्प्रतिबद्धः, संमिश्रोऽभिषवस्तथा ।
दुष्पक्वाहार इत्येते, द्वैतीयीके गुणव्रते ॥५०॥

सह चित्तेन चेतनया वर्तते यः स सचित्तः । तेन सचित्तेन प्रतिबद्धः संबद्धस्तत्प्रतिबद्धः । सचित्तेन मिश्रः सवलः संमिश्रः । अभिषवोऽनेकद्रव्यसधाननिष्पन्नः दुष्पक्वो मन्दपक्वः स चासावाहारश्चेत्यतीचाराद्द्वैतीयीके द्वितीये स्वार्थे इकण् गुणव्रते भोगोपभोगपरिमाणाख्ये ज्ञेया इति शेषस्तत्र सचित्तः कन्दमूलफलादिः पृथिवी–कायादिर्वा । इह च निवृत्तिविषयीकृतेऽपि सचित्तादौ प्रवृत्तावतिचाराभिधानं व्रतसापेक्षस्यानाभोगातिक्रमादिनिबन्धनप्रवृत्त्या द्रष्टव्यमन्यथा भङ्ग एव स्यात् । तत्रापि कृतसचित्तपरिहारस्य कृतसचित्तपरिमाणस्य वा सचित्तमधिकसचित्तं वाऽनाभोगादिना खादतः सचित्ताहाररूपः प्रथमोऽतिचारः । *आहारशब्दस्तु दुष्पक्वा–हार इत्यस्मादाकृष्य संबध्यः एवमुत्तरेष्वप्याहारशब्दयोजना भाव्या* १ सचित्तप्रतिबद्धः सचेतनवृक्षादिसंबद्धो गुन्दादिः पक्वफलादिर्वा सचित्तान्तर्बीजः खर्जूराम्रादिः तदाहारो हि सचित्ताहारवर्जकस्यानाभोगादिना सावद्याहारप्रवृत्तिरूपत्वादतिचारः । अथवा बीजं त्यक्ष्यामि सचेतनत्वात्तस्य कटाहं त्वचेतनत्वाद्भक्षयिष्यामीति धिया पक्वं खर्जूरादिफलं मुखे प्रक्षिपतः सचित्तवर्जकस्य सचित्त–प्रतिबद्धाहारो द्वितीयः । २ । संमिश्रोऽर्द्धपरिणतजलादिरार्द्रकदाडिमबीजकपूरचिर्भटिकादिमिश्रः पूरणादिर्वा तिलमिश्रो यवधानादिर्वा एतदाहारोऽप्यनाभोगातिक्रमादिनाऽतिचारः । अथवा संभ–वत्सचित्तावयवस्याऽपक्वकणिक्कादेः पिष्टत्वादिनाऽचेतनमिति बुद्ध्याहारः संमिश्राहारो व्रतसापेक्षत्वादतिचारः इति तृतीयः । अभिषवः सुरासौवीरकादिर्मांसप्रकारखण्डादिर्वा सुरा मद्याद्यभिस्पन्दिवृष्यद्रव्योपयोगो वाऽयमपि सावद्याहारवर्जकस्यानाभोगादिनाऽतिचारः चतुर्थः ।४। तथा दुष्पक्वोऽर्द्धस्विन्नपृथुकतन्दुलयवगोधूमस्थूलमण्डककण्डुकफलादिरैहिकप्रत्यवायकारी यावता चांशेन सचित्तस्तावता परलोकेऽप्युपहन्ति पृथुकादेर्दुष्पक्वतया संभवत्सचेतनावयवत्वात्पक्वत्वेनाऽचेतन इति भुञ्जानस्यातिचार इति पञ्चमः ।५। केचित्त्वपक्वाहारमप्यतिचारत्वेन वर्णयन्ति । अपक्वं च यदग्निनाऽसंस्कृतं एष च सचित्ताहारे प्रथमातिचारेऽन्तर्भवति तुच्छौषधिभक्षणमपि केचिदतिचारमाहुस्तुच्छौषधयश्च मुद्गादिकोमलशिम्बीरूपास्ताश्च यदि सचित्तास्तदा सचित्तातिचार एवान्तर्भवन्ति । अथाग्निपाकादिनाऽचित्तास्तर्हि को दोष इति एवं रात्रिभोजनमद्यादिनिवृत्तिष्वपि अनाभोगातिक्रमादिभिरतिचारा भावनीयाः । इत्थमतिचारव्याख्यानं तत्त्वार्थवृत्त्याद्यनुसारेण ज्ञेयम् । आवश्यकपञ्चाशकवृत्त्यादिषु तु अपक्वदुष्पक्वतुच्छौषधिभक्षणस्य क्रमेण तृतीयाद्यतिचारत्वं दर्शितम् । तत्राक्षेपपरिहारावित्थम् । नन्वपक्वौषधयो यदि सचेतनास्तदा सचित्तमित्यादिपदेनैवोक्तार्थत्वात्पुनर्वचनमसंगतमथा चेतनास्तदाकोऽतिचारो निरवद्यत्वात्तद्भक्षणस्येति सत्यम् किं त्वाद्यावतीचारौ सचेतनकन्दफलादिविषयावितरे तु शाल्याद्यौषधिविषया इति विषयकृतो भेदोऽत एव मूलसूत्रे ''अप्पउलिओसहिभक्खणये'' त्याद्युक्तं ततोऽनाभोगा–तिक्रमादिनाऽपक्वौषधिभक्षणमतिचारोऽथवा कणिक्कादेरपक्वतया संभवत्सचित्तावयवस्य पिष्टत्वादिनाऽचेतनमिदमिति बुद्ध्या भक्षणं व्रतसापेक्षत्वादतिचारः । दुष्पक्वौषधिभक्षणभावना तु पूर्वोक्तैव तुच्छौषधिभक्षणे त्वित्थं न तुच्छौषधयोऽपक्वाः दुष्पक्वाः सम्यक्पक्वाः वा स्युर्यदाद्यौ पक्षौ तदा तृतीयचतुर्थातिचाराभ्यामेवास्योक्तत्वात्पुनरुक्तत्वदोषः । अथ सम्यक्पक्वास्तदा निरवद्यत्वादेव कातिचारता तद्भक्षणस्येति सत्यं किं तु यथाऽऽद्यद्वयस्योत्तरद्वयस्य च सचित्तत्वे समानेऽप्यनोषध्योषधिकृतो विशेष एवमस्य सचेतनौषधिताभ्यां समानत्वेऽपि अतुच्छतुच्छत्वकृतो विशेषो दृश्यस्तत्र च कोमलमुद्गादिफलीर्विशिष्टतृप्त्यकारकात्वेन तुच्छाः सचित्ता एवानाभोगादिना भुञ्जानस्य तुच्छौषधिभक्षणमतिचारः । अथवात्यन्तावद्यभीरुतयाऽचित्ताहारताभ्युपगन्ता तत्र च यतृप्तिकारकं तदचित्तीकृत्यापि भक्षयतु सचेतनस्यैव वर्जनीयत्वाभ्युपगमाद्यत्पुनस्तृप्तिजननासमर्थाअप्यौषधीर्लौल्येनाचित्तीकृत्य भुङ्क्ते तत्तुच्छौषधिभक्षणमतिचारः । तत्र भावतो विरतेर्विराधित्वाद्द्रव्यतस्तु पालितत्वादिति पञ्चाशकवृत्तौ । अथ भोगोपभोगातिचारानुपसंहरन् भोगोपभोगव्रतस्य लक्षणान्तरं तद्वतांश्चातिचारानुपदर्शयितुमाह ॥

अमी भोजनमाश्रित्य, त्यक्तव्याः कर्मतः पुनः ।
खरकर्म त्रिघ्नपञ्च, कर्मादानानि तन्मलाः ॥४१॥

अमी उक्तस्वरूपाः पञ्चातिचारा भोजनमाश्रित्य त्यक्तव्या हेयाः । अथ कर्म्मतस्तानाह– तत्र भोगोपभोगसाधनं यद्द्रव्यं तदुपार्जनाय यत्कर्म व्यापारस्तदपि भोगोपभोगशब्देनोच्यते कारणे कार्योपचारात् इति व्याख्यानान्तरं पूर्वमुक्तमेव । ततश्च कर्मतः कर्माश्रित्य भोगोपभोगोत्पादकव्यापारमाश्रित्येत्यर्थः । पुनः खरं कठोरं यत्कर्म कोद्दपालनगुप्तिपालनादिरूपं तत्त्याज्यं तन्मलास्तस्मिन् खरकर्मत्यागलक्षणे भोगोपभोगव्रते मला अतिचाराः त्रिघ्नाः त्रिगुणिताः पञ्चदशेत्यर्थः । कर्मादानानि कर्मादानशब्दवाच्या भवन्ति शेषः कर्मणां पापप्रकृतीनामादानानिकारणानीति कृत्वा तेऽपि त्यक्तव्या इति पूर्वक्रियान्वयः । ध० २अधि० । अधुना कर्मतो यद् व्रतमुक्तं तदप्यतिचाररहितमनुपालनीयमित्यतोऽस्यातिचारानभिधित्सुराह ।

कम्मओणं समणोवासएणं इमाइं पन्नरसकम्मादाणाइं जाणिअव्वाइं न समायरिअव्वाइं तंजहा इंगालकम्मे १ वणकम्मे २ साडीकम्मे ३ भाडीकम्मे ४ फाडेकिम्मे ५ दंतवाणिज्जे ६ लक्खवाणिज्जे ७ रसवाणिज्जे ८ केसवाणिज्जे ९ विसवाणिज्जे १० जंतपीलणकम्मे ११ निलंछणकम्मे १२दवग्गिदावणया १३सरदहतलावसोसणया १४असईपोसणया ॥१५॥ आव० ६ अ०।

(सूत्रव्याख्या इंगालकम्मादिषु शब्देषु)

उवभोगपरिभोगाइ(ति)रित्त न०(उपभोगपरिभोगातिरिक्त) उपभोगविषयभूतानि यानि द्रव्याणि स्नानप्रक्रमे उष्णोदकोद्वर्तनकालकादीनि भोजनप्रक्रमेऽशनपानादीनि तेषु यदतिरिक्तमधिकमात्मादीनामनर्थक्रियासिद्धावप्यविषिष्यते तदुपभोगपरिभोगातिरिक्तम् । आत्मोपभोगातिरिक्ते, तदुपचारात्प्रमादव्रता–

तिचारे, तेन आत्मोपभोगातिरिक्तेन परेषां स्नानभोजनादिरनर्थ-दण्डो भवति। अयं च प्रमादव्रतस्यैवातिचार इति। उपा०१ अ०।

उवभोगपरिभोगाइरेग पुं०(उपभोगपरिभोगातिरेक) उपभोगपरि-भोगयोरतिरेकः अधिकमुपभोगपरिभोगातिरेकः। प्रमादचरित-स्यातिचारे, इह किल स्वोपयोगिभ्योऽधिकानि ताम्बूलमोदक-मण्डकादीन्युपभोगाङ्गानि तडागादिषु न नेतव्यानि अन्यथा हि खिद्नादयस्तानि भञ्जते ततश्चात्मनो निरर्थककर्मबन्धादिदोषः। अयमपि विषयात्मकत्वात् प्रमादचरितस्यातिचारः। ध०२०। श्रा०।

उवभोग्गत्त न०(उपभोग्यत्व) उपभोगयोग्यतायाम्। स०।

उवमा स्त्री०(उपमा) उपमानमुपमा-उप-मा-भावे-अ-अ-नेन गवयेन सदृशो गौरिति सादृश्यप्रतिपत्तिरूपे प्रमाणभेदे, ॥ उक्तं च ॥ ''गां दृष्ट्वाऽयमरण्येऽन्यं, गवयं वीक्षते यदा। भूयोऽवयवसामान्य-भाजं वर्तुलकण्ठकम्॥१॥ तस्यामेव त्ववस्थाया यदि ज्ञानं प्रवर्तत। पशुनैतेन तुल्योऽसौ, गोपिण्ड इति सोपमेति॥२॥'' श्रुतादिदे-शवाक्यसमानार्थो-पलम्भने, संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञाने च। स्था० ४ ठा०॥ उपमीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युपमा। द० १ अ०। सूत्र०। शक्रस्यदेवेन्द्रस्य देवराजस्य प्रथमाग्रमहिष्याम्। स्था० ८ ठा०। खाद्यविशेषे, जी० ३ प्रति०। इदानीमदृश्यमाने प्रश्नव्याकरणानां प्रथमेऽध्ययने च। स्था० १० ठा०।

उवमाण न०(उपमान) उपमीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युपमानम्। दृष्टान्ते,। द० १अ०। प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधने, यथा गौर्गवयस्तथा। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। उपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सादृश्यालम्बने,। सम्म०। (औपम्यभेदा ओवम्म शब्दे वक्ष्यन्ते)॥

उपमानस्य प्रमाणान्तरताविचारः ॥ उपमानमपि प्रमाणान्तरं तस्य लक्षणं यथा ''दृश्यमानाद्यदन्यत्र, विज्ञानमुपजायते। साध्यदृश्योपा-धितज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतं'' यथोक्तमुपमानमपि सादृश्यादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्येति अस्यायमर्थः येन प्रतिपात्रा गौरुपलब्धो न गवयो नवाति-देशवाक्यं गौरिव गवय इति श्रुतं तस्याटव्यां पर्यटतः गवयदर्शने प्रथमे उपजायते परोक्षगवि सादृश्यज्ञानं यदुत्पद्यते अनेन सदृशो गौरिति तदुपमानमिति। तस्य विषयः सादृश्यविशिष्टः परोक्षो गौस्तद्विशिष्टं वा सादृश्यं च वस्तुभूतमेव यदाह। ''सादृश्यस्य च वस्तुत्वं, न शक्यमवबाधितुम्। भूयोऽवयवसामान्य-योगो जात्यन्तरस्य तदिति'' अस्य चानधिगतार्थाधिगन्तृतया प्रामाण्यमुपपन्नं यतो गवयेन प्रत्यक्षेण गवय एव विषयीकृतो न पुनरसंनिहितोऽपि सादृश्यविशिष्टो गौः तद्विशिष्टं वा सादृश्यम्। यदपि तस्य पूर्वं गौरिति प्रत्यक्षमभूत्तस्यापि गवयोऽत्यन्तमप्रत्यक्ष एवेति कथं गवि तदपेक्षंतत्सादृश्यज्ञानम्। तदेवं गवयसदृशो गौरिति प्रागप्रतिपत्ते-रनधिगतार्थाधिगन्तृपरोक्षे गवयदर्शनात् सादृश्यज्ञानम्। तदुक्तं ''तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्, सादृश्येन विशेषितः। प्रमेयमनुमानस्य, सादृश्यं वा तदन्विते॥ प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि, सादृश्ये गवि च स्मृतौ। विशिष्टस्यान्यतो सिद्धेरुपमानप्रमाणता॥ प्रत्यक्षेऽपि यथादेशे, स्मर्यमाणे च पर्वके। विशिष्टविषयत्वेन, नानुमानाप्रमाणतेति'' न चेदं प्रत्यक्षं परोक्षविषयत्वात् सविकल्पकत्वाच्च। नाप्यनुमानं हेत्वभावात्। न च स एव दृश्यमानो गवयविशेषः तद्गतं वा सादृश्यं हेतुरुभयस्यापि धर्मिणा सह प्रतिबन्धाभावान्नचाप्रतिबन्धो हेतुरतिप्रसङ्गात् न च गोमत्त्वं सादृश्यं गौर्वाहेतुः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात् न च सादृश्यमात्रं प्राक् प्रमेयेण सम्बद्धं प्रतिपन्न नवान्वयप्रतिपत्तिमन्तरेण हेतोः साध्यप्रतिपादकत्वमुपलब्धं तदेवं गवार्थदर्शने गवयं पश्यतः सादृश्येन विशिष्टे गवि पक्षधर्मत्वग्रहणं सम्बन्धानुस्मरणं वान्तरेण प्रतिपत्तिरुपजायमाने नानुमानेनन्तर्भवतीति प्रमाणान्तरमुपमानम्। तदुक्तं ''न चैतस्यानुमानत्वं, पक्षधर्माद्यसंभवात्। प्राक् प्रमेयस्य सादृश्यं, न धर्मत्वेन गृह्यते ॥ गवये गृह्यमाणं च, न गवार्थानुमापकम्। प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद्गृहीतस्य न लिङ्गतः॥ गवयश्चापि सम्बन्धा-न्नागोलिङ्गत्वमृच्छति।सादृश्यं न च पूर्वेण, पूर्वं दृष्टे तदन्वये॥ एकस्मिन्नपि दृश्येऽपि, द्वितीया पश्यतो वने। सादृश्येन सहेकस्मिंस्त-दैवोत्पद्यतेमितिरिति'' नैयायिकाः श्रूयमाणलक्षणमभिदधीत प्रसिद्ध-साधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानमिति। अत्रोपमानमितिलक्ष्यनिर्देशः प्रसिद्धसाधर्म्यादित्यागमपूर्विकाप्रसिद्धिः दर्शिता आगमस्तु यथा गौस्तथा गवय इत एवं प्रसिद्धेन साधर्म्यप्रसिद्धेः संस्कारवान् पुरुषः कदचिदरण्ये परिभ्रमन् समानमर्थं यदा पश्यति तदा तज्ज्ञानादागमा-हितसंस्कारप्रबोधसङ्गतः स्मृतिर्गोसदृशो गवय इत्येवं रूपा स्मृतिसहाय-न्द्रियार्थसन्निकर्षेण गोसदृशोऽयमिति ज्ञानमुत्पाद्यते तच्चेन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजत्वात् तज्जनकत्वेनास्य प्रत्यक्षप्रमाणताप्रसक्तेः। न च शब्देन सार्द्धं यथोक्तमुत्पादयदेतच्छाब्दप्रसज्यते अव्यपदेश्यपदा-ध्याहारात् अव्यभिचार्यादिपदानांतु पूर्ववद्व्यवच्छेदो द्रष्टव्यः। नन्वेवमप्यनुमाने प्रसङ्गस्तस्य यथोक्तफलजनकत्वाद विनाभावसम्बन्धस्मृतिपूर्वकस्य परामर्शज्ञानस्य विशिष्टफलजनकत्वेनानुमानत्वावाप्तेः प्रकृतज्ञानम-विनाभावसम्बन्धस्मृतिपूर्वकं गोशदृशस्य गवयशब्दवाच्यत्वेनान्य-स्याप्रसिद्धत्वात् गोसदृशगवयशब्दःसंज्ञेति आगमात्प्रतीतिरिति चेत् न तस्य सन्निधीयमानगोशदृशपिण्डविषयत्वेनाप्युपपत्तेर्निश्चितश्चान्वयः साध्यप्रतिपत्तिः। न च तदोपलभ्यमानाद्गोसादृश्यपिण्डादव्यतिरिक्तः गोसदृशसद्भावनिश्चायकं प्रमाणमस्ति न चात्र व्यतिरेकी हेतुः समस्ति सपक्षासत्वप्रतिपादकप्रमाणाभावात् अतो नाविनाभावसंबन्धानुस्मृतिः। व्याप्तिरहितेऽपि चागमे गोसदृशो गवय इति सकृदुच्चारिते उत्तरकालगोसदृशपदार्थदर्शनात् अयं स गवयशब्दवाच्य इति प्रतिपत्तिर्भवतीति नानुमानमेतत् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानत्वागमकं न भवत्येव शब्दस्य तज्जनकस्य तदाऽभावात् शब्दजनितं च शाब्दं प्रमाणमिति व्यवस्थितं प्राक् शब्दप्रतीतत्वाच्छाब्दमिति चेन्नत्वनुमान-स्याप्येवमभावप्रशक्तिः अग्निसाम्यस्य प्राग् प्रत्यक्षेण प्रतीतत्वात् न ह्यप्रतीते महानसादावग्निसामान्ये अनुमानप्रवृत्तिरिति अप्रतीता-र्थाप्रतिपादकत्वादनुमानं न प्रमाणं भवेत्। न च विशिष्टदेशाद्यव-च्छेदसाधकत्वेनास्या प्रमाण्यमितरत्रापि समानत्वात्तथाहि सन्निधीयमानपिण्डविषयत्वेन स्वप्रतिपाद्यमिदं प्रतिपादयति आगमस्त्वसन्निहितपिण्डविषयत्वेन न चागमात् संज्ञासंज्ञि-संबन्धः प्रतीयते ततः सारूप्यमात्रप्रतीतेर्यत्र शब्दस्यैव साधकतमत्वं तदेव शाब्दं फलं न च विप्रतिपत्त्यधिकारेण संज्ञासंज्ञिसंबन्धज्ञाने एतत्समस्ति प्रत्यक्षफलं तु न भवत्येवैतत् संज्ञासंज्ञिसंबन्धस्येन्द्रियेणासन्निकर्षात्। नच सन्निकर्षश्चेन्द्रियाविषयत्वात्तस्य तदेव संज्ञासंज्ञिसंबन्ध-प्रतिनियतरूपं फलं यतः समुपजायते तदुपमानं आह च सूत्रकारः साध्यसाधनमिति साध्यं विशिष्टं फलं तस्य साधनं जनकं यत् तदुपमानं एवं सारूप्यज्ञानवत्सारूप्यस्याप्यमानत्वं न पुनः संज्ञासंज्ञिसंबन्धज्ञानस्य फलाभावात् न च हेयादिज्ञानमस्य फलं प्रत्यक्षादिफलत्वात्। तथा हि हेयादिज्ञानं पिण्डविषयं तच्चेन्द्रियार्थ सन्निकर्षादुपजायते यथा प्रत्यक्षफलमनुमानं विशिष्टफलजनकत्वादेवं

प्रमाणान्तरानिष्पाद्यविशिष्टफलजनकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानम् अत्र प्रतिविधानम्॥ उपमानस्य त्वपूर्वार्थाधिगन्तृत्वाभावात् प्रामाण्यमेव न संभवति नन्वस्यापूर्वार्थविषयता प्रागुपदर्शितैव सत्यमुपदर्शिता नतु युक्ता तथा हि तस्य विषयः सादृश्यादिविशिष्टो गौस्तद्विशिष्टं वा सादृश्यमुपदर्शितं तच्च भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणप्रतिपादितं न च सामान्यं तद्योगो वा वस्तु संभवतीति प्रतिपादितं तत्सद्भावेऽपि प्रत्यक्षविषयतया परैस्तस्येष्टेः कथमुपमानगोचरत्वेनागृहीतार्थग्राहित्वं प्रामाण्यनिबन्धनं भवेत् सादृश्यज्ञानस्य चोत्पत्तावयं क्रमः पूर्वं तावद् गोगवययोर्विषाणित्वादिसादृश्यं गवि प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते पश्चात् गवयदर्शनानन्तरं यद्विषाणित्वादिसादृश्यं पिण्डेऽस्मिन्नुपलभ्यते मया तत् गव्यप्युपलब्धमिति स्मरति तदनन्तरं गवि विषाणित्वादिसादृश्य-प्रतिसंधानं जायते अनेन पिण्डेन सदृशो गौरित्येवं च स्मार्तमेतत् ज्ञानं कथं प्रमाणं भवेत्। यदि च गवि प्रत्यक्षेणोभयगतं विषाणित्वादिसादृश्यं प्राग् न प्रतिपन्नं भवेत् प्रतिपन्नमपि यदि विस्मृतं भवेत् तदा *गवयदर्शने सत्यपि परोक्षे गवि नैव सादृश्यज्ञानमुपजायेत अतो विषाणित्वादिसादृश्यं* पूर्वमेव गवि प्रत्यक्षेणावगतमिदानीं गवयदर्शनात् तत्रैव स्मर्यते तन्न गृहीतग्राहणात् सादृश्यज्ञानं प्रमाणम्। अथ पूर्वप्रत्यक्षेण गोगतमेव सादृश्यमवगतं गवयदर्शनेन तु तद्गतमेवोभयगतसादृश्यप्रतिप-त्तिस्तु गवयदर्शनानन्तरं सादृश्यज्ञाननिबन्धनेति अगृहीतग्राहितया प्रमाणमुपमानम्। असदेतत् पूर्वमुभयगतसादृश्यप्रतिपत्तौ गवय-दर्शनानन्तरमप्यप्रतिपत्तिस्दनुसंधानप्रतिपत्तेरप्यसंभवात्। न हि गवयपिण्डदर्शनानन्तरं प्रागप्रतिपन्ने तत्सादृश्येऽश्वपिण्डे अनेन सदृशोऽश्वप्रतिपत्तिः कदाचिदपि भवति तस्मात् प्रागध्यक्षावगत-सादृश्ये प्रतियोगिग्रहणाद्व्यवहारमात्रप्रवृत्तिरेव तदा प्राक् तदप्रवृ-त्तिः प्रतियोग्यपेक्षत्वात् तस्य भ्रात्रादिव्यवहारवत् न च तत् प्रामाण्यं युक्तप्रमानामियत्ताभावप्रशक्तेः एवं धूमदर्शनास्मर्यमाणाग्निसंब-न्धितयाऽप्यक्षानवगतप्रदेशे तदयोगव्यवच्छेदमवगमयन्ती प्रतिप-त्तिरुपजायामानाऽनुमितिः प्रमाणतां यथा समासादयति न तथा सादृश्यप्रतिपत्तिः गवाख्यधर्मिप्रतिपत्तिकाल एव भूयोऽवयवसा-मान्ययोगलक्षणस्य सादृश्यप्रतिपत्तेस्तेन प्रत्यक्षेऽपि यथादेश इत्यादिवचनमयुक्ततया व्यवस्थितम्। किं च। यदि सादृश्यज्ञानं गृहीतग्राहित्वेऽपि व्यवहारमात्रप्रवर्तनात् प्रमाणं तर्हि वैसादृश्य-ज्ञानमपि सप्तमं प्रमाणं भवेत् दृश्यपरोक्षे सादृश्यधीरप्रमाणान्तरं यदि वैधर्म्यमर्हति तर्ह्येवमप्येवं प्रमाणं किं न सप्तमम्। तथा सोपा-नलाभात् क्रामतः प्रथमाक्रान्तं पश्चादाक्रान्ताद्दीर्घं महत् ह्रस्वं चेत्याद्यनेकं प्रमाणं प्रसक्तमिति कुतः प्रमाणषट्कवादः संगतो भवेत्। दृश्यमानव्याक्षेपं चेद् दृष्टज्ञानं प्रमाणान्तरं तत् पूर्वमस्मादित्यादिप्रमाणान्तरमिष्यताम्। अप्रमाण्ये चास्य पक्षधर्मत्वाद्यभावप्रतिपादनं सिद्धसाधनमेवाप्रमा वा प्रमाणस्यानुमानत्वानभ्युपगमाद्। यदा च प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नेऽपि गवाश्वादौ भूयोऽवयवसामान्ययोगं तद्वियोगवाच्यं मूढः सदृशासदृश्यव्यहारं न प्रवर्तयति तदा विषयदर्शनेन विषयिणोव्यवहारस्य साधनात् वैरुप्यसद्भावादनुमानप्रमाणता समस्त्येव तथा हि गवाश्वादौ विषाणाद्यवयवसामान्ययोगसिद्धियोगो वा प्रागुपलब्ध इदानीं स्मर्यमाण इति नासिद्धता हेतोः प्रवृत्तिर्व्यवहारविषयश्च एवार्थोऽत्र दृष्टान्तोऽस्तीति नान्वयव्यतिरेकयोरप्यभावस्ततो न वै तस्यानुमानत्वमित्यादि-पक्षधर्मत्वाद्यसंभवप्रतिपादनमसंगतव्यवहारसाधनपक्षधर्मत्वादेः प्रसाधनान्नैयायिकोपवर्णितमप्युपमानमनधिगतार्थाधिगन्तृत्वा-भावात् प्रमाणं न भवति तथा हि यथा गौस्तथा गवय इति वाक्याद् गोसदृशार्थसामान्यस्य गवयशब्दवाच्यतायाप्रतिपत्तेरन्यथा विसदृ-शमहिष्याद्यर्थदर्शनादप्ययं स गवय इति संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिः किं न भवेत्तस्माद्यथा कश्चिदङ्गदी कुण्डली छत्री स राजेति कुतश्चिदुपश्रुत्याङ्गदादिमदर्थदर्शनादयं स राजेति प्रतिपद्यते न चासौ प्रतिपत्तिः प्रमाणमुपवाक्यादेवाङ्गदादिमतोर्थस्य राजशब्दवाच्य-त्वेन प्रतिपन्नत्वात् तथेहापि यथा गौस्तथा गवय इत्यति देशवा-क्यात्संबन्धमवगत्य गवयदर्शनात्संकेतानुस्मरणे सत्ययं स गव-यशब्दवाच्योऽर्थप्रतिपत्तेरप्रमाणमुपमानम्। यदि पुनरतिदेशवा-क्यात्संबन्धप्रतिपत्तिर्नाभ्युपगम्यते पश्चादप्ययं स गवयशब्दवाच्य-स्तथाऽपि प्रत्ययो न स्यात्तदपरनिमित्ताभावात् दृश्यते च तस्मा-दगृहीतग्रहणान्नेदं प्रमाणम्। अथातिदेशवाक्यात् पूर्वज्ञात्सदृशार्थस्य गवयशब्दवाच्यता सामान्येन प्रतीता गवयदर्शनानन्तरं तु गवयविशेषं *तच्छब्दवाच्यत्वेन पूर्वमप्रतीतं प्रतिपद्यत इति न गृहीतग्राहिता असदेतत्* सस्नेहितगवयविशेषविषयस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षतयोपमानत्वानु-पपत्तेर्गवयदर्शनोत्तरकालभावि त्वयं स गवयश-ब्दवाच्योऽर्थ इति तज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षबलोत्पन्नत्वात् स्मृतिरेव न प्रमाणम्। किं च गवयविशेषस्य गवयशब्दवाच्यता यद्यतिदेशवाक्यान्न प्रतिपन्ना कथं तर्हि गवयविशेषदर्शन उपजाते कस्मादस्य तच्छब्दता यस्यैवार्थस्य संबन्धग्रहणकाले येन सह संबन्धोऽनुभूतस्तस्यैवार्थस्य तेन सह संबन्धे तच्छब्दवाच्यता कालान्तरेऽपि दृश्यते ततः सामान्येन संकेतकाल एव संबन्धः प्रतीतः पश्चाद्गवयदर्शन उपजाते संकेतमनुसृत्यायं स गवयशब्दवाच्योऽर्थ इति प्रतिपद्यते इत्यभ्युपगन्तव्यमेतेनोपयुक्तो-पमानस्तु तुल्यार्थग्रहणे सति विशिष्टविषयत्वेन संबन्धं प्रतिपद्यत इत्यपि निरस्तं विशेषस्य संकेतकालानुभूतस्य व्यवहारकालानुगमादवाच्यत्वाच्च। यश्च शब्दप्रभवप्रतिपत्तावर्थः प्रतिभाति स एकशब्दवाच्यो न त्वऽविशे-षस्तत्र प्रतिभालक्षणज्ञाने असतस्तत्र शब्दस्याप्रतिभासनान्न विशेषः शब्दवाच्यतायामसौ गवयशब्दवाच्य इति विशेषस्य वाच्य-प्रतिपत्तिः सादृश्यविकल्पयोरेकीकरणाद् भ्रान्तिरन्यापूर्वानुद्भूता-कारपरामर्श इति दृश्येयमसौ गवयशब्दवाच्य इति प्रतिपत्तिः कथं भवेदतिदेशवाक्यश्रवण-समये विशेषे संबन्धाप्रतिपत्तेः प्रतिप्रत्त्यभ्युपगमे वा विशेषेऽपि सामान्यत्वस्मृतिरेवेति कुतः प्रामाण्यमुपमानस्य। यद् गौरिव गवय इति गोगवययोरतिदेशवाक्यात्सादृश्यमात्रप्रतिपत्तिः संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रति-पत्तिस्तूपमानात्तदप्यसमीक्षिताभिधानं यतो गवयदर्शनानन्तरमयं स गवयशब्दवाच्य इति प्रतिपत्तिरुपजायते इयं च तावदध्यक्षप्रतिपत्तिः फलश्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रभ्रष्टसंस्कारस्य वा तत्सदभावेऽप्यस्यानुत्प-त्तेर्विशेषश्चाध्यक्षविषयत्वानभ्युपगमाच्च अतिदेशवाक्यस्मरणसहायस्य गवयदर्शनस्य तत्प्रतिपत्तिजनकत्वे स्मर्यमाणशब्दवाच्यत्वमित्यतिदेश-वाक्यमेव तज्जनकमभ्युपगतं भवेत् न दर्शनं न हि यत्राध्यक्षप्रवृत्तिमत्तत्र शब्दस्मरणसहितमपि प्रवर्तते यथा चक्षुर्ज्ञानं गन्धस्मरणं सहायं परिमलप्रतिपत्तावतिदेशवाक्याच्च संबन्धाप्रतिपत्तावपरस्य तत्प्रतिपत्तिर्निमित्तस्याभावात् अयं स गवयशब्दवाच्य इति पूर्वानुभूत-परापर्शेन प्रतिपत्तिर्न स्यादपि त्वयं गोदृश इत्येव भवेत् न चैतत्प्रतिपत्तिरन्यथानुपपन्नैव प्रमाणान्तरमुपमाख्यमेतत्प्रतिपत्तिजनकं प्रकल्पनीयं यः कुण्डली स राजेति श्रोतातिदेशवाक्यस्य तद्दर्शनान्तरमयं

स राजशब्द वाच्य इति प्रतिपत्तेरप्युपमानफलत्वप्रसक्तेः अथात्र तच्छब्दवाच्यता इत्यतिदेशवाक्यादेव प्रतिपन्नेति नातिप्रसक्तिस्तर्हि गौरिव गवय इत्यतिदेशवाक्याद् गोसदृशार्थस्य गवयशब्दवाच्यतापि प्रतिपन्नेति नोपमानप्रमाणफलता अयं स गवयशब्दवाच्य इति प्रतिपत्तेः। तस्मात् स्मृतिरूपत्वादस्याः प्रतिपत्तेर्नैतस्या जनकस्य प्रमाणतेति अनुमानान्तर्भावप्रतिपादनं न दोषायेत्यलमतिविस्तरेण ॥ सम्म० । सूत्र०।

उवमादोस पुं०(उपमादोष) हीनाधिकोपमाभिधानलक्षणे सूत्रदोषे, आ०म०द्वि०। यत्र हीनोपमा क्रियते यथा मेरुः सर्षपोपमः। अधिकोपमा वा क्रियते यथा सर्षपो मेरुसन्निभः। अनुपमा वाऽभिधीयते यथा मेरुः समुद्रोपम इत्यादि। अनु०। विशे०। यथा काञ्जिकमिव ब्राह्मणस्य सुराऽपेया॥ वृ० १उ०।

उवमिय त्रि०(उपमित) उप–मि–क्त। सादृश्यानुयोगिनि, यथा चन्द्रवन्मुखं तस्य चन्द्रसादृश्यानुयोगित्वात्॥ वाच०॥ उप–मि–भावे निष्ठाप्रत्ययः। उपमाने, विशे०॥ उपमीयतेऽनेनोपमितम् बाहुलकात्करणे निष्ठाप्रत्ययः। उपमाकरणे, क्षेत्रस्योपमितं क्षेत्रोपमितम्। आ०म०प्र०॥

उवयाइय त्रि०(उपयाचित) कर्मणि क्त। उपगम्य प्रार्थिते, भावे क्त। उपगम्य याचने, न० देवाराधने, स्था० १० ठा०। पूजाभ्युपगम–पूर्वकप्रार्थने, ज्ञा० ८ अ०।

उवयाण न०(उपयान) सामीप्येन गमने, सूत्र० १ श्रु० २ अ०।

उवयार पुं०(उपचार) उपचरणमुपचारः। उप–चार–घञ्। ग्रहणे, अधिगमे, "उवयारसद्दसंपच्चयत्थं एगट्ठिया भणंति। उवयारोत्ति वा अहीतंति वा आगमियंति वा गृहीतंति वा एगट्ठं"। नि०चू०१उ०। चिकित्सायाम्। पूजायाम्, पंचा० ६ विव० कल्प०। ज्ञा०। औ०। रा०। देवतापूजायाम्, प्रश्न० सं० ३ द्वा० पंचवण्णसरसुरभिमुक्क–पुप्फपंजोवयारकलिते" चं० २० पाहु०। आराधनाप्रकारे, द० ६ अ०। सुखकारिक्रियाविशेषे, प्रव० ६ द्वा०। अन्यक्रियाकलापे, षो० १२ विव०। लक्षणायाम्, द्र० ७ अध्या०। लक्षणया शक्यार्थ–त्यागेनाऽन्यार्थबोधने, असदारोपे, अष्ट०। उपचरणमात्रधर्मणि, द्र० ७ अध्या०। यथा–

जो तेसु धम्मसद्दो, सो उवयारेण निच्छएण इहं।
जह सीह सद्दसीहे, पाहेणुवयारओ ण्णत्थ ॥६५॥

यस्तेषु तन्त्रान्तरीयधर्म्मेषु धर्म्मशब्दः स उपचारेणापरमार्थेन निश्चयेनात्र जिनशासने कथं यथा सिंहशब्दः सिंहे व्यवस्थितः प्राधान्येनोपचारतः उपचारेणान्यत्र माणवकादौ यथा सिंहो माणवकः उपचारनिमित्तं च शौर्यक्रौर्यादयः धर्म्मे त्वहिंसाद्यभिधानादय इति गाथार्थः॥ दश० १ अ०। व्यवहारे, स्था०४ ठा०। "णिउणजुत्तोवयारकुसला" विपा० २अ०। उपचरितवस्तुव्य–वहारे, यो० विं०। लोकव्यवहारे, ज्ञा०१ अ०। जं०। आदेशे, आ० म० द्वि०। कल्पनायाम्, विशे०।

उवयारओ अव्य०(उपचारतस्) कल्पनामात्रेणेत्यर्थे,। "उवयारओ खित्तस्स विणिगमणं सरूवओ नत्थि" विशे०॥

उवयारग पुं०(उपचारक) प्रतिजागरके, नि०चू० ११ उ०।

उवयारग्ग न०(उपचाराग्र) उपचरणमुपचारः तेनोपचारेण करण–भूतेनेदमग्रम्। भावाग्रे, नि० चू० १ उ०। (तद्व्याख्या अग्गशब्दे उक्ता)

उवयारच्छल न०(उपचारच्छल) औपचारिके प्रयोगे मुखप्रतिषे–धेन प्रत्यवस्थानरूपे छलभेदे, यथा मञ्चाः क्रोशन्ति इत्युक्ते पर प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्ति। स्या०।

उवयारमित्तग न०(उपचारमात्रक) लोकोपचारे एव केवले, "उवचरइ कोणतितो, अहवा उवयारमित्तग एइ" वृ०१उ०॥

उवयारसय न०(उपचारशत) औपचारिकवचनचेष्टादिशते, "उवयारसयबंधणपउत्ताओ"। तं०।

उवयारोवेयत्त न०(उपचारोपेतत्व) अग्राम्यतारूपे तृतीये सत्य–वचनातिशये, स०। औ०।

उवयालि पुं०(उपजालि) द्वारवत्यां वसुदेवस्य धारण्यामुत्पन्ने जालिभ्रातरि, सच द्वारवत्यां नगर्यां वसुदेवस्य धारण्यां देव्यां जातः पञ्चाशत्कन्याभिः परिणीतोऽरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रजितः द्वादशाङ्गान्यधीत्य षोडशवर्षपर्य्यायो मृतः शत्रुञ्जये सिद्धः। शेषं यथा गौतमस्य इत्यन्तकृद्दशासु चतुर्थवर्गे द्वितीये अध्ययने प्रतिपादितम्। अन्त० ४ अ०॥ राजगृहे नगरे श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्यां देव्यामुत्पन्ने पुत्रे च। स च राजगृहे श्रेणिकस्य धारण्यां जातः अष्टकन्याः परिणायितः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके प्रव्रजितः एकादशाङ्गान्यधीत्य षोडशवर्षाणि श्रामण्यपरिपाकं प्राप्य कालं कृत्वा वैजयन्ते विमाने देवतयोपपन्नः द्वात्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिं परिपाल्य महाविदेहे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकदशासु प्रथमे वर्गे द्वितीयेऽध्ययने सूत्रितम्। अनु०॥

उवरइ स्त्री०(उपरति) उप–रम्–क्तिन्–विरतौ, स्था०१ ठा०। आचा०। स०।

उवरम पुं०(उपरम) उप–रम्–घञ्–अवृद्धिः। उपरमणमुपरमः। नियमे,। विशे० विरमे, दर्श०।

उवरय त्रि०(उपरत) उप–रम्–क्त। निवृत्ते। कल्प०। स्था०। उत्त०। "न हणे पाणिणं पाणे, मपवेराउ उवरए" उपरतो निवर्तितः। उत्त० ६ अ०। प्रायः सावद्ययोगेभ्यो निवृत्ते, आव० ४ अ०। "उवरया मेहुणा उ" उपरता मैथुनाद् धर्मात् अष्टादशविकल्पब्र–ह्मोपेताः। आचा०१ श्रु०। उपसामीप्येन रतः। व्यवस्थिते, "एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसेत्ति" आचा०१ श्रु०३ अ० २उ०। "एत्थो वरए तं झोसमाणे अय सधीति अद्दक्खु" अत्रास्मिन् सावद्यारम्भे कर्त्तव्ये उपरतः संकुचितगात्रः। अत्र चार्हते धर्मे व्यवस्थिते उपरतः पापारम्भात्। आचा०१ श्रु० ५ अ०।

उवरयदंड पुं०(उपरतदण्ड) प्राणिनः आत्मानं वा दण्डयतीति दण्डः। स च मनोवाक्कायलक्षणः उपरतो दण्डो येषान्ते तथा। निवृत्तदण्डेषु, "उवरयदंडेसु अणुवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा णिरुवहिएसु वा" आचा०१ श्रु०४ अ०१उ०।

उवरयमेहुण त्रि०(उपरतमैथुन) मैथुनादुपरते, "से हुप्परिणा समयम्मि वट्टइ णिरास से उवरयमेहुणे चरे" आचा०२ श्रु०।

उवराग पुं०(उपराग) उप–रञ्ज–घञ् – उपरञ्जने, ग्रहणे, "ससिरविगहोवरागविससेसु" प्रश्न० २ द्वा०। "चंदसुरोवरागो गहणं भण्णइ" आव०४ अ०। स्था०। (गहणशब्दे वक्तव्यता वक्ष्यते)

उवरि अव्य०(उपरि) अग्रे इत्यर्थे, "मंदरचूलियाणं उवरि चत्तारि जोयणाइं" स्था०४ ठा०। उत्तरकाले, "गहणादुवरि पयत्तो" ध०२ अधि०। उपरिष्टादर्थे, "उक्किट्ठवण्णगो वरिसवसरणबिंब–रूवस्स" पंचा०२ विव०। भ०। प्रज्ञा०।

उवरिभासा स्त्री०(उपरिभाषा) गुरोर्भाषणानन्तरमेव विशेषभाषणरूपायां भाषायाम्, ''अंतरभासाए उवरिभासाए जं किंचि'' ध०२अधि०।

उव(प)रिम त्रि०(उपरितन) ऊर्द्धभवे, स्था०१० ठा०।

उवरिमउवरिमगेविज्ज पुं०(उपरितनोपरितनग्रैवेय) नवानां ग्रैवेयकाणामन्तिमे, स्था० ९ ठा०।

उवरिमउवरिमगेवेज्जविमाणपत्थड पुं०(उपरितनोपरितनग्रैवेयकविमानप्रस्तट) नवमे ग्रैवेयकविमानप्रस्तटे, स्था० ९ ठा०।

उवरिमग पुं०(उवरिमक) उपरिमा एव उपरिमकाः। उपर्य्युपरिवर्तिदेवलोकनिवासिषु देवेषु, ''बहुयरं उवरिमगाउड्ढं च सकप्पथूभाइ'' आ०म०प्र०। विशे०।

उवरिममज्झिमगेवेज्ज पुं०(उपरिममध्यमग्रैवेय) अष्टमे ग्रैवेयक-देवे, स्था० ९ ठा०।

उवरिममज्झिमगेवेज्जविमाणपत्थड पुं०(उपरिममध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तट) अष्टमे ग्रैवेयकविमानप्रस्तटे, स्था० ९ ठा०।

उवरिमहिट्ठिमगेविज्ज पुं०(उपरिमाधस्तनग्रैवेय) सप्तमे ग्रैवेयके, स्था० ९ ठा०।

उवरिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थड पुं०(उपरिमाधस्तनग्रैवेयकविमानप्रस्तट) सप्तमे विमानप्रस्तटे, स्था० ९ ठा०।

उवरिमहेट्ठिल्ल त्रि०(उपरिमाधस्तन) ऊर्द्धाधोवर्त्तिनोः, ''उवरिमहेट्ठिल्ले सुखुड्डगपयरेसु'' उपरिमो यमवधीकृत्योर्द्धं प्रतरवृद्धिः प्रवृत्ता अधस्तनश्च यमवधीकृत्याधः प्रतरवृद्धिः प्रवृत्ता ततस्तयोरुपरितनाधस्तनयोः क्षुल्लकप्रतरयोः शेषापेक्षया लघु-तरयो रज्जुप्रमाणायामविष्कम्भयोस्तिर्य्यग्लोकमध्यभागवर्तिनोः,। भ०१३ श०४ उ०।

उवरिमागार पुं०(उपरिमाकार) उपरितनेषु उत्तमाङ्गादिरूपेष्वा-कारेषु, ''तेसि णं दाराणं उवरिमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया'' रा०।

उवरियतल न०(उपरितल) गृहस्य पीठबन्धकल्पे स्थाने, ''जंबू दीवप्पमाणा उवरियतलेणा'' भ० २ श० ८ उ०।

उवरिल्ल त्रि०(उपरितन) उपरिशब्दात्। **डिल्लडुल्लौ भवे** ॥८।२।६३॥ भवेऽर्थे नाम्नः परौ इल्ल उल्ल इत्येतौ डितौ प्रत्ययौ भवत इति भवार्थे इल्लप्रत्ययः। ऊर्द्धभवे, प्रा०। ''उवरिल्ले तारारूवे चारं चरति'' स्था० ९ ठा०। अनु०। ''उवरिमं सुयं वाएइ उवरिल्लं सुयं जहा दसवेयालियस्स आवस्सगं'' नि०चू० १९ उ०।

उवरुज्झंत त्रि०(उपरुध्यमान) उप-रुध्-कर्मणि-यक्-शानच्। **समनूपाद्रुधेः** ॥८।४।४७॥ इति उपःपरस्य कर्मणि ज्झो वा पक्षे उपरुंधिज्जंत। निरुध्यमाने, आव्रियमाणे, प्रा०।

उवरुद्ध पुं०(उपरौद्र) यस्तु नारकाणामङ्गोपाङ्गानि भनक्तिसोऽत्यन्तरौद्रत्वादुपरौद्र इति। षष्ठे परमाधार्मिके, भ० ३ श० ६ उ०। तत्स्वरूपं यथा-

भंजंति अंगमंगाणि, ऊरू बाहू सिराणि करचरणा।
कप्पेंति कप्पणीहिं, उवरुद्धा पावकम्मरया॥७५॥

अथोपरुद्राख्याः परमाधार्मिकाणामङ्गप्रत्यङ्गानि शिरोबाहूरुकादीनि तथा करचरणांश्च भञ्जन्ति मोटयन्ति पापकर्मणः कल्पनीभिः कल्पयन्ति पाटयन्ति तत्रास्त्येव दुःखोत्पादनं यत्ते न कुर्वन्तीति॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ०। आव० आ० चू०। प्रश्न०।

उवरुवरि अव्य०(उपर्य्युपरि) निरन्तरमर्थे, ''उवरुवरितरंगदरियअतिवेगचक्खुपहमोच्छरंतं'' प्रश्न०३द्वा०।

उवरोह पुं०(उपरोध) उप० रुध्-घञ्-आवरणे, अनुरोधे, व्या-घाते, वृ०१उ०। बाधायाम्, विशे०। संघटनादौ, ''भूओवरोहरहिए'' भूतानि पृथिव्यादीनि उपरोधस्तत्संघट्टनादि-लक्षणः। आव० ४ अ०। परचक्रेण वेष्टने,।

ग्रामादेरुपरोधे सति भिक्षाटनादिविधिमाह।

(सूत्रम्) गमगमस्स वा जाव रायहाणी य बाहिया। सेणं संनिविट्ठं पेहायं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तद्दिवसं भिक्खायरियाए गंतुं पडिपत्तए नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवायणाइ वित्तपजो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा तं रयणिं तत्थेव उवायणाइ उवातिणंतं वा साइज्जति से दुहतो वि अक्कममाणो आवज्जइ वा उम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं॥

अस्य संबन्धमाह।

उवरोहभया कीरइ, सप्परिखे पुरवरस्स पागारो।
तेण र सुत्तेण सुत्तं, अणुअत्तइ उग्गहो जं व॥

पूर्वसूत्रे प्राकारः प्राकारपरिखा चोक्ता स च प्राकारः सपरिखेऽपि पुरवरस्योपरोधः परचक्रेण वेष्टनं तद्भयात्क्रियते तेन कारणेन र इति पादपूरणे ततः सूत्रमिदमारभ्यते। यथावग्रहः पूर्वसूत्रेभ्योऽनुवर्तते अव्यवच्छिन्न एवागच्छन्नस्तीति भावः। अतो यथा रोधके राजावग्रहमनुज्ञाप्य बहिर्निर्गम्यते प्रविश्यते वा तथाभिधीयते। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। सशब्दोऽथशब्दार्थ अथ ग्रामस्य वा यावद्राजधान्या वा यावत्करणान्नगरस्य वा खेटस्य वा इत्यादिपरिग्रहः। एतेषामन्यतरस्य बहिः सेना राज्ञस्कन्धावारं रोधकं त्वासन्निविष्टं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा तद्दिवसं भिक्षाचर्यायां गत्वा प्रत्यागन्तुं नो नैव (से) तस्य विवक्षितस्य भिक्षोः कल्पते तां रजनी तत्रैवोपाददाति उपाददनं वा स्वादयति स द्विधा आद्यानिष्क्रामन् जितसीमानं राजसीमानं च विलुम्पन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमुद्घातिकमिति सूत्रार्थः।अथ भाष्यविस्तरः।

सेणादी गम्मिहिई, खित्तुप्पायं इमं वियाणित्ता।
असिवे ओमोयरिय-मयवक्का णिग्गमे गुरुगा॥

क्वचित् मासकल्पक्षेत्रे स्थितैर्ज्ञातं सेनापरचक्रमत्र समायास्यति आदिशब्दादशिवमवमौदर्यं म्लेच्छादिभयं वा भविष्यति। एवमादौ कारणे पश्चादपि गमिष्यतीति कृत्वा अनागतमेव ततः क्षेत्रान्निर्गन्तव्यं कथं पुनरनागतं तज्ज्ञायत इत्याह क्षेत्रस्योत्पातः परचक्राद्युपद्रवसूचकानि लिङ्गानीत्यर्थः। भ्रान्तिवद्दिक्चक्रवालं धूमायते। अकाले तरूणं पुष्पफलानि जायन्ते महता शब्देन भूमिः कम्पते। समंततः क्रन्दितकूजिताः शब्दाः श्रूयन्ते इत्यादीनि मन्तव्यानि एवं क्षेत्रोत्पातमसुं विज्ञाय निर्गन्तव्यम्। अथ न निर्गच्छन्ति ततोऽशिवे अवमौदर्ये बोधिकभये परचक्रागमने ज्ञातेऽपि निर्गमनमकुर्वतां चतुर्गुरुकाः।

आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमायाए।
असिवाहिम्मि परुविते, अधिकारो होइ सेणाए॥

आज्ञादयश्च दोषाः विराधना च संयमात्मविषया भवति संयमविराधना शुद्धे भक्तपाने अलभ्यमाने अनेषणीयम्। गृह्णीयादित्यादिका आत्मविराधना परितापमहादुःखादिका यदा वाऽशि-

वादिकं प्रतिपदं प्ररूपितं भवति तदा तत्र सेनया अधिकारः कर्तव्यः। अशिवादिकं च प्रथमोद्देशके अध्वसूत्रे सप्रपञ्चं प्ररूपितमिति नेत्र भूयःप्ररूप्यते। तच्च परचक्रागमनं यथा ज्ञायते था दर्शयति॥

अतिसयदेवत्तणिमि–त्तमादि अवितहपवित्ति मोत्तूणं।
निग्गमणो होइ पुव्वं, अणागते रुद्धवोच्छिण्णे॥

अवधिज्ञात्वाद्यतिशयेन स्वयमेव ज्ञातं अपरेण वा अतिशयज्ञा–निना पृष्टेन कथितं देवतया वा कयाचिदाख्यातं अविसंवादिना वा निमित्तेनाऽवगतम् आदिग्रहणेन विद्यामन्त्रादिपरिग्रहः। अथवा वा प्रवृत्तिर्वार्त्ता तामवितथां श्रुत्वा ततः क्षेत्रात्पूर्वमेव निगर्मनं कर्तव्यं भवति। अथानागतं न ज्ञातं सहसैव तन्नगरं रुद्धं पन्थानो व्यवच्छिन्नास्ततो न निर्गच्छेयुरपि। अथवा अमीभिः कारणैर्ज्ञातेऽपि न निर्गमिताः भवेयुः।

गेलन्नरोगिअसिवे,रायदुट्ठे तहेव ओसम्मि।
उवही सरीरतेणग–णाते वि ण होइ णिग्गमणं॥

ग्लानो ज्वरादिपीडितः कश्चिदस्ति तत्प्रतिबन्धेन गन्तुं न शक्यते (रोगित्ति) दुष्टरोगेण कुष्ठादिना कश्चिदत्यन्तमभिभूतः स परित्यक्षुं न पार्यते बहिर्वा अशिवं राजद्विष्टमवमौदर्यं वा विद्यते उपविस्तेनाः शरीरस्तेना वा बहिर्गच्छत उपद्रवन्ति एतैः कारणैर्ज्ञातेऽपि परचक्रागमने निर्गमनं न भवति।

एएहि य अण्णेहि य, ण णिग्गया कारणेहि बहुएहिं।
अच्छंति होइ जयणा, संवत्ते णगररोधे य॥

एतैरन्यैश्च बहुभिः कारणैर्न निर्गता भवेयुः ततस्तत्रैव तिष्ठतां संवर्ते नगररोधके च यतनाः कर्तव्या संवर्तो नाम परचक्रागमनं श्रुत्वा स्वरक्षार्थं यत्र जलदुर्गादिषु बहूनां ग्रामाणां जनः संवर्तीभूयैकत्र तिष्ठति। नगररोधकः प्रतीतस्तत्र संवर्ते यतनामाह।

संवट्टम्मि तु जयणा, भिक्खे भत्तट्ठणा य वसहीए।
तम्मि भए संपत्ते, आवाउडे केण वट्टति॥

संवर्ते तिष्ठतां भैक्ष्ये भक्तार्थतायां वसतौ च यतना कर्तव्या। तस्मिंश्च परचक्रलक्षणे भये संप्राप्ते अपावृता एके न तिष्ठन्तीति निर्युक्तिगाथा समासार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवृणोति।

वइयासु व पल्लासु व, भिक्खं काउं वसंति संवट्टे।
सव्वम्मि रज्जखोभे, तत्थ व य जाणिथंडिल्ले॥

संवर्ते अभिनवसन्निविष्टतया सचित्तः पृथिवीकायो भवतीति कृत्वा भिक्षां हिण्डन्ते। किं तु पूर्वस्थितासु व्रजिकासु वा पल्लीसु वा भिक्षां कृत्वा तत्रैव स्थण्डिले भुक्त्वा रात्रौ संवर्ते समागत्व वसन्ति। अथ सर्वस्यापि राज्यस्य क्षोभ इतो व्रजिकादिकमपि नास्ति तदा तत्रैव संवर्ते यानि तेषु भिक्षां हिण्डन्ते।अथ न सन्ति स्थण्डिले स्थितानि तत इयं यतना।

पोपलियसत्तुउदगे, गहहं पडलोवरिं पगासमुहे।
सुक्खादीण अलंभे, न य चिंता वा सिलाघंति॥

तक्रतीमनादौ आर्द्रे प्रपतति पृथुकाप् कायविराधना भवेदिति मत्वा याः पूपलिका ये च सक्तवो यश्च शुष्कौदन एवमादिकं शुष्कद्रव्यं पटलोपरिस्थिते प्रकाशमुखे भाजने गृह्णन्ति अथ शुष्कादीनां लाभो न भवति। आदिशब्दः स्वगतानेकभेदसूचको न च तैरात्मानं पातयन्ति तत आर्द्रेण गृह्यमाणेन यत्र पटलकादौ खरण्टको लग्नस्तं सम्यक् लक्षयन्ति। गतं भिक्षाद्वारम्।

अथ भक्तार्थताद्वारमाह।

पच्छन्ना सति बहिया, अह सभयं तेण चिलिमिली अंतो।
असतीए व सभयम्मि व, घरंति अद्धेयरे भुंजे॥

संवर्तस्यान्तः प्रच्छन्ने प्रदेशे भक्तार्थं न कर्त्तव्यं अथान्तः प्रच्छन्नं नास्ति ततः संवर्तस्य बहिर्गत्वा समुद्देष्टव्यम् अथ बहिः सभयं ततोऽन्तः संवर्तस्याभ्यन्तर एव चिलिमिलिकां दत्वा भोक्तव्यम्। अथ नास्ति चिलमिलिका सभये वा सा न प्रकटीक्रियते। ततोऽर्द्धे साधवो भाजनानि धारयन्ति। इतरे द्वितीया आर्दकमशकेषु भुञ्जते।

काले अपहुत्तंते, भए व सत्थे व गंतु कामम्मि।
कप्पुपरिभोयणाइं, काउं इक्को उ परिवेसो॥

अथ वारकेण भुञ्जानानां कालो न पूर्यते भये वा त्वरितं भोक्तव्यं यो वा संवर्ते सार्थः स गन्तुकामस्ततः कल्पस्योपरि भोजनानि कृत्वा स्थापयित्वा सर्वेऽपि कमठकादिषु भुञ्जते एकश्च तेषां सर्वेषामपि परिवेषयत्।

पत्तेगं वडुगा मंति, मज्झिलगादेक्कओ गुरू वीसुं।
ओमोणकप्पकरणं, अण्णे गुरुणेक्कतो वा वि॥

प्रत्येकं यदि सर्वेषां वटुकान निमन्त्रितास्ततो ये मज्झिलकाः परस्परंसहोदराभ्रातरः। आदिशब्दादन्येऽपि ये प्रीतिवशेनैकत्र मिलन्ति ते एकतः समुद्दिशन्ति गुरुवोऽपि विश्वग् पृथक् भुञ्जते यदा सर्वेऽपि भुक्ता यस्तत्रावमो लघुस्तेन कमठकानां कल्पकरणं विधेयम्। गुरूणां समक्षं कमठकं तौ सह न मील्येते अन्यस्तस्य कल्पं पृच्छति। अपूर्यमाणेषु साधूनां गुरोश्च कमठकान्येकतोऽपि कल्पयन्ति।

भायणस्स कप्पकरणं, हेट्ठिल्लगमुत्तकडुयरुक्खे य।
ते अ सति कमठकप्पर, काउमजीवे पदेसे य॥

भाजनस्य कल्पकरणं दग्धभूमिकायां गोमूत्रभाविते वा भूभागे कटुकवृक्षस्याधस्ताद्वा कर्तव्यम्। तेषां दग्धादिस्थण्डिलानामभावे कमठकेषु घटादिकस्योपरि वा भाजनकल्पं कृत्वा तत्र कल्पानकमन्यत्र नीत्वा स्थण्डिले परिष्ठापयन्ति। गते वा संवर्ते पश्चात्परिमलिनजीव-प्रदेशेषु परिष्ठाप्यं सभये वा त्वरमाणाः। स्थण्डिलस्य वा अभावे धर्माधर्मास्तिकायसंबन्धिषु जीवप्रदेशेषु परिष्ठापयामः इति बुद्धिं विधाय अस्थण्डिले परिष्ठापयन्ति। गतं भक्तार्थताद्वारम्। वसतिद्वारमाह।

गोणादीवाघातो, अलब्भमाणेव बाहिवसमाणो।
वातदिसिसावयभए, अ वा उडा तेण जग्गणता॥

संवर्तस्यान्ते निराबाधे परिमिलिते प्रदेशे वसन्ति अथ तत्र गवा–दिभिरितस्ततस्तडफडायमानैर्व्याघातो यद्वा तत्र प्राशुकः प्रप्रदेशो न लभ्यते ततो बहिर्वसतौ यतो घाटिभयं तं भूभागं वर्जयित्वा वसन्ति। अथ तत्र स्वापदभयं ततो यस्यां दिशि वातस्तां वर्जयन्ति येन च परचक्रभयेन तत्र संवर्ते प्रविष्टास्तस्मिन् प्राप्ते सर्वमुपकरणं गुपिले प्रदेशे स्थापयित्वा स्वयमेकतोऽन्यत्र प्रदेशे अपावृताः कायोत्सर्गेण तिष्ठन्ति। स्तेनरक्षणार्थं च वारकेण रजनीसकलामप जाग्रति अथ कस्मादपावृतास्तिष्ठन्तीत्याह।

जिणलिंगमप्पडिहयं, अवाउड वा वि दिस्स वज्जंति।
थंभणिमोहणिकरणं, कडजोगे वा भवे करणं॥

अचेलतालक्षणं जिनलिङ्गमप्रतिहतमेवं स्थितानां न कोऽप्युप–द्रवं करोतीति भावः। अथवा ते स्तेना अपावृतान् दृष्ट्वा स्वयमेव वर्जयन्ति स्तम्भनीमोहनीविद्याभ्यां च तेषां स्तम्भनमोहने कुर्वन्ति

यो वाकृतयोगः सहस्रयोधी तेन तादृशे आकम्पे गच्छसंरक्षणार्थं करणं शिक्षणं तेषां विधेयम्। गतं संवरद्वारम्।

अथ नगराधकद्वारमाह–

सवट्ठ णग्गयाण, णियट्टण अट्टरोहजयणाए।
वसही भत्तट्ठणया, थंडिलविमिंचणो भिक्खो॥

त्ये मासकल्पप्रायोग्या क्षेत्रान्निर्गत्य संवर्त्तस्थितास्ते संवर्त्तनिर्गता उच्यन्ते तेषां तत उत्थितानामवस्कन्दादिभयेन भूयोऽपि सवर्त्तान्नगरं प्रतिनिवर्तना भवति। यद्वा ग्लानादिभिः कारणैः प्रथममेव नगरान्त निर्गतास्ततो नगरवसतावष्टौमासान् रोधके यतनया वस्तव्यं। भवति सा च यतना वसतिभक्तार्थनथण्डिलविवचनभैक्ष्यविषया कर्तव्या। तत्र वसतियतनां तावदाह–

हाणीजाते कट्ठा, दो दारा कडगचिलिमिली वसभा।
तं चेव एगदारे, मत्तगसुविणं व जयणाए॥

रोधके तिष्ठद्भिरष्टौ वसतयः प्रत्युपेक्षणीयास्तासु प्रत्येकमृतुबद्धे मासं मासमासितव्यं अष्टानामलाभे सप्त एवं चान्या तावद्वक्तव्यं यावत् संयतानां संयतीनां च (एकट्ठति) एकैव वसतिर्भवति। तत्रैकस्यां वसतौ स्थितानां द्वे द्वारे भवतः। अथान्तराले कटकचिलिमिलिका वा वृषभाः कुर्वन्ति। अथ द्वारद्वयं न भवति तत एकद्वारे तमवधिं कुर्वन्ति। कायिकभूमेरप्यभावे मात्रकेण यतन्ते यतनया च स्पप्नं कुर्वन्ति। इति निर्युक्तिगाथा समासार्थः।

अथ भाष्यकार एनामेव विवृणोति–

रोहे उ अद्धमासे, वासासु सुभूमितोणि वा जंति।
परबलरुद्धेवि पुरे, हावितिणि मास कप्पंतु॥

अष्टावृतुवद्धिकान् मासान् रोधयित्वा रोधं कृत्वा ततो वर्षासुनृपाः स्वभूमिमात्मीयराज्यभुवं गच्छन्ति साधवश्च रोधके वसन्तः पर–बलरुद्धेऽपि पुरे मासकल्पं न हापयन्ति किंतु तत्र प्रथमत एवाष्टौ वसतयोऽष्टौ भिक्षाचर्याः प्रत्युपेक्षणीयाः। अथाष्टौ न प्राप्यन्ते ततः

भिक्खस्स व वसहीए, असती सत्तेव चउरो जा।
वेक्कालंभालंभे, एक्केक्कगस्साणगाउ संजोगा॥

भैक्ष्यस्य वा वसतेर्वा असति सप्त प्रत्युपेक्षणीयास्तदप्राप्तौ षडादिपरिहाण्या चतस्रो यावदेका प्रत्युपेक्षणीया। किमुक्तं भवति वसतयो भिक्षाचर्याश्च यद्यष्टौ न प्राप्यन्ते तत एकैकपरिहाण्या यावदेका वसतिरेकाभिक्षाचर्या। अत्र च एकैकस्यालाभे अलाभे वा अनेके संयोगा भवन्ति। तथाहि अष्टौ वसतयो ऽष्टौ भिक्षाचर्याः, अष्टौ वसतयः सप्तभिक्षाचर्याः, अष्टौ वसतयः षट्भिक्षाचर्याः, एवं यावदष्टौ वसतय एकाभिक्षाचर्या, एवमष्टौ भङ्गा भवन्ति एते च वसतेरष्टकमश्नुवता लब्धाः सप्तकादिभिरप्येककपर्यन्तैरेवमेवाष्टावष्टौ भङ्गा लभ्यन्ते सर्वसंख्यया भङ्गकानां चतुःषष्टिरुत्तिष्ठते। चतुष्षष्टितमश्च भङ्गक एका वसतिः एका भिक्षाचर्येति लक्षणः। साचैका वसतिः संयतानां संयतीनां च पृथक् भवति। अथोभयेषामपि योग्या वसतिः प्रत्येकं नावाप्यते तत एकत्रापि वस्तव्यम्। तत्र यतनामाह–

एगत्थ वसंताणं, पिह दुवारासतीयसयकरणं।
मज्झेण कडगचिलिमिलि, तेसु न उ थेरखुड्डीतो॥

संयतानां संयतीनां च एकत्र वसतामियं यतना ये द्वित्रिचतुः शालादिकं पृथक् द्वारं तद्गृहं तदा तत्रान्तरे कटकं चिलमिलीं वा दत्वा तिष्ठन्ति। पृथक्द्वारस्याभावे (सयकरणंति) स्वयमेव कुड्यं छित्वा द्वितीयं द्वारं कर्त्तव्यं गृहमध्येचि कुड्याभावे कटकचिलिमिलिका वा दातव्या तयोश्च कटकस्य चिलिमिलिकाया वा आसन्नयोरुभयोः पार्श्वयोर्भागादेकस्मिन् स्थविराः साधवो द्वितीये च क्षुल्लिकाः संयत्यो भवन्ति। एतच्चाग्रे व्यक्तीकरिष्यते॥

अथ तंचेव 'एगदारेत्ति' पदं व्याख्याति–

दारदुयस्स तु असती, मज्झे दारस्स कडगजुत्ती वा।
णिक्खमपवेसवेला, ससद्दपिंडेण सज्झातो॥

यदि द्वारद्वयं न भवति स्वयं च पृथक्द्वारं कर्त्तुं न लभ्यते। ततस्तस्यैकद्वारस्य मध्ये कटकं पोत्तिकां वा चिलिमिलीं दत्वा द्विधा विभजनं विधेयम्। तत्रार्द्धेन साधवो निर्गच्छन्ति अर्द्धेन संयत्य इति। अथ संकीर्णं सा वसतिः नवा विभक्तुं लभ्यते ततः परस्परं निर्गमप्रवेशवेलायां वर्जयन्ति यस्यं वेलायां संयता निर्गच्छन्ति तस्यां न संयत्य इति निर्गच्छन्तश्च शब्दं कुर्वन्ति पिण्डे न च स्वाध्यायं कुर्वन्ति शृङ्गारकथां न कुर्वन्ति। न वा पठन्ति। अथ स्वप्नं च यतनयेति पदं व्याचष्टे॥

अंतम्मि व मज्झंम्मि व, तरुणी तरुणा य सव्वबाहिरतो।
मज्झे मज्झिमथेरा, खुड्डीखुड्डा य थेरा य॥

यास्तरुण्यस्ता अन्ते वा मध्ये वा भवन्ति तरुणास्तु सर्वे बाह्यतः कर्त्तव्याः ततो मध्ये मध्यमाः स्थविराः क्षुल्लिकाश्च साध्वयस्ततः क्षुल्लकाः स्थविराश्चशब्दान्मध्यमास्तरुणाश्च भवन्तीत्यक्षरार्थः भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवगन्तव्यः। तच्चेदम्। ''तरुणीओ अंते वा सुविज्जंति मज्झे व तत्थ अंते ताव भन्नइ एगम्मि तरुणी उवविज्जंति तासिं आरता मज्झिमातो तासिं आरतो वेरीउ तासिं आरतो खुड्डीतो खुड्डीणं आरतो थेरा थेराणं आरतो खुड्डा। तेसिम्मि आरतो मज्झिमा तेसिं आरतो तरुणा एवं नवे तरुणीओ तरुणा य अंते जाया इयाणिं जइ मज्झे तरुणीओ उवविज्जंति तो तासिं उभयतो मज्झिमिया उ तासिं बाहिं थेरीओ तासिं बाहिं थेरा तासिं उभयतो खुड्डीओ तासिं परिक्खोवण थेरा तेसिं उभओ खुड्डा तेसिं बाहिं मज्झिमा तेसिं परिखोवणतरुणाए सारत्तिं वसंताण जयणत्ति॥

अथ मात्रकपदं व्याख्याति–

पत्तेयसमणदिक्खिय–पुरिसा इत्थी य सव्वएगत्थ।
पच्छण्णकडगचिलिमिलि, मज्झे वसभा य मत्तेणं॥

यत्रोपाश्रयाणामल्पतया राजकीय आदेशो भवेत् ये केचित्पाषण्डिनस्ते सर्वेप्येकत्रैव तिष्ठतामिति तत्र यदि प्रत्येकाः स्त्रीवर्जिताः निर्ग्रन्था शाक्यादयो दीक्षितपुरुषाः सर्वेप्येकस्यां वसतौ स्थिताः याश्च पाषण्डिन्यः स्त्रियस्ता अपि सर्वा एकत्र स्थितास्तत इयं यतना। यः प्रच्छन्नः प्रदेशस्तत्र साधुभिः साध्वीभिश्च स्थातव्यं प्रच्छन्नस्याभावे मध्ये कण्टकं चिलिमिलिकां वा वृषभाः कुर्वन्ति कायिकभूमेरभावे दिवा रात्रौ च मात्राकरणे वृषभा यतन्ते।

पच्छन्नअसतिनिण्हग, वोड्डियभिक्खूआसोयसोया य।
पउरदव्वछड्डगादि, गरहा य सअंतरं एक्को॥

प्रच्छन्नस्य कण्टकचिलिमिलिकयोश्चाभावे निह्नवेषु तिष्ठन्ति तदभावे वोटिकेषु तदप्राप्तौ भिक्षुकेषु एतेष्वपि पूर्वमाशोचनादिषु च स्थिता आचमनादिषु क्रियासु प्रचुरद्रव्येण कार्यं कुर्वन्ति छड्डकं कमठकं तत्र भुञ्जते आदिशब्दादपरेणापि येन ते शौचवादिनो जुगुप्सां न कुर्वन्ति तस्य परिग्रहः। एवं प्रवचनस्यागर्हा परिहृता भवति सान्तरं चोपविष्टा भुञ्जते (एगोत्ति) एकः क्षुल्लकादिः कमठकानां कल्पं करोति।

अथ पत्तेयसमणदिक्खियत्ति पदं व्याख्याति।

पासंडी पुरिसाणं, पासंडित्थीण वा वि पत्तेगो।
पासंडित्थियमाणव, एक्कतो होति मा जयणा॥

पाखण्डिस्त्रीणां पाखण्डिपुरुषाणां वा प्रत्येकं स्थितानां पाखण्डिस्त्रीपुरुषाणामेकतः स्थितानां वा इयं यतना भवति।

जे जह असोयवादी, साधम्मी वा वि जत्थ बाहिं वा।
सा णिहुयाय हुद्दकालेण, वुग्गहोणावसज्झाओ॥

ये यथा अशौचवादिनो ये च जीवादिपदार्थास्तिक्यवादित्वेनैकवाक्यत्वेन च साधूनां साधर्मिकास्तेषु तेषां मध्ये साधुभिर्वासः कर्तव्यः यदा च तत्र द्वयोरपि शैल्ययोः शुद्धकालो भवति तदा निभृता निर्व्यापारा भवन्ति। इदमेव व्याचष्टे न विग्रहाः स्वपक्षेण परपक्षेण वा सह कलहो न कर्तव्यो नैव च तदानीं स्वाध्यायो विधेयः। गता वसतियतना। भक्तार्थयतनापि पउरदवछड्डगाई इत्यादिना तदेवोक्ता।

अथ स्थण्डिलयतनामाह।

तं चेव पुव्व भणितं, पत्तेयं दिस्समाण कुरुकुयाय।
थंडिल्लसुक्खहरिए, पवायपासे पदेसेसु॥

स्थण्डिलं तदेव पूर्वभणितम् ''अणावायमसंलोए'' इत्यादिना यथा पीठिकायामुक्तं तथैवात्रापि मन्तव्यम्। प्रथमस्थण्डिलाला भे शेषेषु गच्छतां प्रत्येकं मात्रकग्रहणं भवति सागारिकेण च दृश्यमाने कुरुकुर्या कर्तव्या एवं बहिः स्थण्डिले लभ्यमाने यतना अथ बहिर्न लभ्यते निर्गन्तुं ततो यन्नगराभ्यन्तरे स्थण्डिलमनुज्ञातं तत्र यानि तृणानि शुष्कानि तेषु व्युत्सृजति तेषामभावेदरमलिनेषु मिश्रेषु तदप्राप्तौ हरितेषु सचित्तेष्वपि व्युत्सृजति। अत्र च प्रत्येकानन्तस्थिरास्थिरादियतना सर्वाऽपि कर्तव्या। यथैव निर्युक्तौ भणिता। अथ प्रपाते गर्तायां नदीतटे प्राकारोपरि वा राज्ञाऽनुज्ञातं तत एतेषां पार्श्वे व्युत्सृजन्ति यदि सर्वथैव स्थण्डिलं न लभ्यते अधश्च भूमिं न पश्यन्ति ततो गर्तादिप्रदेशेष्वपि व्युत्सृजन् शुद्धः ''अथ पत्तेयदिस्समाणो कुरुपायत्ति'' पदं व्याख्याति॥

पढमा सइ अमणुण्णे, तरणे गिहियाणवादि आभोगं।
पत्तेयमत्तकुरुकुय, दिवं च पउरं गिहत्थेसु॥
तेण परं पुरिसाणं, असोयवादीणवच्चआवातं।
इत्थी नपुंसकेसु वि, परं सुहो कुरुकुया सेव॥

गाथाद्वयमपि पीठिकायां व्याख्यातम् एषा उच्चारयतना भणिता॥ अथ शरीरे विवेचनयतनामाह–

पच्छण्णपुव्वभणियं, विदिण्णथंडिल्लसुक्कहरिए य।
अगडवरंडगदीहिय, जलाण पासे पदेसेसु॥

यद्यसौ कालं गतः साधुस्तत्र केनापि न ज्ञातस्ततोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणे उपयोगकाले अतीते अन्यलिङ्गं कृत्वा प्रच्छन्नमल्पसागारिकं स्थण्डिले परिष्ठाप्यते अथ ज्ञातस्तदा (पुव्वभणियत्त) यदि नगरान्निर्गमो न लभ्यते प्रत्यपायो वा निर्गतानां भवति ततो नगराभ्यन्तरे पूर्वमिहैव मासकल्पप्रकृते परिष्ठापनिका निर्युक्तौ वा यो भणितो विधिस्तेनोपाश्रये वाऽपरदक्षिणस्यां दिशि परिष्ठापयन्ति। अथ तस्यां न लभ्यते ततो राजवितीर्णमनुज्ञातं यत् स्थण्डिलं तत्र परिष्ठापयन्ति। अथ स्थण्डिले हरितानि भवन्ति ततः शुष्कतृणेषु तदभावे मिश्रेषु तदप्राप्तौ हरितेष्वपि परिष्ठापयन्ति। अथ राज्ञाभिहितं सर्वैरपि पाषण्डिभिरगडे गर्त्तायां शवं परित्यक्तव्यं प्रकारवरण्डके वा दीर्घिकायां वा नद्यां वहन्त्यां ज्वलति प्रक्षेप्तव्यं तत एतेषां पार्श्वे परिष्ठापयन्ति। अथ न लभ्यते पार्श्वतः परित्यक्तुं ततो धर्मास्तिकायादिप्रदेशेषु परिष्ठापयामीति बुद्धिं कृत्वा तत्रैव प्रक्षिपन्ति। अथ राज्ञा वितीर्णे स्थण्डिले परिष्ठापनाविधिमाह॥

अन्नाए परलिंगं, उवओगंवा तुलेतुमामेत्थं।
णाते उड्डाहो वा, अयसो पत्थार दोसो वा॥

यद्यसौ तत्राज्ञातस्तदा परलिङ्गं क्रियते तद्योपयोगाद्वा सान्तर्मुहूर्त्तलक्षणं तोलयित्वा प्रतीक्ष्य कर्तव्यं नो मिथ्यात्वं गमिष्यामीति कृत्वा यो जनज्ञातस्तत्र परलिङ्गं न करोति मा उड्डाहो भवेत् उड्डाहो नाम एते मायावन्तः पापा वा न परोपघातकारिणश्चेति इत्थं तेषा–मुड्डाहे जायमाने प्रवचनस्याप्ययशः प्रवादो भवति प्रस्तारदोषश्चकुलगणसंघविनाशलक्षण उपजायते। एतद्दोषपरिहरणार्थं स्वलिंङ्गेनैव परिष्ठाप्यते।

अथ भिक्षाद्वारमाह–

न वि को वि कंवि पुच्छति, णितंब हिअंब अंतो वा।
आसंकिते पडिसेहो, णिक्कारणकारणे उ जतणे य॥

बोधके अन्तर्नगराभ्यन्तराद्बहिर्निर्गच्छन्तं बहिः कटकाद्वानगरान्तःप्रवशिन्तं न कोऽपि कंचित्पृच्छति। तत्र स्वेच्छया बहिरन्तर्वा भिक्षामटन्ति। यत्र पुनराशङ्कितं क एष कुतो वा आगतो वेश बहिर्गतः सन् किमपि कथयिष्यति किमर्थं वा निर्गच्छति। ईदृशे आशङ्किते निष्कारणे प्रतिषेधे न गन्तव्यं कारणे तु यतना वक्ष्यमाणा भवति। इदमेव भावयति।

पउरण्णपाणगमणा, चउरो मासा हवंति णुग्घाया।
मोत्त इयरे य चत्ता, कुलगणसंघाय पत्थारे॥

प्रचुरान्नपाने लभ्यमाने यदि बहिर्गच्छति तदा चत्वारो मासा अनुद्घाता भवन्ति आज्ञादयश्च दोषास्तेन साधुना स स्वकीय आत्मा इतरे वाऽभ्यन्तरवर्तिनः साधवः परित्यक्ता भवन्ति तत्र स बहिः सैन्ये गतः पृच्छ्यमानेऽपि यदा किमपि नाख्याति तदा चारकोऽयमिति मत्वा गृह्यते। अभ्यन्तरवर्तिनस्तु अमीषां सहायिनः प्रव्रजितोऽयं निर्गतस्तेन भेदः प्रदत्त इति कृत्वा गृह्यन्ते। एवं कुलगणसं–घप्रस्तारोऽपि राज्ञा क्रियते ततो निष्कारणे न गन्तव्यम्॥

अंतो अलब्भमाणे, असणमाईसु होति जइतव्वं।
जावंतिए विसोधी, असव्वमादी अलाभे वा॥

अन्तर्मध्ये प्रासुकैषणीये अलभ्यमाने पञ्चकपरिहाणिक्रमेणैषणादिषु दोषेषु नगराभ्यन्तर एव यतितव्यं यावत् यावन्तिकादिरूपेषु विशोधिकोटिदोषेषु यतमानश्चतुर्लघुप्राप्तो भवति तथाप्यलम्भे अमात्यमादिशब्दाद्वा न श्रद्धान् श्रद्धादीन् वा प्रज्ञापयन्ति ते यद्यविशोधिकोटिदोषैर्दुष्टं प्रयच्छन्ति तदा तदपि गृह्यते न पुनर्बहिर्गन्तव्यम्। अथ तथापि न लभ्यते ततः॥

आपुच्छित आरक्खित, सेट्ठी सेणावती रायाणं।
णिग्गमणविड्डवे, मासा य तहिं असावज्जा॥

आरक्षिकः कोट्टपालस्तमागच्छन्ति। वयमत्र संस्तरामस्ततो बहिर्निर्गच्छतां द्वारं प्रयच्छत यद्यसौ ब्रूयात् मा निर्गच्छत। अहं भवतां पर्याप्तं दास्यामि ततो गृह्यते। अथं ब्रूयात् नास्ति मे किंचिद्वक्तं दातव्यं युष्मांश्च विसर्जयन् राज्ञो विभेमि। ततः श्रेष्ठिनं पृच्छत ततः श्रेष्ठिनमापृच्छन्ति। एवं सेनापतिममात्यं राजानं वा पृच्छन्ति ततो यदि राज्ञाऽपि विसर्जितास्तदा निर्गम–

न कुर्वन्ति द्वार पालानां च साधवो दर्श्यन्ते यथा एतान् दृष्टरूपान् कुरुत भिक्षाग्रहणार्थमेते निर्गमिष्यन्ति प्रवेशयिष्यन्ति वा न किंविद्भवद्भिर्वक्तव्यम्। तत्र च बहिर्गतैरसावद्या भाषा भाषितव्या।

अमुमेवार्थं स्पष्टयति।

मा वच्चह दाहामि, संकाए वाणविंति निग्गंतुं।
दाणम्मि होइ गहणं, अणुसट्ठादीणि पडिसेधे॥

आरक्षिकादयः पृष्ठाः सन्तो भणन्ति मा व्रजत वयं भक्तं दास्यामहे ते च भेदशङ्कया साधूनां निर्गन्तुं न ददति ततो यद्यविशुद्धमपि ते प्रयच्छन्ति तदा तस्य ग्रहणं कर्तव्यम्। अथ पडिसेहेत्ति भक्तं न च निर्गन्तुं ददति ततोऽनुशिष्टिधर्मकथादीनि प्रयुज्यन्ते॥

बहिया वि गमेऊणं, आरक्खितमाहि णो तहिं णिंति।
हितणट्ठवारिगाही, एवं दोसा जढा हों ति॥

बहिरपि गता एवमेवारक्षिकश्रेष्ठिप्रभृतीन् गमयित्वा प्रज्ञाप्त तत्र भिक्षामटन्ति एवं कुर्वद्भिर्हृतनष्टचारिकादयो दोषाः परिहृता भवन्ति। ये साधवो बहिः प्रस्थाप्यन्ते ते अमीभिर्गुणैर्युक्ता भवन्ति॥

पियधम्मे दढधम्मे, संबंधविकारिणा करणदक्खे।
पडिवत्तीसु य कुकले, तब्भूमे पेसए बहिता॥

प्रियधर्मणो दृढधर्मणश्च प्रतीतान् (संबंधत्ति) येषामन्तर्बहिश्च स्वजनसंबन्धो भवति। अविकारिणो नाम नोद्भटवेषा न वा कन्दर्पशीलास्तान् करणदक्षान् भिक्षाग्रहणादिक्रियासु परिच्छेदवतः। प्रतिपत्तिः। प्रतिवचनप्रदानं तत्र कुशलान् (तंभूमित्ति) यो बहिः स्कन्धावार आगतस्तस्य भूमौ जातवर्द्धितान् एवंविधान् साधुन् बहिः प्रेषयेत्। 'भासायतहिं असेवेज्जति' पदं व्याचिख्यासुराह--

केवति य आसहत्थी, जोधा धण्णं वि कित्तियं णगरे।
परितंतमपरितंती, नागासेणावणविजाणे॥

बाह्यस्कन्धावारसत्काः पृच्छेयुः नगराभ्यन्तरे कियन्तोऽश्वा हस्तिनो योधा वा सञ्जिताः सन्ति धान्यं वा कियन्नगरेऽस्ति नागराः पौराः सेना वा परितान्ता रोधकेण *'ठियाउपरितांतो अतुट्टिया' एवं पृष्टे वक्तव्यं न जानेऽहम्*। ब्रवीरन् तत्रैव च सन्तः कथं न जानीता साधवो ब्रुवते॥

सुणमाण वि मो सज्झा--यज्झाणनिच्चमा उत्ता।
सावज्जं सोऊण वि, णहु लब्भाइक्खिओ जतिणो॥

वयं स्वाध्यायध्यानयोर्नित्यमायुक्ताः सन्त शृणुतोऽपि वार्त्तातरं नि शृणुमः। अपि च सावद्यं श्रुत्वाऽपि यतीनामन्यस्याख्यातुं न लभ्यते। न युज्यते। अन्तः प्रविष्टस्य तु यदि कोऽपि पृच्छति तदा वक्तव्यं भिक्षाद्युपयोगेन न ज्ञातमन्तर्बहिश्च साधारणमिदमुत्तरं *''शृणोति बहु कर्णाभ्यामक्षिभ्यां बहु पश्यति। न च दृष्टं श्रुतं सर्वं भिक्षुराख्यातुमर्हति''* एवं भैक्ष्यमटित्वा पर्याप्ते संजाते सति किं कर्तव्यमित्याह॥

भत्तट्ठाणसलोए, मोत्तूणं संकिताइ ठाणाइ।
सच्चित्ते पडिसेधो, अतिगहणं दिट्ठरूवाणं॥

भक्तार्थं न वा जनमालोके प्रकाशे भवति। यानि शङ्कितानिचरिकादिशङ्काविषयभूतानि यानि गुपिलानि स्थानानि तानि मुक्त्वा तेषु न विधेयमित्यर्थः। यश्च सचित्तः प्रव्रजितुमुपतिष्ठते तत्र प्रतिसिद्धः स न प्रव्राजयितव्यः किं तु ये पूर्वं द्वारपालेन दृष्टरूपाः कृतास्तेषामेवान्तिकगमनं भूयः प्रवेशो भवति एषा बह्वर्थसंग्राहिका निर्युक्तिगाथा। अथैनां भाष्यकृद्विवृणोति।

सावगसण्णि ट्ठाणे, न वि ते कतरं इए य भत्तट्ठं।
ते समतीआ लोए, वड्डगकुरुयादिसिं चेव॥

यत्र श्रावकः श्राविका वा एतद्द्वयमपि यदि तं साधुसामाचारी--कुशलं तत्र स्थाने भक्तार्थयन्ति तदलाभे यत्रैकतरं साधुं सामाचारिचतुरं तत्र समुद्देष्टव्यमेकतरस्यापि खेदज्ञस्याभावे इतरेषु अखेदज्ञेष्वपि श्रावकेषु यथा भद्रकेषु वा भक्तार्थयितव्यम्। तेषामभावे अटव्यामालोके अशङ्कनीये सप्रकाशे प्रदेशे समुद्दिशति। वट्टककुरुकुयादिकाऽनुरूपा सैव यतना कर्त्तव्या। शैक्षस्तु यदि कोऽप्युपतिष्ठते तदा न प्रव्राजनीयः। अथ कोऽपि स्वयमेव लिङ्गं कृत्वा प्रविशति ततो वक्तव्यं वयं गणितानामङ्किता एव द्वारेण निर्गतास्ततस्तं तत्र गतः सन् गृहीत्वा विनाशयिष्यत एव मुक्तेऽपि यद्यसावागच्छति तदा द्वारं प्राप्ता द्वारपालं भणन्ति न जानीमो वयं कमप्येनम्। अस्मानेतान् दृष्टरूपान् कुरुत।

तत्तुट्ठियवाहट्ठो, पुणरविधेत्तुं अधिंति पज्जत्तं॥
अणुसट्ठीदारोट्ठे अण्णो वसती जयं अंतं॥

एवं भक्तपानं पर्याप्तं गृहीत्वा भक्तार्थिता कृता न जना वाहाडिता--स्तद्भक्तन्यूनभाजनाः पुनरपि नगरं अधियन्ति। प्रविशन्ति। यद्धि द्वारस्थो द्वारपालो मार्गयति पौद्गलिकां मे यच्छत ततोऽनुशिष्टिः कर्त्तव्या। अन्यो वा यदि कोऽप्यनुकम्पया ददाति। तदा न वारणीयः तस्या सत्यभावे यदन्नं प्राप्तं तद्दीयते।

रुद्धे वोच्छिन्ने वा--होरोट्ठ दो वि कारणं दीवे।
इहरा वारियसंका, अकालउरवेदमादीसु॥

अथ निर्गतानां द्वारं रुद्धं स्थगितं गमागमौ वा व्यवच्छिन्नौततस्त--तो द्वयेऽपि आभ्यन्तरा बाह्याश्च साधवो द्वारस्थस्य मार्गकारणं दीपयन्ति। आभ्यन्तरा ब्रुवते अस्माकं साधवो निर्गता बहिश्चरुद्धाः बाह्या ब्रुवते वयं कारणे भिक्षायां बहिर्निर्गताः परं द्वाराणि निरुद्धानि इतरथा यदि न कथयन्ति ततोऽकाले रात्रौ वा विकाले वा यद्यवस्कन्दो धाटिः तदादीनि तदा चारिकशङ्का भवेत् ये साधवो निर्गतास्ते ऽत्र न प्रविष्टास्ते न चारिकास्ते आगता आसीरन्निति।

बाहिं वुवसिउकामं, अंतिणती पेल्लणा अणिच्छंते।
गुरुगा पराजयजए, वितियं रुद्धे व वोच्छिण्णे॥

बहिर्निर्गतनां कोऽप्येकश्चिन्तयेत् युक्तोऽस्मिन्नेववारके वासो न भूयः प्रविशामि अत्र सूत्रमवतरति एवं बहिर्वसन्तं प्रज्ञापयन्ति आर्य्य! सूत्रे प्रतिषिद्धं वर्त्तते बहिर्वस्तुं द्वयोर्जिनराजाज्ञयोरतिकृतो भवति। एवं प्रज्ञाप्य नगरं प्रवेशयन्ति। अथ नेच्छन्ति प्रवेष्टुं ततः (पेल्लणत्ति) बलान्मोटिकया शेषैः स प्रवेषनीयः यदि न प्रवेशयन्ति ततश्चत्वारो गुरुकाः *कदाचिदाभ्यन्तराणां पराजयो ऽपरेषां च जयो भवेत् तत एभिर्भेदः प्रदत्त* इति शङ्कया प्रस्तारदोषा भवेयुः द्वितीयपदमत्र भवति बहिर्निर्गतस्त सर्वतोऽपि नगरं निरुद्धं गमागमः सर्वथैव व्यवच्छिन्न इति कृत्वा तत्रापि वसनं शुद्धः। वृ०३ उ०॥

उवरोहि(ण्) त्रि०(उपरोधिन्) पीडाकारिणि, आव० ४ अ०।

उवल पुं०(उपल) उप--ला--आदाने, टङ्काद्युपकरणपरिकर्मणा यो--ग्ये पाषाणे, प्रज्ञा०१ पद। जी०। गण्डशैलपाषाणखण्डादिरूपे पृथ्वीकायभेदे, उत्त० ३६ अ०। दग्धपाषाणे, भ० ५ श०२ उ०। छिन्नपाषाणे, वृ०४उ०। सामान्यतः पाषाणे, विशे०। आ० म०प्र०। कर्करे, अष्ट०।

उवलंभ पुं०(उपलम्भ) उप–लभ–घञ्–मुम्। लाभे, विशे०। ज्ञाने च। जीवाद्युपलम्भो वाच्यः। आ०म०प्र०।

उवलद्ध त्रि०(उपलब्ध) उप–लभ–क्त। परिज्ञाते, ''अह णं स होइ उवलद्धो, तो पेसंति तहाभूएहिं अन्नाउच्छेदं पेहेहिं'' सूत्र० १ श्रु० ४ अ०२उ०। यथावस्थितस्वरूपेण विज्ञाते, दशा०१०अ०। रा०।

उवलद्धपुण्णपाव त्रि०(उपलब्धपुण्यपाप) उपलब्धे यथावस्थित–स्वरूपेण विज्ञाते पुण्यपापे येन स उपलब्धपुण्यपापः। तत्वतो विज्ञातपुण्यपापे, दशा० १० अ०। रा०।

उवलद्धि स्त्री०(उपलब्धि) उपलम्भनमुपलब्धिः ज्ञाने, विशे०। उपलब्धिः पञ्चविधा ''सारिक्खविवक्खे विवक्खोभवे ओवमा गमतो य''उपलब्धिः सादृश्यतो विपक्षत उभयधर्मदर्शनत औपम्यत आगमतश्च ॥ अधुना सादृश्यतो विपक्षतश्चोपलब्धिमाह–

सारिक्खविवक्खेहिय, लभति परोक्खेवि अक्खरं कोई।
सवलेरबाहुलेरा, जह अहि नउला य अणुमाणे ॥

कश्चित्परोक्षेऽप्यर्थे सादृश्यादक्षरं लभते यथाशावलियबाहुलेया–क्षराणि तथाहि कश्चित् शावलेयं दृष्ट्वा तत्सादृश्यात्परोक्षेऽपि बाहुलेये तदक्षराणि लभते। ईदृशो बाहुलेय इति तथा कश्चिद्वैपक्ष्येण परोक्षेऽर्थे तदक्षरं लभते। यथा अहिदर्शनान्नकुलानुमाने नकुलदर्शनाद्वा सर्प्पानुमाने। संप्रत्युभयधर्मदर्शनत उभया क्षरलब्धिमाह–

एगत्थे उवलद्धे, कम्मि वि उभयत्थ पच्चओ होइ।
अस्सतरे खरसाणं, गुलदहियाणं सिहरिणीए ॥

कस्मिंश्चिदुभयधर्मा याऽनुमितिः उभयावयवयोगिनि वा एकस्मि–न्नर्थे, उपलब्धे उभयत्र परोक्षे प्रत्ययस्तदक्षरलाभो भवति यथा अश्वतरे वेगसरे दृष्टे खरस्य अश्वस्य च प्रत्ययस्तदक्षरलाभो यथा वा सिखरिण्यामुपलब्धायां गुडदध्नः प्रत्ययो गुडदध्यक्षरलाभः।

औपम्यत उपलब्धिमाह–

पुव्वं पि अणुवलद्धो, घिप्पइ अत्थो उ कोइ ओवम्मा।
जह गो एवं गवयो, किंचिविसेसेण परिहीणो ॥

पूर्वमनुपलब्धोऽपि कोऽप्यर्थ औपम्याद् गृह्यते यथा गोरेवं गवयो नवरं किंचिद्विशेषेण परिहीनः कम्बलकविरहित इत्यर्थः। अत्रेयं भावना यथा गौस्तथा गवय इति श्रुत्वा कालान्तरेणाटव्यां पर्यटन् गवयं दृष्ट्वा गवयोऽयमिति यदक्षरजातं लभते एषा औपम्योपलब्धिः। इदानीमागमत उपलब्धिमाह–

अत्तागमप्पमाणेण, अक्खरं किंचि अविसयत्थेवि।
भविया भविया कुरवो, नारगदिवलोय मोक्खो या ॥

आप्ताः सर्वज्ञास्तत्प्रणीतआगम आप्तागमः स एव प्रमाणमाप्ता–गमप्रमाणं तेन अविषयेऽप्यर्थे किंचिदक्षरं लभते यथा भव्योऽभव्यो देवकुरव उत्तरकुरवो नारका देवलोको मोक्षः चशब्दादन्ये च भावा। इयमत्र भावना। आप्तागमप्रामाण्यवशात्तस्मिन् तस्मिन् वस्तुनि योऽक्षरलाभो यथा भव्य इति अभव्य इति देवकुरव इत्यादि सा आगमोपलब्धिः। एषा सर्वाप्युपलब्धिः संज्ञिनां भवति असंज्ञिनां तु का वार्तेत्यतआह–

उस्सन्नेण असन्नीण, अत्थं लंभे वि अक्खरं नत्थि।
अत्थो चिय सन्नीणं तु, अक्खरं निच्छए भयणा ॥

असंज्ञिनामर्थलाभेऽपि अर्थदर्शनेऽप्युत्सन्नेन एकान्तेन नास्त्य क्षरलाभः तथाहि शङ्खशब्दं श्रुत्वाऽपि न तेषामेषा लब्धिरुपजायते यथायं शङ्खशब्द इति एवं शेषेन्द्रियेष्वपि भावनीयम्। संज्ञिनां पुनरर्थ एवाक्षरमर्थो–पलम्भकाल एवाक्षरलाभो यथा शङ्खशब्द इति निश्चये पुनर्भजना शङ्खशब्द एवायं शार्ङ्गशब्द एवायमिति वा निश्चयगमनं स्याद्वा न वा एवं शेषेन्द्रियेष्वपि भावनीयम्॥ वृ०१उ०।

अथोपलब्धिं प्रकारान्तरतो दर्शयति। उपलब्धेरपि द्वैविध्यमवि–रुद्धोपलब्धिर्विरुद्धोपलब्धिश्चेति। न केवलमुपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां भिद्यमानत्वेन हेतोर्द्वैविध्यमित्यपेरर्थः अविरुद्धोऽविरुद्धश्चात्र साध्येन सार्द्धं द्रष्टव्यस्ततस्तस्योपलब्धिरिति। आद्याया भेदानाहुः। तत्राविरुद्धोपलब्धिर्विधिसिद्धौ षोढेति ॥ तानेव व्याख्याति। साध्येनाविरुद्धानां व्याप्यकार्यकारणपूर्व्वचरोत्तरचरसहचराणामु–पलब्धिरिति। ततो व्याप्या विरुद्धोपलब्धिः कार्याविरुद्धोपलब्धिः कारणाविरुद्धोपलब्धिः पूर्वचराविरुद्धोपलब्धिः उत्तरचराविरुद्धोप–लब्धिः सहचराविरुद्धोपलब्धिरिति षट्–प्रकारा भवति। तत्र हि साध्यं शब्दस्य परिणामित्वादि तस्याविरुद्धं व्याप्यादि प्रयत्नान्तरीयकत्वादि वक्ष्यमाणं तदुपलब्धिरिति। अथ भिक्षुर्भाषते। विधिसिद्धौ स्वभावकार्ये एव साधने साधीयसी न कारणं तस्यावश्यतया कार्योत्पादकत्वाभा–वात्प्रतिबद्धावस्थस्य मुर्मुरावस्थस्य वा धूमस्यापि धूमध्वजस्य दर्शनात्। अप्रतिबद्धसामर्थ्यमुग्रसामग्रीकं च तद्गमकमिति चेदेवमेतत्किं तु नैतादृशमवाग्दृशावसातुं शक्यमिति तन्निराकर्तुं कीर्तयन्ति। तमस्विन्यामास्वाद्यमानादाम्रादिफलरसादेकसामग्र्यनुमित्या रूपाद्यनुमितिमभिमन्यमानैरभिमतमेव किमपि कारणं हेतुतया यत्र शक्तेरप्रतिस्खलनमपरकारणसाकल्यं चेति। तमस्विन्यामिति रूपाप्रत्यक्षत्वसूचनाय शक्तेरप्रतिस्खलनं सामर्थ्यस्याप्रतिबन्धः। अपरकारणसाकल्यंशेषनिः शेषसहकारिसंपर्कः रजन्यां रस्यमानात्किल रसात्तज्जनकसामग्र्यनुमानं ततोऽपि रूपानुमानं भवति। प्राक्तनो हिरूपक्षणः सजातीयरूपान्तरक्षणलक्षणं कार्यं कुर्वन्नेव विजातीयं रसलक्षणं कार्यं करोतीति प्राक्तनरूपक्षणात्सजातीयोत्पाद्यरूप–क्षणान्तरानुमानं मन्यमानैः सौगतैरनुमतमेव किंचित्कारणं हेतुर्यस्मिन् सामर्थ्याप्रतिबन्धः कारणान्तरसाकल्यं च निश्चेतुं शक्यते ॥ अथ तन्नैतत्कारणात्कार्यानुमानं किं तु स्वभावानुमानमदः ईदृशरूपान्त–रोत्पादसमर्थमिदं रूपमीदृशरसजनकत्वादित्येवं तत्स्वभावभूतस्यैव तज्जननसामर्थ्यस्यानुमानादिति चेन्नन्वेतदनि प्रतिबन्धाभावकारणा–न्तरसाकल्यनिर्णयमन्तरेण नोपपद्यत एव तन्निश्चये तु यदि कारणादेव कस्मात्कार्यमनुमास्यते तदा किं नाम दुश्चरितं चेतस्वी विचारयेत्। एवमस्त्यत्र छायाछत्रादित्यादीन्यव्यभिचारनिश्चयादनुमानान्येवेत्युक्तं भवति। अथ पूर्वचरोत्तरचरयोः स्वभावकार्यकारणहेत्वनन्तरभावा–द्भेदान्तरत्वं समर्थयन्ति। पूर्वचरोत्तरचरयोर्न स्वभावकार्यकारणभावौ तयोः कालव्यवहितानुपलम्भादिति। साध्यसाधनयोस्तादात्म्येसति। स्वभावहेतौ तदुत्पत्तौ तु कार्ये कारणे वाऽन्तर्भावो विभाव्यते नचैतत्ता–दात्म्यं हेतु समसमयस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वपरिणामित्वादेरुपपन्नं तदुत्पत्तिश्चान्योन्यमव्यवहितस्यैव धूमधूमध्वजादेः समधिगता नतु व्यवहितकालस्यातिप्रसक्तेः। ननु कालव्यवधानेऽपि कार्यकारणभावो भवत्येव। जाग्रद्बोधप्रबोधयोर्म्मरणारिष्टयोश्च तथा दर्शनादिति प्रतिजानानं प्रज्ञाकरं प्रतिक्षिपन्ति। नचातिक्रान्तानागतयोर्जाग्रद्दशासंवेदनमरणयोः प्रबोधोत्पत्तौ प्रति कारणत्वं व्यवहितत्वेन निर्व्यापारत्वादिति। अयमर्थः जाग्रद्दशासंवेदनमतीतं सुप्तावस्थोत्तरकालभाविज्ञानं वर्तमानं प्रतिमरणं वा

नागतं ध्रुवावीक्षणादिकमरिष्टं सांप्रतिकं प्रतिव्यवहितत्वेन व्यापारपराङ्मुखमिति कथं तत्तत्र कारणत्वमवलम्बेत निर्व्यापार-स्यापि तत्कल्पने सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात् । इदमेव भावयन्ति ॥ स्वव्यापारापेक्षिणो हि कार्यं प्रति पदार्थस्य कारणत्वव्यवस्था कुलालस्येव कलशं प्रतीति अन्वयव्यतिरेकावसेयो हि सर्वत्र कार्यकारणभावस्तौ च कार्यस्य कारणव्यापारसव्यपेक्षावेव युज्येते कुम्भस्यैव कुम्भकारव्यापारसव्यपेक्षाविति । ननु चातिक्रान्तानागतयोर्व्यवहि तत्वेऽपि व्यापारः कथं न स्यादित्यारेकामधरयन्ति ॥ उचव्यवहितयोस्तयोर्व्यापारपरिकल्पनं न्याय्यमतिप्रसक्तेरिति । तयोरतिक्रान्तानागतयोर्जाग्रद्दशासंवेदनमरणयोः । अतिप्रसक्तिमेव भावयन्ति । परंपराव्यवहितानां परेषामपि तत्कल्पनस्य निवारयितुमशक्यत्वादिति परेषामपि रावणशंखचक्रवर्त्यादीनां तत्कल्पनस्य व्यापारकल्पनस्य । अथान्वयव्यतिरेकसमधिगम्यः कार्यकारणभावस्ततो व्यवधानाविशेषेऽपि यस्यैव कार्यमन्वयव्यतिरेकावनुकरोति तदेव तत्कारणमन्यथा व्यवधानाविशेषेऽपि किं न काष्ठकृशानुवत्तत्र स्थित एव शर्कराकणनिकरोऽपि धूमकारणं स्यात्ततो नातिप्रसङ्ग इति चेन्नन्वन्वयस्तद् भावे भावः स चात्र तावन्नास्त्येव जाग्रद्दशासंवेदनमरणयोरभाव एव सर्वदा उत्कार्योत्पादात् । अथ स्वकाले सतोरेव तयोस्तत्कार्यासत्तेरन्वयः कथं न स्यादिति चेत्तर्हि ईदृशोऽयं रावणादिभिरव्यस्यास्त्येव सत्यमस्त्येव व्यतिरेकस्तु रिक्त इति चेन्ननु कोऽयंव्यतिरेको नाम तदभावेऽभाव इति चेत्तर्हि जाग्रद्दशासंवेदनादेकथं स्यात्तदभाव एव सर्वदा प्रबोधादेर्भावात् स्वकाले त्वभावस्तस्य नास्त्येवेति कथं व्यतिरेकः सिद्धिमधिवसेदिति न व्यवहितयोः कार्यकारणभावः संभवति । सहचरहेतोरपि स्वभावकार्यकारणेषु नान्तर्भाव इति दर्शयन्ति । सहचारिणोः परस्परस्वरूपपरित्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेश इति । यदि हि सहसंचरणशीलयोर्वस्तुनोस्तादात्म्यं स्यात्तदा परस्पर-परिहारेण स्वरूपान्तरोपलम्भो न भवेदथ तदुत्पत्तिस्तदा पौर्वापर्येणोत्पादप्रसङ्गात्सहोत्पादो न स्यात् नचैवं ततो नास्य प्राप्तेषु स्वभावकार्यकारणेष्वन्तर्भावः । इदानीं मन्दमतिव्युत्पत्तिनिमित्तं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां पञ्चावयवां व्याप्याविरुद्धोपलब्धिमुदाहरन्ति । ध्वनिः परिणतिमान् प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्यः प्रयत्नानन्तरीयकः स परिणतिमान्यथा स्तम्भः यो वा न परिणतिमान् स न प्रयत्नानन्तरीयको यथा वान्ध्येयः प्रयत्नानन्तरीयकश्च ध्वनिस्तस्मात्परिणतिमानिति व्याप्यस्य साध्येनाविरुद्धस्योपलब्धिः साधर्म्येण वैधर्म्येण चेति । अत्र ध्वनिः परिणतिमानिति साध्यधर्म्मविशिष्टधर्म्यभिधानरूपा प्रतिज्ञा प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति हेतुः यः प्रयत्नानन्तरीयक इत्यादि तु व्याप्तिप्रदर्शनपूर्वौ साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां स्तम्भवान्ध्येयरूपौ दृष्टान्तौ । प्रयत्नानन्तरीयकश्च ध्वनिरित्युपनयस्तस्मात्परिणतिमानिति निगमनम् । यद्यपि व्याप्यत्वं कार्यादिहेतूनामप्यस्ति साध्येन व्याप्यत्वात्तथापि तन्नेह विवक्षितं किंतु साध्येन तदात्मीभूतस्वकार्यादिरूपस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेः स्वरूपमित्यदोषः ॥ अथ कार्याविरुद्धोपलब्ध्यादीनुदाहरन्ति अस्त्यत्र गिरिनिकुञ्जे धनञ्जयो धूमसमुपलम्भादिति कार्यस्येति । साध्येनाविरुद्धस्योपलब्धिवरिति पूर्वसूत्रादिहोत्तरत्र चानुवर्त्तनीयम् । भविष्यति वर्षं तथाविधवारिवाहविलोकनादिति कारण स्येति तथाविधेति सातिशयोन्नतत्वादिधर्मोपेतत्वं गृह्यते । उदेष्यति मुहूर्त्तान्ते तिष्यतारका पुनर्वसूदयदर्शनादिति पूर्वचरस्येति तिष्यतारकेति पुष्यनक्षत्रम् ॥ उद्गुर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पूर्वफल्गुन्य उत्तर-फाल्गुनीनामुद्गमोपलब्धेरित्युत्तरचरस्येति । अस्तीह सहकारफ-लरूपविशेषः समास्वाद्यमानसविशेषादिति सहचरस्येति । इयं च साक्षात्षोढा विरुद्धोपलब्धिरुक्ता । परंपरया पुनः संभवन्तीयमत्रैवान्तर्भावनीया । तद्यथा कार्यकार्याविरुद्धोपलब्धिः कार्या विरुद्धोपलब्धौ अन्तर्भवतीति योगः अभूदत्र कोशः कलशोपलम्भादिति कोशस्य हि कार्यं कुशूलस्तस्य चाविरुद्धं कार्यं कुम्भ इति एवमन्याऽप्यत्रैवान्तर्भावनीया ॥ अधुना विरुद्धोपलब्धिभेदानाहुः ॥ विरुद्धोपलब्धिस्तु प्रतिषेधप्रतिपत्तौ सप्त प्रकारेति । प्रथमप्रकारं प्राक् प्रकाशयन्ति । तत्राद्या स्वभावविरुद्धोपलब्धिरिति । प्रतिषेध्यस्यार्थस्य यः स्वभावः स्वरूपं तेन सह यत्साक्षाद्विरुद्धं तस्योपलब्धिःस्वभावविरुद्धोपलब्धिःएतामुदाहरन्ति नास्त्येव सर्वथैकान्तोऽनेकान्तस्योपलम्भादिति । स्पष्टो हि सर्वथैकान्तानेकान्तयोः साक्षाद्विरोधो भावाभावयोरिव । नन्वयमलुपलब्धिहेतुरेव युक्तो यावान् कश्चित्प्रतिषेधः स सर्वोपलब्धिरिति वचनादिति चेत्तन्मलीमसमुपलम्भाभावस्यात्र हेतुत्वेनानुपन्यासात् । अथ विरुद्धयोः सर्वथैकान्तानेकान्तयोर्वह्निशीतस्पर्शयोरिव प्रथमं विरोधः स्वभावानुपलब्ध्या प्रतिपन्न इत्यनुपलब्धिमूलत्वात्स्वभावविरोधोपलब्धेरनुपलब्धिरूपत्वं युक्तमेवेति चेत्तर्हि साध्यधर्म्मिणि भूधरादौ साधने च धूमादावध्यक्षीकृते सतीदमप्यनुमानं प्रवर्तते इति प्रत्यक्षमूलत्वात् इदमपि प्रत्यक्षं किं न स्यात् । विरुद्धोपलब्धेराद्यप्रकारं प्रदर्श्य शेषानाख्याति । प्रतिषेध्यविरुद्धव्याप्तादीनामुपलब्धयः षडिति प्रतिषेध्येनार्थेन सह ये साक्षाद्विरुद्धास्तेषां ये व्याप्तादयो व्याप्यकार्यकारणपूर्ववरोत्तरचरसहचरास्तेषामुपलब्धयः षड् भवन्ति । विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्विरुद्धकार्योपलब्धिर्विरुद्धकारणोपलब्धिर्विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिर्विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिर्विरुद्धसहचरो पलब्धिश्चेति । क्रमेणासामुदाहरणान्याहुः । विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा नास्त्यस्य पुंसस्तत्त्वेषु निश्चयस्तत्र संदेहादिति । अत्र हि जीवादितत्वगोचरो निश्चयः प्रतिषेध्यस्तद्विरुद्धश्चानिश्चयस्तेन व्याप्तस्य संदेहस्योपलब्धिः । विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा न विद्यतेऽस्य क्रोधाद्युपशान्तिर्वदनविकारादेरिति वदन-विकारस्ताम्रतादिरादिशब्दादधरस्फुरणादिपरिग्रहः । अत्र च प्रतिषेध्यः क्रोधाद्युपशमस्तद्विरुद्धस्तदनुपशमस्तत्कार्यस्य वदन-विकारादेरुपलब्धिः । विरुद्धकारणोपलब्धिर्यथा नास्य महर्षेरसत्यं वचः समस्ति रागद्वेषकालुष्याकलङ्कितज्ञानसंपन्नत्वादिति प्रतिषेध्येन ह्यसत्येन सह विरुद्धं सत्यं तस्य कारणं रागद्वेषकालु-ष्याकलङ्कितज्ञानं तत्कुतश्चित्सूक्ताभिधानादेः सिद्ध्यत्सत्यं साधयति । तच्च सिध्यदसत्यं प्रतिषेधति ॥ विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिर्यथा नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते पुष्यतारा रोहिण्युद्गमादिति । प्रतिषेध्योऽत्र पुष्यतारोद्गमस्तद्विरुद्धो मृगशीर्षोदयस्तदनन्तरं पुनर्वसूदयस्यैव भावात् । तत्पूर्वचरो रोहिण्युदयस्तस्योपलब्धिर्विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिर्यथा नोदगान्मुहूर्तात्पूर्वं मृगशिरः पूर्वफाल्गुल्युदयादिति । प्रतिषेध्योऽत्र मृगशीर्षोदयस्तद्विरुद्धो मघोदयोऽनन्तरमार्द्रोदयादेरेव भावात्तदुत्तरचरः पूर्वफल्गुन्युदयस्तस्योपलब्धिर्विरुद्धसहचरोपलब्धिर्यथा नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं सम्यग्दर्शनादिति प्रतिषेध्यन हि मिथ्याज्ञानेन सह विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं तत्सहचरं सम्यग्दर्शनं तच्च प्राण्यनुकम्पादेः कुतश्चिल्लिङ्गात्प्रसिध्यत्सहचरं सम्यग्ज्ञानं साधयति । इयं च सप्तप्रकारापि विरुद्धोपलब्धिः ॥ प्रतिषेध्येनार्थेन साक्षाद्विरोधमाश्रित्योक्ता परंपरया विरोधाश्रयणेन त्वनेकप्रकारा विरुद्धोपलब्धिः संभवत्यत्रैवाभियुक्तैरन्तर्भावनीया । तद्यथा कार्यविरुद्धोपलब्धिर्व्यापकविरुद्धोपलब्धिः कारणविरुद्धोपलब्धिरिति त्रयं स्वभावविरुद्धोपलब्धौ । तत्र कार्यवि-

रुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र देहिनि दुःखकारणमस्ति सुखोपलम्भादिति साक्षादत्र सुखदुःखयोर्विरोधः प्रतिषेध्यस्वभावेन तु दुःखकारणेन परंपरया । व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा न सन्निकर्षादिः प्रमाणमज्ञानत्वादिति। साक्षादत्र ज्ञानत्वा ज्ञानत्वयोर्विरोधः प्रतिषेध्यस्वभावेन तु ज्ञानत्वव्याप्येन प्रामाण्येन व्यवहितः कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा नासौ रोमहर्षादिविशेषवान् समीपवर्तिपावकविशेषत्वादिति । अत्र पावकः साक्षीद्विरुद्धः शीतेन प्रतिषेध्यस्वभावेन तु रोमहर्षादिना शीत कार्येण पारम्पर्येण । ये तु नास्त्यस्य हिमजनितरोमहर्षादिविशेषो धूमात् प्रतिषेधस्य हि रोमहर्षादिविशेषस्य कारणं हिमं तद्विरुद्धोऽग्निस्तत्कार्यं धूत इत्यादयः कारणविरुद्ध–कार्योपलब्ध्यादयो विरुद्धोपलब्धेर्भेदास्ते यथासंभव विरुद्धकार्योपलब्ध्यादिष्वन्तर्भाविनीयाः । २० ३ परि० ॥

उवलब्भ अव्य०(उपलभ्य) विज्ञायेत्यर्थे, ''धम्मस्स सारमुवलब्भकरे य मायं'' ध०२अधि० ॥ ज्ञेये प्राप्ये च । वाच० ।

उवलभत्ता (देशी) तथेत्यर्थे, दे० ना० ॥

उवलयमग्गा (देशी) वलये, दे० ना० ॥

उवललय (देशी) सुरते, दे०ना० ॥

उवललिय न०(उपललित) उप–लल्–भावे–क्त–क्रीडितविशे–षे, ज्ञा०६ अ० ।

उवलाउ अव्य०(उपलातुम्) ग्रहीतुमाश्रयितुमित्यर्थे, व्य०१उ०।

उवलालिज्जमाण त्रि०(उपलाल्यमान) क्रीडादिलालनया (ज्ञा०१अ०) ईप्सितार्थसम्पादनाद्वा क्रियमाणे उपलाले, भ० ६ श० ३३ उ० । ''उवगाइज्जमाणे उवलालिज्जमाणे'' रा० ॥

उवलिंप(त्) त्रि०(उपलिम्पत्) घटकमुखस्य तत्पिधानकस्य च गोमयादिना रन्ध्रं भञ्जति, ज्ञा०७ अ०॥

उवलित्त त्रि०(उपलिप्त) उप–लिप्–क्त। संवेष्टिते, सूत्र०१ श्रु० ३ अ० । गोमयादिना लिप्ते, ज्ञा०१ अ० । आ०म०प्र० । दशा० ।

उवली(ल्ली)ण त्रि०(उपलीन) उप–ली–क्त–प्रच्छन्ने, ''उवल्लीणा मेहुणधम्मं विण्णवेंति'' आचा०२ श्रु० ॥

उवलुअं (देशी) सलज्जे, दे०ना० ॥

उवलेव पुं०(उपलेप) उप–लिप्–घञ् । उपलिप्यतेऽनेनेत्युपलेपः कर्मबन्धे, औ० । भावे–घञ्। आश्लेषे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२ उ० । संश्लेषे, आचा०१ श्रु०२ अ०२उ०।

उवलेवण न०(उपलेपन) उप–लिप्–ल्युट्– गोमयादिना लेपने, ग०२ अधि० । ''उपलेवणसम्मज्जणं करेइ'' भ०११ श०६ उ० । ''वंभणो उवलेवणादि काऊ णच्चणं करेइ'' नि०चू०१उ०। औ०॥

उववज्जमाण त्रि०(उपपद्यमान) यथास्वमुत्पादस्थानेष्वन्यनगरस्योत्पद्यमाने, ''चउहिं बायरकाएहिं उववज्जमाणेहिं लोगे फुडे'' स्था० ४ ठा० ॥

***उपवाद्यमान** त्रि० वादित्रे, कल्प० ॥

उववज्जिउंकाम त्रि०(उत्पतितुंकाम) समुत्पित्सौ, ''जो जीवो उववज्जिउकामो'' सूत्र०२ श्रु०१अ०।

उववज्जित्ता अव्य०(उपपद्य) उप पद्–ल्यप्। उत्पादक्षेत्रं गत्वेत्यर्थे, भ० १७ श० ६ उ० ।

उववण न०(उपवन) भवनासन्नवने, ज्ञा०१अ० ।

उववण्ण त्रि०(उपपन्न) उप–पद्–क्त। उत्पन्ने, ''उववण्णो माणुसम्मि लोगम्मि'' उत्त०६ अ० ''दोच्चं पुढवीएनारगा उववन्ना'' नि०चू०११ उ० । युक्त्या घटमानके, सूत्र०१ श्रु० १अ० । सङ्गते, पंचा० ६ विव० । उदीर्णे, प्रेरिते, ''उववण्णो पावकम्मुणा'' पापकर्म्मणा उदीर्णः प्रेरितः । उत्त०१६अ० । प्राप्ते, भावे क्तः । उपपाते, भ० १४ श०१उ० ।

उववत्ता त्रि०(उपपत्तृ) उपपातकर्त्तरि, ''देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति'' औ० । स्था० ॥

उववत्ति स्त्री०(उपपत्ति) उप–पद्–क्तिन्। उपपाते, जन्मनि, स्था० २ ठा० । संभवघटने, । विवक्षितार्थसंभवव्यवस्थापने विशे० । युक्तौ, ''उपपत्तिर्भवेद्युक्ति–र्या तदभावप्रसाधिका । सान्वयव्य–तिरेकादि–लक्षणा सूरिभिः कृतेति १ आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं विधिलक्षणम्'' अनु० । सङ्गतौ, हेतौ, उपाये, प्राप्तौ, सिद्धौ, वाच० । विषये, ''विसउत्ति वा संभउत्ति वा उववत्तित्ति वा एगट्ठा'' आ०चू० १अ० ।

उववत्थ न०(उपवस्त्र) अङ्गप्रोक्षणसाधके धौतवस्त्रव्यतिरिक्ते द्वितीये वस्त्रे, तपोविशेषे श्रीआणन्दविमलसूरिकृताष्टकर्म्मतपो यद्युपवस्त्रेण कर्त्तुं न शक्नोति तदाऽचाम्लेन करोति किं वा नेति १५७ प्रश्ने यदि सर्व्वथोपवस्त्रकरणश... । स्यात्तदा चाम्लेनापि करोतीति सेनप्र० ४ उल्ला० ।

उववाय पुं०(उपपात) उप पत् घञ् हट्टादागतौ, फलोन्मुखत्वे, नाशे, उप समीपे पतनमुपपातः । दृष्विषयदेशावस्थाने, ''आणा णिद्देसयरे गुरूणमुववायकारए'' उत्त०१ अ० । समीपे, ''आणा उववायवयणनिद्देशकरे'' व्य० द्वि० ४ उ० । सेवायाम्, । ''आणोववायवयणणिद्देसे चिट्ठंति'' भ०३ श०३ उ० । आज्ञायाम्, ''उववातो णिद्देसो, आणाविणओ य होंति एगट्ठा'' इति वचनात् व्य० द्वि०४ उ० । उपपतनमुपपातः । देवनारकाणां जन्मनि, ''एगे उववाए'' उपपात एकश्चयवनवत् । स्था० १ ठा० । कल्प० । अकाम–निर्जरादिजनिते, किल्विषादिदेवभवे, नारकभवे च । स्था० ३ ठा० । दर्श० । स० । आचा० । अणु० । प्रादुर्भावे, प्रज्ञा० १६ पद । ''दोण्हं उववाए पण्णत्ता तंजहा देवाणं चेव णेरइयाणं चेव'' द्वयोर्जीवस्थानयोरुपपतनमुपपातो गर्भसम्मूर्छनलक्षणजन्मप्रकारद्वयविलक्षणो जन्मविशेषः । स्था० २ ठा० । स च क्षेत्रभवभेदाद् द्विविधः तद्यथा क्षेत्रोपपातो भवोपपातश्च । तत्र क्षेत्रमाकाशो यत्र नारकादयो जन्तवः सिद्धाः पुद्गला वा अवतिष्ठन्ते । भवकर्मसम्पर्कजनितो नैरयिकत्वादिकः पर्यायः सम्भवति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भव इति व्युत्पत्तेः । नो भवः भवव्यतिरिक्तः कर्मसम्पर्कसम्पाद्यनैरयिकत्वादिपर्यायरहित इति भावः । स च पुद्गलः सिद्धो वा उभयस्यापि यथोक्तलक्षणभवातीतत्वात् । प्रज्ञा० १६ पद ।

(१) उपपाते संग्रहः ।
(२) गतीनामुपपातविरहः ।
(३) सान्तरनिरन्तरोपपातः ।
(४) एकसमये कियन्त उपपातास्तत्र नैरयिकाद्येकोनचत्वारिंश–ज्जीवानामुपपातविचारः ।
(५) नैरयिकादीनामात्मोपक्रमादिना उपपातचिन्तनम् ।
(६) कतिसञ्चिताकतिसञ्चितानामुपपातः एषामल्पबहुत्वविचारः।
(७) षट्कसमर्जितोत्पादस्तदल्पबहुत्वविचारश्च ।
(८) द्वादशसमर्जिताः ।
(९) चतुरशीतिसमर्जिताः । असुरकुमारादीनां भेदादिनिरूपणं च।

(१०) नैरयिकादयः कुत उत्पद्यन्ते तेषां स्थितिभवग्रहणादयः। नैरयिकेषूत्पद्यमानानां स्थित्यादि च।
(११) कृतयुग्मादि विशेषणेनैकेन्द्रियादीनामुपपातचिन्तनम्। तत्र प्रथमद्वितीयादिसमयकृतयुग्मविचारः।
(१२) राशियुग्मक्षुद्रकयुग्मादिविशेषणेन नैरयिकादीनामुपपात विचारः।
(१३) भव्यदेवादीनामुपपातचिन्तनम्।
(१४) नैरयिकादीनां स्वतोऽस्वतो वा उपपातचिन्तनम्।
(१५) नैरयिकादयः उद्वर्त्य क्व गच्छन्ति क्षुद्रकृतनैरयिका कुत उत्पद्यन्ते।
(१६) भव्यद्रव्यदेवादयः कुत उत्पद्यन्ते।
(१७) महर्द्धिकदेवानां द्विशरीरेषूपपादविचारः।
(१८) नैरयिकादयः कथमुत्पद्यन्त इति चिन्तनम्।
(१९) समुद्घातविशेषणेनैकेन्द्रियाणामुपपात चिन्तनम्।
(२०) पृथ्व्यादीनां समवहत्य देवलोकेषूपपातः।
(२१) नैरयिकादीनां नैरयिकादिषूपपातोद्वर्त्तनचिन्तनम्। कृष्णलेश्याविषयोत्पत्ति चिन्तनम्। पृथ्वीकायिकेषु कृष्णलेश्याविषयविचारः।
(२२) लेश्यावत्त्वेनोपपातश्चतुर्विंशतिदण्डकस्य शेषपदानामतिदेशश्च।
(२३) नैरयिकाणां देशतस्सर्वतो वा उपपातः।
(२४) गर्भगतस्त मृत्वा देवलोकेषूपपातः।
(२५) कुतो देवा देवलोकेषूपपद्यन्ते।
(२६) सहोपपन्नयोरसुरकुमारयोः शोभनाशोभनत्वम्।
(२७) नैरयिका नैरयिकेषूपपन्नानां कश्चिदल्पतरोऽपरो महावेदनतरः।
(२८) पूर्वोक्तानां नैरयिकादीनामायुष्कसंवेदनम्।
(२९) रत्नप्रभायां सर्वे उपपन्नपूर्वाः।
(३०) अविराधितश्रामण्यानां देवलोकेषूपपातः।

(१) अथसत्वानामुपपातविरहादयश्चिन्त्यन्ते। तत्रादौ इयमधिकारसंग्रहणि गाथा--

बारसचउवीसाइं, संतरयं एगसमयकत्तो य।
उव्वट्टणपरमविया--उयं अट्ठेव च आगरिसा॥

प्रथमं गतिषु सामान्यत उपपातविरहोद्वर्तनाविरहस्य च द्वादश मुहूर्ताः प्रमाणं वक्तव्यं तदनन्तरं नैरयिकादिषु भेदेषूपपातविरहस्योद्वर्तनाविरहस्य चतुर्विंशतिमूहूर्ता गतिषु प्रत्येकमादौ वक्तव्याः। ततः (संतरत्ति) *सान्तर नैरयिकादयः उत्पद्यन्ते निरन्तरं वेति वक्तव्यं।* तदनन्तरमेकसमयेन नैरयिकादयः प्रत्येकं कति उत्पद्यन्ते कतित चोद्वर्तन्ते इति। चिन्तनीयं ततः कुत उत्पद्यन्ते नार--कादयः इति चिन्त्यते तत (उव्वट्टण त्ति) नैरयिका दय उद्वृत्ताः सन्तः कुत्रोत्पद्यन्ते इति वक्तव्यं तदनन्तरं कति भागावशेषेऽनुभूयमानभावायुषि जीवाः पारभाविकमायुर्वध्नन्तीति वक्तव्यं तया कतिभिराकर्षैरुत्कर्षत आयुर्बन्धक इति चिन्तायामष्टौ आकर्षा वक्तव्याः। एषाः संग्रहणीगाथासंक्षेपार्थः॥

(२) एतदेव क्रमेण विवरीषुर्गतीनामुपपातविरहमाह--

निरयगईणं भंते !केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता गोयमा! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता। तिरियगईणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता। मणुयगईणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाए णं पण्णत्ता गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता। देवगईणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता। सिद्धिगईणं भंते ! केवइयं कालं विरहिता सिज्झणया पण्णत्ता ? गोयमा !जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं छम्मासा। निरयगईणं भंते केवइयं कालं विरहिया उव्वट्टणाए पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं वारस मुहुत्ता। मणुयगईणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उवट्टणाए पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं बारसमुदुत्ता एवं तिरिया देवगइए वि॥

निरयगतिर्नाम नरकगतिकर्मोदयजनिता जीवस्य औदयिको भावः स चैकः सप्तपृथिवीव्यापि चेति। एकवचनेन सप्तानाञ्च पृथिवीनां परिग्रहः णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्तेति गुर्वामन्त्रणे परमकल्याणयोगिन्! (केवइयंति) कियन्तं कालं विरहिता शून्या प्रज्ञप्ता उपपातेन उपपतनमुपपातस्तदन्यगतिकानां सत्वानां नारकत्वेनोत्पाद इति भावः तेन प्रज्ञप्ता प्ररूपिता भगवता अन्यैश्च ऋषभादिभिस्तीर्थकरैः एवं प्रश्ने कृते भगवानाह। गौतम ! जघन्यत एकं समयं यावदुत्कर्षतो द्वादशमुहूर्तान्। अत्र मुग्धप्रेरक आह। नन्वेकस्यामपि पृथिव्यामग्रे द्वादशमुहूर्त्तप्रमाण उपपातविरहो न वक्ष्यते चतुर्विंशतिमुहूर्त्तादिप्रमाणस्य वक्ष्यमाणत्वात् ततः कथं सर्वपृथिवी समुदायेऽपि द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणम्। प्रत्येकमभावे समु--दायेऽभावादिति न्यायस्य श्रवणात्। तदयुक्तं वस्तुतत्वपरिज्ञानात्। यद्यपि हि नाम रत्नप्रभादिष्वेकैकनिर्द्धारिणेन चतुर्विंशमिमुहूर्ता--दिप्रमाण उपपातविरहो वक्ष्यते तथापि यदा सप्तापि पृथिव्यः समुदिता उपेत्योपपातविरहश्चिन्त्यते तदा स द्वादशमुहूर्तप्रमाण एव लभ्यते द्वादशमुहूर्तानन्तरमवश्यमन्यतरस्यां पृथिव्यामुत्पादसम्भवात्तथाकेवलवेदसोपलब्धेः। यस्तु प्रत्येकमभावे समुदायेऽप्यभाव इति न्यायः स कारणकार्यधर्मानुगमचिन्तायां नान्यत्रेत्यदोषः। यथा नरकगतिर्द्वादशमुहूर्ताऽनुत्कर्षत उपपातेन विरहिता उक्ता एवं तिर्यङ्मनुष्यदेवगतयोऽपि। सिद्धिगितिस्तूत्कर्षतः षण्मासानुपपातेन विरहिता एवमुद्वर्तनाऽपि नवरं सिद्धा नोद्वर्त्तन्ते तेषां साद्यपर्यवसितकालतया शाश्वतत्वादिति सिद्धिरुद्वर्तनया विरहिता वक्तव्या। गतं प्रथमद्वारम्।

इदानीं चतुर्विंशतिरिति द्वितीयं द्वारमभिधित्सुराह--

(१) रयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता। सक्करप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं सत्तराइंदियाणि। वालुप्पभाए पुढवीए णेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं अद्धमासं। पंकप्पभापुढविणेर--इयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं मासं। धूमप्पभापुढविणेरइ--याणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं दो मासा। तमापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं--

एकं समयं उक्कोसेणं चत्तारि मासा। अहेसत्तमा पुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता? गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं छम्मासा (२) असुरकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। एवं (३) नाग-कुमाराणं (४) सुवण्णकुमाराणं (५) विज्जुकुमाराणं (६) अग्गिकुमाराणं (७) दीवकुमाराणं (८) उदहिकुमाराणं (९) दिसाकुमाराणं (१०) वाउकुमाराणं (११) थणियकुमाराण य पत्तेयं जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। (१२) पुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा! अणुसमयविरहियं उववाएणं पण्णत्ता (१३) एवं आउकाइयाण वि (१४) तेउकाइयाणवि (१५) वाउकाइयाण वि (१६) वणस्सइकाइयाण वि अणुसमयविरहिया उववाएणं पण्णत्ता। (१७) बेइंदियाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं। एवं (१८) तेइंदियाय (१९) चउरिंदिया य। (२०) सम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरि-क्खजोणि-याणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं वारसमुहूत्ता। (२१) सम्मुच्छिममणुस्साणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। गब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं वारसमुहुत्ता। (२२)वंतराणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एकंसमयं उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। (२३) जोइसियाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं एमयं उक्कोसेणं चउवीसं मुहुता। (२४) सोहम्मकप्पदेवाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्तां। ईसाणे कप्पे देवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं चउवीसं मुहुत्ता। सणंकुमारदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं नवराइंदिया वीसमुहुत्ताइं॥ मांहिंददेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एकंसमयं उक्कोसेणं वारसराइंदियाइं दसमुहुत्ताइं। बंभलोए देवाणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं अद्धतेवीसं राइंदियाइं। लंतगदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं पणयालीसं राइंदियाइं। महासुक्कदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं असीतिराइंदियाइं। सहस्सार-देवाणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं राइंदिय-सत्तं। आणयदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जमासा। पाणयदेवा णं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जमासा। आरणदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जवासा। अच्चुयदेवाणं पुच्छा गोय-मा ! जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जवासा। हेट्ठिमगेवि-ज्जाणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससयाइं। मज्झिमगेविज्जाणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं। उवरिमगेविज्जाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वास-सयसहस्साइं। विजय-वैजयंतजयंत अपराजिय-देवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं। सव्वट्ठसिद्धदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं पलिओवमस्स संखेज्जइभागं। सिद्धाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया सिज्झयणयाए पण्णत्ते ? गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं छम्मासा। रयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं काले विरहिया उवट्टणाए पण्णत्ते ? गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं चउवीसमुहुत्ता एवं सिद्धवज्जा उवट्टणा वि भाणियव्वा जाव अणुत्तरोववायत्ति नवरं जोइसियवेमाणिएसु चयणंति अभिलावो कायव्वो॥

''रयणप्पभाए'' इत्यादि पाठसिद्धम् नवरमत्रात्कर्षविषया इमा संग्रहणिगाथा '' चउवीसयमुहुत्ता, सत्तयरइंदियाइ पवत्तो मासो एक्को दुन्निओ, चउरो छम्मास नरएसु ॥१॥ कमसो उक्कोसेणं, चउवीसमुहुत्तभवणवासीसु। अविरहिया पुढवाई, विगलाणं तो मुहुत्तं तु ॥२॥ सम्मुच्छिमतिरिपणिंदिय, एवं चियगब्भवारसमुहुत्ता॥ सम्मुच्छिमगब्भमणुया, कमसो चउवीसवारसया॥३॥ वणजो-इससोहम्मीसाणकप्पचउवीसइमुहुत्ताओ। कप्पं सणंकुमारे दिवसाण वावीसई मुहुत्ताओ॥४॥ माहिंदे राइंदियवारसदसमुहुत्तबंभलोगाम्मि। राइंदियअद्धतेवीसुलंतए होंति पणयाला॥५॥ महसुक्कम्मिअसई, सहस्सारिसयं तओ उ कप्पदुगे। मासा संखेज्जा तह, वासा संखेज्ज उवरिदुगे॥६॥ हिट्ठिममज्झिम उवरिम, जह संखसया सहस्सलक्खाइं। वासाणं विन्नेओ, उक्कोसेणं विरहाकालो॥७॥ कालो संखाईओ, विजयाइसु चउसु होइ नायव्वो। संखेज्जो पल्लसओ, भागा सव्वट्ठसिद्धम्मि''॥८॥ प्रज्ञा०६ पद।

बालतवे पडिबद्धा, उक्कडरोसा तवेण गारविया।
वेरेण य पडिबद्धा, मरिओ असुरेसु गच्छंति॥९॥
रज्जुग्गहविसमक्खण, जलजलणपवेसतण्हछुहदुहओ।
गिरिसिरिपडणाउ मुया, सुह भावा हुंति विंतरिया॥१०॥
तावस जा जोइसिया, चरगपरिव्वाय बंभलोगो जा।
जा सहसारो पंचिंदि-तिरिय जा अच्चुओ सड्ढा॥११॥
जइ लिंगिमिच्छदिट्ठी, गेविज्जा जाव जंति उक्कोसं।
पयमवि असद्दहंतो, सुत्तत्थं मिच्छदिट्ठीओ॥१२॥
सुत्तं गणहररइयं, तहेव पत्तेय बुद्धरइयं च।

सुयकेवलिणा रइयं, अभिन्नदसपुव्विणा रइयं ॥१३॥
छउमत्थ संजयाणं, उववाय उक्कोसओ सव्वट्ठे ।
तेसिं सड्ढाणं पि य, जहन्नओ होइ सोहम्मे ॥१४॥
लंतम्मि चउदसपुव्विस्स, तावसाईण वंतरेसु तहा ।
एसो उववायविही, नियकिरियट्ठियाणसव्वो वि ॥१५॥

अर्द्धवचनविकलास्तत्त्वतो ज्ञानशून्यत्वाद्बाला इव बालास्त्वेषां तपः पञ्चाग्न्यादि तच्च तत्त्वतः सत्त्वोपघातहेतुत्वान्न तपः तथा च। महाभारते शान्तिपर्वणि व्यासोऽप्याह । ''चतुर्णां ज्वलतां मध्ये, यो नरः सूर्यपञ्चमः । तपस्तपति कौन्तेय ! न तत्पञ्चतपः स्मृतम् ॥ पञ्चानामिन्द्रियाग्नीनां, विषयेन्धनचारिणाम् । तेषां तिष्ठति यो मध्ये, तद्वै पञ्चतपः स्मृतम्'' ॥ तस्मिन् प्रतिबद्धा आसक्ताः अथवा बालस्थिता तथा तद्द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु प्रतिबद्धाः उत्कटरोषाः चण्डकोपाः । तथा तपसाऽनशनादिभेदेन गौरविता वयं तपस्विन इति गर्वाध्मातातः तथा वैरेण क्रोधानुशयरूपेण क्वचित्प्रा–णिनि द्वारवत्यां द्वीपायनवत्प्रतिबद्धाः कृतानुबन्धाः मृत्वा असुरेषु असुरादिषु भवनवासिषु जायन्ते ॥९॥ (रज्जुत्ति०) व्यक्ता नवरं शुभभावा नरकादिगतियोग्या अत्यन्तरौद्रार्तचित्तपरिहारेण तथाविधमन्दशुद्धपरिणामाः शूलपाणि-प्रभृतय इव ॥१०॥ (तावसत्ति०) तापसा वनवासिनो मूलकन्दफलाहारास्ते (जंति उक्कोसन्ति) वक्ष्यमाणेन योगादुत्कर्षतो यान्त्युत्पद्यन्ते यावज्ज्योतिष्कास्तत ऊर्ध्वं नेति भावः । एवं चरका धाटिभिक्षाचराः परिव्राजकाश्च कपिलमतानुगामिनो यावद्ब्रह्मलोकः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो हस्त्यादयः सम्यक्त्वदेशविरतिप्रयुक्ता यावत्सहस्रारः श्राद्धाः श्राविकादेशविरतमनुष्या यावदच्युतः ॥११॥ (जइत्ति०) यति लिङ्गिनो रजोहरणादिसाधुवेषधारिणो मिथ्यादृष्टय उत्कर्षतो ग्रैवेयकान् यावत् यान्ति । एतदुक्तं भवति । प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्या–भिव्यक्तिरूपसम्यक्त्वविकला अपि संपूर्णदशविधचक्रवालसामा–चार्यनुष्ठानप्रभावाद् ग्रैवेयकान् यावदुत्कर्षतस्ते गच्छन्ति मिथ्यादृष्टिस्तु सोऽप्यभिधीयते यः समग्रद्वादशाङ्गं श्रद्दधानोऽपि सूत्रोक्तमेकमपि पदमक्षरं वा न श्रद्धते स्वल्पस्याऽपि सर्वविदोक्तस्याश्रद्धानेन तत्र तस्याप्रत्ययात् ॥१२॥ सूत्रोक्तमित्युक्तमतः सूत्रस्वरूपमाह (सुत्तंति)यद्गणधरैः सुधर्मस्वाम्यादिभीरचितमाचारा–ङ्गादि यच्च प्रत्येकबुद्धैर्नम्यादिभिर्नम्यध्ययनादि यच्च श्रुतकेवलिना चतुर्दशपूर्वधरेण शय्यंभवादिना दशवैकालिकादि यच्च संपूर्णपूर्वधारिणा रचितं तत्सर्वं सूत्रमिति तथा ॥१३॥(छउमत्थत्ति० । लंतम्मित्ति०) छादयत्यात्मनो यथावस्थितं रूपमिति छद्म ज्ञानावरणादि घातिकर्मचतुष्टयं तत्रस्थाश्च तेषां तूपपातः उत्कर्षतस्त्रैलोक्यतिलके सर्वार्थसिद्धे विमाने जघन्यतः पुनस्तेषां छद्मस्थसाधूनां श्रावकाणामपि च सौधर्मे उपपातो भवति *केवलमत्रापि स्थितिकृतो विशेषो यथा सौधर्मे साधोर्जघन्या स्थितिः* पल्योपमपृथक्त्वं श्रावकस्य पल्योपममिति तथा चतुर्दशपूर्वधरस्य लान्तके जघन्य उपपातः तापसादीनां तु व्यन्तरेषु प्रज्ञापनायां तु ''ताव ईसाणजहन्नेणं भवणवासीसु'' इत्युक्तमेष चोक्तरूपः सर्वो – ऽप्युपपातविधिर्निजनिजक्रियास्थितानां निजनिजागमोक्ताना–मनुष्ठानरतानां न चाचारहीनानामति ॥१४।१५॥

देवीनामुत्पत्तिस्थानान्याह–

उववाओ देवीणं, कप्पदुगं जाव सहस्सारो ।
गमणागमणं नत्थी, अच्चुयपरओ सुराणं पि ॥२७॥

तिपलिय–तिसार–तेरस, सारा कप्पदुगतई य लंतअहो ।
किव्विसिय न होतुवरिं, अच्चुयपरओभिओगाई ॥२८॥

(उववाओत्ति) भवनपतीनारभ्य यावत्सौधर्मेशानकल्पद्विकं तावद्देवीनामुपपातो जन्मत ऊर्ध्वं देवानां तूपपातः सर्वत्र भवत्येव सनत्कुमारादिदेवानां च सुरताभिलाषः । सौधर्मादीशानाश्चापरि–गृहीता देव्यः सहस्रारं यावद्गच्छन्ति । सहस्राराच्च परतो गमनागमनं च देवीनां नास्ति । तथा च मूलसंग्रहणीटीकायां हरिभद्रसूरिः देव्यः खलु अपरिग्रहीताः सहस्रारं यावद् गच्छन्ति इति। तथा भगवानार्यश्यामोऽपि प्रज्ञापनायामाह ''तत्थ णं जे ते मणपरियारगा देवा तेसिं इच्छा मणे समुप्पज्जइ इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं मणपरियाणं करेत्तए तओ णं देवेहिं एवमणसीकए समाणे खिप्पामेव ताओ अच्छराओ तत्थ गयाओ चेव समाणी उ अणुत्तराइं उच्चावयाइं मणाइं पहारेमाणीओ चिट्ठंति तओणं ते देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं मणपरियाणं करिंति इत्यादि'' तत्र प्रविचारणार्थमानतादौ देवीनां गत्यागती स्तः । देवीनां गमागमौ न स्तः । तत्राधस्तनानामूर्ध्वशक्तिभावाद् । ता हि जिनजन्ममहिमास्वपि नात्रागच्छन्ति किं तु स्थानस्था एव भक्तिमातन्वते । संशयप्रश्ने वाऽवधिज्ञानतो भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि साक्षादेवेत्यतस्तदाका-रान् यथानुपपत्या जिज्ञासितमर्थं निश्चिन्वन्ति न चान्यत्प्रयोजनं तत्र तेषामिहागमः ॥२७॥ अथ वैमानिकेषु किल्विषिकाणामाभियोग्यानां च देवानां स्थित्यादिकमाह (तिपलित्ति) किल्विषिकाअशुभकर्म–कृतश्चाण्डालप्राया देवास्ते त्रिपल्योपमादिस्थितयः । क्रमात्कल्प–द्विकादेरधो वसन्ति तथाहि त्रिपल्योपमास्थितयस्ते सौधर्मेशान–योरधोवसन्ति । एवं त्रिसागरोपमायुष्काः सनत्कुमारस्याधः त्रयो–दशसागरोपमायुषा लान्तकस्याधः गतं च किल्विषिका न हेतुरिति लान्तकादूर्ध्वं न चोत्पद्यन्ते अच्युतात्परतस्त्वाभियोग्या दासप्राया आदिशब्दात्प्रकीर्णादयो नोत्पद्यन्ते। इदमुक्तं भवति। ग्रैवेयकानु–त्तरेषु सर्वेषामपि देवानामहमिन्द्रत्वेन शेषाणामपि सामानिकादि–देवभेदानामभाव इति ॥ संग्र०सू०।

(३) सान्तरं निरन्तरं वा उपपद्यन्ते॥

णेरइयाण भंते किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति निरंतरंपि उववज्जंति । तिरिक्ख–जोणियाणं भंते ! किं संतरं निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति निरंतरंपि उववज्जंति । मणुस्साणं भंते ! किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरंपि उववज्जंति निरंतरं पि उववज्जंति । देवाणं भंते ! किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति निरंतरं पि उववज्जंति । रयणप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! कि संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति निरंतरंपि उववज्जंति एवं जाव अहे सत्तमाए संतरं पि उववज्जंति निरंतरं पि उवव–ज्जंति। असुरकुमाराणं भंते ! देवाणं किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरंपि उववज्जंति निरतरंपि उववज्जंति । एव जाव थणियकुमारा संतरं पि उववज्जंति निरंतरं पि उववज्जंति । पुढविकाइयाणं भंते ! पुच्छा किं संतरं निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! नो संतरं निरंतरं उववज्जंति । एवं जाव वणस्सइकाइया नो संतरं उववज्जंति

निरंतरं उवज्जंति। बेइंदियाणं भंते ! किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति निरंतरं पि उववज्जंति एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया। मणुस्साणं भंते ! किं सतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरंपि निरंतरं पि उववज्जंति ।। एवं वाणमतर–जोइसिय–सोहम्म–ईसाण–सणंकुमार–माहिंद–बंभलोय–लंतग–महासुक्क–सहस्सार–आणय–पाणय–आरण–अच्चुय हिट्ठिमगेविज्जग–मज्झिमगे–विज्जग–उवरिमगेविज्जग–विजय–वेजयंत–जयंत–अपराजिय–सव्वट्ठसिद्ध–देवा य संतरं पि निरंतरंपि उववज्जंति, सिद्धाणं भंते ! किं संतरं निरंतरं सिज्झंति? गोयमा ! संतरं पि सिज्झंति निरंतरं पि सिज्झंति।। णेरइयाणं भंते ! किं संतरं उवट्टंति निरंतरं उवट्टंति? गोयमा ! संतरं पि उवट्टंति निरंतरं पि उवट्टंति। एवं जहा उववाओ भणिओ तहा उवट्टणावि सिद्धिवज्जा भाणियव्वा। जाव वेमाणिया नवरं जोइसियवेमा–णिएसु चयणं अभिलावो कायव्वो ।।

पाठसिद्धं प्रागुक्तसूत्रार्थानुसारेण भावार्थस्य सुप्रतीतत्वात्। गतं तृतीयं द्वारम्।

(४) एकसमयेन कियन्त उत्पद्यन्ते इत्याह–

णेरइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति। गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसे णं संखिज्जा वा असंखिज्जा वा उववज्जंति एवं जाव अहेसत्तमाए। असुरकुमा–राणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा असंखेज्जा वा एवं नागकुमारा जाव थणियकुमारा वि भाणियव। पुढविकाइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! अणुसमयं अविरहियं असंखेज्जा उववज्जंति। एव जाव वाउकाइयाणं। वणस्सकाइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति? गोयमा ! सट्ठाणुववायं पडुच्च अणुसमयं अविरहिया अणंता उववज्जंति परट्ठाणुववायं पडुच्च अणुसमयं अविरहिया असंखेज्जा उववज्जंति। बेइंदियाणं भंते ! केवइया एगसमएणं उववज्जंति? गोयमा ! जहण्णेणं एगो वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा।। एवं तेइंदिय–चउरिंदिय–सम्मुच्छिमपंचिं–दिय–तिरिक्खजोणिय–गब्भवक्कंतिय –पंचिंतियतिरिक्ख–जोणिय–सम्मुच्छिममणुस्स–वाणमंतर–जोइसिय–सोहम्मी–साणसणंकुमार–माहिंद–बंभलोय–लंतग–सुक्क–सहस्सा–कप्पदेवा–एते जहा णेरइया। गब्भवक्कंतियमणुस्स–आणयपाणय–आरण–अच्चुय–गेवेज्जग–अणुत्तरोववाइया य एते जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखिज्जा उव–वज्जंति। सिद्धा णं भंते ! एगसमएणं केवइया सिज्झंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं अट्ठसयं। णेरइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उवट्टंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उवट्टंति। एवं जहा उववाओ भणिओ तहा उवट्टणा वि सिद्धवज्जा भाणियव्वा। जाव अणुत्तरोववाइया नवरं जोइसियवेमाणियाणं चयणेणं अभिलावो कायव्वो ४ ।।

नेरइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंतीत्यादि निगदसिद्धम्। नवरं 'वनस्पतिसूत्रे सट्ठाणुववायं पडुच्च अणुसमयमविरहि या अणंता' इति। स्वस्थानं वनस्पतीनां वनस्पतित्वं ततोऽयमर्थः यद्यनन्तर-भववनस्पतय एव वनस्पतिषूत्पद्यमानाश्चिन्त्यन्ते तदा प्रतिसमयम-विरहितं सर्वकालमनन्ता विज्ञेयाः प्रतिनिगोदमसंख्ये यभागस्य निरन्तरमुत्पद्यमानतया उद्वर्तमानतया च लभ्यमानत्वात् ''परट्ठाणुववायं पडुच्च अणुसमयमविरहियमसंखेज्जा'' इति परस्थानं पृथिव्यादयः। किमुक्तं भवति यदि पृथिव्यादयः स्वभावादुद्वृत्य वनस्पतिषूत्पद्यमा-नाश्चिन्त्यन्ते तदा अणुसमयविरहियमसंखेज्जा वक्तव्या इति। तथा गर्भव्युत्क्रान्तिका मनुष्या उत्कृष्टपदेऽपि सङ्ख्येया एव नासङ्ख्येयास्ततस्तत्सूत्रे उत्कर्षतः संख्येया वक्तव्या आनतादिषु देवलोकेषु मनुष्या एवोत्पद्यन्ते न तिर्यञ्चोऽपि मनुश्याश्च संख्येया एवेत्यानतादिसूत्रेष्वपि संख्येया एव वक्तव्या नासंख्येयाः सिद्धिगतानामुत्कर्षतोऽष्टशतम्। एवमुद्वर्तनासूत्रमपि वक्तव्यम। नवरं (जोइसिवेमाणियाणं चयणेण अभिलावो कायव्वो इति) ज्योतिष्कवैमानिकानां हि स्वभावादुद्वर्तनं च्यवनमित्युच्यते। तथा अनादिकालप्रसिद्धेस्ततस्तत्सूत्रे च्यवनेनाऽभिलापकः कर्तव्यः सचैवं ''जोइसियाणं भंते एगसमएणं केवइया चवंति गोयमा जहन्नेणं एगो वा दो वा'' इत्यादि गतं चतुर्थद्वारम्। प्रज्ञा० ६ पद।।

लेश्यादिविशेषणेनोपपाताः।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरया वास–सयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु एगसमए केवइया णेरइया उववज्जंति १ केवइया काउलेस्सा उववज्जंति २ केवइया कण्हपक्खिया उववज्जंति ३ केवइया सुक्कपक्खिया उववज्जंति ४ केवइया सण्णी उववज्जंति ५ केवइया असण्णी उववज्जंति ६ केवइया भवसिद्धिया जीवा उववज्जंति ७ केवइया अभवसि–द्धिया जीवा उववज्जंति ८ केवइया आभिणिबोहियणाणी उव–वज्जंति ९ केवइया सुयणाणी उववज्जंति १० केवइया ओहिणाणी उववज्जंति ११केवइया मइअन्नाणी उववज्जंति १२ केवइया सुअअण्णाणी उववज्जंति १३ केवइया विभंगणाणी उववज्जंति १४ केवइया चक्खुदंसणी उववज्जंति १५ केवइया अचक्खुदंसणी उववज्जंति १६ केवइया ओहिदंसणी उववज्जंति १७ केवइया आहारसण्णोवउत्ता उववज्जंति १८ केवइया भयसण्णोवउत्ता उववज्जंति १९ केवइया मेहुणसण्णोवउत्ता उववज्जंति २०केवइया परिग्गहसण्णोवउत्ता उववज्जंति २१ केवइया इत्थि वेदगा उववज्जंति २२ केवइया पुरिसवेदगा उव–वज्जंति २३ केवइया णपुंसगवेदगा उववज्जंति २४ केवइया

कोहकसायी उववज्जंति २५ जाव केवइया लोभकसायी उव-वज्जंति २८ केवइया सोइंदियोवउत्ता उववज्जंति २६ जाव केवइया फासिंदियोवउत्ता उववज्जंति ३३केवइया णोइंदियो-वउत उववज्जंति ३४ केवइया मणजोगी उववज्जंति ३५ केवइया वइजोगी उववज्जंति ३६ केवइया कायजोगी उववज्जंत ३७ केवइया सागारोवउत्ता उववज्जंति ३८केवइया अणा-गारोवउत्ता उववज्जंति ३६ गोयमा ! इमी से रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णेरइया वाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा णेरइया उववज्जंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा काउलेस्सा उववज्जंति । जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा कण्हपक्खिया उववज्जंति । एवं सुक्कपक्खिया वि । एवं सण्णी वि । एवं असण्णी वि । एवं भवसिद्धिया वि । एवं अभवसिद्धिया ।। आभिणिबोहियणाणी सुअणाणी ओहिणाणी मतिअण्णाणी सुअअण्णाणी विभंगणाणी एवं चेव चक्खुदंसणी ण उववज्जंति । जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा अचक्खुदंसणी उववज्जंति । एवं ओहिदंसणी वि एवं आहारोवउत्तावि जाव परिग्गहसण्णोवउत्तावि । इत्थीवेदगा न उववज्जंति पुरिसवेदगा न उववज्जंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा नपुंसगवेदगा उववज्जंति एवं कोहकसायी जाव लोभकसायी सोइंदियउवउत्ता न उववज्जंति एवं जाव फासिंदियोवउत्ता ण उववज्जंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा नो इंदियोवउत्ता उववज्जंति मणजोगी ण उववज्जंति । एवं वइजोगी वि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा कायजोगी उववज्जंति । एवं सागारोवउत्ता वि एवं अणागारोवउत्ता वि ३६ इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्ज वित्थडेसु णरएसु एगसमएणं केवइया णेरइया उव्वट्टंति ? केवइया काउलेस्सा उव्वट्टंति? जाव केवइया अणागारोवउत्ता उव्वट्टंति? गोयमा ! इमी से णं रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु एगसमएणं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा णेरइया उवट्टंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा काउलेस्सा उवट्टंति । एवं जाव सण्णी असण्णी ण उवट्टंति । जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा भवसि-द्धिया उव्वट्टंति एवं जाव सुअअण्णाणी विभंगणाणी ण उव्वट्टंति । चक्खुदंसणी ण उव्वट्टंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा अचक्खुदंसणी उव्वट्टंति । एवं जाव लोभ-कसायी सोइंदियोवउत्ता ण उव्वट्टंति एवं जाव फासिंदियो-वउत्ता ण उव्वट्टंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा णोइंदियोवउत्ता उव्वट्टंति मणजोगी ण उव्वट्टंति । एवं वइजोगी वि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा कायजोगी उव्वट्टंति एवं सागारोवउत्ता वि एवं अणा-गारोवउत्ता वि । इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावास-सयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु केवइया णेरइया पण्णत्ता केवइया काउलेस्सा पण्णत्ता ? जाव केवइया अणागारोवउत्ता पण्णत्ता ३६ केवइया अणंतरोववण्णगा पण्णत्ता ? केवइया परंपरोववण्णगा पण्णत्ता ? केवइय अणंत-रोवगाढा पण्णत्ता ? केवइया परंपरोवगाढा पण्णत्ता केवइया अणंतराहारा पण्णत्ता ? केवइया परंपराहारा पण्णत्ता केवइया अणंतरपज्जत्ता पण्णत्ता? केवइया परंपरपज्जत्ता पण्णत्ता ? केवइया चरिमा पण्णत्ता ? केवइया अचरिमा पण्णत्ता ? गोयमा ! इमी से रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावासस-यसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु संखेज्जा णेरइया पण्णत्ता संखेज्जा काउलेस्सा पण्णत्ता,एवं जाव संखेज्जा सण्णी पणत्ता, असण्णी सिय अत्थि सिय नत्थि। जइ अत्थि जहण्णे णं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा पण्णत्ता, संखेज्जा भवसिद्धिया पण्णत्ता, एवं जाव संखेज्जा परिग्गहसण्णोवउत्ता पण्णत्ता, इत्थि वेदगा णत्थि, पुरिसवेदगा णत्थि, संखेज्जा णापुंसगवेदगा पण्णत्ता। एवं कोहकसायी वि, माणकसायी जहा असण्णी एवं जाव लोभकसायी, संखेज्जा सोइंदियोवउत्ता एवं जाव फासिं-दियोवउत्ता, नो इंदियोवउत्ता जहा असण्णी, संखेज्जा मणजोगी एवं जाव अणागारोवउत्ता।३६। अणंतरोववण्णगा सिय अत्थि सिय णत्थि , जइ अत्थि जहा असण्णी, संखेज्जा परंपरोववण्णगा, एवं जहा अणंतरोववण्णगा तहा अणंतरोव-गाढा अणंतराहारगा अणंतरपज्जत्तगा चरिमा परंपरोवगाढा जाव अचरिमा जहा पंरपरोवण्णगा । इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु असंखेज्जवित्थडेसु णेरइएसु एगसमएणं केवइया णेरइया उववज्जंति, जाव केवइया अणागारोवउत्ता उववज्जंति ? गोयमा ! इमी से णं रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु असंखिज्जवित्थडेसु णेरएसु एगसमए णं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं असंखेज्जा णेरइया उववज्जंति एवं जहेव संखेज्जवित्थडेसु तिण्णि गमा पण्णत्ता, तहा असंखेज्जवित्थडेसु वि तिण्णि भाणियव्वा । णवरं असंखेज्जा भाणियव्वा सेसं तं चेव जाव असंखेज्जा अचरिमा णाणत्तं लेस्सासु लेस्साओ जहा पढमसए, णवरं संखेज्जवित्थडेसुवि असंखे-

ज्ञवित्थडेसु वि ओहिणाणी ओहिदंसणी संखेज्जा उवट्टा वेयव्वा सेसं तं चेव। सक्करप्पभाएणं भंते ! पुढवीए केवइया णिरयावासा पुच्छा, गोयमा ! पणवीसं णिरयावाससयसहस्सा, ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा एवं जहा रयणप्पभाए, तहा सक्करप्पभीए वि, णवरं असण्णी तिसु वि गमएसु न भण्णति सेसं तं चेव। वालुयप्पभाएणं पुच्छा, गोयमा ! पण्णरसणिर-यावाससयसहस्सा पण्णत्ता, सेसं जहा सक्करप्पभाए, णाणत्तं लेस्सासु लेस्साओ जहा पढमसए। पंकप्पभाएणं भंते ! णिर-यावाससयसहस्सा पुच्छा गोयमा ! दस णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता, एवं जहा सक्करप्पभाए,णवरं ओहिणाणी ओहिदंसणी ण उव्वट्टंति सेसं तं चेव। धूमप्पभाएणं पुच्छा, गोयमा ! तिण्णि णिरयावाससयसहस्सा एवं जहा पंकप्पभाए। तमाएणं भंते ! पुढवीए केवइया णिरयावासं पुच्छा, गोयमा ! एगे पंचूणे णिर-यावाससयसहस्से पण्णत्ते, सेसं जहा पंकप्पभाए अहे सत्त-माएणं भंते ! पुढवीए कइ अणुत्तरा महति महालया महाणिरया पण्णत्ता? गोयमा ! पंच अणु०जाव अप्पइट्ठाणे। सेणं भंते ! किं संखेज्ज वित्थडा असंखेज्जवित्थडा ? गोयमा ! संखेज्जवित्थडे य असंखेज्जवित्थडे य अहे सत्तमाए णं भंते ! पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु महतिमहालया जाव महाणिरएसु संखेज्जवित्थडे णरए एगसमएणं केवइया एवं जहा पंकप्पभाए णवरं तिसु णाणेसु ण उववज्जंति, ण उवट्टंति पण्णत्ता एसु तहेव अत्थि। एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि णवरं असंखेज्जा भाणियव्वा। इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसह-स्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु किं सम्मद्दिट्ठी णेरइया उववज्जंति, मिच्छद्दिट्ठी णेरइया उववज्जंति सम्मा मिच्छद्दिट्ठी णेरइया उववज्जंति ? गोयमा ! सम्मद्दिट्ठी णेरइया उववज्जंति, मिच्छद्दिट्ठी णेरइया उववज्जंति, णोसम्मामिच्छद्दिट्ठी णेरइया उववज्जंति। इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससय-सहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णेरइएसु किं सम्मद्दिट्ठी णेरइया उवट्टंति एवं चेव। इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरथावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडा णिरया किं सम्मद्दिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया मिच्छ-द्दिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया, सम्मामिच्छद्दिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया ? गोयमा ! सम्मद्दिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया मिच्छद्दिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया, सम्मामिच्छद्दिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिय विरहिया वा। एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि तिण्णि गमा भाणियव्वा। एवं सक्करप्पभाए वि। एवं जाव तमाए वि। अहे सत्तमाएणं भंते ! पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु जाव संखेज्जवित्थहे णरए किं सम्मद्दिट्ठी णेरइया पुच्छा, गोयमा ! सम्मद्दिट्ठी णेरइया ण उववज्जंति मिच्छद्दिट्ठी णेरइया उववज्जंति सम्मामिच्छद्दिट्ठी णेरइया ण उववज्जंति, एवं उव्वट्टंति वि, अविरहिए जहेवं रयणप्पभाए। एवं असंखेज्ज वित्थडेसु तिण्णि गमा से णूणं भंते ! कण्हलेस्से नीललेस्से जाव सुक्कलेस्से भावत्ता कण्हलेस्सेसु णेरइएसु उववज्जंति? हंता गोयमा ! कण्हलस्से जाव उववज्जंति। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ कण्हलेस्से जाव उववज्जंति ? गोयमा ! लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु सकिलि० किण्हलेस्सं परिणमइ, कण्ह२कण्ह लेस्सेसु णेरइ-एसु उववज्जंति। से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति। से णूणं भंते ! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता णीललेस्सेसु णेरइएसु उववज्जंति ? हंता गोयमा ! जाव उववज्जंति। से केणट्ठेणं जाव उववज्जंति ? गोयमा ! लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु विसु-ज्झमाणेसु णीललेस्सं परिणमइ णीललेस्सा णीललेस्से सु णेरइएसु उववज्जंति से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव उववज्जंति॥

रत्नप्रभापृथिव्यां कापोतलेश्या एवोत्पद्यन्ते न कृष्णलेश्यादय–इति कापोतलेश्यानेवाश्रित्य प्रश्नः कृत इति। ''केवतिया कण्ह पक्खिएइत्यादि'' एषां च लक्षणमिदम्। ''जेसिमवड्ढोपोग्गल, परियट्टो सेसओ उ संसारो। ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिगे पुण कण्हपक्खियत्ति'' ॥१॥ (चक्खुदंसणी न उववज्जंतित्ति) इन्द्रियत्यागेन तत्रोत्पत्तेरिति। तर्हि अचक्षुर्दर्शनिनः कथमुत्पद्यन्ते? इन्द्रियानाश्रितस्य सामान्योपयोग-मात्रस्याऽचक्षुर्दर्शनशब्दाभिधेयस्योत्पादसमयेऽपि भावादचक्षुर्दर्शनिने उत्पद्यन्त इत्युच्यत इति (इत्थिवेयगेत्यादि) स्त्रीपुरुषवेदा नोत्पद्यन्ते, भवप्रत्ययान्नपुंसक–वेदत्वात्तेषां (सोतिंदिओवउत्तेत्यादि) श्रोत्राद्युपयुक्ता नोत्पद्यन्ते इन्द्रियाणां तदानीमभावात् (नो इंदिओ वउत्ता उववज्जंतित्ति) नोइन्द्रियं मनस्तत्र च यद्यपि मनःपर्याप्त्यभावे द्रव्यमनो नास्ति तथापि भावमनसश्चैतन्यरूपस्य सदा भावात्तेनोपयुक्तानामुत्पत्ते–र्नोइन्द्रियोपयुक्ता उत्पद्यन्त इत्युच्यत इति (मणजोगीत्यादि) मनोयोगिनो वाग्योगिनश्च नोत्पद्यन्ते उत्पत्तिसमयेऽपर्याप्तकत्वेन मनोवाचोरभावादिति (काययोगी उववज्जंतित्ति) सर्वसंसारिणां काययोगस्य सदैव भावादिति। अथ रत्नप्रभानारकाणामेवोद्वर्त्त–नामभिधातुमाह। इमीसेणमित्यादि (असण्णी न उवट्टंतित्ति) उद्वर्त्तना हि परभवप्रथमसमये स्यान्न च नारका असंज्ञिपूत्पद्यन्ते–ऽतस्ते असंज्ञिनः सन्तो नोद्वर्त्तन्त इत्युच्यते ''एवं विभंगनाणी न उव्वट्टंति'' इत्यपि भावनीयम्। शेषाणि तु पदान्युपादवद्व्याख्ये–यानि उक्तं च चूर्ण्याम् ''असण्णिणो य विभंगि–णो य उव्वट्टणाए वज्जेज्जा। दोसु वि य चक्खुदंसी, मणवइ तह इंदियाइंवत्ति'' ॥१॥ अनन्तरं रत्नप्रभानारकाणामुत्पादे उद्वर्त्तनायां च परिमाणमुक्तमथ तेषामेवसत्तायां तदाह(इमीसेणमित्यादि केवइया अणंतरोववण्ण–गत्ति) कियन्तः प्रथमसमयोत्पन्ना इत्यर्थः। (परंपरोववण्णगत्ति) उत्पत्तिसमयापेक्षया द्व्यादिसमयेषुवर्त्तमाना (अणंतरोवगाढत्ति) विवक्षितक्षेत्रे प्रथमसमयाव-गाढाः (परंपरोगाढत्ति) विवक्षितक्षेत्रे द्वितीयादिकसमयोऽवगाढो येषां ते परम्परोवगाढाः (केवइया चरिमत्ति) चरमो नारकभवेषु स एव भवो येषां ते चरमा नारकभवस्य वा चरमसमये वर्त्तमानाश्चरमाः अचरमास्त्विवतरे (असण्णी सिय अत्थि सिय नत्थित्ति) असंज्ञिभ्य उद्वृत्य

ये नारकत्वेनोत्पन्नास्तेऽपर्याप्तकावस्थायामसंज्ञिनो भूतभावत्वात्ते चाल्या इति कृत्वा सिय अत्थीत्याद्युक्तम्। मानमायालोभकषायोपयुक्तानां नोइन्द्रियोपयुक्तानामनन्तरोपपन्नानामनन्तरावगाढानामनन्तराहारकाणामनन्तरपर्याप्तकानां च कादाचित्कत्वात्सिय अत्थीत्यादि वाच्यं शेषाणां तु बहुत्वात्संख्याता इति वाच्यमिति। अनन्तरं संख्यातविस्तृतनरकावासनारकवक्तव्यतोक्ता। अथ तद्विपर्यथवक्तव्यतामभिधातुमाह ''इमीसेणमित्यादि'' (तिण्णिग–मत्ति) उववज्जंति उव्वट्टंति पण्णत्तति। एते त्रयो गमाः ओहिणाणीओहिदंसणीयसंखेज्जा (उव्वट्टावेयव्वत्ति) कथं ते हि तीर्थकरादय एव भवन्ति ते च स्तोकाः स्तोकत्वाच्च सख्याता एवेति नवरम्। (असण्णी तिसुवि गमएसु ण भण्णइत्ति) कस्मादुच्यते। असंज्ञिनः प्रथमायामेवोत्पद्यन्ते। असण्णी खलु पढमंति वचनादिति ''नाणत्तं लेस्सासु, लेस्साओ जहा पढमसएत्ति'' इहाश्च पृथ्वीद्वयापेक्षया तृतीयादिपृथिवीषु नानात्वं लेश्यासु भवति। ताश्च यथा प्रथमशते तथाऽध्येयास्तत्र च संग्रहगाथेयम् ''काऊ य दोसु तइयाए, मीसिया नीलिया चउत्थीए। पंचमिया ए मीसा, कण्हा तत्तो परमकण्हत्ति'' ॥१॥ नवरम् ''ओहिनाणी ओहिदंसणी य न उव्वट्टंति'' कस्मादु–च्यते– ते हि प्रायस्तीर्थंकरा एव ते च चतुर्थ्यां उद्धृत्ता नोत्पद्यन्त इति॥ (जाव अप्पत्तिट्ठाणेत्ति) इह यावत्करणात्काले महाकल–रोरुए महारोरुएत्ति दृश्यम्। इह च मध्यम एव सख्ययविस्तृत इति॥ नवरम्। ''तिसु नाणेसु न उववज्जंति न उव्वट्टंति त्ति'' सम्यक्त्वभ्रष्टानामेव तत्रोत्पादात्तत उद्वर्त्तनाद्याद्येषु त्रिषु ज्ञानेषु नोत्पद्यन्ते, नापि चोद्वर्त्तन्त इति॥ (पण्णत्ताएसु तहेव अत्थित्ति) एतेषु पञ्चसु नारकावासेषु कियन्त आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्च प्रज्ञप्ता इत्यत्र तृतीयगमे तथैव प्रथमादिपृथिवीष्विव सन्ति तत्रोत्पन्नानां सम्यग्दर्शनलाभे आभिनिबोधिकादिज्ञानत्रयभावादिति। अथ रत्नप्रभादिनारकवक्तव्यतामेव सम्यग्दृष्ट्या–दीनाश्रित्याह इमीसेणमित्यादि। (नोसम्मामिच्छदिट्ठी उववज्जंति त्ति)। ''न सम्मामिच्छो कुणइ कालमिति वचनात्'' मिश्रदृष्टयो न म्रियन्ते नापि तद्भवप्रत्ययं तेषामवधिवद्येन मिश्रदृष्टयः सन्तस्ते उत्पद्येरन्। सम्मामिच्छदिट्ठीहिं नेरइएहिं अविरहिय विरहिययावत्ति। कादाचित्कत्वेन तेषां विरहसम्भवादिति अथ नारकवक्तव्यतामेव भङ्गचन्तरेणाहसे नूणमित्यादि। (लेसट्ठाणेसुत्ति) लेश्याभेदेषु (संकिलिस्समाणेसुत्ति) अविशुद्धिं गच्छत्सु (कण्हलेस्सं परिणम–इत्ति) कृष्णलेश्यां याति ततश्च (कण्हलेसेत्यादि) (संकिलिस्समाणे सु वा विसुज्झमाणेसुवत्ति) प्रशस्तलेश्यास्थानेष्वऽविशुद्धिं गच्छत्सु अप्रशस्तलेश्यास्थानेष च विशुद्धिं गच्छत्सु नीललेश्यां परिणमतीत भावः। भ० १३ श०१उ०॥

(५) नैरयिकादयः आत्मोपक्रमेण परोपक्रमेण वा आत्मर्द्ध्या परर्द्ध्या वा आत्मप्रयोगेण परप्रयोगेण वा उत्पद्यन्ते।

णेरइयाणं भंते ! किं आउवक्कमेणं उववज्जंति, परोवक्कमेणं उववज्जंति णिरुवक्कमेणं उववज्जंति ? गोयमा ! आतोवक्कमेण वि उववज्जंति परोवक्कमेण वि उववज्जंति णिरुवक्कमेण वि उववज्जंति एवं जाव वेमाणिया। णेरइयाणं भंते ! किं आतोवक्कमेणं उव्वट्टंति परोवक्कमेणं उव्वट्टंति णिरुवक्कमेणं उव्वट्टंति? गोयमा ! णो आतोवक्कमेणं उव्वट्टंति णो परोवक्कमेणं उव्वट्टंति णिरुवक्कमेणं उव्वट्टंति। एवं जाव थणियकुमारा। पुढवीकाइया जाव मणुस्सा तिसु उव्वट्टंति। सेसा जहा णेरइया णवरं जोइसिया वेमाणिया चयंति। णेरइया णं भंते ! किं आयड्ढीए उववज्जंति परिड्ढीए उववज्जंति? गोयमा ! आयड्ढीए उववज्जंति णो परिड्ढीए उववज्जंति। एवं जाव वेमाणिया। णेरइयाणं भंते ! किं आइड्ढीए उव्वट्टंति परिड्ढीए उव्वट्टंति ? गोयमा ! आइड्ढीए उव्वट्टंति णो परिड्ढीए उव्वट्टंति एवं जाव वेमाणिया णवरं जोइसिया वेमाणिया चयंतीति अभिलावो। णेरइयाणं भंते ! किं आयकम्मणा उववज्जति परकम्मणा उववज्जति ? गोयमा ! आयकम्मणा उववज्जंति णो परकम्मणा उववज्जंति एवं जाव वेमाणिया। एवं उव्वट्टणां दंडओ। णेरइयाणं भंते ! किं आयप्पओगेणं उववज्जंति परप्पओगेणं उववज्जंति ? गोयमा ! आयप्पओगेणं उव्वज्जति णो परप्पओगेणं उववज्जंति। एव जाव वेमाणिया। एवं दंडओ वि॥

आत्मना स्वयमेव आयुष उपक्रमः आत्मोपक्रमस्तेन मृत्वा इति शेषः उत्पद्यन्ते नारकाः यथा श्रेणिकः। परोपक्रमेण परकृतमरणेन यथा कूणिकः। निरुपक्रमेण उपक्रमणाभावेन यथा कालशौकरिकः यतः। सोपक्रमायुष्का इतरे च तत्रोत्पद्यन्ते उत्पादोद्वर्त्तनाधिकारादिदमाह नेरइयेत्यादि (आइड्ढीएत्ति) नेश्वरादिप्रभावेणेत्यर्थः (आयुकम्मुणत्ति) आत्मकृतकर्मणा ज्ञानावरणादिना (आयप्प–ओगेणंति) आत्मव्यापारेण॥

(६) कतिसंञ्चिताकतिसञ्चितानामुपपादः।

णेरइयाणं भंते ! किं कतिसंचिया अकतिसंचिया अवत्तव्वगसंचिया ? गोयमा ! णेरइया कतिसंचिया वि अकतिसंचिया वि अवत्तव्वगसंचिया वि, सेकेणट्ठेणं भंते ! जाव अवत्तव्वगसंचिया वि ? गोयमा ! जेणं णेरइया संखेज्जए णं पवेसणएणं पविसंति, तेणं णेरइया कतिसंचिया। जेणं णेरइया असंखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया अकतिसंचिया। जेणं णेरइया एक्कएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया अवत्तव्वगसंचिया। से तेणट्ठेणं गोयमा ? जाव अवत्तव्वगसंचिया वि। एवं जाव थणियकुमारा। पुढवीकाइयाणं पुच्छा, गोयमा ? पुढवीकाइया णो कतिसंचिया अकतिसंचिया णो अवत्तव्वगसंचिया। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ –जाव णो अवत्तव्वगसंचिया? गोयमा ! पुढवीकाइया असंखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति, से तेणट्ठेणं जाव णो अवत्तव्वगसंचिया एवं वणस्सइकाइया। बेइंदिया जाव वेमाणिया जहा णेरइया। सिद्धाणं पुच्छा ? गोयमा ! सिद्धा कतिसंचिया णो अकतिसंचिया अवत्तव्वगसंचिया वि। से केणट्ठेणं जाव अवत्तव्वगसंचियां वि ? गोयमा ! जेणं सिद्धा संखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा कतिसंचिया, जेणं सिद्धा एक्कएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा अवत्तव्वगसं–चिया वि से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव अवत्तव्वगसंचिया वि॥

उत्पादाधिकारादिदमाह नेरइयेत्यादि (कइसंचियत्ति) कति इति सङ्ख्यावाची ततश्च कतित्वेन सञ्चिता एकसमये संख्यातोत्पादेन पिण्डिताः कतिसञ्चिताः एवं (अकइसंचियत्ति)। नवरं। (अकतित्ति) संख्यानिषेधोऽसंख्यातत्वमनन्तत्वं चेति (अवत्तव्वगसंचियत्ति) द्व्यादिः संख्या व्यवहारतः शीर्षप्रहेलिकायाः परतोऽसंख्या यश्च संख्यात्वेनासंख्यात्वेन च वक्तुं न शक्यते असाववक्तव्यः स च एककस्तेनावक्तव्येन एकेन एकत्वोत्पादेन सञ्चिता अवक्तव्यकसञ्चितास्तत्र नारकादयस्त्रिविधा अपि एकसमयेन तेषामेकादीनां संख्यातानामुत्पादात् पृथिवीकायिकादयस्तु अकतिसञ्चिता एव तेषां समयेनासंख्यातानामेव प्रवेशाद्वनस्पतयस्तु यद्यप्यनन्ता उत्पद्यन्ते तथापि प्रवेशनकं विजातीयेभ्य आगतानां यस्तत्रोत्पादस्तद्विवक्षितमसंख्याता एव च विजातीयेभ्य उद्वृत्तास्तत्रोत्पद्यन्त इति सूत्रे उक्तम्। (एवं जाव वणस्सइकाइयत्ति) सिद्धा नो अकतिसंचिता अनन्तानामसंख्यातानां वा तेषां समयेनासंभवादिति। एषामेवाल्पबहुत्वं चिन्तयन्नाह॥

एएसिणं भंते ! णेरइयाणं कइसंचियाणं अकइसंचियाणं अवत्तव्वगसंचियाण य कयरे २ वज्जा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा णेरइया अवत्तव्वगसंचिया कति संचिया संखेज्जगुणा अकतिसंचिया असंखेज्जगुणा एवं एगिंदियवज्जाणं जाव वेमाणियाणं अप्पाबहुगं एगिंदियाणं णत्थि अप्पाबहुगं एएसिणं भंते ! सिद्धाणं कतिसंचियाणं अव्वत्तव्वगसंचियाण य कयरे २ जाव विसेसाहिया वा गोयमा ! सव्वत्थो वा सिद्धा कतिसंचिया अवत्तव्वगसंचिया संखेज्जगुणा॥

(एएसीत्यादि) अवक्तव्यकसंचिताः स्तोकाः अवक्तव्यकस्थानस्यैकत्वात् कतिसंचिताः संख्यातगुणाः संख्यातत्वात्संख्यातस्थानकानामकतिसञ्चितास्त्वसंख्यातगुणाः असंख्यातस्थानकानामसंख्यातत्वादित्येके। अन्ये त्वाहुः। वस्तुस्वभावोऽत्र कारणं न तु स्थानकाल्पत्वादि कथमन्यथा सिद्धाः कतिसंचिताः स्थानकबहुत्वेऽपि स्तोकाः। अवक्तव्यकास्तु स्थानस्यैकत्वेऽपि संख्यातगुणाः। द्व्यादित्वेन केवलिनामल्पानामायुः समाप्तेरियं च लोकस्वभावादेवेति॥

(७) षट्कसमर्जिताः नारकाद्युत्पादविशेषणीभूत-संख्याधिकारादिदमाह।

णेरइयाणं भंते ! किं छक्कसमज्जिया णो छक्कसमज्जिया छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया छक्केहि य समज्जिया छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया? गोयमा ! णेरइया छक्कसमज्जिया वि ! णो छक्कसमज्जिया वि २ छक्केण य णो छक्केणय समज्जिया ३ छक्केहि य समज्जिया वि ४ छक्केहिय णो छक्केण य समज्जिया वि ५ से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइणेरइया छक्कसमज्जिया वि जाव णो छक्केहि य णो छक्केण य सम्मज्जिया वि ? गोयमा ! जेणं णेरइया छक्कएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया छक्कसमज्जिया। जेणं णेरइया जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया णो छक्कसमज्जिया २ जेणं णेरइया छक्काएणं अण्णेण य जहण्णे णं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया ३ जेणं णेरइया अणेगेहिं छक्केहिं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया छक्केहिय समज्जिया ४ जेणं णेरइया अणेगेहिं छक्केहिं अणेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया छक्केहिय णो छक्केण य समज्जिया॥५ से तेणट्ठेणं तं चेव समज्जिया वि एवं जाव थणियकुमारा पुढवीकाइयाणं पुच्छा, गोयमा ! पुढवीकाइया णो छक्कसमज्जिया णो णो छक्कसमज्जिया णो छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया ३ छक्केहि य समज्जिया वि छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया वि से केणट्ठेणं जाव समज्जिया वि गोयमा जेणं पुढवीकाइया णेगेहिं छक्केहिं पवेसणगं पविसंति तेणं पुढवीकाइया छक्केहिं समज्जिया, जेणं पुढवीकाइया णेगेहिं छक्कएहिं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं पुढवीकाइया छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि एवं जाव वणस्सइकाइया बेइंदिया जाव वेमाणिया एए सिद्धा जहा णेरइया॥

नेरइयाणमित्यादि (छक्कसमज्जियत्ति) षट् परिमाणमस्येति षट्कं वृन्दं तेन समर्जिताः पिण्डिता षट्कसमर्जिताः। अयमर्थः एकत्र समये ये समुत्पद्यन्ते तेषां यो राशिः स षट्प्रमाणो यदि स्यात्तदा ते षट्कसमर्जिता उच्यन्ते॥१॥ (नो छक्कसमज्जियत्ति) नो षट्कः षट्काभावस्ते च एकादयः पञ्चान्तास्तेन नो षट् केन एकाद्युत्पादेन ये समर्जितास्तेन तथा।२। तथा (छक्केण य नो छक्केण य समज्जियत्ति) एकत्र समये येषां षट्कमुत्पन्नमेकाद्यधिकं ते षट् केन नोषट्केन च समर्जिता उक्ताः॥३॥ (छक्केहि य समज्जियत्ति) एकत्र समये येषां बहूनि षट्कानि उत्पन्नानि ते षट्कैः समर्जिताः उक्ताः।४। तथा (छक्केहि य नोछक्केण य समज्जियत्ति) एकत्र समये येषां बहूनि षट्कानि एकाद्यधिकानि ते षट्कैः नो षट्केन च समर्जिजता एते पञ्चविकल्पाः। इह च नारकादीनां पञ्चापि विकल्पाः सम्भवन्त्येकादीनामसंख्यातानां तेषां समयेनोत्पत्तेरसंख्यातेष्वपि च ज्ञानिनः षट्कानि व्यवस्थापयन्तीति एकेन्द्रियाणां त्वसंख्यातानामेव प्रवेशनात्षट्कः समर्जिताः। तथा षट्कैर्नोषट्केन च समर्जिता इति विकल्पद्वयस्यैव सम्भव इति अत एवाह पुढविकाइयाणमित्यादि॥

षट्कसमर्जितोत्पादे अल्पबहुत्वम्।

एएसिणं भंते ! णेरइयाणं छक्कसमज्जियाणं णो छक्क समज्जियाणं छक्केण य णोछक्केण य समज्जिजयाणं छक्केहि य समज्जियाणं छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया ण य कयरे कयरे जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा णेरइया छक्कसमज्जिया णो छक्कसमज्जिया संखेज्जगुणा छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया संखेज्जगुणा छक्केहि य समज्जिया असंखेज्जगुणा छक्केहि

य णो छक्केण य समज्जिया संखेज्जगुणा। एवं जाव थणियकुमारा एएसिणं भंते ! पुढविकाइयाणं छक्केहि य समज्जियाणं छक्केहि य णो छक्केहि य समज्जियाणं कयरे कयरे जाव विसेसाहिया वा? गोयमा ! सव्वत्थो वा पुढविकाइया छक्केहि य समज्जिया छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया संखेज्ज गुणा एवं जाव वणस्सइकाइयाणं बेइंदियाणं जाव वेमाणियाणं। जहा णेरइयाणं। एएसिणं भंते ! सिद्धाणं छक्कसमज्जियाणं णो छक्कसमज्जियाणं जाव छक्केहि य णो छक्केण य समज्जियाण य कयरे कयरे जाव विसेसाहिया? गोयमा ! सव्वत्थो वा सिद्धा छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया छक्केहि य समज्जिया संखेज्जगुणा छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया संखेज्जगुणा छक्कसमज्जिया संखेज्जगुणा णो छक्कसमज्जिया संखेज्जगुणा॥

एषामल्पबहुत्वचिन्तायां नारकादयः स्तोका आद्याः षट्कस्थानस्यैकत्वात् द्वितीयास्तु संख्यातगुणाः नोषट्कस्थानानां बहुत्वात् एवं तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु स्थानबाहुल्यात्सूत्रोक्तं बहुत्वमवसेयमित्येके। अन्ये तु वस्तुस्वभावादित्याहुरिति॥

(८) द्वादश समर्जिताः।

णेरइयाणं भंते ! किं वारससमज्जिया णो वारससमज्जिया वारसएणं णो वारसएण य समज्जिया वारसएहि य समज्जिया ४ बारसएहिय णो वारसएणय समज्जिया ? गोयमा ! णेरइया वारससमज्जिया वि जाव वारसएहि य णो वारसएण य समज्जिया वि से केणट्ठेणं जाव समज्जिया वि। गोयमा ! जेणं णेरइया वारसएणं पवेसणएणं पविसति तेणं णेरइया वारससपज्जिया वि जेणं णेरइया जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया णो वारससमज्जिया। जेणं णेरइया वारसएणं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया वारसएणं समज्जिया। जेणं णेरइया णेगेहिं वारसएहिं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया वारसएहिं समज्जिया। जेणं णेरइयाणेगेहिं वारसएहिं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया वारसएहि य णो वारसएण य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि। एवं जाव थणियकुमारा। पुढवीकाइयाणं पुच्छा गोयमा ! पुढवीकाइया णो वारससमज्जिया णो नो वारसएण य समज्जिया णो वारसए य णो वारसएण य समज्जिया वारसएहिं समज्जिया वारसएहि य णो वारसएण य समज्जिया। से केणट्ठेणं जाव समज्जिया वि ? गोयमा ?जेणं पुढवीकाइया णेगेहिं वारसएहि य पवेसणगं पविसंति तेणं पुढविकाइया वारसएहिं समज्जिया। जेणं पुढवीकाइया णेगेहिं वारसएहिं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं एक्कारसएण य पवेसणएणं पविसंति तेणं पुढवीकाइया वारस–एहि य णो वारसएण य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि एवं जाव वणस्सइकाइया। बेइंदिया जाव सिद्धा जहा णेरइया। एएसिणं भंते ! णेरइयाणं वारससमज्जियाणं सव्वेसिं अप्पा–बहुगं जहा छक्कसमज्जियाणं णवरं बारसाभिलावो। सेसं तं चेव॥

(९) चतुरशीतिसमर्जिताः॥

णेरइयाणं भंते ! किं चुलसीति समज्जिया णोचुलसीति समज्जिया चुलसीतिए य णोचुलसीतिए य समज्जिया चुलसीतिहि य समज्जिया चुलसीतिहि य णो चुलसीतिए य समज्जिया ? गोयमा ! णेरइया चुलसीति समज्जिया वि। जाव चुलसीतिहि य णो चुलसीतिहि य समज्जिया वि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव समज्जिया वि ? गोयमा ! जेणं णेरइया चलसीतिए णं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया चलसीति समज्जिया, जेणं णेरइया जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं तेसीति पवेसणएणं पविसंति तणं णेरइया णो चुलसीति समज्जिया, जेणं णेरइया चुलसीतिएणं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा जाव उक्कोसेणं तेसीतिएणं पवेसणएणं पविसंति तेण णेरइया चुलसीतिएण य णो चुलसीतिए य समज्जिया। जेणं णेरइया णेगेहिं चुलसीतिएहि य पवेसणगं पविसंति तेणं णेरइया चुलसीतिएहि य समज्जिया। जेणं णेरइया णेगेहिं चुलसीतिएहि य अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा जाव उक्कोसेणं तेसीतिएणं जाव पविसंति तेणं णेरइया चुलसीतिएहि य णो चुलसीतिएण य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि। एवं जाव थणियकुमारा पुढवीकाइया तहेव पच्छिल्लएहिं दोहिं णवरं अभिलावो चुलसीतिओ। एवं जाव वणस्सइकाइया वेइंदिया जाव वेमाणिया जहा णेरइया। सिद्धाणं पुच्छा, गोयमा ! सिद्धा चुलसीति समज्जिया वि णो चुलसीति समज्जिया वा चुलसीति य णो चुलसीति य समज्जिया वि णो चुलसीतिहि य समज्जिया णो चुलसीतिहि य णो चुलसीति समज्जिया। से केणट्ठेणं जाव समज्जिया ? गोयमा ! जेणं सिद्धा चुलसीतिएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा चुलसीति समज्जिया जेणं सिद्धा जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं तेसीतिएण य पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा णो चुलसीति समज्जिया जेणं सिद्धा चुलसीइएणं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं तेसीतिएणं पवेसएणं पविसंति तेणं सिद्धा चुलसीति य णो चुलसीतिए य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया। एएसिणं भंते ! णेरइयाणं चुलसीति समज्जियाणं णो

चुलसीतिसमज्झियाणं सव्वेसिं अप्पाबहुगं जहा छक्कसमज्झि-याणं जाव वेमाणिया णवरं अभिलावो चुलसीतिओ एएसिणं भंते ! सिद्धाणं चुलसीति समज्झियाणं णो चुलसीतिसमज्झियाणं चुलसीतिए य णो चुलसीतिए य समज्झियाणं कयरे कयरे जाव विसेसाहिया वा? गोयमा ! सव्वत्थो वा सिद्धा चुलसीतिय णो चुलसीतिय समज्झिया चुलसीतिय समज्झिया अणंतगुणा णो चुलसीतिय समज्झिया अणंतगुणा सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

एवं द्वादशकसूत्राणि चतुरशीतिसूत्राणि चेति । असुरकुमाराः कतिविधाः ॥

केवइयाणं भंते ! असुरकुमारा वाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! चोयट्ठिअसुरकुमारा वाससयसहस्सा पण्णत्ता, ते भदंत ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा ? गोयमा ! संखेज्जवित्थडा वि असंखेज्जवित्थडा वि । चोयट्ठियाणं भंते ! असुरकुमारा वाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु असुरकुमारा वाससयसहस्सेसु एगसमएणं केवइया असुरकुमारा उववज्जंति, केवइया तेउलेस्सा उववज्जंति, केवइया कण्हपक्खिया उववज्जंति एवं जहा रयणप्पभाए तहेव पुच्छा, तहेव वागरणं णवरं दोहिं वेदेहिं उववज्जंति, णपुंसगवेदगा ण उववज्जंति सेसं तं चेव, उव्वट्टंतगा वि तहेव णवरं असण्णि उव्वट्टंति, ओहि-णाणी ओहिदंसणी य ण उव्वट्टंति सेसं तं चेव, पण्णत्ता एसु तहेव णवरं संखेज्जगा इत्थीवेदगा पण्णत्ता, एवं पुरिसवेदगावि , णपुंसगवेदगा णत्थि कोहकसायी सिय अत्थि सिय णत्थि, जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा पण्णत्ता, एवं माण माया, संखेज्जा लोभकसाई पण्णत्ता, सेसं तं चेव, तिसु वि गमएसु संखेज्जवित्थडेसु चत्तारि लेस्साओ भा-णियव्वाओ, एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि, णवरं तिसुविगमएसु असंखेज्जा भाणियव्वा जाव असंखेज्जा अचरिमा पण्णत्ता ! केवइयाणं भंते ! णागकुमारावासा एवं जाव थणियकुमारावासा णवरं जत्थ जत्तियाभवणा ॥

कइविहेत्यादि (संखेज्जवित्थडावि असंखेज्जवित्थडावित्ति) इह गाथा ''जंबुद्दीवसमा खलु, भवणा जे हुंति सव्वखुड्डागा। संखेज्जवित्थडा म-ज्झिमा उ सेसा असंखेज्जत्ति'' ॥१॥ (दोहिं वि वेदेहिं उववज्जंतित्ति) द्वयोरपि स्त्रीवेदपुवेदयोरुत्पद्यन्ते, तयोरेव तेषु भावात् (असण्णी उव्वट्टंतित्ति) असुरादीनामेवावधिमतामुद्वृत्तेः (ओहिनाणी ओहिदंसणी य न उव्वट्टंतित्ति) असुराद्युद्वृत्तानां तीर्थकरादित्वाभावात्, तीर्थकरादीशानान्तदेवानामसञ्ज्ञिष्वपि पृथिव्यादिषूत्पादात् (पण्णत्ताएसु तहेवत्ति) प्रज्ञप्तकेषु प्रज्ञप्तपदोपलक्षि-तगमाधीतेष्वसुर-कुमारेषु तथैव यथा प्रथमोद्देशके ''कोहकसाई इत्यादि'' क्रोधमानमायाकषायोदयवन्तो देवेषु कादाचित्कत्वादत उक्तम् ''सिय अत्थि इत्यादि'' लोभकषायोदयवन्तस्तु सार्वदिका अत उक्तम् ''संखेज्जा लोभकसाई पण्णत्तेत्ति'' तिसुवि गमएसु चत्तारि लेस्साओ भणिअव्वाओत्ति'' उववज्जंति उव्वट्टंति पन्नत्तेत्येवंलक्षणेषु त्रिष्वपि गमेषु चतस्रो लेश्यास्तेजोलेश्यान्ता भणितव्याः एता एव ह्यसुरादीनां भवन्तीति । (तत्थ जत्तिया भवणत्ति) यत्र निकाये यावन्ति भवनलक्षाणि तत्र तावन्त्युच्चार–णीयानि यथा– ''चउसट्ठी असुराणं, नागकुमाराण होइ चुलसीई । बावत्तरि कणगाणं, वाउकुमाराण छण्णउई'' ॥१॥ दीवादिसा उदहीणं, विज्जुकुमारिंदथणियमग्गेणं । जुयलाणं पत्तेयं छावत्तरिमो सयसहस्सत्ति ।२।

केवइयाणं भंते ! वाणमंतरा वाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा वाणमंतरा वाससययसहस्सा पण्णत्ता, तेणं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा ? गोयमा ! संखेज्जवित्थडा णो असंखेज्जवित्थडा । संखेज्जेसुणं भंते ! वाणमंतरा वाससयसहस्सेसु एगसमएणं केवइया वाणमंतरा उववज्जंति ? एवं जहा असुरकुमाराणं संखेज्जवित्थडेसु तिण्णि गमगा तहेव भाणियव्वा , वाणमंतराण वि तिण्णि गमगा ॥

व्यन्तरसूत्रे (संखेज्जवित्थडत्ति) इह गाथा ''जम्बुद्दीवसमा खलु, उक्कोसेणं हवंति ते नगरा । खुड्डा खेत्तसमा खलु, विदेहसमगाउ मज्झिमगत्ति ॥३॥

केवइयाणं भंते ! जोइसियविमाणा वाससयसहस्सा पण्णत्ता? गोयमा ! असंखेज्जा विमाणा वाससयसहस्सा पण्णत्ता , तेणं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा एवं जहा वाणमंतराणं तहा जोइसियाण वि तिण्णि गमगा भाणियव्वा, णवरं एगा तेउलेस्सा उववज्जंतेसु पण्णत्तेसु य असण्णी णत्थि सेसं तं चेव ॥

ज्योतिष्कसूत्रे संख्यातविस्तृता विमानावासा एगसट्ठिभागं काऊण जोयणमित्यादिना ग्रन्थेन प्रमातव्याः , नवरं (एगा तेउ–लेस्सत्ति) व्यन्तरेषु लेश्याचतुष्टयमुक्तमेतेषु तु तेजोलेश्यैवैका वाच्या, तथा उववज्जंतेसु पण्णत्तेसु य असण्णी नत्थित्ति । व्यन्तरे–ष्वसंज्ञिन उत्पद्यन्त इत्युक्तम् इह तु तन्निषेधः , प्रज्ञप्तेष्वपीह तन्निषेध उत्पादाभावादिति ॥

सोहम्मेणं भंते ! कप्पे केवइया विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! वत्तीसं विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता, तेणं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा? गोयमा ! संखेज्जवित्थडा वि असंखेज्जवित्थडा वि । सोहम्मेणं भंते ! वत्तीसविमाणावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु विमाणेसु एगसमएणं केवइया सोहम्मगा देवा उववज्जंति, केवइया तेउलेस्सा उववज्जंति, एवं जहा जोइसियाणं तिण्णि गमगा तहेव तिण्णि गमगा भाणियव्वा, णवरं तिसु वि संखेज्जा भाणियव्वा, ओहिणाणी ओहिदंसणी य चया वेयव्वा सेसं तं चेव । असंखेज्जवित्थडा वि एवं चेव तिण्णि गमगा य, णवरं तिसु वि गमएसु असंखेज्जा भाणियव्वा, ओहिणाणी य ओहिदंसणी संखेज्जा वयंति सेसं तं चेव, एवं जहा सोहम्मवत्तव्वया भणिया तहा ईसाणे छग्गमगा भाणियव्वा, सणंकुमारे वि एवं चेव णवरं

इत्थीवेदगा ण उव्वज्जंति तेसु पण्णत्तेसु य ण भण्णंति, असण्णी तिसु वि गमिएसु ण भण्णंति सेसं तं चेव। एवं जाव सहस्सारो णाणात्तं विमाणेसु लेस्सासु य सेसं तं चेव॥

सौधर्मसूत्रे ओहिणाणीत्यादि ततश्युता यतस्तीर्थकरादयो भवन्त्यतो अवधिज्ञानादयश्चावयितव्याः। ओहिनाणी ओहिदंसणी य संखेज्जा (चयंतित्ति) संख्यातानामेव तीर्थकरादित्वेनोत्पादादिति (छग्गमगति) उत्पादादयस्त्रयः संख्यातविस्तृतानाश्रित्य एत एव च त्रयोऽसंख्यातविस्तृतानाश्रित्यैवं षड्गमाः। नवरं इत्थिवेयगेत्यादि। स्त्रियः सनत्कुमारादिषु नोत्पद्यन्ते, न च सन्ति उद्वृत्तौ तु स्युः (असण्णी तिसु वि गमएसु न भण्णइ त्ति) सनत्कुमारादि देवानां संज्ञिभ्य एवोत्पादेन च्युतानां च संज्ञिष्वच गमनेन गमत्रयेऽप्यसंज्ञित्वस्थाभावादिति (एवं जाव सहस्सारोत्ति) सहस्रारान्तेषु तिरश्चामुत्पादेनासंख्यातानां त्रिष्वपि गमेषु भावादिति (णाणात्तविभागेसु लेस्सासुयत्ति) तत्र विमानेषु नानात्वं बत्तीस अट्ठावीसेत्यादिना ग्रन्थेन समवसेयम् लेश्यासु पुनरिदं तेऊ १ तेऊ २ तह तेउपम्ह ३ पद्माय ४ पद्मसुक्का य ५। सुक्काय ६ परमसुक्काऽसुक्इ विमाणवासीणंति '' ॥१॥ इह च सर्वेष्वपि शुक्रादिदेवस्थानेषु परमशुक्लेति॥

आणयपाणएसुणं भंते ! कप्पेसु केवइवा विमाणावाससया पण्णत्ता ? चत्तारि विमाणावाससया पण्णत्ता। तेणं भंते ! किं संखेज्जा पुच्छा, गोयमा ! संखेज्जवित्थडा वि असंखेज्जवि स्थडा वि, एवं संखेज्जवित्थडेसु तिण्णि गमगा जहा सहस्सारे, असंखेज्जवित्थडेसु उववज्जंति तेसु य चयं तेसु य एवं चेव संखेज्जा भाणियव्वा, पण्णत्तेसु असंखेज्जा, णवरं णो इंदियओ–वउत्ता अणंतरोववण्णगा अणंतरोवगाढा अणंतराहारगा अणंतरपज्जत्तगा य एएसिं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा पण्णत्तेसु असंखेज्जा भाणियव्वा। आरणच्चुएसु एवं चेव जहा आणयपाणएसु णाणात्तं विमाणेसु, एवं गेवेज्जगावि॥

अनतादिसूत्रे। संखेज्जवित्थडेसु इत्यादि। उत्पादे अवस्थाने च्यव–नेन च संख्यातविस्तृतत्वाद्विमानानां संख्याता एव भवन्तीति भावः। असंख्यातविस्तृतेषु पुनरुत्पादच्यवनयोः संख्याता एव, यतो गर्भजमनुष्येभ्य एव आनतादिषूत्पद्यन्ते, न ते च संख्याता एव। तथा आनतादिभ्यश्च्युता गर्भजमनुष्येभ्य एवोत्पद्यन्ते अतः समयेन संख्यातानामेवोत्पादच्यवनसम्भवोऽवस्थितिस्त्व-संख्यातानामपि स्यादसंख्यातजीवितत्वेनैकदैव जीवितकाले असंख्यातानामुतपादादिति। पण्णत्तेसु असंखेज्जा नवरं नो इंदिओवउत्तेत्यादि। प्रज्ञप्तगमके असंख्येया वाच्याः केवलं नोइन्द्रियोपयुक्तादिषु पञ्चसु पदेसु संख्याता एव तेषामुत्पादावसर एव भावादुत्पत्तिश्च संख्यातानामेवेति दर्शितं प्रागिति॥

कइ णं भंते ! अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचअणुत्तरविमाणा पण्णत्ता, तेणं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा ? गोयमा ! संखेज्जवित्थडा य असंज्जवित्थडा य। पंचसु णं भंते ! अणुत्तरविमाणेसु संखेज्जवित्थडे विमाणे एगसमए केवइया अणुत्तरोववाइया उववज्जंति, केवइया सुक्कलेस्सा उववज्जंति पुच्छा तहेव, गोयमा ! पंचसु णं अणुत्तरविमाणेसु संखेज्जवित्थडे अणुत्तरविमाणे एगसमएणं अहण्णणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा अणुत्तरोववाइया उववज्जंति एवं जहा मेवज्जगविमाणेसु संखेज्जवित्थडेसु णाणनंकण्हपवि–खया अभवसिद्धिया तेसु अण्णाणेसु एएणं उववज्जंति ण चयंवि, ण वि पण्णत्तएसु भाणियव्वा। अचरिमावि खोडिज्जंति, जाव संखेज्जा चरिमा पण्णत्ता, सेसं तं चेव असंखेज्जवित्थडेसु वि एएण भण्णंति, अचरिमा अत्थि सेसं जहा गेवेज्जएसु असंखेज्जवित्थडेसु जाव असंखेज्जा अचरिमा पण्णत्ता॥

(पंच अणुत्तरोववाइयत्ति) तत्र मध्यमं संख्यातविस्तृतं जोजन–लक्षणमाणत्वादिति। नवरं कण्हपक्खियेत्यादि। इह सम्यग्दृष्टी–नामेवोत्पादात् कृष्णपाक्षिकादिपादानां गमत्रयेऽपि निषेधः (चारिमावि कोडिज्जंतित्ति) येषां चरमो ऽनुत्तरदेवभवः स एव ते चरमास्तदितरे त्वचरमास्ते च निषेधनीया यतश्चश्मा एव मध्यमे विमाने उत्पद्यन्त इति। असंखेज्जवित्थडेसुवि (एए न भण्णंतित्ति) इहेत इति कृश्नापाक्षिकादयः। नवरं (अचरिमा अत्थित्ति) यतो बाह्यविमानेषु पुनरुत्पद्यन्त इति॥

चोयट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु असुरकुमारावासेसु किं सम्मद्दिट्ठी असुरकुमारा उववज्जंति, मिच्छदिट्ठी एवं जहा रयणप्पभाए तिण्णि आलावगा भणिया तहा असंखेज्जवित्थडेसु वि तिण्णि गमगा, एवं जाव गेवेज्जविमाणे अणुत्तरविमाणेसु एवं चेव, णवरं तिसुवि आलावएसु मिच्छदिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी य णं भण्णत्ति सेसं तं चेव। से णूणं भंते ! कण्हलेस्से णीललेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता कण्हलेस्सेसु देवेसु उववज्जंति ? हंता गोयमा ! एवं जहेव णेरइएसु पढमे उद्देसे तहेव भाणियव्वं, णीललेस्साए वि जहेव णेरइयाणं, जहा णीललेस्साए एवं जाव पम्हलेस्सेसु सुक्कलेस्सेसु एवं चेव, णवरं लेस्साठाणेसु विसुज्झमाणेसु विसुज्झमाणेसु सुक्कलेस्सा परिणमइ, परिणमइत्ता सुक्कलेस्सेसु देवेसु उववज्जंति से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति। सेवं भंते ! भंतेत्ति॥

(तिण्णि आलावगत्ति) सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिमिश्रदृष्टिविषया इति। नवरं तिसु वि आलवगेसु इत्यादि, उप्पत्तिए चवणे पण्णत्ता लावए य। मिथ्यादृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिश्च न वाच्योऽनुत्तरसुरेषु तस्या–सम्भवादिति। भ० १३ श०उ० २।

(१०) नैरयिकादयः कुत उत्पद्यन्ते।

नेरइयाणं भंते कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उवव–ज्जंति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति मणुस्सेहिंतो उववज्जंति देवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नेरइया नो नेरइएहिंतो उवव–ज्जंति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति मणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो देवेहिंतो उववज्जंति जदि तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति बेइंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति तेइंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति चउरिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति पंचिंदियतिरिक्खजोणि–

एहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो एगिंदिया नो बेइंदिया नो तेइंदिया नो चउरिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति। जइ पंचिदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति थलयरपंचिंदियतरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति खहयरपंचिंदियएहिंतो वि उववज्जंति। जदि जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतिय जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सम्मुच्छिमजलयरपंचिंदिएहिंतो जाव उववज्जंति गब्भवक्कंतिजलचरपंचिदिएहिंतो वि उववज्जंति। जदि सम्मुच्छिमजलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तसम्मुच्छिमजलचरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तसम्मुच्छिमजलचरपंचिंदिएहिंतमो उवज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तसम्मुच्छिमजलचरपचिदिएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तगसम्मुच्छिमजलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति जदि गब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तगगब्भवक्कंतियपंचिंदियएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति? गोयमा ! पज्जत्तगगब्भवक्कंतियजलचरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति नो अप्पज्जत्तगगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति। यदि थलचरपंचिंदियत्तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं चउप्पयथलयरपंचिदियत्तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति जदि चउप्पयपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमेहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो विउववज्जंति गब्भवक्कंतियचउप्पएहिंतो वि उववज्जंति। जदि सम्मुच्छिमचउप्पएहिंतो उव्वज्जंति किं पज्जत्तगसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति किं अप्पज्जत्तगथलयरसम्मुच्छिमचउप्पयपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तग जाव उववज्जंति नो अप्पज्जत्तगथलयरचउप्पयसम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति। जदि गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं असंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति। गोयमा ! संखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति नो-असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति। जदि संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तगसंखिज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अप्पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति। जदि परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति जदि उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जति ? गोयमा ! समुच्छिमेहिंतो वि गब्भवक्कंति-एहिंतो वि उववज्जंति जदि सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो किं अपज्जत्तएहिंतो ? गोयमा ! पज्जत्तगसम्मुच्छिमेहिंता उववज्जंति नो अपज्जत्तगसम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति जदि गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो किं अपज्जत्तएहिंतो ? गोयमा ! पज्जत्तगब्भवक्कंतिएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तगब्भवक्कंतिउरपरिसप्पथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति। जदि भुजपरिसप्पथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमभुजपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा दाहिंता वि उववज्जंति जदि सम्मुच्छिमभुजपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तयसम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जति किं अपज्जत्तगसम्मुमिच्छमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति। जदि गब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उवव-

ज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति । जदि खहयरपंचिंदिय-तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमखहयरपंचिं-दियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं गब्भवक्कंतियखह-यरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति । जदि सम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियति-रिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तए-हिंतो उवज्जंति । जदि गब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्ख-जोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउ-एहिंतो नो असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति जदि संखेज्जवा-साउयगब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो उवव-ज्जंति ? गोयमा! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति । प्रज्ञा० ६ पद ।

नैरयिकादीनां स्थित्यादयः ।

जइ पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सण्णिपं-चिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति असण्णिपंचिंदियति-रिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सण्णिपंचिंदियति-रिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति असण्णिपंचिंदियतिरिक्ख-जोणिएहिंतो वि उववज्जंति । जइ असण्णिपंचिंदियतिरिक्ख-जोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलचरेहिंतो उववज्जति थलचरेहिंतो उववज्जंति खहचरेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! जलचरेहिंतो उववज्जंति थलचरेहिंतो वि उववज्जंति खहचरे-हिंतो वि उववज्जंति जइ जलचरेथलचरेखहचरेहिंतो उवज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति णो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंत्ति । पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइसु पुढवीसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! एगाए रयणप्पभाए पुढवीए उववज्जेज्जा पज्जत्तअस-ण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए रयणप्पभाए पुढवीएसु णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिई-एसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं दसवासासहस्सट्ठिती-एसु उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठितिसु उववज्जेज्जा ? तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति ॥२॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरगा किंसघय-णीपण्णत्ता ? गोयमा ! छेवट्ठीसंघयणीपण्णत्ता तेसिणं भंते ! जीवाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं ॥४॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरगा किं संठिया पण्णत्ता? गोयमा ! *हुंडसंठाणसंठिया पण्णत्ता ॥५॥ तेसि णं भंते जीवाणं कइ* लेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! तिण्णि लेस्साओ पण्णत्ताओ तंजहा कण्हलेस्सा णीललेस्सा काउलेस्सा ॥६॥ तेणं भंते ! जीवा सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी? गोयमा ! णो सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी ॥७॥ तेणं भंते ! जीवा किं णाणी अण्णाणी ? गोयमा ! णो णाणी अण्णाणी । नियमा दुअणाणी तंजहा मतिअण्णाणी सुअअ-ण्णाणी ।८। तेणं भंते ! जीवा किं मणजोगी वयजोगी कायजोगी? गोयमा ! णो मणजोगी वयजोगी वि कायजोगी वि ॥९॥ तेणं भंते ! जीवा किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ? गोयमा ! सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि ॥१०॥ तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ सण्णा पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि सण्णा पण्णत्ता तंजहा आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गह-सण्णा ॥११॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ कसाया पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि कसाया पण्णत्ता तंजहा कोहकसाए माणक-साए मायाकसाए लोभकसाए ॥१२॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचिंदिया पण्णत्ता तंजहा सो-इंदिए चक्खिंदिए जाव फासिंदिए ॥१३॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ समुग्घाया पण्णत्ता ? गोयमा ! तओ समुग्घाया पण्णत्ता तंजहा वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए ॥१४॥ तेणं भंते ! जीवा किं सातावेदगा असातावेदगा ? गोयमा ! सातावेदगा वि असतावेदगा वि ॥१५॥ तेणं भंते ! जीवा किं इत्थीवेदगा पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा ? गोयमा ! णो इत्थी वेदगा णो पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा ॥१६॥ तेसि णं भंते ! जीवा णं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी ॥१७॥ तेसिणं भंते ! जीवा-णं कइ अज्झवसाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पण्णत्ता ? तेणं भंते ! किं पसत्था अप्पसत्था? गोयमा ! पसत्था वि अप्पसत्था वि ॥१८॥ तेणं भंते ! पज्जत्ता असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएत्ति कालओ केवचिरं होइ *गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी ॥१९॥* सेणं भंते ! पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए रयणप्पभाए पुढवी णेरइए पुणरवि पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएत्ति केवइयं कालं सेवेज्जा केवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं दसवास-सहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडिमब्भहियं एवइयं कालं सेवेज्जा एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा ॥१॥ पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरि-क्खुजोणिएणं भंते ! जे भविए जहण्णकालट्ठिईएसु रयणप्पभा-

पुढवी णेरइए उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवास-सहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ॥१॥ तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति एवं सव्वावत्तव्वया णिरवसेसा भाणियव्वा जाव अणुबंधोत्ति सेणं भंते ! पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्ख-जोणिए जहण्णकालट्ठिई य रयणप्पभापुढविणेरइए जहण्णकालं पुणरवि अपज्जत्तअसण्णि जाव गतिरागतिं करेज्जा? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतो मुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया एवइयं कालं गति-रागतिं करेज्जा ॥२॥ पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणि-एणं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठिईएसु रयणप्पभापुढवी णेरएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उवज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा अवसेसं तं चेव जाव अणुबंधो । सेणं भंते ! पज्जत्तअसण्णि-पंचिंदियतिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठिई य रयणप्पभापुढवी णेरइए उक्कोसं पुणरवि पज्जत्त जाव करेज्जा? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालदेसेणं जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडी अब्भहियं एइवयं कालं सेवेज्जा एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा जहण्णकालट्ठिई य पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढवी णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयका-लट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्स-ट्ठिईएसु उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवति अवसेसं तं चेव णवरं इमाइं तिण्णि णाणत्ताइं आउअज्झवसाणाणुबंधो य जहण्णेणं ठिईअंतो मुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । तेसिणं भंते ! जीवाणं केवइया अज्झवसाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पण्णत्ता तेणं भंते ! किं पसत्था अप्पसत्था ? गोयमा ! णो पसत्था अप्पसत्था । अणुबंधो अंतोमुहुत्तं सेसं तं चेव । सेणं भंते ! जहण्णकालट्ठिई य पज्जत्ता असण्णिपंचिंदियरयणप्पभा जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइ-भागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं एवइयं कालं जाव करेज्जा ॥४॥ जहण्णकालट्ठिई य पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए जहण्णकालट्ठिईएसु रयप्पभापुढवी णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं वि दस-वाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा सेसं तं चेव । ताइं चेव तिण्णि णाणत्ताइं जाव सेणं भंते ! जहण्णकालट्ठिई य पज्जत्त जाव जोणिए जहण्णकालट्ठिई य रयणप्पभा पुणरवि जाव? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं एवइयं कालं संवेज्जा जाव करेज्जा ॥५॥ जहण्णकालट्ठिइयं पज्जत्ता जाव तिरिक्ख-जोणियाणं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठिएसु रयणप्पभापु-ढविणेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवतियकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओविमस्स असंखेज्ज-इभागट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिई-एसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! अवसेसं तं चेव ताणि चेव तिण्णि णाणत्ताइं जाव । सेणं भंते ! जहण्णकालट्ठिईयस्स पज्जत्त जाव तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठिईयरयणप्पभा जाव करेज्जा? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं एवइयं कालं जाव करेज्जा ॥६॥ उक्कोसकालट्ठिईयपज्जत्तअसण्णिपंचिं-दियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढविणेर-इएसु उववज्जित्तए, सेणं भंते ! केवइयट्ठिई जाव उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं पलिओ-वमस्स असंखेज्जइभागट्ठिइएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं अवसेसं जहेव ओहियगमएणं तहेव अणुगंतव्वं जाव इमाइं दोण्णि णाणत्ताइं ठिई जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी एव अणुबंधोवि अवसेसं तं चेव । सेणं भंते ! उक्कोसकालट्ठिईयपज्जत्तअसण्णि जाव तिरिक्खजोणिए रयप्पभा जाव? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडीए अब्भहियं एवइयं जाव करेज्जा ७ उक्कोसकालट्ठिईयपज्जततिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए जहण्णकालट्ठिईएसु रयणप्पभा जाव उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवति जाव उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठि-ईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! सेसं तं चेव जहा सत्तमगमए जाव सेणं भंते ! उक्कोसकालट्ठिई जाव तिरिक्खजोणिए जहण्णकालट्ठिई य रयणप्पभा जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं

पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणवि पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया एवइयं जाव करेज्जा ॥८॥ उक्कोसकालट्ठिइयपज्जत्त जाव तिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठिईएसु रयणप्पभा जाव उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयं कालं जाव उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा एगसमए सेसं जहा सत्तमगमए जाव सेणं भंते ! उक्कोसकालट्ठिई पज्जत्त जाव तिरिक्खजोणियउक्कोसट्ठिईयरयणप्पभा जाव करेज्जा? गोयमा ! भवादेसेणं दोभवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडीए अब्भहियं, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडी मब्भहियं एवइयं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा ॥९॥ एवं एते ओहिया तिण्णिगमगा ।३। जहण्णकालट्ठिईएसु तिण्णिगमगा ।६। उक्कोसकालट्ठिईएसु तिण्णिगमगा ।९। सव्वे ते णव गमगा भवंति ॥

सेणं भंते पज्जत्ता असण्णीत्यादि (भवादेसेणंति) भवप्रकारेण (दोभवग्गहणाइंति) एकत्रासंज्ञी द्वितीये नारकः ततो निर्गतस्सन्न-नन्तरतया संज्ञित्वमेव लभते न पुनरसंज्ञित्वमिति (कालाएसेणंति) कालप्रकारेण कालत इत्यर्थः दशवर्षसहस्राणि नारकजघन्यस्थि-तिअन्तमुहूर्त्ताभ्यधिकानि असंज्ञिभवसम्बन्धिजघन्यायुस्सहिता-नीत्यर्थः (उक्कोसेणमित्यादि) इह पल्योपमासंख्येयभागः पूर्वभ-वासंज्ञिनारकोत्कृष्टायुष्करूपः पूर्वकोटीचासंज्ञ्युत्कृष्टायुष्करूपेति । एवमेते सामान्येषु रत्नप्रभानारकेषूत्पित्सवोऽसंज्ञिनः प्ररूपिताः ।१। अथ जघन्यस्थितिषु तेषूत्पित्सूस्तात्प्ररूपयन्नाह (पज्जत्तेत्यादि) सर्वं चेदं प्रतीतार्थमेवमुत्कृष्टस्थितिषु रत्नप्रभानारकेषूत्पित्सवोऽपि प्ररूपणीया एवमेते त्रयो गमा निर्विशेषणपर्याप्तकाऽसंज्ञिनमाश्रित्योक्ता एवमेव तं जघन्यस्थितिकमुत्कृष्टस्थितिकं ३ चाश्रित्य वाच्यास्तदेवमेते नव गमाः तत्र जघन्यस्थितिकमसंज्ञिनमाश्रित्य सामान्यनारकगम उच्यते (जहण्णेत्यादि) आऊअज्झवसाणाअणुबंधोयत्ति) आयुरन्तर्मुहूर्तमेव जघन्यस्थितेरसंज्ञिनोऽधिकृतत्वात् अध्यवसायस्थानान्यप्रशस्ता-न्येवान्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वाद्दीर्घस्थितेर्हि तस्यद्विविधान्यपि तानि सम्भवन्ति, कालस्य बहुत्वादनुबन्धश्च स्थितिसमान एवेति कायसंवेधे च नारकाणां जघन्याया उत्कृष्टायाश्च स्थितेरुपर्यन्तर्मुहूर्तं वाच्यमिति ॥४॥ एवं जघन्यस्थितिकं तं जघन्यस्थितिकेषु तेषूत्पादयन्नाह-जहण्णकालट्ठिईत्यादि ॥५॥ एवं जघन्यस्थितिकं तमुत्कृष्टस्थितिषु तेषूत्पादयन्नाह-जहण्णेत्यादि ॥६॥ एवमुत्कृष्टस्थितिकं तं सामान्येषु तेषूत्पादयन्नाह-उक्कोसकालेत्यादि ॥७॥ एवमुत्कृष्टस्थितिं तं जघन्यस्थितिषु तेषूत्पादयन्नाहउक्कोसकालेत्यादि ॥८॥ एवमुत्कृष्ट-स्थितिक तमुत्कृष्टस्थितिषु तेषूत्पादयन्नाह उक्कोसकालेत्यादि ॥९॥ एवं तावदसंज्ञिनः पञ्चेन्द्रियतिरश्चो नारकेषूत्पादो नवधोक्तोऽथसंज्ञिन-स्तस्यैव तथैव तमाह (जइसण्णीत्यादि) तिण्णि नाणा तिण्णि अण्णाणा (भयणाएत्ति)।

जदि सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उवव-ज्जंति असंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्ख जाव उवव-ज्जंति गोयमा ! संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजो-णिएहिंतो उववज्जंति णो असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति जदि संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदिय जाव उववज्जंति किं जलचरेहिंतो उववज्जंति पुच्छा? गोयमा ! जलचरेहिंतो उववज्जंति जहा असण्णी जाव पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति णो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णि पंचिं-दियतिरिक्ख-जोणिएणं भंते ! जे भविए णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइसु पुढवीसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! सत्तसु पुढवीसु उववज्जेज्जा तं जहा रयणप्पभाए जाव अहेसत्तमाए पज्जत्तसं-खेज्जवासाउय-सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए रयणप्पभा-पुढविणेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति जहेव असण्णी । तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा किं संघयणी पण्णत्ता ? गोयमा ! छव्विहसंघ-यणी पण्णत्ता तं जहा वइरोसभनारायसंघयणी उसभनाराय जाव छेवट्ठसंघयणी । सरीरोगाहणा जहेव असण्णीणं । तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा किं संट्ठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! छव्विहसंट्ठिया पण्णत्ता तं जहा समचउरंसा णिग्गोहा जाव हुंडा । तेसिणं भंते ! जीवाणं कइलेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! छल्लेस्साओ पण्णत्ताओ, तं जहा कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा । दिट्ठी तिविहावि । तिण्णिणाणा तिण्णि अण्णाणा भयणा । जोगो तिविहोवि सेसं जहा असण्णीणं जाव अणुबंधो णवरं पंचसमुग्घाया आदिल्लगा, वेदो तिविहो वि । अवसेसं तं चेव जाव सेणं भंते ! पज्जत्तासंखेज्जवासाउ य जाव तिरिक्खजोणिए रयणप्पभा जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठभवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ।१। पज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव जे भविए जहण्णकालं जाव से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं वि दसवाससहस्स-ट्ठिइएसु जाव उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा एवं सो चेव पढमगमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतो मुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि

पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि सागरोवमट्ठिईएसु अवसेसो परिणामादीवो भवादेसे पज्जवसाणे सो चेव पढमगमगो णेतव्वो जाव कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइ चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं सेवेज्जा ।३। जहण्णकालट्ठिई य पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढवी जाव उववज्जित्तए, सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं सागरोवमट्ठिईएसं उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा अवसेसो सो चेव गमओ णवरं इमाइं अट्ठ णाणत्ताइं सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं धणुहपुहुत्तलेस्साओ तिण्णिआदिल्लाओ णो सम्मद्दिट्ठी मिच्छद्दिट्ठी णो सम्मामिच्छद्दिट्ठी । णो णाणी दो अण्णाणी णियमं । समुग्घाया आदिल्ला तिण्णि । आउअज्झवसाणा अणुबंधो य जहेव असण्णीणं अवसेसं जहा पढमगमए जाव कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ।४।सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! एवं सो चेव चउत्थो णिरवसेसो भाणियव्वो जाव कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तालीसं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ॥५॥ सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो । जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! एवं सो चेव चउत्थो गमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं चतारि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ॥६॥ उक्कोसकालट्ठिई य पज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव तिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए रयणप्पभा पुढविणेरइएसु उववज्जित्तए । सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं दसवास सहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा अवसेसो परिणामादीवो भवादेसे पज्जवसाणे एएसिं चेव पढमो गमओ णेतव्वो णवरं ठिई । जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी एवं अणुबंधो वि । सेसं तं चेव । कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ॥७॥ सो चेव जहण्ण–कालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा सो चेव सत्तमो गमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव भवादेसोत्ति कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं जाव करेज्जा ॥८॥ उक्कोसकालट्ठिईयपज्जत्त जाव तिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठिई जाव उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइय–कालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! सो चेव सत्तमो गमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव भवादेसोत्ति, कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं पुव्वकोडीए अब्भहियं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ॥९॥ एवं एते णव गमगा उक्खेवओ णिक्खेवओ णवसु वि जहेव असण्णीणं , पज्जत्तसंखेज्जवासा–उयसण्णि पंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकाल–ट्ठिईएसु उववज्जेज्जा जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं एवं जहेव सक्करप्पभाए उववज्जंतगस्स लद्धी सव्वे वि णिरवसेसा भाणियव्वा जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं वारससाग–रोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । एवं रयणप्पभापुढविगमगसरिसा णव वि गमा भाणियव्वा णवरं सव्वगमएसु वि णेरइयट्ठिई य संवेहेसु सागरोवमा भाणियव्वा एवं जाव छट्ठपुढवित्ति णवरं णेरइए ठिई जा जत्थ पुढवीए जहण्णुक्कोसिया सा तेण चेव कमेण चउग्गुणा कायव्वा बालुयप्पभाए अट्ठावसिं सागरोवमा चउगुणिया भवंति पंकप्पभाए चत्तालीसं, धूमप्पभाए अट्ठसट्ठिं, तमाए अट्ठासीति। संघयणाइं वालुयप्पभाए पंचविहा संघयणी तं जहा वइरोसभनाराय जाव कीलियासंघयणी, पंकप्पभाए चउव्विहसंघयणी, धूप्पभाए तिविहसंघयणी, तमाए दुविहसंघयणी तं जहा वइरोसभनारायसंघयणी उसभनारायसंघयणी सेसं तं चेव । पज्जत्तसंखेज्जवासाउ य जाव तिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए अहे सत्तमपुढवीणेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं बावीसं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव रयणप्पभाए णव गमगा लद्धी

सव्वेवि णवरं वइरोसभनारायसंघयणी इत्थी वेदगा ण उववज्जंति सेसं तं चेव जाव अणुबंधोत्ति संवेहो भवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइं उक्कोसेणं सत्त भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं छासट्ठिं सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ।१। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो सव्वेव वत्तव्वया जाव भवादेसोत्ति, कालादेसेणं जहण्णेणं कालादेसो वि तहेव जाव चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो सव्वेव लद्धी जाव अणुबंधोत्ति । भवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइं उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं अंतो मुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव सेवेज्जा ।३। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिइओ जाओ सव्वे वि रयणप्पभापुढविजहण्णकालट्ठिइयवत्तव्वया भाणियव्वा जाव भवादेसोत्ति णवरं पढमसंघयणं णो इत्थीवेदगा भवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइं उक्कोसेणं सत्तभवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ।४। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एवं सो चेव चउत्थो गमो णिरवसेसो भाणियव्वो जाव कालादेसो त्ति ।५। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो सव्वेव लद्धी जाव अणुबंधोत्ति, भवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइं उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ जहण्णेणं बावीसं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेणं तेतीसं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! अवसेसा सव्वे वि सत्तमपुढवीपढमगमगवत्तव्वया भाणियव्वा जाव भवादेसोत्ति णवरं ठिईअणुबंधो त्ति,जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेणं वि पुव्वकोडी सेसं तं चेव, कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ।७। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो सव्वेवलद्धी संवेहो वि तहेव सत्तमगमगसरिसो ।८। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो सव्वे वि लद्धी जाव अणुबंधोत्ति, भवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ।९। जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति असण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति णो असण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति जइ सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति असंखेज्ज जाव उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति णो असंखेज्जवासाउय उववज्जंति । जइ संखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति किं पज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति अपज्जत्त जाव उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति णो अपज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति ॥ पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्से णं भंते ! जे भविए णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइसु पुढवीसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! सत्तसु पुढवीसु उववज्जेज्जा तं जहा रयणप्पभा जाव अहे सत्तमाए । पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढवीए णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइया कालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं दसवासहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दोवा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति संघयणा छ सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलपुहुत्तं । उक्कोसेणं पंचधणुहसयाइं । एवं सेसं जहा सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव भवादेसो त्ति णवरं चत्तारि णाणातिण्णि अण्णाणा भयणाए । छ समुग्घाया केवलिवज्जा ठिई अणुबंधो य जहण्णेणं मासपुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी सेसं तं चेव । कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससह-स्साइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ।१। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं जाव करेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं मासपुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ।३। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ एस चेव वत्तव्वया णवरं इमाइं णाणत्ताइं सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलपुहुत्तं उक्कोसेण वि अंगुलपुहुत्तं तिण्णि णाणा तिण्णि अण्णाणाभयणाए पंच समुग्घाया आदिल्ला ठिई अणुबंधो य ज-

हण्णेणं मासपुहुत्तं उक्कोसेणं वि मासपुहुत्तं सेसं तं चेव जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं मासपुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ।४। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया चउत्थगम–गसरिसा णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं मास–पुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तालीसं वाससहस्साइं चउहिं मासपुहुत्तमब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ।५। सो चेव उक्कोस–कालट्ठिइएसु उववण्णो एस चेव गमगो णवरं कालादेसेणं जह–ण्णेणं सागरोवमं मासपुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं चत्तारिसागरो–वमाइं चउहिं मासपुहुत्तेहिं एवइयं जाव करेज्जा ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाव सो चेव पढमगमओ णेयव्वो णवरं सरीरोगाहणा जहण्णेणं पंच धणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंच धणुहसयाइं ठिई जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्व–कोडी एवं अणुबंधो वि । कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडीदसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ।७। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो सव्वे व सत्तमगमगवत्त–व्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वास–सहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं जाव करेज्जा ।८। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो सा चेव सत्तमगमगवत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं एगं सागरोवमं पुव्वकोडीए अब्भ–हियं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ।९। पज्जत्तसंखेज्जवासाउ य सण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरइए जाव उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयं कालं जाव उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! एवं सो चेव रयण–प्पभापुढविगमओ णेयव्वो णवरं सरीरोगाहणा जहण्णेणं रयणि पुहुत्तं उक्कोसेणं पंचधणुहसयाइं ठिती जहण्णेणं वासपुहुत्तं पुव्वकोडी एवं अणुबंधोवि सेसं तं चेव जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं वासपुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं वारससागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । एवं एसा ओहिएसु तिसु गमेसु मणुस्सलद्धी णाणत्तं णेरइयट्ठिती कालादेसेणं संवेहं च जाणेज्जा । सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठितीओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु एस चेव लद्धी णवरं सरीरोगाहणा जहण्णेणं रयणिपुहुत्तं उक्कोसेणं वि रयणिपुहुत्तं ठिती जहण्णेणं वासपुहुत्तं उक्कोसेण वि वासपुहुत्तं एवं अणुबंधोवि सेसं जहा ओहियाणं संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु इमं णाणत्तं सरीरोगाहणा जहण्णेणं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुहसयाइं ठिती जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी, एवं अणुबंधो वि सेसं जहा पढमगमए णवरं णेरइयट्ठिती कायसंवेहं च जाणेज्जा ।९। एवं जाव छट्ठपुढवी णवरं तच्चाए आढवेत्ता एक्केक्कं संघयणं परिहा–यति, तहेव तिरिक्खजोणियाणं कालादेसो वि तहेव । णवरं मणुस्सट्ठिई जाणियव्वा । पज्जत्तसंखेज्जवासाउसण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए अहे सत्तमपुढविणेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं बावीसं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईएसु उवव–ज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं अवसेसो सो चेव सक्करप्प–भपुढविं गमओ णेयव्वो णवरं पढमसंघयणं । इत्थी वेयणा ण उववज्जंति सेसं तं चेव जाव अणुबंधोत्ति । भवादेसेणं दो भव–ग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं वास–पुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ? सो चेव जहण्णकालट्ठिई–एसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं णेरइयट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिइएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं संवेहं च जाणेज्जा ।३। सो चेव अप्पणा जह–ण्णकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु एस चेव वत्तव्वया णवरं सरीरोगाहणा जहण्णेणं रयणिपुहुत्तं उक्कोसेण वि रय–णिपुहुत्तं, ठिईजहण्णेणं वासपुहुत्तं उक्कोसेण वि वासपुहुत्तं एवं अणुबंधो वि संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो ।६। सो चेव अ–प्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु एस चेव वत्तव्वया णवरं सरीरोगाहणा जहण्णेणं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुहसयाइं ठिई जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी एवं अणुबंधो वि । णवसु वि एतेसु गमएसु णेर–इयट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा । सव्वत्थ भवग्गहणाइं दोण्णि जाव णव गमएसु कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्व–कोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्व–कोडीए अब्भहिया एवइयं कालं सेवेज्जा एवइयं कालं गतिरा–गतिं करेज्जा ॥

सेवं भंते भंतेत्ति तिण्णि नाणा तिण्णि अण्णाणा (भयणाएत्ति) तिरश्चां संज्ञिनां नरकगामिनां ज्ञानान्यऽज्ञानानि च त्रीणि भजनया भवन्तीति द्वे वा त्रीणि वा स्युरित्यर्थः ॥ नवरं पंचसमुग्घाया (आइल्लगत्ति) असंज्ञिनः पञ्चेन्द्रियतिरश्चस्त्र–

यस्समुद्घाताः सञ्ज्ञिनस्तु नरकं यियासोः पञ्चाद्या अन्तयोर्द्वयोर्मनुष्याणामेव भावादिति । (जहण्णेणं दो भवग्गहणाइंति) सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्य पुनर्नरकेषूत्पद्यते ततो मनुष्येष्वेवमधिकृत्य कायसंवेधे भवद्वयं जघन्यतो भवति एवं भवग्रहणाष्टकमपि भावनीयम्। अनेन चेदमुक्तं सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् ? ततो नारकः २ पुनः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् ३ पुनर्नारकः ४ पुनः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् ५ पुनर्नारकः६ ततः पुनः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् ७ पुन–स्तास्यामेव पृथिव्यां नारकः ८ इत्येवमष्टावेव वारानुत्पद्यते नवमे भवे तु मनुष्यः स्यादिति एवमौधिक औधिकेषु नारकेषूत्पादितोऽयं चेह प्रथमो गमः । पज्जत्तेत्यादिस्तु द्वितीयः । सो चेव उक्कोसकाले इत्यादिस्तु तृतीयः । जहण्णकालट्ठितीयेत्यादिस्तु चतुर्थः । तत्र च । नवरं इमाइं अट्ठनाणत्ताइंति । तानि चैवंतत्र शरीरावगाहनोत्कृष्टा योजनसहस्रमुक्ता इह तु धनुः पृथक्त्वं तथा तत्र लेश्याः षट् इह त्वाद्यास्तिस्रः तथा तत्र दृष्टिः त्रिधा इह तु मिथ्यादृष्टिरेव तथा तत्राऽज्ञानानि त्रीणि भजनयेह तु द्वे एवाज्ञाने। तथा तत्राद्याः पंच समुद्घाता इह तु त्रयः। ''आऊअज्झसाणा, अणुबंधो य जहेव असण्णीणंति''। जघन्यस्थितिकासंज्ञिगम इवेत्यर्थः । ततश्चायुरहान्तर्मुहूर्तम्। अध्यवसायस्थानान्यप्रशस्तान्येवानुबन्धोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेवेति (अवेससमित्यादि) अवशेषं यथा सञ्ज्ञिनः प्रथमगमे औधिक इत्यर्थः । निगमनवाक्यं चेदम् (अवसेसो सो चेव गमओत्ति) अनेनैवैतदर्थस्य गमत्वादिति सा चैव जहण्णकालेत्यादस्तु सञ्ज्ञिविषये पञ्चमो गमः इह च। (सोचेवत्ति) स एव सज्ज्ञी जघन्यस्थितिकः। ''सो चेव उक्कोसे'' त्यादिस्तु षष्ठः। उक्कोसका–लेत्यादिस्तु सप्तमः। तत्र च (एएसिं चेव पढमगओत्ति) एतेषामेव सञ्ज्ञिनां प्रथमगमो यत्रौधिक औधिकेषूत्पादितः। नवरमित्यादि। तत्र जघन्याप्यन्तर्मुहूर्तरूपा सञ्ज्ञिनः स्थितिरुक्ता सेह न वाच्येत्यर्थः। एवमनुबन्धोऽपि तद्रूपत्वात्तस्येति ॥७॥ सो चेवेत्या–दिरष्टमः। इह च। (सोचे त्ति) स एवोत्कृष्टस्थितिकः संज्ञी ॥८॥ उक्कोसेत्यादिर्नवमः। ''उक्खेवनिक्खेवओइत्यादि'' तत्रोपक्षेपः प्रस्तावना (१६०००) स च प्रतिगममौचित्येन स्वयमेव वाच्यो निक्षेपस्तु निगमनं सोऽप्येवमेवेति पर्याप्तकसंख्यातवर्षायुष्कसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकमाश्रित्य रत्नप्रभा वक्तव्यतोक्ता अथ तमेवाश्रित्य शर्करप्रभा वक्तव्यतोच्यते तत्रौधिक ओधिकेषु तावदुच्यते पज्जत्तेत्यादि। (लद्धी सच्चेव निरवसेसा भाणियव्वत्ति) परिमाणसंहननादीनां प्राप्त्यैव रत्नप्रभायामुत्पित्सोयक्ता सैव निरवशेषा शर्करप्रभायामपि भणितव्येति। (सागरोवम अंतोमुहु–त्तमब्भहियंति) द्वितीयायां जघन्या स्थितिः सागरोपममन्तर्मुहूर्त्त च सञ्ज्ञिभवसत्कमिति । उक्कोसेणं बारसेत्यादि । द्वितीयायामुत्कृष्टतः सागरोपमत्रयस्थितिस्तस्याश्चतुर्गुणत्वं द्वादश, एवं पूर्वकोटयोऽपि चतुर्षु संज्ञितिर्यग्भवेषु चतस्र एवेति । (नेइयट्ठितीसंवेहेसुसागरोवमाभाणियव्वत्ति) रत्नप्रभायामायुद्वरिसंवेधद्वारे च दशवर्षसहस्राणि सागरोपमं चोक्तं द्वितीयादिषु पुनर्जघन्यत उत्कर्षतश्च सागरोपमाण्येव वाच्यानि यतः ''सागरमेगं १ तिय २ सत्त, ३ दस य ४ सत्तरस ६ तह य वावीसा ।६। तेत्तीसा जाव ठिती ७ सत्तसु विकमेण पुढवीसु ॥१॥'' तथा ''जापढमाए जेट्ठा, सा वीयाए कणिट्ठिया भणिया । तरतमजोगो एसो, दसवाससहस्सरयणाएत्ति ॥२॥'' रत्नप्रभागमतुल्य नवापि गमाः कियद्दूरं यावदित्याह (जाव छट्ठपुढवत्ति) चउग्गुणा कायव्वत्ति ४ उत्कृष्टकायसंवेधे इति । (वालुयप्पभाए अट्ठावीसंति) तत्र सप्तसागरोपमाण्युत्कर्षतः स्थितिरुक्ता सा च चतुर्गुणाऽष्टाविंशतिः स्यादेवमुत्तरत्रापीति (वालुयप्पभाए पंचविहसंघयणित्ति) आद्ययोरेव हि पृथिव्योः सेवार्तो नोत्पद्यन्ते एवं तृतीया चतुर्थी ४ पञ्चमी ३ षष्ठी २ सप्तमी १ षु एकैकं संहननं हीयते इति । अथ सप्तमपृथिवीमाश्रित्याहपज्जत्तेत्यादि(इत्थिवेया न उववज्जंतित्ति) षष्ठ्यन्तास्वेव पृथिवीषु स्त्रीणामुत्पत्तेः। (जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइंति) मत्स्यस्य सप्तमपृथिवीनारत्वेनोत्पद्य पुनर्मत्स्येष्वेवोत्पत्तौ (उक्कोसेणं सत्तभवग्गहणाइंति) मत्स्यो १ मृत्वा सप्तम्यां गतः २ पुनर्मत्स्यो जातः ३ पुनरपि सप्तम्यां गतः ४ पुनरपि तथैव ६ पुनर्मत्स्यः ७ इत्येवमिति । कालादेसेणमित्यादि । इह द्वाविंशतिसागरोपमाणि जघन्यस्थितिकसप्तमपृथिवीनारकसम्बन्धीनि अन्तर्मुहूर्तद्वयं च प्रथमतृतीयमत्स्यभवसम्बन्धीनि(छावट्ठिसागरोवमाइंति) वारत्रयं सप्तम्यां द्वाविंशतिसागरोपमायुष्कतयोत्पत्तेश्चतसृश्च पूर्वकोटयश्चतुर्षु नारकभवान्तरितेषु मत्स्यभवेष्विति, अतो वचनाच्चैतदवसीयते सप्तम्यां जघन्यस्थितिषूत्कर्षतस्त्रीनेव वारानुत्पद्यत इति कथमन्यथैवंविधं भवग्रहणकालपरिमाणं स्थादिह च काल उत्कृष्टो विवक्षितस्तेन जघन्यस्थितिषु त्रीन् वारानुत्पादित एवं हि चतुर्थी पूर्वकोटिर्लभ्यते उत्कृष्टस्थितिषु पुनर्वारद्वयोत्पादने षट्षष्टिः सागरोपमाणां भवति पूर्वकोट्यः पुनस्तिस्र एवेति। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु इत्यादिस्तु द्वितीयो गमः ॥२॥ सो चेव उक्कोसट्ठिईएसु इत्यादिस्तृतीयः । तत्र च उक्कोसेण पंचभवग्गहणाइंति) त्रीणि मत्स्यभवग्रहणानि द्वे च नारकभवग्रहणे अत एव वचनादुष्कृष्टस्थितिषु सप्तम्यां वारद्वयमेवोत्पद्यत इत्यवसीयते ।३। सो चेव जहण्णकालट्ठिईओ इत्यादिस्तु चतुर्थः । तत्र च (सव्वेवरयणप्पभापुढविजहण्णकालट्ठितिवत्तव्वया भाणियव्वत्ति) सैव रत्नप्रभाचतुर्थगमवक्तव्यता भणितव्या नवरं केवलमयं विशेषः तत्र रत्नप्रभायां षट्संहननानि त्रयश्च वेदा उक्ताः इह तु सप्तमपृथिवी चतुर्थगमे प्रथममेव संहननं स्त्रीवेदनिषेधवाच्य इति ॥४॥ शेषग–मास्तु स्वयमेवोह्याः मनुष्याधिकारे (उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंतित्ति) गर्भजमनुष्याणां सदैव सङ्ख्यातानामेवास्तित्वादि–ति। नवरं (चत्तारि नाणाइंति) अवध्यादौ प्रतिपतिते सति केषां–चिन्नरकेषूत्पत्तेः आह च चूर्णिकारः ''ओहिनाणमणपज्जवआहार–यसरीराणि लद्धूणं । परिसाडित्ता उववज्जइत्ति जहण्णेणं मासपुहत्तंति'' इदमुक्तं भवति मासद्वयान्तर्वर्त्यायुर्नरो नरकं न याति (दसवाससहस्साइंति) जघन्यं नरकायुः (मासपुहुत्तमब्भहियाइंति) इह मासपृथक्त्वं जघन्यं ननकयायिमनुष्यायुः (चत्तारि सागरोवमाइंति) उत्कृष्ट रत्नप्रभानारकभवचतुष्कायुः (चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइंति) इह चतस्रः पूर्वकोट्यो नरकयायिमनुष्यभवचतुष्कोत्कृष्टायुः सम्बन्धिन्यः। अनेन चेदमुक्तम्। मनुष्यो भूत्वा चतुर एव वारानेकस्यां पृथिव्यां नारको जायते पुनश्च तिर्यङ्डेव भवतीति जघन्यकालस्थितिकः। औधिकेषु इत्यत्र चतुर्थे गमे ''इमाइं पंच णाणत्ताइं इत्यादि'' शरीरावगाहनेह जघन्येतराभ्यामङ्गुलपृथक्त्वं प्रथमगमे तु सा जघन्यतोऽङ्गुलपृथक्त्वमुत्कृष्टतस्तु पञ्चधनुःशतानीति ॥१॥ तथेह त्रीणि ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि भजनया जघन्यस्थितिकस्यैषामेव भावात्पूर्वं तु चत्वारि ज्ञानान्युक्तानीति ॥२॥ तथेहाद्याः पञ्च समुद्घाता जघन्यस्थितिकस्यैषामिव सम्भवात् प्राक् षडुक्ता अजघन्यस्थितिकस्याहारकसमुद्घातस्या–

पि सम्भवात् ॥३॥ तथेह स्थितिरनुबन्धश्च जघन्यत उत्कृष्टतश्च मासपृथक्त्वं प्राक् स्थित्यनुबन्धो जघन्यतो मासपृथक्त्वमुत्कृष्टतस्तु पूर्वकोट्यभिहितेति, शेषगमास्तुस्वयमभ्यूह्याः। शर्करप्रभावक्तव्यतायां (सरीरोगाहणारयणिपुहत्तंत्ति) अनेनेदमवसीयते द्विहस्तप्रमाणेभ्यो हीनतरप्रमाणा द्वितीयायां उतपद्यन्ते इत्यवसीयते। ''एवं एसा ओहिएसु तिसु गमएसु मणुस्सस्स लद्धीति ओहिओ ओहिएसु'' १ ओहिओ जहण्णट्ठितिएसु २ ओहिओ उक्कोसट्ठिइएसु त्ति ३'' एते औधिकास्त्रयो गमाः ३ एतेष्वेषा उत्तरोक्ता मनुष्यस्य लब्धिपरिमाणसंहनना-दिप्राप्तिर्नानात्वं त्विदं यदुत नारकस्थितिकालादेशेन कायसंवेधं च जानीयाः तत्र प्रथमे गमे स्थित्यादिकं लिखितमेव द्वितीये तु औधिको जघन्यस्थितिष्वित्यत्र नारकस्थितिर्जघन्येतराभ्यां सागरोपमं कालतस्तु सम्बेधो जघन्यतो वर्षपृथक्त्वाधिकं सागरोपममुत्कृष्टतस्तु सागरोपमचतुष्टयं चतुःपूर्वकोट्यधिकं तृतीयेऽप्येवमेव नवरं सागरोपमस्थाने जघन्यतः सागरोपमत्रयं सागरोपमचतुष्टयस्थाने तूत्कर्षतः सागरोपमद्वादशकं वाच्यमिति (सचैवेत्यादि) चतुर्थादिगमत्रयं। तत्र च (संवेहो उवओजिऊण भाणियव्वोत्ति) स चैवंजघन्यस्थितिक-मौधिकेष्वित्यत्रगमे सम्बेधः कालादेशेन जघन्यतः सागरोपमं वर्षपृथक्त्वाधिकमुत्कृष्टतस्तु द्वादशसागरोपमाणि वर्षपृथक्त्व-चतुष्काधिकानि जघन्यस्थितिको जघन्यस्थितिकोष्वित्यत्र जघन्येन कालतः कायसम्बेधः सागरोपमं वर्षपृथक्त्वाधिकामुत्कर्षतश्चत्वारि सागरोपमाणिवर्षपृथक्त्वचतुष्काधिकानि एवं षष्टगमोऽप्यूह्याः ॥ सो चेवेत्यादि ॥ सप्तमादिगमत्रयं तत्र च ॥ इमं नाणत्तमित्यादि ॥ शरीरावगाहना पूर्वं हस्तपृथक्त्वं धनुःशतपञ्चस्कं चोक्ता इह तु धनुःशतपञ्चकमेव एवमन्यदपि नानात्वमभ्यूह्यम् (मणुस्सट्ठिईजा-णेयव्वति) तिर्यक् स्थितिर्जघन्यान्तर्मुहूर्त्तमुक्ता मनुष्यगमेषु तु मनुष्यस्थितिर्ज्ञातव्या सा च जघन्या द्वितीयादि-गामिनां वर्षपृथक्त्व-मुत्कृष्टातु पूर्वकोटीति ॥ सप्तमपृथिवी प्रथमगमे ''तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइंति'' इहोत्कृष्टः कायसम्बन्धएतावन्तमेव कालं भवति सप्तमपृथिवीनारकस्य तत उद्वृत्तस्य मनुष्येष्वनुत्पादेन भवद्वयभावेनैतावत एव कालस्य भावा दिति॥ भ० २४ श० १ उ०॥

**जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंति य मणुस्सेहिंतो उववज्जंति जदि गब्भववक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति अकम्ममूमि-गब्भवक्कंतिय मणुस्सेहिंतो उववज्जंति अंतरदीव-गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! कम्मभूमि-गब्भवक्कंतिय मणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो अकम्मगब्भवक्कंति-यमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो अंतरदीवगब्भवक्कंतियमणुस्से-हिंतो उववज्जंति। जदि कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतिएहिंतो उववज्जंति असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जावासा-उयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो असंखे-ज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति। जदि संखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो अपज्जत्तएहिंतो ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति एवं जहा ओहिया उववाइया तहा रयणप्पभापुढवीनेरइया वि उववाएयव्वा। सक्करप्पभापुढवीनेरइयाणं पुच्छा गोयमा ! एते वि जहा ओहिया तहेव उववाएयव्वा नवरं सम्मुच्छिमेहिंतो पडिसेहो कायव्वो वालुयप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति जहा सक्करप्पभापुढवि नेरइयाणं भुयपरिसप्पेहिंतो वि पडिसेहो कायव्वो पंकप्पभापुढविनेरइयाणं पुच्छा गोयमा ! जहा बालुप्पभापुढविनेरइया नवरं खहयरेहिंतो पडिसेहो कायव्वो। धूमप्पभापुढविनेरइयाणं पुच्छा गोयमा ! जहा पंकप्पभा-पुढवीनेरइया नवरं चउप्पएहिंतो वि पडिसेहो कायव्वो। तमा पुढवीनेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहा धूमप्पभापुढ-विनेरइय नवरं थलयरेहिंतो पडिसेहो कायव्वो इमेणं अभिलावेणं। जदि पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलयरपंचिं-दिएहिंतो थलयरेहिंतो उववज्जंति खहयरपं-चिंदिएहिंतो गोयमा ! जलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति नो थलयरेहिंतो नो खहयरेहिंतो उववज्जंति। जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं कम्मभूमिएहिंतो अकम्मभूमिएहिंतो किं अंतरदीवएहिंतो ? गोयमा ! कम्मभूमिएहिंतो उववज्जंति नो अकम्मभूमिएहिंतो नो अंतरदीवएहिंतो उववज्जंति। जइ कम्मभूमिएहिंतो किं संखेज्जवासाउएहिंतो असंखेज्जवासाउएहिंतो ? गोयमा ! संखेज्जवासाउएहिंतो नो असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति जदि संखेज्जवासाउएहिंतो किं पज्जत्तएहिंतो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो जदि पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिएहिंतो उववज्जंति किं इत्थीहिंतो उववज्जंति पुरिसेहिंतो उववज्जंति नपुंसएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! इत्थीहिंतो वि पुरिसेहिंतो वि नपुंसगेहिंतो वि उववज्जंति। अहे सत्तमापुढवीनेरइयाण भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! एवं चेव नवरं इत्थीहिंतो पडिसेहो कायव्वो ''असन्नी खलु पढमं, दोच्चं सिरीसवा तइयपक्खी। सीहा जंति चउत्थिं, उरगा पुण पंचमीं पुढवीं।१। छट्ठिं च इत्थियाओ, मच्छा मणुया य सत्तमिं पुढविं। एसो परमुवयाओ, बोधव्वो नरगपुढवीणं।२।

असुरकुमाराणां यथा-

असुरकुमाराणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो नेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति मणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो देवेहिंतो उववज्जंति एवं जे

हिंतो नेरइयाणं उववाओ तेहिंतो असुरकुमाराणं वि भाणियव्वं नवरं असंखेज्जवासाउयअकम्मभूमिगअंतर दीवगमणुस्सतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति सेसं तं चेव एवं जाव थणियकुमारा। प्रज्ञा० ६ पद।

पज्जत्त असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिइएसु उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिइएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एवं रयणप्पभागमगसरिसा णवि गमगा भाणियव्वा णवरं जाहे अप्पणाजहण्णकालट्ठिइओ भवइ ताहे अज्झवसाणा पसत्था णो अपसत्था तिसु वि गमएसु अवसेसं तं चेव। जदि सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवसाउयसण्णि जाव उववज्जंति असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिइएसु उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिइएसु उववज्जेज्जा। तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं पुच्छा, गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति, वइरोसभनारायसंघयणी ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेणं छ गाउयाइं समचउरंससंठाणसंठिया पण्णत्ता ? चत्तारि लेस्साओ आदिल्लाओ। णो सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छद्दिट्ठी। णो णाणी असण्णणी णियमं दुअण्णाणी मइअण्णणी य सुयअण्णाणी य। जोगा तिविहो वि। उवओगो दुविहो वि। चत्तारि सण्णाओ चत्तारि कसायाओ। पंचइंदिया तिण्णि समुग्घाया आदिल्लगा संमोहया वि मरंति असंमोहया वि मरंति। वेदणा दुविहावि, सातावेदगा वि असातावेदगा वि। वेदो दुविहो वि इत्थीवेद--गावि पुरिसवेदगावि णो णपुंसगवेदगा। ठिई य जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। अज्झ--वसाणा। पसत्था वि अप्पसत्थावि अणुबंधो जहेव ठिई कायसंवेहो भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं छ पलिओवमाइं एवइयं जाव करेज्जा ॥१॥ सो चेव जहण्ण--कालट्ठिइएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं असुरकुमारट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईसु उववण्णो जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिइएसु उववज्जेज्जा एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिई से जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसेण वि तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधोवि। कालादेसेणं जहण्णेणं छ पलिओवमाइं उक्कोसेण वि छ पलिओवमाइं एवइयं सेसं तं चेव ।३। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं साइरेगं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जेज्जा? तेणं भते ! अवसेसं तं चेव जाव भवादेसोत्ति णवरं ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेणं साइरेगं धणुसहस्सं। ठिई जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी उक्कोसेण वि साइरेगा पुव्वकोडी एवं अणुबंधोवि। कालादेसेणं जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं साइरेगा दो पुव्वकोडी एवइयं जाव सेवेज्जा।४। सो चेव जहण्णकालट्ठिई एसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं असुरकुमारट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा ।५। सो चेव उक्कोसकालट्ठिइएसु उववण्णो जहण्णेणं साइरेगं पुव्वकोडी आउएसु उक्कोसेण वि साइरेगपुव्वकोडी आउएसु उववज्जेज्जा सेसं तं चेव णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं साइरेगा दो पुव्वकोडीओ उक्कोसण वि साइरेगाओ दो पुव्वकोडीओ एवइयं कालं जाव करेज्जा ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ सो चेव य पढमगमगो भाणियव्वो णवरंट्ठिई जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसेण वि तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधो वि कालादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं छ पलिओवमाइं एवइयं जाव सेवेज्जा ।७। सो चेव जहण्णकाल--ट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं असुरट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा ।८। सो चेव उक्कोसकालट्ठिई एस उववण्णो तिपलि--ओवमं उक्कोसेण वि तिपलिओवमं एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं छ पलिओवमाइं उक्कोसेण वि छ पलि--ओवमाइं ।९। जइ संखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदिय जाव उवज्जंति किं जलचर एवं जाव पज्जत्तसंखेज्जवासाउय। सण्णिपंचिंदिय-तिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए असुरकुमा--रेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिइएसु उक्कोसेणं साइरेग--सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा। तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं एवं एएसिं रयणप्पभापुढविगमगसरिसा णवगमगा णेतव्वा णवरं अप्पणाजहण्णकालट्ठिईओ भवइ ताहे तिसु वि गमएसु इमं णाणत्तं चत्तारि लेस्साओ अज्झवसाणा पसत्था सेसं तं चेव संवेहो साइरेगेण सागरोवमेण कायव्वो ॥९॥

इह पल्योपमाऽसंख्येयभागग्रहणेन पूर्वकोटी ग्राह्या यतः सम्मूर्च्छिमस्योत्कर्षतः पूर्वकोटीप्रमाणमायुर्भवति स चोत्क--

र्षतः स्वायुष्कतुल्यमेव देवायुर्बध्नाति नातिरिक्तमत एवोक्तं चूर्णिकारेण ''उक्कोसेणं सतुल्लपुव्वकोडिया उयत्तं निव्वत्तेइ न य सम्मुच्छिमो पुव्वकोडियाउयत्ताओ परो अत्थित्ति'' असंख्यातवर्षायुः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गमेषु । (उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जत्ति) इदं देवकुर्व्वादिमिथुनकतिरश्चोऽधिकृत्योक्तम् । ते हि त्रिपल्योपमायुष्कत्वेनासंख्यातवर्षायुषो भवन्ति, ते च स्वायुः सदृशं देवायुर्बध्नन्तीति (संखेज्जा उववज्जंतित्ति) असंख्या तवर्षा-युस्तिरश्चामसंख्यातानां कदाचिदप्यभावात् (वइरोसहनारायसं-घयणीत्ति) असंख्यातवर्षायुषा, यतस्तदेव भवतीति (जहण्णेणं धणुहपुहत्तंत्ति) इदं पक्षिणोऽधिकृत्योक्तं पक्षिणामुत्कर्षतो धनुः पृथक्त्वप्रमाणशरीरत्वादाह च । ''धणुहपुहत्तं पक्खिसुत्ति'' । असंख्यातवर्षायुषोऽपि ते स्युर्यदाह-(पलियाअसंखेज्जपक्खीसुत्ति) पल्योपमासंख्येयभागः पक्षिणामायुरिति (उक्कोसेणं छग्गा-उयाइंति) इदं च देवकुर्व्वादिहस्त्यादीनधिकृत्योक्तम् (नो नपुंस-गवेयगत्ति) असंख्यातवर्षायुषो नपुंसकवेदो न सम्भवत्येवेति । (उक्कोसेणं छप्पलिओवमाइत्ति) त्रीणि असंख्यातवर्षायुस्तिर्यग्भवसम्बन्धीनि त्रीणि चासुरभवसम्बन्धीनीत्येवं षट् न च देवभवादुद्वृत्तः पुनरप्यसंख्यात-वर्षायुष्केषूत्पद्यत इति । सो चेव अप्पणाजहण्णकालट्ठिईओ इत्यादिश्चतुर्थो गम इह च जघन्यकालस्थितिकः सातिरेकपूर्वकोट्यायुः स च पक्षिप्रभृतिकः (उक्कोसेणं साइरेगपुव्वकोडिआउएसुत्ति) असंख्यातवर्षायुषां पक्ष्यादीनां सातिरेका पूर्वकोटिरायुस्ते च स्वायुस्तुल्यं देवायुः कुर्वन्तीति कृत्वा सातिरेकेत्याद्युक्तमिति। (उक्कोसेणं साइरेगं धणुसहस्संति) यदुक्तं तत्सप्तमकुलकरप्राक्कालभाविनो हस्त्यादीनपेक्ष्येति सम्भाव्यते । तथा हि इहासंख्यातवर्षायुर्ज-घन्यस्थितिकः प्रक्रान्तः स च सातिरेकपूर्वकोट्यायुर्भवति तथैवागमे व्यवहृतत्वात्। एवंविधश्च हस्त्यादिः सप्तमकुलकरप्राक्काले लभ्यते तथा सप्तमकुलकरस्य पञ्चविंशत्यधिकानि पञ्चधनुःशतान्युच्चैस्त्वं तत्प्राक्कालभाविनां च तानि समधिकतराणि तत्कालीनहस्त्यादेयश्चैत-द्विगुणोच्छ्राया अतः सप्तमकुलकरप्राक्कालभाविनामसंख्यातवर्षायुषां हस्त्यादीनां यथोक्तभवगाहनाप्रमाणं लभ्यत इति (साइरेगाओदोपुव्व-कोडी-ओत्ति) एका सातिरेका तिर्यग्भवसत्काऽन्या तु सातिरेकैवासुर-भवसत्केति ४ (असुरकुमारट्ठिईसंबेहं च जाणिज्जति) तत्र जघन्या-सुरकुमारस्थितिर्दशवर्षसहस्राणिसम्बेधस्तु सातिरेका पूर्वकोटी दशवर्षसहस्राणि चेति शेषगमस्तु स्वयमेवाभ्यूह्यः, एवमुत्पादितो-ऽसंख्यातवर्षायुः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियातिर्यगसुरेष्वथसंख्यातवर्षायुर-सावुत्पाद्यते। जइ संखेज्जेत्यादि (उक्कोसेणं साइरेगसागरोवमट्ठि-इएसुत्ति) यदुक्तं तद्बले निकायमाश्रित्येति । (तिसुवि गमएसुत्ति) जघन्यकालस्थितिकसम्बन्धिष्वौधिकादिषु (चत्तारिलेस्साओत्ति) रत्नप्रभापृथिवीगामिनां जघन्यस्थितिकानां तिस्रस्ता उक्ता एषु पुनस्ताश्चतसोऽसुरेषु तेजोलेश्यावानप्युत्पद्यत इति । तथा रत्न-प्रभापृथिवीगामिनां जघन्यस्थितिकानामध्यवसायस्थानान्य-प्रशस्तान्येवोक्तानीह तु प्रशस्तान्येव दीर्घस्थितिकत्वे हि द्विविधान्यपि सम्भवन्ति नत्रितरेषु कालस्याल्पत्वात् (संवेहो साति-रेगेण सागरोवमेण कायव्वोत्ति) रत्नप्रभागमेषु सागरोपमेण सम्बेध उक्तः असुरकुमारेषु तु सातिरेकसागरोपमेणासौ कार्यो बलिपक्षापेक्षया तस्यैव भावादिति।

अथ मनुष्येभ्यो सुरानुत्पादयन्नाह।

जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति असण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सण्णि मणू णो असण्णिमणू जइ सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसण्णिमणू असंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्स जाव उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति, असंज्जवासाउय जाव उववज्जंति । असंखेज्जवासाउयसण्णि-मणुस्सेणं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा गोयमा ! जहण्णेणं दसवास-सहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिईएसु उवव-ज्जेज्जा एवं असंखेज्जवासाउयति रिक्खजोणिए सरिसा आदिल्ला तिण्णि गमा णेयव्वा णवरं सरीरोगाहणा पढमविरितएसु गमएसु जहण्णेणं साइरेगाइं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं सेसं तं चेव तइओ गमोगाहणा जहण्णेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेणवि तिण्णि गाउयाइं सेसं जहेव तिरिक्खजोणियाणं।३। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि जहण्णकालट्ठिईयतिरिक्खजोणियसरिसा तिण्णि गमगा भाणियव्वा णवरं सरीरोगाहणा तिसु वि गमएसु जहण्णेणं साइरेगाइं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेण वि साइरेगाइं पंचधणुहसयाइं सेसं तं चेव ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि ते चेव पच्छिल्ला तिण्णि गमगा भाणियव्वा णवरं सरीरोगाहणा तिसु वि एगएसु जहण्णेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेणावि तिण्णि गाउयाइं अवसेसं तं चेव ॥

देवकुर्वादिनरा हि उत्कर्षतः स्वायुः समानस्यैव देवायुषो बन्धका अतः तिपलिओवमट्ठिईएसु इत्युक्तम् । नवरं सरीरोगाहणेत्यादि । तत्र प्रथम औधिकः औधिकेषु द्वितीयस्तु औधिको जघन्यस्थितिष्विति । तत्रौधिकोऽसंख्यातवर्षायुर्नरा जघन्यतः सातिरेकपञ्चधनुःशतप्रमाणो भवतिः यथा सप्तमकुलकर प्राक्कालभावी मिथुनकनरः उत्कृष्टतस्तु त्रिगव्यूतमानो यथा देवकुर्व्वादिमिथुनकनरः स च प्रथमगमे। द्वितीये च द्विविधोऽपि सम्भवति। तृतीये तु त्रिगव्यूतावगाहन एव यस्मादसावेवो-त्कृष्टस्थितिषु पल्योपमत्रयायुष्केषूत्पद्यते उत्कर्षतः स्वायुः समानायुर्बन्धकत्वात्तस्येति ॥

अथ संख्यातवर्षायुः सञ्ज्ञिमनुष्यमाश्रित्याह।

जइ संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किंपज्जत्तसंखेज्जवासाउय अपज्जत्तसंखेज्ज जाव उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासा णो अपज्जत्तसंखेज्ज। पज्जत्तसंखेज्ज-वासाउ य सण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा । तेणं भंते !जीवा एवं जहेव एएसिं रयणप्पभाए उववज्जमाणाणं णव गमगा तहेव इह वि णव गमगा

भाणियव्वा णवरं संवेहो सातिरेगेण सागरोवमेण कायव्वो सेसं तं चेव ॥

एतच्च समस्तमपि पूर्वोक्तानुसारेणावगन्तव्यम्। भ० २उ०।

रायगिहे जाव एवं बयासी णागकुमाराणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णो णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सेहिंतो उववज्जंति णो देवेहिंतो उववज्जंति । जइ तिरिक्खजोणि० एवं जहा असुरकुमाराणं वत्तव्वया तहा एएसिं पि जाव असणित्ति । जइ सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउय असंखेज्जवासाउय गोयमा ! संखेज्ज वासाउय असंखेज्ज वासाउय जाव उववज्जंति । असंखेज्जवासाउय सण्णि पंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए णागकुमारेसु उववज्जइ सेणं भंते ! केवतिकालट्ठिती? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु उक्कोसेणं देसूणदुपलिओवमट्ठिती एसु उववज्जेज्जा । तेणं भंते ! जीवा अवसेसो सो चेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स गमको भाणियव्वो जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं सातिरेगा पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं देसूणाइं पंचपलिओवमाइं एवइयं जाव करेज्जा ।१। सो चेव जहण्णकालट्ठितीएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं जाणेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववण्णो तस्स वि एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिती जहण्णेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं सेसं तं चेव जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं देसूणाइं चत्तारि पलिओवमाइं उक्कोसेणं देसूणाइं पंच पलिओवमाइं एवइयं कालं सेवेज्जा ।३। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठितीओ जाओ तस्स तिसु गमएसु जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स जहण्णकालट्ठितीयस्स तहेव णिरवसेसं ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ तस्स वि तहेव तिण्णि गमगा जहा असुरकुमारेसु उववज्जमाण–स्स णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव जहा असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स ।९। जदि संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदिय जाव किं पज्जत्त० अपज्जत्त० ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासाउय णो अपज्जत्तसंखेज्जवासा। पज्जत्तसंखेज्जवा–साउय जाव जे भविए णागकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिई ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्साइं ठिई उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं एवं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स वत्तव्वया तहेव इह वि णवसु गमएसु णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव ॥९॥ जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सेहिंतो असण्णिमणुस्सेहिंतो ? गोयमा ! सण्णिमणुस्सेहिंतो णो असण्णिमणुस्सेहिंतो जहा असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स जाव असंखेज्जवासाउय ! सण्णिमणुस्सेणं णागकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइय–कालट्ठिईएसु उववज्जइ ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्स–ट्ठिईएसु उक्कोसेणं देसूणं दुपलिओवमं एवं जहेव असंखेज्जवा–साउयाणं तिरिक्खजोणियाणं णागकुमारेसु आदिल्ला तिण्णि गमगा तहेव इमस्स वि णवरं पढमविईएसु गमएसु सरीरोगाहणा जहण्णेणं साइरेगाइं पंचधणुहसयाइं, उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं, तईयगमओगाहणा जहण्णेणं देसूणाइं दो गाउयाइं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं सेसं तं चेव । सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ तस्स तिसुवि गमएसु जहा तस्स चेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स तहेव णिरवसेसं ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु जहा तस्स चेव उक्कोसट्ठिईयस्स असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं त चेव ।९। जइ संखेज्जवासाउयसण्णिमणू० किं पज्जत्तसंखेज्ज० अपज्जत्तसंखे–ज्ज० ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्ज० णो अपज्जत्तसंखेज्ज वासाउयं । पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्साणं भंते ! जे भविए णागकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइ० गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं देसूणं दोपलिओवमस्स ठिईएसु उववज्जंति एवं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स सव्वेवलद्धी णिरवसेसा णवसु गमएसु णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेह च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (भ० २४ श०३ उ०) अवसेसो सुवण्णकुमारा जाव थणियकुमारा एते वि अट्ठउद्देसगा जहेव णागकुमारा तहेव णिरवसेसा भाणियव्वा सेवं भंते ! भंतेत्ति । चउवीसइमसयस्स एक्कारससमो उद्देसो सम्मत्तो (२४।११) पुढवीकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति । किं णेरइएहिंतो तिरिमणुदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णो णेर–इएहिंतो उववज्जंति तिरिमणुदेवेहिंतो उववज्जंति । जइ तिरि–क्खजोणिएहिंतो उववज्जंति । किं एगिंदियतिरिक्खजोणिए एवं जहा वक्कंतीए उववाओ जाव जइ बादरपुढवीकाइयएगिंदिय तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तबादर पुढवी० उववज्जंतिअपज्जत्तवादरपुढवी० जाव उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तबादरपुढवी अपज्जत्तबादरपुढवी जाव उववज्जंति ॥

''उक्कोसेणं देसूणदुपलिओवमट्ठिईएसुत्ति'' यदुक्तं तदौदीच्यनाग्न कुमारनिकायापेक्षया, यतस्तत्र द्वे देशोने पल्योपमे उत्कर्षत आयुः स्यादाह च ''दाहिणदिवड्ढपलिअं, दो देसूणुत्तरिल्लाण ति'' उत्कृष्टसंवेधपदे (देसूणाइं पंचपलिओव-माइंति) पल्योपमत्रयमसङ्ख्यातवर्षायुस्तिर्यक्सम्बन्धि द्वे च देशोने ते नागकुमारसम्बन्धिनी इत्येवं यथोक्तं मानं भवतीति। द्वितीयगमे।

(नागकुमारट्ठिइसंवेहं च जाणेज्जत्ति) तत्र जघन्या नागकुमारस्थितिर्दशवर्षसहस्राणि संवेधस्तु कालतो जघन्यसातिरेकपूर्वकोटी दशवर्षसहस्राधिका उत्कृष्टः पुनः पल्योमत्रयं तैरेवाधिकमिति। तृतीयगमे ''उक्कोसकालट्ठिईएसुत्ति'' देशोनद्विपल्योपमायुष्के–ष्वित्यर्थः तथा ''ठिई जहण्णेणं दो देसूणाइं पलिओपमाइंति'' यदुक्तं तदवसर्प्पिण्यां सुषमाभिधानद्वितीयारकस्य कियत्यपि भागे अतीते असङ्ख्यातवर्षायुष्स्तिरश्चोधिकृत्योक्तं तेषामेवैतत्प्रमाणायुष्कत्वात्, एषामेव च स्वायुः समानदेवायुर्बन्धकत्वेनोत्कृष्टस्थितिषु नागकुमारेषूत्पादात् (तिण्णिपलिओवमाइंति) एतच्च देवकुर्वा–द्यसङ्ख्यातजीवितिरश्चोऽधिकृत्योक्तं, ते च त्रिपल्योपमायुषोऽपि देशोनद्विपल्योपममानमायुर्बध्नन्ति। यतस्ते स्वायुषः समं हीनतरं वा तद्बध्नन्ति, न तु महत्तरमिति। अथ सङ्ख्यातजीवितं सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चमाश्रित्याह'' जइ संखेज्जवासाउएत्यादि'' एतच्च पूर्वोक्तानुसारेणावगन्तव्यमिति। चतुर्विंशतितमे शते तृतीयः एवमन्येऽष्टाविंशत्येवमेकादशः। चतुर्विंशतितमे शते एकादशः॥

पृथ्वीकायादीनाम्॥

पुढवीकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं नेरइएहिंतो जाव देवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो नेरइएहिंतो तिरिक्खजोणिएहिंतो जाव देवेहिंतो वि उववज्जंति जदि तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति जदि एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो किं पुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति जाव वणस्सइकाइएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पुढवीकाइएहिंतो वि उववज्जंति जाव वणस्सइकाइएहिंतो वि उववज्जंति किं सुहुमपुढवीकाइएहिंतो वि बादरपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति जदि सुहुमपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति। जदि सुहुमपुढवीकाइएहिंतो किं पज्जत्तयसुहुमपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तयसुहुमपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति। जदि बादरपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो किं अपज्जत्तएहिंतो ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति एवं जाव वणस्सइकाइया चउक्कएणं भेदेणं उववाएयव्वा॥ प्रज्ञा०६ पद०॥

**पुढवीकाइएणं भंते ! जे भविए पुढवीकाएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं बावीसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं पुच्छा गोयमा ! अणुसमयं अविरहिया असंखेज्जा उववज्जंति। छेवट्ठसंघयणी। सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं मसूरचंदसंठिय चत्तारि लेस्सा णो सम्मट्ठिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी णो णाणी अण्णाणी। दो अण्णाणी णियमं। णो मणजोगी वइजोगी कायजोगी। उवओगो दुविहो वि। चत्तारि सण्णाओ। चत्तारि कसायाओ एगे फासिंदिए पण्णत्ता। तिण्णि समुग्घाया। वेदणा दुविहा। णो इत्थीवेदगा णो पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा। ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं। अज्झवसाणा पसत्था वि अप्पसत्थावि। अणुबंधो जहा ठिई। से णं भंते ! पुढवीकाइए पुणरवि पुढविकाइएत्ति केवइयं कालं सेवेज्जा केवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ताइं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं एवइयं जाव करेज्जा।१। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु एवं चेव वत्तव्वया णिरवसेसं।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं बावीसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि बावीसं वाससहस्सट्ठिईएसु सेसं तं चेव जाव अणुबंधोत्ति णवरं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेण संखेज्जा वा असंखेज्जा वा। भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावत्तरिं वाससतसहस्सं एवइयं जाव करेज्जा।३। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठितीओ जाओ सो चेव पढमिल्लगमओ भाणियव्वो णवरं लेस्साओ तिण्णिठिती जहण्णेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं अप्पसत्था अज्झवसाणा अणुबंधो जहाठिती सेसं तं चेव।४। सो चेव जहण्णकालट्ठितीएसु उववण्णो सव्वेव चउत्थगमक वत्तव्वया भाणियव्वा।५। सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा जाव भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीति वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ एवं तईयगमगसरिसो णिरवसेसो भाणियव्वो णवरं अप्पणा से जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं। उक्कोसेणं वि बावीसं वाससहस्साइं।७। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणावि अंतोमुहुत्तं एवं जहा सत्तमगमगो जाव भवादेसो। कालादेणं जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्त मब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठा–सीइं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भ–

हियाइं एवइयं कालं ।८। सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववण्णो जहण्णेणं वावीसं वाससहस्सट्ठितीएसु उक्कोसेणवि बावीसं बाससहस्सट्ठितीएसु एस चेव सत्तमगमगवत्तव्वया जाणियव्वा जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं चोयालीसं बाससहस्साइं उक्कोसेण छावत्तरिं वाससत्तसहस्स एवइयं ।९। जइ आउकाइए एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सुहुमआउ बादरआउ एवं चउक्कओ भेदो भाणियव्वो जहा पुढवीकाइया आउकाइया णं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सट्ठितीएसु उववज्जेज्जा एवं पुढविकाइयगमगसरिसा णव गमगा भाणियव्वा णवरं थिवुगविंदुसंठिते ठिती जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तवाससहस्साइं एवं अणुबंधो वि । एवं तिसु वि गमएसु ठिती संवेहो तइयछट्ठसत्तमट्ठणवमेसु गमएसु । भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं सेसेसु चउसु गमएसु जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं। उक्कोसेणं असंखेज्जाइं भवग्गहणाइं । ततियगमए कालादेसेणं जहण्णेणं वावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । उक्कोसेणं सोलसुत्तरवाससयसहस्सं एवइयं कालं गतिरागति करेज्जा ।५। छट्ठे गमए कालादेसेणं जहण्णेणं वावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिवाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं ।६। सत्तमगमए कालादेसेणं जहण्णेणं सत्तवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं सोलसुत्तरवाससयसहस्सं एवइयं अट्ठमगमए कालादेसेणं जहण्णेणं सत्तवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठावीसवाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं । णवगमए भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहण्णेणं एगूणतीसं वाससहस्साइं उक्कोसेणं सोलसुत्तरवाससहस्सं एवइयं कालं एवं णवसु वि गमएसु आयुकायट्ठिती जाणियव्वा ॥

तृतीयगमे नवरं । (जहण्णेणं एक्कोवेत्यादि) प्राक्तनगमयोरुत्पित्सुबहुत्वेनासंख्येया एवोत्पद्यन्ते इत्युक्तमिह तूत्कृष्टस्थितय एकादयोऽसंख्येयान्ता उत्पद्यन्ते उत्कृष्टस्थितिभूत्पित्सूनामल्यत्वेनैकादीनामप्युत्पादसम्भवात् (उक्कोसेणं अट्ठभवग्गहणाइंति) इहेदमवगन्तव्यं यत्र सम्बेधे पक्षद्वयस्य मध्ये एकत्रापि पक्षे उत्कृष्टा स्थितिर्भवति तत्रोत्कृष्टतोऽष्टौ भवग्रहणानि तदन्यत्रत्वसंख्यातानि ततश्चेहोत्पत्तिविषयभूतजीवेषूत्कृष्टा स्थितिरित्युत्कर्षतोऽष्टौ भवग्रहणान्युक्तान्येवमुत्तरत्रापि भावनीयमिति । (छावत्तरं बाससयसहस्संति) द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणामष्टाभिर्भवग्रहणैर्गुणने षट्सप्ततिवर्षसहस्राधिकं वर्षलक्षं भवतीति (१७६०००)चतुर्थे गमे (लेसाओ तिण्णित्ति) जघन्यस्थितिकेषु देवो नोत्पद्यत इति । तेजोलेश्या तेषु नास्तीति । षष्ठगमे (उक्कोसेणं अट्ठासीइं वाससहस्साइं इत्यादि) तत्र जघन्य स्थितिकस्योत्कृष्टस्थितिकस्य च चतुःकृत्य उत्पन्नत्वाद्द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि चतुर्गुणितानि अष्टाशीतिर्भवन्ति चत्वारि चान्तर्मुहुर्त्तानीति। नवमे गमे (जहण्णेणं चोयालीसंति) द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणां भवग्रहणद्वयेन गुणने चतुरश्चत्वारिंशत्सहस्राणि भवन्तीति। एवं पृथिवीकायिकः पृथिवीकायिकेभ्य उत्पादि–तोऽथाऽसावेवाप्कायिकेभ्य उत्पाद्यते (जइआउकाइएमेत्यादि चउक्कओ भेदोत्ति) सूक्ष्मबादरयोः पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात् । (संबेहो तइयछट्ठेत्यादि) तत्र भवादेशेन जघन्यत संबेधः सर्व गमेषु भवग्रहणद्वयरूपप्रतीत उत्कृष्टे च तस्मिन्विशेषोऽस्तीति दर्श्यते तत्र च तृतीयादिषु सूत्रोक्तेषु पञ्चसु गमेपूत्कर्षत सम्बेधोऽष्टौ भवग्रहणानि पूर्वप्रदर्शिताया अष्टभवग्रहणनिबन्धनभूताया स्तृतीयषष्ठसप्तमा–ष्टमेष्वेकपेक्षे नवमे तु गमे उभयत्राप्युत्कृष्टस्थितेः सद्भावात् (सेसेसु चउसु गमएसुत्ति) शेषेषु चतुर्षु गमेषु प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमलक्षणेषूत्कर्षतोऽसंख्येयानि भवग्रहणान्येकत्रापि पक्षे उत्कृष्टस्थितेरभावात् (तइयगमए कालादेसेणं जहण्णेणं वावीसं वाससहस्साइंति) पृथिवीकायिकानामुत्पत्तिस्थानभूतानामुत्कृष्टस्थितिकत्वात् (अंतोमुहुत्तमब्भहियाइंति) अप्कायिकस्य तत्रोत्पित्सोरौधिकत्वेऽपि जघन्यकालस्य विवक्षितत्वेनासन्मुहूर्तस्थितिकत्वात् (उक्कोसेणं सीलमुत्तरं वाससयसहस्संति) इहोत्कृष्टस्थितिकत्वात्पृथिवीकायिकानां तेषां च चतुर्णां भावानां भावात् तत्रोत्पित्सुश्चाप्कायिकस्यौधिकत्वेऽप्युत्कृष्टकालस्य विवक्षितत्वादुत्कृष्टस्थितयश्चत्वारस्तद्भवा एवं च द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणां च प्रत्येकं चतुर्गुणितत्वे (८८०००/२८०००) मीलने च (११६०००) षोडशसहस्राधिकं लक्षम् । छट्ठे गमए इत्यादि षष्ठेगमे हि जघन्यस्थितिषूत्पद्यते इत्यन्तर्मुहूर्तस्य वर्षसहस्रद्वाविंशतेश्च प्रत्येनं चतुर्भवग्रहणगुणितत्वे यथोक्तमुत्कृष्टकालमानं स्यात् (८८०००) अन्तः एवं सप्तमादिगमसम्बेधा अप्यूह्याः नवरं नवमे गमे जघन्येन एकोनविंशद्वर्षसहस्राण्यप्कायिकपृथिवीकायिकोत्कृष्टस्थितिमीलनादिति। भ० २४ श० १२ उ० । जीवा० ।

अथ तेजस्कायिकेभ्यः पृथिवीकायिकमुत्पादयन्नाह।

जइ तेउक्काइएहिंतो उववज्जंति तेउक्काइयाण वि एस चेव वत्तव्वया णवरं णवसु वि गमएसु तिण्णि लेस्साओ । तेउक्काइयाणं सुईकलावसंठिया ठिई जाणियव्वा । ततियगमए कालादेसेणं जहण्णेणं वावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिवाससहस्साइं वारसहिं राइंदिएहिं अब्भहियाइं एवइयं एवं संबेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो ॥

(तिण्णि लेस्साओत्ति) अप्कायिकेषु देवोत्पत्तेस्तेजोलेश्यासद्भावाच्चतस्रस्ता उक्ता इह तु तदभावातिस्र एवेति। (ठिईजाणियव्वत्ति) तत्र तेजस्सु जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमितरा तु त्रीण्ययोरात्राणीति । (तइयगमए इत्यादि) तृतीयगमे औधिकास्तेजस्कायिक उत्कृष्टस्थितिषु पृथिवीकायिकोत्कृष्टभवग्रहेणषु द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणां चतुर्गुणितत्वेऽष्टाशीतिस्तानि भवन्ति, तथा चतुर्ष्वेव तेजस्कायिकभवेषूत्कर्षतः प्रत्येकमहोरात्रत्रयपरिमाणेषु द्वादशाहोरात्राणीति। (एवं संबेहो उवउंजिऊण भाणियव्वोत्ति) स चैव षष्ठादि नवान्तेषु गमेष्वष्टौ भवग्रहणानि तेषु च कालमानं यथायोगमभ्यूह्यं शेषगमेषु तूत्कृष्टतोऽसंख्येयाभवात्कालोप्यसङ्ख्येव एवेति। अथ वायुकायिकेभ्यः पृथिवीकायिकमुत्पादयन्नाह ॥

जइ वाउक्काइएहिंतो उववज्जंति वाउक्काइयाण वि एवं चेव णव गमका जहेव तेऊकाइयाणं णवरं पडागासठिया संवेहो वाससहस्सेहिं कायव्वो । ततियगमए कालादेसेणं जहण्णेणं वावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं एगं वाससयसहस्सं एवं संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो ॥

तेजस्कायिकाधिकारे अहोरात्रैः सम्बेधः कृत इह तु वर्षसहस्रैः स कार्यो वायूनामुत्कर्षतो वर्षसहस्रत्रयस्थितिकत्वादिति (तइय–गमएइत्यादि) (उक्कोसेणं एगंवाससयसहस्संति) अत्राष्टौ भवग्रहणानि तेषु च चतुर्षु अष्टाशीतिर्वर्षसहस्राणि पुनरन्येषु चतुर्षु वायुसत्केषु वर्षसहस्रत्रयस्य चतुर्गुणितत्वे द्वादश उभयमीलने च वर्षलक्षमिति (एवं संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वोत्ति) स च यत्रोत्कृष्टस्थितिसम्भवस्तत्रोत्कर्षतोऽष्टौ भवग्रहणानीतरत्रत्वसंख्येयान्येतदनुसारेण च कालोऽपि वाच्य इति।

अथ वनस्पतिभ्यस्तमुत्पादयन्नाह।

जइ वणस्सइकाईएहिंतो उववज्जंति वणस्सइकाइयाणं आ–उक्काइयगमगसरिसा णव गमगा भाणियव्वा णवरं णाणा संठिया सरीरोगाहणा पढमपच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोअणसहस्सं मज्झिमएसु तहेव जहा पुढवीकाइयाणं संवेहो ठिती जाणियव्वा। तईयगमए कालाएसेणं जहण्णेणं वावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठावीसुत्तर-वाससयसहस्सं एवइयं एवं संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो ।९।
जइ वेइंदिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तवेइंदिएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तवेइंदिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तवेइंदिएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तवेइंदिएहितो वि उववज्जंति।

यस्त्वत्र विशेषस्तमाह (नाणसंठियेत्यादि।) अप्कायिका नाम स्तिबुकाकारावगाहना एषां तु नानासंस्थिता तथा (पढमएसु इत्यादि) प्रथमकेषु औधिकेषु गमेषु पाश्चात्येषु चोत्कृष्टस्थितिकगमेष्ववगाहना वनस्पतिकायिकानां द्विधापि मध्यमेषु जघन्यस्थितिकगमेषु त्रिषु यथा पृथिवीकायिकानां पृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानानामुक्तास्तथैव वाच्या अङ्गुलासंख्यातभागमात्रैवेत्यर्थः। (संवेहोठिईयजाणियव्वत्तित।) तत्र स्थितिरुत्कर्षतो दशवर्षसह–स्राणि जघन्या तु प्रतीतैव एतदनुसारेण सम्बन्धोऽपि ज्ञेयः तमेवैकत्र गमे दर्शयति (तइयेत्यादि उक्कोसेणं अट्ठावीसुत्तरं वाससयसहस्संति) इह गमे उत्कर्षतोऽष्टौ भवग्रहणानि तेषु च चत्वारि पृथिव्याश्चत्वरि च वनस्पतेस्तत्र च चतुर्षु पृथिवीभवेषूत्कृष्टेषु वर्षसहस्राणामष्टाशीतिस्तथा वनस्पतेर्दशवर्षसहस्रायुष्कत्वाच्चतुर्षु भवेषु वर्षसहस्राणां चत्वारिंशदुभयमीलने च यथोक्तं मानमिति। अथ द्वीन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह॥

बेइंदिएणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवतिकालट्ठिति ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वावीसं वाससहस्सट्ठिती। तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति। छेवट्ठसंघयणी। ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं वारसजोअणाइं हुंडसंठिया तिण्णि लेस्साओ सम्मदिट्ठि वि मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी। दो णाणा दो अण्णाणा णियमं। णो मणजोगी वयजोगी वि कायजोगी वि। उवओगो दुविहो वि। चत्तारि सण्णाओ।चत्तारि कसायाओ। दो इंदिया पण्णत्ता ? तंजहा जिब्भिंदिए य फासिंदिए य तिण्णि समुग्घाया सेसं जहा पुढवीकाइयाणं णवरं ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वारससंवच्छराइं। एवं अणुबंधो वि सेसं तं चेव। भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं संखेज्जाइं भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ताइं उक्कोसेणं संखेज्जं कालं एवइयं कालं ॥१॥ सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया ॥२॥ सो चेव उक्कोसकालट्ठीईएसु उववण्णो एस चेव विइयस्स लद्धी णवरं भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं। कालादेसेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठा–सीतिवाससहस्साइं अडयालीसाए संवच्छरेहिं अब्भहियाइं एवइयं सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि एस चेव वत्तव्वया तिसु वि गमएसु णवरं इमाइं णाणत्ताइं सरीरोवगाहणा जहा पुढवीका-इयाणं। णो सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी। दो अण्णाणी णियमं। णो मणजोगी वइजोगी कायजोगी। ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तए उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। अज्झवसाणा अप्पसत्था। अणुबंधो जहा ठिई। संवेहो तहेव आदिल्लेसु दो गमएसु तइयगमए भवादेसो तहेव अट्ठभवा कालादेसेणं जहण्णेणं वावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ एतस्स वि ओहिया गमगसरिसा तिण्णि गमगा भाणियव्वा णवरं तिसु वि गमएसु ठिई जहण्णेणं वारससंवच्छराइं, उक्कोसेण वि वारस संवच्छराइं। एवं अणुबंधो वि भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं, कालादेसेणं उवउंजिऊण भाणियव्वं जाव णवमे गमए जहण्णेणं वावीसं वाससहस्साइं वारसहिं संवच्छरेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीतिवाससहस्साइं अडयालीसाए संवच्छरेहिं अब्भहियाइं एवइयं ॥९॥

(बारसजोयणाइंति) यदुक्तंतच्छङ्कामाश्रित्य यदाह ''संखो पुण वारसजोयणाइंति'' सम्मद्दिट्ठीविति। एतच्चोच्यतेसास्वादन–सम्यक्त्वापेक्षयति इयं च वक्तव्यतौघिकद्वीन्द्रियस्यौघिकपृथिवी–कायिकेषु एवमेतस्य जघन्यस्थितिष्वपि तस्यैवोत्कृष्टस्थिति-षूत्पत्तौ संवेधे विशेषोऽत एवाहनवरमित्यादि (अट्ठभवग्गहणा-इंति) एकपक्षस्योत्कृष्टस्थितिकत्वात् (अडयालीसाए संब–

च्छरेहिं अब्भहियाइंति) चतुर्षु द्वीन्द्रियभवेषु द्वादशाब्दमानेषु अष्टचत्वारिंशत् संवत्सरा भवन्ति तैरभ्यधिकान्यष्टाशीतिवर्षसहस्राणीति, द्वितीयस्यापि गमत्रयस्यैषैव वक्तव्यता विशेषं त्वाह–नवरमित्यादि इह सप्त नानात्वानि शरीरावगाहना यथा पृथिवीकायिकानामङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रमित्यर्थः, प्राक्तनगमत्रये तु द्वादशयोजनमानाप्युक्तेति।१। तथा (नो सम्मद्दिट्ठी) जघन्यस्थिति–कत्वा सास्वादनसम्यग्दृष्टीनामनुत्पादात्, प्राक्तनगमेषु तु सम्यग्दृष्टिरप्युक्तोऽजघन्यस्थितिकस्यापि तेषु भावात्। २। तथा द्वे अज्ञाने प्राक् ज्ञाने अप्युक्ते ।३। तथा योगद्वारे जघन्यस्थितिकत्वेनापर्याप्तकत्वान्न वाग्योगः प्राक्कासावप्युक्तः ।४। तथा स्थितिरिहान्तर्मुहूर्त्तमेव प्राक्तसंवत्सरद्वादशकमपि ।५। तथाऽध्यवसानानीहाप्रशस्तान्येव प्राक्तोभयरूपाणि ।६। सप्तमं नानात्वमनुबन्ध इति संबेधस्तु द्वितीयत्रयस्थाद्ययोर्द्वयोर्गमयोरुत्कर्षतो भवादेशेन सङ्ख्येयभवलक्षणः कालादेशेन च सङ्ख्येयकाललक्षणः तृतीये तु विशेषमाह (तइए गमए इत्यादि) अन्त्यगमत्रये (कालादेसेणं उवउंजिऊण भाणियव्वंति) यत्तदेवं प्रथमे गमे कालत उत्कर्षतोऽष्टाशीतिवर्षसहस्राण्यष्टचत्वारिंशता वर्षैरधिकानि द्वितीये त्वष्टचत्वारिंशद्वर्षाण्यनन्तर्मुहूर्त्तचतुष्टयाधिकानि तृतीये तु संबेधो लिखित एवास्ते ॥

अथ त्रीन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह॥

जइ तेइंदिएहिंतो पुढवीकाइएसु उववज्जंति एवं चेव णव गमका भाणियव्वा णवरं आदिल्लेसु वि तिसु वि गमएसु सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं तिण्णि इंदियाइं ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं एगूणपण्णराइंदियाइं । ततियगमए कालादेसेणं जहण्णेणं वावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीइवाससहस्साइं छण्णउइराइंदियमब्भहियाइं एवइयं । मज्झिमगा तिण्णि गमगा पच्छिमगा तिण्णिगमगा तहेव । णवरं ठिई जहण्णेणं एगूणपणराइंदियाइं उक्कोसेण वि एगूणपणराइंदियाइं संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो ॥६॥

(जइ तेइंदीत्यादि–छण्णउयराइंदियसयअब्भहियाइंति) इह तृतीयगमेऽष्टौ भवास्तत्र चतुर्षु त्रीन्द्रियभवेषूत्कर्षत एकोनपञ्चाशद्रात्रिंदिवप्रमाणेषु यथोक्तं कालमानं भवतीति। (मज्झिमा तिण्णि गमा तहेवत्ति) । यथा मध्यमा द्वीन्द्रियगमाः । (संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वोत्ति) स च पश्चिमगमत्रये भवादेशे नोत्कर्षतः प्रत्येकमष्टौ भवग्रहणानि कालादेशेन तु पश्चिमगमत्रयस्य प्रथमगमे तृतीयगमे चोत्कर्षतोऽष्टाशीतिवर्षसहस्राणि षण्णवत्यधिकरात्रिंदिवशताधिकाति द्वितीये तु षण्णवत्युरं दिनशतमन्तरर्मुहूर्त्तचतुष्टयाभ्यधिकमिति।

अथ चतुरिन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह।

जइ चउरिंदिएहिंतो उववज्जंति एस चेव चउरिंदियाणविणव गमगा भाणियव्वा णवरं एएसु चेव ठाणेसु णाणत्ता भाणियव्वा सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छम्मासा एवं अणुबंधो वि चत्तारि इंदिया सेसं तं चेव जाव णवगमए कालादेसेणं , जहण्णेणं वावीसं वाससहस्साइं छहिं मासेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउवीसाए मासेहिं अब्भहियाए एवइयं जाव करेज्जा ॥६॥

(नवरं एएसु चेवट्ठाणेसुत्ति) वक्ष्यमाणेष्ववगाहनादिषु नानात्वानि द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियप्रकरणयापेक्षया चतुरिन्द्रियप्रकरणे विशेषभणितव्यानि भवन्ति तान्येव दर्शयतिसरीरेत्यादि। (सेसं तहेवत्ति) शेषमुपपातादि द्वारजातं तथैव यथा त्रीन्द्रियस्य यस्तु संबेधे विशेषो न दर्शितः स स्वयमूह्य इति।

अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यस्तमुत्पादयन्नाह।

जइ पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए ? गोयमा ! सण्णिपंचिंदियअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए उववज्जंति। जइ असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलचरेहिंतो उववज्जंति जाव किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो वि उववज्जंति। असण्णिपंचिंदियरिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ० ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सं तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव बेइंदियस्स ओहिगमए लद्धी तहेव णवरं सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोअणसहस्सं। पंचिंदियट्ठिई अणुबंधो य जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी सेसं तं चेव। भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं कालादेसेणं उवउंजिऊण भाणियव्वं णवरं मज्झिमएसु तिसु गमएसु जहेव बेइंदियस्स। मज्झिमएसु तिसु गमएसु पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहा एतस्सेव पढमगमए णवरं ठिई अणुबंधो जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तहेव जाव णव गमए जहण्णेणं पुव्वकोडी बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ अट्ठासीती एवं वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं कालं सेवेज्जा ॥६॥

(जईत्यादि–उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइंति) अनेनेदमवगम्यते यथोत्कर्षतः पञ्चेन्द्रियतिरश्चो निरन्तरमष्टैव भवा भवन्ति एवं समानभवान्तरिता अपि भवान्तरैः सहाष्टैव भवन्तीति (कालादेसेणं उवउंजिऊण भाणियव्वंति) तत्र प्रथमे गमे कालतः सम्बेधः सूत्रे दर्शित एव द्वितीये तूत्कृष्टतश्चतस्रः पूर्वकोट्यश्चतुर्भिरन्तर्मुहूर्त्तैरधिकाः तृतीये तु ता एवाऽष्टाशीत्यावर्षसहस्रैरधिकाः उत्तरगमेषु त्वतिदेशद्वारेण सूत्रोक्त एवासाववसेय इति। अथ संज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह।

जदि सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए उववज्जंति किं संखेज्जवासाउ य असंखेज्जवासाउय ? गोयमा ! संखेज्जवासाउ य सण्णिपंचिंदिय णो असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति। जइ असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति किं जलचरेहिंतो सेसं जहा असण्णीणं जाव तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति एवं जहा रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स

सण्णिपंचिंदियस्स तहेव इह वि जाव कालादेसेणं जहण्णेणं दोअंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ अट्ठासीति वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा। एवं संवेहो णवसु वि गमएसु जहा असण्णीणं तहेव णिरवसेसं लद्धी से आदिल्लएसु तिसु गमएसु एस चेव मज्झिमल्लएसु वि तिसु गमएसु एस चेव णवरं इमाइं णव णाणत्ताइं। जहण्णेणं ओगाहणा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं तिण्णिलेस्साओ। मिच्छदिट्ठी। दो अण्णाणा। कायजोगी तिण्णि समुग्घाया। ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं। उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं अप्पसत्था अज्झवसाणा। अणुबंधो जहा ठिई सेसं तं चेव। पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहेव पढमगमए णवरं ठिई अणुबंधो जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तं चेव ॥९॥

(जइ सण्णीत्यादि। एवं संबेहो नवसु वि गमएसु इत्यादि) एवमुक्ताभिलापेन संबेधो नवस्वपि गमेषु यथा असंज्ञिनां तथैव निरवशेष इह वाच्योऽसंज्ञिनां सज्ञिनां च पृथिवीकायिकेषूत्पित्सूनां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तायुष्कत्वादुत्कर्षतश्च पूर्वकोट्यायुष्कत्वादिति। (लद्धी से इत्यादि) लब्धिपरिमाणसंहननादिप्राप्तिः(से) तस्य पृथिवीकायिकेषूत्पित्सोः संज्ञिन आद्ये गमत्रये (एस चेवत्ति) या रत्नप्रभायामुत्पित्सोस्तस्यैव मध्यमेऽपि गमत्रये एषैव लब्धिः विशेषस्त्वयं नवरमित्यादि नव च नानात्वानि जघन्यस्थितिकत्वा–द्भवन्ति तानि च अवगाहना १ लेश्या २ दृष्ट्य ३ ज्ञान ४ योग ५ समुद्घात ६ स्थित्य ७ ध्यवसाना ८ऽनुबन्धाख्यानि ९ अथ मनुष्ये–भ्यस्तमुत्पादयन्नाह (जईत्यादि) तत्र च (एवं जहेत्यादि) यथा ह्यसज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चो जघन्यस्थितिकस्य त्रयो गमास्तथैतस्यापि त्रयऔधिका गमा भवन्ति अजघन्योत्कृष्टस्थितिकत्वात् सम्मूर्च्छिममनुष्याणां न शेषगमषट्कसम्भव इति भ० २४ श० १२ उ०।

अथ सज्ञिमनुष्यमधिकृत्याह।

जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति। जदि गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो किं कम्मभूमिग–ब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति अकम्मभूमिगब्भवक्कंतिय–मणुस्सेहिंतो उववज्जंति सेसं जहा नेरइयाणं नवरं अप्पज्जत्तए–हिंतो वि उववज्जंति। प्रज्ञा०६ पद।

जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सहिंता उवव–ज्जंति असण्णिमणस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सण्णिम–णस्सेहिंतो वि उववज्जंति असण्णिमणुस्सेहिंतो वि उववज्जंति। असण्णिमणुस्सेणं भंते ! ज भविए पुढविकाइएसु सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु एवं जहा असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजो–णियस्स जहण्णकालट्ठिईयस्स तिण्णि गमगा तहा एतस्सवि आहिया तिण्णि गमका भाणियव्वा तहेव णिरवसेस सेसा छ नव भण्णइ। जइ सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवा–साउयं असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति ? गोयमा ! संखे–ज्जवासाउय णो असंखेज्जवासाउयं जाव उववज्जंति। जइ संखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति किं पज्जत्तसंखेज्ज० अपज्जत्त–संखेज्ज० ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्ज० अपज्जत्तसंखेज्जवासा० जाव उववज्जति। सण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए पुढविकाएसु उववज्जंति सेणं भंते ! केवइकालस्स ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वावीसं वाससहस्सट्ठिईएसु तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव रयणप्पभा उववज्जमाणस्स तहेव तिसु वि गमएसु लद्धी णवरं ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइ–भागं उक्कोसेणं पंचधणुहसयाइं ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्त उक्कोसेणं एवं अणुबंधो वि। संवेहो णवसु गमएसु जहेव सण्णिपंचिंदियम–ज्झिल्लएसु तिसु गमएसु लद्धी तहेव सण्णिपंचिंदियस्स मज्झिल्लएसु तिसु गमएसु लद्धी सेसं तं चेव णिरवसेसं पच्छिल्ला तिण्णि गमका जहा एयस्स चेव ओहिया गमका णवरं ओगाहणा जहण्णेणं पंचधणुहसयाइं उक्को ण वि पंचधणुहसयाइं। ठिई अणुबंधो जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तहेव ॥

जइ सन्नीत्यादि ॥ जहेव रयणप्पहाए उववज्जमाणस्सत्ति ॥ सज्झिमनुष्यस्यैवेति प्रक्रमः ॥ नवरमित्यादि ॥ रत्नप्रभायामु–त्पित्सोर्हि मनुष्यस्यावगाहना जघन्येनाङ्गुलपृथक्त्वमुक्तमिह–त्वङ्गुलासंख्येभागः स्थितिश्च जघन्येन मासपृथक्त्वं प्रागुक्तमि हत्वन्तर्मुहूर्तमिति संबेधस्तु नवस्वपि गमेषु यथैव पृथिवीकायि–केषूत्पद्यमानस्य सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च उक्तस्तथैवेह वाच्यः संज्ञिनो मनुष्यस्य तिरश्चश्च पृथिवीकायिकेषु समुत्पित्सोर्जघन्यायाः स्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वादुत्कृष्टायास्तु पूर्वकोटीप्रमाणत्वादिति। मज्झिमिल्लेत्यादि॥ जघन्यस्थितिकसम्बन्धिनि गमत्रये लब्धि–स्तथेह वाच्या यथा तेत्रैव गमत्रये सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च उक्ता सा च तत्सूत्रादेवेहावसेया ॥ पच्छिल्लेत्यादि ॥ औधिकगमेषु हि अङ्गु–लासङ्ख्येयभागरूपाऽप्यवगाहना अन्तर्मुहूर्तरूपाऽपि स्थितिरुक्ता साचेह न वाच्या अत एवाह–नवरम्। ओगाहणेत्यादि॥

देवेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह।

जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जति वाणमंतरजोइसियदेवेहिंतो वेमाणिय देवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! भवणवासिदेवेहिंतो वि उववज्जंति जाव वेमाणियदे–वेहिंतो वि उववज्जंति। जइ भवणवासिदेवेहिं तो उववज्जति किं असुरकुमारभवणवासिदेवेहिंतो उववज्जति जाव थणियकुमार भवणवासि० ? गोयमा ! असुरकुमारभवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति जाव थणियकुमारवासिदेवेहिंतो उववज्जंति। असुरकुमारेणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिई ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वावीसं वाससहस्साइं ठिई। तेणं भंते ! जीवा पुच्छा, गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति। तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरगा किं

संघयणा पण्णत्ता ? गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असंघयणी जाव परिणमइ। तेसि णं भंते ! जीवा णं के महालिया सरीरोगाहणा ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थणं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्तरयणीओ तत्थणं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोअणसयसहस्सं। तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरगा किं संठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहाभवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थणं जे ते भवधारणिज्जा ते समचउरंससंठाणसंठिया पण्णत्ता। तत्थणं जे से उत्तरवेउव्विया ते णाणासंठाण संठिया पण्णत्ता लेस्साओ चत्तारि दिट्ठि तिविहा वि तिण्णि णाणा णियमं। तिण्णि अण्णाणा भयणाए। जोगे तिविहे वि। उवओगे दुविहे वि। चत्तारि सण्णाओ। चत्तारि कसाया। पंच इंदिया। पंच समुग्घाया। वेदणा दुविहा वि। इत्थी वेदगा वि पुरिसवेदगा वि णो णपुंसगवेदगा। ठिई जहण्णेणं दसवास सहस्साइं उक्कोसेणं साइरेगं सागरोवमं। अज्झवसाणा असंखेज्जा पसत्था वि अप्पसत्था वि अणुबंधो जहा ठिई भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइ अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं साइरेगं सागरोवमं वावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं एव इयं। एवं णव वि गमा णेयव्वा णवरं मज्झिल्लएसु पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु असुरकुमाराणं ठिई विसेसो भाणियव्वो। सेसा ओहिया चेव लद्धी कायसंवेहं च जाणेज्जा सवत्थ दोभवग्गहणाइं जाव णव गमए कालादेसेणं जहण्णेणं साइरेगं सागरोवमं वावीसाए वाससहस्सेहि अब्भहियं, उक्कोसेण वि साइरेगं सागरोवमं वावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं एवइयं जाव करेज्जा। णागकुमाराणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइए एस चेव वत्तव्वया जाव भवादेसोत्ति णवरं ठिई जहण्णेणं दसवासहस्साइं उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं एवं अणुबंधो वि कालादेसेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं देसूणाइं वावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं एवं णव वि गमगा असुरकुमारगमगसरिसा णवरं ठिई कालादेसेणं च जाणेज्जा एवं जाव थणियकुमाराणं जदि वाणमंतर किं पिसायवाणमंतर जाव गंधव्ववाणमंतर ? गोयमा ! पिसाय वाणमंतर जाव गंधव्ववाणमंतर। वाणमंतरदेवेणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइए एएसिं पि असुरकुमारगमगसरिसा णव गमगा भाणियव्व णवरं ठिई कालादेसेणं च जाणेज्जा। ठिई जहण्णेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं पलिओवमं सेसं तहेव। जइ जोइसियदेवेहिंतो उववज्जंति किं चंदविमाणजोइसियदेवेहिंतो उववज्जंति जाव ताराविमाणजोइसियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! चंदविमाणजोइसियदेवेहिंतो वि उववज्जंति जाव तारा जाव उववज्जंति। जोइसियदेवेणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइयलद्धी जहा असुरकुमाराणं णवरं एगा तेउलेस्सा पण्णत्ता तिण्णि णाणा तिण्णिअण्णाणा णियमं। ठिई जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमं उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं एवं अणुबंधो वि कालादेसेणं जइण्णेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्सेणं वावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं एवइयं। एवं सेसा वि अट्ठ गमगा भाणियव्वा णवरं ठिई कालादेसेणं च जाणेज्जा। जइ वेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति किं कप्पोववण्णगवेमाणिय कप्पातीतगवेमाणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! कप्पोववण्णगवेमाणिय जाव उववज्जंति णो कप्पातीतगवेमाणिय जाव उववज्जंति। जइ कप्पोववण्णग जाव उववज्जंति किं सोहम्मकप्पोववण्णगवेमाणिए जाव अच्चुतकप्पोववण्णगवेमाणिया जाव उववज्जंति ? गोयमा ! सोहम्मकप्पोववण्णगवेमाणिया ईसाणकप्पोववण्णगवेमाणिया जाव उववज्जंति, णो सणंकुमार जाव णो अच्चुयकप्पोववण्णगवेमाणिया जाव उववज्जंति। सोहम्मगदेवेणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जइ सेणं भंते ! केवइया एवं जहा जोइसियस्स गमगो एवं ठिई अणुबधो य जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं, कालोदेसेणं जहण्णेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं वावीसवाससहस्सेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं एवं सेसावि अट्ठ गमगा भाणियव्वा णवरं ठिई काला देसं च जाणेज्जा। ईसाण देवेणं भंते ! जे भविए एवं ईसाणदेवेणं वि णव गमगा भाणियव्वा णवरं ठिई अणुबंधो जहण्णेणं साइरेगपलिओवमं उक्कोसेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ॥

''जईत्यादि छण्हं संघयणाणं असंघयणित्ति '' इह यावत्करणादिदं दृश्यं ''ऐवट्ठी णेवच्छिरा नेवण्हारू नेवसंघयणमत्थि जे पोग्गला इट्ठा कंता पिया मणुन्ना मणोमा ते तेसिं सरीरसंघायत्ताएत्ति। तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइ भागंति'' उत्पादकालेऽनाभोगतः कर्म्मपारतव्यादङ्गुलसंख्येयभागमात्रावगाहना भवति उत्तरवैक्रिया तु जघन्याङ्गुलस्य संख्येयभागमाना भवत्याभोगजनित्वातस्यास्तथाविधा न सूक्ष्मता भवति यादृशी भवधारणीयाया इति॥ तत्थणं जे ते उत्तरविउव्विया ते ''नाणासंठियत्ति'' इच्छावशेन संस्थाननिष्पादना-दिति। (तिण्णि अण्णाण भयणाएत्ति) ये असुरकुमारा असंज्ञिभ्य आगत्योत्पद्यन्ते तेषा-

मपर्याप्तकावस्थायां विभङ्गस्याभावाच्छेषाणां तु तद्भावादज्ञानेषु भजनोक्ता (जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं ति) तत्र दशवर्षसहस्राण्यऽसुरेषु अन्तर्मुहूर्तं पृथिवीकायिकेष्विति, इत्यमेव उक्कोसेणं साइरेगं सागरोवममित्याद्यपि भावनीयम्। एतावानेव चोत्कर्षतोप्यत्र संबेधकालः पृथिवीत उद्वृत्तस्यासुरकुमारेषूत्पादाभावादिति (मज्झिल्लएसु पच्छिल्लएसु इत्यादि) अयं चेह स्थितिविशेषो मध्यमगमेषु जघन्यासुरकुमाराणां दशवर्षसयस्राणि स्थितिरन्त्यगमेषु च साधिकं सागरोपममिति, ज्योतिष्कदण्डके तिण्णि नाणा तिण्णि अण्णाणा नियमंति। इहासञ्ज्ञीनो नोत्पद्यन्ते सञ्ज्ञिनस्तूत्पत्तिसमयएव सम्यग्यदृष्टेस्त्रीणि ज्ञानानि मत्यादीनि इतरस्य त्वज्ञानानि मत्याज्ञानादीनि भवन्ति। (अट्ठभागपलिओवमंति) अष्टमोभागोऽष्टभागः स एवावयवे समुदायोपचारादष्टभागपल्योपमं इदं च तारकदेवदेवीराश्रित्योक्तम्। उक्कोसेणं "पलिओवमंवाससयसहस्समब्भहियंति" इदं च चन्द्रविमानदेवानाश्रित्योक्तमिति। भ० २४ श० १२ उ०।

अप्कायिकानाम्—

आउकाइएणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एवं जहेव पुढवीकाइय उद्देसए जाव पुढवीकाइएणं भंते ! जे भविए आउकाइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ० ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा एवं पुढवीकाइयउद्देसगसरिसो भाणियव्वो णवरं ठिई संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव। सेवं भंते ! भंते ! त्ति। भ० २४ श० १३ उ०।

तेजस्कायिकानां वायुकायिकानां च यथा—

तेउकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति णवरं पुढवीकाइयउद्देसगसरिसो उद्देसो भाणियव्वो णवरं ठिई संवेहं च जाणिज्जा देवेसु न उववज्जंति। सेसं तं चेव सेवं भंते भंतेत्ति जाव विहरइ वाउकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उव वज्जंति एवं जहबे तेउ काइय उद्देसो तहेव णवरं ठिई संबेहं च जाणेज्जा सेवं भंते भंते ! त्ति। चउवीसइमसयस्स पण्णरसमो उद्देसो सम्मत्तो॥

(देवेसु न उववज्जंतित्ति) देवेभ्य उद्वृतास्तेजस्कायिकेषु नोत्पद्यन्त इत्यर्थः। एवं पञ्चदशोऽपि। भ० २४ श० १४ उ०।

वनस्पतीनाम्।

वणस्सइकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एवं पुढवीकाइयउद्देसो सरिसो णवरं जाहे वणस्सइकाइया वणस्सइकाइएसु उववज्जंति ताहे पढमबिइयचउत्थपंचमेसु गमेसु परिमाण अणुसमयं अविरहियं अणंता उववज्जंति भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अणंताइं भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं अणंतं कालं एवइयं जाव करेज्जा। सेसा पंच गमा अट्ठभवग्गहणिया तहेव णवरं ठिई संवेह च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंते ! त्ति॥

"जाहे वणस्सइकाइओ इत्यादि" अनेन वनस्पतेरेवानन्तानामुद्वृत्तिरस्ति नान्यत इत्यावेदितं शेषाणां हि समस्तानामप्यसंख्यातत्वात्। तथा अनन्तानामुत्पादो वनस्पतिष्वेव कायान्तरस्यानन्तानामभाजनत्वादित्यप्यावेदितमिह च प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमगमेष्वनुत्कृष्टस्थितिभावादनन्ता उत्पद्यन्त इत्यभिधीयते शेषेषु तु पञ्चसु गमेषूत्कृष्टस्थितिभावादेको वा द्वौ वेत्याद्यभिधीयत इति। तथातिष्वेव प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमेष्वनुत्कृष्टस्थितित्वादेवोत्कर्षतो भवादेशेनानन्तानि भवग्रहणानि वाच्यानि कालादर्शने चानन्तः कालः शेषेषु तु पञ्चसु तृतीयषष्ठसप्तमादिषु गमेष्वष्टौ भवग्रहणान्युत्कृष्टस्थितिभावात्। (ठिई संवेहं च जाणेज्जत्ति) तत्र स्थितिर्जघन्या उत्कृष्टा च सर्वेष्वपि गमेषु प्रतीतैव संबेधस्तु तृतीयसप्तमयोर्जघन्येन दशवर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्ताधिकान्युत्कर्षतस्त्वष्टासु भवग्रहणेषु दशसहस्राः प्रत्येकं भावादशीतिर्वर्षसहस्राणि षष्ठाष्टमयोस्तु जघन्येन दशवर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्ताधिकान्युत्कृष्टतस्तु चत्वारिंशद्वर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्तश्चतुष्टयाभ्यधिकानि। नवमे तु जघन्यतो विंशतिर्वर्षसहस्राण्युत्कर्षतस्त्वशीतिरिति। भ० २४ श० १६ उ०।

द्वीन्द्रियाणाम्—

बेइंदियाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति जाव पुढवीकाइएणं भंते ! जे भविए बेइंदिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ सव्वेव पुढवीकाइयस्स लद्धी जाव कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं संखेज्जं कालं एवइयं जाव करेज्जा एवं तेसु चेव चउसु गमएसु संबेहो सेसेसु पंचसु गमएसु तहेव अट्ठभवा एवं जाव चउरिंदिएणं समं चउसु संखेज्जभवा पंचसु अट्ठभवा पंचिंदियति रिक्खिजोणिए मणुस्सेसू समं तहेव अट्ठभवा ठिई संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंते ! त्ति।

(सव्वेव पुढवीकाइयस्स लद्धित्ति) या पृथिवीकायिकस्य पृथिवीकायिकेषूत्पित्सोलब्धिः प्रागुक्ता द्विन्द्रियेष्वपि सैवेत्यर्थः। (तेसु चेवचउसुगमएसुत्ति) तेष्वेव चतुर्षु गमेषु प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमलक्षणेषु (सेसेसु पञ्चसुत्ति) शेषेसु पञ्चसु गमेषु तृतीयषष्ठसप्तमाष्टमनवमलक्षणेषु (एवंति) यथा पृथिवीकायिकेन सह द्वीन्द्रियस्य संबेध उक्त एवं अप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियैः सह संवेधो वाच्यस्तदेवाह चतुर्षुपूर्वोक्तेषु गमेषूत्कर्षतो भवादेशेन संख्येया भवाः पञ्चसुतृतीयादिष्वष्टौ भवाः कालोदेशेन च या यस्य स्थितिस्तत्संयोजनेन संवेधो वाच्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिर्मनुष्यैश्च सह द्वीन्द्रियस्यतथैव सर्वगमेष्वष्टावष्टौ च भवा वाच्या इति॥ भ० २४ श० १७ उ०।

त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च यथा—

तेइंदियाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एवं तेइंदियाणं जहेव बेइंदियाणं उद्देसो णवरं ठिई संवेहं च जाणेज्जा तेउक्काइएसु उववज्जइ समं तइओ गमो उक्कोसेणं अट्ठुत्तराइं बेइंदियसयाइं बेइंदिएहिं समं तइयगमे उक्कोसेणं अडयालीसं संवच्छराइं छण्णउइ-राइंदियसत्तमब्भहियाइं तेइंदिएहिं समं तइयगमे उक्कोसेणं वाणुत्तराइं तिण्णि राइंदियसयाइं एवं सव्वत्थ जाणेज्जा जाव सण्णिमणुस्संति। सेव भंते ! भंतेत्ति। चउरिंदियाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति जहा तेइंदियाणं उद्देसओ तहा चउरिंदियाणवि णवरं ठिति संबेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंतेत्ति।

(ठिइंति संवेहं च जाणेज्जंति) स्थितिस्त्रीन्द्रियेषूत्पित्सूनां पृथिव्यादीनामायुः संबेधं च त्रीन्द्रियोत्पित्सुपृथिव्यादीनां त्रीन्द्रियाणां च स्थितेः संयोगं जानीयात् तदेव क्वचिद्दशयति

(तेइकाइएसु इत्यादि) तेजस्कायिकैः सार्द्धं त्रीन्द्रियाणां स्थिति-संबेधस्तृतीयगमे प्रतीते उत्कर्षेण अष्टोत्तरे द्वे रात्रिंदिवशते। कथम् ? औधिकस्य तेजस्कायिकस्य चतुर्षु भवेषूत्कर्षेण त्र्यहोरात्र-मानत्वाद्भवस्य द्वादशाहोरात्राणि उत्कृष्टस्थितेश्च त्रीन्द्रियस्योत्कर्षतः चतुर्षु भवेषु एकोनपञ्चाशन्मानत्वेन भवस्य शतं षण्णवत्यधिकं भवति, राशिद्वयमीलने चाऽष्टोत्तरे द्वे रात्रिंदिवशते स्यातामिति (बेइंदिएहीत्यादि अडयालीसं संवच्छराइंति) द्वीन्द्रियस्योत्कर्षतो द्वादशवर्षप्रमाणेषु चतुर्षु भवेष्वष्टचत्वारिंशत्संवत्सराः चतुर्ष्वेव त्रीन्द्रियभवग्रहणेषूत्कर्षेणैकोन-पञ्चाशदहोरात्रमानेषु षण्णवत्यधिकं दिनशतं भवतीति ॥ तेइंदिएहीत्यादि ॥ (वाणउयाइं तिण्णि राइंदियसयाइं ति) अष्टासु त्रीन्द्रिय-भवेषूत्कर्षेणैकोनपञ्चाशदहोरात्रमानेषु त्रीणि शतानि द्विनवत्यधिकानि भवन्तीति । (एवं सव्वत्थ जाणेज्जत्ति) अनेन चतुरिन्द्रियसञ्ज्ञितिर्यग्मनुष्यैः सह त्रीन्द्रियाणां सम्बेधः कार्य इति सूचितम्। अनेन च तृतीयगमसम्बेधदर्शनेन षष्ठादिगमसंबेधा अपि सूचिता द्रष्टव्याः । तेषामप्यष्टभविकत्वात् । प्रथमादिगमचतुष्कसंबेधस्तु भवादेशेनोत्कर्षतः संख्यातभवग्रहणरूपः कालादेशेन तु संख्यातकाल-रूप इति (चतुरिन्द्रियसूत्रस्य व्याख्या नास्ति) भ० २४ श० १८ उ०॥

पञ्चेन्द्रियतिरश्चाम्।

**पंचिंदियातिरिक्खजोणिएणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइय० तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णेरइएहिंतो वि उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो वि उववज्जंति। जइ णेरइएहिंतो उववज्जंति किं रयणप्पभापुढविणे-रइएहिंतो उववज्जंति जाव अहेसत्तमाए पुढवीए णेरइएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! रयणप्पभा पुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति जाव अहेसत्तमाए पुढविणेरइएहिंतो वि उववज्जंति रयणप्पभापुढविणेरइएणं भंते ! जे भविए तिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु उववज्जेज्जा। तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति एवं जहा असुरकुमाराणं वत्तव्वया णवरं संघयणं पोग्गला अणिट्ठा अकंता जाव परिणमंति। ओगाहणा दुविहा पण्णत्ता तंजहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थणं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्तधणुइं तिण्णि रयणीओ छच्चंगुलाइं। तत्थणं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुसस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं पण्णरसधणुइं अट्ठाइज्जाओ रयणीओ। तेसिणं भंते ! जीवा सरीरगा किं संठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया। तत्थणं जे ते उत्तरवेउव्विया ते वि हुडसंठिया पण्णत्ता। एगा काउलेस्सा पण्णत्ता। चत्तारि समुग्घाया। णो इत्थीवेदगा णो पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा। ठिई जहण्णेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं सागरोवमं। एवं अणुबंधोवि सेसं तहेव। भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं सो चेव जहण्णकालट्ठितीएसु उववण्णो जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु उववज्जेज्जा उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तट्ठिती अवसेसं तहेव णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं तहेव उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा। एवं सेसावि सत्त गमगा भाणियव्वा जहेव णेरइयउद्देसए सण्णिपंचिंदियएण समं ऐरइयाणं मज्झिमएसु तिण्णि गमएणं पच्छिल्लएसु तिण्णि गमएसु ठितिणाणत्तं भवति सेसं तंचेव सव्वत्थ ठिती संबेहं च जाणेज्जा। सक्करप्पभापुढवीणेरइएणं भंते ! जे भविए एवं जहा रयणप्पभाए णव गमका तहेव सक्करप्पभाएवि णवरं सरीरोगाहणा जहा ओगाहणा संठाणे तिण्णि णाणा तिण्णि अण्णाणा णियमं ठिती अणुबंधो य पुव्वभणिया एवं णव गमगा उवउंजिऊण भाणियव्वा एवं जाव छट्ठ पुढवी णवरं ओगाहणा लेस्सा ठिती अणुबंधो संवेहो जाणियव्वा। अहेसत्तमा पुढवीणेरइएणं भंते ! जे भविए एवं चेव णव गमगा णवरं ओगाहणा लेस्सा ठिती अणुबंधा भाणियव्वा। संबेहो भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं छ भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं। आदिल्लएसु छसु गमएसु जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं छ भवग्गहणाइं। पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं चत्तारि भवग्गहणाइं लद्धी णवसु वि गमएसु जहा पढमगमएसु णवरं ठिईविसेसो कालादेसेणं १ विइयगमए जहण्णेणं बावीसं सागरावमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं २ तइयगमए जहण्णेणं बावीस सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइ तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइ। ३। चउत्थगमए जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं। ४। पंचमगमए जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं अतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं। ५। छट्ठगमए जहण्णेणं बावीसं सागरावमाइं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं

उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं ।६। सत्तमगमए जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं । ७ । अट्ठमगमए जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं । ८ । णवमगमए जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं एवइयं जाव करेज्जा । ६ ।

(उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएत्ति) नारकाणामसङ्ख्यातवर्षायुष्केष्वनुत्पादादिति (असुरकुमाराणवत्तव्वयत्ति) पृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानानामसुर कुमाराणां या वक्तव्यता परिमाणादिका प्रागुक्ता सेह नारकाणां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यमानानां वाच्या विशेषस्त्वयं नवरमित्यादि (जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ति) उत्पत्तिसमयापेक्षमिदम् । उक्कोसेणं सत्तधणुइं इत्यादि इदं च त्रयोदशप्रस्तटापेक्षं प्रथमप्रस्तटादिषु पुनरेवम् । 'रयणा ए पढमपयरे, इत्थतियं देहउस्सयं भणियं । छप्पणंगुलसड्ढा, पयरे पयरे य वुड्ढी उ ॥ १ ॥ उक्कोसेणं पण्णरसेत्यादि ॥ इयं च भवधारणीयावगाहनाया द्विगुणेति (समुग्घाया चत्तारित्ति) वैक्रियान्ताः । [सेसं तहेवत्ति] शेषं दृष्ट्यादिकं तथैव यथा असुरकुमाराणां सो चेवेत्यादि द्वितीयो गमः (अवसेसं तहेवत्ति) यथौधिकगमे (एवं सेसावि सत्त गमगा भाणियव्वत्ति) एवमित्यनन्तरोक्तगमद्वयक्रमेण शेषा अपि सप्त गमा भणितव्या नन्वत्रैवं करणीद्यादृशी स्थितिर्जघन्यात्कृष्टभेदादाद्ययोर्गमयोर्नारकाणामुक्ता तादृश्येव मध्यमेऽन्तिमे च गमत्रये प्राप्नोतीति । अत्रोच्यते (जहेव नेरइयउद्देसए इत्यादि) यथैव नैरयिकाद्देशकेऽधिकृतशतस्य प्रथमे संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिः सह नारकाणां मध्यमेषु त्रिषु गमेषु पश्चिमेषु च त्रिषु गमेषु स्थितिनानात्वं भवति तथैवेहापीति वाक्यशेषः (सरीरोगाहणा जाह ओगाहणा संठाणेत्ति) शरीरवगाहना यथा प्रज्ञापनाया एकविंशतितमे पदे सा च सामान्यत एवं ''सत्तधणु तिण्णिरयणी, छच्चेवय अंगुलाइं उच्चत्तं । पढमाए पुढवीए, विउणा विउणं च सेसासुत्ति ''१ (तिण्णि नाणा तिण्णि अण्णाणा नियमंति) द्वितीयादिषु सञ्ज्ञिभ्य एवोत्पद्यन्ते ते च त्रिज्ञानास्त्र्यज्ञाना वा नियमाद्भवन्तीति ॥ उक्कोसेणं छावट्ठीसागरोवमाइं इत्यादि॥ ३ ॥ इह भवानां कालस्य च बहुत्वं विवक्षितं तच्च जघन्यस्थितिकत्वे नारकस्य लभ्यते इति द्वाविंशतिसागरोपमायुर्नारको भूत्वा पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु पूर्वकोट्यायुर्जातः एवं वारत्रये षट्षष्टिसागरोपमाणि पूर्वकोटित्रयं च स्याद्यदि चोत्कृष्टस्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुर्नारको भूत्वा पूर्वकोट्यायुः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यते तदा वारद्वयमेवैवमुत्पत्तिः स्यात्ततश्च षट्षष्टिः सागरोपमाणि पूर्वकोटिद्वयं च स्यात् तृतीया तु तिर्यग्भवपूर्वकोटी न लभ्यत इति नोत्कृष्टता भवानां कालस्य च स्यादिति उत्पादितो नारकेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकः ।

अथ तिर्य्यग्योनिकेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

जदि तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजोणीहिंतो उववज्जंति एवं उववातो जहा पुढवीकाइयउद्देसए जाव पुढवीकाइएणं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइकाल० ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठिइएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडीआउएसु उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा एवं परिमाणादीया अणुबंधपज्जवसाणा जच्चेव अप्पणो सट्ठाणे वत्तव्वया सच्चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु वि उववज्जमाणस्स वि भाणियव्वा णवरं णवसु वि एमएसु परिमाणो जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति भवादेसेण वि णवसु गमएसु जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं सेसं तं चेव कालोदेसेणं उभयतो ठिई पकरेज्जा । जदि आउक्काइएण वि एवं जाव चउरिंदिया उववातेयव्वो णवरं सव्वत्थ अप्पणो लद्धी भाणियव्वा णवसु वि गमएसु भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं कालादेसेणं उभओठितिं करेज्जा सव्वेसिं सव्वगमएसु जहेव पुढवीकाइएसु उववज्जमाणाणं लद्धी तहेव सव्वत्थ ठिइं संबेहं च जाणेज्जा । जइ पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सण्णिपंचिंदियभेदे जहेव पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स जाव असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकाल० ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिइएसु उववज्जंति । तेणं भंते ! अवसेसं जहेव पुढवीकाइएसुउववज्जमाणस्स असण्णिस्स तहेव णिरवसेसं जाव भवादेसोत्ति । कालादेसणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडी पुहुत्तमब्भहियं एवइयं । विइयगमए एस चेव लद्धी णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ एवइयं । सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववज्जइ जहण्णेणं दो पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठितिं उववज्जंति । तेणं भंते ! जीवा एवं जहा रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स असण्णिस्स तहेव णिरवसेसं जाव कालादेसोत्ति णवर परिमाणं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति सेसंत्तं चेव अप्पणा जहण्ण कालट्ठिईओ जाओ जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जंति तेणं भंते !अवसेसं जहा एयस्स पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु जाव अणुबंधोत्ति । भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ । सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं दो

अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं अट्ठ अंतोमुहुत्ता एवइयं सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं पुव्वकोडिआउएसु उक्कोसेण वि पुव्वकोडिआउएसु उववज्जइं एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जाणेज्जा। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ सो चेव पढमगमगवत्तव्वया णवरं ठिई से जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तं चेव। कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं एवइयं। सो चेव जहण्णकालट्ठितीएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया जहा सत्तमगमए णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारिपुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ एवइयं। सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववण्णो जहण्णेणं पलिआवमस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागं एवं जहा रयणप्पभाए जहण्णेणं उववज्जमाणस्स असण्णिस्स णवमं गमं तहेव णिरवसेसं जाव कालादेसोत्ति णवरं परिमाणं जहा एतस्सेव ततियगमे सेसं तं चेव। जदि सण्णिपंचिंदिय तिरिक्खजाणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासा असंखेज्जवासाउय? गोयमा! संखेज्जवासा णो असंखेज्जवासा। जदि संखेज्जवासाउय जाव किं पज्जत्तसंखेज्ज० अपज्जतसंखेज्ज० दोस वि। संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते! केवति? गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा। तेणं भंते! अवसेसं जहा एयस्स चेव सण्णिस्स रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स पढमगमए णवरंओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोअणसहस्सं सेसं तं चेव जाव भवादेसो, कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडी पुहुत्तमब्भहियाइं एवइयं कालं। सो चेव जहण्णकालट्ठितीएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेण जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडिओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ। सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववण्णो जहण्णेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु उक्कोसेण वि तिपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जंति। एस चेव वत्तव्वया णवरं परिमाणं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति। ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोअणसहस्सं सेसं तं चेव जाव अणुबंधोत्ति। भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठितीओ जाओ जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जंति लद्धी से जहा एतस्स चेव सण्णिपंचिंदियस्स पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स मज्झिल्लएसु तिसु गमएसु सव्वेव इहवि मज्झिमेसु तिसु गमएसु कायव्वा संबेहो जहेव एत्थ चेव असण्णिमज्झिमेसु तिसु गमएसु सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ जहा पढमगमएसु णवरं ठिती अणुबंधो जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडी पुहुत्तमब्भहियाइं, सो चेव जहण्णकालट्ठिइएसु उववण्णो, एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं तिपलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि तिपलिओवमट्ठिईएसु अवसेसं तं चेव णवरं परिमाणं ओगाहणा जहा एतस्सेव तइयगमए भवादेसेणं दोभवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेणवि तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा। जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सेहिंतो असण्णिमणुस्से? गोयमा! सण्णिमणुस्सेहिंतो असण्णिमणुस्से। असण्णिमणुस्सेणं भंते! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति सेणं भंते! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जंति? गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जंति लद्धी से तिसु वि गमएसु जहेव पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स संबेहो जहा एत्थ- चेव असण्णिस्स पंचिंदियस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु तहेव णिरवसेसं भाणियव्वं। जदि सण्णिमणुस्स०किं संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्स असंखेज्ज वासाउय०? गोयमा! सण्णिमणुस्ससंखेज्जवासाउय णो असंखेज्जवासाउय। जइ संखेज्जवासा किं पज्जत्तसंखेज्जवासा अपपज्जत्तसंखेज्जवासा? गोयमा! पज्जत्तसंखेज्जवासा अपज्जत्तसंखेज्जवासा। सण्णि मणुस्सेणं भंते! जे भविए पंचिदियतिरिक्ख० जाव उववज्जित्तए सेणं भंते! केवइ? गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिईएसु उववज्जंति तेणं भंते! लद्धी जहा एतस्सेव सण्णिमणुस्सपुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स पढमगमए जाव भवादेसोत्ति। कालादेसेणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइं सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो सव्वेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो जह-

ण्णेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि तिण्णि पलिओवमट्ठिईएसु सव्वेव वत्तव्वया णवरं आगाहणा जहण्णणं अंगुलपुहुत्तं उक्कोसेणं पंचधणुहसयाइं ठिई जहण्णेण मासपुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी एव अणुबंधो वि भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ जहा सण्णिपंचिंदिय तिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु वत्तव्वया भाणिया सव्वेव एयस्स वि मज्झिमएसु तिसु गमएसु णिरवसेसा भणिया णवरं परिमाणं उक्कोसेणं संखेज्जावा उववज्जंति सेसं तं चेव। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ सव्वेव पढमगमगा वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहण्णेणं पंच धणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुहसयाइं ठिई अणुबंधो जहण्णण पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तं चेव जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा सो चेव जहण्णजालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया उक्कोसेणं पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसेणवि तिण्णि पलिओवमाइं एस चेव लद्धी जहेव सत्तमगमए। भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेण ९ । जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतरजोइसिय-वेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! भवणवासिदेवेहिंतो वि उववज्जंति जाव वेमाणियदेवेहिंतो वि उववज्जंति । जइ भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति किं असुरकुमारभवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति जाव थणियकुमारभवणवासि० ? गोयमा ! असुरकुमार भवण जाव थणियकुमारभवणवासि० असुरकुमारेणं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइय० ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडिट्ठिईएसु उववज्जेज्जा असुरकुमाराणं लद्धी णवसु वि गमएसु जहा पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स एवं जाव ईसाणस्स देवस्स तहेव लद्धी भवादेसेणं सव्वत्थ अट्ठ भवग्गहणाइं उक्कोसेणं जहण्णेणं दोण्णि ठितिं संबेहं च जाणेज्जा। णागकुमाराणं भंते ! जे भविए एस चेव वत्तव्वया णवरं ठितिं संबेहं च जाणेज्जा। एवं जाव थणियकुमारे जइ वाणमंतरेहिंतो उववज्जंति किं पिसायवाणमंतरे तहेव जाव वाणमंतरेणं भंते ! जे भविए पंचिदियतिरिक्ख० एवं चेव णवरं ठितिं संबेहं च जाणेज्जा। जई जोइसिय० उववाओ तहेव जाव जाइसिएण भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्ख एस चेव वत्तव्वया जहा पुढवीकाय उद्देसए भवग्गहणाइं णव वि गमएसु अट्ठ जाव कालादेसेणं जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवम अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं चउहिं य वाससयसहस्सेहिं। अब्भहियाइं एवइयं जाव गतिरागतिं करेज्जा। णवसु गमएसु णवरं ठितिं संबेहं च जाणेज्जा। जइ वेमाणियदेव० किं कप्पोववण्णगवे० कप्पातीता ? गोयमा ! कप्पोववण्णगवेमाणिया णो कप्पातीता वेमाणिया। जइ कप्पोववण्णग जाव सहस्सारकप्पोववण्णग-वेमाणियादेवेहिंतो उववज्जंति णो आणय० जाव णो अच्चुयकप्पोववण्णगवेमाणिया । सोहम्मगदेवाणं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्ख जाव उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु सेसं जहेव पुढवीकाइयउद्देसए णवसु वि गमएसु जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं ठितिं कालादेसं च जाणेज्जा एवं ईसाणदेवे वि। एवं एएणं कमेणं अवसेसा जाव सहस्सारो देवेसु उववातेयव्वो णवरं ओगाहणा जहा ओगाहणा संठाणे लेस्सासणकुमार-माहिंदबंभलोएसु एगा पम्हलेस्सा सेसाणं एगा सुक्कलेस्सा वेदे णो इत्थीवेदगा पुरिसवेदगा णो णपुंसगवेदगा। आउअणुबंधा जहा ठिइपदे सेसं जहेव ईसाणगाणं कायसंबेहं च जाणेज्जा। सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

(जच्चेव अप्पणो संठाणे वत्तव्वयत्ति।) यैवात्मनः पृथिवीकायिकस्य स्वस्थाने पृथिवीकायिकलक्षणे उत्पद्यमानस्य वक्तव्यता भणिता सैवात्रापि वाच्या केवलं तत्र परिमाणद्वारे प्रतिसमयमसंख्येया उत्पद्यन्ते इत्युक्तमिह त्वेकादिरित्येतदेवाह नवरमित्यादि ॥ तथा पृथिवीकायिकेभ्यः पृथिवीकायिकस्योत्पद्यमानस्य सम्बेधद्वारे प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमगमेषूत्कर्षतोऽसंख्यातानि भवग्रहणान्युक्तानि शेषेषु त्वष्टौ भवग्रहणानि इह पुनरष्टावेव नवस्वपीति। तथा (कालादेसेणं उभयओ ठिईए करेज्जत्ति) कालादेशेन सम्बेधं पृथिवीकायिकस्य सज्ञिपञ्चे न्द्रियतिरश्चश्च स्थित्या कुर्यात् तथाहि–प्रथमे गमे (कालएसेण जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ताइंति) पृथिवीसत्कं पञ्चेन्द्रियसत्कं चेति उत्कर्षतोऽष्टाशीतिर्वर्षसहस्राणि पृथिवीसत्कानि चतस्रश्च पूर्वकोट्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सत्का एवं शेषगमेष्वप्यूह्यः सम्बेध इति (सव्वत्थअप्पणो लद्धी भाणियव्वत्ति)। सर्व्वत्राप्कायिकादिभ्यश्चतुरिन्द्रियान्तेभ्यः उद्वतानां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पादितानाम्। (अप्पणोत्ति) अप्कायादिसत्का लब्धिः परिमाणादिका भणितव्या सा च प्राक्तनसूत्रेभ्याऽवगन्तव्या। अथानन्तरोक्तमेवार्थं स्फुटतरमाह ''जहेव पुढविकाइएसु उववज्जमाणाणमित्यादि'' यथा पृथिवीकायिकेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यमानानां जीवानां लब्धिरुक्ता तथैवाप्कायिकादिभ्यश्चतुरिन्द्रियान्तभ्य उत्पद्यमानानां सा वाच्येति असज्ञिभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यगुत्पादाधिकारे

(उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागट्ठिईएसुत्ति) अनेनासज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामसंख्यातवर्षायुष्केषु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पत्तिरुक्ता (अवसेसं जहेवेत्यादि) अवशेषं परिमाणादिद्वारजातं यथा पृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानस्यासज्ञिनः पृथिवीकायिकोद्देशकेऽभिहितं तथैवासज्ञिनः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्य-मानस्य वाच्यमिति (उक्कोसेण पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियंति) कथमसज्ञी पूर्वकोट्यायुष्कः पूर्वकोट्यायुष्केष्वेव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पन्न इत्येवं सप्तसु भवग्रहणेषु सप्त पूर्वकोट्योऽष्टमभवग्रहणे तु मिथुनकतिर्यक्षु पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणायुष्केषूत्पन्न इति, तृतीय गमे (उक्कासण सखेज्जा उववज्जंति त्ति) असंख्यातवर्षायुषां पञ्चेन्द्रियतिरश्चामसंख्या-तानामभावादिति। चतुर्थगमे (उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु उववज्जेज्जति) जघन्यायुरसज्ञी संख्यातायुष्केष्वेव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यत इति कृत्वा पूर्वकोट्यायुष्केष्वित्युक्तम् ॥ अवसेसं जहा एयस्सेत्यादि ॥ इहावशेषं परिमाणादि एतस्यासज्ञितिर्यक् पञ्चेन्द्रियस्य (मज्झिमेसुत्ति) जघन्यस्थितिकगमेषु एवं जहा रयणप्पभाए इत्यादि तच्च संहननोच्चत्वादि अनुबन्धसंबेधान्तं नवरं परिमाणमित्यादि ॥ तच्चेदं [उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंतित्ति]अथ सज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यः सज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च-मुत्पादयन्नाह ''जदि सण्णीत्यादि'' (अवसेसं जहा एयस्य चेव सण्णिस्सत्ति) अवशेषं परिमाणादि तथैतस्यैव सज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च इत्यर्थः केवलं तत्रावगाहना सप्तधनुरित्यादिकोक्ता इह तूत्कर्षतो योजनसहस्रमाना सा च मत्स्यादीनाश्रित्यावसेयेति । एतदेवाह नवरमित्यादि (उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्त-मब्भहियाइंति) अस्य च भावना प्रागिवेति ॥ लद्धी से जहा एयस्स चेवेत्यादि ॥ एतच्च तत्सूत्राऽनुसारेणैवावगन्तव्यम्। संबेहो जहेवेत्यादि (एत्थचेवत्ति) अत्रैव पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशके स चैवं भवादेशेन जघन्यतो द्वौ भवौ उत्कृष्टतस्त्वष्ट भवाः कालादेशेन जघन्येन द्वे अन्तर्मुहूर्ते उत्कर्षतश्चतस्रः पूर्वकोट्योऽन्तर्मुहूर्तचतुष्काधिका एवं जघन्यस्थितिकः औधिकेष्वित्यत्र संबेधो जघन्यस्थितिको जघन्यस्थितिकेष्वित्यत्र चान्तर्मुहूर्तैः संबेधः जघन्यस्थितिक उत्कृष्टस्थितिकेष्वित्यत्र पुनरन्तर्मुहूर्तैः पूर्वकोटीभिश्च संबेध इति । नवमगमे नवरं परिमाणमित्यादि ॥ तत्र परिमाणमुत्कर्षतः संख्याता उत्पद्यन्ते, अवगाहना चोत्कर्षतो योजनसहस्रमिति । अथ मनुष्येभ्यस्त-मुत्पादयन्नाह जइ मणुस्सेहिंतो इत्यादि (लद्धी से तिसु वि गमएसुत्ति) लब्धिः परिमाणादिका। (से) तस्यासज्ञिमनुष्यस्य त्रिष्वपि गमेष्वाद्येषु यतो नवानां गमानां मध्ये आद्या एवेह त्रयो गमाः सम्भवन्ति, जघन्यतोऽप्युत्कर्षतोऽपि चान्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वात्तस्येति । (एत्थचेवत्ति) अत्रैव पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशकसज्ञि पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यगुत्पादाधिकारे (नो असंखेज्जवासाउएहिंतोत्ति) असंख्यातवर्षायुषो मनुष्या देवेष्वेवोत्पद्यन्ते न तिर्यक्ष्विति लद्धी से इत्यादि लब्धिः परिमाणादिप्राप्तिः । (से) तस्य सज्ञिमनुष्यस्य यथैतस्यैव सज्ञिमनुष्यपृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानस्य प्रथमगमेऽ-भिहिता, सा चैवं परिमाणतो जघन्येनैको द्वौ वोत्कर्षेण तु संख्याता एवोत्पद्यन्ते स्वभावतोऽपि संख्यातत्वात्सज्ञिमनुष्याणां तथा षड्विधसंहननिनः उत्कर्षतः पञ्चधनुःशतावगाहनाः षड्विधसंस्थानिनः षट् लेश्याः त्रिविधा दृष्टयः भजनया चतुर्ज्ञानास्त्र्यज्ञानाश्च त्रियोगाः द्विविधोपयोगाश्चतुःसंज्ञाः चतुष्कषायाः, पञ्चेन्द्रियाः, षट्समुद्घाताः, सातासातवेदनास्त्रिविधा वेदाः जघन्येनान्तर्मुहूर्तस्थितयः उत्कर्षेण तु पूर्वकोट्यायुषः प्रशस्तेतराध्यवसानाः । स्थितिः समानानुबन्धा, कायसंबेधस्तु भवादेशेन जघन्यतो द्वौ भवौ उत्कर्षतोऽष्टौ भवाः कालादेशेन तु लिखित एवास्ते । १ । [द्वितीयगमे सचव वत्तव्वयत्ति] प्रथमगमोक्ता केवलमिह संबेधकालादेशेन जघन्यतो द्वे अन्तर्मुहूर्ते उत्कर्षतश्चतस्रः पूर्वकोट्यश्चतुरन्तर्मुहूर्ताधिकाः तृतीयेऽप्येवं नवरम् [ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलपुहत्तत्ति] अनेनेदमवसितमङ्गुल-पृथक्त्वाद्धीनतरशरीरो मनुष्यो नोत्कृष्टायुष्केषु तिर्यक्षूत्पद्यते, तथा (मासपुहुत्तंति) अनेनापि मासपृथक्त्वाद्धीनतरायुष्को मनुष्यो नोत्कृष्टस्थितिषु तिर्यक्षूत्पद्यत इत्युक्तं ''जहा सन्नि पंचिंदियतिरि-क्खजोणियस्स पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्सेत्यादि'' सर्वथैव समता परिहारार्थमाह। नवरं परिमाण मित्यादि। तत्र परिमाणद्वारे उत्कर्षतोऽसंख्येयास्ते उत्पद्यन्त इत्युक्तमिहतु सज्ञिमनुष्याणां संख्येयत्वेन संख्येया उत्पद्यन्त इति वाच्यम्। संहननादिद्वाराणि तु यथा तत्रोक्तानि तथेहावगन्तव्यानि तानि चैवं तेषां षट् संहननानि, जघन्योत्कर्षाभ्यामङ्गुलासंख्येयभागमात्राऽवगाहना, षट् संस्थनानि, तिस्रो लेश्याः मिथ्यादृष्टी द्वे अज्ञाने कायरूपो योगो द्वावुपयोगौ, चतस्रः संज्ञाश्चत्वारः कषायाः पञ्चेन्दियाणि, त्रयः समुद्घाता द्वे वेदने त्रयो वेदा जघन्योत्कर्षाभ्यामन्तर्मुहुर्तप्रमाणमायुरप्रशस्तान्यध्यवसायस्थानान्यायुः समानोऽनुबन्धकायसंबेधस्तत्र भवादेसेणं जघन्येन द्वे भवग्रहणे उत्कर्षत-स्त्वष्टौ भवग्रहणानि कालादेशेन तु सज्ञिमनुष्यपञ्चेन्द्रियतिर्यक्स्थित्य-नुसारतोऽवसेय इति । अथ देवेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चमुत्पादयन्नाह— जइदेवेहीत्यादि [असुरकुमाराणलद्धीति] असुरकुमाराणां लब्धिः परिमाणादिका [एवं जाव ईसाणदेवस्सत्ति] यथा पृथिवीकायिकेषु देवस्यात्पत्तिरुक्ता असुरकुमारादावीशानकदेवं चान्ते कृत्वैवं तस्य पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु सा वाच्या, ईशानकान्त एव च देवः पृथिवीकायिकेषूत्पद्यत इति कृत्वा यावदीशानकदेवस्येत्युक्तम् असुरकुमाराणां चैवं लब्धिरेकाद्यसंख्येयान्तानां तेषां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु समयेनोत्पादः। तथा संहननाभावः जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमानो-त्कर्षतः सप्तहस्तमाना भवधारणीयावगाहना इतरा तु जघन्यतोऽङ्गु-लासंख्येयभागमाना, उत्कर्षतस्तु योजनलक्षमाना संस्थानसमचतुर-स्रम्, उत्तरवैक्रियापेक्षया तु नानाविधं चतस्रो लेश्यास्त्रिविधा दृष्टिः त्रीणि ज्ञानान्यवश्यमज्ञानानि च भजनया, योगादीनि पञ्च पदानि प्रतीतानि समुद्घाता आद्याः पञ्च वेदना द्विविधो वेदो नपुंसकवर्जः स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि जघन्येतरा तु सातिरेकं सागरोपमं शेषद्वारद्वयं तु प्रतीतं सामान्यत आहभवादेसेणं सव्वत्थेत्यादि । नागकुमारादि-वक्तव्यता तु सूत्रानुसारेणोपयुज्य वाच्या [ओगाहणा जहा ओगाहणा संठाणेति] अवगाहना यथा अवगाहनासंस्थाने प्रज्ञापनाया एकविंशतितमे पदे तत्र चैवं देवानामवगाहना ''भवणवणजोइसी, सोहम्मीसाणे सत्त हुंति रयणीओ। एक्केक्कहाणिसेसे, दुदुगे य दुगे चउक्केये'' त्यादि ॥ १ ॥ [जहाठितिपएत्ति] प्रज्ञापनायाश्चतुर्थपदे स्थितिश्च प्रतीतैवेति।

मनुष्याणाम्—

मणुस्साणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णेरइएहिंतो वि उववज्जंति जाव देवेहिंतो वि उववज्जंति एवं उववातो जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणिए उद्देसए जाव तमा पुढवी णेरइएहिंतो वि उववज्जंति णो अहेसत्तसमाए पुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति । रयणप्पभापुढ—

वी णेरइयाणं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जंति से णं भंते ! केवइयकाल० ? गोयमा ! जहण्णेणं मासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु अवसेसा वत्तव्वया जहा पंचिंदियतिरिक्ख-जोणिएसु उववज्जंति तहेव णवरं परिमाणं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति जहा तहिं अंतोमुहुत्तेहिं तहा इह मासपुहुत्तेहिं संवेहं च करेज्जा सेसं तं चेव जहा रयणप्पभाए वत्तव्वया तहा सक्करप्पभाएवि णवरं जहण्णेणं वासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी ओगाहणा लेस्सा णाणट्ठिई अणुबंधसंवेहं णाणत्तं च जाणेज्जा जहेव तिरिक्खजोणियउद्देसए एवं जाव तमा पुढवीणेरइए । जइ तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति गोयमा ! एगिंदियतिरिक्खजोणिए भेदो जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणिसउद्देसए णवरं तेऊ वाऊ पडिसेहेयव्वा सेसं तं चेव जाव पुढविकाइएणं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइ० ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आइएसु उववज्जिज्जा । तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स पुढवीकाइयवत्तव्वया सव्वेव इह वि उववज्जमाणस्स णवसु वि गमएसु णवरं तइयछट्ठणवमेसु गमएसु परिमाणं जहण्णणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति जहेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ भवइ तहेव पढमगमए अज्झवसाणा पसत्था वि अप्पसत्था वि । बिइयगमए अप्पसत्था तइयगमए पसत्था भवंति सेसं तं चेव णिरवसेसं । जइ आउकाइए एवं वाउक्काइएण वि एवं वणस्सइकाइएण वि एवं जाव चउरिंदियाणं असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिया सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिया असण्णिमणुस्सा सण्णिमणुस्सा एए सव्वेवि । जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियउद्देसए तहेव भाणियव्वा णवरं एताणि चेव परिमाणं अज्झवसाणणाणत्ताणि जाणिज्जा । पुढवीकाइयस्स एत्थ चेव उद्देसए भणियाणि सेसं तहेव णिरवसेसं । जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतरभोइसियवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! भवणवासिदेवेहिंतो वि उववज्जंति जाव वेमाणियदेवेहिंतो वि उववज्जंति । जइ भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति किं असुरकुमारभवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति जाव थणियकुमारभवणवासि० ? गोयमा ! असुरकुमारभवणवासि० जाव थणियकुमार उववज्जंति । असुरकुमारेणं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु ? गोयमा ! जहण्णेणं मासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडि आउएसु एवं जा चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियउद्देसए वत्तव्वया सा चेव एत्थ वि भाणियव्वा णवरं जहा तहिं जहण्णगं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु तहा इह वि मासपुहुत्तट्ठिईएसु परिमाणं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति सेसं तं चेव जाव ईसाणदेवोत्ति । एयाणि चेव णाणत्ताणि सणंकुमारादीया जाव सहस्सारोत्ति जहेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियउद्देसए णवरं परिमाणं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति । उववातो जहण्णेणं वासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जंति सेसं तं चेव संवेहं मासपुहुत्तपुव्वकोडीसु करेज्जा । सणंकुमारट्ठिई चउगुणिया अट्ठावीसं सागरोवमा भवंति, माहिंदे ताणि चेव सातिरेगाणि । बंभलोए चत्तालीसं लंतए छप्पणं महासुक्के अट्ठसट्ठिं सहस्सारे वावत्तरिं सागरोवमाइं एसा उक्कोसा ठिई भणिया जहण्णट्ठितिं पि चउगुणेज्जा । आणयदेवेणं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ कालट्ठिईएसु ? जहण्णेणं वासपुहुत्तट्ठिईएसु उववज्जेज्जा उक्कोसेणं पुव्वकोडिट्ठिईएसु । तेणं भंते ! एवं जहेव सहस्सारो देवाणं वत्तव्वया णवरं ओगाहणा ठितिं अणुबंधं जाणेज्जा सेसं तं चेव । भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं छ भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं अट्ठारससागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं सत्तावण्णं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं सेवेज्जा । एवसं णववि गमगा णवरं ठिई अणुबंधसंवेहं च जाणेज्जा एवं जाव अच्चुयदेवे णवरं ठिई अणुबंधसंवेहं च जाणेज्जा । पाणयदेवस्स ठिई तिगुणा सट्ठिं सागारोवमाइं आरणस्स तेवट्ठिं सागारोवमाइं अच्चुयस्स छावट्ठिं सागरोवमाइं जइ कप्पातीतवेमाणिय देवेहिंतो उववज्जंति किं गेवेज्जगकप्पातीतदेवेहिंतो उववज्जंति अणुत्तरोववाइयकप्पातीतवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! गेवेज्जगकप्पातीत अणुत्तरोववाइयवेमाणिय० । जइ गेविज्जगकप्पातीतवेमाणियदेवे० किं हेट्ठिमगेवेज्जग कप्पातीतवेमाणिय० जाव उवरिम २ गेवेज्जग० गोयमा ! हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जगकप्पातीत जाव उवरिम २ गेवेज्जगकप्पातीत० । गेवेज्जगदेवेणं भंते ! जे भविए मणुस्से सू उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं वासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जेज्जा अवसेसं जहा आणयदेवस्स वत्तव्वया णवरं ओगाहणा एगे भवधारणिज्जसरीरए से जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं दो रयणीओ संठाणं एगे भवधारणिज्जसरीरए से समचउरंससंठाणसंठिए, पंच समुग्घाया पण्णत्ता तं जहा वेयणासमुग्घाए जाव तेयगसमुग्घाए ! णो चेव णं वेउव्वियतेय

गसमुग्घाएहिं समोहाणिंसु वा समोहणंति वा समोहणिस्संति वा ठितिं अणुबंधा जहण्णेणं वावीसं सागरोवमाइं उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं सेसं तं चेव कालादेसेणं वावीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तेणउत्ति सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं एवं सेसेसु वि अट्ठमगमएसु णवरं ठिती संवेहे च जाणेज्जा जइ अणुत्तरोववाइयकप्पातीत-वेमाणियदेवेहिंतो उववज्जं ति किं विजयअणुत्तरोववाइयवेमाणिय० वेजयंतअणुत्तरोववाइय जाव सव्वट्ठसिद्धगअणुत्तरोववाइयकप्पा–तीत० ? गोयमा ! विजयअणुत्तरोववाइयकप्पातीत जाव सव्वट्ठसिद्धग-अणुत्तरोववाइय। विजयवेजयंतजयंतअपराजितदेवेण भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उवव० से णं भंते ! केवइकालट्ठिइएसु एवं जहेव गेवेज्जगदेवाणं णवरं ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं एगा रयणी सम्मद्दिट्ठी णो मिच्छद्दिट्ठी णो सम्मामिच्छद्दिट्ठी णाणी णो अण्णाणी णियमं तिण्णाणी तं जहा–आभिणिबोहियणाणी सुअणाणी ओहिणाणी ठिई जहण्णेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं सेसं तं चेव भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं चत्तारि भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा। एवं सेसा वि अट्ठ गमगा भाणियव्वा, णवरं ठिईअणुबंधसंवेहं च जाणेज्जा। सेसं तं चेव सव्वट्ठसिद्धगदेवेणं भंते ! जे भविए मणुए सव्वेव विजयादिदेववत्तव्वया भाणियव्वा णवरं ठिई अजहण्णमणुक्कोसं तेत्तीसं सागरोवमाइं एवं अणुबंधो वि सेसं तं चेव भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीस सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडिए अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं एए चेव तिण्णि गमा सेसा णं भण्णइ, सेवं भंते भंतेत्ति॥

[जहण्णेणं मासपुहुत्तट्ठिइएसुत्ति] अनेनेदमुक्तं रत्नप्रभानारका जघन्यं मनुष्यायुर्बध्नन्तो मासपृथक्त्वाद्धीनतरं न बध्नन्ति तथाविधपरिणामाभावादित्येवमन्यत्रापि कारणं वाच्यं, तथा परिमाणद्वारे (उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंतित्ति) नारकाणां सम्मूर्च्छिमेषु मनुष्येषूत्पादाभावाद्गर्भजानां च सङ्ख्यातत्वानतिवर्तित्वात्संख्याता उत्पद्यन्त इति (जहा तहिं अंतो मुहुत्तेहिं तहा इदं मासपुहुत्तेहिं संबेहं करेज्जत्ति) यथा तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशके रत्नप्रभानारकेभ्यः उत्पद्यमानानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वादन्तर्मुहूर्तैः सम्बेधः कृतः तथेह मनुष्योद्देशके मनुष्याणा जघन्यस्थितिमाश्रित्य मासपृथक्त्वैः सम्बेधः कार्य इति भावः तथाहि ''कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं इत्यादि'' शर्कराप्रभादि-वक्तव्यता तु पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशकानुसारेणावसेयेति। अथ तिर्यग्भ्यो मनुष्यमुत्पादयन्नाहजइतिरिक्खत्यादि इह पृथिवीकायादुत्पद्यमानस्य पञ्चेन्द्रियतिरश्चो या वक्तव्यतोक्ता सैव तत उत्पद्यमानस्य मनुष्यस्यापि एतदेवाहएवं जच्चेवेत्यादि विशेषं पुनराह–नवरं 'तइएत्यादि' तत्र तृतीये औधिकेभ्यः पृथिवीकायिकेभ्यः उत्कृष्टस्थितिषु मनुष्येषु ये उत्पद्यन्ते उत्कृष्टतः सङ्ख्याता एव भवन्ति, यद्यपि मनुष्याः सम्मूर्च्छिमसंग्रहादसङ्ख्याता भवन्ति तथाप्युत्कृष्टस्थितयः पूर्वकोट्यायुषः संख्याता एव पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चस्त्वसंख्याता अपि भवन्तीति, एवं षष्ठे नवमे चेति 'जाहेअप्पणेत्यादि' अयमर्थो मध्यमगमानां प्रथमगमे औधिकेषूत्पद्यमानतायामित्यर्थः। अध्यवसानानि प्रशस्तानि उत्कृष्टस्थितिकत्वेनोत्पत्तावप्रशस्तानि च जघन्यस्थितिकत्वेनोत्पत्तौ (वीयगमएत्ति) जघन्यस्थितिकस्य जघन्यस्थितिषूत्पत्तावप्रशस्तानि प्रशस्ताध्यवसानेभ्यो जघन्यस्थितिकत्वेनानुत्पत्तेरिति, एवं तृतीयोऽपि वाच्यः। अप्कायिकादिभ्यश्च तदुत्पादमतिदेशेनाहएवम् आउक्काइयाणवीत्यादि–देवाधिकारेएवं जाव ईसाणो देवोत्तियथा असुरकुमारा मनुष्येषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकोद्देशकवक्तव्यता अतिदेशेनोत्पादिता एवं नागकुमारादय ईशानान्ता उत्पादनीयाः समानवक्तव्यत्वाद्यथा च तत्र जघन्यस्थितेः परिमाणस्य च नानात्वमुक्तं तथैतेष्वप्यत एवाह–''एयाणि चेव नाणत्ताणित्ति '' सनत्कुमारादीनां तु वक्तव्यतायां विशेषोऽस्तीति तां भेदेन दर्शयति–सणंकुमारेत्यादि (एसा उक्कोसट्ठिई भणियत्ति) यदा औधिकेभ्य उत्कृष्टस्थितिकेभ्यश्च देवेभ्य औधिकादिमनुष्येषूत्पद्यते तदोत्कृष्टा स्थितिर्भवति सा चोत्कृष्टसंबेध-विवक्षायां चतुर्भिर्मनुष्यभवैः क्रमेणान्तरिता क्रियते ततश्च सनत्कुमारादिदेवानामष्टाविंशत्यादिसागरोपममाना भवति सप्तादिसागरोपमप्रमाणत्वात्तस्या इति। यदा पुनर्जघन्यस्थितिकदेवेभ्य औधिकादिमनुष्येषूत्पद्यते तदा जघन्यस्थितिर्भवति सा तथैव चतुर्गुणिता सनत्कुमारादीनामष्टादिसागरोपममाना भवति द्व्यादिसागरोपममानत्वात्तस्या इति। आणयदेवेणमित्यादि उक्कोसेणं छब्भवग्गहणाइति॥ त्रीणि दैविकानि त्रीण्येव क्रमेण मनुष्यसत्कानीत्येवं षट् [कालादेसेणं जहण्णेणं अट्ठारस सागरोवमाइंति] आनतदेवलोके जघन्यस्थितेरेवंभूतत्वात् [उक्कोसेणं सत्तावणं सागरोवमाइंति] आनते उत्कृष्टस्थितेरेकोनविंशतिसागरोपमप्रमाणाया भवत्रययगुणनेन सप्तपञ्चाशत्सागरोपमाणि भवन्तीति, ग्रैवेयकाधिकारे [एगेमवधारणिज्जए सरीरेत्ति] कल्पातीतदेवानामुत्तरवैक्रियं नास्तीत्यर्थः ''नोचेवणं वेउव्विएत्यादि'' ग्रैवेयकदेवानामाद्याः पञ्च समुद्घाता लब्ध्यपेक्षया सम्भवन्ति, केवलं वैक्रियतैजसाभ्यां न ते समुद्घातं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा प्रयोजनाभवादित्यर्थः [जहण्णेणं वावीसं सागरोवमाइंति] प्रथमग्रैवेयके जघन्येन द्वाविंशतिस्तेषां भवति [एक्कोसेणं एक्कतीसंति] नवग्रैवेयके उत्कर्षत एकत्रिंशतामिति [ए–

क्कोसेणं तेण उतिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइ ति उत्कृष्टतः षड् भवग्रहणानि ततश्च त्रिषु देवभवग्रहणेषूत्कृष्टस्थितिषु तिसृभिः सागरोपमाणामेकत्रिंशद्भिः त्रिनवतिस्तेषां स्यात् त्रिभिश्चोत्कृष्टमनुष्यजन्मभिस्तिस्रः पूर्वकोट्यो भवन्तीति सर्वार्थसिद्धिकदेवाधिकारेआद्या एव त्रयो गमा भवन्ति सर्वार्थसिद्धिकदेवानां जघन्यस्थितरेभावान्मध्यमं गमत्रयं न भवत्युत्कृष्टस्थितेरभावाच्चान्तिममिति। भ० २४श० २१ उ०।

देवानां व्यन्तराणाम्।

वाणमंतराणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खजोणिय० एवं जहेव णागकुमारउद्देसए असण्णि तहेव णिरवसेसं । जइ सण्णिपंदिय० जाव **असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदिय० जे भविए वाणमंतर से ण भंते ! केवइयकालं ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं** पलिओवमट्ठिईएसु सेसं तं चे व **जहा णागकुमारउद्देसए** जाव कालादेसेणं **जहण्णेणं साइरेगाइं पुव्वकोडी दसहिं** वाससहस्सेहिं **अब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो जहेव णागकुमाराणं विइयगम वत्तव्वया २ । सो चेव उक्कोसट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं पलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमट्ठिईएसु एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिई से जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं संबेहो जहण्णेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं एवइयं जावे करेज्जा ३ । मज्झिमगा तिण्णिवि जहेव णागकुमारेसु पच्छिमेसु तिसु गमएसु चेव जहाणागकुमारुद्देसए णवरं ठितिं संबेहं च जाणेज्जा ६ । संखेज्जवासाउय तहेव णवरे ठिई अणुबंधो संबेहं च उभओ ठिईए जाणेज्जा ६ जइ मणुसाय असंखेज्जवासाउय जहेव णागकुमाराणं उद्देसए तहेव वत्तव्वया णवरं तइयगमए ठिई जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं ओगाहणा जहण्णेणं गाउयं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं सेसं तं चेव संवेहो से जहा एत्थ चेव उद्देसए असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियाणं संखेज्जवासाउय सण्णिमणुस्सा जहेव णागकुमारुद्देसए णवरं वाणमंतरा ठिई संबेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥**

तत्रासङ्ख्यातवर्षायुः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाधिकारे [उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइंति] त्रिपल्योपमायुः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्पल्योपमायुर्व्यन्तरो जात इत्येवं चत्वारि पल्योपमानि द्वितीयगमे [जहेव णागकुमाराणं वीयगमे वत्तव्वयत्ति] सा च प्रथमगमसमानैव नवरं जघन्यत उत्कर्षतश्च स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि संबेधस्तु [कालाएसेणं जहन्नेणं साइरेगा पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियाइंति तृतीयगमे [ठिई से जहण्णेणं पलिओवमंति] यद्यपि सातिरेका पूर्वकोटी जघन्यतोऽसङ्घातवर्षायुषां तिरश्चामायुरस्ति तथापीह पल्योपममुक्तं पल्योपमायुष्कव्यन्तरेषूत्पादयिष्यमाणत्वात् यतोऽसंख्यातवर्षायुः स्वायुषो बृहत्तरायुष्केषु देवेषु नोत्पद्यत एतच्च प्रागुक्तमेवेति। [ओगाहणा जहण्णेणं गाउयंति] येषां पल्योपमायुस्तेषामवगाहना गव्यूतं ते च सुषमदुःषमायामिति। भ० २४ श० २२ उ०।

ज्योतिष्काणाम्।

**जोइसियाणं कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइयभेदो जाव सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति णो असण्णिपंचिंदियतिरिक्ख० जइ सण्णिपंचिंदिय० किं संखेज्जवासा उय सण्णिपंचिंदियतिरिक्ख० असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदिय-तिरिक्ख० ? गोयमा ! संखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्ख० असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति । असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए जोइसिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा अवसेसं जहा असुरकुमारुद्देसए णवरं ठिई जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधोवि सेसं तहेव णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं दो अट्ठभागपलिओवमाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं वाससयसहस्समब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ॥ १॥ सो चेव जहण्णकालट्ठिईसु उववण्णो जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेणवि अट्ठभागपलि-ओवमट्ठिईएसु उवव० एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसं च जाणेज्जा ॥ २ ॥ सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिई जहण्णेणं पलिओवमवाससयसहस्समब्भहियं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधोवि कालादेसेणं जहण्णेणं दो पलिओवमाइं दोहिं वाससयसहस्सेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं वाससयसहस्समब्भहियाइं॥ ३ ॥ सो चेव अप्पणा जहण्णकाल-ट्ठिईओ जाओ ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेणवि अट्ठभागपलिओव-मट्ठिईएसु उववज्जेज्जा। तेणं भंते ! जीवा एगसमए एस चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेणं सातिरेगाइं अट्ठारसधणुहसयाइं ठिई जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमं उक्कोसेणवि अट्ठभागपलिओवम एवं अणुबंधो वि सेसं तहेव। कालादेसेणं जहण्णेणं दो अट्ठभागपलिओवमाइं उक्कोसेणवि दो अट्ठभागपलिओवमाइं एवइयं जहण्णकालट्ठिईयस्स एस चेव एक्को गमो ॥ ६ ॥ सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ सव्वेव ओहिया वत्तव्वया णवरं ठिई जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसेणवि तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधोवि सेसं तं चेव एवं पच्छिमा तिण्णि गमगा णेयव्वा णवरं संबेहं च जाणेज्जा। एते सत्त गमगा। जइ संखेज्जवासाउय

सण्णिपंचिंदियसंखेज्जवासाउयाणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव णववि गमा भाणियव्वा णवरं जोइसियट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा, सेसं तहेव णिरवसेसं ६। जइमणुस्सेहिंतो उववज्जंति भेदो तहेव जाव असंखेज्जवासाउय सण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए जोइसिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! एवं जहा असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियजोइसिएसु चेव उववज्जमाणस्स सत्त गमगा तहेव मणुस्साणवि णवरं ओगाहणाविसेसो पढमेसु तिसु गमएसु ओगाहणा जहण्णेणं साइरेगाइं णवधणुहसयाइं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं मज्झिमगमए जहण्णेणं साइरेगाइं णवधणुहसयाइं उक्कोसेणवि साइरेगाइं नव धणुहसयाइं पच्छिमेसु तिसुवि गमएसु जहण्णेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेणवि तिण्णि गाउयाइं सेसं तहेव णिरवसेसं जाव संवेहोत्ति। जइ संखेज्जवासाउय सण्णिमणुस्से संखेज्जवासाउयाणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव णव गमगा भाणियव्व णवरं जोइसियट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। सेसं तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंतेत्ति॥

(जहण्णेणं दो अट्ठभागपलिओवमाइंति) द्वौ पल्योपमाष्टभागावित्यर्थः तत्रैकोऽसंख्यातायुष्कसम्बन्धी। द्वितीयस्तु तारकः ज्योतिष्कसम्बन्धीति। (उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं वाससयसहस्समब्भहियाइंति) त्रीण्यसंख्यातायुः सत्कानि एकं च सातिरेकं चन्द्रविमानज्योतिष्कसत्कमिति तृतीयगमे (ठिई जहण्णेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियंति) यद्यपि असंख्यातवर्षायुषां सातिरेका पूर्वकोटी च घन्यतः स्थितिर्भवति तथापीह पल्योपमं वर्षलक्षाभ्यधिकमुक्तःमेतत्प्रमाणायुष्केषु ज्योतिष्केषूत्पत्स्यमानत्वाद्यतोऽसंख्यातवर्षायुः स्वायुषो वृहत्तरायुष्केषु देवेषु नोत्पद्यते एतच्च प्रागुपदर्शितमेव। चतुर्थ गमे जघन्यकालस्थितिको-ऽसंख्यातवर्षायुरौधिकेषु ज्योतिष्केषूत्पन्नः तत्र चासंख्यातायुषो यद्यपि पल्योपमाष्टभागाद्धीनतरमपि जघन्यत आयुष्कं भवति तथापि ज्योतिषां ततो हीनतरं नास्ति स्वायुस्तुल्यायुर्बन्धकाश्चोत्कर्षतोऽसंख्यातवर्षायुष इतीह जघन्यतः स्थितिकास्ते पल्योपमाष्टभागायुषो भवन्ति, ते च विमलवाहनादिकुलकरकालात्पूर्व्वतरकालभुवो हस्त्यादय औधिकज्योतिष्का अप्येवं विधा एव तदुत्पत्तिस्थानं भवन्तीति। ''जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु इत्याद्युक्तम्'' ''ओगाहण जहण्णेणं धणुपुहत्तंति'' यदुक्तम् तत्पल्योपमाष्टभागमानायुषो विमलवाहनादिपूर्व्वतरकालभाविनो हस्त्यादिव्यतिरिक्तक्षुद्रकायचतुष्पदानपेक्ष्यावगन्तव्यम्। उक्कोसेणं साइरेगाइं अट्ठारसधणुसयांइति) एतच्च विमलवाहनकुलकरपूर्व्वतरकालभाविह स्त्यादीनपेक्ष्योक्तम्, यतो विमलवाहने नवधनुः शतमानावगाहनः तत्काल हस्त्यादयश्च तद्द्विगुणाः। यत्पूर्वतरकालभाविनश्च ते सातिरेकतत्प्रमाणा भवन्तीति (जहन्नकालट्ठिइयस्स एस चेव एक्को गमोत्ति)। पञ्चमषष्ठगमयोरत्रैवान्तर्भावात् यतः पल्योपमाष्टभागमानायुषो मिथुनकतिरश्चः पञ्चमगमे षष्ठगमे च पल्योमाष्टभागमान-मेवायुर्बध्नन्तीति प्राग्भावितं चैतदिति। सप्तमादिगमेषूत्कृष्टैव त्रिपल्योपमलक्षणतिरश्चः स्थितिः ज्योतिष्कस्य तु सप्तमे द्विधा प्रतीतैव अष्टमे पल्योपमाष्टभागरूपा नवमे सातिरेकपल्योपमरूपा संबेधश्चैतदनुसारेण कार्यः (एते सत्तगमगत्ति) प्रथमास्त्रयो मध्यमत्रयस्थाने एकः पश्चिमास्तु त्रय एवेत्येवं सप्त असंख्यातवर्षायुष्क-मनुष्याधिकारे (ओगाहणं साइरेगाइं नवधणुसयाइंति) विमलवाहनकुलकरपूर्वकालीनमनुष्यापेक्षया। (तिन्निगाउयाइंति) एतच्चैकान्तसुषमादिकालभाविमनुष्यापेक्षया (मज्झिमगमएत्ति) पूर्वोक्तनीतेस्त्रिभिरप्येक एवायमिति॥ भ० २४ श० २३ उ०। (असंदता अकामनिर्जरया मृत्वा देवलोकेषूपपद्यन्ते इति वाणमंतरशब्दे वक्ष्यते)

एवं वेमाणियावि सोहम्मीसाणगा भाणियव्वा एवं। सणंकुमारगावि नवरं असंखेज्जवासाउय अकम्मभूमिगवज्जेहिंतो उववज्जंति एवं जाव सहस्सारकप्पो वगवेमाणियदेवा भाणियव्वा॥ आणयदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं नेरइएहिंतो जाव देवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो नेरइएहिंतो नो तिरिक्खजोणिएहिंतो मणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो देवेहिंतो। जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो गब्भवक्कंतिय मणुस्सेहिंतो उववज्जंति? गोयमा ! गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो उववज्जंति। जदि गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति अकम्मभूमिगब्भवक्कंतिएहिंतो अंतरदिवएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो अकम्मभूमिगेहिंतो अंतरदिवगेहिंतो। जदि कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउ-एहिंतो असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउएहिंतो असंखेज्जवासाउएहिंतो। जदि संखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तगसंखेज्जवासाउकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति। जइ पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सम्मद्दिट्ठी पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? मिच्छादिट्ठी पज्जत्तगसंखेज्जावासाउएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सम्मद्दिट्ठी पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो वि मिच्छद्दिट्ठी वासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतिएहिंतो वि नो सम्मामिच्छादिट्ठी पज्जत्तएहितों उववज्जं ति॥ जदि सम्मद्दिट्ठी पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतोउववज्जंति किं संजयसम्मद्दिट्ठी पज्जत्तएहिंतो असंजयसम्मद्दिट्ठी पज्जत्तएहिंतो संजयासंजयसम्मद्दिट्ठी पज्जत्तसंखेज्जेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! तिहिंतो वि उववज्जंति। एवं जाव अच्चुयगो कप्पो एवं

गेविज्जदेवावि नवरं संजयासंजया एते पडिसेहेयव्वा। एवं जहेव गेविज्जगदेवा तहेव अणुत्तरोववाइयावि नवरं इमं नाणत्तं संजया चेव। जदि संजयसम्मदिट्ठी पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं पमत्तसंजयसम्मदिट्ठी पज्जत्तएहिंतो अप्पमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! अप्पमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति नो पमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति। जदि अपमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति किं इड्ढिपत्तअपमत्तसंजएहिंतो अणिड्ढिपत्तअपमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति। प्रज्ञा०६पद।

सोहम्मगदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति भेदो जहा जोइसियउद्देसए असंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजाणिएणं भंते ! जे भविए सोहम्मगदेवेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालं० ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा। तेणं भंते। अवसेसं जहा जोइसिएसु उववज्जमाणस्स णवरं सम्मदिट्ठी वि मिच्छदिट्ठी वि णो सम्मामिच्छादिट्ठी। णाणीवि अण्णाणीवि दो णाणा दो अण्णाणा णियमं। ठिई जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधो वि सेसं तहेव। कालादेसेणं जहण्णेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं छप्पलिओवमाइं एवइयं। १। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं एवइयं जाव करेज्जा। २। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं तिपलिओवमाइं उक्कोसेणवि तिपलिओवमाइं एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिई जहण्णेणं तिपलिओवमाइं उक्कोसेणं वि तिण्णि पलिओवमाइं सेसं तं चेव कालादेसेणं जहण्णेणं छप्पलिओवमाइं उक्कोसेण वि छप्पलिओवमाइं एवइयं कालं जाव। ३। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ जहण्णेणं पलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेणवि पलिओवमट्ठिईएसु एस चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेणं दो गाउयाइं ठिई जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणवि पलिओवमं सेसं तहेव कालादेसेणं जहण्णेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं वि दो पलिओवमाइं एवइयं। ६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ आदिल्लगमगसरिसा तिण्णि गमगा णेयव्वा णवरं ठितिं कालादेसं च जाणेज्जा। ९। जइ संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियसंखेज्जवासाउयस्स जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स तहेव णवावि गमगा णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा जाहे अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ भवइ ताहे तिसु गमएसु सम्मद्दिट्ठी वि मिच्छादिट्ठीवि णो सम्मामिच्छादिट्ठी। दो णाणा दो अण्णाणा णियसं सेसं तं चेव ९ जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति भेदो जहेव जोइसिएसु उववज्जमाणस्स जाव असंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए सोहम्मकप्पे देवत्ताए उववज्जित्तए एवं जहेव असंखेज्जवासाउयस्स सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए सोहम्मे कप्पे उववज्जमाणस्स तहेव सत्त गमगा णवर आदिल्लेसु दोसु गमएसु ओगाहणा जहण्णेणं गाउयं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं। तइयगमे जहण्णेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेणवि तिण्णि गाउयाइं चउत्थगमए जहण्णेणं गाउयं उक्कोसेणवि गाउयं। पच्छिमएसु तिसु गमएसु जहण्णेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेण वि तिण्णि गाउयाइं सेसं तहेव। णिरवसेसं। जइ संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्से एवं संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्साणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव णव गमगा भाणियव्वा णवरं सोहम्मगदेवट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव। ईसाणदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ईसाणदेवाणं एस चेव सोहम्मगदेवसरिसा वत्तव्वया णवरं असंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स जेसु ठाणेसु सोहम्मे उववज्ज पलिओवमट्ठिई तेसु ठाणेसु इहं सातिरेगं पलिओवमं कायव्वं। चउत्थगमे ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेणं साइरेगाइं दो गाउयाइं सेसं तं चेव। असंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सस्सवि तहेव ठिई जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स। असंखेज्जवासाउयस्स ओगाहणा वि जेसु ठाणेसु गाउयं तेसु ठाणेसु इहं सातिरेगं गाउयं सेसं तहेव। संखेज्जवासाउयाणं तिरिक्खजोणियाणं मणुस्साण य जहेव सोहम्मे उववज्जमाणाणं तहेव णिरवसेसं णव गमगा णवरं ईसाणे ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सणंकुमारगदेवणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति उववातो जहा सक्करप्पभा पुढवी णेरइयाणं जाव पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! जे भविए सणंकुमारदेवेसु उववज्जित्तए अवसेसा परिमाणादीयाभवादेसपज्जवसाणा सव्वे ववत्तव्वया भाणियव्वा जहा सोहम्मे उववज्जमाणस्स णवरं सणंकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। जाहेयं अप्पणा जहण्ण-कालट्ठिईओ भवइ ताहे तिसु गमएसु पंच लेस्साओ आदिल्लाओ कायव्वाओ सेसं तं चेव। जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति मणूसाणं जहेव सक्करप्पभाए उववज्जमाणाणं तहेव णव वि गमा णवरं सणंकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। माहिंदगदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति जहा सणंकुमारदेवाणं वत्तव्वया तहा माहिंदगदेवाणंवि भाणियव्वा णवरं माहिंदगदेवाणं ठितिं सातिरेगा भाणियव्वा सव्वेव एवं बंभलोगदेवाणवि वत्तव्वया णवरं बंभलोगट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा एवं जाव सहस्सारो णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। लंतगादीणं जहण्णकालट्ठिईयस्स तिरिक्खजोणियस्स तिसु वि गमएसु छप्पि लेस्साओ

कायव्वाओ संघयणाइं बंभलोगलंतएसु पंच आदिल्लगाणि महासुक्कसहस्सारेसु चत्तारि तिरिक्खजोणियाणवि मणुस्साण वि सेसं तं चेव। आणयदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति, उववाओ जहा सहस्सारे देवाणं णवरं तिरिक्खजोणिया खोडेयव्वा जाव पज्जत्तसंखेज्जवासाउय सण्णिमणुस्साणं भंते ! जे भविए आणयदेवेसु उववज्जित्तए। मणुस्साणं वत्तव्वया जहेव सहस्सारेसु उववज्जमाणाणं णवरं तिण्णि संघयणाणि सेसं तहेव, अणुबंधो भवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइं उक्कोसेणं सत्त भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं अट्ठारससागरोवमाइं दोहिं वासपुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं सत्तावण्णं सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं। एवं सेसावि अट्ठ गमगा भाणियव्वा णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तहेव। एवं जाव अच्चुयदेवा णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। चउसु चेव संघयणा तिण्णि आणायादिसु। गेवेज्जगदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एस चेव वत्तव्वया णवरं दो संघयणा ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। विजय वेजयंत जयंत अपराजितदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एस चेव वत्तव्वया णिरवसेसा जाव अणुबंधोत्ति णवरं पढमं संघयणं सेसं तहेव। भवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइं उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाइं, कालोदेसेणं जहण्णेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं दोहिं वासपुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिण्णि पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव एवं सेसावि अट्ठ गमगा भाणियव्वा। णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। मणूसे लद्धी णवसु ति गमएसु जहा गवेज्जेसु उववज्जमाणस्स णवरं पढमं संघयणं सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति उववाओ जहेव विजयादीणं जाव सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिई उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईएसु अवसेसा जहा विजयाइसु उववज्जंता णवरं भवादेसेणं तिण्णि भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं वासपुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ एस चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणाठिईओ रयणिपुहुत्तं च वासपुहुत्ताणि सेसं तहेव संवेहं च जाणेज्जा। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ एस चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहण्णेणं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुहसयाइं ठिई जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेणवि पुव्वकोडी सेसं तहेव जाव भवादेसोत्ति। कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं सेवेज्जा। एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा। एए तिण्णि गमगा सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते ! भंते त्ति। भगवं ! गोयमा ! जाव विहरइ।

(जहन्नेणं पलिओवमट्ठिईएसुत्ति) सौधर्मे जघन्येनान्यस्यायुषोऽसत्वात्। (उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठिईएसुत्ति) यद्यपि सौधर्मे बहुतरमायुष्कमस्ति तथाप्युत्कर्षतस्त्रिपल्योपमायुष एव तिर्यञ्चो भवन्ति तदनतिरिक्तं च देवायुर्बध्नन्तीति ॥ (दो पलिओवमाइंति एकं तिर्यग्भवसत्कमपरं च देवसत्कम् छप्पलिओवमाइंति) त्रीणि पल्योपमानि तिर्यग्भवसत्कानि त्रीण्येव देवभवसत्कानीति। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओजाओ इत्यादि ॥ गमत्रयेऽप्यको गमो भावना तु प्रदर्शितैव॥ (जहन्नेणंधणुहपुहत्तंति) क्षुद्रकायचतुष्पदापेक्षम् (उक्कोसेणं दोगाउयाइंति) यत्र क्षेत्रे काले वा गव्यूतमाना मनुष्या भवन्ति तत्सम्बन्धिनो हस्त्यादीनपेक्ष्योक्तमिति। संख्यातायुः पञ्चेन्द्रियतिर्यगधिकारे जाहेअप्पणाजहन्नकालट्ठिईओ भवइत्यादौ (नो सम्मामिच्छादिट्ठी ति) मिश्रदृष्टिर्निषेध्यो जघन्यस्थितिकस्य तदसम्भवादजघन्यास्थितिकेषु दृष्टित्रयस्यापि भावदिति। तथा ज्ञानादिद्वारेपि द्वे ज्ञाने वा अज्ञाने वा स्यातां जघन्यस्थितेरन्यज्ञानाज्ञानयोरभावादिति। अथ मनुष्याधिकारे "नवरं आइल्लएसु दोसु गमएसु इत्यादि" आद्यगमयोर्हि पूर्वत्रधनुः पृथक्त्वं जघन्यावगाहनोत्कृष्टा तु गव्यूतषट्कमुक्तेहतु "जहन्नेण गाउयमित्यादि" तृतीयगमे तु जघन्यत उत्कर्षतश्च षड् गव्यूतान्युक्तानीहतु त्रीणि चतुर्थगमे तु प्राग्जघन्यतो धनुःपृथक्त्वमुत्कर्षतस्तु द्वे गव्यूते उक्ते इह तु जघन्यत उत्कर्षतश्च गव्यूतमेवमन्यदप्यूह्यम्। ईशानकदेवाधिकारे (साइरेगं पलिओवमं कायव्वंति) ईशाने सातिरेकपल्योपमजघन्यस्थितित्वात् तथा (चउत्थगमए ओगाहणा जहन्नेणं धणुहपुहुत्तंति) ये सातिरेकपल्योपमायुषस्तिर्यञ्चः सुषमांशोद्भवाः क्षुद्रतरकायास्तान-पेक्ष्योक्तम् (उक्कोसेणं साइरेगाइं दो गाउयाइंति) एतच्च यत्र काले सातिरेकगव्यूतमाना मनुष्या भवन्ति तत्कालभवन् हस्त्यादीनपेक्ष्योक्तम्। तथा ॥ (जेसु ठाणेसु गाउयंति) सौधर्मदेवाधिकारे येषु स्थानेष्वसंख्यातवर्षायुर्मनुष्याणां गव्यूतमुक्तम् (तेसु ठाणेसु इहं सातिरेगं गाउयंति) जघन्यतः सातिरेकपल्योपमस्थितिकत्वादीशानकदेवस्य प्राप्तव्यदेवस्थित्यनुसारेण चाऽसंख्यातवर्षायुर्मनुष्याणां स्थितिसद्भा-वात्तदनुसारेणैव च तेषामवगाहनाभावादिति। सनत्कुमारदेवाधिकारे जाहे य अप्पणजहण्णेत्यादौ (पंच लेस्सा आदिल्लाओ कायव्वाओत्ति) जघन्यस्थितिकस्तिर्यङ् सनत्कुमारे समुत्पित्सुर्जघन्यस्थितिसामर्थ्यात्कृष्णादीनां चतसृणां लेश्यानामन्यतरस्यां परिणतो भूत्वा मरणकाले पद्मलेश्यामासाद्य म्रियते ततस्तत्रोत्पद्यते यतोऽग्रेतन भवलेश्यापरिणामे सति जीवः परभवं गच्छतीत्यागमः। तदेवमस्य पञ्च लेश्या भवन्ति लंतगादीणं जहण्णेत्यादि एतद्भावना चानन्तरोक्तन्यायेन कार्या (संघयणाइं बंभलोयलंतएसु पचं आइल्लगाणित्ति) छेदवर्तिसंहननस्य चतुर्णामपि देवलोकानां गमने निर्बन्धनत्वात् यदाह-"छेवट्ठेण उग्गमइ, चत्तारि उ जाव आइमा कप्पा। वज्जेज्ज कप्पजुअलं, संघयणे कोलियाईएत्ति" ॥ १ ॥ (जहन्नेण तिन्नि भवग्गहणाइंति) आनतादिदेवो मनुष्येभ्य एवोत्पद्यते, तेष्वेव च प्रत्यागच्छतीति जघन्यतो भवत्रयं भवतीति एवं भवसप्तकमप्युत्कर्षतो भावनीयमिति (उक्कोसेणं सत्तावणमित्यादि) आनतदेवानामुत्कर्षत एकोनविंशतिसागरोपमाण्यायुस्तस्य च भवत्रयभावेन सप्तपञ्चाश-

त्सागरोपमाणि मनुष्यभवचतुष्टयसम्बन्धिपूर्व्वकोटीचतुष्काभ्यधिकानि भवन्तीति ॥ भ० २४ श० २४ उ० । जी० । कर्म० । एष संक्षेपार्थः सामान्यतो नरकोपपातचिन्तायां रत्नप्रभोपपातचिन्तायां च देवनारकपृथिव्यादिपञ्चकविकलेन्द्रियत्रिकाणां तथाऽसंख्येय-वर्षायुषश्चतुष्पदखेचराणां शेषाणामपि चापर्याप्तकानां तिर्यक्पचेन्द्रियाणां तथा मनुष्याणां संमूर्च्छिमानां गर्भव्युत्क्रान्ति कानामप्यकर्मभूमिजाना-मन्तरद्वीपजानां कर्मभूमिजानामप्य-संख्येयवर्षायुषां संख्येयवर्षायुषा-मपि अपर्याप्तानां प्रतिषेधः शेषाणां विधानम् । शर्करप्रभायां संमूर्च्छिमानामपि प्रतिषेधः वालुकप्रभायां भुजपरिसर्पाणामपि पङ्कप्रभायां खेचराणामपि धूमप्रभायां चतुष्पदानामपि तमःप्रभायां उरःपरिसर्पाणामपि सप्तमपृथिव्यां स्त्रीणामपि भवनवासिषूपपातचिन्तायां देवनार-पृथिव्यादिपञ्चकविकलेन्द्रियत्रिकापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-संमूर्च्छिमापर्याप्तगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां प्रतिषेणः शेषाणां विधानम् । पृथिव्यब्वनस्पतिषु सकलनैरयिकसनत्कुमारादिदेवानां तेजोवायुद्वित्रि-चतुरिन्द्रियेषु सर्वनारकसर्वदेवानां प्रतिषेधः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वा-नतादिदेवानां मनुष्येषु सप्तमपृथिवीनारकतेजोवायूनां व्यन्तरेषु देवनारपृथिव्यादिपञ्चकविकलेन्द्रियत्रिकापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-संमूर्च्छिमापर्याप्तगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां ज्योतिकेषु सम्मूर्च्छि-मतिर्यक्पञ्चेन्द्रियासंख्येयवर्षायुष्कखचरान्तरद्वीपजमुनष्याणामपि प्रतिषेधः । एवं सौधर्मेशानयोरपि । सनत्कुमारादिषु सहस्रारपर्यन्ते-ष्वकर्मभूमिजासंख्येयवर्षायुष्ककर्मभूमिजानामपि प्रतिषेधः आनतादिषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामपि विजयादिषु मिथ्यादृष्टिमनुष्याणामपीति । गतं पञ्चमद्वारम् । प्रज्ञा०६पद ।

११ कृतयुग्मादिविशेषणेनैकेन्द्रियाणाम्-

**कडजुम्मकडजुम्मएगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति किं णेरइय जहा उप्पलुद्देसए तहा उववाओ तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अनंता वा उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा समए समए पुच्छा ? गोयमा ! तेणं अणंता समए समए अवहीरमाणा २ अणंताहिं ओसप्पिणीउसप्पिणीहिं अवहीरंति णो चेव णं अवहिरिया सिया उच्च-जहा उप्पलुद्देसए । तेणं भंते जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधगा पुच्छा, गोयमा ! बंधगा णो अबंधगा एवं सव्वेसिं वाउयवज्जाणं आउयस्स बंधगा वा अबंधगा वा तेणं भंते ! जीवा णाणावरणिज्जकम्मस्स वेदगा पुच्छा, गोयमा ! वेदगा णो अवेदगा एवं सव्वेसिं तेणं भंते ! किं जीवा किं सातावेदगा असातावेदगा पुच्छा, गोयमा ! सातावेदगा वा असातावेदगा एवं खलु उप्पलुद्देसगपरिवाडी सव्वेसिं कम्माणं, उदई णो अणुदई छण्हं कम्माणं उदीरगा णो अणुदीरगा वेदणिज्जा उयाणं उदीरगा वा अणुदीरगा वा तेणं भंते ! जीवा किं कण्हलेस्सा पुच्छा, गोयमा ! कण्हलेस्सा वा णीललेस्सा वा काउलेस्सा वा तेउलेस्सा वा णो सम्मद्दिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो णाणी अण्णाणी णियमं दु अण्णाणी तं जहा मतिअण्णाणी य सुयअण्णाणी य णो मणजोगी णो वइजोगी कायजोगी सागारोवउत्ता वा अणागारोवउत्ता वा । तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरा कइवण्णा जहा उप्पलुद्देसए सव्वत्थ पुच्छा, गोयमा ! उप्पलुद्देसेए उसासगा वा णीसासगा वा णो उस्सासगा णीसासगा वा आहारगा वा अणाहारगा वा णो विरया अविरया णो विरयाविरया सकिरिया णो अकिरिया । सत्तविहबंधगा वा अट्ठविहबंधगा वा आहारसण्णोवउत्ता वा जाव परिग्गहसण्णोवउत्ता वा कोहकसाई जाव लोभकसाई वा णो इत्थीवेदगा णो पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा वा इत्थीवेदबंधगा वा णपुंसगवेदबंधगा वा णो सण्णी असण्णी सइंदिया णो अणिंदिया तेणं भंते ! कडजुम्म ॥ २ ॥ एगिंदियाओत्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ ओसप्पिणी उस्सप्पिणीओ अणंतं कालं अणंताओ ओसप्पिणी उस्सप्पिणीओ वणस्सइकालो संवेहो ण भण्णइ आहारो जहा उप्पलुद्देसए णवरं णिव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं सेसं तहेव ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं समुग्घाया आदिल्ला, चत्तारि मारणंतियासमुग्घाया तेणं समोहयावि असमोहया वि मरति उव्वट्टणा जहा उप्पलुद्देसए । अह भंते ! सव्वपाणा जाव सव्वसत्ता कडजुम्मा २ एगिंदियसत्ताए उववण्णपुव्वा ? हंता गोयमा ! असइ अदु वा अणंतखुत्तो ? कडजुम्मतेओग एगिंदियाणं भंते ! कओउववज्जंति उववाओ तहेव तेणं भंते ! जीवा एगपुच्छा, गोयमा ! एगूणवीसा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति सेसं जहा कडजुम्माणं जाव अणंतखुत्तो २ कडजुम्मदा-वरजुम्मएगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववातो तहेव । तेणं भंते ! जीवा एगपुच्छा, गोयमा ! अट्ठारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ॥ ३ ॥ कडजुम्मकलिओग एगिंदियाण भंते ! कओ उववातो तहेव परिमाणं सत्तरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ॥ ४ ॥ तेओगकडजुम्मएगिंदियाणं भंते ! कओ उववातो तहेव परिमाणं वारस वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ॥ ५ ॥ तेओगतेओगएगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ तहेव परिमाणं पण्णरस संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ॥ ६ ॥ एवं एएसु सोलससु महाजुम्मेसु एक्को गमओ णवरं परिमाणे णाणत्तं तेओ य दावरजुम्मेसु परिमाणं चउद्दस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ ७ ॥ तेओगकलिओगतेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ ८ ॥

ज्जंति ॥ ८ ॥ दावरजुम्मकडजुम्मेसु अट्ठ वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ ९ ॥ दावरजुम्मतेओगेसु एक्कारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ १० ॥ दावरजुम्मदावरजुम्मेसु दस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ ११ ॥ दावरजुम्मकलिओगेसु णव वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ १२ ॥ कलिओगकडजुम्मेसु चत्तारि वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ १३ ॥ कलिओगतेसु सत्त वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ १४ ॥ कलिओगदावरजुम्मेसु छ वा संखेज्जा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ १५ ॥ कलिओगकलिओगएगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ तहेव परिमाणं पंच वा संखेज्जा वा असंखेज्जा अणंता वा उववज्जंति सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

(जहा उप्पलुद्देसएत्ति) उत्पलोद्देशक एकादशशते प्रथम इह च यत्र क्वचित्पदे उत्पलोद्देशकातिदेशः क्रियते तत्तत एवावधार्यम् (संवेहो न भन्नइत्ति) उत्पलोद्देशके उत्पलजीवस्योत्पादो विवक्षितस्तत्र च पृथिवीकायिकादिकायां नरापेक्षया संबेधः सम्भवति इह त्वेकेन्द्रियाणां कृतयुग्म २ विशेषणानामुत्पादोऽधिकृतस्ते च वस्तुतोऽनन्ता एवोत्पद्यन्ते तेषां चोद्वृत्तेरसम्भवात्संबन्धो न सम्भवति । यश्च षोडशादीनामेकेन्द्रियेषूत्पादोऽभिहितोऽसौ त्रसकायिकेभ्यो ये तेषूत्पद्यन्ते तदपेक्ष एव न पुनः पारमार्थिकोऽनन्तानां प्रतिसमयं तेषूपपादादिति ॥ भ० ३५ श० १ उ० । (उत्पलोद्देशकः वणस्सइ शब्दे)

प्रथमसमयकृतः ॥

पढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति ? गोयमा ! तहेव एवं जहेव पढमो उद्देसओ तहेव सोलसखुत्तो वितिओ वि भाणियव्वो तहेव सव्वं णवरं इमाणि दस णाणत्ताणि ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं आउयकम्मस्स णो बंधगा अबंधगा *आउयस्स णो उदीरगा अणुदीरगा णो उस्सागा णो णिस्सासगा* णो उस्सास णिस्सासगा । सत्तविहबंधगा वा णो अट्ठविहबंधगा वा । तेणं भंते ! पढमसमयकडजुम्म २ एगिंदिया तिकालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! एक्कं समयं एवं ठितीए वि समुग्घाया आदिल्ला दोण्णि । समोहयाण पुच्छिज्जति उवट्टणा ण पुच्छिज्जइ सेसं तहेव सव्वं णिरवसेसं सोलससु वि गमएसु जाव अणंतखुत्तो । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

अथ द्वितीयस्तत्र (पढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) एकेन्द्रियत्वेनोत्पत्तौ प्रथमः समयो येषां ते तथा ते च कृतयुग्मकृतयुग्माश्चेति प्रथमसमयकृतयुग्मकृतयुग्माः ते च ते एकेन्द्रियाश्चेति समासोऽतस्ते (सोलसखुत्तोत्ति) षोडशकृत्वः पूर्वोक्तान् षोडशराशिभेदानाश्रित्येत्यर्थः (णाणत्ताइंति) पूर्वोक्तस्य विलक्षणत्वस्थानानि, ये पूर्वोक्ता भावास्ते केचित्प्रथमसमयोत्पन्नानां न सम्भवन्तीति कृत्वा तत्रावगाहनाद्योद्देशकवादरवनस्पत्यपेक्षया महती उक्ताऽभूत् इह तु प्रथमसमयोत्पन्नत्वेन साकल्येति नानात्वमेवमन्यान्यपि स्वधियोह्यानीति भ० ३५ श० २ उ० ।

अप्रथमसमयकृतः

अपढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एसो जहा पढमुद्देसो सोलसहि वि जुम्मेसु तहेव णेयव्वो जाव कलिओगकलिओगत्ताए जाव अणंतखुत्तोसेवं भंते ! भंते ! त्ति

तृतीयाद्देशके तु (अपढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) इहाप्रथमः समयो येषोमेकेन्द्रियत्वेनोत्पन्नानां द्व्यादयः समया विग्रहश्च पूर्ववत्, एते च यथा सामान्येनैकेन्द्रियास्तथा भवन्तीत्य त एवोक्तम् ''एसो जहा पढम उद्देसो इत्यादीति'' भ० ३५ श० ३ उ० ।

चरमसमयकृतः ॥

चरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं जहेव पढमसमय उद्देसओ णवरं देवा व उववज्जंति तेउलेस्स ण पुच्छंति सेसं तेहव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

चतुर्थे तु (चरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) इह चरमसमयशब्देनैकेन्द्रियाणां मरणसमयो विवक्षितः स च परभवायुषः प्रथमसमय एव तत्र च वर्त्तमानाश्चरमसमयाः संख्येयाश्च कृतयुग्मकृतयुग्मा ये एकेन्द्रियास्ते तथा ॥ (एवं जहा पढमसमयउद्देसओत्ति) यथा प्रथमसमयैकेन्द्रियोद्देशस्तथा चरमसमयैकेन्द्रियोद्देशकोऽपि वाच्यस्तत्र हि औधिकोद्देशकापेक्षया दश नानात्वान्युक्तानीहापि तानि तथैव समानस्वरूपत्वात्तत्प्रथमसमयचरमसमयानां यः पुनरिह विशेषस्तं दर्शयितुमाह ''नवरं देवा न उववज्जंतीत्यादि'' देवोत्पादेनैवैकेन्द्रियेषु तेजोलेश्या भवति, न चेह देवोत्पादः सम्भवतीति, तेजोलेश्या एकेन्द्रिया न पृच्छ्यन्ते इति ॥ भ० ३५ श० ४ उ० ।

अचरमसमयकृतः

अचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा अपढमसमयउद्देशो तहेव णिरवसेसो भाणियव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

पञ्चमे तु (अचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) न विद्यते चरमसमय उक्तलक्षणो येषां ते अचरमसमयास्ते च ते कृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रियाश्चेति समासः भ० ३५ श० ॥ ५ उ० ।

प्रथमप्रथमसमयः ।

पढमपढमसमयकडजुम्म २एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमसमयउद्देसओ तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

षष्ठे तु (पढमपढमसमयकडजुम्म २एगिंदियत्ति) एकेन्द्रियोत्पादस्य प्रथमसमययोगाद्ये प्रथमाः प्रथमश्च समयः कृतयुग्मकृतयुग्मत्वानुभूतेर्येषामेकेन्द्रियाणं ते प्रथम २ समयकृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रियाः । भ० ३५ श० ६ उ० । प्रथमाप्रथमः ।

पढमपढमसमयकडजुम्म २एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमसमयउद्देसओ तहेव भाणियव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

सप्तमे तु (पढमअपढमसमयकडजुम्म २एगिंदियत्ति) प्रथमा-

स्तथैव योऽप्रथमश्च समयः कृतयुग्म २ त्वानुभूतेर्येषामेकेन्द्रियाणां ते प्रथमाप्रथमसमयकृ तयुग्मकृ तयुग्मैकेन्द्रिया इह च एकेन्द्रिय-त्वोत्पादप्रथमसमयवर्तित्वे तेषां यद्विवक्षितसङ्ख्यानुभूतरेप्रथमसमय-वर्तित्वं तत्प्राग्भवसम्बन्धिनीं तामाश्रित्येत्यवसेयमेवमुत्तरत्रापीति। भ० ३५ श० ७ उ० प्रथमचरमः।

पढमचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा चरिमुद्देसओ तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंते त्ति ॥

अष्टमे तु (पढमचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) प्रथमाश्च ते विवक्षितसङ्ख्यानुभूताः प्रथमसमयवर्तित्वाच्चरमसभयाश्च मरण-समयवर्तिनः परिशाटस्था इति ॥ प्रथमचरमसमयसास्ते च ते कृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रियाश्चेति विग्रहः भ० ३५ श० ८ उ०।

प्रथमाचरमः

पढमअचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमुद्देसओ तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ

नवमे तु (पढमअचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) प्रथमास्तथैव अचरमसमयास्त्वेकेन्द्रियोत्पादापेक्षया प्रथमसमयवर्तिन इह विवक्षिताश्चरमत्वनिषेधस्य तेषु विद्यमानत्वादन्यथा हि द्वितीयोद्देशकोक्तानामवगाहनादीनां यदिह समत्वमुक्तं तन्न स्यात्ततः कर्मधारयः शेषं तु तथैव भ० ३५ श० ९ उ०।

चरमचरमः।

चरिम २ समयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा चउत्थो उद्देसओ तहवे सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

दशमे तु (चरिम २ समयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) चरमाश्च ते विवक्षितसंख्यानुभूतेश्चरमसमयवर्तित्वाच्चरमसमयाश्च प्रागुक्तस्वरूपा इति चरमसमयाः शेषं तु प्राग्वत्॥ ३५ ॥ १० ॥

चरमाचरमः।

चरिमअचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमुद्देसओ तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

एकादशे तु (चरिमअचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) चरमास्तथैव अचरमसमयाश्च प्रागुक्तयुक्तेरेकेन्द्रियोत्पादापेक्षया प्रथमसमयवर्तिनो ये ते चरमाचरमसमयास्ते च ते कृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रियाश्चेति विग्रहः भ० ३५ श० ११ उ०।

एवं एएणं कमेणं एक्कारस उद्देसगा पढमो ततिओ पंचमओ य सरिसगमया सेसा अट्ठ सरिसा णवरं चउत्थे अट्ठमे दसमे देवा ण उववज्जंति। तेउलेस्सा णत्थि। पढमं एगिंदियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ भ० ३५ श० १२ उ०।

उक्तोद्देशकानां स्वरूपनिर्द्धारणायाह लेश्याविशेषणेन ॥

कण्हलेस्सकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति ? गोयमा ! उववाओ तहेव एवं जहा ओहियउद्देसए णवरं इमं णाणत्तं तेणं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा तेणं भंते ! कण्हलेस्सा कडजुम्मा २ एगिंदिया तिकालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेण अंतोमुहुत्तं। एवं ठितीए वि जाव अणंतखुत्तो। एवं सोलसु वि जुम्मा भाणियव्वा सेवं भंते ! भंते ! त्ति पढमसमयकण्हलेस्सकडजुम्म २एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमुद्देसए णवरं तेणं भंते ! कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति। एवं जहा ओहियसए एक्कारस उद्देसगा भणिया तहा कण्हलेस्सवि एक्कारस उद्देसगा भाणियव्वा, पढमो ततिओ पंचमो य सरिसगमगा सेसा अट्ठ वि सरिसगमगा णवरं चउत्थछट्ठदसमेसु उववाओ णत्थि देवस्सं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ पणतीसइमे सए बितिय एगिंदियमहाजुम्मसयं २ एवं णीललेस्सेहिं वि सयं कण्हलेस्ससयसरिसं एक्कारस उद्देसगा तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ततियं एगिंदियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ ३ एवं काउलेस्सेहिं वि सयं कण्हलेस्ससयसरिसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३६ ॥ चउत्थ एगिंदियमहाजुम्मसयं ॥ ४ ॥ भवसिद्धिकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा ओहियसयं णवरं एक्कारस वि उद्देसएसु अहं भंते ! सव्वपाणा जाव सव्वसत्ता भवसिद्धियकडजुम्म २ एगिंदियत्ताए उववण्णपुव्वा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ पंचमं एगिंदियसयं महाजुम्मं सम्मत्तं ॥ ५ ॥ कण्हलेस्सभवसिद्धियकडजुम्म२एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति, एवं कण्हलेस्सभवसिद्धियएगिंदिएहिं वि सयं बितियं सयं कण्हलेस्ससरिसं भाणियव्वं सेवं भंते ! भंते त्ति ॥ छट्ठं एगिंदियमहाजुम्मसयं ॥ ६ ॥ णीललेस्से भवसिद्धियएगिंदिएहिं वि सयं सेवं भंते ! भंते ! त्ति सत्तमं एगिंदियमहाजुम्मसयं ॥ ७ ॥ काउलेस्से भवसिद्धियएगिंदिएहिं वि तहेव एक्कारस उद्देसगसंजुत्तं सयं एवं एयाणि चत्तारि भवसिद्धियसयाणि चउसु वि सएसु सव्वपाणा जाव उववण्णपुव्वा णो इणट्ठे समट्ठे सेवं भंते ! भंते ! त्ति अट्ठतं एगिंदियसयं महाजुम्मं ॥ ८ ॥ भवसिद्धिएहिं चत्तारि सयाइं भणियाइं एवं अभवसिद्धिएहिं वि चत्तारि सयाणि लेस्सासंजुत्ताणि भाणियव्वाणि सव्वपाणा तहेव णो इणट्ठे समट्ठे एवं एयाणि बारस एगिंदियमहाजुम्मसयाइं भवंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ पंचतीसइमं सयं सम्मत्तं ॥ ३९ ॥

[पढमो तइओ पंचमोयसरिसगमत्ति] कथं यतः प्रथमापेक्षया द्वितीये यानि नानात्वान्यवगाहनादीनि दश भवन्ति न तान्येतेष्विति (सेसा अट्ठसरिसगमगत्ति) द्वितीयचतुर्थषष्ठादयः परस्परेण सदृशगमाः पूर्वोक्तेभ्यो विलक्षणगमा द्वितीयसमानगमा इत्यर्थः विशेषं त्वाह– नवरं चउत्थेत्यादि ॥ कृष्णलेश्याशते (जहण्णेणं एक्कं समयंति) जघन्यत एकसमयानन्तरं संख्यान्तरं भवतीत्यत एकं समयं कृष्णलेश्यकृतयुग्म २ एकेन्द्रिया भवन्तीति (एवं ठिई वि त्ति) कृष्णलेश्यावतां स्थितिः कृष्णलेश्यकालवदवसेयेत्यर्थः ॥ भ० ३५ श०।

द्वीन्द्रियाणाम–

कडजुम्म२बेइंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ जहा वक्कंतीए परिमाणं सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति अवहारो जहा उप्पलुद्देसए ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं वारसजोयणाइं एवं जहा एगिंदियमहाजुम्माण पढमुद्देसए तहेव णवरं तिण्णि लेस्साओ देवा ण उववज्जंति सम्मद्दिट्ठि वा मिच्छद्दिट्ठि वा णो सम्मामिच्छादिट्ठी वा णाणी वा अण्णाणी वा । णो मणजोई वइजोगी वा कायजोगी वा तेणं भंते ! कडजुम्म२वेइंदिया कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं संखेज्जकालं ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं वारस संवच्छराइं, आहारो णियमं छद्दिसिं तिण्णि समुग्घाया, सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो एवं सोलससु वि जुम्मेसु बेइंदियमहाजुम्मसयं पढमो उद्देसो सम्मत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३६ ॥ १ ॥ पढमसमयकडजुम्म२बेइंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं जहा एगिंदियमहाजुम्माणं पढमसयम उद्देसए दस णाणत्ताइं ताइं चेव दस इहवि एक्कारस वि इमं णाणत्तं णो मणजोगी णो वइजोगी कायजोगी । सेसं जहा बेइंदियाणं चेव पढमुद्देसए सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३६ ॥ २ ॥ एवं एएण वि जहा एगिंदियमहाजुम्मेसु एक्कारस उद्देसगा तहेव भाणियव्वा णवरं चउत्थछट्ठट्ठमदसमेसु सम्मत्तणाणाणि ण भण्णंति, जहेव एगिंदियएसु पढमो तईय पंचमो य एक्कगमा सेसा अट्ठ एक्कगमा। पढमं बेइंदिए महाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ ३६ ॥ १ ॥ कण्हलेस्सकडजुम्म२बेइंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव कण्हसेस्से एक्कारस उद्देसगसंजुत्त सयं णवरं लेस्सा संचिट्ठणा ठिई जहा एगिंदियकण्हलेस्साणं वितियं बेइंदियसयं ॥ ३६ ॥ २ ॥ एवं णीललेस्सेहिं वि सयं । सतं ततियं ॥ ३६ ॥ ६ ॥ एवं काउलेस्सेहि वि सयं चउत्थं सतं ॥ ४ ॥ भवसिद्धियकडजुम्म२बेइंदियाणं भंते ! एवं भवसिद्धिया वि चत्तारि तेणेव पुव्वगमएणं णेतव्वा णवरं सव्वपाणा णो इणट्ठे समट्ठे सेसं तहेव, ओहियसयाणि चत्तारि सेवं भंते ! भंते ! त्ति। छत्तीसइमसए अट्ठमं सयं सम्मत्तं ॥ ३६ ॥ ८ ॥ जहा भवसिद्धियसयाणि चत्तारि एवं अभवसिद्धियसयाणि चत्तारि भाणियव्वाणि णवरं सम्मत्तणाणाणि सव्वहा णत्थि सेसं तं चेव, एवं एयाणि वारसबेइंदियमहाजुम्मसयाणि भवंति सेवं भंते ! भंते । त्ति ॥ बेइंदियमहाजुम्मसया सम्मत्ता । छत्तीसइमं महाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ ३६ ॥ कडजुम्म २ तेइंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं तेइंदिएसु वि वारस सया कायव्वा बेइंदियसयसरिसा णवरं ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं एगूणवण्णइंदियाइं सेसं तहेवसेवं भंते ! भंते ! त्ति । तेइंदियमहाजुम्मसया सम्मत्ता । सत्ततीसइमं सयं सम्मत्तं ॥ ३७ ॥ चउरिंदिएहिं वि एवं वारस सया कायव्वा णवरं ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा सेसं जहा बेइंदियाणं सेवं भंते ! भंते ! त्ति । चउरिंदियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं (अट्ठतीसइमं सयं सम्मत्तं) ॥ ३८ ॥ कडजुम्म २ असण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा बेइंदियाणं तहेव असण्णिसु वि वारस सया कायव्वा णवरं ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइ भागं उक्कोसेणं जोअणसहस्सं संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं पुव्वकोडिपुहुत्तं । ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी सेसं बेइंदियाणं । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ असण्णी पंचिंदियमहाजुम्मसया सम्मत्ता । एगूणयालीसइमं सयं सम्मत्तं ॥ ३९ ॥ कडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ चउसु वि गईसु संखेज्जवासाउय असंखेज्जवासाउय पज्जत्ता अपज्जत्तएसु य ण कओ वि पडिसेहो जाव अणुत्तरविमाणत्ति परिमाणं अवहारो ओगाहणा जहा असण्णिपंचिंदियाणं वेदणिज्जवज्जाणं सत्तण्हं कम्मप्पगडीणं बंधगा वा अबंधगा वा वेदणिज्जस्स बंधगा णो अबंधगा, मोहणिज्जस्स वेदगा वा अवेदगा वा सेसाणं सत्तण्ह वि वेदगा णो अवेदगा, सायावेदगा वा, असायावेदगा, वा मोहणिज्जस्स उदई वा अणुदई वा सेसाणं सत्तण्ह वि उदयी णो अणुदई णामस्स गोयस्स य उदीरगा णो अणुदीरगा सेसाणं छण्ह वि उदीरगा वा अणुदीरगा वा कण्हलेस्सा वा जाव सुक्कलेस्सा या सम्मद्दिट्ठि वा मिच्छादिट्ठि वा सम्मा मिच्छादिट्ठि वा णाणी वा अण्णाणी वा मणजोगी वा वइजोगी वा कायजोगी वा उवओगो वण्णमादी उस्सासगा आहारगा य जहा एगिंदियाणं, विरया वा अविरया वा विरयाविरया य सकिरिया णो अकिरिया । तेणं भंते ! जीवा किं सत्तविहबंधगा वा अट्ठविहबंधगा वा छव्विहबंधगा वा एगविहबंधगा वा ? गोयमा ! सत्तविह बंधगा वा जाव एगविहबंधगा वा । तेणं भंते ! जीवा किं आहारसण्णोवउत्ता जाव परिग्गहसण्णोवउत्ता णो सण्णोवउत्ता ? गोयमा ! आहारसण्णोवउत्ता जाव णो सण्णोउत्ता सव्वपुच्छा भाणियव्वा । कोहकसायी जाव लोभकसाई वा अकसायी वा इत्थीवेदगा वा पुरिसवेदगा वा णपुंसगवेदगा वा अवेदगा वा । इत्थिवेदबंधगा वा पुरिवेदबंधगा वा णपुंसग-वेदबंधगा वा अबंधगा वा सण्णी णो असण्णी सइंदिया णो अणिंदिया, संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं सा–

गरोवमसयपुहत्तं सातिरेगं आहारो तहेव जाव णियमं छद्दिसिं ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । छ समुग्घाया आदिल्लगा मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया वि मरंति अंगमोहया वि मरंति । उव्वट्टणा जहेव उववाओ ण कत्थइ पडिसेहो जाव अणुत्तरविमाणत्ति । अह भंते ! सव्वपाणा जाव अणंतखुत्तो एवं सोलससु वि जुम्मेसु भाणियव्वं जाव अणंतखुत्तो णवरं परिमाणं जहा बेइंदिया सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४० ॥ १ ॥ पढमसमयकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववाओ परिमाणं आहारो जहा एएसिं चेव पढमो उद्देसए ओगाहणाबंधो वेदो वेदणा उदयी उदीरगा य जहा बेइंदियाणं पढमसयाणं तहेव कण्हलेस्सा वा जाव सुक्कलेस्सा वा सेसं जहा बेइंदियाणं पढमसमइयाणं जाव अणंतखुत्तो णवरं इत्थिवेदगा वा पुरिसवेदगा वा णपुंसगवेदगा वा सण्णिणो असण्णिणो सेसं तहेव एवं सोलससु वि जुम्मेसु परिमाणं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ एवं एत्थ वि एक्कारस उद्देसगा तहेव पढमो तइओ पंचमो य सरिसगमगा सेसा अट्ठ वि सरिसगमगा चउत्थछट्ठट्ठमदसमेसु णत्थि विसेसो कोइ वि सेवं भंते ! भंते ! त्ति । ४० ॥ (पढमं पंचिंदियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ १ ॥) कण्हलेस्स कडजुम्म२सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति तहेव पढमुद्देसओ सण्णीणं णवरं बंधो वेओ उदयी उदीरणा लेस्सबंधगसण्णकसायवेदबंधगा एयाणि जहा बेइंदियाणं कण्हलेस्साणं वेदो तिविहो अवेदगा णत्थि, संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । एवं ठिईए वि णवरं ठिईए अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं ण भण्णंति सेसं जहा एएसिं चेव पढमुद्देसए जाव अणंतखुत्तो एवं सोलससु वि जुम्मेसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ २ ॥ पढमसमयकण्हलेस्सकडजुम्म-२सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति पढमसमयउद्देसए तहेव णिरवसेसं णवरं तेणं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा सेसं तहेव एवं सोलससु वि जुम्मेसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति, एवं एएवि एक्कारस उद्देसगा कण्हलेस्ससए पढमततियपंचमा सरिसगमगा सेसा अट्ठ वि सरिसगमा सेवं भंते ! भंते ! त्ति (बितियं सयं सम्मत्तं)॥ २ ॥ एवं णीललेस्सेसु वि सयं णवरं संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं दसागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइं । एवं ठिईए वि, एवं तिसु उद्देसएसु सेसं तहेव सेवं भंते ! ! भंते ! त्ति ॥ ततियं सयं सम्मत्तं ॥ ३ ॥

पञ्चत्रिंशशते संख्यापदैरेकेन्द्रिया प्ररूपिताः षड्त्रिंशे तु तैरेव द्वीन्द्रियाः प्ररूप्यन्त इत्येवं सम्बद्धस्यास्येदमादिसूत्रंकडजुम्मबेइंदियाणमित्यादि (जहण्णेणं एक्कं समयंति) समयानन्तरं संख्यान्तरभावादेवं स्थितिरपि, इतः सर्वसूत्रसिद्धमाशास्त्रपरिसमाप्तेर्नवरं चत्वारिंशे शते (वेयणिज्जवज्जाणं सत्तण्हं पगडीणं बंधगा वा अबंधगा वत्ति) इह वेदनीयस्य बन्धविधिं विशेषेण वक्ष्यतीति कृत्वा वेदनीयवर्जानामित्युक्तं तत्र चोपशान्तमोहादयः सप्तानामबन्धका एव शेषास्तु यथासम्भवं बन्धका भवन्तीति (वेयणिज्जस्स बंधगा नो अबंधगत्ति) केवलित्वादारात्सर्वेऽपि सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियास्ते च वेदनीयस्य बन्धका एव नाबन्धकाः (मोहणिज्जस्स वेयगा वा अवेयगा वत्ति) मोहनीयस्य वेदकाः सूक्ष्मसम्परायान्ता अवेदकास्तु उपशान्तमोहादयः (सेसाणं सत्तण्ह वि वेयगा नो अवेयगत्ति) ये किलोपशान्तमोहादयः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियास्ते सप्तानामपि वेदका नो अवेदकाः केवलिन एव चतसृणां वेदका भवन्ति ते चेन्द्रियव्यापारातीतत्वेन न पञ्चेन्द्रिया इति ॥ (सायावेयगा वा असायावेयगा वत्ति) सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेवं स्वरूपत्वात् (मोहणिज्जस्स उदयी वा अणुदयी वत्ति) तत्र सूक्ष्मसम्परायान्ता मोहनीयस्योदयिनः उपशान्तमोहादयस्त्वनुदयिनः । सेसाणं सत्तण्हवीत्यादि प्राग्वत् नवरं वेदकत्वानुक्रमेणाकरणेन चोदयागतानामनुभवनम् उदयस्त्वनुक्रमागतानामिति (नामस्स गोयस्स य उदीरगा नो अणुदीरगत्ति) नामगोत्रयोरकषायान्ताः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाः सर्वेऽप्युदीरकाः (सेसाणं छण्हवि उदीरगा वत्ति) शेषाणां षण्णामपि यथासम्भवमुदीरकाश्चानुदीरकाश्च, यतोऽयमुदीरणाविधिः प्रमत्तान्ताः सामान्येनाष्टानामावलिकावशेषायुष्कास्तु त एवायुर्वर्जसप्तानामुदीरका अप्रमत्तादयस्तु चत्वारो वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां तथा सूक्ष्मसम्पराया आवलिकायां स्वाद्धायाः शेषायां मोहनीयवेदनीयायुर्वर्जानां पञ्चानामपि उपशान्तमोहास्तूक्तरूपाणां पञ्चानामेव क्षीणकषायाः पुनः स्वाद्धाया आवलिकायां शेषायां नामगोत्रयोरेव सयोगिनोऽप्येतयोरेवायोगिनस्त्वनुदीरका एवेति । (संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयंति) कृतयुग्म २ सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां जघन्येनावस्थितिरेकं समयं समयानन्तरं संख्यान्तरसद्भावात् । (उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगत्ति) यत इतः परं सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिया न भवन्त्येवेति (छ समुग्घाया आइल्लगत्ति) । सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामाद्याः षडेव समुद्घाता भवन्ति सप्तमस्तु केवलिनामेव ते चानिन्द्रिया इति । कृष्णलेश्याशते–(उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइंति) इदं कृष्णलेश्यावस्थानं सप्तमप्रथिव्युत्कृष्टस्थितिं पूर्वभवपर्यन्तवर्तिनं कृष्णलेश्यापरिणामाश्रित्येति नीललेश्याशते (उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं पलिओवमस्स असं खेज्जइभागमब्भहियाइंति) पञ्चमपृथिव्या उपरितनप्रस्तटे दशसागरोपमाणि पल्योपमासंख्येयभागाधिकान्यायुः सम्भवति नीललेश्या च तत्र स्यादत उक्तम् उक्कोसेणमित्यादि । यच्चेह प्राक्तनभवान्तिमान्तर्मुहूर्तं तत्पल्योपमासंख्येयभागे प्रविष्टमिति न भेदनोक्तमेवमन्यत्रापि । (तिसु उद्देसएसुत्ति) प्रथमतृतीयपञ्चमेष्विति ॥ भ० ४० श० १ उ० । जी० ।

एवं काउलेस्ससयं पि णवरं संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइं एवं ठिईए वि एवं तिसु वि उद्देसएसु सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति (चउत्थं सयं सम्मत्तं) ॥ ४ । एवं तेउलेस्ससयं णवरं संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं दो सागरोवमाइ पलिओवमस्स

असंखेज्जइभागमब्भहियाइं। एवं ठिईएवि णवरं णो सण्णोवउत्ता एवं तिसुवि गमएसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ पंचमं सयं ॥५॥ जहा तेउलेस्सासतं तहा पम्हलेस्स सयं पि णवरं संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं एवं ठिईएवि णवरं अंतोमुहुत्तं ण भण्णति सेसं तहेव। एवं एएसु पंचसुसएसु २ जहा कण्हलेस्ससए गमओ तहा णेतव्वो जाव अणंतखुत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति (छट्ठं सयं सम्मत्तं) ॥६॥ सुक्कलेस्ससयं जहा ओहियसए णवरं संचिट्ठणा ठिई य जहा कण्हलेस्ससए सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति सत्तमं सयं सम्मत्तं ॥७॥ भवसिद्धियकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमं सण्णिसत्तं तहा णेतव्वं भवसिद्धियाभिलावेणं णवरं सव्वपाणा णो इणट्ठे समट्ठे सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ (अट्ठमं सयं) ॥८॥ कण्हलेस्सभवसिद्धियकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओहियकण्हलेस्ससयं सेचं भंते ! भंते ! त्ति ॥ (णवमं सयं) ॥९॥ एवं णीललेस्सभवसिद्धिए वि सयं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ (दसमं सयं) ॥१०॥ एवं जहा ओहियाणि सण्णिपंचिंदियाणि सत्त सयाणि भणियाणि एवं भवसिद्धिएहिं वि सत्तसयाणि कायव्वाणि णवरं सत्तसु वि सएसु सव्वपाणा जाव णो इणट्ठे समट्ठे सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ भवसिद्धियसया सम्मत्ता ॥ (चउद्दसमं सयं सम्मत्तं)॥१४॥अभवसिद्धियकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ तहेव अणुत्तर विमाणवज्जो परिमाणं आहारो उच्चत्तं बंधो वेदो वेदणं उदओ उदीरणा य जहा कण्हलेस्सए कण्हलेस्सा वा जाव सुक्कलेसा वा णो सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी णो णाणी अण्णाणी एवं जहा कण्हलेस्ससए णवरं णो विरया अविरया णो विरयाविरया संचिट्ठणा ठिई य जहा ओहियउद्देसए समुग्घाया आदिल्लगा पंच उव्वट्टणा तहेव अणुत्तरविमाणवज्जं सव्वपाणाणा इणट्ठे समट्ठे सेसं जहा कण्हलेस्ससए जाव अणंतखुत्तो, एवं सोलससु वि कडजुम्मेसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥१॥ पढमसमय-अभवसिद्धियकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उव्वज्जंति जहा सण्णीणं पढमसमयउद्देसए तहेव णवरं सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं णाणं च सव्वत्थ णत्थि सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥२॥ एवं एत्थ वि एक्कारस उद्देसगा कायव्वा पढमं तइयपंचमा एक्कगमा सेसा अट्ठवि एक्कगमा। पढमं अभवसिद्धियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं। (पण्णरसमं सयं सम्मत्तं) ॥१५॥ कण्हलेस्सअभवसिद्धियकडजुम्म २ असण्णि-पंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा एएसिं चेव ओहियसए तहा कण्हलेस्ससयं पि णवरं तेणं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा ठिई संचिट्ठणा य कण्हलेस्ससए सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति। वितियं अभवसिद्धियमहाजुम्मसयं ॥१०॥ (सोलसमं सयं सम्मत्तं) ॥१६॥ एवं छहिं लेस्साहिं छ सया कायव्वा जहा कण्हलेस्ससयं णवरं संचिट्ठणा ठिती य जहेव ओहियसए तहेव भाणियव्वा णवरं सुक्कलेस्साए उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, ठिती एवं चेव णवरं अंतो मुहुत्तो णत्थि जहण्णगं तहेव सव्वत्थं सम्मत्तं णाणाणि णत्थि, विरयी विरयाविरयी अणुत्तरविमाणोववत्ति एयाणि णत्थि सव्वपाणा णो इणट्ठे समट्ठे, सेवं भंते ! भंते ! त्ति। एवं एयाणि सत्त अभवसिद्धिसयाणि महाजुम्मसयाणि भवंति २ एवं एयाणि एक्कवीसं सण्णिमहाजुम्मसयाणि सव्वाणि एक्कासीतिमहा जुम्मसया सम्मत्ता चत्तालीससयं सम्मत्तं ॥४०॥

कापोतलेश्याशते, उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइंति, यदुक्तं तदीशानदेवपरमायुरा-श्रित्येत्यवसेयम् पद्मलेश्याशते, उक्कोसेणं दससागरोवमाइं, इत्यादि तु यदुक्तं तद्ब्रह्मलोकदेवायुराश्रित्येति मन्तव्यम्। तत्र हि पद्मलेश्ये तावद्यायुर्भवत्यन्तर्मुहूर्तं च प्राक्तनभवावसानवर्तीति। शुक्लश्लेश्याशते (संचिट्ठणा ठिई य जहा कण्हलेस्ससएत्ति) त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सान्तर्मुहूर्तानि शुक्ललेश्यावस्थानमित्यर्थः। एतच्च पूर्वभवान्त्यान्त-र्मुहूर्तमनुत्तरायुश्चाश्रित्येत्यवसेयम्। स्थितिस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोप-माणीति। नवरं सुक्कलेस्साए उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइंति, यदुक्तं। तदुपरितनग्रैवेयकमाश्रित्येति मन्तव्यम्। तत्र हि देवानामेतावदेवायुः शुक्ललेश्या च भवत्यभव्याश्चोत्कर्षतस्तत्रैव देवतयोत्पद्यन्ते न तु परतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं च पूर्वभवावसानसंबंधीति॥

(१२) राशियुग्मविशेषेण नैरयिकाणामुपपातः।

कइणं भंते ! रासीजुम्मा पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि एसीजुम्मा पण्णत्ता, तं जहा कडजुम्मे जाव कलिओगे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ चत्तारि रासीजुम्मा पण्णत्ता जाव कलिओगे ? गोयमा ! जेण रासी। च उक्कएणं अवहारेणं अवहारमाणे चउपज्जवसिए से तं रासीजुम्मकडजुम्मे एवं जाव जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहारमाणे एगपज्जवसिए से ते रासीजुम्मकलिओगे से तेणट्ठेणं जाव कलिओगे रासीजुम्मकडजुम्म णेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ जहा वक्कंतीए, तेणं भंते ! जीवा एगसमइएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! चत्तारि वा अट्ठ वा वारस वा सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा किं संतरं उववज्जंति णिरंतरं उववज्जंति? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति णिरंतरं पि

उववज्जंति संतरं उववज्जमाणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जसमया अणंतरं काउं उववज्जंति, णिरंतरं उववज्जमाणा जहण्णेणं दो समया उक्कोसेणं असंखेज्जा समया अणुसमयं अविरहियं णिरंतरं उववज्जंति, तेणं भंते! जीवा जं समयं कडजुम्मा तं समयं तेओगा, जं समयं तेओगा तं समयं कडजुम्मा ? णो इणट्ठे समट्ठे जं समयं कडजुम्मा तं समयं दावरजुम्मा, जं समयं दावर जुम्मा तं समयं कडजुम्मा ? णो इणट्ठे समट्ठे जं समयं कडजुम्मा तं समयं कलिओगा जं समयं कलिओगा तं समयं कडजुम्मा ? णो इणट्ठे समट्ठे तेणं भंते ! जीवा कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहा णामए पवए पवमाणे एवं जहा उववायसए जाव णो परप्पओगे णं उववज्जंति । तेणं भंते ! जीवा किं आयजसेणं उववज्जंति आय अजसेणं उववज्जंति ? गोयमा ! णो आयजसेणं उववज्जंति आय अजसेणं उववज्जंति जइ आयअजसेणं उववज्जंति किं आयजसं उवजीवंति आयअजसं उवजीवंति? गोयमा ! णो आयजसं उवजीवंति आयअजसं उवजीवंति, जदि आयअजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा ? गोयमा ! सलेस्सा णो अलेस्सा । जदि सलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! सकिरिया णो अकिरिया, जदि सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंत करैं ति ? णो इणट्ठे समट्ठे । रासीकडजुम्मअसुरकुमाराणं भंते ! कओ उववज्जंति जहेव णेरइया तहेव णिरवसेसं एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णवरं वणस्सइकाइया जाव असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंत्ति, संसं तं चेव मणुस्सा वि एवं चेव जाव णो आयजसेणं उववज्जंति आयअजसेणं उववज्जंति, जइ आयअजसेणं उववज्जंति किं आयजसं उवजीवंति आयअजसं उवजीवंति ? गोयमा ! आयजसं पि उवजीवंति, आय अजसं पि उवजीवंति जइ आयजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा ? गोयमा ! सलेस्सा वि अलेस्सा वि जदि अलेस्सा वि जदि अलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! णो सकिरिया अकिरिया । जदि अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ? हंता सिज्झंति जाव अंतं करेंति, जदि सलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! सकिरिया णो अकिरिया जदि सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ? गोयमा ! अत्थेगइया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति, अत्थेगइया णो तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति जदि आयअजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा ? गोयमा ! सलेस्सा णो अलेस्सा, जइ सलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! सकिरिया णो अकिरिया जइ सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ? णो इणट्ठे समट्ठे वाणमंतर जोइसियवेमाणिया जहा णेरइया सेवं ! भंते ! भंते ! त्ति (इगुलीसइमसयस्स पढमो उद्देसो सम्मत्तो ॥४१॥) ॥१॥ रासीजुम्मतेओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव उद्देसओ भाणियव्वो णवरं परिमाणं तिण्णि वा सत्त पा एक्कारस वा पण्णरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति, संतरं तहेवं तेणं भंते ! जीवा जं समयं तेओया तं समयं कडजुम्मा, जं समयं कडजुम्मा तं समयं तेओगा ? णो इणट्ठे समट्ठे । जं समयं तेओगा तं समयं दावरजुम्मा, जं समयं दावरजुम्मा तं समयं तेओया ! णो इणट्ठे समट्ठे । एवं कलिओगेण वि समं सेसं तं चेव जाव वेमाणिया णवरं उववाओ सव्वेसिं जहा वक्कतीए। सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥ ॥२॥ रासी जुम्मदावरजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव उद्देसओ णवरं परिमाणं दो वा छ वा दस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति संवेहो, तेणं भंते ! जीवा जं समयं दावरजुम्मा तं समयं कंडजुम्मा, जं समयं कडजुम्मा तं समयं दावरजुम्मा ? णे इणट्ठे समट्ठे । उवं तेओगेण वि समं एवं कलिओगेण वि समं, सेसं जहा पढमुद्देसइ जाव वेमाणिया । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥३॥ रासीजुम्मकलिओ गे णेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव परिमाणं एक्को वा पंच वा णव वा तेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति संवेहो, तेणं भंते ! जीवा जं समयं कलिओगा तं समयं कंडजुम्मा जं समयं कडजुम्मा तं समयं कलिओगा ? णो इणट्ठे समट्ठे । एवं तेओगेण वि समं दावरजुम्माण वि समं, सेसं जहा पढमुद्देसए। एवं जाव वेमाणिया । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥४॥ कण्हलेस्सा रासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ तहा धूमप्पभाए सेसं जहा पढमुद्देसए । असुरकुमाराणं तहेव एवं जाव वाणमंतराणं । मणुस्साण वि जहेव णेरइयाणं । आयअजसं उवजीवंति, अलेस्सा अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति एवं ण भाणिव्वं सेसं जहा पढमुद्देसए सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥५॥ कण्हलेस्सतेयोएहि वि एवं चेव उद्देसओ सेव भंते ! त्ति ॥४१॥६॥ कण्हलेस्सदावरजुम्मेहि वि एवं चेव उद्देसओ सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥७॥ कण्हलेस्स-कलिओगेहि वि एवं चेव उद्देसओ परिमाणं संवेहो य जहा आहिएसु उद्देसएसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥८॥ जहा कण्हलेस्सेहिं एवं णीललेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा णिरवसेसा णवरं णेरइयाणं उववाओ जहा वालुयप्पभाए सेसं तं चेव। सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥१२॥

काउलेस्सेहि वि एवं चेव चत्तारि उद्देसगा कायव्वा णवरं णेरइयाणं उववाओ जहा रयणप्पभाए सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥१६॥ तेउलेस्सरासीजुम्मकडजुम्मअसुरकुमाराणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव णवरं जेसु तेउलेस्सा अत्थि तेसु भाणियव्वं एवं एएवि कण्हलेस्ससरिसा चत्तारी उद्देसगा कायव्वा ॥ सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥२०॥ एवं पम्हलेस्साए वि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा। पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा वेमाणियाणं एएसिं पम्हलेस्सा सेसाणं णत्थि सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥ ॥२४॥ जहा पम्हलेस्सा एवं सुक्कलेस्साए चत्तारि उद्देसगा कायव्वा णवरं मणुस्साणं गमओ जहा ओहियउद्देसएसु सेसं चेव एएसु छसु लेस्ससु चउव्वीसं उद्देसगा ओहिया चत्तारि सव्वे ते अट्ठावीसं उद्देसगा भवंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥२८॥ भवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा ओहिया पढमगा चत्तारि उद्देसगा तहेव णिरवसेसं एए चत्तारि उद्देसगा सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥३२॥ कण्हलेस्सभवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा कण्हलेस्साए चत्तारि उद्देसगा भवंति तहा इमेवि भवसिद्धियकण्हलेस्सेहिं चत्तारि उद्देसगा कायव्वा ॥४१॥३६॥ एवं णीललेस्सभवसिद्धिएहि वि चत्तारि उद्देसगा ॥४१॥४०॥ एवं काउलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ॥४१॥४४॥ तेउलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ओहिया सरिसा ॥४१॥४८॥ पम्हलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ॥४१॥४॥५२॥ सुक्कलेस्सेहिवि चत्तारि उद्देसगा ओहियसरिसा एवं एएवि भवसिद्धिएहि वि अट्ठावीसं उद्देसगा भवंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥५६॥ अभवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमो उद्देसओ णवरं मणुस्साणं णेरइया य सरिसा भाणियव्वा सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति एवं चउसुवि जुम्मेसु चत्तारि उद्देसगा ॥६०॥ कण्हलेस्सा अभव-सिद्धियरासीजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव चत्तारि उद्देसगा ॥६४॥ एवं णीललेस्सअभवसिद्धिएहिवि चत्तारि उद्देसगा ॥६८॥ एवं काउलेस्सेहिं। वि चत्तारि उद्देसगा ॥७२॥ एवं तेउलेस्सेहिंवि चत्तारि उद्देसगा ॥७६॥ पम्हलेस्सेहिंवि चत्तारि उद्देसगा ॥८०॥ सुक्कलेस्से अभवसिद्धिएहिं चत्तारि उद्देसगा एवं एएसु अट्ठावीसाएवि अभवसिद्धियउद्देसएसु मणुस्सा णेरइयगमेणं णेतव्वा,सेवं भंते ! भंते ! त्ति एवं एतेवि अट्ठावीस उद्देसगा ॥४१॥८४॥ सम्मद्दिट्ठी रासीजुम्म-कडजुम्मणेरइयाणं भंते! कओ उववज्जंति एवं जहा पढमो उद्देसओ एवं चउसुवि जुम्मेसु चत्तारि उद्देसगा भवसिद्धियसरिसा कायव्वा, सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥८८॥ कण्हलेस्ससम्मद्दिट्ठी रासीजुम्मणेरइयाणं भंते ! उववज्जंति, एएवि कण्हलेस्ससरिसा चत्तारि वि उद्देसगा कायव्वा एवं सम्मद्दिट्ठीसुवि भवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा कायव्वा, सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥४१॥९२॥ मिच्छद्दिट्ठी रासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं एत्थवि मिच्छादिट्ठी अभिलावेणं अभवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा कायव्वा, सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥१४०॥ कण्हपक्खियरासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं अभवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा कायव्वा, सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥१६८॥ सुक्कपक्खियरासीजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं एत्थवि भवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा भवंति एवं एएणं सव्वेवि छण्णउयं उद्देसगं सयं भवति ॥ रासीजुम्मसयं सम्मत्तं ॥४१॥११६।

(रासीजुम्मकडजुम्मनेरइयत्ति) राशियुग्मानां भेदभूतेन कृतयुग्मेन ये प्रमितास्ते राशियुग्मकृतयुग्मास्ते च ते नैरयिकाश्चेति समासोऽतस्ते, अणुसमयमित्यादि, पदत्रयमेकार्थम्॥

(आयजसेणंति) आत्मानः सम्बन्धि यशो यशोहेतुत्वाद्यशः संयम आत्मयशस्तेन (आयजसं उवजीवतित्ति) आत्मयश आत्मसंयममुपजीवन्त्याश्रयन्ति विदधतीत्यर्थः। इह च सर्वेषामेवात्मयशसैवोत्पत्तिरुत्पन्नौ सर्वेषामप्यविरतत्वादिति। इह च शतपरिमाणमिदमाद्यानि द्वात्रिंशच्छतान्यविद्यमानावान्तरशतानि त्रयस्त्रिंशादिषु तु सप्तसु प्रत्येकमवान्तरशतानि द्वादशचत्वारिंशेत्येकविंशतिरेकचत्वारिंशे तु नास्त्यवान्तरशतमेतेषां च सर्वेषां मीलनेऽष्टत्रिंशदधिकं शतानां शतं भवत्येवमुद्देशकपरिमाणमपि सर्वं शास्त्रमवलोक्यावसेयं तच्चैकोनविंशतिशतानि पञ्चविंशत्याधिकानीति। इह शतेषु कियत्स्वपि वृत्तिकां, विहितवानहमस्मि सुशङ्कितः। विवृतिचूर्णिगिरां विरहाद्विदृक् कथमशङ्कमियत्यर्थथवा पथि। अति एकचत्वारिंश शतं वृत्तितः समाप्तम्॥ भ०४१ श० १९६ उ०।

क्षुद्रयुग्मविशेषणेन नैरयिकादीनाम्।

खुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्ख० पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइएहिंतो उववज्जंति एवं णेरइओ उववाओ जहा वक्कंतीए तहा भाणियव्वो, तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए पवमाणे अज्झवसाणे एवं जहा पंचवीसइमसए अट्ठमुद्देसए णेरइयाणं वत्तव्वया तहेव इहवि भाणियव्वा जाव आयप्पओगेणं उववज्जंति णो परप्पओगेणं उववज्जंति। रयणप्पभापुढ विखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उवव-

ज्झंति एवं जहा ओहियणेरइयाणं वत्तव्वया सच्चेव रयणप्पभाए वि भाणियव्वा जाव णो परप्पओगेणं उववज्झंते एवं सक्करप्पभाएवि एवं जाव अहेसत्तमाएवि। एयं उववाओ जहा वक्कंतीए असण्णी खलु पढमं दोच्चेव सरोसीवातईयपक्खी गाहा। एवं उववातेयव्वा सेसं तहेव। खुड्डागतेओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्झंति किं णेरइएहिंतो उववातो जहा वक्कंतीए तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्झंति? गोयमा ! तिण्णी वा सत्त वा एक्कारस वा पण्णरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्झंति सेसं जहा कडजुम्मस्स। एवं जाव अहेसत्तमाए। खुड्डागदावरजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्झंति एवं जहेव खुड्डागकडजुम्मे णवरं परिमाणं दो वा छ वा दस वा चउद्दस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा सेसं तं चेव। एवं जाव अहेसत्तमाए। खुड्डागकलिओगणेरइयाणं भंते! कओ उववज्झंति एवं जहेव खुड्डाकडजुम्मे णवरं परिमाणं एक्को वा पंच वा णव वा तेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्झंति सेसं तं चेव एवं जाव अहेसत्तमाए। सेवं भंते! भंते! त्ति। जाव विहरइ इक्कतीसइमस्स पढमो ॥३१॥१॥

(जहा वक्कतीएत्ति) प्रज्ञापनाष्टपदे अर्थतश्चैवं तत् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यो गर्भजमनुष्येभ्यश्च नारका उत्पद्यन्त इति विशेषस्तु असण्णी खलु पढममित्यादि ॥ गाथाभ्यामवसेयः (अज्झवसाणत्ति) अनेन (अज्झवसाण निव्वत्तिएणं करणोववाएणति) सूचितम्॥ एकत्रिंशशते प्रथमः ॥३१॥१॥

कण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते! कओ उववज्झंति एवं जहा ओहियगमो जाव णो परप्पओगेणं णवरं उववातो जह वक्कंतीए धूमप्पभपुढविणेरइयाणं सेसं तहेव धूमप्पभपुढविकण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते! कओ उववज्झंति एवं चेव णिरवसेसं। एवं तमाएवि एवं अहेसत्तमाएवि णवरं उववाओ सव्वत्थ जहा वक्कंतीए। कण्हलेस्सखुड्डागतेओगणेरइयाणं भंते! कओ उववज्झंति एवं चेव णवरं तिण्णी वा सत्त एक्कारस वा वा पण्णरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा सेसं तहेव एवं जाव अहेसत्तमाएवि ॥ कण्हलेस्सखुड्डागदावरजुम्मणेरइयाणं भंते! कओ उववज्झंति एवं चेव णवरं दो वा छ वा दस वा चउद्दस वा सेसं तं चेव। एवं धूमप्पभाए वि जाव अहे सत्तमाएवि कण्हलेस्सखुड्डागकलिओगणेरइयाणं भंते ! एवं चेव णवरं एक्को वा पंच वा णव वा तेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा सेसं तं चेव। एवं धूमप्पभाए वि तमाए वि। अहेसत्तमाएवि सेवं भंते! भंते! त्ति एगतीसइमस्स वितिओ उद्देसो सम्मत्तो ॥

द्वितीयस्तु कृष्णलेश्याश्रयः सा च पञ्चमीषष्ठीसप्तमीष्वेव पृथिवीषु भवतीति कृत्वा सामान्यदण्डकस्तद्दण्डकत्रयं चात्र भवतीति (उववाओ जहावक्कंतीए धूमप्पभपुढविनेरइयाणंति) इह कृष्णलेश्या प्रक्रान्ता सा च धूमप्रभायां भवतीति तत्र ये जीवा उत्पद्यन्ते तेषामेवोत्पादो वाच्यस्ते वा संज्ञिसरीसृपपक्षिसिंह वर्ज्या इति ॥ भ० ३१ श० २ उ०।

णीललेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते! कओ उववज्झंति एवं जहेव कण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मा, णवरं उववाओ जो वालुयप्पभाणी सेसं तं चेव वालुयप्पभ पुढविणीललेस्सखुड्डागकडजुम्म णेरइयाणं एवं पंकप्पभाएवि। एवं चउसुवि जुम्मेसु णवरं परिमाणं जाणियव्वं, परिमाणं जहा कण्हलेस्सउद्देसए सेसं तहेव सेवं भंते! भंते! त्ति एक्कतीसइमस्स ततिओ उद्देसो सम्मत्तो ॥ ३१॥३॥

तृतीयस्तु नीललेश्याश्रयः सा तृतीया चतुर्थीपञ्चमीष्वेव पृथिवीषु भवतीति कृत्वा सामान्यदण्डकस्तद्दण्डकत्रयं चात्र भवतीति (उववाओ जो बालुयप्पभाएत्ति) इह नीललेश्या प्रक्रान्ता सा च बालुकाप्रभायां भवतीति तत्र ये जीवा उत्पद्यन्ते तेषामेवोत्पादो वाच्यः ते चासञ्ज्ञिसरीसृपवर्जा इति (परिताणं जाणियव्वंति) चतुरष्टद्वादशप्रभृतिक्षुल्लककृतयुग्मादिस्वरूपं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥३१॥३॥

काउलेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते! कओ उववज्झंति एवं जहेव कण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मे, णवरं उववाओ जो रयणप्पभाए सेसं तहेव। रयणप्पभपुढविकाउलेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्झंति। एवं सक्करप्पभाएवि। एवं वालुयप्पभाएवि एवं चउसुवि जुम्मेसु णवरं परिमाणं जाणियव्वं परिमाणं जहा कण्हलेस्स उद्देसए सेसं तं चेव। सेवं भंते! भंते! त्ति।

चतुर्थस्तु कापोतलेश्याश्रयः सा च प्रथमाद्वितीयातृतीयास्वेव पृथिवीष्विति कृत्वा सामान्यदण्डको रत्नप्रभादिदण्डत्रयं चात्र सम्भवतीति (उववओ जो रयणप्पभाएत्ति) सामान्यदण्डके रत्नप्रभावदुपपातो वाच्यः शेषं सुत्रसिद्धम् ॥ एकत्रिंश शतं वृत्तितः समाप्तम् ॥३१॥४॥

भवसिद्धियखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते! कओ उववज्झंति किं णेरइए एवं जहेव ओहिओ तहेव णिरवसेसं जाव णो परप्पओगेणं उववज्झंति रयणप्पभापुढविभवसिद्धियखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते!एवं चेव णिरवसेसं। एवं जाव अहेसत्तमाए। एवं भवसिद्धियखुड्डागतेओगणेरइयावि। एवं जाव कलिओगत्ति णवरं परिमाणं जाणियव्वं परिमाणं पुव्वं भणियं जहा पढमुद्देसए सेवं भंते! भंते! त्ति ॥३१॥५॥ कण्हलेस्स भवसिद्धिय खुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते! उववज्झंति। एवं जहेव ओहिओ कण्हलेस्सउद्देसए तहेव णिरवंसेसं चउसु वि जुम्मेसु भाणियव्वो जाव अहेसत्तमपुढविकण्हलेस्सभवसिद्धियखुड्डाग-कलिओगणेरइयाणं भंते! कओ उववज्झंति तहेव सेवं भंते! भंते! त्ति ॥३१॥६॥ णीललेस्सभवसिद्धियचउसुवि जुम्मेसु तहेव भाणियव्वं जहा ओहियणललेस्सउद्देसए सेवं भंते! भंते! त्ति। जाव विह-

रइ ॥३१॥७॥ काउलेस्सभवसिद्धियचउसुवि जुम्मेसु तहेव उववातेयव्वो जहेव ओहिए काउलेस्सउद्देसए सेवं भंते! भंते! त्ति जाव विहरइ ।३१॥८॥ जहा भवसिद्धिएहिं चत्तारि उद्देसगा भणिया एवं अभवसिद्धिएहिं चत्ताहि उद्देसगा भाणियव्वा जाव काउलेस्सउद्देसओत्ति ॥ सेवं भंते! भंते! त्ति ॥३१॥१२॥ एवं सम्मद्दिट्ठीहिं वि लेस्सासंजुत्तेहिं चत्तारि उद्देसगा कायव्वा णवरं सम्मद्दिट्ठी पढमवितिएसु दोसुवि उद्देसएसु अहेसत्तमपुढवीसु ण उववातेयव्वो सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते! त्ति ॥ ३१॥१६॥ मिच्छादिट्ठीहिंवि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा जहा भवसिद्धियाणं सेवं भंते ! भंते! त्ति ॥ ३१॥२०॥ एवं कण्हपक्खिएहिंवि लेस्सा संजुत्ता चत्तारि उद्देसगा कायव्वा जहेव भवसिद्धिएहिंवि सेवं भंते ! भंते! त्ति ॥ ३१॥२४॥ सुक्कपक्खिएहिं एवं चेव चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा जाव बालुयप्पाभापुढविकाउलेस्स-सुक्कपक्खिए खुड्डागकलिओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति तहेव जाव णो परप्पओगेणं उववज्जंति सेवं भंते ! भंते! त्ति ॥ ३१॥२८॥ सव्वेवि एए अट्ठावीसउद्देसगा उववायसयं सम्मत्तं ॥३१॥२८॥

(१३) भव्यदेवादयः कुत उत्पद्यन्ते।

भवियदव्वदेवाणं भंते! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा! णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरि० मणु० देवेहिंतो उववज्जंति भेदो जहा वक्कंतीए सव्वेसु उववातेयव्वा जाव अणुत्तरोववाइयत्ति, णवरं असंखेज्जवासाउय अकम्मभूमिगअंतरदीवसव्वट्ठ-सिद्धवज्जं जाव अपराजियदेवेहिंतोवि उववज्जंति । णरदेवाणं भंते! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइए पुच्छा ? गोयमा! णेरइएहिंतोवि उववज्जंति णो तिरि० णो मणु० देवेहिंतोवि उववज्जंति । जइ णेरइएहिंतो उववज्जंति किं रयणप्पभापुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति जाव अहेसत्तमाए पुढविए णेरइएहिंतो वि उववज्जंति ? गोयमा ! रयणप्पभापुढविणेरइएहिंतोवि उववज्जंति णो सक्कर० जाव णो अहेसत्तमाइपुढविणेरइएहिंतोवि उववज्जंति जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतरजोइ-सियवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा! भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतर० एवं सव्वदेवेसु उववाएयव्वा वक्कंती भेदेणं जाव सव्वट्ठसिद्धत्ति ॥

(भेदोक्ति) "जइ नेरइएहिंतो उववज्जंति किं रयण-प्पभापुढविनेर-इएहिंतो", इत्यादिभेदो वाच्यः। (जहा वक्कंतीएत्ति) यथा प्रज्ञापनाषष्ठपदे॥ नवरमित्यादि (असंखेज्जवासाओत्ति) असंख्यातवर्षायुष्ककर्म्मभूमिजाः पञ्चेन्द्रियतिरङ्मनुष्या असंख्यातवर्षायुषामकर्म्मभूमिजादीनां साक्षादेव गृहीतत्वादेते भ्यश्चोद्वृत्ता भव्यद्रव्यदेवा न भवन्ति भावदेवेष्वेव तेषामुत्पादात् सर्व्वार्थसिद्धकास्तु भव्यद्रव्यसिद्धा एव भवन्तीत्यत एतेभ्योऽन्ये सर्वे भव्यद्रव्यदेवतयोत्पादनीया इति। भ०१२ श० ६ उ०॥ (उत्पलजीवादीनामुपपातो वणस्सइ शब्दे)

धम्मदेवाणं भंते! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो एवं वक्कंती भेदेणं सव्वेसु उववाएयव्वा जाव सव्वट्ठसिद्धत्ति, णवरं तमा अहेसत्तमाए तेऊ वाऊ असंखेज्जवासाउय अकम्मभूमिग-अंतर-दीवगवज्जेसु। देवाधिदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति पुच्छा गोयमा! णेरइएहिंतो उववज्जंति, णो तिरि० णो० मणु० देवेहिंतो उववज्जंति जइ णेरइए० एवं तिसु पुढविसु उववज्जंति सेसाओ खोडेयव्वाओ जइ देवेहिंतो विमाणिएसु सव्वेसु उववज्जंति जाव सव्वट्ठसिद्धत्ति सेसा खोडेयव्वा । भावदेवाणां भंते! कओहिंतो उववज्जंति? एवं जहा वक्कंतीए भवणवासीणं उववाओ तहा भाणियव्वं।

धर्म्मदेवसूत्रे नवरमित्यादि (तमत्ति) षष्ठपृथिवी तत उद्वृत्तानां चारित्रं नास्ति तथा अधःसप्तम्यास्तेजसो वायोरसंख्येयवर्षायुष्क-कर्म्मभूमिजेभ्योऽकर्म्मभूमिजेभ्योऽ तरद्वीपजेभ्यश्चोद्वृत्तानां मानुषत्वा-भावान्न चारित्रं ततश्च न धर्म्मदेवत्वमिति देवातिदेवसूत्रे (तिसु पुढवीसु उववज्जंतित्ति) तिसृभ्य पृथिवीभ्य उद्वृत्ता देवातिदेवा उत्पद्यन्ते (सेसाओ खोडेयव्वाओत्ति) शेषा पृथिव्यो निषेधयितव्या इत्यर्थः ताभ्य उद्वृत्तानां देवातिदेवत्वस्याभावादिति, भावदेवाणमित्यादि, इह च बहुतरस्थानेभ्य उद्वृत्ता भवनवासितयोत्पद्यन्ते असञ्ज्ञिनामपि तेषूत्पादादत उक्तम्, जहावक्कंतीए भवणवासीणं उववाओ, इत्यादि॥ भ०१२ श० १० उ०।

(१४) स्वतोऽस्वतो वा नैरयिकादय उत्पद्यन्ते॥

सओ भंते ! णेरइया उववज्जंति असतो णेरइया उववज्जंति ? गंगेया! सओ णेरइया उववज्जंति णो असतो णेरइया उववज्जंति एवं जाव वेमाणिया । सओ भंते! णेरइया उव्वट्टंति असओ णेरइया उव्वट्टंति ? गंगेया ! सओ णेरइया उव्वट्टंति णो असओ णेरइया उव्वट्टंति एवं जाव वेमाणिया, णवरं जोइसियवेमाणिएसु चयंति भाणियव्वं । सओ भंते! णेरइया उववज्जंति असओ णेरइया उववज्जंति सओ असुरकुमारा उववज्जंति एवं जाव सओ वेमाणिया उववज्जंति असओ वेमाणिया उववज्जंति, सओ णेरइया उव्वट्टंति असओ णेरइया उव्वट्टंति सओ असुरकुमारा उव्वट्टंति जाव सओ वेयाणिया चयंति असओ वेमाणिया चयंति ? गंगेया ! सओ णेसइया उववज्जंति णो असओ णेरइया उववज्जंति सओ असुरकुमारा उववज्जंति णो असओ असुरकुमारा उववज्जंति जाव सओ वेमाणिया उववज्जंति णो असओ वेमाणिया उववज्जंति सओ णेरइया उव्वट्टंति णो असओ णेरइया उव्वट्टंति जाव सओ वेमाणिया चयंति । णो असओ वेमाणिया चयंति । से केण

ट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ सओ णेरइया उववज्जंति णो असओ णेरइया उववज्जंति। जाव सओ वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति से णूणं भे गंगेया ! पासेणं अरहा पुरिसादाणिएणं सासए लोए वुइए अणाइए अणवदग्गे जहा पंचमे सए जाव जे लोकइ से लोए से तेणट्ठेणं गंगेया! एवं वुच्चइ जाव सओ वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति। सयं भंते! एयं एवं जाणह उदाहु असयं असोच्चा एतेवं जाणह उदाहु सोच्चा सओ णेरइया उववज्जंति णो असओ णेरइया उववज्जंति जाव सओ वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति ? गंगेया! सयं एते एवं जाणामि णो असयं असोच्चा एते एवं जाणामि णो सोच्चा सओ णेरइया उववज्जंति णो असओ णेरइया उववज्जंति जाव सओ वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ तं चेव जाव णो असओ वेमाणिया चयंति ? गंगेया! केवणीणं पुरच्छिमणं मियंपि जाणइ अमियंपि जाणइ दाहिणेणं एवं जहा समुद्देसए जाव णिव्वुडे णाणे केवलिस्स से तेणट्ठेणं गंगेया! एवं वुच्चइ तं चेव जाव णो असओ वेमाणिया चयंति ॥

अथ नारकादीनां प्रकारान्तरेणोत्पादोद्वर्तने निरूपयन्नाह, सओभंते, इत्यादि ॥ तत्र च (सओ नेरइया उववज्जंतित्ति) सतो विद्यमाना द्रव्यार्थतया न हि सर्वथैवासत्किंचिदुत्पद्यते सत्वादेव खरविषाणवत् सत्वं च तंषां जीवद्रव्यापेक्षया नारकापर्यायापेक्षया वा तथा हि भाविनारकपयायापेक्षया द्रव्यतो नारकाः सतो नारका उत्पद्यन्ते नारकायुष्कोदयाद्वा भावनारका एव ना रकत्वेनोत्पद्यन्त इति। अथवा (सउत्ति) विभक्तिविपरिणामात्सत्सु प्रागुत्पन्नेष्वेन्ये समुत्पद्यन्ते नासत्सु लोकस्य शाश्वतत्वेन नारकादीनां सर्वदैव सद्भावादिति ॥ सेणूणं भे गंगेया, इत्यादि। अनेन च तत्सिद्धान्तेनैव स्वमतं पोषितं यतः पार्श्वनाथार्हता शाश्वतो लोका उक्तोऽतो लोकस्यशाश्वतत्वात्सन्त एव सत्स्वेव वा नारकादय उत्पद्यन्ते च्यवन्ते चेति साध्वेवोच्यत इति। अथ गाङ्गेयो भगवतोऽतिशायिनं ज्ञानसंपदं संभावयन् विकल्पयन्नाह। सयं भंते ! इत्यादि। स्वयमात्मना लिङ्गानपेक्षमित्यर्थः (एवंति) वक्ष्यमाण-प्रकारं वस्तु (असयंति) अस्वयं परसो लिङ्गत इत्यर्थः। तथा (असोच्चत्ति) अश्रुत्वा आगमानपेक्षम् (एतेयंति) एतदेवमित्यर्थः (सोच्चत्ति) पुरुषान्तरवचनं श्रुत्वा आगमत इत्यर्थः (सयं एतेवं जाणामित्ति) स्वयमेतदेवं जानामि पारमार्थिकप्रत्यक्षसाक्षात्कृत-समस्तवस्तुस्तोमस्वभावत्वान्मम ॥ भ० ९ श० ३२ उ०।

सयं भंते! णेरइया णेरइएसु उववज्जंति असयं णेरइया णेरइएसु उववज्जंति? गंगेया ! सयं णेरइया णेरइएसु उववज्जंति असयं णेरइया णेरइएसु उववज्जंति। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव उववज्जंति ? गंगेया! कम्मोदएणं कम्मगुरुयत्ताए कम्मभारियाए कम्मगुरुसंभारियत्ताए असुभाणं कम्माणं उदएणं असुभाणं कम्माणं विवागेणं असुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं णेरइया णेरइएसु उववज्जंति से तेणट्ठेणं ! गंगेया! जाव उववज्जंति। सयं भंते ! असुरकुमासा पुच्छा गंगेया ! सयं असुरकुमारा उववज्जंति णो असयं असुरकुमारा उववज्जंति। से केणट्ठेणं तं चेव जीव उववज्जंति ? गंगेया ! कम्मोदएणं कम्मोवसमेणं कम्मविगइए कम्मविसोहीए कम्मविसुद्धीए सुभाणं कम्माणं उदएणं सुभाणं कम्माणं विवागेणं सुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं असुरकुमारा असुरकुमारत्ताए जाव उववज्जंति णो असयं असुरकुमारा जाव उववज्जंति से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति, एवं जाव थणियकुमारा। सयं भंते! पुढविकाइया पुच्छा गंगेया! सयं पुढवीकाइया उववज्जंति णो असयं जाव उववज्जंति से केणट्ठेणं जाव उववज्जंति ? गंगेया! कम्मोदएणं कम्मगुरुयत्ताए कम्मभारियताए कम्मगुरुयसंभारियत्ताए सुभासुभाणं कम्माणं उदएणं सुभासुभाणं कम्माणं विवागेणं सुभासुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं पुढवीकाइया जाव उववज्जंति णो असयं पुढवीकाइया जाव उववज्जंति, से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति एवं जाव मणूसा वाणमंतरजोइसवेमाणिया जहा असुरकुमारा से तेणट्ठेणं गंगेया! एवं वुच्चइ सयं वेमाणिया जाव उववज्जंति णो असयं वेमाणिया जाव उववज्जंति ॥

सयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति) स्वयमेव नारका उत्पद्यन्ते नास्वयं नेश्वरपारतन्त्र्यादित्यर्थः यथा कैश्चिदुच्यते। "अज्ञो जन्तुरनीशोऽय-मात्मनः सुखदुखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेववेति १ ईश्वरस्य हि कालादिकारणकलापव्यतिरिक्तस्य युक्तिभिर्विचार्यमाण-स्याघटनादिति (कम्मोदएणंति) कर्म्मणामुदितत्वेन न च कर्म्मोदयमात्रेण नारकेषु त्पद्यते केवलिनामपि तस्य भावादत आह (कम्मगुरुयाएत्ति) कर्म्मणां गुरुकता महत्ता कर्म्मगुरुकता तया (कम्मभारियाएत्ती) भारोऽस्ति येषां तानि भारिकाणि तद्भावो भारिकता कर्मणां भारिकता कर्म्मभारिकता तया महदपि किञ्चिदल्पभारं दृष्टं तथा विधभारमपि च किंचिदमहदित्यत आह (कम्मगुरुसंभारियत्ता एति) गुरोः सम्भारिकस्य च भावो गुरुसम्भारिकता गुरुता सम्भारिकता चेत्यर्थः। कर्म्मणां गुरुसम्भारिकता कर्म्मगुरुसम्भारिकता तयाऽतिप्रकर्षावस्थयेत्यर्थः। एतच्च त्रयं शुभकर्मापेक्षया स्यादत आह॥ असुभाण, मित्यादि॥ उदयप्रदेशतोऽपि स्यादत आह (विवागेणंति) विपाको यथा बद्धरसानुभूतिः स च मन्दोऽपि स्यादत आह (फलविवागेणंति) फलस्येवालाबुदकादेः विपाको विपच्यमानता रसप्रकर्षावस्था फलविपाकस्तेनासुरकुमारसूत्रे (कम्मोदएणंति) असुरकुमारोचितः कर्मणामुदयेन। वाचानान्तरे तु (कम्मोवसमेणंति) दृश्यते तत्र चाशुभकर्म्मणामुपशमेन सामान्यतः (कम्मविगइएत्ति) कर्म्मणामशुभानां विगत्या विगमेन स्थितिमाश्रित्य (कम्मविसोहीएत्ति) रसमाश्रित्य (कम्मविशुद्धीएत्ति) प्रदेशापेक्षया एकार्था-

श्चैते शब्दा इति पुथिवीकायिकसूत्रे (सुभासुभाणंति) शुभानां शुभवर्णगन्धादीनामशुभानां तेषामेकेन्द्रियजात्यादीनां वा। भ० ६ श० ३२ उ०।

(१५) इदानीं षष्ठं द्वारमिभित्सुराह। उद्वर्त्य क्व गच्छन्ति।

नेरइयाण भंते ! अणतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति किं नेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु देवेसु उववज्जंति ? गोयमा ! नो नेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति मणुस्सेसु उववज्जंति नो देवेसु उववज्जंति। जदि तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति किं एगिंदिय, जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति ? गोयमा ! नो एगिंदिएसु जाव नो चउरिंदिएसु उववज्जंति एवं जेहिंतो उववाओ भणिओ तेसु उवट्टणा वि भाणियव्वा नवरं सम्मुच्छिमेसु न उववज्जंति, एवं सव्वपुढवीसु भाणियव्वं नवरं अहेसत्तमाओ मणुस्सेसु न उववज्जंति असुरकुमाराणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टिता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति किं नेरइएसु उववज्जंति जाव देवेसु उववज्जंति गोयमा! नो नेरइएसु तिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु उववज्जंति नो देवेसु उववज्जंति। जदि तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति किं एगिंदियएसु जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति गोयमा ! एगिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति नो वेइंदिएसु जाव नो चतुरिंदिएसु पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति। जदि एगिंदिएसु उववज्जंति किं पुढवीकाइयएगिंदिएसु जाव वणस्सइकाइयएगिंदिएसु उववज्जंति ? गोयमा! पुढवीकाइयएगिंदिएसुव आउक्काइयएगिंदिएसुवि उववज्जंति नो तेऊकाइएसु नो वाऊकाइएसु वणस्सइकाइएसु उववज्जंति गोयमा! नो सुहुमपुढवीकाइएसु अपज्जत्त–यबादरपुढवीकाइएसु उववज्जंति। जइ बादरपुढवीकाइएसु किं पज्जत्तगबादरपुढवीकाइएसु अपज्जत्तयबादरपुढवीकाइएसु उववज्जंति ? गोयमा! पज्जत्तएसु उववज्जंति नो अपज्जत्तएसु एवं आउवणस्सईसु भाणियव्वा पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सेसु य जहा नेरइयाणं उव्वट्टणा सम्मुच्छिमवज्जा तहा भाणियव्वा। एवं जाव थणियकुमारा। पुढवीकाइयाणं भंते! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति किं नेरइएसु जाव देवेसु उववज्जंति ? गोयमा! नो नेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु उववज्जंति नो देवेसु उववज्जंति। एवं जहा एतेसिं चेव उववाओ तहा उव्वट्टणावि देववज्जा भाणियव्वा। एवं आउणस्सइवेइंदियतेइंदियचउरिंदियावि। एवं तेउवाउवि नवरं मणुस्सवज्जेसु उववज्जंति। पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टिता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति ? गोयमा! नेरइएसु उववज्जंति जव देवेसु उववज्जंति जइ नेरइएसु उववज्जंति किं रयणप्पभापुढवीनेरइएसु उववज्जंति जाव अहे सत्तमापुढवीनेरइएसु उववज्जंति ? गोयमा! रयणप्पभापुढवीनेरइएसु उववज्जंति जाव अहसत्तमपुढवीनेरइएसु उववज्जंति। जइ तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति किं एगिंदिएसु जाव पंचिंदिएसु ? गोयमा! एगिंदिएसुवि उववज्जंति जाव पंचिंदिएसुवि उववज्जंति एवं जहा तेसिं चेव उववाओ उव्वट्टणावि भाणियव्वा तहेव नवरं असंखेज्जवासाउएसुवि एते उववज्जंति किं सम्मुच्छिममणुस्सेसु उववज्जंति मणुस्सेसु उववज्जंति गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतोवि एवं जहा उववाओ भणिओ तहा उव्वट्टणावि भाणियव्वा नवरं अकम्मभूमिगअंतर दीवगअसंखेज्जवासाउएसु वि एते उववज्जंति त्ति भाणियव्वं, जदि देवेसु उववज्जंति किं भवणवईसु उववज्जंति जाव किं वेमाणिएसु उववज्जंति ? गोयमा! सव्वेसु देवेसु चेव उववज्जंति। जदि भवणवईसु उववज्जंति असुरकुमारेसु जाव थणियकुमारेसु उववज्जंति ! गोयमा! सव्वेसु चेव उववज्जंति एवं वाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु निरंतरं उववज्जंति जाव सहस्सारोकप्पोत्ति। मणुस्साणं भंते! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति नेरइएसु उववज्जंति जीव देवेसु उववज्जंति ? गोयमा! नेरइएसु वि उववज्जंति जाव देवेसुवि उववज्जंति, एवं निरंतरं सव्वेसु ठाणेसु पुच्छा, गोयमा ! सव्वेसु ठाणेसु उववज्जंति न कहिं वि पडिसेहो कायव्वो। जाव सव्वट्ठ–द्धिसदेवेसु वि उववज्जंति अत्थेगइया सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करंति वाणमंतरजोइसियवेमाणियसोम्मीसाणायं जहा असुरकुमारा नवरं जोइसियाण य वेमाणियाण य चयंतीति अभिलावो कायव्वो। सणंकुमारदेवाणं पुच्छा, गोयमा! जहा असुरकुमारा नवरं एगिंदिएसु न उववज्जंति, एवं जाव सहस्सारगदेवा। आणय जीव अणुत्तरोववाइया एवं चेव नवरं नो तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, मणुस्सेसु पज्जत्तगसंखेज्जवासाउय कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेसु उववज्जंति दारं॥

पाठसिद्धं नवरमत्राप्येषः संक्षेपार्थः। नैरयिकाणां स्वभावादुद्वृत्तानां गर्भजसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषूत्पादः अधःसप्तमपृथिवीनारकाणां गर्भजसंख्येसवर्षायुष्कतिर्यकपञ्चेन्द्रियेष्वेव असुरकुमारादि भवनव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानां बादरपर्याप्तपृथिव्यब्वनस्पतिगर्भजसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यग्-पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु पृथिव्यब्वनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ च तेजोवायूनां तिर्यग्गतावेव तिर्यग्पञ्चेन्द्रियाणां नारकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिषु नवरं वैमानिकेषु सहस्रारपर्यन्तेषु मनुष्याणां सर्वे ष्वपि स्थानेषु सनत्कुमारादिदेवाना सहस्रारदेवपर्यन्तानां गर्भजसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु आनतादिदेवतानां गर्भजसंख्येयवर्षायुष्कमनुष्येष्वेवेति। गतं षष्ठं द्वारम्॥ प्रज्ञा० ६ पद॥

(१६)भव्यद्रव्यदेवादयः कुत उत्पद्यन्ते॥

भवियदव्वदेवाणं भंते! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति किं णेरइएसु उववज्जंति जाव देवेसु उववज्जंति ? गोयमा ! णो णेरइएसु उववज्जंति णो तिरि० णो मणु० देवेसु उववज्जंति जइ देवेसु उववज्जंति सव्वदेवेसु उववज्जंति जाव सव्वट्ठसिद्धत्ति । णरदेवाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता पुच्छा गोयमा! णेरइएसु उववज्जंति णो तिरि० णो मणु० णो देवेसु उववज्जंति जइ णेरइएसु उववज्जंति सत्तसुवि पुढवीसु उववज्जंति। धम्म देवाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता पुच्छा गोयमा ! णो णेरइएसु उववज्जंति णो तिरि० णो० मणु० देवेसु उववज्जंति जइ देवेसु उववज्जंति किं भवणवासि दे०पुच्छा, गोयमा! णो भवणवासिदेवेसु उववज्जंति, णो वाणमंतरजोइसिय-वेमाणियदेवेसु उववज्जंति, सव्वेसु वेमाणिएसु उववज्जंति जाव सव्वट्ठसिद्धे उववज्जंति अत्थेगइया सिज्झंति अंतं करें ति। देवाहिदेवाणं भंते! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति ? गोयमा! सिज्झंति जाव अतं करेंति। भावदेवाणं भंते! अणंतरं उव्वट्टिता पुच्छा, जहा वक्कंतीए असुरकुमाराणं उव्वट्टणा तहा भाणियव्वा । भवियदव्वदेवाणं भंते! भवियदव्वदेवेत्ति कालओ केवचिरं होइ॥

अथ तेषामेवोद्वर्त्तनां प्ररूपयन्नाह, भवियदव्वे, त्यादि ॥ इह च भविकद्रव्यदेवानां भाविदेवभवस्वभावत्वात्नारकादिभवत्रयनिषेधः (णेरइएसु उववज्जंतित्ति) अत्यक्तकामभोगा नरदेवा नैरसिकेषूत्पद्यन्ते, शेषत्रये तु तन्निषेधस्तत्र च यद्यपि केचिच्चक्रवर्त्तिनो देवेषूत्पद्यन्ते तथापि ते नरदेवत्वत्यागेन धर्म्मदेवत्वप्राप्ताविति न दोषः (जहा वक्कंतीए असुरकुमाराणं उव्वट्टणा तहा भाणियव्वत्ति) असुरकुमारा बहुषु जीवस्थानेषु गच्छन्तीति कृत्वा तैरतिदेशः कृतः असुरादयो हीशानान्ताः पृथिव्यादिष्वपि गच्छन्तीति॥ भ० १२ श० ६ उ०।

(१७)देवो महर्धिको यावन्महेशाख्ये विशरीरेषूपपद्यते।

तेण कालेणं तेणं समएणं जाव एव वयासी देवेणं भंते! महिड्ढीए जाव महेसक्खे अणंतरं चयं चइत्ता विसरीरेसु नागेसु उववज्जेज्जा ? हंता गोयमा! उववज्जेज्जा, सेणं तत्थ अच्चियवंदिय-पूइयसक्कारियसम्माणिए दिव्वे सच्चे सच्चोवाए सण्णिहियपाडि-हेरेयावि भवेज्जा ? हंता भवेज्जा। सेणं भंते! तओहिंता अणंतरं उव्वट्टित्ता सिज्झेज्जा बुज्झेज्जा जाव अंतं करेज्जा ? हंता सिज्झेज्जा जाव अंतं करेज्जा । देवेणं भंते! महिड्ढिए एवं चेव जाव विसरीरेसु मणीसु उववज्जेज्जा एवं चेव जहा नागाणं॥

(वसरीरेसुत्ति) द्वे शरीरे येषां ते द्विशरीरास्तेषु ये हि नागशरीरं त्यक्त्वा मनुष्यशरीरमवाप्य स्येत्स्यन्ति ते द्विशरीरा इति। (नागेसुत्ति सर्प्पेषु हस्तिषु वा (तत्थत्ति) नागजन्मनि यत्र वा क्षेत्रे जातः॥ अच्चियेत्यादि, इहार्चितादिपदानां पञ्चानां कर्म्मधारयस्तत्र चार्चितश्चन्दनादिना वन्दितः स्तुत्या पूजितः पुष्पादीना सत्कारितो वस्त्रादिना संमानितः प्रतिपत्तिविशेषण (दिव्वेत्ति) प्रधानः। (सच्चेत्ति) स्वप्नादिप्रकारेण तदुपदिष्टस्यावितथत्वात् (सच्चोवाएत्ति) सत्यावपातः सफलमेव इत्यर्थः कुत एतदित्याह (सन्निहियपाडिहेरेति) सन्निहितमदूरवर्त्तिप्रातिहार्यं पूर्वासंगति-कादिदेवताकृतं प्रतिहारकर्म यस्य स तथा (मणीसुत्ति) पृथिवीकायविकारेषु॥

देवेणं भंते! महिड्ढिए जाव विसरीरेसु रुक्खेसु उववज्जेज्जा एवं चेव णवरं इमं णाणत्तं जाव सण्णिहियपाडिहेरे लाउल्लोइय-महइयाविभवेज्जा सेसं तं चेव जाव अंतं करेज्जा॥

(लाउल्लोइयमहिएत्ति) (लाइयंति) छगणादिना भूमिकायाः संमृष्टीकरणम् (उल्लोइयंति) सेढिकादिना कुड्यानां धवलनमेतेनैव द्वयेन महितो यः स तथा एतच्च विशेषणं वृक्षस्य पीठापेक्षया, विशिष्टवृक्षा हि बद्धपीठा भवन्तीति॥

अह भंते गोणंगूलवसभे कुक्कडवसभे मंडुक्कवसभे एएणं णिस्सीला णिव्वया णिग्गुणा णिम्मेरा णिप्पच्चक्खाणपोस-होववासा काले मासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसं सागरोवमट्ठिइयंसिणरगंसि णेरइयत्ताए उववज्जेज्जा समणे भगवं महावीरे वागरेइ उववज्जमाणे उववण्णेत्ति वत्तव्वंसिया अह भंते! सीहे वग्घे जहा उसप्पिणी उद्देसए जाव परस्सरे एएसिं णिस्सीला एवं चेव जाव वत्तव्वंसिया अह भंते! ढंके कंके पिलए मड्डुए सिखीए एएणं णिस्सीला सेसं तं चेव जाव वत्तव्वंसिया सेवं भेते! भंते! त्ति। जाव विहरइ दुवालसमसयस्स य अट्ठमो उद्देसो समत्तो॥१२॥

(गोणंगुलवसभेत्ति) गोलाङ्गूलानां वानराणां मध्ये महान् स एव वा विदग्धो विदग्धपर्यायत्वाद्वृषभशब्दस्य एवं कुक्कटवृषभोऽपि एवं मण्डूकवृषभोऽपीति (निस्सीलत्ति) समाधानरहिताः (निव्वयेत्ति) अणुव्रतरहिताः (निगुणत्ति) गुणव्रतैः क्षमादिभिर्वा रहिताः, नेरइयत्ताएउववज्जेज्जा, इति प्रश्नः। इह च, उववज्जेज्जा, इत्येतदुत्तरं तस्य चासम्भवमाशङ्कमानस्तत्परिहारमाह, समणे, इत्यादि असम्भवश्चैवं यत्र समये गोलाङ्गूलादयो न तत्र समये नारकास्ते अतः कथं ते नारकतयोत्पद्यन्त इति वक्तव्यं स्यात् ? अत्रोच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो न तु जमाल्यादिरेवं व्याकरोति यदुत उत्पद्यमानमुत्पन्नमिति वक्तव्यं स्यात्क्रियाकालनिष्ठा कालयोरभेदात् अतस्ते गोलाङ्गूलप्रभृतयो नारकतयोत्पत्तुकामा नारका एवेति कृत्वा सुष्ठूव्यते (नेरइयत्ताए उववज्जेज्जत्ति) (उसप्पिणी उद्देसएत्ति सप्तमशतस्य षष्ठे इति द्वादशशतेऽष्टमः भ० १२ श० ८ उ०॥

(१८) नैरयिकादयः कथमुपपद्यन्ते।

रायागह जाव एव वयासी णेरइयाणं भंते! कहं उव-वज्जंति गोयमा ! से जहाणामवए पवयमाणे अज्झवसाण-णिव्वत्तिएणकरणो वाएणं से य काले तं ठाणं विप्पजहित्ता

पुरिमं ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति एवामेव ते वि जीवा पवओवि पवयमाणा अज्झवसाणणिव्वत्तिएणं करणोवाएणं से य काले भवं विप्पजहित्ता पुरिसभवं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति।

सप्तमोद्देशकेसंयता भेदत उक्तास्तद्विपक्षभूताश्चासंयता भवन्ति ते च नारकादयस्तेषां च यथोत्पादो भवति तथाष्टमोऽभिधीयत इत्येवं सम्बद्धस्यास्येदमादिसूत्रम्, "रायगिहे, इत्यादि (पवएत्ति) प्लवक उत्प्लवनकारी (पवमाणेत्ति) प्लवमान उत्प्लुतिं कुर्वन् (अज्झवसाणनिव्वत्तिएणंति) उत्प्लोतव्यं मयेत्येवंरूपाऽध्यवसायनिर्वर्तितेन (करणोपायेणंति) उत्प्लवनलक्षणं यत्करणं क्रियाविशेषः स एवोपायः स्थानान्तरप्राप्तौ हेतुः करणोपायस्तेन (सेयकालेत्ति) एष्यति काले विहरतीति योगः किं कृत्वेत्याह (तं ठाणंति) यत्र स्थाने स्थितस्तत्स्थानं विप्रहाय प्लवनतस्त्यक्त्वा (पुरिमंति) पुरोवर्तिस्थानमुपसम्पद्य प्राप्यं विहरतीति (एवामेवतेविजीवत्ति) दार्ष्टान्तिकयोजनार्थः किमुक्तं भवतीत्याह (पवओवि वृषवमाणत्ति अज्झवसाणनिव्वत्तिएणंति) तथाविधाध्यवसायनिर्वर्तितेन (करणोपायेणंति) क्रियते विविधावस्था जीवस्यानेन क्रियते वा तदिति करणं कर्म प्लवकक्रियाविशेषो वा करणं करणमिव करणं स्थानान्तरप्राप्तिहेतुता साधर्म्यात्किमैव तदेवोपायः करणोपायस्तेन (तं भवंति) मनुष्यादिभवं (पुरिमं भवंति) प्राप्तव्यनारकभवमित्यर्थः (अज्झवसाणजोगनिव्वत्तिएणंति) अध्यवसानं जीवपरिणमो योगश्च मनःप्रभृतिव्यापारस्ताभ्यां निर्वर्तितो यः स तथा तेन (करणोवाएणंति) करणोपायेन मिथ्यात्वादिना कर्मबन्धहेतुनेति।

तेसि णं भंते जीवाणं कहं सीहागती कहं सीहे गतिविसए पण्णत्ते ? गोयमा! से जहानामए केइ पुरिसे तरुणं बलवं एवं जहा चउद्दसमसए पढमुद्देसए जाव तिसमएणं वा विग्गहेणं उववज्जंति। ते सिणं जीवाणं तहा सीहागई तहा सीहे गतिविसए पण्णत्ते तेणं भंते! जीवा कहं परभवियाउयं पकरेंति ? गोयमा! अज्झवसाणणिव्वत्तिएणं करणोवाएणं एवं खलु ते जीवा परभवियाउयं पकरेंति। तेसिणं भंते! जीवा कहं गती पयत्तइ ? गोयमा! आउक्खएणं भवक्खएणं ठिईएणं एवं खलु ते सिणं जीवाणं गती पयत्तइ तेणं भंते! जीवा किं आइड्ढीए उववज्जंति परिड्ढीए उववज्जंति गोयमा! आइड्ढिए उववज्जंति णो परिड्ढए उववज्जंति तेणं भंते! जीवा किं आयकम्मुणा उववज्जंति परकम्मुणा उववज्जंति ? गोयमा! आयकम्मुणा उववज्जंति णो परकम्मुणा उववज्जंति। तेणं भंते! जीवा किं आयप्पओगेणं उववज्जंति परप्पओगेणं उववज्जंति ? गोयमा! आयप्पओगेणं उववज्जंति णो परप्पओगेणं उववज्जंति। असुरकुमाराणं भंते! कहं उववज्जंति जहा णेरइया। तहेव णिरवसेसं जाव णो परप्पओगेणं उववज्जंति एवं एगिंदियवज्जा जीव वेमाणिया एगिंदिया एवं चेव णवरं चउसमइओ विग्गहो सेसं ते चेव सेवं भंते! भंते! त्ति जाव विहरइ (पणवीसइमसयस्स अट्ठमो २५।८।) **भवसिद्धियनेरइयाणं भंते! कहं उववज्जंति ? गोयमा! से जहा नामए पवए पवमाणे अवसेसं तं चेव एवं जाव वेमाणिया सेवं भंते! भंते त्ति** (पणविसइमसयस्स णवमो।२५।९।) **अभवसिद्धियणेरइयाणं भंते! कहं उववज्जंति ? गोयमा! से जहाणामए पवए पवमाणे अवसेसं तं चेव एवं जाव वेमाणिया सेवं भंते! भंते त्ति** (पणवीसइमसयस्स दसमो।२५।१०।) **सम्मद्दिट्ठीणेरइयाणं भंते ! कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए पवमाणे अवसेसं तं चेव एवं जाव एगिंदियवज्जं वेमाणिए सेवं भंते! भंते त्ति** (पणवीसइमसयस्स एक्कारसमो ।२५।११।) **मिच्छद्दिट्ठी णेरइयाणं भंते ! कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए पवमाणे अवसेसं तं चेव एवं जाव वेमाणिए सेवं भंते! भंते त्ति जाव विहरइ। पणवीसइमसयस्स दुवालसमो ॥ भ० २५ श० १२ उ० ॥**

(उत्पलजीवादीनामुपपातो वर्णस्सइ शब्दे)

(१६) समुद्घातविशेषणेनैकेन्द्रियाणाम्)

**अप्पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयाणं भंते! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समोहणावेत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ एगसमइएण वा दुसमइएण वा जाव उववज्जेज्जा एवं खलु गोयमा! मए सत्तसेढीओ पण्णत्ताओ तं जहा उज्जुआयता सेढी एगओ वंका दुहओ वंका एगओ खुहा दुहओ खुहा। चक्कवाला अद्धचक्कवाला उज्जुआयता सेढीए उववज्जमाणे एगसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा १। एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहे उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव उववज्जेज्जा १। अप्पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयाणं भंते! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमचरिमंते समोहए समोहणावेत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा सेसं तं चेव जाव से तेणट्ठेणं जाव विग्गहेणं उववज्जेज्जा ॥२॥ एवं अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइओ पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहणावेत्ता पुरच्छिमिल्ले चरिमंते बादरपुढवीकाइएसु अपज्जत्तएसु उववातेयव्वा ॥ ३॥ ताहे

तेसु चेव पज्जत्तएसु ॥४॥ एवं आउक्काइएसु वि अपज्जत्तएसु उववातेयव्वा। ताहे तेसु चेव पज्जत्तएसु, एवं आउकाइएसु वि चत्तारि आलावगा सुहुमेहिं अपज्जत्तएहिं ! ताहे पज्जत्तएहिं २ बायरेहिं अपज्जत्तएहिं ३ ताहे पज्जत्तएहिं ४ उववातेयव्वो एवं चेव सुहुमतेउकाइएहिं वि अपज्जत्तएहिं ताहे पज्जत्तएहिं उववातेयव्वो। अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमं ते समोहए समो० जे भविए मणुस्सखेत्ते अपज्जत्तबादरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा सेसं तं चेव एवं पज्जत्ता बादरतेउकाइयत्ताए उववातेयव्वो वाउकाइएसु सुहुमबादरेसु जहा आउकाइएसु उववाइओ तहा उववातेयव्वो एवं वणस्सइकाइएसुवि। पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते! इमीसे रयणप्पभाए एवं पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइएसु वि पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहणावेत्ता एए चेव कमेणं एएसु चेव वीसणु ठाणेसु उववाएयव्वो जीव बादरवणस्सइकाइएसु पज्जत्तएसु वि ४० एवं अपज्जत्तए बादरपुढवीकाइओवि। एवं पज्जत्तबादरपुढवीकाइओ वि। ८०। एवं आउक्काइएसुवि चउसुवि गमएसु पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहयाए चेव वत्तव्वया, एएसु चेव वीससु ठाणेसु उववाएयव्वो। १६०। सुहुमतेउकाइओवि अपज्जत्तओ पज्जत्तओ य एएसु चेव वीससु ठाणेसु उववातेयव्वो ।२००। अपज्जत्तबायरतेउकाएणं भंते ! मणुस्सखेत्ते समोहए समो० जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा सेसं तहेव जाव से तेणट्ठेणं एवं पुढवीकाइएसु चउव्विहेसु वि उववातेयव्वो। एवं आउक्काइएसु चउव्विहेसु तेउकाइएसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य एवं चेव उववाएयव्वो। अपज्जत्ताबादरतेउकाइएणं भंते! मणुस्सखेत्ते समोहए समो० जे भविए मणुस्सखेत्ते अपज्जत्ता बायरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते! कतिसमयसेसं तं चेव एवं पज्जत्तबायरतेउकाइयत्ताए उववाएव्वो। वाउकाइयत्ताए वणस्सइकाइयत्ताए जहा पढवीकइएसुवि। तहेव चउक्कएणं भेदेणं उववातेयव्वो, एवं पज्जत्ता बादरतेउकाइओ वि समयखेत्ते समोहणावेत्ता एएसु वीसइठाणेसु उववातेयव्वो जहेव अपज्जत्तओ उववातिओ एवं सव्वत्थ वि बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा य पज्जत्तगा य समयखेत्ते उववातेयव्वो, समोहणावियव्वावि।२४०। वाउक्काइया ।३२०। वणस्सइकाइया य जहा पुढवीकाइया ।४००। तहेव चउक्कएणं भेदेणं उववातेयव्वो जाव पज्जत्ता बादरवणस्सइकाइयाणं भंते! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते पज्जत्ताबादररवणस्सइकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! कतिसमयसेसं तहेव जाव से तेणट्ठेणं अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए तेणं भंते ! कइसमइएणं सेसं तहेव णिरवसेसं एवं जहेव पुरच्छिमिल्ले चरिमंते सव्वपदेसुवि समोहया पच्चमिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातिए जे समयखेत्ते समोहया पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववाएयव्वा तेणेव गमएणं एवं एएणं दाहिणिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य समोहयाणं उत्तरिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातो, एवं चेव उत्तरिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य समोहियाणं दहिणिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातेयव्वा, तेणेव गमएणं। अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते! सक्करप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जेज्जा एवं जहेव रयणप्पभाए जाव से तेणट्ठेणं एवं एएणं कमेणं जाव पज्जत्तएसु सुहूमतेउकाइएसु अपज्जत्तएसु। सुहुमपुढवीकाइएणं भंते! सक्करप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए समयखेत्ते अपज्जत्ता बायरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते! कइसमए पुच्छा, गोयमा ! दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा। से केणट्ठेणं भंते! पुच्छा एवं खलु गोयमा ! मए सत्त सेढीओ पण्णत्ताओ तं जहा उजुआयता जाव अद्धचक्कवाला। एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा। दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ! से तेणट्ठेणं एवं पज्जत्तएसुवि बादरतेउक्काइएसु सेसं जहा रयणप्पभाए। जे वि बायरतेउक्काइया अपज्जत्तगा य पज्जत्तगा य समयखेत्ते समोहया दोच्चाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते पुढविकाइएसु चउव्विहेसु आउकाइएसु चउव्विहेसु तेउक्काइएसु दुविहेसु वाउकाइएसु चउव्विहेसु वणस्सइकाइएसु चउव्विहेसु उववज्जइ ते वि एवं चेव दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववातेयव्वा। बादरतेउक्काइया अपज्जत्तगा य पज्जत्तगा य जाहे तेसु चेव उववज्जंति ताहे जहेव रयणप्पभाए तहेव एगसमइए दुसमइए तिसमइए विग्गहा भाणियव्वा, सेसं जहा

रयणप्पभाए तहेव णिरवसेसं जहा सक्करप्पभाए वत्तव्वया भणिया एवं जीव अहे सत्तमाए भाणियव्वा ॥

कइविहेत्यादि । इदं च लोकनाडीं प्रस्तार्य भावनीयम् । (एगसम-इएणवत्ति) एकः समयो यत्रास्त्यसावेकसामयिकस्तेन । (विग्गहेणंति) विग्रहो वक्रं गतौ च तस्य सम्भवाद्गतिरेव विग्रहः । विशिष्टो वा ग्रहो विशिष्टस्थानप्राप्तिहेतुभूता गतिर्विग्रहस्तेन तत्र (उजुआयएत्ति) यदा मरणस्थानापेक्षयोत्पत्तिस्थानं समश्रेण्यां भवति तदा ऋज्वायता श्रेणिर्भवति तथा च गच्छतः एकसामयिकी गतिः स्यादित्यत उच्यते, " "एगसमइएणमित्यादि", यदा पुनर्मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानमेकप्रतरे विश्रेण्यां वर्तते तदैकतो वक्रा श्रेणिः स्यात्समयद्वयेन चोत्पत्तिस्थानप्राप्तिः स्यादित्यत उच्यते, "एगओ वंकाए सेढिए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणमित्यादि", यदा तु मरणस्थादुत्पत्तिस्थानमधस्तने वा प्रतरे विश्रेण्यां स्यात्तदा द्विवक्रा श्रेणिः स्यात्समयत्रयेण चोत्पत्तिस्थानावाप्तिः स्यादित्यत उच्यते, "दुहओ वंकाए", इत्यादि एवं "आउकाइएसु वि चत्तारि आलावगा", इत्येतस्य विरिणं, "सुहुमेहीत्यादि", बादरतेजस्कायिकसूत्रे रत्नप्रभाप्रक्रमेऽपि यदुक्तं (जे भविए मणुस्सखेत्तेत्ति) तद्बादरतेजसामान्यत्रोत्पातासम्भवादिति (वीससु ठाणेसुत्ति) पृथिव्यादयः पञ्चसूक्ष्मबादरभेदाद् द्विधेति दश ते च प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदाद्विंशतिरिति इह चैकैकस्मिन् जीवस्थाने विंशतिर्गमा भवन्ति तदेवं पूर्वान्तगमानां चत्वारि शतान्येव पश्चिमान्ता-दिगमानामपि ततश्चैवं रत्नप्रभाकरणे सर्वाणि षोडश शतानि गमानामिति शर्कराप्रभाप्रकरणे बादरतेजस्कायिकसूत्रे, "दुसमइउणं वेत्यादि", इह शर्कराप्रभापूर्वचरमान्तान्मनुष्यक्षेत्रे उत्पद्यमानस्य समश्रेणिर्ना-स्तीत्येगसमएणमितीह नोक्तम्, " दुसमएणमित्यादि", तु एकस्य वक्रस्य द्वयोर्वा सम्भवादुक्तमिति ॥

अथ सामान्येनाऽधःक्षेत्रमूर्द्धक्षेत्रं वाऽऽश्रित्याह ।

अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! अहे लोयखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समो० जे भविए उड्ढलोए खेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेण उववज्जेज्जा । से केणट्ठेण एवं वुच्चइ तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं अहोलोयखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समोहणिज्जे जे भविए उड्ढलोयखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए एगपयरंसि अणुसेढी उववज्जित्तए ? सेणं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा जे भविए विसेढीओ उववज्जित्तए तेणं चउसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति । एवं पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए वि एवं जाव पज्जत्ता सुहुमतेउकाइयत्ताए वि ॥ अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते! अहलोग जाव समोहणित्ता जे भविए समयखेत्ते अपज्जत्ता बादरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेण भंते ! एवं खलु गोयमा ! सए सत्त सेढीओ पण्णत्ताओ तं जहा उजुआयता जाव अद्धचक्कवाला एगतो वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं एवं पज्जत्तएसु वायरतेउकाइएसु वि उववातेयव्वो । वाउकाइयवणस्स-इकाइयत्ताए चउक्कएणं भेदेणं जहा आउकाइयत्ताए तहेव उववातेयव्वो २० । एवं जहा अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयस्स गमओ भणिओ एवं पज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयस्स वि भाणियव्वो तहेव वीसाए ठाणेसु उववाएयव्वो ।४०। अहेलोयखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहओ एवं वायरपुढवीकाइयस्सवि अपज्जत्तगस्स पज्जत्तगस्स य भाणियव्वं । एवं आउकाइयस्स चउव्विहस्सवि भाणियव्वं । सुहुमतेउकाइयस्स दुविहस्सवि एवं चेव अपज्जत्ता बादरतेउक्काइएणं समयखेत्ते समोहए समोह० जे भविए उड्ढलोगखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयत्ताइए उववज्जित्तए से णं भंते! कइसमाएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं अट्ठो जहेव रयणप्पभाए तहेव सत्तसेढीए । एवं जाव अपज्जत्ता बादरतेउकाइएणं भंते ! समयखेत्ते समोहए सतो० जे भविए उड्ढलोगखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! सेसं तं चेव । अपज्जत्ता बादरतेउकाइएणं भंते ! समयखेत्ते समोहए समो० जे भविए समयखेत्ते अपज्जत्ता बादरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! अट्ठो जहेव रयणप्पभाए तहेव सत्तसेढीए । एवं पज्जत्ता बादरतेउकाइयत्ताएवि । वाउकाइएसु य वणस्सइकाइएसु जहा पुढवीबाइएसु उववातिओ तहेव चउक्कएणं भेदेणं उववातेयव्वो । एवं पज्जत्ता बादरतेउकाइओवि । एएसु चेव ठाणेसु उववातेयव्वो । वाउकाइयवणस्सइकाइयाणं जहेव पुढवीकाइओ उववाइओ तहेव भाणियव्वो । अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइएणं भंते ! एत्थवि लोगखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समो० जे भविए अहेखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइत्ताए उववज्जिए से णं भंते ! कतिसमए ? एवं उड्ढलोगखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहयाणं अहेलोयखेत्त-

णालीए बाहिरिल्ले खेत्ते उववज्जयाणं सो चेव गमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव वायरवणस्सइकाइओ अपज्जत्ताओ वायरवणस्सइकाइएसु अपज्जत्तएसु उववाइओ । अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए । से णं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जंति ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ एगसमइएण वा जाव उववज्जेज्जा ? एवं खलु ? गोयमा ! मए सत्तसेढीओ पण्णत्ताओ, तं जहा उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला । उज्जुआयताए सेढीए उववज्जमाणे एगसमएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । एगाओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । दुहओ बंकाए सेढीए उववज्जमाणे जे भविएं एगपयरंसि अणुसेढी उववज्जित्तए सेणं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । जे भविए विसेढी उववज्जित्तए सेणं चउसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं जाव उववज्जेज्जा । एवं अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइओ लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चेव चरिमंते अपज्जत्तएसु य सुहुमपुढवीकाइएसु सुहुमआउकाइएसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु सुहुमतेउकाइएसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य सुहुमवाउकाइएसु य अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य बादरवाउकाइएसु अपज्जत्तएसु य पज्जत्तएसु य सुहुमवणस्सइकाइएसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य बारससु वि ठाणेसु एएणं चेव कमेणं भाणियव्वो, सुहुमपुढवीकाइओ पज्जत्तओ एवं चेव णिरवसेसे बारससु वि ठाणेसु उववातेयव्वो ।२४। एवं एएणं गमएणं जाव सुहुमवणस्सइकाइओ पज्जत्तओ । सुहुमवणस्सइकाइएसु पज्जत्तएसु चेव भाणियव्वो ! अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समोह० जे भविए लोगस्स दाहिणिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ एवं खलु गोयमा ! मए सत्तसेढीओ पण्णत्ताओ, तं जहा उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला । एगओ बंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे जे भविए एगपयरंसि अणुसेढी उववज्जित्तए सेणं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । जे भविए विसेढीओ उववज्जित्तए सेणं चउसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं गोयमा ! एएणं गमएणं पुरच्छिमिल्ले चरिमंते उववातेयव्वो जाव सुहुमवणस्सइकाइओ पज्जत्तसुहुमवणस्सइएसु चेव सव्वेसिं दुसमइओ तिसमइओ चउसमइओ विग्गहो भाणियव्वो । अपज्जत्तो सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समो० २ जे भविए लोगस्स पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएणं वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं एवं जहेव पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहया पुरच्छिमिल्ले चेव चरिमंते उववातिया तहेव पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहया पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते उववातेयव्वा । सव्वे अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए लोगस्स उत्तरिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयत्ताए उव०सेणं भंते ! एवं जहा पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहओ दाहिणिल्ले उववाइओ तहा पुरच्छिमिल्ले समोहओ उत्तरिल्ले चरिमंते उववाएयव्वो । अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! लोगस्स दाहिणिल्ले चरिमंते समोहओ जे भविए लोगस्स दाहिणिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए एवं जहा पुरच्छिमिल्ले समोहओ पुरच्छिमिल्ले चेव उववातिओ तहेव दाहिणिल्ले समोहओ तहेव दाहिणिल्ले चेव उववाएयव्वो तहेव णिरवसेसं जाव सुहुमवणस्सइकाइओ पज्जत्ताओ सुहुमवणस्सइकाइएसु चेव पज्जत्तएसु दाहिणिल्ले चरिमंते उववाइओ एवं दाहिणिल्ले समोहओ पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते उववाएयव्वो, णवरं दुसमइए तिसमइए चउसमइओ विग्गहो सेसं तहेव दाहिणिल्ले समोहओ उत्तरिल्ले चरिमंते उववाएयव्वो जहेव सट्ठाणे तहेव एगसमइय दुसमइय तिसमइय चउसमइय विग्गहो पुरच्छिमिल्ले जहा पच्चच्छिमिल्ले तहेव दुसमइय तिसमइय पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते समोहयाणं पच्चच्छिमिल्ले उववज्जमाणाणं जहा सट्ठाणे उत्तरिल्ले उववज्जमाणाणं एगसमइओ विग्गहो णत्थि सेसं तहेव । पुरच्छिमिल्ले जहा सट्ठाणे । दाहिणिल्ले एगसमइओ विग्गहो णत्थि सेसं तहेव उत्तरिल्ले समोहयाणं उत्तरिल्ले चेव उववज्जमाणाणं जहा सट्ठाणे उत्तरिल्ले समोहयाणं पुरच्छिमिल्ले उववज्जमाणाणं एवं चेव णवरं एगसमइओ विग्गहो णत्थि, उत्तरिल्ले समोहयाणं दाहिणिल्ले उववज्जमाणाणं जहा सट्ठाणे उत्तरिल्ले समोहयाणं पच्चच्छिमिल्ले उववज्जमाणाणं एगसमइओ विग्गहो णत्थि सेसं तहेव जाव सुहुमवणस्सइकाइओ पज्जत्ताओ सुहुमवणस्सइ-काइएसु पज्जत्तएसु चेव। भ०॥

"अपज्जत्ता सुहुमेत्यादि", (अहेलोयखेत्तणालोएत्ति)। अधोलोकलक्षणे क्षेत्रे या नाडी त्रसनाडी सा ऽधोलोकक्षेत्रनाडी तस्या एवमूर्द्धलोक क्षेत्रनाड्यपि (तिसमइएणवत्ति) अधोलोकक्षेत्रनाड्या बहिः पूर्वादिदिशि मृत्वा एकेन नाडीमध्ये प्रविष्टो द्वितीये समये ऊर्द्धं गतस्त एकप्रतरे पूर्वास्यां पश्चिमायां वा यदोत्पत्तिर्भवति तदा तु श्रेण्यां गत्वा तृतीयसमये उत्पद्यत इति। (चउसमइएणवत्ति) यदा नाड्या बहिर्वायव्यादिविदिशि मृतस्तदैकेन समयेन पश्चिमायामुत्तरस्यां वा गतो द्वितीयेन नाड्यां प्रविष्टिस्तृतीये ऊर्द्धं गतश्चतुर्थे तु श्रेण्यां गत्वा पूर्वादिदिश्युत्पद्यत इति। इदं च प्रायो वृत्तिमङ्गीकृत्योक्तमन्यथा पञ्चसामायिक्यपि गतिः सम्भवति यदाऽधोलोककोणादूर्द्धलोककोण एवोत्पत्तव्यं भवतीति। भवन्ति चात्र गाथाः। " सुत्ते चउसमयाओ, नत्थि गईओ परावि णिद्दिट्ठा। जुज्जइ य पंचसमया, जीवस्स गई इहलोए ॥१॥ जो तमतमविदिसाए, समोहओ बंभलोगविदिसाए। उववज्जई गईए, सो नियमा पंचसमयाए ॥२॥ उजुया य तेगबंका, दुहओ बंका गई वि णिद्दिट्ठा। जुज्जति यति चउबंका, विनाम चउ पंच समयाए ॥३॥ उववाया भावाओ, न पंच समयाऽहवा न सत्तावि। भणिया जह चउसमया, महल्लबंधेन सत्तावित्ति ॥४॥" "अपज्जत्ता वायरतेउक्काइएणमित्यादौ "(दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहणं उववज्जेज्जत्ति) एतस्येयं भावना समयक्षेत्रादसावेकेन समयेनोर्द्धं गतो द्वितीयेन तु नाड्या बहिर्दिग्व्यवस्थितमुत्पतिस्थानमिति। तथा समयक्षेत्रादेकेनोर्द्धं याति द्वितीयेन तु नाड्या बहिः पूर्वादिदिशि तृतीयेन विदिग्व्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानमिति। अथ लोकचरमान्त-माश्रित्याह, अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाईएणं भंते ! लोगस्सेत्यादि। इह च लोकचरमान्ते बादराः पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजोवन-स्पतयो न सन्ति सूक्ष्मास्तु पञ्चापि सन्ति बादरवायुकायिकाश्चेति, पर्याप्ता पर्याप्तभेदेन द्वादश स्थानान्यनुसर्तव्यानीति। इह च लोकस्य पूर्वचरमान्तात् पूर्वचरमान्ते उत्पद्यमास्यैकसमयादिका चतुःसमयान्ता गतिः सम्भवत्यनुश्रेणिवि-श्रेणिम्भवात्। भ० ३४ श० १ उ०।

(२०) पृथ्वीकायादीनां समवहत्य देवलोकेषूत्पादः।

पुढवीकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य अंतरा समोहए समोहणित्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! किं पुव्विं उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जा पुव्वि आहारित्ता पच्छा उववज्जेज्जा ? गोयमा ! पुव्विं वा उववज्जित्ता एवं जहा सत्तरसमसए छट्ठुद्देसए जाव तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ पुव्वि वा उववज्जेज्जा णवरं तेहिं संपाउणिज्जा इमेहिं आहारो भण्णइ सेसं तं चेव। पुढवीकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए सक्करप्पभाए पुढवीए अंतरा समोहए जे भविए ईसाणे कप्पे पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए। एवं चेव जाव ईसिप्पब्भाराए उववाएयव्वो। पुढवीकाइएणं भंते ! सक्करप्पभाए वालुयप्पभाए पुढवीए अंतरा समोहए समोहणित्ता जे भविए सोहम्मे जाव ईसिप्पभाराए। एवं एएणं कमेणं जाव तमाए अहेसत्तमाए पुढवीए अंतरा समोहए समोहणिया जे भविए सोहम्मे कप्पे जाव ईसिप्पब्भाराए उववाएयव्वो। पुढवीकाइएणं भंते ! सोहम्मीसाणं सणंकुमारमाहिंदाण य कप्पाणं अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! पुव्वि उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जा सेसं तं चेव जाव से तेणट्ठेणं जाव णिक्खेवओ। पुढवीकाइएणं भंते! सोहम्मीसाणाणं सणंकुमारमाहिंदाण य कप्पाणं अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए। एवं चेव एवं जाव अहेसत्तमाए उववाएयव्वो। एवं सणंकुमारताहिंदाणं बंभलोगस्स कप्पस्स अंतरा समोहए समोहइत्ता पुणरवि जाव अहेसत्तमाए उववाएयव्वो। एवं बंभलोगस्स लंतगस्स य कप्पस्स अंतरासमोहए पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं लंतगस्स महासुक्कस्स कप्पस्स अंतरा समोहए पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं महासुक्कस्स सहस्सारस्स य कप्पस्स अंतरा पुणरवि जाव अहेसत्तमाए, एवं सहस्सारस्स य आणयपाणयकप्पाणं अंतरा, पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं आणयपाणयआरणअच्चुताण य कप्पाणं अंतरा, पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं आरणअच्चुताणं। गेवेज्जगविमाणाणं य अंतरा पुणरवि जाव अहे सत्तमाए एवं गेवेज्जगविमाणाण अणुत्तरविमाणाण य अंतरा पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं अणुत्तरविमाणाणं ईसिप्पभाराए य पुणरवि जाव अहेसत्तमाए उववाएयव्वो। आउकाइएणं भंते इमीसे रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य पुढवीए अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेसं जहा पुढवीकाइयस्स जाव से तेणट्ठेणं एवं पढमा दोच्चाणं अंतरा समोहओ जाव ईसिप्पभाराए उववाएयव्वो। एवं एएणं कमेणं जाव तमाए अहे सत्तमाए पुढवीए अंतरा समोहए समोहइत्ता जाव ईसिप्पभाराए उववाएयव्वो। आउकाइयत्ताए आउकाइयाएणं भंते ! सोहम्मीसाणाणं सणंकुमारमाहिंदाण य कप्पाणं अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिघणोदधिवलएसु आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेसं तं चेव एवं एएहिं चेव अंतरे समोहइत्ताओ जाव अहेसत्तमाए पुढवीए घणोदधिघणोधिवलएसु आउकाइयत्ताए उववाएयव्वो, एवं जाव अणुत्तरविमाणाणं ईसिप्पभाराए पुढवीए अंतरा समोहए जाव अहेसत्तमाए घणोदधिघणोदधिवलएसु उववाएयव्वो २ वाउकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए सक्करप्पभाए पुढवीए अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए एवं जहा सत्तरसमसए वाउकाइयउद्देसएसु तहा इहवि णवरं अंतरेसु समोहणा वेयव्वो सेसं तं चेव जाव

अणुत्तरविमाणाणं ईसिप्पभाराए य पुढवीए अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए घणवाततणुवातघणवातबलएसु वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेसं तं चेव जाव से तेणट्ठेणं जाव उववज्जेज्जा। सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ वीसइमस्स छट्ठो उद्देसो सम्मत्तो ॥ २० ॥ ६ ।

पञ्चमे पुद्गलपरिणाम उक्तः षष्ठे तु पृथिव्यादिजीवपरिणामोऽभिधीयत इत्येवं सम्बद्धस्यास्येदमादिसूत्रम् "पुढवीत्यादि", (एवं जहा सत्तरसमसए छट्ठुद्देसेत्ति)। अनेन च यत्सूचितं तदिदं, "पुव्वि वा उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जा पुव्विवा आहारित्ता पच्छा उववज्जेज्जेत्यादि"। अस्य चायमर्थः– योगेन्दुकसन्निभसमुद्घातगामी स पूर्वं समुत्पद्यते तत्र गच्छतीत्यर्थः पश्चादाहारयति शरीरप्रयोग्यान्पुद्गलान् गृह्णन् गृह्णातीत्यर्थः अत उच्यते (पुव्वि वा उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जत्ति) यः पुनरीलिकासन्निभ-समुद्घातगामी स पूर्वमाहारयति उत्पत्तिक्षेत्रे प्रदेशप्रक्षेपणेनाहारं गृह्णातीति तत्समनन्तरञ्च प्राक्तनशरीरस्तु प्रदेशानुत्पत्तिक्षेत्रे संहरति अत उच्यते (पुव्वि आहारित्ता पच्छा उववज्जेज्जत्ति) विंशतितमशते षष्ठ उद्देशः।

**पुढवीकाइयाणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए समोहए समोहइत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए से भंते ! किं पुव्विं उववज्जित्ता पच्छा संपाउणेज्जा पुव्वि वा संपाउज्जित्ता पच्छा उववज्जेज्जा ? गोयमा ! पुव्वि वा उववज्जत्ता पच्छा संपाउणेज्जा पुव्वि वा संपाउणेत्ता पच्छा उववज्जेज्जा। से केणट्ठेणं जाव पच्छा उववज्जेज्जा ? गोयमा ! पुढवीकाइयाणं तओ समुग्घाया पण्णत्ता तं जहा वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणांतियसमुग्घाए। मारणांतियसमुग्घाएणं समोहणमाणे देसेणं वा समोहणइ सव्वेण वा समोहणइ, देसेण समोहणमाणे पुव्वि संपाउणित्ता पच्छा उववज्जिज्जा सव्वेण समोहणमाणे पुव्वि उववज्जिज्जा पच्छा संपाउणेज्जा से तेणट्ठेणं जाव उववज्जेज्जा। पुढवीकाइयाणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव समोहए समोहएत्ता जे भविए ईसाणे कप्पे पुढवी एवं चेव ईसाणेवि। एवं अच्चुयगेवेज्जविमाणे अणुत्तरविमाणे ईसिप्पभाराए य एवं चेव पुढवीकाइयाणं भंते ! सक्करप्पभाए पुढवीए समोहए समोहएत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे पुढवीए एवं जहा रयणप्पभाए पुढवीकाइओ उववाइओ एवं सक्करप्पभाए पुढवीकाइओ उववाएयव्वो जाव ईसिप्पभाराए एवं जहा रयणप्पभाए वत्तव्वया भणिया, एवं जाव अहे सत्तमाए समोहए ईसिप्पभाराए उववाएयव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स छट्ठो ॥१७॥६॥पुढवीकाइएणं भंते ! सोहम्मे कप्पे समोहए समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! किं सेसं ते चेव जहा रयणप्पभाए पुढवीकाइओ सव्वकप्पेसु जाव ईसिप्पभाराए ताव उववाइओ, एवं, सोहम्मपुढवीकाइओवि सत्तसु पुढवीसु उववाएयव्वो तहा जाव अहे सत्तमाए एवं जहा सोहम्मपुढवीकाइओ सव्वपुढवीसु उववाइओ एवं जाव ईसिप्पभारापुढवीकाइओ सव्वपुढवीसु उववाएयव्वो जाव अहेसत्तमाए सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स सत्तमो उद्देसो सम्मत्तो ॥१७॥७॥) आउकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए समोहए समोहइत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए एवं जहा पुढवीकाइओ तहा आउकाइओवि सव्वकप्पेसु जाव ईसिप्पभाराए तहेव उववाएयव्वो एवं जहा रयणप्पभा आउकाइओ उववाइओ तहा अहेसत्तमा पुढवी आउकाइओ उववाएयव्वो जाव ईसिप्पभाराए सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स अट्ठमो उद्देसो सम्मत्तो ॥१७॥८॥) आउकाइयणं भंते ! सोहम्मे कप्पे समोहए समोहएत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिबलएसु आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! सेसं तं चेव एवं जाव अहे सत्तमाए जहा सोहम्मआउकाइओ एवं जाव ईसिप्पभाए आउकाइओ जाव अहेसत्तमाए उववातेयव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ (सत्तरसमस्स य णवमो उद्देसो सम्मत्तो ॥१७॥९॥) वाउकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव जे भविए सोहम्मे कप्पे वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं जहा पुढवीकाइओ तहा वाउकाइओवि णवरं वाउकाइयाणं चत्तारि समुग्घाया पण्णत्ता तं जहा वेदणासमुग्घाए जाव वेउव्वियसमुग्घाए मारणांतियसमुग्घाएणं समोहणमाणे देसेण वा समोहए सेसं तं चेव जाव अहे सत्तमा समोहयाओ ईसिप्पभाराए उववाएयव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स य दसमो उद्देसो सम्मत्तो ॥१७॥१०॥) वाउकाइएणं भंते ! सोहम्मे कप्पे समोहए समोहएत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणवाए तणुवाए घणवायवलएसु तणुवायवलएसु वाउकाएयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! सेसं तं चेव एवं जहा सोहम्मकप्पवाउकाइओ सत्तसुविपुढवीसु उववाइओ एवं जाव ईसिप्पभाए वाउकाइओ अहेसत्तमाए जाव उववाएयव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स एक्कारसमो उद्देसो सम्मत्तो ॥१७॥११॥)

(समोहएत्ति) समवहतःकृतमारणान्तिकसमुद्घातः (उववज्जित्तित्ति) उत्पादक्षेत्रं गत्वा (संपाउणेज्जत्ति) पुद्गलग्रहणं कुर्यात् उतव्यत्यय इति प्रश्नः (गोयमा ! पुव्विंवाउववज्जित्ता पच्छा संपाउ णेज्जत्ति) मारणान्तिकसमुद्घातान्निवृत्य यदा प्राक्तनशरीरस्य सर्वथा त्यागात् गेन्दुकगत्योत्पत्तिदेशं गच्छति तदोच्यते पूर्वमुत्पद्य पश्चात्सम्प्राप्नुयात् पुद्गलान् गृह्णीयात् आहारयेदित्यर्थः। (पुव्वि वा संपाउणित्ता पच्छा उववज्जंति) यदा मारणान्तिकसमुद्घातगत एव म्रियते ईलिकागत्योत्पादस्थानं याति तदोच्य-

ते पूर्वं सम्प्राप्य पुद्गलान् गृहीत्वा पश्चात् उत्पद्येत् प्राक्तनशरीरस्थ-जीवप्रदेशसंहरणतः समस्तजीवप्रदेशै-रुत्पत्तिक्षेत्रगतो भवेदिति भावः (देसेण वा समोहणइ सव्वेण वासमोहणा इत्ति) यदा मारणान्तिक-समुद्घातगतो म्रियते तदेलिकागत्योत्पत्तिदेशं प्राप्नोति, तत्र च जीवदेशस्य पूर्वदेह एव स्थितत्वात्, देशस्य वोत्पत्तिदेशे प्राप्तत्वात्, देशेन समवहन्तीत्युच्यते यदा तुमारणान्तिकसमुद्घातात्प्रतिनिवृत्तः सन् म्रियते तदा सर्वप्रदेशसंहरणतो गेन्दुकगत्योत्पत्तिदेशप्राप्तौ सर्वेण समवहत इत्युच्यते तत्र च देशेन समवहन्यमान ईलिकागत्या गच्छन्नित्यर्थः पूर्वं सम्प्राप्य पुद्गलान् गृहीत्वा पश्चादुत्पद्यते, सर्वात्मनोत्पादक्षेत्रे आगच्छति (सव्वेण समोहणमाणेत्ति) गेन्दुकगत्या गच्छन्नित्यर्थः पूर्वमुत्पद्य सर्वात्मनोत्पाददेशमासाद्य पश्चात् (संपाउणेज्जत्ति) पुद्गलग्रहणं कुर्यादिति । सप्तदशशते षष्ठः ।१७।६। शेषास्तु (७।८।९।१०।११। सुगमा एव) भ० १७ श०।

(२१) नैरयिकादयो नैरयिकादिषूपपद्यन्ते ॥

नेरइयाणं भंते नेरइएसु उववज्जइ अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ ? गोयमा ! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ नो अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ एवं वेमाणियाणं ॥

अस्य चायमभिसम्बन्धो द्वितीयोद्देशके नारकादीनां लेश्यापरि-संख्यानमल्पबहुत्वमहर्द्धिकत्वं चोक्तमिह तु तेषामेव नारकादिजीवानां तास्ताः लेश्याः किमुपपातक्षेत्रोपपन्नानामेव भवन्ति उत विग्रहेऽपीत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं प्राक् तावन्नयान्तरमाश्रित्य नारकरदिव्यप्रदेशं पृच्छति, "नेरहयाणं भंते ! नेरइएसु उववज्जइ अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ", इति । इदं च प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! नैरयिको नैरयिकेषूत्पद्यते नैरयिकोऽनैरयिकेषु कथमिति चेदुच्यते, इह यस्मान्नारकादिभवोपग्राहकमायुरेव न शेषं तथा हि नारकायुष्युदयमागते नारकभवो भवति मनुष्यायुषि मानुषभव इत्यादि ततो नारकाद्यायुर्वेदनप्रथमसमय एव नारकादिव्यपदेशं लभते एतच्च ऋजुसूत्रनयदर्शनं तथा च नयविद्भिः ऋजुसूत्रनयनि -रूपणं कुर्वद्भिरिदमुक्तम्। "पलालं न दहत्यग्निर्भिद्यते न घटः क्वचित्। नास्तित्वे निष्क्रमोस्तीह, न च शून्य प्रविश्यते ॥ नारकव्यतिरिक्तश्च, नरकेनोपपद्यते । नारकान्नारकश्चास्य, न कश्चिद्विप्रमुच्यते" ॥२॥ इत्यादि (एवं जाव वेमाणिए इति) एवं नैरयिकोक्तप्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिको वैमानिकविषयं सूत्रं तच्च सुगमत्वात् स्वयं भावनीयम्॥

अधुना उद्वर्तनविषयं नैरायिकेषु सूत्रमाह ॥

नेरइयाणं भंते ! नेरइए हिंतो उववट्टइ अनेरइए नेरइएहिंतो उववट्टइ ? गोयमा ! नेरइए नेरइएहिंतो उववट्टइ न अनेरइएनेरइएहिंतो उववट्टइ एवं जाव वेमाणिए नवरं जोइसियवेमाणिएसु च यति अभिलावो कायव्वो ॥

एतदपि ऋजुसूत्रनयदर्शनेन वेदितव्यं तथा हि परभवायुष्युदय-मागते तत उद्वर्तते यद्भवायुश्च उदयमागतं तेन भवेन व्यपदेशो यथा नारकायुष्युद यमागते नरकभवे न नारक इति ततो नैरयिकेभ्यो नैरयिक एवोद्वर्तते तेन नैरयिक इति एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावत्सूत्रं वक्तव्यं यावद्वैमानिकविषये च "चयइ" इत्यादि अभिलापः कर्त्तव्यस्तभ्यः उद्वर्तनस्य च्यवनमिति प्रसिद्धेः तथा चाह "एवं जाव वेमाणिए नवर"मित्यादि। अथ कृष्णलेश्याविषयमुत्पत्तौ सूत्रमाह।

से नूणं भंते ! कण्हलेसे नेरइए कण्हलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ कण्हलेस्सेसु उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कण्हलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ कण्हलेसेसु उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ एवं नीललेसावि एवं काउलेसावि एवं असुरकुमाराणवि जाव थणियकुमारा णवरं तेउलेस्सा अब्भहिया ॥

"से नूणं भंते" इत्यादि से शब्दोऽशब्दार्थः स चेह प्रश्ने नूनं निश्चितमेतत् भदन्त ! कृष्णलेश्यो नैरयिकः कृष्णलेश्येषु नैरयिकेषु मध्ये उत्पद्यते । तेभ्यश्च कृष्णलेश्येभ्यो नैरयिकेभ्य उद्वर्तमानः कृष्णलेश्य एवोद्वर्तते एतदेव निश्चयदार्ढ्योत्पादनार्थं प्रकारान्तरेणाह । यल्लेश्य उत्पद्यते तल्लेश्य उद्वर्तते न लेश्यान्तरगत इति भगवानाह "हंता गोयमे" त्यादि हंते त्यनुमतौ अनुमतमेतत् मम। गौतम ! कण्हलेसेसु नेरइएसु इत्यादि। अथ कथं कृष्णलेश्यः सन् कृष्णलेश्येषु नैरयिकेषूत्पद्यते न लेश्यान्तरोपेतः उच्यते इह तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्योऽबद्धायुष्कतया नरकेषूत्पत्तुकामो यथाक्रमं तिर्यगायुषि मनुष्यायुषि चं साकल्येनाक्षीणे-ऽन्तर्मुहुर्तशेषे यल्लेश्येषु नरकेषूत्पत्स्यते तद्गतलेश्या परिणमति ततस्तेनैवाप्रतिपतितेन परिणामेन नरकायुः प्रतिसंवेदयते तत उच्यते कृष्णलेश्यः कृष्णलेश्येषु नैरयिकेषूत्पद्यते न लेश्यान्तरयुक्तः। अथ कथं कृष्णलेश्य एवोद्वर्तते? उच्यते देवनैरयिकाणां हि लेश्यापरिणाम आभवक्षयाद्भवति एतच्च प्रागेव प्रपञ्चत उपपादितमेवं नीललेश्याविषयं कापोतलेश्याविषयं च सूत्रं वक्तव्यमेवमसुरकुमारादीनामपि स्तनितकुमारावसानानां वक्तव्यं नवरं तेजोलेश्यासूत्रं तत्राभ्यधिक-मभिधेयं तेजोलेश्याया अपि तेषां भावात्।

अधुना पृथिवीकायिकेषु कृष्णलेश्याविषयं सूत्रमाह ॥

से नूणं भंते ! कण्हलेसे पुढवीकाइए कण्हलेसेसु पुढवीका-इएसु उववज्जइ कण्हलेसे उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कण्हलेसे पुढविकाइए कण्हलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ, सिय कण्हलेसे उववट्टइ सिय नीललेसे उववट्टइ सिय काउलेसे उववट्टइ सिय जल्लेसे उववज्जइ सिय तल्लेसेसु उववट्टइ। एवं नीललेसाकाउलेसासु वि। से नूणं भंते ! तेउलेसे पुढविकाइए तेउलेस्सेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ पुच्छा हंता गोयमा ! तेउल्लेस्से पुढविकाइए तेउलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ, सिय कण्लेस्से उववट्टइ सिय नीललेसे उववट्टइ सिय काउलेसे उववट्टइ तेउलेसे उववज्जइ णो चेवेणं तेउलेसे उववट्टइ। एवं आउकाइयवणस्सइ-काइयावि। तेउवाऊ एवं चेव नवरं एएसिं तेउलेस्सा नत्थि। वितिचउरिंदिया एवं चेव तिसुवि लेसासु। पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा जहा पुढविकाइया आदिल्लियासु तिसु लेसासु भणिया तहा छसु लेसासु भाणियव्वा नवरं छप्पिलेस्सा उच्चारेयव्वाओ। वाणमंतरा जहा असुरकुमारा से नूणंभंते ! तेउलेस्से जोइसिए तेउलेसेसु जोइसिएसु उववज्ज-

इ जहेव असुरकुमाराणं। एवं वेमाणियाण वि नवरं दोण्ह वि चयतीति अभिलावो। से नूणं भंते! कण्हलेसे नीललेसे नेरइए कण्हलेसेसु नीललेसेसु काउलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ कण्हलेसेसु नीललेसे काउलेसे उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ? हंता गोयमा! कण्हलेसे नीललेसे काउलेसे उववज्जइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ से नूणं भंते! कण्हलेसे जाव तेउलेसे असुरकुमारे कण्हलेसेसु जाव तेउलेसेसु असुरकुमारेसु उववज्जइ एवं जहेव नेरइए तहा असुरकुमारे वि जाव थणियकुमारेवि। से नूणं भंते! कण्हलेसे जाव तेउलेस्से पुढविकाइए कण्हलेस्सेसु जाव तेउलेस्सेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ, एवं पुच्छा जहा असुरकुमाराणं? हंता गोयमा! कण्हलेस्से जाव तेउलेसे पुढविकाइए कण्हलेसेसु जाव तेउलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ, सिय कण्हलेसे उववट्टइ सिय नीललेसे सिय काउलेस्से उववट्टइ सिय जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ तेउलेसे उववज्जइ नो चेव णं तेउलेसे उववट्टइ। एवं आउकाइयवणस्सइकाइयावि भाणियव्वा। से नूणं भंते! कण्हलेसे काउलेस्से नीललेसे तेउकाइए कण्हलेसेसु नीललेसेसु काउलेसेसु तेउकाइएसु उववज्जइ कण्हलेसे नीललेसे काउलेसेसु उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ? हंता गोयमा! कण्हनीलकाउलेसे तेउकाइए कण्हलेसेसु नीलकाउलेसेसु तेउकाइएसु उववज्जइ सिय कण्हलेसे उववट्टइ सिय नील लेसे सिय काउलेस्से उववट्टइ सिय जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ एवं वाउकाइए बेइंदिय तेइंदिय चउरिंदियावि भाणियव्वा से नूणं भंते! कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे पंचिंदियतिरिक्खजोणिए कण्हलेसेसु जाव सुक्कलेस्सेसु पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ पुच्छा हंता गोयमा! कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे पंचिंदियतिरिक्खजोणिए कण्हलेसेसु जाव सुक्कलेसेसु पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु सिय कण्हलेसे उववट्टइ जाव सिय सुक्कलेसे उववट्टइ सिय जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ एवं मणुसेवि। वाणमंतरे असुरकुमारे जोइसियवेमाणिएवि एवं चेव नवरं जस्स जल्लेसा दोण्हवि चयणंति भाणियव्वा॥

से नूणं भंते इत्यादि॥ इह तिरश्चां मनुष्याणां च लेश्यापरिणाम आन्तर्मौहूर्तिकस्ततः कदाचित् तल्लेश्य उद्वर्तते कदाचिल्लेश्यान्तारपरिणतोऽप्युद्वर्तते एषः पुनर्नियमो यल्लेश्येषूत्पद्यते स नियमतस्तल्लेश्य एवोत्पद्यते "अंतमुहुत्तम्मिगए अंतमुहुत्तम्मि सेसए आओ। लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा वच्चंति परलोय" मितिवचनात्। तत उक्तम्। "गोयमा! कण्हलेसे पुढविकाइए कण्हलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ सिय कण्हलेसे उववट्टइ इत्यादि" एवं नीललेश्याविषयं कापोतलेश्या विषयं च सूत्रं वक्तव्यम् तथा भवनपतिव्यन्तरज्यौतिष्कसौधर्मेशानदेवाः तेजोलेश्यावन्तः स्वभावाच्च्युत्वा पृथिवीयिकेषूत्पद्यन्ते। तदा कियत्कालमपर्याप्तावस्थायां तेषु तेजोलेश्याऽपि लभ्यते तत ऊर्द्धं तु न भवति तथा भवस्वभावतया तेजो लेश्यायोग्यद्रव्यग्रहणशक्तसम्भवात्—तस्तेजोलेश्यासूत्रमुक्तम्। "तेउलेसे उववज्जइ नो चेव णं तेउलेसे उववट्टइ इति" यथा च पृथिवीकायिकानां चत्वारि सूत्राण्युक्तानि तथा अप्कायिकवनस्पतिकायिकानामपि वक्तव्यानि तेषामप्यपर्याप्तावस्थायां तेजोलेश्यासम्भवात् तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियविषयाणि प्रत्येकं त्रीणि सूत्राणि वक्तव्यानि तेषां तेजोलेश्याया असम्भवात्। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका मनुष्याश्च यथा आद्यासु तिसृषु लेश्यासु पृथिवीकायिका उक्तस्तथा षट्स्वपि लेश्यासु वक्तव्याः पण्णामप्यन्यतमया लेश्यया तेषामुत्पत्तिसम्भवादुत्पत्तिगतैकैकलेश्याविषयं चोद्वर्त्तनायां पण्णां विकल्पानां सम्भवात्। सूत्रपाठश्चैवम् "से नूणं भंते कण्हलेस्से पंचिंदियति—रिक्खजोणिएत्यादि" एवं नीलकापोततेजः पद्मशुक्ललेश्याविषयाण्यपि सूत्राणि वक्तव्यानि, "वाणमंतरा जहा असुरकुमारा" इति "जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ। इति" वक्तव्या इति सर्वदेवानां लेश्यापरिणामस्य आभवक्षयाद्भावात् एवं लेश्यापरिसंख्यानां परिभाव्य ज्योतिष्कवैमानिकविषयाण्यपि सूत्राणि वक्तव्यानि नवरं तत्र चयतीत्यभिलपनीयं त देवमेकैकलेश्याविषयाणि चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नैरयिकादीनां सूत्राण्युक्तानि। तत्र कश्चिदाशङ्क्येत। प्रविरलैकैकनारकादिविषमेतत् सूत्रकदम्बकं यदा तु बहवो भिन्नलेश्याकास्तस्यां गतावुत्पद्यन्ते तदान्यथापि वस्तुगतिर्भवेदेकैकगत धर्मापेक्षया समुदायधर्मस्य क्वचिदन्यथापि दर्शनात् ततस्तदा शङ्कापनोदाय येषां यावत्यो लेश्याः सम्भवन्ति तेषां युगपत्तावल्लेश्याविषयमेकैकं सूत्रमनन्तरोदितार्थमेव प्रतिपादयति, "से नूणं भंते! कण्हलेसे नीललेसे काउलेसे नेरइए कण्हलेसेसु नीललेसेसु काउलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ" इत्यादि॥ समस्तं सुगमम्॥ प्रज्ञा० १७ पद।

(२२) लेश्यावत्त्वेनोपपातः।

जीवेणं भंते! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते! किं लेस्सेसु उववज्जइ? गोयमा! जं लेसाइं दव्वाइं पारियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ तं जहा कण्हलेसेसु वा नीललेसेसु वा काउलेसेसु वा एवं जस्स जा लेसा सा तस्स भाणियव्वा जाव जीवेणं भंते! जे भविए जोइसिएसु उववज्जित्तए पुच्छा? गोयमा! जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ तं जहा तेउलेस्सेसु। जीवेणं भंते! जे भविए वेमाणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते! किं लेस्सेसु उववज्जइ? गोयमा! जल्लेस्साइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, तं जहा तेउलेसेसु वा पम्हलेसेसु वा सुक्कलेसेसु वा।

जीवेणमित्यादि (जे भविएत्ति) योग्यः (किं लेसेसुत्ति) का कृष्णादीनामन्यतमा लेश्या येषां ते तथा तेषु किं लेश्येषु मध्ये (जल्लेसाइंति) या लेश्या येषां द्रव्याणां तानि यल्लेश्यानि यस्या लेश्यायाः सम्बन्धिनीम्यर्थः। (परियाइत्तत्ति) पर्यादाय परिगृह्य भावपरिणामेन कालं करोति म्रियते तल्लेश्येषु नारकेषूत्पद्यते भवन्ति चाऽत्र गाथाः॥ "सव्वाहिं लेसाहिं पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु। नो कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि

जीवस्स ॥ १ ॥ सव्वाहिं लेसाहिं, चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु। न वि कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि जीयस्स ॥२॥ अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव। लेसाहिं परिणयाहिं जीवा गच्छंति परलोयं"॥३॥ चतुर्विंशतिदण्डकस्य शेषपदान्यतिदिशन्नाह ॥ एवमित्यादि (एवमिति) नारकसूत्राभिलापेनेत्यर्थः (जस्सत्ति) असुरकुमारादेर्या लेश्या कृष्णादिका सा लेश्या तस्याः सुरकुमारादेर्भणितव्येति नन्वेतावतैव विवक्षितार्थसिद्धेः किमर्थं भेदेनोक्तम्, "जाव जीवेणं भंते" ! इत्यादि ? उच्यते, दण्डकपर्यवसानसूत्रदर्शनार्थमेवं तर्हि वैमानिकसूत्रमेव वाच्यं स्यान्न तु ज्योतिष्कसूत्रमिति ? सत्यं किं तु ज्योतिष्कवैमानिकाः प्रशस्तलेश्या एव भवन्तीत्यस्यार्थस्य दर्शनार्थं तेषां भेदेनाभिधानं विचित्रत्वाद्वा सूत्रगतेरेति। भ०३ श०४ उ०।

(२३)नैरयिकः देशतः सर्वतो वा उपपद्यते॥

नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणं देसं उववज्जइ १ देसेणं सव्वं उववज्जइ २ सव्वेणं देसं उववज्जइ ३ सव्वेणं सव्वं उववज्जइ ४ ? गोयमा ! नो देसेणं देसं उववज्जइ १ नो देसेणं सव्वं उववज्जइ २ नो सव्वेणं देसं उववज्जइ ३ सव्वेणं सव्वं उववज्जइ ४ जहा नेरइए एवं जाव वेमाणिए १ नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणं देसं आहारेइ देसेणं सव्वं आहारेइ सव्वेणं देसं आहारेइ सव्वेणं सव्वं आहारेइ ? गोयमा ! नो देसेणं देसं आहारेइ नो देसेणं सव्वं आहारेइ सव्वेणं वा देसं आहारेइ सव्वेण वा सव्वं आहारेइ एवं जाव वेमाणिए ।२। नेरइएणं भंते ! नेरइएहिंतो उववट्टमाणे किं देसेणं उववट्टइ जहा उववज्जमाणे तहेव उववट्टमाणे वि दंडगो भाणियव्वो ॥

(नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणेत्ति) ननूत्पद्यमान एव कथं नारक इति व्यपदिश्यतेऽनुत्पन्नत्वात्तिर्यगादिवत! इत्यत्रोच्यते उत्पद्यमान उत्पन्न एव तदायुष्कोदयादन्यथा तिर्यगाद्यायुष्काभावान्नारकायुष्कोदयेऽपि यदि नारको नासौ तदन्यः कोऽसाविति (किं देसेणं देसं उववज्जइत्ति) देशेन च देशं यदुत्पादनं प्रवृत्तं तद्देशेन देशं छान्दसत्वाद्व्यत्ययीभावप्रतिरूपः समास एवमुत्तरत्रापि तत्र जीवःकिं देशेन स्वकीयावयवेन न देशेन नारकावयविनोंऽशतयोत्पद्यते। अथवा देशेन देशमाश्रित्योत्पादयन्वेति शेषः एवमन्यत्रापि तथा (देसेण सव्वंति) देशेन च सर्वेण च यत्प्रवृत्तं तद्देशेन सर्वं तत्र देशेन स्वावयवेन सर्वतः सर्वात्मना नारकावयवितयोत्पद्यत इत्यर्थः। आहोस्वित्सर्वेण सर्वात्मना देशतो नारकांशतयोत्पद्यते अथवा सर्वेण सर्वात्मना सर्वतो नारकतयेति प्रश्नः। अत्रोत्तरम् न देशेनदेशतयोत्पद्यते यतो न परिणामिकारणावयवेन कार्यावयवो निर्वर्त्यते तन्तुना पटाप्रतिबद्धपटप्रदेशवत्। यथाहि पटदेशभूतेन तन्तुना पटाप्रतिबद्धः पटदेशो न निर्वर्त्यते तथा पुर्वावयविप्रतिबद्धेन तद्देशेनोत्तरावयविदेशो न निर्वर्त्यत इति भावः। तथा न देशेन सर्वतयोत्पद्यते अपरिपूर्णकारणत्वात्तन्तुना पट इवेति। तथा न सर्वेण देशतयोत्पद्यते सम्पूर्णपरिणामिकारणत्वात्समस्तघटकारणैर्घटैकदेशवत् सर्वेण तु सर्व उत्पद्यते पूर्णकारणसमवायात् घटवदिति चूर्णिव्याख्या। टीकाकारस्त्वेवमाह। किमवस्थित एव जीवो देशमपनीय यत्रोत्पत्तव्यं तत्र देशत उत्पद्यते अथवा देशेन सर्वत उत्पद्यते अथवा सर्वात्मना यत्रोत्पत्तव्यं तस्य देश उत्पद्यते अथवा सर्वात्मना सर्वत्रेति। एतेषु पाश्चात्यभङ्गौ ग्राह्यौ यतः सर्वेण समप्रदेशव्यापारेणेलिकागतौ यत्रोत्पत्तव्यं तस्य देश उत्पद्यते तद्देशेन उत्पत्तिस्थानदेशस्येव व्याप्तत्वात् कन्दुकगतौ वा सर्वेण सर्वत्रोत्पद्यते विमुच्यैव पूर्वस्थानमिति। एतच्च टीकाकारव्याख्यानं वाचनान्तरविषयमिति॥

नेरइयाणं भंते ! नेरइएहिंतो उववट्टमाणे किं देसेणं देसं आहारेइ तहेव जाव सव्वेणं वा देसं आहारेइ सव्वेणं वा सव्वं आहारेइ १ एवं जीव वेमाणिया ॥४॥ नेरइएणं भंते ! नेरअएसु उववण्णे किं देसेणं देसं उववण्णे एसो वि तहेव जाव सव्वेणं सव्वं उववण्णे जहा उववज्जमाणे उववट्टमाणे य चत्तारि दंडगा तहा उववण्णे उव्वट्टणे वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा सव्वेणं सव्वं उववण्णं सव्वेण वा देसं आहारेइ सव्वेणं सव्वं आहारेइ एएणं अभिलावेण उववण्णे उव्वट्टेवि नेयव्वं। नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं अद्धेणं अद्धं उववज्जइ अद्धेणं सव्वं उववज्जइ सव्वेणं अद्धं उववज्जइ सव्वेणं सव्वं उववज्जइ। जहार पढमिल्लेणं अट्ठ दंडगा तहा अद्धेण वि अट्ठ दंडगा भाणियव्वा, णवरं जहिं देसेणं देसं उववज्जइ तहिं अद्धेणं अद्धं उववज्जइत्ति भाणियव्वं एवं णाणत्तं एवं सव्वेवि सोलस दंडगा भाणियव्वा॥

उत्पादे चाहारक इत्याहारसूत्रं तत्र देशेन देशमिति आत्मदेशेनाव्यवहार्यद्रव्यदेशमित्येवं गमनीयम् उत्तरम्। (सव्वेण वा देसमाहारेइत्ति) उत्पत्त्यनन्तरसमयेषु सर्वात्मप्रदेशैराहारपुद्गलान् कांश्चिदादत्ते कांश्चिद्विमुञ्चति तप्ततापिकागततैलग्राहकविमोचकापुपवदत उच्यते देशमाहारयतीति (सव्वेण वासव्वंति) सर्वात्मप्रदेशैरुत्पत्तिसमये आहारपुद्गलानादत्त एवं प्रथमस्तैलभृततप्ततापिकाप्रथमसमयपतितापूपवदित्युच्यते। सर्वमाहारयतीति उत्पादस्तदाहारेण सह प्राग्दण्डकाभ्यामुक्तोऽथोत्पादप्रतिपक्षत्वाद्वर्तमानकालनिर्देशसाधर्म्याद्योद्वर्त्तनादण्डकस्तदाहारदण्डकेन सह तदनन्तरञ्च नोद्वर्तनाऽनुत्पन्नस्य स्यादित्युत्पन्नतदाहारदण्डकावुत्पन्नप्रतिपक्षत्वाद्योद्वृत्ततदाहारदण्डकाविति। पुस्तकान्तरे तु उत्पादतदाहारदण्डकानन्तरमुत्पादे सत्युत्पन्नः स्यादित्युत्पन्नतदाहारदण्डकौ ततस्तूत्पादप्रतिपक्षत्वादुद्वर्तनाया उद्वर्तनातदाहारदण्डकौ, उद्वर्तनायाश्चोद्वृत्तः स्यादित्युद्वृत्ततदाहारदण्डकौ कण्ठ्याश्चैत इति एवं तावदष्टाभिर्दण्डकैर्देशसर्वाभ्यामुत्पादादिचिन्तितमथाष्टाभिरेवार्द्धसर्वाभ्यामुत्पादाद्येव चिन्तयन्नाह(जहा पढमिल्लेणंति)। यथा देशेन ननु देशस्यार्द्धस्य च को विशेष उच्यते देशस्त्रिधादिरनेकधाऽर्द्धं त्वेकधैवेति। भ०। (गर्भगतस्य मृत्वा नरकेषूत्पादो गब्भ शब्दे)।

(२४) गर्भगतस्य मृत्वा देवेषूत्पादः॥

जीवेणं भंते ! गब्भगए समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जे -

ज्ञा से केणट्ठेणं ? गोयमा ! सेणं सण्णी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तिएहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए पराणीयं आगयं सोच्चा निसम्म पएसे निच्छुभइ, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणइए चाउरंगिणीए सेणाए विउव्वइ विउव्वइत्ता चाउरंगिणीए सेणाए पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ सेणं जीवे अत्थकामए रज्जकामए भोगकामए कामकामए अत्थकंखिए रज्जकंखिए भोगकंखिए कामकंखिए अत्थपिवासिए रज्जपिवासिए भोगपिवासिए कामपिवासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेस्से तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तब्भावणा- भविए एवंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज नेरएइसु उववज्जइ से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ॥

गर्भं गतः सन् गृहीत्वेति शेषः (पंचिंदिएत्ति स गर्भो राजादिगर्भरूपः संज्ञितादिविशेषणानि च गर्भस्थस्यापि नरकप्रायोग्यकर्मबन्ध - संभवाभिधायकतयोक्तानि वीर्यलब्ध्या वैक्रियलब्ध्या संग्रामयतीति योगः अथवा वीर्यलब्धिको वैक्रियलब्धिकश्च सन्निति परानीकं शत्रुसैन्यम् (सोच्चत्ति) आकर्ण्य निशम्य मनसाऽवधार्य (एएसे निच्छुभइत्ति) गर्भदेशाद्बहिः क्षिपति (समोहणइत्ति) समवहन्ति समवहतो भवति तथाविधपुद्गलग्रहणार्थं संग्रामं संग्रामयति युद्धं करोति (अत्थकामए- इत्यादि) अर्थद्रव्ये कामो वाञ्छामात्रं यस्यासावर्थकाम एवमन्यान्यपि विशेषणानि, नवरं राज्यं नृपत्वं भोगा गन्धरसस्पर्शाः कामौ शब्दरूपे काङ्क्षा गृद्धिरासक्तिरित्यर्थः। अर्थकाङ्क्षा संजातोऽस्यते अर्थकाङ्क्षितः। पिपासेव पिपासा प्राप्तेऽप्यर्थेऽतृप्तिः (तच्चित्तेत्ति) तत्रार्थादौ चित्तं सामान्योपयोगरूपं यस्यासौ तच्चित्तः (तम्मणेत्ति) तत्रैवार्थादौ मनो विशेषोपयोगरूपं यस्य स तन्मनाः (तल्लेसेत्ति) लेश्याऽऽत्मपरिणाम-विशेषः। (तदज्झवसिएत्ति) इहाध्यवसायोऽध्यवसितम् तत्र तच्चित्ता-दिभावयुक्तस्य तस्मिन्नर्थादावेवाध्यवसितं परिभोगक्रिया - संपादनविषयमस्येति तदध्यवसितः (तत्तिव्वमज्झवसाणेत्ति) तस्मिन्नेवार्थादौ तीव्रमारम्भकालादारभ्य प्रकर्षयाऽपि अध्यवसानं प्रयत्नविशेषलक्षणं यस्य स तथा (तदट्ठोवउत्तेत्ति) तदर्थमर्था-दिनिमित्तमुपयुक्तोऽवहित्तास्तदर्थोपयुक्तः (तदप्पियकरणेत्ति) तस्मिन्नेवार्थादावर्पितान्याहितानि करणानीन्द्रियाणि कृतकारितानु-मतिरूपाणि वा येन स तथा (तब्भावणाभाविएत्ति) असकृदनादिसंसारे तद्भावनयाऽर्थादिसंस्कारेण भावितो यः स तथा (एयंसिणं अंतरंसि त्ति) एतस्मिन् संग्रामरणावसरे कालं मरणमिति ॥

जीवेणं भंते ! गब्भगए समाणे देवलोगेसु उववज्जेज्जा ? गोयमा अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा से केणट्ठेणं ? गोयमा ! से णं सण्णी पचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म तओ भवइ संवेगजायसड्ढे तिव्वधम्माणुरागरत्ते सेणं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए धम्मकंखिए पुण्णकंखिए सग्गकंखिए मोक्खकंखिये धम्मपिवासिए पुण्णपिवासिए सग्गपिवासिए मोक्खपिवासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे त ब्भावणाभाविए एयंसि णं अंतरंसि कालं करेज्जा देवलोएसु उववज्जइ से तेणट्ठेणं गोयमा !

(तहारूवस्सत्ति) तथाविधस्य उचितस्येत्यर्थः श्रमणस्य साधोः वाशब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्वम्प्रति श्रमणमाह। न वचनयोस्तुल्यत्व-प्रकाशनार्थः (माहणस्सत्ति) मा हनेत्येवमादिशति स्वयं स्थूलप्राणा-तिपादाति निवृत्तत्वाद्यः स माहनः। अथवा ह्यणो ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावात् ब्राह्मणो देशविरतस्तस्य वा (अंतिएत्ति) समीपे एकमप्यास्तामनेकं आर्यमराद्यातं पापकर्मभ्य इत्यार्यम्। अत एव धार्म्मिकमिति (तउत्ति) तदनन्तरमेव (संवेगजायसड्ढेत्ति) संवेगेन भवभयेन जाता श्रद्धा श्रद्धानं धर्मादिषु यस्य स तथा (तिव्वधम्माणुरागरत्तेत्ति) तीव्रो यो धर्म्मानुरागो धर्म्मबहुमानस्तेन रक्त इव यः स तथा (धम्मकामएत्ति) धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः पुण्यं तत्फलभूतं शुभकर्म्मेति ॥ भ०१ श० ७ उ० । स्था० ॥ तं० ॥

(२५) कुतो देवा देवलोकेषूपपद्यन्ते ॥

तएणं ते समणोवासया थेराणं भगवंताणं अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हियया तिक्खुत्तो आयाहीणमयाहीणं करेंति करेइत्ता एवं वयासी संजमेणं भंते ! किं फले तवेणं भंते ! किं फले ? तएणं थेरा भगवंतो ते समणोवासया एवं वयासी संजमेणं अज्जो अणण्हयफले तएणं ते समणोवासया थेरे भगवंते एवं वयासी जइणं भंते संजमे अणण्ह फले तवे वोदाणफले किं पत्तियं भंते ! देवा देवलोएसु उववज्जंति ? तत्थणं कालियपुत्ते णामं अणगारे थेरे ते समणोवासए एवं वयासी पुव्वतवेणं अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति तत्थ णं महिलेनामं थेरे ते समणोवासए एवं वयासी पुव्वसंजमेणं अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति तत्थणं आणंदरक्खिए नामं थेरे ते समणोवासए एवं वयासी कम्मियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति तत्थ णं कासवे नामं थेरे ते समणोवदसए एवं वयासी संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति सच्चेणं एस अट्ठे नो चेवणं आयभाववत्तव्वयाए। तएणं ते समणोवासया थेरेहिं भगवंतेहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरिया समाणा हट्ठतुट्ठा थेरे भगवंते वंदंति णमंसंति वंदइत्ता समंसइत्ता पसिणाइं पुच्छंति अट्ठाइं उवाहियंति उट्ठाए उट्ठेंति थेरे भगवंते तिक्खुत्तो जाव वंदंति णमंसंति वंदइत्ता समंसित्ता थेराणं भगवंताणं अंतियाओ पुप्फवईयाओ चेइयाओ पडिनिक्खसंति पडिनिक्खमइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया तएणं ते थेरा भगवंतो अण्णया कयाइं तुंगियाओ नयरीओ पुप्फवइयाओ चेइयाआं पडिनिग्गच्छंति पडिनि-

गच्छइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरंति तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहि नामं नयरे जाव परिसापडिगया तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूइणामं अणगारे जाव सखित्तविउलतेउलेस्से छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ तए णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणयंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ बीयाए पोरिसीएज्झाणं ज्झियाएइ तइयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसं भंते मुहपोत्तियं पडिलेहेइ पडिलेहेइत्ता भायणाइं वत्थाइं पडिलेहेइ पडिलेहेइत्ता भायणाइं पमज्जइ पमज्जइत्ता भायणाइं उग्गोहेइ उग्गाहेइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी इच्छामि णं भंते ! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाए समाणे छट्ठक्खमणपारणयंसि रायगिहे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं तएणं भगवं गोयमे ! समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमइत्ता अतुरियमचवलम-संभंते जुगमंतरपलोयणाए दिट्ठीए पुरओरियं सोहेमाणे सोहेमाणे जेणेव रायगिहे नयरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता रायगिहं नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं परघरसमुदाणस्स भिक्खायरियं अडइ तएणं से भगवं गोयमे रायगिहे नयरे जाव अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेइ एवं खलु देवाणुप्पिया तुंगियाए नयरीए बहियापुप्फवईयाए चेइयाए पासा वच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया संजमेणं भंते ! किं फले, तवे किं फले ? तए णं थेरा भगवंतो समणोवासए एवं वयासी संजमेणं अज्जो अणण्हयफले तवे वोदाणफले तं चेव जाव पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए से कहमेयं मन्ने एवं ? तएणं भगवं गोयमे ! इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जायसड्ढे जाव समुप्पन्नकोउहल्ले अहा पज्जत्तं समुदाणं गिण्हइ गिण्हइत्ता रायगिहाओ नयरीओ पडिनिक्खमइ अतुरिय जाव सोहेमाणे जेणेव गुसिलए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते गमणागमणाए पडिक्कमइ एसणमणेसणं आलोएइ भत्तपाणं पडिदंसेइ२त्ता समणं भगवं महावीरं जाव एवं वयासी एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे रायगिहे नगरे उच्चनीयमज्झिमाणि कुलाणि घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेइ एवं खलु देवाणुप्पिया तुंगियाए नगरीए बहिया पुप्फवईए चेइ पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया संजमेणं भंते ! किं फले, तवे किं फले ? तं चेव जाव सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए तं पभूणं भंतेत्ति थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए। उदाहु अप्पभूसमियाणं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए। उदाहु असमिया आउज्झियाणं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए। उदाहु अणाउज्झिया पालिउज्झियाणं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए। उदाहु अणाउज्झिया पलिउज्झियाणं भंते ! थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए उदाहु अपलिउज्झिया पुव्वतवे अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति, सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए पभूणं गोयमा ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए णो अप्पभू तह चेव नेयव्वं अवसेसियं जाव पभूसमियं आउज्झिपलियउज्झिय जाव सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए अहं पि णं गोयमा ! एवमाइक्खामि भासेमि पन्नवेमि परूवेमि पुव्वतवेणं देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वसंजमेण देवा देवलोएसु उववज्जंति कम्मियाए देवा देवलोएसु उववज्जंति संगियाए देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वतवेण पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति। सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए॥

तएणं समणोवासया इत्यादि (अणण्हयफलेत्ति) न आश्रवोऽना श्रव इति पाठोऽपि दृश्यते अनाश्रवो नवकर्मानुपादानं फलमस्येत्यनाश्रवफलः संयमः (वोदाणफलेत्ति) दाप्लवने अथवा दैप्शो धने इति वचनात् व्यवदानं पूर्वकृतकर्म्मवनगहनस्य लवनं प्राक्कृत कर्म्मकचवरशोधनं वा फलं यस्य तद्व्यवदानफलं तप इति। (किं पत्तियंति) कः प्रत्ययः करणं यत्र तत्किम्प्रत्ययं निष्कारणमेव देवा देवालोकेषूत्पद्यन्ते तपःसंयमयोरुक्तरीत्या तदकारणत्वादित्यभिप्रायः (पुव्वतवेणंति) पूर्वतपःसरागावस्थाभावि तपस्या वीतरागावस्थापेक्षया सरागाव-स्थायाः पूर्वकालभावित्वात् एवं संयमोऽपि अयथाख्यानचारित्रमित्यर्थः ततश्च सरागकृतेन संयमेन तपसा च देवत्वावाप्तिः रागांशस्य कर्म्मबन्धहेतुत्वात् (कम्मियाएत्ति) कर्म विद्यते यस्मासौ कर्मी तद्भावस्तत्ता तया कर्म्मितया। अन्ये त्वाहुः। कर्म्मणां विकारः कार्म्मिका तया अक्षीणेन कर्म्मशेषेण देवत्वावाप्तिरित्यर्थः (संगियाएत्ति) सङ्गो यस्यस्ति स सङ्गी तद्भावस्तत्ता तया संगितया द्रव्यादिषु

सत्सङ्गी हि संयमादियुक्तोऽपि कर्म बध्नाति ततः सङ्गितया देवत्वावाप्तिरिति आहच, "पुव्वतवसंजमो होति, एगिणो पच्छिमा अरागस्स। एगो संगो वुत्तो, संगाकम्मं भवो तेणं"॥१॥ सव्वेणमित्यादि॥ सत्योऽयमर्थः कस्मादित्याह, "नो चेवणमित्यादि", नैवात्मभाववक्तव्यतयाऽयमर्थः आत्मभाव एव स्वाभिप्राय एव न वस्तुतत्वं वक्तव्यो वाच्योऽभिमानाद्येषां ते आत्मभाववक्तव्यास्तेषां भाव आत्मभाववक्तव्यता अहंमानिता तया न वयमहंमानितयैवं ब्रूमोऽपि तु परमार्थ एवायमेवं विध इति भावना (अतुरियंति) कायिकत्वरारहितम् (अचवलंति) मानसचापलरहितम् (असंभंतेत्ति) असंभ्रान्तज्ञानः (घरसमुदाणस्स) गृहेषु समुदानं भैक्षं गृहसमुदानं तस्मै गृहसमुदानाय (भिक्खासमायारएत्ति) भिक्षासमाचारेण (जुगंतरपलोयणाएत्ति) युगं यूपस्तत्प्रमाणमंतरं स्वदेहदेशस्य दृष्टिपातदेशस्य च व्यवधानं प्रलोकयति या सा युगान्तरप्रलोकना तया दृष्ट्या (रियंति)ईर्यागमनं (सेकहमेयं मण्णे एवंति) अथ कथमेतत् स्थविरवचनं मन्ये इति वितर्कार्थो निपातः एवममुना प्रकारेणेति बहुजनवचनम् (प्रभूणंति) प्रभवः समर्थास्ते (समियाणंति) सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातस्तेन सम्यक्ते व्याकर्तुं वर्त्तन्ते अविपर्यासास्त इत्यर्थः। समञ्चन्तीति वा सम्यञ्चः समिता वा सम्यक् प्रवृत्तयः श्रमिता वाऽभ्यासवन्तः (आउञ्जियत्ति) आयोगिकाः उपयोगवन्तो ज्ञानिन इत्यर्थः जानन्तीति भावः (पलिउञ्जियत्ति) परि समन्तात् योगिकाः परिज्ञानिन इत्यर्थः परिजानन्तीति भावः। भ० २ श० ५ उ०। "पुण्यपापाभावे सव्वहा अपरिक्खीणकम्मे पुन्नाभावे देवेसु केण हेउणा उववज्जंति, एवं चोदकेणोक्ते आचार्य्य आह। गाहा। "पुव्वतवसंजमा होंति, रागिणो पच्छिमा अगारस्स। रागो वुत्तो संगो, संगाकम्मं भवो तेणं", । नि० चू० ११ उ० (जीवेणं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं इह गए णेरइयाउयं पकरेइत्ति– आउशब्दे उक्तम्) द्वावसुरकुमारौ क्वोपपद्येते॥

(२६) सहोपपन्नयोरसुरयोः शोभनाशोभनत्वम्॥

दो भंते ! असुरकुमारा एगंसि असुरकुमारा वासंसि असुरकुमारदेवताए उववण्णा तत्थणं एगे असुरकुमारे देवे पासादीए दरसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे एगे असुरकुमारे देवे से णं णो पासादीए णो दरसणिज्जे णो अभिरूवे णो पडिरूवे से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! असुरकुमारा देवा दुविहा पण्णत्ता तं जहा वेउव्वियसरीरा य अवेउव्वियसरीरा य तत्थं णं जे से वेउव्वियसरीरे असुरकुमारे देवे से णं पासादीए जाव पडिरूवे तत्थ णं जे से अवेउव्वियसरीरे असुरकुमारे देवे से णं णो पासादीए जाव णो पडिरूवे से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तत्थ णं जे से वेउव्वियसरीरे तं चेव जाव णो पडिरूवे ? गोयमा ! से जहाणामए इह मणुस्सलोगंसि दुवे पुरिसा भवंति एगे पुरिसे अलंकियविभूसिए एगे पुरिसे अणलंकियविभूसिए एएसिणं गोयमा ! दोण्हं पुरिसाणं कयरे पुरिसे पासादीए कयरे पुरिसे णो पासादीए जाव णो पडिरूवे जे वा से पुरिसे अलंकियविभूसिए जे वा से पुरिसे अणलंकियविभूसिए ? भगवं ! तत्थ जे से पुरिसे अलंकिय विभूसिए से णं पुरिसे पासादीए जाव पडिरूवे जे वा से पुरिसे अणलंकियविभूसिए से णं पुरिसे णो पासादीए जाव णो पडिरूवे से तेणट्ठेणं जाव णो पडिरूवे दो भंते ! णागकुमारादेवा एगंसि णागकुमारा वासंसि एवं चेव एवं जाव थणियकुमारा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया एवं चेव।

दो भंते! इत्यादि (वेउव्वियसरीरत्ति) विभूषितशरीराः अनन्तरमसुरकुमारादीनां विशेष उक्तोऽथ विशेषाधिकारादिदमाह।

(२७) नैरयिकानैरयिकेषु उपपन्नास्तेषु कश्चिदल्पतरोऽपरो महावेदनतरः॥

दो भंते णेरइया एगं सि णेरइया वासंसि णेरइयत्ताए उववण्णा तत्थ णं एगे णेरइए महाकम्मतराए चेव जाव महावेयणतराए चेव। एगे णेरइए अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेयणतराए चेव से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा! णेरइया दुविहा पण्णत्ता तं जहा मायी मिच्छद्दिट्ठी उववण्णगा य अमायी सम्मद्दिट्ठी उववण्णगा य तत्थ णं जे से मायी मिच्छद्दिट्ठी उववण्णए णेरइए से णं महा कम्मतराए चेव जाव महावेयणतराए चेव तत्थ णं जे से अमायी सम्मद्दिट्ठी उववण्णए णेरइए से णं अप्पकम्मतराए चेव अप्पवेयणतराए चेव दो भंते ! असुरकुमारा एवं चेव। एवं एगिंदियविगलिंदियवज्जं जाव वे माणिया॥

दो भंते ! नेरइयेत्यादि (महाकम्मतराए चेवत्ति) इह वत्करणात्, "महाकिरियतराए चेव महासत्वतराए चेवत्ति" दृश्यं व्याख्या चास्य प्राग्वत् (एगिंदियविगलिंदियवज्जंति) इहैकेन्द्रियादिवर्जनमेतेषां मायिमिथ्यादृष्टित्वेनामायिसम्यग्दृष्टिविशेषणस्यायुज्यमानत्वादिति।

(२८) प्राग्नारकादिवक्तव्यतोक्ता ते चायुष्कप्रतिसंवेदनावन्त इति तेषां तां निरूपयन्नाह –

णेरइयाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! कयरं आउयं पडिसंवेदेइ ? गोयमा ! णेरइयाउयं पडिसंवेदेइ पंचिंदियतिरिक्खजोणियाउए से पुरओ कडे चिट्ठइ। एवं मणुस्से वि णवरं मणुस्साउए से पुरओ कडे चिट्ठइ असुरकुमाराणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पुढवी काइएसु उववज्जित्तए पुच्छा गोयमा ! असुरकुमाराउयं पडिसंवेदेइ पुढवीकाइयाउए से पुरओ कडे चिट्ठइ एवं जो जहिं भविओ उववज्जित्तए तस्स तं पुरओ कडं चिट्ठंति तत्थ विओ तं पडिसंवेदेइ जाव वेमाणियाणं णवरं पुढवीकाइओ पुढवीकाइएसु उववज्जति पुढवीकाइयाउयं पडिसंवेदेइ अण्णे य से पुढवीकाइयाउए पुरओ कडे चिट्ठइ एवं जाव मणुस्सो सट्ठाणे उववातेयव्वो परट्ठाणे तहेव॥

एतच्च व्यक्तमेव॥ भ० १८ श० ५ उ०। (पूर्वमायुःसंवेदनतोक्ता अथ तद्विशेषवक्तव्यता विउव्वणा शब्दे)

(२९) रत्नप्रभायां सर्वे उपपन्नपूर्वाः।

किं सव्वपाणा उववण्णपुव्वा ? हंता गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो॥

किं सव्वपाणा इत्यादि अस्य चैवं प्रयोगः । अस्यां रत्नप्रभायां त्रिंशन्नरकलक्षेषु किं सर्वे प्राणादय उत्पन्नपूर्वा अत्रोत्तरम् (असइंति) असकृदनेकशः इदं च वेलाद्वयादावपि स्यादतोऽत्यन्त बाहुल्यप्रतिपादनायाह (अदुवत्ति) अथवा (अणंतखुत्तोत्ति) अनन्तकृत्वोऽनन्तवारान् (भ० २ श० ३ उ०) तएणं से महव्वले अणगारे धम्मघोसस्स अणगारस्स अंतिए सामाइयमाइयाइं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ (इत्यादि ब्रह्मलोके महाबलस्योपपातः महव्वल शब्दे) इह च किल चतुर्दशपूर्वधरस्य जघन्यतोऽपि लान्तके उपपात उच्यते, जावंति लंतगाओ चोद्दसपुव्वो जहण्णउववाओत्ति, वचनःदेतस्य च चतुर्दशपूर्वधरस्यपि यद् ब्रह्मलोके उपपात उक्तस्तत्के नापि मनाग्विस्मरणादिना प्रकारेण चतुर्दशपूर्वाणामुपरि पूर्णत्वादिति सम्भावयन्तीति भ० ११ श०११ उ०। (गुणस्थानकेषूपपातो गुणट्ठाण शब्दे मार्गणास्थानकं जीवठाणकादिशब्देषु)।

(३०) अविराधितश्रामण्यो देवलोकेषूपपद्यते॥

अहं भंते ! असंजयभवियदव्वदेवाणं अविराहियसंजमाणं विराहियसंजमाणं अविराहियसंजमासंजमाणं विराहियसंजमासंजमाणं असण्णीणं तावसाणं कंदप्पियाणं चरगपरव्वायगाणं किव्विसियाणं तिरिच्छियाणं आजीवियाणं अभिओगियाणं सलिंगाणं दंसणवावण्णगाणं एएसिणं देवलोएसु उववज्जमाणाणं कस्स कहिं उववाए पण्णत्ते गोयमा !असंजय भवियदव्वदेवाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं उवरिम गेवेज्जएसु अविराहियसंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे विमाणं विराहियसंजमाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे अविराहियसंजमासंजमाणं सोहम्मे कप्पे उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे विराहियसंजमासंजमाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं जोइसियासु असण्णीणं जहण्णेणं भवनवासीसु उक्कोसेणं वाणमुंतरेसु अवसेसा सव्वे जहण्णेण भवणवासीसु उक्कोसेणं वोच्छामि तावसाणं जोइसिएसु कंदप्पियाणं सोहम्मे कप्पे चरगपरिव्वायगाणं बंधलोए कप्पे किव्विसियाणं लंतगे कप्पे तिरिच्छियाणं सहस्सारे कप्पे आजीवियाणं अच्चुए कप्पे अभिओगियाणं अच्चुए कप्पे सलिंगाणं दंसणवावण्णगाणं उवरिमगेविज्जएसु॥

अहं भंतेत्यादि व्यक्तं नवरमथेति परप्रश्नार्थः (असंजयभवियदव्वदेवाणंति) इह प्रज्ञापनाटीका लिख्यते असंयताश्चारित्रपरिणामशून्या भव्या देवत्वयोग्या अत एव द्रव्यदेवाः । समासश्चैवम् । असंयताश्च ते भव्यद्रव्यदेवाश्चेति असंयतभव्यद्रव्यदेवास्तत्रैते असंयतसम्यग्दृष्टयः किलेत्येके यतः किलोक्तम् । **अणुवयमहव्वएहि य,** बालतवोकामनिज्जराए य । देवाउयं वि बंधइ, **समद्दिट्ठी य जो जीवो,** एतद्यायुक्तं यतोऽमीषामुत्कर्षत उपरिमग्रैवेयकेषूपपात उक्तः सम्यग्दृष्टीनां तु देशविरतानामपि न तत्रासौ विद्यते **देशविरतश्रावकाणामच्युतादूर्ध्वमगमनात्** । नाप्येते निह्नवास्तेषामिहैव **भेदेनाभिधानात् तस्मान्मिथ्यादृष्टय** एवाऽभव्यभव्या वा **असंयतभव्यद्रव्यदेवाः श्रमणगुणधारिणो** निखिलसामाचार्यनुष्ठानयुक्ता द्रव्यलिङ्गधारिणो गृह्यन्ते ते ह्यखिलकेवलक्रियाप्रभावत एवोपरिमग्रैवेयकेषूत्पद्यन्ते इति असंयताश्च ते सत्यप्यनुष्ठाने चारित्रपरिणामशून्यत्वात् । ननु कथं तेऽभव्याः भव्या वा श्रमणगुणधारिणो भवन्तीत्यत्रोच्यते तेषां हि महामिथ्यादर्शनमोहप्रादुर्भावे सत्यपि चक्रवर्तिप्रभृत्यनेकभूपतिप्रवरपूजासत्कारसन्मानदानात् साधून् समवलोक्य तदर्थं प्रव्रज्याक्रियशकलापानुष्ठानं प्रति श्रद्धा जायते ततश्च यथोक्तक्रियाकारिण इति। तथा (अविराहियसंजमाणंति) प्रव्रज्याकालादारभ्याम्रचारित्रपरिणामानां संज्वलनकषायसामर्थ्यात् प्रमत्तगुणस्थानकसामर्थ्याद्वा स्वल्पमायादिदोषसंभवेऽप्यानाचरितचरणोपघातानामित्यर्थः । तथा (विराहियसंजमाणंति) उक्तविपरीतानाम! (अविराहियसंजमासंजमाणंति) प्रतिपत्तिकालादारभ्याखण्डितदशविरतिपरिणामानां श्रावकाणाम् (विराहियसंजमासंजमाणंति) उक्तव्यतिरेकिणाम् (असन्नीणंति) मनोलब्धिरहितानामकामनिर्जरावतां तथा (तावसाणंति) पतितपत्राद्युपभोगवतां बालतपस्विनां तथा (कंदप्पियाणंति) कन्दर्पः परिहासः स येषामस्ति तेन वा ये चरन्ति ते कन्दर्पिकाः कान्दर्पिका वा व्यवहारमश्चरणवन्त एव कन्दर्पकोत्कुच्यादिकारकाः । तथा हि गाथाकहकहकहस्स हसणं, कंदप्पो अणिहुया य उल्लावा । कंदप्पकहाकहणं, कंदप्पुवएस संसाया ॥१॥ भुमनपणवयणदंसण–छेदेहिं करपायकन्नमाईहिं । तं तं करेइ जह जह, हसइ परो अत्तणा अहसं ॥२॥ वाया कुक्कुइओ पुण, तं जंपइ जेण हस्सए अण्णो । नाणाविहजीवरुए, कुव्वइ मुहतूरए चेवेत्यादि ॥३॥ जो संजओ वि एया, सुअप्पसत्था सुभवणं कुणइ । सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणोत्ति ॥४॥ अतस्तेषां कन्दर्पिणाम् (चरणपरिव्वायगाणंति) चरकपरिव्राजका धाटिभैक्ष्योपजीविनस्त्रिदण्डिनः । अथवा चरकाः कच्छोटकादयः परिव्राजकास्तु कपिलमुनिसूनवोऽतस्तेषाम् (किव्विसियाणंति) किल्विषं पापं तदस्ति येषां ते किल्विषिकास्ते च व्यवहारतश्चरणवन्तोऽपि ज्ञानाद्यवर्णवादिनो यथोक्तम्, नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहुणं। माई अवणवाई किव्विसियं भावणं कुणइत्ति ॥ १ ॥ अतस्तेषां तथा (तिरिच्छियाणंति) तिरिश्चां गवाश्वादीनां देशविरतिभाजाम् (आजीयाणंति) पाखण्डिविशेषणां नाग्न्यधारिणां गोशालाकशिष्याणामित्यन्ये । आजीवन्ती वा ये अविवेकीलोकतो लब्धिपूजाख्यात्यादिभिस्तपश्चरणादीनि ते आजीविकास्तत्वेनाजीविका अतस्तेषां तथा (अभिओगियाणंति) अभियोजनं विद्यामन्त्रादिभिः परेषां वशीकरणादि अभियोगः स च द्विधा । यदाह- दुविहो खलु अभिओगो, दव्वे भावे य होय नायव्वो । दव्वम्मि होइ जोगा, विज्जमंताय भावम्मि, त्ति ॥१॥ सोऽस्ति येषां तेन वा चरन्ति ये ते ऽभियोगिका आभियोगिका वा ते च व्यवहारिणश्चरणवंत एव मंत्रादिप्रयोक्तारो यदाहको उय भूईकम्मे, परिणा पसिणे निमित्तमाजीवी। इड्ढिरसे सायगुरुओ, अहिओगं भावणं कुणइ, त्ति ॥१॥ कौतुकं सौभाग्याद्यर्थं स्नपनकं भूतिकर्म ज्वरितादिभूतिदानं प्रश्नाप्रश्नं च स्वप्नविद्यादि (सलिंगाणंति) रजोहरणादिसाधुलिङ्गवता किं विद्यानामित्याह (दंसणवावन्नगाणंति) दर्शनं सम्यक्त्वं व्यापन्न भ्रष्टं येषां ते तथा तेषा निह्नवानामित्यर्थः (एएसिणं देवलोएसुउववज्जमाणाणंति अनेन देवत्वादन्यवापि केचिदुत्पद्यन्त इति

प्रतिपादितम् "विराहियसंजमाणं जहण्णेणं भवणवईसु उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे "इह कश्चिदाहविराधितसंयमानामुत्कर्षेण सौधर्मे कल्पे इति यदुक्तं तत्कथं घटते द्रौपद्यास्तु कुमालिकाभवे विराधितसंयमाया ईशानोत्पादश्रवणादित्यत्रोच्यते, तस्याः संयम विराधनोत्तरगुणविषया वकुशत्वमात्रकारिणी न मूलगुणविराधनेति, सौधर्मोत्पादश्च विशिष्टतरसंयमविराधनायां स्यात्, यदि पुनर्विराधनमात्रमपि सौधर्मोत्पत्तिकारकं स्यात्तदा वकुशादीनामुत्तर गुणादिप्रतिसेवावतां कथमच्युतादिषूत्पत्तिःस्यात् कथंचिद्विराधकत्वात्तेषामिति (असण्णीणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं वाणमंतरेसुत्ति) इह यद्यपि चमरबलिसारमहिय-मित्यादिवचनादसुरादयो महर्द्धिकाः पलिओवम-मुक्कोसं वंतरियाणं ति", वचनाच्च व्यन्तरा अल्पर्द्धिकास्तथाप्यत एव वचनादवसीयते सन्ति व्यन्तरेभ्यः सकाशादल्पर्द्धयो भवनपतयः केचनेति असंज्ञिदेवेषूत्पद्यत इत्युक्तम्। भ० १ श० २ उ०।

उपसंपादने, "उववातो उवसंपज्जणं", नि० चू० ५ उ०।

उववायकप्प पुं० (उपपातकल्प) पार्श्वस्थादिभिः सहासित्वा संविग्नविहारोपपतने। पं० भा०।

उववादकप्पमहुणा, वोच्छामि जहक्कमेणं तु।
पंचहिं ठाणेहिं विवट्ठि – ऊण संविग्गसड्ढया जुत्तो॥
अब्भुज्जतं विहारं, उवेइ उववायकप्पो सो।
उववयणं उववाओ, पासत्थादी य पंचठाणा तु॥
तेसु विविहं तु वट्टित्थो, वियाड्ढिओ होति णायव्वो।
संवेगसमावण्णो, पच्छा उ उवेति उज्जयविहारं॥
एस उववायकप्पो॥ पं० भा०।

पंचहिं ठाणेहिं सो पुण पासत्थाइहिं अत्थिऊण वियड्ढिऊण विविधमनेकप्रकारं वा वर्तितुमित्यर्थः। सिद्धासंवेगजुत्तो संवेगसगासं एइ संवेगविहारं उपपतति उपसंपद्यते तत उपपातकल्पो भवति। एस उववायकप्पो। पं० भा०॥

उववायकारि (ण्)पुं० (उपपातकारिन्) आचार्य्यनिर्देशकारिणि, "उववायकारी य हरीमणे य" सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

उववायगइ(स्त्री०)(उपपातगति) उपपातरूपा उपपाताय वा गतिः। उत्पादाय गमने, उपपातरूपायां गतौ च। उपपादगतिस्तु त्रिविधा क्षेत्रभवनोभवभेदात् तत्र नारकतिर्यङ्नरदेवसिद्धानां यत्स्वक्षेत्रे उपपातायोत्पादाय गमनं सा क्षेत्रोपपातगतिः या च नारकादीनामेव स्वभवे उपपातरूपा गतिः सा भवोपपातगतिः यच्च सिद्धपुद्गलयोर्गमनमात्रं सा नोभवोपपातगतिः विहायोगतिस्तु स्पृशद्गत्यादिकानेकविधेति। भ० ८ श० ७ उ०।

उववायय पुं०(उपपातज) उपपाताज्जात उपपातजः। देवनारकेषु, आचा० १ श्रु० १ अ०॥

***उपपातक** न० पातकसदृशे ततो न्यूनफलके पापभेदे, वाच०।

उववायसभा स्त्री०(उपपातसभा) देवसभाभेदे, यस्यां समुत्पद्यते देवः। स्था० ५ ठा०। वर्णकोऽन्यत्र रा०। अत्र हीरविजयसूरिं प्रति पण्डितगुणविजयकृतप्रश्नो यथा सौधर्मादिषु देवानां प्रत्येकमुपपातशय्या विद्यते एकस्यामनेकेषामुपपातो वेति ? अत्र महर्धिकसुराणामुपपात-शय्या भिन्ना अन्येषां तु अभिन्नापीति संभाव्यते तथाविधव्यक्तक्षराणां दर्शनस्यास्मरणादिति। ही०।

उववास पुं० (उपवास) उप वस् घञ्। उपेति सह उपावृत्तदोषस्य सतो गुणैराहारपरिहारादिरूपैर्वा वास उपवासः। "उपावृत्तस्य दोषेभ्यः, सम्यग्वासो गुणैः सह। उपवासः स विज्ञेयो, न शरीरविशोषणमिति, ध० २ अधि०। आहारशरीर सत्कारादित्यागे, स०।औ०। अभक्तार्थकरणे, स्था०३ ठा०(पोसहोववाथसशब्दे विधिर्वक्ष्यते) तपनोदयमारभ्य यामाष्टकमभोजनम्। उपवासः स विज्ञेयः प्रायश्चित्ते विधीयते।१। उपावृत्तस्य पापेभ्यो, यश्च वासो गुणैः सह। उपवासः स विज्ञेयः, सर्वभोगविवर्जितः।१। वाच०। तथा श्राद्धानामुपवासे तन्दुलधावनं रक्षानीरं च कल्पते न वेति प्रश्ने तेषामुपवासे प्रासुकमुष्णोदकं चेति पानीयद्वयं कल्पते तन्दुलधावनं रक्षाजलं प्रासुकं भवति परं श्राद्धानां न कल्पत इति (११६ प्र०) तथैकोनत्रिंशदधिकद्विशतषष्ठोच्चारकृतोऽस्ति परं शक्त्यभावे एकान्तरोपवासैःकर्तुं शुद्ध्यति न वेति प्रश्ने एकोनत्रिंशदधिकद्विशतं षष्ठा उच्चरितास्तदा षष्ठा एव कर्तुं शुद्ध्यन्ति (१२८ प्र०) तथाश्विनचैत्रास्वाध्यायमध्ये उपवासः क्रियते स विंशतिस्था-नकमध्ये प्रक्षेप्तुं शुद्ध्यति न वेति प्रश्ने आश्विनचैत्रास्वाध्यायमध्ये सप्तम्यादौ दिनत्रयकृतोपवासो विंशतिस्थानकमध्ये प्रक्षेप्तुं न शुद्ध्यति (१२९ प्र०) श्रीविजयसेनसूरिसत्कपं० कनकविजयमणिकृत-प्रश्नास्तदुत्तराणि च यथा षष्ठादौ प्रत्याख्याने भक्तद्वयकथनाधि-क्यस्य किं प्रयोजनमिति प्रश्ने सामान्यतः सतां द्विवारं भोजनं लोकप्रथितमित्युपवासद्वयेन भोजनचतुष्टयं भोजनद्वयं च पारणोत्तरपा-रणयोरेकाशनपूर्व्वकं कार्यत इति (३७७ प्र) तथा रोहिण्युपवासपञ्च-म्याद्युपवासश्च कारणे सति मिलन्त्यां तिथौ क्रियते न वेति प्रश्ने कारणे सति मिलन्त्यां तिथौ क्रियते कार्यते चेति प्रवृत्तिर्दृश्यते कारणं विना तूदयप्राप्तायामेवेति बोध्यम् सं० प्र० उल्ला० ४७७ प्र०। तथा जालोरसंघकृतप्राश्नोत्तराणि यथा त्रिविधोपवासप्रत्याख्यानमन्य-प्रत्याख्यानं च कया रीत्या पार्यते इति प्रश्ने उपवासकीधूत्रिविहार-नमुक्कारसी पोरसी पुरिमच्छादिक कीधूँ पाणहारपच्चक्खाण फासि उं० १ पालिउं २ सोहिउं ३ तीरिउं ४ किट्टिउं ५ आराहिउं ६ जं च नाराहिअं तस्समिच्छामि दुक्कडं इत्युपवासप्रत्याख्यान पारणरीतिर्वृद्धपरंपरया ज्ञातव्या। अधुना केचन श्राद्धा उपवास कीधूंत्रिविहार नमुक्कार सिपुरिमड्ढादिक कीधो चउव्विहारपच्चक्खाणफासिउं १ पालिउं २ सोहिउं ३ तीरिउं ४ किट्टिउं ५ आराहिउं ६ जं च नाराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं इच्छमपि पारयन्तो दृश्यन्ते तथा नमुक्कारसिपोरसि पुरमडादिक कीधु चउव्विहार एकासणुविआसणुकिधूत्रिविहार चउव्विहा पच्चक्खाण फासिउं १ पालिउं २ सोहिउं ३ तीरिउं ४ किट्टिउं ५ आराहिअं ६ जं च नाराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं इत्यन्यप्रत्याख्यानपारणरीतिरपि परंपरयैव ज्ञेयेति १ से० प्र० ४ उल्ला० १४४ प्र०।

उववासतव न (उपवासतपस्) आहारपरित्यागरूपे तपोभेदे, तथा प्रथमदिने एक उपवासः कृतो द्वितीयदिने द्वितीय इत्थं कृतं षष्ठतप ओलाचनामध्ये समायाति नवा तथा प्रहरानन्तरं प्रत्याख्यात उपवास आलोचनामध्ये आयाति न वेति प्रश्ने यद्यपि संलग्नतया प्रत्याख्यातं षष्ठादितपस्तथा कालवेलाप्रत्याख्यातमुपवासतपश्च बहुफलदायि भवति तथापि विशकलितभयोच्चारितं षष्ठादि तपः कालातिक्रमेणोच्चा-रितमुपवासतपश्च सर्वथा लोचनामध्ये नायातीत्येकान्तो ज्ञातो नास्तीति से० प्र० ३ उल्ला० १३८ प्र०।

उवविट्ठ त्रि०(उपविष्ट) उप–विश–क्त। सामीप्येन स्थिते। जी० ३ प्रति०। सन्निषण्णे, ज्ञा० ३ अ०। "तेता उवविट्ठं समाणं सागरचंदो नारयं पुच्छइ"। आ० म० प्र०।

उवविणिग्गय त्रि०(उपविनिर्गत)निरन्तरविनिर्गते,जी०३ प्र०।

उववूह (हा)न० (उपवृं(हा)हण) दर्शनादिगुणवतां प्रशंसायाम्, उत्त०२८ अ०। समानधार्मिकाणां क्षमणा वैयावृत्यादिसद्गुण-प्रशंसनेन तत्तद्गुणवृद्धिकरणे, प्रव०६ द्वा०॥

अत्रोदाहरणम्॥

उववूहणाए उदाहरणं जहा। रायगिहे णयरे सेणिओ राया इओ य सक्को देवएया संमत्तं पसंसति। इओ य एगो देवो असद्दहंतो नयरवाहिं सेणियस्स निग्गयस्य चेल्लयरूयं काऊण अणमिसे गिण्हति। ताहे तं निवारेति पुणरवि अण्णत्थ संजती गुव्विणी पुरतो ठिता ताहे अपवर ठविऊण जहा ण को वि जाणइ तहा सूइगिहं कारवेति जं किंचि सूतिकामंतसयमेव करेइ ततो सो देवो संजइरूवं परिच्चएऊण दिव्वं देवरूवं दरिसेति भणति य सेणियसुलद्धं ते जम्मजीवियस्य फलं जेण ते पवयणतुवरिए रिसीभत्ती भवतित्ति उववूहेऊण गओ एवं उववूहेतव्वा सोहम्मिया द०३ अ०। व्य॥ मिथ्योपवृंहणायां क्षपणं प्रशस्तोपवृंहाद्यकरणे आचामाम्लम्। जीत०।

उववूहण न (उपवृंहण) अजमोदने, "ठितिसाहणमुववूहणह रिसाइपलोयणं चेव", इह प्राकृतत्वेन निरनुस्वारः पाठः। ततश्चोपवृंहणं तस्यानुमोदनं कार्य्यं यथा धन्यस्त्वं धर्माधिकारी इत्यादि। पंचा० २ विव०। प्रशंसायाम्, उववूहणत्ति वा पसंसंति वा सद्धाजणणत्ति वा सलाघणत्ति वा एगट्ठा, नि० चू०१ उ०। (एतद्द्वारवक्तव्यता उववूहणविणय शब्दे)

उववूहण(णा(विणय)) पुं०(उपवृंहणविनय) उपवृंहणं नामसमानसाधार्मिकाणां क्षपणावैयावृत्यादिसद्गुणप्रशंसनेन तद्वृद्धिकरणं स एव विनयः। दर्शनाचारविनये, व्य०१ उ०। इदाणीं उववूहणत्ति दारं उववूहणत्ति वा पसंसंति वा सद्धाजणणत्ति वा सलाघणंति वा एगट्ठा॥

खमणे वेयावच्चे, विणए सज्झायमादिसंजुत्तं।
जो तं पसंसए य, स होति उववूहणाविणओ॥२७॥

(खवणित्ति)चउत्थं छट्ठं अट्ठमं दसमं दुवालसमं अद्धमासखमणं मास दुमास तिमास चउमास पंचमास छम्मासा सव्वंपि इत्तरं आवकहियं वा (वेयावच्चेत्ति) आयरियवेयावच्चे उवज्झायवेयावच्चे तवस्सिवेयावच्चे गिलाणवेयावच्चे कुलगणवेयावच्चे संघवालाइ असुहुसेहे वेयावच्चे दसम एएसिं पुरिसाणं इमेणं वेयावच्चं करेति। असणादिणा वत्थाइणा पीढफलगसेज्जा संथारगओ सह भेसज्जेण य (विणउत्ति) नाणविणओ दंसणविणओ चरित्तविणओ मणविणओ वयणविणओ कायविणओ उवचारियविणओ य। एसविणओ स वित्थरो भाणियव्वो। जहा दसवेयालिए (सज्झाएत्ति) वायणा पुच्छणा परियट्टणा अणुपेहा धम्मकहा य पंचविहो सज्झाओ। आदिसद्दाओ जे अण्णे तवभेयाओ मोयरिया ते घिप्पंति तहा खमादओ य गुणा जुत्तंति एतेहिं जहाभिहिएहिं गुणेहिं उववेयाजुत्तो भण्णति जो इति अणिद्दिट्ठसरूवो साहू घेप्पइ तं सद्देण खमणादि गुणोववेयस्स गहणं पसंसते श्लाघयतीत्यर्थः (पसंसत्ति) पसंसाए णिद्देसो होइ भवति किं उववूहणांविणओ णिद्देसवयणविणओ कम्मावणयणद्वारमित्यर्थः। उववूहणत्ति दारं गयं॥ नि० चू०१ उ०।

उववूहणिया स्त्री (उपवृंहणीया) उपवृंहयतीति उपवृंहणीया उपवृंहणकर्त्र्याम् नि० चू०८ उ०। (एतद्वक्तव्यता रायपिंड शब्दे)

उववूहणियापट्टय पुं०(उपवृंहणीयापट्टक) जमतो राज्ञः उपयोज्ये पट्टके, जमंतस्सय रण्णो उववूहणियापट्टओत्ति वुत्तं भवति। नि०चू०६ उ०।

उववूहिय न (उपवृंहित) संमूर्च्छिते, अनुमते, आव० ३ अ०।

उववेय त्रि०(उपपेत) उप–अप–इत्। इत्येतस्य च स्थाने निरुक्तिवशादुपपेतं भवतीति। युक्ते,भ०२ श०१ उ०। शकन्ध्वा - दिदर्शनादकारलोपः। औ०।पृषोदरादय इत्यकारलोपः। रा०।

***उपेत** त्रि० उप इत प्राकृतत्वाद् वर्णागमः स्थ०६ ठा०। नि०। ज्ञा०। युक्ते, स०। "पुप्फफलोववेएण वणसंडेणं", नि० चू०१ उ०, "परमहरिसोववेए", रा०। आ० म० प्र०। औ०। नि०चू०। उत्त०। सरिसलावण्णरूवगुणोववेयाणं", रा०।

***उपवेद** पुं० उपमितः वेदेन, वेदसदृशे आयुर्वेदादौ, वाच०।

उववेसण न०(उपवेशन) उप–विश् भावे ल्युट्। आसने, निवेशने, स्थापने च। वाच०। अधिकरणे ल्युट्। चर्मभेदे, यत्रार्शो रागादिभिः कारणैरुपविश्यते। वृ० ३ उ०।

उवव्वय (उपव्रत) न०नियमे, हा०। नियमास्तु। अक्रोधो गुरुसुश्रूषा, शौचमाहारलाघवम्। अप्रमादश्चेति। द्वा०८ द्वा०।

उवसंकमंतं त्रि०(उवसंक्रामत्) सामीप्येन गच्छति,द०५ अ०। भिक्षायै वासाय वा गच्छति, आचा०१ श्रु०७ अ०३ उ०।

उवसंकमित्ता अव्य०(उपसंक्रम्य) उप सम् ल्यप्। उपगत्येत्यर्थे, समणं भगवं महावीरं उवसंकमंति उवसंकमित्ता वंदंति।" स्था०३ ठा०। उवसंकमित्ता चारं चरंति। सू० प्र०१ पाहु०॥

उवसंकमित्तु अव्य०(उपसंक्रम्य)उप सम् क्रम् ल्यप्। आसन्नीभूयेत्यर्थे, आचा०२ श्रु०। आसन्नतामेत्येत्यर्थे, "उवसंकमित्तुगाहावतीवूया आउसंतो समणा", आचा०१ श्र०७ अ०३ उ०।

उवसंखा स्त्री० (उपसङ्ख्या) उप सामीप्येन सङ्ख्या उपसंख्या सम्यग्यथावस्थितार्थपरिज्ञाने, "अणेवसंखा इति ते उदाहुअट्ठे स उभासइ अम्ह एवं"। सूत्र०२ श्रु०१६ अ०।

उवसंत पुं० (उपशान्त) उप शम् क्त०। उपशमप्रधाने, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। क्रोधादिजयादुपशान्ते, शीतीभूते, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। क्रोधादिप्रमादरहिते,प्रव०२ द्वा०। क्रोधविपाकावगमेन (पं०व०) मनोवाक्कायविकाररहिते, ध०३ अधि०।औ०। कषायानुदयादिन्द्रियनोइन्द्रियोपशमाद्वा (आचा०१श्रु०५ अ०४ उ०) उपशमयुक्ते, भ०१ श०६ उ०। विष्कम्भितोदयमुपनीतमिथ्यास्वभावे च। शेषमिथ्यात्वमिश्रपुञ्जावाश्रित्यविष्कम्भितोदयं शुद्धपुञ्जमाश्रित्य पुनरपनीतमिथ्यास्वभावे, विशे०। श्रा०। सर्वथाऽभावमापन्ने, प्रज्ञा०१६ पद। उपशान्त -मोहगुणस्थानके, पं० सं०। पञ्चदशे ऐरवतजे तीर्थंकरे, प्रव०७ द्वा०। निच्०। नारकदीनां विशिष्टोदयाभावात् क्रोधभेदे, स्था० ४ ठा०।

उवसंतकसायवीयरागछउमत्थ पुं० (उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थ) छाद्यते केवलज्ञानं केवलदर्शनं चात्मानेनेति छद्म ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मोदयः। सति तस्मिन् के वलस्यानुत्पादात् तदपगमानन्तरं चोत्पादात् छद्मनि तिष्ठतीति छद्मस्थः स च सरागोऽपि भवतीत्यतस्मद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणं वीतो विगतो रागो मायालोभकषायोदयरूपो यस्य

स वीतरागः स चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थः स च क्षीणकषायोऽपि भवति तस्यापि यथोक्तरागापगमात् अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमुपशान्त-कषायग्रहणं कषशिषेत्यादिदण्डकधातुर्हि सार्थः कषन्ति कष्यन्ति च परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः संसारः कषमयन्ते गच्छन्त्योभिर्जन्तव इति कषायाः क्रोधादयः उपशान्ता उपशमिता विद्यमाना एव संक्रमणोद्वर्त्तना-ऽपवर्तनादिकरणोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कषाया येन स उप शान्तकषायः। स चासौ वीतरागच्छद्मस्थः। प्रव०२२४ द्वा०। एकादशगुणस्थानोपगते, पं० सं०१ द्वा०। दर्श०॥

उवसंतकसायवीयरागच्छउमत्थगुणट्ठाण न०(उपशान्तकषाय वीतरागच्छद्मस्थगुणस्थान) एकादशे गुणस्थाने, तत्राविरतसम्यग्दृष्टेः प्रभृत्यनन्तानुबन्धिनः कषाया उपशान्ताः संभवन्ति उपशमश्रेण्यारम्भे ह्यनन्तानुबन्धिकषाया न विरतो देशविरतः प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा स तूपशमय्य दर्शनमोहत्रितयमुपशयमतितदुपशमान्तरं प्रमत्ताप्रमत्तगुण-स्थानपरिवृत्तिशतानि कृत्वा ततोऽपूर्वकरणगुणस्थानोत्तरकालमनि-वृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानोत्तरकालमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थाने चारित्रमोहनीयस्य प्रथमं नपुंसकवेदमुपशमयति। ततः स्त्रीवेदक्रमो हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपं युगपत्षट्कंपुरुषवेदं ततो युगपद प्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणौ क्रोधौ ततः संज्वलनक्रोधं ततो युगपद् द्वितीयतृतीयौ मानौ ततः संज्वलनमानं ततो युगपद्द्वितीय-तृतीयमायै ततः संज्वलनमायां ततो युगपद् -द्वितीयतृतीयौ लोभौ ततः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने संज्वलनलोभमुपशमयतीत्युपशमश्रेणिः। स्थापना चेयम्। विस्तरतस्तु उपशमश्रेणिःस्वोपज्ञशतकटीकायां-व्याख्याता ततः परिभावनीया। तदेवमन्येष्वपि गुणस्थानकेषु क्वापि कियतामपि कषायाणामुपशान्तत्वसंभवात् उपशान्तकषायव्यपदेशः संभवत्यतस्त द्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम्। उपशान्तकषायवीतराग इत्येतावतापीष्टसिद्धौ छद्मस्थनग्रहणं स्वरूपकथनार्थं व्यवच्छेद्याभावात् न ह्यच्छद्मस्थ उपशान्तकषायवीतरागः संभवति यस्य छद्मस्थग्रहणेन व्यवच्छेदः स्यादिति। अस्मिंश्च गुणस्थानेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीय प्रकृतय उपशान्ता ज्ञातव्याः उपशान्तकषायश्च जघन्येनैकं समयं भवति उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति। प्रतिपातश्च द्वेधा भषक्षयेणअद्धाक्षयेण च। तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायां अद्धाक्षयेण च प्रतिपतितं यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति यत्र २बन्धोदयोदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र२ प्रतिपतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत्। प्रतिपतँश्च तावत्प्रतिपतति यावत्प्रमत्तगुणस्थानं कश्चित्तु ततोऽप्यधस्तनगुणस्थानकद्विकं याति कोऽपि सासादनभावमपि। यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादिनि करणानि प्रवर्तयतीति विशेषः। कर्म०। इह यदि बद्धायुरुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नः श्रेणिमध्यगतगुणस्थानवर्ती उपशान्तमोहो वा भूत्वा कालं करोतीति तदा नियमेनानुत्तरसुरेषूत्पद्यते श्रेणिप्रतिपतितस्य तु कालकरणेऽनियमः नानागतित्वेन नानास्थानग-मनात्। अथाबद्धायुस्तां प्रतिपन्नः तर्ह्यन्तर्मुहूर्तमुपाशान्तमोहो भूत्वा नियमतः पुनरप्युदितकषायः कात्स्न्येन न श्रेणिप्रतिलोममावर्तते। उक्तं च "बद्धाऊ पडिवन्नो, सेढिगतो वा पसंतमोहो वा। जइ कुणइ कोइ कालं, वच्चइ तो णुत्तरसुरेसु॥ अनिबद्धाऊ होउ पसंतमोहो मुहुत्तमेत्तद्धं। उदितकसायो नियमा, नियत्तए से ढिपडिलोमं। आ० म० प्र०॥

उवसंतकसायवीयरागदंसणारिय पुं० (उपशान्तकषायवीत-रागदर्शनार्य्य) वीतरागदर्शनार्थभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

उवसंतखीणमोह पुं०(उपशान्तक्षीणमोह) उपशान्तः सर्वथा-नुदयावस्थः क्षीणश्च निर्जीर्णो मोहो मोहनीयं कर्म येषां ते तथा। उपशमक्षयावस्थमोहनीयकर्मके, पंचा०१६ विव०।

उपसंतजीवि(ण्) पुं० (उपशान्तजीविन्) उपशान्तोऽन्तर्वृत्या जीवतीत्येवं शील उपशान्तजीवी। अन्तर्वृत्त्यैव जीवामीत्यभिग्रहविशेष-धारके, भ०६ श०३३ उ०॥

उवसंतमोह पुं०(उपशान्तमोह) उपशान्तः सर्वथाऽनुदयावस्थो मोहो मोहनीयं कर्म यस्य स उपशान्तमोहः। उपशमवीतरागे, अयं च एकादशगुण स्थानमारूढः उपशमश्रेणिसमाप्तावन्तमुहूर्तं भवति ततः प्रच्यवते स०॥ उवसंतो मोहो नाम जस्स अद्धवा स तिविहंपि मोहणिज्जकम्ममुवसंतं अणुमेत्तमविण्ण वेदेति। सो य देसपडिवातेन वा नियमा पडिवतित्ति॥ आचू०४ अ०। अनुत्कटवेदमोहनीये, "अणुत्तरोववाइया उवसंतमोहा (उवसंतमोहत्ति) अनुत्कटवेद-मोहनीयायः परिचारणायाः कथञ्चिदप्यभावात् न तु सर्वथोपशान्तमोहाः उपशमश्रेणेस्तेषामभावात्॥ भ०५ श०४ उ०। उपशान्त उपशमनीयो विद्यमान एव संक्रमणोद्वर्तनादिकरण-योग्यत्वेन व्यवस्थापितो मोहो मोहनीयं कर्म येन स उपशान्तमोहः। प्रव० ६३ द्वा०॥ उपशामकनिर्ग्रन्थे,॥आव०४ अ०।

उवसंतरय न०(उपशान्तरजस) प्रशान्तरजसि, उवसंतरयं करेह रा०। जी०॥ उपशान्तमपगतं रजः कालुष्यापादकं यस्य स तथा। रजोरहिते, समंसि भोम उवसंतरए सक्खमाणे से चिट्ठति॥ आचा० १ श्रु०५ अ०५ उ०।

उवसंताहिगरणउल्लाससंजणणी स्त्री० (उपशान्ताधिकरणो-ल्लाससञ्जननी) उपशान्तस्योपशमं नीतस्याधिकरण-स्य कलहस्य य उल्लासः प्रवर्तनं तस्य सञ्जननी समुत्पाद-यित्रीत्यर्थः। षष्ठ्यामप्रशस्तायां भाषायाम् प्रव० २३३ द्वा०।

उवसंति स्त्री० (उपशान्ति)उपशमे,आचा०१अ०।निवृत्तौ,वाच०।

उवसंधारिय त्रि०(उपसंधारित) संकल्पिते, पत्तबुद्धीए तेण भणियं जति यतबुद्धीए तओ तेण उवसंधारियं सब्भावं च से कहियं, नि० चू०१ उ०।

उपसंपज्जंत त्रि०(उपसंपद्यमान) उपसंपदं गृह्णति, व्य०१ उ०।

उपसंपज्जसेणियापरिकम्म(ण्) न०(उपसंपच्छ्रेणिकापरिकर्मन्) दृष्टिवादान्तर्गतपरिकर्मभेदे, स०॥

उवसंपज्जिउकाम त्रि०(उवसंपत्तुकाम) उपसंपदं जिघृक्षौ, बृ०१उ०॥

उवसंपज्जित्ता अव्य०(उपसंपद्य)उप-सम्-पद-ल्यप्। सामस्त्ये-नाङ्गीकृत्येत्यर्थे, ध०३ अधि०। आश्रित्येत्यर्थे, स्था०८ ठा० सूत्र०। उपा० पा०। "उवसंपज्जित्ताणं विहरामि", उपसंपन्नो भूत्वा विहारामि वर्त्ते भ०३ श०२ उ०।

उवसंपण्ण त्रि०(उपसंपन्न)उप-सम्-पद्-क्त-प्राप्ते, मृते च। हेम० सामीप्येन प्रतिपन्ने, आव ६ अ०। उवसंपन्नो जं कारणं तु तं कारणं अपूरितो, ध०३ अधि०।

उवसंपया स्त्री०(उपसम्पद्) उप सामीप्येन संपादनं गमनमुप

सम्पद् । इयन्तं कालं भवदन्तिके आसितव्यमित्येवंरूपे (ग० २ अधि०) ज्ञानाद्यर्थगुर्वन्तराश्रयणे, ध०३ अधि०। पंचा०। भ० आ० म० द्वि०। त्वदीयोऽहमित्येवं श्रुताद्यर्थमन्यसत्ताभ्युपगमे, अनु०। सामीप्ये, प्रशंसायाम्, अस्तित्वे, निष्पत्तौ, प्रतिपत्तौ च । पं० चू०। अत्थणे "उवसंपया", अर्थने ज्ञानाद्यर्थं परस्य आचार्यस्य पार्श्वे अवस्थाय ज्ञानादिगुणार्जनमुपसंपदुच्यते । तस्याचार्य्यस्य समीपे अवस्थानाय स्वामिन् इत्यतं कालं भवतां समीपे मया स्थातव्यं गच्छान्तरेआचार्य्यान्तरे ज्ञानाद्यर्थमिति विज्ञप्तिपूर्वकं ज्ञानाद्यभ्यसनरूपा उपसंपत्सामाचारीति भावः॥ उत्त०२६ अ०।

(१) उपसंपदो भेदास्तत्र चारित्रगृहस्थोपसंपत्प्रतिपादनं च।
(२) आचार्यादौ मृते अन्यत्रोपसंपत्। तत्र हानिवृद्ध्यादिपरीक्षणेन कर्तव्याकर्तव्य निरूपणं।
(३) भिक्षोर्गणादपक्रम्य अन्यं गणमुपसंपद्य विहारः।
(४) शैक्षेण सपरिच्छन्नेन रत्नाधिकस्योपसंपद्वातव्या।
(५) सांभोगिकासांभोगिकयोः सहमिलितयोराचार्याद्योः सामाचारी तत्रावग्रहश्च।
(६) पार्श्वस्थादिविहारप्रतिमामुपसंपद्य विहारे कर्तव्यताविधिः।
(७) भिक्षोर्गणादपक्रम्य अन्यं गणमुपसंपद्य विहरणे प्रकारान्तर प्रतिपादनं।
(८) गणावच्छेदकस्यान्यं गणमुपसंपद्य विहारः।
(९) कुगुरौ सत्यन्यत्रोपसंपत्।

(१)उपसंपद्भेदा यथा–

उपसम्पत् द्विधा साधुविषया गृहस्थविषया च ज्ञानादिहेतोर्यदपरं गणं गत्वोपसम्पद्यते सा साधुविषया। यत्पुनरवस्थाननिमित्तं गृहिणामनुज्ञापनंसा गृहस्थविषया बृ०१ उ०। तत्रास्तां गृहस्थोपसंपत् सूपंपत् प्रोच्यते।

तिहिवा उवसंपया पण्णत्ता तंजहा आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणित्ताए।

उपसंपत् ज्ञानाद्यर्थं भवदीयोऽहमित्यभ्युपगमः । तथा हि कश्चित् स्वाचार्य्यादिसंदिष्टः सम्यक् श्रुतग्रन्थानां दर्शनप्रभावकशास्त्राणां वा सूत्रार्थयोर्ग्रहणं स्थिरीकरणं विस्मृतसंधानार्थं तथाचारित्र-विशेषभूताय वैयावृत्त्याय क्षमणाय वा संदिष्टमाचार्य्यातरं यदुपसंपद्यते। स्था०३ ठा०। ध०। ज्ञानाद्युपसंपत्त्रिविधा ज्ञानादिभेदात्तथा चाह।

उवसंपया य तिविहा, नाणे तह दंसणे चरित्ते य।
दंसणनाणे तिविहा, दुविहा य चरित्तअट्ठाए॥

उपसंपत् त्रिविधा तद्यथा ज्ञाने ज्ञानविषया एवं दर्शनविषया चारित्रविषया च तत्र दर्शनज्ञानयोः संबंधिनी त्रिविधा द्विविधा च चारित्रार्थायेति। तत्र यदुक्तं दर्शनज्ञानयोस्त्रिविधेति तत्प्रतिपादनार्थमाह।

वत्तणा संधणा चेव, गहणे सुत्तत्थ तदुभए।
वेयावच्चे खमणे, काले आवकहाई य॥

वर्त्तना संधना चैव ग्रहणमित्येतत्त्रितयं (सुत्तत्थतदुभयत्ति) सूत्रार्थोभयविषयम वगन्तव्यमित्येतदर्थमुपसंपद्यते । तत्र वर्तना प्रागृहीतस्यैव सूत्रादेरस्थिरस्य गुणनमिति। सन्धना तस्यैव प्रदेशान्तरे विस्मृतस्यामलना योजना घटनेत्येकोऽर्थः । ग्रहणं पुनस्तस्यैव तत्प्रथमतया आदानम् एतत्त्रितयं सूत्रार्थोभयविषयं द्रष्टव्यमेवं ज्ञाने नंव भेदा दर्शनप्रभावनोयशास्त्रविषया एत एव भेदा द्रष्टव्याः। अत्र च संदिष्टः संदिष्टस्यैवोपसंपद्यते इत्यादि चतुर्भङ्गिका । तत्र प्रथमो भङ्गः शुद्धः शेषास्त्वशुद्धाः। द्विविधा चारित्रार्थायेति यदुक्तं तदुपदर्शनायाह (वेयावच्चे इत्यादि) चारित्रोपसंपत् वैयावृत्त्यविषया क्षपणविषया च। इयं कालतो यावत् कथिका च भवति च शब्दादित्वरा च । एतदुक्तं भवति चारित्रार्थमाचार्याय कश्चिद्वैयावृत्यकरत्वं प्रतिपद्यते स च काल इत्वरो यावत् कथिकश्च क्षपकोऽपि उपसंपद्यते द्विविधा इत्वरो यावत्कथिकश्चेति गाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमयमेवार्थो विशेषतः प्रतिपाद्यते। तत्रापि संदिष्टेन संदिष्टस्योपसंपद्वातव्येति मौलोऽयं गुणः एतत्प्रभवत्वादुपसंपद इत्यतोऽमुमेवार्थमभिधित्सुराह।

संदिट्ठो संदिट्ठस्स, चेव संपज्जएसु एमाई।
चउभंगो एत्थं पुण, पढमो भंगो हवइ सुद्धो॥

संदिष्टो गुरुणाऽभिहितः संदिष्टस्यैवाचार्यस्य यथा अमुकस्य संपद्यस्व उपसंपदं प्रयच्छेत्यर्थः। एवमादिश्चतुर्भङ्गी तद्यथा संदिष्टस्य एष भङ्गउक्तः। एवं संदिष्टऽसंदिष्टस्यान्यस्याचार्यस्येति द्वितीयः। असंदिष्टः संदिष्टस्य न तावदिदानीं गन्तव्यं त्वयाऽमुकस्येति तृतीयः। असंदिष्टोऽसंदिष्टस्य न तावदिदानीं न वाऽमुकस्येति चतुर्थः। अत्र पुनः प्रथमो भङ्गो भवति शुद्धः पुनःशब्दस्य विशेषणार्थत्वात्। द्वितीयपदेनाव्यवच्छिनत्ति निमित्तमन्येऽपि द्रष्टव्याः।

संप्रति वर्त्तनादिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह।

अथिरस्स पुव्वगहियस्स, वत्तणा जं इहं थिरीकरणं।
तस्सेव पएसंतरं, नट्ठस्सणुसंधाणा घडणा॥
गहणं तप्पढमतया, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव।
अत्थागहणम्मि पायं, एस विही होइ नायव्वो॥

पूर्वगृहीतस्य सूत्रादेरस्थिरस्य यदिह स्थिरीकरणं सा वर्त्तना तस्यैव सूत्रादेः प्रदेशान्तरनष्टस्य या घटना मीलनं साऽनुसंधना तत्प्रथमतया च सूत्रे षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् । सूत्रस्य एवमर्थस्य सूत्रार्थोभयस्य यदादानमिति शेषः। तद्ग्रहण मित्यादि। अर्थग्रहणे प्रायो बाहुल्येन एष वक्ष्यमाणलक्षणो विधिर्भवति ज्ञातव्यः । प्रायोग्रहणं सूत्रग्रहणेऽपि कश्चिद्भवत्येव धर्मार्जनादिरिति ज्ञापनार्थम्। (आ० म०) स चैवं योज्यते कर्तव्यमेव भवति कृतिकर्म वन्दनमिति एवं तावत् ज्ञानोपसंपद्विधिरुक्तो दर्शनोपसंपद्विधिरप्यनेनैवोक्तो द्रष्टव्यस्तुल्ययोगक्षेमत्वात्। तथा हि दर्शनप्रभावकशास्त्र परिज्ञानार्थमेव दर्शनोपसंपदिति । संप्रति चारित्रोपसं–पद्विधिमभिधित्सुराह॥

दुविधा उ चरित्तम्मि, वेयावच्चे तहेव खामणे य।
नियगच्छा आणम्मि उ, सीयणदोसाइणा होइ॥

द्विविधा चारित्रविषया उपसंपत् तद्यथा वैयावृत्त्यविषया क्षेपण विषया च । किमत्रोपसंपदा कार्यं स्वगच्छ एव तत् कस्मान्न क्रियते निजगच्छादन्यस्मिन् गमनं सीदनदोषादिना भवति आदिशब्दादन्यभावादिपरिग्रहः।

इत्तरिया य विभासा, वेयावच्चे तहेव खमणे य।
अविगट्ठगिट्ठम्मि य, गणिणा गच्छस्स पुच्छाए॥

इह चारित्रार्थमाचार्यस्य कश्चिद् वैयावृत्यकरत्वं प्रतिपद्यते य च काल इत्वरा यावत् कथिकश्च भवति । आचार्यस्यापि वैयावृत्यकरोऽस्ति वा न वा। तत्रायं विधिर्यदि नास्ति ततोऽसाविष्यत

एव अथास्ति स द्विविध इत्वरो वा स्यात् यावत् कथिको वा आगन्तुकोऽप्येवं द्विभेद एव। तत्र यदि द्वावपि यावत्कथिकौ ततो यो लब्धिमान् स कार्यते इतरस्तूपाध्यायादिभ्यो दीयते। अथ द्वावपि लब्धियुक्तौ ततो वास्तव्य एव कार्यते इतरस्तूपाध्यायादिभ्यो दीयते। अथ नेच्छति ततो वास्तव्य एव प्रीति पुरस्सरं तेभ्यो दीयते आगन्तुकस्तु कार्यते इति। अथ प्राक्तनोऽप्युपाध्यायादिभ्यो नेच्छति तत आगन्तुको विसर्ज्यते एव। अथ वास्तव्यो यावत्कथिक इत्वरसित्वतर इत्यत्राप्येवमेव भेदाः कर्त्तव्या यावदागन्तुको विसृज्यते ततो वास्तव्य उपाध्यायादिभ्यो ऽनिच्छन्नपि प्रीत्या विश्राण्यते यदि सर्वथा नेच्छति ततो विसृज्यते आगन्तुकः। अथ वास्तव्यः खल्वित्वरः आगन्तुकस्तु यावत्कथिकस्ततो वास्तव्योऽधिकालं यावदुपाध्यायादिभ्यो दीयते शेषं पूर्ववत्। अथ द्वावपीत्वरौ तत्राप्येक उपाध्यायादिभ्यो दीयते अन्यस्तु कार्यते शेषं पूर्ववत्।अन्यतमोऽधिकालं यावदिध्रयते इत्येवं यथाविधि विभाषा कार्या। उपाध्यायादिभ्य इत्यत्रादिशब्दात् स्थविरग्लानशैक्ष-कादिपरिग्रहः। उक्ता वैयावृत्त्योपसंपत् संप्रति क्षपणोपसंपत् प्रतिपाद्यते (अविगिट्ठेत्यादि) कश्चित् क्षपणार्थमुपसंपद्यते स च क्षपको द्विधा इत्वरो यावत्कथिकश्च यावत्कथिक उत्वरकाले अनशनकर्ता इतरस्तु द्विधा विकृष्टक्षपकः खल्वाचार्येण पृच्छ्यते हा आयुष्मन्! पारणके त्वं कीदृशो भवसि यद्यसावाह ग्लानोपमस्ततोऽसावभिधातव्योऽलं तव क्षपणेन स्वाध्यायवैयावृत्त्यकरणेन यत्नं कुरु इतरोऽपि पृष्टः सन् एवमेव प्रज्ञाप्यते। अन्ये तु व्याचक्षते विकृष्टक्षपकः पारणककाले ग्लान कल्पनामनुभवन्नपि इष्यते एव। यस्तु मासादिक्षपको यावत्कथिको वा स इष्यते एव तत्राप्याचार्य्येण गच्छः प्रष्टव्यो यश्चायं क्षपक, "उवसंपज्जति", इति अनापृच्छ्य संगच्छते सामाचारीविराधनां यतस्ते संदिष्टा अपि उपाधिप्रत्युपेक्षणादि तस्य न कुर्वन्ति। अथ पृष्टाब्रुवते यथाऽस्माकमेकः क्षपकोऽस्त्येव तस्य क्षपणपरिसमाप्तावस्य करिष्यामस्ततो ऽसौ ध्रियते अथ नेच्छन्ति ततस्त्याज्यते अथ गच्छस्तमप्यनुवर्तते ततोऽसाविप्यत एव तस्य च विधिना प्रतीच्छितस्य उद्वर्तनादि कार्यम्। यदा पुनः प्रमादतोऽनाभोगतो वा न कुर्वन्ति शिष्याः तदा आचार्येण वन्दनीया इत्यलं प्रसङ्गेन।

संप्रति चारित्रोपसंपद्विधिविशेषप्रतिपादनर्थमाह।

उवसंपन्नो जं कारणं, तु तं कारणं अपूरंतो।
अहवा समाणियम्मि, सारणया वा विसग्गो वा॥

यत्कारणं यन्निमित्तमुपसंपन्नस्तुशब्दादन्यत्वसामाचार्यन्तर्गतं किमपि गृहीतं तत्कारणं वैयावृत्त्यादि अपूरयन् अकुर्वन् यदा वर्तते इत्यध्याहारस्तदा किमित्याह (सारणया वा विसग्गो वा इति तदाऽस्य सारणा चोदनं क्रियते अविनीतस्य पुनर्विसर्गो वा परित्यागः क्रियते। तथा नापूरयन्नैव यदा वर्तते तदा सारणा वा विसर्गो वा किं तु (अहवा समाणियम्मित्ति) अथवा समानीते परिसमाप्तिं नीते अभ्युपगतप्रयोजने सारणा च क्रियते यथा परिसमाप्तम्। ततो यदि ऊर्द्धमपि इच्छति ततो भवति अथ नेच्छति सोऽवस्थातुं ततो विसर्गो वेति उक्ता चारित्रोपसंपत्। संप्रति गृहस्थोपसंपदुच्यते तत्रेयं साधूनां सामाचारी सर्वत्रैव साध्वादिषु वृक्षाद्यधोऽप्यनुज्ञाप्य स्थातव्यं यत आह।

इत्तरियं पि न कप्पइ, अविदिन्नं खलु परोग्गहाईसु।
चिट्ठितु निसीयइत्तुं व, तइयव्वयरक्खणट्ठाए॥

इत्वरमपि खल्यमपि कालमिति गम्यते न कल्पते अविदत्तं खलु परावग्रहादिषु आदिशब्दः परावग्रहोऽनेकभेदप्रख्यापकः किंन कल्पते इत्याह स्थातुं कायोत्सर्गं कर्तुं निसत्तमुपवेष्टुं किमित्यत आह (तइव्वयरक्खणट्ठाए) अदत्तादानविरत्याख्य तृतीयव्रतरक्षणार्थं तस्मात् भिक्षाटनादावपि व्याघातसंभवे क्वचित् स्थातुं शक्यमनुज्ञाप्य स्वामिनं विधिना स्थातव्यम्। अटव्यादिष्वपि विश्रमितुकामेन पूर्वस्थितमनुज्ञाप्य स्थातव्यं तदभावे देवतां यस्याः सोऽवग्रह इति। आ० म० द्वि०। आ० चू०॥ पंचा० (अत्रालोचना आलोयणा शब्दे)।

(२) आचार्यादौ मृतेऽन्यत्रोपसंपत्।

गामाणुगामं दुइज्जमाणे भिक्खू जं पुरओ कट्टु विहरेज्जा से आहच्च विसंभेज्जा अत्थिया इत्थ केइ उवसंपज्जणारिहे कप्पइ से उवसंपज्जियवेसिया णत्थि इत्थ केइ अण्णे उवसंपज्जणारिहे अप्पए असमत्ते कप्पई से एगरायाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसिं अण्णसाहम्मियां विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उपलित्तए णो से कप्पइ तत्थ विहारपत्तियं वत्थए कप्पइ से कारणपत्तियं वच्छए तेसिं च णं करणंसि निवियंसि य रोवइज्जा वसाहि अज्जो एगरायं मा दुरायं वा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए णो कप्पइ एगराओ वा दुराओ वा परवत्थए जं तत्थ एगराओ वा दुराओ वा परं वसति सेसंतरा छेए वा परिहारे वा॥

ग्रामानुग्रामं ग्रामेण(दुइज्जमाणे) गच्छन् एतावता ऋतुबद्धः कालो दर्शितो यं पुरतः कृत्वा प्रभुं कृत्वा इत्यर्थः। स नियमादाचार्य उपाध्यायो वा द्रष्टव्यो विहरति स आहच्च कदाचित् भुजेज्जा शरीराद्विष्वग् भवेत् कालगतो भवेत् (अत्थियाइत्थ इत्यादि) अस्ति वाऽत्र समुदायेऽन्यः कश्चित् आचार्यादुपाध्यायाद्वा व्यतिरिक्तो गणी प्रवृत्तकस्थविरो वृषभो वा उपसंपदनार्हस्तत उपसंपत्तव्यः। अथान्यो नास्ति कश्चिदशेषसंपदना-र्हस्तर्हि स आत्मनः कल्पनासमाप्त इति (से) तस्य कल्पते। एकरात्रिक्या प्रतिमया यत्र वसति तत्रैकरात्राभिग्रहेण (जण्णजण्णमित्यादि) यस्यां यस्यां दिशि अन्ये साधर्म्मिका विहरन्ति तां तां दिशमुपगन्तुं न पुनः (से) तस्य कल्पते तत्रापान्तराले विहारप्रत्ययं वस्तु कल्पते (से) तस्य कारणप्रत्ययं संघातादिकारणनिमित्तं वस्तुम्। तस्मिंश्च कारणे निष्ठिते यदि परो वदेत वस आर्य! एकरात्रं द्विरात्रं वा एवं (से) तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वाशब्दात्त्रिरात्रं वा वस्तु न (से) तस्य कल्पते एकरात्राद् द्विरात्राद्वा परं वस्तुम् यस्तत्र एकरात्रात् द्विरात्राद्वा परं वसति तत्र (से) तस्य स्वकृतादन्तराच्छेदः परिहारो वेति। अधुना निर्युक्तिविस्तरः। अत्रोपसंपदनार्हं इत्युक्तं सा चोपसंपद् द्विधा लौकिकी लोकोत्तरिकी च ते आह।

लोगे य उत्तरम्मि य, उवसंपयलोगिगी उ रायाई।
राया वि होइ दुविहो, सावेक्खो चेव निरवेक्खो॥

उपसंपद् द्विधा लोके लोकोत्तरे च। तत्र लौकिकी राजादौ आदिशब्दात् युवराजादिपरिग्रहः। तथा च यदा राजा मृतो भवति तदा युवराजमुपसंपद्यन्ते तं राजानं स्थापयन्तीत्यर्थः। युवराजोऽन्यः स्थाप्यते स च राजा भवति। द्विविधः सापेक्षो निरपेक्षश्च। सहापेक्षया सापेक्षस्तद्विपरीतो निरपेक्षः। तथा च

प्रजा राजाऽऽद्यपेक्षः सन् जीवन्नेव युवराजं स्थापयति निरपेक्षस्तु नैव। अथ किं जीवन्नेव युवराजं स्थापयति तत आह।

जुवराजम्मि उ ठविए, पया उ बंधंति आयतिं तत्थ।
नेव य कालगयम्मि, खुभंति पडिवेसियनरिंदा॥

युवराजे राज्ञा साक्षाद्विद्यमानेन स्थापिते प्रजास्तत्र आयतिमागामिकालविषयां महतीमास्थां बध्नन्ति नैव च सहसा कालगते राज्ञिप्रातिवेशिकनरेन्द्राः सीमातटवर्तिनः प्रत्यन्तराजानः क्षुभ्यन्ति राज्यविलोडनाय संबलन्ति। उक्तः सापेक्षः।

संप्रति निरपेक्षमाह।

पच्छन्नरायतेणे, आयपरो दुविह होइ निक्खेवो।
लोइयलोगुत्तरितो, लोगुत्तरवप्पियर वोच्छं॥

निरपेक्षो नाम यः प्रजानां राज्यस्य चायतिं नोपेक्षते तस्मिन्कालगते स राजा मृतः प्रच्छन्नो घ्रियते यथा अतीव राजा शरीरबाधितो वर्तते स च तावत् घ्रियते यावदन्यो निवेश्यते। स च कदाचित्स्तेनोऽपि। तथा निक्षेपणं निक्षेपः स द्विविधो द्विप्रकारस्तद्यथा आत्मनः परतश्च। पुनरेकैको द्विधा लौकिको लोकोत्तरिकश्च। तत्र लोकोत्तरिकः स्थाप्यः पश्चाद्वक्ष्ये इत्यर्थः। इतरं लौकिकं प्रथमगाथापादोपक्षिप्तं वक्ष्ये। प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति।

निरवेक्खे कालगते, भिन्नरहस्सा चिगिच्छमच्चो य।
अहिवास आसहिंडण, वज्झो तियमूलदेवो उ॥

एको राजा निरपेक्षश्चस्तस्य राज्ये मूलदेवश्चौरिकां करोति। स कदाचिदारक्षकैः प्राप्तो राज्ञः पार्श्वे नीतो राज्ञा च स्तेन इति कृत्वा वध्य आज्ञप्तः ततः राजा तत्क्षणमेव निजमावासस्थानमुपगतः। क्षणमात्रेण च सहसा कालगतः। तस्मिन्निरपेक्षे कालगते द्वौ भिन्नरहस्यौ राजा मृत इति रहस्यं द्वौ जानीतस्तद्यथा चिकित्सो वैद्योऽमात्यश्च राजा चानपत्यस्ततोऽश्वस्याधिवासना कृता सर्वत्र त्रिकचतुष्कचत्वरादिषु हिंडाप्यते कथं नाम राजलक्षणयुक्तं पुरुषं लभेमहि यं राजानं स्थापयाम इति मूलदेवश्च यो वध्य आज्ञापित स तेनावकाशेन नीयमानो वर्तते।

आसस्स पट्टिदाणं, आणयणं हत्थचालणं अन्नो।
अभिसेगभोइयपरिभव, तणजक्खनिवायणं आणा॥

ततोऽश्वेन तस्य मूलदेवस्य वध्यतया नीयमानस्य पृष्टं दत्तं। गाथायां स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचारि ततो मूलदेवो यत्र राजा प्रच्छन्नो जवनिकान्तरितोऽवतिष्ठते तत्रानीतस्ततो वैद्यकुमारामात्याभ्यां जवनिकाभ्यन्तरस्थिताभ्यां राज्ञो हस्त उपरि मुखे नीत्वा चालित एतत् राज्ञो हस्तचालनं ततो वैद्यकुमाराभ्यामुक्तं कृता राज्ञाऽनुज्ञा यथा मूलदेवं राजानमभिषिञ्चत न शक्नोति वाचा वक्तुमिति ततो अभिषिक्तो मूलदेवो राज्ये नवरमसदृश इति कृत्वा केचिद्भोजिकाः परिभवमुत्पादयन्ति। न पुनः कुर्वन्ति। राजार्हं विनयं ततश्चितयति मूलदेवो ममैते मूर्खतया परिभवं कुर्वन्ते परं किमिदानीमेते मूर्खतयैव कदाचित्स्वयमेवसभामण्डलं जल्पिष्यन्ति तदानीं शासयिष्यामि ततो ऽन्यदिवसे आत्मनः शिरसि तृणशूकजातं कृत्वा आस्थानमण्डपिकायामुपविष्टः। ते च भोजिका मूर्खतया शनैः परस्परमुल्लपन्ति अद्यापि नन्वेष चोरत्वं न मुञ्चति अन्यथा कथमेतादृशस्य तृणशूकजातस्येदृशे भवने संभवो नूनं तृणगृहादिषु चौरिकानिमित्तमतिगतस्ततस्तृणशूकजातं शिरसि लग्नमिति एतच्चाकर्ण्य मूलदेवो रोषमुपागमत् ब्रूते च अस्ति कोऽपि नाम मच्चित्तनुकारी य एतान् शास्तीति। तत एवमुक्ते तत्पुण्य प्रभावतो राज्यदेवताधिष्ठितैर्निशितासिलताकैश्चित्रकर्म्मप्रतीहारैः केषांचित् शिरांसि लूनानि शेषाः कृतप्राञ्जलयः आज्ञामभ्युपगतवन्तः। तथा चाह (भोइयपरिभवेत्यादि) भोजिकाः परिभवं कृतवन्तोऽन्यदा मूलदेवः (तणत्ति) तृणानि शीर्षे कृतवान् ततस्तत्कोपावेशं दृष्ट्वा यक्षैरतिपातनं विनाशनं कृतम्। शेषैराज्ञा प्रतीच्छिता। एतदेव सविशेषमाह।

जक्खनिवातियसेसा, सरणगया जेहिं तोसितो पुव्वं।
ते कुव्वंती रण्णो, अत्ताण परे य निक्खिवणं॥

यक्षनिपातितशेषाः शरणागता मूलदेवस्य शरणं प्रतिपन्नाः। यैश्च पूर्वं मूलदेवस्तोषितस्तै राज्ञ आत्मनः परस्य च निक्षेपमद्य प्रभृति युष्मदीया वयमेते चेति समर्पणं कुर्वन्ति। उक्तो निरपेक्षोऽनिरपेक्षश्च लोकोत्तरिको वक्तव्यस्तत्र प्रथमं सापेक्षमाह।

पुव्वं आयतिबंधं, करेइ सावेक्ख गणहरे ठविए।
अट्ठविए पुव्वुत्ता, दोसा उ अणाहमादीया॥

यो नामाचार्यः सापेक्षः स पूर्वमेव गणधरे स्थापिते साधूनामायतिबन्धं करोति यथाऽयं युष्माकमाचार्य इत्येतदाज्ञया वर्तितव्यमिति। अथ न पूर्वं गणधरं स्थापयति ततस्तस्मिन्नस्थापिते दोषाः पूर्वोक्ता अनाथादयः "अणाहमादीया" इत्यादिनाभिहिताः क्षिप्तादयो दोषा भवेयुः। उक्तो लोकोत्तरिकः सापेक्षः।

संप्रति निरपेक्षमाह।

आसुक्कारोवरए, अट्ठविते गणहरे इमा मेरे।
चिलिमिलिहताणुण्णा, परिभवसुत्तत्थहावणया॥

आशुकारेण शूलादिनोपरतः कालगत आशुकारोपरतस्तस्मिन् सत्याचार्ये अस्थापिते ऽन्यस्मिन् गणधरे इयं वक्ष्यमाणा मर्यादा तामेवाह (चिलिमिलीत्यादि) आशुकारोपरत आचार्यो जवनिकान्तरितः प्रच्छन्नः कार्यो वक्तव्यं चाचार्याणामतीवाशुभं शरीरं वाचाऽपि वक्तुं न शक्नुवन्तीति। ततो यो गणधरपदार्हस्तं जवनिकाबहिः स्थापयित्वा सूरयो भण्यन्ते को गणधरः स्थाप्यतामेवं चोक्ता जवनिकाभ्यन्तरस्था गीतार्था आचार्यहस्तमुपर्युन्मुखं कृत्वा स्थाप्यमानगणधराभिमुखं दर्शयन्ति वदन्ति च गणधरत्वमेतस्यानुज्ञातं परं वाचा वक्तुं न शक्नुवन्ति एषा हस्तानुज्ञा न एतस्योपरि वासा निक्षिप्यन्ते। स्थापित एष गणधर इति पश्चात्कालगता आचार्या इति प्रकाश्यते (परिभवसुत्तत्थहावणया इति) ततो येऽभिनवस्थपितस्याचार्यस्य परिभवोत्पादनबुद्ध्या आचार्योचितं विनयं न कुर्वन्ति तेषां सूत्रमर्थं वा स हापयति न ददातीत्यर्थः। संप्रति "आयपरो दुविह होइ निक्खेवो लोइयलोइत्तरितो" इति व्याख्यानार्थमाह।

दंडेण उ अणुसट्ठा, लोए लोगुत्तरे य अप्पाणं।
उवनिक्खिवंति सो पुण, लोकिकलोगुत्तरे दुविहो॥

लोके लोकोत्तरे च यथार्हं विनयमकुर्वन्तो। दण्डेनानुशिष्टा आत्मानमुपनिक्षिपन्ति तत्र लौकिको दण्डः पूर्वमुक्तो यो मूलदेवेन भोजिकानां केषांचित्कृतो लोकोत्तरिकः सूत्रार्थापहारणम्। इह नवे राज्ञीव नवे गणधरे स्थापिते निक्षेपरसो लोकस्य जायते तत्तत्फलाद्युपवर्ण्यते निक्षेपस्य फलं लोके परिपालनं लोकोत्तरज्ञानादीनामभिवृद्धिः स चोपनिक्षेपो द्विधा लौकिको लोकोत्तरिकश्च। पुनरेकैको द्विधा आत्मोपनिक्षेपः परोपनिक्षेपश्च। तत्र लौकिक आत्मनिक्षेपो ये प्रगल्भास्ते आत्मनैवात्मानं राज्ञ

उपनिक्षिपन्ति तिष्ठन्ति च चरणोपपातकारकाः प्रपन्नशरणा ये पुनरप्रगल्भास्ते ये राज्ञो वल्लभास्तैरात्मानमुपनिक्षेपयन्ति । एष परोपनिक्षेपः । लोकोत्तरिका आत्मनिक्षेपो गच्छवर्त्तिनां साधूनां तथाहि ये गच्छे एव वर्तन्ते साधवस्ते आत्मानमात्मनैवा-भिनवाचार्यस्योप-निक्षिपन्ति । परनिक्षेपः फड्डुकगतानां ते हि समागताः स्पर्द्धकपतिना निक्षिप्यन्ते यथा एते अहं च युष्माकमिति । ''इह मिथियाइय अण्णे कइ उवसंपज्जणारिहे'' इत्याद्युक्तम् तत्र यद्यपिस गीतार्थस्तरुणः समर्थश्चेन्द्रियनोइन्द्रियाणां निग्रहं कर्तुं तथापि तेनान्यो गणो निश्रयितव्यो परप्रत्ययनिमित्तं तत्रापि निक्षेपः कर्त्तव्यः ।

अत्र लौकिको दृष्टान्तस्तमेवाह ।

जह कोइ वणिणतो उं, धूयं सेट्ठिस्स हत्थनिक्खिवओ ।
दिसि जत्ताए गत्तो, कालगतो सो य सेट्ठी उ ॥

एको वणिक् तस्य गृहे मारिरुत्थिता । सर्वं गृहमुपच्छादितमेका दुहिता तिष्ठति परः स श्रेष्ठी निर्धन इति तां दुहितरं न परिणापयितुं समर्थस्ततो दिग्यात्रां कर्तुमिच्छति जानाति वै तस्याः कन्यकायाः स्वभावं यथा समर्थात्मानमेषा संरक्षितुं केवलमेका कन्यका महती गृहे तिष्ठन्ती दुष्टशीला लोकेन संभाव्येतेति मित्रश्रेष्ठिनो हस्ते तां निक्षिप्य मुक्त्वा वाणिज्येन दिग्यात्रां गतः । तस्यापि च मित्रश्रेष्ठिनो गृहे मारिरभूत् । ततः सोऽपि सकुटुम्बो विनाशमुपागमत् तथा चाह स च श्रेष्ठी कालगतः केवलमेका कन्यका स्थिता सा च मूलश्रेष्ठिदुहितुः सखी सा च सखी अप्यात्मानं संरक्षितुं क्षमा केवलं यशःप्रत्ययनिमित्तं राज्ञः समीपमुपस्थिता तथा चाह ।

सेट्ठिस्स तस्य धूया, वणियसुयं घेत्तु रण्णो समुवगया ।
अह यं एस सही मे, पालेयव्वा उ तुज्झेहिं ॥

तस्य मूलभूतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता वणिक्सुतां मृतपितृवणिग्दुहितरं गृहीत्वा राज्ञः समुपगता समीपमुपगता पादेषु निपत्य विज्ञपयति यथा देव युष्माभिर्निजदुहितरो रक्ष्यन्ते तथा अहमेषे यं मे सखी युष्माभिःपालयितव्या आवयोरपि युष्मत्कन्यकात्वात् ।

इय होउ त्ति य भणियं, कण्णा अंतेउरम्मि तुट्ठेण ।
रण्णा परिकत्ता उ, भणिया वाहरिउ पालाउ ॥

इति एवं भवत्विति भणित्वा तुष्टेन राज्ञा ते द्वे अपि कन्यान्तः पुरे प्रक्षिप्ते भणिता च व्याहृत्य आकार्य (पालाओ) पालिका महत्तरिका किं भणित्तेत्यत आह ।

जह रक्खह मज्झ सुता, तहेव एया तो दोवि पालेह ।
ते एवि तेउ पाले, विण्णवियं विणीतकरणाए ॥

यथा रक्षथ मम सुताः कन्यकास्तथैव एते अपि द्वे मत्कन्यकाख्ये पालयथ एवमुक्ते तयापि महत्तरिकया विनीतकरणया विज्ञप्तं देव एते अतिपालयामि । एवमुक्त्वा ते कन्यान्तः पुरं नीते । तत्र च मूलश्रेष्ठिदुहिता महत्तरिकां विज्ञपयति ।

जह कण्णा एयातो, रक्खह एमेव रक्खह ममं पि ।
जह चेव ममं रक्खह, तह रक्खह मम सहिं पि ॥

यथा एताः कन्या यूयं रक्षथ एवमेव मामपि रक्षथ । यथा च मां रक्षथ तथेमां मम सखीमपि रक्षथ ।

इय होउ अब्भुवगए, अह वासिं तत्थ संवसंतीणं ।
कालगया महत्तरिया, जा कुणती रक्खणं तासिं ॥

इत्येवं भवत्विति अभ्युपगते तासां तत्र संवसन्तीनामथ कियत्कालातिक्रमेण या रक्षणं तासां करोति सा महत्तरिका कालगता ।

सविकारातो दट्ठुं, सेट्ठिसुया विण्णवेइ रायाणं ।
महत्तरियदाणनिग्गह, वणियागमए य विण्णवणं ॥

महत्तरिकाकालगमनानन्तरं ताः कन्यकाः सविकारा अभूवन् ततस्ताः सविकाराः दृष्ट्वा श्रेष्ठिसुता राजानं विज्ञपयति अन्यमहत्तरिकां प्रयच्छत दत्ता राज्ञा । तया च महत्तरिकया (निग्गहत्ति) कन्याः सविकारा उपलभ्य खरण्टिताः एवं तासां तिष्ठन्तीनां (वणियागमत्ति) स देशान्तरगतो वणिक् समागतः (विण्णवणमिति) राज्ञो विज्ञपनमकार्षीत् यथा देव ! नयामि निजपुत्रिकामिति ।

पूएऊण विसज्जण, सरिसकुलदाण दोण्ह वि भोगा ।
एमेव उत्तरम्मि वि, अवत्त राइंदिए उवमा ॥

ततः श्रेष्ठिकृतविज्ञप्तिकानन्तरं ते द्वे अपि पूजयित्वा राज्ञा विसृष्टे सदृशकुले दानं विवाहिते इत्यर्थः । ततस्तयोर्द्वयोरपि विपुला भोगा दत्ताः । एवमेव अनेनैव प्रकारेण उत्तरेऽपि लोकोत्तरेपि अव्यक्तस्य रात्रिंदिवैरुपमा । इयमत्र भावना । यदि तावल्लौकिका अपि यशः संरक्षणनिमित्तमात्मानमन्यत्रोपनिक्षिपन्ति ततः सुतरां लोकोत्तरिकैः साधुभिः संयमयशः संरक्षणनिमित्तमात्मा ऽन्यगणे निक्षेप्तव्यः । स चाव्यक्तो वयसा ततो यावद्भिरहोरात्रैर्वयसा व्यक्तो भवति तावन्तं कालं तत्रान्यगणनिश्रायां तिष्ठति कथं पुनरात्मानं गणं वोपनिक्षिपति । तत आह ।

एते अहं च तुब्भं, वत्तीभूतो सयं तु धारेइ ।
जसपव्वयाउराला, मोक्खसुहं चेव उत्तरिए ॥

एते मदीयाः साधवोऽहं च युष्माकमेवं चोपनिक्षिप्य तावत्तत्र तिष्ठति यावत् व्यक्तो जायते ततो व्यक्तीभूतः सन् तस्मान्निर्गत्य स्वयमेव गणं धारयति एवं च कुर्वतस्तस्य फलमिह लोके उदारा यशःप्रत्यया अवदातं यशोऽवदाताश्च लोके प्रत्ययाः संयमनैर्मल्यविषयाः । परलोके फलं मोक्षसुखमौत्तरिके लोकोत्तरिके उपनिक्षेपे । अथवा लौकिकस्य लोकोत्तरिकस्य च सापेक्षस्य पदस्थापनायोग्यविषयेयं परीक्षा ॥

सावेक्खं पुण पुव्वं, परिक्खए जह धणे उ सुण्हा उ ।
अणिययसहावयपरिहा–विय १मुत्ता २तचि३ वुड्ढा उ ४ ॥

सापेक्षं पुनः पूर्वं परीक्षते साधून् यथा धनश्रेष्ठी स्नुषा अनियतस्वभावाः परीक्षितवान् कथमिति चेदुच्यते ''रायगिहे नयरे धणो नाम सेट्ठी तस्स चत्तारि सुण्हा ता अन्नया चो चिंतेइ का मम सुण्हा घरं वुड्ढितेहित्ति ततो अन्नया तासि परिक्खणनिमित्तं सयणवग्गो णिमंतितो भोयणोत्तरं सयणसमक्खं सुण्हातो सद्दावेऊण पत्तेयं पत्तेयं पंच सालिकणा समप्पिया एएसु रक्खियं करेह यदा मग्गेहामि तथा दायव्वा ततो पढमाए वुड्ढो एस न लज्जितो सयणसमक्खं पंच कणे समप्पंतो न किंपि जाणइ जया मग्गिहिति तया अन्ने दायव्वा इति छड्डिया । वियायाए वुड्ढसेसति भुत्ता तइयाए, आभरणकरडियाए सुरक्खीकया चउत्थीए ता उ य खेत्तेसु आरोविऊण विद्धिं नीया जाया । वरिसपणगेण सयसहस्सा । पुणो वि सेट्ठिणा वरिसपणगानंतरं सयणवग्गं णिमंतेऊण भुत्तुत्तरं सयणसमक्खं ततो सहावियातो ते मे पंच सालिकणे समप्पेहा ततो पढमाए अण्णतो ठाणातो आणेऊण समप्पिया सेट्ठिया सव्वहसा–

विता भणिया ते चेव इमे पंच सालिकणा किं वा अन्ने। तीए कहियं ते मए तया चेव छड्डिया पुण अण्णे आणीया एवं विइयाए वि नवरं तीए भुत्ता कहिया। तइयाए ते चेव आणीया भणियं आभरणकरंडियाए मए सुरक्खीकया। चउत्थीए भणियं ताय सगडाणि समप्पिज्जंतु जेण ते पंच सालिकणा आणिज्जंते। ततो सेट्ठिणा विम्हिएण पुच्छियं तीए कहियं जहावत्तं जाव जाया मूलसहस्सा तउपरि तुट्ठेण सेट्ठिणा भणियं एतीए मज्झ पंच सालिकणा अतीव बुड्ढिं नेइत्तित्ति एसा मम घरस्स सामिणी। तइया भंडाररक्खिया जीए भुत्ता सा महाणसवावारे निजोइया पढमा घरबाहिकम्मे। तथा चाह। प्रथमया परिहापिता द्वितीयया भुक्तास्तृतीयया तावन्मात्राः धृताश्चतुर्थ्या (बुड्ढुत्ति) वर्द्धिताः। एष दृष्टान्तः संप्रति। दार्ष्टान्तिकयोजनामाह।

ओमेसिवमतरंते य,उज्झिउं आगतो न खलु जोग्गो।
कितिकम्मभारभिक्खा,दिएसु भुत्ता य भुत्तीए॥

एवमाचार्येणापि परीक्षानिमित्तं साधून्समर्प्य देशदर्शने शिष्या नियोक्तव्यास्तत्र योऽवमे दुर्भिक्षेऽशिवे वा साधून् त्यक्त्वा अथवा येऽतरन्तोऽसहायास्तान्वा त्यक्त्वा समागतः स खलु न योग्यः येनापि कृतकर्म्मसुपात्रलेपनादिव्यापारेषु भारे च पथ्युपकरण वाहनेन भिक्षादिषु चात्मभुक्त्या भुक्ता उपयोगं नीताः साधवो न च सम्यक्पालिताः सोऽपि न योग्यः।

न य छड्डिया न भुत्ता,नेव य परिहाविया न परिवुड्ढा।
ततिएणं ते चेव उ,समीवपच्चाणिया गुरुणो॥

तृतीयेन ये समर्प्पिताः साधवो गुरुणा ते न छड्डिता न दुर्भिक्षाशिवादिषु परित्यक्ता नापि भुक्ताः केवलमात्मोपयोगं नीताः। नापि पुरुषासिप्रदानादिना परिहापिताः परिहानिं नीताः नाप्यन्यान्यपरिव्राजनेन परिवर्द्धिताः किं तु तावन्त एव गुरुसमीपं प्रत्यानीताः। चतुर्थमाह।

उवसंपाविय पव्वा-विया य अण्णे य तेसि संगहिया।
एरिसए देइ गणं,कामं तइयं पि पूएमो॥

येन बहव उपसंपादिता उपसंपदं ग्राहिता बहवः परिव्राजिताश्च अन्येन च तेषामुपसंपादितानां परिव्राजितानां च संबन्धिनः संगृहीतास्तेऽपि उपसंपदं ग्राहयिष्यन्ते परिव्राजयिष्यन्ते चेत्यर्थः। ईदृशे चतुर्थे ददाति गणमाचार्य एकान्तयोग्यत्वात् न केवलमेतस्मिन् किंतु काममतिशयेन तृतीयमपि पूजयामश्चतुर्थालाभे तमपि योग्यं प्रशंसाम इत्यर्थः।

तत्रात्मपरो निक्षेपयोजनामाह।

तम्मि गणे अभिसित्ते,सेसगमिक्खूण अप्पनिक्खेवो।
जे पुण फड्डगवतिया,आयपरे तेसि निक्खेवो॥
एवं कालगते ठविए,सेसाणं आयनिक्खेवो।
फड्डगवतियाणं तु,आयपरो तेसि निक्खेवो॥

तस्मिन् चतुर्थे तदभावे तृतीये वा गणे पदे अभिषिक्ते शेषकाणां भिक्षूणां तद्गणान्तर्वर्तिनामात्मनिक्षेपो भवति। ये पुनः स्पर्द्धकपतयस्तेषामात्मनः परतश्च निक्षेपः स्पर्द्धकपतीनामात्मतस्तदाश्रितानां परतः स्पर्द्धकपतिद्वारेण तेषामुपनिक्षेपभावात्। एवमात्मपरोपनिक्षे-पिकालगते दृष्टव्यस्तथा चाह (एवं ति) एवं निरपेक्ष्य सहसाकालगते पूर्वप्रकारेणान्यस्मिन् स्थापिते शेषाणां गणान्तर्वर्तिनामात्मनिक्षेपो भवति स्पर्द्धकपतिकानां त्वात्मनिक्षेपः स्पर्द्धकपतीनामात्म-तस्तदाश्रितानां परतो निक्षेप इत्यर्थः।

उपसंपज्जणअरिहे,अविज्जमाणम्मि होइ नातव्वं।
गमणम्मि सुद्धासुद्धे,चउभंगो होति नायव्वो॥

उपसंपदनार्हे अविद्यमाने भवत्यन्यत्र गन्तव्यं तत्र च गमने शुद्धपदे संयोगतश्चतुर्भङ्गी भवतीति ज्ञातव्यम्। तद्यथा निर्गमने शुद्धो गमने च शुद्ध इति प्रथमः निर्गमने शुद्धो गमने अशुद्ध इति द्वितीयः। निर्गमने अशुद्धो गमने शुद्ध इति तृतीयः। निर्गमने अशुद्धो गमने चाशुद्ध इति चतुर्थः। गाथायां चउभंगो इति पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्। तत्र प्रथमभङ्गव्याख्यानार्थमाह।

असतीए वायगस्स,जं वा तत्थत्थि तम्मि गहियम्मि।
संघाडो एगो वा,दायव्वो असति एगागी॥

यः कालिकमुत्कालिकं दृष्टिवादं वा वाचयति स नास्ति ततस्तस्य वाचकस्यासत्यभावे अथवा यत्तत्रास्ति श्रुतं तत्सर्वं गृहीतं ततस्तस्मिन् गृहीतेऽन्यसूत्राद्यर्थमन्यत्र व्रजति तस्य च एकः संघाटो दातव्यः। असति संघाटकाभावे एकाकी व्रजेत्।

अह सव्वेसिं तेसिं,नत्थि उ उवसंपयारिहो अण्णो।
सव्वे घेत्तुं गमणं,जत्तियमेत्ता व इच्छंति॥

अथ तेषां गच्छवर्तिनां साधूनां सर्वेषामन्य उपसंपदर्हो नास्ति ततः सर्वान् गृहीत्वा गमने कर्तव्यम्। अथ सर्वे गन्तुं नेच्छन्ति तर्हि यावन्मात्रा इच्छन्ति तावन्मात्रैः सह गन्तव्यमेष निर्गमशुद्ध उच्यते।

एवं सुद्धे निग्गमे,वइयाइअपडिवज्जंतो।
संविग्गमणोण्णेहिं,तेहिं वि य दायव्वो संघाडो॥

एवं शुद्धे निर्गमे व्रजिकादिषु गोकुलादिष्वप्रतिबन्धमकुर्वन् गच्छेत्। तत्र यद्यपान्तराले संविग्रमनोज्ञाः सन्ति ततस्तैः सह मिलित्वा गन्तव्यं तैरपि च निर्गमनशुद्धत्वात् ज्ञानाद्युपसपन्निमित्ते च चलित-त्वादवश्यं संघाटो दातव्यः। अथ यदा एकं द्वौ वा दिवसौ संघाटो न भवति व्याकुलत्वात्तदा किंकर्त्तव्यमत आह।

एगं च दो व दिवसे,संघाडत्थं स पडिच्छिज्जा।
असती एगागी उ,जयणा उवही न उवहम्मे॥

एकं द्वौ वा दिवसौ स संघाटार्थं प्रतीक्षेत असत्यभावे संघाटस्य एकाकी व्रजेत् तत्र च यतना कर्त्तव्या सा च प्राक्कल्पाध्ययनेऽभिहिता तत उपधिनोपहन्यते यतनया प्रवृत्तत्वात्। उपसंहारमाह।

एसो पढमो भंगो,एवं सेसा कमेण जोएज्जा।
आसतुज्ज य गणं,गच्छे दारा य तत्थ इमे॥

एषोऽनन्तरोदितः प्रथमो भङ्ग एवमुपदर्शितेन प्रकारेण शेषा अपि भङ्गकाः क्रमेण योक्तव्यास्तद्यथा निर्गमशुद्धः प्राग्वत् गमनाशुद्धो व्रजिकादिषु प्रतिबन्धकारणान् निर्गमनाशुद्धो दोषाकीर्णतया निर्गमनात् निर्गमनशुद्धो व्रजिकादिष्वप्रतिबन्धान्निर्गमनाशुद्धो गमनाशुद्धश्च प्राग्वत्। अथ प्रथमभङ्गवर्ती प्रशस्यः कारणतो द्वितीयभङ्गवर्त्ययपि एवं च गच्छता तेन ये आसन्ना उद्यता उद्यतविहारिणस्तेषां स्थानं गच्छेत्तत्र च गतस्य परीक्षादिनिमित्तमिमानि द्वाराणि भवन्ति तान्येवाह।

उपसंपदर्हस्य गच्छस्य हानिवृद्धिपरीक्षणं तत्र कल्प्याकल्प्यविधिः॥

पारिक्खहाणि असती,आगमणं निग्गमो असंविग्गे।
निवियणजयणनिसट्ठं,दीहखद्धं पडिच्छंति॥

परीक्षा (हाणीति) हानिवृद्धिविषया कर्तव्या यत्र ज्ञानादीनां हानिस्तत्र न वास्तव्यमन्यत्रवास्तव्यमिति भावः (असतित्ति) यस्य समीपं गच्छोपसंपन्नस्तस्मिन्सापेक्षे निरपेक्षे वा कालगतत्वेनासति योऽन्यः स्थापितस्तस्य सकाशे स्थातव्यं तस्मिन्नपि सीदति यावत्कुलादिस्थविराणामागमनं तावत्प्रतीक्षणीयं तैरपि प्रतिचोदने कृते सीदति निर्गमो विधेयः। गच्छता च संविग्नाभावे बहिर्वास्तव्यमसंविग्ने निवेदना कर्त्तव्याः। बहिर्वसत्यभावे तेष्वप्यसंविग्नेषु नवरं यतना विधेया। तथा संविग्नेषु वा संवसनं निसृष्टमनुज्ञातमेकरात्रमुत्कर्षतस्त्रीणि दिनानि वर्षादिकारणतः पुनर्यतनया (दीहखद्धमपि) प्रचुरमपि दीर्घकालं प्रतीक्षते। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः। सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः पारिच्छहाणित्ति द्वारमाह -

पासत्थादिविरहितो, काहियमाईहिवावि दोसेहिं।
संविग्गमपरितंतो, साहम्मि य वच्छलोऽज्जा उ॥

अपान्तराले पार्श्वस्थादिविरहितः पार्श्वस्थादिसंसर्गविप्रमुक्तः काथिकादिभिर्वा भावप्रधानोऽयं निर्देशः काथिकत्वादिभिर्वा दोषैर्विमुक्तस्तथाऽसंविग्नोऽपरिश्रान्तः सामाचार्यामिति गम्यते। तथा यः साधर्म्मिकवत्सलः प्रवचनलिङ्गसाधर्म्मिकवात्सल्यपरायणः सः।

अब्भुज्जएसु ठाणं, परिच्छिउं हीयमाणए मोत्तुं।
केसु पदेसुं हाणी, वड्ढी वा तं निसामेहि॥

अभ्युद्यतानामुद्यतविहारिणां स्थानं परीक्ष्य गाथायां सप्तमी षष्ठ्यर्थे हीयमानकान्मुक्त्वा तिष्ठेत्। अथ केषु पदेषु हानिर्वृद्धिर्वा सूरिराह। तदेतत्कथ्यमानं निशामय। तदेवाह।

तवनियमसंजमाणं, जहियं हाणी न कप्पते तत्थ।
तिगवुड्ढी तिगसोही, पंचविसुद्धी सुसिक्खा य॥

यत्र तपोनियमसंयमानां हानिस्तत्र न कल्पते वस्तुं यत्र पुनस्त्रिकवृद्धिर्ज्ञानदर्शनचारित्रवृद्धिर्यत्र च त्रिकस्याहारोपधिशय्यारूपस्य शोधिर्यत्र च पञ्चानां पार्श्वस्थादिस्थानानां विशुद्धिस्तेष्वप्रवर्त्ततं यत्र च सुशिक्षा ग्रहणे आसेवना च तत्रवास्तव्यम्।

सांप्रतमेनामेव गाथां विवृणोति॥

वारसविहे तवे उ, इंदिय नोइंदिए य नियमे उ।
संजमसत्तरसविहो, हाणी जहि य तहिं न वसे॥

यत्र द्वादशविधे तपसि इन्द्रियविषये च नियमे संयमे सप्तदशविधे हानिस्तत्र न वसेत्।

तवनियमसंजमाणं, एएसिं चेव तिण्ह तिगवुड्ढी।
नाणादीण व तिण्हं, तिगसुद्धी उग्गमादीणं॥

एतेषामेव त्रयाणां तपोनियमसंयमानां वृद्धिस्त्रिकवृद्धिः। अथवा ज्ञानादीनां त्रयाणां वृद्धिस्त्रिकवृद्धिः। त्रयाणामुद्गमादीनामुपलक्षणमेतदाहारादीनां वा त्रयाणां शुद्धिस्त्रिकशुद्धिः।

पासत्थे ओसण्णे, कुसीलसंसत्त तह अहाछंदे।
एएहि जो विरहितो, पंचविसुद्धो हवइ सो उ॥

पार्श्वस्थोऽवसन्नः कुशीलः संसक्तो यथाच्छन्द एते पञ्चापि प्राक्सप्रपञ्चं प्ररूपिता एतैःस्थानैर्यो विरहितः स पञ्चविशुद्धो भवति। पञ्चविशुद्धावेव प्रकारान्तरमाह॥

पंच य महव्वयाइं, अहवा वि नाणदंसणचरित्तं।
तव विणओ वि य पंच उ, पंचविहुवसंपया वावि॥

वाशब्दः प्रकारान्तरोपदप्रदर्शने पञ्च महाव्रतानि अथवा ज्ञानं दर्शनं चारित्रं तपो विनय इति पञ्च। यदि वा पञ्चविधा ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवैयावृत्यभेदतः पञ्चप्रकारा उपसंपत् पञ्च तैः पञ्चभिर्विशुद्धः पञ्चविशुद्धः॥ सुशिक्षामाह।

सोभणसिक्ख सुसिक्खा, सा पुण आसेवणे य गहणे य।
दुविहाए वि न हाणी, जत्थ उ कहियं निवासेउं॥

शोभना शिक्षा सुशिक्षा सा द्विविधा तद्यथा आसेवने ग्रहणे च। आसेवने प्रत्युपेक्षणादेः सामाचार्या ग्रहणमागमस्य। एतस्यां द्विविधायामपि यत्र न हानिस्तत्र वासः कल्पते कर्तुम्।

एएसुं ठाणेसुं, सीयंते चोदंति आयरिया।
हावेंति उदासीणा, न तं पसंसंति आयरिया॥

एतेषु स्थानेषु तपःप्रभृतिषु स्वयमाचार्या हीयमाना न दृश्यन्ते शिष्यास्तु केचित्सीदन्ति तात् सीदतो यत्राचार्याश्चोदयन्ति तं गच्छं निवासयोग्यतया आचार्याः प्रशंसन्ति। यत्र पुनराचार्या उदासीना मध्यस्थाः सामाचारीं हापयन्त उपेक्षन्ते न तं प्रशंसन्त्याचार्य्याः नासौ गच्छ उपसंपादनीय इत्यर्थः।

किं कारणमत आह॥

आयरियउवज्झाया, नाणुण्णाया जिणेहिं सिप्पट्ठा।
णाणे चरणे जोगा-वहा उ ते अणुण्णाया॥

आचार्या उपाध्यायाश्च जिनैस्तीर्थकृद्भिर्न शिल्पार्थाः शिल्पशिक्षणनिमित्तमनुज्ञाताः। कैः कारणैः पुनरनुज्ञातास्तत आह। ज्ञाने चरणे च ये योगास्तेषामवहाः प्रापका यतो भविष्यन्ति ततस्ते अनुज्ञाता ज्ञानचरणस्फातिनिमित्तमनुज्ञाता इत्यर्थः। अपि चेदृशा आचार्योपाध्याया अनुज्ञाताः।

नाणचरणे निउत्ता, जा पुव्वपरूविया चरणसेढी।
सुहसीलठाणविजढे, निच्चं सिक्खणाकुसला॥

ज्ञाने एकग्रहणात् तज्जातीयस्य ग्रहणमिति न्यायाद्दर्शने चारित्रे च नियुक्ताः सततोद्यतास्तथा सुखशीलाः पार्श्वस्थादयः तेषां स्थानं यत्ते सेवन्ते तद्विजढे तद्रहिते या पूर्वं कल्पाध्ययने कृतिकर्म्मसूत्रे चरणश्रेणिः प्ररूपिता तस्यां स्थितास्तथा नित्यं सदा शिक्षापनायां ग्रहणशिक्षायामासेवनाशिक्षायां च ग्राहयितव्यायां कुशलाः समर्थाः ईदृशां समीपमुपगम्योपसंत्तव्यम्। गत परिच्छिहाणित्ति द्वारम्। इदानीमसतित्ति द्वारमाह।

जेण वि पडिच्छितो सो, कालगतो सो वि होइ आहच्च।
सो वि य सावेक्खो वा, निरवेक्खो वा गुरूआसि॥

येनापि स प्रतीच्छितो यस्य समीपे स शिष्यपरिवार उपसंपन्न इत्यर्थः सोऽपि (आहच्च) कदाचित्कालगतो भवेत् सोऽपि च गुरुः कालगतः सापेक्षो वा आसीन्निरपेक्षो वा। तत्र यः सापेक्षः सोऽमुं विधिं करोति।

सावेक्खो सीसगणं, संगहकारेइ आणुपुव्वीए।
पाडिच्छागयवेत्ति, एस वियाणे अह महल्लो॥

सापेक्षः शिष्यगणं स्वदीक्षितशिष्यसमूहमभिनवस्थापितस्य संग्रहमानुपूर्व्यानुपूर्वीकथनेन कारयति। यथा पूर्वं सुधर्म्मस्वामी गणधर आसीत्। ततस्तच्छिष्यो जम्बूस्वामी तस्यापि शिष्यः प्रभव एवं तावद्यावत्संप्रति वयमहमपि च संप्रति महान् वृद्धीभूतस्ततोऽसौ योऽमुको गणधरः स्थापितो वर्तते तस्याज्ञां कुर्या वैनयिकादिकं च। तथा ज्ञानदर्शनादिप्रतीच्छादिनिमित्त-

मागताः प्रतीच्छागतास्तानपि ब्रूते एष मम स्थाने विज्ञायेत ममेवैत--स्य संप्रति वैनयिकादिकं कर्त्तव्यमित्यर्थः। अत्रैवाऽर्थे दृष्टान्तमाह।

जह राया व कुमारं,रज्जे ठावेउमिच्छए जं तु।
भडजोहे वेतितिगं,सेवह तुब्भे कुमारं ति॥
अह यं अतीमहल्लो,तेसिं वित्ती उ तेण दावेइ।
सो पुण परिच्छिऊणं,इमेण विहिणा उ ठावेइ॥

यथा राजा यं कुमारं राज्ये स्थापयितुमिच्छति तं प्रति भटान् योधांश्च ब्रूते सांप्रतमयं महान् ततो यूयं सेवध्वममुकं कुमारमिति एवं तानुक्त्वा तेषां वृत्तीस्तेन कुमारेण दापयति येन ते तदनुरक्ता जायन्ते स पुनः कुमारोऽनेन वक्ष्यमाणेन विधिना परीक्ष्य राज्ये स्थाप्यते। तमेव विधिमाह।

परमन्न भुंजसुणगा,छड्डणदंडेण वारणं वितिए।
भुंजइ देइ व तइओ,तस्स उ दाणं न इयरेसिं॥

राजा बहूनां कुमाराणां मध्ये कतरं कुमारं युवराजं स्थापयामीति विचिन्तयन् परीक्षानिमित्तं तान् सर्वान् कुमारान् शब्दापयित्वा तेषां पृथक् पृथक् स्थाले परमान्नं पायसं परिवेषयति परिवेष्य शृङ्खलाबद्धान् शुनकान् व्याघ्रकल्पान् कुमारान् प्रति मोचयति ते च शुनका वेगेन कुमारसमीपमागतास्तत्रैको राजपुत्रः शुनकभयेन पायसं परित्यज्य पलापितः द्वितीयो राजपुत्रो दण्डेन तेषां शुनकानां वारणं करोति भुङ्क्ते च न च किमपि तेभ्यो ददाति तृतीयः पुनः स्वयं भुङ्क्ते शुनकेभ्योऽपि च स्वस्थालात् परस्थालाच्च ददाति तस्य तृतीयस्य राजपुत्रस्य राज्यदानं नेतरयोर्द्वयोः। किं कारणमिति चेदत आह।

परबलपेल्लिओ नासति,वितिओ दाणं न देइ उ भडाणं।
न वि जुज्झंते ते उ,एए दोवी अणरिहाओ॥

प्रथमो यदा परबलमागच्छति तदा तेन परबलेन प्रेरितः सन् राज्यमपहाय नश्यति। द्वितीयो न भटानां सुभटानां किमपि ददाति न च ते भटा दानमृते परबले समागते युध्यन्ते ततः समर्थस्यापि परबलेन प्रेरणमत एतौ द्वावपि राज्यस्यानर्हौ॥

तइओ रक्खइ कोसं,देइ य भिच्चाण ते य जुज्झंति।
पालेयव्वे अरिहा,रज्जंतो तस्स तं दिण्णं॥

तृतीयः पुनः कुमारः कोशं भाण्डागारं रक्षति भृत्यानां सुभटानां ददाति ततस्ते भृत्याः परबले समागते युध्यन्ते ततः पराभग्नं परबलमपगच्छति तदपगतौ च स्वराज्यसौख्यमतः स पालयितव्ये राज्ये अर्ह इति तद्राज्यं राज्ञा तस्य दत्तं यथा भो लोका एष युवराजो युष्माभिरेव आसेवनीयः॥

अभिसित्तो सट्ठाणं,अणुजाणे भडादिअहियदाणं च।
वीसुम्मि अ आयरिय,गच्छे वि तयाणुरूवं तु॥

एवं तस्मिन् युवराजे स्थापिते यदा राजा कालगतो भवति तदा ते भटप्रभृतयस्तं युवराजं,राजानमभिषिञ्चन्ति अभिषिक्ते सति तस्मिन्सेवका उपस्थाप्य स्वं स्वमायोगस्थानं निवेदयन्ति ततः सोऽभिषिक्तो नवकोराजा यत् यस्य पूर्वमायोगस्थानं तत्तस्मै अनुजानाति अधिकं च तेषां भटादीनां दानं द्विपदादिदानं ददाति। एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः। विष्वग्भूते शरीरे पृथग्भूते मृत इत्यर्थः। आचार्ये गच्छेऽपि तदनुरूपंतृतीयराज्यार्हकुमारानुरूपमाचार्यं स्थापयन्ति। इयमत्र भावना। आचार्येण द्रव्यापदादिषु शिष्याः परीक्षणीयाः। तत्र योऽशक्तिको भीरुः स राजप्रद्वेषादिषु समुत्पन्नेषु गणमपहाय नश्यतीति प्रथमकुमार इव गुरूपदस्यानर्हः। यः पुनरदाता सोऽदायकत्वेन संग्रहोपग्रहौ न करिष्यतीत्ययोग्यः। यस्त्वभीरुतया शुनकस्थानीयान्वनीपकान्वारयति दायकत्वेन च संग्रहोपग्रहौ करोति स योग्य इति गणधरपदे स्थापयितव्यः। तस्मिंश्च स्थापिते कालेन विष्वग्भूते आचार्ये साधवः कृतप्राञ्जलयस्तमुपतिष्ठन्ते उपस्थाप्य च यो यस्य पूर्वं नियोग आसीत् स तं तस्मै नवकाचार्याय कथयति। एतदेवाह।

दुविहेणं संगहेणं,दव्वं संगिण्हए महाभागो।
तो विण्णवेंति ते वि,तं चेव य ठाणयं अम्हं॥

सोऽभिनवस्थापितो महाभागो गच्छं द्विविधेन संग्रहेण द्रव्यसंग्रहेण भावसंग्रहेण च तत्र द्रव्यसंग्रहेण वस्त्रपात्रादिना भावसंग्रहेण ज्ञानादिना संगृह्णाति एवं संगृह्णति तस्मिन् ततस्तेऽपि साधवः कृतप्राञ्जलयस्तं विज्ञापयन्ति यथा तदेव स्वं स्वं स्थानमस्माकं प्रयच्छन्त्विति। अथ किं किं तेषां स्थानमिति ततस्थाननिरूपणार्थमाह।

उवगरणवालवुड्ढा,खमगगिलाणे य धम्मकहिवादि।
गुरूचिंतवायणा पे--सणेसु कितिकम्मकरणा य॥

एको ब्रूते अहम् (उपकरणत्ति) उपकरणोत्पादक आसम् अन्योऽहं बालवृद्धानां वैयावृत्यकरोऽपरः क्षपकवैयावृत्यकरोऽन्यो ग्लाने इति ग्लानवैयावृत्यकरः। अपरो धर्म्मकथा धर्म्मकथा-व्यापारनियुक्तः अन्यो वादी परवादिमथने नियुक्तः (गुरुचिंतत्ति) अपरो ब्रूते अहं गुरोर्यत्कर्त्तव्यं तत्र नियुक्तः(वायणत्ति) अपरोऽहं वाचनाचार्यत्वे नियुक्तः। अन्योऽहं प्रेषणेनियुक्तः अपूरो ब्रूते अहं कृतिकर्म्मकरणे विश्रामणे।

एएसुं ठाणेसुं,जो आसि समुज्जओ अठविओ वि।
ठविओ वि य न विसीयइ,स ठाविउमलं खलु परेसिं॥

एतेषु खलु उपकरणादिषु कृतकर्म्मपर्यवसानेषु स्थानेषु यः पूर्वमस्थापितोऽपि गणधरपदे समुद्यत आसीत् स गणधरपदे स्थापितोऽप्येतेषु स्थानेषु न विषीदति कृतकरणत्वात्स इत्थंभूत एतेषु स्थानेषु परान् गाथायां षष्ठी द्वितीयार्थे प्राकृतत्वात् यथा 'माषाणाम-श्नीयादित्यत्र' स्थापयितुमलम्।

एवं ठितो ठवेइ,अप्पाण परस्स गो वि सो गावो।
अठितो न ठवेइ परं,न य तं ठवियं चिरं होइ॥

एवं पूर्वं गणधरपदे अस्थापित एतेषूपकरणादिस्थानेषु स्थितःसन् आत्मनः परस्य चैतेषु स्थापयति गोवृष इव गाः स्वस्थाने यः पुनः पूर्वमेतेषु स्थानेषु स्थितः स परमुपलक्षणमेतदात्मानं च न स्थापयति स्वयं तत्राव्याप्तत्वात् न च तत्स्थापितं चिरं भवति। कस्मादिति चेदुच्यते। स यदाऽन्यान् उपकरणादिष्वनुद्यच्छतः शिक्षयति यथा सति बले किं यूयं स्वशक्त्या नोद्यच्छथानुद्यच्छन्तो हि वैयावृत्यफलात् भ्रंशथ। तदा ते चिन्तयेयुः यदि वैयावृत्त्यफलमभविष्यत् ततस्त्वमप्येतेषु स्थानेषूदयंस्यथा इति अथवा वैयावृत्त्यफलं श्रद्दधानोऽपि षण्जूडत्वेनैवं मन्येरन् एवं जानन्तो यूयं किं पूर्वं नावर्त्तिध्वमिति। संप्रति गोवृष इव गा इति दृष्टान्तं भावयति।

पउरतणपाणियाइं,रहियाइं खुद्दजंतूहिं।
नेइ वि सो गोणीउ,जाणइ य उवट्ठकालं॥

वृषो वलीवर्दो गोधनानि प्रचुरतृणपानीयानि तथा क्षुद्रजन्तुभिः क्षुद्रप्राणिभी रहितानि नयति जानाति च। उपस्थानकालमभ्यागमवेलां ज्ञात्वा च स्वस्थानमानयति एवमभिनवस्थापित आचार्यो गच्छं स्वस्वव्यापारे नियोजयन्परिपालयति।

अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह।

जह गयकुलसंभूतो, गिरिकंदरविसमवडयदुग्गेसु।
परिवहति अपरितंतो, नियसरीरुग्गवेदंते॥

यथा गजकुलसंभूतोऽनेन जात्यतामाह गिरिकन्दरेषु गिरिगुहासु विषमकटकेषु विषमेषुगिरिपादेषु दुर्गेषु वा अपरित्रान्तोऽश्रान्तः सन्निजशरीरोद्वतान् दन्तान्परिवहति॥

इयपवयणभत्तिगतो, साहम्मि य वच्छलो असढभावो।
परिवहइ साहुवग्गं, खेत्तविसमकालदुग्गेसु॥

इति अनेन गजदृष्टान्तप्रकारेण प्रवचनभक्तिगतो गच्छवाहकत्वं प्रवचनभक्तिं मन्यमानः साधर्म्मिकवत्सलो लिङ्गप्रवचनाभ्यां ये साधर्म्मिकास्तद्वात्सल्यपरायणोऽशठभावोऽमायावी विषमेषु क्षेत्रेषु विषमेषु च कालेषु दुर्भिक्षमार्याद्युपद्रवव्रातसंकुलेषु दुर्गेषु च साधुवर्गं परिवहति तस्य समीपे स्थातव्यम्। गतमसतीति द्वारम्।

इदानीमागमनद्वारमाह-

जत्थ पविट्ठो जइ तेसु, उज्जया होउ पच्छहा वेंति।
सीसा आयरितो वा, परिहाणी तत्थिमा होइ॥

यत्र गच्छे सशिष्यपरिवारः प्रविष्टः सन् सूत्रार्थानामागमनं करोति तत्र यदि ते साधवः पूर्वं सुष्ठु उद्यता भूत्वा पश्चात्सामाचारीं हापयन्ति आचार्यो वा पश्चात्परिहापयति। तत्र हानिरियं वक्ष्यमाणा भवति ज्ञातव्या। तामेवाह॥

पडिलेहदियतुयट्टण–निक्खिवआयाणविनयसज्झाए।
आलोयठवणमंडलि–भासागिहमत्तसेज्जतरे॥

(पडिलेहित्ति) उपकरणं न प्रत्युपेक्षन्ते। तथा अग्लाना मार्गपरिश्रमरहिताश्च दिवा त्वग्वर्तनं कुर्वन्ति शेरते इत्यर्थः (निक्खिवत्ति) दण्डादिकं निक्षिपन्तः प्रत्युपेक्षन्ते न परिमार्जयन्ति दोषैर्वा दुष्टं प्रत्युपेक्षणं परिमार्जनं वा कुरुते (आयाणत्ति) दण्डादिकमाददाना न प्रत्युपेक्षन्त न प्रमार्जयन्ति दुष्प्रत्युपेक्षण दुष्प्रमार्जनं वा कुर्वन्ति। विनयं कृतकर्म्मलक्षणं वाचनादिषु न कुर्वन्ति (सज्झाएत्ति) स्वाध्यायो वा न क्रियते। मण्डलीं सामाचारीं वा न कुर्वन्ति (आलोयत्ति) संखडीं शरीरं वा प्रलोकन्ते यदि वा आलोचना न क्रियते। अनालोचितं भुञ्जते इत्यर्थः (ठवणत्ति) स्थापना कुलानि विशन्ति स्थापितं वा गृह्णन्ति (मंडलित्ति) भोजनमण्डलीं सामाचारीं हापयन्ति (भासत्ति) भाषायामसमिता भाषन्ते एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात्। शेषास्वपि समितिष्वसामिता (गिहिमत्तत्ति) गृहिमात्रकेषु पर्यलकादिष्वानीतं गृह्णन्ति (सेज्जयरेत्ति) शय्यातरपिण्डं भुञ्जते॥

एमायी सीयंते, वसभा चोयंति चिट्ठति ठियम्मि।
असती थेरा गमणं, अच्छति ताहे पडिच्छंतो॥

एवमादिष्वादिशब्दादुद्गमादिपरिग्रहः। सीदतः साधून् गुरुं वा वृषभाश्चोदयन्ति शिक्षयन्ति। तत्र यदि चोदितः साधुवर्गो गुरुर्वा तिष्ठति ततस्तस्मिन् स्थिते सोऽपि सशिष्यपरिवार आगन्तुकस्तिष्ठति (असतीइत्यादि) असन् शिक्षायाः पुनः प्रत्या–

वर्तनस्य वा अभावो यदि ततो यावत्पाक्षिके चातुर्मासिके संवत्सरे वा कुलस्थविराणां वा गमनं भवति तावत्तत्प्रतीक्षमाण आस्ते तेषु च कुलादिस्थविरेषु समागतेषु निवेदयति तथाप्यतिष्ठत्सु ततो निर्गमनमेतदेव व्याचिख्यासुः प्रथमतो वृषभचोदनं सप्रायश्चित्तमाह।

गुरुवसभगीयगीते, अचोदेंति गुरुगमादि जा लहुओ।
सारेइ सारवेई, खरमउएहिं जहावत्थं॥

वृषभः प्रपिपन्नगच्छभारः स्वयं सारयति शिक्षयति अथवा यो येनोपशाम्यति तं तेन सारापयति शिक्षापयति। कथमित्याह। आचार्योपाध्यायवृषभस्थविरभिक्षुकाणां मध्ये यथावस्तु वस्त्वनतिक्रमेण खरमृदुभिर्वचनैः सारयति सारापयति वा। किमुक्तं भवति यः खरेण साध्यस्तं खरेण खरण्टयति मृदुसाध्यं मृदुभिर्वचनैः सारयति अन्यथा प्रायश्चित्तं तदेव पूर्वार्द्धेन निदर्शयति (गुरु इत्या–दि) वृषभो गुरुमाचार्यमुपाध्यायं वा न प्रतिचोदयति तदा चतुर्गुरुकं वृषभो वृषभं न प्रतिचोदयति चतुर्लघु। वृषभो गीतार्थं न प्रतिचोदयति मासलघु। अक्षरयोजना त्वेवं गुरुवृषभगीतागीतान् चोदयन्ति। गुर्वादिचतुर्गुरुप्रभृतियावदन्ते लघुको मासः। अत्र पुनःसीदत्सु चत्वारो भङ्गास्तानेवाह॥

गच्छो गणी न सीयइ, विई न गणीउ तइए न वि गच्छो।
जत्थ गणी अवि सीयइ, सो पावतरो न उण गच्छो॥

गच्छः सीदति गणी चेति प्रथमः। गच्छः सीदति न गणीति द्वितीयः। न गच्छःसीदति किं तु गणीति तृतीयः। न गच्छो नापि गणीति चतुर्थः। तथा चाह द्वितीये भङ्गे गणी न सीदति तृतीये न गच्छः चतुर्थं सीदनमधिकृत्य शून्य इति नोपात्तः। तत्राद्येषु त्रिषु भङ्गेषु मध्ये यत्र प्रथमे तृतीये वा गणी स पापतरो यत्र पुनर्गच्छः सीदति न गणी नासौ द्वितीयः पापतरः। किं कारणतिति चेदत आह।

आयरिए जयमाणे, चोएउं जे सुहं हवइ गच्छो।
तम्मि उ विसीयमाणे, चोयणमयरे कहं गेण्हे॥

आचार्ये यतमाने गच्छः सुखेन चोदयितुं शक्यमानो भवेत् आचार्यस्य प्रतिभयाभावादतः प्रथमतृतीयौ भङ्गौ एतस्मिन्नाचार्यं पुनर्विषीदति चोदनां शिक्षामितरे साधवः कथं गृह्णीयुर्न च गृह्णीयु–रिति भावः। आचार्यप्रतिभयाभावादतः प्रथमतृतीयौ भङ्गौ पापतरौ न द्वितीय इति।

आसण्णठिएसु उज्जुएसु, जहति सहसा न तं गच्छं।
मा दूसेज्ज अदुट्ठे, दूरतरे चापणो सेज्जा॥

यद्यपि नाम आसन्ने प्रदेशे उद्यतविहारिणः स्थिता विद्यन्ते तथापि तेष्वासन्नस्थितेषूद्यतेषु सहसा न तं गच्छं जहाति परित्यजति किं कारणमिति चेदत आह तन्मा अदुष्टान् दूषयेत् गच्छम्। किमुक्तं भवति। ये न विषीदन्ति तेऽपि सीदत्साधुसंसर्गतो मा विषीदेयुरिति येऽपि सीदन्ति तेऽतिदूरतरं निर्गततरं प्रणश्येयुर्विषीदेयुः। तदेवं वृषभचोदनं भाषितम्।

इदानीं स्थविरागमनं भावयति।

कुलथेरादी आगम–चोयणया जेसु विप्पमायंति।
चोदयति तेसु ठाणं, अठिएसु उ निग्गमो भणितो॥

वृषभशिक्षायाः प्रत्यावर्त्तनस्य वा अभावे पाक्षिके चातुर्मासिके सांवत्सरिके वा यावत् कुलस्थविराणां गणस्थविराणां संघस्थविराणं वा आगमस्तावत्प्रतीक्षते कुलस्थविरादीनां चागमे

तेषां निवेदना क्रियते ततस्ते स्थविरा येषु स्थानेषु ये विप्रमाद्यन्ति तेषु स्थानेषु वा न प्रतिचोदिताः। यदि स्थितेषु सत्सु स शिष्यपरिवारस्तत्रैव स्थानं करोति स्थितेन च तेन द्विविधाऽपि शिक्षा शिक्षणीया। अथ ते चोदिताः सन्तो न स्थितास्ततस्तेष्वस्थितेषु ततो गच्छति गच्छन्निर्गमो भणितस्तीर्थकरगणधरैः गतमागमनद्वारम्। पतितं निर्गमद्वारमतस्तदेव भावयति।

कप्पसमत्ते विहरइ, असमत्ते जत्थ हुंति आसन्ना।
साहम्मि तहिं गच्छे, असतीए ताहि दूरं पि॥

यदि आचारप्रकल्पः सूत्रतोऽर्थतश्च समाप्तो भवति ततस्तस्मिन् कल्पे आचारप्रकल्पे समाप्ते स्वयं यथाविहारक्रमं विहरति। अथ नाद्यापि समाप्त आचारप्रकल्पस्तहिं तस्मिन्नसमाप्ते यस्यां दिशि आसन्ना अनन्तरक्षेत्रवर्त्तिनः साधर्म्मिकाः संविग्नसांभोगिकास्तत्र गच्छेत्। अथासन्ना न विद्यन्ते; तत आसन्नानामसत्यभावे दूरमपि गच्छेत्। कथं गच्छेदत आह।

वइयादीए दोसे अ-संविग्गे यावि सो परिहरंतो।
केउ असंविग्गा खलु, नइया दीया मुणेयव्वा॥

व्रजिकादीन् दोषान् व्रजिका गोकुलम् आदिशब्दात् स्वमाता-पितृपूर्वपरिचितपश्चात्परिचितकुलपरिग्रहस्तान् दोषान् इह व्रजि-कादयः प्रतिबन्धदोषहेतुत्वाद्दोषा इत्युक्तास्तथा संविग्नांश्चापि स परिहरन् गच्छेत्। अथ के खल्वसंविग्नाः सूरिराह। नित्यादेया नित्य-वास्यादयस्ते ज्ञातव्याः। तेषामपि हरणे प्रवेशादौ प्रायश्चित्तविधिमाह।

निइयादीए अहच्छंदं, वज्जिए पविसदाणगहणे य।
लहुगा भुंजणगुरुगा, संघाडे मासो जम णं॥

इह मार्गे गच्छता अपान्तराले संविग्नसुमनोज्ञानां वसतौ वस्तव्यं तदभावे नैत्यिकादीनां संविग्ने व अमनोज्ञानां निवेद्यान्यस्यां वसतौ स्थातव्यं यदि पुनर्नैत्यिको नित्यवासी आदिशब्दात्पार्श्वस्थादिपरिग्रहस्तस्मिन् नैत्यिकादिके यथाच्छन्दवर्जिते प्रविशति यदि वा तेभ्यः किमपि भक्तादिकं ददाति अथवा तेभ्यो गृह्णति तदा प्रवेशे ग्रहणे दाने च प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः। (भुजणगुरुका इति) अथ तैः सह भुङ्क्ते तदा भोजने चत्वारो गुरुकाः। अथ नैत्यिकादिसंघाटं याचित्वा तेन सह हिण्डते ततः संघाटेन हिण्डने लघुको मासः (जंमणमिति) यच्च तेन संघाटकेन हिण्डमानोऽकल्पिकग्रहणतस्तदास्वादते न लाम्पट्यतः सेविष्यते तदपि च प्रायश्चित्तं प्राप्नोति। तदेवं यथाच्छन्दवर्जितो नैत्यिकादौ प्रवेशादिषु प्रायश्चित्तमुक्तमधुना यथाच्छन्दे तदाह

एए चेव य गुरुगा, पच्छित्ता होंति उ अहाच्छंदे।
अणुमण्णेसुं मासो, भुंजणे होति चउगुरुगा॥

एतान्येव प्रायश्चित्तानि यथाच्छन्दे गुरुकानि भवन्ति। तद्यथा प्रवेशे दाने ग्रहणे भोजने चत्वारो गुरुकाः। संघाटे गुरुको मासः अथामनोज्ञेषु संविग्नेषु प्रविशति तदा प्रवेशे दाने ग्रहणे भोजने चत्वारो गुरुकाः। संघाटे गुरुको मासः। अथामनोज्ञेषु संविग्नेषु प्रविशति तदा प्रवेशे दाने ग्रहणं च प्रत्येकं लघुको मासः। अतैः सह भुङ्क्ते तदा चत्वारो गुरुकाः संघाटे लघुको मासः। यत एवमसंविग्नेषु प्रायश्चित्तानि तस्मादेतान्परिहरेत्। अथ मार्गे संविग्ना न सन्ति ततः कारणवशतोऽसंविग्नेष्वपि गन्तव्यं पतितमिदानीमसंविग्नद्वारं तेषु च गत्वा यत्कर्तव्यं तदाह।

संविग्गगंतरिया, पडिच्छसंघाडए असति एगो।
साहम्मिएसु जयणा, तिण्णि दिणपडिच्छसज्झाए॥

(संविग्गंति) संविग्नगुणेनैकेनान्तरिता व्यवहिताः संविग्नैकान्तरिता असंविग्नास्तेषु कारणवशतो गन्तव्यं तत्र च भिक्षां निवसनं च कुर्वतो यथा प्रथमोद्देशके परिहारिकस्य यतनोक्ता तथावापि द्रष्टव्या। तैरपि असंविग्नैर्यदि स एकाकी ततः एकाकिनः सतस्तस्य संघाटको दातव्यः। अथ योऽसौ द्वितीयको योग्यो दातव्यः सोऽन्यत्र प्रेषणेन गतो वर्त्तते ततस्ते ब्रूयुराचार्य एकरात्रं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा प्रतीक्षणीयः। तत एतेन कारणेनोत्कर्षतः त्रिरात्रमपि प्रतीक्षते असति संघाटके एक एकाकी व्रजेत् तस्य च तथा व्रजतोऽपान्तराले यदि साधर्मिका भवन्ति ततस्तन्मध्ये गत्वा वस्तव्यम्। कारणं च निवेदितम्। कारणे तैः संघाटको दातव्यस्तदभावे ततो व्रजनीयमथ प्रतिपृच्छा निमित्तमेकं द्वे त्रीणि वा दिनानि यावत्प्रतीक्षापयेत् तत आह स्वाध्यायनिमित्तं प्रतिपृच्छानि-मित्तमित्यर्थः उत्कर्षतस्त्रीणि दिनानि प्रतीक्षेत एषा साधर्म्मिकेषु यतना तदेवमसंविग्नद्वारमुक्तम्।

इदानीं निवेदनाद्वारमाह।

बहिगामघरे सन्नी, सो वा सागारिओ बहिं अंतो।
ठाणनिसेज्जतुयट्टण-गहियागहिएण जागरणा॥

संविग्नसमनोज्ञानामभावे ग्रामस्य बहिर्नैत्यिकादीनां निवेद्य तिष्ठति ग्रामस्य बहिः प्रत्यपायसंभवे ग्रामस्यान्तः शून्यगृहे तत्रापि निवेदना कर्तव्या। शून्यगृहस्याभावे संज्ञी श्रावकस्तस्य गृहे वस्तव्यम्। स वा संज्ञी श्रावकः सागारिकोऽगारिसहितः स्यात्तर्हि तस्य गृहस्य बहिरन्तर्वा या कुटी तत्र वस्तव्यम्। तस्या अप्यभावे अमनोज्ञेषु संविग्नेषु वस्तव्यम्। तेषामप्यभावे नित्यकादिष्वसंविग्नेषु वसति। तत्रेयं यतना स्थानमूर्द्धस्थानं निषद्या उपवेशनम् त्वग्वर्त्तनं दीर्घका-यप्रसारणं तेषु गृहीतेनागृहीतेन उपकरणेन जागरणं कर्त्तव्यम्। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः व्यासार्थं त्वभिधित्सुराह। प्रथमतो बहिर्ग्रामेति व्याख्यानयति।

वसही समणुण्णासइ, गामबहिं ठाइ सो निवेदेइ।
अनिवेदियम्मि लहु तु, आगाइविराहणा चेव॥

समनोज्ञानां संविग्नानां वसतेरसत्यभावे ग्रामाद्बहिस्तिष्ठति न पुनर्नैत्यिकादिष्वसंविग्नेषु प्रवेष्टव्यं प्रागुक्तप्रायश्चित्तभावात्। सच बहिस्तिष्ठति तेषां नैत्यिकादीनां वा संविग्नानां वा अमनोज्ञानां निवेद्य कथयित्वा यदि पुनर्न निवेदयति ततोऽनिवेदिते प्रायश्चिते लघुको मासः। आज्ञादिविराधना आदिग्रहणादात्मविराधना संयमविराधना च परिगृह्यते। तथाहि इयं भगवदाज्ञा तेषां निवेद्य बहिर्वस्तव्यम्। अनिवेदनायामाज्ञालोपः।

आत्मविराधनां संयमविराधनां चाह।

गेलण्णेन कहिंति, कोहेण जं च पावेहिती तत्थ।
तम्हा उ निवेएज्जा, जयणा एतेसिमाएउ॥

अनिवेदने सति कदाचित् ग्लानो जायेत ग्लान्ये सति नास्माकं किमपि तेन निवेदितमिति क्रोधेन न किमपि ग्लाने कृत्यं करिष्यन्ति। गृहस्थाश्च तं तथाभूतं ग्लानं दृष्ट्वा तेषां नैत्यिकादीनां निवेदयेयुर्यथा युष्मदीयो ग्लानोऽसंग्राहको वर्तते ततस्ते ब्रूयुर्मध्ये वा एषोऽस्मदीयो न भवति यदि भवेत्तदा अस्माकमुपाश्रये तिष्ठेत् निवेदयेद्वा। एवं यत्र ग्लानत्वेन वा आरक्षकादिग्रहणं तत्र यदर्थं प्राप्स्यति संयमविराधनात्मकमात्मविरा-धनात्मकं वा तत्सर्वमनिवेदनानिमित्तं तस्मात्तेषामनया वक्ष्यमाणया यतनया निवेदयेत्। तामेव यतनामाह।

तुब्भं अहेसि दारं, उस्सूरोत्ति जुताए एवं तु ।
न य नज्जइ सत्थो वि, चलिहिइ किं केत्तियं वेलं ॥

यदाहमागतस्तदा युष्माकमुपाश्रयद्वारं संकुचितमासीत् तत एवं मया विकल्पितमुत्सूरं वर्त्तते इति युतायां पृथग्भूतायां वसतावुपितः । अपि च न च ज्ञायते सार्थोऽपि किंकियतीं वेलां सप्तम्यर्थे व्याप्तौ द्वितीया कस्यां वेलायां चलिष्यति ततः पृथगुपाश्रये स्थितः । अथ स वेलायामागतस्तत इदं वदेत् ॥

साहुसगासे वसिउं, अतिप्पियं मज्झ किं करेमित्ति ।
सत्थवासो हं भंते, गोसे मे वहेज्ज उदंतं ॥

साधुसकाशे साधुसमीपे च वस्तुं ममातिप्रियं परं भदन्त ! सार्थवशोऽहं ततः किं करोमि तस्मात् (गोसे मे वहेज्जह उदंतं) साधो ! प्रभाते मे उदन्तं वार्तां वहेत ।

एवं न उ दूरुस्से, अह बाहिं होज्ज पच्चवायाओ ।
ताहे सुण्हघरादिसु, वसतिनिवेदितुं तह चेव ॥

एवमनया यतनया निवेदितुं नैव ग्रामाद्बहिर्दूरं वसेत् किं तु ग्रामस्य समीपे वसेदय बहिस्तेनादिकृताः प्रत्यवाया अनर्था भवेयुस्ततस्तथैव पूर्वोक्तप्रकारेणैव निवेद्य शून्यगृहादिषु वसतिमादिशब्दात् श्रावकगृहादिपरिग्रहः । एतदेव भावयति ।

अहुणुव्वासियसकवाड-निव्विले वसति सुण्णे ।
तस्सासइ सुण्णघरे, इत्थीरहिते वसेज्जा वा ॥

अधुना सांप्रतमुद्वासितमधुनोद्वासितं सकपाटं कपाटसहितमन्यया स्तेनादिप्रवेशसंभवात् निर्विलं विलरहितमन्यथा सर्पादिसंभवात् निश्चलं न जराजीर्णतया पतितुं प्रवृत्तम् अमीषां च चतुर्णां पदानां षोडश भङ्गाः । तत्र प्रथमो भङ्गः शुद्धः शेषा अशुद्धास्तत आह इत्थम्भूते शून्ये गृहे वसति तस्य शून्यगृहस्यासत्यभावे संज्ञिगृहे श्रावकगृहे । सोऽपि श्रावको द्विधा संभवति सस्त्रीकः स्त्रीरहितो वा । तत्र स्त्रीरहिते वसेत् ।

सहिए वा अंतोबहि, अंतोवीसु घरकुडीए वा ।
तस्सासति नइयादिसु वसेज्ज उ इमा य जयणाए ॥

स्त्रीरहितस्य श्रावकगृहस्याभावे सहिते वा स्त्रीसहिते वा श्रावकगृहे तस्य गृहस्यान्तर्बहिर्वा विविक्ते प्रदेशे वसेत् अन्यथा प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु तस्याप्यभावे तस्य श्रावकस्य बहिरन्तः पृष्ठतः पार्श्वतो वा यदिवाऽन्तर्गृहस्य कुटी समस्ति तस्यां वसेत् । तस्यापि कुटीरकस्यासत्यभावे नैत्यिकादिष्वपिशब्दात् पार्श्वस्थादिपरिग्रहोऽनया वक्ष्यमाणया यतनया वसेत् एतावता मूलद्वारगाथोपन्यस्तं निवेदनाद्वारमगमत् ॥ यतनाद्वारमापतितमिदानीं तामेव यतनामाह ॥

निइयादि उवधिभत्ते, सेज्जा सुद्धा य उत्तरे मूले ।
संजइरहिए काले, सज्झाए अभिक्खं च ॥

ये नैत्यिकादय उपधौ भक्ते शय्यायामुत्तरगुणैर्मूलगुणैर्वा शुद्धाः किमुक्तं भवति । ये उत्तरगुणैर्मूलगुणैर्वा शुद्धां शय्यां गवेषयन्ति । शुद्धं भक्तं शुद्धमुपधिं तेषु वसेत् तत्रापि संयतीरहिते तदभावे संयतीसहितेऽपि । ताश्च संयत्यो द्विधा कालचारिण्योऽकालचारिण्यश्च । तत्र याः । पाक्षिकादिष्वागच्छन्ति ताः कालचारिण्यस्तद्व्यतिरेकेणागच्छन्त्योऽकालचारिण्यः स्वाध्यायनिमित्तमभीक्ष्णं चशब्दात् भक्तपानं दातुं ग्रहीतुं वा कन्दपार्थं वा । तत्राकालचारिणीषु बहवो दोषाः कालचारिणीष्वल्पतरा इति संयतीरहिताभावे कालचारिणीभिः संयतीभिः सहिते वस्तव्यम् । एतदेव सप्रपञ्चमभिधातुकाम आह ।

सेज्जुवहिभत्तसुद्धे, संजइरहिए य भंगसोलसओ ।
संजइ अकालचारिणि, साहए बहुदोसला वसही ॥

शय्याशुद्ध उपधिशुद्धो भक्तशुद्धः संयतीरहित इति चतुर्षु पदेषु सप्रतिपक्षे पक्षाः षोडश । तद्यथा शय्याशुद्ध उपधिशुद्धो भक्तशुद्धः संयतीरहित इति प्रथमः । शय्याशुद्ध उपधिशुद्धो भक्तशुद्धः संयतीसहित इति द्वितीय इत्यादि प्रस्तारैश्चार्पणीयाः । एतेषु च षोडशसु, भङ्गेषु मध्ये यत्र यत्र संयत्यस्तत्र कालचारिणीसहिते वस्तव्यं नाकालचारिणीभिर्यत आह संयतीभिरकालचारिणीभिः सहिता बहुदोषा वसतिरिति । आह पूर्वमुपधिभक्तशय्याशुद्धा इत्युक्तमिदानीं भङ्गचिन्तायां प्रथमतः शय्योपात्तं तत्र किं कारणमत आह ।

सागारितेणाहिमवासदोसा, दुस्सोहिया तत्थ उ होइ सेज्जा ।
वत्थन्नपाणाणि व वत्थ ठिच्चा, गेण्हंति जोग्गाणुवभुंजते वा ॥

शय्यां विना मण्डल्यामुपविष्टायां सागारिकाः समापतन्ति उपधिग्रहणाय स्तेना वा निपतन्ति हिमप्रपाते वा संयमात्मविराधना दोषाः । तत्र तेषु शय्योपधिभक्तेषु मध्ये शय्या दुःशोधिता भवति । आहारोपधयः शुद्धाः सुखेन लभ्यन्ते महता कष्टेन पुनः शुद्धा वसतिरिति भावः । तथा तत्र शय्यायां स्थित्वा योग्यानि कल्पनीयानि वस्त्रान्नपानानि गृह्णन्त्युपभुञ्जते च । एतैः कारणैर्भङ्गचिन्तायां प्रथमतः शय्या कृता तथा ॥

आहारोवहिसेज्जा, उत्तरमूले असुद्धे य ।
अप्पतरदोसपुव्विं, असतीए महन्नदोसे वि ॥

आहारोपधिशय्याभिरुत्तरगुणविषये अशुद्धशुद्ध इति भङ्गैरल्प-तरा दोषा इत्यत आह प्रथमचिन्तायां ये षोडश भङ्गाः प्रागुक्तास्तेषु मध्ये पूर्वमल्पतरदोषे वस्तव्यं तस्यासत्यभावे महादोषेऽपि । अथ कस्मिन् भङ्गे अल्पतरदोषा इत्यत आह ।

पढमासति विइयम्मि वि, तहियं पुण ठाइ कालचारीसु ।
एमेव सेसएसु वि, उक्कमकरणं पि पूएमो ॥

सर्वेषां भङ्गानां मध्ये प्रथमभङ्गे सर्वाल्पतरदोषा इति तत्र वस्तव्यं प्रथमस्यासत्यभावे द्वितीयेऽपि तत्र पुनस्तिष्ठति कालचारिणीषु संयतीषु एवमेव शेषेष्वपि भङ्गेषु वसति । किमुक्तं भवति । येष्वप्यन्येषु भङ्गेषु संयतीसहितपदं तेष्वपि कालचारिणीभिः सहितेषु वस्तव्यं नाकालचारिणीभिरिति । तथा क्रमकरणमपि अकालचारिणीभिः सहितत्वमपि पूजयामः उपादेयतया प्रशंसयामः सर्वेषां भङ्गानां मध्ये कथमिति चेदुच्यते यस्मिन् भङ्गे शय्याभक्तोपधयः समुदिता भङ्गत एकद्विका वा शुद्धास्तत्र यद्यकालचारिण्यो भक्तं पानं वा दत्वा गृहीत्वा तत्क्षणमेव व्रजन्ति न पुनरागच्छन्ति स्वाध्यायं वा कृत्वा सकाले गच्छन्ति तत्र स्थातव्यं प्रायो दोषाभावादिति ।

एतदेव स्पष्टतरमाह ॥

सेज्जं सोहे उवहिं, भत्तं सोहेइ संजतीरहितो ।
पढमो वितिओ संजइ-सहिओ तओ पुण कालचारीतो ॥

शय्यां शोधयति उपधिं शोधयति भक्तं शोधयति संयतीरहित-श्चेति प्रथमो भङ्गः । द्वितीयः संयतीसहितस्ताः पुनः संयत्यः कालचारिण्यो यदि स्युस्तदा वस्तव्यमेवं शेषेष्वपि संयतीसहितेषु भङ्गेषु भावनीयम् ।

अथाकालचारिण्यः कथं स्युरित्य आह ॥

आयाणे कंदप्पे, बियाल ऊरालियं वसंतीणं ।
नियया दी छद्दसहा, संजोए मोत्तहा छंदे ॥

भक्तपानादीनामादाने उपलक्षणमेतत् दाने च तथा कन्दर्प्पनिमित्तं कन्दप्पग्रहणमुपलक्षणं स्वाध्यायनिमित्तं च विकाले औरालिकमतिशयेन स्फारे प्रभूतवेलायामिति यावत् संयतीनामकालचारिणीत्वं द्रष्टव्यम् । एवं नैत्यिकादीनां यः षड् दशधा षोडशप्रकारः संयोगस्तत्र वस्तव्यं किं सर्वत्र नेत्याह मुक्त्वा यथाच्छन्दान्किमुक्तं भवति। तेषु सत्सु यथाच्छदेषु न वस्तव्यं तदभावे तत्रापि वसेत् । संप्रत्येतेषु नैत्यिकादिषु संवासमधिकृत्य यतनामाह ।

गहियनिसियतुयट्टे वा, गहियागहिए य जग्गसुवणं वा ।
पासत्थादी णेवं, नियए, मोत्तुं अपरिभूते ॥

पार्श्वस्थादीनामुपाश्रयेषु (गहियत्ति) गृहीतोपकरणः स्थित ऊर्द्धस्थितो वसेत् । यद्येवं स्थातुं न शक्नोति ततो गृहीतोपकरण एव निषद्योपगतो जाग्रत्तिष्ठेत् तथाप्यशक्नुवन् गृहीतोपकरणस्त्वगृतो जाग्रदवतिष्ठेत् । अथ त्रिष्वप्येतेषु यदि कथमपि प्रचलाया आशङ्का तदा मा पात्रदिभङ्गः स्यादित्युपकरणं पार्श्वे निक्षिप्यागृहीतोपकरणो यथासमाधिस्थितो निषण्णस्त्वगृतो वा जाग्रत्तिष्ठेत् अथ जागरणं कर्तुं न शक्नोति तत आह स्वपन् वा गृहीतोपकरणोऽगृहीतोपकरणो वा यथा समाधिं कुर्यात् । एवं यतना पार्श्वस्थादीनामुपाश्रयेषु द्रष्टव्या । नैत्यिके नित्यवास्युपाश्रये नित्यवासिपरिभुक्तान् प्रदेशान् मुक्त्वा अपरिभुक्ते प्रदेशे उपकरणं निक्षिप्य यथासमाधिण जाग्रत्स्वपन्वा वसेत् ।

एमेव अहाच्छंदे, पडिहणणज्झाणअज्झयणकण्णा ।
ठाणठितो वि निसामे, सुण आहरणं च गहिएणं ॥

एवमेव पार्श्वस्थादिगतेनैव प्रकारेण यथाच्छन्देऽपि यतना कर्तव्या । नवरं यदि शक्तिस्तर्हि तस्य प्रतिहननं कर्तव्यं यथा स स्वाग्रहं मुञ्चति । अथ न विद्यते तादृशी शक्तिस्तर्हि ध्यानं तथा ध्यायति यथा तद्वचो न शृणोति यदि वा (अज्झयणत्ति) यथाच्छन्दप्रज्ञापनाप्रतिश्रवणमध्ययनं परावर्तयति यथा स ब्रूते मा मां नाशयेति (कण्णत्ति) तस्य यथास्वच्छन्दं देशनां कुर्वतः कर्णौ निजौ स्थगयति येन देशनां न शृणोति दूरतरं वा तिष्ठति । अथ दूरतरस्थानस्थितोऽपि तद्देशनां निशमयति न च निद्रां समागच्छति ततः स यथाच्छन्दो वक्तव्यो यथा शृणु किमप्याहरणं ततो यत्तस्यापूर्वं तदाहरणं कथनीयम् (गहिएणंति) गृहीतेनात्मीयोपकरणेन । एतदेव युक्त्या दृढयति ॥

जह कारणे निगमणं, दिट्ठं एमेव सेसगा चउरो ।
ओमे असंथरंते, आयारे वइयमादीहिं ॥

यथा कारणे कारणवशतो निगमनं निर्गतं दृष्टमेवमेव तथा कारणवशतः शेषाण्यपि चत्वारि द्वाराण्यसंविग्ने निवेदना यतना इत्येवमादीनि दृष्टानि यथा चाचारे आचारप्रकल्पे अवमे दुर्भिक्षे व्रजिकादिभिरपि आदिशब्दात्स्वज्ञात्यमनोज्ञासंविग्नपरिग्रहो व्रजेदित्युक्तमतः सोपपत्तिकेयं यतनेति सम्यक् श्रद्धेया । गतं यतनाद्वारम् ॥

अधुना निसृष्टद्वारमाह–

स मणुण्णेसु वि वासो, एगनिसि किमुत अण्णमो मण्णे ।
असढो पुण जयणाए, अच्छेज्ज चिरं पि उ इमेहिं ॥

स मनोज्ञेष्वपि अपान्तराले वास उत्सर्गत एकां निशामेकां रात्रिं कल्पते किमुत किं पुनरन्येष्वसांभोगिकेष्ववसने उपलक्षणमेतत् पार्श्वस्थादिषु वा । तत्र सुतरामेकरात्र्यधिकं न कल्पते कारणवशतः पुनरुत्कर्षतस्त्रीणि दिनानि वसेत् गतं निसृष्टद्वारम् । इदानीं ''दीहखद्धं परिच्छतीत्ये'' तद्व्याख्यानार्थमाह (असढो इत्यादि) असठः पुनर्न केवलमुत्कर्षतस्त्रीणि दिनानि किं तु चिरमपि प्रभूतकालमप्येभिर्वक्ष्यमाणैः कारणैर्यतनया तिष्ठेत् । तान्येव कारणान्याह

वासं खंधारनदी, तेणासावयवसेण सत्थस्स ।
एएहिं कारणेहिं, अजयणजयणा य नायव्वा ॥

वर्षं पतति स्कन्धावारः कटकं त द्वा चलति नदी गिरिनदी पूर्णा वर्तते स्तेना अपान्तराले द्विविधा शरीरापहारिण उपकरणापहारिणश्च श्वापदाः सिंहादयः सार्थस्य वा वशेन गच्छति सार्थश्च चिरमपि तिष्ठन् वर्तते एतैः कारणैश्चिरमप्यपान्तराले तिष्ठति तत्रायतना यतना वा ज्ञातव्या ।तत्र यदि यतना कृता तदा न प्रायश्चित्तविषयः । अथायतनामाचरितवान् तदा प्रायश्चित्तं लगति । उक्तः शुद्धस्याशुद्धगमनमिति द्वितीयो भङ्गः ।

संप्रति तृतीयचतुर्थभङ्गावाह ॥

दोसा उ ततियभंगे, गाणगणिया य गच्छभेदो य ।
सुयहाणी कायवहो, दोण्णि वि दोसा भवे चरिमे ॥

दोषौ द्वौ तृतीयभङ्गे अशुद्धस्य शुद्धगमनमित्येवंलक्षणे तद्यथा गाणगणिकता गणे गणे प्रविशतीत्येवं प्रवादलक्षणा तद्यथा गच्छभेदतश्च । तथाहि तस्मिन्निर्गच्छत्यन्येऽप्येवमेव निर्गच्छन्ति ततो जायते गणविनाशः । चरमेऽप्यशुद्धस्याशुद्धगमनमित्येवंरूपे भङ्गे द्वौ दोषौ अपिशब्दो भिन्नक्रमः स च यथास्थानं योजितः । श्रुतहानिः कायवधश्च निष्कारणं दोषबहुलतया यातो निर्गमने ह्यत्रापि नावकाश इति श्रुतहानिर्मार्गे च गतो ग्लानत्वादिभावतो वा कायवधः । तदेवं भावितमृतुबद्धविषयम् ॥

संप्रति वर्षावासविषयं सूत्रमाह ।

(सूत्रम्) वासावासे पज्जोसविए भिक्खू य जं पुरओ कट्टु विहरेज्जा से य आहच्च विसं भेज्जा अत्थि वा इत्थ केइ उवसं पज्जणारिहे उवसंपज्जियवेसिया णत्थि वा इत्थ केइ अण्णे उवसण्णारिहे तस्स य अप्पणो य से कप्पइ जाव छेदे वा परिहारे वा ॥

(वासावासेपज्जो इत्यादि) वर्षावासे पर्युषिते भिक्षुर्यं पुरतः कृत्वा विहरति आस्ते स कदाचित् विष्वग्भवेत् शरीरात्पृथग्भवेत् म्रियेत इत्यर्थः । अस्ति वान्यः कश्चिदुपसंपदनार्हः स उपसंपत्तव्यः । नास्ति वा तत्रान्यः कश्चिदुपसंपनार्हस्तर्हि स आत्मनः कल्पे मा समाप्त इति (से) तस्य कल्पते एकरात्रिक्या प्रतिमया यत्र वसति तत्रैकरात्राभिग्रहणे (जण्णं जण्णमित्यादि) यस्यां यस्यां दिशि अन्ये साधर्म्मिका विहरन्ति तां तो दिशमुपलातुं न पुनः (से) तस्य कल्पते । तत्रापान्तराले विहारप्रत्ययं वस्तुं कल्पते (से) तस्य । तत्र कारणप्रत्ययं संघाटादिकारणनिमित्तं वस्तुं तस्मिंश्च कारणानिष्ठिते यदि परो वदेत् वस आर्य ! एकरात्रं द्विरात्रं वा शब्दात्त्रिरात्रं वा एवं (से) तस्य कल्पते एकरात्रं द्विरात्रं वा शब्दात्त्रिरात्रं वा वस्तुं नो (से) तस्य कल्पते एकरात्रात् द्विरात्राद्वा परं वस्तुम् । यत्तत्र एकरात्राद् द्विरात्राद्वा परं वसति ततः (से) तस्य स्वकृतादन्त–

राच्छेइः परिहारो वा इति सूत्रार्थः। अत्र भाष्यप्रपञ्चः।

एमेव य वासासु, भिक्खे वसहीए संकनाणत्तं।
एगाहचेउत्थादी, असती अण्णत्थ तत्थेव॥

एवमेव ऋतुबद्धविषयस्तत्र तेनैव प्रकारेण वर्षासु सूत्रं भावनीयं नवरं भिक्षायां वसतौ शङ्कायाश्च नानात्वं तत्रान्यत्र गन्तव्यमेकाहेन चतुर्थनादिशब्दात् षष्ठेनाष्टमेन वा अस्यन्यत्र गमने तत्रैव वर्षारात्रः कर्त्तव्यः। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः। सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः एवं शब्दं व्याख्यानयति।

अपरिमाणे पिहब्भावे, एगत्ते अवधारणे।
एवं सद्दो उ एएसिं, एगत्ते उ इहं भवे॥

एवं शब्दोऽपरिमाणे पृथग्भावे एकत्वे अवधारणे। तत्रापरिमाणे यथा एवमन्येऽपीत्यादौ पृथद्भावे यथा घटात्पटः पृथक् एवमाकाशास्तिकायात् धर्म्मास्तिकायोऽपीति। एकत्वे यथाऽयमेतद्गुण एवमेषोऽपि अत्र ह्येवं शब्दस्तयोरेकरूपतामभिद्योतयति। अवधारणे यथा केनापि पृष्ठमिदमित्थं भवति इतरः प्राह एवं इमित्थमेवेति भावः। एवमेवंशब्द एतेष्वर्थेषु वर्त्तते इह पुनरेकत्वे भवति वर्तते। एकत्वमृत्तिमेव भावयति॥

एगत्तं उ उबद्धे, जहेव गमणं तु भंगचउरो य।
तह चेव य वासासु, नवरि इमं तत्थ नाणत्तं॥

तथैकत्वमवमेवं शब्दप्रकाश्यमित्थमृतुबद्धेन्यत्र गच्छान्तरे गमन यथा च तत्र भङ्गाश्चत्वारः शुद्धस्य शुद्धगमनमित्येवमादयस्तथा चैत्र तेनैव प्रकारेण गमनं भङ्गचतुष्टयं च ज्ञातव्यम्। नवरं केवलमिदं मत्र वर्षासु भिक्षायां वसतौ शङ्कायां च नानात्वम्। तत्र भिक्षामसधिकृत्याह।

पउरण्णपाणगमणं, इहरा परे ताव एसणा घातो।
खेत्तस्स य संकमणे, गुरुगा लहुगा य आभवणा॥

यो गच्छः प्रचुरान्नपाने स्थितस्तत्र गन्तव्यम्। इतरथा यदि पुनरप्रचुरान्नपाने गच्छे प्रविशति ततस्ते असंस्तरन्त क्षुधा परिताप्यन्ते परितापनां चासहमानैरेषणाघातः क्रियते अनेषणीयमपि गृह्णीयुरित्यर्थः। अथासंस्तरन्तः क्षेत्रसंक्रमणं कुर्वन्ति तदा प्रावृषि क्षेत्रस्य संक्रमणे आरोपणाप्रायिश्चत्तं चत्वारो गुरुकाः। वर्षारात्रे भाद्रपदाश्वयुग्मासद्वय-लक्षणे चत्वारो लघुकाः। गतं भिक्षाद्वारम्। अधुना वसतिद्वारमाह।

वारगजग्गणदोसा, सागारादी हवंति अण्णासु।
तेणादिसंकलोए, भाविणमित्थं पवासंति॥

यस्मिन् गच्छे वसतिः संकटा तत्र नोपसंपत्तव्यं यदि पुनरुपसंपद्यते तत इमे दोषाः। संकटायां हि वसतौ वसन्तस्ते वारकेण क्रमेण जागरणं कुर्युरेके जाग्रत्यन्ये स्वपन्ति तदनन्तरं ते जाग्रत्यन्ये स्वपन्ति। एवं क्रमेण जागरेणऽजीर्ण्णत्वादयो दोषाः। अथान्यासु वसतिषु केचित्स्वपनाय व्रजन्ति तर्हि ये प्रागभिहिताः शय्यायां सागारिकादयो दोषास्ते ऽत्रापि भवन्ति गतं वसतिद्वारम्। इदानीं शङ्काद्वारमाह ! भिक्षाया अभावतो वसतिसंकटत्वदोषतो वा तत्क्षेत्रसंक्रमणं कुर्युस्तांश्च गच्छतो दृष्ट्वा लोकस्य स्तेनादिशङ्कोपजायते यथा न कल्पते साधूनां वर्षासु गमनं तन्नूनमेते हेरिकाः स्तेना वा साधुवेषेणाहिण्डन्ते। अथवा (भाविणमित्थं पवासंति त्ति) एतमर्थमुत्पातरूपं यदि वा न निष्पत्स्यते शस्यमित्येवंलक्षणं ततोऽनागता नश्यन्ति तस्माद्वयमपि यत्नंकुर्म्मः। तदेवं प्रचुरान्नपाने संकटवसतिस्थिते च गच्छे प्रवेशे इमे दोषाः। तस्माद्ये प्रचुरान्नपानग्रामे स्थिता ये च सावकाशायां वसतौ तत्र संपत्तव्यं तत्र चानया यतनया गन्तव्यम्। तामेवाह।

आसण्णखेत्त भाविय, खेत्तादपरोप्परं मिलंतेसु।
जा अट्ठमं अभावे य, माणअडंतं बहू पासे॥

ये आसन्ने अनन्तरे क्षेत्रे स्थिता गच्छास्तत्र गन्तव्यमसत्यनन्तरे क्षेत्रे ये परे क्षेत्रे स्थिता यैर्भिक्षादिनिमित्तमागच्छद्भिर्गच्छद्भिश्च परस्परं मिलद्भिर्गाथायां सप्तमी तृतीयार्थेऽपान्तराले पथि भाविता ग्रामास्तत्र गन्तव्यं तेषामप्यभावे दूरेऽपि गम्यते। तत्र पुनर्भिक्षामहिण्डमानो गच्छति। किं कारणमत आह। (माणअडंत बहूपासे) मा णमिति वाक्यालङ्कारे भिक्षामटन्तं बहु लोकोऽभावितः पश्यन्निति कृत्वा ततोऽभक्तार्थेन यावत्प्राप्यते षष्ठेन अष्टमेन वा तत्र गन्तव्यम्। आह यद्यपि चतुर्थादिना गच्छति तथापि लोकः पश्यति। तत्र आह॥

पायं न रीयइ जणो, वासे पडिवत्तिकोविदो जो य।
असतो व बद्धेदूरे य, अच्छए जाय मायंति॥

प्रायः कर्षजनः क्षेत्राणां जलकर्दमाकुलतया शेषजनो मार्गस्य जलाविलत्वादिना दुर्गमतया वर्षे वर्षाकाले न रीयते न गच्छति। यश्चात्र प्रतिपत्तिकोविदः परप्रतिपादनकुशलस्तेने एवमादिषु विषयेऽनेकान्युत्तराणि जल्पितव्यानि एतावता ''एगाहचउत्थादी'' इत्यादिव्याख्यातमिदानीमसती अण्णत्थतत्थेवेति व्याख्यानार्थमाह। ''असतोवबद्धेइत्यादि'' पूर्वोक्तो विधिः सान्तरे वर्षेऽभिहितो यदि पुनरसकृत् अवबद्धं वा सततं वर्षं पतति यदि वा अतिदूरं गन्तव्यं नाष्टमेन प्राप्यते ततोऽसकृत् अवबद्धे वा वर्षे पतति दूरे गन्तव्यम्। तत्रैव वर्षारात्रं कृत्वा प्रभाते मेघकृतान्धकारापगमतः प्रभातकल्पे संवत्सरे याति॥

(३) भक्षुर्गणादपक्रम्येच्छेदन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुम्॥

(सूत्रम्) भिक्खू गणाओ अवक्कम्म अण्णगणं उवसंपज्जित्ताणं विहरिज्जा तं च केइ साहम्मिया पासे ता वइज्जा क अज्जो उवसंपज्जित्ताणं विहरति जे तत्थ सव्वराइणिए ता वइज्जा अहं भे कप्पाइ जे य तत्थ बहुस्सुए तं वत्तिज्जा जहा से भगवं वक्खति तस्स आणाउववाय वयणणिदेशे चिट्ठिस्सामि॥

भिक्षुर्गणादपक्रम्य विशिष्टसूत्रार्थनिमित्तमन्यगणमुपसंपद्य विहरेत्। तत्रोद्ग्रामके भिक्षाचरप्रचुर ग्रामे भिक्षार्थमटन्तं दृष्ट्वा कश्चित्साधर्म्मिको वदेत् कमार्यमुपसंपद्य त्वं विहरसि एवं पृष्टः सन् यस्तत्र सर्वरत्नाधिको गीतार्थ आचार्यस्तं वदेत्। तस्मिन्नुक्ते परिकल्पयति यमेष व्यपदिशति सोऽगीतार्थो नचायमगीतार्थनिश्रया विहरति ततो भूयः पृच्छति अथ भदन्त ! कस्य कल्पेन सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्कस्य निश्रया त्वं विहरसि एवमुक्ते यस्तत्र सर्वबहुश्रुतस्तं वदेत् तथा तस्य सर्वरत्नाधिकस्याचार्य-स्यागीतार्थस्य यः शिष्यो गीतार्थः सूत्रार्थनिष्णातः समस्तस्यापि गच्छस्य तृप्तिकारी तन्निश्रयाऽहं विहरामीति वदेत्। यं वा स भगवानाख्याति यथैतस्याज्ञा त्वया कर्त्तव्या तस्याज्ञायामुपपाते समीपे वचननिर्देशे च आदेशप्रतीच्छायां स्थायामीति सूत्रसंक्षेपार्थः। अधुना भाष्यकृत्सूत्रं व्याख्यातुकामः प्रथमतः सूत्रविषयमुपदर्शयति॥

पव्वावितो अगीतेहिं, गंतूण उभयनिम्मातो।

आगम्मसेससाहण–ततो य साहू ग ओण्णत्थ ॥

कश्चिदगीतैरगीतार्थैराचार्यैःप्रव्राजितः सोऽन्यत्र गणे गत्वा उभयतः सूत्रतोऽर्थतश्च निर्मितोऽभवत् ततः स स्वगणे आगम्य शेषाणां गीतार्थानां साधूनां साधनं करोति सर्वानपि गीतार्थान् सूत्रार्थं निमित्ततिस्तो विप्रसृतानाचार्यसमीपमानयति समानीय च तेषां सूत्रार्थान् पूरयति अन्यदा ततो गच्छात्कोऽपि साधुरन्यत्र गणान्तरे केनापि कार्येण गतः।

तत्थ वि य अण्णसाहुं, अट्ठे त्ति अहेज्ज मा ण साहूणं ।
चिंती मा पढ एवं, किं ति य अत्थो महो एवं ॥

तत्रापि च गणान्तरे अन्यं साधुमाचाराङ्गे, "अट्ठे लोए परिजिण्णे", इति सूत्रे अट्ठे इति अधियानं पठन्तं श्रुत्वा ब्रूते मा पठ। एवं स प्राह किमिति इतरो ब्रूते अर्थो न भवति विसंवदत्येवं यथा त्वं पठसि अस्मात् अट्ठे इंति द्वित्कारको निर्देशोऽध्येतव्यः।

अत्थो वि अत्थि एवं, आमं नमोक्कारमादिसव्वस्स ।
केरिस पुण अत्थो ति, वेती मुण सुत्तमट्ठ त्ति ॥

अधीयानः पृच्छति अर्थो ऽपि न तु सूत्रस्यास्ति। इतरः प्राह। आममेवं न केवलमस्य सूत्रस्यार्थोऽस्ति किं तु सर्वस्यापि नमस्कारादिकस्य सूत्रस्यास्ति एवमुक्तोऽध्येतापृछति कीदृशः पुनरस्य सूत्रस्यार्थ इति। इतरो ब्रूते श्रृणु प्रथमतो यथावस्थितं सूत्रं ततः पठति (अट्ठे इति) "अट्ठे लोए परिजिण्णे", इति एवं पठित्वा अस्य व्याख्यानमाह -

अट्ठे चउव्विहे खलु, दव्वेन वि मादि जत्थ तणकट्ठा ।
आवत्तंते पडिया, जह व सुवण्णादि आवट्टे ॥

अट्टः आर्तः खलु चतुर्विधतद्यथा नामार्तः स्थापनार्तो द्रव्यार्तो भावार्तः। तत्र नामस्थापने सुप्रतीते द्रव्यार्तोऽपि नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतीरिक्तो यत्र नद्यादेः प्रदेशे तृणकाष्ठानि पतितानि आवर्तन्ते यत्र वा सुवर्णाद्यावर्तते स द्रष्टव्यः। आ सर्वतः परिभ्रमणेन रुतानि गतानि यत्र यो स आर्त इति व्युत्पत्तेः।

अहवा अत्तीभूतो, सचित्तादीहि होइ दव्वम्मि ।
भावे कोहादीहिं, अभिभूतो होति अट्टो उ ॥

अथवा सचित्तादिभिर्द्रव्यैरसंप्राप्तैः प्राप्तवियुक्तैर्वा य आर्तः स द्रव्यार्तः द्रव्यैरार्तो द्रव्यार्त इति व्युत्पत्तेः। क्रोधादिभिरभिभूतो नो आगमतो भावार्तः। तदेवमार्तशब्दार्थ उक्तः।

संप्रति परिजीर्णशब्दार्थमाह -

परिजिण्णो उ दरिद्दो, दव्वे धणरयणसारपरिहीणो ।
भावे नाणादीहिं, परिजिण्णो सव्वलोगा उ ॥

परिजीर्णोऽपि चतुर्विधस्तद्यथा नामपरिजीर्णः स्थापनापरिजीर्णो द्रव्यपरिजीर्णो भावपरिजीर्णश्च। तत्र नामस्थापने प्रतीते। द्रव्ये द्रव्यतः परिजीर्णो नो आगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो धनरत्नसारपरिहीनो हरिद्रो भावे भावतः परिजीर्णो ज्ञानादिभिः परिहीन एष समस्तोऽपि लोकः।

एवं पट्ठे सो वेति, कत्थ भे अहीयं ति ।
अमुगस्स त्ति सगासे, अहगं पी तत्थ वच्चामि ॥

एवमाचाराङ्गसूत्रास्यार्थे स्पष्टे कथिते स ब्रूते कुत्र भवता त्वया ऽधीतमिति। स प्राह अमुकस्य सकाशे समीपे। ततः सोऽध्येता चिन्तयति अहमहपि तत्र व्रजामि एवं चिन्तयित्वा।

सो तत्थ गतो विज्जति, मिलितो सब्भंति एहि उब्भामो ।
पुट्ठो सुत्तत्थं ते, सरंति निस्साय कं विहरे ॥

स तत्र गतो गत्वा वाऽध्येति एतद्विषयमधिकृतं सूत्रमधुना सूत्रव्याख्यामाह। सोऽधीयानोऽन्यदा उद्भ्रमे उदभ्रामकभिक्षानिमित्तं गतस्तत्र केचित्साधर्म्मिकाः केचिदन्यगच्छवर्तिनः साधवः सहाध्यायिनो मिलितास्तैः (सब्भतिएहिंति) सहाध्यायिभिः पृष्टास्ते तत्र सूत्रार्थं सरन्ति निर्वहन्ति तथा कं निश्राय आश्रित्य भवान विहरति।

असुगं ति सो अगीतो, विहरइ कप्पेण गीयसिस्सस्स ।
अहमवि य तस्स कप्पा, जं वा भयवं उवदिसंति ॥

एवं पृष्टः सन् यस्तत्र सर्वरत्नाधिको गीतार्थ आचार्यस्तं कथयति यथा अमुकं निश्रायाहं विहरामि एतावता, "जे तत्थ सव्वराइणि य ते वएज्जा", इति व्याख्यातम्। एवमुक्ते ते चिन्तयन्ति यमेष प्राह सोऽगीतो ऽगीतार्थस्ततो भूयः पृच्छन्ति कस्य कल्पेन कस्य गीतार्थस्य निश्रया भवान् विहरति एतेन, "अहं भंते कस्स कप्पाए", इति व्याख्यातम्। स प्राह सूत्रबहुश्रुततया गीतार्थस्तस्य शिष्यस्तस्य कल्पेन समस्तो गणो विहरति। अहमपि च तस्य कल्पात् विहरामि यं वा भगवन्त उपदिशन्ति यथाऽस्याज्ञा कर्तव्या तस्याज्ञोपयातवचननिर्देशेषु स्थास्यामि। एतेन "जं वा सो भयवं अक्खाति", इत्यादि व्यातम्। इदमेव स्पष्टं भावयति।

रायणियस्स उ गणो, गीयत्थोमस्स विहरइ निस्साए ।
जो जेण होति महितो, तस्साणादी न हावेमि ॥

रात्निकस्य रत्नाधिकस्य गणोऽवमस्य गीतार्थस्य निश्रया विहरति अहमपि तन्निश्रया विहरामि। अपि च तस्मिन् गणे यो येन गुणेन तपःप्रभृतिना महितस्तस्याज्ञादि आज्ञां समोपभवनं वचननिर्देशं च न हापयामि सम्यक्करोमीति भावः। व्य० द्वि०४उ०

(चरिकाप्रविष्टस्योपसंपद्विधिः चरियापविट्ठ शब्दे वक्ष्यते)

४ शैक्षेण सपरिच्छन्नेन रत्नाधिकस्योपसं पद्यातव्या।

(सूत्रम्) दो साहम्मिया एगतो विहरंति तं जहा सेहे रायणिए य तत्थ सेहतराए पलिच्छिन्ने रायणिए अपलिच्छन्ने तत्थ सेहतरएणं रातिणिए उवसंपज्जित्तव्वा भिक्खू ववहारवद्द-लातिकप्पयं।२३।

द्वौ साधर्मिकौ समानगुरुकुलावेकतः सह तौ विहरतस्तद्यथा शैक्षो रात्निकश्च तत्र यः शैक्षकः स परिच्छन्नः परिवारोपेतः रात्निको रत्नाधिकोऽपरिच्छन्नः परिवाररहित इत्यर्थः तत्र शैक्षतरकेण रत्नाधिक उवसंपत्तव्यस्तथा शैक्षतरको रत्नाधिकस्य भिक्षामुपपातं विनयादिकं च कल्प्यं कल्पनीयं ददाति एष सूत्रसंक्षेपार्थः।

अधुना भाष्यविस्तरः।

साहम्मि पलिच्छिन्ने, उवसंपय दोण्ह वी पलिच्छातो ।
वोच्चत्थे मासलहुओ, कारणअसई समावो वा ॥

तौ द्वावपि जनौ सहाध्यायिनौ स ब्रह्मचारिणौ तत्र यः शैक्षतरकः स परिच्छनो द्रव्यपरिच्छेदोपेतः परिवारसहित इत्यर्थः। भावपरिच्छेदेन पुनर्द्वयोरपि परिच्छेदोऽस्ति तत्र शैक्षे द्रव्यतः परिच्छन्ने सति तेन रत्नाधिकस्योपसंपद्यातव्या ततो जघन्यतः संघाटो रत्नाधिकस्य देय उत्कर्षतो बहवोऽपि दातव्याः। तथा शैक्षकेण रत्नाधिकस्य पुरत आलोचनीयं रत्नाधिकेन शैक्षकस्य पुरतोऽन्यथा (वोच्चत्थे) विपर्यासे उभयोरपि प्रायश्चित्तं मा-

सलघु। तथा कारणे ग्लानादिलक्षणे व्यापृततया द्वावेव तौ जनावित्यसति सहायस्याभावे न दद्यादपि सहायं स्वभावो वा तस्यात्मीयकरणादिलक्षणस्ततो न ददाति सहायं किंत्वौचित्येन तस्य कृत्यं कारयति। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः पूर्वार्द्धं विवृणोति।

सज्झंति वासिणो दो वि, भावेण नियमतो छण्णो।
रायणि एउवसंपया, सेहतरगेण कायव्वा॥

तौ द्वावपि सहाध्यायिनावेकस्य गुरोरन्तेवासिनौ द्वावपि भावेन ज्ञानादिना नियमतो नियमेन छन्नो ज्ञानादिरूपभावपरिवारोपेतावित्यर्थः। द्रव्यपरिच्छेदेन पुनः शैक्षतरक एवोपेतस्तत्र शैक्षतरकेण रात्निको रत्नाधिकस्योपसंपत्कर्तव्या। "वोचत्थे मासलहुतो", इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह।

आलोइयम्मि सेहेण, तस्स वियडेइ पच्छ राइणितो।
इति अकरणम्मि लहुगो, अवरोप्परगव्वतो लहुगा॥

प्रथमतः शैक्षतरकेण रत्नाधिकस्य पुरतः आलोचनीयं तेनालोचिते पश्चाद्रत्नाधिकस्तस्य शैक्षकस्य पुरतो विकटयत्यालोचयति एतच्चैतौ न कुरुतस्त इति एतस्याकरणे द्वयोरपि प्रत्येकं लघुको मासः प्रायश्चित्तम् (अवरोप्परगव्वतो लहुगा इति) यदि शैक्षतरको द्रव्यपरिच्छेदेनाहं परिच्छन्न इति गर्वतो रत्नाधिकस्य पुरतो नालोचयति तदा तस्यापि प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः।

एतदेवोपदेशद्वारेण स्पष्टयति।

एगस्स उ परिवारो, वीइए रायणिय त्ति वादो य।
इह गव्वो न कायव्वो, दायव्वो चेव संघाडो॥

एकस्य परिवारोऽस्ति द्वितीये रत्नाधिकत्वादः रत्नाधिकोऽयमिति प्रवाद इति एवं रूपो गर्वा द्वाभ्यामपि न कर्त्तव्यः किं तु परस्परमालोचयितव्यमन्यथा चतुर्लघुकप्रायश्चित्तापत्तेर्दातव्यश्च शैक्षतरकेण जघन्यतोऽपि रत्नाधिकस्य संघाटः। संप्रति, "भिक्खोवा पंचदलानि कप्पागमि", त्येतदर्थमाह।

पेहाभिक्खकितीओ, करेंति सो आवि ते पवाएति।
न पहुव्वं ते दोण्ह वि, गिलाणमादीसु च न देज्जा॥

शैक्षतरस्य शिक्षा रत्नाधिकस्य संबंधिनो वस्त्रादेः प्रेक्षां प्रति लेखनां कुर्वन्ति। तथा तद्योग्यां भिक्षामानयन्ति। कृतकर्म्म विनयो विश्रामणा तत्कुर्वन्ति किमुक्तं भवति यदाज्ञापयन्ति तत्कुर्वन्ति वाचनादिपरिश्रान्तस्य च विश्रामणामिति स चापि रत्नाधिकस्तान्प्रवाचयति सूत्रं पाठयत्यर्थं च श्रावयतीत्यर्थः। कारणे असती इत्यस्य व्याख्यानमाह (न पुहुव्वंते इत्यादि) ते शैक्षतरशिष्या ग्लानादिषु प्रयोजनेषु व्यापृतास्ततो न प्रभवन्ति न प्रपारयन्ति सहायं न दद्यात्। यदि वा द्वावेव तौ जनौ ततः किं दीयतामिति न दद्यात्।

अधुना, "सभावो वा", इत्यस्य व्याख्यानमाह।

अत्तीकरेज्जा खलु जो विदिण्णे, एसोवि मज्झंति महंतमाणी।
न तस्स तं देइ वहिं तु नेउं, तत्थेव किच्चं पकरेंति जं से॥

यो वितीर्णान्साधूनात्मी कुर्यात् यश्चैषोऽपि शिक्षाधिपतिः शैक्षतरको ममेति महामानी तस्य तान्साधून् बहिस्तस्मात् स्थानादन्यत्र विहारक्रमेण नेतुं न ददाति किंतु यत् (से) तस्य कृत्यं करणीयं तत्रैव स्थितस्य तत् कुर्वन्ति अथवा

वारेण य से देइ, न य दावेइ वायणं।
तहा वे भेदमिच्छंते, अविकारी उ कारए॥

वारेण तस्य शुश्रूषकमेकैकं साधुं न युङ्क्ते न च तस्मात्साधूनां वाचनां दापयति मा स गणभेदं कार्षीरिति हेतोः। अथैवमपि दुःस्वभावतया गणभेदं करोति तत आह। तथापि क्रियमाणे गणभेदं कर्तुमिच्छति योऽविकारी दुर्भेदः साधुस्तेन तस्य कृत्यं कारयति (सूत्रं दो साहम्मिया इत्यादि) द्वौ साधर्म्मिकावेकतः संहतौ विहरतस्तद्यथा शैक्षो रत्नाधिकश्च। तत्र रात्निकः परिच्छन्नः परिवारोपेत इत्यर्थः। शैक्षतरकोऽपरिच्छन्नः परिवाररहितस्तत्र रात्निके रत्नाधिकस्येच्छा यदि प्रतिभासते शैक्षतरकमुपसंपद्यते अथ नेच्छा न प्रतिभासते तर्हि नोपसंपद्यते भिक्षामुपयातं च कल्प्यं यदीच्छा तर्हि ददाति अथादातुमिच्छा तर्हि न ददाति एष सूत्रसंक्षेपार्थः। अधुना भाष्यविस्तारः -

रायणिय परिच्छन्ने, उवसंपपलिच्छओ य इच्छाए।
सुत्तत्थकारणे पुण, परिच्छयं वेंति आयरिया॥

रात्निके रत्नाधिके द्रव्यतः परिच्छन्ने परिवारोपेते स तेन शैक्षतरकस्य उपसंपत्परिच्छेदश्च इच्छया दातव्यः। इयमत्र भावना। स यदि शैक्षतरकोऽवमरत्नाधिकस्तुल्यश्रुतो गुरुरत्नाधिकेन सह ततः स रत्नाधिकश्चिन्तयति मा नूनमेतस्य भिक्षाहिण्डनव्याक्षेपेण च सूत्रार्था नश्येयुस्ततः संघाटं ददाति अथवा मा एष मम कुलवासी सहाध्यायी द्रव्यपरिच्छदेनापरिच्छदो भूयात्सहाध्यायात्तेनाति–स्नेहतः संघाटं ददात्यालोचनां प्रयच्छति। अल्पश्रुतस्य परिच्छदमुपसंपदां वा न ददातीति। अथ स शैक्षतरको रत्नाधिकाद्बहुश्रुतस्तदा नियमत उपसंपत्तव्यः। परिच्छदश्च तस्य दातव्यस्तथा चाह सूत्रार्थ कारणात् सूत्रार्थं गृहीतुकामाः पुनराचार्या उपसंपद्यन्ते परिच्छदं च ददति। एतदेव स्पष्टयति।

सुत्तत्थं जइ गेण्हइ, तो से देइ परिच्छदं।
गहिएवि देइ संघाडं, मा से नस्से य तं सुयं॥

यदि स रत्नाधिकस्ततः सूत्रार्थं गृह्णाति ततः (से) तस्य ददाति परिच्छदं परिवारं गृहीतेऽपि सूत्रार्थे ददाति संघाटं कस्मादित्याह। मा (से) तस्य भिक्षाटनव्याक्षेपतः प्रतिलेखनाव्याक्षेपतश्च तत् श्रुतं नश्येदिति हेतोः।

अबहुश्रुतादौ तु न ददाति इत्येतद्भावयति।

अबहुस्सुते न देंति, निरुबहते तरुणये य संघाडं।
घेत्तूण जाव वज्जइ, तत्थ य गोणी य दिट्ठंतो॥

अबहुश्रुतो निरुपहतपञ्चेन्द्रियस्तरुणकश्च तस्मिन् सत्स्वपि साधुषु सघाटं न ददाति सहायान्न ददातीति भावः। यो वा गीतार्थोऽपि सन् प्रदत्तान् सहायान्विपरिणम्य गृहीत्वा व्रजति तस्यापि सत्स्वपि साधुषु सहायान्न ददाति तथा च तत्र दुष्ट शीलतया गवां दृष्टान्तस्तमेव भावयति।

साडगवद्धा गोणी, जह तं खेत्तं पलाति दुस्सीला।
इय विप्परिणामेते, तम्मि न देज्जा सहाए य॥

यथा कस्यापि गौः पलायिता ततः कथमपि लब्धा सती तेन शाटके बद्धा यथा शाटकबद्धा दुःशीला गौस्तं शाटकं गृहीत्वा पलायते इति एवममुना प्रकारेण यो विपरिणामयति सहायान् तस्मिन्वि परिणामयति सहायान्न दद्यात्।

(५)सांभोगिकासांभोगिकयोः सहमिलितयोराचार्याद्योः समाचारीमाह॥

(सूत्रम) दो साहम्मिया एगतो विहरंति तं जहा से

हे य रायणिए य तत्थ रायणिय पालिच्छिन्ने सेहतराए अपलिच्छिन्ने रायणिए इच्छा सेहतरा य उवसंपज्जेज्जा। इच्छा नो उवसंपजेज्जा इच्छा भिक्खोववायं दलाति कप्पाग इच्छाए णो दलाति।२४। दो भिक्खू णो एगतो विहरंति णोण्हं कप्पति अण्णमण्णस्स उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पति ण्हं आहारातिणियाए अण्णमहं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।२५। एवं दो गणावच्छेया।२६। दो आयरियउवज्झाया।२७। बहवे भिक्खुणो णो ततो विहरति णोण्हं कप्पइ अण्णमण्णस्स उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पति ण्हं आहारातिणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरंतिए २८ एवं बहवे गणावच्छेइया २९ बहवे आयरियउवज्झाया ३० भिक्खू णो बहवे गणावच्छेइया तहेव आयरियउवज्झाया एगतो विहरंति णो ण्हं कप्पति अण्णमण्णे उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए वासावासवत्थए कप्पति पवितिणीए कप्पति पवितिणीए कप्पत्तिं ण्हं आहारायणिआए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए हेमंतगिम्हेसु॥३॥

(अत्र चतुर्विंशतितमसूत्रस्य व्याख्याग्रंथकृता न व्याख्यातेत्यस्माभिरपि न व्याख्यायते) एवं दो भिक्खू णो एगतो विहरति इत्यादि सूत्रसप्तकं सुगमम्।

अस्य संबन्धमाह -

संखहिगारा तुल्ला, धिगारियाए सलेसते जोगो।
आयरियस्स व सिस्सा, भिक्खु अभिक्खू अहतिभिक्खू॥

अनन्तरसूत्रे, "दो साहम्मिया" इत्यादिलक्षणे द्विकलक्षणा संख्याऽधिकृता अत्रापि सैव, "दो भिक्खुणो" इत्यादिवचनात्ततः संख्याधिकारात्तुल्याधिकारिता पूर्वसूत्रेण सहास्य सूत्रस्येत्येष लेशत आद्यसूत्रस्य योगः संबन्धः। अथवा पूर्वसूत्रे रत्नाधिकपदेनाचार्य उपात्तः। आचार्यस्य च शिष्यो द्विधा भिक्षुरभिक्षुश्च। तत्रभिक्षुः प्रतीतोऽभिक्षुर्गणावच्छेदक उपाध्याय आचार्यो वा। तत आचार्यसूत्रात्प्रागुक्तादयानन्तरं भिक्षूसूत्रमुक्तम्।

शेषसूत्रसंबन्धप्रतिपादनार्थमाह -

एमेव सेसएसु वि, गुणपरिवड्ढी य ठाणलंभावे।
दुप्पभिई खलु संखा, बहुपिंडो उ तेणं परं॥

एवमेव पूर्वोक्तप्रकारेणैव शेषयोरपि गणावच्छेदकाचार्यसूत्रयोः संबन्धस्तथा ह्याचार्यस्य शिष्यो भिक्षुरभिक्षुश्च तत्र भिक्षुसूत्रमुक्तं तदनन्तरमभिक्षोर्गणावच्छेदकस्याचार्यस्य च सूत्रे। अथ गुणरिबुद्ध्या स्थानलाभो भवति तथा हि भिक्षुर्गुणाधिकत्वेन गणावच्छेदकस्थानं लभते गणावच्छेदको गुणाधिकतया आचार्यो पाध्यायस्थानमतो भिक्षुसूत्रानन्तरं क्रमेण गणावच्छेदकाचार्योपाध्यायसूत्रे तथा द्विप्रभृतिका खलु संख्या बहुका भवति ततो द्वि संख्यासूत्रत्रयानन्तरं बहुसंख्यासूत्रत्रयं बहूनां च परस्परमुपसंपन्नानां पिण्डो भवति तेन बहुसंख्यासूत्रत्रयात्परं पिण्डः पिण्डसूत्रमुक्तमिति एवमनेन संबन्धजातेनायातस्यास्य सूत्रसप्तकस्य व्याख्या। द्वौ भिक्षू एकत्र संहतौ विहरतो णोणमिति वाक्यलङ्कारे कल्पते अन्योन्यमुपसंपद्य विहर्तुं कल्पते। ण्ह मिति पूर्ववत् यथा रत्नाधिकतया अन्योन्यमुपसंपद्य विहर्तुमेवं गणावच्छेदकसूत्राचार्योपाध्यायसूत्रं च भावनीयमेवं बहुसंख्यासूत्रत्रयं पिण्डसूत्रं चेति सूत्रसप्तक-संक्षेपार्थः।

संप्रत्याद्यभिक्षुसूत्रव्याख्यानार्थमाह -

संभोइयाण दोण्हं, खेत्तादी पेहकारणगयाणं।
पंथे समागयाणं, भिक्खूण इमा भवे मेए॥

द्वावाचार्यावन्यस्मिन्नन्यस्मिन् क्षेत्रे स्थितौ तौ च परस्परं सांभोगिकौ तयोः सांभोगिकयोर्द्वयोराचार्ययोर्भिक्षवस्ताभ्यां प्रेषिताः क्षेत्रादिप्रेक्षाकारणगताः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थमादिशब्दादुपधिमार्ग--णार्थं वा गतास्ते च तथा गच्छन्तः पथि समागताः परस्परं मिलिताः। तेषां चैकेन यथा गन्तव्यमतस्तेषां क्षेत्रादिप्रेक्षाकारणगतानां पथि समागतानां भिक्षूणां या मर्यादा समाचारी सा इयं वक्ष्यमाणा भवति। तामेवाह -

भिक्खुस्स मासियं खलु, पलिछण्णणं च सेसगाणं तु।
चउलहुग अपलिछन्ने, तम्हा उवसंपया तेसिं॥

यौ द्वौ भिक्षू स्पर्द्धकपती तयोः शैक्षतरकेण रत्नाधिकस्य पुरतः आलोचयितव्यम्। तेनालोचिते पश्चात् रत्नाधिकेन शैक्षतरकस्य पुरत एवमकरणे भिक्षोः शैक्षरत्नाधिकस्य च प्रायश्चित्तं खलु मासिकं मासलघु "पलिच्छन्नाणं चेत्यादि" एतद्बहुसंख्याविशिष्टस्य भिक्षुसूत्रस्य व्याख्यानम्। परिच्छन्नानां जघन्यतोऽप्यात्मतृतीयानां शेषकाणां चात्मद्वितीयानां यथोक्तविध्यकरणे प्रायश्चित्तं मासलघु। तत्र यद्येकोऽपरिच्छन्नस्तर्हि तेनान्य आत्मद्वितीय आत्मतृतीयो वा उपसंपत्तव्यो नो चेदुपसंपद्यते तर्हि तस्मिन्नपरिच्छन्नेऽनुसंपद्यमाने प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकास्तं चोपसंपद्यमानं यो नोपसंपदा प्रतीच्छति तस्य मासलघु यत एवं तस्मात्परस्परमुपसंपत्तेषां भवति कर्तव्या। एनामेव निर्युक्तिगाथां भाष्यकृद् व्याचिख्यासुः प्रथमतो भिक्खुस्स मासियं खल्वित्येतद्व्याख्यानयति।

दो भिक्खु अगीयत्था, गीया एको व होज्ज उ अगीतो।
राइणियपलिच्छन्ने, पुव्वं इयरेसु लहु लहुगा॥

द्वौ भिक्षू अगीतार्थौ यदि वा द्वावपि गीतार्थौ यदि वा द्वावपि गीतागीतार्थौ तयोः परस्परस्यालोचनमन्यथा प्रायश्चित्तं मासलघु। अथवा एको गीतार्थः तत्र रत्नाधिके परिच्छन्ने भावपरिच्छेदोपेते गीतार्थे इत्यर्थः पूर्वमालोचयितव्यं पश्चादितरेष्वगीतार्थेषु रत्नाधिकेन एवं चेत्ते न कुर्वते तर्हि रत्नाधिके प्रायश्चित्तं मासलघु। इतरेषां चत्वारो लघुकाः। एनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतो "दो भिक्खू अगीयत्था गीया" इत्येतद्विवृणोति।

दोसु अगीयत्थेसुं, अहवा गीतेसु सेहतरो पुव्विं।
जइ मा लायइ लहुओ, न विगडेइ परो वि जइ पच्छा॥

द्वयोर्भिक्ष्वोरगीतार्थयोरथवा गीतार्थयोर्मध्ये यदि शैक्षतरः पूर्वं रत्नाधिकस्यपुरतो नाचलोयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः। इतरोऽपि रत्नाधिकोऽपि यदि पश्चात्तस्य शैक्षतरस्य पुरतो न विकटयति तदा तस्यापि प्रायश्चित्तं मासलघु। तत्र यदि द्वावप्यगीतार्थौ तदा परस्परस्यविहारालोचनैव केवला नापराधालोचनापि। अथ द्वावपि गीतार्थौ तदा परस्पर -विहारालोचना अपराधालोचना च। अथैको गीतार्थोऽपरश्चागीतार्थस्तत्रालोचनाविधिमाह -

राइणिए गीयत्थे, राइणिए चेव वियडणा पुव्विं।
देइ विहारवियडणं, पच्छा रा णितो सेहे॥

यदि रत्नाधिको गीतार्थ इतरो ऽगीतार्थस्तर्हि गीतार्थे रत्ना-

धिके सति रत्नाधिके एव पूर्वं शैक्षतरेण विहार विकटना अपराध विकटना च दातव्या तत्पश्चात् रत्नाधिकः शैक्षे शैक्षतरकस्य विहारविकटनां ददाति। अथ शैक्षतरको गीतार्थो रत्नाधिकस्त्वगीतार्थस्तत्राह -

सेहतरगे वि पुव्वं, गीयत्थे दिज्जए पगासणया।
पच्छा गीयत्थो वि हु ददाति आलोयणमगीते ॥

यदि गीतार्थः शैक्षतरकस्तर्हि तस्मिन् गीतार्थे शैक्षतरकेऽपि पूर्वं रत्नाधिकेन प्रकाशना विहारविकटना अपराधविकटना चेत्यर्थः दीयते पश्चात् गीतार्थोऽपि सन् स शैक्षतरको हु निश्चितमगीते रत्नाधिके आलोचनां विहारालोचनां ददाति न त्वपराधालोचनां कस्मादित्याह -

अवराह विहारप्पगासणाउ, दोण्णि वि भवंति गीयत्थे।
अवराहपये मुत्तुं, पगासणं होतु ऽगीयत्थे ॥

अपराधप्रकाशना विहारप्रकाशना च एते द्वे अपि प्रकाशने भवतो गीतार्थे। अगीतार्थे पुनरपराधपदं मुक्त्वा शेषस्य विहारस्य प्रकाशनं भवति विहारालोचना भवति नापराधालोचनेति भावः। अगीतार्थतया तस्यापराधालोचनानर्हत्वात्।

संप्रत्युपसंहारमाह -

भिक्खुस्सेगस्स गयं, पलिछन्नाणं इयाणि वोच्छामि।
दव्वपलिच्छाएणं, जहण्णेणं अप्पतइयाणं ॥

"भिक्खुस्स मासियं खल्वि" त्यनेन पदेन यदेकस्य भिक्षोर्वक्तुमुपक्रान्तं तद्गतं परिसमाप्तमिदानीं द्रव्यपरिच्छेदेन परिच्छन्नानां जघन्येनात्मतृतीयानां यद्वक्तव्यं तद्वक्ष्यामि। तदेवाह -

तेसिं गीयत्थाणं, अगीतमिस्साण एस चेव विही।
एत्तो सेसाणं पि य, वोच्छामि विहिं जहाकमसो ॥

तेषां परिच्छेदेन परिच्छन्नानां जघन्यत आत्मतृतीयानां बहूनां सर्वेषां गीतार्थानामथवा अगीतार्थानां यदि वा मिश्राणां केषांचिद्गीतार्थानां केषांचिदगीतार्थानामित्यर्थः। एष एवानन्तरो दिक्षुगत आचार्याणामालोचनाविषयो विधिरवसातव्यो व्यतिरेके च प्रायश्चित्तमपि तथैव। अत ऊर्द्धं शेषाणामपि विधिं यथाक्रमशो यथाक्रमेण वक्ष्यामि। तत्र शेषशब्दवाच्यानुपदर्शयति -

सेसा ते भण्णं ती, अप्पवितिया उ जे तहिं केई।
गीयत्थमगीमत्थे, मीसे य विहि उ सो चेव ॥

शेषा नाम ते भण्यन्ते यत्र तेषां बहूनां भिक्षूणां मध्ये के चिदात्मद्वितीयास्तस्मिन् शेषे गीतार्थे अगीतार्थे मिश्रे च स एव पूर्वोक्तोविधिरालोचनाविषयस्तद्व्यतिरेके प्रायश्चित्तविधिश्चावसातव्यः ॥

संप्रति चशब्दव्याख्यानमाह -

संजोगा उ चहद्देण, अहिगया जह एगो दो चेव।
एगो जइ न वि दोण्हिं, उवगच्छे चउलहु तो से ॥

परिच्छन्नानां चेत्यत्र च शब्देन संयोगा अधिकृताः सूचिता इत्यर्थस्तानेवोपदर्शयति। तथा चेति भङ्गोपदर्शने एकत एको भिक्षुरपरतो द्वौ भिक्षू तत्रैकेनात्मद्वितीय उपसंपत्तव्यो यदि पुनरेको द्वावुपगच्छति उपसंपद्यते तदा (से) तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः।

पच्छा इतरे एगं, जइ न उवगच्छे मासियं लहुयं।
जत्थ वि एगो तिण्णि न उवगमे तत्थ वी लहुगा ॥

एकस्मिन्नुपसंपन्ने पश्चादितरावप्युपसंपद्येते यदि पुनरेकं तावितरौ पश्चान्नोपगच्छेतां तदा तयोर्मासिकं प्रायश्चित्तं लघुकं। यत्रापि भङ्गे एकत एकोऽपरत्र त्रयस्तत्र यदि परस्परमुक्तप्रकारेण नोपगमस्तदा प्रायश्चित्तं लघुकाः। किमुक्तं भवति। यद्येकस्त्रीन्नोपगच्छति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकास्तंचेदुपगच्छन्तं पश्चादितरे त्रयो नोपगच्छन्ति तर्हि तेषां प्रायश्चित्तं लघुको मासः ॥

एमेव अप्पवीतो, अप्पतइयं तु जइ न उवगच्छे।
इयरेसि मासलहुयं, एवमगीए य गीए य ॥

एवमेव अनेनैवान्तरोदितेन प्रकारेणात्मद्वितीय आत्मतृतीयं यदि नोपगच्छति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। इतरश्चेत्यनुपगच्छन्तं नोपगच्छेत्तदा तस्य मासिकं लघु इतरेषामेक आत्मतृतीयोऽपर आत्मचतुर्थ इत्येवमादीनां परस्परमनुपगमे प्रायश्चित्तं मासलघु। एवमुक्तप्रकारेणागीते अगीतार्थानां गीते गीतार्थानां च द्रष्टव्यम्।

मिश्रानधिकृत्याह -

मीसाण एगो गीतो, होंति अगीया उ दोण्हि तिण्णि वि वा।
एवं उवसंपन्ने, ते उ अगीया इहरमासे ॥

मिश्राणां मध्ये एक एकाकी गीतो गीतार्थोऽपरे तु द्वौ त्रयो वा भवन्त्यगीता अगीतार्थाः तत्र तेऽगीता एकमुपसंपद्येरन्। इतरथा चेन्नोपसंपद्यन्ते तर्हि तेषां प्रायश्चित्तं लघुको मासः।

सो वि य जइ न वि इयरे, तस्स वि मासो उ एव सव्वत्थ।
उवसंपया उ तेसिं, भणिया अण्णोण्णनिस्साए ॥

सोऽपि चैको यहि तान् इतरानुपसंपद्यमानान् नोपसंपद्यते तदा तस्यापि प्रायश्चित्तं मासो लघु। एवमेक आत्मद्वितीयो गीतार्थोऽपर आत्मतृतीय आत्मचतुर्थ इत्यादौ सर्वत्र भावनीयमेवमन्योन्यनिश्र-याप्राक् द्वारगाथायां तेषामुपसंपद्गणिता उपदिष्टा -

अण्णोण्णनिस्सियाणं, अगीयाणं पि उग्गहो तेसिं।
गीयपरिग्गहियाणं, इच्छाए तेसिमो होइ ॥

अन्योन्यनिश्चितानां तेषामगीतानामपि गीतपरिगृहीतानामवग्रहो भवति। अवग्रहो नाम आभवनव्यवहारः स च द्विधा इच्छया सूत्रोक्तश्च। तत्रेच्छया तेषामयं वक्ष्यमाणो भवति तमेवाह -

इच्छियपडिच्छियाए, ण खेत्त वसही य दोण्ह वी लाभो।
इच्छं तो न होइ उग्गहो, निक्कारणकारणे दोण्हं ॥

इच्छाया अवग्रहो नाम इच्छितप्रतीच्छितेन इच्छा संजाताऽस्येति इच्छितं प्रतीच्छ संजाता अस्येति प्रतीच्छितम् इच्छितं च तत् प्रतीच्छितं च इच्छितप्रतीच्छितम्। वाचा आभवनव्यवहारस्थापना। यथा यत्पथि लभ्यते तदस्माकं यत् ग्रामे तत् युष्माकं यदि वा यत्सचित्तं तदस्माकं यदचित्त तत् युष्माकम्। अथवा या स्त्री व्रतग्रहणार्थमुपतिष्ठति सा अस्माकं पुरुषो युष्माकम् यद्वा बालो युष्माकं वृद्धोऽस्माकम् अथवा यः सार्थेन सह व्रजतां लाभः सोऽस्माकमसार्थे सुष्माकम्। यदि वा यो यल्लभते तत्तस्यैव एवं भूतेन इच्छितप्रतीच्छितेन य आभवनव्यवहारः स इच्छाया अवग्रहः। एष च प्रायः पथि गच्छतां भवति स्थानप्राप्तानां सूत्रोक्त आभवनव्यवहारस्ततस्तमुपदर्शयति। समकालं क्षेत्रे प्राप्तानामक्षेत्रे वा वसतिं प्राप्तानां द्वयानामपि लाभः साधारणः। अथ न क्षेत्रमक्षेत्रं वा वसतिं समकालं प्राप्ताः किंतु विषमकालं तत आह (इच्छंतो न होति इत्यादि) यदि निष्का-

रणं स्थिता इति पश्चात्प्राप्तास्तदा नास्ति तेषामवग्रहः किं तु पूर्वप्राप्तानामेव । अथ कारणेन केनापि ग्लानप्रतिजागरणादिना स्थितास्ततः पश्चात् प्राप्तास्तर्हि भवति द्वयानामपि साधारणोऽवग्रहः। एतदेव स्पष्टतरमुपदर्शयति –

समअं पत्ताणं साहारणं तु दोण्हं पि होति तं खेत्तं ।
विसमं पत्ताणं पुण, इमा उ तहिं मग्गणा होइ ॥

समकमेककालं प्राप्तानां द्वयानामपि तत् क्षेत्रं भवति साधारणं विषमं विषमकालं प्राप्तानां पुनरियं तत्र क्षेत्रे मार्गणा भवति । तामेव कुर्वन्नाह -

पडियरए व गिलाणं, सयं गिलाणो उरे व मंदगती ।
अप्पत्तस्स वि एएहि, उग्गहो दप्पतो नत्थि ॥

प्रतिचरति वा प्रतिजागर्त्ति ग्लानं यदि वा स्वयं ग्लान आतुरो वा यदि वा स्वभावान्मन्दगतिरेतैः कारणैरप्राप्तस्यापि समकालं पश्चात्प्राप्तस्यावग्रहो भवति दर्प्पतो निष्कारणं स्थितानां पुनरव ग्रहो नास्ति ।

एमेव गणावच्छेए, पलिच्छण्णाणं च सेसगाणं तु ।
पलिच्छन्ने ववहारो, दुविहो वायंतिओ नाम ॥

यथा भिक्षोरेकस्य बहूनां परिच्छन्नानां शेषकाणां चोक्तमेवमेव अनेनैव प्रकारेण एकस्मिन् गणावच्छेदे बहूनां परिच्छन्नानां जघन्यतोऽप्यात्मतृतीयानां शेषकाणां वशत आत्मद्वितीयानां तुशब्दादेकत एकोऽपरत आत्मद्वितीय इत्यादि संयोगगतानां च निरवशेषं वक्तव्यम् । तत्र परिच्छन्ने ज्ञातावेकवचनं परिच्छन्नानामुपलक्षणमेतत् परमुपसंपन्नानां चाभवनव्यवहारो द्विधा भवति । सूत्रोक्तो वागन्तिकश्च । वाचा अन्तः परिच्छेदो वागन्तस्तेन निर्वृत्तो वागन्तिकस्तत्र वागन्तिको नाम वक्ष्यमाणस्तमेवाह ।

पहि गामे चित्तमचित्तं, पुरिसं वा वालवुड्ढसत्थादी ।
इच्छाए वा देती, जो जं लाभे भवे वितितो ॥

यत् पथि मार्गे लभ्यं तदस्माकं यत् ग्रामे तत् युष्माकम् । यदि वा यत्सचित्तं तत् युष्माकमचित्तमस्माकम् । अथवा स्त्री युष्माकं पुरुषोऽस्माकं । अथवा वृद्धो युष्माकं बालोऽस्माकम् । यदि वा (सत्थादी इति) सार्थे लभ्यं तत् युष्माकमसार्थेऽस्माकम् । अथवा इच्छया ददाति कथमित्याह यो यल्लभते तत्तस्य भवति एष सूत्रोक्त आभवनव्यवहारः । द्वितीयो वागन्तिक आभवनव्यवहारः । क्षेत्रप्राप्तानामक्षेत्रे वा वसतिं प्राप्तानां यः सूत्रोक्त आभवनव्यवहारः स भिक्षूणामिव प्रतिपत्तव्यः स चाविशेषणार्थो यदि वा द्वावप्यगीतार्थपरिगृहीतौ गीतार्थनिश्रां प्रतिपन्नौ समकमेककालं प्राप्तौ ततस्तयोः साधारणं क्षेत्रमाभवति । सति विद्यमाने कार्ये ग्लाने प्रतिजागरणादिलक्षणे ये स्थिता अगीतार्था असमाप्ताश्च ततः समाप्तानां साधारणं क्षेत्रम् । ये पुनरगीतार्था अपि च पूर्वं प्राप्ता गीतार्थाः समाप्ताश्च निष्कारणं प्राक् स्थित्वा प्राप्तास्तदा असमाप्तानामप्यगीतार्थानाम् । अपि च तत्क्षेत्रं पूर्वं प्राप्तत्वान्न गीतार्थः समाप्तावपि च तस्य क्षेत्रस्य प्रभुर्निष्कारणं स्थित्वा पश्चात्प्राप्त-वान् ॥

समपच्छकारणेणं, खेत्ते वसहीए दोण्ह वी लाभो ।
एयणिए होति उग्गहो, गीयत्थसमम्मि दोण्हं पि ॥

समं समकमेककालं करणेन पश्चाद्वा क्षेत्रे अक्षेत्रे वा वसतौ प्राप्तयोर्द्वयोरपि लाभः साधारणः । अत्र पुनर्यदि विशेषविवक्षा क्रियते तदा यो रत्नाधिकस्तस्मिन्नवग्रहो भवति । यद्यपि नाम द्वयोरपि साधारणो लाभस्तथापि यथा संघाटकेन भिक्षां हिण्डमानयो रत्नाधिकस्य लाभे भण्यते एवमिहापि रत्नाधिकस्यावग्रहः । अथैको गीतार्थ परोऽगीतार्थस्तत्र यदि रत्नाधिकोऽगीतार्थो ऽवमरत्नाधिको गीतार्थस्ततोऽवमरत्नाधिकस्यावग्रहः । अथ द्वावपि समानार्थौ तत आह । समे गीतार्थे परस्मिन्समकं च प्राप्ते द्वयोरपि साधारणोऽवग्रहः । तदेवं द्विसंख्याकगणावच्छेदकसूत्रमिति भावितमेवं द्विसंख्याकाचार्योपाध्यामपि भावनीयम् ॥

इदानीं बहुत्वसूत्राणि पिण्डसूत्रं चातिदेशत आह–

एमेव बहूणं पि, पिंडे नवरोग्गहस्स उ विभागो ।
किं कतिविहो कस्स व कम्मि व, केवइयं वा भवे कालं ॥

एवमेव बहूनामपि भिक्षुप्रभृतीनां सूत्राणि भावनीयानि द्विकसूत्रापेक्षया बहुत्वसूत्राणामर्थतो नानात्वाभावात् पिण्डे पिण्डकसूत्रस्यापि स एवार्थो नवरमत्रावग्रहस्य विभागो वक्तव्यस्तमेवाह किं कतिविधः कस्य वा कस्मिन्वा कियन्तं कालं भवत्यवग्रहः । तत्र किमित्याद्यद्वार-व्याख्यानार्थमाह –

किं उग्गहोत्ति भणिओ, उग्गहो तिविहो ए होति चित्तादी ।
एक्केक्को पंचविहो, देविंदादी मुणेयव्वो ॥

किमवग्रह इमि भणिते पृष्टे सूरिराह । त्रिविधो भवत्यवग्रहश्चित्तादिः सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च । पुनरेकैकः कतिविध इति प्रश्नमुपजीव्याह स एकैकः पञ्चविधः पञ्चप्रकारो ज्ञातव्यः । कोऽसावित्याह देवेन्द्रादिः देवेन्द्रावग्रहो राजावग्रहो माण्डलिकावग्रहः शय्यातरावग्रहः साधर्म्मिकावग्रहश्च । गतं कतिविधद्वारम् । इदानीं कस्य न भवतीति प्रतिपादयति -

कस्स पुण उग्गहोत्ति, परपासंडीण उग्गहो नत्थि ।
निण्हे सेत्ते संजति, अगीते गीत एक्के वा ॥

कस्य पुनरवग्रहो भवतीति शिष्यप्रश्नमाशङ्क्य प्राच्यते परपाखण्डि–नामवहो नास्ति ये च निह्नवा ये च सन्ना याश्च संयत्यो गीतार्थरपरिगृहीता ये चागीतार्था गीतार्थनिश्रामनुपपन्ना यश्च निष्कारणमेकाकी गीतार्थ एतेषां सर्वेषामप्यवग्रहो नास्ति ।

एतदेव सुव्यक्तमाह -

असण्णाण बहूणं पि गीतमगीताण उग्गहो नत्थि ।
सच्छं दियगीयाणं, असमत्त अणीस गीए वि ॥

अवसन्नानां बहूनामपि गीतार्थानामगीतार्थानां चावग्रहो नास्ति (सच्छंदियगीयाणत्ति) ये गीतार्था अपि स्वच्छन्दिकाः स्वच्छन्दतयैव एकाकिनो विहरन्ति तेषामपि नास्त्यवग्रहः ।

तथा ये असमाप्ता असमाप्तकल्पाः यस्य च समुदायस्य न विद्यते गीतोऽगीतार्थ ईशस्तेषामपि नास्त्यवग्रहः ।

एवं ता सावेक्खे, निरवेक्खाणं पि उग्गहो नत्थि ।
मुत्तूण अहालंदे, तत्थ वि जे गच्छपडिबद्धा ॥

एवं तावत्सापेक्षे ज्ञातावेकवचनं सापेक्षिणामुक्तसापेक्षाणा-मस्थविरकल्पिका निरपेक्षा जिनकल्पिकादयस्तेषामप्यवग्रहो नास्ति । किमविशेषेण सर्वेषां नेत्याह । मक्त्वा यथालन्दान् तथात्रापि गच्छप्रतिबद्धान् तेषामवग्रहो भवति गच्छप्रतिबद्धत्वा-दन्येषां तु सर्वेषामपि नास्ति ॥

आसन्नतरा जाणंति, संजया सो व जत्थ नित्थरइ ।
तहियं देंतुवदेसं, आयपरं ते न इच्छंति ॥

तेषां गच्छनिर्गतानां जिनकल्पिकादीनां यो व्रतग्रणार्थमुपतिष्ठति तं तेन प्रव्राजयन्ति तथाकल्पत्वात्किं तु ये तत्रासन्नतराः संयताः स्थितास्तत्रोपदेशं ददति यथा अमुकानां समीपे गत्वा प्रव्रजेति। अथवा जानन्ति श्रुतवलतो ये दूरे स्थितास्तत्र स एष निस्तरिष्यति। तदेतत् ज्ञात्वा यत्र स निरस्तरति तत्रोपदेशं प्रयच्छन्ति। परमार्थतः पुनस्ते आत्मपरमागच्छपरगच्छविभागं नेच्छन्ति स्थविरकल्पादुत्तीर्णत्वात्।

अगीयसमणसंजइ–गीयत्थपरिग्गहाण खेत्तं तु।
अपरिग्गहाण गुरुगा, न लभति सीसे त्थ आयरिओ॥

अगीतानामगीतार्थनां श्रमणानां संयतीनां च गीतार्थपरिग्रहाणां गीतार्थपरिगृहीतानां क्षेत्रमवग्रहो भवति। इयमत्र भावना। ये गीतार्था अपि साधवो गीतार्थपरिगृहीता विहरन्ति वा अपि संयत्यो गीतार्थपरिगृहीता वर्तन्ते तेषामवग्रहो भवति ते च यदि साधवो यदि संयत्यो गीतार्थनिश्रामनुपपन्ना अगीतार्था विहरन्ति तदा तेषामपरिग्रहाणां गीतार्थपरिग्रहरहितानां विहरतां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका इत्येषां च संयतीनां च गीतार्थापरिगृहीतानां यः परिव्राजक आचार्यः सोऽत्र शिष्यान् स्वदीक्षितान् न लभते परिगृहीततयैव तेषां वीक्षणात्।

गीयत्थगते गुरुगा, असती एगणिए वि गीयत्थो।
समोसरणे नत्थि उग्गहो, वसहीए उ मग्गण अखेत्ते॥

ये ते स्वयं गीतार्था गीतार्थपरिग्रहरहिता वर्तन्ते यद्यन्यस्मिन् गीतार्थे आगते तस्योपसंपदं न प्रतिपद्यन्ते तदा तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। अथान्यो गीतार्थ उपसंपदनार्हो नायातः कारणवशतश्च कथमप्येकाकी जातस्तस्य गीतार्थस्याशठस्य परिवाररहितत्वेनैकाकिनोऽपि क्षेत्रमाभवति। गतं कस्येति द्वारम्। इदानीं कस्मिन्वेति द्वारमधिकृत्याह। यत्र यावन्ति दिनानि संघस्य समवसरणं तत्र तावन्ति दिनान्यवग्रहो न भवति एवं जिनस्नानादिषु मिलितानां यावन्महिमा तावदवग्रहाभावः। एतत्सर्वं समवसरणे नास्त्यवग्रहः इत्यनेन सूचितमेवमक्षेत्रेऽवग्रहाभावः। अक्षेत्रेऽपि वसतौ मार्गणाऽवग्रहस्य भवंति सा चैवमक्षेत्रे वसतिषु समकं स्थितानां साधारणं पश्चादागतानां क्षेत्रं तु न भवति।

सेसं सकोसजोयणं, पुव्वजहियं तु जेण तस्सेव।
समगोग्गहसाहारं, पच्छा गतो होइ उ अखेत्ति॥

शेषं क्षेत्रमवग्रहो भवति। तच्च प्रमाणतः सक्रोशयोजनं क्रोशसहित गव्यूतद्विकमित्यर्थः तत्रापि येन पूर्वमवगृहीतं तस्यैव तत्क्षेत्रमाभवति न शेषस्य। अथ समकमेव तस्यावग्रहः कृतस्तत आह साधारणं तदा तेषां क्षेत्रम्। यस्तु पश्चादागतः सभवत्यक्षेत्री न तस्याभवति क्षेत्रमिति भावः।

अण्णो गतो कहंतो, उवसंपण्णे तहिं च ते सव्वे।
संकंतो उ व कहेंते, साहारणे तस्स जो भागो॥

अन्यः कोऽप्याचार्यः कथयन् बहुश्रुतः पश्चादागतः ते च पूर्वस्थिताः सर्वेऽपि तस्मिन्नन्यागते कथयत्युपसंपन्नास्तदा तस्मिन् कथयति सोऽवग्रहः संक्रान्तस्तस्याभाव्यं तत्क्षेत्रं जातमिति भावः। अथ समकप्राप्ततया साधारणे क्षेत्रे स्थितानां मध्ये एकः कश्चनापि तं पश्चादागतमन्यमाचार्यं बहुश्रुतमुपसंपन्नास्तदा यस्यस्य भागस्तं तत्र कथयति संक्रान्तः।

निक्खित्तगणाणं वा, तेसिं वि य हारेइ तं तु खेत्तं तु
खेत्तभया वा कोई, माइट्ठाणेण सुण एवं॥

यदि क्षेत्रवतां शिष्य आगन्तुकमाचार्यमुपसंपन्नो यदिवाचार्यागणं शिष्यं गीतार्थे निक्षिप्य तमुसंपन्नास्तदा तेषामेव निक्षिप्तगणानां वाशब्दादुपसंपन्नतदेकशिष्याणां तत्क्षेत्रम्। किमुक्तं भवति यद्यत्तत्क्षेत्रात्सचित्तादिकमुत्पद्यते तत्तेषामेवाभवति यत्रागन्तुको न लभते कोऽपि पुनर्ममागन्तुकस्य पार्श्वे शृण्वतः क्षेत्रं यायादिति क्षेत्रभयादेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण मातृस्थानेन शृणोति। तमेव प्रकारमाह-

कुड्डेण चिलिमिलीए व, अंतरितो सुणइ कोइ माणेण।
अहवा चंकमणीयं करेंतो पुच्छागमो तत्थ॥

कुड्येन यदिवा चिलिमिलिन्या जवनिकान्तरितः सन् कोऽपि मानेन ममेदं सचित्तादिकमुत्पद्यते क्षेत्रमाभवति तन्मा इह तावदुत्तरत्विति क्षेत्रगर्वेण शृणोति। अथवा मानेनैव यथोक्तरूपेण चंक्रमणिकां कुर्वन् कोऽपि शृणोति तत्र यद्यपि स शृणोति तथापि तत्र पृच्छागमो भवति पृच्छा कर्त्तव्या भवति ततः पृच्छातोऽपि तस्य भवति क्षेत्रम्। अथ कतिभिः पृच्छाभिः कियन्तं कालं तस्याभवति क्षेत्रमित्याह।

पुच्छाहिं तिहिं दिवसं, सत्तहिं पुच्छाहिं मासियं हरइ।
अहवा दिवससमत्तो, इमो उ ते हिअं अहिज्जंते॥

तिसृभिःपृच्छाभिरेकं दिवसं यावत्तत्क्षेत्रं हरति पृच्छादिवसे यत्तस्मिन् क्षेत्रे सचित्तादिकमुत्पद्यते तत्कथयन्स लभते नेतरे इति भावः। सप्तभिः पृच्छाभिः पुनर्मासिकं पृच्छादिवसादारभ्य मासं यावत्सचित्तादिकमपहरतः तदेवं, "खेत्तभया वा कोइ", इत्यादि गाथा पश्चार्द्धं व्याख्यातमिदानीं, "निक्खित्तगणाणं चेत्यादि", पूर्वार्द्धं व्याख्यानयति। अथवा यो वक्ष्यमाणोऽन्यविशेषस्तस्मिन्नधीयानेऽध्यापयितरि। तमेवाह।

जति निक्खिऊण गणं, उवसंपाएह वा वि सीसं तु।
ता तेसिं चिय खेत्तं, वाएंतो लाभ खेत्त बहिं॥

यदि गीतार्थे गणं निक्षिप्य तमागन्तुकमुपसंपद्यते अथवा शिष्यं प्रेषयति तदा तेषामेव पूर्वस्थितानां तत्क्षेत्रमाभवति न तु वाचयतां वाचयति लाभस्तस्मात् क्षेत्राद्बहिः।

अह वेती वायंतो, लाभेण नत्थि हंति वच्चामो।
इहरेहि य सो रुद्धो, मा वच्चसु अम्ह साहारं॥

अथ ब्रूते वाचयत यथा नोऽस्माकमिह नास्ति लाभ इति व्रजाम एवमुक्ते इतरैः पूर्वस्थितैः स रुद्धो यथा मा व्रजत यूयं युष्माकमस्माकं च साधारणं क्षेत्रमिति। अथ साधारणेऽपि क्षेत्रे स्थिता न संस्तरन्ति तत्र विधिमाह -

निग्गमणे चउभंगो, निट्ठियसुहदुक्खयं जति करेंति।
निट्ठियपहावितो वा रुद्धो पच्छा य वाघातो॥

अथ साधारण क्षेत्रे स्थितास्ते न संस्तरन्ति तर्हि निर्गन्तव्य तत्र निर्गमने चतुर्भङ्गी वक्तव्या। गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् तथा यस्य श्रुतस्कन्धस्य निमित्तमुपसंपन्नास्तन्निष्ठितं तस्मिन्निष्ठिते समाप्ते भूयः क्षेत्रं साधारणं जातं तत्र यदि भूयः सुखदुःखतां कुर्वन्ति सुखदुःखनिमित्तमुपसंपदं प्रतिपद्यन्ते तथा निष्ठिते श्रुतस्कन्धे यः प्रधावितः पुनरपि प्रतच्छिकैः पश्चात् रुद्धां व्याघातो वाऽशिवादिभिः कारणैरुपजातस्तत्र यदाभाव्यं तद्वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः द्वारगाथासमासार्थः। सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषु प्रथमतो निर्गमनचतुर्भङ्गी माह -

वत्थव्व निंति न उ जे, पाहुण्णा ते न इयरे वा।
उभयं व नोभयं वा, चउभयणा होति एवं तु॥

यस्य ग्रामप्रधानस्य नगरप्रधानस्य वा नियोगेन तिष्ठन्ति साधवः स चतुर्द्धा। तद्यथा आगन्तुकभद्रको नामैको न वास्तव्यभद्रकः ॥१॥ वास्तव्यभद्रको नामैको नागन्तुकभद्रकः ।२। आगन्तुकभद्रको वास्तव्यभद्रकश्च ।३। नागन्तुकभद्रको नापि वास्तव्यभद्रकः ।४। एतच्चतुर्भङ्गीवशादधिकृताऽपि चतुर्भङ्गी जाता तद्यथा प्रथमभङ्गवशात् वास्तव्या निर्गच्छन्ति न प्राघूर्णिका नियोक्तुरागन्तुकभद्रकत्वात्। द्वितीयभङ्गवशात् प्राघूर्णिकाः निर्गच्छन्ति न इतरे द्वितीये भङ्गे नियोक्तुर्वास्तव्यभद्रकत्वाच्चतुर्थभङ्गवशात् उभयं प्राघूर्णिका वास्तव्याश्च निर्गच्छन्ति उभयानपि प्रति नियोक्तुरभद्रकत्वात्तृतीयभङ्गवशान्नोभयं वास्तव्याः प्राघूर्णिकाश्च निर्गच्छन्ति उभयानपि प्रति तस्य भद्रकत्वात्। एवममुना प्रकारेण चतुर्भजना चतुर्भङ्गी भवति। तत्र प्रथमं भङ्गमधिकृत्य विशेषमाह।

आगंतुयभद्दगम्मि, पुव्वट्ठिया गंतु जइ पुणो एज्जा।
तम्मि अपुण्णे मासे, संकामति पुव्वसिं खेत्तं॥

आगन्तुकभद्रके नियोक्तरि ये पूर्वस्थितास्ते वक्ष्यमाणचतुर्भागार्द्ध-भागगमनया यतनया गच्छन्ति। तथाऽप्यसंस्तरणे सर्वात्मना गच्छन्ति तेन गत्वा यद्यपूर्णे एव मासे तस्मिन् क्षेत्रे पुनरागच्छेयुस्तदानीं तेषां प्रत्यागतानां क्षेत्रं संक्रामति तेषां तदाभाव्यं भवतीति भावः। कारणतो गत्वा पुनरपूर्णे एव मासे प्रत्यागमनात्। अथ साधारणमुभयेषां तत्क्षेत्रमासीत्, मा वच्चसु अम्ह साहारमिति, व्यवस्थाकरणात्तदा तेषां पुनः प्रत्यागतानां साधारण्येन क्षेत्रं संक्रामति।

द्वितीयं भङ्गमधिकृत्याह॥

वत्थव्वमद्दगम्मि, संघाडगजयण तहविओ अलंभो।
आगंतुं वें ति तओ, अत्थितियो पवायगो नवरं॥

वास्तव्यभद्रके नियोक्तरि तेषामागन्तुकानामसंस्तरतामियं यतना। वास्तव्या आगन्तुकैः सममेकैकेन संघाटेन भिक्षां हिण्डन्ते अथ तथाप्यलाभस्तर्हि निर्गच्छन्ति। तत्रेयं भङ्गचतुष्टयेन यतना। आगन्तुकानां चतुर्भागो निर्गच्छति न वास्तव्यानाम्।१। वास्तयानां चतुर्भागो निर्गच्छति नागन्तुकानाम्।२। वास्तव्यानामापि चतुर्भाग आगन्तुकानां च चतुर्भागः ।३। उभयेषामपि न चतुर्भागो गमने चतुर्थः।४। स चात्र शून्यो गमनमन्तरेण संस्तरणात्। एवमप्यसंस्तर–णेऽर्द्धाऽर्द्धगमने यतना प्रथमभङ्गेऽपि द्रष्टव्या। स चात्रापि पूर्वप्रकारेण शून्यः। अथैवमपि न संस्तारन्ति ततः आगन्तुकाः सर्वे निर्गच्छन्ति नवरमेकः प्रवाचकस्तिष्ठति येन वास्तव्यान्प्रवाचयति। अथ सोऽप्यसंस्तरेण स्वशिष्यैः सह गतस्ते च वास्तव्यास्तमुपसंपन्ना यदि, "मा वच्चह साहारमिति, व्यवस्थाकरणत उभयेषां साधारणं तत्क्षेत्रं ततो यदि गत्वा पुनरपूर्णे एव मासे तत्र क्षेत्रे प्रत्यागच्छन्ति तदा कृतायामुपसंपदि तेषामेव प्रत्यागतानां क्षेत्रमाभाव्यतया साधारणेन। सांप्रतमनयोरेव भङ्गयोराभवनव्यवहारशेष उच्यते। अत्र पतितं, नियट्टिसुहदुक्खयं जति करेंती, ति द्वारमस्य व्याख्यानामार्थमाह।

सुहदुक्खितो समत्ते, वाएंतो निग्गएसु सीसेसु।
व इअंतो विहता, निग्गयसीसो समत्तम्मि॥

इदमुक्तमागन्तुकाः सर्वेऽपि निर्गच्छन्ति केवलमेव प्रवाचकोऽवतिष्ठते तत्र यदि निर्गतेषु शिष्येषु वाचयन् प्रवाचकः समाप्ते श्रुते सुखदुःखितः सुखदुःखनिमित्तमुपसंपदं ग्राहितस्तथा तस्य वान्यस्याभवति तत् क्षेत्रम्। इदं द्वितीयभङ्गमधिकृत्योक्तम्। प्रथमभङ्गमधिकृत्याह। तथा वाच्यमानो निर्गतशिष्यः समाप्ते श्रुते वक्तव्यः किमुक्तं भवति यदि वाच्यमानो निर्गतेषु शिष्येषु वाचनाग्रहणाय पश्चात् स्थितः समाप्ते श्रुतस्कन्धे वाचयता सुख–दुःखनिमित्तमात्मोपसंपदं ग्राहितस्तदा वाचयत आभवति क्षेत्रम्॥

दोण्ह वि विणिग्गएसुं, वाएंतो तत्थ खेत्तितो होइ।
तम्मि सुए असमत्ते, समत्ते तस्सेव संकम्मति॥

तद् द्वयोरपि शिष्येषु विनिर्गतेषु तावेव द्वौ केवलौ तिष्ठतस्तत्र यावदद्यापि तत् श्रुतं न समाप्यते तावत्तस्मिन् श्रुते असमाप्ते तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये वाचयन् क्षेत्रिको भवति समाप्ते पुनः श्रुतस्यैव पूर्वस्थितस्य तत्क्षेत्रं संक्रामति। अथ द्वावपि परस्परं सुखदुःखोपसंपदं प्रतिपन्नौ तदा साधारणं क्षेत्रमिति यो यल्लभते तस्य तदाभवतीति।

संथरे दो वि ननिंति, बहवे उववाइया उ जइ सीसा।
लाभो नत्थि महंति य, अहव समत्ते पधाविज्जा॥

संस्तरे संस्तरणाद्वयेऽपि पूर्वास्थिता आगन्तुकाश्च न निर्गच्छन्ति। तैश्च पूर्वस्थितैर्यदि बहवः शिष्या उपपादिता उत्पादितास्तदा स आगन्तुको नास्ति मम लाभ इति विचिन्त्य प्रधावेत् गच्छेत् अथ ते निक्षिप्तगणास्तस्य समीपे वाचयन्ति तेषां शिष्यो वा तत आह। अथवा समाप्ते श्रुते प्रधावेत् संप्रति, निट्ठियपहाविओ वा रुद्धो पच्छा य वाघातो, इत्येतद् व्याख्यानयति॥

जइ वायगो समत्तो, निंति उ पडिच्छएहि रुंधेज्जा।
असिवादिकारणे वा, तत्तो लाभो इमो होइ॥

यदि समाप्ते श्रुते ततः क्षेत्रात् वाचको निर्गच्छन् प्रतीच्छिकैरुच्यते यथा मा निर्गच्छत यूयं वयमद्यापि वाचयिष्याम इति। यदि वा निर्गतो बहिरशिवादीनि कारणान्युपस्थितानि ततो व्याघात इति कृत्वा न निर्गच्छति तदा तस्मिन्प्रतिच्छिकैरवरोधनात् पश्चाद् व्याघाताद्वा अनिर्गच्छति तस्यायमायो लाभो भवति। तमेवाह –

आयसमुत्थं लाभं, सीसपडिच्छएहिं सो लहइ।
एवं च्छिण्णुववाए, अच्छिण्णे सीसागते दोण्हं॥

स प्रातीच्छिकैर्गच्छन्नपरुद्धः सन् यच्च तस्य शिष्या यच्च तस्य प्रतीच्छिका वा लभन्ते तत्सर्वमात्मसमुत्थं शिष्यप्रातीच्छिकैर्वा समुत्पादितं लभते एवमाभवनं छिन्ने समाप्ते उपपाते हेतौ श्रुतस्कन्धादौ श्रुते द्रष्टव्यम्। अच्छिन्ने असमाप्ते श्रुतस्कन्धादौ यदि तस्य पठत आचार्यस्य शिष्या ग्रामान्तरगताः प्रत्यागताः तस्य च शिष्यो नियमात् गीतार्थो यस्य गण आरोपितस्तदा द्वयोरपि लाभः साधारणो गीतार्थे शिष्ये निक्षिप्तगणतया पठतोऽप्याचार्यस्य पाठयिता गच्छन् तेन प्रतिरुद्ध इति पाठयितुरप्याभवनात्॥

एवं ता उउबद्धे, वासासु इमो विही हवति तत्थ।
खेत्तपडिलेहगा उ, पयट्टिया तेण अन्नत्थ॥

एवं तावत् ऋतुबद्धे काले आभवनव्यवहारविधिरुक्तो वर्षासु वर्षाकाले पुनरयं वक्ष्यमाणो विधिर्भवति तमेवाह (तत्थेत्यादि)

द्वयोराचार्ययोः ऋतुबद्धे काले साधारणक्षेत्रस्थितयोरेकोऽपर-स्यैकस्य पार्श्वे उपसंपदं गृहीतवान् वर्षारात्रश्च प्रत्यासन्नीभूतोऽन्यानि च क्षेत्राणि वर्षावासयोग्यानि तादृशानि प्रत्यासन्नानि न सन्ति ततः स उपसंपन्न आचार्यस्तत्रेति तस्मिन्नेव आषाढमासिके क्षेत्रे वर्षावासं स्थितस्तेन वाचनाचार्याणाऽन्यत्र वर्षावासयोग्यस्य क्षेत्रस्य प्रतिलेखकाः प्रवर्तन्ते तांश्च प्रवर्तयन्निदमवादीत्।

जा तुज्झे पेहेहा, तावेतेसिं इमं तु सारेमि।
तं च समं तेसिं वा वासं च पबद्ध मालग्गं॥

यावत् यूयं क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्य समागच्छथ तावदेतेषामाचार्याणामिदं श्रुतस्कन्धादिकं सारयामि सूत्रतोऽर्थतश्च गमयामि तच्च श्रुतस्कन्धादिकं तेषां तथा अधीयानानां समाप्तमेत द्व्यवच्छि–न्नमित्युच्यते।अत्रान्तरे च वर्षं प्रबन्धेन पतितुमालग्नं तेऽपि च क्षेत्रे प्रत्युपेक्षकास्तत्रैव वर्षेण निरुद्धाः।

निग्गंतूण न तीरइ, चउमासे तत्थ अत्तगत्ते।
लाभे वोच्छिण्णेवं, कुव्वति गिलाणगस्स वि य॥

यतः प्रबन्धेन वर्षं पतितुमारब्धं न च क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः समागच्छन् ततः समाप्तेऽपि श्रुते स वाचनाचार्यस्ततः क्षेत्रान्निर्गन्तु न शक्नोति। अनिर्गच्च तस्मिन् क्षेत्रे चतुरो वर्षारात्रमासान् यावदात्मगतमात्मसमुत्थं लाभं भवेत् द्वितीयोऽप्यात्मसमुत्थस्य लाभस्य स्वामी। एवं कुर्वति व्यवच्छिन्ने समाप्ते श्रुते अथवा, "गिलाणगस्स वि य इति", समाप्ते श्रुते वाचनाचार्यो ग्लानोऽभवत्ततो गन्तुमशक्तस्यापि च ग्लानस्यैवाभवनव्यवहारो द्रष्टव्यः।उभयोरपि चतुरो वर्षावासानात्मसमुत्थो लाभ इत्यर्थः।

अह पुण अत्थिमे सुए, ते आया वेंति मा य तुब्भं तु।
अहो खेत्तं दोमा, साहारणम्मि एसिं तु॥

अथ तत् श्रुतस्कन्धा दिकमद्यापि न समाप्तं ते च क्षेलप्रत्युपेक्षका आयातास्ततो वाचनाचार्या आपृच्छन्ति वयं निर्गच्छामः। तत इमे प्रतीच्छका आचार्यं ब्रुवते मा यूयं निर्गच्छत समाप्तेऽपि श्रुते युष्माकं वयं क्षेत्रं दास्यामः। एवमुक्ते तत् क्षेत्रमेतेषां द्वयानामपि साधारणं भवति। एष संस्तरणे विधिः। असंस्तरणमधिकृत्याह –

असंथरण निंत अनिंते, चउभंगो होइ तत्थ वि तहेव।
एवं तो खेत्तेसुं, इणमन्ना मग्गणविहादी॥

असंस्तरणे साधुषु निर्गच्छत्सु अनिर्गच्छत्सु चतुर्भङ्गी भवति। सा चैवं वास्तव्यानां चतुर्भङ्गादिना प्रकारेण साधवो निर्गच्छन्ति न वाचनाचार्याणामिति प्रथमः। वाचनाचार्याणां नेतरेषामिति द्वितीयः। उभयेषामिति तृतीयः। नोभयेषामिति चतुर्थः। तत्रापि चतुर्भङ्ग–यामपि तथैवाभवेत् व्यवहारः द्वयानामप्यात्मसमुत्थो लाभ इति भावस्तृतीयभङ्गे यद्येकतर एकतरस्य पार्श्वे साध्वभावत उपसंपद्यते तत उपसंपद्यमानलाभ इतरस्मिन्संक्रामति। अनुपसंपत्तौ च द्वयोरपि साधारणं क्षेत्रम्। एवं तावत् क्षेत्रे मार्गणा कृता। अथायमन्यो मार्गणविधिरादिशब्दात् दिग्वारणपरिग्रहः। गाथायां च स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृत्वात्तमेव मार्गणाविध्याहिकमाह –

अद्धाणादिसु नट्ठा, अणुवट्ठिया तहा उवट्ठविया।
अगविट्ठा य गविट्ठा, निप्पण्णा धारणं दिसासु॥

अध्वा मार्ग आदिशब्दादशिवमौदर्यादिनिमित्तनिर्गमनपरि–ग्रहस्तेष्वध्वादिषु नष्टाः साधवस्ते च द्विधा उपस्थापिता अनुपस्थापिताश्च एकैके द्विधा आचार्यस्य ते तेन गवेषिता अगवेषिताश्च तत्र ये निष्पन्ना उपस्थिपितास्ते निष्पन्ना एव न तेषां दिग्वारणं कर्त्तव्यमितरेषां यथा भवनं धारणं दिक्षु अध्वादिषु नष्ट इत्युक्तम्। तत्र यैः कारणैस्ते नष्टाः साधवस्तान्यभिधित्सुराह –

संभम महंत सत्थे, भिक्खायरिया गया व ते नट्ठा।
सिग्घगती परिरएण व, आउरतेणादिये मुंच॥

संभ्रमो वनदवाग्निसंभ्रमादिकस्तद्वशात् गच्छात् स्फिटिता यदि वा महति सार्थे व्रजता कोऽपि कुत्रापीति गच्छादपगतो यदि वा भिक्षाचर्या निमित्तं सार्थादपसृत्य व्रजिकापल्ल्यादिषु गतास्ततो नष्टाः अथवा सार्थः शीघ्रगतिस्ते च मन्दगतयस्ततः। सार्थात् गच्छात् परिभ्रष्टाः (परिरएणवत्ति) यदि वा नद्यादिषु तरितव्यासु सार्थं ऋजुमार्गेणोत्तीर्ण इतरे साधवः परिरयेण गत्वा स्तोकपानीये समुत्तरन्ति चिन्तयन्ति च वयं सार्थे झटित्येव मिलिष्यामस्ते च तथा परिरयेण गच्छतःसार्थात् स्फिटिता अथवा आतुराः प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यां जितास्ते तथा आतुराः सन्तोऽशक्नुवन्तः सार्थात्परिभ्रष्टा स्तेनाश्चौरा आदिशब्दात्परचक्रादि परिग्रहस्तेषु स्तेनादिषु समापतत्सु भयेन पलायमाना गच्छादवस्फिटिता एवमध्वादिषु साधवो नष्टा भवन्ति।

अत्र मार्गणाविधिं दिग्धारणविधिं चाह।

गवे सऊ मा व कयव्वया जे, सव्वे व तेसिं तु दिसा पुरिल्ला।
गवेसमाणो लभतेऽणुवट्ठे, अणादिया संगहिया उ जेणं॥

ये कृतव्रता उपस्थापिता इत्यर्थस्तान्प्रव्राजनाचार्यो गवेषयतु वा मा वा तथापि तेषां सैव दिक् पुरातनी यां प्रव्राजनाचार्योऽशठभावेन गवेषयति न च लभते तथापि तान् सुचिरेणापि कालेन लब्धान् स एव प्रव्राजनाचार्यो लभते (अणादिया संगहिया उ जेणमिति) ये पुनरनादृता अनादरपरेण गवेषितास्ते येन संगृहीतास्तस्यैव ते शिष्या इति स तेषामात्मीयां दिशं धारयति। अयमेव वृद्धोऽर्थोऽन्येनाचार्येण श्लोकेन बद्धस्तमेव श्लोकमाह –

गवेसिए पुव्वदिसा, अगविट्ठए उ पच्छिमा।
अणुवट्ठविए एवं, अभिधारंते उ इणमन्ना॥

अनुपस्थापिते नष्टशिष्ये शिष्यवर्गे वा प्रव्राजनाचार्येण गवेषिते पूर्वदिक् प्रव्राजना दिग्भवति। अगवेषिते पश्चिमा दिक् येन संगृहीतास्तस्य दिग्भवतीत्यर्थः। एवमनुपस्थापिते मार्गणा भवति। यः पुनरन्य क्षेत्रगतानाचार्यानभिधारयन्व्रजति तत्रेयमन्या मार्गणा। तामेवाह।

अभिधारेंतो वच्चति, वत्त अवत्तो व वत्त एगागी।
जं लभति खेत्तवज्जं, अभिधारिज्जंति तं सव्वे॥

यस्य क्षेत्रगतानाचार्यान् अभिधारयन् व्रजति व्यक्तोऽव्यक्तो वा गीतार्थोऽगीतार्थो वा इत्यर्थः। तत्र व्यक्त एकाकी व्रजन् यल्लभते तत्सर्वं क्षेत्रवर्जं क्षेत्रमेकाकिनो न भवतीति तत्प्रतिषेधः कृतः। अभिधार्यमाणे यस्य समीपे गन्तव्यं तस्मिन् भवति तदभिधारणस्थितेन तस्य लाभात्॥

अव्वत्ते ससहाए, परखेत्त वज्जो लाभो दोण्हं पि।
सव्वो सोमगिल्ले, जाव न निक्खिप्पए तत्थ॥

अथाव्यक्तः ससहायस्तमभिधारयन् व्रजति तर्हि तस्मिन् अव्यक्ते ससहाये व्रजति यः परक्षेत्रवर्जो यस्मिन् क्षेत्रे ते अभिसंधार्यमाणा आचार्या वर्त्तन्ते तत्क्षेत्रवर्जस्तत्किल क्षेत्रं तेषामभिधार्यमाणाना माभाव्यमिति तत्प्रतिषेधः। यो द्वयोरपि लाभो-

व्यक्तस्य सहायानां च लाभ इत्यर्थः। य सर्वः पूर्वस्याचार्यस्याभवति स च तावद्यावत्तत्र न निक्षिप्यते।

निक्खित्तनियत्ताणं खेत्ते लाभो य होति वाएंतो।
तस्स वि य जा न नीति, लाभो सोवी पवाएंतो॥

तमव्यक्तं तत्र निक्षिप्तं कृत्वा ये निवृत्ताः सहायास्तेषां क्षेत्रस्य पञ्चगव्यूतप्रमाणस्यान्तर्मध्ये यो लाभो भवति य वाचयत्याभवति तत्क्षेत्रे तस्य लाभस्य भावात् तस्यापि च निक्षिप्तस्य यावन्न निर्गच्छति तावद्यः कश्चनापि लाभः सोऽपि प्रवाचयति भवति। संप्रति यस्तत्र क्षेत्रस्थितः सन् गणं निक्षिप्योप संपन्नस्तस्यं यत्सर्वं न भणितं तदिदानीं सिंहावलोकन्यायेनाह –

अहवा आयरिओ वि, निक्खेत्तगणागतो उ आउत्थे।
वाएंतो देइ लाभं, जं खेत्तातो न ईसो त्ति॥

अथवेति प्रकारान्तरे तच्च प्रकारान्तरमिदं पूर्वं शिष्यस्य व्यक्ताव्यक्तस्य चोक्तमिदानीमाचार्यस्य तत्क्षेत्रगतस्योच्यते आचार्योऽपि क्वचित् गीतार्थे शिष्ये निक्षिप्तगणो भूत्वा तत्रागतस्तत्रोपसंपन्नः सन् यत्स्वयं लभते तमात्मोत्थं लाभं वाचयति। तथा अथ तेन गणः स्वशिष्ये निक्षिप्तस्ततः स क्षेत्रस्याप्रचुरे वेति कुतस्तस्यात्मसमुत्थो लाभस्तत आह। यत् यस्मात्स क्षेत्रिकः क्षेत्रस्य प्रभुरासीत्तस्मान्न शक्यते वक्तुं तस्मिन् क्षेत्रे आत्मसमुत्थस्य लाभस्य न ईशः प्रभुरिति तदेव मुक्तो विधिः संयतानाम्।

अधुना संयतीनां विधिमतिदेशत आह –

अरब्भ सूत्ता सरमाणगन्ते, जा पिंडसुत्तं इणमंतिमन्तं।
एमेव वच्चो खलु संजतीणं, वोच्छिन्नमीसेसु अयं विसेसो॥

सरमाणकान्, आयरियउवज्झाए सरमाणे, इत्येवं रूपान्सूत्रादारभ्य यावदिदमन्तिमं पिण्डसूत्रमेतेषु सूत्रेषु यथा संयतानां विधिरुक्त एवमेव खलु संयतीनामपि गीतार्थपरिगृहीतानां वाच्यः। केवलं व्यवच्छिन्ने मिश्रे वाऽयं वक्ष्यमाणो विशेषस्तमेवाह –

वो च्छिण्णे उ उवरए, गुरुम्मि गीयाण उग्गहो तासिं।
दोण्ह बहूणं च पिंडए, कुलिव्वमन्नं जयमिधारे॥

व्यवच्छिन्नो नाम तासां गुरुरुपरतः कालं गत इत्यर्थः तस्मिन् गुरावुपरते यदि (कुलिव्वमन्नंति) कुलसत्कमन्यमाचार्यमभिधारयन्ति ततस्तासां द्वयोर्बहूनां वा पिण्डकेन समुदायेन स्थितानां गीतार्थानां संयतीनां पिण्डकेन व्यवस्थितानामपि नावग्रहः।

मीसो उभयगणाव–च्छेओ तत्थसमणीण जो लाभो।
सो खलु गणिणो नियमा, पुव्वट्ठिया जाव तत्थ ण्णे॥

मिश्रो नाम उभयगणावच्छेदकस्तत्र उभयगणावच्छेदके सति यः श्रमणीनां संयतीनां लाभः स खलु नियमात् ये पूर्वस्थितास्तत्र गणिनो यावदन्ये न गच्छन्ति तावत्तस्य गणिनो वेदितव्यः सोऽन्येष्याचार्येष्वागतेषु तेषामिति तदेवं कस्येति द्वारम्।

संप्रति कियन्तं कालमवग्रह इति द्वारव्याख्यानार्थमाह।

केयति काल उग्गहो, तिविहो उउवद्धवासखुड्डे य।
मासचउमासवासे, गेलण्णे सोलसुक्कोसा॥

कियन्तं कालमवग्रह इति शिष्येण प्रश्ने कृते सुरिराह। त्रिविधो भवति अवग्रहस्तद्यथा ऋतुबद्ध वर्षाकाले वृद्धवासे च। तत्र ऋतुबद्धे काले उत्सर्गत एकं मासमवग्रहो वर्षे वर्षाकाले चतुरो मासान् ग्लानत्वमधिकृत्योत्कर्षतः षोडश मासान् अन्ये तु षोडश वर्षाणित्याहुः। व्य०४ उ०। (अत्र वृद्धावासमधिकृत्य यद्वक्तव्यं तद् वुड्ढावासशब्दे वक्ष्यते) (पार्श्वस्थविहारप्रतिमां प्रतिपद्य पुनरुपसंपद्येतेति पासत्थशब्दे वक्ष्यामि) अथात्रापि किञ्चिद् वक्ष्यामि तत्र।

(६) पार्श्वस्थादिविहारप्रतिमासुपसंपद्य विहारे विधिमाह –

(सूत्रम्) भिक्खू अ गणाओ अवक्कम्म परपासंडपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहारिज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए नत्थि णं तस्स तप्पइयं कइ च्छेदे वा परिहारे वानन्नत्थ एगाए आलोयणाए।३१॥

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्यत आह –

दोसेण अवक्कंता, सव्वेणं चेव भावलिंगाओ।
इति समुदिया उ सुत्ता, इणमन्नं देवतोवि गतो॥

द्रव्यलिङ्गमधिकृत्य देशनोपक्रांता भावनिङ्गतो भावलिङ्गमधिकृत्य सर्वेण सर्वात्मनाऽपक्रान्ताः पार्श्वस्थादय इति। एवमर्थान्यन्तर-सूत्राणि समुदितानि सम्यक्प्रतिपादितानि इदानीमधिकृतमन्यत्सूत्रं द्रव्यलिङ्गेन विगते वियुक्ते द्रव्यलिङ्गवियुक्तविषयमिति भावः। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। भिक्षुः प्रागुक्तशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। स चैतत् समुच्चिनोति रागद्वेषादिना कारणेन गणादपक्रम्य निर्गत्य परपाखण्डप्रतिमां परपाषण्डलिङ्गमुपसंपद्य विहरेत् विहृत्य च कारणे समाप्ते द्वितीयमपि वारं तमेव गणमुपपद्य विहर्तुमिच्छेत् तस्य तथोपसंपद्यमानस्य नास्ति कश्चिच्छेदो वा परिहारो वा। उपलक्षणमेतत् अन्यदपि प्रायश्चित्तं न किमप्यस्ति। कारणतः परलिङ्गप्रतिपत्तेः प्रतिपत्तावपि सम्यग्यतनाकरणात्किं सर्वथा न किमपि नेत्याह नान्यत्र एकाया आलोचननिकायाः अन्यत्र शब्दपरिवर्जनार्थो भीमार्जुनाभ्यामन्यत्र सर्वे योद्धार इत्यादिवत्ततोऽयमर्थ एकामालोचनां मुक्त्वा पुनर्भवत्येवेति भावः। एष सूत्रसंक्षेपार्थः।

अधुना निर्युक्तिभाष्यविस्तरः –

कंदप्पे परलिंगे, मूलं गुरुगा य गरुलपक्खम्मि।
सुत्तं तु भिच्चगादी, कालक्खेवोवगमणं वा॥

यदि कन्दर्पे कन्दर्प्यभूत आहारगृद्ध्यादिकरणलक्षणतः परलिङ्गं करोति ततस्तस्मिन्परलिङ्गे कृते तस्य प्रायश्चित्तं मूलम्। अथ गरुडपाक्षिकं गरुडादिरुपं परलिङ्गं करोति तदा चत्वारो गुरुकाः। इत्यादिसूचनार्थः। अत्र पर आह। ननु सूत्रनिर्युक्त्योरनुपपत्तिः। तथा हि सूत्रेण परलिङ्गकरणमनुज्ञातं प्रायश्चित्तादानात् निर्युक्तिकृता तु वारितं प्रायश्चित्तप्रदानात्। नैष दोषोऽभिप्रायापरिज्ञानात्। निर्युक्तिकृता हि कन्दर्पतः करणे प्रायश्चित्तमुक्तं सूत्रं पुनः कथमपि राज्ञि प्रद्विष्टे च यावत्सार्थो न लभ्यते तावत्कालक्षेपः क्रियतामिति। वा हेतौ वाशब्दो न केवलं विकल्पार्थोऽनुक्तसमुच्चयार्थश्च स चैतत्समुच्चिनोति न शक्यते सहसा विषयपरित्यागं कर्तुमिति यावत्प्रज्ञापना क्रियते (गमनं वेति) गमनं वा अशिवादिकारणतोऽनार्यदेशमध्येन समुपस्थितं ततः एतैः कारणैर्यस्य राज्ञो ये पूज्या भिक्षुकादयः। भिक्षुकाः शौद्धोदनीया आदिशब्दात्परिव्राजकपण्डरागादिपरिग्रहः। तल्लिङ्गं गृह्णीयादित्येतद्विषयमतो न कश्चिद्दोषः। एनामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयति–

खंधे दुवार संजइ, गरुडद्धंसे य पट्टलिंगदुवे।
लहुओ अलहुओ लहुया तिसु चउगुरुदोसु मूलं तु॥

इह पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धपादानां यथासंख्येन योजना चैवं यदि कन्दर्प्पतो वस्त्रं गृहस्थ इव स्कन्धे करोति तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासो (दुवारेत्ति) गोपुच्छिकं करोति तदाऽपि लघुको मासः। संयती- प्रावरणकरणे चत्वारो लघुमासाः। गरुडादिपरलिङ्गकरणे चत्वारो गुरुकाः (अद्धं सेत्ति) स्कन्धे दिगम्बर वद्यदि वस्त्रस्य करोति तदापि चत्वारो गुरुकाः (पट्टत्ति) यदि गृहस्थ इव कटिपट्टकं बध्नाति तदापि चत्वारो गुरुकाः (लिंगदुवे इति) लिङ्गद्विकं गृहिलिङ्गं परपाखण्डिलिङ्गं च तस्मिन् गृहिलिङ्गे परपाखण्डिलिङ्गे च कन्दर्प्पतः परिगृह्यमाणे प्रत्येकं प्रायश्चित्तं मूलम्। संप्रति, कालक्खेवो व गमणं वा, इत्येतद्व्याख्यानार्थमाह –

असिवादिकरणेहिं, रायदुट्ठे व होज्ज परलिंगं।
कालक्खेवनिमित्तं, पण्णवणट्ठा व गमणट्ठा ॥

अशिवं देवताकृत उपद्रवः आदिशब्दादवमौदर्यादिपरिग्रहः तेषु अशिवादिकारणेषु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात्तथा द्वेषणं द्विष्टं राज्ञो द्विष्टं राजद्विष्टं राजद्वेष इत्यर्थः। तस्मिन्वासति परलिङ्गं ग्राह्यं भवति। किमर्थमिति चेदम् आह। कालेत्यादि। यावत्सार्थो न लभ्यते तावत्स खलु परलिङ्गग्रहणेन कालक्षेपः क्रियतामित्येवं कालक्षेपनिमित्तमथवा न शक्यः खलु सहसा विषयः परित्यक्तुमिति यावद्राज्ञः प्रज्ञापना क्रियते तावद् गृह्यतां परलिङ्गमिति प्रज्ञापनार्थं यदि अशिवादिकारणेषु समुपस्थितेष्वनार्यदेशमध्ये गमनमुपजातं तच्चानार्यदेशमध्ये गमनं न परलिङ्गग्रहणमृते शक्यते कर्तुमिति गमनार्थं वा परलिङ्गग्रहणम्। अथ कस्य परलिङ्गं ग्राह्यमित्याशङ्क्य भिक्षुगादि इत्येतद्व्याख्यानयति।

जं जस्स अच्चियं तस्स, पूयणिज्जं तमस्सिया लिंगं।
खीरादिलद्धिजुत्ता, गमंति तं छन्नसामत्था ॥

यत् भिक्षुकादिगतं लिङ्गं यस्य राज्ञोऽर्चितं भावेक्तप्रत्ययो मान्य इत्यर्थः। तत्रार्चितमपि नावश्यं कस्याप्यनतिक्रमणीयं भवति। ततोऽनतिक्रमणीयताप्रतिपादनार्थमाह तस्य राज्ञो यत्पूजनीयमन--तिक्रमणीयं तल्लिङ्गमाश्रितास्तल्लिङ्गं प्रतिपन्नाः छन्नसामर्थ्याः परलिङ्गग्रहणेनाच्छादितस्वरूपाः तं राजानं गमयन्ति।कीदृशा उपशमयन्तीत्यत आह। क्षीरादिलब्धियुक्ताः क्षीराश्रवलब्धिसंपन्नाः आदिशब्दाद्विद्यामन्त्रयोगादि वशीकरणकुशलतायाः परिग्रहः।

कलासु सव्वासु सवित्थरासु, आगाढपण्णेसु य संथवेसु।
जो जत्थ सत्तो तमणुं पविस्से, अव्वाहओ तस्स सएव पंथो ॥

कला द्वासप्ततिसंख्या लोकप्रसिद्धास्तासु कलासु सर्वास्वपि सविस्तारासु आगाढप्रश्नेषु वाऽत्यन्तदुर्भेदप्रश्नेषु परिचयेषुसत्सु यो राजा यत्र कलादिविशेषे सक्त आसक्तो भवति। किमुक्तं भवति तस्य राज्ञो यस्मिन् कलादिविशेषे अत्यन्तमभिष्वङ्गो भवति तमनुप्रवेशयेयुस्तं सम्यग् ज्ञात्वा राज्ञः पुरतः प्रवेदयेयुः प्रवेदयन्तश्च राजानमुपशमयन्ति। यत एष तस्य राज्ञ उपशमने अव्याहतः स्वपरविरोधी पन्था मार्ग उपाय इत्यर्थः। तत्र यदीत्थमुपशान्तो भवति तदा समीचीनमथ नोपशान्तस्तत एव कलादिविशेषं तावत्प्ररूपयन्ति यावत्सार्थो लभ्यते। सार्थे च लब्धे निर्गच्छन्ति। तथा चाह –

अणुवसमंते निग्गमो, लिंगविवेगेण होइ आगाढे।
देसंतरसंकमणं, भिक्खुगमादी कुलिंगेण ॥

अनुपशमयति राज्ञि उपशमं कुर्विति निवेद्य निर्गमो भवति। कथमित्याह। लिङ्गविवेकेन लिङ्गपरित्यागेन गृहस्थलिङ्गेनेत्यर्थः। अथ तथापि न मुञ्चति गाढकोपावेशात् (आगढेत्ति) अत्यन्त प्रकोपते गाढममोक्षणे भिक्षुकादिलिङ्गेन देशान्तर संक्रमणं कर्त्तव्यम्। अशिवादौ वा कारणे समुपस्थिते देशान्तरगमनं किल कर्तव्यम्।

तत्र येन यथा गन्तव्यं स कीदृश इत्याह।

आयरिया संकमणे, परिहरंति दिट्ठम्मि जा य पडिवत्ती।
असतीए पविसणं, खुभियम्मि गिहयम्मि जा जयणा ॥

आर्येण देशेन संक्रमणं तस्मिन्स्वलिङ्गेन गन्तव्यमिति वाक्य शेषः आर्यसंक्रमग्रहणतो भङ्गचतुष्टयं सूचितं तद्यथा आर्यदेशे आर्यदेशमध्येन गमनमित्येको भङ्गः। आर्यदेशे अनार्यदेशमध्येनेति द्वितीयः। अनार्यदेशे आर्यदेशमध्येनेति तृतीयः। अनार्यदेशे अनार्यदेशेमध्येनेति चतुर्थः। तत्र प्रथमभङ्गे अर्द्धषड्विंशतिजनपद मध्ये, द्वितीयभङ्गे देशे मालवनाम-कम्लेच्छदेशमध्येन, तृतीय भङ्गे यथा कुडुक्कविषये आनार्यविषये आर्यविषयमध्येन, चतुर्थ भङ्गे पारसीकदेशे अनार्यदेशमध्येन। इह प्रथमभङ्गे ऽशिवादिकारणोप-स्थितौ स्वलिङ्गेन गन्तव्यं। द्वितीय तृतीय चतुर्थ भङ्गे तु परलिङ्गेन। तत्र राज्ञि प्रद्विष्टे अशिवादिकारणे वा भिक्षुकादिलिङ्गेन गच्छन् उद्गमादीन् दोषान् तेषां च लिङ्गानामाश्रय-स्थानानि परिहरति। तथा गच्छन् यदि केनापि क्वापि ग्रामनगरादौ दृष्टो भवेत्तर्हि दृष्टे सति तेन या काचनाधिकृतलिङ्गानुशासनप्रति-पत्तिसामाचारी स कर्त्तव्या। किमुक्तं भवति। तत्सामाचार्या वर्तितव्यमिति। अथ तदाश्रयस्थानपरिहारे न समुदानं लभ्यते ततो ऽसति अविद्यमाने समुदाने प्रवेशनं तदाश्रयस्थानप्रवेशनं कर्त्तव्यं। अथ यदि तेषां प्रत्ययोत्पादनार्थं बुद्धप्रतिमा स्तूपानि वा वन्दनीयानि भवन्ति तदा जिनप्रतिमां मनसि संप्रधार्य वन्दितव्यानि। भिक्षायां च स्वयं गन्तव्यम्। अथ भिक्षा न लभ्यते ततो भिक्षुकैः सह भोक्तव्यम्। तत्र यदि पुद्गलं कन्दादिकं वा पतति तदा शरीरस्येदं ममानुपकारकं वैद्येन निवारितमिति प्रतिषेधयेत्। अथ कथमपि अनाभोगत-स्तद्रोषभयतो वा गृहीतं भवेत् तदा तस्मिन् गृहीते या यतना या कर्तव्या। किमुक्तं। अल्पसागारिकं कथमप्यपसार्य विधिना परिष्ठापयेत्। एष गाथा संक्षेपार्थः।

सांप्रतमेनामेव गाथां विवृणोति–

आयरियदेसायरिय लिंगसंकमे त्थ होइ चउभंगो।
वितियचरमेसु अन्नं, असिवादिमतो करे अन्नं ॥

आशिवादिषु कारणेषु समुपस्थितेषु आर्यदेशे आर्यदेशमध्येन लिङ्गेन संक्रमो भवति। यन्मध्ये च यत्र च गन्तव्यं तयोरुभयोरपि देशयोर्य--त्वात्। अत्र च प्रागुक्तप्रकारेण चतुर्भङ्गी। गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्। तत्र द्वितीयतृतीयचरमेषु भङ्गेष्वशिवादिगतः सन् अन्यतः गृहस्थलिङ्गं यदि वा यस्य देशस्य मध्येन यत्र वा देशे गन्तव्यं तत्र येऽतिप्रसिद्धा भिक्षुकादयस्तलिङ्गं करोति।

संप्रति परिहरतीति यदुक्तं तद्व्याख्यानयति।

परिहरइ उग्गमादीविहारठाणे य तेसि लिंगीणं।
अपुव्वे सागमित्तो, आयरियत्तरोमं तु ॥

परिहरति उद्गमादीन् दोषान्। तथा तेषां लिङ्गानां यानि विहार-स्थानानि तानि च परिहरति। तत्र अपूर्वेषु स्थानेषु गतः सन्

यदि यल्लिङ्गं गृहीतं तदागमेषु कुशलो भवति तन्मा केनापि लिङ्गविडम्बक इति ज्ञात्वा प्रतिगृह्णेतेति। आचार्ये विधिः।

इयरेसिमागमेसुं, मा वायंतेसि लिंगीणं।
अपुव्वे सागामित्तो, आयरियत्तेतरोमं तु॥

अथेतरस्तेषामागमेष्वकुशलस्ततः स इदं करोति। तदेवाह –

मोणेण जं च गहियं, तु कुक्कुडं उभयलिंगिअविरुद्धं।
पच्चयहेउपणामे, जिणपडिमाओ मणे कुणति॥

मौनेन वाचंयमलक्षणेन क्रियां करोति मौनव्रतित्वमवलम्बत इत्यर्थः। यच्च विशिष्टसंप्रदायाद् गृहीतं कुक्कुटविद्यादिनादस्तत्प्रयोगलक्षणम् उभयतोऽपि उभययेषामपि साधुचर्यास्तेषां च लिङ्गिनामविरुद्धं तत्करोति। तथा समुदानासंभवे तेषामाश्रयेषु गतस्य सतस्तेषां प्रत्ययाद्धेतोः प्रत्ययोत्पादनार्थं बुद्धप्रतिमानां स्तूपानां वा प्रणामकरणी यतयोपस्थिते जिन प्रतिमां मनसि करोति। किमुक्तं भवति। जिनप्रतिमां मनसिकृत्य तेषां प्रणामं करोति।

भावे ति पिंडवावि– त्तणेण घेतुं च वच्चइ अपत्ते।
कंदादिपुग्गलाण य, अकारगं एय पडिसेहो॥

तथा आत्मानं जनेभ्यः पिण्डपातित्वेन भावयति। ततो भिक्षापरिभ्रमणेन जीवति। अथावमौदर्ये दोषतः परिपूर्णो न भवति ततो दानशालायां भिक्षुकादिभिः सह पङ्क्त्या समुपविशति। ततः परिपाट्या परिवेषणे जाते सति (अपत्ते इति) अत्र प्राकृतत्वात् यकारलोपः अयःपात्रे तत् गृहीत्वा अन्यत्र विविक्ते प्रदेशे समुद्दिशति। अथान्यत्र गत्वा समुद्देशकरणे तेषां काचित् शङ्का संभाव्यते ततो भिक्षुकादिभिरेव स पङ्क्त्योपविष्टः सन् समुद्दिशति। तत्र यदि सचित्तं कन्दादिपुद्गलं वा मांसापरपर्यायं परिवेषकः परिवेषयति तदा ममेदमपकारकं वैद्येन प्रतिषिद्धमिति वदता तेषां कन्दादीनां पुद्गलस्य च प्रतिषेधः कर्त्तव्यः।

अत्रैव पुद्गलविषये अपवादमाह –

वितियपयं तु गिलाणे, निक्खेवं चंकमादि कुणमाणो।
लोयं वा कुणमाणो, किइकम्मं वा सरीरादि॥

द्वितीयपदमपवादपदं यदि भाण्डमात्रोपकारणानां निक्षेपमुपलक्षणमेतत्। आदानं प्रत्युपेक्षणादिकं च कुर्वन् तथा चङ्क्रमणादि आदिशब्दादुत्थानादिपरिग्रहः कुर्वन्यदि वा लोचं कुर्वन् अथवा कृतकर्म्म शरीरादेः कुर्वन्यदि ग्लानो भवति तदोपजीव्यं पुद्गलमिति। प्रस्तुतमनुसंधानमाह –

अह पुण रूसेज्जाही, तो घेत्तु विगिंचए जहाविहिणा।
एवं तु तहिं जयणं, कुज्जाही कारणागाढा॥

अथ पुनः प्रागुक्तप्रकारेण कन्दादिपुद्गलानां प्रतिषेधे क्रियमाणे रुष्येयुरिति संभाव्यते तर्हि गृह्णीयात् गृहीत्वा च यथाविधिना यथोक्तेन विधिना विगिञ्च्यात्। तेन दृष्टिबन्धनेनापसार्य सूत्रोक्तविधिना परिष्ठापयेत्। उपसंहारमाह–

इति कारणेसु गहिते, परलिंगे तीरिए तहिं कज्जे।
जयकारी सुज्झइ वियड–णाए इयरो जमावेज्जा॥

इत्येवमुक्तेन प्रकारेण कारणेष्वशिवादिषु समुपस्थितेषु तीरिते च समाप्तिं नीते च कार्ये तत्र यो (जयकारीति) यतनाकारी यथोक्तरूपां यतनां कृतवान् स विकटनया आलोचनामात्रेण शुध्यति यतनया सर्वदोषाणामपहतत्वात्। इतरो नाम येन यतना न कृता स यत् यतनया प्रायश्चित्तमापद्यते तत्तस्मै दीयते॥

(सूत्रम्) भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओवहावेज्जा से इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जि विहरित्तए णत्थि णं तप्पइयं केद च्छेदे वा परिहारे वा णन्नत्थ एगाए सेहोवट्ठावणाए॥

भिक्खू य गणातो अवक्रम्म ओहावेज्जा से इच्छेज्जा, इत्यादि अस्य सूत्रस्य कः संबन्ध उच्यते –

एगयरलिंगविजढे, इह सुत्तावण्णिया उ जे हेट्ठा।
उभयजढे अयमन्नो, आरंभो होइ सुत्तस्स॥

यान्यधस्तात्सूत्राणि पार्श्वस्थादिगतानि तानि एकतरलिङ्गविजढे एकतरलिङ्गपरित्यागे तथा हि पार्श्वस्थादिसूत्राणि भावलिङ्गपरित्यागविषयाणि परपाखण्डप्रतिमासूत्रं द्रव्यलिङ्गपरित्यागविषयामितिशब्दो हेतौ यतोऽधस्तनानि सूत्राण्यपरलिङ्गविषयाणि ततोऽयमन्य आरम्भः सूत्रस्य भवत्युभयजढे इति उभयलिङ्गपरित्यागविषयः प्रस्तावायातत्वात् एवमनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। भिक्षुर्गणादपक्रम्य निर्गत्य अवधावेत व्रतपर्यायाद -वाङ्मुखीभूय पराङ्मुखो भूत्वा गृहस्थपर्यायं प्रतिगच्छेत् द्वितीयमपि वारं तमेव गणमुपसंपद्य विहर्तुं (नत्थिणमित्यादि) णमिति खल्वर्थे निपातानामनेकार्थत्वात्। नास्ति खलु तस्य कश्चिदपि छेदः परिहारो वा किं सर्वथा न किमपि नेत्याह। नान्यत्र एकस्याः शैक्षिकोपस्थापनायाः किमुक्तं भवत्येका शैक्षिकोपस्थापनिका भवति मूलं भवतीत्यर्थः। एष सूत्रसंक्षेपार्थः। सांप्रतमेतदेव सूत्रं व्याचिख्यासुरपक्रमेदवधावेदिति भेदपर्यायैर्व्याख्यानयति –

निग्गमनमवक्कमणं, निस्सरणपलायणं च एगट्ठा।
लोटण लुटणपलोटण, ओधाणं चेव एगट्ठा॥

निर्गमनपक्रमणं निस्सरणं पलायनमित्येकार्थाः। लोटनं लुट्टनं प्रलोटनमवधावनमिति चैकार्थाः। तत्र लोटनमिति लुट विलोटने इत्यस्यैव प्रपूर्वस्य पर्यायशब्दैरप्यधिकृतशब्दार्थप्रतीतिरुपजायते तत्वभेदपर्यायैर्व्याख्या इति वचनमप्यस्ति। ततस्तदुपन्यास इति।

अथ कैः कारणैरवधावनं कुर्यादित्यवधावनकारणान्याह।

विसओदएण अहिकरण–भावत्तो व दुक्खसेज्जाए।
इइ लिंगस्स विवेगं, करेज्ज पच्चक्खपारोक्खं॥

विषयोदयेन अत्र विषयग्रहणेन विषयविषयो मोहः परिगृह्यते विषयेण विषयिणो लक्षणा ततोऽयमर्थः विषयविषयमोहोदयेन यदि वा केनापि सह अधिकरणभावतः अथ वा दुःखशय्यया चतुर्विधया त्याजित इति हेतोर्लिङ्गस्य प्रव्रज्याचिह्नस्य रजोहरणस्य विवेकं परित्यागं कुर्यात्। कथमित्याह साधूनां प्रत्यक्षं वा कुत्र कुर्यादित्याह।

अंतो उवस्सए छड्डणाउ बहिगामपासे वा।
विइयं गिलाणलोए, कितिकम्मसरीरमादीसु॥

उपाश्रयस्यान्तर्मध्ये लिङ्गस्य छड्डणा परित्यागः क्रियते। यदि वा बहिरुपाश्रयात् अथवा ग्राममध्ये यदि वा ग्रामस्य पार्श्वे आसन्नप्रदेशे अथवा तत्रैवाचार्यस्य समीपे इदमवधावनं काले लिङ्गस्योज्झनम्। अपवादतोऽवधावनाभावेऽपि भवति तथा चाह द्वितीयपदम पवादपदं लिङ्गस्योज्झने ग्लानलोके ग्लानजने शरीरादिषु आदिशब्दादुच्चारपरिष्ठापनादिपरिग्रहस्तेषु कृतकर्म्मणि व्यापारे तथाहि ग्लानस्य शरीरे विश्रामणादिकमुच्चारादिपरि-

ष्ठापनादिकं वा कुर्वन् खरण्टनादिभयाल्लिङ्गस्य विविक्ते प्रदेशे मोचनं भवतीति। संप्रत्यवधावनेन लिङ्गस्योज्झने विधिविशेषमाह।

उवसामिए परेण व, सयं च समुट्ठिए उवट्ठवणा।
तक्खणचिरकालेण व, दिट्ठंतो अक्खभंगेण॥

उपाश्रयान्तः प्रभृतिषु येषु स्थानेषु रजोहरणं मुक्तं तेषु स्थानेषु तेभ्यः परस्मिन्वाऽन्यस्मिन् स्थाने उपशामिते परेणोपशमं नीते स्वयं वा तथाविधानुकूलकर्म्मोदयतः उपशमं गते ततः पुनरकरणतया तत्क्षणं लिङ्गोज्झनानन्तरं तत्कालं चिरेण वा दीर्घकालेन गुरुसमीपे समुस्थिते नियमादुपस्थापना कर्तव्या नान्यथा प्रवेशनीयः। आह यदि तेन न किञ्चिदपि प्रतिसेवितं ततः कस्मादुपस्थाप्यते। अत्र सूरिराह। दृष्टान्तोऽत्राक्षभङ्गेन यथा शकटस्याक्षे भग्ने नियमा–दन्योऽक्षः क्रियते एवं साधोरपि भावाक्षे भग्ने पुनरुपस्थापनारूपो भावाक्ष आधीयते। अक्षोऽध्वा पुनरपि परः प्राह।

मूलगुणउत्तरगुणे, असेवमाणस्स तस्स अतियारं।
तक्खण उवट्ठियस्स उ, किं कारणा दिज्जए मूलं॥

मूलगुणे मूलगुणविषये उत्तरगुणे उत्तरगुण विषये किंचिदप्यतीचारं तस्याप्रतिसेवमानस्य कथमप्रतिसेवनेत्यत आह। तत्क्षणं लिङ्गोज्झनानन्तरं तत्काले अपुनःकरणतया समुत्थितस्य न भावाक्षो भग्न इति। किं कारणं तस्मै मूलं दीयते उपस्थापना क्रियते। सूरिराह।

सेवउ मा उ वयाणं, अतियारं तहवि देति से मूलं।
विगडासवा जलम्मि उ, कहन्नु नावा न वोडेज्जा॥

व्रतानां प्राणातिपातविनिवृत्त्यादीनामतीचारं सेवतां वा मा वा तथापि (से) तस्य प्रवचनोपनिषद्वेदिनो मूलं ददाति भावतोऽसंवृताश्रवद्वार-तया चारित्रभङ्गात् तत्रैव प्रतिवस्तूपमया भावनामाह (वियडासवेत्यादि) विकटानि अतिप्रकटानि स्थूराणीत्यर्थः आश्रवाणि जलप्रवेशस्थानानि यस्याः सा तथा रूपा सती नौः कथं नु जले प्रक्षिप्ता न विमज्जेदिति भावः। आश्रवद्वाराणामतिप्रकटानामभावादेवं साधुरपि भावतोऽनिवारिताश्रवस्सन् शुभ कर्म्मजले निमज्जतीति भवति तस्योपस्थापनार्हता। अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह–

चोरिस्सामि त्ति मतिं, जो खलु संधाइ फेडए सुद्धं।
अहियम्मि वि सो चोरा, एमेव इमं पि पासामो॥

अहं चोरयिष्यामिति संधाय यः खलु मुद्रां स्फेटयति स यद्यपि तदानीमारक्षकैर्गृहीत्वादिना कारणेन न किञ्चिदपहृतवान् तथापि तत्परिणामोपेतत्वादनपहृतेऽपि स चौरो भवति। एवमेव अनेनैव प्रकारेण इममपि पश्यामः। अचरितपरिणामोपेतत्वेनचरितत्वादुपस्थापनायोग्यं पश्याम इत्यर्थः। व्य० प्र०१ उ०।

(७) गणादपक्रम्येच्छेदन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुमिति प्रकारान्तरेण प्रतिपादयति।

(सूत्रम्) भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए न मे कप्प अप्पज्जित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा पवत्तिं वा थेरिं वा गणिं वा गणहरिं वा गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं उवसंपजित्ताणं विहरित्तइ कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छिइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ते य से विहरेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ते य से नो वितरेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए॥

एवमग्रेतनमपि सूत्राष्टकमुच्चारणीयम्। भिक्षुः सामान्यसाधुश्च शब्दान्निर्ग्रन्थी च गणादवक्रम्य निर्गत्य इच्छेदभिलषेदन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुं नो (से) तस्य भिक्षोः कल्पते नो आपृच्छ्याचार्यं वा उपाध्यायं वा प्रवर्तकं वा स्थविरं वा गणधरं वा गणावच्छेदकं वा अन्यं गणं वा उपसंपद्य विहर्तुं कल्पते (से) तस्य भिक्षोराचार्यं वा यावत्करणं दुपाध्यायं वा प्रवर्तिनं वा स्थविरं वा गणधरं वा गणावच्छेदकं वा आपृच्छ्यान्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुं ते चाचार्यादय आपृष्टाः सन्तस्तस्यान्यगणगमनं वितरेयुरनुजानीयुस्तत एवं तस्य कल्पते अन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुं ते च तस्य न वितरेयुस्ततो नो कल्पते तस्यान्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुमिति सूत्रार्थः।

अथ निर्युक्तिविस्तारः–

ठिइठाणे अवकमणं, णाणट्ठा दंसणे चरित्तट्ठा।
आपुच्छिऊण गमणं, भीतो य नियत्तते कोवि॥

स्थानं कारणमित्येकोऽर्थस्ततस्त्रिभिः स्थानैः करणैर्गच्छादपक्रमणं भवति ज्ञानार्थं दर्शनार्थं च। अथ निष्कारणमन्यं गणमुपसंपद्यते ततश्चतुर्गुरुकम् आज्ञादयश्च दोषाः। कारणेऽपि यदि गुरुमनापृच्छ्य गच्छति ततश्चतुर्गुरुकं तस्मादापृच्छ्य गन्तव्यम्। तत्र ज्ञानार्थं तावदभिधीयते यावदाचार्यसकाशे श्रुतमस्ति तावदशेषमपि केनापि शिष्येणाधीतम् अस्ति च तस्यापरस्यापि श्रुतस्य ग्रहणे शक्तिस्ततोऽधिकश्रुतग्रहणार्थमाचार्यमापृच्छति आचार्येणापि स विसर्जयितव्यः तस्यैवमापृच्छ्य गच्छतः इमे अभिचारा भवन्ति न परिहर्त्तव्याः। तत्र कश्चित् तेषामाचार्याणां कर्कशचर्यां श्रुत्वा भीतस्सन्निवर्त्तते यथा॥

चिंतंतो, वइगादी, संखडि, पिसुगादि, अपडिसेहे य।
परिसेल्ले, सत्तमपयं, गुरुपे सविए य सुद्धो य॥

किं व्रजामि मा वेति चिन्तयन् व्रजति व्रजिकायां वा प्रतिबन्धं करोति आदिशब्दादानश्रद्धादिषु दीर्घां गोचरचर्यां करोति। अप्राप्तं चावेशकालं प्रतीक्षते (संखडित्ति) संखड्यां प्रतिबध्यते (पिसुगाइति) पिशुकं मत्कुणादितया निवर्तते। अन्यत्र वा गच्छे गच्छति (अप्पडिसेहेत्ति) कश्चिदाचार्यः परमेधाविनमन्यत्र गच्छन्तं श्रुत्वा परिस्फुटवचसा तं न प्रतिषेधयति किं तु शिष्यान् व्यापारयति तस्मिन्नागते व्यञ्जनघोषशुद्धं पठनीयं येनात्रैव एष तिष्ठति एवं प्रतिषेधापनेऽपि अप्रतिषेधको लभ्यते। तेनैवं विपरिणामितः सन् तदीये गच्छे प्रविशति (परिसिल्लेत्ति) पर्षद्वान् स उच्यते यः संविग्नायाः असंविग्नायाश्च पर्षदः संग्रहं करोति तस्य पार्श्वे तिष्ठतः (सत्तमपयं गुरुपेसविए अत्ति) तत्र संप्राप्तो ब्रवीति अहमाचार्यैः श्रुताध्ययननिमित्तं युष्मदन्तिके प्रेषितः। एतेषु भीतादिष्वष्टस्वपि पदेषु वक्ष्यमाणभीत्या प्रायश्चित्तम्। यस्तु भीतादिदोषविप्रमुक्तः समागतो ब्रवीति अहमाचार्यविसर्जितो युष्मदन्तिके समायात इति स शुद्धो न प्रायश्चित्तभाक्।

भीतादि पदेषु प्रायश्चित्तमाह।

पणगं च भिन्नमासो, मासो लहुगा य संखडी गुरुगा।

पिसुगादी मासलहू, उचरो लहुगा अपडिसेहो ॥१॥
परिसेल्ले चउलहुगा, गुरुपेसवियम्मि मासितं लहुगं।
सेहेण समं गुरुगा, परिसेल्ले पविसमाणस्स ॥२॥
पडिसेहगस्स लहुगा, परिसेल्ले छच्च चरिमओ सुद्धो।
तेसिं पि होति गुरुगा, जं च भव्वं ण तं लभति ॥३॥

भीतस्य निवर्त्तमानस्य पञ्चकं चिन्तयतो भिन्नमासः व्रजिकादिषु प्रतिपद्यमानस्य मासलघु संखड्यां चतुर्गुरुकाः पिशुकादिभयान्निवर्तमानस्य मासलघु अप्रतिषेधकस्य पार्श्वे तिष्ठश्चत्वारो लघुकाः पर्षद्वत आचार्यस्य सकाशे तिष्ठतश्चतुर्लघुकाः। गुरुभिः प्रेषितोऽहमिति भणिते लघुमासिकं शैक्षेण समं पर्षद्वतो गच्छे प्रविशतश्चतुर्गुरुको गृहीतोपकरणं तत्र प्रविशत उपधिनिष्पन्नं प्रतिषेधकस्य प्रतिषेधकत्वं कुर्वतश्चतुर्लघु पर्षद्वतः पर्षदं मीलयतः षट् लघुकाश्चरमो भीतादिदोषरहितः स शुद्धः। तेषामपि प्रतिषेधकादीनमाचार्याणां तं स्वगच्छे प्रवेशयतां चत्वारो गुरुकाः यच्च सचित्तमचित्तं वा वाचनाचार्यस्तत् भाव्यं तत्ते किंचिदपि न लभन्ते यः। पूर्वमभिधारितस्तस्यैवाचार्यस्य तदाभाव्यमिति भावः। अथ भीतादिपदानां क्रमेण व्याख्यानमाह –

संसाहगस्स साउं, पडिपंथिगमादिगस्स वा भीओ।
आयरणा तत्थ खरा, सयं व णाओ पडिणियत्तो ॥

संसाधको नाम दोलापकः पृष्ठतः कुतश्चिदागतो वा साधुः तन्मुखेन श्रुत्वा प्रतिपन्थिकः सन्मुखीनः साध्वादिस्तदादेर्वा मुखात् श्रुत्वा स्वयं वा ज्ञात्वा स्मृत्या किमित्याह। आचरणाचर्या तत्र स्वाचार्यस्य गच्छे खरा कर्कशा एवं श्रुत्वा ज्ञात्वा वा भीतः सन् यः प्रतिनिवृत्तस्तस्य पञ्चकं भवतीति शेषः। अथ चिन्तयतीति पदं व्याचष्टे ॥

पुव्वं चिंतेयव्वं, णिग्गतो चिंतेति किं करेमि त्ति।
वच्चामि वियत्तामि व, तहिं व अण्णत्थ वा गच्छे ॥

पूर्वमेव यावन्न निर्गम्यते तावच्चिन्तयितव्यं यस्तु निर्गतश्चिन्तयति किं करोमि व्रजामि निवर्ते वा यद्वा तत्र वा अन्यत्र वा गच्छामीति स मासलघु प्रायश्चित्तं प्राप्नोतीति प्रक्रमः। व्रजिका संखडीद्वारद्वयमाह –

उव्वत्तणमप्पत्ते, लहुओ खद्धस्स भुंजणे लहुगा।
णिसट्ठवणा लहुओ, संखडिगुरुगा य जं वण्णं ॥

व्रजिकां श्रुत्वा मार्गादुद्वर्त्तने करोति अप्राप्तां वा वेलां प्रतीक्षते लघुमासः। अथ खद्धं प्रभूतं तत्र भुङ्क्ते ततश्चतुर्लघुकं प्रचुरं भुक्त्वा अजीर्णभयेन निसृष्टं प्रकामं स्वपिति लघुमासः। संखड्यामप्राप्तकालं प्रतीक्षमाणस्य प्रभूतं गृह्णतो वा चतुर्गुरुकाः (जंवण्णंति) यच्च हस्तेन हस्तसंघट्टनं पादेन पादस्याक्रमणं शीर्षेण शीर्षस्याकुट्टनमित्यादिकमन्यदपि संखड्यां भवति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। अथ प्रतिषेधकद्वारमाह –

अमुगत्थअमुगो वच्चति, मेहावी तस्स कट्ठणट्ठाए।
पंथग्गामे व पहे, वसधि अह कोइ वावारे ॥
अभिलावसुद्ध पुच्छा, गेलेणं मा हु ते वि णासिज्जा।
इति कट्ठंते लहुगा, जति सेहट्ठा ततो गुरुगा ॥

कश्चिदाचार्यो विशुद्धसूत्रार्थस्फुटविकटव्यञ्जनाभिलापी तेन च श्रुतममुकाचार्यान्तिके अमुको मेधावी साधुरमुकश्रुताध्ययनार्थं व्रजति ततोऽसौ मा मामतिक्रम्यान्यत्र गच्छेदिति कृत्वा तस्याकर्षणार्थमथानन्तरं शिष्यान् प्रतीच्छकांश्च व्यापारयतीत्याह (पंथग्गामे व पहेत्ति) *यत्र पथि ग्रामे स भिक्षां करिष्यति मध्येन वा समेष्यति येन वा* यथासमागमिष्यति यस्यां वा वसतौ स्थास्यति तेषु स्थानेषु गत्वा यूयमभिलापशुद्धं परिवर्त्तयन्त स्तिष्ठत यदा आगमनं भवति तदा यद्यसौ पुच्छेत् केन कारणेन यूयमिहागतास्ततो भवद्भिर्वक्तव्यमस्माकं वाचनाचार्या अभिलापशुद्धं पाठयन्ति। यद्यभिलापः कथंचिदन्यथा क्रियते ततो महदप्रीतिकं कुर्वन्ति भणन्ति च वासमध्ये बहूनां रोलेनाभिलापं मा विनाशयतेति ततस्तदादेशेन वयमत्र विजने परिवर्त्तयामः। एवमाकर्षणं कुर्वतश्चतुर्लघुकाः। अथ तेन वा गच्छता शैक्षकोऽपि लब्धस्तदर्थमेष शैक्षो मे भूयादिति कृत्वा आकर्षते ततश्चतुर्गुरुकाः।

अक्खरवंजणसुद्धं, मम पुच्छह तम्मि आगए संते।
घोसेहि य परिसुद्धं, पुच्छह णिउणे य सुत्तत्थे ॥

स आचार्यः शिष्यान् प्रतीच्छकान् वा भणति यदा युष्माकमभिलापशुद्धगुणतया रञ्जितः स उपाश्रयमागच्छति तदा तस्मिन्नागते अक्षरव्यञ्जनशुद्धं सूत्रं मां पृच्छत अक्षराणि प्रतीतानि व्यञ्जनशब्देनार्थाभिव्यञ्जकत्वादत्र पदमुच्यते। तैरक्षरैर्व्यञ्जनैश्च शुद्धं तथा घोषैश्चोदात्तादिभिः परिशुद्धं सूत्रं पठनीयम्। निपुणांश्च सुत्रार्थान् मां तदानीं पृच्छत एवमनयाभङ्ग्या तमन्यत्र गच्छे गच्छन्तं प्रतिषेधयति। गतं प्रतिषेधकद्वारम्।

अथ परसिल्लद्वारमाह –

पाउयमपाउयघट्ट,पट्टलो य खुरविविधवेसहरा।
परिसेल्लस्स तु परिसा, थलिए व ण किंचि वारेति ॥

यः परिसिल्लः आचार्यः स संविग्नाया असंविग्नायाश्च पर्षदः संग्रहं करोति ततस्तस्य साधवः केचित्प्रावृताः केचिदप्रावृताः केचिद्धृष्टाः फेनादिना घृष्टसंघाः केचित् पृष्टाः तैलेन पृष्टशरीरा वा अपरे लोचलुञ्चितकेशा अन्ये क्षुरमुण्डिताः एवमादिविविधवेषधरा एतस्याः पर्षदः स्थली देवद्रोणी तस्यामिवाऽसौ न किंचिदपि वारयति ॥

तत्थ पवेसे लहुगा, सच्चित्ते चउगुरुं च आणादी।
उवहीणिप्फण्णं पि य, अचित्तचित्ते य गिण्हंते ॥

तत्र पर्षद्वतो गच्छे प्रवेषं कुर्वतश्चतुर्लघु। अथ सचित्तेन शैक्षेण सार्द्धं प्रविशति ततश्चतुर्गुरवः आज्ञादयश्च दोषाः। अथाचित्तेन वस्त्रादिना सह प्रविशति तत उपधिनिष्पन्नं मिश्रसंयोगप्रायश्चित्तम्। तथा सचित्ताचित्तं ददतो गृह्णतश्चैवमेव प्रायश्चित्तम्। अथ पिशुकादिद्वारं चाह।

ढिंकुणपिसुगादि तहिं सोउं णाउं व सण्णिवत्तंते।
अमुगसुतत्थनिमित्तं, तुब्भम्मि गुरूहि पेसविओ ॥

ढिङ्कुणपिशुकदंशमशकादीन् शरीरोपद्रवकारिणस्तत्र श्रुत्वा ज्ञात्वा वा संनिवर्त्तमानस्य मासलघु तथा अमुकश्रुतार्थनिमित्तं गुरुभिर्युष्मदन्तिके प्रेषितोऽहमिति भणतो मासलघु। आहैवं भणतः को नाम दोषः। सूरिराह।

आणाए जिणिंदाणं, ण हु वलियतराउ आयरियआणा।
जिण आणाए परिभवो, एवं गव्वे अदिणितो य ॥

जिनेन्द्रैरेव भगवद्भिरुक्तं यथा निर्दोषो विधिना सूत्रार्थनिमित्तं यः समागतस्तस्मै सुत्रार्थौ दातव्यौ न च जिनेन्द्राणामा-

ज्ञायाः सकाशादाचार्याणामाज्ञा वलीयस्तराम् । अपि च एवमाचार्यानुवृत्त्या श्रुते दीयमाने जिनाज्ञायाः परिभवो भवति । तथा प्रेषयत उपसंपद्यमानस्य प्रतीच्छतश्च त्रयाणामपि गर्वो भवति तीर्थकृतां श्रुतस्य चाविनयः कृतो भवति ततो गुरुभिः प्रेषितोऽहमिति न वक्तव्यम्। यस्तु भीतादिदोषविमुक्तोऽभिधारिताचार्यस्यान्तिके आयातः स शुद्धः।

यस्तु प्रतिषेधकादीनां पार्श्वे तिष्ठति तत्र विधिमाह –

अन्नं अभिधारेतुं, अप्पडिसे हपरिसिल्लमण्णं वा।
पविसंत कुलादिगुरु, सचित्तादी व से होउ॥
ते दो उवालमित्ता, अभिधारेज्जंति दंतिमं थेरा।
घट्टणविआरणंति य, पुच्छा विप्फालणेगट्ठी॥

यः पुनरन्यमाचार्यमभिधार्य अप्रतिषेधकं वा पर्षद्वन्तं वा अन्यं वा प्रविशति तस्य पार्श्वे उपसंपद्यते इत्यर्थः। तं यदि कुलादिगुरवः कुलस्थविरा गणस्थविराः संघस्यविरा वा जानीयुस्ततो यत्नेनाचित्तं सचित्तं वा तस्याचार्यस्योपनीतं तत्तस्य सकाशात् हृत्वा तौ द्वावप्याचार्यप्रतीच्छ कौ स्थविरा उपालभन्ते कस्मात् त्वया अयमात्मपार्श्वे स्थापितः कस्माद्वा त्वमन्यमभिधार्य स्थितः। एवमुपालभ्य तं प्रतीच्छकं घट्टयित्वा तत् सचित्तादिकं सर्वमभिधारितं तस्याचार्यस्य प्रयच्छन्ति तदन्तिके प्रेषयन्तीत्यर्थः। अथ घट्टयित्वेति कोऽर्थ इत्याह घट्टनेति वा विचारणेति वा पृच्छेति वा विस्फालनेति वा एकार्थानि पदानि।

तं घट्टेउ सचित्तं, एसा आरोवणा उ अविहीते।
वितियपदमसंविग्गे, जयणाए कयंति तो सुद्धो॥

तं प्रतीच्छकं घट्टयित्वा कमभिधार्य भवान् प्रस्थित आसीदिति पृष्ट्वा सचित्तादिकं तस्य अभिधारितस्य पार्श्वे स्थविराः प्रेषयन्तीति गम्यते (एसा आरोवणा उ अविहीएत्ति) या पूर्वप्रतिषेधकत्वं पर्षन्मीलनं वा कुर्वत आरोपणा भणिता सा अवधिनिष्पन्ना मन्तव्या विधिनाऽनुकरणं कुर्वाणस्य न प्रायश्चित्तम्। तथा चाह (विश्यपयइत्यादि) यमसाववधारयति स आचार्यो ऽसंविग्नः ततो द्वितीयपदे यतनया प्रतिषेधकत्वं कुर्यात् का पुनर्यतनेति चेदुच्यते। प्रथमं साधुस्तं भाणयति मा तत्र व्रज पश्चादात्मनाऽपि भणति पूर्वोक्तेन वा शिष्यादिव्यापारेण प्रयोगेण वारयेत्। एवं यतनया प्रतिषेधकत्वे कृतेऽपि शुद्धो निर्दोषः।

अमुमेवार्थमाह।

अभिधारेंते पासत्थमादिणे तं वजति सुतं अत्थि।
जे अपडिसेहदोसा, ते कुव्वं तो वि णिद्दोसो॥

यानभिधारयन्नसौ व्रजति ते आचार्याः पार्श्वस्थादिदोषदुष्टा यच्च श्रुतमसावभिलषति तद्यदि यस्य प्रतिषेधकस्यास्ति ततो ये अप्रतिषेधकत्वं कुर्वतो दोषाः शिष्यव्यापारणादयस्तान् कुर्वन्नपि निर्दोषस्तदा मन्तव्यः।

जं पुण सचित्तादी, तं तेसिं देति ण वि सयं गेण्हे।
वितिए चित्त ण पेसे, जावइयं वा असंथरणे॥

यत्पुनः सचित्तादिकं प्रतीच्छकेनागच्छता लब्धं तत्तेषामभिधारिताचार्याणां ददाति न पुनः स्वयं गृह्णाति। द्वितीयपदे यद्वस्त्रादिकमचित्तं तदशिवादिभिः कारणैः स्वयमलभमानो न प्रेषयेदपि। अथवा यावदुपयुज्यते तावद् गृहीत्वा शेषं तेषां समीपे प्रेषयेत्। असंस्तरणे वा सर्वमपि गृह्णीयात्। सचित्तमप्यमुना कारणेन न प्रेषयेत्।

नाऊण य वोच्छेयं, पुव्वगए कालियाणुओगे य।
सयमेव दिसाबंधं, करेज्ज तेसिं न पेसिज्जा॥

यस्तेन शैक्ष आनीतः स परममेधावी तस्य च गच्छे नास्ति कोऽप्याचार्यपदयोग्यो यच्च तस्य पूर्वगतं कालिकश्रुतं वा समस्ति तस्यापरो गृहीता न प्राप्यते ततस्तयोर्व्यवच्छेदं ज्ञात्वा स्वयमेव तस्यात्मीयं दिग्बन्धं कुर्यात् न तेषां प्राग्निर्धारितानां पार्श्वे प्रेषयेत्।

अथ पर्षद्वतोऽपवादमाह।

असहा तो परिसिल्लत्तणं पि कुज्जा उ मंदधम्मे य।
पप्प व कालद्धाणे, सचित्तादी तिगिण्हेज्जा॥

असहाय एकाकी स आचार्यस्ततः संविग्नमसंविग्नं वा सहायं गृह्णीयात् शिष्या वा मन्दधर्माणो गुरूणां व्यापारं न वदन्ति ततो यं वा तं वा सहायं गृह्णतः पर्षद्वत्वमपि कुर्यात्। श्राद्धा वा मन्दधर्माणो न वस्त्र -पात्रादि प्रयच्छन्ति ततो लब्धिसंपन्नं शिष्यं यं वा तं परिगृह्णीयात्। दुर्भिक्षादिकं वा कालमध्वानं वा प्राप्य ये उपग्रहकारिणः शिष्यास्तान् संगृह्णीयात्। अथ योऽसौ प्रतीच्छको गच्छति तस्यापवादमाह।

कालगयं सोऊणं, असिवादी तत्थ अंतरा वा वि।
पडिसिल्लं पडिसेहं, सुद्धो अण्णं व विसमाणो॥

यमाचार्यमभिधार्य व्रजति तं कालगतं श्रुत्वा यद्वा यत्र गन्तुकामस्तत्रान्तरा वा अशिवादीनि श्रुत्वा पर्षद्वतः प्रतिषेधकस्य वा अन्यस्य वा पार्श्वे प्रविशेत् शुद्धः एतदविशेषितमुक्तम्। अथात्रैव भाव्यानाभाव्यविशेषं विभणिषुराह।

वच्चंतो वि य दुविहो, दत्तमदत्तस्स मग्गणा होति।
वत्तम्मि खेत्तवज्जं, अचंते ण अप्पिओ जाव॥

यः प्रतीच्छको व्रजति सोऽपि च द्विविधो व्यक्तोऽव्यक्तश्च तयोः सहायः किं दातव्यो न वेति मार्गणा कर्तव्या। तत्र व्यक्तस्य यः सचित्तो विलासः क्षेत्रवर्जं परक्षेत्रं मुक्त्वा भवति स सर्वोऽप्यभिधारिताचार्यस्याभवति यः पुनरव्यक्तः स सहायैर्यावदद्यापि तस्याचार्यस्यार्पितो न भवति तावत्परक्षेत्रं मुक्त्वा यत्ते सहाया लभन्ते तत्पूर्वाचार्यस्यैवाभवतीति संग्रहगाथा-समासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति।

सुतअव्वत्तो गीतो, वएण जो सोलसण्ह आरेणं।
तव्विवरीओ वत्तो, वत्तमवत्ते य चउत्ते भंगो॥

अव्यक्तो द्विधा श्रुतेन वयसा च। श्रुतेनाढ्यको गीतार्थो वयसा अव्यक्तस्तु षोडशानां वर्षाणामर्वाग्वर्तमानस्तद्विपरीतो व्यक्त उच्यते। अत्र च व्यक्ताव्यक्ताभ्यां चतुर्भङ्गी भवति। श्रुतेनाप्यव्यक्तो वयसाऽप्यव्यक्तः।१। श्रुतेनाव्यक्तो वयसा व्यक्तः।२। श्रुतेन व्यक्तो वयसा अव्यक्तः।३। श्रुतेनापि व्यक्तो वयसाऽपि व्यक्तः।४। अस्य च सहायाः किं दीयन्ते उत न दीयन्ते इत्याह–

वत्तस्स वि दायव्वा, अपुज्जमाणे सहा य किमु इयरे।
खेत्तविवज्जं अचं– तिएसु जं लब्भति पुरिल्ले॥

आचार्येण पूर्यमाणेषु साधुषु व्यक्तस्यापि सहाया दातव्याः किं पुनरितरस्याव्यक्तस्य तस्य सुतरां दातव्या इति भावः। तत्र सहाया द्वधा आत्यन्तिका अनात्यन्तिकाश्च। आत्यन्तिका नाम ये तेन सार्द्धं तत्रैवासितुकामाः ये तु तं तत्र मुक्त्वा प्रतिनिवर्त्तिष्यन्ते ते अनात्यन्तिकाः। तत्रात्यन्तिकेषु सहायेषु यदव्यक्तं

क्षेत्रविवर्जं परक्षेत्रं मुक्त्वा सचित्तादिकं लभते (तत् पुरिल्लेत्ति) तस्याचार्यस्याभिमुखं व्रजति स पुरोवर्ती भण्यते अभिधारित इत्यर्थस्तस्य सर्वमपि सचित्तादिमाभवति। परक्षेत्रेषु लब्धं क्षेत्रिकस्याभाव्यम्।

जइ णेउं पत्तुमणा, नंते मग्गिले वत्तिपुरिमस्स।
नियमव्वत्तसहायाणं तु णियत्तत्ति जं सोयं॥

अथ ते सहायास्तं तत्र नीत्वा आगन्तुकामा अनात्यन्तिका इत्यर्थस्ततो यत्ते सहाया लभन्ते तत्सर्वमपि (मग्गिलेत्ति) यस्य सकाशात्प्रस्थितास्तस्यात्मीयस्याचार्यस्याभवति (वत्तिपुरिम-स्सत्ति) यत्पुनः स व्यक्तः स्वयमुत्पादयति यत्पुरिमस्य अभिधारितस्याभवति यः पुनरव्यक्तस्तस्य नियमेनैव सहाया दीयन्ते ते च सहाया यद्यात्यन्तिकास्तदा यदसौ ते च लभन्ते तदभिधारितस्याभाव्यम्। अथ तं तत्र नीत्वा निवर्तते ततो यदसौ ते च परक्षेत्रं मुक्त्वा लभन्ते तत्सर्वं पूर्वाचार्यस्याभवति यावदद्याप्यसौ नार्पितो भवति।

वितियं अपुज्जयंते, न देज्ज वा तस्स सो सहाये तु।
वइगादि अपडिवज्जं-तगस्स उवही विसुद्धो उ॥

द्वितीयपदमत्र भवति अपूर्यमाणेषु साधुषु सहायान् साधून् तस्याचार्यो न दद्यात् स चात्मना श्रुतेन वयसा च व्यक्तस्तस्य व्रजिकादावप्रतिबध्यमानस्योपधिर्विशुद्धो भवति नोपहन्यते। अथ व्रजिकादिषु प्रतिबध्यते तत उपधेरुपघातो भवति।

एगे तू वच्चंते, उग्गहवज्जं तु लसति सच्चित्तं।
वच्चंति गिलाणा अंतरा तु तदि मग्गणा होइ॥

यो व्यक्त एकाकी व्रजति स यद्यन्यस्याचार्यस्य योऽवग्रहस्तद्वर्जिते अनवग्रहक्षेत्रे यत्किंचिल्लभते तत् सचित्तमभिधार्यमाणस्यभवति (वच्चंतइत्यादि) योऽसौ ज्ञानार्थं व्रजति स द्वौत्रीन् वा आचार्यान् कदाचिदभिधारयेत् तेषां मध्ये यो मे अभिरोचिष्यते तस्यान्तिके उ पसंपदं गृहीष्यामीति कृत्वाऽसावन्तरा ग्लानो जातस्तैश्चार्यैः श्रुतं यथाऽस्मानभिधार्य साधुरागच्छन् पथि ग्लानो जात इति तत्रेयमाभाव्यानाभाव्यमार्गणा भवति।

आयरिया दोण्णि गया, एक्के एक्कं च णागए गुरुगा।
ण य लभती सच्चित्तं, कालगते विप्परिणए वा॥

यदि तौ द्वावप्याचार्यावागतौ ततो यत्तेन लब्धं तदुभयोरपि साधारणम्। अथैकस्तयोरागत एकश्च द्वितीयो नागतस्ततोऽनागतस्य चतुर्गुरु यच्च सचित्त मचित्तं वा तदसौ न लभते। यस्तं गवेषयितुमागतस्मस्य सर्वमाभवति एवं त्र्यादिसंख्याकेष्वाचार्येष्वभिधारितेषु भावनीयम्। अथासौ ग्लानः कालं गताः तत्रापि यो गवेषयितुमागच्छति तस्यैवाभवति नेतरेषाम्। अथासौ विपरिणतस्ततो यस्य विपरिणतः स न लभते यत्पुनः सचित्तादिकमभिधार्यमाणे लब्धं पश्चाद्विपरिणतस्ततो यदवि-परिणते भावे लब्धं तल्लभते विपरिणते भावे लब्धं न लभते।

पंथसहायसमत्थो, धम्मं सोऊण पव्वयामि त्ति।
खेत्ते य बाहि परिणए, वाताहडे मग्गणाइणमो॥

योऽसौ ज्ञानार्थं प्रस्थितस्तस्य पथि गच्छन् कश्चित् मिथ्यादृष्टिर्वाताहृतः समर्थः सहायो मिलितः स च तस्य पार्श्वे धर्म्म श्रुत्वा प्रव्रजामीति परिणाममुपगतवान् स च परिणाममुपगतैः साधुभिरपिगृहीते क्षेत्रे जातो भवेत् क्षेत्राद्वा बहिरिन्द्रस्थानादौ वाअपरिगृहीते वा क्षेत्रे ततस्तस्मिन् वाताहृते प्रव्रजितुं परिणते इयं मार्गणा भवति॥

खेत्तम्मि खेत्तियस्स, खेत्तवहिं परिणए पुरेल्लस्स।
अंतरपरिणयविप्परिणएण एगा उ मग्गणता॥

साधुपरिगृहीतक्षेत्रे प्रव्रज्यापरिणतः क्षेत्रिकस्याभवति। क्षेत्राद्बहिः परिणतस्तु (पुरिल्लस्सत्ति) तस्यैव साधोराभवति अपान्तराले स प्रव्रज्यायां परिणतो विपरिणतश्च भवति ततः क्षेत्रे च धर्मकथिकस्य रागद्वेषप्रतीत्याऽनेका मार्गणाः। तद्यथा यदि धर्मकथी ऋजुः भयात्कथयति तदा क्षेत्रे परिणतः क्षेत्रिकस्याभवति अक्षेत्रे परिणतो धर्मकथिकस्य। अथ विपरिणतेन वेगेन कथयति यदा क्षेत्रान्निर्गतो भविष्यति तदा कथयिष्यामि न मे अधुना भवति एवं क्षेत्रनिर्गतस्य कथिते यदि परिणतस्तदा क्षेत्रिकस्याभवतीत्येवं विभाषा कर्तव्या।

दीसज्जियम्मि उवं, अविसज्जिए चउलहुं व आणादी।
तेसिं पि हुंति लहुगा, अविधिविही सा इमा होइ॥

एवमेव विधिर्गुरुणा विसर्जिते शिष्ये मन्तव्यः। अथाविसर्जितो गच्छति तदा शिष्यस्य प्रतीच्छकस्य च चतुर्लघु। अथ विसर्जितो द्वितीयं वारमनापृच्छ्य गच्छति तदा मासलघु आज्ञादयश्च दोषाः। येषामपि समीपेऽसौ गच्छति तेषामप्यविधिनिर्गतं तं प्रतीच्छतां चत्वारो लघवः। सचित्तादिकं वा भाव्यं न लभन्ते एषोऽविधिरुक्तः। विधिः पुनरयं वक्ष्यमाणो भवति। स पुनराचार्य एभिः कारणैर्न विसर्जयति।

परिवार पूयहेतुं, अविसज्जंते ममत्तदोसा वा।
अणुलोमेण गमेज्जा, दुक्खं खु विमुंचियं गुरुणो॥

आत्मनः परिवारनिमित्तं न विसर्जयति बहुभिर्वा परिवारितः पूजनीयो भविष्यामि मम शिष्योऽन्यस्य पार्श्वे गच्छतीति समत्वदोषाद्वा न विसर्जयति एवमविसर्जयन्तं गुरुमनुलोमा अनुकूलैर्वाचाभिर्गमयेत् कुत इत्याह। (दुक्खंखुत्ति) खलुरवधारण गुरवो विमोक्तुं परमोपकारकारित्वात् न च ते यतस्ततो विमोक्तुं शक्या इति भावः। ततः प्रथमत एव विधिना गुरूनापृच्छ्य गन्तव्यम्। कःपुनर्विधिरिति चेदुच्यते।

नाणम्मि तिण्णि पक्खा, आयरिय उवज्झाय सेसगाणं वा।
एक्केक्कपंचदिवसे, अहवा पक्खेण एक्केक्कं॥

ज्ञानार्थं गच्छता त्रीन् पक्षानापृच्छा कर्त्तव्या तत्र प्रथममाचार्यं पञ्चदिवसानापृच्छति यदि न विसर्जयति तत उपाध्याये पञ्च दिवसानापृच्छेत् यदि सोऽपि न विसर्जयति तदा शेषाः साधवः पञ्च दिवसान् पृष्टव्या एष एकः पक्षो गतस्ततो द्वितीयपक्षमेवाचार्योपाध्यायशेषसाधून् प्रत्येकमेकैकं पञ्चभिर्दिवसैः पृच्छति तृतीयमपि पक्षमेवं पृच्छति एवं त्रयः पक्षा भवन्ति। अथवा निरन्तरमेवाचार्यं एकं पक्षमापृच्छनीयस्तत उपाध्यायोऽप्येकं पक्षं गच्छसाधवोऽप्येकं पक्षम्। एवं च त्रयः पक्षाः एवमपि यदि न विसर्जयन्ति ततोऽविसर्जित एव गच्छति।

एयविहमागतं तु, पडिच्छअपडिच्छणे भवे लहुगा।
अहवा इमेहिं आगम, एगादि पडिच्छतो गुरुगा॥

एतेन विधिना आगतं प्रतीच्छकं प्रतीच्छेत्। अप्रतीच्छतश्चतुर्लघुका भवेयुः। अथामीभिरेकादिभिः कारणैरागतं प्रतीच्छति ततश्च-तुर्गुरुकाः तान्येवैकादीनि कारणान्याह --

एगे अपरिणते य, अयाहारे य थेरए।
गिलाणे बहुरोगे य, पाहुडे मंदधम्मए।

एकाकिनमाचार्यं मुक्त्वा स समागतः। अथवा तस्याचार्यस्य पार्श्वे ये तिष्ठन्ति ते अपरिणता आहारवस्त्रपात्रशय्यास्थण्डिलानामकल्पिकास्तैः सहितमाचार्यं मुक्त्वा आगतः। अथवा स आचार्याधारस्तमेवपृष्ट्वा सूत्रार्थवाचनां ददाति स्थविरो वा स आचार्यः। यद्वा तदीये गच्छे कोऽपि साधुः स्थविरस्तस्य स एव वैयावृत्यकर्त्ता ग्लानो वा बहुरोगी वा स आचार्यः ग्लानोऽधुनोत्पन्नरोगः। बहुरोगिणाम- चिरकालं बहुभिर्वा रोगैरभिभूतः। अथवा शिष्यास्तस्य मन्दधर्माणस्तस्यैव गुणेन सामाचारीमनुपालयन्ति एवंविधमाचार्यं परित्यज्यागतः (पाहुडेत्ति) गुरुणा समं प्राभृतं कलहं कृत्वा समागतः। अथवा प्राभृतकारिणःपाखण्डिकास्तस्य शिष्यास्तस्यैव गुणेनागतः।

एयारिसं विउस्सज्ज, विप्पवासो ण कप्पती।
सीसपडिच्छायरिए, पायच्छित्तं विहिज्जती॥

एतादृशमाचार्यं व्युत्सृज्य विप्रवासो गमनं कर्तुं न कल्पते यदि गच्छति ततः शिष्यस्य प्रतीच्छकस्याचार्यस्य च त्रयाणामपि प्रायश्चित्तं विधीयते तत्रैकं ग्लानं वा मुक्त्वा शिष्यस्य प्रतीच्छकस्य वा समागतस्य चतुर्गुरुकाः यश्चाचार्यः प्रतीच्छति तस्यापि चतुर्गुरु। प्राभृते शिष्यप्रतीच्छकयोश्चतुर्गुरुकमेव। आचार्यस्य पञ्च रात्रिंदिवं छेदः। शेषेषु परतादिषु पदेषु शिष्यस्य चतुर्गुरु। प्रतीच्छकस्य चतुर्लघु आचार्यस्यापि शिष्यं प्रतीच्छत एतेषु चतुर्गुरु प्रतीच्छकप्रतीच्छकस्य चतुर्लघु। प्रतीच्छकं प्रतीच्छतश्चतुर्लघु। अथ ज्ञानार्थं त्रीन् पक्षानाप्रच्छनीयमित्यत्रापवादमाह।

विइयपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागढे।
नाऊण तस्स भावं, कप्पति गमणं अणापुच्छा॥

द्वितीयपदं तत्र भवति। आचार्यादिष्वसंविग्नीभूतेषु न पृच्छेदपि च संविग्नेष्वपि वा किंचिदागाढं चारित्रविनाशकारणं स्त्रीप्रभृतमात्मनः समुत्पन्नं ततोऽनापृच्छ्यापि च गच्छति तेषां वा गुरूणां स्वभावं ज्ञात्वा तेनोद्वृष्टाः सन्तः कथमपि विसर्जयिष्यन्तीति मत्वा अनापृच्छ्यापि गमनं कल्पते। अथाविसर्जितेन गन्तव्यमित्यपवदति॥

अज्झयणं वोच्छिन्नं ति, तस्य य गहणम्मि अत्थि सामत्थं।
ण वि वियरंति चिरेण वि, एतेण विसज्जितो गच्छे॥

किमाप्यध्ययनं व्यवच्छिद्यते तस्य च तद्ग्रहणे सामर्थ्यमस्ति न च गुरवश्चिरेणापि वितरन्ति गन्तुमनुजानन्ते एतेन कारणेना-विसर्जितोऽपि गच्छेत्। अविधिना आगत आचार्येण न प्रतीच्छनीय इत्यस्यापवादमाह।

नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुओगे य।
अविहि अणापुच्छागत, सुत्तत्थविजाणओवोए॥

पूर्वं गते कालिकश्रुते वा व्यवच्छेदं ज्ञात्वा अविधिना प्रव्रजिकादिप्रतिबन्धेनागतमनापृच्छ्यागतं वा सूत्रार्थज्ञापको वा येन कश्चिद्दोषः यत्नेन प्रतीच्छकेन शैक्षस्तस्याभिधारितस्यानाभाव्य आनीतः सन् गृहीतत्व इत्यपवदति।

नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगये कालियाणुओगे य।
सुत्तत्थजाणगस्सा, कारणजाते दिसाबंधो॥

पूर्वगते कालिकश्रुते वा व्यवच्छेदं ज्ञात्वा सूत्रार्थज्ञापकेन कारणजाते अनाभाव्यस्याप्यात्मीयो दिग्बन्धः कर्त्तव्यः। आह किमर्थमनिबद्धो न दाप्यते उच्यते अनिबद्धः स्वयमेव कदाचिद्गच्छन् पूर्वाचार्येण वा नीयेत कालदोषेण वा ममत्वाभावमालम्ब्य वाचयिष्यतीति दिग्बन्धोऽनुज्ञातः। इदमेव सविशेषमाह-

ससहाय अवत्तेणं, खोत्ते वि उवट्ठियं तु सचित्तं।
दलियं णाउं बंधंति, उभयममत्तट्ठया तं वा॥

अव्यक्तेन ससहायेन यः शैक्षो लब्धो यश्च परक्षेत्रेऽपि उपस्थितः सचित्तः स पूर्वाचार्यस्य क्षेत्रिकाणां वा यद्यप्याभाव्यस्तथाऽपि तं दलिकं परममेधाविनमाचार्यपदयोग्यं ज्ञात्वा यद्यात्मीये गच्छे नाचार्यपदयोग्यः ततस्तस्यात्मीयां दिशं बध्नाति स्वशिष्यत्वेन स्थापयतीत्यर्थः। कुत इत्याह उभयस्य साधुसाध्वीवर्गस्य तत्र शैक्षो ममत्वमस्माकमयमित्येवं ममकारो भूयादिति कृत्वा। यद्वा स्वगच्छीयसाधूनां तस्य च शैक्षस्य परस्परं संमेलका वयमित्येवं ममत्वं भविष्यतीति बुद्ध्या तमात्मीयशीष्यत्वेन बध्नाति (तं व त्ति) यो वा प्रतीच्छक आयातस्तमपि ग्रहणाधारणासमर्थं च विज्ञाय स्वशिष्यं स्थापयति एवं शैक्षः प्रतीच्छको वा कारणे शिष्यतया निबद्धः सन् यदा निर्गतो भवति। तदा॥

आयरिए कालगए, परियट्टइ तं गणो उ सो चेव।
चोएति य अपढंते, इमा उ तह मग्गणा होइ॥

आचार्ये कालगते सति गच्छस्य निबद्धाचार्यस्य च व्यवहारो भण्यते स स्वयमेव तं गणं परिवर्तयति स च गच्छो यदि श्रुतं न पठति ततस्तं अपठन्तं नोदयति यदि नोदिता अपि ते गच्छसाधवो न पठन्ति तत इयमाभवद्व्यवहारमार्गणा भवति।

साहारणं तु पढमे, वितिए खेत्तम्मि ततियसुहदुक्खे।
अणिहज्जंते सीसे, सा एक्कारस विभागा॥

कालगतस्याचार्यस्य प्रथमे वर्षे सचित्तादिकं साधारणं यद्यसौ प्रतीच्छकाचार्य उत्पादयति तत्तस्यैवाभवति। यदीतरे गच्छसाधव उत्पादयन्ति तत्तेषामेवाभवतीति भावः। द्वितीये वर्षे यत् क्षेत्रोपसंपन्नो लभते तत्तेऽपठन्तो लभन्ते। तृतीये वर्षे यत् सुखदुःखोपसंपन्नो लभते तत्ते लभन्ते। चतुर्थे वर्षे कालगताचार्यशिष्या अनधीयाना न किंचि ल्लभन्ते। शेषा नाम येऽधीयते तेषामधीयानानां वक्ष्यमाणा एकादश विभागाः भवन्ति। शिष्य पृच्छति क्षेत्रोपसंपन्नः सुखदुःखोपसंपन्नो वा किं लभते। सूरिराह॥

खेत्तोवसंपयाए, वावीसं संथुया य मित्ता य।
सुहदुक्खमित्तवज्जा, चउत्थए नालबद्धाई॥

क्षेत्रोपसंपदा उपसंपन्नो द्वाविंशति अनन्तरपरम्परावल्लीबद्धान् मातापित्रादीन् जनान् लभते संस्तुतानि च पूर्वापश्चात्संस्तवसंबद्धानि प्रपौत्रश्वसुरादीनि मित्राणि च सह जातकादीनि लभते दृष्टाभाषितानि तु न लभते। सुखदुःखोपसंपन्नेषु एतान्येव मित्रवर्जानि लभते। चतुर्थस्तु एवंविधोपमः प्रक्रमप्रामाण्यात् श्रुतोपसंपन्नः स केवलान्येव द्वाविंशतिनालबद्धानि लभते अयं च प्रसङ्गे नोक्तः क्षेत्रोपसंपन्नसुखदुःखापन्नयोर्यदाभाव्यमुक्तंतत्ते शिष्या अनधीयाना द्वितीये तृतीये च वर्षे यथाक्रमं लभन्ते। चतुर्थे वर्षे सर्वमप्याचार्यस्याभवति न तेषाम्। ये तु शिष्या अधीयते तेषां विधिरुच्यते तस्य कालगताचार्यस्य चतुर्विधो गणो भवेत्।

शिष्याः शिष्यिकाः प्रतीच्छकाः प्रतीच्छिकाश्चेति । एतेषां पूर्वोद्दिष्टपश्चादुद्दिष्टयोः संवत्सरसंख्ययैकादश गमा भवन्ति। पूर्वोद्दिष्टानां यत्तेनाचार्येण जीवता तेषां श्रुतमुद्दिष्टं यत्पुनस्तेन प्रतीच्छकाचार्येणोद्दिष्टं तत्पश्चादुद्दिष्टम्। तत्र विधिमाह।

पुव्वुद्दिट्ठे तस्स, पच्छुद्दिट्ठे पवाययंतस्स।
संवच्छरम्मि पढमे, पडिच्छिए जं तु सचित्तं।

यदाचार्येण जीवता प्रतीच्छकस्य पूर्वमेवोद्दिष्टं तदेव पठन् प्रथमेवर्षे यत् सचित्तमचित्तं वा स लभते तत्तस्य कालगताचार्यस्याभवति एष एको विभागः। अथ पश्चादुद्दिष्टं ततः प्रथमसंवत्सरे यत् सचित्तादिकं लभते तत्सर्वं प्रवाचयतः प्रतीच्छकस्याचार्यस्याभवति एष द्वितीयो विभागः।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, पडिच्छए जं तु होइ सचित्ते।
संवच्छरम्मि वितिए, तं सव्वं पवाययंतस्स॥

प्रतीच्छकः पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठन् यत्तस्य सचित्तादिकं तदा द्वितीये वर्षे सर्वमपि प्रवाचयतो भवति। तृतीयो विभागः। अथ पश्चाच्छिष्यस्याभिधीयते।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सेसम्मि उ जं तु होइ सचित्तं।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं गुरुस्स आभवइ॥

शिष्यस्य कालगताचार्येण वा उद्दिष्टं भवेत् प्रतीच्छकाचार्येण वा तदसौ पठन् यत् सचित्तादिकं लभते तत्सर्वं प्रथमे संवत्सरे गुरोः कालगताचार्यस्याभवति एष चतुर्थो विभागः।

पुव्वुद्दिट्ठं तस्स, पच्छुदिट्ठं पवाययंतस्स।
संवच्छरम्मि वितिए, सीसम्मि उ जं तु सचित्तं॥

शिष्यस्य पूर्वोद्दिष्टमधीयानस्य द्वितीयवर्षे सचित्तादिकं कालगताचार्यस्याभवतीति पञ्चमो विभागः पश्चादुद्दिष्टं पठतः शिष्यस्य सचित्तादिकं प्रवाचयत आभाव्यं भवतीति षष्ठो विभागः।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सीसम्मि उ जं तु होइ सचित्तं।
संवच्छरम्मि ततिए तं सव्वं पवाययंतस्स॥

पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठति शिष्ये सचित्तादिकं तृतीये वर्षे सर्वमपि प्रवाचयत आभवतीति सप्तमो विभागः।

पुव्वुद्दिट्ठे तस्स, पच्छुद्दिट्ठे पवाययंतस्स।
संवच्छरम्मि पढमे, सिस्सिणिए जं तु सचित्तं॥

शिष्यिकायां पूर्वोद्दिष्टपठन्त्यां सचित्तादिकं तस्य कालगताचार्यस्य प्रथमे वर्षे आभाव्यमित्यष्टमो विभागः। पश्चादुद्दिष्टमधीयानायां प्रवाचयत आभाव्यं नवमो विभागः।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सिस्सिणिए जं तु होइ य सचित्तं।
संवच्छरम्मि वाए, तं सव्वं पवाययंतस्स॥

पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठन्त्यां शिष्यिकायां सचित्तादिलाभो द्वितीये वर्षे प्रवाचयत आभवतीति दशमो विभागः।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, पडिच्छिगा जं तु होति य सचित्तं।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं पवाययंतस्स॥

पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठन्त्यां प्रतीच्छिकायां प्रथम एव संत्सरे सर्वमपि प्रवाचयत आभवति एष एकादशो विभागः। एक एष आदेश उक्तः। अथ द्वितीयमाह॥

संवच्छराइ तिन्नि उ, सीसम्मि पडिच्छए उ तद्दिवसं।
एवं कुले गणे य, संवच्छरे संघे य छम्मासो॥

प्रतीच्छकाचार्यास्तेषां कुलसत्को गणसत्कः संघसत्को वा भवेत् तत्र यदि तत्सत्कः तदा त्रीन् संवत्सरान् शिष्याणां वाच्यमानानां सचित्तादिकं न गृह्णाति। यत्पुनः प्रतीच्छकास्तेषां वाच्यमानानां यस्मिन्नेव दिने आचार्यः कालगतस्तद्दिवसमेव गृह्णाति एवमेव कुलसत्के विधिरुक्तः। अथाऽसौ गणसत्कस्तन्संवत्सरं शिष्याणां सचित्तादिकं नापहरति यस्तु कुलसत्को गणसत्को वा न भवति स नियमात् संघसत्कः स च षण्मासान् शिष्याणां सचित्तादिकं न गृह्णाति। तेन च प्रतीच्छकाचार्येण तत्र गच्छे वर्षत्रयमवश्यं स्थातव्यम्। परतः पुनरिच्छा।

तत्थेव य निम्माए, अणिग्गए निग्गए इमा मेरा।
सकुले तिन्नि तियाइं गणे दुगसंवच्छरं संघे॥

तत्रैव प्रतीच्छकाचार्यसमीपे तस्मिन्ननिर्गते यदि कोऽपि गच्छे निर्मातस्तदा सुन्दरम्। अथ न निर्मातः स च वर्षत्रयात्परतो निर्गतस्ते वा गच्छीया एष सांप्रतमस्माकं सचित्तादिकं हरतीति कृत्वा ततो निर्गतस्तदा इयं मर्यादा सामाचारी (सकुलेइत्ति) स्वकुले स्वकीयकुलस्य समवायं कृत्वा कुलस्य कुलस्थविरस्य वा उपतिष्ठन्ते ततः कुलं तेषां वाचनाचार्यं ददाति वारकेण वा वाचयति। कियन्तं कालमित्याह (तिन्नितियत्ति) त्रयस्त्रिका भवन्ति। ततो नव वर्षाणि वाचयतीत्युक्तं भवति। यदा भवता निर्मातस्तदा सुन्दरम्। अथैकोऽपि न निर्मातस्ततः कुल सचित्तादिकं गृह्णातीति कृत्वा गणमुपतिष्ठन्ते गणोऽपि द्वे वर्षे पाठयति न सचित्तादिकं हरति यद्येवमपि निर्मातस्ततः संघमुपतिष्ठन्ते संघोऽपि वाचनाचार्यं ददाति स च संवत्सरं पाठयति एवं द्वादश वर्षाणि भवन्ति यद्येवमेकोऽपि निर्मातस्ततः पुनरपि कुलादिस्थविरेषु वा तेन क्रमेणोपतिष्ठन्ते तावन्तमेव कालं कुलादीनि यथाक्रमं पाठयन्ति न सचित्तादिकं हरन्ति एवमन्यान्यपि द्वादश वर्षाणि भवन्ति पूर्वद्वादशभिश्च मीलितानि जाता वर्षाणां चतुर्विंशतिः। यद्येतावता कालेन नैकोऽपि निर्मातस्तदा विहरन्तु अथ निर्मातस्ततो भूयोऽपि कुलगणसंघेऽपि तथैवोपतिष्ठन्ते तेऽपि च तथैव पाठयन्ति। एतान्यपि द्वादश वर्षाणि चतुर्विंशत्या मील्यन्ते जाता षट्त्रिंशत् यद्येवं षट्त्रिंशता वर्षैरेकोऽपि निर्मातस्ततो विहरन्तु। अथैकोऽपि न निर्मातः। कथमिति चेदुच्यते।

ओमादिकरणेहिं च, दुम्मेहत्तेण वा न निम्माओ।
काऊण कुलसमायं, कुलथेरे वा उवट्ठंति॥

अवमादिकारणैरशिवादिभिः कारणैरनवरतमपरापरग्रामेषु पर्य्यटतां दुर्मेधतया वा नैकोऽपि निर्मातस्ततः कुलसमवायं कृत्वा कुलस्थविरान् वा सर्वेऽप्युपतिष्ठन्ते ततस्तैरुपसंपदं ग्राहयितव्याः कुत्र पुनरिति चेदुच्यते।

पव्वज्जएगपक्खिय, उवसंपययं गहा सए ठाणे।
छत्तीसातिक्कंते, उवसंपयए उवादाए॥

यः प्रव्रज्ययैकपाक्षिकस्तस्य पार्श्वे उपसंपदं ते कुलस्थविराग्राहयेयुः सा च उपसंपत् पञ्चधा वक्ष्यमाणरीत्या भवति तस्यां चोपसंपदि षट्त्रिंशद्वर्षातिक्रमे प्राप्तायां (सए ठाणित्ति) विभक्तिव्यत्ययात् स्वकमात्मीयं स्थानमुपादाय गृहीत्वा तैरुपसंपत्तव्यमिदमेव भावयति।

गुरुमज्झिलओमज्झं, तिउचउ गुरु गुरुस्स वा भत्तू।
अहवा कुलिव्वतो उ, पव्वज्जा एगपक्खीओ॥

"गुरुमज्झिलको" गुरूणां सहाध्यायी पितृव्यस्थानीयः मज्झन्तिक आत्मनः स ब्रह्मचारी भ्रातृस्थानीयो गुरुगुरुः पितामहस्थानीयो गुरोः संबन्धी तं प्राप्तशिष्य आत्मनो भ्रातृव्यस्थानीय एते प्रव्रज्ययैकपाक्षिका उच्यन्ते। अथवा कुलः समानकुलोद्भवः सोऽपि प्रव्रज्ययैकः एतेषां समीपे यथाक्रममुपसंपत्तव्यम्।

पव्वज्जाए सुएण य, चउभंगुव्वसंपया कमेणं तु।
पुव्वाहि य दीसरिए, पढमासइ ततियभंगे उ॥

इहैकपाक्षिकप्रव्रज्या श्रुतेन च भवति। तत्र प्रव्रज्यैकपाक्षिकोऽनन्तरमुक्तःश्रुतैकपाक्षिको येन सहैकवाचनिकसूत्रम्। अत्र चतुर्भङ्गी। प्रव्रज्ययैकपाक्षिकः श्रुतेन च १ प्रव्रज्यया न श्रुतेन २ श्रुतेन न प्रव्रज्यया ३ न प्रव्रज्यया न श्रुतेन ४ एतेषु चामुना क्रमेणोपसंपत्प्रति–पत्तव्या (पढमाइत्यादि) प्रथमतः प्रथमभङ्गे उपसंपत्तव्यं तदभावे तृतीय भङ्गे कुत इत्याह यतः पूर्वाधीतं श्रुतं स्मृतं सत्तेषु मुखेनैवाज्ञापयितुं शक्यते श्रुतैकपाक्षिकत्वात्।

अथ पञ्चविधामुपसंपदमाह।

सुयसुहदुक्खक्खेत्ते, मग्गे विणओवसंपयाए य।
वावीसं संथुयं संदिट्ठभट्ठे य सव्वे य॥

श्रुतोपसंपत् सुखदुःखोपसंपत् क्षेत्रोपसंपत् मार्गोपसंपत् विनयोपसंपत् एवं एषा पञ्चविधा उपसंपत् (बृ०४ उ०) एतासु श्रुतग्रहणायान्यमाचार्यमुपसंपद्यमानस्य श्रुतोपसंपत् ३ मार्गे व्रजतो मम यौष्माकी निश्रेति मार्गोपसंपत् ४ विनयं कर्तुं गच्छान्तरमुपसंपद्यमानस्य विनयोपसंपत् ५ भाष्यकृताऽप्युक्तम्। "उपसंपयपंचविहा, सुयसुहदुक्खे य खित्तमग्गे य। चिण उपसंपया विविय, पंचविहा होइ नायव्वा" एता सामन्यतरामुपसंपदं प्रथममाददानस्य विभागालोचना भवति विहारे कृते निरतिचारस्याप्यालोचना भवति। अयं भावः एकाहात्पक्षाद्वर्षाद्वा यदा सांभोगिकाः स्पर्द्धकपतयो गीतार्थाचार्या मिलन्ति तदा निरतिचारोऽप्यन्योन्यस्य विहारालोचनां स्वस्वविहारक्रमानुष्ठित प्रकाशरूपां ददातीति (जीत०। पं० चू०। पं० भा०) एतासूपसंपद्व्यवहारमाह (वावीस इत्यादि) श्रुतोपसंपदि द्वाविंशति नालबद्धानि लभ्यन्ते तद्यथा माता १ पिता २ भ्राता ३ भगिनी ४ पुत्रो ५ दुहिता ६ मातुर्माता ७ मातुःपिता ८ मातुर्भ्राता ९ मातुर्भगिनी १० एवं पितुर्माता ११ पितुःपिता १२ पितुर्भ्राता १३ पितुर्भगिनी १४ भ्रातृपुत्रो १५ भ्रातृदुहिता १६ भगिन्याःपुत्र १७ भगिन्याः पुत्रिका १८ पुत्रस्य पुत्रः १९ पुत्रस्य पुत्रिका २० दुहितुः पुत्रः २१ दुहितुःपुत्रिका २२ चेति। एतानि द्वाविंशतिरपि श्रुतोपसंपदं प्रतिपन्नस्याभवन्ति। सुखदुःखोपसंपन्नास्तु एतां द्वाविंशतिमन्यांश्च पूर्वसंस्तुतपश्चात्संस्तुतान् प्रपौत्रश्वसुरादीन् लभते। क्षेत्रोपसंपन्नस्तु तान् सर्वानपि वयस्यांश्च लभते। मार्गोपसंपन्न एतान् सर्वानपि लभते। अपरे च ये केचित् दृष्टा भाषितास्तानपि प्राप्नोति। विनयोपसंपदं प्रतिपन्नस्तु सर्वानपि ज्ञाताज्ञातदृष्टादृष्टान् लभते नवरं विनयार्हस्य विनयं प्रयुङ्क्ते "सएट्ठाणेत्ति" यदुक्तं तस्याऽयमर्थः पञ्चविधाऽप्युपसंपत् तस्मिन स्थाने प्रतिपत्तव्या। किमुक्तं भवति। श्रुतोपसंपदं प्रतिपित्सोर्यस्य पार्श्वे श्रुतमस्ति तत्तस्य स्वस्थानम्। सुखदुःखार्थिनः स्वस्थानं यत्र वैयावृत्यकराः सन्ति। क्षेत्रोपसंपदर्थिनो यदीये क्षेत्रे भक्तपानादिकमस्ति। मार्गोपसंपदर्थिनो यत्र मार्गज्ञः समस्ति। विनयोपसंपदर्थिनो यत्र विनयकरणं युज्यते एतानि स्वस्थानानि। अथवा स्वस्थानं नाम प्रव्रज्यया श्रुतेन च ये एकपाक्षिकास्तत्र प्रथमस्य समुपसंपत्तव्यम्। पश्चात्कुलेन श्रुतेन चैकपाक्षिकस्य पार्श्वे। ततः श्रुतेन गणेन च एकपाक्षिकस्य समीपे ततः श्रुतेनैकपाक्षिकस्य समीपे ततः प्रव्रज्यैकपाक्षिकस्य सकाशे ततः प्रव्रज्यया श्रुतेन वा नैकपाक्षिकस्यापि पार्श्वे उपसंपत्प्रतिपत्तव्यम्। आह। साधर्मिक–वात्सल्याराधनार्थं सर्वेणाऽपि सर्वस्य श्रुताध्ययनादि कर्त्तव्यं ततः किमर्थं प्रथमं प्रव्रज्याकुलादि निरासन्नतरेषूपसंपद्यत इत्याह।

सव्वस्स वि कायव्वं, निच्छयओ किं कुलं च अकुलं च।
कालसभावममत्ते गारवलज्जादिकं हिंति॥

निश्चयतः सर्वेण सर्वस्याप्यविशेषेण श्रुतवाचनादिकमात्मनो विपुलतरां निर्जरामभिलषता कर्त्तव्यम्। किं कुलमकुलं चेत्यादिनिवारणायाः परदुःषमालक्षणो यः कालस्तस्य यः स्वभावोऽनुभावस्तेनात्मीयोऽयमित्यादिकं यन्ममत्वं तच्च गुर्वादिविषयं गौरवं बहुमानबुद्धिर्या च तदीया लज्जा एतैः प्रेरिताः सुखेनैव करिष्यन्तीति कृत्वा प्रथमं प्रव्रज्यादिनिरासन्नतरेषूसंपद्यन्ते गतं ज्ञानार्थं गमनम्।

अथ दर्शनार्थं गमनमाह।

कालियपुव्वगए वा, णिम्माओ जति य अत्थि सेसत्ति।
दंसणदीवगगहिउं, गच्छइ अहवाइगेहिं तु॥

कालिकश्रुते पूर्वगते च यद्वा यस्मिन्काले श्रुतं प्रचरति तस्मिन्। अन्यार्थेन च यदा निर्मातो भवति यदि च तस्य ग्रहणधारणशक्तिस्तथाविधा समस्ति तथाविधानि ततो दर्शनदीपकानि सम्यग्दर्शनज्ञानसहकारीणि यानि सम्मत्यादीनि शास्त्राणि तेषां हेतोरन्यं गणं गच्छति अथवा एभिः कारणैर्गच्छेत्।

भिक्खूगा जहिं देसे, वोडिय थलिणिण्हएहि संसग्गी।
ते सं पण्णवणंति, असहमाणो विसज्जिए गमणं॥

यत्र देशे भिक्षुका बौद्धा वोटिका वा निह्नवा वा तेषां तत्र स्थली तत्र ते आचार्याः स्थितास्तैः सार्द्धमाचार्याणां संसर्गः प्रीतिरित्यर्थः ते च भिक्षुकादयः स्वसिद्धान्तं प्रज्ञापयन्ति स चाचार्यो दाक्षिण्येन तर्कग्रन्थाप्रवीणतया वा तूष्णीकस्तिष्ठति तां च तदीयां प्रज्ञापनामसहमानः कश्चिद् द्वितीयश्चिन्तयति अन्यं गणं गत्वा दर्शनप्रभावकानि शास्त्राणि पठामि येनामून् निरुत्तरान् करोमि एवं विचिन्त्य स तथैव गुरूनापृच्छ्य तैर्विसर्जितो गच्छति। इदमेव भावयति।

लोए वि अपरिवादो, भिक्खुगमादी य गाढव मढिंति।
विप्परिणामंति सेहा अ भामिज्जंति सद्धा य॥

भिक्षुकादीनां स्वसिद्धान्तशिर उद्घाट्य प्ररूपयतामपि यदा सूरयो न किमपि ब्रुवते ततो लोके परिवादो जातः। एते ओदनमुण्डा न किमपि जानते अमी तु सौगताः सर्वमेव बुद्ध्यन्ते। एवञ्चते भिक्षुकादयः परिवादं श्रुत्वा गाढतरं जैनशासनं च मढयन्ति शैक्षाश्च विपरिणमन्ति श्राद्धाइच रक्तपटोपासकैरपभ्राज्यन्ते एतैश्च ते भिक्षवो वठरशिरोमणयश्चाकारिणो यद्यस्ति सामर्थ्यं ततोऽस्माकमुत्तरं प्रयच्छन्तु। अथवा तैर्भिक्षुकादिभिः स्थलिकायामा–चार्यस्यापि वण्टको निबद्धो वर्त्तते।

सो रसगिद्धो व थलिए, परतित्थियतज्जणं असहमाणो।
गमणं बहुस्स भेत्तं, आगमणं वादिपरिसाओ॥

स आचार्यो रसगृद्धः स्निग्धमधुराहारलम्पटः सामर्थ्ये सत्यपि न किंचि दुत्तरं प्रयच्छति एवमादिकां परतीर्थिकतर्जनामसह-

मानः शिष्यः आचार्यं विधिना पृष्ट्वा निर्गतोऽन्नयगणगमनं कृतवान् तत्र च तर्कशास्त्राणि श्रुत्वा बहुश्रुतत्वं तस्य संजज्ञे। ततो भूयः स्वगच्छे आगमनम्। आगतेन च पूर्वमाचार्याः द्रष्टव्यास्ततोऽन्यस्यां वसतौ स्थित्वा या तत्र वादमार्गकुशला पर्षत् तां परिचितां कृत्वा राज्ञो महाजनस्य च पुरतः परतीर्थिकान् निष्पिष्टप्रश्नव्याकरणान् करोति।

चोयपरायणकुविया, जति पडिसेहंति साहु लद्धं च।
अह विअणुगओ अम्हं, मासपवत्तं परिहवेह॥

चोदे पराज्ञापने कुपितान्मन्तो यदि ते भिक्षुकादयः आचार्यस्य तं वण्टं प्रतिषेधन्ति ततः साधु सुन्दरं लष्टं वा भीष्टं जातमिति। अथ तत्र कोऽपि ब्रूयात् एतस्य को दोषश्चिरमनुगत एषोऽस्माकं मा पूर्वप्रवृत्तं दातव्यमस्य परिहापयत तत्र को विधिरित्याह।

काऊण पद पणामं, छेदसुत्तस्स दलाह पडिपुच्छं।
अण्णत्थ वसहिमगणं, तेसिं च णिवेदणं काउं॥

गुरोः पदकमलप्रणामं कृत्वा वक्तव्यं छेदे श्रुतस्य प्रतिपृच्छां मम प्रयच्छत। अत्र चागीतार्थाः शृण्वन्ति ततोऽन्यस्यां वसतौ गच्छावः एवमुक्तोऽपि यदि तस्या वसतेर्न निर्गच्छति तत्राख्यायिकादिकथापने न चिरं रात्रौ गुरवो जागरणं कारापणीयास्तेषां चाऽगीतार्थानां वयमाचार्यमेवं नेष्यामो भवद्भिर्बोलो न कर्त्तव्यः। इति निवेदनं कृत्वा गन्तव्यमिदमेव व्याचष्टे।

सद्दं च हेतुसत्थं, अहिज्झिओ छेदसुत्तणट्ठं मे।
तत्थ य मा सुत्तत्था, सुणिज्ज तो अण्णहिं वसिमो॥

शब्दशास्त्रमिन्द्रादिकं हेतुशास्त्रं सम्मत्यादिकं शास्त्रमध्ययनस्य च्छेद सूत्रं निशीथादिकं सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतो वा मम नष्टं तस्य प्रतिपृच्छां मे प्रयच्छत। अत्र च वसतावश्रुतार्थाः शैक्षा अपरिणामका वा न शृणुयुरतोऽन्यस्यां वसतौ वसाम एवमन्यव्यपदेशेन निष्काश-यति। अथ तस्या वसतेः क्षेत्राद्वा निर्गन्तुं नेच्छति ततोऽयं विधिः।

खित्तारक्खिणिवेयण, इयरे पुव्वं तु गाहिया समणा।
जग्गविओ सो अचिरं, जह णिज्झंतो ण चेतेति॥

आरक्षिको दण्डपाशिकस्तस्य निवेदनं क्रियते (खित्तंति) अस्माकं क्षिप्तचित्तः साधुः समस्ति तं वयमर्द्धरात्रौ वैद्यसकाशे नेष्यामः स यदि नीयमानो ह्रियेऽहं ह्रियेऽहमित्यारटेत् ततो युष्माभिर्न किमपि भणनीयमितरे अगीतार्थाः श्रमणाः पूर्वमेव ग्राहिता कर्त्तव्याः वयमाचार्यमेनं नेष्यामो मा बोलं कुरुध्वम्। सचाचार्यश्चिरमाख्यायिकाः कथापयित्वा जागरितः सन् यदा निर्भरं सुप्तो भवति तदा नीयते यदा नीयमानो न किंचिच्चेतयति।

निण्हयसंसग्गीए, बहुसो भण्णं तु देहसो कुणइ।
तुह किंति वत्ति परिणम, गतागतेणीणिओ विहिणा॥

अथ निह्नवानां संसर्ग्याचार्यो न निर्गच्छति बहुशो भण्यमानोऽप्युपेक्षां कुरुते अथवा ब्रूयात् यद्यहं निह्नवसंसर्गं करोमि ततो भवतो दुःखयति व्रज त्वं यत्र गन्तव्यम् एवं परिणामं गुरूणां ज्ञात्वा शिष्येण गतागतेनान्यं गणं गत्वा शास्त्राण्यधीत्य भूयः आगतेन निह्नवान् पराजित्याचार्यो विधिना अनन्तरोक्तेन निष्काशितः कर्तव्यः।

एस विहिविसज्जिए, अविसज्जियलहुगदोसआणाई।
तेसिं पि हुंति लहुगा, अविहिविही सो इमो होइ॥

एष विधिर्गुरुणा विसर्जिते मन्तव्यः अविसर्जितस्य तु गच्छतश्चतुर्लघु दोषाश्चाज्ञादयः। तेषामपि प्रतीच्छतां चतुर्लघुकाः एषो विधिरुक्तोऽतोऽविधिना गन्तव्यं सचाऽयं विधिर्भवति।

दंसणमत्थे पक्खो, आयरिय उवज्झाय सेसगाणं च।
एक्केक्कपंचदिवसे, अहवा, पक्खेण सव्वे वि॥

दर्शनप्रभावकाणां शास्त्राणामर्थाय निर्गच्छत एकं पक्षमापृच्छन् कालो भवति तद्यथा। आचार्यः पञ्च दिवसानापृच्छ्यते यदि न विसर्जयति तत उपाध्यायोऽपि पञ्च दिवसान् शेषसाधवोऽपि पञ्च दिवसान् अथवा पक्षेण सर्वेऽपि पृच्छ्यन्ते। किमुक्तं भवति दिने दिने किन्तु सर्वेऽपि पृच्छ्यन्ते यावत् पक्षः पूर्ण इति।

एस विहि आगतं तु, पडिच्छअपडिच्छणा भवे लहुगा।
अहवा इमेहिं आगम, एगादिपडिच्छए गुरुगा॥
एगे अपरिणए य, अप्पाहारे य थेरए।
गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे॥
एतारिसं विउस्सज्ज, विप्पवासो न कप्पई।
सीसपडिच्छायरिए, पायच्छित्तं विहिज्जइ॥
विइयपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागाढे।
नाऊण तस्स भावं, होइ उ गमणं अणापुच्छा॥

गाथाचतुष्टयमपि गतार्थं गतं दर्शनार्थं गमनम्।

अथ चारित्रार्थमाह।

चारित्तट्ठं दे से (दुविहा) एसणदोसा य इत्थिदोसा य।
गच्छंति य सीयंते, आयसमुत्थेहिं दोसेहिं॥

चारित्रार्थं गमनं द्विधा देशदोषैरात्मसमुत्थदोषैश्च देशदोषा द्विविधा एषणा दोषाः स्त्रीदोषाश्च। आत्मसमुत्था अपि द्विधा गुरुदोषा गच्छदोषाश्च। तत्र गच्छो यद्यात्मसमुत्थैश्चक्रवालसामाचारीवित-थकरणलक्षणैर्दो षैः सीदते तत्र पक्षमापृच्छन्नास्ते तत ऊर्द्धं गच्छति। इदमेव व्याचष्टे।

जिहि यं एसणदोसा, पुरकम्माई ण तत्थ गंतव्वं।
उदगपउरो व दोसो, जहिं व चरिगाइसंकिण्णो॥

यत्र देशे पुरःकर्मादय एषणादोषाः भवेयुस्तत्र न गन्तव्यं यो वा उदकप्रचुरो देशः सिन्धुविषयवत् यो वा चरिकादिभिः परिव्राजिकाकापालिकी नवनिकादिभिर्बहुमोहादिभिराकीर्णो विषयस्तत्रापि न गन्तव्यम्। अथाशिवादिभिः कारणैस्तत्र गता भवेयुस्ततः।

असिवाईहिं गता पुण, तक्कज्जसमप्पिया तओ णिंति।
आयरियमणिंते पुण, आपुच्छित्तुं अप्पणा णिंति॥

आशिवादिभिर्दुर्भिक्षपरचक्रादिभिः कारणैस्तत्र गता अपि (तक्कज्जसमप्पियत्ति) प्राकृते पूर्वपदनिपातस्याभिमतत्वात् समापिततत्कार्याः संयमक्षेत्रे यदा अशिवादीनि स्फिटितानि भवन्तीति भावः। तदैते असंयमक्षेत्रान्निर्गच्छन्ति यद्याचार्याः केनापि प्रतिबन्धेन सीदन्तो न निर्गच्छेयुस्ततो ये एको द्वौ बहवो वा असीदन्तस्ते गुरुमापृच्छ्यात्मना निर्गच्छन्ति तत्र चाऽयं विधिः।

दो मासे एसणाए, इत्थिं वज्जेज्ज अट्ठ दिवसाई।
गच्छम्मि होइ पक्खो, आयसपुच्छेगदिवसं तु॥

एषणायामशुद्ध्यमानायां यतनया अनेषणीयमपि गृह्णन् द्वौ मासौ गुरुमापृच्छन् प्रतीक्षते। अथ स्त्री शय्याप्रभृतिका उपसर्गयति। अथात्मना शय्यातर्यादौ स्त्रियां मध्यमिकायां वा प्रातिवे-

श्मिक्यामतीवान्युपपन्न उभयं वा परस्परमन्युपपन्नं ततो यदाऽऽचार्यसंनिहितस्तदा तमापृच्छ्यगच्छति अथासंनिहितः संज्ञाभूम्यादौ गत आचार्यस्तदा एवमेवानापृच्छ्यागच्छति अपरं वा संनिहितसाधुं भणति मम वचनेन गुरूणामापृच्छनं निवेदनीयम् "एयविहिमागयंतु" गाहा "एय अपरिणए य" गाहा "एयारिसं विउस्सज्ज" गाहा। इति गाथात्रयमपि गतार्थं भवेत्किंकारणं येन न पृच्छेत्।

वितियपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागाढे।
नाऊण तस्स भावं, अप्पण भावे अणापुच्छा॥

द्वितीयपदमत्रोच्यते। आचार्यादिरसंविग्नो भवेत् अथवा संविग्नः परमहिदष्टादिकमागाढकारणमवलम्ब्य न पृच्छेत्। तस्य च गुरोर्भावसुचिरेणापि न विसर्जयतीति लक्षणं ज्ञात्वा आत्मीयं च भावमहमिह तिष्ठन्नवश्यं विनश्यामीति ज्ञात्वा अनापृच्छ्यापि व्रजेत्। अथ गुरोश्चारित्रे सीदतो विधिमाह।

सज्झायरकप्पट्ठी, चरित्तठवणा अभिगया खरिया।
सारूविओ गिहत्थो, सो वि उवाएणा हरियव्वो॥

शय्यातरस्य कल्पस्थिकायां आचार्येण चारित्रस्य स्थापना कृता तां प्रतिसेवत इति भावः तस्यां चरित्रस्थापनायां जातायां द्व्यक्षरिका वा काचिदभिगता जीवाद्यधिगमोपेताश्राविकेत्यर्थस्तस्यामाचार्योऽध्युपपन्नः स चा चारित्रवर्जितो वेषधारि भवेत् सारुपिको वा गृहस्थो वा उपलक्षणत्वात्सिद्धपुत्रको वा तत्र मुण्डितशिराः शुक्लवासः परिधायी कच्छामबंधन् अभार्यको भिक्षां हिण्डमानः सारूपिक उच्यते। यस्तु मुण्डः सशिखाको वा सभार्यकः ससिद्धपुत्रकः एवमेषामन्यतर उपायेन हर्त्तव्यः। कथमिति चेदुच्यते पूर्वं तावद्धुरवो भण्यन्ते वयं युष्मद्विरहिता अनाथाः अतः। प्रसीद गच्छामोऽपरं क्षेत्रं परमुक्ते यदि नेच्छन्ति ततो यस्यां स प्रतिबद्धः सा प्रज्ञाप्यते एष बहूनां साधूनामाधारः एतेन विना गच्छस्य ज्ञानादीनां परिहाणिरतो मा नरकादिकं संसारमात्मनो वर्द्धय यदि सा इच्छति ततःसुन्दरमथ न तिष्ठति ततो विद्यामन्त्रादिभिरावर्त्यते। तदभावे केवयिका अपि तस्या दीयन्ते। गुरुश्च क्रमेण रात्रौ हर्त्तव्यः। एवं तावद्भिक्षुमङ्गीकृत्य विधिरुक्तः।

(सूत्रम्) गणावच्छेदइए जे गणादवक्कम्म इच्छिजा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पति णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ णो आउत्थिता आयरियं वा जाव विहरित्तए य से वितरंति एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए एते य से णो वितरंति एवं से णो कप्पइ जाव विहरित्तए २१ आयरिय उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पइ आयरिय आयरियस्स आयरियगणावच्छेइयस्स गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए उवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पति से आपुच्छित्ता जाव विहरित्तए ते य से वितरंति एवं से कप्पति अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ते से णो वियरंति। एवं से णो कप्पति। अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।२२।

अस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं गणावच्छेदिकत्वमाचार्योपाध्यायत्वं च निक्षिप्य गन्तव्यमिति विशेषः। अथ भाष्यम्।

एमेव गणावच्छे, गणिआयरिए वि होइ एमेव।
नवरं पुण नाणत्तं, ते नियमा हुंति वत्ताओ॥

एवमेव भिक्षुवत् गणावच्छेदकस्य ज्ञानदर्शनचारित्रार्थमन्यं गणं गच्छतो विधिर्द्रष्टव्यः। गणिन उपाध्यायस्याचार्यस्य चैवमेवविधिः नवरं पुनरिदं नानात्वं नियमात्ते गणावच्छेदिकादयो व्यक्ता भवन्ति नो अव्यक्ताः॥

एमेव गतो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो।
णाणट्ठ जो उ भेइं, सचित्तं ण अप्पिणो जाव॥

एष एव भिक्षुसूत्रोक्तो गमो निर्ग्रन्थीनामप्यपरं गणमुपसंपद्यमानानां ज्ञातव्यः नवरं नियमेनैव ताः ससहायाः यः पुनर्ज्ञानार्थं न आचार्यिकां नयति स यावदद्यापि न वाचनाचार्यस्यार्पयति तावत्सचित्तादिकं तस्यैवाभवति अर्पितास्तु पुनर्वाचनाचार्यस्याभाव्यं कः पुनस्तां नयतीत्याह।

पंचण्हं एगयरे, उग्गहवज्जं तु लभति सच्चित्तं।
आपुच्छ अट्ठपक्खे, इत्थीसत्थेण संविग्गो॥

पश्चानामाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदकानामेकतरः संयतीर्नयति तत्र च सचित्तादिकं परक्षेत्रावग्रहवर्जं स एव लभते निर्ग्रन्थी च ज्ञानार्थं व्रजन्ती अष्टौ पक्षानापृच्छति। तत्राचार्यमेकं पक्षमापृच्छति यदि न विसर्जयति तत उपाध्यायं वृषभं गच्छं चैवमेव पृच्छति संयतीवर्गोऽपि प्रवर्त्तिनी गणावच्छेदिकाभिषेकाशेषसाध्वीर्यथाक्रममेकैकं पक्षमापृच्छति। ताश्च स्त्रीसार्थेन समं संविग्नेन परिणतवयसा साधुना नेतव्याः।

(सूत्रम्) भिक्खू गणाओ अवक्कम्म इच्छिज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्ता ते य से वियरंति। एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए। ते य से न वियरिज्जा एवं से नो कप्पइ जाव विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा। एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगे पडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं जाव विहरित्तए।

अस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं सांभोगिकमण्डल्यां समुद्देशिनादिरूपस्त्प्रत्ययनिमित्तं "जत्थुत्तरियमित्यादि" यत्र उत्तरं प्रधानतरं धर्मविनयं स्मारणधारणादिरूपां धार्मिकीं भिक्षां लभेत एवं (से) तस्य कल्पते अन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुं यत्रोत्तरं धर्मविनयं नो लभेत एवं (से) तस्य नो कल्पते उपसंपद्य विहर्तुमिति सूत्रार्थः। अथ भाष्यम्।

संभोगो वि हु तिहि कारणेहिं नाणट्ठदंसणचरित्ते।
संकमणे चउभंगो, पढमो गच्छम्मि सीयंते॥

संभोगोऽपि त्रिभिः कारणैरिष्यते तद्यथा ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं च। तत्र ज्ञानार्थं दर्शनार्थं च यस्योपसंपदं प्रतिपन्नस्तस्मिन् सूत्रार्थदानादौ सीदति गणान्तरे संक्रमणे स एव विधेयः पूर्वसूत्रे भणितश्चारित्रार्थं तु यस्योपसंपन्नस्तत्र चरणकरणक्रियायां सीदति चतुर्भङ्गी भवति। गच्छः सीदति नाचार्यः। आचार्यः सीदति न गच्छः। गच्छोऽप्याचार्योऽपि सीदति।३। न गच्छोनाचार्य इति।४। अत्र प्रथमो भङ्गो गच्छे सीदति मन्तव्यस्तत्र च गुरुणा स्वयं वा गच्छस्य नोदना कर्त्तव्या कथं पुनः स गच्छः सीदेदित्याह।

पडिलेहादिपडिउवेक्खण, निक्खिआदाणविणयसज्झाए।
आलोगठवणभत्तट्ठभासपडमलसेज्जातराईसु॥

ते गच्छसाधवः प्रत्युपेक्षणां कालेन कुर्वन्ति न्यूनातिरिक्तादिदोषैर्वि-पर्यासेन वा प्रत्युपेक्षन्ते गुरुग्लानादीनां वा न प्रत्युपेक्षन्ते निष्करणादिना वा वर्तयन्ति दण्डकादिकं निक्षिपन्त आददतो वा न प्रत्युपेक्षन्ते न वा प्रमार्जयन्ति दुष्प्रत्युपेक्षितं दुष्प्रमार्जितं वा कुर्वन्ति यथार्हं विनयं न प्रयुञ्जते। स्वाध्यायं सूत्रपौरुषीं वार्थपौरुषीं वा न कुर्वन्ति। अकाले अस्वाध्याये वा कुर्वन्ति पाक्षिकादिषु आलोचनां न प्रयच्छन्ति। अथवा आलोचयन्ति "ठाणे दिसि पगासेण वा" इत्यादिकं सप्तविधमालोकं न प्रयुञ्जते संखडीं वा आलोकान्तः स्थापनाः कुलानि स्थापयन्ति भक्तार्थं मण्डल्यां समुद्देशनं न कुर्वन्ति गृहस्थभाषाभिर्भाषते सावद्यं वा भाषन्ते पटलकेऽप्यानीतं भुञ्जते। शय्यातरपिण्डं भुञ्जते आदिग्रहणेनोद्गमाद्यशुद्धं गृह्णन्ति। इतरेषु गच्छस्य सीदतो विधिमाह।

चोयावेई गुरुणा, विसीयमाणं गणं सयं वावि।
आयवियं सीअंतं, सयं गणेणं व चोयावे॥

प्रथमभङ्गे सामाचार्यां विषीदन्तं गच्छं गुरुणां नोदयति। अथ वा स्वयमेव नोदयति। द्वितीयभङ्गे आचार्यं सीदन्तं स्वयं वा गणेन वा नोदयति।

दुन्नि वि विसीयमाणे, सयं व वा जे तहिं न सीयंति।
ठाणं ठाणासन्नउ, अणुलोमाइहिं चोएंति॥

तृतीयभङ्गे गच्छाचार्यौ द्वावपि सीदन्तौ स्वयमेव नोदयति ये वा तत्र न सीदन्ति तैर्नोदयति। किं बहुना स्थानं स्थानमासाद्य प्राप्यानुलोमादिभिर्वचेभिर्नोदयति। किमुक्तं भवति। आचार्योपाध्या-यादिकं भिक्षुक्षुल्लकादिकं वा पुरुषवस्तु ज्ञात्वा यस्य यादृशी नोदना योग्या यो वा खरसाध्यो मृदुसाध्यः क्रूरोऽक्रूरो वा यथा नोदनां गृह्णाति तं तथा नोदयेत्।

भणमाणे भणाविंते, अयाणमाणम्मि पक्खो उक्कोसो।
लज्जए पंच तिन्नि व, तुह किंति विपरिणए विवेगो॥

गच्छमाचार्यमुभयं वा सीदन्तं स्वयं भणेत् अन्यैश्च भाणयन्नास्ते यत्र न जानाति एते भण्यमाना अपि नोद्यमं करिष्यन्ति तत्रोत्कर्षतः पक्षमेकं तिष्ठति गुरुं पुनः सीदन्तः लज्जया गौरवेण वा जानन्नपि पञ्च त्रीन् वा दिवसान् अभणन्नपि शुद्धम्। अथाभाष्यमाणो गच्छे गुरुरुभयं भणेत् भवतः किं दुःखयति यदि वयं सीदामस्तर्हि वयमेव दुर्गतिं गमिष्यामः। एवं विधिना भावेनैव तेषां परिणते र्विवेकस्ततः परित्यागो विधेयस्ततश्चान्यं गणं संक्रामति तत्र चतुर्भङ्गी संविग्नः संविग्नगणं संक्रामति १ संविग्नोऽसंविग्नम् २ असंविग्नः संविग्नम् ३ असंविग्नो ऽसंविग्नम् ४ तत्र प्रथमो भङ्गस्तावदुच्यते।

संविग्गविहाराओ, संविग्गा दुन्नी एज्ज अन्नयरो।
आलोइयम्मि सुद्धो, तिविहो उ विहि मग्गणा नवरिं॥

संविग्नविहारात् संविग्नौ द्वौ अन्यतरौ गीतार्थाऽगीतार्थौ संविग्ने गच्छे समागच्छेतां स च गीतार्थोऽगीतर्थो वा यातो दिवसान् संविग्नेभ्यः स्फिटितस्तद्दिनादारभ्य सर्वमप्यालोचयति आलोचिते च शुद्धः। नवरं त्रिविधोपधेर्यथाकृतादिरूपस्य मार्गणा कर्त्तव्या। इदमेव व्याचष्टे।

गीयमगीतो गीते, अप्पडिवद्धे ण होइ उवघातो।
अगीयत्थस्स वि एवं, जेण सुता ओहनिज्जुत्ती॥

स संविग्नो गीतार्थोऽगीतार्थो वा। यदि गीतार्थो व्रजिकादिषु अप्रतिबद्धः आयातः तत उपधेरुपघातो न भवति तदा प्रायश्चित्तम्। अगीतार्थस्य येन जघन्यतः ओघनिर्युक्तिः श्रुता त स्याप्येवमेवाप्रतिबद्धयमानस्य नोपधिरुपहन्यते।

गीयाण व मिस्साण व, दुण्ह वयंताण वइयमाईसु।
पडिवज्जंताणं पि हु, उवहि तह गेण्ह चारुवणो॥

द्वयोर्गीतार्थयोर्गीतार्थागीतार्थविमिश्रयोर्वा व्रजतोर्व्रजिकादिषु प्रतिबद्धयमानयोरप्युपधिनोपहन्यते न वा आरोपणा प्रायश्चित्तं भवति। एवमेकोऽनेके वा विधिना समागता यत्प्रभृति गणान्निर्गतास्तत आरभ्यालोचनां वदन्ति। अथ त्रिविधोपधि-मार्गणामाह।

आगंतु जहागडयं, वत्थव्व अहाकडस्स असईए।
मेलिंति मज्झिमेहिं, मा गारव कारणमगीए॥

तस्य गीतार्थस्यागीतार्थस्य वा त्रिविध उपधिर्भवेत्। तद्यथा यथाकृतोऽल्पपरिकर्मा सपरिकर्मा वा वास्तव्यानामप्येवमेव त्रिविध उपधिर्भवति। तत्र यथाकृतो यथाकृतेन मील्यत अल्पपरिकर्म्मा अल्पपरिकर्मणा सपरिकर्मा सपरिकर्मणा। अथ वास्तव्यानां यथाकृतो नास्ति तत आगन्तुकस्य यथाक्रमं वास्तव्य -मध्यमैरल्पपरिकर्म्मभिः सह मीलयन्ति किं कारणमिति चेदत आह। माऽसौ मीलितः सन् अगीतार्थस्य मदीय उपधिरुत्तमसांभोगिकः अतोऽहमेव सुन्दर इत्येवं गौरवकारणं भवेदिति।

गीयत्थे ण मिलिज्जइ, जो पुण गीओ वि गारवं कुणइ।
तस्सुवही मेलिज्जइ, अहिगरणअपच्चओ इहरा॥

गीतार्थो यद्यगौरवी ततस्तदीयो यथाकृतः प्रतिग्रहो वास्तव्ययथाकृताभावेऽल्पपरिकर्मभिः सह न मीलयन्ति किं तु उत्तमसांभोगिकाः क्रियन्ते। यस्तु गीतार्थोऽपि गौरवं करोति तस्य कृते वास्तव्याल्पपरिकर्मभिः सह मील्यते किं कारणमिति चेदत आह (इहरति) यदि यथाकृतपरिभोगेन परिशुध्यते तदा केनाप्यजानता अल्पपरिकर्म्मणा समं मेलितं दृष्ट्वा स गीतार्थोऽधिकरणमसंखण्डं कुर्यात् किमर्थं मदीय उत्कृष्टोपधिरशुद्धेन सह मीलित इति। अप्रत्ययो वा शैक्षाणां भवेत्। अयमेतेषां सकाशादुद्युक्ततरविहारी येनोपधिमुत्कृष्टं परिभुङ्क्ते एते तु हीनतरा इति।

एवं खलु संविग्गा-संविग्गे संकमं करेमाणे।
संविग्गासंविग्गे, संविग्गे वा वि संविग्गे॥३॥

एवं खलु संविग्नस्य संविग्नेषु संक्रमं कुर्वाणस्य विधिरुक्तः। अथ संविग्नस्यासंविग्नेषु संक्रमतोऽसंविग्नस्य वा संविग्नेषु संक्रामतो विधिरुच्यते। तत्र संविग्नस्यासंविग्नसंक्रमणे तावदिमे दोषाः।

सीहगुहं वग्घगुहं, उदहिं व पलित्तं व जो पविसो।

असिवं ओमोरियं , धुवं से अप्पा परिच्चत्तो ॥

सिंहगुहां व्याघ्रगुहामुदधिं समुद्रं प्रदीप्तं वा नगरादिकं यः प्रविशति अशिवमवमौदर्यं वा यत्र देशे तत्र यः प्रविशति तेन ध्रुवमात्मा परित्यक्तः ।

चरणकरणप्पहीणे, पासत्थे जो ए पविसए समणो ।
जतमाए य पहिउं, सो ठाणे परिच्चइ तिण्णि ॥

एवं सिंहगुहादिस्थानीये चरणकरणप्रहीणे पार्श्वस्थे यः श्रमणो यतमानान्संविग्नान् प्रहाय परित्यज्य प्रविशति स मन्दधर्म्मा त्रीणि स्थानानि ज्ञानदर्शनचारित्ररूपाणि परित्यजति। अपि च सिंहगुहादिप्रवेशे एकभाविकं मरणं प्राप्नोति पार्श्वस्थेषु पुनः प्रविशन्नेकानि मरणानि प्राप्नोति ।

एमेव अहाछंदे, कुसीलओसन्ननीयसंसत्ते ।
जं तिण्णि परिच्चयइ, नाणं तह दंसणचरित्तं ॥

एवमेव पार्श्वस्थवत् यथाच्छन्देषु कुशीलावसन्ननित्यवासिसंसक्तेषु च विशतो मन्तव्यम् । यच्च त्रीणि स्थानानि परित्यजतीत्युक्तं तज्ज्ञानं दर्शनञ्चारित्रं चेति द्रष्टव्यं गतो द्वितीयोभङ्गः ।

अथ तृतीयभङ्गमाह –

पचण्हं एगयारे, संविग्गो संकमं करेमाणो ।
आलोइए विवेगो, दोसु असंविग्गसच्छंदो ॥

पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्त यथाच्छन्दानामेकतरः संविग्नेषु संक्रमं कुर्वन् प्रथममालोचनां ददाति। तत आलोचितेऽविशुद्धोपधेर्विवेकं करोति स च यदि चारित्रार्थमुपसंपद्यति ततः प्रतीच्छनीयो यस्तु द्वयोर्ज्ञानदर्शनयोरर्थयोः संविग्न उपसंपद्यते तस्यास्वच्छन्दः स्वाभिप्रायो नासौ प्रतिच्छनीय इति भावः ।

पंचेगतरे गीये, आरुवियवते जयंति एतम्मि ।
जं उवहिं उप्पाए संभोइयसेसमुज्झंति ॥

तेषां पञ्चानां पार्श्वस्थादीनामेकतर आगच्छन् यदि गीतार्थः स्वतः स्वयमेव महाव्रतान्युच्चार्यारोपितव्रतो यतमानो व्रजिकादाव– प्रतिवध्यमानो मार्गे यमुपधिमुत्पादयति स सांम्भोगिकः (सेसमुज्झंतित्ति) यःप्राक्तन् पार्श्वस्थोपधिरविशुद्धस्तं परिष्ठापयति यः पुनरगीतार्थस्य उपधिस्तस्य चिरंतनोऽभिनवोत्पादितो वा सर्वोऽपि परित्यज्यते ।

तेषु चाऽयमालोचनाविधिः ।

पासत्थाई मुंडिए, आलोयणा होइ दिक्खपभिइं तु ।
संविग्गपुराणे पुण, जप्पभिइ चेव ओसण्णे ॥

यत्पार्श्वस्थादिभिरेव मुण्डितः प्रव्राजितस्तस्य दीक्षादिनादार– भ्यालोचना भवति यस्तु पूर्वं संविग्नः पश्चात्पार्श्वस्थो जातस्तस्य संविग्नपुराणस्य यत्प्रभृत्यवसन्नो जातस्तद्दिनादारभ्यालोचना भवति।

(८) गणावच्छेदको गणादवक्रम्येच्छेदन्यं गणमुपसंपद्य संभोगप्रतिज्ञया विहर्तुम् ।

(सूत्रम्) गणावच्छेइए य गणादवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपरियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए णो से कप्पइ गणावच्छेइत्तं अणिक्खवित्ता संभोगपडियाएं जाव विहरित्तए कप्पति। स गणावच्छेइयत्तं णिक्खिवित्ता जाव विहरित्तए णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए कप्पति से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए तेय से वितरंति एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए जाव विहरित्तए तया से नो विहरंति एवं से णो कप्पइ जाव विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पति अण्णं गणं स जाव विहरित्तए। जत्थुत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्जा एवं से एो कप्पति अण्णं गणं स जाव विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्ज एवं से णो कप्पति जाव विहरित्तए। आयरिय उवज्झाए य गणादवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए जावविहरित्तए णो से कप्पइ आयरिय उवज्झाए य गणं लभेज्जा एवं से णो अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए जाव विहरित्तए णो से कप्पइ । आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खवित्ता अण्णं गणं स जाव विहरित्तए कप्पति से आयरिय उवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता जाव विहरित्ता णो से कप्पति अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए। ते य से विहरंति । एवं से कप्पति जाव विहरित्तए ते य से णो विहरंति एवं से णो कप्पति जाव विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्जा एवं से नो कप्पति जाव विहरित्तए ।

अस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या पूर्ववत् । अथ भाष्यम् ।

एमेव गणावच्छेदिअ, गणिआयरिए वि होइ एमेव ।
णवरं पुण णाणत्तं, एते नियमेण गीयाओ ॥

एवमेव गणावच्छेदिकस्य तथा गणिन उपाध्यायस्य आचार्यस्य च सूत्रं मन्तव्यं नवरं पुनरत्र नानात्वं एते नियमात् गीतार्था भवन्ति नागीतार्थाः । बृ० ४ उ० नि० चू० ।

(सूत्रम्) जे भिक्खू वुसियराइयाओ गणिओ अवुसाएइयं गणं संकमंतं वा साइज्जइ ॥१५॥

वुसिरातिया गणातो, जे भिक्खू संकमे य अवुसिं वा ।
अवुसाराइगणं वा, सो पावति आणमादीणि ॥३८५॥

वुसितितो वुसिरातियं चउभंगो कायव्वो चउत्थभंगो अवत्थुं ते तियभंगे किं पडिसेहो आचार्य आह तत्थ णो पडिसेहो कारणे पुण पढमे भंगे उवसंपदं करेति सा य उवसंपया कालं पडुच्च तिविहा इमा।

छम्मासे उवसंपदे, जहण्ण वारससमाउ मज्झिमिया ।
आवकहा उक्कोसो पडिच्छसीसे तु जे जीवं ॥३५६॥

उवसंपदा गाहा जहण्णा मज्झिमा उक्कोसा जहन्ना छम्मासो मज्झिमा वारसवरिसे उक्कोसो जावज्जीवं एवं पडिच्छगस्स सिसस्स एगविहा चेव जावज्जीवं आयरियो ण मोत्तव्वो ।

छम्मासे य अपूरेंता, गुरुगा वारससमासु चउलहुगा ।
तेण परमासियत्तं, भणितं पुण आरतो कज्जे ॥३६०॥

जेणं पडिच्छगेणं छम्मासिता उवसंपया कता सो जति छम्मासे अपूरेत्ता जाति तस्स चतुगुरुगा । जेण वारस वरिसा

कता तं अपूरेत्ता जाइ चउलहुं। जेण जावज्जीवं उवसंपदा कता तस्स मासलहुं छम्मासाणं परेणं णिक्कारणे गच्छंतस्स मासलहुं। जेण वारससमा उवसंपदा कता तस्स वि छम्मासे अपूरेंतस्स चउगुरुआ चेव वारससामातो परेण मासलहुं चेव जेण जावज्जीवे उवसंपया कता तस्स छम्मासे अपूरेंतस्स चउगुरुगा चेव तस्सेव वारससमाओ अपूरेंतस्स चउलहुगा एस सोही गच्छतो णितस्स भणिता॥ नि०चू०उ०१६॥

(६) कुगुरौ सत्यन्यत्रोपसम्पत्।

से भयवं जयाणं गणिणा गच्छे तिविहेण वोसिरिए विज्जा तयाणं ते गच्छे आदरेज्जा जइ संविग्गभवित्ताणं जहु तं पच्छित्तमणुचरित्ताणं अन्नस्स गच्छाहिवइणो उवसंपज्जित्ताणं समग्गमणुसरेज्जा तओ णं आयरिज्जा अहाणं सच्छंदत्ताए तहेव चिट्ठे तओ णं चउविहस्सवि समणसंघस्स वज्जतं गच्छं तो आयरेज्जा। महा०–७ अ०।

(सामायिकसंयतादयः सामायिकसंयतत्वादिकं जहतः किमुपसंपद्यत इति संजयशब्दे) (समायिकार्थमन्यत्रोपसंपत्सामाइयशब्दे वक्ष्यते) (श्रुतमार्गसुखदुःखाद्युपसंपदमधिकृत्याऽऽ भवद् व्यवहारः ववहारशब्दे वक्ष्यते)

उवसंपयाकप्प पुं० (उपसंपत्कल्प) उपसंपद्विधौ,

उवसंपदा य कप्पं, एत्तो उ समासतो वोच्छं।
दुविहम्मि आगमम्मि उ, पण्णवणा चेव आयरणता य॥
पण्णवणगहणअणुपालणा य उवसंपदा होति।
आगमहेउ उवसंपदाउ, स य आगमो भवे दुविहो॥
सुत्तं अत्थो य तहा, पारगते तत्थ उवसंपा।
दो आयरियप्पेरग कत्थ तहिं कुज्जा॥
जो निउणतरं मासति, अह निउणं दो विभायंति प० भा०

इयाणिं उवसंपया कप्पो तत्थ गाहा दुविहम्मि सा दुविहा उवसंपया आगमनिमित्तं उवसंपज्जिज्जइ सुत्तनिमित्तं अत्थनिमित्तं वा अहवा ते आयरिया परूवेऊण सुत्तपयाणि उस्सग्गावाएसु गाढं जाणंति अहवा गाढतरं तत्थ आचरणा पडिलेहणाइसु अहवा ते पण्णवणं धम्मकहाए अक्खेवणाइसु धम्मपण्णवणं निरागं जाणंति तं पि किरि सिक्खियव्वं धम्मकहिस्स वा गाहणा ते आयरिया गाहणाकुसला अणुयत्तंति वा ते आयरिया गिलाणाइसु कारणेसु अणुवालेंति वा मूलगुणाइ एवं परूवणाइसंपन्नो उवसंपज्जियव्वो एयवइरित्तो न उवसंपज्जियव्वो जइ वि गीयत्थो होइ जे पुण असंविग्गादयो उवसंपज्जइ परूवणाइसंपन्नंति काऊण गाहा वत्तणा संधणा वत्तणा नाम सुत्तस्स परियट्टणा अत्थस्स गुणणा संधणा सुत्तत्थाणं पच्चुच्चकारणा गहणं अभिणवाणं सुत्तत्थाणं चेव गाहा तितिया जो सो उवसंपज्जं तओ सो गच्छं परिच्छइ सो वा गच्छेण परिच्छिज्जइ तयाओ निक्कारणे आमुंचति वच्छाइ चलणाणि वा निक्कारणे धुवंति मरवेंति वा य मज्जणाइ डंडाइ गहणनिक्खेवणा भवइ माणेत्ति निक्खमणपवेसे आवसियनिसीहियाओ नत्थि सुत्तत्थतदुभयाणि वा न करेंति मोणेण इच्छंति एयाणि उवसंपज्जमाणो न कुज्जा गच्छे वा एवमाइ नत्थि पच्छा सारणया वा विसग्गो वा जइ वत्तट्ठाइनिमित्तमुवसंपन्नो न वत्तइ न सेवइ अभिणवं वा न गेण्हइ सारिउं पच्छा विसग्गो जो पुण पासत्थाह उवसंपज्जइ तत्थ गाहा सिद्धं सीमुहं चरणकरणं गाहा सिद्धं एमेव अहाच्छंदे सिद्धं को पुण अरिहो कत्थ उवसंपज्जियव्वं भत्तोवहि तत्थेमे चतारि गच्छा एगो भत्तपाणं गिण्हइ वि। एगो देइ न गेण्हइ। एगो गेण्हइ न देइ। एगो न देइ न गेण्हइ। तत्थ पढमे उवसंपज्जियव्वं सेसा नाणुन्नाया विइए लाभे लभइ गिलाणाइसु कज्जेसु तइए भंगे गिलाणस्स सं न कोइ किंचि करेइ अट्ठवसट्ठस्स मरणदोसा चउत्थो असेज्जएव्वं पढमे गुणा भत्तोवहिसयणासणाईसु गहणदाणे य हट्ठगिलाणाइकज्जेसु अवरो परस्स एयाणि जत्थ कीरंति तत्थ अणुण्णायं गाहा सिद्धं च जो पुण सुद्धं आयरियं दुसइ कणयपुच्छियो असुयस्स आयरियस्स पासे कीस नट्ठिओ सि न पढओ वा भण्णइ तस्स असुओ नाम दोसो अप्पियसज्झायाइ जइ य ते तस्स दोसा नत्थि ताहे तमावज्जइ जं दोसं भणइ जं च असुद्धस्स मूले अवसंपज्जइ तं च तयं आवज्जइ। एवं ता उवसंपज्जइ। इयाणिं उवसंपयारिहो जइ असुद्धं असुगो नाम एयस्स दोसो अविणियइ तं जइ पडिच्छइ ताहे छट्ठाणवाइ तट्ठाणमावज्जइ जं च असुद्धं रागेण पडिच्छइ जे तस्स दोसा ते आवज्जइ वोसट्ठि तिट्ठाणो नाम नाणदरिसणचरित्ताणि केरिसो आयरियो अणरिहो उवसंपदं प्रति गाहा आहारे उच्यते जो आहारोवही ए अहं लभिस्सामीति संगहं करेइ पडिच्छमाणं च ततो लज्जामि अणरिहे वा तिंतिणियादओ वा चेतियसट्ठीए वा आकड्ढिसमाकड्ढी काऊण वा चयति सो वि नोवसंपज्जियव्वो। जो पुण एगंतनिज्जरट्ठी पंचहिं ठाणेहिं वाएहिं संगहोवग्गह अव्वोच्छित्ती नयट्ठयाए सो उवसंपज्जियव्वो वायणारिहो वि नाणदंसण अहत्थि भावा जाणणट्ठयाए वा पढए सो वाएयव्वो तस्स पुण वाएंतस्स एयाणि चेव अहारोवहिमाईणि लब्भंति एए चेव ठाणावायणाइ वि लभयंति रागेण थामवहारविजड्ढो तित्थस्स अणुवमया इति कट्ठं तस्स प्रकासं च भवति गणहारिस्स आहारो एस उवसंपयाकप्पो पं० चू०

उवसंपयसंकप्पो, सुगुरुसगासे गिही असुत्तत्थो।
तदहिअगहणसमत्थो, अणुन्नाउ तेण संपज्जो॥८६॥

उपसंपदानां संकल्पो व्यवस्था स्वगुरुसकाशे यथा संभवं गृहीतसूत्रार्थः सन्नतत्प्रथमतया तदधिकग्रहणसमर्थः प्राज्ञः सन्न तु ज्ञातस्तेन गुरुणोपसंपद्यते विवक्षित समीप इति गाथार्थः। तत्रापि

सप्परिणयपरिवारं, अप्परिवारं च णाणुजाणावे।
गुरुमेसोवि सयं विअ, एतदभावे ण धारिज्जा॥८७॥

सपरिणतपरिवारं शिक्षकप्राय परिवारमपरिवारं चैकाकीप्रायं नानुज्ञापयेद्गुरुं शिष्योऽनेकदोषप्रसङ्गाद्दोषोऽपि गुरुः स्वयमेवैतदभावेपरिणतपरिवाराद्यभावे न धारयेद्विसर्जयेदिति गाथार्थः। तत्र

संदिट्ठो संदिट्ठस्स, अंतिए तत्थ मिह परिच्चाओ।
साहुअमग्गे वाअण, तिदुवरि गुरुसम्मए चागो॥८८॥

संदिष्टः सन् गुरुणा संदिष्टस्य गुरोः समीपे उपसंपद्येतेति वाक्यशेषस्तत्र मिथः परस्परं परीक्षा भवति। तयोः साधूनाममार्गे वादनं करोत्यागन्तुकः मिथ्यादुष्कृतादाने त्रयाणामुपरि गुरुकथनं तत्सम्मते शीतलतया त्यागः असम्मते निवासस्तेषामपि तं प्रत्ययमेव न्याय इति गाथार्थः।

गुरुफरसाहिगकहणे, सुजोगओ अह निवेअणं विहिणा।
सुअखंधादिउ निअमो, आहव्वणुपालणा चेव॥८९॥

गुरोरपि तं प्रति परुषाधिककथनं जीतं वर्तते सुयोगतः प्रतिपत्तिशुद्धौ सत्यामथानन्तरं निवेदनं गुरुवे विधिना प्रवचनोक्तेनोपदिशेदित्यर्थः। तत्र श्रुतस्कन्धादौ नियम एतावन्तं कालं

यावदित्येवमर्हदादिसाक्षिकी स्थापना कार्योत्सर्गपूर्विकेत्यन्ये उभयनियमश्चाऽयमाभाव्यानुपालना शिष्येण नालबद्धेनेव शिष्येण नालबद्धबल्लिव्यतिरिक्तादयं गुरुणाऽपि सम्यक्पालनीय इति गाथार्थः । इह प्रयोजनमाह ।

अस्सामित्तं पूआ, इअरो वेक्खाए जो असुहभावो ।
परिणमइ सुअआहव्वादाणगहणं अओ चेव ॥९०॥

अस्वामित्वं भवति निःसङ्गतेत्यर्थः तथा पूजा गुरोः कृता भवति इतरापेक्षयाऽनालबद्धवल्लिनिवेदनेनेतरगुर्वपेक्षयेति भावः । तथा जीतमिति कल्पोऽयमेव एवं भगवता दृष्ट इति श्रुतभावादित्यनेन प्रकारेण शुभाशयोपपत्तेः परिणमति श्रुतं यथार्हतया चारित्रशुद्धिहेतुत्वेन शिष्यस्य नान्यथत्याभाव्यादानं शिष्येण कर्त्तव्यं ग्रहणमत एव तस्य गुरुणाऽपि कर्त्तव्यं तदनुग्रहधियामलोभादिति गाथार्थः । पं० व० ७ द्वा ।

उवसंहार पुं० (उपसंहार) उप–सम्–हृ–घञ् –समाप्तौ, स च ग्रन्थतात्पर्य्यावधारकलिङ्गभेदः "उपक्रमोपसंहारौ हेतुस्तात्पर्य्य–निर्णय" इत्युक्ते तत्रोभयोरेव तद्धेतुत्वं न तु प्रत्येकस्य संग्रहे सम्यग् हरणे, श्रुतार्थस्यान्यत्रान्वयार्थमुपक्षेपे, यथा गुणोपसंहारः । वाच०।

उवसग्ग पुं० (उपसर्ग) उप–सृज० घञ्– उपसृज्यन्ते धातुसमीपे युज्यन्ते इत्युपसर्गाः । प्रश्न० ४ द्वा० । प्रश्नव्याकरणोक्तेषु, नि पाताश्चादयो ज्ञेयाः प्रादयस्तूपगसर्गकाः । "द्योतकत्वात् क्रियायोगे लोकादवगता इमे" इत्युक्तलक्षणेषु क्रियायोगे प्रादिषु, तेषां त्रिधा प्रवृत्तिः "धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते । तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा । क्रमेणोदाहरणानि यथा आदत्ते प्रसूते प्रणमतीति । अपि च "उपसर्गेण धात्वर्थो, बलादन्यत्र नीयते । प्रहाराहारसंहार विहारपरिहारवत् " प्रादयस्तूपसर्गा न सार्थकाः सार्थकाश्च चादयो निपाता वाचकत्वात्। **"उपसर्गास्तु उभयेऽपि द्योतका इति मेनिरे" वाच० । पौ वः ।८।१।३१।** इति पस्य वः । प्रा० उपसृज्यन्ते क्षिप्यन्त च्याव्यन्ते प्राणिनो धर्म्मादेर्येषु इत्युपसर्गाः । देवादिकृतोपद्रवेषु, स्था० १० ठा० । पंचा० । आ०म० । आ०चू० ।

(१) उपसर्गव्याख्या ।
(२) उपसर्गनिक्षेपः ।
(३) तत्कारिभेदादुपसर्गभेदाः ।
(४) उपसर्गसहनम् ।
(५) संयमस्य रूक्षत्वम् ।
(६) अनुकूलोपसर्गसहनम् ।

(१) अथोपसर्गान् व्याख्यातुमाह ।

उवसज्जणमुवसग्गो, तेण तओवसज्जए जम्हा ।

उपसर्जनमुपसर्गः । अथवा करणसाधनः उपसृज्यते संबध्यते पीडादिभिः सह जीवस्तेनेत्युपसर्गः । अथवा कर्म्मसाधनः उपसृज्यते संबध्यते तत्कोऽसावेव तदुपसर्गः । अथवा उपादानसाधनः ततस्तस्मादुपसर्गाज्जीवः उपसृज्यते संबध्यते पीडादिभिः सह यस्मात्ततः उपसर्गः । विशे० । उत्त० ।

(२) उपसर्गनिक्षेपो यथा ।

उवसग्गम्मि य छक्कं, दव्वे चेयणमचेयणं दुविहं ।
आगंतुगो य पीलाकरो य जो सो उ उवसग्गो ॥१॥

नामस्थापनात् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् उपसर्गाः षोढा । तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्योपसर्गं दर्शयति । द्रव्ये द्रव्यविषये उपसर्गो द्विधा यतस्त द्व्यमुपसर्गकर्तृ चेतनाचेतनभेदात् द्विविधम् । तत्र तिर्यङ् मनुष्यादयः स्वावयवाभिघातेन यदुपसर्गयन्ति स सचित्तद्रव्योपसर्गः स एव काष्ठादिनेतरस्तत्वभेदपर्यायैर्व्याख्यातः । तत्रोपसर्ग उपतापः शरीरपीडनोत्पादनमित्यादिपर्यायाः । भेदाश्च तिर्यङ् मनुष्योपसर्गादयः । नामादयश्च तत्र व्याख्यातु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चार्द्धे न दर्शयति । अपरस्माद्दिव्यादेरागच्छतीत्यागन्तुको योऽसावुपसर्गो भवति स च देहस्य संयमस्य वा पीडाकारीति ॥१॥ क्षेत्रोपसर्गानाह ।

खेत्तं बहुओघपयं कालो एगंतदुस्समादीओ ।
भावे कम्मब्भुदओ, सो दुविहो ओघुवक्कमिओ ॥२॥

यस्मिन् क्षेत्रे बहून्योघतः सामान्येन पदानि क्रूरचौराद्युपसर्गस्थानानि भवन्ति तत्क्षेत्रं बह्वोघपदम् । पाठान्तरं वा बह्वोघभयं बहून्योघतो भयस्थानानि यत्र तत्तथा तिच्च लाभादिविषयादिकं क्षेत्रमिति । कालस्त्वेकान्तदुःखादिः आदिग्रहणात् यो यस्मिन् क्षेत्रे दुःखोत्पादको ग्रीष्मादिः स गृह्यत इति ।कर्मणां ज्ञानावरणादीनामभ्युदयो भावोपसर्ग इति । स च उपसर्गः सर्वोऽपि सामान्येन औधिकोपक्रमिकभेदात् द्वेधा । तत्रौधिकोऽशुभकर्म प्रकृतिजनित–भावोपसर्गो भवति । औपक्रमिकस्तु दण्डकशाशस्त्रादिना–ऽसातवेदनीयोदयापादक इति ॥२॥

(३) तत्रौधिकौपक्रमिकयोरुपसर्गयोरौपक्रमिकमधिकृत्याह ।

ओवक्कमिओ संयमविग्घकरे तत्थुवक्कमे पगयं ।
दव्वे चउव्विहो दे, व मणुयतिरिया य संवेतो ॥३॥

उपक्रमणमुपक्रमः । कर्मणामनुदयप्राप्तानामुदयप्रापणमित्यर्थः । एतच्च यद्द्व्योपयोगात् येन वा द्रव्येणाऽसातवेदनीयाद्यशुभं कर्म्मोदीर्यते यदुदयाच्चाल्पसत्वस्य संयमविघातो भवति अत औपक्रमिक उपसर्गः संयमविघातकारीति । इह च यतीनां मोक्षं प्रति प्रवृत्तानां संयमो मोक्षाङ्ग वर्तते तस्य यो विघ्नहेतुः स एवाधिक्रियत इति दर्शयति । तत्रौधिकोपक्रमिकयोरौपक्रमिके प्रकृतं प्रस्तावस्तेनात्राधिकार इति यावत । स च द्रव्ये द्रव्यविषयश्चिन्त्यमानश्चतुर्विधो भवति । तद्यथा दैविको मानुषस्तैरश्च आत्मसंवेदनश्चेति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

चउव्विहा उवसग्गा पण्णत्ता तं जहा दिव्वा माणुसा तिरिक्खजोणिया आयसंचेयणिज्जा । दिव्वा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा हासाप्पओसा वीमंसा पुढोवेमाया । माणुस्सा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा हासाप्पओसा वीमंसा कसीलपडिसेवणया । तिरिक्खजोणिया उववसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा भया पदोसा आहारहेउं अवच्चलेण साक्खणया । आयसंचेयणिज्जा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा घट्टणया पवडणया थंभणया लेसणया ।

सूत्रपञ्चकमाह कण्ठ्यञ्चेदं नवरमुपसर्जनान्युपसृज्यते धर्म्मात्प्रच्याव्यते जन्तुरेभिरित्युपसर्गाः बाधाविशेषास्ते च कर्तृभेदाच्चतुर्विधा । आह च "उवसज्जणमुवसग्गो तेण तओ उवसयज्झिए जम्हा । सो दिव्वमणुयतेरिच्छ आयसंचेयणा भेउत्ति ॥१॥ आत्मना सञ्चेत्यन्ते क्रियन्त इत्यात्मसञ्चेतनीयाः तत्र दिव्याः। (हासत्ति) हासाद्भवन्ति हाससंभूतत्वात् वा हासाः उपसर्गा एवेत्येवमन्यत्रापि । यथा भिक्षार्थं ग्रामान्तरप्रस्थितक्षुल्लकैर्व्यन्तर्या उपयाचितं प्रतिपन्नं यदीप्सितं लप्स्यामहे तदा तवोंडेरिकादि

दास्याम इति लब्धे च तत्र तवेदमिति भणित्वा तदुण्डेरकादि तैः स्वयमेव भक्षितं देवतया च हासेन तद्रूपमावृत्य क्रीडितमनागच्छत्सु क्षुल्लकेषु व्याकुले गच्छे निवेदितमाचार्याणां देवतया क्षुल्लकवृत्तम् । ततो वृषभैरुण्डेरिकादि याचित्वा तस्यै दत्तं तया तु ते दर्शिता इति। प्रद्वेषाद्यथा सङ्गमको महावीरस्योपसर्गानकरोत्। विमर्षाद्यथा क्वचिद्देवकुलिकायां वर्षासूषित्वा साधुषु तदीय एवान्यः पश्चादागतस्तत्रोषितस्तश्च देवता किं स्वरूपीयमिति विमर्षादुपसर्गितवतीति । पृथग् विभिन्ना विविधा मात्रा हासादिवस्तुरूपा येषु ते पृथग्विमात्रा। अथवा पृथग् विविधा मात्रा विमात्रा तयेत्येतल्लुप्ततृतीयैकवचनं पदं दृश्यम्। तथा हि हासेन कृत्वा प्रद्वेषेण करोतीत्येवं संयोगः यथा संगमक एवं विमर्षेण कृत्वा प्रद्वेषेण कृतवानिति। तथा मानुषा हास्यात्यथा गणिकादुहिता क्षुल्लकमुपसर्गितवती सा च तेन दण्डेन ताडिता विवादे च राज्ञः श्रीगृहदृष्टान्तो निवेदितस्तेनेति प्रद्वेषात् यथा गजसुकुमारः सोमिलब्राह्मणेन व्यपरोपितो विमर्षात् यथा चाणक्योक्तचन्द्रगुप्तेन धर्मपरीक्षार्थं लिङ्गिनोऽन्तःपुरे धर्माख्यापिता क्षोभिताश्च साधवस्तु क्षोभितुं न शक्ता इति । कुशीलमब्रह्म तस्य प्रतिषेवणं कुशीलप्रतिषेवणं तद्भावः कुशीलप्रतिषेवणता उपसर्गकुशीलस्य वा प्रतिषेवणं येषु ते कुशीलप्रतिषेवणकाः। अथवा कुशीलप्रतिषेवणयेति व्याख्येयं यथा संध्यायां वसत्यर्थं प्रोषितस्येर्ष्यालोर्गृहे प्रविष्टः साधुश्चतसृभिरीर्ष्यालुजाया-भिर्दत्तावासः प्रत्येकं चतुरोऽपि यामानुपसर्गितो न च क्षुभितः। तथा तैरश्चो भयात् श्वादयो दशेयः प्रद्वेषाश्चण्डकौशिको भगवन्तं दष्टवान् आहारहेतोः सिंहादयोऽपत्यलयनसंरक्षणाय काक्यादयः उपसर्गयेयुरिति। तथा आत्मसंवेदनीया घट्टनता घट्टनया वा यथाऽक्षणि रजः पतितं ततस्तदक्षि हस्तेन मलितं दुःखितुमारब्धमथवा स्वयमेव अक्षणि गले वा मांसाङ्कुरादि जातं घट्टयतीति प्रपतनात् प्रपतनया वा यथा अप्रयत्नेन संचरतः प्रपतनात् दुःखमुत्पद्यते स्तम्भनतस्तम्भनया वा यथा तावदुपविष्टः स्थितो यावत्सुप्तः पादादिस्तब्धो जातः श्लेषणता श्लेषणया वा यथा पादमाकुञ्च्य स्थितो वा तेन तथैव पादौ लगितौ इति। आत्मसञ्चने उदाहरणानि उपसर्गसहनात्कर्मक्षयो भवतीति। स्था०४ ठा०४ उ०।

सो दिव्वमणुयतेरिच्छिया य संवेयणा भेओ।

स च देवेभ्यो भवो दिव्यो मनुष्येभ्यो भवो मानुषः तिर्यग्योनिभ्यो भवस्तैर्यग्योनः आत्मना संवेद्यत इत्यात्मवेदनीयः इत्येवं चतुर्भेद इति। केन पुनः कारणेन देवादिभ्य साधूनामुपसर्गा भवन्तीत्याह।

हासप्पओसवीमंसउ, विमायाए वा भवे दिव्वो।
एवं चिय माणुस्सो, कुसीलपडिसेवणचउत्थे॥
तिरिओभयप्पओसा हारावच्चाइ रक्खणत्थं वा।
घट्टणथंभणपवडण, लेसणओ वायसंवेओ॥

हासात्क्रीडातः अवज्ञातः पूर्वभवसंबन्धादिकृतप्रद्वेषाद्वा (वीमंसउत्ति) किमयं स्वप्रतिज्ञातश्चलति न वेति मीमांसातो विमर्षाद्दिव्य उपसर्गो भवेत्तथा (विमयाएत्ति) विविधा मात्रा विमात्रा तस्याः सकाशात्किमपि हास्यात्मिकमपि प्रद्वेषात्किंचिन्मीमांसातश्चेत्यर्थः। दिव्य उपसर्गो भवेदिति। एवं मानुष्योऽप्युपसर्गश्चतुर्विधो भवेत्केवलं (कुसीलपडिसेवणचउत्थेति) स्त्रीपण्डकलक्षणो यः कुशीलस्तत्प्रतिसेवनामाश्रित्य चतुर्थो भेदो द्रष्टव्यः। विमात्रापक्षस्यात्र हास्यादिष्वेवान्तर्भावविवक्षणादिति तिर्यङ् भयात्प्रद्वेषादाहारार्थमपत्यनीडगुहादिस्थानरक्षणार्थमुपसर्गं कुर्यादिति। आत्मसंवेदनीयस्तूपसर्गोनेत्रपतितकणिकादिघट्टनादङ्गाना स्तम्भनात्स्तब्धताभावाद्वर्तादौ वा प्रपतनाद्विगुणितबाह्वाद्यङ्गानां वासनात्परस्परं श्लेषणाद्भवतीति सप्तचत्वारिंशद्गाथार्थः। विशे०॥

सांप्रतमेतेषामेव भेदमाह –

एक्केक्को य चउविहो, अट्ठविहो वा वि सोलसविहो वा।
घट्टणजयणा य तेसिं, एत्तो वोच्छं य अहियारो॥४॥

एकैको दिव्यादिश्चतुर्विधश्चतुर्भेदः। तत्र दिव्यस्तावत् हास्यात् प्रद्वेषात् विमर्शात् पृथग्विमात्रातश्चेति। मानुषा अपि हास्यात् प्रद्वेषाद्विमर्शात् कुशीलप्रतिसेवनातश्च । तैरश्चा अपि चतुर्विधाः तद्यथा भयात्प्रद्वेषादाहारादपत्यसंरक्षणाच्च। आत्मसंवेदना अपि चतुर्विधाः घट्टनातो लेशनातोऽङ्गुल्याद्यवयव संश्लेषरूपाया स्तभनातः प्रपाताच्चेति। यदि वा वातपित्तश्लेष्मसंनिपातजनितश्चतुर्धेति। स एव देव्यादिश्चतुर्विधोऽनुकूलप्रतिकूलभेदात् अष्टधा भवति। स एव दिव्यादिः प्रत्येकं यश्चतुर्धा प्राग्दर्शितः स चतुर्णां चतुष्काणां मेलापकात् षोडशभेदो भवति। तेषां चोपसर्गाणां यथा घटना संबन्धप्राप्तिः प्राप्तानां चाधिसहनं प्रतियातना भवति तथाऽत ऊर्द्धमध्ययनेन वक्ष्यते इत्ययमत्रार्थाधिकारः इति भावः। सूत्र०१ श्रु०३ अ०। एतेषाञ्च सहनाऽवधिभूतः श्रीमन्महावीरो बोद्धव्यः भावनोत्पादनार्थं पुनरेकैकशः परमपुरुषाः सम्यक् सहनादाप्तकल्याणाः कथ्यन्ते। तथा चाह॥

देवेहिं कामदेवो, गिही विनयचाइउरगुणेहिं।
मत्तगयंदभुअंगमरक्खसघोरट्टहासेहिं॥

देवस्यैते देवा देवकृताद्वा देवो भगवच्छ्रीमहावीरसत्कदशश्रावका–न्तर्गतः गृह्यपि गृहस्थोऽपि न च नैव व्यधितश्चलितस्तपोगुणेभ्यः कथं भूतैर्मत्तगजेन्द्रभुजङ्गमराक्षसघोराट्टहासैः। तथाहि शक्रवर्णनाश्रद्धश्रद्धानायातदेवनिर्मितैः कदर्थ्यमानेनापि न परित्यक्ता स्वप्रतिज्ञेति गाथार्थः। भावार्थः कथानकेभ्यः स्फुटीभविष्यति भगवओ महावीरस्स दस सावया अहेसिंतं। "आनन्द कामदेवे, चुलणिपिया तह य सुरदेवे। चुल्लसए कुंडोलिय, सयालपुत्ते य महसयए। नंदिणिपियलेयइपिय, दस सावगाउ वीरेणं। मिच्छत्ततमविमोइय, एए दढसावए सुवए"। दर्श०। (कथानकानि तत्तच्छब्दे वक्ष्यन्ते। आत्मसंवेदनीयोपसर्गोदाहरणन्तु स्वधियाऽप्यूह्यम्) कल्प०। औ०। आव०। नि०चु०। जीत०। स्था०।

दिव्वे य जे उवसग्गे, तहा तिरिच्छमाणुस्से।
जे भिक्खू सहइ निच्चं, से न अत्थइ मण्डले॥५॥

यो भिक्षुर्दिव्यान् देवैः कृता न् तथा तैरश्चान् तिर्यग्भिः कृतान् तथा मानुष्यकान् मनुष्यैः कृतान् उपसर्गान् सम्यग् कषायाभावेन सहते स मण्डले संसारे न तिष्ठति। उत्त०३१ अ०।

त्रिविधा उपसर्गाः।

तिविहे य उवसग्गे, दिव्वे माणुस्स तिरिक्खे य।
दिव्वे य पुव्वभणिए, माणुस्से आभिओगे य॥

त्रिविधः खलु परसमुत्थ उपसर्गस्तद्यथा देवो मानुष्यकस्तैरश्चश्च। तत्र दैवो दैवकृतः पूर्वमनन्तरसूत्रस्याधस्तात् भणितः। मानुष्यस्तु मनुष्यकृतः आभियोग्यो विद्याद्यभियोगजनितः॥ बृ०६ उ०। आव०॥

(४) सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धे तृतीयाऽध्ययने उपसर्गसहनं तत्र तावदुद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह।

पढमम्मि य पडिलोमा, हुंती अणुलोमगा य वितियम्मि।
तइए अज्झत्तविसीदणं य परवादिवयणं च ॥ ५ ॥

प्रथमे उद्देशके प्रतिलोमाः प्रतिकूला उपसर्गाः प्रतिपाद्यन्त इति। तथा द्वितीये ज्ञातिकृताः स्वजनापादिता अनुलोमा अनुकूला इति। तथा तृतीये अध्यात्मविषीदनं परवादिवचनं चेत्ययमर्थाऽधिकार इति॥

हेउसरिसेहिं अहेउएहिं, समयपडिएहिं णिउणेहिं।
सीलखणितपण्णवना, कथा चउत्थम्मि उद्देशे ॥६॥

चतुर्थोद्देशके अयमर्थाऽधिकारः तद्यथा हेकतुसदृशैर्हेत्वाभासैरन्यतैर्थिकैर्व्युद्गृहिताः प्रतारितास्तेषां शीलस्खलितानां व्यामोहितानां प्रज्ञापना यथाऽवस्थितार्थप्ररूपणा स्वसमयप्रतीतैर्निपुणभणितैर्हेतुभिः कृतेति। साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम् ॥

सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती।
जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं ॥१॥

कश्चिल्लघुप्रकृतिः संग्रामे समुपस्थिते शूरमात्मानं मन्यते। निस्तोयाम्बुद इवात्मश्लाघाप्रवणो वाग्भिर्विस्फूर्जन् गर्जति। न मत्कल्पः परानीके कश्चित्सुभटोऽस्तीत्येवं तावद्गर्जति यावत् पुरोऽवस्थितं प्रोद्यतासिं जेतारं न पश्यति। तथा चोक्तं। "तावद्गजः प्रस्तुतदानगण्डः करोत्यकालाम्बुदगर्जितानि। यावन्न सिंहस्य गुहास्थलीषु लाङ्गूलविस्फोटरवं शृणोति ॥१॥ न दृष्टान्तमन्तरेण प्रायो लोकस्यार्थावगमो भवतीत्यतस्तदवगतये दृष्टान्तमाह। यथा माद्रीसुतः शिशुपालो वासुदेवदर्शनात्प्राक् आत्मश्लाघा प्रधानं गर्जितवान् पश्चाच्च युध्यमानं शस्त्राणि व्यापारयन्तं दृढः समर्थो धर्मः स्वभावः संग्रामाभङ्गरूपो यस्य स तथा तम्। महान् रथोऽस्येति महारथः स च प्रक्रमादत्र नारायणस्तं युध्यमानं दृष्ट्वा प्रागर्जनाप्रधानोऽपि क्षोभं गतः। एवमुत्तरत्र दार्ष्टान्तिकेऽपि योजनीयमिति। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः (सूत्र०) (तच्च सिसुवालशब्दे वक्ष्यते)

साम्प्रतं सर्वजनप्रतीतं वार्तमानिकं दृष्टान्तमाह

पयाता सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्ठिते।
मायापुत्तं न याणाइ, जेएण परिवित्थए ॥२॥

यथा वाग्भिर्विस्फूर्जन्तः प्रकर्षेण विकटपादपातं रणशिरसि संग्राममूर्धन्यग्रानीके याता गताः। के ते शूराः शूरमन्याः सुभटाः ततः संग्रामे समुपस्थिते पतत्परानीकसुभटमुक्तहेतिसंघाते सति तत्र च सर्वस्याऽऽकूलीभूतत्वात् माता पुत्रं न जानाति कटीतो भ्रश्यन्तं स्तनन्धयमपि न सम्यक् प्रतिजागर्तीत्येवं मातापुत्रीये संग्रामे परानीकसुभटेन जेत्रा च शक्यादिभिः परि समन्तात् विविधमनेकप्रकारं क्षतो हतश्छिन्नो वा कश्चिदल्पसत्वो भङ्गमुपयाति दीनो भवतीति यावदिति। दार्ष्टान्तिकमाह

एवं सेहे वि अप्पुट्ठे, भिक्खायरिया अकोविए।
सूरं मण्णंति अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए ॥३॥

एवमिति प्रक्रान्तपरामर्शार्थः। यथाऽसौ शूरमन्य उत्कृष्टसिंहनादपूर्वकं संग्रामशिरस्युपस्थितः पश्चाज्जेतारं वासुदेवमन्यं वा युध्यमानं दृष्ट्वा दैन्यमुपयाति। एवं शिष्यकोऽभिनवप्रव्रजितः परीषहैरस्पृष्टोऽच्छुभ्रः किं प्रव्रज्यायां दुष्करमित्येवं गर्जन् भिक्षाचर्यायां भिक्षाटनेऽकोविदोऽनिपुणः उपलक्षणार्थत्वादन्यत्रा-ऽपि साध्वाचारेऽभिनवप्रव्रजितत्वादप्रवीणः स एवंभूत आत्मानं तावच्छिशुपालवत् शूरं मन्यते यावज्जेतारमिवं रूक्षं संयमकर्म संश्लेषकारणाभावात् न सेवते न भजत इति। तत्प्राप्तौ तु बहवो गुरुकर्माणोऽल्पसत्वा भङ्गमुपयान्ति।

संयमस्य रूक्षत्वप्रतिपादनायाह

जया हेमंतमासम्मि, सीतं फुसइ (सवायगं) सव्वगं।
तत्थ मंदा विसीयंति, रज्जहीणा वि खत्तिया ॥४॥

यदा कदाचित् हेमन्तमासे पौषादौ शीतं सहिमकणवातं स्पृशति लगति तत्र तस्मिन्नसह्ये शीतस्पर्शे लगति सति एके मन्दा जडा गुरुकर्माणो विषीदन्ति दैन्यभावमुपयान्ति राज्यहीना राज्यच्युताः यथा क्षत्रिया राजान इवेति ॥४॥ सूत्र० ३ अ० १ उ०। उक्तः प्रथमोद्देशकः। साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते। अस्यचायमभिसंबन्धः इहोपसर्गपरिज्ञाध्ययने उपसर्गाः प्रतिपादितास्ते। चानुकूलाः प्रतिकूलाश्च। तत्र प्रथमोद्देशके प्रतिकूलाः प्रतिपादिता इह त्वनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्या-दिमं सूत्रम्।

अहिमे सुहमासंगा, भिक्खुणं जे दुरुत्तरा।
जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए ॥१॥

अथेत्यानन्तर्ये प्रतिकूलोपसर्गानन्तरमनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यानन्तर्यार्थः। इमे त्वनन्तरमेवाभिधीयमानाः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमभिधीयन्ते। ते च सूक्ष्माः प्रायश्चेतोविकारकारित्वेनान्तरा न प्रतिकूलोपसर्गा इव बाहुल्येन शरीरविकारकारित्वेन प्रकटतया बादरा इति। सङ्गाः मातापित्रादिसंबन्धाः। य एते भिक्षूणां साधुनामपि दुरुत्तरा दुर्लङ्घ्या दुरतिक्रमणीया इति। प्रायो जीवितविघ्नकरेरपि प्रतिकूलोपसर्गैरुदीर्णमाध्यस्थ्यमवलम्बयितुं महापुरुषैः शक्यमेते त्वनुकूलोपसर्गास्तानप्युपायेन धर्माच्चयावयन्त्यतोऽमी दुरुत्तरा इति। यत्र येषूपसर्गेषु सत्स्वेके अल्पसत्वाः सदनुष्ठानं प्रति विषीदन्ति शीतलविहारित्वं भजन्ते सर्वथा वा संयमं त्यजन्ति नैवात्मानं संयमानुष्ठानेन यापयितुं वर्तयितुं तस्मिन् व्यवस्थापयितुं शक्नुवन्ति समर्था भवन्तीति ॥१॥

तानेव सूक्ष्मसङ्गान् दर्शयितुमाह।

अप्पेगे नायओदिस्स, रोयंति परिवारया।
पोसणे ताय पुट्ठोसि, कस्स ताय जहासिणे ॥२॥

अपिः संभावने। एके तथाविधा ज्ञातव्यः स्वजना मातापित्रादयः प्रव्रजन्तं प्रव्रजितं वा दृष्ट्वोपलभ्य परिवार्य वेष्टयित्वा रुदन्ति रुदन्तो वा वदन्ति च दीनं यथा बाल्यात्प्रभृति त्वमस्माभिः पोषितो वृद्धानां पालको भविष्यतीति कृत्वा ततो धुनानोऽस्मानपि त्वं तात! पुत्र! पोषय पालय। कस्य कृते केन कारणेन कस्य वा बलेन ताताऽस्मान् त्यजसि नाऽस्माकं भवन्तमन्तरेण कश्चित्राता विद्यत इति। किञ्च।

पिया ते थेरओ तात, सासा ते खुड्डिया इमा।
भायरो ते सगा तात, सोयरा किं जहासिणे ॥३॥
मायरं पियरं पोस, एवं लोगो भविस्सति।
एवं खु लोइयं ताय, जे पालंति य मायरं ॥४॥

हे तात! पुत्र! पिता ते तव स्थविरो वृद्धः शतातीतः स्वसा च भगिनी तव क्षुल्लिका लघ्वी अप्राप्तयौवना इमा पुरोवर्तिनी प्रत्यक्षेति। तथा भ्रातरस्ते तव स्वका निजास्तात! सोदरा एकोद-

राः किमित्यस्मान् परित्यजसीति ॥३॥ तथा(मायरमित्यादि मातरं जननीं तथा पितरं जनयितारं पुषाण षिभृहि। एवं च कृते तवेह लोकः परलोकश्च भविष्यति। तातेदमेव लौकिकं लोकाचीर्णमयमेव लौकिकः पन्था यदुत वृद्धयोर्मातापित्रोःप्रति पालनमिति तथा चोक्तम्। "गुरवो यत्र पूज्यते,यत्र धान्यं सुसंस्कृतम्। अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक! वसाम्यहमिति" ४ अपिच

उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते तात खुड्डया।
भारिया ते णवा तात, मा सा अम्हं जणं गमे ॥

उत्तरा प्रधाना उत्तरा जाता वा मधुरो मनोज्ञ उल्लाप आलापो येषां ते तथाविधाः पुत्रास्ते तव तात! पुत्र! क्षुल्लका लघवः। तथा भार्या पत्नी ते नवा प्रत्यग्रयौवना अतिनवोढा वा माऽसौ त्वया परित्यक्ता सत्यन्यं जनं गच्छेदुन्मार्गयायिनी स्यादयं च महाजनापवाद इति। अपि च।

एहि ताय घरं जामो, मा य कम्मं सहावयं।
वितियं पि ताय पासामो, जामु ताव सयं गिहं ॥६॥

जानीमो वयं यथा त्वं कर्मभीरुस्तथाप्येहि आगच्छ गृहं यामो गच्छामः। मा त्वं किमपि सांप्रतं कर्म कृथाः। अपि तु तव कर्मण्युपस्थिते वयं सहायका भविष्यामः साहाय्यं करिष्यामः। एकवारं तावद् गृहकर्मभिर्भ्रस्त्वं तात! पुनरपि द्वितीयवारं पश्यामो द्रक्ष्यामो यदस्माभिः सहायैर्भवतो भविष्यतीत्यतो यामो गच्छामस्तावत् स्वकं गृहं कुर्वतदस्यद्वचनमिति ॥६॥

गंतु ताय पुणो गच्छे, ण य तेणासमणो सिया॥
अकामगं पराकम्मं, को उ ते वारेउमरिहति ॥७॥

तात! पुत्र! गत्वा गृहं स्वजनवर्गं दृष्ट्वा पुनरागन्तासि न च तेनैतावता गृहगमनमात्रेण चाश्रमणो भविष्यसि। (अकामगंति) अनिच्छन्तं गृहव्यापारेच्छारहितं पराक्रमन्तं स्वाभिप्रेतानुष्ठानं कुर्वाणं कस्त्वां भवन्तं वारयितुं निषेधयितुमर्हति योग्यो भवितिं। यदि वा (अकामगंति) वार्द्धकावस्थायां मदनेच्छाकामरहितं पराक्रमन्तं संयमानुष्ठानं प्रति कस्त्वामवसरप्राप्ते कर्मणि प्रवृत्तं धारयितुमर्हतीति। अन्यच्च।

जं किंचि अणगं तात, तं पि सव्वं समीकतं।
हिरण्णं ववहाराइ, तं पि दाहासु ते वयं ॥८॥

तात! पुत्र! यत्किमपि भवदीयमृणजातमासीत्तत्सर्वमस्माभिः सम्यग्विभज्य समीकृतं समभागेन व्यवस्थापितं यदिवोत्कटं सत् समीकृतं सुदेयत्वेन व्यवस्थापितं यच्च हिरण्यं द्रव्यजातं व्यवहारादावुपयुज्यते। आदिशब्दात् येन वा प्रकारेण तवोपयोग यास्यति तदपि वयं दास्यामो निर्धनोऽहमिति मा कृथा भयमिति।८।

उपसंहारार्थमाह।

इच्चेव णं सुसेहंति, कालुणी य समुट्ठिया।
विवद्धो नायसंगेहिं, ततो गारं पहावइ।९।
जहा रुक्ख वणे जायं, मालुया पडिबंधइ।
एव णं पडिबंधंति, णातओ असमाहिणं। १०।

णमिति वाक्यालङ्कारे। इत्येवं पूर्वोक्तया नीत्या मातापित्रादयः कारुणिकैर्वचोभिः करुणामुत्पादयन्तः स्वयं वा दैन्यमुपस्थितास्तं प्रव्रजितं प्रव्रजन्तं वा (सुसेहंतित्ति) सुष्ठु शिक्षयन्ति व्युद्ग्राहयन्ति। स चापरिणतधर्माऽल्पसत्वो गुरुकर्मा ज्ञातिसङ्गैर्विबद्धो मातापितृपुत्रकलत्रादिमोहितस्ततो गारं गृहं प्रतिधावति प्रव्रज्यां परित्यज्य गृहपाशगनुबध्नातीति।९। किञ्चान्यत् (जहारुक्खमित्यादि) यथा वृक्ष वने अटव्यां जातमुत्पन्नं मालूया वल्ली प्रतिबध्नाति वेष्टयत्येवं णमिति वाक्यालंङ्कारे ज्ञातयः स्वजनास्तं यतिमसमाधिना प्रतिबध्नन्ति ते तन्कुर्वन्ति येनास्यासमाधिरुपद्यत इति। तथा चोक्तं। " अमित्तो मित्तवेसेण, कंठे घेत्तूण रोयइ। मा मित्त! सोगइं जाई, दो वि गच्छासु दुग्गइं"। १०। अपि च।

विबद्धो नातिसंगेहिं, हत्थी वा वि नवग्गहे।
पिट्ठतो परिसप्पंति, सुयगो व्व अदूरए। ११।

विविधं बद्धः परवशीकृतः विबद्धो ज्ञातिस्नङ्गैर्मातापित्रादिसंबन्धैस्ते च तस्य तस्मिन्नवसरे सर्वमनुकूलमनुतिष्टन्तो धृतिमुत्पादयन्ति हस्तीवापि नवगृहे अभिनवग्रहणे धृत्युत्पादनार्थमिक्षुशकलादिभिरुपचर्यते। एवमसावपि सर्वानुकूलैरुपायैरुपचर्यते। दृष्टान्तान्तरमाह। यथाऽभिनवप्रसूता गौर्निजस्तनंधयस्यादूरगा समीपवर्तिनी सती पृष्ठतः परिसर्पत्येवं तेऽपि निजा उत्प्रव्रजितं पुनर्जातमिव मन्यमानाः पृष्ठतोऽनुसर्पन्ति तन्मार्गानुयायिनो भवन्तीत्यर्थः। ११।

सङ्गदोषदर्शनायाह।

एते संगा मणूसाणं, पाताला व अतारिमा।
कीवा जत्थ य किस्संति, नायसंगेहिं मुच्छिया ॥ १२॥

एते पूर्वोक्ताः सज्यन्त इति सङ्गाः मातृपित्रादिसंबन्धाः कर्मोपादानहेतवः मनुष्याणां पाताला इव समुद्रा इवाप्रतिष्ठितभूमितलत्वात् ते (अतारिमत्ति) दुस्तरा एवमेतेऽपि सङ्गाअल्पसत्वैर्दुःखेनातिलङ्घ्यन्ते। तत्र च येषु सङ्गेषु क्लीवा असमर्थाः क्लिश्यन्ति क्लेशमनुभवन्ति संसारान्तर्वर्तिनो भवन्तीत्यर्थः। किंभूताः ज्ञातिसङ्गैः पुत्रादिसंबन्धैर्मूर्च्छिता गृद्धा अध्युपपन्नाः सन्तो न पर्यालोचयन्त्यात्मानं संसारान्तर्वर्तिनमेवं क्लिश्यन्ति

अपि च।

तं च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा॥
जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं ॥ १३॥

तं च ज्ञातिसङ्गं संसारहेतुं भिक्षुर्ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्। किमिति यतः सर्वेऽपि केचन सङ्गास्ते महाश्रवा महान्ति कर्मण आश्रवद्वाराणि वर्तन्ते। ततोऽनुकूलैरुपसर्गैरुपस्थितैरसंयमजीवितं गृहावासपाशं नाभिकाङ्क्षेत नाभिलषेत्।

प्रतिकूलैश्चोपसर्गैः सद्भिर्जीविताभिलाषी न भवेदसमञ्जसकारित्वेन भवजीवितं नाभिकाङ्क्षेत्। किं कृत्वा श्रुत्वा निशम्यावगम्य कं धर्मं श्रुतचारित्राख्यम। नास्योत्तरोऽस्तीत्यनुत्तरं प्रधानं मौनीन्द्रमित्यर्थः। अन्यच्च।

अहिमे संति आवट्टा, कासवेणं पवेइया।
बुद्धा जत्थ व सप्पंति, सीयंति अबुहा जहिं ॥१४॥

अथेत्यधिकारान्तरदर्शनार्थः। पाठान्तरं वा (अहो इति) तच्च विस्मये। इमे इति प्रत्यक्षासन्नाः सर्वजनविदितत्वात् सन्ति विद्यन्ते वक्ष्यमाणा आवर्तयन्ति प्राणिनं भ्रामयन्तीत्यावर्तास्तत्रा द्रव्या वर्ता नद्यादेर्भावावर्तास्तूत्कटमोहोदया पादितविषयाभिलाषसंपादकसंपत्प्रार्थनाविशेषा एते चावर्ताः काश्यपेन श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिना उत्पन्नदिव्यज्ञानेनावेदिताःकथिताः प्रतिपादिताः। यत्र येषु सत्सु बुद्धा अवगततत्त्वा आवर्तविपाक वेदिनस्तेभ्यो ऽवसर्पन्ते प्रमत्ततया तद्दूरगामिनो भवन्त्यबुधास्तु निर्विवेकतया ये ह्यवसीदन्त्यासक्तिं कुर्वन्तीति तानेवावर्तान् दर्शयितुमाह।

रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया।
निमंतियंति भोगेहिं, भिक्खूणं साहुजीविणं।१५।

राजानश्चक्रवर्त्यादयो राजामात्याश्च मन्त्री पुरोहितप्रभृतयस्तथा ब्राह्मणा अथवा क्षत्रिया इक्ष्वाकुवंशप्रभृतयः। एते सर्वेऽपि भोगैः शब्दादिविषयैर्निमन्त्रयन्ति भोगोपभोगं प्रत्यभ्युपगमं कारयन्ति कं भिक्षुकं (साहुजीविणमिति) साध्वाचारेण जीवितुं शीलमस्येति साधुजीविनमिति। यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना नानाविधैर्भोगैश्चित्र-साधुरुपनिमन्त्रित इत्येवमन्येऽपि केनचित्संबन्धेन व्यवस्थिता यौवनरूपादिगुणोपेतं साधुं विषयोद्देशेनोपनिमन्त्रयेयुरिति। १५।

एतदेव दर्शयितुमाह।

हत्थस्सरहजाणेहिं, विहारगमणेणिया।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी पूजयामु तं।१६।

हस्त्यश्वरथयानैस्तथा विहारगमनैः विहरणं क्रीडनं विहारस्तेन गमनान्युद्यानादौ क्रीडया गमनानीत्यर्थः। चशब्दादन्यैश्चेन्द्रियानुकूलैर्विषयैरुपनिमन्त्रयेरंस्तद्यथा भुवि भोगान् शब्दादिविषयानिमानस्माभिर्ढौकितान् प्रत्यक्षासन्नान् श्लाघ्यान् प्रशस्तान् न निन्द्यान् महर्ष! साधो! वयं विषयोपकरणढौकनेन त्वां भवन्तं पूजयामः सत्कारयाम इति। १६।

किञ्चाऽन्यत्।

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
भुंजा इमाइं भोगाइं, आउसो पूजयामु तं।१७।

वस्त्रं चीनांशुकादि गन्धाः काष्ठपुटपाटकादयः वस्त्राणि च गन्धाश्च वस्त्रगन्धमिति समाहारद्वन्द्वः। तथा अलङ्कारं कटककेयूरादिकं तथा स्त्रियः प्रत्यग्रयौवनाः शयनानि च पर्यङ्कतूलीप्रवरपटोपधानयुक्तानि इमान् भोगानिन्द्रियमनोनुकूलानस्माभिर्ढौकितान् भुङ्क्ष्व तदुपभोगेन सफलीकुरु हेआयुष्मन्! भवन्तं पूजयामः सत्कारयाम इति। १७। अपि च।

जो तुमे नियमो चिन्नो, भिक्खुभावम्मि सुव्वय।
अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा।१८।

यस्त्वया पूर्वं भिक्षुभावे प्रव्रज्यावसरे नियमो महाव्रतादिरूपश्चीर्णोऽनुष्ठितः इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमभगतेन हेसुव्रत! स सांप्रतमप्यगारं गृहमावसतो गृहस्थभावं सम्यगनुपालयतो भवतस्तथैव विद्यत इति। न हि सुकृतस्यानुचीर्णस्य नाशोऽस्तीति भावः। १८। किञ्च।

चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुतो तव।
इच्चेव णं निमंतेति, नीवारणेव सूयरं।१९।

चिरं प्रभूतकालं संयमानुष्ठानेन (दूइज्जमाणस्सत्ति) विहरतः सत इदानीं साम्प्रतं दोषः कुतस्तव नैवास्तीति भावः। इत्येवं हस्त्यश्वरथादिभिर्वस्त्रगन्धालङ्कारादिभिश्च नानाविधैरुपभोगोप-करणैः करणभूतैः। णमिति वाक्यालङ्कारे। तं भिक्षुं साधुजीविनं निमन्त्रयन्ति भोगबुद्धिं कारयन्ति। दृष्टान्तं प्रदर्शयति। यथा नीवारेण व्रीहिविशेषकणदानेन सूकरं वराहं कूटके प्रवेशयन्त्येवं तमपि साधुमपि। १९। अनन्तरोपन्यस्तवार्तो पसंहारार्थमाह।

चोइया भिक्खचरिया, अचयंता जवित्तए।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला।२०।

भिक्षूणां साधूनामुद्युक्तविहारिणां चर्या दशविधचक्रवालसामाचारी इच्छामिच्छेत्यादिका तया नोदिताः प्रेरिता यदि वा भिक्षुचर्यया करणभूतया सीदन्तश्चोदितास्तत्करणं प्रत्याचार्यादिकैः पौनःपुन्येन प्रेरितास्तच्चोदनामशक्नुवन्तः संयमानुष्ठाननात्मानं यापयितुं वर्तयितुमसमर्थाः सन्तस्तत्र तस्मिन् संयमे मोक्षैकगमनहेतौ भवकोटिशतावाप्तेर्मन्दा जडा विषीदन्ति शीतलविहारिणो भवन्ति। तमेवाचिन्त्यचिन्तामणिकल्पं महापुरुषानुचीर्णं संयमं परित्यजन्ति। दृष्टान्तमाह। ऊर्द्धयानमुद्यानं मार्गस्योन्नतो भाग उड्डङ्गमित्यर्थः। तस्मिन् उद्यानशिरसि उत्क्षिप्तमहाभरा उक्षाणोऽतिदुर्बला यथाऽवसीदन्ति ग्रीवां पातयित्वा तिष्ठन्ति नोत्क्षिप्तभरनिर्वाहिका भवन्तीत्येवं तेऽपि भावमन्दा उत्क्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारं वोढुमसमर्थाः पूर्वोक्तभवावर्ते पराभग्ना विषीदन्ति। २०। किञ्च।

अचयंता व लूहेण, उवहाणेण तज्जिया।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा।२१।

रूक्षेण संयमेनात्मानं यापयितुमशक्नुवन्तस्तथोपधानेनानशनादिना सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा तर्जिता बाधिताः सन्तस्तत्र संयमे मन्दा विषीदन्त्युद्यानशिरस्युड्डङ्गमस्तके जीर्णो दुर्बलो गौरिव यूनोऽपि हि तत्रावसीदनं संभाव्यते किं पुनर्जरद्गवस्येति जीर्ण ग्रहणम्। एवमावर्तमन्तरेणापि धृतिसंहननोपेतस्य विवेकिनोऽप्यवसीदनं संभाव्यते किं पुनरावर्तैरुपसर्गितानां मन्दानामिति २१

सर्वोपसंहारमाह।

एवं निमंतिए लद्धु, मुच्छिया गिद्धइत्थीसु।
अज्झोववन्ना कामेहिं, चोइजंता गया गिहं (तिबेमि)

एवं पूर्वोक्तया नीत्या विषयोपभोगोपकरणं दानपूर्वकं निमन्त्राणं विषयोपभोगं प्रति प्रार्थनं लब्ध्वा प्राप्य तेषु विषयोपकरणेषु हस्त्यश्वरथादिषु मूर्च्छिता अत्यन्ताशक्तास्तथा स्त्रीषु गृद्धा दत्तावधाना रमणीरागमोहितास्तथा कामेषु इच्छामदनरूपेष्वध्युपपन्नाः कामगतचिताः संयमेऽवसीदन्तोऽपरेणोद्युक्तविहारिणो नोद्यमानाः संयमं प्रति प्रोत्सह्यमाना नोदनं सोढुमशक्नुवन्तः सन्तो गुरुकर्माणः प्रव्रज्यां परित्यज्याल्पसत्वा गृहं गता गृहस्थीभूताः इति परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत्। सूत्रा०१ श्रु० ३ श्र० ३ उ०। आ० चू० आत्मविसीदनादयोऽन्यत्र (भिक्षाट्नाय गतस्योपसर्गसहनं गोयरचरिया शब्दे)

(६) अनुकूलोपसर्गसहनमत्रं।

उट्ठियमणगारमेसणं, समणं ठाणठिअं तवस्सिणं।
डहरा वुड्ढा य पत्थए, अविसुस्से णय तं लभेज्जणो॥१६॥

अगारं गृहं तदस्य नास्तीत्यनगारस्तमेवंभूतं संयमोत्थानेनैषणां प्रत्युत्थितं प्रवृत्तं श्राम्यतीति श्रमणस्तं तथा स्थानस्थितमुत्तरोत्तरविशिष्टसंयमस्थानाध्यासिनं तपस्विनं विशिष्टतपोनिष्टप्तदेहं तमेवम्भूतमपि कदाचित् डहरा पुत्रानप्त्रादयो वृद्धाः पितृमातुलादयः उन्निष्क्रामयितुं प्रार्थयेयुर्याचेरंस्त एवमूचुर्भवता वयं प्रतिपाल्या न त्वामन्तरेणास्माकमेकः प्रतिपाल्य एवं भणन्तस्ते जना अपि शुष्येयुः श्रमं गच्छेयुर्न च तं साधुं विदितपरमार्थं लभेरन् नैवाऽऽत्मसात्कुर्युर्नैवाऽऽत्मवशगं विदध्युरिति॥१६॥ किञ्च

जइ कालुणियाणिकासिया, जइ रोयंति य पुत्तकारणे।
दवियं भिक्खुं समुट्ठियं, णो लब्भंति ण संठवित्तए॥१७॥

यद्यपि ते मातापितृपुत्रकलत्रादयस्तदन्तिके समेत्य करुणाप्र-

धानानिं विलापप्रायाणि वचांस्यनुष्ठानानि वा कुर्युः । तथाहि । "णाह पिय कतं सामिय, अइवल्लह दुल्लहो सि भवणम्मि ॥ तुह विहरम्मि य निक्किव, सुण्णं सव्वं पि पडिहाइ" ॥१॥ "सेणिगम्मो गोट्ठी, गणोव्व तं जत्थ होसि सणिहितो ॥ दिप्पइसिरिएसु पुरिस, किं पुण नियमं घरद्दारं" ॥२॥ तथा यदि (रोयंतियत्ति) रुदन्ति पुत्रकारणं सुतनिमित्तं कुलवर्धनमेकं सुतमुत्पाद्य पुनरेवं कर्तुमर्हसीति। एवं रुदन्तो यदि भणन्ति तं भिक्षुं रागद्वेषरहितत्वान्मुक्तियोग्यत्वाद्वा द्रव्यभूतं सम्यक् संयमोत्थानेनोत्थितं तथाऽपि साधुं न लप्स्यन्ते न शक्नुवन्ति प्रव्रज्यातो भ्रंशयितुं भावाच्च्यावयितुं नापि संस्थापयितुं गृहस्थभावेन द्रव्यलिङ्गाच्च्यावयितुमिति ॥१७॥ अपि च।

जइ वि य कामेहिं लोविया, जइ णं जाहिणबंधिओ घरं ।
जइ जीवितनावकंखए, णा लब्भंति ण संठवित्तए ॥१८॥

यद्यपि ते निजास्तं साधुं संयमोत्थानेनोत्थितं कामैरिच्छामदनरूपैर्लोभयन्ति उपनिमन्त्रायेयुरुपलोभयेयुरित्यर्थः । अनेनाऽनुकूलोऽपसर्गग्रहणम् । तथा यदि नयेयुर्बध्वा गृहं णमिति वाक्यालङ्कारे । एवमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैरभिद्रुतोऽपि साधुर्यदि जीवितं नाभिकाङ्क्षेत् यदि जीविताभिलाषी न भवेत् असंयमजीवितं वा नाऽभिनन्देत् ततस्ते निंजास्तं साधुं (णो लब्भंतित्ति।) न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति आत्मसात्कर्तुं (ण संठवितएत्ति) नाऽपि गृहस्थभावेन संस्थापयितुमलमिति ॥१८॥ किञ्च।

सेहंति य णं ममाइणो, माया (पिया)ताय सुया य भारिया ।
पोसाहि ण पासओ तुमं, लोगपरंपि जहासि पोस णो ।१६।

ते कदाचिन्मातापित्रादयस्तमभिनवप्रव्रजितं (सेहंतित्ति) शिक्षयन्ति णमिति वाक्यालङ्कारे (ममाइणोति) ममाऽयमित्येवं स्नेहालवः । कथं शिक्षयन्तीत्यत आह पश्य नोऽस्मानत्यन्तदुः खितांस्त्वदर्थं पोषकाभावाद्वा त्वं च यथावस्थितार्थपश्यकः सूक्ष्मदर्शी सश्रुतिक इत्यर्थः । अतो नोऽस्मान् पोषय प्रतिजागरणं कुरु अन्यथा प्रव्रज्याऽभ्युपगमेनेहलोकस्त्यक्तो भवताऽस्मत्प्रतिपलनपरित्यागेन च परलोकमपि त्वं त्यजसीति दुःखितनिजप्रतिपालनेन च पुण्याबाप्तिरेवेति । तथाहि । "या गतिः क्लेशदग्धानां गृहेषु गृहमेधिनाम् । विभृतां पुत्रदारांस्तु, तां गतिं व्रज पुत्रकेति ॥१९॥ एवं तैरुपसर्गिताः केचन कातराः कदाचित् यद्यत्कुर्युरित्याह ॥

अन्ने अन्नेहि मुत्थिया, मोहं जंति णरा असंवुडा ॥
विसमं विसमेहि गाहिया, ते पावेहिं पुणो पगब्भिया ॥२०॥

अन्ये केचनाऽल्पसत्वाः अन्यैर्मातापित्रादिभिर्मूर्च्छिता अध्युपपन्नाः सम्यग्दर्शनादिव्यतिरेकेण सकलमपि शरीरादिकमन्यदित्यन्यग्रहणं ते एवम्भूताः असंवृता नराः संमोहं यान्ति सदनुष्ठाने मुह्यन्ति तथा संसारगमनैकहेतुभूतत्वात् । विषमोऽसंयमस्तं विषमैरसंयतैरुन्मार्गप्रवृत्तित्वेनापायाभीरुभिः रागद्वेषैर्वा अनादिभवाभ्यस्ततया दुश्छेद्यत्वेन विषमैर्ग्राहिता असंयमं प्रतिवर्तिताः ते चैवंभूताः पापैः कर्मभिः पुनरपि प्रवृत्ताः प्रगल्भिताः धृष्टतां गताः पापकं कर्म कुर्वन्तोऽपि न लज्जन्त इति ॥२०॥

यत एवं ततः किं कर्तव्यमित्याह।

तम्हा दविइक्खपंडिए, पावाओ विरते भिणिव्वुडे ।
पणए वीरे महाविहिं, सिद्धिपहं(णायगं) णेआउयं धुवं ॥

मातापित्रादिमूर्च्छिताः पापेषु कर्मसु प्रगल्भा भवन्ति तस्माद् द्रव्यभूतो भव्यो मुक्तिगमनयोग्यो रागद्वेषरहितो वा सन्नीक्षस्व तद्विपाकं पर्यालोचय । पण्डितः सद्विवेकयुक्तः पापात् कर्मणोऽसदनुष्ठानरूपात् विरतो निवृत्तः क्रोधादिपरित्यागाच्छन्तीभूत इत्यर्थः । तथा प्रणताः प्रह्वीभूता वीराः कर्मविदारणसमर्था महावीथिं महामार्गं तमेव विशिनष्टि सिद्धिपथं ज्ञानादिमोक्षमार्गं तथा मोक्षे प्रतिनेतारं प्रापकं ध्रुवमव्यभिचारिणमित्येतदवगम्य स एव मार्गोऽनुष्ठेयो वा सदनुष्ठानप्रगल्भैर्भाव्यमिति ॥२१॥

पुनरप्युपदेशदानपूर्वकमुपसंहरन्नाह ।

वेयालियमग्गमागउ, मणवयसाकाय (ण) संवुडो ।
विच्चा वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरेज्जसि (त्तिवेमि)

कर्मणां विदारणमार्गगतो भूत्वा तं तथाभूतं मनोवाक्कायसंवृतः पुनस्त्यक्त्वा परित्यज्य वित्तं द्रव्यं तथा ज्ञातींश्च स्वजनांश्च तथा सावद्यारम्भं च सुष्ठु संवृत इन्द्रियैः संयमानुष्ठानं चरेदिति ब्रवीमीति पूर्ववत् सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ०।

त्रिविधोपसर्गाधिसहनमधिकृत्याह ।

तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाहिया सिया ।
लोमादियं पि ण हरिसे, सुन्नागारगओ महामुणी ॥१५॥

तैरश्चाः सिंहव्याघ्रादिकृतास्तथा मानुषा अनुकूलप्रतिकूलाः सत्कारपुरस्कारदण्डकशाताडनादिजनिताः । तथा(दिव्वगाइति) व्यन्तरादिना हास्यप्रद्वेषादिजनिताः। एवं त्रिविधान प्युपसर्गानधिसहेत नोपसर्गैर्विकारं गच्छेत्। तदेव दर्शयति। लोमादिकमपि न हर्षेत् भयेन रोमोद्गममपि न कुर्यात् । यदि वा एवमुपसर्गास्त्रिविधा अपि (अहियासियत्ति) अधिसोढा भवन्ति। यदि रोमोद्गमादिकमपि न कुर्यात् । आदिग्रहणत् दृष्टिमुखविकारादिपरिग्रहः । शून्यागारगतः शून्यगृहव्यवस्थितस्य चोपलक्षणार्थत्वात् पितृवनादिस्थितो वा महामुनिर्जिनकल्पिकादिरिति ॥१५॥ किञ्च ।

णो आभिकंखेज्ज जीवियं, नो वि य पूयणपत्थए सिया ।
अब्भत्थमुविंति भेरवा, सुन्नागारगअस्स भिक्खुणो ।१६।

स तैर्भैरवैरुपसर्गैरुदीर्णैस्तोत्तुद्यमानोऽपि जीवितं नाऽभिकाङ्क्षेत जीवितनिरपेक्षेणोपसर्गः सोढव्य इति भावः । न चोपसर्गसहनद्वारेण पूजाप्रार्थकः प्रकर्षाभिलाषी स्यात् भवेत् । एवं च जीवितपूजानिरपेक्षेणासकृत् सम्यक् सह्यमाना भैरवा भयानकाः शिवाः पिशाचादयोऽभ्यस्तभावं स्वात्मन उप सामीप्येन यन्ति गच्छन्ति तत्सहनाच्च भिक्षोः शून्यागारगतस्य नीराजितवारणस्येव शीतोष्णादिजनिता उपसर्गाः सुसहा एव भवन्तीति भावः। सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ०। "उवसग्गेहि पासित्ता आमोक्खाए परिवएज्जाए " उपसर्गाननुकूलप्रतिकूलान् सम्यगधिसह्यामोक्षाय मोक्षपर्यन्तं यावत् परि समन्ताद्व्रजेत् संयमानुष्ठानेन गच्छेत्। सूत्र०१ श्रु०३ अ०४ उ०। (उपसग्गगब्भहरणमिति आश्चर्यभेदत्वोपसर्गनिरूपणम् अच्छेर शब्दे उक्तम्) रोगविकारे, शुभाशुभसूचके दिव्यादिविकाररूपे उत्पाते, वाच०।

उवसग्गकप्पट्ठि स्त्री० (उपसर्गकल्पस्था) उपसर्ग एव कल्पस्था श्यातरदुहितृकपिलचेल्लकानां लोभाच्छय्यातरकल्पस्थामुपसर्गकरणे, " उवसग्गेति " उवसग्ग एव कप्पट्ठी सेज्जायरधूआ कविलचेल्लगो लोभा सेज्जायरकप्पट्ठीए उपसग्गं करोतीत्यर्थः १ नि०चू० १ उ०।

उवसग्गतितिक्खा स्त्री० (उपसर्गतितिक्षा) उप सामीप्येन सर्ज-

नात् उपसृज्यते एभिरिति वा उपसर्गाः ते च दिव्यमानुषतैरश्चात्मसंवदनभेदतश्चतुःप्रकाराः प्रत्येकमपि ते स्युश्चतुर्विधाः "हास्याद् द्वेषाद्विमर्शाच्च, तन्मिश्रत्वाच्च दैवतः । हास्याद्द्वेषाद् विमर्शाद्दुःशीलसङ्गाच्च मानुषाः ।२ तैरश्चास्तु भयक्रोधाहारा पत्यादिरक्षणात् । घट्टनस्तम्भनश्लेषप्रपातादात्मवेदनाः । ३ यद्वा वातपित्तकफसन्निपातोद्भवा इति तेषां तितिक्षा सहनम् । उपसर्गसहने ध० ३ अधि ० । "अतीचारालोचनेन प्रायश्चित्तविधेयता । उपसर्गतितिक्षा च परीषहजयस्तथा" ध० ३अधि ० ।

उवसग्गपत्त त्रि० (उपसर्गप्राप्त) उपद्रवं प्राप्ते, स्था०५ ठा०२ उ०।

उपसर्गप्राप्तस्य ग्रहणं कल्पते।

(सूत्रम्) उपसग्गपत्तभिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पेइ तस्स गणावच्छेदितस्स निज्जूहित्तए। अगिलाए करणिज्जं वेयावडियं जाव रोगातंकातो विप्पमुक्के ततो प्पमुक्के ततो पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया इति।

श्रथास्य सूत्रस्य कः संबन्धः।

मोहेण पित्ततो वा, आयासंचेततो समक्खातो।
एसो उ उवस्सग्गो, इमो उ अण्णो परसमुत्थो ॥

मोहेन मोहनीयोदयेन वेदोदयेनेत्यर्थः पित्ततो वा पित्तोदयेनेत्यर्थ उन्मत्तः स आत्मसञ्चेतकः आत्मनैवात्मनो दुःखोत्पादकः समाख्यातः यच्चात्मैवात्मनो दुःखोत्पादनमेष आत्मसंचेतनीय उपसर्गः ततः पूर्वमात्मसंचेतनीयः उपसर्ग उत्कृष्टत उपसर्गाधिकारादयमन्यः परसमुत्थ उपसर्गोऽनेन प्रतिपाद्यते इत्यनेने संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। सा च प्राग्वत्। तत्रो– पसर्गप्रतिपादनार्थमाह।

तिविहो य उवस्सग्गो, दिव्वो माणुस्सितो तिरिच्छो य।
दिव्वो उ पुव्वभणितो, माणुसतिरिए अतो वुच्छं ॥

त्रिविधः वलु परसमुत्थ उपसर्गः । तद्यथा दैवो मानुषिकस्तैरश्चश्च तत्र दैवो देवकृतः पूर्वमनन्तरसूत्रस्याधस्तात्भणितः।

अतो मानुषं तैरश्चं च वक्ष्ये। प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति।

विज्जाए मंतेण व, चुण्णेण व जोइतो अणप्पवसो।
अणुसासणालिहावण, खमए महुरातिरिक्खादी ॥

विद्यया वा मन्त्रेण वा चूर्णेन वा योजितः संबन्धितः सन् कश्चिदनात्मवशो भूयात् तत्रानुशासनेति। यथा रूपलब्ध्या विद्यादिप्रयोजितं तस्यानुशासनाऽपि क्रियते। तथा तपस्वी एष न वर्तते तावत्त प्रतीदृशं कर्तुम् एवं करणे हि प्रभूतपापोपचयसंभव इत्यादि। अथैवमनुशासिताऽपि न विवर्तते तर्हि तस्यास्तं प्रति प्रतिविद्यया विद्वेषणमत्पाद्यते। अथ सा नास्ति तादृशी प्रतिविद्या तर्हि (लिहावणत्ति) शून्येऽसागारिकं विद्याप्रयोगतस्तस्य पुरत आलेखाप्यते। येन स तत् दृष्ट्वा तस्याः सागारिकमिदमतिवीभत्समिति जानानो विरागमुपपद्यते। एष मानुषिक उपसर्गः (खमगे महुरा इति) मथुरायां श्रमणीप्रभृतीनां मानुष उपसर्गोऽभूत् तं क्षपको निवारितवान्। एषोऽपि मानुष उपसर्गः। तैरश्चमाह (तिरिक्खा इति) तिर्यञ्चो ग्रामेयकाआरण्यका वा श्रमणादीनाभुपसर्गान् कुर्वन्ति यथाशक्तिनिराकर्तव्याः। सांप्रतमेनामेव गाथां विपरीषुराह।

विज्जामंते चुणे, अभिजोइयवोहियादिगहिए वा।
अणुसासणालिहावणमहुराखमकादि व वलेण ॥

विद्यामन्त्रेण चूर्णेन वा अभियोजितो बोधिकाः स्तेना आदिशब्दात् म्लेच्छादिपरिग्रहस्तैर्वा गृहीते यया विद्यादि योजितं तस्याः प्रागुक्तप्रकारेणानुशासना क्रियते। तथा प्रतिविद्याप्रयोगतस्तं प्रति च द्वेषणमुत्पाद्यते । तस्याभावे पूर्वप्रकारेण लिखापनं कार्यते बोधिकादिगृहीते पुनः मथुराक्षपकादिनेव बलेन यथा शक्तिबोधिकादेर्निवारणं कर्त्तव्यं विद्याद्यभियोगमेव भेदतः प्रति पादयति।

विज्जादभि ओगो पुण, दुविहो माणुस्सितो य दिव्वो य।
तं पुण जाणंति कहं, जइ नामं गेण्हिए तेसिं ॥

विद्यादिभिरभियोगोऽभियुज्यमानता पुनर्द्विविधो द्विप्रकारस्तथा मानुषिको दैवश्च। तत्र मनुष्येण कृतो मानुषिको देवस्यायं तेन कृतत्वाद्दैवः तत्र देवकृतो विद्यादिभिरभियोग एष एव यत्तस्मिन् दूरस्थितेऽपि तत्प्रभावात्स तथारूप उन्मत्तो जायते । अथ तं विद्याद्यभियोग दैवं मानुषिकं वा कंथं जानन्ति सूरिराह। तयोर्देवमनुष्ययोर्मध्ये यस्य नाम गृह्णति तत्कृतः सविद्याद्यभियोगो ज्ञेयः।

साम्प्रतमणुसासणालिहावणेत्येतद्व्याख्यानयति॥

अणुसासियम्मि य ठिए, विद्देसं दें ति तह विय अतिट्ठंते।
जक्खीए कोवीणं, तस्स उ पुरओ लिहावें ति ॥

येन सामान्यतः स्त्रिया पुरुषेण वा विद्याद्यभियोजितं तस्यानुशसना क्रियते। अनुशासितेऽप्यतिष्ठति विद्याप्रयोगतस्तं विवक्षितं साधुं प्रति तस्य विद्याद्यभियोक्तुर्विद्वेषं ददत्युत्पादयन्ति वरवृषभाः तथाऽपि च तस्मिन्नतिष्ठन्ति जक्ष्याः शून्याः कौपीनं तस्य पुरतो विद्याप्रयोगतो लेखापयन्ति । येन स तद्दृष्ट्वा तस्या इदं सागारिकमिति जानतो विरज्यते। सम्प्रति विद्याप्रयोगे दृढादरताख्यापनार्थमाह।

विसस्स विसमेवे य, ओसहं अग्गिमग्गिणो।
मंतस्स पडिमंतो उ, दुज्जणस्स विवज्जणा ॥

विषस्यौषधं विषमेव अन्यथा विषानिवृत्तेः । एवमग्निभूतादियुक्तस्यौषधमग्निः, मन्त्रास्य प्रतिमन्त्रो, दुर्जनस्यौषधं विवर्जना तद्ग्रामनगरपरित्यागेन परित्यागः । ततो विद्याद्यभियोगसाधुसाध्वीरक्षणार्थं प्रतिविद्यादिप्रयोक्तव्यमिति ॥

जति पुण होज्ज गिलाणो, निरुज्झमाणो ततो तिगिच्छं से।
संवरियमसंवरिया, उवालभंते निसिं वसभा ॥

यदि पुनर्विद्याद्यभियोजितस्तदाभिमुखं गच्छन् निरुध्यमानो ग्लानो भवति ततः (से) तस्य साधोश्चिकित्सां संवृता केनाऽप्यलक्ष्यमाणां कुर्वन्ति। तथा असंवृताजाया विद्याद्यभियोजितं तस्याः प्रत्यक्षीभूय निशि रात्रौ तामुपालभन्ते । भेषयन्ति च तावत् यावत् सा मुञ्चतीति । "खमएमदुरत्ति" अस्य व्याख्यानमाह।

धूममहेसड्ढिसमणी, बोहियहरणं च निवसुया जाव।
मज्झेण य अक्कंदे, कयम्मि जुद्धेण मोएति ॥

महुराए नयरीए धुभो देवनिम्मितो तस्स महिमानिमित्तं ड्ढीतो समणीहिं समं निग्गया। तो रायपुत्तो य तत्थ अदूरे आयावंतो चेड्ढेइ ततो सड्ढी समणीतो बोहिएहिं गहियातो

तेणं आणीया ते वोहितं साहुं दट्ठुं अक्कंदो कतो तत्तो रायपुत्तेण साहुणा जुद्धं दाऊण मोइयातो। अक्षरगमनिका त्वियं पश्य महे महोत्सवे श्राद्धिकाः श्रमणीभिः सह निर्गतास्तासां बोधिकैश्चौरैर्हरणं नृपसुतश्च तत्रादूरे अतापयति। बोधिकैश्च तास्तस्य सध्येन नीयन्ते। ताभिश्च तं दृष्ट्वा आक्रन्दे कृते स युद्धेन स्तेनेभ्यस्ता मोचयति। उक्तो मानुषिकः उपसर्गः। संप्रति तैरश्चमाह।

गामेणारण्णेण व, अभिभूयं संजयं तु तिरिएणं।
लद्धं पकंपिया वा, रक्खेज्ज अरक्खणे गुरुगा॥

ग्रामेनारण्येन वा अभिभूतमापादिताभिभवं संयतं च यदि वा लब्धं तद्भयात् स्तम्भीभूतं प्रकम्पितं वा तद्भयतः कथं कम्पमानशरीरं रक्षेत्। यदि पुनर्न रक्षति सत्यपि बले ततोऽरक्षणे प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुका मासाः। व्य० प्र० २ उ०।

उवसग्गपरिण्णा स्त्री० (उपसर्गपरिज्ञा) "घडणजयणा य तेसिं एत्तो वोच्छेय अहिगारो" तेषां उपसर्गशब्ददर्शितषोडशविधानामुपसर्गाणां यथा घटना सम्बन्धप्राप्तिः प्राप्तानां चाऽधिसहनं प्रतियातना भवति तथाऽत ऊर्द्धमध्ययनेन वक्ष्यत इत्ययमत्राधिकार इतीत्येवं लक्षणे सूत्रकृताङ्गस्य तृतीयेऽध्ययने, सूत्र०१ श्रु० २ अ० १ उ०। (यथा तत्र दर्शितं तथा दर्शितमुवसग्गशब्दे)

उवसग्गसह त्रि० (उपसर्गसह) दिव्याद्युपद्रवसोढरि, "वोसट्ठ चत्तरेहो, उवसग्गसहो जहेव जिणकप्पा" पंचा०१८ विव०। (जिणकप्पशब्दे जिनकल्पिकस्य उपसर्गसहत्वं व्याख्यास्यामि) संप्रति ये व्युत्सृष्टग्रहणेनात्मसञ्चेतनीया गृहीतास्तानुपदर्शयति।

घट्टणपवड णथंभण, लेसण चउहा उ आयवेसंया।
ते पुण सन्निवथंती, चोसट्ठदारे न इहं तु॥

चतुर्भिरात्मना सचिन्त्यन्ते ये ते इत्यात्मसंचेत्यास्तद्यथा घट्टनतः प्रपतनतस्तम्भनतः श्लेष्मतश्च। तत्र घट्टनतो यथा चक्षुषि रजःप्रविष्टं तेन च चक्षुर्दुःखटितुमारब्धमथवा स्वयमेव चक्षुषि गलके वा किञ्चित्तु खीलप्रभृति समुत्थितं घट्टयति। प्रपतनतो यथा मन्दप्रयत्नेन चङ्क्रम्यमाणप्रतिपततो दुःखाप्यते स्तम्भनेन यथा तावदुपविष्ट आस्ते यावत्पादसुप्तस्तब्धो जातः श्लेषणतो यथा पादं तावदाकुञ्च्यावस्थितो यावत्तत्रा यातेन लग्नः अथवा नृत्तं शिक्षयामीति किंचिदङ्गमप्यतिशयेन नामितं तच्च तत्रैव लग्नमिति ते पुनरात्मसंचेतनीया व्युत्कृष्टद्वारे निपतन्ति न इह। "ते उप्पन्ने सम्मं, सहत्ति, खमइ त्ति, तिक्खइ, अहियासे" इति चत्वार्यप्येकार्थिकानि पदानि। तत्र सम्यक् सहनमाह।

मणवयणकायजोगेहिं, तहि उ दिव्वमादिए तिन्नि।
सम्मं अहियासेइ, तत्थ उ सुण्हा पदिट्ठंतो॥

त्रिभिर्मनोवाक्काययोगैः प्रत्येकं दिव्यादीन् त्रीनुपसर्गान् प्रत्येकं चतुर्भेदान् सम्यगध्यास्ते सहते तत्र सहनं द्विधा द्रव्यतो भावतश्च तत्र द्रव्यस्य हाने स्नुषाद्या दृष्टान्तस्तमेवाह।

सासूससुकोसोदेवरभत्तारमादिमज्झिमगा।
दोसादी य जहण्णा, जह सुण्हा सहियउवसग्गा॥

श्वशुरः श्वश्रूश्चैतावुत्कृष्टौ पूज्यत्वाद्देवरभर्तृका मध्यमा दोसो जघन्या यथा तत्कृता उपसर्गाः स्नुषायाः सोढास्तथा साधुनाऽपि सोढव्याः। इयमत्र भावना स्नुषया अपराधे कृते तां श्वशुरः श्वश्रूश्च हीलयति सा च हील्यमाना अतीव लज्जते यद्यपि तानि दुःखोत्पादनानि वचनानि दुरध्यास्यानि तथाऽपि सा तानि सम्यगध्यास्ते चिन्तयति च न सम्यक् अभ्यासिष्ये ततः कुत्र याम अवध्वंसो भविष्यति स्नुषाचारश्चापयास्यति देवरा अपि चोल्लुण्ठवचनानि भाषन्ते यद्यपि तेषां सा नो लज्जते तथाऽपि न तानुल्लुण्ठति किं तु सम्यक् तद्वचनान्यध्यास्ते दासा अपि तांस्नुषामुल्लुण्ठयन्ति तथाऽपि किं किं तेषां वचनान्यहं गणयामीत्यवगणनया सम्यगध्यास्तेन प्रतिवचनं ददाति। एतत्तद्द्रव्यसहनं यत्साधुर्द्वादशविधानप्युपसर्गान् कर्म्मविनिर्ज्जरणार्थं सम्यगध्यास्त एतदेवाह।

सासुससुरोवमा खलु, दिव्वादिपरोवमा य मणुस्सा।
दासत्थाणी तिरिया, तह सम्मसोहिया सोए।

तथा वधूदृष्टान्तोक्तप्रकारेण श्वश्रूःश्वशूरोपमान् दिव्यान् उपसर्गान् देवरोपमान् मानुषान् उपसर्गान दासस्थनीयान् तैरश्चान् उपसर्गान्सम्यगध्यास्ते।

संप्रति दुविहे वेत्यस्य व्याख्यानार्थमाह।

दुहा वेते समासेणं, सव्वे सामण्णकंटगा।
विसयाणुलोमिया चेव, तहेव पडिलोमिया॥

अस्य वा एते उपसर्गाश्रामण्यस्य कण्टका इव श्रामण्यकण्टकाः सर्वे समासेन द्विधा प्रतिपादितास्तद्यथा विषयानुलोमिका इन्द्रियविषयानुलोमिका इन्द्रियविषयमप्रतिलोमिकास्तानेव दर्शयति।

वंदणसक्कारादी, अणुलोमा बंधवहणपडिलोमा।
ते वि य खमता सव्वे, पत्थं रुक्खेण दिट्ठंतो॥

वन्दनसत्कारादयोऽनुलोमाः बन्धवधप्रभृतयः प्रतिलोमास्तानपि सर्वान् क्षमते अअ वृक्षेण दृष्टान्तस्तमेवाह।

वासीचंदणकप्पे, जह रुक्खाइ य सुहदुहसमो उ।
रागद्देसविमुत्तो, सहई अणुलोमपडिलोमा।

वासीचन्दनकल्पो यस्य स वासीचन्दनकल्पोऽथवा कल्पस्तुल्यवाची ततोऽयमर्थो वास्यां वास्यालक्षणे चन्दनेनानुलेपनेन कल्पस्तुल्यो वासीचन्दनकल्पो यथा वृक्षो भवति इत्येवममुना प्रकारेण रागद्वेषविमुक्तोऽत एव सुखदुःखसमोऽनुलोमप्रतिलोमान् उपसर्गान् सम्यक् सहते॥ व्य० द्वि०७ उ०।

उवसग्गाभिउंजण न० (उपसर्गाभियोजन) उपसर्गा दिव्यादयस्तैरभियोजनम् उपसर्गाभियोजनम्। अभिभवकायोत्सर्गे, दिव्याद्यभिभूत एव महामुनिस्तदेवायं करोतीति हृदयम्। उपसर्गाणामभियोजनम्। सोढव्या भयोपसर्गास्तद्भयं न कार्य्यमित्येवंभूते कायोत्सर्गे, 'उवसग्गाभिउं जणे वीओ' आव०५ अ०।

उवसज्जण न० (उपसर्जन) उप० सृज० ल्युट्। दैवाद्युपद्रवे, वाच०। अप्रधानभूते गौणे विशेषणे, विशे०।

उपसत्त त्रि० (उपसक्त) विशेषेण सक्तिमति, उत्त० ३२ अ०।

उवसद्द न० (उपशब्द)सुरतावस्थायां बलवलायमानादिषु, तं०।

उपसम पुं० (उपशम) उपशान्तिरुपशमः। श्रा०। अपराधविधायिन्यपि कोपपरिवर्जने, स च कस्यचित्कषायपरिणतेः कटुकफलावलोकनाद्भवति। कस्यचित्पुनः प्रकृत्यैवेति। प्रव० १४८ द्वा०। आचा०। संस्था०। क्रोधादिनिग्रहे, आ०म० द्वि०। "उवसमेणहणे कोहं" उपशमेन क्षान्तिरूपेण द०८ अ०। आचा० माध्यस्थ्यपरिणमे,। आव०६ अ०। शान्तावस्थाने, आव०१ अ०। इन्द्रियोपशमरूपे रागद्वेषभावजनिते (सूत्र०२श्रु०१ अ०) शमे, आचा०। स च द्वेधा द्रव्यभावसेदात्तत्र

द्रव्योपशमः कतकपालापाद्यादितः कलुषजलादेः भावोपशमस्तु ज्ञानादित्रयात्। तत्र यो येन ज्ञानेनोपशम्यति स ज्ञानोपशमस्तद्यथा क्षेपण्याद्यन्यतरया धर्म्मकथया कश्चिदुपशाम्यतीत्यादि, दर्शनोपशमस्तु यो हि शुद्धेन सम्यग्दर्शनेनापरमुपशमयति यथा श्रेणिकेनाश्रद्दधानो देवः प्रतिबोधित इति दर्शनप्रभावकैर्वा सम्मत्यादिभिः कश्चिदुपशाम्यति। चारित्रोपशमस्तु क्रोधाद्युपशमो विनयनम्रतेति।

पण्णाणमुवलब्भ हेच्चा उवसमं फारुसियं समादियंति

त्यक्तवो पशमं तत्र केचन क्षुद्रका ज्ञानोदन्वतोऽद्याप्युपर्येव प्लवमा नास्तमेवम्भूतमुपशमं त्यक्तवा ज्ञानलवोत्तम्भितगर्वा ध्माताः पौरुष्यं परुषतां समाददति गृण्हन्ति तद्यथा परस्परगुणनिकायां मीमांसायां वा एकोऽपरमाह त्वन्न जानीषे न चैषां शब्दानामयमर्थो यो भवताऽभाणि। अपि च कश्चिदेव मादृशः शब्दार्थनिर्णयायालं न सर्वं इत्युक्तं च पृष्टा गुरवः स्वयमपि परीक्षितं निश्चितं पुनरिदं न वादिनि च मल्लमुख्ये च मादृगेवाऽन्यतरं गच्छेत् द्वितीयस्त्वाह नन्वस्मदाचार्या एवमाज्ञापयन्तीत्युक्ते पुनराह सोऽपि वा कुण्ठो बुद्धिविकलः किं जानीते त्वमपि च शुकवत्पाठितः निरूहापोह इत्यादीन्यन्यान्यपि दुर्गृहीतकतिचिदक्षरो महोपशमकारणं ज्ञानं विपरीततामापादयन् स्वौद्धत्यमाविर्भावयन् भाषते उक्तञ्च अन्यैस्वेच्छारचितानर्थविशेषान् श्रमेण वि ज्ञाय कृत्स्नं वाङ्मयमिति खादत्यङ्गानि दर्पेण क्रीडतकमीश्वराणां कुक्कुटलावकसमानवल्लभ्यः शास्त्राण्यपि हास्यकथां लघुतां वा क्षुल्लको नयतीत्यादि पाठान्तरं वा "हेच्चा उवसमं च एगे फारुसियं समारुहंति" त्यक्त्वोपशमथानन्तरं बहुश्रुतीभूता एके न सर्व्वे परुषतामालम्बते ततश्चालप्ताः शब्दिता वा तूष्णींभावं भजन्ते हुंकारशिरःकम्पनादिना वा प्रतिवचनं ददति १ श्रु ६ अ०४ उ० (कलहोपशमे गुणा अहिगरणशब्दे उक्ताः) विष्कम्भितोदयत्वे, उक्त०१ अ०। विपाकोदयविष्कम्भे, ।न०। उदयविधाय उवसमो अनुदितस्योदयविधाने, विशे० मोहनीयकर्मणोऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदभिन्नस्योपमश्रेणि प्रतिपन्नस्य मोहनीयभेदाननन्तानुबन्ध्यादीनुपशमयति (इति) उदयभावे स्था० ६ ठा०॥ मिथ्यात्वमोहनीये कर्मणि, उदीर्य्ये, क्षीणे, शेषस्यानुदयापादने, विशे०। क्षयोपशमादेर्भेदः। अथ प्रेरको भणति ननु क्षयोपशमोपशमयोः कः किल विशेषः। सूरिराह ननु उदीर्ण उदयप्राप्ते कर्म्मणि क्षीणे शेषे चानुदीर्णे उपशान्ति सति क्षयोपशमोऽनिधियत इति। प्रेरकः प्राह।

सो चेव णणूवसमो, उदए खीणम्मि सेसए समिए।
सुहुमोदयता मीसे, ननूपसमिए विसेसो यं॥

ननूपशमोऽप्ययमेव यः किमित्याह। यः उदिते कर्माणि क्षीणोऽनुदितेऽनुपशान्तो भवति अत्रोत्तरमाह। ननु मिश्रे क्षयोपशमे सूक्ष्मोदयता अस्ति प्रदेशोदयेन सत्कर्मवेदनमस्तीत्यर्थः। उपशमिते तु कर्माणि तदपि नास्तीत्ययमनयोर्विशेष इति एतदेवाह।

वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएसु नाणुभावं सो।
उवसंतकसाणो पुण, वेएइ न संतकम्मा पि॥

स क्षयोपशमावस्थाकषायवान् जीवः क्षयोपशमिकेष्वनन्तानुबन्ध्यादिषु तत्संबन्धे सत्कर्मानुभवति प्रदेशकर्म वेदयति न पुनरनुभावं विपाकतस्तु तान्न वेदयतीत्यर्थः। उपशान्तकषावस्तु सत्कर्मापि न वेदयतीति क्षयोपशमोपशमयोर्विशेष इति। विशे० पं०सं०।उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थापने, प्रव०२२४ द्वा०। उपशमश्रेणौ, कल्प०। पञ्चदशे दिवसे, चं०१ पाहु०। जो०। जं०। स०। विंशतितमे मुहूर्ते, जं० ७ वक्ष०। जो०। कल्प०। तृष्णानाशे, रोगोपद्रवशान्तौ निवृत्तौ च। वाच०।

उवसमग पुं० (उपशमक) उपशमश्रेण्यन्तर्गतेष्वपूर्वकरणादिषु, उपशान्तमोहान्तेषु, उपशमश्रेण्यां रूढेषु अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायेषु, पं० सं०२ द्वा०। स०।

उवसमण न० (उपशमन) उप शम भावे-ल्युट्-उपशमार्थे, "उवसमणाए अहिगरणस्स अब्भुट्ठा एव्वं भवति" स्था०४ठा०।

उवसमणा स्त्री० (उपशमना) उदयोदीरणानिधत्तनिकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते कर्म यया सा उपशमना। क०प्र०। पं०सं०। उदयोदीरणानिधत्तनिकाचनाकरणानामयोग्यत्वेन कर्मणोऽस्थापने, उक्तं च "उव्वट्टणओवट्टणसंकमणाइं च तत्थ करणाइंति"। अष्टानां करणानां षष्ठं करणमेतत्। स्था०४ठा० २ उ०। संप्रति उपशमनाप्रतिपादनार्थमाह। अवसरस्तत्र चैतेऽधिकाराः तद्यथा प्रथमं सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा, सर्वविरतिलाभप्ररूपणा, अनन्तानुबन्धिविसंयोजना, दर्शनमोहनीयक्षपणा, दर्शनमोहनीयोपशमना, चारित्रमोहनीयोपशमना पुनः सप्रभेदेति। तत्र वेदमुपशान्तमुपशमनाकरणम् प्रभेदं सर्वात्मना व्याख्यातुमशक्यं ततो यत्रांशे व्याख्यातुमात्मनोऽशक्तिस्त्रांशे तद्धेतुश्रोतृणामाचार्यो नमस्कारं चिकीर्षुराह।

करणकया अकरणकया, चउव्विहा उवसमणा विईयाए।
अकरणअणुइन्नाए, अणुओगधरे पणिवयामि॥३१४॥

इह द्विविधा उपशमना करणकृता अकरणकृता च तत्र करणंक्रिया यथा प्रवृत्तिपूर्वकनिवृत्तिकरणसाध्यक्रिया विशेषः तेन कृता करणकृता तद्विपरीता अकरणकृता च या संसारिणां जीवानां गिरिनदीपाषाणवृत्तितादिभिः संभववत् प्रवृत्तादिकरणक्रियाविशेषमन्तरेणापि वेदनानुभवनादिभिः कारणैरुपशमनोपजायते सा अकरणकृतेत्यर्थः। इदं च करणकृताकरणकृतत्वरूपं द्वैविध्यं देशोपशमनाया एव द्रष्टव्यं न सर्वोपशमानुकरणकृताया वेति। अस्याश्चाकरणकृतोपशमनाया नामधेयद्वयं तद्यथा अकरणोपशमना अकृतोपशमना च तस्याश्च संप्रत्यनुयोगो व्यवच्छिन्नस्तत आचार्यः स्वयं तस्यानुयोगमजानानस्तद्वेदिनृणां विशिष्टमतिप्रभाकलिकचतुर्दशवेदिनां नमस्कारमाह। (विईयाए इत्यादि) द्वितीया अकरणकृता तृतीयाया उपशमनाया एव द्रष्टव्यं न सर्वोपशमनानुकरणकृतेवेति। अस्याश्चाकरणकृतोपशमनाया अनुयोगधरान् प्रणिपतामि तेषु प्रतिपातं करोमि तस्मादिह करणकृतोपशमनाया अधिकरः साऽपि च द्विधा वैक्रियद्वैविध्यमेवाह।

सव्वस्स य देसस्स य, करणमुवसमनदुन्नि एक्केक्का।
सव्वस्स गुणपसत्था, देसस्स वि तासि विवरीआ॥३१५॥

सा करणकृतोपशमना द्विविधा सर्वस्य विषये देशस्य विषये च सर्वविषया देशविषया चेत्यर्थः। एकैकस्याश्च द्वे द्वे नामधेये तद्यथा सर्वस्योपशमनाया गुणोपशमना प्रशस्तविहायोगतिशमना।क०प्र०।

देसुवसमणा सव्वाण, दोइ सव्वोवसामणा मोहो।
अपसत्थपसत्था जा, करणावसमणाए अहिगारो॥

इह द्विधा उपशमना तद्यथा देशोपशमना सर्वोपशमना च। तत्र देशोपशमना सर्वेषामपि कर्मणां भवति। सर्वोपशमना तु मोहे मोनीयस्यैव देशोपशमनायाश्चामून्येकार्थिकानि तद्यथा देशोपशमना अनुदयोपशमना अगुणोपशमना अप्रशस्तोपशमना च। सर्वोपशमनाया-स्त्वमूनि तद्यथा सर्वोपशमना उदयोपशमना गुणोपशमना प्रशस्तोपशमना च। तत्र देशोपशमना द्विध कारणकृता कारणरहिता च। सर्वोपशमना तु कारणकृतैव कारणानि यथाप्रवृत्तापूर्वानिवृत्तिसंज्ञानि तैः कृता तद्विपरीता कारणरहिता या संसारिणां जीवानां गिरिनदीपाषाणवृत्तितादिसम्भवयन् यथा–प्रवृत्तादिकारणासाध्य-क्रियाविशेषमन्तरेणापि वेदनानुभवनादिभिः कारणैरुपजायते। तस्याश्च संप्रत्यनुयोगव्यवच्छित्तिस्ते द्वे नृणामभावात् ततोऽप्रशस्ता च या करणोपशमना तयोरधिकारः प्रथमतः सर्वोपशमना वाच्या तत्र चैतेऽर्थाधिकारास्तद्यथा सम्यक्तवोत्पादप्ररूपणा देशविरतिलाभ-प्ररूपणा सर्वविरतिलाभप्ररूपणा अनन्तानुबन्धे विसंयोजना दर्शनमोहनीयक्षपणा दर्शन मोहनीयोपशमना चरित्रमोहनीयोपशमा च। पं०सं०।

तत्रादौ सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणार्थमाह।

सव्वुवसमणा मोहस्सेव, तस्स सव्वुवसमक्रियाजोग्गो।
पंचिंदिओवसन्ना, पज्जत्तो लद्धितिगजुत्तो ॥३१६॥
पुव्वं पि विसुज्झंतो, गंठिअसत्ताण इक्कमिय सोहि।
अन्नयरे सागारो, जोगे य विसुद्धिलेसासु ॥३१७॥
ठिइसत्तकम्पअत्तो, कोडी कोडी करेत्तु सत्तण्हं।
दुट्ठाणचउट्ठाणे, असुभसुभाणं च अणुभागं ॥३१८॥
बंधंतो धुवपगडी, भवपाउग्गा सुभ अणाओ य।
जोगवसायएसंको, उक्कोसं मज्झिमजहण्हं ॥३१९॥
ठिई य बंधवद्धा पूरे, नवबंधपल्लसंखभागूणं।
असुभाणसुभाणुभागं अणंतगुणहाणिवड्ढीहिं ॥१२०॥
करणं अहापवत्तं, अपुव्वकरणमनियट्टिकरणं च।
अंतोमुहूत्तयाइं, उवसंतद्धं चउहिं कमेण ।३२१।

इह सर्वोपशमना मोहस्यैव मोहनीयस्यैव शेषाणां तु कर्मणां देशोपशमना तत्र तस्य मोहनीयस्य सर्वोपशमनाक्रियायोग्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इत्येवं लब्धित्रिकयुक्तः पञ्चेन्द्रिय–त्वसंज्ञित्वप-र्याप्तित्वरूपाभिस्तिसृभिः लब्धिभिर्युक्तः अथवा उपशमलब्ध्युपशम-श्रेणिश्रवणलब्धिकरणत्रयहेतुप्रकृष्टयोगलब्धिरूपत्रिकयुक्तः करणकालात् पूर्वमपि अन्तर्मुहूर्त्तकालं यावत् प्रतिसमयमनन्तगुण-वृद्ध्यादिभिर्विशुध्यमानोऽवदायमानचित्तसन्ततिः ग्रन्थकसत्वा-नाभव्यसिद्धकानां या विशोधिस्तामतिक्रम्य वर्त्तमानः ततोऽनन्तगुण-विशुद्ध इत्यर्थः। तथा अन्यतरस्मिन् मतिश्रुतज्ञानावरणविभङ्गज्ञानाना-मन्यतरस्मिन् साकारे साकारोपयोगे वाऽन्यतरस्मिन् मनोयोगे वाग्योगे काययोगे वा वर्त्तमानस्तिसृणां विशुद्धानां लेश्यानामन्यतमस्यां लेश्यायां जघन्येन तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां वर्तमानो जघन्येन तेजोलेश्या तथा आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां स्थितिबंतः सागरोपमकोटाकोटीप्रमाणां कृत्वा अशुभानां कर्मणामनुभागं चतुःस्थानकं द्विस्थानकं करोति शुभानां च कर्मणां द्विस्थानकं सततं चतुःस्थानकं करोति ध्रुवतया प्रकृतीः पञ्चविधज्ञानावरणनवविधदर्शनावरणमिथ्यात्वषोडशकषायभय-जुगुप्सातैजसकार्मणवर्णगन्धरसस्पर्शाःगुरुलघूपघातिनिर्माण पञ्चविधान्तरायरूपाः सप्तचत्वारिंशत्संख्या बध्नन् परावर्त्तमानाः स्वस्वभावप्रायोग्याः प्रकृतिः शुभा एव बध्नाति ता अप्यायुर्वर्जाः अतीव विशुद्धिपरिणामो हि नायुर्बन्धमारभत इति कृत्वा तद्वर्जनं भवप्रायोग्या इति वचनाच्चैतदगन्तव्यम्। यदुत तिर्यङ्मनुष्यो वा प्रथमसम्यक्त्वमु-त्पादयन् देवगतिप्रायोग्याःशुभाः प्रकृतीर्देवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चे-न्द्रियजातिवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थानपरा-घातोच्छ्वास-प्रशस्तविहायोगतित्रसादिदशकसातवेदनीयोच्चैर्गोत्ररूपा एकविंशतिसंख्या बध्नाति देवो नैरयिको वा प्रथम समये सम्यक्तवमुत्पा-दयन् मनुजगतौ प्रायोग्या मनुजगतिमनुजानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसंस्थानप्रथमसंहननौदारिकशरीरौदारिकाङ्गो-पाङ्गपराघातोच्छवासप्रशस्तविहायोगतित्रसादिदशकसात-वेदनियोच्चैर्गोत्ररूपा द्वाविंशतिसंख्या न बध्नाति केवलं यदि सप्तमनरकपृथ्वीनारकः प्रथमस्य सम्यक्त्वमुत्पादयति ततः तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीनीचैर्गोत्राणि वक्तव्यानि शेषं तदेव तथा बध्यमानप्रकृतीनां स्थितिं बध्नाति अन्तः सागरो–पमकोटाकोटी-प्रमाणामेव नाधिकां योगवशाच्च प्रदेशाग्रमुत्कृष्टमध्यमजघन्यं च बध्नाति तथा हि जघन्ययोगे वर्त्तमानो जघन्यं प्रदेशाअं बन्धाति मध्यमे मध्यममुत्कृष्टे तूत्कृष्टमिति। स्थितिबन्धेऽपि चूर्णे सत्यन्यं स्थितिबन्धं प्राक्तनस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमं संख्येयभागन्यूनं करोति तस्मिन्नपि च परिपूर्णे सति अन्यं स्थितिबन्धं पल्पोपमासंख्येयभागन्यूनं करोति एवमन्यमन्यं स्थितिबन्धपूर्वपूर्वापेक्षया पल्योपमासंख्येयभागन्यूनं करोति अशुभानां च प्रकृती नां बध्यमानानामनुभागं द्विकस्थानकं बध्नाति तमपि प्रति समयमनन्तगुणहीनं शुभानां चतुःस्थानकं बध्नाति तमपि प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धिमेवमसौ कुर्वन् किं करोति इत्यत आह। करणमित्यादि) करणं यथाप्रवृत्तं करोति ततोऽनिवृत्तिकरणमिति परिणामविशेषकरणं "परिणामोत्तेत्ति" वचनप्रामाण्यात् एतानि च त्रीण्यपि करणानि च प्रत्येकमन्तर्मौहुर्त्तिकानि सर्वेषामपि करणानां कालोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्ततोऽनेन क्रमेण चतुर्थीमुपशान्ताद्धां लभते साऽपि **चान्तर्मुहूर्तिकी**। क०प्र०।

सम्प्रति करणानामेव स्वरूपमाविश्चिकीर्षुराह॥

आइल्लेसुं दोसुं, जहन्न उक्कोसिया भवे सोही।
जो पइसमयं अज्झवसाया लोगा असंखेज्जा॥

आद्ययोर्द्वयोः करणयोर्यथाप्रवृत्तिनिवृत्त्याख्योर्जघन्या उत्कृष्टा च शुद्धिर्भवति यतो यस्मादाद्यद्वयोः करणयोः प्रतिसमयमध्यवसाया विशोधिरूपा नानाजीवापेक्षया असंख्येयलोकाकाशप्रदेश–प्रमाणास्ततः आद्ययोर्द्वयोः करणयोः प्रतिसमयं जघन्या उत्कृष्टा च विशोधिर्भवति। ताश्च विशोधय एवम्। तथा प्रथमसमये विशोधयो नानाजीवापेक्षया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणास्ततो द्वितीयसमये विशेषाधिकास्ततोऽपि तृतीये समये विशेषाधिका एवं तावद्वाच्यं यावच्चरमसमय एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यमेते च विशोध्यध्यवसाया यथाप्रवृत्तापूर्वकरणयाः संबन्धिनः स्थाप्यमाना विषमचतुरस्रं क्षेत्रमावृण्वते तयोरुपरि चानिवृत्तिकरणाध्यवसाया मुक्तावलीसंस्थिता स्थापना।

१०००००००००००००१२

८००००००००००००२०

४००००००००००००१८

१०००००००००--पूर्वकरण

३००००००००१४

२००००००१२

१०००००६

०००७

००५

एतदेवाह॥

पइसमयअणंतगुणा, सोही उड्ढामुही तिरिट्ठा उ।
छेदाणि य जीवाणं, तइए उड्ढामुहा उक्का।

त्रयाणामपि करणानां प्रतिसमयमूर्द्धमुखा सिद्धिरनन्तगुणा वेदितव्या तद्यथा प्रथमसमशुद्ध्यपेक्षया द्वितीयसमये शुद्धिरनन्तगुणा ततोऽपि तृतीयसमये अनन्तगुणा एवं यावदनिवृत्तिकरणचरम समय आद्यद्वयोः शुद्धयोः करणयास्तिर्यङ्मुखा शुद्धिः षट्स्थाना षट्स्थानपतिता यद्यथा प्रथमसमयगता शुद्धिः षट्स्थानविशिष्टा द्वितीयस्थानगता विशिष्टा एवं यावदपूर्वकरणचरमसमयः तृतीयविनिवृत्तिकरणे प्रतिसमयं सकलजीवापेक्षयाऽप्येकमेवाध्यवसायस्थानम्। तथाहि अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये वर्तन्ते ये च प्रवृत्ताः ये च वर्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषामप्येकमेवाध्यवसायस्थानं द्वितीयसमयेऽपि वर्तन्ते ये प्रवृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकमेवाध्यवसायस्थानं केवलं प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षया अनन्तगुणविशुद्धम् एवं तावद्वाच्यं यावत्तस्यानिवृत्तिकरणस्य च चरमसमयस्ततस्तृतीये करणे एकैकशोधिरूर्द्धमुखरूपा न द्वितीय तिर्यङ्मुखा तत्र यथा प्रवृत्तिकरण एव।

विशोधिविधितारतम्यमुपदर्शयन्नाह॥

गंतुं संखेज्जंसं, अहापवत्तस्स हीण जा सोही।
तीए य पढमसमये, अनंतगुणिया उ उक्कोसा॥

यथा प्रवृत्तिकरणस्य संख्येयं भागं गत्वाऽन्तरसमये या जघन्या शुद्धिस्तस्याः सकाशात् प्रथमे समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा इयमत्र भावना यथाप्रवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये या सर्वजघन्या विशोधिः सा सर्वस्तोका ततो द्वितीये समये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा एवं तावद्वाच्यं यावत् यथाप्रवृत्तिकरणस्य संख्येयो भागो गतो भवति ततः प्रथमसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततो यतो जघन्यस्थानानिवृत्त स्तस्योपरिंतना जघन्या विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा तत उपरि जघन्या विशोधिरनन्तगुणा एवमुपर्यधश्च एकैका विशोधिरनन्तगुणा तावद्वाच्या यावच्चरमसमये जघन्या विशोधिः। तथा चाह।

एवं एक्कंतरिया, हेट्ठुवरि जाव हीणपज्जंते।
तत्तो उक्कोसाओ, उवरिवरिं होयणंतगुणा॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण संख्येयभागात्परत आरभ्य अध उपरि च एकान्तरिता विशोधिरनन्तगुणा तावद्वाच्या यावद्धीनपर्यन्ता जघन्यविशोधिपर्यवसानं पल्योपमसंख्येयभागमात्राश्चोत्कृष्टा विशुद्धयोऽद्याप्यनुत्तराः सन्ति ततस्ताः उपरि उपरि अनन्तगुणा वक्तव्याः तदेवमुक्तं यथाप्रवृत्तिकरणम्।

संप्रत्यपूर्वकरणस्य स्वरूपमाविश्चिकीर्षुराह।

जा उक्कोसा पढमे, तीसेणं ता जहन्निया बाए।
करणा तीए जेट्ठा, एवं जा सव्वकरणं पि॥

प्रथमे यथाप्रवृत्तकरणे चरमसमये या उत्कृष्टा विशोधिस्तस्याः सकाशात् द्वितीय पूर्वाख्ये करणे प्रथमे समये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा तस्या अपि सकाशात् प्रथमसमये एव ज्येष्टा उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततो द्वितीये समये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा। ततोऽपि तस्मिन्नेव तृतीये समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा। ततोऽपि द्वितीये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा। ततो अपि तस्मिन्नेव तृतीये समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा। एवं प्रतिसमयं तावद्वाच्यं यावत्सकलमपि करणं परिसमाप्यते।

अपुव्वयकरणसमयं, कुणइ अपुव्वे इमे च चत्तारि।
ठिइघायं रसघायं, गुणसेढी बंधगद्धा य॥

अपूर्वकरणेन समकं तस्मिन्नेव समये अपूर्वकरणे प्रविशति तस्मादेव समयादारभ्येत्यर्थः। इमान्वक्ष्यमाणांश्चतुरः पदार्थान् अपूर्वान् करोति अतीते काले न कदाचनापि पूर्वं कृताः। ततो न वा स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिबद्धकार्द्धं च।

तत्र प्रथमतः स्थितिवतः स्वरूपव्यावर्णनायाह।

उक्कोसेणं बहुसा--गराणि इयरेण पल्लसंखेयं।
ठियअग्गाओ घायइ, इंतमुहुत्तेण ठिइखडं॥

स्थितिसत्कर्म्मणोऽग्रिमभागादुत्कर्षेण प्रभूतानि सागरोपमाणि प्रभूतसागरोपमप्रमाणमितरेण जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागमात्रिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेन घातयति घातयित्वा च दलिकं याः स्थितीरधो न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति ततः पुनरपि अधस्तात् पल्योपमासंख्येयभागमात्रस्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनघातयन् प्रागुक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति एवमपूर्वकरणाद्धायाः प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमे समये यत् स्थितिसत्कर्मासीत् ततस्यैव चरमसमये संख्येयगुणहीनं जातं तदेवमुक्तः स्थितिघातः।

संप्रति रसघातप्रतिपादनार्थमाह।

असुभाणं तं मुहुत्तेण, हणइ रसं कंडगं अणंतंसं।
करणो ठिइखंडाणं, तम्मि उ रसकंडगसहस्सा॥

स्थितिखण्डानां करणे उत्किरणे प्रवृत्तः सन् अशुभा वा प्रकृतीनां रसकण्डकमनुभागकण्डकमनन्तानन्तविभागात्मकमन्तर्मुहूर्तेन विनाशयति किमुक्तं भवति अशुभप्रकृतीनां यत् अनुभागसत्कर्म्म तस्यानन्तानुभागान् मुक्तवा शेषान् अनुभागभागान् सर्वानप्यन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयित ततः पुनरपि तस्य प्रागुक्तस्यानन्ततमस्य भागस्यानन्ततमं भागं मुक्तवा शेषान् अनुभागभागान् सर्वानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयनि एवमनेकानि अनुभागखण्डसहस्राणि एकैककस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति तथा चाह (तम्मि उ रसकंडगसहस्सा) तस्मिन् स्थितिखण्डे एकैकस्मिन् रसकण्डगसहस्राणि गच्छन्ति स्थितिखण्डानां च सहस्रैरपूर्वकरणे परिसमाप्यते तदेवमुक्तो रसघातः।

सम्प्रति गुणणेणिमाह।

घाइयट्ठिईदलियघेत्तुं, घेत्तुं असंखगुणणाए।
साहियदुकरणकालं, उदयाओ एइ गुणसेढिं॥

घातितायाः स्थितिः शुभध्यानदलिकं गृहीत्वा उदयसमयादारभ्य प्रतिसमयसंख्येयगुणवृद्ध्या क्षपयति यद्यथा उदयसमये स्तोकं द्वितीयसमये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीये समये असंख्येयगुणम्। एवं तावद्वक्तव्यं यावत्साधिककरणद्वयकालो मनाक्

समधिका अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणकालसमया एष प्रथमसमयगृहीत-दलिकनिक्षेपविधिः एवं द्वितीयादिसमये गृहीतानामपि दिलकानां निक्षेपविधिर्द्रष्टव्यः। अन्यच्च गुणश्रेणिरचनार्थं प्रथमसमये यत् दलिकं गृह्यते ततः स्तोकं ततोऽपि द्वितीयसमये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीये समये असंख्येयगुणमेवं तावद्वक्तव्यं यावद्गुणश्रेणिकरणचरमसमयः। अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणसमयेषु वा उभयतः क्रमशः क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः शेषे भवति उपरि च न वर्द्धते।

करणाई अप्पुट्ठो, जो बंधो सो न होई जो।
अण्णो बधगउद्धा, सा उल्लिमा उट्ठिगइठाए॥

अपूर्वकरणस्यादौ प्रथमसमये यो बन्धः प्रारब्धसंबन्धकाद्धा उच्यते कियन्तं कालं यावत् स प्रारब्धांशो बन्धो बन्धकाद्धा उच्यते अत आह यावदभव्यो बन्धो न भवति न प्रारभ्यते स प्रारब्धो बन्धो यावन्न समाप्तिं यातीत्यर्थः। सा च बन्धकाद्धा स्थितिकण्डकद्धया स्थितिः घातकाले तुल्या इदमुक्तं भवति स्थितिघात स्थितिबन्धौ युगपदारभ्येते युगपदेव च निष्ठां यात इति।

जा करणाइए ठिइकरणं तेतीए होइ संखंसों।
अनियट्टीकरणमओ, मुत्तावलिसंठियं कुणइ॥

अपूर्वकरणस्यादौ प्रथमसमये या स्थितिः सा स्थितिघातसहस्रैः खण्डिता सती करणान्ते अपूर्वकरणस्य चरमसमये संख्येयांशो भवति संख्येयभागमात्रा भवति संख्येयगुणाहीना भवतीत्यर्थः। एतच्च प्रागपि प्रस्तावादुक्तं तदेवमुक्तमपूर्वकरणम्। संप्रत्यनिवृत्यकरणप्रतिपादनार्थमाह "अनियट्टीत्यादि" अन्तोऽपूर्वकरणं तदूर्द्धमनिवृत्तिं करोत्यारभते तच्च कथंभूतमित्याह मुक्तावलीसंस्थितमनिवृत्तिकरणे हि अध्यवसायस्थानानि मुक्तावलीसंस्थितानि भवन्ति एतच्च प्रागेवोक्तं तत एतदपि अनिवृत्तिकरणमभेदात् मुक्तावलीसंस्थितमित्युक्तम्॥

एवमनियट्टिकरणे, ठिइघाईणि होंति चउरो वि।
संखेज्जंसे सेसे, पढमठिई अंतरभवे॥

एवमपूर्वकरणक्रामणनिवृत्तिकरणेऽपि स्थितिघातादयश्चत्वारोऽपि पदाथा भवन्ति प्रवर्तन्ते इत्थं या निवृत्तिकरणा द्वयोः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिंश्च संख्येयगते भागे शेषे तिष्ठति अन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित्समधिकं भवति प्रथमस्थितिश्च।

अंतमुहुत्तियमित्ताइं, दो वि निम्मवइ बंधगद्धाए।
गुणसेढि संखभागं, अंतरकिरणेण उक्किरइ॥

प्रथमस्थितिमन्तरकरणं च एते द्वे अपि अन्तर्मुहूर्तप्रमाणो युगपत् निर्म्मापयति। तथा तत् अन्तरकरणं अभिनवस्थितिबन्धोदयानभिनवस्थितिबन्धकालप्रमाणेन कालेन करोति तथा द्व्यन्तरकरणप्रथमसमय एवान्यस्थितिबन्धमिथ्यात्वमारभते स्थिति बन्धान्तरकरणे च युगपदेव परिसमापयति। तथा गुणश्रेणिसंबन्धिनः संख्येयभागाः प्रथमद्वितीयस्थित्याश्रितास्तिष्ठन्ति एका तु श्रेणिः संख्येयतमं भागमन्तरकरणादन्तरकरणेन सहोत्किरति विनाशयति।

संप्रति अन्तरकरणस्य विधिमाह।

अंतरकरणस्स विही, घेत्तुं घेत्तुं ठिई य मज्झाउ।
दलियं पढमठिईए, विक्खिवइ तहा उवरिमाईए॥

अन्तरकरणस्यायं विधिः यदुत अनन्तकरणस्थितेर्मध्याद्दलिकं कर्म्म परमाद्यात्मकं गृहीत्वा गृहीत्वा प्रथमस्थितौ प्रक्षिपति तथा उपरितन्यां द्वितीयस्थितौ च एवं च प्रतिसमयं तावत्प्रक्षिपति यावदवदन्तरकरणदलिकं सकलमपि क्षीयते अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन सकलदलिकक्षयः।

इगदुगआवलिसेसा, नत्थि पढमाए उदीरणागालो।
पढमठिइए उदीरण, वियाउए आगालो॥

इह प्रथमस्थितौ वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितेरेव दलिकं समाकृष्योदयसमये प्रक्षिपति सा उदीरणा। यत् पुनः द्वितीयस्थितेः सकाशात् उदीरणाप्रयोगेण समाकृष्योदये प्रक्षिपति स आगाल इति। उदीरणायाः एव विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदं द्वितीयं नाम पूर्वसूरिभिरावेदितम्। उदीरणायां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद्गतो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति तस्मिंश्च स्थितेः आगालो न भवति किं तु केवला उदीरणैव। असावप्युदीरणा तावत् प्रवर्तते यावदावलिका शेषा न भवति आवलिकायां शेषीभूतायामुदीरणा विनिवर्तते ततः केवलेन नवोदयेन आवलिकामनुभवति। अक्षरयोजना त्वेवम्। एकस्यामावलिकाशेषायां प्रथमस्थितौ यथासंख्यमुदीरणागालो न भवति। प्रथमस्थितेश्च सकाशात् यदि च आगच्छति सा उदीरणा द्वितीयायाश्च स्थितेः सकाशाद्यद्यागच्छति स आगाल इति॥

आवलिमेत्तं उदयेण चेइउं ठाइ उवसमद्धाए।
उवसमियं तत्थ भवे, सम्मत्तं मंखुवीयं जं॥

तत आवलिकामात्रं प्रथमस्थितिसत्कं केवलेनैवोदयेन वेदयित्वा अनुभूय उपशमाद्धायां तिष्ठति उपशमाद्धायां प्रविशति तस्यां चोपशमाद्धायां स्थितस्य सतः प्रथमसमये एवौपशमिकसम्यक्तवं भवति तच्च मोक्षस्याभावात्।

उपरिमठिइ अणुभागं, तं ति ता कुणइ चरमिमच्छुदए।
देसघाएण सम्मं, इयरेणं मित्थमीसाइ॥

प्रथमस्थितिचरमसमये मिथ्यात्वोदये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरुपरितनं स्थितिद्वितीयस्थितेः संबन्धिनां कर्म्मपरमाणूनामनुभागं त्रिधा करोति। अनुभागभेदेन त्रिधा द्वितीयस्थितिगतं मिथ्यात्वं दलिकं करोति इत्यर्थः। तथा शुद्धमविशुद्धं च तत्र शुद्ध सम्यक्तवं तच्च देश घातिरसेन समन्वितं करोति। अर्द्धविशुद्धं सम्यग्मिथ्यात्वमविशुद्धं मिथ्यात्वम्। एते च इतरेण सर्वघातिनां रसेन समन्विते च करोति। इहौपशमिकसम्यक्तवलाभप्रथमसमयादेवारभ्य मिथ्यात्वस्य सम्यक्तवं च गुणसंक्रमात्प्रवर्तते स चैवम्।

सम्मे थोवो मीसे, असंखओ तस्स संखओ सम्मे।
पइसमयं इइ खेवो, अंतमुहुत्ता उ विप्पाउ॥

औपशमिकसम्यक्तवलाभप्रथमसमये स्तोकोदलिकनिक्षेपसम्यक्तवे ततो मिश्रे तस्मिन्नेव प्रथमसमये असंख्येयगुणस्ततोऽपि द्वितीये समये सम्यक्त्वे असंख्येयगुणः ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीये सम्यग्मिथ्यात्वे असंखेयगुणः इत्येवमुक्तेन प्रकारेण प्रतिसमयं क्षेपे सगुणसंक्रमरूपस्तावद्वष्टव्यो यावदन्तर्मुहूर्तं तदूर्द्धं पुनः प्रागभिहितत्वरूपो विध्यातसंक्रमः प्रवर्तते॥

गुणसंकमेण एसो, संकामो होइ सम्ममीसेसु।
अंतरकरणम्मि ठिओ, कुणई जओ सप्पसत्थगुणो॥

एष प्रागभिहितस्वरूपसंक्रमो मिथ्यात्वस्य सम्यग् मिश्रयो भवति गुणसंक्रमेणानन्तरोक्तस्वरूपः संक्रमो वेदितव्यत्यर्थः।

यतोऽसावन्तरकरणे स्थितः सप्रशस्तगुणः सह प्रशस्तेन प्रशस्येन गुणेनोपशमिकसम्यक्तवलक्षणेन वर्तते इति सप्रशस्त गुणः सन् संक्रमं करोति तस्मादन्तरकरणे स्थितस्य गुणसंक्रमः प्रवर्तते तल्लक्षणस्य संभवात् तथाहि गुणसंक्रमस्येदं लक्षणम्। अपूर्वकरणादारभ्य गुणानां वध्यमानानां प्रकृतीनां गुणसंक्रमः प्रवर्तते इति। तदुक्तम् "गुणसंकमो अवज्झंति गणे असुभाणपुव्वकरणादी" इति। अपूर्वकरणे च मिथ्यात्वस्य बन्धः प्रवर्तते तस्य वेद्यमानत्वात् अन्तरकरणे च तस्योदयाभावात् बन्धो न प्रवर्तते तत्र गुणसंक्रमः प्रवर्तते।

गुणसंक्रमेण समए, ठितिदिज्जकंतिआउवज्जाणं।
मिच्छत्तस्स उ इगिदुग, आवलिसेसाए पढमाए॥

यत्नेन गुणसंक्रमः प्रवर्तते तावदायुर्वर्जानां सप्तानां कर्म्मणां स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेणिर्वा प्रवर्जते यदा गुणसंक्रमस्तिष्ठति निवर्तते तदा गुणसंक्रमेण समं तिस्रोऽपि स्थितिघातगुणश्रेणयस्तिष्ठन्ति तथा मिथ्यात्वस्य यावदेकावलिका प्रथमस्थितौ शेषीभूता न भवति तावत् स्थितिघातरसघातौ प्रवर्तेते आवलिकामात्रशेषीभूतायां तु प्रथमस्थितौ न भवतः सदा यावन्मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थितिद्व्यावलिका शेषा न भवति तावत् गुणश्रेणिरपि प्रवर्तते द्व्यावलिकाशेषायां तस्यां गुणश्रेणिर्न भवति उत्तरार्द्धस्य चाक्षरयोजना इति मिथ्यात्वस्य एक द्व्यावलिकाशेषायां प्रथमस्थितौ यथासंख्यं स्थितिघातरसघातौ गुणश्रेणिश्च तिष्ठन्तीति।

उवसंतद्धा अंते, विहीय उक्कड्डियस्स दलियस्स।
अज्झवसायविसेसो, सो एक्कस्सुदओ भवे तिण्णं॥

उपशमाद्धाया औपशमिकसम्यक्त्वाद्धाया अन्ते पर्यन्ते किंचित्समधिकावलिकाशेषे वर्तमानस्त्रयाणामपि द्वितीयस्थितिगतानां सम्यक्तवादिषु जातानां दलिकमध्यवसायविशेषेण समाकृष्यान्तरकरणे पर्यन्तावलिकायां प्रक्षिपति तत्र प्रथमसमये प्रभूतं द्वितीयसमये स्तोकं तृतीयसमये स्तोकतरमेवं तावद्वाच्यं यावदावलिकाचरमसमयः तानि चैवं दलिकानिक्षिप्यमाणानि गोपुच्छसंस्थानसंस्थितानि भवन्ति ततः आवलिकामात्रे अन्तरकरणस्य शेषे सति अध्यवसायविशेषादमीषां त्रयाणामेकतरस्य दलिकस्योदयो भवति। इदमुक्तं भवति यदि तदानीं शुभः परिणामस्तर्हि सम्यक्त्वदलिकस्योदयः। मध्यमश्चेत्परिणामस्तर्हि सम्यग्मिथ्यात्वदलिकस्योति जघन्यश्चेत्ततो मिथ्यात्वदलिकस्येति।

छावलिया सेसाए, उवसमअद्धाए जाव इगिसमयं।
असुभपरीणामत्तो, कोइ सासायणत्तं पि॥

उपशान्ताद्धाया जघन्यतः समयशेषायामुत्कर्षतः षडावलिकाशेषायामशुभपरिणामतोऽनन्तानुबन्ध्यादिलक्षणान् कश्चित् सास्वादनत्वमपि याति प्रतियाति स च नियमात्तदनन्तरं मिथ्यात्वमेव प्रतिपद्यते।

सम्मत्तेणं समगं, सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे।
उवसंतदंसणो सो, अंतरकरणट्ठिओ जाव॥

सम्यक्त्वेनोपशमिकसम्यक्त्वेन समकोऽपि कश्चित् सर्वविरतिं-देशविरतिं प्रतिपद्यते तदुक्तं शतकवृहच्चूर्णौ "उपसम्मविंदी अतकरणे ठिओ कोइ देसविरइंपि लभेइ कोइ पमत्तापमत्तभावम्मि सेसो य णो पुण न किं पि लभेइति" उपशान्तदर्शनश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टिश्च तावदवगन्तव्यौ यावदन्तरकरणे स्थितौ च तिष्ठते इति तदेवं कृता सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा। संप्रतिचारित्रमोहनीयस्योपशमनाभिधातव्या चारित्रमोहनीयस्य चोपशमको वेदकसम्यग्दृष्टिर्यतो देशविरतः सर्वविरतो वा प्रवर्त्तमानशुभपरिणामस्तथा चाह।

वेयगसम्मद्दिट्ठी, सोहीअद्धाए अजयमाईया।
करणदुगेण उवसमं, चरित्तमोहस्स चिट्ठंति॥

वेदकसम्यग्दृष्टयः क्षायोपशमिकसम्यक्तवापरित्यक्तसंक्लेशा विशोध्याद्धायां वर्तमाना अयतादयोऽविरतादयोऽविरतदेशविरतसर्वविरताश्चारित्रमोहनीय स्योपशमार्थं करणद्विकेन यथा प्रवृत्ता पूर्वाख्येन यथायोगं चेष्टन्ते अनुचरा भवन्ति तृतीयेन तु करणेन साक्षादुपशमका एव भवन्तीति करणद्विकेन चेष्टन्ते इत्युक्तम्।

संप्रत्येतेषामेवाविरतादीनां लक्षणमाह।

जाणणगहणाणुपालण, विरओ विरई अविवर उन्नोसिं।
आइमकरणदुगेणं, पडिवज्जइ दोण्ह मत्तपरं॥

विरते यत् ज्ञानं ग्रहणं पालनं च तैः कृत्वा विरतो भवति तत्र यस्त्रिविधं त्रिविधेन भवेद्विरतः स सर्वविरतः यस्तु एकादिना विरत स देशविरतः ज्ञानग्रहणानुपालनरूपशुभगव्यतिरेकेण चान्येषु भागेषु वर्तमानो नियमादविरतः चरमेऽनुभङ्गे वर्तमानो देशविरतेर्देशविरतः स चानेकप्रकारस्तद्यथा कोऽप्येकाणुव्रती कोऽपि द्व्य णुव्रती एवं यावदुत्कर्षतः परिपूर्णे द्वादशव्रतधारी प्रत्याख्यातसकलसावद्यकर्म्मा केवलमनुमतिमात्रसेवकः। अनुमतिरपि त्रिधा तद्यथा प्रतिसेवनानुमतिः प्रतिश्रवणानुमतिः संवासानुमतिश्च। तत्र यः स्वयं परैर्वा कृतं पापं श्लाघते सावद्यारम्भोपपन्नं वा अशनाद्युपभुङ्क्ते तस्य प्रतिसेवनानुमतिः। यदा तु पुत्रादिभिः कृतं पापं श्रृणोति श्रुत्वा चानुमनुते न प्रतिषेधति तदा प्रतिश्रवणानुमतिः यदा पुनः सावद्यारम्भप्रवृत्तेषु पुत्रादिषु केवलं ममत्वमात्रयुक्तो भवति नान्यत् किञ्चित् प्रतिश्रृणोति श्लाघते वा तदा संवासानुमतिः तत्र संवासानुमतिमात्रमेव यः सेवते स चरमो देशविरतः। स चान्यसर्वश्रावकाणामुत्तमः यः पुनः सावद्यारम्भप्रवृत्तेषु पुत्रादिषु केवलं ममत्वमात्रयुक्तो भवति नान्यत् सानुमतेरपि विरतः स सर्वविरत उच्यते। अनयोश्च द्वयोर्देश विरतिसर्वविरत्योरन्यतरां विरतिमादिमेन यथाप्रवृत्तपूर्वाख्येन करणद्विकेन प्रतिपद्यते इह ह्यविरतः सन् यथोक्तं द्वे करणे करोति देशविरतिं सर्वविरतिं वा प्रतिपद्यते अथ देशविरतस्तर्हि विरतिमेव। अथ कस्माद्देशविरतिसर्वविरत्योर्लाभे तृतीयमनिवृत्तिकरणं न भवति इह करणकालात् प्राग्पयन्तर्मुहूर्तं काले यावत् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्यादिशुद्ध्या प्रवर्तमानोऽशुभानां कर्म्मणामनुभागद्विस्थानकं करोतीत्यादि तदेव वक्तव्यं यावत् यथाप्रवृत्तं करणं तदपि च तथैव वक्तव्यं ततोऽपूर्वकरणं तदपि च तथैव नवरमिह गुणश्रेणिर्न वक्तवया अपूर्वकरणाद्धायां च परिसमाप्तायामनन्तरसमये नियमाद्देशविरतिं सर्वविरतिं वा प्रतिपद्यते ततो निवृत्तिकरणं तृतीयमिह नावाप्यते।

उदयावलिया उप्पिं, गुणसेढिं कुणए सहचरित्तेण।
अंतो असंखगुणणाएताव य वट्टए कालं॥

करणद्वयेन व्यतिक्रान्ते उदयावलिका उपरि सह चारित्रेण वा समकालं प्रतिसमयमसंख्येयगुणनया गुणश्रेणिमन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् करोति कस्मादन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् गुणश्रेणिं करोति परतोऽपि नेत्यत आह (ताव य वट्टए कालं यतस्तावन्मात्रम्-

न्तरमुहूर्त्तं कालं यावदवश्यं वर्तते प्रवर्द्धमानपरिणामो भवति कोऽपि हीयमानपरिणामः ततो यदि प्रवर्द्धमानपरिणामो भवति तत ऊर्द्धमपि गुणश्रेणिं प्रवर्द्धमानां करोति । अथ हीयमानपरिणामस्तार्हि हीयमानामवस्थितपरिणामश्चावस्थितस्वभावस्थां हीनपरिणामो वा देशविरते स्थितिघातरसघातौ न भवतः ।

परिणामपच्चएणं, गमागमं कुणइ करणरहिओ वि ।
आभोगनट्ठवरुणो, करणे काऊण पावेइ ॥

परिणामप्रत्ययतः कथंचित्परिणामहासात्कारणात् देशविरतोविरतिं प्रतिपन्नः सर्वविरतो वा देशविरतिं गच्छति ततः स भूयोऽपि तां पूर्वप्रतिपन्नां सर्वविरतिं वा करणरहितोऽपि प्रतिपद्यते एवम कृतिकरणेऽनेकशो गमागमं करोति यः पुनराभोगतः प्रतिपत्त्या नष्टकरणो देशविरतेः सर्वविरतेर्वा परिभ्रष्टो मिथ्यात्वं च गतः स भूयोऽपि जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तेन कालेन उत्कर्षतः प्रभूतेन कालेन पूर्वप्रतिपन्नामपि देशविरतिं सर्वविरतिं वा उक्तप्रकारेण करणेन कृत्वा करणद्वयस्य पुरस्सरमेव प्रतिपद्यते ॥

परिणामपच्चएणं, चउव्विहं होइ वड्ढई वावि ।
परिणामवड्ढयाए, गुणसेढिं तत्तियं कीरइ ॥

परिणामप्रत्ययेन परिणामात्कारणात् चतुर्विधः चत्वारः प्रकारो यथा भवति एवं हीयते वर्द्धते वा गुणश्रेणिरिति विभक्तिविपरिणामेन संबद्ध्यते इदमुक्तं भवति यदि हीयमानपरिणामो भवति तर्हि तथा तथा परिणामहानिमध्ये कृतगुणश्रेणिः चतुर्द्धा हीयते तद्यथा कदाचिदसंख्येयभागेन कदाचित्संख्येयभागेन कदाचिदसंख्येयगुणेन कदाचित्संख्येयगुणेन । अथ परिणामः प्रतिसमयं प्रवर्द्धते तर्हि तत्परिणामानुसारेण गुणश्रेणिरप्युक्तप्रकारेण वर्द्धते यदि पुनरवस्थितपरिणामो भवति तर्हि तावन्मात्रामेव गुणश्रेणिमाख्याति एषा चैव दलिकापेक्षया द्रष्टव्या । कालश्च पुनः सर्वदाऽपि तावन्मात्रेणैव यावच्च देशविरतिं सर्वविरतिं वा परिपालयति तावद्गुणश्रेणिमपि समये समये करोति । स्थापना चेयं तदेवमुक्तो देशविरतिसर्वविरतिलाभः ।

संप्रत्यनन्तानुबन्धेनाविसंयोजनमाभण्यते ॥

सम्मुप्पायणविहिणा, चउगइया सम्मदिट्ठिपज्जत्ता ।
संजोयणा विजोएति, न उण पढमठिइं करेंति ॥

सम्यक्त्वोत्पादविधिना सम्यक्त्वोत्पादभणितकरणत्रयरूपेण प्रकारेण चतुर्गतिकाः सम्यग्दृष्टयो वेदकसम्यग्दृष्टयः पर्याप्तास्त–त्राविरतसम्यग्दृष्टयश्चतुर्गतिका अपि देशविरतास्तिर्यग्गतिका वा मनुष्या वा सर्वाविरतास्तु मनुष्याः संयोजनातोऽनन्तानुबन्धिनो वियोजयन्ति नाशयन्ति पुनरत्रान्तरकरणं कुर्वन्ति तदभावाच्च प्रथमस्थितिमपि न कुर्वन्ति अन्तरकरणस्य ह्यस्तना स्थितिरित्युच्यते । द्वितीया तु द्वितीया ततोऽन्तरकरणकारणाभावे प्रथम–स्थितिमपि न कुर्व्वन्तीति ।

अत्रैव विशेषमाह ।

उवरिमगे करणदुगे, दलियं गुणसंकमेण तेसिं तु ।
मासेइं तइ पच्छा, अंतमुहुत्ते सभावत्थो ॥

उपरितनके द्विके अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणाख्ये तेषामनन्तानुबन्धिनां दलिकं परमाण्वात्मकं गुणसंक्रमेणोज्वलनासंक्रमस्तु विद्धेन नाशयति अनिवृत्तिकरणे च वर्तमानः सन् गुणसंक्रमानुविद्धेनोज्वलनासंक्रमेण निरवशेषान् विनाशयति । किं त्वधस्तादावलिकामात्रं मुञ्चति तदपि च स्तिवुकसंक्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु संक्रमयति ततोऽन्तर्मुहूर्त्तात्परतोऽनिवृत्तिकरणपर्यवसाने शेषकर्म्मणामपि स्थितिघातरसगुणश्रेणयो न भवन्ति किं तु स्वभावस्थ एव भवति चतुर्विंशतिसत्कर्म्मा तदेवमुक्तानन्तानुबन्धनाविसंयोजना । ये त्वाचार्या अनन्तानुबन्धिनामुपशमनामपि मन्यन्ते तन्मतेनोपशमनाविधिः षडशीतिवृत्तेः सप्ततिकावृत्तेर्वा अवसेयः ।

संप्रति दर्शनमोहनीयक्षपणाविधिमाह ।

दंसणखवणस्स रिहो, जिणकालीओ दुगट्ठवासुवरि ।
अणणासकमाकरणाइं, करइ गुणसंकमं तइयं ॥

दर्शनं मिथ्यात्वसम्यक्त्वरूपं तस्य क्षपणा तस्या अर्हो योग्यो जिनकालीयो जिनविरहेण कालसंभवी प्रथमसंभवी प्रथमसंहननी च दुर्गतिं मनुष्यगतौ वर्त्तमानो जीवो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानोऽनन्तानुबन्धेन विसंयोजनक्रमेण यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि यथा गुणसंक्रमं च कृत्वा साकल्येन क्षपयति । इयमत्र भावना दर्शनमोहनीयक्षपणार्थमभ्युद्यतस्त्रीणि करोति तद्यथा यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं वा एतानि च त्रीण्यपि करणानि प्रागेव वक्तव्यानि नवरं पूर्वकरणस्य प्रथमसमये एवं गुणसंक्रमेण मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिकेसम्यक्त्वे प्रक्षेपयति उद्वलनासंक्रममपि तयोरेवमारभते । तद्यथा प्रथमस्थितिखण्डं वृहत्तरं घातयति ततो द्वितीयं विशेषहीनमेवं तावद्वक्तव्यं यावन्मिथ्यात्वसम्य-मिथ्यात्वयोः करोति ।

तक्करणाई जं तं, तस्संते संखभागो होइ ॥

तत्करणादावपूर्वकारणादौ यत् स्थितिसत्कर्म्मासीत्तत्तस्यैव करणस्यान्ते चरमसमये संख्येयभागमात्रं भवति ।

प्रथमसमयापेक्षया संख्येयगुणहीनं भवतीत्यर्थः ।

एवं ठिइबंधो वि य, पविसइ अनियट्टिकरणसमयम्मि ।
अपुव्वगुणसेढिठिइरसघायठिइबंधं च ॥

एवमनेन प्रकारेण स्थितिसत्कर्म्मन्यायेन स्थितिबन्धोऽपि वेदितव्यः अपूर्वकरणप्रथमसमये यावान् स्थितिबन्ध आसीत् तदपेक्षयाऽस्यैवापूर्वकरणस्य चरमसमये संख्येयगुणहीनो भवतीत्यर्थः ततोऽनिवृत्तिकरणसमये प्रविशति तत्र च प्रविष्टः सन् प्रथमसमयादेवारभ्यापूर्वां गुणश्रेणिं अपूर्वं स्थितिघातं रसघातमपूर्वं च स्थितिबन्धमनुक्रममारभते ।

देसुवसमणनिकायण, निहत्तिरहियं च होइ तिगं ॥

अनिवृत्तिकरणप्रथमसमये एवं च देशोपशमना निकाचना–निधत्तिरहितं दर्शनत्रिकं भवति देशोपशमादीनां त्रयाणां करणानां मध्ये नैकमपि तदानीं दर्शनत्रिकस्य करणं प्रवर्तते इत्यर्थः । दर्शनमोहनीयत्रिकस्य च स्थितिसत्कर्म्मस्थितिघातादिभिर्घात्यमानसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय स्थितिसत्कर्म्मसमानं भवति । ततः स्थितिखण्डसहस्रपृथक्त्वे गते सति तु चतुरिन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमानं ततोऽपि तावन्मात्रेषु गतेषु त्रीन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमानं ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु द्वीन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमानं ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु पल्योपमसंख्येयभागमात्रप्रमाणं भवति तदेवाह ।

कमसो असण्णिचउरिं–दियाण तुल्लं किट्टइं संतं ।
ठिइखंडसहस्साइ, एक्केके अंतरम्मि गच्छंति ॥
पलिओवमसंखाणं, दंसणसातं तउज्जाणं ।

अनिवृत्तिकरणादारभ्य क्रमशोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियचतुरिन्द्रियादि–

तुल्यं स्थितिसत्कर्म वक्तव्यम्। एकैकस्मिंश्चोत्तरे स्थितिखण्डसहस्राणि स्थितिघातसहस्राणि व्रजन्ति भावना प्रागेव कृता एवं पल्योपमसंख्येयभागमात्रदर्शनज्ञानमोहनीयतेति यावत् सत्कर्म्मणि जाते सति यद्भवति संख्येयान् भागान् खण्डयति। इयमत्र भावना पल्योपमसंख्येयभागमात्रस्य स्थितिकर्म्मण एकसंख्येयभागं- मुक्त्वा शेषानशेषानपि संख्येयान् भागान् त्रयाणामपि मिथ्यात्वादीनां विभासयति ततः प्रागुक्तस्य संख्येयभागस्य एकसंख्येयभाग मुक्त्वा शेषानशेषानपि संख्येयान् भागान् विनाशयति एवं ते संख्येयभागाः खण्ड्यमाना सहस्रशोऽपि व्रजन्ति ततो मिथ्यात्वस्यासंख्येयान् भागान् खण्डयति सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु संख्येयान् भागान्।

तत्तो बहु खंडंते, खंडइ उदयावलीरहियमिच्छत्तं।
तत्तो असंखभागो, सत्तामीसाण खंडेइ॥

ततोऽनेन विधिना स्थितिखण्डानां प्रभूतानामन्ते उदयावलिकाबहिर्तसकलमपि मिथ्यात्वं खण्डयति विनाशयति। तदानीं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिकं पल्योपमासंख्येयभागमात्रमवतिष्ठते अमूनि च स्थितिखण्डानि खण्ड्यमानानि मिथ्यात्वसम्यक्त्वानि सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः प्रक्षिपति सम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वातिसम्यक्त्वानि सम्यक्त्वाधस्तात् स्वस्थाने इति तदपि च मिथ्यात्वदलिकमात्रं स्तिवुकसंक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति मिथ्यात्वस्यावलिकामात्रायां स्थितौ सत्यां तत ऊर्द्धं सम्यक्त्वं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरसंख्येयान् भागान् खण्डयति एवं ते विशिष्येते ततस्तस्याप्यसंख्येयान् भागान् खण्डयति एकं मुञ्चति एवं कतिपयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सम्यग्मिथ्यात्वमावलिकामात्रं जातं तदानीं च सम्यक्त्वस्य स्थितिसत्कर्म्म च षष्टिकप्रमाणं विद्यते स चाष्ट–वर्षप्रमाणसम्यक्त्वसत्कर्म तत्काले सकलप्रत्यूहापगमतो निश्चयनियमतो दर्शनमोहनीयस्य क्षपक उच्यते।

अंतमुहुत्तियखंडं, तत्तो उक्किरइ उदयसमयाउ।
पक्खिवइ असंखगुणं, नाऊण गुणसेढिपरे हीणं॥

ततो निश्चयनयमतेन क्षपकस्वभवनादूर्द्धं सम्यक्त्वस्य स्थिति–खण्डमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुत्किरति घातयति तद्दलिकमुदयसमया–दारभ्य प्रक्षिपति तद्येदमुदयसमये स्तोकं ज्ञात्वा द्वितीयसमये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीये समये असंख्येयगुणम्। एवं तावद्वक्तव्यं यावत् गुणश्रेण्यशिरः तत उर्द्धं विशेषहीनं शेषहीनस्तावत् यावच्चरमा स्थितिः।

उक्किरइ असंखगुणे, जाव दुचरिमं वि अंतिमे खंडे।
सेढिसंसो खंडेइ, गुणसेढीए तहा देइ॥

ततो द्विस्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं पूर्वस्मादसंख्येयगुणमुत्किरति खण्डयति प्रागुक्तप्रकारेण च उदयसमयादारभ्य निक्षिपति एवं पूर्वस्मात् पूर्ववदसंख्येयगुणसंस्थितिखण्डमुत्किरति तावद्वक्तव्यो यावद्द्विचरिमं स्थितिखण्डं द्विचरिमाच्च स्थितिखण्डादन्तिमं स्थितिखण्डं संख्येयगुणं तस्मिंश्चन्ते स्थितिखण्डेखण्ड्यमाने संख्येयभागं गुणश्रेण्या खण्डयति अन्याश्च तदुपरितनीः संख्येयगुणाः स्थितीरुत्कीर्य तद्दलिकमुदय समयादारभ्य संख्येयगुणतया प्रक्षिपति। तद्यथा उदयसमये स्तोकं ततो द्वितीयसमये आसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमये असंख्येयगुणम्। एवं तावद्वच्यं यावद् गुणश्रेणिशिरः। अत ऊर्द्धमुत्कीर्यैमाणयेव दलिकं ततस्तत्र न प्रक्षिपति एवमेव स्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण उच्यते।

कयकरणो तक्काले, कालं पि करेइ च उसु वि गईसु।
वेइयसेसो सेढी; अन्नइए वा समारुदइ॥

कृतकरणः सन् कश्चित्तत्कालमपि करोति कृत्वा च तत्कालं चतसृणां गतीनां गतावुत्पद्यते तदेवं प्रस्थापको मनुष्यो निस्सूचकेषु चतसृष्वापि गतिषु भवति। उक्तं च। "पट्ठवणा उ मणुस्सो निट्ठवणो होइ चउसु वि गईसु" यदि पुनस्तदानीं कालं न करोति तर्हि वेदितशेषोऽनुदितसम्यक्त्वशेषः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः सन् अन्यतरां श्रेणिं क्षपकश्रेणिमुपशमश्रेणिं वा समारोहति वैमानिकेष्वेव बद्धायुष्क उपशमश्रेणिम्। अबद्धयुष्कस्तु क्षपकश्रेणिं चतुर्गतिबद्धयुष्कस्तु न कामपि श्रेणिमित्यर्थः। अथाप्येतत्क्षीण सप्तकः कतिथे भवे मोक्षमुपयातीत्युच्यते।

तइये चउत्थे तम्मि व, भवम्मि सिज्झंति देसणो खीणे।
जं देवनिरय संखाउ, चरमदेहेसु ते होंति॥

तृतीये चतुर्थ तस्मिन्वा भवे क्षीणे दर्शने दर्शनमोहनीये सिद्ध्यन्ति जीवाः कुत इत्याह। यत् यस्मात्कारणात् क्षीणसप्तकदेवनारका संख्येयवर्षायुष्केषु भवन्ति उत्पद्यन्तेते चरमदेहेषु वा भवन्ति चरमदेहा वा भवन्ति ततस्तृतीये चतुर्थे तस्मिंश्च भवे सिध्यन्तीत्युच्यते इयमत्र भावना देवगतौ बद्धयुष्कास्ते तत्प्रकृत्ये यत्कृत्वा देवेषु मध्ये उत्पद्यन्ते ये तु नरकेषु बद्धायुष्कास्ते नरकेषु ततो देवेषु देवभवात्समागत्येव मनुष्यो भूत्वा मोक्षं यातीति चतुर्थे भवे सिद्ध्यन्तीत्यभिधीयते ये त्वबद्धायुष्काः सप्तकं क्षपयन्ति ते चरमदेहा उच्यन्ते न च सप्तकायानन्तर क्षपकश्रेणिमेव प्रतिपद्यन्ते इति तस्मिन्नेव भवे सिद्ध्यन्ति उक्ता दर्शनीयमोहनीयस्योपशमना। संप्रति दर्शनमाहनीयोपशमना भण्यते। सा च क्षीणसप्तकस्य वैमानिकेष्वेव बद्धायुष्कस्य भवति। अबद्धायुष्कस्तु क्षपकश्रेणिमारोहति यस्तु वेदकसम्यग्दृष्टिः स तूपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते सोऽनियतो बद्धायुष्को वासे च केषाञ्चिन्मतेनानन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य चतुर्विंशति सप्तकर्म्मांसिन् प्रतिपद्यते केषांचित्पुनर्मतेनोपशम्यापि ततो विसंयोजितानन्तानुबन्धिकषाय उपशमितानन्तानुबन्धिकषायो वा सन् दर्शनत्रितयमुपशमयति। तथा चाह।

अहवा दंसणमोहं, पढमं उवसामइत्तु सामन्ने।
दिव्वा अणुह पियाण, पढमठिई आवलीनियमा॥
पढममुवसमुवसेसे, अंतमुहुत्ता उ तस्स विज्झा उ।
संकेसविसोवि पमत्त, इयरपमत्तत्तणं बहुसो॥

अथवेति प्रकारान्तरे आदौ दर्शनमोहनीय प्रथममुपशमय्याऽपि प्रतिपद्यते कथमुपशमय्योत्पद्यत इत्याह। श्रामण्ये संयमे स्थिता उपशमनाविधेश्च प्रागुक्तः करणत्रयानुगो वेदितव्यः। न तु उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते। अथवा दर्शनमोहनीयं प्रथममुपशमय्यापि प्रतिपद्यते कथमुपशमय्योत्पद्यत इत्याह। श्रामण्ये संयमे स्थिता उपशमनाविधेश्च प्रागुक्तः करणत्रयानुगो वेदितव्यः नवरमन्तरकरणं कुर्वन् अनुदितयोर्म्मध्ये सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः प्रथमस्थि तिरावलिकामात्रा नियमाद्वेदितव्या सम्यक्त्वस्य चान्तर्मुहूर्तप्रमाणा उत्कीर्यमाणं च दलिकमन्तरेण त्रयाणामपि सम्यक्त्वोत्पत्तिं प्रथमस्थितौ प्रक्षिपति शेषं प्रथमोपशमवत् प्रथमोपशमिकसम्यक्त्ववद्वेदितव्यं (अंतमुहूत्ता उ तस्सेत्यादि) बहुशोऽन्तरकरणप्रदेशसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेऽतिकान्ते गुणसंक्रमावसाने विध्यातसंक्रमस्तस्य सम्यक्त्वस्य भवति किमुक्तं भवति। वि-

ध्यातसंक्रमेण मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यत्वयोर्दलिकं सम्यक्त्वं प्रविशतीति एवं दर्शनमोहनीयत्रितये उपशान्ते संक्लेशविशोधिवशात् प्रमत्तत्वमितरप्रमत्तत्वं बहुशोऽनेकशोऽनुभूय चारित्रमोहनीयोपशमनाय सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते इत्यर्थः।

पुण तिन्नी उ करणाइं, करेइ तइयम्मि एत्थ पुण तेउ।
अंतो कोडाकोडी, बंधं संतं च सत्तण्हं ॥

चारित्रमोहनीयोपशमयनार्थं पुनरपि त्रीणि याप्रवृत्तापूर्वानिवृत्ताख्यानि करणानि करोति करणवक्तव्यता प्राग्वद्द्रष्टव्या केवलमत्र तृतीयकरणे भेदस्तमेव दर्शयति अतः कोटाकोटीनामबन्धसत्कर्मावसमानामायुर्वर्जानां करणं प्रथमसमये करोति तत्र यद्यपि प्रागुक्तेष्वपि करणेष्वेतेषां बन्धः सत्कर्म्मणां प्राप्यते तथाऽप्यत्र बन्धसत्कर्म्मणी तदपेक्षया संख्येयगुणहीने द्रष्टव्ये इति विशेषः। कर्म्मप्रकृतौ त्वत्र सत्कर्म्म त्रिःसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणमुक्तं बन्धस्त्वन्तः सागरोपमकोटाकोटीप्रमाणः तदुक्तम्। "अंतो कोडाकाडी, संतं अनियट्टि णो उ उदहीणं। ठिइखंडं उक्कोस्सं पि तस्स पल्लस संखतमभागं"।

ठिइखंडबहुसहस्से, एक्केकं जं भणिस्सामो।

स्थितिखण्डमुत्कृष्टमपि पल्योपमसंख्येयभागमात्रं खण्डयति। तथा एतस्य प्राक्तनबन्धस्य पल्योपममसंख्येयभागमात्रं हापयित्वा अन्यं स्थितिबन्धं करोतीति शेषः। तत्र यद्यपि शतानामपि कर्मणां पल्योपमसंख्येयभागाणतया उक्तस्तथाऽपि एवं सत्कर्म्म द्रष्टव्यं तद्यथा नामगोत्रे सर्वस्तोके हीनस्थितिकत्वात् ततो ज्ञानावरणदर्शनीयावरणवेदनीयान्तरायाणि विशेषादधिकानि स्वस्थाने तु परस्परतुल्यानि ततोऽपि मोहनीयं विशेषाधिकस्थितिखण्डसहस्रेषु च बहुष्वतिक्रान्तेषु एकैकं यत्करोति तद्वयं भणिष्यामः। तदेवाह।

करणस्स संखभागे, सेसे असण्णिमाइयाणं।
समो बंधो कामण, पल्लवसेगतीसाणउद्धिवट्टं ॥

करणस्यानिवृत्तिकरणस्य संख्येयेषु भागेषु सत्सु एकस्मिन् शेषे असंज्ञिकादीनां समो बन्धः क्रमेण भवति सचैवमनिवृत्तिकरणस्य संख्येयेषु भागेषु गतेष्वेकस्मिन् अशेषे असंज्ञिपञ्चेन्द्रियबन्धतुल्यस्थितिबन्धो भवति तदनन्तरं स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति चतुरिन्द्रियबन्धतुल्यस्थितिबन्धः ततो भूयोऽपि स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति त्रीन्द्रियबन्धतुल्यस्थितिबन्धस्तत एवमेव द्वीन्द्रियबन्धतुल्यः ततोऽप्येवमेकैकेन्द्रियबन्धतुल्यस्ततोऽपि स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु विंशतिकयोः विंशतिसागरोपमकोटीप्रमाणयोर्नामगोत्रयोरित्यर्थः। पल्योपममात्रं स्थितिबन्धो भवति त्रिंशत्कानां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानामर्द्धपल्योपममात्रः।

मोहस्स दोण्णि पल्ला, संतो वि हु एवमेव अप्पबहू।
पलियम्मि तम्मि बंधे, अन्नो संखेज्जगुणहीणो ॥

मोहनीयस्य द्वौ पल्योपमौ स्थितिबन्धः स्थितिसत्कर्म्मणि वाल्पबहुत्वं बन्धक्रमेण वक्तव्यं तच्च सर्वस्तोकं नामगोत्रयोः ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां विशेषाधिकं मोहनीयस्य विशेषाधिकं तथा यस्य यस्य कर्म्मणो यदा यदा पल्योपमप्रमाणः स्थितिबन्धो भवति तस्य तस्य तदा तत्कालादारभ्यान्योऽन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणहीनो भवति ततश्चेदानीं नामगोत्रयोः पल्योपमप्रमाणात् स्थितिबन्धादन्यः स्थितिबन्धस्संख्येयगुणहीनं करोति शेषाणां तु कर्म्मणां पल्योपमसंख्येयभागहीनं ततः।

एवं तीसाण पुंणो, पल्लमोहस्स होइ हु दिवड्ढं।
एवं मोहे वल्लं, सेसाणं पल्लसंखंसो ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु त्रिंशत्कानां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां स्थितिबन्धः पल्योपम प्रमाणं करोति माहनीयस्य तु सार्द्धपल्योपममात्रं ततो ज्ञानावरणीयादीनामन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणहीनो भवति मोहनीयस्य तु संख्येयभागहीनः तत एवं पूर्वक्रमेण स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेष्वित्यर्थः मोहनीयस्य स्थितिबन्धः पल्योपमप्रमाणं भवति ततो मोहनीयस्याप्यन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणहीनः प्रवर्तते तदानीं च शेषकर्म्मणां स्थितिबन्धः पल्योपमसंख्येयभागमात्रप्रमाणो वेदितव्यः।

वीसगतीसगमोहाण, सक्कम्मं जह कमेण संखगुणं।
पल्लअसंखेज्जंसो, नामगोयाण तो बंधो ॥

विंशत्कत्रिंशत्कमोहानां सत्कर्म्म यथाक्रमं संख्येयगुणं वक्तव्यं तद्यथा सर्वस्तोकं नामगोत्रयोः सत्कर्म्म ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानां सगुणं स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम्। ततोऽपि मोहनीयस्य संख्येयगुणं मोहनीयस्य पल्योपममात्रे स्थितिबन्धे जाते सति नामगोत्रयोरन्यस्थितिबन्धो ऽसंख्येयगुणहीनो भवति पल्योपमासंख्येयभागमात्रो भवतीत्यर्थः। अत्र सत्कर्म्मापेक्षया अल्पबहुत्वं चिन्त्यते सर्वस्तोकनामगोत्रयोः सत्कर्म्म ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणाम संख्येयगुणं स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यं ततोऽपि मोहनीयस्य संख्येयगुणं ततः।

एवं सहस्साणंपि हु, एक्कपयारेण मोहनीयस्य।
तीसगणसंखभागो, ठिइबंधो संत पंच भवे ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेष्वित्यर्थः। ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां स्थितिबन्धेऽसंख्येयगुणाहीनो भवति पल्योपमासंख्येयभागमात्रयोर्भवनादिति तात्पर्यार्थः इदानीं च सत्कर्म्मापेक्षया अल्पबहुत्वं चिन्त्यते सर्वस्तोकनामगोत्रयोः सत्कर्म्म ज्ञानावरणीयादीनां चतुर्णामसंख्येयगुणं स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यं ततो मोहनीयस्य संख्येयगुणं ततः स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु एकप्रकारेण एकहेलयैव मोहनीयस्य पल्योपमासंख्येयभागमात्रो ज्ञानावरणीयादीना चतुर्णामसंख्येयगुणं स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम्।

वासगअसंखभागो, मोहपव्वाउघाइतइयस्स।
वासाणंत होज्जइ, असंखभागम्मि वज्जंति ॥

ततः स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु एकहेलयैव विंशतिकयोर्नामगोत्रयोरधस्तात् असंख्येयगुणहीनो मोहनीयस्य स्थितिबन्धो भवति। अत्र स्थितिबन्धमाश्रित्याल्पबहुत्वं चिन्त्यते सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिबन्धस्ततो नामगोत्रयोः संख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः। ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामसंख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः। स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिसंक्रान्तेषु पश्चात् तृतीयस्य वेदनीयस्य घातानि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणि अधोजातानि। अत्र स्थितिबन्धमा-श्रित्याल्पबहुत्वं चिन्त्यते सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिबन्धः ततो नामगोत्रयोरसंख्येयगुणः। स्वस्थाने तु तयोः परस्परं तुल्यः ततोऽपि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामसंख्येयगुणः

स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः । ततोऽपि वेदनीयस्यासंख्येयगुणः ततः स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु विंशतिकयोर्नामगोत्रयोरसंख्येयभागो जातानि ज्ञानावरणीयादीनि त्रीणि दध्यन्ते नामगोत्रापेक्षया ज्ञानावरणादीनां स्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणहीनो भवतीत्यर्थः । अत्राल्पबहुत्वं सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिबन्धः ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामसंख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः ततोऽपि नामगोत्रयोरसंख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः । ततोऽपि वेदनीयस्या संख्येयगुणः ।

असंखसमयबद्धा, णामुदीरणा होइ तम्मि कालम्मि ।
देसघाइरसत्तो, मणपज्जवअंतरायाणं ॥

यस्मिन्काले सर्वकर्म्मणां पल्योपमासंख्येयभागमात्र स्थितिबन्धो जातस्तस्मिन् काले असंख्येयसमयबद्धानामुदीरणा भवति कथमेतदवसीयते इति चेदुच्यते इह यदा पल्योपमासंख्येयभागमात्रं स्थितिबन्धं करोति तदा बध्यमानप्रकृतिस्थित्यपेक्षया याः समयादिहीनाः स्थितयस्ता एवोदीरणामुपगच्छन्ति नान्याः ताश्च चिरकालमबद्धा एव क्षीणशेषाः संभवन्तीत्यसंख्येयसमयबद्धानां तदानीमुदीरणा ततः स्थितिबन्धसहस्रेषु एतेषु देशघातिनः समनुभागं मनः पर्यवज्ञानावरणादीनामन्तराययोर्बध्नाति ॥

लोहादीणं पच्छा, भोग अचक्खुमुयाण तो वक्खा ।
परिभोगमईणंते, विरयस्स असेढिगाथाई ॥

पश्चात्स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु भवान्तरायावधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणानां देशघातिनं रसं बध्नाति ततोऽपि संख्येयेषु स्थितिबन्धनसहस्रेष्वतीतेषु भोग्यान्तरायाचक्षुः कुदर्शनावरणश्रुतज्ञानावरणानां देशघातिनं रसं बध्नाति ततोऽपि स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु देशघातिनं रसं बध्नाति ततोऽपि स्थितबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु परिभोगान्तरायमतिज्ञानावरणयोर्देशघातिनं रसं बध्नाति तोऽपि स्थितिबन्धसहस्रेषु वीर्यान्तरायस्य देशयति न संबध्नाति एतेषामेवानन्तरोक्तानां कर्म्मणां श्रेणिगताः क्षपकोपशमश्रेणिरहिताः सर्वघातिनमेव रसं बध्नन्ति ।

संजमघाईण तओ, अंतरमुदउ जाण दोण्हं तु ।
वेयकसायन्नयरे, सोदयतुल्ला पडुविई ॥

वीर्यान्तरादेशघात्यनुभागबन्धान्तरं संख्येयेषु स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु संयमघातिनामनन्तानुबन्धे वर्जानां द्वादशकषायाणां नवानां च नोकषायाणां सर्वसंख्यया एकविंशतिप्रकृतीनामन्नतरकरणं करोति तत्र चतुर्णां सञ्ज्वलनानामन्यतमस्य यस्य संज्वलनस्योदयो यस्य च त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्य तयोर्वेदकषायान्यतरयो कर्म्मणोः प्रथमा स्थितिः खोदयकालप्रमाणा भवत्यन्येषां चैकादशकषायाणामष्टानां च नो कषायाणां प्रथमा स्थितिरावलिकामात्रा । संप्रति चतुर्णां संज्वलनानां त्रयाणां च वेदानां स्वोदयकालप्रमाणमाह --

थीअधुवोदयकाली, संखातगुणो उ पुरिसवेयस्स ।
तस्स हि विसेसअहिओ, कोहे तत्तो विजयकमसो ॥

स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोरुदयकालः पुरुषवेदाद्युदयकालापेक्षया सर्वस्तोकः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः ततः पुरुषवेदेभ्य उदयकालः संख्येयगुणस्तस्यापि पुरुषवेदस्योदयकालात् क्रोधस्योदयकालो विशेषाधिकस्ततोऽपि क्रोधोदयकालान्मानमायालोभानां यथाक्रमशो यथाक्रमेण विशेषाधिकस्तद्यथा संज्वलक्रोधोदयकालात्संज्वलनमानस्य उदयकालो विशेषाधिकस्ततोऽपि संज्वलनमायाया विशेषाधिकस्ततोऽपि संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकस्तत्र संज्वलनक्रोधेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधोपशमो भवति तावत् संज्वल–नक्रोधस्योदयः संज्वनमानेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद प्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमानोपशमो न भवति तावत्संज्वलनमानस्योदयः संज्वलनमायया चोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानावरणमायोपशमो नोपजायते तावत्संज्वलनमायायाः उदयः संज्वललनलोभेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानावरणलोभोपशमो न भवति तावद्बादरसंज्वलनलोभस्योदयस्ततः परं सूक्ष्मसंपरायाद्धा तदेवमन्तरकरणमुपरितनभागापेक्षया समस्थितिकम् । अधोभागापेक्षया चोक्तनीत्या विषमस्थितिकमिति ।

अंतरकरणेण समं, ठिइखंडगबंधगद्धनिप्पत्ती ।
अंतरकरणाणंतर, समये जायंति सत्तइमो ॥

अन्तरकरणेन समं सममित्यव्ययं ततोऽयमर्थः । अन्तरकरणेन समाना स्थितिखण्डस्य बन्धकाद्धायाश्च अभिनवबन्धाद्धायाश्च निष्पतिः । किमुक्तं भवति यावता कालेन स्थितिखण्डकं घातयति यद्वा अन्यस्थितिबन्धं करोति तावता कालेनान्तरकरणमपि करोति त्रीण्यप्येतानि युगपदारभते युगपन्निष्क्रामयति अत्रान्तकरणकाले चानुभागखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति अन्तरकरणसत्कदलिकस्य प्रक्षेपविधिस्य येषां कर्म्मणा तदानीं बन्ध उदययश्च विद्यते तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितिद्वितीयस्थितिं च प्रक्षिपति यथा पुरुषवेदोदयारूढः पुरुषवेदस्य येषां तु कर्म्मणामुदय एव केवलो न बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितावेव प्रक्षिपति न द्वितीयस्थितावपि । यथा स्त्रीवेदोदयारूढः स्त्रीवेदस्य येषां पुनरुदयो न विद्यते किं तु केवलो बन्ध एव तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं द्वितीय स्थितावेव प्रक्षिपति न प्रथमस्थितौ यथा संज्वलनक्रोधोदयारूढः शेषसंज्वलनानां तेषां पुनर्न बन्धो नाप्युदयः तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं परप्रकृतिषु यथा द्वितीययृतीयकषायाणां तथा अन्तरकरणानन्तरसमये अन्तरकरणे कृते सति द्वितीये समये इत्यर्थः । इमे सप्त पदार्थाः युगपज्जायन्ते तानेवाह ।

एगट्ठाणाणुभागचं, स उदीरणा य संखेया ।
अपुव्वं संकमणं, लोभस्य असंकम्मे मोहे ॥
बद्धं बद्धं छाउ, आवलीसु उवरेयुईरणं ॥
पइपडं गवेउवसमणा, असंखगुणणाय जावंतं ॥

मोहे मोहनीयस्यानुभागबन्धो रसबन्धः एकस्थानकः उदीरणा संख्येयसमा संख्येयवर्षप्रमाणा चशब्दात्स्थितिबन्धः संख्येयवार्षिकः स च सर्वोऽपि पूर्वस्मात् संख्येयगुणहीनो भावी तथा मोहनीयस्य पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्टयरूपरसस्य आनुपूर्व्या क्रमेणैव संक्रमो लोभस्य च संज्वलनलोभस्य वा संक्रमस्तथा 'बद्धं बद्ध' मित्यादि इह प्राक् बद्धं बद्धं कर्म्म बन्धावलिकायामतीतायामुदीरणामायातिस्म अन्तरकरणे तु कृते तदनन्तरसमयेषु यद्बध्यते कर्म्म तत् षडावलिकाकालमवस्थाप्योदीरणामायाति तथा पण्डकवेदस्य नपुंसकवेदस्योपशमना असंख्येयगुणनया तावद्भवति यावदन्तश्चरमसमया तथा हि नपुंसकवेदस्य प्रथमसमये स्तोकं प्रदेशाग्रमुपशमयति ततो द्विती-

यसमयश्च संख्येयगुण एवं प्रतिसमयं संख्येयगुणं तावद्वक्तव्यं यावश्चरमसमयः परप्रकृतिषु च प्रतिसमयमुपशमितदलिकापेक्षया असंख्येयगुणं तावत्संक्रमयति यावद् द्विचरमसमये पुनरुपशमयमानं दलिकं परप्रकृतिषु संक्रमेण दलिकापेक्षया असंख्येयगुणं द्रष्टव्यं नपुंसकवेदोपशमनारम्भप्रथमसमयादारभ्य सर्वकर्म्मणा-मावलिकापेक्षया सर्वस्तोका उदयसंख्येयगुणाः।

अंतरकरणपविट्ठो, संखासंखं समोहइयराणं।
बंधादुत्तरबंधा, एवं इच्छे इ संखंसो ॥

अन्तरकरणे प्रविष्ठ, सन् जीवः प्रथमसमय एव बन्धादुत्तरबन्धस्य संख्येयगुणा अन्तरकरणे विवद्धाःसंख्याः सन्तीत्यर्थः। वो हि यदपेक्षया संख्येयभागमात्रकल्पः स तदपेक्षया संख्ययेगुणहीन एवेति मोहनीयवर्जानां तु शेषाणां कर्म्मणां बन्धादुत्तरबन्धमसंख्येयभोगं करोति असंख्येयगुणहीनं करोतीत्यर्थः एवं नपुंसकवेदमुपशमयति तदुपशमनानन्तरं च स्थितिबन्धसहस्रेष्वतीतेष्वेवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण स्त्रीवेदमुपशमयति स्त्रीवेदस्य च संख्येयतमे भागे उपशान्ते यद्भवति तदुपदर्शयन्नाह।

उवसंते घाईणं, संखेज्जसमा परेण संखंसो।
बंधो सत्तण्हेव, संखेज्जवसंति उवसंते ॥

स्त्रीवेदस्य संख्येयतमे भागे उपशान्ते सति घातिनां घातिकर्म्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां संख्येयसमाः संख्येयवर्षप्रमाणो बन्धः स्थितिबन्धो भवति (परेणत्ति) ततः संख्येयवर्षप्रमाणात् स्थितिबन्धव्यापारादन्यः संस्थितिबन्धघातिस्वरूपाणां पूर्वस्मात् संख्येयांशः संख्येयभागकल्पः संख्येयगुणहीन इत्यर्थः। तस्मादेव च संख्येयवर्षप्रमाणात् स्थितिबन्धादारभ्य देशघातिनां केवल-ज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणवर्जानां ज्ञानावरणदर्शनावरणकर्म्मणां नैकस्थानकं बध्नाति तत एवं स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु त्रिधा वेद उपशान्तो भवति ततः स्त्रीवेद उपशान्ते शेषाणां नोकषायाणामेवं नपुंसकवेदोक्तेन प्रकारेण संख्येयतमे भागे उपशान्ते किमित्याह।

नामगोयाण संखा, बंधावो सा असंखिया तइए।
तो सव्वाण वि संखा, तत्तो संखेज्जगुणहीणा ॥

नामगोत्रयोः संख्येयाः समाः संख्येयवर्षप्रमाणो बन्धः स्थितिबन्धो भवति तृतीयस्य वेदनीयस्य कर्म्मणः स्थितिबन्धोऽसंख्येयानि वर्षाणि असंख्येयवर्षप्रमाण इत्यर्थः तस्मिंश्च स्थितिपूर्णे सत्यन्यः स्थितिबन्धो वेदनीयस्यापि संख्येयवर्षप्रमाणो भवति (ततोत्ति) ततस्तस्माद्वेदनीय-सत्कसंख्येयवार्षिकस्थितिबन्धात्प्रभृति सर्वेषामपि कर्म्मणां स्थितिबन्धः संख्येयवार्षिकः प्रवर्तते स च पूर्वस्मात् पूर्वस्मादन्योऽन्यः प्रवर्तमानः संख्येयगुणहीनः प्रवर्तते इत्यर्थः ततः स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्स्वपि नोकषाय उपशान्तो भवति।

जं समयं उवसंतं, छक्कं उदयट्ठिई य ता सेसा।
पुरिसे समओणावलि, दुगेण बद्धअणुवसंतं ॥

यस्मिन् समये षट् नोकषाया उपशान्ता जलसिक्तदूषणं कुट्टितभूमिं रजांसीवोपशमं नीतास्तदा पुरुषवेदस्य एका उदयस्थितिः समयमात्रा शेषा तदानीं च स्थितिबन्धः षोडश वर्षाणि तस्मिंश्च समये सा एका उदयस्थितिर्यच्च समयोनावलिकाद्विकेन कालेन बद्धमेतावदेवानुपशान्तं वर्तते शेषं सर्वमप्युपशान्तम्। इयमत्र भावना पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितौ द्व्यावलिकाशेषायां प्रागुक्तस्वरूपायामेव व्यवच्छिद्यते उदीरणा तु भवति तस्मादेव च समयादारभ्य प्रधाननोकषायाणां सत्कं दलिकं पुरुषवेदेन संक्रमयति किं तु संज्वलनक्रोधादिषु यदा च पुरुषवेदस्य सत्का प्रागुक्ता एकाप्युदयस्थितिरतिक्रान्ता भवति तदाऽसौ वेदको भवति अवेदकाद्धायाश्च प्रथमसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकेन कालेन यद्बद्धं तदेव केवलमुपशान्ते तिष्ठति शेषं सकलमपि नपुंसकवेदोक्तेन प्रकारेणोपशमितं तदपि च तावता कालेनोपशमयति एतदेवाह ॥

आगालेणं समगं, पडिगहिया फिडइ पुरिसवेयस्स।
सोलसवासियबंधा, चरमो चरमेण उदएण ॥
तावइ कालेणं वि य, पुरिसं उवसामए अविएसो।
बद्धो वत्तीससमा, संजलणियराण उ सहस्स ॥

यदा पुरुषवेदस्य प्रागुक्तस्वरूप आगालो व्यवच्छिद्यते तदा तेन समकं तत्कालमेव तस्य पुरुषवेदस्य यत ईहता शेषदलिकसंक्रमाधारता स्फिटति अपगच्छति योऽपि च चरमः पर्यन्तेऽपि षोडशवार्षिक स्थितिबन्धः पुरुषवेदस्य सोऽपि चरमेण प्रथमस्थितिचरम-समयभाविना उदयेन सहापगच्छति यदा च पुरुषवेदस्य स्थितिबन्धः षोडशवार्षिकस्तदा संज्वलनानां संख्येयानि वर्षसहस्राणि स्थितिबन्धः यदपि च वेदकाद्धाप्रथमसमये समयोनावलिकाद्विकबद्ध पुरुषवेददलिकमस्ति तदपि वेदोदयरहितः सन् स उपशमको जीवस्तावतैव समयद्वयोनावलिकालिकाद्विकप्रमाणेन कालेन पुरुषवेदद लिकमुपशमयति द्वितीयसमये असंख्येयगुणं तृतीयसमये असंख्येयगुणमिदं तावद्वक्तव्यं यावत्कालद्वयोनावलिकाद्विक-चरमसमयः परप्रकृतिषु प्रतिसमयद्वयोनावलिकाद्विककालं यावद्यथाप्रवृत्तं संक्रमेण संक्रमयति तद्यथा प्रथमसमये प्रभूतं द्वितीयसमये विशेषहीनं तृतीयसमयेऽपि विशेषहीनमेवं तावत् यावच्चरमसमयः ततः पुरुष उपशान्तस्तदानीं च संज्वलनानां द्वित्रिंशत्समा द्वात्रिंशद्वर्षप्रमाणः स्थितिबन्ध इतरेषां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायनामगोत्राणां संख्येयानि वर्षसहस्राणि स्थितिबन्धः अवेदप्रथमसमयादारभ्य क्रोधत्रिकाप्रत्याख्यानप्रत्याख्याना-वरणसंज्वलनरूपमुपशमयति। कोहतिगं आढवेइं उवसमिउं तिसुपडिगहणाएगाचउय उदीरणा बंधो पिट्ठंति आवलीए सेसाए इति। यस्मिन् समये पुरुषवेदस्यावेदकाल-स्ततस्तस्मादेवैकप्रथमसमयादारभ्य क्रोधत्रिकाप्रत्याख्यानप्रत्याख्या-नावरणसंज्वलनरूपं युगपदुपशमयितुमारभते उपशमनां च कुर्वतः प्रथमे स्थितिबन्धे पूर्णे सत्यन्यः स्थितिबन्धः संज्वलनानां ससंख्येयभाग-हीनशेषाणां च संख्ययगुणहानः शषं स्थितिघातादि तथैव संज्वलनक्रोधस्य च प्रथमस्थिता समयानावलिकात्रिकशेषायां पतद्ग्रहतापगच्छति अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधदलिकं न तत्र प्रक्षिपति संज्वलनमानादाविति आवः। ततोऽद्धादलिकाशेषायां प्रथमस्थितौ संज्वलनक्रोधस्यागालो भवति। किं तदुदीरणा तावत्प्रवर्तते यावदेका आवदका आवलिका शेषा भवति उदीरणावलिकायाश्चर-मसमये स्थितिबन्धश्चत्वारो मासाः शेषकर्म्मणां तु संख्येयानि वर्षसहस्राणि संज्वलनक्रोधस्य च बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदात्तथा चाह एकस्यामावलिकायां शेषायामुदय उदीरणा बन्धश्च एते त्रयोऽपि पदाथा युगपत् स्फुटन्त्यपगच्छन्ति तदानीं वाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरण-क्रोधानुपश्यन्तौ तदा चैकामावलिकासमयोनावलिकां द्विकबद्ध-ञ्चदलिकं मुक्त्वा शेषमन्यत्सर्वां संज्वलनां क्रोधस्योपशान्तसमयो-

नावलिकाद्विकबद्धं च दलिकपुरुषवेदोक्तेन प्रकारेणोपशमयति तथा चाह "सेसयं तु पुरिससमं, एवं सेसकसायावेय इति दुगेणं आवलिया" संज्वलनक्रोधस्य बन्धादौ व्यवच्छिन्नेशेषं पुरुषवेदं समं वक्तव्यम्। एवं क्रोधत्रिकोक्तेन प्रकारेण शेषानप्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरण-संज्वलनमानमायालोभरूपान् कषायानुपशमयति याश्च शेषीभूता आवलिकास्ता उन्तरस्मिन् कषाये स्तिवुकेन स्तिवुकसंक्रमेणानु-भवति। इयमत्र भावना संज्वलनक्रोधस्य बन्धादिव्यवच्छिन्ने या प्रथमस्थितिरेका आवलिका तिष्ठति तां स्तिवुकसंक्रमेण माने प्रक्षिप्य वेदनीयान् यदपि च समयोनाबलिकाद्विकबद्धं सदस्ति तदपि तावंता कालेनोपशमयति यथा प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति द्वितीये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमये असंख्येयगुणमेवं यावत्समयोना-वलिकाद्विकचरमसमयः परप्रकृतिषु च समयोनावलिका द्विककालं यावत् यथा—प्रवृत्तं संक्रमेण पूर्ववत् संक्रमयति एवं संज्वलनक्रोधे सर्वात्मनोपशमयति यदेव संज्वलनक्रोधस्य बन्धादयः उदीरणाव्य-वच्छिन्नास्तदेव संज्वलनमानस्य द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति निवेदयते च तत्रोदयसमये स्तोकं प्रक्षिपति द्वितीयस्थितावसंख्येयगुणं तृतीयस्थितावसंख्येयगुणमेवं तावत् यावत् प्रथमस्थितेश्चरमः समयः प्रथमस्थितिप्रथमसमये संज्वलनमानस्य स्थितिबन्धश्चत्वारो मासाः शेषाणां तु ज्ञानावरणीयादीनां संख्येयानि वर्षसहस्राणि तदानीमेव च त्रीनपि मानान् युगपदुपशमयितुमारभते संज्वलमानस्य च प्रथमस्थितौ समयोनाव-लिकात्रिकशेषमप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमानदलिकं संज्वलनमानं प्रक्षिपति किं तु संज्वलनमायादौ आवलिकाद्विकशेषायां त्वागालो व्यवच्छिद्यते तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते साऽपि तावत् यावदावलिकाचरमसमयः तत एका प्रथमस्थितेरावलिका शेषीभूता तिष्ठति तस्मिंश्च समये संज्वलनानां द्वौ मासौ स्थितिबन्धः कर्माशेषाणां तु संख्येयानि वर्षाणि तदानीं संज्वलनमानस्य बन्धोदयोदीरणा व्यवच्छिन्नाः। अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमानौ चोपशान्तौ तदानीं च संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितिरेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विक-बद्धाश्च लता मुक्त्वा विशेषमन्यत्सर्वमुपशान्तं तदानीमेव च संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितेरेकामावलिकां लोभमावलिकाद्विक-बद्धाश्च लता मुक्त्वा विशेषमन्यत्सर्वमुपशान्तं तदानीमेव च संज्वलनमायायां द्वितीयस्थितेर्दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च पूर्वोक्तां संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितिसत्कामेकामावलिकां स्तिवुकसंक्रमेण संज्वलनमायायां प्रक्षिपति समयोनावलिकाद्विबद्धाश्च लताः पुरुषवेदोक्तक्रमेणोपशमयति संक्रमयन्ति च संज्वलन-मायोदयप्रथमसमये च मायालोभयोर्द्वौ मासौ स्थितिबन्धः शेषकर्म्माणां तु संख्येयानि वर्षाणि तत्समयादेव चारभ्य तिस्रोऽपि माया युगपदुपशमयितुमारभते ततः संज्वलनमाया प्रथमस्थितौ समयोनावलिकाविशेषायामप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमाया दलिकसंज्वलनमायायांन प्रक्षिपति किं तु संज्वलनलोभे आवलिकाविशेषायां त्वागालो व्यवच्छिद्यते तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते साऽपि तावत् यावदावलिकाचरमसमयः तस्मिंश्च समये संज्ववलमायालोभयोः स्थितिबन्धयोरेको मासः शेषकर्म्मणां तु संख्येयानि वर्षाणि तदानीमेव च संज्वलनमायायां बन्धोदयोदीरणा-व्यवच्छेदः अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरण-मायोपशान्ते संज्वलनमा-यायाश्च प्रथमस्थितिसत्कामेकावलिकां समयोनावलिकां द्विकबद्धाश्च लता मुक्त्वा शेषमन्यत्सर्वमुपशान्तंततो निरन्तरसमये संज्वलनलोभस्य द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च पूर्वोक्तां च मायायाः प्रथमस्थितिसत्कां समयावलिकास्तिवुकसंक्रमैण संज्वलनलोभे संक्रमयति समयोनावलिकाद्विकबद्धाश्च लताः पुरुषवेदक्रमेणोपशमयति संक्रमयति च संज्वलनक्रोधादीनां सूक्ष्मोदयचरमसमये यावत्प्रमाणस्थितिबन्धोऽनन्तरमुक्तस्ता-वत्प्रमाणमत्र साक्षात्सूत्रकृत् संवादयति।

चरिमुदयम्मि जम्हा, तब्बंधो दुगुणो उ होइ उवसमगे।
तयणंतरपगईए, चउगुणोऽण्णेसु संखगुणो॥

इह यः क्षपकश्रेण्या क्षपकस्य संज्वलनक्रोधादी स्वस्वचरमोदयकाले जघन्यः स्थितिबन्ध उक्तः स उपशमके द्विगुणो भवति तदनन्तरं प्रकृतेः पुनश्चतुर्गुणः अन्येषु तु संख्येयगुण इति ततोऽपि परस्याः प्रकृतेरष्टगुण इत्यर्थः। यथा क्षपकमधिकृत्य संज्वलन क्रोधस्य मासद्वयं जघन्यस्थितिबन्ध एको मासस्ततस्तस्य क्रोधचरमोदयकाले चतुर्मासप्रमाणो बन्धः प्रवर्त्तमानः स्वजघन्यबन्धापेक्षया चतुर्गुणो भवति ततोऽपि परा प्रकृतिर्माया स्यात् तदानीमष्टगुणो बन्धस्तस्या हि क्षपकमधिकृत्य स्वचरमोदयकाले जघन्यः स्थितिबन्धोऽर्द्धमासस्ततः क्रोधचरमोदयकाले चतुर्मासिको बन्धः प्रवर्त्तमानः स्वजघन्य-बन्धापेक्षया अष्टगुणो भवति तथा मानस्य क्षपकमधिकृत्य जघन्यो बन्ध एको मासः स चोपशमके मन्दपरिणामत्वात् द्विमासप्रमाणो भवति मानस्य चानन्तरा प्रकृतिर्माया तस्यास्तदानीं चतुर्गुणः पक्षापेक्षया मासद्वयरय चतुर्गुणत्वात् तथा मायायाः क्षपकमधिकृत्य जघन्यो बन्धः एकः पक्षः सर्वोपशमे मन्दपरिणामत्वात् चरमोदये मासप्रमाणप्रवर्तमानद्विगुणो भवति शेषकर्म्माणां तु ज्ञानावरणीयादीनां सर्वत्रापि संख्येयवर्षप्रमाणः स्थितिबन्ध केवलं पूर्वस्मात्हीनो हीनतर इति।

संप्रतिसंज्वलनलोभवक्तव्यतामाह।

लोभस्स उ पढमठिई, विइओ य कुणइ तिविभागं।
दो पुग्गलनिक्खेवो, ततिइओ पुण किट्टिवेयद्धा॥

लोभस्य द्वितीयस्थितेर्दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति सा त्रि भागा त्रिभागोपेता तद्यथा प्रथमो विभागोऽश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञः द्वितीयः किट्टिकरणाद्धासंज्ञः तयोश्च द्वयोरपि विभागयोर्दलि कनिक्षेपो भवति किमुक्तं भवति द्वितीयस्थितेर्दलिकमाकृष्य द्विभागप्रमाणां प्रथमां स्थितिं करोतीति। तृतीयःपुनःविभागः किट्टिवेदनाद्धा संज्वलनलोभोदये वाश्वकर्णकरणाद्धायां वर्तमानः प्रथमसमय एव त्रीनपि लोभान् अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनरूपान् युगपदुपशमितुमारभते अन्यच्च यत्करोति प्रथमे अश्व कर्णकरणाद्धासंज्ञे विभागे तदाह।

संतावज्झमाणग, सरूवउप्फुडगाणि जं कुणइ।
सा अस्सकण्णकरणद्धति माकिट्टिकरणद्धा॥

सन्ति विद्यमानानि यानि संक्रमितानि मायाकर्म्मदलिकानि पूर्वं बद्धसज्वलनलोभे दलिकानि वा तानि वध्यमानस्वरू-पतस्तत्काल-वध्यमानसंज्वलनलोभरूपतया किमुक्तं भवति तत्कालवध्यमानसंज्व-लनलोभस्य द्विकानि चात्यन्तिरसानि यत्र करोति सा अश्वकर्णक-रणाद्धा इयमत्र भावना अश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञे प्रथमे त्रिभागे वर्तमान-संक्रमितमायादलिकेभ्यः संज्वलनलोभसत्केभ्यो वा पूर्वस्पर्द्धकेभ्यः प्रतिसमयं दलिकं गृहीत्वा तस्य चात्यन्तदीनरसतामापाद्य पूर्णं च प्रतिसमयं दलिकं गृह्णन् अपूर्वाणि स्पर्द्धकानि करोति आसंसारे हि

परिभ्रमता न कदाचनापि बन्धमाश्रित्य ईदृशानि स्पर्द्धकानि कृतानि किं तु संप्रत्येव विशुद्धवशात्करोतीत्यर्थः । पूर्वाणि (सज्झंति) तथा रूपाणि वा पूर्वाणि स्पर्द्धकानि कुर्व्वतः संख्येयेषु स्थितिबन्धेषु गतेषु सत्सु अश्वकर्णकरणाद्धा व्यतिक्रामति ततो मध्यमा द्वितीयाद्धा प्रवर्तते तदानीं च संज्वलनलोभस्य स्थितिबन्धो दिनपृथक्त्वप्रमाणः शेषकर्म्मणां तु वर्णपृथक्त्वमानः किट्टिकरसाद्धायांच पूर्वस्पर्द्धकेभ्यश्च दलिकं गृहीत्वा प्रतिसमयमनन्ताः किट्टीः करोति । संप्रति किट्टिस्वरूपं प्रथमसमयोदये यावतीः किट्टीःकरोति तदेव प्रतिपादयति।

अप्पुव्वविसोहीए, अणुभागो णुणविभजणं किट्टी ।
पढमसमयम्मि रसफुडवग्गणा तं भागसमा ॥

अपूर्वया विशुद्ध्या अनुभागस्य ऊनस्य एकोत्तरवृद्धस्यापनयनेन हीनतरस्य यत् विभजनं सा किट्टिः किमुक्तं भवति पूर्वस्पर्द्धकेभ्यो ऽपूर्वस्पर्द्धकेभ्यश्च वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणां हीनरसतामापाद्य वृहत्तरलतया यदपस्थानं यथाऽऽसां वर्गणानामसंकल्पनया अनुभागरसभागानां शतं त्र्युत्तरं द्व्युत्तरमेकोत्तरमासीत् तासामनुभागानां यथाक्रमं पञ्चविंशति पञ्चदशकं पञ्चकमिति ताः किट्टयस्ता एकस्मिन् रसस्पर्द्धके अनुभागस्पर्द्धके या अनन्ता वर्गणास्तासामनन्ततमे भागे यावत्यो वर्गणास्तावत्प्रमाणाः प्रथमसमये करोति ताश्चानन्तानुबन्धाः किं तु सर्वजघन्यानु–भागस्पर्द्धकानुभागेन सदृशाः करोति न तु ततोऽपिहीनाः उच्यन्ते ततोऽपि हीनास्तथा चाह।

सव्वजहन्नए फड्डग, अणंतगुणहाणिया उ सारसओ ।
पयसमयमसंखंसो, आइमसमया उ जायत्तो ॥

यत् सर्वजघन्यं रसस्पर्द्धकं ततोऽपि रसमधिकृत्य ताः किट्टीरन–न्तगुणहानिका अनन्तगुणहीनाः करोति ता आदिमसमयात्परतः प्रतिसमयमसंख्येयांशान् प्रतिसमयं पूर्वस्मात् असंख्येयभागमात्राः किट्टीस्तावत्करोति यावदर्वाक्किट्टिकरणाद्धाचरमसमयः इयमत्र भावना प्रथमसमये प्रभूताः किट्टीः करोति द्वितीयसमये असंख्येयगुणहीना एवं तावद्वाच्यं यावत् किट्टिकरणाद्धायाश्चरमसमयः ।

अणुसमयसंखगुणं, दलियमणंतं स उ अणूभागो ।
सव्वेसु मंदरसमाइयाण दलयंति सेसूणं ॥

अनुसमयं प्रतिसमयं दलिकसंख्येयगुणं तद्यथा प्रथमसमये स–कलकिट्टिगतं दलिकं सर्वस्तोकं ततोऽपि द्वितीयसमये कृतासु किट्टिष्वनन्तगुणहीनं ततोऽपि तृतीयसमये कृतासु किट्टिष्वन–न्तगुणहीनम् एवं तावद्वाच्यं यावत्किट्टिकरणाद्धाचरमसमयः । तथा सर्वेषु मन्दरसादिकानां जघन्यरसप्रभृतीनां किट्टीनां दलिकं विशेषो न वक्तव्यं यावत्सर्वोत्कृष्टरसकिट्टिः । इयमत्र भावना सर्वेषु या निवर्त्तिताः किट्टयस्तासां मध्ये या मन्दरसास्तानसां दलिकं सर्वप्रभूतं ततोऽनन्तरेणानुभागेनानन्तगुणेनाधिकायां द्वितीयायां किट्टौ दलिकं विशेषहीनं ततोऽप्यनन्तरेणानुभागेनानन्तगुणेनाधिकायां तृतीयस्यां किट्टौ विशेषहीनमेवमनन्तरानुभागाधिकासु किट्टिषु विशेषहीनं तावदवसेयं यावत् प्रथमसमयकृतानां किट्टिनां मध्ये सर्वोत्कृष्टरसा किट्टिरिति एवं सर्वेष्वपि समयेषु प्रत्येकं भावयितव्यम् ।

आइमसमयकयाणं, मंदाईणं रसो अणंतगुणो ।
सव्वुक्कस्स रगा वि हु, उवरिमसमयस्स णंतंसे ॥

आदिमसमयकृतानां प्रथमसमयकृतानां मन्दादीनां जघन्यरसादीनां रसो यथोत्तरमनन्तगुणो वक्तव्यस्तद्यथा प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वा मन्दानुभागा किट्टिः सा सर्वस्तोकानुभागा ततो द्वितीया अनन्तगुणानुभागा ततोऽपि तृतीया अनन्तगुणनुभागा एवं तावद्वाच्यं यावत्प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वोत्कृष्टानुभागा किट्टिरिति । एवं द्वितीयादिष्वपि समयेषु किट्टीनां प्ररूपणा कर्त्तव्या । तथा सर्वोत्कृष्टरसाऽपि सर्वोत्कृष्टानुभागाऽपि हु निश्चितमुपरितनसमयस्य सत्का पश्चात्समयभाविसर्वमन्दानुभागकिट्ट्यपेक्षयाऽनन्ततमे भागे वर्तते तद्यथा प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वमन्दानुभागा किट्टी सा सर्वप्रभूतानुभागा ततो द्वितीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वोत्कृष्टानुभागा किट्टिः साऽनन्तगुणहीना । तथा द्वितीयसमयकृतानां मध्ये या सर्वमन्दानुभागा किट्टिस्तदपेक्षया तृतीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वोत्कृष्टानुभागाऽनन्तगुणहीना एवं तावद्वक्तव्यं यावच्चरमसमयः । संप्रत्यासामेव किट्टीनां परस्परं प्रदेशाल्पबहुत्वमुच्यते प्रथमसमय-कृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वा बहुप्रदेशा किट्टिः सा स्तोकप्रदेशा ततो द्वितीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सा सर्वाल्पप्रदेशा किट्टिः सा असंख्येयगुणप्रदेशा ततस्तृतीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वाल्पप्रदेशा सा असंख्येयगुणप्रदेशा एवं तावद्वक्तव्यं यावच्चरमसमयः ॥

किट्टीकरणद्धाए, तिसु आवलियासु समयहीणासु ।
ते पडिगहिया दोण्ह वि, सङ्गीणे उवसमज्झंति ॥

किट्टिकरणाद्धायास्तिसृष्वावलिकासु समयहीनासु पतद्ग्रहता न भवति अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणे लोभदलिकं संज्वलनलोभे संक्रमयतीति भावः किं तु तयोर्द्वयोरप्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्या–नावरणलोभयोर्दलिकं स्वस्थान एव स्थितमुपशमं नयते द्व्यावलिका-शेषायां पुनः किट्टिकरणाद्धायां बादरसंज्वलनलोभस्यागालो न भवति किं तूदीरणैव साऽपि तावत् यावदावलिका । तथा किट्टिकरणाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु संज्वलनलोभस्य स्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाणो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां दिनपृथक्त्वप्रमाणानां नामगोत्रयोर्वेदनीयानां प्रभूतवर्षसहस्रमानस्ततः किट्टिकरणाद्धाया-श्चरमसमये संज्वलनलोभस्य स्थितिबन्धोर्मुहूर्त्तप्रमाणः केवलमिद-मन्तर्मुहूर्तं स्तोकचरममवसेयं ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणा-मन्तरहोरात्रस्य नामगोत्रवेदनीयानां किंचिदूनवर्षद्वयप्रमाणः आगालव्यवच्छेदानन्तरखण्डा या उदीरणावलिका तस्याश्चरमसमये किट्टिकरणाद्धाचरमसमयस्तस्मिंश्च किट्टिकरणाद्धाचरमसमये यदभूत् तद् दिदृक्षुराह ।

लोभस्य अणुवसंतं, किट्टी उदयावली य पुव्वत्तं ।
वायरगुणाण समगं, दोण्ह वि लोभसमुवसंता ॥

किट्टिकरणाद्धायाश्चरमसमये संज्वलनलोभस्य तूपशान्तमहूर्तं यद् द्वितीयस्थितिगतं किट्टीकृतं दलिकं या च उदयावलिका किट्टीकृतं दलिकं या च उदयावलिका किट्टीकरणाद्धायाः शेषीभूता यच्च पूर्वोक्तसमयोनावलिकाद्विकबद्धमत्यर्थः । शेषं सर्वमप्युपशान्ते तथा तस्मिन्नेव समये बादरगुणेन अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकेन समकं द्वावप्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलोभावुपशान्तौ किमुक्तं भवति । यस्मिन्नेव समये द्वावप्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानलोभावुप-शान्तौ तस्मिन्नेव समयेऽनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकं व्यवच्छेद्यम्

उपलक्षणमेतत् बादरसंज्वलनलोभोदयोदीरण व्यवच्छेद्याश्च।

सेसद्धसेतइए, द्वे तावइया किट्टिओ उ पढमठिई।
वज्जयअसंखभागे, दिज्जुवरिमुदीरए सेसा॥

शेषार्द्धशेषं कालं तृतीये त्रिभागे इत्यर्थः सूक्ष्मसंपरायो भवति ताश्च प्राकृताः किट्टीर्द्वितीयस्थितेः सकाशात् कियतीः समाकृष्य प्रथमां स्थितिं तावतीं सूक्ष्मसंपरायाद्धातुल्यां करोति किट्टिकरणाद्धाया-मन्तिममावलिकामात्रं स्तिवुकसंक्रमेण संक्रमयन्ति तथा प्रतिसमया-न्तिमसमयकृताः किट्टीर्वर्जयित्वा शेषसमयकृताः किट्टयः सूक्ष्मसंपरा-याद्धायाः प्रथमसमये प्राय उदयमपगच्छन्ति (दिज्जेत्यादि) वर्षसमय-कृतानां किट्टीनामधस्तादसंख्येयभागं प्रथमसमयकृतानां चोपरितन-संख्येयतमभागं वर्जयित्वा शेषाः किट्टीरुदीरयति।

गेण्हंतो य मुयत्ता, असंखभागं तु चरमसमयम्मि।
उवसामियईयठिई, उवसंतं लभइ गुणट्ठाणं॥

द्वितीयसमये उदयप्राप्तानां किट्टीनामसंख्येयभागं भुञ्जति उपशा-न्तत्वादुदयेन ददातीत्यर्थः। अपूर्वं वा संख्येयं भागमनुभावना-र्थमुदीरणाकरणे गृह्णाति। एवं ग्रहणमोक्षौ कुर्वन् तावत् ज्ञातव्यो यावत् सूक्ष्मसंपरायाद्धायाश्चरमसमयद्वितीयस्थितिगतमपि दलिकं सूक्ष्मसंपरायाद्धाप्रथमसमयादारभ्य सकलमपि सूक्ष्मसंपरा-यगुणस्थानकं कालं यावत् पूर्ववदुपशमयति समयोनावलिकाद्वि-कबद्धमपि दलिकं सूक्ष्मसंपरायाद्धायाश्चरमसमये ज्ञानावरणदर्श-नावरणान्तरायाणामान्तर्मौहूर्त्तिकः स्थितिबन्धो नामगोत्रयोः षोड-शमुहूर्त्तप्रमाणो वेदनीयस्य चतुर्विंशतिमुहूर्त्तमानः तस्मिन्नेव चरमसमये द्वितीयस्थितिगतं सकलमपि मोहनीयमुपशान्तं तत एवमु-पशमितद्वितीय स्थितिरनन्तरसमये उपशान्तमुपशान्तमोरूपं गु-णस्थानं लभते।

अंतो मुहुत्तमेत्तस्स वि, संखेज्जा भागतुल्ला उ।
गुणसेढी सव्वद्धं, तुल्ला य एसकालेहिं॥

अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं तत उपशान्तमोहगुणस्थानकं तस्याऽपि उप-शान्तमोहगुणस्थानककालस्य संख्येयः संख्येयतमो भागस्तत्तुल्या गुणश्रेणीः करोति ताश्च गुणश्रेणीः सर्वा अपि सर्वमप्युपशान्त-गुणस्थानकाद्धाया अनुप्रदेशापेक्षया कालापेक्षया च तुल्याः करोति अवस्थितपरिणामत्वात्।

करणाय नोवसंतं, संकमणो वट्टणं मुदिट्ठितगं।
मोत्तूण विसेसेणं, परिवडइ जा पमत्तो त्ति॥

मोहनीयस्य प्रकृतिजलमुपशान्तं सत् करणाय करणयोग्यं न भवति उदीरणानिधत्तिनिकाचितानां करणानामयोग्यं भवतीत्यर्थः संक्रमणापवर्तनं च दृष्टित्रिकसम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वरूपशेषाणां मोहनीयप्रकृतीनां न भवति दृष्टित्रिके तु संक्रमणमपवर्त्तनं च भवति तत्र संक्रमोमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः सम्यक्त्वम् अप वर्त्तनं तु त्रयाणामपि एवं क्रोधेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रव्यं यदा तु मानेन श्रेणिं प्रतिपद्यते तदा मानं वेदमान एव प्रथमतो नपुंसकवेदोक्तक्रमेण क्रोधत्रिकमुपशमयति। ततः क्रोधोक्तप्रकारेण त्रिकशेषं तथैव यदा तु मायया श्रेणिं प्रतिपद्यते तदा मायां वेदयमान एव प्रथमतो नपुंसकवेदोक्तप्रकारेण क्रोधत्रिकं ततो मानत्रिकं ततः क्रोधो--क्तप्रकारेण मायात्रिकं शेषं तथैव। यदा तु लोभेन श्रेणिं प्रतिपद्यते तदा लोभं वेदयमान एव प्रथमतो नपुंसकवेदोक्तप्रकारेण क्रोधत्रिकं ततो मानत्रिकं ततो मायात्रिकं तत उक्त प्रकारेण लोभात्रिकमिति। संप्रति प्रतिपात उच्यते सोऽपि द्विधा भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य अद्धाक्षय उपशान्ताद्धयोर्व्य-वच्छेदः तत्र यो भवक्षयेण प्रतिपतति तस्य प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि कारणानि प्रवर्तन्ते च प्रथमसमये च यानि कर्म्माण्युदीर्यन्ते तान्युदया-वलिकायां प्रवेशयन्ति यानि य मोहोदीरणामायानि तेषं दलिकान्युदया-वलिकाया बहिर्गोपुच्छाकारसंस्थितानि विरचयति यः पुनरुपशान्त-मोहगुणस्थानकाद्धापरिक्षयेण प्रतिपतति किमुक्तं भवति येनैव क्रमेण स्थितिघातादीन् कुर्व्वन्नारूढास्तेनैव क्रमेण पश्चानुपूर्व्या स्थिति-घातादीन् कुर्वन् प्रतिपतति स च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तसंयत-गुणस्थानकम्।

छ किट्टित्तादलियं, पढमठिई कुण विइयतिइहिंतो।
उदयाइविसेसूणं, आवलिउणं असंखगुणं॥

उपशान्तमोहगुणस्थानकान् प्रतिपतनक्रमेण संज्वलनलोभादीनि कर्म्माण्यनुभवति तद्यथा प्रमत्तः संज्वलनलोभं ततो यत्र मायोद-यव्यवच्छेदस्तत आरभ्य मायां ततो यत्र मानोदयव्यवच्छेदस्ततः प्रकृतिमानं ततो यत्र क्रोधोदयव्यवच्छदस्तत आरभ्य क्रोधः। इत्थं च क्रमेणाशुभवनार्थं तेषां द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमपकृष्य प्रथमस्थितिं करोति उदयादिषु च उदयसमयप्रभृतिषु असंख्येयगुणं ततोऽपि द्वितीयसमये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमये असंख्येयगुणमुदयवतीनामावक्तव्यं यावत् गुणश्रेणीशिरः तथा पुनरपि प्रागुक्तक्रमेण विशेषहीनो दलिकनिक्षेपः एतदेवाह।

जावइया गुणसेढी, उदयवई तासु हीणगं परतो।
उदयावतीमकाय, गुणसेढी कुणइ इयराणं॥

या उदयवत्यस्तत्कालमुदयभाजस्तासां प्रकृतीनां यावाती गुण-श्रेणिर्यावत् गुणश्रेणीशिर इत्यर्थः तावदुदयावलिका उपरिप्रागुक्तक्रमेण संख्येयगुणं दलिकनिक्षेपं करोति ततः परतो हीनकं विशे-षहीनमितरासामनुदयवतीनां प्रकृतीनामुदयावलिकाया दलिक-निक्षेपमकृत्वा इत्यर्थः तत उपरि संख्येयगुणतया दलिकनिक्षेपः स च तावत् गुणश्रेणी शिरस्ततः परतः पुनर्विशेषहीनः।

संकम उदीरणाणं, नत्थि विसेसो एत्थ पुव्वत्तो।
जं जह्मिए वच्छिन्नं, जायए वा होइ तं तत्थ॥

इह य उपशमश्रेण्यारोहे संक्रमे विशेष उक्तो यथाऽनुपूर्वी यं च संक्रमो नानाऽनुपूर्वी तथा य उदीरणायां विशेष उक्तो यथाबद्धं कर्म्म षडावलिकातीतमुदीरयति न षडावलिकामध्ये विशेषोऽशे-षसश्रेणिप्रतिपातेन भवति किमुक्तं भवत्यपूर्व्याऽपि बद्धं च कर्म बद्धावलिकातिक्रान्तमुदीरयतीति तथा यद्यत्र स्थानं व्यवच्छिन्नमुपगतं वा संक्रमणं वा अपवर्तनं वा उदीरणं वा देशोपशमना वा निधत्तिनिकाचनं वा तत्तत्र स्थाने भवति तथा यत्र च स्थाने जातं स्थितिरसघातादि तत्र स्थाने तद्विधमेव भवतीति।

वेइयमाण संजलण, कालतो अहिगमो ह गुणसेढी।
पडिवत्तिकम्मा उदए, तुल्ला सेसट्ठिकम्मेहि॥

मोहनीयस्य मोहनीयप्रकृतीनां गुणश्रेणिकालमधिकृत्य वेद्यमानानां संज्वलनकालादप्यधिका प्रतिपतिता सती प्रारभ्यते समारोहकाले गुणश्रेण्यपेक्षया तुल्या तथा यस्य कषास्योदय उपमश्रेणिप्रतिपत्तिरासीत् तस्योदयप्राप्तस्य सतो गुणश्रेणिः प्रतिपतिता शेषकर्म्मा निःशेषकर्म्माशक्तगुणाश्रेणिभिः सह

तुल्या क्रियते यथा कश्चित् संज्वलनक्रोधेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्ततः श्रेणिं प्रतिपतत् तदा संज्वलनक्रोधमुदयेन प्राप्तवान् भवति ततः प्रभृतितः स्वगुणश्रेणिशेषकर्मभिः समाना भवति एवं मानमाययोरपि वाच्यं संज्वलनलोभेन पुनरुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य प्रतिपत्तिकाले प्रथमसमयादारभ्य संज्वलनलोभस्य गुणश्रेणिभिः सह तुल्या प्रवर्तते शेषकर्म्मणां तु यदारोहत उक्तं तदेव प्रतिपततोऽप्यन्यूनातिरिक्तं वेदितव्यम्।

खवगुवसमगम्मि एव्व, ठाणे दुगुणो तहिं बंधे।
अणुभागो णंतगुणो, अनुभागे सुभाण विवरीओ॥

क्षपकस्य क्षपकश्रेणिमारोहतो यस्मिन् स्थाने यावान् स्थितिबन्धस्तस्मिन्नेव स्थाने उपशमश्रेणिमारोहतस्तावान् स्थितिबन्धो द्विगुणो भवति ततोऽपि तस्मिन्नेव स्थाने उपशमश्रेणितः प्रतिपततो द्विगुणो भवति क्षपकसत्कस्थितिबन्धापेक्षया चतुर्गुणो भवतीत्यर्थः। तथा क्षपकस्य यस्मिन् स्थाने अशुभप्रकृतीनां यावान् अनुभागो भवति तदपेक्षया तस्मिन् स्थाने तासामेव शुभप्रकृतीनामुपशमश्रेणीतः प्रतिपतितोऽनन्तगुणः (सुभाण विवरिओत्ति) शुभानां पुनरनुभागो विपरीतो वाच्यः स चैव उपशमश्रेणीतः प्रतिपतितो यस्मिन्स्थाने शुभप्रकृतीनां यावाननुभागो भवति तदपेक्षया तस्मिन्स्थाने तासामेव शुभप्रकृतीनामुपशमकस्यानुभागोऽनन्तगुणस्ततोऽपि तस्मिन्नेव स्थाने तासामेव शुभप्रकृतीनां क्षपकस्यानन्तगुणः।

परिवाडीए पडिओ, पमत्तइयरत्तणे बहुति किच्चा।
देसजई सम्मो वा, सासणभावं वए कोई॥

यथा परिपाट्या श्रेणिमारूढस्तथा परिपाट्या पतितः सन् तावदधो गच्छति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानकं ततः प्रमत्तत्वात्प्रमत्तत्वे बहून्वारान् कृत्वा कश्चित् देशयतिर्भवति कोऽप्यविरतसम्यग्दृष्टिर्वा येषां मतेनानन्तानुबन्धेनानुपशमना न भवति तेषां मतेन कश्चित् सासादनमपि व्रजति॥

उवसमसम्मत्तद्धा, अंतो आउक्खया धुवं देवो।
जेण तिसु आउगेसु, बद्धेसु सा सेढिमारुहइ॥

औपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां वर्त्तमानो यदि कश्चिदायुः क्षयात्कालं करोति तर्हि ध्रुवमवश्यं देवो भवति येन यस्मात्कारणात् त्रिषु नारकतिर्यग्मनुष्यसंबन्धेष्वायुष्केषु श्रेणिमुपशमश्रेणिं नारोहति किं तु देवायुष्क एव बद्धे ततः कालं कृत्वा देव एव भवतीति॥

सेढीपडिओ समो छड्डावलीसासणे वि देवेसु।
एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उवसमेज्जा॥

यस्मात्कारणात् देवायुर्वर्जेषु शेषेषु त्रिष्वायुःश्रेणिं नारोहति तस्मात्कारणात् श्रेणीतः पतितः सम उत्कर्षतः षडावलिकाकालं जघन्यतः समयमात्रं सासादनो भवति सोऽप्यवश्यं च्युत्वा देवेषु मध्ये समुत्पद्यते तथा एकस्मिन् भवे उत्कर्षतश्चारित्रमोहनीयं द्वौ वारानुपशमयति न तृतीयमपि वारं यस्तु द्वौ वारानुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते स तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिं न प्रतिपद्यते यस्त्वेकवारमुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्तस्य भवेदपि तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिः। एवं कार्म्मग्रन्थिकाभिप्रायः। आगमाभिप्रायेण त्वेक स्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं न तु द्वितीयामपि तदुक्तं "अन्नयरसेढिवज्जं, एग भवेणेव सव्वाइं"। अन्यत्राप्युक्तं मोहोपशम एकस्मिन् भवे स्यादसन्ततः यस्मिन् भवे उवशमक्षयो मोहस्य तत्र नेति एवं पुरुषवेदेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य विधिणक्तः। संप्रति स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन चोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानस्य विधिमाह

दुचरिमसमये नियणा, वेयस्स इत्थी नपुंसगो ण्णंण्णं।
समइत्तु सत्त पच्छा, किं तु नपुंसो कमारद्धे॥

स्त्री नपुंसकस्य वेदेन सहान्योन्यं परस्परं वेदमुपशमयति किमुक्तं भवति स्त्री स्त्रीवेदमुपशमयति नपुंसकवेद च नपुंसको नपुंसकवेदमुपशमयति स्त्रीवेदं चेति किं तु नपुंसकगते सति पूर्वक्रमेणारब्धे सत्युक्तप्रकारेणोपशमयति इह चोपशमनकरणे स्त्रिया नपुंसकस्य च निजकोदयस्य स्ववेदोदयस्य द्विचरमसमये एकेन्द्रियस्थितिं मुक्त्वा शेषं सर्वमुपशातमित्थं च शमयित्वा स्त्री नपुंसको वा पश्चात्स पुरुषवेदादिकाः प्रकृतीरुपशमयति। इयमत्र भावना इह स्त्री उपशमश्रेणिं प्रतिपन्ना सती प्रथमतो नपुंसकवेदमुपशमयति पश्चात् स्त्रीवेदं तच्च तावदुपशमयति यावत्स्वोदयस्य द्विचरमसमयस्तस्मिंश्च निजकोदयस्य द्विचरमसमये एकां चरमसमयमात्रामुदयस्थितिं च वर्जयित्वा शेषं सकलमपि स्त्रीवेदसत्कं दलिकमुपशमितं ततश्चरमसमये गते सति अवेदके सति पुरुषवेदहास्यादिषट्करूपाः सप्तप्रकृतीर्युगपदुशमयि-तुमारभते शेषं पुरुषवेदेन च श्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यं तदा स्त्री वेदेन पुरुषवेदेन वा उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानो यस्मिन् स्थाने नपुंसकवेदमुप-शमयति तद्दूरं यावन्नपुंसकवेदेन श्रेणिं प्रतिपन्नः सन् नपुंसकवेदमेव समुपशमयति तत उर्द्ध नपुंसकवेदं युगपदुपशमयितुं लग्नः स च तावद्गतो यावन्नपुंसकवेदोदयो। द्विचरमसमयः तस्मिंश्च स्त्रीवेद उपशान्तः नपुंसकवेदस्य च एका उदयमात्रा उदयमात्रस्थितिर्वर्तते शेषं सर्वमप्युपशान्तं तस्यामप्युदयस्थितावतिक्रान्तायामवेदको भवति ततः पुरुषवेदादिकाः सप्त प्रकृतीर्युगपदुपशमयतीति। तदेवमुक्ता सर्वोपशमना।

संप्रति देशोपशमनामभिधातुकाम आह।

मुलुत्तरकम्माणं, पगइठिइयाइ होइ चउभेया।
देसकरणेहिं देसं, समइ जं देसुमण्णातो॥

देशोपशमना मूलकर्म्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरकर्म्मणामुत्तरप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रकृति स्थित्यादिका प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशविषया चतुर्भेदा चतुर्विधा भवति इयमत्र भावना। देशोपशमना द्विधा तद्यथा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च, एकैकाऽपि चतुर्भेदा तद्यथा प्रकृतिदेशोपशमना स्थितिदेशोपशमना अनुभागदेशोपशमना प्रदेशोपशमना च। अथ कस्माद्देशोपशमनेत्यभिधीयते अत आह। यत् यस्मात्कारणात् एकदेशभूताभ्यां यथाप्रवृत्तापूर्वकरणसंज्ञिताभ्यां करणाभ्यां प्रकृतिस्थित्यादीनां देशैकदेशं शमयत्यतो देशोपशमनाऽभिधीयते देशभूताभ्यां करणाभ्यामुपशाम्यतीति देशोपशमना। यदि वा देशस्य प्रकृत्यादीनामेकदेशस्योपशमना देशोपशमनेति व्युत्पत्तेः॥ संप्रत्यस्यावयवतात्पर्यविश्रान्तिमाह।

उवसमियस्सुव्वट्टणसंकमकरणाइं हों ति नन्नाइं।
देसोवसामिय जम्हा, पुव्वो सव्वकम्माणं॥

देशोपशमनया उपशमितस्य कर्म्मण उद्वर्तनसंक्रमलक्षणानि भवन्ति नान्यानि करणान्युदीरणाप्रवृत्तीनि एष देशोपशमनायाः सर्वोपशमनातो विशेषः। अनया वा देशोपशमनया मूलप्रकृतिमुत्तरप्रकृतिं वा उपशमयितुं प्रभुस्तावदवसेयो यावत् पूर्वः पूर्वकरणस्थानकचरमसमयः। इयमत्र भावना अस्या देशोपशमनायाः

स्वामिनः सर्वतिर्यञ्च एकद्वित्रिचतुः पञ्चेन्द्रियभेदभिन्नाः सर्वे नारकाः सर्वे देवाः सर्वे मनुष्यास्ते च मनुष्यास्तावद्यावदपूर्वकरणान्तसमय इति एषा चैव देशोपशमना सर्वेषामपि कर्म्मणामवगन्तव्या न मोहनीयस्यैव केवलस्य। स्वामिविषयमेकं च विशेषमाह।

खवगो उवसमगो वा, पढमकसायाण दंसणतिगस्स।
देसोवसमगो सुसुअपुव्वकरणंतगो जाव॥

स देशोपशमनास्वामी देशोपशमकः प्रथमकषायाणां दर्शनत्रिकस्य च क्षपक उपशमको वा तावदवसेयो यावत्स्वस्वापूर्वकरणान्तगः एतदुक्तं भवति। प्रथमकषायाणां विसंयोजना चतुर्गतिका अपि उपशमका मनुष्याः प्रतिपन्नसर्वविरतेर्ये दर्शनत्रिकस्य क्षपका मनुष्या अविरतसर्वविरता उपशमकाः सर्वविरतास्तावद्देशोपशमनाकारिणो यावत्स्वस्वापूर्वकरणचरमसमयो न परत इति। संप्रति साद्यादि-प्ररूपणार्थमाह।

साइयमाइ चउद्धा, देसुवसमणा अणाइमंतीणं।
मूलुत्तरपगईणं, साइ अधुवोत्तरपगइयो वा॥

अनादिमत्योऽनादिसत्ताकास्तासां देशोपशमना चतुर्द्धा चतुःप्रकारा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवा ऽध्रुवा च। तत्र मूलोत्तरप्रकृतीनामष्टानामपि अपूर्वकरणगुंणस्थानकात्परतः सा देशोपशमना न प्रवर्त्तते ततः प्रतिपाते च भूयोऽपि प्रवर्त्तते इति सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवा अभव्यानां त्वध्रुवा भाविता मूलोत्तरप्रकृतीनां साद्यादिरूपतया चतुर्विधा देशोपशमना। संप्रत्युत्तरप्रकृतीनामनादिसत्कानां सा भाव्यते तत्र वैक्रियसप्तकाहारकसप्तकमनुष्यद्विकदेवद्विकनारकद्विकसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वोच्चैर्गोत्ररूपोद्वलनयोग्यत्रयोविंशतितीर्थकराश्चतुष्टयवर्जाः शेषास्त्रिंशदुत्तरशतसंख्याः प्रकृतयोऽनादिसत्ताकास्तासां मध्ये मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनां स्वस्वापूर्वकरणात्परतो देशोपशमना नोपजायते शेषकर्मणां त्वपूर्वकरणगुणस्थानकात् परतः स्थानात् च्यवमानस्य भूयोऽपि जायते इति सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवाऽध्रुवा अभव्यभव्यापेक्षया यास्त्वध्रुवा अध्रुवसत्ताकाः प्रकृतयोऽनन्तरोक्ता अष्टविंशतिसंख्याकास्ता देशोपशमनामधिकृत्य साद्यध्रुवास्तासां देशोपशमना सादिरध्रुवा चेत्यर्थः। साद्यध्रुवता अध्रुवसत्तावदेव समवसेया।

संप्रति प्रकृतिस्थानानां साद्यादिप्ररूपणार्थमाह।

गोयाउयाणं दोण्हं, चउत्थछट्ठाण होइ सत्तण्हं।
साइयमाइ चउद्धा, सेसाणं एगठाणस्स॥

इह गोत्रस्य देशोपशमनामधिकृत्य द्वे प्रकृतिस्थाने तद्यथा द्वे एका च तत्रानुद्वलितोच्चैर्गोत्रस्य द्वे उद्वलितोच्चैर्गोत्रस्यैका तथा आयुषोऽपि द्वे प्रकृतिस्थाने तद्यथा द्वे प्रकृती एका च। तत्र अबद्धपरभवायुष्कस्य एका बद्धपरभवायुषो द्वे एतेषां च चतुर्णामपि स्थानानां देशोपशमना सादिरध्रुवा च स्थानानामपि स्वयं साद्यध्रुवत्वात् तथा "चउत्थछट्ठाण होइ सतण्हमिति" तत्र यथासंख्येन पदयोजना तत्र चतुर्थं मोहनीयं तस्य देशोपशमनायोग्यानि षट् प्रकृतिस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिश्च शेषाणि पुनरनिवृत्तिबादरसंपराये प्राप्यन्ते इति देशोपशमनायोग्यानि भवन्ति। तत्राष्टाविंशतिस्थानं मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिवेदकसम्यग्दृष्टीनां प्राप्यते सप्तविंशतिस्थानमुद्वलितसम्यक्त्वस्य सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिस्थानमुद्वलितसम्यक्सम्यग्मिथ्यात्वस्यानादिमिथ्यादृष्टेर्वा पञ्चविंशतिस्थानं षड्विंशतिसत्कर्म्मणो मिथ्यादृष्टेः सम्यक्त्वमुत्पादतोऽपूर्वकरणात्परतो वेदितव्यं तस्या मिथ्यात्वदेशोपशमनाया अभावात् तथा अनन्तानुबन्धिनामुद्वलनेऽपूर्वकरणात्परतो वर्त्तमानस्य चतुर्विंशतिस्थानं चतुर्विंशतिसत्कर्म्मणो वा चतुर्विंशतिस्थानं क्षेपिसप्तकस्य एकविंशतिस्थानम् अत्र षड्विंशतिलक्षणस्थानं मुक्त्वा शेषाणां पञ्चानामपि स्थानानां देशोपशमना साद्यध्रुवस्थानानामपि स्वयंकादाचित्कत्वात् षड्विंशतिस्थानस्य चतुर्द्धा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च। तत्रोद्वलितसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वस्य सादिरनादिर्मिथ्यादृष्टेरनादिर्ध्रुवा अभव्यानां भव्यानान्त्वध्रुवा तथा षष्ठानामनन्तस्य देशोपशमनायोग्यानि सप्त स्थानानि तद्यथा त्र्युत्तरशतं द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः त्रिनवतिः चतुरशीतिर्द्व्यशीतिश्च तत्रादिमानि चत्वारि स्थानानि यावदपूर्वकरणगुणस्थानकचरमसमयस्तावद्वेदितव्यानि न परतः शेषाणि च त्रीणि त्रिनवतिचतुरशीतिर्द्व्यशीतिरूपाणि एकेन्द्रियादीनां भवन्ति न श्रेणिप्रतिपद्यमानानां शेषाणि तु स्थानानि अपूर्वकरणगुणस्थानकात्परतो लभ्यानि नार्वागिति न देशोपशमनायोग्यानि एतेष्वपि च स्थानेषु देशोपशमना साद्यध्रुवस्थानानामपि स्वयमनित्यत्वात् शेषाणां तु ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनान्तरायाणां देशोपशमनामधिकृत्यैकैकं प्रकृतिस्थानम्। तत्र ज्ञानावरणस्यान्तरायस्य च प्रत्येकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं स्थानं दर्शनावरणस्य नवप्रकृत्यात्मकं तृतीयस्य द्विप्रकृत्यात्मकम्। एषां च देशोपशमना साद्यादिभेदाच्चतुर्द्धा चतुःप्रकारा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च। "साइयमाइचउद्धा सेसाणं एगठाणस्य" तत्रापूर्वकरणगुणस्थानकात्परतो न भवत्युपश्रेणिस्ततः शमप्रतिपाते च भूयोऽपि भवति ततः सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः। ध्रुवाऽध्रुवा च भव्याभव्यापेक्षया। उक्ता प्रकृतिदेशोपशमना।

संप्रति स्थितिदेशोपशमनामाह।

उवसामणा ठिईओ, उक्कोसा संकमेण तुल्लाओ।
इयरा वि किं तु अभवे, उव्वलगे अपुव्वकरणेसु॥

स्थितिदेशोपशमना द्विविधा तद्यथा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च एकैकाऽपि द्विधा तद्यथा उत्कृष्टा जघन्या च तत्र मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिर्देशोपशमना संक्रमेण तुल्या किमुक्तं भवति यः प्रागुत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामी प्रतिपादितो यथा चोत्कृष्टस्थितिं संक्रम्य साद्यादिप्ररूपणा तदेतत्सर्वमुत्कृष्टस्थितिदेशोपशमनायामपि वाच्यमितरा स्थितिर्जघन्या स्थितिर्देशोपशमनासंक्रमेण तुल्या जघन्यस्थितिः संक्रमतुल्या किंचिदभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितौ वर्त्तमानस्य द्रष्टव्या। तस्यैव प्रायः सर्वकर्म्मणामपि जघन्यायाः स्थितेः प्राप्यमाणत्वात् याश्च प्रकृतयोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिकाले भवन्ति तासामुद्वलकके अपूर्वकरणे वा जघन्यस्थितिदेशोपशमना वेदितव्या तत्रोद्वलनप्रायोग्याणां प्रकृतीनामन्तिमखण्डे पल्योपमसंख्येयभागमात्रे वर्त्तमाने तत्राप्याहारकसप्तकसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वानामेकेन्द्रियस्य च शेषप्रकृतीनां तूद्वलनयोग्यानां वैक्रियसप्तकदेवद्विकनारकमनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणामेकेन्द्रियस्यैव अन्यासाञ्चापूर्वकरणचरमसमये वर्त्तमानस्येति।

अणुभागपएसाणं, सुभाण जा पुव्वमिच्चइयराणं।
उक्कोसियर अरूविय, एगेंदी देससमणाए॥

अनुभागप्रदेशोपशमनाय यथाक्रममनुभागसंक्रमप्रदेशसंक्रमतुल्या इयमत्र भावना द्विविधा अनुभागदेशोपशमना तद्यथा जघन्या उत्कृष्टा च तत्र प्रपञ्चितं प्राक्उत्कृष्टानुभागप्रदेशोपशमनाया अपि तत्र शुभप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिर्नवरं सातवेदनीययशः कीर्त्युच्चैर्नामगोत्राणान्तूत्कृष्टानुभागे संक्रमस्वामी अपूर्वकरणगुणस्थानकात्परतोऽपि भवति उत्कृष्टानुभागदेशोपशमनायाः पुनरुत्कर्षतोऽप्यपूर्वकरणगुणस्थानपर्यवसानः स्वामी इतरासामशुभानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागदेशोपशमना स्वामी च मिथ्यादृष्टिरवसेयः इतरस्या जघन्यानुभागोपशमनायास्तीर्थकरवर्जानां सर्वासामपि प्रकृतीनामभवसिद्धिप्रायोग्यजघन्यस्थितौ वर्त्तमान एकेन्द्रियस्वामी प्रतिपत्तव्यस्तीर्थकरनाम्नस्तु य एव जघन्यानुभागसंक्रमस्वामी स एव जघन्यानुभागदेशोपशमनाया अपि। प्रदेशोपशमनाऽपि द्विधा उत्कृष्टा जघन्या च। तत्रोत्कृष्टप्रदेशोपशमना उत्कृष्टप्रदेशसंक्रमतुल्या नवरं यथा कर्म्मणामपूर्वकरणात्परतोऽपि उत्कृष्टप्रदेशसंक्रमः प्राप्यते तेषामपूर्वकरणगुणस्थानचरमसमयं यावत् उत्कृष्टप्रदेशोपशमना वाच्या जघन्या प्रदेशोपशमना अभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितौ वर्त्तमानस्यैकेन्द्रियस्येति समाप्तमुपशमनाकरणं तदेवमुक्तमुपशमनाकरणम्। पं०सं०। आचा० (कर्मप्रकृतितो ग्रन्थोऽर्थतो नातिरिच्यते शब्दतस्तु भिन्नोऽपि न पृथगवस्थापितोऽभिधेयस्यैवोपादेयत्वात्)

उवसमप्पभव त्रि०(उपशमप्रभव) उपशम इन्द्रियनोइन्द्रियजयस्तस्मात्प्रभवो जन्मोत्पत्तिर्यस्याऽसौ उपशमयप्रभवः इन्द्रियमनोनिग्रहलभ्ये, पा० "अहिरन्नसो वण्णियस्स उवसमप्पभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स" उपशमप्रभवस्येन्द्रियमनोजयोत्पन्नस्य। ध० ३ अधि०।

उवसमलद्धाइकलिय पुं०(उपशमलब्ध्यादिकलित)३ त० उपशमलब्ध्युपकरणलब्धिस्थिरहस्तलब्धियुक्ते, "अविसाई परलोए उवसमलद्धाइकलिओ य" पं० व०।

उवसमलद्धाइजुत्त पुं०(उपशमलब्ध्यादियुक्त) उपशमलब्धिः परमुपशमयितुं सामर्थ्यलक्षणाऽऽदिशब्दादुपकरणलब्धिः स्थिरहस्तलब्धिश्च गृह्यते ततस्ताभिश्च संयुक्तः संपन्नः। उपशमलब्ध्यादिकलिते, ध० ३ अधि०।

उवसमलद्धि स्त्री० (उपशमलब्धि) परमुपशमयितुं सामर्थ्ये, ध०३ अधि०। उपशमनाकरणसामर्थ्ये, "पञ्चत्तो" लद्धितिगजुत्तो लब्धित्रिकयुक्त उपशमलब्ध्युपशमश्रेणिश्रवणकरणलब्धिकरणत्रयहेतुप्रकृष्टयोगलब्धिरूपत्रिकयुक्तः क०प्र०।

उवसमसार त्रि० (उपशमसार) उपशमप्रधाने, "से किमाहु भंते ! उवसमसारं खु सामण्णं" कर्म०।

उवसमसेढि स्त्री०(उपशमश्रेणि)उपशमनाप्रकारे, उपशमश्रेणिं प्रकटयन्नाह।

अणदंसनपुंसत्थी, वेयच्छक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ॥९८॥

तत्र प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिधीयते अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तानामन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्त्तमानस्तेजः पद्मशुक्ललेश्यानामन्यतमलेश्यायुक्तः साकारोपयोगोपयुक्तोऽतः सागरोपमकोटाकोटी स्थितिसत्कर्म्मा कार्मणकालात्पूर्वमभ्यन्तर्मुहूर्त्तकालं यावदवदायमानवित्तसन्तत्यपूर्वकरणं तिष्ठति तथा च तिष्ठमानश्च परावर्तमानाः प्रकृतीः शुभा एव बध्नाति नाशुभाः। अशुभानां च प्रकृतीनामनुभागं चतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति शुभानां च द्विस्थानकं सन्तं चतुःस्थानकं स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे सति अन्यं स्थितिबन्धं पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमासंख्येयभागहीनं करोति। इत्थं करणकालात्पूर्वमन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावदवस्थाय ततो यथाक्रमं त्रीणि करणानि प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकानि करोति तद्यथा यथाप्रवृत्तिकरणम्, अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरणम्। चतुर्थीतूपशान्ताद्धा। तत्र यथाप्रवृत्तिकरणे प्रविशन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रविशति पूर्वोक्तं च शुभप्रकृतिबन्धादिकं तथैव तत्र कुरुते न च स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसंक्रमं वा करोति तद्योग्यविशुद्ध्यभावात् प्रतिसमयं नानाजीवापेक्षया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति षट्स्थानपतितानि च। अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमये ऽध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि एवं तावद्वाच्यं याव–द्यथाप्रवृत्तकरणसमयः एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम्। अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति स्थापना चेयम्।

१२०००००००००००१६
१००००००००००१५
८००००००००१४
६०००००००१३
४००००००११
३०००००६
२००००७
१००००५

इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत्करणं प्रतिपन्नौ विवक्ष्येते तत्रैकसर्वजघन्यया विशोधिश्रेण्या प्रतिपन्नः अपरस्तु सर्वोत्कृष्टया विशोधिश्रेण्या तत्र प्रथमजीवस्य प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा एवं तावद्वाच्यं यावद्यथाप्रवृत्तकरणाद्धया संख्येयो भागो गतो भवति ततः संख्येये भागे गते सति चरमसमयजघन्यविशुद्धसकाशात्प्रथमसमये द्वितीयस्य जीवस्य उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि यतो जघन्यविशुद्धिस्थानान्निवृत्तस्तत उपरितनं जघन्यविशोधिस्थानमनन्तगुणं ततो द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा तत उपरितनं जघन्यं विशोधिस्थानमनन्तगुणं ततस्तृतीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा। एवमुपर्यधश्च एकैकविशोधिस्थानमनन्तगुणतया द्वयोर्जीवयोस्तवन्नेयं यावद्यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये जघन्यं विशुद्धिस्थानं ततः शेषाणि उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानानि अनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावन्नेतव्यानि यावच्चरमसमये उत्कृष्टं विशोधिस्थानम्। भणितं यथाप्रवृत्तिकरणम्। संप्रत्यपूर्वकरणमुच्यते। तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमयमसंख्येय-लोकाकाशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति प्रतिसमयं च षट् स्थानपतितानि तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्थानादनन्तगुणा ततः प्रथमसमय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरन्तगुणा ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशो-

धिरनन्तगुणा एवं जघन्यमुत्कृष्टं च विशोधिस्थानमनन्तगुणया वृद्ध्या तावन्नेयं यावदपूर्वकरणस्य चरमसमये जघन्योत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा। स्थापना चेयम्।

२५०००००००२६

२३०००००००२४

२१०००००००२२

१९०००००२०

१७०००००१८

अस्मिंश्चापूर्वकरणे प्रविशन् स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुण संक्रममवस्थितिबन्धं च युगपदारभते तत्र स्थितिघातो नाम–स्थितिसत्कर्म्मणोऽग्रिमभागादुत्कृष्टतः प्रभूतसागरोपम (शत) पृथक्त्वमात्रं जघन्यतः पल्योपमसंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डं खण्डयति तद्दलिकं वाऽधस्तात्याः स्थितीर्न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति अन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन तत्र स्थितिखण्डमुत्कीर्यते खण्ड्यत इत्यर्थः ततः पुनरधस्तात्पल्योपमसंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्त्तेन कालेनोत्किरति पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामति तथा च सत्यपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्म्मासीत्तात्स्यैव चरमसमये संख्येयगुणहीनम्। जातरसघातो नाम अशुभप्रकृतीनां यदनुभागं सत्कर्म तस्याऽनन्ततमभागं मुक्त्वा शेषाननुभागानन्तर्मुहूर्त्तेन कालेनाशेषानपि विनाशयति ततः पुनरपि तस्य प्रागुक्तस्यानन्ततमभागस्याऽनन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागानन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन विनाशयति एवमनेकान्यनुभागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति तेषां च स्थितिखण्डानां सहस्रैरपूर्वकरणं परिसमाप्यते। गुणश्रेणीनामन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणानां स्थितीनामुपरि याः स्थितयो वर्तन्ते तन्मध्याद्दलिकं गृहीत्वा उदयावलिकाया उपरितनीषु प्रतिसमयमसंख्येयगुणतया निक्षिपति तद्यथा प्रथमसमये स्तोकं द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम्। एवं तावन्नेयं यावदन्तर्मुहूर्त्तचरमसमयस्तच्चान्तर्मुहूर्तमपूर्वकरणानिवृत्तिकरणकालाभ्यां मनागतिरिक्तं वेदितव्यम्। एष प्रथमसमयगृहीतदलिकस्य निक्षेपविधिः। एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपो वक्तव्यः अन्यश्च गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमये यद्दलिकं गृह्यते तत् स्तोकं ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमये-ऽसंख्येयगुणम्। एवं तावन्नेयं यावद् गुणश्रेणिकरणचरमसमयः अपूर्वकरणसमयेष्वनिवृत्तिकरणसमयेषु चानुभवतः क्रमशः क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः शेषे भवति उपरि च न वर्द्धत इति तथा गुणसंक्रमो नाम अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये अनन्तानुबन्ध्यादीनामशुभप्रकृतीनां यद्दलिकं परप्रकृतिषु संक्रमयति तत्स्तोकं ततो द्वितीयसमयपरप्रकृतिषु संक्रम्यमाणसमयमसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम् एवं तावद् वक्तव्यं यावच्चरमसमयः। तथा अन्यस्थितिबन्धो नाम अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽन्य एवापूर्वः स्तोकः स्थितिबन्धः आरभ्यते स्थितिबन्धस्थितिघातौ युगपदेव च निष्ठां यातः एवमेते पञ्च पदार्था अपूर्वकरणे प्रवर्तन्ते व्याख्यातमपूर्वकरणम्। इदानीमनिवृत्तिकरणमुच्यते। अनिवृत्तिकरणं नाम यत्र प्रविष्टानां सर्वेषामपि तुल्यकालानामेवाध्यवसायस्थानम्। तथा हि अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्त्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषामप्येकरूपमेवाध्यवसायस्थानं द्वितीयसमयेऽपि ये वर्तन्ते ये च वृता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकरूपमध्यवसायस्थानं नवरं प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणम्। एवं तावद्वाच्यं यावदनिवृत्तिकरणचरमसमयः अत एवास्मिन् करणे प्रविष्टानां तुल्यकालानामसुमतां संबन्धिनामध्यवसायस्थानानां परस्परं निवृत्तिर्व्यावृत्तिर्न विद्यते इत्यनिवृत्तिकरणं नाम अस्मिंश्चानिवृत्तिकरणे यावन्तः समयास्तावन्त्यध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मादनन्तगुणवृद्धानि एतानि च मुक्तावलीसंस्थानेन स्थापयितव्यानि। अत्रापि प्रथमसमयादेवारभ्य पूर्वोक्ताः पञ्च पदार्थो युगपत्प्रवर्तन्ते अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागेप्यवतिष्ठमाने अनन्तानुबन्धिनामधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा अन्तर्मुहूर्तप्रमामन्तरकरणमभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्त्त प्रमाणेन कालेन करोति अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्यमाणं प्रकृतिषु वध्यमानासु प्रक्षिपति प्रथमस्थितिगतं दलिकमावलिकामात्रं वेद्यमानानामुपरि प्रकृतिषु स्तिवुकसंक्रमेण संक्रमयति अन्तरकरणे कृते सति द्वितीयसमयेऽनन्तानुबन्धिनामुपरितनस्थितिदलिकमुपशमयितुमारभते तद्यथा प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति द्वितीयसमये संख्येयगुणं तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम्। एवं यावदन्तर्मुहूर्त्तकालम् तावता च कालेन साकल्यतोऽनन्तानुबन्धिन उपशमिता भवन्ति उपशमितानां यथारेणुनिकरः सलिलविन्दुनिवहैरभिषिच्याभिषिच्य द्रुघणादिभिर्निष्कुटितो निःस्पन्दो भवति तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्यानिवृत्तिकरणरूपद्रुघणनिष्कुटितः संक्रमणोदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनकरणानामयोग्यो भवति तदेवमेके षामाचार्याणां मतेनानन्तानुबन्धिनामुप शमनाऽभिहिता। अन्ये त्वाचक्षते अनन्तानुबन्धिनामुपशमना न भवति किं तु विसंयोजनैव विसंयोजना क्षपणा सा चैवम् इह श्रेणिमप्रतिपद्यमाना अपि अविरता विरताश्च चतुर्गतिका अपि। तद्यथा नारका देवा अविरतसम्यग्दृष्टयः तिर्यञ्चोऽविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरता वा मनुजा अविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरताः सर्वविरता वा। अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजनार्थं यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कुर्वन्ति करणवक्तव्यता सर्वाऽपि प्राग्वत् नवरमिहानिवृत्तिकरणे प्रविष्टः सन् अन्तरकरणं न करोति।

उक्तं च कर्मप्रकृतौ।

चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विसंजोयेंति।
करणेहि तिहिं सहिया, नंतरकरणं उवसमो वा॥

अस्याक्षरगमनिका चतुर्गतिका नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवाः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तास्त्रयोऽप्यविरतदेशविरतसर्वविरतास्तत्राविरतसम्यग्दृष्ट- यश्चतुर्गतिकाः देशविरतास्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सर्वविरता मनुष्या एव संयोजनामनन्तानुबन्धिनो विसंयोजनयन्ति विनाशयन्ति। किंविशिष्टाः सन्त इत्याह करणैस्त्रिभिर्यथाप्रवृत्त पूर्वकणानिवृत्तिवादरैः सहिता नवरमिहान्तरकरणं न वक्तव्यम्। उपशमो वा उपशमश्चानन्तानुबन्धिनां न भवतीत्यर्थः। किं तु कर्मप्रकृत्यभिहितस्वरूपेणोद्वलनासंक्रमेणाधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा उपरि निरवशेषाननन्तानुबन्धिनो विनाशयति आवलिकामात्रं तु स्तिवुकसंक्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु संक्रमयति तदेवमुक्ता अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजना। संप्रति दर्शनत्रिकस्योपशमना भण्यते। तत्र मिथ्यात्वस्योपशमना मिथ्यादृष्टेर्वेदकसम्यग्दृष्टेश्च सम्यक्तवसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदकसम्यग्दृष्टेरेव तत्र मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वोपशमना प्रथमसम्यक्तवमुत्पादयतः सा चैवं

पञ्चेन्द्रियसंज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः करणकालात्पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्त्तकालं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रवर्द्धमानोऽभव्यसिद्धिकविशुद्ध्यपेक्षयाऽनन्तगुणविशुद्धिको मतिश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानामन्यतमस्मिन् साकारोपयोगे उपयुक्तोऽन्यतस्मिन् योगे वर्त्तमानो जघन्यपरिणामेन तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां वर्त्तमानो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकोऽन्तः सागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा इत्यादि पूर्वोक्तं तावद्वाच्यं यावद्यथाप्रवृत्तिकरणमपूर्वकरणं च परिपूर्णं भवति नवरमिहापूर्वकरणे गुणसंक्रमो नो वक्तव्यः किं तु स्थितिघातरसघातस्थितिबन्धगुणश्रेणय एव वक्तव्याः। गुणश्रेणिदलिकरचनाप्युदयसमयादारभ्यवेदितव्या ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येवमेव वक्तव्यम् अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् संख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किंचित्समधिकं न्यूनं वाऽभिनवस्थितिबन्धाद्धा समेनान्तर्मुहूर्त्तेन कालेन करोति अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति। प्रथमस्थितौ च वर्त्तमानोदीरणाप्रयोगेण यत्प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्योदये प्रक्षिपति सा उदीरणा यत्पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशादुदीरणाप्रयोगणैव दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते उदयोदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद्गतो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते साऽपि तावद्यावदावलिका शेषो न भवति आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते ततः केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति तद्यथा सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं चेति। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ "चरमसमयमिच्छदिट्ठी से काले उवसमं सम्मद्दिट्ठी होहिई ताहे विइयट्ठिइं तिहाणुभागं करेइ तं जहा सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्तं चेति" स्थापना चेयम् ००० ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वस्योदयाभावादौपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति। उक्तं च कर्मप्रकृतौ। "मिच्छत्तुदए खीणे, लहए सम्मत्तमोवसमियंसो। लंभेण जस्स लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्वं जं" अन्यत्रापि उक्तम् "जात्सन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे, शुभोदये। सद्दर्शनं तथैवास्य, सम्यक्त्वे सति जायते" १ आनन्दो जायतेऽत्यन्तं सात्विकोऽस्य महात्मनः। सद्व्याध्यपगमो यद्वद्व्याधितस्य सदौषधात्" २ एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद्भवति उक्तं च "सम्मत्तपढमलम्भो, सव्वोवसमा" इति। सम्यक्त्वं चेदं पतिपद्यमानः कश्चिद्देशविरतिसहितं प्रतिपद्यते कश्चित्सर्वविरतिसहितम् उक्तंच पञ्चसंग्रहे "सम्मत्तेणं सगं, सव्वं देसं च कोइ वडिवज्जे। वृहच्छतकचूर्णावप्युक्तम् "उवसमसम्मद्दिट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोई देसविरइं पलिहेइ, कोइ पमत्तभावं पि सामायणो पूण न किंपि लहेइत्ति" (कर्म०) जिनभद्रगणिक्षमाश्रवणोऽपि "उवसामगसेढीए, पढवओ अप्पमत्तविरओ उ। पज्जवसाणे सो वा, होइ पमत्तो अविरओ वा॥ "अण्णेभणंति अविरयसपमत्तापमत्तविरयाणं। अन्नयरो पडिवज्जइ, द्रंसणसमणम्मि उ नियट्टी द्वे अपि गतार्थे नवरमविरताद्यप्रमत्तानां मध्यात्केनापि दर्शनसप्तके उपशमिते ततो (नियट्टित्ति) निवृतिबादरो भवति (विशे०) ततो देशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतेष्वपि मिथ्यात्वमुपशान्तं लभ्यते। संप्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते। इह वेदकसम्यग्दृष्टिसंयमे वर्तमानः सन्नन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयति उपशमयतश्च करणत्रिकादिविधिर्यथा कर्मप्रकृतिटीकायां तथा वेदितव्यः। एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयितुकामः पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति करणानां च स्वरूपं प्राग्वत् केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानकेद्रष्टव्यं पूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके अत्रापि स्थितिघातादयः पूर्ववदेव प्रवर्त्तन्ते नवरमिह सर्वासामशुभप्रकृतीनाभवध्यमानानां गुणसंक्रमः प्रवर्तत इति वक्तव्यम्। अपूर्वकरणाद्धायाश्च संख्येयतमे भागे गते सति निद्राप्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदः ततः प्रभूतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धायाश्च संख्येयतमो भागो गतो भवति एकोऽवशिष्यते अत्र चान्तरे देवगतिदेवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गाऽऽहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गतैजसकार्मणसमचतुरस्रवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकप्रशस्तविहायोगत्यसुभसुभगसुखरादेयनिर्माणतीर्थकरसंज्ञितानां त्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदः। ततः स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमये हास्यरत्यरतिभयजुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेदः। हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सानामुदयः सर्वकर्म्मणां देशोपशमनानिधत्तिनिकाचनाकरणव्यवच्छेदश्च ततोऽनन्तरसमये निवृत्तिकरणे प्रविशत्यपि स्थितिघातादीनि पूर्ववत्करोति ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु सत्सु दर्शनसप्तकेशेषाणामेकविंशतिमोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरणं करोति तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य संज्वलनस्य त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्य प्रथमा स्थितिः स्वोदयकालप्रमाणा शेषाणां त्वेकादशकषायाणामष्टानां च नोकषायाणामावलिकामात्रं स्वोदयकालप्रमाणं च चतुर्णां संज्वलनानां त्रयाणां च वेदानामिदं स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोरुदयकालः सर्वस्तोकः स्वस्थाने च परस्परं तुल्यः ततः पुरुषवेदस्य संख्येयगुणः ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकः ततः संज्वलनमानस्य विशेषाधिकः ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकः ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकः। इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्यं तत्तु ग्रन्थगौरवभयान्नोच्य ते केवलं विशेषार्थिना कर्मप्रकृतिटीका निरीक्षितव्या। अन्तरकरणं च कृत्वा ततो नपुंसकवेदमन्तर्मुहूर्तेमात्रेण उपशमयति ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण स्त्रीवेदं ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण हास्यादिषट्कं तस्मिंश्चोपशान्ते तस्मिन्नेव समये पुरुषवेदस्य बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः ततः समयोनावलिकाद्विकेन पुरुषवेदमुपशमयति ततो युगपदन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणाप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणक्रोधौ तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनक्रोधोदयोदीरणाव्यवच्छेदः ततः समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनक्रोधमुपशमयति ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणाप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनमानस्य बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः ततः समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनमानमुपशमयति ततो युगपदन्तर्मुहूर्तमात्रेण अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणमाये उपशमयति तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनमायाया बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः ततः समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनमायामुपशमयति ततो

युगपत्प्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणलोभावुपशमयति तत्समयमेव संज्वलनलोभस्य बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः। ततः संज्वलनलोभमुपशमयंस्त्रिधा करोति द्वौ भागौ युगपदुपशमयति तृतीयभागं संख्येयखण्डानि करोति दान्यपि पृथक् पृथक् कालभेदेनोपशमयति पुनः संख्येयानां खण्डानां किट्टीकृत्य परपर्यायाणां चरमखण्डमसंख्येयानि खण्डानि सूक्ष्मकिट्टीकृत्य परपर्यायाणि करोति ततः समये समये एकैकं खण्डमुपशयमयतीति। इह च दर्शनसप्तके उपशान्ते निवृत्तिबादरोऽभिधीयते तत उर्द्धमनिवृत्तिबादरो यावल्लोभस्यासंख्येयान्तिमचरमखण्ड इति प्ररूपिता मोहनीयस्याष्टाविंशतिभेदभिन्नस्याप्युपशमना। संप्रति गाथार्थो विव्रियते। इहोपशमश्रेणिप्रारम्भको भवत्यप्रमत्तसंयत एव। अन्ये तु प्रतिपादयन्ति। अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामन्यतम इति श्रेणिपरिसमाप्तौवाऽविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामन्यतमो भवति। स च प्रथमं युगपत् (अणत्ति) अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभानुपशमयति ततो "दर्शनं दर्शस्तं" दर्शं मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यग्दर्शनं युगपदुपशमयति। ततोऽनुदीर्णमपि नपुंसकवेदं यदि पुरुषः प्रारम्भकस्ततः प्रथमं नपुंसकवेद ततः पश्चात्स्त्रीवेदं ततः षट्कं हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं ततः पुरुषवेदम् अथ स्त्री प्रारम्भिका ततः प्रथमं नपुंसकवेदं ततः पुरुषवेदं ततः षट्कं ततः स्त्रीवेदमिति। अथ नपुंसकवेद एव प्रारम्भकस्ततोऽसावनुदीर्णमपि प्रथमं स्त्रीवेदमुपशमयति ततः पुरुषवेदं ततः षट्कं ततो नपुंसकवेदमिति। पुनश्च द्वौ द्वौ क्रोधाद्यावेकान्तरितौ संज्वलनविशेषक्रोधाद्यन्तरितौ सदृशौ तुल्यावुपशमयति। अयमर्थः। अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणक्रोधौ सदृशौ क्रोधत्वेन युगपदुपशमयति ततः संज्वलनक्रोधमेकाकिनं ततोऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति ततः संज्वलनमानं ततोऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणमायौ युगपदुपशमयति ततः संज्वलनमायां ततोऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणलोभौ युगपदुपशमयति ततः संज्वलनलोभमिति। स्थापना चेयम्

संज्वलनलोभः	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानक्रोधः
अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानलोभः।	पुरुषवेदः
संज्वलनमाया	हास्यादिषट्कः
अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानमाया।	स्त्रीवेदः
संज्वलनमानः।	नपुंसकवेदः
अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानमानः।	मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वम्
अप्रत्याख्यानसंज्वलनक्रोधः	अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभः

ननु संज्वलनादीनां युक्त उपशमोऽनन्तानुबन्धिनां तु दर्शनप्राप्तावेवोपशमितत्वान्न युज्यते न दर्शनप्रतिपत्तौ तेषां क्षयोपशमादिह चोपशमादित्यविरोध इति। आह क्षयोपशमोपशमयोः कः प्रतिविशेषे उच्यते। क्षयोपशमो ह्युदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकानुभवापेक्षयोपशमः प्रदेशानुभवतस्तूदयोऽस्त्येव उपशमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति। यदाह भाष्यपीयूषपाथोधिः "वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएत्थ नाणुभावं सो। उवसंतकम्मओ पुण, वेएइ न संतकम्मंपि" अन्यत्राप्युक्तम्।

"उवसंतकम्मं जं न, तउ कढेइ न वेइ उदएवि।
न य गमयइ परपगइं, न चेव उ कड्ढए तं तु"।

अस्या अक्षरगमनिका सर्वोपशमेन यदुपशान्तं मोहनीयकर्म्म अन्यस्य सर्वोपशमायोगात् "सव्वोवसमो मोहस्स चेवेति" वचनात् न तदपकर्षति न तदपवर्तनाकरणेन स्थितिरसाभ्यां हीनं करोतीत्यर्थः। अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वान्नाप्युदये तद्दादति नापि तद्वेदयतीत्यर्थः। उपलक्षणात्तदविनाभाविन्यामुदरिणायामपि न ददातीत्यपि मन्तव्यम्। न च बध्यमानसजातीयरूपां परप्रकृतिं संक्रमणकरणेन गमयति संक्रमयति। न च तत्तत्कर्मोपशान्तं सदुत्कर्ष यत्युद्वर्तनाकरणेन स्थितिरसाभ्यां वृद्धिं नयति निधत्तिनिकाचनायास्तु प्रागपूर्वकरणकाल एव निवृत्तत्वान्नेहोपशान्तत्वेन तन्निषेधः क्रियते इति। आह संयतस्यानन्तानुबन्धिनामुदयो निषिद्धस्तत्कथमुपशम इत्युच्यते स ह्यनुभागकर्माङ्गीकृत्य न तु प्रदेशकर्म्मेति तथा चाभ्यधायि परमगुरुणा "जीवेणं भंते! सयंकडं कम्मं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ। से केणट्ठेणं पुच्छा दुविहे कम्मे पन्नत्ते तं जहा पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य। तत्थ णं जं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ तत्थ णं जं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ" इत्यादि ततश्च प्रदेशकमप्यभावोदयस्येहोपशमो द्रष्टव्यः। आह यद्येवं संयतस्यानन्तानुबन्ध्युदयतः कथं दर्शनविघातो न भवतीत्युच्यते प्रदेशकर्म्मणो मन्दानुभावत्वात्। तथा कस्यचिदनुभागकर्मानुभागोऽपि नात्यन्तमपकाराय भवन्नुपलभ्यते यथा संपूर्णमत्यादिचतुर्ज्ञानिनस्तदावरणोदय इति ततः सूक्ष्मलोभचरमकिट्ट्युपशमे संज्वलनलोभ उपशान्तो भवति तत्समयमेव च ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकयशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणां बन्धव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयेऽसावुपशान्तकषायो भवति स च जघन्येनैकं समयमात्रमुत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तकालं यावत् तत उर्द्धं नियमादसौ प्रतिपतति। प्रतिपातश्च द्विधा भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम्। अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति। यत्र यत्र बन्धोदयोदीरणाव्यव-च्छिन्नास्तत्र तत्र पतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत् प्रतिपतितश्च तावत्प्रतिपतति यावत्प्रमत्तसंयतगुणस्थानकम्। कश्चित्पुनस्ततोऽप्य-धस्तनं गुणस्थानकद्वयं याति कोऽपि सास्वादनभावमपि। यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनिकरणानि प्रवर्तयतीति शेषः। उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात्तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभावः। यः पुनरेकं वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिभवेदपि उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ "जोदुवारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि इक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी हुज्जति" एष कार्मग्रन्थिकाभिप्रायः। सिद्धान्ताभिप्रायेण त्वेक-

स्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते उक्तं च कल्पाध्ययने एव अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु। अन्नयरसेढिवज्जं, एग भवेणं च सव्वाइं" सर्वाणि सम्यक्त्वदेशविरत्यादीनि। अन्यत्राप्युक्तम्। "मोहोपशम एकस्मिन् भवे द्विः स्यादसन्ततः। यस्मिन् भवे तूपशमः क्षयो मोहस्य तत्र नेति"। तदेवमभिहिता सप्रपञ्चमुपशमश्रेणिः। कर्म०। विशे०। वृ०। आचा०। आ० म० प्र०। क० प्र०। पं० सं०। (उवशमणा–ऽधिकारेऽप्युपशमश्रेणिवक्तव्यतोक्ता इतः संयोज्या)

उवसामइत्तु अव्य०(उपशमय्य) उप–शम् ल्यप्। उपशमं नीत्वेत्यर्थे, "उवसामइत्तु चउहा अंतमुहूत्तं धिऊणं बहुकालं" पं० सं०

उवसामग पुं (उपशामक) उपशान्तमोहे, आव० ४ अ०।

उवसामिय त्रि०(उपशामित) उपशमं नीते, "उवसामिए परेण व" उपशामिते परेणोपशमं नीते। व्य०१ उ०। उपशमं ग्राहिते, व्य० ६ उ०।

उवसामेमाण त्रि० (उपशमयत्) उपशमं कारयति, क्षुद्रव्यन्तरा–धिष्ठितं समयप्रसिद्धविधिनोपशमयति, स्था० ६ ठा०।

उवसुद्ध त्रि०(उपशुद्ध) उप सामीप्येन शुद्धम्। निर्दोषे, सूत्र०१ श्रु० ७ अ०।

उवसोभिय त्रि० (उपशोभित) सामस्त्येन शोभिते,। आ० म० प्र०। रा०। "कविसीसएहिं उवसोभिए" रा०। हारद्धहारउवसोभिए"। रा०। समारचितकेशत्वादिना जनितशोभिते, ज्ञा० ६अ०

उवसोहिय त्रि०(उपशोधित) निर्मलीकृते, ज्ञा० ६ अ०।

उवस्तिद–त्रि०(उपस्थित)उप–स्था–क्त–। **स्थर्थयोस्तः ८।४।२६१।** इति स्थस्थाने सकाराक्रान्तस्तकारः। समीपस्थिते,प्रा०

उवस्सय–पुं०(उपाश्रय)उपाश्रीयते सेव्यते संयमात्मपालनाये–त्युपाश्रयः। स्था० ५ ठा०। उपाश्रीयते भज्यते शीतादित्राणार्थं यः स उपाश्रयः। वसतौ, स्था ०३ ठा०। आचा०। ज्ञा०।

उपाश्रयक्षेपः॥

नामं ठवणा दविए, भावे य उवस्सओ मुणेयव्वो।
एएसिं नाणत्तं,वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

नामोपाश्रयः स्थापनोपाश्रयः द्रव्योपाश्रयः भावोपाश्रयश्चेत्युपाश्रयश्चतुर्द्धा मन्तव्यः। एतेषामुपाश्रयाणां नानात्वविशेषमहमानुपूर्व्या वक्ष्यामि। तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यभावोपाश्रयौ प्रतिपादयति।

दव्वम्मि उ उवस्सओ, कीरइ कडवुत्थमेव सुत्तम्मि।
भावम्मि निसिद्धे जं, एसु दव्वम्मि इयरेसु॥

द्रव्यं तु द्रव्यविषयं पुनरुपाश्रयो यः संयतार्थं क्रियते क्रियमाणे वर्त्तते कृतो वा परमथापि न संयतेभ्यो वितीर्यते। यो गृहस्थैरात्मार्थं निष्पादितः परं यत्र संयता मासकल्पं वा (वच्चति) उषित्वा अन्यत्र गताः सांप्रतमुपाश्रयः शून्यस्तिष्ठति एष द्रव्योपाश्रयः। भावोपाश्रयो नाम यः संयतेभ्यो निसृष्टः प्रदस्तैः परिभुज्यमान इत्यर्थः। यः पुनरितरेषां पार्श्वस्थादीनां सृष्टः सोऽपि द्रव्योपाश्रयो विज्ञेयः। आह च वृहद्भाष्यकृत् "जो समणट्ठाय कतो, वुच्छा वा आसि जत्थ समणाओ। अहवा दव्वउवस्सओ, पासत्थादीपरिग्गहिओ" वृ०। उ०। (उपाश्रयस्य सर्वो विषयो वसतिशब्दे वक्ष्यते) कर्मणि अच् आश्रयणी ये, भावे अच्। आश्रये, वाच०।

उवस्सयअसंकिलेस पुं० (उपाश्रयासंक्लेश) उपाश्रयविषये असंक्लेशे असंक्लेशभेदे, स्था०१० ठा०।

उवस्सयसंकिलेस पुं०(उपाश्रयसंक्लेश) उपाश्रयो वसतिस्तद्विषयः संक्लेशः। संक्लेशभेदे, स्था० १० ठा०।

उवस्सा स्त्री० (उपश्रा) द्वेषे, व्य० १ उ०।

उवस्सिय त्रि०(उपाश्रित) उपाश्रा नाम द्वेषः स जातोऽस्योति उपाश्रितः। द्वेषवति, व्य० १ उ०। अङ्गीकृते, वैयावृत्यकरत्वादिना प्रत्यासन्नतरे, उप–आ–श्रि० भावे–क्त–द्वेषे, शिष्यप्रतीच्छक कुलाद्यपेक्षायाम् स्था० ५ ठा०।

उवहड त्रि०(उपहृत) उप हृ–क्त–उपढौकिते, उपहाररूपेण दत्ते च। उपहिते भोजनस्थाने, ढौकिते, भक्ते,।

तिविहे उवहडे पण्णत्ते तं जहा फलिह उवहडे सुद्धोवहडे संस–ट्ठोवहडे॥

त्रिविधमुपहृतं प्रज्ञप्तं तद्यथा सिद्धोपहृतं फलितोपहृतं संसृष्टोपहृत्तं च। स्था० ३ ठा०। अमीषां पदानां व्याख्यानं भाष्यकृत्करिष्यति अधुना भाष्यप्रपञ्चः।

सुद्धे संसट्ठे य, फलितोवहडे य तिविहमेक्केक्कं।
तिन्नेगदुगमा तिन्नि य, तिगसंजोगे भवे एक्को॥

उपहृतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते त्रिविधमुपहृतं सूत्रेऽभिहितं तद्यथा शुद्धोपहृतं संसृष्टोपहृतं फलितोपहृतं च। एकैकं पुनस्त्रिविधं यदवगृह्णाति यच्च संहरति यच्चाऽऽस्ये प्रक्षिपति एतदनन्तरसूत्रे वक्ष्यते। अत्रैकैकसंयोगे त्रयो भङ्गास्तद्यथा। शुद्धोपहृतं वा गृह्णाति १ फलितोपहृतं गृह्णाति २ संसृष्टोपहृतं गृह्णाति३ द्विकसंयोगेऽपि त्रयस्तद्यथा शुद्धोपहृतं फलितोपहृतं च१। शुद्धोपहृतं संसृष्टोपहृतम्।२। फलितोपहृतं संसृष्टोपहृतं च।३। त्रिकसंयोगे एकः। शुद्धोपहृतं फलितोपहृतं संसृष्टोपहृतं च गृह्णाति। सर्वसंख्यया सप्त भङ्गाः। एतेषामेकतरमभिगृह्णात्यभिग्रही।

संप्रति शुद्धादिपदानामर्थमाचष्टे।

सुद्धं तु अलेवकडं, अहवणसुद्धोदणो भवे सुद्धं।
संसट्ठं आदत्तं, लेवाणमलेवडं चेव।
फलियं पहेणयादी, वंजणभक्खेहि वा विरइयं तु।
भोत्तुं मणसोपहियं, पंचमपिंडेसणा एसा॥

यत् अलेपकृतं काञ्जिकेन पानीयेन वा सन्मिश्रीकृतं तच्छुद्धम्।अथवा शुद्धोदनो व्यञ्जनरहितो भवति। शुद्धं तदपि नियमादलेपकृतम्। संसृष्टं नाम भोक्तुकामेन तद् गृहीतम्। किमुक्तं भवति। यत् स्थाले परिवेषितं तत्र ग्रहणाय हस्तः क्षिप्तो न तावदद्यापि मुखे प्रक्षिपति। अत्रान्तरे साधुरागतो भिक्षार्थं ततः लेपकृतमलेपकृतं वा संसृष्टमित्युच्यते। फलितं नाम यद् व्यञ्जनैर्भक्ष्यैर्वा नानाप्रकारैर्विरचितं पहेणकादि प्रहेणकं लाभनकमादिशब्दात्सरजस्कानां दानाय कल्पितं परिगृह्यते। उपहृतशब्दस्यार्थमाह। यत्र भोक्तुमनस उपहृतं तदुपहृतमित्युच्यते एषा च पञ्चमी पिण्डेषणा।

सुद्धग्गहणेणं पुण, होइ चउत्थी वि एसणा गहिया।
संसट्ठे उ विभासा, फलियनियमा उ लेवकडं॥

शुद्धग्रहणेन चतुर्थ्यप्येषणा अल्पलेपकृता नामिका गृहीता द्रष्टव्या। संसृष्टे विभाषा। कदाचिल्लेपकृतं कदाचिन्नेति। फलितं तु

नियमाल्लेपकृतमेवेति। व्य० द्वि० ६ उ० (अत्रान्यदपि किञ्चिद्व-क्तव्यं तदुग्गहियशब्दतो बोध्यम्)

उवहणंत त्रि०(उपघ्नत्) विध्वंसयति, प्र० १ श्रु०२ अ०।

उवहणण न०(उपहनन) चारित्रस्य विराधने, । स्था० १० ठा०।

***उवहत्थ** सम् आ-रच्-धा० चुरा-पर-समारचने, **समारचेरुव-हत्थसारवसमारकेलायाः ८।४। ६५।** इति समारचेरुवहत्था देशः। उवहत्थइ सारवइ समारअइ समारचयति। प्रा०।

उवहय त्रि०(उपहत) उप-हन्-क्त-तिरस्कृते, विनाशिते, वाच०। ज्ञा०। उपघातपण्ढके, पं० भा०। पं० चू०। उत्पातग्रस्ते, अशुद्धद्रव्यसंयोगेन अशुद्धे, अभिभूते च वाच०॥

उवहयजोणि स्त्री०(उपहतयोनि) गर्भग्रहणसमर्थायाम्, "अणु-हयजोणि इत्थिया" गर्भं गृह्णातीत्यर्थः"। नि० चू० १ उ०।

उवहयभाव त्रि०(उपहतभाव) दुष्टतादिभिर्दोषैरुपहतो भावः परिणामो यस्य। दुष्टतया परिणते, वृ० ४ उ०।

उवहयमइविण्णाण त्रि०(उपहतमतिविज्ञान) मतिः स्वाभाविकी विज्ञानं च गुरुपदेशजं मतिविज्ञाने ते उपहते दूषिते यस्य स उप-हतमतिविज्ञानः। तत्वातत्वव्यतिकरविवेकविकले, वृ० १ उ०

उवहयमणसंकप्प त्रि०(उपहतमनःसंकल्प) उपहतोऽस्वच्छतया मनःसंकल्पो यस्य स तथा। मलीमसचित्तवृत्तौ, । सूत्र०-२ श्रु० २ अ०। उपहतो ध्वस्तो मनसः संकल्पो दर्पहर्षादिप्रभवो विकल्पो यस्य स तथा। विध्वस्तमनःसंकल्पे, "किण्हं देवाणुप्पिया उवहयमणसंकप्पा जाव झिया यह" भ०३ श०२ उ०।

उवहरंत त्रि०(उपहरत्) पूजयति, **धातवोऽर्थान्तरेऽपि ।८।४।२५६।** इति उपहरतिः पूजार्थे, प्रा०। विनिवेशयति, ज्ञा०१४ अ०।

उवहरिंसु त्रि० (उपहृतवत्) उपनीतवति, "अमणुन्नाइं मे सद्दाइ जाव उवहरिंसु" स्था०६ ठा०।

उवहसिय न०(उपहसित) उप-हस्-भावे-क्त० उपहासे, निन्दासूचकेहासभेदे, वाच०। हास्यचेष्टाकरणे, तं०।

उवहाजोग पुं० (उपधायोग) मायाप्रयोजने, "गुर्वनुज्ञोपधायोगो-वृत्युपायसमर्थनम्" उपधायोग इति। उपधा माया तस्या योगः प्रयोजनं सा च तत्तत्प्रकारैः सर्वथा परैरनुपलक्षयमाणैः प्रयोज्या ते च प्रकारा इत्थं धर्मविन्दौ प्रोक्तास्तद्यथा। दुःस्वप्नादिकथनमिति दुःस्वप्नस्य खरोष्ट्रमहिषाद्यारोहणादिदर्शनरूपस्य। आदिशब्दात् मातृमण्डलादि-विपरीतालोकनादिपरिग्रहः। तस्य कथनं गुर्वादेर्निवेदनमिति। ध० ३ अधि०।

उवहाण-न०(उपधान) उपधीयते शिरोऽत्र उप-धा-आधारे ल्युट्। हंसरोमादिपूर्णे उच्छीर्षके, वृ० ४ उ०। "पूयादिपुन्नं सिरोवहाण मुहाणगं" नि० चू० १२ उ०। कर्मणि घञ्। प्रणये, हेम० विशेषेण प्रणये, विश्वः। भावे, ल्युट्० समीपस्थाने, न०। करणे ल्युट्-उपधानसाधने, मन्त्रे, पुं० वाच० मोक्षंप्रत्युपसामीप्येन दधातीति उपधानम्। अनशनादिके तपसि, सूत्र० १ श्रु० २ अ०१ उ०। स्था०। आव०। पं० व०। उप समीपे धीयते क्रियते सूत्रादिकं येन तपसा तदुपधानम्। प्रव०६ द्वा०। उपदधाति पुष्टि नयति अनेनेत्युपधानम्। व्य० प्र० १उ०। अङ्गोपाङ्गानां सिद्धान्तानां पठनाराधनार्थमाचारलोपवासनिर्विकृत्यादिलक्षणे तपोविशेषे, उत्त०११अ०। उपधीयते उवह्यते श्रुतमनेनेति उपधानम्। चारित्रोपष्टम्भनहेतौ श्रुतविषये उपचारे, पंचा०६ विव०। स्था०। द०। दशा०। विनयबहुमानाभ्यां चतुर्भङ्ग्योपदधानीति उपधानम्। तपसि, ग०१ अधि०। ध०।

उपधाननिक्षेपचिकीर्षयाऽऽह।

नामं ठवणुवहाणं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं।
एमेव य सुत्तस्स वि, निक्खेवो चउव्विहो होइ।२६८॥

नामोपधानं स्थापनोपधानं द्रव्योपधानं भावोपधानं च। श्रुत-स्याप्येवमेव चतुर्द्धा निक्षेपस्तत्र द्रव्यश्रुतमनुपयुक्तस्य यच्छ्रुतं द्रव्यार्थं वा यच्छ्रुतं कुप्रावचनिकश्रुतानि चेति। द्रव्यश्रुतं भावश्रुतं त्वङ्गानङ्गप्रविष्ट-श्रुतविषयोपयोगस्तत्र सुगमनामस्थापनाव्युदासेन द्रव्याद्युपधान-प्रतिपादनायाह॥

दव्वुवहाणं सयणे, भावुवहाणं तवो चरित्तस्स।
तम्हा उनाणदंसण, तवचरणेणाहिगारं तु॥२६९॥

उप सामीप्येन धीयते व्यवस्थाप्यत इत्युपधानम्। द्रव्यभूतमुपधानं द्रव्योपधानं तत्पुनः शय्यादौ सुखशयनार्थं शिरोऽवष्टम्भवस्तु। भावोपधानमिति भावस्योपधानं भावोपधानं तत्पुनर्ज्ञान-दर्शनचारित्राणि तपोवासबाह्याभ्यन्तरं तेन हि चारित्रपरिणतभा-वस्योपष्टम्भनं क्रियते यत एवं तस्मात् ज्ञानदर्शनतपश्चरणैरिहा-धिकृतमिति गाथार्थः। किं पुनः कारणं चारित्रोपष्टम्भकतया तपो-भावोपधानमुच्यत इत्याह।

जह खलु मइलं वत्थं, सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणे-णसुज्झए कम्ममट्ठविहं॥३००॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः यथैतत्तथाऽन्यदपि द्रष्टव्यमित्यर्थः। खलु शब्दो वाक्यालंकारे यथा मलिनं वस्त्रमुदकादिभिर्द्रव्यैः शुद्धिमुपयात्येवं जीवस्यापि भावोपधानभूतेन स बाह्याभ्यन्तरेण तपसा अष्टप्रकारं कर्म्म शुद्धिमुपयातीत्यस्य च कर्मक्षयहेतोस्तपस उपधानश्रुतत्वेनात्रोपात्तस्य तत्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति कृत्वा पर्यायदर्शनायाह। यदि वा तपोनुष्ठानेनापादिता अवधूननादयः कर्मापगमविशेषः सम्भवन्तीत्य-तस्तान् दर्शयितुमाह।

ओहणणधुवणनासण-विणासणज्झवणखवणसोहिकरणं।
छेयण भेयण फेयण, डहणं धुणणं च कम्माणं॥

तत्रावधूननमपूर्वकरणेन कर्मग्रन्थैर्भेदापादनं तच्च तपोऽन्यतरभेद सामर्थ्याद्भवतीत्येषा क्रिया शेषेष्वप्येकादशसु पदेशेष्वायोज्या तथा धूनन भिन्नग्रन्थैरनिवृत्तिकरणेन सम्यक्त्वावस्थानम्। तथा नाशनं कर्मप्रकृतेः स्तिवुकसंक्रमेण प्रकृत्यन्तरगमनम्। तथा विनाशनं शैलेश्यवस्थायां सामस्त्येन कर्माभावापादनम्। तथा ध्यापनमुपशम-श्रेण्यां कर्मानुदयलक्षणविध्यापनम्। तथा क्षपणमप्रत्याख्यानादि-प्रक्रमेण क्षपकश्रेण्यां मोहाद्यभावापादनम्। तथा शुद्धिकरमित्य-नन्तानुबन्धि क्षयप्रक्रमेण क्षायिकसम्यक्त्वापादनम्। तथा छेदनमुत्तरोत्तरशुभाध्यवसायारोहणात् स्थितिह्रासजननम्। तथा भेदनं बादरसम्परायणां संज्वलनलोभस्य खण्डशो विधानम्। तथा (फेडणंति) अपनयनं चतुःस्थानिकादीनामशुभप्रकृतीनां रसतस्त्र्यादिस्थाना-पादनम्। तथा दहनं केवलिसमुद्घातध्यानाग्निना वेदनीयस्य भस्मसात्करणं शेषस्य च दग्धरज्जुतुल्यत्वापादानम्। तथा धावनं शुभाध्यवसायान्मिथ्यात्वपुद्गलानां सम्यक्त्वभावसं जननमिति। आचा० १ श्रु० ६ अ०१ उ०।

तं दव्वे भावे य, दव्व उवहागगादिभाव इमं।

दोग्गइपडयणधरणी, उवधाणं जत्थ जं सुत्त ॥

आगाढमणागाढे, गुरुलहुयाणादि सगडपिता ॥१५॥

दुट्ठा गति दुग्गा वा गति दुग्गति दुःखं वा जंसि विज्जति गतीए एसा गई दुग्गती विषमेत्यर्थः। कुत्सिता वा गतिर्दुर्गतिः अणभिलसियत्थे दुस्सद्दो जहा दुब्भगो सा य नरगगती नियगती वा। पतणं पातः तीए दुग्गतीए पतन्तमप्पाणं जेण धरेति तं उवहाणं भण्णति तं च जत्थ जत्थ त्ति एस सुत्तवीप्सा जत्थ उद्देसगे जत्थ अज्झयणे जत्थ सुयक्खंधे जत्थ अंगे कालुक्कालियअंगाणंगेसु नेया जमिति जं उवहाणं णिव्वितितादि तं तत्थ तत्थ सुत्ते श्रुते कायव्वमिति पक्कमे संभवति। आगाढेत्ति जं च उद्देसगादीसुत्तं भणियं तं सव्वं समासओ दुविहं भण्णति। आगाढं अणागाढं वा तं च आगाढसुयं भगवतिमाइ अणागाढं आयारमाति। आगाढं उवधाणं कायव्वं अणागाढे अणागाढं जो पुण विवज्जासं करेति तस्स पच्छित्तं भवति आगाढे वा अणागाढे वा आणा अणवत्थमिच्छत्तविराहणाय भवति एत्थदिट्ठंतो असगडपिया को सो असगडत्तातो अप्पती भण्णत्ति। गंगातीरे एगो आयरिओ वायणापरिस्संतो सज्झाए वि असज्झायं पोसेति एवं णाणंतरायं काऊण देवलोगं गओ तओ चुओ आभीरकुले पच्चायाओ भोगे भुञ्जति धूया य से जाया अतीव रूववती ते पव्वंतिया गोयरियाए हिण्डन्ति तस्स य सगडं पुरतो वच्चति सा य से धूता सगडस्य तुंडे ठिता तीसे य दरिसणत्थं तरुणेहिं सगडाणि उप्पहेण पेरियाणि भग्गाणि य तो से दरिसेण लोगेण णामं कतं असगडाए पिआ असगडपिया तस्स तं चेव वेरग्गं जातं दारियं दाउं पव्वइतो पढिओ जाव चाउरंगि जं असंखए उद्दिठे तण्णाणावरणं उदिण्णं पढंतस्स नट्ठाति छट्ठेण अणुण्णव इति भणिए भणति एयस्स को जोगो आयरिया भणन्ति जाव णट्ठाति ताव आयंबिलं तहा पढति बारसविज्जा बारसहिं वरिसेहिं आयंबिलं करेंतेणं पढिया तं च से णाणावरणं खीणं एवं सम्मं आगाढजोगो अणागाढजोगो वा अणुपालेयव्वोत्ति उवहाणेत्ति दारं गयं। नि०चू० १ उ०। द०।व्य०।

एव तु समणुचिण्णं, वीरवरेणं महाणुभावेणं।

जं अणुचरित्तु धीरा, सिवमउलं जंति निव्वाणं ॥३०२॥

एवमुक्तविधिना भावोपधानं ज्ञानादितपो वा वीरवर्द्धमानस्वामिना स्वतोऽनुष्ठितमतोऽन्येनापि मुमुक्षुणैतदनुष्ठेयमिति निर्युक्तिगाथार्थः समाप्तः। आचा० १ श्रु०६ अ०१ उ० (तच्चअनिश्चितं कर्त्तव्यमिति अणिस्सिओवहाणशब्दे उक्तम्)

पञ्चमङ्गलस्योपधानकर्त्तव्यतामाह।

**एएसिं अट्ठण्हं पि पयाणं गोयमा जे केइ अणोवहाणेणं सुपसत्थं नाणमहीयंति। अज्झावयंति वा अहीयंति वा अज्झावयंतेइ वा समणुजाणंति तेणं महापावकम्मे महती सुपसत्थनाणस्सासायण पकुव्वंति। से भयवं जइ एव ता किं पंचमंगलस्य ण उवहाणं कायव्वं गोयमा! पढमं नाणं तओ दया एय सव्वजगज्जीवपाणभूयसत्ताणं अत्तसमदरिसित्तं सव्वजगज्जीवपाणभूयसत्ताणं अत्तसमंदंसणाओ य तेसिं चेव संघट्टणपरियावणाकिलावणोद्दावणाइं दुक्खपायणभवविवज्जाणं ततो अणासवाउ य संवुडा सव्वदारत्तं संवुडा सव्वदारत्तेणं च दमोपसमो तओ य समसत्तुमित्तपक्खयाए य अरागदोसत्तं तओ य अकोहया अमाणया अमायया अलोभया अकोहमाणमायालोभयाए य अकसायत्तं तओ य सम्मत्तं सम्मत्ताओ य जीवाइपयत्थपरित्ताणं तओ सव्वत्थ अप्पडिबद्धा तं णेयं अन्नाणमोहमिच्छत्तक्खयं तओ विवेगो विवेगाओ हेयउवाएयवत्थूवियालणे गंतव्वद्धलक्खत्तं तओ य अहियपरिच्चाओ हियायरेण य अचंतमज्झजमो। तओ य परमपवित्तुत्तम खंतादिदसविह अहिंसालक्षणं धम्माणुट्ठाणिक्ककरणकारवणासत्तवित्तया। तओ य खंतादिदसविहअहिंसालक्खणधम्माणुट्ठाणिक्ककरणकारवणासत्तवित्तयाए य संव्वुत्तमा खंती सव्वुत्तमम्मि उ तं सव्वुत्तमं अज्जविभावितं सव्वुत्तमं सव्वब्भंतरं सव्वसंगपरिच्चागं सव्वुत्तमं सव्वब्भंतरदुवालसविहं अचंतघोरवीरग्गकट्ठतवचरणाणुट्ठाणाभिरमणं सव्वुत्तमं सत्तरसविहकंसिणसंजमाणुट्ठाणपरिपालनेक्कबद्धलक्खत्तं सव्वुत्तमं सव्वगिरणं छक्काहियं अणुगूहियबलवीरियपुरिसक्कारपरक्कमपरितोलणं च सव्वुत्तमुत्तमसज्झाणसलिलेणं पावकम्मसमलेवपक्खालणंति। सव्वुत्तमुत्तमं आकिंचणं सव्वुत्तममुत्तमं परमपवित्तुत्तमसव्वभावभावंतरेहिणं सुद्धव्वदोसविप्पमुक्कणवगुत्तीसणाहअट्ठारसपरिहारद्धारपरिवेडियसुदुद्धरघोरबंभवयधारणंति तओ एएसिं चेव सव्वुत्तमा खंती मद्दवअज्जवमुत्ती तवसंजमसव्वसोयआकिंचणसुदुद्धरबंभवयधारणं समुट्ठाणेणं च सव्वसमारंभविवज्जणं तओ वि य पुढविदगागणिवाउवणस्सइविति च उपंचेंदियाणि तहेव अजीवकायसंरंभसमारंभारंभाणं च मणोवइकायतिएणं तिविहं तिविहेणं सोइंदियादिसंवरणआहारादिसन्नाविप्पजढताए वोसिरणं तओ य अट्ठारससीलंगसहस्सधारणेणं च अखलियअखंडिय अमिलियअवएहियसुद्धसग्गुग्गयरविचित्ताभिग्गहनिव्वाहणंतं उयसुरमणुयतिरिच्छोईरियघोरपरीसहोवसग्गाहियासणं समकरणेणं तओ य आहारायाइपडिमासु महापयतंतओ निप्पडिकम्मसरीरया निप्पडिकम्मसरीरमत्ताए य सुक्कज्झाणे निप्पकंपत्तणं तओ य अणाइभवपरंपरसंचियअसेसकम्मट्ठए सिक्खयं अणंतनाणदंसणधारित्त चउगइभववारिगउनिफडं सव्वदुक्खविमोक्खं मोक्खगमणं च तत्थ अनिट्ठजम्मजरामरणाणिट्ठसंपया उगिट्ठविओ य संतावुव्वेगआयसज्झायज्झाणमहवाहिवेयणारोग सोगदारिद्दुक्खभयवेमणस्स तं तओ य एगंतियं अचंतियं शिवमयममक्खियं धुवं परमसासयं निरंतरं सव्वुत्तम सोक्खंति ता सव्वमेवेयं नाणाउ पवत्तेज्जा ता गोयमा! एगं-

तियं अचंतियपरमसासयधुवनिरंतरसव्वुत्तमसोक्खकंखुणा पढमपरमेव तावापरेणं सामाइयमाइलोगविंदुसारपज्जवसाणं दुवालसंगं सुयनाणं कालं विलादिजहुत्तविहिणोवहाणाणं हिंसादीयं च तिविहं तिविहेणं परिक्कंतेण य सरवंजणमता विंदुपयक्खराणुण्णगं पयच्छेदघोसबद्धयाणुपुव्विपुव्वाणुपुव्वि-अणाणुपुव्वीए सुविसुद्धं आचारिक्कायएण पगत्तेणेण सुविन्नेयं तं च गोयमा ! अणिहणोरेसुविच्छिन्नचरमो हिमिय सुंदरवग्गहं सयलसोक्खपरमहेउभूयं च तस्स य सयलसोक्खहेउभूयाओ न इट्ठदेवया नमुक्कारविरहिए केइ पारं गच्छेज्जा इट्ठदेवयाणं च नमुक्कारं पंचमंगलमेव गोयमा ! णोणमन्नंति ता णियमओ पंचमंगलस्सेव पढमे ताव विणओवहाणं कायव्वति । से भयवं कइए विहीए पंचमंगलस्स णं वि ण उवहाणं कायव्वं गोयमा ! इमाए विहीए पंचमंगलस्स णं वि ण उवहाणं कायव्वं तंजहा सुपसत्थे चेव सोहणतिहिकरणमुहूत्तनक्खत्तजोगलग्गससीवलविप्पमुक्कजायाईमणा संकेण संजायसव्वसंवेगसुतिव्वतरमहंतुल्लसंतसुहज्झवसायाणुगयभत्ती बहुमाणपुव्वं णिण्णियाणदुवालसभत्तट्ठिएणं चेइयालए जंतुविरहिओ गोयमा ! से भत्तिभरनिब्भरट्ठसियससीसरोमावलीपप्फुल्लनयणसयवत्तपसंतसामथिरदिट्ठीणवणवसंवेगसमुच्छलंतसंजायवहलघणनिरंतरअचिंतपरमसुहपरिणामविसेसुल्लसियसजीववीरियाणुसमयविवद्धं तपभोयसुविसुद्धसुनिम्मलविमलथिरदढयरंतकरणेणं खितिणिहयजाणुणि सियउत्तमंगकर कमलमउलसोहंजलिफुडेणं सिरिउसवाइपवरवरधम्मतित्थयरपडिमा विंववणिवेसियनयणमाणसमग्गतग्गयवसाणं समयदढचरित्तादिगुणसंपउववेया गुरुसद्दत्थ णुट्ठाणकरणेक्कवद्ध लक्खतवाहियगुरुवयणविणिग्गयं विणयादिबहुमाणपरिउसाणुकंपोबलद्धं अ णेगसोग संतावुव्वेगमहवाहिवेयणाघोरदुक्खदारिद्दकिलेसरोगजम्मजरामरणगब्भनिवासमइदुट्ठसावग्ग गाहभीमभवोदहितरंडगभूयं इणमो सयलागममज्झवत्तगस्समिच्छत्तदोसोवहविसट्ठबुद्धी परिकप्पिय उ भणियं अघडमाण-असेसहेउदिट्ठं तजुत्तीविद्धंसणिक्कपच्चलपोढस्स पंचमं गलमहासुयक्खधस्स पंचज्झयणेगचूलापरिक्खित्तस्स पवरप वणदेवयाहिट्ठियस्सातिपदुपरिच्छिन्ने गालावगस्स तक्खरपरिमाणं अणंतगमपज्जवत्थपसाहगं सव्वमहामंतपयरवज्जाणं परमवीयभूयं नमो अरिहंताणंति । पढमज्जयणं अहिज्जेयव्वं । तद्दियहे य आयंबिलेणं पारेयव्वं तहेव य वीयदिणे अणेगाइसयगुणसंपउववेयं अणंतरमणियत्थपसाहगं अणंतरं तेणेव कमेणं दुपरिच्छिन्ने गालावगपंचक्खरपरिमाणं नमो सिद्धाणंति वीयमज्यणं अहिज्जेयव्वं । तद्दियहे य आयंबिलेणं पारयेव्वं । एवं अणंतरभणिए व कम्मेणं अणंतरतुच्छपसाहगंति पदं परिच्छिन्ने गालावगसत्तक्खरपरिमाणं । णमो आयरियाणंति तइयमज्झयणं आयंबिलेणं अहिज्जेयव्वं । तहा य अणंतरुतुच्छपसाहगतिपयपरिच्छिन्ने गालावगसत्तक्खरपरिमाणं नमो उवज्झायाणंति चउत्थमज्झयणं अहिज्जेयव्वं । तद्दियहे य आयंबिलेणं पारेयव्वं । नमो लोए सव्वसाहूणंति पंचमज्झयणं पंचमदिणे आयंबिलेण तहेव तमत्थाणुगमियं एक्कारसपयपरिच्छिन्नतियलावगतित्तीसक्खरपरिमाणं "एसो पंचनमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलमिति" चूलंति छसत्तट्ठमदिणे तेणेव कम्मविभागेण आयंबिलेहिं अहिज्जेयव्वं । एवमेवं पि च मंगलमहासुयक्खंधं सरवन्नयरेहियं पयरकरविंदुमताविसुद्धं गुरुणोववेयगुरुवइट्ठं कसिणमहिज्जित्ताणं तहा कायव्वं जहा पुव्वाणुपुव्वीए पच्छाणुपुव्वीए अणाणुपुव्वीए जीहग्गो तरेज्जा तओ तेणेवाणंतरभणियतिहिकरण मुहुत्तनक्खत्तजोगलग्गससीवलजंतुविरहिउगासवेलाईया लग्गई कम्मेणं अट्ठमभत्तेणं समणुजाणविउणं गोयमा ! महया पबंधेणसुपरिफुडं णिउणं असंदिट्ठं सुत्तत्थं अणेगहा सोउग्गावधारेयव्वं एयाए विहीए पंचमंगलस्स णं गोयमा ! दिणउवहा णे कायव्वो (महा०) से भयवं सुदुक्करं । पंचमंगलमहासुयखंधस्स वि ण उवहाणं पन्नत्तं महत्ती य एसा णियंतणा कहं वा लेहं कज्जई गोयमा ! जेणं केई ण इच्छेज्जा एय नियंतणं अविणिणं चेव पंचमंगलाई सुयनाणं महिज्जणे अज्जावेई वा अज्जावयमाणस्स वा अणुन्नं वा पयाइ से णं ण भवेज्जापियधम्मेण हवेज्जा दढधम्मेण भवेज्जा भत्तीजुए हीलिज्जा सुत्तं हीलिज्जा अत्थं हीलिज्जा सुत्तत्थउभए हीलिज्जा गुरुजणं हीलिज्जा सुत्तत्थोभए जेणेव गुरुं सेणं आसाएज्जा अतीताणागयवट्टमाणे तित्थयरे आसाइज्जा आयरियउवज्झायसाहुणे जेणं आसाइज्जा सुयणाणमरिहंतसिद्धसाहु से तस्स णं सुद्धीसुयालमणंतसंसारसागरमाहिंडेमाणस्स तासु तासु संकुडवियडासु चुलसीइलक्खपरिसंखणासु सीओसिणमिस्सजोणीसु तमिस्संधयारदुग्गं धामिज्जविलीणरवारमुत्तोज्जमंडपडहत्थवसुजलुयपूयदुद्दिणविविचिरुहिरविल्लखल्लदुद्दंसणजंवालपंकदीभत्थघोरगब्भवासेसु कडकढकढेंतचलचलचलस्स टलटलटलस्स रज्जंतसंपिंडियंगमंगस्स सुइयरं नियंतणा जेऊणं एयंविहं फासेज्जा । नो णं मणयंपि अइयरेज्जा । महा०३ अ० ।

श्रीहीरविजयसूरिं प्रति उपधानमालारोपणयोः किं फलमुद्दिश्य कर्त्तव्यता यत्र च साऽभिहिता तदपि शास्त्रं व्यक्त्या प्रसाद्यमिति प्रश्नःउत्तरमुपधानमालारोपणयोः किं फलमुद्दिश्य कर्तव्य-

ता यत्र च साऽभिहिताऽस्तीत्यत्र उपधानवहनं श्रुताराधननिमित्तं मालारोपणं तु तपस उद्यापनार्थं महानिशीथादिशास्त्रे उक्तमस्ति। श्रीहीरविजयं प्रति जिनदासगणिकृतप्रश्नो यथा। तथाऽऽश्विन-चैत्रमासास्वाध्यायिके सप्तम्यष्टमीनवमीदिनत्रयमुपधानमध्ये आयाति न वा तथाऽश्विन चैत्रमासास्वाध्यायिकदिनत्रयमुपधानतपोविशेषेषु लेख्यका नायातीति बोध्यम्। गुणविजयगणिकृतप्रश्नो यथा। उपधानवाहिनः श्राद्धादेरकालसंज्ञायां जलशौचादिविधिः किं निशायामपि स्यान्न वेति। अत्रोत्तरम् स्वकीयादिना नीतेनोष्णोदकेन शौचादिविधानं युक्तिमदिति। जेसलमेरुसंघकृतप्रश्नो यथा। तथा केनचिदुपासकेन चत्वार्युपधानान्युद्दढानि भवन्ति तन्मध्ये प्रथमोपधानस्य द्वादशवर्षातिक्रमे प्रथममेवोपधानं पुनरुद्वाह्य स मालां परिदधाति उत चत्वार्यपीति। उत्तरम्। प्रथमोपधानस्य द्वादशवर्षातिक्रमे पुनस्तस्मिन्नुद्दढे माला परिहिता शुद्ध्यति। अथ यदि मनः स्थाने तिष्ठति तदा चत्वार्यपि पुनरुद्वाह्य मालां परिदधाति॥१॥ तथा उपधाने बाह्यमाने तपोदिने यदि कल्याणकतिथिरायाति तदा तेनैवोपवासेन सरति उतान्याऽधिकः ततो विलोक्यते इति प्रश्ने उत्तरम् उपधानतपोदिनान्तः कल्याणकतिथ्यागमने नियन्त्रिततपस्तया तेनैवोपवासेन सरति।१२। द्वीपवन्दिरकृतप्रश्नो यथा। तथोपधानपूर्णी भवनानन्तरं तपोवासरे उत्तरितुं कल्पते नवेति? अत्रोत्तरम्। उपधानपूर्णीभवनानन्तरं तपोवासरे नोत्तीर्यते तथाविधकारणेगीतार्थाज्ञापूर्वकमुत्तरणे एकान्तेन निषेधो ज्ञातो नास्तीति। तथोपधानवाचनानमस्कारं विना दीयते उत तत्पूर्विकेति? उपधानवाचनां श्रीविजयदानसूरयो नमस्कारं विनैव दत्तवन्तो वयमपि तथैव दभ इति।२७। तथोपधानवाचना पारणादिने दीयते न वा? तथोपधानवाचना प्रातः संध्यायां च दीयते न वाइति? उपधानवाचना तपोवासरे पारणादिने वा दत्ता शुद्ध्यति तथोपधानवाचना आचामाम्लैकाशनकरणानन्तरं संध्यायामपि दत्ता शुद्ध्यति परं प्रतिदिनक्रियमाण संध्यासमयक्रियां पश्चात् क्रियते।२८। तथा चतुर्मासकमध्ये मालारोपणनन्दी कुतः प्रभृति विधीयते इति? चातुर्मासकमध्ये तुरीयव्रतमालारोपणनन्दी विजयदशम्यनन्तरं भवतो द्वादशव्रतनन्दी त्ववर्वागपि भवन्ती दृश्यते इति।२९। तथोपधानमध्ये आर्द्रशाकभक्षणं कल्पते न वा? तथा विलेपनमस्तकतैलप्रक्षेपादिकं कल्पते न वेति? उपधानमध्ये सांप्रतमार्द्रशाकभक्षणे रीतिर्नास्ति तथा विलेपनमस्तकतैलक्षेपादिकं यतिचत्स्वर्य न वाञ्छति अन्यः कश्चिद्यदि भक्तिं करोति तदा निषेधो नास्ति।३०। तथा श्रावकश्राविकाणां नन्दीसूत्रश्रवणं "नाणं पंचविहं पन्नत्तं" इत्यदिरूपं नमस्कारत्रयरूपं वा क्रियते न वा? श्रावकश्राविकाणां नन्दीसूत्रं नमस्कारत्रयरूपं श्राव्यते इति।३१। तथोपधानवाचनां श्राद्धाः श्राद्ध्यश्च ऊर्ध्वस्थानेन शृण्वन्त्युपविश्यवेति? उपधानवाचनां श्राद्ध्य ऊर्ध्वस्थिता शृण्वन्ति श्राद्धास्तु चैत्यवन्दनमुद्रयेति।३२। ही०३ प्र०। भावे ल्युट्प्राप्तौ, सम्म०। तथा पौषधकरणात् पूर्वं स्वाध्यायः कृतो देवाश्च वन्दितास्तदा पश्चात्पौषधकरणे उपधानप्रवेशे वा पुनरपि स्वाध्यायदेववन्दनादि करणीयं नवेति प्रश्नः पौषधकरणात्पूर्वं स्वाध्यायदेववन्दनादिकृतं स्यात्तदा पश्चादपि तेनैव सरतीति (सेन०२ उल्ला०२८प्र०) सामायिकाध्ययनादीनां कान्युपधानानि धामस्थानां परस्यानुयोजने किं प्रतिवचः प्रदीयत इति प्रश्नः। अत्रोत्तरं महानिशीथादौ चैत्यवन्दनसूत्राणामेवोपधानान्युक्तानि सन्ति न तु सामायिकाध्ययनादीनां यद्योपधानमन्तराऽपि सामायिकादीनां पठनं तत्र जीवद्ध्यहारः संप्रदायश्च प्रमाणं यदुक्तं श्रावकाः पञ्च नमस्कारादिकियत्सूत्राणि विमुच्य शेषं सामायिकादिषड्जीवनिकान्तं सूत्रमुपधानमन्तरेणं यत्पठन्ति यच्चाकृतोपधानतपसोऽपि प्रथमं नमस्कारादिस्तत्र जीवद्ध्यवहारस्संप्रदायश्च प्रमाणमिति संभाव्यत इति विचारामृतसंग्रहे श्राद्धप्रतिक्रमणविचाररूपे षष्ठद्वारे इति (प्रश्न० २८) तथा मौलविधिनोपधानवहने श्राद्ध्या अस्वाध्याय दिनत्रयसत्कं तपः प्रवेदनं च लेख्यके समायाति न वेति प्रसाद्यं पूर्वं तु तपो न यातीति श्रुतमस्तीति प्रश्नः। अत्रोत्तरम् अस्वाध्यायदिनत्रयसत्कं तपः प्रवेदनं च न यातीति वृद्धवादोऽत एव षोडशदिने वाचना प्रदीयमानाऽस्ति वाचनानन्तरं च प्रवेदनरहितं पौषधत्रयं कार्यत इति (प्रश्न० ३४) तथोपधान चतुष्टयस्य मालारोपणस्य चान्तरकालः कियानिति प्रश्नः। अत्रोत्तरम्। मुख्यवृत्त्या प्रथमोपधानप्रवेशानन्तरं द्वादशवर्षातिक्रमे तच्चतुष्टयं गच्छति तेन ततोऽर्वागेव मालारोपणं विधेयमिति। श्येन० १ उल्ला० ८३ प्रश्न ०। तथा षष्ठोपधानप्रवेशे अद्यदिन एव मालापरिधापने प्रथमां वाचनां दत्वा मालापरिधाप्यत उत पूर्णे तत्तपसि मालापरिधानानन्तरमाद्यवाचना दीयत इति प्रश्नः। अत्रोत्तरं षष्ठोपधानप्रवेशाद्यदिने प्रवेदनकं प्रवेद्य प्रथमां वाचनां दत्वा समुद्देशादिक्रियां कारयित्वा माला परिधाप्यत इति। श्येन० २ उल्ला० ८३ प्रश्न०। तथा श्रावकाणामुपधानवहनं विना नमस्कारादिपठनं शुद्ध्यति न वेतिप्रश्नः। अत्रोत्तरम् तथा यतीनां योगवहनं विना सिद्धान्तवाचन पाठनादि न शुद्ध्यति तथोपधानतपोऽन्तरा श्राद्धानामपि नमस्कारादिसूत्रभणनगणनादि न शुद्ध्यति यदुक्तं महानिशीथे "सेभयवं सुदुक्करं पंचमंगलमहासुअखंधस्स विणओवहाणं पन्नत्तं एसा निअंतणा कहं वा लेहिकिज्जई गोयमा! जेणं केणइन इच्छेज्जा एयं नियंतणं अविणओवहाणेण पंच मंगलाइसु अन्नाणमहिज्जई अज्झावेइ वा अज्झावयमाणस्स वा अणुन्नपयाइ से णं न भवेज्जापि अधम्मे न हवेज्जा दढधम्मे न हवेज्जा भत्तिज्जुए हीलिज्जा अत्थं हीलिज्जा सुत्तत्थोभएहीलेज्जा गुरुजेणं हीलिज्जा सुत्तं जाव हीलिज्जा सुत्तं हीलिज्जा सुत्तत्थोभए हीलिज्जा गुरु जेणं हीलिज्जा सेणं आसाएज्जा अतीताणागयवट्टमाणे तित्थयरे आसाएज्जा आयरिअं उवज्झायसाहुणो जेणं आसाएज्जा सुअनाणमरिहंतसिद्धसाहु सेत्तस्स णं अणंतसंसार-सागरमाहिंडेमाणस्स तासु तासु संवुडविअडासु (९ प्र०) चुलसीलक्ख-परिसंकढासु सीओसणमिस्स जोणीसु सुइरनिअंतणा इति परं येन प्राग् नमस्कारादिसूत्राण्यधीतानि तेनापि यथायोगं निर्विलम्बमेवपधानानि विधिनाऽवश्यं वहन्ति यानि संप्रति तु द्रव्यक्षेत्रकालाद्यपेक्षया लाभालाभं विभाव्याचरणयोपधानतपो विनाऽपि नमस्कारादिसूत्रपाठादिभणनं कार्यमाणं दृश्यते आचरणायाश्च लक्षणमिदं कल्पभाष्ये उपदेशपदे च यथा "असढेण समाइन्नं, जं कत्थ य केणई असावज्जं। न निवारिअमन्नेहिं, बहुमणुमयमेअमायरिअं"।१। आचरणा च जिनाज्ञा समानैव यद्भणितं भाष्यादौ "असढाइन्नाणवज्जं, गीअत्थ अचारिअंतिमब्भत्था। आयरणा बिहु आणत्ति, वयणओ सुबहुमन्नंति १ इति ध्येयम् (९ प्रश्न०) तथा गुरुसमीपे उपाधनादिक्रियां कुर्वतः श्राद्धादेरन्तरालस्थस्थापनाया गुरोश्चान्तराले पञ्चेन्द्रियगमने अग्रे भवति न वेति प्रश्नः। अत्रोत्तरम् अग्रे भवतीति (१७ प्रश्न०) तथा तृतीयाद्युपधानेषु सप्तक्षमाश्रमणानि दाप्यन्ते तत् कुत्र विधिः पत्रेऽस्तीति प्रश्नः। अत्रोत्तरं तृतीयाद्युपधानेषु तद्विधिदर्शकपत्रादौ सप्तक्षमाश्रमणदानवि-

धानं न दृश्यते तथापि श्रीपरमगुरूणामनुशिष्टिरस्ति यतोऽग्रे मालाधापनसमये तेषां समुद्देशानुज्ञयोर्विधीयमानत्वादुद्देशोऽपि कर्तव्य इति तत्सप्तक्षमाश्रमणानि देयानीति (२८ प्रश्न०) तथा छक्किकोपधानवहनानन्तरं षण्मासमध्ये मालापरिधापनं शुद्ध्यति किं वा षण्मासानन्तरमिति प्रश्नः अत्रोत्तरं तद्वहनानन्तरं षण्मासमध्य एव मालापरिधापनं शुद्ध्यतीत्येकान्तो ज्ञातो नास्ति परं त्वरितं परिधाप्यते तदा वरमिति (११० प्रश्न०) तथाछक्कियाख्योपधाने उच्चरितपञ्चमीतपसां षष्ठदिने पञ्चमीसमेति तदा पञ्चम्युपवासं कृत्वा सप्तमदिन आचाम्लं करोति किं वा षष्ठं करोतीति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् सप्तमदिने उपवासस्यावश्यककरणीयत्वेन षष्ठं करोति शक्त्यभावे तदनुसारेणैवोपधानप्रवेशं करोति (१३४ प्रश्न०) तथोपधानोत्तरणदिनस्य प्राक् दिने योगोत्तरणदिनवत्तप एव कृतं विलोक्यते किं वा एकाशनकपारणकेऽप्युत्तरितुं कल्पते न वेति प्रश्नः। अत्रोत्तरमाह एकाशनादिपारणकेऽप्युत्तारयितुं कल्पते न तु योगादिवत्तपोनियम इति (१६४ प्रश्न०) तथा पण्डितकनकविजयगणिकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च यथा वृद्धविध्युपधानवाहकस्य कृतचतुर्विधाहारोपवासस्य संध्याप्रत्याख्यानवेलायां संध्याप्रत्याख्यानं गुरुसमक्षं कर्त्तव्यं न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् प्रातः कृतचतुर्विधाहारोपवासस्य संध्यायामुपधानक्रियाकरणवेलायां पश्चात्प्रत्याख्यानं कृतं विलोक्यते उपधानमन्तरा तु संध्यायां तत्स्मरणं विलोक्यते परं पुनः प्रत्याख्यानकरणविशेषो ज्ञातो नास्तीति (३७६ प्र०) तथाऽष्टपूर्व्वार्धैरेक उपवास इत्यादिगणनया गणितं तपस्तृतीयपञ्चमोपधानमध्य आयाति न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कन्धः १ प्रतिक्रमणश्रुतस्कन्धः २ शक्रस्तवाध्ययनं ३ चैत्यस्तवाध्ययनं ४ नामस्तवाध्ययनं ५ श्रुतस्तवसिद्धस्तवाध्ययनं चेति ६ षडुपधानानि तत्र चतुर्थषष्ठे विना चत्वार्युपधानानि मूलविधिनापरविधिना वोह्यमानानि सन्ति तत्रापरविधावष्टभिः पुरिमार्धैरेक उपवास इत्यादिगणना भवति तत्तु मूलविधौ प्रयोजनाभावाच्चतुर्थषष्ठयोर्मूलविधिनैवोह्यमानत्वात्तद्गणनाऽप्रयोजनास्तीति (१७६ प्रश्न०) तथैकादशोत्तराध्ययनचतुर्द्दशसहस्त्र्यां १३१ पत्रे "जोगवं उवहाणवं" इति द्वयमपि शिष्यस्योक्तमस्ति तत्कथं शिष्यस्य श्राद्धस्य च कार्यत इति प्रश्नः। अत्रोत्तरम् योगमनोवचनकायसम्बन्धिन उपधानं तपोविशेष एतद् द्वयमपि मुनीना मिवोक्तमस्ति श्राद्धनामुपधानोद्वाहनं तु महानिशीथा- क्षरप्रामाण्यादेवेति (१८६ प्रश्न०) अथ पण्डित काह्नर्षिगणिकृतप्रश्नास्तदुत्तराणि च यथा उपधानवाहिश्राद्धश्राद्धीनां कल्पदिनपञ्चकमध्ये उत्तरितुं कल्पते न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् महत्कारणं विना उत्तरितुं न कल्पते यदि च तथाविधकारणे उत्तरति तदारम्भवर्जनं करोतीति (२०६ प्रश्न०) तथोपधानाऽवाहिनां पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कन्धपाठेऽविनायामनन्तसंसारावाप्तिः फलं तदाश्रित्य किमादिश्यते इति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् उपधानावहनेऽनन्तसंसारिता महानिशीथे उक्ता परं तत्सूत्रमुत्सर्गतया श्रितं तेन यो नास्तिकस्सन्नुपधानं वोढुं निरपेक्षस्तस्य सेति ज्ञेयम् (३३७ प्रश्न०) तथा अष्टाविंशतिदिनोपधाने पञ्चत्रिंशद्दिनोपधाने चमूलविधिना वहमाने कति दिनानि भवन्ति तथा तदुपधानद्वयात्कतिदिनेषु न्यूनेषूत्तार्यते इति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् मूलविधिना तद्द्वये वहमाने दिनन्यूनाधिक्यं ज्ञात नास्ति तथा तदुपधाने न्यूनदिनेषु महत्कारणे सपूण्ण तपसि जाते उत्तारवन्ता दृश्यन्त परं दिनसंख्या ज्ञाता नास्तीति (४४१प्रश्न०) तथा कोऽप्युपधानचतुष्कमुद्वाह्य मालां परिदधाति तस्य समुद्देशानुज्ञावस्थायामवशिष्टोपधानयोर्नाम गृह्यते नवेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् षण्णामप्युपधानानां समुद्देशानुज्ञयोर्नाम गृह्यते द्वयोरुद्देशस्य च पुरतोऽपि भवने न दोष इति वृद्धसंप्रदायः (४१८ प्रश्न०) तथोपधानतपसि पूर्ण्णे जाते शेषप्रवेदनेषु दिनवृद्धिर्भवति नवेति प्रश्नः। अत्रोत्तरम् उपधानशेषप्रवेदनेषु दिनवृद्धिर्भवति (४२६ प्रश्न०) तथोपधाने पालीपरावर्त्तनं शुद्ध्यति न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् तथाविधप्रकारेण तत्प्रख्यानं शुद्ध्यति (श्येन०३उल्ला०४२८प्रश्न०) तथोपधानवाचनाऽन्तर्गृहीतुं विस्मृता सा सायं क्रियाकरणानन्तरं गृह्यतेऽथवा द्वितीयदिने यदि द्वितीयदिने तदा स वासरः कस्यां वाचनायां गण्यते इति प्रश्नः । अत्रोत्तरं प्रातरुपधानवाचना लातुं विस्मृता सा संध्यायां क्रियाकरणादर्वाग् गृह्यते तथाऽपि यदि स्मृता तदा द्वितीयेऽह्नि प्रवेदनादर्वाग् गृह्यते स वासरस्त्वग्रेतनवाचनामध्ये गण्यत इति। श्येन० ४ उल्ला० १२६ प्रश्न०।

उवहाणपडिमा स्त्री० (उपधानप्रतिमा) उपधानं तपस्तद्विषया प्रतिमा। प्रतिमाभेदे, स्था०२ ठा०। तपोविषयेऽभिग्रहे, औ०। **उवहाणवं** पुं० (उपधानवत्) उपधानं तपस्तद्विद्यते यस्याऽसौ उपधानवान्। तपोनिष्टप्तदेहे, उपधीयते उपष्टभ्यते श्रुतमनेनेति उपधानम्। श्रुतविषयोपचारवति, सूत्र०१ श्रु०७ अ०। स्था०। उपधानमङ्गोपाङ्गादीनां सिद्धान्तानां पाठनाराधनार्थमाचाम्लोप-वासनिर्विकृत्यादिलक्षणं तपोविशेषः स विद्यते यस्स स उपधानवान्। सिद्धान्ताराधनतपोयुक्ते, "वसे गुरुकुले णिच्चं, जोगवं उवहाणवं। पियंकारे पियंवाई, स सिक्खं लद्धुमरहई" उत्त०११अ०। सूत्र०॥

उवहाणवीरिय पुं० (उपधानवीर्य्य) उपधानं तपस्तत् यथाशक्त्या वीर्य्यं यस्य स भवत्युपधानवीर्य्यः। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। तपस्यनिगूहितबलवीर्य्य, "धम्मट्ठी उवहाणवीरिए" सूत्र०१ श्रु० २ अ० २ उ०।

उवहाणसुय न० (उपधानश्रुत) महावीरासेवितस्योपधानस्य तपसः प्रतिपादकं श्रुतं ग्रन्थः उपधानश्रुतम्। अष्टमे नवमे वा आचाराङ्गस्य ब्रह्मचर्य्याध्ययने, स्था०९ ठा०।प्रश्न०।आव०। स०। अथोपधानश्रुतस्य प्रतिपाद्यं महावीरस्वामिकृतं तप उपदर्श्यते।

अहासुयं वदिस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठाय संखाए तेसिं हेमंते अहुणा पव्वइए रीइच्छा णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमंते से पारए आवकहाए एयं खु आणुधम्मियं तस्स ॥१॥

(अहासुयं वदिस्सामीत्यादि) आर्यः सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिने पृष्टत्वात् कथयति यथाश्रुतं यथासूत्रं वा वदिष्यामि तद्यथा असौ श्रमणो भगवान् वीरवर्द्धमानस्वाम्युत्थायोद्यतविहारं प्रतिपद्य सर्वालंकारं परित्यज्य पञ्चमुष्टिकं लोचं विधायैकेन देवदूष्येणेन्द्रक्षिप्तेन युक्तः कृतसामायिकप्रतिज्ञः आविर्भूतमनःपर्यायज्ञानाष्टप्रकारकर्म्मक्षयार्थं तीर्थप्रवर्तनार्थं वोत्थाय संख्याय ज्ञात्वा तस्मिन् हेमन्ते मार्गशीर्षदशम्यां प्राचीनगामिन्यां छायायां प्रव्रज्या ग्रहणसमनन्तरमेव रीयते स्म विजहार। तथा च किल कुण्डग्रामान्मुहूर्त्ते शेषे दिवसे कूर्म्मारग्राममाप। तत्र च

भगवानित आरभ्य नानाविधाभिग्रहोपेतो घोरान् परीषहोपसर्गानभिसहमानो महासत्वतया म्लेच्छानप्युपशमं नयन् द्वादश वर्षाणि साधिकानि छद्मस्थो मौनव्रती तपश्चचार। अत्र च सामायिकारोपणसमनन्तरमेव सुरपतिना भगवदुपरि देवदूष्यवस्त्रं निक्षिपे। तद्भगवताऽपि निः सङ्गाभिप्रायेणैव धर्म्मोपकरणमृते न धर्म्मोऽनुष्ठातुं मुमुक्षुभिरपरैः शक्यत इति कारणापेक्षया मध्यस्थवृत्तिना तथैवावधारितं न पुनस्तस्य तदुपभोगेच्छाऽस्तीत्येतद्दर्शयितुमाह "णो चेव इमेण" इत्यादिश्लोकः न चैवाहमनेन वस्त्रेण इन्द्रप्रक्षिप्तेनात्मानं पिधास्यामि स्थगयिष्यामि तस्मिन् हेमन्ते तद्वा वस्त्रं त्वक्त्राणं करिष्यामि लज्जाप्रच्छादनं वा विधास्यामि किम्भूतोऽसाविति दर्शयति। स भगवान् प्रतिज्ञायाः परीषहाणां संसारस्य वा पारं गच्छतीति पारगः कियन्तं कालमिति दर्शयति। यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः किमर्थं पुनरसौ विभर्तीति चेद्दर्शयति खुरवधारणे स च भिन्नक्रमः। एतद्वस्त्रावधारणं तस्य भगवतोऽनुपश्चात् धार्मिकमनुधार्म्मिकमेवेत्यपरैरपि तीर्थकृद्भिः समाचीर्णमित्यर्थस्तथा चागमः "सेवेमि ये अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमेस्सा अरहंता भगवन्तो जे य पव्वइंसु जे पव्वयंति जे य पव्वइस्संति सव्वे ते सोवहीधम्मो देसियव्वेत्ति" तथा भगवतः प्रव्रजतो ये दिव्या सुगन्धिपटवासा आसंस्तद्गन्धाकृष्टाश्च भ्रमरादयः समागत्य शरीरमुपतापयन्तीत्येतद्दर्शयितुमाह।

चत्तारि साहिए मासे, बहवे पाणजाइया आगम्म।
अभिरुज्झ कायं विहरिंसु, आरूसिया णं तत्थ हिंसंसु।२।

"चत्तारि इत्यादि" श्लोकः चतुरः साधिकान्मासान्बहवः प्राणिजातयो भ्रमरादिकाः समागत्यारुह्य च कायं शरीरं विजह्रुः काये प्रविचारं चक्रुः। तथा मांसशोणितार्थतया आरुह्य तत्र काये णमिति वाक्यालंकारे जिहिंसुः। इतश्चेतश्च विलुम्पन्ति स्मेत्यर्थः। कियन्मात्रं कालं तत् देवदूष्यं भगवति स्थितमित्येतद्दर्शयितुमाह।

संवच्छरं साहियं मासं, जत्थ रिक्कासि वत्थगं भगवं।
अचेले तत्तो चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे।३।

संवत्सर इत्यादिकं रूपकं तदिन्द्रोपहितं वस्त्रं संवत्सरमेकं साधिकञ्च मासं (जत्थरिक्कासित्ति) यत्र त्यक्तवान् भगवांस्तत् स्थितकल्प इति कृत्वा तावदूर्द्धं तद्वस्त्रत्यागात् त्यागी व्युत्सृज्य च तदनगारो भगवानचेलोऽभूदिति। तच्च सुवर्णवालुकानदीपूराहतकण्टकावलग्नं धिग्जातिना गृहीतमिति। किञ्च।

अदु पोरिसिं तिरियभित्तिं, चक्खुमासज्ज अंतसो ज्झाति।
अह चक्खु भीता सहिया, ते हंता हंता बहवे कंदिंसु ॥४॥

अथानन्तर्ये पुरुषप्रमाणा पौरुषी आत्मपरिमाणा वीथी तां गच्छन् ध्यायतीर्यासमितो गच्छति। तदेव चात्र ध्यानं यदीर्यासमितस्यागमनमिति भावः। किम्भूतां तां तिर्यग्भित्तिं शकटो द्विपदादौ संकुटामग्रतो विस्तीर्णामित्यर्थः। कथं ध्यायति चक्षुरासज्य चक्षुर्दत्त्वा अन्तर्मध्ये दत्तावधानो भूत्वेति। तं तथा दीयमानं दृष्ट्वा कदाचिदव्यक्तवयसः कुमारादय उपसर्गयेयुरिति दर्शयति। अथानन्तर्ये चक्षुः शब्दोऽत्र दर्शनपर्यायो दर्शनादेव भीता दर्शनभीताः सहिता मिलितास्ते बहवो डिम्भादयः पांसुमुष्ट्यादिभिर्हत्वा हत्वा चक्रन्दुः पश्यत यूयं नाम्ना मुण्डितस्तथाकाऽयं कुतोऽयं किमितो वाऽयमित्येवं हलबोलं चक्रुरिति। किञ्च।

सयणेहिं विमिस्सेहिं, इत्थिओ से तत्थ परिण्णाय।
सागारियं ण सेवेइ, ति से सयं पवेसिया ज्झाइ ॥५॥

शय्यन्ते येष्विति शयनानि वसतयः तेषु कृतश्चिन्निमित्तादिति मिश्रेषु गृहस्थतीर्थिकैस्तत्र व्यवस्थितः सन् यदि स्त्रीभिः प्रार्थ्यते ततस्ताः शुभभागर्गिला इति ज्ञात्वा ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरन् सागारिकं मैथुनं न सेवते शून्येषु च भावमैथुनं न सेवते इत्येवं स भगवान् स्वयमात्मना वैराग्यमार्गायातमानं प्रवेश्य धर्मध्यानं शुक्लध्यानं वा ध्यायति। तथा।

जे केइ इमे अगारत्था, मीसीभावं पहाय सेज्झाति।
पुट्ठो वि णाभिभासिंसु, गच्छति णाइवत्तती अंजु ॥६॥

ये केचन इमे अगारं गृहं तत्र तिष्ठन्तीत्यगारस्थाः गृहस्थास्तैर्मिश्रीभावमुपगतोऽपि द्रव्यतो भावतश्च तं मिश्रीभावं प्रहाय त्यक्त्वा स भगवान् धर्म्मध्यानं ध्यायति। तथा कुतश्चिन्निमित्तात् गृहस्थैः पृष्टो वा न वक्ति स्वकार्याय गच्छत्येव न तैरुक्तो मोक्षपथमतिवर्तते ध्यानं वा (अंजुत्ति)। ऋजुः ऋजोः संयमस्यानुष्ठानात्। नागार्जुनीयास्तु पठन्ति "पुट्ठो व से अपुट्ठो वा णो अणुण्णाइयापावगं" कण्ठ्यम्। किञ्च॥

णो सुकरमेतमेगेसिं, णाभिभासे अभिवायमाणो।
हतपुव्वो तत्थ दंडेहिं, लूसियपुव्वो अप्पपुण्णेहिं ॥७॥

नैतद्वक्ष्यमाणमुक्तं वा एकेषामन्येषां सुकरमेव नान्यैः प्राकृतपुरुषैः कर्तुमलम्। किं तत्तेन कृतमिति दर्शयति। अभिवादयता नाभिभाषते नाप्यनभिवादयद्व्यः कुप्यति नापि प्रतिकूलोपसर्गैरन्यथाभावं याति दण्डैर्हतपूर्वस्तत्रानार्यदेशादौ पर्यटंस्तथा लूषितपूर्वो हिंसितपूर्वः केशलुञ्चनादिभिरपुण्यैरनार्थ : पापाचारैरिति। किञ्च॥

फरसाइं दूतितिक्खाइं, अइयव्व मुणी परक्कममाणे।
आघायणट्ठगीयाइं, दंडजुज्झाइं मुट्ठिजुज्झाइं ॥८॥

परुषाणि कर्कशानि वा दुष्टानि तानि वा परैर्दुःखेन तितिक्षन्त इति दुस्तितिक्षाणि तान्यतिगत्याविगणय्य मुनिर्भगवान्विदितजगत्स्वभावः पराक्रममाणः सम्यक् तितिक्षते तथा आख्यातानि च तानि नृत्तगीतानि च आख्यातनृत्तगीतानि तान्युद्दिश्य न कामुकं विदधाति नापि दण्डयुद्धमुष्टियुद्धान्याकर्ण्य विस्मयोत्फुल्ललोचन उद्धर्षितरोमकूपो भवति।

गढिए मिहो कहासु, समयम्मि णायपुत्तो विसोगो।
अदक्खु एताइ सो उरालाइं, गच्छति णायपुत्ते असरणाए ॥९॥

ग्रथितो वा बद्धो मिथोऽन्योन्यं कथासु स्वरैः कथासु समये वा कश्चिदवबद्धस्तं स्त्रीद्वयं वा परस्परकथायां गृद्धिमपेक्ष्य तस्मिन्नवसरे ज्ञातपुत्रो भगवान् विशोको विगतहर्षश्च तान् मिथः कथावबद्धान्मध्यस्थोऽद्राक्षीत्। एतान्यन्यानि वाऽनुकूलप्रतिकूलानि परीषहोपसर्गरूपाण्युरालानि दुष्प्रधृष्याणि दुःखान्यस्मरन् गच्छति संयमानुष्ठाने पराक्रमते ज्ञाताः क्षत्रियास्तेषां पुत्रोऽपत्यं ज्ञातपुत्रः वीरवर्द्धमानस्वामी स भगवान्नेतद्दुःस्मरणाय गच्छति पराक्रमत इति सम्बन्धः यदि वा शरणं गृहं नात्र शरणमस्तीत्यशरणः संयमस्तस्मै अशरणाय पराक्रमत इति। तथा हि किमत्र चित्रं यद्भगवानपरिमितबलपराक्रमः प्रतिज्ञामन्दरमारूढः पराक्रमते स भगवानप्रव्रजितोऽपि

प्रासुकाहारानुवर्त्यासीत्। श्रूयते च किल पञ्चत्वमुपगते माता-पितरि समाप्तप्रतिज्ञोऽभूत्। ततः प्रविव्रजिषुः ज्ञातिभिरभिहितो यथा हि भगवन्मा कृथाः क्षतिक्षारावसेचनमित्येवमाभिहितेन भगवताऽवधिना व्यज्ञायि यथा मय्यस्मिन्नवसरे प्रवजति सति बहवो नष्टचित्ता विगतासवश्च स्युरित्यवधार्य तामुवाच कियन्तं कालं पुनरत्र मया स्थातव्यमिति। त ऊचुः संवत्सरद्वयेनास्माकं शोकापगमो भावीति भट्टारकोऽप्योमित्युवाच। किं कृत्वाऽऽहारादिकं मया स्वेच्छया कार्यं नेच्छाविघाताय भवद्भिरुपस्थातव्यं तैरपि यथाकथंचिदार्य! तिष्ठत्विति तैः सर्वं तथैव प्रतिपेदे। ततो भगवांस्तद्वचनमनुवर्त्यात्मीयञ्च निष्क्रमणावसरमवगम्य संसारासारतां विज्ञाय तीर्थप्रवर्तनायोद्यत इति दर्शयितुमाह॥

अवि साहिए दुवे वासे, सीतोदगं अभुच्चा णिक्खंते।
एगत्तगए पिहियच्चे, से अभिण्णायदंसणे संते॥१०॥
पुढविं च आउकायं च, तेउकायं च वाउकायं च।
पणगाइं बीयहरियाइं, तसकायं सव्वसो णच्चा॥११॥
एयाइं संति पडिलेहे, चित्तमत्ताइं से अभिण्णाय।
परिवज्जियाण विहरित्था, इति संखाय से महावीरे॥१२॥

अपि साधिके द्वे वर्षे शीतोदकमभुक्त्वा अनभ्यवहृत्यापीत्येत्यर्थः अपरा अपि पादधावनादिकाः प्रासुकेनैव प्रकृत्या ततो निष्क्रान्तो यथा च प्राणातिपातं परिहृतवानेवं शेषव्रतान्यपि पालितवानिति तथा एकत्वमिति तत एकत्वभावनाभावितान्तःकरणः पिहिता स्थगितार्चा क्रोधज्वाला येन स तथा। यदि वा पिहितार्चो गुप्ततनुः स भगवांश्छद्मस्थकालेऽभिज्ञातदर्शनः सम्यक्त्वभावतया भावितः शान्त इन्द्रियनोइन्द्रियैः स एवंभूतो भगवान् गृहवासेऽपि सावद्यारम्भत्यागी किं पुनः प्रव्रज्यायामिति दर्शयितुमाह "पुढविं च इत्यादि एयाइं इत्यादि" श्लोकद्वयस्याप्ययमर्थः। एतानि पृथिव्यादीनि चित्तमन्त्यभिज्ञाय तदारम्भपरिवर्ज्य विहरति स्म क्रियाकारकसंबन्धस्तत्र पृथ्वीसूक्ष्मबादरभेदेन द्विधा सूक्ष्मा सर्वगा बादराऽपि श्लक्ष्णकठिनभेदेन द्विधैव। तत्र श्लक्ष्णा शुक्लादिपञ्चवर्णा कठिना तु पृथिवी शर्करावालुकाषट्त्रिंशद्भेदा शस्त्रपरिज्ञानुसारेण द्रष्टव्या। अप्कायोऽपि सूक्ष्मबादरभेदात् द्विधा तत्र सूक्ष्मः सर्वगो बादरस्तु शुद्धोदकादिभेदेन पञ्चधा। तेजः कायोऽपि पूर्ववन्नवरं बादरोङ्गारादि पञ्चधा। वायुरपि तथैव नवरं बादर उत्कलिकादिभेदेन पञ्चधा। वनस्पतिरपि सूक्ष्मबादरभेदेन द्विधा। तत्र सूक्ष्मः सर्वगो बादरोऽप्यग्रमूलस्कन्धपर्ववीजसंमूर्च्छनभेदात्सामान्यतः षोढा पुनर्द्विधा प्रत्येकः साधारणश्च। तत्र प्रत्येको वृक्षगुच्छादिभेदात् द्वादशधा साधारणस्त्वनेकविध इति स एवं भेदभिन्नोऽपि वनस्पतिः सूक्ष्मस्य सर्वगतत्वादतीन्द्रियत्वाच्च तद्व्युदासेन बादरो भेदत्वेन संगृहीतस्तद्यथा पनकग्रहणेन वीजाङ्कुरभावरहितस्य पनकादेरुल्यादिविशेषापन्नस्य ग्रहणं वीजग्रहणेन त्वग्रवीजादेरुपादानं हरितशब्देन शेषस्येत्येतानि पृथिव्यादीनि भूतानि सन्ति विद्यन्त इत्येवं प्रत्युपेक्ष्य तथा (चित्तमंति) सचित्तान्यभिज्ञाय इत्येतत्संख्ययाऽवगम्य स भगवान्महावीरस्तदारम्भं परिवर्ज्य विहृतवानिति पृथिवीकायादीनां जन्तूनां त्रसस्थावरत्वेन भेदमुपदर्श्य सांप्रतमपरस्परतोऽनुगमनमप्यस्तीत्येतद्दर्शयितुमाह॥

अदु थावरा य तसत्ताए, तसजीवा य थावरत्ताए।
अदु वा सव्वजोणिया सत्ता, कम्मणा कप्पिया पुढोवाला॥१३॥
भगव च एवमण्णेसिं, सोवहिए हु लुप्पती वाले।
कम्मं च सव्वसो णच्चा, तं पडियाइक्खपावगं भगवं॥१४॥
दुविहं समेच्च मेहावी, किरियमक्खायमणेलिसं णाणी।
आयाण सो य मतिवा य, सो यं जोगं च सव्वसो णच्चा॥१५॥

अथानन्तर्ये स्थावराःपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः ते त्रसतया द्वीन्द्रियादितया विपरिणमन्ते कर्मवशाद्गच्छन्ति चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थस्तथा त्रसजीवाश्च कृम्यादयः स्थावरतया पृथिव्यादित्वेन कर्म्मनिघ्नाः समुत्पद्यन्ते। तथा चान्यत्राप्युक्तम् "अयणं भंते! जीवे पुढविकाइयत्ताए उव्ववण्णपुव्वे हंता गोयमा! असइं अदुवा अणंतखुत्तो जाव वण्णपुव्वेति" अथवा सर्वा योनय उत्पत्तिस्थानानि येषां सत्वानां ते सर्वयोनिकाः सत्वाःसर्वगतिभाजस्ते च वाला रागद्वेषाकलिताः स्वकृतेन कर्मणा पृथक्तया सर्वयोनिमुक्तेन च कल्पिता व्यवस्थापिता इति। तथा चोक्तं "णत्थि किर सो पएसो लोए वालग्गकोडिमेत्तो वि। जम्मणमरणावाहाणेगसो जत्थ णवि पत्ता" अपिच। रङ्गभूमिर्न सा काचिच्छुद्धा जगति विद्यते। विचित्रैः कर्म्मनेपथ्यैर्यत्र सत्वैर्न नाटित" मित्यादि। किञ्च (भगवं च इत्यादि) भगवांश्च वीरवर्द्धमानस्वाम्येवमवगम्य ज्ञातवान् सह उपधिना वर्त्तत इति सोपधिकः द्रव्यभावोपधियुक्तः हुरवधारणे लुप्यत एव कर्म्मणः क्लेशमनुभवत्येवाज्ञा बाल इति। यदि वा हुर्हेतौ यस्मात् सोपधिकः कर्म्मणा लुप्यते बालस्तस्मात्कर्म्म सर्वशो ज्ञात्वा तत्कर्मप्रत्याख्यातवां स्तदुपादानं च पापकर्म्मानुष्ठानं भगवान् वर्द्धमानस्वामीति। किञ्च (दुविहं इत्यादि) द्वे द्विधे प्रकारावस्येति द्विविधं किं तत्कर्म्म तच्चेर्याप्रत्ययं सांपरायिकञ्च तद् द्विविधमपि समेत्य ज्ञात्वा मेधावी सर्वभावज्ञः क्रियां संयमानुष्ठानरूपां कर्म्मोच्छेत्री मनीदृशीमनन्यसहशीमाख्यातवान् किम्भूतो ज्ञानी केवलज्ञानवानित्यर्थः। किं वा परमाख्यातवानिति दर्शयति आदीयते कर्म्मानेनेत्यादानं दुष्प्रणिहितमिन्द्रियमादानञ्च श्रोतश्च आदानश्रोतस्तज्ज्ञात्वा तथाऽतिपा तश्रोतश्चोपल क्षणार्थत्वादस्य मृषावाददिकमपि ज्ञात्वा तथा योगञ्च मनोवाक्कायलक्षणं दुष्प्रणिहितं सर्वशः सर्वप्रकारैःकर्मबन्धायेति ज्ञात्वा श्रोतः क्रियासंयमलक्षणामाख्यातवानिति संबन्धः।किञ्च।

अतिवातियं अणाउट्टिं, सत्तमणेसिं अकरणयाए।
जस्सित्थि उ परिण्णाया, सव्वकम्मावहा उ से अदक्खु।१६।

आकुट्टिर्हिंसा न आकुट्टिरनाकुट्टिरहिंसेत्यर्थः। किंभूतामतिक्रान्तां पातकादतिपातका निदोषा तामाश्रित्य स्वतोऽन्येषां वा करणतया व्यापारतया प्रवृत्त इति। तथा यस्याः स्त्रियाः स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाता भवन्ति। सर्वं कर्मावहन्तीति सर्वकर्मावहाः सर्वपापोपादानभूताः स एवाद्राक्षीत्स एव यथाऽवस्थितं संसारस्वभावं ज्ञातवान्। एतदुक्तं भवति। स्त्रीस्वभावपरिज्ञानेन तत्परिहारेण च स भगवान् परमार्थदर्श्यभूदिति। मूलगुणानाख्यायोत्तरगुणप्रविकट- विषयाह॥

अहागणं ण से सेवे, सव्वसो कम्मुणा अदक्खू।
यं किंचि पावगं भगवं, तं अकुव्वं वियणं भुञ्जित्था।१७।

यथा येन प्रकारेण पृष्ट वाऽपृष्ट वा वा कृतं यथाकृतमाधाकर्मादिनाऽसौ सेवते किमिति। यतः सर्वैः प्रकारैस्तदासेवनेन कर्मणाऽष्टप्रकारेण बन्धमद्राक्षीत् दृष्टवानन्यदप्येवं जातीयकं न

सेवते इति दर्शयति । यत्किञ्चित्पापकं पापोपादानकारणं तद्भगवानकुर्व्वन्चिकटं प्रासुकमभुङक्त उपभुक्तवान्। किञ्च

णो सेवती य परवत्थं, परपाए वि से ण भंजित्था ।
परिवज्जियाण उ माणं, गच्छति संखडिं असरणाए ॥१८॥

नासेवते च नोपभुङक्ते च परवस्त्रं प्रधानं वस्त्रं परस्य वा वस्त्रं परवस्त्रं नासेवते। तथा परपात्रेऽप्यसौ नो भुङक्ते तथा परिव्रज्यापमानमवगणय्य गच्छत्यसावाहाराय संखण्ड्यन्ते प्राणिनोऽस्यामिति संखण्डिस्तामाहारपाकस्थानभूतामशरणाय शरणमनालम्बमानोऽदीनमनस्ककल्प इति कृत्वा परीषहविजयार्थे गच्छतीति। किञ्च

मायण्णे असणपाणस्स, णाणुगिद्धे रसेसु अपडिण्णे ।
अत्थिं पि णोपमज्जिज्जा, णो वि कंडूयए मुणी गायं ॥१९॥

आहारस्य मात्रां जानातीति मात्रज्ञः कस्याश्यत इत्यशनं शाल्योदनादि पीयत इति पानं द्राक्षापानकादि तस्य च। तथा नानुगृद्धो रसेषु विकृतिषु भगवतो हि गृहस्थभावेऽपि रसेषु गृद्धिर्नासीत्। किं पुनः प्रव्रजितस्येति । तथा रसेष्वेव ग्रहणं प्रत्यप्रतिज्ञो यथा मयाऽद्य सिंहकेसरामोदका एव ग्राह्या इत्येवंरूपप्रतिज्ञारहितोऽन्यत्र कुल्माषादौ सप्रतिज्ञ एव। तथा अक्षयपि रजःकणकाद्यपनयनाय नो प्रमार्ज्जयेन्नापि च गात्रं मुनिरसौ कण्डूयते काष्ठादिना गात्रस्य कण्डूत्यपनोदं न विधत्त इति।किञ्च।

अप्पं तिरियं पेहाए, अप्पं पिट्ठउ पेहाए ।
अप्पं वुइए पडिभाणी, पंथपेही चरेजते माणे ॥२०॥

अल्पशब्दोऽभावे वर्तते अल्पं तिर्यक् तिरश्चीनं गच्छन् प्रेक्षते तथाऽल्पं पृष्ठतः स्थित्वोत्प्रेक्षते तथा मार्गादिः केनचित्पृष्टः सन्नसाधुप्रतिभाषी सन्नल्पं ब्रूते मौनेन गच्छत्येव केवलमिति दर्शयति पथिप्रेक्षी चरेद्गच्छेद्यतमानः प्राणिविषये यत्नवानिति। किञ्च

सिसरंसि अद्धपडिवण्णे, तं वोसिरिज्ज वत्थमणगारे ।
पसारेतु वाहुं परक्कमे, णो अवलंवियाण खंधंसि ॥२१॥

अर्द्धप्रतिपन्ने शिशिरे सति तद्देवदूष्यवस्त्र व्युत्सृज्यानगारो भगवान् प्रसार्य वाहुं पराक्रमते । न तु पुनः शीतार्दितः सन् संकोचयति नापि स्कन्धो वलं व्यतितिष्ठतीति। सांप्रतमुपसं जिहीर्षुराह ॥

एस विही अणुक्कंते, माहणेण मइमया ।
बहुसो अपडिण्णणे, भगवता एवं रीयंति त्ति वेमि ॥

एष चर्याविधिरनन्तरोक्तोऽन्वाक्रान्तोऽनुचीर्णः(माहणेत्ति) श्रीवर्द्धमानस्वामिना मतिमता विदितवेद्येन बहुशोऽनेकप्रकारमप्रतिज्ञेनानिदानेन भगवता ऐश्वर्यादिगुणोपेतेन एवमनेन यथा भगवदनुचीर्णेनान्ये मुमुक्षवोऽशेषकर्म्मक्षयाय साधवो रीयन्ते गच्छन्तीति इत्यधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववदुपधानश्रुताध्ययनस्य प्रथमोद्देशक इति उक्तः प्रथमोद्देशकः। सांप्रतं द्वितीय आरभ्यते। अस्य चायमभिसंबन्ध इहानन्तरोद्देशके भगवतश्चयोऽभिहिता। तत्र चावश्यं कदाचिद्यथाऽवसत्या भाव्यमतस्तत्प्रतिपादनायायमुद्देशकः प्रतन्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्॥

चरियासणाइं सेज्जाओ, एगतियाओज्ज ओम्मइत्ताओ ।
आइक्खताइं सयणासणाइं, जाइं सेवित्थ से महावीरे ॥

चर्यायामवश्यंभावितया यानि शय्यामनान्यभिहितानि सामर्थ्यायातानि शयनासनानि शय्याफलकादीन्याचचक्षे सुधर्मस्वामी जम्बूनाम्नाऽभिहितो यानि सेवितवान्महावीरो वर्द्धमानस्वामी–त्ययञ्च श्लोकश्चिरन्तनटीकाकारेण न व्याख्यातः। तत्र किं सुगमत्वादुताभावात् सूत्रपुस्तकेषु तु दृश्यते तदभिप्रायं च वयं न विद्म इति प्रश्नवति प्रतिवचनमाह (आवेसण इत्यादि) भगवतो ह्याहाराभिग्रहवत्प्रतिमाव्यतिरेकेण प्रायशो न शय्याऽभिग्रह आसीत् नवरं यत्रैव चरमपौरुषी भवति तत्रैवानुज्ञाप्य स्थितवान्। तद्दर्शयति ॥

आवेसणसभापवासु, पणियसालासु एगया वासो ।
अदुवा पलियट्ठाणेसु, पलालपुंजेसु एगदा वासो ॥२॥

आ समन्ताद्विशन्ति यत्र तदावेशनं शून्यगृहं सभा नाम ग्रामनगरादीनां तद्वसिलोकाच्छायिकार्थमागन्तुकशयनार्थं च कुड्याद्याकृतिः क्रियते। प्रपा उदकस्थानम् आवेशनं च सभा च प्रपा चेत्यावेशनसभाप्रपास्तासु। तथा पण्यशालासु हट्टेषु एकदा कदाचिद्वासो भगवतोऽथवा (पालियंति) कर्म्म तस्य स्थानं कर्म्मस्थानम्। अयस्कारवर्द्धकिकुज्जादिकम्। तथा पलालपुञ्जेषु मञ्चोपरिव्यवस्थितेष्वधो न पुनस्तेष्वधः सुषिरत्वादेति। किञ्च॥

आगंतारे आरा–मागारे णगरे वि एगदा वासो ।
सुमसाणे सुण्णगारे वा, रुक्खमूले वि एगदा वासो ॥३॥

प्रसङ्गायाता आगत्य वा यत्र तिष्ठति तदागन्तारं तत्पुनर्ग्रामान्नगराद्बहिःस्थानं तत्र यथा आरामे आगारं गृहमारामागारं तत्र वा तथा नगरे वा एकदा वासस्तथा श्मशाने शून्यागारे वा आवेशनशून्यागारयोर्भेदः स कुड्याकुड्यकृतो वृक्षमूले वा एकदा वासः किञ्च॥

एतेहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसि पतेरसवासे ।
राइंदियं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए ज्झाति ॥४॥

एतेषु पूर्वोक्तेषु शयनेषु वसतिषु स मुनिर्ज्ञगत्त्रयवेत्ता ऋतुबद्ध वर्षासु वा श्रमणस्तपस्युद्युक्ता समना वासीन्निश्चलमना इत्यर्थः। कियन्तं कालं यावदिति दर्शयति (पतेरसवासेत्ति) प्रकर्षेण त्रयोदश वर्ष यावत्समस्तं रात्रिन्दिवमपि यतमानः संयमानुष्ठान उद्युक्तवांस्तथा अप्रमत्तो निद्रादिप्रमादरहितविश्रोतसिकारहितो धर्म्मध्यानं शुक्लध्यानं वा ध्यायतीति। किञ्च।

णिद्दं पि णो पगामाए, सेवइ य भगवं उट्ठाए ।
जग्गावति य अप्पाणं, इसिं सातिय अपडिण्णे ॥५॥

निद्रामप्यसावपरप्रमादरहितो न प्रकामतः सेवते तथा च किल भगवतो द्वादशसु संवत्सरेषु मध्येऽस्थिकग्रामे व्यन्तरोपसर्गान्ते कायोत्सर्गव्यवस्थितस्यैवान्तर्मुहूर्त्तं यावत् स्वप्नदर्शनाध्यासितः सकृन्निद्राप्रमाद आसीत्ततोऽपि चोत्थायात्मानां जागरयति कुशलानुष्ठाने प्रवर्तयति। यत्रापीषच्छय्यासीत्तत्राप्यप्रतिज्ञः प्रतिज्ञारहितो न तत्रापि स्वापाभ्युपगमपूर्वकं शयीत इत्यर्थः। किञ्च।

संवुज्झमाणे पुणरवि, आसंसु भगवं उट्ठाए ।
णिक्खम्म एगया पराओ, बहिं चंकमित्ता मुहुत्तगं ॥६॥

स मुनिर्निद्राप्रमादाद्युत्थितचित्तः संबुध्यमानः संसारपातायायं प्रमाद इत्येवमवगच्छन् पुनरप्रमत्तो भगवान् संयमोत्थानेनोत्थाय यदि तत्रान्तर्व्यवस्थितस्य कुतश्चिन्निद्राप्रमादः स्यात् तत-

स्तस्मान्निष्क्रम्यैकदा शीतकालराज्यादौ बहिश्चङ्क्रम्य मुहूर्त्तमात्रं निद्राप्रमादापनयनार्थं ध्याने स्थितवानिति। किञ्च।

सयणेहिं तस्सुवस्सग्गा, भीमा आसी अणेगरूवा।
संसप्पगा य जे पाणा, अदुवा पक्खिणो उवचरंति ॥७॥

शय्यते स्थीयते उत्कुटुकाशनादि भिर्येष्विति शयनान्याश्रयस्थानानि तेषु तैर्वा तस्य भगवत उपसर्गा भीमा भयानका आसन्ननेकरूपाश्च शीतोष्णादिरूपतया अनुकूलप्रतिकूलरूपतया वा। तथा संसर्प्पन्तीति संसर्प्पकाः शून्यगृहादावहिनकुलादयो ये प्राणिन उपचरन्त्युप सामीप्येन मांसादिकमश्नन्त्यथवा श्मशानादौ पक्षिणो गृद्धादय उपचरन्तीति वर्तते। किञ्च।

अदुवा कुचरा उवचरंति, गामरक्खा य सत्त हत्था य।
अदु गामिया उवसग्गा, इत्थी एगतिया पुरिसो वा ॥८॥

अथानन्तरं कुत्सितं चरन्तीति कुचराश्चौरपारदारिकादयस्ते च क्वचिच्छून्यगृहादावुपचरन्त्युपसर्गयन्ति। तथा ग्रामरक्षकादयश्च त्रिकचत्वारादिव्यवस्थितं शक्तिकुन्तादिहस्ता उपचरन्तीति। अथ ग्रामैका ग्रामधर्म्माश्रिता उपसर्गा एकाकिनः स्युस्तथाहि काचित्स्त्री रूपदर्शनाध्युपपन्ना उपसर्गयेत्पुरुषो वेति। किञ्च॥

इहलोइयाइं परलोइयाइं, भीमाइं अणेगरूवाइं।
अविसुब्भिदुब्भिगंधाइं, सद्दाइं अणेगरूवाइं ॥९॥
अहियासए सयासमिते, फासाइं विरूवरूवाई।
अरतिं रतिं अभिभूय, रीयति माहणे अबहुवाई ॥१०॥

इह लोके भवा ऐहिलौकिका मनुष्यकृताः के ते स्पर्शा दुःखविशेषा दिव्यास्तैरश्चाश्च पारलौकिकास्तानुपसर्गापादितान् दुःखविशेषानध्यासयत्यधिसहते। यदि वा इहैव जन्मनि ये दुःखयन्ति दण्डप्रहारादयः प्रतिकूलोपसर्गास्त ऐहलौकिकास्त द्विपर्ययाश्च पारलौकिका भीमा भयानका अनेकरूपा नानाप्रकारास्तानेव दर्शयति सुरभिगन्धयः स्वकृचन्दनादयो दुर्गन्धाः कुथितकलेवरादयस्तथा शब्दाश्चानेकरूपा वीणावेणुमृदङ्गादिजनितास्तथा । क्रमेलकारटिताद्युत्थापितास्तांश्चाविकृतमना अध्यासयत्यधिसहते। सदा सर्वकालं सम्यगितः समितः पञ्चभिर्युक्तस्तथा स्पर्शान् दुःखविशेषानरतिं संयमे रतिं चोपभोगाभिष्वङ्गे अभिभूय तिरस्कृत्य रीयते संयमानुष्ठाने व्रजति (माहणत्ति) पूर्ववत्। तथोभयभाषी एकद्विव्याकरणं क्वचिन्निमित्ते कृतवानिति भावः। किञ्च॥

स जणेहिं तत्थ पुच्छिंसु, एगचरा वि एगदाराओ।
अव्वाहिते कसाइच्छा, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे ॥११॥

स भगवानर्द्धत्रयोदशपक्षाधिकाः समा एकाकी विचरंस्तत्र शून्यगृहादौ व्यवस्थितः सन् जनैर्लोकैः पृष्टस्तद्यथा को भगवान् किमत्र स्थितः इत्येवं पृष्टोऽपि तूष्णींभावमभजत। तथा उपपत्त्याद्या अपि एकचरा एकाकिन एकदा कदाचिद्रात्रावह्नि वा पप्रच्छुरव्याकृते च भगवता कषायितास्ततोऽज्ञानावृतदृष्टयो दण्डमुष्ट्यादिना ताडनतोऽनार्यत्वमाचरन्ति भगवांस्तु समाधिं प्रेक्षमाणो धर्म्मध्यानोपगतचित्तः सन् सम्यक् तितिक्षते। किंभूतोऽप्रतिज्ञो नास्य वैरनिर्यातनप्रतिज्ञा विद्यत इत्यप्रतिज्ञः। कथं ते पप्रच्छुरिति दर्शयितुमाह॥

अयमंतरंसि को एत्थं, अहमंसो ति भिक्खु आहट्टु।
अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए सकसाइए ज्झाति ॥१२॥

अयमन्तर्म्मध्ये कोऽत्र व्यवस्थित एवं सङ्केतागता दुश्चारिणः पृच्छन्ति कर्मकरादयो वा तत्र नित्यवासिनो दुष्प्रणिहितमानसाः पृच्छन्ति तत्र चैवं पृच्छतामेषां भगवांस्तूष्णींभावमेव भजते। क्वचिद्बहुतरदोषापनयनाय जल्पत्यपि कथमिति दर्शयति। अहं भिक्षुरस्मीत्येवमुक्ते यदि तेऽवधीरयन्ति ततस्तिष्ठत्येवाभिप्रेतार्थव्याघातात्कषायिता महान्धाः। सांप्रतेक्षितया एवं ब्रूयुर्यथा तूष्णींस्मात् स्थानान्निर्गच्छ ततो भगवानपीयत्ताऽवग्रह इति कृत्वा निर्गच्छत्येव भगवान् किन्तु सोऽयमुत्तमप्रधानो धर्म्म आचार इति कुत्वा सकषायितेति तस्मिन् गृहस्थे तूष्णींभावव्यवस्थिते यद्भविष्यतया ध्यायत्येव न ध्यानात् प्रच्यवते। किञ्च

जं सिप्पेगे पवेवंति, सिसिरे मारुए पवायंते।
तं सिप्पेगे अणागारा, हिमवाए णिवायमेसंति ॥१३॥

यस्मिन् शिशिरादावप्येके त्वत्राणाभावतया प्रवेपन्ते दन्तवीणादिसमन्विताः कम्पन्ते यदि वा प्रवेदयन्ति शीतजनितं दुःखस्पर्शमनुभवन्ति आर्तध्यानवशगा भवन्तीत्यर्थः। तस्मिंश्च शिशिरे हिमकणिनि मारुते च प्रवाति सत्येके न सर्वे ऽनगारास्तीर्थिकप्रव्रजिता हिमवाते सति शीतपीडितास्तदपनोदाय पावकं प्रज्वालयन्त्यङ्गारशकटिकामन्वेषयन्ति प्रावरिकं याचन्ते। यदिवाऽनगारा इति पार्श्वनाथप्रव्रजिता गच्छवासिन एव शीतार्दिता निवातमेषयान्ति घंघशालादिवसतीर्वातायनादिरहिताः प्रार्थयन्ति। किञ्च।

संघाडिओ पविसिस्सामो, पहा य समादहमाणा।
पिहितावासक्खामो, अतिदुक्खहिमगसंफासा ॥१४॥

इह संघाटीशब्देन शीतापनोदक्षमं कल्पद्वयं त्रयं वा गृह्यते ताः सङ्घाटीः शीतार्दिता वयं प्रवेक्ष्याम एवं शीतार्दिता अनगारा अपि विदधति तीर्थिकप्रव्रजिताः। तथा समिधः काष्ठानीति यावदेताश्च समादहन्तः शीतस्पर्शं सोढुं शक्ष्यामस्तथा सङ्घाट्या वाऽभिहिताः स्थगिताः कम्बलाद्यावृतशरीरा इति। किमर्थमेतत्कुर्वन्तीति दर्शयति। यतो अतिदुःखमेतदतिदुःसहमेतदभूत् हिमसंस्पर्शाः शीतस्पर्शवेदना दुःखेन सह्यन्त इति यावत्। तदेवम्भूते शिशिरे यथोक्तानुष्ठानवत्सु वा स्वयूथोत्तरेष्वनगारेषु यद्भगवान् व्यधात्तद्दर्शयितुमाह॥

तंसि भगवं अप्पडिण्णे, अघो वियडे अहियासए।
दविए णिक्खम्म एग–दारा उ वा एति भगवं समियाए॥१५॥

तस्मिन्नेवंभूते शिशिरे हिमवाते शीतस्पर्शे च सर्वकषे भगवानैश्वर्यादिगुणोपेतस्तं शीतस्पर्शमध्यायत्यधिसहते। किंभूतोऽसावप्रतिज्ञो न विद्यते निवातवसतिप्रार्थनादिका प्रतिज्ञा यस्य स तथा क्वाध्यासयत्यधो विकटे अधः कुड्यादिरहिते छन्नेऽप्युपरि तदभावे चेति पुनरपि विशिनष्टि रागद्वेषविरहाद् द्रव्यभूतः कर्म्मग्रन्थिद्रावणाद्वा द्रवः संयमः स विद्यते यस्यासौ द्रविकः स च तथाऽध्यासयत् यथाऽत्यन्त शीतेन बाध्यते तत स्तस्मात्स्थानात् किञ्च बहिरेकदा रात्रौ मुहूर्त्तमात्रं स्थित्वा पुनः प्रविश्य स भगवान् समितया समतया वा व्यवस्थितस्तं शीतस्पर्शं रासभदृष्टान्तेन सोढुं शक्त इत्यधिसहत इति। एतदेवोद्देशकार्थमुपसञ्जिहीर्षुराह।

एस विही अणुक्कंतो, माहणेणं मइमया।
बहुसो अप्पडिण्णेणं, भगवया एवं रीयंते त्तिबेमि ॥१६॥

एस विही इत्याद्यनन्तरोद्देशकवन्नेयमिति इति ब्रवीमीतिशब्दः पूर्ववदुपधानश्रुतस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः। उक्तो द्वितीयोद्देशकः साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते। अस्य चायमभिसंबन्धः इहानन्तरोद्देशके भगवतः शय्याः प्रतिपादितास्तासु व्यवस्थितेन ये यथोपसर्गाः परीषहाश्च सोढास्तत्प्रतिपादनार्थमिदमुपक्रम्यते। इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्।

तणफासे सीयफासे य, तेउफासे य दंसमसगे य।
अहियासए समिए, फासाइं विरूवरूवाइं ॥१॥

तृणानां कुशादीनां स्पर्शास्तृणस्पर्शास्तथा शीतस्पर्श उष्णस्पर्शश्चातपनादिकाले आसन्। यदि वा गच्छतः किल भगवतस्तेजःकाय एवासीत्तथा दंशमशकादयश्च एतांस्तृणस्पर्शान्विरूपान्नानाभूतान् भगवानध्यासयति सम्यगितः सम्यग्भावं गतः समितिभिः समितो वेति। किञ्च।

अह दुच्चरलाढचारी, वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च।
पंतं सेज्जं सेविंसु, आसणगाइं चेव पंताइं ॥२॥

अथानन्तर्ये दुःखेन चर्यतेऽस्मिन्निति दुश्चरः स चासौ लाढश्च जनपदविशेषो दुश्चरलाढस्तं चीर्णवान्विहृतवान्। स च द्विरूपो वज्रभूमिः शुभ्रभुमिः श्वभ्रादिरूपमपि विहृतवांस्तत्र च प्रान्तां शय्यां वसतिं शून्यगृहादिकामनेकोपद्रवोपद्रुतां सेवितवांस्तथा प्रान्तानि वासनानि पांशूत्करशर्करालोष्ठाद्युपचितानि काष्ठानि च दुर्घटितान्यासेवितवानिति। किञ्च।

लाढेहिं तस्सुवसग्गा, बहवे जाणवया लूंसिसु।
अह लुक्खदेसिए भत्ते, कुक्करा तत्थ हिंसंसु णिवतिंसु ।३।

लाढा नाम जनपदविशेषास्तेषु च द्विरूपेष्वपि लाढेषु तस्य भगवतो बहव उपसर्गाःप्रायशः प्रतिकूला आक्रोशाश्च भक्षणादयश्च आसंस्तानेव दर्शयति जनपदे भवा जानपदा अनार्यचारिणो लोकास्ते भगवन्तं लूषितवन्तो दन्तभक्षणोल्मुकदण्डप्रहारादिभिर्जिहिंसुः। अथ शब्दोऽपि शब्दार्थे स चैवं द्रष्टव्यो भक्तमपि तत्र रूक्षदेश्यं रूक्षकल्पमन्तप्रान्तमिति यावत्ते चानार्यतया प्रकृतिक्रोधनाः कार्पासाद्यभावत्वाच्च तृणप्रावरणाः सन्तो भगवति विरूपमाचरन्ति। तथा तत्र कुक्कुराः श्वानस्ते जिहिंसुरुपरि निपेतुरिति। किञ्च॥

अप्पे जणो णिवारेइ, लूसणए सुणए दंसमाणे।
छुछु करंति आहंतुं, समणं कुक्करा दसंतु त्ति ॥४॥

अल्पः स्तोकः स जनो यदि परं सहस्राणामेको यदि वा नास्त्येवासाविति यस्तान् शुनो लूषकान् दशतो निवारयति निषेधयत्यपि तु दण्डप्रहारादिभिर्भगवन्तं हत्वा तत्प्रेरणायासीत् छु छु कुर्वन्ति कयं नु नामैनं श्रमणं कुक्कराःश्वानो दशन्तु भक्षयन्तु तत्र चैवंविधे जनपदे भगवान् षण्मासावधिं कालं स्थितवानिति किञ्च।

एलिक्खए जणे भुज्जो, बहवे वज्जभूमिं फरुसा।
सीलट्ठिगहाय णालीयं, समणा तत्थ एवं विहरिंसु ॥५॥

ईदृक्षः पूर्वोक्तस्वभावो यत्र जनस्तं तथाभूतं जनपदं भगवान् भूय पौनःपुन्येन विहृतवांस्तस्याञ्च वज्रभूमौ बहवो जनाः पुरुषाशिनो रूक्षाशितया च प्रकृतिक्रोधनास्ततो यतिरुपमुपलभ्य कदर्थयन्ति ततस्तत्रान्ये श्रमणाः शाक्यादयो यष्टिं देहप्रमाणां चतुर हस्तादिकप्रमाणां वा नालिकां गृहीत्वा श्वादिनिषेधनाय विजह्रुरिति। किञ्च॥

एवं तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं।
संलुंचमाणा सुणएहिं, दुच्चराणि तत्थ लाढेहिं ॥६॥

यष्ट्यादिकया सामान्या श्रमणा विहरन्तः स्पृष्टपूर्वा आरब्धपूर्वाः श्वभिरासंलुच्यमाना इतश्चेतश्च भक्ष्यमाणाः श्वभिरासन् दुर्निवारत्वात्तेषां तत्र तेषु लाढेष्वार्यलोकानां दुःखेन चर्यन्त इति दुश्चारान् ग्रामादीनिति। तदेवं भूतेष्वपि लाढेषु कथं भगवान् विहृतवानिति दर्शयितुमाह।

णिहाय दंडं पणिहिं तं, कायं वोसज्ज मणगारे।
अह गामकंटए भगवं, ते हियासए अभिसमेच्च ॥७॥

प्राणिषु यो दण्डनादण्डो मनोवाक्कायादिस्तं भगवान्निधाय त्यक्त्वा तथा तच्छरीरमप्यनगारो व्युत्सृज्याथ ग्रामकण्टकान्नीचजनरूक्षालापानपि भगवांस्तां सम्यक्करणतया निर्जरामभिसमेत्य ज्ञात्वाऽऽध्यासयत्यधिसहते कथमधिसहत इति दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह।

णाओ संगामसीसे वा, पारए तत्थ से महावीरे।
एवं पि तत्थ लाढेहिं, अलद्धपुव्वो वि एगदा गामे ।८।

नागो हस्ती यथाऽसौ संग्राममूर्द्धनि परानीकं जित्वा तत्पारगो भवत्येव भगवानपि महावीरस्तत्र लाढेषु परीषहानीकं विजित्य पारगोऽभूत्। किञ्च तत्र लाढेषु विरतत्वात् ग्रामाणां क्वचिदेकदा वासायालब्धपूर्वो ग्रामोऽपि भगवता। किञ्च।

उवसंकमंत अपडिण्णं, गामंतियं पि अप्पत्तं।
पडिणिक्खमित्तु लुसिंसु, एतातो परं पलेहि त्ति ॥९॥

उपसंक्रामन्तं भिक्षायै वासाय वा गच्छन्तं किम्भूतमप्रतिज्ञं नियतनिवासादिप्रतिज्ञारहितं ग्रामान्तिकं प्राप्तमप्राप्तमपि तस्मात् ग्रामात्प्रतिनिर्गत्य ते जना भगवन्तमलूषिषुरेतश्चोचुरितोऽपि स्थानात्परं दूरतरं स्थानं पर्येहि गच्छेति। किञ्च।

हयपुव्वो तत्थ दंडेण, अहवा मुट्ठिणा अह कुंतादिफलेणं।
अह लेलुणा कवालेणं, हंता हंता बहव कंदिंसु ॥१०॥

तत्र ग्रामादेर्बहिर्व्यवस्थितिः पूर्वं हतो हतपूर्वः। केन दण्डेनाथवा मुष्टिनाऽथवा कुन्तादिफलेनाथवा लेष्टुना कपालेन घटखर्पराद्दिना हत्वा हत्वा बहवोऽनार्याश्चक्रन्दुःपश्यत यूयं किम्भूतोऽयामित्येवं कलकलश्चक्रुः। किञ्च।

मंसूणि छिण्णपुव्वाइं, उट्ठंभिया एकदा कायं।
परीसहाइं लुंचिंसु, अहवा पंसुणा उवकरिंसु ॥११॥

मांसानि च तत्र भगवतश्छिन्नपूर्वाणि एकदा कायमवष्टभ्याक्रम्य नानाप्रकाराः प्रतिकूलपरिषहाश्च भगवन्तमलुञ्चिषुरथवा पांशुना अवकीर्णवन्त इति। किञ्च

उच्चालइ यणिहणिंसु, अहवा असणाउ खलइंसु।
वोसट्ठकाए पणतासी, दुक्खसहे भगवं अपडिण्णे ॥१२॥

भगवन्तमूर्ध्वमुत्क्षिप्य भूमौ निहतवन्तः क्षिप्तवन्तोऽथवाऽऽसनात् गोदोहिकोत्कुटुकासनवीरासनादिकात् स्खलितवन्तो निपातितवन्तो भगवांस्तु पुनर्व्युत्सृष्टकायः परीषहोपसर्गकृतं दुःखं सहत इति दुःखसहो भगवान् नास्य दुःखविचिकित्सा प्रतिज्ञा विद्यत इति अप्रतिज्ञः। कथं दुःखसहो भगवान् इत्येतद्दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह।

सूरो संगामसीसे वा, संवुडे तत्थ से महावीरे।
पडिसेवमाणे फरुसाइं, अचले भगवं रीइच्छा ॥१३॥

यथा हि संग्रामशिरसि शूरोऽक्षोभ्यः परैः कुन्तादिभिर्भिद्यमानोऽपि वर्म्मणा संवृताङ्गो न भङ्गमुपयातीत्येवं स भगवान्महावीरस्तत्र लाढादिजनपदे परीषहानीकतुद्यमानोऽपि प्रति सेवमानश्च परुषान् दुःखविशेषान् मेरुरिवाचलो निष्प्रकम्पो वृत्त्या संभृताङ्गो भगवान् रीयते स्म ज्ञानदर्शनचारित्रात्मको मोक्षाध्वनि पराक्रमते स्मेति.। उद्देशकार्थमुपसंजिहीर्षुराह॥

एस विही अणुक्कंतो, माहणेणं मईमया।
बहुसो अप्पडिण्णेणं, भगवता एव रीयंति त्तिबेमि॥१४॥

"एसविही" इत्यादि पूर्ववत् उपधानश्रुताध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः परिसमाप्त इति उक्तस्तृतीयोद्देशकः। सांप्रतं चतुर्थ आरभ्यते। अस्य चायमभिसंबन्धः। इहानन्तरोद्देशके भगवतः परीषहोपसर्गातिसहनं प्रतिपादितं तदिहापि रोगातङ्कपीडां चिकित्साव्युदासेन सम्यगधिसहते तदुत्पत्तौ च नितरां तपश्चरणायोद्यच्छतीत्येतत्प्रतिपाद्यते तदनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्।

ओमोदरियं वा णं त–अपुट्ठे वि भगवं रोगेहिं।
पुट्ठो विसे अपुट्ठो वा से, णो सेसाइज्जति ते इत्थं॥१॥

अपि शीतोष्णदंशमशकाक्रोशताडनाद्याःशक्याः परीषहाः सोढुं न पुनरवमोदरता भगवांस्तु पुना रोगैरस्पृष्टोऽपि वातादिक्षोभभावे–ऽप्यवमौदर्यं न्यूनोदरतां शक्नोति कर्तु लोको हि रोगैरभिद्रुतः संस्त–दुपशमनायावमोदरतां विधत्ते। भगवांस्तु तदभावेऽपि विधत्त इत्यपिशब्दार्थः। अथवा स्पृष्टोऽपि कासश्वासादिभिर्द्रव्यरोगैरपिशब्दात् स्पृष्टोऽप्यसद्वेदनीयादिभिर्द्रव्यरागैर्न्यूनोदरतां करोति। अथ किं द्रव्यरोगातङ्का भगवतो न प्रादुष्यन्ति येन भावरोगैः स्पृष्ट इत्युक्तं तदुच्यते भगवतो हि न प्राकृतस्येव देहजाः कासश्वासादयो भवन्त्यागन्तुकास्तु शस्त्रप्रहारजा भवेयुरित्येतदेव दर्शयति। स च भगवान् स्पृष्टो वा स्वभक्षणादिभिरस्पृष्टो वा कासादिभिर्नासौ चिकित्सामभिलषति न द्रव्यौषधाद्युपयोगतः पीडोपशमं प्रार्थयतीत्येतदेव दर्शयितुमाह।

संमोहणं च वमणं च, गायब्भंगणं च सिणाणं च।
संवाहणं च ण से कप्पइ, दंतपक्खालणं परिण्णाय॥२॥

गात्रस्य सम्यक् शोधनं विरेचनं निःश्रोतादिभिस्तथा वमनं मदनफलादिभिश्चशब्द उत्तरपदसमुच्चयार्थो गात्राभ्यङ्गनञ्च सहस्रपाकतैलादिभिः स्नानञ्चोद्वर्तनादिभिः संवाधनञ्च हस्तपादादिभिस्तस्य भगवतो न कल्पते। तथा सर्वमेव शरीरमशुद्ध्यात्मकमित्येवं परिज्ञाय ज्ञात्वा दन्तकाष्ठादिभिर्दन्तप्रक्षालनञ्च न कल्पत इति। किञ्च।

विरए य गामधम्मेहिं, रीयमाणे अबहुवाई।
सिसिरंसि एगदा भगवं, छायाए ज्झाति आसीय॥३॥

विरतो निवृत्तः केभ्यो ग्रामधर्म्मेभ्यो यथास्वमिन्द्रियाणां शब्दादिभ्यो विषयेभ्यो रीयते संयमानुष्ठाने पराक्रमते (माहणेत्ति) भगवान् किम्भूतोऽसावबहुवादी सकृद् व्याकरणभावात् बहुशब्दोपादानमन्यथा ह्यवादीत्येवं ब्रूयात्तथैकदा शिशिरसमये स भगवांश्छायायां धर्म्मशुक्लध्यानध्याय्यासीच्चति। किञ्च

आयावइ य गिम्हाणं, अत्थत्ति उक्कुडुए अभितावे।
अह जाव इत्थ लूहेणं, ओयणमंथुकुम्मासेणं॥४॥

सुब्व्यत्ययेन सप्तम्यर्थे षष्ठी। ग्रीष्मेष्वातापयति कथमिति तिष्ठत्युत्कुटुकासनोऽभितापं तापाभिमुखमिति। अथानन्तर्ये धर्म्माधारं देहं यापयति स्म रूक्षेण स्नेहरहितेन केन ओदनमन्थुकुल्माषेण ओदनञ्च कोद्रवौदनादि मन्थु बदरचूर्णादिकं कुल्माषाश्च मासविशेषा एवोत्तरापथे धान्यविशेषभूताः पर्युषितमाषाः वा सिद्धमाषा वा ओदनमन्थुकुल्मा-षमिति समाहारद्वन्द्वः। तेनात्मानं यापयतीति सबन्ध इत्येतदेव कालावधिविशेषणतो दर्शयितुमाह॥

एयाणि तिण्णि पडिसेवे, अट्ठमासे अज्जावए भगवं।
अपि इत्थं एगया भगवं, अद्धमासं अहवा मासं पि॥५॥

एतान्योदनादीन्यनन्तरोक्तानि प्रतिसेवते तानि च समाहारद्वन्द्वेन तिरोहितावयवसमुदायप्रधानेन निर्द्देशात्कस्यचिन्मन्दबुद्धेः स्यादारेका यथा त्रीण्यपि समुदितानि प्रतिसेवत इत्यतस्तद्व्युदासाय त्रीणीत्यनया संख्यया निर्द्देश इति त्रीणि समस्तानिव्यस्तानि वा यथालाभं प्रतिसेवित इति। कियन्तं कालमिति दर्शयत्यष्टौ मासानृतुबद्धसंज्ञकानात्मानम-यापयद्वर्तितवान् भगवानिति तथा पानमप्यर्द्धमासं भगवन्नपीतवानपि च॥

वि साहिए दुवे मासे, छ प्पि मासे अदुवा विहरित्था।
राउवरायं अपडिण्णे, अण्णे गिलायंते गया भुंजे॥६॥

मासद्वयमपि साधिकमथवा षडपि मासान् साधिकान् भगवान् पानकमपीत्वाऽपि रात्रोपरात्रमित्यहर्निशं विहृतवान्। किं भूतोऽप्रतिज्ञः पानाभ्युपगमरहित इत्यर्थस्तथा (अण्णेगिलायंति) पर्युषितं तदेकदा भुक्तावानिति। किञ्च।

अहवा अट्ठमेणं दसमेणं, छट्ठेणमेगया भुंजे।
दुवालसमेण एगया भुंजे, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे॥७॥

षष्ठेनैकदा भुङ्क्ते तथा नामैकस्मिन्नहन्येकभक्तं विधाय पुनर्दिन–द्वयमभुक्त्वा चतुर्थेऽहन्येकभक्तमपि विधत्ते ततश्चाद्यन्तयोरेक–भक्तदिनयोर्भक्तद्वयं मध्यदिवसयोश्च भक्तचतुष्टयमित्येवं षण्णां भक्तानां परित्यागात् षष्ठं भवत्येवं दिनादिवृद्ध्याऽष्टमाद्यायोज्यमिति अथवा अष्टमेन दशमेनाथवा द्वादशमेनैकदा कदाचिद् भुक्तवान् समाधिं शरीरसमाधानं प्रेक्षमाणः पर्यालोचयन् पुनर्भगवतः कथञ्चिद्दौर्म्मनस्यमु-त्पद्यते। तथा अप्रतिज्ञो ऽनिदान इति। किञ्च

णच्चा से महावीरे, णावि य पावगं सयमकासी।
अण्णेहिं वि ण कारित्था, कीरंतं पि णाणुजाणित्था॥८॥

ज्ञात्वा हेयोपादेयं स महावीरः कर्म्मप्रेरणसहिष्णुर्नापि च पापकर्म्म स्वयमकार्षीन्न चान्यैरकुर्वन्न च क्रियमाणमपरैरनुज्ञातवानिति। किञ्च।

गामं पविस्स णगरं वा, घासमेसे कडं परट्ठाए।
सुविसुद्धमेसिया भगवं, आयतजोगताए सेवित्था॥९॥

ग्रामं नगरं वा प्रविश्य भगवान् ग्रासमन्वेषयेत्परार्थं यत् कृतमित्यु–द्गमदोषरहितं तथा सुविशुद्धमुत्पादनादोषरहितं तथैषणा दोषपरि–हारेणैषित्वाऽन्वेष्य भगवानायतः संयतो योगो मनोवाक्कायलक्षण आयतश्चासौ योगश्चायतयोगो ज्ञानचतुष्टयेन सम्यग्योगप्रणिधा–नमायतयोगस्य भाव आयतयोगता तया सम्यगाहारं शुद्धं ग्रासैषणा दोषपरिहारेण सेवितवानिति।

अदुवा य सा दिगंछित्ता, जे अण्णे रसेसिणो सत्ता।
घासेसणाए चिट्ठंति, सयणं णिवत्तिते य पेहाए॥१०॥

अथ भिक्षां पर्यटतो भगवतः पथि वायसाः काका (दिगिंच्छित्ति) बुभुक्षा तया आर्ता ये चान्ये रसैषिणः पानार्थिनः कपोतपारावतादयः सत्वाः। तथा ग्रासैषणार्थमन्वेषणार्थञ्च ये तिष्ठन्ति तान् सततमनवरतं निपतितान् भूमौ प्रेक्ष्य दृष्ट्वा तेषां वृत्तिव्यवच्छेदं वर्ज्जयन् मन्दमाहारार्थी पराक्रमते। किञ्च॥

अदु माहणं च समणं वा, गामपिंडोलगं च अतिहिं वा।
सोवागमूसियारिं वा, कुक्करं वा चिट्ठियं वा पुरओ॥११॥
वित्तिच्छेदं वज्जंतो, तेसप्पत्तियं परिहारंतो।
मंदं परिक्कमे भगवं, अहिंसमाणो घासमेसित्था॥१२॥

अथ ब्राह्मणं लाभार्थमुपस्थितं दृष्ट्वा तथा श्रमणं शाक्यजीव-कपरिव्राट्तापसनिर्ग्रन्थानामन्यतमं ग्रामपिण्डोलक इति भिक्षयोदरभरणार्थं ग्राममासृतस्तुन्दपरिमृजो द्रमक इति तथाऽतिथिं वा आगन्तुकं तथा श्वपाकं चाण्डालं मार्जारिं वा कुक्करं वाऽपि श्वानं विविधं स्थितं पुरतोऽग्रतः समुपलभ्य तेषां वृत्तिच्छेदं वर्ज्जयन्मनसो दुष्प्रणिधानञ्च वर्ज्जयन्मन्दमनास्तेषां त्रासमकुर्व्वन् भगवान् पराक्रमते। तथाऽपरांश्च कुन्थुकादीन् जन्तून् अहिंसन् ग्रासमन्वेषितवानिति। किञ्च।

आविसुइयं च सुक्कं वा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु बक्कसं पुलागं वा, लद्धेपिंडे अलद्धए दविए॥१३॥

"सूइयंति" दध्यादिना भक्तामार्द्रीकृतमपि तथाभूतं शुष्कं वा वल्लचनकादि शीतपिण्डं वा पर्युषितभक्तं तथा पुराणं कुल्माषं वा बहुदिवससिद्धस्थितकुल्माषं (वक्कसंति) चिरन्तनधान्यौदनं यदि वा पुरातनं सत् कुपिण्डं बहुदिवससम्भृतगोरसगोधूममण्डकञ्चेति तथा पुलाकं जवनिष्पादितं तदेवंभूतं पिण्डमवाप्य रागद्वेषविरहाद्द्रविको भगवांस्तथाऽन्यस्मिन्नपि पिण्डे लब्धे अलब्धे वा द्रविक एव भगवानिति। तथा हि लब्धे पर्याप्ते शोभने वा नोत्कर्षं याति नाप्यलब्धे अपर्याप्ते अशोभने वात्मानमाहारं दातारं वा जुगुप्सति। किञ्च॥

अवि ज्झाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए ज्झाणं।
उड्ढं अहे तिरियं च, लोए ज्झायती समाहिमपडिण्णे॥१४॥

तस्मिंस्तथाभूत आहारे लब्ध उपभुक्ते अलब्धे वाऽपि ध्यायति स महावीरो दुष्प्रणिधानादिना नापध्यानं विधत्ते किमवस्थो ध्यायतीति दर्शयत्यासनस्थ उत्कुटुकागोदोहिकावीरासनाद्यवस्थोऽकौत्कुच ईषन्मुखविकारादिरहितो ध्यानं धर्म्मशुक्लयोरन्यतरदारोहति किं पुनस्तत्र ध्येयं ध्यायतीति दर्शयितुमाह। ऊर्द्धमधस्तिर्यक् लोकस्य ये जीवपरमाण्वादिका भावा व्यवस्थितास्तान् द्रव्यपर्यायनित्यानित्यादिरूपतया ध्यायति। तथा समाधिमन्तःकरणशुद्धिञ्च प्रेक्षमाणोऽप्रतिज्ञो ध्यायतीति। किञ्च॥

अकसाई विगतगेहिय, सद्दरूवेसु अमुच्छिए ज्झाए।
छउमत्थो वि परक्कम-माणो ण पमायं सयं पि कुव्वित्था॥१५॥

न कषायी तदुदयापादितभ्रुकुट्यादिकार्याभावात्। तथा विगता गृद्धिर्गार्द्धर्यं यस्यासौ विगतगृद्धिः तथा शब्दरूपादिष्विन्द्रियार्थे-ष्वमूर्च्छितो ध्यायति मनोऽनुकूलेषु न रागमुपयाति नापीतरेषु द्वेषवशगोऽभूदिति। तथा छद्मनि ज्ञानदर्शनावरणमोहनीयान्तरायात्मके तिष्ठतीति छद्मस्थ इत्येवं भूतोऽपि विविधमनेकप्रकारं सदनुष्ठाने पराक्रममाणो न प्रमादं कषायादिकं सकृदपि कृतवानिति। किञ्च।

सयमेव अभिसमागम्म, आययजोगमायसोहीए।
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले, आवकहं भगवं समितासी॥१६॥

स्वयमेवात्मना तत्वमभिसमागत्य विदितसंसारस्वभावः स्वयं बुद्धः सन् तीर्थप्रवर्तनायोद्यतवांस्तथा चोक्तम्। आदित्यादिर्विबुधगण इमं विस्मरन्त्यां त्रिलाक्या मास्कन्दन्तं पदमनुपयं यच्छिवंत्वामुवाच। तीर्थनाथालघुभवच्छेदि तूर्णं विधत्स्वे त्येतद्वाक्यं त्वदवगतये नाकिमुस्यान्नियोग इत्यादि कथं तीर्थप्रवर्तनायोद्यत इति दर्शयत्यात्मसुद्धया कर्म्मक्षयोपशमक्षयलक्षणया आयतयोगं सुप्रणिहितमनोवाक्कायात्मकं विधाय विषयकषायाद्युपशमादिभिर्निर्वृतः शीतीभूतः तथा ऽमायावी मायारहित उपलक्षणार्थत्वाद-स्याऽक्रोधाद्यपि द्रष्टव्यं यावत्कथमिति यावज्जीवं भगवान् पञ्चभिः समितिभिः समितस्तथा तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तश्चासीदिति। श्रुतस्कन्धाध्ययनोद्देशकार्थमुपसंजिहीर्षुराह।

एसविही अणुक्कंते, माहणेणं मईमया।
बहुसो अपडिण्णेणं, भगवया एवं रीयंते ति बेमि॥
ओहाणं सुयं सम्मत्तं॥

एषोऽनन्तरोक्तः शस्त्रपरिज्ञादेरारभ्य योऽभिहितः सोऽनुक्रान्तोऽनुष्ठित आसेवनापरिज्ञया सेवितः केन श्रीवर्द्धमानस्वामिना मतिमता ज्ञानचतुष्टयान्वितेन बहुशोऽनेकशोऽप्रतिज्ञेनानिदानेन भगवतैश्वर्यादि-गुणोपेतेनातोऽपरोऽपि मुमुक्षुरनेनैव भगवदाचीर्णेन मोक्षप्रगुणेन यथा आत्महितमाचरन् रीयते पराक्रमते इतिरधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिने कथयति साऽहं ब्रवीमि येन मया भगवद्वदनारविन्दादर्थजातं निर्यातमवधारितमिति उक्तोऽनुगमः। आचा०१श्रु०६अ०।

उवहाणाइयार पुं० (उपधानातिचार) आचाराम्लादितपसा योगविधानरूपस्योपधानस्याऽकरणे, जीत०॥

उवहार पुं० (उपहार) उप-हृ-घञ्-उपढौकने, उपायने, कर्म-णि-घञ्। उपढौकनीये, उपायनद्रव्ये, उपगतः हारम् अत्या०स०। हारसमीपस्थे तदुपशोभके द्रव्ये, वाच०। उप-हृ-भावे-घञ्। विस्तारणे, "पहासमुदओ वहारेहिं सव्वओ ऩेया दीवयंतं" कल्प०। (मातृग्रामस्य मैथुनप्रतिज्ञयोपहारसंपादनं महुणशब्दे)

उवहारणया स्त्री० (उपधारणता) अविच्युतिस्मृ-तिवासनाविषयी-करणे, "सुयाणं धम्माणं उवहारणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ" स्था० ६ ठा०॥

उवहारिय त्रि० (उपधारित) अवधारिते, सूत्र०२ श्रु०।

उवहास पुं० (उपहास) उप-हस्-भावे-घञ्। निन्दासूचके हासे, "अरे मए समं मा कारेसु उवहासं" पा०।

उवहि पुं० (उपधि) उपधीयते संगृह्यते इत्युपधिः। द्रव्यतो हिरण्यादौ, भावतो मायायाम् आचा०१ श्रु० ४ अ०१ उ०। सूत्र। उपधीयते ढौक्यते दुर्गतिं प्रत्यात्मा येनासावुपधिः मायायाम्, अष्टप्रकारे वा कर्मणि, सूत्र ०१ श्रु०२ अ०। प्रश्न०। स०। छले, अमर०। उप-धा-भावे-कि-अन्यस्थास्थितस्य वस्तुनोऽन्यथाप्रकाशरूपे, व्यापारे आधारे-कि-श्थचक्रे, हेम०। उपधीयते येनाऽसावुपधिः। वञ्चनीयसमीपगनहेतौ भावे, भ०१२श०५उ०। उपधिच्छद्ममायेत्यनर्थान्तरम्। द०१ अ०। उपधीयते जीवतो दुर्गतौ स्थाप्यते ऽनेनायत्नव्यापारितेनत्युपधिः। आतु०। उप सामीप्येन संयमं दधाति पोषयति चेत्युपधिः। ध०३अ०।

उपदधातीत्युपधिः। वस्त्रपात्राद्यनेकविधे परिग्रहे, द० १अ० प्रश्न० स्था०। कल्पादौ, ध०३अ० स०। प्रज्ञा०। स्था०।

(१) उपधेर्भेदाः।

(२) भेदेन सविस्तरतः प्रतिपादनम्।

(३) द्वारसंग्रहः।

(४) जिनकल्पिकानां स्थविरकल्पिकानां चोपधिः।

(५) जिनकल्पिकानां (स्थविरकल्पिकानां) गच्छवासिनां चोपधेरुत्कृष्टविभागप्रमाणम्।

(६) आर्यिकाणामुपधिप्रमाणम्।

(७) औपग्रहिकोपधेरुत्कृष्टादिभेदाः।

(८) औपग्रहिकोपधयः।

(९) उपधिन्यूनाधिक्ये प्रायश्चित्तम्।

(१०) प्रथमसमवसरणे उपधिग्रहणम्।

(११) प्रथमं प्रव्रजत उपधिः।

(१२) प्रव्रज्यां गृह्णन्त्या निर्ग्रन्थ्या उपधिः।

(१३) रात्रौ विकाले वोपधिग्रहणम्।

(१४) भिक्षणाय गतस्य भिक्षोरुपनिमन्त्रणा।

(१५) भिक्षार्थं गतस्योपकरणपतने विधिः।

(१६) स्थविराणां ग्रहणयोग्या उपधयः।

(१७) निर्ग्रन्थीभ्य उपकरणदाने निर्ग्रन्थीनामागमनपथे उपकरणानि स्थापयितव्यानि।

(१८) पात्रबन्धादिप्रमाणं, उपधिविषयोऽवग्रहः, तीर्थकृतां सोपधित्वं, पादप्रोच्छनं यान्त्रित्वा प्रत्यर्पणम्, उपधीनां धावनं, परिष्ठापनं, प्रत्युपेक्षणं च, प्रलम्बग्रहणेक उपधिर्ग्राह्य इत्यादि स्वस्वस्थाने।

(१९) उपकरणप्रयोजनं विहारशब्दे ऋतुबद्धे वस्त्रग्रहणं व स्त्रयाचनविधिश्च वत्थशब्दे भिक्षाचर्यायां क उपधि र्नेतव्य इत्येषणा विहारादिशब्देषु उपधेरवश्यकरणीयत्वं वोटियशब्दे मध्यमतीर्थकृतां महामूल्यानि वास आदीनीत्यचेलशब्दे धर्मोपकरणे परिग्रहदोषो नेति परिग्रहशब्दे विलोकनीयम्)

(१) त्रिविध उपधिः।

तिविहा उवही पण्णत्ता ? तंजहा कम्मोवही सरीरोवही बाहिरभंडनत्तोवही। एवं असुरकुमाराणं भाणियव्वं। एवं एगिंदिय नेरइयवज्जं जाव वेमाणियाणं ॥

कर्म एवोपधिः कर्मोपधिः एवं शरीरोपधिः। बाह्यं शरीरबहिर्वर्ती भाण्डानि च भाजनानि मृण्मयानि मात्राणि मात्रायुक्तानि कांस्यादिभाजनानि भोजनोपकरणमित्यर्थः। भाण्डमात्राणि तान्येवोपधिर्भाण्डमात्रोपधिरथवा भाण्डं वस्त्राभरणादि तदेव मात्रा परिच्छेदः सैवोपधिरिति ततो बाह्यशब्दस्य कर्मधारय इति चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायामसुरादीनां त्रयोऽपि वाच्याः। नारकैकेन्द्रियवर्जास्तेषामुपकरणस्याभावात् द्वीन्द्रियादीनान्तूपकरणं दृश्यते। एवं केषाञ्चिदिति। अत एवाह। एवमित्यादि।

अहवा तिविहा उवही पण्णत्ता ? तंजहा सचित्ते अचित्ते मीसए। एवं नेरइयाणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं ॥

(अहवेत्यादि) सचित्तोपधिर्यथा शैलभाजनमचित्तोपधिर्वस्त्रादिः मिश्रः परिणतप्रायं शैलभाजनमिवेति। दण्डकचिन्ता सुगमा। नवरं सचित्तोपधिर्नारकाणां शरीरमचेतन उत्पत्तिस्था नम्मिश्रः शरीरमेवोच्छ्वासादिपुद्गलयुक्तं तेषां सचेतनाचेतनत्वेन मिश्रत्वस्य विवक्षणादिति। एवमेव शेषाणामप्यूह्यमिति। स्था०३ठा०नि० चू०। तत्वभेदपर्य्यायैर्व्याख्येति पर्य्यायान् प्रतिपादयन्नाह। "उवही उवग्गहे संगहे य तह य वग्गहे चेव। भंडग उवगरणे वि य, करणे वि य हुंति एगट्ठा" सर्वेषां व्याख्यात्रैवोपरि (ओघनिर्यु–क्तौ) द्रष्टव्या॥

(२) इदानीं भेदतः प्रतिपादयन्नाह॥

ओहे उवग्गहम्मि य, दुविहो उवही उ होइ नायव्वो।
एक्केक्को वि य दुविहो, गणणापमाणओ चेव ॥

उपधिर्द्विविधः ओघोपधि उपग्रहोपधिश्चेति। एवं द्विविधा विज्ञेयः इदानीं स एवैकैको द्विविधः कथं गणनाप्रमाणेन प्रमाणतश्च तत एतदुक्तंभवति ओघोपधेः गणनाप्रमाणेन तथा प्रमाणप्रमाणेन च द्वैविध्यम्। अवग्रहोपधेरपि ग्रहणाप्रमाणेन प्रमाणप्रमाणेन भवेद् द्वैविध्यम्। तत्र ओघोपधिर्नित्यमेव यो गृह्यते अवग्रहोपधिस्तु कारणे आपन्ने संयमार्थयो-गृह्यते सोऽवग्रहोपधिरिति। ओघोपधिगणनाप्रमाणमेकद्व्यादिभेदं वक्तव्यं प्रमाणप्रमाणं च वक्तव्यं दीर्घपृथुतया। तथा अवग्रहोपधेरपि एकद्व्यादिप्रमाणं प्रमाणप्रमाणं च दीर्घपृथुत्वद्वारेण वक्तव्यमिति (ओ०) (ओहोवधेत्ति) ओहः संक्षेपः स्तोकः लिङ्गकारकोऽवश्यं ग्राह्यः। "उवग्गहोवही" उत्पत्तिकं कारणमपेक्ष्य संयमोपकरण इति गृह्यते एस संखेवतो दुविधो वही। उवग्गहिओ तिविधो जहण्णो मज्झिमो उक्कोसो उवहीगणप्पमाणेण पमाणपमाणेण य जुत्तो भवति इमं गणणप्पमाणं।

वारस चोद्दस पणवीस, उ य ओघोवधी मुणेयव्वो।
जिणकप्पो थेराण य, अज्झाणं चेव कप्पम्मि ॥

वारसविहो चोद्दसविधो पणवीसविहो ओहोवही एएअं गणप्पमाणं यथासंख्यं जिणाण थेराण अज्झाण य। कल्पशब्दोऽपि प्रत्येकं योज्यः।

ओघोवधी जिणाणं, थेराणोहे उवग्गहो चेव।
ओहोवधिमज्झाणं, उवग्गहिओ अण्णा तव्वो ॥

जिणाणं एगविहो ओहोवधी भवति थेराण अज्झाण य ओहिओ उवग्गहिओ य दुविधो भवति। नि०चू०२उ०। प्रव० जीत०।

(३) द्वारसंग्रहःअथ प्रमाणादिस्वरूपनिरूपणाय द्वारगाथामाह

दव्वप्पमाणअइरे–गहणे परिकम्मविभूसणामुच्छाए।
उवहिस्स पमाणाजिणं, थेरं अहक्कमं वोच्छं ॥

इह द्रव्यं वस्त्रं तस्य प्रमाणं गणनया प्रमाणेन च द्विविधं वक्तव्यम् अतिरिक्ते हीने वा वस्त्रे दोषा अभिधातव्याः परिकर्मणं सीवनमित्येकोऽर्थः तन्निरूपयितव्यम्। (विभूसणयत्ति) विभूषणार्थं यदि वस्त्रं क्षालयति वा रञ्जति वा घर्षति वा संप्रमार्ष्टि वा तदा प्रायश्चितं भवतीति कर्त्तव्यम्। मूर्च्छया यदि वस्त्रं न परिभुङ्क्ते तदाऽपि प्रायश्चित्तं वक्तव्यम्। तत्र प्रथमद्वारे तावदुपधेः प्रमाणं जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकानाङ्गीकृत्य यथाक्रममहं वक्ष्ये। प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुं जिनकल्पिकानामुपधिगणनां प्रमाणतो निरूपयति। बृ०३ उ०।

(४) जिनकल्पिकानामुपधिमाह।

जिणकप्पिया उ दुविधा, पाणीपाता पडिग्गहधरा य।
पाउरणमपा उरणा, एक्केक्का ते भवे दुविधा ॥

जिणकप्पिया दुविधा भवन्ति पाणिपात्रभोजिनः प्रतिग्रहणा

रिणश्च। एक्केक्का दुविधा दट्ठव्वा सपाउरणा इयरे य जिणकप्पे उवही विभागो इमो ॥

दुगतिगचतूछक्कं, पणगं णवदसएगदसगं।
एते अट्ठ विकप्पा, जिणकप्पे होंति उवहिस्स॥

पाणिपडिग्गहियस्स पाउरणवज्जियस्स जहण्णोवही दुविधो रयहरणं मुहपोत्तिया य। तस्स य सपाउरणस्स एगकप्पग्गहणे दसविधो दुकप्पग्गहणे एकारसविधो तिकप्पग्गहणे पंचविहो पडिग्गहधारिस्स अपाउरणस्स मुहपोत्तियरओहरणपादणिजागसहितो णवविहो जहण्णओ तस्स कप्पग्गहणे दसविधो दुकप्पग्गहणे एक्कारसविधो तिकप्पग्गहणे वारसविधो य छट्ठं कंठं॥

अहवा दुगं च णंवगं, उवकरणे होंति दोण्णि तु विकप्पा।
पाउरणवज्जिताणं, विसुद्धजिणकप्पियाणं तु॥

जे पाउरणवज्जिया ते विसुद्धजिणकप्पिया भवंति तेसिं दुविध एव भवति दुविधो णवविधो वा। नि०चू०२उ०। पं०भा०।

अथा विशुद्धजिनकल्पिकानामाह।

पत्तं पत्ताबंधो, पायठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइ रइत्ताणं, गोच्छओ पायनिज्जोगे॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ति।
एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पियाणं तु॥

पात्रं प्रतिग्रहपात्रं बन्धो येन वस्त्रखण्डेन चतुरश्रेण पात्रकं धार्यते पात्रस्थापनं कम्बलमयं तत्र पात्रकं स्थाप्यते पात्रकेसरिका यत्राग्रं प्रतिपेक्षन्ति। पटलकानि यानि भिक्षां पर्यटद्भिः पात्रोपरि स्थाप्यन्ते रजस्त्राणं पात्रवेष्टनकं गोच्छकः कम्बलमयो यः पात्रकोपरि दीयते। एष सप्तविधः पात्रनिर्यो गः पात्रपरिकरत्व उपकरणकलाप इत्यर्थ। तथा त्रय एव न चतुःपञ्चप्रभृतयः क एते इत्याह। प्रच्छादकाः प्रावरणरूपाः कल्पाः। द्वौ सौत्रिकावेकश्चोर्णामय इत्यर्थः। रजोहरणं प्रतीतम्। चः समुच्चये। एव शब्दः पादपूरणे। मुखसंपोत्तिका प्रसिद्धा। एष द्वादशविध उपधिर्जिनकल्पिकानां मन्तव्यः। तुशब्दो विशेषणे स चैतद्विशिनष्टि जिनकल्पिका द्विविधाः। पाणिपात्राः प्रतिग्रहधारिणश्च। पुनरेकैके द्विधा अप्रावरणाः सप्रावरणश्च। तत्राप्रावरणानां पाणिपात्राणि रजोहरणमुखवस्त्रिकारूपो द्विविध उपधिः। सप्रावरणानां तु त्रिविधो वा चतुर्विधो वा पञ्चविधो वा। तत्र त्रिविधा रजोहरणं मुखवस्त्रिका एकः कल्पः सौत्रिकः चतुर्विधः स एवौर्णिकः कल्पसहितः पञ्चविधः चतुर्विधः। द्वितीयः सौत्रिककल्पसहितः प्रतिग्रहधारिणां प्रावरणवर्जितानां नवविध उपधिः। तद्यथा पात्रं १ पात्रकबन्धः २ पात्रस्थापनं ३ पात्रकेसरिका ४ पटलकानि ५ रजस्त्राणं ६ गोच्छकः ७ रजोहरणं ८ मुखवस्त्रिका ९ चेति। ये तु प्रावरणसहितास्तेषामत्रैव नवविधे एककल्पप्रक्षेपे दशविधः। कल्पद्वयप्रक्षेपे एकादशभेदाः कल्पत्रयप्रक्षेपे तु द्वादशविधस्तदेवमुत्कर्षतो जिनकल्पिकानां द्वादशविध उपधिः संभवति। एष तुशब्दसूचितो विशेषणार्थः। एकग्रहणे तज्जातीयानां सर्वेषां ग्रहणमितिन्यायात् अन्येऽपि ये गच्छनिर्गतास्तेषां यथायोगमिदमेवोपकरणप्रमाणमवसातव्यम्।

अथ स्थविरकल्पिकानङ्गीकृत्याह।

एए चेव दुवालस–मत्तग अइरेगचोलपट्टो य।
एसो उ चउसविहो, उवही पुण थेरकप्पम्मि॥

एत एव अनन्तरोक्ता द्वादशोपधिभेदाः। अपरं चातिरिक्तं मात्रकं चोलपट्टकश्च एष चतुर्दशविध उपधिः स्थविरकल्पे भवति।

अनन्तरोक्तमेवार्थमुपसंहरन्नाह।

जिणा वारसरुवाइं, थेरा चउदसरूविणो।
ओहेण उवहिमिच्छंति, अओ उड्ढं उवग्गहो॥

जिना जिनकल्पिकाश्चोपकरणानां द्वादश रूपाणि धारयन्तीति शेषः। स्थविरास्तु चतुर्दशरूपिणः उपकरणचतुर्दशधारिण इत्यर्थः एवमोघेन सामान्येनोपधिमिच्छन्ति तीर्थकराः ओघोपधिमित्यर्थः अत ऊर्द्धमतिरिक्तो दण्डकचिलिकादिस्थविरकल्पिकानां सर्वोऽप्युपग्रहोपधिर्मन्तव्यः।

(५) अथ जिनकल्पिकानामुपधेरुत्कृष्टादिविभागं प्रमाणयन्नाह।

चत्तारि उक्कोसा मज्झिम–जहन्नगा वि चत्तारि।
कप्पाणं तु पमाणं, संडासो दो कुरंटओ॥

जिनकल्पिकानां चत्वार्युपकरणानि उक्तानि भवन्ति अयः कल्पाः प्रतिग्रहश्चेति मध्यमजघन्यान्यपि प्रत्येकं चत्वारि। तत्र पटलकानि रजस्त्राणं रजोहरणं पात्रकबन्धश्चेति मध्यमानि। मुखवस्त्रिका पात्रकेसरिका पात्रस्थापनं गोच्छकश्चेति जघन्यानि। एतेषां च ये कल्पास्तेषां सन्दंशकः कुरण्टकौ द्वौ त्रिहस्तौ दीर्घत्वेन प्रमाणं भवति विस्तरतस्तु सर्व्वं हस्तमेकम्। अथवा॥

अन्नो वि य आएसो, संडासो सत्थिएण वन्ने य।
जं खंडियं दट्ठुतं, छम्मासे दुव्वलं इयरं॥

अन्यो वा देशः प्रकारादेश इत्यादि संदंशः स्वस्तिकश्च। तत्र जिनकल्पिकस्योत्कुटुकनिविष्टस्य जातु संदंशकादारभ्य पुरः पृष्ठं च छादयित्वा स्कन्धोपरि यावता न प्राप्यते एतावत्तदीयकल्पस्य दैर्ध्यप्रमाणम्। अयं च संदंशक उच्यते। तथा तस्यैव कल्पस्य द्वावपि पूर्वोक्तकर्णौ हस्ताभ्यां गृहीत्वा। द्वे अपि बाहुशीर्षं यावत्प्राप्येते तद्यथा दक्षिणेन हस्तेन वामं बाहुशीर्षं वामेन दक्षिणमेष द्वयोरपि कलाचिक्योर्हृदये यो विन्यासशेषः स स्वस्तिकाकार इति कृत्वा स्वस्तिक उच्यते। एतत्पृथुत्वप्रमाणयुक्तं च यदि च तत्परिभुज्यमानं षण्मासान् यावद् ध्रियते *यदादेशं दृढमिति ज्ञात्वा गृह्णाति इतरन्नाम षण्मासानपि यावन्न निर्वाहक्षमं* तं दुर्वलमिति कृत्वा न गृह्णाति। अथ किमर्थमसौ स्वस्तिकं करोतीत्याह।

संडासछिद्देण हिमादिएत्ति, गुत्ता अगुत्ता वि य तस्स सेज्जा
हत्थे हि सामो छिवडेहि घेत्तुं, वत्थस्स कोणेमुवईव झाति॥

तस्य जिनकल्पिकस्य शय्यागुप्ता अगुप्ता वा भवेत्। ततः संदंश–कच्छिद्रेण हिमादिकं शीतवातसर्पादिकमेत्यागच्छति। ततस्तस्य रक्षणार्थं स्वस्तिककृताभ्यां स्वस्तिकाकारनिवेशिताभ्यां द्वावपि वस्त्रस्य कोणौ गृहीत्वा उत्कुटुक एव स स्वपिति वा ध्यायति वा। तत्र प्रायेण धर्मजागरिकया जागर्ति परं केचिदाचार्या ब्रुवते उत्कुटक एव तृतीययामे क्षणमात्रं स्वपितीति। बृ०३ उ०प्रव०। ध०नि०चू०। इदानीं स जिनकल्पिकोपधिः स्थविरकल्पिकोपधिश्च सर्व एव नवविधो भवति तस्य च मध्ये कानिचिदुत्कृष्टानि अङ्गानि कानिचित् जघन्यानि कानिचित् मध्यमानि। तत्र जिनकल्पिकानां तावत्प्रतिपादनायाह।

तिन्नेव य पच्छागा पडिग्गहो चेव होइ उक्कोसो।
गुच्छगपत्तट्ठवणं, मुहणंतगकेसरिजहन्नो॥४०॥

त्रयः प्रच्छादककल्पा इत्यर्थः प्रतिग्रहश्चेति एष जिनकल्पिका–वधिमध्ये उत्कृष्ट उपधिः प्रधानश्चतुर्विधोऽपि अत्रामूनि प्रधानानि

अङ्गानीत्यर्थः । गोच्छकः पात्रकस्थापनं (मुहणन्तकं) मुखवस्त्रिका पात्रमुखवस्त्रिका चेत्येष जिनकल्पिकावधिमध्ये जघन्यः । अप्रधानश्चतुर्विधः उपधिरिति । पात्रकबन्धपटलानि रजस्त्राणो रजोहरणमित्येष चतुर्विधोऽप्यवधिर्जिनकल्पिकावधिमध्ये मध्यमोपधिना प्रधानेनाप्यप्रधान इति । उक्तो जिनकल्पिकानामुत्कृष्टजघन्यमध्यमोऽवधिरिति । ओघ० । गच्छवासिनां कल्पप्रमाणमाह ।

कप्पा आयपमाणा, अड्ढाइज्जा उ वित्थडा हत्था ।
एवं मज्झिमगाणं, उक्कोसं हों ति चत्तारि ॥

कल्पा आत्मप्रमाणाः सार्द्धहस्तत्रयप्रमाणायामा अर्द्धवृता यावद् हस्ता विस्तृताः पृथुला विधेयः । एतन्मध्यमं मानं प्रमाणं भवति । उत्कर्षतो दैर्घ्येण चत्वारो हस्ताः । एतदादेशद्वयं मन्तव्यम् ।

अत्रैव कारणमाह ।

संकुचिय तरुण आयप्पमाणसुयणे न सीयसंफासे ।
दुहओ पेल्लणथरे, थेणुव्विय पाणाइरक्खी य ॥

यस्तरुणो बलवान् संकुचितपादः स्वपितुं शक्नोति तस्य तथा स्वयमेव शीतस्पर्शो न भवति अतस्तस्यात्मप्रमाणाकल्पोऽनुज्ञातः । यस्त स्थविरो वयस्थो वृद्ध स क्षीणबलत्वान्न शक्नोति संकुचितपादः शयितुं अतस्तस्यानुग्रहार्थं दैर्घ्येण आत्मप्रमाणादूर्ध्वं षडङ्गुलानि विस्तरतोऽप्यर्द्धतृतीयहस्तप्रमाणादभ्यधिकानि षडङ्गुलानि विधीयन्ते एवं विधीयमाने गुणमुपदर्शयति (दुहओ पेल्लणत्ति) शिरः पादान्तलक्षद्वयोरपि पार्श्वयोर्यत्कल्पस्य प्रेरणमाक्रमणं तेन स्थविरस्य शीतं न भवति। अनुचितोऽभावितशैक्ष इत्यर्थः । तस्यापि स्वप्नविधावनभिक्षस्य कल्पप्रमाणमेव ज्ञातव्यम् । अपि च एवं प्राणिनां रक्षा कृता भवति न मण्डूकप्लुत्या कीटिकादयः प्राणिनः प्रविशन्तीति भावः । आदिशब्दाद्दीर्घजातीयादयोऽपि न प्रविशन्ति तेनात्मनोऽपि रक्षा कृता भवति । बृ०३उ०। (पात्रकबन्धादीनां प्रमाणनिरुपणमन्यत्र स्वस्वस्थाने) इदानीं स्थविरकल्पिकानां प्रतिपादयति। तत्रापि प्रथमं ।

मध्यमावधिप्रतिपादयन्नाह ।

पडलाइ रयत्ताणं, प्पत्तबंधो तहेव रयहरणं ।
मत्तो य पट्टगो वि य, पेवाणं छव्विहो नवरिं ॥८६॥

पटलानि रजस्त्राणं पत्रकबन्धश्च चोलपट्टकश्च रजोहरणं मात्रकं चेत्येषः स्थविरावधिमध्ये षड्विधो मध्यमावधिर्नोत्कृष्टो नापि जघन्य इति । पात्रकं प्रच्छादनकल्पत्रयम् । एष चतुर्विधोऽपि उत्कृष्टः प्रधानः स्थविरकल्पिकावधिर्म्मध्ये पात्रस्थापनकं पात्रकेसरिका गोच्छको मुखवस्त्रिका एष जघन्योऽवधिः । स्थविरकल्पिकावधिर्मध्ये चतुर्विधोऽपि । ओ०। इह स्थविरकल्पिकानां त्रयः प्रच्छादका भवन्तीति पूर्वमुक्तं तदिदानीं द्रढयन्नाह ।

जो वि तिवत्थदुवत्थो, एगेण आलवगो व संथरई ।
न हु ते खिंसंति परं, सत्थेण वि तिन्नि घेत्तव्वा ॥

योऽपि साधुस्त्रिवस्त्रो द्विवस्त्रो वा संस्तरति त्रिभिर्द्वाभ्यां वा कल्पैरित्यर्थः । सौत्रान् द्वौ वा कल्पान् परिभुक्तान् योऽप्येकेन कल्पेन संस्तरति स एकमपि कल्पं न गृह्णातु परं न हि ते स्वल्पतरवस्त्रा अचेलका वा परमन्यमधिकतरवस्त्रं खिंसन्ति कुत इति चेदुच्यते सर्वेणापि स्थविरकल्पके न तत्र त्रयः कल्पानियमाद् गृहीतव्याः यद्यपि शीतपरीषहसहिष्णुतया कश्चिदेकेनापि केनापि कल्पेनाप्रावृतः संस्तरपि तथाऽपि भगवतामाज्ञामनुवर्तमानः सोऽपि त्रीन् कल्पान् गृह्णाति किमर्थं पुनरीदृशी भगवतामाज्ञा उच्यते ।

अप्पं असंथरंतो, निवारिओ होइ तीहि सत्थेहिं ।
गिण्हति गुरू विदिन्ने, पगासपडिलेहणे सत्ता ॥

आत्मशरीरं स शीतादिना संस्तरति त्रिभिर्वस्त्रैर्निवारितो भवति । तथा चात्र विशेषचूर्णिलिखितो भावार्थः । "उस्सग्गेण तहेव पाउरियव्वं जाहे न संथरइ ताहे एकं कप्पं पाउणइ जाहे तेण वि न संथरेज्जा ताहे बिइयंपि पाउणिज्जा । जइ नाम तहवि न संथरेज्जा ताहे तइयंपि पाउणिज्जा । जइ नाम तहवि न संथरेज्जा ताहे तिन्नि विच्छड्डेउग्ग बाहिं पडिमाए ठाए ताव अत्थइ जाव सीएण न सट्टइ वि तो पच्छा तम्मि निवेसइ । जइ तत्थ न संथरेज्जा ताहे अंतोपडिमं ठाइ । तत्थ झाणोवगओ चिट्ठइ जइ न संथरइ ताहे तम्मि चेव निवेसइ एवं पि जइ न संथरे ताहे एक्कं कप्पं गिण्हेज्जा जाहे तेण वि न संथरेइ ताहे बिइयं ततो तइयं तत्थ से अईवसायं भवइ । एवं अप्पा तिहिं वत्थेहिं निवारिओ हवइ त्ति" अथ तानि परिजीर्णानि तेन त्रिभिः शीतं निवारयितुं पार्यते तत आह । गुरुभिराचार्यैर्वितीर्णानि प्रकाशप्रत्युपेक्षणानि जीर्णत्वादचौरहरणीयानि सप्त वस्त्राणि उत्कृष्टतो गह्णाति । इदमेव स्पष्टयति ।

तिन्नि कसिणो जहन्ने, पंच य दड्ढदुव्वलाइं गेण्हे ।
आसन्नयपरिजुत्ताई, एयं उक्कोसगं गहणं ॥

कृष्णानि नाम घनमसृणानि यैरन्तरितः सविता न दृश्यते ईदृशानि त्रीणि वस्त्राणि जघन्यतो गृह्णीयात् । यानि तु दृढदुर्वलानि तानि पञ्च गृह्णीयात् । यानि परिजीर्णानि तानि सप्त एत दुत्कृष्टं ग्रहणं मन्तव्यम् । वृ० ३ उ० ।

उवगरणं पि धारेज्जा, जेण न रागस्स होइ उप्पत्ती ।
लोगम्मि य परिवाओ, विहिणा य पमाणजुत्तं तु ॥६६॥

उपकरणमपि वस्त्रपात्रादि धारयेत्किंविशिष्टमित्याह । येन न रागस्य भवत्युत्पत्तिस्तदुत्कर्षावात्मना एव लोके च परिवादः खिंसा येन न भवति विधिनाऽवयवतया प्रत्युपेक्षणादिना धारयेत्प्रमाणयुक्तं च न न्यूनाधिकमिति गाथार्थः (पं०व०) अत्रेदमवधेयं स्थविरकल्पिानां प्रच्छादकत्रिकादिधारणं यत्पूर्वमुक्तं ततः सामान्यापेक्षया विशेषा पेक्षया त्वधिकधारणेऽप्यदोषः । ध०३ अधि० । कीदृशं पुनरुपधिं भिक्षुर्धारयतीत्याह ।

भिन्नं गणणाजुत्तं, पमाणइंगालधूमपरिसुद्धं ।
उवहिं धारइ भिक्खू, जो गणचित्तं न चिंतेइ ॥

भिन्नं नाम सदृशं सकलं वा यन्न भवति गणनायुक्तं गणनाप्रमाणोपेतं प्रमाणेनच यथोक्तदैर्घ्यविस्तरविषयमानेन युक्ताभित्यनुवर्तते । तथाऽङ्गारधूम्या परि समन्तात् शुद्ध विरहितमेवं विधमुपधिं स भिक्षुर्धारयेत् यो गणचिन्तां न चिन्तयति सामान्यसाधुरिति भावः। यस्तु गणचिन्तकस्तस्य न प्रतिनियतमुपधिप्रमाणम् । तथा चाह।

गणचिंतगस्स पत्तो, उक्कोसो मज्झिमो जहन्नो य ।
सव्वोविहे य उवही, उवग्गहकरो महाजणस्स ॥

गणचिन्तको गणावच्छेदकादिस्तत्प्राप्तो यावदूर्द्धमुत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्च । सर्वोऽप्यौघिक औपग्राहिकश्चोपधिर्महाजनस्योपग्रहं करोति । इदमेव भावयति ।

आलंबणे विसुद्धे, दुगुणो चउगुणो वा वि ।
सव्वो वि होइ उवग्गह–करो महाजणस्स ॥

आलम्बनं द्विधा द्रव्यतो गर्तादौ निमज्जतो रज्ज्वादि भावतः संसारगर्तायां निपततां ज्ञानादि इह पुनर्यत्र क्षेत्रे काले षा दुर्लभं वस्त्रं नदादिकमालम्बनं गृह्यते तत्र विशुद्धे प्रशस्ते सति द्विगुणो वा चतुर्गुणो वा औपग्रहिकश्चोपधिः सर्वोऽपि महाजनस्य गच्छस्योपग्रहकरो भविष्यतीति कृत्वा गणचिन्तकस्य परिग्रहे भवतीति। गतं प्रमाणद्वारम्।

(६) आर्यिकाणामुपधिप्रमाणम्।

पत्तं पत्तावंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडिलाइं रयत्ताणं, गुच्छओ पायनिज्जोगो॥
तिण्णेव य पच्छाया, रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ती।
तत्तो पमत्तए खलु चोद्दस मेकमट्ठए होति॥
उग्गहणंतगपट्टो, अद्धोरुअवलणिआ य बोधव्वा।
अब्भिंतरबाहिणिय--सणी य तह कंवुए चेव॥
ओक्कच्छिय चेगकच्छिय, संघाडी चेव खंधकरणी य।
ओहोवधिम्मि एते, अज्जाणं पण्णवीसं तु॥

पात्रकादित्रयोदशेऽपि करणानि साधूनामिव द्रष्टव्यानि। चतुर्दश तु चोलपट्टकस्थाने तासां कमठकं भवति। तच्चाष्टकमयमेकैकं संयतीनां निजदेहप्रमाणेन विज्ञेयम्। तथा अवग्रहानन्तकं १५ पट्टम् १६ अर्द्धोरुकं १७ बलनिका च १८ बोधव्या। अभ्यन्तरनिवसनी १९ बहिर्निवसनी २० तथा कम्बुकश्चैव २१ औपकक्षिकी २२ चैककक्षिकी २३ संघाटी २४ स्कन्धकरणी २५ एवमेतान्योघोपधौ आर्यिकाणां पञ्चविंशतिरुपकरणानि भवन्ति। अथैतान्येव विवृणोति।

उग्गहाणंतओ नोव्व, गुज्झदेसरक्खणट्ठाए।
सोयप्पमाणो तणुको, घणमसिणो देहमासज्ज॥

इहावग्रह इति योनिद्वारस्य सामायिकी संज्ञा तस्यानन्तकं वस्त्रमवग्रहानन्तकं पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् तच्च नौनिभं मध्यभागे विशालं पर्यन्तभागयोस्तु स्तनुकं गुह्यदेशरक्षार्थं क्रियते। तच्च गणनयैकं अन्तर्बीजपातसंरक्षणार्थं च घनं घनवस्त्रेण पुरुषसमानकर्कशस्पर्शपरिहरणार्थं च मसृणं मसृणवस्त्रेण क्रियते प्रमाणे न च देहं स्त्रीशरीरमासाद्य तद्विधीयते देहो हि कस्याश्चित्तनुः कस्याश्चित स्थूलः। ततस्तदनुसारेण विधेयमित्यर्थः।

पट्टो वि होइ एक्को, देहपमाणेण सो उ भइयव्वो।
छंदंतोग्गहणंतं, कडिबद्धो मल्लकच्छो वा॥

पट्टोऽपि गणनयैको भवति स च पर्यन्तभागवर्तिवाटकबन्धबद्धः पृथत्वेन चतुरङ्गुलप्रमाणः समतिरिक्तो वा दीर्घेण तु स्त्रीकटीप्रमाणः स च देहप्रमाणेन भक्तव्यः पृथुलकटीभागाया दीर्घः संकीर्णकटीभागायास्तु ह्रस्व इत्यर्थः। स चावग्रहानन्तकमुभयान्तयोराच्छादयन् कटीबद्धः सन् मल्लकक्षावज्ज्ञायते।

अद्धोरुगो उ दो वि, गिण्हिउं छादए कडीभागं।
जाणुप्पमाणवलणी, असिल्लिया लंखियाए व॥

अर्द्धोरुकोऽपि तौ द्वावपि अवग्रहानन्तपट्टावुपरिष्टाद् गृहीत्वा सर्वकटीभागमाच्छादयति। स च मल्लचलनाकृतिः केवलमुपरि ऊरुद्वये च कशाबद्धः चलनिकाऽप्येवमेव। नवरमधो जानुप्रमाणा अस्यूतलंखिका परिधिर्भवति वंशाग्रनर्त्तकी मलनकशा मन्तव्या।

अंतोनिवसणी पुण, लीणतरा जाव अङ्गुजंघातो।
बाहिरखुलगपमाणा, कडी य दोरेण पडिबद्धा॥

अन्तर्निवसनी पुनरुपरि कटीभागादारभ्याधोऽर्द्धजङ्घा यावद्भवति सा च परिधानकाले लीनतरा परिधीयते मा भूदनावृता जनोपहास्येति बहिर्निवसनी पुनरुपरि कटीभागादारभ्याधः खुलकप्रमाणा चरणगुल्फं यावदित्यर्थः कट्यां च दवरकेन प्रतिबद्ध इदमधः शरीरस्य षड्विधमुपकरणमुक्तम्।

अथार्द्धकायोपयोगिकञ्चुकादिकं व्याख्याति।

दतिअणुकुथिते उरोरुहे, कंचुओ असिव्वितओ।
एमेव य उक्कच्छी, सा णवरं दाहिणे पासे॥

दैर्घ्यमाश्रित्य स्वहस्तेनार्द्धतृतीयहस्तप्रमाणः पृथुत्वेन तु हस्तमानोऽसेवित उभयतः कसाबद्धः कञ्चुकः सा चोरोरुहौ छादयति किम्भूतौ च भुक्ते चितौ श्लथौ गाढपरिधाने हि विविक्तविभागौ भवेताम् कक्षायाः समीपमुपकक्षं तत्र भवा औपकक्षिकी अध्यात्मादित्वादिक-कप्रत्ययः एवमेव च कञ्चुकवत्तस्या अपि स्वरूपं वक्तव्यं नवरं दक्षिणपार्श्वे समचतुरस्रा हस्तेन सार्द्धहस्तप्रमाणा उरो भागं पृष्ठं च प्रच्छादयन्ती वामस्कन्धे वामपार्श्वे च वीटकबद्धा परिधीयते।

उवगच्छिया उ पच्छे, कंचुकमुक्किट्ठियं च छादेति।
संघाडीओ चउरो, तत्थ दुहत्था उ वसधीए॥
दुन्नितिहत्थायामा, भिक्खट्ठाएगउच्चारे।
ओसरणे चउत्थाम, निसन्नपच्छाइणी मसिणो॥

औपकक्षिकी विपरीता चैककक्षिकीनामकः पदः कञ्चुकमौपकक्षिकीं च छादयन् वामपार्श्वे परिधीयते तथा उपरि परिभोग्या संघाटिकाश्चतस्रो भवन्ति। एका द्विहस्ता द्वे त्रिहस्ते एका च चतुर्हस्ता दैर्घ्येण चतस्रोऽपि साऽपि सार्द्धहस्तत्रयप्रमाणा चतुर्हस्ता वा मन्तव्या तत्र हि द्विहस्ता द्विहस्तविस्तृता संघाटिका वसत्यां परिधीयते न तां विहाय प्रकटदेहया कदाऽपि भवितव्यमिति भावः। ये च द्वित्रिहस्तायामे त्रिहस्तविस्तृते तयोर्मध्ये एका भिक्षार्थं गच्छन्त्या प्राव्रियते एका उच्चारभूमिं व्रजन्त्या तथा समवसरणे व्याख्यानश्रवणादौ गच्छन्ती चतुर्हस्तां प्रावृणोति च प्राक्तनसंघाटीभ्यो वृहन्नरप्रमाणा अनिषण्णप्रच्छादनार्थं क्रियते यतो न तत्र संयतीभिरुपवेष्टव्यं किंत्वर्द्धं स्थित्वा ताभिरनुयोगश्रवणादि विधेयं ततस्त्था स्कन्धादारभ्य पादौ यावद्वपुः प्रच्छाद्य तिष्ठन्ति एताश्च पूर्वप्रावृतवेषप्रच्छादगार्थं प्रवचनवर्णप्रभावनार्थं च मसृणा क्रियन्ते चतस्रोऽपि च गणनाप्रमाणेनैकमेव रूपं गण्यते युगपत्परिभोगाभावात्।

खंधकरणी चउहत्था, वित्थरा वायविहुतरक्खट्ठा।
खुज्जकरणी उ कीरति, रूववतीणं कुडुहहेउं॥

स्कन्धकरणी चतुर्हस्तविस्तरा समचतुरस्रा प्रावरणस्य वातविधुतरक्षणार्थं चतुष्पला स्कन्धे कृत्वा प्राव्रियते रूपवतीनां च संयतीनां कुरूपहेतोः कुब्जकरयपि क्रियते पृष्टदेशे संबर्हितायौपकक्षिकी त्वैककक्षिकीनिबद्धा तया विरूपतापादनीयं कुरूपं विधीयत इति भावः। उपसंहरन्नाह।

संघातिमेतरो वा, सव्वो वेसो समासओ उवधी।
पासगबद्धमसुसिरो, जं वाइण्णंतगं णेयं॥

सर्वोऽप्येषोऽनन्तर उपधिः समासतो द्विधा सङ्घातिमः इतरश्च

द्विव्यादिखण्डानां मीलनेन निष्पन्नः संघातिमः। इतरस्तद्विपरीतोऽसंघातिमः। अयं च पाशकबद्धः कशाबद्धः तथा यश्चाशुषिरो गृहिसीवनिकारहितः प्रतिग्लानवर्जितो वा यच्चात्र द्रव्यक्षेत्रकालतो वेषेषु संविग्नगीतार्थैः पूर्वसूरिभिराचीर्णं तत्सर्वमपि ज्ञेयं सम्यगुपादेयतया मन्तव्यम्।

अथ जिनकल्पिकादीनामुपधेरुत्कृष्टादिविभागमाह।

उक्कोसओ जिणाणं, चउव्विहो मज्झिमो वि य तहेव।
जहन्नो चउव्विहो खलु, पत्तो थेराण वोच्छामि॥

त्रयः कल्पाःप्रतिग्रहश्चेतिः जिनकल्पिकानामुत्कृष्टतश्चतुर्विधः। एवं मध्यमोऽपि रजोहरणपटलकपात्रकबन्धरजस्त्राणभेदाच्चतुर्विधो जघन्योऽपि मुखपोत्तिका पादुकेसरिका गोच्छकपात्रकस्थापनक भेदाच्चतुर्विधः।

(७) औपग्रहिकोपधेरुत्कृष्टादिभेदाः।

उक्कोसो थेराणं, चउव्विहो छव्विहो य मज्झिमओ।
जहण्णो चउव्विहो खलु, पत्तो अज्जाण वोच्छामि॥

उत्कृष्टो जघन्यश्च जिनकल्पिकानामिव द्रष्टव्यो नवरं मध्यमः षट्विध इत्थं रजोहरणं पटलकानि पात्रकबन्धो रजस्त्राणं मात्रकं कम्बलपट्टकश्चेति।

उक्कोसो अट्ठविहो, मज्झिमओ होइ तेरसविहो उ।
जहण्णो चउव्विहो खलु, पत्तो उ उवग्गहं वोच्छं॥

आचार्याणामुत्कृष्ट उपधिरष्टविधः त्रयः कल्पा३ प्रतिग्रहः ४ अभ्यन्तरनिवसना ५ बहिर्निवसना ६ संघाटिका ७ स्कन्धरणी ८ चेति। मध्यमस्त्रयोदशविधो भवति तद्यथा रजोहरणं १ पटलकानि २ पात्रकबन्धः ३ रजस्त्राणं ४ मात्रकं ५ कमठकम् ६ अवग्रहानन्तकं ७ पट्टः ८ अर्द्धोरुकम् ९ कञ्चुकी १० वलनिका ११ औपकक्षिकी १२ विकक्षिकी १३ चेति। जघन्यश्चतुर्विधो मुखपोत्तिका गोच्छकः पात्रस्थानं चेति। अत ऊर्द्धमतिरिक्तो यः उपधिः स उपग्रहोपधिरुच्यते। तमपि जघन्यादिविभागनिरूपणेनाहं वक्ष्ये। बृ०३ उ०।

(८) तावदौपग्रहिकोपधिमाह।

पीठगनिसिज्जदंडग–पमज्जणी घट्टए डगलमाइं।
पिप्पलगसूइनहरणि–सोहणगदुगं जहण्णो उ॥३४॥

पीठकं काष्ठच्छगणात्मकं लोकसिद्धमानं स्नेहवत्यां वसतौ वर्षाकाले वा ध्रियत इत्यौपग्राहिकं संयतीनां त्याग इत्यागतसाधुनिमित्तमिति निषद्या पादपुञ्छनं प्रसिद्धप्रमाणं जिनकल्पिकादीनां न भवति निषीदनाभावात् दण्डकोऽप्येवमेव नवरं निवारणाभावात् एवं प्रमार्जनी वसतेर्दण्डकपुञ्छनाभिधाना एवं घटकः पात्रमुखादिकरणाय पिप्पलक क्षुरप्रःलोहमयः। सूची सीवनादिनिमित्तं वेण्वादिमयी नखहरणी प्रतीता लोहमप्येव शोधनकद्वयं कर्णशोधनकदन्तशोधनकाभिधानं लोहमयादि जघन्यतस्त्वयं जघन्यः औपग्रहिकः खलूपधिरिति गाथार्थः।

एनमेव मध्यममभिधातुमाह।

वासत्ताणे पणगं, चि लमिणिपणगं दुगं च संथारे।
दंडाई पणगं पुण, मत्तगतिगपायलेहणिआ॥३५॥

वर्षात्राणविषयं पञ्चकं तद्यथा कम्बलमयसूत्रमयतालपत्रमयपलाशपत्रकुटशीर्षकं छत्रकं चेति लोकसिद्धमानानीति। तथा चिलिमिलीपञ्चकं तद्यथा कम्बलमयी सूत्रमयी वालमयी दण्डमयी कडगमयीति प्रमाणमस्याः गच्छापेक्षया सागारिकप्रच्छादनाय तदावरणात्मिकैर्ज्ञेयमिति संस्तारद्वयं च शुषिराशुषिरभेदभिन्नं तृणादिकृतस्तु शुषिरस्तदन्यकृतस्त्वशुषिर इति। तथा दण्डादिपञ्चकं पुनस्तद्यथा दण्डको विदण्डकः यष्टिर्वियष्टिर्नालिका चेति। मात्रकत्रितयं तद्यथा। कायकमात्रकं संज्ञामात्रकं खेलमात्रकमिति। तथा पादलेखनी काष्ठमयी कर्दमापनयिनीति गाथार्थः। पं० व०।

संथारुत्तरपट्टो, अङ्गाइज्जा उ आयया हत्था।
दोण्हं पिय वित्थारो, हत्थो चउरंगुलं चेव॥४६॥

संस्तारकः तथा उत्तरपट्टकश्च एतौ द्वावपि एकैकमर्द्धतृतीयहस्तौ दैर्ध्येण प्रमाणतो भवति तथा द्वयोरप्यनयोर्विस्तारो हस्तचतुरङ्गुलं भवतीति आह किं पुनरेभिः प्रयोजनं संस्तारकादिभिः पट्टकैरुच्यते।

पाणाइरेणुसंर–क्खणट्ठया होंति पट्टगा चउरो।
छप्पइयरक्खणट्ठा, तत्थुवरिं खोम्मियं कुज्जा॥४७॥

प्राणिरेणुसंरक्षणार्थं पट्टका गृह्यन्ते। प्राणिनः पृथिव्यादयो रेणुश्च स्वशरीरे लगति अतस्तद्रक्षणार्थं पट्टकग्रहणं ते चत्वारो भवन्तीति द्वौ संस्तारकपट्टकयुक्तावेव तृतीयो रजोहरणबह्यनिषद्यापट्टकः पूर्वोक्त एव चतुर्थः। खोमिय एवाभ्यान्तरः निषद्यापट्टको वक्ष्यमाण एव एते चत्वारोऽपि प्राणिनः संरक्षणार्थं गृह्यन्ते। तत्र षट्पदासंरक्षणार्थं तस्य कम्बली संस्तारकसंघर्षेण षट्पदा न विराध्यन्ते इति। इदानीं अभ्यन्तरक्षोमनिषद्याप्रमाणप्रतिपादनायाह।

रयहरणपट्टमेत्ता, अदसणा किं चि वा समतिरेगा।
इक्कगुणा उ निसिज्जा, हत्थपमाणा सपच्छागा॥४८॥

रजोहरणपट्टकोऽभिधीयते यत्र दशिकालग्राः तत्प्रमाणा दशा दशिका तद्रहिता क्षौमा रजोहरणाभ्यन्तरे निषद्या भवति। (किं चि वासमतिरेगेत्ति) किंचिन्मात्रेण वा समधिका तस्य रजोहरणपट्टकस्य भवतीति (एकगुणत्ति) एकैव सा निषद्या भवति हस्तप्रमाणा च प्रथुत्वेन भवति (सपच्छागत्ति) सह बाह्यया निषद्यया हस्तप्रमाणा भवतीति। एतदुक्तं भवति बाह्याऽपि निषद्या हस्तमात्रैव।

वासोवग्गहिओ पुण, दुगणो उवही उ वासकप्पाई।
आयासंयमहेऊ, एक्कगुणो सेसओ होइ॥४९॥

वर्षासु वर्षाकाले औपग्रहिकः अवधिगुणो भवति कश्चास्यासौ वर्षाकल्पादिः आदिग्रहणात् पटलानि "जो व हिंडं तस्स तिम्मइ सो सो दुगुणो होति एगोति त्तो पुणो अन्नो घेप्पइ" स च वर्षाकल्पादिद्विगुणो भवति आत्मसंरक्षणार्थं च तत्रात्मसंरक्षणाद्यादि एकगुणा एव कल्पादयो भवन्ति ततश्च "तेहिंति तेहिं पोट्टसूलेणं मरति संजमरक्खणट्ठं जइ एगं चेव कप्पं अइमइलो उ ढेउं नीसरइ ततो तस्स कप्पस्स जं पाणियं पडइत्ति तस्स तेणं आतुक्कोओ विणासिज्जइ" शेषस्त्ववधिः एकगुण एव भवति न द्विगुण इति। किञ्च।

जं पुण सपमाणाओ, ईसिं हीणाहियं व लेभेज्जा।
उभयं पि अहाकडयं, न संघणा तस्स छेओ वा॥५०॥

यत्पुनः कल्पादि उपकरणं स्वप्रमाणादीषद्धीनमधिकं वा लभ्यते उभयमिति "ओघियस्स उवहिस्स उवग्गहियरस वा" यदि

उभयं तदेव हीनमधिकं वा लब्धं सत् "आधाकडयगं" पश्चात्कृतमल्प परिकर्म्म यल्लभ्यते तस्य न संधना क्रियते हीनस्य तथा च्छेदनः क्रियते अधिकस्य। किं च।

डंडए लट्ठिया चेव, चम्मए चम्मकोसए।
चम्मच्छेयणपट्टे, चिलिमिली धारए गुरू ॥५१॥

अयमपर औपग्रहिकोपधिः साधोः साध्वाश्च भवति दण्डको भवति दण्डकश्च यष्टिश्च चशब्दाद्यियष्टिश्चेति। अयं सर्वेषामेवमेव पृथक् पृथक् औपग्रहिकः। अयमपर एव औपग्रहिकः कश्चासौ (चम्मएत्ति) चर्म्म कृत्तिश्छवडिया चर्म्मकोसकः "जत्थ न हणाई बुज्झंति" तथा चर्म्मच्छेदः बर्ध्रपट्टिका। यदि च चर्म्म च्छेदनकं पिप्पलकादि। तथा (पट्टेत्ति) योगपट्टकः चिलिमिलि चेति। एतैश्चर्म्मादिभिर्गुरोरौग्राहिकोपधिर्भवति।

जं चण्ण एवमाई, तवसंजमसाहयं जइजणस्स।
ओहो इरेगगहियं, उवग्गहियं तं वियाणाहि ॥

यच्चान्यद्वस्तु एवमादि उपानहादि तपः संयमयोः साधकं यतिजनस्य ओघोपधेरतिरिक्तं गृहितमौपग्रहिकं तद्विजानीहि। ओ०। (यष्ट्यादिलक्षणमन्यत्र)

चम्मतियं पट्टदुगं, नायव्वो मज्झिमो उवहि एसो।
अज्जाण चारगो पुण, मज्झिमो होइ अइरित्तो ॥

चर्म्मत्रिकं वर्ध्रनलिकाकृतिरूपम् तथा पट्टद्वयं संस्तारपट्टचोलपट्ट लक्षणं ज्ञातव्यो मध्यम उपधिरेषः। औपग्रहिक आर्याणां चारकः पुनः सागारिकोदकनिमित्तमध्यमोपधावुक्तलक्षणो भवत्यतिरिक्तः नित्यं जनमध्य एव तासां वासादिति गाथार्थः। एतदेवोत्कृष्टमभिधातुमाह।

अक्खा संथारो वा, एगमणेगंगिओ अ उक्कोसो।
पोत्थगपणगं फलगं, उक्कोसोवग्गहो सव्वो ॥३७॥

अक्षाश्चन्दनकादयः संस्तारकश्च किं विशिष्ट इत्याह। एकाङ्गिकोऽनैकाङ्गिकश्च फलकं कम्बिमयादिः उत्कृष्टस्वरूपेण। तथा पुस्तपञ्चकं तद्यथा गण्डिकापुस्तकः छिवादीपुस्तकः छविपुस्तकः मुष्टिपुस्तकः संपुटकश्चेति। तथा फलकं पट्टिका समवसरणफलकं वा उत्कृष्ट इति प्रकान्तापेक्षया औपग्रहिक उपधेः सर्व इत्यक्षादिः सर्व एवेति गाथार्थः। अनयोरौधिकोपग्रहिकयोरेवोपधिद्वयोरपि विशेषलक्षणमभिधातुमाह।

ओहेण जस्स गहणं, भोगो पुण कारणा स ओहोहि।
जस्स उ दुगं पि निअमा, कारणओ सो उवग्गहिओ ॥३८॥

ओघेन सामान्येन भोगे अभोगे वा यस्य पात्रादेर्ग्रहणमादानं भोगः पुनः कारणान्निमित्तेनैव भिक्षाटनादिना स ओघोपधिरभिधीयते। यस्य तु पीठकादेर्द्वयमपि ग्रहणं भोगाश्चेत्येतन्नियमात्कारणतो निमित्तेन स्नेहादिना स पीठकादिः औपग्रहिकः कादाचित्कप्रयोजननिवृत्त इति गाथार्थः। अस्यैव गुणकारितामाह।

मुच्छारहिआणेव्वो, सम्मचरणस्स साहगो भणिओ।
जुत्तीए ईहा पुण, दोसा इत्थं पि आणाइ ॥३९॥

मूर्च्छारहितानामभिष्वङ्गवर्जितानां यतीनामेव द्विविधोऽपि पात्रपीठकादिरूप उपधिः सम्यगधिकरणरक्षाहेतुत्वेन चरणस्य साधको भणितः तीर्थकरगणधरैर्युक्तयेति। मानभोगयतनया इतरद्वा पुनरयुक्त्या यथोक्तमानभोगाभावे दोषाः। अत्राप्युपधौ गृह्यमाणे तुद्यमाने वा आज्ञादय इति गाथार्थः ॥पं०व०। (एतेषामन्येषां चोपकरणानां प्रयोजनं विहार शब्दे चारित्रार्थमनेकाहगमने प्रस्तोष्यमाणे स्पष्टीभविष्यति)।

(९) अतिरिक्तोपग्रहणेन प्रायश्चित्तम्।

दुविहप्पमाणातिरेग मुत्तदेसेण तेण लहुगाओ।
मज्झिमगं पुण उवहिं, पडुच्च मासो भवे लहुओ ॥

द्विविधं द्विप्रकारं गणनाप्रमाणभेदाद्यत्प्रमाणं ततोऽतिरिक्ते उपधौ तत्रादेशेन चतुर्लघुका भवन्ति यत उक्तं निशीथसूत्रे "जे भिक्खू गणणाइरित्तं वा पमाणाइरित्तं वा उवहिं धरेइ से अवड्ढा चातुम्मासियं परिहरेणड्ढाणं उग्घाइयं" बृ०१उ०॥

ऊणातिरित्तधरणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया।
आणाइणो य दोसा, संघट्टणमादि पलिमंथो ॥

गणनया प्रामाणेन च ऊनस्यातिरिक्तस्य वा उपकरणस्य धरणे प्रायश्चितं चत्वारो मासाः उद्घाता लघवः आज्ञादयश्च दोषास्तथा यत्र परिकर्म्मणां कुर्वन् तज्जातान् प्राणान्संघट्टयति आदिशब्दात्परितापयति अपद्रावयति च ततस्तन्निमित्तमपि तस्य प्रायश्चितं तथा प्रतिदेवसमुभयकालं पात्राणि अन्यद्वाऽतिरिक्तमुपकरणं प्रत्युपेक्षमाणस्य परिमन्थः सूत्रार्थव्याघातः। तस्मात् गणनया प्रमाणेन सूत्रोक्तमुपकरणं धारयितव्यम् व्य० द्वि०८उ०।ओ।

१० प्रथमसमवसरणे उपधिग्रहणम्। (तत्र नो कल्पते इति वत्थशब्दे भाविष्यते) वर्षासु अतिरिक्तोपकरणग्रहणकारणमुपदर्शयितुं दृष्टान्तमाह।

दव्वोवक्खरणेहा, दियाण तह वा कडुयभंडाणं।
वासारत्ते कुडुंवी, अतिरेगं संचयं कुणइ ॥

द्रव्यं हिरण्यादि उपस्करः सूपादिः स्नेहो घृतं तैलं वा आदिशब्दादेरण्डादितैलपरिग्रहः। क्षारो वस्तुलादिः लवणं वा कटुकं शुण्ठीपिप्पल्यादि भाण्डानि घटपिठरादीनि। अथवा कटुकभाण्डं वेसणमयवाहिङ्गुप्रभृतिजातं। एतेषां द्रव्योपस्करादीनां कुटुम्ब्यपि वर्षारात्रे अतिरिक्तसञ्चयं करोति किं कारणमिति चेदुच्यते।

वणिया ण संचरंती, हट्टा ण हवंति कम्मपरिहाणी।
गेलण्णाए देसुव, किं काहिति अग्गहिते पुव्विं ॥

वर्षाकाले वणिजो ग्रामेषु क्रयविक्रयार्थं न सञ्चरन्ति। पत्तनेष्वपि वर्षवर्दलवशेन हट्टा न भवन्ति। अपि च यदि कुटुम्बी द्रव्योपस्करादीनामतिरिक्तं सञ्चयं न कुर्यात् तत उत्पन्ने प्रयोजने क्रयविक्रयार्थं तेनापणवीथ्यां गन्तव्यं ततश्च हलकर्षणप्रभृतीनां कर्मसंयोगानां परिहाणिर्भवति ग्लानत्वे वा संजाते आदशेषु वा प्राघूर्णिकेषु आगतेषु अतिरिक्तसञ्चये पूर्वमगृहीते किं पथ्यभोजनप्राघूर्णकभक्त्यादिकं करिष्यति॥

तह अन्नतित्थिगा विय, जारिसो से संचयं कुणति।
इह पुण छण्हं विराहणा, पढमम्मि य जे भणियदोसा ॥

तथेति दृष्टान्तान्तरोपन्यासे अन्यतीर्थिका अपि सरजस्कादयो यादृशो यस्य येनोपकरणेन प्रयोजनमित्यर्थः (से) तस्यातिरिक्तं सञ्चयं वर्षासु करोति। यथा सरजस्का रक्षाया दकसैत्करिकामृत्तिकाया वोटिकछगणलक्षणयोरित्यादि। इहेति अस्मिन् पुनर्येन शासते यद्व्यतिरिक्तमुपकरणं न गृह्णन्ति ततः षण्णां जीवनिकायानां विराधना भवति। अथातिरिक्तोपकरणाभावाद्वर्षासूपधिं गृह्णन्ति ततो ये प्रथमे समवसरणे उपकरणं गृह्णतो दोषा भणितास्तान् प्राप्नुवन्ति। कथं पुनः षण्णां कायानां विराधना भवतीत्युच्यते।

रयहरणेणोल्लाणं, पमज्जफरुससालपुढवीए।
गामंतरिंतगलणे, पुढवी उदगं च दुविहं तु ॥

(फरुससालत्ति) कुम्भकारशाला तस्यां वर्षासु स्थितानां द्वितीयरजोहरणाभावे यद्वर्षणार्द्रीभूतं रजोहरणं तेनैव प्रमार्जने पृथिवीकायस्य विराधना ग्रामान्तरं भिक्षाचर्यादिकार्येण (इंतत्ति) गच्छत आगच्छतो अन्तरा आषाढतरं वर्षितुमारब्धे मलिनरजोहरणे परिगलति पृथिवीं द्विविधं च भूमान्तरिक्षभेदाद् द्विप्रकारमुदकं विराधयति।

अहवा अंदीभूए, उदगं पुण उपतावणे अगणिं।
उल्लंडगबंधतसा, ठाणाइसु केण व पमज्जे ॥

अथवा द्वितीयरजोहरणाभावे यदार्द्रं रजोहरणं शोषयति ततो ऽवग्रहात् स्फिटयति। अथ न शोष्यते ततोऽम्लीभवति एवसम्लीभूते तस्मिन् उदकं विराध्यते। पनकश्च संमूर्च्छति अथैतद्दोषपरिहारार्थमग्निं तापयति ततोऽग्निविराधना अथार्द्रेण प्रमार्जयति ततो दशिकान्तेऽप्युल्लण्डका मुइंगोलकाः प्रतिबध्यन्ते तेषु प्रतिबद्धेषु यद्विप्रमार्जनं करोति तत आत्मविराधना। अथ न प्रमार्जयति ततः संयमविराधना। स्थाननिषदनादिषु वा केन प्रमार्जयतु।

एमेव सेसगम्मि, संजमदोसा उ भिक्खणिज्जाए।
चोलनिसज्जा उल-अजीरगेलन्नमायाए ॥

एमेव वर्षाकल्पादावपि शेषोपकरणे भिक्षानिर्याणे च पटलकपात्रबन्धरूपे द्विगुणं अगृहीते संयमदोषाः षट्कायविराधना लक्षणे रजोहरणवद्वक्तव्याः। चोलपट्टे रजोहरणनिषद्यायां यावद्विगुणायामगृह्यमाणायां बहिर्गतानां वर्षणार्द्रीभावे संजाते नित्यपरिभोगेन भक्तं न जीर्यते। अजीर्यमाणे भक्ते ग्लानत्वं भवति। ततश्चात्मविराधना परितापमहादुःखादि। किंच।

अद्धाण णिग्गतादी, परिता वा अहव णट्ठगहणम्मि।
जं च समवसरणम्मि, अगहणे जं च परिभोगे ॥

छिन्नादच्छिन्नाद्वा अध्वनो निर्गता आदिशब्दादशिवादिकारणानिर्गता वा ये परीताः परिमितोपकरणा अथवा (नट्ठत्ति) नष्टोपकरणा हारितोपधय इत्यर्थः (गहणम्मित्ति) प्रत्यनीकेन वा उपधेर्ग्रहणे कृते विविक्ता आगच्छेयुः एतेषामागतानामतिरिक्तोपकरणभावाद्युपग्रहणं न करोति तत उपधिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् अथ तदर्थं नूतनमुपधिं गृह्णन्ति ततोऽप्युपधिनिष्पन्नम् अथ प्रथमे समवसरणे उपकरणग्रहणे दोषजालं तत्प्राप्नुवन्ति। अथ न गृह्णन्ति तत उपकरणं विना यत्तृणादिपरिभोगे दूषणकदम्बकं तदासादयन्ति। अमुमेवार्थं व्याख्याग्रन्थेन स्पष्टयति।

अद्धाण णिग्गयादीण-मदाते होति उपधिणिप्पण्णं।
जं ते अणेसणग्गिं, सेवेदं वत्थणो जं च ॥

अध्वनिर्गतादीनामतिरिक्ताभावे उपकरणं यदि न, प्रयच्छन्ति तत उपधिनिष्पन्नं भवति प्रायश्चित्तमिति शेषः। तच्च जघन्ये पञ्चकं मध्यमे मासलघुकमुत्कृष्टे चतुर्लघवः। ते च अध्वादिनिर्गता अनेषणीयोपकरणमग्निं वा यदासेवन्ते तन्निष्पन्नमप्रयच्छतां प्रायश्चित्तम्। अथात्मीयमुपकरणं तेषां प्रयच्छन्ति तत आत्मपरिहाणिः। यद्वात्मना तृणादिसेवनं कुर्वन्ति तन्निष्पन्नम्। के पुनः प्रथमसमवसरणे वस्त्रग्रहणे दोषा इत्याह ॥

अत्तट्ठपरट्ठा वा, ओसरणं गेण्हमाण पण्णरस।
दानं परिभोग छप्पति-चडउरं उल्लोयगेलन्ने ॥

अथात्मनो वा परेषां वा अध्वनिर्गतादीनामर्थाय प्रथमसमवसरणे उपधिं गृह्णन्ति तत आधाकर्मादयः पञ्चदशोद्गमदोषा भवन्ति आत्मोपधिमध्वनिर्गतादीनां दत्वा तमेवैकं प्रत्यवतारं नित्यं परिभुञ्जानस्य षट्पदिका संमूर्च्छति तासु चान्नपात्रमध्ये पतितासु भक्षितासु (चडउरंति) जलोदरो भवति एकप्रत्यवतारेण वा द्रोणराशिप्रावृतेन शुद्धस्य जीर्यति अजीर्यति च ग्लानत्वमुपजायत

तम्हा उ गेण्हियव्वं, वितियपदम्मि जह ण गेण्हेज्ज।
अद्धाणे गेलण्णे, अहवा वि भवेज्ज असतीए ॥

यत एवं तस्मात् कारणादात्मनो द्विगुणप्रत्यवतारादतिरिक्तं ग्रहीतव्यं द्वितीयपदं यथा न गृह्णीयुस्तथाऽभिधीयते अध्वनि वहमानानां ग्लानत्वे वा द्विविधायामसत्तायां वा वर्त्तमानाना मग्रहणं भवेदिदमेव व्याख्याति ॥

कालेण चिंदिएणं, या वारिसा मंतरेण वाघाते।
गेलण्णे वा न परे, दुविधा पुण होति असतीओ ॥

ग्रीष्मस्य चरमे मासि केचिदध्वनि प्रतिपन्नाश्चिन्तितवन्तश्च यावदाषाढपूर्णिमा नोपैति तावदेव तावत्कालेन वर्षाक्षेत्रं प्राप्स्यामः। अन्तरा च नद्यादिव्याघातो भवेत् अत आषाढपूर्णिमाकाले अतिक्रान्ते प्राप्ते ततो द्विगुणेऽतिरिक्तो वा उपधिर्न गृहीतः। अथवा आत्मनो ग्लानत्वेन परस्य वा ग्लानस्य व्यापृततया नातिरिक्तो गृहीतः। असत्ता पुनर्द्विविधा भवति सदसत्ता असदसत्ता च सदसत्तायामनेषणीयं लभ्यते। अथवा बहवः साधवो वस्त्रग्रहणस्याकल्पिका एव कल्पिकः। अतः सर्वेषां योग्यो अतिरिक्तः पथि गृहीतुं न पार्यते। असदसत्ता तु मार्गित-मपि न लभ्यते एतैः कारणैः पूर्वमतिरिक्तोपधौ अगृहीतेऽपि शुद्धाः।

गहिए अगहिए वा, अप्पत्ताणं तु होति अतिगमणं।
उवही संथारगपाद-पुंछणादीण गहणट्ठा ॥

एवं गृहीतेऽगृहीते वा वर्षावासप्रायोग्ये उपधौ कालमप्राप्तानामाषाढपूर्णिमाया अर्वाक् पञ्चभिर्दिवसैर्वर्षाक्षेत्रे अतिगमनं प्रवेशो भवति। किमर्थमित्याह उपधिर्वर्षाकल्पादिकः। संस्तारकः काष्ठमयः कम्बिकामयो वा पादप्रोञ्छनं रजोहरणम् आदिशब्दात् तृणडगलादिपरिग्रहः एतेषां ग्रहणार्थमप्राप्ते काले प्रवेष्टव्यम्। इदमेव व्यक्तीकरोति।

कालेण अपत्ताणं, पत्ताणं खेतओ गहणं।
वासाजोग्गोवधिणो, खेत्तम्मि उ डगलमादीणि ॥

कालतो नियमादप्राप्तानां क्षेत्रतः प्राप्तानां वा वर्षावासयोग्यपटलकपात्रबन्धादेरुपधेर्ग्रहणं भवति एतेन चरमभङ्गौ सूचितौ कालतः प्राप्तैरप्राप्तैर्वा क्षेत्रतो नियमात्प्राप्तैर्डगलादीनि ग्रहीतव्यानि अनेन तु द्वितीयतृतीयभङ्गौ गृहीताविति। तान्येव डगलादीनि दर्शयति।

डगलसरक्खकुडमुह, मत्तगतिगलेवपादलेहणिया।
संथारपीठफलगा, णिज्झोगो चेव दुगुणो उ ॥

इष्टका चीरादिमयानि डगलानि पुनः प्रोञ्छनार्थं गृह्यन्ते सरजस्कः क्षारससंज्ञा खेलादिविसर्जनार्थं कुटमुखं घटकण्ठस्तत्र ग्लानयोग्यमौषधं कायिकी मात्रकं वा स्थाप्यते। मात्रकत्रिकं खेलमात्रकं कायिकीमात्रकं संज्ञामात्रकं चेति। लेपः प्रतीतः प्रद्विष्टभाजनसंस्थापनार्थम्। पादलेखनिका वर्षासु कर्दमनिर्लेपना-

र्धम् । संस्तारकः परिशाटी वेति द्विविध उभयोपशमनार्थं जीवादिरक्षणार्थं च गृह्यते पीठं छगणादिमयमुपवेशनार्थे फलकश्चं एकपट्टादिमयः शमनोपयोगी पात्रसत्कश्च निर्योगः । प्रत्यवतारो द्विगुण एतानि सर्वाण्यपि तदानीं गृह्यन्ते । अथ शिष्यः प्रश्नयति ।

चत्तारि समोसरणे, मासा किं कप्पती ण कप्पति वा ।
कारणिग पंचरत्ता, सव्वेसिं मल्लगादीणं ॥

आषाढपूर्णिमाऽनन्तरं ये चत्वारः प्रथमसमवसरणे मासास्तेषु ग्रहीतुं कल्पते न वा । सूरिराह उत्सर्गतो न कल्पते द्वितीयपदे क्षेत्रस्याप्राप्ता अध्वनिर्गता वा आषाढपूर्णिमायां प्राप्तास्ततः संस्तारादयुपधिं डगलादीनि च पञ्चरात्रिदिवानि गृह्णन्ति पर्युषणाकल्पं च रजन्यामाकर्षन्ति । ततः पञ्चम्यां पर्युषणं कुर्वन्ति । अथ पूर्वोक्तकारणात्पञ्चम्यामेव ते प्राप्तास्ततः पञ्चरात्रं तथैव संस्तारकमङ्गलादीनि गृह्णन्ति दशम्यां पर्युषणयन्ति । विशेषं चूर्णिकृत्पुनराह "तं खेत्ताणं पज्जंते आसाढपुण्णिमाए चेव ठिया तेहि उवही न गहियो संथारगाइ ताहे जाव पंच रत्तं ताव गेण्हंति एक्का पंचदिवसे पज्जोसणाकप्पं कहंति द समीए एस कारणेणं कप्पई पंचरत्तं अह पंचमीए पत्ता तहेव य वरत्तगावङ्कंतीति" एवं सर्वेषां मल्लकादीनामुपकरणानामर्थाय कानि पञ्चरात्रिंदिवानि प्रवर्द्धमानानि तावन्मन्तव्यानि यावद्भाद्रपदशुद्धपञ्चम्यां गृहीतेऽगृहीते वा डगलमल्लकादौ नियमात्पर्युषणं विधेयम् "तेसिं तत्थ ठिआणं पडिलहुवट्टचारणादीसु लेवाईण अगहणे लहुगा पुव्विआ गहिते वा" तेषां साधूनां तत्र वर्षाक्षेत्रे स्थितानासियं सामाचारी सभाप्रपाऽऽरामदेवकुलशून्यगृहादिषु यद्वस्त्रमुज्झितं पथिकादिभिः परित्यक्तं तत्प्रत्युपेक्षन्ते यदा किल कार्यमुत्पत्स्यते तदा ग्रहीष्यन्ते तदभावे चरणादिषु प्रत्युपेक्षन्ते वर्षासु यदि लेपमादिशब्दात्पात्रं वा वस्त्रं वा गृह्णन्ति ततश्चतुर्लघुकाः पूर्वं चालेपादीनि यदि न गृहीतानि तदाऽपि चतुर्लघु । इदमेव व्याख्याति ।

वासाण एस कप्पो, सव्वतो चेव जाउ सक्कोसं ।
परिभुत्तं विप्पइण्णं, वाघातट्ठा परिक्खंति ॥

(वासाणत्ति) विभक्तिव्यत्ययाद्वर्षासु तिष्ठतामेष कल्पः समाचारी सर्वतः सक्रोशं यावद्यत्कार्पटिकैः परिभुक्तं विप्रकीर्णं पूर्वं परिभुज्य ततोऽकिञ्चित्करमिति मत्वा परिष्ठापितं ततस्तिष्ठन्त एव व्याघातार्थं निरीक्षन्ते । कः पुनर्व्याघात इति चेदुच्यते ।

अद्धाण णिग्गतादी, झामियवूढे व सेह परिजुण्णे ।
आगंतु बाहिपुव्विं, दिट्ठं असण्णिसण्णीसु ॥

अध्वनिर्गतादयः साधवः आगच्छेयुः आत्मीयो वा उपधिर्ध्यामितो दग्धो भवेत् उदकेन वा व्यूढः शैक्षो वा अवश्यप्रव्राजनीयः पुराणादिरुपस्थितः परिजीर्णो वा उपधिरेतैः कारणैरागन्तुकेषु तालावरादिषु पूर्वं मार्गयन्ति ततः क्षेत्राद्बहिरसंज्ञिषु पूर्वं दृष्टं गृह्णन्ति । अथेदमेव विभावयिषुरागन्तुकाननागन्तुकान् व्याख्याति ।

तालायरे य धारे, वाणियखंधारसेणसंवट्टे ।
लाउडिग वइग सेवग, जामाउगं पंथिगादीसुं ॥

तालावरा नटनर्त्तकवर्द्धादयो (धारेत्ति) देवछत्रधारकाः वणिजो वाणिज्यकाः राजविम्बसहितं स्वचक्रं परचक्रं वा स्कन्धावार उच्यते राजबिम्बविरहिता सेना चौरधाटीभवेन बहवो ग्रामनायका अधिष्ठातारः एकत्र स्थिताः सर्वत्तः लाकुटिका उङ्गराव्रजिका गोकुलिकां सेवकाश्चारभट्टकाः जामातृकाः प्रसिद्धाः पथिका ये बहवः स्वं देशं प्रति प्रस्थिताः एवमादिषु पूर्वं मार्गयन्ति कथयित्माह ।

आगंतुकेसु पुव्विं, गवेसए चारणादिसुं बाहिं ।
पच्छा जे सग्गामं, तालावरादिणो यंति ॥

(बाहिंति) सक्रोशयोजनान्तर्वर्त्तिष्वन्तरपल्लिकासहितेषु बाह्यग्रामेषु ये आगन्तुकाश्चारणादयस्तेषु पूर्वं गवेषयन्ति । पश्चात् बाह्यग्रामेषु चारणादीनामभावे ये तालावरादयः स्वग्राममायान्ति तेषु गवेषयितव्यम् । कथमेतेषु वस्त्रसंभव इत्याह ।

लद्धण णवे इतरे, समणाणं देज्ज सेवजामादी ।
चारणधारवणीयं, पडंति इयरे उ सड्ढितरा ॥

सेवका जामातृका नवानि वस्त्राणि लब्ध्वा इतराणि पुराणानि श्रमणानां दद्युः । चारणानां (धारत्ति) देवछत्रधारिणां राजादयः प्रसादतो वस्त्राणि प्रयच्छन्ति तानि पुराणानि वा ते साधूनां दद्युः (वणीयंति) वाणिज्यकं वणिजः पतन्ति । इतरे तु पथिकादयः श्राद्धाः श्रावका भवेयुः बहिर्ग्रामे स्वग्रामेऽप्युपचारणादीनामभावे विधिमाह ।

बहिरंतसण्णिसण्णिसु, जं दिट्ठं तेसु वा जमद्दिठं ।
केई दुहउवसण्णि, सुगहिते सण्णीसु दिट्ठितरे ॥

क्षेत्राभ्यन्तरे प्रतिवृषभग्रामेषु ये असंज्ञिनस्तेषु पूर्वं दृष्टं वस्त्रं मार्गयन्ति तदभावे बहिर्ग्रामेऽप्येवं संज्ञिषु पूर्वं दृष्टं तदभावे अन्तर्मूलग्रामे असंज्ञिषु पूर्वं दृष्टं तदसत्वे मूलग्राम एव संज्ञिषु यत्पूर्वमदृष्टं तदभावे मूलग्राम एवासंज्ञिषु पूर्वमदृष्टं वस्त्रं मार्गयन्ति केचिदाचार्या इत्थं ब्रुवते । द्वयोरपि बहिरन्तर्लक्षणयोः स्थानयोः प्रथमसंज्ञिषु गृहीते सति ततो बहिरन्तर्वर्त्तिष्वेव संज्ञिषु यथा कर्मदृष्टमितरत्वात् दृष्टं गृह्णातीति किं पुनः कारणं पूर्वं दृष्टं प्रथमं गृह्यते उच्यते तत्र हि पूर्वप्रत्युपेक्षितत्वेनाधाकर्मादय उत्क्षेपनिक्षेपादयश्च भवन्ति ॥

कोई तत्थ वणिज्जा, वाहिं खित्तस्स कप्पती गहणं ।
गंतुं ता पडिसिद्धं, कारणगमणे बहुगुणं तु ॥

कश्चिन्नोदकस्तत्रेति अनन्तरोक्तव्याख्याने इदं भणेत् यदि पूर्वं प्रतिवृषभग्रामेऽप्युद्गृहीतव्यं ततो मूलग्रामे एवं तर्हि दूरत्वात् । क्षेत्राद्बहिर्ग्रहणं सुभगं कल्पते । गुरुराह क्षेत्राद्बहिर्वर्षासु गन्तुमपि तावत्प्रतिषिद्धं किं पुनर्वस्त्रग्रहणम् । अथ कारणे वर्षासु क्षेत्राद्बहिर्गमनं करोति तत्र गतश्च वर्षाकल्पादिना निमन्त्र्यते तदा संयमस्य बहुगुणमिति कृत्वा तदपि ग्रहीतव्यम् । इदमेव व्याचिख्यासुः प्रथमतः परवचनं व्याख्याति ।

एवं नामं कप्पति, जं दूरे तेण बाहि गिण्हंतु ।
एवं भणंति गुरुगाण, गमणे गुरुगा व लहुगा वा ॥

यत दूरे गामाद्बहिर्वस्त्रं तद्यदि प्रथमं कल्पते तत एवं नाम क्षेत्राद्बहिः सुतरां प्रथमतरं गृह्णन्तु सूरिराह एवं भणतो भवतश्चतुर्गुरुकाः । अथ क्षेत्राद्बहिर्गच्छाति ततो गुरुका वा लघुका वा प्रायश्चितं तत्र नव प्रावृषि चत्वारो गुरवः शेषे वर्षाकाले चत्वारो लघवः । कारणगमने बहुगुणमिति व्याचष्टे ॥

संबंधभाविएसु, कप्पति जोयणे कज्जे ।
जुण्णेव वासकप्पं, गेण्हति जं बहुगुणं वण्णं ॥

यानि साधर्म्मिकसंबन्धेन संबद्धानि परस्परं गमनागमनभावितानि च क्षेत्राणि तेषु वर्षासु कल्पते साधर्म्मिकाणामुदन्तवहनार्थं चत्वारी पञ्च योजनानि यावत् गन्तुं वस्तुं वा एवं कार्ये गतस्यापान्तराले वर्षात्राणेन कश्चिन्निमन्त्रणं कर्यात् तस्य च प्राक्तनो वर्षात्राणः परिजीर्णस्ततश्च वर्षात्राणं घनमसृणमभिनवं च ततो वर्षासु बहुगुणमिति कृत्वा गृह्णाति। कारणोऽन्यदपि पटलकादिकं घनमसृ–णादिगुणोपेतमाचार्यप्रायोग्यं वा यद्वस्त्रं लभ्यते तदपि भूयान् गुणोऽत्र गृहीते भविष्यतीति कृत्वा गृह्यते एवं कारणगमनं ग्रहणं चोभयमपि दृष्टम्। कारणाभावे तु न कल्प ते गन्तुं ग्रहीतुं वा। अथ गृह्णाति ततोऽमून् षोडश दोषान्। प्राप्नोति

आहाकम्मुद्देसिय, पूतीकम्मे य मीसजायाए।
ठवणा पाहुडियाए, पादोकरकीतपामिचे ॥
रियट्ठिए अतिहडे उ, उब्भिण्णमालाहडे य।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे, धोते रत्ते य घट्टे य ॥

आधाकर्म्म १ औद्देशिकं २ पूतिकर्म्म ३ मिश्रजातं ४ स्थापना ५ प्राभृतिका ६ प्रादुष्करणं ७ क्रीतं ८ प्रामित्यं ९ परिवर्त्तितम् १० दूत्याहृतम् ११ उद्भिन्नं १२ मालाहृतम् १३ आच्छेद्यम् १४ अनिसृष्टं चेति १५ पञ्चदश दोषाः (धोयरत्तेयघट्टेयत्ति) साधूनामर्थाय मलिनवस्त्रं धौतं गौरवं कृतमित्यर्थः। एवं रक्तं प्रदत्तरागं घृष्टं मसृणं पाषाणादिना उत्तेजितमेते त्रयोऽप्येक एव दोष इति।

एते सव्वे दोसा, पढमोसमोसरेणवज्जिता हों ति।
जिणदिट्ठिहिं अगहितो, जो गेणहति तेहि सो पुट्ठो ॥

एते सर्वेऽप्याधाकर्म्मादयो दोषाः प्रथमे समवसरणे वस्त्रादिकं गृह्णता न वर्जिता भवन्ति। अथ पूर्वं दर्प्पतो न गृहीतमुपकरणं ततः प्रथमे समवसरणे यो गृह्णाति सोऽपि जिनैस्तीर्थकरैर्ये दृष्टाः कर्मबन्धदोषास्तैः स्पृष्टो मन्तव्यः। भावतस्तेन दोषाणामङ्गीकृतत्वात्।

पढमम्मि समवसरणे, जो वतियं पत्तचीवरं गहियं।
सव्वं वोसरियव्वं, पायच्छित्तं च वोढव्वं ॥

प्रथमे समवसरणे दर्पतो यावत् पात्रचीवरं गृहीतं तावत्सर्वमपि व्युत्सृष्टव्यं प्रायश्चितं गुरुप्रदत्तं यथोक्तं वोढव्यम्। अथ वा कार्ये समुत्पन्ने यत्पात्रं वा चीतरं चारणादिषु गृहीतं तत्सर्वं कृते कार्ये परिष्ठापनीयम्। अपरिणामकप्रत्ययनिमित्तं च यथालघीयः प्रायश्चित्तं वोढव्यम्।

सज्झायट्ठा दप्पेण, वादि जाणंतए वि पच्छित्तं।
कारणगहियं तु विधूय, धरेत गीए ण उ ज्झति ॥

स्वाध्यायार्थं दर्पेण वा यदि बहिअंतसन्निसु जं दिटठं तेसु चव जमदिटठं" इत्यादिकं क्रममुल्लङ्घ्य गृहीतं तत्र जानतोऽपि गीतार्थस्यापि प्रायश्चित्तम्। यत्तु कारणे क्रमेण विधिना गृहीतं तद्यदि सर्वेऽपि विदो गीतार्थास्तं धारयन्ति अथागीतार्थनिश्रा ज्ञतोऽन्यस्मिन्नुपकरणे लब्धे न दुष्यन्ति। बृ०३उ०नि०चू०। कल्प० (ऋतुबद्ध वस्त्रग्रहणं वत्थ शब्दे)

(११) प्रथमं प्रव्रजत उपधिग्रहणम्।

(सूत्रम्) निग्गंथस्स य तप्पढमयाए संपव्वयमाणस्स कप्पइ रयहरणगोच्छयपडिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं अयाए संपव्वइत्तए से पुव्वोवट्ठिए सिया एवं से नो कप्पइ रयहरणपडिग्गहगोच्छए मायाए तिहि य कसिणेहिं वत्थोहिं आयाए संपव्वइत्तए कप्पइ से अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय आयाए संपव्वइत्तए।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह।

णिग्गंथिचेलगहणं, भणियं समणाण वोच्छामि।
निक्खंते बाहुत्तं, निक्खमणाणे इमं सुत्तं ॥

निर्ग्रन्थीविषयं चेलग्रहणं भणितम्। इदानीं श्रमणानां यथा वस्त्रं गृहीतुं कल्पते तथाऽभिधीयते। यद्वा निष्कान्तो दीक्षितस्तद्विषयं वस्त्रग्रहणमुक्तमिदं तु निष्क्राम्यति दीक्षामददाने वस्त्रग्रहणाभिधायकं सत्रमारभ्यते अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या निर्ग्रन्थस्य तत्प्रथमतया समिति सम्यक् प्रकर्षेण पुनरभङ्गी कारलक्षणेन व्रजतो गृहवासान्निगच्छतः संप्रव्रजतः कल्पते। रजोहरणमोक्षकेप्रतिग्रहमादाय त्रिभिः कृत्स्नैर्वस्त्रैरात्मना संप्रव्रजितुम्। इह रजोहरणग्रहणेन मध्यमोपधिगोच्छकग्रहणेन जघन्योपधिः प्रतिग्रहणेनोत्कृष्टोपधिः सर्वो गृहीतस्ततोऽयमर्थः जघन्यमध्यमोत्कृष्टोपधिनिष्पन्ना ये त्रयः कृत्स्नाः प्रतिपूर्णा वस्त्रपात्रे प्रत्यवतारास्तैरात्मना सहितैः प्रव्रज्या ग्रहीतुं कल्पते (सेयति) चशब्दार्थे। अथासौ प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः पूर्वमुपस्थितो दीक्षितः स्यात् ततो नो कल्पते (से) तस्य पूर्वोपस्थितस्य रजोहरणगोच्छक-प्रतिग्रहमादाय त्रिभिः कृत्स्नैरात्मना संप्रव्रजितुं किंतु कल्पते (से) तस्य यथा परिगृहीतानि क्रीतकृतादिदोषरहितानि वस्त्राणि गृहीत्वा आत्मना संप्रव्रजितुमिति सूत्रसमासार्थः। अथ विस्तरार्थोऽभिधीयते। आह न तावदद्याप्ययं प्रव्रजति ततः कथं निर्ग्रन्थः। उच्यते द्रव्यत एको भावतो द्वितीयः द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि अपरो न द्रव्यतो न भावतः। तत्र द्रव्यतो नि र्ग्रन्थः स उच्यते यो लिङ्गसहितो द्रव्यलिङ्गयुक्तो निःशङ्कःसन्नवधावति उत्प्रव्रजतीत्यर्थः। यस्तु प्रव्रज्यायामभिमुखो न तावदद्यापि प्रव्रजति कारणेन वा यः साधुः परलिङ्गे वर्तते स द्वितीयो द्वितीयभङ्गवर्ती यस्तु उदयसहितो द्रव्यभावलिङ्गयुक्त स तृतीयः उभयथाऽपि निर्ग्रन्थ इति भावः। उभयविमुक्ते तु द्रव्यभावलिङ्गरहिते गृहस्थादौ चरमश्चतुर्थो भङ्गो भवति। अत्राचार्यो देवस्य मानुष्यस्य सहवासलक्षणं दृष्टान्तं कर्तुकाम प्रथमतः सिद्धान्तं प्रज्ञापयति।

चउधा खलु संवासो, देवासुररक्खसे मणुस्से य।
अण्णोण्णकामणेण य, संजोगा सोलस हवंति ॥

देवसंवासः असुरसंवासो राक्षससंवासो मनुजसंवासश्चेति संवासश्चतुर्द्धा। अत्र चान्योन्यकाम्यया षोडश संयोगा भवन्ति। तद्यथा देवो देव्या सार्द्धं संवसति १ देवोऽसुर्या सार्द्धम् २ देवो राक्षस्या सार्द्धम् ३ देवो मानुष्या सार्द्धम् ४ असुरो देव्या समं संवसति५ असुरोऽसुर्या ६ असुरो मानुष्या ७ असुरो राक्षस्या ८ राक्षसो देव्या ९ राक्षसोऽसुर्या १० राक्षसो मानुष्या ११ राक्षसो राक्षस्या १२ मनुष्यो देव्या १३ मनुष्योऽसुर्या १४ मनुष्यो राक्षस्या १५ मनुष्यो मानुष्या १६ चेति। अत्र देवशब्देन वैमानिको ज्योतिष्को वा। असुरशब्देन तु सामान्यतो व्यन्तरः परिगृह्यते। अधस्तने च षोडश भङ्गान् चतुर्षु भङ्गेष्ववतारयन्नाह।

अहवा देवछवीणं, संवासे एत्थ होति चउभंगो।
पव्वज्जाभिमुहंतर, गुज्झगउज्झामिया वासे ॥

अथवेति प्रकान्तरद्योतकः। देवच्छविमतोः संवासे चतुर्भङ्गी भवति। देवो देव्या सार्द्धं संवसति। १। देवश्छविमत्या सा–

र्द्धम् २ छविमान् देव्या सार्द्धम् ३ छविमानछविमत्या ४ अत्र देवशब्देन सामन्यतो भवनपत्यादिनिकायचतुष्टयाभ्यन्तरवर्ती गृह्यते छविमांश्च मनुष्य उच्यते अत एतेषु चर्तुषु भङ्गेषु पूर्वोक्ताः षोडशापि भङ्गाअन्तर्भूता एवं सिद्धान्तं प्रज्ञाप्य प्रस्तुतार्थसाधकं दृष्टान्तमाह पवज्जा इत्यादि। एकः कश्चित्तरुणः प्रव्रज्याभिमुखो गुरूणां पार्श्वे प्रस्थितः अन्तरा कस्मिंश्चिदग्रामे एकस्यास्तरुण्या गृहे वासार्थमुपगम्य द्वारमूले सुप्तः सा च तरुणी उद्ग्रामिका कुशीला गुह्यकः कश्चिद्यक्षस्तया उद्ग्रामिकया सह रात्रौ वासं कृत्वा प्रभाते स्वस्थानं गच्छति एवं दिवसे दिवसे करोति। तस्मिंश्च दिवसे यज्ञो नोपागमत् द्वितीये दिवसे कोऽपि सलिङ्गीव धार्वी चौर्यं कर्तुकामस्तस्मिन्नेव ग्रामे तस्या एव तरुण्या गृहे तथैव मूले प्रसुप्तः यज्ञश्च तद्दिवसमागतः।

वितियणिसाए पुच्छा, एत्थ जती आसि तेण मितअन्नो।
जतिवेसो यं चोरो, जो अज्ज तुहं वसति दारे॥

यस्मिन् दिवसे यक्षोऽनायातस्ततो यो द्वितीयो दिवसस्तत्र निशायामागतस्य यक्षस्य पार्श्वे पृच्छा कृता कल्ये किं नागतोऽसि यक्षः प्राह। अत्र कल्ये यतिरासीत्। तेन कारणेनाहमत्र नायातः। अपि च साधुसंबन्धिता तेजसैव तलुल्लङ्घ्य गन्तुं न शक्यते सा प्राह किमेवं मृषा भाषसे अयमपि तावदन्यः साधुर्द्वारमूले सुप्तस्तिष्ठति। अत एवमुल्लङ्घ्य कथमद्यागतोऽसीति। जक्षः प्राह एष चारित्रं प्रति विपरिणतश्चौर्यं कर्तुकामः। अतो यतिवेषेण चौरोऽयं मन्तव्यः यस्तवाद्य द्वारे वसतीति। तदेवमनेन दृष्टान्तेन प्रव्रज्यायामभिमुखः प्रव्रजित एवोच्यते। उक्तंच नैश्चयिकनयवक्तव्यतामङ्गीकृत्य भगवत्याम् "नेरइए णं भंते नेइरेसु उववज्जइ अनेरइए ? गोयमा ! नेरइएसु उववज्जइ नो अनेरइएसु उववज्जइं"॥

अथ रजोहरणादिपदानि व्याचष्टे॥

रयहरणे विमज्झिमो, गुच्छग्गहणे जहण्णगग्गहणं।
पडिग्गहगहणे गहणं, उक्कोसओ होइ अवहिस्स॥

रजोहरणग्रहणेन विमध्यमोपधिर्गृहीतो गुच्छकग्रहणेन जघन्योपधिग्रहणं भवति प्रतिग्रहणेन चोत्कृष्टस्योपधेर्ग्रहणं मन्तव्यम्।

पडिपुण्णा पडुयारा, कसिणग्गहणेण अप्पणो तिण्णि।
पुव्विं उवट्ठितो पुण, जो पुव्वं दिक्खितो आसी॥

कृत्स्नवस्त्रग्रहणेनेदमुक्तं भवति। तेन प्रव्रजता आत्मनो योग्यास्त्रयः प्रत्यवतारः प्रतिपूर्णा ग्रहीतव्याः पूर्वमुपस्थितः पुनः स उच्यते यः पूर्वदीक्षित आसीत् एष सूत्रार्थः। अथ निर्युक्तिविस्तरः।

सोऊण कोइ धम्मं, उवसंतो परिणओ य पव्वज्जं।
पुच्छाति पूयं आयरिय उव--ज्झायपवत्तिसंघाडिए चेव॥

इह कश्चित्तथारूपाणां स्थविराणामन्तिके धर्मं श्रुत्वा उपशान्तः प्रतिबद्धः प्रव्रज्यायां च परिणतः आचार्यान् पृच्छति आदिशत क्षमाश्रमणाः किं मया कर्त्तव्यम्। सूरयस्तस्य सारसंभवं ज्ञात्वा ब्रुवते (पूयंति) चैत्यानां विपुलां पूजां कुरु श्रमणसंघस्य च वस्त्रादिभिः प्रतिलाभनं कुरु। एवमुक्ते स तथैव चैत्यानां श्रमणसंघस्य च पूजां करोति। *अथ श्रमणसङ्घेन पूजयितुमीशस्तत आचार्यस्योपाध्यायस्य प्रवर्त्तिनः संघाटकसाधोश्च वस्त्रादिभिः पूजा विधातव्या। इदमेव भावयति॥*

णंतगघतगुलगोरस, फासुपडिलाभणं समणसंघे।
असति गणिवायगाणं, तदसति सव्वस्स गच्छस्स॥

स प्रविव्रजिषुः श्रमणसङ्घस्य सकलस्यापि प्रासुकैः शुद्धैर्वस्त्रघृतगुडगोरसादिभिर्द्रव्यैः प्रतिलाभनां करोति। अथ नास्त्येतावत्सारं ततो ये गणिन आचार्या ये च वाचका उपाध्यायास्तेषां सर्वेषामपि करोति। अथ मास्त्येतावती शक्तिस्ततो यस्मिन् गच्छेऽसौ प्रव्रजिष्यति तस्य सर्वस्यापि प्रतिलाभनां विधत्ते॥

तदसति पुव्वत्ताणं, चउण्ह सीसतिय तेसि वावारो।
हाणी जा तिण्णि सयं, तदभावे गुरुउ सव्वं पि॥

तस्या अपि सकलगच्छपूजाक्षमायाः सामग्र्या अभावे ये पूर्वमाचार्या ये च वाचका उपाध्यायास्तेषां सर्वेषामपि करोति आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिसंघाटकसाधुलक्षणाश्चत्वार उक्तास्तेषां पूजां करोति। तेषां चाचार्यादीनां व्यापारोऽर्थकथनादिस्तस्य पुरतः शिष्यते कथ्यते यथा आचार्योऽर्थं व्याख्यानयति उपध्यायः सूत्रं वाचयति प्रवर्तते यः स संयमादौ प्रवृत्तिं कारयति संघाटकः साधुभिर्भिक्षाविचारभूम्यादौ गच्छतां साहाय्यं विधत्ते एषां पूजा विधेयेति। अथ नास्त्येतावती शक्तिस्ततो यतो यथामाहात्म्यं प्रथममाचार्योपाध्याययोस्तथाप्यशक्तौ केवलस्यैवाचार्यस्य पूजां करोति। एवमप्यशक्तौ स्वयमात्मनो योग्यान् त्रीन् प्रत्यवतारान् तदभावे एकमपि प्रत्यवतारमादाय प्रव्रजति। अथ नास्ति तस्यैकोऽपि प्रत्यवतारस्ततः सर्वमपि पात्रनिर्योगादिकं तस्य गुरवः प्रयच्छन्ति। अथास्य विद्यमानविभवस्योद्गमकोटिदोषैर्विशोधिकोटिदोषैर्यान्यविशुद्धानि वस्त्राणि प्रयच्छतो ग्रहीतुं कल्पन्ते नवेति चिन्तां चिकीर्षुराह॥

अप्पणो कीतकडं व, आहाकम्मं व घेत्तु आगमणं।
संजोए चेव तधा, अणिदिट्ठे मग्गणा हुंति॥

स गृहस्थशैक्ष आत्मनो योग्यं वस्त्रपात्रादि क्रीतकृतं वस्त्वाधाकर्म वा गृहीत्वा गुरुणामन्तिके दीक्षाग्रहणायागमनं कुर्यात्। अत्र क्रीतकृतग्रहणेन विशोधिकोटिदोषा गृहीताः। अमीषां च दोषाणा--मनिर्दिष्टे उपलक्षणत्वान्निर्दिष्टे वा ये संयोगा भङ्गकास्ते षां मार्गण कर्त्तव्या भवतीति द्वारगाथासमासार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवृणोति।

कीयम्मि अणिद्दिट्ठे, तेणोग्गहियम्मि सेसगो कप्पे।
निद्दिट्ठम्मि ण कप्पति, अहव विसेसो इमो तत्थ॥

क्रीतकृतं द्विधा निर्दिष्टमनिर्दिष्टं च। निर्दिष्टं नाम वस्त्रपात्रादिकं क्रीणीत इत्थमुद्देशं करोति अमूनि मम भविष्यन्ति अमूनि साधूनां दास्यामि तद्विपरीतमनिर्दिष्टम्। एवमन्येष्वपि दोषेषु भावना कर्त्तव्या तत्र यानि वस्त्राणि तेनानिर्दिष्टानि क्रीतानि तेषां मध्ये यत्तस्याभिरुचितं वस्त्रजातं तेनावगृहीते सति शेषाणि साधूनां कल्पते निर्दिष्टे तु साधूनामर्थाय यत् क्रीतं तत् किमपि न कल्पते अथवा तत्र निर्दिष्टेऽयं विशेषो ऽभिधीयते।

मज्झंतिगाण गिण्हह, अहं तुज्झव्वए परिधित्थं।
सेहेहिं ति व वत्थं, तदभावे विगिंचंति॥

मदीयानि मया आत्मार्थं क्रीतानि वस्त्राणि यूयं गृह्णीथ अहं तु युष्मदीयानि युष्मदर्थं मयैव क्रीतानी वस्त्राणि परिगृहीष्ये एवं तेनोक्ते तान्यात्मार्थक्रीतानि कल्पन्ते। अथवा स ब्रूयात् यावत् *युष्मदर्थतेतानि क्रीतानि इत ऊर्द्धं यत् जानीथ तत् कुरुथ ततस्तन्निर्दिष्टं वस्त्रप्रत्यवतारः शैक्षस्यानुपस्थापितस्य* प्रयच्छन्ति। अथ नास्ति शैक्षो वा परं किमहं साधुर्न भवामि *यदेवमेतानि मम दीयन्ते इति कृत्वा नेच्छति ततस्तानि (विगिं*

चंति) परिष्ठापयन्ति। एवं परिष्ठाप्यमानेषु स शैक्षो ब्रूयात्।

एतं पि मा उज्झह देह मज्झं, मज्झव्वगा गेण्हह एक्क दो वा।
अत्तट्ठिए होति कदायि सव्वे, सव्वे विकप्पंत वि सोधएसा॥

एतमपि वस्त्रप्रत्यवतारमकल्पनीयतया प्राप्तमाउज्झह किं तु मह्यं प्रयच्छत मदीयप्रत्यवतारान् चैकं द्वौ वा यूयं गृह्णीत। अथ तेन बहवः प्रत्यवतारा: क्रीतास्ततः को विधिरित्याह यान् प्रत्यवतारान् एकं वा द्वौ त्रीन् वा स दाता आत्मार्थयति स त्रीन् वा कदाचिदात्मार्थं करोति तदा सर्वेऽपि कल्पन्ते एष विशोधिकोटिविषयो विधिरुक्तः। अथाविशोधिकोटिविषयं तमेवाह॥

उग्गमकोडीए वि हु, संछोभं तथव हाति अनिद्दिट्ठे।
इयरम्मि विसंछोभो, जइ सेहो सयं भणइ॥

उद्गमकोटिर्नाम आधाकर्मादयोऽविशोधिकोट्यो दोषास्तेष्वपि यदि निर्दिष्टमिदं साधूनां दास्यामि इदं मम भविष्यतीति निर्विशेषमन्तरेण वस्त्रादि क्रीतं तन्न कल्पते (संछोभंहोइअनि–द्विवृत्ति) अनिर्दिष्टेऽपि यद्येषां दाता ब्रूयात् यैर्वस्त्रैर्यूयं निमन्त्रिता यदि तानि नेच्छथ तत इमानि मत्परिगृहीतानि गृह्णीत यानि युष्माभिः प्रतिषिद्धानि तानि मम भविष्यन्ति एवमसौ संक्षोभं प्रक्षेप कंकृत्वा यदि ददाति तर्हि सर्वाण्यपि कल्पन्ते (इतरम्मिविसंछोभोत्ति) इतरत्राम निर्दिष्टं तथाऽपि संक्षोभो यदि स्यात्ततः कल्पते। संक्षोभः पुनरयं यथाऽसौ गृहस्थशैक्षः स्वयमन्येनानुपदिष्ट आत्मनैवेत्थं भणति।

उक्कोसगा व दुक्खं व, वज्जिया केसित्तो हमि विथेव।
इति संछोभं तेहिं, वदंति निद्दिट्ठोसुं पि॥

यानि वस्त्राणि मया युष्मदर्थं कारितानि उत्कृष्टानि बहुमूल्यानि ततः कथं परित्यजन्ति दुःखं वा महता प्रयासेन वाऽपि तानि अतः क्लेशितःक्लेशं प्रापितोऽहं वृथैवामीभिः युष्माकमनुपकरणात् अतो मदीयानि यूयं गृह्णीथ युष्मदीयानि च मम भवन्तु। इत्येवं तत्र निर्दिष्टेऽपि संयतनिमित्तं निर्दिश्य कृतेष्वपि संक्षोभं कल्पनीयताकरणं वदन्ति तीर्थंकरादयः। संयतनिर्दिष्टान्यपि कल्पन्त इति भावः। अत्र मतान्तरमुपन्यस्य दूषयन्नाह।

जा संजयणिद्दिट्ठा, संछोभम्मि वि न कप्पते केई।
तं तु ण जुज्जइ जम्हा, दिज्जति सेहस्स अविसुद्धं॥

या अविशोधिकोटिः संयताय निर्दिष्टा साधून्निर्दिश्य कृता सा संक्षोभे कृतेऽपि न कल्पते एवं केचिदाचार्या ब्रूवते तत्तु न युज्यते यस्मात् शैक्षितस्यानुपस्थापितस्याविशुद्धनेषणीयं वस्त्रपात्रादि दीयते इत्यत्रैव चतुर्थो द्वेशकं वक्ष्यति तत्र शैक्षयोग्यमवि शुद्धं साधुभिः परिगृहीतं भवति अतो ज्ञायते अविशोधिकोटिदौषैर्दुष्टमपि वस्त्रादिकं संक्षोभेकृते कल्पते। किंचान्यत्॥

जह अप्पट्ठा कम्मं, परिभुत्तं कप्पते य इतरेसिं।
एमेव य अम्हाणं, परिगहियं वि कप्पते इयरेसिं॥

यथा गृहस्थेनात्मनोऽर्थायाधाकर्म कृतं तदितरेषां संयतानां परिभोक्तुं कल्पते। इत्यमुनैव ज्ञापकेनास्माकमपि स शैक्षो गृहस्थ एवेति कृत्वा तेन परिगृहीतं ममेदमिति बुद्ध्या स्वीकृतमितरदपि संयतनिर्दिष्टमपि कल्पते। इतरेषां साधूनां ये पुनराचार्या अविशोधिकोटिनिर्दिष्टं संक्षोभेऽपि कृते नेच्छन्ति। ते इदं कारणमुपवर्णयन्ति॥

सहस्साणुवादिणा तेण, णिद्दिट्ठे केइ ण इच्छंति।
अणिदिट्ठे पुण छोभं, वदंति परिफग्गु मंतव्वं॥

यथा सहस्रानुपाति विषं भक्ष्यमाणं सहस्रान्तरितमपि पुरुषं मारयति। एवमाधाकर्माद्युपभुज्यमानं सहस्रान्तरितमपि साधुं संयमजीविताद् व्यपनयति न सहस्रानुपातिविषजातेन केचिदाचार्याः साधुनिमित्तं निर्दिष्टे संक्षोभेऽपि कृते नेच्छन्ति अनिर्दिष्टे पुनः क्षोभं कृत्वा ददानस्य कल्पनीयं वदन्ति। एतदेव परिफल्गु निस्सारं मन्तव्यम्। कथमित्याह॥

एवं पि सप्पइरमीसेण, परिसरग तेण फग्गुमिच्छामो।
दुविधं पि ततो गहियं, कप्पविरतणावउण्णातं॥

यत्ते आचार्यदेशीया इति निर्दिष्टे संक्षोभे कृते कल्पनीयं ब्रुवते एतदपि स्वगृहपतिमिश्रेण सदृशं तेन कारणेन परिफल्गु वयमिच्छामः तदीयानि प्रायेण ह्येतदपि स्वगृहपतिमिति कृत्वा अकल्पनीयं प्राप्नोति तच्चानिष्टं ततो द्विविधमपि निर्दिष्टानिर्दिष्टभेदाद् द्विप्रकारमपि तेन शैक्षेण संक्षोभकारणेनागृहीतमात्मीकृतं सत्कल्पते। तथा वाऽत्र रत्नोच्चयो मेरुमहीधरो ज्ञातदृष्टान्तः। तथा हि तत्र प्रक्षिप्तं तृणादिकमपि सुवर्णी भवति एवं शैक्षगृहस्थेन परिगृहीतं सर्वमपि कल्पनीयं भवति। अपि च॥

जहट्ठकडं चरिमाणं, पडिसिद्धं तं हि मज्झिमो गहियं।
पडिवण्णपंचजामे, कप्पति तेसिं तहण्णेसिं॥

यथा चरमतीर्थवर्तिनां पञ्चयामिकानां साधूनामर्थाय किमपि वस्त्रं वा पात्रं वा कृतं तच्च तैः प्रतिषिद्धं न गृहीतं मध्यमैश्च पार्श्वनाथ–तीर्थवर्तिभिश्चतुर्यामिकैस्तत्प्रतिगृहीतं ते चतुर्यामिकाः पञ्चयामधर्म-प्रतिपन्नास्ततस्तद्वस्त्रादिकं तेषामन्येषामपि पञ्चयामिकानां परिभोक्तुं कल्पते। एवमत्रापि साधूनामर्थाय कृतं तैः प्रतिषिद्धं शैक्षगृहस्थेनात्मार्थ-कृतं सद्दीयमानं कल्पते।

अथ संयोगद्वारं व्याख्याति॥

उग्गमविसोधिकोटी, दुगादिसंजोगओ बहू वत्थं।
पत्तगमीसिगासु य, णिद्दिट्ठा तह अणिद्दिट्ठा॥

इहोद्गमकोटिभेदा आधाकर्ममिश्रजातादयस्तेषां द्विकादिसंयोगतो द्विकत्रिकचतुष्कादिसंयोगनिष्पन्ना बहवोऽत्र भङ्गका भवन्ति। ते च सुगमतया स्वयमभ्यूह्य मन्तव्याः। एवं विशोधिकोटिभेदानामपि क्रीतकृतादीनां द्विकादिसंयोगनिष्पन्नाः तथैव बहवो भङ्गकाः। एते च प्रत्येकं भङ्गका उच्यन्ते। एतेषामेवोद्गमकोटिभेदानां च परस्परं द्विकादिसंयोगनिष्पन्ना एवमेव बहवो भङ्गका भवन्ति। ते च मिश्रभङ्गका भण्यन्ते। सर्वेऽप्येते द्विधा निर्दिष्टा अनिर्दिष्टाश्च एतासु प्रत्येकमिश्रासु भङ्गपङ्क्तिषु कल्प्याकल्प्यविभागाः प्रागुक्तप्रकारेणावसातव्याः। अथ वक्ष्य माणार्थसंबन्धनाय प्रस्तावनां करोति।

वत्था व पत्ता परे वि हुज्जा, दव्वंति कुज्जा णिवणे सयंपि।
णिज्जुत्तभंडं व रयोहरादि, कोई किणे कुत्तियआवणातो॥

वस्त्राणि वा पात्राणि वा प्रायो गृहेऽपि भवेयुः। यत्तु निर्युक्तभाण्डं पात्रनिर्योगोपकरणं वाशब्दस्य व्यवहितसंबन्धतया रजोहरणादिकं वा यदन्यत्र दुर्ल्लभमुपकरणं तत् कश्चित्पुनः बुद्धिमान् साधूनां समीपे दृष्ट्वा तदनुसारेण स्वयमपि कुर्यात्। कश्चित्तदेव कुत्रिकापणात् क्रीणीयात्। बृ०३उ०। (कुत्रिकापणवक्रव्यता स्वस्थान एव) अथ सप्त नियोगान् व्याचष्टे।

तिण्ण य अप्पट्ठेती, चत्तारि य पूयणारिहे देति।
दिंतस्स य घित्तव्वो, सेहस्स विगिंचणं वावि॥

सप्त निर्योगान् गृहीत्वा प्रव्रजतोऽयं गुणस्तेषां सप्तानां मध्यात् त्रीन् स शैक्ष आत्मनोऽर्थति गृह्णातीत्यर्थः। चतुरश्च निर्योगान् पूजनार्हाणमाचार्योपाध्यायप्रवर्तिसंघाटकसाधूनां प्रयच्छति तस्य चैवं प्रयच्छतो यद्यसौ निर्योगः शुद्धस्ततो ग्रहीतव्यः। अथाशुद्धस्ततः शैक्षस्य दातव्यः। शैक्षस्याभावे 'विर्गिचनं' परिष्ठापनं तस्य क्रियते। एवं तस्य त्रीन्निर्योगान् गृहीत्वा प्रव्रजितस्य यद्भवति तद्दर्शयति।

सज्झाए पलिमंथो, पडिलेह, णिया य सो हवइ खिन्नो।
एगा व देति तहि तं, दोन्नि य से अप्पणो हुंति॥

तस्य त्रीन्निर्योगानुभयकालं प्रत्युपेक्षमाणस्य महान् स्वाध्यायविपरिमन्थो भवति। तया च महत्या प्रत्युपेक्षतया स खिन्नः परिश्रान्तो भवति तत एवं निर्विण्णः सन् एकं निर्योगं सूरीणां ददाति प्रदते च तस्मिन् तस्य द्वौ निर्योगावात्मनः सत्तायां भवतः। एवमप्यसौ द्वाभ्यां निर्योगाभ्यां नैष साधुभ्योऽन्यादृश इव दृश्यते ततः।

निग्गमणे बहुभंडो, कत्तो कतरो व वाणिओ एइ।
बितियं पि देति तहिं, सा भंते दुल्लहं होज्जा॥

मासकल्पे पूर्णे ततः क्षेत्रान्निर्गच्छतां मध्ये स एचैको बहुभण्डो-बहूपकरणो दृश्यते। ततो लोकस्तमुद्दिश्य ब्रूते। अहो कुतः कतरो वा अयं वणिज एवमुपस्करसंभारितः समुपैति। एवमुपहासमाकर्ण्य स द्वितीयमपि निर्योगं गुरूणां ददाति। तत्र गुरुभिर्वक्तव्यं हेभदन्त ! आर्य मा ते तव भूयो दुर्लभमुपकरणं भवेत् अत आत्मपार्श्वे एव तावद्धारय। स प्राह।

भारेण खंधे च कडी य वाहा, पीलिज्जएणिस्ससए उ उड्डं।
तेणे य ओधीणमभिद्दवेज्जा, ण एत्तिया इति ममोवभोगं॥

मम मार्गं गच्छातो द्वयोर्महान् भारो भवति तेन स्कन्धः कटी वाहावगाढतरं पीड्यन्ते। ततश्चेत्थमूर्द्धनिश्वासेनाकुलो भवामीत्यर्थः। स्तेनाश्च मामुपकरणमलिनं दृष्ट्वा उपधिकारणादभि द्रवेयुः। एतावन्ति च वस्त्रपात्राणि ममोपभोगं नायान्ति। यच्च भगवद्भिरुक्तं मा भूयो दुर्लभं भवेत्। तत्रोच्यते॥

जं होहि ति बहुगाणं, इम्म धम्मचरणं पवत्ताण।
तं होहिति अम्हं पि, तुम्हेहिं समं पवण्णाण॥

यदि युष्माकं बहूनामस्मिन् भागवते शासने धर्मचरणं प्रवत्रानामुपकरणं भविष्यति तदस्माकमपि युष्माभिः समं हिण्डमानानां चारित्रं प्रपन्नानां भविष्यति एष तत्प्रथमतया प्रव्रजतो विधिरुक्तः। अथ पूर्वोपस्थितविषयं तमेवाह॥

सड्ढो वीरेणसड्ढए, अब्भुट्ठाणं पुणो अजाणंते।
कतकारितं व कीतं, जाणंते अधापरिग्गहिते॥

यश्चारित्रं परित्यज्य गृहवासमुपगतस्तस्य कथं पुनरपि प्रव्रज्यायामभ्युत्थानसिद्धिः संजाता अत्र वीरणसड्ढकदृष्टान्तो वक्तव्यः। एवं तस्य पुनरभ्युत्थानं भवति स च द्विधा जानानोऽजानानश्चयः कल्प्याकल्प्यविभागं जानाति स जानानस्तद्विपरीतोऽजानानः। अगीतार्थ इत्यर्थः (अजानत्ति) भूयः प्रव्रज्यायामभ्युत्तिष्ठमाने कृतं वा कारितं वा क्रीतं वा दानं वा तं पूर्वोक्तविधिना कल्प ते वस्तु जानानस्य यथा परिगृहीतानि शुद्धान्येव ग्रहीतुं कल्पन्ते न कृतकारितादीनि। अथ वीरणसड्ढकदृष्टान्तमाह॥

जह सो वीरणसढओ, णइतीररुहो जलस्स वेगेण।
थोवं थोवं खणता, पक्खित्तो भूमिणिहितमूलो वि॥

यथा स कश्चिद्विवक्षितो वीरणसढको वीरणानां तृणविशेषाणां स्तम्बो नद्यास्तीरे रोहति स्म जायते स्मेति नदीतीररुहो नद्याः प्रत्यागन्नतया जलस्य वेगेन स्तोकं स्तोकं खनता भूमिकानिहितमूलजालोऽप्यचिरादेव श्रोतसि प्रक्षिप्तः। ततश्च श्रोतसा प्रवाहयित्वा समुद्रं प्रापित इति भावः। एष दृष्टान्तः। अयमर्थोपनयः।

ठियमसियं दिट्ठेहिं, साधूहिं जहरिहं समणुणातो।
उण्हे उण्हतरेहि य, चालिज्जति वद्धमूलो वि॥

कश्चित्पश्चात् कृतः सिद्धपुत्रकादिवेषेण साधूनामागमनभूते कश्चिद् ग्रामे गृहवासमध्यास्य तिष्ठन् यत्तत्र मासकल्पं वर्षाकल्पं वा स्थिताः साधवो ये (वगमित्ति) तत्र गच्छन्त आगता वा द्वित्राणि दिनानि तिष्ठन्ति तैर्दृष्टैरदृष्टैश्च साधुभिर्यथार्हं ग्रथायोग्यं समनुज्ञातः सन्तुष्णौरुष्णतरैश्च वचनैरुदकवेगस्थानीयैरनेकशः प्रेर्यमाणः कलत्रादिसपरिग्रहः विस्तरेण बद्धमूलोऽपि चाल्यते। गृहवासं त्याजयित्वा संयमरूपे श्रोतसि प्रक्षिप्य गच्छरन्ताकरं प्राप्यत इति भावः।

अथ जानानाजानानविषयविधिविभागमाह।

कप्पाकप्पविसेसो, अणधीए जो उ संजमा चलिओ।
पुव्वगमो तस्स भवे, जाणंते जाइ सुट्ठाइ॥

वस्त्रपात्रादिविषये कल्प्याकल्प्यविशेषे अनधीते सति यैः संयमाच्चलितस्तस्य पूर्वः प्राक्तनो नाम प्रकारो भवति यथा शैक्षगृह - स्थस्योक्तः। यस्तु कल्प्याकल्प्यविधिं जानाति तस्य सर्वाणि शुद्धान्येव ग्रहीतुं कल्पन्ते न क्रीतादिदोषदुष्टानि। बृ०३उ०।

(११) निर्ग्रन्थ्याः प्रव्रज्यां गृह्णन्त्या उपधिः।

(सूत्रम्) निग्गंथीएणं तप्पढमयाए संपव्वयमाणी कप्पइ रयहरणो गोच्छपडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए कप्पइ से अहापरिग्गहिएसिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्ता।

अस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं निर्ग्रन्थ्याश्चतुर्भिः प्रत्यवतारैः सहितायाः प्रव्रजितुं कल्पते इति विशेषः। अथ भाष्यम्।

एसेव गमो णियमा, णिग्गंथीणं पि होइ नायव्वो।
जाणतीणं कप्पति, घेत्तुं जे आधापरिग्गहितो॥

एष एव गमो निर्ग्रन्थीनामपि भवति ज्ञातव्यः। सा च पूर्वोपस्थिता स्यादित्यत्र सूत्रे तासां कल्प्याकल्प्यविभागं जानतीनां यानि यथापरिग्रहीतानि कल्पन्ते ग्रहीतुम् (जे) इति वाक्यालङ्कारे।

समणीणं नाणत्तं, णिज्जोगा तासिं अप्पणो जोग्गा।
चउरो पंच व सेसा, आयरियादीण अट्ठाए॥

निर्ग्रन्थेभ्यः सकाशात् श्रमणीनामिदं नानात्वं विशेष उच्यते तासां प्रव्रजन्तीनामात्मनो योग्याश्चत्वारो निर्योगा भवन्ति शेषास्तु आचार्यादीनामर्थाय चत्वारो वा पञ्च वा। तत्र यदा चत्वारस्तदा एकमाचार्यस्य द्वितीयं प्रवर्तिन्यास्तृतीयं गणावच्छेदिन्याः चतुर्थं संघाटकसाध्व्याः प्रयच्छति। यदा पञ्च तदा तथैवाचार्यादीनां पञ्चमः पुनरुपाध्यायस्य योग्य इति चूर्णिकाभि प्रायः। वृहद्भाष्यकारः पुनराह। चत्तारि अप्पणो से, चउरे पंच बहव सेसगा हुंति। आयरिओवज्झाए, पवत्तिणीमिसे य संघाडे॥ पंचेए अभिओगा अभिओगा वज्जहुंति चत्तारित्ति''।

(१३) रात्रौ विकाले चोपधिग्रहणम्।

(सूत्रम्) नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वियाले वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंवलं वा पायपुंछणं वा पडिग्गहित्तए

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह।

जह सेज्जाणाहारो, वत्थादेसे व सापयपसंगादि।
यं दिट्ठवत्थग्गहणं, कुज्जा उ निसि अतो सुत्तं॥

यथा शय्यां वसतिं, कृत्वा रात्रौ ग्रहीतुं कल्पते एवमेव वस्त्रादिकमपि कल्पयिष्यते इत्यतिप्रसङ्गाद्दिवादृष्टस्य वस्त्रस्य निशिरात्रौ ग्रहणं मा कुर्यादित्यत इदं सूत्रमारभ्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा वस्त्रं वा प्रतिग्रहं वा कम्बलं वा पादप्रोञ्छनं वा प्रतिग्रहीतुमिति सूत्राक्षरगमनिका।

अथ भाष्यविस्तरः

रत्तो वत्थग्गहणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया।
आणाइणो य दोसा, आवज्जणसंकणा जाव॥

रात्रौ वस्त्रग्रहणे मासा उद्घाताः प्रायश्चित्तम् आज्ञादयश्च दोषाः। तथा रात्रौ भक्तग्रहणेऽपि तथैव वक्तव्याः।

विइयं विहीविवित्ता, पडिसत्थाई समित्त रयणए।
ते य पराचिय सत्था, वलिहिं तु भए व एक्को वा॥

द्वितीयपदमत्रोच्यत (विहि त्ति) अध्वनि विविक्ता मुषिताः सन्तः प्रसिसार्थादिकं समेत्य प्राप्य रजन्यामपि वस्त्रप्रतिग्रहादिकं गृह्णन्ति तत्रापि कथमित्याह तावुभावपि सार्थौ प्रागेव प्रातरेवानुद्गतसूर्ये चलिष्यतः एको वा अन्यतरः सार्थप्रतिसार्थयोर्मध्ये चलिष्यतीति मत्वा रात्रावपि ग्रहणं कुर्वन्ति। अत एवोत्सर्गपदे अध्वा गन्तुमेव न कल्प्यते यत्रैते दोषा उत्पद्यन्ते तथा चाह।

उदरेसु भिक्खु अद्धाण, पव्वज्जणं तु दप्पेण।
लहुगा पुण मुच्छपदे, जं वा आवज्जई जत्थ॥

व्याख्यातार्था द्वितीयपदमाह।

नाणट्ठदंसणट्ठा, चरित्तट्ठा एवमाइ गंतव्वं।
उवगरणपुव्वपडिले–हिएण सत्थेण गंतव्वं॥

(इयमपि गतार्था।)

सत्थे वि वत्थमाणे, असंजए संजए य तदुभए।
मग्गंते जयणाणं, छिन्नं पि हु कप्पई घेत्तुं॥

ज्ञानाद्यर्थमध्वानं प्रतिपन्नानामपान्तराले चतुर्विधाः स्तेना भवेयः एके असंयतप्रान्ताः १ अन्ये संयतप्रान्ताः २ अपरे तदुभयप्रान्ताः ३ अन्ये तदुभयभद्रकाः ४ तत्रासंयतप्रान्तैः स्तेनैः सार्थे विद्यमाने मनुष्यगणे त एव साधूनां पार्श्वाद्वस्त्राणि मार्गयन्ति यतनया दानं कर्त्तव्यं प्रत्यर्प्यमाणं च छिन्नमपि तदेव वस्त्रं ग्रहीतुं कल्पते नान्यदिति संग्रहगाथासमासार्थः। अथैनामेव विवरीषुराह।

संजयभद्दा गिहिभद्दगा य, पंतोभये उभयभद्दा य।
तेणा होंति चउद्धा, विगिंचणा सुन्नजईणं॥

एके स्तेनाः संयतभद्रकाः परं गृहस्थप्रान्ताः एके गृहस्थभद्रकाः परं संयतप्रान्ताः अन्ये उभयेषामपि प्रान्ताः अपरे उभयेषामपि भद्रकाः एवं स्तेनाश्चतुर्विधा भवन्ति। अच च द्वितीयतृतीययोर्द्वयोर्भङ्गयोर्यतीनां विवेचनं वस्त्रेभ्यः पृथक्करणं भवति। अथ यत्र संयता न विविक्तास्तत्र विधिमाह।

जइ दें ति जाइयाजा–इया य न वि दें ति लहूगगुरुगा य।
सागरदाणं गमणं, गहणं तस्सेव वत्थस्स॥

साधवो यद्ययाचिताः सन्तो वस्त्राणि गृहिणां प्रयच्छन्ति तदा चतुर्लघु। अथ याचिताः सन्तो न प्रयच्छन्ति तदा चत्वा रो गुरवः। अतः सागारिकं प्रातिहारिकं भणित्वा प्रयच्छन्ति यथा भवद्भिः प्रत्यर्पणीयमिदमस्माकं यद्यर्वाग् वर्तमाना गृहं वा गता अन्यद्वस्त्रं लभध्वे गमनं नाम येषां गृहस्थानां तद्वस्त्रं प्रदत्तं ते यद्यनेन पथा गच्छन्ति ततः साधुभिरपि तेनैव गन्तव्यं यद्यन्येन व्रजन्ति ततश्चतुर्लघु यदा ते अध्वनो निर्गता भवन्ति तदा छिन्नस्यापि तस्यैव वस्त्रस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं नान्यस्य। ततः पुनर्वस्त्रं कीदृशं दातव्यमित्याह।

दंडपरिहारवज्जं, चोलपट्टपडलपत्तबंधवज्जं च।
परिजुण्णाणं दाणं, उड्डाहपओसपरिहरणा।

महती जीर्णकम्बलिका दण्डपरिहार उच्यते तद्वर्जं चोलपट्टपड–लकपात्रबन्धवर्ज्यानि यानि शेषाणि परिजीर्णवस्त्राणि तेषा मुड्डाहप्रद्वे–षपरिहरणार्थं दानं कर्त्तव्यम्। उड्डाहो नाम अहो अमीषामनुकम्पा ये विविक्तामप्यस्माकं चीवराणि न प्रयच्छन्ति प्रद्वेषो नामाप्रीतिकं तद्वशात्तेषां तापनादयो दोषास्तत्परिहरणार्थं दातव्यम् (छिन्नंपित्ति) योऽयमपि शब्दस्तत्सूचितमेवमपरमाह।

धोवस्स व रत्तस्स व, गहणं गिण्हम्मि चउलहुगा।
तं चेव घेत्तुं धोउ, परिभुंजे जुण्णमुब्भेज्जा॥

यदि तैर्गृहस्थैस्तद्वस्त्रं धौतं वा रक्तं वा तथाऽपि तस्यैव ग्रहणं कर्त्तव्यम्। अथ साधुप्रायोग्यं न कृतमिति मत्वा न गृह्णन्ति अन्यस्य वा ग्रहणं कुर्वन्ति तदा चतुर्लघुकः। अतस्तदेव वस्त्रं गृहीत्वा क्षारादिना धावित्वा साधुप्रयोग्यं कृत्वा परिभुञ्जते। अथातीवजीर्णं तत उज्झेयुः परिष्ठापयेयुरित्यर्थः। गतः प्रथमो भङ्ग। अथ गृहस्थभद्रकाः संयतप्रान्ता इति द्वितीयो भङ्गो भाव्यते तत्र भूयश्चतुर्भङ्गी संयत्यो विविक्ता न संयताः १ संयताविविक्ता न संयत्यः २ संयत्यो विविक्ताः संयता अपि विविक्ता ३ न संयत्यो नापि संयता विविक्ताः ४ अत्र विधिमभिधित्सुराह।

सट्ठाणे अणुकंपा, संजयपडिहारिए निसिद्धो य।
असई अतदुभये वा, जयणा पडिसद्धमाईसु॥

यत्र संयता गृहिणश्च विविक्ता न संयत्यस्तत्र संयतीनां सुस्थानं साधवः तत्रानुकम्पां कर्त्तव्याः। साधूनां वस्त्रं दातव्यमित्यर्थः। साधुभिरपि तत्प्रातिहारिकं ग्राह्यम्। यत्र संयत्यो गृहस्थाश्च मुषिता न संयतास्तत्र साधूनां संयत्यः स्वस्थानं तासां वस्त्रदानेनानुकम्पां कर्तव्याः तच्च निसृष्टं निजं दातव्यं न प्रातिहारिकं ग्राह्यम् (असईत्ति) अथात्मनोऽप्यधिक–मुपकरणं नास्ति ततः प्रातिहारिकमपि दातव्यं न प्रातिहारिकं ग्राह्यम् (असईत्ति) अथात्मनोऽप्यधिकमुपकरणं नास्ति ततः प्रातिहारिकमपि दातव्यं तदुभयं साधु साध्वीवर्गः तस्य विविक्तस्य वस्त्राभावे प्रतिसार्थादिषु यतना वस्त्रान्वेषणविषया कर्त्तव्येति संग्रहगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति।

न विवित्ता जत्थ मुणी, समणी य गिहा जत्थ अदुहा।
सट्ठाणणुकंप तहिं, समणुत्तियरा स वि तहेव॥

यत्र मुनयो न विविक्ताः श्रमण्यश्च गृहिणश्च यत्र (उच्छूढत्ति) मुषिताः तत्र स्वस्थाने संयतीवर्गे अनुकम्पा कर्त्तव्या। ताश्च संयत्यो द्विविधाः संविग्ना असंविग्नाश्च यदि वस्त्राणि सन्ति ततः सर्वासामपि दातव्यानि अथ न सन्ति तावन्ति वस्त्राणि ततः संविग्नसंयतीनां देयानि ता अपि द्विविधाः समनोज्ञाः सांभोगिन्य इतराश्चासांभोगिन्यः। यदि पूर्यन्ते ततो द्वयोरपि वर्गयोस्तथैव दातव्यानि। अथ न पूर्यन्ते ततः स्वस्थाने दातव्यानि समनोज्ञानमित्यर्थः अपिशब्दात् या धृतिदुर्बलास्ताः संविग्नाः असंविग्ना वा स्थविरास्तरुण्यो वा भवन्तु नियमात्तासां दातव्यम्। यत्र साधवो विविक्तास्तत्रेयं यतना॥

लिंगट्ठमिक्खसीए, गिण्हंति पडिहारियमेएसु।
अमणुन्नियरगिहिंसुं, जं लद्धं तंनिभं दें ति॥

लिङ्गार्थं तावदवश्यं रजोहरणमुखवस्त्रिके गृहीतव्ये भिक्षार्थं तु पात्रकबन्धपटलकादि शीतत्राणार्थं तु प्रावरणादि एतत्सर्वमपि प्रातिहारिकमेतेषु गृह्णन्ति। तद्यथा अमनोज्ञा असांभोगिका इतरे पार्श्वस्थादयो गृहिणः प्रतीताः। अथैषु न प्राप्यते ततः संयतीनामपि हस्तात्प्रातिहारिकं ग्राह्यं तत्तचोलपट्टकादिकं यदा लब्धं भवति तदा तन्निभं तत्सदृशं प्रातिहारिकं ददति प्रत्यर्पयन्ति। इह द्वितीयभङ्गे व्याख्यायमाने प्रथमतृतीयचतुर्थभङ्गा अपि लेशतः स्पृष्टा अवगन्तव्याः। गतो द्वितीयभङ्गः। अथ तृतीयं भङ्गं व्या-ख्यानयति॥

उच्छूढं वि तदुभये, सपक्खपरपक्खतदुभयं होइ।
अहवा वि समणसमणी, समणुन्नियरेसु एमेव॥

तदुभये वा उच्छूढे मुषिते सत्येवमेव यतना ज्ञातव्या। अथ तदुभयमिति किमुच्यते इत्याह। स्वपक्षाः संयताः परपक्षा गृहस्थाः। अथवा तदुभयं नाम श्रमणाः श्रमण्यश्च। यद्वा तदुभयं समनोज्ञा अमनोज्ञाश्च। यदि वा संविग्ना असंविग्नाश्चेति तदुभयम् तत्र मुषिते सति विधिमाह॥

अमणुन्नेतरगिहिसं-जईसु असइ पडिसत्थपल्लीसु।
तिण्हट्ठाए गहणं, पडिहारिय एतरे चेव॥

अमनोज्ञा असांभोगिका इतरे पार्श्वस्थादयो गृहिणः संयत्यश्च प्रतीताः एतेषु विविक्ततया वस्त्राभावे प्रतिसार्थे वा पल्ल्यां वा पञ्चकपरिहाण्या मार्गेवितव्यम्। संयतीनां तु नास्ति पञ्चकपरि-हाणिर्यदेव लभ्यते तदेव गृहीत्वा गात्राच्छादनं ताभिः कर्त्तव्यं तच्च वस्त्रं त्रयाणां लिङ्गभिक्षाशीतत्राणानामर्थाय प्रातिहारिकं वा इतरद्वा निसृष्टं ग्राह्यम्।

एवं तु दिया गहण, अहवा रत्तिं मिलेज्ज पडिसत्थो।
गीएसु रत्तिगहणं, मीसेसु इमा तहिं जयणा॥

एवं दिवा ग्रहणमभिहितम्। अथवा रात्रौ प्रतिसार्थो मिलेत् तत्र च यदि सर्वेऽपि गीतार्थास्ततो रात्रावेव गृह्णन्ति अगीतार्थमिश्रास्तत-स्तेषु मिश्रेष्वियं यतना। तामेवाह।

वत्थेण व पाएण व, णिमंतए व अत्थमिए।
आइचे उदिते य, गहणं गीयत्थसंविग्ने॥

प्रतिसार्थे कश्चिद्दानश्राद्धादिरनुव्रते वा अस्तमिते वा सूर्ये वस्त्रेण वा पात्रेण वा निमन्त्रयेत् तत्र यदि सार्थो रात्रावेव चलितुकामस्तदा गीतार्था गुरूनालोचयन्ति उदिते सूर्ये वस्त्रग्रहणं कृत्वा समायाताः एवं गीतार्थाः संविग्ना गृह्णन्ति। अथ प्रतिसार्थे पल्ल्यां वा लभ्यते न च सार्थादिकं दृश्यते ततः किमित्याह।

खंडे पत्ते तह द-ब्भचीवरे तह य हत्थपिहणं तु।
अद्धाण विवित्ताणं, आगाढं सेसणागाढं॥

चर्मखण्डानि संयतीनां परिधानाय दातव्यानि। तदभावे शाकादिपत्राणि तदप्राप्तौ दर्भचीवरं घनं ग्रन्थयित्वा समर्प्ययन्ति सर्वथा परिधानाभावे हस्तेनापि गृह्यदेशस्य पिधानं कर्त्तव्यम्। एवमध्वनि विविक्तानामागाढं कारणं मन्तव्यं शेषं तु सर्वमप्युपक-रणाभावे अनागाढम्।

असंजई य निग्गया खुड्ड-गाइ पेसंति चउसु वग्गेसु।
अप्पाहिं निवगारं, साहुं च वियारमाइगयं॥

प्रतिसार्थपल्ल्यादौ वस्त्राणामभावेऽप्राप्तौ अध्वनो निर्गता उद्यानं प्राप्ताः सन्तः क्षुल्लिकादिविवक्षितं ग्रामं नगरं वा चत्वारः संयत-संयतीश्रावकश्राविकालक्षणा ये वर्गास्तेषु तेषां समीपे प्रेषयन्ति। यद्वा सांभोगिकाः संयता इत्येको वर्गः अन्यसांभोगिका इति द्वितीयः। सांभोगिकाः संयत्य इति तृतीयः अन्यसांभोगिका इति चतुर्थः। एतेषां वा समीपे प्रेषयन्ति। अथ नास्ति क्षुल्लकः क्षुल्लिका वा ततो यस्ततो ग्रामान्नगराद्वा अगारो गृहस्थः समायातः यो वा साधुर्विचारभूम्यादावा-गतस्तम्(अप्पाहिंति) संदिशन्ति यथा साधुसाध्वीप्रभृतीनां सांभोगिकसंयतादीनां वा भवता कथयितव्यं साधवः साध्व्यश्च बहिरुद्याने स्थिताः सन्ति ते चाध्वनि स्तेनैर्विविक्ताः अतस्तेषां योग्यानि चीवराणि प्रेषणीयानि। अत्र चायं विधिः संयतैः संयतानां वस्त्राणि दातव्यानि। संयतीनां तु संयतीभिः। अथ तत्र संयताः संयत्यो वा न सन्ति तदा श्रावकाः श्राविका वा प्रयच्छन्ति। यत्र तु संयत्यः संयत्रा वा संयतीनां प्रयच्छन्ति तत्र विधिमाह।

खुड्डी थेराणप्पे, आलोगितरी ठवितु पविसंति।
ते वि य घेत्तुमइगया, समणुन्न जढे जयंते व॥

क्षुल्लिका उद्यानं गत्वा स्थविरसाधूनां वस्त्राण्यर्प्ययन्ति। अथ न सन्ति क्षुल्लिकाः तत इतरा मध्यमास्तरुण्यो वा गत्वा स्थविरा-णामालोके स्थापयित्वा भूयोऽपि ग्रामं प्रविशन्ति। यत्र संयतेन संयतीनां दातव्यं तत्र क्षुल्लकाः स्थविरसाध्वीनामपर्यन्ति क्षुल्लकाभावे शेषा अपि साधवः स्थविराया आलोके स्थापयन्ति तेऽपि च संयताः संयतीदत्तानि वस्त्राणि गृहीत्वा प्रावृत्य नगरमनिर्गताः प्रविष्टाः सन्त आत्मयोग्यमुपकरणमुत्पाद्य संयतीसत्कवस्त्राणि प्रत्यर्पयन्ति एवं मनोज्ञेषु विधिरुक्तः (समणुन्नजढे जयंते वत्ति) यत्र ते मनोज्ञाः सांभोगिका न भवन्ति तत्रैवं वक्ष्यमाणनीत्या यतन्ते॥

अद्धाण निग्गयाई, संविग्गा सणिणदुविह अण्णाणी।
संजई एसणमाई, असंविग्गा दोण्णि वा वग्गा॥

अध्वनो निर्गता यत्र ग्रामादौ प्राप्तास्तत्रेमे भवेयुः संविग्नविहारिणः अनेनेहान्यसांभोगिका गृह्यन्ते। संज्ञिनःश्रमणास्ते द्विविधाः संविग्नभाविता असंविग्नभाविताश्च। संविग्नोऽपि द्विधा आभिग्रहि-कमिथ्यादृष्टिभेदात्(संजई इत्ति) अमनोज्ञसंयताः संविग्नानामपि द्वौ वर्गौ तद्यथा साधुवर्गः साध्वीवर्गश्च। अत्र विधिरुच्यते (एसण-माईत्ति) संज्ञिप्रभृतिषु शुद्ध वस्त्रमप्राप्नुवन्तः पञ्चकएरिहाणिक्रमे-णैषणादोषेषु यतन्त इति।

अथैतदेव सविस्तरं व्याख्यानयति॥

संविग्गतरं भादिय, सन्नीमिच्छा उ गाढणागाढे।
असंविग्गमिगाहरणं, पाउंजेसुं विसं हीला॥

संज्ञिनो द्विविधाः संविग्नभाविता इतरभाविताश्च मिथ्यादृष्टयोऽपि द्विविधाः आगाढा अनागाढाश्च । तत्र प्रथमं संविग्नभावितेषु संज्ञिषु तदप्राप्तावनागाढमिथ्यादृष्टिषु शुद्धं वस्त्रमन्वेषणीयम्। असंविग्नभावितेषु अगाढमिथ्यादृष्टिषु च न गृह्णन्ति कुत इत्याह। असंविग्नभाविता मृगाहरणं लुब्धदृष्टान्तं चेतसि प्रणिधानसाधूनामकल्प्यं प्रयच्छन्ति ये त्वाभिग्रहिका मिथ्यादृष्टयस्ते साधुदर्शनप्रद्वेषतो विषं प्रयुञ्जीरन् हीलां वा कुर्युः अहो अदत्तादाना अमी वराका इत्थं विनश्यन्ति इत्यादि । अथ नागाढमिथ्यादृष्टिषु शुद्धं न प्राप्यते ततः किं विधेयमित्याह ॥

असंविग्गभाविएसुं, अगाढेसुं जयंति पणगादी।
उवएसो संघाडग, पुव्वगहियं च अवसेसं ॥

असंविग्नभावितेषु उद्गमादिदोषशुद्धं यद्वस्त्रं तद्ग्रहीतव्यं तदभावे अगाढमिथ्यादृष्टिष्वपि यद्यात्मप्रवचनोपघातो न स्यात् अथ तेष्वपि शुद्धं न प्राप्यते ततः संविग्नभावितादिष्वेव पञ्चकादिपरिहाण्या तावत् यतन्ते यावद्विन्नमासं प्राप्ता भवन्ति ततोऽन्यसांभोगिकैर्येषु कुरुते तेषु दत्तोपदेशेषु याचितव्यं तथाऽप्यप्राप्तौ तेषां संघाटकेन एवमप्यलाभे तेषामेव यत् पूर्वं गृहीतं वस्त्रादि तद् ग्रहीतव्यम्। अमुमेवार्थं विधिशेषज्ञापनाय पुनरप्याह ॥

उवएसो संघाडग, तेसिं अट्ठाए पुव्वगहियं तु।
अभिनव पुराणसुद्धं, उत्तरमूले सयं वावि ॥

अन्यसांभोगिकोपदेशेन प्रथमतः पर्यटन्ति ततस्तदीयसंघाटकेन तथाऽप्यप्राप्ता तेषामर्थाऽप्यसांभोगिकाः । पर्यटन्ति तथाऽपि यदि न लभ्यते ततस्तेषामेव यत्पूर्वगृहीतवस्त्रं तद्ग्रहीतव्यं तच्चाभिनवं वा स्यात् पुराणं वा। पूर्वमभिनवं पश्चात्पुराणमपि गृह्यते तदपि यद्युत्तरगुणमूलगुण-शुद्धं तत उपादेयं नान्यथा अथापि न प्राप्यते ततो यः कृतकरणो भवति तं तच्च एवमेव वक्तव्यम् एतच्च यथाऽवसरमुत्तरत्र भावयिष्यते तदेवमन्य-सांभोगिकानामपि पूर्वं गृहीतं यदा न प्राप्यते तदा मासलघुकादारभ्य तावद्यतन्ते यावच्चतुर्लघुकं प्राप्ताः ततः किं कर्तव्यमित्याह–

उवएसो संघाडग,पुव्व गहियं न नियमाईणं।
अभिनव पुराणसुद्धं–पुव्वमभुत्तं पि परिभुत्तं।

चतुर्लघुप्राप्तमित्यववासिपार्श्वस्थादीनामुपदेशेन वस्त्रमुत्पाद-यन्ति तदभावे तेषामेव संघाटकेन तथाऽप्यलाभे यत्तेषां पूर्वगृहीतं मूलोत्तरगुणशुद्धम् अभिनवमपरिभुक्तं तत्प्रथमतो ग्रहीतव्यं ततः परिभुक्तमपि तदप्राप्तौ पुराणमपि मूलोत्तरगुणशुद्धमपरिभुक्तं ततः परिभुक्तमपि ग्राह्यम् । इह निशीथचूर्ण्यभिप्रायेणास्यैव कल्पस्य विशेषचूर्ण्यभिप्रायेण वाऽन्यसां भोगिकात् यावन्नास्ति पञ्चकपरि-हाणिःकिं तु तः ऊर्ध्वं पञ्चकहान्या यतित्वा यदा मासलघुप्राप्तास्तदा पार्श्वस्थादीनामुपदेशानिमान् गृह्णन्तीति द्वयोश्चूर्ण्योरभिप्रायः परमेतच्चूर्णिकृता भिन्नमासप्राप्तान्यसांभोगिकानां चतुर्लघु प्राप्तास्तत्पा-र्श्वस्थादीनामुपदेशादिना वस्त्रग्रहणे यतन्ते इति प्रतिपादितमतस्तदनु-रोधेनास्माभिरपि तथैव व्याख्यातमित्यवगन्तव्यम्।

यथोक्तमप्यर्थं विशेषज्ञापनार्थं भूयोऽप्याह।

उत्तरमूले सुद्धे, नवे पुराणे चउक्कभयणेवं।
परिकम्मण परिभोगे, न होंति दोसा अभिनवम्मि ॥

मूलगुणशुद्धमप्युत्तरगुणशुद्धम् १ न मूलगुणशुद्धमुत्तरगुणशुद्धमपि २ मूलगुणशुद्धं नोत्तरगुणशुद्धम् ३ न मूलगुणशुद्धं नोत्तरगुणशुद्धं ४ एतेषु चतुर्षु भङ्गेषु प्रत्येकं नवपुराणपदविषयं यद्भङ्गचतुष्कं तस्य भजना सा च यथाक्रममेवं कर्त्तव्या यत्तावन्मूलोत्तरगुणविशुद्धं तत्प्रथमतो नवमपरिभुक्तं ग्रहीतव्यं तदभावे नवं परिभुक्तं तदभावे पुराणं परिभुक्तमेवं द्वितीयतृतीयचतुर्थेष्वपि भङ्गेषु चत्वारश्चत्वारो विकल्पाः यथाक्रमं चैते आसेवितव्याः कुत इत्याह । परिकर्म्मणा दोषा अविधिसीवनादयः परिदोषाश्च मलिनीभूतप्रक्षितसुगन्धिगन्धभावितत्वादयोऽभिनवे अपरिभुक्ते च वस्त्रे न भवन्ति । अथ पार्श्वस्थादिष्वपि न प्राप्यते ततोऽमनोज्ञसंयतीनामप्युपदेशेन गृह्णन्ति एषां वा अर्थाय ताः पर्यटन्ति पूर्वगृहीतं वा तासां ग्रहीतव्यं तदभावे असंविग्नसंयतीनामप्युपदेशादिना गृह्णन्ति।

अथैवमपि न प्राप्यते ततः किं कर्त्तव्यमित्याह।

असई य लिंगकरणं, पन्नवणट्ठा सयं च गहणट्ठा।
आगाढे कारणम्मि, जहेव हंसाइणो गहणं ॥

एवमप्यसत्यलभ्यमाने शाक्यादिवेषेण तदीयोपासकाना यतिभ्यो वस्त्रदापनाय प्रज्ञापनार्थं स्वयं वा ग्रहणं वस्त्रस्योत्पादनं कर्त्तव्यं किं बहुना ईदृशे आगाढे कारणे यथैव हंसतिलादेरननुज्ञापितस्यापि ग्रहणं दृष्टं तथैव वस्त्रस्यापि तथाऽप्यलाभे सूत्रं मार्गयित्वा अन्यैर्वाययति तदभावे स्वयमेवाल्पसागारिके वयति अथ सूत्रं न लभ्यते। ततः को विधिरित्याह ।

सेडयरुए पिंजियए पेलुग्गहणे य लहुगदप्पेणं।
भवकाले हि विसिट्ठा, करेण अकमेण ते चेव ॥

सेडुगो नाम कर्प्पासः स एव लोडितः सन् वीजरहितो रुतं तदेव रुतं पिञ्जनिकया ताडितं पिञ्जितं तदेव पूणिकया वल्तिं पेलुरिति भण्यते। एतेषां यदि दर्प्पेण ग्रहणं करोति तदा चत्वारो लघुकाः तपः कालाभ्यां विशिष्टास्तत्र सेडुके उभयगुरुकारुते तपोगुरुकाः पिञ्जिते कालगुरुकाः पेलुके द्वाभ्यां लघुकाः कारणे पुनः प्रथमपेलुकं पश्चात् पिञ्जितं ततो रुतं ततः सेडुकमपि गृह्णाति। अथाक्रमेण गृह्णाति ततस्त एव चत्वारो लघुकाः सेडुकं च त्रिवर्षातीतं विश्वयोनिकमवग्रहीतुं कल्पते न सचित्तम्।

कडयोगि एक्कओ वा, असईए नालबद्धसहिओ वा।
मिच्छाए उवगरणं, उभओ पक्खस्स पाउग्गं ॥

कृतयोगी नाम यो गृहवासे कर्त्तनं कृतवान् स गच्छस्य वस्त्राभावे एकको वा नालबद्धसंयतीसहितो वा विजने भूभागे कर्त्तनं वयनं च कृत्वा उभयपक्षस्य संयतसंयतीलक्षणस्य प्रायोग्यमुपकरणं परिभुञ्जते ततः किमित्याह ।

अगीयत्थेसु गिंचे, जहलाभं सुलभबहिखेत्ते।
सुपच्छित्तं उ वहंति, अलाभे तं चेव धारेंति ॥

यद्यगीतार्थास्ततस्तेषु सुलभोपधिक्षेतेषु गताःसन्तो यथालाभं यद्वस्त्रं लभन्ते तत्सदृशमपरं व्यूतवस्त्रं विवेचयन्ति परिष्ठापयन्ती-त्यर्थः । अगीतार्थप्रत्ययनिमित्तं च यथालघुप्रायश्चित्तं वहन्ति। अथापरं न लभ्यते ततस्तदेव स्वयं व्यूतं वस्त्रं धारयन्ति। अथ सर्वेऽपि गीतार्थास्ततोऽपरस्य लाभे प्राकृतं परित्यजन्ति वा न वा न कोऽपि नियमः । अथ ''ठाणनिग्गयाई'' इत्यत्र योऽयमादिशब्दस्तस्य फलमुपदर्शयन्नाह–

एमेव य वसिमम्मि वि, झामियओ महियवूढपरिजुन्ने।
पुव्वुट्ठिए व सत्थे, सम इत्थं भए वावि ॥

न केवलमध्वनि विविक्तानामेष विधिः किन्तु ग्रामादौ वसिमे पथि वसतां यत्रोपधिरग्निकायेन ध्मापितो दग्धः अवमौदर्ये वा विक्रीतः चौरैर्वा हृतः वर्षासु वा पानीयपूरेण वा व्यूढपरिजीर्णो वा पुराणतया दुर्बलीभूतो विवक्षितं कार्यं कर्तुप्रसमर्थः तत्राप्येवमेवानन्तरोक्तो विधिर्मन्तव्यः। अत्र चापरो विशेष उपदर्श्यते यत्र ग्रामे साधवः स्थिताः सन्ति तत्र सार्थः कश्चित्प्राप्तः स च आदित्योदयात्पूर्वमेवोत्थितः उच्चलितुमारब्धो वर्त्तते यत्र च गतस्य तस्य रविरुदेष्यति तत्र गच्छता अपान्तराले च स्तेनादिभयं स्तेनैर्वा साधवो दग्धा–द्युपधयस्तं सार्थं नक्तं रात्रौ प्राप्ताः प्राग्ये प्रभाते अनुद्गते एव सूर्ये अग्रतश्चलितुकामाः अतो रात्रावेव यथोक्तनीत्या वस्त्रादि गृह्णीयुः।

(सूत्रम्) अन्नत्थ एगा य हरिया हडिया एसा वि य परि–भुत्ता वा घट्टा वा मट्टा वा संपधूमिया वा ॥

अस्य संबन्धमाह।

सुत्तेण चेव जोगो, हरियाहडि कप्पए निसि घित्तुं।
हरिऊण य आहडिया, बूढा हरिएसु वा हट्टु।

सूत्रेणैव सूत्रस्य योगः संबन्धोऽत्रास्ति अनन्तरसूत्रे रात्रौ वस्त्रादिकं ग्रहीतुं कल्पते इत्युक्तम्। अत्र तु या व्याहृता हृतिका सा निशि रात्रौ ग्रहीतुं कल्पते इति प्रतिपाद्यते अनेन संबन्धे नायातस्यास्य व्याख्या। न कल्पते रात्रौ वस्त्रं ग्रहीतुमिति प्रतिषेधोऽन्यत्रैकस्या हृताहृतिकाया हरिताहृतिकाया वा तत्र पूर्वं हृतं पश्चादाहृतमानीतं वस्त्रं हृताहृतं तदेव हृताहृतिका स्वार्थे क प्रत्ययः। अनिवर्तन्ते स्वार्थिकप्रत्ययप्रकृतिलिङ्गवचनानीति वचनादत्र रूढितः स्त्रीलिङ्ग–निर्देशः। एवं हरितेषु वनस्पतिषु आहृतं हरिताहृतं वस्त्रं तदेव हरिताहृतिका सोऽपि च परिभुक्ता परिधानादौ व्यापारिता धौता अप्कायेन प्रक्षालिता रक्ता विचित्रवर्णकैरुपरञ्जिता घृष्टा घट्टकादिना घटिता मृष्टा सुकुमारीकृता संप्रधूमिता धूपद्रव्येण समं ततः प्रकर्षेण धूपिता वाशब्दः सर्वोऽपि विकल्पार्थः। एवंविधाऽपिसा स्वीकर्त्तव्या पुनरसाधुप्रायोग्या कृतेति कृत्वा परिहर्तव्येति सूत्रार्थः। अथ भाष्यम्। ''हरिउण य'' इत्यादि पश्चार्द्धं स्तेनैः पूर्वं हृता पश्चाद्वस्त्रमाहृतमानीतं तदेव हृताहृतिकेत्युच्यते। यद्वा हृतेषु प्रक्षिप्ता या सा हरिताहृतिका। सा पुनः कथं भवतीत्याह।

अद्धाणमणद्धाणे, व विवित्ताणं तु होज्ज आहडिया।
अविहिम्मि संति खेमे, विहम्मगच्छे सइ गुणेसु ॥

अध्वनि अनध्वनि वा विविक्तानां हृताहृतिकाः संभवन्ति तत्र (अविहे) अनध्वनि मासकल्पेन विहरन्तो क्षेमं निरुपद्रवमादौ च सति सत्सु विद्यमानेषु ज्ञानादिगुणेषु विहमध्वानं न गच्छेत् न प्रविशेत्। तथा चाह।

उद्धद्धरेसु भिक्खे, अद्धाणपवज्जणं तु दप्पेण।
लहुगा पुण सुद्धपए, जं वा आवज्जई जत्थ ॥
नाणट्ठदंसणट्ठा, चरित्तट्ठा एवमाइ गंतव्वं।
उवगरणपुव्वपडिले–हिएण सत्थेण गंतव्वं ॥

गाथाद्वयमपि प्राग् व्याख्यातम्। तत्राध्वनि प्रविशतां विधिमाह–

अद्धाण पविसमाणा, गुरुं पवादिंति ते गता पुरतो।
अह तत्थ पवादेंति, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥

अध्वानं प्रविशन्तः प्रथममेव गुरुमाचार्यं प्रवादयन्ति गुरुप्रवादमुत्थापयन्तीत्यर्थः। तथा ते अस्माकमाचार्याः पुरतः पूर्वमेवान्येन चार्थेन सह गताः अत एव वयं त्वरामहे कथं नाम तेषां समीपं क्षिप्रमेव प्राप्नुयामः। अथ तत्राध्वनि प्रविशन्त एवं न प्रवादयन्ति ततश्चतुर्मासा गुरुकाः प्रायश्चित्तम्।

गुरुसारक्खणहेउं, तम्हा थेरो उ गणधरो होइ।
विहरइ य गणाहिवई, अद्धाणे होइ भिक्खुस्स।

गणधराकारधारकः क्रियत इत्यर्थः। यस्तु गणाधिपतिः सोऽध्वनि मार्गे स्वयं भिक्षुभावेन सामान्यसाधुवेषेण विरहति कुत इति चेदुच्यते कदाचिदध्वनि साधवः स्तेनकैर्विविक्ताः क्रियेरन् ततस्ते स्तेनकाश्चिन्तयेयुः।

हयनायगा न काहिंति, उत्तरं राउले गणे वावि।
अम्हं आहिवइस्स व, नायगमित्ताइएहिं वा ॥

हतो नायक आचार्यो येषां ते हतनायकास्तथाभूताः सन्तः ते राजकुले वा गणे वा गत्वा न किमिप्युत्तरमुपकरणापहार एवात्मकं करिष्यन्ति अस्वामिकतया निराशीभूतत्वात्। तथाऽस्माकं योऽधिपतिस्तस्य वा तदीया वा ये ज्ञातकाः स्वजना यानि मित्राणि तत्प्रति नाम तेषामन्तिके गतास्तैः पृष्टाः सन्तो न किमप्युत्तरं प्रदास्यन्ति आचार्यस्यैव तदानीमभावेनाप्रगल्भत्वादिति भावः। तस्मादाचार्यमेवोपद्रावयाम इति विचिन्त्य तथैव कुर्युः ततो यथोक्तनीत्या गुरवः प्रवादयितव्याः ततः स्तेनाः चतुर्विधाः।

संजयपंता य तहा, गिहिभद्दा चेव साहुभद्दा य।
तदुभयभद्दा पंता, संजमभद्देसु आहडिया ॥

एके संयतप्रान्ताः गृहस्थभद्रकाः। अन्ये साधूनां भद्रकाः गृहस्थप्रान्ताः। अपरे तदुभयभद्रकाः अपरे तदुभयप्रान्ताः। अत्र ये संयतभद्रकास्तेषु हृताहृतिका भवेत् हृत्वाऽपि तयोर्वस्त्रमर्प्पयेयुरित्यर्थः।

सत्थे विविच्चमाणा, अहिपई भद्दओ व पंतो वा।
दट्ठूण निवारइ, वत्थं गहियं च पेसेइ ॥

सार्थे स्तेनैर्विविच्यमाने मुष्यमाणे साधवोऽपि विविच्येरन् तत्र योऽधिपतिः चौरसेनाधिपतिः स साधूनां भद्रको वा स्यात् प्रान्तो वा यदि भद्रकस्तदा साधून् विविच्यमानान् दृष्ट्वा निवारणं करोति मैतेषां वस्त्राण्यपहरतेति। अथासौ तत्रासंनिहितस्तैर्गृहीतं तदुपकरणं भूयोऽपि प्रेषयति। अमून्येव गाथावयवान्याचष्टे।

छिन्नदसं सिव्वणीहिं व,नाउ य सेउ वा लभित्ताणं।
ते चेव तक्करे भ–द्दओ अंतिए पेसेइ ॥

चौरसेनाधिपतिः साधूनामुपधिं नीतमुपढौकितं दृष्ट्वा छिन्नदशाकत्वेन साधुसंबन्धिनीभिः सीवनीभिः सीवितत्वेन वा साधूनां सत्कमेतद्वस्त्रमिति ज्ञात्वा तान् तस्करानुलभते आः पापा विनष्टाः स्थ यूयं देयं महात्मनां वस्त्राण्यपहृतानीत्यादि एवमुपालभ्य भूयोऽपि तस्योपधेः साधूनामर्पणार्थं तानेव तस्करान् साधूनामन्तिके प्रेषयति॥

वीसत्थमप्पिणंते, भएण छड्डित्तु केइ वच्चंति।
विहिया पासवण भूमि, उवस्सए दिट्ठम्मि जा जयणा ॥

स्तेना द्विधा आक्रान्तिका अनाक्रान्तिकास्ते कुतोऽपि न विभ्यति अत एव ते चौरसेनापतिना वस्त्रप्रत्यर्पणार्थं प्रेषिताः सन्तो

विस्वस्ताः निर्भयादिव त एव आनीयवस्त्रं संयतानामर्प्पयन्ति अनाक्रान्तिकास्तु भयेन मा केनाप्यारक्षिकादिना ग्रहीष्यामह इति परिभाव्य रात्रावानीयोपाश्रयाद्बहिः प्रश्रवणभूमावुपाश्रयमध्ये वस्त्रं प्रक्षिप्य व्रजन्ति पलायन्ते तस्मिन् वस्त्रे दृष्टे सति या वक्ष्यमाणा यतना सा करणीया। तामेवाह ॥

गीयमगीया अविगीय–पव्वयट्ठा करिंति वीसं तु।
जइ संजइ वि तहियं, विगिंचिया तासिवि तहेव ॥

यदि सर्वेऽपि गीतार्थास्ततस्तदुपकरणं मौलोपकरणेन सह मील–यित्वा यथास्वरुचि परिभुञ्जते। अथ ते केचिद् गीतार्थाः केचिच्च–गीतार्था अविगीतप्रत्ययार्थं हृताहृतिकोपकरणं विष्वक् पृथक् स्थापयन्ति ते ह्यगीतार्था एवं चिन्तयेयुः एष स्तेनप्रत्यर्प्पि त उपधिस्तावदुपहतेन च सह मिश्रिततरोऽप्युपहत एव अतस्तेषां प्रत्ययार्थं हृताहृतिकोपकरणं विष्वक् पृथक् स्थापयन्ति। अथ संयत्योऽपि विविक्तास्ततस्ता-सामप्युपकरणं तथैव पृथक् कुर्वन्ति।

जो वि य तेसिं उवही, अहागओ प्पो य सपरिकम्मो य।
तं पि य करिंति वीसुं, मा अविगीयाइभंडे वा ॥

योऽपि च तेषां साधूनां यथाकृतोऽल्पपरिकर्मा सपरिकर्म्मा चोप–धिस्तमप्यविष्वक् परस्परं कुर्वन्तोऽविगीतार्थाः परस्परं भण्डयेयुः कलहं कुर्युः यथा किमिति त्वदीयैर्मदीयोपकृतोपधिः सपरिकर्मणा सह मीलित इत्यादि एवं तावद्भक्ते सेनापतौ विधिरभिहितः। अथ प्राप्तविषयं विधिमाह ॥

पंतोवहिम्मि लुद्धो, आयरिए इच्छए विवाएउं।
कयकरणे करण वा, आगाढे किसो सयं भणइ ॥

प्रान्तश्चौरसेनापतिरुपधावुपकरणे लुब्धः सन् आचार्यान् व्या-पादयितुमिच्छति ततो यस्तत्र कृतकरणो धर्मकथालब्धिमान् धनुर्वेदकृताभ्यासो वा स तत्र कारणं करोति धर्म्मकथादिना स्व–भुजबलप्रकटनेन वा तं शमयतीत्यर्थः। अथवा ईदृशे आगाढे कार्ये यः कृशो दुर्बलदेहः स स्वयमात्मनैवात्मानमाचार्यं भणति।

एतामेव गाथां भावयति।

को दुब्भं आयरिओ, एवं परिपुच्छियम्मि अद्धाणे।
को कहयइ आयरियं, लग्गइ गुरुए व चउमासे ॥

प्रान्तः सेनापतिं पृच्छति को युष्माकं मध्ये आचार्यः एवमध्वनि गच्छतां परिपृष्टे सति यःकश्चिदाचार्यं निर्धार्य कथयति स लगति प्राप्नोति चतुरो मासान् गुरुकानिति। किं तर्हि वक्तव्यमित्याह

सत्थेणन्नेण गया, एहिंति य मग्गतो सुगुरु अज्जं।
सत्थिल्लं एव पुच्छह, हयं पलायं वसाहिंति ॥

येऽस्माकं गुरवस्ते अन्येन सार्थेन सह प्रागेव गता मार्गतो वा पृष्ठतस्ते एष्यन्ति। यदि वा न प्रतीतिर्भवतां ततः सार्थिकान् पृच्छत। यद्वा हतोऽसावस्माकमाचार्यः पलायितो वा वयं सांप्रतमनाथा वर्तामहे एवं कथयन्ति ॥

जो वा दुव्वलदेहो, जुंगियदेहो असच्चवक्को वा।
गुरु गिल एएसि अहं, न य मि पगब्भो गुरुगणेहिं ॥

अथवा यो दुर्बलदेहो विकलाङ्गः यो वा असत्यवाक्योऽसमञ्जस–प्रलापी स सेनापतिं प्रति वक्ति अहं किलैतेषां सर्वेषामपि गुरुः परं न च नैवाऽस्म्यहं प्रगल्भः संपूर्णो गुरुगुणैः शरीरसंपदादिभिर्वा

हीणो वा अभिभूतो, खंजकुणीकाणआ व हं जातो।
मा मे वहेह सीसे, जं इच्छह तं कुणह मज्झं ॥

व्याधिना रोगेणाहमतीवाऽभिभूतोऽस्मि खञ्जः पादविकलः कुणिः पाणिविकलः काणश्चक्षुर्विकल ईदृशो वा अहं जातोऽस्मि अतोमा मदीयान् शिष्यान् वधध्वं यन्मारणादिकं कर्तुमिच्छध्वं तन्ममैव कुरुध्वं यतः ॥

इहरा वि मरिउमिच्छं, संति सिस्साण देह मा हणह।
मम मारगत्तूणमिणं, जं किरइ मुंचह सुते मे ॥

इतरथाऽपि तावदहं मर्तुमिच्छामि ततो मदीयशिष्याणां शान्तिं प्रयच्छत मा पुनर्यथास्वरुचि हन्त विनाशयत यतो यदिदं मम मारणं भवद्भिः क्रियते तन्मृतस्यैव मारकत्वं भवति अतो मुञ्चत मदीयान् शिष्यान् सुतान्। अपि च ॥

एयं पि अंव जाणह, रिसिवज्झा जह न सुंदरा होइ।
इह य परत्थ य लोए, मुंचंतणुलोमिया एवं ॥

भो भद्रा एतदपि तावद्यूयं जानीथा यथा ऋषिहत्या विधीयमाना इह च परत्र च लोके सुन्दरा न भवति एवमनुलोमिताः प्रज्ञापिताः सन्तस्ते तस्कराः साधून् मुञ्चन्ति। अथैवमपि न मुञ्चेरन् ततः किं कर्तव्यमित्याह ॥

धम्मकही चूण्णेहि व, मंतनिमित्तेण वा वि विज्जाए।
नित्थारेईं वलेण व, अप्पाणं चेव गच्छं च ॥

यो धर्मकथालब्धिमान् धर्मकथया तं सेनापतिमुपशमयति चूर्णैर्वा मन्त्रेण वा विद्यया वा निमित्तेन वा पातयेत् यो वा धनुर्वेदादौ कृतपरिश्रमः स निजबलेन सेनापतिं निर्जित्यात्मानं गच्छं च निस्तारयति। अथ एषामेकमपि न विद्यते ततः ॥

वीसज्जिया व तेणं, पंथफिडिए व हिंडमाणे वा।
गंतूण तेण पल्लिं, धम्मकहाईहिं पन्नवणे ॥

तेन सेनापतिनोपधिमपहृत्य साधवो विसर्जिता मुक्ता इत्यर्थः। मुक्ताश्च ये तदुपधिं न गवेषयन्ति ततश्चतुर्लघुकाः ततः स्तेनपल्लीं गत्वा गवेषयितव्यउपधिः गच्छता वाऽपान्तराले यदि कोऽपि प्रश्नयेत् कुतो भवन्त इहागता ततो वक्तव्यमेते मार्गात्परिभ्रष्टा हिण्डमाना वा विहारक्रमेण विहरन्त एव वयमिह संप्राप्ताः ततः स्तेन पल्लीं गत्वा धर्मकथादिभिः सेनापतेः प्रज्ञापना कर्त्तव्या।

अथेदमेव भावयति ॥

भद्दमभद्दं अहिवं, नाउं भद्दे वसति तं पल्लिं।
फिडिया मुत्तिय पंथं, भणंति पुट्ठा कहा पल्लिं ॥

स्तेनपल्लीं गच्छद्भिः प्रथमत एवैतद् ज्ञातव्यं किमत्र सेनापतिर्भद्रकोऽ-भद्रको वा यदि भद्रकस्ततस्तां पल्लीं प्रविशन्ति। अथाभद्रकस्ततो मा प्रान्तापतापद्रावणादीनि कार्षीदिति कृत्वा न तत्र गन्तव्यम्। अथ गच्छन्ति ततश्चत्वारो गुरवः। अथ कोऽप्युपशमनायोत्सहते ततस्तं गृहीत्वा गन्तव्यं गच्छन्तश्च कुतः किमर्थं भवन्त इहायाताः अत्र कुत्र वा व्रजिष्यथ इति पृष्टा भणन्ति पन्थस्फिटिताः परिभ्रष्टा वयमिह पल्ल्यामाराहान्वेषणं कुर्म्महे।

मुसियत्ति पुच्छमाणं, को पुच्छइ किं च अम्ह मुसियव्वं।
अहिवं भणंति पुव्विं, अणिच्छे सन्नायगादीहिं ॥

किं मुषिता यूयमिति पृच्छन्तं ब्रुवते। को नामास्मान् पृच्छति किं वा निर्ग्रन्थानामस्माकं मुषितव्यं ततश्च स्तेनपल्लीं गत्वा यस्तत्र सेनाया अधिपतिस्तं पूर्वं प्रथमतो भणन्ति। धर्म्मकथादिना प्रज्ञापयन्ति प्रज्ञापितश्च यदा व्यापृतस्ततो वक्तव्यमस्माकमुपधिं प्रयच्छेत्यादिना सेनापतिस्पर्शमयितव्यः।

उपसंतो सेणावइ, उवगरणं देइ वा दवावेइ।
गीयत्थे हि य गहणं, तं वीसुं व सीकरणं ॥

उपशान्तः सन् सेनापतिः स्वयमेवोपकरणं ददाति स्वमानुषैर्वा दापयति ते सर्वे गीतार्थास्तत उपकरणं मिश्रयन्ति वा न वा। अथा–गीतार्थमिश्रास्ततो गीतार्थस्तस्योपकरणस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम्। यच्च संयतासंयतानामुपकरणं तद्विष्वक् विधेयम्।

अथ सेनापतिर्ब्रूयात्।

सत्थे बहू विवित्तो, गिण्हह जं जत्थ पेच्छह अडंता।
इहइं पडिपल्लीसु य,रुसेह विइओ जओ हं सो ॥

सार्थोऽस्मन्मानुषैर्बहु प्रभूतो विविक्तः अतो न ज्ञायते कस्य कुत्र वस्त्रादिकमस्तीति ततो गृह्णीत यूयं स्वकीयमुपकरणं यद्यत्र पर्यटन्तः पश्यथ ततः साधुभिर्वक्तव्यं यद्येवं ततः स्वमानुषमस्माभिः सह वर्जयत ततस्तदीयमानुषेण सह गच्छन्ति। स च ब्रूते इहास्यामेव पल्ल्यां प्रतिपल्लीषु वा यद्यद्भवतामुपकरणं तत्तद् (रुसेहत्ति) देशीयवचनत्वात् गवेषत अहं भवतां द्वितीयोऽस्मीति ततो यद्यत्र पश्यन्ति तत्तन्मानुषादिभिः प्रज्ञाप्य गृह्णन्ति।

अह ताव न जातो जह, एएसिं पि पावइ न हत्थं।
तह कुणिमो मोसमेणं, छुभंति पावा अह इमेसु ॥

अस्माकं तावदयं मोषो मुषितवस्त्रादिलक्षणो न जातः अतो यथैतेषामपि हस्तं न प्राप्नोति तथा वयमेनं मोषं कुर्महे इति विचिन्त्य केचित्पापाः स्तेनकास्तथेति चिन्ताऽनन्तरमेतेषु प्रक्षिपन्ति। तद्यथा।

पुढवीआउक्काए, अवडवणस्सइतसेसु साहरइ।
सुत्तत्थजाणएणं, अप्पाबहुयं तु नायव्वं ॥

पृथिवीकाये वा अप्काये वा अगडे वा गर्तायामित्यर्थः। वनस्पतिषु वा त्रसेषु वा संहरन्ति निक्षिपन्तीति यावत्। गाथायामेक वचननिर्देशः प्राकृतत्वात् एतेषु निक्षिप्तममीषां ग्रहीतुं न कल्पते इति बुद्ध्या। अत्र च सूत्रार्थः येन गीतार्थेन पृथिव्यादिनिक्षिप्ते तत्रोपकरणे स्वल्पतरमेवाधिकरणमगृह्यमाणेषु बहुतरमसंयतपरिभोगाप्कायप्रक्षालनादिक्रमेणाल्पबहुत्वं ज्ञातव्यं ज्ञात्वा च ग्रहीतव्यं तद्वस्त्रम्। अथ न गृह्णाति ततश्चतुर्लघुका अनवस्था चैवं भवति। भूयोऽपि हृत्वा ते वा अन्ये वा एवमेव पृथिव्यादिषु निक्षिपन्तीति भावः। अथ ''सावि य परिभुत्ता वा'' इत्यादिसूत्रावयवं विवृणोति।

हरियाहरिया सुविहिय, पंचवन्ना वि कप्पई घेत्तुं।
परिभुत्तमपरिभुत्ता, अप्पाबहुगं वियाणित्ता ॥

हे सुविहित! हृताहृतिका यद्यपि स्तेनकैः पञ्चवर्णा कृता तथापि ग्रहीतुं कल्पते तथा परिभुक्ता अपरिभुक्ता वा उपलक्षणत्वाद्धौता घृष्टा मृष्टा संप्रमिता वा भवतु परं तथाऽप्यल्पबहुत्वं विज्ञाय स्वीकर्त्तव्यैव न परिहर्त्तव्या।

आधत्ते विक्कीए, परिभुत्ते तस्स चेव गहणं तु।
अन्नस्स गिण्हणंत–स्स चेव जयणाए हिंडंति ॥

स्तेनकैस्तद्वस्त्रमाधत्तं ग्रहणके मुक्तं भवेत् विक्रीतं वा परिभुक्तं वा ततस्ते ब्रूयुः वयमन्यद्वस्त्रं प्रयच्छाम इति ततो वक्तव्यं तदेवास्माकं प्रयच्छत नान्येन प्रयोजनमिति भणित्वा तदेव ग्रहीतव्यं यदि न लभते ततोऽनवस्याप्रसङ्गनिवारणार्थमन्यस्यापि ग्रहणं कुर्वन्ति तत्र यदि संस्तरति ततः परिष्ठापयितव्यम् असंस्तरे तु परिभोक्तव्यम्। तथा तस्यैव सेनापतेर्मानुषैः सह वस्त्रान्वेषणाय यतनया हिण्डन्ते पर्यटन्ति। इदमेव भावयति ॥

अन्नं च देइ उवहिं, सा वि य नातो तहेव अन्नातो।
सुद्धस्स होइ गहणं, असुद्धि घेत्तुं परिट्ठवणा।

अथासौ सेनापतिरन्यमन्यसाधुसंबन्धिनमुपधिं ददाति ततः स उपधिर्ज्ञातो वा स्यात् संविग्नासंविग्नसंबन्धितया उपलक्षितः अज्ञातो वा तद्विपरीतः तत्र यः शुद्धो विधिपरिकर्म्मितो यथोक्तप्रमाणोपेतश्च स संविग्नसंबन्धी तं गृहीत्वा तेषामेव संविग्नानामर्प्पयन्ति। अथ ते देशान्तरं गतास्ततो यदि संस्तरन्ति ततः परिष्ठापयन्ति। अथ न संस्तरन्ति ततः परिभुञ्जते ।यः पुनरशुद्ध एतद्विपरीतः सोऽसंविग्नानां संबन्धी तमप्यनवस्थाऽधिकरणपरिहरणार्थं गृहीत्वा पश्चात्परिष्ठापयन्ति। इदमेव व्याचष्टे।

तं सिव्वणीहि नाउं, पमाणहीणाहियं विरंगं वा।
इतरोवहिं पि गिण्हइ, मा अहिगरणं पसंगो वा ॥

तदुपकरणमविधिसीवनिकाभिः सीवितं प्रमाणतश्च हीनाधिकं विरङ्गं विचित्रवर्णकरक्तमेवंविधं दृष्ट्वा ज्ञातव्यं यथैष इतरेषामसंविग्नानामुपधिस्तमपि ज्ञात्वा गृह्णात्येव कुत इत्याह मा तस्मिन्नगृह्यमाणे अधिकरणे असंयतपरिभोगादिना प्रसङ्गो वा भूयोऽप्युपकरणहरणलक्षणो भवत्विति कृत्वा।

अंतस्स व पल्लीए,जयणा गमणं तु गहण तह चेव।
गामाणुगामियम्मि य, गहिए गरणे य तं भणियं।

अथान्यस्य सेनापतेः पल्ल्या तस्योपकरणस्यार्द्धं नीतं भवेत् ततस्तत्रापि यतनया गमनं ग्रहणं तथैवानुशिष्टिर्धर्मकथादिना विधेयम्। एवमध्वनि विविक्तानां विधिरुक्तः। ग्रामानुग्रामिकेऽपि विहारे मासकल्पं विधिं कुर्वन्तो यदा विविक्ता भवन्ति तदागृहीते स्वहस्तचटिते (गहणेत्ति) गृह्यमाणे चोपकरणे उपधिपृथक्करणादि धर्मकथादिकं च यत् पूर्वं भणितं तदेवात्रापि द्रष्टव्यम्। इदमेव व्याचिख्यासुराह।

तत्थेव आणावेइ, तं तु पेसेइ वा जहिं भट्ठो।
सत्थेण कप्पियारं, त देइ जो णं तहिं नेइ।

यद्युपकरणमन्यस्यां पल्ल्यां नीतं तदा यदि मूलपल्लीपतिर्भद्रकस्तत उपकरणं तत्रैवात्मनो मूले तत्पल्लीवास्तव्यमानुषैरानाययति। अथवा तमात्मीयं मनुष्यं तत्र प्रेषयति यत्रासावन्यस्य सेनापतेः पल्ल्यामुपधिर्वर्तते। अथासौ न समर्थः स्वसमीपे आनाययितुं ततः सार्थेन सह तस्यां पल्ल्यां गन्तव्यम्। अथ सार्थो न प्राप्यते ततो मूलपतेर्मानुषो मार्गयितव्यः स च कल्पितारं मार्गदर्शयितारं स्वमनुष्यं ददाति यस्तत्र पल्ल्यां साधूनां नयति ॥

अणुसिट्ठाई तत्थ वि,काउ सपल्लि इतरीसुं वा।
घेत्तुं सत्थेण व यं, उवयंति अह भद्दए जयणा ॥

तत्रापि पल्ल्यामनुशिष्टिकर्मकथादिप्रायोग्यं कृत्वा गृहीत्वा च स्वकीयमुपकरणं जातं यदि ततः सार्थो न लभ्यते ततस्तेनैव मनुष्येण सह स्वपल्ल्यामागच्छन्ति मूलपल्ल्यामित्यर्थः। तत्र चागत्य सार्थेन सह जनमदमुपयान्ति। अथ तस्याः पल्ल्याः सकाशादितरासां जनपदप्रत्यन्तपल्लीनां सार्थो यदि लभ्यते ततो मुचोपकरणं नीतं भवेत् ततस्तदर्थं तत्र गत्वा तच्च गृहीत्वा ततः

सार्थेन सार्द्धं जनपदमुपयान्ति। अथैष भद्रकस्ततोऽन्यपल्लीपतौ यतना भणिता ॥

फड्डगप इए पंते, भणंति सेणावई तेहिं।
एते उत्तरमाडं–बियाइ जा पच्छिमा राया ॥

इह मूलपल्लीं मुक्त्वा या अन्याः पल्ल्यस्तासामधिपतयो मूलं–पल्लीपतिवशवर्तिनः स्पर्द्धकपतय उच्यन्ते तेषामेकतरेण साधवो विविक्ताः स च प्रकृत्यैव प्रान्तस्ततस्तस्मिन् प्रान्ते बहुशोऽपि मार्गिते उपकरणमप्रयच्छति मूलसेनापतिं भणन्ति धर्मकथादिना प्रज्ञापयन्ति स च प्रज्ञापितः सन्न दापयति। अथ सोऽपि प्रान्तस्ततो यः कोऽपि माडम्बिकश्छिन्नमडम्बाधिपतिः स प्रज्ञाप्यते तत उत्तरोत्तरं तावन्नेतव्यं यावदपश्चिमः सर्वान्तिमो राजा तमपि प्रज्ञाप्योपकरणं गृहीतव्यमिति भावः। अथ प्रमादाद्युपगतो न मार्गयति न वा धौतरक्ताधिकमसंयत-प्रायोग्यमिति कृत्वा च गृह्णाति ततश्चतुर्लघवः।

वसिमे वि विवित्ताणं, एमेव य वीसुकरणमादी य।
वोसिरणे चउलघुगा, जं अहिगरणं वहाणा य ॥

न केवलमध्वनि विविक्तानां किं तु वसिमेऽपि जनपदे विविक्तानाम्–पकरणविष्वक्करणादीनि कार्याण्येवमेव मन्तव्यानि यस्तु स्वोपकरणं व्युत्सृजति को नामात्मानमायासयिष्यतीति कृत्वा न गवेषयतीति भावस्तस्य चत्वारो लघवः यच्चाधिकरणमप्कायप्रक्षालनादि याचते तेनोपकरणेन विना सूत्रार्थयोः संयमयोगानां चापरिहाणिस्तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तं यत एवमतः सर्वप्रयत्नेन गवेषणीयम्। बृ० १ उ०।

(१४) भिक्षणाय गतं भिक्षुमुपनिमन्त्रयेत्।

(सूत्रम्) निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पडियपडियाए अणुपविट्ठं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतिज्जा कप्पइ से सागरकडगहाय आयरियपायमूले वंदित्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुन्नविए ॥

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह।

अविरुद्धे भिक्खगतं, कोइ निमंतेज्ज वत्थईहि।
कारणविरुद्धचारी, विगिंचिते वावि गेण्हेज्जा ॥

अविरुद्धे विरुद्धराज्यरहिते ग्रामादौ विरुद्धराज्यचारी स्तेनादि-भिर्विविक्तो मुषितः सन् वस्त्राणि गृह्णीयात् अतो वस्त्रग्रहणविधिः प्रतिपाद्यते।

अहवा लोइय तेणं, निव सममइक्कम्म पच्छिम भणितं।
दोच्चमणणुन्नवेउं, उत्तरियं वत्थभोगादी ॥

अथवा नृपसमानमतिक्रम्य विरुद्धराज्यसंक्रमणे लौकिकस्तैन्य–मिदमनन्तरसूत्रे भणितम्। अथ द्वितीयं वारमवग्रहमाचार्यसमीपे अननुज्ञाप्य तदा वस्त्रपरिभोगमादिशब्दात् धारणं वा करोति तदा लोकोत्तरिकस्तैन्यं भवतीति प्रतिपाद्यते। एभिः संबन्धैरायातस्यास्य व्याख्या निर्ग्रन्थपूर्वोक्तशब्दार्थं चशब्दोऽर्थान्तरोपन्यासे णमिति वाक्यालङ्कारे गृहस्य पतिः स्वामी गृहपतिस्तस्य कुलं गृहपिण्ड–णतप्रतिज्ञया पिण्ड ओदनादिस्तस्य पातपात्रं प्रविष्टस्तत्प्रतिज्ञया तत्प्रत्ययमनुप्रविष्टः कश्चिदुपासकादिर्वस्त्रेण वा प्रतिग्रहेण वा कम्बलेन वा पादप्रोञ्छनेन वा उपनिमन्त्रयेत् वस्त्रं सौत्रिकमिह गृह्यते प्रतिग्रहः पात्रकं कम्बलमौर्णिककल्प पात्रशब्देन तु पात्रके गरिकाप्रभृतिकः पात्रनिर्योगः प्रोञ्छनशब्देन तु रजोहरणमुच्यते। आह च चूर्णिकृत्। ''पायग्गहणेण पायभंडयं गहियं पुंछणं रयहरणंति'' एतैरुप समीपे आगत्य निमन्त्रयेत् उपनिमन्त्रितस्य च (से) तस्य निर्ग्रन्थस्य साकारकृतमा-चार्यसत्कमेतद्वस्त्रं न मम अतो यस्यैव महतो आत्मनो वा परिभोगिष्यते तस्यैतद्भविष्यतीत्येवं सविकल्पवचनव्ययितं स गृहीत्वा ततः आचार्यपादमूले तद्वस्त्रं स्थापयित्वा यदि तस्यैव साधोः प्रयच्छन्ति तदा द्वितीयमप्यवग्रहम्। एकस्तावद् गृहस्थादवग्रहोऽनुज्ञापितः द्वितीयं पुनराचार्यपादमूलादवग्रहमनुज्ञाप्य धारणापरिभोगरूपं द्विविधपरिहारं तस्य वस्त्रस्य परिहर्तुं धातूनामनेकार्थत्वादाचरितुं कल्पते इति सूत्रसंक्षेपार्थः। बृ० १ उ०। (एतद्विस्तरार्थ एव वस्त्रयाचनविधौ वत्थशब्दे वक्ष्यते) (उपधिविषयोऽवग्रहः उग्गहशब्दे उक्तः)

(१५) भिक्षार्थं गतस्योपकरणपतने विधिमाह॥

(सूत्रम्) निग्गंथस्स णं गाहवतिकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स आहलिहुस्सए उवकरणजाए पविभट्ठे सिया तं च केइ साहम्मिया पासेज्जा कप्पति णं सागरकडं गाहा य जथेव त अण्णमण्णं पासेज्जा तथेकं तमाणावाहे बहु फासुए थंडिले परिट्ठवेयव्वेसिया ॥

निर्ग्रन्थस्य णमिति वाक्यालङ्कारे गृहपतिकुलं (''पिंडवायपडियाए इति'') पिण्डं भक्तं पानं वा पातयिष्यामीति बुद्ध्या यथा सहोष्ठं ''सुत्तं पगडंतु निग्गओ'' आनेष्यामीति बुद्ध्या निर्गत इत्यर्थः। अनुप्रविष्टस्य यथालघुकमेकान्तलघुकं जघन्यं मध्यमं वा इत्यर्थः। उपकरणजातं परिभ्रष्टं पतितं स्तात्तच्च कश्चित्साधर्म्मिकः पश्येत्कल्पते (से) तस्यासागारकृतं नाम यस्यैवेदमुपकरणं तस्यैवेदं देयमिति बुद्ध्या गृहीत्वा यत्रैवान्यमन्यं साधर्म्मिकं पश्येत्तत्रैव एवं वदेत् इदं भो आर्य! किं परिज्ञातं ततस्तस्यैव प्रतिनिर्यातव्यं समर्पणीयं स्यात्किमुक्तं भवति यदि तस्य सत्कं तर्हि तस्मै दीयते। अथ ब्रूयादमुकस्य सत्कं यदा तस्येति स च वदेत् न परिज्ञातं न कोऽपि न जानातीति भावः तर्हि तन्नात्मना परिभुञ्जीत न अन्यस्य दर्शयेत्किंत्वेकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले परिष्ठापयितव्यं स्यात्। ''एवं निग्गंथस्स णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतस्से'' त्याद्यपि सूत्रं भावनीयम्। तथा निर्ग्रन्थस्य णमिति प्राग्वत् ग्रामानुग्रामं ''अदूरइज्जइगामानुगामं दूरइज्जमाणस्सेत्ति'' विहरतोऽन्यतरत् उपकरणजातं परिभ्रष्टं स्यात्तच्च कश्चित्साधर्म्मिकः पश्येत्कल्पते (से) तस्य सागारकृतं गृहीत्वा दूरमप्यध्वानं परिवोढुं ''जत्थे वेत्यादि'' प्राग्वत् एष सूत्रत्रयसंक्षेपार्थः। संप्रति भाष्यकृत् यथालघुस्वकग्रहणं तृतीयसूत्रगतमन्यतरग्रहणं व्याख्यानयति।

दुविहो य अहालहुतो, जहण्णतो मज्झिमो य उवहीओ।
अन्नयरग्गहणेण उ, घेप्पइ तिविहो उ उवहीओ ॥

यथालघु स्वक उपधिर्द्विविधो भवति जघन्यो मध्यमश्च अन्यतरग्रहणेन तु त्रिविधोऽप्युपधिः परिगृह्यते। तदेवं कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता। संप्रति निर्युक्तिविस्तरः।

अंतो परिट्ठवंते, बहिया व वियारमादिसु लहुगो।
अन्नयरं उवगरणं, दिट्ठं संका न घेप्पंति ॥
किं हुज्ज परिट्ठवियं, पम्हुट्ठा वा वितो न गेण्हंति।
किं एयस्सन्नस्स व, संकिज्जइ गेण्हमाणो वि ॥

अन्तर्ग्रामादीनां मध्ये बहिर्विचारभूमौ वा परिष्ठापयति विस्मरति ''पम्हुट्ठंति वा परिट्ठवियंति वा एगट्ठमिति'' वचनात् प्रायश्चित्तं लघुको मासः। कस्मादीदृशं प्रमादं करोतीति हेतोः कः पुनर्दोषो यतो विस्मृतमत आह। अन्यतरत् जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं वा उपकरणं दृष्टं ततो जाता शङ्का ततश्च न केचनापि ग्रहीष्यन्ति। शङ्कामेव स्पष्टतरां भावयति। (किं होज्जेत्यादि) साधवस्तदन्यतरत् उपकरणमन्तर्बहिर्वा दृष्ट्वा शङ्कन्ते किमेतत् परिष्ठापितमुत कस्यापि विस्मृतं भवेत् एवं शङ्कमानास्तदुपकरणं विस्मृतं न गृह्णन्ति यतो गृह्णन्नपि जनैः शङ्क्यते तथाहि तत् पतितं गृह्णन्तं संयतं कोऽपि दृष्ट्वा शङ्केत किमेतस्य अन्यस्य वा। किमुक्तं भवति। किमात्मीयं पतितं गृह्णाति किं वा परकीयं कस्यापि दानार्थमेवं शङ्कासंभवे तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। अथ निःशङ्कितं परेषां स्यात्तदा चतुर्गुरुकम्। एवं शङ्कासंभवतो न गृह्णन्ति तस्मिंश्चागृह्यमाणे इमे दोषाः।

थिग्गल छित्ता पोत्ते, वालगचीराइएहिं अहिगरणं।
बहुदोसतमा कप्पा, परिहाणी जा विणा तं च॥

तत्पतितं यथालघु स्वकरणं गृहस्थैर्दृष्टं ततस्ते तत् गृहीत्वा अन्यस्य च्छिद्रवतो वस्त्रस्य थिग्गलकं कुर्वन्ति तथा प्रक्षाल्य पोतकानि वहिकापट्टिकादिरूपाणि कुर्युर्यदि वा उत्तानशायिनां बालकानां योग्यानि चीवराणि विदधीरन् इत्येवमादिभिः प्रकारैर्यथालघु स्वकस्योपकरण-स्याग्रहणे अधिकरणं यदा तु पतिताः कल्पा न गृह्यन्ते तदा ते बहुदोषतमाः प्रभूततमं तेष्वधिकरणमिति भावः। तच्च उपकरणं याचमानस्य परिहाणिः सूत्रार्थयोः ये च तृण-ग्रहणाग्निसेवनादयो दोषास्तेऽपि प्रसजन्ति।

एते अण्णे य बहू, जम्हा दोसा तहिं पसज्जंति।
आसण्णे अंतो वा, तम्हा उवहिं न वोसिरए॥

एते अनन्तरोदिता अन्ये च यस्माद्बहवो दोषास्तत्र पतिते प्रसजन्ति तस्मात् ग्रामादीनां बहिरासन्ने प्रदेशे अन्तर्वा तमुपधिं व्युत्सृजेन्न विस्मरणतः पातयेत्। अधुना यः शङ्कातः शङ्कमानो वा न गृह्णाति तं प्रत्युपदेशमाह।

निस्संकियं तु नाउं, विच्चुयमेयंति ताहे घेत्तव्वं।
संकादिदोसविजढा, नाउं अप्पंति जस्स तयं॥

यदा एतदुपकरणं कस्यापि विच्युत्तं विस्मरणतः पतितमिति तदा नियमतो ग्रहीतव्यं गृहीत्वा च शङ्कादिदोषरहितानामविषये कस्यापि शङ्का स्यादित्यादिदोषवर्जिता यस्य तदुपकरणं तस्य ज्ञात्वा समर्पयन्ति। एतच्च यद्विषये कर्त्तव्यं तानाह।

समणुण्णे इयराणं, वा संजतीसंजयाणं वा।
इयरे उ अणुवदेसो, गहियं पुण घेप्पए तेहिं॥

समनोज्ञानां सांभोगिकानामितरासामसांभोगिकानां संयतीनां संयतानां वा सत्कमुपकरणं पतितं गृहीत्वा यस्य सत्कं तस्य दातव्यमितरे तु पार्श्वस्थादयस्तेषामनुपदेशस्तेषां सत्कं पतितं गृहीत्वा यस्य सत्कं तस्मै देयमिति नास्माकमुपदेशोऽधिकरणप्रवृत्तेस्तैः पुनः पार्श्वस्थादिभिः संविग्नानां विहारिणामेतदुपकरणमिति ज्ञात्वा यत्पतितं गृहीतं तदानीतं पुनर्गृह्यते।

अत्रैव द्वितीयपदमाह।

विइयपदे न गेण्हेज्जा, विवचियजुगुछिए असंविग्गे।
तुच्छनपओयणं वा, अगण्हता होय पच्छित्ती॥

द्वितीयपदे अपवादपदे न गृह्णीयात् पतितं विवञ्चितं परिष्ठापितमिति कृत्वा जुगुप्सितमशुचिस्थानपतितमिति वा कृत्वा असंविग्नानां वा एतदुपकरणमिति ज्ञात्वा तथा तुच्छं मुखपोत्तिकादि तदपि कुथितत्वादिना कारणेनाप्रयोजनमगृह्णतो भवति प्रायश्चित्तम्। सांप्रतमेनामेव गाथां विवृणोति॥

अंतो विसगलजुण्णं, विवंचियं तं च दट्ठु नो गिण्हे।
असुइट्ठाणे वि चुतं, बहुधा वालादिछन्नं वा॥

अन्तर्ग्रामादीनां मध्ये विशकलं खण्डाखण्डीकृतं जीर्णं विवेचितं परिष्ठापितमिति ज्ञातव्यं यच्च दृष्ट्वा न गृह्णीयात्। तथा अशुचिस्थाने-ऽपि च्युतं बहुधा वा व्यालादिभिश्च प्रवृत्तिभिच्छन्नं न गृह्णीयात्॥

हीणाहियप्पमाणं, चित्तलं विरंगभंगी य।
एएहिं कारणेहि य, नाऊणं तं विवज्जति॥

हीनं चाधिकं च हीनाधिकं तत्प्रमाणं यत्र तत् क्वचिद्धीनं क्वचिदधि-कमित्यर्थः। तच्च सीवनिकया चित्रलं चित्रं सीवनिकाचित्रलं रङ्गेन रागद्रव्येण भङ्गिर्विच्छित्तिर्यत्र तद्विरङ्गभङ्गि तद् दृष्ट्वा एतैः कारणैर-यमसंविग्नानामुपधिरिति ज्ञात्वा विवर्जयन्ति॥

एमेव य वीयपदे, जं तो उवरिट्ठविज्जइ इमेहिं।
तुच्छो अतिजुण्णो वा, सुण्णे वा विविंचेज्जा॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण एभिर्वक्ष्यमाणैर्ग्रामादीनामन्तर्द्वितीय-पदेन परिष्ठापयेत्। पतितं न गृह्णीयात्। कैरित्याह तुच्छो मुख-पोत्तिकापादप्रोञ्छनादिकः कुथितत्वादिना अकिञ्चित्करो यदि वा अतिजीर्णो हस्तेन गृह्यमाणोऽनेकधा विशरारुर्जायते शून्ये वा विविक्ते प्रदेशे पतितो यत्र विस्मरणासंभवः। ततः एतैः कारणैः परिष्ठापित एष उपधिरिति कृत्वा विविच्य न गृह्णीयादिति भावः।

एमेव य बहिया वि, वियारभूमीए होज्ज त घेत्तु।
तस्स वि उ एस गमो, हाइ य णेओ निरवसेसो॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण ग्रामादीनां बहिरपि विचारभूमौ पतितं भवेत्। तस्याप्येष एवानन्तरोदितो गमः प्रकारो निरवशेषो ज्ञेयो ज्ञातव्यो भवति। तदेवं सूत्रद्वयं भावितम्॥

अधुना तृतीयसूत्रभावनार्थमाह॥

गामो खलु पुव्वुत्तो, दूइज्जंते उ दोन्नि दुविहाणे।
अन्नतरग्गहणेणं, दुविहो होइ उवहीणो॥

ग्रामः खलु पूर्वमुक्तस्तस्मादनुकूलोऽन्यो ग्रामोऽनुग्रामःग्रामश्चानुग्रामश्च ग्रामानुग्रामं समाहारत्वादेकवचनं तत् दूयमानस्य गच्छतस्तस्मिन् गच्छति द्विविधा ऋतुबद्धे काले गन्तव्यम्। तथा पादाभ्यामिति आभ्यां द्वाभ्यां प्रख्या। संप्रति निर्युक्तिविस्तरः॥

पंथे उवस्सए वा, पासवणुच्चारइयंते वा।
पक्खुसती एएहिं, तम्हा मोत्तूणिमे ठाणा॥

तत् उपकरणं पथि व्रजतः कथमपि एतत् ग्रामानुग्रामं वा गच्छन् यत्रोपाश्रये उषितस्तत्र विस्मरणतः पतितं भवेत् विश्राम्यतो वा क्वचित्पतितं स्यात् उच्चारं प्रश्रवणं वा कुर्वतः स्यात्पतितं आचमतो वा विस्मृतमेतैः कारणैर्विस्मरणः पतनसंभवस्ततो येषु विश्राम्यत उच्चारं प्रश्रवणं वा कुर्वतो दोषा भवन्ति तानीमानि स्थानानि वर्जयेत। तान्येवाह॥

पंथे वासमणनिविसणादि, तो मासो होइ लहुओ उ।
आगतरसंठाणे, लहुगा आणादिणो दोसा॥

पथि यदि विश्राम्यति निवसति वा आदिशब्दात् ऊर्द्धस्थितो वा तिष्ठति सुप्तो वा उच्चारं प्रश्रवणं वा व्युत्सृजति तदा सर्वत्र असमाचारीति निष्पन्नं प्रायश्चित्तं मासलघु। यदि पुनरागन्तृणां स्थाने सभाऽऽदौ विश्रमणादि करोति तदा सर्वत्र प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः आज्ञादयश्च दोषाः।

संप्रति पथि विश्रमणादौ दोषानाह।

मिच्छत्त अन्नपंथे, धूली उक्खिणण उवहिणासो।
ते चेव य सविसेसा, संकादिविविंचमाणे वि॥

स साधुः पथि विश्राम्यति धिग्जातीयाश्चान्ये जातिमदावलिप्तास्तेन पथा समागता भवेयुस्ततः स साधुः चिन्तयेत्। मा मन्निमित्तमेते उद्वर्त्तमाना हरितकायादिविराधनां कार्षुरिति स साधुः पथि उत्थाय अन्यत्र तिष्ठेत् तत्र च इमे दोषा जानन्त्येतत् श्रमणवादिन आत्मनः सारमतोऽयमस्मान् दृष्ट्वोद्वृत्त इति तथा साधूनां धिग्जा–तीयानां पथि दत्ते त एव तेषामपि गुरवो धिग्जातीयाः प्रधानाश्च एतच्चाभिनवधर्म्माणः श्रुत्वा दृष्ट्वा च मिथ्यात्वं प्रतिपद्येरन् तथा (अण्णपंथेत्ति) तं साधुं पथि स्थितं दृष्ट्वा पथिका उद्वृत्य व्रजन्ति ते चोद्वर्तमाना हरितकायादीनां विराधनां कुर्वन्ति। तथा केचित्तं पथि स्थितं दृष्ट्वा ब्रुवते अहो निर्लज्जाः श्रमणाः पत्थानं रुध्वा स्थिताः तच्च श्रुत्वा कोऽप्यसहमानः कलहं कुर्यात् ततो युद्धे समापतिते भाजने भेदोऽनागाढादिः परितापना च स्यात्। तथा पादनिक्षेपेण धूल्या उत्खननं भवति तेन च उपधेर्विनाशो मलिनत्वभावात्। ते एवानन्तरोदिता दोषाः सविशेषाः शङ्कादयो विचिकित्साऽपि उच्चारादिना तथा हि उच्चारादि पथि कुर्वतो लोकस्य शङ्कोपजायते किमनेन गुदं निर्लेपितमुत नेति आदिशब्दात्किमेष स्तेनकः किं वा श्रमणोऽभिचारको हैरिको वा इत्यादिपरिग्रहः एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः। सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतो मिथ्यात्वद्वारं विवृणोति।

पंथे न ठाइयव्वं, बहवो दोसा तहिं पसज्जंति।
अब्भुट्ठियम्मि गुरुगा, जं वा आवज्जती जुत्तो॥

पथि साधुना विश्रमणनिमित्तं न स्थातव्यं यतस्तत्र बहवो दोषाः प्रसजन्ति तानेवाह। साधुना धिग्जातीयानां पथि प्रदत्ते अभ्युत्थिता एते अभ्युत्थानमेतेषां कृतमिति लोकप्रतिपत्तौ तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः यच्च स्वयं दृष्ट्वा यतो वा श्रुत्वा मिथ्यात्वमापद्यते अभिनवधर्म्मा मिथ्यादृष्टिर्वा गाढतरं मिथ्यात्वमधिगच्छति तन्निष्पन्नं च तस्य प्रायश्चित्तं धिग्जातीयानां चात्मबहुमानसंभवस्तथा चाह।

जाणंति अप्पणो सारं, एते समणवादिणो।
सारमेएसि लोगो य–मप्पणो न वियाणई॥

ये आत्मानं श्रमणमिति वदन्ति ते आत्मनः सारं परमार्थतत्वं जानन्ति यथाऽस्मभ्यमेते गरीयांस इति यस्त्वेतेषामयं लोकः संसारमर्थतत्व-मात्मनो न विजानाति अविदितपरमार्थत्वात्। गतं मिथ्यात्वद्वारम्।

अधुना अन्यपथद्वारमाह।

अण्णपहेण वयंते, काया सो चेव वा भवे पंथे।
अचियत्त असंखमादी, भायणविराहणा चेव॥

तं साधुं पथि स्थितं दृष्ट्वा पान्था अन्येन पथा व्रजन्ति तथा च सति काया हरितकायादयो विराध्यन्ते। तथा स एव भवति पन्थास्ततो महान् प्रवर्तनादोषः तथा पथि स्थितं दृष्ट्वा कस्यापि (अचियत्ति) अप्रीतिरुपजायते ततः स ब्रूते अहो मुण्डः पन्थानं रुध्वा स्थितस्तस्य श्रुत्वा कोऽप्यसहमानोऽसंखडं कलहं कुर्यात् आदिशब्दात् युद्धमपि तथा च सति भाजनविराधना आदिशब्दादनागाढादिपरितापना भावतः शरीरविराधना च। संप्रति "धूली उक्खणण उवहि विणासो इति" व्याख्यानयति।

सरक्खधुली चेयण्णे, पत्थिवाणं विणासणा।
अचित्तरेणुमइलम्मि, दोसा होंति अधोव्वणे॥

सह रजसा श्लक्ष्णधूलिरूपेण वर्त्तते इति सरजस्कः स चासौ धूलिश्च तस्याश्चैतन्यस्तस्यां चेतनायामित्यर्थः पादनिक्षेपेण उत्खनेन शरीरादिसंस्पर्शतः पार्थिवानां पृथिवीकायानां विनाशनं भवेत्। अथ सोऽचित्तो रेणुस्तर्हि तेनाचित्तेन रेणुना मलिने उपधौ यदि प्रक्षालयति तथाऽपि दोषः। प्राणविराधनापत्तेर्वा कुशत्वसंभवाच्च अप्रक्षालनेऽपि दोषाः प्रवचनहीलनाद्यापत्तेः। अन्यच्च।

वेगाविद्धो तुरंगादी, सहसा दुक्खनिग्गहा।
परम्मुहं मुहं किच्चा, पहि ठाणं पणोल्लए॥

वेगाविद्धो वेगेनागच्छन्तस्तुरङ्गादय आदिशब्दाद्वलीवर्द्दानामपि परिग्रहः। सहसा दुःखेन निगृह्यन्ते निवार्यन्ते इति दुःखनिग्रहा निवारयितुमशक्या इति भावस्ततः शरीरविराधना भाजनविराधना च। तथा केचित्प्रान्ताः परान्मुखं मुखं कृत्वा पथि स्थितं साधुं प्रणुदेयुर्गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात्प्राकृते हि वचनव्यत्ययो भवति। किं च।

पम्हुट्ठमवि अन्नत्थ, जइट्ठा कोति पेच्छति।
पंथे उ परिपम्हुट्ठं, खिप्पं गेण्हति अद्धगा॥

पथो ऽन्यत्र विस्मरणतः पतितमपि प्रेक्ष्यते पथि पुनः अध्वगा परिभ्रष्टं क्षिप्र गृह्णन्ति तस्मात्पथि न विश्रमितव्यम्।

एवं ठितोवविट्ठे, सविसेसतरा भवंति उण्णिवणे।
दोसा निद्दपमायं, गते य उवहिं हरति त्तो॥

एवममुना प्रकारेण स्थिते ऊर्द्धस्थानेनावतिष्ठमाने तथा उपविष्टमाने वक्तव्यानि चात्र शयाने सविशेषतरा दोषा भवन्ति। तथाहि पूर्वोक्तास्तावत्तथैव द्रष्टव्याः। अन्यच्च शयाने कथमपि निद्राप्रमादं गते उपधिमन्ये पथिकादयो हरन्ति तस्मात्पथि न शयितव्यमिति। संप्रति "चे व य सविसेसा संकादिविविंचमाणे वी" त्येतद्व्याख्यानार्थमाह॥

उच्चारं पासवणं, अणुपंथे चेव आयरंतस्स।
लहुतो य हो य मासो, चाउम्मासो सवित्थारो॥

उच्चारं प्रश्रवणं वाऽध्वगानामनुकूले पथि अवतरतः समाचारी-निष्पन्नं प्रायश्चित्तं लघुको भवति मासः। अथ तथोच्चारं प्रश्रवणं वा कुर्वन्तमवलोक्य केचिदन्यं पन्थानं कुर्वन्ति तत्र चत्वारो मासा लघुकाः (स वित्थारोत्ति) यच्च स्त्र्यादिभिः सह संघट्टनादि प्राप्नोति तन्निष्पन्नमपि तस्य प्रायश्चित्तमिति भावः। तथा।

छड्डावणमन्नपडो, दवासतिय दुब्भिगंधकलसप्पे।
तेणो त्ति व संकेज्जा, आदियणे चेव उड्डाहो॥

कोऽपि स एव राजकुलमान्यः प्रान्तः श्रमणमुच्चारं पथि कुर्वन्तं दृष्ट्वा कोपात्तमेव श्रमणमास्कन्द्य तमुच्चारं छड्डापयेत् अपरेरन्यः

पन्थाः क्रियेत तत्र चोक्तं प्रायश्चित्तम् । तथा पथि द्रवीभावे दुरभिगन्धः उच्छलेत्तत्रापि प्रवचनोड्डाहस्तथा कोऽपि कलुषात्मा शङ्कते स्तेनक इति उपलक्षणमेतत् हेरिकोऽभिचारिको वा इत्यपि शङ्कते तत आदाने ग्रहणे प्रवचनस्य उड्डाहः तस्मात्पथि विश्रामणादि न कर्तव्यम् ॥

अत्रैवापवादमाह ॥

अच्छेय व दूरपहे, असहू भारेण खेदियप्पा वा ।
च्छन्ने व मोत्तुं पहं, गामसमीवे य छन्ने वा ॥

अतिशयेनातप उष्णं तपति वृक्षाश्च पथि दूरे वर्तन्ते यथासन्नपल्लीमार्गं प्रतिपन्नानामेक एवाध्वनि विश्रमणहेतुरेकएव वृक्षोऽन्यत्र सर्वत्राकाशं तेन कारणेन पथ्यपि वृक्षस्याधस्तात् विश्राम्येत । असहो नाम नातिदूरे वृक्षाः सन्ति परं तत्र गन्तुं न शक्नोति ततः सोऽपि पथि वृक्षस्याधो विश्रमणं कुर्यात् । अथवा उपधिभारेण खेदितात्मा अतिशयेन परिश्रान्तस्ततः पथ उद्वर्तितुं न शक्नोतीति पथ्येव विश्रामयति । तदेवं पथ उभयोः पार्श्वयोर्दूरेण वृक्षसंभवे द्वितीयपदमुक्तमिदानीं समन्ततो वृक्षच्छन्ने प्रतिपादयति । (छन्ने व मोत्तुं पहंत्ति) पन्था उभयोः पार्श्वयोर्वृक्षैश्छन्नस्तत्र वा विभाषायां यदि निर्भयं ततः पन्थानं मुक्त्वाऽन्यत्र विश्रमणादि करोति । अथ भयं तदा पथ्येवेति एतद् दूरेऽभिहितम् । ग्रामासमीपे पुनर्निर्भयमिति वृक्षैश्छन्नस्तत्र वा विभाषायां यदि निर्भयं ततः पन्थानं मुक्त्वाऽन्यत्र विश्रमणार्थं पथ उद्वृत्य विश्रमणादि करोति । ग्रामसमीपे यस्य तस्य वृक्षादेर्देवकुलादेश्छायासंभवात्तेन पुनः साधुना पथः कियद् दूरे उद्वर्तितव्यमत आह ।

पंथे ठितो न पेच्छइ, परिहरिया पुव्ववण्णिया दोसा ।
विइयपए असतीए, जयणाए वट्टणादीणि ॥

तावति दूरे उद्वृत्य स्थातव्यं यन्न पथिकः पथा व्रजन् पथि ऊर्द्ध–स्थितो वा साधुमुद्वर्त्तं न पश्यति । एवं च पूर्ववर्णिता दोषाः समस्ता अपि परिहृताः । द्वितीये पदे अत एवापवादपदे पुनरुद्वर्त्तने असति उद्वर्तनाभावे पथ्यपि यतनया वक्ष्यमाणया स्थानादीनि करोति स च तथा कुर्वन् तीर्थकराज्ञया प्रवृत्ते शुद्ध इति ।

सांप्रतमुद्वर्त्तनाभावं यतनां चाह ।

संकठहरियच्छाया, असति य गहितोवही ठितो पेच्छे ।
उट्ठेइ व अप्पत्ते, सहसा पत्ते ततो पिट्ठं ॥

संकष्टो नाम पन्थाः स उच्यते यो वा द्वयोरपान्तराले तत्रोद्वर्त्तनस्यासंभवः । अस्य वा चतसृष्वपि दिक्षु समन्ततो हरितकायः। अथवा पन्थानमतिरिच्यान्यत्र सर्वथा छाया न विद्यते । ततः एतैः कारणै– रुद्वर्त्तनासंभवे पथ्येव गृहीतोपकरणो मुहूर्तमात्रमूर्द्धस्थितो मार्ग एव छायायां विश्राम्येत । यदा तु पथिकानागच्छतः पश्यति तदा तेषु ते प्रदेशमप्राप्तेष्वेव उत्तिष्ठति तथा ते जानन्ति पूर्वमेव उत्थित इति । अथ सहसैव ते पथिका अदृष्टा एव संप्राप्तास्तदा तेषां पृष्ठं दत्त्वा उत्तिष्ठति यथा ते जानन्ति यथैष आत्मव्यापारेणोत्थित इति एवं मिथ्यात्वदोषाः परिहृता भवन्ति ।

मुंजण पाणुच्चारे, जयणं तत्थ कुव्वति ।
उडाहडा उ जे दोसा, पुव्वं तेसु जतो भवे ॥

भोजने पाने उच्चारे च यतनां तत्र पथि करोति कथमित्याह । उदाहृता ये पूर्वं दोषास्तेषु यतो भवेत् यथा ते न भवन्ति तथा यतेतेति भावः ।

गंतव्वपलोएउं, अकरणिलहुतो उ दोस आणादी ।
पम्हुट्ठो वा सट्ठे, लहुतो आणादिणो चेव ॥

विश्रम्य उच्चारं प्रश्रवणं वा कृत्वा यदा गन्तव्यं भवति तदा सिंहावलोकनेन पश्चादवलोक्य गन्तव्यम् ।यदि पुनरवलोकनं न करोति तदा प्रायश्चित्तं तस्य लघुको मासः । अधिकरणदोषाश्च प्रागुक्ताः कथमपि विस्मरणतः पतन्ति सम्भवति । आज्ञाभङ्गादयश्च दोषाः । तथा यदि कथमपि विस्मरतः पतितं स्यात् ततस्तद्ग्रहणाय प्रतिनिवर्तितव्यम् । यदि मन्यते किं तेनेति व्युत्सृजति तदा मासलघुकमाज्ञाभङ्गादयश्च दोषाः एतदेवाह–

पम्हुट्ठे गंतव्वं, अगमणे लहुगो य दोसआणादी ।
निक्कारणम्मि तिन्नि उ, पोरिसीकारणे सुद्धो ॥

कथमपि विस्मरणतः पतिते सिंहावलोकनेन च दृष्टे नियमतस्त– दानयनाय पश्चात् गन्तव्यम् । अगमने प्रायश्चित्तं लघुको मासः। अधिकरणदोषाश्च प्रागुक्ता आज्ञादयश्च । तथा निष्कारणमिति कारणस्याभावे निष्कारणमस्मिन् यदि नास्ति निवर्तमानस्य प्रत्यवाय इत्यर्थस्तदा अवश्यं निवर्तितव्यम् । (तिण्णिउत्ति) यदि प्रथमायां पौरुष्यां विस्मरणतः पतितं चरमायां च पौरुष्यां स्मृतं तत्र यदि निष्प्रत्यवायमन्तरा च वासोऽस्ति यदा निवृत्य गृहीत्वा आनेतव्यमथ सूर्यास्तमयवेलायां स्मृतं यथा अमुकमेव विस्मरणतः पतितमिति तदा आद्यान् त्रीन् यामान् उषित्वा चतुर्थे यामे प्रतिनिवृत्यानेतव्यं प्रत्यवायाभावे कारणे तु प्रत्यवायलक्षणेऽनिवर्त्तमानोऽपि संशुद्धः । एतदेव भावयति ॥

चरमाए दि नियत्तइ, जइ वासो अत्थि अंतरा वसिमे ।
तिण्णि वि जामे वसिउं, नियत्तइ निरच्चये चरमे ॥

प्रथमायां पौरुष्यां विस्मरणतः पतिते तदानयनाय चरमायामपि पौरुष्यां निवर्तते यदि च तेषामन्तरा वासोऽस्ति । अथ चरमायां दिनपौरुष्यां पतति तदा रात्रेस्त्रीन् यामानुषित्वा चरमे यामे निरत्यये प्रत्यवायाभावतो निर्भयो निवर्त्तते ॥

कारणे सुद्धो इति व्याख्यानार्थमाह ॥

दूरं सो वि य तुच्छो, सावयतेणानदी व वासं वा ।
इच्चाइकारणेहिं, करेंति उस्सग्गमो तस्स ॥

दूरमतिशयेन गतानां स्मरणपथमवतीर्णः पतित उपधिः सोऽपि वा उपधिरतिशयेन तुच्छः । मुखपोत्तिकादिरूपोऽतिशयजीर्णश्चेति भावः । अथवा अपान्तराले व्याघ्रादीनि स्वापदानि स्तेना वा शरीरापहारिण उपकरणापहारिणो वा नदी वाऽपान्तराले वर्षा वा पतति आदिशब्दात् म्लेच्छभयं वा अशिवं वेत्यादि परिग्रहः इत्यादिभिः कारणैस्तस्य विस्मरणतः पतितस्योपकरणस्य उत्सर्गं ''वोसिरामिति'' त्रिभणनपूर्वकं परित्यागं करोति एवं करणे अधिकरणादयो न भवन्ति ॥

एवं ता पम्हुट्ठो, जेसिं तेसिं विही भवे एसो ।
जे पुण अन्ने पेच्छे, तेसि तु इमो विही होइ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण तावत् येषामुपधिर्विस्मरणतः पतितस्तेषा- मेषोऽनन्तरोदितो विधिर्भवति ये पुनरन्ये साधर्मिका प्रेक्षन्ते तेषामयं वक्ष्यमाणो विधिर्भवति । तमेवाह ॥

दट्ठुं अगिण्हणे लहुगो, दुविहो उवही उ नायमण्णातो ।
दुविहा नायमणाया, संविग्ग तहा असंविग्गा ॥

द्विविध उपधिरौधिक औपग्राहिकश्च । तस्य द्वितयस्यापि पति–

तस्य दृष्ट्वा अग्रहणे प्रायश्चित्तं लघुको मासो ये च पूर्वमुक्ता अधिकरणादयो दोषास्तेऽपि तस्य प्रसजन्ति स चोपधिर्भूयो द्विधा ज्ञातोऽज्ञातश्च। तत्र ज्ञातो नाम येषां स उपधिस्तेषां ज्ञायते अज्ञातो नाम यो न ज्ञायते यथा अमुकस्य सबन्धीति। ते ज्ञाता द्विविधाः संविग्ना असंविग्नाश्च॥

मुत्तूण असंविग्गे, संविग्गाणं तु नयणजयणाए।
दो वग्गा संविग्गे, छब्भंगा नायमण्णाए॥

मुक्त्वा असंविग्नान् किमुक्तं भवति यो ज्ञायते असंविग्नानामेष उपधिः स न नीयते यस्तु संविग्नानां तत्र द्वौ वर्गौ तद्यथा संयताः संयत्यश्च तत्र संविग्ने एकस्मिन्वर्गे षड्भङ्गा ज्ञाते भवन्ति अज्ञाते च वक्ष्यमाणो विधिः। तत्र षड्भङ्गानुपदर्शयति।

सयमेव अण्णं पेसेइ, अप्पाहे वा वि एव सग्गामे।
परगामे वि य एवं, संजतिवग्गे वि छब्भंगा॥

यदि ते संयताः संविग्ना इति ज्ञातास्तदा स्वयं वा गन्तुं नयति अन्यस्य वा हस्ते प्रेषयति संदेशयति वा यथा मया स उपधिर्विस्मरणतः पतितो लब्ध इति। एवं स्वग्रामे त्रयो भङ्गाः परग्रामेऽपि स्थितानामेते एव त्रयः प्रकाराः एवं षड्भङ्गाः संयतानामेवं संयतीवर्गेऽपि षड्भङ्गास्तदेवं ज्ञातविषये विधिरुक्तः। संप्रत्यज्ञातविषयं विधिमाह।

ण्हाणादिणा य घोसेण, सोउं गमणं च पेसणप्पाहे।
पम्हुट्ठे वोसट्ठे, अप्पबहुअसंघरंतम्मि॥

यो न ज्ञायते कस्याप्येष उपधिरिति स परिज्ञाननिमित्तं स्नानादिसमवसरणे घोष्यते घोषणं च श्रुत्वा केनापि कथिते येषां स उपधिस्तत्र स्वयं वा गन्तुं नयति अन्यस्य वा हस्ते प्रेषयति। संदेशयति वा। तथा (पम्हुट्ठे) विस्मरणतः पतिते व्युत्सृष्टे परित्यक्ते येनानीतस्तस्मिन्नसंस्तरति अल्पबहु परिभाव्य परिभोगोऽनुज्ञातः। एतदेव व्याख्यानयति।

कामं विम्हट्ठाणे, चत्तं पुण भावतो इमम्हेहिं।
इति वेंते समणुण्णे, इच्छाकज्जेसु सेसेसुं॥

येषां स उपधिर्विस्मरणतः पतितस्तेषामन्तिकमानीयते नीत्वा चेदं भण्यते यथाऽयं युष्मद्विस्मरणतः पतितोऽस्माभिश्चानीतस्ततो गृह्यतामिति एवमुक्ते ते प्राहुःकामं नोऽस्माकं विस्मरणतः पतितमिदमुपकरणं परं भवत इदमस्माभिस्त्यक्तं त्रिविधं त्रिविधेन व्युत्सृजितमिति भावः। एवं ब्रुवति उपधिस्ते यदि संभोगिकास्तेन च विना संस्तरन्ति तर्हि स येषां सत्कस्तैः परिष्ठापयन्ति। ''एतेन इच्छाकज्जेसु इति'' व्याख्यातम्। संप्रति ''सेसेसुत्ति'' व्याख्यायते। शेषा असांभोगिकास्तेष्वपि कार्येष्विच्छा इयमत्र भावना अन्यसांभोगिकैरानीते तैश्च प्रतिषेधे यदि यैरानीतस्ते तेन विना संस्तरन्ति अन्यश्चोपधिर्दुर्लभो न लभ्यते वा तदा तैः समनुज्ञातं परिभुञ्जते एतावता ''अप्पबहुसंथरंतम्मि'' व्याख्यातम्। तदेवं संविग्नानां विधिः।

इदानीं प्रसंविग्नानामुपधिविधिरुच्यते।

पक्खिगापविखगा चेव, हवंति इयरे दुहा।
संविग्गपक्खिगे णेंति, इयरेसिं न गेण्हात।

इतरे असंविग्ना द्विविधास्तद्यथा पाक्षिका अपाक्षिकाश्च संविग्नपाक्षिका असंविग्नपाक्षिकाश्च इत्यर्थः। तत्र यः संविग्नपाक्षिकः संविग्नपाक्षिकस्य संबन्धी उपधिस्तं स्वयं वा नयति अन्यस्य वा हस्ते प्रेषयति संदेशयति वा यस्त्वितरेषामसंविग्नानामुपधिस्तं पतितं दृष्ट्वा न गृह्णाति।

अत्रैवापवादमाह।

इयरे वि होज्ज गहणं, आसंकाए अणज्जमाणम्मि।
किह पुण होज्जा संका, इमेहि उ कारणेहिं तु॥

इतरस्मिन्नप्यसंविग्नपाक्षिकसंबन्धिन्युपधावसंग्नपाक्षिकसंबन्धित्वेनाज्ञायमाने आशङ्कया ग्रहणं भवेत्। सूरिराह एभिर्वक्ष्यमाणैः कारणैः तान्येवाह।

ण्हाणादिसमासरण, अहव समावत्तितो गयाणेगा।
संविग्गमसंविग्गा, इति संका गेण्हते पडियं॥

जिनप्रतिमास्नानदर्शननिमित्तमादिशब्दात् संघप्रयोजनेन वा केनापि समवसरणे मेलापके यदि वा एवमेव समापत्तितो गताः पुरतोऽनेके संविग्ना असंविग्नाश्च तेषां गच्छतां कस्याप्युपधिर्विस्मरणतः पतितः स न ज्ञायते सम्यक् किं संविग्नानां केवलं स्यादसंविग्नानामपीति तं पतितं गृह्णाति।

सविग्गपुराणोवहि, अहवा विहिसीवणा समावत्ती।
होज्ज व असीवितो च्चिय, इति आसंकाए गहण तु॥

अथवा पुराणसंविग्नोषधेः किमुक्तं भवति येषां सत्क उपधिः पतितस्ते पूर्वं संविग्ना आसीरन् पश्चादसंविग्नीभूताः स चोपधिः पूर्वं संविग्नसीवनेन सीवितः। अथवा संविग्नैरपि समापत्त्या विधिसीवनिकया सीवितो यदि वा असीवित एव संभवेत्ततस्तं दृष्ट्वा आशङ्का भवति किं संविग्नानामुतासंविग्नानां तत आशङ्कया ग्रहणं भवति।

संप्रति ग्रहणानन्तरविधिशेषमाह।

ते पुण परदेसगते, नाउ भुंजति अहव वज्जंति।
अन्ने उ परिट्ठवणा, कारणभोगा व गीएसु॥

तमुपधिं गृहीत्वा येषां संविग्नानां सत्क उपधिस्ते परदेशं गताः ततस्तान्परदेशं गतान् ज्ञात्वा कारणे समापतिते परिभुञ्जते अथवा कारणाभावे परिष्ठापयन्ति। एवं कारणैरसंविग्नानामपि पतितमुपधिं गृह्णानो न प्रायश्चित्तभाग्भवति। अथ येषां सत्क उपधिः पतितो गृहीतस्ते संविग्ना अप्यन्ये असांभोगिकास्तेषां देशान्तरगतानामुपधिं गृहीत्वा निष्कारणे परिष्ठापयन्ति (कारणत्ति) यदि ते सर्वे गीतार्था न च तेषामुपधिरेस्ति यदि वा तादृश उपधिरन्यो दुर्लभस्तदा एवं कारणे परिभुञ्जते। अथ ते अगीतार्थमिश्रास्तदा परिष्ठाप्यन्ते प्रज्ञाप्य वा गीतार्थान्परिभुञ्जते एतच्चान्यसांभोगिकसत्कतया परिज्ञायते। द्रव्यपरिज्ञाने प्रागुक्त एव विधिः।

विइये पदे न गेण्हेज्जा, संविग्गाणं पि एहि कज्जेहिं।
आसंकाए य नज्जइ, संविग्गाण च इयरेसिं॥

द्वितीयपदे अपवादपदे संविग्नानामपि पतितमुपधिमेभिर्वक्ष्यमाणैः कायः कारणैर्न गृह्णीयात्। तान्येवाह न ज्ञायते किमेष संविग्नानामुत इतरेषामसंविग्नानामित्याशङ्कया पतितं न गृह्णाति तथा॥

असिवगहियं व सोउं, ते वा भव व होज्ज जइ गहियं।
ओमेण अन्नदेसं,, व गंतुकामा न गेण्हेज्जा॥

येषां स उपधिस्ते अशिवगृहीता येन दृष्टः स नेत प्रथमो १ भङ्गः यैर्दृष्टस्ते अशिवगृहीता येषां सत्कस्तेन गृहीता इति द्वितीयः २ उभयं गृहीतमिति तृतीयः ३ उभमपि न गृहीतमिति चतुर्थो ४ भ-

ङ्गः तत्र चतुर्थे भङ्गे अपवादमधिकृत्य शून्यो न भवति तत्रापवाद इति भावः। तत्र प्रथमभङ्गे न गृह्णाति अशिवोपहतत्वात् द्वितीयेऽपि न गृह्णाति तदानीं तस्य तैरवग्रहणादशिवोहतत्वात् तृतीये भङ्गे सदृशे अशिवे कारणे गृह्णाति विसदृशे सोमसुखादिलक्षणैर्न गृह्णाति यदि वा अवमौदर्येण देशान्तरं गन्तुकामा न गृह्णीयुः ॥

अह पुण गहियं पुव्वं, न य दिट्ठं जस्स विच्चुय त तु।
उवहावियन्नदेसं, इमिणा विहिणा विगिंचिज्जा ॥

अथ पुनर्गृहीतं पूर्वमुपकरणं न च स दृष्टो यस्य सत्कं तदुपकरणं विच्युतं विस्मरणतः पतितं यस्मात् (उवहावियन्नदेसंति) अथ पुनर्गृहीतमुपकरणं न च स दृष्टो यस्य सत्कं तदुपवेगेन धाविताः प्रधाविता अन्यं देशं गतास्ततः अनेन वक्ष्यमाणेन विधिना विवेचयेत् परिष्ठापयेत्। तमेव विधिमाह ॥

दुविहा जायमजाया, जाया अभियोग तह असुद्धा य।
अभियोगादी छेत्तुं, इयरं पुण अक्खयं चेव ॥

सा परिष्ठापनिका द्विविधा जाता अजाता च तत्र जाता नाम अभियोगकृता विषकृता च तत्राभियोगो वशीकरणम्। अथवा जाता अशुद्धा सा द्विविधा मूलगुणाशुद्धा उत्तरगुणाशुद्धा च। तत्र जाता अभियोगकृता विकृता वा मूलगुणाशुद्धा उत्तरगुणाशुद्धा वा सा छेत्तुं भेत्तुं वा कर्तव्या। इतरत् पुनरुपकरणमभियोगादिदोषरहितमक्षतं चैव परिष्ठापयितव्यम्। अत्र परः प्रश्नं करोति

पहनिग्गया इयाणिं, विजाणणट्ठाइ तत्थ चोदेइ।
तेसिं सुद्धिनिमित्तं, कीरइ विधिं इमं तु तहिं ॥

पथि निर्गताः आदिशब्दादशिवादिभिः कारणैर्निर्गताः परिगृह्यन्ते तेषां शुद्धिनिमित्तं यदेत्र प्रागुक्ते विधौ प्रतिपादिते परः असहमानश्चोदयति प्रश्नयति पथिनिर्गतादीनां पथिनिर्गता मार्गप्रतिपन्नास्तेषां परिष्ठापितमिदमिति विज्ञानार्थं तत्रेदं वक्ष्यमाणं चिह्नं क्रियतामिति। तदेवाह।

एगा दो तिन्नि वली, वत्थे कीरंति पत्तचीराणि।
सुज्झंतु चोदगेणं, इति उदिते वेति आयरितो ॥

मूलगुणैरशुद्धे वस्त्रे एकावलिरेकं वस्त्रं कृत्वा तत् परिष्ठाप्यते मूलगुणैरशुद्धे पात्रे एकं चीवरमेकं प्रस्तरं क्षिप्त्वा तत्परिष्ठाप्यतामुत्तरगुणैरशुद्धे शुद्धे वा क्रियेतां पात्रे द्वे चीवरखण्डे द्वौ वा प्रस्तरौ क्षिप्येयाताम्। मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च शुद्धे वस्त्रे त्रीणि चक्राणि क्रियेरन्। पात्रे त्रीणि चीवराणि त्रयो वा प्रस्तराः क्षिप्येरन् इति। अमुना प्रकारेण चोदकेनोक्ते आचार्यो ब्रवीति। किं तदित्याह।

सुद्धमसुद्धं एवं, होति असुद्धं च सुद्धवायुवसं।
तेण तिदुगेणगंठी, वत्थे पत्तम्मि रेहो उ ॥

एवं युष्मदुक्तप्रकारेण चक्रकरणे वातवशात् शुद्धमपि चक्रैकद्विकभङ्गतोऽशुद्धं भवति। अशुद्धमपि वातवशेन चक्रत्रिकभावतः शुद्धं भवति। पात्रमपि वातवशेन एकद्विकचीवरापगमे शुद्धं भवति। अशुद्धमपि वातवशेनान्यागत्तुकचीवरखण्डसमागमे शुद्धं तस्मादयं विधिस्तत्र कर्त्तव्यः। मूलोत्तरगुणशुद्धे वस्त्रे त्रयो ग्रन्थयः कर्त्तव्याः पात्रे तिस्रो रेखाः उत्तरगुणैरशुद्धे वस्त्रे द्वौ ग्रन्थी पात्रे द्वे रेखे मूलगुणैरशुद्धे वस्त्रे एको ग्रन्थिः पात्रे एका रेखा।

अद्धाणनिग्गमादी, उवएसा णएण पेसणं वावि।
अविकोविते अप्पणमं, दड्ढे भिन्ने विवित्ते य।

अध्वनि मार्गे निर्गता अध्वनिर्गता आदिशब्दात् अशिवादिभिर्वा कारणैर्निर्गताः परिगृह्यन्ते तेषामुपकरणे दग्धे वह्निना भस्मीकृते भिन्ने वा विविक्ते वा विस्मरणतः पतिते वास्तव्यास्तान् अध्वनिर्गतादीन् ब्रुवते अस्माकमुद्धरितानि वस्त्राणि न सन्ति केवलमस्माभिरमुकप्रदेशे परिष्ठापितानि वर्तन्ते तान्यानीय गृह्णीथ एवमुक्ते तेऽपि प्राघूर्णका ये गीतार्थास्तान् प्रेषयन्ति वास्तव्या अपि च तेषां चिह्नानि उपदिशन्ति यथा गर्त्तसमीपे गिरिसमीपे तरुसमीपे कूपसमीपे इत्यादि (आणयण मिति) अथैवं चिह्ने कथितेऽपि स्नानं न जानन्ति यदि वा न ते वास्तव्या ग्लानादिप्रयोजनैर्व्यावृतास्ततः स्वयमानीय प्रयच्छन्ति (पेसणं वा वित्ति) अथवा वास्तव्याः प्राघूर्णकानां देशकं ददति यथा अमुकप्रदेशे वस्त्रादि परिष्ठापितमस्ति तदमीषां दर्शय अपि शब्दात् यदि ग्लानादिप्रयोजनैर्न व्यावृतास्तदा परिष्ठापितामावे अन्यत् याचित्वा प्रयच्छन्ति (अविकोविए अप्पणमिति) आनीते परिष्ठापिते कोऽप्यकोविदो गीतार्थ उपहतमिति कृत्वा नेच्छति तत्र प्राघूर्णकैर्वास्तव्यैर्वा तस्यात्मीयं वस्त्रं पात्रं वा दत्वा इतरत्स्वयं ग्रहीतव्यम्। अथ तदपि कश्चिदगीतार्थतया न गृह्णीयात्तर्हि तत् आनीतं पुनः परिष्ठाप्यते एष गाथासंक्षेपार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुराह।

अद्धाण निग्गयादी, नाउ परित्तोवही विवित्ते वा।
संपडुगमंडधारी, पेसंती ते वियाणंतो ॥

अध्वनिर्गतादीन् आदिशब्दादशिवादिकारणनिर्गतपरिग्रहस्तान् परीतोपधीन् परिमितोपधीन् विविक्तान्वा विविक्तोपधीन्वा विस्मरणतः पतितोपधीनित्यर्थः। उपलक्षणमेतत् दग्धोपधीन्वास्तव्या ज्ञात्वा कथंभूता वास्तव्या इत्याह। संपादुकभाण्डधारिणो नाम यावन्मात्रमुपकरणमुपपद्यते तावन्मात्रं धरन्ति शेषं परिष्ठापयन्ति। ततस्तान् तथाभूतान् दृष्ट्वा ब्रुवते अस्माकमुद्धरितानि वस्त्राणि न सन्ति किंत्वस्माभिरमुकप्रदेशे परिष्ठापितानि वर्तन्ते तानि गत्वा प्रतिगृह्णीतेति एवमुक्ते तथाऽपि प्राघूर्णका जानते गीतार्थान्प्रेषयन्ति कथमित्याह।

गड्डागिरितरुमादीणि, काउं चिंधाणि तत्थ पेसंति।
अवियवेट्ठा सयं वा, आणं तल्लं व मग्गंति ॥

अत्र प्राघूर्णकाः प्रेषिता न वास्तव्या गर्तगिरितर्वादीनि चिह्नानि कृत्वा प्रेषयन्ति यदि वा ग्लानादिभिरव्यापृताः स्वयमानयन्ति परिष्ठापिताभावे अन्यद्वा मार्गयन्ति। सांप्रत ''मविकोविए अप्पणगमिति'' व्याख्यानयति।

नीयम्मि य उवगरणे, उवहयमेयं न इच्छई कोई।
अविकोविय अप्पणगं, अणिच्छमाणे विविंचंति ॥

नीतेऽप्युपकरणे कश्चिदकोविद उपहतमेतदिति कृत्वा नेच्छेत तस्मिन्नकोविदे आत्मीयं वस्त्रादि समर्प्यते। अथ तदपि नेच्छति तदा परिष्ठापितमानीतं पुनर्विविञ्चन्ति परिष्ठापयन्ति।

असतीए अप्पणा वि, झामियहियवूढपडियमादीसु।
सुज्झति कयप्पयन्नो, मेव गेण्हं असढभावो ॥

येन पूर्वं तत् परिष्ठापितं तस्य पश्चादुपधिः कथमपि प्रदीपनकेन दग्धः हृतो वा तस्करैः पानीयेन वा नद्यादिप्लवेन प्लावितः व्रजतो वा कथमपि विस्मरणतः पतितः। आदिशब्दात्प्रत्यनीकेन वा केनापि वस्त्राणि फालितानि पात्राणि अनेकधा

भिन्नानि ततो ध्यामितहृतव्यूढपतितादिषूपकरणानि याचनीयानि तेषामप्यसत्यभावे कृतप्रयत्नस्तदेव पूर्वपरिष्ठापितं स्वयं गृह्णाने-ऽशठभाव इति कृत्वा शुद्धः । व्य० द्वि० ८उ०। (भिक्षाचर्य्यायां क उपधिर्नेतव्य इत्येसणाविहारादिशब्देषु)

(१६) स्थविराणां ग्रहीतव्या उपधयः ॥

(सूत्रम्) थेराणं थेरभूमिं पत्ताणं कप्पति दंडए वा १ भंडए वा २ छत्त गंवा ३ मत्तगं वा ४ लट्ठियाए वा ५ भिसि वा ६ चेलं वा ७ चेलचिलिमिलिया वा ८ चम्मए वा ९ चम्मकोसं वा १० चम्मपलिच्छे यणाए वा ११ अविरहिए उ वा सेठवेत्ता गाहावतिकुलं भत्तए वा पाणाए वा पविसित्तए वा निक्खमित्तए वा कप्पति से सं नियट्टचारिस्स दाचं पि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए वा ॥५॥

स्थविराणां जरसा जीर्णानां स्थविरभूमिं प्राप्तानां सूत्रार्थतदुभ-योपेतानामित्यर्थः । कल्पते दण्डं विदण्डादिभेदभिन्नं भण्डकमने-कविधानि उपकरणानि छत्रकं प्रतीतं मात्रकमुच्चरादिसत्कं लष्टिका दण्डविशेषः । चेलं कल्पादि चर्म्म तलिकादिरूपं चर्म्मपरिच्छेदनकं बन्धा एतान् अविरहिते अवकाशे स्थापयित्वा गृहपतिकुलं पिण्ड-पातप्रतिपाताय प्रवेष्टुं वा निष्क्रमितुं वा कल्पते सन्निवृत्तचराणां भिक्षाचर्यातः प्रत्यागतानां स्थविराणां द्वितीयमपि वारमवग्रहमनुज्ञाप्य परिहर्तुं धारणया परिभोगेन चेत्येष सूत्राक्षरमात्रार्थः । विशेषव्याख्या तु भाष्यकृता क्रियते । तत्र यानि पदानि व्याख्येयानि तानि दर्शयति ॥

दंड विदंडे लट्ठी, विलट्ठिचम्मे य चम्मकोसा य ।
चम्मस्स य जे छेया, थेरा वि जे य जराजुण्णा ॥

दण्डो विदण्डः यष्टिर्वियष्टिः चर्म्म चर्म्मकोशः चर्म्मणश्च ये छेदास्ते चर्म्मपरिच्छेदनकास्ते च व्याख्येयास्तत्र प्रथमतः स्थविरपदमाचक्षते । स्थविरा अपि च ये जराजीर्णास्ते द्रष्टव्याः ॥

आयवताणनिमित्तं, छत्तं दंडस्स कारणं वुत्तं ।
कम्हा ठवेइ पुच्छा, संदिग्धधरो अ दुग्गट्ठा ॥

आतप उष्णेन परितापना तस्य त्राणार्थं छत्रकं गृह्णाति दण्डस्य उपलक्षणमेतत् विदण्डादीनां ग्रहणे कारणं पूर्वनिशीथे कल्पे च भणितम् । अथ कस्माद्दण्डं स्थापयति एषा पृच्छा अत्रोत्तरं दण्डको दीर्घः स्थविरश्च ततः तं दुर्गे व्याघ्रादिपरिवारणनिमित्तं परिवहति ॥

संप्रति भाण्डादिव्याख्यानार्थमाह ॥

भंडं परिग्गहो खलु, उच्चारादी य मत्तगा तिन्नि ।
अहवा भंडग्गहणे, अणेगविहं भडगं गहियं ॥

भाण्डकः खलु पतद्ग्रह उच्यते उच्चारादौ च आदिशब्दात् प्रश्रवणे श्लेष्मणि चेति परिग्रहस्त्रीणि मात्रकाणि भवन्ति तद्यथा उच्चारमात्रकं प्रश्रवणमात्रकं श्लेष्ममात्रकं चेति । अथवा भाण्डकग्रहणेनानेकविधं भाण्डकं गृहीतं द्रष्टव्यम् ॥

चेलग्गहणे कप्पा, तसथावरजीवदेहनिप्पन्ना ।
दोरग इयरा व चिलिमिलि, चम्मतलिगा व कत्तिव्वा ॥

चेलग्रहणेन त्रसस्थावरजीवशरीरनिष्पन्ना और्णिकसौत्रिकरूपा इत्यर्थः कल्पाः परिगृह्यन्ते चिलिमिलिर्नाम जवनिका सा दवरकमयी इतरा वा द्रष्टव्या चर्म्ममयतलिका उपानत् कृत्तिर्वा औपग्रहिकोपग्रहण-विशेषरूपाः ॥

अंगुट्ठअवरफाणू, नह कोसच्छेयणं तु जे बद्धा ।
ते छिन्नसंधणट्ठा, दुखंडसंधाणहेउं वा ॥

चर्म्ममयःकोशःचर्म्मकाशः सोऽङ्गुष्ठस्य यदि वा (अवरफाणू) पार्ष्णिका तस्याः परिरक्षणाय ध्रियते । अथवा नखरदनादेरौपग्रहिकोपकरण-विशेषस्य चर्म्ममयः कोशश्चर्म्मकोशः ये तु वद्ध्यास्ते चर्म्मपरिच्छेदनकमि-त्युच्यन्ते । ते च छिन्नसंधानार्थमथवाद्विखण्ड-संधानहेतोर्ध्रियन्ते । तदेवं विषमपदानि व्याख्यातानि ॥

संप्रति दण्डाद्युपकरणस्थापनाचिन्तां चिकीर्षुराह ॥

जइ य ठवेइ असुण्णे, न य वेइ देज्ज अत्थ ओहाणं ।
लहुगो सुन्ने लहुगा, हियम्मि जं जत्थ यावति उ ॥

यदि चाशून्ये अविरहिते प्रदेशे दण्डाद्युपकरणं स्थापयति न च कस्यापि संमुखमेवं ब्रूते अत्र दद्यादेवधानमुपयोगमिति । तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः । अथ शून्ये स्थापयति तदा चत्वारो लघुकास्तथा शून्ये मुक्ते स्तेनैश्चापहृते यत्र यत्र जघन्ये मध्यमे उत्कृष्टे वा उपकरणे प्रायश्चित्तमुक्तं तत्प्राप्नोति ।

अत्र परस्याशङ्कामाह ॥

एवं सुत्तं अफलं, भणियं कप्पतित्ति थेरस्स ।
भण्णति सुत्तनिवातो, अतीमहल्लस्स थेरस्स ॥

चोदकः प्राह यद्येवमशून्ये च प्रदेशे उपकरणे दोषस्तर्हि तत्सूत्रम-फलमविषयं यदुक्तं कल्पते अविरहिते अवकाशे स्थापयित्वेत्यादि । सूरिराह भण्यते अत्रोत्तरं दीयते अस्य सूत्रस्य निपातोऽतिमहतो-ऽतिशयेन गरीयसः ।

गच्छाणुकंपणिज्जा, जेण ठवेऊण कारणेणं तु ।
हिंडइ जुण्णमहल्लो, तं सुण वोच्छं समासेणं ॥

सोऽतिवृद्धो महान् गच्छस्यानुकम्पनीयं परं येन कारणेन स जीर्णो महान् एकाकीभूतोऽविरहिते प्रदेशे उपकरणं स्थापयित्वा भिक्षां हिण्डते तत्कारणं समासेन वक्ष्ये तच्च वक्ष्यमाणं शृणु प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ।

सो पुण गच्छेण समं, गंतूण अजंगमो न वा एइ ।
गच्छाणुकंपणिज्जो, हिंडइ थेरो पयत्तेण ॥

स पुनरजंगमो गच्छेन समं गन्तुं न शक्नोति ततः स गच्छस्यानु-कम्पनीय इति कृत्वा स्थविरो वक्ष्यमाणेन प्रयत्नेन यतनया हिण्डते तमेव प्रयत्नमाह ।

अतक्कियउवहिणा उ, थेरा भणिया अलोभणिज्जेण ।
संकमणे पडुवणं, पुरतो समगं व जयणाए ॥

यमुपधिं न कोऽपि तर्कयति विशेषतः परिभावयति तेनातर्कणीये-नोपधिना अत एवालोचनीयेन लोभगोचरतामतिक्रान्तेन परिधाप्य मासकल्पप्रायोग्यस्य वर्षावासप्रायोग्यस्य वा क्षेत्रस्य संक्रमेण कर्त्तव्ये आचार्येण ते स्थविरा अतिमहान्तो भणिताः पुरतः समकं वा यतनया चल्यता तत्र यदि प्रतिभासते तर्हि पुरतोऽग्रे साधुभिः सह तस्य प्रस्थापनं क्रियते । अथ न शक्नोति पुरतो गन्तुं तदा समकं नीयते कथमित्याह । यतनया तामेव यतनामाह ।

संघाडग एगेण व, समगं गेण्हंति सभए ते उवहिं ।
कितिकम्म दवं पढमा, करेंति तेसिं असति एगो ॥

यदि गच्छेन समं व्रजति ततः सुन्दरमेव सकलस्यापि गच्छ-स्य तत्साहाय्यकरणात् । अथ समकं गन्तुं न शक्नोति तदा

साधुसंघाटकेन समं साधुसंघाटकस्याभावे एकेन वा साधुना समं व्रजति तत्र यौ सहायौ दत्तौ तौ तस्योपकरणं गृह्णीतः परिवहतः। यदा तु चौरभयेन सभयं स्थानं तदा समस्तमपि उपधिकल्पादिलक्षणं गृह्णीतो गृहीत्वा स्थविरो यथाजातः कृत्वा अग्रे क्रियते ततः सभयस्थानलङ्घने कृतिकर्म्मविश्रामणां तस्य कुरुतः कृत्वा द्रवं पानीयञ्च समर्पयतः। तदनन्तरं प्रथमालिकां कारयतः। तयोर्द्वयोः साध्वोरभावे एकः समस्तं प्रागुक्तं करोति।

जइ गच्छेज्जाहि गणो, पुरतो पंथे य सो फिडिज्जाहि।
तत्थ उ ठवेज्ज एगं, रिक्खं पडिपंथगप्पाह॥

अथैकोऽपि सहायो न विद्यते तदा स्थविर एकाक्यपि पुरतः प्रवर्त्यते। तत्र यदि सार्थादिवशतस्त्वरितं गच्छन् स गणपुरतो गच्छेत् यदि वा पथि परिरयादिना स स्फिटितो भवेत्तत्र एकं साधुं रिक्तमुपकरणरहितं स्थापयते। अथ तत्र शरीरापहारिस्तेनभयं दुष्टव्याघ्रादिस्वापदभयं वा ततः स मोक्तुं न शक्यते तर्हि अग्रेतनस्थानात्प्रतिनिवर्त्तमानं पथिकमप्याह इति संदेशापयेत। यथाऽग्रे साधुसमुदायो व्रजन्नास्ते तस्मात्त्वरितमागन्तव्यमिति।

संप्रति यथा स स्फिटितो भवति तथा प्रदर्शयति--

सारिक्खकरिसणीए, अहवा वातेण हुज्ज पुट्ठो उ।
एवं फिडितो हुज्जा, अहवा वीपरिरएणं तु।
कालगए व सहाए, फिडितो अहवा वि संभमो हुज्जा।
पढमपिडितो वएण व, गामपविट्ठो व जो हुज्जा॥

पथि गच्छतो मार्गद्वयं तत्र येन पथा गच्छो गतस्तस्मादन्यस्मिन्पथि केचित्साधुसदृशाः पुरतो गच्छन्तो दृष्टास्ततः साधव एते गच्छन्तीति सादृश्यकर्पिण्या भित्या विप्रलब्धः सन् तेन पथा गच्छेत् अथवा अपान्तराले स वातेन स्पृष्टः स्यात्। ततो गन्तुं न शक्नोति एवममुना प्रकारेण स्फिटितो भवेत्। अथवा तथाविधमहागर्त्तया पर्वतस्य नद्या वा परिरयेण स स्थविरो व्रजन् गच्छन् स्फिटितः स्यात्। यदि वा यस्तस्य सहायो दत्तः स कालगत इति स्फिटित एकाकी संजातः। अथवा संभ्रमे वा त्वरितं सार्थेन सह पलायमाने गच्छे स्थविरःशनैर्व्रजन् गच्छन् स्फिटितो भूयात्। यदि वा प्रथमेन क्षुत्परीषहेण पीडितः सन् यः स्थविरो ग्रामं व्रजिकां वा प्रविष्टो भवेत् गच्छश्च स्तेनादिभयेन सार्थेन समं त्वरितं व्रजति स गच्छात्स्फिटितो भूयात्।

एएहिं कारणेहिं, फिडितो जो अट्ठमं तु काऊण।
अणुहिंडंतो मग्गइ, इतरे वि य तं विमग्गंति॥

एतैरनन्तरोदितैः कारणैर्यो गच्छात्स्फिटितः सोऽष्टमं षष्ठचतुर्थं वा कृत्वा भिक्षामटन् गच्छं मार्गयति अन्वेषयति इतरेऽपि च गच्छ--साधवस्तं स्थविरं विमार्गयन्ति। अथ ते गच्छसाधवः सार्थेन समं व्रजन्तो यदि सार्थं मुञ्चन्ति तदा स्तैनैरपि हीयन्ते वनदावेन वा दह्यन्ते दुष्टेन वा स्वापदेन केनापि गृह्यन्ते ततो गवेषयितुं न शक्नु--वन्ति तर्हि स्थविरेणावश्यमुक्तप्रकारेण मार्गणा कर्त्तव्या।

अह पुण न संथरेज्जा, तो गहितेणेव हिंडते भिक्खं।
जइ न तरेज्जाहि ततो, ठवेज्ज ताहिं असुन्नम्मि॥

यदि चतुर्थेन षष्ठेनाष्टमेन वा गवेषणं कर्तुं न संस्तरेत् तत स्तदा तदुपकरणमशून्ये प्रदेशे स्थापयेत्। तत्रापि यानि वर्जनीयानि स्थानानि तानि प्रदर्शयति।

अह पुण ठविज्ज एहिं, सुन्नम्गिकम्मगुंछिएसुं वा।
नाणुण्णवेज्ज दीहं, बहुभुंजइ तत्थ पच्छित्तं॥
तिसु लहुग देसु लहुगो, खद्धाइयणे य चउलहू होति।
चउगुरु समखंडीए, अप्पत्तपडिच्छमाणस्स॥

अत्राद्यगाथापदानां द्वितीयगाथोक्तप्रायश्चित्तैः सह यथासंख्येन योजना सा चैवमथ पुनः स्थापयेदेषु वक्ष्यमाणेषु स्थानेषु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे ततः प्रायश्चित्तसंभवस्तत्र यदि शून्ये स्थापयति ततश्चतुर्लघु अग्निकर्म्मिकायामपि शालायां स्थापने चतुर्लघुका अग्निना यदि कथमप्युकरणस्य दाहस्तदा तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तं जुगुप्सितगृहेषु स्थापयति चतुर्लघु तस्मादेतानि वर्जयित्वा वक्ष्यमाणेषु स्थानेषु स्थापयेत् यत्र स्थापयति ते अनुज्ञापयितव्या अननुज्ञापने मासलघु दीर्घां भिक्षाचर्यां कुर्वति मासलघु बहु भुञ्जति प्रायश्चित्तं चत्वारो लघवो भवन्ति (खद्धाइयणेइत्ति) खद्धस्य प्रचुरस्य अदने भक्षणे सतीत्यर्थः।

तथा अप्राप्तां संखडीं प्रतीक्षमाणस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः।

संप्रति येषु स्थानेषु स्थापयेत्तानि दर्शयति।

असति य सुमणुन्नाणं, सव्वोवहिणा व भद्दएसुं वा।
देसकसिणे व घेत्तुं, हिंडइ मइ लंभ आलोए॥

यदि सुमनोज्ञाः सन्ति तहि तेषूपकरणं स्थापयितव्यं तेषामसत्य--भावे अमनोज्ञानामपि असांभोगिकानामप्युपाश्रये स्थापयेत् यदि वा सर्वेणाऽप्युपधिना गृहीतो न हिण्डते यदि शक्तिरस्ति अशक्तौ पार्श्वे स्थापयति यदि वा यथा भद्रकेषु गृहे स्थापयति (देसकसिणे व घेत्तुमिति) समस्तस्योपधेर्देशभूतानि यानि कृत्स्नानि परिपूर्णानि कल्पादीनि तानि गृहीत्वा भिक्षामटति अशक्तौ तान्यपि मुक्त्वा परिभ्रमति तत्र सति लाभे तेषु गृहेषु भिक्षामटति अटन् उपकरणं पश्यति॥

असति य अविरहियम्मि, णित्तिक्कादीणि अंतिए ठवए।
देज्जह ओहाणंति, जाव अभिक्खं परिभमामि॥

असति अविद्यमाने भावे अविरहिते प्रदेशे नैत्यकादीनां नैत्यिको ध्रुवकर्म्मिको लोहकारादिरादिशब्दात् मणिकारशंखकारादिपरिग्रहस्तेषामन्तिके स्थापयेत् ब्रूते च दद्यादस्योपकरणस्यावधानं यावदहं भिक्षां परिभ्रमामि॥

ठवेति गणयंतो वा, समक्खं तेसि बंधिउं।
आगतो रक्खिया भोत्ति, तेण तुब्भेच्चिया इमे॥

तेषां ध्रुवकार्म्मिकप्रभृतीनां समक्षं गणयन् बध्वा स्थापयति वा शब्दः स्थापनाविषयप्रकारान्तरसूचने आगतश्च सन् द्वितीयमपि--वारमवग्रहमनुज्ञापयति। कथमित्याह भो इत्यामन्त्रणे युष्माभी रक्षितान्यमूनि तेन युष्मदीयानीमानि मां गृह्णन्तमनुजानीत॥

दट्ठूण व अन्नहा गंठिं, केण सुद्धो त्ति पुच्छति।
रहियं किं घरं आसी, को परो व इहागतो॥

इह यदा तेषां समक्षमुपकरणं बध्वा स्थापयति तदा साभिज्ञानं ग्रन्थिं बध्नाति। ततःआगतः सन् तं प्रलोकयति। मा केनाप्युन्मुच्य किंचित् हृतं स्यात्तत्र यदि तथैव ग्रन्थिं पश्यति ततः पूर्वोक्तप्रकारेण द्वितीयमवग्रहमनुज्ञापयति। अथ ग्रन्थिमन्यथा पश्यति ततो ब्रूते केनायं ग्रन्थिरुन्मुक्तश्छोटित इति

पृच्छति । तथा किमिति क्षेपे रहितं शून्यं गृहमासीत् को वा अपर इह समागत इति।

नत्थि वत्थुं सुगंभीरं, तं मे दावेह मा चिरा ।
न दिट्ठो वा कहं एत्तो, तेणओ उवओ इह ॥

ममोपकरणमध्ये यद्वस्तु सुगम्भीरमतिशोभनं तन्नास्ति तद्दर्शय तद्वस्तु मा चिरकालं कुरु । अथ न गृहीतं मया नापि कोऽप्यागच्छन् दृष्टस्तत आह तददृष्टो वा कथमत्रागच्छत् स्तेनक (उवयति) उत्परकः अवश्य दृष्टः स्वयं वा गृहीतमिति भावः ॥

धम्मो कहिज्ज तेसिं, धम्मट्ठाए व दिन्नमन्नेहिं ।
तुब्भारिसेहि एयं, तुज्झेसु य पच्चतो अम्हं ॥

धर्म्मस्तेषां ध्रुवकर्म्मिकप्रभृतीनां कथ्यते । कथयित्वा च पर्यन्ते संघाटकमानीयमिदमुच्यते धर्म्मार्थमेव युष्मादृशैरन्यैरेतत् उपकरणं मह्यं दत्तं युष्मासु च विषये अस्माकमतीव प्रत्ययो विश्वासस्ततः किमित्याह ।

तो ठवियं णेपत्थं, दिज्जउ तं सावया इमं अम्हं ।
जइ देंती रमणिज्जं, अदेंति ताहे इमं भणति ॥

यत एवं तस्मात् श्रावका यन्नोऽस्माकमत्र स्थापितं तदिदमस्माकं दीयतामेवमुक्ते यदि ददति ततो रमणीयं सुन्दरम् । अथ न ददति ततोऽददतस्तान् इदं वक्ष्यमाणं भणति । तदेवाह ।

थरे त्ति काउं कुरु मा अवन्नं, संती सहाया बहवो ममन्ने ।
जे उग्गमेस्संति ममेयमोसं, खित्ताइ नाउं इति ते अदेंते ॥

स्थविर इति कृत्वा मा ममावज्ञां कार्षुर्यतः सन्ति ममान्ये बहवःसहाया ये क्षेत्रादि ज्ञात्वा क्षेत्रकालादिकमवबुद्ध्य ममैतत् मासमुद्गमयिष्यन्ति इति एतत् तान् अददतः प्रति ब्रूते।

उवहिप्पडिबंधेण, सो एवं अत्थई तहिं थेरो ।
आयरियपायमूला, संघाडेगो व अह पत्तो ॥

उपधिप्रतिबन्धेन स स्थविरस्तत्र एवमुक्तप्रकारेण अर्थयति तावत् यावदाचार्यपादमूलात् संघाटक एको वा साधुः समागच्छति। अथ सोऽपि प्राप्तः तर्हि यत्तैः कर्त्तव्यं तदुपदर्शयति।

ते वि य मग्गंति ततो, अदत्ते साहेंति भोइयाईणं ।
एवं तु उत्तरुत्तर, जा राया अह व जा दिन्नं ॥

तेऽपि आचार्यपदे मूलादागताः साधवस्तान् ध्रुवकर्मिकादीन्मार्गयन्ति याचन्ते ततो यदि न ददति तर्हि तान् अददतो भोजिकादीनां नगरप्रधानपुरुषादीनां साधयन्ति कथयन्ति । अथ तत्रापि न किम्-प्यनुशासनं तर्हि ततोऽपि वृहतां वृहतां वृहत्तराणां कथनीयम्। एवमुत्तरोत्तरस्य कथनं तावत् यावत् राजा अथवा यावद्वृत्तं भवति तावत्कथनीयम्।

अह पुण अक्खयचिट्ठे, ताहे दोव्वोग्गहं अणुन्नवए ।
तुब्भव्वयं इमं ति य, जेणं मे रक्खियं तुमए ॥

अथ पुनस्तत् उपकरणमक्षतं तिष्ठति तदा द्वितीयमवग्रहमनुज्ञापयति यथा इदं समस्तमप्युपकरणं युष्मदीयं येनेदं युष्माभी रक्षितं तस्मान्मां गृह्णन्तमनुजानीतेति एतावता 'कप्प तिण्हं सन्नियट्टचाराणं दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्तेति' व्याख्यातम्।

घेत्तूवहिं सुन्नघरम्मि भुंजे, खिन्नो व तत्थेव य छन्नदेसे ।
छन्नो सती भुंजइ कच्चगेऊ,सव्वो वि उंभाण करेतु कप्पं ॥

गृहीत्वा उपधिं शून्यगृहे गत्वा भुङ्क्ते। अथ मार्गपरिश्रमेणभिक्षाटनेन च खिन्नः परिश्रान्तस्तर्हि तत्रैव छन्ने आवृते प्रदेशे भुङ् क्ते। अथ छन्नप्रदेशो नास्ति तर्हि (कच्चगे व दुगे) सर्वं भाजनाद्यावृत्य भाजनस्य च कल्पं कृत्वा भुङ्क्ते।

मज्झे दवं पिवत्तो, मुत्ते वा तेहि वा दवावेति ।
नेच्छे वा मोयत्तण, एमेव य कच्चए डहरे ॥

मध्ये भोजनमध्यभागे किञ्चित् भुङ्क्ते इत्यर्थः । द्रवं पिबन् पातुकामो वा भुङ् क्ते वा परिपूर्णस्तैरेव गृहस्थैर्दापयति मात्रकात्पा-नीयमपवर्त्तापयति अपवर्त्यापि द्वाभ्यां हस्ताभ्यामञ्जलिंकृत्वा पिबति तथा यदि क्षुल्लके नववटुके न सर्वं भक्तं माति तदा यः पानीयविषये विधिरुक्तः स एवात्रापि द्रष्टव्यस्तथा एवमेव अनेनैव प्रकारेण डहरे क्षुल्लके तच्च द्रष्टव्यम्।

अप्पडिवज्झंतगमो, इयरे वि गवेसए पयत्तेण ।
एमेव अवुड्ढस्स वि, नवरं गहिएण अडणं तु ॥

एवं यतनां कुर्वतो व्रजिकादिष्वप्रतिबध्यमानस्य प्रतिबन्धमकुर्वतो गमो गमनं गच्छे भवति। इतरेऽपि च गच्छसाधवस्तं स्थविरं प्रयत्नेन गवेषयन्ति गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात्। योऽप्यवृद्धः कारणतः कथमप्येकाकी भवेत्तस्याप्येवमेवानेनैव प्रकारेण यतना द्रष्टव्या नवरं भिक्षार्थमटनं गृहीतेनोपकरणेन तस्य द्रष्टव्यम्। व्य० द्वि०८ उ०। (तीर्थकृतां सोपधित्वं तित्थयरशब्दे) (उपधेरवश्यधारणीयत्वं वोटिकशब्दे) (मध्यमतीर्थ-करसाधवो महामूल्यान्यपि वासआदीनि भुञ्जत इत्यचेलगशब्दे दर्शितम्) (पादप्रोञ्छनकादीन् याचित्वा प्रत्यर्पणं पादपुंछणकादिशब्देषु) (उपधीनां धावनं धोवणशब्दे)

(१७) निर्ग्रन्थीनामागमनपथे उपकरणानि स्थापयति ॥

(सूत्रम्) जे भिक्खू णिग्गंत्थीणं आगमणं पहसि दंडगं वा लट्ठियं वा रयहरणं वा मुहपत्तिं वा अण्हयरं वा उवगरणजायं ठवेइ ठवित्तं वा साइज्जइ ॥२६॥

जेण पहूणपक्खियादिसु आगच्छंति तिमिपहे दंडो वा हुप्पमाणो लट्ठी आयप्पमाणा अण्णतरगहणा ओहियं उवग्गहियं वा णिक्खिवति तम्मि पहे मुंचति तस्स मासलहुं आणादिया य दोसा कहं उवकरणस्स णिक्खेवसंभवो उच्यते।

णिसिपंते य ठवेज्जा, पडिलेहंतो व भत्तपाणं तु ।
संथारलोयकितिकम्म, कत्तितवावाअणो भोगा ॥२२१॥

णिसिपंतो रयहरणं मुंचति भत्तपाणाति वा पडिलेहंतो संथारगं बद्धंतो वा लोयं वा करेंतो कितिकम्मं विस्सामणंतं वा करेंतो मत्ताए वा कत्ति ताव ण मुचति अणाभोगेण वा एतेहिं कारणेहिं रओहरणादि मुंचेज्जा ॥

निग्गंथीणागमणं, पवेज्जो य भिक्खु णिक्खिवे ।
कइतवेणं अण्णतरेण गुरुगा लहुगोतरे आणा ॥२२२॥
पडिपुच्छदाणगहणे, संलावणुरागहासखेड्डे य ।
भिण्णकधादिराधण, दट्ठूण व भावसंबंधा ॥२२३॥

कतितवेणं मेहुणट्ठस्स चउगुरुगं इतरं अकेतवं अणाभोगो अणाभोगेण मुंचति । मासलहुं आणादिया य दोसा भवंति इमा चरित्तविराहणा पडिपुच्छगा पढमा पुच्छा वितिया पडिपुच्छा तस्सिमं वक्खाणं।

कस्सेयं ति य पुच्छा, मम्मिति का तूण किं वुतं वितिया।
वित्तं ण मे सघीणं, पक्खित्ते दट्ठु एज्जंति ॥२२४॥

रयोहरणादि कति संजती घेत्तूण पुच्छति कस्सेयं ति रयोहरणं साहू भणति ममेयंति काऊण मया कृते साधुना इत्यर्थः। अहवा साहूणं ति पढमपुच्छा किं वुयविति पच्छा एस पडिपुच्छा दट्ठव्वा ततो साहू भणति वित्तं ण मे सहीणं ति ण मे वा संवट्टती वित्तं कस्माद्धेतोः पक्खीए तुमं आगच्छमाणी दिट्ठा सा भणति।

किं च मए अट्ठो मे, आमं णणु दाणिहं तुह सहीणं।
संपत्ती होतु कत्ता, चत्ता तु एक्कतरो भणितो य॥२२५॥

साहू भणति आमं अनुमतार्थे सा भणति ननु आमन्त्रणार्थे इदाणिं तुह सहीणा आयत्तेत्यर्थः। ततियपुच्छा गता संपत्ती सागारिया सेवणा चउत्थपुच्छसंजतो करेंति संजविता पडिपुच्छति गयं इदाणिं दणेग्गहणेत्ति भणिओ य।

हंद गेण्हह सुज्झं, दातूण साहरति भुज्जो तु।
तुज्झं घेत्तुं व पुणो, मुंचति जा पुणो देति॥२२६॥

हंदेत्यामन्त्रणे संजतो हत्थं पसारेऊण सुज्झो पडिसाहरेति भणति य तुज्झेव भवतु अहवा सो संजतो तीए हत्थाओ घेत्तूण पुणो मुंचति कस्माद्धेतोः जा पुणो देति जेण द्वितीयं वारं मम देति देंतीए य पुणो हत्थफासो भविस्सति तस्माद्धेतोः इदाणिं संलावो साहू भणति धारेयव्वं।

धारेतव्वं जातं, जात पउमदलकोमलतलेहिं।
हत्थेहि परिग्गहितं, इतिहासणिरागसंबंधा॥२२७॥

इतिहासमेतत् इतिहासतो अणुरागो भवति ततो य परोपरं भावसंबंधो इयाणिं "अणुरागोत्ति" गाहा।

संलावादणुरागो, अणुरत्तावेति भो मए दिण्णं।
इतरो वि य पडिभणती, कस्स व जीवेण जीवामो॥२२८॥

संलावा अणुरागो भवति इदाणिं हासखेड्डेयत्ति संजाती अणुरत्तावेइ भे मए दिण्णं भे इति भवतः इतरो साहू भणति जं पि मम जीवियं तं पि तुज्झायत्तं तेण तुज्झ वएण जीविएण जीवामो।

एवं परोप्परस्स, भावणुबंधेण होति मे दोसा।
पडिसेवणगमणादी, गेण्हणदिट्ठेसु संकादी॥२२९॥

पडिसेवणा चउत्थस्स एगतरस्स दोण्हं वा गमणं तु णिक्खमणं आदिसद्दातो सलिंगट्ठितो वा अणायारं सेवति संजतो वावि तिणिं वत्तिणा वा संजय उदिण्णमोहावला वा गेण्हेज्ज अहवा खयरकम्मिएहिं गेण्हणं हासाखेड्डं वा करेंताणि सागारियेण दिट्ठाणि संकिते चउगुरुं णिस्संकिते मूलं अहवा दिट्ठे घाडिय भोतियातिपसंगो।

बंभव्वए विराधण, पुच्छादीए हि होति जम्हा उ।
णिग्गंथीणागमण, पम्हट्ठं उण णिक्खिवे उवधिं॥२३०॥
वितियपदमणाभोगे, पडितेए हुज्ज संभमेगतरे।
आसण्णे दूरे वा, णिवेदजतणाए अप्पणं ति॥२३१॥

पम्हट्ठं णाम विसरियं एगतरसंभमो सावयगणिआ उ भाति सो संजयाणं उवही वसहीए आसण्णे वा पडितो दूरे वा जति असण्णोति णिवेदेंति अह दूरतो घत्तुं जयणाए अप्पणिंति॥

आसण्णे साहंती, दूरे पडितं तु थेरिगाणेति।
संणिक्खिवंति पुरतो, गुरुणा इमि पमज्जत्ता॥२३२॥
(सूत्रम्) वसहीए जइ आसण्णे पडियंतो ण गेण्हंति णियत्तिउं थेरिया गुरुणा साहंति अह दूरे पडियंतो अरिया गिण्हंति तरुणी वि घेत्तुं थेरिया ण समप्पेंति वा थेरिया संजयवसहि–मागंतुं पमज्जित्ता भूमिगुरुणं पुरतो णिक्खवेंति एसो अप्पिणे जयणा भणिया॥

एतत्सूत्रस्य व्याख्या सुगमत्वाद् ग्रन्थकृता न व्याख्याता। (उपधेः परिष्ठापना स्वस्थाने) उपधिप्रत्युपेक्षणं व्याख्यातमेव (प्रलम्बग्रहणे क उपधिर्ग्राह्य इति पलम्बशब्दे) (धर्मोपकरणे परिगृहदोषो नेति परिग्गहशब्दे)

उवहिअसंकिलेस पुं०(उपध्यसंक्लेश) उपधिविषयोऽसंक्लेशः उपध्यसंक्लेशः असंक्लेशभेदे, स्था० १० ठा०॥

उवहिकप्प पुं०(उपधिकल्प) उपधिधारणसामाचार्याम्,।

एसो चरित्तकप्पो, एत्तो वोच्छामि उवहिकप्पं तु।
सो पुण पुव्वाभिहितो, उवहिओवग्गहे चेव॥
जो तु विसेसो एत्थं, तं णवरि इह अहं पवक्खामि।
मुद्धगमादिएहिं, वारेयव्वो जहाकमसो।
फासुयमफासुए य, विजाणयअजाणए ओहो॥
ओहो बहुवग्गहिते, वारणा कस्स केचिरं।
जदि फासुवही करणे, गहिओ उ जाणए ण तो धारेज्ज।
जुण्हो अजुण्हो वि हु, अट्ठकुट्ठे छुब्भति हु॥
फासुगो अजाणएण, कारणगहिओ धरिज्जते ताव।
जावन्नो उप्पण्हो, ताहे तु विगिंचए तं तु।
अह पुण अफासुओ तु, जाणगगहिओ तु कारणे होज्ज।
जदि गीतत्था सव्वे, तो धारेती तु जा जिण्हो॥
अगीतविमिस्सेहिं, अणुपन्नमितं विगिंचंति।
अहपुण अफासुओ तु, कारणगहिओ अगीतेणं॥
उप्पण्हे अण्हम्मि, विगिंचती तु सो ताहे।
एवं चतुभंगेणं, वारणता वा परिट्ठवणा॥
सो पुण दुविहो उवही, वत्थं पातं च होति बोद्धव्वं॥
वत्थं तु बहुविहाणं, पाता पुण दो अणुण्हाता॥
तो वीतं पंचण्हं, किण्ह वि एगो पडिग्गहो होति।
तो दो एक्केक्कस्स तु, भण्हति न पहुच्चए एवं॥
तो चतुतिण्ह दुवेण्हं, अहवा एक्केक्क तस्स एक्केक्कं।
भण्णति पाहुणगादिसु, ताहे किं काहितेक्केणं॥
अप्पापरोप्पवयणं, जीवाणिकाया य चत्तहोतेव्वं।
चारित्तगदिट्ठंतो, तम्हा दो दो तु घेत्तव्वो॥

इयाणिं उवहिकप्पो उवहि उग्गमाइसुद्धो धारेयव्वो। गाहासिद्धमेव। उग्गमाइपत्तं पत्ताबंधो। गाहासिद्धमेव तिण्हयपच्छागा गाहासिद्धमेव। एस जिणकप्पो थेरकप्पो एए चेव दुवालसडंडए गाहा। पंचसमाए गाहा कोसए गाहा सिद्धं। जं च दुवग्गहकरं गाहासिद्धं। गाहा। फासुय अफासुए य वावि उवही पुणो जो गहिओ भवइ सो केचिरं धारेयव्वो जो फासुओ उवही सो जाणगा वा होतु अजाणगा वा ताव परिभुंजंति जावं जुत्तो जाव रुंधिऊणं अट्ठण वि किज्जइ आयरिउवज्झाया नियमा जा–

ण गाहा। अह फासुओ जाणगा वकारणे गहिओ तहावि ताव परिभुञ्जइ जाव वरइ अह अफासुओ अयाणगा य कारणे गहिओ ताहे उप्पन्ने फासुए इयरो परिट्ठविज्जइ एवं चउभंगो धरणे वा परिट्ठवणा वा। चोयग आह। गाहा। एगेण किमेगो पादो जाव पंचण्ह वि सयाणं एगो पडिग्गहओ अहवा दोण्हं तिण्हं चउण्हं वा पडिग्गहओ एगो न पडुच्चइ तो दो दो एगस्स पडिग्गह उ मत्तओ य दिज्जइ उच्यते अद्धाण पाहुणगाइसु कारणाइसु कहं धरंति तु जइ पहुगाण एगमेगो पडिग्गहओ एव य भणंतस्स चउगुरु। अप्पापवयणं जीवनिकाया परिचंता वा रत्तयदिट्ठंतेण सव्वेण वि दोण्हि गिण्हियव्वा मत्तओ पडिग्गहओ यं किं कारणं जेण गच्छो, सकारणो वा लघुट्ठसेहपाहुणयाइसु। आह जइ नियमा दो दो धरिज्जंति जिणकप्पियाणं किं निमित्तं एगओ पडिग्गहओ। गाहा। संगहिय उच्यते। सो भगवानसंगहियकुच्छी जोयणं पि गच्छइ सन्नाहो जसकारी य पवयणस्स जेण अपसो भवइ तं न करेइ अप्पाहारो सो भगवं तत्ते अओकमल्ले वि विद्धंसइ तस्साहारो सरीरए अपडिबद्धो न य आसणे वोसिरइ उच्चाराइ न य आचारावि विच्छिण्णे थंडिले पडिग्गहं एगपासे ठवेऊण एएहिं कारणेहिं तस्स एगो पडिग्गहो। गाहा। तिहिं जइ वत्थाणि दाणिं कइहिं वत्थेहिं पडिपुव्वउसग्गेण तिहिं जया पुण तिहिं न संथरेज्जा तो अइरेगाणि धरेज्जंति। आह नणु पमाणाइरेगे दोसा उच्यते। सबालवुड्ढाओ लोगत्थो सहकारणेण सकारणे तेसिं बहु-एहिं कज्जं अण्णओ य मग्गतो सेहाइ कारणेसु न लभइ ताहे परिचत्ता सेहादयो पच्छा वोच्छेयकरो भवइ सपक्खस्स तित्थस्स वुत्तं भवइ। गाहा। जइ एए वियप्पहुणे जइ आहारोवहिसेज्जासु विप्पहूणाणं नाणदंसणचरित्ताणं तवनियमसंजमसज्झायमाईणं निप्पत्ती होज्जा तेण आहाराइ आइग्गहणेण उसहाइणं व को उवग्गहं कुज्जा। गाहा। जम्मि परिग्गहियं जत्थ पुण परिगिज्झमाणे तस्स थावराणं उवघातो पवत्तेज्जा पुरेज्जा पुरेक्कम्म उदउल्लाइसु तं न घेप्पइ महिए वा पच्छे कमाइधरे ते वा पडिलेहणाइभएण पडिलेहेइ भएण माहीरिहित्ति सो परिग्गहो भवइ उवहिम्मि घेप्पंते गहिए धरिज्जंते वा एए दोसा न भवंति सो परिग्गहो निद्दोसो त्ति अपरिग्गहो चेव। गाहा। आहारोवहिं किं निमित्तं भगवया तित्थं पवत्तियं उच्यते। न विभगवता उपहारादिनिमित्तं तित्थं पवत्तियं नाणदरिसणचरित्तनिमित्तं तवसंजमाईणं निव्वाणसाहणं पडिविद्धिकारणं तित्थं पवत्तियं। गाहा। नाणचरणहोराइणि नाणाइणं गुणकारगाणित्ति तेणाणुण्हायं तेसु पुण णाणाइसु ठियस्स पूयावि इच्छिज्जइ जहा गणहारिस्सुक्को साहारोवहिसाइणं एस उवहिकप्पो। पं०चू०॥

अहुणा हु उवहिकप्पं, गुरूवदेसेण वोच्छामि।
उवगेण्हति उवकारं, करेइ उवहीयते व उवही तु॥
किं कारणं तु उवही, देसीए भण्णती सुणसु।
जीवाणणुगाहट्ठा, एवं खलु वण्हितो (इहं) तित्थे॥
काऊण णुग्गहपदं, पडिणीयपदे अभावो तु।
रसकादणुकेयट्ठा, अगणीमादीण चेव रक्खट्ठा॥
असहू णणुकंपा य, तउवहिगहणं जिणा यंति।
आह जदणुग्गहट्ठा, वत्थादीगहणदेसियं समये॥
तो असहूणं कण्हा थीपरिभोगो णणुण्हातो।
मण्णति पवित्ति कम्हि व, कम्हि व पुण होति अप्पवित्तीओ॥
संजम पडीनियत्ता-मेहुणमादीण णाणुण्हा।
णाणाचरणठिताएं, उवग्गहं कुणति णाणचरणाणं॥
आहार उवहि सेज्जा, तेण उ उवहित्तणं वेंति।
जस्स पुणो वहिगहिता, उवघातकरी तु तस्स उवघाता।
कह उवधाय करेती, अइरित्तगहो य मुच्छाए॥
संथरमाणो गेण्हति, अतिरित्तं उवहि जो भवे समणो।
वण्हादिजुत्ते मुच्छति, दव्वहारे वुवस्से वा॥
एतेसु अणिट्ठेसु य, जो दुस्सति सो करेति उवघातं।
णाणादीणं तिण्हं, तम्हा ते वज्जए हेतू॥
जो जत्थ जदा जहियं, उवहीधरिभोगओ अणुण्णाओ।
सो तत्थ अणतिचारो, अणुण्हाते चरणभेदे॥
जह सिंधूओ कप्पा, ओराला उण्हिया अणुण्हाता।
पिसियादीण य गहणं, खीरादीणं चणुण्हाता॥
अतिहिमदेसे य तहा, कारणियगताण सिसिरकालम्मि।
परिमुंजंताण य को, तवादिचरणे अणुवघातो॥
लाडविसयादिएसुं, एतेसिं चेव भोत्तु पडिसेहो।
पडिसिद्धे परिभोगं, कुणमाणे भंजती चरणं॥
णाणं पि तु सो भिंदइ, उवदेसं जेण ण कुणति।
तस्स जं णाणुपुव्वं, दंसणभेदो वि तो तेणं॥
णिवदिक्खितमतरंता-दिएसु होति परिभोगा।
समणुण्णाओ कसिणा-दियाण इहरा अणुवभोगो पं०भा०।

इयाणिं उवहिकप्पो गाहा जीवाणुग्गहओवही किं निमित्तं धारिज्जइ याइ उच्यते जीवाणुग्गहहेऊ रसाएणं सा रक्खणणिमित्तं एयम्मि तित्थेवं निओ उवही असहुत्तणेण य वत्थाईण गहणं। आह जइ असहुत्तरेण वत्थाइगहणं तेण अविरइयाओ कम्हा नोवभुंजइ उच्यते क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिरित्यादि। संयमप्रत्यनीकानि मैथुनादीनि अतस्तेषामभावो भवति आचरितव्ये गाहा। नाणावरणे किमुक्तं भवत्युपधिरिति उच्यते ज्ञानदर्शनचारित्राणामुपकारं कुरुते उपग्रहं करोतीत्यर्थः। उवही आहारेज्जा उपद्रव्यतोऽवधिरित्यपदिश्यते गाहा जस्सओ जो पुण संथरमाणो वि अइरित्तं उवहिं धरेइ तस्स स एव उवहिनिमित्तो उवघाओ भन्नइ कारणेण वा आहारे वि रसहेउं वा भुंजइ रागद्दोसेहिं वा एयस्सोवघाओ भवइ। गाहा जो जत्थ उवही पुण जो जत्थ जया जम्मि खेत्ते अणुन्हाओ जहा सिद्धए उक्कोसयाणिणं तयाणं जम्मि वा काले अणुन्हातो हेमन्तकाले वासे वा तेणोवहिणा नाणाइ आयारो न भवइ जो पुण खेत्तकालेसु अणुन्हाओ। गाहा जो जत्थ उवही धरिज्जइ सो उवघाओ। एस उवहिकप्पो। पं० चू०॥

उवहिकय त्रि०(उपधिकृत) उपधिनिष्पन्ने, "परिहारियं अदिंतो गिहणी उवधीकतं तु पच्छित्तं" नि०चू० १उ०।

उवहिपच्चक्खाण न०(उपधिप्रत्याख्यान) उपधिरुपकरणं तस्य रजोहरणमुखवस्त्रिकाव्यतिरिक्तस्य प्रत्याख्यानं न मयाऽसौ ग्रहीतव्य इत्येवंरूपा निवृत्तिरुपधिप्रत्याख्यानम्। रजोहरण-

मुखवस्त्रिकां विहायाऽन्योपधिपरिहारे तत्फलं यथा।

उवहिपच्चक्खाणेणं भंते ! किं जणयइ उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ निरुवहिएणं जीवे निक्कंखे उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सइ ॥

हे भदन्त ! उपधिप्रत्याख्यानेन रजोहरणमुखवस्त्रिकापात्रादिव्यतिरिक्तस्य उपधेः प्रत्याख्यानेन उपधित्यागेन जीवः किं उपार्जयति गुरुराह हेशिष्य ! उपधिप्रत्याख्यानेन अपरिमन्थं जनयति परिमन्थः स्वाध्यायव्याघातः न परिमन्थोऽपरिमन्थः स्वाध्यायादौ निरालस्यं जनयति। पुनर्निरुपधिको निष्परिग्रहो जीवो निष्काङ्क्षो भवति वस्त्रादौ अभिलाषरहितः स्यादित्यर्थः तादृशो हि उपधिमन्तरेण उपधिं विना न संक्लिश्यते क्लेशं न प्राप्नोति सपरिग्रहो क्लेशं प्राप्नोतीति भावः। (उत्त०) निष्क्रान्त उपधिर्निरुपधिस्स एव निरुपधिको जीवो निष्काङ्क्षो वस्त्राद्यभिलाषरहितः सन्नेतच्च पदं क्वचिदेव दृश्यते उपधिमन्तरेण चास्य भिन्नक्रमत्वान्न संक्लिश्यते न च मानसं शारीरं वा क्लेशमाप्नोति उक्तं हि ''तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवति परिजुन्ने मे वत्थे सूइं जाइस्सामि संधिस्सामि उक्कसिस्सामितुं निस्सामि वा कसिस्सामि इत्यादि'' उत्त० २८ अ०।

उवहिप्पहाण त्रि०(उपधिप्रधान) उपधिर्माया तत्प्रधानः। कृतकपटशते, ''कति न वि याहिं उवहिप्पहाणाहिं'' सूत्र०१ श्रु०४ अ०।

उवहिय त्रि०(उपहित) उप–धा–क्त–निहिते, अर्पिते, समीप-स्थापिते, आरोपिते, उपाधिसङ्गते, उपलक्षिते, वाच०। भावे–क्तः संस्तारकादेरुपढौकने, न० नि० चू० २० उ०॥

उवहियविहि पुं०(उपहितविधि) उपग्रहभेदे, उपहितविधिर्नाम यदाऽऽचार्य्यैर्वितीर्णं तदाऽऽचार्य्याननुज्ञाप्य अन्येषां साधूनां तदन्तरेण विसूरयतां ददाति। अन्ये तु व्याचक्षते यद्यस्य गुरुभिर्दत्तं तत्तस्योपनयतीत्येव उपहितविधिः व्य०३ उ०।

उवहिवहावण न०(उपधिवाहन) वस्त्रपात्रादेरुपधेरन्येन नयने,

(सूत्रम्) जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा उवहिव्वहावेइ वहावंतं वा साइज्जइ ॥४७॥ जे भिक्खूणात्तंसए असणं वा ४ दियइ देयंतं वा साइज्जइ ॥४८॥

जे भिक्खू उवकरणं, वहाविगिहि अहव अण्ण तित्थाणं।
आहारं वा देज्जा, पडुच्च तं *आणमादीणि* ॥२२४॥

ममेस उवकरणं वहइत्ति पडुच्च आहारं देज्जा तस्स चतुलहुं आणादिया य इमे दोसा।

पाडेज्ज व भिंदेज्ज व, मलगंधावं न छप्पति य नासो।
अत्थंडले ठवेज्जा, हरेज्ज वासोच्च अन्नो वा ॥२२५॥

से गिहत्थो अन्नतित्थिओ वा उवकरणं पडेज्ज भायणं वा भिज्जेज्जा मलिणे दुग्गंधे वा उवकरणे अन्नं वा देज्ज छप्पतियाओ वा छड्डेज्ज वा मारेज्ज वा अहवा सो अयगोलो अथंडिले पुढवियरियादिसु ठवेज्ज अहवा तस्स भारेण आयविराहणा हवेज्ज तत्थ परितावणादी जं च पच्छा उसहभेसज्जाणि वा करेंतो विराधेति तण्णिप्पण्णं च से पच्छित्तं तं उवकरणं सो वा हरेज्ज अणुवउत्तस्स वा अन्नो हरेज्ज किं च जो तं पडुच्च असणादी देज्जा तस्स चउलहुं।

दुव्वलियत्तं साहू, पायाणं तस्स भोयणं मूलं।
दगयातो वि प्पियणे, दुगुञ्छवमणे य उड्डाहो ॥२२६॥

भगवता गोयमेण महावीरवद्धमाणसामी पुच्छितो एतेसिं णं भंते बालाणं किं, वलियत्तं से य भगवया वागरिय दुप्पलियत्तं सेयं वलियत्तं अस्सेयंतस्स य वलियत्तणस्स मूलं अह सो य साहूसमीवे आहारं आहारेत्ता बहूणि अधिकरणाणि करेज्ज गदं वा पिपज्ज अयमेज्ज वा भुत्तो वा दुग्गछाए वमेज्जा रुयुप्पातो वा स हवेज्जसंजएहिं परिसं किं पि मे दिन्नं जेण एगो जाओ एवं रिउड्डाहो मरेज्ज वा सव्वत्थ पच्छाकम्मो फासुएण देसे मासलहुं अफासुएण देसे सव्वे चउलहुं तम्हा गिहत्थो अन्नउत्थिओ वा ण वाहेज्ज वा ण वा असणादी दायव्वं भवे कारणं जेण च हावेज्ज वा असणादि वा देज्जा॥

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
देसुट्ठाणे अपरि–क्कमेवहावेज्ज देज्जा वा ॥२२७॥

असिवकारणे ओमे वा रायदुट्ठे वा वोहिगादिभए वा रुंतो अप्पणो असमत्थो वाहवेज्ज वा तन्निमित्तं असणादि देज्ज गिलाणो वहावेज्ज वा गिलाणट्ठा वा गमंते देसुट्ठाणे वा अपरिक्कमो गिहिणा वहावेज्ज देज्ज वा आहारं। नि० चू० १२ उ०।

उवहिविउस्सग्ग पुं०(उपधिव्युत्सर्ग) उपधित्यागरूपे द्रव्यव्युत्सर्गे,औ०॥

उवहिसंकिलेस पुं०(उपधिसंक्लेश) उपधीयते उपष्टभ्यते संयमः संयमिशरीरं वा येन स उपधिः वस्त्रादिस्तद्विषयः संक्लेशः उपधिसंक्लेशः। संक्लेशभेदे, स्था०१ ठा०।

उवहिसंभोग पुं०(उपधिसम्भोग) उपधेःपरिकर्म परिभोगं वा कुर्वन् संभोग्यो विसंभोग्यश्चेति। संभोगभेदे, उक्तं च ''एगं च दो वि तिन्नि च, आउट्टं तस्स होइ मिच्छत्तं'' आलोचयत इत्यर्थः। ''आउट्टंते वि तओ, परेण तिण्हि वि संभोगोत्ति'' स०

उवहिहुंजंत त्रि०(उपभुञ्जान) उपभोगं कुर्वाणे, प्रा०॥

उवाइणावित्तए अव्य०(उपानाययितुम्) संप्रापयितुमित्यर्थे, ''पच्छिमं पोरिसिं उवाइणायित्तए'' बृ०४ उ०। अतिक्रमयितुमि–त्यर्थे, कल्प०। उपादाययितुम् ग्राहयितुमित्यर्थे, ज्ञा० १२ अ०।

उवाइणावित्ता अव्य०(उपादापप्य) उप–आ–दा–ल्युट्। प्राप्य–त्यर्थे, ''पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावित्ता आहारमाहारेइ'' भ० ७ श० १ उ०।

उवाइणित्तए अव्य०(उपयाचितुम्) उपयाञ्चां कर्तुमित्यर्थे, विपा० ७ अ०॥

***उपादातुम्** अव्य०। गृहीतुं प्रवेष्टुमित्यर्थे, स्था०३ ठा०।

उवाइय त्रि०(उपयाचित) उपयाच्यते मृग्यतेऽस्मै यत्तत् उपया–चितम्। ईप्सिते, ''उवाइयं उववाइत्तए'' उपयाचितुमीप्सितं वस्तु याचितुं प्रार्थयितुम्। ज्ञा०३ अ०। वि०। नासिक्यपुरस्थदेवाधि–ष्ठितमहादुर्गब्रह्मगिरिस्थितप्रासादपातके स्वनामख्याते महति क्षत्रियजात्यवरे, ती०।

उवाएज्ज त्रि०(उपादेय) उप० आ० दा–कर्मणि–यत्। गृहीतव्ये, अनु०। जी०। विशे०।

उवागम पुं०(उपागम) स्वीकारे, समीपगमने, वाच०। उपागमने, स्थाने, आचा०२श्रु०।

उवागय त्रि०(उपागत) उप–आ–गम्–क्त–स्वयमुपस्थिते, अ–भ्युपगमे च। वाच० ''तत्थावासमुवागए'' उत्त० २३ अ०। सूत्र०। जं०।

उवाणह स्त्री०(उपानह) चर्मपादुकायाम्, औ०। सूत्र०। ''ते गिच्छ्याणहायाए, समारंभं च जोइणो'' उपानहौ पादयोरनाचरिते पादयोरिति साभिप्रायकं नत्वापत्कल्पपरिहारार्थम्'' द० ३अ०।

अथ उपानहोर्दोषप्रदर्शनार्थमिदमाह।

गव्वो णिम्महवता, णिरवेक्खो निद्दतो णिरंतरता।
भूताणं तूवघाओ, कसिणे चम्मम्मि छद्दोसा॥

उपानहोः पिनद्धयोर्गर्वो निर्मार्दवता च भवेत्। जीवेषु निरपेक्षो निर्दयश्चासौ भवति निरन्तरता निरन्तरं भूमिस्पर्शवाद् भूतानां तु प्राणिनामुपघातश्च उपजायते एवं कृत्स्ने चर्मणि षट् दोषा भवन्तीति द्वारगाथा।

सांप्रतमेनामेव प्रतिपदं विवृणोति॥

आसगतो हत्थिगतो, गव्विज्जइ भूमितोइ कमणिल्लो।
पाढो उ समाउक्को, कमणाउ खरो अवि य भारो॥

अश्वगतादश्वारूढात् हस्तिगतः पुरुषो यथा गर्वायते एवं भूमिगतात् गर्वं करोति। अहो अहं सोपानत्को व्रजामीति। तथा पादः स्वभावेनैव समार्दवस्ततः स न तथा जीवोपघातं करोति यथा क्रमणिकाः खराः कर्कशस्पर्शा जीवोपघातं कुर्वन्ति। अपि च भारस्तासां महान् भवति। ततस्तदाक्रान्ता बहवो जीवा विनाशमाप्नुवते। निरपेक्षद्वारमाह॥

कंटाई पेहंतो, जीवे वि हु सो तहेव पेहिज्जा।
अत्थि महंति य कमणी, णावेक्खइ कंटएण जिए॥

अनुपानत्को गच्छन् कण्टकादीन् मार्गे प्रेक्षमाणो जीवानपि तथैवासौ प्रेक्षते सोपानत्कस्तु गच्छन् विद्येते मम क्रामणिके इति कृत्वा निरपायत्वादात्मनो न कण्टकादिकमपेक्षते ततश्चासौ जीवेष्वपि निरपेक्षो भवति। अथ निर्दयद्वारमाह॥

पुव्वं अदया भूए–सु होति बंधति कमेसु तो कमणी।
जायति हु तदब्भासा, सुदयालुस्सा वि णिद्दयया॥

पूर्वं तावददया निर्दयत्वं भूतेषु मनसि संजातं भवति ततः क्रमयोः क्रमणिके बध्नाति तदभ्यासाच्च सुदयालोरपि प्रायो निर्दयतैव भवति। निरन्तरद्वारमाह॥

अवि यं व खुज्ज पादेण, पेल्लितो अंतरंगुलगतो वा।
मुच्चेज्ज कुलिंगादी–ण य कमणीपेल्लितो जियति॥

कुशब्दस्यासदर्थवाचकतया असंपूर्णानि लिङ्गानि इन्द्रियाणि यस्यासौ कुलिङ्गी विकलेन्द्रियः स आदिशब्दान्मण्डूक्यादिश्च अनुपानत्कस्य पादेन प्रेरितोऽपीति संभावनायां संभाव्यते अय मर्थो यदाम्रकुब्जं पादतलमध्यं गतस्तदा अथवा अन्तराङ्गुलमङ्गुलीनामङ्गुष्ठस्य वाऽपान्तरालं तत्र वा गतः सन् मुच्येत न म्रियेत। सोपानत्कस्य तु निरन्तरभूमिस्पर्शिनीभिः क्रमणीभिः प्रेरित आक्रान्तो न जीवति अवश्यं मरणं प्राप्नोतीत्यर्थः।

भूतोपघातद्वारमाह॥

कह भूयाणुवघातो, ण होहिती पगतिपेलवतणूणं।
सभराहिपेल्लियाणं, कक्खडफासाहि कमणीहिं॥

कथं केन प्रकारेण भूतानां प्राणिनां प्रकृत्या स्वभावेनैव पेलवतनूनामदृढशरीराणां सभाराभिः पुरुषभाराक्रान्ताभिः कर्कशस्पर्शाभिः क्रमणीभिः प्रेरितानामुपघातो न भविष्यति भविष्यत्येवेत्यर्थः। यत एते दोषाः अतः क्रमणिका न परिधातव्याः। कारणे तु प्राप्ते परिदध्यदपि। किं पुनस्तत्कारणमित्याह॥

विह अतरासहुसंभम–कोट्टारिसचक्खुदुव्वले वाले।
अज्जा कारणजाते, कसिणग्गहणं अणुण्णायं॥

विहं अध्वा अतरो ग्लानः असहिष्णुर्नाम राजादिदीक्षितः। सुकुमारपादः संभ्रमश्चौरश्वापदादिसंक्षोभः कुष्ठरोगी अर्शरोगी चक्षुषा दुर्बलः कश्चिद्भवति वालो वा यदि यत्र तत्र पादौ निक्षिपति। आर्या वा अध्वानं नीयन्ते कारणजातं वा कुलगणसङ्घविषयमुपस्थितम्। एतेषु कृत्स्नस्य चर्मणो ग्रहणमनुज्ञातमिति द्वारगाथासमासार्थः। अथैनामेव विवृणोति॥

कंटाहिसीयरक्खट्ठ, ता विहे खलु समाहि जा गहणं।
ओसहपाणगिलाणे, अहुणुट्ठियते सधट्ठा वा॥

(विहे) अध्वनि प्रतिपद्यमाने कण्टकस्याहेर्वा अस्य च रक्षार्थम्–ङ्गुलिकोशिकं खल्लङ्कादि वा गृह्णन्ति। किं बहुना खलु समाधिं कृत्वा यावदर्द्धजङ्घयोरपि ग्रहणम्। तथा ग्लान औषधपानं कृत्वा वैद्योपदेशेन पृथिव्यां पदं न स्थापयति। अधुनोत्थितो वा ग्लानः क्रमयोः क्रमणिके आविध्यति शीतानुभावेन भक्तं न जरिष्यतीति कृत्वा ग्लानस्य वा भेषजार्थं त्वरितं ग्रामान्तरं गन्तव्यं ततः क्रम–णिका पिनद्धव्या।

अरिसिल्लस्स व अरिसा, मा खुब्भे तेण बंधते कमणी।
असहुमवंती हरणं, पादो पट्टो नु गिरिदेसा।

अर्शोवतः पादतलदौर्बल्यादर्शांसि मा क्षुभ्येरन्निति कृत्वा क्रमणिके असौ बध्नाति। असहिष्णुर्नाम मार्गे गच्छन्नुपानद्भिर्विना गन्तुं न शक्नोति यदि गच्छति ततः पादाभ्यां रुधिरं परिगलति। अत्रावन्तीसुकुमारोदाहरणं भवति तच्चावश्यकाद्विज्ञेयम्। स क्रमणिके बध्नीयात् उदकाग्निस्तेनश्वापदादौ वा संभ्रमे क्रमणिकाः परिभोक्तव्याः। गिरिदेशे वा पर्यटतः कस्यापि पादतलं घृष्टं तत उपानहौ पिनह्य पर्यटति।

कुट्ठिस्स सक्करादी–हिं वावि भिन्नो कमो मधूला वा।
वालो असंफुरो पुण, अज्जा विहं दोव्व पासादी॥

कुष्ठिनः संबन्धी शोणितपूयेन भिन्नः स्फटितक्रमः शर्करा कण्टकादिस्तादिभिराक्रान्तो महतीं पीडामुपजनयति मधूला वा पादगण्डं कस्यापि समजनि ततः क्रमणिके बध्नाति। वालो वा कश्चिदसंस्फुरोऽसंवृतो यत्र तत्र पादं मुञ्चन् कण्टकादिभिरुपदूयते अतोऽसौ क्रमणीके परिधाप्यते। आर्या वा विधमध्वानं नेतव्यास्तत्र च (दोव्वत्ति) चौरादिभयं ततो वृषभाः क्रमणिकां पिनह्य पन्थानं मुक्त्वा पार्श्वस्थिताः गच्छन्ति आदिशब्दात्सर्वाणि वा तत्रोत्पथेन व्रजन्ति। यो वा चक्षुषा दुर्बलः स वैद्योपदेशेनोपानहौ पिनह्यति। यतः पादयोरभ्यङ्गोपानद्बन्धनादि परिकम यत्क्रियते तच्चक्षुष उपकाराय परिणमते। यत उक्तं ''दन्तानामञ्जनं श्रेष्ठं कर्णानां दन्तधावनम्। शिरोभ्यङ्गश्च पादानां पादाभ्यङ्गश्च चक्षुषोः'' कारणजातद्वारमाह–

कुलमाइकज्जदंडिय, पासादी तुरियधावणट्ठा वा।
कारणजाते व णे, सागारमसागरे जतणा॥

कुलादिषु कुलगणसङ्घविषयेषु कार्येषु दण्डिकावलगतार्थं पार्श्वस्थितैरादिशब्दात्पुरः पृष्ठतो वा गच्छद्भिस्त्वरितं धावनार्थं कारणजाते वाऽन्यस्मिन् आगाढे समुत्पन्ने उपानहः परिभोक्तव्याः। तत्र च सागारिकासागारिकविषया यतना। यत्र सा–

गारिकदोषो नास्ति तत्र नास्ति यतनाक्रमः। यत पुनः सागारिका उड्डाहं कुर्वन्ति तत्र ग्रामादिषु क्रमणिका अपनीय प्रविशन्तीति भावः। एवमध्वादिषु कारणेषु कृत्स्नचर्मणोऽप्राप्ते विधिमाह।

पंचविहम्मि वि कसिणे, किण्हगहणं तु पढमतो कुज्जा।
किण्हम्मि असंतम्मि, विवण्णकसिणं तहिं कुज्जा॥

पञ्चविधे वर्णे कृष्णे प्रथमतः कृष्णवर्णग्रहणं कुर्यात्। ततः कृष्णे वर्णकृष्णे असति अलभ्यमाने लोहितादिवर्णकृष्णमपि गृह्णीयात् तच्च कृष्णं तैलादिभिर्विवर्णं विरूपवर्णं कुर्यात्। यथा लोको नोड्डाहं कुरुते। आत्मनो वा तत्र न रागो भवति।

किण्हं पि गिण्हमाणे, सुसिरग्गहणं तु वज्जए साहू।
बहुबंधणकसिणं पुण, वज्जेयव्वं पयत्तेण॥

कृष्णं वर्णकृष्णमपि गृह्णन् शुषिरग्रहणं साधुः प्रयत्नतो वर्जयेत् अत्र पाठान्तरम्। ''कसिणं पि गिण्हमाणेत्ति'' कृत्स्नं प्रमाणकृत्स्नं वा द्वितीयपदे गृह्णातु। शुषिरग्रहणं साधुर्वर्जयेत् यत्तु बहुबन्धनकृष्णं तत्प्रयत्नतो वर्जयितव्यम्। अथ किं तद्बन्धनमित्याशङ्क्याह।

दोरेहि व वद्धेहि व, दुविहं तिविहं च बंधणं तस्स।
अणुमोदणकारावण, पुव्वकतम्मि अधिकारो॥

दवरकैर्वा वर्धैर्द्विविधं वा बन्धनं तस्य चर्मणो भवति। द्वौ वा त्रयो वा बन्धा दातव्या इत्यर्थः। एवं विधं बन्धनं कृत्स्नमनुज्ञातं तत्-श्चतुरादिबहुबन्धनबद्धं तथा कृत्स्नमकृत्स्नं वा चर्म साधुना स्वयं न कर्तव्यम्। अन्येन न कारयितव्यम् अन्यस्य कुर्वतो नानुमोदना कर्त्तव्या किं तु यत्पूर्वमेव गृहस्थैर्यथाभावेन कृतं तस्मिन्नधिकारः प्रयोजनं तस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति भावः। अथ द्वौ त्रयो वा बन्धाः कुत्र भवन्तीत्युच्यते।

खलुए एगो बंधो, एगो पंचंगुलीण दो बंधा।
चउरंगुले वि ततितो, वितिओ अंगुट्ठए होइ॥

खलुके घुण्टके एको वर्धबन्धो भवति। एकस्तु द्वितीयो बन्धः पञ्चाङ्गुलस्य चतसृणामङ्गुलीनामङ्गुष्ठस्य चेत्यर्थः। एतौ द्वौ बन्धौ मन्तव्यौ यदा तु त्रयो बन्धा भवन्ति तदा खलुके एकः अङ्गुष्ठे द्वितीयः चतसृणामङ्गुलीनां तृतीयः।

अथ स्वयंकरणादिषु प्रायश्चित्तमाह।

सयकरणे चउलहुगा, परकरणे मासियं अणुग्घायं।
अणुमोदणे य लहुओ, तत्थ वि आणादिणो दोसा॥

स्वयं यदि चर्म करोति तदा चतुर्लघवः। अथ परेण कारयति तदा मासिकमनुज्ञातं मासगुरुकमित्यर्थः। अनुमोदनायां मासलघु। तत्रापि स्वयंकरणादौ आज्ञादयो दोषा उड्डाहश्च भवति। तथाहि तं संयतं स्वयमेव चर्म कुर्वाणं दृष्ट्वा लोको ब्रवीति। अहो चर्मकरोऽयमिति। अथ पूर्वकृतं न लभ्यते ततोऽनुमोदनया गृह्णीयात् कथमिति चेदुच्यते। यदि कोऽपि ब्रूयात् अहं ते उपानहौ करोमि ततः प्रतिशृणुयात् तूष्णीको वा तिष्ठेत्। अथानुमोदनया न प्राप्यते ततोऽन्येन कारयेत्। एवमप्यलाभेऽप्यात्मना यतनया कुर्यात् बृ० ३ उ०।

अत्र प्रायश्चित्तम्।

सोवाहणो परिसक्किज्जा उवट्ठावणं उवाहणओ ण पडिगाहिज्जा खवण तारिसेणं संविहाणगे उवाहाणओ ण परिभुंजेज्जा खवणं। महा० ७ अ०॥

उवातिक्कम्म अव्य०(उपातिक्रम्य) उप सामीप्येनातिक्रम्य अति-लङ्घेत्यर्थे, ''उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा'' आचा०२ श्रु०७ अ०। सम्यक् परिहृत्येऽर्थे, आचा०२ श्रु०१ अ०११ उ०।

उवातिणिवेत्ता अव्य०(उपनीय) अतिवाह्येत्यर्थे, ''उवातिणिवेत्ता तत्थेव भुज्जो भुज्जो संवसति'' आचा०२ श्रु०२ अ०२ उ०।

उवादाण न०(उपादान) उप० आ० दा० ल्युट्। ग्रहणे, स्यादात्मनोऽ-प्युपादानात् सा०द० स्वस्वविषयेभ्य इन्द्रियाणां निवारणरूपे प्रत्याहारे, कर्मणिल्युट् कार्य्यजननार्थमुपादीयमाने कार्य्यान्विते कारणे, यथा घटे मृत्पिण्डमुपादानमात्मा कर्त्ता ज्ञानादि कार्यं तत्र स्वसत्ता उपादानम् अष्ट०। विशे०। आ० म० द्वि०। नं०। तच्च सर्वदा कार्य्येष्वनुगतम् ''असदकरणादु पादानग्रहणात् सर्वसम्भवा-भावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्य्यम्'' इति साङ्ख्याः। नैयायिकैस्तु उपादानकारणं समवायिकारणतया व्यवह्रियते साङ्ख्यमतसिद्धे आध्यात्मिकतुष्टिभेदे, वाच० (एतन्निराकरणमन्यत्र)

उवादाय अव्य०(उपादाय) उप-आ-दा-ल्यप्। गृहीत्वेत्यर्थे, ''उवसंपइत्तुवादाय'' बृ०४ उ०। ''णेया उयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए'' सूत्र०१ श्रु० ७ अ०।

उवादिय त्रि०(उपादित) अद् भक्षणे इत्येतस्मात् उपपूर्वान्निष्ठा-प्रत्ययस्तत्र बहुलं छन्दसीतीडागमः। उपभुक्ते, आचा० १ श्रु० २अ०।

उवादीयमाण त्रि०(उपादीयमान) उपादीयन्ते कर्मणा बध्यन्ते इत्यर्थः। जीवनिकायवधप्रवृत्ते, ''एत्थं पि जाणे उवादीयमाणा जे आयरेण रमंति'' आचा०२ श्रु०।

उवाय पुं०(उपाय) उप-अय्-भावे-घञ्। उपगमे, उपाय्यतेऽर्थो ऽनेन करणे घञ्। अप्रतिहतलाभकरणे, ज्ञा०१ अ०। हेतौ, ''एगं च दोसं च तहेव मोहं, उद्धत्तुकामेण समूलजालं। जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा, ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्वि'' उत्त० ३२ अ०। विशे०। ''प्रयोग उपाय इत्यनर्थान्तरम्'' आ०चू० १अ०। ''सुत्तादुवायरक्खणं'' उपायः सम्यक्त्वाणुव्रताणुव्रतादिप्रतिपत्तावभ्युत्थानादिलक्षणे हेतुराह च ''अब्भुट्ठाणे विणए परक्कमे साहु सेवणाए अ। सम्मद्दंसणलंभो, विरयाविरई य एए य'' अथवा जातिस्मरणादितीर्थकरलक्षणः यदाह ''सह समुइ आए अ परवागरणेणं अन्नेसिं वा सोच्चा'' अथवा प्रथमद्वितीय-कषायक्षयोपशमः इति। ध०२ अधि०। ''उवायकुसलेण'' उपायो नाम तथा कथमपि करोति यथा तेषां वन्दनकमदादान एव शरीरवार्तां गवेष-यति न च तथा क्रियमाणे तेषामप्रीतिकमुपजायते प्रत्युत चेतसि ते चिन्तयन्ति अहो एते स्वयं तपस्विनोऽपि एवमस्मासु स्निह्यन्ति। वृ० ३उ०। ''उपायेन च यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः'' हितो० राज्ञां रिपुनिराकरणहेतुषु सामादिषु च। वाच०। उप सामीप्येन विवक्षितवस्तुनोऽविकललाभहेतुत्वाद् वस्तुतो लाभ एवोपायः। अभिलषितवस्त्ववाप्तये व्यापारविशेषे, दश०१ अ०। उपेयं प्रति पुरुषव्यापारादिकायां साधनसामग्र्याम्, स यत्र द्रव्यादावुपेयेऽस्ती-त्यभिधीयते यथैतेषु द्रव्यादिविशेषेषु साधनीयेषु अस्त्युपायो विवक्षितद्रव्यादिविशेषवत्। उपादेयता चास्य यत्राभिधीयते तदाहरणमुपाय इति तस्मिन्नाहरणभेदे, स्था०४ ठा०॥

असावपि चतुर्विध एव तथा चाह।

एमेव चउविगप्पो, हाइ उवाओ वि तत्थ दव्वम्मि।
धाऊवाओ पढमो, लंगलकुलिएहि खेत्तं तु ॥६१॥

एवमेव यथा उपायः किं च चतुर्विकल्पश्चतुर्भेदः भवत्युपायोऽपि तद्यथा द्रव्योपायः क्षेत्रोपायः कालोपायः भावोपायश्च। तत्र द्रव्य इति द्वारपरामर्शः द्रव्योपाये विचार्ये धातुवादः सुवर्णपातनोत्कर्षलक्षणः द्रव्योपायः प्रथम इति। लौकिके लोकोत्तरे त्वध्वादौ पटलादिप्रयोगतः प्रासुकोदक-करणम्। क्षेत्रोपायस्तु लाङ्गलादिना क्षेत्रोपक्रमणे भवति, अत एव लाङ्गलकुलिकाभ्यां क्षेत्रमुपक्रम्यत इति गम्यते। ततश्च लाङ्गलकुलिके तदुपायो लौकिकः। लोकोत्तरस्तु विधिना प्रातरशनाद्यर्थमटनादिना क्षेत्रभावनम्। अन्ये तु योनिप्राभृतयोगतः काञ्चनपातनोत्कर्षलक्षणमेव सङ्ग्रयोजनादौ द्रव्योपायं व्याचक्षते विद्यादिभिश्च दुस्तराब्धितरण-लक्षणम्। क्षेत्रोपायमित्यत्र च प्रथमग्रहणपदार्थोऽतिरिच्यमान इवाभाति। पाठान्तरम् वा धाउव्वाओ भणितोत्ति'' अत्र कथञ्चिदविरोधत एवेति गाथार्थः।

कालो य नालियाईहिं, होइ भावम्मि पंडिओ अभओ।
चोरस्स कए नट्ठिं, वड्ढकुमारिं परिकहेइ ॥६२॥

कालश्च नालिकादिभिर्ज्ञायत इति शेषः। नालिका घटिका आदिशब्दाच्छङ्ख्वादिपरिग्रहः। ततश्च नालिकादयः कालोपा--यो लौकिकः। लोकोत्तरस्तु सूत्रपरावर्तनादिभिस्तथा भवति। भावे चेति द्वारपरामर्शत्वाद्भावोपाये विचार्ये निदर्शनं क इत्याह। पण्डितो विद्वानभयोऽभयकुमारस्तथा चाह चोरनिमित्तं सतर्कीं वृद्धकुमारीं किम्। त्रिकालगोचरसूत्रप्रदर्शनार्थमाह। परिकथयति। ततश्च यथा तेनोपायतश्चौरभावो विज्ञातः एवं शिक्षका--दीनां तेन विधिनापायत एव भावो ज्ञातव्य इति गाथार्थः। दश० १ अ०। सोऽपि द्रव्यादिभिश्चतुर्धैव--तत्र द्रव्यस्य सुवर्णादेः प्राशुकोदकादेर्वा द्रव्यमेव वा उपायो द्रव्योपाय एतत्साधनमेतदुपादेयतासाधनं वा हरणमपि तथोच्यते तत्प्रयोगश्चैवम् अस्ति सुवर्णादिषूपाय उपायेनैव वा सुवर्णादौ प्रवर्तितव्यं तथाविधधातु--वादसिद्धादिवदिति। एवं क्षेत्रोपायः क्षेत्रपरिकर्मणोपायो यथा अस्त्यस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रीकरणोपायो लाङ्गलादिस्तथाविधसाधु--विधव्यापारो वा तेनैव वा प्रवर्तितव्यमत्र तथाविधान्यक्षेत्रवदिति। एवं कालोपायः कालज्ञानोपायो यथास्ति कालस्य ज्ञानोपायः धान्यादेरिव जानीहि वा कालं घटिकाछायादिनोपायेन तथाभूतगणितज्ञवदिति। एवं भावोपायो यथाऽभावज्ञाने उपायोऽस्ति भावज्ञोपायतो जानीहि वृहत्कुमारिका-कथाकथनेन विज्ञातचौरादिभावाभयकुमारवदिति॥ स्था०४ ठा०। नवरं ''भावोवाए'' उदाहरणम्। ''रायगिहिं णाम णयरं तत्थ सेणिओ राया सो भज्जाए भणिओ जहा मम एगखंभं पासायं करेहि। तेण वड्ढइणो आणत्ता गत्ता कट्ठंछिंदित्ता तेहिं अडवीए सलक्खणो सरलो महइ महालओ दुमो दिट्ठो धूवो दिण्णो जेण स परिग्गहिओ रुक्खो सो दरिसावेउ अप्पाणं तो णं णछिंदामो त्ति अह ण देइ दरिसावं तो छिंदामो त्ति ताहे तेण रुक्खवासिणा वाणमंतरेण अभयस्स दरिसावो दिण्णो। अहं रण्णो एगखंभं पासायं करेमि। सव्वोउयं च आरामं करेमि सव्ववणजाइउवेयं मा छिंदहत्ति। एवं तेण कओ पासाओ। अन्नया एगाए मायंगीए अकाले अंबयाण दोहलो। सा भत्तारं भणइ मम अंबयाणि आणेहि। तदा अकालो अंबयाणं तेण उण्णामणीए विज्जाए डालं ओणामियं अंबयाणि गहिआणि। पुणो अ उण्णामणीए ओणामियं। पभाए रन्ना दिट्ठं। पयं ण दीसइ। को एस मणूसो अतिगओ जस्स एसा एरिसी सत्ति त्ति सो मम अंतेउरंपि धरिसे--हित्ति काउं अभयं सद्दावेऊण भणइ। सत्तरत्तस्स अब्भंतरे जइ चोरं णाणेसि तो णत्थि ते जीविअं। ताहे अभओ गवेसिउं आढत्तो णवरं एगम्मि पएसे गोज्झो रमिउं कामो मिलिओ लोगो तछ गओ अभओ भणति जाव गोज्झो मंडेइ अप्पाणं ताव ममेगं अक्खाणयं सुणेह। जहा कहं पि णयरे एगो दारिद्दसिट्ठी परिवसति। तस्स धूया वड्ढकुमारी अईव रूविणी य वरणिमित्तं कामदेवं अच्चेइ। सा य एगम्मि आरामे चोरिय पुप्फाणि उच्चंती आरामिएण दिट्ठा कयच्छिउमाढत्ता। तीए सो भणिओ। मा मइं कुमारिं विणासेहि। तवावि भयणी भावणिज्जीओ अच्छि। तेण भणिआ एक्का एव वच्छाए मुयामि जइ णवरं जम्मि दिवसे परिणज्जसि तद्दिवसं चेव भत्तारेण अणुग्घाडिया समाणी मम सयासं एहिसि तो मुयामि। तीए भणिओ। एवं हवउत्ति। तेण विसज्जिआ। अन्नया परिणीआ जाहे अपवरकं पवेसिआ ताहे भत्तारस्स सब्भावं कहेई। विसज्जिया वच्चई। पट्ठिआ आरामं अंतरा य चोरेहि गहिता तेसिं पि स भावो कहिओ मुक्का गच्छंतीए अंतरा रक्खंसो दिट्ठा जो छण्हं मासाणं आहारेइ तेण गहिया कहिए मुक्का गया अरामियसगासं तेण दिट्ठा सो संभंतो भणइ। कहमागयासि। तीए भणिअं मया कओ सो पुव्विं समओ। सो भणइ। कहं भत्तारेण मुक्का ताहे तस्स तं सव्वं कहिअं अहो सच्चपइन्ना एसा महिलत्ति। एत्तिएहिं मुक्का किहाहं दुहामित्ति। तेण विमुक्का पडियंती अ गया सव्वेसिं तेसिं मज्झेणं। आगता तेहिं सव्वेहिं मुक्का। भत्तारसगासं अणहसमग्गा गया। ताहे अभओ तं जणं पुच्छई। अक्खह एत्थ केण दुक्करं कयं। ताहे इस्सालुया भणंति भत्तारेणं छुहालुया भणंति रक्खसेणं। पार--दारिया भणंति मालागारेणं। हरिएसेण भणिअं चोरेहिं। पच्छा सो गहिओ जहा एस चोरोत्ति। एतावत्प्रकृतोपयोगि। जहा अभएण तस्स (चोरस्स) उवाएण भावो णाओ एवमिह वि सेहाणमुवट्ठायं तयाणं उवाएण गीयत्थेण विपरिणामादि-णाभावो जाणिअव्वोत्ति। किं एए पच्चावणिज्जा न वेत्ति। पच्चाविएसु वि तेसु मुंडावणाइसु एसेव विभासा य। तदुक्तम्। ''पच्चाविओ सिएत्तिअ, मुंडावेउं न कप्पइ'' इत्यादि। कहाणयसंहारो पुण चोरो सेणिअस्स उवणीओ। पुच्छिएण सब्भाओ कहिओ ताहे रन्ना भणियं। जइ नवरं एयाओ विज्जाओ देहि तो न मारेमि। देमि त्ति अब्भुवगए आसणे ठिओ पढइ। नट्ठाई राया भणई किं नट्ठाई। ताहे मायंगो भणई जहा अविणएणं पढसि। अहं भूमीए तुमं आसणे णीयतरे उवविट्ठो। ठिया तो सिद्धाओ य विज्जाओ त्ति''। कृतं प्रसङ्गेन। एवं तावल्लौकिकमर्थाक्षिप्तं चरणकरणानुयोगं चाधिकृत्योक्ता द्रव्योपायादयः। दश० १अ०। तथाहि किल राजगृहनगरस्वामिनः श्रेणिकराजस्य पुत्रोऽभयकुमाराभिधानो देवताप्रसादोपलब्धः सर्वर्तुक-फलादिसमृद्धारामस्याम्रफलानामकालाम्रफलादोहदवद्भार्यादोहद-पूरणार्थं चाण्डालचौरेणापहरणे कृते चोरपरिज्ञानार्थं नाट्यदर्शननिमित्त-मिलितबहुजनमध्ये वृहत्कुमारिकाकथामचकथत्तथाहि काचित् वृहत्कुमारिकावाञ्छितवरलाभाय कामदेवपूजार्थमारामे पुष्पाणि चोरयन्ती आरामपतिना गृहीता सद्भावकथने विवाहितया पत्या अपरिभुक्तया मत्पार्श्वे समागन्तव्यमिति अभ्युपगमं कारयित्वा--

मुक्ता। ततः कदाचिद्विवाहिता सती पतिमापृच्छ्य रात्रावारामपतिपार्श्वे गच्छन्ती चौरराक्षसाभ्यां गृहीता सद्भावकथने प्रतिनिवृत्तयाभवत्पार्श्वे आगन्तव्यमिति कृताभ्युपगमा मुक्ता। आरामे गता आरामिकेण सत्यप्रतिज्ञेत्यखण्डितशीला विसर्जिता इतराभ्यामपि तथैव विसर्जिता पतिसमीपमागतेति। ततो भो लोकाः पत्यादीनां मध्ये को दुष्करकारक इति चासौ प्रपच्छ। तत इर्ष्यालुप्रभृतयः पत्यादीन् दुष्करकारकत्वेनाभिदधुः। चौरचाण्डालास्तु चौरानिति ततोऽसावनेनोपायेन भावमुपलक्ष्य चोर इति कृत्वा स तं बन्धयामासेति स्था०४ ठा०३उ०। दृष्टान्ते, ''उवाओ सो साधम्मेण य विधम्मेण य'' आ०चू०१ अधि०।

उवायकारि(ण्) त्रि०(उपायकारिन्) आचार्य्ये निर्देशकारिणि, ''उवायकारी य हरीमणे य एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे'' सूत्र०१ श्रु० १३ अ०।

उवायकिरिया स्त्री०(उपायक्रिया) भावक्रियाभेदे, उपायक्रिया हि घटादिकं द्रव्यं येनोपायेन क्रियते तद्यथा मृत्खननमर्दनचक्रारोपणदण्डचक्रसलिलकुम्भकारव्यापारैर्यावद्विरुपायैः सा सर्वाऽप्युपायक्रिया सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

उवायग पुं०(उपायक) उपायचिन्तके, विशे०।

उवायतो अव्य०(उपायतस्) उपायेनेत्यर्थे, ''उपायतो मोहनिन्दा'' ध०१ अधि०।

उवायरक्खण न०(उपायरक्षण) उपायेन रक्षणे, ''सुत्तादुवाय–रक्खण–गहणपयत्तविसया मुणेयव्वा'' ध०२ अधि०।

उवायविचय पुं०(उपायविचय) सुष्ठु मनोवाक्कायव्यापारविशेषाणां स्वीकरणमुपायः स कथं नु मे स्यादिति संकल्पप्रबन्धे, सम्म०।

उवालंभ पुं०(उपालम्भ) उपालम्भनमुपालम्भः भङ्गयैव विचित्रभणने, दश०१अ०। भङ्गयन्तरेणानुशासने, स्था०४ ठा० ''तिविहे उवालंभे पन्नत्ते तं जहा आओवालंभे परोवालंभे तदुभयोवालंभे'' उपालम्भ इयमेवानौचित्यप्रवृत्तिप्रतिपादनगर्भा स चात्मनो यथा ''चोल्लगदिट्ठंतेणं, दुलहं लहिऊण माणुसं जम्मं। जं न कुणसि जिणधम्मं, अप्पा किं वैरिओ तुज्झ त्ति ॥१॥'' परोपालम्भो यथा ''उत्तमकुलसंभूओ, उत्तमगुरुदिक्खिओ तुमं वच्छ। उत्तमणाणगुणड्ढो, कहं सहस्सावसितो एवंति ॥१॥ तदुभयोपालम्भो यथा ''एगस्स कए नियजीवियस्स बहुयाउ जीवकोडीओ। दुक्खे ठवंति जे के विताणकिं सासयं जीयं ति ॥१॥'' एवमित्यादिना पूर्वोक्तातिदेशो व्याख्यातः एवञ्चात्राक्षर–घटना यथैवोपक्रमे आत्मपरतदुभयैस्त्रय आलापका उक्ता एवमे–कैकस्मिन् वैयावृत्त्यादिसूत्रे ते त्रयस्त्रयो वाच्या इति। स्था० ३ठा०। नि०चू०॥

संप्रत्यात्मोपालम्भोल्लेखं दर्शयति।

तुमए चेव कयमिणं, न सुद्धगारिस्स दिज्जए दंडो।
इह मुक्को वि न मुच्चइ, परत्थ अह हो उवालंभो ॥

त्वयैव स्वयं कृतमिदं प्रायश्चित्तस्थानं तस्मान्न कस्याप्युपरि–अन्यथाभावः कल्पनीयः। न खलु शुद्धकारिणो लोकेऽपि दण्डो दीयते। किं च यदि इह भवे कथमप्याचार्यैर्वमेव मुच्यते। तथा इह भवे मुक्तोऽपि परत्र परलोके न मुच्यते। तस्मादापन्नं प्रायश्चित्तमवश्यं गुणवृद्ध्या कर्त्तव्यमिति। अह एष भवत्युपालम्भः एष आत्मोपालम्भः। एतदनुसारेण परोपालम्भः। उभयोपालम्भोऽपि भावनीयः व्य०प्र०१ उ०। उपालम्भो यत्राऽभिधीयते तादृशे आहरणतद्देशभेदे, स्था०४ ठा०।

अधुनोपालम्भद्वारविवक्षयाऽऽह ॥

उवलंभम्मि मिगावइ, नाहियवाईवि एव वत्तव्वे।
नत्थि त्ति कुविन्नाणं, आयाभावे सइ अजुत्तं ॥७५॥

उपालम्भे प्रतिपाद्ये मृगापतिदेव्योदाहरणम्। एतच्च ''जहा आवस्सए दव्वपरंपराए भणियं तदेवं दट्ठव्वं जाव पव्वइत्ता अज्जचंदणाए सिस्सिणी दिण्णा अन्नया भगवं विहरमाणो कोसंवीए समोसरिओ चंदादिच्चा सविमाणेहिं चंदणा आगया चउपोरसीयं समोसरणं काउं अत्थमणकाले पडिगता ततो मिगावती संभंता अयि वियालिकतंति भणिऊणं साहुणीसहिया जाव अज्जचंदणासगासं गता ताव अंधयारयं जातं अज्जचंदणापमुहाहिं साहुणीहिं ताव पडिक्कंतं ताहे सा मिगावती अज्जचंदणाए उवालब्भति जहा एवं णाम तुमं उत्तमकुलप्पसूया होइऊण एवं करेसि अहो न लट्ठयं। ताहे पणमिऊण पाएसु पडित्ता परमेण विणएण खामेति खमह मते एगमवराहं णाहं पुणो एवं कहेहामित्ति। अज्जचंदणा य किल तं समरसंथारोवगता पसुत्ता इयरीए वि परमसंवेगताए केवलनाणं समुप्पन्नं परमं च अंधयारं वट्टइ सप्पो य तेणंतरेण आगच्छति पव्वतिणीए य हत्थो लंबमाणो तीए उप्पाडिओ पडिबुद्धाय अज्जचंदणा पुच्छिता किमेवं सा भणति दीहजातीओ कहं तुमं जाणसि किं कोइ अति–सओ आमंति पडिवाति अपडिवाइत्ति पुच्छिया। सा भणइ अपडिवाइत्ति तओ खामिया लोगलोगुत्तरसाहरणमेयं एवं पमायंतो सीसो उवालंभेतव्वोत्ति उदाहरणदेशता पूर्ववत् योजनीयेत्येवं तावच्चरणकरणानुयोगमधिकृत्य व्याख्यातमुपालम्भद्वारमधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्य व्याख्यायते नास्तिकवाद्यपि चार्वाकोऽपि जीवनास्तित्वप्रतिपादक इत्यर्थः एवं वक्तव्योऽभिधातव्यः नास्ति न विद्यते कः प्रकरणाज्जीव इति एवंभूतं कुविज्ञानं जीवसत्ताप्रतिषेधावभासीत्यर्थः। आत्माभावे सति न युक्तमात्मधर्म्मत्वात् ज्ञानस्येति भावना। भूतधर्म्मता पुनरस्य धर्म्यननुरूपत्वादेव न युक्ता तत्समुदायकार्यताऽपि प्रत्येकं भावाभावविकल्पद्वारेण तिरस्कर्त्तव्येति गाथार्थः। अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह।

अत्थि त्ति जा वियक्का, अहवा नत्थि त्ति जं कुविन्नाणं।
अंचंताभावे पो–ग्गलस्स एयं चिय न जुत्तं ॥७६॥

अस्ति जीव इति एवम्भूता या वितर्का अथवा नास्ति न विद्यते इति एवम्भूतं यत्कुविज्ञानं लोकोत्तरापकारि अत्यन्ताभावे पुद्गलस्य जीवस्य इदमेव न युक्तमिदमेवान्याय्यं भावनापूर्ववदिति गाथार्थः। उदाहरणदेशता नास्तिकस्य परलोकादिप्रतिषेधवादिनो जीवसाधनाद्भावनीयेति। गतमुपालम्भद्वारम्। दश०१ अ०। ''एवं खलु जंबूसमणेणं भगवया महावीरेणं आदिगरेणं तित्थगरेणं जाव संपत्तेणं अप्पोवालंभनिमित्तं पढमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्तेत्ति वेमि इति ज्ञाताप्रथमाध्ययने उक्त आत्मोपालम्भः ज्ञा०१ अ०। निन्दापूर्वकतिरस्कारे, वाच०।

उपालंभंत त्रि०(उपालभमान) उपालम्भं कुर्वाणे, प्रा०।

उवालद्ध त्रि०(उपालब्ध) उप–आ–लभ–क्त–तिरस्कारेण निन्दिते, वाच०। ''उवालद्धो य सो सिवो बंभणो'' नि०चू० १उ०।

उवासं पुं०(अवकाश) स्थाने, नि०चू० १७ उ०। उवासादिसुसेहो ममत्तपडिसेवणं उवासो आदी जेसिं ताणि उवासादीणि ताणि संथारउवस्स कुलगामणगरदेसरज्जं नि०चू० १उ०।

उवासंतर न०(अवकाशान्तर) वातस्कन्धानामधस्तादाकाशेषु, स्था०२ ठा०। ''सत्त उवासंतरायं एएसुणं सत्तसु उवासंतरेसु सत्त तणुवाया पइट्ठिया स्था०७ ठा०। आकाशविशेषे, अवकाशरूपा–न्तराले च भ०१ श०६ उ०। अवकाशान्तरं नाम अमुकयोर्द्वयोर्मध्यमिति। व्य०७उ०। ''सत्तमे उवासंतरे'' प्रथम–द्वितीयपृथिव्योर्यदन्तरालमाकाशखण्डं तत्प्रथमं तदपेक्षया सप्तमं भ० १२श० ५ उ०।

उवासग त्रि०(उपासक) उपासते सेवन्ते साधूनित्युपासकाः। श्रावकेषु, उत्त० २अ०। आव०। नं०। स्था०। स०। ''उवासगो दुविहो वती अवती वा अवती सो परदंसणं संपण्णो एक्केक्को पुणो दुविहो णायगो अणायगो वा'' नि०चू० ११ उ०। सेवके, उपासनाकर्त्तरि शूद्रे, पुं०स्त्री० वाच०॥

उवासगदसा स्त्री०(उपाशकदशा) ब०व० उपासकाः श्रावकास्तद्व्रताणुव्रतादिक्रियाकलापप्रतिबद्धा दशा अध्ययनानि उपासकदशाः। नं०। पा०। स०। सप्तमाङ्गे, बहुवचनान्तमेतत् ग्रन्थनाम आसां च सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि नामान्वर्थसामर्थ्यनैव प्रतिपादितान्यवगन्तव्यानि। तथा हि उपासकानुष्ठानमिहाभिधेयं तदवगमश्च श्रोतृणामनन्तरप्रयोजनं शास्त्रकृतान्तु तत्प्रतिबोधन–मेव तत्परम्परप्रयोजनं तूभयेषामप्यपवर्गप्राप्तिरिति। सम्बन्धस्तु द्विधा शास्त्रेष्वभिधीयते उपायोपेयभावलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणश्च तदत्रोपायोपेयभावलक्षणः शास्त्रनामान्वर्थसामर्थ्यनैवासामभि–हितस्तथाहीदं शास्त्रमुपाय एतत्साध्योपासकानुष्ठानावगमश्चोपेय–मित्युपायोपेयभावलक्षणः सम्बन्धः॥

गुरुपर्वकमलक्षणं तु सम्बन्धं साक्षाद्दर्शयन्नाह।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था। वण्णओ। पुण्णभद्दे चेइए। वण्णओ। तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुह–म्मे समोसरिए जाव जंबू पज्जुवासमाणे एवं वयासी। जइ णं भंते! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं छट्ठस्स अंगस्स णायाधम्मकहाणं अयमट्ठे पण्णत्ते? सत्तमस्स णं भंते! अंगस्स उवासगदसाणं। समणेणं जाव संपत्तेणं। के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबू समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपत्तेणं सत्त–मस्स अंगस्स उवासगदसाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता। तं जहा आणंदे १ कामदेवे य २ गाहावइचुलणीपिया ३ सुरादेवे ४ चुल्लसयए ५ गाहावइकुंडकोलिए ६ सद्दालपुत्ते ७ महासयए ८ नंदणीपिया ९ सालेइणीपिया १० जइ णं भंते! समणेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं। दस अज्झ–यणा पण्णत्ता?

''तेणं कालेणं तेणं समएणमित्यादि'' सर्वं चेदं ज्ञाताधर्मकथाङ्ग–प्रथमाध्ययनविवरणानुसारेणानुगमनीयं नवरम् ''आणंदेत्यादि'' रूपकं तत्रानन्दाभिधानोपासकवक्तव्यता प्रतिबद्धमध्ययनमानन्द एवाभिधीयते एवं सर्वत्र उपा० १ अ०।

एवं खलु जंबूसमणेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते उवासगदसाओ सम्मत्ता उवासगदसाणं सत्तमस्स अंगस्स एगो सुयखंधो दस अज्झयणा दससु चेव दिवसेसु उद्दिसंति।

खलु जंबूइत्यादि उपाशकदशानिगमनवाक्यमध्ये यमिति तथा पुस्तकान्तरे संग्रहगाथा उपलभ्यन्ते ताश्चेमा ''वाणियगामे चंपा, दुवे वणारसीए नयरीए ४। आलंभिया य ५ पुक्खरि, कंपिल्लपुरं च बोधव्वं ॥१॥ पोलासं रायगिहं, सावत्थीए पुरीएदोन्नि भवे। एए उवासगाणं, नयरा खलु हुंति बोद्धव्वा।२। सिवनंद १ भद्द २ सामा, ३ धण ४ बहुला ५ पुस्स ६ अग्गिमित्ता य ७। रेवइ ८ अस्सिणि ९ तहफग्गुणा य १० भज्जाण णामाइ ३॥ ओहिणाण १ पिसाए २ माया ३ वाहि ४ धण ५ उत्तरिल्ले य ६। भज्जायसुव्वया ७ दुव्वयाइनिरुवसग्गया दोन्नि १०॥ ४। अरुणे १ अरुणाभे २ खलु, अरुणप्पह ३ अरुणकंत ४ सिट्ठे य ५। अरुणज्झए य छट्ठे, ६, भूय ७ वडिंसे ८ गवे ९ कीले'' १०।५। शिष्टादिनामान्य–रुणपदपूर्वाणि दृश्यानि। अरुणशिष्टमित्यादि एताश्च पूर्वोक्तानुसारेणा–वसेयाः यदिहन व्याख्यातं तत्सर्वं ज्ञाताधर्मकथाव्याख्यानमुपयुक्तेन निरूप्यावसेयमिति। ''सर्वस्यापि स्वकीयं वचनमभिमतं प्रायसः स्याज्जनस्य, यत्तु स्वस्यापि सम्यग्न हि विहितरुचिः स्यात् कथं तत्परेषाम्। चित्तोल्लासात्कुतश्चित्तदपि निगदितं किंचिदेवं मयैतत्, युक्तं यच्चात्र तस्य ग्रहममलधियः कुर्वतां प्रीतये मे'' समाप्तमुपासकदशा–विवरणं समाप्तं सप्तमाङ्गम्॥ उपा० १० अ०।

उपाशकदशानां विषयाः।

से किं तं उवासगदसाओ उवासगदसासु णं उवासयाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वनखंडा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकाहाओ इहलोइयपरलोइयइड्ढिविसेसा उवासयाणं सीलव्वयवेरमणगुणपच्चक्खाणपोसहोववासपडिव–ज्जियाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पावोवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चाया पुणो बोहिलाभो अंतकिरियाओ आघविज्जंति॥

(उपासकदसासु णंति) उपासकानां नगराणि उद्यानानि चैत्यानि वनखण्डा राजानः अम्बापितरौ समवसरणानि धर्म्माचार्या धर्मकथा ऐहलौकिकपारलौकिका ऋद्धिविशेषा उपासकानाञ्च शील–व्रतविरमणगुणप्रत्याख्यानपौषधोपवासप्रतिपादनतास्तत्र शील–व्रतान्यणुव्रतानि विरमणानि रागादिविरतयः गुणागुणव्रतानि प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितादीनि पौषधमष्टम्यादिपर्वदिनं तत्रोपवसनमाहारशरीरसत्कारादित्यागः पौषधोपवासः ततो द्वन्द्वे सत्येतेषाम्प्रतिपादनताप्रतिपत्तय इति विग्रहः श्रुतपरिग्रहस्तप उपधानानि च प्रतीतानि (पाडिमाओत्ति) एकादश उपासकप्रतिमाः कायोत्सर्गा वा उपसर्गा देवादिकृतोपद्रवः संलेखना भक्तपानप्रत्या–ख्यानानि पादपोपगमनानि देवलोकगमनानि सुकुले प्रत्यायाति पुनर्बोधिलाभोऽन्तक्रियाश्चाख्यायन्ते पूर्वोक्तमेव॥

अतो विशेषत आह।

उवासगदसासु णं उवासयाणं रिद्धिविसेसा परिसावित्थर–धम्मसवणाणि बोहिलाभो अभिगमणे सम्मत्तविसुद्धया थिरत्तं मूलगुणउत्तरगुणाइयारा ठिइविसेसा बहुविसेसा पडिमाभि–ग्गहग्गहण उवसग्गाहिसंहणणणिरुवसग्गा तधोयचित्ता सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासा अपच्छिममा–रणंतिया य संलेहणाझोसणाहिं अप्पाणं जह य भावइत्ता बहूणि भत्ताणि अणसणाए छेअइत्ता उववण्णा कप्पवरविमाणुत्तमेसु जहा अणुभवंति सुरवरविमाणवरपोंडरीएसु सोक्खाइं अणोवमाइं कमेण भुत्तूण उत्तमाइं तओ आउक्खए चुआ समाणा जह जिणमयम्मि बोहिं लद्धूण य संजमुत्तम तमरयोघविप्पमुक्का वेंति जह अक्खयसव्वदुक्खमोक्खं एते अन्ने य एवमाइ उवासयदसासु णं परित्ता वायणा संखेज्जा अणुओगदारा जाव संखेज्जाओ संगहणीओ से णं अंगट्ठयाए सत्तमे अंगे एगे सुयक्खंधे दस अज्झयणा दस उद्देसणकाला दस समु–द्देसणकाला संखेज्जाइ पयसयसहस्साइं पयग्गेणं पण्णत्तो संखेज्जाइं अक्खराइं जाव एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जंति सेत्तं उवासगदसाओ ॥७॥

उवासगेत्यादि तत्र ऋद्धिविशेषा अनेककोटीसंख्याद्रव्यादिसम्प–द्विशेषाः तथा परिषदः परिवारविशेषाः यथा मातापितृपुत्रादिकाः अभ्यन्तरपरिषत् दासीदासमित्रादिका बाह्यपरिषदिति विस्तरध–र्म्मश्रवणानि महावीरसन्निधौ ततो बोधिलाभोऽभिगमः सम्यक्त्वस्य विशुद्धता स्थिरत्वं सम्यक्त्वशुद्धिरवे मूलगुणोत्तर–गुणा अणुव्रतादयः अतिचारस्तेषामेव वधबन्धादितः खण्डनानि स्थितिविशेषाश्चोपास-कपर्यायस्य कालमान भेदाः बहुविशेषाः प्रतिमाः प्रभूतभेदाः सम्यग्दर्शनादिप्रतिमाः अभिग्रहग्रहणानि तेषामेव च पालनानि उपसर्गाधिसंहनानि निरुपसर्गज्योपसर्गाभावश्चेत्यर्थः। तपांसि च चित्राणि शीलव्रतादयोऽनन्तरोक्तरूपा अपश्चिमाः पश्चात्कालभाविन्यः अकारस्त्वमङ्गलपरिहारार्थः। मरणरूपे अन्ते भवा मारणान्तिक्यः आत्मशरीरस्य जीवस्य च संलेखनाः तपसा रोगादिजयेन च कृशीकरणानि आत्मनः संलेखनाः ततः पदत्रयस्य कर्म्मधारय स्तासां (ज्झोसणंति) जोषणाः सेवनाः करणानीत्यर्थः ताभिरपश्चिममार-णान्तिकात्मसंलेखनाजोषणाभिरात्मानं यथा च भावयित्वा बहूनि भक्तानि अनशनतया च निर्भोजनतया छेदयित्वा व्यवच्छेद्य उपपन्ना मृत्वेति गम्यते। केषु कल्पवरेषु यानि विमानोत्तमानि तेषु यथाऽनुभवन्ति सुरवरविमानानि वरपुण्डरी–काणि यानि तेषु कानि सौख्यान्यनुपमानि क्रमेण भुक्त्वोत्तमानि ततः आयुष्कक्षयेण च्युताः सन्तो यथा जिनमते बोधिं लब्धा इति विशेषः। यथा च संयमोत्तमम्प्रधानं संयमं तमोरजओघविप्रमुक्ता अज्ञानकर्म्मप्रवाह विमुक्ता उपयन्ति। यथा अक्षयमपुनरावृत्तिकं सर्वदुःखमोक्षं कर्म्मक्षयमित्यर्थस्तथोपासकद-शास्वाख्यायन्त इति प्रक्रमः। एते चान्ये चेत्यादि प्राग्वन्नवरं ''संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणंति'' किलैकादशलक्षाणि द्विपञ्चाशच्च सहस्राणि पदान मिति ॥७॥ सम०। यावच्छब्देन ''संखेज्जा वेढासंखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ'' नं०।

उवासगपडिमा स्त्री०(उपासकप्रतिमा) उपासंकाः श्रावकास्तेषां प्रतिमाः प्रतिज्ञा अभिग्रहविशेषाः उपासकप्रतिमाः। उत्त० २ अ०। स०। श्रावकोत्थिताभिग्रह विशेषरूपेषु सुदर्शनादिषु, उपा० १ अ०। ध०। ग०। तथैकादशप्रतिमायां श्राद्धः सामायिको ''जाव नियमं वा जाव पडिमं वा'' कथमुच्चरते। तथा पञ्चम्यादिप्रतिमास्वष्टम्यादितिथिषु रात्रौ कायोत्सर्गकरणवदेकादश्यां प्रतिमायां कायोत्सर्गं करोति न वेति प्रश्नः। उत्तरम् एकादशप्रतिमायां श्रावकेण सामायिके ''जाव पडिमं पज्जुवासेमित्ति'' पाठो भणनीयस्तथा कायोत्सर्गोऽपि करणीयः। शेन०२ उ० ३७ प्र०। श्रावकधर्म्माधिकारात्तदुचितभावस्तद्विशेषमुपासक–प्रतिमा-लक्षणमभिधित्सुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह।

नमिऊण महावीरं, भवहियट्ठाय लेसओ किं पि।
वोच्छं समणोवासग–पडिमाणं सुत्तमग्गेण ॥१॥

नत्वा प्रणम्य महावीरं वर्द्धमानजिनं भव्यानां शुभजीवानां हितं पथ्यं स एवार्थः पदार्थः प्रयोजनं वा भव्यहितार्थस्तस्मै भव्यहितार्थाय भव्योपकारायेत्यनेन च परोपकारस्य मुमुक्षूणामादेयतां दर्शयति। लेशतः संक्षेपेणाल्पग्रन्थतयेत्यर्थः। अल्पग्रन्थेनापि क्वचित्समस्तमभिधेयमुच्यत इत्यत आह। किमपि स्तोकमभिधेयजातं न समस्तमपीत्यर्थः वक्ष्ये भणिष्यामि। श्रमणोपासकप्रतिमानां श्रावकाभिग्रह विशेषाणां संबन्धिनां पुन–र्भिक्षुप्रतिमानां श्रावकधर्माधिकारात्कथमित्याह सूत्रमार्गेण दशा–श्रुतस्कन्धाभिधानागमपथेनानेन श्रुतविशेषावलम्बनत्वात्प्रक-रणस्यास्य प्रामाण्यमावेदितमिति गाथार्थः पंचा० १० वि० १।

अथ कियत्यः किमादिकाश्च ता इत्याशङ्क्यायामाह।

एक्कारस उवासगपडिमा उ पण्णत्ता तं जहा दंसणसावाए कयव्वयकम्मे सामाइअकडे पोसहोववासनिरए दिया बंभयारी रत्तिपरिमाण कडे दिआ वि राओ वि बंभयारी असिणाईवि अडभोई मोलिकडे सचित्तपरिन्नाए आरंभपरिन्नाए पेसपरिन्नाए उद्दिट्ठभत्तपरिन्नाए समणभूए आविभवइ समणाउसो ॥

तत्र दर्शनं सम्यक्त्वं तत्प्रतिपन्नः श्रावको दर्शनश्रावकः इह प्रतिमानां प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमाप्रतिमावतोरभेदोपचारात्प्रतिमा–वतो निर्देशः कृतः एवमुत्तरपदेष्वपि। अयमत्र श्रावको दर्शनश्रावकः इह च प्रतिमानां प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमाभावार्थः सम्यग्दर्शनस्य शङ्कादिशल्यरहितस्याणु-व्रतादिगुणविकल्पस्यायमभ्युपगमः सा प्रतिमा प्रथमेति। तथा कृतमनुष्ठितं व्रतादीनां कर्म तच्चाणुव्रतं ज्ञानवाञ्छाप्रतिपत्तिलक्षणं येन प्रतिपन्नदर्शनेन स कृतव्रतकर्मा प्रतिपन्नाणुव्रतादिरिति भावः इतीयं द्वितीया। तथा सामायिकं सावद्ययोगपरिवर्जननिरवद्ययोगोपसेव-नस्वभावं कृतं विहितं देशतो येन स सामायिककृतः आहिताग्न्यादि-दर्शनात्क्रान्तस्योत्तरपदत्वं तदेवं प्रतिपन्नपौषधस्य दर्शनव्रतोपेतस्य प्रतिदिनमुभयसंख्यं सामायिककरणं मासत्रयं यावदिति तृतीया प्रतिमेति। तथा पोषं पुष्टिं कुशलधर्माणं धत्ते यदाहरत्यागादि-कमनुष्ठानं तत्पौषधं तेनोपवसनमवस्थानमहोरात्रं यावदिति पौषधोपवास इति। अथवा पौषधं पर्वदिनमष्टम्यादि तत्रोवास उक्तार्थः पौषधोपवास इति। इयं व्युत्पत्तिरेव प्रवृत्तिस्तस्य शब्दस्य

आहारशरीरसत्काराब्रह्मचर्यव्यापारपरिवर्जनेष्विति। तत्र पौषधो–पवासे निरत आसक्तः पौषधोपवासनिरतः स एवंविधस्य श्रावकस्य चतुर्थी प्रतिमेति प्रक्रमः। अयमत्र भावः पूर्वप्रतिमात्रयोपेतोऽष्टमी चतुर्दश्यमावस्यापौर्णमासीष्वाहारपौषधादिचतुर्विधं पौषधं प्रति–पद्यमानस्य चतुरो मासान् यावच्चतुर्थी प्रतिमा भवतीति। तथा पञ्चमीप्रतिमायामष्टम्यादिषु पर्वस्वेकरात्रिकप्रतिमाकारी भवत्येतदर्थं च सूत्रमधिकृतसूत्रपुस्तकेषु न दृश्यते दशादिषु पुनरुपलभ्यते इति तदर्थ उपदर्शितः। तथा शेषदिनेषु दिवा ब्रह्मचारी (रत्तीति) रात्रौ किमत आह। परिमाणं स्त्रीणां तद्भोगानां वा प्रमाणं कृतं येन स परिमाणकृत इति। अयमत्र भावो दर्शनव्रतसामायिकाष्टम्यादिपौषधोपेतस्य पर्वस्वेकरात्रि–कप्रतिमाकारिण शेषदिनेषु दिवा ब्रह्मचारिणो रात्रौ ब्रह्मपरिमाणकृतोऽ–स्नातस्यारात्रिभोजिनः अबद्धकच्छस्य पञ्च मासान् यावत्पञ्चमी प्रतिमा भवतीति। उक्तंच ''अट्ठम्मि चउद्दसीसु पडिमट्ठा एगराईय'' पश्चार्द्धम्॥

असिणाणवियडभोई, मउलियडो दिवसबंभयारी य।
रत्तिं परिमाणकडो, पडिमा वज्जेदिसुज्जहेसुत्ति॥५॥

तथा दिवाऽपि रात्रावपि ब्रह्मचारी (असिणा इत्ति) अस्नायी स्नानपरिवर्जकः क्वचित्पठ्यते (अनिसाइत्ति) न निशायामत्तीत्य–निशादी (वियडभोईत्ति) विकटे प्रटकप्रकाशे दिवा न रात्रावित्यर्थः दिवाऽपि अप्रकाशे देशे न भुङ्क्ते अशनाद्यभ्यवहरतीति विकटभोजी (मउलिकडेत्ति) अबद्धपरिधानकच्छ इत्यर्थः। षष्ठी प्रतिमेति प्रकृतम्। अयमत्र भावः प्रतिमापञ्चकोक्तानुष्ठानयुक्तस्य ब्रह्मचारि–णः षण्मासान् यावत्षष्ठी प्रतिमा भवतीति। तथा सचित्त इति सचेत–नाहारपरिज्ञातः तत्स्वरूपादिप्रतिज्ञानात्प्रत्याख्यातो येन स सचित्ताहारपरिज्ञातः श्रावकः सप्तमी प्रतिमेति प्रकृतम्। इयमत्र भावनां पूर्वोक्तप्रतिमाषट्कानु–ष्ठानयुक्तस्य प्रासुकाहारस्य सप्त मासान् यावत्सप्तमी प्रतिमा भवतीति तथा आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दनलक्षणः परिज्ञातस्तथैव प्रत्याख्यातो येनासावारम्भपरिज्ञातः श्राद्धोऽष्टमी प्रतिमेति। इह भावना समस्तपूर्वोक्तानुष्ठानायुक्तस्यारम्भवर्जनमष्टौ मासान् यावदष्टमी प्रतिमेति। तथा प्रेष्या आरम्भेषु व्यापारणीयाः परिज्ञातास्तथैव प्रत्याख्याता येन स प्रेष्यपरिज्ञातः श्रावको नवमीति। भावार्थश्चेह पूर्वोक्तानुष्ठायिनः आरम्भं परैरप्यकारयतो नव मासान् यावन्नवमी प्रतिमेति। तथा उद्दिष्टं तमेव श्रावकमुद्दिश्य कृतं भक्तमोदनादि उद्दिष्टभक्तं तत्परिज्ञातं येनासावुद्दिष्टभक्तपरिज्ञातः प्रतिमेति प्रकृतम्। इहायं भावार्थः। पूर्वोदितगुणयुक्तस्याधाकर्मिकभोजनपरिहारवतः क्षुरमुण्डि–तशिरसः शिखावतो वा केनापि किंचिद् गृहव्यतिकरे पृष्टस्य तज्ज्ञाने सति जानामीत्यज्ञाने च सति न जानामीति ब्रुवाणस्य दश मासान् यावदेवंविधविहारस्य दशमी प्रतिमेति। तथा श्रमणेति निर्ग्रन्थस–द्वेद्यस्तदनुष्ठानकरणात् स श्रमणभूतः साधुकल्प इत्यर्थः चकारः समुच्चये अपिः संभावने भवति श्रावक इति प्रकृतं हे श्रवण! हेआयुष्मन्! इति सुधर्मस्वामिना जम्बूस्वामिनमामन्त्रयतोक्तमित्येकादशीति। इह चेयं भावना पूर्वोक्तसमग्रगुणोपेतस्य क्षुरमुण्डस्य कृतलोचस्य वा गृहीतसाधुनेपथ्यस्य ईर्यासमित्यादिकं साधुधर्ममनुपालयतो भिक्षार्थं गृहिकुलप्रवेशे सति श्रमणोपासकाय प्रतिपन्नाय भिक्षा देयेति भाषमाणस्य कस्त्वमिति कस्मिंश्चित्पृच्छति प्रतिपन्नश्रमणोपास–कोऽहमिति ब्रुवाणस्यैकादशमाशान् यावदेकादशी प्रतिमा भवतीति। पुस्तकान्तरे त्वेवं वाचना ''दंसणसावए प्रथमा। कयवयकम्मे द्वितीया। कयसामाइए तृतीया। पोसहोववासनिरए चतुर्थी। राइभत्तपरिन्नाए पंचमी। सचित्तपरिन्नाए षष्ठी। दिया बंभणयारी राओ परिमाणकडे सप्तमी। दिया वि राओ वि बम्हयारी। असिणाणपयावि भवति वोसट्ठकेसरोमनहे अष्टमी। आरंभपरिन्नाए नवमी। उद्दिट्ठभत्तवज्जए दशमी। समणभूएया वि भवइत्ति ससमणाउसो एकादशीति। क्वचित्तु आरम्भपरिज्ञात इति नवमी। प्रेष्यारम्भपरिज्ञात इति दशमी। उद्दिष्टभक्तवर्जकः श्रमण–भूतश्चैकादशीति। सम०। पंचा०॥

तएणं से आणंदे समणस्स भगवओ अंतिअं पढमं उवासगपडिमं उवसपज्जित्ताणं विहरइ। पढमं उवासगपडिमं अहासुत्तं सम्मं कारणं फासेइ। जाव आराहएइ। तएणं से आणंद समण। दोच्चं उवासगपडियं चउत्थं पंचमं छट्ठं सत्तमं अट्ठमं नवमं दशमं एक्कारसमं जाव आराहेइ॥

(पढमंति) एकादशानामाद्यमुपासकप्रतिमाश्रावकोचिताभि–ग्रहविशेषरूपामुपसंपद्य विहरति तस्याश्चेदं स्वरूपम् ''संकादिस–ल्लविरहित, सम्मद्दंसणजुओ जो जंतू। सेसगुणविप्पमुक्को, एसा खलु होइ पढमाओ।'' सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तिश्चास्य पूर्वमप्यासीत् केवलमिह शङ्कादिदोषराजाभियोगाद्यपवादवर्जित्वेन तथाविधसम्यग्दर्शनचार–विशेषपालनाभ्युपगमेन च प्रतिमात्वं संभाव्यते कथमन्यथाऽसावेकमा–सप्रथमायाः पालनेन द्वौ मासौ द्वितीयायाः पालनेन एवं यावदेकादश मासानेकादश्याः पालनेन पञ्चसार्द्धानि वर्षाणि पूरितवानित्यर्थः। ततो वक्ष्यतीति न चायमर्थो दशाश्रुतस्कन्धादावुपलभ्यते श्रद्धामात्रप्ररूपा–यास्तस्याः प्रतिपादनात् (अहासुत्तंति) सूत्रानतिक्रमेण यथाकल्पप्रति–माचारानतिक्रमेण यथा मार्गं क्षायोपसमिकभावानतिक्रमेण (अहातच्चंति) यथातत्वं दर्शनप्रतिमेति शब्दस्यान्वर्थानतिक्रमेण (फासेइत्ति) स्पृशति प्रतिपत्तिकाले विधिना प्रतिपत्तेः (पालेत्ति) सततोपयोगप्रतिजागरेण रक्षति (सोहइत्ति) शोभयति गुरुपूजापुरस्सरं पारणकरणेन शोधयति वा निरतिचारतया (तिरइत्ति) पर्णेऽपि कालावधावनुबन्धाद्यागात् (कीर्तयेत्ति) तत्समाप्तावेवमिदं चेहादिमध्यावसानेषु कर्त्तव्यं मया तत् कृतमिति कीर्तनात् आराधयति एभिरेव प्रकारैः संपूर्णैः निष्ठां नयतीति उपा०१ उ०।

सुयं मे आउसत्तेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं इक्कारस उवासगपडिमा पण्णत्ताओ कतराओ खलु ताओ इमाओ खलु तं जहा अकिरियावादी यावि भवति मो हियवादी णो हियपण्णे नो हियदिट्ठी नोसमावादी णो णित्ति–यावादी ण संति परलोगवादी णत्थि इहलोए णत्थि परलोए णत्थि माता णत्थि पिता णत्थि अरहंता णत्थि चक्क वट्टी णत्थि बलदेवा णत्थि वासुदेवा णत्थि णरया णत्थि णेरइया णत्थि सुक्कडंदुक्कडाणं फलवित्तिविसेसे णो सुचिण्णाकम्मा सुचिन्नफला भवंति णो दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति। अफले कल्लाणपावए नो पच्चायंति जीवा णत्थि णिरया नत्थि सिद्धी से एवं वादी एवं पण्णे एवं दिट्ठी एवं छंदरा–

गभिणिविट्टे आविभवति से अभवइ महिच्छे महारंभे महापरिग्गहे अहम्मिए अहम्माणुए अधम्मसेवी अधम्मक्खाई अधम्मरागी अधम्मपलोई अधम्मजीवी अधम्मपलज्जाणं अधम्मसील-समुदाचारे अधम्माणं चेव वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ। हण छिंद भिंद विकत्तए लोहियपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिया उक्कंचणवंचणामायाणियडिकूडकवडं सातिसंपयोगबहुला दुस्सीला दुचरिया दुरणुणेया दुव्वदा दुप्पडिया णंदा निस्सीले णिग्घाए निग्गुणे निम्मारे निम्मेरे निप्पच्चक्खाणपोसहोववासे असाहू सव्वातो पाणाइवायाउ अपडिविरए जावज्जीवाए एवं जाव सव्वाओ कोहाओ सव्वाओ माणाओ सव्वातो मायातो सव्वातो लोभातो सव्वातो पेज्जातो दोसातो कलहातो अब्भक्खातो पेसुण्णपरपरिवादातो अरतिरइमायामोसातो मिच्छा-दंसणसल्लातो अपडिविरए जावज्जीवाए सव्वतो कसायदंतक-ट्ठण्हाणमद्दणविलेवणसद्दफरिसरसरूवगंध-मल्लालंकारातो अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वातो सगडरहजाणजुग्गि-ल्लिथिल्लिसीयासंदमाणियजंपणासणजाणवाहणभोयण-पवित्थरविधीतो अपडिविरता जावज्जीवाए असमक्खियकारी सव्वाओ आसहत्थिगोमहिसदासीदासकम्मकरपोरुसातो अपडिविरता जावज्जीवाए सव्वतो कयविक्कयमासद्धमासरू-वगसंववहारातो अपडिविरता जावज्जीवाए सव्वहिरण्णसुव-ण्णधणधण्णमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालातो अपडिविरता जावज्जीवाए सव्वतो कूडतुलकूडमाणातो अप्पडिविरता सव्वातो आरंभसमारंभातो अप्पडिविरता सव्वातो करणकारावणातो अप्पडिविरता सव्वातो पयणपयावणातो अप्पडिविरता सव्वातो कुट्टणपिट्टणातो तज्जणतालणबंधवधपरिकिलेसातो अप्पडि-विरता जावज्जीवाए जेयावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मती कज्जति परपाणा पारिआवणकडा कज्जंति ततो वि य अप्पडिविरता जावज्जीवाए से जहा णामए केइ पुरिसे कलममसूरतिलमुग्गमासनिप्फावकुलत्थआलिसंदजवएवमा-दिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजइ एवमेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते तित्तिरवट्टा लावककपोतकपिंजलमियमहिस-वाराहगाहगोगोहकुम्मसिरीसवादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजइ॥ जावि य से बाहिरिया परिया परिसा भवंति दासेति वा पेसेति वा भत्तएइ वा भाइल्लेति वा कम्मारएति वा भोगपुरिसेति वा तेसिं पि य णं अण्णयरगंसि अहालघुसयंसि अवराधंसि सयमेव गरुयं दंडं वत्तेति तं जहा इमं दंडेह इमं मुंडेह इमं तालेह इमं इंदुबंधणं करेह इमं नियलबंधणं करेह इमं चा रगबंधणं करेह इमं हत्थच्छिण्णं करेह इमं पायच्छिण्णं करेह इमं कण्णच्छिण्णं करेह इमं नक्क० इमं उट्ठ० इमं सीसच्छिन्नयं करेह इमं मुख० इमं वेच्छे उ इमं हिययत उप्पाडियं करेह। एवं नयणदसणवयणजिब्भुप्फडितं करेह। इमं उलवित्तं करेह। इमं घंसियतयं इमं घोलितयं इमं सूलाकायतयं इमं सूलाभिण्णं इमं खारवत्तियं करेह। इमं दब्भवत्तियं०इमं सीधपुच्छितयं०इमं वसभपुच्छितयं० इमं कडग्गिदड्ढयं करेह। इमं काकि-णिमंसवित (स्वादि) तं करेह। इमं भत्तपाण-निरुद्धयं०इमं जावज्जीवबंधणं करेह। इमं अन्नतरेण असुभेण मारेह जा वि य से अब्भिंतरिया परिसा भवंति तं जहा माताति वा भगिणित्ति वा भज्जाति वा धूयाति वा सुण्हाति वा तेसिं पि य णं अण्णयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडवत्तेत्ति सीतोदग-वियडंसि कायंतो वालित्ता भवति उसिणोदगवियडेण कायं उसिंचित्ता भवति अगणिकाए णं कायं उड्ढहित्ता भवति। जोत्तेण वा वेत्तेण वा नेत्तेण वा कामेण वा छिवाडीए वा पासाइ उद्दालित्ता भवति। दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउडेत्ता भवति तधप्पगारे पुरिसज्जाते सवणसम्मणे दुम्मणा भवंति तहप्पगारे पुरिसज्जाते दंडमासी दंडगुरुए दंडपुरक्खडे अहिते असिलोयंसि अहिए परलोयंसि ते दुक्खे निमोयंति एवं कूरे तिप्पंति पीडेंति परितप्पंति ते दुक्खणसोयणज्झूरणतिप्पणप्पिट्टणपरितप्पणवधबंधपरि-किलेसातो य पडिविरता भवंति। एतामेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छित्ता गिद्धा गढिता अब्भोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाणि वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्ता भोगभोगाइं एस चित्तावेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उसण्णसंभारकडेणकम्मुणा से जधा नाम ते अयगोलेत्ति वा सेलगोलेत्ति वा उदयंसि पक्खित्ति समाणे उदगतलमतिवतित्ता अहे धरणितलपतिट्ठाणे भवति। एवामेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते बहुले धुण्णबहुले पंकबहुले वेरयबहुले दंसतिपडिअसायबहुले अयसबहुले अप्पत्तियबहुले उसनतण-पाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवत्तित्ता अहे नगरतलपतिट्ठाणे भवति तेणं णरगा अंतोवट्टा बाहिं चउरंसा अहेखुरप्पसंठाणसंठिता निच्चंधकारतमसा ववगयगहचंदसू-रनक्खत्तजोतिसपहा मेयवसामंसरुहिरपूयपडलचिक्खल्ल-लित्ताणुलेवणतला असुई भीमा परमदुब्भिगंधा काऊण अगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरुहिया सा असुभा नरगा असुभा नरयस्स वेदणातो नो चेव णं नरएसु नेरइया निद्दापयलंति वा सत्तिं वा रतिं वा धितिं वा इमं वा उवलभंति तेणं तत्थ उज्जलं वियलं पगाढं कक्कसं कडुयं चडं रुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरुहियासं नरए सुरनेरइया नरयवेयणं पच्चणुभ-

वमाणा विहरंति से जधा रुक्खेसिया पव्वतायग्गजाते मूल–च्छिन्ने अग्गे गरुए जातो निचं जतो दुग्गं जतो विसमंततो पवडंति एवामेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते गब्भातो गब्भं जम्मातो जम्मं मारातो मारं दुक्खातो दुक्खं दाहिणगामिए नेरइए कण्ह–पक्खिते आगमे साणदुल्लभबोधिते याविभवति से तं अकि–रियावादी यावि भवति तं जहा आहियवादी आहियपत्ते आहि–यदिट्ठी साम्मावादी निहवादी संति परलोगवादी अत्थि इह लोगे अत्थि परलोगे अत्थि माता अत्थि पिया अत्थि अरहंता अत्थि चक्कवट्टी अत्थि बलदेवा अत्थि वासुदेवा अत्थि सुकड–दुक्कडाणं फलवित्तिविसेसेसु चिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति। सफले कल्लाणे यावए पच्चायंति जीवा अत्थि नेरइया देवा सिद्धी से एवं वादी एवं पन्ने एवं दिट्ठीच्छंदरागमतिनिविट्ठे आविभवति से भवति महेच्छे जाव उत्तरगामिए नेरइएसु पक्खिवत्तआगमेसाणं सुलभा बोधिया वि भवति से तं किरियावादसव्वधम्मरुची यावि भवति। तस्स बहुइं सीलव्वयगुणवे रमणपच्चक्खाणपो सहो वासाइं सम्मं पट्ठवितपुव्वाइं भवति पढमा उपासगपडिमा।

(अकिरियवाइत्ति) ननु प्रतिमाधिकारे तु पूर्वं दर्शनप्रतिमास्ति दर्शनं च सम्यक्त्वं तदेव पूर्वं वक्तुमुचितं किमर्थं तर्हि पूर्वं मिथ्यात्व–प्ररूपणमनुपयोगित्वात्। उच्यते मिथ्यादर्शनं खलु सम्यग्दर्शनप्र–तिपक्षभूतं तदपि ज्ञातुमुचितं जावन्न तद्विपक्षतया ज्ञातं तावत्सम्य–क्त्वे दार्ढ्यं भवति पूर्वं सर्वजीवानां मिथ्यात्वमेव पश्चात्केषांचित्सम्यक्त्वमतः पूर्वं मिथ्यादर्शनमेवोचितं वक्तुमिति। तद् द्विविधं तद्यथा आभिग्राहिकम–नाभिग्राहिकं माभिग्राहिको नामकुदर्शनग्रहोयथा नास्ति जीवोऽनित्यो वा जीवः नास्ति वा परलोकइत्यादिरूपः अनाभिग्राहिकमसंज्ञिनामपि केषांचित् तथाविधज्ञानविकलानां यतो भव्या अपि केचनाक्रियावा–दिनोऽभव्याश्चापि भव्योऽक्रियावादी नियमात् कृष्णपाक्षिक एतल्लक्षणमेवमाहुः 'जेसिमवड्ढो पुग्गल परियट्टो चेव होइ संसारो। ते सुक्कपक्खिया खलु इयरे पुण कन्हपक्खिया ॥१॥ इति। क्रियावादी च निममाद्रव्य एव शुक्लपाक्षिकश्च। यतः ''अंतो पुग्गलपरियट्टस्स णियमा सिज्झिहित्ति'' सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिर्वा भवेत् अतो युक्तमादौतदुद्देश–करणमिति। तत्र क्रिया अस्तीत्येवंरूपा तां वक्तुं शालमस्येति क्रियावादी तद्विपरीतस्त्वक्रियावादी यतः ये त्वक्रियावादिनस्ते अस्तीति क्रियाविशिष्टमात्मानं नेच्छन्त्येव एवंविधो भवति वापिशब्दावनुक्तार्थ–संग्राहकौ द्रष्टव्यौ। स पुनः कथंभूतो भवतीति दर्शयति (णाहियावादित्ति) नास्तिकवादादयो नास्त्यात्मा एवं वदनशीलो नास्तिकवादी एवं (नाहियपण्णेत्ति) नास्तिकप्रज्ञः प्रज्ञा हेयोपादेयरूपा तां नास्तीत्येवं वदनशीलो नास्तिकप्रज्ञः। प्रतिज्ञा वा निश्चयरूपोऽभ्युपगम एवं (नाहियदिट्ठित्ति) दृष्टिर्दर्शनं स्वमतमिति भावः (नो सम्मावादित्ति) न सम्यग्वादी मिथ्यादृष्टिरित्यर्थः ये यथावस्थितं भणन्ति ते सम्यग्वादिनः तद्विपरीतास्तु मिथ्यावादिनः (णो णित्ति यावदिति) नित्यो मोक्षो यत्र गतानां पुनरागमनादि नास्ति नित्यतयावस्थितिर्यत्रास्ति तन्निषेधवादी। अथवा नियतमनुष्ठानं (णंसत्ति) परलोकाः स्वर्गनरकादयः तद्वादी स पुनरित्थं नास्ति वदति यथा नास्तीह लोकः इहेति अयं प्रत्यक्षः सोऽपि नास्ति यद् दृश्यते तत् भ्रान्तमन्यथा प्रतिभासते तथाभूतसमुदायेन जीवादिकमस्ति तच्च वस्तुतया प्रतिभास इति भ्रान्तिः। नास्ति परलोकः कोऽर्थः परो नाम सुखदुःखोत्कृष्टभावसंयुक्तः सोऽपि नास्ति (णत्थि माता णत्थि पिता) इति कण्ठ्यं तन्निषेधमेवं ते कुर्वन्ति योऽयं मातृपितृ–व्यपदेशः स जनकत्वे कृतो जनकत्वाच्च यूकाकृमिगण्डोलकास्त–थाश्रित्य स स्यान्न चैवं तस्मान्न वास्तवो मातृपितृव्यवहार इति (णत्थि अरहंतत्ति) अर्हन्तस्तीर्थकराः शेषपदत्रयं व्यक्तं (नरयत्ति) नरान् उपलक्षणत्वात्तिरश्चोऽपि तथाविधपापकारिणः कायन्ति आह्वयन्तीति नरकाः सीमन्तकादयः (णेरयियत्ति) निर्गत अय–मिष्टफलं कर्म येभ्यस्तेषु भवा नैरयिकाः ''णत्थि सुक्कडेत्यादि'' नास्ति सुकृतदुष्कृतयोः फलवृत्तिविशेषः सुकृतं तपःप्रभृति दुष्कृतं जीवहिंसादि ''नो सुचिण्णेत्यादि'' न सुचीर्णानि सुष्ठ्वाचरितानि कर्माणि सुचीर्णफलानि इष्टफलसाधकानि भवन्ति एवमितरदपि नवरं व्यत्ययः अफले इत्यादि अयमात्मा अफलः फलवर्जितः क्वेत्याह कल्याणपापकवस्तुनि (णो पच्चायंतित्ति) न प्रत्यायान्ति जीवा गत्यन्तरसंभारेणेत्यर्थः (णत्थि णिरयादि) अत्रादिशब्दोपा–दानात् नारकास्तैरश्चा नरा देवाश्चत्वारो ग्राह्याः (णत्थि सिद्धित्ति) नास्ति न विद्यते सिद्धिर्नाम ईषत्प्राग्भारा मुक्तिलेति यावत् सेति स एवंवादी अनन्तरोक्तप्रकारवादी कथकः 'पण्णे दिट्ठीति' पूर्ववत् एवं (छंदरागे त्ति) छन्दः स्वाभिप्रायः रागो नाम स्नेहरागादिकसूत्राभिनिविष्टप्रत्यर्पित–दृष्टिर्भवति (सेयत्ति) सो भवति अनन्तरवक्ष्यमाणस्वरूपो यथा ''महिच्छे'' इत्यादि महती राज्यविभवपरिवा–रादिसर्वातिशायि–नीच्छान्तःकरणप्रवृत्तिर्यस्य स महेच्छः। तथा महानारम्भो वहनोष्ट्रमण्डलिकानां गन्त्रीप्रवाहकृषिषण्डपोषणादिको यस्य स महारम्भः यश्चैवंभूतः स महापरिग्रहः धनधान्यद्विपदचतुष्पदवास्तुक्षेत्रादिपरि–ग्रहवान् क्वचिदप्यनिवृत्तः अत एव धर्म्मेण चरतीति धार्मिकः न धार्मिकोऽधार्मिकः। तत्र सामान्यतोऽप्यधार्मिकः स्यादत आह (धम्माणुएत्ति) धर्म्म श्रुतचारित्ररूपमनुगच्छतीति धर्मानुगः। यद्वा धर्मे उक्तलक्षणेऽनुमोदनं यस्य सो धर्मानुज्ञस्तद्विपरीतस्तु अधर्मानुज्ञः। तथा (अधम्मसेवीत्ति) अधर्ममेव सेवितुं शीलमस्येत्यधर्मसेवी। तथा (अहम्मिट्ठेत्ति) धर्म्मः श्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पूजितो यस्य स धर्मिष्टः। अथवा धर्मिणामिष्टः। अथवा धर्म्मिष्ठः अतिशयेन धर्म्मी धर्मिष्ठः तन्निषेधादधर्म्मिष्टः अधर्म्मिष्ठो वा यद्वा अधर्म्मिष्ठो निस्त्रिंशकर्म–कारित्वादधर्मबहुलः अत एव (अहम्मक्खाईति) न धर्ममाख्यातीत्येवं शीलोऽधर्म्माख्यायी। अथवा न धर्माख्यायी अथवा अधर्मात् आख्यातिर्यस्य स अधर्म्माख्यातिः। तथा अधर्म्मरागी अधर्म्मे एव रागो यस्य सोऽधर्म्मरागी। तथा (अहम्मपलोइत्ति) न धर्ममुपादेयतया प्रलोकयति यः सोऽधर्मप्रलोकी (अहम्मजीवित्ति) अधर्म्मेण जीवति प्राणान् धारयतीति अधर्म्मजीवी। तथा (अहम्मपलज्जणेत्ति) न धर्मे प्ररज्यति आसजति यः सोऽधर्मप्ररञ्जनः। यद्वा अधर्म्मप्रापणीयेषु धर्म्मसु प्रकर्षेण राज्यत इत्यधर्मरक्तः रलयोरैक्यमिति रस्य स्थाने लकारोऽत्र कृत इति। ''क्वचिदधम्मपज्जणे'' इति पाठः तत्राधर्म प्रकर्षेण जनयति उत्पादयति लोकानुपयातीति अधर्म्मप्रजनः। तथा अधर्म्मशीलेति अधर्म्मशीलो ऽधर्मस्वभावः। तथाऽधर्मात्मकः समु–

दाचारो यत्किंचनानुष्ठानं यस्य भवति स अधर्मशीलसमुदाचारो न धर्मात्किमपि भवति तस्यैवाभावादित्येवम्। तथा (अधम्मेण चेवत्ति) अधर्म्मेण चारित्रश्रुतविरुद्धरूपेण वृत्तिं जीविकां कल्पयन् कुर्व्वाणो विहरत्यास्ते। यद्वा अधर्म्मेण सावद्यानुष्ठानेन दहनाङ्कन-निर्लाञ्छनादिकेन कर्मणा वृत्तिर्वर्तनं कल्पयन् कुर्वाणो विहरतीति कालमतिवाहयति। यद्वा अधर्मेणैव वृत्तिं सर्वजन्तूनां यापनां कल्पयन् इति। पापानुष्ठानमेव लेशतो दर्शयितुमाह "हणेत्यादि" स्वत एव हननादिकाः क्रियाः कुर्वाणोऽपरेषामप्येवमात्मकमुपदेशं ददाति। तत्र हननं दण्डादिभिस्तत्कारयति तथा छिन्धिकर्णादिकं भिन्धि शूलादिना विकर्त्तकः प्राणिनामजिनाय नेता अत एव लोहितपाणिर्मारयित्वा हस्तयोरप्यप्रक्षालनात् अत एव पापः पापकर्मकारित्वात्। चण्डस्तीव्रकोपावेशात्। रौद्रो निस्त्रिंशकर्मकारित्वात्। क्षुद्रः क्षुद्रकर्मकारित्वात्। साहसिकः सहसा अविमृष्यैव पापकर्मणि प्रवृत्तत्वात्। स्वत एव परलोकभयाभावात् असमीक्षितकारी अनालोचितपापकारीति भावः। तथा उक्तं च वञ्चनं प्रतारणं तद्यथा अभयकुमारः प्रद्योतगणिकाभिधार्मिकवञ्चनया वञ्चितः मायावञ्चनबुद्धिः प्रायो वणिजामिव। निकृतिस्तु वकवृत्त्या कुक्कुटादिकरणेन दम्भप्रधानवणिकाश्रोत्रियसाध्वाकारेण परवञ्चनार्थं मङ्गलकर्तकानामिवावस्थानं देशभाषानेपथ्यादिविपर्ययकरणम्। कूटमनेकेषां मृगादीनां ग्रहणाय नानाविधयोगकरणम्। अथवा कूटं कार्षापणं तुलाप्रस्थादेः परवञ्चनार्थं न्यूनाधिककरणं कपटं यथाऽऽषाढभूतिना नटेन वा परवेषपरावृत्त्याचार्योपाध्यायसंघाटकात्मार्थं चत्वारो मोदका अवाप्ताः। एतैरुद्वञ्चनादिभिः सहातिशयेन संप्रयोगो योगः तेन बहुलं यदि वा सातिशयेन द्रव्येण कस्तूरिकादीनामपरस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः सातिसंप्रयोगः तेन बहुलोऽतिप्रभूतः। उक्तं च सूत्रकृताङ्गचूर्णिकृता "सो होइ साइजोगो, दव्वं जत्थादि अन्नदव्वेसु। दोसगुणवयणेसु य, अत्थविसंवायणं कुणइ ॥१॥ इति संप्रयोगबहुलः। अपरे तु व्याख्यानयन्ति उक्तं च न नाम उक्तो वा निकृतिर्वचनप्रच्छादनकर्मसातिर-विजृम्भ, एतत्संप्रयोगबहुलः शेषं तथैव। एते चोत्कञ्चनादयो मायापर्यायाः यथेन्द्रशब्दस्य शक्रपुरन्दरादयः। पुनः किंभूताः (दुस्सीलेत्ति) दुष्टं शीलं स्वभावो यस्य स दुःशीलः दुष्परिचयश्चिरमुपचरितोऽपि क्षिप्रं विसंवदति। दुःखानुनेयो दारुणस्वभाव इत्यर्थः। तथा (दुव्वए) दुष्टानि वृत्तानि यस्य स तथा यथा मांसभक्षणव्रतकालसमाप्तौ प्रभूततरसत्त्वोपघातेन मांसप्रधानमन्यदपि नक्तभोजनादिकं तस्य दुष्टव्रतमिति। तथाऽन्यस्मिन् जन्मान्तरेऽहं मधुमद्यमांसादिकमभ्यवहरिष्यामीत्येवमज्ञानान्धो जन्मान्तरवि-धिद्वारेण स निदानमेव च तं गृह्णाति। तथा दुःखेन प्रत्यानन्द्यत इति दुष्प्रत्यानन्द्यः इदमुक्तं भवति तैरानन्दितेनापरेण केनिचत् प्रत्युपकारहेतुना गर्व्वाध्मातो दुःखेन प्रत्यानन्द्यते। यदि वा सत्यु-पकारे प्रत्युपकारभीरुर्नैवानन्दति प्रत्युत शठतया उपकारे दोषमेवोत्पादयति। तथा चोक्तं "प्रतिकर्तुमशक्तिष्ठा नराः पूर्वोपकारि-णाम्। दोषमुत्पाद्य गच्छन्ति मद्गूनामिव वाग्रसा इति"। तथा निश्शीलो ब्रह्मचर्यपरिणामाभावात्। निर्घातो हिंसादिविरत्य-भावात्। निर्घातो हिंसादिविरत्यभावात्। निर्गुणो हितकारित्वा-दि गुणाभावात्। निर्मर्यादिः परिस्त्रीपरदारादिमर्यादाविलोपित्वात्। तथा अविद्यमान पौरुष्यादिप्रत्याख्यानसत्पर्व्वदिनोपवासश्चेत्यर्थः। यत एवमतः साधुपापकर्मकारित्वात्। तथा यावत्प्राणधारणेन सर्वस्मात्प्राणातिपातादप्रतिविरतो लोकनिन्दनीयादपि ब्राह्मणघातादेरविरत इति सर्वग्रहणम्। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण यावत् करणात् "सव्वातो मुसावायातो अपडिविरया इत्यादि" पदकदम्बकपरिग्रहः। तत्र सर्वस्मादपि कूटसाक्ष्यादेरप्रतिविरत इति। तथा सर्वस्मात् स्त्रीबालादेः परद्रव्यादपहरणादविरतः। तथा सर्वस्मात्परस्त्रीगमनादेर्मैथुनादविरतः एवं सर्वस्मात्परिग्रहाद्योनिपोषकादप्यविरतः। एवं सर्वेभ्यः क्रोधमानमायालोभेभ्योऽप्यविरतस्तथा प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानपैशून्यपरपरिवादारतिरतिमायामृषामिथ्यादर्शनशल्यादिभ्योऽसदनुष्ठानेभ्यो यावज्जीवं प्रतिविरतो भवतीति तत्र प्रेमानभिव्यक्तमायालोभस्वभावमभिष्वङ्गमात्रं प्रेम। द्वेषोऽनभिव्यक्तक्रोधमानस्वरूपाप्रीतिमात्रं द्वेषः। कलहो राटिः अभ्याख्यानमसद्दोषारोपणम्। पैशून्यं प्रच्छन्नमसद्दोषाविष्करणम्। परपरिवादो विप्रकीर्णं परेषां गुणदोषवचनम्। अरतिरती अरतिर्मोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगः तत्पुनारतिर्विषयेषु मोहनीयोदयाच्चित्ताभिरतिः अरतिरती माया तृतीयकषायद्वितीयाश्रवयोः संयोगः अनेन च सर्वसंयोगा उपलक्षिताः। अथवा वेषान्तरकरणेन वा यत्परवञ्चनं तन्माया। मृषेति मिथ्यादर्शनं शल्यमिव विविधव्यथानिबन्धनत्वान्मिथ्यादर्शनशल्यमिति। तथा सर्वस्मात् स्नानोद्वर्त्तनाभ्यञ्जनवर्णककषायद्रव्यसंयुक्ततया विलेपनशब्दस्पर्शरसरूपगन्धमाल्यालङ्कारात् कामाङ्गात् मोहजनितादप्रतिविरतो यावज्जीवमिति। अत्र स्नानादयः शब्दाः प्रसिद्धाः नवरं वर्णकग्रहणेन वर्णविशेषापादकलोध्रादिकं परिगृह्यते। ननु पूर्वं तावत् अभ्यङ्गः पश्चात् उन्मर्द्दनं युज्यते पश्चाच्च स्नानं ततः कथमादौ स्नानोपन्यासः उच्यते यद्यपि अनुक्रम एवमेव परं कोऽपि कदाचिदभ्यङ्गमन्तराऽपि स्नानं कुर्वन् पृष्टिसंवाहनादि कारयति तेन न व्यत्ययो दोषावह इति। गन्धाः कोष्टपुटादयः माल्यानि ग्रथितदामानि अलङ्काराः केयूरादयः तथा सर्वतः शकटरथादेर्यानविशेषादिप्रविस्तरविधिपरिकररूपात् परिग्रहादप्रतिविरत इति। इह च शकटरथादिकमेव यानं शकटरथयानं युग्यपुरुषोक्षिप्तमाकाशयानं (गिल्लित्ति) पुरुषद्वयोक्षिप्ता गिल्लिका (थिल्लित्ति) वेगसरादिद्वयविनिर्मितो यानविशेषस्तथा (सीयत्ति) शिविका विलाटानां यत् अदुपभ्राणं रूढं तदन्यविषयेषु पिल्लिरित्युच्यते यद्वा तथा शिविका नाम कूटाकाराच्छादितो जम्पानविशेषः। तथा (संदमा-णियत्ति) शिविका विशेष एव पुरुषायामप्रमाणो जम्पानानि पर्यङ्कादीनि आसनानि गद्दिकादीनि यानानि वाहनानि च पूर्वोक्तान्तः पातीन्येव वेदितव्यानि। अथवा यानानि नौकादीनि वाहनानि वेसरादीनि भोजनमोहनादिरूपं प्रविस्तरो नाम गृहोपस्कार इति तथा अश्वहस्त्यादिपदानि व्यक्तानि नवरं दास आमरणं क्रयक्रीतः। कर्मकरो लोकहितादिकर्मकरः। पौरुषं पदातिसमूहः। तेभ्योऽप्यप्रतिविरतो यावज्जीवायेति। एतदेवमन्यस्मादपि वस्त्रादेः परिग्रहादुपकरणभूतादविरतस्तथा सर्वतः क्रयविक्रयाभ्यां करणभूताभ्यां यो मासकार्धमासकरूपकार्षापणादिभिः पण्यविनिमयात्मकः संव्यवहारस्तस्मादप्यविरतो यावज्जीवायेति। तथा सर्वस्मात्सर्वतः हिरण्यसुवर्णधनधान्यमणिमौक्तिकशङ्खशिलाप्रवालेभ्योऽन्यप्रतिविरतो यावज्जीवायेति। तत्र हिरण्यं रूप्यमघटितस्वर्णं मित्येके सुवर्णं घटितं धनं गणिमादिचतुर्धा तद्यथा "गणिमं जाई फलपूगफलाइ धरिमं तु कुंकुमगुडाई। मज्जं वोप्पडलोणाइ रयणवच्छाइ परिच्छिज्जं ॥१॥ धान्यं चतुर्विंशतिधा यवशाल्यादि मणयो वैडूर्य चिन्तामणिप्रभृत-

यो, मौक्तिकानि, प्रतीतानि, शङ्खा दक्षिणावर्तादयः शिलाप्रवालानि विद्रुमाणि, । अन्ये चाहुः । शिला राजपट्टादिरूपाः प्रवालं विद्रुम– मेतेभ्योऽप्यप्रतिविरतो जावज्जीवायेति । तथा कूटमानादविरतस्तथा सर्व्वतः सर्वस्मात् आरम्भसमारम्भात् तत्रैमौ द्वावपि त्रिप्रकारौ तद्यथा मानसिकवाचिककायिकभेदात् तत्र मानसिको मन्त्रादिध्यानं परमारणे हेतोः प्रथमः तथा समारम्भः परपीडाकरोच्चाटनादिनिबन्धनध्यानं वाचिको यथा आरम्भः परव्यापादनक्षमक्षुद्रविद्यादिपरावर्त्तनासंकल्प- सूत्रको ध्वनिरेव। समारम्भः परपरितापकरमन्त्रादिपरावर्त्तनम्। कायिको यथा आरम्भोऽभिघाताय यष्टिमुष्ट्यादिकरणं समारम्भः परितापकरो मुष्ट्या अभिघातः। तथा सर्वतः कृषिपाशुपाल्यादेर्यत्स्वतः करणं अन्येन व यत्किंचित् कारयति तस्मादविरतः उपलक्षणमनुमतेरप्येतत् तथा पचनपाचनतोऽप्यप्रतिविरतः । तथा सर्वतस्सर्वस्मात् कुट्टनपिट्टनत- र्ज्जनताडनया यः परिक्लेशः प्राणिनां तस्मादप्यप्रतिविरतः। सांप्रतमुप– संहरति ये चान्ये तथा प्रकाराःपरपीडाकारिणः सावद्याः कर्मसमा–रम्भा अबोधिका बोध्यभावकारिणस्तथा परप्राणपरितापनकरा गोग्रहवन्दी- ग्रहग्रामघातात्मका येऽनार्यैः क्रूरकर्मभिः क्रियन्ते ततोऽप्रतिविरता यावज्जीवमिति। पुनरन्यथाबहुप्रकारमाधाकर्मिकप–दप्रतिपिपादयिषु- राह 'सेजहाणामए इत्यादि' तद्यथेत्युपदर्शनार्थम्। नामशब्दः संभावनायां संभाव्यतेऽस्मिन्विचित्रे संसारे केचनैवंभूताः पुरुषाः ये कलमसूरतिलमुद्ग- माषनिष्पावकुलत्थाऽऽलिसिन्दकसन्तानानुपरिमन्थकादिषु पचनपाच- नादिक्रियया स्वपरार्थमयतः अयन्न वचननिक्षेपः । तत्र कला वृत्तचनकाः मसूराश्चनकाः। तिलमुद्गमाषाः प्रतीताः। निष्पवा वल्ली कुलत्थाः चपलकसदृशाश्चिप्पिटका भवन्ति । आलि सिन्दकाः सतानानुपरि- मन्थकाः क्रूरो मिथ्यादण्डस्तं प्रयुञ्जति मिथ्यैवानपराधिष्वेव दोषमारोप्य दण्डो मिथ्यादण्डस्तं विदधाति। तथा एवमेव प्रयोजनं विनैव तथा प्रकारः पुरुषो निष्करुणो जीवोपघातनिरतः तित्तिरवर्तकलाव- ककपोतककपिञ्जलमृगमहिषवराहगोगोणकूर्मसरीसृपेषु जीवनप्रियेषु प्राणिष्वयतः क्रूरकर्मा मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जति तस्य च क्रूरबुद्धेर्यथा राजा तथा प्रजा इति प्रवादात् परिवारोऽपि तथाभूत एव तेषु प्राणिष्वयतः क्रूरकर्मा मिथ्यामतिरिति। तथा दर्शयितुमाह । (जा विया से इत्यादि) पापिनी च तस्य बाह्या पर्षद्भवति। तद्यथा दासः स्वदासीसुतः प्रेष्यो हि प्रेषणयोग्यो भृत्यादिश्यो भृतको वेतननेनोदकाद्यानयनविधायी । तथा भागिको यः षष्ठांशादिलाभेन कृष्यादौ व्याप्रियते । कर्मकरः प्रतीतः। तथा नायकश्चित्तः कश्चिद्भोगपरस्तदेवं ते दासादयोऽन्यस्य लघावप्यप- राधे गुरुतरं दण्डं प्रयुञ्जन्ति प्रयोजयन्ति च। स च नायकस्तेषां दासादीनां बाह्यपर्षद्भूतानोमन्यस्मिन् यथा लघवप्यपराधे शब्दाश्रवणादिके गुरुतरं दण्डं वक्ष्यमाणं प्रयुङ्क्ते तद्यथा इमं दासं प्रेष्यादिकं सर्वस्वापहारेण दण्डय तमित्यादिपाठसिद्धं नवरम् । (अपुट्ठबाहुबंधणंति) अपुष्टा बाहुबन्धनं निगडानि प्रतीतानि हडिरिति काष्ठघोटकः चारको वन्दीप्रभृतीनामक- स्थानार्थं गृहविशेषः इमं निगडयुगलेन संकोचितं संकोचकरणेन ह्रस्वीकुरुत मोटितमङ्गभङ्गेन मुखे मध्यवेधः शरीरस्यासिप्रभृतिकेन (विच्छेउत्ति) ब्रह्मसूत्राद्याकारेण छेदनं जीवित एव हृदयोत्पाटनं हृदयमध्यमांसकर्त्तनम्। (ओलंवितंति) अवलम्बितं कूपपर्व्वतनमदी- प्रभृतिषु उल्लम्बितं वृक्षादिषु घर्षितं करीषादिना घोलितं रसनिष्कास- नार्थमाम्रवत् शूलाप्रोतं शूलिकारोपितं गुदे प्रोता सती शूली वदने निर्गच्छति शूलाभिन्नं मध्ये विध्यते क्षारान्तिकं नाम शस्त्रेण छित्वा लवणक्षारादिभिः सिच्यते दर्भवर्तितं दर्भेण शरीरविकर्त्तनं सिंहपुच्छे बन्धनं कटाग्निदग्धं कटान्तर्वेष्टयित्वाऽग्निना दह्यते काकनिमांसानि कर्त्तयित्वा खाद्यते अभ्यन्तरेण भक्तपानविधं मिममन्यतरेणाशुभेन कुत्सितमारेण व्यापादयत यूयम्। याऽपि च क्रूरकर्मवतोऽभ्यन्तरा पर्षद् भवति तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः प्रभुकल्पो मातापितृसुहृत्स्वजनादिभिः सार्द्धं परिवसंस्तेषां च मातापित्रादीनामन्यतमेनानाभोगतया यथाकथ– श्चिल्लघुतमेऽप्यपराधे वाचिके दुर्वचनादिके तथा कायिके हस्त– पादादिसंघट्टनरूपे कृते सति स्वयमेवात्मना क्रोधाध्मातो गुरुतरं दण्डं दुःखोत्पादकं वर्त्तयति करोति। तद्यथा शीतोदकविकटे प्रभूते शीते वा शिशिरादौ तस्यापराधकर्तुः कायमधो बोलयिता भवति । तथोष्णोदकविकटेन कायं शरीरमपसिञ्चयिता भवति। तत्र विक– टग्रहणादुष्णतैलेन काञ्जिकादिना वा कायमुपतापयिता भवति । तथाऽग्निकायोल्मुकेन तप्तायसा वा कायमुपदाहयिता भवति । तथा योत्रेण वा वेत्रेण वा खड्गेन वा नेत्रोवृक्षविशेषस्तेन त्वचा वल्कल तया वाऽन्यतमेन वा दवरकेण ताडनतस्तस्याल्पापराधकर्तुः शरीरपार्श्वाणि उद्दालयितुं भवति चर्माणि लुम्पयितुं भवति। तथा दण्डनयष्ट्यादिना वा अस्थ्ना वा लेलुना वा लोष्ठेन वा मुष्ट्या वा कपालेन वा अपरेण वा कायं शरीरमाकुट्टयिता उपताडयिता भव–ति अत्यर्थं कुट्टयिता वा तदेवमल्पापराधिन्यपि महाक्रोधदण्डं वर्तयति तथाप्रकारे पुरुषजाते एकत्र वसति तत्सहवासिनो मातापित्रादयो दुर्मनसस्तदनिष्टाशङ्कया भवन्ति मार्जारदर्शने मूषिकावत् तस्मिंश्च प्रवसिते देशान्तरं गच्छति गते वा तत्सहवासिनो हि सुमनसो भवन्ति त एवं यथा माजरि प्रवसिते मूषका विश्वस्ताः सुखेन विचरन्ति एवं तस्मिन् प्रवसिते पौराः प्रातिवेश्मिकाः स्वजनादिकाः सर्वे वाऽन्यो लोको विश्वस्तः स्वकर्मानुष्ठायी भवति। तथा प्रकारश्च पुरुषजातोऽल्पेऽप्यपराधे महान्तं दण्डं कल्पयतीति। एतदेव दर्शयितुमाह । तथा प्रकारः सदण्डो मृषादण्डेनामर्षी लोकोऽपि भणति तथा अमुको वराको राज्ञा कारागारे क्षिप्तो दण्डित इत्यर्थः दण्ड–पासीति वा पाठस्तत्र दण्डस्य पार्श्वं दण्डपार्श्वं तद्विद्यते यस्यासौ दण्डपार्श्वः स्वल्पतया स्तोकापराधेऽपि कुप्यति दण्डं च पातयति तमप्यतिगुरु- कमिति दर्शयितुमाह। दण्डगुरुको यस्य च दण्डो महान् भवत्यसौ दण्डेन गुरुर्भवति। तथा दण्डपुरस्कृतः सदा पुरस्कृतदण्ड इत्यर्थः स चैवंभूतः स्वस्य परेषाञ्चास्मिंल्लोकेऽस्मिन्नेव जन्मन्यहितः प्राणिनामहितदण्डो- पादानात्। तथा परस्मिन्नापि जन्मन्यसावहितस्तच्छीलतया चासौ येषाञ्चिदेव येन केनचिन्निमित्ते मनसाऽन्येषां दुःखमुत्पादयति तथा नानाविधैरुपायैस्तेषां शोकमुत्पादयति शोकयतीत्येवं जूरयति गर्हति तृप्यति सुखाच्च्यावयत्यात्मानं परांश्च । तथा स वराकोऽपुष्टधर्म्मा सहानुष्ठानैः स्वतः पीड्यते परांश्च पीडयति। तथा स पापेन कर्मणा परितप्यते दह्यते परांश्च स तापयति । तदेवमसावसद्दण्डी सन् दुःखेन शोकेन जूरणतर्पणपीडनो हि प्राणिनां बहुप्रकारपीडोत्पा- दकतया वधबन्धपरिक्लेशादप्रतिविरतो भवति स च विषयासक्ततयैतत्करोति तद्दर्शयितुमाह ''एवमेवेत्यादि'' एवमेव पूर्वोक्तस्वभाव एव स निष्कृपो निरनुक्रोशो बाह्याभ्यन्तरपर्षदोरपि कर्णनासावकर्त्तनदण्डपातनस्वभावः। स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः यदि वा स्त्रीषु मदनकामविषयभूतासु कामेषु चशब्दादिच्छाकामेषु

मूर्च्छितः गृद्धो ग्रथितः अध्युपपन्नः एते च शक्रपुरंदरादिवत्पर्यायाः कथञ्चिदभेदं वाऽऽश्रित्य व्याख्येयाः। एतच्च स्त्रीपुंशब्दादिषु च प्रवर्त्तनं प्रायः प्राणिबद्धस्पृष्टप्रकारादिभिर्बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थानि विधाय तेन च संभारकृतेन कर्म्मणा प्रेर्यमाणस्तत्र कर्मगुरुर्नरकतल-प्रविष्टानो भवतीति। अस्मिन्नेवार्थे सर्व्वलोकप्रतीतं दृष्टान्तमाह (से जहा णामए इत्यादि) तद्यथा नामायोगोलकोऽयः पिण्डः शिलागोलको वृत्ताश्मशकलं वोदके प्रक्षिप्तः समानसलिलतलमतिवर्त्यातिलङ्घ्या-धोधरणितलप्रतिष्ठानो भवति। अधुना दार्ष्टान्तिकमाह। ''एवमेवे-त्यादि'' यथाऽसावयोगोलको वृत्तत्वात् शीघ्रमेवाधो यात्येवमेव तथा प्रकारः पुरुजातस्तमेव लेशतो दर्शयति वज्रवद् वज्रं गुरुत्वात् कर्म तद्बहुलस्तत्प्रचुरो वध्यमान-कर्म्मगुरुरित्यर्थः। तथा धूयत इति धूनं प्राग्बद्धं कर्म तत्प्रचुरः पुनः सामान्येनाह (पंकयतीत्ति) पङ्कं पापं तद्बहुलस्तथा तदेव कारणतो दर्शयितुमाह। वैरबहुलो वैरानुबन्धप्रचुर-स्तथाऽप्यतियन्ति मनसो दुष्प्रणिधानं तत्प्रधानस्तथा दम्भो मायया परवञ्चनं तदुत्कटः। तथा निकृतिर्मायावेषभाषापरावृत्तिच्छद्मना परद्रोहबुद्धिस्तन्मयः। तथा (सातिबहुल इति) सातिशयेन द्रव्येण परस्य हीनगुणस्य द्रव्यस्य संयोगः सातिस्तद्बहुलस्तत्करणप्रचुरस्तथा क्वचित् आसायणबहुलेति पाठः तत्राशातना पूर्वोक्तार्थो पाठसिद्धा तया बहुलोऽतिप्रचुरत्वादप्राध्योऽसद्वृत्ततया निन्दाशया रत्नप्रभादि-कायास्तलमतितिष्ठति। परापकारभूतानि कर्म्माण्यनुष्ठानानि विधत्ते तेषु तेषु च कर्म्मसु करचरणच्छेदनादिष्वयशोभाग् भवति स एवंभूतः पुरुषः (कालमासेत्ति) स्वायुषः क्षये कालं कृत्वा पृथिव्याः रत्नप्रभादिकाया-स्तलमतिवर्त्त्य योजनसहस्रपरिमाणमतिलङ्घ्य नरकतलप्रतिष्ठानोऽसौ भवति। नरकस्वरूपप्ररूपणयाह। ''तेणमित्यादि'' णमिति वाक्यालङ्कारे ते नरकाः सीमन्तादयः बाहुल्यमङ्गीकृत्यान्तर्मध्यभागे वृत्ताकाराः बहिर्भागे चतुरस्राकाराः इदं च पीठोपरिवर्तिनं मध्यभागमधिकृत्योच्यते सकलपीठाद्यपे-क्षया त्वावलिकाप्रविष्टा वृत्तास्त्र्यस्रचतुरस्रसंस्थानाः पुष्पावकीर्णास्तु नानासंस्थानां प्रतिपत्तव्याः (अहेखुरस्स संठाणा संठियाइत्ति) अधो भूमितले क्षुरप्रस्येव प्रहरणविशेषस्य यत्सं-स्थानमाकारविशेषस्तीक्ष्णमालक्षणस्तेन संस्थितास्तथाहि तेषु नरकावासेषु भूमि तले मसृणत्वाभावतः शर्कराप्रचुरेभूभागे पादेषु न्यस्यमानेषु शर्करामात्रसंस्पर्शऽपि क्षुरप्रेणेव पादाः कृत्यन्ते (निच्चंधयारतमसा इत्ति) तमसा नित्यान्धकाराः उद्योताभावतो यत्तमस्तदिह तम उच्यते तेन तमसा नित्यं सर्वकालमन्धकाराः तत्राप्यवर्गादिष्वपि नामान्धकारोऽस्ति केवलं बहिः सूर्यप्रकाशे मन्दतमो भवति नरकेषु तीर्थकरजन्मदीक्षादिकालव्यतिरेकेणान्यदा सर्वकालमपि उद्योतलेशस्याभावतो जात्यन्धस्येव मेघच्छन्ननिशाकालार्द्धरात्र इव चातीव बहलतरो वर्तते तत उक्तं तमसा नित्यान्धकाराः तमश्च तत्र सदाऽवस्थित-मुद्योतकराणामसंभवात्। तथा चाह। ''ववगयगहचंदसूरनक्ख-त्तजोइसियपहा'' व्यपगताः परिभ्रष्टा ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्ररूपाणामुपल-क्षणमेतत् तारारूपाणां च ज्योतिष्काणां पन्था मार्गो येभ्यस्ते व्यपगतग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रज्योतिष्कपथाः तथा पुनरप्यनिष्टोपादानार्थं तेषामेव विशेषणमाह। ''मेयवसेत्यादि'' दुष्कृतकर्मकारिणां तेषां दुःखोत्पादनायैवंभूता भवन्ति। तद्यथा स्वभावसंपन्नैर्मेदोवसामांस-रुधिरपूयादीनां पटलानि सङ्घास्तैर्लिप्तानि पिच्छिलीकृतान्यनुलेपन-प्रधानानि येषां ते तथा अथवा मेदोवसामांसरुधिरपूतिपटलैर्थच्चिक्खल्लं कर्दमस्तेन लिप्तमुपदिग्धमनुलेपनेन सततलिप्तस्य पुनः पुनरुपलेपनेन तलं भूमिका येषां ते मेदोवसालिप्तरुधिरमांसचिक्खल्ल-लिप्तानुलेपनतलाः अत एवाऽशुचयो विष्ठासृक्क्लेदप्रधानत्वात् अत एवंविधाः कुथितमांसादिकल्पकर्दमविलिप्तत्वात् क्वचित् 'वीभच्छा' इति पाठः तत्र वीभत्सा दर्शनेऽप्यतिजुगुप्सोत्पत्तेः। एवं परमदुरभिगन्धाः कुथितगोमायुकलेवरादप्यसह्यगन्धकाः। (अगणिवण्णाभा इति) लोहे धम्यमाने यादृक्कपोतो बहुकृष्णरूपायोवर्णः। किमुक्तं भवति यादृशी बहुकृष्णवर्ण्णरूपा अग्निज्वाला निर्गच्छतीति तादृशी आभा आकारो येषां ते कपोताग्निवर्णाभाः धम्यमानलो-हाग्निज्वालाकल्पा इति भावः। तारकोत्पत्तिस्थानातिरेकेणान्यत्र सर्वत्राप्युष्णरूपत्वात् एतच्च षष्ठसप्तमपृथिवीवर्जमवसेयम्। यत उक्तम्। ''छट्ठसत्तमीसुणं काऊअगणिवण्णाभा न भवंति'' एतादृशास्ते रूपतः। स्पर्शतस्तु कर्कशाः कठिना वज्रकण्टकासिपत्रस्येव स्पर्शा येषां ते। तथा अत एव (दुरहियासा इति) दुःखेनाध्यासन्ते सह्यन्ते इति दुरध्यासाः किमिति यतस्ते नरकाः पञ्चानामपीन्द्रियार्थानामशोभनत्वादशुभाः तत्र सत्वानामशुभकर्मकारिणामुग्रदण्डपातिनां वज्रप्रचुराणां तीव्रा अतितिव्रा अतिदुःसहा वेदनाः शरीराः प्रादुर्भवन्ति तया च वेदनया अभिभूतस्तेषु नरकेषु ते नारका नैवाक्षिनिमेषमपि कालं निद्रायन्ते नाप्युपविष्टाद्यवस्था-मक्षिसंकोचरूपामीषन्निद्रामवाप्नुवन्ति। श्रुतं विशेषज्ञानरूपं रतिं-चित्ताभिरतिरूपां धृतिं विशिष्टसत्वरूपां मतिं वेशेषबुद्धिरूपां नोपलभन्ते न ह्येवंभूतवेदनापीडितस्य निद्रादिलाभो भवतीति दर्शयति तामुज्ज्वलां तीव्रामनुभवेनोत्कटाम्। (तितुलंति) त्रीनपि मनःप्रभृतिकान् तुलयति जयति तित्तितुला तां क्वचिद्विपुलामित्युच्यते तत्र सकलकायव्याप-कत्वाद्विपुलाम्। (पगाढंति) प्रकर्षवर्तिना (कक्कसंति) कर्कशद्रव्यमिव कर्कशां दृढामित्यर्थः (कदुयंति) कदुकां नागरादिवत् सकटुकामनिष्टामेव (चंडंति) चण्डां रौद्राम् (तिव्वंति) तीव्रां निक्तनिम्बादिद्रव्यमिव तीव्राम् (दुक्खंति) दुःखहेतुकाम् (दुग्गंति) कष्टसाध्याम् (दुरहियासंति) दुरधिसह्यां वेदयन्तो विचरन्ति। अयं तावदयोगोलकपाषाणदृष्टान्तः शीघ्रमधोनिमज्जनाप्रतिपादकः प्रदर्शितोऽधुना शीघ्रपातार्थप्रति-पादकमेवापरं दृष्टान्तमधिकृत्याह ''से जहाणामए इत्यादि'' तद्यथा नाम कश्चिद्वृक्षः पर्व्वताये जातो मूले छिन्नः शीघ्रं यथा निम्नं पतत्ये-वसावप्यसाधुकर्मकारी तत्कर्म वातेरितः शीघ्रमेव नरके पतति ततो नरकादप्युद्वृत्तो गर्भाद्गर्भमवश्यं याति। एवं जन्मतो जन्म मरणान्मरणं नरकान्नरकं दुःखाद् दुखं दुखात् शरीरमानसोद्भवात् दुःखं समाप्नोति (दाहिणत्ति) दक्षिणस्यां दिशि गमनशीलो दक्षिणगामुकः। इदमुक्तं भवति यो हि क्रूरकर्मकारी साधुनिन्दापरायणः सद्दाननिषेधकस्स दक्षिणगामुको भवति दाक्षिण्यात्तेषु नारकतिर्यङ्मनुष्यामरेषु उत्पद्यते तादृग्भूतश्चायमतो दक्षिणगामुक इत्युक्तम्। इदमेवाह (णेरएइत्यादि) नरकेषु भवो नारकः कृष्णपक्षोऽस्यास्तीति कृष्णपाक्षिकस्तथाऽऽगामिनि काले नरकादुद्वृतो दुर्लभबोधिकश्चये च बाहुल्येन भवति। इदमुक्तं भवति दिक्षु मध्ये दक्षिणा दिगप्रशस्ता गतिषु नरकगतिः पक्षतः कृष्णपक्ष-स्तदस्य विषयान्धस्योन्द्रियामुक्ततलवर्तिनः परलोकनिःस्पृहमतेः साधुप्रद्वेषिणो दानान्तरायविधायिनो दिशमप्रशस्तां प्राप्नोति एवमन्यदपि यादृगप्रशस्तं तिर्यग्गत्यादिकमबोधिलाभादिकं च-

तद्योजनीयमस्येति न तस्य किंचित्त्राणं भवति। एवं मिथ्यात्वयुक्तजीववर्णनमुक्त्वा यदा कदाचित् सम्यक्त्वमाप्नोति तदा यादृशः स्यात् तथाह (सेत्तमित्यादि) स क्रियावादी वाऽपि भवति यथा पूर्वं व्याख्यातं तथोत्तरत्रापि व्यत्ययेन व्याख्येयम्। एवं यदा स आस्तिको भवति तदा स सम्यग्दृष्टिर्भवति यावदुत्तरगामुकः शुक्लपाक्षिको देवादिषु उत्पद्यते आगामिनि काले च सुलभधर्मप्रतिपत्तिर्भवति स क्रियावादी सत्यधर्मरुचिश्चापि भवति सद्भ्यो हितः च चासौ धर्मः क्षान्त्यादिकस्तद्रुचिरित्यर्थः। क्वचित् ''सच्चधम्मरुईत्ति'' पाठः। तत्र धर्मः स्वभाव इत्यनर्थान्तरं जीवाजीवयोर्यस्य तद्रूपस्य गतिः स्थित्यवगाहनादिका। अथवा सर्वे धर्माः आज्ञाग्राह्याः हेतुग्राह्याश्च तान् श्रद्धत्ते सम्यक्तया मन्यते परं तस्य णमिति वाक्यालंकारे (बहूइं सीलव्वयेत्यादि) शीलव्रतान्यणुव्रतानि गुणव्रतानि विरमणानि औचित्येन रागादिनिवृत्तयः प्रत्याख्यानानि पौरुष्यादीनि पौषध अवश्यतया पर्वदिनानुष्ठानं तत्रापवासोऽवस्थानं पौषधोपवासः एषां द्वन्द्व एते नो निषेधे सम्यग् यथा भवन्ति तथा प्रस्थापिता भवन्ति न स्वचेतसि नियततया कर्त्तव्यत्वेन व्यवस्थापिता भवन्ति। एवमनुना प्रकारेण दर्शनश्रावको भवति। दर्शनं नाम सम्यक्त्वं तदाश्रित्य श्रावको भवति। ननु तथाविधविरतिं विना कथं श्रावको भवति उच्यते वस्तुव्रतान्यपि न सम्यक्त्वं विना भवन्ति यतः ''नत्थि चरित्तं सम्मत्तविज्जियं'' इत्यादि वचनात्। सम्यक्त्वं व्रतमेव अथवा सम्यक्त्वं तु पञ्चसंवरद्वाराणामाद्यं संवरद्वारं ततः सम्यक्त्वे श्रावको भवत्येवेति नात्र संशयः। इदं च सम्यक् श्रद्धानरूपा प्रथमा आद्या उपाशकप्रतिमा दशा०६ अ०। आ०चू०। अथ दर्शनप्रतिमास्वरूपनिरूपणायाह। दारं दंसणधो अविच्छेदः शुभानुबन्धः सोऽस्यास्तीति शुभानुबन्धी। तथा निरतिचारः शङ्काकाङ्क्षादिदर्शनातिक्रमरहित इति तदेवमितो ग्रन्थात् दर्शनप्रतिपत्तिमात्रं निरतिचारसम्यक्त्वसद्भावावधिकं प्रतिमेत्यवसीयते। उपासकदशासु पुनरानन्दादीनां प्रतिमाकारिश्रावकाणां पूर्वं प्रतिपन्नदर्शनव्रतानां प्रतिमैकादशकस्य प्रतिपत्तिर्वर्णिता तत्प्रमाणं च सार्द्धं वर्षपञ्चकमित्यतोऽनुमीयते दर्शनप्रतिपत्तिमात्रादतिरिक्तस्वभावा सा तदतिरेकश्चेह राजाभियोगाद्याकारषट्कवर्जनं यथावत्समग्रदर्शनाचारपालनादिभिः संभाव्यते कालमानं चास्यामेको मासो यत एकादिकयैकोत्तरया वृद्ध्यैकादशसु प्रतिमासु यथोक्तं कालमानं भवतीति गाथार्थः। अथ दशाश्रुतस्कन्धादिषु प्रतिमाशब्दोऽभिग्रहार्थो व्याख्यातः। इह पुनः कस्मात्तद्व्याख्यानत्यागेन शरीरार्थो व्याख्यात इत्याशङ्क्याह।

वोंदी य एत्थ पडिमा, विसिट्ठगुणजीवलोगओ भणिया।
ता एरिसगुणजोगा, होउ सोक्खावणत्थि त्ति ॥७॥

वोन्दिश्च तनुः पुनरत्र प्रकरणे ग्रन्थान्तरे त्वभिग्रहः प्रतिमा प्रतिमेति शब्देन भणितोक्ता किमर्थमिति चेदुच्यते विशिष्टगुणः संसाराभिनन्दिसत्वापेक्षया मार्गादिसुखादिः स चासौ जीवलोकश्च सत्वलोको विशिष्टगुणजीवलोकस्तस्मात्सकाशात् शुभसुप्रशस्त एव संदर्शनप्रतिमावानिति ख्यापनार्थमेतत्प्रतिपादनायेति। कुतः पुनः स शुभ इत्याह। तयेदृशगुणयोगात् तया वोन्द्या हेतुभूतया य ईदृशगुणयोगः प्रागुक्तदर्शनप्रतिमागुणसंबन्धस्तस्मात्तवेदृशगुणयोगादित्येतस्य संस्कृतस्य च स्थाने ''ता एरिसगुणयोगा'' इति प्राकृतं न विरुद्धमेवं विधप्रयोगाणामनेकशो दर्शनादिति। इदमुक्तं भवति। आस्तिक्यगुरुदेववैयावृत्त्यनियमादिभिर्गुणैर्गुणिलोकात् शुभतरः प्रतिमागुणवांस्तत्सूचकाय क्रियारूपास्तदभिव्यङ्ग्याश्च वर्तन्ते ततस्तेषां तदभिव्यक्तेश्च वोन्दिहेतुकत्वात् वोन्दिमतः प्रतिमावतः प्राधान्यमिति ख्यापनाय वोन्दीप्रतिमेत्युक्तमिति गाथार्थः। एवं तावद्दर्शनप्रतिमाशब्दस्याभिधेयमभिधाय शेषप्रतिमासु तदतिदेशं व्रतप्रतिमास्वरूपं चाह।

एवं वयमाईसु वि, दट्ठव्वमिणं ति णवरमेत्थ वया।
घेप्पं नणुव्वया खलु, थूलगपाणवहविरयादी ॥८॥

एवमनेनैव प्रकारेण दर्शनप्रतिमोक्तेन व्रतादिष्वपि व्रतसामायिकप्रभृतिषु सर्वप्रतिमासुन केवलं दर्शनप्रतिमायामेव द्रष्टव्यमवसेयम्। इदं च प्रतिमाशब्दस्याभिधेयमितिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ एवमतिदेशद्वारेण सामान्यतो व्रतादिप्रतिमां व्याख्याय विशेषव्याख्यानार्थमाह। नवरं केवलमत्र व्रतप्रतिमायां व्रतान्यनिग्रहाः (घेप्पंति त्ति) गृह्यन्ते आद्रियन्ते अणुव्रतानि खलु देशमूलगुणा एव खलुरवधारणे किं स्वरूपाणि तानीत्याह स्थूलकप्राणवधविरत्यादीनि असूक्ष्मसत्वहिंसाविरमणप्रभृतीनीत्यादिशब्दात् स्थूलकमृषावादविरत्यादिपरिग्रह इति गाथार्थः। अथ तानि यदा भवन्ति तत्स्वरूपाणि चेत्येतद्दर्शनार्थमाह।

सम्मत्तोवरि ते सेस–कम्मुणो अवगए पुहत्तम्मि।
पिलियाणं होंति णियमा, सुहा य परिणामरूवाउ ॥९॥

सम्यक्त्वोपरि सम्यक्त्वलाभकालस्यार्द्धं ते इति तान्यणुव्रतानि शेषकर्मणः सम्यक्त्वलाभकाले यत् क्षपितं तदपेक्षया शेषस्य देशोनसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणस्य मोहनीयादिकर्म्मस्थितिबन्धलक्षणस्यापगते क्षीणे पृथक्त्वे द्विप्रभृतिकेन चान्ते संख्याविशेषे केषामित्याह। पल्यानां पल्योपमानां भवन्ति जायन्ते नियमादवश्यतया। तथा शुभात्मपरिणामरूपाणि तु प्रशस्तजीवाध्यवसायस्वभावान्येव क्षायोपशमिकत्वादिति गाथार्थः।

तेषां शुभात्मपरिणामस्वरूपत्वादेव यत्स्यात्तदाह।

बंधादि असक्किरिया, संतेसु इमेसु पहवइ ण पायं।
अणुकंपधम्मसवणा–दिया उ पहवंति विसेसेण ॥१०॥

बन्धादिर्बन्धविच्छेदप्रभृतिरसत्क्रिया अशोभना चेष्टा प्रतिव्रतमतिचारपञ्चकरूपा सत्सु विद्यमानेष्वणुव्रतेषु प्रभवति जायते। न चैवं प्रायो बाहुल्येन प्रमादादिना कदाचित्स्यादप्रीतिः प्रायोग्रहणमनुकम्पाधर्म्मश्रवणादिकानुजीवदयाधर्म्मशास्त्राकर्णनप्रभृतिका पुनः क्रियेति प्रकृतं प्रभवति जायते। विशेषेण सुतरां दर्शनप्रतिमापेक्षया व्रतमात्रापेक्षया चेति। तदेवं व्रतप्रतिमा निरतिचारपञ्चाणुव्रतपालनरूपा उपासकदशाभिप्रायेण चार्थापत्तेर्लभ्यते मासद्वयमानेनातोऽन्यत्र व्रतमात्रमेवेति गाथार्थः। पंचा० १० विव०।

सांप्रतं द्वितीयप्रतिमास्वरूपमुच्यते।

अहावरा दोच्चा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुईया वि भवति तस्स णं बहूइं सीलव्वयगुणव्वयवेरमणपोसहोववासाइं पट्ठ–विताइं भवंति से णं सामाइयदेसावकासियं णो सम्मं पालित्ता भवति दोच्चा उवासगपडिमा ॥२॥

अथेत्यानन्तर्ये अपरा अन्या उवासगेत्यादि व्यक्तं शीलव्रतादीनि च प्रस्थापितानि भवन्ति एतावता विरतिमान् भवति परं स न सामायिकं देशावकाशिकं च सम्यग्यथा भवत्यतिचाररहि–

तं तथा अनुपालयिता भवति इति द्वितीया श्रावकप्रतिमा दशा० ६ अ० आ० चू० द्वितीया व्रतप्रतिमा इदं चास्याः स्वरूपम् । ''दंसणपडिमाजुत्तो, पालंतो णुव्वए निरइयारे । अणुकंपाई गुणजुत्तो, जीवो इह होइ वयपडिमा'' उपा०१ अ० पंचा०।

अथ तृतीयामुपासकप्रतिमामाह ।

अहावरा तच्चा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुचिया वि भवति तस्स णं बहूणं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति से णं सामायिकं देसावकासियं सम्मं अणुपालित्ता भवति से णं चाउद्दसअट्ठमिउद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहो नो सम्मं अणुपालित्ता भवति तच्चा उवासग–पडिमा ॥

अथापरा तृतीया सुगता नवरं तस्य बहूनि व्रतादीनि प्रस्थापितानि आत्मनि निवेशितानि भवन्ति (सेणंति) स णमिति वाक्यालंकारे ''चाउद्दसीत्यादि'' चतुर्दशी प्रसिद्धा पर्वतिथित्वेन तथैवाष्टमी पर्वत्वेन प्रख्याता (उद्दिट्ठत्ति) उद्दिष्टा अमावस्या पौर्णमासी पूर्णो मासो यस्यां सा पूर्णमासी तासु एवंभूतासु धर्मतिथिषु प्रतिपूर्णं यः पोषधो व्रताभिग्रहविशेषस्तं प्रतिपूर्णमाहारशरीरसंस्कार । ब्रह्मचर्यव्यापाररूपं पोषधं नानुपालयिता भवति । इति तृतीया उपासकप्रतिमा दशा० ६ अ० आ० चू० (तच्चंति) तृतीयां सामा–यिकप्रतिमां तत्स्वरूपमिदम् । ''वरदंसणवयजुत्तो, सामइयं कुणइ जो उ संझासु । उक्कोसेण तिमासं, एसा सामइयप्पडिमा''।

सामायिकशब्दार्थमाह ।

सावज्जजोगपरिव–ज्जणादिरूवं तु होइ विण्णेयं ।
सामाइयमितिरियं, गिहिणो परमं गुणट्ठाणं ॥११॥

सावद्ययोगपरिवर्जनादिरूपं सपापव्यापारपरिहारनिरवद्ययोगा–सेवास्वभावं तुशब्दः पुनरर्थो भवति स्याद्विज्ञेयमवसेयं सामायिकं प्रागुक्तनिरुक्तमित्वरः स्तोकः कालो यत्रास्ति तदित्वरिकं मुहूर्त्ता-दिप्रमाणं गृहिणः श्रावकस्य परमं प्रधानं शेषगुणस्थानापेक्षया गुणस्थानं देशचारित्रविशेषो गुणाश्रयो वेति गाथार्थः ।

परमगुणस्थानमेवास्य समर्थयन्नाह ।

सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ जतो भणितो ।
बहुसो विहाणस्स य, तम्हा एयं बहुत्तगुणं ॥१२॥

सामायिके एव समभावरूपे नतु व्रतान्तरे तुशब्दोऽवधारणार्थः । कृते प्रतिपन्ने सति श्रमण इव साधुतुल्यः सिद्धिसुखपरमसाधन-भूतसमभावसाधर्म्यादयतो यस्मात्कारणाद्भणितोऽभिहितस्तथा बहुशोऽनेकशो विधानं वा सेवनं वाऽस्य सामायिकस्य भणितं निर्युक्तिकृता । तथा हि ''सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा । एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा'' तस्सत्कारणादेतत्सा-मायिकं यथोक्तगुणं प्रागभिहितगुणं परमं गुणस्थानामत्यर्थ इति गाथार्थः । अत्र सामायिके सति यन्न भवति यच्च भवति तद्दर्शयन्नाह ।

मणदुप्पणिहाणादी,ण होंति एयम्मि भावआ संते ।
सब्भावावट्ठियकारि, या य सामण्णबीयंति ॥१३॥

मनोदुष्प्रणिधानादीनि मनोदुष्प्रणिधानवचनदुष्प्रणिधानकाय–दुष्प्रणिधानानि प्रथमप्रकरणोक्तरूपाणि न भवन्ति न जायन्ते एतस्मिन् सामायिके भावतो भावेन न तु द्रव्यतः सति विद्यमाने तथा स्मृतिभावसामायिकं प्रति कृताकृतादि विषयस्मरणसद्भावस्तथाऽ-वस्थितसामायिककरणनिषेधरूपो भवतीति प्रकृतम् । च शब्दः समुच्चये कस्मादेवमित्याह । श्रामण्यबीजं श्रमणाभावहेतुरिति कृत्वा यत् श्रमणभावस्य परमसामायिकरूपस्यबीजं तत्कथं मनोदुष्प्रणिधाना-दियुक्तं भवति कारणानुरूपत्वात्कार्यस्येति । यद्यप्येषा सामायिकप्रतिमा एतस्य प्रकरणस्य दसाश्रुतस्कन्धस्य वाऽभिप्रायेणानियतकालमाना तथाऽप्यावश्यकचूर्ण्यभिप्रायेणोपासकदशाभिप्रायेण च प्रतिदिनमुभय-साध्यं सामायिककरणतामासत्रयमानोत्कर्षेण द्रष्टव्या जघन्यतस्तु सर्वा अप्येकाहादिमाना इति । एतच्चाग्रे वक्ष्यत इति गाथार्थः । उक्ता सामायिकप्रतिमा पंचा० १० विव०॥

अथापरा चतुर्थी उपासकप्रतिमा ॥

अहावरा चउत्था उवासगपडिमा सव्वधम्मरुईया वि भवति तस्स णं बहूइं सीलव्वया जाव सम्मं पट्ठवियाइं भवंति से णं सामाईयं देसावगासियं सम्मं अणुपालेत्ता भवति से णं चउद्दसट्ठं जाव सम्मं पोसहं अणुपालेत्ता भवति से णं एगराईयं उवासगपडिमं नो सम्मं अणुपालित्ता भवति चउत्था उवासगपडिमा ॥

यस्मिन् दिने उपवासो भवति तस्मिन् दिने वा रात्रौ प्रतिमां प्रतिपद्यते न च स तां शक्नोति कर्तुमिति चतुर्थी । दशा० ६ अ० आ० चू० (चउत्थंति) चतुर्थी पोषधप्रतिमैवंरूपा ''पुव्वोदियपडिमजुओ, पालइ जो पोसहं तु समत्तं । अट्ठमिचउद्दसीसु, चउरो मासा चउत्थी सा ॥'' उपा०१ अ० अधुना पोषधप्रतिमावसरस्तत्र च पोषधमेव स्वरूपतो दर्शयन्नाह ॥

पोसेइ कुसल धम्मे, जं ता हारादिचागणुट्ठाणं ।
इह पोसहो त्ति भण्णति, विहिणा जिणभासिएणेव ॥१४॥

पोषयति पुष्णाति कुशलधर्मान् शुभसमाचारान् प्राणातिपातवि–रमणादीन् यद्यस्मात्तत्तस्मादाहारादित्यागानुष्ठानं भोजनदेहस–त्कारब्रह्मव्यापारपरिहारकरणमिह प्रक्रमे पोषध इत्येवं भण्यते अभिधीयते पोषं धत्ते पुष्णाति वा धर्म्मानिति निरुक्तात्कथं यदाहारादित्यागानुष्ठानमित्याह विधिना विधानेन यथाकथञ्चि–त्किभूतेन जिनभाषितेनैव सर्वज्ञोक्तेनैव स्वमतिवर्तितेन विधानं च प्रथमप्रकरण एवोक्तमिति न पुनर्भण्यते इति गाथार्थः ।

अथ पाषधं तत्वतो निरूप्य भेदतस्तन्निरूपयन्नाह ॥

आहारपोसहो खलु, सक्कारपोसहो चेव ।
बंभव्वावारेसु य,एयगया धम्मबुड्ढि त्ति ॥१५॥

आहारपोषधः प्रागुक्तस्वरूपः खलुर्वाक्यालंकारे शरीरसत्कार–पोषधः पूर्वोक्तस्वरूप एव । चैवशब्दः समुच्चयार्थः ब्रह्मव्यापारयोश्चेति एतद्विषयश्च पोषधो भवति ब्रह्मचर्यपोषधो व्यापारपोषधश्चेत्यर्थः। आहारादिपोषध इति कोऽर्थ उच्यते एतद्गता आहारादित्यागसमाश्रिता धर्मबुद्धिर्धर्मपुष्टिः पोषं धत्त इति व्युत्पादनादितिशब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति गाथार्थः ।

इह यद्वर्ज्जयत्यसौ तदाह ।

उप्पडि पुप्पडिलेहियसेज्जासंथारमाइवज्जे त्ति ।
सम्म च अणणुपालणमाहारादीसु एयम्मि ॥१६॥

'अप्पडिति' पदावयवे पदसमुदायोपचाराद् 'अप्पडिलेहियत्ति' दृश्यं ततश्च अप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारकादि वर्ज–

यति परिहरतीत्य प्रत्युपेक्षितमनिरीक्षितं दुष्प्रत्युपेक्षितं दुर्निरीक्षितं शय्या शयनं तदर्थः संस्तारकः कम्बल्यादिखण्डम् अथवा शय्या वसतिः सर्वाङ्गीणशयनं वा संस्तारकश्च ततो लघुतर इति समाहारद्वन्द्वात् शय्यासंस्तारकः । आदिशब्दादप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यासंस्तारकमप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितोच्चारप्रश्रवणभूमिमप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रश्रवणभूमिं चेति सम्यग्यथागमं चाननुपालनमवधावनभोजनाद्यौत्सुक्यादिभिराहारादिष्विति । सप्तम्याः षष्ठ्यर्थत्वात् आहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापारपोषधानामेतस्मिन्निति पोषधे वर्जयतीति प्रकृतमिति। तदेवमियं पोषधप्रतिमा ग्रन्थान्तराभिप्रायेणाष्टम्यादिपर्वसु संपूर्णपोषधानुपालनारूपोत्कर्षतश्चतुर्मासप्रमाणा भवतीति गाथार्थः ।

अथ पञ्चमी ।

आहावरा पंचमा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुइया वि भवति तस्स णं बहुइं सील जाव सम्मं पडिलेहित्ताइं भवति से णं चाउद्दसिं तहेव से णं एगराईयं उवासगपडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवति से णं असिणाणविपडभोई मउलियडे दिया बंभचारी रत्तिं परिमाणकडे से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुवाहं वा तियहिं वा उक्कोसेणं पंचमासे विहरेज्जा पंचमा उवासगपडिमा ॥

सव्वधम्मेत्यादि व्यक्तम् (असिणाणेत्ति) न स्नाति स्नानं न करोति (वियडभोइत्ति) प्रकाशभोजी न रात्रौ भुङ्क्ते अप्रकाशे वा यतो ये दोषाः पिपालिकाद्युपघातरूपाः रात्रौ भवन्ति त एवान्ध–कारभोजने इति प्रवादः तेन प्रकाशभोजी भवति (मउलिकडेत्ति) परिधानवाससो वलद्वयकटीप्रदेशेनावलम्बयति। अग्रे पृष्ठे च उन्मुक्तकच्छो भवतीत्यर्थः यावन्मासपञ्चमं तत्परिसमाप्यते तावद्दिया ब्रह्मचारी (से णमित्यादि) स इत्यनिर्दिष्टनामा एतद्रूपेण विहारेण प्रतिमाचरणरूपेण विचरन् एकाहमेकदिवसं वाशब्दः परापरभेदसूचकः एवं द्व्यहं त्र्यहं उत्कर्षतो यावत्पञ्चमासास्तावद्विहरति तत्रैकाहं यदि अङ्गीकृत्य प्रतिकारं कुर्यात् असामर्थ्याद्वा अन्तराले एव त्यजेत् कोऽपि तत उक्तमेकाहं चेत्यादि इतरथा तु सम्पूर्णोऽपि भवति पूर्वोक्तः प्रतिमाचतुष्टयस्याचारोऽत्रापि द्रष्टव्यः दिवा रात्रौ च ब्रह्मचारी भवति एवमुत्तरत्रापि पूर्ववत् प्रतिमाचारोऽवि वाच्य इति पञ्चम्युपासकप्रतिमा । क्वचित् ''अहासुत्ता'' इत्यादि पाठस्तत्र (अहासुत्ता इति) सामान्यसूत्रानतिक्रमेण (अहाकप्पा इति) प्रतिमाकल्पानतिक्रमेण कल्पे वस्त्वनतिक्रमेणं वा (अहामग्गो इति) ज्ञानादिमोक्षमार्गानतिक्रमेण क्षयोपशमिकभावानतिक्रमेण वा (अहातच्चा इति) यथा तत्वं तत्वानतिक्रमेण पञ्चमासिकी श्रावकप्रतिमा इति शब्दार्थानतिलङ्घनेनेत्यर्थः (जहा सम्मंइति) समभावानतिक्रमेण (काएणंति) न मनोरथमात्रेण (फासेइत्ति) उचितकाले विधिना ग्रहणात् (पालेइत्ति) असकृदुपयोगेन प्रतिजागरणात् शोधयति वा अतिचारपञ्चक्षालनात् (तीरे त्ति) पूर्णेऽपि तदवधौ तत्कृत्यपरिमाणपूरणात् (किट्टइत्ति) कीर्तयति पारणकदिने इदं चदं चैतस्याः कृत्यं तच्च मया कृतमित्येवं कीर्तनात्। (अणुपालेइत्ति) तत्समाप्तौ तदनुमोदनात् किमुक्तं भवतीत्याह आज्ञया आराधयतीति पञ्चमयुपासकप्रतिमा । दशा०६ अ० आ० चू०। (पंचमंति) पञ्चमीं प्रतिमां प्रतिमां कायोत्सर्गप्रतिमामित्यर्थः। स्वरूपं चास्याः ''सम्माणुव्वयगुणवयसिक्खावयं वा थिरो य णाणी य । अट्ठमिचतुद्दसीपडिमाए एगराईयं । (असिणाणवियडभोई) अस्नानोऽरात्रिभोजी चेत्यर्थः (मउलिकडो) मुक्तकच्छ इत्यर्थः। दिवसबंभयारियं राइपरिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसुज्झाय–पडिमाइठिओ तिलोयपुज्जे जियकसाये नियोसपच्चणीयं अण्णं वा पंच जामासा'' उपा०१ अ०।

अथ प्रतिमाप्रतिमास्वरूपमाह ।

सम्ममणुव्वयगुणवय–सिक्खावयवं थिरो य णाणी य ।
अट्ठम्मिचउद्दसीसुं, पडिमंठा एगरातीयं ॥१७॥

सम्यक्त्वमणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतपदानि प्रतीतानि यस्य सन्ति स तद्वान् पूर्वोक्तप्रतिमाचतुष्कयुक्त इत्यर्थः । सोऽपि स्थिरोऽविचलसत्व इतरो हि तद्विराधको भवति यतः सा (पडिमा) रात्रौ चतुष्पदादौ च विधीयते तत्र चोपसर्गाः संभवन्तीति ज्ञानी च ज्ञाता प्रतिमाकल्पादेरज्ञानो हि सर्वत्राप्ययोग्यः किं पुनर स्यामिति चशब्दः समुच्चयार्थो ऽष्टमीचतुर्दश्योः प्रतीतयोः उपलक्षणत्वादस्य पोषधदिवसेष्विति दृश्यं प्रमाणकायोत्सर्गं वा करोतीत्यर्थः । किं प्रमाणमित्याह । एका रात्रिः परिमाणमस्या इत्येकरात्रिकी सर्वरात्रिकी प्राप्ता प्रतिमाप्रतिमा भवतीति शेष इति गाथार्थः । शेषदिनेषु यादृशोऽसौ भवति तद्दर्शयितुमाह ।

असिणाणवियडभोई, मउलियडो दियसबभयारी य ।
रत्तिं परिमाणकडो, पडिमावज्जेसु दियहेसु ॥१८॥

अस्नानो अविद्यमानस्नानः विकटे प्रकटे दिवसे न रात्राविति यावद् भोक्तुं शीलमस्येति विकटभोजी चतुर्विधाहाररात्रिभोजन-वर्जकः । ततः पूर्वपदेन सह कर्म्मधारयः । तथा मौलिकृतः अबद्धकच्छस्तथा दिवसे ब्रह्म चरतीत्यवंशीलो दिवसब्रह्मचारी चशब्दः समुच्चये तथा (रत्तिमिति) विभक्तिपरिणामाद्रात्रौ रजन्यां परिमाणकृतः मैथुनसेवनं प्रति कृतयोषिद्भोगपरिमाणः कदेत्याह प्रतिमावर्जेष्वपर्वस्वित्यर्थो दिवसेषु दिनेषूक्तव्याख्यानसंवादिनी चेयं गाथा यदुक्तम् ''असिणाण वियडभोई, पगासभोइत्ति जं भणियं होई । दिवसेउ न त्ति भुंजे, मउलियकडो कच्छमविराधं'' कच्छानारोपयतीत्यर्थः । इति गाथार्थः ।

अथ यत् कायोत्सर्गस्थितश्चिन्तयति तदाह ।

झायइ पडिमाए ठिओ, तिलोगपुज्जे जिणे जियकसाए ।
णियदोसपच्चणीयं, अण्णं वा पंचजा मासा ॥१९॥

ध्यायति चिन्तयति प्रतिमायां कायोत्सर्गस्थितोऽवस्थितस्त्रिलोकपूज्यान् भुवनत्रयार्चनीयान् जिनानर्हतो जिनकषायान्निराकृतक्रोधादिभावान् तथा निजदोषप्रत्यनीकं स्वकीयरागादिदूषणप्रतिपक्षं कामनिन्दादिकमन्यजनापेक्षयाऽपरम् । वाशब्दो विकल्पार्थः किंप्रमाणेयं पञ्चमी प्रतिमा स्यादित्याह पञ्च यावन्मासानेषोत्कर्षेण भवतीति गाथार्थः । उक्ता पञ्चमी । पंचा० १० विव०।

अथ षष्ठीं प्रतिमामाह ।

सव्वधम्म जाव सणं एगराईयं उवासगपडिमाणुपालेत्ता भवति से णं असिणाणए वियडभोई मउलियडे दिया वा राओ वा बंभचारी सचित्ताहारे से परिण्णावेन भवति से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाह वा उक्कोसेणं छम्मासे विहरेज्जा छट्ठा उवासगपडिमा ॥६॥

शेषं व्यक्तं रात्रिभोजनादुपरतो भवति (रत्तो रातंति) रात्रौ दिवा ब्रह्मचर्ययुक्तो भवति 'सचित्ताहारे इत्यादि' सचित्ताः सचेतना जीव-सहिता इति यावत् परिज्ञया आहारितः सन् कर्मबन्धकारणत्वेन परं प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्यातः 'एतारूपेण' पूर्ववत् एवमु-त्तरोत्तरप्रतिमासु मासा वाच्या यथासंख्यं मासा इति षष्ठी। दशा० ६ अ० आ०चू०। षष्ठी अब्रह्मवर्जनप्रतिमा

तत्स्वरूपं चैवम्।

पुव्वोइय गुणजुत्तो, विसेसओ विजियमोहणिज्जो य।
वज्जइ अबंभमेगं-तओ उ रायं पि थिरचित्ते ॥२०॥

पूर्वोदितगुणयुक्तः। प्रागुक्ता ये स्नानविकटभोजनादयः सम्य-क्त्वव्रतसामायिकपोषधप्रतिमाख्या वा ये गुणास्तैर्युक्तः पूर्वोदित-गुणयुक्तत्वं च नास्यामेवापि तु सर्वासु व्रतादिप्रतिमासु द्रष्टव्यं दशादिषु तथोक्तत्वात् विशेषतो विशेषेण पञ्चमप्रतिमापेक्षयाविजितमोहनीयो निराकृतकामोदयश्चशब्दः समुच्चये श्रावक इति गम्यते किमित्याह वर्जयति परिहरति अब्रह्ममैथुनमेकान्ततस्तु सर्वथैव (राइं पित्ति) सर्वरजनीम-प्यास्तां सर्वदिनं षष्ठप्रतिमास्थित इति शेषः। अयमेव च पञ्चम्याः षष्ठ्याश्च प्रतिमाया विशेष इति स्थिरचित्तोऽप्रकम्पमानसः सन्निति गाथार्थः।

अथ स्थिरचित्तोपायानाह।

सिंगारकहाविरओ, इत्थीए समं रहम्मि णो ठाइ।
चयइ य अतिप्पसंगं, तहा विभूसं च उक्कोसं ॥२१॥

शृङ्गारकथाविरतः कामकथानिवृत्तः। तथा स्त्रिययोषिता समं सह रहस्येकान्ते नो तिष्ठति नास्ते रहः स्थानस्य चित्तविप्लुतिनि-मित्तत्वाद्यतो लौकिका अप्याहुः ''मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नो विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोप्यत्र मुह्यति'' तथा त्यजति वर्जयति चातिप्रसङ्गमतिपरिचयं स्त्रिया सममिति वर्तते यतः ''वशीकुर्वन्ति ये लोका मृगान् दर्शनतन्तुना। संसर्गवागुराभिस्ते, स्त्रीव्याधाः किन्न कुर्वते'' तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थ। विभूषां स्वशरीरसत्कारमलङ्काराङ्गादादिभिश्चः समुच्चये उत्कर्षमुत्कृष्टां त्यजतीति वर्तते उत्कर्षग्रहणाच्छरीरस्थितिमात्रानुगां करोत्यपीति गाथार्थः॥

इहैव कालमानमाह॥

एवं जा छम्मासा, एसो हि गतो इहरहा दिट्ठं।
जावज्जीवं पि इमं, वज्जइ एयम्मि लोगम्मि ॥२२॥

एवमुक्तनीत्या शृङ्गारकथाविरमणादिलक्षणया (जा इति) यावत् षण्मासान्। कालपरिमाणविशेषानुत्कर्षतो वर्जयत्यब्रह्मेति वर्तते एष श्रावकोऽधिकृतस्तु षष्ठप्रतिमाप्रतिपन्न एव। अवधारणफलमाह। इतरथाऽन्यथा षष्ठप्रतिमाप्रतिपन्नकादन्यत्रेत्यर्थः। दृष्टमवलोकितं किं तदित्याह। यावज्जीवमप्याजन्माप्यास्तां षण्मासान् यावदिदमब्रह्म वर्जयति परिहरतीत्येतत्क दृष्टमित्याह। एतस्मिन् प्रत्यक्षलोके श्रावकलोक इति गाथार्थः। यत्कुर्वाणस्य षष्ठी भवति तदुक्तम्। पंचा० १० विव० उपा०।

अथ सप्तमीमुपासकप्रतिमामाह।

सव्वधम्म जाव रातो व राइं बम्हयारी सचित्ताहारे परिण्णाते भवति आरंभे अपरिण्णाए भवति से णं एतारूपेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं सत्तमासे विहरेज्जा सत्तमा उवासगपडिमा।

अथापरा सप्तमी नवरं परिज्ञातः प्रत्याख्यात आरम्भश्चापरिज्ञातो भवति करणकारापणानुमोदनत्रिवित्रेनापि करणेन। दशा० ६ अ० आ० चू०।

अथ यत्कुर्वतः सप्तमी भवति तद्दर्शयन्नाह।

सचित्तं आहारं, वज्जइ असणादियं णिरवसेसं।
असणे चाउलोविग-चणगादी सव्वहा सम्मं ॥२३॥

सचित्तं विद्यमानचैतन्यमाहारं भोजनं वर्जयति परिहरते। अशनादिकमशनप्रभृतिकं चतुर्भेदं निरवशेषं सर्वं सप्तमप्रतिमास्थित इति शेषः। तत्राशने आहारविशेषे विषयभूते तन्दुलौदिकचणकादि प्रतीतमादिशब्दादमिलादिपरिग्रहः। कार्यं वर्जयतीत्याह। सर्वथा अपक्वदुष्पक्वौषध्यादिवर्जनत इत्यर्थः सम्यग्भावाशुद्धेति गाथार्थः। तथा।

पाणे आउक्कायं, सचित्तरससंजुअं तहण्णं पि।
पंचोदुंवरिकक्कंडि-गाइय तह खाइमे सव्वं ॥२४॥

पाने पानकाहारे अप्कायमप्रासुकोदकं सचित्तरससंयुतं तत्काल-पतितत्वेन सचेतनलवणादिरसोन्मिश्रं तथेति समुच्चये अन्यदप्य-प्कायादपरमपि काञ्जिकादिपानकाहारं वर्जयति न केवलमप्य-कायमेवेति। तथा पञ्चानामुदुम्बराणामुदुम्बरसमानधर्माणां समाहारः पञ्चोदुम्बरी सा च स्वरूपेण त्रसकायिकैश्च सचेतना भवतीति पञ्चोदुम्बरी च कर्कटिकाश्च चिर्भिटिका आदिर्यस्य खादिमस्य तत्तथा। चः समुच्चये तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः स च गाथोत्तरार्द्धस्यादौ दृश्यः खादिमे आहारविशेषे विषयभूते सर्वं समस्तं सचित्तं वर्जयतीति प्रकृतमिति गाथार्थः।

दंतवणं तंबोलं, हरेडगादी य साइमे सेसं।
सेसपयसमाउत्तो, जा मासा सत्तविहिपुव्वं ॥२५॥

दन्तधावनं दशनकाष्ठं ताम्बूलं प्रतीतं हरीतक्यादि च पथ्याप्रभृति च स्वादिमे स्वादिमाहारविषये अशेषं सर्वं सचित्तं वर्जयतीति प्रकृतम्। किंभूतः सन्नित्याह शेषपदसमायुक्तो दर्शनादिगुणयुक्तः कियन्तं कालं वर्जयतीत्याह यावन्मासान् कालविशेषान् सप्तोत्कृष्टतो विधिपूर्वकमा-गमिकन्यायपुरस्सरं न तु यदृच्छयेति गाथार्थः। उक्ता सप्तमीति। पंचा० १० विव० उपा०।

अथाष्टमीमुपासकप्रतिमामाह।

अट्ठमा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुईआ वि भवति जाव दियाओ वा रायं बंभचारी सचित्ताहारे से परिण्णाए भवति आरंभे से परिण्णाए भवति पेस्सारंभा अपरिण्णाए भवति से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव एगाहं वा दुगाहं वा तिगाहं वा उक्कोसेणं अट्ठमास विहरेज्जा अट्ठमा उवासगपडिमा॥

अष्टम्यां स्वयंकरणमाश्रित्यारम्भः परिज्ञातो भवति प्रेष्यारम्भो-ऽन्येषामादेशदानतः कारापणान्न निवृत्त इत्यष्टमी। दशा० ६ अ० आ० चू०। अष्टमी स्वयमारम्भवर्जनप्रतिमा।

अथ यथा वर्तमानस्याष्टमी भवति तथा दर्शयन्नाह॥

वज्जइ सयमारंभं, सावज्ज कारवेइ पेसेहिं।
पुव्वप्प ओगओ चिय, वित्तिणिमित्तं सिढिलभावो ॥२६॥

वर्जयति परिहरति स्वयमात्मना स्वयंकरणत इत्यर्थः। आरम्भं व्यापारं सावद्यं सपापं कृष्यादिकमित्यर्थः। स्वयमिति वच-

नात् यदापन्नं तदाह कारयति विधापयति प्रेष्यैरादेशकारिभिः। कथमित्याह। पूर्वप्रयोगत एव प्रवृत्तव्यापार एव नापूर्वव्यापारनियोजनत इत्यर्थः किमित्याह। वृत्तिनिमित्तं जीविकार्थम्। किंभूतः सन्नित्याह शिथिलभावः प्रेष्यप्रयोगतोऽप्यारम्भेष्वतीव्रपरिणाम इति गाथार्थः। नन्वारम्भेषु प्रेष्यप्रयोजने सति स्वयमप्रवर्तमानस्य को गुणो जीवघातस्य तदवस्थत्वादित्याशङ्क्याह॥

निग्घिणतेगंतेणं, एवं वि हु होइ चेव परिचत्ताए।
एद्दहमेत्तो वि इमो, वज्जिज्जंतो हियकरो उ॥२७॥

निर्घृणता निर्दयता एकान्तेन सर्वथैव स्वयमारम्भण कुर्वतः परैश्च कारयतो या स्यात्सा एवमप्युक्तनीत्याऽपि स्वयं वर्जनमात्रलक्षणा आस्तामुभयवर्जनतः। हुशब्दोऽलंकारे भवति चैव स्यादेव परित्यक्ता परिहृता। नन्वात्मारम्भोऽल्प एकत्वादात्मनः परतस्तु बहुतमः परेषां च बहुत्वात्ततश्च बहुतमारम्भाश्रयणेनाल्पतरारम्भवर्जनं कं गुणं पुष्णातीत्याशङ्क्याह (एद्दहमेत्तोवित्ति) इयन्मात्रोऽपि स्वयंकरणमात्रत्वेनाल्पोऽप्यास्तां बहुतमः (इमोत्ति) अयमारम्भो वर्ज्यमानस्त्यज्यमानो हितकरः कल्याणकर एव महाव्याधेः स्तोकक्षयवदिति गाथार्थः।

कस्य कथमयं भवतीत्याह॥

भव्वस्साणा वीरियसंफासणभावतो णिओगेण।
पुव्वोइयगुणजुत्तो, नावज्जति अट्ठ जा मासा॥२८॥

भव्यस्य योगस्य सत्वविशेषस्य आज्ञा चापूर्ववचनमष्टमप्रतिमायां स्वयमारम्भो वर्जनीय इत्येवंरूपम् वीर्यं जीवसामर्थ्यं स्वयमारम्भपरित्यागविषयं तयोः संस्पर्शनमाराधनं तद्रूपो यो भावोऽध्यवसायस्तस्य वा यो भावः सत्ता स तथा तस्मादाज्ञावीर्यसंस्पर्शनभावान्नियोगेन नियमेन हितकरो भवतीति पूर्वेण योगः। अथ किंविधः सन् क्रियन्तं वा कालमष्टम्यां स्वयमारम्भं वर्जयतीत्याह। पूर्वोदितगुणयुक्तः प्रागुक्तदर्शनादिगुणान्वितस्तावद्वर्जयति परिह--रत्यष्टौ यावन्मासानुत्कृष्टत इति गाथार्थः। उक्ताऽष्टमी प्रतिमा पंचा० १० विव० उपा०।

अथ नवमीमुपासकप्रतिमामाह।

अहावरा णवमा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुईया वि भवति जाव दिया वा राओ वा बंभचारी सचित्ताहारे से परिण्णाए भवति पेस्सारंभे परिण्णाए भवति से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणेणं जाव एगाहं वा दुगाहं वा तिगाहं वा उक्कोसेणं नव मासे विहरेज्जा नवमा उवासगपडिमा॥

नवम्यां तु कारणारम्भः प्रेष्यादिभ्यः स परिज्ञातो भवति उद्दिष्टभक्तं तु न परिज्ञातं भवति उद्दिष्टं नाम तदुद्देशेन यत्कृतं तदुद्दिष्टमित्युच्यते इति नवमा। दशा० ६ अ० आ० चू०। (नवमंति) नवमीं भृतकं प्रेष्यारम्भवर्जनप्रतिमा सा चेयं ''पेसेहिविआरंभं, सावज्जं कवेरइ णो गरुयं। पुव्वो इयगुणजुत्तो, नवमा सा जाव विहिणाओ'' उपा० १ अ०।

यत्करणान्नवमी भवति तदाह॥

पेसेहि वि आरंभं, सावज्जं कारवेइ णो गुरुयं।
अत्थी संतुट्ठो वा, सो पुण होति विण्णेओ॥२९॥

प्रेष्यैरपि कर्मकरैरप्यास्तां स्वयमारम्भं व्यापारं सावद्यं सपापं कारयति विधापयति नो नैव गुरुकं महत्कृष्यादिकमित्यर्थः। अनेनासनदापनादिव्यापाराणामतिलघूनामनिषेधमाह। इह नवमप्रतिमायामित्येष दृश्यः एतद्वर्जनेन च कीदृशः समर्थो भवतीत्याह अर्थी अर्थवानीश्वर इत्यर्थः। सन्तुधे वाऽनीरवरोऽप्यतिसंतोषवान्। वाशब्दो विकल्पार्थः एष प्रेष्यारम्भवर्जकः। पुनः शब्दो विशेषणार्थस्तेन यः कश्चिदपि भवति स्याद्विज्ञेयो ज्ञातव्य इति गाथार्थः॥

णिक्खित्तभरो पायं, पुत्तादिसु अहव से सपरिवारे।
थोवममत्तो य तहा, सव्वत्थविपरिणओ नवरं॥३०॥

निक्षिप्तभरो न्यस्तकुटुम्बादिकार्यभारः प्रायो बाहुल्येन पुत्रादिषु योगयसुतभ्रातृप्रभृतिषु अथवेति विकल्पार्थः शेषपरिवारे पुत्रादिव्यतिरिक्तपरिजने कर्मकरादौ तथेति वाक्यान्तरत्वद्योतकोऽत्र द्रष्टव्यः स्तोकममत्त्वोऽल्पाभिष्वङ्गश्चशब्दः समुच्चये तथेति योजितमेव सर्वत्रापि सर्वस्मिन्नपि धनधान्यादिपरिग्रहे न तु क्वचिदेव अयं चैवंभूत उत्तानबुद्धिरपि स्यादत आह परिणतबुद्धिर्नवरं केवलमिति गाथार्थः।

लोगववहारविरओ, बहुसो संवेगभावियमई य।
पुव्वोदियगुणजुत्तो, णवमासा जाव विहिणा उ॥३१॥

लोकव्यवहारविरतो लोकयात्रानिवृत्तस्तथा बहुशो अनेकशः संवेगभावितमतिश्च मोक्षाभिलाषवासितबुद्धिस्तथा पूर्वोदितगुणयुक्तो दर्शनादिगुणान्वितो नव मासान् यावदुत्कर्षतो विधिना त्वागमविधानेनैवेति गाथार्थः पंचा० १० विव० उपा०।

अथ दशमीमुपासकप्रतिमामाह।

अहावरा दसमा पडिमा सव्वधम्मरुईया वि भवति से णं खुरमुंडए वा सिहाधारए वा तस्स णं आभट्ठस्स वा भट्ठस्स कप्पति दु वि भासतो भासित्ताए जधा जाणं वा जाणं अजाणं वा अजाणं से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं उक्कोसेणं दसमास विहरेज्जा दसमा उवासगपडिमा॥

दशम्यां तु उद्दिष्टभक्तं तेन परिज्ञातं भवति स च क्षुरमुण्डो वा शिखाधारको वा भवति यथा परिव्राजकाः शिखामात्रं धरन्ति तथाऽयमपीति तदा तं प्रति पुत्रादयः तन्मुक्तं किंचिद्वस्तु जानानाः पृच्छन्ति किं कृतं तद्वस्तु तदा तेन कथमुत्तरयितव्यास्तदेतदाह। (आभट्ठस्स) आ ईषत् ''भट्ठस्सति'' देशीवचनात् भाषितस्य प्रत्युत्तरं देयात्तेन पृष्टस्य पुनः पुनर्वा भाषितस्य कल्पेते युज्येते द्वे भाषे भाषितुं वक्तुमिति। तद्यथा यदि जानाति तदा वदति अहं जानामि यतस्तेषामकथेन् अप्रीतिवशादात्मकृतादयोऽपि दोषाः शङ्कादयो वा दोषा यथा ते ज्ञास्यन्ति अनेनैव तद्द्रव्यादि भक्षितं येन मुखं वस्त्रितं तेन जानामीति वदति। अपरा तु यदि न जानाति तदा वदति नाहं जानामि एते द्वे भाषितुं कल्पेते इति दशमी प्रतिमा। दशा० ६ अ०।

दशमी उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमा सा चैवम्।

उद्दिट्ठकडं भत्तं पि, वज्जती किमु य से समारंभं।
सो होइ उ छुरमुंडो, सिंहलि वा धारती कोइ॥३२॥

उद्दिष्टमुद्देशस्तेन कृतं विहितमुद्दिष्टकृतं तदर्थं संस्कृतमित्यर्थः तद्भक्तमपि भोजनमपि वर्जयति परिहरति किमुतं भवति किं पुनः सुतरामित्यर्थः। शेषं दुष्परिहार्यभक्तारम्भव्यतिरिक्तमारम्भसावद्ययोगं दशमप्रतिमायां वर्तमानः श्रावकः इति शेषः (सो होउ त्ति) स पुनर्दशमप्रतिमावर्ती भवति स्यात् क्षुरमुण्डः क्षुरमुण्डित-

शिराः (सिंहलित्ति) शिखा तां वाशब्दो विकल्पार्थः धारयति विभर्ति कश्चित्कोऽपीति गाथार्थः।

जं णिहियमत्थजायं, पुट्ठो णियएहि णवर सा तत्थ।
जइ जाणइ तो साहे, अह ण वि तो वेइ ण वि जाणे ॥३३॥

यत्पिहितं यन्निक्षिप्तं भूम्यादावर्थजातं द्रव्यप्रकारः तद्दर्शीति शेषः। पृष्टः प्रश्नितो निजकैः स्वकीयैः पुत्रादिभिर्नवरं केवलं स श्रावक इति शेषस्तत्र दशमप्रतिमायां प्रश्ने वा यदि जानाति स्मरति (तो त्ति) तदा साधयति कथयत्यकथने वृत्तिच्छेदप्राप्तेः। अथ यदि न नैव जानातीति वर्तते (तो त्ति) तदा ब्रूते वक्ति किं तदित्याह नापि नैव जाने स्मरामीति नान्यत् किमपि तस्य गृहकृत्यं कर्तुं कल्पत इति भाव इति गाथार्थः।

जतिपज्जुवासणपरो, सुहुमपयत्थेसु णिच्चतेल्लिच्छो।
पुव्वोदियगुणजुत्तो, दस मासा कालमासेण ॥३४॥

यतिपर्युपासनापरः साधुसेवापरायणः सूक्ष्मपदार्थेषु निपुणमति-समधिगम्य भावेषु जीवादिषु तेष्वेव लिप्सा लब्धुमिच्छावस्य स तल्लिप्सः स नित्यं नितान्तं तल्लिप्सो नित्यतल्लिप्सः। तथा पूर्वोदितगुणयुक्तो दर्शनादिप्रतिमानवकान्वितः कियन्तं कालं तावदित्याह। दश मासान् यावत् कालमानेन कालप्रमाणापेक्षयेत्यर्थः। कालमासेनेति क्वचित् दृश्यते तत्र प्राकृतभाषापेक्षया मासशब्दस्य कालधान्यसुवर्णादिषु वृत्तिदर्शनाच्छषव्यवच्छेदार्थमुच्यते कालमासेनेति गाथार्थः। उक्ता दशमी। पंचा० १० विव० उपा० आ० चू०।

अथैकादशीं प्रतिमामाह।

अहावरा एक्कारसमा उवासपडिमा सव्वधम्म जाव उद्दिट्ठभत्ते से परिण्णति भवति से णं खुरमुंडए वा लुत्तसिरए वा गहिता-यारभंडगनेवत्था जे इमे समणाणं निग्गंवाण धम्मे तं सम्मं काएणं फासेमाणे पालेमाणे पुरतो जुगमायाए पहमाणे दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्टु पायं रीऐज्जो वि तिरिच्छं वा पातं कडु रीएज्जा सति परक्कमे संजतामेव परक्कमे जाणो उजुयं गच्छेज्जा केवलं से णायाए पेम्मबंधणे अवोच्छिन्ने भवति एवं से कप्पति नायवीथिं ति तए तत्थ से पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे कप्पति से चाउलोदणे एडिगाहिए णो से कप्पति भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए तत्थ णं से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे कप्पति से भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए नो से कप्पति चाउलोदणे कडि तत्थ से पुव्वगमणे दो वि पुव्वाउत्ताइं कप्पति से दो वि पडिगाहित्तए तत्थ से पच्छागमणेणं दो वि पच्छाउत्ताइं णो से कप्पति दो वि पडिगाहित्तए जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वउत्ते से से कप्पति पडिगाहित्तए जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते से से णो कप्पति पडिगाहित्तए तस्स णं गंधातिकुलं पिंडवातपडियाए अणुपविट्ठस्स कप्पति एवं व दित्तए समणोवासगस्स पडिमापडिवन्नस्स भिक्खं दलयह तं वैतारूवेणं विहारेणं विहरमाणं केइ पासेत्ता वदेज्जा केइ आउसो तुमं वत्तव्वेसिया समणोवासए पडिवज्जित्तए अहमंसीति वत्तव्वं सिया से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं एक्कारस मासे विहरेज्जा एक्कारस उवासगपडिमा॥

अहावरेत्यादि व्यक्तं लुञ्चितशिरस्को लुञ्चितशिरोजो वा शिरसि जाताः शिरोजाः (गहियाइत्ति) गृहीतानि आचारपालनार्थं भाण्डकानि उपकरणानि पात्रजोहरणमुखवस्त्रिकादीनि नेपथ्यं साधुवेषस्तथा-प्रकारवस्त्रादिप्रावरणं ततो द्वन्द्वः तथा (जारिसेत्ति) यादृशः श्रमणानां निर्ग्रन्थानां बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहितानां धर्म्मः क्षान्त्यादिकः प्रज्ञप्तः तादृशमिति अध्याहार्यं तं धर्म्मं सम्यग् यथा भवति कायेन न तु मनोरथमात्रेण स्पर्शयन् पालयन् यथाचारं (पुरउत्ति) पुरतोऽग्रतो युगमात्रया शरीरप्रमाणया शकटौ द्विसंस्थितया दृष्ट्येति वाक्यशेषः प्रेक्षमाणः प्रकर्षेण पश्यन् भूभागं तत्र (दट्ठुणत्ति) दृष्ट्वा त्रस्यन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादयस्तान्। प्राणान् धरन्तीति प्राणा जीवाः पतङ्गादयः तान् (उद्धट्टुत्ति) पादमुद्धृत्यान्नतलेन पादपातप्रदेशं वातिक्रम्य गच्छेत् एवं संहृत्य शरीराभिमुखमाक्षिप्य पादं विवक्षितपादपातप्रदेशादारत एव विन्यस्य उत्क्षिप्तवान् भागपार्ष्णिकया गच्छेत् तथा तिरश्चीनं वा पादं कृत्वा गच्छेत्। अयं चान्यमार्गाभावे विधिः। सति त्वन्यस्मिन् गमनमार्गे तेनैव पराक्रमेत गच्छेत् ऋजुनेत्येवं सर्वं साध्वनुगमेन सर्वं तेन त्यक्तं केवलं (णायाए त्ति) ज्ञातीयं स्वजातिविषयं मातृपितृभ्रातृप्रभृति-विषयं प्रेमबन्धनमव्यच्छिन्नमत्रोटितं भवति एवमित्यादि एवमनन्त-रवक्ष्यमाणप्रकारेण (से) तस्य प्रतिमधरस्य कल्पते युज्यते आहारग्रहकाले (नायवीथित्ति) ज्ञातयः स्वगोत्रजास्तेषां वीथी गृहपङ्क्तिस्तत्र प्राप्तः ''एत्थण मित्यत्रान्तरे तस्य (पुव्वागमणेणंति) प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः आगमनात्पूर्वकालमथवा पूर्वं प्रतिमाधर आगतः पश्चाद्गायका राद्धुं प्रवृत्ताः इति पूर्वागमनेन हेतुना पूर्वायुक्तस्तन्दुलोदनः कल्पते उपलक्षणं चैतत् सर्वोदनानाम्। (पच्छाउत्ते भिलंगसूवे त्ति) पश्चादायुक्तो भिलिङ्गसूपो न कल्पते तत्र पूर्वायुक्तः प्रतिमाधरागमने पूर्वमेव स्वार्थं गृहस्थैः पक्तुमारब्धः प्रतिमाधरे वा गते यः पक्तुमारब्धः स पश्चादायुक्तः स च न कल्पते उद्गमादिदोषसंभवात् पूर्वायुक्तस्तु कल्पते तदभावात्। भिलिङ्गसूपो मसूरादिदालिः शेषं कण्ठ्यम्।''तस्स णमिति'' वाक्यालंकारे गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टस्य न कल्पते युज्यते एवं वक्तुं किं तदित्याह 'समणोवासगस्सेत्यादि' श्रमणोपासकस्य प्रतिमाप्रतिपन्नस्य भिक्षां ददध्वं न पुनर्यथा साधवो गत्वा धर्म्म-लाभमिति वदन्ति तथा स वदति एनां च प्रतिमां प्रतिपन्नस्य भिक्षां ददध्वमित्यपि न वदति अतो वस्तुतः प्रतिमां विना न भिक्षामार्गणमुचितं सूत्ररीत्येति 'तं चेत्यादि' तं च श्रमणोपासकं प्रतिपन्नमेतद्रूपेण विहारेण विचरन्तं दृष्ट्वा कश्चिन्निर्दिश्य वदेत् केयं त्वद्वृत्तिः किमाचारप्रतिपन्न आयुष्मन्नित्यामन्त्रणवच्चनं त्वमिति भवान् वक्तव्यः स्यात् तदा स वदति 'समणोवासए इत्यादि' व्यक्तम्। निर्वचनवाक्यमत्रापि पञ्चमप्रतिमाधि-कारोक्तानि पदानि ''समं काएण फासत्ति'' इत्यादीनि द्रष्टव्यानि शेष

पाठसिद्धम्। इत्येकादशोपासकप्रतिमा षष्ठमध्ययनं च समाप्तम्। दशा० ६ अ० आ०चू०।

एकादशी श्रमणभूतप्रतिमा तत्स्वरूपं चैतत्।

खुरमुंडो लोएण व, रयहरणं उग्गहं व घेत्तूण।
समणब्भूओ विहरइ, धम्मं काएण फासातो ॥३५॥

क्षुरेण छुरेण मुण्डो मुण्डितः क्षुरमुण्डो लोचेन वा हस्तलुञ्चनेन वा मुण्डः सन् रजोहरणं पादप्रोञ्छनमवग्रहं च पतद्ग्रहं चोपलक्षणं चैतत्साधूपकरणस्य सर्वस्य गृहीत्वाऽऽदाय श्रमणभूतः साधुकल्पः सकलसाधुसमाचारासेवनेन विहरति गृहान्निर्गत्य ग्रामादिषु विचरति साधुवत् धर्मं चारित्रधर्म्मं समितिगुप्त्यादिकं कायेन देहेह न मनोमात्रेण स्पृशन् पालयन्नेकादश्यां प्रतिमायामिति शेष इति गाथार्थः।

ममकारेऽवोच्छिण्णे, वच्चति सण्णायपल्लि दट्ठुं जे।
तत्थ वि जहेव साहू, गेण्हति फासुंतु आहारं ॥३६॥

ममेत्यस्य करणं ममकारस्तत्राव्यवच्छिन्ने अनपगते सत्यनेन स्वजनदर्शनार्थित्वकरणमुक्तं सज्ञाता स्वज्ञातयस्तेषां पल्ली संनिवेशस्तां सज्ञातपल्लीं द्रष्टुं दर्शनीय सज्ञातानीति गम्यते जे इति पादपूरणे निपातः। तत्रापि सज्ञातपल्लीव्रजनेऽप्यास्तामन्यत्र यथैव यद्वदेव साधुः संयतस्तथैवेति शेषः गृह्णात्यादत्ते प्रासुकं तु प्रगतासुकमेवाचेतनमेवोपलक्षणत्वाच्चास्यैषणीयं चाहारमशनादिकमिति सज्ञातपल्लिग्रहणेन चेदं दर्शयति प्रेमाव्यवच्छेदात्तत्र गमनेऽपि तस्य न दोषस्तथा ज्ञातयः स्नेहादिनैषणीयं भक्तादि कुर्वन्त्याग्रहकरणेन च तद्ग्राहयितुमिच्छन्त्यनुवर्तनीयाश्च ते प्रायो भवन्तीति तद्ग्रहणं संभाव्यते तथापि तदसो न गृह्णातीति गाथार्थः। सज्ञातपल्लीगमन एव तस्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह ॥

पुच्छाउत्तं कप्पति, पंच्छाउत्तु तु ण खलु एयस्स।
ओदणमिलंगसूपादिसव्वमाहारजायं तु ॥३७॥

पूर्वं तदागमनकालात् प्राक् आयुक्तं रन्धनस्थाल्यादौ प्रक्षिप्तं पूर्वायुक्तं स्वार्थमेव राद्धुमारब्धमित्यर्थः। कल्पते ग्रहणयोग्यं भवति पश्चादायुक्तं तु तदागमनकालादनन्तरमायुक्तं पुनर्न खलु नैव एतस्यैकादशप्रतिमास्थश्रावकस्य कल्पत इति वर्तते। गृहस्थानामधिकृतश्रावकार्थमधिकतरौदनादिकरणसंकल्पसंभवात्किं तदित्याह। ओदनश्च कूरं मिलिङ्ग सूपश्च मसूराख्यद्विदलधान्यपाकविशेष आदिर्यस्य तत्तथा तत्सर्वमपि निरवशेषमप्याहारजातमभ्यवहार्यसामान्यं तुशब्दोऽपिशब्दार्थस्तस्य च प्रयोगो दर्शित एवेति गाथार्थः ॥

अथैतस्याः कालमानमाह ॥

एवं उक्कोसेणं, एक्कारस मास जाव विहरेइ।
एगाहा पियरेणं, एवं सव्वत्थ पाएणं ॥३८॥

एवमुक्तेन प्रकारेण क्षुरमुण्डादिना एकादश मासान् यावद्विहरति मासकल्पादिना विहारेण एकाहादि एकाहोरात्रप्रभृति आदिशब्दात् द्व्यहत्र्यहादि यावद्विहरतीति प्रकृतम्। इतरेण जघन्येनेत्यर्थः इह च पूर्वं प्रतिमासु जघन्यं कालमानं नोक्तमतस्तदतिदेशत आह। एवमनेनैव प्रकारेण जघन्यमानमेकाहादीत्यर्थः। एतच्च मरणे वा प्रव्रजितत्वे वा सति संभवति नान्यथा सर्वत्र सर्वप्रतिमासु प्रायेण बाहुल्येन प्रायोग्रहणादन्तर्मुहूर्त्तादिसद्भावो दर्शित इति गाथार्थः। इह चोत्तरासु षट्स्वावश्यकचूर्ण्यां प्रकारान्तरमपि दृश्यते। तथाहि राईभत्तपरिण्णा पञ्चमी, सचित्ताहारपरिण्णा इति षष्ठी, दिया बंभचारी राओ परिमाणकडेति सप्तमी, दिया वि राओ वि बंभयारी असिणाणपवोसट्ठकेसमंसुरोमनहेत्ति अष्टमी, सारंभपरिन्नाए त्ति नवमी, पेस्सारंभपरिण्णाए त्ति दशमी, उद्दिट्ठभत्तविवज्जए समणभूइत्ति एकादशीति। तदेवं प्रतिमानुष्ठानमुपासकस्य। पंचा० १० विव०। 'एक्कारसहिं उवासगपडिमाहिं' उपासकाः श्रावकास्तेषां प्रतिमाः प्रतिज्ञादर्शनादिगुणयुक्ताः कार्य्या इत्यर्थः। आव०४अ०। ग०। एकादशोपासकानां श्रावकाणां प्रतिमाः प्रतिपत्तिविशेषाः दर्शन- व्रतसामायिकादिविषयाः प्रतिपाद्यन्ते यत्र तत्तथैवोच्यते इति। आचारदशानां षष्ठेऽध्ययने, स्था० १० ठा०। प्रथमायां श्राद्धप्रतिमायां दर्शनिद्विजादिभिक्षुकाणामन्नादि दातुं कल्पते न वा ॥१॥ तथा कुलगुरुसंबन्धेन समागतानां दर्शन्यादीनामपि ॥२॥ अन्यच्च नवमप्रतिमादिषु देशावकाशिकं कर्त्तुं युज्यते न वा ॥३॥ तथा क्वचिल्लिखितविधौ दशमप्रतिमायां कर्पूरवासादिभिर्जिनानां पूजा कर्त्तव्येति लिखितमस्ति तद्विषये कियतीःप्रतिमा यावच्चन्दनपुष्पादिभिः पूजा कियतीषु च कर्पूरवासादिभिः कस्यां च नेति ॥४॥ (उत्तरम्) प्रथमश्राद्धप्रतिमायां दर्शनिद्विजादिभ्योऽनुकम्पादिना अन्नादि दातुं कल्पते न तु गुरुबुद्ध्येति तत्त्वम् ॥१॥ एवं कुलगुरुतादिसंबन्धेनागतानां लिङ्गिनां दातुं कल्पते ॥२॥ नवमप्रतिमादिषु देशावकासिकस्याकरणमेव प्रतिभाति ॥३॥ तथा प्रतिमाधरश्रावकाणां सप्तमप्रतिमा यावच्चन्दनपुष्पादिभिरर्हदर्चनमौचित्यमञ्चति। ललितविस्तरापञ्जिकाभिप्रायेण नत्वष्टम्यादिषु। कर्पूरादिपूजा तु अष्टम्यादिष्वपि नानुचितेति ज्ञायते तेषां निरवद्यत्वादिति। अक्षराणि तु ग्रन्थस्थाने नोपलभ्यन्ते इति। एकाश्यां च साधुवदे-वेति बोध्यम् ॥४॥ ही०।

उवासण न०(उपासन) उपास्यन्ते भूयः क्षिप्यन्ते शरायत्र उप- अस्-विक्षेपे, आधारे-ल्युट्। शरक्षेपशिक्षार्थे शराभ्यासे, अमरः। उप-आस्-भावे-ल्युट् चिन्तने, मनने, वाच०। सेवने, ध० २ अधि०। तं च परिव्वायगो बहूहिं उवासणेहिंलद्धं नि० चू०। १उ०। ''सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुत्तवस्सियं'' सूत्र०१ श्रु० ६ अ०।

उवासणा स्त्री०(उपासना) श्मश्रुकर्त्तनादिरूपे नापितकर्मणि, तच्च ऋषभदेवकाले एव जातं पूर्वमनवस्थितनखलोमानस्तथा कालमहात्म्यतः प्राणिनोऽभवन्निति किञ्च भगवत्काल एव नखरोमाण्यतिरेकेण प्रवर्द्धितुं लग्नानि न पूर्वमिति। गुरुराजादीनां पर्य्युपासनायाम्, आ० म० प्र०। तदुक्तं निर्युक्तिकृता ''उवासणा-णाम सुकम्ममाईया गुरुरायाईणं वा उवासणा पज्जुवासणया''। आ० म० प्र०। आ० चू० (उसहशब्दे स्पष्टीभविष्यत्येतत्)

उवासमाण त्रि०(उपासीन) उपासनं विदधाने, स्था०६ ठा०

उवासीय त्रि०(उपोषितवत्) कृतोपवासे, ''नवकिरचाउम्मासे, छक्किरदो मासिए उवासीय'' आ० म० द्वि०।

उवाह धा०(अवगाह) भ्वा-आत्म० प०। अवगाहने, अवाद् **गाहेर्वाहः ८।४।२०५।** अवात्परस्य गाहेर्वाह इत्यादेशो वा। उवाहइ उग्गहइ अवगाहते। प्रा०।

उवाहण स्त्री०(उपानह) उप-नह-क्विप्-उपसर्गदीर्घः। चर्मपादुकायाम्,। ''छत्तोवाहणसंजुत्ते, धाउरत्तवत्थपरिहिए'' भ०२ श० १ उ० ''अणुवाहणाय समणा मज्झे चउवाहणा हुं तु'' आव० १ अ०। अनुपानत्काश्च श्रमणाः मम चोपानहौ भवत इति। आ०म०प्र०।

उवाहि पुं०(उपाधि) उपाधीयते इति उपाधिर्द्रव्यतो हिरण्या-

दौ भावतोऽष्टप्रकारे कर्मणि, उपाधीयते व्यपदिश्यते येनेत्युपाधिः। आचा०१ श्रु०३अ०। कर्मजनिते विशेषणे, ।

किमत्थि उवाही पासगस्स णत्थि विज्जइ णत्थि त्ति वेमि

किं प्रश्ने अस्ति विद्यते कोऽसावुपाधिः कर्म्मजनितं विशेषणं तद्यथा नारकस्तिर्यग्योनिः सुखी दुःखी सुभगो दुर्भगः पर्याप्तकोऽपर्याप्तक इत्यादि आहोश्विन्न विद्यते इति परमतमाशङ्क्य त ऊचुः पश्य कस्य सम्यग्वादादिकमर्थं पूर्वोपात्तं पश्यतीति पश्यः स एव पश्यकस्तस्य कर्म्मजनितोपाधिर्न इत्येतदनुसारेणाहमपि ब्रवीमि न स्वमनीषिकयेति आचा०१ श्रु० ४अ०४उ०। उपाध्यानमुपाधिः। सन्निधौ, भ०१ श०१ उ०। अन्यथा स्थितस्य वस्तुनोऽन्यथाप्रकाशनरूपे कपटे, उपाधीयते स्वधर्म्मोऽनेन करणेवाकिः। स्वसामीप्यादिनाऽन्यस्मिन् स्वधर्मारोपसाधने विशेषणभेदे, उपलक्षणरूपे विशेषणे च। कुटुम्बव्यापृते, उपाधीयते नाम समीपे कर्मणि के। उपनामनि, यथा भट्टाचार्यमिश्रादयः। उपाधीयते मनोऽत्र आधारे किः। धर्मचिन्तायाम्, व्यभिचारोन्नायके न्यायमतसिद्धे पदार्थभेदे च। उपाधिः साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनत्वाभिमताव्यापकः। वाच०॥

उवाहिसुद्ध (उपाधिशुद्ध) आर्य्यदेशसमुत्पन्नादिविशेषणशुद्धे, ''ता धन्नाणं गीओ, उवाहिसुद्धाण देइ पव्वज्जां'' पं०व०॥

उविइत्ता अव्य०(अवनश्य) विच्छिद्येत्यर्थे, ''जावतियं २ अंतो पडिग्गहगस्स उविइत्ता दलएज्जा'' व्य०१ उ०॥

उविंद पुं०(उपेन्द्र) उपगत इन्द्रम् कृष्णे, अत्या० समा० सुखिनो विषयातृप्ता नेन्द्रोपेन्द्रादयो रहः। उपेन्द्रः कृष्णः। अष्ट०। ''राजाऽधिराजस्तत्रासीदुपेन्द्रोऽपीन्द्रवद् भुवि। सदा नवं सुमनसां, चित्रमोदमदस्तयत्'' आव०१ अ०। तत्रेति द्वारवत्याम्।

उविंदवज्जा स्त्री०(उपेन्द्रवज्रा) ''उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ'' इति बृ० र० उक्ते एकादशाक्षरपादके छन्दोभेदे, । अस्याश्च इन्द्रवज्रया संमेलने उपजातिर्भवति। वाच०॥

उविक्खेव पुं०(उद्विक्षेप) बालोत्पाटने, मुण्डनमिति लोकोक्तिप्रसिद्धेऽर्थे, तं०॥

उवियग्ग त्रि०(उद्विग्न) उद्वेगवति, स्था०४ ठा०।

उ(ओ)वील न०(अपवीड) शेखरे, वि०६ अ०। अवपीडनं परेषामित्यवपीडः। अष्टादशे गौणादत्तादाने, प्रश्न०१ श्रु०३ अ०॥

उवीलण न०(अवपीडन) निष्पीडने, विपा० ८अ०।

उवीला स्त्री०(उपपीडा) वेदनायाम्, ''अप्पेते उवीलं दलेंति'' अवपीडं शेखरं मस्तके तस्यारोपणात् उपपीडांवा वेदनां दलयन्ति विपा० ६ अ०।

उवीलेमाण त्रि०[(उप)अवपीडयत्] वेदनामुत्पादयति, ''उवीलेमाणे विधम्ममाणे तज्जमाणे'' विपा० ३ अ०।

उवूहेत्ता त्रि०(अनुवृंहयितृ) परेण स्वस्य क्रियमाणस्य पूजादेरनुमोदयितरि, तद्भावे हर्षकारिणि, ''पूयासक्कारमए उवूहेत्ता भवइ'' स्था० ७ ठा०।

उवेच्च अव्य०(उपेत्य) उप–इ–ल्यप्। प्राप्येत्यर्थे, ''उवेच्च सुद्धेण उवेति मोक्खं'' सूत्र०१ श्रु० १४ अ०॥

उवेय त्रि०(उपेत) उप–इण–क्त। उपगते, समीपगते, सेवादिधर्मेण प्राप्ते, वाच०। युक्ते, स०। संथा०। पंचू०। आव०। ''पत्तपुप्फफलोवेए'' उत्त०८ अ०। नि०। समन्विते च। नं०।

***उपेय** त्रि० उप–इण्–यत्। उपायसाध्ये प्राप्तव्ये उपगम्ये, अन्विष्यगम्ये च। वाच०। उपेयाभावे उपायासिद्धिः विशे०। स्था०।

उवेल्ल धा०(प्र–सृ) प्रसरणे, **''प्रसरेः पयल्लोवेल्लौ'' ८।४। ७७।** इति प्रसरतेरुवेल्लादेशः उव्वेल्लइ प्रा०॥

उवेहमाण त्रि०(उपेक्षमाण) अवगच्छति, ''अण्णहालोगमुवेह–माणे इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति'' आचा०। १ श्रु० ४अ०। अकुर्वति, आचा०१ श्रु०३ अ०। अपर्य्यालोचयति, ''उवेहाए उवेहमाणे अणुवूहमाणं यूया उवेहाहि समियाए भवति'' आगमपरिकर्मितमतित्वाद्यथावस्थितपदार्थस्वभावदर्शितया सम्यगसमयमिति ह्युत्प्रेक्षमाणः पर्यालोचयन्नपरमुत्प्रेक्षमाणं गड्डरिकायूथप्रवाह प्रवृत्तं वा गतानुगतिकन्यायानुसारिणं शङ्कया वा प्रधावन्तं ब्रूयाद्यथोत्प्रेक्षस्वपर्य्यालोचय सम्यग्भावेन माध्यस्थ्यमवलम्ब्य किमेतदर्हदुक्तं जीवादितत्वं घटामियर्त्यहोश्विन्नेत्यक्षिणी निमील्य चिन्तयेति भावः। यदि चोत्प्रेक्षमाणः संयममुत्प्रावल्येनेक्षमाणः संयमे उद्यच्छन्नतु प्रेक्षमाणं ब्रूयाद्यथा सम्यग्भावापन्नः संयममुत्प्रेक्षस्व संयमे उद्योगं कुरु। आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ०। ''उवेहमाणे कुसलेहिं संवसे'' उपेक्षमाणः परीषहोपसर्गान् सहमान इष्टा–निष्टविषये चोपेक्षमाणो माध्यस्थ्यमवलम्बमानः कुशलैर्गीताथैः सह संवसेत् आचा०२ श्रु०। उदासीने, उवेहमाणा णाइक्कमई''॥ उपेक्षमाणा इति उपेक्षा द्विविधा व्यापारोपेक्षा अव्यापारोपेक्षा च। तत्र व्यापारोपेक्षया तमुपेक्षमाणास्तद्विषयायां छेदनबन्धनादिकायां समयप्रसिद्धक्रियायां व्याप्रियमाणा इत्यर्थः। अव्यापारोपेक्षया च भृतकस्वजनादिभिस्तं सत्क्रियमाणमुपेक्षमाणास्तत्रोदासीना इत्यर्थः स्था० ६ ठा०।

उवेहा स्त्री०(उपेक्षा) उप–ईक्ष–अ–अवधीरणे, माध्यस्थ्ये, षो ४ विव०। द्वा०। आरोपणे, अष्ट०। विशेषणे, षो० १३विव०। परदोषोपेक्षणमुपेक्षा परेषां दोषा अविनयादयः प्रतिकर्तुमशक्यास्तेषामुपेक्षाऽवधीरणमुपेक्षा। सम्भवत्प्रतीकारेषु दोषेषु, नोपेक्षा विधेया षो०४ विव०। ''उवेहेणं बहिया य लोयं''(उवेहेति) योऽयमनन्तरं प्रतिपादितः पाषण्डिलोकः एनं धर्माद्बहिर्व्यवस्थितमुपेक्षस्य तदनुष्ठानं मानुमस्थाः। चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थस्तदुपदेशमभिगमनपर्युपासनदानसंस्तवनादिकं च मा कृथा इति आचा०१ श्रु०४ अ०२ उ०। (यः पाषण्डिलोकोपेक्षकः स कं गुणमवाप्नुयादिति सम्मत्त शब्दे वक्ष्यते सति कलहे उपेक्षा कर्त्तव्येत्यहिगरण शब्दे उक्तम्)

उवेहाअसंजम पुं०(उपेक्षाऽसंयम) असंयमयोगेषु व्यापारणरूपे संयमयोगेष्वव्यापारणलक्षणे वाऽसंयमभेदे, स०।

उवेहाए अव्य०(उपेक्ष्य) उप–ईक्ष–ल्यप्–पर्य्यालोच्येत्यर्थः, आचा०१ श्रु०३ अ०। ज्ञात्वेत्यर्थे, ''लोगवित्तं ण उवेहाए'' उपेक्ष्य ज्ञात्वा ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् आचा० १ श्रु० ५ अ०।

उवेहासंजम पुं०(उपेक्षासंयम) संयमभेदे, इदानीमुपेक्षासंयम उच्यते सा चोपेक्षा द्विविधा कथं यतिव्यापारोपेक्षा गृहस्थव्यापारोपेक्षा च। तत्र यथासंख्यं चोदनाचोदनविषया। संयतस्य चोदनविषया व्यापारोपेक्षा। एतदुक्तं भवति साधुं विषीदन्तं दृष्ट्वा संयमव्यापारेषु चोदयतः संयमव्यापारोपेक्षा ईक्ष दर्शने उप समीपेन ईक्षा उपेक्षा। गृहस्थस्य च व्यापारे–

पेक्षा गृहस्थ मधिकरणव्यापारेषु प्रवृत्तं दृष्ट्वा अधिकरणव्यापारेषु प्रवृत्तं, चोदयतः गृहस्थव्यापारोपेक्षा उच्यते। उपेक्षाशब्दश्चात्र अवधारणायां वर्तते। ओ०। वृ०।

उव्वक्क पुं०(उत्पक्व) क्षीरादिमध्ये प्रक्षिप्य कियत्कालं धृत्वा ततो निष्काशिते "उसिणोदगखीरउव्वक्को" व्य०१उ०।

उव्वट्टंत त्रि०(उद्वर्तयत) उद्वर्तनं कुर्वति, "उल्लोलंतं उव्वट्टत वा साइज्जइ" नि० चू० १६उ०।

उव्वट्टण न०(उद्वर्वतन) उद्–वृत्–भावे–ल्युट्। चालने, "उव्वट्टगे" समत्थेइ रमए वा वि। वृ० २उ०। सुरभिचूर्णादिना (ग० ३ अधि०) कल्कलोध्रादिना (बृ०१उ०) पिष्टिकादिना वा मलोत्तारणे, तं०। साधूनामुद्वर्तननिषेधोऽणायारशब्दे उक्तः) उद्व–र्तने प्रमादाचरित तथा। उद्वर्तनं संसक्तचूर्णादिभिः उद्वर्तनिकाश्च न भस्मनि निक्षिप्तास्ततस्ताः काटिकाकुलाः श्वादिभिर्भक्ष्यन्ते पादैर्वा मृद्यन्ते ध०२ अधि०। द्रव्यभेदैः स्नेहाद्यपहारार्थे व्यापारे च। उद्वर्त्यतेऽनेन, उद्–वृत्–णिच् करणे ल्युट्। शरीरनिर्मलीकरण–द्रव्यादौ, वाच०। ज्ञा०। कर्मपरमाणूनांह्रस्वस्थिति-कालतामपगमय्य दीर्घस्थितिकालतया व्यवस्थापने, पं० सं०। अधोदेशस्योपकरणेन परिवर्तने, ज्ञा० अ०३ वामपार्श्वेन सुप्तस्य दक्षिणपार्श्वेन वर्तने च। आव०४ अ०।

उव्वट्टणा स्त्री०(उद्वर्तना) उद्वर्तनमेवोद्वर्तना। तत्प्रथमतया वाम–पार्श्वेन सुप्तस्य दक्षिणपार्श्वेन वर्तने, "इच्छामि पडिक्कमिओ पगामसिज्जाए णिगामसिज्जाए उव्वट्टणाए परियट्टणाए" आव० ४ अ०। उद्वर्त्यते प्राबल्येन प्रभूतीक्रियेते स्थित्यनुभागौ यया वीर्यविशेषपरिणत्या असौ उद्वर्तना। पं०सं०। उद्वर्त्यते प्राबल्येन प्रभूतीक्रियते स्थित्यादि यथा जीववीर्यविशेषपरिणत्या सा उद्वर्तना स्थित्यनुभागयोर्वृहत्करणरूपे तृतीये करणे, क०प्र०। विशे०। अथ स्थित्यनुभागविषया उद्वर्तना व्याख्यायते।

उदयावलिवज्झाणं, ठिईण उव्वट्टणा उ ठिइविसया।
सोक्कोस अवाहाओ, जा वावलि होई अतिठवणा॥

उद्वर्तना स्थितिविषया भवति। उदयावलिकबाह्यानां स्थितो-नामुदयावलिकादिसकलकरणयोग्येति न तदा स्थितीनां प्रतिषेधः किं सर्वासामप्युदयावलिकाबाह्यानां स्थितीनामुद्वर्तना नेत्याह। स्वोत्कृष्टाया अबाधायाः स्थितयस्तासामुद्वर्तना एषा स्वोत्कृष्ट अबाधाप्रमाणा उत्कृष्टा अतिस्थापना। अतिस्थापना नाम उल्लङ्घना तदा अतिह्रस्वा ह्रस्वतरा अतिस्थापना तावत् यावज्जघन्या अबाधा ततोऽपि जघन्या अतिस्थापना भवति। आवलिका आवलिकाप्रमाणा इयमत्र भावयना वध्यमानप्रकृत-र्यावती अबाधा तया तुल्या अबाधादीनां वा पूर्ववत्प्रकृतीनां या स्थितिः सा नोद्वर्तते सा उत्पद्य ततः स्थानादूर्द्धं वध्यमानप्रकृतेरबाधाया उपरितनेः क्षिप्यते अबाधाकालान्तः प्रविष्टत्वात् यासु पुनरबाधाया उपरितनी सा स्थितिः पर्यन्तमुद्वर्तयते तदेवमबाधान्तःप्रविष्टाः सर्वा अपि स्थितय उद्वर्त्य उद्वर्तनामधिकृत्य अतिक्रमणीया भवन्ति तथा वसतौ यैवोत्कृष्टा अबाधा स्थिता सैव उत्कृष्टा प्रतिस्थापना समयोना उत्कृष्टा अबाधासमयोना उत्कृष्टा अतिस्थापना द्विसमयोना उत्कृष्टा अबाधा द्विसमयोना उत्कृष्टा अतिस्थापना। एवं समयसमयादन्या अतिस्थापना तावद्वक्तव्या यावज्जघन्या अबाधा अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा ततोऽपि जघन्यतरा अतिस्थापना आवलिकामात्रं तच्च उदयावलिकालक्षणमवसेयं न ह्युदयावलिकान्तर्गताः स्थितय उद्वर्तिताः "उव्वट्टणाठिईए उदयावलियाए बाहिरं ठिईण" मिति वचनात्। ननु यदा वा बन्धे सत्यद्वर्तनां प्रवर्तिष्यत "अबंधा उव्वट्टइ" इति वचनात् तत उदयावलिकागताः स्थितयोऽबाधान्तर्गतत्वेन नोद्वर्तिष्यनते किमुदयावलिकाप्रतिषेधेन तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् अबाधान्तर्गताः स्थितयो नोद्वर्तन्ते इति। किमुक्तं भवति अबाधान्तर्गताः स्थितयः स्वस्थानादुत्पाद्य अबाधायामध्ये पुनस्तासां वक्ष्यमाणक्रमेणोद्वर्त-नानिक्षेपौ प्रवर्तमानौ न विरुध्येते तत उदयावलिकान्तर्गता अपि उद्वर्तनामाप्नुवन्तीति प्रतिषिध्यन्ते।

संप्रति निक्षेपप्ररूपणार्थमाह।

इच्छियठिइठाणाओ, आवलियं लंघिऊण तद्दलियं।
सव्वेसु वि निक्खिप्पइ, ठिइठाणेसु उवरिमेसु॥

ईप्सितस्थितिस्थानात् यतः स्थितिस्थानमुद्वर्तते तत ऊर्द्धमित्यर्थः। आवलिकां लङ्घयित्वा अतिक्रम्य तद्दलिकमुद्वर्त्यमानस्थितिदलिकं सर्वेष्वपि उपरितनेषु स्थितिस्थानेषु निक्षिप्यते एव निक्षेपविधिः। संप्रति निक्षेपविषयप्रमाणनिरूपणार्थमाह।

आवलिय असंखभागाई, जाव कम्मट्ठिइ त्ति निक्खेवो।
सम उत्तराणियाए, सावाहाए भवे ऊणे॥

इह निक्षेपविषयो द्विधा जघन्य उत्कृष्टश्च। तत्रावलिकाया असंख्येभाग-मात्रासु स्थितिषु यः कर्म्मदलिकनिक्षेपः स जघन्यस्तथा हि सर्वोत्कृष्टात् स्थित्यग्रादध आवलिकाऽऽवलिकाया असंख्येयं च भागं भवतीत्यधस्तनीया स्थितिस्तस्या दलिकमतिस्थापनावलिका-मात्रमतिक्रम्योपरितनाधिकाया अस–ख्येयभागभाविनीषु निक्षिप्यते नावलिकाया मध्येऽपि तथा स्वाभाव्यात् ततोऽसावेतावान् जघन्ये दलिके निक्षेपविषयः। एवं सति आवलिकाया असंख्येयतमे भागे नाधिकासु आवलिकामात्रासु स्थितिषु उद्वर्त्तनं भवतीति सिद्धम्। तथा च च सत्युकृष्टस्थितिबन्धे उद्वर्तनायोग्याः स्थितयो बन्धावलिकामबा-धामुपरितनीं चावलिकामसंख्येयभागाधिकां मुक्त्वा शेषा एव दृष्टव्याः। तथा हि बन्धावलिकान्तर्गतं सकलकरणयोग्यमिति कृत्वा बन्धावलि-कान्तर्गताः स्थितयो नोद्वर्तन्ते अबाधान्तर्गता अपि नोद्वर्तनायोग्या-स्तासामतिस्थापनात्वेन प्राक् प्रतिपादितत्वात् संख्येयभागाधिकमात्र–भाविन्यश्च उपरितन्यः स्थितयप्रागुक्ता व्यक्तेरेव नोद्वर्तनायोग्याः संप्रत्युत्कृष्टो निक्षेपविषयश्चिन्त्यते 'जावकम्मट्ठि' इत्यादि। इयमत्र भावना यदा आवलिकामावलिका संख्येयभागमध्यवर्तिनी द्वितिया अधस्तनीस्थिति रुद्वर्तयते तदा समयाधिकावलिकाया असंख्येयभागो निक्षेपविषयः यदहतु तृतीया स्थितिरुद्वर्तयते तदा द्विसमयाधिकः। एवं समयवृद्ध्यातावद्दलिकनिक्षेपविषयो यावदुत्कृष्टो भवति स च कियान् भवतीति चेदुच्यते समयाधिकावलिका अबाधया वा हीना सर्वकर्मस्थितिः तथ हुबाधोपरिस्थितीनामुद्वर्तना भवति तथा प्यबाधया उपरितने स्थितिस्थाने उद्वर्त्यमाने अबाधाया उपरि दलिकनिक्षेपो भवति न अबाधामध्ये उद्वर्त्यमानदलिकस्य उद्वर्त्यमानस्थितेरुर्द्ध निक्षेपात् तत्राप्युद्वर्त्यमानस्थितेरुपरि आवलिकामात्राः स्थितीरतिक्रम्योपरि-तनोषु सर्वासु दलिकनिक्षेपणा भवति ततः स्थापनावलिकामुद्वर्त्यमानां स्थितिं समयमात्रामबाधां वर्जयित्वा शेषाः सर्वा अपि कर्म्मस्थिति–रुत्कृष्टो दलिकनिक्षेपविषयः। तथा चाह।

आवाहोवरिठाणा, दलियं पडुच्चेह परमनिक्खेवो।

वरिपुव्वट्टणुताणं, पडुच्चई जाइ य जहन्नो ।

अबाधाया उपरितनं यत् स्थितिस्थानं तद्दलिकं प्रतीत्य उद्वर्तना–करणे परम उत्कृष्टो निक्षेपो भवति परम तु स्थितिस्थानं यस्मात्परं नोद्वर्तते तदधिकृत्य जघन्यो दलिकनिक्षेपः ।

संप्रति यावन्मात्राः स्थितय उद्वर्तनयोग्यास्ताः प्रतिपादयति ।

उक्किट्ठे ठिइबंधे, बंधावलिया अबाहमेत्तं च ।
निक्खेवं च जहण्णं, ता मोत्तुं उव्वए सेसं ॥

उत्कृष्टे स्थितिबन्धे क्रियमाणं बन्धावलिकामबाधामात्रं निक्षेपं च जघन्यम् । इह जघन्यनिक्षेपग्रहणात् सर्वोपारतनी आवलिका आसंख्येयभागाधिका गृह्यते ततस्तां च मुक्त्वा शेषं सर्वमपि स्थितिजातमुद्वर्तते भावना चैतद्विषया प्रागेव कृता । एष निर्व्याघाते विधिः । व्याघाते पुनरयम् ।

निव्वाघाए एवं, वाघाओ संतकम्मठिइबंधो ।
आवलिअसंखभागो, जा वलिओ तत्थ अइठवणा ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण दलिकनिक्षेपो निर्व्याघाते व्याघाताभावे द्रष्टव्यः व्याघाते पुनरन्यथा । अथ कोऽसौ व्याघात इत्याह । व्याघातः प्राक्तनस्थितिसत्कर्म्मापेक्षया इत्यधिकाभिनवकर्मबन्धरूपा तत्रातिस्थापना आवलिकाया असंख्येयतमो भागः स च प्रवर्तमानस्तावदवसेयो यावदावलिका । इयमत्र भावना । प्राक्तनसत्कर्म्मस्थित्यपेक्षया समयादिनाऽभ्यधिको योऽभिनवकर्म्मबन्धस्य व्याघात इहाभिप्रेतस्तग्रामा स्थापना आवलिका जघन्याया असंख्येयभागमात्रा । तथा हि प्राक्तनसत्कर्म्मस्थितेः सकाशात् समयमात्रेणाभ्यधिकेऽभिनवकर्मबन्धे सति प्राक्तनसत्कर्म्मणोऽप्यर्थो द्विचरमा वा स्थितिर्नोद्वर्तते । एवं यावदान्नलिका जघन्याया असंख्येयभागमात्रा अन्यस्याश्चावलिकाया असंख्येयतमो भाग इति । एवं समयद्वयेन समयत्रयेण यावदावलिकाया असंख्येयतमेनापि भागेनाधिके अभिनवकम्मबन्धे द्रष्टव्यम् । यदा पुनर्द्वाभ्यामावलिकासंख्येयतमाभ्यां भागाभ्यामधिकोऽभिनवकर्म्मबन्ध उपजायते तदा प्राक्तनसत्कर्म्मणोऽन्त्यस्थितिरुद्वर्तते उद्वर्त्य च आवलिकायाः प्रथमं संख्येयतमं भागमतिक्रम्य द्वितीयेऽसंख्येयतमे भागे निक्षिप्यते एतौ अतिस्थापनानिक्षेपौ जघन्यौ । यदा पुनः समयाभ्यधिकाभ्यां द्वाभ्यामावलिकाया असंख्येयतमाभ्यां भागाभ्यामधिकाभिनवकर्म्मबन्धस्तदा आवलिकायाः प्रथममसंख्येयतमं भागं समयाधिकमतिक्रम्य असंख्येयतमे भागे निक्षिप्यते एवमभिनवकर्मबन्धस्य समयादिवृद्धौ अतिस्थापना प्रवर्द्धते सा च तावत् यावदावलिका परिपूर्णा भवति । निक्षेपस्तु सर्वत्रापि तावन्मात्र एव भवति तत ऊर्द्धं पुनरपि नवकर्मनिक्षेप एव केवलो बर्धते । एतदेवाह

आवलि, दोसंखंसी, जइ वड्ढइ अहिणवो उ ठिइबंधो ।
उक्किट्ठातो चरिमा, एवं जा वलिय अइठवणा ॥
अइठवणा वलियाए, पुण्णाए वड्ढरंति निक्खेवो ।

यदा प्राक्तनस्थितिसत्कर्म्मापेक्षया अभिनवस्थितिबन्धो वर्द्धते द्व्यावलिकाया असंख्येयांशो यतस्तौ भागौ ततः प्राक्तनास्थितिसत्कर्म्मणोऽन्त्या स्थितिरुद्वर्तते । उद्वर्त्य चावलिकायोः प्रथमसंख्येयतमं भागमतिक्रम्य *द्वितिये असंख्येयतमे भागे निक्षिपति एतावता* स्थापनानिक्षेपौ जघनयो ततोऽभिनवकर्म्मबन्धस्य समयादिवृद्धावतिस्थापना वर्द्धते तावत् यावदावलिका परिपूर्णा भवति निक्षेपस्तु तत्र सर्वत्रापि तावन्मात्र एव अतिस्थापनावलिकायां परिपूर्णायां निक्षेपो वर्द्धते इति शब्द उद्वर्तनाकर्तव्यतापरिसमाप्तिसूचको यावद्यानेन नवकर्म्मबन्धः प्राक्तनस्थितिसत्कर्म्मणः सकाशात् द्वाभ्यामावलिकासंख्येयतमाभ्यां भागाभ्यामधिको न भवति तावत् प्राक्तनस्थितिसत्कर्म्मणश्चरमस्थितेरध आवलिकामसंख्येयभागाधिकामतिक्रम्योपरितने आवलिकाया असंख्येयतमे भागे निक्षिपति । यदा तु द्वितीयमधस्तनीं स्थितिमुद्वर्तयति तदा समयाधिके असंख्येयतमे भागे निक्षिपति एवं प्रकारेण दृष्टव्यम् । संप्रत्यल्पबहुत्वमुच्यते या जघन्या अतिस्थापना यश्च जघन्या निक्षेप एतौ द्वावपि सर्वस्तोकं परस्परं वा तुल्यौ एतौ द्वावप्यावलिकासत्कासंख्येयतमभागप्रमाणौ ताभ्यामसंख्येयगुणा उत्कृष्टा अतिस्थापना तस्या उत्कृष्टाबाधारूपत्वात् ततोऽप्युत्कृष्टो निक्षेपोऽसंख्येयगुणो यतोऽसौ समयाधिकावलिकाया साबाधया हीना सकर्म्मस्थितिः ततोऽपि सर्वकर्म्मस्थितिर्विशेषाधिका पं० सं० क०प्र० ।

अथानुभागोद्वर्तनामाह ।

चरमं नो वट्टिज्जइ, जा ठाणंताणि फड्डगाणि तउ ।
उस्सक्कियउवट्टइ, उदयाववट्टणा एवं ॥

चरमं स्पर्द्धकं नोद्वर्त्यते नापि द्विचरमं नापि त्रिचरमम् एतावता तावद्वाच्यं यावच्चरमान् स्पर्द्धकानधोऽनन्तानि स्पर्द्धकानि नोद्वर्तयते किं तु तस्य चतुष्कस्याधस्तादवतीर्य यानि स्पर्द्धकानि समयमात्रस्थितिगतानि तान्युद्वर्तयति तानि चोद्वर्त्य आवलिकामात्रस्थितिगतानि अनन्तानि स्पर्द्धकानि अतिक्रम्योपरितने द्वे आवलिकासत्कासंख्येयभागमात्रगतेषु स्पर्द्धकेषु निक्षिपति । यथा पुनरधोऽवतीर्य द्वितीयसमयमात्रस्थितिगतानि स्पर्द्धकानि उद्वर्तयति तथा आवलिकामात्रस्थितिगतानि स्पर्द्धकानि अतिक्रम्य उपरितनेषु समयाधिकावलिकासत्कर्म्मसंख्येयभागमात्रगतेषु स्पर्द्धकेषु निक्षिपति एवं यथा यथा अधोऽवतरति तथा तथा निक्षेपो वर्द्धते अतिस्थापना पुनः पुनः सर्वत्रापि आवलिकामात्रस्थितिगतान्येव स्पर्द्धकानि । कियान् पुनरुत्कृष्टो निक्षेपविषय इति चेदुच्यते बन्धावलिकायामतीतायां समयाधिकावलिकामात्रगतानि स्पर्द्धकानि व्यतिरिच्य शेषाणि सर्वाण्यपि निक्षेपविषयः । संप्रत्यत्रैवाल्पबहुत्वं चिन्त्यते सर्वस्तोको जघन्यनिक्षेपः तस्यावलिकासत्कासंख्येयभागगतस्पर्द्धकमात्रविषयत्वात् ततोऽतिस्थापना अनन्तगुणा निक्षेपविषयस्पर्द्धकेभ्य आवलिकामात्र स्थितिगतानां स्पर्द्धकानामनन्तगुणत्वात् । एवं सर्वत्राप्यनन्तगुणता स्पर्द्धकापेक्षया द्रष्टव्या तत उत्कृष्टो निक्षेपोऽनन्तगुणः ततोऽपि सर्वो भागो विशेषाधिकः । तदेवमुक्ता अनुभागोद्वर्तना । पं० सं० (कर्मप्रकृतौ तु ''एव उव्वट्टणाई उ'' एवं चतुर्थपात् । अयमिहानुपयुक्तो ऽव्याख्यातोऽपि गाथापूर्तये प्रदर्शितः) उद्वर्तनमुद्वर्तना । तत्कायान्निर्गमे मरणे, ''दोण्हं उव्वट्टणा पण्णत्ता तं जहा नेरइयाणं चेव भवणवासीणं चेव'' उद्वर्तना नैरयिकभवनवासिनामेवैवं व्यपदिश्यते अन्येषान्तु मरणमेवेति । स्था०२ ठा० । (उद्वर्तनायाः सर्वा वक्तव्यता उववायशब्दे दर्शिता यथा सान्तरं निरन्तरं चोद्वर्तन्ते इति सतोऽसतो वा नैरयिकविषयादुद्वर्त्य तीर्थकृत्त्वादिलाभः इति च अंतकिरिया शब्दे उक्तम्)

खुड्डगकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं उववज्जंति किं णेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिसुए

उववज्जंति उव्वट्टणा जहा वक्कंतीए तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उव्वट्टंति गोयमा ! चत्तारि वा अट्ठ वा वारस वा सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उव्वट्टंति तेणं भंते ! जीवा कहं उव्वट्टंति? गोयमा ! से जहाणामए पवए एवं तहेव एवं सो चेव गमओ जाव आयप्पओगेणं उव्वट्टंति णोपरप्पओगेणं उव्वट्टंति रयणप्पभपुढविखुड्डागकडजुम्म एवं रयणप्पभाए वि एवं जाव अहेसत्तमाए वि । एवं खुड्डागतेओगे खुड्डागदावरजुम्मे खुड्डागकलिओगे णवरं परिमाणं जाणियव्वं सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंतेत्ति (३१ श० ३१ उ०) कण्हलेस्सकडजुम्मे णेरइया एवं एएणं कमेणं जहेव उववायसए अट्ठावीसं उद्देसगा भणिया तहेव उव्वट्टणासए वि अट्ठावीसं उद्देसगा भाणियव्वा णिरवसेसा णवरं उव्वट्टंति त्ति अभिलावो भाणियव्वो सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥ उव्वट्टणासयं सम्मत्तं ॥३२॥ भ० ३१ ज्ञा० ३२ उ०।

उव्वट्टणासंकम पुं०(उद्वर्तनासंक्रम) उन्मानप्रकृतीनां बन्धे, 'आबंधाउव्वट्टइ' पं०सं०। स्तोकस्य रसस्य प्रभूतीकरणे, पं० सं०।

उव्वट्टित्ता अव्य०(उद्वर्त्य) उद्वलनं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ठा०॥

उवट्टिय त्रि०(उद्वर्तित) पिष्टकादिना कृतोद्वर्तने, ''अब्भंगिय संबाहिय उव्वट्टियमज्जियं च से जाणं'' पिं०। तत्त्वाच्च्यावित, ''उवट्टिया पओसं, छोभ उब्भामओ य सेजंते'' या अभिनवस्थापिता सती धात्री उद्वर्तिता धात्रीत्वाच्च्यावित। पिं०। कृतोद्वर्तनाके, ''णरगा उवट्टिया अधण्णा ते वि य दीसंति' प्रश्न० १ द्वा०। ततो वि उव्वट्टिया समाणा पुणो वि पवज्जंति'' प्रश्न० ३ द्वा०। ''आउक्खएण उव्वट्टिया समाणा'' प्रश्न०१ द्वा०।

उव्वड्ढ त्रि०(उद्वृद्ध) उद्वृद्धिमपगते, ''अमुगो पचंतराया उव्वड्ढा अणज्जंता पुरिसा कूडलेहे उवणेंतु''। आ० म० द्वि०।

उव्वत्त त्रि०(उद्वृत्त) कृतोद्वर्तने, ''मच्छुव्वत्तं'' मत्स्योद्वृत्तमेकं वन्दित्वा मत्स्यवद् द्रुतं साधुं द्वितीयपार्श्वेन रेचकावर्तेन परावर्तते आव० ३अ०।

उव्वत्तण न०(उद्वर्त्तन) एकपार्श्वादन्यपार्श्वीभवने, ध०३ अधि०। ''उत्ताणयस्स पासल्लियकरणं उव्वत्तण। नि० चू० ४ उ०। उद्वर्तनं नाम तस्या उत्तानायाः पार्श्वतः करणम् । बृ० ३ उ०। ऊर्द्ध वर्तने ''उव्वत्तणणिल्लेवणवीहंते अणिओगं'' ऊर्द्ध वर्तनं यदसाधु वर्तते। ओ०। शरीरपरिचेष्टाकारिषु निव्योमकेषु, प्रव० ७१ द्वा०।

उव्वर (देशी) धर्मार्थे, दे०ना०।

उव्वहण न०(उद्वहन) उत्तोल्य वहनम् । उत्तोल्य स्कन्धादिना वहने, विवाहे च। वाच०। जीविकालाभेनात्मनो धारणे, स०।

उव्वा धा०(उद्वा) भ्वा० प० अक०सेट् **''स्वरादनतौ वा'' ॥८।४।३६॥** अकारान्तवर्जितात्स्वरान्ताद्धातो रन्तेऽकारागमो वा भवति इत्यकारागमो वा। उव्वाइ उव्वाअइ उद्वाति। प्रा०। **''उद्वाते रोहम्मावसु आः ॥८।४।११॥** इत्यादेशे कृते ओरुम्माइ वसुआइ उव्वाइ प्रा० धर्मार्थे, दे० ना०।

उव्वागणि पुं०(उर्वाग्नि) वडवानले, अष्ट०।

उव्वात पुं०(उद्वात) परिश्रान्ते, ''अत्तद्धाणे उव्वाता भिक्खोवहिसाणएण पडिणीए'' वृ०१ उ०। ''उव्वातो दिवसं तिण्हं तु अतिक्कमे गुरुगा'' उद्वातः परिश्रान्त इति कृत्वा नष्टः। व्य०१ उ०। अतिपरिश्रान्ते, ''हिंडंतो उव्वातो सुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी'' व्य०४ उ०।

उव्वाह (देशी) धर्मार्थे, दे०ना०।

उव्वाहिज्जमाण त्रि०(उद्वाध्यमान) प्रावल्येन वाध्यमाने, ''उच्चारपासवणेणं उव्वाहिज्जमाणे'' आचा०२ श्रु०। प्रावल्येन मोहोदयात्पीड्यमाने, ''उव्वाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं'' आचा० १ श्रु०५अ०।

उव्विग्ग त्रि०(उद्विग्न) नद्- विज-कर्त्तरि-क्त-**सर्वत्र लवरामवन्द्रे ॥८।२।७९॥** इति लोपः प्रा०। आनन्दरसत्यागमानसे, भ० ३ श० १ उ०। भीते, ''जम्ममच्चुभउव्विग्गा दुक्खस्संतगवेसिणो'' उत्त० १४अ०। ''अडविजम्मणा णिच्चवासजणगाणं'' प्रश्न०१ द्वा०। उद्वेगवति, ''उव्विग्ग अप्पुया असरणा अडवीवासं उवेंति''प्रश्न० ३ द्वा०। पराङ्मुखचित्ते, तेणं नरकेसु नारका णिच्चं तसिया णिच्चं उव्विग्गा'' प्रज्ञा०२पद। यथोक्त दुःखानुभवतस्तद्गतवासपराङ्मुखचित्ताः जी० ३प्रति०॥

उव्विग्गया स्त्री०(उद्विग्नता) इष्टवियोगाद्यनिमित्तकसहजत्यागेच्छायाम्, भवादुद्विग्नताशुद्धौ, द्वा० २१ द्वा०।

उव्विव धा०(उद्विज्) उद्वेगे, **उद्विजः ॥८।४।२२७॥** उद्विजेरन्त्यस्य वो भवति। उव्विवइ उद्विजते प्रा०।

उव्विह पुं०(उद्विह) द्वादशानामाजीविकोपासकानां तृतीये, भ० ८ श०५ उ०।

उव्विहंत त्रि०(उद्विजहत्) ऊर्द्धं क्षिपति, भ०७ श० १४ उ०। उत्पतति च। किमपरं मणसा वि उव्विहत्ता इति ज्ञा०१७ अ०।

उव्विहमाण त्रि०(उद्विजहत्) उद्विजहति, भ०१ श०६ उ०।

उव्विहिय अव्य०(उद्व्यूह्य) उत्प्रेक्ष्येत्यर्थे, भ० १३ श०६ उ०।

उव्वीढ त्रि०(उद्व्यूढ) **ईर्वोद्व्यूढे ८। १। १२०॥** इति उद्व्यूढशब्दे ऊत ईत्वं वा। उव्वीढं उव्वूढं। उत्प्रेरिते, प्रा०।

उव्वीलय पुं०(अपव्रीडक) लज्जया अतिचारान् गोपायन्तमुपदेशविशेषैरपव्रीडयति, विगतलज्जं करोतीति अपव्रीडकः। पंचा० १५ विव०। स्था०। लज्जयाऽतिचारान् गोपायन्तं विचित्रवचनैर्वि-लज्जीकृत्य सम्यगालोचनकारयितरि, आलोचनाप्रतीच्छके, भ० २५श०७उ०। अयं ह्यालोचकस्यात्यन्तमुपकारको भवतीति ध० २ अधि०। अभिहितं च ''ववहारं ववहरं आगममाई उ सुणइ पंचविहा। आवीलुवगूहंतं जह आलोएइ तं सववं'' स्था०८ ठा०।

उव्वीलेमाण त्रि०(अवपीडयत्) बाधयति, ''पंथकोट्ठेहिय उवलेमाणे २ विहिंसेमाणे २ विहरइ'' वि०१ श्रु०१ अ०। पा०।

उव्वुड्डयणिवुड्डय न०(उन्मग्ननिमग्नत्व) ऊर्ध्वाधो जलगमने, उपचारात्सातासातपरितापने, ''सातस्स असातस्स य, परितावणमयं उव्वुड्डनिवुड्डयं करेति'' सातमुन्मग्नत्वमिव असातपरितापनं निमग्नत्वमिवेति। प्रश्न०३ द्वा०।

उव्वूढ न०(उद्व्यूढ) उद्-वि-ऊह-क्त **ईर्वोदव्यूढे ८।१।१२०॥** इति ऊत इत्वाभावे रूपम्। उत्प्रेरिते, प्रा०।

उव्वेग पुं०(उद्वेग) उद्- विज्- घञ् -कुत्वम्। शोके, देवानामुद्वेगः।

तिहिं ठाणेहिं देवे उव्वेगमागच्छेज्जा तंजहा अहो णं मए इमाओ एयारूवाओ दिव्वाओ देवड्ढीओ दिव्वाओ देवजुईओ दिव्वाओ देवाणुभावाओ पत्ताओ लद्धाओ अभिसमण्णागयाओ चवियव्वं भविस्सइ १ अहो णं मए माउओय पिउसुक्कं तं तदुभयसिद्धं तप्पढमयाए आहारो आहारेयव्वो भविस्सइ २ अहो णं मए कलमलजंवालाए असुईए उव्वेयणित्ताए भीमाए गब्भवसहीए वसियव्वं भविस्सइ ॥३॥

(उव्वेगंति) उद्वेगं शोकं मयेतश्चयवनीयं भविष्यतीत्येकं तथा मातुरोज आर्तवं पितुः शुक्रं तत्तथाविधं किमपि विलीनानामति–विलीनं तयोरोजःशुक्रयोरुभयं द्वयं तदुभयं तच्च तत् संसृष्टं संश्लिष्टं वा चेति परस्परमेकीभूतमित्यर्थः। तदुभयसंसृष्टं तदुभयसंश्लिष्टं वा एवलक्षणो य आहारस्तस्य गर्भवासकालस्य प्रथमता तत्प्रथमता तस्यां प्रथमसमय इत्यर्थः। स आहर्तव्योऽभ्यवहार्यो भविष्यतीति द्वितीयम्। तथा कलमलो जठरद्रव्यसमूहः स एव जम्बालः कर्दमो यस्यां सा तथा तस्यामत एवाशुचिकायामुद्वेजनीयायामुद्वेगकारिण्यां भीमायाम्भयानिकायां गर्भ एव वसतिस्तस्यां वस्तव्यमिति तृतीयम्। स्था०३ ठा०३ उ०। निर्वेदे, अनु०। इष्टवियोगादिजन्ये चित्तव्याकुलत्वे, भ०३ श०६उ०। जीवा०। चित्तदोषे, तत्र द्वेषादुद्वेगो यथा।

स्थितस्यैव स उद्वेगो, योगद्वेषात्ततः क्रिया।
राजविष्टिसमाजन्मवाधिते योगिनां कुले ॥१४॥

(स्थितस्यैवेति) स्थितस्यैवाप्रवृत्तस्यैव व क्रम उद्वेग उच्यते ततस्तस्मादनादरजनिताद्योगद्वेषात्क्रिया परवशादिनिमित्ता प्रवृत्तिः राजविष्टिसमा नृपनियुक्तानुष्ठानतुल्या योगिनां श्रीमतां श्राद्धानां कुले जन्म वाधते प्रतिबध्नाति अनादरेण योगक्रियाया योगिकुलजन्मबाधकत्वनियमात् द्वा० १८ द्वा०। तदुक्तम्।

उद्वेगे विद्वेषा–द्विष्टिसमं करणमस्य पापेन।
योगिकुलजन्मवाधक–मलमेतत्तद्विदामिष्टम् ॥

'उद्वेग इत्यादि' उद्वेगे चित्तदोषे विद्वेषाद्योगविषयात् विष्टिसमं राजविष्टिकल्पं करणमस्य योगस्य पापेन हेतुभूतेन एतच्चैवंविधं करणं योगिनां कुले जन्म तस्य वाधकमनेन योगिकुलजन्मापि जन्मान्तरे न लभ्यत इति कृत्वा योगिकुलजन्मवाधकमलमत्यर्थमेतत्तद्विदामिष्टं योगविदामभिमतम्। षो० १४ विव०। व्याकुलचित्ततायाम्, विरहजन्ये दुःखोद्भमे भये च। उद्वतो वेगोयस्मात्। निश्चले, स्तिमिते, शीघ्रगामिनि च वाच०।

उव्वेढ धा०(उद्वेष्ट) भ्वा०आ० सक सेट्–पृथक्करणे, **वोदः ८।४।२२३।** उदः परस्य वेष्टेरन्त्यस्य ल्लो वा भवति इति ल्लत्वाभावे रूपम् उव्वेल्लइ उव्वेढइ उद्वेष्टते। प्रा०। ''उव्वेढेज्ज वा णिव्वेज्ज वा उप्पोसं वा करेज्जा'' उद्वेष्टयेत् पृथक्कुर्य्यात् आचा०२ श्रु०।

उव्वेढण न०(उद्वेष्टन) उद–वेष्ट–ल्युट्–हस्तपादयोर्बन्धने, उपश्लेषे च। पृथक्करणे, उन्मुक्तबन्धने, त्रि०। वाच०। आचा०२ श्रु०।

उव्वेयणग त्रि०(उद्वेजनक) उद्विज्यते उद्विग्नैर्भूयते, यस्मिन् स उद्वेजनकः। भयानके, उद्वेगकारिणि, ''उव्वेयणायं जाईमरणं नरएसु अणाओ य'' आतु०। उद्वेगहेतुत्वान्निरवकाङ्क्षे प्राणबन्धे, प्रश्न०१ द्वा०।

उव्वेयणित्त त्रि०(उद्वेजनीय) उद–विज्– अनीयर–कर्त्तरि। उद्वेगकारिणि, ''असुईए उव्वेयणित्ताए भीमाए गब्भवसहीए वसियव्वं भविस्सइ'' स्था० ३ ठा०।

उव्वेल्ल धा०(उद्वेष्ट) भ्वा० सक०आत्म०। **वो दः ८।४।२२३।** उदः परस्य वेष्टेरन्त्यस्य वा ल्लः उव्वेल्लइ उव्वेढइ उद्वेष्टते। प्रा०।

उव्वेल्लिय त्रि०(उद्वेष्टित) उत्सारिते, ''उव्वेल्लिए मुज्झमयस्स तो साहाहिं'' वृ०३ उ०॥

उव्वेव पुं०(उद्वेग) उद् विज्–घञ्–कुत्वम्। **उद्विजः ८।४।२२७।** इति अन्त्यस्य वा वः। चित्तव्याकुलत्वे, प्रा०।

उसक्कण न०(अवष्वष्कण) ज्वालने, ''णपणं जलणं जालणं उसक्कणंति एगट्ठा'' नि०चू० १ उ०। ''जलमाणिंधयाणं उकदृणा भण्णति'' नि०चू०१उ०॥

उसङ्ड त्रि०(उत्सृत) उच्चे, ''उसङ्डा उसङ्ड खुड्डगा'' राय०।

उसण्ण न०(उषण) उष–क्युन् मरिचे, पिप्पलीमूले च शुण्ठ्यां चव्यिके पिपल्याञ्च स्त्री० उसन्न शब्दो देशीवचनो बाहुल्यवचनो यथा ''उसणसायं वेयणं वेयंति'' कर्म०॥ प्रायः इत्यर्थे ,। जं० २ वक्ष०। प्रवाहेणेत्यर्थे,त०।

उसण्णदोस पुं०(उषणदोष) उषणेन बाहुल्येन अनुपूरतत्वेन दोषोऽनृतादानसंरक्षणानामन्यतमः। रुद्रध्यानस्य लक्षणभेदे, औ०।

उसभ(ह) पुं०[ऋ(वृ)षभ] ऋषभशब्दस्य द्विधा व्याख्या सामा–न्यतो विशेषतश्च। तत्र सामान्यतो यथा ऋषति गच्छति परमपदमिति ऋषभः। **उदृत्वादौ ८।१।१३१।** इत्युत्वे उसहो वृषभ इत्यपि। वर्षति सिञ्चति देशनाजलेन दुःखाग्निना दग्धं जगदिति अस्यात्वर्थः। **वृषभे वा वा ८।१।१३३।** इति वृषभे ऋतो वेन सह उद् वा भवति। उसहो वसभो प्रा०। धर्म०। वृषेण धर्मेण भातीति वृषभः जं०२ वक्ष०। वृषभ उद्वहने एष आगमिको धातुः समग्रसंयमभारोद्वह नाद् वृषभः आ०म० द्वि०। वृषभ उद्वहने उच्छूढं तेन भगवता जगत्संसारः समग्रं तेन ऋषभ इति सर्व एव भगवन्तो जगदुद्वहन्ति ''अतुलं नाणदंसणचरित्तं वा एवं सामण्णं'' एषा सामान्यत ऋषभशब्दज्ञाय व्युत्पत्तिः। आचू० २ अ०। एवञ्च सर्वेऽप्यर्हन्त ऋषभा वृषभा वा इत्युच्यन्ते तेन ऊर्वोर्वृषभ लाञ्छनत्वेन मातुश्चतुर्दशस्वप्नेषु प्रथमं वृषभदर्शनेन च ऋषभो वृषभो वेति जं०२ वक्ष०।

ऊरूसु उसभलंछनउसभं सुमितेण उसभजिणो जेण भगवतो दोसु वि ऊरूसु उसभा उप्पराहुत्ता लंछणभूया जेणे व मरुदेवीए भगवतीए चोद्दसण्हं महासुमिणाणं पढमं उसभो सुमिणे दिट्ठो तेण तस्स उसभ त्ति नाम कयं से सतित्थयराणं मायरो पढमं गयं पासंति ततो वसभं।

अक्षरगमनिका त्वेवं यतो भगवत ऊव्वार्वृषभवदूर्द्धमुखं लाञ्छनं मरुदेवी च भगवती स्वप्ने प्रथममृषभं दृष्टवती तेन भगवान् ऋषभजिनः। आ०म०द्वि०। अवसर्पिण्यां प्रथमे तीर्थकरे, प्रव०७द्वा०। अनु०।

(१) ऋषभस्वामिनः पूर्वभवचरित्रम्।
(२) ऋषभस्वामिनस्तीर्थकरत्वहेतवः।
(३) ऋषभस्वामिनो जन्म तन्महोत्सवश्च।
(४) ऋषभस्वामिनो नाम।
(५) ऋषभस्वामिनो बृद्धिः।
(६) ऋषभस्वामिनो जातिस्मरणम्।

(७) ऋषभस्वामिनो विवाहः ।
(८) ऋषभस्वामिनो ऽपत्यानि ।
(९) ऋषभस्वामिनो नीतिव्यवस्था ।
(१०) ऋषभस्वामिनो राज्याभिषेकः ।
(११) ऋषभस्वामिनो राज्यसंग्रहः ।
(१२) ऋषभस्वामिनो लोकस्थितिनिबन्धनं शिल्पादिशिक्षणं च।
(१३) ऋषभस्वामिनो वार्षः।
(१४) ऋषभस्वामिपुत्रराज्याभिषेकः।
(१५) ऋषभस्वामिनो दीक्षाकल्याणकम् ।
(१६) ऋषभस्वामिनश्चीवरधारित्वकालमानम् ।
(१७) ऋषभस्वामिनो भिक्षाकालमानम् ।
(१८) ऋषभस्वामिनः श्रेयांसेन भवाष्टककथनम्।
(१९) ऋषभस्वामिनः श्रामण्यानन्तरं प्रवर्तनप्रकारः।
(२०) ऋषभस्वामिनः श्रमण्यावस्थावर्णनम्।
(२१) ऋषभस्वामिनः केवलोत्पत्त्यनन्तरं धर्मकथनम्।
(२२) ऋषभस्वामिनो वन्दनार्थं मरुदेव्या सह भरतगमनम् भरत-दिग्विजयश्च।
(२३) ब्राह्मणानामुत्पत्तिप्रकारः तीर्थकरबलदेव वासुदेवाश्च भविष्यन्ति न वेत्यादिप्रश्नकदम्बकञ्च।
(२४) ऋषभस्वामिनः सङ्घसंख्या।
(२५) ऋषभस्वामिनः श्रमणवर्णनम्।
(२६) ऋषभस्वामिनः केवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं भव्यानां कियताकालेन सिद्धिगमनं प्रवृत्तं कियन्तं कालं यावदनुवृत्तम्।
(२७) ऋषभस्वामिनो जन्मकल्याणकादिनक्षत्राणि ।
(२८) ऋषभस्वामिनः शरीरसंपत्- शरीरप्रमाणं कौमारे राज्ये गृहित्वे च यावान् कालस्तन्मानं च।
(२९) ऋषभस्वामिनो निर्वाणगमनं देवकृत्यवर्णनं च।
(३०) चितानन्तरं शक्रकृत्यवर्णनम्।
(३१) इक्ष्वाकूणामपरा चितिका भरतकारिता ।

(१) अथ श्रीऋषभदेवचरित्रं तत्र प्रथमतः पूर्वभवचरित्रमाह।

नाभी विणयभूमी, मरुदेवी उत्तरा असाढा य।
राया य वयरनाहो, विमाणसव्वट्ठसिद्धाओ ॥९६॥
धणमिहुणसुरमहब्बल-ललियंगयवयरजंघमिहुणे अ।
सोहम्मविज्जअच्चुअ, चक्की सव्वट्ठउसभे अ ॥९७॥
धणसत्थवाहघोसण-जइगमणं अडविवासठाणं च।
बहुवोलीणे वासे, चिंताघयदाणमासि तया ॥९८॥
उत्तरकुरुसोहम्मे, महाविदेहे महाबलो राया।
ईसाणे ललियंगो, महाविदेहे वयरजंघो ॥९९॥
उत्तरकुरुसोहम्मे, विदेहि चेगिच्छियस्स तत्थ सुओ।
रायसुअसिट्ठिमच्चा-सत्थासुयआ वयस्सा से ॥१००॥

अथवा प्रतिपादितः कुलकरवंश इदानीं प्राक् सचितेक्ष्वाकुवंशः प्रतिपाद्यते। स च ऋषभनाथप्रभव इत्यतस्तद्वक्तव्यताऽभिधित्सयाऽऽह। नाभीगाहा। ९६। गमनिका इयम्। निर्युक्तिगाथा प्रभूतार्थप्रतिपादिका अस्यां च प्रतिपदं क्रियाध्याहारः कार्यः। स चेत्थं नाभिरिति नाभिर्नाम कुलकरो बभूव । विनीता भूमीति तस्य विनीतभूमौ प्रायः अवस्थानमासीत्। मरुदेवीति तस्य भार्या राजा च प्राग्भवे वैरनाभः सन् प्रव्रज्यां गृहीत्वा तीर्थ-करनामगोत्रं कर्म बन्ध्वा मृत्वा सर्वार्थसिद्धिमवाप्य ततस्तस्या मरुदेव्यास्तस्यां विनीतभूमौ सर्वार्थसिद्ध्यादिमानादवतीर्य ऋषभनाथः संजातः तस्योत्तराषाढनक्षत्रमासीदिति गाथार्थः ।९६। इदानीं यः प्राग्भवे वैरनाभो यथा च तेन सम्यक्त्वमवाप्तं यावतो वा भवानवाप्तसम्यक्त्वः संसारं पर्यटितः यथा च तेन तीर्थकरनाम-गोत्रं कर्म बद्धमित्यमुमर्थमभिधित्सुराह। धणगाहा ॥९७।९८। उत्तरगाहा।९९। उत्तरकुरुगाहा ॥१००॥ अन्या अप्युक्तसम्बन्धा एव द्रष्टव्या तावत् यावत 'पढमेण पच्छिमेण गाहा' किन्तु यथावसर-मसम्मोहनिमित्तमुपन्यासं करिष्यामः। प्रथमगाथागमनिका। धनः सार्थवाहो घोषणं योनिगमनमरवी वर्षास्थानं च बहवो लीने वर्षे चिन्ता घृतदानमासीत्तदा ॥९७॥ द्वितीयगाथा गमनिका । उत्तरकुरौ सौधर्मे महाविदेहे महाबलो राजा ईशाने ललियङ्गो महाविदेहे च वैरजङ्घ इयमन्यकर्तृकी गाथा सोपयोगा च ॥९८॥ तृतीयगाथागमनिका उत्तरकुरौ सौधर्मे महाविदेहे चिकित्सकस्य तत्र सुतः राजसुतश्रेष्ठ्यमात्यसार्थवाहसुता वयस्याः (से) तस्य। आसां भावार्थः कथानका दवसेयः प्रतिपदं चानुरूपक्रियाध्याहारः कार्यः इति। यथा धनोनामसार्थवाह आसीत् स हि देशान्तरङ् गुन्तुमना घोषणां कारितवानित्यादि कथानकम् आव०१अ०॥

द्वीपोऽस्ति जम्बूद्वीपोऽत्र, सदा यः परिरभ्यते।
अम्भोधिना चिरायात-मित्रवल्लहरीभुजैः ॥१॥
विदेहे पश्चिमासंस्थे, क्षितिमण्डलमण्डनम्।
क्षितिप्रतिष्ठितं नाम, नगरं सुप्रतिष्ठितम् ॥२॥
प्रियंकरकरस्तत्र, राजा राजेव विश्रुतः।
शुचिः कुबलयोल्लासी, प्रसन्नचन्द्रनामकः ॥३॥
आसीत्तत्र धनः सार्थ-वाहः पितृगृहं श्रियः।
स षष्टित्रिशती संख्य-क्रयाणकमहाकरः ॥४॥
क्रयाणकानि संगृह्य, वाणिज्यार्थं कृतोद्यमः।
सोऽपरेद्युर्गन्तुकामो, वसन्तपुरपत्तनम् ॥५॥
सर्वलोकोपकाराय, सार्थवाहो धनस्तदा।
आघोषयत्पुरे कृत्स्ने, भेरीवादनपूर्वकम् ॥६॥
यो मया सममभ्येति, तस्य सर्वमहं ददे।
क्रयाणान्यक्रयाणस्या-ऽवाहनानां च वाहनम् ॥७॥
सहायमसहायस्या-शम्बलानां च शम्बलम्।
दस्युभ्यः श्वापदादिभ्य-स्त्रास्येऽहं पथि बन्धुवत् ॥८॥
अन्नैः पानैस्तथा वस्त्रैः , पात्रैरौषधभेषजैः।
विसूरयति यो येन, सर्वं यच्छामि तस्य तत् ॥९॥
तत् श्रुत्वा वणिजोऽनेके, संवहन्ति स्म सत्वरम्।
व्यवहर्तुं परे भोक्तुं, दरिद्रद्रमकादयः ॥१०॥
प्रस्थानं सुमुहूर्तेऽथ, सार्थवाहो विनिर्ममे।
भाविमङ्गलसंसूचि-विहितानेकमङ्गलः ॥११॥
अत्रान्तरे धर्मघोषाऽऽचार्यः सूर्य इवापरः।
पादैः पवित्रयन् भूमिं, दीप्यमानस्तपस्त्विषा ॥१२॥
तमागच्छन्तमालोक्य, सद्वक्त्रानन्दकारकम्।
सार्थवाहो नमस्कृत्य, प्रस्फुटत्कटको द्विधा ॥१३॥
उपवेश्यासने प्राक्षीद्-गुरोर्गमनकारणम्।
वसन्तपुरमेष्याम-स्त्वया सहेति तेऽभ्यधुः ॥१४॥
श्रुत्वा तान् सार्थपो भक्त्या, सूदानिति समादिशत्।
सम्पाद्यमन्नपानाद्य-मेषान्निःशेषमन्वहम् ॥१५॥
आचार्या अपि तस्याख्यन्, शुद्धिमाहारगोचराम्।
तदा च कोऽपि पक्षाम्स्थालं तस्योपनीतवान् ॥१६॥

सार्थवाहोऽवदत्पूज्या, विधायानुग्रहम्परम्।
स्त्यानीभूतसुधाभानि, गृह्णीताम्राण्यमूनि मे ॥१७॥
सार्थपैतानि कल्पन्ते, नाशस्त्रोपहतानि नः।
धनोऽवादीद् व्रतं पूज्या–यौष्माकमतिदुष्करम् ॥१८॥
कल्प्यमन्नादि वः सर्वं, पूज्याः सम्पादयिष्यते।
प्रातः प्रयाणम्भावीतस्तदागत्यात्र तिष्ठत ॥१९॥
चक्रे प्रयाणं सार्थेशो, गुरवोऽपि सहाचलन्।
सञ्जातेषु प्रयाणेषु, ततः कतिपयेष्वपि ॥२०॥
उज्जगृम्भे तदा ग्रीष्मः, कालः कलितयौवनः।
स्वकीयेनोष्मणा ज्वाला–जिह्वामप्यवहेलयन् ॥२१॥
नृपस्येव निदाघस्य, महायोध इवार्यमा।
करैः शरैरिवाशेषान्, जनानाहन्त्यरीनिव ॥२२॥
तदा तापादिवोष्णांशु–स्तृष्णातिशयविह्वलः।
पिबन् करसहस्रेण, जलस्थानान्यशोषयत् ॥२३॥
प्रस्वेदप्लुतसर्वाङ्ग–स्तदा धातुमयो जनः।
ग्रीष्मनाडिन्धमध्नानाद्, द्रवरूप इवाभवत् ॥२४॥
निदाघदहनोत्तप्त–वालुका वसुमत्यपि।
भ्राष्ट्रीभूताध्वगान् जन्तून्, पचते चणकानिव ॥२५॥
सत्यप्येवंविधे काले, यान्तःकान्तारमापतन्।
प्रावृट्कालक्षमापाल–स्तत्राध्वनि रुरोध तान् ॥२६॥
सेनान्यस्तस्य गर्जन्तः, पर्जन्याः श्याममूर्त्तयः।
पुरस्कृतेन्द्रधन्वान–स्तडिद्दण्डासिधेनवः ॥२७॥
वारिधाराशरासारै–रुपर्युपरिपातिभिः।
नश्यतोऽपि जनान् घ्नन्ति, क्षेत्रधर्मानभिज्ञवत् ॥२८॥ (युग्मम्)
कोऽपि श्रेयांसि वासांसि, पर्यधत्त न तद्भयात्।
श्रीमन्तोऽपि जरद्वस्त्रा, संचरन्ति पुरेऽपि हि ॥२९॥
मार्गास्तदा जडैर्लब्धा–प्रसरैरवहाः कृताः।
गन्तुं कोऽपि न शक्नोति, पदात् पदमपि क्वचित् ॥३०॥
प्राज्यस्वर्णश्रियो मत्ता–स्तदानीन्निम्नगा अपि।
लोकात्सर्वस्वमादाय, ह्रदेषु प्रक्षिपन्यथा ॥३१॥
स्थाने स्थाने ग्राहयन्ति, लोकेभ्यो वहका अपि।
वर्त्मरक्षा धनमिव, तारकैरातलच्छलात् ॥३२॥
पादमाकृष्य पङ्कस्तु, तद्वश्च इव दुर्दमः।
क्षिप्रं पातयते भूमौ, प्रधानमपि मानुषम् ॥३३॥
ईदृश्यभ्रागमे याते, प्रारम्भेऽप्यतिभैरवे।
दुर्गान्मार्गान् धनो ज्ञात्वा, तत्रैवावासमाददे ॥३४॥
कृत्वोटजान् जनोऽप्यस्था–द्वेशमनीव निजे सुखम्।
शुद्धोटजेऽस्थुराचार्या, माणिभद्रोपदर्शिते ॥३५॥
प्राप्तोत्कर्षासु वर्षासु, निष्ठिते भोजने नृणाम्।
कन्दमूलफलाशित्वं, तापसानामिवाभवत् ॥३६॥
दुःखिताः साधवस्तत्र, कथञ्चित्कस्यचिद् गृहे।
चेल्लभन्तेऽनवद्यानि, फलान्याददते तदा ॥३७॥
एवं व्रजति काले च, स्तोकशेषे तपात्यये।
निशायाः पश्चिमे यामे, चिन्ता सार्थपतेरभुत् ॥३८॥
दुःखितःकोऽस्ति मे सार्थे, स्मृतं सन्ति मुनीश्वराः।
ते हि कन्दादि नाश्नन्ति, निरवद्यान्नभोजिनः ॥३९॥
तस्य तच्चिन्तयैकोऽपि, यामोऽगात् शतयामताम
सार्थपः प्रातरायासीन्– मुनीनामाश्रये धनः ॥४०॥
ददर्श विस्मितः साधून्, विविधासनसंस्थितान्।
अध्यायाध्यापनपरान्, सुहितान् जिमितानिव ॥४१॥
वन्दित्वा तान् गुरून् भक्त्या, विधत्ते स्म स्वगर्हणम्।
पूज्याः सह मया नीताः,कृता साराऽपि न क्वचित् ॥४२॥
तदहं निष्फलो जज्ञे, ऽवकेशिरिव पादपः।
क्षमध्वं मेऽपराधं तत्, यूयं सर्वंसहा यतः ॥४३॥
ऊचे गुरुस्ते साहय्यात्, क्षेमेण वयमागताः।
दत्तं त्वयैव नः सर्व–मधृतिं भद्र ! मा कृथा : ॥४४॥
सोऽवदद्धन्दनं धृष्ट–मपि सद्बन्धबन्धुरम्।
अगुरुर्दह्यमनोऽपि, सदोद्विरति सौरभम् ॥४५॥
पुनरूचे ध्रुवं पूज्या, अमृतेनैव निर्मिताः।
अमन्तोर्वा समन्तोर्वा, यूयं समदृशस्ततः ॥४६॥
न्यमन्त्रयदथो पूज्यान्, साधून् प्रेषयताधुना।
यच्छामि प्रासुकाहार–माधारं देहवेश्मनः ॥४७॥
ययौ स्वावासमित्युक्त्वा, पश्चात्प्रैषि मुनिद्वयम्।
तदर्ह्यमन्यदन्नाद्य–मपश्यन् किञ्चनापि सः ॥४८॥
स्त्यानीभूतं घृतं दृष्ट्वा, स्माहेदं गृह्यतां प्रभो !।
साधुः शुद्धमिति ज्ञात्वा, पतद्ग्रहमधारयत् ॥४९॥
हिमस्त्यानं प्राज्यमाज्यं, निर्मलं निर्मलात्मकः।
स्वयं यथेष्टं दत्ते स्मा–नन्यसामान्यभावतः ॥५०॥
स्वयं ददत्तदा दानं, बीजं मोक्षमहातरोः।
तीर्थकृत्कर्माचलनं, सम्यग्दर्शनमासदत् ॥५१॥ संग्रहमाह
''धणसत्थवाहघोसण, जइगमणं अडवि वासु ठाणं च।
बहुवोलीणे वासे, चिंताधयदाणमासि तया'' ॥५२॥
धन्यंमन्यो धनोऽनंसीद्, वनान्ते तन्मुनिद्वयम्।
तदप्यात्माशिषं दत्वा, धनायागान्निजाश्रयम् ॥५३॥
रजन्यामथ सार्थेशो, गुरूनन्तुमुपागमत्।
गुरवो धर्ममादिक्षन्, मोक्षसोपानपद्धतिम् ॥५४॥
गुरूपदेशपीयुष–प्रवाहेण प्रसर्प्पता।
पूरितं सार्थपस्याभू–न्मानसं मानसोपमम् ॥५५॥
गुरूनत्वा महासत्वान्, भावनां भावयन्नथ।
कृतार्थ मन्यमानः स्वं, सौवं धाम जगाम सः ॥५६॥
लब्धाधिकारप्राप्तोऽथ, शरत्कालो महीतले।
यदच्युताः पलायन्त, वारिदाःसपरिच्छदाः ॥५७॥
सरितः पदेषु लग्ना, वहन्ति निरहंकृताः।
जीवनाशं प्रणेशुश्च, मार्गरोधकृतो वहाः ॥५८॥
वक्षः पुस्फोट पङ्कस्य, स्वामिनो विरहे सति।
कमलान्युल्लसन्ति स्म, गते वैरिणि वारिदे ॥५९॥
मेघागमे निलीयास्था–दधुनार्कः प्रकट्यभूत्।
नाप्रस्तावं स्फुरत्यत्र, तेजस्तेजस्विनामपि ॥६०॥
सार्थवाहश्चचालाथ, गुरवोऽपि सहाचलन्।
महावटीं समुत्तीर्णा, दुष्करं किं महीयसाम् ॥६१॥
अनुज्ञाप्याथ सार्थेशं, गुरवो ययुरन्यतः।
सार्थवाहः पुनर्गच्छन्, वसन्तपुरमासदत् ॥६२॥
क्रयविक्रयमाधाय, दिनैः कतिपयैर्धनः।
प्रत्यावृत्यागमद्भूरि–लाभः स्वं नगरं पुनः ॥६३॥
चिरं प्रपाल्य सम्यक्त्वं, पूर्णायुः शुद्धभावनः।
इहोत्तरकुरुक्षेत्रे, सविपद्योदपद्यत ॥६४॥
धनजीवो युग्मधर्म्मा, तत्र वैषयिकं सुखम्।
आस्वाद्य पुण्यशेषेण, सौधर्मे त्रिदशोऽभवत् ॥६५॥
ततश्चयुतो धनजीवो, विदेहार्द्धे सपश्चिमे।
विजये गन्धिलावत्यां, वैताढ्यगिरिमूर्द्धनि ॥६६॥

गन्धाराख्ये जनपदे, पुरे गन्धसमृद्धके।
राज्ञः शतबलस्याभू–च्चन्द्रकान्ता तनूद्भवः ॥६७॥
महाबलो धनस्यात्मा, महाबल इवापरः।
वर्द्धमानः क्रमात्प्राप, यौवनं केलिभाजनम् ॥६८॥
कन्यां विनयवत्याख्यां, भूभुजा पर्यणाय्यत।
राज्ये तमथ संस्थाप्य, स्वयं राजाऽग्रहीहतम् ॥६९॥
सद्यःसोऽथ महाराजो, दुरमात्यप्रतारितः।
यथेष्टं चेष्टते धर्म–विमुखो विषयोन्मुखः ॥७०॥
प्रमादमदिरामत्तो, निरर्गलशिरोमणिः।
कृत्याकृत्यमजानानः, शिक्षाहीनो वनेऽभवत् ॥७१॥
सङ्गीतकेऽन्यदा जाय–माने मन्त्रिमतल्लिका।
स्वयं बुद्धः प्रबोधाय, भूभुजः प्रोचिवानिति ॥७२॥
सर्वं गीतं विलपितं, सर्वं नाट्यं विडम्बना।
सर्वेऽप्याभरणा भाराः, कामाः सर्वेऽपि दुःखदाः ॥७३॥
सम्भिन्नमतिरूचे तं, किमप्रस्तावमुच्यते।
वीणायां वाद्यमानायां, वेदोद्गारो न रोचते ॥७४॥
स्वयम्बुद्धस्तमाह स्म, नाऽहितोऽस्मि प्रभुं प्रति।
ऐहिकस्यैव वक्ताऽसि, नामुष्मिकविधौ पुनः ॥७५॥
देव ! कारणमत्रास्ति, यत्त्वामभिदधेऽधुना।
अद्योद्याने मयाऽदर्शि, चारणश्रमणद्वयम् ॥७६॥
तत्समीपे मयाऽप्रच्छि, कियदायुर्मदीशितुः।
तेनाख्यायि मासमेकं, ततो भीतोऽभ्यधामिदम् ॥७७॥
राजोचेऽमात्य ! सुप्तोऽहं, साधु जागरितस्त्वया।
तदानीमेव सङ्गीतं, विससर्ज्ज भयद्रुतः ॥७८॥
कथयामात्य ! को धर्मः, कर्त्तव्योऽल्पीयसाऽऽयुषा।
लग्ने प्रदीपने विष्वक्, कः कूपखननोद्यमः ॥७९॥
मन्त्र्यूचे देव ! मा भैषी–र्दिनमेकमपि व्रतम्।
न स्याद्यद्यपवर्गाय, स्वर्गाय स्यान्न संशयः ॥८०॥
ततो राज्ये निजं पुत्र–मभिषिच्यानुशिष्य च।
सप्तक्षेत्र्यां धनं प्राज्य–मुप्त्वा मुक्त्वा परिग्रहम् ॥८१॥
ततः प्रव्रज्य राजर्षि–र्द्वाविंशतिदिनानि सः।
कृत्वाऽनशनमीशाने, विमाने श्रीप्रभाभिधे ॥८२॥
ललिताङ्गाभिधो जज्ञे, शक्रसामानिकः सुरः।
देवी स्वयंप्रभा तस्य, तत्र दिव्यप्रभा प्रिया ॥८३॥
क्रीडतोरपृथक्त्वेन, मनसोरिव देहयोः।
तयोः कालो ययौ भूयां–श्च्युताऽन्येद्युः स्वयंप्रभा ॥८४॥
मुमूर्च्छ ललिताङ्गोऽपि, वज्रेणेवाभिताडितः।
मनोभिरामरामाया, विगमे कस्य नासुखम् ॥८५॥
मूर्च्छान्ते विललापोच्चै–र्मुक्तकण्ठं रुरोद च।
अज्ञानस्त्रीव शोकार्तः, शोकमाविश्चकार सः ॥८६॥
स्वयंबुद्धोऽपि तन्मन्त्री, पश्चादादाय संयमम्।
ईशानेऽजनि पूर्णायुः, सोऽपि शक्रसमः सुरः ॥८७॥
सोऽवधेः स्वामिनं मत्वा, ललिताङ्गमुपागमत्।
प्राग्वत्प्राबोधयद्धर्मा–ख्यानैःशाकापनोदवित् ॥८८॥
उपयुज्यावधिं ज्ञात्वा, पुनस्तं स्माह मा मुह।
भाविनी भवतो भार्या, मया ज्ञाताऽस्ति तत् शृणु ॥८९॥
द्वीपेऽत्र धातकीखण्डे, प्राग्विदेहावनावभूत्।
नन्दिग्रामे गृहपति–र्नागिलोऽतीव दुर्गतः ॥९०॥
नागश्रीस्तस्य भार्याभू–त्कन्याः षड् जनितास्तया।
प्रायेण हि दरिद्राः स्यु–र्बहुकन्या बहुक्षुधः ॥९१॥
तत्प्रियाऽऽसीत्पुनर्गुर्वी, नागिलोऽथ व्यचिन्तयत्।
स्याद्यद्यस्याः सुतैवातो, यास्याभ्यूर्ध्वमुखः क्वचित् ॥९२॥
जाता सुताऽथ ताभ्यः स, राक्षसोभ्य इवानशत्।
नागश्रीर्दुःखिता दुःस्था, तस्या नामापि न व्यधात् ॥९३॥
लोकैर्निर्नामिकेत्युक्ता, दुर्भागा दुःखसेवधिः।
परगेहेषु दुष्कर्म–करणाज्जीवति स्म सा ॥९४॥
अथान्यदाऽद्यडिम्भानां, हस्तेष्वालोक्य मोदकान्।
ययाचे मातरं साऽपि, मातोचे पुत्रि ! मोदकान् ॥९५॥
गतोऽस्त्यानेतुं त्वद्धेतो–स्त्वज्जन्मन्येव ते पिता।
शैलादम्बरतिलका–त्तावद्वारूण्युपानय ॥९६॥
दह्यमानतया मातुः, कालकूटकिरा गिरा।
रज्जुमादाय याति स्म, मुञ्चन्त्यश्रूणि तं गिरिम् ॥९७॥
युगन्धरमुनिस्तत्र, तदा केवलमासदत्।
व्यन्तरैर्महिमा चक्रे, लोकास्तं नन्तुमाययुः ॥९८॥
निर्नामिकाऽपि तत्रागा–त्केवली धर्ममादिशत्।
निर्नामिका गुरूनूचे, प्रभोऽहं कथमीदृशी ॥९९॥
गुरुः स्माह पुरा धर्म–स्त्वया नाकरि तत्फलम्।
ततोऽधुनाऽपि तम्भद्रे ! कुरु स्या येन सौख्यभाक् ॥१००॥
सम्यक्त्वं गृहिधर्मं च, साऽथ गुर्वन्तिकेऽग्रहीत्।
साधर्मिकीति लोकेना–नुगृहीता सुखं स्थिता ॥१०१॥
तेपे तपांसि भूयांसि, स्यात्कर्मप्रलयो यतः।
युगन्धरगुरोः पार्श्वे, साऽस्त्यात्तानशनाऽधुना ॥१०२॥
ततो मन्त्रिगिरा तस्याः, स सुरः स्वमदर्शयत्।
निदानं सा व्यधात्तञ्च, दृष्ट्वा स्यामस्य पत्न्यहम् ॥१०३॥
मृत्वा सा तस्य भार्याऽभू–द्देवी स्वयं प्रभाभिधा।
नवीभूतामिवायातां, तां रेमेऽथ स पूर्ववत् ॥१०४॥
कियत्यपि गते काले, ललिताङ्गस्ततश्चयुतः।
जम्बूद्वीपे प्राग्विदेहा–ऽभ्यनते सीतोत्तरे तटे ॥१०५॥
विजये पुष्कलावत्यां, लोहार्गलमहापुरे।
सुवर्णजङ्घलक्ष्मीभू–र्वज्रजङ्घः सुतोऽभवत् ॥१०६॥
स्वयंप्रभाप्यथ च्युत्वा, विजयेऽत्रैव सा भवत्।
चक्रिणः पुण्डरीकिण्यां, वज्रसेनस्य पुत्रिका ॥१०७॥
यौवने चन्द्रशालास्था, श्रीमती सुस्थितस्य सा।
उद्याने केवलोत्पत्तौ, विलोक्यागच्छतः सुरान् ॥१०८॥
जातजातिस्मृतिर्दध्यौ, ललिताङ्गः क्व मे पतिः।
तदज्ञानात्तदप्राप्तौ, मौनमेवास्तु मेऽधुना ॥१०९॥
कृतैरप्युपचारौघैः, सा मुमोच न मूकताम्।
धात्र्या पृष्टा रहः प्राह, पटमालिख्य चार्पयत् ॥११०॥
चक्रिणो वज्रसेनस्य, वर्षग्रन्थौ नृपागमे।
तं पटं पण्डिता धात्री, धृत्वा राजपथे स्थिता ॥१११॥
तत्रागाद्वज्रजङ्घोऽपि, तं दृष्ट्वा जातिमस्मरत्।
उवाचेदं चरित्रं मेऽ–लिखन्नूनं स्वयंप्रभा ॥११२॥
अभिज्ञानानि सर्वाणि, पण्डितायाः अपूरयत्।
श्रीमत्यै साऽथ गत्वाऽख्य–त्तदैव मुमुदे च सा ॥११३॥
पितुर्व्यज्ञपयत्तच्च, श्रीमती पण्डितामुखात्।
पिताऽपि तत्क्षणाद्वज्र–जङ्घमाजूहवत्ततः ॥११४॥
ऊचे राजा वज्रजङ्घ! तव प्राग्भवपत्न्यसौ।
अस्मिन्नपि भवे ते स्या–दिति तां पर्यणाययत् ॥११५॥
सह श्रियैव श्रीमत्या, वज्रजङ्घो मुकुन्दवत्।
जगाम राज्ञाऽनुज्ञातो, लोहार्गलपुरं निजम् ॥११६॥

स्वर्णजङ्घस्ततो राज्ये, वज्रजङ्घं न्यवेशयत्।
स्वयं संयमसाम्राज्यं–प्रपेदे निर्वृतिस्पृहः ॥१७॥
वज्रजङ्घश्चिरं राज्यं, श्रीमत्या सह निर्ममे।
दध्यावथ सुतं राज्ये, कृत्वा स्वः प्रव्रजिष्यते ॥१८॥
राज्सोत्सुकः सुतस्ताव–त्पितुर्व्यापादनाकृते।
विषधूमं व्यधाद्रात्रौ, सुप्तयोस्तेन तौ मृतौ ॥१९॥
''उत्तरकुरुसोहम्मे, महाविदेहे महव्वलो राया।
ईसाणे ललिअंगो, महाविदेहे वइरजंघे'' ॥१॥ (उक्तार्था)
उत्पद्योत्तरकुरुषु, तौ द्वौ युगलधर्मिणौ।
भुक्त्वा भोगांस्ततो जातौ, सौधर्म सुहृदौ सुरौ ॥२०॥
वज्रजङ्घस्य जीवोऽथ, भुक्त्वा भोगांस्ततश्चयुतः।
जम्बूद्वीपे विदेहेषु, पुरे क्षितिप्रतिष्ठिते ॥२१॥
वैद्यस्य सुविधेः सूनु–र्जीवानन्दाभिधोऽभवत्।
यद्दिने सोऽभवत्पुत्र–श्चत्वारस्तद्दिनेऽपरे ॥२२॥
प्रसन्नचन्द्रभूपाल–पुत्रो नाम्ना महीधरः।
सुबद्धिनामा तनयः, सुनासीरस्य मन्त्रिणः ॥२३॥
धनदत्तश्रेष्ठिसनु–र्गुणाकर इति स्मृतः।
पूर्णभद्राभिधः सार्थ–पतिसागरनन्दनः ॥२४॥
जायन्ते स्म नृपामात्य–श्रेष्ठिसार्थपनन्दना।
समं ववृधिरे सर्वे, समश्च जगृहुः कलाः ॥२५॥
श्रीमत्या अपि जीवोऽथ, बभूवात्रैय पत्तने।
सूनुरीश्वरदत्तस्य, श्रेष्ठिनः केशवाभिधः॥२६॥
तद्युताः सहवासाद्यैः, स्नेहात्षट् सुहृदोऽभवन्।
विवेद वैद्यकञ्जीवा–नन्दोऽपि स्वपितुर्मुखात् ॥२७॥
सदैव रममाणास्ते, परस्परावियोगिनः।
कदाचित्कस्यचिद्गेहे, मोक्ष्या तिष्ठन्ति नित्यशः ॥२८॥
अन्यदा वैद्यपुत्रस्य, जीवानन्दस्य वेश्मनि।
सर्वेषां तिष्ठतां तेषां, साधुर्भिक्षाकृतेऽभ्यगात् ॥२९॥
जगाद राजसूर्वैद्यं, परिहासेन किञ्चन।
अस्ति व्याध्यौषधज्ञानं, केवलन्नास्ति ते कृपा ॥३०॥
वेश्येव द्रव्यदृष्टिस्त्वं, यत्साधुं न चिकित्ससि।
जीवानन्दो वदन्मित्र ! सामग्री नौषधस्य मे ॥३१॥
ओषधेषु लक्षपाकं, तैलमस्त्येकमेव मे।
गोशीर्षचन्दनं रत्न–कम्बलं चेति वो वशे ॥३२॥
चान्दनं काम्बलं मूल्यं, पञ्चाप्यादाय ते गृहात्।
प्रययुर्विपणिश्रेण्यां, स्वस्थानं मुनिरप्यगात् ॥३३॥
वणिजं वृद्धमेकं ते, स्माहुर्मूल्यादितो ननु।
गोशीर्षचन्दनं रत्न–चन्दनं च प्रयच्छ नः ॥३४॥
सोऽवक्किं कार्यमाभ्यां व–स्तेऽभ्यधुः साधुवैद्यकम्।
दध्यौ वृद्धो युवानोऽमी, धर्मकर्मविधित्सवः ॥३५॥
वृद्धः करोमि किन्नाह–मतस्तानाह स प्रधीः।
गोशीर्षकम्बलौ गृह्ण–न्त्वस्तु श्रेयोऽत्र मे फलम् ॥३६॥
तौ समर्घ्य स धर्मेण, धर्मात्मा श्रेष्ठिपुङ्गवः।
व्रतं संगृह्य कर्माणि, निगृह्य च शिवं ययौ ॥३७॥ आ० क०॥

अमुमेवार्थमुपसंहरन् गाथाद्वयमाह।

विज्जसुअस्स य गेहे, किमिकुट्ठोवहअं जइं दट्ठुं।
विंतिअ ते विज्जसुअं, करेहिए अस्स तेगिच्छं।
तिल्लं तेगिच्छिसुओ, कंबलगं चंदणं च वाणिअओ।
दाउं अभिनिक्खंतो, तेणेव भवेण अंतगडो ॥

गमनिका। वैद्यसुतस्य च गेहे कृमिकुष्ठोपहतं यति दृष्ट्वा वदन्ति च ते वैद्यसुतं, कुरु अस्य चिकित्सां तैल चिकित्सकसुत। कम्बलकं चन्दनं वणिग्दत्वा अभिनिष्कान्तस्तेनैव भवेन अन्तकृतः। भावार्थः स्पष्ट एव क्वचित् क्रियाध्याहारः स्वबुद्ध्या कार्य इति गाथाद्वयार्थः। आव०१ अ०। ''उसभेणं अरहा कोसलिए चोद्दस पुव्वी होत्था'' उसभेण अरहा कोसलिए पुव्वभव चक्कवट्टो होत्था'' स०।

कथानकशेषमुच्यम्।

षडप्यौषधसामग्रीं, कृत्वाऽगुर्मुनिसंनिधौ।
अनुज्ञाप्य मुनीन्द्रं तं, चिकित्सामार भन्त ते ॥३८॥
मुनेः सर्वाङ्गमभ्यङ्गं, तेन तैलेन त व्यधुः।
तद्वीर्येण तदाक्रान्तः, साधुर्निश्चेतनोऽभवत् ॥३९॥
आकुलास्तेन तैलेन, कृमयो निर्ययुर्बहिः।
जीवानन्दस्ततो रत्न–कम्बलेन तथावृणोत् ॥४०॥
सर्वेऽपि कृमयो लग्नाः, शीतत्वाद्रत्नकम्बले।
वैद्यस्ततोऽक्षिपत्सर्वान्, कृमींस्तान गोशवोपरि ॥४१॥
साधुमाश्वाश्व गोशीर्ष–चन्दनेनाथ सोऽलियत।
आद्याभ्यङ्गे न कृमय–स्त्वग्गता निर्गतां मुनेः ॥४२॥
द्वितीयेऽभ्यङ्गे मांसस्था–स्तृतीये चास्थिसंस्थिताः।
कृमयो निर्ययुः सर्वे, मन्त्राकृष्टा श्वाऽहगः ॥४३॥
संरोहिण्यौषधेः साधुं, स्वर्णकान्तिमथाकरोत्।
विजहार ततः साधु–र्नवीकृतवपुः स तैः ॥४४॥
रत्नकम्बलगोशीर्ष–चन्दनस्य च विक्रयात्।
चैत्यन्ते कारयामासु–र्मेरुशृङ्गमि वोन्नतम् ॥४५॥
कृत्वा द्रव्यस्तवन्तेऽथ, भावस्तवचिकीर्षवः।
सुसाधुसन्निधौ दीक्षां, षडप्यादाय धीधनाः ॥४६॥
चिरं चारित्रमाचर्य, निरतीचारसुन्दरम्।
मृत्वा षडपि ते ऽभूव–न्नच्युते त्रिदशोत्तमाः ॥४७॥
जम्बूद्वीपाभिधे द्वीप, विदेहार्द्धे च पूर्वतः।
विजये पुष्कलावत्यां, नगरी पुण्डरीकिणी ॥४८॥
वज्रसेनो नृपस्तत्र, धारिणी तस्य वल्लभा।
तेष्वच्युतच्युताः पञ्च, तत्पुत्राः क्रमशोऽभवन् ॥४९॥
चतुर्दशमहास्वप्न–सूचितः प्रथमोऽङ्गजः।
वज्रनाभाख्यया ख्यातो, वैद्यस्यात्मा विविक्तधीः ॥५०॥
बाहुर्नृपसुतस्यात्मा, सुबाहुर्मन्त्रिसन्ततेः।
आत्मापीठो महापीठः श्रेष्ठिसार्थेशपुत्रयाः ॥५१॥
केशवस्य च जीवोऽभू–त्स्वयशा राजपुत्रकः।
आश्रितो वज्रनाभस्य, शैशवादपि सोऽभवत् ॥५२॥
ते वर्द्धन्ते स्म षडपि, षड्गुणा इव देहिनः।
कलाचार्यात्कलाः सर्वे, स्पर्द्धयेवाच्छिदन् धिया ॥५३॥
लोकान्तिकैरथेत्युक्ते, स्वामिंस्तीर्थं प्रवर्तय।
वज्रसेनस्ततो राज्ये, वज्रनाभं न्यवशयत् ॥५४॥
स्वयं साम्बत्सरं दानं, दत्त्वा संयममग्रहात्।
तुर्यं ज्ञानं तदा भर्तुः, साङ्केति कमिवामिलत् ॥५५॥
राजा भ्रातॄंश्चतुरोऽपि, लोकपालानिवाकरोत्।
राजपुत्रं सुयशसं, सारथ्ये च न्यवेशयत् ॥५६॥
वज्रसेनजिनस्याभू–त्केवलज्ञानमेकतः।
अन्यतश्चक्रशालाया–मुत्पन्नं चक्रमायुधम् ॥५७॥
भगवन्तं ततोऽभ्यर्च्य, चक्रं चानुप्रपूज्य च।
साधयामास सकलां, पृथ्वीं देशैकलीलया ॥५८॥

चक्रे च चक्रवर्तित्वा–भिषेकोऽस्याखिलेर्नृपैः।
अपालयच्चिरं राज्य–मेकच्छत्रम्महीतले ॥५६॥
अन्यदा समवासार्षी –द्वज्रसेनजिनेश्वरः।
व्याख्यामधरितद्राक्षां, श्रुत्वा चक्रयादयोऽबुधन् ॥६०॥
पुत्रं निवेश्य राज्ये स्वे, वज्रनाभः ससारथिः।
चतुर्भिर्भ्रातृभिः सार्द्धं , प्रवव्राजान्तिके प्रभोः ॥६१॥
प्राप्तकालं वज्रसेन–स्तीर्थकृन्निर्वृतिं ययौ।
वज्रनाभो द्वादशाङ्गी, परे चैकादशाङ्गिनः ॥६२॥
बाहुः साधुपञ्चशत्या, भक्तपानान्यपूरयत्।
सुबाहुः सर्वसाधूना–मङ्गविश्रामणां व्यधात् ॥६३॥
साधू पीठमहापीठौ, रहः स्वाध्यायकारिणौ।
बाहुं सुबाहुमाचाया, लोकः सर्वश्च शंसति ॥६४॥
धन्यावेतौ महासत्वौ, वैयावृत्यं सुदुष्करम्।
कुरुतः कुरुते कोऽन्यः, कष्टमाङ्गिकमीदृशम् ॥६५॥
इतरौ कुरुतोऽप्रीति–मावां स्वाध्यायिनावपि।
न कोऽपिश्लाघते यद्वा, वल्लभङ्गर्म चर्म च ॥६६॥
राजर्षिर्वज्रनाभोऽथ, विंशत्या स्थानकैस्तदा।
तीर्थकरनामगोत्रं, कर्माबध्नान्महामनाः ॥६७॥आ०क०॥

२ तीर्थकरत्वहेतुसंग्रहार्थ गाथाचतुष्टयमाह।

साहुं तिगि च्छऊणं, सामन्नं देवलोगरमणं च।
पुंडरिगिणिए उ चुआ, तओ सुआ वइरसेणस्स ॥
पढमित्थ वइरनाहो, बाहुसुबाहू अ पढमहपीढो।
तेसिं पिआ तित्थयरो, निक्खंता ते वि तत्थेव ॥
पढमो चउदसपुव्वी, सेसा इक्कारंग वी चउरो।
विइओ वयावच्चं किइकम्म तईयओकासी ॥
भोगफलं बाहुबलं, पससणा जिट्ठइअरउचिअत्तं।
पढमो तित्थयरत्तं, वीसहिं ठाणेहिं कासीअ ॥

आसामक्षरगमनिका साधुं चिकित्सयित्वा श्रामण्यं देवलोके गमनञ्च पोण्डरीकिण्याञ्च च्युतः सुता वैरसेनस्य जाता इति वाक्यशेषः। प्रथमोऽत्र वइरनाभो बाहुसुबाहू च पीठमहापीठौ तेषां पिता तीर्थकरो निष्क्रान्तास्तेऽपि तत्रैव पितुःसकाश इत्यर्थः। प्रथमश्चतुर्दशपूर्वी शेषा एकादशाङ्गविदश्चत्वारः तेषां चतुर्णां बाहुप्रभृतीनां मध्ये द्वितीयो वैयावृत्त्यं कृतिकर्म्म तृतीयोऽकार्षीत् भोगफलं बाहुबलप्रशंसनाज्ज्येष्ठया इतरयोचितत्वं प्रथमस्तीर्थकरत्वं विंशतिभिः स्थानैरकार्षीत्। भावार्थस्तूक्त एव क्रियाध्याहारोऽपि स्वबुद्ध्या कार्य इह विस्तभयान्नोक्त इति गाथाचतुष्टयार्थः। आव०१अ०। (तीर्थकज्जन्मनिबन्धनकारणानि तित्थयरशब्दे)

एतैः स्थानैर्वज्रनाभ–स्तीर्थकृत्कर्मबद्धवान्।
साधुभक्तादिदानेन, बाहुश्चक्रभृतः श्रियम् ॥१॥
बाहुर्बलं सुबाहुश्च, साधुविश्रामणाद्व्यधात्।
इतरौ तु तेन माया–कर्मणा स्त्रीत्वमर्जतः ॥२॥
ततः पूर्णायुषः कालं, कृत्वा पञ्चापि साधवः।
षष्ठश्च सुयशाःसर्वे , सर्वार्थसिद्धिमैयरुः ॥३॥
जम्बूद्वीपाभिधे द्वीपे, भरतार्द्धे च दक्षिणे।
गङ्गासिन्धुसरिन्मध्य–खण्डे कल्पद्रुमण्डिते ॥४॥
इहावसर्पिणीकाले, सुषमादुःषमारके।
कुलकृत्सप्तमो–नाभि–र्मरुदो वा प्रियो ऽभवत् ॥५॥
पूर्वलक्षेषु चतुरा–शीतौ शेषेषु सत्स्विह।
स नवाशीतिपक्षेषू–त्तराषाढायुते विधौ ॥६॥
आषाढे मासि कृष्णेऽपि–चतुर्थेऽह्नि सुनिर्मले।
जीवो युगादिदेवस्य, च्युत्वा सर्वार्थसिद्धितः ॥७॥
देव्याः श्रीमरुदेवायाः, सरोवर इवोदरे।
ज्ञानत्रयपवित्रात्माऽवततार मरालवत् ॥८॥
त्रैलोक्येऽपि तदैवासी–दङ्गिनां भवसङ्गिनाम्।
उद्योतः कोऽप्यनिर्वाच्यः, सुखञ्च क्षणमद्भुतम् ॥९॥
स्वप्नेष्वत्युत्तमाः स्वप्ना, वर्णराशौ स्वरा इव।
निद्राणया तदा देव्या, दृश्यते स्म चतुर्दश ॥१०॥
वृषभः १ कुञ्जरः २ सिंहः ३ पद्मवासाऽभिषेचनम् ४। पुष्पदाम ५ शशी ६ सूर्यः ७ पूर्णकुम्भः ८ सितध्वजः ९ ॥११॥ पद्माकरः १० पयोराशि ११ विमानं कल्पवासिनाम्। १२ रत्नोच्चयं १३ शिखी चेति १४ प्रविशन्तो मुखाम्बुजे।१२।
तानाख्याति स्म सा नाभे–र्निद्राछेदे प्रमोदभाक्।
अत्युत्तम सुतप्राप्तिं, तस्याः सोऽपि न्यवेद–यत् ॥१३॥
तदैव युगपत्सर्वेऽप्यागत्य चलितासनाः।
स्वप्नपाठकवद्देव्याः, शक्रा स्वप्नार्थमभ्यधुः ॥१६॥
देवि त्वदङ्गजस्यैते, महास्वप्नाश्चतुर्दश।
चतुर्दशयुजुमिते, लोके स्माहुरधीशताम् ॥१५॥
चतुर्ज्ञानां पूर्वाणा–मयमेव जगत्प्रभुः।
उपदेक्ष्यति हेमान–मातृकां बीजसन्निभाम् ॥१६॥
चतुर्दश पूर्वधरा, शिष्याश्चैतस्य भाविनः।
तथा चतुर्दशचतु–र्दशकानेष वक्ष्यति ॥१७॥
एवं स्वप्नार्थमावेद्य, सर्वेऽपि त्रिदशाधिपाः।
स्थानं निजनिजं जग्मु–र्विसृष्टा इव सेवकाः ॥१८॥
तमिन्द्राख्यातमाकण्र्य, स्वप्नार्थं देव्यमोदत।
नाभिरप्यभजत्प्रीतिं, कस्येष्टाख्या मुदे न वा ॥१९॥ आ०क०।

अमुमेवार्थमुपसहरन्नाह।

उववाओ सव्वट्ठे, सव्वेसिं पढमओ चुओ उसभो।
रिक्खेणासाढाहिं, असाढ हुले चउत्थीए ॥

गमनिका। उपपातः सर्वार्थे सर्वेषां संजातस्ततश्चायुष्कपरिक्षये सति प्रथमश्च्युतो ऋषभ ऋषभेण नक्षत्रेण आषाढाभिः आषाढबहुले चतुर्थ्यामिति गाथार्थः। इदानीं तद्वक्तव्यताभिधित्सयैनां द्वारगाथामाह निर्युक्तिकारः।

जम्मणे नामबुड्ढीअ, जाइस्सरणे इ अ।
वीवाह अ अवच्चे अभिसेए रज्जसंगहे ॥

गमनिका (जम्मण इति) जन्मविषयो विधिर्वक्तव्यः वक्ष्यति च ''चित्तबहुलट्ठमीए'' इत्यादि इत्यादि (नाम इति) नामविषयो विधिर्वक्तव्यः। वक्ष्यति च ''देसूणगं च इत्यादि'' (बुड्ढीयत्ति) वृद्धिश्च भगवतो वाच्या वक्ष्यति च ''अह सो वड्ढइ भगवं इत्यादि'' (जाइ–सरणेइयत्ति) जातिस्मरणे च विधिर्वक्तव्यः। वक्ष्यति च ''जाइस्स–रोयमित्यादि'' (वीवाहेयत्ति) विवाहे च विधिर्वक्तव्यः। वक्ष्यति च 'भोगसमुत्थमित्यादि' (अवच्चेति) अपत्येषु क्रमो वाच्यः वक्ष्यति च ''तोभरहवंभिसुन्दरी इत्यादि'' (अभिसेगित्ति) राज्याभिषेके विधिर्वाच्यः। वक्ष्यति च ''आभोएउं सक्को उवागओ इत्यादि'' (रज्जसंगहेत्ति) राज्यसंगृहे विधिर्वाच्यः वक्ष्यति च ''आसाहत्थीगावो इत्यादि'' अयं समुदायार्थः। अवयवार्थन्तु प्रतिद्वारं यथावसरं वक्ष्यामः।

(३) तत्र प्रथमद्वारावयवार्थाभिधित्सयाजन्म तन्महोत्सव चाह।

चित्तबहुलट्ठमीए, जाओ उसभो असाढनक्खत्ते।
जम्मणमहो अ सव्वो, नेयव्वो जाव घोसणं ॥

गमनिका। चैत्रस्य बहुलाष्टम्यां जात ऋषभः आषाढनक्षत्रे जन्म–महश्च सर्वो नेतव्यो यावद् घोसणमिति गाथार्थः।

भावार्थः कथातो ज्ञेयः सा चेयम्।

क्रमात्पूर्णेष्वथाहःसु, चैत्रे कृष्णाष्टमीतिथौ।
निशीथे सुषुवे सूनुं, देवीयुगलधर्मिणम् ॥१॥
अचेतना अपि दिश–स्तदानीं मुदिता इव।
प्रसेदुः किं पुनर्वच्मि, लोकानां चेतनावताम् ॥२॥
वायवोऽपि सुखस्पर्शा, मन्दं मन्दं ववुस्तदा।
क्वाप्यवीक्षितमीदृक्षं, प्रेक्षमाणा इव प्रभुम् ॥३॥
उद्योतस्त्रिजगत्यासी–द्दध्वान दिवि दुन्दुभिः।
नारका अप्यमोदन्त, भूरप्युच्छ्वासमासदत् ॥४॥
''गयदन्तसेलहिट्ठा, अट्ठ अहो लोगवासिणीदेवी।
नन्दणवणकूडेसुं, अट्ठय तह उड्ढलोगाओ'' ॥१॥
दिक्कुमार्योऽष्टाधोलोक–वासिन्यः कम्पितासनाः।
अर्हज्जन्मावधेर्ज्ञात्वा–ऽभ्येयुस्तत्सूतिवेश्मनि ॥५॥
भोगङ्करा भोगवती, सुभोगा भोगमालिनी।
सुवत्सा वत्समित्रा च, पुष्पमाला त्वनन्दिता ॥६॥
नत्वा प्रभुं तदम्बाञ्चे–शाने सूतिगृहं व्यधुः।
संवर्तेनाशोधयत्क्ष्मा–मायोजनमितो गृहात् ॥७॥
मेघंकरा मेघवती, सुमेघा मेघमालिनी।
तोयधारा विचित्रा च, वारिषेणा बलाहिका ॥८॥
अष्टोर्ध्वलोकादेत्यैता, नत्वार्हन्तं समातृकम्।
तत्र गन्धाम्बुपुष्पौघ–वर्षं हर्षाद्वितेनिरे ॥९॥
अथ नन्दोत्तरानन्दे, आनन्दा नन्दिवर्द्धने।
विजया वैजयन्ती च, जयन्ती चापराजिता ॥१०॥
अष्टावभ्येत्य पौरस्त्य–रुचकाद्रेरयादिमाः।
जिनं जिनाम्बान्नत्वाऽस्थुः, प्राच्यां दर्पणपाणयः ॥११॥
समाहारा सुप्रदत्ता, सुप्रबुद्धा यशोधरा।
लक्ष्मीवती शेषवती, चित्रगुप्ता वसुंधरा ॥१२॥
अपाच्यरुचकाद्रेश्चा–ऽत्यै देवं समातृकम्।
प्रणम्य दक्षिणेनैता–स्तस्थुर्भृङ्गारपाणयः ॥१३॥
इलादेवी सुरादेवी, पृथिवी पद्मवत्यपि।
एकनासा नवमिका, भद्रा सीतेति नामतः ॥१४॥
प्रत्ययुचुकशैलाद–ऽत्यै व्यञ्जनपाणयः।
स्वामिनं मरुदेवीञ्च, नत्वाऽस्थुः पश्चिमेन तु ॥१५॥
अलम्बुषा मितकेशी, पुण्डरीका च वारुणी।
हासा सर्वप्रभा श्रीर्ह्री–रष्टोदग्रुचकाद्रितः ॥१६॥
तत्रागत्य जिनं जैनीं, जननीं चात्तचामराः।
प्रणिपत्योत्तरेणासा–श्चक्रिरे मोदमेदुराः ॥१७॥
शतेरा चित्रकनका, चित्रा सौत्रामणी तथा।
दीपहस्ता विदिक्षेत्या–स्थुर्विदिग्रुचकाद्रितः ॥१८॥
रुचकद्वीपतोऽप्येयु–श्चतस्रो दिक्कुमारिकाः।
रूपा रूपासिका चापि, सुरूपा रूपकावती ॥१९॥
प्रकल्प्य भगवन्नालं, चतुरङ्गुलनिर्जितम्।
खनित्वा विवरं तत्र, नालन्निक्षिप्य तं ततः ॥२०॥
वैडूर्यरत्नैरापूर्य, वबन्धुर्हरितालयाः।
पीठं तस्योपरितले, ततोऽर्हज्जन्मगेहतः ॥२१॥
पूर्वस्याञ्च दक्षिणस्या–मुत्तरस्यां विचक्रिरे।
ताभिश्च त्रीणि कदली–गृहाणि स्वर्विमानवत् ॥२२॥
प्रत्येकमेषां मध्ये च, सिंहासनविभूषितम्।
विचक्रिरे चतुःशालं, स्वर्णरत्नमणीमयम् ॥२३॥
ता दक्षिणचतुःशाले, जिनं न्यस्य कराञ्जलौ।
निन्युस्तन्मातरञ्चाप्त–चेटीवहत्तबाहवः ॥२४॥
सिंहासने निवेश्योभा–वभ्यानञ्जुः सुगन्धिना।
ता लक्षपाकतैलेन, जरत्संवाहिका इव ॥२५॥
आमन्दानन्दनिस्यन्द–प्रमोदितदृशो भृशम्।
उभावुद्वर्तयामासु–र्दिव्येनोद्वर्त्तनेन ताः ॥२६॥
नीत्वा ताः प्राक् चतुःशाले, न्यस्य सिंहासने च तौ।
स्नपयामासुरम्भोभिः, स्वमनोभिरिवामलैः ॥२७॥
गन्धकाषायवासोभि–स्तदङ्गान्यमृजन्नथ।
गोशीर्षचन्दनरसै–श्चर्चयामासुराश्रुताः ॥२८॥
ताभ्यामामोचयामासु–र्देवदूष्ये च वाससी।
विद्युद्द्योतसहभ्यञ्चि, ताश्चित्राभरणानि च ॥२९॥
अथोत्तरचतुःशाले, नीत्वा सिंहासनोपरि।
न्यषीदयन् भगवन्तं, भगवन्मातरञ्च ताः ॥३०॥
गोशीर्षचन्दनैधांसि, द्राक् क्षुद्रहिमवद्गिरेः।
ताः समानययामासु–रमरैराभियोगिकैः ॥३१॥
उत्पाद्यारणिदारुभ्यां, वह्निमह्राय तास्ततः।
होमं वितेनुर्गोशीर्ष–चन्दनैरेधसात्कृतैः ॥३२॥
रक्षापोट्टलिका बद्धा, तयोरथ जिनान्तिके।
पर्वतायुर्भवेत्युक्त्वा, स्फालयन्नश्मगोलकौ ॥३३॥
सूतिकाभवने तस्मिन्, मरुदेवीं विभुं च ताः।
शय्यागतौ विधायाऽस्थु–र्गायन्त्यो मङ्गलान्यथ ॥३४॥ आ०क०

संग्रहमाह।

तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभेणं अरहा कोसलिए चउउत्तरासाढे अभीइपंचमे होत्था ॥२०४॥ तं उत्तरासाढाहिं चुए चइत्ता गब्भवक्कंते जाव अभीइणा परिनिव्वुए ॥२०५॥ तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभेणं अरहा कोसलिए जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे आसाढबहुल तस्स णं आसाढबहुलस्स चउत्थीपक्खेणं सव्वट्ठसिद्धाओ महाविमाणाओ तित्तीसं सागरोवमट्ठितीयाओ अणंतरं चइत्ता इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे ***इक्खागभूमिए नाभिकुलगरस्स मरुदेवाए भारियाए। पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि आहारवक्कंतिए जाव गब्भए वक्कंते ॥२०६॥*** **उसभेणं अरहा कोसलिएतिन्नाणोवगए या वि होत्था चएस्सामि त्ति जाणइ जाव सुविणे पासइ तं। गय सहगाहा ''सव्वं तहेव नवरं, पढमं उसभमुहेणं अइंतं। पासइ से साउगयं, नाभिकुलगरस्स साहेइ'' सुविणपाढगा नत्थि नाभिकुलगरो सयमेव वागरेइ ॥२०७॥ तेणं कालेणं तेणं समयेणं उसभेणं अरहा कोसलिए जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स अट्ठमीपक्खेणं नवण्हं मासाणं**

बहुपडिपुन्नाणं अट्ठट्ठमाणराइंदियाणं जाव आसाढाहिं नक्ख–त्तेणं जोगमुवागएणं आरोग्गारोग्गं दारयं पयाया ॥२०८॥

अथास्यामवसर्पिण्यां प्रथमधर्मप्रवर्तकत्वेन । परमोपकारित्वा–त्किञ्चिद्विस्तरतः श्रीऋषभदेवचरित्रं प्रस्तौति। 'तेणमित्यादितः अभीइ पंच मेहुत्थत्ति' पर्यन्तं तत्र (कोसलिएत्ति) कोशलायामयोध्यायां भवः कौशलिकः ॥२०४॥ तंजहेत्यादितः ''परिनिव्वुएत्ति'' पर्यन्तं सुगमम् ॥२०५॥ तेणमित्यादितो गब्भवक्कंतेति पर्यन्तं सुगमम् ॥२०६॥ उसभेणमित्यादितः सयमेव वागरे इति पर्यन्तं तत्र मरुदेवा प्रथमं सुखेन (अइंतंति) प्रविशन्तं वृषभं पश्यति शेषास्तु जिनजनन्यः प्रथमं गजं पश्यन्ति वीरमाता तु सिंहमद्राक्षीद् ॥२०७॥ तेणमित्यादितो दारगं पयायत्ति पर्यन्तं प्राग्वत् ॥२०८॥ कल्प०। अस्य संग्रहमाह।

संवट्टमेहआयंसगा य भिंगारतालयंटा य।
चामरजोईरक्खं, करिंति एवं कुमारीओ ॥११६॥

संवर्तकमेघमुक्तप्रयोजनं किं कुर्वन्ति आदर्शकाश्च गृहीत्वा तिष्ठन्ति भृङ्गाराँस्तालवृन्ताँश्चेति तथा चामरं जातीरक्षां कुर्वन्ति एतत्सर्वं दिक्कुमार्य इति गाथार्थः ॥११६॥ आव०१अ०।

ततः सिंहासनं शक्रं, चचा लाऽचलनिश्चलम्।
अवधिं प्रयुज्य ज्ञात्वा, जन्मादिमजिनेशितुः ॥३५॥
सद्यः स्वर्गाद्विमानेन, पालकेनेत्य देवराट्।
जिनेन्द्रं च जिनाम्बां च, त्रिः प्रादक्षिणयँस्ततः॥३६॥
वन्दित्वा नमंसित्वा चे–त्येव देवेश्वरोऽवदत्।
नमोऽस्तु ते रत्नकुक्षि–धारिके विश्वदीपिके ॥३७॥
अहं शक्राऽस्मि देवेन्द्रः, कल्पादाद्या दहागमम्।
प्रभोर्युगादिदेवस्य, करिष्ये जननोत्सवम् ॥३८॥
भेतव्यं देवि! तन्नैवे–त्युक्त्वाऽवस्वापिनीं ददौ।
कृत्वा जिनप्रतिविम्बं, जिनाम्बासन्निधौ न्यमात् ॥३९॥
भगवन्तं तीर्थकरं, गृहीत्वा करसंपुटे।
विचक्रे पञ्चधा रूपं, सर्वश्रेयोऽर्थिकः स्वयम् ॥४०॥
एको गृहीततीर्थेशः,पार्श्वे द्वावात्तचामरौ।
एको गृहीतातपत्र,एको वज्रधरः पुनः ॥४१॥
शक्रराजस्ततश्चातु–र्निकायिकसुरान्वितः।
शीघ्रं सुमेरुर्येनैव, वनं येनैव पण्डकम् ॥४२॥
मेरुचूलादक्षिणेता–तिपाण्डुकम्बला शिला।
सिंहासनं चाभिषेके, तेनैवोपेति देवराट् ॥४३॥
तत्र सिंहासने पूर्वा–ऽभिमुखे च निषीदति।
द्वात्रिंशदपि देवेनद्राः, स्वामिपादान्तमैयरुः ॥४४॥
प्रच्युतेन्द्रस्तत्र पूर्वं, विदधात्यभिषेचनम्।
ततोऽनुपरिपाटीतो , यावच्छक्रोऽभिशिषक्तवान् ॥४५॥
ततश्च चमरादीन्द्रा, यावच्चन्द्रार्यमादयः।
एवं जन्माऽभिषेकस्यो–त्सवं निर्वर्त्य देवराट् ॥४६॥
हर्षप्रकर्षात्सर्वर्द्ध्या, प्राग्वत्सर्वामरान्वितः।
तीर्थनाथमुपादाय–सद्यः प्रत्यागमत्क्षणात् ॥४७॥
प्रतिसंहृत्य तीर्थेश–प्रतिबिम्बं सपद्यपि।
तत्र मातुः सन्निधाने, भगवन्तमतिष्ठिपत् ॥४८॥
संहृत्यावस्वापिनीं च, दिव्य क्षौमयुगं ततः।
दिव्वं कुण्डलयुग्मं च, विमोच्योच्छीर्षके प्रभोः ॥४९॥
श्रीदामगण्डसुल्लोचे, स्वामिनो रत्नदामयुक्।
पद्मवल्लम्बमानान्तः–स्वर्णकन्दुकमादधे ॥५०॥
वेन स्वामी तीर्थकरो, निर्निमेषविलोचनः।
पश्यन् सुखं सुखेनैव, रममाणोऽस्ति निर्वृतः ॥५१॥
ततो वैश्रवणः शक्र–वचनात्तत्क्षणादपि।
द्वात्रिंशद्धिरण्यकोटी, सुवर्णस्य च तावतीः ॥५२॥
द्वात्रिंशत्तु नन्दासना–न्यथ भद्रासनान्यपि।
रूपयौवनलावण्य–सौभाग्यप्रमुखान् गुणान् ॥५३॥
न्यधात्तीर्थाधिनायस्य, जन्मवेश्मनिवासिषु।
अथाभियोगिकैर्देवै–र्महानादेन देवराट् ॥५४॥
वोषयामास शृण्वन्तु, भवन्तःसर्व एव हि।
भवनवासिनो देवा, ज्योतिष्का व्यन्तरास्तथा ॥५५॥
देवा वैमानिका देव्यः, कृत्वा सावहितं मनः।
यो देवानुप्रियः कश्चि–त्स्वामिनस्त्रिजगत्पतेः ॥५६॥
त्रिजगत्पतिमातुश्च, करिष्यस्यशुभं मनः।
सप्तधार्यमञ्जरीव, शिरस्तस्य स्फुटिष्यति ॥५७॥
चातुर्निकायिका देवा, एवं जन्मोत्सवं प्रभोः।
नन्दीश्वरेऽष्टाहिकां च, कृत्वा जन्मुर्यथागतम् ॥५८॥आ०क०।

(४)नामद्वारमाह।

देसूणगं च वरिसं, सक्कागमणं च वंसठवणा य।
आहारमंगुलीए, ठवंवि देवा मणुन्नं तु ॥१॥
सक्को वंसट्ठवणा, इक्खु अगू तेण हुंति इक्खागा।
जं च जहा जम्मि वए, जुग्गं कासीअतं सव्वं ॥२॥

देशोनं च वर्षं भगवतो जातस्य तावत् पुनः शक्रागमनं च संजातं तेन वंशस्थापना च कृता भगवत इति साऽयं ऋषभनाथः। अस्य ऋषभस्य गृहवासे असंस्कृत आसीदाहारइति। किं च सर्वे तीर्थकरा एव बालभावे वर्तमानाः न स्तन्यो पयोगं कुर्वन्ति किन्त्वाहाराभिलाषे सति स्वामेवाङ्गुलिं वदने प्रक्षिपन्ति तस्यां चाहारमङ्गुल्यां नानारससमायुक्तं स्थापयन्ति देवा मनोज्ञं मनोऽनुकूलमेवमतिक्रान्तबालभावास्त्वग्नि–पक्वमेव गृह्णन्ति। ऋषभनाथस्तु प्रव्रज्यामप्रतिपन्नो देवोपनीतमेवाहार–मुपभुक्तवानित्यभिहितमानुषङ्गिकमिति गाथार्थः ॥११०॥ प्रकृतमुच्यते। माहेन्द्रेण वंशस्थापना च कृतेत्यभिहितं सा किं यथाकथञ्चित्कृता आहोश्वित् प्रवृत्तिनिमित्तपूर्विकेति। उच्यते प्रवृत्तिनिमित्तपूर्विका न यादृच्छिकी कथम् (आव० १अ०) शक्रः सौधर्मेन्द्रो वंशस्थापने प्रस्तुते इक्षुं गृहीत्वा आगतः। अक अग कुटिलायां गतौ अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् अक् धातोरौणादिके उण् प्रत्यये अकुशब्दोऽभिलाषार्थः। ततः स्वामी इक्षोः। आकुनाऽभिलाषेण करं प्रासारयत् शक्र आर्पयत् तेन कारणेन भवन्ति इक्ष्वाकुवंशभवा ऐक्ष्वाकाः। आ०क०। जं०। ऐक्ष्वाका ऋषभनाथवशजा इति एवं पञ्चवस्तु यथा येन प्रकारेण यस्मिन् वयसि योग्यं शक्रः कृतवांश्च तत्सर्वमिति। पश्चार्द्धं पाठान्तरं वा।

तालफलाहयभगिणी, होहियत्ति सारवणा॥

तालफलाहतभगिनी भविष्यति पत्नीति। 'सारवणा' किल भगवतो नन्दायाश्च तुल्यवयःख्यापनार्थमेवं पाठ इति। तदेव तालफलाहतभगिनी भगवतो बालभाव एव मिथुनकैर्नाभेः सका–शमानीता। तेन च भविष्यति ऋषभपत्नीति। 'सारवणा' संगोपना कृतेति। तथा चानन्तरं वक्ष्यति नन्दायाः ''सुमंगलासहि ओत्ति'' अन्ये तु प्रतिपादयन्ति सर्वेयं जन्मद्वारवक्तव्यता द्वारगाथापि किलैवं पठ्यते ''जंमणे य विवट्टीयत्ति'' अलं प्रसङ्गेन आव० १ उ०। आ०क०।

नाभिस्स णं कुलगरस्स मरुदेवाए भारियाए कुच्छंसि एत्थ णं उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढमकेवली पढमतित्थंकरे पढमधम्मवरचकवट्टी समुप्पज्जित्थेत्था ॥

नाम्ना कोशलायामयोध्यायां भवः कौशलिकः भाविनि भूतपदुपचार इति न्यायादेतद्विशेषणम् अयोध्यास्थापनाया ऋषभदेव राज्यस्थापनासमये कृतवात् तद्व्यक्तिस्तु भरतक्षेत्रनामान्वर्थकथनावसरे । ''धणवइमनिनिम्माया'' एतत्सूत्रव्याख्यायां दर्शयिष्यते । अर्हन्तश्च पार्श्वनाथादय इतः केचिदनङ्गीकृतराजधर्मकाः अपि स्युरित्यसौ केन। क्रमेणार्हन्नभूदित्याह प्रथमो राजाइहावसर्पिण्यां नाभिकुलकरादियुग्मिमनुजः शक्रेण च प्रथममभिषिक्तत्वात् । प्रथमजिनः प्रथमो रागादीनां जेता। यद्वा प्रथमो मनःपर्यवज्ञानात् राज्यत्यागादनन्तरं द्रव्यतो भावतश्च साधुवद्वर्तितेन अत्रावसर्पिण्यामस्यैव भगवतः प्रथमस्तद्भवनात् जिनत्वं चावधिमनःपर्यवकेवलज्ञानिनां स्थानाङ्गे सुप्रसिद्धम् । अवधिजिनत्वेऽनुव्यागयायमानेऽक्रमबद्धसूत्रमिति केवलिजिनत्वे चोत्तरग्रन्थेन सह पौनरुक्त्यमिति व्याख्यानासङ्गति । श्रोतृणां प्रतिज्ञा तेन प्रथमकेवली आद्यः सर्वज्ञः । केवलित्वे च तीर्थकृन्नामोदयो भवतीत्याह प्रथमतीर्थकरः आद्यश्चतुर्वर्णसङ्घस्थापकः । उदिततीर्थकृन्नामा च कीदृशः स्यादिति प्रथमो धर्मवरो धर्मप्रधानश्चक्रवर्ती यथा चक्रवर्ती सर्वत्राप्रतिहतवीर्येण चक्रेण वर्तते तथा सोऽपीति भावः । समुत्पद्येत समुत्पन्नवानित्यर्थः । जं० २ वक्ष० (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्युक्तः तित्थयर शब्दे वक्ष्यते)

तं चेव सव्वं जाव देवा देवीओ य वसुहारवासिंसु सेसं तहेव चारगसोहणमाणुम्माणबद्धणउस्सुक्कमाइयं ठिइवडियजूयवज्जं सव्वं भणिण्यव्वं ॥२०६॥

''तं चेव सव्वमित्यादितो ठिइयडियजूयवज्जं सव्वं भाणियव्वंति'' यावत् । तत्र देवलोकच्युतोद्भूतरूपोऽनेकदेवदेवीपरिवृतः सकलगुणैस्तेभ्यो युगलमनुष्येभ्यः परमोत्कृष्टः क्रमेण प्रवर्द्धमानः सन्नाहाराभिलाषे सुरसंचारितामृतरससरसामङ्गुलिं मुखे प्रक्षिपति। एवमन्येऽपि तीर्थकरा वाल्येऽवगन्तव्याः वाल्यातिक्रमे पुनरग्निपक्वाहारभोजिनः ऋषभस्तु प्रव्रज्यां यावत्सुरानीतोत्तरकुरुकल्पद्रुमफलान्यास्वादितवान् । अथ संजातकिञ्चिदूनवर्षे भगवति प्रथमजिनवंशस्थापनं शक्रः स्वजीतमिति विचिन्त्य कथं रिक्तपाणिः स्वामिसमीपं यामीति महतीभिक्षुयष्टिमादायः नाभिकुलकराङ्कस्थस्य प्रभोरग्रे तस्थौ दृष्ट्वा चेक्षुयष्टिं हृष्टवदनेन स्वामिना करे प्रसारिते इक्षुं भक्षयसीति भणित्वा तां दत्त्वा इक्ष्वभिलाषात्स्वामिनो वंश इक्ष्वाकुनामाऽभवत् । गोत्रमपि अस्य एतत्पूर्वजानामिक्ष्वभिलाषात्काश्यपनामेति शक्रो वंशस्थापनां कृतवान् । अथ किञ्चिद्युगलं मातापितृभ्यां तालवृक्षाऽधो मुक्तं तस्मादेतत्तालफलेन पुरुषो व्यापादितः । प्रथमोऽयमकालमृत्युः । अथ सा कन्या मातापित्रोः स्वर्गतयोः एकाकिन्येव वने विचचार । दृष्ट्वा च तां सुन्दरीं युगलिकनरा नाभिकुलकराय न्यवेदयन् । नाभिरपि शिष्टैयं सुनन्दानाम्नी ऋषभपत्नी भविष्यतीति सकललोकज्ञापनपुरस्सरं तां जग्राह । ततः सुनन्दासुमङ्गलाभ्यां सह प्रवर्द्धमानो भगवान् यौवनमनुप्राप्तः इन्द्रोऽपि प्रथमजिनविवाहकृत्यमस्माकं जीतमिति अनेकदेवदेवीकोटिपरिवारपरिवृतः समागत्य स्वामिनो वरकृत्यं स्वयमेव कृतवान् बधूकृत्यं च द्वयोरपि कन्ययोर्दैव्य इति । ततस्ताभ्यां विषयोपभोगिनो भगवतः षट्लक्षपूर्वेषु गतेषु भरतब्राह्मीरूपं युगलं सुमङ्गला । बाहूबलिसुन्दरीरूपं युगलं, च सुनन्दा प्रसुषुवे । तदनु वैकोनपञ्चाशत्पुत्रयुगलानि क्रमात् सुमङ्गला प्रसूतवती ॥२०६॥

उसभेणं अरहा कोसलिए तस्सं णं पंच नामधेज्जा एवमाहिज्जंति तं जहा उसभेइ वा १ पढमरायाइ वा २ पढममिक्खा यरे इ वा ३ पढमजिणे इ वा ४ पढमतित्थंकरे इ वा ५ ॥२१०॥

''उसभेणं अरहा कोसलिए इत्यादितः पढमतित्थंकरेइवेति'' पर्यन्तं तत्र इकारः सर्वत्र वाक्यालङ्कारे (पढमरायत्ति) प्रथमराजा चैवम् ।२१०। कल्प०। ति०। आ० चू०।

अथ यथा भगवान् वयः प्रतिपन्नवान् तथाऽऽह।

तओ णं उसभे अरहा सो कोसलिए दक्खे दक्खपइन्ने पडिरूवे अल्लीणे भद्दए विणीए। कल्प०।

(५) इदानीं वृद्धिद्वारमधिकृत्याह।

अह वड्ढइ सो भयवं, दियजोगचुओ अणुवमसिरीओ।
देवगणसंपडिवुडो, नंदाइसुमंगलासहिओ ॥११६॥
असिअसिरोअ सुनयणो, बिंवुट्ठो धवलदंतपंतीओ।
वरपउमगब्भगोरा, फुल्लुप्पलगंधनीसासो ॥१२०॥

प्रथमगाथानिगदसिद्धैव द्वितीयगाथागमनिका । न सिता असिताः कृष्णा इत्यर्थः । शिरसि जाताः शिरोजाः केशाः असिताः शिरोजा यस्य स तथाविधः । शोभने नयने यस्यासौ सुनयनः । विम्बं गोह्वाफलं विम्बवदोष्ठौ यस्यासौ विम्बोष्ठः । धवले दन्तपङ्क्ती यस्य स धवलदन्तपङ्क्तिकः । वरपद्मगर्भवद्गौरः । फुल्लोत्पलगन्धवन्निःश्वासो यस्येति गाथार्थः ।१२०। आव० १अ०।

(६) इदानीं जातिस्मरद्वारावयवार्थं तु विवरीषुराह।

जाईसरो अ भयवं, अप्परिवडिएहिं तिहिं उ नाणेहिं।
कंतीइ अ बुद्धीइ अ, अब्भहिओ तेहिं मणुएहिं ॥२१॥

गमनिका । जातिस्मरश्च भगवन् । अप्रतिपतितैरेव त्रिभिर्ज्ञानैर्मतिश्रुतावधिभिः । अवधिज्ञानं हि देवलौकिकमेवाप्रच्युते भगवतो भवति तथा च कान्त्या च बुद्ध्या अभ्यधिकस्तेभ्यो मिथुनकमनुष्येभ्य इति गाथार्थः ।

(७) इदानीं विवाहद्वारव्याचिख्यासयेदमाह।

पढमो अकालमच्चू, तहि तालफलेण दारओ पहओ।
कन्ना य कुलगरेणं, सिद्धे गहिया उसभपत्ती ॥२२॥

भगवतो देशोनवर्षकाल एव किञ्चिन्मिथुनकं संजातापत्यमिथुनकं तालवृक्षाधो विमुच्य निःसंशयं क्रीडागृहकमगमत् तस्माच्च तालवृक्षात्पवनप्रेरितमेकं तालफलमपतत् तेन दारको व्यापादितः। तदपि मिथुनकं तां दारिकां संवर्द्धयित्वा प्रतनु कषायं मृत्वा सुरलोकमुत्पन्नं सा चोद्यानदेवतेवोत्कृष्टरूपा एकाकिन्येव वने विचचार। दृष्ट्वा च तां त्रिदशवधूसमानरूपां मिथुनकनराः विस्मयोत्फुल्लनयनाः नाभिकुलकरायन्यवेदयन् । शिष्टैश्च तैः कन्या कुलकरेण गृहीता ऋषभपत्नी भविष्यतीति कृत्वेति गाथार्थः ॥ भावार्थः कथातः सा चैयम्

प्रगुणीकुरु कल्याणि–भूयिष्ठं भीक्ष्णकुङ्कुमम्।
सीमन्तिनीनां सीमान्तं, परिपूर्तिकृते चिरात् ॥२५॥
त्वं वयस्ये प्रशस्यानि, पुष्पदामान्युपानय।
विचित्ररचनान्मुग्धे ! मुकुटान्निकटीकुरु ॥२६॥
चतुष्कान् पूरय द्वारि, मुक्ताक्षोदेन सुन्दरि !।

वेद्यन्तः कुरु हेकार्म, धेनुगोमयगोमुखम् ॥२७॥
निवेशयाऽत्र तन्वङ्गि ! सत्वरं वरमञ्चिके।
पवित्राः शतपत्राक्षि ! त्वं चेहानय पादुकाः ॥२८॥
कार्यान्तरं च हित्वा त्वं, कस्तूरीं सखि ! वर्तय।
येन पुत्र्योः कपोलेषु लिख्यते पत्रवल्लरी ॥२९॥
कुन्तले ! कुन्तलोत्तसा–वाविष्कुरु वधूकृते।
मङ्गल्यधवलान् यूयं, हे सख्यो दत्तसत्तमान् ॥३०॥
जामे किमसि निद्रालु–स्तन्द्रालुरसि किं स्नुषे ! ॥
किमङ्गभङ्गं मृद्वङ्गिः, त्वं करोषि शयालुवत् ॥३१॥
चस्तरीं विस्तरीं मुञ्च, चतुरे किमनादरा।
सानन्दा स्पन्दसे किं न , सखि ! मन्दायसे कथम् ॥३२॥
लग्नमत्यन्तमासन्नं, भवत्यः किं न जानते ॥
तदिदानीमनालस्या–स्त्वरध्वं स्वस्वकर्मसु ॥३३॥ (कुलकम्)
मात्रादिमात्रक इव, स्थित्वा काश्चिद्दिवः स्त्रियः।
रभसात्प्रारम्भन्ते स्म, कर्म वैवाहिकं ततः ॥३४॥
तत्रोपवेशयामासुः, श्रीसुनन्दासुमङ्गले।
काश्चित्स्वर्णासने ऽभ्युङ्क्तुं, स्वभुवः कन्यके इव ॥३५॥
गीयमानेषु योषाभि– र्धवलेषु कलस्वनम्।
सुगन्धितैलैः सर्वाङ्ग–मभ्यानञ्जुरञ्जसा ॥३६॥
ते अथोद्वर्तयामासु–र्नर्तयन्त्यो वपुर्लताम्।
पिष्टिकाभिः सुपिष्टाभिः, कोमलैः परपल्लवैः ॥३७॥
अतिष्ठिपन्नथैकान्ते, नूनं प्रवरमञ्चिके।
अभिषेकुरतिप्रीत्यो, रुक्मपीठे इवोज्ज्वले ॥३८॥
तयोश्चतुर्षु कोणेषु, न्यधुर्वर्णकपूयकान्।
कमितुं मन्मथस्येव प्रथमं पदमण्डकान् ॥३९॥
ततः कौसुम्भवासांसि, परिधाप्य च तत्क्षणात्।
तयोर्निवेशयन्ति स्म, कन्यके ते सुरस्त्रियः ॥४०॥
नवस्वङ्गेषु तिलकान्, प्रदेशिन्यः सभर्तृकाः।
तयोश्चकुर्नवनिधी–निव कन्दर्पचक्रिणः ॥४१॥
जात्वसंवास्पृशत् सव्या–सव्यत्वेनैतयोर्मिथः।
कौसुम्भैस्तन्तुभिस्तर्कु–संपर्किभिरथापराः ॥४२॥
ते एवं कर्णके वाले, सुरनार्यो निचिक्षिपुः।
आस्थानां ते क्षणं तत्र, नानाकेतिकुतूहलैः ॥४३॥
तदैव तास्तयोर्वेगा–दुद्वर्णकमपि व्यधुः।
विविग्ना प्राक्तनेनैव, पूर्वरूढिरियं यतः ॥४४॥
स्नानविष्टरमध्यास्य, स्नपयामासुराशु ते।
हिरण्मयघटाम्भोभिः, सुखदैरमृतैरिव ॥४५॥
अथ प्रमार्ज्जयामासु–रङ्गयष्टिं मृगीदृशः।
आदर्शमिव तत्सख्यः, सुखस्पर्शेन वाससा ॥४६॥
तयोः स्नानजलैरार्द्र–केशपाशमवेष्टयन्।
मसृणैरंशुकोद्देशै–रुत्तेजितकृपाणवत् ॥४७॥
आश्वासात्ततो वारि, विप्लुषस्तत्सखीजनः।
करादिव करीन्द्रस्य, शीकरासारमातपः ॥४८॥
धूपायन्तिस्म धूपेन, स्निग्धकेश्योः सुगन्धिना।
ईषदार्द्रं केशपाशं, धौतानीवांशुकानि ताः ॥४९॥
तत्पादान् पल्लवाताम्रा–नपि लाक्षारसेन ताः।
अमण्डयन् धियेवेति, रक्तं रक्तेन युज्यताम् ॥५०॥
सर्वाङ्गमङ्गरागेण, तन्वङ्ग्योर्व्यलिपन्त ताः।
रविर्बालातपेनेव, काञ्चनाचलमेखले ॥५१॥
तत्कपोलतले ताभि–र्लिखिता पत्रवल्लरी।
प्रसर्पद्वानलेखेव, माद्यतः कामकुम्भिनः ॥५२॥
अथाञ्जनेन तन्नेत्र–द्वयं ताभिरभूष्यत।
इदिन्दिरकुलनेवे, नीलेन्दीवरकाननम् ॥५३॥
तयोर्ललाटपट्टान्त–इचान्दनं चन्द्रकं व्यधुः।
आसितुः स्मरराजस्य, विमलां यष्टिकामिव ॥५४॥
तयोर्बबन्धुर्धम्मिल्ल–मुल्लसन्माल्यगर्भितम्।
निषङ्गमिव कामस्य, पूरितं कुसुमेषुभिः ॥५५॥
अथ ताभ्यां कुमारीभ्यां, व्यूतानीवेन्दुरश्मिभिः।
वासांसि वासयामासुः, पारिणेत्राणि तास्ततः ॥५६॥
तयोरबध्नन्मुकुटं, चञ्चच्चन्द्रकराजितम्।
रुक्मपङ्केरुहोत्तंस–व्योमगङ्गाविडम्बनम् ॥५७॥
नेत्रैः कर्णान्तविश्रान्तै–र्वतंसे सत्यपि स्वयम्।
अन्यमारोपयामासुः, पुनरुक्ता भया इव ॥५८॥
कर्णयोर्मणिताटङ्कौ, निःक्षिपन्ति स्म तास्तयोः।
द्विद्विरूपाविवार्केन्दू, विवाहं द्रष्टुमागतौ ॥५९॥
निवेश्यते स्म देवीभि–स्तयोर्मुक्तासरो हृदि।
वरिवस्यन्निवास्येन्दु–मभितस्तारकागणः ॥६०॥
केयूरे भुजयोर्न्यस्ते, इन्द्रनीलमये तयोः।
पञ्चवाणस्य वाणानां, शाणे इव निशाणने ॥६१॥
निहितं काञ्चने रत्नं, राजनीति धिया किल।
विन्यस्यते स्म तत्पाणौ, सुरीभिर्मणिकङ्कणे ॥६२॥
अङ्गुलीषु तयोः क्षिप्ता–श्चारुहीरकमुद्रिकाः।
दोर्लतायाः फलानीव, परिपाकारुणान्यथ ॥६३॥
तद्वा श्रोणौ च सञ्जाना, तयोश्चन्द्राश्ममेखला।
गुरुनाभिसरस्तीरे, हंसावलिरिवोज्ज्वला ॥६४॥
मञ्जीराणि तयोर्न्यस्यन्, झणत्कारीणि पादयोः।
मरालानाह्वयन्तीव, गतिं स्पर्द्धयतुं मदात् ॥६५॥
अथोत्पाट्यामरीभ्यां ते, दिव्यभूषणभूषिते।
आसिते कौतुकागारे, मूर्ते वाणिश्रियाविव ॥६६॥
विवाहाकल्पमाधातुं, विज्ञप्तो वज्रिणा विभुः।
भोगकर्मास्ति लोके च, स्थितिर्देश्येत्यमन्यत ॥६७॥
ततश्च कल्पिताकल्पः, कृतमाङ्गल्यमञ्जनः।
विहिताशेषकृत्यश्च, कृत्यविद्भिर्यथाविधि ॥६८॥
चान्दनैरसनिस्पन्नैः कृतदेहविलेपनः।
विच्छुरितः पुण्यलक्ष्मी, कटाक्षैरिव सर्वतः ॥६९॥
वसानः पारिनेत्राणि, शुचीनि सिचयानि च।
जिनेन्द्रोऽपि शरन्मेघा–कीर्णस्वर्णाचलोपमः ॥७०॥
सौधमध्याद्धरित्रीभृ–त्कन्दरादिव केसरी।
निर्जगाम गुणग्राम–द्रुमारामसहोदरः ॥७१॥
अथाधिरुह्य जात्याश्व–मुच्चैःश्रवसमिन्द्रवत्।
संक्रान्तैः पश्यतां नेत्रैः, सहस्रेक्षणतां वहन् ॥७२॥
मायूरेणातपत्रेण, स्वर्णकुम्भोपशोभिता।
प्रावृषेण्यघनेनेवा–नीयमानस्तडित्वा ॥७३॥
शुभ्राभ्यां चामराभ्यां च, वीज्यमानो मुहुर्मुहुः।
साम्राज्यकमलालीला–कमलाभ्यामिवाभितः ॥७४॥
तूर्यनादेन रोदश्यो–रुदरम्भरिणा ततः ॥
निर्घोषेणेव घण्टायाः, सुघोषायाः प्रसर्पता ॥७५॥
श्रवं श्रवणपूरं च, गायद्भिः कलगीतिकाः।
रक्तकण्ठैः कृतोत्कण्ठैः, कलकण्ठैरिवाङ्गिनाम् ॥७६॥
नृत्यद्भिरप्सरोवृन्दै–र्नानाभरणभारिभिः।

अनिलान्दोलितैः कल्प–शाखिशाखागणैरिव ॥ ७७ ॥
उत्तम्भितभुजैर्भद्रैः–पठ्यमानगुणोत्करः।
उत्तानीकृतहस्ताग्रैर्गर्जद्भिरिव कुञ्जरैः ॥ ७८ ॥
उत्तार्यमाणलवणो, देवीभिः पक्षयार्द्धयोः ॥
पृष्ठे विम्बीफलोष्ठी भि–र्गायमानैरुलूलुभिः ॥ ७९ ॥
शुभोदर्कत्वपिशुनैः, शकुनैरानुकूलिकैः।
अभ्यगान्मण्डपद्वारं, भगवान् शुभगं जनैः ॥ ८० ॥
तत्रावरुह्याथ विभु–र्वर्तः सर्वतादिव।
अस्थितः स्थितिनिष्णातः, क्षणमेकमनुत्सुकः ॥ ८१ ॥
अथ प्रगुणयामासुर्दधिदूर्वादिभाजनम्।
मन्धानमुशलादीश्च, मङ्गल्यानखिलानपि ॥ ८२ ॥
श्रूयमाणश्रुतिकटु–स्फुटल्लवणनिःस्वनम्।
शरावसंपुटं काचिन्मुमोच द्वारि सानलम् ॥ ८३ ॥
अथोद्भटं पट्टयुगं, सन्ध्यारागमिवारुणम्।
परिधायाग्रतः काचि–दर्घदानोद्यताऽभवत् ॥ ८४ ॥
अर्हाय जगदर्ध्याय, सुभ्रु ! देह्यर्घमर्घदे।
स्फीतं यश श्वामुष्य, नवनीतं समुन्नय ॥ ८५ ॥
उद्वेष्टय वचोवीची–शिशिरं चान्दनं रसम्।
दधि चैतद्गुणग्राम–वलक्षं क्षिप्रमुत्क्षिप ॥ ८६ ॥
समुन्मीलन्महानील–रत्नाङ्कुरसहोदरम्।
द्रागेव शार्ङ्गलां दूर्वां, सुवासिनि ! समुद्धर ॥ ८७ ॥
नन्वेष शेषभोगीन्द्र–भोगोपमभुजद्वयः।
वरस्ते तोरणद्वारि, त्रिजगज्जैत्रविक्रमः ॥ ८८ ॥
ऊर्द्धः समस्ति सर्वाङ्ग मुत्तरीयांशुकावृतः।
शरदिन्दुरिवोद्गच्छ, ज्योत्स्नाजातजटालितः ॥ ८९ ॥
भृशं पुष्यन्ति पुष्पाणि, वातेनोद्वाति चान्दनम्।
तद्वारि सुचिरं श्वश्रु, वरं माधरमाधर ॥ ९० ॥
इत्यवें धवलान् श्वश्रूः, शृण्वानाः श्रुतिपावनैः।
स्वामिने दत्तवत्यर्घ–मनर्घगुणशालिने ॥ ९१ ॥
धृत्वान्तर्वामिहस्तेन, विधायाग्रे च दक्षिणम्।
युगवैशाखमुशलै–श्चक्रे च प्रोक्षणक्षणम् ॥ ९२
मनोरथेभिवारीणामथो लवणसंपुटम्।
भगवान् सव्यपादेन, दलयामास लीलया ॥ ९३ ॥
स्कन्धे पट्टाञ्चलेनाथ, समाकृष्य जगत्प्रभुः।
नीतः श्वश्रूवा वधूपान्तमासां चक्रेऽथ शक्रवत् ॥ ९४ ॥
मदनस्य फलं ग्राह्यमित्यस्य किल सूचकम्।
मदनस्य फलं पाणौ, बद्धं वध्वोर्वरस्य च ॥ ९५ ॥
जीवन् मातापितृश्वश्रू–श्वशुराः सधावाङ्गनाः।
हस्तालेपं ददौ पिष्ट्वा, वधूट्योः पाणिपङ्कजे ॥ ९६ ॥
अथाम्भोधिपयः पात्र्यां, मुक्तलग्नघटीनिजे।
जाते सति सहस्रांशु–र्विम्बे विम्बीफलद्युति ॥ ९७ ॥
श्रुत्वा भाजनशब्दं च, सावधानस्ततो हरिः।
योजयामास तत्कालं, वधूवरकरान्मिथः ॥ ९८ ॥
अथान्योऽन्यस्य पश्यन्तौ, विस्फारितविलोचनाः।
निमेषमप्यकुर्वाणा, अन्तरायभयादिव ॥ ९९ ॥
रेजिरे ते तदा तत्र, तारमेलककारिणः।
विशन्त इव वक्षोऽन्तर्मिथस्तारासु संक्रमात् ॥ १०० ॥
ऊचैः कौतुकधवलान्, जगुर्वध्वाः सखीतमाः।
नर्मकर्मणि चातुर्यं, बिभ्राणास्तत्र केलयः ॥ १ ॥
वधूवरस्य सुत्रामा, बद्धवानञ्चलं मिथः।
तेषां मनांसीवोद्गाढमनुरागः परस्परम् ॥ २ ॥
कौतुकागारतो वेद्या–मथानिन्ये वधूवरम्।
अवियोजितहस्ताग्रमामोचितपटाञ्चलम् ॥ ३ ॥
त्रायस्त्रिंशसुरः कोऽपि, चक्रे वेद्यामथानलम्।
व्यधाद् धूमं समित्क्षेपाद्, धूमपाताय कन्ययोः ॥ ४ ॥
कंसारश्च सखण्डाज्यः, पक्वस्तेनैव नाकिना।
ताभ्यां प्रभुस्तद्द्वयी तेनात्स्यत स्वस्वपाणिना ॥ ५ ॥
अथोद्यैर्मङ्गलाचारे, दीयमानेऽङ्गनाजनैः।
रभसोल्लसितैरङ्गैर्गुण्यमिव लम्भितैः ॥ ६ ॥
मेरुं सरोहिणीज्योत्स्ना–ब्जवत्तत्राभितोऽनलम्।
स्वाम्यभ्राम्यद्युतस्ताभ्यामामङ्गलचतुष्टयम् ॥ ७ ॥
अथ श्यालकदेशीयः, कश्चिन्मङ्गलवर्तने।
स्वामिनं चरणाङ्गुष्ठे, नीचे भूयोऽभ्यधारयत् ॥ ८ ॥
यथेच्छं भगवांस्तस्मै, स्वर्णरत्नान्यदात्तदा।
महान्तो ह्याङ्गिलग्नानां, ददते यन्न तन्न हि ॥ ९ ॥
कृतेषु पाणिमोक्षादि–कृत्येषु निखिलेष्वपि।
सुमङ्गलासुनन्दाभ्यां, सहारुढो हयं प्रभुः ॥ १० ॥
स्फीतावगीतसंगीत–मुखरीकृतदिङ्मुखः।
प्रत्यग्रतोरणद्वार–मायया निजवेश्मनः ॥ ११ ॥
घोटकं कूर्दयामासु–श्चिरं तत्र वधूवरम्।
हर्षोत्कर्षेण कुर्वाणा, देवा जयजयारवम् ॥ १२ ॥
तला इव समीरेण, प्रमोदेन प्रणोदिताः।
पौलोम्याद्याश्च ननृतु–र्गीतपूर्णमनोरथाः ॥ १३ ॥
प्रविवेश ततः स्वामी, स्वसौधं कृतमङ्गलः।
विवाहोत्साघसौन्दर्य–रञ्जितास्त्रिजगज्जनः ॥ १४ ॥
शुष्कनीलफलस्वादु–नानापक्वान्नपेशला।
शालिसूपघृतप्राज्य–प्रलेह्यव्यञ्जनाद्भुता ॥ १५ ॥
मिथो जेमनवाराभू–द्वरिगौरवसुन्दरा।
ताम्बूलांशुकदानाद्यैः, सम्माननमथाभवत् ॥ १६ ॥
पूर्वपात्रप्रवेशादि–विवाहोत्सववृद्धिभिः।
स्वामिनः पितरौ तत्र, मुमुदातेतरां सदा ॥ १७ ॥
कृतकृत्योऽथ शक्रादि–देवदेवीगणोऽखिलः।
प्रणिपत्य प्रभोः पादान्, स्थानं निजनिजंययौ ॥ १८ ॥ आ०क०।

अमुमेवार्थमाह।

भोगसमत्थं नाउं, वरकम्मं कासि देविंदो।
दुन्नं वरमहिलाणं, बहुकम्मं कासि देवीओ ॥

भगवाँश्च तेन कान्याद्वयेन सार्द्धं विहरन् यौवनमनुप्राप्तः। अत्रान्तरे देवराजस्य चिन्ता जायाकृत्यमेतदतीतप्रत्युत्पन्नानागतानां शक्राणां प्रथमतीर्थकराणां विवाहकर्म क्रिय इति संचिन्त्यानेकत्रिदशवधूवृन्द समन्वितोऽवतीर्णवानित्यवतीर्य च भगवतः स्वयमेव वरकर्म चकार। पत्न्योरपि देव्यो वधूकर्मेति। अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह (भोगगाहा) गमनिका। भोगसमर्थं ज्ञात्वा वरकर्म तस्य कृतवान् देवेन्द्र द्वयोर्वरमहिल-योर्वधूकर्म कृतवत्यो देव्य इति गाथार्थः। भावार्थस्तूक्त एवं ॥ १२३ ॥

(८) अथापत्यद्वारम्।

छप्पुव्वसयसहस्सा, पुव्विं जायस्य जिणवरिंदस्स।
तो भरहवंभिसुंदरि, बाहुबली सुंदरी चेव ॥ १२४ ॥
देवीसुमंगलाए, भरहो बंभी अभिहुणगं जायं।
देवीइ सुनंदाए० बाहुबली सुंदरी चेव ॥ १२५ ॥

(छप्पुव्वगाहा'') निगदसिद्धैवेयं नवरमनुत्तरविमानादवतीर्य सुमङ्गलाया: पुन: बाहुपीठश्च भरतब्राह्मीमिथुनकं जातं तथा सुबाहुर्महापीठश्च सुनन्दाया: बाहुबली सुन्दरीमिथुन कमिति। १२४। अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह मूलभाष्यकार: (देवीगाहा ६२५) सुगमत्वान्न विव्रियते आह। किमेतावन्त्येव भगवतोऽपत्यानि उत नेति। उच्यते।

अउणापन्नं जुअले, पुत्ताण सुमंगला पुणो पसवे।
नीईणमइक्कमणे, निवेअणं उसभसामिस्स॥ १२६॥

गमनिका। एकोनपञ्चाशतयुग्मानि पुत्राणां सुमङ्गला पुन:प्रसूतवती। अत्रान्तरे प्राग्निरूपितानां हक्कारादिप्रभृतीनां दण्डनीतीनां ते लोका: प्रचुरतरकषायसंभवात् अतिक्रमणं कृतवन्त:। ततश्च नीतीनामतिक्रमणे सति तल्लोका अभ्यधिक ज्ञानादिगुणसमन्वितं भगवन्तं विज्ञाय निवेदनं कथनमृषभस्वामिने आदितीर्थकराय कृतवन्त इति क्रियाऽयं गाथार्थ:।

एवं निवेदिते सति भगवानाह।

राया करंइ दंडं, सिट्ठे ते विंति अम्ह विसहो उ।
मग्गह य कुलगरं सो, वेइ उसभो अ भे राया॥ १२७॥

गमनिका। मिथुनकैर्निवेदिते सति भगवानाह। नीत्यतिक्रमणकारिणां राजा सर्वनरश्वर: करोति दण्डं स चामात्यारक्षिकादिबलयुक्त: कृताभिषेक: अनतिक्रमणीयाज्ञश्च भवति।एवं शिष्टे कथिते सति भगवता ते मिथुनका ब्रुवते भणन्ति अस्माकमपि राजा भवतु वर्तमानकालनिर्देश: खल्वन्यास्ववस र्प्पिणीषु प्राय: समानन्यायप्रदर्शनार्थ:। त्रिकालगोचरसूत्र प्रदर्शनार्थो वा। अथवा प्राकृत शैल्या छान्दसत्वाच्च (विंतीति) उक्तवन्त:। भगवानाह यद्येवं (मग्गहयकुलगरंति याचयध्वे कुलकरं राजानं स च कुलकरस्तैर्याचित: सन् (वेत्तेति) पूर्ववदुक्तवान् ऋषभो (भे) भवतां राजेति गाथार्थ:। ततश्च ते मिथुनका राज्याभिषेकनिर्वर्तनार्थमुदकानयनाय पद्मिनीसरो गतवन्त:। अत्रान्तरे देवराजस्य खल्वासनकम्पो बभूव विभाषा पूर्ववत् यावदिहागत्याभिषेकं कृतवानिति।

(१०) ऋषभस्वामिनो राज्याभिषेक:।

आभोएउं सक्को, उवागओ तस्स कुणइ अभिसेअं।
मउडाइ अलंकारं, नरिंदजोगं च से कुणइ॥ १२८॥

गमनिका आभोगयित्वा उपयोगपूर्वकेनावधिना विज्ञाय शक्रो देवराज उपागतस्तस्य भगवत: करोति अभिषेकम्। राज्याभिषेकमिति। तथा मुकुटाद्यलङ्कारं च आदिशब्दात्कटककुण्डलकेयूरादिपरिग्रह:। चशब्दस्य व्यवहित: संबन्धो नरेन्द्रयोग्यं (से) तस्य करोति अत्रापि वर्तमानकालनिर्देशप्रयोजनं पूर्ववदवसेयम्। पाठान्तरम् ''आभोएउं सक्को, आगंतुं तस्स कासिअभिसेयं। मउडादि अलंकारं, नरिंदजोगं च से कासी भावार्थ: पूर्ववदेवेति गाथार्थ:। अत्रान्तरे ते मिथुन कनरास्तस्मात्पद्मसरस: खलु नलिनीपत्ररुदकमादाय भगवत्समीपमागत्य तं चालंकृतविभूषितं दृष्ट्वा विस्मयोत्फुल्लनयना: किंकर्तव्यताव्याकुलीकृतचेतस: कियन्तमपि काल स्थित्वा भगवत्पादयो: तदुदकं निक्षिप्तवन्त इति तानेवंविधक्रियोपेतान दृष्ट्वा देवराडचिन्तयत् अहो खलु विनीता एते पुरुषा इति वैश्रमणं यक्षराजमाज्ञापितवानिह द्वादशयोजनदीर्घां नवयोजनविष्कम्भां विनीतां नगरीं निष्पादयेति। स चाज्ञासमनन्तरमेव दिव्यभवनप्राकारमालोपशोभितां नगरीं चक्रे।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह।

मिसिणीपत्तेहिरे, उदयं घित्तुं छुहंति पाएसु।
साहुविणीया पुरिसा, विणीयनयरी अह निविट्ठा॥१२९॥

गमनिका विसिनीपत्रैरुदकं गृहीत्वा छुभन्तीति प्रक्षिपन्ति वर्तमाननिर्देश: प्राग्वत् पादयोरुपरि। देवराडभिहृतवान्। साधु विनीता: पुरुषा: विनीतनगरी अथ निविष्टेति गाथार्थ:। १२९।

(११) सांप्रतं राज्यसंग्रहद्वारमभिधित्सयाऽऽह।

आसा हत्थी गावो, गहिया एए य रज्जसंगहनिमित्तं।
घित्तूण एवमाई, चउव्विहं संगहं कुणइ॥ १३०॥

गमनिका अश्वा हस्तिनो गाव एतानि चतुष्पदानि तदा गृहीतानि भगवता राज्ये संग्रह: तन्निमित्तं गृहीत्वा एवमादिचतुष्पदजातमसौ भगवान् चतुर्विधं वक्ष्यमाणलक्षणं संग्रहणं करोति। वर्तमाननिर्देशप्रयोजन पूर्ववत्। पाठान्तरं वा चतुर्विधं संग्रहं कासी इत्ययं गाथार्थ:॥ १३०॥ स चायम्।

उग्गा भोगा रायन्न खत्तिया संगहो भवे चउहा।
आरक्खिगुरुवयं सा, सेसा जे खत्तिया ते उ॥ १३१॥

स चायम्। उग्गहगाहा। गमनिका उग्रा भोगा राजन्या: क्षत्रिया एवं समुदायरूप: संग्रहो भवेच्चतुर्धा। एतेषामेव यथासंख्यं रूवरूपमाह। (आरक्खेत्यादि) आरक्षका उग्रदण्डकारित्वात उग्रा गुर्विति गुरुस्थानीया भोगा: वयस्या इति राजन्या: समानवयस इति कृत्वा वयस्या: शेषा उक्तव्यतिरिक्ता वे क्षत्रियास्ते तुशब्द: पुनश्शब्दार्थस्ते पुन: क्षत्रिया इति गाथार्थ:।

(१२) लोकस्थितिनिबन्धनप्रति पादनाय गाथाचतुष्टयमाह।

आहारे सिप्पकम्मे, मामणा य विभूसणा।
लेहे गणिए अ रुवे अ, लक्खणे माणपोयए॥ १३२॥
ववहारे नीइजुद्धे अ, ईसत्थे उवासणा।
तिगिच्छा अत्थसत्थे अ, बंधे घाए अमारणा॥ १३३॥
जत्तूसवसमावाए, मंगले कोडए इअ।
वत्थे गंधे अ मल्ले अ, अलंकारे तहेव य॥ १३४॥
चोलोवणविवाहे अ, दत्तिया मडयपूयणा।
कावणा थूभसद्दे अ, छेलावणयपुच्छणा॥ १३५॥

एताश्चतस्रोऽपि द्वारगाथा:। एताश्च भाष्यकार: प्रतिद्वारं व्याख्यास्यत्येव तथाप्यक्षरगमनिकामात्रमुच्यते तत्रापि प्रथमगाथामधिकृत्याह। तत्राहार इति आहारविषयो विधिर्वक्तव्य: कथं कल्पतरुफलाहाराभाव: संवृत्त: कथं वा पक्वाहार: संवृत्त इति तथा शिल्प इति शिल्पविषयो विधिर्वक्तव्य:। कुत: कथं किं यन्ति वा शिल्पान्युपज्ञातानीति। कर्मणीति कर्मविषयो विधिर्वाच्य: यथा कृषिवाणिज्यादिकर्म संजातमिति तच्चाग्नावृत्पन्ने संजातमिति। च: समुच्चये (मामणेत्ति) ममीकारार्थे देशी वचनम् ततश्च परिग्रहममीकारो वक्तव्य: स य तत्काल एव प्रवृत्त: च: पूर्ववत्। विभूषणं विभूषणा मण्डनमित्यर्थ:। सा वक्तव्या सा च भगवत: प्रथमं देवेन्द्रै: कृता पश्चाल्लोकेऽपि प्रवृत्ता। लेख इति लेखनं लेख: लिपिविधानमित्यर्थ:। तद्विषयो विधिर्वक्तव्य: तच्च जिनेन ब्राह्म्या दक्षिणकरेण प्रदर्शितमिति। गणितविषयो विधिर्वाच्य: एवमन्यत्रापि क्रिया योज्या। गणितं संख्यानं तच्च भगवता सुन्दर्या बामकरेणोदिष्टमिति। च: समुच्चये

रूपं काष्ठकर्मादि तच्च भगवतो भरतस्य कथितमिति । च: पूर्ववत् । लक्षणं पुरुषलक्षणादि तच्च भगवतैव बाहुबलिन: कथित मिति। मानमिति मानोन्मानावमानगणिमप्रतिमानां लक्षणम्। (पोत इति) वोहित्थ: प्रोतं वा अनयोर्मानप्रोतयोर्विधिर्वाच्य: । तत्र मानंद्विधा धान्यमानं रसमानं च। तत्र धान्यमानुमक्तमा दो असती उपसती इत्यादि, रसमानं चउसट्ठिया वत्तीसिया एवमादि,, २ उन्मानं येनोन्मीयते यद्वोन्मीलयते तद्यथा कर्ष इत्यादि। अवमानं येनावमीयते तद्यथा हस्तेन व दण्डेन वा हस्तो वेत्यादि ।३। गणिमं यद्गण्यते एकादिसंख्येति। प्रतिमान गुञ्जादि एतत् सर्वं तदा प्रवृत्तमिति । पोता अपि तदेव प्रवृत्ताः । तथा प्रकर्षेण उतनं प्रोत: मुक्ताफलादीनां प्रोतनं तदैव प्रवृत्तमिति । प्रथमद्वारगाथासमासार्थ: ॥ ३२ ॥ द्वितीयगाथागमनिका (ववहारेत्ति) व्यवहारविषयो विधिर्वाच्य: राजकुल – करणभाषाप्रतिपादनादिलक्षणो व्यवहार: स च तदा प्रवृत्तो लोकानां प्राय: स्वस्वभावापगमात् (णीतित्ति) नीतौ विधिर्वक्तव्य: । नीतिर्हक्कारादिलक्षणा समाद्युपायलक्षणा व तदैव जातेति (युद्धेयत्ति) युद्धविषयो विधिर्वाच्य: । तत्र युद्धं बाहुयुद्धादिकंलावकादीनां वा तदैवेति (ईसत्थेयत्ति) प्राकृतशैल्या उकारलोपात् इषुशास्त्रं धनुर्वेद स्तद्विषयो विधिर्वाच्य इति तदपि तदैव राजधर्मे सति जातमथवा एकारान्तत्वात्सर्वेऽत्र प्रथमान्ता: एव द्रष्टव्या: । व्यवहार इति व्यवहारस्तदा जात एवं सर्वत्र योज्यम् । यथा कयरे आगच्छइ वित्तरूवेत्यादि ,, (उवासणेत्ति) उपासना नापितकर्म तदपि तदैव जातं प्रागनवस्थितनखलोमान एर प्राणिन आसन्निति गुरुनरेन्द्रादीनां चोपासनेति । चिकित्सा रोगहरणलक्षणा सा तदैव जाता । एवं सर्वत्र क्रियाध्याहार: कार्य । (अत्थसत्थेयत्ति) अर्थशास्त्रं (बंधे घाते य मारणेयत्ति) बन्धो निगडादिजन्य: । घातो दण्डादिताडना । जीविताद् व्यारोपणं मारेणेति सर्वाणि तदैव जातानीति द्वितीयद्वारगाथा समासार्थ: ॥३३॥ तृतीयगाथागमनिका । एकारान्ता: प्रथमाद्वितीयान्ता: प्राकृते भवन्त्येव तत्र ये ज्ञानादि पूजारूपा: उत्सवा: शक्रोत्सवादय: समवाया: गोष्ठ्यादिमेलका: एते तदा प्रवृत्ता: मङ्गलानि स्वस्तिकसिद्धार्थकादीनि कौतुकानि रक्षादीनि मङ्गलानि च कौतुकानि चेति समास: (मंगलेत्ति) एकारोऽलाक्षणिको मुखसुखोचारणार्थ:। एतानि भगवत: प्राग् देवै: कृतानि पुनस्तदैव लोके प्रवृत्तानि । तथा वस्त्रं चीनांशुकादि गन्ध: कोष्टपुटादिलक्षण: । माल्यं पुष्पदाम । अलङ्कार: केशभूषणादिलक्षण: । एतान्यपि वस्त्रादीनि तदैव जातानीतितृतीयद्वारगाथासमासार्थ: । चतुर्थगाथागमनिका तत्र (चूडेति) वा लानां चूडाकर्म तेषामेव कालाग्रहणार्थ: नयनमुपनयनं धर्मश्रवणनिमित्तं वा साधुसकाशं नयनमुपनयनम्। विवाह: प्रतीत एव एते चूडादयस्तदा प्रवृत्ता: ॥ ३५० ॥ दत्ता च कन्या पित्रादिना परिणीयत इति तत्तदैव संजातम्। भिक्षादानं वा भृतकस्य पूजा नाम मरुदेव्यास्तदैव प्रथमसिद्ध इति कृत्वा देवै: कृतेति लोके च रूढा। अध्ययना अग्निसंस्कार: स च भगवतो निर्वाणप्राप्तस्य प्रथमं त्रिदशै: कृत: पश्चाल्लोकेऽपि संजात: । भगवदादिदग्धस्थानेषु स्तूपास्तदैव कृता: लोके च प्रवृत्ता: शब्दश्च रुदितशब्दो भागवत्येवापवर्ग सति भरतदु:खमसाधारणं ज्ञात्वा शक्रेण कृतो लोकेऽपि रूढ एव । छेलापनकं इति देशीवचनमुत्कृष्टबालक्रीडापनसेटिकाद्यर्थवाचकमिति। तथा प्रच्छनं प्रच्छना सा इंखिणिकादिलक्षणा इंखिणिकां कर्ममूले घष्टिकां चालयन्ति पुनर्यक्षा: खल्वागम्य कर्णे कथयन्ति किमपि प्रष्टुर्विवक्षितमिति । अथवा निमित्तादिपृच्छा सुखशयनादिपृच्छा चेति चतुर्थद्वार गाथासमासार्थ: ॥ ३५ ॥ आव० १ अ० । इदानीं प्रथमद्वारावयवार्थाभिधित्सया मूलभाष्यकृदाह ॥

आसी कंदाहारा, मूलाहारा य पत्तहारा य ।
पुप्फफलभोइणो वि य, जइआ किर कुलगरो उसहो ।

गमनिका । मूलाहाराश्च आसन् कन्दाहारा: पत्राहाराश्च पुष्फलभोजिनोऽपि च कदा यदा किल कुलकर ऋषभ: । भावार्थ: स्पष्ट एव नवरंते मिथुनका नरा एवंभूता आसन् किलशब्दस्तु परोक्षाप्तागमवादसंसूचक इति गाथार्थ: । तथा ।

आसी आ इक्खुभोई, इक्खागा तेण खंत्तिया हुंति ।
सणसत्तरसं धन्नं, आम ओमं च भुंजीआ ॥

गमनिका। आसँश्च इक्षुभोजिन इक्ष्वाकवस्तेन क्षत्रिया भवन्ति । तथा सण: सप्तदशो यस्य तत्सणसप्तदशं धान्यं शाल्यादि आममपक्वम् (ओम) न्यूनं च (भुंजीया इति) भुक्तवन्त इति गाथार्थ: । १३७ । तथापि कालदोषात्तदपि न जीर्णवत्ततश्च भगवन्तं पृष्टवन्त: । भगवाँश्चाह हस्ताभ्यां घृष्ट्वाऽऽहारयध्वमिति ॥

अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह भाष्यकृत् ।

ओमप्पाहारंता, अजीरमाणम्मि ते जिणमुविंति ।
हत्थेहि घंसिऊणं, आहारेहंति ते भाणिया ॥ ३८ ॥

गमनिका । अवममप्याहारयन्त: । अजीर्यमाणे ते मिथुनकाजिनं प्रथमतीर्थकरमुपयान्ति । पूर्वावसर्प्पिणी स्थितिप्रदर्शनार्थं वर्तमाननिर्देशो भगवता चा हस्ताभ्यां घृष्ट्वा आहारयध्वमिति ते भणिता: सन्त किं कुर्वन्ति ।

आसी य पाणिघंसी, तिम्मिअ तंदुलपवालपुडभोई ।
हत्थतलपुडाहारा, जइआ किर कुलगरो उसभो ॥ ३९ ॥

आसंश्च ते मिथुनका भगवदुपदेशात्पाणिभ्यां घर्षु शीलं येषां ते पाणिघर्षिण: । एतदुक्तं भवति। ता एवौषधी: हस्ताभ्यां घृष्ट्वा त्वचं चापनीय भुक्तवन्त: । एवमपि कालदोषात् कियत्यपि गते काले ता अपि न जीर्णवत्य: । पुनर्भगवदुपदेशत: एवतीमितन्दुलप्रवालपुटभोजिनो बभूवु: । तीमितन्दुलान् प्रवालपुटे भोक्तुं शीलं येषां ते तथाविधा: । तन्दुलशब्देनौषध्य एवोच्यन्ते। पुन: कियतापि कालेन गच्छता अजीर्णदोषादेव भगवदुपदेशेन हस्ततलपुटाहारा आसन्। हस्ततलपुटेषु आहारो विहितो येषामिति समास: । हस्ततलपुटेषु कियन्तमपि कालमौषधी: स्थापयित्वोपभुक्तवन्त इत्यर्थ: । तथा कक्षासु स्वेदयित्वेति यदा किल कुलकर ऋषभशब्द: परोक्षाप्तागमवादसंसूचकस्तदा ते मिथुनका एवं भूता आसन्निति गाथार्थ: । ३६ । पुनरभिहितप्रकारा द्ध्यादिसंयोगैराहारितवन्तस्थद्यथा पाणिभ्यां घृष्ट्वा पत्रपुटेषु च मुहुर्तं तीमित्वा तथा हस्ताभ्यां घृष्ट्वा हस्तपुटेपु च मुहुर्तं धृत्वा पुनर्हस्ताभ्यां घृष्ट्वा कक्षास्वेदं च कृत्वा पुनस्तीमित्वा हस्तपुटेषु च मुहुर्तं धृत्वेत्यदिभङ्गकयोजनां केचित्प्रदर्शयन्ति । घृष्ट्वा पदं विहाय तच्चायुक्तं त्वगपनयनमन्तरेण तीमितस्यापि हस्तपुटधृतस्य सौकुमार्यत्वानुपपत्ते: श्लक्ष्णत्वभावत्वाद्वा अदोष इति । द्वितीययोजना पुनर्हस्ताभ्यां घृष्ट्वा पत्रपुटेषु तीमित्वा हस्तपुटेषु च मुहुर्तं धृत्वेति। तृतीय-योजनापुनर्हस्ताभ्यां घृष्ट्वा पत्रपुटेषु तीमित्वा हस्तपुटेषु धृत्वा कक्षासु स्वेदयिन्वेति।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह।

घंसेऊणं तिम्मण, घंसणतिम्मणपवालपुडमोई।
घंसियतिम्मपवाले, हत्थउडे कक्खसेए अ ॥ ४० ॥

भावार्थ उक्त एव नवरमुक्तार्थाक्षरयोजना। घृष्ट्वा तीमितं कृतवन्त इत्यनेन प्रागभिहितप्रत्येकभङ्गकाक्षेपः कृतो वेदितव्यः। घृष्ट्वा प्रवाल-पुटतीमितभोजिन इत्यनने द्वितीययोजनाक्षेपः। घृष्ट्वेति घृष्ट्वा तीमनं प्रवाल इति प्रवाले तीमित्वा हस्तपुटेषु कियन्तमपि कालं विधाय भुक्तवन्त इति वाक्यशेषः इत्यनेन तृतीययोजनाक्षेपः। तथा कक्षास्वेदे च कृते सति भुक्तवन्तः इत्यनेनानन्तराभिहितत्रययुक्तेन चतुर्भङ्गकयोजनाक्षेप इति गाथार्थः।

अत्रान्तरे।

अगणिस्य य उट्ठाणं, दुमघंसा दड्ढ भीअपरिगहणं।
पासेसु परिच्छिंदह, गिण्हह पागं तओ कुण्हह ॥ ४१ ॥

आह सर्वं तीमनादि ते मिथुनकास्तीर्थकरोपदेशात्कृतवन्तः स च भगवान् जातिस्मरः सन् किमित्यग्न्युत्पादोपदेशं न दत्तवानित्युच्यते तदा कालस्यैकान्तस्निग्धत्वात् असत्यपि यत्ने वस्तूत्पत्तेरिति स च भगवान् विजानाति न ह्येकान्तस्निग्धरूक्षयोः कालयोर्वह्न्युत्पादः किं त्वनतिस्निग्धरूक्षकाल इत्यतो नादिष्टवानिति तेषां च चतुर्भङ्गविकल्पितमप्याहारं कालदोषान्न जीर्णवत्। इत्यस्मिन् प्रस्तावे अग्नेश्चोत्थानं संवृत्तमिति। कुतः द्रुमघर्षात्तं चोत्थितं प्रवृज्वालावलीसनाथं भूप्रासं तृणादि दहन्तं दृष्ट्वा अपूर्वरत्नबुद्ध्या ग्रहणं प्रति प्रवृत्तवन्तः दह्यमानास्तु भीतपरिकथनमृषभाय कृतवन्तः इति। भीतानां परिकथनं भीतपरिकथनम्। भीत्या वा परिकथनं भीतिपरिकथनं पाठान्तरमिति। भगवानाह पार्श्वेत्यादि सुगमं ते हि अजानाना वह्नावेवौषधीः प्रक्षिप्तवन्तः ताश्च दाहमापुः पुनस्ते भगवतो हस्तिकन्धगतस्य निवेदयन्ति स हि स्वयमेवौषधीर्भक्षयतीति। भगवानाह न तत्राभिरोहितानां प्रक्षेपः ॥ ४१ ॥ इत्थं तावत्प्रथमं कुम्भकारशिल्पमुत्पन्नममुमेवार्थमुपसंहरन्नाह।

पक्खेवदहणमोसहि, कहणं निग्गमणहत्थिसीसम्मि।
पयणारंभपवित्ता, ताहे कासी य ते मणुआ ॥ ४२ ॥
मिंठेण हत्थिसीसे, मट्टियपिंडं गहाय कुडगं तु।
निव्वत्ते सिअ तह आइजिणोवइट्ठेण मग्गेण ॥ ४३ ॥
निव्वत्तिए समाणे, जणई राया तओ बहुजणस्स।
एवइआ मे कुव्वह, पथट्ठिअं पढमसिप्पं तु ॥ ४४ ॥

भावार्थ उक्त एव किं तु क्रियाध्याहारकरणेनाक्षरगमनिका स्वबुद्ध्या कार्या। यथा प्रक्षेपं कृतवतो दहनमौषधीनां बभूवेत्यादि उक्तमाहारद्वारम्। आव० १ अ०।

शिलाद्वारावयवार्थाभिधित्सयाऽऽह।

पंचेव य सिप्पाइं, घडलोहे चित्तणंतकासवए
एक्केक्कस्य य पत्तो, वीसं वीसं भवे भेया ॥ ४५ ॥

पञ्चैव मूलभूतानि शिल्पानि। तद्यथा (घडलोहे चित्तणंतकासवएइति) तत्र घट इति कुम्भकारशिल्पस्योपलक्षणं (लोहेत्ति) लोहकारशिल्पस्य (चित्तेत्ति) चित्रकारशिल्पस्य ''णंतमिति'' देशीवचनं वस्त्रवाचकं ततोऽनेन वस्त्रशिल्पस्य ग्रहणं काश्यप इति नापितशिल्पस्य। इयमत्र भावना। वस्त्रवृक्षेषु परिहीयमानेषु भगवता वस्त्रोत्पादनिमित्तंवस्त्रशिल्पमुत्पादितं तदनन्तरं गृहाकारेष्वपि कल्पद्रुमेषु हानिमुपगच्छत्सु गृहकरणनिमित्तं लोहकारादिशिल्पमुत्पादितं पश्चात्प्राणिनां कालदोषान्नखरोमाणि अपि वर्द्धितुं प्रवृत्तानीति नापितशिल्पोत्पादना। गृहाण्यपि च चित्ररहितानि विशोभानि भान्तीति चित्रकारशिल्पोत्पादना कुम्भकारशिल्पोत्पाद-कारणं प्रागेव भावितम्। एक्केक्कस्स येत्यादि एभ्य पञ्चभ्य एकैकस्य विंशतिर्विंशतिर्भेदाः अभूवन्निति सर्वसंख्यया तदा शिल्पशतस्योत्पत्तिरभवदिति ॥ ४५ ॥

संप्रति कर्ममामणाविभूषणाद्वारप्रतिपादनार्थमाह।

कम्मं किसिवाणिज्जाइ मामणा जा परिग्गहे ममता।
पुव्व देवेहिं कया, विभूसणा मंडणा गुरुणो ॥ ४६ ॥

कर्म नाम कृषिवाणिज्यादि। तद्व्यापृतेभ्य उत्पन्ने संजातमिति (मामणेत्ति) ममीकारार्थे देशीवचनमेतत्। ततो योऽपरिग्रहे ममता सा मामणा ज्ञातव्यासा च तत्काल एव प्रवृत्तेति। तथा विभूषणा मण्डना सा च पूर्वं देवेन्द्रैर्गुरोर्भगवतः आदितीर्थकृतः कृता पश्चाल्लोकेऽपि प्रवृत्तेति।

संप्रति लेखगणितरूपद्वारद्वयप्रतिपादनार्थमाह।

लेहं लिवीविहाणं, जिणेण बंभीए दाहिणकरेण।
गणिय संखाणं सुंदरीए वामेण उवइट्ठं ॥ ४७ ॥

लेखनं लेखो नाम सूत्रे नपुंसकता प्राकृतत्वाल्लिपिविधानं तच्च जिनेन भगवता ऋणभस्वामिना ब्राह्म्या दक्षिणकरेण प्रदर्शितमत एव तदादित आरभ्य वाच्येत। गणितं नाम एकद्वित्र्यादिसंख्यानं तच्च भगवता सुन्दर्या वामकरेणोपदिष्टमत एव तत्पर्यन्तादारभ्य गण्यते। अधुना रूपलक्षणमानरूपद्वारत्रय प्रतिपादनार्थमाह।

मरहस्स रूवकम्मं, नराइलक्खणमहोइयं वलिणो।
माणुम्माणुवमाणं, पमाणग णमा य वत्थूणं ॥ ४८ ॥

रूपं नाम काष्ठकर्म पुस्तककर्मेत्येवमादि। तच्च भगवता भरतस्योपदिष्टम्। तथा नरादिलक्षणं पुरुषलक्षणादि तच्च। अथ भरतस्य काष्ठकर्माद्युपदेशानन्तरं भगवता बाहुबलिन उदितं कथितम्। तथा मानं नाम वस्तूनां मानोन्मानावमानप्रमाणगणितानि तत्र मानं द्विधा धान्यमानं रसमानं च। धान्यमानम् ''दो अ सतीए सइया दो य सईतो सेइया चत्तारि सेइया कुलवो चत्तारि कुलवो पत्थओ इत्यादि। रसमानं चउसट्ठिया चउतिसिया सोलसिया'' इत्यादि। उन्मानं येनोन्मीयते तच्च तुलागतं कर्षः पलमित्यादि। अवमानं येनावमीयते तद्यथा हस्तो दण्डो युगमित्यादि। प्रमाणं प्रतिमानं तच्च सुवर्णपरिमाणहेतुः गुञ्जादि गणिमं यदेकादिसंख्यया परिच्छिद्यते। यत्तु गणितं तत्प्रागेव पृथग्द्वारतयाऽभिहितमेतत्पञ्चप्रकारमपि मानं भगवति राज्यमनुशासति भगवदुपदेशेन प्रवृत्तमिति (पोयए) इति द्वारगाथायां यदुक्तं तस्य संस्कारः प्रोतकमिति। पोतक इति वा। तथाचाह।

मणियाई दोराइसु, पोता तह सागरम्मि वहणाइं।
ववहारो लेहवणं, कज्जपरिच्छेयणत्थं वा ॥ ४९ ॥

ये मणिकादयः आदिशब्दान्मुक्ताफलादिपरिग्रहः। दवरकादिषु लोके न प्रोताः क्रियन्ते तदे तत्प्रकर्षेण ऊतनं तदा प्रवृत्तम्। अथवा पोता नाम सागरे समुद्रे प्रवहणानि तान्यपि तदैव प्रवृत्तानि। तथा व्यवहारो नाम विसंवादे सति राजकुलकरणे

गत्वा निजनिजभाषालेखापनलक्षण; कार्यपरिच्छेदनार्थं वा पणमुक्तिलक्षण: स उभयरूपोऽपि तदा प्रवृत्त: कालदोषतो लोकानां प्राय: स्वस्वभावापगमात्।

अधुना नीतियुद्धरूपं द्वारद्वयमभिधित्सुराह।

नीई हक्काराई, सत्तविहा अहव सामभेयाई।
जुद्धाईं बाहुजुद्धाइ, यइ वट्टयाईणं च॥ ५०॥

नीतिर्हक्कारादिलक्षणा सप्तविधा। तद्यथा हक्कारो मक्करो धिक्कार: परिभाषणा मण्डलीबन्धश्चारके प्रक्षेपो महापराधे छविच्छेद इति। एषा सप्तविधापि नीतिस्तदा विमलवाहनकुलकरादारभ्य भरतकालं पर्यन्तं कृत्वा यथायोगं प्रवृत्ता। तथा च वक्ष्यति "किंचिच्च भरहकाले" इत्यादि। अथवा नीतिर्नाम सामभेदादिका चतुष्प्रकारा। तद्यथा सामभोदो दण्ड: उपप्रदाननिति एषा। चतुविधाऽपि भगवत्काले समुत्पन्नेति। तथा युद्धानि नाम बाहुयुद्धादीनि। यदि वा वर्तकादीनां तानि उभयान्यपि तदा प्रवृत्तानि।

सांप्रतमिषुशास्त्रोपासनारूपं द्वारद्वयमाह।

ईसत्थं धणुवेदो, उवासणा मंसुकम्ममाईया।
गुरुरायाईणं वा, उचासणापज्जुवासणया॥ ५१॥

इषुशास्त्रं नाम धनुर्वेद: स च राजधर्मे सति प्रावर्तत उपासना नाम श्मश्रुकर्तनादिरूपं नापितकर्म तदपि तदैव जातं पूर्वं ह्यनवस्थितनखरोमानस्तथा कालमाहात्म्यत: प्राणिनोऽभवन्निति। एषा च शिल्पान्तर्गततया प्रागभिहिताऽपि पुन: पृथग्द्वारतयोपन्यस्ता भगवत्काल एव नखरोमाण्यतिरेकेण प्रवर्द्धितुं लग्नानि तत्पूर्वमिति ख्यापनार्थम्। यदि वा उपासना नाम गुरुराजादीनां पर्युपासना सापि तदैव प्रवृत्ता। अधुना चिकित्सार्थशास्त्रबन्धघातरूपद्वारचतुष्टय प्रतिपादनार्थमाह।

रोगहरणं तिगिच्छा, अत्थागमसत्थमत्थसत्थित्ति।
निगडाइजमो बंधो, घातो दंडादितालणया॥ ५२॥

चिकित्सा नाम रोगापहारक्रिया साऽपि तदैव भगवदुपदेशात्प्रवृत्ता। अर्थागमनिमित्तं शास्त्रमर्थशास्त्रम् बन्धो निगडादिभिर्यम: संयमनं घातो दण्डादिभिस्ताडना। एतेऽपि अर्थशास्त्रबन्धघातास्तत्काले यथायोगं प्रवृत्ता:।

अधुना मारणयक्षोत्सवरूपद्वारत्रयप्रतिपादनार्थमाह।

मारणया जीववहो, जन्नानागाइयाण पूयातो।
इंदाइमहापूया, पइनिययाऽऊसवा होंति॥ ५३॥

मारणं जीववधो जीवस्य जीविताद् व्यपरोपणं तच्च भरतेश्वरकाले समुत्पन्नम्। यज्ञा नागादीनां पूजा: उत्सवा: प्राय: प्रतिनियता: वर्षमध्ये प्रतिनियतदिवसभाविन: इन्द्रादिमहापूजास्त्वनियतकालभाविन्य इति महोत्सवानां प्रतिविशेष:। एतेऽपि तत्काले प्रवृत्ता:।

संप्रति समवायमङ्गलरूपद्वारद्वयमभिधित्सुराह–

समवाओ गोट्ठीणं, गामाईणं व संपसारो वा।
तह मंगलाइसोत्थिय, सुवण्णसिद्धत्थगाईणि॥५४॥

समवायो नाम गोष्ठिनां मेलापक:। यदि वा ग्रामादीनामादिशब्दात् खेटवाटनगरादिपरिग्रह:। स एकीभावेन किमप्युद्दिश्य एकत्र मीलनं संप्रसार: समवाय:। किमुक्तं भवति ग्रामादिजनानां किंचित्प्रयोजनमुद्दिश्य यदेकत्र मीलनं स वा समवाय इति। तथा मङ्गलानि नाम स्वस्तिकसुवर्णसिद्धार्थकादीनि पूर्वं देवैर्भगवतो मङ्गलबुद्ध्या प्रयुक्तानि ततो लोकेऽपि तथा प्रवृत्तानि।

संप्रति कौतुकादिद्वारपञ्चकमाह।

पुव्वं कयाईं पहुणो, सुरेहिं रक्खादिकोउयाइं च।
तह वत्थगंधमल्लालंकारकेसभूसाइ॥ ५५॥
तं दट्ठूण पवत्तो, लंकारे उ जणो असेसो वि।

पूर्वं प्रवृत्तो भगवत: ऋषभस्वामिन: सूरै: कृतानि कौतुकानि रक्षादीनि ततो लोकेऽपि तानि जातानि। तथा वस्त्रं चीनांशुकादिभेदभिन्नं गन्ध: कुष्टपुटादिलक्षण: माल्यं पुष्पदाम। एतानि तदैव जातानि। अलङ्कार: केशभूषादि: तं चालङ्कारं भगवतो देवै: कृतं दृष्ट्वा अवशेषोऽपि स्वं स्वमलंकर्तुं प्रवृत्त:।

संप्रति चूलाद्वारमाह॥

विहिणा चूलाकम्मं, वालाणं चोलयं नाम॥ ५६॥

चूडा नाम विधिना शुभनक्षत्रतिथिमुहूर्तादौ धवलमङ्गलेष्टदेवतापूजास्वजनभोजनादिलक्षणेन बालानां चूडाकर्म तदपि तदा प्रवृत्तम्।

संप्रत्युपनयनद्वारमाह।

उवनयणं तु कलाणं, गुरुमूले साहुणो तवोकम्मं।
घेत्तुं हवंति सड्ढा, कोई दिक्खं पवज्जांति॥ ५७॥

उपनयनं नाम तेषामेव बालानां कलानां ग्रहणाय गुरो: कलाचार्यस्य मूले समीपेनयनम्। यदि वा धर्मश्रवण निमित्तं साधो: सकाशं नयनमुपनयनं तस्माच्च साधोर्धर्मं गृहीत्वा के चित् श्राद्धा भवत्यपरे लघुकर्माणो दीक्षां प्रपद्यन्ते। एतच्चोभयमपि तदा प्रवृत्तम्

अधुना विवाहद्वारं दत्तिद्वारमाह।

दट्ठुं कायं विवाहं, जिणस्य लोगो वि काउमारद्धो।
गुरुदत्तिया य कन्ना, परिणिज्जंते ततो पायं॥ ५८॥
दत्तिव्व दाणमुसभं, दित्तं दट्ठुं जणम्मि विपयत्तं।
जिणभिक्खादाणं पि य, दट्ठुं भिक्खा पवत्ताओ॥ ५९॥

जिनस्य भगवत ऋषभस्वामिनो कृतं विवाह दृष्ट्वा लोकोऽपि स्वापत्यानां विवाह कर्तुमारब्धवान्॥ गतं विवाहद्वारम्। दत्तिद्वारमाह। भगवता युगलधर्मव्यवच्छेदाय भरतेन सह जाता ब्राह्मी बाहुबलिने दत्ता बाहुबलिना सह जाता सुन्दरी भरतायेति दृष्ट्वा तत आरभ्य प्रायो लोकेऽपि कन्या पित्रादिना दत्ता सती परिणीयते इति प्रवृत्तम्। अथवा दत्तिर्नाम दानं तच्च भगवन्तमृषभस्वामिनं सांवत्सरिकं दानं ददतं दृष्ट्वा लोकेऽपि प्रवृत्तम। यदि वा दत्तिर्नाम भिक्षादानं तच्च जिनस्य भिक्षादानं प्रपौत्रेण कृतं दृष्ट्वा लोकेऽपि भिक्षा प्रवृत्ता। लोका अपि भिक्षां दातुं प्रवृत्ता इति भाव:।

अधुना मृतकपूजाध्यापनास्तूपशब्दद्वाराण्याह।

मडयं मयस्स देहो, तं मरुदेवीए पढमसिद्धो त्ति।
देवेहिं पुरा महियं, झावणया अग्गिसक्कारो॥ ६०॥
सो जिणदेहाईणं, देवेहिं कतो चितासु थूभा य।
सड्ढो य रुण्णसड्ढो, लोगो वि ततो तहा य कतो॥ ६१॥

मृतकं नाम मृतस्य देहस्तच्च मृतकं मरुदेव्या: प्रथमसिद्ध इति कृत्वा देवै: पुरा महितं पूजितम्। तत आरभ्य लोकेऽपि मृतकपूजा प्रसिद्धिं गता। ध्यापना नामाग्निसंस्कार: स च भगवतो निर्वाणप्राप्तस्यान्येषां च साधूनामिक्ष्वाकूनामितरेषां

च प्रथमं त्रिदशैः कृतः पश्चाल्लोकेऽपि संजातः। तथा भगवद्देहादिदग्धस्थानेषु भरतेन स्तूपा कृताः ततो लोकेऽपि तत आरभ्य मृतकदाहस्थानेषु स्तूपाः प्रावर्तन्त। तथा शब्दो नाम रुदितशब्दः स च भगवत्यपवर्गं गते भरतदुःखमसाधारणमवबुद्धय तदपसरणाय शक्रेण कृतस्ततो लोकेऽपि ततः कालादारभ्य रुदितशब्दाः प्रवृत्तास्तथा चाह लोकोऽपि। तथा भरतवत् शक्रवत् वा रुदितशब्दं प्रवृत्तः कर्तुमारब्धवान्।

संप्रति छेलापनकद्वारं पृच्छाद्वारं चाह।

छेलावणमुक्किट्ठाइ, वालकीलावणं च सें टाइ।
इंखिणियादिरुयं वा, पुच्छा पुण किं कहिं कज्जं ॥ ६२ ॥
अहव निमित्ताईणं सुह–सइ याइ सुहदुक्खपुच्छा वा।
इच्चेवमाइयाई, उप्पन्नं उसभकालम्मि ॥ ६३ ॥

छेलापनकमिति देशीवचनं तच्चानेकार्थं तथाचाह। उक्किट्ठाइ इत्यादि उत्कर्षं नाम हर्षवशादुत्कर्षेण नर्दनमादिशब्दात् सिंहनादिता-दिपरिग्रहः। यदि वा बालक्रीडनं छेलापनकम्। अथवा शेंटितादि। तथा प्रच्छनं पृच्छा सा इंखिणिकादिरुदितलक्षणा। इंखिणिका हि कर्णमूले घण्टिकां चालयन्ति ततो यक्षाः खल्वागम्य तासां कर्णेषु किमपि प्रष्टुर्विवक्षितं कथयन्ति। आदिशब्दात् इंखिणिकासद्दश-परिग्रहः। अथवा किं कार्यं कथं वा कार्यमित्येवं लक्षणा या लोके प्रसिद्धा पृच्छा सा प्रच्छना। यदि वा निमित्तादीनामादिशब्दात्स्वप्न फलाफलादिपरिग्रहः। पृच्छा प्रच्छना। अथवा सुखशयितादिरूपा सुखदुः खपृच्छा प्रच्छना इत्येवमादितया सर्वमुत्पन्नमृषभस्वामिकाले। उपलक्षणमेतत्। किञ्चिद्भरतकाले किञ्चित्कुलकरकाले च। तथाचाह।

किंचिच्च भरहकाले, कुलगरकाले वि किंचि उप्पन्नं।
पहुणा उ देसियाइं, सव्वकला सिप्पकम्माइं ॥ ६४ ॥

किञ्चिन्निगडादिभिर्घाति इत्यादिभरतकालोत्पन्नं किंचित् हक्कारितं कुलकरकालेऽप्युत्पन्नं प्रभुणा तु भगवता ऋणभस्वामिना सर्वा गणितप्रभृतयः कलाः सर्वाणि घटशिल्पप्रभृतीनि शिल्पानि सर्वाणि च कृष्यादीनि कर्माणि देशितानि। आ० म० प्र०। आव०।

(१३) श्रीऋषभदेवस्य वासः।

तओ णं उसभे अरिहा कोसलिए वीसं पुव्वसयसहस्साइं कुमारवासमज्झे वसइ वसइत्ता तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं महारायवासमज्झे वसइ तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं महारायवासमज्झे वसमाणे लेहाइआओ गणिअप्पहाणाओ सउणरुअपज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ चोसट्ठिं महिलागुणे सिप्पसयं च कम्माणं तिण्णि वि पयाहिआए उवदिसइ त्ति ॥

ततो जन्मकल्याणकानन्तरमित्यर्थः। ऋषभोऽर्हन् कौशलिकः विंशतिं पूर्वशतसहस्राणि पूर्वलक्षाणि भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य कुमारत्वेनाकृताभिषेकराजसुतत्वेन वासोऽवस्थानं तन्मध्ये वसति। "कुमारवासमज्झावसइ" इति पाठे तु कुमारवासमध्यावसति आश्रयतीत्यर्थः। उषित्वा च त्रिषष्टिपूर्वलक्षाणि अत्रापि भावप्रधानो निर्देश इति महाराजत्वेन साम्राज्येन वासोऽवस्थानं तन्मध्ये वसति। तत्र वसतश्च कथं प्रजाउपचक्रे इत्याह "तेवट्ठिं इत्यादि" त्रिषष्टिं पूर्वलक्षाणि यावन्महाराजवासमध्ये वसन् लिपिविधानादिका गणितमङ्गविद्या धर्मकर्मव्यवस्थितौ बहुप्रकारत्वात् प्रधाना यासु ताः। शकुनरुतं पक्षिभाषितं पर्यवसाने प्रान्ते यासां तास्तथा द्वासप्ततिकलाः कलनानि कलाविज्ञानानीत्यर्थस्ताः कलनीयभेदात् द्वासप्ततिः अर्थात् प्रायः पुरुषोपयोगिनीः। चतुषष्टिं महिलागुणान् स्त्रीगुणान कर्मणां जीवनोपायानां मध्ये शिल्पशतं च विज्ञानशतं च कुम्भकारशिल्पादिकं त्रीण्यप्येतानि वस्तूनि प्रजाहिताय लोकोपकारायोपदिशति। अपिशब्दः एकोपदेशकपुरुषतासूचनार्थः। वर्तमाननिर्देशश्चात्र सर्वेषामाद्यतीर्थकराणामयमेवोपदेशविधिरिति ज्ञापनार्थम्। यद्यपि कृषिवाणिज्यादयो बहवो जीवनोपायास्तथापि ते पाश्चात्यकाले प्रादुर्बभूवुः। भगवता तु शिल्पशतमेवोपदिष्टमत एवाचार्योपदेशजं शिल्पमनाचार्योपदेशं तुकर्मेति शिल्पकर्मणोर्विशेषमामनन्तीति। श्री हेमसूरिकृतादिदेवचरित्रे तु। "तृणहारकाष्ठहारकृषिवाणिज्यकान्यपि। कर्माण्यासूत्रयामास, लोकानां जीविकाकृते॥ १॥" इत्युक्तमस्ति तदाशयेन तुकम्माणमित्यत्र द्वितीयार्थे षष्ठी ज्ञेया। तथा च कर्माणि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात् त्रीण्यप्युपदिशति इत्यपि व्याख्येयम्। शिल्पशतं च पृथगेवोपदिशति इति ज्ञेयमिति जं०२ वक्ष०। (अथात्र सूत्रसंक्षेपतः प्रोक्ता विस्तरस्तु राजप्रश्नीयादर्शेषु दृश्यमाना द्वासप्ततिकलास्ताश्च कालशब्दे दर्शयिष्यन्ते) शिल्पशतं चेदं कुम्भकृल्लोहकृच्चित्रतन्तुवायनापितलक्षणानि पञ्च मूलशिल्पानि तानि च प्रत्येकं विंशतिभेदानीति। तथा चार्षम् पंचेव य सिप्पाइं, घडलोहचित्तणंतकासाए। इक्किक्कस्य य पत्तो, वीसं वीसं भवे भेआ॥ १॥ "इति। नन्वत्रैषां पञ्च मूलशिल्पानामुत्पत्तौ किं निमित्तमित्युच्यते युग्मिनामामौषध्योदरे मन्दाग्नितया अपच्यमाने हुतभुजि प्राक्षिप्यमाने तु समकालमेव दह्यमाने युगलिकनरैर्विज्ञप्तेन हस्तिस्कन्धारूढेन भगवता प्रथमं घटशिल्पमुपदर्शितं क्षत्रियाः शस्त्रपाणय एव दुष्टेभ्यः प्रजा रक्षेयुरिति लोहशिल्पं, चित्राङ्गेषु कल्पद्रुमेषु हीयमानेषु चित्रकृच्छिल्पं, वस्त्रकल्पद्रुमेषु हीयमानेषु तन्तुवायशिल्पं, बहुले युग्मिधर्मे पूर्वमवर्द्धिष्णु रोमनखं मा मनुजान्तुदत्विति नापितशिल्पमिति। श्री हेमाचार्यकृतऋषभचरित्रे तु गृहादिनिमित्तं वर्द्धक्ययस्कारयुग्मरूपं द्वितीयं शिल्पमुक्तं शेषं तत्तथैवेति। ननु भोग्यसत्कर्माण एवार्हन्तो भगवन्तः समुत्पन्नव्याधिप्रतीकारकल्पस्त्र्यादिपरिग्रहं कुर्वते नेतरत्ततः किमसौ निरवद्यैकरुचिर्भगवान् सावद्यानुसंबन्धिकलाद्युपदर्शने प्रववृते ? उच्यते समयानुभावतो वृत्तिहीनेषु दीनेषु मनुजेषु दुःस्थाविभाव्यसंजातकरुणैकरसत्वात्। समुत्पन्नविवक्षितरसो हि नान्यरससापेक्षो भवतीति वीर इव द्विजस्य चीवरदाने। अथैवं तर्हि कथमधिकलिप्सोस्तस्य सति सकलेऽशुके शकलकदानं सत्यं भगवतश्चतुर्ज्ञानधारकत्वेन तस्य तावन्मात्रस्येव लाभस्यावधारणेनाधिकयोगस्य क्षेमनिर्वाहकत्वदर्शनात्। कथमन्यथा भगवदंशस्थलस्तच्छकलग्रहणेऽपि तदुच्छित्तिकृतार्द्ध विभाजकस्तन्तुवायः समजायत। किं च फलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनाशक्तिरपि न स्यात्। ननु भवतु नामोक्तसुखहेतोर्जगद्गुरुः कलाद्युपदर्शकत्वं परं राजधर्मप्रवर्तकत्वं कथमुचितमुच्यते। शिष्टानुग्रहाय दुष्टनिग्रहाय धर्मस्थिति संग्रहाय च। ते च राज्यस्थितिनिश्रयाः सम्यक्प्रवर्तमानाः क्रमेण परेषां महापुरुषमार्गोपदर्शकतया चौर्यादिव्यसननिवर्तनतो नारकातिथेयीनिवारकतया ऐहिकामुष्मिकसुखसाधकतया च प्रशस्ता एवेति।

महापुरुषप्रवृत्तिरपि सर्वत्र परार्थत्वसाधकताबहुगुणाल्पदोष-कार्यकारणविचारणापूर्विकैवेति। युगादौ जगद्व्यवस्था प्रथमेनैव पार्थिवेन विधेयेति। ज्ञातमपीति स्थानाङ्गपञ्चमाध्ययनेऽपि धम्मणं चरमाणस्य पंचणिस्सा ठाणा पण्णत्ता तं जहा छक्काया १ गणो २ राया ३ गाहवई ४ सरीर ५ मित्याद्यावश्यकवृत्तौ राज्ञो निश्रामाश्रित्य राजा नरपतिस्तस्य धर्मसहायत्वं दुष्टेभ्यः साधुरक्षणादीत्युक्तमस्तीति परमकरुणापरीत-चेतसःपरमधर्मप्रवर्तकस्य ज्ञानत्रययुक्तस्य भगवतो राजधर्मप्रवर्तकत्वेन काप्यनौचिती चेतसि चिन्तनीया युक्त्युपपन्नत्वात् तद्विस्तरस्तु जिनभगवत्पञ्चाशकसूत्रवृत्त्योर्यतनाद्वारे व्यक्त्या दर्शितोऽस्तीति तत एवावसेयो ग्रन्थगौरवभयादत्र न लिख्यते इति। एतेन ''राज्यं हि नरकान्तं स्याद् यदि राजा न धार्मिक'': इत्युक्तिरपि ध्वढबद्धमूला न कम्पत इति। किं चात्र तृतीयारकप्रान्ते राज्यस्थित्युत्पादे धर्मस्थित्युत्पादः पञ्चमारकप्रान्ते ''वसुअरुरीसंघधम्मो, पुव्वण्हे विज्जही अगणिसंघं। निवविमलवाहणसुहुममतिनयधम्ममज्झण्हे? इति वचनात् धर्मस्थिति-विच्छेदे राज्यस्थितिविच्छेद इत्यपि राज्यस्थितिहैतुत्वा भिव्यञ्चकमेवेति सर्वं सुस्थमित्यलं विस्तरेणेति। जं० २ वक्ष०। कल्प ०। स०।

(१४) पुत्राणां राज्याभिषेकस्तदनु च भगवान् किं चक्रे इत्याह।

उवदिसित्ता पुत्तसयं, रज्जसए अभिसिंचइ।

उपदिश्य कलादिकं पुत्रशतं भरतबाहुबलिप्रमुखं कोशलात क्षशिलादिराज्यशते अभिषिञ्चति स्थापयति। अत्र शङ्खादिप्र भञ्जनावसानानि भरताष्टनवति भ्रातृनामानि अन्तर्वाच्यादिषु सुप्रसिद्धानीति न लिखितानि देशनामानि बहून्यप्रतीतानीति। ज २ वक्ष०। कल्पसुबोधिकारेण तु दर्शितानि। नन्दननामानि तानि चेमानि। भरतः। १। बाहुबलिः। २। शङ्खः ३ विश्वकर्मा ४ विमलः ५ सुभक्षणः ६ अमलः ७ चित्राङ्गः ख्यातकीर्तिः ९ वरदत्तः १ सागरः ११ यशोधरः १२ अमरः १३ रथवरः १४ कामदेवः १५ ध्रुवः १६ वच्छः १७ नन्दः १८ सुरः १९ सुनन्दः २० कुरुः २१ अङ्गः २२ वङ्गः २३ कोशलः २४ वीरः २५ कलिङ्ग २६ मागधः २७ विदेहः २८ संगमः २९ दर्शाणः ३० गम्भीरः ३१ वसुचर्मा ३२ सुवर्मा ३३ राष्ट्रः ३४ सुराष्ट्र ३५ बुद्धिकरः ३६ विविधकरः ३७ सुयशाः ३८ यशःकीर्ति ३९ यशस्करः ४० कीर्तिकरः ४१ सूरणः ४२ ब्रह्मसेनः ४३ विक्रान्तः ४४ नरोत्तमः ४५ पुरुषोत्तमः ४६ चन्द्रसेनः ४७ महासेनः ४८ नभस्सेनः ४९ भानुः ५० सुकान्तः ५१ पुष्पयुतः ५२ श्रीधरः ५३ दुर्धर्षः ५४ सुसुमारः ५५ दुर्जयः ५६ अजेयमानः ५७ सुधर्मा ५८ धर्मसेनः ५९ आनन्दनः ६० आनन्दः ६१ नन्द ६२ अपराजितः ६३ विश्वसेनः ६४ हरिषेणः ६५ जयः ६६ विजयः ६७ विजयन्त ६८ प्रभाकरः ६९ अरिदमनः ७० मानः ७१ महाबाहुः ७२ दीर्घबाहुः ७३ मेघः ७४ सुघोषः७५ विश्वः ७६ वराहः ७७ सुसेनः७८ सेनापतिः७९ कपिलः ८० शैलविचारी ८१ अरिञ्जयः ८२ कुञ्जरबलः ८३ जयदेवः ८४ नागदत्तः ८५ काश्यपः ८६बलः ८७ धीरः ८८ शुभमतिः ८९ सुमतिः ९० पद्मनाभः ९१ सिंहः ९२ सुजातिः ९३ संजयः९४ सुनामः ९५ नरदेवः ९६ चित्तहरः ९७ सुरवरः ९८ दृढरथः ९९ प्रभञ्जनः १००॥ इति। राज्यदेशनामानि तु अङ्गः १। वङ्गः २। कलिङ्गः३। चौडः ४। गौडः ५। कर्णाटकः। ६ कार्णाटः ७। लाटः ८ सौराष्ट्रः ९ काश्मीरः १० सौवीरः ११ आभीरः १२ चीणः १३ महाचीणः। १४ गूर्जरः १५ वङ्गलः॥ १६ श्रीमालः १७ नेपालः १८ जहालः १९ कौशलः २० मालवः २१ सिंहलः २२ मरुस्थलादीनि २३ ज्ञेयानि लब्धवर्णैः कल्प०। (राज्यादिप्रधानस्य किं फलमित्यन्यत्र)

अभिसिंचित्ता तेसीइं पुव्वसयसहस्साइं महारायवासमज्झे वसइ वसइत्ता जे से गिलामं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स णवमीपक्खे णं दिवसस्स पच्छिमे भागे चइत्ता हिरण्णं चइत्ता सुवण्णं चइत्ता कोसं कोट्ठागारं चइत्ता वलं चइत्ता वाहणं चइत्ता पुरं चइत्ता अंतेउरं चइत्ता विउलधणकण-गरण्णमणिमो त्तियसंखसिलप्पवालरयणरत्तसतसारस्सा वइएज्जं विवड्ढयित्ता विवोवइत्ता दाणं दाइ आणं परिभाएत्ता सुदंसणाए सीए सीआए से देवमणुअसुराए परिसाए समणुगम्ममाणमग्गे संखिअचक्किअणंगलिअमुहमंगलिअपूरसमाणबद्धमाणग-आइक्खगलंखमंखघंटिअगणेहिं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पीयाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं उरालाहिं कल्लाणाहिं धणाहिं मगलाहिं सस्सिरीआहिं हिययगमणिआहिं हिययल्हायणिज्जाइं कण्णमण्णनिव्वुइकराहिं अपुणरुत्ताहिं सट्ठसइआहिं वग्गुहिं अणवरयं अभिणंदंताय अभिवुणंताय एवं वयासी जय जय नंदा जय भद्दा धम्मेणं अभीए परीसहोवग्गाणं खंति खमे भयभेरवाणं धम्मे ते अविग्घं भवउ तिकट्टु अभिणंदंति य अभिथुणंति य तएणं उसभे अरहा कोसलिएण पणमालासहस्सेहिं पि छिज्जमाणा २ एवं जाव णिग्गच्छइ जहा उववाए जाव आउलबोलबहुलं णभंकरे ते विणीआए रायहाणीए मज्झंण णिग्गच्छइ आसिअ संमज्जिअ सितसुत्तसुइकपुण्णवयाकरे कलिअं सिद्धत्थवणविउलराय मग्गं करेमाणे हयगयरहपह-करेमाणे पाइक्कचडकरेण य मंठं २ उद्धतरेणुयं करेमाणे २ जेणेव सिद्धत्थवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता असोगवरपायवस्स अहेसीअं ठावेइ ठावेइत्ता सीआओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता सयमेवाभरणालंकारं मुअइ मुअइत्ता सयमेव चउहिं अट्ठाहिं मुट्ठिहिं लोअं करेइ करेइत्ता छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं आसाढाहिं णक्खत्तेणं जोगमुवागएणं उग्गाणं भोगाणं राइन्नाणं खत्तिआणं चउहिं सहस्सेहिं सद्धिं एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिअं पव्वइए॥

अभिषिच्य अशीर्ति पूर्वलक्षाणि महान् रागो लौल्यं यत्र स चासौ वासश्च महारागवासो गृहवासस्तन्मध्ये वसति गृहपर्याये तिष्ठतीत्यर्थः। यद्यपि प्रागुक्तव्याधिप्रतीकारन्यायेनैव तीर्थकृतां गृहवासे प्रवर्तनं तथाऽपि समान्यतः स यथोक्त एवेति न दोषः। यद्वा महान् अरागोऽलौल्यं यत्र स चासौ वासश्चेति योजनीयं यतो भगवदपेक्षया स एवंविध एवेति एतेन ''ते वट्टि

पुव्वसयसहस्साइं महारायवासमज्झे वसइ'' इति पूर्वग्रन्थविरोधो नेति उषित्वा (जे सेत्ति) य. स (गिह्माणंति) आर्षं ग्रीष्मशब्दः स्त्रीलिङ्गबहुवचनान्तश्च ततो ग्रीष्मस्येत्यर्थः प्रथमो मासो यथा ग्रीष्माणामवयवे समुदायोपचारादुष्णकालमासानां मध्ये प्रथमो मासः प्रथमः पक्षश्चैत्रबहुलश्चात्रान्धकारपक्षस्तस्य नवम्यास्तिथेः पक्षो गेहो यस्य तिथिमेलपातादिषु दर्शनात् तिथिपाते तत्कृत्यस्याष्टम्यामेव क्रियमाणत्वात् स नवमी पक्षोऽष्टमीदिवसस्तत्रानेन व्याख्यानेन ''चित्तबहुलट्ठमीए'' इत्याद्यागमविरोधात् । वाचनान्तरेण नवमीपक्षो नवमो दिवसः दिवस्याष्टमीदिवसस्य मध्यन्दिवादुत्तरकाले यद्यपि दिवसशब्दस्याहोरात्रवाचकत्वमन्यत्र प्रसिद्धं तथाऽप्यत्र प्रस्तावाद्दिवसे गतो रजनीरजनिः इत्यादाविव सूर्यचारविशिष्टकालविशेषग्रहणमन्यथा दिवसपाश्चात्यभागस्यानुपपत्तेः त्यक्त्वा हिरण्यमघटितसुवर्णं रजतं वा सुवर्णं घटितं हैमं हेम वा कोशं भाण्डागारं कोष्ठागारं धान्याश्रयगृहं बलं चतुरङ्गं वा हनं वेसरादि पुरान्तः पुरव्यक्तं विपुलं धनं गवादि कनकं सुवर्णं येभ्यस्सल्लक्षणेभ्यस्तानि रत्नानि मणयश्च प्राग्वत् मौक्तिकानि शुक्त्याकाशादिप्रभवानि शङ्खाश्च दक्षिणावर्ताः ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः शिलाः पट्टादिरूपाः प्रवालानि विद्रुमाणि रक्तरत्नानि पद्मरागाः पृथग्ग्रहणमेषां प्राधान्यख्यापनार्थमुक्तस्वरूपं यत्ससारं सारातिसारं स्वापतेयं द्रव्यं त्यक्त्वा ममत्वत्यागेन विच्छर्द्य पुनर्ममत्वाकरणेन। कुतो ममत्वत्याग इत्याह। विगोप्यं जुगुप्सनीयमेतत् अस्थिरत्वादिति कथनेन कथं च निश्रात्यजनमित्याह । दायकानां गोत्रिकानां दायधनविभागं परिभाज्य विभागशो दत्त्वा तदाऽवनौ नाथपान्थादियाचकानामभावाद्गोत्रिकग्रहणं तेऽपि च भगवत्प्रेरिता निर्ममाः सन्तः शेषमात्रं जगृहुः । इदमेव हि जगद्गुरोर्जीतं यदीच्छावधि दानं दीयते तेषां च इयतैव इच्छापूर्तेः। ननु यदीच्छावधिकं प्रभोर्दानं तर्हि एदंयुगीनो जन एकदिनदेयं संवत्सरदेयं वा एक एव जिघृक्षेत् इच्छाया अपरिमितत्वात् । सत्यं प्रभुप्रभावेणैतादृशेच्छाया असंभवात्। सुदर्शनानाम्न्यां शिविकायामारूढमिति गम्यं किं विशिष्ट भगवन्तं सदेवमनुजासुरया स्वर्गभूपातालवासिजनसहितया पर्षदा समुदायेन समनुगम्यमानम् अग्रे अग्रतनभागे शाखिकादयोऽभिनन्दयन्तोऽभिष्टुवन्तश्च एवं वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यन्वयः। तत्र शाखिकाश्चन्दन गर्भशङ्खहस्ता माङ्गल्यकारिणः शङ्खध्मा वा चाक्रिकाश्च चक्रभ्रामकाः कुम्भकारतैलिकादयो वा लाङ्गलिकां गलावलम्बितसुवर्णादिमयहलधारिणो भद्रविशेषाः । मुखमाङ्गलिकाश्चाटुकारिणः पुष्टमाणा वा । मागधा वर्द्धमानकाः स्कन्धारोपितनराः आख्यापकाः शुभाशुभकथकाः लङ्खा वंशाग्रलेखकाः मङ्खाश्चित्रफलकहस्ता भिक्षाका गौरीपुत्रा इति रूढाः घाण्टिका घण्टावादकास्तेषां गणाः सूत्रे च आर्षत्वाद् प्रथमार्थे तृतीया अथाश्रुतव्याख्याने च शाङ्गिकादिगणैः परिवृतमिति पदं कुलमहत्तरा इति पदं चान्वययोजनार्थमध्याहार्यं स्यात्। साध्याहारव्याख्यातोऽनध्याहारव्याख्यालाघवमिति पद्मभाङ्गेजमालिचरित्रे निष्क्रमणमहवर्णने शाङ्गिकादीनां प्रथमान्ततया निर्देश एतस्यैवाशयस्य सूचकः। यदि च प्रायः सूत्राणि सोपस्काराणि भवन्तीति न्यायोऽनुश्रियते तदा साध्याहारव्याख्यानेऽप्यदोषः ताभिर्विवक्षिताभिरित्यर्थः । वा भिरभिनन्दयन्तश्चाभिष्टुवन्तश्चेति योजना । विवक्षितत्वमेवाह । इष्यन्ते स्मेतीष्टास्ताभिः प्रयोजनवशादिष्टमपि किं चित्स्वरूपतः कान्तं स्यादकान्त चेत्यत आह कान्ताभिः कमनीयशब्दाभिः प्रियाभिःप्रियार्थाभिः मनसा ज्ञायन्ते सुन्दरतया यास्ता मनोज्ञा भावतः सुन्दग इत्यर्थस्ताभिर्मनसा अभ्यन्ते गम्यन्ते पुनःपुनः याः सुन्दरत्वातिशयात्ताः मनोमास्ताभिरुदाराभिः शब्दतोऽर्थतश्च कल्याणाभिसूचिकाभिः । शिवाभिर्निरुपद्रवाभिः शब्दार्थदूषणोज्झिताभिरित्यर्थः धन्याभिर्धनलम्भिकाभिः माङ्गल्याभिः मङ्गले-ऽनर्थप्रतिघाते साध्वीभिः सश्रीकाभिः । अनुप्रासाद्यलङ्कारोपेतत्वात् सशोभाभिः । हृदयगमनीयाभिः अर्थप्राकट्यचातुरीसचिवत्वात् सुबोधाभिः । हृदयप्रह्लादनीयाभिः हृदयगतकोपशोकादि - ग्रन्थिविद्रावणीभिः उभयत्र कर्तर्यनट् प्रत्ययः कर्णमनसोर्निर्वृत्तिकरीभिः अपुनरुक्ताभिरिति च स्पष्टमर्थशतानि यासु सन्ति ता अर्थशतिकास्ताभिः अथवाऽर्थानामिष्टकार्याणां शतानि याभ्यस्ता अर्थशतास्ता एवार्थशतिकाः स्वार्थे कप्रत्ययस्ताभिर्वाग्भिर्गीर्भिरेकार्थिकानि वा प्राय इष्टादीनि वाग्विशेषणानीति । अनवरतं विश्रामाभावात् अभिनन्दयन्तश्च जयजयेत्यादिभणनसमृद्धिमन्तं भगवन्तमाचक्षाणाः अभिष्टुवन्तश्च भगवन्तमेवमवादिषुरिति । किमवादिषुरित्याह। जयजयेति भक्तिसंभ्रमे द्विर्वचनं नन्द ति समृद्धो भवतीतिनन्दः तस्यामन्त्रणमिदमिह च दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । अथवा जयत्वं जगत्समृद्धिकरत्वाज्जय जय भद्रेति प्राग्वत् । नवरं भद्रः कल्याणवान् कल्याणकारी वा कथं शोभते स्मेत्याह । धर्मेण करणभूतेन न त्वभिमानलज्जादिना अभितो भवपरीषहोपसर्गेभ्यः । प्राकृतत्वात्पञ्चम्यर्थे षष्ठी परीषहोपसर्गाणां जेता भवेत्यर्थः। तथा क्षान्त्या नत्वसामर्थ्यादिना क्षमः सोढा भव भयमाकस्मिकं भैरवसिंहादिसमुच्छं तयोः प्राकृतत्वात् पदव्यत्यये भैरवभयानां वा भयङ्करभयानां क्षान्ता भवेत्यर्थः। नानावकृणां नानाविधवाग्भागीति न पूर्वविशेषणान्तः पातेन पौनरुक्त्यं धर्मे प्रस्तुते चारित्रधर्मे अविघ्नं विघ्नाभावस्ते तव भवतु इति कृत्वा धातूनामनेकार्थत्वादुपचार्य पुनः पुनरभिनन्दयन्ति वाचाऽभिष्टुवन्ति चेति । अथ येन प्रकारेण निर्गच्छति तमेवाह । ''त एएणमित्यादि'' ततस्तदनन्तरमृषभोऽर्हन् कौशलिको नयनमालासहस्रैः श्रेणिस्थितभगवद्दिदृक्षमाणनागरनेत्रवृन्दैः प्रेक्ष्यमाणः पुनः पुनरवलोक्यमानः आभीक्ष्ण्याद् द्विर्वचनमेवं सर्वत्र एवं तावद्वक्तव्यं यावन्निर्गच्छति यथोपपातिके यथा प्रथमोपाङ्गे च पाठो भम्भासारसूत्रस्य निर्गमगम उक्तस्तथाऽत्र वाच्यो वाचनान्तरेण यावदाकुलबोलबहुनभः कुर्व्वन्निति पूर्यन्त इति । तत्र च यो विशेषस्तमाह । विनीताया रायधान्या मध्यं मध्येन भागेन इत्यर्थः। निर्गच्छति सुखं सुखेनेत्यादिवन्मध्यं मध्येनेति निपातः। औपपातिकमम्मश्चायं ''हिययमालासहस्सेहिं अभिणंदिज्जमाणे २ मणोमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे २ वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे २ कंतिरूवसोहग्गगुणेहिं पिच्छिज्जमाणे २ अंगुलिमालासहस्सेहिं दायिज्जमाणे २ दाहिणेणं बहूणं णरणारिसहस्साणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे २ मंजुमंजुणा घोसेण आपडिपुच्छेमाणे २ भवणपंतिसहस्साइं समइच्छमाणे २ तंती तलतालतुडियगीयवाइयरवेण महुरेण य मणहरेण जयसद्दघोसविसएणं मंजुणा घोसेणं पडिबुज्झेमाणे कंदरगिरिविवरकुहरगिरिवरपासाउद्धघणभवणदेवकुलसिंघाडगतिगचउक्कचच्चर आरामुज्जाणकाणणसहापवाएसदेसभागे पडिसुं आसयसंकुल करें ति हयहेसिअहत्थिगुलगुलाइ अरहघणघणाइ सद्दमीसिएणं महया कलकलरवेण जणस्स महुरेण पूरयंते सुगंधवरकुसुमचुण्णउव्विद्धवासरेणुकविलं नभं करेंति कला गरुकंदुरुक्कतुरुक्कधूवनिवहेण जीवलोगमिव वासयंते समंत

उक्खत्तिअचक्कवालं पउरजणवालवड्ढपमुइअतुरीअप हाविअ विउलति आउलपदमारभ्य निर्गच्छति पदपर्यन्तं तु सूत्रे साक्षादेवास्ति । अत्र व्याख्या हृदयमालासहस्रैर्जनमनः समूहैरभिनन्द्यमानः २ समृद्धिमुपनीयमानो जयजीवानन्देत्याद्याशीर्दानेन मनोरथमालासहस्रैरेतस्यैवाज्ञापरा भवाम इत्यादिजनतविकल्पैर्विशेषेण स्पृश्यमानः २ इत्यर्थः । वदनमालासहस्रैर्वच नमालासहस्रैर्वा अभिष्टूयमानः २ कान्त्यादिगुणैर्हे तुभिः प्रार्थ्यमानः २भर्तृतया स्वामितया वा स्त्रीपुरुषजनैरभिलष्यमाणः २ दक्षिणहस्तेन बहूनां नरनारीसहस्राणा-मञ्जलिमालासंयुतकरमुद्राविशेषवृन्दानि प्रतीच्छन् २गृह्णन् २किमुक्त भवति त्रैलोक्यनाथेनापि प्रभुणा पौराणामस्माकमञ्जलिरूपा भक्तिर्मनस्यवतारितेति दक्षिणहस्तदर्शनम्। तथा महाप्रमोदाय भवतीति कुर्वन् मञ्जुमञ्जुनातिकोमलेन घोषेण स्वरेण प्रतिपृच्छन् २प्रश्नयन् प्रणमतां स्वरूपादिवार्ताभवनानां विनीता नगरी गृहणां पङ्क्तया समश्रेणिस्थित्या सहस्राणि न तु पुष्पावकीर्णस्थित्या समतिक्रामन् २ तन्त्रीतलताला: प्रसिद्धाः त्रुटितानि शेषवाद्यानि तेषां वादितं वादनं प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः गीतं च तयोः रेवेण । यद्वा तन्त्र्यादीनां त्रुटितान्तानां गीते गीतमध्ये यद्वादितं वादनं तेन यो रवः शब्दस्तेन मधुरेण मनोहरेण तथा जयशब्दस्य उद्घोषः उद्घोषणं विशदं स्पष्टतया प्रतिभासमानं यत्र तेन मञ्जुमञ्जुना घोषेण पौरजनरवेण च प्रतिबुद्ध्यमानः २ सावधानीभवन् कन्दराणि दर्यः गिरीणां विवरकुहराणि गुहापर्वतान्तराणि च गिरिवराः प्रधानपर्वताः प्रासादाः सप्त भूमिकादयः ऊर्द्धघनभवनानि ऊर्ध्वविस्तृतगृहाणि देवकुलानि प्रतीतानि शृङ्गटकं त्रिकोणस्थानं त्रिकं यत्र रथ्यात्रयं मिलति चतुष्कं यत्र रथ्याचतुष्टयं चत्वरं बहुमार्गा आरामाः पुष्पजातिप्रधानवनखण्डाः उद्यानानिपुष्पादिमद्वृक्ष-युक्तानि काननानि नगरासन्नानि सभा आस्थापिकाः प्रपा जलदानस्थानमेतेषां ये प्रदेशरूपा भागास्तान् तत्र प्रदेशा लघुतरा भागादेशास्तु लघवः प्रतिश्रुताः प्रतिशब्दास्तेषां शतसहस्राणि लक्षास्तैःसंकुलान् कुर्वन् अत्र बहुवचनार्थे एकवचनं प्राकृतत्वात् हयानां हेषितेन हेषारवरूपेण हस्तिनां गुलगुलायितेन गुलगलायितरूपेण रथानां घनघनायितेन घणघणायितरूपेण शब्देन मिश्रितेन जनस्य महता कलकलरवेण आनन्दशब्दत्वान्मधुरेणाकरेण पूरयन् २ अत्र नभ इति उत्तरग्रन्थवर्तिना पदेन योगः सुगन्धानां वरकुसुमानां च उद्वेध ऊर्द्धं गतो वासरेणुर्वासकरञ्जस्तेन कपिलं नभः कुर्वन् कालागुरुः कन्दुरुक्कश्चीडाभिधं द्रव्यं तुरुष्कं सिल्हकं धूपश्च दशागादिर्गन्धद्रव्य-संयोगजः एषां निवहेन जीवलोकं वासयन्निव अत्रोत्प्रेक्षातु जीवलोकवासनस्यावास्तवत्वेन सर्वतः क्षुभितानि ताश्च तया ससंभ्रमाणि चक्रवालानि जनमण्डलानि यत्र निर्गमे तद्यथा भवतीत्येवं निर्गच्छन्तीति । प्रचुरजनाश्च अथवा पौरजनाश्च बालवृद्धाश्च ये प्रमुदितास्त्वरितप्र-धाविताश्च शीघ्रं गच्छन्तस्तेषां व्याकुलाकुलानां यो बोलः शब्दः स बहुलो यत्र तत्तथा एवं भूतं नभः कुर्वन् विशेषणानां व्यस्ततया निपातः प्राकृतत्वादिति निर्गत्य च यत्रागच्छति तदाह । आसी इत्यादि आसिक्तमीषत्सिक्तं गन्धोदकानि प्रमार्जितं कचवशोधनेन सिक्तं तनैव विशेषतोऽत एव शुचिकं पवित्र पुष्पैर्य उपचारः पूजा तेन कलितं युक्तमिदं च विशेषणं प्रमार्जितासिक्तशुचिकमित्येवं दृश्यं प्रमार्जिताद्यनन्तर-भावित्वाच्छुचिकत्वस्य एवंविधसिद्धार्थवनविपुलराजमार्गं कुर्वन् तथा हयगजरथानां (पहकरत्ति) देशीशब्दोऽयं समूहवाची तेन हयादिसेनयेत्यर्थः । तथा पदातीनां च टंकारेण वृन्देन च मन्दं च यथा भवति तथा क्रियाविशेषणं यथा हयादिसेना पाश्चात्यसमेति तथा बहुतरबहुतमकमित्यर्थः । उद्धतरेणुकमूर्ध्वगतरजस्कं कुर्वन् यत्रैव सिद्धार्थवनमुद्यानं यत्रैवाशोकवरपादपस्तत्रैवोपागच्छतीति उपागत्य यत्करोति तदाह उपागत्याशोकवरपादपस्याधः शिविकां स्थापयति स्थापयित्वा च शिविकायाः प्रत्यारोहति अवतरतीत्यर्थः । प्रत्यवरुह्य च स्वयमेवाभरणालङ्कारान् तत्राभरणानि मुकुटानि अलङ्कारान् वस्त्रादीन् सूत्रे एकवचनं प्राकृतत्वात् आभरणानि च अलङ्काराश्चेति समाहारद्वन्द्वकरणाद्वा अवमुञ्चति त्यजति कुलमहत्तरिकायां हंसलक्षणपटे अवमुच्य च स्वयमेव चतसृभिः (अट्ठाहिंति) मुष्टिभिः करणभूताभिर्लुञ्चनीयकेशानां पञ्चमभागलुञ्चिकाभिरित्यर्थः लोचं करोति अपराङ्गालङ्कारादिमोचनपूर्वकमेव शिरोऽलङ्कारादिमोचनं विधिक्रमायेति पर्यन्ते मस्तकालङ्कारकेशविमोचनं तीर्थकृतः पञ्चमुष्टिकलोचसंभवेऽपि अस्य भगवश्चतुर्मुष्टिकलोचगोचरः श्री हेमाचार्यकृतऋषभदेवचरित्राभि-प्रायोऽयं प्रथममेकया मुष्ट्या श्मश्रुकूर्चयोः लोचे तिसृभिश्च शिरोलोचे कृते एकां मुष्टिमवशिष्यमाणां पवनान्दोलितां कनकाववदातयोः प्रभुस्कन्धयोरुपरि लुण्ठन्तीं भरकतोपमानमाबिभ्रतीं परमरमणीयां वीक्ष्य प्रमोदमानेन शक्रेण भगवन्मय्यनुग्रहं विधाय घ्रियतामेवमित्थमेवेति विज्ञप्ते भगवताऽपि सा तथैव रक्षितेति न ह्येकन्तभक्तानां याञ्चामनुग्रहीतारः खण्डयन्तीत्येवेदानीमपि श्रीऋषभमूर्तौ स्कन्धोपरि वेल्लरिकाः क्रियन्त इति लुञ्चिताश्च केशाः शक्रेण हंसलक्षणपटे श्रीरोदधौ क्षिप्ता इति । षष्ठेनभक्तेन उपवासत्रयरूपेण अपानके चतुर्विधाहारेण आषाढाभिरित्यत्र ''ते लुग्वे'' त्यनेन उत्तरापदलोपे उत्तराषाढाभिर्वचन वैषम्यमार्षत्वात् नक्षत्रेण योगमुपागतेनार्धाचन्द्रेणेति गम्यम् । उग्राणामननैव प्रभुणा आरक्षकत्वेन नियुक्तानां भोगानां गुरुत्वेन व्यवहृतानां राजन्यानां क्षत्रियाणां शेषप्रकृतितया विकल्पितानां चतुर्भिः पुरुषसहस्रैः सार्द्धमेते च बन्धुभिः सुहृद्भिः भरतेन च निषिद्धा अपि कृतज्ञत्वेन स्वाम्युपकारं स्मरन्तः स्वामिविरहभीरवो वान्तान्न इर राज्यसुखे विमुखा यत्स्वामिनाऽनुष्ठेयं तदस्माभिरपीतिकृतनिश्चयाः स्वामिनमनुगच्छन्ति स्म । एकं देवदूष्यं शक्रेण वामस्कन्धे जीतमित्य-र्पितमुपादाय न तु रजोहरणादिकं लिङ्गं कल्पावीतत्वाज्जिनेन्द्राणाम् । मुण्डो द्रव्यतः शिरः कूर्चलोचेन भावतः कोपाद्यपासनेन भूत्वा अगाराद् गृहवासान्निष्क्रम्येति गम्यमनगारितामग्राहीत । गृही असंयतस्तत्प्र-तिषेधादनगारी संयतस्तद्भावस्तत्ता तां साधुतामित्यर्थः प्रव्रजितः प्रगतः प्राप्तः इति यावत् । अथवा विभक्तिपरिणामादनगारितया निर्ग्रन्थतया प्रव्रजितः प्रव्रजितः प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः । जं० २ वक्ष० ।

अत्रैव वक्तव्यशेषं चूर्णिकृदाह ।

ये स उसभे कोसलिए पढमराया पढमभिक्खायरिए पढमतित्थयरे वीसं पुव्वसयस्साइं कुमारवासे वसित्ता तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं रज्जमणुपालेमाणे लेहाइयातो सउणरतपज्जवसाणातो बावत्तरिं कलातो चोसट्ठिं महिलागुणे सिप्पाणमेगंसयमेए तिन्नि पयाहियट्ठाए उवदिसइ उवदिसित्ता पुत्तसयं रज्जे सए अभिसिंचइ ततो लोगंतिएहिं देवोहिं जीयम्मि तिकट्ठु संवोहिए संवच्छरियं दाणं दाऊण भरहं विणीयाए बाहुबलि बहलीए कच्छमहाकच्छाणं सहस्सपरिवारा भयवया सह अणु

पव्वइया अन्ने भणंति एए वि कच्छमहाकच्छे रज्जे ठवेइ ठवेइत्ता चेत्तबहुलट्ठमीए दिवसस्स पच्छिमे भागे सुदंसणाए सिवियाए सदेवमणुयासुराए परिसाए समणुगम्ममाणे विणीयाए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छमाणे जेणेव सिद्धात्थवणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता असोगवरपायवस्स हेट्ठा भयवया सयमेव कतो चउमुट्ठिओ लोचो पंचमुट्ठिग्गहणेहिं भगवतो कणगावदाते सरीरे अंजणरेहाओ इव रेहंतीओ सक्को उवलम्भिऊणं भणिया इतो भयवं एयातो एवमेव चिट्ठंतु तहेव वियातो तेण भगवतो चउमुट्ठिओ लोओ। लोयं काऊण छट्ठेण भत्तेण अपाणएणं आसाढानक्खत्तेणं उग्गाणं भोगाण रायण्णाणं खत्तियाणं चउहिं सहस्सेहिं सद्धि तेसिं पंचमुट्ठितो लोचो आसि। एगं देवदूसमादाय पव्वइतो। सव्वतित्थयरा विणयं सामइयं करेमाणा एवं भणंति करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोग पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण जाव वोसिरामि भदंत इति न भणंति तथा कल्पत्वादत ऊर्ध्वमेतदेवोपसंहरन्नाहेत्यादिवक्तव्यम्। एवं भगवं कयसामाइओ नाणाभिग्गहं परमं घोरं घेत्तूण वोसट्ठचत्तदेहो विहरइ भगवं अरहा उसभे कोसलिए साहियं संवच्छरं चीवरधारी होत्था एवं जाव विहरइ। ताहे पुव्वमणिप्पगारेण दुवे कच्छमहा कच्छाणं पुत्ता णमिविणमिनो उवट्ठिया भयवं विणवंति जहा भयवं अहं तुब्भेहिं संविभागो ण केवइ वत्थुणा कत्तो त्ति ततो ते सन्नद्धबद्धकवया करवालवग्गहत्थाओ लग्गति विण्णवंति यति सज्झं ताव तुब्भेहिं सव्वेसिं तोगा दिन्ना ता अम्ह वि देह एवं तिसज्झं विण्णावंताणं मोलग्गंताणय कालो वच्चइ। अन्नय धरणो नागकुमारिंदो भयवतो वंदंतो आगतो इमेहि य विन्नवियं ततो सो ते तहा जायमाणे भवइ भो सुणह भयवं चत्तसंगो गयरोसतोसो सरीरे वि निम्ममत्तो अकिंचणो परमजोगी निरुद्धासवो कमलपत्तनिरुवलेवचित्तो मा एयं जायह अहं तु भगवतो भत्तीए मा तुब्भं सामिसेवा अफला होउत्ति काउं पढियसिद्धाइं अडयालीसं विज्जासहस्साइं देमि ताण इमातो चत्तारि महाविज्जातो। तं जहा। गोरी गंधारी रोहिणी पन्नत्ती तं गच्छह तुब्भे विज्जारिद्धीए सजणं जणवयं उज्जलोभेऊण दाहिणिल्लाए उत्तरिल्लाए विज्जाहरसेढीए गगणवल्लहपामोक्खे रहनेउरचक्कबालपामोक्खे य पण्णासं सद्धिं च विज्जाहरनगरे निवेसिऊणं विहरह। ते वि तं सव्वमाणत्तियं पडिच्छिऊण लद्धपसाया कामियं पुप्फगविमाणं विउव्विऊणं भगवं तित्थयरं नागरायं च वंदिऊण पुप्फगविमाणमारूढा कच्छमहाकच्छाणं भगवप्पसायं उवदंसेमाणा विणीयनगरिमतिगम्म भरहस्स रण्णो तमत्थं निवेइत्ता सयणं परियणं च गहाय वेयड्ढे उत्तरसेढीए विनमीसट्ठिं नगराइं गगणवल्लभपमुहाइं निवेसइ नमी दाहिणसेढीए रहनेउरचक्कवालाईणि पन्नासं नगराणि निवेसइ। जइ जतो जणवयातो नीया मणुया तेसिं तन्नामा वेयड्ढे जणवया जाया। विज्जाहराणं च एगेगस्स अट्ठट्ठनिकाया सव्वे मिलिया सोलस ते पि इमे गोरीणं विज्जाणं मणुया गोरिया १ मणूणं मणूया २ गंधारीणं गंधारा ३ माणवीणं माणवा ४ केसिगाणं केसिगा ५ भूमितुंडिगाणं भूमितुंडिगा।६।७। मूलवीरियाणं मूलवीरिया ८ संवुक्काणं संवुक्का ९ कालीणं कालिया १० समकीणं समका ११ सायंगीणं मायंगा। १२ पव्वईणं पव्वया १३ वंसालयाणं वंसालया १४ पंसुमूलियाणं पंसुमूलिया। १५ रुक्खमूलियाणं सक्खमूलिया १६ एवं ते नमिरिनमीसोल-सविज्जाहरनिकाए विभइऊणं देवा इव विज्जावलेण गगणवासिणो सयणपरियणसहिया एणुयदेवभोए भुंजंति। पुरेसु भगवतो उसभसामिस्स रज्जमणुपालेमाणस्स वयपडिमा ठविया विज्जाहिवइणो य धरणस्स नागरयस्स। (आ० म० प्र०) चतुर्भिः सहस्रैः समन्वित इत्युक्तम्। तत्र तेषां दीक्षां किं भगवान् प्रदत्तवान् उत नेति तत्राह।

चउरो य सहस्सीओ, लोयं काऊण कप्पणा चेव।
जं एस जहा काही, तं तह अम्हे वि काहामो॥

चत्वारि सहस्राणि सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् लोचमात्मनैव पञ्चमुष्टिकं कृत्वा इत्थं प्रतिक्षां कृतवन्तो यत्क्रियानुष्ठानमेष भगवान् यथा येन प्रकारेण करिष्यति तत्तथा (अम्हे वि) वयमपि करिष्याम इति। भगवानपि भुवनगुरुत्वात्स्वयमेव सामायिकं प्रतिपद्य विजहार। तथा चाह "उसभो वरवसभगई", घेत्तूण अभिग्गहं परमघोरं। वोसट्ठचत्तदेहो, विहरइ गामाणुगामं तु"॥

(१६) अथ भगवतश्चीवरधारित्वकालमाह।

उसभेणं अरहा कोसलिए संवच्छरं साहियं चीवरधारी होत्था तेणं पर अचेलए॥

ऋषभोऽर्हन् कौशलिकः साधिकं समासमित्यर्थः (संवच्छरं) वर्षं यावद्वस्त्रधारी अभवत्ततः परमचेलकः। अत्रायं केचन लिपिप्रमादादार्षेप्विदमधिकामित्याहुरतैरावश्यकचूर्णिगतश्रीऋषभदेवदेवदूष्याधिकारे अयमेवालापको द्रष्टव्यः। जं० २ वक्ष ०।

अथ भगवतो विहारमाह।

उसभो वरवसभगई, घेत्तूण अभिग्गहं परमघोरं।
वेसट्ठचत्तदेहो, विहरइ गामाणुगामं तु।

ऋषभो वरवृषभगतिरभिग्रहं-परमघोरं परमः परमसुखहेतुत्वात् घोःप्राकृतपुरुषैः कर्तुमशक्यत्वात् व्युत्सृष्टत्यक्त देहो ग्रामानुग्रामं विहरति। व्युत्सृष्टो निष्प्रतिकर्मशरीरतया तथा चोक्तम्। "अच्छिं पि नोपमज्जिय नो वि य कंडूइ यामुणी गायं" इत्युक्तः खलु उपसर्गसहिष्णुतया स एवं भगवान् तैरात्मीयैः परिवृतो विजहार न तदा अद्यापि भिक्षादानं प्रवर्तते लोकस्य परिपूर्णत्वेनार्थित्वाभावात्तथाचाह।

नवितात्र जणोजाणइ, का भिक्खा के रिसाय भिक्खयरा।
ते भिक्खमलभमाणा, वणमज्झे तावसा जाता॥

नापि तावज्जनो जानाति यथा का भिक्षा कीदृशा वा भिक्षाचरा इति ततस्ते भगवत्परिवारभूता भिक्षामलभमानाः क्षुत्परीषहार्ताः भगवतो मौनव्रतावस्थितादुपदेशमनाकर्णयन्तः कच्छमहाकच्छविदमुक्तवन्तः। अस्माकमनाथानां भवन्तौ नेतारावतः कियन्तं कालमस्माभिरेवं क्षुत्पिपासोपगतैरासितव्यं तावाध्तुःवयमपि तावन्न विद्मः यदि भगवाननागतमेव पृष्टोऽभवत् किमस्माभिः कर्तव्यं किं वा नेति ततः शोभमं भवेत्। इदानीं त्वेतावद्युज्यते भरतलज्जया गृहगमनमयुक्तमाहारमन्तरेण चाशितुं न शक्यते ततो वन वासो नः श्रेयान् तत्रोपवासरताः परिशटितपरिणतपत्राद्युपभोगिनो भगवन्तमेव ध्यायन्तस्तिष्ठाम इत्येवं संप्रधार्य सर्वसम्मतेनैवं गङ्गनदीदक्षिणकूलेषु रम्येषु वनेषु वल्कलचीवरधारिणः खल्वाश्रमिणरसंवृत्तास्तथा चाह। वनमध्ये तापसा जातास्तयोश्च कच्छमहाकच्छयोः सुतौ नमिवनमीपित्रनुरागात्ताभ्यां सह विहृतवन्तौ तौ च वनश्रेयकाले ताभ्यामुक्तौ दारुणः खल्विदानीमस्माभिर्वनवासविधिरङ्गीकृत

स्वद्यात यूयं स्वगृहाणि। यदि वा भगवन्तमेवमुपसर्पत स चानुकम्पया अभिलषितफलदो भविष्यति तावपि च पित्रोः प्राणामं कृत्वा पित्रादेशं तथैव कृतवन्तौ भगवत्समीपमागत्य च प्रतिमास्थिते भगवति जलाशयेभ्यो नलिनीपत्रेषूदकमानीय सर्वतो जलप्रवर्षण कृत्वा आजानोच्छ्रायप्रमाणसुगन्धि कुसुमप्रकरं च कृत्वा अवनतोत्तमाङ्गक्षितिनिहितजानुकरतलौ प्रतिदिवसं त्रिन्सध्यं राज्यसंविभागप्रदानेन भगवन्तं विज्ञाप्य पुनस्तदुभयपार्श्वं खड्गव्यग्रहस्तौ तस्थतः। तथा चाह।

नमिविनमीणं जयणा, नागिंदो वेजज्दाणवेयड्ढे।
उत्तरदाहिणसेढी. सट्ठिपन्नासनगराइं॥

नमिविनम्योर्याचना नागेन्द्रो भगवद्वन्दनायागतस्तेन विद्यादान मनुष्ठितं वैताढये पर्वते उत्तरदक्षिणश्रेण्योर्यथाक्रमं षष्टिपञ्चाशन्नगराणि निवेशितानि। भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्।

एवं भयवं कयसा–माइओ जाव नागरायस्स।
भयवं अदीणमनसो, संवच्छरमणसिओ विहरमाणो॥
कन्नाहिं निमंतिज्जाइ, वत्थाभरणासणेहिं च॥

भगवानपि अदीनमना निष्प्रकम्पचित्तः संवत्सरं वर्षं न अशितोऽनशितो विहरन् भिक्षाप्रदानानभिज्ञेन लोकेनाभ्यर्हितत्वात् कन्याभिर्निमन्त्र्यते वस्त्राणि पट्टदेवाङ्गादीनि आभरणानि कटकेयूरादीनि आसनानि सिंहासनानि तैश्च निमन्त्र्यते वर्तमाननिर्देशप्रयोजनं प्राग्वत्।

(१७) अथैवं विहरता भगवता कियत्कालेन भिक्षा लब्धेत्यत आह।

संवच्छरेण भिक्खा, लद्धा उसभेण लोगनाहेण।
सेसेहिं वीयदिवसे लद्धाओ पढमभिक्खाओ॥

संवत्सरेण भिक्षा ऋषभेण लोकनाथेन प्रथमतीर्थकृता लब्धा शेषैरजितजिनादिभिर्द्वितीयदिवसे प्रथमभिक्षा लब्धा।

संप्रति यद्यस्य पारणकमासीत्तदभिधित्सुराह॥

उसभस्स उ पारणए, इक्खुरसो आसि लोगनाहस्स।
सेसाणं परमन्नं, अमियरसरसोवमं आसी॥

ऋषभस्य लोकनाथस्य पारणके इक्षुरस आसीत् शेषाणाम जितस्वाम्यादीनां परमान्नं पायसममृतरसेन रसस्योपमा यत्र तदमृतरसरसोपममासीत्।

तीर्थकृतां प्रथमपारणके यद्वृत्त तदभिधित्सुराह।

घुट्ठ च अहो दाणं, दिव्वाणि य आहयाणि तूराणि।
देवा य संनिवइया, वसुहारा चेव बुट्ठा य।

देवैराकाशस्थितैर्घुष्ट यथा अहो दानमिति। अहो शब्दो विस्मये अहो दानमहो दानमस्यायमर्थः। एवं हि दीयते एवं दत्तं भवतीति। तथा दिव्यानि तूराणि त्रिदशैराहतानि देवाश्च तदैव सन्निपतिता वसुधारानिपातार्थमाकाशे जृम्भका देवाः समागतास्ततो वसुधारा वृष्टा द्रव्यवृष्टिरभूदित्यर्थः। एवं सामान्येन पारणककालभाव्युक्तमिदानीं यत्र यथा च यद्यादितीर्थकरस्य पारणकमासीत्तदभिधित्सुराह।

गयपुरसेज्जंसिक्खु–रसदाण वसुहारपीढगुरुपूया।
तक्खसिलायलगमणं, बाहुबलिनिवेयणं चेव॥

अस्या भावार्थः कथानकादवसेयस्तच्चेदम् (आ० म० प्र०)

आकरस्सर्ववस्तूनां, देशोऽस्ति कुरुनामकः।
समुद्र इव रत्नानां, गुणानामिव सज्जनः॥ १॥
पुरं गजपुरं तत्र, क्षरद्गजमदोर्मिभिः।
तदैव नर्मदा जज्ञे, नूनं या दृश्यतेऽधुना॥ २॥
तत्र बाहुबलेः पुत्रः, सोम्यस्सोमप्रभो नृपः।
चित्रं पद्माहितानन्दः, सूरस्तीव्रप्रतापवान्॥ ३॥
श्रेयांसस्तनयस्तस्य, यौवराज्यपदास्पदम्।
क्रीडत्यद्यापि विश्वश्री–क्रोडान्तर्यद्यशः शिशुः॥ ४॥
स स्वप्ने मन्दरं शैलं, श्यामवर्णं निरैक्षत।
तदैवामृतकुम्भेना–भ्यषिञ्चत् शुशुभेऽधिकम्॥ ५॥
राज्ञा दृष्टो भटः स्वप्ने, युध्यमानः सहारिभिः।
श्रेयांसकृतसाहाय्यो, भगवान् सांऽपि तद्बलम्॥ ६॥
श्रेष्ठी सुबुद्धिरद्राक्षी–त्स्वप्ने सूर्यमरश्मिकम्।
श्रेयांसोऽशौ न्यधाद्रश्मीं–स्ततस्स द्विगुणं बभौ॥ ७॥
राजस्थानेऽथ मिलिताः, सर्वे स्वप्रान्न्यवेदयन्।
असंभाव्याः परं स्वप्न–फलमायाति तन्मतौ॥ ८॥
श्रेयांसस्य महालाभो, भावीत्युक्त्वा महीपतिः।
आस्थानीतः समुत्तस्थौ, श्रेयांसोऽपि ययौ गृहम्॥ ९॥
तत्र वातायनासीनः, प्रभुमायान्तमैक्षत।
सोऽथ दध्यौ मयेदृक्षं, नेपथ्य क्वाप्यदृश्यत॥ १०॥
पितामहस्य मे यादृक्, जातिस्मृतिरथाभवत्।
प्राग्भवश्रुतमज्ञासीद्, दृष्टं सस्मार चाखिलम्॥ ११॥
तत्रेक्षुरसकुम्भं को–ऽप्यानयत्प्राभृतेऽस्य च।
तमेव कुम्भमादायो–पस्थितः स प्रभुं प्रति॥ १२॥
प्रभुणाऽपि शुध्यतीति, पाणिपात्रं प्रसारितम्।
रसः सर्वोऽपि निक्षिप्तः, प्रभुरच्छिद्रपाणिकः॥ १३॥
न छर्दते विन्दुरपि, शिखाब्धिरिव वर्द्धते।
स्वामी युगाग्रिमस्तेन, वर्षान्ते पारणं व्यधात्॥ १४॥
प्रादुर्भूतानि दिव्य नि, वसुधाराऽपतद्गृहे।
चेलोत्क्षेपः कृतो देवै–र्दैवदुन्दुभयो हताः॥ १५॥
पञ्चवर्णा पुष्पवृष्टि–र्वृष्टिर्गन्धोदकस्य च।
अहो दानमहो दान–मुदघोष्यम्बरे सुरैः॥ १६॥
तद्देवागमनं वीक्ष्य, श्रेयांसगृहमाययुः।
लोकाः सर्वेऽपि राजानोऽन्ये च ते च तपस्विनः॥ १७॥
श्रेयांसोऽचीकथदथ, भिक्षेदृग् दीयते जनाः!।
सुगतिर्लभ्यतेऽमुत्र, दत्ते चैषां सुचेतसाम्॥ १८॥
सर्वेऽपि तमथ प्रोचुर्ज्ञातमेतत्कथं त्वया।
यथा भगवतो भिक्षा, दीयतेऽन्नजलादिका॥ १९॥
श्रेयांसः स्माह विज्ञातं, जातिस्मरणतो मया।
अष्टौ भवान् भगवता, सहाहं भ्रान्तवान् यतः॥ २०॥
पृष्टस्तैः कथयामास, प्राग्वदेव भवाष्टकम्। आ० क०॥

(१८) ऋषभस्वामिनः श्रेयांसेन भवाष्टककथनम्॥

अट्ठभवग्गहणाणि वसुदेवहिंडीए तहा विट्ठाणा सुत्तत्थं संखेवतो भण्णइ सेज्जंसो भणइ। इओ य छट्ठभवे उत्तरकुरुए अहं मिहुणा इत्थिया भयवं मिहुणपुरिसो आसि। ततो वयं तम्मि देवलोकभूए दसविहकप्परुक्खप्पभावसंपज्जमाणभोगोवभोगा कइयाइ। उत्तरकुरुद्दतीरदेसे असोगपायवच्छायाए वेरुलियमणिसिलायले णवणीयसरिसफासे सुहनिसण्णा अत्थामो। देवो य तम्मि हरए मज्जिउं उप्पइतो गगणदेसेण। ततो तेण नियगप्पभाए पभासियातो दसदिसातो ततो सो मिहुणपुरिसो तं तारिसं पस्समाणो किं वि चिंतेऊण मोहं उवगतो कहमवि लद्धसण्णो भणइ। हा सयंपभे! कत्थासिं देहि मे पडिवयणं

तं च तस्स वयणं सोऊण इत्थिया वि कथमन्ने मए सयंपभाभिहाणं अणुभूय पुव्वंति चिंतेमाणो तहेव मोहमुवगया। पच्चागयचेयणा भणइ। अहो अज्ज अहं सयंपभाजीवे तुज्झेहिं नामं गहियं ति ततो पुरिसो परं तुट्ठिमुव्वहंतो भणइ अज्ज कहेहिं कहं तुमं सयंपभा। ततो सा भणइ कहेमि जं सुयमणुसुयं च अत्थि ईसाणो कप्पो तस्स मज्झदेसातो उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे सिरिप्पभं नाम विमाणं तत्थ ललियंगतो नाम देवो अहिवई। तस्स सयंपभा अग्गमहिसी बहुमया आसिसा अहं तस्स य देवस्स तिए सह दिव्वविसयसुहसागरगयस्स बहुकालो दिवसो इव गतो। कया चिंतावरो पभलायमल्लदामो अहो दिट्ठिज्झायमाणो मए सपरिसाए विण्णवितो। देव! कीस विमणो दीससि। को ते माणसो संतावो। ततो सो देवो भणई। मए पुव्वभवे तवो थोबो कतो ततो अहं तुब्भेहिं विप्पजुज्जीहामित्ति परो संतावो ततो अम्हेहिं पुणरवि पुच्छितो। कहेह कहं तुब्भेहिं थोवो तपो कतो। ततो भणति जंबुद्दीवे दीवे अवर विदेहे गंधिलावइविजए गंधमायणवक्खारगिरिवरासण्णवेयड्ढपव्वए गंधारा नाम जणवआ। तत्थ समिद्धजणासेवियं गंधसमिद्धं नाम नयरं। तत्थ राया जणवयहितो सयबलस्स रण्णो नत्तुओ अइबलस्स सुतो महाबलो नाम। सो अहंपिउपियामहपरंपरागयं रज्जसिरिं अणुभवामि। मम य बालमित्तो खत्तियकुमारो सयंबुद्धो नाम सो य जिणसासणभावियमई विइतो संभिन्नसोतो सो पुण मंती बहुसु कज्जेसु पुच्छणिज्जो परं नाहियवाई एवं तेहिं समं रज्जमणुपालेमाणो समं इत्थिए बहुम्मि काले। काया वि गीयपडिरत्तो नच्चमाणिं नट्टियं पस्सामि सयंबुद्धेण विण्णवितो देव! ''सव्वंगीयं विलवियिं सव्वं नट्टं विडंवणा। सव्वा आभरणा भारा कामा पुण दुहावहा'' ता परलोग हिए चित्तं निवेसियव्वं असासयं जीवियं अहितो विसयपडिबंधो। ततो मए भणियं कहं गीयं सवणामयं विलासेकहं नयणुब्भुदयं नट्टं विडंवणा कहं वा देहविभूसणाणि आभरणाणि भारो लोगसारभूया पीइकरा कामा कहं दुहावहा। ततो संभंतेण सयंबुद्धेण भणियं। सुणह सामी पसन्नचित्ता जहा गीयं विलावो जहा काइ वि इत्थिया पव्विइयपइगा पइणो सुमरमाणी तस्स समागममभिलसंती भत्तुणो गुणे विकप्पेमाणी पदोसे पच्चूसे य विलबमाणी चिट्ठइ। जहा वा को वि भिच्चो पहुस्स कुवियस्स पसायणानिमित्तं दासभावे अप्पाणं ठवेऊण पण्णत्तो जाणि वयणाणि भासइ ताणि विलावो तहा इत्थी पुरिसो वा सरागमण्णोण्णाभिलासी कुवियपसायणानिमित्तं वा जातो कायमणवाइयातो किरियातो पउंजइ ताओ कुसलनिबद्धओ गीयंतिए वुच्चइ तं पुण सामी चिंतेइ किं विलावपक्खे वट्टइ न वा इति। नट्टं जहा विडंवणा तथा भन्नइ। इत्थी पुरिसो वा जक्खाइट्ठो पीयमज्जो वा जातो कायविक्खेवकिरिया तो दंसेइ सा विडंवणा एवं। जा इत्थी पुरिसो वा पहुणो परितोसणनिमित्तं विदुसजणनिबद्धविधिमणुसरंतो जे पाणिपायसिरनयणाधरादी सा जण्णं वि परमत्थतो विडंवणा। इयाणि आभरणाणि भारो भाविज्जइ। कोइ पुरिसो सामिणो नियोगेण पेडागयाणि मउडाईणि आभरणाणि वहेज्जा जहा सो अवस्सं भारेण पीडिज्जइ एवं जो परविम्हयनिमित्तं ताणि चेव आभरणाणि जोग्गेसु सरीरट्ठाणेसु सन्निवेसियाणि वहइ सो वि भारेण पीडिज्जइ नवरं सो रागेण भारं न गणइ। कामा पुण एवं दुहावहा जहा सद्दमुच्छितो मिगो, रूवमुच्छितो पयंगो, गंधमुच्छितो महुयरो, रस मुच्छितो मच्छो, फरिसमुच्छितो गइंदो, वहबंधणमारणाणि पावइ। एवं जीवा वि सोइंदिया इव सगया सद्दाइसंरक्खणपरा तदवरोधकारिसु पडणीएसु कलुसहियया इह लोगे वि मारणादीणि पावेंति परलोगे नरगाइदुक्खभायणं ततो दुहावहा कामा। एवं भणंतो सयंबुद्धो मए भणितो नूणं तुमं मम अहितोसि जो मं संसइयपरलोयसुहेण लोभंतो संपइ सुहं च निंदतो दुहे पाडेतुमिच्छसि। ततो संभिन्नसोएण भणितो सामि! सयबुद्धो जहा जंबुको मच्छकंखी मंसपेसिं चइत्ता णं मच्छं पइ धावितो मच्छो जले निमग्गो मंसपेसी सउणियाए गहियत्ति निरासो जातो तहा संदिद्धपरलोयसुहासाए दिट्ठं सुहं परिच्चयंतो उभयो विमुक्को सोइहिइ। सयंबुद्धो भणइ जं तुमं तुच्छकसुहमोहितो भणसिं को तं सवेयणोपमाणं करेइ को कुसलजणपसंसियं रयणं सुहागयं कायम्मि पसत्तो न इच्छइ तं केरिसं मन्नसि। तं संभिन्नसोयधीरा सरीर विभवाईण मणिव्वयाइ जाणिऊण कामभोगे परिव्वज्ज तवसि संजमे य निव्वाणसुहकारणे जुत्तंत्ति। संभिन्नसोयो भणइ सयंबुद्ध! मरणं होहित्ति किं सक्का पढममेव मुसाणे ठाइउं नूणं तुमं टिट्टिभीसरिसो। जहा टिट्टिभी गगणपडणसंकिया धरेउकामा उद्धपाया सुवइ तहा तुमंपिरणं करि होहित्ति अइपयत्तकारी संपइकालियं सुहं परिचाय अणागयकालियं सुहं पत्थेसि नणु पत्ते मरणसमए परलोगहियमायरिस्सामो। सयंबुद्धेण भणियं मुद्ध? जुद्धे संपलग्गे कुंजरतुरगदमण कज्जसाहगं न हवइ। न वा गेहे पज्जलित्ते कूवखणणं कज्जकरं। जइ पुण दमणं खणणं वा पुव्वकयं होंते तो परबलमहणं जलणविज्झावणं च सुहेण होंतं। एवं जो अणागयमेव परलोगहिए न उज्जमइ सो उक्कमंतेसु पाणेसु परमदुक्खाभिभूतो किह परलोगमणुट्ठेहित्ति। एत्थ सुणेहि वियक्खणकहियं उवएसं। कोइ किल हत्थी जरापरिणतो गिम्हकाले कंचि गिरिनइं समुत्तरंतो विसमे तीरे पडितो सो सरीरगरुयत्तणेण दुव्वलत्तेण य उट्ठेउमसत्तो तत्थेव कालगतो सो अपाणदेसे सियालेण परिक्खइतो तेण मग्गेण एगो वायसो अतिगतो उदगं च उ वजीवंतो चिट्ठइ उण्हेण य डज्झ माणे कलेवरे सो पएसो संकुचितो वायसो तुट्ठो अहो निरावाह जायं पाउसकाले य तं गयकलेवरं गिरिनईपूरेण बुज्झमाणं महानय सोय पडियं समुद्दमतिगयं। तत्थ मच्छमगरेहिं छिन्नं ततो जलपूरियातो कलेवरातो वायसो निग्गतो तीरं अपस्समाणो तत्थेव निहणमुवगतो जइ पुण अणागयमेव निग्गतो होंतो तो दीहकालं सच्छंदप्पयारं विविहाणि य मंसोदगाणि य आहारेंतो। एयस्स दिट्ठंतस्स अयमुवसंहारो। जहा वायसो तहा संसारिणो सत्ता, जहा हत्थिकलेवरप्पवेसो तहा मणुस्सबोंदिलाभो जहा कलेवरब्भंतरे मंसमुदगं च तहा विसयसंपत्ती, जहा मग्गनिरोधो तह तब्भवपडिबंधो, जहा उदकसोयविच्छोभो तहामरणकालो जहा विवरानिग्गमो तहा परभवसंकमो। तं जाणाहि संभिन्नसो य सो जो तुच्छए निस्सारे थोवकालिए कामभोगे परिच्चइऊण तवसंजमुज्जोगं करेइ सो सुग्गइगतो न सोहिइ जो पुण विसएसु गिद्धो मरणसमयमुदिक्खइ सो सरीरभेए अगहियपाहे इयो चिरं दुही होहिइ तं मा जंबुक इर तुच्छकप्पणामेत्तसुहपडिबद्धो विउलकालियं सुहमवमन्नसु। संभिन्नसोएण भणिअं। को सो जंबुकदिट्ठंतो। सयंबुद्धेण भणियं सुणाहि। कोइ किर वणयरो वणे संचरमाणो विसमे पएसे ठितो दिट्ठो एगो गइंदो। सो एगेण कंडेण आहतो निट्ठुरं मम्मप्पदे-

सलग्गकंडप्पहारेण पडितो पडंतेण एगो महाकाओ सप्पोअक्क मितो अद्धनिग्गतो अत्थइततो पडियं गयं जाणिऊण सजीवं धणुमत्रकिरिय परेसु गहाय दंतमोत्तियगइंदं संलयमाणो तेण सप्पेण खश्तो मतो। ततो एगेण जंबुगेण परिब्भंतेणसोहत्थी सो य मणुस्सो दिट्ठो। भीरुत्तणयेण अवसरितो मंसलोलुयाए पुणो अल्लीयइ। ततो निज्जीवंति निस्संसयो मुणिऊण तुट्ठो अवलोएइ चिंतेइ य हत्थी जावज्जीवयं भत्तं मणुस्सो पप्पो य कंचि कालं होहिइ। जीवा बंधणं ताव खाएमि त्ति तुट्ठो मंदबुद्धी धणुकोडीए छिन्नपडिबंधाए तालुदोस भिन्नो मतो। जइ सो पुण अप्पसारं तुच्छंति जीवा बंधणं परिहरिऊण हत्थी मणुस्सोरगकलेवरेसु लग्गंतो ताणि य अण्णाणि चिरं खायंतो। एवं तुमं पि जाणाहि। जो माणुससोक्खपडिबद्धो परलोगसाह णनिरवेक्खो सो जंबुको इव विणस्सिहिइ जं पि सामी तुब्भे भ णह। संदिट्ठो परलोगो इति तं पि न जुत्तं जतो तुब्भे मए सह कुमारकाले नंदण उज्जाणमुवगया तत्थ एगो देवो आगासातो उवेइ तं दट्ठूण अम्हे अवसरिया देवो य दिव्वाएगतीए खणेण अम्ह समीवं पत्तो। भणिया य अम्हे तेणं अहो महाबल! अहं तव पियामहो सयंबलो रज्जसिरिं पयाहिऊण विण्णवितो लंतगे कप्पे अहिवई जातो। ता तुब्भे वि मा पमायह। भावह अप्पाणं जिणवयणेणं ततो सुगइगामिणो भवेस्सह। एवं वोत्तूण देवो गतो। तं जइ सामिं तुब्भे सुमरह तत्थो अत्थि परलोगोत्ति। सद्दहइ। मया भणियं सुमरामि सयं तोत लद्धावगासो सयं बुद्धो भण्इ सुणह सामि! पुव्ववुत्तंत। तुब्भं पुव्वजो कुरुचंदो नाम राया आसी तस्स य देवी कुरुमई हरिचंदो कुमारो सो य राया नत्थिकवाई बहूणं सत्ताणं वहाय समुट्ठितो निस्सीलो निव्वतो एवं तस्स बहू कालोअतीतो मरणकालो अस्सायवेयणीयबहुलयाए नरगपडिरुवगो पोग्गलपरिणामो संवुत्तो गीयं सुश्महुरं अक्कोसंति मन्नइ मणोहराणि रूवाणि विकतानिपासति खीरं खंडसक्करोवणीयं पूइं मन्नइ चंदणाणुलेवणं मुंमुरं वेएइ हंसतूलमहुफासं कंटकिसाहासचयं पडिसेवइ तस्स तहाविहमसुभकम्मोदयातो विवरीयभावं जाणिऊण कुरुमई देवी हरिचंदेण सह पच्छन्नं पडियरइ। एवं सो कुरुचंदो राया परमदुक्खितो कालगतो तस्स नीहरणं काऊण सजणवयं गंधसमिद्धं नाएणं पालेइ पिउणो य तहाभूयं मरणमणुचिंतियस्स एवं मती समुप्पन्ना। अत्थि सुकयदुक्कयफलंति ततो अणेण एगो खत्तियकुमारो वालवयंसो सुबुद्धी संदिट्ठो। भद्द! तुमं पंडियजणोवइट्ठं धम्मकहं पइदिणं मे कहेसु एसा चेव ते सेवत्ति। ततो सो एवं निउत्तो जं जं धम्मसंसियं वयणं सुणेइ तं तं राइणो निवेएइ राया सद्दहइ तहेव पडिवज्जइ। कयाइं च नगरस्स नाइदूरे तहारूवस्स साहुणो केवलनाणुप्पत्तिमहिमं काउं देवा उवागया एवं सुबुद्धिणा खत्तियकुमारेण जाणिऊण हरिचंदस्स रण्णो निवेइयं। सो वि देवागमणविम्हितो तुरियं पवरतुरंगारूढो साहुसपीवमागतो वंदिऊण विणएण निसण्णोकेवलिमुह विणिग्गयं वयणामयं सुणेइ। सोऊण संसारमोक्खसरूवं अत्थि परभवसंकभोत्ति निस्संकिय जायए पुच्छइ। भयवं! मम पिया कं गइं गतो। भगवया भणियं हरिचंद! तव पिया अनिवारियपावसवो बहूणं सत्तावणं पीडाकरो पाकम्मगरुयत्ताए इह य विवरीयवियोधलंसणं पाविऊण अहे सत्तमपुढवीए नेरइओ जातो। सो तत्थ परमनिव्विसहं निरुवमं निप्पडियारं दुक्खमणुभवइ। ततो कम्मविवागं पिउणा सोऊण हरिचंदो राया संसारभयभीतो वंदिऊण केवलनाणिं सनगरमइगतो ततो पुत्तस्स रायसिरिं सम्पेऊण सुबुद्धिं संदियइ। तुमं मम पुत्तस्स उवएसं देज्जासि त्ति। तेण विण्णवितो सामि! अहं केवलिणो वयणं सोऊण सह तुब्भेहिं न करेभि तवं तो मए न सुयं परमत्थतो केवलिवयणं तम्हा अहं पि तुब्भेहिं समं पव्वइस्सामि।

जं पुण उवदेसो दायव्वोत्ति संदिसह तं मम पुत्तो काहिइ। ततो राया पुत्तं संदिसइ तुमे सुबुद्धिसुयोवएसो कायव्वो। ततो पलित्तगिरिकंदरातो सीहो इव राया विणिग्गतो तव्वइतो केवलिसमीवे सह सुबुद्धिणा। ततो परमसंवेगो सज्झायपसत्थचिंतणपरो परिक्खवियकिलेसजालो समुप्पन्नकेवलनाणदंसणो परिनिव्वतो तस्स हरिचंदस्स रायरिसिणो वंसे संखाईएसु नरवईसु धम्मपरायणेसु अतिक्कंतेसु तुब्भे संपयं सामी। अहं पुण सुबुद्धिवंसे तं एस अम्हं नियोगो बहुसु पुरिसपरंपरागतो धम्मदेसणाहिगारो जं पुण एत्थ मया अकंडे विण्णविया तं कारणं सुणह। अज्ज अहं नंदणवणं गतो आसी तत्थ मए दुवे चारणसमणा दिट्ठा आइच्चजसे अमियतेओ य। ते य वंदिऊण पुच्छिया भयवं महाबलस्सरण्णो केवइयमाउयं चिट्ठइ तेहिं कहियं मासो सेसो ततो संभंतो आगतो एस परमत्थो। ततो जं जाणह से यं तमकाल हणिं करेहत्ति। एवं सयंबुद्धवयणं सोऊण अहं धम्माभिमुहो जाओ। आउपरिक्खयसवणे य आभट्ठियभायणमिव। सलिलपूरिज्जमाणमेव सुण्णहियओ भीतो सहसा उट्ठितो कयंजली सयंबुद्धं सरणमुवतो वयस्स! किमियाणिं माससेसजीवितो परलोगहियं करेस्सामि। तेण समासासितो सोम्म! दिवसो वि बहुओ परिच त्तसव्वसावज्जस्स किमंग! पुण मासो ततो तस्स वयणेण पुत्तसंकामियपयापालणव्वावारो गतो सिद्धाययणं कतो भत्तपरिच्चातो सयंबुद्धोवदिट्ठजिणमहिमा संपायणनिरतो सुमणसो संथारगसमणो जातो निरंतरं च संसारस्स अणिव्वयवेरग्गजणणिं धम्मकहं च सुणमाणो समाहिपत्तो कालगतो इहागतो। एवं मए थोवो तवो चिण्णेत्ति एयं च अज्ज मम सपरिवारा य ललियंगएण देवेण कहियं। इच्छंतरे ईसायणदेवसयसमीवातो दढधम्मो नामदेवो आगतो भणइ अहो ललियंगय ईसाणदेवराया नंदीसरदीवं जिणमहिमं काउं वच्चइत्ति गच्छामि अहंपि त्ति सो गतो ततो अज्जललियंगदेवसहिता इंदाणत्ताए अवस्सगमणं होहित्ति इयाणिं चेव वच्चामित्ति गयामो खणेण नंदीसरदीवं कया जिणायणेसु महिमा। ततो तिरियलोए सासयचे-इयाण पूयं तित्थयरवंदणं च कुणमाणो चुतो ललियंगतो ततो अहं परमसोगग्गिडज्झमाणा विवसा सपरिवारा गया सिरिप्पभं विभामं। ततो सयंबुद्धदेवो आगतो परिगलमाणसरीरसोभं संदट्ठूण भणइ सयंपभे पच्चासन्नो ते चवणकालो तो जिणमहिमं करेहि जेण भवंतरे वि बोहिलाभो भवइत्ति। ततो हं तस्स वयणेण पुणरवि नंदिस्सदीवे समयक्खेत्ते य कयजिणवंदणपूया वुत्ता समाणा। जंबुद्दीवे दीवे पुव्वविदेहे पुक्खलावइविजए पुंडरिगिणीए नगरीए वइरसेणचक्कव-ट्टिस्स गुणवतीए देवीए दुहिया सिरिमई नाम जाया। धाईजणपरिग्गहिया सुहेण वड्ढिया कलातो गहियातो अन्नया कयाइ पदोसे सव्वतोभद्दगं पासायमधिरूढा पस्सामि नगरबाहिं देवसंपायं। ततो मए देवजाइसु मरियासु मरिऊण य दुक्खेणाहयपरिचारिगाहिं जलकणगसित्ता पव्वागयवेयणा चिंतेमि। कत्थ मे पिया ललियंगतो देवो त्ति तेण प

विणा किं अणेण आमड्डेणं ति मूकत्तणं पवण्णा परियणो भणइ इमी से वाया जंभगेहिं निरुद्धा ततो तिगिच्छगेहिं होममंतरक्खाविहाणेहिं कतो महंतो पयत्तो अहं पि मूकत्तणं न मुयामि। परिचारियाणं पुण लहिऊण माणत्तिं देमि। अन्नया पमयवणगयं ममं पंडिया नाम अम्मधाई विरहे भणइ। अहं ते धाई तो मे कहेहि सब्भूयं। ततो मया भणियं अम्मो अत्थि कारणं जेणाहं मूयत्तणं पवण्णा ततो सा तुट्ठा भणइ पुत्ति ! साहसु मे कारणं ततो जहा भणसि तहा चेट्ठिस्सामि। ततो मया भणिया सुणाहि। अत्थि धायकीखंडे दीवे पुव्वविदेहे मंगलावइविजए नंदि ग्गामो नाम सन्निवेसो तत्थ अह इत्तो तइयभवे दरिद्दकुले सुलक्खणसुमंगलाईणं छण्हं भगिणीणं कणिट्ठा जाया कयं च मे अम्मापिऊहिं नामं ततो निन्नामियत्ति पसिद्धिं गया। से कम्मपडिबद्धा य जीवामि। अन्नया कयाइ ऊसवे इब्भगडिभाणि नाणाविहभक्खहत्थगयाणि सगिहेहिंतो निग्गयाणि पासम्मिताणि दट्ठूण मए माया जाइया अम्मे देहि मे मायेगं अन्नं वा भक्खं जेण। डिंभेहिं समं रमामित्ति। तीए रुट्ठाए आहया निच्छूढा य गिहातो कतो ते इहं भक्खा वच्चसु अंबरतिलकं पव्वयं तत्थ फलाणि खायसु मरसु वत्ति। ततो रोयंती निग्गया दिट्ठो मया जणो अंबरतिलगाभिमुहं वच्चतो या तेण सहिया दिट्ठो मया सिहरकरेहिं गगणतलमिव मिणिउं समुज्जुत्तो अंबरतिलको नाम पव्वतो तत्थ जणो फलाणि गेण्हइ मए वि य पक्कपडियाणि साहूणि भक्खियाणि रमणिज्जयाए य गिरिवरस्स सह जणेण संचरमाणी सद्दं सुइमणोहरं सुणामि सद्दमणुसरंती गया पदेसं दिट्ठा जुगंधरा नाम आयरिया विविहनियमधरचउद्दसपुव्वी चउण्णोवगया तत्थ बहवो समागया देवा मणुया य तेसिं बंधमोक्खविहाणं कहेंति। अहं पि पाएसु णिवडिऊण एग देसे निसण्णा धम्मकहं सुणामि पुच्छिया मए भयवं अत्थि मम मतो को वि दुक्खिओ जीवो जीवलोगे। ततो तेहिं भगवंतेहिं भणियं निन्नामिमे तुहं सद्दा सुहासुहा सुइपहमागच्छंति रूवाणि वि सुंदरमंगुलाणि पासंसि गंधे सुभासुभे अग्घायसि रसेवि मणुण्णामणुण्णे आसाएसि फासे वि इट्ठाणिट्ठे पडिसंवेदेसि। अत्थि य तो सीउण्हछुहाणं पडिकारो निद्दं सुहागयं सेविसि तमसि जोए पगासेण कज्जं कुणसि नरए पुण नेरइयाणं निच्चमसुभा सद्दरूवरसगंधफासा निप्पडियाराणि य परमदारुणाणि सीउण्हाणि तहा छुहापिवासातो य न य खणं पि निद्दासुहं तेसिं। ते य निच्चंधयारेसु चिट्ठमाणा दुक्खसयाणि विवसा अणुहवमाणा बहुं कालं गमंति। तिरिया वि सपक्खपरक्ख जाणियाणि दुक्खाणि सीउण्हखुहा-पिवासादीयाणि य अणुहवंति। तव पुण साहारणं सुहदुक्खं केवलमन्नोसिं रिद्धिं पस्समाणा दुहियमप्पाणं तक्केसि। ततो मए पणयाए जह भणह तहत्ति पडिस्सुयं। तत्थ य धम्मं सोऊण केइ पव्वइया केइ गिहिवासजोग्गाइं सीलव्वयाइं पडिवन्ना। ततो मए विन्नवियं भयवं जस्स नियमस्स पालणे हं सत्ता तं मे उवइसह। ततो मे तेहिं पंचअणुव्वयाइं उवदिट्ठाणि परितुट्ठा वंदिऊण जणेण सह नंदिग्राममागता पालेमि ताणि अणुव्वयाणि परियायसती चउत्थछट्ठट्ठमोहिं खमामि। एवं काले गते कयभत्तपच्चक्खाणा एतो देवं परमदंसणीयं पस्सामि सो भणइ निन्नामिगे चिंतेहि होमिएयस्स भारियत्ति। ततो देवी मे भविस्ससि मया सह दिव्वे भोगे भुंजसि। एवं वोत्तूण अदंसणं गतो अहमवि परितोसवसविसप्प-माणहियया देवदंसणेण लभिज्ज देवत्तति चिंतेऊण समाहीए कालगया ईसाणे कप्पे सिरिप्पभविमाणे ललियंगयस्स देवस्स अग्गमहिसी सयंपभा नाम जाया। ओहिणाणोवयोगविण्णाय देवभवकारणा जहा एस ललियंगो अहुणोववन्नो समाणो नियपरियणं पभावितो देवीसु मज्झे सयं पभाए देवीए अज्झोववन्नो सा आउक्खए चुया देवो य लक्विउमाढतो सयंबुद्धो य महाबले कालगए गहियसामण्णो चिरकालं संजमं परिपालिऊण समाहिपत्तो कालगतो इहेव ईसाणे कप्पे इंदसामाणितो जातो तेण वि लवंतो संबोहितो भणितो य। जहा धायइसंडे दीवे अवरविदेहे नंदिग्रामे निन्नामिगा कयभत्तपच्चक्खाणा चिट्ठइ तं नियदंसणेण पलोभेहि जेण कयनियाणा ते अग्गमहिसी सयंपभा जायइ। ततो अणेण नियदंसणेण पलोभिया कयनियाणा इह मागयत्ति सहरिसंसहललियंगएणं सहिया निरुस्सुका बहुकालं अणुहवामि देवो य सो ललियंगतो आउक्खएण चुतो अम्मो न जाणामि कत्थ गतो। अहमवि तस्स वियोगदुहिया वुत्ता समाणी इहमागया। देवुज्जोयदरिसणेण समुप्पन्नजाइस्सरणा तं देवं य मणसा परिवहंती मूअत्तणं पवन्ना। किं तेण विणा कएण संलावेण त्ति एस परमत्थो। तं सोऊण अम्मधाई ममं भणंति। पुत्ति ! सुट्ठु ते कहियं एयं पुण पुव्वभवचरियं पडिलेहिज्जउ ततो अहं हेडावेहामि सो य ललियंगतो जइ मणुस्सेसु आयातो होहिइ तो सचरियं दट्ठूण जाइं सुमरिहिइ तेण य सह निव्वुया विसयसुहमणुभवेसु। ततो सज्झितो पडो ततो विविहवण्णाहिं वट्टिगाहिं दोहिं वि जणीहिं पढमं तत्थ नंदिग्रामो लिहितो ततो अुंवरतिलगगिरियरसंसियकुसुमिया सोगतरुतलसंन्निसन्ना गुरवो देवमेहुणगं च वंदणागयईसाणो कप्पो सिरिप्पभं विमाणं संदेवमिहुणं महावलो राया सयंबुद्धसंभिन्नसोयसहितो निन्नामिगा य तवसोसिय-सरीरा सव्वत्थललियंगयसयंपभाणं नामाणि लेहियाणि। ततो निप्फन्ने पडे धातीपट्टगं गहेऊण धायइसंडदीवं वच्चामित्ति गयणेण य नियत्ता पुच्छिया मया कीसअम्मो लहुं नियत्तासि सा भणइ पुत्ति ! सुण्ह कारणं इह अम्ह सामिणो तव पिउणोवरिसवद्धावणनिमित्तं विजयवासिणो बहुगा रायाणो समागया तं जइ इहेव तव हिययदइतो होहिइ तो लद्धमेवेति चें तिऊण नियत्ता। जइ इत्थ न होहिइ तो परिमग्गणं करेस्समामि गया भणिया सुट्ठु कयंति। ततो वीयदिवसे पडंगहाय अवरण्हे आगया पसन्नमुही भणइपुत्ति ! निव्वुया होह दिट्ठो मया ते ललियंगतो पुच्छिया मया अम्मो साहसु कहंति। सा भणति पुत्ति ! मया रायमग्गे पसारितो पडो पडं केइ आभिक्खकुसला आगमं पमाणं करेता पसंसति जे अकुसला ते वण्णरूवाईणि पसंसंति तत्थ दुम्मरिसणरायसुतो दुद्दंतो कुमारो सपरिवारो आगतो सो मुहुत्तमेत्तं पासिऊण मुच्छितो पडितो खणेण आसत्थो मणुस्सेहिं पुच्छितो सामि ! किं मुच्छितो। सो भणइ नियचरियं पडयलिहियं दट्ठूण जाती मए सुमरिया अहं ललियंगतो देवो आसि सयंपभा मे देवी मया पुच्छितो पुत्त ! साहसु को एसो संनिवेसो। भणइ पुंडरिगिणी नगरी पव्वयं मेरुं कहइअणगारो को वि एस साहू वीसरियं से नामं कप्प सोहम्मं साहइ महाबलं राया को वि एसो मंतिसहितो त्ति जंपइ। निन्नामिगं का वि एसा तवस्सिणी न याणं से नामंति ततो विप्पावणा एसो त्ति मुणिऊण मया भणितो पुत्त संवदति सव्वं जं पुण वीसरियं तेण किं सव्वं तुमं ललियंगतो सा पुण ते सयंपभा-

धायइसंडे दीवे नंदिगामे कम्मदोसेण पंगुलिया जाया। समरिया नियजाती ततो तीए आगमकुसलाए तव मग्गणहेतुं नियचरियं लहियं। मम धायइसंडे गयाए पडो समप्पिउ कहिओ नियवुत्तंतो ततो मए तीसे अणुकंपाए तव परिणग्गणं कयंनता पुत्त ! एहि नेमिधायइसंडं संतोसेहि नियदंसणेणं पंगुलियं एवं भणिए उवहसितो मित्तेहिं गम्मउत्तो सिज्झउत्तो पंगुलिया। ततो सो अहो गीवं काउण अवक्कंतो मुहुत्तमेत्तेण लोहग्गलाओ धणो नाम कुमारो लंघणपवणादिसु अतीव समत्थोत्ति संजायवइरजंघोत्ति वीयाभिहाणो आगतो पडं दट्ठूण भणइ। केणेयं लिहियं चित्तं मया भणियं। किं निमित्त पुच्छसि सो भणइ मम एवं चरियं अहं ललियंगतो नामासि सयंपभा मे देवी असंसयं तीए लहियं जइ वा अन्नेणं वितीए उवएसेणंति तक्केमि ततो मए पुच्छितो जइ ते चरियं साहसु को एस संनिवेसो। सो भणइ नंदिग्गमो एसो पव्वतो अंबरतिलको जुगंधरा आयरिया एसा खमणकिलंता निन्नामिया महव्वलो राया सयंबुद्धसंभिन्नसोएहि सह लिहितो एस ईसाणो कप्पो सिरिप्पभं विमाणं एवं सव्वं सपव्वयं कहियं। ततो मए भणितो जा एसा सिरिमती कुमारी तो तपिउछाए दुहिया सा सयंपभा तेण रण्णो निवेएमि जेण सा ते भवइ। एवं सोऊण सो समणसो गतो अहं कयक्खा आगया ता गच्छामि पुत्ति ! रण्णो निवेएमि जेण ते पि सयं कामो भवइ। गया रायसमीवं सद्दाविया अहं रण्णा माउसाहिया गया रायसमीवं रायाए कहितो व सुमइ ! जो सिरिमइए ललियंगतो देवो आसि तं जहा अहं जाणं न तहा सिरिमई अत्थि। अवरविदेहे सलिलावइविजए वीयसोगा नाम नगरी जियसत्तू राया तस्स मणोहरी केकई दुवे देवीओ। तासिं जहक्कमं अयलो विभीसणो य पुत्ता बलदेववासुदेवा पिउंमि उवरते विजयद्धं भुंजति। मणोहरी बलदेवमाया कम्मि काले पुत्तमापुच्छति अयल ! अणुभूया मे भत्तुणो सिरी पुण्णसिरी य संपइ पव्वयामि करेमि परलोगहियं विसज्जेहि मंति सो नेहेण न विसज्जेइ निव्वंधे कए भणइ अम्मो जइ ते निच्छतो ता देवलोगं गया मं बसणपडियं पडिबोहिज्जासि तीए पडिवन्नं पव्वइया। परमधिइबलेण अहीयाणि एक्कारस अंगाणि वरिसकोडी तवमणुचरिऊण अपडिवडियवेरग्गा समाहीए कालगया लंतगे कप्पे देवो जातो ताव मं जाण वलदेववासुदेवा य बहुकालं समुदिता भोगे भुंजंति। कयाइ निग्गइ अणुजत्तं आसेहिं अवहिया अडविं पविसिया दूरं गंतूण आसविवन्ना विभीसणो कालगतो अयलो नेहेण न जाणइ ! परिस्समेण मुच्छितो एसो नेमिसीयलाणि बलगहणानि अहं च लतगकप्पगतो पुत्तसिणेहेण संगरं सुमरिऊण खणेणागतो विभीसणरूवं विउव्विऊण अयलो भणितो भाय ! अहं विज्जाहरेहिं समंजुज्झउं गतो ते मए पासहिया तुज्झे पुण अंतरं जाणिऊणं केण वि मम रूवेण मोहिया। ता छड्डेहि एयं कलेवरं सक्कारेसु अग्गिणा ततो सक्कारेऊण स नगरमागया। पूइज्जमाणा जणेण सगिहं पविट्ठा एक्कासणनिसण्णा विया ततो मया मणोहरीरूवं दंसियं संभंतो अयलो भणइ अम्मो ! तुब्भेत्थ कतो त्ति ततो मए पव्वयाकालो संगरो य कहितो विभीसणमरणं च। अहं लंतगातो इह गतो तं च पडिबोहणनिमित्तं अणिच्चं मणुयरिद्धिं जाणिऊण करेहि परलोगहियं। एवं वोत्तूण गतोअहं सगं कप्पं। अयलो वि पुत्तसंकामियरज्जसिरी निव्विण्णकामभोगो पव्वइतो तवमणुचरिऊण ललियंगतो देवो जातो अहं पुण तं सदेवगिं जाहे जाहे सुमरामि ताहे ताहे लंतगं कप्पं नेमि सो सागरोवमस्स सत्तनवभागे देवसुहं भोत्तूण चुत्तो तत्थ नो उववन्नो। तं पि ललियंगयं एस मे पुत्तो जत्थ तिलमि एएण कमेण गया सत्तरसलिलयंगतो सो अट्ठारसमो एसो वि मे पुत्तसिणेहेण बहुसो लंतगं कप्पं नीतो तं जाणामि सिरिमईए भत्ता ललियंगतो जातो वइरजंघो त्ति आणत्तो कंचुकी सद्दावेह वइरजंघं सद्दाविओ आगतो दिट्ठो मया परितोसवियसियच्छीए अच्छेरयभूतो पणतो राइणो भणितो राइणा पुत्त ! वइरजंघ पुव्वभवसयंपभंसिरिमइं ति अवलोइया तेण अहं कलहंसेणेव कमलिणी विहिणा पाणिग्गहितो दिण्णं ताएण विपुलं धणं परिवारिगा तो य विसज्जियाणि अम्हेगयाणि लोहग्गलं भुंजामो निरुवसग्गं भोगे। वइरसेणो वि राया लोगंतियदेवपडिबोहितो संवच्छरियं दाणं दाऊण पोक्खलपालस्स नियपुत्तस्स रज्जं दाऊण नियगसुएहिं नरवईहिं सहितो पव्वइतो। उप्पण्णकेवलणाणो धम्मं दिसइ। मम वि कालेण पुत्तो जातो सो सुहेण वड्ढितो कयाइ पोक्खलपालस्स केइ सामंता विसंवइया। ततो तेण अम्हं पेसियं एउ वइरजंघो सिरिमई य अम्हे पुत्तं नगरे ठवेऊणं विउलेण खंधावारेण पत्थिया सरवणस्स मज्झेणं जाणजणेण पंथो पडिसिद्धो। जहा दिट्ठिविसो सरवणे सप्पो चिट्ठइ तो न जाइ तेण पहेण गंतुं ति। ततो तं सरवणं परिहरंता कमेण पत्ता पंडरिगिणिं सुहं च तेहिं वइरजंघागमणे ततो ते संकिया सेवामागया अम्हे वि पोक्खलपालेण रण्णा पूइऊण विसज्जिया पत्थिया सनगरं। भणइ य जणो सरवणुज्जाणमज्झेण गंतव्वं जतो तत्थ ठियस्स साहुणो केवलनाणमुप्पन्नं। ततो देवाओ वइया देवुज्जोएण पडिहयं विसं सप्पो निव्विसो जातो। ततो अम्हे कमेण पत्ता सरवणं तत्थ आवासिया दिट्ठा नियभायरो मए सागरसेणमुणिसेणा सगणा वंदिया भत्तिबहुमाणेणं पलिभिया असणपाणखाइमसाइमेण। ततो अम्हे ते गुणे अणुमोयंता कया अम्हे वि निस्संगा सामन्ने विहरिस्सामो। रागमग्गमोत्तिण्णा पत्ता कमेण सनगरं पुत्तेण अम्हं विहरकाले भिच्चवग्गो दाणमाणेहिं रंजितो दासघरे वि स धूमो पउंजितो अम्हे वि विसज्जियपरियणा वासहरं रयणीए पविट्ठा। धूमधूसियधातू कालगया इहागया उत्तरकुराए त्ति। तं जाणामि अज्ज ! जा निन्नामिगा सा सयंपभा जा सिरिमई सा अह। जो सो महाबलो राया सो य ललियंगतो देवो जो य वइ रजंघो राया ते तुब्भे एवं जीवं से नामं गहियं सा अहं सयंपभा ततो सामिणो भणियं। अज्ज देवुज्जोएण जाइं संभरिऊण मए एवं चिंतियं देवभवे वड्ढामि ततो सयंपभा आभट्ठा तँ सव्वमेयं कहियंति परितुट्ठमाणसाणि पुव्वभवसुमरणपज्जलियसिणेहाणि तिण्णि पलिओवमाइं जीविऊणं कालगयाणि सोहम्मे कप्पे देवा जाया। तत्थ विवराणापीति आसि पलितोवमट्ठिइं पालेऊण चुया वुच्छावइविजए पहंकराए नगरीए सामी सुविहिविज्जणपुत्तो केसवो नाम जातो। अहं पुण सेट्ठिसुतो तत्थ विणेअधिगो सिणेहो तत्थेव नगरे रायसुता मंतिसुतो सेट्ठिसुतो सत्थवाहसुतो य तेहिं विसयमती जाया कयाइ साहू महप्पा किमिकुट्ठे। *गहितो पडियरिओ एयं जहा पुव्वं जाव समहीए कालगया अच्चुए कप्पे इंदसमाणा* देवा जाया ततो विइक्खए दुइत्ता केसवो वइरसेणस्स राणो मंगलावईं। देवीए धारिणी वीसनामाप पुत्तो जातो वइरनामो रायसुयाई कमणे क-

णगनाभरुप्पनाभपीठमहापीठा जाया। कणगनाभरुप्पनाभा वी-यनामेण बाहुसुबाहू अहं पुण नगरे तत्थेव रायसुतो जातो बालो चेव वइरनाभंसमल्लीणो सारही सुजसो नाम वइरनाभेण सममणुपव्वइतो भगवया य वइरसेणेण वइरनाभो भरहे पढमतित्थयरो उसभो नाम आदिट्ठो कणगनाभो कच्चवट्ठी भरहो इति सेसं जहा पुव्वं जाव सव्वट्ठे देवा जाया ततो चुया इहागया मया य वइरसेणतित्थयरो परिसेण नेवत्थेण दिट्ठोत्ति य पियामहलिंगदरिसणेण पोराणतो जाईतो सरियातो विन्नायं च अन्नपाणाइ दायव्वं तवस्सीणं। तेसिं च तिण्णि वि सु-विणाणमेतदेव फलं ज भयवतो भिक्ख दिन्ना। एयं च कहं सोऊण नरवइमाईहिं पहट्ठमाणसेहिं सेज्जंसो पूजितो आ० म० प्र०॥

स्वप्नानां च फलमिदं, यत्प्रभुः प्रतिलाभितः॥ २२॥
तदाकर्ण्य जनः सर्वः, श्रेयांसमभिनन्द्य च।
अमन्दानन्दमेदस्वी, स्थानं निजनिजं ययौ॥ २३॥
श्रयांसोऽपि प्रभुर्यत्रावस्थितः प्रतिलाभितः।
रत्नपीठं व्यधात्तत्र माऽसौ भूः क्रम्यतां जनैः॥ २४॥
तच्च त्रिसंध्यमानर्च, लोकोऽप्राक्षीदिदं हि किम्।
श्रेयांसः कथयामास, युगादिजिनमण्डलम्॥ २५॥
लोकेनापि ततो यत्र, यत्र श्रीभगवान् स्थितः।
तत्र तत्र कृतं पीठं, सूर्यपीठं क्रमादभूत्॥ २६॥ आ० क०।

प्रस्तुतमाह।

तक्खिसिलायलगमणं, बाहुबलिनिवेअणं चेव।

अक्षरगमनिका क्रियाध्याहारतः कार्या। तथागजपुरं नाम नगरमासीत् श्रेयांसस्तत्र राजा तेनेक्षुरसदानं भगवन्तमधिकृत्य प्रवर्तितम्। तत्रार्द्धत्रयोदशहिरण्यकोटीपरिमाणा वसुदारा निपतिता। पीठमिति श्रेयांसेन यत्र भगवता पारितं तत्र तत्पादयोर्मा कश्चिदाक्रमणं करिष्यतीति भक्त्या रत्नमयं पीठं कारितं गुरुपूजेति तदर्चनं चक्रे। अत्रान्तरे भगवतः तक्षशिलातलगमनं बभूव भगवतः प्रवृत्तिनियुक्तपुरुषैर्बाहुबलिनिवेदनं कृतमित्यक्षरगमनिका। एव मन्यासामपि संग्रह गाथानां स्वबुद्ध्या गमनिका कार्येति गाथार्थः। आ० म० प्र०।

अथ पुनः कथाशेषमुच्यते॥

ज्ञात्वा स्वामिनमायान्तं, हर्षोत्कर्षेण पूरितः।
अचिन्तयद्बाहुबलिः, स्वसर्वर्द्ध्या प्रभोः पदौ॥ १॥
नंस्यामीत्यागतस्तत्र, यावत्प्रातः स नागरः।
विजहार प्रभुस्तावद्बायुवन्मुनयोऽममाः॥ २॥
अदृष्ट्वा स्वामिनं बाहुर्विनिर्मायाधृतिं पराम्।
यत्रास्थाद्भगवांस्तत्र, धर्मचक्रं मणीमयम्॥ ३॥
अष्टयोजनविस्तार मेकयोजनमुच्छ्रितम्।
सहस्रारं सहस्रांशो रिव विम्बं न्यवेशयत्॥ ४॥
पूजयामास पुष्पैस्त च्चके चाष्टाह्निकोत्सवम्।
संस्थाप्य पूजकांस्तत्र, ययौ बाहुर्निजां पुरीम्॥ ५॥
ततश्च विहरन् स्वामी, समीरण इवास्पृहः।
यवनाऽम्बयल्लादि म्लेच्छदेशेषु मौनभाक्॥ ६॥
उपसर्गैरसन्तुष्टः, सहमानः परीषहान्। आ० क०॥

(१६) श्रामण्यानन्तरं कर्थ प्रभुः प्रववृते इत्याह॥

जप्पभिइं च णं उसभे अरहा कोसलिए मुंडे भवित्ताणं अगाराओ अणगारिअं पव्वइए तप्पभिइं च णं उसभे अहा कोसलिए णिच्चं वोसट्ठकाए वि अत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उववज्जांति तं दिव्वा वा जाव पडिलोमा वा तत्थ पडिलोमा वेत्तेण जा जाव कसेण वा काए आउट्टेज्जा अणुलोमा वंदेज्ज वा जाव पज्जुवासेज्ज वा ते सव्वे सम्मं साहई जाव अणुहिओ सेज्जई॥

यतः प्रभृति ऋषभोऽर्हन् कौशलिकः प्रव्रजितस्ततः प्रभृति नित्यं व्युत्सृष्टकायः गृहकर्मवर्जनात् त्यक्तदेहः परीषहादिसहनात् ये केचिदुपसर्गा उत्पद्यन्ते तद्यथा दिव्या देवकृताः वाशब्दः समुच्चये यावत् करणात् ''माणुसा वा तिरिक्खजोणिआ वा इति'' पदग्रहप्रतिलोमाः प्रतिकूलतया वेद्यमाना अनुलोमाः अनुकूलतया वेद्यमानाः वा शब्दः पूर्ववत्। तत्र प्रतिलोमा वेत्रेण जलवंशेन यावच्छब्दात् ''तयाए वा छियाए वा लयाए वा'' इति ।तत्र तपयाऽसनादिकया छिवया श्लक्ष्णया लोहकुश्यया लतया कम्बया कर्षेण चर्मदण्डेन वाशब्दः प्राग्वत्। कश्चिदुष्टात्मा काये विवक्षातः कारकाणीत्याधारविवक्षायां सप्तमी। आकुट्टयेत् ताड्येदित्यर्थः। अनुलोमास्तु ''वंदेज्ज वा यावत्करणात् पूएज्ज वा सक्कारेज्ज वा सम्माणेज्ज वा कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं इति'' वन्देत वा स्तुतिकरणेन पूजयेद्वा पुष्पादिभिः सत्कुर्याद्वा वस्त्रादिभिः सन्मानयेद्वा अभ्युत्थानादिभिः कल्याणं भद्रकारित्वा त् मङ्गलमनर्थप्रतिघातत्वात् देवतामिष्टदेवतामिव चैत्यमिष्टदे-वताप्रतिमामिव पर्युपासीत वा सेवेतेति तान् प्रतिलोमानुलोम- भेदभिन्नान् उपसर्गान् सम्यक् सहते भयाभावेन यावत्करणात् खमइ तितिक्खइत्ति क्षमते क्रोधाभावेन तितिक्षते दैन्यावलम्बनेन अध्यासयति अविचलकायतयेति।

अथ भगवतः श्रमणावस्थां वर्णयन्नाह॥

तएणं से भगवं समणे जाए इरिआसमिए जाव पारिट्ठाव णआसमीए मणसडिए वयसमिए कायसमिए मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते जाव गुत्तबंभयारी अकाहे असाणे अमाए अलोहे संते पसंते उवसंते परिणिव्वुडे छिण्णसोए निरुवलेवे संखमिव निरंजणे जच्चकणगं व जायरूवे आदरिसप डभागे इव पागडभावे कुम्मो इव गुच्छिदिए पुक्खरपत्तमव निरुवलेवे गगणमिव निरालंबणे अणिले इव णिरालए चंदो इव सोमदंसणे सूरो तेयसि विहग इव अप्पडिबद्धगामी सागरो इव गंभीरे मंदरो इव अकंपे पुढबि इव सव्वफासविसहे जीवो विव अप्पडिहयगई णत्थि णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधे से पडिबंधे चउव्विहे भवति तं जहा दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओ इह खलु माया मे पिया मे भाया मे भगिणी मे जाव संग थसं थुआ मे हिरण्णं मे सुवण्णं मे जाव उवगरणं मे अहवा से समासओ सचित्त वा अचिते वा मीसए वा दव्वा जाए एवं तस्त णं भवइ खित्तओ गामे वा णगरे वा अरण्णे वा खेत्ते वा खले वा गिहे वा अंगणे वा एवं तस्स ण भवइ कालओ थोवे बालवे वा मुहुत्ते वा अहोरत्ते वा पक्खे वा मासे वा उऊ वा अयणे वा संवच्छरे वा अन्नयरे वा दीहकालपडिबंधे एवं तस्स ण भवइ भावओ कोहे वा जाव लोहे वा भए वा हासे

वा एवं तस्स ण भवइ। से णं भगवं वासावासवज्जं हेमंतं गिम्हाणुसु गामे एगराइए णगरे पंचराइए ववगयहाससोगअरइरइभयपरित्ता से णिम्ममे णिरहंकारे लहुभूए अगथे वासी तत्थ णं अदुट्ठे चंदणाणुलंवणे अरत्ते लेट्टुम्मि कंचणम्मि अ समे। इह लोए परलोए अपडिबद्धे ज विअमरणे निरवकंखे संसारगामी कम्मसंघणिग्घायणं ठाए अब्भुट्ठिए विहरइ। तस्स णं भगवंतस्स एतेणं विहारेणं विहरमाणस्स एगे वाससहस्से विइक्कंते समाणे पुरिमतालस्स नगरस्स बहिआ सगडमुहंसि उ जाणंसि णग्गोहवरपायवस्स अहे झाणंतरिआए वट्टमाणस्स फग्गुणबहुलस्स एक्कारसीए पुव्वण्हकालसमयंसि अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं उत्तरासाढाणक्खत्तेणं जांगमुवागएणं अणुत्तरेणं नामेणं जाव चरित्तेणं अणुत्तरेणं तवेण वलेणं वीरिएणं आलएणं विहारेणं भावणाए खंतीए गुत्तीए मुत्तीए तुट्ठीए अज्जवेणं मद्दवेणं लाघवेणं सुचरिअसोवचिअफलनिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए णिरावरणे कसिण पडिपुण्णे केवलवरनणदसणे समुप्पण्णे जिणे जाए केवली सव्वन्नू सव्वदरिसी स णेरइअतिरिअनरामरस्स लोगस्स पज्जवे जाणइ पासइ तंजहा आगइं गइं ठिइं उववायं मुत्तकडं पडिसेविअं आवीकम्मं रहोकम्मं तं तं कालं मणवयकाए जोगे एवमादी जीवाण वि सव्वभावे अजीवाण वि सव्वभावे मोक्खमग्गस्स विसुद्धतराए बहवे जाणमाणे पासमाणे एस खलु मोक्खमग्गसममण्णेसिं च जीवाणं हियसुहणिस्स असकरे सव्वदुक्खविमोक्खणे परमसुहसमाणणे भविस्सइ॥

अथ कथं नु भगवान् वहरति स्मेत्याह (सेणमित्यादि) स भगवान् वर्षासु प्रावृट्काले वासोऽवस्थानं तद्वर्ज्ज वज्जनेनेत्यथः। हेमन्ता: शीतकालमासा: ग्रीष्मा उष्णकालमासास्तेषु ग्रामेऽल्पीयसि सन्निवेशे एका रात्रिर्वासमानतया यस्य स एकरात्रिक:एकदिनवासीत्यर्थः। नगरे गरीयसि सन्निवेसे पञ्च रात्रयो वासमानतया यस्य स तथा पञ्चदिनवासीति भावः। यथा दिनशब्दोऽहोरात्रवाची तथा रात्रिशब्दोऽप्यहोरात्रवाचीति। ननु तर्हि दिनशब्द एव कथं नोपात्त उच्यते। निशाविहारस्यासंयमहेतुत्वेन चतुर्ज्ञानिनोऽपि तीर्थङ्करा अवगृहीतायां वसतावेवावासिषु: वत्स्यन्ति वसन्तीति वृद्धाम्नाय:। व्यपगतहास्यशोकारतिरतिभयपरित्रास:। तत्रारतिर्मानसौत्सुक्यमुद्वेगफलकर रतिस्तदभाव:। परित्राम आकस्मिकं भयं शेषं व्यक्तम्। निर्गतो ममेति शब्दो यस्मात् स तथा। किमुक्तं भवति प्रभोर्ममेत्यभिमानो नास्तीति षष्ठ्येकवचनान्तस्यास्मच्छब्दस्यानुकरणशब्दत्वान्ममेत्यस्य साधुता। निरहङ्कार: अहमिति करणमहङ्कार: स निर्गतो यस्मात् स तथा लघुभूत ऊर्द्धगतिकत्वात्। अत एवाग्रन्थो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहित:। वास्या सूत्रधारशस्त्रविशेषेण यत्तल्लक्षणं त्वचोत्खननं तत्राद्विष्टोऽद्वेषवान्। चन्दनानुलेपनेऽरक्तोऽरागत्वत्। लेष्टौ दृषदि काञ्चने च सम: उपेक्षणीयत्वेनोभयत्र साम्यभाक्। इह लोके वर्तमान भवे मनुष्यलोके परलोके दवभवादौ तत्राऽप्रतिबद्धस्तत्रत्यसुखनिष्पिपासित्वात् जीवितमरणयोर्निरवकाङ्क्ष मिन्द्रनरेन्द्रादि पूजाप्राप्तौ जीविते दुर्विषहपरीषहाप्तौ चमरणे निष्पृह:। संसारपारगामीति व्यक्तम्। कर्मणां सङ्क्रोडनादिकालीनो जीवप्रदशै: सह संबन्धस्तस्य निर्घातनं वि श्लेषणं तदर्थमभ्युत्थित उद्यतो विहरति। अथ ज्ञानकल्याकवर्णनायाह (तस्सणमित्यादि) तस्य भगवत: एतेनानन्तरोक्तेन विहारेण विहरत एकस्मिन् वर्षसहस्रे व्यतिक्रान्ते सति पुरिमतालस्य नगरबहि: शकटमुखे उद्याने न्यग्रोधवरपादपस्याधो ध्यानान्तरिकेति। अन्तस्य विच्छेदस्य करणमन्तरिका स्त्रीलिङ्गशब्द: अथवा अन्तरमेवान्तर्यं भेषजादित्वात् स्वार्थे यण्प्रत्ययस्तत: स्त्रीत्वविवक्षायां ङीपि प्रत्यये आन्तरी आन्तर्यवान्तरिका आरब्धध्यानस्य समाप्तिरपूर्वस्यानारम्भणमित्यर्थः। अतस्तस्यां वर्तमानस्य को ऽर्थ: पृथक्त्ववितर्क सविचारम् १ एकत्ववितर्कमविचारम् २ सूक्ष्मक्रियमनिवर्ति ३ समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति ४ इति चतुश्चरणात्मकस्य शुक्लध्यानस्य चरणद्वये ध्याने चरमचरणद्वयमप्रतिपन्नस्येति योगनिरोधरूपध्यान-स्य चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनि केवलिन्येव संभवात्। फाल्गुनबहुलस्यैकादश्यां पूर्वाह्णकालरूपो य: समयोऽवसरस्तस्मिन् अष्टमेन भक्तेनागमभाषयोपवासलक्षणेनापानकेन जलवर्जितेनोत्तराषाढानक्षत्रे चन्द्रेण सहेति गम्यं ये गमुपागते सति। उभयत्र णं वाक्यालङ्कारे। अथ वा आर्षत्वात्सप्तमयर्थे तृतीया अनुत्तरेणेति क्षपकश्रेणिप्रतिपन्नत्वेन केवलासन्नत्वेन परमविशुद्धिपदप्राप्तत्वेन न विद्यते उत्तरं प्रधानमप्रवर्ति वा छाद्मस्थिकज्ञानं यस्मात्तत्तथा तेन ज्ञानेन तत्वावबोधरूपेण एवं यावच्छब्दात् दर्शनेन क्षायिकभावापन्नेन सम्यक्त्वेन चारित्रेण विरतिपरिणामरूपेण क्षायिकभावापन्नेनैवतपसेति व्यक्तम्। बलेन संहननोत्थप्राणेन वीर्ये ण मानसोत्साहेन आलयेन निर्दोषवसत्या विहारेण गोचरचर्यादिहिण्डलक्षणेन भावनया महाव्रतसंबन्धिन्या मनोगुप्त्यादिरूपतया पदार्थानामनित्यत्वादिचिन्तनरूपया वा क्षान्त्या क्रोधनिग्रहेण गुप्त्य प्राग्याख्यातस्वरूपया मुक्त्या निर्लोभतया तुष्ट्या इच्छा निवृत्त्या आर्जवेन मायानिग्रहेण मार्दवेन माननिग्रहेण लाघवेन क्रियासु दक्षभावेन क्रियोक्तप्रत्यनिधानात् सोपचितं सोपचयं पुष्टमिति यावत् एतादृशेन समुत्पन्नोऽयमित्यन्वय:। एवमनन्तमविनाशित्वात् अनुत्तरं सर्वोत्तमत्वात्, निर्व्याघातं कटकुड्यादिभिरप्रतिहतत्वात् निरावणं क्षायिकत्वात् कृत्स्नं सकलार्थग्राहकत्वात् प्रतिपूर्णं सकलस्वांशकलितत्वात् पूर्णचन्द्रवत्। केवलमसहायं ''णट्ठम्मि छाउमत्थिए णाणे'' इति वचनात् परं प्रधानं ज्ञानं च दर्शनं समाहारद्वन्द्वे एकवद्भाव: तत: पूर्वपदाभ्यां कर्मधारय:। तत्र सामान्यविशेषोभयात्मके ज्ञेयवस्तुनि ज्ञानं विशेषावबोधरूपं दर्शनं सामान्यावबोधरूपमिति। अत्रायमाशय: दूरादेव तालतमालादिकं तरुनिकरं विशिष्टव्यक्तिरूपतयाऽनवधारितमवलोकयत: पुरुषस्य सामान्येव वृक्षमात्रप्रतीतिजनकं पदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति तद्दर्शनं निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शनमिति वचनात्। पुनस्तस्यैव प्रत्यासीदतस्तालतमालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं तमेव तरुसमूहमुत्पश्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमाभाति तज्ज्ञानम्। ननु भवतु नाम इत्थमनुभवसिद्धे ज्ञाने छद्मस्थानां विशेषग्राहकता दर्शने च सामान्यग्राहकता परं केवलिनो ज्ञानक्षणे

समान्यांशग्रहणाद्दर्शनेन विशेषांशग्रहणाभावाद् द्वयोरपि सर्वार्थविषयत्वं विरुध्यति उच्यते ज्ञानक्षणे हि केवलिनां ज्ञाने यावद्विशेषान् गृह्णति सति सामान्यं प्रतिभातमेवाशेषराशिरूपत्वात् सामान्यस्य। दर्शनक्षणे च दर्शने सामान्यं गृह्णति सति यावद् विशेषाः प्रतिभाता एव विशेषानालिङ्गि तस्य सामान्यस्याभावात् अत एव निर्विशेषं विशेषारणामग्रहो दर्शनमित्युक्तमनन्तरोक्तग्रन्थे एकार्थः। ज्ञानप्रधानभावेन विशेषा गौणभावेन सामान्या दर्शनं प्रधानभावेन सामान्यं गौणभावेन इति विशेषः। समुत्पन्नसम्यक्षायिकत्वेनावरणदेश स्याप्यभावात्। उत्पन्नकेवलस्य यद्भगवतः स्वरूपं तत् प्रकट्यति (जिणे जाए इत्यादि) जिनो रागादिजेता। केवलं श्रुतज्ञानाद्यसहायकं ज्ञानमस्थास्तीति केवली अत एव सर्वतो विशेषांशपुरस्कारेण ज्ञाता सर्वज्ञाता सर्वदर्शी सामान्यांशपुरस्कारेण। नन्वर्हतां केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणयोः क्षीणमोहान्तसमय एव क्षीणत्वेन युगपदुत्तिकत्वे उपयोगस्वभावात् क्रमप्रवृत्तौ च सिद्धायां सव्वन्नू सव्वदरिसि इति सूत्रं यथा ज्ञानप्राथम्यसूचकमुपन्यस्तम् तथा ''सव्वदरीसी सव्वन्नू इत्येवं दर्शनप्राथम्यसूचकं किं न तुल्यन्यायत्वात् नैवं ''सव्वाउ लद्धीओ, सागरोवउत्तस्स उववज्जंति णो अणागारोवउत्तस्स'' इत्यागमादुत्पत्तिक्रमेण सर्वदा जिनानां प्रथमे समये ज्ञानं ततो द्वितीये दर्शनं भवतीति ज्ञापनार्थत्वा दित्थमुपन्यासस्येति छद्मस्थानां प्रथमे समये दर्शनं द्वितीयो ज्ञानमिति प्रसङ्गाद्बोध्यम् उक्तविशेषशाद् द्वयमेव विशिनष्टि सनैरयिकतिर्यग्नरामरस्य लोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकक्षेत्रखण्डस्य उपलक्षणादलोकस्यापि नभः प्रदेशमात्रात्मक्षेत्रवि शेषस्य पर्यायन् क्रमभाविस्वरूपविशेषान् जानाति केवलज्ञानेन पश्यति केवलदर्शनेन पर्यायानित्युक्ते द्वयमपि ग्राह्यम्। न हि पर्यायद्रव्यवियुता भवेयुर्द्रव्यं वा पर्यायवियुत तेनाधेयमाधारमाक्षिपतीति अन्यथा आधेयत्वस्यैवानुपपत्तेः यथाकाशस्य न हि आकाशः क्वाप्यवतिष्ठते तस्याधारमात्ररूपस्यैव सिद्धान्ते भणनात्। अथवा सामान्य उक्तपर्यायाणां ज्ञान व्यक्यानिरूपयन्नाह। तद्यथा आगतिं यतः स्थानादागच्छन्ति विवक्षित स्थानं जीवाः गतिं यत्र मृत्वोत्पद्यन्ते स्थितिं कायस्थितिभवस्थितिरूपां च्यवनं देवलोकाद्देवानाम् मनुष्यतिर्यक्ष्ववतरणम्। उपपातं देवनारकजन्मस्थानं भुक्तमशनादि कृति चौर्यादि प्रतिसेवितं मैथुनादि अविः कर्म प्रकटकार्यं कर्म प्रच्छन्नकृतं तं तं (कालंति) प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे द्वितीया तस्मिन् २ काले वीप्सायां द्विर्वचनं मनोवचः कायान् योगान् करणत्रयव्यापारान् एवमादीन् जीवानामपि सर्वभावान् जीवधर्मानित्यर्थः। अजी- वानामपि सर्वभावान् मोक्षमार्गस्य रत्नवयस्य विशुद्धतरकान् प्रकर्षकोटीप्रप्तान् कर्मक्षयहतून् भावान् ज्ञानाचारादीन् जानन् पश्यन् विहरतीति गम्यम्। कथं च जानन् पश्यन् विचरतीत्याह एषोऽनन्तरवक्ष्यमाणो धर्मः खलुरवधारणे मोक्षमार्गः सिद्धिसाधकत्वेन समदेशकस्यान्येषां च श्रोतृणां हितं कल्याणं पश्यभोजनवदित्यर्थः। सुखमनुकूलवेद्यं पिपासोः शीतजलजलपानवत् निः श्रेयसं मोक्षस्तत्करः उक्तानां हितादीनां कारक इति। सर्वदुःखविमोक्षण इति व्यक्तं परमसुखमात्यन्तिकसुखं समापयतीति व्युत्पत्तिवशात्परमसुखसमानतः ''समीपे:समान'': इति प्राकृतसूत्रेण समानादेशऽनटि प्रत्यये रूपसिद्धिः। निः श्रेयसेत्यत्र पकारलोपः प्राकृतत्वात् भविष्यतीति॥ जं०२ वक्ष० आव०॥ आ० म० प्र०।

(२१) अथ उत्पन्नकेवलज्ञानो भनवान् यथा धर्म प्रादुश्चकार तथाह।

ततं णं से भगवं समणाणं णिग्गंथाणं णिग्गंथीण य पंचमहव्वयाइं छच्च जीवणिकाए धम्मं देसमाणे विहरति तं जहा पुढविकाए भावणागमेणं पंचमहव्वयाइं सभावणागाइं भाणिअव्वाइं॥

ततः स भगवान् श्रमणानां निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च पञ्चमहाव्रतानि सर्वप्राणातिपातविरमणादीनि सभावनाकानि ईर्यासमित्यादिस्वभावेनोपेतानि षट् च जीवनिकायान् पृथिव्यादित्र सान्तान् इत्येवंरूपं धर्ममुपदिशन् विरहतीति संबन्धः। तच्च धर्मेप्रक्रन्तव्ये षड्जीवनिकायकथनमुपक्रन्तं तज्जीवपरिज्ञानमन्तरेण व्रत पालनासंभव इति ज्ञापनार्थम्। नन्वनियमः प्रथमव्रते संभवेत् मृषावादविरमणादीनां तु भाषाविभागदिज्ञानाधीनत्वात् न संभवेदित्युच्यते शेषव्रतानामपि प्राणातिपातविरमणव्रतस्य रक्षकत्वेन नियुक्तत्वात् महावृक्षस्य वृक्षवत् तथा हि मृषाभाषामभाषमाणो ह्यभ्याख्यानादि विरतो न कुलवध्वादीन् अदतमनाददानो धनस्वामिनं सचित्तजलफलादिकं च मैथुनविरतो नवल क्षपञ्चेन्द्रियादीन् परिग्रहविरतः शुक्तिकस्तूरीमृगादींश्च नातिपातयेदिति। अथैतदेव किंचिद्व्यक्त्या विवृणोति तद्यथा पृथिवीकायिकान् जीवान् उपदिशन् वहरतीति संबन्धः। लाघवार्थकत्वेन सूत्रप्रवृत्तेर्देशग्रहणात्पूर्णाऽप्यालापको वाच्यः स चाय ''आउक्काइए ते उक्काइए वाउक्काइए वाणस्सइकाइए तसकाइए त्ति'' व्यक्तम् तथा पञ्चमहाव्रतानि सभावनाकानि भावनागमेन श्रीआचाराङ्ग द्वितीयश्रुतस्कन्धगतभावनाख्याध्ययनगतपाठेन भणितव्यानि अत्र च सूत्रे यदुद्देश प्रथमं ''पंचमहव्वयाइं'' इत्याद्युक्तं निर्देश तु व्यत्ययेन ''तं जहा पुढविकाइए'' इत्यादि तत्कथमिति नाशङ्कनीयम्। यतः पश्चादुद्दिष्टानामपि षड्जीवनिकायानां प्रस्तरतो बाङ्गे स्वल्पवक्तव्यतया प्रथम प्ररूपणाया युक्त्युपपन्नत्वात् सूचीकटाहन्यायोऽत्रानुसरणीयो विचित्रा सूत्राणांकृतिराचार्यस्येति न्यायेन वा स्वत एवेति ज्ञेयम्। ननु गृहिधर्मसंविग्रपाक्षिकधर्मावपि भगवता देशनीयौ मोक्षाङ्गत्वात् यदुक्तम्। ''सावज्जजोगपरिवज्जणाउ सव्वत्तमो जईधम्मो। वीओ सावगधरमो तइओ संविग्गपवखपहो॥ १॥'' इति तत्कथमत्र तौ नोक्तौ उच्यते सर्वसावद्यवर्जकत्वेन देशनायां यतिधर्मस्य प्रथमं देशनीयत्वादत्यासन्नमोक्षपथत्वात् श्रमणसंघस्य प्रथमं व्यवस्थापनीयत्वश्च प्राधान्यख्यापनार्थं प्रथममुपन्यासस्ततो व्याख्यातो विशेषार्थप्रतिपत्तिरिति न्यायादेतत्पुच्छभूतौ तावपि धर्मो भगवता प्ररूपितावितिज्ञेयम्। भगवत्प्ररूपणामन्तरेणाऽन्येषां तत्तद्ग्रन्थेषु तयोः प्ररूपणानुपपत्तेरित्यलं प्रसङ्गेनेति। जं० २ वक्ष०॥

उसभेणं अरहा कोसलिएणं इमीसे उस्सप्पिणीए नवहिं सागरोवमकोडाकोडीहिं वीइक्कताहिं तित्थे पव्वत्तिए। स्था० १० ठा०॥

उज्जाणपुरिमताले, पुरीविणीयाइ तत्थ नाणवरं।
चवकुप्पयायभरहे, निवेयणं चेव दोण्हं पि॥

तथा तस्मिन्नेवाहनि भरतनृपतेरायुधशालायां चक्रोत्पादश्च बभूव (भरहे निवेयणं चेव दोण्हंपित्ति) भरताय निवेदनं च द्वयोरपि ज्ञानरत्नचरत्नयोः। तन्नियुक्तपुरुषैः कृतमित्यध्याहार इति

गाथार्थः। अत्रान्तरेभरतश्चिन्तयामास पूजा तावदू द्वयोरपि कार्या। कस्य प्रथमं कर्तुं युज्यते। किं चक्ररत्नस्य उत तातस्येति तत्र

तातम्मि पूइए चक्कपूइयं पूअणारिहो ताओ।
इह लोइयं तु चक्कं, परलोअसुखावहो ताओ ॥२४॥

ताते त्रैलोक्यगुरौ पूजिते सति चक्रं पूजितमेव तत्पूजानिबन्धनत्वाच्चक्रस्य। तथा पूजामर्हतीति पूजार्हस्तातो वर्तते देवेन्द्रादितुल्यत्वात्। तथा इह लौकिकं चक्रं तुरेवकारार्थः स चावधारणे किमवधारयति। ऐहिकमेव चक्रं सांसारिकसुखहेतुत्वात् परलोकसुखावहस्तातः शिवसुखहेतुत्वादिति गाथार्थः तस्मात्तिष्ठतु तावच्चक्रं तातस्य पूजा कर्तुं युज्यत इति संप्रधार्य तत्पूजाकरणसंदेशव्यापृतो बभूव॥ इदानीं कथानकम् भरहो सव्वड्ढीए भगवंतं वंदं उपयट्ठो। मरुदेवी सामिणी य भगवंते पव्वइए भरहरज्जसिरिं पासिऊण भणिया इयो मम पुत्तस्स एरिसी रज्जसिरी आसि संपयं सो खुहापिवासापरिगओ नग्गओ हिंडइत्ति। उव्वेयं करिया इयो भरहस्स तित्थगरविभूइं वन्नेतस्स विन्नपत्तिज्जिया इयो पुत्तसोगेण य किलेसब्भामंतचक्खुं जायं रुवंती एत्तो भरहेण गच्छंतेण विन्नत्ता। अम्मो एहि जेण भगवओ विभूतिं दंसेमि ताहे भरहो हत्थिखंधे पुरओ काऊण निग्गओ। समोसरणदेसे य गयणतलं सुरसमूहेण विमाणारूढेणोवरंतेण विरायंतधयवडं पहयदेवदुंदुहिनिनायापूरियदिसामंडलं पासिऊण भरहो भणिया ईओ पेच्छ जइ एरिसी सिद्धी गम कोडिसयसहस्सभागेण वि। ततो तीए भगवओ उच्छवा इत्थ तं पासंतीए चेव केवलमुप्पण्णं। अन्ने भणंति भगवओ धम्मकहासद्दं सुणें तीए तक्कालं च तिकड्ढमाउयं। ततो सिद्धा। इह भरहे ओसप्पिणीए पढमसिद्धेत्ति काऊण देवेहिं पूजा कया सरीरं च खीरोए छूढं। भगवं च समोसरणमब्भत्थो सदेवमणुयासुराए सहाए धम्मं कहेइ। तत्थ उसभसेणो नाम भरहपुत्तो पुव्वभवबद्धगणहरनामगुत्तो जायसंवेगो पव्वइओ बंभी य पव्वइया। भरहो सावगो जाओ। सुंदरी पव्वयंती भरहेण इत्थीरयणं भविस्सइत्ति रुद्धा सा वि सावियाजाया। एस चउव्विहो समणसंघो। ते य तापसा भगवओ नाणमुपन्नं ति कच्छसुकच्छवज्जा भगवओ सगासमागंतूण भवणवतिवाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवागिण्णं परिसं दट्ठूण भगवओ सगासे पव्वइया एत्थ समोसरणे मरीचिमाइया बहवे कुमारा पव्वइया आ० म० प्र०।

(२२) सांप्रतमभिहितार्थसंग्रहपरमिदं गाथाचतुष्टयमाह।

सहमरुदेवीइ निग्गओ कहणं पव्वज्जमुसभसेणस्स।
बंभीमरीइदिक्खा, सुंदरिओरोहसु अदिक्खा॥ २५॥
पंच य पुत्तसयाइं, भरहस्स य सत्तनत्तुअसयाइं।
सयण्हं पव्वइआ, तम्मि कुमारा समोसरणे॥ २६॥
भवणवइवाणमंतर जोइसवासी विमाणवासी अ।
सव्वड्ढिसपरिया का सी नाऊणुप्पया महिमं॥ २७॥
दट्ठूण कीरमाणिं, महिमं देवेहिं खत्तिओ मरिई।
संतत्तलद्धबुद्धी, धम्मं सोऊण पव्वइओ॥ २८॥

कथनं धर्म्मकथा परिगृह्यते। मरुदेव्यै भगवद्विभूतिकथनम्। तथा नप्तृशतानीति पौत्रकशतानि। तथा ''सयण्हमिति'' देसीवचनं युगपदर्थाभिधायकं त्वरिताभिधायकं चेति। मरीचिरिति जातमात्रो मरीचिं मुक्तवानित्यतो मरीचिमान् मरीचिरभेदोपचारान्मतुब्लोपाद्वेति। अस्य च प्रकृतोपयोगित्वात् कुमारसामान्याभिधाने सत्यपि भेदेनोपन्यासः। सम्यक्त्वेन लब्धा प्राप्ता बुद्धिर्यस्य स तथाविधः शेषं सुगमिति गाथाचतुष्टयार्थः। आ० म० प्र०। आव० १ अ०। (भरतविजयवक्तव्यता भरहशब्दे) भगवद्वन्दनार्थं सह मरुदेव्या निर्गतः (कहणं) भगवद्भूतिकथनं ऋषभसेनस्य पुण्डरीकापरनाम्नः प्रव्रज्या ब्राह्मादिदीक्षा सुन्दर्या अवरोधार्थं धारणं (सयण्हं) समकालं समान्येन कुमारदीक्षाभिधानेऽपि मरीचेर्विशेषणाभिधानं प्रकृतोपयोगित्वात् (सम्मत्तलद्धबुद्धित्ति) लब्धा सम्यक्त्वबुद्धिर्येन स लब्धसम्यक्त्वबुद्धिः शेषं स्पष्टम्। अथ भरतःकिं चकारेत्याह ''अथोत्थाय प्रभोः पूजां, विधाय भरतेश्वरः। चकार चक्ररत्नस्या ष्टाह्निकामहिमोत्सवम्'' (आ०क०) वारसवासाणि महारायाभिसेओ वुत्तो राइणो वियञ्जिया ताहे नियययगगं सरिउमारद्धो ताहे दाइज्जंति सव्वे निएल्लया एवं परिवाडी ए सुंदरी दाइया सा पंडुल्लुगितमुही सा य जद्दिवसं रुद्धा तद्दिवसमारब्भ आयंविलाणि करेति तं पासित्ता रुट्ठो ते कुडुंबिए भणइ। किं मम नत्थि भोयणं जं एसा य रिसीरूवेण जाया वे ज्ञा वा नत्थि तेहिं सिट्ठं जहा आयंविलाणि करेइ ताहे तस्स तस्सोवरिं पयणुओ रागो जाओ। सा य भणिया जइ रुच्चति तो मए समं भोगे भुंजाहि ण वि तो पव्वयाहि त्ति। ताहे पाएसु पडिया विसज्जिया पव्वइया। अन्नया भरहो तेसिं भाउयाणं दूयं पट्ठवेइ। जहा मम रज्जं आयणह ते भणंति अम्हं वि रज्जं ताएण दिण्णं तुब्भं वि एतु ताव ताओ पुच्छिज्जिहित्ति। जं भणिहि त्ति तं करिहामो तेण समएण भगवं अट्ठावयमागओ विहरमाणे एत्थ सव्वे समोसरिया कुमारा तहे भणंति तुब्भेहिं दिण्णानि रज्जाइं हरति भाया तो किं करेमो किं जुज्झामो उदाहु आयणामो ताहे सामी भोगेसु नियतावेमाणो तेसिं धम्मं कहेइ न मुत्तिसरिसं सुहमत्थि ताहे इंगालदाहकदिट्ठंतं कहेइ। ''जहा एगो इंगालदाहओए गं भाणं पाणियस्स भरेऊण गओ तं तेण उदगं निट्ठवियं उवरिं आइच्चो पासे अग्गी पुणो परिस्सम दारुगाणि कुट्टितस्स घरं गतो पाणियं पीयं। मुच्छितो सुमिणं पासइ। एवं असब्भावपट्ठवणा कूवतलागनदीदहसमुद्दा य सव्वे पीया। न य छिज्जइ तण्हा। ताहे अन्नम्मि जिन्नरूवे तणपुलियं गहाय उस्सिंचइ। जं पडियसेंस तं जीहाण लिहइ एवं तुब्भेहिं वि अणुत्तरा सव्वलोगे सव्वपुरिसा सव्वड्ढसिद्धअणुभूया तह वि तत्तिं न गया। एवं वेयालियं नाम अज्झयणं भासइ संबुज्झह किन्न वुज्झह। एवं अट्ठाणउई वि तेहिं अट्ठाणउई कुमारा पव्वइयत्ति कोइ पढमिल्लुएण संबुद्धो कोइ वितिएण कोइ ततिएण। जाहे ते पव्वइया आ० म० प्र०

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह।

मागहमाई विजओ, सुंदरिपव्वज्जवारसभिसेओ।
आणावण भाउआणं, समुसरणे पुच्छदिट्ठंतो॥

मागधमादौ यस्य स मागधादिः कोऽसौ विजयो भरतेन कृत इति पुनरागतेन सुन्दर्यवस्थिता दृष्टा क्षीणत्वान्मुक्ता चेति द्वादश वर्षाण्यभिषेकः कृतो भरताय आज्ञापनं भ्रातृणां चकार तेऽपि च समवसरणे भगवन्त पूजयन्तः पृष्टवन्तः भगवता चाङ्गा सदाहकदृष्टान्तो गदित इति गाथाक्षरार्थः॥ आ० म० प्र०॥

एवं षष्टिसहस्राद्या, सर्वं निर्जित्य भारतम्॥ ३०॥

राजधान्या विनीतायां, प्रत्यगाद्भरतेश्वरः ।
महाराजाभिषेको भूत्तत्र द्वादशवार्षिकः ॥ ३१ ॥
सर्वान् विसृज्य भूपाला नारेभे स्वजनेक्षणम् ।
दर्शमानेष्वथ स्वेषु, सुन्दरी दर्शिता यदा ॥ ३२ ॥
दृष्ट्वा पाण्डुमुखीं क्षामां, कुद्धः कौटुम्बिकानवक् ।
अस्ति मे भोजनं किं न, रूपेणेयं यदीदृशी ॥ ३३ ॥
वैद्यो वा नास्ति शिष्टं तैः, सर्वमप्यस्ति ते प्रभो ! ।
परं व्रतायाचामाम्लैः, कटकाद्यदिनात् स्थिता ॥ ३४ ॥
अथ विज्ञाय तद्भावं, मुदितो भरताधिपः ।
श्रुत्वा च समवसृतं, प्रभुमष्टापदाचले ॥ ३५ ॥
चिरादुत्कण्ठितस्तत्र,ततो गत्वा यमी मुदा ।
प्रभुं प्रणम्य सुन्दर्यै, दापयामास संयमम् ॥ ३६ ॥
अथ प्रत्यागतोऽयोध्यां, नगरी भरतेश्वरः ।
व्यज्ञप्यत युधागार नियुक्तेनैत्य केनचित् ॥ ३७ ॥
चक्रं न चक्रशालाया मद्यापि विशति प्रभो ! ।
विना त्वदाज्ञां कुर्वत्सु, राज्यानि तव बन्धुषु ॥ ३८ ॥
चक्रवर्ती ततःसद्यो, दूतैस्तानूचिवानदः ।
राज्येष्वस्ति यदीच्छा वस्तत्सेवाक्रियतां मम ॥ ३९ ॥
प्रत्युचिरेऽष्टानवतिः, कुमारास्तानहंयवः ।
राज्यं तातेन दत्तं न स्तत्किं भरतसेवया ॥ ४० ॥
यूयं व्रजत हे दूता ! वयं त्वत्स्वामिना सह ।
तातं पृष्ट्वा करिष्यामः, सख्यं वाऽसख्यमेव वा ॥ ४१ ॥
ततस्तेऽष्टापदे गत्वा, प्रभुं नत्वाऽवदन्नदः ।
राज्यं तावत्त्वया दत्तं, भ्राता हरति तद्वयम् ॥ ४२ ॥
युध्यामहे किमथवा, तदाज्ञामनुमन्महे ।
धर्म तेषामथार्योऽवक्, लोभेयस्तान्न्यवर्त्तयन् ॥ ४३ ॥
निः श्रेयससमं सौख्यं, संसारे क्वापि नास्त्यहो ।
अङ्गारदाहकस्यात्र, दृष्टान्तं शृणुताधुना ॥ ४४ ॥
इहैकोऽङ्गारकृद्यातो, गृहीत्वाम्भोघटं वने ।
पीतं तेनाम्बु तत्सर्वं, तृष्णयार्त्तेन कुम्भतः ॥ ४५ ॥
उपर्यादित्यतापेन, पार्श्वेऽग्नेर्ज्वलनत्तथा ।
काष्ठकुट्टनखेदाच्च, पीडितस्तृष्णया पुनः ॥ ४६ ॥
सोऽथ गाढं गतो मूर्छां, सुप्तःस्वप्ने तदा जलम् ।
सर्वं गेहसरः कूपनदीह्रदसमुद्रजम् ॥ ४७॥
सर्वं पपौ परं तस्य, तृष्णा छिन्ना तथाऽपि न ।
ततो मरौ जीर्णकूपे , गृहीत्वा तृणपूलकम् ॥ ४८ ॥
तेनाहृतं पयःशेषं, पतिताल्लेढि जिह्वया ।
न छिन्ना या समुद्रान्ते, सा तृट् छेत्स्यति तेन किम् ॥ ४९ ॥
अन्वभूवन् भवन्तोऽपि, सुखं भवसुखावधि ।
विमाने सर्वार्थसिद्धे, तृप्तिस्तदपि नाभवत् ॥ ५० ॥
ततो वैतालिकं नामाध्ययनं स्वाम्यभाषत ।
बुध्यध्वं किं न बुध्यध्वमित्यष्टानवतिंश्वाः ॥ ५१ ॥
कोऽपि प्रथमया बुद्धः, कश्चनापि द्वितीयया ।
बुद्धाः सर्वेऽपि सर्वाभिः, कुमाराः प्राव्रजंस्तदा ॥ ५२ ॥
ज्ञात्वा चरेभ्यस्तद्वृत्तं, भरतो भरतादिभूः ।
तेजांसीवांशुरग्नीनां, तेषां राज्यान्यपाहरत् ॥ ५३ ॥
विज्ञाय लघुबन्धूनां, तद्राज्यहरणं तदा ।
आयान्त भारतं दूत मूचे बाहुबली बली ॥ ५४ ॥
अथ तृप्तिर्न ते भर्तु र्बृहत्कुक्षिरिवैष कः ।
बन्धूनामपि राज्यान्या च्छिनत्ति समातिलोभतः ॥ ५५ ॥
मदीयमपि किं तद्वद्राज्यमेष जिहीर्षति ।
मरिचान्यप्यर्धीवाञ्छ त्यत्तुं चणकलीलया ॥ ५६ ॥
आयातोऽहं तदेषोऽस्मि, राज्याय स्वं प्रभुं युधि ।
इत्युक्त्वा दूतमुत्सृज्य, बाहुबल्यप्यषेणयत् ॥ ५७ ॥
ज्ञात्वाऽऽयान्तं च भरतं, सर्वौघेण तमभ्यगात् ।
ततस्तद्बलयोरासी त्संग्रामो द्वादशाब्दकः ॥ ५८ ॥
अथ बाहुबलिः स्माह, किमेतैःकीटकुट्टनैः ।
आवयोरेव यद्वैरमावयोरेव यद्रणः ॥ ५९ ॥
अथाङ्गाङ्गिरणे देव प्रार्थनात्स्वीकृते शुभे ।
दृग्युद्धं प्रथमं चक्रे , भरतस्तत्र निर्जितः ॥ ६० ॥
एवं वाग्युन्मुष्टीमुष्टि दण्डादण्डिरणैर्जितः ।
भरतोऽचिन्तयच्चक्री, एष एवास्म्यहं न किम् ॥ ६१ ॥
तस्यैवं खिन्नचित्तस्य, चक्रं देवतयाऽर्पितम् ।
सगर्वस्तेन सोऽधावत्, हन्तुं बाहुबलिं प्रति ॥ ६२ ॥
तमायान्तं समालोक्या चिन्तयद्बाहुबल्यपि ।
एतं सचक्रमप्येक मुष्टिघातेन चूर्णये ॥ ६३ ॥
किं पुनः कामभोगानां, तुच्छानां कारणे मम ।
भ्रातुर्भ्रष्टप्रतिज्ञस्य, वधः कर्तुं न युज्यते ॥ ६४ ॥
भव्यं मे भ्रातृभिश्चक्रे , तत्करोम्यहमप्यतः ।
अथोचेऽधर्मयुद्धेच्छो ! धिक्के भरत ! पौरुषम् ॥ ६५ ॥
अलं भोगैर्ममेत्युक्त्वा, तदैव व्रतमाददे ।
भरतस्तनयं बाहो, राज्ये सोमप्रभं न्यधात् ॥ ६६ ॥
अग्रे केवलिनः सन्ति तातोपान्ते ममानुजाः ।
ततोऽहमपि यास्यामि, संजाते तत्र केवले ॥ ६७ ॥
तत्रैवास्थात्प्रतिमये त्युपलस्तम्भनिश्चलः ।
पादयोर्जातबल्मीको, लताएद्धतविग्रहः ॥ ६८ ॥
वत्सरान्ते बोधकालं, ज्ञात्वा ब्राह्मी च सुन्दरी ।
स्वामिना प्रेषिते गत्वा, दृष्ट्वा तं वल्लिवेष्टितम् ॥ ६९ ॥
नत्वोचतुरिदं बन्धो, हस्तिनोऽवतराधुना ।
द्विस्त्रिर्वचनमित्युक्त्वा, गते साध्व्यौ यथा गतम् ॥ ७० ॥
बाहुर्दध्यौ क्व हस्ती मे, मृषा चैते न जल्पतः ।
हुं ज्ञातं मानहस्त्यस्ति, को मानो मे विवेकिनः ॥ ७१ ॥
तद्यामि स्वामिनं वन्दे, तान् स्वभ्रातॄन् मुनीनपि ।
उत्क्षिप्ते चरणे जातं, केवलज्ञानमुऽऽवलम् ॥ ७२ ॥
ततो गत्वा प्रभुं प्रेक्ष्य, तस्थौ केवलिपर्षदि ।
भरतः कुरुते राज्यं, मरीचिः श्रुतवानभूत ॥ ७३ ॥ आ० क० ।

अथ किमभूदित्याह अन्यदा ।

बाहुबलिकोवकरणं, निवेअणं चक्किदेवया कहणं ।
नाहम्मेणं तुज्झे, दिक्खा पडिमायइन्नायं ॥ ३१ ॥
पढमं दिट्ठीजुद्धं, वयाजुद्धं तहेव वाहाहिं ।
मुट्ठीहि य डंडेहि य, सव्वत्थ विजिप्पए भरहो ॥ ३२ ॥
सो एव जिप्पमाणो, विहुरो अ नरवई विचिंतेइ ।
किं मन्नि एस चक्की, जहि दाणिं दुव्वलो अह यं ॥ ३३ ॥
ताहे चक्कं मणसी, करेइ पत्ते अ चक्करयणम्मि ।
बाहुबलिणा य भणिअं, धिरत्यु रज्जस्स तो तुब्भं ॥ ३४ ॥
चिंतेइ अ सो मज्झं, सहोयरा पुव्वदिक्खिया नाणी ।
अह य केवली होउं, वच्चेहामी ठिओ पडिमं ॥ ३५ ॥

संवच्छरेण धूअं, अमूढलक्खो उ पेसए अरहा।
हत्थीओ ओअर त्तिअ, बुत्ते चिंता पए नाणं ॥ ३६ ॥
उप्पन्नाणरयणा, तिन्नपइन्नो जिणस्स पामूले।
गंतुं तित्थं नमिउं, केवलिपरिसाइ आसीणो ॥ ३७ ॥
काऊण एगछत्तं, भरहो वि अ भुंजए विउलभोए।
मरिई वि सामिपासे, विहरइ तवसंजमसमग्गो ॥ ३८ ॥
सामाइअमाईअं, इक्कारसमाउ जाव अंगाओ।
उज्जुत्तो भत्तिगओ, अहिज्जिओ सो गुरुसगासे ॥ ३९ ॥

भरतसंदेशाकर्णने सति बाहुबलिनः कोपकरणं तन्निवेदनं च क्रवर्तिभरताय दूतेन कृतं (देवयत्ति) युद्धे जीयमानेन किमयं चक्रवर्ती न त्वहमिति चिन्तिते । देवता आगतेति (कहणंति) बाहुबलिना परिणामदारुणान् भोगान् पर्यालोच्य कथनं कृतमलं मे राज्येनेति। तथा चाह। नाधर्म्मेण युध्यामीति। दीक्षा तेन गृहीता अनुत्पन्नज्ञानः कथमहं ज्यायान् लगीससो द्रक्ष्यामीत्यभिधानात् प्रतिमा अङ्गीकृता प्रतिज्ञा च कृता । नास्मादनुपपन्नज्ञानो यास्यामीति निर्युक्तिगाथा । शेषास्तु भाष्यगाथाः। तयोश्च भरतबाहुबलिनोः प्रथमं दृष्टियुद्धं, पुनर्वाग्युद्धं, तथैव बाहुभ्यां मुष्टिभिश्च दण्डैश्च सर्वत्रापि सर्वेषु जीयते भरतः। स एवं जीयमानो विधुरोऽथ नरपतिर्विचिन्तितवान् अर्हन्नादितीर्थकरः हस्तिनः अवतर इति चोक्ते चिन्ता तस्य जाता यामीति संप्रधार्य (पए) इति पदोत्क्षेपे ज्ञानमुत्पन्नमिति । उत्पन्नज्ञानस्तीर्णप्रतिज्ञो जिनस्य पादमूले गत्वा केवलिपर्षदं गत्वा तीर्थं नत्वा आसीनः अत्रान्तरे कृत्वा एकच्छत्रं भुवनमिति वाक्यशेषः भरतोऽपि च भुङ्क्ते विपुलभोगान्। मरीचिरपि स्वामिपार्श्वे विहरति तपः संयमसमग्रः स च सामायिकादिकमेकादशमङ्गं यावत्। उद्युक्तः क्रियायां भक्तिगतो भगवति श्रुते वा अधीतवान्। स गुरुसकाश इत्युपन्यस्तगाथार्थः।

अह अन्नया कयाई, गिह्मे उण्हेण परिगयसरीरो।
अण्हाणएण चइओ, इमं कुलिंगं विचिंतेइ ॥ ४० ॥

गमनिका। अथेत्यानन्तर्ये कदाचिदेकस्मिन् काले ग्रीष्मे उष्णेन परिगतशरीरः। अस्नानेनेत्यस्नानपरीषहेण त्याजितः संयमात् एतत्कुलिङ्गं वक्ष्यमाणं विचिन्तयतीति गाथार्थः।

मेरुगिरीसमभारे, न हुमि समत्थो मुहुत्तमवि वोढुं।
सामन्नए गुणे गुण रहिओ संसारमणुकंखी ॥ ४१ ॥

कान् श्रमणनामेते श्रमणाः के ते गुणाः विशिष्टक्षान्त्यादयस्तान् कुतो यतो धृत्यादिगुणरहितोऽहं संसारानुकाङ्क्षीति गाथार्थः। ततश्च किं मम युज्यते। गृहस्थत्वं तावदनुचितं श्रमणगुणानुपालनमप्य शक्यम्॥

एवमणुचिंतयंतस्स, तस्स नियया मई समुप्पन्ना।
लद्धो मए उवाओ, जाया मे सासया बुद्धी ॥ ४२ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेणानुचिन्तयतस्तस्य निजा मतिः समुत्पन्ना न परोपदेशेन स ह्येवं चिन्तयामास। लब्धो मया वर्तमानकालोचितः खलूपायो जाता मम शाश्वती बुद्धिः शाश्वतीत्याकालिकी प्रायोनिरवद्यजीविकाहेतुत्वादिति गाथार्थः॥

यदुक्तमिदं कुलिङ्गमचिन्तयत् तत्प्रदर्शनायाह।

समणा तिदंडविरया, भगवंतो निहुअसंकुचिअगत्ता।
अजिइंदिअ दंडस्स, ओहो उ तिदंडं ममं चिन्हं ॥ ४३ ॥

गमनिका। श्रमणा मनोवाक्कायलक्षणत्रिदण्डविरताः ऐश्वर्यादिभगयोगाद्भगवन्तः निभृतान्यन्तःकरणाशुभव्यापारपरित्यागात् संकुचितान्यशुभाकायव्यापारपरित्यागाद ङ्गानि येषां ते तथोच्यन्ते अहं तु नैवंविधो यतः अजितेन्द्रियेत्यादि न जितानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि दण्डाश्च *मनोवाक्कायलक्षणा येन स तथोच्यते। तस्याजितेन्द्रियदण्डस्य तु त्रिदण्ड* मम चिह्नमविस्मरणार्थमिति॥

लोइंदियमुंडा संजया उ अह यं खुरेण ससिहाओ।
थूलगयाणि वहाओ, विरमणं से सया होउ ॥ ४४ ॥

मुण्डो हि द्विधा भवति द्रव्यतो भावतश्च। तत्रैते श्रमणा द्रव्यभावमुण्डाः कथं लोचनेन्द्रियैश्च मुण्डाः संयताः सन्ति अहं पुनर्नेन्द्रियमुण्डो यतः अतोऽलं द्रव्यमुण्डतया तस्मादहं क्षुरेण मुण्डः सशिखश्च भवामि। तथा सर्वप्राणिवधविरताःश्रमणा वर्तन्ते अहं तु नैवंविधो यतः अतः स्थूलप्राणातिपाताद्विरमणं मे सदा भवत्विति गाथार्थः॥

निक्किंचणा य समणा, अकिंचणा मज्झ किंचणा होंउ
सीलसुगंधा समणा, अहयं सीलेण दुग्गंधो ॥ ४५ ॥

गमनिका। निर्गतं किंचनं हिरण्यादि येभ्यस्ते निष्किंचनाश्च श्रमणास्तथाऽविद्यमानं किंचनमल्पमपि येषां ते अकिञ्चना जिनकल्पिकादयः अहं तु नैवंविधो यतो मार्गविस्मृत्यर्थं मम किंचन भवतु पवित्रिकादि। तथा शीलेन शोभना गन्धो येषां ते तथाविधाः। अहं तु शीलेन दुर्गन्धः अतो गन्धचन्दनग्रहणं मे युक्तमिति गाथार्थः।

ववगयमोहा समणा, मोहच्छन्नस्स छत्तयं होउ।
अणुवाणहा य समणा, मज्झं च उवाणाहा हुंतु ॥ ४६ ॥

गमनिका। व्यपगतो मोहो येषां ते व्यपगतमोहाः श्रमणाः अहं तु नेत्थं यतः अतो मोहाच्छादितस्य च्छत्रकं भवतु अनुपानत्काश्च श्रमणाः मम चोपानहौ भवतामिति गाथाक्षरार्थः॥

सुक्कंवरा य समणा, निरंबरा मब्भ धाउरत्ताइं।
हुंतु अ मे वत्थाइं, अरिहोमि कसायकलुसमई ॥ ४७ ॥

गमनिका। शुक्लाम्बराः श्रमणास्तथा निर्गतमम्बरं येभ्यस्ते निरम्बरा जिनकल्पिकादयः (मब्भत्ति) मम य एते श्रमणा इत्यनेन तत्कालोत्पन्नतापसश्रमणव्युदासः धातुरक्तानि भवन्तु मम वस्त्राणि किमित्यर्हो योग्याऽस्मि तेषामेव कषायैः कलुषा मतिर्यस्यासावहं कषायकलुषमतिरिति गाथार्थः॥

वज्जंति वज्जभीरुओ, बहुजीवसमाउलं जलारंभं।
होउ मम परिमिएणं, जलेण ण्हाणं च पियणं च ॥ ४८ ॥

गमनिका वर्जयन्त्यवद्यभीरवो बहुजीवावद्यभीरवो बहुजीव समाकुलं जलारम्भं तत्रैव वनस्पतेरवस्थानात्। अवद्यं पापं अहं तु नेत्थ यतः अतो भवतु मे परिमितेन जलेन स्नानं च पानं चेति गाथार्थः।

एवं सो रुइअमई, निहगमइविगप्पिअं इमं लिगं।
तद्धियहेउसु जुत्तं, परिवज्जं पवत्तेइ ॥ ४९ ॥

स्थूलमृषावादादिनिवृत्तः एवमसौ रुचिता मतिर्यस्य असौ रुचितमतिः अतो निजमत्या विकल्पिकं निजमतिविकल्पितमिदं

लिङ्गं विशिष्टम्। तस्य हितास्तद्धिताः, तद्धिताश्च हेतवश्चेति समासः तैः सुष्ठु युक्त श्लिष्टमित्यर्थः। परिव्राजामिदं परिव्राजं प्रवर्तयति शास्त्रकारवचनात् वर्तमाननिर्देशोऽप्यविरुद्ध एव पाठान्तरं वा (पारिव्वज्जं ततो कारिति) पारिव्राजं ततः कृतवानिति गाथार्थः॥ भगवता च सह विजहार। तं च साधुमध्ये विजातीयं दृष्ट्वा कौतुकाल्लोकः पृष्टवान्। तथा चाह।

अह तं पागडरूवं, दट्ठुं पुच्छेइ बहुजणो धम्मं।
कहेइ जईणं तो सो, वियालणे तस्स परिकहणा॥ ५०॥

गमनिका। अथ तं प्रकटरूपं विजातीयत्वात् दृष्ट्वा पृच्छति बहुजनो धर्म्मं कथयति यतीनां संबन्धिभूतं क्षान्त्यदिलक्षणं ततोऽसविति लोका भणन्ति यद्ययं श्रेष्ठो भवता किं नाङ्गीकृत इति विचारेण तस्य परि समन्तात्कथना परिकथना श्रमणास्त्रिदण्डविरता इत्यादिलक्षणा पृच्छतीति त्रिकालगोचरस्तत्र प्रदर्शनार्थत्वादेवं निर्देशः। पाठान्तरम्। ''अह तं पागडरूवं, दट्ठुं पुच्छिसु बहुजणो धम्मं। कहती सजतीणं सो, वियालणे तस्स परिकहणा'' प्रवर्तत इति गाथार्थः। आ० म० प्र०। आव० १ अ०।

(२३) ब्राह्मणानामुत्पत्तिप्रकारमाह।

धम्मकहा अक्खित्ते, उवट्ठिए देइ सामिणो सीसे।
गामनगराई विह रइ सो सामिणा सद्धं॥ ५१॥

धर्म्मकथाक्षिप्तान् उपस्थितान् ददाति भगवतः शिष्यान् ग्रामनगरादीन् विहरति स स्वामिना सार्द्धम्। भावार्थः सुगम इत्थं निर्देशप्रयोजनं पूर्ववद्ग्रन्थकारवचनत्वाद्वा अदोष इति गाथार्थः॥ अन्यदा भगवान्विहरमाणोऽष्टापदमनुप्राप्तवांस्तत्र च समवसृतः भरतोऽपि भ्रातृप्रव्रज्याकर्णनात्संजातमनस्तापोऽधृतिं चक्रे। कदाचिद्भोगान् दीयमानान् पुनरपि गृह्णन्तीत्यालोच्य भगवत्समिपं चागम्य निमन्त्रयंश्च तान् भोगैर्निराकृतश्च चिन्तयामास। एतेषामेवेदानीं परित्सक्तसङ्गानामाहारदोनेनापि तावद्धर्मानुष्ठानं करोमीति पञ्चभिः शकटैर्विचित्रमाहारमानाय्योपनिमन्त्र्य आधाकर्म्माहृतं च न कल्पते यतीनामिति प्रतिषिद्धेऽकृतकारितेनान्येन निमन्त्रितवान् राजपिण्डोऽप्यकल्पनीय इति प्रतिषिद्धः सर्वप्रकारैरहं भगवता परित्यक्त इति सुतरामुन्माथितो बभूव। तमुन्माथितं विज्ञाय देवराट् तच्छोकोपशान्तये भगवन्तमवग्रहं पप्रच्छ। कतिविधोऽवग्रह इति भगवानाह। पञ्चविधोऽवग्रहस्तद्यथा। देवेन्द्रावग्रहो राजावग्रहो गृहपत्यवग्रहः सागारिकावग्रहः साधर्म्मिकावग्रहश्च। राजावग्रहो भरताधिपो गृह्यते। गृहपतिर्म्माण्डलिको राजा। सागारिकः शय्यातरः साधर्म्मिकः संयत इत्येतेषां चोत्तरोत्तरेण पूर्वः पूर्वो बाधितो द्रष्टव्य इति। यथा राजावग्रहेण देवेन्द्रावग्रहो बाधित इत्यादिप्ररूपिते देवराडहं भगवन्! य एते श्रमणा मदीयावग्रहे विहरन्ति तेषां मयाऽवग्रहोऽनुज्ञात इत्येवमभिधायाभिवन्द्य च भगवन्तं तस्थौ। भरतोऽचिन्तयदहमपि स्वकीयमवग्रहमनुजानामीत्येतावताऽपि नः कृतार्थता भवतु भगवत्समीपेऽनुज्ञातावग्रहः शक्रं पृष्टवान् भक्तपानमिदमानीतमनेन किं कार्यमिति देवराडाह। गुणोत्तरान् पूजयस्व सोऽचिन्तयत् के मम साधुव्यतिरेकेण जात्यादिभिरुत्तराः पर्यालोचयता ज्ञातं श्रावका विरता विरतत्वाद्गुणोत्तरास्तेभ्यो दत्तमिति। पुनर्भरतो देवेन्द्ररूपं भास्वरमाकृतिमत् दृष्ट्वा पृष्टवान् किं यूयमेवंभूतेन रूपेण देवलोके तिष्ठत उत नेति देवराडाह नेति। तन्मानुषैर्द्रष्टुमपि न पार्यते भास्वरत्वात्। पुनरप्याह भरतस्तस्याकृतिमात्रेणास्माकं कौतुकं तन्निदर्श्यताम्। देवराजआह। त्वमुत्तमपुरुष इति कृत्वैकमङ्गावयवं दर्शयामीत्यभिधाय योग्यालङ्कारविभूषितामङ्गुली मत्यन्तभास्वरामदर्शयत्। दृष्ट्वा च तां भारतोऽतीव मुमुदे शक्राङ्गुलीं च स्थापयित्वा महिमामष्टाह्निकां चक्रे। ततः प्रभृति शक्रोत्सवः प्रवृत्त इति। भरतश्च श्रावकानाहूयोक्तवान्। भवद्भिः प्रतिदिनं मदीयं भोक्तव्यं कृष्यादि च न कार्यं स्वाध्यायपरैरासितव्यं भुक्ते च मदीयगृहद्वारासन्नव्यवस्थितैर्वक्तव्यम्। जितो भवान् वर्द्धते भयं तस्मान्माहनेति। ते तथैव कृतवन्तः। भरतश्च रतिसागरावगाढत्वात्प्रमत्तत्वात्तच्छब्दाकर्णनोत्तरकालमेव केनाहं जित इति। आम् ज्ञातं कषायैस्तेभ्य एव वर्द्धते भयमित्यालोचनापूर्वकं संवेगं यातवानिति। अत्रान्तरे लोकबाहुल्यात् सूपकाराः पाकं कर्तुमशक्नुवन्तो भरताय निवेदितवन्तः नेह ज्ञायते कः श्रावकः को वा नेतीति लोकस्य प्रचुरत्वात्। आह भरतः पृच्छापूर्वकं देयमिति। ततस्तान् पृष्टवन्तस्ते को भवान् श्रावकाणां कति व्रतानि स आह श्रावकाणां न सन्ति व्रतानि किंत्वस्माकं पञ्चाणुव्रतानि। कति शिक्षाव्रतानि के उक्तवन्तः सप्त शिक्षाव्रतानि। य एवंभूतास्ते राज्ञो निवेदिताः स च ककणीरत्नेन तान् लाञ्छितवान्। पुनः षण्मासेन ये योग्या भवन्ति तानपि लञ्छितवान् षण्मासकालादनुयोगं कृतवानेवं ब्राह्मणाः संजाता इति। ते च स्वसुतान् साधुभ्यो दत्तवन्तस्ते च प्रव्रज्यां जगृहुः। परीषहभीरवस्तु श्रावका एवासन्निति। इयं च भरतराज्यस्थितिः। आदित्ययशसस्तु काकणीरत्नं नासीत्। सुवर्णमयानि यज्ञोपवीतानि कृतवान्महायशः प्रभृतयस्तु केचन रूप्यमयानि केचन विचित्रपट्टसूत्रमयानीत्येवं यज्ञोपवीतप्रसिद्धिः

अमुमेवार्थं समुसरणेत्यादिगाथया प्रतिपादयति।

समुसरणभत्तउग्गह मंगुलिऋयस ककसावया अहिया।
जेया वड्ढइ कागिणि लंछणअणुसज्जणा अट्ठ॥ ५२॥

गमनिका। समवसरणं भगवतोऽष्टापदे खल्वासीत्। भक्तं भरतेनानीतं तदग्रहणोन्माथिते सति भरते देवेशो भगवन्तमवग्रहं पृष्टवान् भगवांश्च तस्मै प्रतिपादितवान् (अंगुलियत्ति) भरतनृपतिना देवलोकनिवासिरूपपृच्छायां कृतायामिन्द्रेणाङ्गुलिर्दर्शिता। तत एवारभ्य ध्वजोत्सवः प्रवृत्त (सव्वुत्ति) भरतनृपतिना किमनेनाहारेण कार्यमिति पृष्टः शक्रोऽभिहितवान्। त्वदधिकेभ्यो दीयतामिति पर्यालोचयता ज्ञातं श्रावका अधिका इति (जेया वड्ढइत्ति) प्राकृतशैल्या जितो भवान् वर्द्धते भयं भुक्त्वोत्तरं कालं च ते उक्तवन्तः (कगणिलंछणत्ति) प्रचुरत्वात् काकणीरत्नेन लाञ्छनं चिह्नं तेषां कृतमासीत् (अमुसज्जणअट्ठत्ति) अष्टौ पुरुषान् यावदयं धर्म्मः प्रवृत्तः अष्टौ वा तीर्थकरान् यावदिति गाथार्थः। अत ऊर्द्धं मिथ्यात्वमुपगता इति।

राया आइच्चजसे, महाबले अइबले य बलभद्दे।
बलवीरियकत्तविरिण, जलविविरिए दंडविरिए अ॥ ५३॥

अस्या भावार्थः सुगत एवेति गाथार्थः।

एएहि अद्धभरहं, सयलं भुत्तं सिरेण धरिओ अ।
जिणसत्तिओ अमउडो, सेसेहिं चाइओ वोढुं॥ ५४॥

गमनिका। एभिरर्द्धभरतं सकलं भुक्तं शिरसा धृतश्च। कोऽसाविति आह। प्रवरो जिनेन्द्रमुकुटो देवेन्द्रोपनीतः शेषैर्नरपतिभिर्नशक्तितो वोढुं महाप्रमाणत्वादिति गाथार्थः।

अस्सावगपडिसेहो, छट्ठे अ मासि अणुओगो ।
कालेण य मिच्छत्तं, जिणंतरे साहवुच्छेओ ॥ ५५ ॥

गमनिका अश्रावकाणां प्रतिषेधः कृत उर्द्धमपि षष्ठे मासेऽनुयोगो बभूव। अनुयोगः परीक्षा कालेन गच्छता मिथ्यात्वमुपगता। कदा नवमजिनान्तरे किमिति यतस्तत्र साधुव्यवच्छेद आसीदिति गाथार्थः।

साप्रतमुक्तार्थप्रतिपादना परसंग्रह गाथामाह।

दाणं च माहणाणं, वेया कासी अ पुच्छ निव्वाणं ।
कुंडाथूभ जिणघरे, भरहो कविलस्स दिक्खा य ॥ ५६ ॥

दानं च माहनानां लोको दातुं प्रवृत्तो भरतपूजितत्वात् (वेया कासी य त्ति) आयान् वेदान् कृतवांश्च भरत एव तत्स्वाध्यायनिमित्तमिति। तीर्थकरस्तुतिरूपान् श्रावकधर्म्मप्रतिपादकांश्च। आचार्यास्तु पश्चात्सुलसा याज्ञवल्क्यादिभिः कृता इति(पुच्छत्ति) भरतो भगवन्तमष्टापदसमवसृतमेव पृष्टवान् यादृग्भूता यूयमेवंविधाः तीर्थकृतः कियन्तः खल्विह भविष्यन्तीत्यादि (निव्वाणं ति) भगवानष्टापदे निर्वाणं प्राप्तो देवैरग्निकुण्डानि कृतानि स्तूपाः कृताः जिनगृहं भरतश्चकार कपिलो मरीचिसकाशे निष्क्रान्तो भरतस्य दीक्षा च संवृत्तेति समुदायार्थः। अवयवार्थ उच्यते। आद्यावयवद्वयं व्याख्यात-मेव। पृच्छावयवार्थं पुणरवि य गाथेत्यादिनाऽऽह ॥

पुणरवि अ समोसरणे, पुच्छा अ जिणं तु चक्किणो भरहे ।
अप्पुट्ठो अ दसारे, तित्थयरो को इहं भरहे ॥ ५७ ॥

गमनिका पुनरपि च समवसरणे पृष्टवांश्च जिनं तु चक्रवर्ती भरतश्चक्रवर्तिन इत्युपलक्षणं तीर्थकृतश्चेति भरतविशेषणं वा चक्री भरतस्तीर्थकरादीन् पृष्टवान्। पाठान्तरं वा पुच्छी य जिणे य चक्किणो भरहे ''पृष्टवान् जिनांश्चक्रवर्तिनश्च भरतः च शब्दस्य व्यवहितः संबन्धः भगवानपि तान् कथितवान् तथा अपृष्टश्च दशारान् तथा तीर्थकरः क इह भरतेऽस्यां परिषदीति पृष्टवान् भगवानपि मरीचिं कथितवानिति गाथाक्षरार्थः। तथा चाह। निर्युक्तिकारः ॥

जिणचक्किदसाराणं, वन्नपमाणाइं नामगुत्ताइं ।
आउपुरमाइपियरो, परियायगइं च साही य ॥ ५८ ॥

गमनिका जिनचक्र वर्तिवासुदेवानामित्यर्थः। वर्णप्रमाणानि तथा गामगोत्राणि तथा आयुः पुराणि मातापितरौ यथासंभवं पर्यायं गतिं च। चशब्दाज्जिनानामन्तराणि च पृष्टवानिति द्वारगाथासमासार्थः अवयवार्थं तु वक्ष्यामः ॥

जारिसया लोगगुरओ, भरहे वासम्मि केवली तुब्भे ।
एरिसया कइ अन्ने, तया होहिंति तित्थरा ॥ ५९ ॥

यादृशा लोकगुरवो भारते वर्षे केवलिनो यूयमीदृशाः कियन्तोऽन्यऽत्रैवं तात ! भविष्यन्ति तीर्थकरा ति गाथार्थः ॥

अह भणइ जिणवरिंदो, भरहे वासम्मि जारिसो उ अहं ।
एरिसया तेवीसं, अन्ने होहिंति तित्थयरा ॥ ६० ॥
होही अजिओ संभव ममिनंदणसुमइसुप्पभसुपासो ।
ससिपुप्फदंतसीयल सिज्जंसो वासुपुज्जो अ ॥ ६१ ॥
विमलमणंत य धम्मो, संती कुंथू अरो अ मल्ली अ ।
मुणिसुव्वयनमिनेमी, पासो तह बद्धमाणो अ ॥ ६२ ॥

अह भणइ नरवरिंदो, भरहे वासम्मि जारिसो उ अहं ।
एरिसया कइ अन्ने, ताया होहिंति रायाणो ॥ ६३ ॥

गमनिका अथ भणति नरवरेन्द्रो भरतः भारते वर्षे यादृशास्त्वहं तादृशाः कत्यन्ये तात ! भविष्यन्ति राजान इति गाथार्थः ॥

अह भणइ जिणवरिंदो, जारिसओ तं नरिंदसद्दूलो ।
एरिसया इक्कारस, अन्ने होहिंति रायाणो ॥ ६४ ॥
होही सगरो मघवं, सणंकुमारो अ रायसद्दूलो ।
संती कुंथू अ अरो, हवइ सुभूमो अकोरव्वो ॥ ६५ ॥
नवमो अ महापउमो, हरिसेणो चेव रायसद्दूलो ।
जयनामो अ नरवई, बारसमो बंभदत्तो अ ॥ ६६ ॥
होहिंति वासुदेवा, नव अन्ने नीलपीअकोसिज्जा ।
हलमुसलचक्कजोही, सतालगरुडज्झया दो दो ॥ ६७ ॥

अथ भणति जिनवरेन्द्रो यादृशस्त्वं नरेन्द्रशार्दूलः सिंहपर्यायः ईदृशाः एकादश अन्ये भविष्यन्ति राजानस्ते चैते। (होहिंति) गाथाद्वयं निगदसिद्धमेव यदुक्तमपृष्टश्च दशारान् कथितवान्। तदभिधित्सयाह भाष्यकारः (होहिंति) भविष्यन्ति वासुदेवा नव बलदेवाश्चानुक्ता अप्यत्र तत्सहचरत्वात् द्रष्टव्याः यतो वक्ष्यति स तालगरुलज्झया दो दो ते च सर्वे बलदेवा वासुदेवा यथासंख्यं नीलानि पीतानि च कौशेयानि वस्त्राणि येषां ते तथाविधाः। यथासंख्यमेवाह हलमुशलचक्र योधिनः। *हलमुशलयोधिनो बलदेवाः चक्रयोधिनो वासुदेवा इति। सतालगरुडध्व-* जाभ्यां वर्तन्त इति सतालगरुडध्वजाः एते च भगवन्तो युगपद् द्वौ द्वौ भविष्यः। बलदेववासुदेवाविति गाथार्थः। आ० म० प्र०। आव० १ अ०।

''तित्थगरो को इहं भरहेत्ति'' तद्व्याचिख्यासस्याऽऽह।

अह भणइ नरवरिंदो, ताय इमीसित्तियाइ परिसाए ।
अन्नो वि को विहोही, भरहे वासम्मि तित्थयरो ॥ ४१ ॥

अत्रान्तरे अथ भणति नरवरेन्द्रः तात ! अस्याः एतावत्याः परिषदःअन्योऽपि कश्चिद्भविष्यति तीर्थकरः अस्मिन् भारते वर्षे भावार्थस्तु सुगम एवेति गाथार्थः ॥

तत्थ मरीई नामं, आइपरिव्वायगो उसभनत्ता ।
सज्झायज्झाणजुत्तो, एगंते झायइ महप्पा ॥ ४२ ॥

गमनिका तत्र भगवतः प्रत्यासन्नभूभागे मरीचिनामा आदौ परिव्राजक आदिपरिव्राजकः प्रवर्तकत्वात् ऋषभनप्ता पौत्रक इत्यर्थः। स्वाध्याय एव ध्यानं तेन युक्तः एकान्ते ध्यायति महात्मेति गाथार्थः। भरतपृष्टो भगवान् तं मरीचिं दर्शयति।

तं दाएइ जिणिंदो, एव नरिंदेण पुच्छिओ संतो ।
धम्मवरचक्कवट्टी, अपच्छिमो वीरनामुत्ति ॥ ४३ ॥

जिनेन्द्रः एवं नरेन्द्रेण पृष्टः सन् धर्मवरचक्रवर्ती अपश्चिमोवीरनामा भविष्यतीति गाथार्थः ॥

आइगरदसाराणं, तिविट्ठु नामेण पोअणाहिवई ।
पियमित्तचक्कवट्टी, मूआइविदेहवासम्मि ॥ ४४ ॥

गमनिका आदिकरः (दसाराणंति) पृष्टनामा पोतना नाम नगरी। तस्या अधिपतिर्भविष्यतीति क्रिया। तथा प्रियमित्रनामा चक्रवर्त्ती मूकायां नगर्यां (विदेहवासम्मित्ति)महाविदेहे भविष्यतीति गाथार्थः।

तं वयणं सोऊणं, राया अंचियतणूरुहसरीरो।
अभिवंदिऊण पिअरं, मरीइ अभिवंदओ जाइ॥ ४५॥

गमनिका। तद्वचनं तीर्थकरवदनविनिर्गतं श्रुत्वा राजा अञ्चितानि तनूरुहाणि शरीरे यस्य स तथाविधः अभिवन्द्य पितरं तीर्थकरं मरीचिम् अभिवंदओ ''इत्यभिवन्दको याति।पाठान्तरं वा।'' मरीइं अभिवं जाइ त्ति मरीचिं याति किमर्थमभिवन्दितुमभिवन्दनायेत्यर्थः यातीति वर्तमानकालनिर्देशस्त्रिकालगोचरत्वप्रदर्शनार्थ इति गाथार्थः।

सो विणएण उवगओ, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो।
वंदइ अभित्थुणंतो, इमाहिं महुराहिं वग्गूहिं॥ ४३॥
लाभा हु ते सुलद्धा, जंसि तुमं धम्मचक्कवट्टीणं।
होहिसि दसचउदसमो, अपच्छिमो वीरनामुत्ति॥
आइगरदसाराणं, तिविट्ठुना० (४४)॥ ४८॥

स भरतो विनयेन करणभूतेन मरीचिसकासमुपगतः सन् कृत्वा प्रदक्षिणां च (तिक्खुत्तोत्ति) त्रिःकृत्वस्तिस्रो वारा इत्यर्थः वन्दते अभिष्टुते एताभिर्मधुराभिर्वाग्भिर्वाग्भिरिति गाथार्थः। (लाभेत्ति) गमनिका लाभा अभ्युदयप्राप्तिविशेषा हुकारो निपातः स चैवकारार्थः।तस्य व्यवहितः संबन्धः तव सुलब्धा एव यस्मात् त्वं धर्म्मचक्रवर्तिनां भविष्यति दशचतुर्दशः चतुर्विंशतितम इत्यर्थः। अपश्चिमो वीरनामेति गाथार्थः। (आइगरइत्ति) व्याख्या पूर्ववन्नेया एकान्तप्रदर्शनानुरञ्जितहृदयो भावितीर्थकरभक्त्या च तमभिवन्दनायोद्यते भरत एवाह॥

न वि ते पारिव्वज्जं, वंदामि अहं इमं च ते जम्मं।
जं होहिसि तित्थयरो, अपच्छिमो तेण वंदामि॥ ४९॥

गमनिका नापि च परिव्राजामिदं पारिव्राजं वन्दमि अहमिदं च ते जन्म किं तु यद्भविष्यति तीर्थकरः अपश्चिमस्तेन वन्दामी ति गाथार्थः।

एव णं थोऊणं, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो।
आपुच्छिऊण पियरं, विणीयनयरिं अह पविट्ठो॥ ५०॥

एवं स्तुत्वा णमिति निपातः पूरणार्थो वर्तते कृत्वा प्रदक्षिणां च त्रिःकृत्वः आपृच्छ्य पितरं ऋषभदेवं विनीतनगरीमयोध्यामथानन्तरं प्रविष्टो भरत इति गाथार्थः। अत्रान्तरे।

तं वयणं सोऊणं, तिवइ अप्फोडिऊण तिक्खुत्तो।
अब्भहियजायहरिसो, तत्थ मरीई इमं भणइ॥ ५१॥

गमनिका। तस्य भरतस्य वचनं तद्वचनं श्रुत्वा तत्र मरीचिः इदं भणतीति योगः।कथमित्यत आह। त्रिपदीं दत्त्वा रङ्गमध्यगतमल्लवत्। तथा आस्फोट्य त्रिःकृत्वःतिस्रो वारा इत्यर्थः। किं विशिष्टः संस्तत आह। अभ्यधिको जातो हर्षो यस्येति समासः तत्र स्थाने मरचिरिदं वक्ष्यमाणलक्षणं भणति। वर्तमाननिर्देशप्रयोजनं प्राग्वदिति गाथार्थः।

जइ वासुदेवपढमो, मूआइविदेहचक्कवट्टित्तं।
चरमो तित्थयराणं, होउ अलं इति य मब्भ॥ ५२॥

गमनिका यदि वासुदेवः प्रथमोऽहं मूकायां विदेहे चक्रवर्तित्वं प्राप्स्यामि। तथा चरमःपश्चिमस्तीर्थकराणां भविष्यामि एवं तर्हि भवतु एतावन्मम एतावतैव कृतार्थ इत्यर्थः। अलं पर्याप्तमन्येनेति॥

अह यं च दसाराणं, पिया य मे चक्कवट्टिवंसस्स।
अज्जो तित्थयराणं, अहो कुलं उत्तमं मज्झ॥ ५३॥

गमनिका। अहमेव चशब्दस्यैवकारार्थत्वात् किं दशाराणं प्रथमो भविष्यामीति वाक्यशेषः। पिता च मे मम चक्रवर्तिवंशस्य प्रथम इति क्रियाध्याहारः। तथा आर्यकः पितामहः सतीर्थकराणां प्रथमः यत एवमत अहो विस्मये कुलमुत्तमं ममेति गाथार्थः। आव० १ अ०। आ० म० प्र०।

(२४) अथाऽवन्ध्यशक्तिवचनगुणप्रतिबुद्धस्य प्रभुपरिकरभूतस्य सङ्घस्य सङ्ख्यामाह।

उसभस्स णं अरहओ कोसलिअस्स चउरासी गणहरा होत्था। **उसभस्स णं अरहओ कोसलिअस्स** उसभसेण पामोक्खाओ **चुलसीइं** समणसाहस्सिओ उक्कोसिआ समणसंपया होत्था। **उसहस्स णं बंभी सुंदरी** पामोक्खाओ तिण्णि अज्जिआसयसाहस्सीओ **उक्कोसिअज्जिआसंपया होत्था। उसभस्स णं सेजंसपामोक्खाओ तिण्णि समणोवासगसयसाहस्सीओ पंचसयसाहस्सीओ उक्कोसिआसमणोवासगसंपया होत्था। उभभस्स णं सुभद्दापामोक्खाओ पंचसमणोवासिआसयसाहस्सीओ चउप्पण्णं च सहस्स उक्कोसिआ** समणोवासिआसंपया **होत्था। उसभस्स णं अरहउक्कोसलिअस्स अजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खरसन्निवाईणं** जिणो विव अवितहं **वागरमाणाणं चत्तारि चउद्दसपुव्वसिहस्सा अद्धट्ठमायसया उक्कोसिआ चउद्दसपुव्वी संपया होत्था।** उसभस्स णं **णवओहिणाणिसहस्सा उक्कोसिआ** संपया होत्था। उसभस्स णं **वीसं जिणसहस्सा वीसं वेउव्विअसहस्सा सयाउक्कोसिआ चउद्दसपुव्वी** संपया होत्था। उसभस्स णं णवहिणणिसहस्सा **उक्कोसिआ संपया होत्था! उसभस्स णं वीसं जिणसहस्सा वीसं वे छच्चसया उक्कोसिया आवारस्स विउलमइसहस्सा छच्च सया पण्णासा वारसवाइसहस्सा छच्चा सया पण्णासा उसभस्स णं गइकल्लाणाणं ठिइकल्लाणाणं अगमसिभद्दाणं वा बीसअणुत्तरोववाइआणं सहस्सा णव य सया उक्कोसिया उसभस्स णं वीसं समणसहस्सा सिद्धा चत्तालीसं अज्जिआसहस्सा सिद्धा सट्ठि अंतेवासीसहस्सा सिद्धा॥**

सुगमं नवरं ''जस्स जावइआ गणहरा तस्स तावइआ गणा'' इति वचनाद्गणाः सूत्रे साक्षादनिर्दिष्टा अपि तावन्त एव बोध्याः। क्वचिज्जीर्णप्रस्तुतसूत्रादर्शे ''चउरासीति गणा गणहरा होत्था'' इत्यपि पाठो दृश्यते तत्र चतुरसीतिपदस्योभयत्र योजनेन व्याख्या सुबोधैवेति। गणश्चैकवाचनाचारयतिसमुदायस्तं धरन्तीति गणधराः वाचनादिभिर्ज्ञा-नादिसंपादकत्वेन गणाधारभूता इति भावः (होत्था इति) अभवन् (उसभस्सणमित्यादि) ऋषभसेनप्रमुखानि चतुरशीतिः श्रमणसहस्राणि एष उत्कर्ष उत्कृष्टभागस्तत्र भवा औत्कर्षिका प्रत्यये डीर्वा ''इत्यनेनङीविकल्पे रूपसिद्धिः। ऋषभस्यश्रमणसंपदभवत्। अत्र वाक्यान्तरत्वेन श्रमणशब्दस्य न पौनरुक्त्यमेव सर्वत्र

योज्यम् ''उसहस्स णमित्यादि प्रायः कण्ठ्यानि नवरं चतुर्दशपूर्विसूत्रे *अजितानां छद्मस्थानां (सव्वक्खरसन्निवाईणंति)सर्वेषाम क्षराणामकारादीनां सन्निपाता द्व्यादिसंयोगा अनन्तत्वादनन्ता अपि* ज्ञेयतया विद्यन्ते येषां ते तथा । जिनतुल्यत्वे हेतुमाह'' जिणो विव अवितहंमित्यादि जिन इवावितथं यथार्थं व्यागृणतां व्याकुर्वाणानां केवलिश्रुतकेवलिनोः प्रज्ञापनायां तुल्यत्वात् । चत्वारि सहस्राणि अर्द्धाष्टमानि च शतानि एषा औत्कर्षिको चतुर्दशपूर्विसंपदभवत् (विउव्विअत्ति) वैक्रियलब्धिमन्तः शेषं स्पष्टम् । विपुलमतयो मनः पर्यवज्ञानविशेषवन्तःद्वादशविपुलमतिसहस्राणि अधिकारात्तेषामेव षट्शतानि पञ्चाशच्चेत्येवं सर्वत्र योज्यम् । वादिनो वादिलब्धिमन्तः परप्रवादूकनिग्रह समर्थाः (उसभस्स णमित्यादि) देवगतिरूपायां कल्याणं येषां प्रायः सातोदयत्वात्तेषां तथा स्थितौ देवायूरुपायां कल्याणं येषां ते तथा अप्रविचारसुखस्वामिकत्वात् । आगमिष्यद्भद्र येषामागामिभवे सेत्स्यमानत्वात् ते तथा तेषामनुत्तरोपपातिकानां पञ्चानुत्तरलवसप्तमदेवविशेषाणां द्वाविंशतिसहस्राणि नवशतानि *''उसभस्सणमित्यादि'' सुगमं नवरं श्रमणार्यिकासंख्याद्वयमीलने* अन्तेवासिसंख्या संपद्यते।

(२५) अथ भगवतः श्रमणवर्णकसूत्रमाह।

उसभस्स णं बहवे अंतेवासी अणगारा भगवंतो अप्पेगइया मासपरियाया जहा उववाइए सव्वो अणगारवण्णओ जाव उद्धंजाणु अहोसिरज्झाणकोट्ठोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

अर्हतः ऋषभस्य बहवो अन्तेवासिनः शिष्यास्ते च गृहिणोऽपि स्युरित्यनगाराः भगवन्तः पूज्याःअपिःसमुच्चये एकका एके अन्येकेचिदपीत्यर्थः । मासं यावत् पर्यायश्चारित्रपालनं येषां ते तथा । यथोपपातिके सर्वो ऽनगारवर्णकस्तथाऽत्रापि वाच्यः । किय्यावदित्याह ऊर्द्ध जानुनी येषां ते ऊर्द्धजानवः शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौ औपग्राहिकनिषद्याया अभावाच्चोत्कुटु-कासना इत्यर्थः । अधः शिरसोऽधोमुखा नोर्द्धंतिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टयः ध्यानरूपो यः कोष्ठः कुसूलस्तमुपागतास्तत्र प्रविष्टाः यथा हि कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तं न विप्रसृतं *भवति एवं तेऽनगारा विषयेष्वपि प्रसृतेन्द्रिया न स्युरिति । संयमेन* संवररूपेण तपसाऽनशनादिना समुच्चयार्थो गम्यः । संयमतपोग्रहणं चानयोः प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनार्थं प्रधानत्वं च संयमनवकर्मानुपादानहेतुत्वेन तपसश्चपुराणकर्म्मनिर्जरणहेतुत्वेन भवति चाभिनवकर्मानुपादानात् पुराणकर्म्मक्षपणाच्च सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष इति आत्मानं भावयन्तो विहरन्ति तिष्ठन्तीत्यर्थः ।अत्र यावत्पदसंग्राह्यः 'अप्पेगइआ दो मासपरिआया'' इत्यादिकः औपपातिकग्रन्थो विस्तरभयान्न लिखित इत्यवसेयम्

(२६) अथ ऋषभस्वामिनः केवलोत्पत्त्यनन्तरं भव्यानां कियता कालेन सिद्धिगमनं प्रवृत्तं कियन्तं कालं यावदनुवृत्तं चेत्याह ॥

अरहओ णं उसभस्स उविहा अंतकरभूमी होत्था तं जहा जुगंतकरभूमी जाव असंखेज्जाइं पुरिसजुगाइं परिआयंतकरभूमी अंतोमुहुत्तपरिआए अंतमकासी ॥

ऋषभस्य द्विविधा अन्तं भवस्य कुर्व्वन्तीति अन्तकरा मुक्तिगामिनस्तेषां भूमिः कालः कालस्य चाधारत्वेन कारणत्वाद्भूमित्वेन व्यपदेशः *तद्यथा युगानि पञ्चवर्षमानानि कालविशेषाः लोकप्रसिद्धानि* वा कृतयुगादीनि तानि चक्रमवर्तीनि तत् साधर्म्याद्येक्रमवर्तिनो गुरुशिष्यादिरूपाः पुरुषास्तेऽपि साध्यावसानलक्षणयाऽभेदप्रतिपत्त्या युगानि पदपद्धतिपुरुषा इत्यर्थस्तैः प्रमितान्तकरभूमिर्युगान्तकरभूमिरिति पर्यायस्तीर्थकृतः केवलित्वकालस्तदपेक्षयान्तकरभूमिः *कोऽर्थः ऋषभस्य इयति केवलपर्यायकालेऽतिक्रान्ते मुक्तिगमनं* प्रवृत्तमिति तत्र युगान्तकरभूमिर्यावदसंख्यातानि पुरुषाः पट्टाधिरूढास्ते युगानि पूर्वोक्तयुक्त्या पुरुषयुगानि समर्थपदत्वात् समासः । नैरन्तर्ये द्वितीया । ऋषभात्प्रभृति श्रीअजितदेवतीर्थं यावत्। श्रीऋषभपट्टपरम्परासूढा असंख्याताःसिद्धाः न तावन्तं कालं मुक्तिगमनविरह इत्यर्थः ।यस्तु आदित्ययशः प्रभृतीनां ऋषभदेववंशजानां नृपाणां चतुर्दशलक्षप्रमितानां क्रमेण प्रथमतःसिद्धिगमनं तत एकस्य सर्वार्थसिद्धप्रस्तटगमनमित्याद्यनेकरीत्या अजितजिनपितरं मर्यादीकृत्य नन्दीसूत्रवृत्तिचूर्णिसिद्धदण्डिकादिषु सर्वार्थसिद्धप्रस्तटगमनव्यवहितः सिद्धिगम उक्तः स कोशलापट्टपतीन् प्रतिपत्त्यावसातव्योऽयं-पुण्डरीकगणधरादीन् *प्रतीत्येति विशेषस्तथा पर्यायान्तकरभूमिरेषा अन्तर्मुहूर्तं यावत्* केवलज्ञानस्य पर्यायो यस्य स तथा *एवंविधे ऋषभे सति अन्तं* भवान्तमकार्षीदकरोन्न वा कश्चिदपीति । यतो भगवदम्बा मरुदेवी प्रथमसिद्धा सा तु भगवत्केवलोत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तेनैव सिद्धेति ॥

(२९) अथ जन्मकल्याणकादिनक्षत्राण्याह ॥

उसभेणं अरहा कोसलिए पंच उत्तरासाढे अभीइछट्ठे होत्था तं जहा उत्तरासाढाहिं चुए चुइत्ता गब्भं वक्कंते उत्तरासाढाहिं जाए उत्तरासाढाहिं रायाभिसेअं पत्ते उत्तरासाढाहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिअं पव्वइए । उत्तरासाढाहिं अणंते जाव समुप्पण्णे अभीइणा परिणिव्वुए ॥

ऋषभोऽर्हन् पञ्चसु च्यवनजन्मराज्याभिषेकदीक्षाज्ञानलक्षणेषु वस्तुषु उत्तराषाढानक्षत्रं चन्द्रेण भुज्यमानं यस्य स तथा । अभिजिन्नक्षत्रं षष्ठं निर्वाणलक्षणे वस्तुनि यस्य स यद्वा अभिजिति नक्षत्रे षष्ठं निर्वाणलक्षणं वस्तु यस्य स तथा उक्तमेवार्थं भावयति। तद्यथा उत्तराषाढाभिर्युतेन चन्द्रेणेति शेषः । सूत्रे बहुवचनं प्राकृतशैल्या एवमग्रेऽपि च्युतः सर्वार्थसिद्धनाम्नो महाविमानान्निर्गत इत्यर्थः । च्युत्वा गर्भव्युक्रान्तमरुदेव्याः कुक्षावतीर्ण्णवानित्यर्थः । १ । जातो गर्भवासान्निष्क्रान्तः । २ । राज्याभिषेकं प्राप्तः । ३ । मुण्डो भूत्वा अगारं मुक्त्वा अनगारितां साधुतां प्रव्रजितः प्राप्त इत्यर्थः । पञ्चमी चात्र क्वयब्लोपजन्या । ४ । अनन्तरं यावत् केवलज्ञानं समुत्पन्नम् । ५ । यावत्पदसंग्रहः पूर्ववत् अभिजिता युते चन्द्रे परिनिर्वृतः सिद्धिगतः । ननु अस्मादेव विभागसूत्रवलादादिदेवस्य षट्कल्याणकाः समापद्यमाना दुर्निवारा इति चेन्न तदेवहि कल्याणकं यत्रासनप्रकम्पप्रयुक्तावधयः सकलसुरासुरेन्द्रा जातमिति विधित्सवो युगपत्ससंभ्रमा उपतिष्ठन्ते नह्ययं षष्ठकल्याणकत्वेन भवता निरूप्यमाणो राज्याभिषेकस्तादृशस्तेन वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः अनन्तरोक्तलक्षणायोगात् । *न च तर्हि निरर्थकमस्य* कल्याणकाधिकारे पठनमिति वाच्यं प्रथमतीर्थेशराज्याभिषेकस्य जातमिति शक्रेणक्रियमाणस्य देवकार्यत्वलक्षणसाधर्म्येण समाननक्षत्रजाततया च प्रसङ्गेन तत्पठनस्यापि सार्थकत्वात् तेन समाननक्षत्रजातत्वे सत्यपि कल्याणकत्वाभावेनानियतवक्तव्यतया क्व-

चिद्राज्याभिषेकस्याकथनेऽपि न दोषः । अत एव श्रुतस्कन्धाष्टमाध्ययने पर्युषणाकल्पेन श्रीभद्रबाहुस्वामिपादा ''तेणं समएणं उसभे अरहा कोसलिए चउ उत्तरासादे अभिइ पंचमे होत्था'' इति पञ्चकल्याणकनक्षत्रप्रतिपादकमेव सूत्रं बबन्धिरे न तु राज्याभिषेकनक्षत्राभिधायकमपीति । न च प्रस्तुतव्याख्यानस्यानागमिकत्वं भावनीयम् आचाराङ्गभावनाध्ययने श्रीवीरकल्याणसूत्रस्यैव व्याख्यातत्वात्।

(२८) अथ भगवतः शरीरसंपदं शरीप्रमाणं च वर्णयन्नाह।

उसभेणं अरहा कोसलिए वज्जरिसहनारायसंघयणे समचउरंससंठाणट्ठिए पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था ॥

उसभेणमित्यादि कण्ठ्यम्।

अथ भगवतः ऋषभस्य कौमारे राज्ये गृहित्वे च यावानकालः प्रागुक्तस्तं संग्रहरूपतयाऽभिधातुमाह।

सूसमदूसमाए एगूणणउइए पक्खेहिं सेसेहिं कालगए वीइक्कंते जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ॥

[illegible] पुव्वसयसहस्साइं अगारवासमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगरिअं पव्वइए उसभेणं अरहा एगं वाससहस्सछउमत्थपरिआयं पाउणित्ता एगं पुव्वसयसहस्सं वाससहस्सूणं केवलिपरिआयं पाउणित्ता एगं पुव्वसयसहस्सं बहुपडिपुण्णं सामण्णंपरिआयं पाउणित्ता चउरासीइं पुव्वसहस्साइं सव्वाउअं पालइ पालइत्ता जे से हेमंताणं तच्च मासे पंचमे पक्खे माहबहुले तस्स णं माहबहुलस्स तेरसीपक्खेणं दसहिं अणगारसहस्सेहिं सद्धिं संपरिवुडे अट्ठावयसेलसिहरंसि चोद्दसमेणं भत्तेणं अपाणएणं संपलिअं संणिसण्णे पुव्वण्हकालसमयंसि अभिइणा णक्खत्तेणं जोगमुवागएणं सूसमदूसमाए एगूणणउइए पक्खेहिं सेसेहिं कालगए वीइक्कंते जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ॥

उसभेणमित्यादि व्यक्तमथ छाद्मस्थ्यादिपर्यायाभिधानपुरस्सरं निर्वाणकल्याणकमाह। (उसभेणं इत्यादि) ऋषभोऽर्हन् एकवर्षसहस्रं छद्मस्थपर्यायं प्राप्य पूरयित्वेत्यर्थः । एकं पूर्वलक्षं वर्षसहस्रोनं केवलिपर्यायं प्राप्य एकं पूर्वलक्षं बंहुप्रतिपूर्णं देशेनापिन्यूनमिति यावत् श्रामण्यपर्यायं प्राप्य चतुरशीतिपूर्वलक्षाणि सर्वायुः पालयित्वा उपभुज्य हेमन्तानां शीतकालमासानां मध्ययस्तृतीयो मासः पञ्चमः पक्षो माघबहुलो माघमासकृष्णपक्षःतस्य माघबहुलस्य त्रयादेशीपक्षे त्रयोदशीदिने विभक्तिव्यत्ययःप्राकृतत्वात् दशभिरनगारसहस्रैः सार्द्धं संपरिवृतः अष्टापदशैलशिखरे चतुर्दशेन भक्तेनोपवासाङ्केनापनकेन पानीयाहाररहितनसंपर्यङ्कनिषण्णः सम्यक् पर्यङ्केन पद्मासनेन निषण्ण उपविष्टः न तूर्द्ध्वदमादिरिति भावः। पूर्वाह्णकालसमये अभिजिता नक्षत्रेण योगमुपागतेनार्धाच्चन्द्रेण सुषमदुःषमायामेकोननवत्या पक्षेषु शेषेषु अत्रापि विभक्तिव्यत्ययः पूर्ववत् प्राकृतत्वात् । सप्तम्यर्थे तृतीया कालं गतो मरणधर्म्मं प्राप्तः व्यतिक्रान्तः संसारात् । यावच्छब्दात् समुज्जाए छिन्नजाइजरामरणबंधणे सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिनिव्वुडे इति'' संग्रहः । तत्र सम्यगपुनरावृत्त्या ऊर्द्ध्वलोकाग्रलक्षणं स्थानं यातः प्राप्तो न पुनः सुगतादिवदवतारी यतस्तद्वचः ''ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम्। गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि, भवतीर्थनिकारतः ॥ १ ॥ इति छिन्नं जात्यादीनां बन्धनं हेतुभूतं कर्म्म येन स तथा। सिद्धो निष्ठितार्थः बुद्धो ज्ञाततत्वः । मुक्तो भवोपग्राहिकर्मांशेभ्यः अन्तकृत् सर्वदुःखानां परिनिर्वृतः समन्ताच्छीतीभूतः कर्मकृतसकल सन्तापविरहात् सर्वाणि शारीरादीनि दुःखानि प्रहीणानि यस्य स तथा। जं०२वक्ष०।आ० म० प्र०। स०॥

उसभेणं अरहा कोसलिए इमीसे उसप्पिणीए ततियाए सुसमदुस्समाए समए पच्छिमे भागे एगूणणउए अद्धमासेहिं सेसेहिं कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणोसम० ॥ २६ ॥

(२६) इदानीं निर्वाणद्वारावयवार्थाभिधित्सयाऽऽह।

अह भगवं भवमहणो, पुव्वाण अणूणगं सयसहस्सं।

त्रिदशनरेन्द्रैः स्तूयमानो मोक्षं गत इति गाथार्थः ॥

अथ भगवति निर्वृते यद्देवकृत्यं तदाह ॥

दसहि सहस्सेहि समं, निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥ ५५ ॥

गमनिका। अथ भगवान् भवमथनः पूर्वाणामन्यूनं शतसहस्रं मानुपूर्व्या विकृत्या प्राप्तोऽष्टापदं शैलं भावार्थः सुगम एवेति गाथार्थः। अष्टापदगाहा गमनिका। अष्टापदशैले चतुर्दशभक्तं न से महर्षीणां दशभिः सहस्रैः समं निर्वाणमनुत्तरं, प्राप्तः अस्या अपि भावार्थः सुगम एव। नवरं चतुर्दशभक्तं षड्रात्रोपवासः भगवन्तं चाष्टापदप्राप्तमपवर्गजिगमिषुं श्रुत्वा भरतो दुःखसंतप्त मानसः पद्भ्यामेवाष्टापदं ययौ । देवा अपि भगवन्तं मोक्षजिगमिषुं ज्ञात्वाऽष्टापदशैलं दिव्यविमानानारूढाः खल्वागतवन्तः उक्तं च । भगवति मोक्षगमनायोद्यते जाव य देवावासो, जाव य अट्ठावओ नगवरिंदो। देवेहिं देवीहि य, अविरहियं संचरंतेहि तत्र भगवान् त्रिदशनरेन्द्रैः स्तूयमानो मोक्षं गत इति गाथार्थः ॥

अथ भगवति निर्वृते यद्देवकृत्यं तदाह ॥

जं समयं च णं उसभे अरहा कोसलिए कालगए वीइक्कंते समुज्जाए छिण्णजाइजरामरणबंधणे सिद्धे बुद्धे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं समयं च णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो आसणे चलिए तएणं से सक्के देविंदे देवराया आसणं चलिअं पासइ पासित्ता उहिं पउंजइ पउंजइत्ता भयवं तित्थयरं ओहिणा आभोएइ आभोएइत्ता एवं वयासी परिणिव्वुए खलु जंबुद्दीवे दीवे भरहे वासे उसहे अरहा कोसलिए एवं जीअमे अंतीअ पच्चुप्पण्णमणागयाणं सक्काणं देविंदाणं देवराईणं तित्थगराणं परिणिव्वणमहिमं करेत्तए तं गच्छामि णं अहं पि भगवतो तित्थगरस्स परिणिव्वाणमहिमं करेमि तिकट्टु वंदइ णमंसइ वंदइत्ता णमंसइत्ता चउरासईए सामाणिअसाहस्सीहिं तायतीसए तायतीसएहिं चउहिं लोगपालेहिं जाव चउहिं चउरासीईहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अण्णेहिं अबहूहिं सोहम्मकप्पवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहिं अ सद्धिं संपरिवुडे ताए उक्किट्ठाए जाव तिरिअमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं जेणेव अट्ठावए पव्वए भगवओ तित्थगरस्स सरीरए तेणेव उवागच्छइउवागच्छित्ता विमणे णिएणं देणं सुपुण्णणयरतित्थय-

रसरीरणं तिक्खुत्तो आयाहीणं पयाहीणं करेइ करेइत्ता णच्चासणे णाइदूरे सुस्सूसमाणे जाव पज्जुवासइ तेणं कालेणं तेणं समएणं इसाणे देविंदे देवराया उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाण-सयसहस्साहिवई सूलपाणी वसहवाहणे सुरिंदे अयरं वरव-त्थधरे जाव विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ । तएणं तस्स ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो आसणे चलइ । तएणं से ईसाणे जाव देवराया आसणं चलिअं पासइ पासइत्ता ओहिं पउंजइ पउंजइत्ता भगवं तित्थगरं ओहिणा आभोए आभोएत्ता जहा सक्के निअगपरिवारेणं आणेअव्वा जाव पज्जुवासइ । एवं सव्वे देविंदा जाव अच्चुए णिअगपरिवारेणं आणेअव्वो एवं जाव भवणवासीणं इंदा वाणमंतराणं सोलसजोइसिआणं दोण्णि निअगपरिवारा णेअव्वा । तएणं सक्के देविंदे देवराया ते बहवे भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिए देवे एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ णंदणवणाओ सरसाइं गोसीसवरचंदणकट्ठाइं साहरइ साहरइत्ता तओ चिइगाइओ रएह एगं भगवओ तित्थ-गरस्स एगं गणधराणं एगं अवसेसाणं अणगाराणं तएणं ते भव-णवइ जाव वेमाणिया देवा णंदणवणाओ सरसाइं गोसीसवर-चंदणकट्ठाइं साहरंति साहरंतित्ता तओ चिइगाओ रएहंति एगं भगवओ तित्थगरस्स एगं गणहराणं अवसेसाणं अणगाराणं से सक्के देविंदे देवराया आभिओगे देवे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ खीरोदगसमुद्दाओ खीरो-दगं साहरत्ति तएणं ते आभिओगा देवा खीरोदगं साहरंति ।

(जं समयं चणमित्यादि) यस्मिन् समये सप्तम्यर्थे द्वितीया एवं तच्छब्दवाक्येऽपि अवधिना ज्ञानेनाभोगयति उपयुनक्ति शेषं सुग-ममुपयुज्य एवमवादीत् किमित्याह। परिनिर्वृतः खलुरिति वाक्या-लङ्कारे जम्बूद्वीपे भारते वर्षे ऋषभोऽर्हन् कौशलिकस्तत्तस्माद्धेतोः जीतं कल्पः आचार एतद्वक्ष्यमाणं वर्तते अतीतप्रत्युत्पन्नानागता-नामतीतवर्तमाना-नागतानां शक्राणामासनविशेषाधिष्ठातृणां देवानां मध्ये इन्द्राणां परमैश्वर्ययुक्तानां देवेषु राज्ञां कान्त्यादिगुणैरधिकं राजमानानां तीर्थकराणां परिनिर्वाणमहिमां कर्तुं तद्वच्छामि। णमिति प्राग्वत् अहमपि भगवतस्तीर्थकरस्य परिनिर्वाणमहिमां करोमीति कृत्वा भगवन्तं निर्वृतं वन्दते स्तुतिं करोति नमस्यति प्रणमति। यच्च जीवरहितमपि तीर्थकरश-रीरमिन्द्रवन्द्यं तदिन्द्रस्य सम्यग्दृष्टित्वेन नामस्थापनाद्रव्यभावार्हतां वन्दनीयत्वेन श्रद्धानादिति तत्त्वम्। वन्दित्वा नत्वा च किं चक्रे इत्याह (चउरासीई इत्यादि) चतुरशीत्या सामानिकानां प्रभुत्वमन्तरेण वपुर्विभवद्युतिस्थित्यादिभिः शक्रतुल्यानां सहस्रैस्त्रयस्त्रिंशता त्रयस्त्रिंशकैर्गुरुस्थानीयै-र्देवैश्चतुर्भिर्लोकपालैः सोमयमवरुणकुवेरसंज्ञैः यावत्पदात् '' अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणिएहिं सत्तहिं अणिआहिवईहिंति '' अत्र व्याख्या अग्रमहिष्योऽष्टौ पद्मा १ शिवा २ शची ३ अञ्जू ४ अमला ५ अप्सरा ६ नवमिका ७ रोहिणी ८ एताभिः षोडशसहस्रदेवदेवीपरिवारयुताभिः तिसृभिः पर्वद्भिर्बाह्यमध्याभ्यन्तररूपाभिः सप्तभिरनीकैर्हय १ गज २ रथ ३ सुभट ४ वृषभ ५ गन्धर्व ६ नाट्य ७ रूपैः सप्तभिरनीकानामधिपतिभिः चत-सृभिश्चतुरशीतिभिश्चतुर्दिशं प्रत्येकं चतुरशीतिसहस्राङ्गरक्षकसद्भा-वात् षट्त्रिंशत् सहस्राधिकलक्षत्रयप्रमितैरङ्गरक्षकदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभिः सौ धर्मकल्पवासिभिर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं सपरिवृतस्तया देव-जनप्रसिद्धया उत्कृष्टया प्रशस्तविहायोगतिषूत्कृष्टतमत्वात् यावत्पदात् '' तुरिआए चवलाए चंडाए जयणाए उद्धआए सिग्घाए दिव्वाए देवगईए विईवयमाणे विईवयमाणेत्ति '' अत्र व्याख्या त्वरितया मानसौत्सुक्यात् चपलया कायतः चण्डया क्रोधाविष्टयेव भीमसंवेदनात्। जवनया परमोत्कृष्टवे-गत्वात्। अत्र च समयप्रसिद्धाश्चण्डा-दिगतयो न ग्राह्याः। तासां प्रतिक्रमं संख्यातयोजनप्रमाणक्षेत्रातिक्रमणात् तेनैतानि पदानि देवगतिविशेष-णतया योज्यानि देवास्तु तथा भवस्वभावादचिन्त्यसामर्थ्यतोऽ-न्यन्तशीघ्रा एव चलन्तीति अन्यथा जिनजन्मादिषु महिमानिमित्तं तत्रैव झटित्येवात्यन्तदूरकल्पादिभ्यः सुराः कथमागच्छेयुरिति। उद्धतया उद्धतस्य दिगन्तव्यापिनो रजस इव या गतिः सा तया अत एव निरन्तरं शीघ्रत्वयोगाच्छीघ्रया दिव्यया देवोचितया देवगत्या व्यतिव्रजन् व्यतिव्रजन् संभ्रमे द्विर्वचनं तिर्यगसंख्येयानां द्वीपसमुद्राणां मध्यं मध्येन मध्यभागेन यत्रैवाष्टापदः पर्वतः यत्रैव भगवतस्तीर्थकरस्य शरीरकं तत्रैवोपागच्छति। अत्र सर्वत्रातीतनिर्देशे कर्त्तव्ये वर्त्तमाननिर्देशस्त्रिकालभाविष्वपि तीर्थकरेष्वेतन्न्यायप्रदर्शनार्थ इति न हि निर्हेतुका ग्रन्थकाराणां प्रवृत्तिरिति। उपागत्य च तत्र यत् करोति तदाह (उ-वागचिछत्ताइत्यादि) उपागत्य विमनाः शोकाकुलमनाः अश्रुपूर्णनयनस्तीर्थकरशरीरकं त्रिःकृ त्वः आदक्षिणप्रदक्षिणं करोतीति प्राग्वत्। नात्यासन्ने नातिदूरे शुश्रूषन्निव तस्मिन्नप्यवसरे भक्त्याविष्टतया भगवद्वचनश्रवणेच्छाया अनिवृत्तेर्यावत् पदात् '' णमंसमाण अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जवासइत्ति '' परिग्रहः। अत्र व्याख्या नमस्यन् पञ्चाङ्गप्रमाणादिना अभि भगवन्तं लक्ष्मीकृत्य मुखं यस्य स तथा। विनयेनान्तरबहुमानेन प्राञ्जलीकृत इति प्राग्वत्। पर्यु-पास्ते सेवते इति। अथ द्वितीयेन्द्रवक्तव्यतामाह (तेणं कालेणमित्यादि) सर्वं स्पष्टं नवरम् अरजांसि निर्मलानि यान्यम्बरवस्त्राणि स्वच्छतया आकाशकल्पानि वसनानि धरतीति। यावत् करणात् '' आलइअमालमउडे णव हेमचारुचित्तचंचलकुंडलविहिज्जमाणगल्ले महिड्ढीए महज्जुईए महाबले महावसे महाणुभावे महासुक्खे भासुरबोंदीपलंबवणमालधरे ईसाणकप्पे ईसाणवडेंसए विमाणे सुहम्माए सभाए ईसाणंसि सिंहासणंसि से णं अट्ठावीसाए विमाणावा-ससयसाहस्साणं असीईए सामाणिअसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्णं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीआणं सत्तण्हं अणीआहिवईणं चउण्हं असीईणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अण्णेसिं च ईसाणकप्पवासीणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणा ईसरसेणवच्चं कारेमाणे पालेमाणे महया हयनट्टगीयवाई अतंतीतलतालतुडिअघ-णमुअंगपडुप्पहडवाइअरवेण इति '' संग्रहः। सर्वं स्पष्टंनवरम् आलिङ्गितौ यथास्थानं स्थापितौ मालामुकुटौ येन स तथा। नवाभ्यासिव हेम-

मयाभ्यां चारुभ्यां चित्रकृद्भ्यां चञ्चलाभ्यामितस्ततश्चलद्भ्यां कुण्डलाभ्यां विलिख्यमानौ गल्लौ यस्य स तथेति (तएणमित्यादि) यथा शक्रः सौधर्मेन्द्रो निजकपरिवारेण सह तथा भणितव्य ईशानेन्द्रः यावत्पर्युपास्ते इत्यन्तं वाच्य इत्यर्थः। (एवं सव्वे इत्यादि) एवं शक्रन्यायेन सर्वदेवेन्द्रा वैमानिकाः अत एव यावदच्युत इत्युत्तरसूत्रं संवदति। निजकपरिवारेणात्मीयात्मीयसामानिकादिपरिवारेण सहानेतव्या भगवच्छरीरगन्तिकं प्रापणीया ग्रन्थवाचकेनेत्यर्थः। ग्रन्थापेक्षया चेदं सूत्रं योजनीयमेवं वैमानिकप्रकारेण यावद्भवनवासिनां दक्षिणोत्तरभवनपतीनामिन्द्रा विंशतिरित्यर्थः। अत्र यावच्छब्दो न गर्भगतसंग्रहसूचकः संग्राह्यपदाभावात् किं तु सजातीयभवनपतिसूचकः वानमन्तराणां व्यन्तराणां षोडशेन्द्राः कालादयः। ननु स्थानाङ्गादिषु द्वात्रिंशद्व्यन्तरेन्द्रा अभिहिताः इह तु कथं षोडश उच्यते मूलभेदभूतास्तु षोडश महर्धिकाः कालादय उपात्तास्तदेवान्तरभेदभूतास्तु षोडश अणपन्नीन्द्रादयोऽल्पर्द्धिकत्वान्नेह विवक्षिताः अस्ति ह्येषाऽपि सूत्रकृत्प्रवृत्तिवैचित्री यदन्यत्र प्रसिद्धा अपि भावाः कुतश्चिदाशयविशेषात् स्वसूत्रे सूत्रकारो न निबध्नाति यथा प्रतिवासुदेवाः अन्यत्रावश्यकनिर्युक्त्यादिषूत्तमपुरुषत्वेन प्रसिद्धा अपि चतुर्थाङ्गे चतुःपञ्चाशत्तमसमवाये नोक्ताः। '' भरहेर-वएसु णं वासेसु एगमेगाए उस्सप्पिणीए चउवण्णं २ उप्पज्जिंसु ३ तं चउवीसं तित्थयरा वारस चक्कवट्टी णव बलदेवा णव वासुदेवा '' इतिपरमुपलक्षणात्तेऽपि ग्राह्याः। ज्योतिष्काणां द्वौ चन्द्रसूर्यौ जात्याश्रयणात् व्यक्त्या तु तेऽसंख्याता निजकपरिवाराः सहवर्तिस्वपरिकरा नेतव्याः। ततः शक्रः किं करोतीत्याह (तएणमित्यादि) ततः शक्रो देवेन्द्रो देवराजस्तान् बहून् भवनपत्यादीन् देवानेवमवादीत् क्षिप्रमेव निर्विलम्बमेव भो ! देवानांप्रिया ! देवान् स्वस्वामिनोऽनुकूलाचरणेनानुप्रीणन्तीति देवानुप्रिया नन्दनवनात् रसानि स्निग्धानि न तु रूक्षाणि गोशीर्षं नाम्ना वरचन्दनं तस्य काष्ठानि संहरत प्रापयत संहृत्य च तिस्रश्चितिका रचयते। एकां भगवतस्तीर्थकरस्य एकां गणधराणामेकामवशेषाणामनगाराणामिति (तएण-मित्यादि) स्पष्टम्। अत्रायमावश्यकवृत्त्याद्युक्तश्चिताचितदिग्विभागः। नन्दनवनानीतचन्दनदारुभिर्भगवतः प्राच्यां वृत्तां चितां गणधराणामपाच्यां त्र्यस्तां शेषसाधूनां प्रतीच्यां चतुरस्रां सुराश्चक्रुरिति। नन्वावश्यकादाविक्ष्वाकूणां द्वितीया चितोक्ता इह तु गणधराणां कथमिति उच्यते। अत्र प्रधानतया गणधराणामुपादानेऽप्युपलक्षणाद् गणधरप्रभृतीनामिक्ष्वाकूणां द्वितीया चिता ज्ञेयेति न काऽप्याशङ्का। जं० २ वक्ष०। अत्रान्तरे च देवाः सर्व एवाष्टापदमागताश्चितिकाकृतिरिति॥ ते तिस्रश्चिताः वृत्तत्र्यस्रचतुस्राकृतीः कृतवन्त इति। एकां पूर्वेण अपरां दक्षिणेन तृतीयामपरेणेति। तत्र पूर्व्वा तीर्थकृतः दक्षिणा इक्ष्वाकूणामपरा शेषाणामिति। ततोऽग्निकुमारा वदनैः खल्वग्निं प्रक्षिप्तवन्तः एत तव निबन्धनाल्लोके '' अग्निमुखा वैदेवा '' इति प्रसिद्धम्। वायुकुमारास्तु वातमुत्कवन्त इति। मांसशोणिते च ध्यामिते सति मेघकुमाराः सुरभिणा क्षीरोदजलेन निर्वापितवन्तः (स कथेति) सकथा हनुमोच्यते। तत्र दक्षिणां हनुमां भगवतः संबन्धिनीं शक्रो जग्राह वामामीशानः अधरख्यदक्षिणां पुनश्चरमः अधस्त्योत्तरां तु बलिः। अवशेषास्तु त्रिदेशाः। शेषाङ्गानि गृहीतवन्तः नरेश्वरादयस्तु भस्म गृहीतवन्तः। शेषा लोकास्तु तद्भस्मना पुण्डकाणि चक्रुः तत एव च प्रसद्धिमप्युगतानि स्तूपानि जिनगृहं चेति। भरतो भगवन्तमुद्दिश्य वर्द्धकिरत्नेन योजनायामं त्रिगव्यूतोच्छ्रितं सिंहनिषद्यायतनं कारितवान् निजवर्ण्णप्रमाणयुक्ताश्चतुर्विंशतिजीवाभिगमोक्तपरिवारयुक्तास्तीर्थकरप्रतिमास्तथा भ्रातृशतप्रतिमाः आत्मप्रतिमां च स्तूपशतं च मा कश्चिदाक्रमणं करिष्यतीति तत्रैकं भगवतः शेषाण्येकोनशतस्य भ्रातृणामिति। तथा लोहमयान् यन्त्रपुरुषांस्तद्द्वारपालांश्चकार दण्डरत्नेनाष्टापदं च सर्वत्र छिन्नवान् योजने योजनेऽष्टौ पदानि कृतवान्। सगरसुतैस्तु वंशानुरागाद्यथा परिखां कृत्वा गङ्गाऽवतारिता तथा ग्रन्थान्तरतो विज्ञेयमिति। याचकास्तेनाहिताग्नयः इत्यस्य व्याख्या देवैर्भगवत्सकथादौ गृहीते सति श्रावका देवानतिशयभक्त्या याचितवन्तः देवा अपि तेषां प्रचुरत्वान्महता यत्नेन याचनाभिहृता आहुः। अहो याचका इति। तत एव याचका रूढाः ततः अग्निं गृहीत्वा स्थापितवन्तस्तेन करणेनाहिताग्नयः इति तत एव च प्रसिद्धास्तेषां चाग्नीनां परस्परतः कुण्डसक्रान्तावयं विधिर्भगवतः संबन्धिभूतः सर्वकुण्डेषु सञ्चरति। इक्ष्वाकुकुण्डाग्निस्तु शेषकुण्डाग्नौ सञ्चरति। न भगवत्कुण्डाग्नाविति शेषानगारकुण्डाग्नेस्तु नान्यत्र संक्रम इति गाथार्थः। आ० म० प्र०।

(३०) ततश्चिताऽनन्तरं शक्रः किं करोतीत्याह।

तए णं से सक्के देविंदे देवराया तित्थगरसरीरगं खीरोदगेणं ण्हाणेत्ति ण्हणेत्तित्ता सरसेणं गोसीसवरचंदणेणं अणुलिंपइ अणुलिंपइत्ता हंसलक्खणं पडसाडयं णिअंसेइ णिअंसेइत्ता सव्वालंकारविभूसिअं करेंति। तए णं ते भवणवई जाव वेमाणिआ गणहरसरीरगाइं अणगारसरीरगाइं पि खीरोदगेणं ण्हावेंति ण्हावेंतित्ता सरसेणं गोसीसवरचंदणेणं अणुलिंपंति अणुलिंपंतित्ता अह ताइं दिव्वाइं देवदूसजुअलाइं णिअंसंति णिअंसंतित्ता सव्वालंकारविभूसिआइं करेंति तए णं से सक्के देविंदे देवराया ते बहवे भवणवई जाव वेमाणिए देवे एवं वयासी। खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! ईहामिगउसभतुरयजाववणलयभत्तिचि-त्ताओ तओ सिविआओ विउव्वहइ एगं भगवओ तित्थगरस्स एगं मणहराणं एगं अवसेसाणं अणगाराणं। तए णं बहवे भवणवई जाव वेमाणिआ तओ सिविआओ विउव्वंति एगं भगवओ तित्थगरस्स एगं गणहराणं एगं अवसेसाणं अणगाराणं तए णं से सक्के देविंदे देवराया विमाणे णिराणंदे अंसुपुण्णणयणे भगवओ तित्थगरस्स विणट्ठजम्मजरामरणस्स सरीरगं सीअं आरुहेइ आरुहेइत्ता चिइगाए ठवेइ तए णं ते बहवे भवणवई जाव वेमाणिआ देवा गणहराणं अणगाराणं य विणट्ठजम्मजरामरणाणं सरीरगाइं सीअं आरुहेंति आरुहेंतित्ता चिइगाए ठवेंति। तए णं से सक्के देविंदे देवराया अग्गिकुमारे देवे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! तित्थगरचिइगाए जाव अणगारचिइगाए अ अगणिकायं विउव्वहइ विउव्वहइत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह। तए णं ते अग्गिकुमारा देवा विमणा णिराणंदा अंसुपुण्णणयणा

तित्थगरचिइगाए जाव अणगारचिइगाए अ अगणिकायं वि उव्वंति ॥

तएणमित्यादि स्पष्टम् क्षीरोदकसंहरणानन्तरं स शक्रः किंकरोतीति दर्शयति (तएणमित्यादि) ततः शक्र स्तीर्थकरशरीरकं क्षीरोदकेन स्नपयति स्नपयित्वा गोशीर्षवरचन्दनेनानुलिम्पति अनुलिप्य हंसलक्षणो हंसविशदत्वात् शाटको वस्त्रमात्रं स च पृथुलः पट्ट इत्यभिधीयते । तं हंसनामकंपटशाटकं निवासयति परिधापयतीत्यर्थः । परिधाप्य च सर्वालङ्कारविभूषितं करोति (तएणमित्यादि) ततस्ते भवनपत्यादयो देवा गणधराणामनगाराणं च शरीराणि तथैव चक्रुः अहतान्यखण्डितानि दिव्यानि वर्याणि देवदूष्ययुगलानि निवासयन्ति शेषं व्यक्तम् (तएणमित्यादि) ततः शक्रो भवनपत्यादीनेवमवादीत् क्षिप्रमेव भो देवानुप्रिया ! ईहामृगादिभक्तिचित्रास्तिस्रःशिविका विकुर्व्वत विकुर्व्व इति सौत्रो धातुस्तस्माद्रूपसिद्धिः शेषं स्पष्टम्। (तएणमित्यादि) ततः शक्रो भगवच्छरीरं शिविकायामारोहयति महद्ध्या च चितिकास्थाने नीत्वा चितिकायां स्थापयति शेषं स्पष्टम् (तएणमित्यादि) स्पष्टम् (तएणमित्यादि) ततः स शक्रोऽग्निकुमारान् शब्दोपयति आमन्त्रयति शब्दापयित्वा एवमवादीत् भो अग्निकुमारा ! देवास्तीर्थकरचितिकायां *गणधरचितिकायामनगारचितिकायां वाग्निकायं विकुर्वत विकुर्वित्वा* एतामाज्ञप्तिकामाज्ञां प्रत्यर्पयत । शेषं व्यक्तम् (त एणं अग्गिकुमारा देवा इत्यादि) व्याख्यातप्रायमेव (त एणं से सक्के इत्यादि) एतत् सूत्रद्वयमपि व्यक्तम् उज्ज्वालयत दीप-यत तीर्थकरशरीरकं यावदनगारशरीरकाणि च ध्यामयत स्ववर्णत्याजनेन वर्णान्तरमापादयत अग्निसंस्कृतानि कुरुतेति। (तएण-मित्यादि) ततः स शक्रो भवनपत्यादिदेवानेवमवादीत् भोदेवानुप्रियाः ! तीर्थकरचितिकायां यावदनगारचितिकायां च अगुरुं तुरुक्कं सिल्लकं घृतं मधु च एतानि द्रव्याणि कुम्भाग्रशोऽनेककुम्भपरिमाणानि भाराग्रशोऽनेकविंशतितुलापरिमाणानि। अथवा पुरुषोत्क्षेप-णीयो भारः सोऽग्रं परिमाणं येषां ते भाराग्रास्ते बहुशो भाराग्रशः संहरतेति प्राग्वत् । अथ मांसादिषु ध्यामितेषु अस्थिष्ववशिष्टेषु शक्रः किं चक्रे इत्याह ''तएणमित्यादि'' स्पष्टं नवरं क्षीरोदकेन क्षीरसमुद्रानीतजलेन निर्वापयत विध्मापयतेत्यर्थः । अथास्थिवक्तव्यतामाह '' तएण मित्यदि '' ततश्चितिकानिर्वापणादनु भगवतस्तीर्थकरस्यो परितनं दक्षिणं सक्थि दाढामित्यर्थः । शक्रो गृह्णाति ऊर्द्ध लोकवासित्वात् दक्षिणश्रेणिपतित्वाच्च । बलिःदाक्षिणात्यासुरेभ्यः सकाशाद् वी इति विशिष्टं रोचनं दीपनं दीप्तिरिति यावत् येषामस्तीति वैरोचनाः स्वार्थेऽण् उदीच्याः सुराः दाक्षिणात्येभ्यः उत्तराणामधिकपुण्यप्रकृतिकत्वात् तेषामिन्द्र एवं वैरोचनराजोऽपि अधस्तनं वामं सक्थि गृह्णाति अर्धलोकवासित्वादुत्तरश्रेण्यधिपत्वाच्च अवशेषा भवनपतयो वत्करणात् व्यन्तरा ज्योतिष्काश्च ग्राह्या वैमानिका देवा यथार्हं यथा महर्द्धिकम् । अवशेषाणि अङ्गानि भुजाद्यस्थीनि उपाङ्गानि अङ्गसमीपवर्त्तीनि अङ्गुल्याद्यस्थीनि गृह्णातीति योगः । अयं भावः सनत्कुमाराद्यष्टाविंशतिरिन्द्रा अवशिष्टानष्टाविंशतिदन्तान् अन्येऽवशिष्टा इन्द्रा अङ्गोपाङ्गास्थीनीति। नव देवानां तद्ग्रहणे क आशय इत्याह । केचिज्जिनभक्त्या जिने निर्वृते जिनसक्थि जिनवदाराध्यमिति केचिज्जीतमिति पुरातनैरिदमाचीर्णमित्यस्माभिरपीदं कर्त्तव्यमिति केऽपि धर्म्मः पुण्यमिति कृत्वा । अत्र ग्रन्थान्तरप्रसिद्धोऽयमपि हेतुः '' पूअंति अप्पइदिअहं, अह कोइ पराभवं जइ करेज्जा । तो परकालिअता उ, सलिलेण करेंति निअ-क्खं '' ॥ १ ॥ सौधर्म्मेन्द्रेशानेन्द्रयोः परस्परं सवैरयोस्तच्छटादानेन वैरोपशमोऽपि इत्यादिको ज्ञेयस्तद्यया व्याख्यातो विशेषार्थप्रतिपत्तिरतो विद्याधरनराश्चिताभस्मशेषामिव गृह्णन्ति सर्वोपद्रवविद्रावणमिति कृत्वा आस्तां त्रिजगदाराध्यानां तीर्थकृतां योगभृच्चक्रवर्त्तिनामपि देवाः सक्थिग्रहणं कुर्व्वन्तीति । अथ तत्र विद्याधरादिभिरहं पूर्विकया भस्मनि गृहीते अखातायामेव गर्तायां जातायां मा भूत्तत्रपामरजनकृताशातनाप्रसङ्गः सातत्येन तीर्थप्रवृत्तिश्च भूयादि ति स्तूपविधिमाह (तएणमित्यादि) सर्वं स्पष्टं नवरं सर्वात्मना रत्नमयानन्तर्बहिरपि रत्नखचितान् (महत्ति) महतोऽतिविस्तीर्णान् आलप्रत्ययः स्वार्थिकः प्राकृतप्रभवः त्रीन् चैत्यस्तूपान् चैत्याश्चित्ताह्लादकाः स्तूपाश्चैत्यस्तूपास्तान् कुरुत । चितात्रयक्षितिष्वित्यर्थः आज्ञाकरणसूत्रे ततस्ते बहवो भवनपत्यादयो देवा स्तथैव कुर्वन्ति । ननु यथाज्ञाकरणसूत्रे यावत् करणेन सूत्रकृतो लाघवसूचा तथा पूर्वसूत्रेऽपि कथं न लाघवचिन्ता कृता उच्यते विचित्रत्वात् सूत्रप्रवृत्तेरिति (तएणमित्यादि) ततस्ते बहवो भवनपत्यादयो देवा-स्तेषु स्तूपेषु यथोचितं तीर्थकरस्य परिनिर्वाणमहिमां कुर्व्वन्ति कृत्वा च यत्रैवाकाशखण्डे नन्दीश्वरवरो द्वीपस्तत्रैवोपागच्छन्ति तत स शक्रः पौरस्त्याञ्जनकपर्व्वते अष्टाहिकामष्टानामह्नां दिवसानां समाहारोऽष्टाह्नं तदस्ति यस्यां महिमायां सा अष्टाहिका तां महामहिमां करोति । ततः शक्रस्य चत्वारो लोकपालाः सोमयमवरुणवैश्रमणनामानस्तत्पार्श्ववर्तिषु चतुर्षु दधिमुखकपर्व्वतेषु अष्टाहिकां महामहिमां कुर्व्वन्ति त चात्र नन्दीश्वरवरादिशब्दानां कोऽन्वर्थ इत्युच्यते नन्द्यापर्व्वतपुष्करिणीप्रमुखपदार्थसमुद्भूता समृद्ध्या ईश्वरः स्फीतिमान्नन्दीश्वरस्य एवामनुष्यद्वीपापेक्षया बहुतरसिद्धायतनादिसमुद्भावेन वरो नन्दीश्वरवरः । तथा अञ्जनरत्नमयत्वादञ्जनास्ततः स्वार्थे कप्रत्ययः । यद्वा कृष्णवर्णत्वेनाञ्जनतुल्या इत्यञ्जनकाः उपमाने कप्रत्ययः । तथा दधिवदुज्ज्वलवर्णं मुखं शिखरं रजतमयत्वाद् येषां ते तथा बहुव्रीहौ कप्रत्ययः । अयेशानेन्द्रस्य नन्दीश्वरावतारवक्तव्यमाह (ईसाणेत्ति) ईशानो देवेन्द्र उत्तराहे अञ्जनके अष्टाहिकां तस्य लोकपाला उत्तराहाञ्जनकस्योपरिवारकेषु चतुर्षु दधिमुखकेषु अष्टाहिकां चमरश्च दाक्षिणात्याञ्जनके तस्य लोकपाला दधिमुखकपर्व्वतेषु बलीन्द्रः पाश्चात्याञ्जनके तस्य लोकपाला दधिमुखकेषु ततस्ते बहवो भवनपत्यादयो देवा अष्टाहिकाः महामहिमामहोत्सवभूताः कुर्व्वन्तीति। बहुवचनं चात्राष्टाहिकानां सौधर्मेन्द्रादिभिः पृथक् पृथक् क्रियमाणत्वात् (करित्ता इत्यादि) अथाष्टाहिका महामहिमाः कृत्वा यत्रैव लोकदेशे स्वानि स्वानि स्वसंबन्धीनि विमानानि यत्रैव स्वानि स्वानि भवनानि वासप्रासादाःयत्रैव स्वाः स्वाः सभाः सुधर्माः यत्रैव स्वकाः स्वकाः स्वस्वसंबन्धिनो माणवकनामानश्चैत्यस्तभाश्चैत्यशब्दार्थः प्राग्वत् तत्रैवोपागच्छन्ति उपागत्य च वज्रमयेषु गोलसमुद्गकेषु भाजनविशेषेषु जिनसक्थीनिप्रक्षिपन्तीति । सक्थिपदमुपलक्षणपरं तेन दशनाद्यपि यथार्हं प्रक्षिपन्तीति । अथ ज्ञाताधर्मकथाङ्गोक्तमल्लिनाथनिवेश्यतन्मध्यवर्तिजिनसक्थीन्यपूजन् वृषभजिनसक्थि च तत्र प्राक्षिपन्निति ज्ञेयं प्रक्षिप्य च अग्र्यैः प्रत्यग्रैर्वरैर्माल्यैश्च गन्धैश्चार्चयन्ति अर्चयित्वा च विपुलान् भोगोचितान् भोगान् भुञ्जाना विहरन्त्यासत इति । अत्राह परः ननु चारित्रादिगुणविकलस्य भगवच्छरीरस्य पूज-

नादिकंपूर्वमपि ममान्तर्व्रणमिव बाधते तदनु इदं जिनसक्थ्यादिपूजनं क्षते क्षार इव सुतरां बाधते मैवं वादीः नामस्थापनाद्रव्यजिनानां भावजिनस्येव वन्दनीयत्वात्, तदा भगवच्छरीरस्य च द्रव्यजिनरूपत्वात् सक्थ्यादीनां च तदवयवत्वाद् भावजिनादभेदेन वन्दनीयत्वमेव अन्यथा गर्भतयोत्पन्नमात्रस्य भगवतः '' समणे भगवं महावीरे '' इत्याद्यभिलापेन सूत्रकृतां सूत्ररचना शक्राणां शक्रस्तवप्रयोगादिकं च नौचितीमवेदिति। अत एव जिनसक्थ्याद्याशातनाभीरवो हि देवास्तत्र कामसेवनादौ न प्रवर्तन्ते इति। जं० २ वक्ष०।

(३१) अथेक्ष्वाकूणां द्वितीयां चितिकां वर्णयति॥

थूभसयमाउआणं, चउवीसं चेव जिणहरे कासी।
सव्वजिणाणं पडिमा, वन्नपमाणेहिं निअगेहिं॥

स्तूपशतं भ्रातृणां भरतः कारितवानिति। तथा चतुर्विंशतिश्चैव जिनगृहे जिनायतने (कासित्ति) कृतवान् का इत्याह। सर्वजिनानां प्रतिमा वर्णप्रमाणैर्निजैरात्मीयैरिति गाथार्थः। आ० म० प्र०। श्रीऋषभदेवेन साकं यैर्दशसहस्रमुनिभिर्भक्तं प्रत्याख्यातं ते कियता कालेन सिद्धास्सन्तीति प्रश्ने ऋषभदेवेन साकं दशसहस्रमुनयोऽभिजिन्नक्षत्रे सिद्धास्सन्तीत्येतदक्षराणि वसुदेवहिण्ड्यादौ वर्तन्ते इति बोध्यम्। श्वेन० ४ उल्ला० ३१ प्र०। परिवेष्टनपट्टे, प्रव० २१६ द्वा०। जी०। '' वइरसंघयणे '' लोहादिमयपट्टबद्धकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्यान्वितत्वाद्वज्रर्षभः॥ भ० १ श० १ उ०। उत्त०। वृषभे, जी० ३ प्रति०। रा। जं०। औ०। अनु०। ज्ञा०। ओषधि-भेदे, कर्णच्छिद्रे, कुम्भीरपुच्छे, मेदि०। पर्वतभेदे च धरणि०। वराहपुच्छे, हेम०। '' नाभिमूलात् यदा वर्ण, उत्थितः कुरुते ध्वनिम्। वृषभस्येव निर्वाति, हेलया ऋषभः स्मृतः '' इति सङ्गीतशास्त्रोक्ते स्वरभेदे, राजकर्तव्ये, वाच०। कात्यायनगोत्रायाः शिलानाम्न्याः कन्यकायाः पितरि, तत्कथा ब्रह्मदत्तहिण्ड्यां दर्शिता तत एवाऽवधार्य्या। उत्त० १ अ०। ऋषभकूटाधिपदेवे च। स्था० ८ ठा०।

उसभ(ह)कंठ पुं०(ऋषभकण्ठ) पुं० ६ त०। वृषभस्य कण्ठे, वृषभकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, रा०। '' उसभकंठाण अट्ठसयं ''। जी० ३ प्रति०।

उसभकूड न०(ऋषभकूट) जम्बूद्वीपे उत्तरार्द्धभरते वर्षे स्वनामख्याते पर्वते।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे उत्तरभरहे वासे उसभकूडे णामं पव्वए पण्णत्ते गोअमा ! गंगाकुंडस्स पच्चच्छिमेणं सिंधुकुंडस्य पुरच्छिमेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे उत्तरड्ढे भरहे वासे उसद्दकूडे णामं पव्वए पण्णत्ते अट्ठजोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दो जोअणाइं उव्वेहेणं मूले अट्ठजोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे छ जोअणाइं विक्खंभेणं उपरिं च चत्तारि जोअणाइं विक्खंभेणं मूले साइरेगाइं पणवीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं मज्झे साइरेगाइं अट्ठारसजोअणाइं परिक्खेवेणं उवरिं साइरेगाइं दुवालसजोअणाइं परिक्खेवेणं (पाठान्तरं) मूले वारसजोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे अट्ठ जोअणाइं विक्खंभेणं उप्पिं चत्तारि जोअणाइं विक्खंभेणं मूले साइरेगाइं सत्ततीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं मज्झे साइरेगाइं पणवीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं उप्पिं साइरेगाइं वारसजोअणाइं परिक्खेवेणं मूले विच्छिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वजंबूणयामए अत्थे सण्हे जाव पडिरूवे सेणं एगाए पउमवरवेइआए तहेव जाव भवणं कोसं आयामेणं अद्ध-कोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठो तहेव उप्पलाणि पउमाणि जाव उसभे अ एत्थ देवे महड्ढिए जाव दाहिणेणं रायहाणी तहेव मंदरस्स पव्वयस्स जहा विजयस्स अविसेसियं।

क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे उत्तरार्द्धभरते वर्षे ऋषभकूटो नाम्ना पर्वतः प्रज्ञप्तः भगवानाह गौतम ! गङ्गाकुण्डस्य यत्र हिमवतो गङ्गा निपतति तद्गङ्गाकुण्डं तस्य पश्चिमायां यत्र तु सिन्धुर्निपपति सिन्धुकुण्डं तस्य पूर्वस्यां क्षुल्लहिमवतो वर्षधरस्य दाक्षिणात्यनितम्बे सामीप्यकसन्नम्या नितम्बासन्ने इत्यर्थः। अत्र प्रदेशे जम्बूद्वीपे द्वीपे उत्तरार्द्धभरते वर्षे ऋषभकूटो नाम्ना पर्वतः प्रज्ञप्तः अष्टयोजनान्यूर्द्धोच्चत्वेन द्वे योजने उद्वेधेन भूमिप्रवेशेन उच्चत्वचतुर्थांशस्य भू-म्यवगाढत्वात् अष्टानां चतुर्थांशे द्वयोरेव लाभात्। मूलमध्यान्तेषु क्रमादष्ट षट् चत्वारि योजनानि विष्कम्भेन विस्तारेण उपलक्षणत्वादायामेनापि समवृत्तस्यायामविष्कम्भयोस्तुल्यत्वादिति। तथा मूलमध्यान्तेषु पञ्चविंशतिरष्टादश द्वादश च योजनानि सातिरेकाणि परिक्षेपेण परिधिना। अयास्य पाठान्तरं वाचनाभेदस्तद्गतं परिमाणान्तरमाह। मूले द्वादश योजनानि विष्कम्भेन मध्येऽष्टयोजनानि तूपरि चत्वारि योजनानि विष्कम्भेन अत्रापि विष्कम्भायामातः साधिकत्रिगुणं मूलमध्यान्तपरिधिमानं सूत्रोक्तं सूबोधम्। अत्रापरः एकस्य वस्तुनो विष्कम्भादिपरिमाणे द्वैरूप्यासंभवेन प्रस्तुतग्रन्थस्यासातिशय स्थविरप्रणीतत्वेन कथं नान्यतरनिर्णयः यदेकस्यापि ऋषभकूटपर्वतस्य मूलादावष्टादियोजनविस्तृतत्वादि पुनस्तत्रैवास्य द्वादशादियोजनविसृतत्वादीति सत्यं जिनभद्रादीनां सर्वेषां क्षायिकज्ञानवतामेकमेव मतं मूलतः पश्चात्तु कालान्तरेण विस्मृत्यादिनाऽयं वाचनाभेदः॥ यदुक्तं श्रीमलयगिरिसूरिभिर्ज्योतिष्करण्डवृत्तौ '' इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुःषमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणादिकं सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षाति-क्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः सङ्गमेलापकोऽभवत् तद्यथा एको वल्लभ्यामेको मथुरायां तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्परं वाचनाभेदो जातः विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेद इत्यादि ततोऽत्रापि दुष्करोऽन्यतरनिर्णयः द्वयोः पक्षयोरुपस्थितयोरनतिशायिज्ञानिभिरनभिनिविष्टमतिभिः प्रवचनाशातनाभीरुभिः पुण्यपुरुषैरिति न काचिदनुपपत्तिः। किं च सैद्धान्तिकशिरोमणिपूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रणीतक्षेत्रसमाससूत्रे उत्तरमतमेवं दर्शितं यथा '' सव्वे वि उसहकूडा, उव्विद्धा अट्ठ जोअणे हुंति। वारस अट्ठ य चउरो, मूले मज्झुवरि विच्छिण्णा॥ १॥ मूले विछिण्णे इत्यादि शेषवर्णकः प्राग्वत्। अथास्य पद्मवरवेदिकाद्याह। (से णं एगाए इत्यादि) स ऋषभकूटादिरेकया पद्मवरवेदिकया तथैवेति। यथा सिद्धायतनकूटवर्णकः प्रागुक्तस्तथाऽत्रापि वक्तव्य इत्यर्थः कियत्पर्यन्त इत्याह। यावद्भगवत ऋषभाख्यदेवस्थानं स चायं '' एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संप-

रिक्खित्ते उसहकूडस्स णं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते से जहा णामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव वाणमंतरा जाव विहरंति तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमध्यदेशभागे महं एगे भवणे पण्णत्ते '' इति अत्र व्याख्या पूर्ववत्। भवनमानं साक्षादेव सूत्रे दर्शयति। क्रोशमायामेनार्द्धक्रोशं विष्कम्भेन देशोनक्रोशं चत्वारिंशदधिकचतुर्दशधनुःशतरूपमूर्द्धोच्चत्वेन। यद्यपि भवनायामापेक्षया किंचिन्न्यूनोच्छ्रायमानं भवति प्रासादस्तु आयामद्विगुणोच्छ्राय इति श्रीज्ञाताधर्मकथाङ्गवृत्त्यादौ भवनप्रासादयोर्विशेषो दृश्यते तथाऽप्यत्र तयोरेकार्थकत्वं ज्ञेयम्। श्रीमलयगिरिसूरिभिः क्षेत्रसमासवृत्तौ एतेषां ऋषभकूटानामुपरि प्रत्येकमेकैकः प्रासादावतंसकः ते च प्रासादाः प्रत्येकमेकं क्रोशमायामतोऽर्द्धक्रोशं विष्कम्भतो देशोनं क्रोशमुच्चैस्त्वेनेत्यत्रोक्तं भवनतुल्यप्रमाणतया ऋषभकूटेषु प्रासादानामभिधानादिति। अर्थो नामान्वर्थ ऋषभकूटस्य तथैवेति यथा जीवाभिगमादौ यमकादीनां पर्वतानामुक्तस्तयाऽत्रापि औचित्येन वक्तव्यः तदभिलापसूत्रं तु उत्पलानीत्यादिना सूचितं तदनुसारेणेदं '' से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ उसहकूडपव्वए उसह-कूडपव्वए गोयमा ! उसहकूडपव्वए खुड्डासु खुड्डियासु वावीसु पुक्खरिणीसु जाव विलपंतीसु बहूइं उप्पलाइं पउमाइं जाव सहस्सपत्ताइं उसहकूडप्पभाइं उसहकूडवणाइं उसहकूडवण्णाभाइं इति '' अत्र व्याख्या प्रश्नसूत्रं सुगमम्। उत्तरसूत्रे ऋषभकूटपर्यंते क्षुल्लासु क्षुल्लिकासु वापीषु पुष्करिणीषु यावद्विलपङ्क्तिषु बहून्युत्पलानि पद्मानि यावत्सहस्रपत्राणि ऋषभकूटप्रमाणि ऋषभकूटाकाराणि ऋषभकूटवर्णानि तथा ऋषभकूटवर्णस्येव आभा प्रतिभासो येषां तानि ऋषभकूटवर्णाभानि ततस्तानि तदाकारत्वात्तद्वर्णत्वात्तद्वर्णसादृश्याच्च ऋषभकूटानीति प्रसिद्धानि तद्योगादेव पर्वतोऽपि ऋषभकूटः। उभयेषामपि नाम्नामनादिकालप्रवृत्तोऽयं व्यवहार इति नेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः एवमन्यत्रापि परिभावनीयम्। प्रकारान्तरेणापि नामनिमित्तमाह '' उसभे अ एत्थदेवे '' इत्यादि ऋषभश्चात्र देवो महर्द्धिकः अत्र यावत्करणात् '' महज्जुईए जाव उ-सहकूडस्स उसहाए रायहाणीए अण्णेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ से एएणट्ठेणं एवं वुच्चइ उसहकूडपव्वए उसहकूडपव्वए '' इति पर्यन्तः सूत्रपाठो ज्ञेयः। अत्र व्याख्या प्राग्वत् '' दाहिणेणं '' इत्यादि राजधानी ऋषभदेवस्य ऋषभा नाम्नी मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणतस्तथैव वाच्या यथा विजया देवस्य प्रागुक्ता अविशेषितं विशेषरहित क्रियाविशेषणमेतत्। अस्या विजयायाः राजधान्याश्च नामतोऽन्तरं तत्त्वस्मिन् वर्णके इति नामः। जं० २ वक्ष०।

जंबुमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ उसभकूडा पण्णत्ता॥

अष्टौ ऋषभकूटपर्वता अष्टास्वपि विजयेषु तद्भावात् ते च वर्षधरपर्वतप्रत्यासन्ना म्लेच्छखण्डत्रयमध्यखण्डवर्तिनः सर्वविजयभरतैरावतेषु भवन्ति तत्प्रमाणं चेदम्। '' सव्वे वि उसहकूडा, उव्विद्धा अट्ठ जोयणा होंति। वारस अट्ठ य चउरो, मूले मज्झवरि वित्थिन्न '' त्ति॥ १॥

उसभ(ह)कूडदेव पुं०(ऋषभकूटदेव) ऋषभकूटनिवासिनि देवे, '' जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए अट्ठ उसनकूडदेवा पण्णत्ता ''। स्था० ८ ठा०।

उसभ(ह)णाराय न०(ऋषभनाराच) यत् कीलिकारहित संहननं तदृषभनाराचम्। द्वितीये संहनने, पं० सं०। क०। स्था०।

उसभणाह पुं०(ऋषभनाथ) श्रीऋषभदेवे, आ० म० प्र०।

उसभ(ह)दत्त पुं०(ऋषभदत्त) ब्राह्मणकुण्डग्रामवास्तव्ये कोडा-लसगोत्रे स्वनामख्याते ब्राह्मणवर्य्ये, आचा० २ श्रु०। आव०। कल्प० (यस्य देवानन्दानाम्न्या भार्य्यायाः कुक्षौ प्रथमं श्रीवीरजिनः पुत्रत्वेनोपपन्नस्ततो हरिणेगमेषिणा संकर्षितस्त्रिशलायां सिद्धार्थनरेन्द्रमहिष्यां संजज्ञे इति वीरशब्दे स्पष्टीभविष्यति)

तस्य शेषवक्तव्यता चैवम्॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं माहणं कुंडग्गामे णामं णयरे होत्था वण्णओ बहुसालए चेइयवण्णओ तत्थ णं माहणकुंडग्गामे णयरे उसभदत्ते णामं माहणे परिवसइ। अड्ढे दित्ते वित्ते जाव अपरिभूए रिउव्वेय जउव्वेय सामवेय अथव्वणवेय जहा खंदओ जाव अण्णेसु य बहुसु य बंभणएसु य नएसु परिनिट्ठिए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे उवलद्धपुण्णापावे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ॥

तेणमित्यादि सुगमम् (अड्ढेत्ति) समृद्धः (दित्तेत्ति) दीप्तस्तजस्वी दृप्तो वा दर्प्पवान्। (वित्तेत्ति) प्रसिद्धो यावत्करणात् '' विच्छिन्नविउलभवणसयणासणजाणवाहइ '' इत्यादि दृश्यम्॥ भ० ९ श० ३३ उ०॥

तस्स णं उसभदत्तस्स माहणस्स देवाणंदा णामं माहणी होत्था सुकुमालपाणिपाया जाव पियदंसणा सुरूवा समणोवासिया अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा जाव विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसड्ढे परिसा पज्जुवासइ तए णं से उसभदत्ते माहणे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठ जाव हियए जेणेव देवाणंदा माहणी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता देव-णंदा माहणिं एवं वयासी एव खलु देवाणुप्पिया समणे भगवं महावीरे आदिगरे जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी आगासमएणं च-क्केणं जाव सुहं सुहेणं विहरमाणे बहुसालए चेइए अहापडिरूवं उग्गहं जाव विहरइ तं महप्फलं खलु देवाणुप्पिए तहा रूवाणं अरहंताणं भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए किमंग पुण अभिगमणवंदणणमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए किमंग ! पुण विपुलस्स अट्ठस्स गहणयाए तं गच्छामो णं देवाणुप्पिए समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो जाव पज्जुवासामो एयं णो इह भवे परभवे य हियाए सुहाए खमाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ तए णं सा देवाणंदा माहणी उसभदत्तेणं माहणेणं एवं वुत्ता समाणी हट्ठ जाव हिययाकरयल जाव कट्टु उसभदत्तस्स माहणस्स एयमट्ठं विणएणं पडिपुणेइ॥

(हियाएत्ति) हिताय पथ्यान्नवत् (सुहाएत्ति) सुखाय शर्म्मणे (ख-माएत्ति) क्षमत्वाय सङ्गतत्वायेत्यर्थ (अणुगामिय-

त्ताए त्ति) अनुगामिकत्वाय शुभानुबन्धायेत्यर्थः (हट्ठ) इह यावत्करणादेवं दृश्यं (हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया) हृष्टं तुष्टमत्यर्थं तुष्टं हृष्टं वा विस्मितं तुष्टं च तोषवच्चित्तं यत्र तत्तथा । तद्यथा भवत्येवमानन्दिता ईषन्मुखसौम्यतादिभावैः समृद्धिमुपगता ततश्च नन्दिता समृद्धतरतामुपगता (पीइमणा) प्रीतिः प्रीणनमाप्यायनं मनसि यस्याः सा प्रीतिमनाः (परमसोमनसिया) परमसौमनस्यं सुष्ठु समनस्कता संजाता यस्याः सा परमसौमनस्थिता (हरिसवसविसप्पमाणहि-यया) हर्षवशेन विसर्प्पद्विस्तारयायि हृदयं यस्याः सा तथा।

तए णं से उसभदत्ते माहणे कोडुंवियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया ! लहुकरणजुत्तजोइयसमखुरवालिहाणसमलिहियसिंगेहिं जंबूणयमयकलावजुत्तपरिविसिट्ठेहिं रययमयघंटसुत्तरज्जुप्पवरकंचणणत्थपग्गहोग्गहियएहिं णीलुप्पलकयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं णाणामणिमयघंटियाजालपरिगतसुजातजुगजुत्तररज्जुयजुगपसत्थसुविरचियनिम्मियपवरलक्खणोववेयं धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह मम एयमाणत्तियं पच्चपिणह। तए णं से कोडुंवियपुरिसा उसभदत्तेणं माहणेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ जाव हियया करयल जाव एवं सामी तहत्ता णाए विणएणं वयणं जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव लहुकरणजुत्त जाव धम्मियं जाण-प्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेत्ता जाव तमाणत्तियं पच्चपिणंति तए णं से उसभदत्ते माहणे ण्हाए जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढे ।

(लहुकरणजुत्तजोइए इत्यादि) लघुकरणं शीघ्रक्रियादक्षत्वं तेन युक्तौ यौगिकौ च प्रशस्तयोगवन्तौ प्रशस्तसदृशरूपत्वाद्यौ तौ तथा समाः खुराश्च प्रतीताः (वालिहाणत्ति) वालिधाने च पुच्छौ ययोस्तौ तथा समानि लिखितान्युल्लिखितानि शृङ्गाणि ययोस्तौ तथा ततः कर्म्मधारयोऽतस्ताभ्यां लघुकरणयुक्तयौगिकसमखुरवालिधानसमलिखितशृङ्गकाभ्यां गोयुवभ्यां युक्तमेव यानप्रवरमुपस्थापयतेति सम्बन्धः। पुनः किंभूताभ्यामित्याह । जाम्बूनदमयौ सुवर्णनिर्वृतौ यौ कलापौ कण्ठाभरणविशेषौ ताभ्यां युक्तौ प्रतिविशिष्टकौ च प्रधानौ जवादिभिर्यौ तौ तथा ताभ्यां जाम्बूनदमयकलापयुक्तप्रतिविशिष्टकाभ्यां रजतमय्यौ रूप्यविकारे घण्टे ययोस्तौ तथा सूत्ररज्जुके कार्पासिकसूत्रदवरकमय्यौ वरकाश्चने प्रवरसुवर्णमण्डितत्वेन प्रधानसुवर्णे ये नस्ते नासिकारज्जूतयोः प्रग्रहेण रश्मिना अवगृहीतकौ बद्धौ यौ तौ तथा ततः कर्म्मधारयोऽतस्ताभ्यां रजतमयघण्टसूत्ररज्जुकवरकाश्चननस्ताः प्रग्रहावगृहीताभ्यां नीलोत्पलैर्जलजविशेषैः कृतो विहितः । (आमेलत्ति) आपीडः शेखरो ययोस्तौ ताभ्यां नीलोत्पलकृतापीडकाभ्याम् (पवरगोणजुवाणएहिंति) प्रव-रगोयुवभ्यां नानामणिरत्नानां सत्कं यद्घण्टिकाप्रधानं जालं जालकं तेन परिगतं परिक्षिप्तं यत्तत्तथा सुजातं सुजातदारुमयं यद्युगं यूपस्तत्सुजातयुग तच्च योक्त्ररज्जुकायुगश्च योक्त्राभिधानरज्जुकायुगं सुजातयुगयोक्त्ररज्जुकायुगे ते प्रशस्ते अतिशुभे सुविरचिते सुघण्टिते निर्मिते निवेशिते यत्र तत् सुजातयुगयोक्त्ररज्जुकायुगप्रशस्तसुविरचितनिर्मितम् (एवमित्यादि) एवं स्वामिन् (तथेति) आज्ञया इत्येवं ब्रुवाण इत्यर्थः । विनयेनाञ्जलिकरणादिना ।

तएणं सा देवाणंदा माहणी अंतो अंतेउरंसिण्हाया कयवलिकम्मा कयकोउयमंगल पायच्छित्ता किं ते वरपादपत्तनेउरमणिमेहलाहाररइयउचियकडयखडुगएगावलीकंठसुत्तउरत्थगेवेज्जसोणिसुत्तगणाणामणिरयणभूसणविराइयंगी चीणंसुयवत्थपवरपरिहियादुगुल्लसुकुमालउत्तरिज्जा सव्वोउय सुरभिकुसुमवरियसिरया वरचंदणवंदिया वराभूसणभूसियंगी कालागुरुधूमधूविया सिरिसमाणवेसा जाव अप्पमहग्घमरणालंकियसरीरा बहूहिं खुज्जाहिं चिलाइयाहिं वामणियाहिं वडहियाहिं वव्वरियाहिं चउसियाहिं इसिगणियाहिं खारुगणियाहिं जोणियाहिं पल्हवियाहिं ल्हासियाहिंलउसियाहिं आरवीहिं दमिलाहिं सिंघलाहिं पुलिंदीहिं पक्कलीहिं वहिलीहिं मुरंडीहिं सवरीहिं पारसीहिं णाणादेसीविदेसपरिपिंडियाहिं सदेसनेवत्थगहियवे-साहिं इंगियचिंतियपत्थियवियाणियाहिं कुसलाहिं विणीयाहिं चेडियाचक्कवालवरिसधरथेरकंचुइज्जमहत्तरगविंदपरिक्खित्ता जाव अंतेउराओ णिग्गच्छइ णिग्गच्छइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता जाव धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढा ।

(तएणं सा देवाणदामाहणीत्यादि) इह च स्थाने वाचनान्तरे देवानन्दावर्णक एवं दृश्यते (अंतो अंतेउरंसि ण्हाया) अन्तर्मध्येऽन्तःपुरस्य स्नाता अनेन च कुलीनाः स्त्रियः प्रच्छन्नाः स्नान्तीति दर्शितम् । (कयवलिकम्मा) गृहदेवताः प्रतीत्य (कयकोउयमंगलपायच्छित्ता) कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तान्यवश्यं कार्यत्वाद्यया सा तथा तत्र कौतुकानि मषीतिलकादीनि मङ्गलानि सिद्धार्थकदूर्वादीनि (किं ते) किञ्चान्यत् (वरपादपत्तनेउरमणिमेहलाहाररइयउचियकडयखड्डुयएगावलीकंठसुत्तउरत्थमेवेज्जसोणिसुत्तगनाणामणिरयणभूसणविराइयंगी) वराभ्यां पादप्राप्तनूपुराभ्यां मणिमेखलया हारेण च रचितै रतिदैर्वा सुखदोचितैर्युक्तैः कटकैश्च (खड्डुगत्ति) अङ्गुलीयकैश्च एकावल्या च विचित्रमणिमय्या कण्ठसूत्रेण च उरःस्थेन च रूढिगम्येन ग्रैवेयकेण च प्रतीतेन उरःस्थग्रैवेयकेण वा श्रोणिसूत्रकेण च कटीसूत्रेण नानामणिरत्नानां भूषणैश्च विराजितमङ्गं शरीरं यस्याः सा तथा (चीणंसुयवत्थपवरपरिहिया) चीनांशुकं नाम यद्वस्त्राणां मध्ये प्रवरं तत्परिहितं निवसनीकृतं यया सा तथा (दुगुल्लसुकुमालउत्तरिज्जा) दुकूलो वृक्षविशेषस्तद्वल्कलाज्जातं दुकूलं वस्त्रविशेषस्तत्सुकुमारमुत्तरीयमुपरिकायाच्छादनं यस्याः सा तथा (सव्वोउयसुरभिकुसुमवरियसिरया) सर्वर्तुकसुरभिकुसुमैर्वृत्ता वेष्टिताः शिरोजा यस्याः सा तथा (वरचंदणवंदिया) वरचन्दनं वन्दितं ललाटे निवेशितं यथा सा तथा (वराभरणभूसियंगीति) व्यक्तम्। (कालागुरुधूमधूविया) इत्यपि व्य-

कम्। (सिरिसमाणवेसा)श्रीर्देवता तया समाननेपथ्या इतः प्रकृतवाचनानुश्रियते (खुज्जाहिंति) कुब्जिकाभिर्वक्रजङ्घाभिरित्यर्थः (चिलाइयाहिंति) चिलातदेशोत्पन्नाभिः यावत्करणादिदं दृश्यम् (वामणियाहिं) ह्रस्वशरीराभिः(वडहियाहिं) मडहकोष्ठाभिः (वव्वरियाहिं पओसियाहिं इसिगणियाहिं थासगणियाहिं जोणियाहिं पल्हवियाहिं ल्हासियाहिं लओसियाहिं आरबीहिं दमिलाहिं सिंहलीहिं पुलिंदीहिं पक्कणीहिं वहलीहिं मुरुंडीहिं सबरीहिं पारसीहिं नाणादेसीविदेसपरिपिंडियाहिं) नानादेशीभ्यो बहुविधजनपदेभ्यो विदेशे तद्देशापेक्षया देशान्तरे परिपिण्डिता यास्तास्तथा (सदेसनेवत्थगहियवेसाहिं) स्वदेशनेपथ्यमिव गृहीतो वेषो यकाभिस्तास्तथा ताभिः (इंगियचिंतियपत्थियवियाणियाहिं) इङ्गितेन नयनादिचेष्टया चिन्तितश्च परेण प्रार्थितं चाभिलषितं विजानन्ति यास्तास्तथा ताभिः (कुसलाहिं विणीयाहिं) युक्ता इति गम्यते (चेडियाचक्कवालवलिसधरथेरकंचुइज्जमहत्तरयविंदपरिक्खित्ता) चेटीचक्रवालेनार्थात्स्वदेशसम्भवेन वर्षधराणां वर्द्धितकरणेन नपुंसकीकृतानामन्तःपुरमहल्लकानाम्। (थेरकंचुइज्ज त्ति) स्थविरकञ्चुकिनामन्तःपुरप्रयोजननिर्वेदकानां प्रतीहाराणां वा महत्तरकानां चान्तःपुरकार्यचिन्तकानां वृन्देन परिक्षिप्ता या सा तथा। इदं च सर्वं वाचनान्तरे साक्षादेवास्ति॥

तए णं से उसभदत्ते माहणे देवाणंदामाहणीए सद्धिं धम्मेयं जाणप्पवरं दुरूढेमाणे णियगपरियालसंपरिवुडे माहणकुंडग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ निग्गच्छइत्ता जेणेव बहुसालए चेइए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता छत्ताइए तित्थकराइसए पासइ पासइत्ता धम्मियं जाणप्पवरं उवेइ उवेइत्ता धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिसमागच्छइ तं सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणायाए एवं जहा विइए सए जाव तिविहाए पज्जुवासणयाए पज्जुवासइ। तए णं सा देवाणंदा माहणी धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुभइ पच्चोरुभइत्ता बहूहिं खुज्जाहिं जाव महत्तरगपरिक्खित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिसमागच्छइ तं सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणायाए अचित्ताणं दव्वाणं विमोयणयाए विणओणयाए गायलट्ठीए चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं मणसो एगत्तीभावकरणेणं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आदाहिणं पयाहिणं करेइ करेइत्ता वंदइ णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता उसभदत्तं माहणं पुरओ व कट्टुइया चेव सपरिवारा सुस्सूसमाणी णमंसमाणी अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासइ॥

(सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणयाएत्ति) पुष्पताम्बूलादिद्रव्याणां व्युत्सर्जनतया त्यागेनेत्यर्थः (अचित्ताणं दव्वाणं अविमोयणयाएत्ति) वस्त्रादीनामत्यागेनेत्यर्थः (मणसो एगत्तीभावकरणेणंति) अनेकस्य सत एकतालक्षणभावकरणेन (ठियाचेवत्ति) उर्द्धस्थानस्थितैव अनुपविष्टेत्यर्थः।

तए णं सा देवाणंदा माहणी अगयपण्हया पप्पुयलोयणा संवरियवलियवाहा कंचुकपरिक्खित्तिया धाराहतकलंबपुप्फगं पिव समुस्ससियरोमकूवा समणं भगवं महावीरं अणिमिसाए दिट्ठाए देहमाणी दहमाणी चिट्ठइ भंतेति ? भगवं गोयमे **समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी किं णं भंते ! एसा देवाणंदा माहणी आगयपण्हया तं चेव जाव रोमकूवा देवाणुप्पिए अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी देहमाणी चिट्ठइ गोयमादिसमणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एंव वयासी एवं खलु गोयमा ! देवाणंदा माहणी मम अम्मगा अहं णं देवाणंदाए माहणीए अत्तए तए णं सा देवाणंदा माहणी तेणं पुव्वपुत्तसिणेहाणुरागेणं आगयपण्हया जाव समुस्ससियरोमकूवा ममं अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी देहमाणी चिट्ठइ तए णं समणे भगवं महावीरे उसभदत्तस्स माहणस्स देवाणंदाए माहणीए तीसयं महइ महालियाए इसिपरिसाए जाव परिसापडिगया तए णं से उसभदत्ते माहणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव णमंसित्ता एवं वयासी एयमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! जहा खंदओ जाव से जहे यं तुब्भे वदह तिकट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ अवक्कमइत्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं उमुयइ उमुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ करेइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं जाव णमंसित्ता एवं वयासी अलित्तेणं भंते ! लोए पलित्तेणं भंते ! लोए जराए मरणेण य एवं एएणं कमेणं जहा खंदओ तहेव पव्वइए जाव सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ जाव बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठमदसम जाव विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ पाउणइत्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेइ झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ छेदेइत्ता जस्स ट्ठाए कीरइ नग्गभावे जाव तमट्ठं आराहेत्ता जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तए णं सा देवाणंदा माहणी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं जाव णमंसित्ता एवं वयासी एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! एवं जहा उसभदत्तो तहेव जाव धम्ममाइक्खइ तए णं समणे भगवं महावीरे देवाणंदा माहणिं सयमेव पव्वावेइ पव्वावेइत्ता सयमेव अज्जचंदणाए**

अज्जाए सीसिणित्ताए दलयति२त्ता तए णं सा अज्जचंदणा अज्जा देवाणंदा माहणिं सयमेव मुंडावेइ मुंडावेइत्ता सयमेव सेहावेइ सेहावेइत्ता एवं जहा उसभदत्तनेमहंव अज्जचंदणाए अज्जाए इमं एयाणुरूवं धम्मियं उवदेसं सम्मं पडिवज्जइ पडिवज्जइत्ता तमाणाए तह गच्छइ गच्छइत्ता जाव संजमेणं संजमइ। तए णं सा देवाणंदा अज्जा अज्जचंदणाए अज्जाए अंतियं सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ सेसं तं चेव जाव सव्वदुक्खप्पहीणा।

(आगयपण्हयत्ति) आयातप्रस्रवा पुत्रस्नेहादागतस्तनदुग्धस्तन्येत्यर्थः (पप्पुयलोयणा) प्रप्लुतलोचना पुत्रदर्शनप्रवर्तितानन्दजलेन (संवरियवालयवाहा) संवृतौ हर्षातिरेकादतिस्थूरीभवन्तौ निषिद्धौ वलयैः कटकैर्बाहू भुजौ यस्याः सा तथा। (कंचुयपरिक्खित्तिया) कंचुको वारवाणः परिक्षिप्तो विक्षिप्ता विस्तारितो हर्षातिरे-कस्यूरीभूतशरीरतया यया सा तथा (धाराहयकदंवपुप्फगमिवसमुच्छसियरोमकूवा) मेघधाराभ्याहतकदम्बपुष्पमिव समुच्छ्वसितानि रोमाणि कूपेषु रोमरन्ध्रेषु यस्याः सा तथा (पेहमाणत्ति) प्रेक्षमाणा आभीक्ष्ण्ये चात्र द्विरुक्तिः (भंतेत्ति) भदन्त! इत्येवमामन्त्रणवचसाऽऽमन्त्र्येत्यर्थः गोयम! इति) एवमामन्त्र्येत्यर्थः। अथवा गौतम इति नामोच्चारणम् (अयीति) आमन्त्रणार्थे निपातो हे भो इत्यादिवत् (अत्तएत्ति) आत्मजः पुत्रः (पुव्वपुत्तसिणेहाणुराएणंति) पूर्वं प्रथमगर्भाधानकालसम्भवो यः पुत्रस्नेहलक्षणोऽनुरागः स पूर्वपुत्रस्नेहानुरागस्तेन (महइमहालिएत्ति) महती चासावतिमहती चेति महातिमहती तस्यै आलप्रत्ययश्चेह प्राकृतप्रभवः (इसिपरि-साएत्ति) पश्यन्तीति ऋषयो ज्ञानिनस्तद्रूपा पर्षत्परिवार ऋषिपर्वत्तस्यै यावत्करणादिदं दृश्यम्- '' मुणिपरिसाए जइपरिसाए अणेगसयाए अणेगसयविंदपरिवाराए इत्यादि '' तत्र मुनयो वाचंयमा यतयस्तु धर्म्मक्रियासु प्रयतमानाः अनेकानि शतानि यस्याः सा तथा तस्यै अनेकशतप्रमाणानि वृन्दानि परिवारो यस्याः सा तथा तस्यै (तए णं सा अज्जचंदणा अज्जेत्यादि) इह च देवानन्दाया भगवता प्रव्राजनकरणेऽप यदार्यचन्दनया पुनस्तत्करणं तत्तत्रैवानवगताव-यमकरणादिना विशेषाधानमित्यव गन्तव्यमिति (तमाणाएत्ति) तदाज्ञया आर्यचन्दनाज्ञया। भ० ६ श० ३३ उ०। विपाकदशानां तृतीयदुःखविपाकोक्तसुजातकुमारस्य पूर्वभये जीवे च। '' उसुयारणयरे उसभदत्ते गाहावई''। वि० ४ अ०।

उसभ(ह)पुर न०(ऋषभपुर) राजगृहनगरप्रस्थायकराजपूर्वजेन प्रस्थापिते पुरभेदे, '' तत्थ एगो वसतो अण्णेहिं परद्धा एक्कगिरिणे अत्थति न तीरति अण्णेहिं वसेतिहिं पराइणेतुं ''। आ० चू० ४ अ०। आव०। '' क्षीणवास्तुनि तत्रापि, चरन्तं वृषभं वने। दृष्ट्वाऽन्याजप्यमृषभं, पुरं तत्र व्यधात्पुनः ॥ '' आ० म०। आ० क०। यत्र जीवप्रादेशिकाख्या द्वितीयनिह्नवा उत्पन्नास्तस्मिन् नयरे, विशे०। आ० क०। स्था०। '' उसहपुरे णवरे थूलकरंडउज्जाणे ''। विपा० २ श्रु० २ अ०।

उसभ(ह)पुरी स्त्री०(ऋषभपुरी) जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वतः शीतो-दाया महानद्या दक्षिणतःस्थे राजधानीभेदे स्था० ८ ठा०।

उसभ(ह)सेण पुं०(ऋषभसेन) भगवत ऋषभदेवस्य प्रथमगणधरे, '' उसभसेणो नाम भरहस्स रण्णो पुत्तो सो धम्मं सोऊण पव्वइतो तेण तिहिं पुव्वाई गहिताइं उप्पण्णे विगते धुवे ''। आ० चू० १ अ०। कल्प०। स०। (अस्य ऋषभशब्दे वक्तव्यतोक्ता) '' आ-इगरपुरिमताले पवत्तिया उसभसेणस्स ''। नं०।

उसा स्त्री०(उषा) ओषत्यन्धकारम्-उष्-क-प्रातरादिसन्ध्यासु, '' तेजःपरिहानिरुषा, भानोरर्द्धोदयं यावत् '' बृहत्संहितोक्ते काले, नक्षत्रप्रभाक्षयः काल उषा तेन पञ्चाशद्घटिकोत्तरमारभ्य सूर्य्यार्द्धो-दयपर्य्यन्तः। स कालः लग्नाद्यलाभे उषाकाले यात्राशस्ता अन्धकारेण सन्तापकरिण्यां रात्रौ, मेदि०। क्षारभूमौ, ततः क्वचित् गौरादित्वाङ्डीष्, स्त्री०। गव्याम् , हेम०। स्थाल्याम् , रमानाथः। प्रातःकाले, अव्य० मेदि०। अव्ययत्वात् ततो भवार्थे ट्युलतुट् च उषातनः। तद्भवे, त्रि०। स्त्रियां ङीप् , वाच०॥

उसिंचित्ता त्रि०(अपसिञ्चयितृ) उपतापयितरि, '' उसिणोदगवियडेण कायं उसिंचित्ता भवति '' उष्णोदकविकटेन कायं शरीरमपसिञ्चयिता भवति। तत्र विकटग्रहणादुष्णतैलेन काञ्जिकादिना कायमुपतापयिता भवति, दशा० ३ अ०।

उसिक्क धा०(मुच्) तुदा० सक० अनि०। **मुचेश्छड्डावहेड-मेल्लोसिक्करे अवणिलुञ्छधंसाडाः॥ ८। ४। ९१॥** इति मुचेरुसिक्कादेशः। उसिक्कइ मुअइ मुञ्चति। प्रा०।

उसिक्किया अव्य०(अपष्वष्क्य) प्रज्वाल्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु०।

उसिण पुं०न०(उष्ण) उषति दहति जन्तूनित्युष्णम् , उत्त० १ अ०। आहारपरिपाकादिकारणे वह्न्याद्यनुगते स्पर्शभेदे, अनु०। स्था० (उष्णानिक्षेपः सीउण्हशब्दे वक्ष्यते) उष्णयुक्ते, त्र०। अमरः। उष्णस्पर्शपरिमाणे, ' उसिणं वेयणं वेएंति ' उष्णां वेदनां वेदयन्ते उष्णस्पर्शपरिणामा उष्णा, प्रज्ञा० ८ पद०। उष्णा प्रथमादिषु उष्णस्पर्शजनिता वेदना। स्था० १० ठा०। '' उसिणपरितावेहिं घिंसु ''। आ० चू० १ अ०।

उसिणजोणिय पुं०(उष्णयोनिक) उष्णमेव योनिर्येषान्ते उष्णयोनिकाः। उष्णोत्पन्नेषु जीवेषु, भ० ७ श० २ उ०।

उसिणपरि(री)सह पुं०[उष्णपरि(री) षह] उषदाहे इत्यस्यौणा-दिकनक् प्रत्ययान्तस्य उष्णं निदाघादितापात्मकं तदेव परीषहः। परीषहभेदे, उत्त० २ अ०। सूत्र। तद्वक्तव्यता (उण्हपरीसप्पकरणे उक्ता)

उसिणभूय त्रि०(उष्णीभूत) अस्वाभाविकमौष्ण्यं प्राप्ते, '' उसिणे उसि-णब्भू एयावि होत्था ''। भ० ३ श० २ उ०। अनन्तरमपि नरकगतजाड्यापगमाज्जातोत्साहे, जी० प्रति० १ उ०।

उसिणोदग न०(उष्णोदक) स्वभावत एव क्वचिन्निर्झरादावुष्णपरि-णामेऽप्कायभेदे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा। क्वथितोदके, '' उसिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहेज्ज संजए ''। द० ८ अ०। तच्च त्रिभिर्दण्डैरुत्क-लितमावृतं यदुष्णोदकम् , प्रव० १३५ द्वा०। पिं०। कल्प०।

उसिणोदगतत्तभोइ(ण्) पुं०(उष्णादकतप्तभोजिन्) त्रिदण्डोद्धृ-तोष्णदकभोजिनि॥

उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मठियस्स मुणिस्स हीमतो।
संसग्गिअसाहुराइहिं, असमाही उ तहागयस्स वि॥ १८॥

(उसिणोदगेत्यादि) मुनेरुष्णोदकतप्तभोजिनः त्रिदण्डोद्धृतो-ष्णोदकभोजिनः। यदि वा उष्ण सन्न शीतीकुर्यादिति तप्तग्रहणम्। तथा श्रुतचारित्राख्ये धर्मे स्थितस्य (हीमतोत्ति) हीरसं-

यमं प्रति लज्जा तद्वतोऽसंयमजुगुप्सावत इत्यर्थः । तस्यैवंभूतस्य मुने राजादिभिः सार्द्धं यः संसर्गः संबन्धोऽसावसाधुरनर्थोदयहेतुत्वात्तथागतस्यापि यथोक्तानुष्ठायिनोऽपि राजादिसंसर्गवशादसमाधिरेवापध्यानमेव स्यात न कदाचित स्वाध्यायादिकं भवेदिति ॥ १८ ॥

उसिणोदगनियड न०(उष्णोदकनिकट) अप्रासुके त्रिदण्डोद्धृते पश्चाद् वा सचित्तीभूते उष्णोदके, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ०।

उसिणोसिण त्रि०(उष्णोष्ण) अत्युष्णे, प्रश्न० १ द्वा०।

उसिय त्रि०(उषित) वस्-इण्-क्त-व्यवस्थिते, '' उसिया वि इत्थिवासेसु पुरिसा ''। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। वसक्त पर्युषिते, कृतवासे, च। उषदाहे-क्त। दग्धे, मेदि०। क्षरिते, धरणिः। भावे क्त। वासे, न० वाच०। आचा० २ श्रु०।

उसि(स्सि)(ऊसि)य त्रि०(उच्छ्रित) ऊर्द्धं नीते, ज्ञा० १ अ०। उच्चैः कृते, उत्त० २२ अ०। प्रख्याते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। ज्ञा०। प्रज्ञा०।

***उत्सृत** त्रि०। प्रवलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृते, चं० प्र० १ पाहु०। विपा०। लम्बमाने, '' मुत्तजालंतरूसियहेमजालगवक्खं ''। रा०।

उसिवफलिअ त्रि०(उच्छ्रितस्फटिक) उच्छ्रितं प्रख्यातं स्फटिकन्निर्मलं यशो यस्याऽसौ उच्छ्रितस्फटिकः। प्रख्यातनिर्मलयशसि, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। उच्छ्रितानि स्फटिकानीव स्फटिकानि अन्तःकरणानि येषां ते तथा। शुद्धान्तःकरणेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

उसीणर पुं०(उशीनर) बृष्णिवंशोद्भवे क्षत्रियभेदे, '' उशीनरश्च विक्रान्तो, वष्णयस्ते प्रकीर्तिताः '' पौरवे नृपभेदे, '' उशीनरं च धर्म्मज्ञं, तितिक्षुञ्च महाबलम्। हरिवंशेकपोतार्थे स्वशरीरमांस दानं प्रसिद्धम् , वाच०। त्रिशङ्कुपुत्रे सुतारादेव्याः पतौ, ती०।

उसीर पुं०न०[उ(षी)शीर] वश-ईरन् किच्च वीरणमूले, सूत्र० १ श्रु० ४ अ०। ज्ञा०। जी०। आ० म० प्र०। रा०। प्रश्न०। चं०। आचा०। उत्त०। तस्य गुणाः ''उशीरं पाचनं शीतं, स्तम्भनं लघु तिक्तकम्। मधुरं ज्वरहृद्वान्तिमलनुत्कफपित्तनुत्। तृष्णार्तिविष वीसर्पदाकृच्छ्रव्रणापहम्। भावप्र०।

उसु पुं०(इषु) ईप्यते हिंस्यते अनेन ईष-उ-ह्रस्वश्च। शरे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। प्रतोदे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। शरपत्रफलादिसमुदाये, ''अहेणं से उसू''। भ० ५ श० ६ उ०। कामस्य पञ्चबाणत्वात्तदनुसृत्या पञ्चसंख्यान्विते वृत्तक्षेत्रान्त र्गते जीवावधि परिधिपर्य्यन्तकृतसरलरेखायां च। वाच०॥

तत्र इषोरानयनाय करणमाह।

धणुवग्गाओ नियमा, जीवावग्गं विसोहइत्ताणं।
सेसस्स छट्ठभागे, जं मूलं तं उसू होइ॥

नियमादवश्यतया धनुःपृष्टवर्गात् जीवावर्गं विशोध्यापनीय शेष-स्य षड्भागे षड्भिर्भागे हृते यन्मूलमागच्छति तदिषुरिषुपरिमाणं भवति तत्र भरतक्षेत्रस्य धनुःपृष्टवर्गः सप्तकः षट्को द्विकोऽष्टौ च शून्याः। तस्मात् जीवावर्गः सप्तकः पञ्चकः षट्कोऽष्टौ शून्यानि। ७५६००००००० तस्य षड्भिर्भागे हृते जात एककोऽष्टौ शून्यानि १००००००० एतस्य वर्गमूलनयने लब्धानि दशसहस्राणि कलानां तासामेकोनविंशत्या भागे हृते लब्धानि योजनानां पञ्चशतानि षड्विंशत्यधिकानि षट् कलाः एतावान् भरतक्षेत्रस्येषुः। एवं सर्वेषामपि क्षेत्राणामिषव आनेतव्याः। ओ १० पाहु।

उसुकाल पुं०देशी०(उसुकाल) उदूखले, नि० चू० १३ उ०।

उसुग पुं०(इषुक) इषु-स्थूला कन् शरप्रकारे, वाच०। इषुकाकारे, आभरणे, तिलके च। '' उसुपाइएहिं मंडेहिं नावणं अहवणं विभूसेमि '' पिं०।

उसुचोइय त्रि०(इषुचोदित) शराभिघातप्रेरिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

उसुमट्टिया स्त्री०(इषुमृत्तिका) मुञ्जादिभिः सह कुट्टितमृत्तिकायाम्, '' साइसियाइपिंडिवंत होंति उसुमट्टिया य तम्मिस्सा। सरसछल्लीईसिगित्ति तस्सेव उवरि तस्स छल्ली सो य मुंजो दब्भो वा एते विप्पित्तिकुट्टिया पुणो मट्टियाए सह कुट्टिज्जंति एसा उसुमट्टिया कुसुमट्टिया वा ''। नि० चू० १८ उ०।

उसुयार पुं०(इषुकार) इषुं करोति-कृ-अण्। बाणकारके शिल्पि-भेदे, वाच०।

अस्य निक्षेपः।

उसुयारे निक्खेवो, चउव्विहो दुविहो होइ दव्वम्मि।
आगम नोआगमओ, नोआगमतो य सो तिविहो॥ ६४॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य से पुण्णो तिविहो।
एगभवियबद्धाओ, अभिमुहओ नामगोए य॥ ६५॥
उसुयारनामगोयं, वदेंतो भावओ य उसुयारो।
तत्तो समुट्ठियमिणं, उसुधारिज्जंति अज्झयणं॥ ६६॥

गाथात्रयं स्पष्टमेव नवरमिषुकाराभिलाषेन नेयं तथा यदिषुकारात्समुत्थिते तत्तस्मै प्रायो हितमेव भवतीति इषुकाराय हितमिषुकारीयमुच्यते प्राधान्याच्च राज्ञा निर्द्देशोऽन्यथा षड्भ्योऽप्येतत्समुत्थानं तुल्यमेवेति।

संप्रति कोऽयमिषुकार इति तद्वक्तव्यतामाह निर्युक्तिकृत्।

पुव्वभवे संघडिया उ, संपीया अन्नमण्णमणुरत्ता।
भोत्तूण भोगभोगे, निग्गंथा पव्वए समणा॥ ६७॥
काऊण य सामन्नं, पउमगुम्मे विमाणे उववन्ना।
पलिओवमाइ चउरो, ठिई उ उक्कोसया तेसिं॥ ६८॥
तत्तो य चुया संता, कुरुजणवयपुरम्मि उसुयारे।
छा वि जणा उववन्ना, चरिमसरीरा विगयमोहा॥ ६९॥
राया उसुयारो य, कमलावइ देवि अग्गमहिसी से।
भिगुनामे य पुरोहिए, वासिट्ठी भारिया तस्स॥ ४००॥
उसुयारपुरे नयरे, उसुयारपुरोहिओ उ अणवच्चो।
पुत्तस्स कए बहुसो, परित्तप्पंती दुयग्गावि॥ १॥
काऊण समणरूवं, तहियं देवो पुरोहिओ भणइ।
होहिंति तुब्भ पुत्ता, दोन्नि जणा देवलोगचुया॥ २॥
तेहि य पव्वइयव्वं, जहा य न करेह अंतरायण्हे।
ते पव्वइया संतो, वोहेहिंती जणं बहूगं च॥ ३॥
तं वयणं सोऊणं, नगराओ निंति ते वयग्गामं।
वट्टंति य ते जहियं, गाहंति य णं असब्भावं॥ ४॥
एए समणा वुत्ता, पेयपिसायपोरुसादा य।
मा तेसिं अल्लियहा, सा भे पुत्ता विणासेज्जा॥ ५॥

इट्ठूण तहिं समणे, जाइ पोराणियं च सरिऊण।
बोहिं तम्मापियरो, उसुयारं रायपत्तिं च॥ ६॥
सीमंधरा य राया, भिग्गू य वासिट्ठरायपत्तियं।
वंभणी दारगा चेव, छप्पंए परिनिव्वुया॥ ७॥

आसामक्षरार्थः स्पष्ट एव नवरं (संघडियत्ति) सम्यग् घटिताः पर-स्परं स्नेहेन संबद्धा वयस्या इति यावत् तेऽपि कदाचिद्विगलितान्त-रप्रीतयोऽपि दाक्षिण्यजनलज्जास्तेस्तथा स्युरत आह। संप्रीताः सम्यगान्तरप्रीतिभाजस्तथाऽन्योन्यमनुरक्ता अतिशयख्यापन-फलत्वादस्यात्यन्तस्नेहभाजः। अथवा (संघाडियत्ति) देशीपदम-व्युत्पन्नमेव। मित्राभिधायि प्रीतिर्बाह्यानुरागः स्वभावतः प्रतिबन्धः पठ्यते च (घडियाउत्ति) घटिता मिलितास्तथा (भोगभोगेत्ति) भोक्तुं योग्या ये भोग्या भोगास्तान भोग्यभोगान् भोगभोगान्वाऽतिशायिनो भोगान्पाठान्तरतः कामभोगान्वा (णिग्गंथापव्वए समणत्ति) निर्ग्रन्था-रत्यक्तग्रन्थाः प्राव्रजत् प्रव्रज्यां गृहीतवन्तस्ततश्च श्रमणतपस्विनोऽपि अभूवन्निति शेषः (दुयगावित्ति) देशीपदं प्रक्रमाच्च्युत्वा द्वायपि दम्पती तथा अन्तरायं विघ्नं (एहेत्ति) अनयोस्तथा (णिंति-त्ति) नियोन्त्या-धिक्येन गच्छन्ति कं व्रजग्रामं गोकुलप्रायग्रामं प्रत्यन्तग्राममित्यर्थः (गाहेंति असब्भावंति) ग्राहयतोऽसद्भावमसन्तमसुन्दरं चाथ साधुप्रेतत्वादिलक्षणं प्रेता भूताः पिशाचाः पिशाचनिकायोत्पन्नाः पौरुषादाश्च प्रस्तावतः पुरुषसंबन्धिमांसभक्षका राक्षसा इति यावत् (तेसिंति) सूत्रत्वात् तान् श्रमणान् (अल्लियहत्ति) आलीयेतामाश्रयेताम्। किमित्यत आह मा (भे) भवन्तौ पुत्रौ विनश्येतामिति। अत्र चेषुकारमिति राज्यकालनाम्ना सीमन्धरश्चेति मौलिकनाम्ना इति संभावयाम इति गाथैकादशावयवार्थः। भावार्थस्तु संप्रदायादवसेयः स चायं ' जे तो दोन्नि गोवदारया साहु अणुकंपाए लद्धसम्मत्ता कालं काऊण देवलोगे उ चत्ता ते तओ देवलोगाओ चइउ खिइप्पइट्ठणयरे इब्भकुले दो वि भायरा जाया। तत्थ तेसिं अन्ने वि चत्तारि इब्भदारगा वयंसया जाया तत्थ वि भोगे भुंजिउं तहारूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोऊण पव्वत्तिया सुविरकालं संजमं अनुपालेऊण भत्तपच्चक्खाउं कालं काऊण सोहम्मे कप्पे पउमगुम्मविमाणे छा वि जणा चउपालेउओवमट्ठितिया देवा उववन्ना। तत्थ जे ते गोववज्जादेवा ते चइऊण कुरुजणवए उसुयारपुरे एगो उसुयारो णाम राया जाओ बीओ तस्सेव महादेवी कमलावती नामं संवुत्ता तइओ तस्स चेव राइयो भिगू नाम पुरोहिओ संवुत्तो चउत्थो तस्स चेव पुरोहियस्स भारिया संवुत्ता। वसिट्ठगोत्तेण जसा नाम सो य भिगू अणवचो गाढं तप्पए अवच्चनिमित्तं उवावणए देवंयाणि पुच्छइ नेमित्तिए। तेय दो वि पुव्वभवगो वा देवभवे वट्टमाणा ओहिणा जाणिउ जहा अम्हे एयस्स भिगुस्स पुरोहियस्स पुत्ता भविस्सामो तओ समणरूवं काऊण उवागया भिगुसमीवं भिगुणा संभारिएण य वंदिया सुहासणत्था य धम्मं कहेंति दोहिं वि सावगवयाणि गहियाणि। पुरोहिएण भन्नइ भगवं अम्हं अवच्चं होज्जति साहूहिं भणइ भविरसति दुवे दारगा ते य डहरगा चेव पव्वइस्संति तेसिं तुब्भेहिं वाघातो न कायव्वो पव्वयंताणं तेसु बहुजणं संबोहिस्संति भणिऊण पडिगया देवा णाइचिरेण य चइऊण य तास पुरोहियस्स भारियाए वासिट्ठीए दुवे उदरे पच्चायाया। तओ सो पुरोहिओ सभारिओ णयरविणिग्गओ पच्चंतगामे ठिओ व तत्थेव सा माहणी पसूया दारगा जाया तओ मा पव्वइरसंतित्ति का मायावित्तेहिं वुग्गाहिज्जंति जहा एए पव्वइयगा डिक्करूवाइं घेत्तुमारेंति पच्छा तेसिं मंसं खायंति तं मा तुब्भे कयाइं एएसिं अल्लिइस्सहा अन्नया ते तम्मि गामे रमंता बाहे निग्गया। इओ य अट्ठाणपडिवन्नया साहू आगच्छंति ततो ते दारगा साहूं दट्ठूण भयभीया पलायंता णं एगम्मि वडपायवे आरूढा साहूणो समावत्तीए गहियभत्तपाणा तम्मि चेव वटपायवबहिट्ठे ठिया मुहूत्तं च वीस्समिऊणं भुंजिउं पयत्ता ते वडारूढापासंति साभावियं भत्तपाणं णत्थि मंसंति। तओ चिंतिउं पयत्ताकत्थ अम्हेहिं एयारिसाणि रूवाणि दिट्ठपुव्वाणि त्ति जाइं संभरिया संबुद्धा साहूणो वंदिउं गया अम्मापिउसमीवं मायावित्तं संबोहिऊण सह मायावित्तेण पव्वत्तिया देवी संबुद्धा देवीए गया संबोहिओ ताणि वि पव्वइयाणि। एवं ताणि छा वि केवलनाणं पाविऊण निव्वाणमुवगयाणि त्ति ''। इह तु सूत्रो-क्तस्यार्थस्याभिधानं प्रसङ्गत इत्यदोषः। उक्तो नाम निष्पन्ननि-क्षेपः।

संप्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम्॥

देवा भवित्ताण पूरे भवम्मि, केई चुया एगविमाणवासी।
पुरे पुराणे उसुयारणामे, खाए समिद्धे सुरलोयरम्मे॥ १॥
सकम्मसेसेण पुरा कएणं, कुलेसु दग्गेसु य ते पसूया।
निविण्णसंसारभया जहा य, जिणिंदमग्गं सरणं पवण्णा॥ २॥

देवाः सूरा भूत्वोत्पद्य पुरे (भवम्मित्ति) अनन्तरातीतजन्मनि केचिदि-त्पनिर्दिष्टनामानश्च ता भ्रष्टा एकस्मिन् पद्मगुल्मनाम्नि विमाने वसन्तीत्येवंशीला एकविमानवासिनः पुरे नगरे पुराणे चिरन्तने इषुकारनाम्नि ख्याते प्रथिते समृद्धे ऋद्धिमत्यत एव सुरलोकरम्ये देवलोकवद्रमणीये ते च किं सर्वथोपभुक्तेपुण्या एवततश्च्युता उता-न्ययेत्याह। स्वमात्मीयं कर्म पुण्यप्रकृतिलक्षणं तस्य शेषमुद्वरितं स्वकर्मशेषस्तेन लक्षणे तृतीया पुराकृतेन पूर्वजन्मान्तरोपार्जितेन कुलेष्वन्वयेषु उदारेषु उच्चेषु चः पुरणे त इति ये देवाः भूत्या च्युताः प्रसूता उत्पन्नाः (निव्विणत्ति) आधेन्वान्निर्विण्णा उद्विग्नाः कुतः संसारभवात् यान्ति परित्यज्य भोगादीनिति गम्यते। किमित्याह जिनेन्द्रमार्गं तीर्थकृदुपदर्शितं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मुक्तिपथं शरणमपायरक्षा-क्षमभाश्रयं प्रपन्ना अभ्युपगता इत्यध्ययनार्थसूच-नम्।

कश्च किं रूपः सह जिनेन्द्रमार्गं प्रतिपन्न इत्याह।

पुमत्तमागम्म कुमारदेवी, पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती।
विसाल कत्ताय तहोसुयारो, रायत्थदेवी कमलायई य॥ ३॥

पुस्त्वं पुरुषत्वमागम्य प्राप्य कुमारावकृतपाणिग्रहणौ द्वौ अपि पूर्णे सुलभबोधिकत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थं वाऽनयोः पूर्वमुपादानं पुरोहितस्तृतीयः। तस्य जसा च नाम्ना पत्नी चतुर्थः। विशालकीर्तिश्च विस्तीर्णयशाश्च तेष्विषुकारो नाम राजा पञ्चमः। अत्रैतस्मिन् भवे देवाति प्रधानपत्नी प्रक्रमात्तस्यैव राज्ञः कमलावती च नाम्ना षष्ठ इति सूत्रत्रयार्थः। संप्रति यथैतेषु जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्तिः कुमारयोर्जाता तथा दर्शयितुमाह।

जाईजरामच्चुभयाभिभूए, वहिं विहारामिनिविट्ठचित्ता।
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा, दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ती॥ ४॥
पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स, सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स।
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं, तहा सुचिन्नं तव संजमं च॥ ५॥

जातिर्जन्म जराविश्रसा मृत्युः प्राणत्यागलक्षणस्तेभ्यो भयं सा-ध्वसं तेनाभिभूतौ बाधितौ जातिजरामृत्युभयाभिभूतौ पाठान्तरतश्च जातिजरामृत्युभयाभिभूते सत्यर्थात्संसारिजने बहिः संसाराद्विहारः स चार्थान्मोक्षस्तस्मिन्नभिनिविष्टं वधाग्रहं चित्तमन्तःकरणं ययोस्तौ तथा संसारश्चक्रमिव चक्रं भ्रमणोपलक्षितत्वात्संसारचक्रं तस्य विमोक्षणार्थं - परित्यागनिमित्तं दृष्ट्वा निरीक्ष्य साधूनिति शेषः यद्वा दृष्ट्वेति प्रेक्ष्य मुक्तिपरिपन्थिनोऽमी कामगुणा इति पर्यालोच्य तावनन्तरोक्तौ (कामगुणेत्ति) सुब्व्यत्ययात् कामगुणेभ्यः शब्दादिभ्यो विषयसप्तमी वा विरक्तौ प्राङ्मुखीभूतौ प्रियौ वल्लभौ तौ च तौ पुत्रावेव पुत्रकौ च प्रियपुत्रौ द्वावपि नैक एव इत्यपि शब्दार्थो माहनस्य ब्राह्मणस्य स्वकर्म्मशीलस्य यजनयाजनादिस्वकीयानुष्ठाननिरतस्य पुरोहितस्य शान्तिकर्तुः (सुमरितुत्ति) स्मृत्वा (पाराणयत्ति) सूत्रत्वात् पुराणमेव पौराणिकी चिरंतनी तत्रेति सन्निवेशे कुमारभावे वा वर्तमानाविति शेषः जातिजन्म तथा (सुचिण्णंति) सुचीर्णं सुचरितं वा निदानादिनाऽनुपहतत्वात् तपोऽनशनादि प्राकृतत्वाद्विन्दुलोपः संयमं च तपःसंयममिति समाहारद्वन्द्वो वाऽत्र कामगुणविरक्तिरेव जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्तिरिति सूत्रद्वयार्थः।

ततस्तौ किमकार्ष्टामित्याह ॥

ते कामभोगेसु असज्जमाणा, माणुस्तएसं जे यावि दिव्वा।
मोक्खाभिकंखी अभिजायसद्धा,तायं उवागम्म इमं उदाहु ॥ ६ ॥

तौ पुरोहितपुत्रौ कामभोगेषूत्तरूपेषु (असज्जमाणत्ति) असंयतौ सङ्गमकुर्वन्तौ मानुष्यकेषु मनुजसंबन्धिषु ये चापि दिव्या देवसंब-न्धिनः कामभोगास्तेषु चेति प्रक्रमः मोक्षाभिकाङ्क्षिणौ मुक्त्यभि-लाषिणावभिजातश्रद्धावुत्पन्नतत्वरुची तातं पितरमुपागम्येदं वक्ष्यमाणं (उदाहुत्ति) उदाहरतां तयोर्हि साधुदर्शनान्तरं क्व अस्माभिरित्थंभूतानि रूपाणि पुराऽपि दृष्टानीति चिन्तयतोर्जातिस्मरणमुत्पन्नं ततो जातवैराग्यौ प्रव्रज्याभिमुखावात्ममुत्कलीकरणाय तयोश्च प्रतिबोधोत्पादनाय वक्ष्यमाणमुक्तवन्तावितिं सूत्रार्थः।

यच्च तावुक्तवन्तौ तदाह।

असासयं दट्ठु इमं बिहारं, बहु अंतरायं ण य दीहमाउं।
तम्हा गिहम्मी न रइं लहामो, आमंतयामो चरिसामो मोणं ॥

अशास्वतमनित्यं दृष्ट्वेमं प्रत्यक्षं विहरणं विहारं मनुष्यत्वेनाव-स्थानामत्यर्थः। भण्यते हि (भोगाइं भुंजमाणे विहरतित्ति) किमि-त्येवमत आह। बहवः प्रभूता अन्तराया विघ्ना व्याध्यादयो यस्य तद्बहन्तरायं बहन्तरायमपि दीर्घत्वावस्थायि स्यादित्याह। न च नैव दीर्घं दीर्घकालस्थित्यायुर्जीवितं संप्रति पल्योपमायुष्कताया अप्यभावात् यत एवं सर्वमनित्यं तस्मात् (गिहम्मित्ति) गृहे वेश्मनि न रतिंधृतिं (लभामोत्ति) लभावहे प्राप्नुवः अतश्चामन्त्रयावः पृच्छाव आवां यथा चरिस्यावः आसेविष्याबहे मौनं मुनिभावं संयममिति सूत्रार्थः।

एवं च ताभ्यामुक्ते।

अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं, तवस्स वाघायकरं वयासी।
इमं वयं वेयविदो वयंति, जहा ण होई अमुयाण लोगो ॥ ८ ॥
अहिज्जवेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते परिट्ठप्प गिहंसि जाया।
भुत्ताण भोगे सहइत्थियाहिं, आरण्णगा होहिमुणी पसत्था ॥

अथानन्तरं तायते सन्तानं कराति पालयति सर्वापदय इति तातः स एव तातकस्तव तस्मिन्निवेशेऽवसर वा मुन्योर्भावतः प्रतिपन्नमु-निभावयोः तयोः कुमारयोस्तपसोऽनशनादेरुपलक्षणत्वा च्छेष-सद्धर्म्मानुष्ठानस्य च व्याघातकरं बाधाविषयिवचनमिति शेषः (व-यासित्ति) अवादीत् यदवादीत्तदाहेमां वाचं वेदविदो वदन्ति प्रति-पादयन्ति यथा न भवति जायते असुतानामविद्यमानपुत्राणां लोकः तं विना पिण्डप्रदानाद्यभावे गत्याद्यभावात् तथा वेदयचः अतपत्यस्य लोका न सन्ति तथाऽन्यैरप्युक्तं '' पुत्रेण जायते लोक '' इत्येषा वैदिकी श्रुतिः। ''अथ पुत्रस्य पुत्रेण, स्वर्गलोके महीयते '' तथा '' अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नेव च। गृहिधर्म्ममनुष्ठाय,तेन स्वर्गे गमिष्यति '' यत एवं तस्मादधीत्य पठित्वा वेदानृग्वेदादीन् परिवेश्य भोजयित्वा विप्रान् ब्राह्मणान् तथा पुत्रान् प्रतिष्ठाप्य कलाकलत्रग्रहणादिना गृहस्थधर्म्मे निवेश्य कीदृशः पुत्रान् गृहे जातान्न तु गृहीतप्रतिपत्रकादीत्पाठान्तरे च पुत्रान्परिष्ठाप्य स्वामित्वे निवे-श्य गृहे (जायत्ति) गृहे जातौ पुत्रौ भुक्त्या णमिति वाक्यालङ्कारे भोगान् शब्दादीन् सह स्त्रीभिनीरीभिस्ततोऽरण्ये भवौ आरण्यौ '' आरण्याण्णो वक्तव्य इति ण प्रत्ययः '' आरण्यावेवा-रण्यकावा-रण्यकव्रतधारिणौ (होहित्ति) भवतः संपद्येथां युवां मुनी तपस्विनौ प्रशस्तौ श्लाघ्यावित्थमेव ब्रह्मचर्याद्याश्रमव्यवस्थानादुक्तं हि '' ब्र-ह्मचारी गृहस्थश्च, वाणप्रस्था यतिस्तथेति '' इह चाधीत्य वेदानि-त्यनेन ब्रह्मचर्याश्रम उक्तः परिवेश्येत्यादिना च गृहाश्रम आरण्यका-वित्यनेन च वाणप्रस्थाश्रमः मुनिग्रहणेन च यत्याश्रम इति सूत्र-द्वयार्थः।

इत्थं तेनोक्तौ कुमारकौ यदकार्ष्टां तदाह ॥

सो अग्गिणा आयगुणिंधणेणं, मोहानिला पज्जलणाहिएणं।
संतत्तभावं परितप्पमाणं, लोलुप्पमाणं बहुहा बहुं च ॥१०॥
पुरोहियं तक्कमसो णुणंतं,णिमंतयंतं च सुए धणेणं।
जहक्कमं कामगुणेसू चेव, कुमारगा ते पसमिक्ख चक्कं ॥ ११ ॥
वेया अहाया ण हवंति ताणं,
भुत्तादिया णिंति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता ण भवंति ताणं,
को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥ १२ ॥
खणमत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा,
पकामदुक्खा आणकामपोक्खा।
संसारमोक्खस्स विवक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥ १३ ॥
परिव्वयंते अणियत्तकामे, अहो य राओ परितप्पमाणे।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे, पप्पेति मच्चुं पुरिसो जरं च ॥१४ ॥
इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लोलुप्पमाणे, हरा हरति त्ति कहं पमाए ॥ १५ ॥

सुतवियोगसंभावनाजनितं मनोदुःखमिह शोकः स चाग्निरिव शोकाग्निस्तेन आत्मनो गुणा आत्मगुणाः कर्म्मक्षयोपशमादिस-मुद्भूताः सम्यग्दर्शनादयस्ते इन्धनं दाह्यतया यस्य स तथा त्नादि कालसहचरितत्वेन रागादयो वात्मगुणास्ते इन्धनमुद्दीपकतया यस्य स तथा तेन। मोहो मूढता अज्ञानामति यावत् सोऽनिल इव मोहानिलस्तस्याधिकं महानगरदाहादिभ्योऽप्यनर्गल प्रज्वलनं प्रकर्षेण दीपनमस्येति अधिकप्रज्वलनो यद्वा प्रज्वलने-

नाविक इतराग्न्यपेक्षया यस्तेन पूर्व्वत्र प्राकृतत्वादाधिकशब्दस्य परनिपातस्तथा समिति समन्तात्तप्त इव तप्तोऽनिर्वृत्तत्वेन भावोऽन्तः करणमस्येति सन्तप्तभावस्तमत एव च परितप्यमानं समन्ताद्दह्यमानमर्थाच्छरीरे तद्वाहस्यापि शोकावेशत उत्पत्तेर्लोलुप्यमानं तद्वियोगशङ्कावशोत्पन्नदुःखपरशुभिरतिशयेन हृदि छिद्यमानम्। वृद्धास्तु व्याचक्षते (लोलुप्पमाणंति) लोलुप्यमानं '' भरणपोसणकुलसंताणसु य तुब्भ भविस्सहत्ति '' बहुधा अनेकप्रकारं बहु च प्रभूतं यथा भवत्येवं लोलुप्यमानं वेति संबन्धः। पुरोहितं पुरो वसन्तमिति प्रक्रान्तं (कमसोत्ति) क्रमेण परिपाट्या तु नयन्तः स्वाभिप्रायेण प्रज्ञापयन्तं निमन्त्रयन्तं च भोगैरुपच्छन्दयन्तं सुतौ पुत्रौ धनेन द्रव्येण यथाक्रमं क्रमानतिक्रमेण कामगुणैरभिलषणीयशब्दादिविषयैः पाठान्तरतः कामगुणेषु वा चः समुच्चये एवेति पूरणे कुमारकौ तावनन्तरप्रक्रान्तौ प्रसमीक्ष्य प्रकर्षेण ज्ञानाच्छादितमतिमालोच्य वाक्यं वक्ष्यमाणमुक्तवन्ताविति गम्यते। किं तदित्याह। वेदा ऋग्वेदादयोऽधीताः पठिता न भवन्ति जायन्ते त्राणं शरणं तदध्ययनमात्रतो दुर्गतिपतनरक्षणासिद्धेः। उक्तं हि तैरपि '' अकारणमधीयानो, ब्राह्मणस्तु युधिष्ठिर! दुष्कलेनाप्यधीयन्ते, शीलं तु मम रोचते '' तथा '' शिल्पमध्ययनं नाम, वृत्तं ब्राह्मणलक्षणम्। वृत्तस्थं ब्राह्मणं प्राहुर्नेतरान् वेदजीवकान् '' तथा (भुज्जुत्ति) अन्तर्भावितण्यर्थत्वाद्भोजिता द्विजा ब्राह्मणा नयन्ति प्रापयन्ति तमो रूपत्वात्तमो नरकस्तमसा ज्ञानेन यद्वा तमसोऽपि यत्तमस्तस्मिन्न-तिरौद्ररौरवादिनरके णमिति वाक्यालङ्कारे ते हि भोजिता कुमार्ग- प्ररूपणपशुवधादावेव कर्मोपचयनिबन्धने असद्व्यापारे प्रवर्तन्त इति तत्प्रवर्तनतस्तद्भोजनस्य नरकगतिहेतुत्वमेवानेन च तेषां निस्तारकत्वं दूरापास्तमित्यर्थादुक्तम्। तथा जाताश्चोत्पन्ना पुत्राः सुता न भवन्ति त्राणं शरणं नरकादिकुगतौ निपततामिति गम्यते। उक्तं हि तन्मतानुसारिभिरपि '' यदि पुत्राद्भवेत्स्वर्गो, दानधर्मो न विद्यते। मुषितस्तत्र लोकोऽयं, दानधर्मो, निरर्थकः। बहुपुत्रा दुली गोधा, ताम्रचूडस्तथैव च। तेषां च प्रथमं स्वर्गः, पश्चाल्लोको गमिष्यति '' यतश्चैवं ततः को नाम न कश्चित्संभाव्यते यस्ते तव अनुमन्येत शोभनमिदमित्यनुजानीयात्स विवेक इति गम्यते। एतदनन्तरमुक्तं वेदाध्ययनादित्रितयमिति भुक्त्वा भोगानिति चतुर्थोपदेशप्रतिवचनमाह। क्षणमात्रं सौख्यं येषु ते तथा बहुकालं नरकादिषु दुःखं शारीरं मानसं च येभ्यस्ते तथा विधाः कदाचित् स्वल्पकालमपि सुखमतिशायि स्यात् दुःखं त्वन्यथेति स्वप्नकालमपि तद्बहुकालभाविनोऽपि दुःखस्योपहन्तृ स्यादत आह। प्रकाममतिशयेन दुःखं येभ्यस्त तथा अनिकामसौख्या अपकृष्टसुखाः। ई-दृशेऽप्यायतौ शुभफलाः स्युरत आह। संसारमोक्षौ विश्लेषः संसारमोक्षो निर्वृतिरित्यर्थः तस्य विपक्षभूतास्तत्प्रतिबन्धकतयाऽत्यन्तप्रतिकूलाः किमित्येवंविधास्त इत्याह। खनिरिव खनिराकरोऽनर्थानामिहपरलोक दुःखावाप्तिरूपाणां तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च ततः खनिरेवक एवंविधाः कामभोगा उक्तरूपाः। अनर्थखनित्वमेव स्पष्टयितुमाह। परिव्रजन् विषयसुखलाभार्थमितस्ततो भ्राम्यन् न निवृत्तकामोऽनुपरतेच्छः सन् (अहो य रायत्ति) आर्षत्वाच्चस्य च भिन्नक्रमत्वादहि रात्रौ च अहर्निशमिति यावत् परितप्यमानस्तत्तदवाप्तौ समन्ताच्चिन्ताग्निना दह्यमानः अन्ये सुहृतः स्वजनादयोऽथवाऽन्नं भोजनं तदर्थं प्रमत्तस्तत्कृत्यसक्तवता अन्यप्रमत्तः अन्नप्रमत्तो वा धनं वित्तम् (एसमाणि त्ति) एषयन् विविधोपायैर्गवेषयमाणः (पप्पोतित्ति) प्राप्नोति मृत्युं प्राणत्यागं कोऽसौ पुरुषो जरां च वयोहानिलक्षणां किं च इदं च मे मम अस्ति रजतरूप्यादि इदं च नास्ति पद्मारागादि इदं च मे मम कृत्यं कर्त्तव्यं गृहप्राकारादि इदमकृत्यं प्रारब्धमपि वणिजादिना न कर्तुमुचितं तमिति पुरुषमेवमेव वृथैव लोलुप्यमानमत्यर्थं व्यक्तवाचा वदन्ति हरन्त्यपनयन्ति आयुरिति हरादिरजन्यादयो व्याधिविशेषा वा हरन्ति जन्मान्तरं नयन्ति उपसंहर्तुमाह। इतीत्यस्माद्धेतोः कथं केन प्रकारेण प्रमादो उद्यमः प्रक्रमाद्धर्म्मे कर्तुमुचित इति शेष इति सूत्रषट्कार्थः।

संप्रति तौ धनादिर्लोभयितुं पुरोहितः प्राह।

धणं पभूयं सह इत्थियाहिं, सयणा तहा कामगुणा पकामा।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो, तं सव्वसाहीणमिहेव तुब्भं॥१६॥

धनं द्रव्यं प्रभूतं प्रचुरं सह स्त्रीभिः समं नारीभिः स्वजनाः पितृपितृव्यादयः तथा कामगुणाः शब्दादयः (पगामत्ति) प्रकामा अतिशायिनस्तपः कष्टानुष्ठानं कृते निमित्तं तप्यते अनुतिष्ठति यस्य धनादेर्लोको जनस्तत्सर्वमशेषं स्वाधीनमात्मायत्तमिहैवास्मिन्नेव गृहे (तुब्भत्ति) सूत्रत्वाद्युवयोर्यद्यपि तयोः स्त्रियस्तदा न सन्ति तथाऽपि तदवाप्तियोग्यताऽस्तीति तासामभिधानमिति सूत्रार्थः।

तत्र हेतुः।

धणेण किं धम्मधुराहिगारे,
सयणेहिं वा कामगुणेहि चेव।
समणा भविस्साम गुणोघधारी,
बहे विहारो अभिगम्म भिक्खू॥ १७॥

धनेन द्रव्येण किं न किञ्चिदपीत्यर्थः। धर्म्म एवातिसात्विकैरुह्यमानतया धूरिव धूधर्म्मधुरा तदधिकारे तत्प्रस्तावे स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव तथा च वेदेऽप्युक्तम्। '' न प्रजया न धनेन न त्यागेनैके नामृतत्वमानसु '' रित्यादि ततः श्रमणौ तपस्विनौ भविष्यावो गुणौघं सम्यग्दर्शनादिगुणसमूहं धारयतः इत्येवं शीलौ गुणौघधारिणौ बहिर्ग्रामनगरादिभ्यो बहिर्वर्तित्वाद् द्रव्यतो भावतश्च क्वचिदप्यप्रतिबद्धत्वात् विहारो विहरणं ययोस्तौ बहिर्विहारावप्रतिबद्धविहारौ इति यावत् अभिगम्याश्रित्य भिक्षांशुद्धोद्गतामेवाहारयन्ताविति भाव इति सूत्रार्थः। आत्माऽस्तित्वमूलत्वात्सकलधर्म्मानुष्ठानस्येति तन्निराकरणायाह पुरोहितः।

जहा य अग्गी अरणी यसंतो, खीरे घयंतिल्लमहातिलेसु।
एमेव जाया सरीरम्मि सत्ता, समुच्छई णासइ णावचिट्ठे॥ १८॥

यथेत्यौषम्ये चशब्दोऽवधारणे यथैवाग्निर्वैश्वानरो (अरणीति) अरणितोऽग्निमन्थनकाष्ठादसन्नविद्यमान एव संमूर्च्छति तथा क्षीरे घृतं तैलमथ तिलेषु एवमेव हे जातौ पुत्रौ (सरीरम्मित्ति) शरीरे काये सत्वाः प्राणिनः (संमुच्छइत्ति) समूर्च्छयन्ति पूर्वमसत एव शरीराकारपरिणतभूतसमुदायत उत्पद्यन्ते तथा चाहुः पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि एतेभ्यश्चैतन्यं मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिवत् तथा (णासइत्ति) नश्यन्त्यभ्रपटलवत्प्रलय मुपयान्ति (नावचिट्ठित्ति) न पुनरवतिष्ठन्ते शरीरनाशे सति क्षणमप्यवस्थितिभाजो भवन्ति। यद्वा शरीरे सत्यप्यमी सत्वा न सन्ति नावतिष्ठन्ते जलबुदबुदवज्जीवः अत्र च प्रत्यक्षतोऽनुपलम्भ एव प्रमाणं न ह्यसौ शरीरे शरीरव्यतिरिक्तो वा भवान्तर-

ग्राह्यौ प्रत्यक्षत उपलभ्यत इति नास्ति शशिविषाणवदिति भाव इति सूत्रार्थः। कुमारकावाहतुः।

णोइंदियग्गिज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावो वि य होइ निच्चो।
अब्भत्थहेउं नियतस्स बंधो,
संसारहेउं च वयंति बंधं॥ १६॥

नो इति निषेधे इन्द्रियैः श्रोत्रादिभिर्ग्राह्यः सत्व इति प्रक्रमात्सत्वादयमिन्द्रियग्राह्य इत्याशङ्क्याह। अमूर्तभावादिन्द्रियग्राह्यरूपाद्यभावात् अयमाशयः यदिन्द्रियग्राह्यं सन्नोपलभ्यते तदसदिति निश्चीयते यथा प्रदेशविशेषे घटो यत्तु तद्ग्राह्यमेव न भवति न तस्यानुपलम्भेऽप्यभावनिश्चयः पिशाचादिवत्तद्विषयानुपलम्भस्य संशयहेतुत्वात्। न च साधकप्रमाणाभावात्संशयविषयतैवास्त्विति वाच्यं तत्साधकस्यानुमानस्य सद्भावात् तथा ह्यस्त्यात्मा अहं पश्यामि जिघ्रामीत्याद्यनुगत्य प्रत्ययान्यथानुपपत्तेरात्मा भावे हीन्द्रियाण्येव दृष्टानि स्युस्तेषु च परस्परं भिन्नेष्वहं पश्यामि जिघ्रामी-त्यादिरनुगतोऽहमिति प्रत्ययोऽनेकेष्विव प्रतिपन्नेषु न स्यात्। उक्तं हि। '' अहं शृणोमि पश्यामि, जिघ्राम्यास्वादयामि च। चेतयाम्यध्यवस्यामि, बुध्यामीत्येवमस्ति सः ''॥ १॥ *वृद्धास्तु व्याचक्षते अमूर्तत्वान्नोइन्द्रियग्राह्यो* नो इन्द्रियं च मनो मनसश्चात्मैवातः स्वप्रत्यक्ष एवायमात्मा कस्मादुच्यते त्रैकाल्यकार्यव्यपदेशत्वात्तद्यथा॥ कृतवानहं करोम्यहं करिष्याम्यहम्, उक्तवानहं ब्रवीम्यहं वक्ष्याम्यहं, ज्ञातवानहं जानेऽज्ञास्येऽहमिति। योऽयं त्रिकालकार्यव्यपदेशहेतुरहं प्रत्ययो नायमानुमानिको न चागमिकः किं तर्हि प्रत्यक्षकृत एवमने नैव आत्मानं प्रतिपद्यस्व नायमनात्मके घटादावुपलभ्यत इति। तथा अमूर्तभावादपि च भवति नित्यः तथा हि यद्द्रव्यत्व सत्यमूर्तं तन्नित्यं यथा व्योम अमूर्तश्चायं द्रव्यत्वे सत्यनेन विनाशानवस्थाने प्रत्युक्तो न चैवममूर्तत्वादेव तस्य बन्धासंभवे वा सर्व्वस्य सर्वदा तत्प्रसङ्ग इति वाच्यं यतः '' अज्झप्पहेउं नियतस्स बंधे '' अध्यात्मशब्देन आत्मस्था मिथ्यात्वादय इहोच्यन्ते ततस्तद्धेतुस्तन्निमित्तः परस्थहेतुकृतत्वेऽतिप्रसङ्गादिदोषसंभवान्नियतो निश्चिता न संदिग्धो जगद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्तेरस्य जन्तोर्बन्धः कर्मभिः संश्लेषो यथा ह्यमूर्तस्यापि व्योम्नो मूर्तैरपि घटादिभिः संबन्ध एवम-स्याप्यमूर्तस्यापि मूर्तैरपि कर्मभिरसौ न विरुध्यते। तथा चाह ''अरूपं हि यथाकाशं, रूपद्रव्यादिभाजनम्'' तथा रूपी जीवोऽपि कर्म्मादिभाजनमिति मिथ्यात्वादिहेतुत्वाच्च न सर्व्वदा तत्प्रसङ्ग इत्यदोषः। एवं हि येषामेव मिथ्यात्वादितद्धेतुसंभवस्तेषामेवासौ न तु तद्विरहितानां सिद्धानामपि। तथा संसारश्चतुर्गतिपर्यटनरूपस्तद्धेतुं च तत्कारणं वदन्ति बन्धं कर्म्मबन्धनम्। एतेतामूर्तत्वाद् व्योम्न इव निष्क्रियत्वमपि निराकृतमिति सूत्रार्थः। यत एवमस्त्यात्मा नित्योऽत एव च भवान्तरयायो तस्य च बन्धो बन्धादेव मोक्ष इत्यतः।

जहा वयं धम्ममयाणमाणा, पावं पुरा कम्ममकासि माहा।
ओरुज्झमाणा परिरक्खयंता, तं नेव भुज्जो वि समायरामो॥

यथा येन प्रकारेण वयं धर्म्मं सम्यग्दर्शनादिकमजानाना अनुबुध्यमाना पापं पापहेतुं पुरा पूर्व्वं कर्म्म क्रियाम् (अकासित्ति) अकार्ष्म कृतवन्तो मोहात्तत्वानवबोधात् अवरुध्यमाना गृहान्निर्गममलभमानाः परिरक्षमाणा अनुजीविभिरनुपाल्यमानाः (तदिति) पापकर्म (नेवत्ति) नैव भूयोऽपि पुनरपि समाचरामोऽनुतिष्ठामो यतः संप्रत्युपलब्धमेवास्माभिर्वस्तुतत्वमिति भावः। सर्व्वत्र च। अस्मदोद्वयोश्च १। २। ५९। इति द्वित्वेऽपि बहुवचनमिति सूत्रार्थः॥

अब्भाहयम्मि लोगम्मि, सव्वओ परियारिए।
अमोहाहिं पडंतीहिं, गिहंसि न रइं लभे॥ २१॥

अभ्याहते आभिमुख्येन पीडिते लोके जने सर्व्वतः सर्व्वासु दिक्षु परिवारिते परिवेष्टितेऽमोघाभिरबन्ध्यप्रहरणोपमाभिः पतन्तीभिरागच्छन्तीभिः (गिहंसित्ति) गृहं तस्य चोपलक्षणत्वात् गृहवासे न रतिमाशक्तिं लभामि लभावहे। यथा हि वागुरया वरिवेष्टितो मृगोऽमोघैश्च प्रहरणैर्व्याधेनाभ्याहतो न रतिं लभते एवमावामपीति सूत्रार्थः।

भृगुराह।

केण अब्भाहतो लोगो, केण वा परियारिओ।
को वा अमोहो वुत्ता, जाया चिंतावरो हुमि॥ २२॥

केन व्याधतुल्येनाभ्याहतो लोकः केन वा वागुरास्थानीयेन परिवारितः का वा अमोघा अमोघप्रहरणोपमा अभ्याहतिः क्रियां प्रति करणतयोक्ता जातौ! पुत्रौ! चिन्तापरे (हुमिति) भवामि ततो ममावेद्यतामयमर्थ इति *भाव इति सूत्रार्थः।*

तावाहतुः

मच्चुणाब्भाहतो लोगो, जराए परियारिओ।
अमोहा रयणी वोत्ता, एवं ताव विजाणह॥ २३॥

मृत्युनावृतान्तेनाभ्याहतो लोकस्तस्य सर्व्वत्राप्रतिहतप्रसरत्वात्वात् जरया परिवारितः तस्या एव तदभिघातयोग्यतापादनपटीयस्त्वात् (अमोघारयणित्ति) रजन्य उक्ता दिवसाविनाभावित्वात् तासां दिवसाश्च तत्पतने ह्यवश्यंभावी जनस्याभिघातः एवं तात! विजानीतावगच्छतेति सूत्रार्थः। किं च।

जा जा वच्चइ रयणी, ण सा पडि नियत्तई।
अधम्मं कुणमाणस्स, अफला होंति राइओ॥ २४॥
जा जा वच्चइ रयणी, ण सा पडिणियत्तइ।
धम्म च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ॥ २५॥

या या (वच्चइत्ति) व्रजति रजनी रात्रिरुपलक्षणत्वाद्दिनं च न सा प्रतिनिवर्तते पुनरागच्छति तदागमने हि सर्वदा सैवैका जन्मरात्रिः स्यात्ततो न द्वितीया मरणरात्रिः कदाचित्प्रादुःस्यात्तश्चधर्म्मं कुर्व्वतो जन्तोरिति गम्यते अपला सन्ति रात्रयोऽधर्म्मे निबन्धनं च गृहस्थतेत्यायुषोऽनित्यत्वादधर्मकरणे तस्य निष्फलत्वात्तत्परित्याग एव श्रेयानिति भावः। इत्थं व्यतिरेकद्वारेण प्रव्रज्याप्रतिपत्तिहेतुत्वमभिधाय तमेवान्वयमुखेनाह। (जाजेत्यादि) पूर्ववत नवरं (धम्मं चत्ति) चशब्दः पुनरर्थे धर्म्मं पुनः कुर्व्वत सफला धर्म्मलक्षणफलो-पार्जनतो न च व्रतप्रतिपत्तिं विना धर्म्म इत्यतो व्रतं प्रतिपत्स्यावहि इत्यभिप्राय इति सूत्रद्वयार्थः।

इत्थं कुमारवचनादाविर्भूतसम्यक्त्वस्तद्वचनमेव पुरस्कुर्वन् भृगुराह॥

एगओ संवसित्ताणं, दुहओ सम्मत्तसंजुया।
पच्छा जाया गमिस्सामो, भिक्खमाणा कुले कुले॥ २६॥

एकत एकस्मिन् स्थाने सङ्गत्य सहैवोसित्वा (दुहउत्ति) द्वय

च द्वयं च द्वये आवां युवां च व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनं पुरुषप्राधान्याच्च पुँल्लिङ्गता सम्यक्त्वेन संयुताः सहिता उपलक्षणत्वाद्देशविरत्या च पश्चाद्यौवनावस्थोत्तरकालं कोऽर्थः पश्चिमे वयसि जातौ ! पुत्रौ ! गमिष्यामो व्रजिष्यामो वयं ग्रामनगरादिषु मासकल्पेन क्रमेणेति शेषोऽर्थाच्च प्रव्रज्यां प्रतिपद्य भिक्षमाणा याचमानाः पिण्डादिकमिति गम्यते क्व कुले कुले गृहे गृहे न त्वेकस्मिन्नेव वेश्मनि। किमुक्तं भवत्यज्ञातोञ्छवृत्त्येति सूत्रार्थः।

कुमारावाहतुः।

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं।
जो जाणइ न मरिस्सामि, सो तु कंखे सुए सिया॥ २७॥
अज्जे व धम्मं पडिवज्जयामो,
जहिं पवन्ना ण पुणब्भमकमो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि,
सद्धाखमं नो विणइत्तु रागं॥ २८॥

यस्येत्यतिनिर्दिष्टस्वरूपस्यास्ति विद्यते मृत्युना कृतान्तेन सख्यं मित्रत्वं, यस्य चास्ति पलायनं मृत्योरिति प्रक्रमः। तथा यो (जा-णत्ति) जानीते यथाऽहं न मरिष्यामि (सो हु कंखेसुएसियत्ति) स एव काङ्क्षति प्रार्थयते स्व आगामिनि दिने स्यादिदमिति गम्यते न च कस्यचित् मृत्युना सह सख्यं ततो वा पलायनं तदभावज्ञानं वा अतोऽद्यैव धर्मं प्रक्रमाद्याति धर्म्मं (पडिवज्जयामोत्ति) प्रतिपद्यामहे। तमेव फलोपदर्शनद्वारेण विशिनष्टि (जहेत्ति) आर्षत्वाद्यं धर्म्मं प्रपन्ना आश्रिताः (न पुणब्भवामोत्ति) न पुनर्भविष्यामो न पुनर्जन्मानुभविष्यामस्तन्निबन्धनभूतकर्मापगमाज्जरामरणाद्यभावोपलक्षणं चैतत्कथमनागतमप्राप्तनैव चास्ति किंञ्चिदतिमनोरममपि विषयसौख्याद्यनादौ संसारे सर्वस्य प्राप्तपूर्वत्वात्ततो न तदर्थमपि गृहावस्थानं युक्तमिति भावः। यद्वाऽनागतमागतिविरहितं नैव चास्ति किंचित् किं तु सर्वमागतिमदेव जरामरणादिव्यसनजातं ध्रुवं भावित्वादस्य ध्रुवस्थानम्। यद्वा अनागतं यत्र मृत्योरागतिर्नास्ति तन्न किंचित् स्थानमस्ति यतश्चैवमतः श्रद्धाऽभिलाषः क्षमंयुक्तमिह लोकपरलोकयोः श्रेयःप्राप्तिनिमित्तमनुष्ठानं कर्तुमिति शेषः (णो-इति) नो अस्माकं विनयोपसाहाय्यकं रागं स्वजनाभिष्वङ्गलक्षणं तत्त्वतो हि कः कस्य स्वजनो न वा स्वजन इति। उक्तं च। '' अयणं भंते जीवस्स सामाइत्ताए धूयत्ताए सुण्हत्ताए भज्जत्ताए स हि सयण-संबंधसंवुयत्ताए उववन्नपुव्वे हंता गोयमा ! असति अदुवा अणंतखुत्तोत्ति '' सूत्रद्वयार्थः। ततस्तयोर्वचनमाकर्ण्य पुरोहित उत्पन्नव्रत-ग्रहणपरिणामो ब्राह्मणीं धर्म्मविघ्नकारिणीं मत्वेदमाह॥

पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो,
वासिट्ठि भिक्खायरियाए कालो।
साहाहि रुक्खो लभई समाहिं,
छिण्णाहि साहाहिं तमेव खाणुं॥ २९॥
पंखाविहिणा व्व जहेव पक्खी,
भिच्चविहीणो व्व रणे नरिंदो।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोते,
पहीणपुत्तो मिह तहा अहं पि॥ ३०॥

प्रहीणौ प्रभृष्टौ पुत्रौ यस्मात्स प्रहीणपुत्रः। अथवा प्राकृते पूर्वापर निपातस्यातन्त्रत्वात्पुत्राभ्यां प्रहीणस्त्यक्तः पुत्रप्रहीणस्तस्य हः पूरणे नास्ति न विद्यते वासोऽवस्थानं मम गृह इति गम्यते वाशिष्ठे ! वशिष्ठगोत्रोद्भवे ! गौरवख्यापनार्थं गोत्राभिधानं तच्च कथं नु नाम धर्माभिमुख्यमस्याः स्यादिति भिक्षाचर्यायां भिक्षाटनस्योपलक्षणं चैतद्व्रतग्रहणस्य कालः प्रस्तावो वर्तत इति शेषः। किमित्येवमत आह। शाखाभिः प्रतीताभिर्वृक्षो द्रुमो लभते प्राप्नोति समाधिं स्वास्थ्यं छिन्नाभिर्द्विधाकृताभिः शाखाभिस्तमेव वृक्षं यस्ताभिः समाधिमवान्नवान् (खाणुं ति) स्थाणुं जनो व्यपदिशतीति उपस्कारः। यथा हि तास्तस्य शोभासंरक्षणसहायकृत्यकरणादिना समाधिहेतव एवं ममाप्येतौ सुतावतस्तद्विरहितोऽहमपि स्थाणुकल्प एवेति किं ममैवंविधस्य स्वपरयोः किंञ्चिदुपकारकमनवसृतमेव गृहवासेनेत्यभिप्रायः। किं च पक्षाभ्यां पतत्राभ्यां विहीनो विरहितः पक्षविहीनो वा दृष्टान्तान्तरसमुच्चये यथेहास्मिन् लोके पक्षी विहङ्गमः पलायितुमप्यशक्त इति मार्जारादिभिरभिभूयते यथा भृत्याः पदातयस्तद्विहीनो वा प्राग्वद्रणे संग्रामे नरेन्द्रो राजा शत्रुजनपराजयस्थानमेव जायते यथा विपन्नो विनष्टसारो हिरण्यरत्नादिरस्येति विपन्नसारो वणिक् सांयात्रिको वेति प्राग्वत् पोते प्रवहणे भिन्ने इति गम्यते नार्वाग् न च परत इत्युदधिमध्यवर्ती विपीदति पुत्रप्रहीणोऽस्मि तथा अहमपि कोऽर्थः पक्षभृत्यार्थसहायभूताभ्यां विरहितोऽहमप्येवंविध एवेति सूत्रद्वयार्थः॥

वाशिष्ठ्याह।

सुसंहिता कामगुणा इमीते, संपिंडया अग्गरसा पभूया।
भुंजामुता कामगुणे पकामं, पच्छा गमिस्सामो पहाए मग्गं॥

सुष्ठवतिशयेन संभृताः संस्कृताः सुसंभृताः के ते कामगुणा वेणुवीणाकलितकाकलीगीतादय इमे इति स्वगृहवर्तिनस्तान्प्रत्यक्षतया निर्दिशति ते तत्र तथा संपिण्डिताः सम्यक् पुञ्जीकृताः (अगरसत्ति) चशब्दस्य गम्यमानत्वात् अग्रा रसाश्च प्रधाना मधुरादयश्च प्रभूताः प्रचुराः कामगुणान्तर्गतात्वेऽपि रसनापृथगुपादानमतिगृद्धिहेतुत्वाच्छब्दादिष्वपि चैषामेव प्रवर्तकत्वात्। कामगुणविशेषणं वा अग्रा रसास्त एव शृङ्गारादयो वा येषु त तथा। वृद्धास्त्वाहुः रसानां सुखानामग्रं रसाग्रं ये कामगुणाः सूत्रे च प्राकृतत्वादग्रशब्दस्य पूर्वनिपातः (भोजामोत्ति) भुञ्जीमहि तत्तस्माद्यस्मादमी सुसंभृतादि विशेषणविशिष्टा स्वाधीनाः सन्ति कामगुणानुत्तरूपान् प्रकाममतिशयेन ततो भुक्तभोगौ पश्चादिति वृद्धावस्थायां गमिष्यावः प्रतिपत्स्यावहे प्रधानमार्गमहापुरुषसेवितं प्रव्रज्यारूपं मुक्तिपथमिति सूत्रार्थः।

पुरोहितः प्राह।

भुत्ता रसा भोइ जहाति णेवओ,
ण जीवियट्ठा पयहामि भोए।
लाभं अलाभं च सुहं च दोक्खं,
संचिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं॥

भुक्ताः सेविता रसा मधुरादय उपलक्षणत्वाच्छेषकामगुणाश्च यद्वा रसा इह सामान्येनैवास्वाद्यमानत्वादभोगा भण्यन्ते। (भोइत्ति) हे भवति ! आमन्त्रणवचनमेतत् जहाति त्यजति न इत्यस्मान् वयः शरीरावस्था कालकृतोच्यते सा चेहाभिमतक्रियाकरणक्षमा गृह्यते ततश्च यद्भुक्ता एवानेकशो भोगा वयश्चाभिमतक्रियाकरणकुमं जहाति उपलक्षणत्याज्जीवितं च

ततो यावन्नैतत्त्यजति तावद्दीक्षां प्रतिपद्यामहे इत्यभिप्रायस्तत् किं वयःस्थैर्याद्यर्थं दीक्षां प्रतिपद्यसे उच्यते कैश्चिद्दीक्षा वयःस्थैर्यादिविधायिनीत्याशङ्क्याह नेति निषेधे जीवितमसंयमजीवितमुपलक्षणत्वाद्वयश्च तदर्थं प्रजहामि प्रकर्षेणत्यजामि भोगान् शब्दान् किं तु लाभमभिमतवस्त्ववाप्तिरूपमलाभं च तदभावरूपं सुखमभिलषणीयविषयसंभोगजं चस्य भिन्नक्रमत्वात् दुःखं च वाधाऽऽत्मकं (संचिक्खमाणोत्ति) समतया ईक्षमाण पश्यन् किमुक्तं भवति लोभालोभयोस्तथा सुखदुःखयोरुपलक्षणत्वाज्जीवितमरणादीनां च समतामेव भावयंश्चरिष्याम्यासेविष्ये किं तत् मौनं मुनिभावं ततो मुक्त्यर्थमेव मम दीक्षाप्रतिपत्तिरिति भाव इति सूत्रार्थः। वासिष्ठ-याह।

मा हू तुमे सोयरियाण संहरे,
जिण्णो व हंसो पडिसोयगामी।
भुंजाहि भोगाईं मए समाणं,
दुक्खं खु भिक्खाचरियाविहारो॥ ३३॥

मा इति निषेधे हुरिति वाक्यालंकारे त्वं सोदरे शयिताः सोदर्याः सोदराद्य इति यः प्रत्ययः ते च समानकुक्षिभवा भ्रातरस्तेषामुपलक्षणत्वाच्छेषस्वजनानां भोगानां च (संभरित्ति) अस्मार्षीः क इव (जिण्णो व हंसोत्ति) इव शब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् जीर्णो वयोहानिमुपगतो हंस इव प्रधानपक्षीव प्रतिकूलः श्रोतः प्रतिश्रोतस्तद्गामी सन् किमुक्तं भवति यथाऽसौ नदीश्रोतस्यतिकष्टं प्रतिकूलगमनमारभ्यापि तत्राशक्तः पुनरनुश्रोत एवानुधावत्येवं भवानपि दुस्तरं संयमभारं वोढुमसमर्थः पुनः सहोदरान् सह भोगान् वा स्मरिष्यति तदिदमेवास्तु भुङ्क्ष्व भोगान्मया (समाणंति) सुखदुःखहेतु (खु इति) खलु निश्चितं भिक्षाचर्या भिक्षाटनं विहारो ग्रामादिष्वप्रतिब- द्धविहारो दीक्षोपलक्षणं चैतदिति सूत्रार्थः।

पुरोहित आह।

जहा य भोई तणुयं भुजंगे, निम्मोयणं हेव्व पलेइ मुत्तो।
एमेय जाया पयहंति भोए, तेहं कहं नाणुगमिस्सएगो॥ ३४॥
छिंदित्तु जालं अवलंवरोहिया, मच्छा जहा कामगुणो पहाय।
धीरेय मीला तवसा उदारा,धीरा हु भिक्खायदियं चरंति॥ ३५॥

यथा च हेभवति ! पठ्यते त्ताहे भोगेति तनुःशरीरं तत्र जातां तनुजां भुजगंमः सर्पो निर्मोचनीये निर्मोकं हित्वा पर्येति समन्ताद्गच्छति मुक्त इति निरपेक्षोनाभिष्वक्त इत्यर्थः (समेतित्ति) एवमेतौ पठ्यते च (इमेतित्ति) अत्र च तथेति गम्यते तत्तथेमौ ते तव जातौ पुत्रौ प्रजहीतः प्रकर्षेण त्यजतो भोगान् ततः किमित्याह तौ भोगांस्त्यजन्तौ जातौ अहं कथम् नानुगमिष्यामि प्रव्रज्याग्रहणेनानुसरिष्याम्येको द्वितीयो यदि तावदनयोः कुमारकयोरपीयात् विवेको यन्निर्मोकवदत्यन्तसहचरितानपि भोगान् भुजङ्गवत् त्यजतस्ततः किमिति भुक्तभोगोऽप्यहमेनान्नत्यक्षामि किं वामसहायस्य गृहवासेनेति भावः। तथा छित्वा द्विधा कृत्वा तीक्ष्णपुच्छादिना जालमानायमवलभिव जीर्णत्वादिना निःसारमिव वलीयोऽपीति गम्यते। रोहिता रोहितजातीया मत्स्या मीनाश्चरन्तीति संबन्धः। यथेति दृष्टान्तोपदर्शने यत्तदोश्च तित्यसंबन्धात्तथेति गम्यते ततस्तथा जा-लप्रायान् कामगुणान् प्रहाय परित्यज्य धुरि वहन्ति धौरेयास्तेषा-मिव शीलमुत्क्षिप्तभारवाहितालक्षणः स्वभावो येषां ते धौरेयशी-लास्तपसाऽनशनादिनोदाराः प्रधाना धीराः सत्ववन्त हुरिति य-स्माद्भिक्षाचर्यां चरन्त्यासेवन्ते व्रतग्रहणोपलक्षणमेतदतोऽहमपीत्थं व्रतमेव ग्रहीष्य इति भावः इति सूत्रद्वयार्थः॥

इत्थं तत्प्रतिबोधिता ब्राह्मण्याह।

तहेव कोंचा समइक्कमंता, तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा।
पलेंति पुत्ता य पई यमज्झं,तेहं कहं नाणुगमिस्सइक्का॥ ३६॥

नभसीवाकाश इव क्रौञ्चाः पक्षिविशेषाः समतिक्रामन्तस्तान् तान् देशानुल्लङ्घयन्तस्ततानि विस्तीर्णानि जालानि बन्धनविशेषरूपाण्यात्मनोऽनर्थहेतून्दलित्वा (हंसत्ति) चशब्दस्य गम्यमानत्वाद्धंसाश्च पलेंतित्ति) परियन्ति समन्ताद् गच्छन्ति पुत्रौ च सुतौ च पतिश्च भर्त्ता मम संबन्धिनो गम्यमानत्वाद्ये ते जालोपमविषयाभि-ष्वङ्गं भित्वा नमः कल्पे निरुपलोपतया संयमाध्वनि तानि संयमस्थानान्यतिक्रामन्तस्तानहं कथं नानुगमिष्याम्येका सतो किं त्व-नुगमिष्याम्येव। एवंविधं वचनं हि स्त्रीणां पतिः पुत्रो वा गतिरिति। यदि वा जालानि भित्त्वेति हंसानामेव संबध्यते। समतिक्रामन्तः स्वातन्त्रेण गच्छन्त इति तु क्रौञ्चोदाहरणमजातकलत्रादिबन्धनसुतापेक्षं हंसोदाहरणं तु तद्विपरीतपत्यपेक्षमिति भावनीयमिति सूत्रार्थः। इत्थं चतुर्ण्णामप्येकवाक्यतायां प्रव्रज्याप्रतिपत्तौ यद-भूत्तदाह।

पुरोहियं तं ससुयं सदारं, सोच्चाभिणिक्खंत पहाय भोगे।
कुटुंबसारं विउलुत्तमंतं, रायं अभिक्खं समुवाय देवी॥ ३७॥
वंतासी पुरिसो रायं, न सो होइ पसंसितो।
माहणेणं परिचत्तं, धणं आइउमिच्छ सि॥ ३८॥
सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नो वा ताणाइ ते तव॥ ३९॥
मरिहसि रायं जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेवयाणं, न विज्जए अन्नमिहेह किंचि॥ ४०॥

पुरोहितं पुरो वसन्तमिति च भृगुनामानं सपुत्रं पुत्रद्वयान्वितं सदारं सपत्नीकं श्रुत्वाऽऽकर्ण्य अभिनिष्क्रम्य गृहान्निर्गत्य प्रहाय प्रकर्षेण त्यक्त्वा भोगान् शब्दादीन् प्रव्रजितमिति गम्यते। कुटुम्बसारं धनधान्यादि विपुलं च विस्तीर्णतया उत्तमं च प्रधानतया विपुलोत्तमं (यदिति) यत्पुरोहितेन त्यक्तं गृह्णन्तमिति शेषः (रायं) राजानं नृपतिमभीक्ष्णं पुनः पुनः समुवाच सम्यगुक्तवती देवी कमलावती नाम तदग्रमहिषी। किमुक्तवतीत्याह वान्तमुद्गीर्णमशितुं भोक्तुं शीलमस्येति वान्ताशी पुरुषः पुमान् य इति गम्यते राजन् ! नृपते ! स न प्रसंशितः श्लाघितो विद्वद्भिरिति शेषः। स्यादेतत्कथमहं वान्ताशीत्यत आह। ब्राह्मणेन परित्यक्तं परिहृत धनं द्रव्यमादातुं ग्रहीतुमिच्छसि परिहृतं धनं हि गृहीतोज्झितत्वाद्वान्तमिव ततस्तदादातुमिच्छंस्त्वमपि वान्ताशीव न चेदमुचितं भवादृशामित्यभिप्रायः। अथवा काक्वा नीयते राजन् ! वान्ताशी यः स प्रशस्यो न भवत्यतो ब्राह्मणेन परित्यक्तं धनमादातुमिच्छसि न चैतद्भवत उचितं यतस्त्वमप्येवं वान्ताशितया अश्लाघ्य एव भविष्यसीति काकर्थः। किं च सर्वं निरवशेषं जगद् भुवनं भवेदिति संबन्धो यदीत्यस्यायमर्थो न संभवत्येवैतत्कथञ्चित्संभवे वा (तुहंति) तव सर्व्वव्यापि धनं रजतरूप्यादिद्रव्यं भवेद्यदि तवेतीहापि योज्यते तथा सर्व्वमपि ते तच्च पर्याप्तमशक्तमिच्छापरिपूर्त्ति प्रतीति शेषः।

आकाशसमत्वेन तस्या अपर्यवसितत्वात्तथा नैव त्राणाय जरामरणाद्यपनोदाय तदिति सर्व्वं जगद्धनं वा तवेति ते। इह च पुनः पुनः सर्व्वशब्दस्य युष्मदस्मदोश्चोपादानं भिन्नवाक्यत्वाद पुनरुक्तमिति भावनीयं पूर्वेण गर्हितत्वमनेन चानुपकारितां पुरोहितधनाढ्यग्रहणहेतुमादर्श्य संप्रत्यनित्यतां तद्धेतुमाह। मरिष्यसि प्राणांस्त्यक्षसि राजन्! नृप! यदा तदा वा यस्मिंस्तस्मिन्वा काले अवश्यमेव मर्त्तव्यम् '' जातस्य हि ध्रुवं मृत्यु '' रित्युक्तं हि '' कश्चित्तावत्त्वया दृष्टः, श्रुतो वा शङ्कितोऽपि वा। क्षितो वा यदि वा स्वर्गे, यो जातो न मरिष्यति '' तत्रापि च कदाचिदभिलषितवस्तु आदायैव मरिष्यामीत्यत आह। मनोरमांश्चित्ताह्लादकान् कामगुणानुत्तरूपान् प्रहाय प्रकर्षेण त्यक्त्वा त्वमेकाक्येव मरिष्यसि न किंचिदन्यत्त्वया सह यास्यतीत्यभिप्रायः। तथा एके (हुत्ति) एक एवाद्वितीय एव धर्म्मः सम्यग्दर्शनादिरूपो नरदेव! नृप! त्राणं शरणमापत्परिरक्षणाक्षमं न विद्यते नास्त्यन्यदपरमिह इहेति वेत्यभिधानं संयमस्थापनार्थं किंचिदिति स्वजनधनादिकं यदि वा इहेति लोके इहेत्यस्मिन् मृत्यौ धर्म्म एवैकस्त्राणं मुक्तिहेतुत्वेन नान्यत् किंचित्ततः स एवानुष्ठेय इति सूत्रचतुष्टयार्थः।

यतश्च धर्म्मादृते नान्यत्त्राणमतो।

नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा,
संताणछिन्ना चरिसामि मोणं।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा,
परिग्गहारंभनियत्तदोसा॥ ४१॥
दव्वग्गिणा जहा रण्णे, मज्झमाणेसु जंतुसु।
अण्णो सत्ता पमोयंति, रागद्दोससवसंगया॥ ४२॥
एवमेवं वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया।
मज्झमाणं न बुज्झामो, रागदोसग्गिणा जयं॥ ४३॥
भोगे भोच्चा वमित्ता य, लहुभूयावहा रणो।
आमोयमाणा गच्छंति, दिया कामकमा इवा॥ ४४॥
इमे य बद्धा फंदंति, मम हत्थज्झमागया।
वयं च सत्ता कामेसु, भणियायो जहा इमे॥ ४५॥
सामिसं कललं दिस्सा, वज्झमाणं निरामिवं।
आमित सव्वमुज्झिता, विहरिस्सामो निरामिसा॥ ४६॥
गिद्धावमेइ नच्चा णं, कामे सारबद्धणे।
उरउव्व सुवन्नपासे वा, संकमाणो तणु चरं॥ ४७॥
णागो व्व बंधणं छित्ता, अप्पणो वसहिं वए।
इति पच्छं महारायं, उसुयारे त्ति मे मुयं॥ ४८॥

नेति निषेधे अहमित्यात्मनिर्देशे रमे इति रतिमवाप्नोमि (पक्खिणो पंजरेवत्ति) वाशब्द औषम्ये भिन्नक्रमश्च ततः पक्षिणीव शकुनिकेव शारिकादिः पञ्जरे प्रतीत एव। किमुक्तं भवति यथाऽसौ दुःखोत्पादिनि पञ्जरे न रतिं प्राप्नोत्येवमहमपि जरामरणाद्युपद्रवविद्रुते भवपञ्जरे न रमे। अतश्छिन्नसन्ताना प्रक्रमात् विनाशितस्नेह सन्ततिः सती छिन्नशब्दस्य सूत्रे परनिपातःप्राग्वत् चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि मौनं मुनिभावम्। न विद्यमानं कश्चन द्रव्यतो हिरण्यादि भावतः कषायादिरूपमस्या इत्यकिञ्चना अत एव ऋजुमायाविरहितं कृतमनुष्ठितमस्या इति ऋजुकृता। कथं चैवंभूतेत्याह। निष्क्रान्ता आमिषाद् गृद्धिहेतोरभिलषितविषयादेर्निर्गतं या आमिषमस्या इति निरामिषा (परिग्गहारम्भनियत्तदोसेत्ति) प्राकृतत्वात् पूर्वपरनिपातोऽतन्त्रमिति परिग्रहारम्भदोषा अभिष्वङ्गनिस्त्रिंशतादयस्तेभ्यो निवृत्तोपरता परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता। यद्वा परिग्रहारम्भनिवृत्ता अत एव चादोषा विकृतिविरहिता। अनयोर्विशेषणसमासः। अपरं च दोषाग्निना दावानलेन यथाऽरण्ये वने दह्यमानेषु भस्मसात्क्रियमाणेषु जन्तुषु प्राणिष्वन्येऽपरे सत्वाः प्राणिनो विवेकिनः प्रमोदन्ति प्रकर्षेण हृष्यन्ते। किमित्येवंविधास्त इत्याह। रागद्वेषयोर्वश आयत्तता रागद्वेषवशस्तं गताः प्राप्ताः (एवमेवंति) विन्दोरलाक्षणिकत्वादेवमेवत्ति वयं मूढत्ति) मूढानि मोहवशगा निकामभोगेषूत्तरूपेषु (मुच्छियात्त) मूर्च्छितानि गृद्धानि दह्यमानमिव दह्यमानं न बुद्ध्यामहे नावगच्छामो रागद्वेषावग्निरिव रागद्वेषाग्निस्तेन किं तज्जगत्प्राणिसमूहं यो हि सविवेको रागादिमांश्च न भवति स दावानलेन दह्यमानानत्वसत्वानवलोक्याहमप्येवमनेन दहनीय इति तद्रक्षणोपा-यतत्पर एव भवति न तु प्रमादवशगः सन् प्रमोदते। यस्त्वत्यन्तमज्ञो रागादिमांश्च स आयातमचिन्तयन् हृष्यति न तु तदुपशमापाये प्रवर्तते ततो वयमपि भोगापरित्यागादेवं विधान्येवेति भावः। येत्वेवंविधा न भवन्ति ते किं कुर्व्वन्तीत्याह भोगान् मनोज्ञशब्दादीन् (भो-चेति) भुक्त्वाऽऽसेव्य पुनरुत्तरकालं वान्त्वा चापहाय विपाकदारुणत्वाल्लघुर्वायुस्तद्वद्भृते भवनमेषां लघुभूताः कोऽथो वायूपडारतथाविधाः सन्तो विहरन्तीत्येवंशीला लघुभूतविहारिणोऽप्रति-बद्ध विहारिण इत्यर्थः। यद्वा लघुभूतः संयमस्तेन विहर्तुं शीलं येषां ते तथा आसमन्तान्मोदमाना हृष्यन्त आमोदमानास्तथाविधानुष्ठाननेनेति गम्यते। गच्छति विवक्षितस्थानमिति शेषः। क इव (दियाकामकमाइवेत्ति) इवशब्दो भिन्नक्रमस्ततो द्विजा इव कमोऽभिलाषस्तेन क्रामन्तीति कामक्रमाः यथा पक्षिणः स्वेच्छया यत्र यत्रावभासन्ते तत्र तत्रमोदमाना भ्राम्यन्ते एवमेतेऽप्यभिष्वङ्गस्य परतन्त्रताहेतोरभावाद्यत्र यत्र संयमयात्रानिर्वहणं तत्र तत्र यान्तीत्याशयः। पुनर्वहिरास्थां निराकुर्वन्तीत्याह इमे इत्युनुभूयमानतया प्रत्यक्षाः शब्दादयश्चः समुच्चये वद्धा नियन्त्रिता अनेकधोषायै रक्षिता इत्यर्थः एते किमित्याह। स्पन्दन्त इव स्पन्दन्ते अस्थितिधर्म्मतया ये। कीदृश इत्याह (मम हत्थज्झमागयत्ति) ममेत्यात्मनिर्द्देश उपलक्षणत्वात्तव न हस्तं करमार्य्य अद्य वा आगताः प्राप्ताः कोऽर्थः स्ववशा आत्मनोऽज्ञतां दर्शयतुमाह। (वयं च सत्तत्ति) वयं पुनः शक्तानि संबन्धान्यभिष्वङ्गवन्तीत्यर्थः अबहुत्वेऽप्यस्मदोद्वयोश्चेति बहुवचनं कामेष्यभिलषणीयशब्दादिषु एवंविधेष्वपि चामीष्वभिष्वङ्ग इति मोहविलसितमिति भावः। यद्वा इमे च चेति चशब्दाद्वयं च स्पन्दामहे इव स्पन्दामहे आयुषश्चञ्चलतया परलोकगमनाय शेषं तथैव यत एवमतो भविष्यामो यथेमे पुरोहितादयः। किमुक्तं भवति यथाऽम भिश्चञ्चलत्वमवलोक्यते परित्यक्तास्तथा वयमपि त्यक्ष्याम इति। स्यादेतदस्थिरत्वेऽपि सुखहेतुत्वात् किमित्यमी स्पन्दन्ते इत्याह। सह मिषेण पिशितरूपेण वर्तत इति सामिषस्तं कललमिह गृध्रशकुनिकं वा दृष्ट्वाऽवलोक्य बाध्यमानं पीड्यमानं पक्षान्तरैरिति गम्यते निरामिषमामिषविरहितमन्यथाभूतं दृष्ट्वेति गम्यते आमिषमभिष्वङ्गहेतुं धान्यादि सर्व्वं निरवशेषमुज्झित्वा त्यक्त्वा (विहरिस्सामोत्ति) विहरिष्याम्यप्रतिबद्धविहारितया चरिष्यामीत्यर्थः। निरामिषा परित्यक्ताभिष्वङ्गहेतुः उक्तानुवादे

नोपदेष्टुमाह गृध्रेण उपमा येषान्ते गृध्रोपमास्तानुक्तन्यायेन तुः समु-च्चये भिन्नक्रमश्च योक्ष्यते ज्ञात्वाऽवबुध्य णमिति प्राग्वत् कान् प्रक्रमाद्विषयामिषवतो लोकान् कामांश्च विषयांश्च संसारवर्द्धनात् संसारवृद्धिहेतून् ज्ञात्वेति संबन्धः। अथवा कामयन्त इति कामा इति व्युत्पत्त्या कामयोगाद्वात्यन्तगृद्धिख्यापनार्थं कामा विषयिण एवोक्ता अतस्तान् गृध्रोपमान् संसारवर्द्धकांश्च ज्ञात्वा किमित्याह (उरओ व्व सुवन्नपासेवत्ति) इवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वादार्षत्वाच्चोरग इव भुजग इव सौपर्णेयपार्श्वे गरुडसमीपे शङ्कमानो भयत्रस्तमिति स्तोकं मन्दयत्नयेति यावत्। चरेः क्रियासु प्रवर्त्तेश्च। अस्यायमाशयो यथा सौपर्णेयोपसर्पविषयेन वाध्यते तथा संयममासेवस्व। ततश्च किमित्याह (नागोव्व) अर्थः स्पष्टः आशयश्चायं यथा नागो बन्धनं वरत्राण्डकादि छित्वा द्विधा विहायात्मनो वसतिं विन्ध्याटवीं व्रजत्येवं भवानपि कर्म्मबन्धनमुपहत्यात्मनो वसतिं कर्म्मविगतः सुद्धो यत्रात्मावतिष्ठते सा च मुक्तिरेव तां व्रजेरेतेन ते-क्षायाः प्रसङ्गतः फलमुक्तम्। एवं चोपदिश्य निगमयितुमाह। एतत् यन्मयोक्तं पथ्यं हितं महाराज ! प्रशस्यभूपते ! इषुकारनामन् ! एतच्च न मया स्वमनीषिकयैवोच्यते किंत्वित्येतन्मया श्रुतमवधारितं साधुसकाशादिति गम्यते इति सूत्राष्टकार्थः। एवं च तद्वचनमाकर्ण्य प्रतिबुद्धो नृपस्ततश्च यत्तौ द्वावपि चक्रतुस्तदाह।

चइत्ता विउलं रट्ठं, कामभोगे हि दुच्चहे।
निव्विसया निरामिसा, निण्णेहा निप्परिग्गहा॥ ४९॥
सम्मं धम्मं वियाणित्ता, चिच्चा कामगुणे वरे।
तवं पगिज्झहक्खायं, घोरं घोरपरक्कमे॥ ५०॥

त्यक्त्वाऽपहाय विपुलं विस्तीर्णं राष्ट्रं मण्डलं पाठान्तरतो राज्यं वा कामभोगांश्चोक्तरूपान् दुस्त्यजान् दुष्परिहारान्निर्विषयौ शब्दादिविषयविरहितायत एव निरामिषौ। यद्वा विषयो देशस्तद्विरहितौ राष्ट्रपरित्यागतः कामभोगत्यागतश्च निरामिषावभिष्वङ्गहेतुविरहितौ कृतः पुनरेवंविधौ यतो निःस्नेहौ निष्प्रतिबन्धौ निष्परिग्रहौ क्वचिदविद्यमानस्वीकारौ सम्यगविपरीतं धर्म्मं श्रुतचारित्रात्मकं विज्ञाय विशेषतो ऽवबुध्य (चिंचत्ति) त्यक्त्वा कामगुणान् शब्दादीन् वरान् प्रधानान् पूर्वविशेषणैर्गतार्थत्वेऽपि पुनरभिधानमतिशयव्यापकं तपोऽनशनादि प्रगृह्याभ्युपगम्य यथाख्यातं येन प्रकारेण तीर्थकरादिभिः कथितं घोरमत्यन्तदुरनुचरं घोरः कर्म्मवरिणः प्रति रौद्रः पराक्रमो धर्म्मानुष्ठानविषयसामर्थ्यात्मको यथोस्तौ। तथा देवीनृपौ तथैव कृतवन्तावितिं शेष इति सूत्रद्वयार्थः॥

संप्रति समस्तोपसंहारमाह।

एवं ते कमसो बुद्धा, सव्वे धम्मपरायणा।
जम्ममच्चुभयोव्विग्गा, दुक्खस्संतगवेसिणो॥ ५१॥
सासणे विगयमोहाणं, पुव्वभावणभाविया।
अचिरेणेव कालेन, दुक्खस्संतमुवागया॥ ५२॥
राया सह देवीए, माहणो व पुरोहिओ।
माहणी दारगा चेव, सव्वे ते परिनिव्वुडे त्ति बेमि॥ ५३॥

एवममुना प्रकारेण तान्यनन्तरमुक्तरूपाणि षडपि क्रमशोऽभिहितपरिपाट्या बुद्धान्यवगततत्वानि सर्वाण्यशेषाणि धर्म्मपरायणानि धर्म्मैकनिष्ठानि पठ्यते च (धम्मपरंपरात्ति) परम्परया धर्म्मो येषां तानि परम्पराधर्म्माणि प्राकृतत्वाच्च परंपराशब्दस्य परनिपातस्तथाहि साधुदर्शनात् कुमारकयोः कुमारवचनात्तत्पित्रोस्तदवलोकनात् कमलादेव्यास्ततोऽपि च राज्ञ इति परम्परयैव धर्म्मप्राप्तिर्जन्ममृत्युभयेभ्यः उक्तरूपेभ्य एवोद्विग्नानि त्रस्तानीति जन्ममृत्युभयोद्विग्नानि दुःखस्यासातस्यान्तः पर्यन्तस्तद्गवेषकाणि तदन्वेषकाणि सापेक्षस्यापि समासो यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमिति। पुनस्तद्वक्तव्यतामेवाह। शासने दर्शने विगतमोहानामर्हतामन्यजन्मनि भावनयाऽभ्यास रूपया भावितानि वासितानि भावनाभावितानि। यद्वा भाविता भावना यैस्तानि भावितभावनानि पूर्वोत्तरनिपातस्यातन्त्रत्वादत एवाचिरेणैव स्वल्पेनैव कालेन दुःखस्यान्तं मोक्षभुपगतानि प्राप्तानि। सर्वत्र च प्राकृतत्वात् पुल्लिङ्गनिर्देशः। मन्दमतिस्मरणायाध्ययनार्थमुपसंहर्तुमाह। राजेषुकारः सह देव्या कमलावत्या ब्राह्मणश्च पुरोहितो भृगुनामा ब्राह्मणी तत्पत्नी यौ च दारकौ तत्पुत्रौ चेति पूर्ववत् सर्वाणि तानि परिनिर्वृतानि कर्म्माग्न्युपशमतः शीतीभूतानि मुक्तिं गतानीति यावत् सूत्रत्रयार्थः। इति परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत्। उक्तोऽनुगमः। उत्त० १४ अ०। स्वनामख्याते नगरभेदे, ''उसुगारे णयरे उसभदत्ते गाहावई'' विण० १ श्रु० १ अ०।

उसुयारपव्वय पुं०(इषुकारपर्व्वत) धातकीखण्डविभागकारिणि पर्वते, ''दो उसुगारपव्वया'' इषुकारौ दक्षिणोत्तरयोर्दिशोर्धातकीखण्डविभागकारिणाविति। स्था० २ ठा० ३ उ०। ''समयक्खेत्ते चत्तारि उसुकारा'' इषुकारा धातकीखण्डपुष्करार्द्धयोः पूर्वोत्तरविभागकारिणश्चत्वारः, स०। स्था०।

उसुयारिज्ज न०(इषुकारीय) '' उसुयार णाम गोयं, वेदंतो भावओ य उसुयारो। तत्तो समुट्ठियमिणं, उसुयारिज्जंति अज्झयणं'' यदिषुकारात् समुत्थितं तत्तस्मै प्रायोहितमेव भवतीति इषुकाराय हितमिषुकारीयमुच्यते। प्राधान्याच्च राज्ञो निर्देशोऽन्यथा षड्भ्योऽप्येतत्समुत्थानं तुल्यमेवेति। चतुर्दशे उत्तराध्ययने, उत्त० १४ अ०। स०।

***उसुपाल** न०(देशी०) उदूखले, '' उसुयालंसि वा कामजलंसि वा '' आचा० २ श्रु०।

उसुलक्खकिरिओवम त्रि०(इषुलक्ष्यक्रियोपम) शरशव्यक्रियासदृशे, '' श्रुतः समाधिरव्यक्त, इषुलक्ष्यक्रियोपमः ''। द्वा० २१ द्वा०।

उसूलग पुं०(उमूलक) खातिकायां परवलपातार्थमुपरिच्छादित-गर्तायाम् '' उसूलगसयग्घीओ '' उत्त० ६ अ०।

उस्स(ण्) त्रि० [(ऊ)स्मिन्] उष् आधारे मनिन् वा **ह्रस्वः। शषोः संयोगे सोऽग्रीष्मे ८। १। ८४।** इति षस्थाने सकारो मागध्याम्। ग्रीष्मर्तौ, प्रा०।

उस्स पुं०(अवश्याय) स्नेहे, '' अप्पहरिएसु अप्पुरसेसु '' बृ० ४ उ०। नि० चू०

***उस्स** पुं०। वसन्ति रसा अत्र-वस् रक्निपातनान्न षत्वम्। किरणे, सूर्यकिरणानां बहुलाकर्षकत्वेन रसवत्त्वात्तथात्वम्। वृषे, सुरभ्याम्, लतायाम्, पृथिव्याम्, स्त्री०। वाच०।

उस्संकलिय त्रि०(उत्संकलित) निसृष्टे, आचा० २ श्रु०।

उस्सक्कइत्ता अव्य०(उत्ष्वष्क्य) उत्सृत्येत्यर्थे, लब्धावसरतयोत्सुकीभूयेति यावत्। स्था० ६ ठा०।

उस्सक्कण-न०(उत्ष्वष्कण) स्वयोगप्रवृत्तकालावधेरूर्ध्वं पुरतः ष्वष्कणमारम्भकरणमुत्ष्वष्कणम् । ध० ३ अधि० । स्वयोगप्रवृत्ते-र्नियत-कालावधिपरतः करणे,। यथा काचिन्मराडकादिप्रार्थनया रुदन्तं बालमाश्वासयति यदुत मा रोदीः समीपगृहागतो मुनिरस्मद्गृहे आयास्यति तदा तदर्थमुत्थिताऽहं तवापि दास्यामीति । ततश्च साधावागते तस्य भिक्षादानायोत्थिता बालस्यापि ददातीति उत्ष्वष्कणम् । ध० ३ अधि० (पाहुडिया शब्दे स्पष्टीभविष्यति) '' उस्सक्कणं अहिसक्कणं परमुहोलंकिए अरोवा वि भावत्तपरेण जुओ अह भावाभिग्गहो नाम अवसर्पन् '' । ध० १ अधि० ।

उस्सक्कावइत्ता अव्य०(अपसर्प्य) अपसृतं कृत्वेत्यर्थे, '' उस्सक्कावइत्ता '' विवादे प्रतिपन्थिनं केनापि व्याजेनापसर्य्यापसृतं कृत्वा पुनरवसरमवाप्य विवदते स्था० ६ ठा० ।

उस्सग्ग पुं०(उत्सर्ग) सृज विसर्गे उत्पूर्वात् सृजेर्घञ् । उज्झने, आव० ५ अ० । अस्य निक्षेपः ।

नामं १ ठवणा २ दविए ३, खित्त ४ काले ५ तहेव भावे य ६ ।
एसो उस्सग्गस्स तु, निक्खवो छव्विहो होइ ॥ ३६ ॥

अर्थमधिकृत्य नियदसिद्धा विशेषार्थं तु प्रतिद्वारं प्रपञ्चेन वक्ष्यामः । तत्रापि नामस्थापने गतार्थे ।

द्रव्योत्सर्गादिरभिधित्सया पुनराह ॥

दव्वुज्झणा उ जं जेण, जत्थ अवकिरइ दव्वभूओ वा ।
जं जत्थ वा वि खित्ते, जं जविर जम्मि वा काले ॥ ३७ ॥

वितिरित्तो दव्वुस्सग्गो अकिंचिक्करं सदोसं च कसुं जो जं दव्वं छड्डेति तत्थ अकिंचिकरं जहा भिण्णं भिक्खभायणं सदोसं जहा विसकतमभियोगकतं वा एवमादि । अहवा जेण दव्वेण जत्थ वा दव्वे दव्वभूतो छड्डेति एस दव्वुस्सग्गो जहा भरहादीहिं चक्कवट्टीहिं भारहं वासं पव्वयंतेहिं छड्डितं । जो वा जं खेत्तयं चयति जम्मि वा खेत्ते वयति किंचि जम्मि वा खेत्ते उस्सग्गो वणिज्जति एवमादिको उस्सग्गो जो जं कालं उज्झति । जहा उज्झातो वसंतो मेदणो ण वाहत्ति छड्डितो वा सिरो एवमादि । अहवा खित्तकालं पप्प ण रीयिज्जति वासारत्ते वा ण विहरिज्जति । जच्चिरं व कालं उस्सग्गे जम्मि काले उस्सग्गे वणिज्जति । (आ० चू० ५ अ०) द्रव्योज्झना तु द्रव्योत्सर्गः स्वयं (जंति) यद्द्रव्यमनेषणीयभवकिरतीति योगः (अवकी-रइत्ति) उत्सृजति (जेणेत्ति) येन करणभूतेन पात्रादिनोत्सृजति (जत्थत्ति) यत्र द्रव्ये व्यत्सृजति द्रव्यभूतो वा अनुपयुक्तो वा उत्सृजति एष द्रव्योत्सर्गोऽभिधीयते । द्वारं क्षेत्रोत्सर्ग उच्यते (जं जत्थ वावि खेत्तेत्ति) यत् क्षेत्रलक्षणदेशाद्युत्सृजति यत्र वाऽपि क्षेत्रे उत्सर्गो व्यावर्ण्यते एष क्षेत्रोत्सर्गः । कालोत्सर्ग उच्यते (जं जच्चिर जम्मि वा कालेत्ति) यं कालमुत्सृजति यथा भोजनमधिकृत्य रजनि साधवः (जच्चिरं वति) यावन्तं कालमुत्सर्गो यस्मिन् वा काले उत्सर्गो वर्ण्यते एष कालोत्सर्ग इति गाथार्थः । आव० ५ अ० ।

भावोत्सर्गान् प्रतिपादयन्नाह ॥

भावं पसत्थमिअरं, जेण व भावेण अवकिरइ जं तु ।
अस्संजमं पसत्थे, अपसत्थे संजमं चयई ॥ ३८ ॥

एवमादिणो आगमतो उस्सग्गो पसत्थो अपसत्थो अण्णणादीणं जातिमदादीण य अप्पसत्थो णाणादीण उज्झणा जेण वा भावेण चयति एवमादि (आ० चू०) भाव इति द्वारपरामर्श भावोत्सर्गो द्विधा प्रशस्तं शोभनं वस्त्वधिकृत्य (इतरत्ति) अप्रशस्तमशोभनं तथा येन वा भावेन् उत्सर्जनीयवस्तुगतेन स्वरादिना अवकिरति जं तु उत्सृजति यत्र भावेनोत्सर्ग इति तृतीयासमासः । तत्रासंयमं प्रशस्ते भावोत्सर्गे त्यजति अप्रशस्ते तु संयमं त्यजतीति गाथार्थः ।

यदुक्तं येन वा भावेनोत्सृजति तत्प्रकटयन्नाह ।

खरफरुसाइसचेअण-मच अणं दुरभिगंधविरसाई ।
दव्वि अमवि चयइ दोसेणा, जेण भावुज्झणा सा उ ॥ ३९ ॥

खरपरुषादि सचेतनं खरं कठिनं परुषं दुर्भाषिणोपनीतमचेतनं दुरभिगन्धविरसादि यद्द्रव्यमपि त्यजति दोषेण येन स्वरादिना वा भावोज्झना सा उक्ता येनोत्सर्ग इति गाथार्थः । ३९ । गतं मूलद्वार-गाथायामुत्सर्गमधिकृत्य निक्षेपद्वारम् ॥

अधुनैकार्थिकान्युच्यते ॥

उस्सग्ग १ विउस्सरणा, २
उज्झणा य ३ अवकिरण ४ छड्डण ५ विवेगो ६ ।
वज्जण ७ चयणु ८ म्मुअणा ९,
परिसाडण १० साडणा चेव ११ ॥ ४० ॥

उत्सर्गःव्युत्सर्जना उज्झना च अवकिरणं छर्दनं विवेकः वर्जनंत्य-जनम् उन्मोचना परिशातना शातना चैवेति गाथार्थः । आव० ५ अ० । उत्सर्जनीयस्य त्यागरूपे आभ्यन्तरतपोभेदे, तद्भेदः स द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्च । तत्र बाह्यो द्वादशादिभेदस्योपधेरतिरिक्तस्थानेषणीयस्य संसक्तस्यान्नपानादेर्वा त्यागः । आभ्यन्तरः कषायाणां मृत्युकाले शरीरस्य च त्यागः । ननु उत्सर्गप्रायश्चित्तमध्य एवोक्तस्तत्किं पुनरत्र भणनेन सत्यं सोऽतिचारविशुद्ध्यर्थमुक्तः अथं तु सामान्येन निर्जरार्थ इत्यपौनरुक्त्यम् । प्रव० ६ द्वा० । ध० । स० । नं० । पञ्चा० । यथा भामेत्युक्ते, सत्यभामेति गम्यते तथाऽत्राप्येकदेशेन समुदायावगमात् कायोत्सर्ग, प्रव० १ द्वा० । (काउस्सग्गशब्देऽशेषवक्तव्यता) '' उस्सग्गंति '' ईर्य्यापथनिमित्तं पञ्चविंशत्युच्छ्वासप्रमाणं कायोत्सर्गं करोति । ओ०या सामान्योक्तौ, ध० २ अधि० । दर्श० । सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः यथा त्रिविधं त्रिविधेन प्राणातिपातविरतिः । दर्श० । पञ्चा० । इह विधित्सितस्य वस्तुनः कारणनिरपेक्षं सामान्यस्वरूपमुत्सर्ग उच्यते । बृ० ४ उ० । अभिप्रेतवस्तुस्वरूपनिर्वाच्यं कारणनिरपेक्षमुत्सर्गः । नि० चू०११ उ० । '' उस्सग्गो ओहो '' उस्सग्गो पडिसेहो । नि० चू० १ उ० । अथोत्सर्गापवाद-योबोधविचारः । अथ योऽयं '' न हिंस्यात्सर्वाभूतानी ''त्यादिना हिंसानिषेधः औत्सर्गिको मार्गः सामान्यतो विधिरित्यर्थः वेदविहिता तु हिंसाऽपवादपदं विशेषतो विधिरित्यर्थः । ततश्चापवादेनोत्सर्गस्य बाधितत्वान्न श्रौतो हिंसाविधिर्दोषायोत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयानिति न्यायात् । भवतामपि हि न खल्वेकान्तेन हिंसानिषेधः तत्तत्कारणे जाते पृथिव्यादिप्रतिसेवनानाम-नुज्ञानात् ग्लानाद्यसंस्तरे आधाकर्मादिग्रहणभणनाच्च । अपवादपक्षं च याज्ञिकी हिंसा देवतादिप्रीतेः पुष्टालम्बनत्वादिति परमाशङ्क्य स्तुतिकार आह नोत्सृष्टमित्यादि अन्यार्थमिति मध्यवर्त्ति पदं डमरुकमणिन्यायेनो-भयत्रापि संबन्धनीयम् । अन्यार्थमृत्सृष्टमन्यस्मै कार्याय प्रयुक्तमुत्सर्ग-वाक्यमन्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन नापोद्यते नापवादगोचरीक्रियते यमेवार्थमाश्रित्यापवादोऽपि प्रवर्तते तयोर्निम्नोन्नतादिव्यवहारवत्परस्पर-सापेक्षत्वे नैकार्थसाधनविषयत्वात् यथा जैनानां संय-

मपरिपालनार्थं नवकोटिविशुद्धाहारग्रहणमुत्सर्गस्तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराभावे पञ्चकादियतनाऽनेषणीयादिग्रहणमपवादः सोऽपि च संयमपरिपालनार्थमेव । न च मरणैकशरणस्य गत्यन्तराभावोऽसिद्ध इति वाच्यं '' सव्वत्थ संजमं संजमाउ अप्पाणमेव रक्खिज्जा । मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोही नया विरई '' इत्यागमात् तथा आयुर्वेदेऽपि यमेवैकं रोगमधिकृत्य कस्याश्चिदवस्थायां किञ्चिद्धस्त्वपथ्यं तदेवावस्थान्तरे तत्रैव रोगे पथ्यमुत्पद्यतेहिंसावस्था देशकालामयान्प्रति '' यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्कर्म कार्यं तु वर्जयेत् '' इति, वचनात् यथा बलवदादेर्ज्वरिणो लङ्घनं क्षीणधातोस्तु तद्विपर्यय एवं देशाद्यपेक्षया ज्वरिणोऽपि दधि-पानादि योज्यम् । तथा च वैद्याः '' कालाविरोधि निर्दिष्टं, ज्वरादौ लङ्घनं हितम् । ऋतेऽनिलश्रमक्रोधशोककामकृतज्वरात् '' एवं च यः पूर्वमपथ्यपरिहारो यश्च तत्रैवावस्थान्तरे तस्यैव परिभोगः स खलु उभयोरपि तस्यैव रोगस्य शमनार्थ इति सिद्धमेकविषयत्वमु-त्सर्गापवादयोरिति । भवतां चोत्सर्गोऽपवादश्चान्यार्थः । '' न हिंस्यात्सर्वाभूत्यानी '' त्युत्सर्गो हि दुर्गतिगतिनिषेधार्थः अपवादस्तु वैदिकहिंसाविधिर्देवताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादनार्थः अतश्च परस्परनिरपेक्षत्वे कथमुत्सर्गोऽपवादेन बाध्यते तुल्यबलयोर्विरोध इति न्यायात् भिन्नार्थत्वेऽपि तेन तद्बाधनेऽतिप्रसङ्गात् । न च वाच्यं वैदिकहिंसाविधिरपि स्वर्गहेतुतया दुर्गतिनिषेधार्थ एवेति तस्योक्तयुक्त्या स्वर्गहेतुत्वनिर्लोठनात् तन्मन्तरेणापि च प्रकारान्तरैरपि तत्सिद्धिभावाद्गत्यन्तराभावे ह्यपवादे पक्षकक्षीकारः । स्या० । संप्रति किमुत्सर्गा अल्पे उतापवादास्तथा उत्सर्गोऽपवादो वा स्वस्थाने श्रेयान् बलवांश्च । परस्थाने बलवानपि श्रेयांश्च इत्याह । (सूत्र-म्) '' नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे ताल पलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए अववाइयं जहा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पक्के तालपलंबे भिन्ने वा पडिगाहित्तए '' अथवा त्रिविधं सूत्रमुत्सर्गसूत्रमपवादसूत्रमुत्सर्गापवादसूत्रं च । तत्रौत्सर्गिकमापवादिकं चोक्तमुत्सर्गापवादसूत्रं पुनरिदम् । नो कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अन्नमन्नस्स मो यं आदित्तए वा आयमित्तए वा अन्नत्थागाढहिं रोगाइयंकेहिं, अथवा चतुर्विधं सूत्रमौत्सर्गिकमापवादिकमुत्सर्गापवादमपवादौत्सर्गिकं तत्राद्यानि त्रीण्युक्तानि चतुर्थमपवादौत्सर्गि-कमिदं यथा '' चम्मं मंसं च दलाहि मा अट्ठियाणि '' आह उत्सर्ग इत्यपवाद इति वा कोऽर्थ उच्यते ॥

उज्जयसग्गुस्सग्गो, अववाओ तस्स चेव पडिवक्खो ।
उस्सग्गा वि निवतियं, धरेइ सालंबमववाओ ॥

उद्यतः सर्गोऽविहार उत्सर्गस्तस्य चोत्सर्गस्य प्रतिपक्षोऽपवादकथमिति चेदत आह उत्सर्गादवमौदर्यादिषु विनिपतित प्रच्युतं ज्ञानादिसालम्बमपवादो धारयति । ननु स उत्सर्गोऽपवादं गतः सन् कथं न भग्नव्रतो भवति उच्यते ।

धावंतो उव्वाओ, मग्गन्नू किं न गच्छइ कमेणं ।
किं वा मउई किरिया, न कीरए असहओतिक्खं ॥

सर्वोऽप्यस्माकं प्रयासो मोक्षसाधननिमित्तं स च मोक्षं तथा साधयति नेतरत् दृष्टान्तोऽयं यथा कोऽपि पाटलिपुत्रं गच्छन् धावन् उद्वातः श्रान्तो भवति तथा न क्रमेण स्वभावगत्या मार्गज्ञः सन् गच्छति गच्छत्येवेति भावः केवलं चिरेण तत्पाटलिपुत्रमवाप्नोति यदि पुनः श्रान्तोऽपि धावति तदा अपान्तराल एव म्रियते एव मत्राप्यध्वादौ तादृशे कार्येऽपवादमप्रतिपद्यमानो विनश्यति । किं च रोगिणस्तीक्ष्णां क्रियामसहमानस्य मृद्वी क्रिया न क्रियते क्रियत एवेत्यर्थः यथैतदेवमत्राप्युत्सर्गात्परिभ्रष्टस्यापवादगमनम् । ननु किमुत्सर्गादपवादप्रसिद्धिरुतापवादादुत्सर्गस्य तत आह ।

उन्नयमविक्खनिन्नय, पसिद्धि उन्नयस्स निन्नाउ ।
इय अन्नुन्नपसिद्धा, उस्सग्गववायगातुल्ला ॥

यथोत्तमां प्रेक्ष्य निम्नस्य प्रसिद्धिर्निम्ना चोन्नतस्य प्रसिद्धिरित्येवमन्योऽन्यप्रसिद्धावुत्सर्गादपवादोऽपवादादुत्सर्गः प्रसिद्ध इति द्वावप्युत्सर्गापवादौ तुल्यौ । तदेवमुत्सर्गापवादद्वारमुक्तम् । इदानीमल्पद्वारमुच्यते । शिष्यः पृच्छति भगवन् किमुत्सर्गा अल्पे उताप-वादा उच्यते तुल्या यत आह ।

जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया ।
जावइया अववाया, उस्सग्गा तेत्तिया चेव ॥

यावन्त उत्सर्गास्तावन्तोऽपवादाः यावन्तोऽपवादास्तावन्त उत्सर्गाः कथमिति चेदुच्यते सर्वस्यापि प्रतिषेधस्यानुज्ञाभावात् द्वयेऽपितुल्याः । संप्रति सेयबलवंते इति द्वारद्वयं व्याविख्यासुराह ।

सट्ठाणे सट्ठाणे, सेयावलिणो व हुंति खलु एए ।
सट्ठाणपरट्ठाणे, पहुंति वत्थूण निप्फन्ना ॥

शिष्यः पृच्छति किमुत्सर्गः श्रेयान् बलवांश्च उतापवादः । सूरिराह । एते खलु उत्सर्गा अपवादाश्च स्वस्वस्थाने श्रेयांसो बलिन इव भवन्ति । परस्थानेऽश्रेयांसो दुर्बलाश्च । अथ किं स्वस्थानं किं वा परस्थानमत आह । स्वस्थानपरस्थाने वस्तुनो निष्पन्ने । अथ वस्त्वेव न जानामि किं तद्वस्त्विति । उच्यते पुरुषो वस्तु तथा चाह ।

संथरओ सट्ठाणं, उस्सग्गो असहुणो परट्ठाणं ।
इय सट्ठाण परं वा, न होइ व वत्थू विणा किंचि ॥

संस्तरतो निस्तरत उत्सर्गः स्वस्थानमपवादः परस्थानमसहस्यासमर्थस्य यः संस्तरीतुं न शक्नोति तस्यापवादः स्वस्थानमुत्सर्गः परस्थानमिति एवममुना प्रकारेण पुरुषलक्षणं वस्तु विना न किंचित् स्वस्थानं परस्थानं वा किं तु पुरुषो वस्तु संस्तरति नवेत्यतः पुरुषात् स्वस्थानं परस्थानं वा निष्पद्यते तत उक्तं प्राक् स्वस्थानपरस्थाने वस्तुनो निष्पन्ने गतं सूत्रद्वारम् । बृ० १ उ० । प्रकीर्णकथा-याम्, ''उस्सग्गो पइन्नकहा अववाओ णिच्छयकहा'' नि० चू० ५ उ० । अपानवायोर्व्यापारे, विष्ठोत्सर्गत्यागे, दाने, समाप्तौ, व्रतोत्सर्गः वार्षिकवेदपाठसमाप्तौ च वाच० ।

उस्सग्गट्ठिइ स्त्री०(उत्सर्गस्थिति) उत्सर्गस्थाने, ''उत्सग्गट्ठिइ-सुद्धं जह दव्वं विवज्जयं लभइ'' नि० चू०१६ उ० ।

उस्सग्गववाइयकुसल पुं०(उत्सर्गापवादिककुशल) उत्सर्गश्च अपवादे भवमापवादिकं च तस्मिन् कुशलः । उत्सर्गापवादविषयविभागवेदिनि, दर्श । अपवादे भवमापवादिकं तस्मिन्नुत्सर्गापवादिके कुशला विषयविभागवेदिन इत्यर्थः । ते ह्युत्सर्गापवादवेदितया समयानुरूपप्रवर्तमाना लोभगृहग्रस्तसिंहकेसरिकक्षपकसाधोरकालेऽपि दानदातृश्रावकवन्निर्जरामाजो जायन्त इति । दर्श० ॥

उस्सग्गववाय पुं०द्वि०व०(उत्सर्गापवाद) इतरेतरद्वन्द्वः । सामान्योक्तविशेषोक्तविध्योः, ''उत्सग्गववायाणं वियाणगा सेवगा'' उत्सर्गापवादयोः सामान्योक्तविशेषोक्तविध्योर्विज्ञापकाः । पञ्चा०

११ विव०। '' उस्सग्गववायाणं विसयविभागम्मि दक्खाणं। बहु वयणेण दुवयणमिति '' प्राकृतलक्षणवशादुत्सर्गापवादयोः सामान्योक्तविशेषोक्तलक्षणयोः विषयिभागे गोचरविच्छित्तौ दक्षाणां छेकानाम्। जीवा० १ अधि०। (पादप्रोञ्छनस्यौत्सर्गिकत्वापवादिकत्वविचारः पायपुंछणशब्दे)

उस्सग्गववायकुसल पुं०(उत्सर्गापवादकुशल) सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः यथा त्रिविधं त्रिविधेन प्राणातिपातविरतिर्विशेषोक्तो विधिरपवादः यथा '' पुढवाइसु आसेवा, उप्पण्णे कारणम्मि जयणाए। मिगरहियस्सठियस्स, अववाओ होइ नायव्वो ''। तत्र कुशलः दर्श०। प्रवचनकुशलभेदे,। सांप्रतमुत्सर्गापवादकुशलाभिधानौ तृतीयचतुर्थभेदौ युगपदभिधित्सुर्गाथोत्तरार्द्धमाह

उस्सग्गववायाणं, विसयविभागं वियाणइ॥ ५३॥

उत्सर्गापवादयोर्जिनप्रवचनप्रतीतयोर्विषयाविभागं करणाकरणप्रस्तावं विशेषेण जानाति अवगच्छति। अयमत्राभिप्रायः नोत्सर्गमेव केवलमालम्बते नाप्यपवादमेव प्रमाणीकरोति किं तर्ह्यचलपुरश्रावकसमुदायवत् तयोरवसरमवबुध्यते। उक्तं च। '' उन्नयमविक्खनिन्नस्स, पसिद्धि उन्नयस्स इयराओ। इय अन्नुन्नपसिद्धा, उस्सग्गववायगा तुल्ला '' ज्ञात्वा च यथाऽवसरं तयोर्विषये स्वल्पव्ययां बहुलाभां प्रवृत्तिमातनोतीति ध० र०। (अयलपुरशब्दे तद्वक्तव्यतोक्ता)

उस्सग्गववायधम्मता स्त्री०(उत्सर्गापवादधर्मता) प्रतिषेधानुज्ञालक्षणतायाम्,। '' कामं सव्वपदेसु वि, उस्सग्गववायधम्मता जुत्ता। मोत्तुं मेहुणभावं, ण विणा तं रागदोसेहिं। उस्सग्गो पडिसेहो अववातो अणुण्णाधम्मतालक्खणताजुत्ता जुज्जते घटत इत्यर्थः। नि० चू० १ उ०।

उस्सग्गसुत्त न(उत्सर्गसूत्र) औत्सर्गिकार्थप्रतिपादके सूत्रभेदे, बृ०१ उ०। (सुत्तशब्दे इदं व्याख्यास्यते)

उस्सग्गिय त्रि०(औत्सर्गिक) उत्सर्गं सामान्यविधिमर्हति छञ् सामान्यविधियोग्ये, स्त्रियां ङीष् स्या०।

उस्सण्ण त्रि०(उत्सन्न) उद्-सद्-क्त-**अनुत्साहोत्सन्नेत्सच्छे।८।१।११४।** इत्युत्सन्नपर्युदासान्नादेरत उत्वम् प्रा उच्छिन्ने, नष्टे च। वाच०। वसन्तपुरवास्तव्यः, कश्चिदुत्सन्नवंशकः। देशान्तरं व्रजन् सोऽथ, भ्रष्टोऽणाद् भौतपल्लिकाम्। आ० क०।

उस्सण्ण (देशी०) बाहुल्ये, '' उस्सण्णं देयासायं वेयणं पदेति उस्सण्णं बाहुल्येन प्रायेणेत्यर्थः। कर्म०। व्य०। '' उसण्णमंसाहारा० भ० ७ श० ७ उ०। एकान्ते, '' उस्सण्णलक्खणसंजुया '' नि० चू० ३ उ०। उस्सण्णं नाम कोतिवावारं वहति प्रमितमित्यर्थः। अइणं स च लोगो आयरति। नि० चू० १० उ०।

उस्सण्णदोस पुं०(उत्सन्नदोष) उत्सन्नमनुपरतं बाहुल्येन प्रवर्तत इत्युत्सन्नदोषः। रौद्रध्यानस्य प्रथमे लिङ्गे, आव० ४ अ०।

उस्सप्पिणी स्त्री०(उत्सर्पिणी) उत्सर्पन्ति शुभा भावा अस्यामित्युत्सर्पिणी ज्यो० २ पाहु०। उत्सर्पति वर्द्धते अरकापेक्षया वर्द्धयति वा क्रमेण पुरादीन् भावानित्युत्सर्पिणी। जं० २ वक्ष०। भ०। दशसागरोपमकोटाकोटीपरिमाणे, शुभभाववर्द्धकेऽशुभभावहानिकारके कालभेदे, आ० म० प्र०। अनु०। विशे०। दससागरोपमकोडाकोडीओ कालो उस्सप्पिणीए स्था १० ठा। आ० म० द्वि०। जं०। उत्सर्प्पिण्यां च क्रमेण शुभा भावा अनन्तगुणतया परिवर्द्धन्ते अशुभाश्च हानिमुपगच्छन्तीति ज्यो० २ बाहु०।

अत्र षडरकाः।

उस्सप्पिणी कालेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते गोयमा ! छव्विहे पण्णत्ते ? तं जहा दुस्समदुस्समाकाले १ जाव सुसमसुसमाकाले॥

एवमुत्सर्पिणीसूत्रमपि भाव्यं परं षडपि काला व्यत्ययेन भाव्या यथाऽवसर्पिण्यां षष्ठः कालो दुःषमाख्यः स एवात्र प्रथमो यावत् सुषमसुषमाकालः षष्ठ इति। जं० २ वक्ष०। स्था०। भ०। आ० चू० (सुषमसुषमाद्यानां वर्णकः ओसप्पिणी शब्दे वक्ष्यते) एवमत्रापि ज्ञेवः केवलमरकविपर्ययः कर्तव्यः। '' ओसप्पिणीए एसो कालविभागो जिणेहिं निद्दिट्ठो एसो चिय पडिलोमं विन्नेओ उस्सप्पिणीए वि '' नं०। य एवं प्रागवसर्पिण्यां सुषमसुषमादयः कालविभागा उक्ता एत एवोत्सर्पिण्यामपि भवन्ति ज्ञातव्याः नयरं विभागेषु परिपाटिः प्रतिलोमेन ज्ञातव्या तद्यथा प्रथमः कालविभागो दुःषमदुःषमा द्वितीयो दुःषमा, तृतीयो दुःषमसुषमा, चतुर्थः सुषमदुःषमा, पञ्चमः सुषमा, षष्ठः सुषमसुषमेति (ज्यो० २ पाहु०) सांप्रतं प्रागुद्दिष्टमुत्सर्पिणी निरूपयितुकामस्तत्प्रतिपादनपूर्वकं ततः प्रथमारकस्वरूपमाह॥

तीसे णं समाए इक्कवीसमाए वाससहस्सेहिं काले वीरक्कंते आगमीसाए उस्सप्पिणीए सावणबहुलपडिवए वालवकरणंसि अभीइणक्खत्ते चोद्दसपढमसमये अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव अणंतगुणपरिवुड्ढीए परिवुड्ढमाणो परिवुड्ढमाणे एत्थ णं दूसमदूसमा णामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो। तीसे णं भंते ! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आगारभावपडोआरे भविस्सइ गोअमा ! काले भविस्सइ हाहाभूए भंभाभूए एवं सो चेव दूसमदूसमावे ढओ णेअव्वो॥

तस्यां समायामवसर्प्पिण्यां दुःषमानाम्न्यामेकविंशत्या वर्षसहस्रैः प्रमिते काले व्यतिक्रान्ते आगमिष्यन्त्यामुत्सर्प्पिण्यां श्रावणमासस्य बहुलप्रतिपदि कृष्णप्रतिपदि पूर्वावसर्प्पिण्याः आषाढपूर्णिमापर्यन्तसमये पर्यवसानत्वात् वालवनाम्नि करणे कृष्णप्रतिपत्तिथ्यादिमार्द्धेऽस्यैव सद्भावात्। अभीचिनक्षत्रे चन्द्रेण योगमुपागते चतुर्दशानां कालविशेषाणां प्रथमसमये प्रारम्भक्षणेऽनन्तैर्वर्णपर्यवैर्यावदनन्तगुणपरिवृद्ध्या परिवर्द्धमानः। अत्रान्तरे दुष्षमदुष्षमानाम्ना समः कालः प्रतिपत्स्यते हे श्रमण ! आयुष्मन् ! इति वर्णादीनां वृद्धिश्च येनैव क्रमेण पूर्वमवसर्पिण्यरकेषु हानिरुक्ता तथैवात्र वाच्या चतुर्दशकालविशेषा पुनः निःश्वासादुच्छ्वासाद्वा गण्यते समयस्य निर्विभागकालत्वेनाद्यन्तव्यवहाराभावादावलिकायाश्चाव्यवहार्यत्वेनोपेक्षा। तत्र निःश्वासः उच्छ्वासो वा १ प्राणः २ स्तोकः ३ भवः ४ मुहूर्त्तः ५ अहोरात्रं ६ पक्षः ७ मासः ८ ऋतुः ९ अयनं १० संवत्सरं ११ युगं १२ करणं १३ नक्षत्रम् १४ इति एतेषां चतुर्दशानां मध्ये पञ्चसूत्रसत्कादुक्तानामपरेषां चोपलक्षणं संगृहीतानां प्रथमसमये कोऽर्थः य एव हि एतेषां चतुर्दशानां कालविशेषाणां प्रथमः समयः स एवोत्सर्प्पिणीप्रथमारकप्रथमसमयः। अवसर्प्पिणीसत्कानामेषां द्वितीयाऽऽषाढपौर्णमासीचरमसमयः एवं पर्यवसा-

नात् इदमुक्तं भवति अवसर्प्पिण्यादौ महाकाले प्रथमतः प्रवर्त्तमाने सर्वेऽपि तदवान्तरभूताः कालविशेषाः प्रथमत एव युगपत् प्रवर्तन्ते तदनु स्वस्वप्रमाणसमाप्तौ समाप्नुवन्ति तथैव पुनः प्रवर्तन्ते पुनः परिसमाप्नुवन्ति यावन्महाकालपरिसमाप्तिरिति । यद्यपि ग्रन्थान्तरे ऋतोराषाढादित्वेन कथनादुत्सर्प्पिण्याश्च श्रावणादित्वे अस्य प्रथमसमयो न संगच्छते ऋत्वर्द्धस्य गतत्वात् तथापि प्रावृट् श्रावणादिर्वर्षारात्रोऽश्वयुजादिः शरन्मार्गशीर्षादिर्हेमन्तो माघादिर्वसन्तश्चैत्रादिर्ग्रीष्मो ज्येष्ठादिर्भगवतीवृत्तिवचनात् श्रावणादित्वपक्षाश्रयणेन समाधेयमिति न दोषः । किं चेदं सूत्रं गम्भीरग्रन्थान्तरे च व्यक्तानुपलभ्यमानभावार्थं कण्ठेनान्यथाप्यागमाविरोधेन मध्यस्थैर्बहुश्रुतैः परिभावनीयमिति । अथात्र कालस्वरूपं पृच्छति '' तीसेणमित्यादि '' सर्वं सुगमं नवरं दुष्षमदुष्षमायाः अवसर्पिणीषष्ठारकस्य वेष्टको वर्णको नेतव्यः प्रापणीयस्तन्मानत्वादस्याः गतः उत्सर्पिण्याः प्रथमोऽरः

अथ द्वितीयारकस्वरूपं वर्णयति ।

तीसे णं समाए एक्कवीसाए वाससहस्सेहिं काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव अणंतगुणपरिवुड्ढीए परिवुड्ढेमाणे परिवुड्ढमाणे एत्थ णं दूसमा णामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो ॥

तीसेणमित्यादि सर्वं सुगमं नवरमुत्सर्प्पिणीद्वितीयारक इत्यर्थः

अथाऽवसर्प्पिणीदुष्षमातोऽस्या विशेषमाह ।

ते णं कालेणं ते णं समए णं पुक्खलसंवट्टए णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ भरहप्पमाणमित्ते आयामेणं तदणुरूवं च णं विक्खंभबाहल्लेणं तए णं से पुक्खले संवट्टए महामेहे खिप्पामेव पतणतणाइस्सइ खिप्पामेव पतणतणाइत्ता खिप्पामेव पविज्जुआइस्सइ खिप्पामेव पविज्जुआइत्ता खिप्पामेव जुगमुसलमुट्ठिप्पमाणमित्ताहिं धाराहिं उघमेघं सत्तरत्तं वासं वासिस्सइ जे णं भरहस्स वासभूमिभागं इंगालभूअं मुम्मुरभूअं छारीअभूवं तत्तकवेल्लुगभूअं तत्तसमजोइभूतं णिव्वाविस्सइ तंसि च णं पुक्खलसंवट्टगंसि महामेहंसि सत्तरत्तं णिवतितंसि समाणंसि एत्थ णं खीरमेहे णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ भरहप्पमाणमेत्ते आयामेणं तदणुरूवं च ण विक्खंभवाहल्लेणं तए णं से खीरमेहणामं महामेहे खिप्पामेव पतणतणाइस्सइ जाव खिप्पामेव जुगमुसलमुट्ठि जाव सत्तरत्तं वासं वासिस्सइ । जे णं भरहेवासस्स भूमीए वण्णं गंधं रसं फासं च जणइस्सइ तंसि च णं खीरमेहंसि सत्तरत्तणिवतितं समाणंसि इत्थणं घयमेहे णामं महामेहे पउब्भविस्सइ । भरहप्पमाणमेते आयामेणं तदणुरूवं च णं विक्खंभबाहल्लेणं तए णं सेघयमेहमहामेहे खिप्पामेव पतणतणाइस्सइ जाव वासं वासिस्सइ । जे णं भरहस्स वासस्स भूमीए सिणेह भावं जणइस्सइ तंसि च णं घयमेहंसि सत्तरत्ता णिवतितंसि समाणंसि एत्थ णं अयमेहे णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ भरहप्पमाणमित्ते आयामेव जाव वासं वासिस्सइ भरहे वासे रुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितणपव्वयहरितग-ओसहिपवालंकुरमाईए तस्स वणप्फइकाइए जणइस्सइ तंसि च णं अमयमेहंसि सत्तरत्तं णिवत्तितंसि समाणंसि एत्थ णं रसमेहे णामं महामेहे पाउब्भवि-स्सइ । भरहप्पमाणमित्ते आयामेणं जाव वासंवासिस्सइ जेणं तेसिं बहूणं रुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितण-पव्वयहरितओसहिपवालंकुरमादीणं तित्तकडुअकसायअंबिल-महुरे पंचविहे रसविसेसे जणइस्सइ तए णं भरहे वासे भविस्सइ *परूढरुक्खगुच्छगुम्मलयावल्लीतणपव्वयहरिअओसहिए* उपचिअतयपत्तपवालंकु रपुप्फ फलसमुइए सुहोवभोगे आविभविस्सइ ।

' ते णमित्यादि ' तस्मिन् काले उत्सर्पिण्यां द्वितीयारकलक्षणे तस्मिन् समये तस्यैव प्रथमसमये पुष्कलं सर्वमशुभानुभावरूपं भरतभूरौक्ष्यदाहिकं प्रशस्तोदकेन संवर्त्तयति नाशयतीति पुष्कलसंवर्तकः स च पर्यन्यप्रभृतिमेघत्रयापेक्षया महान् मेघो दशवर्षसहस्रावधि एकेन वर्षणेन भूमेर्भावकत्वात् महामेघः प्रादुर्भविष्यति प्रकटीभविष्यति भरतक्षेत्रप्रमाणेन साधिकैकसप्ततिचतुःशताधिकचतुर्दशयोजनसहस्ररूपेण मात्रा प्रमाणं यस्य स तथा । केनायामेन दीर्घभावेन । अयं भावः पूर्वसमुद्रादारभ्य पश्चिमसमुद्रं यावत् वार्दलकं व्याप्तं भविष्यतीत्यर्थः ततनुरूपश्च तस्य भरतक्षेत्रस्याऽनुरूपः सदृशः सूत्रे च लिङ्गव्यत्ययः प्राकृतत्वात् क्रियाविशेषणं वा केनेत्याह विष्कम्भबाहल्येन अत्र समाहारद्वन्द्ववशादेकवद्भावः कोऽर्थः यावान् व्यासो भरतक्षेत्रस्य इषुस्थाने पञ्चशतयोजनानि षड्विंशतिर्योजनानि षट्कालायोजनैकोनविंशतिभागरूपास्तदतिरिक्तस्थानेतु अनियततया तथाऽस्यापि विष्कम्भः बाहल्यं तु यावता जलभारेण यावदवगाढभरतक्षेत्रतलभूमिमार्द्रीकृत्य तापः उपशाम्यते तावज्जलदनिष्पन्नमेव ग्राह्यमिति । अथ स प्रादुर्भूतः सन् यत्करिष्यति तदाह '' तएणमित्यादि '' ततश्च स पुष्कलसंवर्तकमेघः क्षिप्रमेवान्नमकाल एव ' पतणतणाइस्सति ' अनुकरणवचनमेतत् प्रकर्षेण स्तनितं करिष्यति गर्जिष्यतीत्यर्थः । तथा च कृत्वा 'पविज्जुत्ताइस्सति' प्रकर्षेण विद्युतं करिष्यति तथा च कृत्वा क्षिप्रमेव युगं रथावयवविशेषः मुसलं प्रतीतं मुष्टिः पिण्डिताङ्गुलिकः पाणिः येषां यत् प्रमाणमायामबाहल्यादिभिस्तेन मात्रा यासां ताभिःइयता प्रमाणेन दीर्घाभिःस्थूलाभिरित्यर्थः धाराभिः ओघेन सामान्येन सर्वत्र निर्विशेषेण मेघो यत्र तं तथाविधं सप्ताहोरात्रान् वर्षं वर्षिष्यति वर्षां करिष्यतीत्यर्थः । जे णमिति पूर्ववत् भरतस्य वर्षस्य क्षेत्रस्य भूमिभागमङ्गारभूतं मुर्मुरभूतं क्षारिकभूतं तप्तकवेल्लुकभूतं तप्तसमज्योतिर्भूतं निर्वापयिष्यति स पुष्करसंवर्तको महामेघः । अथ द्वितीयमेघवक्तव्यमाह । तंसि च णमित्यादि तस्मिंश्च चशब्दो वाक्यान्तरप्रारम्भार्थः पुष्कलसंवर्तके महामेघे सप्तरात्रं यावन्निपतिते सति निर्भरं वृष्टे सति । अत्रान्तरे क्षीरमेघो नाम महामेघः प्रादुर्भविष्यति शेषं भरतेत्यादि प्राग्वत् । अथ स प्रादुर्भवन् किं करिष्यतीत्याह ' तएणमित्यादि ' अत्र वासिस्सइ पर्यन्तं प्राग्वत् यो मेघो भरतस्य वर्षस्य भूम्या वर्णं गन्धं रसं स्पर्शं च जनयिष्यति । अत्र वर्णादयः शुभा एव ग्राह्याः येभ्यो लोकोऽनुकूलं वेदयते अशुभवर्णादयः प्राक्कालानुभावे जनिता वर्तन्त एवेति ननु यदि शुभवर्णादीन् जनयति तदा तरुपत्रादिषु नीलो वर्णो जम्बूफलादिषु कृष्णः मरिचादिषु कटुको रसः का-

रवेल्लादिषु तिक्तः चणकादिषु रूक्षः स्पर्शः सुवर्णादिषु गुरुः क्रकचादिषु खरः इत्यादयोऽशुभवर्णादयः कथं संभवेयुरित्युच्यते अशुभपरिणामा अप्येते अनुकूलवेद्यतया शुभा एव यथा मरिचादिगतः कटु करसादिः प्रतिकूलवेद्यतया शुभा अप्यशुभा एव यथा कुष्टादिगतः स्वेतवर्णादिरिति। अथ तृतीयमेघवक्तव्यमाह '' तंसि इत्यादि '' तस्मिन् क्षीरमेघे सप्तरात्रं निपतिते सति अत्रान्तरे घृतवत् स्निग्धो मेघो घृतमेघो नाम्ना महामेघः प्रादुर्भविष्यतीत्यादि सर्वं प्राग्वत्। अथ स प्रादुर्भूतः किं करिष्यतीत्याह (तएणमित्यादि) सर्वं प्राग्वत् नवरं यो घृतमेघो भरतभूमेः स्नेहभावं स्निग्धतां जन-यिष्यतीति। अथ चतुर्थमेघवक्तव्यमाह '' तंसि इत्यादि '' तस्मिंश्च घृतमेघे सप्तरात्रं निपतिते सति अत्र प्रस्तावे अमृतमेघो यथार्थनामा महामेघः प्रादुर्भविष्यति यो वर्षिष्यति इति पर्यन्तं पूर्ववत्। यो मेघो भरते वर्षे वृक्षा गुच्छा गुल्मा लता वल्ल्यः तृणानि प्रतीतानि पर्व्वजा इक्ष्वादयः हरितानि दूर्वादीनि औषध्यः शाल्वादयः प्रवाला पल्ल-वाः अङ्कुराःशाल्यादिवीजसूचयः इत्यादीन् तृणवनस्पतिकायि-कान् बादरवनस्पतिकायिकान् जनयिष्यतीति। अथ पञ्चममेघ-स्वरूपवक्तव्यमाह '' तंसि च णमित्यादि '' व्यक्तं परं रसजनको मेघो रसमेघः यो रसमेघस्तेषाममृतमेघोत्पन्नानां बहूनां वृक्षाद्यङ् कुरान्तानां वनस्पतीनां तिक्तो निम्बादिगतः कटु को मरिचादिगतः कषायो विभीतकामलकादिगतः अम्लोऽम्लकाद्याश्रितः मधुरः शर्कराद्याश्रितः एतान् पञ्चविधान् रसविशेषान् जनयिष्यति। लवणरसस्य मधुरादिसंसर्गत्वादेतदभेदेन विवक्षणात् संभाव्यते तच्च तत्र माधुर्यादिसंसर्गः सर्वरसानां लवणप्रक्षेप एव स्वादुत्वोत्पत्तेः तेन पृथग् निर्देशः। एषां च पञ्चानां मेघानां क्रमेणेदं प्रयोजनसूत्रमुक्त मपि स्पष्टीकरणाय पुनर्लिख्यते। आद्यस्य भरतभूमेदाहोपशाः द्वितीयस्य तस्या एव शुभवर्णगन्धादिजनकत्वं तृतीयस्य तस्या एव स्निग्धताजन-कत्वम्। न चात्र क्षीरमेघेनैव शुभवर्णगन्धरसस्पर्शसंपत्तौ भूमिस्निग्धता-संपत्तिरिति वाच्यं स्निग्धताधिक्यसंपादकत्वात्तस्य न हि यादृशी घृते स्निग्धता तादृशी क्षीरे दृश्यत इत्यनुभव एवात्र साक्षी। चतुर्थस्य तस्यां वनस्पतिजनकत्वं पञ्चमस्य वनस्पतिषु स्वस्वयोग्यरसविशेषजनकत्वं यद्यप्यमृतमेघतो वनस्प-तिसंभवे वर्णादिसंपत्तौ तत्सहचारित्वात् रसस्य संपत्तिस्तस्मादेव युक्तिमती तथाऽपि स्वस्वयोग्यरसविशेषान् संपादयितुं रसमेघ एव प्रभुरिति तदा च यादृशं भरतं तादृशं तथा चाह। ' तए णं भरहे वासे ' इत्यादि तत उक्तस्वरूपपञ्चमेघवर्षणानन्तरं णमिति पूर्ववत्। भरतं वर्ष भविष्यति कीदृशमित्याह। प्ररूढा उद्गता वृक्षा गुच्छा गुल्मा लता वल्ल्यस्तृणानि पर्व्वजा हरितौषधयश्च यत्र तत्तथा। अत्र समासे कप्रत्ययः एतेन वनस्पतिसत्ताऽभिहिता। उपचितानि पुष्टिमुपगतानि त्वक्पत्रप्रवाल-पल्लवाङ्कुरपुष्पफलानि समुदितानि सम्यक् प्रकारेण उदयं प्राप्तानि यत्र तत्तथा क्तान्तस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्। एतेन वनस्पतिषु पुष्पफलान्ता रीतिर्दर्शिता। अत एव सुखोपभोग्यं सुखेनासेवनीयं भविष्यति अत्र वाक्यान्तर-योजनार्थमुपात्तस्य भविष्यति पदस्य न पौनरुक्त्यं भावनीय-मिति।

अथ तत्कालीना मनुजास्तादृशं भरतं
दृष्ट्वा यत् करिष्यन्ति तदाह।

तए ण ते मणुआ भरहं वासं पारूढरुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लि-तणपव्वयहरिअओसहिए उवचिअतयपत्तपवालपल्लवंकुर-पुप्फफलसमुइअं सुहोवयोगं जायं चावि पासिहिंति पासित्ता विलेहिं जो णिद्वइस्संति णिद्वाइत्ता हट्ठतुट्ठा अण्णमण्णं सद्दा-विस्संति सद्दाविस्संतित्ता एवं वदिस्संति जातं णं देवाणुप्पिआ भरहे वासे पारूढरुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितणपव्वयहरिअ जाव सुहोवभोगं जेणं देवाणुप्पिया अम्हं केइ अज्जप्पभिइं असुभं कुणिमं आहारिस्सइ से णं अणेगाहिं छायाहिं वज्जणिज्जे तिकट्ठ संठिइं ठवेस्संति ठवेस्संतित्ता भरहे वासे सुहं सुहेण अभिरम-माणा अभिरममाणा विहरिस्संति॥

' तएणमित्यादि ' ततस्ते मनुजा भरतवर्षं यावत् सुखोपभोग्यं चापि द्रक्ष्यन्ति दृष्ट्वा विलोक्य निर्द्धाविष्यन्ति निर्गमिष्यन्ति नि-र्द्धाव्य हृष्टा आनन्दितास्तुष्टाः सन्तोषमुपगताः पश्चात्कर्मधारयः। अन्योन्यं शब्दायिष्यन्ति शब्दायित्वा च एवं वदिष्यन्तीति। अथ ते किं वदिष्यन्तीत्याह। '' जातं णमित्यादि '' जातं भो! देवानु-प्रिया! भरतं वर्षं प्ररूढवृक्षं यावत्सुखोपभोग्यं तस्माद्भो! देवानु-प्रिया! अस्माकमस्मज्जातीयानां कश्चिदद्य प्रभृति अशुभं कुणिमं मांसमाहारमाहारयिष्यति स पुरुषोऽनेकाभिश्छायाभिः इत्थं भावे तृतीया सहभोजनादिपङ्क्तिनिषण्णा याश्छायाः शरीरसंबन्धिन्य-स्ताभिर्वर्जनीयः। अयमर्थः आस्तां तेषामस्पृश्यानां शरीरस्पर्शः तच्छरीरच्छायास्पर्शोऽपि वर्जनीयः क्वचिद् 'वज्जे ' इति सूत्रपाठे तु वर्ज्यो वर्जनीय इत्यर्थ इति कृत्वा संस्थितिं मर्यादां स्थापयिष्यन्ति स्थापयित्वा च भरतवर्षे सुखं सुखेनाभिरममाणा अभिरममाणा सुखेन क्रीडन्तः क्रीडन्तो विहरिष्यन्ति प्रवतिष्यन्त इति॥

अथ भरतभूमिस्वरूपं पृच्छति।

से णं भंते! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावप-डोआरे भविस्सइ गोयमा! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे भविस्सइ जाव कत्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव। तासे णं भंते! समाए मणुआणं केरिसए आयारभावपडो आरे भविस्सइ गोअमा! तेसि णं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहूईओ रय-णीओ उड्ढं उच्चत्तेणं जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कासेणं साइरेगं वाससयं आउअं पालेहिंति पालेहित्तिा अप्पेगइआ णिरयगामी जाव अप्पेगइआ देवगामी ण सिज्झंति।

' तीसे णमित्यादि ' सर्वं पूर्ववत् ननु कृत्रिममण्यादिकरणं तदा-नींतनमनुजानामसंभवि शिल्पोपदेशकाचार्याभावादुच्यते द्वितीयारे पुरादिनिवेशराजनीतिव्यवस्थादिकृज्जातिस्मारकादि पुरुषविशेषद्वारा वा क्षेत्राधिष्ठायकदेवप्रयोगेण वा कालानुभावजनितनैपुण्येन वा तस्य सुसंभवत्वात् कथमन्यथाऽत्रैव ग्रन्थे प्रस्तुतारकमाश्रित्य पुष्करसंवर्त-कादिपञ्चमहामेघवृष्ट्यनन्तरं वृक्षादिभिरौषध्यादिभिश्च भारायां संजातायां भरतभूम्यां तत्कालानमनुजा विलेभ्यो निर्गत्य मांसादि-भक्षणनियममर्यादां विधास्यन्ति तल्लोपकं च षड्भिर्बहिः करिष्यन्ती-त्यर्थाभिधायकं प्रागुक्तं सूत्रं संगच्छत इति। अथ मनुजस्वरूपमाह। 'तीसेणमित्यादि' सर्वं अवसर्प्पिणीदुष्षमारकमनुजस्वरूपवद्भावनीयं नवरं (सिद्धिं ति) सकलकर्मक्षयलक्षणां सिद्धिं न प्राप्नुवन्ति चरणधर्मप्रवृत्त्यभावात्। अत्र भविष्यन्निर्देशप्राप्तेर्वर्तमाननिर्देशः पू-

र्वयुक्तितः समाधेयः इत्युत्सर्पिण्यां द्वितीयारके '' तीसे णं समाए एक्कवीसाए वास इत्यादि '' तस्यां समायां दुष्षमानाम्न्यामेकविंशत्या वर्षसहस्रैः काले व्यतिक्रान्ते अनन्तैर्वर्ण्णपर्यवैर्यावत् परिवर्द्धमानः । *अत्रावसरे दुष्षमसुषमा नाम्ना समः कालः उत्सर्पिणीतृतीयारकः* प्रतिपत्स्यते हे श्रमणेत्यादि प्राग्वत् ! तीसेणमित्यादि सर्वं प्राग्वत् । अवसर्पिणीचतुर्थारकसदृशत्वमुत्सर्पिणीतृतीयारकस्येति तत् सादृश्यं प्रकटयन्नाह । तीसेणमित्यादि प्रायः प्राग्व्याख्यातार्थम् । तीर्थकरास्त्रयोविंशतिः पद्मनाभादयश्चतुर्विंशतिमस्य भद्रकृन्नाम्नश्चतुर्थारके उत्पत्स्यमानत्वात् एकादश चक्रवर्तिनो भरतादयो वीर-चरित्रे तु दीहदन्तादयः द्वादशस्यारिष्टनाम्नश्चतुर्थारके एव भावित्वात् । नवबलदेवा जयन्तादयः नव वासुदेवा आनन्दादयः समुत्पत्स्यन्ते यत्तु तिलकादयः प्रतिविष्णवो वा नेहोक्तास्तत्र पूर्वोक्त एव हेतुरवसातव्यः । गतस्तृतीयार उत्सर्पिण्याः ॥

अथ चतुर्थः ।

तीसे णं समाए एक्कवीसाए वाससहस्से काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं परिवड्ढमाणे परिवड्ढमाणे एत्थ णं दुस्समसुसमा णामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो । तीसे णं भंते ! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोआरे भविस्सइ गोअमा ! बहुसमरमणिज्जे जाव अकत्तिमेहिं चेव तेसि णं भंते ! मणुआणं केरिसए आयारभावपडोयारे भविस्सइ गोअमा तेसि णं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहूइं धणूहिं उड्ढं उच्चत्तेणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडीआउं अयालिहिंति अयालिहिंतित्ता अप्पेगइआ णिरयगामी जाव अंतं करेहिंति । तीसे णं समाए तओ वंसा समुप्पज्जिस्संति तं जहा तित्थगरवंसे चक्कवट्टिवंसे दसारवंसे । तीसे णं समाए तेवीसं तित्थगर एक्कारस चक्कवट्टी णव बलदेवा णव वासुदेवा समुप्पज्जिस्संति ॥

' तीसे णमित्यादि ' तस्यां समायां सागरोपमकोटाकोट्या द्विचत्वारिंशता वर्षसहस्रैरनियता कालव्यतिक्रान्ते अनन्तैर्वर्णपर्यवैर्यावद्वर्द्धमानोऽत्र प्रस्तावे सुषमदुष्षमा नाम्ना समः कालः उत्सर्पिणीचतुर्थारकलक्षणः प्रतिपत्स्यते ।

अथ पञ्चमषष्ठावतिदेशत आह ।

तीसे णं समाए सागरोवमकोडीए वा पालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिआए काले वीइक्कंता अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव अणंतगुणपरिवुड्ढीए परिवुड्ढमाणे परिवुड्ढमाणे एत्थ णं सुसमदूसमा णामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो । सा णं समा तिहा विभज्जिस्सई पढमे तिभागे मज्झिमे तिभागे पच्छिमे तिभागे । तीसे णं भंते ! समाए पढमे तिभाए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोआरे भविस्सइ गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे जाव भविस्सई । मणुआणं जाव उसप्पिणीए पच्छिमे तिभागे वत्तव्वया सा भाणिअव्वा कुलगरवज्जा उसभसामिवज्जा । अण्णे पढंति तीसे णं समाए पढमे तिभाए इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जिस्संति तं जहा सुमई जाव उसभे सेसं तं चेव दंडणीइओ पडिलोमाओ णेअव्वाओ । तीसे णं समाए पढमे तिभाए रायधम्मे जाव धम्मचरणे अव्वोच्छित्तिस्सइ । तीसे णं समाए मज्झिमपच्छिमेसु तिभागेसु जाव पढममज्झिमेसु वत्तव्वया उसप्पिणी एसा भाणिअव्वा सुसमा तहेव सुसमसुसमा वि तहेव जाव छव्विहा मणुस्सा अणुसज्जिस्संति जाव सणिच्चारी ॥

सुषमा पञ्चसमालक्षणः कालस्तथैवाऽवसर्पिणीद्वितीयारकवदिति । सुषमसुषमा षष्ठारकः सोऽपि तथैव अवसर्पिणीप्रथमारकसदृश इत्यर्थः । कियत्पर्यन्तमत्र ज्ञेयमित्याह यावत् षड्विधा मनुष्या अनुसंक्ष्यन्ति संतत्या अनुवर्तिष्यन्ते यावच्छनैश्चारिणः । यावत् पदात् पद्मगन्धादयः पूर्वोक्ता एव ग्राह्याः गतौ पञ्चमषष्ठौ तद्गमने चोत्सर्पिणी गता तस्यां च गतायामवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूपं कालचक्रमपि गतम् , जं० २ वक्ष० ।

**एवं छट्ठे अरए उस्सप्पिणीए समत्ते वि पढमे अरए एसा चेव वत्तव्वया तम्मि बोलीणे वीयारपयारंभे सत्ताहं पंचमहाभारहे वासे वासिस्संति कमेणं तं जहा पढमो पुक्खरावत्तो तावं निव्वावेहिइ वीओखीरोदो वन्नकारी तइओ घओदओ नेहकारओ चउत्थो अमिओदओ ओसहिकारो पंचमो रसोदओ भूमीए सस्सजणणो ते य विलवासिणो पइसमयं वड्ढमाणसरीराउ पुढहविसुहं दट्ठूण विलेहिंतो निस्सरंति धन्नं फलाइं भुंजंता मंसाहारं निवारइस्संति तओ मज्झदोसमुत्तकुलगरा भविस्संति तत्थ पढमो विमलवाहणो बीओ सुवामो तइओ संगओ चउत्थो सुपासो पंचमो दत्तो छट्ठो सुमुहो सत्तमो सम्मुची जाइसमरणेणं विमलवाहणेणं विमलवाहणो नगराइ निवेसं काहीं अग्गिम्मि उप्पन्ने अण्णं पाणगं सिप्पाइं कालाउलोगववहारं च सव्वं पवत्तेहि तइओ गुणनवइपक्खसमज्झिए हिए उस्सप्पिणीअरय-दुगे वइक्कंते पुंडवद्धणदेसे सयद्दारे पुरे संमुइनरवइणे भद्दाए देवीए चउद्दसमहासुमिणसूइओ सेणिवरायजीवो रयणप्पभाए लोलुबुद्धयपच्छडाओ चुलसीइं वाससहस्साइं आउं पालित्ता उव्वट्टो समाणो कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववज्जिहिइ वण्णप्पमाणलंवणआउणिगब्भावहारवज्जं पंचकल्लाणयाणं मासतिहिं नखत्ताणि जहा मम तहेव भविस्संति नवरं नामेणं पउमनाहो देवसेणो विमलवाहणो अ । तओ वीयतित्थयरो सुपासाजीवो सूरदेवो तइओ उदाइजीवो सुपासो चउत्थो पोट्टलिजीवो सयंपभो पंचमो दयओजीवाओ सव्वाणुभूई छट्ठो कित्तियजीवो देवसुओ सत्तमो संखजीवोदयो अट्ठमो आणंदजीवो पेटालो नवमो सुनंदा जीवो पोट्टिलो दसमो सयगजीवो सयकित्ती एक्कारसमो देवइजीवो मुणिसुव्वओ बारसमो कण्णजीवो अममा ते-

रसमो सव्वइजीवो निक्कसाओ चउद्दसमो बलदेवजीवो निप्पुलाओ पण्णरसो सुलसाजीवो निम्ममो सोलसमो रोहणीजीवो चित्तगुत्तो केइं पुण भणंति कक्किपुत्तो दत्तमानो पण्णरसउत्ति उत्तरे विक्कमवरिसे सेतुंजे उद्धारं कारित्ता जिणभवणमंडिअं च वसुहं काउ अज्जियतित्थयरनामो सग्गं गंतुं चित्तगुत्तो नाम जिणवरो होहित्ति। इत्थ य बहुस्सुअसंसयं पमाणं सत्तरसो रेवइजीवो समाही अट्ठारसो सयालिजीवो संचरो एगूणवीसो दीवायणजीवो जसोहरो वीसइमो कणजीवो विजओ एकवीसो नारयजीवो मल्लो वावीसयमो अंवडजीवो देवो तेवीसयमो अमरजीवो अणंतवीरिओ चउवीसयमो सायं वुद्धजीवो भद्द-करो अंतरालाइ पच्छाणुपुव्वीए जहा वट्टमाणजिणाणं भावि-चक्कवट्टिणो दुवालस होहिंति तं जहा दीहदंतो १ गूढदंतो २ सिरिचंदो ३ सिरिभूई ४ सिरिसोमो ५ पउमो ६ नायगो ७ महा-पउमो ८ विमलो ९ अमलवाहणो १० विलो ११ अरिट्ठो १२ अ। नव भाविवासुदेवा तं जहा नन्दो १ नन्दिमितो २ सुन्दरबाहुः ३ महाबाहु ४ अइबलो ५ महाबलो ६ बलभद्दो ७ दुविट्ठो ८ तिविट्ठो य ९। नव भाविपडिवासुदेवा जहा तिलओ १ लोह-जंघो २ वइरजंघो ३ केसरी ४ बली ५ पल्हाए ६ अपराजिओ ७ भीमो ८ सुग्गीवो ९ नव भाविबलदेवा तंजहा जयंतो १ अजिओ २ धम्मो ३ सुप्पभो ४ सुदंसणो ५ आणंदो ६ नंदणो ७ पउमो ८ संकरिसणो ९ य। इगसट्ठीसलागा पुरिसा उस्सप्पिणीए तइए अरए भविस्संति अपिच्छम जणचक्कवट्टिणो जहण्णिचउत्थे अरए होहिंति तओ दसमगाई कप्परुक्खा उप्पिं जहिंति अट्ठा-रसकोडाकोडीओ सागरोवमाणं निरंतरं जुगलधम्मो भविस्स-इत्ति २१ ती०।

एगमगाए उसप्पिणीए पढमवीयाओ समाओ बायालीसं वाससहस्साइं कालेणं पण्णत्ता॥

(पढमवीयाउत्ति) एकान्तदुष्षमा दुःषमा चेति॥ ४२॥ त्रिचत्वारिंशत्स्थानकेऽपि किंचिल्लिख्यते (कम्मवियागज्झयणत्ति) कर्मणः पुण्यपापात्मकस्य विपाकस्य फलं तत्प्रतिपादकान्यध्ययनानि कर्मविपाकाध्ययनानि एतानि च एकादशाङ्गद्वितीयाङ्गयोः सम्भाव्यन्त इति '' जंबूदीवस्सणमित्यादि '' जम्बूद्वीपपौरस्त्यान्ताद्गोस्तुभपर्वतो द्विचत्वारिंशद्योजनानां सहस्राणि तद्विष्कम्भश्च सहस्रं तदधिकाया द्वाविंशतेरल्पत्वेनाविवक्षणादेवं त्रिचत्वारिंशत्सहस्राणि भवन्तीति एवं (चउद्दिसिंपित्ति) उक्तदिगन्तर्भावेन चतस्रो दिश उक्ता अन्यथा एवं (तिद्दिसिंपित्ति) वाच्यं स्यात् तत्र चैवमभि-लाषः '' जंबूद्दीवस्स णं दीवस्स दाहिणिल्लाओदओ भासस्स णं आवासपव्वयस्स दाहिणिल्ले चरिमंते एसिणं तेयालीसं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पन्नत्ते '' एवमन्यत्सूत्रद्वयं नवपश्चिमायां संखा आवासपर्वत उत्तरस्यामुदकसीम इति॥ ४३॥ चतुश्चत्वारिंशत्स्थानकेऽपि किंचिल्लिख्यते चतुश्चत्वारिंश (इसिभासियत्ति) ऋषिभाषिताध्ययनानि कालैकश्रुतविशेषभूतानि (दियालोयचुयाभासियात्ति) देवलोकच्यतैः ऋषीभूतैराभाषितानि देवलोकच्युताभासितानि। क्वचित्पाठः देवलोयभूयाणं वायालीसं इसिभासियज्झयणा पन्नत्ता (पुरिसजुगाइंति) पुरुषाः शिष्यप्रशिष्यादिक्रमव्यवस्थिता युगानीव कालविशेषा इव क्रमसाधर्म्यात्पुरुषयुगानि (अ-णुपिडति) आनुपूर्व्या (अणुबंधंति) पाठान्तरे तृतीयादर्शनादनुबन्धेन सातत्येन सिद्धानि जावंति करणेन बुद्धाइं सव्वदुक्खप्पहीणा इति दृश्यम्। स० टी० समयायाङ्गे प्रतिवासुदेवेषु बलीस्थाने महाभीम इति।

अहवा तिविहा उस्सप्पिणी पण्णत्ता तं जहा उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना एवं छप्पि य समाओ भाणियव्वाओ जाव दुसमदुसमा तिविहा उस्सप्पिणी पण्णत्ता तं जहा उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना। एवं छप्पि य समाओ भाणियव्वाओ जाव सुसमसुसमा॥

उत्सर्पिण्यां दुष्षमदुष्षमादि तद्भेदानां चोक्तविपर्य्ययेणोत्कृष्टत्वं योज्यमिति। षष्ठेऽरके उत्कृष्टा चतुर्षु मध्यमा प्रथमे जघन्या॥ स्था० ३ ठा० १ उ०।

उस्सप्पिणीगंडिया स्त्री०(उत्सर्पिणीगण्डिका)उत्सर्पिणीविषयैकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतायां गण्डिकायाम्, स०॥

उस्सप्पिणीसमय पुं०(उत्सर्पिणीसमय) उत्सर्पिणीशब्देतावसर्पिण्युपलक्ष्यते दिनग्रहणेन रात्र्युपलक्षणवत् तयोः समयाः परमनिकृष्टाः कालविशेषाः उत्सर्पिणीसमयाः। अवसर्पिण्युत्सर्पिण्योः समयेषु, कर्म०॥

उस्सय पुं०(उच्छ्रय) शरीरे, आव० ५ अ०। स्वभावोन्नतत्वे तद्रूपे पञ्चचत्वारिंशत्तमे गौणाहिंसालक्षणेऽर्थे, प्रश्न० २ श्रु० अ०। उच्चद्रव्याङ्गे, ''उच्छ्रायेण गुणितं चितेः फलम्'' वाच०।

उस्सयण पुं०(उच्छ्राय) यस्मिंश्च सति ऊर्ध्वं श्रयति जात्यादिना दर्पाध्मातः पुरुष उत्तानी भवति स उच्छ्रायः। माने, थंडिलुस्सयणाणि य '' जात्यादीनामेतत्स्थानानां बहुत्वात् तत्कार्यस्यापि मानस्य बहुत्वमतो बहुवचनम्। छान्दसत्वान्नपुंसकलिङ्गता। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०॥

उस्सव पुं०(उत्सव) उद्-सू-अप्। आनन्दजनकव्यापारे, शक्रो-त्सवादौ, प्रश्न० २ श्रु० ५ द्वा०। इन्द्रमहादौ, आ० चू० १ अ०॥

उस्सविय अव्य०(उच्छ्राय्य) ऊर्ध्वं व्यवस्थाप्येत्यर्थे, '' अवहट्टु उस्सविय दुरुहेज्जा '' आचा० २ श्रु० १ अ०। '' आमंतिय उस्सविय भिक्खु आयसा निमंतंति '' संस्थाप्योच्चावचैर्विश्रम्भजनकैराला-पैर्विश्रम्भे पातयित्वा सूत्र० १ श्रु० ४ अ०।

उस्ससिय त्रि०(उच्छ्वसित) उल्लसिते, उत्त २० अ॥

उस्ससियरोमकूव पुं०(उच्छ्वसितरोमकूप) साधोर्दर्शनाद् वाक्यश्रवणादुल्लसितरोमकूपे, उत्त २० अ॥

उस्सेज्जमाण त्रि०(उच्छ्वस्यमान) उच्छ्वसिते क्रियमाणे '' उच्चस्ससेज्जमाणे वा अच्छिन्ने पुग्गले चलेज्जा '' उच्छ्वस्यमान उच्छ्वासवायुपुद्गलः '' स्था० १० ठा०।

उस्सा पुं०(अवश्याय) क्षपाजले,(स्था० ४ ठा०) योगगनात्पतति, कल्प। धेनुपर्याये, देशी०॥

उस्साचारण पुं०(अवश्यायचारण) अवश्यायमवष्टभ्याप्काय-

जीवपीडामजनयति गतिमसङ्गं कुर्वाणे चारणभेदे, प्रव० ६८ द्वा०।

उस्सारकप्प पुं०(उत्सारकल्प) यत्रैकस्मिन् दिने बहुदिवसयोग्यसूत्रस्य वाचना दीयते तस्मिन्, आ० चू० १ अ०॥

उत्सारकल्पस्य दोषादिवक्तव्यता। अथानुषङ्गिकमुत्सारकल्पिकद्वारमभिधित्सुः प्रस्तावनामाह॥

चोयगपुच्छा उस्सार-कप्पिओ नत्थि तस्स विह नामं।
उस्सारे चउगुरुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

कल्पिकद्वारे व्याख्याते सति लब्धावकाशो नोदकः पृच्छां करोति भगवन्नमीषां कल्पिकानां मध्ये किमित्युत्सारकल्पिकेनोपन्यस्तः। सूरिराह नास्त्युत्सारकल्पिक इति। भूयोऽपि परः प्राह। यद्युत्सारकल्पिको नास्ति ततः कथं तस्य नाम श्रूयते गुरुराह यद्यस्त्युत्सारकल्पो नास्त्याव्यवह्रियते तथाऽपि न कल्पते उत्सारयितुं यद्युत्सारयति तदा चत्वारो गुरुकाः तत्राप्याज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः। तानेवाह।

आणाणवत्थमिच्छा-विराहणा संजमे य जोगे य।
अप्पा परो पवयणं, जीवनिकाया परिच्चत्ता॥

आज्ञा भगवतां तीर्थकृतामुत्सारकल्पकृता न कृता भवति तमाचार्यमुत्सारयन्तं दृष्ट्वा अन्येऽप्याचार्या उत्सारयिष्यन्ति उदीया अन्यदीया वा शिष्या विवक्षितशिष्यस्पर्द्धानुबन्धादुत्सारापयिष्यन्ति वेत्यनवस्था। मिथ्यात्वं वा प्रतिपन्ना अभिनवधर्माणः सत्वा व्रजेयुः। विराधना संजमे च संयमविषया योगे च योगविषया भवति। तथा तेनोत्सारकेण आत्मा स्वजीवः पर उत्सारकल्पविषयः शिष्यः प्रवचनं तीर्थं जीवनिकायाः पृथिव्यादयः एतानि परित्यक्तानि भवन्तीति द्वारगाथासमासार्थः। सांप्रतमेनामेव विवरीषुः राज्ञाऽनवस्थे क्षुण्णत्वादनादृत्य मिथ्यात्वं दर्शयितुं दृष्टान्तमाह।

पुव्वमलियउस्सार-वायए आगए पडिमिलिंति।
पडिलेहपुग्गलिं वि य, बहुजणओभाजणा तित्थे॥

तत्र तावत्प्रथमं कथानकमुच्यते। इह पुरा केचिदाचार्याः पूर्वान्तर्गतसूत्रार्थधारकतया लब्धवाचकनामधेयाः सर्वज्ञशासनसरसीरुहविकाशनैकसहस्ररश्मयः प्रावृषेण्यपयोमुच इव सरसदेशनाधाराधरनिपाते महीमण्डलमेकार्णवधर्मकमादधाना गन्धहस्तिन इव कलयूथेन सातिशयगुणवता निजशिष्यवर्गेण परिकलिता एकं कंचिद्ग्राममुपागमन्। तत्र चाधिगतजीवाजीवादिविशेषणविशिष्टा बहवः श्रमणोपासकाः परिवसन्ति। ते च गुरूणामागमनमाकर्ण्य प्रमोदमेदुरमानसाः स्वस्वपरिवारपरिवृताः सर्वेऽप्यागम्य तदीयं पादारविन्दमभिवन्द्य योजितकरकुड्मला यथावत्पुरतः आसाञ्चक्रिरे। ततः सूरिभिरपि रचिता यथोचिता धर्मदेशना। तदाकर्णनेन संजातसंवेगसुधासिन्धौ नान्तरमलः सकलोऽपि श्रावकलोको गतः परमपरितोषपरवशः सूरीणां गुणग्रामोपवर्णनं कुर्वन् स्वं स्वं स्थानम्, तैश्च वाचकनभोमणिभिस्तत्रायातैः प्रतिहतः खद्योतपोतकल्पानामन्ययूथिनां प्रभाप्रसरः। ततो न शक्नुवन्ति तेऽन्ययूथिका आचार्याणां व्याख्यानादिभिर्गुणैर्जायमानं निरुपमानं महिमानं द्रष्टुमिति संभूय सर्वेऽप्युपमाचार्यं वादे पराजित्य तृणादपि लघूकरिष्याम इत्येकवाक्यतया चेतसि व्यवस्थाप्य समाजग्मुः सूरीणामन्तिकम्। सूरिभिरपि निष्प्रतिमप्रतिभाप्राग्भारव्रतभवबादलब्धिसंपन्नैर्निपुणहेतुदृष्टान्तोपन्यासपुरस्सरं मध्ये विद्वज्जनसभं कृतास्ते निष्पृष्टप्रश्नव्याकरणाः। ततः समुच्छलितः पारमेश्वरप्रवचनगोचरः कीर्तिकोलाहलः प्रादुर्भूतः परतीर्थिकानामपि परमः परा-भवः निमग्नः प्रमोदपीयूषपयोनिधावस्तोकः श्रमणोपासकलोकः संपादिता सपदि विशेषतस्तेन महती तीर्थस्य प्रभावना। ततस्ते वाचकाः क्रियन्तमपि कालमलङ्कृतं ग्रामं प्रबोध्य मिथ्यात्वनिद्राविद्रावणचैतन्यं भव्यजन्तुजातमन्यत्र कुत्राऽपि व्यहार्षुः तेषु च दिनकरवदन्यत्र प्रतापलक्ष्मीमुद्वहमानेषु परतीर्थिका उल्लूका इवाप्तप्रसरतया घोरघूत्कारकल्पं प्रवचनावर्णवादं कर्तुमारब्धाः। वदन्ति च श्रावकान् प्रति भोः श्वेताम्बरोपासकाः! यद्यस्ति भवतां कोऽपि कण्डूलमुखो वादी स प्रयच्छतु सांप्रतमस्माकं वादमिति। श्रावकैरुक्तम्। अहो विस्मृतमधुनैव भवतां भवान्तरानुभूतमिव तत्तादृशमद्यश्वीनमपि लाघवं यदेवमनात्मज्ञा असमञ्जसं प्रलपत भवत्वेवं तथाऽप्यायान्तु तावत्केचिद्वाचका वा गणिनो वा पश्चाच्च भणिष्यन्ति भवन्तः तत्करिष्याम इति। अथैकदा कदाचिन्निजपाण्डित्याभिमानेन तु भुवनमपि तृणवन्मन्यमानस्तुण्डताण्डवाडम्बरेण वाचस्पतिमपि मूकमाकल्पयन् समागतः कतिपयशिष्यकलितः औ-त्सारकल्पिकवाचकः। ततः प्रमुदिताः श्रावकाः गताः अन्ययूथिकः नामभ्यर्णे निवेदितं तत्पुरतः युष्माभिस्तदानीमस्माकं समीपे वादः प्रार्थित आसीत्। अस्माभिश्च भणितमभूत् यदा वाचका अत्रागमिष्यन्ति तदा सर्वमपि युष्मदभिप्रेतं विधाम्याम इति तदिदानीमागताः सन्ति वाचकाः कुरुत तैः सह वादगोष्ठीं पूरयत स्वप्रतिज्ञामित्यभिधाय गताः श्रावकाः स्वस्वस्थानम्। तैश्चान्ययूथिकैः प्राचीनपराभवप्रभवभयत्रान्तैरेकः प्रच्छन्नवेषधारी प्रत्युपेक्षकः किं सहृदयः शास्त्रपरिकर्मितमतिर्वाग्मी वाचकः किं वा नेति ज्ञानाय प्रेषितः स चागम्योत्सारकल्पिकवाचकं प्रश्नयति परमाणुपुद्गलस्य कतीन्द्रियाणि भवन्तीति ततः स एवं पृष्टः सन् किंचिन्मात्रपल्लवत्वरितग्राहितया यथोक्ताव्यभिचारिविचारबहिर्मुखत्वात् चिन्तयति यः परमाणुपुद्गलः एकस्माल्लोकचरमान्तादपरं लोकचरमान्तमेकेनैव समयेन गच्छति स निश्चितं पञ्चेन्द्रियः कुतोऽनीदृशस्यैवंविधा गमनवीर्यलब्धिरित्यभिसन्धाय प्रतिवचनमभिधत्ते भद्र! परमाणुपुद्गलस्य पञ्चापीन्द्रियाणि भवन्ति तत एवंविधं निर्वचनमवधार्य स पुरुषः प्रत्यावृत्य गतः अन्ययूथिकानां संनिधौ कथितं सर्वमपि स्वरूपं तदग्रतस्ततः चिन्तितं स्वचेतसि तैर्नूनमयं शारदवारिद इव बहिरेव केवलं गर्जति अन्तस्तुच्छ एवेति विमृश्य समागतः संभूय भूयांसं लोकनीलं कृत्वा वाचकान्तिकं क्षुभितोऽसौ स्वतुच्छतया तावन्तं समुदायमवलोक्य सञ्जातः स्वेदबिन्दुसुचकितशरीरः आक्षिप्तः साटोपमन्यतीर्थिको ग्राहितो यथाऽभिमतं पक्षविशेषं न शक्नोति निर्वोढुं प्रगल्भितो दुस्तराणि प्रश्नोत्तराणि न जानीते लेशतोऽपि प्रतिवक्तुं ततः कृतो मिथ्यादृष्टिभिर्जितं जितमस्माभिरित्युत्कृष्टकलकलः प्रादुर्भूतं प्रवचनमालिन्यं मुकुलितानि श्रमणोपासकवदनकमलानि विप्रतिपन्ना यथा भद्रङ्कादय इति। अथ गाथाक्षरार्थः पूर्वं कैश्चिद्वाचकैरन्ययूथिका (मलिअत्ति) मानमर्दनेन मर्दितस्तत उत्सारवाचके आगते सति प्रतिमर्दयन्ति प्रत्यावृत्त्या मानमर्दनं कुर्वन्ति कथमित्याह "पडिलेह" इत्यादि तैरन्यतीर्थिकैः प्रत्युपेक्षकः पुरुषः प्रेक्षितस्ततः स आगत्य पृष्टवान् पुद्गलस्य परमाणोः कतीन्द्रियाणि तेन प्रत्युक्तं पञ्चेति। ततस्तैर्बहुजनमध्ये स वाचको वादे निरुत्तरीकृतः एवमपभ्राजना साधवं तीर्थस्य भ-

वति तत्र चाभिनवधर्मणां चेतसि विकल्प उपजायते यदि नाम वाचकोऽप्येनं न शक्नोति निर्वचनमर्पयितुं तन्नूनमेतेषां तीर्थकरेणैव न सम्यग्वस्तुतत्वं परिज्ञातमन्यथा कथमेष एवंविधे अथ व्यामुह्यते इति विपरिणामतो मिथ्यात्वगमनं भवेत्। भावितं मिथ्यात्वद्वारम्।

अथ संयमविराधनां भावयति।

जीवाजीवे न मुणइ, अलियभया कहेइ दगमिगाई।
करणे अविवच्चासं, करेइ आगाढणागाढे॥

जीवाश्चाजीवाश्च जीवाजीवास्तानसौ वाचनामात्ररूपेणोत्सारकल्पेनानुयोगमवगाह्यमानो विविक्तेन न मुणति न जानीते तत्परिज्ञामात्राच्च कुतः संयमसद्भावस्तदुक्तं परमर्षिभिः। '' जो जीवे वि न याणइ, अजीवे वि न जाणइ। जीवाजीवे अजाणंतो, कह सो नाहिइ संजमं '' तथा अलीकमत्यन्तभयाद्वकमृगादीन् कथयति किमुक्तं भवति स उत्सारकल्पिकपल्लवमात्रग्राहितया सत्यमेव भाषितव्यं नासत्यमिति कृत्वा उदकार्थिनां नदीतडागादौ पानीयमस्ति नास्ति वेति पृच्छतामलीकं भा भूदिति कृत्वा विद्यते नद्यादौ जलमिति कथयति रागया प्रस्थितानां च व्याधानां दृष्टं मृगच्छदं न वेति पृच्छतामलीकभयादेव दृष्टमिति प्रयच्छति आदिशब्दात् शूक-रादिपरिग्रहः न पुनर्जानीते यथा। ''सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स अरांभोत्ति'' ततः स जलगतसूक्ष्मजन्तुजातस्य मृगादीनां वा यद् व्यपरोपणं ते करिष्यन्ति तत्सवमुत्सारकल्पकारकः प्राप्नोति। तथा करणे चारित्रे उत्सर्गापवादविधिमजानन् यद्विपर्यासं करोति तद्यथा आगाढे ग्लानादिकार्ये अनागाढं त्रिः कृत्वः परिभ्रमणादिलक्षणमनागाढे वा आगाढं सद्यः प्रतिसेवनात्मकं करोति। एषा सर्वाऽपि संयमविराधना॥

अथ योगविराधनामाह।

तुरियं नाहिज्जंते, नेव चिरं जोगजंति ता होति।
लद्धो महंतसद्दो त्ति, केई पासाइ गेण्हंति॥
कमजोगं न विजाणइ, विगईओ का य कत्थ जोगम्मि।
अण्णस्स वि देंति तहा, परंपरा घंटदिट्ठंतो॥

अनुज्ञातोऽस्माकं गुरुभिः सकलोऽपि श्रुतस्कन्धः ततः किमनेन पठितेन कार्यमिति कृत्वा ते शिष्यास्त्वरितं शीघ्रं नाधीयन्ते नैव च ते चिरं योगैः श्रुताध्ययननिबन्धनतपोविशेषैः यन्त्रिता नियमिता भवन्ति एकाहेनापि प्रभूतसूत्रार्थे वाचनानुज्ञाप्रदानात्। तथा लब्धोऽस्माभिर्गणिरयं वाचकोऽयमिति महान् शब्दस्ततः कुतो हेतोर्वयमत्राचार्यसन्निधौ निष्फलं तिष्ठाम इति परिभाव्य केचिद्गुरुचरणपर्युपासनापरिभग्नाः पार्श्वानि गृह्णन्ति पार्श्वतो ग्रामेषु यथास्वे-च्छं विहरन्तीति भावः (कमजोगमिति) योगक्रमं नापि नैव जानन्ति यथा अस्मिन् योगे एतावन्त्याचाम्लानि इयन्ति निर्विकृतिकानि इत्थं चानुद्देशादयः क्रियन्ते तथाऽधिकृतयः काः कुत्र योगे कल्पन्ते न वेत्येवमपि न जानाति यथा कल्पिकाकल्पिकनिशीथादियोगेषु न विसृज्यन्ते काश्चनापि विकृतयः व्याख्याप्रज्ञप्तियोगेषु पुनरवगाहिमविकृतिर्विसृज्यते दृष्टिवादयोगेषु तु मोदकः तथा चाह स एव कल्पाध्ययनस्य चूर्णिकृत्। '' जहा कप्पियाकप्पियनिसीहाईणं विगईओ न विसज्जिज्जंति। पन्नतीए ओगाहिमगविगई विसज्जिज्जइ दिट्ठीवाए मोदगोत्ति ''। निशीथचूर्णिकृत्पुनराह '' जोगो दुविहो आगाढो अणागाढो वा आगाढतरा जम्मि जोगे जयणा सो आगाढो यथा भगवतीत्यादि। इतरो अणागाढो यथा उत्तराध्ययनादि। आगाढे ओगाहिमगवज्जाओ नव विगईओ वज्जिज्जांति दसमाए भयणमहाकप्पसुए एक्को परं मोदकविगई कप्पइ सेसा आगाढेसु सव्वविगईओ न कप्पंति अणागाढे पुण दस वि विगईओ भइयाओ जओ गुरुअणुण्णाए न कप्पंति त्ति '' एवंविधां योगव्यवस्थामजानन् यदाऽसौ विराधयति सा योगविराधना। तथा (अन्नस्स वि देंति तहत्ति) ते उत्सारकल्पिका अन्यस्यापि स्वशिष्यादेः तथा चोत्सारकल्पेनैव वाचनां प्रयच्छन्ति सोऽप्यपरेषां तथैवेत्येवमुत्सारकल्पे प्रवाहतः क्रियमाणे परम्परया सूत्रार्थव्यवच्छेदः प्राप्नोति घण्टादृष्टान्तश्चात्र वक्तव्यः। तमेवोपनययुक्तं गाथात्रयेणाह।

उच्छुकरणोवकुट्ठ ग, पडणं घंटासियालनासणया।
विगमाई पुच्छपरं-पराए नासंति जा सीहो॥
पडियरिउं साहेणं, साहिओ आसासिया मिगगणा य।
इय कइ वयाइ जाणइ, पयाणि पढमिल्लुगुस्सारी॥
किं पि त्ति अन्न पुट्ठो, पच्चं तुस्सारणे अवोच्छित्ती।
गीताममणखरंटण-पच्छित्तं कित्तिया चेव॥

अत्र कथानकम्। एगस्स महावइयस्स उच्छुवाडो बहुसइओ निष्फन्नो तं सियालो पइसरित्ता खाइत्ति। ताहे सो उच्छसामी सियालग्गहणनिमित्तं तस्स उच्छुवाडस्स परिपरंतेसु चउदिसि खाइयं खणावेइ तत्थ एगो सियालो परिओसो वराओ गिहित्ता कण्णे पुच्छं च कप्पित्ता दीवियचम्मेण वेढित्ता घंटं आबंधित्ता विसज्जिओ नासंतो सियालेहिं दिट्ठो दूरओ ते सियाला अन्नारिसो त्ति काउं चएण पलाया तो विडूपहिं दिट्ठा वुच्छिया किं नासहत्ति तेहिं कहियं अपुव्वं सरे करेमाणे किं पि अपुव्वं भूयं एत्ति। ते वि भएण पलायंता वरक्खूहिं दिट्ठा पुच्छिया तेहिं कहियं किं पिकिर एत्ति सिग्घं नासह ते पलायंता चित्तएहिं दिट्ठा पुच्छिया कहियं किं पि किर एत्ति तुरियं पलायह ते वि पलायंता सीहेण पुच्छिया कहियं तेहिं सीहो चिंतेइ मो पाणियसद्देन ओवाहणाओ मुयामि गवेसामि ताव तेण सणियं पडियरियत्ता सियालो विहिओ घंटासीयालो कीस आओ लीक-यामोत्ति रोसेणं ते असियालादयो मिया आसमोभीयहहिओ सो वराओ मए दीवियं चम्मो णद्धो घंटासीयलो कण वि अवराहेण घत्तुं तहाकओ एस दिट्ठंतो। अयमत्थो वण्णओ जस्स तीउस्सारिज्जति सो जावतिएहिं दिवसेहिं जोगो समप्पइ तावति दिवसे कति वयाणं आलावगाणं किंचि पुत्तफासियम्मि खित्ता पव्वत्तं गंतूण गच्छागच्छि-त्तणं करेति अन्नेसिं च उस्सारेतिते वि उस्सारा पत्ता पत्तेयं गच्छपाग-ट्ठित्तणेणं ठीएत्ता सिस्साणं पडिच्छयाण य उस्सारकप्पं करेंति। अम्हे किर सुत्तत्थाणं अवोच्छित्तिं करेमो तत्थ जो सोपमिल्लुग-उस्सारी सो जहा ते सियाला तस्स घंटासियालस्स अकित्तिं घंटासद्दं च जाणति तओण को एस किं वा एयस्स गलएयस्स गलएकस्स वा एस सद्दो एवं सो पढमिल्लुगुस्सारी किंचि वि जाणइ न सव्वं सब्भावं जो एयस्स पासे उस्सारकप्पं करेति सो कइवि आलावए जाणेत्ति न पुण अत्थं सो सिस्सेणं पुच्छिओ भणति किं पि केरिसो वि अत्थि एयस्स अत्थो सेसा कतिवए वि आलावए न कट्ठंति ते सिस्सेहिं पुच्छिज्जंता भणंति ण याणामो पुण किंपि एयं तस्स तुब्भे जोगं वहह। एवं ते अप्पाणं च परं च नासिता विहरंति। अह अन्नया गीयत्था

आयरिया आगया तेहिं ते उबालद्धा गच्छाय अच्छित्ता गच्छेसु य पवेसिया सव्वे जहा एते दोसा तम्हा न उस्सारेयव्वा कत्तिया ते भविस्संति जे एवं निहोडिहिंति । गाथावयस्याप्यक्षरगमनिका इत्येवं क्रियते । यत्र तदिक्षुकरणमिक्षुवादस्तस्य रक्षणार्थम् वराको गताख्यानिकेत्यर्थः साख्यानिका तत्र क्रोष्टुः शृगालस्य पतनं ततो गृहपतिना गलके घण्टां बध्वा मुक्तस्य दर्शनं शृगालानां नाशनं ततो वृकादीनां पृच्छा ततः सर्वेऽपि परम्परया नश्यन्ति यावत् सिंहः समा-गतस्तेन प्रतिजागर्य निरूप्य स घण्टाशृगालो हतः । शेषा मृगगणाः शृगालवृकादय आश्वासिताः । अयं दृष्टान्तः । अथ दार्ष्टान्तिकयो-जनामाह '' इयकइवयाइं इत्यादि '' इत्यमुनैव प्रकारेण प्रथमि-ल्लुकोत्सारी शिष्यः कतिपयानि सूत्रालापकरूपाणि किञ्चिन्मा-त्रसूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिमिश्रितानि जानीते अस्य च समीपे योऽन्यो-ऽधीते स कतिपयान् सूत्रालापकान् जानीते न पुनरर्थं तस्यापि पार्श्वे यः पठति स सूत्रालापकानपि नाकर्षति । अन्येन पृष्टः प्रतिभणति अस्ति किमप्येतदङ्गोपाङ्गादिकं श्रुतं तद् यूयमेतस्य योग-मुद्वहतेति । एते च दुरधीतविद्यत्वात्प्रायः प्रत्यन्तग्रामं एवार्थं लभन्ते । यत उक्तम् । '' पाएण खीणदव्वा, धणियपरद्धा कयावए हाय । पच्चंतं सेवंती, पुरिसा दुरहीयवज्जाया ''। अतः प्रत्यन्तं गत्वा सूत्रार्थ-योरुत्सारणं कुर्वन्ति वदन्ति च वयं सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तिं कुर्म इति अन्यदा च यत्र प्रत्यन्तग्रामे गीतार्थानामागमनं तरुत्सारकल्पिकानां खरण्टनं यथा आः किमेवं सूत्रार्थयोः परिपाटिवाचनां परित्यज्य सकलश्रुतधर्मधूमकेतु-कल्पमुत्सारकल्पमाचरन्तः आत्मानं च परं च नाशयतेत्यादि । ततश्च गच्छान्नावछिद्यते तेषामपुनःकरणेन प्रतिकान्तानां प्रायश्चित्तं दत्तम् (कित्तिय त्ति) कियन्त एतादृशा गीतार्था भविष्यन्ति य एवं शिक्षयिष्यन्ति तस्मात्प्रथमत एव नोत्सारणीयम् भाविता सप्रपञ्चं योगविराधना ।

अथात्मा परश्च परित्यक्त इति पदद्वयं भावयति ।

अप्पत्ताण उदिंतेण, अप्पओ इह परत्थ वि य चत्ते ।
सो वि अ हु तेण चत्तो, जं न पढइ तेण गव्वेणं ॥

अपात्राणामयोग्यानां यद्वा अप्राप्तानां विवक्षितानुयोगभूमिमनुपा-गतानां श्रुतं ददतोत्सारकल्पकृता आत्मा इह परत्रापि चत्यक्तस्तत्रेह तद्वाचनादानसमुद्भूतापयशः वादादिना परत्र बोधिदुर्लभत्वादिना तथा सोऽपि शिष्यो हु निश्चितं तेना चार्येण परित्यक्तो यत् तेन गणिवाचकत्वादिगर्वणाधिष्ठितः सन्न पठति पठनाभावे हि कुतो यथावच्चरणपरिपालनम् । किं च -

अज्जस्स हीलणा ल-ज्जणा य गारविअकारणमणज्जे ।
आयरिए परिवाओ, वोच्छेदो सुत्तस्स तित्थस्स ॥

आर्यः सुजनः सुमानुष इत्येकोऽर्थः । तस्य यथावदागमार्थबोध-विकलस्य वाचकनाम्ना हीलना भवति । अहो हीलेयं मम यदहं वाचकेत्यभिधीये तथा (लज्जणत्ति) वाचकमिश्रा अयमालापकः सिद्धान्ते विद्यते को वा अस्यालापकस्यार्थइति केनापि पृष्टस्य व्याकरणंदातुम-शक्नुवतो भृशंलज्जा भवति ततश्च श्यामवदनकुब्जीकृतकन्धरश्चिन्तया विमनायमानोऽवतिष्ठते अनार्ये अनार्यस्य पुनस्तदेव गौरव्यकारणं गर्वनिबन्धनं जायते अहो वयमेव निस्सीमप्रतिष्ठापात्रं जगति वर्तामहे यदेवं वाचकपदवीमध्यारोहाम इति इत्थं परः परित्यक्तो मन्तव्य एव । आचार्ये च परिवादो भवति तथाहि सा बहुश्रुताचार्यपार्श्वादुत्सारकल्पं कारयित्वा गतः क्वापि नगरादौ पृष्ठश्च कैश्चिन्निष्णातैः किमर्पय पदं यावत् न किंचित् अयं जानीते ततस्ते ब्रुवते यैरेष सूत्रार्थमण्डली-मध्यलब्धिरेष आचार्यपदभाजनमाकरि तेऽप्याचार्या एवंविधा भविष्यन्तीत्यात्मा परित्यक्तः । तथा प्रवचनमपि तेनाचार्येण परित्यक्तं कथमित्याह श्रुतस्योत्सारकल्पवशादनधीयमानस्य व्यवच्छेदः प्राप्नोति श्रुते च व्यवच्छिद्यमाने ज्ञानाभावे च दर्शनचारित्रयोरप्यभावात्तीर्थस्यापि व्यवच्छेदः प्राप्नोति । यदि नाम तीर्थं व्यवच्छिद्यते ततः को दोष इत्याह ।

पवयणवोच्छेयवट्ट-माणो जिणवयणबाहिरमईओ ।
वंधइ कम्मरयमलं, जरमरणमणंतयं घोरं ॥

प्रवचनं तीर्थं तस्य व्यवच्छेदे हेतुरूपतया वर्तमानः कथंभूतोऽसावित्याह । जिनवचनबाह्यमतिकः सर्वज्ञशासनबहिर्मुखशेमुषीको न खल्वनीदृशस्य प्रवचनव्यवच्छेदं कर्तुं मतिरुत्सहते स एवंभूतो बध्नाति कर्मरजोमलं रजःशब्देन बद्धावस्थं मलशब्देन निकाचितावस्थं कर्म परिगृह्यते रजश्च मलश्चेति रजोमलं कर्मैव रजोमलं कर्मरजोमलं निकाचितोऽनिकाचितावस्थं कर्म यथाध्यवसायस्थानमनुबध्ना-तीत्यर्थः । कथंभूतमनन्तानि जरामरणानि यस्मात् तदनन्तजरामरणं गाथायां प्राकृतत्वादनन्तशब्दस्य परनिपातः । घोरं रौद्रं शारीरमान-सदुःखोपनिपातनिबन्धनत्वात् इति । तथा षड्जीवनिकायानप्यगी-तार्थतयाऽसौ विराधयतीति जीवनिकाया अपि तेनोत्सारकेण परित्यक्ता अवसातव्याः । यत एते दोषास्ततो नोत्सारणीयम् ॥

अथ क्रमेणैवाधीयमाने सूत्रे के गुणा उच्यन्ते ।

आणा विकोवणाणुओग-
बुज्झण उवओगनिज्जरागहणं ।
गुरुवासजोगसुस्सू-
सणा य कमसो अहिज्जंते ॥

क्रमशः क्रमेणाधीयमाने अध्याप्यमाने च सन्ति एते गुणास्तद्यथा आज्ञा तीर्थकृतां शिष्येणाचार्येण चाराधिता भवति (विकोवणत्ति) योगोद्वहनविधौ गच्छसामाचार्यां च विकोपना ह्युत्पादना च शिष्यस्य कृता भवति ततश्च स्वयं सामाचारीवैतथ्यं न करोति अपरान् कुर्वतो निवारयति । तथा गच्छमध्ये द्वितीयपौरुष्यामनुयोगः प्रवर्तते तदाकर्णनान्मन्दबुद्धेरपि बोधनं जीवाजीवादितत्वेषु प्रबुद्धता संपद्यते बुद्ध्यमानस्य च श्रुते निरन्तरमुपगोगो जायते निरन्तरोपयुक्तस्य च महती निर्जरा प्रतिसमयसंख्येयभवोपात्तकर्मपरमाणुपटलापगमादुक्तं च । '' कम्ममसंखेज्जभवं, वेइ अणुसमयमेव आउत्तो । अन्नयरम्मि वि जोगे सज्झायं मा विसेसेणं '' नित्योपयुक्तस्य च शीघ्रं सूत्रार्थयोर्ग्रहणं भवति तथा हि गुरुवासेन गुरुकुलवासेन सार्द्धं योगः संबन्धो भवति अन्यथा क्रमेण सूत्रार्थाध्ययनायोगात् । यद्वा पदद्वयमिदं पार्थक्येन व्याख्यायते गुरूणामन्तिके वासो गुरुवासः स सेवितो भवति योगाश्च विधिवदाराधिता भवन्ति । आचार्यादीनां शुश्रूषा विनयवैयावृत्त्यादिना कृता भवति । यत एते गुणास्ततः क्रमेणैवाध्येतव्यः । उपसंहरन्नाह -

इअ दोसगुणे नाउं, उक्कमकमओ अहिज्जमाणाणं ।
उभयविसेसविहिन्नू, को वचणमब्भुवेज्जाहि ॥

इतिशब्दः एवमर्थे एवमुत्क्रमतः क्रमतश्चाधीयानानामुप-लक्षणत्वादध्यापयतां च यथाक्रमं दोषान् गुणांश्च ज्ञात्वोभयविशे-

षविधिज्ञः क्रमाध्ययनगुणदोषविभागविधिवेदी आचार्यः शिष्यो वा को नामोत्सारकल्पस्य करणेन कारापणेन वा आत्मनो वचनमभ्युपेयादङ्गीकुर्यात् न कश्चिदित्यर्थः । यतश्चैवमतोऽनुपयोगित्वान्नास्त्युत्सारकल्पिक इति । बृ० १ उ० । पं० चू० ॥

कारणेऽस्तीति निश्चाययन्पुनरपि परः प्राह ।

जइ नत्थि कओ नामं, असइ हु अत्थे न होइ अभिहाणं ।
तम्हा तस्स पसिद्धी, अभिहाणपसिद्धिओ सिद्धा ॥

यदि नास्त्युत्सारकल्पिकस्ततः कुतोऽस्य नामाभिधानमिदमायातं न कुतश्चिदित्यर्थः । अनेन प्रतिज्ञातार्थः सूचितः । कुत इत्याह । असत्यविद्यमानेऽर्थे अभिधेये हुशब्दस्य हेत्वर्थवाचकत्वात् यस्मान्न भवत्यभिधानं किं तु सत्येवेति अनेन च हेत्वर्थ उपात्तः । यतश्चैवं तस्मात्तस्यार्थस्य प्रसिद्धिरभिधानप्रसिद्धित एव सिद्धा प्रतिष्ठितेति निगमनार्थः । दृष्टान्तोपनयौ स्वयमेवाऽभ्यूह्य वाच्योऽत्र प्रयोगः । अस्त्युत्सारकल्पिकः अभिधानवत्त्वात् घटादिवत् यद्यदभिधानवत् तत्तदस्ति यथा घटपटादि अभिधानवच्चेदं तस्मादस्तीति । इत्थं परेण स्वपक्षे समर्थिते सति प्रतिविधीयते भो भद्र ! सुष्ठ्व प्रमाणानिकोऽनैकान्तिकोऽयं भवता हेतुरुपन्यस्तस्तथा चाह ।

जइ सव्वं वि य नामं, सअत्थगं होज्ज तो भवे दोसा ।
जम्हा य अत्थगत्ते, भणिवं तम्हा अणेगंतो ॥

यदि सर्वमपि नाम सार्थकं भवेत् ततो भवेदस्माकं दोषः । उत्सारकल्पिकस्यास्तित्वापत्तिलक्षणो यस्मात्पुनः सार्थकत्वे नाम भक्तं विकल्पितं स्यात् सार्थकं स्यान्निरर्थकमिति भावः । तत्र सार्थकं जीवाजीवादिकं निरर्थकं खरविषाणाकाशकुसुमकूर्मरोमबन्ध्यापुत्रादिकं यत एवं तस्मादनेकान्तोऽयं यदसद्भूतेऽर्थे न भवत्यभिधानम् । इदमत्र तात्पर्यम् । अभिधानस्य वा भावाभावयोरपि सद्भावादभिधानवक्तृलक्षणो हेतुर्यथा उत्सारकल्पिकस्याऽस्तित्वं साधयति तथा नास्तित्वमपि साधयति उभयत्रापि साधारणत्वात् अतः साधारणरूपोऽनैकान्तिकदोषदुष्टोऽयं हेतुरिति । इत्थेत व्यभिचारिपक्षतया विलक्षीभूतः परः परित्यज्य यदृच्छाजल्पमाचार्यवचनमेव प्रमाणीकुर्वन्नित्याह । भगवन्नभ्युपगतं मयाऽनन्तरोक्तयुक्तितोऽभिधानस्य सार्थकत्वमनर्थकत्वं चेति । यदिदमुत्सारकल्पिकाभिधानं सार्थकमाहोस्विन्निरर्थकमिति विवर्तते संशयावर्तगर्तीयमस्माकं चेतस्तदिदानीमुद्धियतां निजवाग्वरत्रयेति । उच्यते ।

निक्कारणम्मि नामं पि, निच्छिमो इच्छिमो अकज्जम्मि ।
उस्सारकप्पियस्स उ, चोअगसुणुकारणं तं तु ॥

वत्स ! निष्कारणे कारणाभावे नामापि नेच्छामो वयं किं पुनरथ कार्यं प्रयोजने प्राप्ते इच्छाम उत्सारकल्पिकेनाप्यर्थमपि तत्तु कारणं हे नोदक ! शृणु निशमय । तत्र तिष्ठतु तावत् कारणं कर्तुरधीनाः सर्वा अपि क्रिया इति ज्ञापनार्थं प्रथमतः उत्सारकमाह ।

आयारदिट्ठिवायत्थं, जाणए पुरिसकारणविहिन्नू ।
संविग्गपरित्तंते, अरिहइ उस्सारणं काउ ॥

आयारः प्रथममङ्गं दृष्टिवादश्चरमं तयोरर्थं जानातीत्याचारदृष्टिवादार्थः । इहाचारदृष्टिवादग्रहणं वक्ष्यमाणकारणैरनयोरेवोत्सारणीयत्वात् । इत्येवमर्थम् (पुरिसकारणविहिन्नू इति) पुरुषकारणविधिज्ञो नाम किमयं पुरुष उत्सारकल्पमर्हति न वा येन कारणेनोत्सार्यते तदस्ति न वेत्येवंविधविधिवेदी । तथा संविग्नो मोक्षाभिलाषी अपरितान्तः सूत्रार्थग्रहणायाहोरात्रमप्यपरिश्रान्तः एवंविध उत्सारणं कर्तुमर्हति एवं गुणोपेत एवोत्सारकल्पं करोतीत्यर्थः ॥

अथ यस्योत्सारकल्पः क्रियते तस्य गुणानाह ।

अभिगए पडिबद्धे, संविग्गे अ सलद्धिए ।
अवट्ठिए य मेहावी, पडिबुज्झी जोअकारए ॥

अभिगतः प्रतिबद्धसंविग्नश्च सलब्धिकः अवस्थितश्च मेधावी प्रतिबोधी योगकारकः ईदृग्गुणोपेतः उत्सारकल्पयोग्य इति निर्युक्तिश्लोकसमासार्थः ॥

अथैनमेव विवृणोति ॥

सम्मत्तम्मि अभिगओ, विजाणओ वावि अब्भुवगओ वा ।
सज्झाए अ पडिबद्धे, गुरुसु निएल्लएसुं वा ॥

सम्यक्त्वे आभिमुख्येन गतः प्रविष्टः सोऽभिगत उच्यते यो वा जीवादिपदार्थानां विज्ञापको विशेषेण ज्ञाता सोऽभिगतः । यद्वा योऽभ्युपगतो यावज्जीवं मया गुरुपाद मूलं न मोक्तव्यमिति कृताभ्युपगमः सोऽभिगतः । यः पुनः स्वाध्याये परावर्तनानुप्रेक्षादौ सततमायुक्तो गुरुषु वा स्थिरममत्वानुबन्धः निजकेषु वा संबन्धिषु प्रव्रज्याप्रतिपन्नेषु संजातप्रेमस्थेमा एष त्रिविधोऽपि प्रतिबद्ध उ- च्यते ॥

सविग्गो देव्वम्मि उ, भावे मूलुत्तरेसु उज्जुयंतो !
लद्धी आहाराइसु, अणुओगे धम्मकहणे य ॥

संविग्नो द्विधा । द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्ये द्रव्यसंविग्नो मृगः सदैव सर्वतोऽपि चकितत्वात् । भावे भावसंविग्नो मूलोत्तरेषु तु मूलगुणोत्तरगुणेषु पुनर्यतमानः उद्यमं संविदधानः साधुर्भन्तव्यः सदैव संसारापायचकितत्वात् । तथा लब्धिराहारादिषूत्पादयितव्येष्वनुयोगे दातव्ये धर्मकथने च विधेये यः स सलब्धिक इति ।

लिंगविहारं वट्टिओ, मेरा मेहावि गहणओ भइओ ।
पडिबुज्झइ जं कत्थइ, कुणइ अजोगं तदट्ठस्स ॥

अवस्थितो द्विधा लिङ्गे विहारे च । लिङ्गावस्थितः स्वलिङ्गं न परित्यजति विहारावस्थितः संविग्नविहारं विहाय न पार्श्वस्थादिविहारमाद्रियते । मेधावी द्विधा ग्रहणमेधावी मर्यादामेधावी च उभावपि वक्ष्यमाणस्वरूपौ तत्र मर्यादामेधाविनः उत्सारकल्पः क्रियते स पुनर्ग्रहणे मेधावी वा स्यादमेधावी वा । द्विविधस्यापि कारणविशेषे उत्सार्यत इति ग्रहणतो मेधावी भक्तो विकल्पितः । तथा यत्कथ्यते अभिधीयते तत्सर्वं यः प्रतिबुध्यते स प्रतिबोद्धुं शीलमस्येति प्रतिबोधी यत्तस्य तत्र उत्सायत तदर्थस्य ग्रहणे योगं व्यापारं यः करोति कदाचित्प्रमाद्यति स योगकारक इति तदेवं व्याख्याता '' अभिगएइत्यादिगाथा ।

अथोत्सारकल्पिकस्यैवापराचार्यपरिपाट्या गुणानाह ।

अभिगयथिरसंविग्गे, गुरुअमुई जोगकारए चेव ।
दुम्महमलद्धीए, पडिबुज्झी परिणयविणीए ॥
आयरियवण्णवाई, अणुकूले धम्मसद्धिए चेव ।
एयारिसे महाभागे, उस्सारं काउमरिहइ ॥

अभिगतः प्रतिबुद्धः स्थिरःसम्यग्दर्शनादक्षोभ्यः संविग्नः को गुर्वमोची निष्ठुरं निर्भर्त्सितोऽपि गुरूणाममोचनशीलः

योगकारकः पूर्ववत् । दुर्मेधा अपि यः सलब्धिकः परिपक्ववयाः परिणामको विनीतः अभ्युत्थानादिविनययोगतः आचार्यवर्णवादी गुरूणां गुणोत्कीर्तनकारी अनुकूलः आचार्याणामन्येषां वा पूज्यानां वैयावृत्त्यादिना हितकारी धर्मे तपःसंयमात्मके चारित्रधर्मे श्राद्धिकः श्रद्धावान् एतादृश एवंविधगुणोपेतो महाभागः शिष्यः उत्सारं कर्तु-मर्हति उत्सारकल्पस्य योग्यो भवतीत्यर्थः।

अनीदृशानुत्सारयितुः प्रायश्चित्तमाह।

अणभिगयमाइयाणं, उस्सारिंतस्स चउगुरू होंति।

उग्गहणम्मि वि गुरुगा, कालमसज्झाय वक्खेवे ॥

आदेशद्वयेनापि ये गुणा उक्तास्तद्विपरीता ये अनभिगतादयस्तद्यथा अनभिगतः अप्रतिबद्धः असंविग्नः अलब्धिकः अनयस्थितः अमर्यादोऽमेधावी अप्रतिबोद्धा अयोगकारकः अपरिणतः अविनीतः आचार्यावर्णवादी अननुकूलः अधर्मश्रद्धालुः एतेषामुत्सारयतः उत्सारकल्पं कुर्वतः आचार्यस्य प्रत्येकं चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम् । (उग्गहणम्मि वि गुरुगात्ति) सूत्रमर्थं वा झगित्येवावगृह्णातीत्यवग्रहणः नन्द्यादिभ्योऽनट् इति कर्तर्यनट्प्रत्ययः ग्रहणमेधावीत्यर्थः। तस्य यदि निष्कारणमुत्सारयति तदापि चत्वारो गुरुकाः। अथ किमर्थं मेधाविनो नोत्सार्यन्ते उच्यते यतोऽसौ प्रज्ञावत्त्वादेवानुपूर्व्येव पाठ्यमानो झगित्येव विवक्षितमुत्सारणीयं श्रुतं प्राप्स्यति ततः को नाम तस्योत्सारकल्प-करणेऽभ्यधिको गुणः। अथवा (उग्गहणम्मि वि त्ति) यस्याचारान्तर्गत-वस्त्रैषणाध्ययनस्योपक्रमणनिमित्तमुत्सार्यते तस्य यद्यप्युत्सारकल्प-समकालमेव सर्वमपि सूत्रमर्थं वा अवगृह्णाति अपिशब्दान्मन्दमेधस्तया यद्यपि नावगृह्णाति तथाप्यवग्रहणे अनवग्रहणे वाऽकालोऽस्वाध्यायिकं व्याक्षेपश्च न कर्तव्यः यदि करोति तदा चत्वारो गुरुकाः। एतच्चाकालादि-कमुपरिष्टाद्भावयिष्यते। अथवा (उग्गहणम्मि वि गुरुगात्ति) अन्यथा व्याख्यायते योऽवग्रहणे समर्थ उत्तममेधावी अपिशब्दः संभावनायां किं संभावयति यावन्मात्रं सूत्रं तस्योद्दिश्यते तावदशेषमप्यर्थेन युक्तम-वगृह्णाति यो वा वैरस्वामिवत् पदानुसारिप्रतिभो भूयस्तरमप्यनु-सरति तस्योत्सारणीयम् । अथ नोत्सारयति तदा चतुर्गुरुकाः तत्रापि यावदुत्सारकल्पः क्रियते तावदकालोऽस्वाध्यायिकं व्याक्षेपश्च न कर्तव्यः यदि करोति तदापि चतुर्गुरुकाः।

अथोत्सारकल्पकरणे यत् प्राक् कारणं संन्यासिकीकृतं तद्दर्श-यति॥

गच्छो अ अलद्धीओ, ओमाणं चेव अणहिसहाय।
गिहिणो उ मंदधम्मा, सुद्धं च गवेसए उवहिं ॥

कस्याप्याचार्यस्य गच्छः सर्वोऽपि वस्त्रपात्रशय्योत्पादने अलब्धिकः तत्र च क्षेत्रे स्वपक्षतः परपक्षतो वा अवमानं विद्यते ते च साधवोऽनधिसहाः शीतादिपरीषहान् सोढुमसमर्थाः गृहस्थाश्च मन्दधर्माणः तुच्छधर्मश्रद्धकाः अप्रज्ञापिताः सन्तो न वस्त्रादि प्रयच्छन्ति सुद्धं चोपधिं साधवो गवेषयेयुरिति भगवतामुपदेशः स च दुर्लभत्वात् यादृशेन साधुना न लभ्यते अत ईदृशे कार्ये लब्धिवान् दुर्मेधा अप्युत्सारकल्पं कृत्वा वस्त्रैषणाध्ययनमुद्दिश्य कल्पिकः क्रियते ततश्च कल्पिकीकृतः सन् किं करोति इत्याह।

हिंडउ गीयसहाओ, सलद्धिआ उवहणंति से लद्धिं।
तो एक्कओ वि हिंडइ, आयरुस्सरियसुत्तत्थो ॥

गीतसहायो गीतार्थसाधुसहितो वस्त्राद्युत्पादनार्थं हिण्डताम् । अथ गीतार्थास्तस्य लब्धिमुपघ्नन्ति तत एककोऽप्यसहायोऽप्या-चारोत्सारितसूत्रार्थः आचारान्तर्गतवस्त्रैषणादिसूत्रार्थमुत्सार-कल्पकरणेन ग्राहितः सन् हिण्डते । ननु च किं कोऽपि कस्यापि लाभान्तरायकर्मक्षयोपशमसमुत्थां लब्धिमुपहन्ति येनैवमुच्यते ते गीतार्थास्तस्योपलब्धिमुपघ्नन्ति इत्यत आह॥

भिक्खू विहतणुवहल-अभागधेज्जो जहिं तहिं न पडे।
दुग्गतिगमाइभेदे, पडइ तहिं तत्थ सो नत्थि ॥

'' कोइ किर परं वसईओ सत्थो अडविं पवन्नो। तत्थ य एगो रत्त-पटो निब्भग्गसिरसेहरो पंचण्ह वि सयाणं पुण्णे उवहणइ सो असत्थो तण्हाए पारद्धो दूरे अ अब्भवद्दलयं वासइ तेसिं उवरिं न पडइ ते दुहा तिण्णा इयरो रत्तपडो पुव्विण्णे णं मज्झे मेलिओ सव्वत्थ पडइ जत्थ सा तत्थ न पडइ जाव निव्वेडिओ एक्कओ जाओ जत्थ सो तत्थ पडइ एवं एयारिसा परस्स पुत्ते उवहणंति '' अथ गाथाक्षरार्थः भिक्षुरेकः सार्थेन सार्द्धं विहमध्वानं प्रविष्ट इति शेषः । ततस्तृष्णया सार्थः प्रारब्धः वार्दलं च वर्षितुमारब्धं यत्र येषां मध्ये सोऽभागधेयो यो भिक्षुस्तत्र वर्षं न पतति ततो द्विकत्रिकादिना द्विधा त्रिधादिना प्रकारेण सार्थस्य भेदः कृतस्तस्मिंश्च कृते यत्र स भिक्षुर्नास्ति तत्र सर्वत्र वर्षं पतति तस्योपरि न पततीत्येयं दृष्टान्तः। अथार्थोपनयः यथा स भिक्षुः पञ्चविंशतिकस्यापि सार्थस्य पुण्यान्युपहृतवानेवमन्येऽप्येवंविधाः परेषां लब्धिमतामपि स्वस्वकर्मक्षयोपशमसमुत्थां लब्धिमुपघ्नन्तीति।

अथासौ कथं च वस्त्राण्युत्पादयतीत्युच्यते॥

भिक्खं वा वि अडंतो, विइआ पढमा य अहव सव्वासु।
सहिओ व असहिओ वा, उप्पापवायभावे वा ॥

भिक्षामटन् वस्त्राण्युत्पादयति वाशब्दो वक्ष्यमाणपक्षापेक्षायां विभाषायामपिशब्दः संभावनायां संभाव्यते। अयमपि प्रकार इति। अथ न शक्नोति युगपत् भिक्षामप्यटितुं वस्त्राण्युत्पादयितुं व्यतिक्रामति वा वेला भैक्षस्य वस्त्राण्युत्पादयतः । भिक्षां वाऽटद्भिर्न प्राप्यन्ते वस्त्राणीत्यादिना कारणेन द्वितीयायां पौरुष्यामनुयोग-ग्रहणं हापयित्वा वस्त्राण्युत्पादयेत् । अथ तदा न लभते बह्वी वा हिण्डिः कर्तव्या ततः प्रथमायामप्युत्पादयेत् । अथ बहवो गृहस्था द्रष्टव्या महता च कष्टेन ते श्रद्धां ग्राह्यन्ते ततः द्वयोरपि पौरुष्योः सर्वासु वा पौरुषीषु पर्यटति। यद्यपरे गीतार्थास्तस्य लब्धिं नोपघ्नन्ति तदा स तैः सहितोऽप्युत्पादयेद्वा वस्त्राणि प्रभावयेद्वा दानधर्मं गृहिणां पुरतो यथा ईदृशः साधूनां धर्मो न कल्पतेऽमीषां भगवतामुद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टं पिण्डशय्यावस्त्रपात्र-चतुष्टयं गृहीतं तदमीषां वस्त्रादावनुपयोज्यमानो महती कर्मनिर्जरेत्यादि। अथ ते गीतार्थास्तस्य लब्धिमुपहन्युस्ततस्तैरसहितोऽप्येकाकी उत्पादयितुं वा प्रभावयितुं वा प्रभुर्न कश्चिद्दोषः । इत्थं तावद्वस्त्रादीनां कल्पिको भवत्विति कृत्वा यथा आचारः उत्सार्यते तथा प्रतिपादितम् ।

अथ दृष्टिवादी येन कारणेनोत्सार्यते तत्प्रतिपादयति।

कालियसुआणु ओगम्मि, गंडियाणं समोयरणहेउं।
उस्सारिंति सुविहिया, भूयवायं न अन्नेणं ॥

इह यो धर्मकथालब्धिसंपन्नः परमद्यापि स्वल्पपर्यायत्वात् दृष्टिवादं पठितुमप्राप्तस्तस्य कालिकश्रुतानुयोगेन धर्मकथां कुर्वाणस्य गण्डिकाः कुलकरतीर्थकरगण्डिकादयो दृष्टिवादान्तर्गता

उपयुज्यन्त इति तासां गण्डिकानां कालिकश्रुतानुयोगे समवतारणहेतोरुद्देशसमुद्देशादिविधिना न कल्पते तासामध्ययनादिकमिति कृत्वा सुविहिताः शोभनविहितानुष्ठाना आचार्या भूतवादं दृष्टिवादमुत्सारयन्ति तान्येव वाचको भूयादित्यादिना कारणेन। अथ ''कालमसज्झायवक्खेवेत्ति'' यत्प्राक् पदत्रयमुक्तं तत्राद्यं पदद्वयं तावद्विवृणोति।

सज्झायमसज्झाए, सुद्धासुद्धे व उद्दिसे काले।
दो दो अ अणोएसुं, एसुं तू अंतिमं एक्कं॥
एगंतरमायंविल-विगईए रक्खियं पि वज्जंति।
जावइअ अहिज्जइ, तावइअं उद्दिसे केइ॥

तस्योत्सारकल्पे क्रियमाणे स्वाध्यायिके अस्वाध्यायिके वा शुद्धे अशुद्धे वा काले विवक्षितश्रुतमुद्दिशेत् सर्वं वाक्यं सावधारणं भवतीति न्यायादुद्दिशेदेव न व्याघातं कुर्यात्। केन विधिनेत्थत आह (दो दो अ अणोएसुंति) ओजःशब्देन विषयमुच्यते तद्विपरीतः अनोजाः समा द्विचतुःषडादय उद्देशका यत्राध्ययने तत्रानोजस्सु उद्देशकेषु दिने दिने द्वौ द्वौ उद्देशकावुद्दिशेत्। कथमिति चेदुच्यते प्रथमायां पौरुष्यां प्रथममुद्देशकमुद्दिश्य च द्वितीय उद्दिश्यते द्वितीयमुभयोरप्युद्देशकयोस्तस्यानुयोगो दीयते ततश्चरमपौरुष्यां प्रथममुद्देशकमनुज्ञाय द्वितीयोद्देशकः समुद्दिश्यतेऽनुज्ञायते चेति चूर्णिलिखिता सामाचारी। तथा (ओजस्सत्ति) पञ्चसप्तादिसंख्याकेषु विषमेषूद्देशकमेकमेवोद्दिशेत्। यथा शस्त्रपरिज्ञाध्ययने तथाहि तत्र सप्तोद्देशकास्तेषु च त्रिभिर्दिवसैः सदुद्देशकानुदिश्य चतुर्थे दिवसे एकएवावशिष्यमाणसप्तम उद्देशक उद्दिश्यते स च प्रथमपौरुष्यामुद्दिश्य चरमायामनुज्ञायते तथैकान्तरमेकदिवसान्तरितमाचाम्ल-मसौ करोति एकस्मिन् दिवसे आचाम्लमपरस्मिन् निर्विकृतिकं करोतीति भावः। तथा विकृत्यां रक्षितमपि खरण्टितमप्यसौ वर्जयति केचित्पुनराचार्या ब्रुवते यावत् यत्परिमाणं श्रुतमसावधीते तावदुद्दिशेत् यदि मेधावितया द्वे त्रीणि चत्वारि भूरितराणि वा अध्ययनान्यागमयति ततस्तानि सर्वाण्युद्दिश्यन्ते न कश्चिद्दोष इति भावः। व्याख्यातं ''कालमसज्झाएति'' पदद्वयम्।

अथ ''अवक्खेवेति'' पदं विवृण्वन्नाह।

आहारे उवकरणे, पडिलेहणलेवखित्तपडिलेहो।
अप्पाहारो परिहा-रगो अ जह अप्पनिहो अ॥

तस्योत्सारकल्पे कर्तुमारब्धे आहारग्रहणे उपकरणस्य प्रत्युपेक्षणे लेपग्रहणे क्षेत्रप्रत्युप्रेक्षणायां च व्याक्षेपो न कर्त्तव्यः। अल्पाहारश्च यथा स भवति तथा कार्यं परिहारः संज्ञा एककायिकी तयोः स्वल्पता अल्पाहारतो भवति तथा वाऽसावल्पनिद्रो भवति तत्कर्तव्यमित्येषा संग्रहगाथा॥

अथैनामेव प्रतिपदं विवृणोति।

हिंडाविंति न वा णं, अहवा अन्नट्ठया न सो अडइ।
एहिंति वसे उवहिं, पेहेई व सो अन्नेसिं॥

णमिति। तमुत्सारकल्पिकमाचार्या भिक्षां न हिण्डापयन्ति वाशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् संस्तरणे सतीति द्रष्टव्यं यदि पुनरसंस्तरणं तदा 'अहवेति' संस्तरणस्य प्रकारान्तरताद्योतकः अन्यार्थमन्येषामाचार्यग्लानबालवृद्धादीनामर्थाय नासावुत्सारकल्पिकः पर्यटति यावन्मात्रमाहारमात्मना भुङ्क्ते तावन्मात्रमेवानयतीत्यर्थः। तथा प्रेक्षन्ते वा प्रत्युपेक्षन्ते स तस्योत्सारकल्पिकस्योपधिं विशेषसाधवः स वा उत्सारकल्पिको नान्येषामाचार्यक्षपकादीनामुपधिं प्रत्युपेक्षते सर्वत्र मा भूदध्ययनव्याघात इति योज्यम्।

एमेव लेवगहणं, लिंपइ वा अप्पणो न अन्नस्स।
खेत्तं व न पेहावे, न याचिते सोवहिं पेहे॥

एवमेव लेपग्रहणमुपलक्षणत्वात् लेपनमपि पात्रस्य तस्य निमित्त-मन्यैः साधुभिः कर्तव्यम्। अथ शेषसाधवः कुतोऽपि हेतोरक्षणिकास्तत स आत्मन एव पात्राणि लिम्पति नान्यस्य साधोः। क्षेत्रं च तं न प्रेक्षापयेत् क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं तं न प्रहिणुयादित्यर्थः। न चाप्यसा-वुत्सारकल्पिकस्तेषां क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाणामुपधिं प्रत्युपेक्षेत।

दिंति पण याहारं, न य बहुगं मा हु जग्गतो जिण्णं।
मोआइ निसग्गेसुं, बहुसो मा होज्ज पलिमंथो॥

प्रणीतं स्निग्धमधुरमाहारं परमान्नं शर्करादिकं तस्य गुरवः प्रयच्छन्ति सुखेनैवाहर्निशमपि दृष्टिवादादिसूत्रार्थान् प्रेक्षानिमित्तमिति भावः। तमपि प्रणीतं न च नैव बहुकं किं तु स्वल्पं कुत इत्याह मा भूत्सूत्रार्थनिमित्तं रजन्यामपि जाग्रतोऽजीर्णमिति रूक्षाहारभोजिनश्च बहुशो वारान्मोकादिनिसर्गेषु प्रश्रवणसंज्ञादिकव्युत्सर्गेषु विधीयमानेषु परिमन्थः सूत्रार्थव्याघातो मा भूदिति कृत्वा प्रणीतं दीयते। अल्पा च निद्रा स्वल्पप्रणीताहारभोजिनो भवतीत्यल्पनिद्राद्वारमपि व्याख्यातमवसातव्यम्। इत्थमुत्सारकल्पे समापिते सति विवक्षितं वस्त्रोत्पादनादिकार्यं पूर्वोक्तविधिना कार्यते तदेवं व्याख्यातमानुषङ्गिकमुत्सारकल्पिकद्वारम्। बृ० १ उ०।

उस्सारग पुं०(उत्सारक) उत्सारकल्पार्हे, बृ० १ उ०।(तल्लक्षणमुत्सारकप्पशब्देऽनन्तरमेव दर्शितम्) द्वारपाले, हेम०। तेन हि प्रभुद्वारतो जना दूरीक्रियन्ते इति तस्य तथात्वम् अपसारके, वाच०॥

उस्सारण न०(उत्सारण) उद्-सृ-णिच्। ल्युट्। दूरीकरणे स्थानान्तरनयने, अपसारके, चालने, वाच०। उत्सारकल्पकरणे, ''अरिहइ उस्सारणं काउं'' बृ० १ उ०।

उस्सारित त्रि०(उत्सारयत्) उत्सारकल्पं कुर्वति, बृ० १ उ०।

उस्सारिय त्रि०(उत्सारित) उद्-सृ-णिच्-क्त-दूरीकृते चालिते, वाच०। पातिते, ''सहसा उस्सारिओ य नावाए'' संथा०।

उस्सास पुं०(उच्छ्वास) ऊर्द्धं प्रबलः श्वासः उच्छ्वासः। आव० ५ अ०। उच्छ्वासने, प्रश्न० १ श्रु० १ अ०। ''समयं उस्सास-नीसासो''। प्रज्ञा० १ पद० (प्रज्ञापनासप्तमोच्छ्वासपदोक्तवक्तव्यता ऽऽन शब्दे उक्ता) (समोच्छ्वासनिश्श्वासप्रश्नः समशब्दे)

उस्सासग पुं०(उच्छ्वासक) उच्छ्वसन्तीत्युच्छ्वासकाः। उच्छ्वासपर्याप्तिपर्याप्तकेषु नैरयिकादिवैमानिकान्तेषु जीवेषु, स्था० २ ठा० २ उ०। उच्छ्वासयति वर्द्धयतीति उच्छ्वासः स एवोच्छ्वासकः जीवितादेर्वर्द्धके, '' जीविउस्सासए ''। जीवितोच्छ्वासकः जीवितमस्माकमुच्छ्वासयति वर्द्धयतीति जीवितोच्छ्वासः स एव जीवितोच्छ्वासकः। ज्ञा० १ अ०॥

उस्सिओदग त्रि०(उच्छ्रितोदक) ६ब० ऊर्द्धं वृद्धिगतजले, ' लवणेणं समुद्दे उस्सिओदए ' उच्छ्रितोदकः ऊर्द्धं वृद्धिगतजलः साधिकषोडशयोजनसहस्राणि। भ० ६ श० ८ उ०।

उस्सिओसिय पुं०(उत्सृतोत्सृत) द्रव्यतः ऊर्द्धस्थानस्थे भावतो धर्मशुक्लाध्यायिनि, तादृशावस्थस्य कायोत्सर्गे च। आव० ५अ०। (काउस्सग्गशब्दे स्पष्टीभविष्यति)

उस्सिंघण न०(उत्सिङ्घन) वायूपयोगभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०।

उस्सिंचइत त्रि०(उत्सिञ्चत्) उत्सेचनं कुर्वति, '' उत्तिंगादिणा वाएचिट्ठसु दगअण्णयरेण कट्ठादिणा उस्सिंचणं उस्सिंचति ''। नि० चू० १८ उ०। आचा०।

उस्सिंचण न०(उत्सेचन) ऊर्द्धं सेचनमुत्सेचनम्। कूपादेः कोशादिनोत्क्षेपणे। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। उद्-सिच्-करणे-ल्युट्। उत्सेचनोपकरणे काष्ठादौ, आचा० २ श्रु०। उत्क्रम्य आधारमतिक्रम्य सेचनमुत्सेचनम्। आधारातिक्रमेण सेचने, वाच०।

उस्सिंचमाण त्रि०(उत्सिञ्चत्) आक्षिपति, ' भिक्षुवडियाए उस्सिंचमाणे णिस्सिंचमाणे वा '। आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ०।

उस्सिंचिय अव्य०(उत्सिञ्च्य) उत्सेचनं कृत्वेत्यर्थे, ' उस्सिंचियाणं उप्पत्तियाणं गिण्हाहि '। आचा० २ श्रु०।

उस्सिक्क धा०(उत्क्षिप्) तुदा-सक-ऊर्द्धं क्षेपे, **उत्क्षिपेर्गुलुगुञ्छोत्थंधाल्लत्थोमुतोसिक्कहक्खुप्पाः। ८। ४। ४३।** इति उस्सिक्कादेशः। उस्सिक्कइ। उक्खिवइ। उत्क्षिपति। प्रा०॥

उस्सिट्ठ त्रि(उत्सृष्ट) उत्सर्गविषयीकृते सूत्रे, सद्धेतुनोत्सृष्टमपि क्वचिदपोद्यते। द्वा० ३ द्वा०। त्यक्ते, दत्ते च। वाच०।

उस्सिण्ण न०(उत्स्विन्न) उण्डेरकादौ, बृ० १ उ०।

उस्सिय त्रि०(उत्सृत) ऊर्द्धीकृते, आ० म० प्र०। द्रव्यतः ऊर्द्ध-स्थानस्थे भावतः ध्यानचतुष्टयरहिते कृष्णादिलेश्यां गते परिणामे, तादृशावस्थस्य कायोत्सर्गे च, आव० ५ अ० (काउस्सग्गशब्दे स्पष्टीभविष्यति)

*** उच्छूक** त्रि०। उत्कटे, '' वंभचेराइं उस्सिताइ भवंति '' सू० प्र० १८ पाहु०।

*** उस्सिक** पुं०। उस्र अल्पार्थे स्वार्थे वा ठन्(घ) अल्पवाहके जीर्णवृषभे, अल्पक्षीरस्राविण्यां गव्याम्, स्त्री०। वाच०।

उस्सियणिसण्णय पुं०(उत्सृतनिषण्णक) द्रव्यत ऊर्द्धस्थानस्थे भावतः आर्तरौद्रध्यातरि तादृशावस्थस्य कायोत्सर्गे च। '' अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो ठिओ संतो। एसो काउस्सग्गो, दव्वुसितो भावउ णिसण्णो '' आव० ५ अ० (काउस्सग्गशब्दे स्पष्टीभविष्यति)

उस्सुक्क त्रि०(उच्छुल्क) उन्मुक्तं शुल्कं विक्रेतव्यभाण्डं प्रतिराजदेयं द्रव्यं यस्याः सा तथा। यस्मिंस्तत्तथा तस्मिन्। जं० ३ वक्ष०। भ०। कल्प०। अविद्यमानशुल्कग्रहणे, विपा० १ श्रु० ३ अ०। अर्थाभावे, अव्य '' उस्सुक्कं वियरइ '' ज्ञा० ८ अ०। उत्कण्ठायाम्, इच्छामात्रे, वाच०। *इतराभिलाषातिरेके, षो० ३ विव०।* '' औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठां, क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव। नातिश्रमापगमनाय यथा श्रमाय, राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् '' अष्ट० १ अष्ट०।

उस्सुक्कविणिवित्ति स्त्री०(औत्सुक्यविनिवृत्ति) अभिलाषव्यावृत्तौ, श्रा०।

उस्सुक्कावइत्ता अव्य०(उत्सुकय्य) उत्सुकीकृत्येत्यर्थे, उस्सु-क्कावइत्ता '' विवादे, परमुत्सुकीकृत्य लब्धावसरोजयार्थी विवदत स्था० ६ ठा०।

उस्सुत्त त्रि०(उत्सूत्र) सूत्रादूर्द्धमुत्तीर्णं परिभ्रष्टमित्यर्थः। प्रव० १ द्वा०। सूत्रोत्तीर्णे, व्य० ३ उ०। '' उस्सुत्तमणुवइट्ठं '' उत्सूत्रं नाम यत्तीर्थकरादिभिरनुपदिष्टम्। व्य० १ उ०। '' उस्सुत्तं सुत्तादवेयं '' '' उस्सुत्तमणुवइट्ठं '' नि० चू० ११ उ०। '' उस्सुत्तमायरंतो उस्सुत्तं चेव पन्नवेमाणे '' इति यथा छन्दो लक्षणम्। आव० ३ अ०। आ० चू०। ऊर्द्धं सूत्रादुत्क्रान्तः उत्सूत्रः। सूत्रमतिक्रम्य कृते, '' उस्सुत्तो उम्मग्गो ध० २ अधि०। सूत्रातितिक्रान्ते, पंचा० १४ विव०। सूत्र-रहिते, '' उस्सुत्तो खलु न विज्जते अत्थो '' व्य० ५ उ०। संघा०। सूत्रादुत्कृते, सूत्रानुक्ते, आव० ४ अ०। '' उस्सुत्ता पुण वाहइ स-मइ विगप्प सुद्धविणियमेणं '' प्रति०। तथोत्सूत्रप्ररूपका महा-व्रतपालनतपश्चरणादिकां क्रियां कुर्व्वन्तः कर्मलघुका भवन्ति नवेति प्रश्ने उत्सूत्रप्ररूपका महाव्रतपालनादिक्रियासहिता निह्नवादय उत्कर्षतो नवमग्रैवेयकं यावद्यान्ति तेन महाव्रतपालनादिक्रियावतां तज्जन्यं शुभं फलं भवतु परं तेषां कर्म्मणां लघुकता गुरुकताचचासर्व्वविद्वेद्येति। १८ प्र०॥

उस्सुत्तपरूवणा स्त्री०(उत्सूत्रप्ररूपणा) सूत्रानुपदिष्टार्थप्रज्ञापनायाम्, व्य० १ उ०। नि० चू०। (सा च यथाच्छन्दस इति यथाच्छन्दसशब्दे) (अहाछन्दशब्दे उक्ता) नवरमुत्सूत्रभाषणफलम्। मरीचिना एष मम योग्यः शिष्य इति विचिन्त्य उक्तम्। '' कपिला इत्थं पि इहयं पि '' कपिल ! जैनेऽपि धर्म्माऽस्ति मम मार्गेऽपि विद्यते तच्छ्रुत्वा च कपिलस्तत्पार्श्वे प्रव्रजितः मरीचिरपि अनेन उत्सूत्रवचनेन कोटाकोटिसागरप्रमाणं संसारमुपार्जयामास। यत्तु किरणावलीकारेण प्रोक्तं '' कपिला इत्थं पि इहयं पि त्ति वचनम् '' उत्सूत्रमिश्रितमिति। तदुत्सूत्रभाषिणां नियमादनन्त एव संसार इति स्वमतस्वारसिकतया ज्ञेयम् इदं हि तन्मतं ये उत्सूत्रभाषिणस्तेषां नियमादनन्त एव संसारः स्यात्। यदि च इदं मरीचिवचनमुत्सूत्रमित्युच्यते तदा अस्यापि अनन्तसंसारः प्रसज्यते न त्वसौ संपत्तिस्तदिदमुत्सूत्रमिति। तच्चायुक्तम्। उत्सूत्रभाषिणः नियमात् अनन्त एव संसार इति नियमाभावात्। श्रीभग-वत्यादिबहुग्रन्थानुसारेण उत्सूत्रभाषितशिरोमणिर्जमालिनिह्नवस्यापि परिमितभवस्य दर्शनात् स चोत्सूत्रमिश्रकथनेऽपि अस्यमरीचिवन्नास्य उत्सूत्रत्वमपगच्छति विषमिश्रितान्नस्य विषत्वमिवेत्यलं प्रसङ्गेन। कल्प०।

उस्सुय त्रि०(उत्सुक) उत्सुवतिषु-प्रेरणे मितद्वादिडुकन् इष्टा-वाप्तये कालक्षेपासहिष्णौ, इष्टार्थोद्युक्ते, च। ''अप्पुस्सुओ उराले सुजयमाणो परिव्वय'' सूत्र० १ श्रु० १० अ०। अल्पोत्सुकोऽविमनस्कः। आचा० २ श्रु०।

उस्सुयत्त न०(उत्सुकत्व) पीडोत्पत्तौ यदि म्रियेऽहं तदा वरमित्येवमादिरूपे औत्सुक्ये, आतु०।

छद्मस्थ एव उत्सुकायते न केवली।

छउमत्थेणं भंते ! मणूसे हसेज्जा वा उस्सुयाएज्ज वा ! हंता हसेज्ज वा उस्सुयाएज्ज वा जहा णं भंते ! छउमत्थे मणूसे हसेज्ज वा उस्सुआएज्ज वा तहा णं केवली वि हसेज्ज वा उस्सुयाएज्ज वा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे से केणट्ठेणं जाव नो णं तहा केवली हसेज्ज वा उस्सुआ-

एज्ज वा ? गोयमा ! जण्णं जीवा चरित्तमोहणिज्जकम्मस्स उदएणं हसंति वा उस्सुयायंति वा से णं केवलिस्स नत्थि से तेणट्ठेणं जाव नो णं तहा केवली हसेज्ज वा उस्सुयाएज्ज वा । भ० ५ श० ४ उ० ।

उस्सुयब्भुय त्रि०(उत्सुकीभूत) उत्प्रव्रजिते, बृ० १ उ०। ''उस्सुयब्भुएणं अप्पाणेणं'' आचा० २ श्रु०।

उस्सेइम न०(उत्स्वेदिम) उत्स्वेदेन निर्वृत्तमुत्स्वेदिमम्। येन व्रीह्यादिपिष्टं सुराद्यर्थमुत्स्वेदते (स्था० ३ ठा०) तादृशे पिष्टोत्स्वेदनार्थमुदके, आचा० २ श्रु०। पिष्टभृतहस्तदिक्षालनजले, कल्प०। ''तं उसिणं चेव पाणयं जं सीतोदगेण चेव संसिंचियं उस्सेइमस्स इमं वक्खाणं''॥

सीतोदगम्मि वुज्झति, दीवगमादी उ से इमं पिट्ठं ।
संसेइ मं पुण विला-सिण्णा वुज्झंति जत्थुदए ॥ ६२ ॥

मरहट्ठविसए उस्सेइ आदीवगा सीओदगे वुज्झंति उस्सेइमे उदाहरणं जहा पिट्ठं। अहवा पिट्ठस्स उस्सेज्जमाणस्स हेट्ठा जं पाणिअं तं उस्सेइमं पच्छद्धं गतार्थम्॥

पढमुस्सेतिसमुदयं, अकप्पकप्पं च होति केसिं चि ।
तं तु ण दुज्झति जम्हा, उसिणं दीसंति जा दण्डो ॥ ६३ ॥

तं दीवगादि उस्सेति मा एक्कं पि पाणिए दोसु वि तिसु वा णिच्चलि-ज्झंति तत्थ वितियततिज्जा य सव्वेसिं वेअकप्पा पढमं पाणियं तं पि अकप्पं चेव केसिं चि आयारियाणं कप्पं तं ण घडति कम्हा जम्हा उसिणोदगमवि अणुवत्ते दंडेमि संभवति तं पुण कहिं उस्सेति मे सुच्छूढेसु अचित्तं भविष्यतीत्यर्थः। नि० चू० १७ उ०।

उस्सेतिमपिट्ठादी, तिलाति मीसेति मतिनायव्वं ।
कंकडुगादि उवक्खड, अतिपक्करसं तु पलियाम ॥ २१ ॥

उस्सेतिमं णामं जहा पिट्ठं पुढविकायभायणं आउक्कायस्स भरेता मीसए अद्धहिज्झंति सुहं सेवत्थेणं उहाडिज्जति ताहे पिट्ठ-पयणयं रोट्टस्स भरेंता ताहे तीसे थालीए जलभरियाए उवरि ठविज्जति ताहे अहोछिद्देणं तं पि ओसिज्जति हेट्ठा हु तं वा ठविज्जति। नि० चू० १५ उ०।

उस्सेग पुं०(उत्सेक) उद्-सि-घञ्-गर्वे, उद्रेके, उद्धृत्य बहिःसेचने च। वाच०। न सुखदुःखयोरुत्सेकविषादौ विधेयौ आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

उत्सेह पुं०(उत्सेध) उत्सेधति कारणमतिक्रम्य वर्द्धते उत्-सिध गत्याम्-अच्। देहे तस्य शुक्रशोणितरूपसूक्ष्मकारणातिक्रमेण वर्द्धनात्तथात्वम्। वाच०। उच्छ्राये, स्था० १० ठा०। जं०। कर्तरि-अच्-उच्चे, त्रि० वाच०। शिखरे, ''रयमए उस्सेहे'' रजतमय उत्सेधः शिखरमाह च जीवाभिगममूलटीकाकारः ''कूटो माडभागः। उच्छ्रयः शिखरमिति। शिखरमत्र माडभागस्य संबन्धि द्रष्टव्यम्। तद् द्वारस्य तस्य प्रागेवोक्तत्वात्। जीवा० ३ प्रति०।

उस्सेहंगुल न०(उत्सेधाङ्गुल) उत्सेधः ''अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणमित्यादि'' क्रमेणोच्छ्रयो वृद्धिनयनं तस्माज्जातमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम्। अथवा उत्सेधो नारकादिशरीराणामुच्चैस्त्वं तत्स्वरूपनिर्णयार्थमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम्। अङ्गुलप्रमाणभेदे, अनु० (तद्भेदः अंगुलशब्दे उक्तः)

उहार-पुं०(उहार) मत्स्यविशेषे, स किल नावमधस्तले जलस्य नयति। बृ ४ उ।

उहट्ट अव्य०(उद्धृत्य) उपरिकृत्वेत्यर्थे, ''उहट्टउहट्ट णिक्खित्ते सिया'' आचा० २ श्रु० ७ अ०।

:**********:

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताऽम्बराचार्य श्री श्री १००८
श्री विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधान-
राजेन्द्रे उकारादिशब्द-
सङ्कलनं समाप्तम् ।

ऊकार

ऊ अव्य० (ऊ) वेञ्–क्विप्–संबोधने, वाक्यारम्भे, दयायां, रक्षायां च। मेदि०। अवसाने, वितर्के, वञ्चनायां, व्यसरे, निषेधे, एका०। प्राकृतेऽपि। **ऊ गर्हाऽऽक्षेपविस्मयसूचने ॥ ८ । २ । १९९ ॥** ऊ इति गर्हादिषु प्रयोक्तव्यम्। गर्हा। ऊ णिलज्ज! प्रकान्तस्य वाक्यस्य विपर्यासाशङ्कया विनिवर्तनलक्षण आक्षेपः। ऊ किं मए भणिअं। विस्मये ऊ कहा मुणिणा अह आ। सूचने ऊ केय न विण्णाअं। प्रा०।

ऊ पुं० अवति रक्षति। अव–क्विप्–ऊप्–महादेवे, चन्द्रे, वाच०। तोये, तोयधौ, धरणीधरे, रक्षणकृति, पुरुषे, राजपुत्रके, उपकारे, अपाङ्गणे, क्वचिदर्थे, गले, मङ्गलकुम्भे, दैवे, वणिजरक्षणे च। ''ऊकारो रजनीनाथे, पुरुषे राजपुत्रके। उपकारेऽपाङ्गणे च, क्वचिदर्थे प्रवर्तते। ४ गले मङ्गलकुम्भे च दैवे वणिजरक्षणे''। एका०।

ऊआस पुं० (उपवास) उप वस्–घञ्। **ऊचोपे । ८ । १ । १७३।** इति उपेत्य स्थाने ऊत्। अभोजने, प्रा०।

ऊज्झाय पुं० (उपाध्याय) प्राकृते **ऊचोपे । ८ । १ । १७३ ।** इति उपेत्यस्य स्थाने ऊत्। पाठयितरि, प्रा०।

ऊण त्रि० (ऊन) ऊन–हानौ–अच्–स्वप्रमाणाद्धीने, स्था० २ठा०। अवमे, स्था० ६ ठा०। स्वतोऽवमे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। असंपूर्णे, ऊनार्थशब्दयोगे तृतीया एकेनोनः। ऊनार्थकशब्देन वा तृतीया। माषेण ऊनः माषोनः। वाच०। व्यञ्जनाभिलाषावश्यकैरसंपूर्णे अष्टाविंशे वन्दनकदोषे, ध० २ अधि०। ''वयणकरेण हि ऊणं जहण्णकालव्वसेसेहिं''। अष्टाविंशदोषमाहवचनैरालापकैः करणैर्वा अवनादिभिरावश्यकैर्न्यूनं हीनं यद्वन्दते यद्वा कश्चिदत्युत्सुकतया जघन्येनैव कालेन वन्दनं समर्पयति शेषैर्वा साधुभिर्वन्दिते सति पश्चाद्वन्दते तन्मूलं नाम वन्दनकम्। बृ० ३ उ०। अक्षरमात्रापदादिभिर्हेतूदाहरणाभ्यां वा हीनरूपे सूत्रदोषे, यथा अनित्यः शब्दो घटवदिति हेतूनम्। अनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति उदाहरणहीनमित्यादि विशे०। अनु०। आ० म० द्वि०।

ऊणत्त न० (ऊनत्व) हीनत्वे, ''ऊणत्तं न कयाइविइ माणसंखं इमं तु अहिगिच्च'' दर्श०।

ऊणसयभाग पुं०(ऊनशतभाग) ऊनश्चासौ शतभाग-श्चोनशतभागः। शतभागेऽप्यपूर्यमाणे। आव० ३ अ०।

ऊणाइतिरित्तमिच्छादंसणवत्तिय त्रि० (ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्शनप्रत्यय) ऊनं स्वप्रमाणाद्धीनमतिरिक्तं ततोऽधिकमात्मादि वस्तु तद्विषयं मिथ्यादर्शनं तदेव प्रत्ययो यस्य सः। ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्शनप्रत्ययवति। तथा हि कोऽपि मिथ्यादृष्टिरात्मानं शरीरव्यापकमपि अङ्गुष्ठपर्वमात्रं यवमात्रं श्यामाकतन्दुलमात्रं चेति हीनतया चेति तथाऽन्यः पञ्चधनुःशतिकं सर्वव्यापकं चेत्यधिकयाऽभिमन्यते। स्था० २ ठा०।

ऊणिय त्रि० (ऊनित) ऊनीभूते, ''वायालीसं वासाइं ऊणियाए'' जं० २ वक्ष०।

ऊणोयर न० (ऊनोदर) क–स–ऊने उदरे, प्रव० ६ द्वा०। ऊनमवममुदरं यस्य स ऊनोदरः। ध० ३ अधि०। स्तोकाऽऽहाराभ्यवहारादपूर्णोदरे, पञ्चा० १८ विव०।

ऊणोयरिया स्त्री० [ऊनोदरिका(ता)] ऊनमुदरमूनोदरं तस्य करणं भावे–वुञ्–ऊनोदरिका। प्रव० ६ द्वा०। ऊनमवममुदरं यस्य स ऊनोदरस्तस्य भाव ऊनोदरता। व्युत्पत्तिरेवेयमस्य प्रवृत्तिस्तूनतामात्रे। बाह्यतपोभेदे, ध० ३ अधि०। स०। पञ्चा०। ऊनोदरिका ऊणोयरिया इति अवमोदरिका ओमोयरिया इति च समानार्थका इति तद्भेदानाह। **से किं तं ओमोदरिया ओमोदरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा दव्वोमोयरिया य भावोमोयरिया य भ० २५ श० ७ उ०।**

सा द्विधा द्रव्यतो भावतश्च। प्रव० ६ द्वा०। अथवा।

ओमोयरियं पंचहा, समासेण विहाहियं।
दव्वओ खित्तकालेण, भावेणं पज्जवेहि य ॥ १४ ॥

अवममूनमुदरं यस्मिन् तत् अवमोदरं तत्र भवमवमोदरिकं तत्तपः समासेन संक्षेपेण पञ्चधा व्याख्यातं द्रव्यतो द्रव्येण क्षेत्रेण कालेन भावेन च पुनः पर्यायैः। उत्त० ३० अ०।

तत्र द्रव्यतोऽवमोदरिकामाह–

से किं तं दव्वोमोयरिया य दव्वोमोयरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा उवगरणदव्वोमोयरिया य भत्तपाणदव्वोमोयरिया य। से किं तं उवगरणदव्वोमोयरिया उवगरणदव्वोमोयरिया। एगे वत्थे एगे पादे वियत्तोवगरणसाइज्जणया सेत्तं उवगरणदव्वोमोयरिया। भ० २५ श० ७उ०।

द्रव्यत उपकरणभक्तपानविषया तत्र उपकरणविषयोनोदरिका जिनकल्पिकादीनां न तदभ्यासपरायणानां वा बोद्धव्या न पुनरन्येषां तेषां समुपध्यभावे समग्रसंयमपालनाभावात्। अथवा अन्येषामप्यतिरिक्तोपकरणाग्रहणतो भवत्येवोनोदरता।

यदुक्तम्।

जं वट्टइ उवगारे, उवगरणं तं च होइ उवगरणं।
अइरित्तं अहिगरणं, अजओ य जयं परिहरंतो'' इति।

(परिहरंतोत्ति) आसेवमानः परिहारोऽपरिभोग इति वचनात्। ततोऽयतश्च यत्परिभुञ्जानो भवतीत्यर्थः। प्रव० ६ द्वा०। द०। ग०।

से किं तं भत्तपाणदव्वोमोयरिया भत्तपाण दव्वोमोयरिया अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे अप्पाहारे दुयालस जहा सत्तपसएपढमुद्देसए (भ० २५ श० ७ उ०) तद्यथा अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अबद्धोमोयरिया सोलस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते

कवले आहारमाहारेमाणे दुभागपत्त चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणे जाव आहारेमाणे ओमोयरिया वत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमाणपत्तो एक्को एक्केण वि घासेण ऊणगं आहारमाहारेमाणे समणे णिग्गंथे नो पकामरस भोइत्ति वत्तव्वंसिया (भ०७श०१उ०) सेत्तं भत्तपाणदव्वोमोयरिया सेत्तं दव्वो मोयरिया भ० २५ श० ७ उ० ॥

भक्तपानोनोदरिका पुनरात्मीयात्मी याहारमानपरित्यागतो विज्ञाय आहारमानं च ''वत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ। भरिसस्स महिवलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला। कवलस्स य परिमाणं, कुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्तं तु। जं वा अविगिय वण्णो, वयणं मिच्छु–तिज्ञवीसतो'' इत्यादि। सा च अल्पाहारादिभेदतः पञ्चविधा भवति। यदाहुः।

अप्पाहारअवज्ञा, दुभागपत्ता तहेव किं बुण्णा।
अट्ठ दुवालस सोलस, चउवीस तहेक्कतीसा य।

अयमत्र भावार्थः। अल्पाहारोनोदरिका नाम एककवलादारभ्य यावदष्टौ कवला इति अत्र चैककवलमाना जघन्या अष्टकवलमाना पुनरुत्कृष्टा द्व्यादिकवलमानभेदा। मध्यमा एवं नवभ्यः कवलेभ्यः आरभ्य यावद् द्वादश कवलास्तावदपार्द्धोनोदरिका अत्रापि नव कवला जघन्या द्वादश कवलोत्कृष्टा शेषा तु मध्यमा। एवं त्रयोदशभ्य आरभ्य यावत् षोडश कवलास्तावद्विभागोनोदरिका जघन्यादिभेदत्रयभावना पूर्ववत् एवं सप्तदशभ्यो यावच्चतुर्विंशतिकवलास्तावत्प्राप्तोनोदरिका एवं पञ्चविंशतेरारभ्य यावदेकत्रिंशत्कवलास्तावत्किञ्चिदूनोदरिका जघन्यादिभेदत्रयं पूर्ववत् भावनीयम्। एवमनेनानुसारेण पानेऽपि भणनीया तथा स्त्रीणामप्येवं पुरुषानुसारेण द्रष्टव्या। प्रव०६द्वा०।

विशेषव्याख्या।

अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे निग्गंथे अप्पाहारे दुवालसकक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे अवड्ढोमोयरिया सोलस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे दुभागपत्ते चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे ओमोदरियातिवत्तव्वंसिया वत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे समणे निग्गंथे पमाणपत्ते इतोएकेणवि कवलेणं ऊणगआहारं आहारेमाणे समणे णिग्गंथे णो पगामरसभोगीति वत्तव्वंसिया॥ १२॥

अस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह॥

लक्खणमतिप्पसत्तं, अइरेगो वि खलु कप्पते उवही।
इइ आहारेमाणं, अतिप्पमाणे बहू दोसा॥

अतिरेकोऽपि खलु कल्पते उपधिरित्युच्यमाने लक्षणमतिप्रसक्तं ततो मानेनैव प्रसङ्गेनाहारमप्यतिप्रमाणं कुर्यादिति हेतोराहारे मानमधिकृतसूत्रेणोच्यते यतोऽतिप्रमाणे गृह्यमाणे आहारे बहवो दोषाः ''हाएज्ज व वामेज्ज इत्यादि'' रूपाः॥

प्रकारान्तरेण संबन्धमाह॥

अहवा विपडिग्गहगे, भत्तं गेण्हंति तस्स किं माणं।
जं जं उवग्गहे वा, चरणस्स तगं तगं भणइ॥

अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शनेन अपिशब्दः संबन्धस्यैव समुच्चये पूर्वसूत्रेण प्रतिग्रहक उक्तः तस्मिंश्च प्रतिग्रहके साधवो भक्ते गृह्णन्ति तस्य भक्तस्य किं प्रमाणमित्यनेन प्रमाणमभिधीयते। अथवा किं संबन्धेन यत् चरणस्य चारित्रस्योपग्रहे वर्तते तत्तत्सूत्रकारो वदति। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। अष्टौ कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरयन् निर्ग्रन्थोऽल्पाहारो भण्यते द्वादश कक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रान्कवलानाहारमाहारयन् अपद्धावमौदर्यः द्वात्रिंशतं कुक्कुट्याण्डकप्रमाणमात्रान्कवलानाहारमाहारयन् श्रमणो निर्ग्रन्थः प्रमाणप्राप्तः। इत एकेनापि कवलेन ऊनमाहारमाहारयन् श्रमणो निर्ग्रन्थो न प्रकामभोजीति वक्तव्यः स्यात्। एष सूत्राक्षरार्थः॥

अथ भाष्यप्रपञ्चमाह॥

नियआहारस्स सया, वत्तीसइमे उ जो भवो भागो।
तं कुक्कुडिप्पमाणं, नायव्वं बुद्धिमंतेहिं॥

निजकस्याहारस्य सदा यो द्वात्रिंशत्तमो भवति भागस्तं कुक्कुटीप्रमाणं पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्। कुक्कुट्यण्डकप्रमाणं ज्ञातव्यं बुद्धिमद्भिः॥

अत्रैव व्याख्यानान्तरमाह॥

कुच्छिय कुडी य कुक्कुडि–सरीरगं अंडगं मुहं तीए।
जायइ देहस्स जओ, पुव्वं वयणं ततो सेसं॥

कुत्सिता कुटी कुक्कुटीशरीरमित्यर्थः। तस्याः शरीररूपायाः कुक्कुट्या अण्डकमिवाण्डकं मुखं केन पुनः कारणेनाण्डकं मुखमुच्यते। तत आह यत् यस्मात् चित्रकर्मणि गर्भे उत्पाते वा पूर्वं देहस्य वदनं मुखं निष्पद्यते पश्चाच्छेषं ततः प्रथमभावितया मुखमण्डकमुच्यते।

थलकुक्कुडिप्पमाणं, जं वा नायासिए मुहे खिवति।
अयमन्नो सु विगप्पो, कुक्कुडिअंडो न वा कवले॥

इह कवलप्रेक्षपणाय मुखे विडम्बिते यदाकाशं भवति तत्स्थलं भण्यते। स्थलमेव कुक्कुट्यण्डकं स्थलकुक्कुट्यण्डकंतस्य प्रमाणं यदि नायासि ते मुखे कवलं प्रक्षिपति। किमुक्तं भवति यावत्प्रमाणमात्रेण कवलेन मुखे प्रक्षिप्यमाणेन मुखं न विकृतं भवति तत्स्थलकुक्कुट्यण्डकप्रमाणम्। गाथायामण्डकशब्दलोपः प्राकृतत्वात्। अयमन्यः कुक्कुट्यण्डकोपमे कवले विकल्पः। अयमन्योऽर्थः कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रशब्दस्येत्यर्थः। एतेन कवलमात्रेणादिना संख्या द्रष्टव्या। तदेवं कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः।

अट्ठ त्ति भणिऊणं, छम्मासा हावएउ वत्तीसा।
नामं चोदगवयणं, पामाए होति दिट्ठंतो॥

अष्टाविति भणित्वा यावदवमौदर्यं तावदेतत्संस्तरतो मध्यं भणितमसंस्तरतः पुनः द्वात्रिंशत्कं प्रमाणं भणितमुत्सर्गः। पुनरयमुपदेशः षण्मासादारभ्य तावत् हापयेत् यावत् द्वात्रिंशत्कवलाः। इयमत्र भावना। यदि योगानां न हानिरुपजायते तदा षण्मासान् उपवासं कृत्वा पारणके एकं सिक्थमाहारयेत्। अथ तेन न संस्तरति ततः पारणके द्वे सिक्थे आहारयेत्। एवमेकैकसिक्थपरिवृद्ध्या तावन्नेयं यावदेकं लम्बनं कवल–

मित्यर्थः। तेनाप्यसंस्तरणे कवलपरिवृद्धिर्वक्तव्या। सा च तावत् यावदेकत्रिंशत्कवलाः षण्मासामुवासकर्तुमशक्नुवन् एके न दिवसेनोनं षण्मासक्षपणं कृत्वा एवमेव सिक्थकवलपरिवृद्ध्या पारणकं कुर्यात्। एवमेकावहान्या षण्मासक्षपणं तावत् वक्तव्यं यावच्चार्धं कृत्वा पूर्वप्रकारेण सिक्थककवलपरिवर्द्धनेन पारणकं परिभावयेत्। अथ न संस्तरति ततो दिने दिने भुक्त्वा मात्राप्येवमेव सिक्थादारभ्य यावत् द्वात्रिंशत् कवला इति। अत्र चोदकवचनं यद्येवमष्टाविंत्यादिसूत्रोपनिबद्धं नाममात्रं वचनमात्रमाचार्य आह। सिद्धिप्रसादनिर्मापणाय योगानां संधारण-निमित्तमेतन्मध्यमुपात्तं सूत्रेण ततो न कश्चिद्दोषस्तथा चात्र प्रासादो भवति दृष्टान्तः। स चाग्रे भावयिष्यते।

संप्रति यदुक्तं ''छम्मासा होवते उ वत्तीसा'' इति तद्भाव-नार्थमाह।

छम्मासक्खवणंतम्मि, सित्थमेगादि लंवणं।
ततो लंवणमड्ढी जा–वेक्कतीसमसंथरे॥
एक्कमेक्कं तु हावेत्ता, दिणं पुव्वकमेण उ।
दिणे दिणे उ सित्थादी, पावे जुत्तीमसंथरे॥

षण्मासक्षपणान्ते सिक्थमेकमादिशब्दात् असंस्तरणे द्वे त्रीणि चत्वारि इत्यादिपरिग्रहोऽश्रान्तभुक्तमवमे संस्तरणे च सिक्थपरिवृद्धि-स्तावत्कर्तव्या यावदवमकवलो भवति। तेनाप्यसंस्तरणे द्वात्रिंशदपि द्रष्टव्याः परमेतत्कस्याऽपि कदाचित् अन्यथा प्रकामभोजित्व-दोषप्रसक्तेर्यत आह। ''एतो एगेण वि कवलेण ऊणगमाहारेमाणे समणे णिग्गंथे पगामरसभोइत्ति वत्तव्वं सिया'' इह प्रकामग्रहणेन निकाममपि सूचितमतो द्वे अपि व्याख्यानयति।

पगामं होइ वत्तीसा, निकामं होइ निच्चसो।
दुयवि जहधा ते उ, गिद्धी हवति वज्जिया॥

द्वात्रिंशत्कवलाः प्रकामं भवति त एव यन्नित्यशः सर्वकालं भुज्यते तन्निकामम्। एते द्वे अपि द्वात्रिंशत्कवलेभ्यः एकेनापि कवलेनोन-माहारमहारयतोऽपरिक्ते गृद्धिश्च वर्जिते भवति। ''अधुनावमोय-णमिति'' व्याख्यानार्थमाह।

अप्पावड्ढ दुभागो–मदेसणं नाममेत्तगं नाम।
एइ दिणमेयतीसं, आहारेउ त्ति जं भणह॥

यदि नाम प्रतिदिनमेकत्रिंशमपि कवलानाहारापयेदिति भणथ यूयं प्रतिपादयथ तर्हि यत् अल्पार्द्धद्विभागावमौदर्यदेशनं तन्नाम मात्रकमेकत्रिंशतोऽपि कवलानां प्रतिदिवसमाहारानुज्ञानात्।

आचार्य आह।

भण्णति अप्पाहारा–दओ समत्थस्स भिग्गहविसेसा।
चंदायणादयो विव, सुत्तनिवातो पगाममि।

भण्यते उत्तरं दीयते अल्पाहारादयः समर्थस्य सतोऽभिग्रहविशेषाश्-चान्द्रायणादय इव। सूत्रनिपातः पुनरन्तिमोऽसमर्थस्य प्रकामनिकाम-निषेधपर इत्यदोषः। ये चाल्पाहारादयोऽभिग्रहविशेषास्ते बहुनां संयतसंयतीनां साधारणार्थं तथा चाह।

अप्पाहारग्गहणं, जेण य आवस्सयाण परिहाणी।
न वि जायइ तम्मत्तं, आहारेयव्वं तयं नियमा।

अल्पाहाराग्रहणमल्पार्द्धाद्युपलक्षणं तत इदमल्पार्द्धाद्यग्रहणमेतत् ज्ञापयति सिद्धिप्रासादनिर्मापणाय व्यापार्यमाणानामावश्यकानां योगानां यावन्मात्रेणाहारेण परिहानिर्नोपजायते तावन्मात्रं तमभिग्रहविशेषमभि-गृह्याहारयितव्यम्।

अत्रैव दृष्टान्तमभिधित्सुराह।

दिट्ठंतो (अ) मच्चेणं, पासदेणं तु रायसंदिट्ठे।
दव्वे खेत्ते काले, भावे ण य संकिलेसेइ॥

इयं गाथाक्षरयोजना। भावार्थस्तु केनापि राज्ञा अमात्य आज्ञप्तः शीघ्रं प्रासादः कारयितव्यः स चामात्यो द्रव्ये लुब्धस्तान् कर्मकरान् द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च संक्लेशयति कथमित्याह।

अलोणेण य सुक्कयं, सुक्खं नो पगामं दव्वतो।
खेत्ताणुचियं उण्हे, काले उस्सूरभोयणं।
भावे न देति विस्सामं, निट्ठुरेहिं य खिंसइ।
जेयं वित्तिं च नो देइ, नट्ठा अकयदंभणा॥

द्रव्यतोऽलवणसंस्कृतं विशिष्टसंस्काररहितं शुष्कं वातादिना शोषं नीतं वल्लचनकादि तदपि न प्रकामं न परिपूर्णं ददाति। क्षेत्रतो यत्तस्मिन् क्षेत्रे अनुचितं भक्तं वा पानं वा तद्ददाति। तथा उष्णे कर्म कारयति काले उत्सूरे भोजनं दापयति भावतो न ददाति विश्रामम्। निष्ठुरैश्चवचनैः खिंसयति। जितामपि च कर्मकरतो लभ्यामपि वृत्तिं मूल्यं न ददाति। एवं च सति ते कर्मकराः प्रासादमकृत्वापि नष्टाः पलायिताः। स्थितः प्रासादोऽकृतो राज्ञा चैतज्ज्ञातं ततोऽमात्यस्य दण्डना कृता अमात्यपदाच्चयावयित्वा तस्य सर्वस्वापहरणं कृतमिति। एष दृष्टान्तः।

सांप्रतमुपनयमाह॥

अकरणे य पसायस्स उ, जह सो मच्चो उ दंडितो रन्ना।
एमेवय आयरिए, उवणयणं होति कायव्वं॥

यथा प्रासादस्यकरणे सोऽमात्यो राज्ञा दण्डित एवमेवाचार्यं उपनयनं भवति कर्तव्यं तथैव राजस्थानीयेन तीर्थकरेण अमात्य-स्थानीयस्या-चार्यस्य सिद्धिप्रासादसाधूनामर्थमादेशो दत्तः। स च कर्मकरस्थानीयानां साधूनां द्रव्यादिषु तत्करोति। यथा ते सर्वे पलायन्ते। तथा चाह।

कज्जम्मि वि नो विगतिं, भत्तं न तं च पज्जत्तं।
खेत्तुं खलु खेत्तादी, कुवसहि उब्भामगे चेव॥
तइयाए देति काले, ओमे वुस्सग्गवादिगो निच्चं।
संगहउवग्गहे वि य, न कुणइ भावे पयंडो य॥

द्रव्यतः कार्येऽपि समापतिते विकृतिं घृतादिकां न ददाति। भक्तमपि प्रान्तं दापयति। तदपि च न पर्याप्तम्। क्षेत्रतः खलु क्षेत्रादीन् प्रेषयति खलु क्षेत्रं नाम यत्र तु किमपि प्रायोग्यं लभ्यते आदिशब्दाद्यत्र स्वपक्षतः परपक्षतो वाऽप्यभ्राजना तदादिपरिग्रहः। कुवसतौ वा स्थापयति उद्भ्रामके वा ग्रामे यदा तदा वा प्रेषयति कालतः सदैव तृतीयायां भोजनं ददाति। अवमेऽपि दुर्भिक्षेऽप्युत्सर्गे वादिको नित्यं भावतः संग्रहं ज्ञानादिभिरुपग्रहं वस्त्रपात्रादिभिर्न करोति। प्रचण्डश्च प्रकोपनशीलः॥

लोए लोउत्तरे चेव, दो वि एए असाहगा।
विवरीयत्ति व णो सिद्धी, अन्ने दो वि व साहगा॥

लोके लोकोत्तरेऽपि च एतायनन्तरोक्तौ द्वावप्यसाधकौ

द्रव्यतो भावतश्च प्रासादस्य विपरीतवर्तिनः पुनरुभयथापि सिद्धिरिति कृत्वा अन्यौ द्वावपि द्रव्यतो भावतश्च प्रासादस्य साधकौ ॥

सिद्धी पासायवडिं–सगस्स करणं चउव्विहं होइ।
दव्वे खेत्ते काले, भावे य न संकिलेसेइ ॥

सिद्धिः प्रासादावतंसकरणं चतुर्विधं भवति तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च। ततो गीतार्थो द्रव्यादिषु साधून् न संक्लेशयति ॥

एवं तु निम्मवंति, ते वि अचिरेण सिद्धिपासाया।
तेसिं पि इमो उ विही, आहारेयव्वए होति ॥

एवं द्रव्यादिषु संक्लेशाकरणतस्ते साधवोऽचिरेण स्तोकेन कालेन सिद्धिप्रासादं निर्मापयन्ति तेषामपि सिद्धिप्रासादनिर्मापकानामाहारयितव्ये अयं वक्ष्यमाणो विधिस्तमेवाह ॥

अड्ढमसणस्स सव्वं, जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागं।
वायपवियारणट्ठा, छब्भागं कुणइ यं कुज्जा ॥

अर्द्धमुदरस्य दधि तक्रते मनदिसहितस्याशनस्य योग्यं कुर्यात् द्वौ भागौ द्रव्यस्य पानीयस्य योग्यौ षष्ठं तु भागं वातप्रविचरणार्थमूनकं कुर्यात्। इयमत्र भावना। उदरस्य षड् भागाः कल्पन्ते तत्र ये भागा अशनस्य द्वौ भागौ पानीयस्य षष्ठो वातप्रविचरणाय। एतच्च साधारणे प्रावृट्काले चत्वारो भागाः। सव्यञ्जनस्याशनस्य पञ्चमः षष्ठो वातप्रविचरणाय। उष्णकाले द्वौ भागावशनस्य सव्यञ्जनस्य त्रयः पानीयस्य षष्ठो वातप्रविचरणायेति।

एसो आहाराविही, जह भणितो सव्वभावदंसीहिं।
धम्मवसगाय जोगा, जेण न हीयंति तं कुज्जा ॥

एष आहारविधिर्यथा सर्वभावदर्शिभिः सर्वज्ञैर्भणिता येन च प्रकारेण धर्मनिमित्ता अवश्यकर्तव्या योगा न हीयन्ते तं कुर्यान्नान्यदिति। व्य०द्वि०८उ०।

अथ क्षेत्रावमौदर्यमाह।

गामे नगरे तहा य, रायहाणि निगमे य आगरपल्ली।
खेडे कव्वडदोणमुह–पट्टणमडंबसंबाहे ॥ १६ ॥
आसमपए विहारे, सन्निवेसे समायघोसे य।
थलसेणाखंधारे, सत्थे संवट्टकोट्टे य ॥ १७ ॥
कडेसु य रत्थासु य, घरेसु वा एवमित्तियं खित्तं।
कप्पइ उ एवमाइ, एवं खित्तेणओ भवे ॥ १८ ॥

तिसृभिर्गाथाभिः कुलकम्। एवमिति अमुना प्रकरेण हदथस्थप्रकारेण एतावन्नियतमानं क्षेत्रं पर्यटितुं मम वर्तते इति एवमादिर्गृहशालादिपरिग्रहः। अद्य एतावत्प्रमाणं भिक्षार्थं भ्रमितव्यमिति निर्द्धारणं क्षेत्रेण अवमौदर्यं भवेत्। तदेव भिक्षाभ्रमणक्षेत्रमाह। कुत्र कुत्र भिक्षार्थं साधुर्भ्रमति ग्रामे गुणान् प्रसतीति ग्रामस्तस्मिन्। अथवा कण्टकवाटकावृतो जनानां निवासो ग्रमस्तस्मिन् ग्रामे। पुनर्नगरे नाऽत्र कराः सन्ति इति नगरं तस्मिन्। तथा राजधान्यां राजा धीयते यस्यां सा राजधानी तस्यां राजधान्यां राजपीठस्थाने निगमे प्रभूतवणिग्निवासे आकरः स्वर्णाद्युत्पत्तिस्थानं तस्मिन् आकरे पल्ली वृक्षवंशादिगहनाश्रिता प्रान्तजनस्थानं तस्यां पल्ल्याम्। खेटं धूलिप्रकारपरिक्षिप्तं तस्मिन् खेटे। पुनः खर्वटं कुनगरं द्रोणमुखं जलस्थलनिर्गमप्रवेशं तत् भृगुकच्छादिकम्। पत्तनं तु यत्र सर्वदिग्भ्यो जनाः पतति आगच्छन्ति इति पत्तनम्। अथवा पत्तनं रत्नखानिरिति लक्षणं तदपि द्विविधं जलमध्यवर्ति स्थलमध्यवर्ति च। मटम्बं यस्य सर्वदिक्षु सार्द्धतृतीययोजनान्तर्ग्रामो न स्यात् तत्र। तथा संबाधः प्रभूतचातुर्वर्ण्यनिवासः खर्वटशब्दादारभ्य संबाधशब्दं यावद् द्वन्द्वः समासः कर्तव्यः। खर्वटश्च द्रोणमुखं च पत्तनं च मटम्बं च संबाधश्च खर्वटद्रोणमुखपत्तनमटम्बसंबाधास्तेषां समाहारः खर्वटद्रोणमुखपत्तनमटम्बसंबाधं तस्मिन् खर्वटद्रोणमुखपत्तनमटम्बसंबाधे एतेषु स्थानेषु इत्यर्थः (१६) पुनः कुत्र कुत्र इत्याह। आश्रमपदे तापसाश्रमोपलक्षिते स्थाने विहारे देवगृहे पुनः सन्निवेसे यात्राद्यर्थसमागतजनावासे समाजः परिषत् घोषः आभीरपल्ली समाजश्च घोषश्च समाजघोषं तस्मिन् समाजघोषे। स्थलं च सेना च स्कन्धावारश्च स्थलसेनास्कन्धावारं तस्मिन् स्थलसेनास्कन्धावारे। तत्र स्थलं उच्चभूमिभागः सेना चतुरङ्गकटकसमूहः स्कन्धावारः कटकोत्तरणनिवासः सार्थक्र याणकभृतां समूहः प्रतीत एव तत्र संवर्तो भयत्रस्तजनसमवायः कोट्टो दुर्गः संवर्तश्च कोट्टश्च संवर्तकोट्टं तस्मिन् संवर्तकोट्टे (१७) पुनर्वाटिषु वृत्त्यादिपरिक्षिप्तगृहसमूहेषु रथ्यासु सेरिकासु च गृहेषु प्रसिद्धेषु च एतेषु च स्थानेषु अवमोदर्थं कृतं क्षेत्रतो भवति। अथ पुनः प्रकारान्तरेण क्षेत्रावमोदर्यमाह।

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्तियपतंगवीहिया चेव।
संबुक्कावट्टा य, गंतुं पच्चागमा छट्ठा ॥ १९ ॥

षड्विधा क्षेत्रावमोदरिका वर्तते पेटा पेटाकारा चतुष्कोणा पेटाकारेण गोचर्यां कृत्वा अवमोदरीकरणमेवमर्द्धपेटाकारेण गोचरीकरणं गोमूत्रिकाकारेण पतङ्गवीथिका पतङ्गशलभस्तस्य वीथिका उड्डयनं पतङ्गवीथिका अनियता निश्चयरहिता शलभोड्डयनसदृशीत्यर्थः। पुनः शम्बूकावर्तः शम्बूकः शङ्खस्तद्वत्आवर्तो भ्रमणं यस्यां सा शम्बूकावर्ता साऽपि द्विविधा अभ्यन्तरशम्बूका बहिःशम्बूका च। शङ्खनाभिरूपक्षेत्रे मध्याद्बहिर्गम्यते सा अभ्यन्तरशम्बूकावर्ता विपरीता बाह्यात् मध्ये आगमनरूपा बहिःशम्बूकावर्ता पञ्चमी। पुनः षष्ठी आयतं गन्तुं प्रत्यागमाज्ज्ञेया आदित एव आयतं सरलं गत्वा यस्यां प्रत्यागमो भवति सा षष्ठी ज्ञेया इत्यर्थः। एतासां भिक्षाचर्याणामपि अवमोदर्यत्वं ज्ञेयं यतो हि अवमोदर्यार्थमेव ईदृक् प्रकारेणैव साधुराहारार्थं भ्रमति तस्मान्नात्र दोषः ॥ १९ ॥

दिवसस्स पोरिसीणं, चउण्हं पि जत्तिओ भवे कालो।
एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वो ॥ २० ॥

दिवसस्य चतसृणां पौरुषीणं प्रहराणां यावद् घटिकाचतुष्टयादिकोऽभिग्रहविषयः कालो भवति एवममुना प्रकारेण कालेन चरमाण इति गोचर्यां चरतः साधोः खलु निश्चयेन कालावम इति कालेन अवमं कालावमं मन्तव्यः ॥

पुनः कालावमोदर्यमेव प्रकारान्तरेणाह ॥

अहव तइयपोरिसीए, ऊणाए घासमेसंते।
चउभागूणाए वा, एवं कालेणओ भवे ॥ २१ ॥

अथवा तृतीयायां पौरुष्यामूनायां किञ्चिद्धीनायां ग्रासमाहारमेषयन् गवेषणां कुर्वन् वा अथवा चतुर्भागेन ऊनायां तृतीपौरु–

ष्यां भिक्षा चर्यां साधोरुक्तास्ति कालेन अवमोदर्यं भवेत्। उत्त० ३ अ०।

अथ भावावमोदर्यमाह ॥

से किं तं भावोमोयरिया २ अणेगविहा पण्णत्ता ? तं जहा अप्पकोहे जाव अप्पलोभे अप्पसद्दे अप्पझंझे अप्पतुमं तुमे सेत्तं भावोमोयरिया सेत्तं भावोमोयरिया सेत्तं ऊनोमोयरिया ॥

अल्पक्रोधः पुरुषः अवमोदरिका भवत्यभेदोपचारादिति (अप्पसद्देत्ति) अल्पशब्दो रात्र्यादावंसयतजागरणभयात् (अप्पझंझत्ति) इह झञ्झा विप्रकीर्णा कोपविशेषाद्वचनपद्धतिः चूर्ण्यां तूक्तम्। "झंझ अणत्थ य बहुप्पला वित्तं अप्पतुमं तुमेति।" तुमतुमो हृदयस्थः कोपविशेष एव। भ० २५ श० ७ उ०। भावादूनोदरिका क्रोधादिपरित्यागो यत उक्तम्। "कोहाईणमणुदिणं, चाओ जिणवयणभावणाओ य। भावेणोणोदरिया, पन्नत्ता वीयरागेहिं॥" प्रव० ६ द्वा०। द०। ग०। स्था० औ०।

इत्थी वा पुरिसो वा, अलंकिओ वा एलंकिओ वा वि।
अन्नयरवयत्थो वा, अन्नयरेणं च वत्थेणं ॥ २२ ॥
अन्नेणं विसेसेणं, वन्नेणं भावमणुमुयंते उ।
एवं चरमाणो खलु; भावोवमाणं मुणेयव्वं ॥ २३ ॥

युग्मम् एवमनुना प्रकारेण चरमाणः इति प्राकृतत्वाश्चरमाणस्य भिक्षायां भ्रममाणस्य साधोः खमु निश्चयेन (भावोवमाणं इति) भावोऽवमत्वं भावावमोदर्यं (मुणितव्यं) ज्ञेयमित्यर्थः। भावेन अवमोदर्यं भावावमोदर्यं कोऽर्थः। यदा कश्चित्साधुरिति चिन्तयति अद्य कश्चिद्दाता भावमेतादृशं स्वरूपम् (अणुमुयंते इति) अनुन्मुञ्चन् अत्यजन् एतादृशस्वरूपं भजन् मह्यम् आहारं दास्यति तदाऽहं ग्रहीष्यामि नान्यथेति भावः। को दाता कीदृशं च भावमत्यजन् तदाह (इत्थी) स्त्री वा पुरुषो वा अलंकृतः आभरणादिसहितोऽथवाऽनलकृतोऽलङ्कारै रहितः (अन्नयरवयत्थो) अन्यतरवयस्थो बालतरुणस्थविरादिकानां त्रयाणां वयसां मध्ये अन्यतरस्मिन् एकस्मिन् वयसि स्थितः। अन्यतरेण पट्टदुकूलादिवस्त्रेण उपलक्षितः। २२। अन्येन विशेषेण कुपितप्रहसितादिनाऽवस्थाभेदेन उपलक्षितः वर्णेन स्वेतरक्तादिना उपलक्षितः भावं पर्यायमुक्तरूपमलङ्कारादिकम् (अणुमुयंते) अनुन्मुञ्चन् एतादृशः सन् मह्यं आहारं दास्यति तदा लास्यामि इत्यभिग्रहधारणेन भावावमोदर्यं ज्ञेयम् ॥

अथ पर्यायावमोदर्यमाह।

दव्वे खित्ते काले, भावम्मि आहियाउ जे भावा।
एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥ २४ ॥

द्रव्ये अशनपानादौ क्षेत्रे पूर्वोक्ते ग्रामनगरादौ काले पौरुष्यादौ भावे स्त्रीत्वादौ आख्याताः कथिता ये भावाः पर्यायास्तैः सर्वैरपि द्रव्यादिपर्यायैः अवममवमोदर्यं चरति सेवति यः सोऽवमचरो भिक्षुः पर्यवचरको भवेत्। पर्यायावमोदर्यचरको भवतीत्यर्थः। एकसिक्थकाद्यल्पाहारेण द्रव्यतोऽवमोदर्यं स्यादेव परं ग्रामादौ क्षेत्रतः पौरुष्यादौ कालतः स्त्रीपुरुषादिषु भावतः कथमवमोदर्यं स्यात् उत्तरं क्षेत्रकालभावादिष्वपि विशिष्टाऽभिग्रहवशादवमोदर्यं स्यादेव। इह पुनः पर्यायग्रहणेन पर्यवप्राधान्यविवक्षया पर्यावावमोदर्यं ज्ञेयम्। २४। उत्त० ३० अ०।

ऊधारिता त्रि० (अवधारयितृ) निश्चितं वक्तरि, "अभिक्खणं अभिक्खणं ऊधारिता"। अभीक्ष्णमवधारयिता। शङ्कितस्याप्यस्य निःशङ्कितस्यैवमेवायमित्येवं वक्ता। अथवा अवहारयिता परगुणानामपहारकारी यथा तथा हासादिकमपि परं भणति दासचोरस्त्वमित्याद्येकादशसमाधिस्थानम्। दशा० १ अ०।

ऊमिणण न० (अवमान) लोकशास्त्रप्रसिद्धे प्राङ्गणके, "चउणारी ऊमिणणं अहिगासु नत्थि उ विरोहे" ध० २ अधि०।

ऊरण पुं० (ऊरण) नरभ्रे, रा०। मेषे, विशे०।

ऊरस पुं० (ऊरस) उरसा वर्तत इति ऊरसः। बलवति बाहुबलिनीव पुत्रभेदे, स्था० १० ठा०।

ऊरुघंटा पुं० (ऊरुघण्टा) जङ्घाघण्टायाम्, ज्ञा० १८ अ०।

ऊरुयाबल पुं० (ऊरुकाबल) उरुकयोराबलनमूरुकाबलः। शारीरदण्डभेदे, प्रश्न० १ सं०३ द्वा०।

ऊरुयाल पुं० (ऊरुदार) ऊर्वोर्जङ्घयोर्दारो दारणा ज्वालो वा ज्वालनं यः स तथा। शारीरदण्डभदे, प्रश्न० १ सं०३ द्वा०।

ऊस पुं० (उस्र) वसन्ति रसा अत्र वस–रक्–नि–न षत्वम् रलोपे **"लुप्तयरवशषसां दीर्घः ॥ ८। १। ४३ ॥** इति लुप्तोपधःस्थरेफस्य सकारस्यादेः स्वरस्य दीर्घः। किरणे, प्रा०।"

*** ऊष** पुं०ऊष रुजायाम्, क०। पांशुक्षारे, द० ५अ०। ऊषरादिक्षेत्रोद्भवे लवणिमनि, लवणसंमिश्ररजोविशेषे, पिं०। यद्वशादूषरं क्षेत्रम्, प्रज्ञा० १ पद। जीवा। मानुषनगरप्रथमकूटवैदूर्य्यपल्योपमस्थितिके नागदेवे, द्वी। कर्णरन्ध्रे चन्दनाद्रौ, तत्रचन्दनाद्रेर्विरहितापकत्वात्कर्णच्छिद्रस्य अल्पजलादिप्रवेशेनोद्वेगहेतुत्वात् क्षारमृत्तिकाया मलापहारकत्वात्तथात्वमिति भेदः। ऊषति अन्धकारं मेचकं वा। प्रभाते, रेतसि, न० तस्य क्षारवत्त्वात्तीव्रत्वादुष्णत्वाच्च तथात्वम्। क्षारमृत्तिकायाम्, स्त्री० वाच०।

ऊसट्ठ न० (ऊत्सृष्ट) उद्सृज्–क्त। उत्सर्जने, उच्चारादेस्त्यागे, आचा० २ श्रु०।

ऊसढ त्रि० (ऊत्सृत) उच्चे, जी० ३ प्रति०। जं०। उत्कृष्टे, व्य० ६ उ०। "ऊसढाति वा गब्भियातिबा" आचा० २ श्रु०। "वन्नाइ जुयमूसढमित्याद्युक्ते शुभवर्णगन्धादियुक्ते," प्रव० २ द्वा। दशा। आचा। "रसियं रसियं ऊसढं ऊसढं मणुण्णं मणुण्णं" सम०।

ऊसण न० (उषण) उष–ल्युट् मरिचौ, पिप्पलीमूले, शुण्ठ्यां, च०। *चित्रके, पुं०। पिप्पल्यां, चव्ये च स्त्री०। मरीच्यादीनां जिह्वोद्वेजकतया* तथात्वम् वाच०।

ऊसण्हसण्हिया स्त्री० (उच्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका) उत् प्राबल्येन श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका अनन्तेषु परमाणुषु, अनन्तैः परमाणुभिरेकस्या उच्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाया अभिधानात्॥ प्रव० २५४ द्वा०। "अणंताणं परमाणुपोग्गलाणं समुदयसमितिसमागमेणं सा एगा उसण्हणिया" अनन्तानां व्यवहारिकपरमाणुपुद्गलानां समुदयाह्यादिसमुदयास्तेषां समितयो मिलनानि तासां समागमपरिणामवशादेकीभावनं समुदयसमितिः समागमस्तेन या परिमाणमात्रेति गम्यते। सा एका अव्यन्तं श्लक्ष्णश्लक्ष्णा सैव श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका। उत्प्राबल्येन श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाः उच्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाः भ० ६ श० ७ उ०।

ऊसत्त त्रि० (ऊत्सक्त) ऊर्द्धं सक्त उत्सक्तः। उल्लोचतले उपरिसंबद्धे, "आसत्तो सत्त विउलवट्टमल्लदामकलावं" आ०म०प्र०।

ऊसर न० (ऊषर) ऊष मत्वर्थीयो रः ऊषं क्षारमृत्तिकां राति द–

दाति क–वा । क्षारमृत्तिकायुक्ते देशे, यस्मिन्नुप्तं बीजं न प्ररोहति यत्र तृणादेरसम्भवः । श्रा० । प्र० । यो० ।

ऊसरण न० (उत्सरण) उद्–सृ–ल्युट् । **अनुत्साहोत्सन्नेत्सच्छे । ८ । १ । ११४ ।** इति त्स परस्यादेरुत ऊत्, प्रा० । आरोहणे, ''थाणू सरणं तओ समुप्पयणं'' विशे० ।

ऊसरदेस पुं० (ऊषरदेश) ऊषरविभागे, श्रा० ।

ऊसल धा० (उल्लस) उद्–लस् उल्लासे, **उल्लसो रूसलो सुम्भ णिल्लसपुलआआंगुज्झोल्लारोआः । ८ । ४ । २०२ ।** इत्युल्लसेरूसलादेशः । ऊसलइ उल्लसइ उल्लसति । प्रा० ॥

ऊसव धा० (उत्सव) उद्–सू–अप् **अनुत्साहोत्सन्नेत्सच्छे । ८ । १ । ११४ ।** इत्यादेरुत उत्त्वम् । प्रा० । आनन्दजनकव्यापारे, ''उसवो जत्थ भत्तपाणं विसिट्ठं ऊसवाविज्जति'' नि० चू० १६उ० । इंदाय महा पायं पइनिययया । ऊसवा हुंति '' उत्सवाः प्रायः प्रतिनियता वर्षमध्ये प्रतिनियतदिवसभाविन इन्द्रादिमहाः । एते च भरतकाले प्रवृत्ताः ''अण्णया कयाइं ऊसवे इब्भराडियाइं'' आ० म० प्र० । ''ऊसवे जहा एगंति पव्वंतियगामे आभीराणि ताणि साहूण पासे धम्मं सुणंति ताहे देवलोगे वण्णंति एवं ते सिं अत्थधम्मे बुद्धी । अन्नया कयाइ इंदमहे वा उन्नाम्मि वा ऊसवे नगरिं गयाणि जारिसा बारवती तत्थलोगं पेच्छंति मंडियपसाहियसुगंधविवित्तनेवत्थं ताणि तं दट्ठूण भणंति । एस देवलोगो जो सो तया साहूहिं वन्नितो एत्ताहे जइ वच्चमो तो सुंदरतरं करेमो जेण अम्ह वि देवलोगे उववज्जामो । ताहे ताणि मंतूण साहूण साहिंति जो तुब्भेहिं अम्हं कहितो देवलोगो सो पच्चक्खो अम्हेहिं दिट्ठो । साहू भणंति न तारिसो देवलोगो अतो अण्णरिसो अणंतगुणो ततो ताणि अब्भहियजायविम्हयाणि पव्वइयाणि । एवं ऊसवेण सामानयलंभो ॥ आ० म० द्वि० । (पार्श्वस्थानामुत्सवा अन्यत्र)

ऊसववज्ज न० (उत्सववर्ज्य) उत्सवाभावे, ''ऊसववज्जकयाइ वि, लहुओ लहुया अभिक्खगहणम्मि'' व्य० १ उ० ।

ऊसविय अव्य० (उच्छ्राप्य) ऊर्द्धस्थं कृत्वेत्यर्थे, ''तणाइं ऊसविय अगणिणिसिरंति'' तृणानि कुशेषीकादीनि पौनः पुन्येनोर्द्धाधःस्थानि कृत्वा, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

*** उच्छ्रित** त्रि० । ऊर्द्धीभूते, ज्ञा० ८ अ० । आ० म० प्र० ।

*** उच्छ्रयित** त्रि० । ऊर्ध्वीकृते, ज्ञा० ८ अ० ।

ऊसवियरोमकूव त्रि० (उच्छ्रितरोमकूप) उच्छ्रितानि रोमाणि कूपेषु तद्रन्धेषु यस्य स तथा जातरोमाञ्चे, भ० ११ श० ११ उ० । कल्प० ''ऊसवियरोमकूवा छप्पिय अणगारे णिदसए दिट्ठी'' आ० म० द्वि० ।

ऊससण त्रि० (उच्छ्वसन) उच्छ्वसितं कुर्वति, ''ऊससमाणे नीससमाणे वा कासमाणे वा छायमाणे वा'' आचा० २ श्रु० ।

ऊससिय न० (उच्छ्वसित) उच्छ्वसनमुच्छ्वसितं भावे निष्ठा क्तप्रत्ययः । अनक्षरश्रुतभेदे, नं० । आ० म० प्र० । विशे० । ऊर्द्धं प्रवलं श्वसितमुच्छ्वसितम् । ऊर्द्धश्वासग्रहणे, ''अन्नत्थ ऊससिएणं'' अन्यत्रोच्छ्वसितात् ऊर्द्धश्वासग्रहणात् । उत् उर्द्धं प्रवलं वा श्वसितमुच्छ्वसितमिति व्युत्पत्तेः । ध० २ अधि० । आव० ।

ऊससिर त्रि० (उच्छसितृ) शीलार्थे तृन्–तत्स्थाने । **शीलाद्यर्थस्येरः । ८ । २ । १४५ ।** इति तृन इरादेशः । उच्छ्वसनशीले, प्रा० ।

ऊसारिय त्रि० (उत्सारित) प्रलम्बीकृते, ज्ञा० १८ अ० ।

ऊसास पुं० (ऊच्छ्वास) उत् ऊर्द्धं श्वास उच्छ्वासः । आ० चू० ५ अ० । **अनुत्साहोत्सन्ने त्सच्छे । ८ । १ । ११४ ।** इतिच्छपरस्य उत् ऊत् । प्रा० । ऊर्द्धगमनस्वभावे श्वासे, जो०१ पाहु० । अहोरात्रादिषूच्छ्वासमानम् इह अहोरात्रे मासे वर्षे वर्षशते वोच्छ्वासपरिमाणमेवं पूर्वसूरिभिः संकलितम् । ''एगं च सयसहस्सं, ऊसासाणं तु तेरस सहस्सा । नउपसणमग्गहिया, दिवसनिसि होंति विन्नेया । मासचियऊसासा, लक्खा तेतीससहस्स पणनऊई । सत्त य सयाइं नाणसु, कहियाइं पुव्वसूरिहिं । चत्तारि उ कोडी उ, लक्खा सत्ते व होंति नायव्वा । अडयालीखसहस्सा, वारिसया होंति वरिसेणं '' जीवा० ३ प्रति० । संख्येयावलिकात्मके काले, ''संखेज्जा आवलियाओ ऊसासो'' किल षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयोनावलिकानां क्षुल्लकभवग्रहणं भवति तानि च सप्तदश सातिरेकाणि उच्छ्वासनिःश्वासकालः । एवञ्च सङ्घाताः आवलिका उच्छ्वासकालो भवति, भ६श७उ । अनु । कर्म । (एकेन्द्रियादीनामुच्छ्वासवक्तव्यता आण शब्दे उक्ता) उत्पचने, मरणे, ''छेदण ऊसास अणाहियासे य'' वृ० १ उ० ।

ऊसासग पुं० (उच्छ्वासक) उच्छ्वसितीत्युच्छ्वासकः । आनपर्य्याप्तिपरिनिष्पन्ने, विशे० । आ० म० द्वि० ।

ऊसासणाम न० (उच्छ्वासनामन्) यदुदयवशादात्मन उच्छ्वासनिःश्वासलब्धिरुपजायते तस्मिन्नामकर्मभेदे, कर्म० । प्रव० । श्रा० । पं० सं० । ''उससणलद्धिजुत्तो, हवेइ ऊसासणामवसा'' उच्छ्वासनामवशादुच्छ्वासनामकर्मोदयेन उच्छ्वसनलब्धियुक्तो भवति उच्छ्वासनिःश्वासलब्धितो जायते । यदुदयादुच्छ्वसनलब्धिरात्मनो भवति सर्वलब्धीनां क्षायोपशमिकत्वादौदयिकी लब्धिर्न संभवतीति चेत् नैतदस्ति वैक्रियाहारकलब्धीनामौदयिकीनामपि संभवाद्वीर्यान्तरायक्षायोपशमैरपि चात्र निमित्तीभवतीति सत्यप्यौदयिकत्वे क्षायोपशमिकव्यपदेशोऽपि न विरुद्धते । कर्म० ।

ऊसासणिरोह पुं० (उच्छ्वासनिरोध) बालमरणसाधके प्राणनिरोधे, व्य० १० उ० ।

ऊसासीणसास पुं० (उच्छ्वासनिःश्वास) उच्छ्वासेन सह निःश्वासः प्राणसञ्ज्ञके कालभेदे, ''एगे ऊसासनीसासे एस पाणुत्ति वुच्चइ'' भ० ६ श० ७ उ० ।

ऊसासद्धा स्त्री० (उच्छ्वासाद्धा) उच्छ्वासप्रमितकालविशेषे, भ० ६ श० ७ उ० ।

ऊसासपज्जत्ति स्त्री० (उच्छ्वासपर्य्याप्ति) पर्य्याप्तिभेदे, यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणा दलिकमादायोच्छ्वासरूपतया परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्य्याप्तिः । कर्म० ।

ऊसित्त न० (ऊत्सिक्त) उत्सेचनमुत्सिक्तम् भावे क्तः । **अनुत्साहोत्सन्नेत्सच्छे । ८ । १ । ११४ ।** इति उत् ऊत् प्रा० । सौवीरस्य उत्सेचने, वृ० २ उ० । किट्टमुत्सिक्तं ग्राह्यम् ।

अथोत्सिक्तपदं भावयति ।

समणत्थसधरपासंडे, जावंतिय अत्तणो य मुत्तूणं ।
छड्डो नत्थि वि कप्पो, उस्सिंचणमो जयट्ठाए ॥

काञ्जिकस्य सौवीरिणीतो यन्निष्काशनं तदुत्सिक्तं तच्च पञ्चधा श्रमणार्थं साधूनामर्थायेत्यर्थः । स्वगृहपतिमिश्रं २ पाष–

ण्डमिश्रं ३ यावदर्थिकमिश्रम् ४ आत्मार्थकृतम् ५ । एतान् पञ्चभेदान् मुक्त्वा अपरः षष्ठो विकल्पो नास्ति यदर्थमुत्सेचनं भवेत्। अत्र चात्मार्थं यद् गृहिभिरुत्सिक्तं तदेव ग्रहीतुं कल्पते न शेषाणीति । दूषिताऽऽख्यनपुंसकभेदे, ''दूसी दुविहो आसितो जो सावद्यो ऊसित्तो जो अणवद्यो '' पं० भा०।

ऊसिय त्रि० (उच्छ्रित) उद्–श्रि–क्त। उन्नते, कल्प०। औ०। ज्ञा०। उच्चैः कृते, उत्त० २२ अ०। उच्चे, विपा०१ श्रु० ६ अ०। ऊर्द्धीकृते, औ०। उत्तुङ्गे, कल्प०। प्रख्याते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। पङ्कजले, अतिलङ्घ्य, परिव्यवस्थिते, सूत्र०२ श्रु० १ अ०। प्रासादादौ वास्तुभेदे, नि० चू० १ उ०। ''ऊसियं जं उच्छ्रयेण कयं'' आ० चू० ४अ०। आव०।

*** उत्सृत** त्रि० प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृते, चं० १८ पाहु०। स०। लम्बमाने, मुत्तजालतरुस्सियहेमजालमावक्खं, रा०।

ऊसियज्झय पुं० (उच्छ्रितध्वज) ऊर्द्धीकृतजयपताकायाम्, विपा० १ श्रु०२ अ०।

ऊसियपभग त्रि० (उच्छ्रितपताक) ऊर्द्धीकृतपताकायुक्ते, ''जहा एमिताहे ऊसियपडागं णयरं कयं'' आ० म० द्वि०। ''ऊसियपडाग-गगणतलमणुलिहंता'' रा०।

ऊसियफलिह पुं० [उच्छ्रि(त्सृ)तस्फटिक(परिघ)] उच्छ्रितं स्फटिकमिव स्फटिकमन्तःकरणं यस्य स तथा। मौनीन्द्रप्रवचना-बाह्यापरितुष्टमनसि, इति वृद्धव्याख्या केचित्त्वाहुः उच्छ्रितः अर्गला स्थानादपनीय ऊर्द्धीकृतो न तिरश्चीनः कपाटपश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः। उत्सृतो वाऽपगतः परिघोऽर्गला गृहद्वारे यस्यासौ उत्सृतपरिघः। उच्छ्रितपरिघो वा औदार्य्यातिरेकादतिशयदानदापित्वेन भिक्षुकप्रवेशा-र्थमनर्गलितगृहद्वारे, ''ऊसियफलिहे अवंगुयदुवारे चिय तंते उरपरघर-प्पवेसे '' ज्ञा०५अ०। दशा०। औ०।

ऊसुअ त्रि० (उच्छुक) उद्गताः शुकाः यस्मात्सः। **अनुत्साहोत्सन्ने त्सच्छे । ८ । १ । ११४ ।** इति च्छ भागस्यादेरुत ऊत्वम्॥ उद्गतशुके, प्रा०।

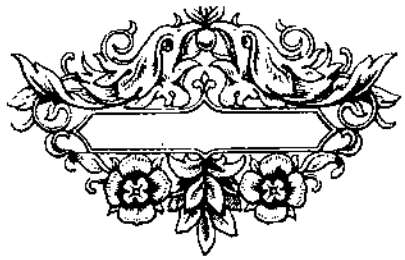
ऊसुम्भ धा० (ऊल्लस)भ्वा–पर–अक–सेट्–उल्लासे, **उल्लसेरूसु-लोसुम्भणिल्लसपुआअंगुजाल्लारोआः । ८ । ४ । २०२ ।** इत्युल्लसेरूसुम्भादेशः ऊसुंभइ उल्लसइ उल्लसति, प्रा०।

ऊह पुं० (ऊह) ऊह–घञ्। पृथिव्यादिसम्बन्धिन्यामोघमात्रसंज्ञायाम्, विशे०। मन्दमन्दप्रकाशे स्थाणुपुरुषोचितदेशे किमयं स्थाणुरुत पुरुष इत्येवमात्मके तर्के, सूत्र० २ श्रु० ४ अ०। बुद्धिगुणभेदे, स च विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु तथाविधेषु व्याप्त्या वितर्कणम् (ध०१अधि०) स्वरूपप्रतिपादनं स तर्कः कीर्त्यते ऊह इति च संज्ञान्तरं लभते र०३परि०। (तत्प्रामाण्यादिनिरूपणं तर्कशब्दे) चतुरशीत्यूहाङ्गशतस, स्त्रेषु, जो० २ पाहु०। आगमाविरोधिना तर्केण आगमार्थस्य संशयपूर्वपक्षनिवारणपूर्वकोत्तरपक्षव्यवस्थापनेन निर्णयरूपे परीक्षणं, अनन्वितार्थकविभक्त्यादिकल्पने पदान्तरेण आकाङ्क्षापूरणार्थऽ-ध्याहारे, सांख्योक्ते तारास्ख्ये भेदे, आरोपे, समूहे च। वाच०।

ऊहंग न० (ऊहाङ्ग) चतुरशीतिमहाऽऽडशतसहस्रेषु, जो०। २ पाहु०।

ऊहा स्त्री० (ऊहा) उह–अ० स्त्रीत्वात्० टाप्०। अध्याहारे, वाच०। वितर्कात्मिकायां तर्कबुद्धौ, उत्त० ३ अ०। आ० म० द्वि०।

ऊहापन्नत त्रि० (ऊहाप्रज्ञप्त) तर्कबुद्ध्या प्रणीते, ''ऊहापन्नत्तं घोडियसिवभूउत्तराहिं इमं'' आ० म० द्वि०।



इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८
श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
ऊकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्॥

समाप्तश्चायं द्वितीयो भागः ॥